ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १।

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में॥

अथर्ववेदभाष्यम्।

प्रथमं काण्डम्।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम श्रीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित वडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितम् प्रकाशितञ्च।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः।

प्रथमावृत्तौ, १००० पुस्तकानि। संवत् १९६९ वि०। सन् १९१२ ई०। मूल्यम् १)

पता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabap)॥

शुभ समाचार ॥

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जा[illegible] और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें। भारतीय और अन्य देशीय विद्वान भी वेद का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं। हमारा विचार है कि वेदों का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्प मूल्य भाष्य प्रस्तुत हो, जिस से सब लोग स्वाध्याय [वेदों के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें। परमेश्वर के अनुग्रह से यह मनोरथ सिद्ध होने लगा है, अर्थात् निम्न लिखित वैदिक ग्रन्थ उपस्थित हैं, और होते जाते हैं।

अथर्ववेद भाष्य।

१— जिस भाष्य की इतने दिनों से प्रतीक्षा होरही थी, जिस चौथे ब्रह्म वेद के स्वाध्याय करने के लिये आप को बड़ी लालसा लगी हुयी थी, [illegible] जिस के लिये बहुत से महाशयों के नामों से ग्राहक सूची पूरित है, उस वेद का प्रथम काण्ड अब सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की परम कृपा से सरल भाषा में सान्वय पदार्थ, भावार्थ, टिप्पणी, अनुरूप मन्त्र, श्लोक आदि, और संस्कृत व्याकरण, निरुक्त आदि सहित आप के सामने विद्यमान है। इस के साथ अथर्ववेद भूमिका भी है जिस में सायण भाष्य और अथर्ववेद विस्तार आदि उपयोगी विषयों का वर्णन है। बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ २०२ मूल्य १।)

२—अथर्ववेद भाष्य, काण्ड २—इसी प्रकार बहुत शीघ्र छपकर प्रकाशित होगा। मूल्य प्रथम काण्ड के लग भग होगा।

३—अथर्ववेद भाष्य सम्पूर्ण—अथर्ववेद में २० काण्ड हैं, कोई छोटा है कोई बड़ा। भाष्य पूरे एक एक काण्ड का छपता है जिस से उस काण्ड का पूरा विषय जान पड़े। प्रत्येक काण्ड का मूल्य उसके विस्तार के अनुसार होगा। जो महाशय सनातन वेदविद्या के प्रेमी अपने नाम पूरे भाष्य के लिये ग्रन्थ छपने से पूर्व ग्राहकसूची में लिखावेंगे, उनको नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक छपने पर वी० पी० द्वारा भेजी जाया करेगी।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी।

५२ लूकरगंज, प्रयाग (ALLAHABAD.)

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और आर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

प्रथमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादि सहितं
संस्कृते व्याकरण-निरुक्तादि प्रमाण समन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम श्रीरवीर चिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगत श्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sūdra and to Āryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ, १,००० पुस्तकानि । संवत् १९६९ वि० । सन् १९१२ ई० । मूल्यम् १)

पता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

विषय सूची।

सङ्केत सूची।

सङ्केत	सङ्केत विषय
अ०, अथर्व०	= अथर्ववेद, काण्ड, सूक्त, मन्त्र।
अव्य०	= अव्यय।
आ० प०	= आत्मने पदी।
उ०	= उणादिकोष, पाद, सूत्र (स्वामी दयानन्द सरस्वती संशोधित)।
ऋ०	= ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र।
क्रि०	= क्रिया।
त्रि०	= त्रिलिङ्ग (विशेषण)।
न०	= नपुंसकलिङ्ग।
नि०, निरु०	= निरुक्त, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत)।
निघ०	= निघण्टु, अध्याय, खण्ड, (यास्कमुनि कृत)।
प० प०	= परस्मैपदी।
पा०	= पाणिनीय व्याकरण-अष्टाध्यायी, अध्याय, पाद, सूत्र।
पु०	= पुंलिङ्ग।
पृषो०	= पृषोदरादि।
य०, यजुः	= यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र।
श० क० द्रु०	= शब्दकल्पद्रुमकोष, राजा राधाकान्तदेव बहादुर विरचित।
श०स्तो०म०नि०	= शब्दस्तोममहानिधि कोष, श्रीतारानाथ तर्कवाचस्पति भट्टाचार्य सङ्कलित।
सा० वे०	= सामवेद, पूर्वार्चिक, प्रपाठक, दशति, मन्त्र। उत्तरार्चिक, प्रपाठक, अर्धप्रपाठक, सूक्त वा तृच।
( )	, इस कोष्ठ में मन्त्र के शब्द हैं।
[ ]	, ऐसे कोष्ठ के शब्द व्याख्या वा अध्याहार हैं।
०---	= अन्त के भाग में पूर्व भाग मिलाकर पूरा पद कर लें, जैसे अश्विना = ०-नौ = अश्विनौ।

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदभाष्यभूमिका ॥

१—ईश्वरस्तुतिप्रार्थना ।

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति ।
स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥१॥

अथर्व० का० १० सू० ८ म० १ ॥

(यः) जो परमेश्वर (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का, (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब संसार का (च) अवश्य (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है। (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिस का (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) सब से बड़े (ब्रह्मणे) ब्रह्म, जगदीश्वर को (नमः) नमस्कार है ॥

हे परमपिता, परमात्मन्! आप, भूत, भविष्यत्, वर्तमान और सब जगत् के स्वामी हैं, आप केवल आनन्द स्वरूप और अनन्त सामर्थ्य वाले हैं। हे प्रभु! आप हमारे हृदय में सदा विराजिये, आप को हमारा बारम्बार नमस्कार है ॥

याम्‌ऋषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ २ ॥

अथर्व० का० ६ सू० १०८ म० ४ ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक, प्रकाश स्वरूप परमेश्वर! (याम्) जिस (मेधाम्) धारणवती बुद्धि का (भूतकृतः) यथार्थ काम करने हारे, (मेधाविनः) दृढ़

बुद्धि वाले, (ऋषयः) वेद का तत्त्व जानने वाले ऋषि, (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (तया) उस (मेधया) अचल बुद्धि से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (मेधाविनम्) अचल बुद्धि वाला (कृणु) कर ॥

हे सर्वविद्यामय जगदीश्वर ! आप के अनुग्रह से वह दृढ़ निश्चल बुद्धि हमारे हृदय में विराजमान रहे जैसी धार्मिक, विवेकी, परोपकारी ऋषि महात्माओं की होती है, जिस से हमें वेदों का यथार्थ ज्ञान हो और हम संसार भर में उसका प्रकाश करें ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ३ ॥

अथर्व० का० १ सू० ३१ म० ४ ॥

(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये, (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्) उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥

हे परम रक्षक परमात्मन् ! हमें वेद विज्ञान दीजिये जिस से हम अपने कर्तव्य को समझें और करें, अपने हितकारी माता पिता आदि सब परिवार, सब मनुष्यों, सब गौ आदि पशुओं, और सब संसार की सेवा कर सकें, और सब के आनन्द में अपना आनन्द जानें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब कामों को सुख से करते हैं, वैसे ही, हे प्रकाशमय, ज्ञान स्वरूप, सर्वान्तर्यामी प्रभु ! आप के ध्यान में मग्न होकर हम सदा प्रसन्न चित्त रहें ॥

२—वेद ॥

तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे ।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ १ ॥

ऋ० १० । ९० । ९, यजु० ३१ । ७, तथा अथर्व० १९ । ६ । १३

(तस्मात्) उस (यज्ञात्) पूजनीय और (सर्वहुतः) सब के ग्रहण करने योग्य परमेश्वर से (ऋचः) ऋग्वेद [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्या] के मन्त्र और (सामानि) साम वेद [मोक्ष विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये । (तस्मात्) उस से (छन्दांसि) अथर्ववेद [आनन्ददायक विद्या] के मन्त्र (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये, और (तस्मात्) उस से ही (यजुः) यजुर्वेद [सत्कर्मों का ज्ञान] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन् । सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखम् । स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ २ ॥

अथर्व० का० १० । सू० ७ । म० २० ॥

(यस्मात्) जिस परमेश्वर से प्राप्त करके (ऋचः) पदार्थों के गुणप्रकाश मन्त्रों को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया [भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिस ईश्वर से प्राप्त करके (यजुः) सत्कर्मों के ज्ञान को (अप-अकषन्) उन्होंने कस, अर्थात् कसौटी पर रक्खा, (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम के समान व्यापक हैं, और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व अर्थात् निश्चल जो परब्रह्म है उसके ज्ञान के मन्त्र (मुखम्) मुख के समान मुख्य हैं, (सः) वह (एव) निश्चय करके (कतमःस्वित्) कौन सा है । [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) खंभ के समान ब्रह्मांड का सहारा देने वाला ईश्वर (ब्रूहि) तू कह ॥

इस से सिद्ध है कि ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत हैं, और चारों वेद सामान्यता से सार्वलौकिक सिद्धान्तों से परिपूर्ण होने के कारण मनुष्य मात्र और सब संसार के लिये कल्याणकारक हैं ॥

उस परम पिता जगदीश्वर का अति धन्यवाद है कि उसने संसार की भलाई के लिये सृष्टि के आदि में अपने अटल नियमों को इन चारों वेदों के द्वारा प्रकाशित किया । यह चारों वेद एक तो सांसाररिक व्यवहारों की शिक्षा से परमात्मा के ज्ञान का, और दूसरे परमात्मा के ज्ञान से सांसारिक व्यवहारों का उपदेश करते हैं । संसार में यही दो मुख्य पदार्थ हैं जिन की यथार्थ प्राप्ति और अभ्यास पर मनुष्य मात्र की उन्नति का निर्भर है । इन चारों वेदों को ही त्रयी

विद्या [तीन विद्याओं का भण्डार] कहते हैं। जिस का अर्थ परमेश्वर के कर्म उपासना और ज्ञान से संसार के साथ उपकार करना है।

वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है।

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १ ॥

अथर्ववेद–का० ११, सू० ५, म० १७।

(ब्रह्मचर्येण) वेदविचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य की (वि) अनेक प्रकार से (रक्षति) रक्षा करता है। (आचार्यः) अंगों और उपाङ्गों सहित वेदों का अध्यापक, आचार्य (ब्रह्मचर्येण) वेद विद्या और इन्द्रियदमन के कारण (ब्रह्मचारिणम्) वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष से (इच्छते) प्रेम करता है, अर्थात् वेदों के यथावत् ज्ञान, अभ्यास, और इन्द्रियों के दमन से मनुष्य सांसारिक और पारमार्थिक उन्नति की परा सीमा तक पहुंच जाता है ॥

भगवान् कणादमुनि कहते हैं–वैशेषिक दर्शन, अध्याय ६, आह्निक १, सूत्र १ ॥

बुद्धिपूर्वा वाक्यकृतिर्वेदे ॥ १ ॥

वेद में वाक्य रचना बुद्धि पूर्वक है [अर्थात् वेद में सब बातें बुद्धि के अनुकूल हैं] ॥

पण्डित अन्नम्भट्ट तर्कसंग्रह पुस्तक के शब्दखण्ड में लिखते हैं।

वाक्यं द्विविधं वैदिकं लौकिकं च। वैदिकमीश्वरोक्तत्वात् सर्वमेव प्रमाणम्। लौकिकं त्वाप्तोक्तं प्रमाणम्।

वाक्य दो प्रकार का है, वैदिक और लौकिक। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने से सब ही प्रमाण है। लौकिक वाक्य केवल सत्यवक्ता पुरुष का वचन प्रमाण है ॥

मनु महाराज मनुस्मृति में लिखते हैं।

वेदमेव सदाभ्यसेत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते ॥१॥२।१६६॥

द्विजों [ब्राह्मण, क्षत्रिय , वैश्यों] में श्रेष्ठ पुरुष, [ब्रह्मचर्य आदि] तप तपता हुआ, वेद ही का सदा अभ्यास करे। वेदों का अभ्यास ही पण्डित पुरुष का परम तप यहां [इस जन्म में] कहा जाता है ॥ १ ॥

चातुर्वर्ण्यं त्रयो लोकाश्चत्वारश्चाश्रमाः पृथक् ।
भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति॥२॥१२।९७॥

चार वर्ण [ब्राह्मण , क्षत्रिय , वैश्य , शूद्र ,] तीन लोक [स्वर्ग, अन्तरिक्ष, भूलोक] , चार आश्रम [ब्रह्मचर्य , गृहस्थ वानप्रस्थ , सन्यास], और भूत, वर्तमान और भविष्यत् , अलग अलग सब वेद से प्रसिद्ध होता है ॥ २ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति॥३॥ १२। १०८॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापति के अधिकार, और राज्य, और भी दण्ड देने के पद, और सब लोगों पर आधिपत्य [चक्रवर्ति राज्य] के योग्य होता है ॥ ३ ॥

वेदशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो यत्रतत्राश्रमे वसन् ।
इहैव लोके तिष्ठन् स ब्रह्मभूयाय कल्पते ॥४॥१२।१०२॥

वेद शास्त्र के अर्थ का तत्त्व जानने वाला पुरुष चाहे किसी आश्रम में रहे , वह इस लोक [जन्म] में ही रहकर मोक्ष [परम आनन्द] पद के लिये योग्य होता है ॥ ४ ॥

इसी प्रकार सब शास्त्रों में वेदों की अपूर्व महिमा का वर्णन है ।

इन दिनों प्रत्येक मनुष्य वेद वेद पुकार रहा है । जर्मनी , इंगलैंड आदि विदेशों में वेदों का चर्चा फैल रहा है। वेदों के भिन्न२ भागों के अनुवाद भी अंग्रेज़ी , लेटिन , जर्मन आदि भाषाओं में वहां के विद्वानों ने अपनी अपनी शक्ति के अनुसार किये हैं। मष्ट ग्रिफ्फ़िथ साहिब ने चारों वेदों का अंग्रेज़ी अनुवाद वैदिक छन्दों में छन्दोबद्ध किया है। महर्षि श्रीमद्दयानन्द सरस्वती का वेद विषयक परिश्रम सुप्रसिद्ध है। उन के रचे निम्नलिखित वैदिक ग्रन्थ महा उपकारी हैं ।

१-ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ।

२-ऋग्वेदभाष्य [जो मण्डल ७ सूक्त ६१ मन्त्र २ तक हुआ है] ।

३-यजुर्वेदभाष्य ।

४-सत्यार्थप्रकाश ।

अन्य भी विद्वानों श्री सायणाचार्य आदि ने वेदों की रक्षा और व्याख्या के लिये अनेक प्रयत्न किये हैं, और अब भी विद्वान् लोग परिश्रम उठा रहे हैं ॥

३—अथर्ववेद ॥

ऊपर कह आये हैं कि ईश्वरकृत चारों वेदों में से अथर्ववेद एक वेद है। उसके नाम छन्द (छन्दांसि), अथर्वाङ्गिरा (अथर्वाङ्गिरसः) और ब्रह्म वेद हैं। इन शब्दों के अर्थ इस प्रकार हैं। (१) अथर्ववेद, यह अथर्व [अथर्वन्] और वेद इन दो शब्दों का समुदाय है। थर्व धातु का अर्थ चलना और अथर्व का अर्थ निश्चल है, और वेद का अर्थ ज्ञान है, अर्थात् अथर्व, निश्चल, जो एक रस सर्वव्यापक परब्रह्म है, उस का ज्ञान अथर्ववेद है। (२) छन्द, इस का अर्थ आनन्ददायक है, अर्थात् उस में आनन्ददायक पदार्थों का वर्णन है। (३) अथर्वाङ्गिरा, इस पद का अर्थ यह है कि उस में अथर्व, निश्चल परब्रह्म बोधक अङ्गिरा अर्थात् ज्ञान के मन्त्र हैं। (४) ब्रह्मवेद अर्थात् जिस में ब्रह्म जगदीश्वर का ज्ञान है, और जिसके मनन और साक्षात् करने से ब्रह्माओं [ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों] को मोक्ष सुख प्राप्त होता है ॥

---

(१) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति अ+थर्व चरणे-वनिप् । वकारलोपः । न थर्वति न चरतीति अथर्वा दृढस्वभावः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने-घञ् । इति वेदो ज्ञानम् । अथर्वणो दृढस्वभावस्य परमेश्वरस्य वेदोऽथर्ववेदः ॥

(२) चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१९ । इति चदि आह्लादे-असुन्, चस्य छः । चन्दयति आह्लादयतीति छन्दः ॥

(३) अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २२६ । इति अगि गतौ-असि, इरुट् आगमः । अङ्गति गच्छति प्राप्नोति जानाति वा परब्रह्म येनेति अङ्गिराः,वेदः । अथर्वणोऽङ्गिरसोऽथर्वाङ्गिरसः ॥

(४) बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ-मनिन् । नकारस्य अकारः, रत्वं च । बृंहति वर्धते सर्वेभ्योऽधिको भवतीति ब्रह्म परमेश्वरः । ब्रह्मणोवेदो ब्रह्मवेदः ॥

अथर्ववेद संहिता भट्ट आर० रोथ साहिब और डबिल्यू० डी० व्हिटनी साहिब [Professors R. Roth and W. D. Whitney] ने जर्मनी देश के बर्लिन नगर में सन् १८५६ ईस्वी में छपवाई थी [See Page 10, Critical Notes on Atharva Samhita with the Commentary of Sayanacharya, Government Central Book Depot, Bombay; and page XIII, Griffith's English Translation of the Atharva Veda.] । अथर्ववेद संहितायें तो और भी छप गयी हैं। श्री सायणाचार्यकृत भाष्य केवल गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो बंबई की ओर से छपा है, वह भी असंपूर्ण [लगभग आधे वेद का भाष्य] और केवल संस्कृत में है और उसके चार वेष्टनों का मूल्य ४०) चालीस रुपया है। इस से बड़े २ धनी विद्वान् ही उस को देख सकते हैं, सामान्य पुरुषों को उसका मिलना और समझना कठिन है।

४—अथर्ववेद विस्तार ॥

हमारे पास तीन अथर्व संहिता पुस्तक हैं, १–सायणभाष्य सहित बंबई गवर्नमेन्ट मुद्रापित, २–पं० सेवकलाल कृष्णदास मुद्रापित, और ३–अजमेर वैदिक यन्त्रालय मुद्रित। हम ने तीनों संहिताओं को मिलाकर अध्ययन किया है। विस्तार का विवरण अजमेर पुस्तक के अनुसार अन्य पुस्तकों से मिलान करके आगे लिखा है।

अथर्ववेद (ये त्रिषप्ताः परियन्ति···) इस मन्त्र से लेकर (पुनाय्यं तदश्विना कृतं वां···] इस मन्त्र तक है। इस में २० बीस काण्ड, ७३१ सात सौ इकतीस सूक्त, और ५,९७७ पांच सहस्र नौ सौ सतहत्तर मन्त्र हैं। यह गणना आगे भूमिका के अन्त में चक्रों में वर्णित है।

उक्त तीनों पुस्तकों को मिलाने से मन्त्र संख्या में यह भेद

(अ) पं० सेवकलाल के पुस्तक से मिलान।

	उक्त पुस्तक में मन्त्र		अन्य दो पुस्तकों में मन्त्र	भेद
	काण्ड ८।			
सूक्त १०। पर्याय १।	मन्त्र १ से ७=७	=	१३	—६
,, ,, ३।	म० १८ से २१=४	=	८	—४
,, ,, ४।	म० २२ से २५=४	=	१६	—१२
,, ,, ५।	म० २६ से २९=४	=	१६	—१२
	योग १९		५३	—३४

काण्ड ६ ।

सूक्त ६ । पर्याय ४ ।	म० ४० से ४४=५	=	१०	—५
,, ,, ५ ।	म० ४५ से ४८=४	=	१०	—६
योग	९		२०	—११

काण्ड १६ ।

सूक्त ३८ ।	म० १ से २ = २	=	३	—१
,, ४७ ।	म० १ से १०=१०	=	६	+१
,, ५४ ।	म० ५, ६ = २	=	१ (म० ५)	+१
,, ५५ ।	म० १ से ७ = ७	=	६	+१
,, ५७ ।	म० १ से ६ = ६	=	५	+१
योग	२७		२४	+३

काण्ड २० ।

सूक्त ९६ ।	म० १-२३=२३	=	२४	—१
सूक्त १३१ ।	म० १-२३=२३	=	२०	+३
योग	४६		४४	+२
महा योग	१०१		१४१	—४०

सब मिलाकर पं० सेवकलाल कृष्णदास के पुस्तक में जो ४० मन्त्र घटते हैं, (हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् । यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ।) वस्तुतः यह एक मन्त्र अन्य दोनों पुस्तकों के का० २० सू० ९६ का म० १६ उस में नहीं है । अन्य ३९। मन्त्रों की न्यूनता केवल मन्त्र भागों के छोटे बड़े और आगे पीछे होने से है, इन का पूरा पाठ तौ मिलाकर अन्य पुस्तकों के तुल्य है । इस गणना से इस पुस्तक के समग्र मन्त्र ५,९७७-४०=५,९३७ होते हैं ॥

(आ)-वैदिक यन्त्रालये के पुस्तक का सायणभाष्य सहित बंबई के पुस्तक से मिलान ।

सायणभाष्य वाले पुस्तक में इतना अधिक है कि काण्ड १६ के अन्त में ७२ मन्त्र का एक पर्य्याय है, जो १८ मन्त्र इस पुस्तक के काण्ड ११ सूक्त ४

पर्याय २ में मन्त्र १ से १८ तक, और अन्य पुस्तकों के काण्ड ११ सूक्त ३ पर्याय २ में मन्त्र ३२ से ४९ तक आचुके हैं, अर्थात् इन १८ मन्त्र के ७२ मन्त्र होकर सायण भाष्यमें एक पर्याय काण्ड १६ के अन्त में अलग है । अन्य पुस्तकों में [भट्ट ग्रिफ़्फ़िथ के अंगरेज़ी अनुवाद सहित] यह पर्याय काण्ड १६ के अन्त में नहीं है, केवल काण्ड ११ में ही आया है, यही पाठ हमने रक्खा है । यह पुनर्लेख सायण पुस्तक में उस समय की पाठ प्रणाली के अनुसार दीखता है। इस बात को छोड़कर शेष मन्त्र संख्या अजमेर पुस्तक के तुल्य है ॥

५–सूक्त भेद ॥

सायण भाष्य में ७५६ [सात सौ उनसठ] और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में ७३१ सूक्त हैं । यह २८ सूक्तों की अधिकता का विवरण नीचे दिखाया जाता है । मन्त्रों का वर्णन ऊपर हो चुका है ।

काण्ड जिनमें भेद है	सायण भाष्य में सूक्त	वैदिक यन्त्रालय की पुस्तक में सूक्त	सायणभाष्य में अधिक
७	१२३	११८	५
८	१५	१०	५
६	१५	१०	५
११	१२	१०	२
१२	११	५	६
१३	६	४	५
६ कांड	१८५	१५७	२८

६–अनुवाक ।

सूक्त और मन्त्रों के अतिरिक्त, काण्डों का विभाग अनुवाक और सूक्तों में है । परन्तु काण्डों में सूक्तों की गणना लगातार चली गयी है, इस से अनुवाकों की गणना को यहां नहीं दिखाया, पुस्तक के भीतर अपने स्थान पर दिखाया है ।

७–सायण भाष्य असंपूर्ण है ।

अथर्ववेदसंहिता, सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित, गवर्नमेन्ट सेन्ट्रल बुक डिपो, बंबई बड़े खोज से छपी दीखती है, इसके अतिरिक्त और कोई भाष्य

प्रतीत नहीं होता । इस पुस्तक में केवल दस काण्डों से कुछ अधिक का भाष्य इस प्रकार है-काण्ड १, २, ३, ४, ६, ७, ८ [सूक्त ६ तक] ११, १७, १८, १६, २० [सूक्त ३७ तक] । [इतना भाष्य नहीं है-कण्ड ५, ८ (सूक्त ७-७५), ६, १०, १२, १३,१४, १५, १६, २० (सूक्त ३८- १४३)] ॥

८-अथर्ववेद पुस्तकें और अपना भाष्य ।

१—अथर्ववेद संहिता श्री सायणाचार्य विरचित भाष्य सहित,गवर्नमेन्ट बुक डिपो, बंबई,चार वेष्टन । वेष्टन १ तथा २ सन् १८६५, वेष्टन ३ तथा ४ सन् १८६८ ईसवी ।

२—अथर्ववेद संहिता मूल,पण्डित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित-बंबई, सन् १८६३ [पत्थर का छापा] ।

३—अथर्ववेद संहिता,मूल,वैदिक यन्त्रालय,अजमेर, संवत् १६५८ विक्रमीय [सन् १६०१ ईस्वी] ।

४—अथर्ववेद संहिता, अंग्रेज़ी अनुवाद, मट्ट ग्रिफ्फ़िथ साहिब कृत दो वेष्टन,वेष्टन १ सन् १८६५,वेष्टन २ सन् १८६६ ई० ।

इस भाष्य के बनाने में यह सब पुस्तकें और श्री सायणाचार्य कृत ऋग्वेद और सामवेद भाष्य, श्री महीधर कृत शुक्ल यजुर्वेद भाष्य, श्री मद्दयानन्द सरस्वती कृत ऋग्वेद और यजुर्वेद भाष्य, पण्डित तुलसी राम कृत सामवेद भाष्य,यास्क मुनि कृत निघण्टु और निरुक्त,और पाणिनि मुनि कृत अष्टाध्यायी व्याकरण, सर राजा राधाकान्त देव बहादुर कृत शब्द कल्प द्रुम कोष, और अन्य ग्रन्थ मुझे बहुत उपयोगी हुये हैं, इस लिये उन ग्रन्थ कर्त्ता महाशयों को मेरा हार्दिक धन्यवाद है ।

हमारे भाष्य में संहिता पाठ वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का है, पदपाठ इस पुस्तक और सायण भाष्य के अनुसार है । पाठान्तर टिप्पणियों में दिखाया है । स्पष्टता और संक्षेप के ध्यान से भाष्य का क्रम यह रक्खा है ।

१-देवता, छन्द, उपदेश ।

२-मूलमन्त्र-स्वरसहित ।

३-पदपाठ-स्वरसहित ।

४-सान्वय भाषार्थ ।

५-भावार्थ ।

६-आवश्यक टिप्पणी, संहिता पाठान्तर, अनुरूप विषय और अन्य वेदों में मन्त्र का पता आदि विवरण ।

७-शब्दार्थ व्याकरणादि प्रक्रिया-व्याकरण, निघण्टु, निरुक्त, पर्यायआदि ।

सहज पते के लिये काण्ड काण्ड के विषय आदि, और अथर्ववेद के अन्य वेदों में मन्त्रों की सूची भी दियी है ।

९-ऋषि, देवता, छन्द ।

ऋषि वह महात्मा कहलाते हैं जिन्हों ने वेदों के सूक्ष्म अर्थों को प्रकाशित किया है [निरु० १ । २० । तथा २ । ११], देवता उसको कहते हैं जिस के गुणों का वर्णन मन्त्र में प्रधानता से हो [निरु० ७ । १], मिताक्षर वाक्य छन्द कहाते हैं । जिस प्रकार ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद में सूक्त इत्यादि के साथ ऋषि, देवता और छन्द लिखे हैं, उस प्रकार अथर्ववेद संहिताओं में नहीं हैं । हम ने इस भाष्य में सूक्तों के शीर्षक पर देवता, छन्द और प्रकरण दिये हैं । ऋषियों का निश्चय नहीं हो सका ।

१०-निवेदन ।

निःसन्देह अब वह समय है कि सब स्त्री पुरुष घर घर में वेदों का अर्थ जानें और धर्मज्ञ होकर पुरुषार्थी बनें । भारतीय और अन्य देशीय विद्वान् भी वेदों का अर्थ खोजने और प्रकाशित करने में बड़ा परिश्रम उठा रहे हैं । मेरा भी संकल्प है कि अथर्ववेद का यथाशक्ति सरल, स्पष्ट, प्रामाणिक, और अल्पमूल्य भाष्य एक एक पूरे काण्ड के पुस्तक रूप में प्रस्तुत करूं, जिससे सब लोग स्वाध्याय [वेद के अर्थ समझने और विचारने] में लाभ उठावें । और यदि वैदिक जिज्ञासु वेदों के सत्यार्थ और तत्त्वज्ञान प्राप्ति में कुछ भी सहायता पावेंगे तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूंगा ।

क्षेमकरणदास त्रिवेदी ।

जन्म, कार्त्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५ विक्रमीय,
(ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी)
जन्मस्थान, ग्राम शाहपुर मडराक,
ज़िला अलीगढ़ ॥

५२ लूकरगंज, प्रयाग
(अलाहाबाद) ।
भाद्र कृष्ण जन्माष्टमी १९६९ वि०,
५ सितम्बर १९१२ ।

काण्ड १

सूक्त	मंत्र
१	४
२	४
३	९
४	४
५	४
६	४
७	७
८	४
९	४
१०	४
११	६
१२	४
१३	४
१४	४
१५	४
१६	४
१७	४
१८	४
१९	४
२०	४
२१	४
२२	४
२३	४
२४	४
२५	४
२६	४
२७	४
२८	४
२९	६
३०	४
३१	४
३२	४
३३	४
३४	५
३५	४
३५	१५३

काण्ड २

सूक्त	मंत्र
१	५
२	५
३	६
४	६
५	७
६	५
७	५
८	५
९	५
१०	८
११	५
१२	८
१३	५
१४	६
१५	६
१६	५
१७	७
१८	५
१९	५
२०	५
२१	५
२२	५
२३	५
२४	८
२५	५
२६	५
२७	७
२८	५
२९	७
३०	५
३१	५
३२	६
३३	७
३४	५
३५	५
३६	८
३६	२०७

काण्ड ३

सूक्त	मंत्र
१	६
२	६
३	६
४	७
५	८
६	८
७	७
८	६
९	६
१०	१३
११	८
१२	९
१३	७
१४	६
१५	८
१६	७
१७	९
१८	६
१९	८
२०	१०
२१	१०
२२	६
२३	६
२४	७
२५	६
२६	६
२७	६
२८	६
२९	८
३०	७
३१	११
३१	२३०

काण्ड ४

सूक्त	मंत्र
१	७
२	८
३	७
४	८
५	७
६	८
७	७
८	७
९	१०
१०	७
११	१२
१२	७
१३	७
१४	९
१५	१६
१६	९
१७	८
१८	८
१९	८
२०	९
२१	७
२२	७
२३	७
२४	७
२५	७
२६	७
२७	७
२८	७
२९	७
३०	८
३१	७
३२	७
३३	८
३४	८
३५	७
३६	१०
३७	१२
३८	७
३९	१०
४०	८
४०	३२४

काण्ड ५

सूक्त	मंत्र
१	९
२	९
३	११
४	१०
५	९
६	१४
७	१०
८	९
९	८
१०	८
११	११
१२	११
१३	११
१४	१३
१५	११
१६	११
१७	१८
१८	१५
१९	१५
२०	१२

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२१	१२	१६	४	४६	३	७६	४	१०६	३	१३६	३
२२	१४	१७	४	४७	३	७७	३	१०७	४	१३७	३
२३	१३	१८	३	४८	३	७८	३	१०८	५	१३८	५
२४	१७	१९	३	४९	३	७९	३	१०९	३	१३९	५
२५	१३	२०	३	५०	३	८०	३	११०	३	१४०	३
२६	१२	२१	३	५१	३	८१	३	१११	४	१४१	३
२७	१२	२२	३	५२	३	८२	३	११२	३	१४२	३
२८	१४	२३	३	५३	३	८३	४	११३	३	१४२	४५४
२९	१५	२४	३	५४	३	८४	४	११४	३	काण्ड ७	
३०	१७	२५	३	५५	३	८५	३	११५	३	१	२
३१	१२	२६	३	५६	३	८६	३	११६	३	२	१
		२७	३	५७	३	८७	३	११७	३	३	१
३१	३७६	२८	३	५८	३	८८	३	११८	३	४	१
काण्ड ६		२९	३	५९	३	८९	३	११९	३	५	५
		३०	३	६०	३	९०	३	१२०	३	६	४
१	३	३१	३	६१	३	९१	३	१२१	४	७	१
२	३	३२	३	६२	३	९२	३	१२२	५	८	१
३	३	३३	३	६३	४	९३	३	१२३	५	९	४
४	३	३४	५	६४	३	९४	३	१२४	३	१०	१
५	३	३५	३	६५	३	९५	३	१२५	३	११	१
६	३	३६	३	६६	३	९६	३	१२६	३	१२	४
७	३	३७	३	६७	३	९७	३	१२७	३	१३	२
८	३	३८	४	६८	३	९८	३	१२८	४	१४	४
९	३	३९	३	६९	३	९९	३	१२९	३	१५	१
१०	३	४०	३	७०	३	१००	३	१३०	४	१६	१
११	३	४१	३	७१	३	१०१	३	१३१	३	१७	४
१२	३	४२	३	७२	३	१०२	३	१३२	५	१८	२
१३	३	४३	३	७३	३	१०३	३	१३३	५	१९	१
१४	३	४४	३	७४	३	१०४	३	१३४	३	२०	६
१५	३	४५	३	७५	३	१०५	३	१३५	३	२१	१

काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
२२	२	५२	२	८२	६
२३	१	५३	७	८३	४
२४	१	५४	२	८४	३
२५	२	५५	१	८५	१
२६	८	५६	८	८६	१
२७	१	५७	२	८७	१
२८	१	५८	२	८८	१
२९	२	५९	१	८९	४
३०	१	६०	७	९०	३
३१	१	६१	२	९१	१
३२	१	६२	१	९२	१
३३	१	६३	१	९३	१
३४	१	६४	२	९४	१
३५	३	६५	३	९५	३
३६	१	६६	१	९६	१
३७	१	६७	१	९७	८
३८	५	६८	३	९८	२
३९	१	६९	१	९९	१
४०	२	७०	५	१००	१
४१	२	७१	२	१०१	१
४२	२	७२	३	१०२	१
४३	१	७३	११	१०३	१
४४	१	७४	४	१०४	१
४५	२	७५	२	१०५	१
४६	३	७६	६	१०६	१
४७	२	७७	३	१०७	१
४८	२	७८	२	१०८	२
४९	२	७९	४	१०९	७
५०	९	८०	४	११०	३
५१	१	८१	६	१११	१
				११२	२
				११३	२
				११४	२
				११५	४

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
११६	२
११७	१
११८	१
११८	२८६
काण्ड ८	
१	२१
२	२८
३	२६
४	२५
५	२२
६	२६
७	२८
८	२४
९	२६
१०–१	१३
(२)	१०
(३)	८
(४)	१६
(५)	१६
(६)	४
१०	२६३
काण्ड ९	
१	२४
२	२५
३	३१
४	२४
५	३८
६(१)	१७

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
(२)	१३
(३)	९
(४)	१०
(५)	१०
(६)	१४
७	२६
८	२२
९	२२
१०	२८
१०	३१३
काण्ड १०	
१	३२
२	३३
३	२५
४	२६
५	५०
६	३५
७	४४
८	४४
९	२७
१०	३४
१०	३५०
काण्ड ११	
१	३७
२	३१
३	५६
४	२६
५	२६

काण्ड	
सूक्त	मंत्र
६	२३
७	२७
८	३४
९	२६
१०	२७
१०	३१३
काण्ड १२	
१	६३
२	५५
३	६०
४	५३
५	७३
५	३०४
काण्ड १३	
१	६०
२	४६
३	२६
४	५६
४	१८८
काण्ड १४	
१	६४
२	७५
२	१३९

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
काण्ड १५		काण्ड १७		१९	११	४९	१०	३	३	३३	३
१	८	१	३०	२०	४	५०	७	४	३	३४	१८
२	२८	१	३०	२१	१	५१	२	५	७	३५	१६
३	११	काण्ड १८		२२	२१	५२	५	६	९	३६	११
४	१८	१	६१	२३	३०	५३	१०	७	४	३७	११
५	१६	२	६०	२४	८	५४	५	८	३	३८	६
६	२६	३	७३	२५	१	५५	६	९	४	३९	५
७	५	४	८९	२६	४	५६	६	१०	२	४०	३
८	३	४	२८३	२७	१५	५७	५	११	११	४१	३
९	३	काण्ड १९		२८	१०	५८	६	१२	७	४२	३
१०	११	१	३	२९	९	५९	३	१३	४	४३	३
११	११	२	५	३०	५	६०	२	१४	४	४४	३
१२	११	३	४	३१	१४	६१	१	१५	६	४५	३
१३	१४	४	४	३२	१०	६२	१	१६	१२	४६	३
१४	२४	५	१	३३	५	६३	१	१७	१२	४७	२१
१५	९	६	१६	३४	१०	६४	४	१८	६	४८	६
१६	७	७	५	३५	५	६५	१	१९	७	४९	७
१७	१०	८	७	३६	६	६६	१	२०	७	५०	२
१८	५	९	१४	३७	४	६७	८	२१	११	५१	४
१८	२२०	१०	१०	३८	३	६८	१	२२	६	५२	३
काण्ड १६		११	६	३९	१०	६९	४	२३	९	५३	३
१	१३	१२	१	४०	४	७०	१	२४	९	५४	३
२	६	१३	११	४१	१	७१	१	२५	७	५५	३
३	६	१४	१	४२	४	७२	१	२६	६	५६	६
४	७	१५	६	४३	८	७२	४५३	२७	६	५७	१६
५	१०	१६	२	४४	१०	काण्ड २०		२८	४	५८	४
६	११	१७	१०	४५	१०	१	३	२९	५	५९	४
७	१३	१८	१०	४६	७	२	४	३०	५	६०	६
८	३३			४७	९			३१	५	६१	६
९	४			४८	६			३२	३	६२	१०
९	१०३										

अथर्ववेद सूक्त मन्त्र चक्र।

काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड		काण्ड	
सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र	सूक्त	मंत्र
६३	९	७७	८	९१	१२	१०५	५	१२३	२	१४१	५
६४	६	७८	३	९२	२१	१०६	३	१२४	६	१४२	६
६५	३	७९	२	९३	८	१०७	१५	१२५	७	१४३	९
६६	३	८०	२	९४	११	१०८	३	१२६	२३		
६७	७	८१	२	९५	४	१०९	३	१२७	१४		
६८	१२	८२	२	९६	२४	११०	३	१२८	१६		
६९	१२	८३	२	९७	३	१११	३	१२९	२०		
७०	२०	८४	३	९८	२	११२	३	१३०	२०		
७१	१६	८५	४	९९	२	११३	२	१३१	२०		
७२	३	८६	१	१००	३	११४	२	१३२	१६		
७३	६	८७	७	१०१	३	११५	३	१३३	६		
७४	७	८८	६	१०२	३	११६	२	१३४	६		
७५	३	८९	११	१०३	३	११७	३	१३५	१३		
७६	८	९०	३	१०४	४	११८	४	१३६	१६		
						११९	२	१३७	१४		
						१२०	२	१३८	३		
						१२१	२	१३९	५		
						१२२	३	१४०	५	१४३	९५८

योगचक्र।

काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र	काण्ड	सूक्त	मन्त्र
१	३५	१५३	६	१४२	४५४	११	१०	३१३	१६	९	१०३
२	३६	२०७	७	११८	२८६	१२	५	३०४	१७	१	३०
३	३१	२३०	८	१०	२९३	१३	४	१८८	१८	४	२८३
४	४०	३२४	९	१०	३१३	१४	२	१३९	१९	७२	४५३
५	३१	३७६	१०	१०	३५०	१५	१८	२२०	२०	१४३	९५८
५	१७३	१२९०	५	२९०	१६९६	५	३९	११६४	५	२२९	१८२७

महायोग, काण्ड २०, सूक्त ७३१ मन्त्र ५,९७७॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ये त्रिषप्ता परियन्ति	वाचस्पति	बुद्धि वृद्धि	अनुष्टुप्
२	विद्मा शरस्य पितरं	इन्द्र	तथा	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
३	विद्मा शरस्य पितरं	पर्जन्य आदि	शान्ति करण	पङ्क्ति,अनुष्टुप्
४	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	आपः	परोपकार	गायत्री, पङ्क्ति ।
५	आपो हिष्ठा मयोभुवस्	तथा	बल प्राप्ति	गायत्री ।
६	शं नो देवी रभीष्टय	"	आरोग्यता	गायत्री, पङ्क्ति ।
७	स्तुवानमग्न आ वह	इन्द्राग्नी	सेनापति	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
८	इदं हविर्यातुधानान्	अग्नि,सोम	तथा	" "
९	अस्मिन् वसु वसवो	विश्वे देवा	सर्वसम्मत्ति	त्रिष्टुप्
१०	अयं देवानामसुरो	वरुण	वरुण वर्णन	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप् ।
११	वषट् ते पूषन्नस्मिन्	पूषा	सृष्टि विद्या	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
१२	जरायुजः प्रथम उस्त्रियः	वृषा	ईश्वर आदि	त्रिष्टुप्,अनुष्टुप् ।
१३	नमस्ते अस्तु विद्युते	प्रजापति	आत्मरक्षा	अनुष्टुप्, जगती
१४	भगमस्या वर्च आदिष्य	वधूवर	विवाह	अनुष्टुप् ।
१५	सं संस्रवन्तु सिन्धवः	प्रजापति	ऐश्वर्यप्राप्ति	अनुष्टुप्, आदि
१६	योऽमावास्यां रात्रि	अग्निआदि	विघ्ननाश	अनुष्टुप् ।
१७	अमूर्या यन्ति योषितो	हिरा	नाड़ी छेदन	अनुष्टुप्, गायत्री
१८	निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं	सविता	राजधर्म	अनुष्टुप्, जगती ।
१९	मा नो विदन् विव्याधि	इन्द्र	जय और न्याय	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२०	अदारसृद् भवतु देव	सोम, मरुत्	शत्रुओं से रक्षा	जगती, अनुष्टुप् ।
२१	स्वस्तिदा विशां पतिर्	इन्द्र	राजनीति	अनुष्टुप्
२२	अनु सूर्यमुदयतां	सूर्य	रोग का नाश	"
२३	नक्तं जातास्योषधे	ओषधि	रोग नाश	"
२४	सुपर्णो जातः प्रथमस्	तथा	तथा	अनुष्टुप्, पङ्क्ति ।
२५	यदग्निरापो अदहत्	अग्नि	रोगशान्ति	त्रिष्टुप् ।
२६	आरे ऽसावस्मदस्तु	इन्द्र	युद्ध प्रकरण	गायत्री ।
२७	अमूः पारे पृदाक्वस्	प्रजापति	"	पङ्क्ति, अनुष्टुप् ।
२८	उप प्रागाद्देवो अग्नी	अग्नि	"	अनुष्टुप् ।
२९	अभी वर्तेन मणिना	ब्रह्मणस्पति	राजतिलक	"
३०	विश्वे देवो वसवो	विश्वे देवा	"	त्रिष्टुप् ।
३१	आशानामाशापालेभ्य	प्रजापति	पुरुषार्थ	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप् ।
३२	इदं जनासो विदथ	ब्रह्म	ब्रह्मविचार	अनुष्टुप् ।

सूक्त	सूक्तके प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३३	हिरण्यवर्णाः शुचयः	आपः	तन्मात्रायें	त्रिष्टुप्।
३४	इयं वीरुन्मधुजाता	वीरुध्=लता	विद्याप्राप्ति	अनुष्टुप्
३५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	हिरण्य	सुवर्ण आदि	त्रिष्टुप्।

२—अथर्ववेद, काण्ड १ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से।

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद सूक्त.मंत्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मंत्र	यजुर्वेद, अध्याय, मंत्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	अम्बयो यन्त्यध्वभिर्	४।१	१।२३।१६		
२	अमूर्या उप सूर्ये	४।२	१।२३।१७		
३	अपो देवीरुप ह्वये	४।३	१।२३।१८		
४	अप्स्वन्तरमृत	४।४	१।२३।१९	९।६	
५	आपो हि ष्ठा मयो	५।१	१०।९।१	११।५०-५२	
६	यो वः शिवतमो	५।२	१०।९।२	तथा	उ०९।२।१०
७	तस्मा अरं गमाम वो	५।३	१०।९।३	३६।१४-१६	
८	ईशाना वार्याणां	५।४	१०।९।५		
९	शं नो देवीरभिष्टय	६।१	१।२३।२०,२१	३६।१२	पू०१।३।१३
१०	अप्सु मे सोमो	६।२	१०।९।४,६		
११	आपः पृणीत भेषजं	६।३	१०।९।७		
१२	यो नः स्वो यो अरणः	१९।३.४	६।७५।१९		
१३	वि महच्छर्म यच्छ	२०।३	१०।१५२।५		उ०९।३।८
१४	शास इत्था महाँ असि	२०।४	१०।१५२।१		
१५	स्वस्तिदा विशां पति	२१।१	१०।१५२।२		
१६	वि न इन्द्र मृधो जहि	२१।२	१०।१५२।३		
१७	वि रक्षो वि मृधो जहि	२१।३	१०।१५२।४		उ०९।३।७
१८	अपेन्द्र द्विषतो मनो	२१।४	१०।१५२।५		
१९	सुकेषु ते हरिमाणं	२२।४	१।५०।१२		
२०	अभी वर्तेन मणिना	२९।१	१०।१७४।१		
२१	अभिवृत्य सपत्नानभि	२९।२	१०।१७४।२		
२२	अभि त्वा देवः सविता	२९।३	१०।१७४।३		
२३	उदसौ सूर्यो अगादुदिदं	२९।५	१०।१५९।१		
२४	सपत्नक्षयणो वृषा	२९।६	१०।१७४।५		
२५	यदाबध्नन् दाक्षायणा	३५।१	—	३४।५२	
२६	नैनं रक्षांसि न पिशाचाः	३५।२	—	३४।५१	

ओ३म् ।

अथर्ववेदः ॥

प्रथमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १-४ । वाचस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः—बुद्धि की वृद्धि के लिये उपदेश ।

ये त्रिषप्ताः परियन्ति विश्वा रूपाणि बिभ्रतः ।
वाचस्पतिर्बला तेषां तन्वो अद्य दधातु मे ॥ १ ॥

ये । त्रि-सप्ताः । परि-यन्ति । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतः ।
वाचः । पतिः । बला । तेषाम् । तन्वः । अद्य । दधातु । मे ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(ये) जो पदार्थ (त्रि-सप्ताः) १-सब के संतारक, रक्षक परमेश्वर के सम्बन्ध में, यद्वा, २—रक्षणीय जगत् [यद्वा, —तीन से सम्बन्धी ३-तीनों काल, भूत, वर्तमान, और भविष्यत् । ४-तीनों लोक, स्वर्ग, मध्य, और भूलोक । ५-तीनों गुण, सत्व, रज और तम । ६-ईश्वर, जीव,

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—ये । पदार्थाः । त्रि-सप्ताः । तरतेर्ड्रिः । उ० ५ । ६६ । इति तॄ तरणे—ड्रि । तरति तारयति तार्यते वा त्रिः ।

और प्रकृति। यद्वा, तीन और सात = दस। ७-चार दिशा, चार विदिशा, एक ऊपर की और एक नीचे की दिशा। ८-पांच ज्ञान इन्द्रिय, अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका, और पांच कर्म इन्द्रिय, अर्थात् वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ। यद्वा, तीन गुणित सात=इक्कीस। ६-महाभूत ५+प्राण ५+ज्ञान इन्द्रिय ५+कर्म इन्द्रिय ५+अन्तः करण १ इत्यादि] के सम्बन्धमें [वर्त्तमान] होकर, (विश्वा=विश्वानि) सब (रूपाणि) वस्तुओं को (बिभ्रतः)धारण करते हुये (परि) सब ओर (यन्ति) व्याप्त हैं। (वाचस्पतिः) वेदरूप वाणी का स्वामी परमेश्वर (तेषाम्) उन के (तन्वः) शरीरके (बला=बलानि बलोंको (अद्य) आज (मे) मेरे लिये (दधातु) दान करे॥१॥

भावार्थ—आशय यह है कि तृण से लेकर परमेश्वर पर्यन्त जो पदार्थ संसार की स्थिति के कारण हैं, उन सब का तत्त्वज्ञान (वाचस्पतिः) वेद वाणी के स्वामी सर्वगुरु जगदीश्वर की कृपा से सब मनुष्य वेद द्वारा प्राप्त करें और उस अन्त-

---

परमेश्वरो जगद्वा। संख्यावाची वा। सप्यशूभ्यां तुट् च। उ०१। १५७। इति षप समवाये—कनिन्, तुट् च। सपति समवैतीति सप्तन् संख्याभेदो वा। यद्वा, षप समवाये–क्त। त्रिणा तारकेण परमेश्वरेण तारणीयेन जगता वा सह सम्बद्धाः पदार्थाः। यद्वा। त्रयश्च सप्त चेति त्रिषप्ता दश देवाः। यद्वा। त्रिगुणिताः सप्त एकविंशतिसंख्याकाः पदार्थाः। डच्प्रकरणे संख्यायास्तत्पुरुषस्योपसंख्यानं कर्तव्यम्। वार्तिकम्, पा०५। ४। ७३। इति समासे डच्। विशेषव्याख्या भाषायां क्रियते। **परि-यन्ति**। इण् गतौ—लट्। परितः सर्वतो गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति। **विश्वा**। अशू प्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १। १५१। इति विश प्रवेशे-क्वन्। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शेर्लोपः। विश्वानि। सर्वाणि। **रूपाणि**। खष्पशिल्पशष्पबाष्परूपपर्पतल्पाः। उ० ३। २८। इति रु ध्वनौ—प प्रत्ययो दीर्घश्च। रूयते कीर्त्यते तद् रूपम्। यद्वा, रूप रूपकरणे—अच्। सौंदर्याणि, चेतनाचेतनात्मकानि वस्तूनि। **बिभ्रतः**। डु भृञ् धारणपोषणयोः—लटः शतृ। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। इति नुमः प्रतिषेधः। धारयन्तः। पोषयन्तः। **वाचः**। क्विब् वचिप्रच्छिश्रि०। उ० २। ५७। इति वच् वाचि—क्विप्। दीर्घश्च। वाण्याः। वेदात्मिकायाः। **पतिः**। पातेर्डतिः। उ० ४। ५७। इति पा रक्षणे—डति। रक्षकः। सर्वगुरुः परमेश्वरः। **वाचस्पतिः**—षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति विसर्गस्य सत्वम्। **बला**। बल हिंसे जीवने

र्यामी पर पूर्ण विश्वास करके पराक्रमी और परोपकारी होकर सदा आनन्द भोगें ॥१॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है—योगदर्शन, पाद १ सूत्र २६।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥

वह ईश्वर सब पूर्वजों का भी गुरु है क्योंकि वह काल से विभक्त नहीं होता ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह ।
वसोष्पते नि रमय मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ २ ॥

पुनः । आ । इहि । वाचः । पते । देवेन । मनसा । सह ।
वसोः । पते । नि । रमय । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ (वाचस्पते) हे वाणी के स्वामी परमेश्वर ! तू (पुनः) वारंवार (एहि) आ । (वसोः पते) हे श्रेष्ठ गुणके रक्षक ! (देवेन) प्रकाशमय (मनसा सह) मन के साथ (नि) निरन्तर (रमय) [मुझे] रमण करा, (मयि) मुझ में वर्त्तमान (श्रुतम्) वेदविज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक (वाचस्पति) परम गुरु परमेश्वर का ध्यान निरन्तर करता रहे और पूरे स्मरण के साथ वेद विज्ञान से अपने हृदय को शुद्ध करके सदा सुख भोगे ॥

च—पचाद्यच् । पूर्ववत् शेर्लोपः । बलानि । तेषाम् । त्रिसप्तानां पदार्थानाम् तन्वः । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति तनु विस्तृतौ— उ प्रत्ययः । ततः स्त्रियाम् ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति विभक्तेः स्वरितः,उदात्तस्य ऊकारस्य यणि परिवर्त्तिते । तन्वाः,शरीरस्य । अद्य । सद्यः परुत्परार्यैषमः० । पा० ५ । ३ । २२ । इति इदम् शब्दस्य अशभावः, द्यस् प्रत्ययो दिनेऽर्थे च निपात्यते । अस्मिन् दिने, अध्ययनकाले । दधातु । डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लोट् । जुहोत्यादिः । शपः श्लुः । धारयतु , स्थापयतु, ददातु । मे । मह्यम्, मदर्थम् ।

२—पुनः । पनाय्यते स्तूयत इति । पन स्तुतौ-अर् अकारस्य उत्वं पृषोदरादित्वात् । अवधारणेन । वारंवारम् । आ+इहि । आ + इण् गतौ लोट् । आगच्छ । वाचः+पते । मं० १ । हे वाण्याः स्वामिन्, हे ब्रह्मन् । वाचस्पतिर्वाचः पाता वा पालयिता वा- नि० १० । १७ । देवेन । नन्दिग्रहि-

टिप्पणी—भगवान् यास्कमुनि ने (वाचस्पति) का अर्थ "वाचःपाता वा पालयिता वा"—अर्थात् वाणी की रक्षा करने वाला वा कराने वाला किया है–निरु०१० । १७ । और निरु०१० । १८ । में उदाहरण रूप से इस मन्त्र का पाठ इस प्रकार है ।

पुनरेहि वाचस्पते देवेन मनसा सह
वसोष्पते निरमय मय्येव तन्वं१ मम ॥ १ ॥

हे वाणी के स्वामी तू वारम्वार आ । हे धन वा अन्न के रक्षक ! प्रकाशमय मन के साथ मुझ में ही मेरे शरीर को नियम पूर्वक रमण करा ॥

मन की उत्तम शक्तियों के बढ़ाने के लिये (यज्जाग्रतो दूरमुदेति दैवम्) इत्यादि यजुर्वेद अ० ३४ म० १–६ भी हृदयस्थ करने चाहियें ।

इहैवाभि वि तनूभे आर्त्नी इव ज्यया ।
वाचस्पतिर्नि यच्छतु मय्येवास्तु मयि श्रुतम् ॥ ३ ॥

इह । एव । अभि । वि । तनु । उभेइति । आर्त्नी इवेत्यार्त्नी इव । ज्यया । वाचः । पतिः । नि । यच्छतु । मयि । एव । अस्तु । मयि । श्रुतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) इस के ऊपर (एव) ही (अभि) चारो ओर से (वितनु)

पचादिभ्योल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषा व्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु — पचाद्यच् । दिव्येन, द्योतकेन, प्रकाशमयेन । मनसा । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति मन ज्ञाने असुन् । चित्तेन, अन्तःकरणेन । वसोः । शृस्वृस्निहीति । उ० १ । १० । इति वस निवासे आच्छादने—उ प्रत्ययः । श्वसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसु शब्दः प्रशस्तवाची । श्रेष्ठगुणस्य । अथवा छन्दसि वसुनः धनस्य । पते । मं० १ । पालयितः, स्वामिन् । वसोष्पते । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् । आदेशप्रत्ययोः । पा० ८ । ३ । ५९ । इति षत्वम् । नि । नियमेन, नितराम् । रमय । हेतुमतिच । पा० ३ । १ । २६ । इति रमु क्रीडायाम्—णिच्—लोट् । णिचि वृद्धिप्राप्तौ । मितां ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९२ । इति मित्त्वात् उपधाह्रस्वः । क्रीडय, आनन्दय माम् । मयि । ममात्मनि वर्त्तमानम् । श्रुतम् । श्रूयते स्म यदिति । श्रु श्रुतौ-क्त । अधीतम्, वेदशास्त्रम् ॥

३—इह । अत्र, अस्योपरि, अस्मिन् ब्रह्मचारिणि, ममोपरि । अभि ।

तू अच्छे प्रकार फैल, (इव) जैसे (उभे) दोनों (आर्त्नी) धनुष कोटियें (ज्यया) जय के साधन, चिल्लाके साथ [तन जाती हैं]। (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (नियच्छतु) नियम में रक्खे, (मयि) मुझ में वर्त्तमान (श्रुतम्) वेद विज्ञान (मयि) मुझ में (एव) ही (अस्तु) रहे ॥३॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में शूर वीर धनुष् की दोनों कोटियों को डोरी में चढ़ा कर बाण से रक्षा करता है उसी प्रकार आदिगुरु परमेश्वर अपने कृपा-युक्त दोनों हाथों को [अर्थात् अज्ञान की हानि और विज्ञान की वृद्धि को] इस मुझ ब्रह्मचारी पर फैला कर रक्षा करे और नियम पालन में दृढ़ करके परम-सुखदायक ब्रह्मविद्या का दान करे और विज्ञान का पूरा स्मरण मुझमें रहे ॥३॥ भगवान् यास्क के अनुसार-निरुक्त ६। १७ (ज्या) शब्द का अर्थ जीतने वाली यद्वा आयु घटाने वाली अथवा बाणों को छोड़ने वाली वस्तु है ॥

उप॑हूतो वा॒चस्पति॒रुपा॒स्मान् वा॒चस्पति॑र्ह्वयताम् ।
सं श्रु॒तेन॑ गमेमहि॒ मा श्रु॒तेन॒ वि रा॑धिषि ॥ ४ ॥

उप॑-हूतः । वा॒चः । पतिः॑ । उप॑ । अ॒स्मान् । वा॒चः । पतिः॑ । ह्व॒य॒ता॒म् ।
सम् । श्रु॒तेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ । मा । श्रु॒तेन॑ । वि । रा॒धि॒षि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी, परमेश्वर (उपहूतः) समीप बुलाया गया है, (वाचस्पतिः) वाणी का स्वामी (अस्मान्) हम को उपह्वय-

---

अभितः सर्वतः। **वितनु** । तनु विस्तारे-लोट्, अकर्मकः। वितनुहि, वितन्यस्व विस्तृतो भव। **उभे** । ईदूदेद् द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १।१।११। इति प्रगृह्यम्। द्वये। **आर्त्नी** । आङ्+ऋ गतौ-क्तिन्, नकारोपसर्जनम्। पूर्ववत् प्रगृह्यम्। आर्त्नी, धनुष्कोटी, अटन्यौ धनुः प्रान्ते। आर्त्नी अर्तन्यौ वारण्यौ वारिषण्यौ वा निरु० ६। ३६॥ **ज्यया** । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा निरु० ६। १७। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति जि जये,वा, ज्या वयोहानौ णिच्—वा, जु रंहसि गतौ, णिच्—यक्। निपातनात् साधुः। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। इति ज्यु गत्याम् यद्वा, ज्या वयोहानौ,णिच्-ड। टाप्। धनुर्गुणेन, मौर्व्या। **वाचः+पतिः** म०१॥ वाण्याः स्वामी। **नि+यच्छतु** । नियमतु, नियमे रक्षतु। अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च।

४—**उप+हूतः** । उप+ह्वेञ् आह्वाने—क्त। समीपं कृतावाहनः, कृत-

ताम्) समीप बुलावे। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (संगमेमहि) हम मिले रहें। (श्रुतेन) वेद विज्ञान से (मा विराधिषि) मैं अलग न हो जाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग परमेश्वर का आवाहन करके निरन्तर अभ्यास और सत्कार से वेदाध्ययन करें जिस से प्रीति पूर्वक आचार्य की पढ़ायी ब्रह्मविद्या उन के हृदय में स्थिर होकर यथावत् उपयोगी होवे ॥

इस सूक्त का यह भी तात्पर्य है कि जिज्ञासु ब्रह्मचारी अपने शिक्षक आचार्यों का सदा आदर सत्कार करके यत्न पूर्वक विद्याभ्यास करें जिससे वह शास्त्र उन के हृदय में दृढ़भूमि होवे ॥ ४ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ । अनुष्टुप्, ८×४ । ३ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ११×३ अक्षराणि ॥

बुद्धिवृद्ध्युपदेशः— बुद्धि की वृद्धिके लिये उपदेश ।

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॒ भूरि॑धायसम् ।
वि॒द्मो ष्व॑स्य मा॒तरं॑ पृथि॒वीं भूरि॑वर्पसम् ॥ १ ॥

वि॒द्म । श॒रस्य॑ । पि॒तर॑म् । प॒र्जन्य॑म् । भूरि॑-धायसम् ।
वि॒द्मो इति॑ । सु । अ॒स्य॒ । मा॒तर॑म् । पृ॒थि॒वीम् । भूरि॑-वर्पसम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [बाणधारी] शूर पुरुष के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (भूरिधायसम्) बहुत प्रकार

स्मरणः । वाचः+पतिः । मं० १ ॥ वाण्याः पालयिता, परमेश्वरः । उप । समीपे । आदरेण । ह्वयताम् । ह्वञ्—लोट् । आह्वयतु स्मरतु । श्रुतेन । मं० २ । अधीतेन, शास्त्रविज्ञानेन । सम्+गमेमहि । सम् पूर्वकात् गम्लृ संगतौ-आशीर्लिङि । समो गम्यृच्छि प्रच्छि० । पा० १ । ३ । २९ । इति आत्मनेपदम् व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ ।८२ इति समः क्रियापदेन संवन्धः । संगच्छेमहि, संगता भूयास्म । मा+वि+राधिषि । राध संसिद्धौ । विराध वियोगे-लुङि, आत्मनेपदमेकवचनम् इडागमश्च । माङि लुङ् । पा० ३ । ३ । १७५ । इति लुङ् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति माङि अटोऽभावः । अहं वियुक्तोमा भूवम् ।

१—विद्म । विद ज्ञाने-लट् । अदादित्वात् शपो लुक् । द्व्यचोऽतस्तिङः ।

से पोषण करनेवाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (अस्य) इस शूर की माननीया माता, (पृथिवीम्) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवीरूप (भूरिवर्पसम्) अनेक वस्तुओं से युक्त [ईश्वर] को (सु) भली भांति (विद्म उ) हम जानते ही हैं॥१॥

भावार्थ—जैसे मेघ, जल की वर्षा करके और पृथ्वी, अन्न आदि उत्पन्न करके प्राणियों का बड़ा उपकार करती है, वैसे ही वह जगदीश्वर परब्रह्म सब मेघ, पृथिवी आदि लोक लोकान्तरों का धारण और पोषण नियम पूर्वक करता है। जितेन्द्रिय शूरवीर विद्वान् पुरुष उस परब्रह्म को अपने पिता के समान रक्षक, और माता के समान माननीय और मान कर्त्ता जान कर (भूरिधायाः)

पा० ६। १। १३५। इति सांहितिको दीर्घः। वयं जानीमः। **शरस्य**। शृणाति शत्रून्। ऋदोरप्। पा०३। ३। ५७। इति शॄ हिंसे-अप्। शत्रुनाशकस्य बाणस्य। अथवा, शरो बाणः, तदस्यास्ति। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति मत्वर्थे अच्। बाणवतः शूरपुरुषस्य। **पितरम्**। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०। उ० २। ९५। इति पा रक्षणे-तृन् वा तृच् निपातनात् साधुः। रक्षकम्। जनकम्। **पर्जन्यम्**। पर्षति सिञ्चति वृष्टिं करोतीति पर्जन्यः। पर्जन्यः। उ० ३। १०३। इति पृषु सेचने-अन्य प्रत्ययः, षस्य जकारः। पर्जन्यस्तृपेराद्यन्तविपरीतस्य तर्पयिता जन्यः परोजेता वा जनयिता वा प्रार्जयिता वा रसानाम्-निरु० १०। १०। सेचकम्। मेघम्। मेघवद् उपकर्त्तारम्। **भूरि-धायसम्**। वहिहाधाञ्भ्य-श्छन्दसि। उ० ४। २२१। इति भूरि+डुधाञ् धारणपोषणयोः दाने च-असुन्, स च णित्। आतो युक् चिण्कृतोः। पा०। ७। ३। ३३। इति युक्। बहुपदार्थ-धारयितारं सृष्टेः पोषयितारं परमेश्वरम् **विद्मो इति**। विद्म-उ। वयं जानीम एव। **सु**। सुष्ठु। **अस्य**। शरस्य। **मातरम्**। मान्यते पूज्यते सा माता। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ। उ० २। ९५। इति मान पूजायाम्-तृन् वा तृच्, निपातः। माननीयाम्। जननीम्। **पृथिवीम्**। १। । ३०। ३ प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्र-सारणं सलोपश्च। उ० १। २८। इति प्रथ प्रख्याने-कु। वोतो गुणवचनात्। पा० ४। १। ४४। इति। पृथु—ङीप्। विस्तीर्णा प्रख्याता वा पृथिवी। अथवा, प्रथते विस्तीर्णा भवतीति पृथिवी। प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च। उ० १। १५०। इति प्रथ ख्यातौ विस्तारे—षिवन्, संप्रसारणं च। षिद्गौरादि-भ्यश्च। पा० ४। १। ४१। इति ङीप्। भूमिम्। भूमिवद् गुणवन्तम्। **भूरि-वर्पसम्**। व्रियते स्वीक्रियते तत्। वर्पो रूपम्-निघ० ३। ७। वृङ्शीङ्भ्यां रूप-

अनेक प्रकार से पोषण करने वाला और (भूरिवर्पाः) अनेक वस्तुओं से युक्त होकर परोपकार में सदा प्रसन्न रहे ॥ १ ॥

ज्याके परि णो नमाश्मानं तन्वं कृधि ।
वीडुर्वरीयोऽरातीरप द्वेष्यांस्या कृधि ॥ २ ॥

ज्याके । परि । नः । नम । अश्मानम् । तन्वम् । कृधि ।
वीडुः । वरीयः । अरातीः । अप । द्वेषांसि । आ । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र] (ज्याके) जय के लिये (नः) हम को (परि) सर्वथा (नम) तू झुका,(तन्वम्) [हमारे] शरीरको (अश्मानम्) पत्थर सा [सुदृढ़] (कृधि) बनादे। (वीडुः) तू दृढ़ होकर (अरातीः) विरोधों और (द्वेषांसि) द्वेषों को (अप= अपहत्य) हटाकर (वरीयः) बहुत दूर (आकृधि) करदे ॥ २ ॥ अथवा, (ज्याके) दोनों जय के साधनों [मेघ और भूमि] को (नःपरि) हमारी ओर (नम) तू झुका। यह अर्थ प्रयुक्त करो।

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास करके मनुष्य आत्मबल और शरीर बल प्राप्त करें और सब विरोधों को मिटावें।

स्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । इति वृङ् स्वीकरणे—असुन्, पुट् आगमः । भूरीणि बहूनि रूपाणि वस्तूनि यस्मिन् स भूरिवर्पाः । अनेकवस्तुयुक्तः परमेश्वरम् ॥

२—ज्याके । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा प्रजावयतीषूनिति वा-निरु० ६ । १७ ॥ खजेराकः । उ० ४ । १३ । इति जि जये-आकप्रत्ययः । निपात्यते च । सप्तम्यधिकरणे च । पा० २ । ३ । ३६ । अत्र । निमित्तात् कर्मसंयोगे सप्तमी वक्तव्या । वार्तिकम् । इति निमित्ते सप्तमी । जयनिमित्ते=जयार्थम् । यद्वा १ । १ । ३ । ज्या-स्वार्थे कन, टाप् च । जयसाधने [उभे पर्जन्यपृथिव्यौ]—स्त्रियां द्वितीयाद्विवचनम् । परि । परितः सर्वतः । नः । अस्मान् । नम । नमय, प्रह्वी-कुरु । अश्मानम् । अशि शकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशू व्याप्तौ वा अश भोजने—मनिन् । अश्मा मेघनाम-निघ० १ । १० । पाषाणं, प्रस्तरवद् दृढम् । तन्वम् । १ । १ । १ छंदसि यण् । उदात्तस्वरतयोर्यणः स्वरतोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । तनूम्, शरीरम् । कृधि । डुकृञ् करणे—लोट् । कुरु । वीडुः । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति वील संस्तम्भे—उ, लस्य डः । वीलु-

सायणाचार्य ने अर्थ किया है कि (ज्याके) हे कुत्सित चिल्ला ! (नः) हम को (परि) छोड़ कर (नम) झुक। हमारी समझ में वह असंगत है, संपूर्ण सूक्त का देवता इन्द्र है ॥

वृक्षं यद्गावः परिषस्वजाना अनुस्फुरं शरमर्चन्त्यृभुम्।
शरुमस्मद् यावय दिद्युमिन्द्र ॥ ३ ॥

वृक्षम्। यत्। गावः। परि-सस्वजानाः। अनु-स्फुरम्। शरम्। अर्चन्ति। ऋभुम्। शरुम्। अस्मत्। यवय। दिद्युम्। इन्द्र ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (वृक्षम्) धनुष से (परि-सस्वजानाः) लिपटी हुयी (गावः) चिल्ले की डोरियां (अनुस्फुरम्) फुरती करते हुये (ऋभुम्) विस्तीर्ण ज्योति वाले, अथवा सत्य से प्रकाशमान वा वर्त्तमान, बड़े बुद्धिमान् (शरम्) बाणधारी शूरपुरुष की (अर्चन्ति) स्तुति करें। [तब] (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर ! [वा. हे वायु !] (शरुम्) बाण और (दिद्युम्) वज्र को (अस्मत्) हम से (यावय) तू अलग रख ॥ ३ ॥

बलनाम निघ० २।९। वीलयतिश्च व्रीलयतिश्च संस्तम्भकर्माणौ। निरु० ५।१६। वीड्वी दृढा। **वरीयः**। प्रियस्थिरेत्यादिना। पा० ६।४।१५७। इति उरु—ईयसुन्, वरादेशः। क्रियाविशेषणम्। उरुतरं दूरतरम। **अरातीः**। न राति ददाति सुखं स अरातिः शत्रुः। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३।३।१७४। इति रा दाने-क्तिच्,नञ्समासः। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण०। पा० ७।१।३९। इति पूर्वसवर्णः। अरातीन् शत्रून्। यद्वा क्तिन् प्रत्ययान्ते, शत्रुभावान्, विरोधान्। **अप**। अपहत्य। **द्वेषांसि**। द्विष अप्रीतौ भावे-असुन्। द्वेषान्। **आ**। ईषदर्थे।

३—**वृक्षम्**। स्नुव्रश्चि कृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति ओ व्रश्चू छेदने-क्स प्रत्ययः। वृक्षे वृक्षे धनुषि धनुषि वृक्षो व्रश्चनात्— निरु० २।६। धनुर्दण्डम्। धनुः। **यत्**। यदा। **गावः**। गमेर्डोः। उ० २।६७। इति गम्लृ गतौ-डो। ज्यापि गौरुच्यते गव्या चेत् ताद्धितमथचेन्न गव्या गमयतीषूनिति-निरु० २।५। ज्याः, मौर्व्यः। **परि-सस्वजानाः**। ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, लिटः कानच्, नकारलोपे द्विर्वचनम्। आश्लिष्य धनुष्कोटौ आरोपिताः। **अनु-स्फुरम्**।

भावार्थ—जब दोनों ओर से (आध्यात्मिक वा आधिभौतिक) घोर संग्राम होता हो, बुद्धिमान् चतुर सेनापति ऐसा साहस करे कि सब योद्धा लोग उस की बड़ाई करें, और वह परमेश्वर का सहारा लेकर और अपने प्राण वायु को साधकर शत्रुओं को निरुत्साह करदे, और जय प्राप्त करके आनन्द भोगे ॥३॥

निरुक्त अध्याय २, खंड ६ और ५ के अनुसार (वृक्ष) का अर्थ [धनुष] इस लिये है कि उस से शत्रु छेदा जाता है और (गौ) का नाम चिल्ला इसलिये है कि उस से बाणों को चलाते हैं ॥

यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम् ।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत् ॥ ४ ॥

यथा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । अन्तः । तिष्ठति । तेजनम् ।
एव । रोगम् । च । आ-स्रावम् । च । अन्तः । तिष्ठतु । मुञ्जः । इत् ॥४॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तेजनम्) प्रकाश (द्यां च) सूर्य लोक (च) और

स्फुर संचलने-घञर्थे कविधानम् । प्रतिस्फुरणम्, स्फूर्तियुक्तम् । **शरम्** । मं० १ । शत्रुछेदकम् । वाणधारकं शूरम् । **अर्चन्ति** । पूजयन्ति; स्तुवन्ति । **ऋभुम्** । ऋ गतौ—क्विप् । ऋकारः=उरु वा ऋतम् । ऋ + भा दीप्तौ वा भू सत्तायाम्-डु । यद्वा, उरुशब्दस्य ऋतशब्दस्य वा ऋकार आदेशः । ऋभव उरु भान्तीति वर्त्तेन भान्तीति वर्त्तेन भवन्तीति वा-निरु० ११ । १५ । ऋभुः=मेधावी-निघ० ३ । १५ । उरुभासनम्, ऋतेन सत्येन भान्तं भवन्तं वा । मेधाविनम् । **शरुम्** । शॄस्वृस्निहि० उ० १ । १० । इति शॄ हिंसायाम्-उ प्रत्ययः । छेदकं वाणम् । **अस्मत्** । अस्मत्तः । **यवय** । यु मिश्रणामिश्रणयोः-णिच्-लोट् । पृथक्कुरु, **दिद्युम्** । द्युतिगमिजुहोतां द्वे च । वार्त्तिकम् । पा० ३ । २ । १७८ । इति द्युत दीप्तौ-क्विप् । द्योतते उज्ज्वलत्वात् । अथवा दो अवखण्डने-क्विप् । द्यति खण्डयति शत्रून् । पृषोदरादिः । तलोपश्छान्दसः । दिद्युत्, वज्रः, निघ० २ । २० । वज्रम् । **इन्द्र** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इदि परमैश्वर्ये—रन् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति नित्त्वात् आद्युदात्तत्वे प्राप्ते आमन्त्रितत्वात् सर्वानुदात्तत्वम् । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ९३ । वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः-निरु० । ७ । ५ । हे परमैश्वर्यवन्, वायो, हे जीव ।

४—**यथा** । येन प्रकारेण । **द्याम्** । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति आङ्-

(पृथिवीम) पृथिवी लोक के (अन्तः) बीच में (तिष्ठति) रहता है। (एव) वैसे ही (मुञ्जः) शोधने वाला परमेश्वर [वा औषध] (इत्) भी (रोगं च) शरीर भंग (च) और (आस्रावम्) रुधिर के बहाव वा घाव के (अन्तः) बीच में (तिष्ठतु) स्थित होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी क्लेशों में (मुञ्ज) हृदय संशोधक परमेश्वर का स्मरण रखते हैं वे दुःखों से पार होकर तेजस्वी होते हैं। अथवा जैसे सद्वैद्य (मुञ्ज) संशोधक औषधि से बाहिरी और भीतरी रोग का प्रतीकार करता है, वैसे ही आचार्य विद्या प्रकाश से ब्रह्मचारी के अज्ञान का नाश करता है ॥ ४ ॥

सायण भाष्य में (तेजनम्) नपुंसक लिङ्ग को [तेजनः] पुंलिंग मानकर [वेणुः] अर्थात् बांस अर्थ किया है वह असंगत है ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-९ ॥ पर्जन्यादयो देवताः । १-५ पंक्तिः ८×५, ६-९ अनुष्टुप् छन्दः, ८×४ अक्षराणि ॥

शान्तिकरणम्—शान्ति के लिये उपदेश ।

वि॒द्मा श॒रस्य॑ पि॒तरं॑ प॒र्जन्यं॑ श॒तवृ॑ष्ण्यम् ।
तेना॑ ते त॒न्वे॒३ शं क॑रं पृथि॒व्यां ते॑ नि॒षेच॑नं
ब॒हिष्टे॑ अस्तु॒ बालिति॑ ॥ १ ॥

लकात् घु त दीप्तौ-डो प्रत्ययः । सूर्यलोकम् । **पृथिवीम्** । मं० २ । प्रख्यातां विस्तीर्णां वा भूमिम् । **अन्तः** । अम गतौ-अरन्, तुडागमः । अन्तरान्तरेण युक्ते पा० २ । ३ । ४ । इति छन्दसि मध्यशब्दस्य पर्यायवाचकत्वात् अन्तर् इति शब्देन सह द्वितीया । द्वयोर्मध्ये । **तिष्ठति** । वर्तते । **तेजनम्** । नपुंसकम् । तिज तीक्ष्णीकरणे-ल्युट् । तेजः प्रकाशः । **एव** । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति छन्दसि दीर्घम् । एवम्, तथा । **रोगम्** । पद रुजविशस्पृशो घञ् । पा० ३ । ३ । १६ । इति रुज भंगे हिंसे च-घञ् । रुजति शरीरम् । शरीरभंगम् । **आस्रावम्** । श्याऽऽद्व्यधास्रु० । पा० ३ । १ । १४१ । इति आङ्+स्रु स्रवणे-ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः। आस्रवम्, रुधिरादिस्रवणम् । आघातम् । **मुञ्जः** । मुञ्ज्यते मृज्यते अनेन । मुजि मार्जने शोधने-अच् । परमेश्वरः संशोधकः पदार्थो वा । **इत्** । एव । अपि ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । पर्जन्यम् । शत-वृष्ण्यम । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम । बहिः । ते । अस्तु । वाल् । इति ॥१ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाण धारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (पर्जन्यम्) सींचने वाले मेघ रूप (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं । (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं, और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे, और (ते) तेरा (वाल्) वैरी (बहिः) वाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ अन्न आदि उत्पन्न करता है वैसे ही मेघ के भी मेघ अनन्त शक्तिवाले परमेश्वर को साक्षात् करके जितेन्द्रिय पुरुष (शतवृष्ण्य) सैकड़ों सामर्थ्य वाला होकर अपने शत्रुओं का नाश करता और आत्मबल बढ़ा कर संसार में वृद्धि करता है ॥ १ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध के लिये १ । २ । १ । देखो ।

१-**विद्म, शरस्य, पितरम्, पर्जन्यम्** । इति पदानि व्याख्यातानि १ । २ । १ । **शतवृष्ण्यम्** । वर्षतीति वृषा । कनिन् युवृषितक्षीत्यादिना । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने-कनिन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति वृषन्-यत् । वृष्णि भवं वृष्ण्यं वीर्यं सामर्थ्यम् । बहुसामर्थ्योपेतं परमेश्वरम् । **तन्वे** । १ । १ । १ । तन्वत् सिद्धिः स्वरितश्च । शरीराय । **शम्** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शमु उपशमने-विच् । शान्तिम्, स्वास्थ्यम् । सुखम्-निघ० ३ । ६ । **करम्** । डुकृञ् करणे-लेट् । अहं कुर्याम् । **पृथिव्याम्** । १ । २ । २ । प्रख्यातायां भूमौ । **ते** । तव । **नि-सेचनम्** । नि + षिच सेचने-भावे ल्युट् । आर्द्रीकरणं, वर्धनम, वृद्धिः । **बहिः** । वह प्रापणे—इसुन् । बाह्यम् बहिर्देशे । **वाल्** । वल वधे-क्विप् वलति हिनस्तीति वाल् वलः, असुरः, दैत्यः, वैरी । **इति** । इण् गतौ-क्तिच् । पर्य्याप्तम् अलम् (इति सर्वकम्) मं० ६-६ ॥

विद्मा शरस्य पितरं मित्रं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ २ ॥

विद्म। शरस्य । पितरम् । मित्रम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते ।
तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि- सेचनम् । बहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक शूर [वा बाणधारी] के (पितरम्) रक्षक पिता, (मित्रम्) सबके चलाने वाले [वा स्नेहवान्] वायु रूप (शतवृष्ण्यम्) सैंकड़ों सामर्थ्यवाले [परमेश्वर] का (विद्म) हम जानते हैं। तेन उस [ज्ञान] से - - - - - ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब प्राणियों के जीवन का आधार है वैसे ही परमेश्वर वायु का भी प्राण है इत्यादि ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (मित्र) शब्द का अर्थ दिन का अभिमानी देवता है ॥

विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ३ ॥

विद्म। शरस्य । पितरम् । वरुणम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन ।
ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि-सेचनम् । बहिः ।
ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ३ ॥

२—मित्रम् । अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति डुमिञ् । प्रक्षेपणे—क्त्र । मिनोति प्रेरयति वृष्टिं अन्यपदार्थान् चेति मित्रः, यद्वा मिद-स्नेहे-त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । वायुवत् उपकारकम् । मित्रशब्दो भगवता यास्केन मध्यस्थानदेवतासु पठितः-निरु० १० । २१-२२ । अहरभिमानी देवो मित्रः-इति सायणः । वायुम् । दिनकालम् । शेषं पूर्ववद् योज्यम्, मन्त्रे १ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रु नाशक [वा वाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता, (वरुणम्) लोकों के ढकनेवाले आकाश रूप विस्तीर्ण (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान]से ---॥ ३॥

भावार्थ---आकाश में सूर्य भूमि आदि लोक स्थित हैं और परमेश्वर के आधीन आकाश भी है--इत्यादि॥ ३॥

(वरुण) मध्यस्थान देवतानिरु० १०। ३। इस से वृष्टिजल का अर्थ प्रतीत होता है, परन्तु (पर्जन्य) शब्द मं १ में आ चुका है, इस से यहां पर वृष्टि का आधार और सब का ढकने वाला आकाश अर्थ है। सायण भाष्य में रात्रि का अभिमानी देवता अर्थ है॥

विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति॥ ४॥

विद्म। शरस्य। पितरम्। चन्द्रम्। शत-वृष्ण्यम्। तेन। ते। तन्वे। शम्। करम्। पृथिव्याम्। ते। नि-सेचनम्। बहिः। ते। अस्तु। बाल्। इति॥ ४॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक (वा वाणधारी) शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले, चन्द्रमा रूप उपकारी (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से ......॥ ४॥

३—वरुणम्। कृवृदारिभ्य उनन्। उ० ३। ५३। इति वृञ् वरणे-उनन्। आवृणोति लोकान्। मध्यस्थानदेवतासु—वरुणो वृणोतीति सतः—निरु० १०। ३। लोकानामावरकम्, अन्तरिक्षम् आकाशं वा। वरुणो रात्र्यभिमानी देवः-इति सायणः। शेषं पूर्ववद् व्याख्येयम्, मं० १।

४—चन्द्रम्। स्फायितञ्चीत्यादिना,उ० २। १३। इति चदि आह्लादने-रक्। चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः निरु० ११। ५। आह्लादकं देवं, हिमांशुम्।

भावार्थ—(चन्द्र) आनन्द देनेवाला अर्थात् अपनी किरणों से अन्न आदि औषधों को पुष्ट करके प्राणियों को बल देता है। उस चन्द्रमा का भी आह्लादक वह परमेश्वर है, ऐसा ही मनुष्य को आनन्द देने वाला होना चाहिये ॥ ४ ॥

विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम् ।
तेना ते तन्वे ३ शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं
बहिष्टे अस्तु बालिति ॥ ५ ॥

विद्म । शरस्य । पितरम् । सूर्यम् । शत-वृष्ण्यम् । तेन । ते । तन्वे । शम् । करम् । पृथिव्याम् । ते । नि—सेचनम् । बहिः । ते । अस्तु । बाल् । इति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शरस्य) शत्रुनाशक [वा बाणधारी] शूर के (पितरम्) रक्षक, पिता (सूर्यम्) चलनेवाले वा चलानेवाले सूर्य समान [उपकारी] (शतवृष्ण्यम्) सैकड़ों सामर्थ्य वाले [परमेश्वर] को (विद्म) हम जानते हैं। (तेन) उस [ज्ञान] से (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) नीरोगता (करम्) मैं करूं और (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ते) तेरा (निसेचनम्) बहुत सेचन [वृद्धि] होवे और (ते) तेरा (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (अस्तु) होवे, (इति) बस यही ॥ ५ ॥

भावार्थ—(सूर्य) आकाश में वायु से चलता है और लोकों को चलाता और वृष्टि आदि उपकार करता और बड़ा तेजस्वी है। वह परब्रह्म उस सूर्य का भी सूर्य है। उसके उपकारों को जान कर तेजस्वी मनुष्य परस्पर उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

इन्दुम्। तद्वत् उपकारकम्। अन्यत्—यथा मं० १।

५—सूर्यम्। राजसूयसूर्येत्यादिना। पा० ३। १। ११४। इति सृ सरणे क्यप्। निपातनात् ऋकारस्य उत्वम्। सरत्याकाशे स सूर्यः। यद्वा, षू प्रेरणे, तुदादिः—क्यप्, रुट् आगमः। सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः। यद्वा सु + ईर गतौ कर्मणि क्यपि निपात्यते। वायुना। सुष्ठु ईर्यते प्रेर्यते स सूर्यः। सूर्यः सर्त्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा। इति यास्कः—निरु० १२। १४। आदित्यम्, सूर्यवत् उपकारकम्। शेषम्—व्याख्यातम् मं० १।

यदा॒न्त्रेषु॑ ग॒वीन्यो॒र्यद्व॒स्तावधि॒ संश्रु॑तम् ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालिति॒ सर्व॒कम् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒न्त्रेषु॑ । ग॒वीन्योः । यत् । व॒स्तौ । अधि॑ । सम्ऽश्रु॑तम् ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ताम् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (यत्) कि (आन्त्रेषु) आंतों में और (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में और (वस्तौ अधि) मूत्राशय के भीतर (संश्रुतम्) एकत्र हुआ [मूत्र छूटता है]। (एव) वैसे ही (ते मूत्रम्) तेरा मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यही सब है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर में रुका हुआ सारहीन मल विशेष, मूत्र अर्थात् प्रस्राव क्लेश देता है और उस के निकाल देने से चैन मिलता है वैसे ही मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक शत्रुओं के निकाल देने से सुख पाता है ॥ ६ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (संश्रुतम्) के स्थान में (संश्रितम्) मानकर "समवस्थितम्" [ठहरा हुआ] अर्थ किया है ॥

६—**यत्** । यथा । **आन्त्रेषु** । अमत्यनेन. अम गतौ—क्त, । अति वन्धने — करणे ष्ट्रन् । उपधादीर्घः । अन्त्रेषु. उदरनाड़ीविशेषेषु । **गवीन्योः** । हुदद्दिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति गुङ् ध्वनौ—इनन् । ङीप् । छान्दसो दीर्घः । पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ इत्युच्यते, तयोः—इति सायणः । **वस्तौ** । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति वस आच्छादने—ति प्रत्ययः । वसति मूत्रादिकम् । मूत्राशये । **अधि** । उपरि, मध्ये । **सम्-श्रुतम्** । श्रु श्रवणे गतौ च—क्त । सम्यक् श्रुतम् । संगतम् । **एव** । एवम्, तथा । **मूत्रम्** । मूत्र प्रस्रावे-घञ् । यद्वा, सिविमुच्योष्टेरूच । उ० ४ । १६३ । इति मुच त्यागे—ष्ट्रन्, ऊत्वं च । मुच्यते त्यज्यते इति । प्रस्रावः, मेहनम् । सारहीनो मलद्रवः। **मुच्यताम्** । मुच—कर्मणि लोट् । त्यज्यताम्, निर्गच्छतु । **सर्वकम्** । अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७१ । इति अकच् । सर्वम् । अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

प्र ते॑ भिनद्मि॒ मेह॑नं॒ वर्त्रं॒ वे॑श॒न्त्या इ॑व ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालि॒ति॑ सर्व॒कम् ॥ ७ ॥

प्र । ते॒ । भि॒न॒द्मि॒ । मेह॑नम् । व॒र्त्रम् । वे॒श॒न्त्याः–इ॑व ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ७ ॥

भावार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) मूत्र द्वार को (प्रभिनद्मि) मैं खोले देता हूं, (इव) जैसे (वेशन्त्याः) झील का पानी (वर्त्रम्) बन्ध को [खोल देता है]। (एव), वैसे ही ········ म. ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य लोह शलाका से रोगी के रुके हुये मूत्र को झील के पानी के समान खोलकर निकाल देता है वैसे ही मनुष्य अपने शत्रु को निकाल देवे ॥ ७ ॥

वि॒षि॒तं ते॑ वस्ति॒बि॒लं स॑मु॒द्रस्यो॑द॒धेरि॑व ।
ए॒वा ते॒ मूत्रं॑ मुच्यतां ब॒हिर्बालि॒ति॑ सर्व॒कम् ॥ ८ ॥

वि-सि॒तम् । ते॒ । व॒स्ति॒-बि॒लम् । स॒मु॒द्रस्य॑ । उ॒द॒धेः-इ॑व ।
ए॒व । ते॒ । मूत्र॑म् । मु॒च्य॒ता॒म् । ब॒हिः । बाल् । इति॑ । स॒र्व॒कम् ॥ ८ ॥

भावार्थ—(ते) तेरा (वस्तिविलम्) मूत्र मार्ग (विषितम्) खोल दिया

प्र+भिनद्मि । भिदिर् विदारणे—लट् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । विवृणोमि, विवृतं करोमि । मेहनम् । मिह सेचने-करणे ल्युट् । मेहति सिञ्चति मूत्रम् । मूत्रमार्गम् । वर्त्रम् । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । वृतु वर्तने-ष्ट्रन् । वन्धम् । वेशन्त्याः । जॄविशिभ्यां झच् । उ० ३ । १२६ । इति विश प्रवेशे –झच् । झोऽन्तः । पा० ७ । १ । ३ । इति झस्य अन्तादेशः, वेशन्तः, जलाशयः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । वेशन्ते सरोवरे भवा आपः । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ।

८-वि-सितम् । वि+षो अन्तकर्मणि—क्त, यद्वा,षिञ् वन्धे–क्त । विमुक्तम् वस्ति-बिलम् । म० १ । वस्ति+बिल स्तृतौ-क । मूत्रस्य छिद्रं मार्गम् ।

गया है, (इव) जैसे (उदधेः) जल से भरे (समुद्रस्य) समुद्र का [मार्ग]। (एव) वैसे ही········। म. ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ॥

यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः ।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम् ॥ ९ ॥

यथा । इषुका । परा-अपतत् । अव-सृष्टा । अधि । धन्वनः ।
एव । ते । मूत्रम् । मुच्यताम् । बहिः । बाल् । इति । सर्वकम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (धन्वनः अधि) धनुष् से (अवसृष्टा) छूटा हुआ (इषुका) बाण (परा-अपतत्) शीघ्र चला गया हो। (एव) वैसे ही (ते) तेरा (मूत्रम्) मूत्र रूप (बाल्) वैरी (बहिः) बाहिर (मुच्यताम्) निकाल दिया जावे (इति सर्वकम्) यह बस है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सरल है, ऊपर के मन्त्र देखो ॥ ९ ॥

समुद्रस्य । स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक् सम्यक् उनत्ति क्लेदयति जलेन जगत् इति समुद्रः । समुद्रः कस्मात् समुद्द्रवन्त्यस्मादापः समभिद्रवन्त्येनमापः सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा-निरु० २ । १० । समुद्रः = अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । सागरस्य । **उदधेः** । कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति उद वा उदक + डुधाञ् धारणपोषणयोः- कि । उदकपूर्णस्य । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

९—**इषुका** । इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा । निरु० ९ । १८ । इति ईष गतौ वधे—उ प्रत्ययः । स्वार्थे—कन्, टाप् । इषुः, बाणः । **परा-अपतत्** । पत गतौ-लङ् । शीघ्रं दूरे अगच्छत् । **अवसृष्टा** । सृज—विसर्गे—क्त । विमुक्ता । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुवादो । **धन्वनः** । कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ—कनिन् । धनुषः सकाशात्, चापात् । शेषं पूर्ववत् म० ६ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१—४ । आपो देवताः १-३ गायत्री, ४ पङ्क्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

परस्परोपकारोपदेशः— परस्पर उपकार के लिये उपदेश ॥

अम्बयो यन्त्यध्वभिर्जामयो अध्वरीयताम् ।
पृञ्चतीर्मधुना पयः ॥ १ ॥

अम्बयः । यन्ति । अध्व-भिः । जामयः । अध्वरि-यताम् ।
पृञ्चतीः । मधुना । पयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अम्बयः) पाने योग्य मातायें और (जामयः) मिलकर भोजन करने हारी, बहिनें [वा कुलस्त्रियां] (मधुना) मधु के साथ (पयः) दूध को (पृञ्चतीः) मिलाती हुई (अध्वरीयताम्) हिंसा न करने हारे यजमानों के (अध्वभिः) सन्मार्गों से (यन्ति) चलती हैं ॥ १ ॥

१—अम्बयः । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४।११८ । इति अम्ब गतौ-इन् । प्रापणीया मातरः । मातृभूता आपः । अम्बाशब्दवद् अम्बिशब्दो वेदे मातृवाची । यथा । अम्बितमे नदीतमे । ऋ० २ । ४१ । १६ । अम्बे अम्बिकेऽम्बालिके । य० २४ । १८ । यन्तिः । इण् गतौ-लट् गच्छन्ति । अध्वभिः । अत्ति, गमनेन बलं नाशयति स अध्वा । अदेर्ध च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे-क्वनिप्, पृषोदरादित्वात् दस्य धः । यद्वा । अत सातत्यगमने-क्वनिप्, तकारस्य धः । सन्मार्गैः । जामयः । वसिवपियजिराजि० । उ० ४ । १२५ जम भक्षणे-इञ् । जमन्ति, संगत्य भोजनं कुर्वन्ति ताः । कुलस्त्रियः । भगिन्यः । भगनीवत् सहायभूताः पुरुषाः । अध्वरि-यताम् । अध्वानं सत्पथं रातीति । अध्वन् + रा-दानग्रहणयोः-क । यद्वा । न ध्वरति कुटिलीकरोति हिनस्तीति वा । न + ध्वृ कुटिलीकरणे, हिंसने च-अच् । अध्वर इति यज्ञनाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः- निरु० १ । ८ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति अध्वर + क्यच् । शतृ । क्यचि च । पा० ७ । ४ । ३३ । अकारस्य ईत्वम् । सन्मार्गदातारं कौटिल्यरहितं वा यज्ञमिच्छतां यजमानानाम् । पृञ्चतीः । पृची सम्पर्के-शतृ । ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पृञ्चत्यः । संयोज-

भावार्थ—जो पुरुष, पुत्रों के लिये माताओं के समान, और भाइयों के लिये बहिनों के समान, हितकारी होते हैं वे सन्मार्गों से आप चलते और सब को चलाते हैं ॥ १ ॥

अमूर्या उप सूर्ये याभिर्वा सूर्यः सह ।
ता नो हिन्वन्त्वध्वरम् ॥ २ ॥

अमूः । याः । उप । सूर्ये । याभिः । वा । सूर्यः । सह ।
ताः । नः । हिन्वन्तु । अध्वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वह (याः) जो [माता और बहिनें] (उप=उपेत्य) समीप होकर (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में रहती हैं, (वा) और (याभिः सह) जिन [माता और बहिनों] के साथ (सूर्यः) सूर्यका प्रकाश है। (ताः) वह (नः) हमारे (अध्वरम्) उत्तम मार्ग देने हारे वा हिंसा रहित कर्म को (हिन्वन्तु) सिद्ध करें वा बढ़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में दो बातों का वर्णन है एक यह कि किसी में उत्तम गुणों का होना, दूसरे यह कि उन उत्तम गुणों का फैलाना ॥ २ ॥

१–जो नररत्न माता और भगिनियों के समान परिश्रमी और उपकारी होकर सूर्य रूप विद्या के प्रकाश में विराजते हैं और जिनके सत्य अभ्यास से सूर्यवत् विद्या का प्रकाश संसार में फैलता है, वह तपस्वी पुण्यात्मा संसार में सुख की वृद्धि करते हैं ॥

यन्त्यः। मधुना। फलिपाटिनमिमनिजनां गक्पटिनाकिधतश्च। उ० १। १८। इति मन ज्ञाने-उ। धश्चान्तादेशः। रसभेदेन। मधुरगुणेन। पयः। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति पीङ् पाने-असुन्। दुग्धम्, रसम् ॥

२–अमूः। अदस्, स्त्रियां जस्। ताः परिदृश्यमानाः। याः। अम्बयो जामयश्च, म० १। यद्वा। आपः, म० ३। उप। समीपे, उपेत्य। आधिपत्येन। आदरेण। सूर्ये। १।३।५। आदित्यलोके। सूर्यवद् ज्ञानप्रकाशे। सूर्यप्रकाशे। याभिः। अम्बिजामिभिः। अद्भिः। वा। समुच्चये। विकल्पे। सूर्यः। १।३।५। सवितृलोकः। तद्वद् ज्ञानप्रकाशः। सवितृप्रकाशः। सह। षह क्षमायाम्-अच्। साहित्ये।

२—जो (अमूः) इत्यादि स्त्री लिंग शब्दों का संबन्ध मन्त्र ३ के (आपः) शब्द से माना जावे तौ यह भावार्थ है। पहिले जल मूर्त्तिमान पदार्थों से किरणों द्वारा सूर्य मंडल में [जहां तक सूर्य का प्रकाश है] जाता है, फिर वही जल सूर्य की किरणों से छिन्न भिन्न होने के कारण दिव्य बनकर भूमि आदि पदार्थों के आकर्षण से बरसता और महा उपकारी होता है। इस जल के समान, विद्वान् पुरुष ब्रह्मचर्य आदि तप करके संसार का उपकार करते हैं ॥

अपो देवीरुप॑ह्वये यत्र गाव॑: पिब॑न्ति नः ।
सिन्धु॑भ्य॒: कर्त्वं॑ ह॒विः ॥ ३ ॥

अ॒पः । दे॒वीः । उप॑ । ह्व॒ये॒ । यत्र॑ । गाव॑: । पिब॑न्ति । न॒: । सिन्धु॑भ्यः । कर्त्व॑म् । ह॒विः ॥ ३

भावार्थ—(यत्र) जिस जल में से (गावः) सूर्य की किरणें [वा गौयें आदि जीव वा भूमि प्रदेश] (नः) हमारे लिये (हविः) देने वा लेने योग्य अन्न वा जल (कर्त्वम्) उत्पन्न करने को (सिन्धुभ्यः) बहने वाले समुद्रों से (पिबन्ति) पान करती हैं। (देवीः) उस उत्तम गुण वाले (अपः) जल को (उप) आदर से (ह्वये) मैं बुलाता हूं ॥ ३ ॥

नः । अस्माकम्। हिन्वन्तु । हिवि प्रीणने, लोट् । इदितो नुम्धातोः । पा० ७ । १ । ५८ । इति इदित्वात् नुम्। अथवा । हि वर्धने स्वादिः—लोट् । प्रीणयन्तु, साधयन्तु । वर्धयन्तु अध्वरम् । म० १ । सन्मार्गदातृ हिंसारहितं वा कर्म । यज्ञम् ।

३—अपः । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २।५८। इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्। इति अप्। अप् शब्दो नित्यस्त्रीलिङ्गो बहुवचनान्तश्च । व्यापयित्रीः, जलधाराः। जलवत् उपकारिणः पुरुषान्। देवीः नन्दिग्रहिपचादिभ्यः० । पा० ३। १। १३४ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—पचाद्यच् । ङीप् । दिव्याः, द्योतमानाः। ह्वये । अहमाह्वयामि। यत्र । यासु अप्सु । गावः १ । २ । ३ । धेनवः । उपलक्षणमेतत्। सर्वे जीवा इत्यर्थः । सूर्यकिरणाः । भूलोकाः । पिबन्ति । पाघ्रा० इत्यादिना। पा० ७ । ३ । ७८ । इति पा पाने—शपि पिबादेशः । पानं कुर्वन्ति । नः । अस्मदर्थम्। सिन्धुभ्यः

भावार्थ—जल को सूर्य की किरणें समुद्र आदि से खींचती हैं वह जल फिर बरस कर हमारे लिये अन्न आदिक पदार्थ उत्पन्न करके सुख देता है । अथवा गौ आदि सब प्राणी जल द्वारा उत्पन्न पदार्थों से सुखी होकर सब को सुखी करते हैं, वैसे ही हम को परस्पर सहायक और उपकारी होना चाहिये ॥ ३ ॥

अप्स्व १ न्तरमृतमप्सु भेषजम् ।
अपामुत प्रशस्तिभिरश्वा भवथ वाजिनो
गावो भवथ वाजिनीः ॥ ४ ॥

अप्-सु । अन्तः । अमृतम् । अप्-सु । भेषजम् । अपाम् । उत । प्रशस्ति-भिः । अश्वाः । भवथ । वाजिनः । गावः । भवथ । वाजिनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अप्सु अन्तः) जल के बीच में (अमृतम्) रोग निवारक अमृत रस है और (अप्सु) जल में (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है । (उत) और (अपाम्) जल के (प्रशस्तिभिः) उत्तम गुणों से (अश्वाः) हे घोड़ो तुम, (वाजिनः) वेग वाले (भवथ) होते हो, (गावः) हे गौओ, तुम (वाजिनीः=०—न्यः) वेग वाली (भवथ) होती हो ॥ ४ ॥

स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ । ११ । इति स्यन्दू स्रवणे–उ प्रत्ययः, दस्य धः सम्प्रसारणं च । स्यन्दनशीलेभ्यः समुद्रेभ्यः सकाशात् । कर्तवम् । डुकृञ् करणे-तुम् । छान्दसं रूपम् । कर्तुम् । हविः । अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ इति । हु दानादानादनेषु—इसि । यद्वा । ह्वञ् आह्वाने—इसि । हूयते दीयते गृह्यते वा तद् हविः । हव्यम् । अन्नम् आवाहनम् । उदकम्–निघ० १ । १२ ।

४—अप्सु । मन्त्र ३ । जलधारासु । अन्तः । मध्ये । अमृतम् । रोगनिवारकं रसम् । भेषजम् । भिषजो वैद्यस्येदम् । भिषज्–अण्, निपातनात् षत्वम् । यद्वा भेषं भयं रोगं जयतीति, जि जये—ड । औषधम् अपाम् । म० ३ । जलधाराणाम् । उत । अपि च । प्रशस्ति-भिः । प्र+शन्स स्तुतौ–क्तिन् । उत्तमगुणैः । अश्वाः । हे तुरगाः । भवथ । भू–लट् । यूयं वर्तध्वे ।

भावार्थ--जल से रोग निवारक और पुष्टि वर्धक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। जैसे जल से उत्पन्न हुये घास आदि से गौयें और घोड़े बलवान् होकर उपकारी होते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य अन्न आदि के सेवन से पुष्ट रह कर और ईश्वर की महिमा जान कर सदा परस्पर उपकारी बनें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ. १ । २३ । १६, है ॥

भगवान् मनु ने कहा है—अ. १ । ८ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः ।

अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥

उस [परमात्मा] ने ध्यान करके अपने शरीर [प्रकृति] से अनेक प्रजाओं के उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये पहिले (अपः) जल को ही उत्पन्न किया और उस में बीज को छोड़ दिया ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—४ । आपो देवताः । गायत्री छन्दः ॥

बलप्राप्त्युपदेशः— बल की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन ।

महे रणाय चक्षसे ॥ १ ॥

आपः । हि । स्थ । मयः-भुवः । ताः । नः । ऊर्जे । दधातन । महे । रणाय । चक्षसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! [जल के समान उपकारी पुरुषों] (हि)

वाजिनः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वाज—भूम्नि मत्वर्थीय इनि प्रत्ययः । वेगवन्तः, बलयुक्ताः । वाजी वेजनवान्-निरु० २ । २८ । **गावः** । १।२।३ हे धेनवः । **अश्वाः । गावः**-सर्वे प्राणिनः इत्यर्थः । **वाजिनीः** । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति वाजिन्-ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वाजिन्यः, वेगवत्यः, बलवत्यः ॥

१-**आपः** । १ । ४ । ३ । हे व्यापयित्र्यः । जलधाराः । जलवत् उपकारिणः,

निश्चय करके (मयोभुवः) सुखकारक (स्थ) होते हो, (ताः) सो तुम (नः) हम को (ऊर्जे) पराक्रम वा अन्न के लिये, (महे) बड़े बड़े (रणाय) संग्राम वा रमण के लिये और (चक्षसे) [ईश्वर के] दर्शन के लिये (दधातन) पुष्ट करो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल स्नान, पान, खेती, वाड़ी, कला, यन्त्र, आदि में उपकारी होता है, वैसे मनुष्यों को अन्न, बल, और विद्या की वृद्धि से परस्पर वृद्धि करनी चाहिये ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद १० । ६ । १—३ ॥ यजुर्वेद ११ । ५०—५२,
तथा ३६ । १४-१६ सामवेद उत्तरार्चिक प्रपा०६ अर्धप्र०२ सू० १० ॥

यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः ।
उशतीरिव मातरः ॥ २ ॥

यः । वः । शिव-तमः । रसः । तस्य । भाजयत । इह । नः ।
उशतीः-इव । मातरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो (वः) तुम्हारा (शिवतमः) अत्यन्त सुखकारी (रसः) रस है, (इह) यहां [संसार में] (नः) हम को (तस्य) उस

पुरुषाः। हि। निश्चयेन। स्थ। अस सत्तायां-लट्। भवथ। मयः-भुवः। मयः+भू सत्तायां-क्विप्। मिञ् हिंसायाम्-असुन्। मिनोति हिनस्ति दुःखम्। मयः सुखम्-निघ०३। ६। सुखस्य भावयितारः कर्त्तारः। ताः। आपो यूयम्। नः। अस्मान्। ऊर्जे। क्विप् च। पा० ३। २। ७६। इति ऊर्ज बलप्राणनयोः-क्विप्। बलार्थम् अन्नार्थं वा। दधातन। तप्तनप्तनथनाश्च। पा० ७। १। ४५। इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट्, तकारस्य तनप् आदेशः। धत्त, पोषयत। महे। मह पूजायां-क्विप्। महते। विशालाय। रणाय। रण रवे—घञर्थे क। युद्धाय। यद्वा। रमतेर्भावे—ल्युट् मकारलोपश्छान्दसः। रमणाय। क्रीडनाय। रणाय रमणीयाय-निरु० ६। २७। यत्रायं मन्त्रो भगवता यास्केन व्याख्यातः। चक्षसे। चक्षेर्बहुलं शिच्च। उ० ४। २३३। इति चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-भावे असुन्। दर्शनाय॥

२—शिव-तमः। अतिशायने तमबिष्ठनौ। पा० ५। ३। ५५। इति तमप्। अतिशयेन कल्याणकरः। रसः। रस आस्वादे—अच्। सारः।

का (भाजयत) भागी करो, (इव) जैसे (उशतीः) प्रीति करती हुई (मातरः) मातायें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मातायें प्रीति के साथ सन्तानों को सुख देती हैं और जैसे जल संसार में उपकारी पदार्थ है, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकारी बन कर लाभ उठावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

तस्मा अरं गमाम वो यस्य क्षयाय जिन्वथ ।
आपो जनयथा च नः ॥ ३ ॥

तस्मै । अरम् । गमाम । वः । यस्य । क्षयाय । जिन्वथ ।
आपः । जनयथ । च । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुषार्थी मनुष्यो !] (तस्मै) उस पुरुष के लिये (वः) तुम को (अरम्) शीघ्र वा पूर्ण रीति से (गमाम) हम पहुंचावें, (यस्य) जिस पुरुष के (क्षयाय) ऐश्वर्य के लिये (जिन्वथ) तुम अनुग्रह करते हो। (आपः) हे जलो [जल समान उपकारी लोगो] (नः) हम को (च) अवश्य (जनयथ) तुम उत्पन्न करते हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे जल, अन्न आदि को उत्पन्न करके शरीर के पुष्ट करने और नौका, विमान आदि के चलाने में उपयोगी होता है इसी प्रकार जल के

भाजयत । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति भज सेवायां—णिच्-लोट् । भागिनः कुरुत । सेवयत । **उशतीः** । वश कान्तौ=अभिलाषे-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । उशत्यः, कामयमानाः, प्रीतियुक्ताः । **मातरः** । १ । २ । १ । जनन्यः ॥

३—**अरम्** । ऋ गतौ-अच् । शीघ्रम् । यद्वा, अल भूषणे निवारणे-अमु । लस्य रत्वम् । अलम्, पर्य्याप्तं पूर्णतया । **गमाम** । गम्लृ गतौ णिच्-छान्दसो लोट् । वयं गमयाम, प्रापयाम । **क्षयाय** । एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति क्षि निवासे ऐश्वर्ये च—अच् । निवासाय । ऐश्वर्यप्राप्तये । **जिन्वथ** । जिवि प्रीणने लट् । यूयं तर्पयथ । वर्धयथ । अनुगृह्णीध्वम् । **आपः** । १ । ४ । ३ । हे जल-

समान उपकारी पुरुष सब लोगों को लाभ और कीर्त्ति के साथ पुनर्जन्म देते हैं ॥ ३ ॥

ईशाना वार्याणां क्षयन्तीश्चर्षणीनाम् ।
अपो याचामि भेषजम् ॥ ४ ॥

ईशानाः । वार्याणाम् । क्षयन्तीः । चर्षणीनाम् ।
अपः । याचामि । भेषजम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वार्याणाम्) चाहने योग्य धनों की (ईशानाः) ईश्वरी और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों की (क्षयन्तीः) स्वामिनी (अपः) जल धाराओं [जल के समान उपकारी प्रजाओं] से मैं, (भेषजम्) भय जीतनेवाले औषध को (याचामि) मांगता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जल से अन्न आदि औषध उत्पन्न होकर मनुष्य के धन और बल का कारण हैं। सो जल के समान गुणी महात्माओं से सहाय लेकर मनुष्यों को आनन्दित रहना चाहिये ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ. १० । ६ । ५ । है ॥

धाराः । जनयथ । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति जनी प्रादुर्भावे-णिच्-लट्, सांहितको दीर्घः । यूयं प्रादुर्भावयथ, उत्पादयथ, प्रजया यशसा वा वर्धयथ । च । अवधारणे, अवश्यम् । समुच्चये ॥

५—**ईशानाः** । ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरीः, नियन्त्रीः । **वार्याणाम्** । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वृङ् संभक्तौ-ण्यत् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । वरणीयानां, धनानाम् । **क्षयन्तीः** । क्षि निवासे, ऐश्वर्ये च-लटः शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । ईश्वरीः, स्वामिनीः । **चर्षणीनाम्** । कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । इति कृष कर्षणे-अनि, चादेशः । आकर्षन्ति वशीकुर्व्वन्ति—इत्यर्थः । चर्षणयः=मनुष्याः निघ० २ । ३ । पूर्ववत् कर्मणि षष्ठी । मनुष्याणाम् । **अपः** । अकथितं च । पा० १ । ४ । १०४ । इति अपादाने द्वितीया । जलधाराः । जलधारासकाशात् । जलवत् उपकारिभ्यो मनुष्येभ्यः । **याचामि** । याचृ याच्ञायाम्—लट् । द्विकर्मकः । अहं याचे, प्रार्थये । **भेषजम्** । १ । ४ । ४ । रोगनिवर्तकम्, औषधम् ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—४॥ आपो देवताः । १—३ गायत्री, ४ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

आरोग्यतोपदेशः—आरोग्यता के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ देवीरभिष्टय आपो॑ भवन्तु पीतये॑ ।

शं योर॒भि स्र॑वन्तु नः ॥ १ ॥

शम् । नः । देवीः । अभिष्टये । आपः । भवन्तु । पीतये॑ ।

शम् । योः । अभि । स्रवन्तुः । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवीः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल [जल के समान उपकारी पुरुष] (नः) हमारे (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये और (पीतये) पान वा रक्षा के लिये (शम्) सुख दायक (भवन्तु) होवें। और (नः) हमारे (शम्) रोग की शान्ति के लिये, और (योः) भय दूर करने के लिये (अभि) सब ओर से (स्रवन्तु) वर्षा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि से जल के समान उपकारी पुरुष सब के दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति में प्रयत्न करते रहें ॥ १ ॥

१—शम् । १ । ३ । १ । सुखं, सुखकारिण्यः । देवीः । १ । ४ । ३ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । देव्यः । दिव्याः । अभिष्टये । अभि+इष वाञ्छायाम्—क्तिन् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । अभीष्टसिद्धये । आपः । १ । ४ । ३ । जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । पीतये । घुमास्थापाजहातिसां हलि । पा० ६ । ४ । ६६ । इति पा पाने-क्तिनि प्रत्यये ईत्वम् । यद्वा । पा रक्षणे, ओप्यायी, प्यैङ वृद्धौ वा-क्तिन्, क्तिच् वा । यथा । पः किच्च । उ० १ । ७१ । इति पा-तु प्रत्ययः । पिबति पाति वा स पीतुः । कित्वात् ईकारः । पानाय, रक्षणाय, वृद्धये । शम् । १ । ३ । १ । रोगशमनाय । योः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-विच्, सकारश्छान्दसः यद्वा । यु—डोस् ।

मन्त्र १, य० ३६ । १२ । मन्त्र १—३ ऋ० म० १० सू० ६ म० ४, ६, ७ ।
तथा मन्त्र २, ३ ऋ० म० १ सू० २३ म० २०, २१ हैं ॥

अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा ।
अग्निं च विश्वशंभुवम् ॥ २ ॥

अप्-सु । मे । सोमः । अब्रवीत् । अन्तः । विश्वानि । भेषजा ।
अग्निम् । च । विश्व-शंभुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ने [चन्द्रमा या सोमलता ने] (मे) मुझे (अप्सु अन्तः) व्यापन शील जलों में (विश्वानि) सब (भेषजा=०-नि) औषधों को, (च) और (विश्वशम्भुवम्) संसार के सुखदायक (अग्निम्) अग्नि [बिजुली वा पाचनशक्ति] को बताया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब विद्याओं का प्रकाशक है, चन्द्रमा औषधियों को पुष्ट करता है, और सोमलता मुख्य औषधि है। यह सब पदार्थ जैसे जल द्वार औषधों, अन्न आदि और शरीरों के बढ़ाने, बिजुली और पाचन शक्ति पहुंचाने और तेजस्वी करने में मुख्य कारण होते हैं वैसे ही मनुष्यों को परस्पर सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करना चाहिये ॥ २ ॥

शंयोः......शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्, इति निरु० । ४ । २१ । भय-पृथक्कारणाय । अभि । सर्वतः । स्रवन्तु । स्रु प्रस्रवणे । वर्षन्तु ॥

२—अप्सु । १ । ४ । ३ । व्यापयितृषु, जलेषु जलवद् गुणिषु मनुष्येषु-इत्यर्थः । सोमः । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः । परमेश्वरः । चन्द्रमाः । सोमलता । अब्रवीत् । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लङ् । उपदिष्टवान् । अकथयत् । अन्तः । मध्ये । विश्वानि । सर्वाणि । भेषजा । १ । ४ । ४ । शेश्छन्दसि बहुलम् । पा० ६ । १ । ७० । इति शेर्लोपः । भेषजानि । भयनिवारणानि । औषधानि । अग्निम् । अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । इति अगि गतौ-नि, नलोपः । तेजः । वैश्वानरं । वह्निम् । पाचनशक्तिम् । विश्व-शंभुवम् । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति विश्व+शम्+भू-क्विप्, उवङ्, आदेशः । विश्वस्य जगतः सुखस्य भावयितारं कर्तारम्, सर्वसुखकरम् ॥

आपः पृणीत भेषजं वरूथं तन्वे ३ मम ।
ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ ३ ॥

आपः । पृणीत । भेषजम् । वरूथम् । तन्वे । मम ।
ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे व्यापन शील जलो [जल समान उपकारी पुरुषो] (मम) मेरे (तन्वे) शरीर के लिये (च) और (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) चलने वा चलाने वाले सूर्य को (दृशे) देखने के लिये (वरूथम्) कवचरूप (भेषजम्) भय निवारक औषध को (पृणीत) पूर्ण करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे युद्ध में योद्धा की रक्षा झिलम से होती है वैसे ही जल समान उपकारी पुरुष परस्पर सहायक होकर सब का जीवन आनन्द से बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

शं न आपो धन्वन्या ३ : शमु सन्त्वनूप्याः ।
शं नः खनित्रिमा आपः शमु याः कुम्भ आभृताः
शिवा नः सन्तु वार्षिकीः ॥ ४ ॥

शम् । नः । आपः । धन्वन्याः । शम् । ऊं इति । सन्तु ।
अनूप्याः । शम् । नः । खनित्रिमाः । आपः । शम् । ऊं इति ।

३-आपः । हे व्यापयितॄणि जलानि [जल समानोपकारिणः पुरुषाः] । पृणीत । पॄ पालनपूरणयोः-लोट् पालयत, पूरयत । भेषजम् । १ । ४ । ४ । भयनिवारकम् । औषधम् । वरूथम् । जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति वृञ् वरणे—ऊथन्, व्रियते शरीरमनेन । तनुत्राणम्, कवचम् । तन्वे । १ । १ । १ । तद्वत् पदसिद्धिः स्वरितश्च । तन्यते विस्तीर्यते तनूः । शरीराय । मम । मदीयाय । ज्योक् । ज्यो नियमे-डोकि । चिरकालम् । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । जगतः प्रेरकम्, आदित्यम् । दृशे । दृशे विख्ये च । पा० ३।४।११। इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययान्तो निपात्यते । द्रष्टुम् ॥

याः । कुम्भे । आ-भृताः । शिवाः । नः । सन्तु । वार्षिकीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (धन्वन्याः) निर्जल देश के (आपः) जल (शम्) सुख दायक, (उ) और (अनूप्याः) जल वाले देश के [जल] (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें। (नः) हमारे लिये (खनित्रिमाः) खनती वा फावड़े से निकाले गये (आपः) जल (शम्) सुखदायक होवें, (उ) और (याः) जो (कुम्भे) घड़े में (आभृताः) लाये गये वह भी (शम्) सुख दायी होवें, (वार्षिकीः) वर्षा के जल (नः) हम को (शिवाः) सुखदायी (सन्तु) होवें॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जल सब स्थानों में उपकारी होता है वैसे ही जल समान उपकारी मनुष्यों को प्रत्येक कार्य और प्रत्येक स्थान में परस्पर लाभ पहुंचाकर सुखी होना चाहिये ॥ ४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४—शम्—१ । ३ । १ । सुखकारिण्यः । नः—अस्मभ्यम् । आपः—जलानि, जलवद् गुणिनः पुरुषाः । **धन्वन्याः**—कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । इति धवि गतौ-कनिन् । इदित्त्वात् नुम् । इति धन्वन् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । धन्वनि मरुभूमौ भवा आपः । **उ** इति । च । **अनूप्याः** । अनुगता आपो यत्रेति अनूपो देशः । ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । इति अनु+अप्—अकारः समासान्तः । ऊदनोर्देशे । पा० ६ । ३ । ९८ । इति अप् शब्दस्य अकारस्य ऊकारः । पूर्ववद् यत् प्रत्ययः स्वरितश्च । अनूपे जलप्राये देशे भवा आपः । **खनित्रिमाः** । खनु अवदारणे-अस्माच्छान्दसः क्त्रि प्रत्ययः । आर्धधातुकस्येड् वलादेः । पा० ७ । २ । ३५ । इति इडागमः । क्त्रेर्मम्नित्यम् । इति मप् खनित्रेण अवखविशेषेण निर्वृत्ताः कूपोद्भवाः । **कुम्भे** । कुं भूमिं उम्भति जलेन । उन्भ पूरणे-अच् । शकन्ध्वादित्वात् साधुः । घटे, कलशे । **आ-भृताः** । हञ् हरणे-क्त । हृग्रहोर्भः-इति भत्वम् । आहृताः, आनीताः । **शिवाः** । सुखदात्र्यः । **वार्षिकीः** । छन्दसि ठञ् । पा० ४ । ३ । १९ । इति वर्षा+ठञ् । ङीप् । जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वार्षिक्यः, वर्षासु भवाः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-७॥ इन्द्राग्नी देवते । १-४, ६, ७ अनुष्टुप् ८×४, ५ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

स्तुवानमग्न आ वह यातुधानं किमीदिनम् ।
त्वं हि देव वन्दितो हन्ता दस्योर्बभूविथ ॥ १ ॥

स्तुवानम् । अग्ने । आ । वह । यातु-धानम् । किमीदिनम् ।
त्वम् । हि । देव । वन्दितः । हन्ता । दस्योः । बभूविथ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्ने! [अग्नि समान प्रतापी] (स्तुवानम्) [तेरी] स्तुति करते हुये (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहने वाले लुतरे को (आवह) ले आ । (हि) क्योंकि (देव) हे राजन् (त्वम्) तू (वन्दितः) स्तुति को प्राप्त करके (दस्योः) चोर वा डाकू का (हन्ता) हनन कर्ता (बभूविथ) हुआ था ॥ १ ॥

१—स्तुवानम् । ष्टुञ् स्तुतौ—लटः शानच् । अचि श्नुधातुभ्रुवां० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति उवङ् । त्वां प्रशंसन्तं स्तुवन्तम् । अग्ने । १ । ६ । २ । अग्नि शब्दो यास्केन बहुविधं व्याख्यातः, निरु० ७ । १४ । हे वह्ने, हे पावक, हे अग्निवत् तेजस्विन् सेनापते ! आ-वह । आनय । यातु-धानम्—कृवापाजिमि० । उ० । १ । १ । इति यत ताडने-उण् । यातुं पीड़ां दधाति ददाति । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु—युच् । पीड़ाप्रदं राक्षसम् । किमीदिनम् । किम्+इदानीम् वा किम्+इदम्-इनि । किमीदिने किमिदानीमिति चरते किमिदं

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और यशस्वी राजा दुःखदायी लुतरों [चुग़ल ख़ोरों] और डाकुओं और चोरों को आधीन करता है तो शत्रु लोग उसके बल और प्रताप की प्रशंसा करते हैं और राज्यमें शान्ति फैलती है ॥१॥

(किमीदिन्) शब्द का अर्थ भगवान् यास्क ने अब क्या हो रहा है वा यह क्या यह क्या हो रहा है ऐसा कहते हुये छली, सूचक वा चुग़लख़ोर का किया है, निरु० ६। ११ ॥

आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तनूवशिन् ।
अग्ने तौलस्य प्राशान यातुधानान् वि लापय ॥ २ ॥

आज्यस्य । परमे-स्थिन् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ।
अग्ने । तौलस्य । प्र । अशान । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ २॥

भाषार्थ—(परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पदवाले ! (जातवेदः) हे ज्ञान वा धन के देने वाले ! (तनूवशिन् ।) शरीरों को वश में रखने हारे ! (अग्ने) अग्नि, राजन् ! तू (तौलस्य) तोल से पाये हुये (आज्यस्य) घृत का (प्र-अशान) भोजन कर । और (यातुधानान्) दुखदायी राक्षसों से (विलापय) विलाप करा ॥ २ ॥

किमिदमिति वा पिशुनाय चरते-निरु० ६। ११। इति यास्कवचनात् किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते- इति एवमन्वेषमाणः किमिदी, पिशुनः । साधुजनवैरिणं, सदा विरुद्धबुद्धिं, पिशुनम् । **हि** । यस्मात् । अवश्यम् । **देव** । १।४।३। हे द्योतमान ! राजन् ! । **वन्दितः** । वदि स्तुत्यभिवादयोः—क्त । स्तुतः । नमस्कृतः । **हन्ता** । हन—तृच् । हननकर्ता, घातयिता। **दस्योः** । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३। २०। इति दसु उपक्षये—युच् । दस्यति परस्वान् नाशयतीति । चौरस्य । शत्रोः । **बभूविथ** । भू सत्तायां प्राप्तौ च—लिट् मध्यमैकवचनम् । त्वं भवसि स्म ॥

२—**आज्यस्य** । आङ्+अञ्ज मिश्रणे गतौ–क्यप् , न लोपः । कर्मणि षष्ठी,आ अज्यते शरीरेण । आज्यं, घृतम् । **परमे-स्थिन्** । परमे कित् । उ० ४। १०। इति परमे+ष्ठा गतिनिवृत्तौ–इनि, स च कित् । हलन्तात् सप्तम्याः संज्ञायाम् ।

भावार्थ—जैसे अग्नि स्रुवादि के तौल व परिणाम से दिये हुये घृतादि हवन सामग्री को पाकर प्रज्वलित होता है वैसे ही प्रतापी राजा प्रजा का दिया हुआ कर लेकर दुष्टों को दण्ड देता है, उससे प्रजा सदा आनन्द युक्त रहती है २॥

वि लंपन्तु यातुधाना॑ अत्त्रिणो॒ ये कि॑मीदिनः॑ ।
अथे॒दम॑ग्ने नो ह॒विरिन्द्र॑श्च॒ प्रति॑ हर्यतम् ॥ ३ ॥

वि । लपन्तु । यातु-धानाः । अत्त्रिणः । ये । किमीदिनः । अथ । इदम् । अग्ने । नः । हविः । इन्द्रः । च । प्रति । हर्यतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (यातुधानाः) पीड़ा देने हारे, (अत्त्रिणः) पेट भरने वाले (किमीदिनः) यह क्या यह क्या, ऐसा करने वाले लुतरे [हैं] [वे] (विलपन्तु)

पा० ६ । ३ । ६ । इत्यलुक् । स्थास्थिन्स्पृणाम् । वा० पा० ८ । ३ । ६७ । इति षत्वम् । परमे उत्तमे पदे तिष्ठतीति परमेष्ठी । हे उच्चपदस्थ राजन् । जात-वेदः । गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । इति जात+विद ज्ञाने, वा विद्लृलाभे-असुन् । जातं प्रादुर्भूतं वेदो ज्ञानं धनं वा यस्मात् स जातवेदाः । जातवेदाः कस्माज् जातानि वेद जातानि वैनं विदुर्जाते जाते विद्यत इति वा जातवित्तो वा जातधनो जातविद्योवा जातप्रज्ञानो वा-इति निरु० ७ । १६ । हे जातधन, हे जातप्रज्ञान । तनू-वशिन् । वशोऽस्त्यस्य—इनि । हे तनूनां अस्माकं शरीराणां वशयितः । अग्ने । म० १ । हे अग्निवत् तेजस्विन् । तौलस्य । तुल उन्माने- घञ् । तोल्यते उन्मीयते स्रुवादिना इति तोलम् । तोल-अण् । कर्मणि षष्ठी । तौलम् । तोलेन परिमाणेन कृतम् । प्र+अशान । अश भोजने-लोट् । हलः श्नः शानज् भौ । पा० ३ । १ । ८३ । इति श्नाप्रत्ययस्य शानच् । हौ परतः । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लुक् । त्वं भोजनं कुरु । भक्षय । यातु-धानान् । मं० १ । पीड़ाप्रदान् राक्षसान् । वि+लापय । हेतुमति च । पा० ३ । १ । २६ । इति णिच् । लप भाषे-णिच्-लोट् । विलापेन दुःख वचनेन युक्तान् कुरु ॥

३—विलपन्तु । लप कथने—लोट् । विकृतं लपनं परिवेदनं कुर्वन्तु ।

विलाप करें। (अथ) और (अग्ने) हे अग्नि (च) और (इन्द्रः) हे वायु, तुम दोनों (इदम्) इस (हविः) होम समग्री को (प्रति हर्यतम्) अंगीकार करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि, वायु के साथ हवन सामग्री से प्रचंड होकर दुर्गन्धादि दोषों का नाश करती है वैसे ही अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महाप्रतापी राजा से दुःखदायी, स्वार्थी, बतवने लोग अपने किये का दंड पाकर विलाप करते हैं तब उसके राज्य में शान्ति होती है ॥ ३ ॥

अग्निः पूर्व आ रभतां प्रेन्द्रो नुदतु बाहुमान् ।
ब्रवीतु सर्वो यातुमानमयस्मीत्येत्य ॥ ४ ॥

अग्निः । पूर्वः । आ । रभताम् । प्र । इन्द्रः । नुदतु । बाहु-मान् ।
ब्रवीतु । सर्वः । यातु-मान् । अयम् । अस्मि । इति । आ-इत्य ॥४॥

भाषार्थ—(पूर्वः) मुखिया (अग्निः) अग्नि रूप राजा (आरभताम्) [शत्रुओं] को पकड़ लेवे, (बाहुमान्) प्रबल भुजा वाला (इन्द्रः) वायु रूप सेनापति (प्रनुदतु) निकाल देवे। (सर्वः) एक एक (यातुमान्) दुःखदायी राक्षस (एत्य) आकर (अयम् अस्मि) यह मैं हूं-(इति) ऐसा (ब्रवीतु) कहे ॥ ४ ॥

यातु-धानाः । म० १ । पीड़ाप्रदाः, राक्षसाः । अत्त्रिणः । अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६८ । इति अद भक्षणे-त्रिनि । अदनशीलाः, उदरपोषकाः । किमीदिनः । म० १ । विरुद्धबुद्धयः, पिशुनाः । अथ । अनन्तरम् अपिच । इदम् । प्रस्तुतमुपस्थितम् । अग्ने । म० १ । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । हविः । १ । ४ । ३ । दानम् । हव्यं द्रव्यम् । आह्वानम् । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् । वायुः । वायुवद् वेगवान् राजा । प्रति+हर्यतम् । हर्य गतिकान्त्योः-लोट् । युवां कामयेथां, स्वीकुरुतम् ॥

४—अग्निः । म० १ । अग्निवत् तेजस्वी राजा । पूर्वः । पूर्व निमन्त्रणे निवासे वा-अच् । पुरोगामी, मुख्यः । आरभताम् । रभ रभस्ये=उपक्रमे । आङ् पूर्वकात् रभ स्पर्शे—लोट् । स्पृशतु । निगृह्णातु । इन्द्रः । १ । २ । ३ वायुः, वायुवद् वेगवान् राजा । प्र + नुदतु । णुद प्रेरणे तुदादित्वात् शः । प्रेरयतु ।

भावार्थ—जब अग्नि के समान तेजस्वी और वायु के समान वेगवान् महा प्रतापी राजा उपद्रवियों को पकड़ता और देश से निकालता है तब उपद्रवी लोग अपना अपना नाम लेकर उस राजा के शरणागत होते हैं ॥ ४ ॥

पश्याम ते वीर्यं जातवेदः प्र णो ब्रूहि यातुधानान् नृचक्षः। त्वया सर्वे परितप्ताः पुरस्तात् त आयन्तु प्रब्रुवाणा उपेदम् ॥५॥

पश्याम। ते। वीर्यम्। जात-वेदः। प्र। नः। ब्रूहि। यातु-धानान्। नृ-चक्षः। त्वया। सर्वे। परि-तप्ताः। पुरस्तात्। ते। आ। यन्तु। प्र-ब्रुवाणाः। उप। इदम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान देने हारे वा बहुत धन वाले राजा ! (ते) तेरे (वीर्यम) पराक्रम को (पश्याम) हम देखें,(नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखने हारे ! (नः) हमें (यातुधानान्) दुःख दायी राक्षसों को (प्रब्रूहि) बतादे। (त्वया) तुझ से (परितप्ताः) जलाये हुये (सर्वे) वह सब (प्रब्रुवाणाः) जय बोलते हुये (पुरस्तात्) [तेरे] आगे (इदम्) इस स्थान में (उप आ यन्तु) चले आवें ॥ ५ ॥

अपसारयतु। **बाहुमान्**। तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्। पा० ५। २। ६४। भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥ १ ॥ कारिका ॥ इति बाहुशब्दात् प्रशंसायां मतुप्। प्रबलभुजः। महाबली। **ब्रवीतु**। ब्रूञ्-लोट्। कथयतु। **सर्वः**।। निखिलः। **यातु-मान्**। कृवा पा० उ० १। १। इति यत ताडने-उण्। ततो मतुप् पूर्ववत् निन्दायाम्। यातवो यातना विद्यन्तेऽस्मिन् स यातुमान्, पीड़ावान्, महापीड़ाकारी। **अयम्**। एतन्नामकोऽहम्। **इति**। एवम्। **आ-इत्य**। समासेऽनञ्पूर्वे क्त्वो ल्यप्। पा० ७। १। ३७। इति आङ्+इण् गतौ-इति क्त्वाप्रत्ययस्य ल्यबादेशः। ह्रस्वस्य पिति कृति०। पा०६। १। ७१। इति तुक् आगमः। आगत्य ॥

५—**पश्याम**। दृशिर् प्रेक्षणे-लोट्। पाघ्राध्मास्था०। पा० ७। ३। ७८। इति शपि पश्यादेशः। अवलोकयाम। **वीर्यम्**। वीरस्य भावः, वीर-यत्।

भावार्थ—राजा को योग्य है कि अपने राज्य में विद्या प्रचार करे, सब प्रजा पर दृष्टि रक्खे और उपद्रवियों को अपने आधीन सर्वथा रक्खे कि वह लोग उसकी आज्ञा को सर्वदा मानते रहें ॥ ५ ॥

आ रंभस्व जातवेदोऽस्माकार्थाय जज्ञिषे ।
दूतो नो अग्ने भूत्वा यातुधानान् वि लापय ॥ ६ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । अस्माकं । अर्थाय । जज्ञिषे । दूतः । नः । अग्ने । भूत्वा । यातु-धानान् । वि । लापय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञान वा धन देनेवाले राजन् ! (आरभस्व) वैरियों को पकड़ ले, (अस्माक) हमारे (अर्थाय) प्रयोजन के लिये (जज्ञिषे) तू उत्पन्न हुआ है। (अग्ने) हे अग्ने [सेनापते] (नः) हमारा (दूतः) दूत (भूत्वा) होकर (यातुधानान्) दुःख दायियों से (विलापय) विलाप करा ॥६॥

यद्वा,वीरे साधु । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । तित् स्वरितम् । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । पराक्रमम्,सामर्थ्यम् । जात-वेदः । म० २ । हे जातप्रज्ञान । नः । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ इति । कर्मत्वम् । अस्मान् प्रति । प्र+ब्रूहि । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लोट, द्विकर्मकः । प्रकथय । यातुधानान् । म० १ । पीड़ा प्रदान् राक्षसान् । नृचक्षः । चष्टिः पश्यति कर्मा । निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि-असुन्, नॄन् मनुष्यान् चष्टे पश्यतीति नृचक्षाः । हे मनुष्याणां द्रष्टः, अथवा उपदेशक । त्वया । अग्निना,अग्निवत् तेजस्विना । परि-तप्ताः । सम्यग् दग्धाः । पुरस्तात् । अग्रे । ते । प्रसिद्धाः । आ+यन्तु । गच्छन्तु प्र-ब्रुवाणाः । ब्रूञ्-शानच् । प्रकथयन्तः, जयं प्रलपन्तः । इदम् । दृश्यमानं स्थानम् ॥

६—आ+रभस्व । म० ४ । आङ्+रभ स्पर्शे-लोट् । निगृहाण । जात-वेदः । म० २ । जातप्रज्ञान ! अस्माक । अन्त्यलोपश्छान्दसः । अस्माकम् । अर्थाय । अर्थ याचने-घञ् । प्रयोजनाय, धनाय । जज्ञिषे । जनी प्रादुर्भावे लिट्, त्वं जातवानसि । दूतः । दुतनिभ्यां दीर्घश्चः । उ० ३ । ९० । इति दु

भावार्थ—(दूत) का अर्थ शीघ्रगामी और सन्तापकारी है, जैसे दूत शीघ्र चल कर संदेश पहुंचाता है वैसे ही विजुली रूप अग्नि शरीरों में प्रविष्ट होकर वेग उत्पन्न करता है अथवा काष्ठ आदि को जलाता है, इसी प्रकार अग्नि के समान तेजस्वी और प्रतापी राजा अपनी प्रजा की दशा को जान कर यथोचित न्याय करता और दुष्टों को दण्ड देता है ॥६॥

त्वम॑ग्ने यातु॒धाना॒नुप॑बद्धाँ इ॒हा व॑ह ।
अथै॑षा॒मिन्द्रो॒ वज्रे॒णापि॑ शी॒र्षाणि॑ वृश्चतु ॥ ७ ॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । या॒तु॒-धाना॑न् । उप॑-बद्धान् । इ॒ह । आ । व॒ह॒ । अथ॑ । ए॒षा॒म् । इन्द्रः॑ । वज्रे॑ण । अपि॑ । शी॒र्षाणि॑ । वृ॒श्च॒तु॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उप बद्धान्) दृढ़ बांधे हुये (यातु-धानान्) दुःखदायी राक्षसों को (इह) यहां पर (आवह) लेआ। (अथ) और (इन्द्रः) वायु (वज्रेण) कुल्हाड़े से (एषाम्) इनके (शीर्षाणि) मस्तकों को (अपि) भी (व्रश्चतु) काट डाले ॥७॥

भावार्थ—अग्नि के समान प्रतापी और (इन्द्र) वायु के समान वेगवान् राजा उत्पातियों को कारागार में डाल दे और उनके सिर उड़ा दे ॥

इसी प्रकार सब मनुष्य आध्यात्म विषय में आत्मा को सेनानी, और लोभ,

---

गतौ–क्त । यद्वा टुदु उपतापे–क्त दीर्घश्च । द्रवति गच्छति दुनोत्युपतापयतीति दूतः । वार्त्ताहरः, सन्देशहरः । संतापकः । अग्निः । अग्ने । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । यातु-धानान् । म० १ । पीड़ाप्रदान् । विलापय । म० २ । विलापयुक्तान् कुरु, रोदय ।

७—यातु-धानान् । म० १ पीड़ाप्रदान् । उप-बद्धान् । बन्ध बन्धने–क्त-दृढबन्धनयुक्तान् । इह । निपातस्य च । पा० ६ । ३ । १३६ । इति दीर्घः । अत्र । अथ । च । तदनन्तरम् । एषाम् । यातुधानानाम् । इन्द्रः । १ । २ । ३ । वायुः । वायुवद् वेगवान् । परमैश्वर्यवान् ॥ वज्रेण । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति वज गतौ–रन् । कुलिशेन, कुठारेण । अपि । एव, अवश्यम् । शीर्षाणि । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्

मोह, आदि को शत्रु, और गृहस्थिति में गृहपति को सेनापति और विघ्नों को बैरी मान कर योग्य व्यवहार करें ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-४ ॥ अग्निः सोमश्च देवते । १-३ अनुष्टुप् ८×४, ४ त्रिष्टुप् ११×४ अक्षराणि ॥

सेनापतिलक्षणानि—सेनापति के लक्षण ॥

इदं हविर्यातुधानान् नदी फेनमिवा वहत् ।
य इदं स्त्री पुमानकरिह स स्तुवतां जनः ॥ १ ॥

इदम् । हविः । यातु-धानान् । नदी । फेनम्-इव । आ । वहत् । यः । इदम् । स्त्री । पुमान् । अकः । इह । सः । स्तुवताम् । जनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हविः) [हमारी] भक्ति (यातुधानान्) राक्षसों को (आवहत्) ले आवे, (इव) जैसे (नदी) नदी (फेनम्) फेन को । (यः) जिस किसी (पुमान्) मनुष्य ने अथवा (स्त्री) स्त्री ने (इदम्) इस [पापकर्म] को (अकः) किया है (सः जनः) वह पुरुष (स्तुवताम्) [तेरी] स्तुति करे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजा की पुकार सुनकर जब राजा दुष्टोंको पकड़ता है,अपराधी स्त्री और पुरुष अपने अपराध को अंगीकार कर लेते और उस प्रतापी राजा की स्तुति करते हैं ॥१॥

आदेशः । शिरांसि, मस्तकानि । वृश्चतु । ओव्रश्चू छेदने, तुदादित्वात् शः । छिनत्तु ॥

१—इदम् । प्रस्तुतं, क्रियमाणम् । हविः । १ । ४ । ३ ।दानम् । भक्तिः । आवाहनम् । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् राक्षसान् । नदी । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति णद ध्वनौ-पचाद्यच् । गणे नदट् इति पाठात् टित्वात्-ङीप् । नदति प्रवाहवेगेन शब्दायत इति । नद्यः

(स्त्री) शब्द का अर्थ संग्रह करने हारी वा स्तुति योग्य, और [पुमान्] का अर्थ रक्षक वा पुरुषार्थी है।

अयं स्तु॑वान आग॑मदि॒मं स्म॒ प्रति॑ हर्यत।
बृह॑स्पते॒ वशे॑ ल॒ब्ध्वाग्नी॑षोमा॒ वि वि॑ध्यतम् ॥ २ ॥

अयम्। स्तु॒वा॒नः। आ। अ॒ग॒म॒त्। इ॒मम्। स्म॒। प्रति॑। ह॒र्य॒त॒। बृह॑स्पते। वशे॑। ल॒ब्ध्वा। अग्नी॑षोमा। वि। वि॒ध्य॒त॒म् ॥२॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शत्रु] (स्तुवानः) स्तुति करता हुआ (आ-अगमत्) आया है, (इमम्) इसका (स्म) अवश्य (प्रति हर्यत) तुम सब स्वागत करो। (बृहस्पते) हे बड़े बड़ों के रक्षक राजन्! [दूसरे वैरी को] (वशे) वश में (लब्ध्वा) लाकर [वर्त्तमान हो], (अग्नीषोमा=०-मौ) हे अग्नि और चन्द्रमा! तुम दोनों [अन्य वैरियों को] (वि) अनेक भांति से (विध्यतम्) ताड़ो ॥ २ ॥

कस्मात् नदना भवन्ति शब्दवत्यः—निरु० २। २४। नदनशीला, सरित्, तरङ्गिणी। फेनम्। फेनमीनौ। उ० ३। ३। इति स्फायी वृद्धौ—नक्, फेशब्दादेशः। स्फायते वर्धते स फेनः। हिण्डीरम्, समुद्रफेनम्। आ+वहत्। वह प्रापणे-लेट्। आनयेत्। स्त्री। स्त्यायतेर्ड्रट्। उ० ४। १६६। इति स्त्यै संहतौ, ध्वनौ—ड्रट्, ङीप्। स्त्यायति शब्दयति गृह्णाति वा गुणान् सा। यद्वा, ष्टुञ् स्तुतौ-ड्रट्। ङीप्। स्तौति गुणान् वा स्तूयते सा स्त्री। नारी। पुमान्। पातेर्डुमसुन्। उ० ४। १७८ इति पा रक्षणे डुमसुन्। डित्वात् टिलोपः। पातीति पुमान् मनुष्यः, पुरुषः। अकः। डुकृञ् करणे-लुङ्। हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्०। पा० ६। १। ६८। इति ति इत्यस्य इकार लोपे तलोपः। अकार्षीत्। स्तुवताम्। ष्टुञ् स्तुतौ-लोट्। छन्दसि शः। स्तुतिं करोतु। जनः। जनी प्रादुर्भावे, वा जन जनने-अच्। जायते जनयति वा स जनः। लोकः॥

२—अयम्। शत्रुः। स्तुवानः। ष्टुञ् स्तुतौ—शानच्। युष्मान् स्तुवन्। आ+अगमत्। गम्लृ गतौ—लुङ्। आगतवान्। इमम्। शत्रुम्। स्म। अवश्यम्, प्रीत्या। प्रति+हर्यत। हर्य गतिकान्त्योः-लोट्। यूयं प्रतिकामयध्वम्, स्वकीयत्वेन परिगृह्णीत। बृहस्पते। तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः

भावार्थ—जो शत्रु राजा का प्रभुत्व मानकर शरणागत हो, राजा और कर्मचारी उसका स्वागत करें। प्रतापी राजा दूसरे वैरी को शम दम आदि से अपने आधीन रक्खे। और अन्य वैरियों को (अग्नीषोमा) दंड देने में अग्नि सा प्रचंड और न्याय करने में (सोम) चन्द्रमा सा शान्त स्वभाव रहै ॥२॥

यातुधानस्य सोमप जहि प्रजां नयस्व च ।
नि स्तुवानस्य पातय परमक्ष्युतावरम् ॥ ३ ॥

यातु-धानस्य । सोम-प । जहि । प्र-जाम् । नयस्व । च ।
निः । स्तुवानस्य । पातय । परम् । अक्षि । उत । अवरम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे अमृत पीने हारे [राजन्] तू (यातुधानस्य) पीड़ा देने हारे पुरुष के (प्रजाम्) मनुष्यों को (जहि) मार, (च) और (नयस्व) लेजा। (निस्तुवानस्य) अपस्तुति [निन्दा] करते हुये [शत्रु की] (परम्) उत्तम [हृदय]

सुट् तलोपश्च। वार्त्तिकम्, पा० ६ । १ । १५७ । इति वृहत्+पतिः, सुट् आगमः, तकारलोपश्च । हे बृहतां महतां विदुषां पालयितः, विद्वन् राजन्! । वशे । वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० । पा० ३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायां—अप् । अधीनत्वे, आयत्ततायाम् । लब्ध्वा । लभ प्राप्तौ—क्त्वा । आनीय । प्राप्य [अन्य शत्रुं तिष्ठ, इति शेषः] । अग्नीषोमा । अग्नि श्च सोमश्चेति द्वन्द्वे । ईदग्नेः सोमवरुणयोः । पा० ६ । ३ । २७ । इति ईत्त्वम् । अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः । पा० ८ । ३ । ८२ । इति षत्वम् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि० । उ० १ । १४० । इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः—मन् । सवति ऐश्वर्यहेतु र्भवतीति, यद्वा सवति सौति अमृतमुत्पादयतीति सोमः । वायुः । चन्द्रः । बलवर्धकौषधविशेषः । अमृतम् । अग्निः । अग्निवत् तेजः । वायुः, वायुवद् वेगः, अथवा चन्द्रवत् प्रजायै शान्तिप्रदगुणः । अनेन सेनापति-गुणद्वयवर्णनम् । वि । विविधम् । विध्यतम् । व्यध ताडने—लोट् । युवां ताडय-तम् अन्यं पापात्मानम् ॥

३—यातु-धानस्य । १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदस्य । सोम-प । आतोऽनुपस-र्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति सोम+पा पाने—क । हे अमृतस्य पातः! जहि ।

की] (उत) और (अवरम्) नीची [शिर की] (अक्षि) आंख को (पातय) निकाल दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—[सोमप] अमृत पीने हारा अर्थात् शान्त स्वभाव यशस्वी राजा दुष्टों का नाश करे और पकड़ लावे। निन्दा फैलाने हारे मिथ्याचारी शत्रु को नष्ट भ्रष्ट करदे कि वह पापी अपने मन के भीतरी कुविचार और बाहिरी कुचेष्टा और पाप कर्म छोड़दे ॥ ३ ॥

यत्रैषामग्ने जनिमानि वेत्थ गुहा सतामत्त्रिणाम्।
जातवेदः। तांस्त्वं ब्रह्मणा वावृधानो जह्येषां
शततर्हमग्ने ॥ ४ ॥

यत्र । एषाम् । अग्ने । जनिमानि । वेत्थ । गुहा । सताम् ।
अत्त्रिणाम् । जात-वेदः । तान् । त्वम् । ब्रह्मणा । ववृधानः ।
जहि । एषाम् । शत-तर्हम् । अग्ने ॥ ४ ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे अनेक विद्या वाले वा धन वाले ! (अग्ने) अग्नि [अग्निस्वरूप राजन्] (यत्र) जहां पर (गुहा) गुफा में (सताम्) वर्त्तमान (एषाम्) इन (अत्त्रिणाम्) उदर पोषकों के (जन्मानि) जन्मों को (वेत्थ) तू जानता

हन हिंसागत्योः—लोट् । नाशय । प्र-जाम् । जनम् । मनुष्यान् । नयस्व । आनय । निः । क्षेपेण, अपवादेन । निषेधेन । स्तुवानस्य । म० २ । स्तुवतः शत्रोः । पातय । पत अधोगतौ-णिच् लोट् । अधोगमय, च्यावय । परम् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति पॄ-पालने पूर्तौ च—अप् । श्रेष्ठम् । उच्चम् । अक्षि । अशेर्नित् । उ० ३ । १५६ । इति अशू व्याप्तौ-क्सि । यद्वा । अक्षू व्याप्तौ-इन् । चक्षुः, नेत्रम् । अवरम् । ग्रहवृदृनिश्चिगमश्च । पा० ३ । ३ । ५८ । इति न+वृञ् वरणे-अप् । न व्रियत इति । निकृष्टम् , नीचम् ॥

४-अग्ने । अग्निवत् तेजस्विन् राजन् । जनिमानि । जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जनी प्रादुर्भावे-इमनिन् । जन्मानि, उत्पत्तिकारणानि, ।

है। (अग्ने) हे अग्निरूप राजन्! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान [वा अन्न वा धन]से (वावृधानः) बढ़ता हुआ (त्वम्) तू (तान्) उनकी और (एषाम्) इनकी (शततर्हम्) सैकड़ों प्रकार की हिंसा को (जहि) नाश कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि के समान तेजस्वी महाबली राजा गुप्त उपद्रवियों का खोज करे और उनको यथा नीति कड़े कड़े दण्ड देकर प्रजा में शान्ति रक्खे ॥४॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ १, २ विश्वे देवा देवताः, ३, ४ अग्निर्देवता। त्रिष्टुप् छन्दः ११×४ अक्षराणि ॥

सर्वसम्पत्तिप्रयत्नोपदेशः— सब सम्पत्तियों के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

अस्मिन् वसु वसवो धारयन्त्विन्द्रः पूषा वरुणो मित्रो अग्निः। इममादित्या उत विश्वे च देवा उत्तरस्मिन् ज्योतिषि धारयन्तु ॥ १ ॥

अस्मिन्। वसु। वसवः। धारयन्तु। इन्द्रः। पूषा। वरुणः। मित्रः। अग्निः। इमम्। आदित्याः। उत। विश्वे। च। देवाः। उत्-तरस्मिन्। ज्योतिषि। धारयन्तु ॥ १ ॥

वेत्थ। विद ज्ञाने-लट्। त्वं जानासि। **गुहा**। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः।पा० ३। १। १३५। इति गुहू संवरणे-क,टाप् च। गूहति रक्षतीति। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। इति विभक्तिलोपः। गुहायाम्, गर्त्ते, गह्वरे, गुप्तस्थाने। **सताम्**। अस सत्तायां-शतृ। विद्यमानानाम्। निवसताम्। **अत्त्रिणाम्**। १। ७। ३। अदनशीलानां, उदरपोषकाणाम्। **जात-वेदः**। १। ७। २। हे जातविद्य! **ब्रह्मणा**। बृहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति बृहि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य अकारः, रत्वं च। ब्रह्म अन्नम्-निघ० २। ७। तथा, धनम्-निघ० २। १०। वेदेन। वेदज्ञानेन। परमेश्वरेण। **ववृधानः**। वृधु वृद्धौ-लिटः कानच्, छन्दसि दीर्घः। प्रवृद्धः। **जहि**। म० ३। मारय। **शत-तर्हम्**। शतं बहुनाम—निघ० ३। १। तृह हिंसायाम्-घञ्। बहुविधहिंसनम् ॥

भाषार्थ—(वसवः) प्राणियों के बसानेवाले वा प्रकाशमान, श्रेष्ठ देवता [अर्थात्] (इन्द्रः) परमेश्वर वा सूर्य, (पूषा) पुष्टि करने वाली पृथिवी, (वरुणः) मेघ, (मित्रः) वायु, और (अग्निः) आग, (अस्मिन्) इस पुरुष में [मुझ में] (वसु) धनको (धारयन्तु) धारण करें। (आदित्याः) प्रकाशवाले [बड़े विद्वान् शूरवीर पुरुष] (उत च) और भी (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार जाननेहारे माहात्मा (इमम्) इसको [मुझको] (उत्तरस्मिन्) अति उत्तम (ज्योतिषि) ज्योति में (धारयन्तु) स्थापित करें॥ १॥

भावार्थ—चतुर पुरुषार्थी मनुष्य के लिये परमेश्वर और संसार के सब पदार्थ उपकारी होते हैं। अथवा जो सूर्य, भूमि, मेघ, वायु, और अग्नि के

१—अस्मिन् । उपासके, मयि, इत्यर्थः । म० ४ । वसु । शृस्वृस्निहित्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति वस आच्छादने, निवासे दीप्तौ च-उप्रत्ययः । निवासयितृ प्रकाशमानं वा धनम् । वसवः । पूर्ववत्, वस-उ । श्वसोवसीयश्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । अत्र वसुशब्दः प्रशस्तवाची । प्राणिनां वासयितारः, प्रकाशमानाः । प्रशस्ता देवाः, इन्द्रादयो मन्त्रोक्ताः । धारयन्तु । धृञ् धारणे-चुरादिः । स्थापयन्तु । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमेश्वरः । सूर्यः । पूषा । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति पुष पुष्टौ, पूष वृद्धौ—कनिन् प्रत्ययान्तो निपात्यते । पुष्यति पूषति वा वर्धते धान्यादिभिः, पोषयति वान्नैः प्रजाः । पृथिवीनाम-निघ० १ । १। वरुणः । १ । ३ । ३ । वृणोति व्रियते वाऽसौ वरुणः । वृष्टिजलम् । मेघः । मित्रः । १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्त । वायुः । अहरभिमानी देवः-इति सायणः । अग्निः । १ । ६ । २ । और्वजाठरवैद्युतादिरूपः प्रकाशः ।, वह्निः । इमम् । उपासकम् । आदित्याः । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति आङ्+डुदाञ् दाने, वा दीपी दीप्तौ-यक् । निपातितः । यद्वा । दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः । पा० ४ । १ । ८५ । इति अदिति-ण्य-प्रत्ययः, अपत्यार्थे । अदितिः=पृथिवी-निघ० १ । १ । वाक्-निघ० १ । ११ । अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । अथास्य [आदित्यस्य] कर्म रसादानं रश्मिभिश्च रसधारणं यच्च किंचित् प्रवल्हितमादित्यकर्मैव तच्चन्द्रमसा वायुना संवत्सरेणेति संस्तवः । निरु० ७ । ११ । आदातारः, ग्रहीतारो गुणानाम् । प्रकाशमानाः । भूमिपुत्राः, देशहितैषिणः । सरस्वतीपुत्राः, विद्वांसः । सूर्य-

समान उत्तम गुण वाले और दूसरे शूर वीर विद्वान् लोग (आदित्याः) जो विद्या के लिये और धरती अर्थात् सब जीवों के लिये पुत्र समान सेवा करते हैं, और जो सूर्य के समान उत्तम गुणों से प्रकाशमान हैं, वे सब नरभूषण पुरुषार्थी मनुष्य के सदा सहायक और शुभचिन्तक रहते हैं ॥ १ ॥

अस्य देवाः प्रदिशि ज्योतिरस्तु सूर्यो अग्निरुत वा हिरण्यम् । सपत्ना अस्मदधरे भवन्तूत्तमं नाकमधि रोहये मम् ॥ २ ॥

अस्य । देवाः । प्र-दिशि । ज्योतिः । अस्तु । सूर्यः । अग्निः । उत । वा । हिरण्यम् । स-पत्नाः । अस्मत् । अधरे । भवन्तु । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार जाननेहारे महात्माओ ! (अस्य) इसके [मेरे] (प्रदिशि) शासन में (ज्योतिः) तेज, [अर्थात्] (सूर्यः) सूर्य, (अग्निः) अग्नि, (उत वा) और भी (हिरण्यम्) सुवर्ण (अस्तु) होवे । (सपत्नाः) सब वैरी (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें । (उत्तमम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इसको [मुझ को] (अधि) ऊपर (रोहय=०-यत) तुम चढ़ाओ ॥ २ ॥

वत् तेजस्विनः । देवाः । १ । ४ । ३ । दिवु व्यवहारे-अच् । व्यवहारिणः । प्रकाशमानाः । उत्-तरस्मिन् । उत्कृष्टे । ज्योतिषि । द्युतेरिसिन्नादेश्च जः । उ० २ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-इसिन्, दस्य जः । तेजसि, प्रकाशे । धारयन्तु । स्थापयन्तु ॥

२—अस्य । उपासकस्य । देवाः । म०१। हे प्रकाशमया व्यवहारिणो वा । प्रदिशि । सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । प्रपूर्वात् दिश दाने, आज्ञापने—क्विप् । प्रदेशने, शासने, आज्ञायाम् । ज्योतिः । म० १ । तेजः, प्रकाशः । सूर्यः । १ । ३ । ५ । सरणशीलः, प्रेरकः । ग्रहविशेषः । अग्निः ।

भावार्थ—प्रकाश वाले, सूर्य, अग्नि की और सुवर्ण आदि की विद्यायें, अथवा सूर्य, अग्नि और सुवर्ण के समान प्रकाश वाले लोग, पुरुषार्थी मनुष्य के अधिकार में रहें और वह यथायोग्य शासन करके सर्वोत्तम सुख भोगे ॥ २ ॥

येनेन्द्राय समभरः पयांस्युत्तमेन ब्रह्मणा जातवेदः।
तेन त्वमग्न इह वर्धयेमं सजातानां श्रैष्ठ्य आ धेह्येनम् ॥ ३ ॥

येन । इन्द्राय । सम्-अभरः । पयांसि । उत्-तमेन । ब्रह्मणा । जात-वेदः । तेन । त्वम् । अग्ने । इह । वर्धय । इमम् । स-जातानाम् । श्रैष्ठ्ये । आ । धेहि । एनम् ॥ ३ ॥

म० १ । दावानलजाठरवैद्युतादिरूपः पावकः । हिरण्यम् । हर्यतिः कान्तिकर्मा-निघ० २ । ६ । हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ४ ।४४। इति हर्य्य गतिकान्त्योः-कन्यन्, हिरादेशः । हर्यते काम्यते तत् । यद्वा, हृञ् हरणे-कन्यन् हिर् च । ह्रियते जनाज्जनं व्यवहारार्थम्, अथवा द्रव्यस्वभावत्वात् नैकत्रास्य स्थितिः । हिरण्यनामसु-निघ० १ । २ । हर्यतेः प्रेप्साकर्मणः—निरु० २ । १० । सुवर्णम् । तेजः । स-पत्नाः । सह+पत् पतने ऐश्वर्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः । सह पतन्ति यतन्ते एकार्थे, यद्वा, सह पत्यन्ते ईश्वरा भवन्ति । सह पतित्ववन्तः । शत्रवः । अधरे । न+धृञ्-अच्, नञ्समासः, न ध्रियतेऽसौ । नीचाः, हीनाः, अपकृष्टाः । उत्-तमम् । उत्+तमप्, अतिशयेन उत्कृष्टम् । यद्वा, उत्+तमु इच्छायाम् - अच् । भद्रम्, उत्कृष्टम् । नाकम् । कं सुखम् अकं दुःखम्, तन्नास्त्यत्रेति नाकः । नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । अथवा पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । इति णी प्रापणे-आकंप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २ । १४ । स्वर्गम् । सुखम् । आकाशम् । आदित्यलोकम् । अधि । उपरि । रोहय । रुह जन्मनि, प्रादुर्भावे-णिच्-लोट् । एकवचनं बहुवचने । उन्नयत यूयम् । इमम् । उपासकम् ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विज्ञानयुक्त, परमेश्वर ! तूने (येन उत्तमेन ब्रह्मणा) जिस उत्तम वेद विज्ञान से (इन्द्राय) पुरुषार्थी जीव के लिये (पयांसि) दुग्धादि रसों को (समभरः) भररक्खा है । (तेन) उसी से (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इह) यहां पर (इमम्) इसे (मुझे) (वर्धय) वृद्धि युक्त कर, (सजातानाम्) तुल्य जन्म वाले पुरुषों में (श्रैष्ठ्ये) श्रेष्ठ पद पर (एनम्) इसको [मुझ को] (आ) यथा विधि (धेहि) स्थापित कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पुरुषार्थियों को सदा पुष्ट और आनन्दित करता है । मनुष्य को प्रयत्न करके अपनी श्रेष्ठता और प्रतिष्ठा बढ़ानी चाहिये ॥३॥

(अग्नि) शब्द ईश्वरवाची है. इस में यह प्रमाण है—मनु १२ । १२३ ।

एतमेके वदन्त्यग्निमनुमन्ये प्रजापतिम्
इन्द्रमेके ऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ १ ॥

इसको कोई अग्नि, दूसरे मनु, और प्रजापति, कोई इन्द्र, दूसरे प्राण और नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥

३—**येन** । ब्रह्मणा । **इन्द्राय** । १ । २ । ३ । जीवाय, पुरुषार्थिने जीवाय । **सम्-अभरः** । डुभृञ् भरणे, पोषणे-लङि सिप् । सम्यग् भृतवानसि पोषित-वानसि । **पयांसि** । १ । ४ । १ । दुग्धानि, दुग्धघृतादिपदार्थान् । **उत्-तमेन** । म० २ । अतिश्रेष्ठेन । **ब्रह्मणा** । १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । **जात-वेदः** । १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान, परमेश्वर । **तेन** । ब्रह्मणा । **अग्ने** । हे ज्ञानस्वरूप पर-मेश्वर ! । **इह** । । अत्र, अस्मिन् जन्मनि । **वर्धय** । वृधु-णिच् । समर्धय । **इमम्** । उपासकं, माम् । **स-जातानाम्** । समान + जनी प्रादुर्भावे—क्त । जन-सनखनां सञ्झलोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इति आत्वम् । समानस्य छन्दस्य-मूर्ध० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति समासे समानस्य सभावः । समानजन्मनां स्वकुटुम्बिनां मध्ये । **श्रैष्ठ्ये** । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । इति श्रेष्ठ-ष्यञ् । श्रेष्ठत्वे, प्रधानत्वे । **आ** । समन्तात्-यथाविधि । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणयोः—लोट् । धारय, स्थापय । **एनम्** । उपास-कम ॥

ऐषां॑ यज्ञमु॒त वर्चो॑ ददे॒ऽहं रा॒यस्पोष॑मु॒त चि॒त्ता-न्य॑ग्ने। स॒पत्ना॑ अ॒स्मद॑ध॑रे भव॑न्तूत्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥ ४ ॥

आ । ए॒षाम् । य॒ज्ञम् । उ॒त । वर्चः॑ । द॒दे॒ । अ॒हम् । रा॒यः । पोष॑म् । उ॒त । चि॒त्तानि॑ । अ॒ग्ने॒ । स॒-पत्नाः॑ । अ॒स्मत् । अध॑रे । भ॒व॒न्तु॒ । उ॒त्-त॒मम् । नाक॑म् । अधि॑ । रो॒ह॒य॒ । इ॒मम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमेश्वर ! (एषाम्) इन के [अपने लोगों] के दिये (यज्ञम्) सत्कार, (उत) और (वर्चः) तेज, (रायः) धन की (पोषम्) बढ़ती (उत) और (चित्तानि) मानसिक बलों को (अहम्) मैं (आददे) ग्रहण करता हूं। (सपत्नाः) वैरी लोग (अस्मत्) हम से (अधरे) नीचे (भवन्तु) होवें, (उत्त-मम्) अति ऊंचे (नाकम्) सुख में (एनम्) इसको [मुझे] (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् नीति निपुण पुरुष अपने पक्षवालों के किये हुये उपकार, और सत्कार को सधन्यवाद स्वीकार करे और विपक्षियों को नीचा दिखा कर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ावे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध मन्त्र २ का उत्तरार्ध है ॥

४—एषाम् । स्वपुरुषाणाम् । यज्ञम् । यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् । पा० ३ । ३ । ९० । इति यज देवार्चादानसङ्गतिकरणेषु—नङ् । पूजाम्, कीर्तिम् । वर्चः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति वर्च दीप्तौ—असुन् । निस्वात् आद्युदात्तः । वर्चः; अन्ननाम-निघ० २ । ७ । रूपम् । तेजः । आ—ददे । आङ् पूर्वात् डुदाञ् ग्रहणे—लट् । अहं गृह्णामि, स्वीकरोमि । रायः । रातेर्डैः । उ० २ । ६६ । इति रा दाने डै प्रत्ययः, रै । धनस्य । पोषम् । पुष पुष्टौ—घञ् । पोषणं वर्धनं समृद्धिम् । रायस्पोषम् । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सः । चित्तानि । चित ज्ञाने—क्त । मनांसि, नामसबलानि । अग्ने म० ३ । हे परमेश्वर । सपत्ना..........इमम् । व्याख्यातम् २ ॥

सूक्तम् ॥ १० ॥

१—४ ॥ वरुणो देवता । १, २ त्रिष्टुप् ३, ४ अनुष्टुप् ।

वरुणस्य क्रोधः प्रचण्डः—वरुण का क्रोध प्रचण्ड है ॥

अयं देवानामसुरो वि राजति वशा हि सत्या वरुणस्य राज्ञः । ततस्परि ब्रह्मणा शाशदान उग्रस्य मन्योरुदिमं नयामि ॥ १ ॥

अयम् । देवानाम् । असुरः । वि । राजति । वशा । हि । सत्या । वरुणस्य । राज्ञः । ततः । परि । ब्रह्मणा । शाशदानः । उग्रस्य । मन्योः । उत् । इमम् । नयामि ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवानाम्) विजयी महात्माओं का (असुरः) प्राणदाता [वा प्रज्ञावान् वा प्राणवान्] परमेश्वर (विराजति) बड़ा राजा है, (वरुणस्य) वरुण अर्थात् अति श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा परमेश्वर की (वशा) इच्छा (सत्या) सत्य (हि) ही है। (ततः) इस लिये (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (परि) सर्वथा (शाशदानः) तीक्ष्ण होता हुआ मैं (उग्रस्य) प्रचंड परमेश्वर के (मन्योः) क्रोधसे (इमम्) इस को [अपने को] (उत् नयामि) छुड़ाता हूं ॥ १ ॥

१—अयम्। पुरोवर्ती। देवानाम्। १। ४। ३। दिव्यगुणवतां विदुषाम्। असुरः। असेरुरन्। उ० १। ४२। इति असु क्षेपे-उरन्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति नित्वाद् आद्युदात्तः॥ अस्यति शत्रून्। यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन्। असति गच्छति व्याप्नोति सर्वत्र, दीप्यते स्वयम्, आदत्ते वा साधून्। यद्वा। असुं प्राणं राति ददातीति, असु+रा दानादानयोः-क। मेघनाम-निघ० १। १०। असुरत्वं प्रज्ञावत्वं वानवत्वं वापिवासु रितिप्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्था वसुरत्वमादिलुप्तम्-निरु० १०। ३४। क्षेप्ता। शूरः। व्यापकः। दीप्यमानः। ग्रहीता। प्राणदाता। प्रज्ञावान्। यद्वा, मेघवद् उदारः। वरुणविशेषणमेतत्। वि। विशेषेण। राजति। राजृ दीप्तौ। दीप्यते, ईष्टे ईश्वरो भवति-निघ० २। २१। वशा। वशस्पृहि-अप्, टाप्। इच्छा, स्पृहा।

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के क्रोध से डर कर मनुष्य पाप न करें और सदा उसे प्रसन्न रक्खें ॥ १ ॥

नम॑स्ते राजन् वरुणास्तु मन्यवे॒ विश्वं॒ ह्यु॑ग्र निचि॒केषि॑ द्रु॒ग्धम्। स॒हस्र॑म॒न्यान् प्र सु॑वामि सा॒कं श॒तं जी॑वाति श॒रद॒स्तवा॒यम् ॥ २ ॥

नमः॑ । ते॒ । रा॒ज॒न् । व॒रु॒ण॒ । अ॒स्तु॒ । म॒न्यवे॑ । विश्व॑म् । हि । उ॒ग्र॒ । नि॒-चि॒केषि॑ । द्रु॒ग्धम् । स॒हस्र॑म् । अ॒न्यान् । प्र । सु॒वा॒मि॒ । सा॒कम् । श॒तम् । जी॒वा॒ति॒ । श॒रदः॑ । तव॑ । अ॒यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अतिश्रेष्ठ (राजन्) बड़े ऐश्वर्य वाले, राजा, (ते) तुझ (मन्यवे) क्रोधरूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (उग्र) हे प्रचंड ! तू (विश्वम्) सब (हि) ही (द्रुग्धम्) द्रोह को (नि-चिकेषि) सदा जानता है। [मैं] (सहस्रम्)सहस्र (अन्यान्)दूसरे जीवों को (साकम्)

हि । अवश्यम् । यस्मात् । सत्या । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति सत्+यत्, टाप् । सद्भ्यो हिता, अवितथा । **वरुणस्य** । १ । ३ । ३ । व्रियते स्वीक्रियते स वरुणः । अतिश्रेष्ठस्य । परमेश्वरस्य । **राज्ञः** । राजति, ऐश्वर्यकर्मा-निघ० २ । २१ । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ-ऐश्वर्ये च-कनिन् । स्वामिनः, अधिपतेः, ईश्वरस्य । **ब्रह्मणा** । १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । **शाशदानः** । शद्लृ शातने यङ्लुगन्तात् छन्दसि शानच् । शाशद्यमानः—निरु० ६ । १६ । अत्यर्थं तीक्ष्णः । विजयी । **उग्रस्य** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ०२ । २८ । इति उच समवाये-रक् । उच्यति क्रुधा सम्बध्यते । उत्कटस्य, प्रचण्डस्य । **मन्योः** । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति मन ज्ञाने गर्वे, धृतौ च-भावे कर्तरि वा-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । क्रोधात् । **उत्+नयामि** । उपसर्गस्य व्यवधानम् । ऊर्ध्वं गमयामि, मोचयामीत्यर्थः ॥

२— **राजन्** । म० १ । हे ऐश्वर्यवन् । **वरुण** । म० १ । हे परमेश्वर ! **मन्यवे** । म० १ । क्रोधाय, क्रोधरूपाय । **नि-चिकेषि** । कि ज्ञाने—लट्,

एक साथ (प्रसुवामि) आगे बढ़ाता हूं, (ते) तेरा (अयम्) यह [सेवक] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ परमेश्वर के महा क्रोध से भय मानकर मनुष्य पातकों से बचें और सब के साथ उपकार करके जीवन भर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यदु॒वक्थानृ॑तं जि॒ह्वया॑ वृजि॒नं ब॒हु ।
राज्ञ॑स्त्वा स॒त्यध॑र्मणो मु॒ञ्चामि॒ वरु॑णाद॒हम् ॥ ३ ॥

यत् । उ॒वक्थ॑ । अनृ॑तम् । जि॒ह्वया॑ । वृ॒जि॒नम् । ब॒हु ।
राज्ञः॑ । त्वा॒ । स॒त्य-ध॑र्मणः । मु॒ञ्चामि॑ । वरु॑णात् । अ॒हम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (यत्) जो (बहु) बहुत सा (अनृतम्) असत्य और (वृजिनम्) पाप (जिह्वया) जिह्वा से (उवक्थ) तू बोला है। (अहम्) मैं (त्वा) तुझ को (सत्यधर्मणः) सच्चे धर्मात्मा वा न्यायी, (वरुणात्) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (राज्ञः) राजा से (मुञ्चामि) छुड़ाता हूं ॥ ३ ॥

जुहोत्यादिः, शपः श्लुः। त्वं नितरां जानासि। द्रुग्धम्। द्रुह जिघांसायाम्-भावे-क। द्रोहम्, अपराधम्। सहस्रम्। सहो बलमस्त्यस्मिन्, सहस्+रप्रत्ययो मत्वर्थे। बहुनाम, निघ० ३। १। बहून्, अनेकान्। अन्यान्। माछाशासिभ्यो यः। उ० ४। १०६। इति अन प्राणने, जीवने—य प्रत्ययः। अनिति जीवतीति अन्यः। जीवान्, प्राणिनः। इतरान् वा। प्र+सुवामि। षूङ् प्रेरणे, तुदादिः, ङित्वाद् गुणप्रतिषेधे उवङ्। प्रकर्षेण प्रेरयामि, ऊर्ध्वं नयामि, उपकरोमि। साकम्। इणभीकापा०। उ०३।४३। इति षो अन्तकर्मणि-कन्। सह,सगम्। शतम्। बहुनाम, निघ० ३। १। बहीः। जीवाति। जीव प्राणधारणे—लेट्, लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इति आडागमः। जीवेत्। शरदः। शृदृभसोऽदिः। उ० १। १३०। इति शॄ हिंसायाम्—अदि। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। पा० २। ३। ५। इति द्वितीया। आश्विनकार्तिक-मासयुक्तान् ऋतुविशेषान्। संवत्सरान् ॥

३—यत्। वचनम्। उवक्थ। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लिट्, त्वम् उक्तवानसि। अनृतम्। न ऋतम्। असत्यं। मिथ्याभाषणम्। जिह्वया।

भावार्थ—जो मनुष्य मिथ्यावादी दुराचारी भी होकर उस प्रभु की शरण लेते और सत्कर्मों में प्रवृत्त होते हैं, वे लोग उस जगदीश्वर की न्याय व्यवस्था के अनुसार दुःख पाश से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

मुञ्चामि त्वा वैश्वानरादर्णवान्महतस्परि ।
सजातानुग्रेहा वंद ब्रह्म चापं चिकीहि नः ॥ ४ ॥

मुञ्चामि । त्वा । वैश्वानरात् । अर्णवात् । महतः । परि ।
स-जातान् । उग्र । इह । आ । वद । ब्रह्म । च । अप । चिकीहि । नः ॥ ४ ॥

भावार्थ—[हे आत्मा !] (महतः) विशाल (अर्णवात्) समुद्र के समान गंभीर (वैश्वानरात्) सब नरों के हित कारक वा सब के नायक परमेश्वर से (त्वा) तुझ को (परि मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं । (उग्र) हे प्रचण्ड स्वभाव [परमेश्वर !] (सजातान्) [मेरे] तुल्य जन्म वालों को (इह) इस विषय में (आवद) उपदेश कर (च) और (नः) हमारे (ब्रह्म) वैदिक ज्ञान को (अप) आनन्द से (चिकीहि) तू जान ॥ ४ ॥

शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० । १ । १५४ । इति जि जये—वन्, हुक् आगमे निपातितः । जयति रसमनया । रसनया । वृजिनम् । वृजेः किच्च । उ० २।४७। इति वृजी वर्जने-इनच्, स च कित् । पापम् । बहु । अधिकम् । राज्ञः । म०१ । अध्यक्षात् । त्वा । त्वाम् । सेवकम्, आत्मानम् । सत्य-धर्मणः । धर्मादनिच् केवलात् । पा० ५ । ४ । १२४ । इति सत्य + धर्म + अनिच्, बहुव्रीहौ । यथार्थन्यायस्वभावात् मुञ्चामि । मुच्लृ मोक्षे-लट् । मोचयामि, वियोजयामि । वरुणात् । म० १ । श्रेष्ठात् परमेश्वरात् । अहम् । उपासकः ॥

४—परि+मुञ्चामि । म० ३ । सर्वथा मोचयामि । वैश्वानरात् । नॄ प्रापणे-अच् । नृणातीति नरः पुरुषः । विश्वश्चासौ नरश्चेति । नरे संज्ञायाम् । प० ६ ।३। १२९ । इति विश्वस्य दीर्घः । विश्वानर एव वैश्वानरः । स्वार्थे अण् । यद्वा । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । यद्वा । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति

भावार्थ—मनुष्य पापकर्म छोड़ने से सर्व हितकारी परमेश्वर के कोप से मुक्त होते हैं। परमात्मा सब प्राणियों को उपदेश करता और सब की सत्य भक्ति को स्वीकार कर यथार्थ आनन्द देता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१—६ ॥ पूषा देवता ॥ १ विराट् स्थाना त्रिष्टुप् ८ + १० + ८ + ११ = ३८, २, ३ अनुष्टुप् ८ × ४, ४-६ पंक्तिः ८ × ५ ॥

सृष्टि विद्या वर्णनम्—सृष्टि विद्या का वर्णन ॥

वषट् ते पूषन्नस्मिन्त्सूतावर्यमा होता कृणोतु वेधाः । सिस्रतां नार्यृतप्रजाता वि पर्वाणि जिहतां सूतवा उ ॥ १ ॥

वषट् । ते । पूषन् । अस्मिन् । सूतौ । अर्यमा । होता । कृणोतु । वेधाः । सिस्रताम् । नारी । ऋत-प्रजाता । वि । पर्वाणि । जिहताम् । सूतवै । ऊं इति ॥ १ ॥

अर्ण । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति यदपि वा विश्वानर एव स्यात् प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि तस्य वैश्वानरः-निरु० ७ । २१ । सर्वनायकात् । सर्वोपास्यात् । सर्वनरहितात् परमेश्वरात् । अर्णवात् । केशाद् वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०६ । अत्र । अर्णसोलोपश्च । इति वार्त्तिकम् । अर्णस् + व, सलोपः । अर्णांसि जलानि सन्त्यस्मिन् । समुद्रात्, समुद्रवद् गम्भीरस्वभावात् । महतः । वर्तमाने पृषद् बृहन् महज्जगच्छतृ वच्च । उ० २ । ८४ । इति मह पूजायाम्-अति । बड़ात् । विशालात् । सजातान् । समानजन्मनः पुरुषान् । उग्र । म० १ । हे प्रचण्ड, महाक्रोधिन् वरुण ! आ + वद । समन्तात् कथय, उपदिश । ब्रह्म । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानम् । अप । आनन्दे — इति शब्दस्तोममहानिधौ । चिकीहि । मं० २ । कि ज्ञाने-लोट् । जानीहि ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे सर्वपोषक, परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (वषट्) यह आहुति [भक्ति] है। (अस्मिन्) इस समय पर (सूतौ) सन्तान के जन्म को (अर्यमा) न्याय-कारी, (होता) दाता, (वेधाः) सब का रचने वाला ईश्वर (कृणोतु) करे। (ऋतप्रजाता) पूरे गर्भवाली (नारी) नरका हित करने हारी स्त्री (सिस्रताम्) सावधान रहे, (पर्वाणि) इस के सब अङ्ग (उ) भी (सूतवै) सन्तान उत्पन्न करने के लिये (विजिहताम्) कोमल होजावें ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रसव समय होने पर पति आदि विद्वान् लोग परमेश्वर की भक्ति के साथ हवनादि कर्म प्रसूता स्त्री की प्रसन्नता के लिये करें और वह स्त्री सावधान होकर श्वास प्रश्वास आदि द्वारा अपने अंगों को कोमल रक्खे जिस से बालक सुख पूर्वक उत्पन्न होवे ॥ १ ॥

१—**वषट्**। वह प्रापणे—डषटि। इति शब्दस्तोममहानिधौ। आहुतिः, हविर्दानम्। भक्तिः। स्वाहा। **पूषन्**। १। ६। १। पुष्णातीति पूषा। हे सर्वपोषक, परमेश्वर। **अस्मिन्**। अस्मिन् काले, इदानीम्। **सूतौ**। षूङ् प्राणिप्रसवे-क्तिन्। सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्। वार्तिकम्, पा० ७। १। ३९। इति द्वितीयार्थे सप्तमी। प्रसवकर्म, जन्म। **अर्यमा**। ऋ गतौ-यत्। अर्यः श्रेष्ठः। श्वनुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५९। इति अर्य+मा माने-कनिन्। अर्य्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति। यथार्थज्ञाता, न्यायकारी **होता**। नप्तृनेष्टृत्वष्टृ होतृ-इति। उ०२। ९६। इति हु दानादानादनेषु। यद्वा ह्वेञ् आह्वाने-तृन्। नित्त्वादाद्युदात्तः। दाता। होमकर्त्ता, ऋत्विक्, आह्वाता। **कृणोतु**। कृवि हिंसाकरणयोः-लोट्। भवान् पूषा उपकरोतु। **वेधाः**। विधाञो वेध च। उ० ४। २२५। वि+धाञ् धारणपोषणदानेषु—असि, वेधादेशः। विशेषेण दधातीति। ब्रह्मा, चतुर्वेदवेत्ता। मेधावी-निघ० ३। १५। विधाता, रचयिता। **सिस्रताम्**। सृ गतौ - लोट्, आत्मनेपदम् जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। अभ्यासस्य इत्वम् पुनरपि विकारणः शः। गच्छतु, सावधाना सुखप्रसूता वा भवतु। **नारी**। ऋतो ऽञ्। पा० ४। ४। ४९। इति नृ नीतौ-अञ्।। नृणाति नयतीति नरः। नराच्चेति वक्तव्यम्। तत्र वार्त्तिकम्। नर-अञ्। शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन्। पा० ४। १। ७३। इति ङीन्। नुर्नरस्य वा धर्म्या। नर धर्माचार-युक्ता। स्त्री, वधूः। **ऋत-प्रजाता**। अर्श-आदिभ्योऽच्।पा० ५। २। १२७।

टिप्पणी—इस सूक्त में माता से सन्तान उत्पन्न होने का उदाहरण देकर बताया गया है कि मनुष्य सृष्टि विद्या के ज्ञान से ईश्वर की अनन्त महिमा का विचार करके परस्पर उपकारी बनें ॥

चत॑स्रो दि॒वः प्रदि॑श॒श्चत॑स्रो॒ भूम्या॑ उ॒त ।
दे॒वा गर्भं॒ समै॑रय॒न् तं व्यू॑र्णुवन्तु॒ सूत॑वे ॥ २ ॥

चत॑स्रः । दि॒वः । प्र॒-दिशः॑ । चत॑स्रः । भूम्याः॑ । उ॒त । दे॒वाः ।
गर्भ॑म् । सम् । ऐ॒र॒य॒न् । तम् । वि । ऊ॒र्णु॒व॒न्तु॒ । सूत॑वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दिवः, आकाश की (चतस्रः) चारों (उत) और (भूम्याः) भूमि की (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) दिशाओं ने और (देवाः) दिव्य गुण वाले [अग्नि वायु आदि] देवताओं ने (गर्भम्) गर्भ को (समैरयन्) संगत किया है, वे सब (तम्) उस गर्भ को (सूतवे) उत्पन्न होने के लिये (व्यूर्णुवन्तु) प्रस्तुत करें ॥ २ ॥

भावार्थ—अग्नि आदि दिव्य पदार्थों के यथार्थ संयोग से ईश्वरीय नियम के अनुसार यह गर्भ स्थिर हुआ है मनुष्य उन तत्त्वों की अनुकूलता को, माता और गर्भ में, स्थिर रखने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें जिससे बालक बलवान् और नीरोग होकर पूरे समय पर उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

इति ऋत+प्रजात-अच्, टाप्। ऋतं सत्यं प्रजातं प्रजननमस्त्यस्याः। सत्यप्रसवा, उचितसमयप्रसूता, जीवदपत्या। **पर्वाणि** । पर्व गतौ-कनिन्। यद्वा स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति पॄ पूर्त्तौ पालने च-वनिप्। शरीरग्रन्थयः, देहसन्धयः। **वि+जिहताम्** । ओहाङ् गतौ-लोट् बहुवचनम्, जहोत्यादिः। विशेषेण गच्छन्तु कोमलानि सुखप्रसवयोग्यानि भवन्तु। **सूतवै** । तुमर्थे सेसेन०। पा०३।४।९। इति षूङ् प्राणिगर्भविमोचने तवै प्रत्ययः। प्रसवार्थम् ॥

२—**चतस्रः** । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतसृ। पा० ७। २। ९९। इति चतुःशब्दस्य जसि चतसृआदेशः। अचि र ऋतः। पा० ७। २। १००। इति रेफादेशः। चतुःसंख्याकाः। **दिवः** । १। ११। २। आकाशस्य। **प्र-दिशः** ।

टिप्पणी—देव वा देवता का अर्थ दिव्य वा अच्छे गुण वाला है। यजुर्वेद १४। २० में यह देवता कहे हैं।

अग्निर्देवता। वातो देवता। सूर्यो देवता। चन्द्रमा देवता। वसवो देवता। रुद्रो देवता। आदित्या देवता। मरुतो देवता। विश्वे देवा देवता। बृहस्पतिर्देवता। इन्द्रो देवता। वरुणो देवता॥

अग्नि १, वायु २ सूर्य ३, चन्द्रमा ४, सब के बसाने वाले अन्नादि पदार्थ ५, दुःख दूर करने वाले जीव वा पदार्थ ६, प्रकाश करने वाले पदार्थ अथवा अदिति, विद्या वा पृथिवी के पुत्र के समान सेवा करने वाले पुरुष ७, दुष्टों के मारने वाले शूर वीर पुरुष ८, सब अच्छे गुण वाले विद्वान् ९, बड़े वेद वचनों वा ब्रह्माण्डों का रक्षक परमेश्वर १०, ऐश्वर्य वा धन ११, और जल १२; यह सब (देवता) उत्तम गुण वाले हैं॥

सूषा व्यूर्णोतु वि योनिं हापयामसि।

अथया सूषणे त्वमव त्वं विष्कले सृज॥ ३॥

सूषा। वि। ऊर्णोतु। वि। योनिम्। हापयामसि।

अथय। सूषणे। त्वम्। अव। विष्कले। सृज॥ ३॥

१। ९। २। प्रकृष्टा दिशः। प्राच्याद्याः प्रधानदिशः। भूम्याः। भुवः कित्। उ० ४। ४५। इति भू सत्तायां-मि। कृदिकारादक्तिनः। इति पक्षे ङीष्। पृथिव्याः, भूलोकस्य। देवाः। १। ४। ३। दिव्यपदार्था अग्न्यादयः। विद्वांसश्च। गर्भम्। अर्तिगृभ्यां भन्। उ० ४। १५२। इति गॄ विज्ञापने, निगरणे च भन्। गीर्यते जीवसंचितकर्मफलदात्रा ईश्वरेण प्रकृतिबलात् जठरगह्वरे स्थाप्यते पुरुषशक्रयोगेण स गर्भः। भ्रूणम्, उदरस्थसन्तानम्। सम्। सम्यक्, यथाविधि। ऐरयन्। ईर गतौ लङ्। संगतमकुर्वन्। वि+ऊर्णुवन्तु। ऊर्णुञ् आच्छादने-लोट्। विवृतं प्रस्तुतं कुर्वन्तु। सूतवे। तुमर्थे सेसेन से०। पा० ३। ४। ९। इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-तवेन्। नित्वात् आद्युदात्तः। प्रसवितुम्॥

भाषार्थ—(सूषा) सन्तान उत्पन्न करने वाली माता (व्यर्णोतु) अङ्गों को कोमल करे (योनिम्) प्रसूतिका गृह को (विहापयामसि) हम प्रस्तुत करते हैं। (सूषणे) हे जन्म देने हारी माता ! (त्वम्) तू (श्रथय) प्रसन्न हो। (विष्कले) हे वीर स्त्री ! (त्वम्) तू (अव सृज) [वालक को] उत्पन्न कर॥३॥

भावार्थ—गर्भ के पूरे दिनों में गर्भिणी की शारीरिक और मानसिक अवस्था को विशेष ध्यान से स्वस्थ रक्खें। माता के प्रसन्न और सुखी रहने से वालक भी प्रसन्न और सुखी होता है। प्रसूतिका गृह भी पहिले से देश, काल विचार कर प्रस्तुत रक्खें कि प्रसूता स्त्री और वालक भले प्रकार स्वस्थ और हृष्ट पुष्ट रहें॥ ३॥

नेवं मांसे न पीवसि नेवं मज्जस्वाहतम्।
अवैतु पृश्नि शेवलं शुने जरायवत्तवेऽवजरायु पद्यताम्॥ ४॥

न-इव। मांसे। न। पीवसि। न-इव। मज्ज-सु। आ-हतम्। अव। एतु। पृश्नि। शेवलम्। शुने। जरायु। अत्तवे। अव। जरायु। पद्यताम्॥ ४॥

३—सूषा। सूयति प्रसवतीति। षूष, सूष वा प्रसवे-अच्, टाप्। सवित्री जननी, माता। वि+ऊर्णोतु। म० १। अङ्गानि प्रस्तुतानि करोतु। योनिम्। वहिश्रिश्रुयुद्रुग्लाहात्वरिभ्यो नित्। उ० ४। ५१। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-नि। योनिर्गृहनाम-निघ० ३। ४। गृहम्। प्रसूतिकागृहम्। वि+हापयामसि। ओ हाङ् गतौ—णिच्। अर्त्तिह्री०। पा० ७। ३। ३६। इति पुगागमः। इदन्तो मसिः। पा० ७। १। ४६। इकारः। विहापयामः। विशेषेण गमयामः। प्रस्तुतं कुर्मः। श्रथय। श्रथ यत्ने प्रहर्षे च, चुरादिः। यतस्व। हृष्टा भव। सूषणे। संपदादिभ्यः क्विप्। वा० पा० ३। ३। ९४। इति पूङ् प्रसवे-क्विप्। सूः सवनम्, उत्पत्तिः। छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। ३। २७ इति सू+षण दाने-इन्। सुवं सनोति ददातीति सूषणिः। तत्सम्बोधनम्। हे प्रसवस्य दात्रि कारिणि ! विष्कले। कलस्तृपश्च। उ० १। १०४। इति विष्क हिंसायां दर्शने च कल प्रत्ययः। टाप्। हे वीरे,शूरे। दर्शनीये। अव+सृज। उपसर्गस्य व्यवधानम्। सृज विसर्गे। गर्भं वालकम् उत्पादय॥

भाषार्थ—[वह जरायु] (नेव) न तो (मांसे) मांस में (न) न (पीवसि) शरीर की मुटाई में (नेव) और न (मज्जसु) हड्डियों की मीगों में (आहतम्) बंधी हुयी है। (पृश्नि) पतली (शेवलम्) सेवार घास के समान (जरायु) जेली वा झिल्ली (शुने) कुत्ते के लिये (अत्तवे) खाने को (अव) नीचे (पतु) आवे, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिरजावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जरायु एक झिल्ली होती है जिसे जेली वा जेरी कहते हैं और जिस में बालक गर्भ के भीतर लिपटा रहता है, कुछ उस में से बालक के साथ निकल आती है और कुछ पीछे। यह जरायु बालक उत्पन्न होने पर नाभि आदि के बन्धन से छुट जाती है और साररहित होकर माता के उदर में ऐसे फिरती है जैसे सेवार नाम घास जलाशय में। शरीर में उसके रहजाने से रोग हो जाता है। इस से उस जरायु का उदर से निकल जाना आवश्यक है जिस से प्रसूता नीरोग होकर सुखी रहे ॥ ४ ॥

४—न-इव । इव अवधाने । नैव । **मांसे** । मने दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ इति मन ज्ञाने धृतौ च सप्रत्ययः, दीर्घश्च । रक्तजधातुविशेषे । **न** । निषेधे । **पीवसि** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति पीव स्थौल्ये-असुन् । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति नित्त्वाद् आद्युदात्तः । स्थूलत्वे । **मज्जसु** । श्वन्नुक्षन् पूषन्० । उ० १ । १५९ । इति मस्ज जलान्तः प्रवेशे-कनिन्, निपात्यते च । अस्थिमध्यस्थस्नेहेषु । **आ-हतम्** । आङ्+हन बधे गतौ च-क्त । संबद्धम् । **अव** । अवाक्, अधस्तात् । **एतु** । गच्छतु, पततु । **पृश्नि** । घृणिपृश्नीनि । उ० ४ । ५२ । इति स्पृश स्पर्शे-नि, सलोपः । स्वल्पम् । **शेवलम्** । शीङो धुक्लक्वलञ्वालनः । उ० ४ । ३८ । इति शीङ् शयने-वालन्, ह्रस्वो वा. नित्त्वाद् आद्युदात्तः । जलस्योपरिस्थतृणविशेषः, शेवालं शैवलं वा । तद्वत् जननीजठरे स्थितं जरायु । **शुने** । श्वन्नुक्षन्पूषन् । उ० १ । १५९ । इति श्वि गतौ-कनिन । कुक्कुराय । **जरायु** । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-ञुण् । गर्भवेष्टनचर्म । उल्वम् । मांसपिण्डश्च यः प्रजननानन्तरं निः सरति । **अत्तवे** । तुमर्थे सेसेन्० । पा० ३।४।९। इति अद भक्षणे-तवेन् प्रत्ययः । भक्षितुम् । **पद्यताम्** । पद गतौ दिवादित्वात् श्यन् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति नित्यतायां पुनः कथनम् गच्छतु, पततु ॥

वि ते॑ भिनद्मि मेह॑नं वि योनिं॒ वि ग॒वीनि॑के ।
वि मा॒तरं॑ च पु॒त्रं च॒ वि कु॑मा॒रं ज॒रायु॒णाव॑ ज॒रायु॑ पद्यताम् ॥ ५ ॥

वि । ते॒ । भि॒न॒द्मि॒ । मेह॑नम् । वि । योनि॑म् । वि । ग॒वीनि॑के॒ इति॑ । वि । मा॒तर॑म् । च॒ । पु॒त्रम् । च॒ । कु॒मा॒रम् । ज॒रायु॑णा । अव॑ । ज॒रायु॑ । प॒द्य॒ता॒म् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (मेहनम्) गर्भ मार्ग को (वि) विशेष करके और (योनिम्) गर्भाशय को (वि) विशेष करके और (गवीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों को (वि) विशेष करके (भिनद्मि) [मलसे] अलग करती हूं (च) और (मातरम्) माता को (च) और (कुमारम्) क्रीड़ा करने वाले (पुत्रम्) पुत्र को (जरायुणा) जरायु से (वि वि) अलग २ [करती हूं], (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में धात्रेयी [धायी] अपने कर्म का वर्णन करके प्रसूता को उत्साहित करती है, अर्थात् धायी बड़ी सावधानी से प्रसव समय प्रसूता के अंगों को आवश्यकतानुसार कोमल मर्दन करे और उत्पन्न होनेपर माता और

५—**वि+भिनद्मि**। भिदिर् विशेष्करणे, द्विधाकरणे च। मलात् पृथक् करोमि, विश्लेषयामि। **मेहनम्** । १।३।७। गर्भमार्गम्। वि=विभिनद्मि। एवं (वि) इति शब्देन सह सर्वत्र योजनीयम्। **योनिम्** । म०३। गर्भाशयम्। **गवीनिके** । १।३।६। पार्श्ववर्तिन्यौ नाड्यौ। **मातरम्** । १।२।१। मान्यते पूज्यते सा माता। जननीम्। **पुत्रम्** । पुवो ह्रस्वश्च। उ० ४। १६५। इति पूङ् शोधे क्त। ह्रस्वश्च धातोः। पुनाति पित्रादीनिति पुत्रः। पुत्रः पुरुत्रायते निपरणाद्वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा—इति यास्कः, निरु० २। ११। पुरु+त्रैङ् रक्षणे-ड। यद्वा, पुत्+त्रैङ्-ड। यथा च रामयणे। २। १०७। १२। "पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥" अपत्यम्। सन्तानम्। **कुमारम्** । कुमार क्रीडने-अच्। क्रीड़ा-

सन्तान की यथायोग्य शुद्धि करके सुधि रक्खे और ऐसा यत्न करे कि जरायु अपने आप गिर जावे जिस से दोनों माता और सन्तान सुखी रहैं॥

यथा वातो यथा मनो यथा पतन्ति पक्षिणः ।
एवा त्वं दशमास्य साकं जरायुणा पतावं जरायु पद्यताम् ॥ ६ ॥

यथा । वातः । यथा । मनः । यथा । पतन्ति । पक्षिणः । एव । त्वम् । दश-मास्य । साकम् । जरायुणा । पत । अव । जरायु । पद्यताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) पवन और (यथा) जैसे (मनः) मन और (यथा) जैसे (पक्षिणः) पक्षी (पतन्ति) चलते हैं। (एव) वैसेही (दशमास्य) हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक!] (त्वम्) तू (जरायुणा साकम्) जरायु के साथ (पत) नीचे आ, (जरायु) जरायु (अव) नीचे (पद्यताम्) गिर जावे॥ ६॥

भावार्थ—(दशमास्य) दशवें अथवा ग्यारहवें महीने में बालक माता के गर्भ में बहुत शीघ्र चेष्टा करता है तब वह उत्पन्न होता है और जरायु वा जेली कुछ उस के साथ और कुछ उसके पीछे निकलती है॥ ६॥

शीलम्। शिशुम्। जरायुणा। म० ४। गर्भवेष्टनचर्मणा। अन्यत् गतम्—म० ४।

६—यथा। येन प्रकारेण। वातः। हसिमृग्रिण् वा०। उ० ३। ८६। इति वा सुम्नातिगतिसेवासु—तन्। नित्त्वाद् आद्युदात्तः। वायुः, पवनः। मनः। १।१।२। ज्ञानसाधकम् अन्तः करणम्। पतन्ति। शीघ्रं गच्छन्ति उड्डीयन्ते। पक्षिणः। अत इनिठनौ। पा० ५।२।११५। इति पक्ष—इनि। विहगाः। एव। निपातस्य च। पा० ६।३।१३६। इति दीर्घः। एवम्, तथा। दश-मास्य। तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च। पा० २।१।५१। इति

ऋग्वेद म० ५ सू० ७८ म० ८ में इस प्रकार है ।

यथा वातो यथा वनं यथा समुद्र एजति ।

एवा त्वं दशमास्य सहावेहि जरायुणा ॥ १ ॥

जैसे वायु, जैसे वृक्ष और जैसे समुद्र हिलता है, ऐसे ही तू हे दस महीने वाले [गर्भ के बालक !] जरायु के साथ नीचे आ ।

शब्दकल्पद्रुम कोश में लिखा है ।

अष्टमे मासि याते च अग्नियोगः प्रवर्तते ।

मासे तु नवमे प्राप्ते जायते तस्य चेष्टितम् ॥ १ ॥

जायते तस्य वैराग्यं गर्भवासस्य कारणात् ।

दशमे च प्रसूयेत तथैकादशमासि वा ॥ २ ॥

और आठवां महीना आने पर अग्नि योग होता है और नवमे महीने में उस [गर्भ] में चेष्टा होती है ॥ १ ॥ गर्भ में वास करने के कारण उस को वैराग्य (उच्चाटन) होता है, तब दसवें अथवा ग्यारहवें महीने में वह उत्पन्न होता है ॥ २ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

तद्धितार्थे विषयभूते समासः । संख्यापूर्वो द्विगुः । पा० २ । १ । ५२ । इति द्विगु संज्ञायाम् । द्विगोर्यप् । पा० ५ । १ । ८२ । इति भरणार्थे यप् । हे दशसु मासेषु मात्रा पोषित शिशो । साकम् । सह । सहयुक्तेऽप्रधाने । पा० २ । ३ । १९ । इति सहार्थेन साकं शब्देन योगे जरायुणा इति अप्राधान्ये तृतीया । पत । अधो गच्छ । अव । इत्यादि गतं म० ४ ।

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥
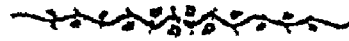
सूक्तम् १२ ॥

१—४ ॥ वृषा देवता । १, २ ईश्वरगुणाः, ३, ४, रोग निवृत्तिः । १-३ त्रिष्टुप् ११×४, ४ अनुष्टुप् ॥

१,२ ईश्वरगुणः, ३, ४ रोगनिवृत्तः— १,२ ईश्वर के गुण और ३ ४ रोग निवृत्ति का उपदेश ॥

जरायुजः प्रथम उस्रियो वृषा वातभ्रजा स्तनयन्नेति वृष्ट्या । स नो मृडाति तन्व ऋजुगो रुजन् य एकमोजस्त्रेधा विचक्रमे ॥ १ ॥

जरायु-जः । प्रथमः । उस्रियः । वृषा । वात-भ्रजाः । स्तनयन् । एति । वृष्ट्या । सः । नः । मृडाति । तन्वे । ऋजु-गः । रुजन् । यः । एकम् । ओजः । त्रेधा । वि-चक्रमे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जरायुजः) झिल्ली से [जरायुरूप प्रकृति से] उत्पन्न करने वाला, (प्रथमः) पहले से वर्तमान, (उस्रियः) प्रकाशवान् [हिरण्यगर्भनाम], (वातभ्रजाः) पवन के साथ पाकशक्ति वा तेज देने वाला, (वृषा) मेघ रूप परमेश्वर (स्तनयन्) गरजता हुआ (वृष्ट्या) बरसा के साथ (एति) चलता रहता है । (सः) वह (ऋजुगः) सरलगामी (रुजन्) [दोषों को]

१—जरायुजः । पञ्चम्यामजातौ । पा० ३ । २ । ९८ । इति जरायु+जन जननप्रादुर्भावयोः-ड । जरायोः प्रकृतिरूपाद् गर्भाशयाज्जनयति उत्पादयति सः। जरायुरूपायाः प्रकृतेः सृष्टिजनयिता । प्रथमः । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति,

मिटाता हुआ, (नः) हमारे (तन्वे) शरीरके लिये (मृडाति) सुख देवे, (यः) जिस (एकम्) अकेले (ओजः) सामर्थ्य ने (त्रेधा) तीन प्रकारसे (विचक्रमे) सब ओर को पद बढ़ाया था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे माता के गर्भ से जरायु में लिपटा हुआ बालक उत्पन्न होता है वैसे ही (उस्रियः) प्रकाशवान् हिरण्यगर्भ और मेघ रूप परमेश्वर (वातभ्रजाः) सृष्टि में प्राण डालकर पाचन शक्ति और तेज देता हुआ सब संसार को प्रलय के पीछे प्रकृति, स्वभाव, वा सामर्थ्य से उत्पन्न करता है, वही त्रिकालज्ञ और त्रिलोकीनाथ आदि कारण जगदीश्वर हमें सदा आनन्द देवे ॥ १ ॥

प्रथ ख्यातौ—अमच् । आदिमः,जगतः पूर्वं वर्तमानः। **उस्रियः** । स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वस निवासे—रक् । वसन्त्येषु सूर्यादिपरःतेजः, वसन्त्येषु रसाः इति उस्राः किरणाः, ततो मत्वर्थीयो घः । रश्मिवान् , हिरण्यगर्भः । परमेश्वरः । **वृषा** । कनिन् युवृषितक्षि० उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचने, प्रजनैश्वर्ययोः–कनिन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । वर्षकः । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः, सूर्यः, मेघः । तद्वद् वर्तमानः। **वातभ्रजाः** । वात+भ्रस्ज पाके वा भ्राज दीप्तौ–असुन् । वातेन सह पाकः , दीप्तिस्तेजो वा यस्य स वातभ्रजाः । **स्तनयन्** । स्तन देवशब्दे,चुरादिः,–शतृ । गर्जयन् । **एति** । गच्छति । **वृष्ट्या** । वृषु सेचने–क्तिन्। वर्षणेन । **मृडाति** । मृड सुखने–लेट् , आडागमः । सुखयेत् । **तन्वे** । १ । १। १ । स्वरितश्च । शरीराय । **ऋजुगः** । ऋजु+गम्लृ–ड । सरलगामी । **रुजन्** । रुजो भङ्गे,तुदादिः–शतृ । । भञ्जन्, दोषान् निवारयन् । **एकम्** । इण् भीकापा०। उ० ३ । ४३ । इति इण् गतौ—कन् । एति सर्वं व्याप्नोतीति एकः । मुख्यम् , केवलम् । **ओजः** । उब्जेर्बले बलोपश्च । उ० ४ । १९२ । इति उब्ज आर्जवे–असुन् । बलम् , तेजः । **त्रेधा** । संख्याया विधार्थे धा । पा० ५ । ३ । ४२ । त्रिप्रकारेण,भूतवर्तमानभविष्यति वर्तमानत्वेन, त्रिलोक्यां व्यापनेन। **वि-चक्रमे** । क्रमु पादविक्षेपे—लिट् , वेः पादविहरणे । पा० १ । ३ ।४१। इति आत्मनेपदम् । विविधम् आक्रान्तवान् ॥

यजुर्वेद में इस प्रकार वर्णन है—य० १३ । ४ ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

(हिरण्यगर्भः) तेजों का आधार परमेश्वर पहिले ही पहिले नियम पूर्वक वर्तमान था, वह संसार का प्रसिद्ध एक स्वामी था। उसने इस पृथिवी और प्रकाश को धारण किया था, हम सब उस प्रकाशमय प्रजापति परमेश्वर की भक्ति से सेवा किया करें ॥

और भी देखो ऋ० १ । २२ । १७ ।

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदम् ।
समूढमस्य पांसुरे ॥

(विष्णु) व्यापक परमेश्वर ने इस [जगत्] में अनेक अनेक प्रकार से पग को बढ़ाया, उसने अपने विचारने योग्य पद को तीन प्रकार से परमाणुओं से युक्त [संसार] में जमाया ॥

सायणभाष्य में (वातभ्रजाः) के स्थान में (वातव्रजाः) शब्द और अर्थ "वायु समान शीघ्रगामी" है ॥

अङ्गेअङ्गे शोचिषा शिश्रियाणं नमस्यन्तस्त्वा हविषा विधेम । अङ्कान्त्समङ्कान् हविषा विधेम यो अग्रभीत् पर्वास्या ग्रभीता ॥ २ ॥

अङ्गेऽअङ्गे । शोचिषा । शिश्रियाणम् । नमस्यन्तः । त्वा । हविषा । विधेम । अङ्कान् । सम्ऽअङ्कान् । हविषा । विधेम । यः । अग्रभीत् । पर्व । अस्य । ग्रभीता ॥ २ ॥

भावार्थ—(शोचिषा) अपने प्रकाश से (अङ्गे अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में

२-अङ्गेऽअङ्गे । अङ्ग चिन्ह करणे-अच । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४

(शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (त्वा) तुझ को (नमस्यन्तः) नमस्कार करते हुये हम (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करते रहें । [उसके] (अङ्कान्) पृथक् पृथक् चिन्हों को और (समङ्कान्) मिले हुये चिन्हों को (हविषा) भक्ति से (विधेम) हम आराधें, (यः) जिस (ग्रभीता) ग्रहण करने हारे परमेश्वर ने (अस्य) इस [सेवक वा जगत्] के (पर्व) अवयव अवयव को (अग्रभीत) ग्रहण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वह (वृषा) परमात्मा हमारे और सब व्यस्ति और समस्ति रूप जगत् के रोम रोम में परिपूर्ण है उस प्रकाश स्वरूप के गुणों को यथावत् जानकर हम लोग उस पर पूरी श्रद्धा से आत्म समर्पण करें । वह हमारे शरीर और आत्मा को बल देकर सहाय और आनन्द देता है ॥ २ ॥

इति द्विर्वचनम् । अङ्ग इत्यादौ च । पा० ६ । १ । ११९ । इति प्रकृतिभावः । सर्वेष्वङ्गेषु. अवयवेषु । **शोचिषा** । अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति शुच शौचे=शुद्धौ-इसि । दीप्त्या, प्रकाशेन । **शिश्रियाणम्** । लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । इति । श्रिञ् सेवायाम्-कानच् । अचि श्नुधातु० । पा० ६ । ४ । ७७ । इति इयङादेशः । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तत्वम् । आश्रितम्, परिपूर्णम् । **नमस्यन्तः** । नमोवरिवश्चित्रङः क्यच् । पा० ३ । १ । १९ । इति नमस्—क्यच् पूजायाम्. लटः शतृ । पूजयन्तः । **त्वा** । त्वां वृषाणम् । **हविषा** । १ । ४ । ३ । दानेन, आत्मसमर्पणेन भक्त्या । **विधेम** । विध विधाने, तुदादिः, विधिलिङ् । परिचरणकर्मा-निघ० ५ । ५ । परिचरेम, सेवेमहि । **अङ्कान्** । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति अञ्चु गतिपूजनयोः-कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अञ्चनशीलान् गमनशीलान्, व्यस्तिरूपेण पृथक् पृथग् व्याप्तान् गुणान् । **सम्-अङ्कान्** । सम्भूय गमनशीलान् । समस्तिरूपेण संगतान् गुणान् । **अग्रभीत्** । ग्रह उपादाने-लुङ्, हस्य भकारः । अग्रहीत् । **पर्व** । स्नामदिपद्यर्त्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालने, पूर्तौ -वनिप् । प्रत्येकावयवम् । **ग्रभीता** । ग्रह उपादने-तृच् । हस्य भः । ग्रहीता, ग्राहकः, धारकः ॥

मुञ्च शीर्षक्त्या उत कास एनं परुष्परुराविवेशा यो अस्य । यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो वनस्पतीन्त्सचतां पर्वतांश्च ॥ ३ ॥

मुञ्च । शीर्षक्त्याः । उत । कासः । एनम् । परुः-परुः । आविवेश । यः । अस्य । यः । अभ्र-जाः । वात-जाः । यः । च । शुष्मः । वनस्पतीन् । सचताम् । पर्वतान् । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस पुरुष को (शीर्षक्त्याः) शिरकी पीड़ा से (उत) और [उस खाँसीसे] (मुञ्च) छुड़ा (यः कासः) जिस खाँसी ने (अस्य) इस पुरुष के (परुःपरुः) जोड़ जोड़ में (आविवेश) घर कर लिया है। (यः) जो खाँसी (अभ्रजाः) मेघ से उत्पन्न, (वातजाः) वायु से उत्पन्न (च) और (यः) जो (शुष्मः) सूखी [होवे और जो] (वनस्पतीन्) वृक्षों से (च) और (पर्वतान्) पहाड़ों से (सचताम्) संबन्ध वाली होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—खाँसी सब रोगों की माता है जैसा कि प्रसिद्ध है "लड़ाई का घर हाँसी और रोग का घर खाँसी"। जैसे सद्वैद्य मन्त्र में कहे अनुसार मस्तक

३—मुञ्च । मुच्लृ मोचने । मोचय । शीर्षक्त्याः । शीर्ष+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्तिन् । शीर्षं शिरः अञ्चति गच्छति व्याप्नोतीति शीर्शक्तिः, तस्याः शिरःपीड़ायाः सकाशात् । उत । अपि च । कासः । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति कासृ शब्दकुत्सनयोः—घञ् । रोगविशेषः । कासी वा खांसी इति भाषा । क्षवथुः । परुः- परुः । अर्त्तिपॄवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति पॄ पूर्त्तिपालनयोः- उसि । सर्वान् शरीरसन्धीन् । आ-विवेश । विश प्रवेशने-लिट् । छान्दसो दीर्घः । प्रविष्टवान् । अभ्रजा । अप्+भृ-क्त । अपो बिभर्त्तीति अभ्रं मेघः । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इतिअभ्र+जनी प्रादुर्भावे-विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा०६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । मेघस्य सम्बन्धाज्जातः । वातजाः । पूर्ववत् । वात+जनी-विट् । वायोर्जात उत्पन्नः कासः शुष्मः । अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति

की पीड़ा और खाँसी आदि बाहिरी और भीतरी रोगों का निदान जान कर रोगी को स्वस्थ करता है इसी प्रकार परमेश्वर वेद ज्ञान से मनुष्य को दोषों से छुड़ा कर और ब्रह्म ज्ञान देकर अत्यन्त सुखी करता है। इसी प्रकार राज प्रबन्ध और गृह प्रबंध आदि व्यवहार में विचारना चाहिये ॥ ३ ॥

शं मे परस्मै गात्राय शमस्त्ववराय मे ।
शं मे चतुर्भ्यो अङ्गेभ्यः शमस्तु तन्वे३ मम ॥४॥

शम् । मे । परस्मै । गात्राय । शम् । अस्तु । अवराय । मे ।
शम् । मे । चतुः-भ्यः । अङ्गेभ्यः । शम् । अस्तु । तन्वे । मम ॥४॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (परस्मै) ऊपर के (गात्राय) शरीर के लिये (शम्) सुख और (मे) मेरे (अवराय) नीचे के शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे। (मे) मेरे (चतुर्भ्यः) चारों (अङ्गेभ्यः) अंगों के लिये (शम्) सुख और (मम) मेरे (तन्वे) सब शरीर के लिये (शम्) सुख (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

शुष शोषे-मन् स च कित्। शोषकः, पित्तविकारादिजनितः कासः। **वनस्पतीन्** । १ । ३५ । ३ । वनानां पतिः पाता वा वनस्पतिः। वनति सेवते अथवा वन्यते सेव्यते इति वनम्। वन सेवने, याचने, उपकारे-अच्। पारस्करप्रभृतीनि च संज्ञायाम्। पा० ६ । १ । १५७ । इति सुडागमः। सर्ववृक्षान्। **सचताम्** । षच समवाये-लोट्। सचन्ताम्=संसेव्यन्ताम्-निरु० ६ । ३३ । समवैतु, सम्बध्नातु । **पर्वतान्** । भृमृदृशियजिपर्विपच्चि । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-अतच्। शैलान् ॥

४—**परस्मै** । १।८।३। श्रेष्ठाय,उपरिवर्तमानाय । **गात्राय** । गमेरा च। उ० ४ । १६६ । इति गम्लृ-त्रन्, मस्य आकारः। गच्छति चेष्टतेऽनेन। अङ्गाय, शरीराय। **अवराय** । १ । ८ । ३ । निकृष्टाय,अवस्ताद् वर्तमानाय। **चतुः-भ्यः**। चतुःसंख्येभ्यः। द्वौ हस्तौ,द्वौ पादौ-इति चत्वारि तेभ्यः। **अङ्गेभ्यः** । अङ्ग पदे-गतौ-अच्। अङ्गयति चेष्टतेऽनेन। अवयवेभ्यः, गात्रेभ्यः। **तन्वे** । म० १। शरीराय सर्वस्मै ॥

भावार्थ—चारों अंग दो हाथ और दो पद हैं। मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक अपने सब अमूल्य शरीर को प्रयत्न से सर्वथा स्वस्थ रक्खे और मानसिक बल बढ़ा कर संसार में उपकारी हो और सदा सुख भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १,२ नुअष्टुप्, ३,४ जगती १२ × ४ ॥

आत्मरक्षोपदेशः—आत्मरक्षा के लिये उपदेश ॥

नम॑स्ते अस्तु वि॒द्युते॒ नम॑स्ते स्तनयि॒त्नवे॑ ।
नम॑स्ते अ॒स्त्वश्म॑ने॒ येना॑ दू॒डाशे॒ अस्य॑सि ॥ १ ॥

नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु । वि॒-द्युते॑ । नमः॑ । ते॒ । स्त॒न॒यि॒त्नवे॑ ।
नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु । अश्म॑ने । येन॑ । दुः॒-दाशे॑ । अस्य॑सि ॥ १ ॥

भाषार्थ—हे परमेश्वर ! (ते) तुझ (विद्युते) कौंधा लेती हुयी, विजुली रूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (स्तनयित्नवे) गड़गड़ाते हुये, बादलरूप को (नमः) नमस्कार होवे। (ते) तुझ (अश्मने) पाषाण रूप को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (येन) जिस [पत्थर] से (दूडाशे) दुःखदायी पुरुष को (अस्यसि) तू ढादेता है ॥ १ ॥

१—**विद्युते** । भ्राजभासधुर्विद्युतो० । पा० ३ । २ । १७७ । इति वि + द्युत दीप्तौ—क्विप् विशेषेण दीप्यमानायै तडिते, सौदामिन्यै, तडिद्रूपाय । **स्तनयित्नवे** । स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच् । उ० ३ । २९ । इति स्तन देवशब्दे—इत्नुच् । चुरादित्वात् णिच् । अदन्तत्वाद् उपधावृद्ध्यभावः । अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु । पा० ६ । ४ । ५५ । इति णेः अयादेशः । गर्जनशीलाय मेघाय, तद्रूपाय । **अश्मने** । अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । इति अशूङ् व्याप्तिसंहत्योः—मनिन् । व्यापनशीलाय । पाषाणाय, तद्रूपाय । दुः-

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा दुःखदायी अधर्मी पापियों को आधिदैविक आदि दंड देकर असह्य विपत्तियों में डालता है, इसलिये सब मनुष्य उस के कोप से डर कर उस की आज्ञा का पालन करें और सदा आनन्द भोगें ॥१॥

नमस्ते प्रवतो नपाद् यतस्तपः समूहसि ।
मृडया नस्तनूभ्यो मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ २ ॥

नमः । ते । प्र-वतः । नपात् । यतः । तपः । सम्-ऊहसि ।
मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने हारे ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार है, (यतः) क्योंकि तू [दुष्टों पर] (तपः) संताप को (समूहसि) संयुक्त करता है। (नः) हमें (तनूभ्यः) हमारे शरीरों के लिये (मृडय) सुख दे और (तोकेभ्यः) हमारे सन्तानों के लिये (मयः) सुख (कृधि) प्रदान कर ॥ २ ॥

दाशे । दुर्+दाशृ दाने-घञ् वा खल् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०६ । अत्र । दुरोदाशनाशदभध्येषूत्वमुत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । इति वार्त्तिकेन ऊत्वं डत्वं च । दुर् दुःखं दाशति ददातीति दूडाशः । सुपां सुलुक् । पूर्वसवर्ण...। वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति द्वितीयायां सप्तमी । दुःखदायिनम् अधार्मिकं पुरुषम् । अस्यसि । असु क्षेपणे- श्यन् । क्षिपसि नाशयसि ॥

२—प्र-वतः । प्रपूर्वकात् वन संभक्तौ=सेवने, याचे च-क्विप् । गमः क्वौ । पा० ६ । ४ । ४० । अत्र । गमादीनामिति वक्तव्यम् । इति वार्त्तिकेन नकारलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । भक्तस्य सेवकस्य याचकस्य अथवा भक्तान् द्वितीयार्थे । नपात् । नञ् पूर्वात् पत अधः पतने, णिच्—क्विप् । नभ्राण् नपात्० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । न पातयतीति नपात् । हे नपातयितः, न पातनशील ! धारयितः । (नपात्) य० १२ । १०८ । न विद्यते पातो धर्मात् पतनं यस्य सः-इति श्री मद्दयानन्दः । यतः । यस्मात् कारणात् । तपः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तप सन्तापे—असुन । सन्तापम । सम्+ऊहसि—ऊह वितर्के ।

भावार्थ— परमेश्वर भक्तों को आनन्द और पापियों को कष्ट देता है। सब मनुष्य नित्य धर्म में प्रवृत्त रहें और संसार भर में सुख की वृद्धि करें ॥

प्रवतो नपान् नम एवास्तु तुभ्यं नमस्ते हेतये तपुषे च कृण्मः । विद्म ते धाम परमं गुहा यत् समुद्रे अन्तर्निहितासि नाभिः ॥ २ ॥

प्र-वतः । नपात् । नमः । एव । अस्तु । तुभ्यम् । नमः । ते । हेतये । तपुषे । च । कृण्मः । विद्म । ते । धाम । परमम् । गुहा । यत् । समुद्रे । अन्तः । नि-हिता । असि । नाभिः ॥२॥

भावार्थ—हे (प्रवतः) अपने भक्त के (नपात्) न गिराने वाले ! (तुभ्यम्) तुझको (एव) अवश्य (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (ते) तुझ (हेतये) वज्र रूप को (च) और (तपुषे) तपाने वाले तोप आदि अस्त्ररूप को (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं। (यत्) क्योंकि (ते) तेरे (परमम्) बड़े ऊंचे (धाम) धाम [निवास] को (गुहा=गुहायाम्) गुफा में [अपने हृदय और प्रत्येक अगम्य स्थान में] (विद्म) हम जानते हैं। (समुद्रे अन्तः) आकाश के बीच में

उपसर्गवशात् संधीकरणे। संहतं करोषि, संयोजयसि। मृडय। मृड तोषणे। तोषय, अनुगृहाण। तनूभ्यः। १।१।१। शरीरेभ्यः। तेषां हिताय। मयः। मिञ् हिंसायाम्-असुन्। मिनोति दुःखम्। सुखम। निघ० ३।६। तोकेभ्यः। हृदाधाराचिंकलिभ्यः कः। उ० ३।४०। इति तु वृद्धौ पूर्तौ-क प्रत्ययः। तौति पूरयति गृहमिति तोकम्। अपत्यनाम-निघ० २।२। अपत्येभ्यः। कृधि। कुरु। देहि। तोकेभ्यस्कृधि। कःकरत्करतिकृधिकृतेष्वनदितेः। पा० ८।३। ५०। इति विसर्गस्य सत्वम् ॥

२—प्र-वतः नपात्। म० २। हे स्वभक्तस्य न पातयितः। हेतये। ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च। पा० ३।३।९७। इति हन वधे गतौ च क्तिन्। एत्वम् उदात्तत्वं च निपात्येते। यद्वा हि वर्धने गतौ च—क्तिन् निपातितश्च। हन्यन्तेऽनया शत्रवः। गम्यतेऽनया जयः,वर्द्धयते वैश्वर्यम्। हेतिः, वज्र

(नाभिः) बन्ध में रखने वाली नाभि के समान तू (निहिता) ठहरा हुआ (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—इस भक्त रक्षक, दुष्टनाशक परमात्मा का (परम धाम) महत्व सब के हृदयों में और सब अगम्य स्थानों में वर्तमान है। जैसे (नाभि) सब नाड़ियों को बन्धन में रखकर शरीर के भार को समान तोल कर रखती है, वैसे ही परमेश्वर (समुद्र) अन्तरिक्ष वा आकाश में स्थित मनुष्य आदि प्राणियों और सब पृथिवी, सूर्य्य आदि लोकों का धारण करने वाला केन्द्र है। विद्वान् लोग उसको माथा टेकते और उसकी महिमा को जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

यां त्वा देवा असृजन्त विश्व इषुं कृण्वाना असनाय धृष्णुम्। सा नो मृड विदथे गृणाना तस्यै ते नमो अस्तु देवि ॥ ४ ॥

नाम—निघ० ३। २०। वज्राय, वज्ररूपाय। तपुषे। अर्त्तिपृचपियजितनिधनि—तपिभ्यो—नित्। उ० २। ११७। इति तप ऐश्वर्यसंतापदाहेषु—उसि। दाहकाय अस्त्राय, तद्रूपाय। कृरमः। कृवि हिंसाकरणयोः—लट्। वयं कुर्मः। विद्म। विदोलटो वा। पा० ३। ४। ८३। इति विद ज्ञाने मसो मादेशः। वयं जानीमः। धाम। सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति धा—मनिन्। स्थानम्, गृहम्। प्रभावम्। परमम्। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति पर+मा माने—क। उत्कृष्टम्। गुहा। १। ८। ४। सप्तम्या लुक्। गुहायाम्, गर्ते हृदये। गुहावद् अगम्ये प्रदेशे यत्। यस्मात् कारणात। समुद्रे। १। ३। ८। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१ इति सम्+उत्+द्रु गतौ—डप्रत्ययः, यद्वा, स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। सम्+मुद हर्षे—अधिकरणे रक्। यद्वा, सम्+उन्दी क्लेदने—रक्। सागरे, उदधौ, अन्तरिक्षे—निघ० १। ३। अन्तः। मध्ये। नि-हिता। दधाते र्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि पूर्वात् धाञः—क, हिरादेशः। स्थापिता। नाभिः। नहो भश्च। उ० ४। १२६। इति णह बन्धने—इञ् प्रत्ययः, ञित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति आद्युदात्तः। नह्यति बध्नाति नाडीः। स्त्रीलिंगता। तुन्दकूपी। नाभिचक्रवत् मध्यस्थः ॥

याम् । त्वा । देवाः । असृजन्त । विश्वे । इषुम् । कृण्वानाः । असनाय । धृष्णुम् । सा । नः । मृड । विदथे । गृणाना । तस्यै । ते । नमः । अस्तु । देवि ॥ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (याम् त्वा) जिस तुझ परमेश्वर को (असनाय) नाश के लिये (धृष्णुम्) बहुत दृढ़ (इषुम्) शक्ति अर्थात् बरछी (कृण्वानाः) बनाकर (असृजन्त) माना है । (सा) सो तू (विदथे) यज्ञ में (गृणाना) उपदेश करती हुयी (नः) हमको (मृड) सुख दे, (देवि) हे देवी [बरछी] (तस्यै ते) उस तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के क्रोध को सब संसार के दोषों के नाश के लिये बरछी रूप समझ कर सदा सुधार और उपकार करते हैं तब संसार में प्रतिष्ठा और मान पाकर सुख भोगते और परमात्मा के क्रोध का धन्यवाद देते ॥ हैं ॥

यजुर्वेद में लिखा है-यजु० १६ । ३ ॥

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे ।
शिवां गिरित्र तां कुरु माहिंसीः पुरुषं जगत् ॥१॥

४—त्वा । प्रवतो नपातम्,म०२ । देवाः । विद्वांसः । असृजन्त । सृज विसर्गे—लङ् । सृष्टवन्तः, त्यक्तवन्तः । मनसा कल्पितवन्तः । इषुम् । ईषेः किच्च । उ० १ । १३ । इति ईष हिंसने-उ, ह्रस्वश्च । अथवा । इष गतौ—उ । बाणम् शक्तिनामायुधम् । कृण्वानाः । कृवि हिंसाकरणयोः-शानच् । कुर्वाणाः । असनाय । असु क्षेपणे-भावे ल्युट् । क्षेपणाय । नाशनाय । धृष्णुम् । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा०३ । २ । १४० । इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये-क्नु । प्रगल्भाम्,निर्भयाम् सुदृढाम् । मृड । मृडय,सुखय । विदथे । रुविदिभ्यां ङित् । उ० ३ । ११५ । इति विद ज्ञाने विद्लृ लाभे विद विचारणे, विद सत्तायाम्—अथ प्रत्ययः । स च ङित् । विदथः,यज्ञनाम-निघ० ३ । १७ । ज्ञायते हि यज्ञः,लभते हि दक्षिणादिरत्र, विचार्यते हि विद्वद्भिः, भावयत्यनेन फलम्—इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । यज्ञे । वेदितव्ये कर्मणि । गृणाना । गॄ शब्दे-शानच् । शब्दायमाना, उपदिशन्ती । देवि । हे द्योतमाने, हे दिव्यगुणयुक्त ॥

हे वेद द्वारा शान्ति फैलाने वाले ! जिस बरछी वा बाण को चलाने के लिये अपने हाथों में तू धारण करता है। हे वेदद्वारा रक्षा करने वाले ! उस को मंगलकारी कर, पुरुषार्थी लोगों को तू मत मार ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ वधूवरौ देवते । अनुष्टुप् ८×४ ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाहसंस्कार का उपदेश ॥

भगमस्या वर्च आदिष्यधि वृक्षादिव स्रजम् ।
महाबुध्न इव पर्वतो ज्योक् पितृष्वास्ताम् ॥ १ ॥

भगम् । अस्याः । वर्चः । आ । अदिषि । अधि । वृक्षात्-इव । स्रजम् । महाबुध्नः-इव । पर्वतः । ज्योक् । पितृषु । आस्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वधू] से (भगम्) [अपने] ऐश्वर्य को और (वर्चः) तेज को (आ अदिषि) मैंने माना है, (इव) जैसे (वृक्षात् अधि) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को। (महाबुध्नः) विशाल जड़वाले (पर्वतः इव) पर्वत के समान [यह वधू] (पितृषु) [मेरे] माता पिता आदि बान्धवों में (ज्योक्) बहुत काल तक (आस्ताम्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—यह वर का वचन है। विद्वान् पुरुष खोज कर अपने समान गुण वती स्त्री से विवाह करके संसार में ऐश्वर्य और शोभा पाता है जैसे वृक्ष के सुन्दर फूलों से शोभा होती है। वधू अपने सास ससुर आदि माननीयों की

१—**भगम्** । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३।३।११८। इति भज सेवायाम्-घ प्रत्ययः । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति घत्वम् । भगः. धननाम निघ २ । १० । श्रियम्, ऐश्वर्यम् कीर्त्तिम् । **अस्याः** । नवोढायाः स्त्रियाः सकाशात् । **वर्चः** । १ । ६ । ४ । रूपम् । तेजः । **आ+अदिषि** । आङ् पूर्वकात् डुदाञ् आदाने-लुङ् । आङो दोऽनास्य विहरणे । पा० १ । ३ । २० । इति आत्मने पदम् । अहं गृहीतवान् प्राप्तवानस्मि । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुवादी । उपरि ।

सेवा और शिक्षा से दृढ़चित्त होकर घर के कामों का सुप्रबन्ध करके गृहलक्ष्मी की पक्की नेव जमावे और पति पुत्र आदि कुटुम्बियों में बड़ी आयु भोग कर आनन्द करे ॥ १ ॥

मन्त्राः २—४ । वधूपक्षोक्तिः ॥

एषा ते राजन् कन्या वधूर्नि धूयतां यम ।
सा मातुर्बध्यतां गृहेऽथो भ्रातुरथो पितुः ॥ २ ॥

एषा । ते । राजन् । कन्या । वधूः । नि । धूयताम् । यम । सा । मातुः । बध्यताम् । गृहे । अथो इति । भ्रातुः । अथो इति । पितुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम) हे नियम में चलाने वाले, वर (राजन्) राजा ! (एषा) यह (कन्या) कामना योग्य कन्या (ते) तेरी (वधूः) वधू (नि) नियम से (धूयताम) व्यवहार करे। (सा) वह (मातुः) [तेरी] माता के, (अथो) और भी (पितुः) पिता के (अथो) और (भ्रातुः) भ्राता के साथ (गृहे) घर में (बध्यताम्) नियम से बन्धी रहे ॥ २ ॥

वृक्षात् इव । १ । २ । ३ । इगुपधज्ञाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ । इति वृञ् वरणे-क । वृक्ष्यते व्रियते सेव्यते छायाफलार्थम् । विटपात् यथा । स्रजम् । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति सृज विसर्गे-क्विन् । सृजति ददाति शोभामिति स्रक् । पुष्पमालाम् । महाबुध्नः । बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । इति बन्ध बन्धने-नक्, बुधादेशश्च । विशालमूलः, दृढमूलः । पर्वतः । १ । १२ । ३ । शैलः । भूधरः । ज्योक् । १ । ६ । ३ । चिरकालम् । पितृषु । १ । २ । १ । रक्षकेषु । जनकवत् मान्येषु, मातापित्रादिषु बन्धुषु । आस्ताम् । आस उपवेशने-लोट् । तिष्ठतु । निवसतु ॥ १ ॥

२—राजन् । १ । १० । १ । हे ऐश्वर्यवन् जामातः । कन्या । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति कन प्रीतौ, द्युतौ, गतौ,-यक्, टाप् च । कन्यते काम्यते दीप्यते गच्छति वा सा । कमनीया । पुत्री । वधूः । वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । वह प्रापणे-ऊ प्रत्ययः, धश्च । वहति प्रापयति सुखानीति । यद्वा । बन्ध-ऊ,

भावार्थ—मन्त्र २—४ वधू पक्ष के वचन हैं । वधू के माता पिता आदि वर से कहें कि यह सुशिक्षिता गुणवती कन्या आप को सौंपी जाती है यह आप के माता, पिता और भ्राता आदि सब कुटुम्बियों में रहकर अपने सुप्रबन्ध से सब को प्रसन्न रक्खे और सुख भोगे ॥ २ ॥

मनुजी महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अ० २ श्लो० २४० ॥

स्त्रियो रत्नान्यथो विद्या धर्मः शौचं सुभाषितम् ।
विविधानि च शिल्पानि समादेयानि सर्वतः ॥ १ ॥

स्तुति योग्य स्त्रियां, रत्न, विद्या, धर्म, शुद्धता, और मीठी बोली, और अनेक प्रकार की हस्त क्रियायें सब से यत्नपूर्वक लेना चाहियें ॥

बालया वा युवत्या वा वृद्धया वापि योषिता ।
न स्वातन्त्र्येण कर्तव्यं किंचित् कार्यं गृहेष्वपि ॥१॥

म० ५ । १४७ ॥

चाहे स्त्री बालक या युवती वा बूढ़ी हो, वह स्वतन्त्रता से कोई काम घरोंमें भी न करे ॥

न लोपः । बध्नाति प्रेम्णा या नवोढा स्त्री, भार्या । नि । नितराम्, नियमेन । ध्रूयताम् । धूञ् कम्पने-कर्मणि लोट् । चेष्टताम्, गृहकार्येषु प्रवर्तताम् । यम । यम नियमने-अच् । यमयति नियमयति गृहकार्याणीति । यमो यच्छतीति । स्तनः, मध्यस्थानदेवतासु-निरु० १० । १६ । द्युस्थानः-निरु०, १२ । १०, ११ । वायुः, सूर्यः । हे नियामक वर ! मातुः । १ । २ । १ । तव जनन्याः । बध्यताम् । बन्ध बन्धने कर्मणि लोट् । प्रेमबद्धा भवतु । गृहे । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । वासस्थाने, भवने, मन्दिरे । अथो । अथ+उ । अपि च । भ्रातुः । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० । उ०२ । ६५ । इति भ्राज दीप्तौ-तृन् । सहोदरस्य । पितुः । म० १ । जनकस्य ॥ २ ॥

ए॒षा ते॑ कुल॒पा रा॑जन् ताम् ते॒ परि॑ दद्मसि ।
ज्योक् पि॒तृष्वा॑साता आ शी॒र्ष्णः स॒मोप्या॑त् ॥ ३ ॥

ए॒षा । ते॒ । कु॒ल॒-पाः । रा॒ज॒न् । ताम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ।
ज्योक् । पि॒तृषु॑ । आ॒सा॒तै॒ । आ । शी॒र्ष्णः । स॒म्-ओप्या॑त् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे वर राजा (एषा) यह कन्या (ते) तेरे (कुलपाः) कुल की रक्षा करने हारी है, (ताम्) उसको (उ) ही (ते) तेरे लिये (परि) आदर से (दद्मसि) हम दान करते हैं। यह (ज्योक्) बहुत काल तक (पितृषु) तेरे माता पिता आदिकों में (आसातै) निवास करे, और (आशीर्ष्णः) अपने मस्तक तक [जीवन पर्यन्त वा बुद्धि की पहुंच तक] (समोप्यात्) ठीक ठीक बढ़ती का बीज बोवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर वधूपक्ष वाले माता पिता आदि इस मन्त्र से जामाता की विनती करते और स्त्री धर्म का उपदेश करते हुये कन्या दान करके गृहाश्रम में प्रविष्ट कराते हैं ॥ ३ ॥

३—कुलपाः । कुल+पा रक्षणे-कर्मण्युपपदे विच् प्रत्ययः । पातिरक्ष्येन कुलस्य पालयित्री रक्षयित्री । राजन् । हे ऐश्वर्यवन् जामातः । ऊं इति । अवश्यम् । परि+दद्मसि । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तत्वम् । रक्षणार्थं दानं परिदानम् । रक्षणार्थं दद्मः, समर्पयामः । ज्योक् । म० १ । दीर्घकालम् । पितृषु । म० १ । मातापित्रादिबन्धुषु । आसातै । आस उपवेशने-लेटि आडागमः । टेः एत्वे । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ९६ । इति ऐकारः । आस्ताम्, निवसतु । आ-शीर्ष्णः । १ । ७ । ७ । आङ् मर्यादावचने । पा० १ । ४ । ८९ । इति आङः कर्मप्रवचनीयसंज्ञा । पञ्चम्यपाङ्परिभिः । पा० २ । ३ । १० । इति पञ्चमी । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् आदेशः । मस्तकस्थितिपर्यन्तं, जीवनपर्य्यन्तम् । सम्-ओप्यात् = सम्+आ+उप्यात् । वप बीजवपने मुण्डने च-आशीर्लिङ् । यथामर्यादं बीजवपनं वर्धनं कुर्य्यात् ॥ ३ ॥

असितस्य ते ब्रह्मणा कश्यपस्य गयस्य च ।
अन्तःकोशमिव जामयोऽपि नह्यामि ते भगम् ॥४॥

असितस्य । ते । ब्रह्मणा । कश्यपस्य । गयस्य । च ।
अन्तः-कोशम्-इव । जामयः । अपि । नह्यामि । ते । भगम् ॥४॥

भाषार्थ—(असितस्य) जो तू बन्धन रहित, (कश्यपस्य) [सोम] रस पीने हारा, (च) और (गयस्य) कीर्तन के योग्य है उस (ते) तेरे (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के कारण (ते) तेरे लिये (भगम्) ऐश्वर्य को (अपि) अवश्य (नह्यामि) मैं बांधता हूं। (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिनें] (अन्तः कोशम्) मञ्जूषा वा पिटारे को [बांधती] हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के अनुसार वधू पक्ष वाले पुरुष और स्त्रियां विनती करके श्रेष्ठ वर और कन्या को धन, भूषण, और वस्त्र आदि से सत्कार के साथ विदा करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-४ । प्रजापतिर्देवता । १ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप्, २ पूर्वार्धो जगती द्वितीयोऽनुष्टुप्, ३, ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

४—**असितस्य** । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३।८६ । इति षिञ् बन्धने-क्त, नञ् समासः । अबद्धस्य, मुक्तस्य । **ब्रह्मणा** । १ । ८ । ४ ॥ वेदज्ञानकारणेन । **कश्यपस्य** । कश शब्दे-बाहुलकात् करणे-यत् । कशति अनेनेति कश्यं सुखकरो रसः । कश्य+पा पाने-क । कश्यं सोमरसं पिबतीति कश्यपः । सोमपानशीलस्य । **गयस्य** । गै गाने-घञ्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । गेयस्य कीर्तनीयस्य । **अन्तः कोशम्**-कुश संश्लेषणे - अधिकरणे घञ् । वस्त्रादिधारणाय आवरणम्, मञ्जूषाम् । **जामयः** । १ । ४ । १ । कुलस्त्रियः, माताभगिन्यादयः । **अपि** । अवधारणे, अवश्यम् । **नह्यामि** । णह बन्धने श्यन् । बध्नामि । **भगम्** । म० १ । ऐश्वर्यम् ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

सं सं स्र॑वन्तु सिन्ध॑वः सं वाताः सं प॑तत्रिणः । इमं यज्ञं प्रदिवो मे जुषन्तां संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥१॥

सम् । सम् । स्र॒व॒न्तु॒ । सिन्ध॑वः । सम् । वाताः । सम् । प॒त॒त्रिणः । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । प्र॒-दिवः । मे॒ । जु॒षन्ता॒म् । स॒म्-स्रा॒व्ये॑ण । ह॒विषा । जु॒हो॒मि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) सब समुद्र (सम् सम्) अत्यन्त अनुकूल (स्रवन्तु) बहें, (वाताः) विविध प्रकार के पवन और (पतत्रिणः) पक्षी (सम् सम्) बहुत अनुकूल बहें। (प्रदिवः) बड़े तेजस्वी विद्वान् लोग (इमम्) इस (मे) मेरे (यज्ञम्) सत्कार को (जुषन्ताम्) स्वीकार करें, (संस्राव्येण) बहुत आर्द्र भाव [कोमलता] से भरी हुयी (हविषा) भक्ति के साथ [उनको] (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि नौका आदि से समुद्रयात्रा को, विमान आदि से वायुमण्डल में जाने आने के मार्गों को, और यथा योग्य व्यवहार से

१—**सम् सम्** । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अत्यन्त-सम्यक्, अत्यनुकूलाः । **स्रवन्तु** । स्रु गतौ, स्रवणे च-लोट् । गच्छन्तु, प्रवहन्तु । **सिन्धवः** । १ । ४ । ३ । स्यन्दनशीलाः । समुद्राः । स्त्रियां, नद्यः । **सम्=संस्रवन्तु** । उपसर्गवशात् स्रवन्तु इति सर्वत्र अनुषज्यते । अनुकूलाः प्रवर्तन्ताम् । **वाताः** । १ । ११ । ६ । विविधपवनाः । **सम्** । सम्यग् अनुकूलाश्चरन्तु । **पतत्रिणः** । पतत्रं पक्षः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति पतत्र-इनि मत्वर्थे । पक्षिणः । **इमम्** । प्रवृतमानम् । **यज्ञम्** । १ । ६ । ४ । यागं विदुषां पूजनम् । **प्र-दिवः** । प्र+दिवु द्युतिस्तुतिगत्यादिषु-क्विप् । प्रकृष्टप्रकाशाः, देवाः, विद्वांसः । **जुषन्ताम्** । जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट् । सेवन्ताम्, स्वीकुर्वन्तु । **सम्-स्राव्येण** । स्रु गतौ-ण । तस्येदम् । पा० ४ ।

पक्षी आदि सब जीवों को अनुकूल रक्खें, और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवें। और विद्वानों में पूर्ण प्रीति और श्रद्धा रक्खें जिससे वह भी उत्साह पूर्वक वर्ताव करें ॥ १ ॥

इहैव हवमा यात म इह संस्रावणा उतेमं वर्धयता गिरः। इहैतु सर्वो यः पशुरस्मिन् तिष्ठतु या रयिः ॥२॥

इह। एव। हवम्। आ। यात। मे। इह। सम्-स्रावणाः। उत। इमम्। वर्धयत। गिरः। इह। आ। एतु। सर्वः। यः। पशुः। अस्मिन्। तिष्ठतु। या। रयिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्रावणाः) हे बहुत आर्द्रभाववाले [बड़े कोमल स्वभाव] (गिरः) स्तुति योग्य विद्वानो! (इह) यहां पर (इह) यहां पर (एव) ही (मे) मेरे (हवम्) आवाहन को (आयात) तुम पहुंचो, (उत) और (इमम्) इस पुरुष को (वर्धयत) बढ़ाओ। (यः सर्वः पशुः) जो प्रत्येक जीव है [वह] (इह) यहां (एतु) आवे. और (या रयिः) जो लक्ष्मी है [वह भी सब] (अस्मिन्) इस पुरुष में (तिष्ठतु) ठहरी रहे ॥ २ ॥

३। १२०। इति संस्राव-यत्। यद्वा। अचोयत्। पा०। ३। १। ९७। इति सम्+स्रु-णिच-यत्। संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन आर्द्रभावेन युक्तेन। हविषा। १। ४। ३। आत्मदानेन, भक्त्या। जुहोमि। हु दानादानादनेषु-लट्। अहम् आददे, स्वीकरोमि तान् प्रदिवः ॥

२—हवम्। भावेऽनुपसर्गस्य। पा० ३। ३। ७५। इति ह्वेञ् आह्वाने, स्पर्धे च—अप्। आह्वानम्, आवाहनम्। आ+यात। या गतौ-लोट्। आगच्छत। इह। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति वीप्सायां इह शब्दस्य द्विर्वचनम्। अस्मिन्नेव यज्ञे। सम्-स्रावणाः। स्रु स्रवणे गतौ-णिचि-ल्युट्। युवोरनाकौ। पा० ७। १। १। इति अन आदेशः। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति मत्वर्थे अच्। हे संस्रावेण सम्यक् स्रवणेन, अत्यार्द्र भावेन युक्ताः। इमम्। उपस्थितं माम्। वर्धयत। वृधु वृद्धौ णिचि लोट्, छन्दसि दीर्घः।

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्या के बल से संसार की उन्नति करते हैं, इससे मनुष्य विद्वानों का सत्संग पाकर सदा अपनी वृद्धि करें और उपकारी जीवों और धन का उपार्जन पूर्ण शक्ति से करते रहें ॥

टिप्पणी—पशु शब्द जीव वाची है, अथर्ववेद का० २ सू०३४ म० १ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम् ॥१॥

जो (पशुपतिः) जीवों का स्वामी चौपाये और जो दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=ईष्टे) राजा है ॥ १ ॥

ये नदीनां संस्रवन्त्युत्सासः सदमक्षिताः ।

तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ३ ॥

ये । नदीनाम् । सम्-स्रवन्ति । उत्सासः । सदम् । अक्षिताः ।
तेभिः । मे । सर्वैः । सम्-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥३॥

भावार्थ—(नदीनाम्) नाद करनेवाली नदियों के (ये) जो (अक्षिताः) अक्षय (उत्सासः) सोते (सदम्) सर्वदा (संस्रुवन्ति) मिलकर बहते हैं । (तेभिः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) जल प्रवाहों के साथ (मे) अपने (धनम्) धनको (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ३ ॥

समर्धयत । गिरः । गृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३ । ५ । अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । गॄ शब्दे—कर्मणि क्विप् । गीर्यन्ते स्तूयन्त इति गिरः । हे अर्चनीयाः, स्तुत्याः पुरुषाः । आ+एतु । आगच्छतु । पशुः । अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पशुः पश्यतेः—निरु० ३ । १६ । प्राणिमात्रम्, जीवः । अथवा । गवाश्वगजादिरूपः । अस्मिन् । मयि, मदीये आत्मनि । तिष्ठतु । निवसतु । रयिः । अच इः । उ० ४ । १३९ । इति रीङ् गतौ–इ प्रत्ययः । गुणः । यद्वा । रा दानग्रहणयोः-इ प्रत्ययः, युगागमो धातोर्ह्रस्वश्च । धनम ॥ २ ॥

३—नदीनाम् । १ । ८ । १ । नदनशीलानां सरिताम्, सरस्वतीनाम् । सम्-स्रवन्ति । सम्भूय प्रवहन्ति । उत्सासः । उन्दिगुधिकपिभ्यश्च । उ०

भावार्थ—जैसे पर्वतों पर जल के सोते मिलने से वेगवती और उपकारिणी नदियें बनती हैं जो ग्रीष्मऋतु में भी नहीं सूखतीं, इसी प्रकार हम सब मिलकर विज्ञान और उत्साह पूर्वक तडित्, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, पृथिवी आदि पदार्थों से उपकार लेकर अक्षयधन बढ़ावें। और उसे उत्तम कर्मों में व्यय करें ॥ ३ ॥

ये सर्पिषः संस्रवन्ति क्षीरस्य चोदकस्य च ।
तेभिर्मे सर्वैः संस्रावैर्धनं सं स्रावयामसि ॥ ४ ॥

ये । सर्पिषः । सम्-स्रवन्ति । क्षीरस्य । च । उदकस्य । च ।
तेभिः । मे । सर्वैः । सम्-स्रावैः । धनम् । सम् । स्रावयामसि ॥४॥

भावार्थ—(सर्पिषः) घृत की (च) और (क्षीरस्य) दूध की (च) और (उदकस्य) जलकी (ये) जो धारायें (संस्रवन्ति) मिलकर बह चलतीं हैं। (तैः सर्वैः) उन सब (संस्रावैः) धाराओं के साथ (मे) अपने (धनम्) धनको (सम्) उत्तम रीति से (स्रावयामसि) हम व्यय करें ॥ ४ ॥

---

३ । ६८ । इति उन्दी क्लेदे—स प्रत्ययः । आज्जसेरसुक् । पा० । ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् आगमः । उत्सः कूपनाम–निघ० ३ । २३ । जलस्रवणस्थानानि, स्रोतांसि । सदम् । सर्वदा, ग्रीष्मादावपि । अक्षिताः । क्षि क्षये–क्त । अक्षीणाः । तेभिः । बहुलंछन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐसभावः । तैः । मे । मम =अस्माकम् । एकवचनं बहुवचने । सम्-स्रावैः । श्याऽऽद्व्यधास्रुसंस्त्वतीण० । पा० ३ । १ । १४१ । इति सम्+स्रु स्रवणे–ण प्रत्ययः । अचो ञ्णिति । पा० ७ । २ । ११५ । इति वृद्धिः । प्रवाहैः । धनम् । धन धान्ये—अच् यद्वा, कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः क्यु । वित्तम्, सम्पदम् । स्रावयामसि । स्रु स्रवणे–णिचि लट्, इदन्तो मसिः : पा०७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । स्रावयामः, प्रवाहयामः, व्ययं कुर्मः ॥

४—ये । संस्रावाः प्रवाहाः । सर्पिषः । अर्चिशुचिहुसृपि० । उ० २ । १०८ । इति सृप गतौ=सर्पणे–इसि । सर्पणशीलस्य द्रवणस्वभावस्य घृतस्य । क्षीरस्य—घसेः किच्च । उ० ४।३४ । इति घस=अद भक्षणे–ईरन्, उपधालोपे कत्वं षत्वं च । दुग्धस्य । उदकस्य–उदकं च । उ० २ । ३९ । इति उन्दी

भावार्थ—जैसे घी, दूध और जल की बूंद बूंद मिलकर धारें बंध जाती और उपकारी होती हैं, इसी प्रकार हम लोग उद्योग करके थोड़ा थोड़ा संचय करने से बहुत सा विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके उत्तम कामों में व्यय करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—४ ॥ १ अग्निः, २ वरुणाग्नीन्द्राः, ३—४ सीसं देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननाशनोपदेशः—विघ्न के नाश का उपदेश ॥

येऽमावास्यां३ रात्रिमुदस्थुर्व्राजमत्त्रिणः ।
अग्निस्तुरीयो यातुहा सो अस्मभ्यमधि ब्रवत् ॥ १ ॥

ये । अमा-वास्याम् । रात्रिम् । उत्-अस्थुः । व्राजम् । अत्त्रिणः ।
अग्निः । तुरीयः । यातु-हा । सः । अस्मभ्यम् । अधि । ब्रवत् ॥ १ ॥

भावार्थ—(ये) वे जो (अत्त्रिणः) उदर पोषक [खाऊ लोग] (अमावास्याम्) अमावसी में (रात्रिम्) विश्राम देने हारी रात्रि को (व्राजम्) गोशालाओं पर [अथवा समूह के समूह] (उदस्थुः) चढ़ आये हैं। (सः) वह (तुरीयः) वेगवान् (यातुहा) राक्षसों का नाश करने हारा (अग्निः) अग्नि [अग्नि सदृश तेजस्वी राजा] (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (अधि) [उन पर] अधिकार जमा कर (ब्रवत्) घोषणा दे ॥ १ ॥

क्लेदने-कुन् युवोरनाकौ । पा० ७ । १ । १ । इति अकादेशः । जलस्य । अन्यद् व्याख्यातं म० ॥ ३ ॥

१—अमा-वास्याम् । अमा + वस निवासे-घञ् । अमा साहित्येन चन्द्रार्कयोर्वासो यत्र । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । अमावस्यायां रात्रौ, महान्धकारे । रात्रिम् । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्, ददाति विश्रामं, गृह्णाति श्रमं च । कालाध्वनोरत्यन्त-

भावार्थ—जो दुष्ट जन अन्धेरी रातों में गोशाला आदि पर धावा करके प्रजा को सतावें तो प्रतापी राजा ऐसे राक्षसों से रक्षा करके राज्य भर में शान्ति फैलावे ॥ १ ॥

सीसायाध्याह वरुणः सीसायाग्निरुपावति ।
सीसं म इन्द्रः प्रायच्छत् तदङ्ग यातुचातनम् ॥ २ ॥

सीसाय । अधि । आह । वरुणः । सीसाय । अग्निः । उप । अवति ।
सीसम् । मे । इन्द्रः । प्र । अयच्छत् । तत् । अङ्ग । यातु-चातनम् ॥२॥

भाषार्थ—(वरुणः) चाहने योग्य, समुद्रादि का जल (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति] के लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (आह) कहता है, (अग्निः) व्यापक, सूर्य, बिजुली आदि अग्नि (सीसाय) बन्धन काटने वाले सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] के लिये (उप) समीप रह कर (अवति) रक्षा करता है । (इन्द्रः) महा प्रतापी परमेश्वर ने (सीसम्) बन्धन काटने वाला सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] (मे) मुझ को (प्र-अयच्छत्) दिया है, (अङ्ग) हे भाई (तत्) वह सामर्थ्य (यातुचातनम्) पीड़ानाशक है॥२॥

संयोगे । पा०२ । ३ । ५ । इति द्वितीया । रजनीम् । निशाकाले । उत-अस्थुः । ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लुङ् । उत्थितवन्तः, संचरणं कृतवन्तः । व्राजम् । तस्य समूहः पा० ४ । २ । ३७ । इति व्रज-अण् समूहे, नपुंसकत्वम् । गोष्ठसमूहम् । अथवा । क्रिया विशेषणम् । व्रजः=समूहः-अण् । अतिसमूहेन । अत्रिणः । १ । ७ । ३ । अदनशीलाः, स्वार्थिनः, उदरपोषकाः । अग्निः । १ । ६ । २ । अग्निवत् तेजस्वी राजा । तुरीयः । तुरो वेगः । घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । इति तुर-छः प्रत्ययः, तत्रभव इत्यर्थे । वेगवान् । यातुहा । कृवापाजिमि० उ० १ । १ । इति यत ताड़ने - उण् । यातयतीति यातुः, राक्षसः । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति यातूपपदे हन हिंसागत्योः—क्विप् । राक्षसघातकः । दुष्टनाशकः । अधि । अधिकृत्य, स्वामित्वेन । ब्रवत् । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लेट् । ब्रूयात् ॥

२—सीसाय । षिञ् बन्धने-क्विप् + षो नाशने-क । पृषोदरादित्वात् तुक लोपे दीर्घः । सीं सितं बन्धं प्रतिबन्धं स्यति नाशयतीति सीसम् । प्रतिबन्धस्य

भावार्थ—जल, अग्नि, वायु, आदि पदार्थ ईश्वर की आज्ञा से परस्पर मिलकर हमारे लिये बाहिर और भीतर से उपकारी होते हैं। वह ब्रह्मज्ञान प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी को परमेश्वर ने दिया है उस ज्ञान को साक्षात् करके प्राणी दुःखों से छूट कर शारीरिक, आत्मिक और समाजिक आनन्द पाते हैं॥ २॥

टिप्पणी—(सीस) शब्द का धात्वर्थ [षिञ् बांधना—क्विप्+षो नाश करना–कप्रत्यय] बन्धन का काटने वाला है। लोक में वस्तु विशेष, सीसा को कहते हैं। सायण भाष्य में (सीस) का अर्थ "नदी के फेन आदि रूप द्रव्यं" और ग्रिफ् फ़िथ साहिब ने (lead) सीसा धातु विशेष किया है॥

इदं विष्कन्धं सहत इदं बाधते अत्त्रिणः।
अनेन विश्वा ससहे या जातानि पिशाच्याः॥ ३॥

इदम्। वि-स्कन्धम्। सहते। इदम्। बाधते। अत्त्रिणः।
अनेन। विश्वा। ससहे। या। जातानि। पिशाच्याः॥ ३॥

भावार्थ—(इदम्) यह [सामर्थ्य] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) जीतता है। और (इदम्) यह (अत्त्रिणः) उदरपोषक खाउओं को (बाधते) हटाता है। (अनेन) इससे (विश्वा=विश्वानि) उन सब दुःखों को (ससहे) मैं

विघ्नस्य नाशकसामर्थ्याय। ब्रह्मज्ञानप्राप्तये। अधि। अधिकारेण। आह। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि–लट्। ब्रवीति। वरुणः। १। ३। ३। वरणीयं समुद्रादिजलम्। अग्निः। १। ६। २। व्यापकः। सूर्यविद्युदादिरूपोऽग्निः। उप। उपेत्य। अवति। रक्षति। व्याप्नोति। इन्द्रः। १। २। ३। महाप्रतापी परमेश्वरः। प्र-अयच्छत्। पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्। पा० ७। ३। ७८। इति दाण् दाने–यच्छादेशः–लङ्। प्रादात्। तत्। निर्दिष्टं सीसम्। अङ्ग। सम्बोधने। हे सखे। यातु-चातनम्। कृवापाजिमि०। उ० १। १। यत ताडने–उण्। चातयति नाशने–निरु० ६। ३०। पीड़ानाशकम्। राक्षसनाशकम्॥

३–इदम्। सीसम्। विस्कन्धम्। वि विकारे+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः–अच्। दस्य धः। वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्। प० ८। ३। ७३। इति षत्वम् यद्वा,

जीतता हूं (या=यानि) जो (पिशाच्याः) मांस खाने हारी [कुवासना] से (जातानि) उत्पन्न हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम ज्ञान के सामर्थ्य से अपने क्लेशों के कारण को जानते और कुवासनाओं के कुसंस्कारों को अपने हृदय में नहीं जमने देते ॥ ३ ॥

भगवान् पतञ्जलि जी ने कहा है— योगदर्शन पाद २ सूत्र १६ ॥

हेयं दुःखमनागतम् ॥

न आया हुआ [परन्तु आने वाला] दुःख हटाना चाहिये ॥

यदि॑ नो॒ गां हंसि॒ यद्यश्वं॒ यदि॑ पूरु॑षम् ।
तं त्वा॒ सीसे॑न विध्याम्रो॒ यथा॒ नोऽसो॒ अवी॑रहा ॥४॥

यदि॑ । नः॒ । गाम् । हंसि॑ । यदि॑ । अश्व॑म् । यदि॑ । पुरु॑षम् ।
तम् । त्वा॒ । सीसे॑न । वि॒ध्या॒मः॒ । यथा॑ । नः॒ । असः॑ । अवी॑र-हा ॥४॥

भाषार्थ—(यदि) जो (नः) हमारी (गाम्) गाय को, (यदि) जो (अश्वम्)

विष्क हिंसायाम्—क + धाञ्—ड । हिंसां दधातीति । विशेषेण शोषकम् । विघ्नम् सहते । षह अभिभवे । अभिभवति जयति । बाधते । बाध प्रतिबन्धे प्रतिरोधे—लट् । प्रतिबध्नाति, निवारयति । अत्त्रिणः । म० १ । अदनस्वभावान् राक्षसान् । अनेन । सीसेन । सहे । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति षह अभिभवे लटि शपः श्लुः । अहम् अभिभवामि । । जातानि । जनी प्रादुर्भावे—कर्त्तरि क्त । उत्पन्नानि । अपत्यरूपाणि दुष्टाचरणानि । पिशाच्याः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित + अश भक्षणे—अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०९ । इति रूपसिद्धिः । पिशितं मांसमश्नातीति पिशाचः । अथवा । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति पिश अवयवे—क । इति पिशः पिशितम् । पुनः । पिश + आङ + चम भक्षणे—ड प्रत्ययः । पिशं पिशितं मांसम् आचमति सम्यग् भक्षयतीति पि ।चः ।प्राणिनां मांसभक्षी पिशिताशी । ततो ङीप् । मांसभक्षिण्याः । राक्षसीरूपायाः कुवासनायाः ॥

४—यदि । संभावनायाम् । चेत् । गाम् । १।२।३ । गोजातिम् । हंसि ।

घोड़े को और (यदि) जो (पुरुषम्) पुरुष को (हंसि) तू मारता है। (तम् त्वा) उस तुझको (सीसेन) बन्धन काटनेहारे सामर्थ्य [ब्रह्मज्ञान] से (विध्यामः) हम वेधते हैं (यथा) जिस से तू (नः) हमारे (अवीरहा असः) वीरों का नाश करने हारा न होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान क्लेशों को देखकर आने वाली क्लेशों को यत्न पूर्वक रोककर आनन्द भोगें ॥४॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

हन हिंसागत्योः-लट्। मारयसि। नाशयसि। **अश्वम्** । अशूप्रुषिलटि०। उ० १। १५१। इति अशूङ् व्याप्तौ-क्वन्। यद्वा, अश भोजने-क्वन्। अश्वः कस्माद-श्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति-निरु० २। २७। जातावेकवचनम्। घोटम्। तुरङ्गम्। **पूरुषम्** । पुरः कुषन्। उ० ४। ७४। पुर अग्रगतौ-कुषन्। अन्येषा-मपि दृश्यते। पा०६। ३। १३७। इति निपातनाद् दीर्घः। पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः। नरं, जनम्। **तम्** । तथाविधम्। **त्वा** । त्वां हिंसकम्। **सीसेन** । म० २। विघ्ननाशकसामर्थ्येन, ब्रह्मज्ञानेन। **विध्यामः**। व्यध ताड़ने वेधे-दिवादित्वात् श्यन्। ग्रहिज्यावयिव्यधि०। पा० ६। १। १६। इति संप्रसारणम्। छिन्मः। ताड़यामः; मारयामः। **यथा** । येन प्रकारेण। **असः** । अस सत्तायाम्-लेटि अडागमः। त्वम् भूयाः। **अवीर-हा** । वीरय-तीति वीरः, वीर शौर्ये-अच्। वीरान् हन्तीति वीरहा, वीर+हन्-क्विप्। न वीरहा अवीरहा। अशूरहन्ता ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः।

सूक्तम् १७॥

१—४ हिरा देवता। १—३ अनुष्टुप् ४ गायत्री छन्दः॥

नाडीछेदनदृष्टान्तेन कुवासनानाशः-नाडीछेदन [फसद खोलने] के दृष्टान्त से दुर्वासनाओं के नाश का उपदेश॥

अमूर्या यन्ति योषितो हिरा लोहितवाससः।
अभ्रातर इव जामयस्तिष्ठन्तु हतवर्चसः॥ १॥

अमूः। याः। यन्ति। योषितः। हिराः। लोहित-वाससः।
अभ्रातरः-इव। जामयः। तिष्ठन्तु। हत-वर्चसः॥ १॥

भाषार्थ—(अमूः) वे (याः) जो (योषितः) सेवा योग्य वा सेवा करने हारी [अथवा स्त्रियों के समान हितकारी] (लोहितवाससः) लोहू में ढकी हुयी (हिराः) नाड़ियां (यन्ति) चलती हैं, वे, (अभ्रातरः) बिना भाइयों की (जामयः इव) बहिनों के समान, (हतवर्चसः) निस्तेज होकर (तिष्ठन्तु) ठहर जावें॥१॥

१—अमूः। १। ४। २। ताः परिदृश्यमानाः। यन्ति। गच्छन्ति योषितः। हसुरुहियुषिभ्य इतिः। उ० १। ९७। युष सेवने-इति, अयं सौत्रो धातुः। योषति सेवते युष्यते सेव्यते वा सा योषित्। सेवयित्र्यः। सेव्याः,। स्त्रियः।, हिराः। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०। उ० २। १३। इति हि वर्धने गतौ च—रक् टाप्। हिनोति वर्धयति वा गच्छति व्याप्नोति शरीररुधिरादिकमिति हिरा, नाड़ी। सिराः, नाड्यः। लोहित-वाससः। वसेर्णित्। उ० ४। २१८। इति लोहित+वस आच्छादने, असुन्। णिद्वद्भावाद् उपधावृद्धिः। रुधिरस्य आच्छा-

भावार्थ—इस सूक्त में सिराछेदन, अर्थात् नाड़ी [फ़सद] खोलने का वर्णन है। मन्त्र का अभिप्राय यह है कि नाड़ियां रुधिर संचार का मार्ग होने से शरीर की (योषितः) सेवा करने हारी और सेवा योग्य हैं। जब किसी रोग के कारण वैद्य राज नाड़ी छेदन करे और रुधिर निकलने से रोग बढ़ाने में नाड़ियां ऐसी असमर्थ हो जायें जैसे माता पिता और भाइयों के बिना कन्यायें असहाय हो जाती हैं, तब नाड़ियों को रुधिर बहने से रोक दे।

२—मनुष्य के सब कार्य कुकामनाओं को रोक कर मर्यादापूर्वक करने से सुफल होते हैं ॥ १ ॥

तिष्ठा॑व॒रे तिष्ठ॑ प॒र उ॒त त्वं ति॑ष्ठ मध्यमे ।
क॒नि॒ष्ठि॒का च॒ तिष्ठ॑ति॒ तिष्ठा॒दिद्ध॒मनि॒र्म॒ही ॥ २ ॥

तिष्ठ॑ । अ॒व॒रे॒ । तिष्ठ॑ । प॒रे॒ । उ॒त । त्वम् । ति॒ष्ठ॒ । म॒ध्य॒मे॒ । क॒नि॒ष्ठि॒का । च॒ । तिष्ठ॑ति । तिष्ठा॑त् । इत् । ध॒मनिः॑ । म॒ही ॥ २ ॥

भावार्थ—(अवरे) हे नीचे की [नाड़ी] (तिष्ठ) तू ठहर, (परे) हे ऊपर वाली (तिष्ठ) तू ठहर, (उत) और (मध्यमे) हे बीच वाली (त्वम्) तू (तिष्ठ)

हनभूताः। रक्तचर्णवस्त्राः। **अभ्रातरः** । नप्तृत्वष्टृ०। उ० २। ९६। इति भ्राजृ दीप्तौ-तृन्, निपात्यते । अभ्रातृकाः, सहोदररहिताः, असहायाः इत्यर्थः। **जामयः**। १। ४। १। भगिन्यः। **तिष्ठन्तु** । स्थिता निवृत्तगतयो भवन्तु। **हत-वर्चसः** । सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति वर्च दीप्तौ-असुन्। हततेजस्काः, नष्टवीर्याः। रोगोत्पादने असमर्थाः ॥

२—**तिष्ठ**। निवृत्तगतिर्भव। **अवरे** ।१। ८। ३। अवर-टाप्। हे निकृष्टे। अधोभागस्थिते हिरे। **परे**। १। ८। ३। हे श्रेष्ठे, ऊर्ध्वाङ्गवर्तिनि ! त्वम्। हिरे, सिरे। **मध्यमे**। मध्यान्मः। पा० ४। ३। ८। मध्य-म प्रत्ययो भवार्थे। हे शरीरमध्यवर्तिनि । **कनिष्ठिका**। युवाल्पयोः कन् अन्यतरस्याम्। पा०५।३।६४। इति अल्प-इष्ठनि कन् आदेशः। स्वार्थे क प्रत्ययः। प्रत्ययस्थात् कात् पूर्वस्यात इदाप्यसुपः। पा० ७। ३। ४४। इति इत्वं टापि परतः।

ठहर, (च) और (कनिष्ठिका) अति छोटी नाड़ी (तिष्ठति) ठहरती है, (मही) बड़ी (धमनिः) नाड़ी (इत्) भी (तिष्ठात्) ठहर जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—१-चिकित्सक सावधानी से सब नाड़ियों को अधिक रुधिर बहने से रोक देवे ॥

२—मनुष्य अपने चित्तकी वृत्तियों को ध्यान देकर कुमार्ग से हटावे, और हड़बड़ी करके अपने कर्तव्य को न बिगड़ने दे किन्तु यत्न पूर्वक सिद्ध करे ॥२॥

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य हिराणाम् ।
अस्थुरिन्मध्यमा इमाः साकमन्ता अरंसत ॥ ३ ॥

शतस्य । धमनीनाम् । सहस्रस्य । हिराणाम् ।
अस्थुः । इत् । मध्यमाः । इमाः । साकम् । अन्ताः । अरंसत ॥३॥

भाषार्थ—(शतस्य धमनीनाम्) सौ प्रधान नाड़ियों में से और (सहस्रस्य हिराणाम्) सहस्र शाखा नाड़ियों में से (इमाः) ये सब (मध्यमाः) बीच वाली (इत्) भी (अस्थुः) ठहर गयीं, (अन्ताः) अन्त की [अवशिष्ट नाड़ियां] (साकम्) एक साथ (अरंसत) क्रीड़ा करने लगी हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सिरा छेदन से असंख्य धमनी और सिरा नाड़ियों का रुधिर यथाविधि चिकित्सक निकाल कर बन्ध कर देवे कि नाड़ियां पहिले के समान चेष्टा करने लगें ॥

अल्पतमा, सूक्ष्मतरा नाड़ी । **तिष्ठात्** । ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लेट् । लेटोऽडाटौ । पा०३। ४ । ९४ । इति आडागमः । अवतिष्ठताम् । **धमनिः** । अर्त्तिसृधृधमि० । उ० २ । १०२ । इति धम ध्माने,ध्वाने च-अनि । सिरा, नाड़ी । **मही** । मह पूजायाम्-अच् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीष् । महती, बृहती स्थूला ॥

३-शतस्य ।—शतसंख्यानां अपरिमितानाम् । **धमनीनाम्** । म० २ । हृदयगतानां प्रधान नाड़ीनाम् । **सहस्रस्य** । अपरिमितानाम् । **हिराणाम्** । म० १ । सिराणाम । सूक्ष्मशाखानाड़ीनाम् । **अस्थुः** । १।१६।१ स्थिता अभूवन्

२-मनुष्य अपनी अनन्त चित्त वृत्तियों को कुमार्ग से रोक कर सुमार्ग में चलावें ॥ ३ ॥

परि॑ वः सिक॑तावती धनूर्बृ॑हत्य॑क्रमीत् ।
तिष्ठ॑ते॒लय॑ता सु क॑म् ॥ ४ ॥

परि॑ । वः । सिक॑ता-वती । धनूः । बृहती । अक्रमीत् ।
तिष्ठ॑त । इलय॑त । सु । कम् ।

भाषार्थ—(सिकतावती) सेचन स्वभाव [कोमल रखने वाली] वालू आदि से भरी हुई (बृहती) बड़ी धनूः पट्टी ने (वः) तुम [नाड़ियों] को (परि अक्रमीत्) लपेट लिया है । (तिष्ठत) ठहर जाओ, (सु) अच्छे प्रकार (कम्) सुख से (इलयत) चलो ॥ ४ ॥

भावार्थ, १—(धनूः) अर्थात् धनु चार हाथ परिमाण को कहते हैं । इसी प्रकार की पट्टी से जो सूक्ष्म चूर्ण वालू से वा वालू के समान राल आदि औषध से युक्त होवे चिकित्सक घाव को बांध देवे कि रक्त बहने से ठहर जाये और घाव पुरकर सब नाड़ियां यथा नियम चलने लगें, मन प्रसन्न और शरीर पुष्ट हो ।

मध्यमाः । म० २ । मध्यभवाः । साकम् । युगपत् । अन्ताः । अम गतौ-तन् । अन्तिमाः, अवशिष्टाः सर्वा नाड्यः । अरंसत । रमु क्रीडायाम्-लुङ्, यथापूर्वं रमन्ते स्म, चेष्टां कृतवत्यः ॥

४—वः । युष्मान्, नाड़ीः । सिकतावती । पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । इति सिक सेचने-अतच्, टाप् । सेचनवती, कोमलस्वभावयुक्ता । वालुयुक्ता । धनूः । कृपिचमितनिधनिसर्जिखर्जिभ्य ऊः स्त्रियाम् । उ० १ । ८० । इति धन धान्योत्पादने, रवे च-ऊ । धनुः=चतुर्हस्तपरिमाणम् । तत्परिमाणवस्त्र-पट्टी । बृहती । वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति बृह वृद्धौ-अति । ङीप् । महती । अक्रमीत् । क्रमु पादविक्षेपे-लुङ् । क्रा-

२—मनुष्य कुमार्ग गामिनी मनो वृत्तियों को रोक कर यत्न पूर्वक हानि पूरी करे, और लाभ के साथ अपनी वृद्धि करे और आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—४ ॥ सविता देवता । १, ४ अनुष्टुप्, २,३ जगती ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के लिये धर्म का उपदेश ॥

निर्लक्ष्म्यं ललाम्यं१ निररातिं सुवामसि ।
अथ या भद्रा तानि नः प्रजाया अरातिं नयामसि ॥१॥

निः । लक्ष्म्यम् । ललाम्यम् । निः । अरातिम् । सुवामसि । अथ ।
या । भद्रा । तानि । नः । प्र-जायै । अरातिम् । नयामसि ॥१॥

भाषार्थ—(ललाम्यम्=०—मीम्) [धर्म से] रुचि हटाने वाली (निर्लक्ष्म्यम्=०—क्ष्मीम्) अलक्ष्मी [निर्धनता] और (अरातिम्) शत्रुता को (निः सुवामसि=०-मः) हम निकाल देवें। (अथ) और (या=यानि) जो (भद्रा=भद्राणि) मंगल हैं (तानि) उनको (नः) अपनी (प्रजायै) प्रजा के लिये (अरातिम्) सुख न देने हारे शत्रु से (नयामसि=०—मः) हम लावें ॥ १ ॥

न्तवती, व्याप्तवती । तिष्ठत । निवृत्तगतयो भवत । इलयत । इल गतौ । गच्छत, चेष्टध्वम् । कम् । सुखेन ॥

१—निः+लक्ष्म्यम् । नॄ नये-क्विप् । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति धातोरङ्गस्य इत् । इति निर् । लक्षेर्मुट् च । उ०३।१६०। इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोः-ईप्रत्ययो मुडागमः । लक्ष्यते दृश्यते सा लक्ष्मीः । वा छन्दसि । पा० ६ । १।१०६। इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा०६।१। ७७। इति यणादेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा०८।२।४। इति यणः परतोऽनुदात्तस्य स्वरितत्वम् । निर्लक्ष्मीम्, अलक्ष्मीम्, निर्धनताम्, दर्भाग्यताम् । ललाम्यम् । लल ईप्से-अच् । ततः । अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ०३।१५८ । इति चाद्लकारात्, अम रोगे, पीडने-ईप्रत्ययः । ललम् इच्छां शुभरुचिं आमयति नाशय-

भावार्थ—राजा अपने और प्रजा की निर्धनता आदि दुर्लक्षणों को मिटावे और शत्रु को दण्ड देकर प्रजा में आनन्द फैलावे ॥ १ ॥

सायण भाष्यमें (लक्ष्म्यम्) के स्थान में [लक्ष्मम्] पाठ है ॥ १ ॥

निररणिं सविता साविषत् पदोर्निर्हस्तयोर्वरुणो मित्रो अर्यमा । निरस्मभ्यमनुमती रराणा प्रेमां देवा असाविषुः सौभगाय ॥ २ ॥

निः । अरणिम् । सविता । साविषत् । पदोः । निः । हस्तयोः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । निः । अस्मभ्यम् । अनु-मतिः । रराणा । प्र । इमाम् । देवाः । असाविषुः । सौभगाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) [सब का चलाने हारा], सूर्य [सूर्य रूप तेजस्वी], (वरुणः) सब के चाहने योग्य जल [जल समान शान्त स्वभाव], (मित्रः) चेष्टा

नीति ललामीः । पूर्ववत् यण् स्वरितत्वं च । ललामीम्, शुभरुचिनाशिनीम् । निर् । नॄ नयने-क्विप्, न दीर्घः । अन इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः । बहिर्भावे । निश्चये । अरातिम् । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति रा दाने-क्तिच् । यद्वा, रा-क्तिन् । न राति ददाति सुखम्, नञ्-समासः । सुखस्य अदातारम् शत्रुम् । शत्रुताम्, दुष्टताम् । निः+सुवामसि । षू प्रेरणे, तुदादिः-लट् । मस इदन्तत्वम् । व्यवहिताश्च । पा० १ । ४ । ८२ । इति उपसर्गस्य व्यवधानम् । निःसुवामः, निःसारयामः । अथ । अनन्तरम् । भद्रा । ऋजेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति भदि कल्याणे-रन् । निपात्यते च । भद्राणि, मङ्गलानि । तानि । उदीरितानि भद्राणि । नः । अस्माकम्, स्वकीयायै । प्र-जायै । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ९९ । इति जनी प्रादुर्भावे-ड प्रत्ययः । जनाय । अरातिम् । शत्रुम् । शत्रुसकाशात् । नयामसि । णीञ् प्रापणे, द्विकर्मकः । मस इदन्तत्वम् । प्रापयामः ॥

२—निर् । म० १ । निश्चयेन । नितराम् । बहिर्भावे । अरणिम् । अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ हिंसने-अनि । आर्त्तिम्, पीडाम् । सविता ।

देने हारा वायु [वायु समान वेगवान् उपकारी], (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने हारा न्याय कारी राजा (अरणिम्) पीड़ा को (पदोः) दोनों पदों और (हस्तयोः) दोनों हाथों से (निः) निरन्तर (निः साविषत्) निकाल देवे। (रराणा) दानशीला (अनुमतिः)अनुकूल बुद्धि (अस्मभ्यम्)हमारे लिये (निः = निः साविषत्) [पीड़ा को) निकाल देवे, (देवाः) उदार चित्त वाले महात्माओं ने (इमाम्) इस [अनुकूल बुद्धि]को (सौभगाय) वड़े ऐश्वर्य के लिये (प्र असाविषुः) भेजा है॥२॥

भावार्थ—मन्त्रोक्त शुभ लक्षणों वाला राजा और प्रजा परस्पर हितबुद्धि से और शुभचिन्तक महात्माओं के सहाय से क्लेशों का नाश करके सब का ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ २ ॥

टिप्पणी—सायण भाष्य में (अरणिम्) के स्थान में [अरणीम्] है और वंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक में लिखे [साविषक्] के स्थान में सायण भाष्य में और अन्य दोनों पुस्तकों में (साविषत्) पद है, वही पाठ हमने रक्खा है। गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि [साविषक्] शब्द शोधकर लिखा है, परन्तु यह अशुद्ध है क्योंकि अथर्व०६ । १ । ३ में, ७ । ७७ । ७ में और ९ । १५ । ४ में (सविता साविषत्) पाठ है वही (सविता साविषत्) यहां भी शुद्ध है ॥

षूञ् प्रसवे प्रेरणे-तृच्। सर्वस्य प्रसविता = उत्पादकः। निरु० १० । १ । सर्वप्रेरकः सूर्यः। **निः+साविषत्** । षूञ् प्रेरणे-लेट्। निःसुवतु, निःसारयतु। **पदोः** । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति पाद शब्दस्य पद् आदेशः। पादयोः सकाशात्। **हस्तयोः** । हसिमृग्रिण्वामि० । उ० ३ । ८६ । इति हस विकाशे-तन्। करयोः सकाशात्। **वरुणः**। १। ३ । २ । वरणीयं जलम्। **मित्रः**। १। ३। ३ । सर्वप्रेरको वायुः। **अर्यमा** । १ । ११ । १ । अर्यान् श्रेष्ठान् निर्माते मानयतीति । न्यायकारी राजा। **अनु-मतिः**। अनु + मन ज्ञाने-क्तिन्। सम्मतिः। अनुकूला, सहायिका बुद्धिः। **रराणा** । रा दाने- कानच्। दानशीला। **देवाः**। पूज्याः, दातारः। **प्र+असाविषुः** ।षूञ् प्रेरणे-लुङ्। प्रेरितवन्तः, दत्तवन्तः। **सौभगाय** । प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् । पा० ५ । १ । १२९ । इति सुभग-भावे अञ्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६ । १ । १९७ । इति आद्युदात्तः। सुभगत्वाय, शोभनैश्वर्याय ॥

यत्त॑ आत्मनि तन्वां घोरमस्ति यद्वा केशेषु प्रतिचक्षणे वा । सर्वं तद्वाचाप हन्मो वयं देवस्त्वा सविता सूदयतु ॥ ३ ॥

यत् । ते । आत्मनि । तन्वाम् । घोरम् । अस्ति । यत् । वा । केशेषु । प्रति-चक्षणे । वा । सर्वम् । तत् । वाचा । अप । हन्मः । वयम् । देवः । त्वा । सविता । सूदयतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य]! (यत्) जो कुछ (ते) तेरे (आत्मनि) आत्मा में और (तन्वाम्) शरीर में (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (केशेषु) केशों में (वा) अथवा (प्रतिचक्षणे) दृष्टि में (घोरम्) भयानक (अस्ति) है। (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सबको (वाचा) वाणी से [विद्यावल से] (अप) हटाकर (हन्मः) मिटाये देते हैं। (देवः) दिव्य स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझ को (सूदयतु) अंगीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दुर्गुणों और दुर्लक्षणों को विद्वानों के उपदेश और सत्सङ्ग से छोड़ देता है, परमेश्वर उसे अपना करके अनेक सामर्थ्य देता और आनन्दित करता है ॥ ३ ॥

३—आत्मनि । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति अत सातत्यगमने—मनिण् । अतति निरन्तरं कर्मफलानि प्राप्नोतीति आत्मा । स्वभावे, मनसि, जीवे । तन्वाम् । १।१।१। शरीरे, देहे । घोरम् । हन्तेरच् घुर् च । उ० ५ । ६४ । इति हन वधे—अच्, घुरादेशः । हन्ति विनाशयतीति । भयंकरं दुर्लक्षणम् । केशेषु । के मस्तके शेते । शीङ् शयने—अच् । अलुक् समासः । अथवा । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । इति क्लिश उपतापे—अन्, ल लोपः । बालेषु, शिरोरुहेषु । प्रति-चक्षणे । चष्टे, पश्यति कर्मा—निघ० ३ । ११ । चक्षिङ् कथने, दर्शने च—करणे ल्युट् । दर्शनसाधने चक्षुषि । वाचा । १।१।१। वाण्या । सरस्वतीद्वारा । विद्याद्वारा । अप । वर्जयित्वा । हन्मः । नाशयामः । वयम् । उपासकाः । त्वा । त्वाम् आत्मानम् । सविता । सर्वप्रेरकः । सर्वपिता परमात्मा । सूदयतु । षूद आश्रुतिहत्योः—लोट्, आश्रुतिरङ्गीकारः आशृणोतु, अङ्गीकरोतु ॥

रिश्यपदीं वृषदतीं गोषेधां विधमामुत ।
विलीढ्यं ललाम्यं१ ता अस्मन्नाशयामसि ॥४॥

रिश्य-पदीम् । वृष-दतीम् । गो-सेधाम् । वि-धमाम् । उत ।
विलीढ्यम् । ललाम्यम् । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(रिश्यपदीम्) हरिण के समान [विना जमाये शीघ्र] पद की चेष्टा, (वृषदतीम्) बैल के समान दांत चबाना. (गोषेधाम्) बैल की सी चाल, (उत) और (विधमाम्) बिगड़ी भाथी [धौंकनी] के समान श्वास क्रिया, (ललाम्यम्=०-मीम्) रुचि नाश करने हारी (विलीढ्यम्=०—ढिम्) चाटने की बुरी प्रकृति, (ताः) इन सब [कुचेष्टाओं] को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि=०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मनुष्यस्वभाव से विरुद्ध कुचेष्टाओं को छोड़ कर विद्वानों के सत्सङ्ग से सुन्दर स्वभाव बनावें और मनुष्य जन्म को सुफल करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रिश्यपदीम्) के स्थान में (ऋष्यपदीम्) पाठ है। और जो (विलीढ्यम, ललाम्यम्) पदों को नपुंसक लिङ्ग माना है वह

४—**रिश्य-पदीम्** । रिश हिंसे-क्यप्। रिश्यते हिंस्यते—इति रिश्यः. मृगः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा०५। ४। १३८ । इति पादस्य अन्त्यलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४ । १ । ८ । इति ङीप्, भसंज्ञायां । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पद्भावः । हरिणपदवत् गतिं कुचेष्टाम् । **वृष-दतीम्** । अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषवराहेभ्यश्च । पा० ५ । ४ । १४५ । इति दन्त शब्दस्य दतृ आदेशः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वृषदन्तवत् क्रियायुक्तां कुचेष्टाम् । **गो-सेधाम्** । षिधु गत्याम्—पचाद्यच् । टाप् । वृषभवद् गतिं चेष्टाम् **वि-धमाम्** । वि विकृतौ + ध्मा, धम वा, दीर्घश्वासहेतुके शब्दभेदे-अच् । टाप् । विधमावद् विकृतभस्त्रावत् श्वासक्रियाम् । **विलीढ्यम्** । वि विकृतौ + लिह आस्वादने + क्तिन् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे । इको यणचि । पा०६ । १ । ७७ । इति यण् आदेशः । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति यणः परतोऽनुदात्तस्यस्वरितः ।

अशुद्ध हैं क्योंकि मन्त्र में (ताः) स्त्रीलिङ्ग सर्वनाम होने से ऊपर के सब छह पद स्त्रीलिंग हैं ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ जयन्यायौ । १,२,४ अनुष्टुप् , ३ पंक्तिः ॥

जयन्यायोपदेशः—जय और न्याय का उपदेश ॥

मा नो॑ विदन् विव्या॒धिनो॒ मो अ॑भिव्या॒धिनो॑ विदन् ।
आ॒राच्छ॑र॒व्या॒ अ॒स्मद् विषू॑चीरिन्द्र पातय ॥ १ ॥

मा । नः॒ । वि॒द॒न् । वि॒-व्या॒धिनः॑ । मो इति॑ । अ॒भि॒-व्या॒धिनः॑ । वि॒द॒न् । आ॒रात् । श॒र॒व्याः॑ । अ॒स्मत् । विषू॑चीः । इन्द्र॑ । पा॒त॒य॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विव्याधिनः) अत्यन्त वेधने हारे शत्रु (नः) हम तक (मा विदन्) न पहुंचें, और (अभिव्याधिनः) चारों ओर से मारने हारे (मो विदन्) कभी न पहुंचें। (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् (विषूचीः) सब ओर फैले हुए (शरव्याः) बाण समूहों को (अस्मत्)हम से (आरात्) दूर (पातय) गिरा ॥१॥

विलीढिम् , विकृतास्वादनचेष्टाम् । **ललाम्यम्** । म० १ । ललामीम् , रुचि-नाशिनीम् । **ताः** । पूर्वोक्ताः कुचेष्टाः । **नाशयामसि** । णश अदर्शने—णिच् । मस इदन्तत्वम् । नाशयामः, दूरीकुर्मः ॥

१—**नः** । अस्मान् । **मा+विदन्** । विद्लृ लाभे;माङि लुङि । न माङ्-योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इति अडभावः । मा लभन्ताम् । **वि-व्याधिनः** । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति वि + व्यध ताडने-णिनिः । विशेषेण छेदकाः, धनुर्धराः । **मो** । मा+उ । मैव । **अभि-व्याधिनः** । पूर्ववद् णिनिः । आघातकाः, सर्वतो हननकर्तारः । **मो विदन्** । मैव प्राप्नु-वन्तु, स्पृशन्तु । **आरात्** । दूरदेशे । **शरव्याः** । शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसे-उ प्रत्ययः । उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति शरु-यत् समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६।४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये ।

भावार्थ—सर्व रक्षक जगदीश्वर पर पूर्ण श्रद्धा करके चतुर सेनापति अपनी सेना को रणक्षेत्र में इस प्रकार खड़ा करे कि शत्रु लोग पास न आसकें और न उनके अस्त्र शस्त्रों के प्रहार किसी के लगें ॥ १ ॥

विष्वंञ्चो अस्मच्छरवः पतन्तु ये अस्ता ये चास्याः।
दैवीर्मनुष्येषवो ममामित्रान् वि विध्यत ॥ २ ॥

विष्वंञ्चः। अस्मत्। शरवः। पतन्तु। ये। अस्ताः। ये। च। आस्याः।
दैवीः। मनुष्य-इषवः। मम। अमित्रान्। वि। विध्यत ॥२॥

भाषार्थ—(ये) जो बाण (अस्ताः) छोड़े गये हैं (च) और (ये जो (आस्याः) छोड़े जायंगे (विष्वञ्चः) [वे] सब ओर फैले हुये (शरवः) बाण (अस्मत्) हम से [दूर] (पतन्तु) गिरें। (दैवीः मनुष्येषवः) हे [हमारे] मनुष्यों के दिव्य बाणो! [बाण चलाने वाले तुम] (मम) मेरे (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे शत्रुओं को (विविध्यत) छेद डालो ॥ २ ॥

पा० ६।१।७६। इति अव् आदेशः। तित् स्वरितम्। पा० ६ ।१।८५। इति स्वरितः। शरुसमूहान् शरसंहतीः। अस्मत्। अन्यारादितरर्ते०। पा० २।३।२६। इति आरात् योगे पञ्चमी। अस्मत्तः। विषूचीः। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिग्-उष्णिगञ्चु०। पा० ३।२।५६। इति विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन्। अनिदिताम्०। पा० ६।४।२४। इति न लोपः। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। वा० पा० ४।१।६। इति ङीप्। अचः। पा० ६।४। १३८। इति अकारलोपे। चौ। पा० ६।३।१३८। इति दीर्घः। विष्वक् नानामुखम् अञ्चनशीलाः। सर्वत्रव्यापिनीः। इन्द्र। हे परमेश्वर। पातय। पत-णिच्। प्रक्षिप ॥

२—विष्वंञ्चः। म० १। विषु+अञ्चु-किन्। विविधगमनाः। शरवः। म० १। शृस्वृस्निहि ।उ० १।१०। इति शृ हिंसायाम्-उ। बाणाः। अस्त्रशस्त्राणि। पतन्तु। निपतन्तु अधोगच्छन्तु। अस्ताः। असु क्षेपणे-क्त। क्षिप्ताः, विनिर्मुक्ताः। आस्याः। ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३।१।१२४। इति असु क्षेपणे-ण्यत्। क्षेपणीयाः। दैवीः। देवाद् यञञौ। वार्त्तिकम्, पा०

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार अपनी सेना का व्यूह करे कि शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र जो चल चुके हैं अथवा चलें वे सेना के न लगें और उस निपुण सेनापति के योद्धाओं के (दैव्याः) दिव्य अर्थात् आग्नेय [अग्निवाण] और वारुणेय [जलवाण जो बन्दूक आदि जल में वा जल से छोड़े जावें] अस्त्र शत्रुओं को निरन्तर छेद डालें ॥ २ ॥

इस मन्त्र में वर्तमान काल का अभाव है क्योंकि वह अति सूक्ष्म और वेगवान् है और मनुष्यों को अगम्य है ।

यो नः स्वो यो अरणः सजात उत निष्ट्यो यो अस्माँ अभिदासति । रुद्रः शरव्ययैतान् ममामित्रान् वि विध्यतु ॥ ३ ॥

यः । नः । स्वः । यः । अरणः । स-जातः । उत । निष्ट्यः । यः । अस्मान् । अभि-दासति । रुद्रः । शरव्यया । एतान् । मम । अमित्रान् । वि । विध्यतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (नः) हमारी (स्वः) जाति वाला अथवा (यः) जो (अरणः) न बोलने योग्य शत्रु वा विदेशी, अथवा (सजातः) कुटुम्बी (उत) अथवा

४ । १ । ८५ । इति देव-अञ्, देवस्य इयमित्यर्थे । टिड्ढाणञ्० । पा० ४ । १ । १५ इति ङीप् । वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । ञ्नित्यादिर्नित्यम् । पा० ६ । १ । १९७ । इति आद्युदात्तः । दिव्याः । आग्नेयवारुणादयो वाणाः । **मनुष्य-इषवः** । मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत् अपत्यार्थे, षुगागमश्च । मनोरपत्यम् मनुष्यः, मनुजः, मानवः । इष गतौ-उ । इषुः, वाणः । मनुष्याणाम् अस्मदीयानाम् इषवः, वाणाः, अस्त्रशस्त्राणि । **मम** । मदीयान् । **अमित्रान्** । अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम रोगे, पीडने-इत्रच् । पीडकान् शत्रून् । **वि** । विविधम् । **विध्यत** । व्यध ताड़ने वेधने-लोट् । छिन्त, भिन्त ॥

३-**स्वः** । स्वन शब्दे-ड । ज्ञातिः । **अरणः** । वशिरण्योरप्युपसंख्यानम् । वार्तिकम्, पा० ३ । ३ । ५८ । इति रण शब्दे-कर्मणि अप् । नञ् समासः ।

(यः) जो (निष्ट्यः) वर्णसङ्कर नीच (अस्मान्) हम पर (अभिदासति) चढ़ाई करे (रुद्रः) शत्रुओं को रुलाने वाला महा शूर वीर सेनापति (शरव्यया) बाणों के समूह से (मम) मेरे (एतान्) इन (अमित्रान्) पीड़ा देने हारे वैरियों को (विविध्यतु) छेद डाले ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को अपने और पराये का पक्षपात छोड़ कर दुष्टों को यथोचित दण्ड देकर राज्य में शान्ति रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० ६ । ७५ । १९ में कुछ भेद से है ॥ ३ ॥

यः सपत्नो योऽसंपत्नो यश्च द्विषन् छपाति नः ।
देवास्तं सर्वे धूर्वन्तु ब्रह्म वर्म ममान्तरम् ॥ ४ ॥

यः । स-पत्नः । यः । असंपत्नः । यः । च । द्विषन् । शपाति । नः ।
देवाः । तम् । सर्वे । धूर्वन्तु । ब्रह्म । वर्म । मम । अन्तरम् ॥ ४ ॥

अरणीयः, असंभाष्यः । विदेशी जनः । शत्रुः । **सजातः** । १ । १९ । ३ । समानजन्मा, स्वकुटुम्बी । **निष्ट्यः** । अव्ययात् त्यप् । पा० ४ । २ । १०४ । अत्र । निसो गते । इति वार्तिकेन । निस्-त्यप् गतार्थे । ह्रस्वात् तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो यः । चाण्डालः, म्लेच्छः । **अस्मान्** । आज्ञाकारिणो धार्मिकान् । **अभिदासति** । दसु उपक्षेपे, लेट् उपक्षिपेत् । **अस्माँ अभिदासति** । दीर्घादटि समानपादे । पा० ८ । ३ । ९ । इति संहितायां नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति आकारस्य अनुनासिकः । **रुद्रः** । रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रुदिर् अश्रुविमोचने ण्यन्तात् रक् प्रत्ययः, णिलुक् च । रोदयति शत्रूनिति । महाशूरः सेनापतिः । **शरव्यया** । म० १ । पाशादिभ्यो यः । पा० ४ । २ । ४९ । इति शरु-यप्रत्ययः समूहार्थे । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७९ । इति अव् आदेशः । टाप् च । इति शरव्या । तया शरसंहत्या । **अमित्रान्** । म० २ । हिंसकान् शत्रून् । **विध्यतु** । म० २ । विशेषेण छिनत्तु, भिनत्तु ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (सपत्नः) प्रतिपक्षी और (यः) जो (असपत्नः) प्रकट प्रतिपक्षी नहीं है (च) और (यः) जो (द्विषन्) द्वेष करता हुआ (नः) हमको (शपाति) कोसे [क्रोशे] । (सर्वे) सब (देवाः) विजयी महात्मा (तम्) उसको (धूर्वन्तु) नाश करें, (ब्रह्म) परमेश्वर, (वर्म) कवच रूप (मम) मेरे (अन्तरम्) भीतर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—छान बीन करके प्रकट और अप्रकट प्रतिपक्षियों और अनिष्ट-चिन्तकों को (देवाः) शूरवीर विद्वान् महात्मा नाश कर डालें। वह परब्रह्म सर्वरक्षक, कवच रूप होकर, धर्मात्माओं के रोम रोम में भर रहा है वही आत्म बल देकर युद्ध क्षेत्र में सदा उनकी रक्षा करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० ६ । ७५ । १९ । है ॥

सूक्तम् २० ॥

१—४ ॥ सोमो मरुतश्च देवताः । १ जगती, २—४ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

अदारसृद् भवतु देव सोमास्मिन् यज्ञे मरुतो मृडता नः। मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ १ ॥

अदार-सृत् । भवतु । देव । सोम । अस्मिन् । यज्ञे । मरुतः । मृडत । नः । मा । नः । विदत् । अभि-भाः । मो इति । अशस्तिः । मा । नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या ॥ १ ॥

४—सपत्नः । १ । ९ । २ । प्रतियोगी, शत्रुः । असपत्नः । अशत्रुः, अप्रकटशत्रुः । द्विषन् । द्विष अप्रीतौ-शतृ । द्वेषं कुर्वन् । शपाति । शप आक्रोशे-लेट् । शपेत् । देवाः । दीप्यमानाः । विजयिनः । शूराः । धूर्वन्तु । धुर्वी हिंसायाम् । हिंसन्तु । नाशयन्तु । ब्रह्म । १ । १० । ४ । परमेश्वरः । वर्म । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृञ्—मनिन् वृणोति आच्छादयति शरीरमिति । तनुत्रम्, सवर्था रक्षकम् । अन्तरम् । यदन्ते समीपे रमते । अन्त + रम-ड । अन्तरात्मा । आभ्यान्तरं मध्ये भवम् ॥

भाषार्थ—(देव)हे प्रकाश मय, (सोम) उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ! [वह शत्रु] (अदारसृत्) डर का न पहुंचाने वाला अथवा अपने स्त्री आदि के पास न पहुंचने वाला (भवतु) होवे, (मरुतः) हे [शत्रुओं के] मारने वाले देवताओं ! (अस्मिन्) इस (यज्ञे) पूजनीय काम में (नः) हम पर (मृडत) अनुग्रह करो। (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुई, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े,और (मो = माउ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति और (या) जो (द्वेष्या) द्वेषयुक्त (वृजा) पाप बुद्धि है [वह भी] (नः)हम पर (मा विदत्)न आ पड़े ॥१॥

भावार्थ —सब मनुष्य परमेश्वर के सहाय से शत्रुओं को निर्बल कर दें अथवा घर वालों से अलग रक्खें और विद्वान् शूरवीरों से भी सम्मति लेवें जिस से प्रत्येक विपत्ति, अपकीर्त्ति और कुमति हट जाय और निर्विघ्न अभीष्ट सिद्ध होवे ॥ १ ॥

मरुत् देवताओं के बिजुली आदि के विमान हैं,इस पर वैज्ञानिकों को विशेष ध्यान देना चाहिये-ऋग्वेद १ । ८८ । १ । में वर्णन है ॥

आ विद्युन्मद्भिर्मरुतः स्वर्कैः रथेभिर्यात ऋष्टिमद्भिरश्वपर्णैः। आवर्षिष्ठया न इषा वयो न पप्तता सुमायाः ॥ १ ॥

(मरुतः) हे शूर महात्माओ ! (विद्युन्मद्भिः) बिजुली वाले, (स्वर्कैः)

१—**अदारसृत्** । दारजारौ कर्तरि णिलुक् च । वार्तिकम् । पा० ३ । ३ । २० । इति दॄ विदारणे-णिच्-घञ् । णिलुक् च । सृ गतौ-णिचि क्विप् । दारं दरं भयं सारयतीति दारसृत् । न दारसृत् अदारसृत् अभयप्रापकः,अहानिकरः। अथवा दारयन्ति दुःखानि विदारयन्ति यास्ताः स्त्रियः। स्त्र्यादिगृहस्थाः। दार + सृ-क्विप् । अगृहगामी । **देव** । हे दीप्यमान ! **सोम** । १ । ६ । २ । हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ! **यज्ञे** । १ । ६ । ४ । पूज्यकर्मणि यागे, अध्वरे । **मरुतः** । मृग्रोरुतिः । उ०१।६४। इति मृञ् प्राणत्यागे-उति । मारयन्ति नाशयन्ति दुष्टान् दुर्गन्धादिदुर्गुणान् वा ते मरुतः,देवाः । वायुः । ऋत्विजः-निघ०३।१८। मरुत् हिरण्यनाम-निघ० १ । २ । हे शूरवीरा देवाः । **मृडत** । मृड सुखने—लोट् मृडयत, सुखयत । **नः** । अस्मान् [निवारं वर्तते] **मा विदत्** । १। १६ । १ । विद्लृ

अच्छी ज्वाला वाले [वा अच्छे विचारों से बनाये गये] (ऋष्टिमद्भिः) दो-धारा तलवारों वाले [आगे-पीछे, दायें-बायें, ऊपर-नीचे चलाने की कलाओं वाले] (रथेभिः) रथों से (आयात) तुम आओ, और (सुमायाः) हे उत्तम बुद्धि वाले ! (नः) हमारे लिये (वर्षिष्ठया) अति उत्तम (इषा) अन्न के साथ (वयः न) पक्षियों के समान् (आपतत) उड़ कर चले आओ ॥

योऽअद्य सेन्यो॑ व॒धोऽघा॒यू॒ना॑मु॒दीर॑ते ।
यु॒वं तं मि॑त्रावरुणाव॒स्मद्य॑वयतं॒ परि॑ ॥ २ ॥

यः । अ॒द्य । सेन्यः॑ । व॒धः । अ॒घ॒ऽयू॒नाम् । उ॒त्ऽईर॑ते ।
यु॒वम् । तम् । मि॒त्रा॒व॒रु॒णौ॒ । अ॒स्मत् । य॒व॒य॒त॒म् । परि॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (अघायूनाम्) बुरा चीतने वाले शत्रुओं की (सेन्यः) सेना का चलाया हुआ (यः) जो (वधः) शस्त्र प्रहार (उदीरते) उठ रहा है। (मित्रावरुणौ) हे [हमारे] प्राण और अपान (युवम्) तुम दोनों (तम्) उस [शस्त्र प्रहार] को (अस्मत्) हम लोगों से (परि) सर्वथा (यावयतम्) अलग रक्खो ॥ २ ॥

लाभे-लुङ् । मा लभताम् मा प्राप्नोतु । अभि-भाः । अभि, धर्षणे, आभिमुख्ये वा + भा दीप्तौ-क्विप् । अभिभूय भाति दीप्यते । अभिभाः=अभिभूतिः-निरु० ८।४। परोपद्रवः । आपत्तिः । मो । मा-उ । मैव । अशस्तिः । शंसु स्तुतौ-क्तिन् । अकीर्त्तिः । वृजिना । वृजेः किच्च । उ०२ । ४७ इति वृजी वर्जने-इनच् स च कित्, टाप् । यद्वा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा०५ । २ । १२७ । इति वृजन-अस्त्यर्थे अच् टाप् च । वृजनं पापमस्यामस्तीति वृजना । वक्रा, कुटिला, पाप-बुद्धिः । द्वेष्या । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति द्विष अप्रीतौ-कर्मणि ण्यत् । द्वेषणीया, अप्रीता ॥

२—अद्य । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । सेन्यः । भवे छन्दसि । पा०४ । ४ । ११० । इति सेना-यत् । सेनायां भवः । वधः । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ६७ । इति हन हिंसागत्योः—अप्, वधादेशः । हननसाधनः, शस्त्रप्रहारः । अघा-

भावार्थ—(मित्रावरुणौ) का अर्थ महर्षि दयानन्द सरस्वती ने [य०२।३] प्राण और अपान किया है। जो वायु शरीर के भीतर जाता है वह प्राण और जो बाहिर निकलता है वह अपान कहाता है। जिस समय युद्ध में शत्रु सेना आ दबावे उस समय अपने प्राण और अपान वायु को यथायोग्य सम रखकर और सचेत होकर शरीर में बल बढ़ाकर सैन्यक लोग युद्ध करें, तो शत्रुओं पर शीघ्र जीत पावें ॥

२-श्वास के साधने से मनुष्य स्वस्थ और बलवान् होते हैं ॥

३—प्राण और अपान के समान उपकारी और बलवान् होकर योद्धा लोग परस्पर रक्षा करें ॥

इतश्च यद॒मुत॑श्च यद्व॒धं व॑रुण यावय ।
वि म॒हच्छर्म॑ यच्छ॒ वरी॑यो यावया व॒धम् ॥ ३ ॥

इ॒तः । च॒ । यत् । अ॒मुतः॑ । च॒ । यत् । व॒धम् । व॒रु॒ण॒ । य॒व॒य॒ ।
वि । म॒हत् । शर्म॑ । य॒च्छ॒ । वरी॑यः । य॒व॒य॒ । व॒धम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ— (वरुण) हे सब में श्रेष्ठ,परमेश्वर ! (इतः च) इस दिशा से (च) और (अमुतः) उस दिशा से (यत् यत्) प्रत्येक (वधम्) शत्रु

यूनाम् । अघ पापकरणे-अच् । अघम्, पापम् । सुप आत्मनः क्यच् । पा०३। १। ८। इत्यत्र। छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम्। वार्त्तिकम्। इति अघ-क्यच्। क्याच् छन्दसि। पा० ३। २। १७० इति उ प्रत्ययः । अश्वाघस्यात्। पा० ७।४। ३७। इति आत्वम्। पापेच्छूनाम्। दुराचारिणाम्। उत्-ईरते । ईर गतौ । उद्गच्छति, उत्तिष्ठति। युवम् । युवाम् । मित्रावरुणौ । १। ३। २, ३। मित्रश्च वरुणश्च। देवता द्वन्द्वे च । पा० ६। ३। २६। इति पूर्व पदस्य आनङ् आदेशः। प्राणापानौ। यावयतम् । यु मिश्रणामिश्रणयोः—णयन्तात् लोट् । वियोजयतम्, पृथक् कुरुतम्।

३—इतः। पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५। ३। ७। इति इदम् - तसिल् । अस्मात् स्थानात्। अमुतः । अदस्—तसिल् पूर्ववत्। तस्माद् देशात्। यत् यत् । इति अव्ययद्वयम्। प्रत्येकं वधं यः कश्चिद् भवेत् इत्यर्थे । वधम् ।

प्रहार को (यावय) हटा दे । (महत्) [अपनी] बड़ी (शर्म) शरण को (वि) अनेक प्रकार से (यच्छ) [हमें] दान कर, और (वधम्) [शत्रुओं के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फैंक दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेनापति ईश्वर पर विश्वास करके अपनी सेना को प्रयत्नपूर्वक शत्रु के प्रहार से बचाता और उन में वैरी को जीतने का उत्साह बढ़ाता है। वह शूरवीर जीत पाकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र का पिछला आधा ऋ० १० । १५२ । ५ । का दूसरा आधा है, वहां (महत्) के स्थान में [मन्योः] शब्द है ॥

शास इत्था महाँ अस्यमित्रसाहो अस्तृतः ।
न यस्य हन्यते सखा न जीयते कदा चन ॥ ४ ॥

शासः । इत्था । महान् । असि । अमित्र-सहः । अस्तृतः ।
न । यस्य । हन्यते । सखा । न । जीयते । कदा । चन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इत्था) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (शासः) शासनकर्ता (अमित्रसाहः) शत्रुओं को हराने हारा और (अस्तृतः) कभी न हारने हारा (असि) तू है। (यस्य) जिसका (सखा) मित्र (कदा चन) कभी भी (न) न (हन्यते) मारा जाता है और (न) न (जीयते) जीता जाता है ॥ ४ ॥

म० ३ । शस्त्रप्रहारम् । वरुण । १ । ३ । ३ । हे वरणीय, परमेश्वर ! यावय । म० २ । वियोजय । महत् । १ । १० । ४ । विपुलं विस्तीर्णम् । शर्म । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति शॄ हिंसायाम्—मनिन् । स्वशरणम्, सुखम् । वि । विशेषेण । यच्छ । पाघ्राध्मास्थाम्ना० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण्—दाने—यच्छादेशः । देहि । वरीयः । १ । २ । २ । उरुतरम् विस्तीर्णतरम्, दूरतरम् ॥

४—शासः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति शासु अनुशिष्टौ—पचाद्यच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । शासकः, नियन्ता, वरुणः । इत्था । सत्यनाम, निघ० ३ । १० । सत्यम् । महान् । १ । १० । ४ । सर्वोत्कृष्टः । महाँ असि । इत्यत्र संहितायाम् ।

भावार्थ—वह परमात्मा (वरुण) सर्व शक्तिमान् शत्रुनाशक है इस प्रकार श्रद्धा करके जो मनुष्य प्रयत्नपूर्वक, आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाते रहते हैं वह ईश्वर के भक्त दृढ़ विश्वासी अपने शत्रुओं पर सदा जय प्राप्त करते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १५२ । १ में है ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ८×४ अक्षराणि ॥

राजनीतिस्वस्तिस्थापनोपदेशः—राजनीति और शान्ति स्थापन का उपदेश ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी ।
वृषेन्द्रः पुर एतु नः सोमपा अभयंकरः ॥ १ ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी ।
वृषा । इन्द्रः । पुरः । एतु । नः । सोम-पाः । अभयम्-करः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वस्तिदाः) मंगल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा (विमृधः) शत्रुओं

दीर्घादटि समानपादे । पा० ८।३।९ । इति नकारस्य रुत्वम् । आतोऽटि नित्यम् । पा० ८ । ३ । ३ । इति अकारस्य अनुनासिकः । **अमित्र-सहः** । अमेर्द्विषति चित् । उ० ४।१७४ । इति अम रोगे पीडने-इत्रच् । षह अभिभवे-पचाद्यच् । चितः । पा० । ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । अमित्राणां शत्रूणां सोढा, अभिभविता । **अस्तृतः** । स्तृञ् हिंसायाम्-कर्मणि क्त । अहिंसितः । **न** । निषेधे । **यस्य** । वरुणस्य । **हन्यते** । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति कर्मणि यक् । हिंस्यते । अभिभूयते । **सखा** । समाने ख्यः स चोदात्तः । उ० ४ । १३७ । इति समान+ख्या प्रसिद्धौ कथने च-इन् । टिलोपयलोपौ समानस्य सभावश्च । अनङ् सौ । पा० ७ । १ । ९३ । इति अनङ् । मित्रम्, सुहृद् । **जीयते** । जि जये-पूर्ववद् यक् । अभिभूयते । **कदा** । कस्मिन् काले । **चन** । अपि ॥

१—**स्वस्तिदाः** । सावसेः । उ० ४ । १८१ । इति सु+अस सत्तायाम्-

को (वशी) वश में करने हारा (वृषा) महा बलवान् (सोमपाः) अमृत रस का पीने हारा (अभयंकरः) अभय दान करने हारा (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (नः) हमारे (पुरः) आगे आगे (एतु) चले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उपरोक्त गुणों से युक्त राजा को अपना अगुआ बनाते हैं, वे अपने सब कामों में विजय पाते हैं।

२—वह जगदीश्वर सब राजा महाराजाओं का लोकाधिपति है उस को अपना अगुआ समझकर सब मनुष्य जितेन्द्रिय हों ॥ १ ॥

इस सूक्त में ऋग्वेद १० । १५२ । मन्त्र २—५ कुछ भेद के साथ हैं

तिप्रत्ययः । ततः । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति डुदाञ् दाने-क्विप् । समासस्य । पा० ६ । १ । २२३ । इति अन्तोदात्तः । क्षेमप्रदः । **विशाम्** । विश प्रवेशे-क्विप् । विशः, मनुष्याः – निघ० २ । ३ । प्रजानाम् मनुष्याणाम् । **पतिः** । १ । १ । १ । पालकः, स्वामी । **वृत्र-हा** । स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वृत वर्तने-रक् । इति वृत्रः, अन्धकारः । शत्रुः । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति हन हिंसागत्योः-क्विप् । शत्रुनाशकः । अन्धकार-निवारकः । **वि-मृधः** । वि+मृध हिंसायाम्-क्विप् । विशेषेण हिंसकान् । शत्रून् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति (वशी) शब्देन सह द्वितीया, यथा (मां कामिन्यसः) १ । ३४ । ५ । **वशी** । वशोऽस्त्यस्य । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति वश आयत्तत्वे, स्पृहायाम्—इनि । वश-यिता । **वृषा** । १ । १२ । १ । सुखस्य वर्षयिता, महाबली । **इन्द्रः** । १ । ७ । ३ । परमेश्वरः । राजा । जीवः । **पुरः** । पुरस्तात् , अग्रे । **एतु** । इण्—गतौ । गच्छतु , अग्रगामी भवतु । **सोम-पाः** । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सोम+पा पाने—विच् । सोमस्य अमृतरसस्य पानशीलः । **अभयम्-करः** । मेघर्त्तिभयेषु कृञः । पा० ३ । २ । ४३ । उपपदविधौ भयादि-ग्रहणं तदन्तविधिं प्रयोजयति । इति वार्त्तिकेन । अभय+कृञ्-खच् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ इति मुम् आगमः । अभयस्य रक्षणस्य जयस्य कर्ता ॥

वि न॑ इन्द्र मृधो॑ जहि नी॒चा य॑च्छ पृतन्य॒तः ।
अ॒ध॒मं ग॑मया॒ तमो॒ यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥ २ ॥

वि । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । मृधः॑ । ज॒हि॒ । नी॒चा । य॒च्छ॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ।
अ॒ध॒मम् । ग॒म॒य॒ । तमः॑ । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒-दास॑ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्! (नः) हमारे (मृधः) शत्रुओं को (विजहि) मार डाल, (पृतन्यतः) और सेना चढ़ाकर लानेहारों को (नीचा) नीचे करके (यच्छ) रोक दे। (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) हानि पहुंचावे उसको (अधमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (गमय) पहुंचा दे ॥२॥

भावार्थ—१, न्यायशील, प्रतापी राजा अन्यायी दुराचारियों को परमेश्वर के दिये हुये बल से सब प्रकार परास्त करके दृढ़ बन्धीगृह में डालदे ॥

२—महा बली परमेश्वर को हृदयस्थ समझ कर सब मनुष्य अपनी कुवृत्तियों का दमन करें ॥ २ ॥

वि रक्षो॒ वि मृधो॑ जहि॒ वि वृ॒त्रस्य॒ हनू॑ रुज ।
वि म॒न्युमि॑न्द्र वृत्रहन्न॒मित्र॑स्याभि॒दास॑तः ॥ ३ ॥

वि । रक्षः॑ । वि । मृधः॑ । ज॒हि॒ । वि । वृ॒त्रस्य॑ । हनू॒ इति॑ । रु॒ज॒ ।
वि । म॒न्युम् । इ॒न्द्र॒ । वृ॒त्र॒-ह॒न् । अ॒मित्र॑स्य । अ॒भि॒-दास॑तः ॥ ३ ॥

२—वि । विविधाम् । मृधः । म० १ । मृध हिंसायाम्—क्विप् । मर्धयितॄन्, हिंसकान्, शत्रून । जहि । १ । ८ । ३ । नाशय । नीचा । सुपांसुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । नीचैः शब्दात् सुपो डा प्रत्ययः, डित्त्वात् टिलोपः । नीचैः । यच्छ । १ । १ । ३ । नियमय, न्यग्भूतान् कुरु । पृतन्यतः । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३६ । इति अकार लोपः । तदन्तस्य धातु संज्ञायां लटः शतृ । युद्धार्थं पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छतः शत्रून् । अधमम् । अधस्+मप्रत्ययः, अन्त्यलोपः । अतिनीचं । निकृष्टम् । गमय । गम्लृ णिचि—लोट् द्विकर्मकः । प्रापय तं शत्रुम् । तमः । तमिर खेदे—असुन् । अन्धकारम् । अस्मान्, अभिदासति । व्याख्यातम्, १ । १६ । ३ ॥

भाषार्थ—(रक्षः=रक्षांसि) राक्षसों और (मृधः) हिंसकों को (वि वि) सर्वथा (जहि) तू मार डाल, (वृत्रस्य) शत्रु के (हनू) दोनों जावड़ों को (विरुज) तोड़ दे (वृत्रहन्) हे अन्धकार मिटाने हारे (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्! (अभिदासतः) चढ़ाई करने हारे (अमित्रस्य) पीड़ाप्रद शत्रु के (मन्युम्) कोप को (वि=विरुज) भंग करदे ॥ ३ ॥

भावार्थ—१, राजा को पुरुषार्थी होकर शत्रुओं का नाश करके और प्रजामें शान्ति फैलाकर आनन्द भोगना चाहिये ॥

२—सर्वरक्षक परमेश्वर के प्रताप से मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को निर्बल करें ॥ ३ ॥

अपेन्द्र द्विषतो मनोऽप जिज्यासतो वधम् ।
वि महच्छर्म यच्छ वरीयो यावया वधम् ॥ ४ ॥

अप । इन्द्र । द्विषतः । मनः । अप । जिज्यासतः । वधम् ।
वि । महत् । शर्म । यच्छ । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (द्विषतः) वैरी के (मनः) मन को (अप=अपकृत्य) तोड़कर, और (जिज्यासतः) [हमारी] आयु की हानि

३—रक्ष । रक्ष पालने-असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । जातावेकवचनम् । राक्षसम् । शत्रुम् । वि । विशेषण, सर्वथा । मृधः । म० २ । मर्धयितॄन्, हिंसकान् । जहि । म० २ । नाशय । वृत्रस्य । म०१ । शत्रोः । हनू । शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन वधे-उ प्रत्ययः । हन्ति कठोरद्रव्यादिकमिति हनुः । कपोलद्वयोपरिमुखभागौ । रुज । रुजो भङ्गे तुदादिः । भङ्ग्धि । विदारय । वि-विरुज । मन्युम् । १ । १० । १ । —क्रोधं, कोपम् । वृत्र-हन् । म० १ । हे अन्धकारनाशक ! अमित्रस्य । १ । १९ । २ । पीडकस्य, शत्रोः । अभि-दासतः । दसु उत् क्षेपे-शतृ । उपक्षपयतः, उत्-क्षेपणशीलस्य ॥

४—अप । अपकृत्य , तिरस्कृत्य । द्विषतः । द्विष अप्रीतौ-शतृ । अप्रीति-

चाहने हारे शत्रु के (वधम्) प्रहार को (अप=अपकृत्य) छिन्नभिन्न करके (महत् शर्म) [अपना] विस्तीर्ण शरण (वियच्छ) [हमें] दानकर, और (वधम्) [शत्रु के] प्रहार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) फेंक दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के विश्वास से मनुष्य अपने पुरुषार्थ और बुद्धि बल से शत्रु को निरुत्साही करके विजयी होवें ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पिछले आधे मन्त्र के लिये १ । २० । ३ । देखो ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

करस्य शत्रोः । **मनः** । १। १। २ । अन्तःकरणं हृदयम् आत्मबलम् । **जिज्यासतः** । धातोः कर्मणः समानकर्तृकादिच्छायाम् । वा० । पा० ३ । १ । ७ । इति ज्या वयोहानौ—सन् प्रत्ययः । सन्यङोः । पा० ६ । १ । ९ । इति द्विर्वचने हलादिः शेषे ह्रस्वे च कृते । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७८ । इति अभ्यासाकारस्य इत्वम् । सन्नन्तस्य धातुसंज्ञायां लटः शतृ । वयोहानिमिच्छतः, अस्मान् जेतुमिच्छतः पुरुषस्य । **वधम्** । १ । २० । १ । प्रहारम् । अन्यद् व्याख्यातम् । १ । २० । ३ ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—४ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश के लिये उपदेश ॥

अनु सूर्यमुदयतां हृद्द्योतो हरिमा च ते ।
गो रोहितस्य वर्णेन तेन त्वा परि दध्मसि ॥ १ ॥

अनु । सूर्यम् । उत् । अयताम् । हृत्-द्योतः । हरिमा । च । ते ।
गोः । रोहितस्य । वर्णेन । तेन । त्वा । परि । दध्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृद्-द्योतः) हृदय की सन्ताप [चमक] (च) और (हरिमा) शरीर का पीलापन (सूर्यम् अनु) सूर्य के साथ साथ (उद्-अयताम्) उड़ जावे। (रोहितस्य) निकलते हुये लाल रंग वाले (गोः) सूर्य के (तेन) प्रसिद्ध (वर्णेन) रंग से (त्वा) तुझ को (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रातः और सायं काल सूर्य की किरणें तिरछी पड़ने से रक्त वर्ण दीखती हैं, और वायु शीतल, मन्द, सुगन्ध चलता है। उस समय मानसिक और शारीरिक रोगी को सद्वैद्य वायु सेवन और औषधि सेवन करावें,

१—अनु । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । लक्षणेऽर्थे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति सूर्य शब्दस्य द्वितीया । लक्षीकृत्य । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकम् । आदित्यम् । उत्+

जिस से वह स्वस्थ हो जाये और रुधिर के संचार से उस का रंग रक्त सूर्य के समान लाल चमकीला हो जाये ॥ १ ॥

१—(गौः) सूर्य है वह रसों को ले जाता [और पहुंचाता] है, और अन्तरिक्ष में चलता है —निरु० २ । १४ ॥

२—मनु महाराज ने भी दो सन्ध्याओं का विधान [स्वस्थता के लिये] किया है—मनु, अ० २ श्लो० १०१ ॥

पूर्वां सन्ध्यां जपंस्तिष्ठेत् सावित्रीमार्कदर्शनात् ।
पश्चिमां तु समासीनः सम्यगृक्षविभावनात् ॥ १ ॥

प्रातःकाल की सन्ध्या में गायत्री को जपता हुआ सूर्य दर्शन होने तक स्थित रहे और सायंकाल की सन्ध्या में तारों के चमकने तक बैठा हुआ ठीक ठीक जप करे ॥

परि त्वा रोहितैर्वर्णैर्दीर्घायुत्वाय दध्मसि ।
यथायमरपा असदथो अहरितो भुवत् ॥ २ ॥

परि । त्वा । रोहितैः । वर्णैः । दीर्घायु-त्वाय । दध्मसि ।
यथा । अयम् । अरपाः । असत् । अथो इति । अहरितः । भुवत् ॥२॥

अयताम् । अय गतौ । अनुदात्तेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । उद्गच्छतु, विनश्यतु, इति यावत् । हृद्-द्योतः । द्युत दीप्तौ—भावे घञ् । हृदयस्य सन्तापः । हरिमा । वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ् च । पा० ५ । १ । १२३ । इति हरित्—भावे इमनिच् । यचि भम् । पा० १ । ४ । १८ । इति भसंज्ञायाम् । टेः । पा० ६ । ४ । १४३ । इति टिलोपः । चितः । पा०६।१ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । कामिलादि-रोगजनितः शारीरो हरिद्वर्णः । गोः । पुंलिङ्गम् । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ-डो । गौरादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे-इति भगवान् यास्कः-निरु० २ । १४ । आदित्यस्य, सूर्यस्य । रोहितस्य । रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । इति रुह जन्मनि प्रादुर्भावे च-इतन् । प्रादुर्भूतस्य, उदितस्य । प्रभातकाले रक्तवर्णस्य । वर्णेन । वर्ण शुक्लादिवर्णकरणे दीपने च-घञ् । रागेण, रञ्जनेन । रूपेण । दध्मसि । दध्मः पोषयामः ॥

भाषार्थ—(रोहितैः) लाल (वर्णैः) रंगों के साथ (त्वा) तुझको (दीर्घायुत्वाय) चिर काल जीवन के लिये (परि) सब प्रकार से (दध्मसि) हम पुष्ट करते हैं। (यथा) जिस से (अयम्) यह (अरपाः) नीरोग (असत्) हो जाये, (अथो) और (अहरितः) पीले वर्ण रहित (भुवत्) रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य और कुटुम्बी लोग रोगी को प्रातः सायम् वायु सेवन और औषधि सेवन कराकर स्वस्थ करें कि रुधिर संचार से उस का शरीर रक्त वर्ण हो जाय और ज्वर, पीलिया आदि रोग का पीलापन शरीर से जाता रहे ॥ २ ॥

या रोहिणीर्देवत्या३ गावो या उत रोहिणीः ।
रूपंरूपं वयोवयस्ताभिष्ट्वा परि दध्मसि ॥ ३ ॥

याः । रोहिणीः । देवत्याः । गावः । याः । उत । रोहिणीः ।
रूपम्-रूपम् । वयः-वयः । ताभिः । त्वा । परि । दध्मसि ॥३॥

भाषार्थ—(याः) जो (देवत्याः) दिव्य गुण युक्त (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली ओषधें (उत) और (याः) जो (रोहिणीः) लाल वर्ण वाली (गावः) दिशायें हैं। (ताभिः) उन सब के साथ (त्वा) तुझको (रूपम्

२—त्वा । त्वां रोगिणं। रोहितैः । म० १ । लोहितैः, रक्तैः वर्णैः । म० १ । रङ्गैः । रञ्जनैः। दीर्घायुत्वाय । दीर्घ-आयुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १।२। इण् गतौ-उण् . भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । परिदध्मसि । म० १ । सर्वतः पोषयामः । अरपाः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति-रप लप कथने-असुन् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । अपापः, नीरुजः, नीरोगः । असत् । अस सत्तायाम्-लेट् । भवेत् । अथो । अथ—उ । तदनन्तरम् एव । अहरितः । हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति न+हृञ् हरणे—इतन् । पीतवर्णरहितः । भुवत् । भूसत्तायाम्-लेट् । भवेत् ॥

३—रोहिणीः । रुहेश्च । उ० २ । ५५ । इति रुह उद्भवे-इनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति गौरादित्वात् ङीष् । वा छन्दसि । पा०

रूपम्) सब प्रकार की सुन्दरता और (वयः वयः) सब प्रकार के बल के लिये (परि दध्मसि) हम सर्वथा पुष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब सूर्य की किरणों से दिशायें रक्त वर्ण दिखायी देती हैं तब प्रातः सायं दोनों समय सद्वैद्य रोगी को सुपरीक्षित औषधों और यथायोग्य वायु सेवन से स्वस्थ करके सब प्रकार से हृष्ट पुष्ट और बलवान् करें ॥३॥

सुकेषु ते हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि ।
अथो हारिद्रवेषु ते हरिमाणं नि दध्मसि ॥ ४ ॥

सुकेषु । ते । हरिमाणम् । रोपणाकासु । दध्मसि ।
अथो इति । हारिद्रवेषु । ते । हरिमाणम् । नि । दध्मसि ॥४॥

भाषार्थ— (सुकेषु) उत्तम उत्तम उपदेशों में और (रोपणाकासु) लेप आदि क्रियाओं में (ते) तेरे (हरिमाणम्) सुख हरने वाले शरीर रोग को (दध्मसि) हम रखते हैं। (अथो) और भी (हारिद्रवेषु) रुचिर रसों में (ते) तेरे (हरिमाणम्) चित्त विकार को (नि) निरन्तर (दध्मसि) हम रखते हैं ॥ ४ ॥

---

६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहयन्ति जनयन्ति स्वास्थ्यं ता रोहिण्यः, ओषधयः । **देवत्याः** । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति देवता-यत् । दिव्यगुणयुक्ताः । **गावः** । स्त्रीलिङ्गम् । दिशाः । **रोहिणीः** । वर्णादनुदात्तात् तो नः । पा० ४ । १ । ३६ । इति रोहित-ङीप्, तकारस्य नकारः। जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । रोहिण्यः, लोहितवर्णाः प्रातः सायंकालभवाः । **रूपं-रूपम्** । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वसौन्दर्येण । सर्वसौन्दर्याय । **वयः-वयः** । वय गतौ-असुन् । वीप्सयां द्विर्वचनम् । कृत्स्नेन यौवनेन, सर्वेण सामर्थ्येण । सर्वसामर्थ्याय । **ताभिः** । गोभिश्च रोहिणीभिश्च ॥

४—**सुकेषु** । अन्येष्वापि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति सु० + कै + शब्दे, यद्वा, कच दीप्तौ-ड । उत्तमेषु शब्देषु । उपाय कथनेषु । **हरिमाणम्** । म० १ ।

भावार्थ—सद्वैद्य बाहिरी शारीरिक रोगों को यथायोग्य ओषधि और लेप आदि से, और भीतरी मानसिक रोगों को उत्तम उत्तम ओषधि रसों से नाश करके रोगी को स्वस्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋ० १ । ५० । १२ । में कुछ भेद से है, वहां (सुकेषु) के स्थान में [शुकेषु] है। और सायण भाष्य में भी [शुकेषु] माना है। परन्तु तीनों अथर्व-संहिताओं में (सुकेषु) पाठ है वही हम ने लिया है। सायणाचार्य ने [शुक] का अर्थ तोता पक्षी और (रोपणाका) का [काष्ठशुक] नाम हरिद्वर्ण पक्षी अथर्ववेद में और [शारिका पक्षी विशेष] अर्थात् मैना ऋग्वेद में, और (हारिद्रव) का अर्थ [गोपीतनक नाम हरिद्वर्ण] [पक्षी] अथर्ववेद में, और [हरिताल का वृक्ष] ऋग्वेद में किया है इस अर्थ का यह आशय जान पड़ता है कि रोग विशेषों में पक्षी विशेषों को रोगी के पास रखने से भी रोग की निवृत्ति होती है ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—४ ॥ ओषधिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

महारोगनाशोपदेशः–महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

नक्तंजाता॒स्यो॑षधे॒ रामे॒ कृष्णे॒ असि॑क्नि च ।
इ॒दं र॑जनि रजय कि॒लासं॑ पलि॒तं च॒ यत् ॥ १ ॥

रोग जनितं हरिद्वर्णम्, सुखहरणशीलं रोगं शारीरिकं हार्दिकं वा । **रोपणाकासु** । रोपण—आकासु । रुह प्रादुर्भावे, णिच्—ल्युट्, हस्य पः । व्रणरोगे मांसाङ्कुरजननार्थक्रियादिकं इति रोपणम्, ततः, आ + कम कान्तौ—ड ॥ "रोपणं समन्तात् कामयन्ति तासु क्रियासु लिप्तास्वोषधिषु "–इति श्रीमद् दयानन्द-भाष्यम् ऋ० १ । ५० । १२ । **दध्मसि** । म० । १ । वयं धारयामः, स्थापयामः । **हारिद्रवेषु** । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति हृञ् हरणे—इञ् । हरति रोगमिति हारिः, रुचिरः, मनोहरः । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति द्रु द्रवणे स्रवणे-अप् । इति, द्रवः, रसः । रुचिररसेषु । **नि** । नियमेन ॥

नक्तम्-जाता । असि । ओषधे । रामे । कृष्णे । असिक्नि । च । इदम् । रजनि । रजय । किलासम् । पलितम् । च । यत् ॥१॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारी, ओषधि तू (नक्तंजाता) रात्रिमें उत्पन्न हुई (असि) है, जो तू (रामे) रमण कराने हारी (कृष्णे) चित्त को खींचने हारी, (च) और (असिक्नि) निर्बन्ध [पूर्ण सार वाली] है। (रजनि) हे उत्तम रंग करने हारी! तू (इदम्) यह (यत्) जो (किलासम्) रूप का बिगाड़ने हारा कुष्ट आदि (च) और (पलितम्) शरीर का श्वेतपन रोग है [उसको] (रजय) रंगदे ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य उत्तम परीक्षित ओषधों से रोगों की निवृत्तिकरे ॥१॥

१—रात में उत्पन्न हुई ओषधि से यह आशय है कि ओषधें, गेहूं, जौ, चावल आदि अन्न, और कमल आदि रोगनिवर्तक पदार्थ, चन्द्रमा की किरणों से पुष्ट होकर उत्पन्न होते हैं ॥

१—नक्तम्-जाता । नज हियि-क्त । नजते लज्जां प्राप्नोति अस्याम् । यद्वा । नक्क नाशने-क्त । नक्कयति नाशयति प्रकाशम् इति नक्तं रात्रिः । जनी प्रादुर्भावे-क्त । रात्रौ जाता उत्पन्ना । अज्ञातजन्मा । ओषधे । ओषो पाको धीयतेऽस्याम्, ओष + डुधाञ् धारणपोषणयोः-कर्मण्यधिकरणे च । पा०३ । ३ । ९३ । इति कि प्रत्ययः । ओषधय ओषद् धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ९ । २७ । अस्यार्थः—ओषत् शरीरे दहद् रोगजातं धयन्ति पिबन्ति नाशयन्ति । ओषति दाहके ज्वरादौ एना धयन्ति पिबन्ति रोगिणो दाहोपशमनाय । पक्षद्वये. ओषत् + धेट् पाने-कि । अथवा दोषं वातपित्तादिकं धयन्तीति वा । दोष + धेट्-कि । पृषोदरादित्वाद् दलोपः । हे रोगनाशकद्रव्य! । रामे । रमु क्रीडायाम् णिच् वा-घञ् । टाप् । रमते रमयति चेति रामा, हे रमणशीले, रमणकारिणि, सुखप्रदे । कृष्णे । कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति बाहुलकात् वर्णं विनापि । कृष आकर्षणे—नक् । टाप् । कर्षति आनन्दयति चित्तानि स्वमनोहरगुणेन । यद्वा, कर्षति वशीकरोति रोगान् सा कृष्णा । हे आकर्षणशीले । असिक्नि । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि-क्त नञ्समासः । छन्दसि क्नमित्येके । वार्तिकम्, पा० ४ । १ । ३९ । इति असित-

२—इसी प्रकार मनुष्यों को गर्भाधान क्रिया रात्रि में करनी चाहिये ॥

३—ओषधि आदि मूर्त्तिमान पदार्थ पांच तत्त्वों से बने हैं तौ भी उनके भिन्न२ आकार और भिन्न २ गुण हैं, यह मूल संयोग वियोग क्रिया ईश्वर के अधीन है, वस्तुतः मनुष्य के लिये यह कर्म रात्रि अर्थात् अंधकार वा अज्ञान में है ॥

४—प्रलय रूपी रात्रि के पीछे, पहिले अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं फिर मनुष्य आदि की सृष्टि होती है ॥ १ ॥

किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत् ।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय ॥२॥

किलासम् । च । पलितम् । च । निः । इतः । नाशय । पृषत् ।
आ । त्वा । स्वः । विशताम् । वर्णः । परा । शुक्लानि । पातय ॥२॥

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (इतः) इस पुरुष से (किलासम्) रूप विगाड़ने वाले कुष्ठ आदि रोग को (च) और (पलितम्) शरीर के श्वेतपन (च) और (पृषत्) विकृत् चिन्ह को (निर्णाशय) निरन्तर नाश करदे। (स्वःवर्णः) [रोग

ङीप्, तकारस्य क्नः। असिता असिक्नी। हे अबद्धशक्ते, अखंडवीर्ये, पूर्णसारयुक्ते। रजनि। रञ्जेः क्युन्। उ० २। ७६। इति रञ्ज रागे-क्युन्, स्त्रियां ङीप्। रञ्जयतीति रजनी। हे सुरञ्जनशीले। रजय। रञ्ज रागे, नकारलोपः रञ्जय, स्वाभाविकरागयुक्तं कुरु। किलासम्। क्लीबलिंगम्। किल प्रेरणे, क्रीड़े—क। कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। किल+असु क्षेपणे—अण्। किलं वर्णं अस्यति क्षिपति विकृतं करोतीति तत् किलासम्। वर्णदूषकम् सिध्मम्। कुष्ठरोगादिकं। पलितम्। फलेरितजादेश्च पः। उ० ५। ३४। इति फल भेदने निष्पत्तौ च—इतच्, फस्य पत्वम्। फलति निष्पन्नं पक्वमिव भवतति पलितम्। अथवा पल गतौ रक्षणे च—इतच्। शरीरश्वेततारोगः। यत्। यत् किञ्चित् ॥

२—किलासम्। म० १। वर्णविकारकरं कुष्ठादिरोगम्। पलितम्। म० १। शरीरश्वेततारोगम्। निर्। निरन्तरम्। इतः। अस्मात् पुरुषात्।

का] अपना रंग (त्वाम्) तुझ में [ओषधि में] (आविशताम्) प्रविष्ट हो जाय और (शुक्लानि) [उसके] श्वेत चिन्हों को (परा पातय) दूर गिरादे ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य की उत्तम ओषधि से रोगी के शरीर का बिगड़ा हुआ रूप फिर यथापूर्व सुन्दर रुचिर और मनोहर हो जाता है ॥ २ ॥

असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव ॥
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥ ३ ॥

असितम् । ते । प्र-लयनम् । आ-स्थानम् । असितम् । तव ।
असिक्नी । असि । ओषधे । निः । इतः । नाशय । पृषत् ॥३॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (ते) तेरा (प्रलयनम्) लाभ (असितम्) निर्वन्ध वा अखंड है, और (तव) तेरा (आस्थानम्) विश्राम स्थान (असितम्) निर्वन्ध है, (असिक्नी असि) और तू निर्बन्ध [सारवाली] है, (इतः) इस पुरुष से (पृषत्) [विकृत] चिन्ह को (निर्णाशय) सर्वथा नाश कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य विचार करे कि यह ओषधि पूर्ण लाभयुक्त है यथायोग्य

नाशय । णश अदर्शने—णिच् । विनष्टं कुरु, घातय । **पृषत्** । वर्तमाने पृषद्बृहन्महत्० । उ० २ । ८४ । पृषु सेके हिंसने च—अति । विकृतचिन्हम् । **त्वा** । त्वाम् । ओषधिम् । **स्वः** । स्वन शब्दे—ड । स्वकीयः, आत्मीयः । **आ+विशताम्** । प्रविशतां, व्याप्नोतु । **वर्णः** । १ । २२ । १ । रूपम् । **शुक्लानि** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच शौचे—रन् । रस्य लः । श्वेतानि श्येतानि सितानि चिन्हानि । **परा+पातय** । पत, णिच् । दूरं प्रेरय ॥

३—**असितम्** । अस्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति षिञ् बन्धने-क्त । अथवा । षो अन्तकर्मणि=नाशने-क्त । नञ्समासः । अबद्धम्, अखण्डितम् । कृष्णवर्णम्-इति सायणः । **प्र-लयनम्** । प्र+लीङ् श्लेषे, प्राप्तौ-ल्युट् । प्रापणं, प्राप्तिः,लाभः । **आ-स्थानम्** । आङ्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-ल्युट् । विश्राम-

स्थान में उत्पन्न हुई है और सब अंशों में सारयुक्त है, ऐसी ओषधि के प्रयोग से रोग निवृत्ति होती है ॥ ३ ॥

अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि ।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम् ॥ ४ ॥

अस्थि-जस्य । किलासस्य । तनू-जस्य । च । यत् । त्वचि ।
दूष्या । कृतस्य । ब्रह्मणा । लक्ष्म । श्वेतम् । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—(दूष्याकृतस्य अस्थिजस्य तनूजस्य च किलासस्य यत् श्वेतम् लक्ष्म त्वचि अस्ति तत् ब्रह्मणा अहम् अनीनशम्—इत्यन्वयः)। (दूष्या) दुष्ट क्रिया से (कृतस्य) उत्पन्न हुये, (अस्थिजस्य) हड्डी से उत्पन्न हुये (च) और (तनूजस्य) शरीर से निकले हुये (किलासस्य) रूप बिगाड़ने हारे, कुष्ठ आदि रोग का (यत्) जो (श्वेतम्) श्वेत (लक्ष्म) चिन्ह (त्वचि) त्वचा पर है [उसको] (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (अनीनशम्) मैंने नाश कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—भारी रोग दो प्रकार के होते हैं एक (अस्थिज) हड्डी से उत्पन्न होने वाले अर्थात् भीतरी रोग जो ब्रह्मचर्य के खंडन और कुपथ्य भोजन आदि के कारण मज्जा और वीर्य के विकार से हो जाते हैं, और दूसरे (तनुज)

स्थानम् । तव । त्वदीयम् । असिक्नी । म० १ । अवद्धा, सारवती । ओषधे । म० १ । हे रोगनाशकद्रव्य ! । अन्यत् सुगमं व्याख्यातंच ।

४-अस्थि-जस्य । असिसञ्जिभ्यां क्थिन् । उ० ३ । १५४ । इति असु क्षेपणे-क्थिन् । अस्यते क्षिप्यते शरीरे तत् अस्थि, शरीरस्थ सप्तधातुमध्ये धातुविशेष ; कीकसम् । ततः । पञ्चम्यामजातौ । पा०.३ । २ । ९८ । इति जनी प्रादुर्भावे- ड प्रत्ययः । अस्थ्नो जातस्य मज्जाधातोः । किलासस्य । म० १ । वर्णनाशकस्य कुष्ठरोगादिकस्य । तनू-जस्य । तन्वाः शरीरात् जायते, पूर्ववत् तनू+जनी- ड । शरीरजातस्य । यत् । लक्ष्म । त्वचि । तनोरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक प्रत्ययः, अन भागस्य वकारश्च । तन्यते विस्ती-

शरीर से उत्पन्न हुये बाहिरी रोग जो मलिन वायु, मलिन घर, आदि के कारण होते हैं, इस प्रकार (ब्रह्मणा) वेदिक ज्ञान से रोगों का निदान करके उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोगियों को स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

इस सूक्त का आशय यह है कि जिस प्रकार सद्वैद्य रोगों का आदि कारण जानकर ओषधि करके रोग निवृत्ति करता है, उसी प्रकार नीतिज्ञ राजा नियम पूर्वक दुष्टों का दमन करता है, सेनापति शत्रु के प्रहार से अपनी सेना की रक्षा करके जीत पाता है, और ब्रह्मज्ञानी और वैज्ञानिक लोग बाह्य और आभ्यान्तर विघ्नों को हटाकर अपना कार्य सिद्ध करते हैं ॥

सूक्तम् २४ ।

१—४ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १, ३, ४, अनुष्टुप् , २ पंक्तिः, ८×५ अक्षराणि ॥

महारोगनाशोपदेशः—महारोग के नाश के लिये उपदेश ॥

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन् ॥१॥

सु-पर्णः । जातः । प्रथमः । तस्य । त्वम् । पित्तम् । आसिथ । तत् । आसुरी । युधा । जिता । रूपम् । चक्रे । वनस्पतीन् ॥ १ ॥

यते सा त्वक् । यद्वा । त्वच् संवरणे-क्विप् । त्वचति संवृणोति मेदः शोणितादिकम् सा । शरीरावरणे, चर्मणि । **दूष्या** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति दुष वैरे, दुष्टकर्मणि-इन् । दूषयति प्राणिनं हिनस्तीति दूषिः, तया दुष्टक्रियया ब्रह्मचर्यखंडनमद्यादिकुपथ्यसेवनरूपया । **कृतस्य** । उत्पादितस्य । **ब्रह्मणा** । १ । ८ । ४ । वेदविज्ञानेन । **लक्ष्म** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शने-मनिन् । चिह्नम् । **श्वेतम्** । श्वित शुक्लतायाम्-अच् घञ् वा । शुक्लवर्णयुक्तम् । **अनीनशम्** । णश अदर्शने-णिचि लुङि रूपम् । अहं नाशितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) उत्तम रीति से पालन करने हारा, वा अति पूर्ण परमेश्वर (प्रथमः) सब का आदि (जातः) प्रसिद्ध है। (तस्य) उस [परमेश्वर] के (पित्तम्) पित्त [बल] को, [हे औषधि !] (त्वम्) तूने (आसिथ) पाया था। (तत्) तब (युधा) संग्राम से (जिता) जीती हुयी (आसुरी) असुर [प्रकाशमय परमेश्वर] की माया [प्रज्ञा वा बुद्धि] ने (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षा करने हारे वृक्षों को (रूपम्)रूप (चक्रे)किया था ॥१॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले वर्त्तमान परमेश्वर की नित्य शक्ति से ओषधि अन्न आदि में पोषण सामर्थ्य रहता है। वह (आसुरी) परमेश्वर की शक्ति (युधा जिता) युद्ध अर्थात् प्रलय के अन्धकार के उपरांत प्रकाशित होती है, जैसे अन्न, और घास पात आदि का बीज शीत और ग्रीष्म ऋतुओं में भूमि के भीतर पड़ा रहता और वृष्टि का जल पाकर हरा होजाता है ॥ १ ॥

१—**सु-पर्णः** । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति सु+पॄ पालनपूरणयोः — न । शोभनपालनः, शोभनपूरणः परमेश्वरः । **जातः** । प्रादुर्भूतः । प्रसिद्धः । **प्रथमः** । १ । १२ । १ । आद्यः, अग्रिमः, उत्तमः । **पित्तम्** । अपि+देङ् पालने, दो छेदने वा—क । अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति तादेशः, अपेरल्लोपः । अपि अवश्यं दयते पालयति सुगुणान्, अथवा द्यति नाशयति दुर्गुणान् तत् पित्तम् । वीर्यम् अथवा शरीरस्थधातुविशेषः । तत्पर्यायः तेजः, उष्मा, अग्निः । तस्य कर्माणि । "पाचकं पचते भुक्तं शेषाग्निबलवर्धनम् । रसमूत्रपुरीषाणि विरेचयति नित्यशः" ॥ १ ॥ इति शब्दकल्पद्रुमे । **आसिथ** । अस दीप्तिग्रहणगतिषु-लिट् । त्वं गृहीतवती प्राप्तवती । **तत्** । तदा । **आसुरी** । १ । १० । १ । असुरस्य इयम् । मायायामण् । पा० ४ । ४ । १२४ । इति असुर—अण् । टिड्ढाणञ्द्वयस० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । माया= प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । असुरस्य दीप्यमानस्य परमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । **युधा** । युध संप्रहारे—क्विप् । युद्धेन संग्रामेण विघ्ननिवारणेन । **जिता** । प्राप्तपराजया । वशीकृता **रूपम्** । १ । १ । १ । आकारम् । सौन्दर्यम् । **चक्रे** ।

टिप्पणी--(असुर) शब्द के लिये १ । १० । १ और (आसुरी) के लिये ७ । ३८ । १ । देखो । हे ओषधि ! तू रात्रि में उत्पन्न हुई है । ऐसा, १ । २३ । १ में आया है । ऋग्वेद १० । १२९ । ३, में कहा है ।

तमं आसीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम् ।

पहिले [प्रलय काल में] अन्धकार था, और यह सब अन्धकार से ढका हुआ चिन्हरहित समुद्र था ।

आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम् । अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम् ॥२॥

आसुरी । चक्रे । प्रथमा । इदम् । किलास-भेषजम् । इदम् । किलास-नाशनम् । अनीनशत् । किलासम् । स-रूपाम् । अकरत् । त्वचम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रथमा) प्रथम प्रकट हुई (आसुरी) प्रकाशमय परमेश्वर की माया [बुद्धि वा ज्ञान] ने (इदम्) इस [वस्तु] को (किलासभेषजम्) रूपनाशक महा रोग की ओषधि और (इदम्) इस [वस्तु] को ही (किलासनाशनम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग की नाश करने हारी (चक्रे) बनाया । [उसने] [ईश्वर मायाने] (किलासम्) रूप बिगाड़ने वाले महारोग को (अनीनशत्) नाश किया और (त्वचम्) त्वचा को (सरूपाम्) सुन्दर रूप वाली (अकरत्) बनादिया ॥ २ ॥

डुकृञ् करणे—लिट् । कृतवती, दत्तवती । वनस्पतीन् । १ । ११ । ३ । वनानां सेवकानां पालकान् । वृक्षान् सृष्टिपदार्थान्, इत्यर्थः ॥ १ ॥

२—आसुरी । म० १ । प्रकाशमयपरमेश्वरस्य माया प्रज्ञा । चक्रे । म० १ । कृतवती । प्रथमा । म० १ । आदिभूता । इदम् । प्रसिद्धम् । उपस्थितम् । किलास-भेषजम् । किलासम् १।२३।१ । किल + असु क्षेपणे-अण् । भिषजो वैद्यस्येदमिति अण् निपातनात् एत्वम् यद्वा, भेषं भयं रोगं जयतीति जि-ड- । रूपनाशकस्य महारोगस्य औषधम् । किलास-नाशनम् । कृत्य-

भावार्थ—(आसुरी) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की शक्ति से प्रलय के पश्चात् अनेक विघ्नों के हटाने पर मनुष्य के सुखदायक पदार्थ उत्पन्न हुये जिस से पृथिवी पर समृद्धि और क्षुधा आदि रोगों की निवृत्ति हुई ॥

सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता ।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि ॥ ३ ॥

स-रूपा । नाम । ते । माता । स-रूपः । नाम । ते । पिता ।
सरूप-कृत् । त्वम् । ओषधे । सा । स-रूपम् । इदम् । कृधि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे उष्णता रखने हारे अन्न आदि ओषधि (सरूपा) समान गुण वा स्वभाव वाली (नाम) नाम (ते) तेरी (माता) माता है, (सरूपः) समान गुण या स्वभाव वाला (नाम) नाम (ते) तेरा (पिता) पिता है। (त्वम्) तू (सरूपकृत्) सुन्दर वा समान गुण करने हारी है, (सा=सा त्वम्) सो तू (इदम्) इस [अंग] को (सरूपम्) सुन्दर रूप युक्त (कृधि) कर ॥३॥

ल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति किलास+णश अदर्शने—कर्तरि ल्युट् । किलासस्य रूपनाशकस्य महारोगस्य कुष्ठादिकस्य निवर्तकम् । अनीनशत् । णश अदर्शने—णिच् , लुङ् । नाशयति स्म । किलासम् । १ । २३ । १ । वर्णनाशकं महारोगम् । स-रूपाम् । ज्योतिर्जनपद० । पा० ६ । ३ । ८५ । इति समानस्य सभावः । समानरूपाम् । साधुरूपाम् । अकरत् । डुकृञ् करणे लुङ् । कृतवती । त्वचम् । १ । २३ । ४ । त्वचाम् , शरीरावरणं चर्म ॥

३—स-रूपा । म० २ । समानं रूपं स्वभावो गुणो यस्याः सा । समानस्वभावाम् । नाम । अव्ययम् । नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे—मनिन् । निपातनात् साधुः । म्नायते अभ्यस्यते यत् । प्रसिद्धा । प्रसिद्धम् । माता । १।२ । १ । माननीया जननी भूमिः प्रकृतिर्वा । स-रूपः । समानरूपः । समानस्वभावः,समानगुणः । पिता । १।२।१ । पालको जनकः । परमेश्वरः मेघः सूर्यो वा । सरूप-कृत् । डुकृञ् करणे—क्विप् । ह्रस्वस्य

भावार्थ—(ओषधि) क्षुधा रोगादि निवर्तक वस्तु को कहते हैं जिस से शरीर में उष्णता रहती है, उसकी (माता) प्रकृति वा पृथिवी और (पिता) परमेश्वर वा मेघ वा सूर्य्य है जिनके गुण वा स्वभाव सब प्राणियों के लिये समान हैं। ईश्वर से प्रेरित प्रकृति से अथवा भूमि और मेघ वा सूर्य्य के संयोग से सब पुष्टि दायक और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न होते हैं। विद्वान् लोग पदार्थों के गुणों को यथार्थ जान कर नियमपूर्वक उचित भोजन आदि के सेवन और यथोचित उपकार लेने से अपने को और अपने सन्तानों को रूपवान् और वीर्य्यवान् बनावें ॥ ३ ॥

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता ।
इदमू षु प्र साधय पुना रूपाणि कल्पय ॥ ४ ॥

श्यामा । सरूपम्-करणी । पृथिव्याः । अधि । उत्-भृता । इदम् । ऊं इति । सु । प्र । साधय । पुनः । रूपाणि । कल्पय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्यामा) व्यापनशीला वा सुखप्रदा, (सरूपंकरणी) सुन्दरता करने हारी तू (पृथिव्याः अधि) विख्यात वा विस्तीर्ण पृथिवी में से (उद्भृता) उखाड़ी गई है। (इदम् उ) इस [कर्म्म] को (सु) भली भांति से (प्रसाधय) सिद्ध कर, (पुनः) और (रूपाणि) [इस पुरुष] की सुन्दरताओं को (कल्पय) पूर्ण कर ॥ ४ ॥

पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् आगमः । शोभनरूपकारिणी । समानगुणकारिणी । त्वम् **ओषधे** । १ । २३ । १ । हे रोगनाशकद्रव्य त्वम् । **स-रूपम्** । सुन्दररूपयुक्तम् । **इदम्** । रोगदूषितम् अङ्गम् । **कृधि** । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

४—**श्यामा** । इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । इति श्यैङ् गतौ-मक्, टाप् । श्यायति गच्छति सुखं प्राप्नोति सा श्यामा व्यापनशीला । सुखप्रदा । ओषधिः । **सरूपम्-करणी** । सरूपं क्रियते अनयेति । करणाधिकरणयोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति कृञः-करणे ल्युट् । पूर्वपदे सुपो लुगभावश्छान्दसः । टिड्ढाणञ्द्वयसज० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । सुन्दररूप-

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य उत्तम औषधों से रोग को निवृत कर रोगी को सर्वाङ्ग पुष्ट करके आनन्दयुक्त करते हैं, इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुष सब विघ्नों को हटा कर कार्य्य सिद्धि कर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

मुद्राराक्षस में कहा है—

"धरि लात विघ्न अनेक पैं निरभय न उद्यम तें टरैं ।
जे पुरुष उत्तम अन्त में ते सिद्ध सब कारज करैं ॥"

सूक्तम् २५ ॥

१—४ । अग्निर्देवता । त्रिष्टुप् छन्दः, ११×३ अक्षराणि ॥

ज्वरादिरोगशान्त्युपदेशः—ज्वर आदि रोग की शान्ति के लिये उपदेश ॥

यद॒ग्निरापो॒ अद॑ह॒त् प्र॒विश्य॒ यत्राकृ॑ण्वन् धर्म्म॒धृतो॒ नमां॑सि । तत्र॑ त आ॒हुः प॑र॒मं ज॒नित्रं॒ स नः॑ सं॒वि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ १ ॥

यत् । अ॒ग्निः । आ । अपः॑ । अद॑हत् । प्र॒-वि॒श्य॑ । यत्र॑ । अकृ॑ण्वन् । ध॒र्म॒-धृत॑ः । नमां॑सि । तत्र॑ । ते॒ । आ॒हुः । प॒र॒मम् । ज॒नित्र॑म् । सः । नः॒ सम्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥ १ ॥

कर्त्री । पृथिव्याः । १ । २ । १ । प्रख्यातायाः विस्तीर्णाया वा भूमेः सकाशात् । अधि । पंचम्यर्थानुवादी । उत्-भृता । उत्+भृञ्-क । उत्खाता । उत्पादिता । ऊं इति । पादपूरणः । पदपूरणास्ते मिताक्षरेष्वनर्थकाः, कमीमिद्विति । निरु० १ । ६ । प्र+साधय । प्र+षाध सिद्धौ, णिच् । सिद्धं कुरु, प्रवर्धय । पुनः । अनन्तरम् । पुना रूपाणि । रोरि । पा० ८ । ३ । १४ । इति रेफस्य लोपे कृते । ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति पूर्वदीर्घः । रूपाणि । सौन्दर्याणि, स्वास्थ्यलक्षणानि । कल्पय । कृपू सामर्थ्ये, णिच् कृपो रो लः । पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । संपादय, पूरय ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस सामर्थ्य से (अग्निः) व्यापक अग्नि [ताप] ने (प्रविश्य) प्रवेश करके(अपः) व्यापन शील जल को (आ अदहत्) तपा दिया है और (यत्र) जिस [सामर्थ्य] के आगे (धर्मधृतः) मर्यादा के रखनेवाले पुरुषों ने (नमांसि) अनेक प्रकार से नमस्कार (अकृण्वन्) किया है । (तत्र) उस [सामर्थ्य] में (ते) तेरे (परमम्) सब से ऊंचे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (आहुः) वह [मर्यादापुरुष] बताते हैं, (सः=स त्वम्) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले , ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर !] (संविद्वान्) [यह बात) जानता हुआ (नः) हमको (परि वृङ्धि) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर उष्ण स्वभाव अग्नि द्वारा शीतल स्वभाव जल को तपाता है अर्थात् विरुद्ध स्वभाव वालों को संयोग वियोग से अनुकूल करके सृष्टि का धारण करता है, जिस परमेश्वर से बढ़ कर कोई मर्यादा पालक नहीं है जो स्वयंभु सब का अधिपति है, और ज्वर आदि रोगों से पापियों को दण्ड

१—यत् । यस्मात् सामर्थ्यात् । अग्निः । १ । ६ । २ । तेजः पदार्थविशेषः । औष्ण्यम् । आ । समन्तात् । अपः । १ । ४ । ३ । आप्नुवन्ति शरीरमित्यापः । अस्य नित्यं बहुवचनत्वम् स्त्रीत्वं च । जलानि । प्राणान् । "आपः" य० १७। २६ । प्राणाः । इति दयानन्द सरस्वती । अदहत् । दह दाहे—सन्तापे—लङ् । अतपत् । प्र—विश्य । अन्तर्विगाह्य । यत्र । सामर्थ्ये । अकृण्वन् । कृवि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकुर्वन् । धर्मधृतः । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १। १४० । इति धृञ् धारणे—मन् । धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिर्वा स धर्मः-न्यायः, मर्यादा । ततः । धृञ्—क्विप् , तुक् आगमः । धर्मधारकाः । मर्य्यादा-पालकाः पुरुषाः । नमांसि । णम प्रह्वत्वे—असुन् , आद्युदात्तः । नम्रभावान् । तत्र । सामर्थ्ये । आहुः । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् ब्रुवन्ति , कथयन्ति । परमम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति पर + मा माने—क । प्रधानम् । जनित्रम् । अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जन जनने, प्रादुर्भावे—इत्र प्रत्ययः । जन्मस्थानम् । सः । स त्वम् । सम्—विद्वान् । विदेः शतुर्वसुः । पा० ७ । १ । ३६ । इति विद ज्ञाने—शतुर्वसुरादेशः सम्यग् जानन् । ज्ञानवान् । परि—वृङ्ग्धि । वृजी वर्जने—रुधादित्वात् श्नम् परिवर्जय, परित्यज ।

देता है. उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये हम पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें, सब विद्वान् लोग उस ईश्वर के आगे सिर झुकाते हैं ॥ १ ॥

यद्य॒र्चिर्यदि॒ वासि॑ शो॒चिः श॑कल्ये॒षि यदि॑ वा ते ज॒नित्र॑म् । ह्रू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ २ ॥

यदि॑ । अ॒र्चिः । यदि॑ । वा॒ । असि॑ । शो॒चिः । श॒क॒ल्य॒-इ॒षि । यदि॑ । वा॒ । ते॒ । ज॒नित्र॑म् । ह्रू॒डुः । नाम॑ । अ॒सि॒ । ह॒रि॒त॒स्य॒ । दे॒व॒ । सः । नः॒ । स॒म्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे तू (अर्चिः) ज्वाला रूप (यदि वा) अथवा (शोचिः) ताप रूप (असि) है (यदि वा) अथवा (ते) तेरा (जनित्रम्) जन्म स्थान (शकल्येषि) अंग अंग की गति में है। (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले (ह्रूडुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है, (सः) सो तू (तक्मन्) जीवन को कष्ट देने वाले ज्वर! [ज्वर समान पीड़ा देने वाले ईश्वर] (संविद्वान्) [यह बात] जानता हुआ (नः) हमको (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ २ ॥

भावार्थ—यह परब्रह्म ज्वर आदि रोग से दुष्कर्मियों की नाड़ी नाड़ी को दुःख से दबा डालता है जैसे कोई किसी को दबाने की कल में दबावे।

तक्मन्। सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति तकि कृच्छ्रजीवने—दुःखेन जीवने-मनिन्। हे कृच्छ्रजीवनकारिन्, ज्वर ॥

२—यदि। संभावनायाम्, चेत्। अर्चिः। अर्चिशुचिहुसृ०। उ० २। १०८। इति अर्च पूजायाम्-इसि। अर्चिः, शोचिः, ज्वलतो नामधेयेषु—निघ० २। १७। ज्वलनकरः। शोचिः। शुच शोके, शौचे—पूर्ववत् इसि। शोचति। ज्वलति कर्मा, निघ० १। १६। तापकरः। शकल्य-इषि। शकि शम्योर्नित्। उ० १। ११२। इति शक्लृ शक्तौ—कल प्रत्ययः। शकलः खण्डः। पुनः समूहार्थे-य प्रत्ययः, ततः। क्विप् च। पा० ३। २। ७६। इति इष गतौ क्विप्। शकल्यं अंग-

उस न्यायी जगदीश्वर का स्मरण करते हुये पापों से बच कर सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (हू॒डुः) के स्थान में [रूढुः] पढ़ कर [रोहकः] उत्पन्न करने वाला अर्थ किया है ।

यदि॑ शो॒को यदि॑ वाभिशो॒को यदि॑ वा॒ राज्ञो॒ वरु॑ण॒स्यासि॑ पु॒त्रः । हू॒डुर्नामा॑सि हरितस्य देव॒ स नः॑ संवि॒द्वान् परि॑ वृङ्ग्धि तक्मन् ॥ ३ ॥

यदि॑ । शो॒कः । यदि॑ । वा॒ । अ॒भि॒-शो॒कः । यदि॑ । वा॒ । राज्ञः॑ । वरु॑णस्य । असि॑ । पु॒त्रः । हू॒डुः॑ । नाम॑ । अ॒सि॒ । ह॒रि॒त॒स्य॒ । दे॒व॒ । सः । नः॒ । स॒म्-वि॒द्वान् । परि॑ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । त॒क्म॒न् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे, तू (शोकः) हृदयपीड़क (यदि वा) चाहे (अभिशोकः) सर्व शरीर पीड़क है, (यदि वा) अथवा तू (राज्ञः) तेज वाले (वरुणस्य) सूर्य वा जल का (पुत्रः) पुत्र रूप (असि) है । (हरितस्य) हे पीले रंग के (देव) देने वाले ! (हू॒डुः) दबाने की कल (नाम असि) तेरा नाम है. (सः) सो तू, (तक्मन्) हे जीवन को कष्ट देने वाले, ज्वर ! [ज्वर समान पीड़ा देने हारे !] (संविद्वान्] [यह बात] जानता हुआ (नः) हम को (परिवृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मानसिक और शारीरिक पीड़ा, सूर्य्य की ताप वा जल से उत्पन्न ज्वर, और पीलिया आदि रोग, पाप अर्थात् ईश्वरीय नियम से विरुद्ध

समूहम् इष्यतीति शकल्येट् । अंगानां गतौ । **जनित्रम्** । म०१ । जन्मस्थानम् । **हू॒डुः** । ईषेः किच्च । उ० १ । ११३ । इति हू॒ड गतौ, अत्र पीड़ने-कु । पीडायन्त्रम् । **नाम** । १ । २ । ३ । प्रसिद्धः । **हरितस्य** । हञ् हरणे—इतन् । रोगजनितस्य पीतवर्णस्य । **देव** । हे द्योतक, दातः । अन्यद् । व्याख्यातम्, म० १ ॥

३—**शोकः** । शुचि शोके-कर्तरि घञ् । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । मनःपीड़कः । **अभि-शोकः** । सर्वशरीरपीड़कः ।

आचरण का फल है, इस लिये मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर के नियमों का पालन करें, और दुष्ट आचरण छोड़ कर सुखी रहें ॥ ३ ॥

नमः शीतायं तक्मने नमो रूरायं शोचिषे कृणोमि ।
यो अन्येद्युरुभयद्युरभ्येति तृतीयकाय नमो अस्तु तक्मने ॥ ४ ॥

नमः । शीतायं । तक्मने । नमः । रूरायं । शोचिषे । कृणोमि । यः । अन्येद्युः । उभय-द्युः । अभि-एति । तृतीयकाय । नमः । अस्तु । तक्मने ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शीताय) शीत (तक्मने) जीवन को कष्ट देनेहारे ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः)नमस्कार, और (रूराय) क्रूर (शोचिषे) ताप के ज्वर को [ज्वर रूप परमेश्वर को] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूं । (यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा ज्वर और (उभयद्युः) दो अन्तरा ज्वर (अभि एति) चढ़ता है, [तस्मै] [उस ज्वर रूपको और] (तृतीयकाय) तिजारी (तक्मने) ज्वर [ज्वर रूप परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥४॥

राज्ञः । १ । १० । १ । दीप्यमानस्य, तेजस्विनः । वरुणस्य । १ । ३ । ३ । सूर्यतापस्य जलस्य वा । पुत्रः । १ । ११ । ५ । शोधकः । सुतः, तनूजः पुत्रवत् उत्पन्नः । अन्यद् व्याख्यानम्-म० २ ॥

४—शीताय । श्यैङ् गतौ-क्त । द्रवमूर्त्तिस्पर्शयोः श्यः । पा० ६।१।२४। इति सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६।४।२। इति दीर्घः । शीतलाय । शीतस्पर्शवते । तक्मने । म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे रोगाय, ज्वराय ज्वरसमानाय परमेश्वराय। रूराय । स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । इति रुङ् वधे-रक्, दीर्घश्च । घातकाय, पीड़काय, क्रूराय । शोचिषे । म० २ । तापकराय । कृणोमि । कृवि हिंसाकरणयोः । करोमि । यः । तक्मा, ज्वरः । अन्येद्युः । अव्ययम् । अन्यस्मिन् दिने, परदिने । उभयद्युः । अव्ययम् । उभयस्मिन् द्वितीये-

भावार्थ—परमेश्वर अनेक प्रकार के ज्वर आदि रोगों से पापियों को कष्ट देता है, उस के क्रोध से भय मान कर हम खोटे कामों से बचकर सदा शान्त चित्त और आनन्द में मग्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २६ ।

१--४ ॥ इन्द्रो देवता । गायत्री छन्दः ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

आरे॒ ऽसाव॒स्मद॑स्तु हे॒तिर्दे॑वासो अस॒त् ।
आरे॒ अश्मा॒ यम॑स्य॑थ ॥ १ ॥

आरे॑ । अ॒सौ । अ॒स्मत् । अ॒स्तु॒ । हे॒तिः । दे॒वा॒सः॒ । अ॒स॒त् ।
आरे॑ । अश्मा॑ । यम् । अ॒स्य॑थ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवासः) हे विजयी शूर वीरो ! (असौ) यह (हेतिः) सांग या बरछी (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अस्तु) रहे, और (अश्मा) वह पत्थर (आरे) दूर (असत्) रहे (यम्) जिसे (अस्यथ) तुम फेंकते हो ॥१॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेना पति लोग चक्रव्यूह, पद्मव्यूह, मकरव्यूह, क्रौञ्चव्यूह सूचीव्यूह, आदि से अपनी सेना का विन्यास इस प्रकार करें कि शत्रु के अस्त्र शस्त्र का प्रहार अपने प्रजा और सेना के न लगें, और न अपने अस्त्र शस्त्र उलट कर अपने ही लगें, किन्तु शत्रुओं का विध्वंस करें ॥ १ ॥

ऽहनि । अभि-एति । आगच्छति । तृतीयकाय । त्रेः सम्प्रसारणं च । पा०५ । २ । ५५ । इति त्रि-तीयः पूरणे, संप्रसारणं च । स्वार्थे कन् । तृतीयदिने आगच्छते ॥

१—आरे । दूरे । असौ । सा शत्रुप्रयुक्ता । हेतिः । १।१३।३। सङ्गाद्यायुधं शक्तिनामास्त्रम् । देवासः । १ । ७ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति असुक् । हे विजयिनो महात्मानः सेनापतयः । असत् । १ । २२ । २ । भवेत् । अश्मा । १।२।२ मेघः, आयुधवृष्टिः । पाषाणः । यम् । अश्मानम । अस्यथ । असु क्षेपणे-लट्, दिवादित्वात् श्यन् । यूयं क्षिपथ ॥

सखासावस्मभ्यमस्तु रातिः सखेन्द्रो भगः ।
सविता चित्रराधाः ॥ २ ॥

सखा । असौ । अस्मभ्यम् । अस्तु । रातिः । सखा । इन्द्रः ।
भगः । सविता । चित्र-राधाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (रातिः) दान शील राजा (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सखा) मित्र (अस्तु) होवे, (भगः) सब का सेवनीय, (सविता) लोकों को चलाने वाले सूर्य के समान प्रतापी, (चित्रराधाः) अद्भुत धन युक्त (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (सखा) मित्र (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा, सेना और कर्मचारियों पर सदा उदारचित्त रहे और सूर्य के समान महा प्रतापी और ऐश्वर्यशाली और महाधनी होकर सब का हितकारी बने और सब की उन्नति से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

यूयं नः प्रवतो नपान् मरुतः सूर्यत्वचसः ।
शर्म यच्छाथ सप्रथः ॥ ३ ॥

यूयम् । नः । प्र-वतः । नपात् । मरुतः । सूर्य-त्वचसः ।
शर्म । यच्छाथ । स-प्रथः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) हे [अपने] भक्त के (नपात्) न गिराने हारे राजन्! और (सूर्यत्वचसः) हे सूर्य समान प्रताप वाले (मरुतः) शत्रुओं के मारने हारे

२—सखा । १।२०।४। सुहृत्, मित्रम् । रातिः । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३।३।१७४ । इति रा दाने-क्तिच् । चितः । पा० ६।१।१६३ । इति अन्तोदात्तः । उदारः, दाता राजा । इन्द्रः । १।२।३ । परमैश्वर्यवान् । भगः । १।१४।१। भज सेवायाम्-घ । घत्वम् । सर्वैर्भजनीयः, सर्वैः सेवनीयः । सविता । १।१८।२। सर्वप्रेरकः । सर्ववशी, सूर्यवत् प्रतापी । चित्र-राधाः । चित्र+राध संसिद्धौ-असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्यनेनेति यास्कः-निघ० ४।४। विचित्रधनयुक्तः, अद्भुतधनः ॥

शूरवीर महात्माओ ! (यूयम) तुम सब (नः) हमारे लिये (सप्रथः) बहुत विस्तीर्ण (शर्म) सुख वा शरण (यच्छाथ) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपने भक्तों की रक्षा करने हारा राजा और महाप्रतापी धर्मधुरंधर शूरवीर मन्त्री आदि मिल कर प्रजा की सर्वथा रक्षा करके अपने शरण में रक्खें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—अजमेर वैदिक यन्त्रालय और बंबई गवर्नमेन्ट के पुस्तक के संहिता पाठ में (सप्रथाः) पाठ अशुद्ध दीखता है, सायण भाष्य और बंबई के सेवकलाल कृष्णदास शोधित पुस्तक का (सप्रथः) पाठ शुद्ध जान कर हमने यहां पर लिया है ॥

सुसूदत मृडत मृडया नस्तनूभ्यः ।
मयस्तोकेभ्यस्कृधि ॥ ४ ॥

सुसूदत । मृडत । मृडय । नः । तनूभ्यः । मयः । तोकेभ्यः । कृधि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुसूदत) तुम सब [हमें] अंगीकार करो, और (मृडत) सुखी करो, [हे राजन !] तू (नः) हमारे (तनूभ्यः) शरीरों को (मृडय)

३—यूयम् । प्रवतो नपात् मरुतश्च । प्र-वतः । १ । १३ । २ । भक्तस्य, सेवकस्य। भक्तान्। द्वितीयायां बहुवचनं वा। नपात् । १ १३ । २ । न पातयतीति । हे अपातनशील राजन् !। मरुतः । १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् ते । हे शूरवीराः पुरुषाः । सूर्य-त्वचसः । त्वच संवरणे-असुन् । सूर्यस्य त्वक् संवरणमिव संवरणं येषां ते । सूर्यसमानतेजस्काः। शर्म । १।२०।३। सुखम्, शरणम् । यच्छाथ । दाण् दाने-लेट् । प्रयच्छत, दत्त । स-प्रथः । सह+प्रथ ख्यातौ असुन् । प्रथसा सहितं, सविस्तारम् ॥

४—सुसूदत । षूद आश्रुतिहत्योः । निरासे च । आश्रुतिरङ्गीकारः । इति शब्दकल्पद्रुमः । अङ्गीकुरुत । मृडत । मृड सुखने । सुखयत । मृडय ।

सुख दे और (तोकेभ्यः) बालकों को (मयः) आनन्द (कृधि) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाप्रतापी राजा और सुयोग्य कर्मचारी मिल कर सब प्रजा और उनकी सन्तानों की उत्तम शिक्षा आदि से उन्नति करें और सुख पहुंचाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १ पंक्तिः ८×५, २—४ अनुष्टुप् ॥

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

अमूः पारे पृदाक्वस्त्रिषप्ता निर्जरायवः ।
तासां जरायुभिर्वयमक्ष्या३ वपि व्ययामस्य-
घायोः परिपन्थिनः ॥ १ ॥

अमूः । पारे । पृदाक्वः । त्रि-सप्ताः । निः-जरायवः । तासाम् । जरायु-भिः । वयम् । अक्ष्यौ । अपि । व्ययामसि । अघ-योः । परि-पन्थिनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमूः) वह (त्रिषप्ताः) तीन [ऊंचे, मध्यम और नीचे] स्थान में सजी हुई, (निर्जरायवः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] से निकली हुई (प्रदाक्वः) सर्पिणी [वा बाघिनी] रूप शत्रु सेनायें (पारे) उस पार [वर्तमान] हैं । (तासाम्) उनको (जरायुभिः) जरायु रूप गुप्त चेष्टाओं सहित [वर्तमान] (अघायोः) बुरा चीतने वाले, (परिपन्थिनः) उलटे आचरण वाले शत्रु की (अक्ष्यौ) दोनों आंखों को (वयम्) हम (अपि व्ययामसि) ढके देते हैं ॥ १ ॥

सुनय । तनूभ्यः । १ । १ । १ । शरीरेभ्यः । मयः ।१। १३ । २ । सुखम् ।१। तोकेभ्यः । १।१३ । २ । अपत्येभ्यः ॥

१—अमूः । परिदृश्यमानाः, ताः । पारे । पार कर्मसमाप्तौ-पचाद्यच्, अथवा पॄ पूर्तौ—घञ् । परतीरे । प्रान्तभागे, सीमाप्रदेशे । पृदाक्वः । पर्दते-र्नित् सम्प्रसारणमल्लोपश्च । उ० ३ । ८० । इति पर्द अपानशब्दे—काकु, रेफस्य

भावार्थ —जब शत्रु की सेना अपने पड़ावों से निकल कर घात स्थानों पर ऐसी खड़ी होवे, जैसे सर्पिणी वा बाघिनी माता के गर्भ से निकल कर बहुत से उपद्रव फैलाती है, तब युद्ध कुशल सेनापति शत्रु सेना की गुप्त कपट चेष्टाओं का मर्म समझ कर ऐसी हल चल मचा दे कि शत्रु की दोनों, आंखें हृदय की और मस्तक की मुंद जावें और वह घबराकर हार मान लेवे ॥ १ ॥

सायणभाष्य में (निर्जरायवः) के स्थान में [निर्जरा इव] शब्द है ॥

विषू॑च्येतु कृन्त॒ती पिना॑कमिव॒ बिभ्र॑ती ।
विष्व॑क् पुन॒र्भुवा॒ मनो॒ऽसमृ॑द्धा अघा॒यवः॑ ॥ २ ॥

सम्प्रसारणं अकारलोपश्च । स्त्रियां ऊङ् । उदात्तस्वरितयोर्यणः स्वरितोऽनुदात्तस्य । पा० ८ । २ । ४ । इति स्वरितः । पर्दते कुत्सितं शब्दयति सा, पृदाकूः सर्पिणी व्याघ्री वा । सर्पिण्यो व्याघ्र्य इव वा दुष्टस्वभाः शत्रुसेनाः । **त्रि-सप्ताः** । १ । १ । १ । त्रि+षप समवाये—क्त । त्रिषु उच्चमध्यमनीच-स्थानेषु सम्बद्धाः, स्थिताः । **निः-जरायवः** । निर्+जरायवः । १ । ११ । ४ । षिद्भिदादिभ्योऽङ् पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ-ष्, वयोहानौ-अङ्, टाप् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । जरा, वार्द्धक्यम्, शरीर-निर्बलत्वम् । किंजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ-ञुण् । जरां जीर्णताम् एति जरायुः, गर्भवेष्टनचर्म । निर्गता जरायोः, गर्भवेष्टनात् याः । निर्गतगर्भवेष्टनाः । घातस्थानात् प्रादुर्भूताः । **तासाम्** । पृदाकूरूपाणां शत्रु-सेनानाम् । **जरायु-भिः** । पूर्ववत्, जरा+इण-ञुण् । गर्भवेष्टनैः । गुप्तकपट-चेष्टाभिः—इति यावत् । **वयम्** । योद्धारः पुरुषाः । **अक्ष्यौ** । १ । ८ । ३ । अशू व्याप्तौ—क्सि । यद्वा, अक्षु व्याप्तौ—इन्, ततो ङीप् । छान्दसं रूपम् पूर्ववत् स्वरितः । अक्षिणी, उभे मानसिकमास्तिकनेत्रे । **अपि-व्ययामसि** । व्येञ् संवरणे । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस इदन्तता । अपिव्ययामः, आच्छादयामः, स्वबुद्धिबलैः प्रमोहयामः । **अघायोः** । १ । २० । २ । अघं परहिंसनमिच्छतीति अघायुः । अनिष्टचारिणः । पापात्मनः । **परि-पन्थिनः** । छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि । पा० ५ । २ । ८९ । इति परि+पथि गतौ—णिनि । निपातितः । युद्धे प्रत्यवस्थातुः, प्रतिकूलाचारिणः, शत्रोः ॥

विषू॑ची । एतु । कृन्तती । पिनाकम्-इव । बिभ्रती ।
विष्व॑क् । पुनः-भुवाः । मनः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पिनाकम् इव) त्रिशूल सा (बिभ्रती) उठाये हुये (कृन्तती) काटती हुयी [हमारी सेना] (विषूची) सब ओर फैल कर (एतु) चले । और (पुनर्भुवाः) फिर जुड़ कर आयी हुयी [शत्रु सेना] का (मनः) मन (विष्वक्) इधर उधर उड़ाऊ [हो जावे] (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु लोग (असमृद्धाः) निर्धन हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर सेनापति अस्त्र शस्त्र वाली अपनी साहसी सेना के अनेक विभाग करके शत्रुओं पर झपट कर धावा मारता और उन्हें व्याकुल करके भगा देता है जिससे वह लोग फिर न तो एकत्र हो सकते और न धन जोड़ सकते हैं. ऐसे ही बुद्धिमान् मनुष्य कुमार्ग गामिनी इन्द्रियों को वश में करके सुमार्ग में चलावें और आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सायण भाष्य में (पुनर्भुवाः) के स्थान में [पुनर्भवाः] है ॥

न ब॒हवः॒ सम॑शक॒न् नार्भ॒का अ॒भि दा॑धृषुः ।
वे॒णोर॒द्गा इ॑वा॒भितोऽस॑मृद्धा अघा॒यवः॑ ॥ ३ ॥

८—विषूची । १ । १६ । १ । नानाविधं गच्छन्ती , नानामुखी । एतु । गच्छतु । कृन्तती । कृती छेदने-शतृ । तुदादित्वात् शः । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५६ । इति नुम् , ततो ङीप् । छिन्दती, भिन्दती शत्रुसेना । पिनाकम् । पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । पा रक्षणे पन स्तुतौ वा—आकप्रत्ययेन निपात्यते । त्रिशूलम् । बिभ्रती । १ । १ । १ । डुभृञ् धारणपोषणयोः—शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । धारयन्ती । विष्वक् । १ । १६ । १ । नानामुखम् , अनवस्थितम् । पुनः-भुवाः । पुनः + भू सत्तायाम्—क्विप् । पुनः संघीभूतायाः पृदाकाः , शत्रुसेनायाः-इत्यर्थः । मनः । चित्तम् । असमृद्धाः । ऋधु वृद्धौ-क्त । असम्पन्नाः,निर्धनाः । अघायवः । म० १ । अनिष्टचिन्तकाः शत्रवः ॥

न । बहवः । सम् । अशकन् । न । अर्भकाः । अभि । दाधृषुः । वेणोः । अद्गाः-इव । अभितः । असम्-ऋद्धाः । अघ-यवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (बहवः) बहुत से शत्रु (समशकन्) समर्थ हुये (न) और न (अर्भकाः) वह निर्बल हो जाने पर (अभिदाधृषुः) कुछ साहस कर सके, (वेणोः) बांस के (अद्गाः) मालपुओं के (इव) समान (अघायवः) बुरा चीतने वाले शत्रु (असमृद्धाः) निर्धन [होवें] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी दुष्टों को ऐसा वश में करे कि वह एकत्र न हो सकें और न सता सकें, और जैसे नीरस सूखे बांस आदि तृण का भोजन पुष्टिदायक नहीं होता, इसी प्रकार सर्वथा निर्बल कर दिये जावें। इसी प्रकार मनुष्य आत्म शिक्षा करें ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (दाधृषुः) के स्थान में [दादृशुः] और (अद्गाः) के स्थान में [उद्गाः] है ॥

प्रेतं पादौ प्र स्फुरतं वहतं पृणतो गृहान् ।
इन्द्राण्येतु प्रथमाजीतामुषिता पुरः ॥ ४ ॥

३—बहवः । लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इति बहि वृद्धौ-कु, नस्य लोपः । विपुलाः, हस्त्यश्वरथपदातियुक्ताः शत्रवः । सम् । सम्यक्, अल्पमपीत्यर्थः । अशकन् । शक्लृ शक्तौ-लुङ् । जेतुं शक्ता अभूवन् । अर्भकाः । अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । इति ऋ गतौ-भन् स्वार्थे-कन् । दभ्रमर्भकमित्यल्पस्य । इति यास्कः-निरु० ३ । २० । अल्पाः, निर्बलाः । अभि । आभिमुख्येन । दाधृषु । धृषु संहतौ, हिंसे, प्रागल्भ्ये-लिट् । दीर्घः । धृष्टाः प्रगल्भा बभूवुः । वेणोः । अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । इति अज गतिक्षेपणयोः-णु । वीभावो गुणश्च । वंशकाण्डस्य नीरसतृणस्य इत्यर्थः । अद्गाः । गन् गम्यद्योः । उ० १ । १२३ । इति अद भक्षणे-गन् । अद्यते भक्ष्यते स अद्गः । पुरोडाशाः । अभितः । सर्वतः । अन्यद् व्याख्यातम् । म० २ ॥

प्र । इतम् । पादौ । प्र । स्फुरतम् । वहतम् । पृणतः । गृहान् । इन्द्राणी । एतु । प्रथमा । अजीता । अमुषिता । पुरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पादौ) हे हमारे दोनों पांव (प्र इतम्) आगे बढ़ो, (प्रस्फुरतम्) फुरती करे जाओ, (पृणतः) तृप्त करने वाले (गृहान्) कुटुम्बियों के पास [हमें] (वहतम्) पहुंचाओ। (प्रथमा) अपूर्व वा विख्यात (अजीता=अजिता) विना जीती और (अमुषिता) विना लूटी हुई (इन्द्राणी) इन्द्र की शक्ति, महा सम्पत्ति (पुरः) [हमारे] आगे आगे (एतु) चले ॥ ४ ॥

भावार्थ—१, महा प्रतापी शूर वीर पुरुषार्थी राजा विजय करके और बहुत धन प्राप्त करके सावधान होकर अपने घर को लौटे, और अपने मित्रों में अनेक प्रकार से उन्नति करके सुख भोग करे ॥

२—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मस्थ परमेश्वर के दर्शन से परोपकार करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

(इहेन्द्राणीमुपह्वये वरुणानीं स्वस्तये) ऋ० १ । २२ । १२ ।

इस मन्त्र में (इन्द्राणी) इन्द्र सूर्य वा वायु की शक्ति और (वरुणानी) वरुण जल की शक्ति ऐसा अर्थ श्रीमद् दयानन्द भाष्य में है ॥

४—**प्र+इतम्** । इण् गतौ—लोट् । युवां प्रकर्षेण गच्छतम् । **पादौ** । हे मम पादौ । **स्फुरतम्** । स्फुर स्फुर्तौ, चलने च—लोट् । शीघ्रं चलतम् । **वहतम्** । वह प्रापणे—लोट्, द्विकर्मकः । अस्मान् प्रापयतम् । **पृणतः** । पृण तर्पणे, तुदादिः—शतृ । तर्पयितॄन् सुखयितॄन् पुरुषान् । **गृहान्** । पुंलिङ्गम् । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह आदाने-क । दारान् दारादीन् गृहस्थान् प्रति । **इन्द्राणी** । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी-निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः-इति दुर्गाचार्यस्तद्वृतौ । इन्द्रवरुणभवशर्व० । पा० ४ । १ । ४९ । इति इन्द्र-ङीप् आनुक् च । इन्द्रस्य ऐश्वर्यशालिनः पत्नी पालयित्री शक्तिः । महासमृद्धिः महालक्ष्मीः । **एतु** । इण्—गतौ । गच्छतु । **प्रथमा** । १ । १२ । १ । अपूर्वा । प्रख्याता, उत्कृष्टा । **अजीता** । जि-क्त । सांहितिको दीर्घः । अनिर्जिता, अपराभूता । **अमुषिता** । मुष वधे, लुण्ठने—क्त । अनपहृता । **पुरः** । पुरस्तात् । अस्माकम् अग्रे ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—४ । अग्निर्देवता । १-३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ।

युद्धप्रकरणम्—युद्ध का प्रकरण ॥

उप प्रागा॑द् दे॒वो अ॒ग्नी र॑क्षो॒हामी॑व॒चात॑नः ।
दह॒न्नप॑ द्व॒या॒विनो॑ यातु॒धाना॑न् किमी॒दिनः॑ ॥ १ ॥

उप॑ । प्र । अ॒गा॒त् । दे॒वः । अ॒ग्निः । र॒क्षः॒-हा । अ॒मी॒व॒-चात॑नः ।
दह॑न् । अप॑ । द्व॒या॒विनः॑ । या॒तु॒-धाना॑न् । कि॒मी॒दिनः॑ ॥ १॥

भाषार्थ—(रक्षोहा) राक्षसोंका मार डालने वाला (अमीवचातनः) दुःख मिटाने वाला (देवः) विजयी (अग्निः) अग्नि रूप सेनापति (द्वयाविनः) दुमुखे कपटी, (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले (किमीदिनः) यह क्या है यह क्या है ऐसा करने वाले छली सूचकों वा लंपटों को (अप दहन्) मिटाकर भस्म करता हुआ (उप) हमारे समीप (प्र-अगात्) आ पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जब सेनापति अग्नि रूप होकर शतघ्नी [तोप] भुशुण्डी [बन्दूक] धनुष् बाण तरवारि आदि अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं का नाश करता है तब राज्य में शान्ति रहती है ॥ १ ॥

१—अगात् । इण गतौ-लुङ् । अगमत् । देवः । १ । ७ । १ । विजयी । अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी सेनापतिः । रक्षः-हा । रक्ष पलने-अपादाने, असुन् रक्षो रक्षितव्यमस्मात् । इति यास्कः-निरु ४ । १८ । बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति रक्षः+हन-क्विप् । हिंसकानां हन्ता । अमीव-चातनः । इणशीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति बाहुलकात् अम रोगे-वन्, ईडागमः । अमीवं दुःखम् । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । दुःखानां नाशयिता । अप+दहन् । दह-शतृ । संतापयन्, । भस्मसात् कुर्वन् । द्वयाविनः । द्वयं वाचिकं माधुर्यं मानसिकं हिंसनं च येषामस्तीति । बहुलं छन्दसि ॥ पा० ५ । २ । १२२ । इति द्वय-विनिप्रत्ययः । दीर्घश्च । मायाविनः । यातु-धानान् । १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् । किमीदिनः, । १ । ७ । १ । पिशुनान, कपटिनः, सूचकान् ॥

प्रति दह यातुधानान् प्रति देव किमीदिनः ।
प्रतीचीः कृष्णवर्तने सं दह यातुधान्यः ॥ २ ॥

प्रति । दह । यातु-धानान् । प्रति । देव । किमीदिनः ।
प्रतीचीः । कृष्ण-वर्तने । सम् । दह । यातु-धान्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देव) हे विजयी सेनापति (यातुधानान्) दुःखदायी और द्वारा (किमीदिनः) क्या क्या करने हारे छली सूचकों को (प्रति) एक एक करके (प्रतिदह) जला दे। (कृष्णवर्तने) हे धूंआ धाड़ मार्ग वाले अग्नि रूप सेनापति (प्रतीचीः) सन्मुख धावा करती हुयी (यातुधान्यः = ०—नीः) दुःखदायिनी शत्रु सेनाओं को (सम् दह) चारों ओर से भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति अपने घातस्थानों से तोप तुपक आदि द्वारा अग्नि के समान धुआं धाड़ करता हुआ शत्रुओं के मुखियाओं और सेनादलों को व्याकुल करके भस्म कर देवे ॥ २

सायण भाष्य में (कृष्णवर्तने) के स्थान में [कृष्णवर्तमने] पद और उस का अर्थ [हे कृष्णवर्तमन्] है ॥

या शशाप शपनेन याघं मूरमादधे ।
या रसस्य हरणाय जातमारेभे तोकमत्तु सा ॥३॥

२—प्रति । प्रतिमुखम् । प्रत्येकम् । दह । भस्मीकुरु, यातु-धानान् । म० १ । पीड़ादातॄन्, राक्षसान् । देव । म०१ । हे विजयशील ! । किमीदिनः । म० १ । पिशुनान् । प्रतीचीः । ऋत्विग्दधृक० । पा०३ । ३ । ५६ । इति । प्रति + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । नलोपः । ङीप् । यथा विषूचीः शब्दः, १ । १६ । १ । प्रतिकूलं गच्छन्तीः । कृष्ण-वर्तने । वृतेश्च । उ० २ । १०६ । इति वृतु वर्तने—अनि । कृष्णा कृष्णवर्णा शतघ्नी भुशुण्ड्यादिप्रसारितधूमेन वर्तनिः वर्तिः पन्थाः यस्य सः, अग्निर्वा । हे कृष्णमार्ग, अग्निरूपसेनापते । सम् । सम्यक्, सर्वथा । यातु-धान्यः । पुंयोगादाख्यायाम् । पा० ४ । १ । ४८ । इति यातु-धान—ङीप्, शसः स्थाने छन्दसि जस् । यणि कृते स्वरितः । यातुधानीः पीड़ादायिनीः शत्रुसेनाः ॥

या । शुशाप॑ । शप॑नेन । या । अघम् । मूर॑म् । आ-दुधे ।
या । रस॑स्य । हर॑णाय । जातम् । आ-रे॒भे । तोकम् । अत्तु । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिस ने (अघम्) दुःख की (मूरम्) मूल को (आदधे) आकर जमाया है। और (या) जिस ने (रसस्य) रसके (हरणाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) हाथ लगाया है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा सन्तान को (अत्तु) खालेवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—रण क्षेत्र में जब शत्रु सेना कोलाहल मचाती, धावा मारती और लूट खसोट करती आगे बढ़ती आवे, तो युद्धकुशल सेनापति शत्रुओं में भेद डाल दे कि वह लोग आपस में लड़ मरें और अपने सन्तान अर्थात् हितकारियों का ही नाश करदें ॥ ३ ॥

सायण भाष्य में (आदधे) के स्थान में [आदद्रे] पाठ है ॥

३—या । यातुधानी शत्रुसेना । शशाप । शप आक्रोशे—लिट् । शापं । अनिष्टकथनं कृतवती । शपनेन । शप आक्रोशे—करणे ल्युट् । आक्रोशेन, कुवचनेन । अघम् । अघ पापकरणे—णिच्—अच् । पापं, दुःखम् । दुःखकरम् । मूरम् । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मुर्छा मोहसमुच्छ्राययोः-क्विप् । राल् लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति छकारलोपः । मूर्छाकरम् । यद्वा । मूल, प्रतिष्ठायाम्, रोपणे-कु, लस्य रकारः । मूलम् । प्रतिष्ठाम् । अघं मूरम् । दुःखकरं मूलं शरणम् । आ-दधे । आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च—लिट् । परि जग्राह । रसस्य । रस आस्वादे-पचाद्यच् । सारस्य, बलस्य, धनस्य, आनन्दस्य । हरणाय । अपहरणाय, नाशनाय । जातम् । जनी प्रादुर्भावे-क्त । अस्माकं समूहम् । आ-रेभे । आङ् पूर्वात् लभ डु.लभ्भे= स्पर्शे-लिट्, लस्य रकारः । आलेभे, स्पृष्टवती । तोकम् । १ । १३ । २ । वृद्धिकरं । सन्तानम् । अत्तु । अत्तयतु नाशयतु । सा । शत्रुसेना ।

पुत्रमत्तु यातुधानीः स्वसारमुत नप्त्यम् ।
अधा मिथो विकेश्यो३ वि घ्नतां यातुधान्यो३
वि तृह्यन्तामराय्यः ॥ ४ ॥

पुत्रम् । अत्तु । यातु-धानीः । स्वसारम् । उत । नप्त्यम् ।
अध । मिथः । वि-केश्यः । वि । घ्नताम् । यातु-धान्यः ।
वि । तृह्यन्ताम् । अराय्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यातुधानीः=०—नी) दुःख दायिनी, [शत्रुसेना] (पुत्रम्) [अपने] पुत्र को. (स्वसारम्) भली भांति काम पूरा करने हारी बहिन को (उत) और (नप्त्यम्=नप्त्रीम्) नातिनी वा धेवती को (अत्तु) खालेवे अर्थात् नष्ट करे। (अध) और (विकेश्यः) केश बिखेरे हुये वह सब [सेनायें] (मिथः) आपस में (विघ्नताम्) मर मिटें और (अराय्यः) दान अर्थात् कर न देने हारी (यातुधान्यः) दुःख पहुंचाने हारी [शत्रु प्रजायें] (वितृह्यन्ताम्) विविध प्रकार के दुःख उठावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति राजा अपनी बुद्धि बल से दुष्ट शत्रुसेना में हलचल मचादे कि वह सब घबराकर आपस में कट मर कर एक दूसरे को सताने लगें और जो प्रजा गण हठ दुराग्रह करके, कर आदि न देवें उन को दण्ड देकर वश में कर लेवे ॥ ४ ॥

४—पुत्रम् । १ । ११ । ५ । स्वसुतम् । यातु-धानीः । म० २ । प्रथमैकवचनं छन्दसि यथा श्रीः । यातुधानी, दुःखप्रदा, शत्रुसेना । स्वसारम् । सावसेर्ऋन् । उ० २ । ६६ । इति सु+असु क्षेपणे-ऋन् । सुष्ठु अस्यति समाप्नोति कार्याणि सा स्वसा । भगिनीम् । उत । अपि च । नप्त्यम् । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ० उ० २ । ६५ । इति न+पत अधोगमने-तृच् । न पतति वंशो यस्मात् स नप्ता । ऋन्नेभ्योङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति नप्तृशब्दात् ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्व रूपस्य विकल्पाद् यणादेशः । नप्त्रीम्, पौत्रीं दौहित्रीं वा । अध । थस्य धः । अथ, अनन्तरम् । मिथः । मिथ वधे, मेधायाम्-

तीनों संहिताओं में (यातुधानीः) सविसर्ग पाठ लेख प्रमाद दीखता है। सायण भाष्य में (यातुधानी) विसर्ग रहित व्याख्यात है वह (अस्तु) क्रिया के संबन्ध में ठीक है॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २८ ।

१—६ ॥ ब्रह्मणस्पतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

अभीवर्तेन मणिना येनेन्द्रो अभिवावृधे ।
तेनास्मान् ब्रह्मणस्पतेऽभि राष्ट्राय वर्धय ॥ १ ।

अभि-वर्तेन । मणिना । येन । इन्द्रः । अभि-ववृधे ।
तेन । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अभि । राष्ट्राय । वर्धय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस (अभिवर्तेन) विजय करने वाले, (मणिना) मणि से [प्रशंसनीय सामर्थ्य वा धन से] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष

असुन्, पृषोदरादित्वात् ह्रस्वः । अन्योऽन्यम् परस्परम् । वि-केश्यः । स्वाङ्गाच्चोपसर्जनाद् सं० । पा० ४ । १ । ५४ । इति विकेश-ङीप् । विकीर्णकेशयुक्ताः परस्परताडने न वि । विविधम् । घ्नताम् । हन हिंसागत्योः-लोटि बहुवचने । हन्यन्ताम् । म्रियन्ताम् । यातुधान्यः । म० १ । पीडाप्रदाः शत्रुसेनाः । तृह्यन्ताम् । तृह हिंसायाम्-कर्मणि लोट् । हिंस्यन्ताम् । अराय्यः । रा दाने-घञ् युक् आगमः, ङीप् । अदानशीलाः प्रजाः ॥

१अभि—वर्तेन । अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १९ । इति अभि+वृतु वर्तने भवने—घञ् छान्दसो दीर्घः । अभिवर्तते अभिभवति शत्रून्

(अभि) सर्वथा (ववृधे) बढ़ा था । (तेन) उसी से, (ब्रह्मणस्पते) हे वेद या ब्रह्म [वेदवेत्ता] के रक्षक परमेश्वर! (अस्मान्) हम लोगों को (राष्ट्राय) राज्य भोगने के लिये (अभि) सब ओर से (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार हम से पहिले मनुष्य उत्तम सामर्थ्य और धन को पाकर महा प्रतापी हुये हैं, वैसे ही उस सर्व शक्तिमान् जगदीश्वर के अनन्त सामर्थ्य और उपकार का विचार करके हम लोग पूर्ण पुरुषार्थ के साथ (मणि) विद्याधन और सुवर्ण आदि धन की प्राप्ति से सर्वदा उन्नति करके राज्य का पालन करें ॥ १ ॥

मन्त्र १–३, ६ ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १७४ । म० १–३ और ५ कुछ भेद से हैं । जैसे (मणिना) के स्थान में [हविषा] पद है, इत्यादि ॥

अभिवृत्यं सपत्नानभि या नो अरातयः ।
अभि पृतन्यन्तं तिष्ठाभि यो नो दुरस्यति ॥ २ ॥

अभि-वृत्यं । स-पत्नान् । अभि । याः । नः । अरातयः ।
अभि । पृतन्यन्तम् । तिष्ठ । अभि । यः नः । दुरस्यति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मणस्पते] (सपत्नान्) [हमारे] प्रतिपक्षियों को, और (याः) जो (नः) हमारी (अरातयः) कर न देने हारी प्रजायें हैं,

---

न अभिवर्तः । अभिभवनशीलेन, जयशीलेन । मणिना । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मण कूजे—इन् । रत्नेन, प्रशंसनीयसामर्थ्येन धनेन, वा राजचिन्हेन । इन्द्रः । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् पुरुषो जीवः । अभि-ववृधे । वृधु वृद्धौ—लिट् तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । अभितः सर्वतः प्रवृद्धो बभूव । तेन । मणिना । ब्रह्मणः+पते । १ । ८ । ४ । १ । १ । १ । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्जनीयस्य सत्वम् । हे ब्राह्मणो वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर ! । राष्ट्राय । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च ष्ट्रन् । राजति ऐश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । व्रश्चभ्रस्जसृज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति षः । राज्यवर्धनाय वर्धय । वृधु वृद्धौ—णिच् लोट् । समर्धय, समृद्धान् कुरु ॥

[उनको] (अभि) सर्वथा (अभिवृत्य) जीतकर (प्रतन्यन्तम्) सेना चढ़ा कर लाने वाले शत्रु को [और उस पुरुष को] (यः) जो (नः) हम से (दुरस्यति) दुष्ट आचरण करे , (अभि)सर्वथा (अभि तिष्ठ)तू दबा ले ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर पर श्रद्धा कर के अपने स्वदेशी और विदेशी दोनों प्रकार के शत्रुओं को यथा योग्य दंड देकर वश में रक्खे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अरातयः) शब्द का अर्थ ऋ० १० । १७४ । २ । में सायणाचार्य ने भी अदानशील प्रजा किया है ॥

अभि त्वा देवः सविताभि सोमो अवीवृधत् ।
अभि त्वा विश्वा भूतान्यभीवर्तो यथासंसि ॥ ३ ॥

अभि । त्वा । देवः । सविता । अभि । सोमः । अवीवृधत् ।
अभि । त्वा । विश्वा । भूतानि । अभि-वर्तः । यथा । असंसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (देवः) प्रकाशमय (सविता) लोकों के चलाने हारे, सूर्य्य और (सोमः) अमृत देने वाले, चन्द्रमा ने (त्वा) तेरी

२—**अभि-वृत्य** । अभि+वृतु—ल्यप् । अभिभूय , पराजित्य । **सपत्नान्** । १ । ९ । १ प्रतियोगिनः स्वदेशिनः शत्रून् । **अभि** । अभितः । सर्वथा । **याः** । ताः याः । **अरातयः** । १ । २ । २ । अदानशीलाः प्रजाः । इति सायणोऽपि ऋ० १० । १७४ । २ । **अभि+तिष्ठ** । अभिभव,पराजय,त्वं ब्रह्मणस्पते । **पृतन्यन्तम्** । १ । २१ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति पृतना क्यच्-शतृ । पृतनाः सेना आत्मानमिच्छन्तं युयुत्सुम् । **यः**= तम् यः । **नः** । अस्मान् । **दुरस्यति** । दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति रिषण्यति । पा०७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्ट शब्दस्य दुरस् भावो निपात्यते । दुष्टीयति दुष्टम् । अनिष्टं कर्तुमिच्छति ॥

३—**अभि** । अभितः सर्वतः । **त्वा** । त्वाम् ब्रह्मणस्पतिम् । **देवः** । प्रकाशमयः । **सविता** । १ । १८ । २ । सूर्यः । **सोमः** । १ । ६ । २ । सवति अमृ-

(अभि अभि) सब प्रकार से (अवीवृधत्) बड़ाई की है । और (विश्वा) सब (भूतानि) सृष्टि के पदार्थों ने (त्वा) तेरी (अभि) सब प्रकार [बड़ाई की है.,] (यथा) क्यों कि तू (अभिवर्तः) [शत्रुओं का] दबाने वाला (अससि) है ॥३॥

भावार्थ—सूक्ष्म से सूक्ष्म और स्थूल से स्थूल पदार्थों की रचना और उपकार से उस परमेश्वर की महिमा दीख पड़ती है, उसी अन्तर्यामी के दिये हुये आत्मबल से शूर वीर पुरुष रणभूमि में राक्षसों को जीत कर राज्य में शान्ति फैलाते हैं ॥ ३ ॥

अभीवर्तो अभिभवः सपत्नक्षयणो मणिः ।
राष्ट्राय मह्यं बध्यतां सपत्नेभ्यः पराभुवे ॥ ४ ॥

अभि-वर्तः । अभि-भवः । सपत्न-क्षयणः । मणिः ।
राष्ट्राय । मह्यम् । बध्यताम् । स-पत्नेभ्यः । परा-भुवे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अभिवर्तः) शत्रुओं का जीतने वाला, और (अभिभवः) हराने वाला, और (सपत्नक्षयणः) प्रतिपक्षियों का नाश करने वाला (मणिः) मणि [प्रशंसनीय सामर्थ्य] रत्न आदि राज्य चिन्ह (मह्यम्) मुझपर (राष्ट्राय)

तम् । चन्द्रः । अवीवृधत् । वृधु वृद्धौ, णिच-लुङ् । वर्धितवान्, अस्तावीत् अभि-अभि अवीवृधन् अस्तुवन् । विश्वा । शेर्लुक् । विश्वानि सर्वाणि । भूतानि । प्राणिजातानि, चराचरात्मकानि वस्तून, तत्त्वानि । अभिवर्तः- । म० १ । वृतु-घञ् । अभिभविता, शत्रुजेता । यथा । यस्मात् कारणात् । असलि । अस भुवि-लट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि भवसि ॥

४—अभिवर्तः । म० १ । जयशीलः । अभिभवः । अभि + भू-अप् अभिभविता । सपत्न-क्षयणः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति सपत्न पूर्वात् क्षि क्षये-कर्तरि ल्यु । शत्रूणां क्षयकरः । मणिः ।

राज्य की वृद्धि के लिये और (सपत्नेभ्यः) वैरियों को (पराभुवे) दबाने के लिये (बध्यताम्) बांधा जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राज्य लक्ष्मी का प्रभाव जताने के लिये राजा मणि रत्न आदि को धारण करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे और राज सभा में राज सिंहासन पर विराजे कि जिससे शत्रु दल भयभीत होकर आज्ञाकारी बने रहें और राज्य में ऐश्वर्य की सदा वृद्धि होवे ॥ ४ ॥

उद॒सौ सूर्यो॑ अगा॒दुदि॒दं मा॑म॒कं वचः॑ ।
यथा॒हं श॑त्रु॒होऽसा॑न्यसप॒त्नः स॑पत्न॒हा ॥ ५ ॥

उत् । अ॒सौ । सूर्यः॑ । अ॒गा॒त् । उत् । इ॒दम् । मा॒म॒कम् । वचः॑ ।
यथा॑ । अ॒हम् । श॒त्रु॒-हः । असा॑नि । अ॒स॒प॒त्नः । स॒प॒त्न॒-हा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (सूर्यः) लोकों का चलाने हारा सूर्य (उत् अगात्) उदय हुआ है और (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्=उत् अगात्) उदय हुआ है (यथा) जिस से कि (अहम्) मैं (शत्रुहः) शत्रुओं का

म० १। रत्नम्। प्रशस्तं समर्थ्यम्। **राष्ट्राय** । म० १। राज्यवर्धनाय। **मह्यम्**। मदर्थम्। **बध्यताम्** । बन्ध बन्धने, कर्मणि लोट्। धार्यताम्। **सपत्नेभ्यः** । शत्रुभ्यः। **पराभुवे** । परा+भू-भावे क्विप्। पराभवनाय ॥

५—**उत्+अगात्** । १। २८। १। उदितवान्। **सूर्यः** । १। ३। ५। लोकानां प्रेरकः। आदित्यः, राज्यलक्ष्मीरूपः। **उत्**=उत् अगात्। **इदम्**। वक्ष्यमाणं वचनम्। **मामकम्** । तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति अस्मद् अण्। तवकममकावेकवचने। पा० ४। ३। ३। इति ममकादेशः। मदीयम्। **वचः** । वच कथने-असुन्। वाक्यम् वचनम्। **यथा** । येन कारणेन। **अहम्** । राजा। **शत्रु-हः** । अशिषि हनः। पा० ३। २। ४९। इति शत्रु+हन हिंसागत्योः-डप्रत्ययः। शत्रूणां हन्ता। **असानि** । अस सत्तायां-लोट्। अहं

मारने वाला, और (सपत्नहा) रिपु दल का नाश करने वाला होकर (असपत्नः) शत्रु रहित (असानि) रहूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा राज सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करे कि जिस प्रकार पृथिवी पर सूर्य प्रकाशित है उसी प्रकार से यह राज घोषणा [ढंढोरा] प्रकाशित की जाती है कि राज्य में कोई उपद्रव न मचावे, और न अराजकता फैलावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋ० १० । १५९ । १ । का पूर्वार्ध है वहां (वचः) के स्थान में (भगः) है ॥

सपत्नक्षयणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः ।
यथाहमेषां वीराणां विराजानि जनस्य च ॥ ६ ॥

सपत्न-क्षयणः । वृषा । अभि-राष्ट्रः । वि-ससहिः ।
यथा । अहम् । एषाम् । वीराणाम् । वि-राजानि । जनस्य । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस से कि (सपत्नक्षयणः) शत्रुओं का नाश करने वाला (वृषा) ऐश्वर्य वाला (विषासहिः) सदा विजय वाला (अहम्) मैं (अभिराष्ट्रः) राज्य पाकर (एषाम्) इन (वीराणाम्) वीर पुरुषों का (च) और (जनस्य) लोकों का (विराजानि) राजा रहूं ॥ ६ ॥

भवानि । असपत्नः । म० २ । शत्रुरहितः । सपत्नहा । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति सपत्न+हन-क्विप् । रिपुहन्ता ॥

६—सपत्न-क्षयणः । म० ४ । शत्रुनाशकः । वृषा । १ । १२ । १ । वृषु ऐश्वर्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् । सुखवर्षकः । इन्द्रः । महाबली । अभि-राष्ट्रः । म० १ । अभिगतराज्यः । प्राप्तराज्यः । वि षासहिः । सहिवहिचलिपतिभ्यो यङन्तेभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-कि । अतोलोपयलोपौ । विविधं पुनः पुनः परेषां सोढा, अभिभविता । एषाम् । उपस्थितानाम् । वीराणाम् । वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच् । विक्रान्तानां, शूराणाम्, भटानाम् । वि-राजानि । राजति=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ईश्वरः

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर राजघोषणा करते हुये शूरवीर योद्धाओं और विद्वान् जनों का सत्कार और मान करके शासन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—४ ॥ विश्वेदेवा देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ के उपदेश ॥

विश्वे देवा वसवो रक्षतेममुतादित्या जागृत यूयमस्मिन् । मेमं सनाभिरुत वान्यनाभिर्मेमं प्रापत् पौरुषेयो वधो यः ॥ १ ॥

विश्वे । देवाः । वसवः । रक्षत । इमम् । उत । आदित्याः । जागृत । यूयम् । अस्मिन् । मा । इमम् । स-नाभिः । उत । वा । अन्य-नाभिः । मा । इमम् । प्र । आपत् । पौरुषेयः । वधः । यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे श्रेष्ठ (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान महात्माओ ! (इमम्) इस पुरुष की (रक्षत) रक्षा करो, (उत) और (आदित्याः) हे सूर्य समान तेज वाले विद्वानो ! (यूयम्) तुम (अस्मिन्) इस राजा के विषय में (जागृत) जागते रहो । (सनाभिः) अपने बन्धु का , (उत वा)

शासिता भवानि । जनस्य । जनी प्रादुर्भावे-अच् । अधीगर्थदयेषां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । लोकस्य, प्राणिजातस्य ॥

१—देवाः । १ । ७ । १ । विजयिनः पुरुषाः । वसवः । १ । ६ । १ । निवासयितारः । प्रशस्ताः श्रेष्ठाः । रक्षत । पालयत । इमम् । माम् राजानम् । आदित्याः । १ । ६ । १ । विद्यादिशुभगुणानां रसस्य आदातारो ग्रहीतारः । अथवा आदित्यवत् तेजस्विनः महाविद्वांसः । जागृत । जागृ निन्द्राक्षये—लोट् । प्रबुद्धा रक्षार्थम् अवहिताः संनद्धा भवत । मा । निषेधे । स-नाभिः ।

अथवा (अन्यनाभिः) अबन्धु का, अथवा (पौरुषेयः) किसी और पुरुष का किया हुआ, (यः) जो (वधः) वध का यत्न है [वह] (इमम्) इस (इमम्) इस पुरुष को (मा मा) कभी न (प्रापत्) पहुंच सके ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुपरीक्षित न्याय, मन्त्री और युद्ध मन्त्री। आदि कर्मचारी शूरवीरों को राज्य की रक्षा के लिये सदा चेतन्य करता रहे कि कोई सजाती वा स्वदेशी वा विदेशी पुरुष प्रजा में अराजकता न फैलावे ॥ ३ ॥

ये वो देवाः पितरो ये च पुत्राः सचेतसो मे शृणुतेद-मुक्तम्। सर्वेभ्यो वः परि ददाम्येतं स्वस्त्येनं जरसे वहाथ ॥ २ ॥

ये । वः । देवाः । पितरः । ये । च । पुत्राः । स-चेतसः । मे । शृणुत । इदम् । उक्तम् । सर्वेभ्यः । वः । परि । ददामि । एतम् । स्वस्ति । एनम् । जरसे । वहाथ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! और (ये) जो (वः) तुम्हारे (पितरः) पितृगण (च) और (ये) जो (पुत्राः) पुत्रगण हैं, वह तुम सब (सचेतसः) सावधान हो कर (मे) मेरे (इदम्) इस (उक्तम्) वचन को

नह्रो भश्च । उ० ४ । १२६ । इति णह बन्धने-कर्मणि इञ् समानस्य सः । समानेन स्वकीयेन संबद्धः । स्वजातिकृतो वधः । अन्य-नाभिः । अन्येन संबद्धः । अज्ञातिकृतो वधः प्र+आपत् । आप्लृ व्याप्तौ—लुङि । प्राप्नोतु । पौरुषेयः । सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ । पा० ५ । १ । १० । इत्यत्र । पुरुषाद् वधविकारसमूह-तेनकृतेषु । वार्तिकम् । इति पुरुष-ढञ् । पुरुषकृतः । वधः । १ । २० । २ । हननम् । हिंसनप्रयोगः ॥

२—पितरः । १ । २ । १ । पालकाः, उत्पादकाः । पुत्राः । १ । ११ । ५ । आत्मजाः । स-चेतसः । समान+चिती ज्ञाने—असुन् । समानस्य छन्दसि० । पा० ६ । ३ । ८४ । इति सभावः । समानचित्ताः, एकमनस्काः । शृणुत । श्रु,

(शृणुत) सुनो। (सर्वेभ्यः वः) तुम सब को मैं (एतम्) इसे [अपने को] (परि ददामि) सौंपता हूं (एनम्) इस पुरुष के लिये [मेरे लिये] (स्वस्ति) कल्याण और मङ्गल (जरसे) स्तुति के अर्थ (वहाथ) तुम पहुंचाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो बुद्धिमान् मनुष्य शास्त्रवित् विजयशील वृद्ध, युवा और ब्रह्मचारियों की सेवा में आत्म समर्पण करता है वह पुरुष उन महात्माओं के सत्संग, उपदेश और सत्कर्मों से लाभ उठाकर संसार में अपनी स्तुति फैलाता है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(जरसे) शब्द का अर्थ "स्तुति के लिये" निघंटु ३। १४। निरु० १०। ८। और सायणभाष्य ऋग्वेद १। २। २। के प्रमाण से किया है। यहां पर सायणभाष्य में "जरायै, जराप्राप्तिपर्यन्तम्। बुढ़ापे के लिये, बुढ़ापे के आने तक" जो अर्थ है वह असंगत है, वेद में जीवन को स्वस्थ और स्तुति-योग्य रखने का उपदेश है। देखो—अथर्ववेद, का० ६ सू० १२० म० ३ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व१ः॒ स्वायाः॑।
अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान्॥

जहां पर पुण्यात्मा मित्र अपने शरीर का रोग छोड़ कर आनन्द भोगते हैं,

---

श्रवणे—लोट्। आकर्णयत। **इदम्**। वक्ष्यमाणम्। **उक्तम्**। वच कथने-क्त। वचिस्वपियजादी०। पा० ६। १। १५। इति संप्रसारणम्। वचनम्। **वः**। युष्मभ्यम्। **परिददामि**। रक्षणार्थं दानं परिदानं समर्पणम्। रक्षितुं प्रयच्छामि, समर्पयामि। **एतम्**। आत्मानम्। **स्वस्ति**। सावसेः। उ० ४। १८१। सु+अस सत्तायां-ति। आशीर्वादम्, क्षेमम्। **एनम्**। माम् प्रति। **जरसे**। जरतेस्तौतीत्यर्चतिकर्माणौ— निघ० ३। १४। जरा स्तुतिर्जरते-स्तुतिकर्मणः। निरु० १०। ८। यथा। वाय उक्थेभिर्जरन्ते त्वामच्छा जरितारः। ऋ० १। २। २। जरन्ते=स्तुवन्ति, जरितारः=स्तोतारः, इति सायणस्तद्भाष्ये। जॄ स्तुतौ, नैरुक्तधातुः। यद्वा। गॄ शब्दे=स्तुतौ-असुन्, गकारस्य जकारः। स्तुत्यर्थम्। प्रशंसाप्राप्त्यर्थम्। **वहाथ**। वह प्रापणे-लेट्। द्विकर्मकः। यूयं प्रापयत ॥

वहाँ पर स्वर्ग में विना लंगड़े हुये और अंगों से विना टेढ़े हुये हम माता पिता और पुत्रों को देखते रहें।

और देखो यजुर्वेद २५ । २१ । तथा ऋग्वेद १ । ८९ । ८ ।

भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवांसस्तनूभिर्व्यशेमहि देवहितं यदायुः॥

हे विद्वान् जनो ! कानों से हम शुभ सुनते रहें, हे पूज्य महात्माओ ! आंखों से हम शुभ देखते रहें। दृढ़ अङ्गों और शरीरों से स्तुति करते हुये हम लोग वह जीवन पावें जो विद्वानों का हितकारक है॥

ये देवा दिवि ष्ठ ये पृथिव्यां ये अन्तरिक्ष ओषधीषु पशुष्वप्स्वन्तः । ते कृणुत जरसमायुरस्मै शतमन्यान् परि वृणक्तु मृत्यून् ॥ ३ ॥

ये । देवाः । दिवि । स्थ । ये । पृथिव्याम् । ये । अन्तरिक्षे । ओषधीषु । पशुषु । अप्-सु । अन्तः । ते । कृणुत । जरसम् आयुः । अस्मै । शतम् । अन्यान् । परि । वृणक्तु । मृत्यून्॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ ! (ये) जो तुम (दिवि) सूर्य लोक में, (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में, (ये) जो (अन्तरिक्षे) आकाश वा मध्यलोक में, (ओषधिषु) ओषधियों में, (पशुषु) सब जीवों में और (अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं वा जल में (अन्तः) भीतर (स्थ) वर्तमान हो। (ते) वह तुम (अस्मै) इस पुरुष के लिये (जरसम्) कीर्तियुक्त

३—देवाः। हे दिव्यगुणाः। दिव्यगुणयुक्ता विद्वांसः। दिवि। दिवु क्रीड़ाविजिगीषाकान्तिगत्यादिषु–क्विप्। प्रकाशे सूर्यसमानलोके। स्थ। अस भुवि लट्। भवथ, वर्तध्वे। पृथिव्याम्। १।२।१। विस्तृतायां प्रख्यातायां वा भूमौ। अन्तरिक्षे। अन्तः सूर्यपृथिव्योर्मध्ये ईक्ष्यते। अन्तर्+ईक्ष दर्शने–कर्मणि

(आयुः) जीवन (कृणुत) करो, [यह पुरुष] (अन्यान्) दूसरे प्रकार के (शतम्) सौ (मृत्यून) मृत्युओं को (परि वृणक्तु) हटावे ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य विद्या, भूमि विद्या, वायुविद्या, ओषधि अर्थात् अन्न, वृक्ष, जड़ी बूटी आदि की विद्या, पशु अर्थात् सब जीवों की पालन विद्या और जल विद्या वा सूक्ष्म तन्मात्राओं की विद्या में निपुण हैं उनके सत्संग और उनके कर्मों के विचार से शिक्षा ग्रहण करके और पदार्थों के गुण, उपकार और सेवन को यथार्थ समझ कर मनुष्य अपना सब जीवन शुभ कर्मों में व्यतीत करें, और दुराचरणों में अपने जन्म को न गमाकर सुफल करें ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(पशु) शब्द जीववाची है, देखो अथर्व० २ । ३४ । १ ।

घञ् । यद्वा । अन्तर्मध्ये ऋक्षाणि नक्षत्राणि यस्य तत् अन्तरिक्षम् । पृषोदरादित्वात् ईकारस्य ह्रस्वः, ऋकारस्य इकारः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षयमिति वा–इति भगवान् यास्कः, निरु० २ । १० । सर्वमध्ये दृश्यमाने । आकाशे । **ओषधीषु** । १ । २३ । १ ओषधि–ङीप् ओषध्यः फल. पाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । इति मनुः, १ । ४६ ॥ इति कदलीव्रीहियवफलधान्यादिषु । **पशुषु** । अर्जिदृशिकम्यमिपसीति० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षणे–कु, पशयादेशः । पश्यन्ति दृश्यन्ते वा ते पशवः । प्राणिमात्रेषु, सर्वजीवेषु । **अप्सु** । १ । ४ । ३ । आप्लृ–क्विप् । व्यापिकासु सूक्ष्मतन्मात्रासु । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजुः । ३७ । २५, २६ । जलेषु वा । **अन्तः** । मध्ये । ते । सर्वे देवा यूयम् । **कृणुत** । कुरुत । **जरसम्** । म० २ । जरस् स्तुतिः । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । स्तुतियुक्तम् । प्रशंसनीयम् । **आयुः** । एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ–उसि । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । जीवनम्, जीवितकालः । **अस्मै** । आत्मने, मह्यम् । **शतम्** । अपरिमितान् । **अन्यान्** । स्तुत्यजीवनाद् भिन्नान् मृत्यून **परि+वृणक्तु** । वृजी वर्जने–लोट् । अयम् उपासकः परिवर्जयतु । **मृत्यून्** । भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ । उ० ३ । २१ । इति मृङ् प्राणत्यागे–त्युक् । प्राणवियोगान्, मरणानि । अत्र पश्यत अ० २ । २८ । १ । तथा ८ । २ । २७ ॥

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्।

जो पशुपति चौपाये और दोपाये पशुओं [अर्थात् जीवों] का राजा है।

(अप्सु) व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में। देखो श्रीमद्दयानन्द भाष्य, यजुर्वेद ३७। २५ और २६॥

येषां प्रयाजा उत वानुयाजा हुतभागा अहुतादश्च देवाः। येषां वः पञ्च प्रदिशो विभक्तास्तान् वो अस्मै सत्रसदः कृणोमि ॥ ४ ॥

येषाम्। प्र-याजाः। उत। वा। अनु-याजाः। हुत-भागाः। अहुत-अदः। च। देवाः। येषाम्। वः। पञ्च। प्र-दिशः। वि-भक्ताः। तान्। वः। अस्मै। सत्र-सदः। कृणोमि॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन [तुम्हारे] (प्रयाजाः) उत्तम पूजनीय कर्म (उत वा) और (अनुयाजाः) अनुकूल पूजनीय कर्म, और (हुतभागाः) देने लेने के विभाग (च) और (अहुतादः) यज्ञ वा दान से बचे पदार्थों के आहार (देवाः) विजय करने हारे [वा प्रकाश वाले] हैं। और (येषाम् वः) जिन तुम्हारे (पञ्च) विस्तीर्ण [वा पांच] (प्रदिशः)उत्तम दान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (विभक्ताः) अनेक प्रकार बटी हुयी हैं (तान् वः) उन तुम को (अस्मै) इस [पुरुष] के हित के लिये [अपने लिये] (सत्रसदः) सभासद् (कृणोमि) बनाता हूं॥ ४ ॥

४—प्र-याजाः। अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। पा० ३।३।१९। इति प्र + यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु - घञ्। प्रयाजानुयाजौ यज्ञाङ्गे। पा०७।३। ६२। इति कुत्वप्रतिषेधो निपात्यते। प्रकृष्टपूजनीयकर्माणि। वा। समुच्चये, पादपूरणे वा। अनु-याजाः। अनु + यज-घञ् पूर्ववत्-अनुकूलानि पूजनीयकर्माणि। हुतभागाः। हु दानादानदनेषु-क्त। भज भागसेवयोः-भावे घञ्। हुतस्य, दत्तस्य, दानस्य गृहीतस्य वा विभागाः। अहुत-अदः। संपदादिभ्यः क्विप् वार्तिकम्, पा० ३। ३। ९४। अहुत + अद भक्षणे-भावे क्विप्। अदानस्य दानशेषस्य

भावार्थ—जो धर्मात्मा विद्वान् पुरुष स्वार्थ छोड़ कर दान करते हों और सब संसार के हित में दत्तचित्त हों, राजा उन महात्माओं को चुन कर अपनी राजसभा का सभासद् बनावे ॥ ४ ॥

यज्ञशेष के भोजन के विषय में भगवान् श्री कृष्ण महाराज ने कहा है। भगवद्गीता अ० ४ श्लोक ३१ ॥

यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्। नायं
लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम ॥ १ ॥

यज्ञ [दान वा देवपूजा] से बचे अमृत का भोजन करने वाले पुरुष सनातन ब्रह्म को पाते हैं। यज्ञ न करने वाले का यह लोक नहीं है, हे कौरवों में श्रेष्ठ! फिर उसका परलोक कहां से हो ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता । १,२ अनुष्टुप् ३, ४ त्रिष्टुप् उपरिष्ठाज ज्योतिः, ११×३+८ = ४१ ॥

पुरुषार्थानन्दोपदेशः—पुरुषार्थ और आनन्द के लिये उपदेश ॥

आशानामाशापालेभ्यश्चतुर्भ्यो अमृतेभ्यः ।
इदं भूतस्याध्यक्षेभ्यो विधेम हविषा वयम् ॥ १ ॥

भोजनानि । धान्यधनादीनि । **देवाः** ।१।७।१ विजयिनः। प्रकाशमयाः। **पञ्च** । सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्तिकारे विस्तारे च कनिन्। विस्तीर्णाः, व्यक्ताः प्रसिद्धाः। संख्यावाची वा। **प्र-दिशः** । प्र + दिश दाने आज्ञापने च-क्विप्। प्रकृष्टा दानक्रियाः। प्राच्याद्याः सर्वा दिशाः **वि-भक्ताः**। वि + भज-क्त। ग्रामविभागाः। **अस्मै** । आत्मने, मदर्थम्। **सत्र-सदः** । गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः। उ० ४ । १६७। इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु त्रप्रत्ययः। सीदन्ति यत्रेति सत्रं सदनं यज्ञः। सभास्थानम्। पुनः। सत्सूद्विषद्रुह०। पा० ३ । २ । ६१ । इति सत्रोपपदे तस्मादेव धातोः-कर्तरि क्विप्। सभासदः, सभ्यान्। **कृणोमि** । कृवि हिंसाकरणयोः-लट्। करोमि ॥

आशानाम् । आशा-पालेभ्यः । चतुः-भ्यः । अमृतेभ्यः । इदम् । भूतस्य । अधि-अक्षेभ्यः । विधेम । हविषा । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) इस समय (वयम्) हम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (आशापालेभ्यः) आशाओं के पालने हारे, (चतुर्भ्यः) प्रार्थना के योग्य [अथवा, चार धर्म अर्थ काम और मोक्ष] (अमृतेभ्यः) अमर रूप वाले, (भूतस्य) संसार के (अध्यक्षेभ्यः) प्रधानों की (हविषा) भक्ति से (विधेम) सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को उत्तम गुण वाले पुरुषों अथवा चतुर्वर्ग, धर्म, अर्थ, काम [ईश्वर में प्रेम] और मोक्ष की प्राप्ति के लिये सदा पूर्ण पुरुषार्थ करना चाहिये। इन के ही पाने से मनुष्य की सब आशायें वा कामनायें पूर्ण होती हैं ॥ १ ॥

य आशानामाशापालाश्चत्वार स्थन देवाः ।
ते नो निर्ऋत्याः पाशेभ्यो मुञ्चतांहसोअंहसः ॥ २ ॥

१—आशानाम् । आङ्+अशू व्याप्तौ-पचाद्यच्, टाप् । दिशानां मध्ये । आशा-पालेभ्यः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति आशा+पल वा पाल, रक्षणे-अण् । दिशानाम् आकांक्षाणां वा पालकेभ्यः । लोकपालेभ्यः । चतुः-भ्यः । चतेरुरन् । उ० ५ । ५८ । इति चत याचने-उरन् । याचनीयेभ्यः,कमनीयेभ्यः । अथवा चतुःसंख्याकेभ्यः, धर्मार्थकाममोक्षेभ्यः । अमृतेभ्यः । मृतं मरणम् । मरणरहितेभ्यः, अमरेभ्यः, महायशस्विभ्यः । इदम् । इदानीम् । भूतस्य । लोकस्य । अधि-अक्षेभ्यः । अध्यक्ष्णोति समन्ताद् व्याप्नोति । अधि+अक्ष व्याप्तौ संहतौ-अच् । व्यापकेभ्यः । अधिपतिभ्यः । विधेम । ।१ १२ । २ । परिचरेम (विधेम) इत्यस्य प्रयोगे बहुधा कर्मणि चतुर्थी दृश्यते, यथा कस्मै देवाय हविषा विधेम । य० १३ । ४ । हविषा । १ । १२ । २ । आत्मदानेन, भक्त्या ॥

ये । आशानाम् । आशा-पालाः । चत्वारः । स्थन । देवाः ।
ते । नः । निः-ऋत्याः । पाशेभ्यः । मुञ्चत । अंहसः-अंहसः ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे प्रकाशमय देवताओ ! (ये) जो तुम (आशानाम्) सब दिशाओं के मध्य (चत्वारः) प्रार्थना के योग्य [अथवा चार] (आशापालाः) आशाओं के रक्षक (स्थन) वर्तमान हो , (ते) वे तुम (नः) हमें (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी वा महामारी के (पाशेभ्यः) फंदों से और (अंहसो-अंहसः) प्रत्येक पाप से (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक सब उत्तम पदार्थों [अथवा चारों पदार्थ , धर्म , अर्थ , काम और मोक्ष] को प्राप्त कर के सब क्लेशों का नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

अस्रामस्त्वा हविषा यजाम्यश्लोणस्त्वा घृतेन जुहोमि । य आशानामाशापालस्तुरीयो देवः स नः सुभूतमेह वक्षत् ॥ ३ ॥

२—आशानाम् । म० १ । दिशानां मध्ये । आशा-पालाः । म० १ । आकांक्षानाम् पालकाः , लोकपालाः । चत्वारः । म० १ । याचनीयाः प्रार्थनीयाः । चतुःसंख्यका धर्मार्थकाममोक्षा वा । स्थन । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस भुवि लोटि मध्यमपुरुषबहुवचने थनादेशः । यूयं स्त भवत । देवाः । हे दिव्यगुणाः पुरुषाः । निःऋत्याः । निः+ऋ हिंसने क्तिन् । नितराम् ऋतिर्घृणा अशुभं वा यस्याः सा निर्ऋतिः, तस्याः । अलक्ष्म्याः । उपद्रवस्य । पाशेभ्यः । पश बाधे, ग्रन्थे-घञ् । बन्धनेभ्यः । मुञ्चत । मुच्लृ मोक्षे । मोचयत । अंहसः-अंहसः । अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१२ । इति अम रोगे, पीडने- असुन् , हुक् आगमः । नित्यवीप्सयोः, पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । सर्वस्माद् दुःखात् , पापात् ॥

अस्रामः । त्वा । हविषा । यजामि । अश्लोणः । त्वा । घृतेन । जुहोमि । यः । आशानाम् । आशा-पालः । तुरीयः । देवः । सः । नः । सु-भूतम् ॥ आ । इह । वक्षत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (अस्रामः) श्रम रहित मैं (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति से (यजामि) पूजता हूं , (अश्लोणः) लंगड़ा न होता हुआ मैं (त्वा) तुझ को (घृतेन) [ज्ञान के] प्रकाश से [अथवा घृत से] (जुहोमि) स्वीकार करता हूं । (यः) जो (आशानाम्) सब दिशाओं में (आशापालः) आशाओं को पालन करने वाला , (तुरीयः) बड़ा वेगवान् परमेश्वर [अथवा, चौथा मोक्ष] (देवः) प्रकाशमय है , (सः) वह (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य (आ+वक्षत्) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालस्य होकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं अथवा जो घृत से अग्नि के समान प्रतापी होते हैं वे शीघ्र ही जगदीश्वर का दर्शन करके [अथवा धर्म , अर्थ , और काम की सिद्धि से पाये हुये चौथे मोक्ष के लाभ से] महासमर्थ होजाते हैं ॥ ३ ॥

३—अस्रामः । श्रमु तपःखेदयोः-घञ् । शस्य सकारः । श्रमरहितः , खेदरहितः । त्वा । त्वाम् , परमेश्वरम् । हविषा । म० १ । भक्त्या । यजामि । पूजयामि । अश्लोणः । श्रोण संघाते=राशीकरणे—अच् । रस्य लः । अश्रोणः, अपङ्गुः । घृतेन । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति घृ भासे—भावे क्त । दीप्तया , स्वज्ञानप्रकाशेन । आज्येन । जुहोमि । १ । १५ । १ । अहम् आददे , स्वीकरोमि । यः । आशापालः । आशानाम् । म० १ । दिशानाम् । आशा-पालः । म० १ । इच्छापालकः । तुरीयः । तुरो वेगः , अस्त्यर्थे छ प्रत्ययः । तुरवान् , वेगवान् परमेश्वरः [अथवा । चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च । वार्तिकम् । पा० ५ । २ । ५१ । इति चतुर—छ , चकारलोपश्चः । चतुर्थः । चतुर्णां पूरको । मोक्षः-इति] सु-भूतम् । सु+भू सत्तायां भावे क्त । सुभूतिम् । सु सुष्ठु प्रभूतं धनम् , आ—समन्तात् । इह । अत्र ।

सायणभाष्य में (अस्रामः) के स्थान में [अश्रामः] और (अश्लोणः) के स्थान में [अश्रोणः] हैं वे अधिक शुद्ध जान पड़ते हैं ॥

स्वस्ति मात्र उत पित्रे नो अस्तु स्वस्ति गोभ्यो जगते पुरुषेभ्यः । विश्वं सुभूतं सुविदत्रं नो अस्तु ज्योगेव दृशेम सूर्यम् ॥ ४ ॥

स्वस्ति । मात्रे । उत । पित्रे । नः । अस्तु । स्वस्ति । गोभ्यः । जगते । पुरुषेभ्यः । विश्वम् । सु-भूतम् । सु-विदत्रम् । नः । अस्तु । ज्योक् । एव । दृशेम । सूर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारी (मात्रे) माता के लिये (उत) और (पित्रे) पिता के लिये (स्वस्ति) आनन्द (अस्तु) होवे, और (गोभ्यः) गौओं के लिये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये और (जगते) जगत् के लिये (स्वस्ति) आनन्द होवे । (विश्वम्) संपूर्ण (सुभूतम्) उत्तम ऐश्वर्य और (सुविदत्रम्)

वक्षत् । वह प्रापणे-लेटि अडागमः, द्विकर्मकः । आवहेत्, प्रापयेत्, आहृत्य दद्यात् ।

४—स्वस्ति । १ । ३० । २ । क्षेमम्, मङ्गलम् । मात्रे । १ । २ । १ माननीयायै जनन्यै । पित्रे । १ । २ । १ । पालकाय, जनकाय । गोभ्यः । १ । २ । ३ । गन्तव्याभ्यः प्रापणीयाभ्यः धेनुभ्यः, गवादिपशुभ्यः । जगते । वर्तमाने पृषद्-बृहन्महज् जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । इति गम्लृ-अति । निपातितश्च । गतिशीलाय ससांराय । पुरुषेभ्यः । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगत्याम्-कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति । पुत्रभृत्यादिमनुष्येभ्यः । विश्वम् । सर्वम् । सु-भूतम् । म० ३ । प्रभूतमैश्वर्यम् । सुविदत्रम् । सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । इति सु+विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे वा-कत्रन् । यास्कस्तु द्वेधा व्युत्पादयामास । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेर्वैकोपसर्गाद् ददातेर्वा स्याद्

उत्तम ज्ञान वा कुल (नः) हमारे लिये (अस्तु) हो, (ज्योक्) बहुत काल तक (सूर्यम्) सूर्य को (एव) ही (दृशेम) हम देखते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि अपने कुटुम्बियों और अन्य माननीय पुरुषों और गौ आदि पशुओं से लेकर सब जीवों और संसार के साथ उपकार करते हैं, वे पुरुषार्थी सब प्रकार का उत्तम धन, उत्तम ज्ञान और उत्तम कुल पाते और वही सूर्य जैसे प्रकाश मान होकर दीर्घ आयु अर्थात् बड़े नाम को भोगते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१—४ ॥ ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविचारोपदेशः—ब्रह्म विचार का उपदेश ॥

इदं जनासो विदथ महद् ब्रह्म वदिष्यति ।
न तत् पृथिव्यां नो दिवि येन प्राणन्ति वीरुधः ॥१॥

इदम् । जनासः । विदथ । महत् । ब्रह्म । वदिष्यति । न । तत् । पृथिव्याम् । नो इति । दिवि । येन । प्राणन्ति । वीरुधः ॥१॥

भाषार्थ—(जनासः) हे मनुष्यो ! (इदम्) इस बात को (विदथ) तुम जानते हो, वह [ब्रह्मज्ञानी] (महत्) पूजनीय (ब्रह्म) परम ब्रह्म का (वदिष्यति) कथन करेगा । (तत्) वह ब्रह्म (न) न तो (पृथिव्याम्) पृथिवी में (नो) और न

इ, यु पसर्गात्-निरु०४।७। तथा । सुविदत्रः कल्याणविद्यः-निरु० ६ । १४ । शोभनं ज्ञानं कुटुम्बं वा । ज्योक् । १।८।३। चिरकालम् । दृशेम । दृशिर प्रेक्षणे-आशीर्लिङ् । वयं पश्येम । सूर्यम् । १ । ३ । ५ । आदित्यम् । भानुप्रकाशम् ॥

१—इदम् । वक्ष्यमाणम् । जनासः । १ । ८ । १ । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक । हे जनाः, विद्वांसः । विदथ । विद ज्ञाने अदादिः- ,लट मध्यमबहुवचनं छन्दसि शः । यूयं वित्थ, जानीथ । महत् ।

(दिवि) सूर्य्य लोक में है (येन) जिस के सहारे से (वीरुधः) यह उगती हुयीं जड़ी बूटी [लता रूप सृष्ट के पदार्थ] (प्राणन्ति) श्वास लेती हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि वह सर्वव्यापी, सर्वशक्तिमान् परब्रह्म भूमि वा 'सूर्य्य' आदि किसी विशेष स्थान में वर्तमान नहीं है तो भी वह अपनी सत्ता मात्र से ओषधि अन्न आदि सब सृष्टि का नियम पूर्वक प्राणदाता है । ब्रह्मज्ञानी लोग उस ब्रह्म का उपदेश करते हैं ॥ १ ॥

केनोपनिषत् में वर्णन है , खंड् १ मन्त्र ३ ।

न तत्र चक्षुर्गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथैतदनुशिष्यादन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि । इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे ॥ १ ॥

न वहां आंख जाती है, न वाणी जाती है, न मन, हम न जानते हैं न पहिचानते हैं कैसे वह इस जगत का अनुशासन करता है । वह जाने हुये से भिन्न है और न जाने हुये से ऊपर है । ऐसा हमने पूर्वजों से सुना है, जिन्हों ने हमें उसकी शिक्षा दी थी ॥

---

१ । १० । ४ । पूजनीयम् ब्रह्म । १। ८ । ४ । परब्रह्म, परमात्मानम्, परमकारणम् । वदिष्यति । वद वाक्ये—लृट् । कथयिष्यति । न । निषेधे । तत् । ब्रह्म । पृथिव्याम् । १ । २ । १ । प्रख्यातायां भूमौ । नो इति । न- उ । नैव । दिवि । १ । ३० । ३ । द्युलोके, सूर्यमण्डले । येन । ब्रह्मणा । प्राणन्ति । प्र+अन जीवने, अदादिः । जीवन्ति, श्वसन्ति । वीरुधः । विशेषेण रुणद्धि वृक्षानन्यान् सा वीरुत् । वि+रुध आवरणे-क्विप्, दीर्घश्च । अथवा । वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप् । न्यङ्क्वादीनां च पा० ७ । ३ । ५३ । इति हस्य धः । विरोहणशीलाः । विस्तृता लतादयः । लतादिवद् विरोहिताः सृष्टिपदार्थाः ॥

और भी केनोपनिषत् का वचन है, ख० १ म० ८ ॥

यत् प्राणे न प्राणिति येन प्राणः प्रणीयते ।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥ २ ॥

जो प्राण द्वारा नहीं श्वास लेता है। जिस करके प्राण चलाया जाता है। उस को ही तू ब्रह्म जान, यह वह नहीं है जिसके पास वे बैठते हैं ॥

अन्तरिक्ष आसां स्थाम श्रान्तसदामिव ।
आस्थानमस्य भूतस्य विदुष्टद् वेधसो न वा ॥२॥

अन्तरिक्षे । आसाम् । स्थाम । श्रान्तसदाम्-इव ।
आ-स्थानम् । अस्य । भूतस्य । विदुः । तत् । वेधसः । न । वा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) सब के भीतर दिखाई देने हारे आकाश रूप परमेश्वर में (आसाम्) इनका [लतारूप सृष्टियों का] (स्थाम) ठहराव है (श्रान्तसदाम् इव) जैसे थक कर बैठे हुये यात्रियों का पड़ाव। (वेधसः) बुद्धिमान लोग (तत्) उस ब्रह्म को (अस्य भूतस्य) इस संसार का (आस्थानम्) आश्रय (विदुः) जानते हैं, (वा) अथवा (न) नहीं [जानते हैं] ॥२॥

भावार्थ—सूर्य आदि असंख्य लोक उसी परमब्रह्म में ठहरे हैं, वही समस्त जगत् का केन्द्र है। इस बात को विद्वान् लोग विधि और निषेध रूप

२—अन्तरिक्षे । १।३०।३। सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे। आसाम् । वीरुधाम्। म० १। विरोहणशीलानां पदार्थानाम्। स्थाम । सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४४। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन्। स्थानं। स्थितिः। श्रान्तसदाम् । श्रमु तपःखेदयोः-भावे क्त+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-क्विप्। श्रमेण मार्गखेदेन स्थितानाम्। आ-स्थानम् । आ+ष्ठा—ल्युट्। स्थानम्। आश्रयम्। अस्य । परिदृश्यमानस्य। भूतस्य । लोकस्य, जगतः। विदुः । विद ज्ञाने—लट्। विदन्ति जानन्ति। तत् । कारणभूतं ब्रह्म। वेधसः । १। ११। १। मेधाविनः, विद्वांसः। न । निषेधे। वा । अथवा ॥

विचार से निश्चित करते हैं. जैसे ब्रह्म जड़ नहीं है किन्तु चैतन्य है, इत्यादि, अथवा जितना अधिक ब्रह्मज्ञान होता जाता है उतना ही वह अनन्त ब्रह्म अगम्य और अति अधिक जान पड़ता है इससे वह ब्रह्मज्ञानी अपने को अज्ञानी समझते हैं ॥ २ ॥

यद् रोद॑सी रेज॑माने॒ भूमि॑श्च नि॒रत॑क्षतम् ।
आ॒र्द्रं तद॒द्य स॑र्व॒दा स॑मु॒द्रस्ये॑व स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

यत् । रोद॑सी (इति॑) । रेज॑माने॒ इति॑ । भूमिः॑ । च । निः-अ॒त॑क्षतम् । आ॒र्द्रम् । तत् । अ॒द्य । स॒र्व॒दा । स॒मु॒द्रस्य॑-इव । स्रो॒त्याः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रोदसी = सि) हे सूर्य (च) और (भूमिः) भूमि । (रेजमाने) कांपते हुये तुम दोनों ने (यत्) जिस [रस] को (निरतक्षम्) उत्पन्न किया है, (तत्) वह (आर्द्रम्) रस (अद्य) आज (सर्वदा) सदा से (समुद्रस्य) सींचनेवाले समुद्र के (स्रोत्याः) प्रवाहों के (इव) समान वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस रस वा उत्पादन शक्ति को, परमेश्वर ने सूर्य और भूमि को (कंपमान) वश में रख के, सृष्टि के आदि में उत्पन्न किया था वह शक्ति

३—**यत्** । आर्द्रम् । **रोदसी** । एकवचनं स्त्री । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रुध आवरणे—असुन् । षिद् गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । द्युलोको भूमिर्वा । सम्बोधने दीर्घश्छान्दसः । हे रोदसि । सूर्यलोक । **रेजमाने** । रेजृ कम्पने-शानच् । भ्यसते रेजत इति भयवेपनयोः—निरु० ३ । २१ । उभे कम्पमाने । **भूमिः** । १ । ११ । २ । भवन्ति पदार्था अस्यामिति । पृथिवी । **निः-अतक्षतम्** । तक्षू तनूकरणे-लङ् । युवामुदपादयतम् । **आर्द्रम्** । अर्देर्दीर्घश्च । उ० २ । १८ । इति अर्द वधे, गतौ-रक्, दीर्घश्च । क्लेदनं रसत्वम् उत्पादनसामर्थ्यम् । **तत्** । प्रसिद्धम् । **अद्य** । १ । १ । १ । वर्तमाने दिने । **समुद्रस्य** । १ । ३ । ८ । समुन्दनशीलस्य सागरस्य, अर्णवस्य । **स्रोत्याः** । पुंलि० । स्रोतसो विभाषा ड्यड्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्-ड्य । डित्वात् टि लोपः । स्रोतसि भवाः, जलप्रवाहाः ॥

मेघ आदि रस रूप से सदा संसार में सृष्टि की उत्पत्ति और स्थिति का कारण है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (रोदसी इति) यह पद पाठ और उसका अर्थ [हे द्यावापृथिव्यौ] हे सूर्य और भूमि अशुद्ध है । यहां (रोदसी) एक वचन और केवल सूर्य वाची है क्योंकि (भूमिः च) [और भूमि] यह पद मन्त्र में वर्तमान हैं । फिर (भूमिः च) का भी अर्थ [भूमि और द्युलोक] उक्त भाष्य में है ॥

विश्वंमन्यामंभीवार तदुन्यस्यामधि श्रितम् ।
दिवे च विश्ववेदसे पृथिव्यै चांकरं नमः ॥ ४ ॥

विश्वम् । अन्याम् । अभि-वार । तत् । अन्यस्याम् । अधि । श्रितम् । दिवे । च । विश्व-वेदसे । पृथिव्यै । च । अकरम् । नमः ॥४॥

भाषार्थ—(विश्वम्) उस सर्व व्यापक [रस] ने (अन्याम्) एक [सूर्य वा भूमि] को (अभि) चारों ओर से (वार=ववार) घेर लिया, (तत्) वही [रस] (अन्यस्याम्) दूसरी में (अधिश्रितम्) आश्रित हुआ । (च) और (दिवे) सूर्य रूप वा आकाश रूप (च) और (पृथिव्यै) पृथिवी रूप (विश्ववेदसे) सब के जानने वाले [वा सब धनों के रखने वाले,वा सब में विद्यमान ब्रह्म]को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैंने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वृष्टि का कारण रस अर्थात् जल, सूर्य की किरणों से आकाश

४—विश्वम् । १ । १० । २ । सर्वं व्याप्तं आर्द्रम् । म० ३ । अन्याम् । एकाम् द्यां भूमिं वा । अभि वार । वृञ् वरणे-लिट् । वकार लोपश्छान्दसः । सर्वतो ववार, आच्छादितं चकार । तत् । आर्द्रम् । अन्यस्याम् । अपरस्यांम् । अधि+श्रितम् । आश्रितम् । दिवे । १ । ३० । ३ । आकाशाय । तद्रूपाय । विश्व-वेदसे । विद्लृ लाभे , वा विद ज्ञाने सत्तायां च-असुन् ॥ सर्वधन-युक्तायै, सर्वाधारभूतायै । पृथिव्यै । १ । २ । १ । विस्तीर्णायै भूम्यै, तद्रूपाय परमेश्वराय । अकरम् । डुकृञ् करणे-लुङ् । अहं कृतवानस्मि ॥

में जाकर फिर पृथिवी में प्रविष्ट होता, वही फिर पृथिवी से आकाश में जाता और पृथिवी पर आता है। इस प्रकार उन दोनों का परस्पर आकर्षण, जगत् को उपकारी होता है। विद्वान् लोग इसी प्रकार जगदीश्वर की अनन्त शक्तियों को विचार कर सत्कार पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

यजुर्वेद म० ३। अ० ५। में इस प्रकार वर्णन है—

भूर्भुवः स्वर्द्यौरिव भूम्ना पृथिवीव वरिम्णा ॥

सब का आधार, सब में व्यापक, सुखस्वरूप परमेश्वर बहुत्व के कारण [सब लोकों के धारण करने से] आकाश के समान और अपने फैलाव से पृथिवी के समान है ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—४ ॥ आपो देवताः । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूक्ष्मतन्मात्राविचारः—सूक्ष्म तन्मात्राओं का विचार ॥

हिरण्यवर्णाः शुचयः पावका यासु जातः सविता यास्वग्निः । या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ १ ॥

हिरण्य-वर्णाः । शुचयः । पावकाः । यासु । जातः । सविता । यासु । अग्निः । याः । अग्निम् । गर्भम् । दधिरे । सु-वर्णाः । ताः । नः । आपः । शम् । स्योनाः । भवन्तु ॥ १ ॥

भावार्थ—[जो] (हिरण्यवर्णाः) व्यापनशील वा कमनीय रूप वाली (शुचयः) निर्मल स्वभाव वाली और (पावकाः) शुद्धि की जताने वाली

१—हिरण्य-वर्णाः । हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ४ । ४४ । इति हर्य गति-कान्त्योः-कन्यन्, हिर् आदेशश्च, नित्वाद् आद्युदात्तः । कृवृजृसिद्रुपन्यनिस्वपि-भ्यो नित् । उ० ३ । १० । इति वृञ् वरणे-न, स च नित् । बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्व-

हैं, (यासु) जिनमें (सविता) चलाने वा उत्पन्न करने हारा सूर्य और (यासु) जिन में (अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (जातः) उत्पन्न हुई। (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली रूप] अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने कामना के और खोजने के योग्य तन्मात्राओं के संयोग वियोग से अग्नि, सूर्य, और बिजुली, इन तीन तेजधारी पदार्थ आदि सब संसार को उत्पन्न किया है, उसी प्रकार मनुष्यों को शुभ गुणों के ग्रहण और दुर्गुणों के त्याग से आपस में उपकारी होना चाहिये ॥ १ ॥

१-(आपः)=व्यापक तन्मात्रायें-श्रीमद् दयानन्द भाष्य,यजुर्वेद २७ । २५ ॥

२-(आपः) के विषय में सूक्त ४, ५ और ६ और सूक्त ४ में मनु महाराज का श्लोक भी देखें ॥

पदम् । पा० ६ । २ । १ । इति पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वेन आद्युदात्तः । कमनीयरूप-युक्ताः, गतिशीलरूपयुक्ताः । प्रकाशस्वरूपाः । **शुचयः** । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति शुचिर् शौचे=शुद्धौ-इन्, स च कित् । शुद्धस्वभावाः । **पावकाः** । पूञ् शोधे-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा०३ । २ । ३ । इति कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा०२ । २ । १६ । इति समासः । टाप् । यद्वा । पूञ् ण्वुल् । टाप् । पावकादीनां छन्दसीति । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वं निषिद्धम् । पावस्य शुद्धव्यवहारस्य शब्दयित्र्यः, ज्ञापयित्र्यः । पावयित्र्यः, शोधयित्र्यः । **यासु** । अप्सु । **जातः** । जनी प्रादुर्भावे-क्त । प्रादुर्भूतः,उत्पन्नः । **सविता** । १ । १८ । २ । सूर्यः । **अग्निः** । १ । ६ । २ । पार्थिवाग्निः । **अग्निम्** । वैद्युताग्निम् । **गर्भम्** । १ । ११ । २ । पदार्थेषु गर्भवत् स्थितम । **दधिरे** । डुधाञ् धारण-पोषणयोः-लिट् । दधुः, स्थापयामासुः । **सु-वर्णाः** । वृञ्-न । शोभनरूपाः । **नः** । अस्मभ्यम् । **आपः** । १ । ५ । १ । व्यापिकास्तन्मात्राः-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, यजु०२७ । २५ ॥ **शम्** । १ । ३ । १ । शुभकारिण्यः । **स्योनाः** । सिंविष्टेयू च । उ० ३ । ६ । इति षिवु तन्तुसन्ताने—न प्रत्ययः । टिभागस्य यू इत्यादेशः । स्योनं सुखनाम, निघ० । ३ । ६ । अर्शआदिभ्योऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इति मत्वर्थे अच् । सुखवत्यः ॥

यासां राजा वरुणो याति मध्ये सत्यानृते अव-पश्यन् जनानाम्। या अग्निं गर्भं दधिरे सुवर्णास्ता न आपः शं स्योना भवन्तु ॥ २ ॥

यासाम्। राजा। वरुणः। याति। मध्ये। सत्यानृते इति सत्य-अनृते। अव-पश्यन्। जनानाम्। याः। अग्निम्। गर्भम्। दधिरे। सु-वर्णाः। ताः। नः। आपः। शम्। स्योनाः। भवन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन तन्मात्राओं के (मध्ये) बीच में (वरुणः) सर्वश्रेष्ठ (राजा) राजा परमेश्वर (जनानाम्) सब जन्मवाले जीवों के (सत्यानृते) सत्य और असत्य को (अवपश्यन्) देखता हुआ (याति) चलता है। (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) बिजुली रूप अग्नि को (गर्भम्) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वे [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करनेहारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—इन तन्मात्राओं का नियन्ता अर्थात् संयोजक और वियोजक (वरुण राजा) परमेश्वर है, वही सब जीवोंके पुण्य पाप को देखकर यथावत् फल देता है। इनके गुणों से उपकार ले कर मनुष्यों को सुख भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—यासाम्। अपाम् तन्मात्राणाम्। राजा। १। १०। १। ईश्वरः। नियन्ता। वरुणः। १। ३। ३। वृणोति सर्वं, व्रियते अन्यैरिति वरुणः। सर्ववरणीयः परमेश्वरः। याति। गच्छति। व्याप्नोति। मध्ये। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति मन ज्ञाने-यक्, नस्य धः। अन्तर्वर्त्तिनि भागे। सत्य-अनृते। सद्भ्यो हितम्। सत्-यत्। सत्यं, यथार्थं, तथ्यम्। न ऋतम्। अनृतम् असत्यम्, मिथ्याकरणम्। सत्यं च असत्यं च उभे कर्मणी। अव-पश्यन्। दृशिर-शतृ। अवलोकयन् विजानन्। जनानाम्। १। ८। १। जन्मवतां लोकानाम्। अन्यद् गतम् म० १ ॥

यासां॑ दे॒वा दि॒वि कृ॒ण्वन्ति॑ भ॒क्षं या अ॒न्तरि॑क्षे ब॒हु॒धा भव॑न्ति । या अ॒ग्निं गर्भं॑ दधि॒रे सु॒वर्णा॒स्ता न॒ आपः॒ शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ३ ॥

यासा॑म् । दे॒वाः । दि॒वि । कृ॒ण्वन्ति॑ । भ॒क्षम् । याः । अ॒न्तरि॑क्षे । ब॒हु॒-धा । भव॑न्ति । याः । अ॒ग्निम् । गर्भ॑म् । द॒धि॒रे । सु॒ वर्णाः । ताः । नः॒ । आपः॑ । शम् । स्यो॒नाः । भ॒व॒न्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) सब प्रकाशमय पदार्थ (दिवि) व्यवहार के योग्य आकाश में (यासाम्) जिनका (भक्षम्) भोजन (कृण्वन्ति) करते हैं और (याः) जो [तन्मात्रायें] (अन्तरिक्षे) सब के मध्यवर्ती आकर्षण में (बहुधा) अनेक रूपों से (भवन्ति) वर्त्तमान हैं । और (याः) जिन (सुवर्णाः) सुन्दर रूप वाली (आपः) तन्मात्राओं ने (अग्निम्) [बिजुली]रूप अग्नि को (गर्भम) गर्भ के समान (दधिरे) धारण किया था, (ताः) वो [तिन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—अपरिमित तन्मात्रायें ईश्वर कृत परस्पर आकर्षण से संसार के (देवाः) सूर्य, अग्नि, वायु आदि सब पदार्थों के धारण और पोषण का कारण हैं । (देवाः) विद्वान् लोग इन के सूक्ष्म विचार से संसार में अनेक उपकार करके सुख पाते हैं ॥ ३ ॥

३—यासाम् । अपाम् । देवाः । १ । ७ । १ । व्यावहारिकपदार्थाः । प्रकाशमयाः किरणाः । दिवि । १ । ३० । ३ । व्यवहारयोग्ये आकाशे । जगति । कृण्वन्ति । कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्वन्ति । भक्षम् । भक्ष अदने-कर्मणि घञ् । भक्ष्यम्, अन्नम्, पोषणम् । याः । आपः । अन्तरिक्षे । १।३०।३ मध्ये दृश्यमाने आकर्षणसामर्थ्ये । बहु-धा । विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ । २० । इति बहु + धा । बहुप्रकारेण, अविप्रकृष्टकाले । भवन्ति । वर्तन्ते । अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

शिवेन॑ मा॒ चक्षु॑षा पश्यतापः शि॒वया॑ त॒न्वोप॑ स्पृशत॒ त्वच॑ मे। घृ॒त॒श्चुत॑: शुच॑यो॒ या: पा॑व॒कास्ता न॑ आ॒प॒: शं स्यो॒ना भ॑वन्तु ॥ ४ ॥

शि॒वेन॑ । मा॒ । चक्षु॑षा । प॒श्य॒त॒ । आ॒प॒: । शि॒वया॑ । त॒न्वा॑ । उप॑ । स्पृ॒श॒त॒ । त्वच॑म् । मे॒ । घृ॒त॒-श्चुत॑: । शुच॑य: । या: । पा॒व॒का: । ता: । न॒: । आप॑: । शम् । स्यो॒ना: । भ॒व॒न्तु॒ ॥४॥

भाषार्थ—(आपः) हे तन्मात्राओ ! (शिवेन) सुखप्रद (चक्षुषा) नेत्र से (मा) मुझ को (पश्यत) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा) रूपसे (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशत) तुम स्पर्श करो। (याः) जो (आपः) तन्मात्रायें (घृतश्चुतः) अमृत बरसाने वाली, (शुचयः) निर्मल स्वभाव और (पावकाः) शुद्धि जताने वाली हैं, (ताः) वह [तन्मात्रायें] (नः) हमारे लिये (शम्) शुभ करने हारी और (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें ॥ ४ ॥

४—शिवेन । सर्वनिघृष्वरिष्व० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने यद्वा, शो तनूकरणे-वन् । शेरते विद्यन्ते शुभगुणा यत्र, या श्यति अशुभानीति । सुखकरेण । मा । माम् । चक्षुषा । चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११६ । इति चक्ष कथने दर्शने च-उसि । स च शित् । शित्वात् ख्याञादेशाभावः । लोचनेन, नयनेन, । पश्यत । अवलोकयत । आपः । म० १ । हे सूक्ष्मतन्मात्राः । शिवया । कल्याण्या, इष्टप्राप्तिहेतुभूतया । तन्वा । १ । १ । १ । रूपेण । उप+स्पृशत । संस्पृशत । त्वचम् । १ । २४ । २ । शरीरम् । घृत-श्चुतः । घृ दीप्तौ सेके च-क्त । घृतं सारः,अमृतम् । श्चुतिर् क्षरणे क्विप् । अमृतस्त्राविण्यः अन्यद् व्याख्यातम् म० १ ॥

भावार्थ—(आपः) तन्मात्रायें मुझे नेत्र से देखें, अर्थात् पूर्ण ज्ञान हमें प्राप्त हो और उस से हमारे शरीर और आत्मा स्वस्थ रहें। अथवा, (आपः) शब्द से तन्मात्राओं के ज्ञाता और वशयिता परमेश्वर वा विद्वान् पुरुष का ग्रहण है। जो मनुष्य सृष्टि के विज्ञान से शरीर का स्वास्थ्य और आत्मा की उन्नति करके उपकारी होते हैं उन के लिये परमेश्वर की कृपा से सदा अमृत अर्थात् स्थिर सुख बरसता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ वीरुद् (लता) देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

इ॒यं वी॒रुन्मधु॑जाता मधु॑ना त्वा खनामसि ।
मधो॒रधि॒ प्रजा॑तासि॒ सा नो॒ मधु॑मतस्कृधि ॥ १ ॥

इ॒यम् । वी॒रुत् । मधु॑-जाता । मधु॑ना । त्वा॒ । ख॒ना॒म॒सि॒ । मधोः॑ । अधि॑ । प्र-जा॑ता । अ॒सि॒ । सा । नः॒ । मधु॑-मतः । कृ॒धि॒ ॥१॥

भावार्थ—(इयम्) यह तू (वीरुत्) बढ़ती हुई [विद्या] (मधुजाता) ज्ञान से उत्पन्न हुई है, (मधुना) ज्ञान के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं। (मधोः अधि) विद्या से (प्रजाता असि) तू जन्मी है (सा)

१—इयम् । पुरोवर्तिनी त्वम् । **वीरुत्** । १ । ३२ । १ । विरोहणशीला विस्तृता लतारूपा विद्या । **मधु-जाता** । १ । ४ । १ । मन ज्ञाने-उ, धश्चान्तादेशः । जनी-क्त । मधुनो ज्ञानात् क्षौद्रात् वा यथा उत्पन्ना । **मधुना** । १ । ४ । १ । ज्ञानेन, क्षौद्ररसेन यथा वा । **त्वा** । त्वाम् वीरुधम् । **खनामसि** । खनु अवदारणे-लट्, मस इत्वम् । खनामः, अवदारयामः अन्वेषणेन प्राप्नुमः । **मधोः** । पुंलिंगे । वसन्तर्तुसकाशात् । स्त्रियाम् । विद्यायाः सकाशात् । **अधि** । पञ्चम्यर्थानुवादी । **प्र-जाता** । प्रादुर्भूता । **असि** । वर्त्तसे । **सा** । सा त्वम् । **नः** । अस्मान् । **मधु-मतः** । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् ।

सो तू (नः) हमको (मधुमतः) उत्तम विद्या वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द [मन जानना-उ, न=ध] का अर्थ ज्ञान है । धात्वर्थ के अनुसार यह आशय है कि शिक्षा के ग्रहण, अभ्यास, अन्वेषण और परीक्षण से मनुष्य को उत्तम सुखदायक विद्या मिलती है ॥ १ ॥

दूसरा अर्थ ॥

(इयम् वीरुत्) यह तू फैलती हुई बेल (मधुजाता) मधु (शहद्) से उत्पन्न हुई है (मधुना) मधु के साथ (त्वा) तुझ को (खनामसि) हम खोदते हैं । (मधोः अधि) वसन्त ऋतु से (प्रजाता असि) तू जन्मी है , (सा) सो तू (नः) हमको (मधुमतः) मधु रस वाले (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मधु शब्द उसी धातु [मन जानना] से सिद्ध होकर [शहद्] के रस का वाचक है । इस अर्थ में विद्या को मधुलता अर्थात् शहद् की बेल वा प्रेमलता माना है । (मधु) शहद् वसन्त ऋतु में अनेक पुष्पों के रस से मधुमक्षिकाओं द्वारा मिलता है , इसी प्रकार (मधुना) प्रेम-रस के साथ (खोदने) अर्थात् अन्वेषण और परीक्षण से विद्वान् लोग अनेक विद्वानों से विद्यारूप मधु को पाकर (मधु) आनन्द रस का भोग करते हैं ॥ १ ॥

जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम् ।
ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि ॥ २ ॥

जिह्वायाः । अग्रे । मधु । मे । जिह्वा-मूले । मधूलकम् । मम । इत् । अह । क्रतौ । असः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरी (जिह्वायाः) रस जीतने वाली, जिह्वा के (अग्रे) सिरे पर (मधु) ज्ञान [वा मधु का रस] होवे और (जिह्वामूले) जिह्वा की

पा० ५ । २ । ९४ । इति प्रशंसायां मतुप् । प्रशस्तज्ञानयुक्तान्, क्षौद्ररसोपेतान् वा यथा । कृधि । कुरु ॥

२—जिह्वायाः । १ । १० । ३ । जयति रसमनया । रसनायाः । अग्रे ।

मूल में (मधूलकम्) ज्ञान का लाभ [वा मधु का स्वादु] होवे । (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (इत्) ही (अह) अवश्य (असः) तू रह, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुंच करती है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या को रटन, मनन, और परीक्षण से प्रेम पूर्वक प्राप्त करते हैं, तब विद्या उन के हृदय में घर करके सुख का बरदान देती है ॥२॥

मधु॑मन्मे नि॒क्रम॑णं॒ मधु॑मन्मे प॒राय॑णम् ।
वा॒चा व॑दामि॒ मधु॑मद् भूया॒सं॑ मधु॑सं॒दृशः ॥ ३ ॥

मधु॑-मत् । मे॒ । नि॒-क्रम॑णम् । मधु॑-मत् । मे॒ । प॒रा-अय॑नम् ।
वा॒चा । व॒दा॒मि॒ । मधु॑-मत् । भू॒या॒स॒म् । मधु॑-सं॒दृशः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (निक्रमणम्) पास आना (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ, और (मे) मेरा (परायणम्) बाहिर जाना (मधुमत्)

ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इति अगि गतौ-रन् । उपरिभागे । मधु । म० १ । ज्ञानं क्षौद्ररसो वा । जिह्वा-मूले । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ०४ । १०८ । इति मूङ् बन्धे-क्ल । मवते बध्नाति वृक्षादिकं मूलम्, जिह्वाया रसनाया मूलभागे । मधूलकम् । मधु+उर गतौ-क, रस्य लत्वम्, स्वार्थे कन् । यद्वा मधु+लक स्वादे, प्राप्तौ च-अच्, दीर्घत्वम् । मधुनो ज्ञानस्य प्राप्तिः । मधुनः क्षौद्रस्य स्वादः । मम । मदीये । इत् । एव । अह । अवश्यम् । क्रतौ । कृञः कतुः । उ० १ । ७६ । इति कृञ्-कतु । क्रतुः, कर्म-निघ० २ । १ । प्रज्ञा-निघ० ३ । ९ । कर्मणि बुद्धौ वा । असः । १ । १६ । ४ ॥ त्वं भूयाः । चित्तम् । चिती ज्ञाने-क्त । अन्तः करणम् । उप-आयसि । उप+आङ्+अयङ् गतौ-लट् । उपागच्छसि, आदरेण सर्वतः प्राप्नोषि ॥

३—मधु-मत् । म० १ । अतिविज्ञानयुक्तम् । मधुरसोपेतम् । नि-क्रमणम् । नि+क्रमु गतौ-ल्युट् । निकटगमनम्, आगमनम् । परा-अयनम् ।

बहुत ज्ञान वाला वा रस में भरा हुआ होवे । (वाचा) वाणी से मैं (मधुमत्) बहुत ज्ञान वाला वा रसयुक्त (वदामि) बोलूं और मैं (मधुसन्दृशः) ज्ञान रूप वाला वा मधुर रूप वाला (भूयासम्) रहूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य घर, सभा, राजद्वार, देश, परदेश आदि में आने, जाने, निरीक्षण, परीक्षण, अभ्यास आदि समस्त चेष्टाओं और वाणी से बोलने अर्थात् शुभ गुणों के ग्रहण और उपदेश करने में (मधुमान्) ज्ञान वान् वा रस से भरे अर्थात् प्रेम में मग्न होते हैं, वही महात्मा (मधुसन्दृश) रसीले रूप वाले अर्थात् संसार भर में शुभ कर्मी होकर उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

मधो॑रस्मि॒ मधु॑तरो म॒दुघा॒न्मधु॑मत्तरः ।
मामित् किल॒ त्वं वना॒: शाखां॒ मधु॑मतीमिव ॥ ४ ॥

मधो॑ः । अ॒स्मि॒ । मधु॑-तरः । म॒दुघा॑त् । मधु॑मत्-तरः ।
माम् । इत् । किल॑ । त्वम् । वना॑ः । शाखा॑म् । मधु॑मतीम्-इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मधोः) मधुर रस से मैं (मधुतरः) अधिक मधुर (अस्मि) होऊं, (मदुघात्) लड्डू [वा मुलहटी ओषधि] से भी (मधुमत्तरः) अधिक मधुर रस वाला होऊं । (त्वम्) तू (माम् इत्) मुझ से ही (किल) निश्चय

परा+अय गतौ–ल्युट् । दूरगमनम् प्रस्थानम् । वाचा । १ । १ । १ । वाण्या । वदामि । वद वाचि–लिङर्थे लट् । कथ्यासम् उच्यासम् । भूयासम् । भू सत्तायाम्–आशिषि लिङ् । अहं स्याम् । मधु-सन्दृशः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति मधु+सम्+दृशिर् प्रेक्षणे=चाक्षुषज्ञाने–क । ज्ञानरसरूपः, मधुरदर्शनः ॥

४—मधोः । म० १ । मधुररसात्, क्षौद्ररसात् । अस्मि । अहं भवानि । मधु–तरः । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति मधु+तरप् । अधिकमाधुर्योपेतः । मदुघात् । मोदकात् । मुद हर्षे–एवुल् । छान्दसं रूपम् मिष्टखाद्यविशेषात् । यद्वा [मधुकात्] मधु+कै–क । मधु मधुरं कायति

करके (वनाः) प्रेमकर, (इव) जैसे (मधुमतीम्) मधुर रसवाली (शाखाम्) शाखा से [अनुराग करते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्या का रस सांसारिक स्वादिष्ठ मिष्टान्न आदि रोचक पदार्थों से बहुत ही रसीला अर्थात् अधिक लाभदायक और उपकारी होता है। जैसे जैसे ब्रह्मचारी यत्न पूर्वक विद्या की लालसा करता है वैसे ही वैसे विद्या देवी भी उस से अनुराग करती है ॥ ४ ॥

मनु महाराज ने कहा है-अ० ४ श्लोक २० ॥

यथा यथा हि पुरुषः शास्त्रं समधिगच्छति ।
तथा तथा विजानाति विज्ञानं चास्य रोचते ॥१॥

जैसे जैसे ही पुरुष शास्त्र को पढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे वह अधिक विद्वान् होता जाता है, और विज्ञान में उसकी रुचि होती है ॥

परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे ।
यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ ५ ॥

परि । त्वा । परि-तत्नुना । इक्षुणा । अगाम् । अवि-द्विषे । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥५॥

शब्दयति विज्ञापयतीति मधुकम् । यष्टिमधुकायाः, ओषधिविशेषात् । सायण-भाष्ये तु (मदुघात्)=मधुदुघात्, मधु+दुह प्रपूरणे-कप्, घत्वं च, मधु-शब्दे धुलोपश्छान्दसः, मधुस्राविणः पदार्थविशेषात्-इति वर्तते। मधुमत्-तरः। मधु+मतुप्+तरप् पूर्ववत् । पा०५ । ३ । ५७ । अधिकतरमधुमान्, उपकारि-तरः । माम् । विद्यार्थिनं ब्रह्मचारिणम् । किल । प्रसिद्धौ, निश्चयेन । त्वम् । विद्ये । वनाः । वन संभक्तौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इति आडागमः । त्वं संभजेः, सेवस्व, कामयेथाः । शाखाम् । शाख व्याप्तौ-अच्, टाप् । वृक्षाङ्गविशेषम् । मधुमतीम् । म० १ । मधु+मतुप्—ङीप् । मधुररसयुक्ताम् ॥

भाषार्थ—(परितत्नुना) बहुत फैली हुई (इक्षुणा) लालसा के साथ [अथवा, ऊख जैसी मधुरता के साथ] (अविद्विषे) वैर छोड़ने के लिये (त्वा) तुझ को (परि) सब ओर से (अगाम्) मैंने पाया है। (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुड़ने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी पूर्ण अभिलाषा से विद्या के लिये प्रयत्न करता है तो कठिन से कठिन भी विद्या उस को अवश्य मिलती और अभीष्ट आनन्द देती है ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा २ । ३० । १ और ६ । ८ । १—३ में भी है ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—४ ॥ हिरण्यं देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सुवर्णादिधनलाभोपदेशः—सुवर्ण आदि धन प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

यदाबध्नन् दाक्षायणा हिरण्यं शतानीकाय सुमनस्यमानाः । तत् ते बध्नाम्यायुषे वर्चसे बलाय दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ १ ॥

५—परि । सर्वतो भावेन । त्वा । त्वाम् मधुलतां विद्याम् । परि-तत्नुना । दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति बाहुलकात् । तनु विस्तारे-नु प्रत्ययः । सर्वत्रव्याप्तेन । इक्षुणा । इषेः क्सुः । उ० ३ । १५७ । इति इष इच्छायाम्-क्सु । अभिलाषेण, यद्वा । गुडतृणेन प्रेमरूपेण । अगाम् । इण गतौ-लुङ् । प्राप्तवानस्मि । अवि-द्विषे । न+वि+द्विष वैरे-भावे क्विप् । वैर-त्यागार्थम् । यथा । येन प्रकारेण । माम् । ब्रह्मचारिणम् । कामिनी । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति काम-इनि । ङीप् । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति द्वितीया । माम् कामयमाना । असः । १।१६। ४ । त्वम् भवेः, भूयाः । मत् । मत्तः । न । निषेधे । अप-गाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति अप+गाङ् गतौ-विच् । अपयानशीला, प्रस्थानशीला, वियोगिनी ॥

यत् । आ-अबंध्नन् । दाक्षायणाः (= दक्ष-अयनाः) । हिरण्यम् । शत-अनीकाय । सु-मनस्यमानाः । तत् । ते । बध्नामि । आयुषे । वर्चसे । बलाय । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस (हिरण्यम्) कामनायोग्य विज्ञान वा सुवर्णादि को (दाक्षायणाः) बल की गति रखने वाले, परम उत्साही (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तकों ने (शतानीकाय) सौ सेनाओं के लिये (अबन्धन्) बांधा है। (तत) उस को (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) यश के लिये, (बलाय) बल के लिये और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये (ते) तेरे (बध्नामि) मैं बांधता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार कामना योग्य उत्तम विज्ञान और धन आदि से

१—यत् । हिरण्यम् । आ । समन्तात् । अबध्नन् । बन्ध बन्धने-लङ् । अधारयन्, अस्थापयन् । दाक्षायणाः । दक्ष-अयनाः । दक्ष वृद्धौ-अच् । दक्षते प्रवृद्धये समर्थो भवतीति । दक्षः, बलम् । निघ० २ । ९ । अय गतौ-ल्युट् । अयनं गतिः । पूर्वपददीर्घत्वं छान्दसम् । दक्षस्य बलस्य अयनं गतिर्येषां ते दाक्षायणाः । परमोत्साहिनः शूरवीरा विद्वांसो वा । हिरण्यम् । १ । ९ । २ । कमनीयं विज्ञानं । सुवर्णादिकं धनम् । शत-अनीकाय । दिक्संख्ये संज्ञायाम् । पा०२।१। ५० । इति तत्पुरुषः । शतसेनाप्राप्तये । सु-मनस्यमानाः । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति मनस्-क्यङ्, विकल्पत्वादत्र सकारभावः, ततो लटः शानच् । शोभनं मनः कुर्वन्ते सुमनस्यन्ते सुमनायन्ते वा ते सुमनस्यमानाः, शोभनं ध्यायन्तः शुभचिन्तकाः सज्जनाः । बध्नामि । बन्ध बन्धने-क्र्यादि । धारयामि । आयुषे । १ । ३० । ३ । ईयते प्राप्यते यत्तद् आयुः । आयाय, लाभाय । वर्चसे । १ । ९ । ४ । तेजसे, यशसे । बलाय । १ । १ । १ । पराक्रमाय । दीर्घायु-त्वाय । दॄ विदारणे-घञ् । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति इण् गतौ-उण्-आयुः । भावे त्वप्रत्ययः । लम्बमानजीवनाय, चिरकालजीवनाय । शत-शारदाय । सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण् । पा० ४ । ३ । १६ । इति शरद्-अण् । शरदृतोः संबन्धी कालः संवत्सरः । शतसंवत्सरयुक्ताय ॥

दूरदर्शी, शुभचिन्तक, शूर वीर विद्वान् लोग बहुत सेना लेकर रक्षा करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य विज्ञान और धन की प्राप्ति से संसार में कीर्त्ति और सामर्थ्य बढ़ावें और अपना जीवन सुफल करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है । अ० ३४ म० ५२ ॥

नैनं रक्षांसि न पिशाचाः सहन्ते देवानामोजः प्रथमजं ह्ये३तत् । यो बिभर्त्ति दाक्षायणं हिरण्यं स जीवेषु कृणुते दीर्घमायुः ॥ २ ॥

न । एनम् । रक्षांसि । न । पिशाचाः । सहन्ते । देवानाम् । ओजः ॥ प्रथम-जम् । हि । एतत् । यः । बिभर्त्ति । दाक्षायणम् (= दक्ष-अयनम्) । हिरण्यम् । सः । जीवेषु । कृणुते । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (रक्षांसि) हिंसा करनेहारे राक्षस और (न) न (पिशाचाः) मांसाहारी पिशाच (एनम्) इस पुरुष को (सहन्ते) दबा सकते हैं, (हि) क्योंकि (एतत्) यह [विज्ञान वा सुवर्ण] (देवानाम्) विद्वानों का (प्रथमजम्) प्रथमउत्पन्न (ओजः) सामर्थ्य है । (यः) जो पुरुष (दाक्षायणम्)

२—न । निषेधे । एनम् । हिरण्यधारिणं पुरुषम् । रक्षांसि । १।२१। ३ । राक्षसाः, नष्टबुद्धयः स्वार्थिनः । पिशाचाः । १ । १६ । ३ । मांसभक्षिणः पिशिताशिनो महादुःखदायिनः । सहन्ते । अभिभवन्ति, बाधन्ते । देवानाम् । विदुषाम् । ओजः । १ । १२ । १ । पराक्रमः । प्रथम-जम् । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ—अमच्+जनी—ड । प्रथमतो मातापितृगुरुकारिता-भ्यासत उत्पन्नम् । हि । खलु, यस्मात् कारणात् । एतत् । हिरण्यम् । यः । पुरुषः । बिभर्त्ति । भृञ् भरणधारणपोषणेषु—जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः । दधाति । दाक्षायणम् । म० १ । बलस्य गतियुक्तम् , परमोत्साहवर्धकम् ।

वल की गति वढ़ाने वाले (हिरण्यम्) कमनीय तेजः स्वरूप विज्ञान वा सुवर्ण को (विभर्त्ति) धारण करता है. (सः) वह (जीवेषु) सब जीवों में (आयुः) अपनी आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणुते) करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष (प्रथमजम्) प्रथम अवस्था में गुणी माता, पिता और आचार्य से ब्रह्मचर्य सेवन करके शिक्षा पाते हैं, वह उत्साही जन सब विघ्नों को हटा कर दुष्ट हिंसकों के फंदे में नहीं फंसते हैं, और वही सत्कर्मी पुरुष विज्ञान और सुवर्ण आदि धन को प्राप्त करके संसार में यश पाते हैं, इसी का नाम दीर्घ आयु करना है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है, अ० ३४ म० ५१ ॥

अपां तेजो ज्योतिरोजो बलं च वनस्पतीनामुत वीर्याणि। इन्द्र इवेन्द्रियाण्यधि धारयामो अस्मिन् तद् दक्षमाणो बिभरद्धिरण्यम् ॥ ३ ॥

अपाम् । तेजः । ज्योतिः । ओजः । बलम् । च । वनस्पतीनाम् । उत । वीर्याणि । इन्द्रेऽइव । इन्द्रियाणि । अधि । धारयामः । अस्मिन् । तत् । दक्षमाणः । बिभरत् । हिरण्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अपाम्) प्राणों वा प्रजाओं के (तेजः) तेज, (ज्योतिः) कान्ति, (ओजः) पराक्रम (च) और (बलम्) बल को (उत) और भी

हिरण्यम् । म० १ । कमनीयं विज्ञानं सुवर्णादिकं वा । जीवेषु । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणने-क । प्राणिषु । कृणुते । कृञ् हिंसाकरणयोः, स्वादिः । करोति । दीर्घम् । म० १ । दॄ विदारणे-घञ् । लम्बमानम् । आयुः । म० १ । इण्-उसि । जीवनम् ॥

३—अपाम् । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-क्विप् । आप्नुवन्ति शरीरमिति आपः । प्राणानाम् । आप्तानां प्रजानां वा । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये । आपः =प्राणा जलानि वा । यजुः ४ । ७ । पुनः । आप्ताः प्रजाः ।

(वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के रक्षक विद्वानों की (वीर्याणि) शक्तियों को (अस्मिन् अधि) इस [पुरुष] में (धारयामः) हम धारण करते हैं, (इव) जैसे (इन्द्रे) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष में (इन्द्रियाणि) इन्द्र के चिन्ह, [बड़े बड़े ऐश्वर्य] होते हैं। [इस लिये] (दक्षमाणः) वृद्धि करता हुआ यह पुरुष (तत्) उस (हिरण्यम्) कमनीय विज्ञान वा सुवर्ण आदि को (बिभ्रत्) धारण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के सत्संग से महा प्रतापी, विक्रमी, तेजस्वी, गुणी पुरुष वृद्धि करके विज्ञान और धन संचय करे और सामर्थ्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

समानां मासामृतुभिष्ट्वा वयं संवत्सरस्य पयसा पिपर्मि । इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेऽनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

समानाम् । मासाम् । ऋतु-भिः । त्वा । वयम् । सम्-वत्सरस्य । पयसा । पिपर्मि । इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ ४ ॥

य० ६ । २७ । **तेजः** । तिज निशाने-असुन् । दीप्तिः, कान्तिः । रेतः, सारः । **ज्योतिः** । १ । ९ । १ । प्रकाशः, कान्तिः । **ओजः** । म० २ । पराक्रमः । **बलम्** । म०१ सामर्थ्यम् । शौर्य्यम् । **वनस्पतीनाम्** । १ । १२ । ३ । वन+पतिः, सुट् च । वृक्षाणाम् । अथवा । सेवनीयगुणपालकानां सज्जनानां पालकानाम् । यथा श्रीमद्दयानन्दभाष्ये यजु० २७ । २१ । वनस्पते=वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक । **वीर्याणि** । १ । ७ । ५ । सामर्थ्यानि । रेतांसि । **इन्द्रे** । १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवति पुरुषे । **इन्द्रियाणि** । इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा । पा० ५ । २ । ९३ । इन्द्रस्य लिङ्गानि चिन्हानि । परमैश्वर्याणि, धनादीनि । **अधि** । उपरि । **धारयामः** । स्थापयामः । **अस्मिन्** । पुरुषे । **तत्** । तस्मात् कारणात् । **दक्षमाणः** । दक्ष वृद्धौ-शानच् । वर्धमानः पुरुषः । **बिभरत्** । डुभृञ् धारणपोषणयोः-लेट् । धारयेत्, बिभर्तु । **हिरण्यम्** । म० १ । कमनीयं धनम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (त्वा) तुझ को [आत्मा को] (समानाम्) अनुकूल (मास्नाम्) महीनों की (ऋतुभिः) ऋतुओं से और (संवत्सरस्य) वर्ष के (पयसा) दुग्ध वा रस से (पिपर्मि=पिपर्मः) पूर्ण करते हैं। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [वायु और अग्नि के समान गुण वाले] (ते) वह (विश्वे देवाः) सब दिव्य गुण युक्त पुरुष (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) [हम पर] अनुकूल रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महीनों, ऋतुओं और वर्षों का अनुकूल विभाग करते हैं, वह वर्ष भर की उपज, अन्न, दूध, फल पुष्प आदि से पुष्ट रहते हैं,

---

४—समानाम् । षम वैक्लव्ये-पचाद्यच् । अविषमानाम् । पूर्णानाम् । साधूनाम्, अनुकूलानाम् । मासाम् । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति माङ् माने-असुन् । मासानाम् । ऋतु-भिः । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ—तु, स च कित् । वसन्तादिकालविशेषैः । त्वा । त्वाम् पुरुषम् । सम्-वत्सरस्य । संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+वस निवासे—सरन्, सस्य तकारः। संवसन्ति ऋतवो यत्र । वर्षस्य, द्वादशमासात्मकस्य कालस्य । पयसा । पय गतौ वा पीङ् पाने—असुन् । दुग्धेन सारेण वा, धान्यफलादिना, इत्यर्थः । पिपर्मि । पॄ पालनपूरणयोः, जुहोत्यादिः । एकवचनं बहुवचने । वयं पिपर्मः पालयामः, पूरयामः । इन्द्राग्नी । वाय्वग्नी । यथा श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, य०२१ । २०। इन्द्राग्नी = इन्द्रश्चाग्निश्च तौ वाय्वाग्नी । तद्वद् गुणवन्तः । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणाः पुरुषाः । अनु-मन्यन्ताम् । अनु+मन बोधे-लोट् । अनुजानन्तु, स्वीकुर्वन्तु, अनुकूलं कुर्वन्तु । अहृणीय-मानाः । कण्ड्वादिभ्यो यक् । पा०३ । १ । २७ । इति हृणीङ् रोषणे लज्जायां वैमनस्ये च-यक् । ङित्वाद् आत्मनेपदम् । ततः शानच् । हृणीयते = क्रुध्यति, निघ० २ । १२ । अक्रुध्यन्तः, असङ्कुचन्तः ॥

*

और वायु के समान वेग वाले, और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वान् महात्मा उस पुरुषार्थी मनुष्य के सदा शुभचिन्तक होते हैं ॥ ४ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति प्रथमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीसयाजीरावगायकवाडा-
धिष्ठितबडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डितक्षेमकरणदासत्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये प्रथमं काण्डं
समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षाबन्धनतिथौ १९६९ तमे
विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-
श्रीराजराजेश्वर जार्जपञ्चम-
महोदयस्य सुसाम्राज्ये
सुसमाप्तिमगात् ॥

इति
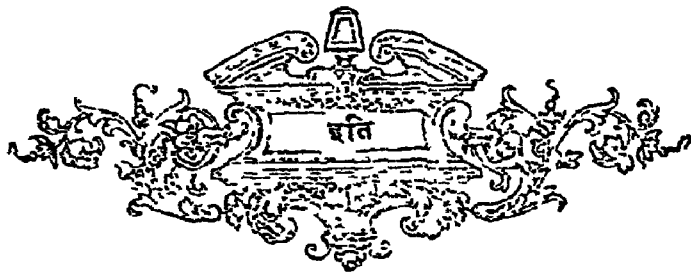
हमारे अन्य वैदिक ग्रन्थ ।

४-हवनमंत्राः—अर्थात् चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण और हवन मन्त्र, विधि आदि, सरल भाषानुवाद, टिप्पणी, शब्द संग्रह आदि सहित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ५६ मूल्य ।)॥

— संक्षिप्त समालोचनायें —

सद्धर्म प्रचारक, गुरुकुल काँगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १६६८...आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग ता० २८ अप्रेल १६१२...इस में ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मंत्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं ।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेद प्रकाश, मेरठ, मई १६१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय, खुशीराम जी गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ।... आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी. पी. द्वारा भेज देवें

५—रुद्राध्याय—सुप्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में शिक्षा, शब्दसाधन आदि सहित । बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

६—तथा—मूलमात्र, बढ़िया रायल अठपेजी पृ० १४ मूल्य)॥

क्षेमकरणदास त्रिवेदी

५२ लूकरगंज, प्रयाग

ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२।१

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सारे दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

द्वितीयं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद–भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरण–निरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बडोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितम् प्रकाशितञ्च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to everyone who sees, to
Sudra and to Āryan man.
Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1.

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ, १००० पुस्तकानि । } संवत् १९७० वि० । सन् १९१२ ई० । { मूल्यम् १।-)

पता-पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

अथर्ववेदभाष्य–सम्मतियां ।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १६१३ ।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्य्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त । आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १६१३ ।

...श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं,...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका, देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक२ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है । ...

श्रीयुत महात्मा **मुंशीराम जी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६०६ ।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है ।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६०६ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ॥

(टैटिल पेज पृष्ठ २ देखिये)

ओ३म्।

आनन्द समाचार।

[आप देखिये और अपने मित्रो को भी दिखाइये।]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिन की महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होनेके कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे। ईश्वर के अनुग्रह से इस समय तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उन के मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, जो लोगों को बहुत खटक रहा था। बड़ा हर्ष है कि इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से भाष्य बनाने में परिश्रम कर रहे हैं।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी० पी० द्वारा, वा नगद मूल्य पर दिये जाते हैं। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महाराजे, सेठ साहूकार, और विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य को मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति से कीर्त्तिमान् होवें।

भाष्य की छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है, और क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भापार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

	मूल्य	स्थायी ग्राहकों से
काण्ड १—छप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२,	१।)	१)
काण्ड २—छप गया, पृष्ठ २१२	१।=)	१=)
काण्ड ३—शीघ्र प्रकाशित होगा।		

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेवगान-सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य।) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८, मूल्य।=)

२५ अगस्त १९२१।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,
५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।

१—सूक्त विवरण, काण्ड २ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	वेनस्तत् पश्यत्	ब्रह्म	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२	दिव्यो गन्धर्वो	गन्धर्व अप्सरा	ईश्वर सर्व-शक्तिमान्	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
३	अदो यदवधावत्य-	भेषज	रोग निवृत्ति	अनुष्टुप्
४	दीर्घायुत्वाय बृहते	जङ्गिड	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
५	इन्द्र जुषस्व प्र वहा	इन्द्र	उन्नति प्रयत्न	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
६	समास्त्वा ऋतवो	अग्नि	राजनीति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
७	अघद्विष्टा	ईश्वर	राजधर्म	अनुष्टुप्
८	उदगातां भगवती	ब्रह्म	पौरुष	अनुष्टुप्
९	दशवृक्ष मुञ्चेमं	ईश्वर	आत्मोन्नति	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१०	क्षेत्रियात् त्वा	ब्रह्म	मुक्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्, जगती
११	दूष्या दूषिरसि	पुरुष	पुरुषार्थ	गायत्री
१२	द्यावापृथिवी उर्व	विश्वे देवाः	सर्वरक्षा	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	आयुर्दा अग्ने जरसं	ब्रह्मचारी	समावर्त्तनवस्त्र	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१४	निः सालां धृष्णुं	अलक्ष्मी	निर्धनता का नाश	अनुष्टुप्
१५	यथा द्यौश्च पृथिवी	प्राण	धर्म का पालन	गायत्री
१६	प्राणापानौ मृत्योर्मा	आत्मा	आत्मरक्षा	पङ्क्ति, गायत्री आदि
१७	ओजोऽस्योजो मे	ईश्वर	आयु वृद्धि	त्रिष्टुप्, उष्णिक्
१८	भ्रातृव्यक्षयणमसि	ईश्वर	शत्रु से रक्षा	साम्नी बृहती
१९	अग्ने यत्ते तपस्तेन	अग्नि	कुप्रयोगत्याग	त्रिष्टुप्, जगती
२०	वायो यत्ते तपस्तेन	वायु	,, ,,	,, ,,
२१	सूर्य यत्ते तपस्तेन	सूर्य	,, ,,	,, ,,
२२	चन्द्र यत्ते तपस्तेन	चन्द्र	,, ,,	,, ,,
२३	आपो यद् वस्तपस्तेन	आपः (जल)	,, ,,	,, ,,
२४	शेरभक शेरभ	ईश्वर	कुसंस्कारादि त्याग	त्रिष्टुप् आदि
२५	शं नो देवी पृश्नि-	पृश्निपर्णी	शत्रुओं का नाश	अनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
२६	एह यन्तु पशवो	त्वष्टा सविताचा	मेल करना	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
२७	नेच्छत्रुः प्राशं जयाति	ओषधि, इन्द्र	बुद्धि से विवाद	अनुष्टुप्
२८	तुभ्यमेव जरिमन्	अग्नि	आयु बढ़ाना	त्रिष्टुप्
२९	पार्थिवस्य रसे देवा	बृहस्पति, इन्द्र	उन्नति करना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३०	यथेदंभूम्या अधि	अश्विनौ	गृहस्थाश्रम प्रवेश	पङ्क्ति, त्रिष्टुप्
३१	इन्द्रस्य या मही दृषत्	इन्द्र	दोष नाश	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
३२	उद्यन्नादित्यः क्रिमीन्	आदित्य	तथा	गायत्री, अनुष्टुप्
३३	अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां	आत्मा	शरीररक्षा	अनुष्टुप् पङ्क्ति
३४	य ईशे पशुपतिः पशूनां	पशुपति	बन्ध से मुक्ति	त्रिष्टुप्
३५	ये भक्षयन्तो न वसू-	विश्वकर्मा	पाप त्याग	त्रिष्टुप्
३६	आ नो अग्ने सुमतिं	अग्नि	विवाहसंस्कार	त्रिष्टुप्, आदि

२-अथर्ववेद, काण्ड २ के मन्त्र अन्य वेदों में संपूर्ण वा कुछ भेद से ॥

संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड २) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१-२	वेनस्तत् पश्यत्-इत्यादि	१।१—२	—	३२।८-९	
३	स नः पिता जनिता	१।३	१०।८२।३	१७।२७	
४	परि विश्वा भुवनान्या	१।५	—	३२।१०	
५-७	इन्द्र जुषस्वप्र वह-इत्यादि	५।१-३	—	—	उ० ३।१।२२
८-१०	इन्द्रस्य नु प्रवोचं-इत्यादि	५।५-७	१।३२।१-३	—	
११-१३	समास्त्वाग्न-इत्यादि	६।१-३	—	२७।१-३	
१४-१५	क्षत्रेणाग्ने स्वेन-इत्यादि	६।४-५	—	२७।५-६	
१६	अतीव यो मरुतो	१२।६	६।५२।२	—	
१७-१९	ओजोऽस्योजो-इत्यादि	१७।१-७	—	१९।९	
२०-२६	अक्षीभ्यां ते-इत्यादि	३३।१-७	१०।१६३।१-६	—	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

द्वितीयं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १ ।

मन्त्राः १—५ । ब्रह्म देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म के मिलने का उपदेश ।

वे॒नस्तत् प॑श्यत् पर॒मं गुहा॒ यद् यत्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑रूपम् ।
इ॒दं पृश्नि॑रदुह॒ज्जाय॑मानाः स्व॒र्विदो॑ अ॒भ्य॑नूषत॒ व्राः ॥१॥

वे॒नः । तत् । प॒श्य॒त् । प॒र॒मम् । गुहा॑ । यत् । यत्र॑ । विश्व॑म् । भव॑ति । एक॑-रूपम् । इ॒दम् । पृश्नि॑ः । अ॒दु॒ह॒त् । जाय॑मानाः । स्वः॒-विद॑ः । अ॒भि । अ॒नू॒ष॒त॒ । व्राः ॥ १ ॥

सान्वयभाषार्थ—(वेनः) बुद्धिमान् पुरुष (तत्) उस (परमम्) अति श्रेष्ठ परब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्) जो ब्रह्म (गुहा=गुहायाम्) गुफा के भीतर [वर्त्तमान है], और (यत्र) जिसमें (विश्वम्) सब जगत्

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—वेनः । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति अज गतिक्षेपणयोः—नप्रत्ययः, वीभावः । यद्वा, वेनति कान्ति–

(एकरूपम्) एक रूप [निरन्तर व्याप्त] (भवति) वर्त्तमान है। (इदम्) इस परम ऐश्वर्य के कारण [ब्रह्मज्ञान] को (पृश्निः) [ईश्वर से] स्पर्श रखने वाले मनुष्य ने (जायमानाः) उत्पन्न होती हुयी अनेक रचनाओं से (अदुहत्) दुहा है, और (स्वर्विदः) सुखस्वरूप वा आदित्यवर्ण ब्रह्म के जानने वाले (व्राः) वरणीय विद्वानों ने [उस ब्रह्म की] (अभि) विविध प्रकार से (अनूषत) स्तुति की है ॥ १ ॥

भावार्थ—वह परम ब्रह्म सूक्ष्म तो ऐसा है कि वह (गुहा) हृदय आदि प्रत्येक सूक्ष्म स्थान का अन्तर्यामी है, और स्थूल भी ऐसा है कि संपूर्ण ब्रह्मांड उसके भीतर समा रहा है। धीर ध्यानी महात्मा उस जगदीश्वर की अनन्त रचनाओं से विज्ञान और उपकार प्राप्त करके मुक्त कण्ठ से आत्मसमर्पण करते हुये उसकी स्तुति करते और ब्रह्मानन्द में मग्न रहते हैं ॥ १ ॥

देखिये—यजुर्वेद अध्याय ३२ मन्त्र ८।

वे॒नस्तत् प॑श्य॒न्निहि॑तं॒ गुहा॒ सद्य॒त्र॒ विश्वं॒ भव॒त्येक॑नी-डम्। तस्मि॑न्नि॒दꣳ सं च॒ वि चै॑ति॒ सर्वꣳ॒ स ओत॒ः प्रोत॑श्च वि॒भूः प्र॒जासु॑ ॥ १ ॥

(वेनः) पण्डित जन (तत्) उस (गुहा) बुद्धि वा गुप्त कारण में (निहितम्) वर्त्तमान (सत्) नित्यस्वरूप ब्रह्म को (पश्यत्=०—ति) देखता है, (यत्र) जिस ब्रह्म में (विश्वम्) सब जगत् (एकनीडम्) एक आश्रय वाला (भवति) होता है। (च) और (तस्मिन्) उसमें (इदम्) यह (सर्वम्) सब जगत् (सम्)

कर्मा-निघ० २।६। ततः । पुंसि सञ्ज्ञायां घः प्रायेण पा० ३।३।११८। इति घ प्रत्ययः। वेनो वेनतेः कान्तिकर्मणः-इति यास्कः, निरु० १०।३८। गतिमान्। दीप्यमानः। मेधावी-निघ० ३।१५। **पश्यत्** । इकारलोपः । पश्यति, साक्षात्करोति। **परमम्** । अ० १।१३।३। पर+मा माने-क । उत्कृष्टम्। **गुहा**। अ० १।८।४। गुहायाम्। गुप्तस्थाने। **यत्र**। यस्मिन् सर्वाधिष्ठाने ब्रह्मणि। **विश्वम्** । अ० १। १।१। सर्वं जगत्। **एकरूपम्**। इण् भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन्। उ० ३।४३। इति इण् गतौ-कन्' एति प्राप्नोतीत्येकम्। रूयते कीर्त्यते तद्रूपम्। अ० १।१।१। सर्वथा, निरन्तरं व्याप्तम्। **इदम्**। इन्देः कमिन्नलोपश्च। उ० ४।१५७। इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन्। नकारलोपः।

मिलकर (च) और (वि) अलग अलग होकर (एति) चेष्टा करता है, (सः) वह (विभूः) सर्वव्यापक परमात्मा (प्रजासु) प्रजाओं में [वस्त्र में सूत के समान] (ओतः) ताना किये हुये (च) और (प्रोतः) बाना किये हुये है ॥

प्र तद् वोचेदमृतस्य विद्वान् गन्धर्वो धाम परमं गुहा यत्। त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्तानि वेद स पितुष्पितासत् ॥ २ ॥

प्र । तत् । वोचे॒त् । अमृतस्य । विद्वान् । गन्धर्वः । धाम । परमम् । गुहा । यत् । त्रीणि । पदानि । नि-हिता । गुहा । अस्य । यः । तानि । वेद । सः । पितुः । पिता । असत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) विद्वान् (गन्धर्वः) विद्या का धारण करने वाला

इन्दति परमैश्वर्यहेतुर्भवतीति इदम्। प्रत्यक्षज्ञानम्। पृश्निः। घृणिपृश्निपार्ष्णि०। उ० ४। ५२। इति स्पृश स्पर्शे-निप्रत्ययः, सलोपः। स्पृशति, योगेन ब्रह्म प्राप्नोतीति पृश्निः। समाधिस्थयोगी पुरुषः। पृश्निरादित्यो भवति प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो भासेति वा—निरु० २। १४। इति यास्कवचनाद् योगैश्वर्येण सूर्यवत् प्रकाशमानः पुरुषः। अदुहत्। दुह प्रपूरणे-लुङ्, छान्दसो अङ्। आकृष्टवान्, प्राप्तवान्। द्विकर्मकत्वात् (इदम्) इति (जायमानाः) इति शब्दस्य च कर्मकत्वम्। जायमानाः। जनी जनने, प्रादुर्भावे-शानच्। उत्पद्यमानाः प्रजाः। स्वर्विदः। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३। २। ७५। इति स्वृ शब्दोपतापयोः—विच्। यद्वा सु+ऋ गतौ, ईर गतौ वा—विच्। स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा—निरु० २। १४। ततो विद ज्ञाने-क्विप्। स्वः शब्दाभिधेयं सुखस्वरूपम् आदित्यवर्णं वा परब्रह्म विदन्ति जानन्तीति स्वर्विदः परब्रह्मज्ञातारः। अभि। आभिमुख्येन, सर्वतः। अनूषत। णू स्तवने-लुङ्, छान्दसम् आत्मनेपदम्। स्तुतवन्तः। व्राः। गेहे कः। पा० ३। १। १४४। इति वृञ् वरणे-बाहुलकात् कः, यणादेशः, जस्। स्वशोभनगुणैर्व्रियमाणाः संभज्यमानाः स्वीक्रियमाणाः पुरुषाः। यद्वा। ब्रह्मणो वरितारो अन्वेष्टारः ॥

२—वोचेत्। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि आशीर्लिङि वच्यादेशे। लिङ्याशिष्यङ्।

पुरुष (अमृतस्य) अविनाशी ब्रह्म के (तत्) उस (परमम्) सब से ऊंचे (धाम) पद का (प्र वोचत्) उपदेश करे (यत्) जो पद (गुहा = गुहायाम्) गुफा [प्रत्येक अगम्य पदार्थ हृदय आदि] के भीतर है। (अस्य) इस [ब्रह्म] की (गुहा) गुफा [अगम्य शक्ति] में (त्रीणि) तीनों (पदानि) पद (निहिता = ०-तानि) ठहरे हुये हैं, (यः) जो [विद्वान् पुरुष] (तानि) उनको (वेद) जान लेता है, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता (असत्) हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् महात्मा पुरुष उस परब्रह्म की महिमा का सदा उपदेश करते रहते हैं। वह ब्रह्म सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् है। उसके ही वश में तीन पद, अर्थात् संसार की सृष्टि, स्थिति और नाश यह तीनों अव-

---

पा० ३। १। ८६। इति अङ् प्रत्ययः। वच उम्। पा० ७। ४। २०। इति उम् आगमः। उच्यात्। उपदिशेत्। व्यवहिताश्च। पा० १। ४। ८२। इति (प्र) उपसर्गस्य क्रियया संबन्धः। **अमृतस्य**। नञिमृङ्भ्यां किच्च। उ० ३। ८८। इति अ+मृङ् प्राणत्यागे-तन्, स च कित्। मरणरहितस्य। अविनाशिनः परब्रह्मणः। **विद्वान्**। वेत्तीति। विद ज्ञाने-शतृ। विदेः शतुर्वसुः। पा० ७। १। ३६। इति शतुर्वसुरादेशः। आत्मवित्। प्राज्ञः। पण्डितः। **गन्धर्वः**। गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः। कॄगॄशॄदॄभ्यो वः। उ० १। १५५। इति गो+ धृञ् धारणे-व प्रत्ययः, पृषोदरादिना गोशब्दस्य गमादेशः। वेदवाणीधारकः। वेदवेत्ता। स्वर्गगायकः। सूर्यः। घोटकः। **धाम**। अ० १। १३। ३। स्थानम्। प्रभावम्। **त्रीणि**। तरतेड्रिः। उ० ५। ६६। सृष्टिस्थितिप्रलयादिरूपाणि। **पदानि**। पद्यन्ते गम्यन्ते प्राणिभिः। पद गतौ-अच्। कर्माणि। वस्तूनि। **निहिता**। दधातेर्हिः। पा० ७। ४। ४२। इति नि+डुधाञ् धारणपोषणयोः-क्त। हिरादेशः। शेश्छन्दसि बहुलम्। पा० ६। १। ७०। इति शिलोपः। निहितानि। स्थापितानि, स्थितानि। **वेद**। विद ज्ञाने। विदो लटो वा। पा० ३। ४। ८३। इति तिपो णल् आदेशः। वेत्ति। जानाति। साक्षात्करोति। **पितुः पिता**। नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृ०। उ० २। ९५। इति पा रक्षणे-तृच्। निपातनात् साधुः। ज्ञानप्रदानेन स्वरक्षकस्यापि रक्षकः। महाविद्वान्। **असत्**। अस सत्तायां- लेट्, अडागमः। भूयात् ॥

स्थायें, अथवा भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान्, तीनों काल, अथवा सत्त्व, रज और तम, तीनों गुण वर्त्तमान हैं। जिस महापुरुष योगी को इन अवस्थाओं का विज्ञान व्यष्टि और समष्टि रूप से होता है; वह पिता का पिता अर्थात् महाविज्ञानियों में महाविज्ञानी होता है॥ २॥

१—यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२। म० ६।

२—मनु महाराज ने कहा है—अ० २। १५३।

अज्ञो भवति वै बालः पिता भवति मन्त्रदः।
अज्ञं हि बालमित्याहुः पितेत्येव तु मन्त्रदम् ॥१॥

अज्ञानी ही बालक होता है, वेदोपदेष्टा पिता होता है। [मुनि लोग] अज्ञानी को ही बालक, और वेदोपदेष्टा को ही पिता कहते हैं॥ १॥

स नः पिता जनिता स उत बन्धुर्धामानि वेद भुवनानि विश्वा। यो देवानां नामध एक एव तं संप्रश्नं भुवना यन्ति सर्वा ॥ ३ ॥

सः। नः। पिता। जनिता। सः। उत। बन्धुः। धामानि। वेद। भुवनानि। विश्वा। यः। देवानाम्। नामधः। एकः। एव। तम्। सम्-प्रश्नम्। भुवना। यन्ति। सर्वा ॥३॥

भाषार्थ—(सः) वही [ईश्वर] (नः) हमारा (पिता) पालक और (जनिता) जनक, (उत) और (सः) वही (बन्धुः) बान्धव है, वह (विश्वा = विश्वानि) सब (धामानि) पदों [अवस्थाओं] और (भुवनानि) लोकों को (वेद) जानता है। (यः)

३—पिता। म० २ पालयिता। जनिता। जनी जनने-णिचि तृच्। जनिता मन्त्रे। पा० ६। ४। ५३। इति तृचि णिलोपो निपात्यते। जनयिता। उत्पादकः। बन्धुः। शृस्वृस्निहि०। उ० १। १०। इति बन्ध बन्धने उप्रत्ययः, स च नित्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १६१। इति नित्वाद् आद्युदात्तः, प्रेम्णा बध्नातीति। बान्धवः। धामानि। म० २। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति-निरु० ६। २८ जन्मस्थाननामानि। वेद। म० १। वेत्ति।

जो [परमेश्वर] (एकः) अकेला (एव) ही (देवानाम्) दिव्य गुण वाले पदार्थों का (नामधः) नाम रखने वाला है, (सम्प्रश्नम्) यथाविधि पूछने योग्य (तम) उस को (सर्वा=सर्वाणि) सब (भुवना=०—नानि) प्राणी (यन्ति) प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार का माता, पिता, वन्धु और सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है, वही पिता के समान सृष्टि के पदार्थों का नामकरण संस्कार करता है, जैसे, सूर्य, पृथिवी, मनुष्य, गौ, घोड़ा आदि। विद्वान् लोग सत्संग करके उस जगदीश्वर को पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

(नामधः) के स्थान पर सायणभाष्य, ऋग्वेद और यजुर्वेद में [नामधाः] है।

३—यह मन्त्र ऋ० १० । ८२ । ३ । तथा य० । १७ । २७ । में कुछ भेद से है।

परि द्यावापृथिवी सद्य आयमुपातिष्ठे प्रथमजामृतस्य ।
वाचमिव वक्तरि भुवनेष्ठा धास्युरेष नन्वे३ षो अग्निः ॥४॥

परि । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । आयम् । उप । आ-तिष्ठे । प्रथम-जाम् । ऋतस्य । वाचम्-इव । वक्तरि । भुवने-स्थाः । धास्युः । एषः । ननु । एषः । अग्निः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सद्यः) अभी (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक में (परि=परीत्य) घूमता हुआ (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं (ऋतस्य) सत्य

भुवनानि । भूसूधूभ्रस्जिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू सत्तायाम्—क्युन् । सर्वपदार्थाधिकरणानि । लोकान् । **देवानाम्** । दिवु पचाद्यच् पृथिव्यादिदिव्य-पदार्थानाम् । **नामधः** । नाम+धाञ् धारणे—क । नामकरणकर्ता, नामधारकः । **एकः** । इण् गतौ-कन् । अद्वितीयः । असहायः । **सम्प्रश्नम्** । सम्यक् पृच्छन्ति यस्मिँस्तम् । परमात्मानम् । यथाविधि प्रश्नीयम् । अन्वेषणीयम् । **भुवना** । भुवनानि । लोकाः । **यन्ति** । इण् गतौ-लट् । गच्छन्ति, प्राप्नुवन्ति । लभन्ते ॥

४—**द्यावापृथिवी** । दिवो द्यावा । पा० ६ । ३ । २९ । इति दिव् शब्दस्य द्यावा इत्यादेशो । देवताद्वन्द्वे । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्ण-दीर्घः । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । २ । १४१ । इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम् । द्यौश्च

नियम के (प्रथमजाम्) पहिले से उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (उप+आ-तिष्ठे) मैं प्राप्त होता हूं, (इव) जैसे [श्रोता गण] (वक्तरि) वक्ता में [वर्त्तमान] (वाचम्) वाणी को [प्राप्त होते हैं]। (भुवनेष्ठाः) सम्पूर्ण जगत् में स्थित (एषः) यह परमेश्वर (धास्युः) पोषण करने वाला, और (ननु) अवश्य करके (एषः) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश उपकारी वा व्यापक परमात्मा] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—तत्त्ववेत्ता पुरुष सूर्य और पृथिवी आदि प्रत्येक कार्यरूप पदार्थ के आकर्षण, धारणादि का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा को साक्षात् करता है, जैसे श्रोता लोग वक्ता के बोलने पर उसकी वाणी के अभिप्राय को अपने आत्मा में ग्रहण करते हैं। वही ईश्वर वेद रूप सत्य नियम को सृष्टि के पहिले प्रकट करता, और सब जगत् का धारण और पोषण करता रहता है, जैसे सूर्य का ताप अन्न आदि को परिपक्व करके, और जाठर अग्नि भोजन को पचा कर, और उससे रुधिर आदि को उत्पन्न करके शरीर को पुष्ट करता है ॥ ४ ॥

पातंजल योगदर्शन में वर्णन है—पाद ३ सूत्र २५।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ॥

सूर्य में संयम से लोकों का ज्ञान [योगी को] होता है। अर्थात् वह सूर्य को केन्द्र मान कर सूर्य से लोकों का सम्बन्ध, और परमेश्वर से सूर्य का सम्बन्ध अपनी विद्या द्वारा जान लेता है ॥

पृथिवी च द्यावापृथिव्यौ। सूर्यभूमी। तदुपलक्षितं कृत्स्नं जगत्। **सद्यः**। सद्यः परुत्परार्यैषमः०। पा० ५। ३। २२। इति समान-द्यस् प्रत्ययो दिनार्थे, समानस्य सभावः। समानेऽहनि। सपदि। तत्क्षणे। तत्त्वज्ञानसमकालमेव। **आयम्**। इण् गतौ-लङ् उत्तमैकवचने गुणायादेशयोः अडागमः। अहं प्राप्तवानस्मि। **उपातिष्ठे**। उप+आ-तिष्ठे। उपेत्य स्थितोऽस्मि। नमस्करोमि। **प्रथमजाम्**। जन सन खन क्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति जनी प्रादुर्भावजननयोः-विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। इति आत्वम्। प्रथमं जनयतीति प्रथमजाः। सृष्टेः पूर्वं जनयितारम्, उत्पादकम्। **ऋतस्य**। ऋ गतौ-क्त। सत्यस्य। यथार्थज्ञानस्य। वेदविज्ञानस्य। **वाचम्**। क्विप् वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घो ऽसंप्रसारणं च। उ० २। ५७। इति वच कथने-क्विप्। दीर्घोऽसम्प्रसारणं च। वाणीम्। वाक्यम्। **वक्तरि**। वच कथने तृच्। उपदेशके। प्रयोक्तरि वर्तमानां वाचं श्रोतारो यथा प्रयोगसमकाले

परि विश्वा भुवनान्यायमृतस्य तन्तुं विततं दृशे कम् ।
यत्र देवा अमृतमानशानाः समाने योनावध्यैरयन्त ॥ ५ ॥

परि । विश्वा । भुवनानि । आ । अयम् । ऋतस्य । तन्तुम् । वि-ततम् । दृशे । कम् । यत्र । देवाः । अमृतम् । आनशानाः । समाने । योनौ । अधि । ऐरयन्त ॥ ५

भाषार्थ—(विश्वा = विश्वानि) सब (भुवनानि) लोकों में (परि = परीत्य) घूम कर (ऋतस्य) सत्य नियम के (विततम्) सब ओर फैले हुये (तन्तुम) फैलने वाले [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] (कम्) प्रजापति परमेश्वर को (दृशे) देखने के लिये (आयम्) मैं [प्राणी] आया हूं । (यत्र) जिस [परमात्मा] में (देवाः) तेजस्वी महात्मा (अमृतम्) अमृत [अमरण अर्थात् जीवन की सफलता वा अनश्वर आनन्द] को (आनशानाः) भोगते हुये (समाने) साधारण (योनौ) आदि कारण ब्रह्म में [प्रवृष्ट होकर] (अधि) ऊपर (ऐरयन्त) पहुंचे हैं ॥ ५ ॥

जानन्ति । भुवनेष्ठाः । भू सू धू भ्रस्जिभ्यश्छन्दसि । उ० २ । ८० । इति भू-क्युन् । भवन्त्यस्मिन् भूतानीति भुवनं जगत् । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति भुवन + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति सप्तम्या अलुक् । सर्वलोके परिपूर्णः परमात्मा । धास्युः । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-असुन । छन्दसि । परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति धास् क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । धाः धारणं पोषणं जगत इच्छतीति धास्युः सर्वपोषणेच्छुः । अग्निः । अ० १ । ६ । २ । सर्वव्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः । अग्निवत् पोषकः ॥

५—तन्तुम् । सितनिगमिमसि० । उ० १ । ६९ । इति तनु विस्तारे-तुन् । तनोति विस्तृणोति तन्यते विस्तीर्यते वा स तन्तुः । विस्तारकम् । विस्तीर्णं सूत्रम् । पटस्य सूत्रवत् जगतः कारणभूतम् । विततम् । वि + तनु विस्तारे-क्त । विस्तृतम् । व्याप्तम् । दृशे । दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर् प्रेक्षणे-तुमर्थे के प्रत्ययः । द्रष्टुम् । कम् । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ ।

भावार्थ—ध्यानी धीर वीर पुरुष सामान्यतः समष्टि रूप से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की परीक्षा करके सब स्थान में व्यापक जगदीश्वर को साक्षात् करके आनन्द भोगते हैं, और यह अनुभव करते हैं, कि सब महात्मा अपने को उस परम पिता में लय करके आत्मा की परम उन्नति करते हैं, अर्थात् जो स्वार्थ छोड़ कर आत्म समर्पण करते हैं वही परोपकारी सज्जन परम आनन्द की सिद्धि [मुक्ति] को सदा हस्तगत करते हैं ॥ ५ ॥

यजुर्वेद अ० ३२ म० १० इस प्रकार है।

स नो॒ बन्धु॑र्ज॒नि॒ता स वि॑धा॒ता धामा॑नि वेद॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑। यत्र॑ दे॒वा अ॒मृत॑मानशा॒नास्तृ॒तीये॒ धाम॑न्न॒ध्यैर॑यन्त ॥ १ ॥

वही हमारा बन्धु और उत्पन्न करने हारा है, और वही पोषण करने हारा परमेश्वर सब (धामानि) अवस्थाओं और (भुवनानि) लोकों को जानता है जिस तीसरे लोक परब्रह्म [प्राणियों और सब भुवनों के स्वामी] में तेजस्वी जन अमृत को भोगते हुये ऊपर पहुंचे हैं ॥

इति कमेः क्रमेर्वा–ड प्रत्ययः। क्रमते रेफलोपः। कः कमनो क्रमणो वा सुखो वा– निरु० १०। २२। प्रजापतिम्। विष्णुम्। ब्रह्म। सूर्यं, सूर्यवत् प्रकाशकम्। सुखस्वरूपम्। यत्र। यस्मिन् के परब्रह्मणि। **देवाः**। दिव्यगुणवन्तो महात्मानः। अमृतम्। म० २। अमरणम्। जीवनसाफल्यम्। मोक्षम्। **आनशानाः**। लिटः कानज्वा। पा० ३। २। १०६। इति अशू व्याप्तौ—कानच्। अश्नोतेश्च। पा० ७। ४। ७५। नुडागमः। चितः। पा० ६। १। १६३। इति अन्तोदात्तः। अश्नुवानाः। प्राप्नुवन्तः। **समाने**। सम्यक् अनिति नीयते वा। सम्+अन जीवने–घञ्, यद्वा, सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे–अच्। एकस्मिन्नेव। **योनौ**। वहिश्रिश्रुयुद्रु०। उ० ४। ५१। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः–नि। आदिकारणे। ब्रह्मणि। अध्यैरयन्त। ईर गतौ। ऊर्ध्वं गतवन्तः। अन्यत् व्याख्यातं सुगमं च ॥

सूक्तम् २ ॥

१-५ ॥ गन्धर्वाप्सरा देवताः १—३ त्रिष्टुप्, ४ त्रिपदा त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरः सर्वशक्तिमानित्युपदिश्यते-परमेश्वर सर्वशक्तिमान है इसका उपदेश।

दि॒व्यो ग॑न्ध॒र्वो भुव॑नस्य॒ यस्पति॒रेक॑ ए॒व न॑म॒स्यो॑ वि॒क्ष्वीड्यः॑। तं त्वा॑ यौमि॒ ब्रह्म॑णा दिव्य देव॒ नम॑स्ते अस्तु दि॒वि ते॑ स॒धस्थ॑म् ॥ १ ॥

दि॒व्यः। ग॒न्ध॒र्वः। भुव॑नस्य। यः। पतिः॑। एकः॑। ए॒व। न॒म॒स्यः॑। वि॒क्षु॒। ईड्यः॑। तम्। त्वा॒। यौ॒मि॒। ब्रह्म॑णा। दि॒व्य॒। दे॒व॒। नमः॑। ते॒। अ॒स्तु॒। दि॒वि। ते॒। स॒ध-स्थ॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (दिव्यः) दिव्य [अद्भुत स्वभाव] (गन्धर्वः) गन्धर्व [भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब ब्रह्मांड का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी, (विक्षु) सब प्रजाओं [वा मनुष्यों] में (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (ईड्यः) स्तुति योग्य है। (तम्) उस (त्वा) तुझ से, (दिव्य) हे अद्भुत स्वभाव (देव) जयशील परमेश्वर! (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (यौमि) मैं मिलता हूं, (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (ते) तेरा (सधस्थानम्) सहवास है ॥ १ ॥

भावार्थ—धीर, वीर, ऋषि, मुनि पुरुष उस परम पिता जगदीश्वर की सत्ता को अपने में और प्रत्येक पदार्थ में वैदिक ज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् करके अभिमान छोड़ कर आत्मबल बढ़ाते हुये आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

१—(गन्धर्व) परमेश्वर का नाम है, देखिये-ऋग्वेद मं० ९ सू० ८३ म० ४

ग॒न्ध॒र्व इ॒त्था प॒दम॑स्य रक्षति॒ पाति॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा॒न्यद्भु॑तः। गृ॒भ्णाति॑ रि॒पुं नि॒धया॑ नि॒धाप॑तिः सु॒कृत्त॑मा॒ मधु॑नो भ॒क्षमा॑शत ॥ १ ॥

१—दिव्यः। छन्दसि च। पा० ५। १। ६७। इति दिव-यः। दिवं प्रकाशं स्वर्गं वार्हतीति। द्योतनात्मकः। स्वर्गीयः। मनोज्ञः। गन्धर्वः। अ० २। १। २। गो+धृ-व। वाग्भूमिसूर्यस्वर्गाणां धारकः परमेश्वरः। भुवनस्य। अ० २।

(गन्धर्वः) पृथिवी आदि का धारण करने वाला, गन्धर्व, (इत्था) सत्यपन से (अस्य) इस जगत् की (पदम्) स्थिति की (रक्षति) रक्षा करता है और वह (अद्भुतः) आश्चर्यस्वरूप (देवानाम्) दिव्य गुणवालों के (जनिमानि) जन्मों अर्थात् कुलों की (पाति) चौकसी रखता है। (निधापतिः) पाश [बन्धन] का स्वामी (निधया) पाश से (रिपुम्) वैरी को (गृभ्णाति) पकड़ता है, (सुकृत्तमाः) बड़े बड़े सुकृती पुण्यात्मा लोगों ने (मधुनः) मधुर रस के (भक्षम्) भोग को (आशत) भोगा है ॥

दिवि स्पृष्टो यजतः सूर्यत्वगवयाता हरसो दैव्यस्य । मृडाद् गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यः सुशेवाः ॥२॥

दिवि । स्पृष्टः । यजतः । सूर्य-त्वक् । अव-याता । हरसः । दैव्यस्य । मृडात् । गन्धर्वः । भुवनस्य । यः । पतिः । एकः । एव । नमस्यः । सु-शेवाः ॥२॥

भाषार्थ—(दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (स्पृष्टः) स्पर्श किये हुये, (यजतः)

१।३। जगतः । **नमस्यः** । तदर्हति । पा० ५।१।६३। इति नमस्-यत् । तित् स्वरितः । पा० ६।१।१८५। इति स्वरितत्वम् । नमस्कारयोग्यः । **विक्षु** । विश प्रवेशने-क्विप् । विशः=मनुष्याः—निघ० २।३। प्रजासु । मनुष्येषु । **ईड्यः** । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३।१।१२४। इति ईड स्तुतौ-ण्यत् । स्तुत्यः । **यौमि** । उतो वृद्धिर्लुकि हलि । पा० ७।३।८९। इति यु मिश्रणे-वृद्धिः । संयोजयामि । **ब्रह्मणा** । अ० १।८।४। वेदज्ञाने । **ते** । तुभ्यम् । नमः स्वस्तिस्वाहा० । पा० २।३।१६। इति चतुर्थी । अनुदात्तं सर्वमपादादौ । पा० ८।१।१८। इत्यनुदात्तः । **दिवि** । दिवु क्रीडाविजिगीषा-व्यवहारद्युतिस्तुति०-क्विप् । स्वर्गे । प्रकाशे । व्यवहारे । **सधस्थम्** । सह ति-ष्ठन्त्यत्रेति । सह+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणे क प्रत्ययः । सध मादस्थयोश्छ-न्दसि । पा० ६।३।९६। इति सहस्य सधादेशः । सहस्थानम् । निवासस्थानम् । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

२—**दिवि** । म० १ । प्रत्येकव्यवहारे । **स्पृष्टः** । स्पृश सम्पर्के-क्त । स्पर्श-युक्तः । स्थितः । **यजतः** । भृमृदृशियजि० । उ० ३।११० । इति यज देवपूजा-

पूजनीय, (सूर्यत्वक्) सूर्य को त्वचा अर्थात् रूप देने वाला, (दैव्यस्य) मदशील [प्रमत्त] मनुष्य के, अथवा आधिदैविक (हरसः) क्रोध का (अवयाता) हटाने वाला वह परमेश्वर (मृडात्) [सब को] आनन्द देवे, (यः) जो (गन्धर्वः) गन्धर्व, [म० १। भूमि, सूर्य, वेदवाणी वा गति का धारण करने वाला] (भुवनस्य) सब जगत् का (एकः) एक (एव) ही (पतिः) स्वामी (नमस्यः) नमस्कार योग्य और (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य है ॥२॥

भावार्थ-वह सर्वव्यापी, सूर्यादि प्रकाशक जगत्पिता परमेश्वर हमें सामार्थ्य देकर हमारे कुक्रोध और आधिदैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक क्लेश का नाश करता है। उस अद्वितीय, सर्व सेवनीय परमेश्वर की उपासना से सब को आनन्द मिलता है ॥२॥

१—परमेश्वर आदित्यवर्ण रूप है, य० अ० ३१। १८॥

वेदाहमेतं पुरुषं महान्तमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्। तमेव विदित्वाति मृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥१॥

सङ्गतिकरणदानेषु—अतच्। चित्त्वाद् अन्तोदात्तः। यष्टव्यः। पूजनीयाः। **सूर्यत्वक्**। सूर्यः, व्याख्यातः-अ० १। ३। ५।। सुवति सरति वा स सूर्यः। त्वच संवरणे—क्विप्। यद्वा। तनोतेरनश्च वः। उ० २। ६३। इति तनु विस्तारे-चिक्, अन् इत्यस्य वः। त्वचति संवृणोति, यद्वा, तनोति विस्तारयतीति त्वक्। सूर्यस्य त्वग् रूपं यस्मात् सः। सूर्यस्रष्टा। **अवयाता**। या गतौ, अन्तर्भावितणिच्-तृच्। अवयापयिता, अवगमयिता। **हरसः**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति हृञ् हरणे-असुन्। क्रोधस्य-निघ० २। १३। **दैव्यस्य**। अ० २। १२। ४ देवाद् यञञौ। वा० पा० ४। १। ८५। इति देव+यञ्। देवसम्बद्धस्य। आधिदैविकस्य। यद्वा मदशीलस्य, प्रमत्तस्य पुरुषस्य। **मृडात्**। मृड सुखने-लेटि आडागमः। इतश्चलोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इति इकारलोपः। मृडयतु। सुखयतु। **सुशेवाः**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति सु+शेवृ सेचने—असुन्। शोभनं शेवः शेवनं यस्येति। अनायासेन सेवनीयः। अन्यद् गतं मन्त्रे १॥

(अहम्) मैं, (तमसः) अन्धकार वा अज्ञान से (परस्तात्) परे होकर, (एतम्) इस (महान्तम्) पूजनीय वा सबसे बड़े (आदित्यवर्णम्) सूर्य को रूप देने वाले (पुरुषम्) अग्रगामी परमात्मा को (वेद) जानता हूं। (तम्) उस को (एव) ही (विदित्वा) जान कर [जीव] (मृत्युम्) मृत्यु को (अत्येति) लांघ जाता है, (अन्यः) दूसरा (पन्थाः) मार्ग (अयनाय) चलने के लिये (न) नहीं (विद्यते) विद्यमान है॥

२—परमेश्वर ने सूर्य और चन्द्र बनाया है। ऋग्वेद म० १०। सू० १९० ।३।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।

(धाता) विधाता ने (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्र को (यथापूर्वम्) पहिले के समान (अकल्पयत) बनाया है॥

अनवद्याभिः समु जग्म आभिरप्सरास्वपि गन्धर्व आसीत्।
समुद्र आसां सदनं म आहुर्यतः सद्य आ च परा च यन्ति॥३

अनवद्याभिः। सम्। ऊं इति। जग्मे। आभिः। अप्सरासु। अपि। गन्धर्वः। आसीत्। समुद्रे। आसाम्। सदनम्। मे। आहुः। यतः। सद्यः। आ। च। परा। च। यन्ति॥३॥

भाषार्थ—(गन्धर्वः) गन्धर्व [म० १] (आभिः) इन (अनवद्याभिः) निर्दोष [अप्सराओं] के साथ (उ) अवश्य (संजग्मे) संगति वाला था, और (अप्सरासु) अप्सराओं में [सब प्राणियों, वा अन्तरिक्ष वा बीज रूप जल में व्यापक, वा उत्तम रूप वाली अपनी शक्तियों में] (अपि) निःसन्देह (आसीत्) वर्त्तमान था। (आसाम्) इन [अप्सराओं] का (सदनम्) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में [वा समुद्र रूप गंभीर स्थान में] (मे) मुझको (आहुः) वे बताते हैं, (यतः) जिस

३—अनवद्याभिः। अवद्यपण्यवर्यागर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु। पा० ३।१।१०१। इति अन्+अ+वद वाचि—यत्प्रत्ययान्तो निपातः। अगर्ह्याभिः। प्रशस्तगुणाभिः। सम्-जग्मे। सम्+गम्लृ-लिट्। समो गम्यृच्छि०। पा० १।३।२९। इति सम्पूर्वाद् अकर्मकाद् गमेरात्मने पदम्। गमहन०। पा० ६।४।९८। इत्युपधालोपः। संगतवान्। अप्सरासु। आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। उ० २।

स्थान से वे (च) अवश्य (आ यन्ति) आती (च, और (परा=परायन्ति) दूर चली जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—(गन्धर्व) भूमि आदि लोकों और वेदवाणी का धारक (अप्सराओं) अर्थात् सब प्राणियों और जल आदि सृष्टि के उपादान कारण पदार्थों में वर्त्तमान अपनी शक्तियों के साथ विराजमान रहता है, यह अद्भुत शक्तियां अति विस्तीर्ण आकाश में वर्त्तमान रहती, और मनुष्य आदि के शरीरों में परमाणुओं की संयोग दशा में दृश्य, और उनकी वियोग दशा में अदृश्य हो जाती हैं ॥ ३ ॥

टिप्पणी—(गन्धर्वः) और (अप्सरसः) शब्दों के लिये यजुर्वेद अ० १८ म० ३८-४३, छह मन्त्र देखें। वहाँ (अप्सरसः) शब्द है जो (अप्सराः) शब्द का पर्य्यायवाची है।

ऋ॒ता॒षाडृ॒तधा॑मा॒ग्निर्ग॑न्ध॒र्वस्तस्यौष॑धयो ऽप्स॒रसो॒ मुदो॒ नाम॑। स न॑ इ॒दं ब्रह्म॑ क्ष॒त्रं पा॑तु॒ तस्मै॒ स्वाहा॒ वाट् ताभ्य॒ः स्वाहा॑ ॥ १ ॥

५८। इति आप्लृ व्याप्तौ-क्विप्। आपः, अन्तरिक्षनाम निघ० १। ३। उदक नाम-निघ० १। १२। दयानन्दभाष्ये प्राणा जलानि वा—य० ४। ७। आप्ताः प्रजाः—६। २७। व्यापिकास्तन्मात्राः—२७। २५। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४। इति सृ गतौ-पचाद्यच्। यद्वा। वृतॄवदिहनिकमिकषिभ्यः सः। उ० ३। ६२। इति आप्लृ व्याप्तौ—सप्रत्ययः। उपधाह्रस्वः। अप्सः=रूपम् निघ० ३। ७। रो मत्वर्थीयः। अथवा, रा दानादानयोः—अच्। टाप्। अप्सरा अप्सारिण्यपि वा ऽप्स इति रूपनाम, अप्सातेरप्सानीयं भवति, आदर्शनीयं व्यापनीयं वेति, तद्रा भवति रूपवती तदनयात्तमिति वा तदस्यै दत्तमिति वा-निरु० ५। १३। अप्सु आकाशे जलेषु प्राणेषु प्रजासु वा सरणशीलाः, अथवा रूपवत्यः परमेश्वरशक्तयः। **समुद्रे**। अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षे-निघ० १।३।८। **सदनम्**। सीदन्त्यत्रेति। षद्लृ गतौ-ल्युट्। गृहम्। **आहुः**। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट्। ब्रुवन्ति कथयन्ति ब्रह्मवादिनः। **आ+यन्ति**। इण् गतौ। आगच्छन्ति, आविर्भवन्ति सृष्टिकाले। **परा+यन्ति**। दूरे गच्छन्ति तिरोभवन्ति प्रलयकाले ॥

(ऋतापाट्) सत्य नियम का सहने वाला, (ऋतधामा) सत्य प्रभाव वाला, (अग्निः) सर्व व्यापक, वा अग्नि समान रक्षक, परमेश्वर (गन्धर्वः) सूर्य, पृथिवी, और वेद वाणी आदि का धारण करने वाला है। (तस्य) उसकी [गन्धर्व की बनायी] (मुदः) आनन्द देने वाली (ओषधयः) ओषधें [अन्नादि वस्तुयें] (नाम) प्रसिद्ध रूप से (अप्सरसः) अप्सरायें अर्थात् आकाश, वा प्राणों, व जल में चलने वाली वा उत्तम रूप वाली सामग्री हैं। (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे लिये (इदम्) इस (ब्रह्म) ब्राह्मण कुल और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल की (पातु) रक्षा करे। (तस्मै) उस परमेश्वर को (स्वाहा सुन्दर वाणी और (वाट्) आवाहन, और (ताभ्यः) उन सामग्रियों के लिये (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है॥

यह मन्त्र ३८ वां है। इसी प्रकार अन्य पांच मन्त्रों में (गन्धर्वः) शब्द (सूर्यः चन्द्रमाः, वातः, यज्ञः, मनः) शब्दों के साथ, और (अप्सरसः) शब्द (मरीचयः, नक्षत्राणि, आपः, दक्षिणाः, ऋक्सामानि) शब्दों के साथ क्रम से आये हैं।

अभ्रिये दिद्युन्नक्ष॑त्रिये या विश्वावसुं गन्धर्वं सच॑ध्वे।
ताभ्यो॑ वो देवीर्नम॒ इत् कृ॑णोमि॥ ४॥

अभ्रिये। दिद्यु॑त्। नक्ष॑त्रिये। याः। विश्व-व॑सुम्। ग॒न्ध॒र्वम्। सच॑ध्वे। ताभ्य॑ः। वः। दे॒वीः। नम॑ः। इत्। कृ॒णो॒मि॥ ४॥

भावार्थ—(अभ्रिये) अभ्र [मेघ] में [रहने वाली], (दिद्युत्=०—ति) बिजुली में [वर्तमान] और (नक्षत्रिये) नक्षत्रों में [रहने वाली] (याः) जो तुम सब (विश्वावसुम्) सब प्रकार के धनों के वा सब निवासस्थानों [लोकों] के

४—अभ्रिये—नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३। १। १३४ इति अभ्र गतौ-पचाद्यच्। अथवा। अपो बिभर्तीति। अप्+भृ-क। अभ्रम्=मेघः-निघ० १। १०। समुद्राभ्राद् घः। पा० ४। ४। ११८। इति अभ्र-भवे घप्रत्ययः। घस्य इय् आदेशः। मेघेषु भवे स्थाने मेघस्य मण्डले वर्त्तमानाः। दिद्युत्। द्युतिगमिजुहोतीनां द्वे च। वा०। पा० ३। २। १७८ इति द्युत दीप्तौ-क्विप्। द्वित्वं च। द्युतिस्वाप्योः सम्प्रसारणम्। पा० ७। ४। ६७। इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। अथवा दो अवखण्डने-क्विप्। पृषोदरादिरूपम्। द्यति पदार्थान्। सुपां सु लुक्०। पा० ७। १। ३९। इति सप्तम्या लुक्। द्योतमाने विद्युन्मण्डले। नक्षत्रिये। नक्षत्राद्

स्वामी (गन्धर्वम्) गन्धर्व [पृथिवी, सूर्य वा वेद वाणी के धारण करने वाले परमेश्वर] की (सचध्वे) सेवा करती हो। (देवीः=हे देव्यः!) हे देवियो! [दिव्य अर्थात् अद्भुत गुण वालियो!] (ताः) उन (वः) तुमको (नमः) नमस्कार (इत्) अवश्य (कृणोमि) मैं करता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहां शक्तियों से शक्तिमान् परमेश्वर का ग्रहण है। संसार के प्रत्येक पदार्थ के अवलोकन से देखा जाता है कि यह अप्सरायें [परमेश्वर की अनन्त और अद्भुत शक्तियां] परमेश्वर के वशीभूत होकर सब सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और अन्त का कारण हैं। उन शक्तियों अर्थात् उनके स्वामी जगदीश्वर को बड़े छोटे प्राणी नम्रता से स्वीकार करते और उपकारों को विचार कर उपकारी बनकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

याः क्रन्दास्तमिषीचयो ऽक्षकामा मनोमुहः ।
ताभ्यो गन्धर्वपत्नीभ्यो ऽप्सराभ्योऽकरं नमः ॥ ५ ॥

याः । क्रन्दाः । तमिषीचयः । अक्ष-कामाः । मनः-मुहः ।
ताभ्यः । गन्धर्व-पत्नीभ्यः । अप्सराभ्यः । अकरम् । नमः ॥५॥

भाषार्थ—(याः) जो (क्रन्दाः) आवाहन करने हारी, (तमिषीचयः) इच्छा को सींचने [पूरा करने] हारी, (अक्षकामाः) व्यवहारों में कामना करानेवाली, (मनोमुहः) मन को आश्चर्य में करने वाली हैं। (ताभ्यः) उन (गन्धर्वपत्नीभ्यः) गन्धर्व की

घः। पा० ४।४।१४१। इति नक्षत्र-घ प्रत्ययः। नक्षत्रेषु भवे लोके वर्त्तमानाः। **याः**। अप्सराः, यूयम्। **विश्वावसुम्**। विश्वस्य वसुराटोः। पा०।६।३। १२८। इति पूर्वपदस्य दीर्घः। बहुव्रीहौ विश्वं संज्ञायाम्। पा० ६।२।१०६। इतिपूर्वपदस्य विश्वशब्दस्य अन्तोदात्तत्वम्॥ विश्वानि वसूनि यस्मिन् सः। सर्वधनसम्पन्नम्। यद्वा। सर्वे वसवो निवासा लोका यस्मिन् सः। सर्वाश्रयम्। **सचध्वे**। षच सेचने सेवने च, आत्मने पदम्। सेवध्वे। **देवीः**। वा छन्दसि। पा० ६।१।१०६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। देव्यो द्योतमानाः। **कृणोमि**। धिन्विकृण्व्योर च पा० ३।१।८०। इति कृवि हिंसाकरणयोः-उप्रत्ययः, अकारश्चान्तादेशः। करोमि। अन्यत् सुगमम्॥

५—**क्रन्दाः**। क्रदि आह्वाने रोदने च-पचाद्यच्। टाप्। आवाहनशीलाः। **तमिषीचयः**। तमि-षिचयः। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४।११८। इति तमु इच्छायां खेदे च-इन्। इगुपधात् कित्। उ० ४।१२०। इति षिच सेचने-इन्,

पत्नी [परमेश्वर की रक्षा में रहने वाली] (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में रहने वाली ईश्वर शक्तियों] को मैं ने (नमः) नमस्कार (अकरम्) किया है ॥५॥

भावार्थ—इस मन्त्र में भी अप्सराओं अर्थात् शक्तियों से उनके स्वामी परमेश्वर का ग्रहण है। वह परमेश्वर दुष्टों पर गरजता और शिष्टों का आवाहन करना, अनन्त बलवान्, उत्तम कर्मों में प्रीति कराने वाला और मनोहर स्वभाव है, सब जड़ और चेतन्य नमस्कार करके उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा मानते, और आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१—६ ॥ भेषजं देवता । अनुष्टुप् छन्द ॥

शारीरिकमानसिकरोगनाशोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग की निवृत्ति के लिये उपदेश।

अदो यदवधावत्यवत्कमधि पर्वतात् ॥
तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥ १ ॥

अदः । यत् । अव-धावति । अवत्-कम् । अधि । पर्वतात् ।
तत् । ते । कृणोमि । भेषजम् । सु-भेषजम् । यथा । असंसि ॥१॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो संगति योग्य अन्न (अवत्कम्) नित्य

किनि ह्रस्वः । छान्दसो दीर्घः । तमिम् इच्छां सिञ्चन्ति तास्तमिसिचयः। इच्छापूरयित्र्यः । आप्तकामाः । अह व्याप्तौ, संहतौ-पचाद्यच् । यद्वा । अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अशू व्याप्तौ-सप्रत्ययः । अक्षो व्यवहारः । यथा, अक्षदर्शकः, अक्षदृक्=व्यवहारनिर्णेता, न्यायकर्त्ता । काम्यतेऽसौ । कमु स्पृहायाम्-कर्मणि घञ् । अक्षेषु व्यवहारेषु सत्कर्मसु कामोऽभिलाषो याभ्यस्तास्तथाभूताः । व्यवहारोन्नतिदात्र्यः । मनोमुहः । मनस्+मुह वैचित्ये-क्विप् । मनसः, चित्तस्य मोहयित्र्यः, आश्चर्यं विस्मये कर्त्र्यः। गन्धर्वपत्नीभ्यः । विभाषा सपूर्वस्य पा० ४ । १ । ३४ । इति गन्धर्व+पति-नकारङीपौ । गन्धर्वः पूर्वोक्तः परमात्मा पतिः, रक्षकः, स्वामी यासां ताभ्यः । गन्धर्वेण परमेश्वरेण रक्षिताभ्यः । अप्सराभ्यः । मन्त्र ३ । आकाशप्राणादिषु वर्त्तमानाभ्यः । अकरम् । डुकृञ् करणे-लुङ् । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि । पा० ३ । १ । ५९ । इति च्लेः अङ् आदेशः। ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७।४।१६। इति गुणः । अहं कृतवान् । नमः । सत्कारम ॥

१—अदः । न दस्यते उत्क्षिप्यतेऽङ्गुलिर्यत्र इदन्तया । न+दसु

चलने वाला जल प्रवाह [के समान] (पर्वतात् अधि) पर्वत के ऊपर से (अव-धावति) नीचे को दौड़ता आता है। [हे औषध !] (तत्) उस [ब्रह्म] को (ते) तेरे लिये (भेषजम्) औषध (कृणोमि) मैं बनाता हूं, (यथा) जिस से कि (सुभेषजम्) उत्तम औषध (असति) तू हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—हिम वाले पर्वतों से नदियां ग्रीष्म ऋतु में भी बहती रहती और अन्न आदि औषधों को हरा भरा करके अनेक विधि से जगत् का पोषण करती हैं, इसी प्रकार औषध का औषध, वह ब्रह्म सब के हृदय में व्यापक हो रहा है। सब मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन और सुविद्या ग्रहण से शारीरिक और मानसिक रोगों की निवृत्ति करके सदा उपकारी बनें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

आदुङ्ग कुविदुङ्ग शुतं या भेषुजानि ते ।
तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥ २ ॥

आत् । अङ्ग । कुवित् । अङ्ग । शतम् । या । भेषजानि । ते । तेषाम् । असि । त्वम् । उत्-तमम् । अनास्रावम् । अरोग-णम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे ! (अङ्ग) हे [ब्रह्म !] (आत्) फिर (कुवित्) अनेक

उत्क्षेपे—क्विप् । अनुत्क्षेपणीयम् । पुरोवर्त्ति । विप्रकृष्टम् । यत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति यज—अदिः, स च डित् । यजति सर्वैः पदार्थैः सह सङ्गतं भवतीति । यजनीयं संगन्तव्याम् । प्रसिद्धम् । ब्रह्मणो नाम-इति दयानन्दः—उणादिकोषव्याख्यायाम् । अव-धावति । पाघ्राध्मास्थाम्ना०। पा० ७ । ३ । ७८ । इति सृधातोः धौ इत्यादेशः शीघ्रगमने । अवरुह्य शीघ्रं सरति गच्छति । अवत्कम् । अव-अतकम् । इण्भीकापाशल्यतिमर्चिभ्यः कन् । उ० ३ । ४३ । इति अव+अत सातत्यगमने-कन् । शकन्ध्वादिषु पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । अवातति सन्यमानमधोगच्छति । जल-प्रवाहः । अवतः कूपनाम-निघ० ३ । २३ । पर्वतात् । अ० १ । १२ । ३ । शैलात् । तत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु उपकृतौ विस्तृतौ च-अदः, डित् । तनोति सर्वं, यद्वा, तन्यते सर्वत्र । ब्रह्मणो नामविशेषः । विस्तीर्णम् । ब्रह्म । भेषजम् । अ० १ । ४ । ४ । औषधम् । सुभेषजम् । सुः पूजायाम् । पा० १ । ४ । ६४ । उत्कृष्टमौषधम् । अतिशयितवीर्ययुक्तम् । यथा । येन प्रकारेण । असति । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । इति शपोऽलुक् । असि । भवेः ॥

२—आत् । अव्ययम् । पुनः । अनन्तरम् । अङ्ग । अव्ययम् । निपातस्य

प्रकार से (या=यानि) जो (ते) तेरी [बनायी] (शतम्) सौ [असंख्य] (भेषजानि) भय निवर्त्तक औषधें हैं, (तेषाम्) उनमें से (त्वम्) तू आप (उत्तमम्) उत्तम गुण वाला, (अनास्रावम्) बड़े क्लेश का हटाने वाला और (अरोगम्) रोग दूर करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार की सब ओषधियों में क्लेशनाशक और रोगनिवर्त्तक शक्ति का देने वाला वही ओषधियों का ओषधि परब्रह्म है ॥ २ ॥

नी॒चैः ख॑न॒न्त्यसु॑रा अरु॒स्राण॑मि॒दं म॒हत् ।
तदा॑स्रा॒वस्य॑ भेष॒जं तदु॒ रोग॑मनीनशत् ॥ ३ ॥

नी॒चैः । ख॒न॒न्ति॒ । असु॑राः । अ॒रुः-स्राण॑म् । इ॒दम् । म॒हत् । तत् । आ-स्रा॒वस्य॑ । भे॒ष॒जम् । तत् । ऊं॒ इति॑ । रोग॑म् । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(असुराः) बुद्धिमान् पुरुष (इदम्) इस (अरुस्राणम्) व्रण [स्फोट=फोड़े] को पका कर भर देने वाली, (महत्) उत्तम औषध को (नीचैः) नीचे नीचे (खनन्ति) खोदते जाते हैं। (तत्) वही विस्तृत ब्रह्म

च। पा० ६। ३। १। १३६। इति सांहितको दीर्घः। इत्युभयत्र दीर्घः। संबोधने। हे। कुवित्। निपातोऽयम्। बहुनाम-निघ० ३। १। बहुधा बहुप्रकारेण। शतम्। दश दशतः परिमाणमस्येति। पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्च०। पा० ५। १।५९। इति तः। दशाणां शभावश्च निपात्यते। दशगुणित दश सङ्ख्या। शतं दशदशतः—निरु० ३। १०। बहुनाम-निघ० ३। १। अपरिमितानि। असङ्ख्यातानि। भेषजानि। अ० १। ४। ४। भिषज् अण्। यद्वा। भेष+जि-ड। औषधानि। उत्तमम्। अ० १। ६। २। उत्—तमप्। उत्कृष्टतमम्। अनास्रावम्। अ० १। २। ४। अन्+आङ्+स्रु-ण। क्लेशरहितम्। अरोगणाम्। रुजो भङ्गे-भावे ल्युट्, छान्दसं कुत्वम्। अरोजनाम्। रोगनिवर्तकम् ॥

३—नीचैः। नौ दीर्घश्च उ० ५। १३। इति नि+चिञ् चयने-डैसि, नेर्दीर्घत्वं च। अधोऽधः। अन्तरन्तः। खनन्ति। खनु अवदारणे। अवदारयन्ति, उन्मूलयन्ति। अन्वेषणेन प्राप्नुवन्ति। असुराः। अ० १०। १। १। असेरुरन्। उ०

(आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश की (भेषजम्) औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य बड़े बड़े परिश्रम और परीक्षा करके उत्तम औषधों को लाकर रोगों की निवृत्ति करके प्राणियों को स्वस्थ करते हैं, वैसे ही विद्वानियों ने निर्णय किया है कि उस परमेश्वर ने आदि सृष्टि में ही मानसिक और शारीरिक रोगों की औषधि उत्पन्न कर दी है ॥ ३ ॥

टिप्पणी—सायणभाष्य में (अनीनशत्) के स्थान में [अशीशमत्] पाठ है ॥

उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम् ।
तदास्त्रावस्य भेषजं तदु रोगमशीशमत् ॥ ४ ॥

उप-जीकाः । उत् । भरन्ति । समुद्रात् । अधि । भेषजम् । तत् । आ-स्रवस्य । भेषजम् । तत् । ऊं इति । रोगम् । अशीशमत् ॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) [परमेश्वर के] आश्रित पुरुष (समुद्रात् अधि) आकाश [समस्त जगत्] में से (भेषजम्) भयनिवारक ब्रह्म को, (उद्भरन्ति) ऊपर निकालते हैं। (तत्) वही [ब्रह्म] (आस्त्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्)

१।४२। इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन्। यद्वा, असुः, प्राणः, रो मत्वर्थीयः। ज्ञानवन्तः। दीप्यमानाः। प्रज्ञावन्तः—निरु० १०। ३४। प्राणवन्तः पुरुषाः। **अरुस्राणम्**। अरुः—व्रणम्। अर्त्तिपृवपियजि०। उ० २। ११७। इति ऋ गतौ, हिंसायां वा-उसि। इति अरुः, व्रणः। स्रै पाके-ल्युट्। अरुषो व्रणस्य पाककरम्। **महत्**। अ० १। १०। ४। बड़म्। विपुलम्। **आस्त्रवस्य**। अ० १। २। ४। महाक्लेशस्य। **रोगम्**। पदरुजविशस्पृशो घञ्। पा०३। ३। १६।ति रुजो भङ्गे-घञ्। व्याधिम्। उपतापम्। **अनीनशत्**। इति णश अदर्शने, नाशे च-णयन्तात् लुङि चङि रूपम्। नाशयति स्म ॥

४—**उपजीकाः**—कषिदूषिभ्यामीकन्। उ० ४। १६। इति बाहुलकात्, उप+जीव प्राणधारणे-ईकन्, स च डित्। उपजीविनः। परमेश्वराश्रिताः। प्राणिनः। वल्मीकनिष्पादिका वम्रयः-इति सायणः। **उद्भरन्ति**। उत्-भृञ्।

औषध है, (तत्) उसने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अशीशमत्) शान्त कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर [का] सहारा रखने वाले पुरुष संसार के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वर को पाते हैं। और उस आदिकारण की महिमा को सक्षात् करके अपने सब क्लेशों का नाश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥ ५ ॥

अरुः-स्राणम्। इदम्। महत्। पृथिव्याः। अधि। उत्-भृतम्। तत्। आ-स्रावस्य। भेषजम्। तत्। ऊं इति। रोगम्। अनीनशत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (अरुस्राणम्) फोड़े को पका कर भरने वाला (महत्) उत्तम [औषध] (पृथिव्याः) पृथिवी से (अधि) ऊपर (उद्भृतम्) निकाल कर लाया गया है। (तत्) वही [ज्ञान] (आस्रावस्य) बड़े क्लेश का (भेषजम्) औषध है, (तत्) उस ने (उ) ही (रोगम्) रोग को (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—महाक्लेश नाशक ब्रह्म ज्ञान रूप औषध पृथिवी आदि लोकों के प्रत्येक पदार्थ में वर्त्तमान है, मनुष्य उस को प्रयत्न पूर्वक प्राप्त करें और रोगों की निवृत्ति करके स्वस्थ चित्त होकर आनन्दित रहें ॥ ५ ॥

उद्धरन्ति। ऊर्ध्वं हरन्ति। **समुद्रात्**। अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षात्। सर्वसंसारात्। **भेषजम्**। भय निवारकं परब्रह्म। उदकम्-निघ० १। १२। सुखम् निघ० ३। ६। **आस्रावस्य**। म० ४। महाक्लेशस्य। **अशीशमत्**। शमु उपशमे, ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्। उपशाम्यति नाशयति स्म ॥

५—**अरुस्राणम्**। म० ३। अरुषः पाचयितृ। **पृथिव्याः**। अ० १। २। १। विस्तीर्णाद् भूलोकात्। **उद्भृतम्**। उत्-भृञ्-क्त। उद्धृतम्। उन्मूलितम्। सर्वथा ज्ञानेन प्राप्तम्। अन्यद् व्याख्यातं म० ३ ॥

शं नो॑ भवन्त्वाप ओष॑धयः शि॒वाः । इन्द्र॑स्य वज्रो॒ अप॑ हन्तु र॒क्षस॑ आ॒राद् विसृ॑ष्टा इष॑वः पतन्तु र॒क्षसा॑म् ॥६॥

शम् । नः । भ॒वन्तु । आपः । ओष॑धयः । शि॒वाः । इन्द्र॑स्य । वज्रः॑ । अप॑ । ह॒न्तु । र॒क्षसः॑ । आ॒रात् । वि-सृ॑ष्टाः । इष॑वः । प॒तन्तु । र॒क्षसा॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आपः) जल और (ओषधयः) उष्णता धारण करने वाली वा ताप नाश करने वाली अन्नादि ओषधें (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति कारक और (शिवाः) मंगल दायक (भवन्तु) होवें। (इन्द्रस्य) परमैश्वर्य वाले पुरुष का (वज्रः) (रक्षसः) राक्षस को (अपहन्तु) हनन कर डाले, (रक्षसाम्) राक्षसों के (विसृष्टाः) छोड़े हुये (इषवः) बाण (आरात्) दूर (पतन्तु) गिरें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से हम पुरुषार्थ करते रहें, जिस से जल, अन्न आदि सब पदार्थ शुद्ध रह कर प्रजा में आरोग्यता बढ़ावें, और जैसे राजा चोर, डाकू आदि दुष्टों को दण्ड देता है कि प्रजा गण कष्ट न पावें और सदा आनन्द भोगें, ऐसे ही हम अपने दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ।

टिप्पणी—अजमेर के पुस्तक और सायणभाष्य की संहिता में (अपः) पाठ है, और सायणभाष्य और पं० सेवकलाल मुद्रापित पुस्तक में (आपः) पाठ है, हमने भी (आपः) ही लिया है ॥

६—**शम्** । अ० १ । ३ । १ । शमनाय । शान्तिप्रदाः। **आपः** । अ० १ । ५ । ३ । जलानि । **ओषधयः** । अ० १ । २३ । १ । ओष-डुधाञ् धारणपोषणयोः-कि । अन्नादिबलप्रदपदार्थाः । **शिवाः** । अ० १ । ६ । ४ । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने-वन् । शीङो ह्रस्वत्वम् । शिवम्=सुखम्—निघ० ३ । ६ । ततो अर्श आद्यच् । सुखकारिण्यः । **इन्द्रस्य** । अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य । **वज्रः** । अ० १ । ७ । ७ । कुलिशः । कुठारः । **अपहन्तु** । अपहननं विनाशं करोतु । **रक्षसः** । सर्वधातुभ्यो ऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति रक्ष पालने—अपादाने असुन् । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्—निरु० ४ । १८ । कर्मणि षष्ठी । राक्षस्य । दुष्टस्य । **आरात्** । दूरदेशे । **वि-सृष्टाः** । वि+सृज त्यागे—क्त । त्यक्ताः । प्रेषिताः । प्रयुक्ताः । **इषवः** । अ० १ । १३ । ५ । शत्रुहिंसका बाणाः । **पतन्तु** । अधोगच्छन्तु । **रक्षसाम्** । दुराचारिणां पुरुषाणाम् ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—६ ॥ जङ्गिडो देवता । १—पूर्वार्धौ द्विपदा त्रिष्टु ११×२=२२, उत्तरार्धौ द्विपदाऽनुष्टुप् ८×२=१६, २—६ अनुष्टुप्छन्दः ॥

मनुष्यः परमेश्वरभक्त्यायुर्वर्धयेत्—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से आयु बढ़ावे ।

दीर्घायुत्वाय बृहते रणायारिष्यन्तो दक्षमाणाः सदैव ।
मणिं विष्कन्धदूषणं जङ्गिडं बिभृमो वयम् ॥१॥

दीर्घायु-त्वाय । बृहते । रणाय । अरिष्यन्तः । दक्षमाणाः । सदा । एव । मणिम् । विस्कन्ध-दूषणम् । जङ्गिडम् । बिभृमः । वयम् ॥१॥

भाषार्थ—(दीर्घायुत्वाय) बड़ी आयु के लिये और (बृहते) बड़े (रणाय) रण में [जीत] वा रमण के लिये (अरिष्यन्तः) [किसी को] न सताते हुये और (सदा एव) सदा ही, (दक्षमाणाः) वृद्धि करते हुये (वयम्) हम लोग (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न निवारक और (मणिम) प्रशंसनीय (जङ्गिडम्) शरीर भक्षक रोग वा पाप के निगलने वाले [औषध वा परमेश्वर] को (बिभृमः) हम धारण करें ॥१॥

भावार्थ—जगत् में कीर्त्तिमान् होना ही आयु का बढ़ाना है। मनुष्यों को परमेश्वर के ज्ञान और पथ्य पदार्थों के सेवन से पुरुषार्थ पूर्वक पाप और

१—दीर्घायुत्वाय । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति दीर्घ+इण गतौ-उण् । ततो भावे त्व प्रत्ययः । चिरकालजीवनाय । रणाय । रमणाय, मकार-लोपे यद्वा, संग्रामाय । अरिष्यन्तः । रिष हिंसायाम् शतृ, नञ्समासः । अहिंसन्तः । दक्षमाणाः । दक्ष वृद्धिशैघ्रयोः—शानच् । वर्धमानाः । मणिम् । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मण शब्दे—इन् । मण्यते स्तूयते स मणिः । बहुमूल्यः पाषाणो वा रत्नम् । प्रशस्तम् । विष्कन्ध-दूषणम् । वि+स्कन्दिर् शोषणे गत्यां च—घञ्, धश्चान्तादेशः । दुष वैकृत्ये ण्यन्तात् करणे ल्युट् । दोषो णौ । पा० ६ । ४ । ९० । इति ऊत्वम् । विशेषेण शोषकस्य विघ्नस्य विकर्तारं निवारकम् । जङ्गिडम् । जमति भक्षयतीति

रोग रूप विघ्नों को हटा कर सत्पुरुषों की वृद्धि में अपनी और संसार की उन्नति समझ कर सदा सुख भोगना चाहिये ॥१॥

१—सायणभाष्य में (दक्षमाणाः) के स्थान में [रक्षमाणाः] पद है।

२—सायणाचार्य ने (जङ्गिड) वृक्ष विशेष वाराणसी में प्रसिद्ध बताया है ॥

जङ्गिडो जम्भाद् विशराद् विष्कन्धादभिशोचनात् ।
मणिः सहस्रवीर्यः परि णः पातु विश्वतः ॥ २ ॥

जङ्गिडः । जम्भात् । वि-शरात् । वि-स्कन्धात् । अभि-शोचनात् । मणिः । सहस्र-वीर्यः । परि । नः । पातु । विश्वतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सहस्रवीर्यः) सहस्रों सामर्थ्य वाला, (जङ्गिडः) शरीर भक्षक रोगों का निगलने वाला (मणिः) मणिरूप अति श्रेष्ठ औषध वा परमेश्वर (नः) हमको (जम्भात्) नाश से, (विशरात्) हिंसा से, (विष्कन्धात्) विघ्न से, और (अभिशोचनात्) महा शोक से, (विश्वतः) सब प्रकार और (परि) सब ओर (पातु) बचावे ॥ २ ॥

जः । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति जम भक्षे—ड । गिरतीति गिरः । मेघर्तिभयेषु कृञः । पा० ३ । २ । ४३ । इति बाहुलकात्, गॄ निगरणे—खच् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति अजन्तस्य मुम् । रकारस्य उत्वम् । आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा निगरणशीलं भक्षकम् औषधं परमात्मानं वा । **बिभृमः** । डुभृञ् धारणपोषणयोः—श्लौ लट् । धारयामः ॥

२—**जङ्गिडः** । म० १ । आत्मभक्षकस्य रोगस्य पापस्य वा भक्षको नाशकः । **जम्भात्** । । जभि नाशीकरणे, जृम्भे वा-पचाद्यच् । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । नाशनात् । हानिसकाशात् । क्रूरकर्मत्वात् । **विशरात्** । ऋदोरप् । पा ३ । ३ । ५७ । इति वि+शॄ हिंसायाम्-अप् । विशरणात् । वधात् । मारणात् । **विष्कन्धात्** । म० १ । शोषकात् । विघ्नात् । **अभिशोचनात्** । अभि+शुच् शोके-ल्युट् । मनसः पीड़ायाः । अतिशोकात् । **मणिः** । म० १ । प्रशंसनीयः । **सहस्रवीर्यः** । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति वीर-यत् । अथवा, भावे यत् प्रत्ययः । सहस्राणि वीर्याणि सामर्थ्यानि यस्मिन् सः । अपरि-

भावार्थ—मनुष्य सर्व रक्षक और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर में श्रद्धालु होकर पथ्य पदार्थों का सेवन करता हुआ पुरुषार्थ करे कि आलस्य आदि दुर्व्यसन और हिंसक राक्षस आदि रोग न सतावें, किन्तु सुरक्षित होकर आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

अयं विष्कन्धं सहतेऽयं बाधते अत्त्रिणः।
अयं नो विश्वभेषजो जङ्गिडः पात्वंहसः ॥३॥

अयम् । वि-स्कन्धम् । सहते । अयम् । बाधते । अत्त्रिणः ।
अयम् । नः । विश्व-भेषजः । जङ्गिडः । पातु । अंहसः ॥३॥

भावार्थ—(अयम्) यह (विश्वभेषजः) सर्वौषध (जङ्गिडः) पापों वा रोगों का भक्षक [परमेश्वर वा औषध] (विष्कन्धम्) विघ्न को (सहते) दबाता है, (अयम्) यही (अत्त्रिणः) खाउओं वा रोगों को (बाधते) रोकता है। (अयम्) यही (नः) हमको (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्साही विचारवान् पुरुष परमेश्वर में विश्वास और पथ्य पदार्थों का सेवन करके अपनी दूरदर्शिता से मानसिक और शारीरिक बाधाओं को हटाकर अटल सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

मितपराक्रमः । परि । परितः । सर्वतः । नः । अस्मान् । उपसर्गाद् बहुलम् । पा० ८ । ४ । २८ । इति नसो णत्वम् । विश्वतः । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति विश्व-तसिल् लिति । पा० ६ । १ । १९३ । इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तत्वम् । विश्वस्मात् सर्वस्मात् खेदात् ॥

३—विष्कन्धम् । म० १ । विघ्नम् । सहते । षह अभिभवे । अभिभवति ॥ बाधते । बाधृ विलोडने । निवारयति नाशयति । अत्त्रिणः । अ० १ । ७ । ३ । अद भक्षणे-त्रिनि । अत्तॄन्, भक्षकान् पुरुषान् रोगान् वा । विश्वभेषजः । सर्वेषां रोगादीनां जेता निवर्तकः । सर्वौषधः । अंहसः । अमेर्हुक् च । उ० ४ । ११३ । इति अम रोगे, गतौ च- असुन् हुक् च । रोगात् । पापात् ॥

देवैर्दत्तेन मणिना जङ्गिडेन मयोभुवा ।
विष्कन्धं सर्वा रक्षांसि व्यायामे सहामहे ॥४॥

देवैः । दत्तेन । मणिना । जङ्गिडेन । मयः-भुवा । वि-स्कन्धम् । सर्वा । रक्षांसि । वि-आयामे । सहामहे ॥४॥

भाषार्थ—(देवैः) विद्वानों करके (दत्तेन) दिये हुये [उपदेश किये हुये] (मणिना) मणि [अति श्रेष्ठ], (मयोभुवा) आनन्द के देने हारे (जङ्गिडेन) रोगों के भक्षक [परमेश्वर वा औषध] द्वारा (विष्कन्धम्) विघ्न और (सर्वा=सर्वाणि) सब (रक्षांसि) राक्षसों को (व्यायामे) संग्राम में (सहामहे) हम दबावें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से दुःख नाशक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके पुरुषार्थ के साथ पथ्य द्रव्यों का सेवन करके विघ्नकारी दुष्ट जीवों, पापों और रोगों को हटाकर सदा आनन्द में रहें ॥ ४ ॥

शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥ ५ ॥

शणः । च । मा । जङ्गिडः । च । वि-स्कन्धात् । अभि । रक्षताम् । अरण्यात् । अन्यः । आ-भृतः । कृष्याः । अन्यः । रसेभ्यः ॥५॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (शणः) आत्मदान वा उद्योग, (च) और (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध दोनों, (मा) मुझको (विष्क-

---

४—देवैः । विद्वद्भिः । दत्तेन । दीयते इति । दा-क्त । कृतदानेन । उपदिष्टेन । मयोभुवा । अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयित्रा, उत्पादकेन । व्यायामे । वि+आङ्+यम परिवेषणे-घञ् । मल्लक्रीडाप्रदेशे । संग्रामे । सहामहे । अभिभवामः । अन्यद् व्याख्यातम्, म० १ ॥

५-शणः । शण दाने, गतौ-पचाद्यच् । दानम् । आत्मसमर्पणम् । गतिः ।

न्धात्) विघ्न से (अभि) सर्वथा (रक्षताम्) बचावें। (अन्यः) एक (अरण्यात्) तप के साधन वा विद्याभ्यास से और (अन्यः) दूसरा (कृष्याः) कर्षण अर्थात् खोजने से (रसेभ्यः) रसों अर्थात् पराक्रमों वा आनन्दों के लिये (आभृतः) लाया जाता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—आत्मदानी, उद्योगी, पथसेवी और परमेश्वर के विश्वासी पुरुष अपनी और सब की रक्षा कर सकते हैं। यही योगी जन तपश्चर्या, विद्याभ्यास, और खोज करने से आत्मदान [ध्यान शक्ति] और परमेश्वर में श्रद्धा प्राप्त करके अनेक सामर्थ्य और आनन्द का अनुभव करते हैं ॥ ५ ॥

कृत्यादूषिरयं मणिरथो अरातिदूषिः।
अथो सहस्वाञ् जङ्गिडः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥६॥

कृत्यादूषिः। अयम्। मणिः। अथो इति। अराति-दूषिः। अथो इति। सहस्वान्। जङ्गिडः। प्र। नः। आयूंषि। तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय पदार्थ (कृत्यादूषिः) पीड़ा देने हारी विरुद्ध क्रियाओं में दोष लगाने वाला, (अथो) और भी (अरातिदूषिः)

उद्योगः। जङ्गिडः। म० १। पापभक्षकः परमेश्वरः। औषधम्। अभि। अभितः, सर्वतः। रक्षताम्। उभौ पालयताम्। अरण्यात्। अर्तेर्निच्च। उ० ३। १०२। इति ऋ गतौ-अन्यप्रत्ययः। ऋच्छन्ति गच्छन्ति तपस्विनो यत्र। यद्वा। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति नञ्+रम-यत्। अरमणं शरीरश्रमो यत्र। तपः साधनात् विद्याभ्यासात्। अन्यः। माछाससिभ्यो यः। उ० ४। १०६। इति अन जीवने-यः। एकतरः। आभृतः। अ० १। ६। ४। हस्य भः। आहृतः। आनीतः। कृष्याः। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति कृष विलेखने-इन्, स च कित्। कर्षणात्। अनुसन्धानात्। अन्वेषणात्। रसेभ्यः। पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा० ३। ३। ११८। इति रस आस्वादे, स्नेहे-घ। रस्यते अनुभूयत इति रसः। रसानां वीर्याणां प्राप्तये। अथवा। आनन्दानामनुभवाय ॥

६—कृत्यादूषिः। विभाषा कृवृषोः। पा० ३। १। १२० इति कृञ्

अदानशीलों [कंजूसों] में दोष लगानेवाला है। (अथो) और भी (सहस्वान्) वही महाबली (जङ्गिडः) रोग भक्षक परमेश्वर वा औषध (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ती वाला करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कुचाली मनुष्य विरुद्ध मार्ग में चलते और सत्य पुरुषार्थों में आत्मदान अर्थात् ध्यान नहीं करते, वे ईश्वर नियम से महा दुःख उठाते हैं। सत्य पराक्रमी और पथ्य सेवी पुरुष उस महाबली परमेश्वर के गुणों के अनुभव से अपने जीवन को बढ़ाते हैं, अर्थात् संसार में अनेक प्रकार से उन्नति करके आनन्द भोगते और अपना जन्म सफल करते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । १—३ अनुष्टुप्, ४—७ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यः सदैवोन्नतिप्रयत्नं कुर्य्यात्—मनुष्य सदैव उन्नति का उपाय करता रहे ॥

इन्द्र॑ जु॒षस्व॒ प्र व॒हा या॑हि शूर॒ हरि॑भ्याम् ।
पिबा॑ सु॒तस्य॑ म॒तेरि॒ह मधो॑श्चका॒नश्चारु॒र्मदा॑य ॥१॥

इन्द्र॑ । जु॒षस्व॑ । प्र । व॒ह॒ । आ । या॒हि॒ । शू॒र॒ । हरि॑-भ्याम् ।
पिब॑ । सु॒तस्य॑ । म॒तेः । इ॒ह । मधोः॑ । च॒का॒नः । चारुः॑ । मदा॑य ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन्! (जुषस्व) तू प्रसन्न हो,

---

हिंसायाम्—क्यप् तुक् च, टाप् च। अच इः। उ० ४। १३९। दुष वैकृत्ये-णय-न्तात् इ प्रत्ययः। कृत्यायाः। हिंसाया दूषको निवारकः। अथो। ओत्। पा० १। १। १५। इति प्रगृह्यत्वात् सन्धिनिषेधः। अपि च। अरातिदूषिः। अरातिः। अ० १। २। २। न+रा दाने-क्तिच्। आरातयोऽदानकर्माणो वाऽदान-प्रज्ञा वा- निरु० ३। ११। दूषिः-इति गतम्। अदातॄणां कृपणानां शत्रूणां दूषको नाशकः। आयूंषि। अ० १। ३०। ३। जीवनानि। प्र+तारिषत्। प्र पूर्व-स्तरतिर्वृद्ध्यर्थः। लेट्। सिप् बहुलं लेटि। पा० ३। १। ३४। इति सिप्। सिपो णिद्वद्भावाद् वृद्धिः। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। आडागमः। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु। पा० ३। ४। ९७। इकार लोपः। प्रवर्धयेत्॥

१—इन्द्र। अ० १। २। ३। इदि परमैश्वर्ये-रन्। हे परमैश्वर्यवन् राजन्।

(प्र वह) आगे बढ़, (शूर) हे शूर ! (हरिभ्याम्) हरणशील दिन और रात अथवा प्राण और अपान के हित के लिये (आ याहि) तू आ। (चारुः) मनोहर स्वभाव वाला, (मदाय) हर्ष के लिये (चकानः) तृप्त होता हुआ तू, (इह) यहांपर (मतेः) बुद्धिमान पुरुष के (सुतस्य) निचोड़ के (मधोः) मधुर रस का (पिब) पान कर ॥१॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सदा प्रसन्न रहकर उन्नति करे और करावे। और सब के (हरिभ्याम्) दिन और रात अर्थात् समय को, और प्राण और अपान वायु अर्थात् जीवन को परोपकार में लगावे और बुद्धिमानों के ज्ञान के सारांश [निचोड़] के रस का ग्रहण करके आनन्द भोगे ॥१॥

म० १—३, सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक ३. अर्धप्रपाठक १ तृच २२ में कुछ भेद से हैं ॥

इन्द्रं जुठरं नव्यो न पृणस्व मधोर्दिवो न ।
अस्य सुतस्य स्व१र्णोपं त्वा मदाः सुवाचो अगुः ॥२॥

इन्द्रं । जुठरंम् । नव्यः । न । पृणस्व । मधोः । दिवः । न ।
अस्य । सुतस्यं । स्वः । न । उपं । त्वा । मदाः । सु-वाचः । अगुः ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (नव्यः) नवीन [बहुत तृषित] के (न)

मनुष्य। जुषस्व। जुषी प्रीतिसेवनयोः-लोट्। प्रीयस्व। हृष्टो भव। प्रवह। प्रगच्छ। शूर। शुसिचिमीनां दीर्घश्च। उ० २। २५ इति शु गतौ-क्रन्। शवति वीर्यं प्राप्नोतीति। यद्वा, शूर विक्रमे उद्यमे-अच्। हे वीर। हरिभ्याम्। हृपिषि रुहिवृति०। उ० ४। ११९। इति हृञ् हरणे-इन्। हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च। हरतीति हरिः सूर्यः, चन्द्रः, वायुः, इति कोषे। द्विवचनत्वात् सूर्यचन्द्राभ्याम् तयोरुपलक्षितदिनरात्रिहिताय। अथवा, वायुभ्याम् प्राणापानाभ्यां तयोरुपलक्षितजीवनहिताय। हरिभ्यां हरणसाधनाभ्यामहोरात्राभ्यां कृष्णशुक्लपक्षाभ्याम्-इति श्रीमद् दयानन्दभाष्ये, ऋ० १। ३५। ३। सुतस्य। षुञ् अभिषवे, यद्वा, षु प्रसवैश्वर्ययोः-क्त। अभिषवस्य, सारस्य ऐश्वर्यस्य। मतेः। क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३।३।१७४। इति मन् बोधे-क्तिच्। मतयः, मेधाविनामसु-निघ० ३। १५। मेधाविनः पुरुषस्य। मधोः। मधुररसस्य। चकानः। चक तृप्तौ-शानच्। तृप्तिकामः। चारुः। दृसनिजनिचरिचटिभ्यो ञुण्। उ० १।३। इति चर गतौ-ञुण्। शोभनस्वभावः, मनोज्ञः ॥

२—जठरम्। जायते गर्भो मलं वा अस्मिन्निति जठरः। जनेररष्ठच। उ०

समान, (दिवः) स्वर्ग के (न) सदृश (मधोः) मधुर रस से (जठरम्) अपने उदर को (पृणस्व) तृप्त कर । (अस्य) इस (सुतस्य) निचोड़ [तत्त्व] के (सुवाचः) सुन्दर वाणियों से युक्त (मदाः) आनन्द (स्वर्) स्वर्ग में (न) जैसे [वर्त्तमान] (त्वा) तुझको (उप अगुः) उपस्थित हुये हैं ॥ २॥

भावार्थ—राजा विद्वानों के साथ संभाषण करके बड़ी प्रीति से नीति का सारांश ग्रहण करके आनन्द प्राप्त करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र में तीन (न) सदृशता वाची हैं, और मन्त्र ३ में दो हैं ।

इन्द्र॑स्तु॒रा॒षाण्मि॒त्रो वृ॒त्रं यो ज॒घान॑ य॒तीर्न॑ ।
बि॒भेद॑ व॒लं भृ॒गुर्न स॑स॒हे॒ शत्रू॒न् मदे॒ सोम॑स्य ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑। तु॒रा॒षाट् । मि॒त्रः । वृ॒त्रम् । यः । ज॒घान॑ । य॒तीः । न ।
बि॒भेद॑ । व॒लम् । भृगुः॑ । न । स॒स॒हे॒ । शत्रू॑न् । मदे॑ । सोम॑स्य ॥३॥

भाषार्थ—(यतीः) यति [यत्नशील] पुरुष के (न) समान (यः)

---

५ । ३८ । इति जन जननप्रादुर्भावयोः—अर, नस्य ठः । अथवा, जटति एकत्री भवति अन्नादिकमत्र । जट संहतौ–अर, टस्य ठः । उदरम् । **नव्यः** । नूयते स्तूयत इति । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । इति णु स्तुतौ–यत् । यद्वा, नवएव । स्वार्थे यत् । नूतनः । स्तुत्यः । **न** । उपमार्थे । अग्निर्न ये भ्राजसा, अग्निरिव-निरु० । ३ । १५ । इव । यथा । **पृणस्व** । पृण तृप्तीकरणे । तर्पय । पूरय । **मधोः** । तृतीयार्थे षष्ठी । मधुररसेन । **दिवः** । स्वर्गस्य । अत्यानन्दस्य । **सुतस्य** । म० १ । तत्त्वस्य । **स्वर्** । अव्ययं व्याहृतिविशेषश्च । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति सु+ऋ गतौ–विच् । यद्वा । स्वृ शब्दोपतापयोः—विच् । स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः स्वृतो रसान् स्वृतो भासं ज्योतिषां स्वृतो भासेति वा–निरु० २ । १४ । स्वर्गे आनन्दविशेषे वर्त्तमानम् । **मदाः** । मदि स्तुति मोद मद स्वप्न कान्ति गतिषु–अच् । आमोदाः । हर्षाः । **सुवाचः**। शोभना वाचा येषां ते । शोभनस्तुतियुक्ताः । **अगुः** । इण् गतौ–लुङ् । इणो गा लुङि पा० २ । ४ । ४५ । गतवन्तः । प्राप्तवन्तः ॥

३—**तुराषाट्** । तुतोर्त्ति वेगेन गच्छतीति तुरः, वेगवान् । तुर वेगे-क ।

जिस (तुराषाट्) शीघ्र जीतने वाले, (मित्रः) सब के प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (वृत्रम्) अन्धकार वा डांकू को (जघान) नाश किया था। (भृगुः) ज्ञान में परिपक्व ऋषि के (न) सदृश उस ने (वलम्) हिंसक दैत्य को (बिभेद) तोड़ फोड़ डाला. और (सोमस्य) अपने ऐश्वर्य [ठाट] के (मदे) मद में (शत्रून्) शत्रुओं को (ससहे) हराया था ॥ ३ ॥

भावार्थ—महा प्रतापी राजा बड़े बड़े यत्न वाले और बुद्धिनिपुण वीरों का अनुकरण करके विरोधी शत्रुओं और अज्ञान का नाश करके प्रजा को आनन्द देते और आप आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

(यतीः) पद के स्थान में सामवेद में उपरोक्त पते पर [यतिः] पद है ॥

अथवा, घञर्थे भावेक। वेगः। तुरं वेगवन्तं शत्रुं वेगेन सहते अभिभवतीति तुराषाट्। तुर+षह अभिभवे, णिच्-क्विप्। सहेः साडः सः।पा० ८। ३।५६। इति षत्वम्। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति पूर्व पदस्य दीर्घः। शीघ्रं शत्रूणामभिभविता। **मित्रः**। अ० १। ३।२। स्नेहवान्। अन्धकारस्य क्षेपको नाशकः। **वृत्रम्**। अ० १। २१। १। वृतु वर्त्तने-रक्। यद्वा, वृञ्-क्त उ० ४। १६४। तत् को वृत्रो मेघ इति नैरुक्तास्त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः— निरु० २। १६। त्वाष्ट्रः=त्वष्टुः सूर्याज्जातः। अन्धकारम्। शत्रुम्। **जघान**। हतवान्। **यतीः**। अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः। उ० ३। १५८। इति यत प्रयत्ने— ईप्रत्ययः। प्रयत्नवान्। तापसः। यतिः **बिभेद**। भिन्नवान्। **वलम्**। वल दाने वधे जीवने च-अच्। हिंसकं दैत्यम्। **भृगुः**। तपसा भृज्यते। प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। उ० १। २८। इति भ्रस्ज पाके-कु। न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वं च। परिपक्वः। ज्ञानपरिपक्वः। ऋषिः। मुनिः। **ससहे**। षह अभिभवे— लिट्। अभिभूतवान् जितवान् **शत्रून्**। रुशातिभ्यां क्रुन्। उ० ४। १०३। इति शातिः क्रुन्। शति सौत्रो धातुर्हिंसार्थः—इति सायणः, ऋ० १। ५। ४। इति शत शाते=पतने पातने-क्रुन्। नित्त्वादाद्युदात्तः। शातकान्, निपातकान्। रिपून्। **सोमस्य**। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृ०। उ० १। १४०। इति प्रसवैश्वर्ययोः— मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। ऐश्वर्यस्य ॥

आ त्वा विशन्तु सुतास इन्द्र पृणस्व कुक्षी विड्ढि शक्र धियेह्या नः। श्रुधी हवं गिरो मे जुषस्वेन्द्र स्वयुग्भिर्मत्स्वेह महे रणाय ॥ ४ ॥

आ। त्वा। विशन्तु। सुतासः। इन्द्र। पृणस्व। कुक्षी इति। विड्ढि। शक्र। धिया। इहि। आ। नः। श्रुधि। हवम्। गिरः। मे। जुषस्व। आ। इन्द्र। स्वयुक्-भिः। मत्स्व। इह। महे। रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन्! (सुतासः) यह निचोड़े हुये रस (त्वा) तुझ में (आ) यथाविधि (विशन्तु) प्रवेश करें, (कुक्षी) दोनों कुक्षियों को (पृणस्व) तू भर, और (विड्ढि=विध) शासन कर, (शक्र) हे शक्तिमान् (धिया) [अपनी अनुग्रह] बुद्धि से (नः) हमारे पास (आ+इहि=एहि) आ। (हवम्) पुकार (श्रुधि) सुन, (इन्द्र) हे राजन्! (मे) मेरी (गिरः) वाणियों को (जुषस्व) स्वीकार कर, और (स्वयुग्भिः) अपनी युक्तियों से (इह) यहां पर (महे) बड़े (रणाय) रण [जीतने] के लिये (आ) यथा-नियम (मत्स्व) हर्षित हो ॥ ४ ॥

४। आ+विशन्तु। प्रविशन्तु। सुतासः। षुञ् अभिषवे-क्त। आज्जसेरसुक्। पा० ७। १। ५०। अभिषुताः सोमाः। पृणस्व। म० २। तर्पय। कुक्षी। सुषि कुपि शुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। इति कुष निष्कर्षे-क्सि। दक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयम्। आत्मानमित्यर्थः विड्ढि। विध विधाने=शासने तुदादिः। लोटि छान्दसः श विकरणस्य लुक्। हेर्ध्यादिशे ढत्वष्टुत्वजश्त्वानि। त्वं विध विधानं शासनं कुरु। शक्र। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०। उ० २। १३। इति शक्लृ शक्तौ-रक्। शक्नोतीति। हे शक्तिमन्। हे समर्थ। धिया। ध्यै चिन्तने-क्विप्। सम्प्रसारणं च। धीः, कर्मनाम निघ० २। १। प्रज्ञानाम-निघ० ३। ९। प्रज्ञया। बुद्ध्या। श्रुधि। श्रु श्रवणे। विकरणस्य लुक्। श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि पा० ६। ४। १०२। इतिहेर्धिरादेशः। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति सांहितिको दीर्घः। शृणु। हवम्। अ० १। १५। २। ह्वेञ्

भावार्थ—राजा अनेक श्रेष्ठ विद्याओं के रस से अपने आत्मा को सन्तुष्ट करे, और न्याय पूर्वक प्रजा की रक्षा करता हुआ शत्रुओं को जीतकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (विड्ढि) के स्थान में [वृड्ढि = वर्धय] है ॥

इन्द्र॑स्य॒ नु प्र वो॑चं वी॒र्या॑णि॒ यानि॑ च॒कार॑ प्रथ॒मानि॑ व॒ज्री । अह॒न्नहि॒मन्व॒पस्त॑तर्द॒ प्र व॒क्षणा॑ अभिन॒त् पर्व॑तानाम् ॥५॥

इन्द्र॑स्य । नु । प्र । वो॒च॒म् । वी॒र्या॑णि । यानि॑ । च॒कार॑ । प्र॒थ॒मानि॑ । व॒ज्री । अह॑न् । अहि॑म् । अनु॑ । अ॒पः । त॒त॒र्द॒ । प्र । व॒क्षणाः॑ । अ॒भि॒न॒त् । पर्व॑तानाम् ॥५॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवाले पुरुष के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं; (यानि) जिन (प्रथमानि) प्रसिद्ध, अथवा प्रथम श्रेणि के अति श्रेष्ठ कर्मों को (वज्री) उस वज्रधारी पुरुषने (चकार) किया था। [अर्थात्] (अहिम्) सर्प के समान [हनन करने वाले], अथवा,

आह्वाने-अप्। आह्वानम्। अवाहनम्। गिरः। गॄ शब्दे-क्विप्। गृणाति = अर्चति निघ० ३। १४। वाचः। वाक्यानि। जुषस्व। सेवस्व। स्वीकुरु। स्वयुग्भिः। स्व+युजिर् समाधौ, यद्वा० । युज संयमने— क्विप्। युज्यते समाधत्ते, यद्वा, योजयति नियमयतीति युक्। स्वयुक्तिभिः। आत्मीयैः समाधिमद्भिः संयोगवद्भिर्वा मित्रैः। मत्स्व। मदी हर्षे। छान्दसम् आत्मनेपदम्। हृष्टो भव। महे। मह पूजायां-क्विप्। महते। रणाय। रमणाय। आनन्दाय। यद्वा। युद्धजयाय ॥

५—इन्द्रस्य। ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य। नु। क्षिप्रम्-निघ० २। १५। प्रा। निपातस्य च। पा० ६। ३। १३६। इति दीर्घः। ऋग्वेदे तु (प्र) इति पाठः। प्रकर्षेण। वोचम्। वच्, वा, ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि। आशीर्लिङि छान्दसं रूपम्। अहम् उच्यासम्। वीर्याणि। अ० १। ७।५। वीरकर्माणि। पराक्रमान्। प्रथमानि। अ० १। १२। १। प्रथितानि। प्रख्यातानि। सुप्रसिद्धानि। अन्यैः पूर्वकृतानि। वज्री। ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०। उ० २। २८। इति वज गतौ-रन् प्रत्यान्तो निपात्यते। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति वज्र-इनि। वज्रविशिष्टः। कुलिशयुक्तः।

बादल के समान [प्रकाश रोकने वाले] हिंसक जन को (अहन्) उस ने मार डाला, (अनु) अनुक्रम से (अपः) [उस दुष्ट के] कर्म का (ततर्द) अपमान किया, और (पर्वतानाम्) मेघों के समान [अन्धकार से छाये हुए], अथवा पहाड़ों के समान [दृढ़ स्वभाव वाले] दुराचारियों की, अथवा, पहाड़ों में गुप्त (वक्षणाः) रुष्ट वा क्रुद्ध सेनाओं को (प्र) सर्वथा (अभिनत्) छिन्नभिन्न करदिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व कालीन (इन्द्र) प्रतापी और (वज्री) तेजस्वी नीति कुशल पुरुषों का यश कीर्तन इतिहास द्वारा करें, और उनका अनुकरण करके कुरीतियों के त्याग और सुरीतियों के प्रचार से आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

मन्त्र ५-७ ऋग्वेद में हैं—मं० १ सू० ३२ म० १-३ ॥

(प्रा) के स्थान पर ऋग्वेद में (प्र) है ।

ईसाइयों की नवीन धर्म पुस्तक (New Testament) मत्ती, पर्व १२ वाक्य ३४ में " सांप"-बुरे पुरुष के लिये आया है । "हे सांपों के वंश ! तुम बुरे होके अच्छी बातें क्योंकर कह सकते हो क्योंकि जो मन में भरा है उसी को मुंह से बोलता है" ॥

दण्डवान् । अहन् । हन हिंसागत्योः—लङ् । हतवान् । अहिम् । आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ्+हन हिंसागत्योः—इण्, स च डित् । आङो ह्रस्वत्वम् । धार्मिकाणाम् आहन्तारम् । सर्पम् । सर्पवत् क्लेशप्रदम् । अहिः, मेघनाम-निघ० १ । १० । मेघवत् प्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । अनु । अनुक्रमेण । अपः । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-असुन् । कर्मनाम-निघ० २ । १ । तस्य अपः दुष्टकर्म, इत्यर्थः । ततर्द । उतृदिर् हिंसानादरयोः-लिट् । जिहिंस । अनादृतवान् । तिरस्कृतवान् । वक्षणाः । क्रुधमण्डार्थेभ्यश्च । पा० ३ । २ । १५१ । इति वक्ष रोपे-युच् । चित्स्वरं बाधित्वा प्रत्ययस्वरः । रुष्टाः क्रुद्धाः सेनाः । प्र-अभिनत् । भिदिर् विदारणे-लङ् । भिन्नवान् । विदारितवान् । पर्वतानाम् । भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० । ३ । ११० । इति पूर्व पूरणे-अतच् । पर्वति पूर्यतीति पर्वतः । यद्वा, स्नामदिपद्यर्त्ति पॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पालन-पूरणयोः—वनिप् । पृणन्ति पालयन्ति अवयविनमिति पर्वाणि । तन् पर्वमरुद्भ्यां वक्तव्यः । वा० पा० ५ । २ । १२२ । इति पर्व-तन् मत्वर्थे । पर्वतः, मेघनाम-निघ० १ । १० । मेघवद् अन्धकारस्य वर्धकानाम् । यद्वा । शैलवद् दृढस्वभावान् । यद्वा । शैलानां मध्ये स्थितानाम् ॥

अहन्नहिं पर्वते शिश्रियाणं त्वष्टास्मै वज्रं स्वर्यं ततक्ष ।
वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमाना अञ्जः समुद्रमव जग्मुरापः ॥६॥

अहन् । अहिम् । पर्वते । शिश्रियाणम् । त्वष्टा । अस्मै । वज्रम् । स्वर्यम् । ततक्ष । वाश्राःऽइव । धेनवः । स्यन्दमानाः । अञ्जः । समुद्रम् । अव । जग्मुः । आपः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी] पुरुष ने (पर्वते) बादल [के समान प्रकाश रोकने वाले जन समूह] में, अथवा पहाड़ पर (शिश्रियाणम्) ठहरे हुये (अहिम्) सर्परूप वा मेघरूप [हिंसक वा प्रकाश रोकने वाले] को (अहन्) वध किया, (अस्मै) इस [प्रयोजन] के लिये (स्वर्यम्) ताप वा पीड़ा देने वाला (वज्रम्) वज्र (ततक्ष) उसने तीक्ष्ण किया। (वाश्राः) रंभाती हुयी (धेनवः इव) गौओं के समान, (स्यन्दमानाः) वेग से बहते हुये, (अञ्जः) प्रकट (आपः) जल [जलरूप प्रजा गण] (समुद्रम्) समुद्र में [राजा के पास] (अव) उतर कर (जग्मुः) पहुंच गये ॥ ६ ॥

६—अहन् । म० ५ । हतवान् । अहिम् । म० ५ । सर्वतो हननशीलम् । सर्पसमानहिंसकम् । मेघसमानप्रकाशनिरोधकं पुरुषम् । पर्वते । म० ५ । जातावेकवचनम् । पर्वतेषु । मेघसमानान्धकारवर्धकेषु पुरुषेषु । यद्वा, शैलप्रदेशे स्थितम् । शिश्रियाणम् । श्रिञ् सेवायां-लिटः कानच् । चित्वाद् अन्तोदात्तः । आश्रितम् । त्वष्टा । त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वास्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्याद् करोतिकर्मणः-निरु० ८ । १३ । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृ० । उ० २ । ९६ । इति त्वक्ष तनूकरणे-तृन् । नित्वाद् आद्युदात्तः । व्यवहाराणां तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी । विश्वकर्मा । इन्द्रः पुरुषः । अस्मै । अस्मै प्रयोजनाय । अहेर्हननायेत्यर्थः । वज्रम् । म० ५ । कुलिशम् । स्वर्यम् । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति स्वृ शब्दोपतापयोः—घ । यद्वा । नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति स्वर आक्षेपे-अच् । ततः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति स्वरे उपतापे पीड़ने यद्वा, शत्रूणाम् आक्षेपे तिरस्करणे साधुं योग्यम् । ततक्ष । तक्ष तनूकरणे-लिट् । तनूकृतवान् । तीक्ष्णं

भावार्थ—पूर्वज विवेकी राजाओं ने दण्ड व्यवस्था स्थापन करके अपने प्रकट और गुप्त शत्रुओं को मारा, तब प्रजा गण प्रसन्न होकर उस हितकारी राजा को अभिनन्दन देने गये, जैसे रंभाती हुयी गौयें बछड़ों के पास, अथवा वृष्टि के जल एकत्र होकर समुद्र में दौड़ कर जाते हैं। इसी प्रकार सब राजा और प्रजा गण परस्पर रहकर आनन्द मनाते रहें॥ ६॥

मनु जी ने कहा है-अ० ७ श्लोक १८।

दण्डः शास्ति सर्वाः प्रजा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥ १॥

दण्ड ही सब प्रजा पर शासन रखता, दण्ड ही सब ओर से रक्षा करता, दण्ड ही सोते मुओं में जागता है, विद्वान् लोग दण्ड को धर्म जानते हैं॥

वृषायमाणो॑ऽवृणीत् सोमं॒ त्रिक॑द्रुकेष्वपिबत्सुतस्य॑।
आ साय॑कं म॒घवा॑दत्त॒ वज्र॒मह॑न्नेनं प्रथम॒जामही॑नाम्॥७॥

वृष॒-यमा॑नः। अ॒वृ॒णी॒त॒। सोम॑म्। त्रि-क॑द्रुकेषु। अ॒पि॒ब॒त्। सु॒तस्य॑। आ। साय॑कम्। म॒घ-वा॑। अ॒द॒त्त॒। वज्र॑म्। अह॑न्। ए॒न॒म्। प्र॒थ॒म॒-जाम्। अही॑नाम्॥७॥

भाषार्थ—(वृषायमाणः) ऐश्वर्यवाले के समान आचरण करते हुये पुरुष

चकार। वाश्राः। स्फायितञ्चिवञ्चिशकि०। उ० २। १३। इति वाशृ शब्दे-रक्। शब्दायमानाः। वत्सान् प्रति हंभारवयुक्ताः। धेनवः। धेट इच्च। उ० ३। ३४। इति धेट् पाने-नु। नवप्रसूता गावः। स्यन्दमानाः। स्यन्दू प्रस्रवणे-लटः शानच्। प्रस्रवन्त्यः। प्रवहन्त्यः। अञ्जः। अञ्जू व्यक्तिगति म्रक्षणेषु-क्विप्। व्यक्ताः। गमनशीलाः। समुद्रम्। अ० १। १३। ३। इति सम्+उन्दी क्लेदने-रक्। जलाधारम्। सागरम्। अन्तरिक्षम्। अव। नीचैः। अधस्तात्। अनायासेन। जग्मुः। गम्लृ-लिट्। प्रापुः। आपः। अ० १। ५। १। जलानि॥

७—वृषायमाणः। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति

ने (सुतस्य) उत्पन्न संसार के (त्रिकद्रुकेषु) तीन आवाहनों [उत्पत्ति, स्थिति और विनाश, अथवा, शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति के विधानों] के निमित्तों में (सोमम्) ऐश्वर्य वा अमृत रस [कीर्त्ति] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया और (अपिबत्) पान किया [आत्मा में दृढ़ किया] । (मघवा) उस पूजनीय पुरुष ने (सायकम्) काटने वाले बाण वा खड्ग और (वज्रम्) वज्र हथियार को (आ अदत्त) लिया और (अहीनाम्) बड़े घातकों [प्रकाश नाशक] मेघ वा सर्प रूप असुरों के बीच (प्रथमजाम्) प्रधानता से प्रसिद्ध अर्थात् अग्रगामी (एनम्) इस [समीपस्थ अर्थात् आत्मा में स्थित हुए] को (अहन्) मार डाला॥

भावार्थ—इस सूक्त के तीन मन्त्रों में ५-७ (इन्द्र) का (अहि) के मार कर उन्नति करने का वर्णन है और मन्त्र ७ में (त्रिकद्रुकेषु) पद तीन आवाहनों का द्योतक है। इसका प्रयोजन यह है कि जैसे तपस्वी, धैर्यवान्, शूर वीर पुरुषों ने जितेन्द्रिय वशिष्ट होकर अपने आत्मिक, कायिक और सामाजिक शत्रु कुक्रोध आदि को मारा, उन्हों ने ही संसार की वृद्धि, पालन और नाश के कारण को खोजा, और तीन प्रकार की आत्मिक, शारीरिक और

वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु-क । कर्तुः क्यङ् सं लोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति आचारे क्यङ् । अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः । पा० ७ । ४ । २५ । इति दीर्घः । ततः शानच् । वृष इव ऐश्वर्यवानिवाचरन् पुरुषः । **अवृणीत** । वृञ् संभक्तौ लङ् । वृतवान्, स्वीकृतवान् । **सोमम्** । अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । ऐश्वर्यम् । अमृतम् । कीर्त्तिम् । **त्रिकद्रुकेषु** । रुशातिभ्यां क्रुन् । उ० ४ । १०३ । इति त्रि+कदि आह्वाने—क्रुन् । समासान्तः कप् च । त्रयाणां संसारोत्पत्तिस्थितिविनाशानाम्, अथवा, शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीनां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु निमित्तेषु । **अपिबत्** । पीतवान् । अनुभूतवान् । **सुतस्य** । षु प्रसवैश्वर्ययोः—क्त । उत्पन्नस्य संसारस्य । **सायकम्** । स्यति नाशयतीति सायकः । एवुल् तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति षो अन्तकर्मणि-एवुल्, युक् आगमः । शत्रूणां घातकं बाणं खड्गं वा । **मघवा** । मह्यते पूज्यतेऽसौ । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति मह पूजायाम्-कनिन् । निपातनात् हस्य घः, अवुक् आगमश्च । पूज्यः पुरुषः । **आ-अदत्त** । लङि रूपम् । आङो दोऽनास्यविहरणे । पा० १ । ३ । २० । इत्यात्मनेपदम् । अगृह्णात् ।

सामाजिक उन्नति करके अमर अर्थात् महाकीर्त्तिमान् हुये, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर संसार में उन्नति करके कीर्त्ति पाकर अमर हो और आनन्द भोगें ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १—४, ५ परार्धस्त्रिष्टुप्, ५ पूर्वार्धोऽनुष्टुप् ॥

राजधर्मेण मनुष्यः प्रतापी तेजस्वी च भूयात्—राजनीति से मनुष्य प्रतापी और तेजस्वी होवे ॥

समास्त्वाग्न ऋतवो वर्धयन्तु संवत्सरा ऋषयो यानि सत्या । सं दिव्येन दीदिहि रोचनेन विश्वा आ भाहि प्रदिशश्चतस्रः ॥१॥

समाः । त्वा । अग्ने । ऋतवः । वर्धयन्तु । सम्-वत्सराः ऋषयः । यानि । सत्या । सम् । दिव्येन । दीदिहि । रोचनेन । विश्वाः । आ । भाहि । प्र-दिशः । चतस्रः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान्! (समाः) अनुकूल (ऋतवः) ऋतुयें और (संवत्सराः) वर्षें, और (ऋषयः) ऋषि लोग, और (यानि) जो (सत्या=सत्यानि तानि) सत्य कर्म हैं [वे सब] (त्वा) मुझ

स्वीकृतवान् । एनम् । समीपवर्तिनम् आत्मनि स्थितम् । प्रथमजाम् । अ० २ । १ । ४ । जन—विट्, आत्वं च । प्रथमेन प्रधानतया जातं प्रसिद्धम् । अहीनाम् । म० ५ । आहन्तॄणाम् असुराणां मध्ये । अन्यद् गत मस्मिन्नेव सूक्ते ॥

१—समाः । षम वैक्लव्ये-पचाद्यच् । अविषमाः । साधवः । अनुकूलाः । अग्ने ! हे ज्ञानिन् । अग्निवत्तेजस्विन् । कार्येषु व्यापनशील वा । ऋतवः ।

को (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (दिव्येन) अपनी दिव्य वा मनोहर (रोचनेन) झलक से (सम्) भले प्रकार (दीदिहि) प्रकाशमान हो, और (विश्वाः) सब (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशाओं को (आभाहि) प्रकाशमान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े प्रयत्न से अपने समय को यथावत् उपयोग से अनुकूल बनावें, ऋषि आप्त पुरुषों से मिल कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, और सत्यसंकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी सदा रहें। इस प्रकार संसार में उन्नति करें और कीर्त्तिमान् होकर प्रसन्न चित्त रहें ॥१॥

मन्त्र १-५ यजु० अ० २७ मन्त्र १-३, ५, ६ हैं। और वहां इनके ऋषि अग्नि माने हैं ॥

सं चे॒ध्यस्वा॑ग्ने॒ प्र च॑ वर्धये॒ममुच्च॑ तिष्ठ मह॒ते सौभ॑गाय। मा ते॑ रिषन्नुपस॒त्तारो॑ अग्ने ब्र॒ह्माण॑स्ते य॒शस॑ः सन्तु॒ मान्ये ॥ २ ॥

सम्। च। इ॒ध्यस्व॑। अग्ने॑। प्र। च॒। व॒र्धय॒। इ॒मम्। उत्। च॒। तिष्ठ॒। म॒हते। सौभ॑गाय। मा। ते॒। रि॒षन्। उ॒प॒-स॒त्तार॑ः। अग्ने॒। ब्र॒ह्माण॑ः। ते॒। य॒शस॑ः। स॒न्तु॒। मा। अ॒न्ये ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी विद्वान्! (सम्) भले

शर्तेश्च तुः। उ० २। ७८। इति ऋ गतौ-तु, किच्च। वसन्तादिकालाः। **वर्धयन्तु**। समर्धयन्तु। **संवत्सराः**। सम्यग्वसन्ति भूतानि यत्र। सं पूर्वाच्चित्। उ० उ० ३। ७२। इति सम्+वस निवासे- सरन्। चित्वादन्तोदात्तः। द्वादशमासात्मकाः कालाः। वर्षाः। **ऋषयः**। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति ऋष गतौ दर्शने च-इन्, किच्च। ऋषति प्राप्नोति सर्वान् मन्त्रान्, ज्ञानेन पश्यति संसारं परमात्मानं च वा स ऋषिः। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान् सम्प्रादुः-निरु० १। २०। ऋषिर्दर्शनात्-निरु० २। ११। साक्षात्कृतधर्माणः। आप्ताः। सन्मार्गदर्शकाः। **सत्या**। शेर्लोपः। सत्यानि। सत्यकर्माणि। **दिव्येन**। अ० २। १। २। छन्दसि च। पा० ६। १। ६७। इति दिव- य प्रत्ययः। मनोज्ञेन। **दीदिहि**। बहुलं छन्दसि पा० २। ४। ७६। दिवु दीप्तौ-शपः श्लुः। तुजादीनां दीर्घो०। पा० ६।१।७। इत्यभ्यासस्य दीर्घः। दीप्य। दीप्यस्व। **रोचनेन**। रुच दीप्तौ भावे ल्युट्। दीप्त्या। प्रकाशेन। **आभाहि**। भा दीप्तौ अन्तर्भावितण्यर्थः। भापय। दीपय। **प्रदिशः**। प्रकृष्टाः प्राच्याद्या महादिशाः॥

२—**इध्यस्व**। इन्धी दीप्तौ कर्मकर्तरि यकि। अनिदिताम्०। पा० ६।४।२४।

प्रकार (इध्यस्व) प्रकाशमान हो, (च) और (इमम्) इस समाज] को (प्र+वर्धय) समृद्ध कर, (च) और (महते) बहुत (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (उत् +तिष्ठ) उठकर खड़ा हो। (अग्ने) हे विद्वान् (ते) तेरे (उपसत्तारः) पास बैठने हारे [उपासक] (मा रिषन्) कभी दुःख न पावें, (ते) तेरे [समीपवर्त्ती] (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले ब्राह्मण (यशसः = यशसाः) यशस्वी (सन्तु) होवें, और (अन्ये) दूसरे (मा = मा सन्तु) न होवें ॥२॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि ब्रह्मचर्य से आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, शिल्पविद्या, युद्धविद्या आदि सामान्य और विशेष विद्याओं में निपुण होकर अपने सभासदों को निपुण करे, और विद्वानों का सत्कार और अविद्वानों का तिरस्कार करता हुआ सदा आनन्दयुक्त रहे ॥ २ ॥

यजुर्वेद में (वर्धय, इमम्) के स्थान में [बोधय एनम्] और (ते, रिषन, उपसत्तारः) के स्थान में [च, रिषत् उपसत्ता] पाठ है ॥

त्वाम॑ग्ने वृणते ब्राह्म॒णा इ॒मे शि॒वो अ॑ग्ने सं॒वर॑णे भवा नः। स॒प॒त्न॒हाग्ने॑ अभिमाति॒जिद् भ॑व॒ स्वे गये॑ जागृह्यप्रयु॑च्छन् ॥ ३ ॥

त्वाम् । अ॒ग्ने॒ । वृ॒ण॒ते॒ । ब्रा॒ह्म॒णाः । इ॒मे । शि॒वः । अ॒ग्ने॒ । स॒म्-वर॑णे । भ॒व॒ । नः॒ । स॒प॒त्न॒-हा । अ॒ग्ने॒ । अ॒भि॒मा॒ति॒-जित् । भ॒व॒ । स्वे । गये॑ । जा॒गृ॒हि॒ । अप्र॑-यु॒च्छ॒न् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्निवत् तेजस्वी राजन्! (इमे) ये (ब्राह्मणाः) वेदवेत्ता

इति न लोपः । इन्त्स्व । दीप्यस्व । वर्धय । समर्धय । इमम् । समीपस्थं जनम् । उत्-तिष्ठ । उत्साहवान् सन्नद्धो भव । महते । महि वृद्धौ, दीप्तौ-अति । विपुलाय । सौभगाय । भगः = धनम्-निघ० २ । १० । सु + भग-भावे अण् । सुभगत्वाय । उत्तमैश्वर्याय । मा रिषन् । रिष हिंसायाम् । कर्मण्यर्थे । मा दुःखिता भवन्तु । उपसत्तारः । ण्वुल्तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति उप+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-तृच् । उपसदनशीलाः, उपासकाः । सेवकाः ब्रह्माणः । बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ-मनिन् । नस्य अकारः । वेदवेत्तारः । ब्राह्मणाः । यशसः । अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति यशस्-अच् मत्वर्थे । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इत्येकवचनं बहुवचने । यशसाः । यशस्विनः ॥

३—वृणते । वृञ् संभक्तौ । संभजन्ते । स्वीकुर्वन्ति । ब्राह्मणाः ।

विद्वान् लोग (त्वा) तुझ को (वृणते) चुनते हैं, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (नः) हमारे (संवरणे) चुनाव में (शिवः) मंगलकारी (भव) हो। (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने वाला और (अभिमातिजित्) अभिमानियों का जीतने वाला (भव) हो, और (स्वे) अपने (गये) सन्तान पर वा धन पर वा घर अर्थात् अधिकार में (अप्रयुच्छन) चूक न करता हुआ, (जागृहि) जागता रह ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ता चतुर सभासद् ऐसे पुरुषार्थी विद्वान् को अपना राजा वा प्रधान बनावें कि जो सब दोषों और दुष्टों को मिटाकर अपने अधिकार को सावधान होकर चलावे, जिसमें सब राजा और प्रजा आनन्दयुक्त रहें ॥३॥

यजुर्वेद में (अग्ने अभिमातिजित् भव) के स्थान में [नः अभिमातिजित् च] पाठ है ॥ ३ ॥

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने॒ स्वेन॒ सं र॑भस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मित्र॒धा य॑तस्व ।
स॒जा॒तानां॑ मध्यमे॒ष्ठा राज्ञा॑मग्ने वि॒हव्यो॑ दीदिही॒ह ॥४॥

क्ष॒त्रेण॑ । अग्ने॒ । स्वेन॑ । सम् । र॒भ॒स्व॒ । मि॒त्रेण॑ । अग्ने॒ । मि॒त्र॒-धाः । य॒त॒स्व॒ । स॒-जा॒तानाम् । म॒ध्य॒मे॒-स्थाः । राज्ञा॑म् । अग्ने॒ । वि॒-ह॒व्यः॑ । दी॒दि॒हि॒ । इ॒ह ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन् (स्वेन) अपने (क्षत्रेण) क्षत्रिय,

---

ब्रह्म वेदः परमेश्वरो वा । ब्रह्म जानातीति ब्राह्मणाः । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इति ब्रह्म-अण् । वेदविदः । ब्रह्मज्ञानिनः । **शिवः** । सर्वनिघृष्वरिष्वलष्वशिव० । उ० १ । १५३ । इति शीङ् शयने, अथवा शिञ् छेदने-वन् । निपातानात् साधुः । शेरते शुभगुणा यत्र, यद्वा, शिनोति छिनत्ति दुःखानि यः । मङ्गलकारी । **संवरणे** । सद्वरणे । सम्यक् स्वीकरणे । **भवा** । भव । द्व्यचोऽतस्तिङः । पा० ६ । ३ । १३५ । इति दीर्घः । **सपत्नहा** । अ० १ । २९ । ५ । शत्रुहन्ता । **अभिमातिजित्** । अभि+मा माने कर्त्रि क्तिच्+जि क्विप्, तुक् च । अभिमानिनां जेता । **गये** । अन्त्याद्यथ । उ० ४ । ११२ । इति गम्लृ वा गाङ् गतौ, वा गै गाने-यक् । गच्छति पितृवंशं गीयते वा । गयः=अपत्यम्—निघ० २ । २ । धनम्-निघ० २ । १० । गृहम्-निघ० ३ । ४ । अपत्ये । धने । गृहे, पदे, अधिकारे । **जागृहि** । प्रबुद्धो भव । **अप्रयुच्छन** । युच्छ प्रमादे-शतृ । अप्रमाद्यन् । सावधानो भवन् ॥

४-**क्षत्रेण** । गुधृवीपचिवचियमिसदिक्षदिभ्यस्त्रः । उ० ४ । १६७ । इति क्षद

धर्म वा धन के साथ (संरम्भस्व) उत्साह कर, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधाः) मित्रों का पुष्ट करने वाला होकर (यतस्व) प्रयत्न कर। और (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (सजातानाम्) तुल्य जन्म वालों के बीच (मध्यमेष्ठाः) पंचों में बैठने वाला, और (राज्ञाम्) क्षत्रियों के बीच में (विहव्यः) विशेष करके आवाहन योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो॥ ४॥

भावार्थ—नीति कुशल राजा धर्म कार्यों में स्फूर्ति रक्खे, और हितकारियों के साथ हित करे और सदैव न्याययुक्त व्यवहार रक्खे, जिस से सब छोटे और बड़ों में प्रेम के साथ उसकी कीर्ति बढ़े॥ ४॥

यजुर्वेद अध्याय २७ म० ५। में ऐसा पाठ है।

क्ष॒त्रेणा॑ग्ने स्वायुः सꣳरभस्व मि॒त्रेणा॑ग्ने मित्र॒धेये॑ यतस्व।
स॒जा॒ता॒नां॑ मध्यम॒स्था ए॑धि॒ राज्ञा॑मग्ने विह॒व्यो॑ दीदिही॒ह॥

(अग्ने) हे अग्नि के तुल्य तेजस्विन् विद्वन्! (क्षत्रेण) राज्य वा धन के साथ (स्वायुः = सु-आयुः) सुन्दर जीवन (सम् रभस्व) अच्छे प्रकार आरम्भ कर। (अग्ने) हे तेजस्विन्! (मित्रेण) मित्र वर्ग के साथ (मित्रधेये) मित्रों के धारण करने में (यतस्व) यत्न कर। (सजातानाम्) समान अवस्था वालों में (मध्यमस्थाः) मध्यस्थ (एधि) हो, (अग्ने) हे न्याय प्रकाशक! (राज्ञाम्) राजाओं के बीच (विहव्यः+सन्) विशेषकर बुलाने योग्य होकर (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशित हो॥

गतिहिंसनयोः, रक्षणे, च-त्रप्रत्ययः। बलेन, क्षत्रियत्वेन। धनेन-निघ० २। १०। अग्ने। तेजस्विन् विद्वन्। सम्-रभस्व। रभ राभस्ये = उत्सुकीभावे। संरम्भं उत्साहं कुरु। मित्रेण। सुहृद्गणेन। मित्रधाः। मित्र+धाञ्-क्विप् मित्राणां पोषकः सन्। यतस्व। यती प्रयत्ने। प्रयत्नं कुरु॥ सजातानाम्। समानजन्मनाम्। तुल्यावस्थानाम्। मध्यमेष्ठाः। मध्ये भवो मध्यमः। मध्यान्मः पा० ४। ३। ८। इति मध्य-म। ष्ठा गति निवृत्तौ-क्विप्। वा क्विप् तत्पुरुषे, कृति बहुलम्। पा० ६। ३। १४। इत्यलुक्। सुषामादिषु च। पा० ८। ३। ९८ इति षत्वम्। मध्यमेषु न्यायकारिषु प्रधानेषु स्थितः। राज्ञाम्। ईश्वराणां क्षत्रियाणां मध्ये। विहव्यः। ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु। पा० ३। ३। ७२। इति ह्वेञ् आह्वाने अप् संप्रसारणं च। ततः। भवे छन्दसि। पा० ४। ४। ११०। इति यत्। विविधमाह्वातव्यः। दीदिहि। म० १। दीप्यस्व। इह। अत्र॥

अति निहो अति स्रृधोऽत्यचित्तीरति द्विषः। विश्वा ह्यग्ने दुरिता तर त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः॥५॥

अति। निहः। अति। स्रृधः। अति। अचित्तीः। अति। द्विषः। विश्वा। हि। अग्ने। दुः-इता। तर। त्वम्। अथ। अस्मभ्यम्। सह-वीरम्। रयिम्। दाः॥५॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! [(अति) अत्यन्त (निहः) शत्रुनाशक शूर होकर। अथवा] (निहः) नीच गति वालों को (अति=अतीत्य) लांघकर, (स्रृधः) हिंसकों को (अति) लांघकर, (अचित्तीः) पापबुद्धि प्रजाओं को (अति) लांघ कर, और (द्विषः) द्वेष करने वालों का (अति) तिरस्कार करके, (त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा=विश्वानि) सब (दुरिता=०–तानि) संकटों को (तर) पारकर, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (दाः) दे॥ ५॥

भावार्थ—राजा सावधानी से प्रजा के सब क्लेशों को हरे, और ऐसा प्रयत्न करे कि प्रजा के सब पुरुष उत्साही, शूर, वीर और धनाढ्य हों॥ ५॥

२—इस मन्त्र का पाठ यजुर्वेद २७। ६। में ऐसा है।

अति निहो अति स्त्रिधोऽत्यचित्तिमत्यरातिमग्ने। विश्वा ह्यग्ने दुरिता सहस्वाथास्मभ्यꣳसहवीराꣳरयिंदाः॥६॥

(अग्ने) हे तेजस्वि राजन्! (अति निहः) अत्यन्त शूर होकर (स्त्रिधः) दुष्टों को (अति) हटाकर, (अचित्तिम्) अज्ञान को (अति) हटाकर, (अरातिम्)

५—अति। अतिशयेन। निहः। निहन्तीति निहः। नि+हन—ड। शत्रुहन्ता। शूरः सन्। अग्नेर्विशेषणम्। अथवा। अति। अतीत्य। अतिक्रम्य। निहः। नि+ओहाङ् गतौ–क्विप्। आतो धातोः। पा० ६। ४। १४०। इति शसि आकारलोपः। निकृष्टगतीन् दुष्टान्। स्रृधः। स्रृध स्रध वा शोषणे कुत्सितकर्मणि वा–क्विप्। छान्दसो धातुः। देहशोषकान्। कुत्सिताचारान्। अचित्तीः। अ+चित्त संचेतने–क्तिन्। अशोभनबुद्धीः। शत्रुसेनाः।

कंजूसपन को (अति) हटाकर (विश्वा दुरतानि) सब विघ्नों को (सहस्व) दबावे, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीराम्) वीरों से युक्त सेना और (रयिम्) धन (दाः) दे ॥

१—(सृधः) के स्थान पर सायणभाष्य में (स्रधः) पद है ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-५ ॥ ईश्वरो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी ।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथाँ अधि ॥१॥

अघ-द्विष्टा । देव-जाता । वीरुत् । शपथ-योपनी । आपः । मलम्-इव । प्र । अनैक्षीत् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अघद्विष्टा) पाप में द्वेष [अप्रीति] करने वाली (देवजाता) विद्वानों में प्रसिद्ध (वीरुत्) ओषधि [ओषधि के समान फैली हुयी ईश्वर शक्ति] (शपथयोपनी) शाप [क्रोध वचन को] हटाने वाली है ।

अज्ञानानि । **द्विषः** । द्विष-क्विप् । अप्रीतिकरान् । द्वेष्टॄन् । **विश्वा** । विश्वानि सर्वाणि । **दुरिता** । दुर् दुष्टमितं गमनमनेन । दुर्+इण् गतौ-भावे क्त । पापानि । संकटानि । **तर** । तॄ तरणे, अभिभवे । अभिभव । **सहवीरम्** । तेन सहेति तुल्ययोगे । पा० ६ । ३ । २८ इति तुल्यक्रियायोगे बहुव्रीहिः । वोपसर्जनस्य । पा० ६ । ३ । ८२ । इति सहस्य सभावो विकल्पत्वात् न प्रवर्तते । वीरैः सहितम् । **रयिम्** । अ० १ । १५ । २ । रीङ् गतौ-इप्रत्ययः । धनम्-निघ० । २ । १० । **दाः** । डुदाञ् विधिलिङि छान्दसं रूपम् । त्वं दद्याः ॥

१—**अघद्विष्टा** । अघ+द्विष अप्रीतौ—क्त । अघं पापं द्विष्टं तिरस्कृतं यया सा । पापद्वेषिणी । **देवजाता** । देवेषु विद्वत्सु प्रसिद्धा **वीरुत्** । अ० १ । ३२ । १ । वीरुध ओषधयो भवन्ति विरोहणात्-निरु० ६ । ३ । विरोहणशीला । ओषधिः । लता । **शपथयोपनी** । शीङ्शपिरुगमि० । उ० । ३ । १३ ।

उस ने (मत् अधि) मुझ से (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [कुवचनों] को (प्र+अनैक्षीत्) धो डाला है, (इव) जैसे (आपः) जल (मलम्) मल को ॥१॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से शरीर के रोग मिट जाते, और जल से मलीन वस्त्र आदि शुद्ध होते हैं, वैसे ही पापी कुक्रोधी मनुष्य भी ब्रह्मज्ञान द्वारा पापों से छूट कर शुद्धात्मा हो जाते और ईश्वर के उपकारों को विचार कर उपकारी बनते और सदा आनन्द भोगते हैं ॥१॥

यश्च॑ साप॒त्नः श॒पथो॑ जा॒म्याः श॒पथ॑श्च॒ यः।
ब्र॒ह्मा यन्म॑न्यु॒तः शपा॑त् सर्वं॒ तन्नो॑ अध॒स्पदम् ॥२॥

यः। च। सा॒प॒त्नः। श॒पथः॑। जा॒म्याः। श॒पथः॑। च॒। यः। ब्र॒ह्मा। यत्। म॒न्यु॒तः। शपा॑त्। सर्व॑म्। तत्। नः॒। अ॒धः॒ऽप॒दम् ॥२॥

भाषार्थ—(च) और (यः) जो (सापत्नः) वैरियों का किया हुआ (शपथः) शाप [क्रोधवचन], (च) और (यः) जो (जाम्याः) कुल स्त्री का (शपथः) शाप है, और (ब्रह्मा) वेदवेत्ता ब्राह्मण (मन्युतः) क्रोध से

इति शप आक्रोशे-अथ। णुप विमोहने-करणे ल्युट्। शापस्य क्रोधवचनस्य फलस्य विमोहनी निवारयित्री। आपः। जलानि। मलम्। मृज्यते शोध्यते यत्। मृजेष्टिलोपश्च। उ० १। ११०। इति मृज शोधने-अलच्, टिलोपश्च। ङीप्। किट्टम्। स्वेदपङ्कादिकम्। पापम्। प्र+अनैक्षीत्। णिजिर् शौचपोषणयोः-छान्दसे लुङि रूपम्। प्रकर्षेण अक्षालीत्। मत्। मत्तः॥

२—सापत्नः। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सह+पत गतौ, ऐश्वर्ये च-न प्रत्ययः, सहस्य सः। ततः सम्बन्धे-अण्। सपत्नसम्बन्धी। शात्रवः। शपथः। म० १। आक्रोशः। क्रोधवचनम्। जाम्याः। नियो मिः। उ० ४। ४३। इति या गतौ-मि प्रत्ययः, यकारस्य जकारः। याति कार्याणि सा जामिः स्वसा कुलस्त्री वा। अथवा। वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। इति जम भक्षणे गतौ च-इञ्, अथवा। जन-इञ्। जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यं जमतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः-नि० ३। ६। जाम्यतिरेकनाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य

(यत्) जो कुछ (शापात्) शाप दे [क्रोध वचन कहे], (तत्) वह (सर्वम्) सब (नः) हमारे (अधस्पदम्) उद्योग के नीचे रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि हम से कोई वेद विरुद्ध खोटा कर्म हो जावे, जिस से हमारे शत्रु, हमारी स्त्रियां, हमारे ब्राह्मणादि विद्वान् लोग क्रुद्ध हों, तब हम पूरा पूरा प्रयत्न करें कि हमारे शिष्टाचार और वैदिक कर्म से शापमोचन हो जावे, अर्थात् वे सब हम से पूर्ववत् फिर प्रीति करने लगें ॥२॥

दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम् ।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः ॥ ३ ॥

दिवः । मूलम् । अव-ततम् । पृथिव्याः । अधि । उत्-ततम् ।
तेन । सहस्र-काण्डेन । परि । नः । पाहि । विश्वतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो (मूलम्) मूल [तत्वज्ञान] (दिवः) सूर्यलोक से (अवततम्) नीचे को फैला हुआ है, और जो (पृथिव्याः अधि) पृथिवी पर से (उत्ततम्) ऊपर को फैला है। [हे ईश्वर !] (तेन) उस (सहस्रकाण्डेन) सहस्रों शाखा वाले [तत्त्वज्ञान] के द्वारा (विश्वतः) सब प्रकार से (नः) हमारी (परि) सब ओर (पाहि) रक्षा कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि, प्रकाश आदि भूमि पर आते, और भूमि से जल सूर्यलोक वा मेघमण्डल में जाता, और सब छोटे बड़े लोक परस्पर आकर्षण

वोपजनः-निरु० ४ । २० । बालिशस्य मूर्खस्य, अथवा असमानजातीयस्य असपिण्डस्य । **ब्रह्मा** । अ० २ । ६ । २ । वेदवेत्ता । ब्राह्मणः । **मन्युतः** । पञ्चम्यास्तसिल् । पा० ५ । ३ । ७ । इति तसिल् । क्रोधात् । **नः** । अस्माकम् । **अधस्पदम्** । अधःशिरसी पदे । पा० ८ । ३ । ४७ । इति विसर्गस्य सत्वम् । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये, गतौ च-अच् । पदम्=व्यवसायः, पादः, चिह्नम्-इति शब्दकल्पद्रुमे । पदस्य व्यवसायस्य उद्योगस्य अधस्तात् अधोभागे, असमर्थं भवतु ॥

३—**दिवः** । द्युलोकात् । सूर्यमण्डलात् । **मूलम्** । मवते बध्नातीति । मूशक्यविभ्यः क्लः । उ० ४ । १०८ । इति मूङ् बन्धने-क्ल । अथवा । मूल प्रतिष्ठायां रापणे

और धारण रखते हैं। इसी प्रकार ईश्वरीय अनन्त नियमों को देख कर सब प्रजागण राज नियमों में चल कर परस्पर उपकार करें ॥

परि मां परि मे प्रजां परि णः पाहि यद् धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नंस्तारिषुरभिमातयः ॥ ४ ॥

परि। माम्। परि। मे। प्र-जाम्। परि। नः। पाहि। यत्। धनम्। अरातिः। नः। मा। तारीत्। मा। नः। तारिषुः। अभि-मातयः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(माम्) मेरी (परि = परितः) सब प्रकार, (मे) मेरी (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] की (परि) सबप्रकार और (नः) हमारा (यत्) जो (धनम्) धन है [उसकी भी] (परि) सब प्रकार (पाहि) तू रक्षा कर। (अरातिः) कोई अदानी, कंजूस, पुरुष (नः) हमें (मा तारीत्) न दबावे, और (अभिमातयः) अभिमानी लोग भी (नः) हमें (मा तारिषुः) न दबावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मरक्षा, प्रजारक्षा, और धनरक्षा करके दुष्टों को न्याययुक्त दण्ड देकर सदा आनन्द से रहें ॥ ४ ॥

पा-क। आविष्कारणम्। तत्त्वज्ञानम्। अवततम्। अव+तनु विस्तारे-क्त। अधोमुखं प्रसृतम्। अधि। उपरि। उत्ततम्। उत्+तनु-क्त। ऊर्ध्वम् उन्नत विस्तृतम्। सहस्रकाण्डेन। क्वादिभ्यः कित्। उ० १। ११५। इति कण शब्दे गतौ च-ड, डस्य नेत्त्वम्। अनुनासिकस्य क्विझलोः क्ङिति। पा० ६।४।१५। इति दीर्घः। अपरिमितपर्वयुक्तेन। विश्वतः। भीत्रार्थानां भयहेतुः। पा० १। ४। २५। इत्यपादानसंज्ञायाम्। पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। इतितसिल्। सर्वस्मात् कष्टात् ॥

४—प्रजाम्। प्रजायते सा प्रजा। उपसर्गे च संज्ञायाम्। पा० ३। २। ९९। प्र+जन जनने-ड। पुत्रपौत्रभृत्यादिसन्ततिम्। जनम्। अरातिः। अ० १। १८। १। अदानशीलम्। कृपणम्। शत्रुम्। नः। अस्मान्। मा तारीत्। तॄ तरणे, अभिभवे-लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६। ४। ७४। इत्यडभावः। माभिभवतु। मातिक्रामतु। मा तारिषुः। लुङि पूर्ववद् अडभावः। मा हिंसन्तु। अभिमातयः। अ० २। ६। ३। अभिमानिनो जनाः। शत्रवः ॥

शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह ।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि ॥ ५ ॥

शप्तारम् । एतु । शपथः । यः । सु-हार्त् । तेन । नः । सह ।
चक्षुः-मन्त्रस्य । दुः-हार्दः । पृष्टीः । अपि । शृणीमसि ॥५॥

भाषार्थ—(शपथः) [हमारा] क्रोधवचन (शप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (एतु) प्राप्त हो, और (यः) जो (सुहार्त्) अनुकूल हृदय वाला [शुभचिन्तक] है, (तेन) उस [मित्र] के साथ (नः) हमारा (सह = सह-वासः) सहवास हो । (चक्षुर्मन्त्रस्य) आंख से गुप्त बात करने वाले, (दुर्हार्दः) दुष्टहृदय वाले पुरुष की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) ही (शृणीमसि = ०-मः) हम तोड़ डालें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि निन्दकों पर क्रोध और शुभचिन्तक सत्पुरुषों का आदर करे, और जो अनिष्टचिन्तक कपटी छली हों उनको भी दण्ड देता रहे ॥ ५ ॥

(चक्षुर्मन्त्रस्य) समासान्त पद को पद पाठ के विरुद्ध सायणाचार्य ने [मन्त्रस्य चक्षुः] दो पद मान कर व्याख्या की है वह असाधु है । यह समस्त पद (दुर्हार्दः) पद का विशेषण है । इसका प्रयोग अ० १६ । ४५ । १ । में इस प्रकार है ।

५—**शप्तारम्** । शापकर्तारम् । अनीत्या कटुवक्तारम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **शपथः** । म० २ । आक्रोशः । क्रोधवचनम् । **सुहार्त्** । हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयतीति । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् । शोभनहृदयः । सुमनस्कः । अनुकूलकारी । **तेन** । पूर्वोक्तेन सुहृदयेन मित्रेण । **सह** । षह क्षमायाम्-अच् । संयोगः । सम्बन्धः । **चक्षुर्मन्त्रस्य** । चक्षेः शिच्च । उ० २ । ११९ । इति चक्षङ् कथने दर्शने च-उसि । शित्त्वात् ख्याञादेशाभावः । मत्रि गुप्तभाषणे-अच् घञ् वा । चक्षुषा नेत्रेण मन्त्रो गुप्तभाषणं परामर्शो यस्य तस्य । नेत्रसङ्केतेन विचारशीलस्य पिशुनस्य । **दुर्हार्दः** । सुहार्त् शब्दवद् व्युत्पत्तिः । दुष्टहृदयस्य । क्रूरपुरुषस्य । **पृष्टीः** । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ ।

चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन ॥ (अञ्जन) हे आंखें खोल देने वाले ! तू आंख से गुप्त बात करने वाले दुष्टहृदय वाले की पसलियां भी (शृण) तोड़ दे ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ब्रह्म देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३, ५ पंक्तिः ॥

पौरुषमुपदिश्यते-पौरुष का उपदेश किया जाता है ॥

उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके ॥
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ १ ॥

उत् । अगाताम् । भगवती इति भग-वती । वि-चृतौ । नाम । तारके इति । वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्-तमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भगवती=०—त्यौ) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा]

---

१७४ । इति पृषु सेचने-किच् । पर्शुस्थीनि । पार्श्वावयवान् । शृणीमसि । शॄ हिंसायाम् । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति इकारः । शृणीमः । विनाशयामः ॥

१—उदगाताम् । उत्+इण् गतौ-लुङ् । इणो गा लुङि । पा० २ । ४ । ४५ । इति गादेशः । उदितेऽभूताम् । भगवती । तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् पा० ५ । २ । ९४ । इति भग-मतुप् नित्ययोगे । मस्य वः । ततो ङीप् । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्ण० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । भगवत्यौ । ऐश्वर्यवत्यौ । पूज्ये । विचृतौ । वि+चृती हिंसाग्रन्थनयोः-क्विप् । अन्धकाराद् विमोचयित्र्यौ । नाम । प्रसिद्धे । तारके । तरति तारयति वान्धकारात् तारका । तॄ-णिच्-ण्वुल् । टाप् । तारका ज्योतिषि । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इति न अत इत्त्वम् । द्वे नक्षत्रे । ज्योतिषी । सूर्यचन्द्रौ । क्षेत्रियस्य ।

(उद्गाताम्) उदय हुये हैं। वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊंचे (पाशम्) पाश को (वि+मुच्यताम्) छुड़ा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा संसार में उदय होकर अपने ऊपर और नीचे के अन्धकार का नाश करके प्रकाश करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने छोटे और बड़े मानसिक, शारीरिक और वांशिक रोगों तथा दोषों को निवृत्त करके स्वस्थ और प्रतापी हों ॥ १ ॥

अपे॒यं रात्र्यु॑च्छ॒त्वपो॑च्छन्त्वभि॒कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् क्षे॑त्रिय॒नाश॒न्यप॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ २ ॥

इ॒यम् । रात्री॑ । उ॒च्छ॒तु॒ । अप॑ । उ॒च्छ॒न्तु॒ । अ॒भि॒-कृत्व॑रीः ।
वी॒रुत् । क्षे॒त्रि॒य॒-नाश॑नी । अप॑ । क्षे॒त्रि॒यम् । उ॒च्छ॒तु॒ ॥२॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (रात्री) रात (अप+उच्छतु) नष्ट हो जावे, (अभि-कृत्वरीः =०—त्वर्यः) कतरने वाली वा हिंसाशील [कुवासनायें]

क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः । पा० ५ । २ । ९२ । इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते परक्षेत्रे चिकित्स्य इत्यर्थे । यद्वा । क्षेत्र-घच् प्रत्ययः । परस्मिन् पुत्रपौत्रादिकस्य शरीरे प्रतीकार्यस्य महाप्रचण्डस्य रोगस्य । यद्वा । क्षेत्रे स्वकीये देहे वंशे वा जातस्य रोगस्य दोषस्य वा । **विमुञ्चताम्** । मुचेर्लोटि । शे मुचादीनाम् । पा० ७ । १ । ५९ । इति नुम् । विमोचयताम् । **अधमम्** । अधरशरीरस्थितम् **उत्तमम्** । ऊर्ध्वभागे स्थितम् । **पाशम्** । पश बन्धे ग्रन्थे वा-घञ् । बन्धनम् । ग्रन्थिम् ॥

२—**इयम्** । पुरोवर्त्तिनी । **रात्री** । अ० १ । १६ । १ । रा दाने-त्रिप् । रात्रेश्चाजसौ । पा० ४ । १ । ३१ । इति ङीप् । निशा । रात्रिरूपोऽन्धकारः । **अप+उच्छतु** । उच्छी विवासे=समाप्तौ, अकर्मकः, वर्जने, सक० । समाप्ता भवतु । विनश्यतु । **अप+उच्छन्तु** । दूरे गच्छन्तु । **अभिकृत्वरीः** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति अभि+कृञ् हिंसायाम्, यद्वा, डुकृञ्

(अप+उच्छन्तु) निकल जावें। (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को नाश करने वाली (वीरुत्) औषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे रात्रि के समाप्त होने पर आलस्य आदि का नाश होता, और जैसे औषध से शरीर रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्यों को अपने और अपने वंश के अज्ञान का नाश करके ज्ञान के प्रकाश में आनन्दित रहना चाहिये ॥ २ ॥

ब॒भ्रोरर्जु॑नकाण्डस्य॒ यव॑स्य ते पला॒ल्या तिल॑स्य तिल-पि॒ञ्ज्या। वी॒रुत् क्षे॑त्रि॒यना॑श॒न्यपं॑ क्षेत्रि॒यमु॑च्छतु ॥ ३ ॥

ब॒भ्रोः। अर्जु॑न-काण्डस्य। यव॑स्य। ते॒। प॒ला॒ल्या। तिल॑स्य। ति॒ल॒-पि॒ञ्ज्या। वी॒रुत्। क्षे॒त्रि॒य॒-नाश॑नी। अप॑। क्षे॒त्रि॒यम्। उ॒च्छ॒तु॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर!] (ते) तेरे [दिये] (बभ्रोः) पोषण करने वाले, (अर्जुनकाण्डस्य) श्वेत स्तम्भ [डांटा] वाले (यवस्य) यव अन्न की (पलाल्या)

करणे—क्वनिप्, तुगागमः। यद्वा। कृती छेदने-क्वनिप्। वनो र च। पा० ४। १। ७। ङीब्रेफौ। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति जसः पूर्वसवर्ण-दीर्घः। व्यभिचारशीलाः कर्तनशीलाः कुवासनाः **वीरुत्**। म० २। ७। १। ओषधिः। लता। **क्षेत्रियनाशनी**। म० १। स्वकीये शरीरे वंशे वा जातस्य दोषस्य नाशयित्री। **क्षेत्रियम**। म० १। शरीरस्थं दोषम्। **अप+उच्छतु**। सर्वथा वर्जयतु नाशयतु ॥

३—**बभ्रोः**। कुर्भ्रश्च। उ० १। २२। इति भृञ् धारणपोषणयोः-कु, द्वित्वं च। बिभर्ति भरति वा बभ्रुः। पोषकस्य। **अर्जुनकाण्डस्य**। अर्जेर्णिलुक् च। उ० ३। ५८। इति अर्ज उपार्जने=अलब्धसम्पादने-उनन्। अर्जुनम्=रूपम्-निघ० ३। ७। ततः कादिभ्यः कित्। उ० १। ११५। इति कण शब्दे गतौ च-ड। डस्य इत्वं न। अनुनासिकस्य क्वि०। पा० ६। ४। १५। इति दीर्घः। श्वेतस्तम्भस्य। परिपक्वस्य नवीनस्य चेति यावत्। **यवस्य**। यूयते

पालन शक्ति से और (तिलस्य) तिल की (तिलपिञ्ज्या) चिकनाई से (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परिपक्व और नवीन यव, तिल आदि पदार्थों के यथावत् उपयोग से और औषधों के सेवन से शारीरिक बल स्थिर रहता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम विद्या के प्रकाश से आत्मिक दोषों की निवृत्ति करके आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः ।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ४ ॥

नमः । ते । लाङ्गलेभ्यः । नमः । ईषा-युगेभ्यः । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (लाङ्गलेभ्यः) हलों [की दृढ़ता] के लिये (नमः ते=नमस्ते) तुझे नमस्कार है, और (ईषायुगेभ्यः) हरस [हल की लंबी लकड़ी] और जूओं [की दृढ़ता] के लिये (नमः) नमस्कार है।

बलेन । यु मिश्रणे-अप् । स्वनामख्यातधान्यस्य । धान्यराजस्य । **ते** । तव । ईश्वरदत्तस्य । **पलाल्या** । तमिविशिविडिमृणिकुलिकपिपलिपञ्चिभ्यः कालन् । उ० १ । ११८ । इति पल रक्षणे-कालन् । ङीप् । पालयतीति पलाली । पालनशक्त्या । **तिलस्य** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति तिल गतौ, स्निग्धीभावे च-क । स्वनामख्यातशस्यस्य । होमधान्यस्य । **तिलपिञ्ज्या** । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन् । तिलस्य स्नेहशक्त्या । अन्यद् गतम् ॥

४—**नमस्ते** । नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलंवषड्योगाच्च । पा० २ । ३ । १६ । इति चतुर्थी । तुभ्यं नमस्कारः । **लाङ्गलेभ्यः** । लङ्गेर्वृद्धिश्च । उ० १ । १०८ इति लगि गतौ-कलच्, वृद्धिश्च । लङ्गन्ति प्राप्नुवन्ति, अन्नादिकं येन तल्लाङ्गलम् । हलानां हिताय दृढ़त्वाय । **ईषायुगेभ्यः** । ईष गतिहिंसादर्शनेषु-क । टाप् ।

(क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के दोष वा रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) ओषधि (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हल आदि उपयोगी और दृढ़ सामग्री के प्रयोग से अन्न उत्पन्न करते हैं, वैसे ही सब मनुष्य परमेश्वर के नियमों को साक्षात् करके उद्योग के साथ प्रयत्न से शरीर और अन्तःकरण की दृढ़ता करके उपकारी बनें और सदा आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः सन्देश्येभ्यः । नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत्क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ५ ॥

नमः । सनिस्रस-अक्षेभ्यः । नमः । सम्-देश्येभ्यः । नमः । क्षेत्रस्य । पतये । वीरुत् । क्षेत्रिय-नाशनी । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥५॥

भाषार्थ—(सनिस्रसाक्षेभ्यः) डबडबाती हुई आंखें वालों [रोगों से पीड़ित दीनों] के लिये (नमः) अन्न हो, और (संदेश्येभ्यः) यथार्थ दानशीलों के लिये (नमः) अन्न हो। (क्षेत्रस्य) खेत के (पतये) स्वामी के लिये (नमः) अन्न हो। (क्षेत्रियनाशनी) शरीर वा वंश के रोग की नाश करने वाली (वीरुत्) औषध (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग को (अप+उच्छतु) निकाल देवे ॥ ५ ॥

ईषा लाङ्गलदण्डः । उञ्छादीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज योगे-घञ्, अगुणत्वं निपात्यते । युज्येते बलीवर्दौ अस्मिन्निति युगो युगं वा रथहलाद्यङ्गम् । ईषाश्च युगानि च तेभ्यः । हलस्य दण्डयुगानां दृढत्वाय । अन्यद् गतम् ॥

५—**नमः** । णमु प्रह्वत्वे-असुन् । अन्नम्-निघ० २ । ७ । **सनिस्रसाक्षेभ्यः** । स्रंसु गतौ-यङन्ताद् घञ्, अतोलोपयलोपौ । नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसु० । पा० ७ । ४ । ८४ । इति नीग् आगमः । छान्दसो ह्रस्वः । सनीस्रस्यते-इति सनीस्रसम् । सनीस्रसानि सनीस्रस्यमानानि अतिशयेन विशीर्यमाणानि अक्षाणि, नेत्राणि येषां तेभ्यस्तथाभूतेभ्यः । कुष्ठादिरोगेण पीड़ितनेत्रेभ्यो दीनेभ्यः ।

भावार्थ—सब मनुष्य ऐसा सुप्रबन्ध करें कि दीन दुःखियों का यथावत् पालन हो, उद्योगी दानी पुरुष और किसान लोग अन्न आदि प्राप्त करें। और जैसे परमेश्वर ने औषध आदि उत्पन्न करके उपकार किया है, उसी प्रकार सब को परस्पर उपकारी बनना चाहिये ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(संदेश्येभ्यः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [संदेशेभ्यः] की व्याख्या है ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १, पूर्वार्धो द्विपदा त्रिष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदाऽनुष्टुप्, २—५ अनुष्टुप् ॥

मनुष्य आत्मानमुन्नयेत्–मनुष्य अपने को ऊंचा करे ॥

दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नय ॥ १ ॥

दश-वृक्ष। मुञ्च। इमम्। रक्षसः। ग्राह्याः। अधि। या। एनम्। जग्राह। पर्व-सु। अथो इति। एनम्। वनस्पते। जीवानाम्। लोकम्। उत्। नय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दशवृक्ष) हे प्रकाश वाले वा दर्शनीय विद्वानों के क्लेश काटने वाले वा स्वीकार करने वाले, अथवा, हे दस दिशाओं में सेवनीय परमेश्वर !

संदेश्यभ्यः। सम्+दिश दाने आज्ञापाने च–घञ्। सन्देशः सम्यग्दानम्। तत्र साधुः। पा० ४। ४। ९८। इति यत्। यथाशास्त्रं दानकुशलानां हिताय। क्षेत्रस्य। दाद्भ्यिश्छन्दसि। उ० ४। १७०। इति क्षि ऐश्वर्यक्षयनिवासगतिषु त्रन्। क्षयति ऐश्वर्यहेतुर्भवति। अथवा। नाशयति दरिद्रतामिति क्षेत्रम्। शस्योत्पत्तिस्थानस्य। केदारस्य। देहस्य। पतये। पा रक्षणे–डति। रक्षकाय। स्वामिने। शिष्टं व्याख्यातम् ॥

१—दशवृक्ष। कनिन् युवृषितक्षिराजि०। उ० १। १५६। इति दश दशि दीप्तौ, दर्शने, दंशने च–कनिन्, पक्षे नकारलोपः। स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्।

(इमम्) इस पुरुष को (रक्षसः) राक्षस [दुष्ट अज्ञान] की (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] से (अधि) सर्वथा (मुञ्च=मोचय) छुड़ादे, (या) जिस [पीड़ा] ने (एनम्) इस [पुरुष] को (पर्वसु) सब जोड़ों में (जग्राह) पकड़ लिया है। (अथो) और (वनस्पते) हे वननीय, सेवनीय सत्पुरुषों के पति [रक्षक]! (एनम) इस [पुरुष] को (जीवानाम्) जीवधारियों के (लोकम्] संसार में (उन्नय) ऊंचा उठा ॥ १ ॥

भवार्थ—सब चर और अचर के सेवनीय और सत्पुरुषों के रक्षक परमेश्वर के उपकारों पर दृष्टि करके मनुष्य अपने शारीरिक और मानसिक क्लेशों और विघ्नों को हटाकर सदा अपनी उन्नति करे ॥ १ ॥

१–सायणभाष्य में (दशवृक्ष) पद का अर्थ–"पलाश, उदुम्बर आदि दश वृक्षों के खंडों से बनाई हुई मणि"–किया है ॥

२–ऐसा ही प्रयोग अथर्ववेद ३ । ११ । १ । में आया है ।

ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्रमुमुक्तमेनम् ।

(यदि) जो (एतद्) इस समय (एनम्) इस पुरुष को (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा ने (जग्राह) पकड़ लिया है, (इद्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि [के समान तेजस्वी विद्वान्] (तस्याः) उस [पीड़ा] से (एनम्) इस पुरुष को (प्रमुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥

उ० ३ । ६६ । इति व्रश्चू छेदने स प्रत्ययः कित् । अथवा । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति वृक्ष वरणे क । वृश्चति क्लेशम्, वृक्षते वृणोति स्वभक्तान्, व्रियते वा सर्वैः स वृक्षः । दशानां दीप्यमानानां दर्शकानां दर्शनीयानां विदुषां [अथवा दंशकानां दुष्टस्वभावानामपि] क्लेशछेदक स्वीकारक वा । अथवा दशसु दिक्षु स्वीकरणीय । **मुञ्च** । मोचय । **इमम्** । जीवम् । माम् इत्यर्थः । **रक्षसः** । राक्षसस्य, अज्ञानस्य । **ग्राह्याः** । विभाषा ग्रहः । पा० ३ । १ । १४३ । इति ग्रह आदाने–ण । जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् पा० ४ । १ । ६३ । इति ङीप् । यद्वा । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ग्रह–इञ् । गृह्णातीति ग्राहो ग्राही ग्राहिर्वा जलजन्तुविशेषो वा । ग्रहणशीलपीड़ायाः सकाशात् । **जग्राह** । गृहीतवती । **पर्वसु** । स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति पॄ पूर्तौ पालने च–वनिप् । शरीरग्रन्थिषु । **अथोएनम्** । ओत् । पा० १ ।

आगादुदगादयं जीवानां व्रातमप्यगात् ।
अभूदु पुत्राणां पिता नृणां च भगवत्तमः ॥ २ ॥

आ । अगात् । उत् । अगात् । अयम् । जीवानाम् । व्रातम् ।
अपि । अगात् । अभूत् । ऊँ इति । पुत्राणाम् । पिता । नृणाम् ।
च । भगवत्-तमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्राणी] (आ+अगात्) आया है, (उत् अगात्) ऊपर आया है, (जीवानाम्) जीवितों [पुरुषार्थियों] के (व्रातम्) समूह में (अपि) भी (अगात्) प्राप्त हुआ है। वह (पुत्राणाम्) पुत्रों का (पिता) पिता (च) और (नृणाम्) मनुष्यों में (भगवत्तमः) अत्यन्त ऐश्वर्यवान् (उ) अवश्य (अभूत्) हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य ही जीवित होते हैं, इस से मनुष्य संसार में जन्म पाकर ब्रह्मचर्य सेवन से विद्या ग्रहण करें, और पुरुषार्थियों के समान पुरुषार्थी होकर पुत्रादि सब प्रजा का पालन पोषण करके महाप्रतापी और यशस्वी होवें ॥ २ ॥

---

१ । १९ । इत्योदन्तो निपातः प्रगृह्यः । **वनस्पते** । अ० १ । १२ । ३ ॥ वन+पतिः सुट् च । वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक-इति श्रीमद् दयानन्द भाष्ये-यजु० २७ । २१ । वनानां पाता वा पालयिता वा वनं वनोतेः-निरु० ८ । ३ ॥ हे सेवनीयगुणस्य रक्षक परमेश्वर । **जीवानाम्** । जीवतीति जीवः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणे-क । प्राणिनाम् । **लोकम्** । लोक ईक्षे-घञ् । भुवनम् स्थानम् । **उन्नय** । ऊर्ध्वं प्रापय । द्विकर्मको धातुः ॥

२—**आ+अगात्** इण् गतौ-लुङ । आगतवान् । **उत्+अगात्** । उदस्थात् । संचारक्षमोऽभूत् । **जीवानाम्** । जीवितानां पुरुषार्थिनाम् । **व्रातम्** । भृमृदृशियजि० । उ० ३ । ११० । इति वृञ् वरणे-अतच् पृषोदरादिः । यद्वा, व्रतं कर्म-निघ० २ । १ । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति व्रत-अण् । व्राताः, मनुष्याः-निघ० २ । ३ । समूहम् । **पुत्राणाम्** ।

अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥ ३ ॥

अधि-इतीः । अधि । अगात् । अयम् । अधि । जीव-पुराः ।
अगन् । शतम् । हि । अस्य । भिषजः । सहस्रम् । उत ।
वीरुधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस पुरुष ने (अधीतीः) अध्ययन योग्य शास्त्रों को (अधि+अगात्) अध्ययन किया है, और (जीवपुराः) प्राणियों के पुरों वा नगरों को (अधि अगन्) जान लिया है । (हि) क्योंकि (अस्य) इस [पुरुष] के (शतम्) सौ [बहुत से] (भिषजः) वैद्य, (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [बहुत से] (वीरुधः) औषध हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य वेदादि शास्त्रों के अध्ययन, मनुष्यों में निवास, विद्वानों के सत्संग, और पदार्थों के गुणों का बोध करने से संसार में उन्नति करते हैं ॥ ३ ॥

अ० १ । ११ । ५ । सुतानाम् । सन्तानानाम् । नृणाम् । नयतीति ना । नयते-र्डिच्च । उ० २ । १०० । इति णि प्रापणे-ऋ प्रत्ययः, स च डित् । नृ च । पा० ६ । ४ । ६ । इति नामि दीर्घाभावो विकल्पत्वात् । नेतृणाम् । पुरुषाणाम् । भगवत्तमः । अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति भगवत्+तमप् । अतिशयेन भगवान् ऐश्वर्यवान् ॥

३—अधीतीः । अधि+इङ् अध्ययने, यद्वा, इक् स्मरणे-क्तिन् । अध्येतव्यान् वेदान् । स्मर्तव्यान् पदार्थान् । अधि+अगात् । इणो गा लुङि । पा० २ । ४ । ४५ । तत्रैव वार्त्तिकम् । इणवदिक इति वक्तव्यम् । इति इक् स्मरणे-लुङि गादेशः । अस्मार्षीत् । स्मृतवान् । जीवपुराः । ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे । पा० ५ । ४ । ७४ । इति पुर् इत्यस्य अकारः समासान्तः । जीवानां पुरः पुराणि नगराणि पत्तनानि अधि+अगन् । गमेर्लुङि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । अध्यगमत् । अज्ञासीत् । हि । यस्मात् कारणात् । शतम्, सहस्रम् । अपरमिताः । भिषजः । बिभेति रोगो यस्मादिति भिषक् । भियः षुग् ह्रस्वश्च । उ० १ । १३८ । इति ञिभी भये-अजि । षुगागमो ह्रस्वश्च । वैद्याः । वीरुधः । अ० २ । ७ । १ । ओषधयः ॥

देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥ ४ ॥

देवाः । ते । चीतिम् । अविदन् । ब्रह्माणः । उत । वीरुधः ।
चीतिम् । ते । विश्वे । देवाः । अविदन् । भूम्याम् । अधि ॥४॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (ते) तेरे लिये (देवाः) प्रकाशमान (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानियों ने (उत) और (वीरुधः) ओषधों ने (चीतिम्=चितिम्) ज्ञान (अविदन्) प्राप्त किया है। (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थों [सूर्य, चन्द्र, वायु आदि] ने (ते) तेरे लिये (चीतिम्) चेतन्यता को (भूम्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर (अविदन्) प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् वेद वेत्ताओं के उपदेश से, और अन्न आदि ओषधों, और सूर्य, चन्द्र, वायु, जल, आकाश आदि दिव्य पदार्थों में ईश्वरीय अटल नियमों से शिक्षा और उपकार प्राप्त करके, ईश्वर की महिमा के ध्यान में निमग्न होकर और परोपकार करके आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥५॥

यः । चकार । सः । निः । करत् । सः । एव । सुभिषक्-तमः ।
सः । एव । तुभ्यम् । भेषजानि । कृणवत् । भिषजा । शुचिः ॥५॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (चकार) बनाया है, (सः)

४—देवाः । प्रकाशमानाः । दातारः । दिव्यपदार्थाः । सूर्यादयः । ते । तुभ्यं हे मनुष्य ! चीतिम् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति चिती ज्ञाने, जागरणे च-इन् , स च कित्, दीर्घश्छान्दसः । ज्ञानम् । जागरणम् । अविदन् । विद्लृ लाभे-लुङ् । लब्धवन्तः । ब्रह्माणः । अ० २ । ६ । २ । ब्रह्मज्ञानिनः । ब्राह्मणाः । वीरुधः । ओषधयः । भूम्याम् । अ० १ । ११ । २ । भू-मि । भूलोके । पृथिव्याम् ॥

५—यः । परमेश्वरः । चकार । सर्वं सृष्टवान् । निः+करत् । लेटो-

वही (निष्करत्) निस्तारा करेगा, (सः) वह (एव) ही (सुभिषक्तमः) बड़ा भारी वैद्य है। (सः) वह (एव) ही (शुचिः) पवित्रात्मा (भिषजा) वैद्य रूप से (तुभ्यम्) तेरे लिये (भेषजानि) औषधों को (कृणवत्) करेगा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने इस सृष्टि को रचा है, वही जगदीश्वर अपने आज्ञाकारी, और पुरुषार्थी सेवकों का क्लेश हरण कर के आनन्द देता है ॥ ५ ॥

टिप्पणी—(भिषजा शुचिः) "वैद्यरूप से पवित्रात्मा" के स्थान में (भिषजां शुचिः) "वैद्यों में पवित्रात्मा" ऐसा पाठ अधिक ठीक दीखता है। लिपि प्रमाद से अनुस्वार नहीं लगा। नीचे के प्रयोगों को विचारिये ॥

१—ऋग्वेद २। ३३। ४। में ऐसा पाठ है।

भिषक्तमं त्वा भिषजां शृणोमि ॥

मैं तुझ को (भिषजाम्) वैद्यों में महा वैद्य सुनता हूं ॥

२—अथर्ववेद ६। २४। २। ऐसा है।

आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥

(भिषजाम्) वैद्यों में अति पूजनीय वैद्य (आपः) परमेश्वर उस सब दुःख को हटावे ॥

३—यजुर्वेद २१। ४०। में ऐसा पाठ है।

सुत्रामाणं सवितारं वरुणं भिषजां पतिं स्वाहा ॥

बड़े रक्षक, परम ऐश्वर्य वाले, श्रेष्ठ, (भिषजाम्) वैद्यों के (पतिम्) रक्षक को सुन्दर वाणी है ॥

ऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इति कृञ् करणे-लेटि अडागमः। कः करत्करति०। पा० ८। ३। ५०। इति निसःपत्वम्। निष्कृतिं निर्मुक्तिं पापादिभ्यउद्धारं कुर्यात्। **सुभिषक्तमः**। सु+भिषज्+तमप्। म० ३। अतिशयेन पूजनीयो भिषक्, भयनिवारको वैद्यः। **भेषजानि**। अ० २। ३। २। औषधानि। **कृणवत्**। कृवि हिंसाकरणयोः-लेट्। कुर्यात्। **भिषजा**। म० ३। भिषग्रूपेण। इत्थंभावे तृतीया। यद्वा (भिषजाम्) इति पाठे। वैद्यानां मध्ये। **शुचिः**। अ० १। ३३। १। शुचिर् शौचे-इन्। स च कित्। शुद्धस्वभावः। पवित्रः ॥

सूक्तम् १० ॥

१--८ ॥ ब्रह्म देवता । १ त्रिष्टुप्, २-७ प्रथम-द्वितीय-पंचम-षष्ठपादास्त्रिष्टुप्, तृतीय-चतुर्थौ च जगती छन्दः ॥

मुक्तिप्राप्त्युपदेशः—मुक्ति की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

क्षे॒त्रि॒यात् त्वा॒ निर्ऋ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒गसं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ १ ॥

क्षे॒त्रि॒यात् । त्वा॒ । निः-ऋ॑त्याः । जा॒मि॒-शं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । वरु॑णस्य । पाशा॑त् । अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा॒ । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] से, (जामिशंसात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा

१—क्षेत्रियात् । अ० २ । ८ । १ । देहे वंशे वा जाताद् रोगाद् दोषाद्वा । निर्ऋत्याः । अ० १ । ३१ । २ । निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ । कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् । जामिशंसात् । (जामिः) इति व्याख्यातम्—अ० २ । ७ । २ । जमु भक्षणे-इञ् । जाम्यतिरेक नाम बालिशस्य वासमानजातीयस्य वा—निरु० ४ । २० । शंसु हिंसास्तुत्योः—अप्रत्ययः । भक्षणशीलस्य । बालिशस्य मूर्खस्य शंसनात् हिंसनात् । द्रुहः । द्रुह अनिष्टचिन्तने-क्विप् । अनिष्टचिन्तनात् । मुञ्चामि । मोचयामि । वरुणस्य । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे उनन् । दुष्टानामावरकस्य न्यायाधीशस्य । पाशात् । पश्यते बध्यतेऽनेन । पश बन्धे बाधे च-घञ् । शस्त्रभेदात् । दण्डबन्धात् । अनागसम् । इण

बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (त्वा) तुम को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूं, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगल मय (स्ताम्) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद ज्ञान प्राप्ति से ऐसा प्रयत्न करे कि आत्मिक, शारीरिक, और दैवी विपत्तियों और मूर्खों के दुष्ट आचरणों से पृथक् रहे, और न कभी कोई पाप करे जिस से परमेश्वर वा राजा उसे दण्ड न देवे, किन्तु सुशीलता के कारण संसार के सब पदार्थ आनन्द कारी हों ॥

शं ते॑ अ॒ग्निः स॒हाद्भिर॑स्तु॒ शं सोमः॑ स॒हौष॑धीभिः। ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निरृ॑त्या जामिशं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒सं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥ २ ॥

शम्। ते॒। अ॒ग्निः। स॒ह। अ॒त्-भिः। अ॒स्तु॒। शम्। सोमः॑। स॒ह। ओष॑धीभिः। ए॒व। अ॒हम्। त्वाम्। क्षे॒त्रि॒यात्। निः-ऋ॑त्याः। जा॒मि॒-शं॒सात्। द्रु॒हः। मु॒ञ्चा॒मि॒। वरु॑णस्य। पाशा॑त्। अ॒ना॒ग॒सम्। ब्रह्म॑णा। त्वा॒। कृ॒णो॒मि॒। शि॒वे इति॑। ते॒। द्यावा॑-पृ॒थि॒वी इति॑। उ॒भे इति॑। स्ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अग्निः) अग्नि (अद्भिः सह) जल के साथ (शम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (सोमः) अमृत [ऐश्वर्य] (ओषधिभिःसह)

आगोऽपराधे च। उ० ४। ११२। इति इण् गतौ—असुन्, आगादेशः। अपराधरहितम्। निर्दोषम्। **ब्रह्मणा**। अ० १। ८। ४। वेदज्ञानेन। **शिवे**। अ० २। ६। ३। कल्याणकारिण्यौ। **द्यावापृथिवी**। अ० २। १। ४। ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १। १। ११। इति सन्ध्यभावः। आकाशपृथिवीस्थपदार्थाः। **स्ताम्**। भवताम् ॥

२—**शम्**। सुखकरः। **ते**। तुभ्यम्। **अग्निः**। पावकः। **अद्भिः**। जलेन। **सोमः**। अ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः—मन्। ऐश्वर्यम्। **ओषधीभिः**।

अन्न आदि औषधियों के साथ (शम्) सुखदायक हो। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के रोग से ...... [मन्त्र १] ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य को विज्ञान पूर्वक देश, काल, अग्नि, जल, वायु, स्नान, पान आदि पदार्थों का ठीक उपयोग करके स्वस्थ और ऐश्वर्यवान् रहकर आनन्द भोगना चाहिये ॥ २ ॥

शं ते वातो अन्तरिक्षे वयो धाच्छं ते भवन्तु प्रदिशश्चतस्रः। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ३ ॥

शम्। ते। वातः। अन्तरिक्षे। वयः। धात्। शम्। ते। भवन्तु। प्र-दिशः। चतस्रः। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (अन्तरिक्षे) मध्य में दीखने वाले आकाश में वर्त्तमान (शम्) सुखदायक (वातः) पवन (वयः) अन्न वा यौवन [शारीरिक बल] को (धात्=धेयात्) पुष्ट करे, (ते) तेरे लिये (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशायें (शम्) सुखदायक (भवन्तु) होवें। (एव) ऐसे ही

अ० १। २३। १। ओप+धा-कि, ङीप्। ओपो दाहो धीयतेऽत्र। व्रीहियवादिभिः। एव। एवम्। अन्यद् गतं म० १॥

३—वातः। अ० १। ११। ६। वा सुखाप्तिगतिसेवासु-तन्। पवनः। अन्तरिक्षे। अ० १। ३०। ३। सर्वमध्ये दृश्यमाने। आकाशे। वयः। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति वयङ् गतौ, वी गतौ, यद्वा अज गतौ-असुन्। अजतेर्वीभावः। अन्नम्-निघ० २। ७। यौवनम्। सामर्थ्यम्। धात्। डुधाञ्

(अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से ·····[मन्त्र २]

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न और परिश्रम करके अपने शरीरस्थ प्राण वायु और देशस्थ वायु, और सब स्थानों को यथोचित शुद्ध और स्वस्थ रख कर आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

(वयोधात् =वयः धात्) इन दो पदों के स्थान पर संहिता और पद पाठ के विरुद्ध सायणभाष्य में [वयोधाः] एक पद मानकर [वयसां पक्षिणां धाता धारयिता वयसाम् अन्नेन पोषयिता वा वातः] व्याख्या की है।

इमा या देवीः प्रदिशश्चतस्रो वातपत्नीरभि सूर्यो विचष्टे । एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निरृत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात् । अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥४॥

इमाः । याः । देवीः । प्र-दिशः । चतस्रः । वात-पत्नीः । अभि । सूर्यः । वि-चष्टे । एव । अहम् । त्वाम् । क्षेत्रियात् । निः-ऋत्याः । जामि-शंसात् । द्रुहः । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । अनागसम् । ब्रह्मणा । त्वा । कृणोमि । शिवे इति । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) चलने वा चलाने वाला सूर्य लोक (इमाः) इन (याः) जिन (देवीः) दिव्यगुणवाली (वातपत्नीः) वायु मण्डल से रक्षित (चतस्रः) चारो

धारणपोषणयोः-लेटि विधिलिङि वा छान्दसं रूपम् । धत्तात् । दध्यात् । शम् । सुखकार्यः । **प्रदिशः** । प्रकृष्टा दिशः प्राच्याद्या महादिशाः ॥

४—**देवीः** । अ० १ । ४ । ३ देव-ङीप् । द्योतमानाः । दिव्याः । **वातपत्नीः** । विभाषा सपूर्वस्य । पा० ४ । १ । ३४ । इति वातपूर्वस्य पति-शब्दस्य इकारस्य नकारो ङीप् च । वातः पती रक्षको यासां ताः । वायुरक्षिताः

(प्रदिशः) महा दिशाओं को (अभि) सब प्रकार (विचष्टे) देखता है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...... [मन्त्र २] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपनी किरणों से आकर्षण करके पृथिवी आदि लोकों को धारण करता और वायु मण्डल पतन होजाने से उन की रक्षा करता है, ऐसे ही मनुष्य को अपनी प्रजा का पोषण करके सुखी रहना चाहिये ॥४॥

तासु त्वान्तर्जरस्या दधामि प्र यक्ष्म एतु निर्ऋतिः पराचैः। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ५ ॥

तासु। त्वा। अन्तः। जरसि। आ। दधामि। प्र। यक्ष्मः। एतु। निः-ऋतिः। पराचैः। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तासु) उन [दिशाओं] में (त्वा) तुझ को (जरसि) स्तुति के (अन्तः) मध्य में (आ) भले प्रकार से (दधामि) धारण करता हूं, (यक्ष्मः) राज रोग [क्षयी आदि] और (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी [महामारी दरिद्रता आदि] भी (पराचैः) औंधे मुंह होकर (प्र+एतु) चली जावे। (एव) ऐसेही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझको (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...[मन्त्र २] ॥ ५ ॥

सर्वलोकाः। इत्यर्थः। **सूर्यः** । अ० १। ३। ५। आकाशे सर्ता सविता प्रेरको वा। आदित्यलोकः। **विचष्टे** । चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च-लट्, अदादित्वात् शपो लुक्। चष्टे, विचष्टे पश्यतिकर्माणौ-निघ० ३। ११। विविधं पश्यति। किरणैः प्रकाशयति, आकर्षति धारयति चेत्यर्थः॥

५—**तासु** । पूर्वोक्तासु दिक्षु। **त्वा** । त्वां मनुष्यम्। आत्मानम्। **अन्तर्** ।

भावार्थ—मनुष्य को परमेश्वर ने सब प्राणियों में श्रेष्ठ बनाया है, इस लिये पुरुष, पुरुषार्थ करके सब विघ्नों को हटावे और कीर्त्तिमान् होकर सदा आनन्द भोगे और अमर होवे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—हमारे विचार में यहां भी (जरस्) पद का अर्थ निघण्टु और निरुक्त आदि के अनुसार स्तुति वा कीर्त्ति है [बुढ़ापे का अर्थ बे मेल है]।

अथर्ववेद १। ३०। २। और टिप्पणी देखिये, और यजु० ३६। २४ भी विचारिये।

तच्चक्षु॑र्दे॒वहि॑तं पु॒रस्ता॑च्छु॒क्रमु॒च्चर॑त्। पश्ये॑म श॒रदः॑ श॒तं जीवे॑म श॒रदः॑ श॒तꣳ शृणु॑याम श॒रदः॑ श॒तं प्रब्र॑वाम श॒रदः॑ श॒तमदी॑नाः स्याम श॒रदः॑ श॒तं भूय॑श्च श॒रदः॑ श॒तात् ॥ १ ॥

(तत्) परब्रह्म (चक्षुः) सब का द्रष्टा, (देवहितम्) विद्वान् देवताओं का हितकारी, (शुक्रम्) वीर्यवान्, (पुरस्तात्) पहिले काल से वा सन्मुख होकर (उच्चरत्) ऊंचा चढ़ रहा है। [ऐसा ध्यान करते हुये] (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतु वा वर्ष तक (पश्येम) हम देखते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (जीवेम) हम जीते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (शृणुयाम) हम सुनते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (प्रब्रवाम) हम बोलते रहें, (शतम् शरदः) सौ वर्ष तक (अदीनाः) दीनता रहित (स्याम) हम रहें, (च) और (शतात् शरदः) सौ वर्ष से (भूयः) अधिक। अर्थात् हम सर्वथा पुष्टांग रहें और कभी अङ्गहीन और धनहीन न हों॥

भव्ये। **जरसि** । १। ३०। २। जॄ स्तुतौ, यद्वा, गॄ शब्दे—असुन्। जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। स्तुतौ। यशसि। **आ** । सम्यक्। यथाविधि। **दधामि** । अहं मनुष्यः स्वपौरुषेण धारयाम्यात्मानमित्यर्थः। **यक्ष्मः** । अर्तिस्तुसुहु० । उ० १। १४०। इति यक्ष पूजायाम्—मन्। पूज्यते वैद्यो रोगे। राजरोगः। क्षयः। **प्र+एतु** । प्रैतु। प्रगच्छतु। निर्गच्छतु। **निर्ऋतिः** । म० १। अलक्ष्मीः। दरिद्रतादिविपत्तिः। **पराचैः** । नौ दीर्घश्च। उ० ५। १३। इति बाहुलकात्, पर+चिञ् चयने—डैसि। अकारस्य दीर्घश्च। पराङ्मुखी॥

अमु॑क्था यक्ष्माद् दुरि॒तादव॒द्याद् द्रु॒हः पाशा॒द् ग्राह्या॒श्चोद॑मुक्थाः । ए॒वाहं त्वां क्षे॑त्रि॒यान्निर्ऋ॑त्या जामि॒शं॒साद् द्रु॒हो मु॑ञ्चामि॒ वरु॑णस्य॒ पाशात् । अ॒ना॒गसं॒ ब्रह्म॑णा त्वा कृणोमि शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म् ॥६॥

अमु॑क्थाः । यक्ष्मात् । दुः-इ॒तात् । अ॒व॒द्यात् । द्रु॒हः । पाशा॑त् । ग्राह्याः । च॒ । उत् । अ॒मु॒क्थाः । ए॒व । अ॒हम् । त्वाम् । क्षे॒त्रि॒यात् । निः-ऋ॑त्याः । जा॒मि॒-शं॒सात् । द्रु॒हः । मु॒ञ्चा॒मि॒ वरु॑णस्य । पाशा॑त् । अ॒ना॒गस॑म् । ब्रह्म॑णा । त्वा । कृ॒णो॒मि॒ । शि॒वे इति॑ । ते॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । स्ता॒म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यक्ष्मात्) राज रोग [क्षयी आदि] से, (दुरितात्) दुर्गति से, और (अवद्यात्) अकथनीय, निन्दनीय कर्म से (अमुक्थाः) तू मुक्त हो गया है, और (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्तन] से (च) और (ग्राह्याः) जकड़ने वाली पीड़ा के (पाशात्) पाश या बन्ध से (उत् + अमुक्थाः) तू छूट चुका है। (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से ...[मन्त्र २] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य रोगी के रोगों को निवृत्त करके स्वस्थ कर देता है वैसे ही ब्रह्मचारी वेद विज्ञान की प्राप्ति से निर्मल होकर सुखी होता है ॥ ६ ॥

६—अमुक्थाः । मुच्लृ मोक्षणे-कर्मणि लुङि मध्यमैकवचने । झलो झलि । पा० ८ । २ । २६ । इति सिचो लोपः । मुक्तोऽसि । यक्ष्मात् । म० ५ । राज रोगात् । दुरितात् । दुर्+इण् गतौ-भावे क्त । दुष्टम् इतं गमनं नरकादिदुर्गतिः- इति दुरितम् । दुर्गतेः । पापात् । अवद्यात् । अवद्यपण्यवर्या गर्ह्यपणितव्यानिरोधेषु । पा० ३ । १ । १०१ । इति अ+वद कथने-यत्प्रत्ययान्तो निपात्यते क्यपि प्राप्ते । अवचनीयात् । अकथनीयात् । गर्ह्यात् । पापात् । द्रुहः । द्रुह-क्विप्, । अनिष्टचिन्तनात् । पाशात् । बन्धनात् । ग्राह्याः । अ० २ । ९ । १ । ग्रह-इञ् । ग्रहणशीलायाः पीड़ायाः सकाशात् । उत् । उङ् शब्दे-क्विप्, तुक् । पृषोदरादित्वाद् दत्वं वा । प्राकट्येन । उत्कर्षेण । अन्यद् गतम् ॥

अहा अरातिमविदः स्योनमप्यभूर्भद्रे सुकृतस्य लोके। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ७ ॥

अहाः। अरातिम्। अविदः। स्योनम्। अपि। अभूः। भद्रे। सु-कृतस्य। लोके। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥७॥

भाषार्थ—(अरातिम्) कंजूसी वा वैर को (अहाः=अहासीः) तू ने त्याग दिया है, (स्योनम्) हर्ष को (अविदः) तूने पाया है, (अपि) और भी (सुकृतस्य) सुकृत [पुण्य कर्म] के (भद्रे) आनन्दमय (लोके) लोक में (अभूः) तू वर्तमान हुआ है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से...... [मन्त्र २] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैर छोड़ कर उदार, उपकारी, सर्वमित्र बनकर अनेक बल अर्थात् मुक्ति के आनन्द को पाता है ॥ ७ ॥

पातञ्जल योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २२ देखिये।

७—अहाः। ओहाक् त्यागे-लुङि। मन्त्रे घसह्वरणशवृदहाद्० । पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। अहासीः। अत्याक्षीः। अरातिम्। अ० १। १८। २। रा दाने-क्तिन्। अदानृताम्। शत्रुताम्। अविदः। विद्लृ लाभे-लुङ्। लृदित्वाद् अङ्। लब्धवानासि। स्योनम्। सिवेष्टेर्यू च। उ० ३। ९। इति षिवु तन्तुसन्ताने-न प्रत्ययः, टिभागस्य यू इत्यादेशो गुणः। स्योनमिति सुखनाम स्यतेरवस्यन्त्येतत् सेवितव्यं भवतीति वा-निरु० ८। ९। सुखम्। आनन्दम्। अपि। न पियति। पि गतौ-क्विप्, न तुक्। समुच्चये। अवधारणे। पुनर्थे। अभूः।

मैत्र्यादिषु बलानि ॥

मित्रता आदिकों में [संयम से] अनेक बल होते हैं ॥

टिप्पणी—(अभूः) के स्थान पर सायणभाष्य में [अभूत्] माना है ॥

सूर्यमृतं तमसो ग्राह्या अधि देवा मुञ्चन्तो असृजन्निरेणसः। एवाहं त्वां क्षेत्रियान्निर्ऋत्या जामिशंसाद् द्रुहो मुञ्चामि वरुणस्य पाशात्। अनागसं ब्रह्मणा त्वा कृणोमि शिवे ते द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ ८ ॥

सूर्यम्। ऋतम्। तमसः ग्राह्याः। अधि। देवाः। मुञ्चन्तः। असृजन्। निः। एनसः। एव। अहम्। त्वाम्। क्षेत्रियात्। निः-ऋत्याः। जामि-शंसात्। द्रुहः। मुञ्चामि। वरुणस्य। पाशात्। अनागसम्। ब्रह्मणा। त्वा। कृणोमि। शिवे इति। ते। द्यावापृथिवी इति। उभे इति। स्ताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) [ईश्वर के] दिव्य सामर्थ्यों ने (ऋतम्) चलने वाले (सूर्यम्) सूर्य को (तमसः) अन्धकार की (ग्राह्याः) पकड़ से और (एनसः अधि) कष्ट से (मुञ्चन्तः) छुड़ा कर (निः+असृजन्) उत्पन्न किया है। (एव) ऐसे ही (अहम्) मैं (त्वाम्) तुझ को (क्षेत्रियात्) शारीरिक वा वंशागत रोग से,

भू सत्तायाम्-लुङ्। त्वं वर्तमानोऽभूः। भद्रे। अ० १। १८। १। भदि-रन्। भन्दनीये। सुखप्रदे। लोके। अ० २। ६। १। स्थाने। अन्यद् गतम् ॥

८—सूर्यम्। अ० १। ४। २। गतिशीलं प्रेरकं वादित्यम्। ऋतम्। ऋ गतौ-कर्त्तरि क्त। ऋतः, मध्यस्थानदेवतासु-निरु० १०। ४०। अर्त्तारम् अन्तरिक्षे गन्तारम्। तमसः। तमिर् खेदे-असुन्। अन्धकारस्य। ग्राह्याः। अ० १। ग्रहणात्। देवाः। ईश्वरस्य दिव्यबलानि। मुञ्चन्तः। मोचयन्तः। असृजन्। सृज विसर्गे। सृष्टवन्तः। उत्पादितवन्तः। निर्। नॄ नयने-क्विप्, न दीर्घः। निश्चये। बहिर्भावे। एनसः। इण आगसि। उ० ४। १९८। इति

(निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] से (जामिशंसात्) भक्षणशील मूर्ख के सताने से, (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] से और (वरुणस्य) दुष्कर्मों से रोकने वाले न्यायाधीश के (पाशात्) दंड पाश वा बन्ध से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं। (ब्रह्मणा) वेद विज्ञान से (त्वा) तुझ को (अनागसम्) निर्दोष (कृणोमि) करता हूं, (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी=०-द्यौ) आकाश और पृथिवी (शिवे) मंगलमय (स्ताम्) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर की शक्ति से सूर्य प्रलय वा ग्रहण के अन्धकार से छूट कर प्रकाशित होकर क्लेश हरण करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने सब विघ्नों का नाश करके, आत्मिक बल बढ़ा कर संसार में उपकार करे, और आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—५ ॥ पुरुषो देवता । १ पंचषट्का, २-५ प्रथमद्वितीयपादौ द्व्यष्टका, तृतीय-चतुर्थौ च द्विपट्का गायत्री ।

पुरुषार्थोपदेशः-पुरुषार्थ का उपदेश ॥

दूष्या दूषिरसि हेत्या हेतिरसि मेन्या मेनिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ १ ॥

दूष्याः । दूषिः । असि । हेत्याः । हेतिः । असि । मेन्याः । मेनिः । असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् क्राम ॥१॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] तू (दूष्याः) दूषित क्रिया का (दूषिः) खण्डनकर्ता (असि) है, और (हेत्याः) बरछी का (हेतिः) बरछी (असि) है,

इण् गतौ-असुन् । नुट् च । एन एतेः-निरु० ११ । २४ । दुःखात् । पापात् । अपराधात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ दूष्याः । अ० १ । २३ । ४ । दुष दुष्टकर्मणि-इन् । दुष्टक्रियायाः । दूषिः । दूषकः, निवारकः-इति सायणोऽपि । असि । भवसि । हेत्याः । ऊतियूतिजूतिसातिहेतिकीर्तयश्च पा० । ३ । ३ । ९७ । इति हन हिंसागत्योः, यद्वा, हि गतिवृद्ध्योः-क्तिनि हन्तेर्नकारस्येत्वम्, हिनोतेर्गुणश्च निपात्यते ।

(मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ी शक्ति दी है । जो पुरुष उन शक्तियों को परमेश्वर के विचार और अधिक गुण वालों के सत्संग से, काम में लाते हैं वे निर्विघ्न होकर अन्य पुरुषों से अधिक उपकारी हो कर आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स्रुक्त्यो᳕ऽसि प्रतिसुरो᳕ऽसि प्रत्यभिचरणो᳕ऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसुमति समं क्राम ॥ २ ॥

स्रुक्त्यः । असि । प्रति-सरः । असि । प्रति-अभिचरणः । असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (स्रक्त्यः) गतिशील (असि) है, (प्रतिसरः) प्रत्यक्ष चलने वाला (असि) है, और (प्रत्यभिचरणः) अभिचार [दुष्ट कर्म] का हटाने वाला (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को

हेतिर्वज्रनाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । आयुधस्य । **हेतिः** । अस्त्रम् । **मेन्याः** । वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति मिञ् हिंसायाम्-नि । मेनिर्वज्रनाम-निघ० २ । २० । वज्रस्य । **मेनिः** । वज्रः । **आप्नुहि** । प्राप्नुहि । **श्रेयांसम्** । द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति प्रशस्य-ईयसुन् । प्रशस्य श्रः । पा० ५ । ३ । ६० । इति प्रशस्यस्य श्र इत्यादेशः । प्रशस्यतरम् । अधिकगुणवन्तं पुरुषं परमात्मानं मनुष्यं वा । **अति** । अतीत्य । उलङ्घ्य । **समम्** । समानम् । तुल्यबलिनम् । **क्राम** । क्रमु पादविक्षेपे-लोट् । अग्रे गच्छ ॥

२—**स्रक्त्यः** । स्रक, स्रकि गतौ "स्रकना"-क्तिन् । स्रक्तिर्गतिः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । गतिमान् । उद्यमी । **प्रतिसरः** । प्रति+सृ गतौ-अच् । चितः । ६ । १ । १६३ । अन्तोदात्तः । प्रति प्रत्यक्षं सरतीति । अग्रगामी । **प्रत्यभिचरणः** । प्रति+अभि+चर गमने, अदने,

(आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति= अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी मनुष्य निष्कपट, सरल स्वभाव होकर अग्रगामी होता है वह संकटों को हटा कर आनन्द प्राप्त करता है, मन्त्र १ देखिये ॥ २ ॥

प्रति तमभिचर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ३ ॥

प्रति । तम् । अभि । चर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (तम् प्रति) उस [दुराचारी पुरुष] की ओर (अभिचर) चढ़ाई कर, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) वैर करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रीति करते हैं । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो छली कपटी धर्मात्माओं से अप्रीति करें और जिन दुष्कर्मियों से धर्मात्मा लोग घृणा करते हों, राजा उन दुष्टों को वश में करके दण्ड देवे ॥

२—सब मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोगों को हटाकर सत्य धर्म में प्रवृत्त हों और प्रयत्न पूर्वक सदैव उन्नति करें ॥ ३ ॥

आचारे च-ल्युट् । प्रति प्रतिकूलम् अभिचरणम् अभिचारो हिंसनं यस्मात् स प्रत्यभिचरणः । व्यभिचारनिवारकः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

३—प्रति । अभिलक्ष्य । अभि+चर । अभिभव । नाशय । यः । दुराचारी पुरुषः । अस्मान् । धर्मचारिणः । द्वेष्टि । द्विष अप्रीतौ-अदादित्वात् शपो लुक् । अप्रीत्या गृह्णाति । जिघांसति । द्विष्मः । अप्रीत्या गृह्णीमः । अन्यद् गतम् ॥

सूरिरसि वर्चोधा असि तनूपानोऽसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ४ ॥

सूरिः । असि । वर्चः-धाः । असि । तनू-पानः । असि ।
आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे राजन् ! तू (सूरिः) विद्वान् (असि) है, (वर्चोधाः) अन्न वा तेज का धारण करने वाला (असि) है, (तनूपानः) हमारे शरीरों का रक्षक (असि) है । (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (आप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति= अतीत्य) बढ़कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रतापी राजा अन्न आदि से अपनी प्रजा की सदा रक्षा और उन्नति करे ॥ ४ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि स्वरसि ज्योतिरसि ।
आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम ॥ ५ ॥

शुक्रः । असि । भ्राजः । असि । स्वः । असि । ज्योतिः ।
असि । आप्नुहि । श्रेयांसम् । अति । समम् । क्राम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शुक्रः) तू वीर्यवान् (असि) है, (भ्राजः) प्रकाशमान् (असि) है, (स्वः) तू स्वर्ग [सुखधाम] (असि) है, (ज्योतिः) [सूर्यादि के समान]

४—सूरिः । सूङः क्रिः उ० ४ । ६४ । इति षूङ् प्राणिप्रसवे, यद्वा, षू प्रेरणे क्रि । सूते उत्पादयति, सुवति प्रेरयति वा सद्वाक्यानि । स्तोता—निघ० ३ । १६ । अभिज्ञः । पण्डितः । वर्चोधाः । वर्चस्+धाञ्-विच् । वर्चः-अ० १ । ६ । ४ । वर्चसः, अन्नस्य तेजसो वा धाता । तनूपानः । तनू+पा रक्षणे-भावे ल्युट् । तनूनां पानं रक्षणं यस्मात् सः । शरीररक्षकः ॥

५—शुक्रः । ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति शुच दीप्तौ-रन् । शुक्रम्=पुंस्त्वम् । वीर्यम् । तेजः । उदकम्-निघ० १ । १२ । ततः । अर्श-आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ इति अच् । यद्वा । शुच-क्रिप् । रो मत्वर्थीयः । वीर्यवान् ।

तेजः स्वरूप (असि) है। (श्रेयांसम्) अधिक गुणी [परमेश्वर वा मनुष्य] को (प्राप्नुहि) तू प्राप्त कर, (समम्) तुल्य बल वाले [मनुष्य] से (अति=अतीत्य) बढ़ कर (क्राम) पद आगे बढ़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा महाशक्तिमान्, प्रतापी, और ऐश्वर्यवान् ईश्वर पर श्रद्धालु होकर अपनी और प्रजा की सदा वृद्धि करे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—८ ॥ विश्वे देवा देवताः । १—६ त्रिष्टुप्, ७, ८ अनुष्टुप् छन्दः ॥
सर्वरक्षोपदेशः—सबकी रक्षा के लिये उपदेश ॥

द्यावापृथिवी उर्व१न्तरिक्षं क्षेत्रस्य पत्न्युरुगायोऽद्भुतः । उतान्तरिक्षमुरु वातगोपं त इह तप्यन्तां मयि तप्यमाने ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी इति । उरु । अन्तरिक्षम् । क्षेत्रस्य । पत्नी । उरु-गायः । अद्भुतः । उत । अन्तरिक्षम् । उरु । वात-गोपम् । ते । इह । तप्यन्ताम् । मयि । तप्यमाने ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी (उरु) विस्तीर्ण (अन्तरिक्षम्) मध्य में दीखने वाला आकाश, (क्षेत्रस्य) निवास स्थान, संसार की (पत्नी) रक्षा करने वाली [दिशा वा वृष्टि], (अद्भुतः) आश्चर्य स्वरूप (उरुगायः) विस्तृत स्तुति वाला परमेश्वर, (उत) और (उरु) विस्तीर्ण (वातगोपम्) प्राण वायु से रक्षा किया हुआ (अन्तरिक्षम्) मध्य वर्त्ती)

कान्तिवान्। भ्राजः । टु भ्राजृ दीप्तौ—अच्। दीप्यमानः। तेजस्वी। स्वर् । अ० २ । ५ । २ । सु+ऋ गतौ, यद्वा, स्वृ शब्दोपतापयोः—विच् । सुगमनः । शत्रूपतापकः । स्वर्गः । सुखप्रदः । ज्योतिः । अ० १ । ६ । १ । द्युत दीप्तौ—इसिन् । दस्य जः । तेजः । प्रकाशः ॥

१—द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्। पा० १ । १ । ११ । इति सन्धिविषये प्रकृतिभावः । सूर्यभूमी । उरु । महति ह्रस्वश्च । उ० १ । ३१ । इति ऊर्णु आच्छादने—कु, नुलोपो ह्रस्वश्च । महत् । वड़म् । अन्तरिक्षम् । अ० १ । ३० । ३ । अन्तर्+ईक्ष दर्शने—घञ् । आकाशम् । अन्तःकरणम् । क्षेत्रस्य । गुधृवीपचिवचि० । उ० ४ । १६७ । इति क्षि निवासगत्यैश्वर्येषु—त्र । निवासस्थानस्य संसारस्य भूमेर्वा । क्षियन्ति निवसन्ति अस्मिन्निति

अन्तः करण [ये सब जो देव हैं] (ते) वे सब (इह) यहां पर [इस जन्म में] (मयि) मुझ (तप्यमाने) तपश्चर्या करते हुये पर (तप्यन्ताम्) ऐश्वर्य वाले होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों के पालन से विद्या ग्रहण करके देख भाल करता है, परमेश्वर और सम्पूर्ण सृष्टि के पदार्थ उस पुरुषार्थी पुरुष को ऐश्वर्य प्राप्त कराते हैं ॥ १ ॥

इदं देवाः शृणुत ये यज्ञिया स्थ भरद्वाजो मह्यमुक्थानि शंसति । पाशे स बद्धो दुरिते नि युज्यतां यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ २ ॥

इदम् । देवाः । शृणुत । ये । यज्ञियाः । स्थ । भरत्-वाजः । मह्यम् । उक्थानि । शंसति । पाशे । सः । बद्धः । दुः-इते । नि । युज्यताम् । यः । अस्माकम् । मनः । इदम् । हिनस्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे दिव्य गुण वाले महात्माओ ! (ये) जो तुम (यज्ञियाः) सत्कार योग्य (स्थ) हो, (इदम्) यह (शृणुत) सुनो, (भरद्वाजः) पुष्टि-

---

क्षेत्रमुक्तं लोकत्रयम्-इति सायणोऽपि । पत्नी । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ । १ । ३३ । इति पतिशब्दस्य नकारादेशः, ङीप् च । पालयित्री दिशा वृष्टिर्वा । **उरुगायः** । उरु+गै गाने-घञ् । उरुभिर्महद्भिः, यद्वा, उरु विस्तीर्णं गीयते सः । बहुगीयमानः । **अद्भुतः** । अदि भुवो डुतच् । उ० ५ । १ । अततीति अत सातत्यगमने-क्विप् । अत्, अद् वा अकस्मादर्थे । अत्+भू सत्तायां भा दीप्तौ वा डुतच् । आश्चर्यस्वरूपः । अपूर्वः । **उत** । अपि च । **वातगोपम्** । वातः प्राणवायुः, गोपाः गोपयिता यस्य, यद्वा प्राणवायुना गोप्यमानं धार्यमाणं यत्तद् अन्तरिक्षं हृदयम् । ते । सर्वे पदार्थाः । इह । अस्मिन् जन्मनि । **तप्यन्ताम्** । तप उपतापे ऐश्वर्ये च । दिवादिः । आत्मनेपदी-लोट् । ऐश्वर्यवन्तो भवन्तु । पश्यत-"तप्यते धनी, ईश्वरः स्यादित्यर्थः ।" **मयि** । उपासके । **तप्यमाने** । तप उपतापे-कर्मणि शानच् । ब्रह्मचर्यादि-तपश्चर्यां कुर्वति क्लिश्यमाने वा ॥

२—**इदम्** । इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । पुरोवर्त्ति वक्ष्यमाणं वा वाक्यम् । **देवाः** । दीप्यमानाः । दातारः । विद्वांसः ।

कारक अन्न वा बल वा विज्ञान का धारण करने वाला, परमेश्वर (मह्यम्) मुझ को (उक्थानि) वेद वचनों का (शंसति) उपदेश करता है। (सः) वह मनुष्य (दुरिते) बड़े कठिन (पाशे) फांस में (बद्धः) बँधा हुआ (नि+युज्यताम्) आज्ञा में रहे, (यः) जो मनुष्य (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुये] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वानों को परस्पर मिल कर ब्रह्मविचार करना चाहिये। वह सर्वशक्तिमान् दुष्कर्मियों को क्लेश और सुकर्मियों को आनन्द देता है। उस सर्वपोषक ने यह आज्ञा वेद द्वारा मनुष्य मात्र के लिये प्रकाशित की है ॥ २ ॥

इदमिन्द्र शृणुहि सोमप यत्त्वा हृदा शोचता जोहवीमि। वृश्चामि तं कुलिशेनेव वृक्षं यो अस्माकं मन इदं हिनस्ति ॥ ३ ॥

इदम्। इन्द्र। शृणुहि। सोम-प। यत्। त्वा। हृदा। शोचता। जोहवीमि। वृश्चामि। तम्। कुलिशेन-इव। वृक्षम्। यः। अस्माकम्। मनः। इदम्। हिनस्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमप) हे ऐश्वर्य के रक्षक [वा अमृत पीने वाले वा अमृत

शृणुत। श्रु श्रवणे। आकर्णयत। **यज्ञियाः**। यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ। पा० ५। १। ५७। इति यज्ञ-घप्रत्ययः। यज्ञार्हाः। पूजनीयाः। **स्थ**। भवथ। **भरद्वाजः**। भरन्+वाजः। भृञ् धारणपोषणयोः-शतृ। अकर्त्तरि च कारके सञ्ज्ञायाम्। पा० ३। ३। १६। इति वज गतौ-घञ्। वाजः, अन्नम्-निघ० २। ७। बलम्-निघ० २। ९। भरत् देवानां पोषकं वाजो हविर्लक्षणम् अन्नं यस्य सोऽयं भरद्वाजः-इति सायणः। बिभर्तीति भरन् वाजमन्नं यः स भरद्वाजोऽन्नधर्त्ता-इति महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १३। ५५। वाजोऽन्नं विज्ञानं वा बिभर्त्ति येन-इति दयानन्दसरस्वती-तत्र यजुर्वेदभाष्ये। अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्त्ता धारकः पोषको वा परमेश्वरः। **मह्यम्**। मदर्थम्। **उक्थानि**। पातॄतुदिवचिरिचिसिचिभ्यस्थक्। उ० २। ७। इति वच कथने-थक्। शास्त्राणि। **शंसति**। शंसु हिंसास्तुत्योः कथने च। कथयति, उपदिशति। **पाशे**। अ० २। ८। १। बन्धने। **बद्धः**। बन्ध बन्धे-क्त। निरुद्धः। निगडितः। **दुरिते**। इण्-क्त। दुर्गते। अतिकठिने। **नि+युज्यताम्**। युज संयमे बन्धने-कर्मणि लोट्। नियतो बद्धो भवतु। **मनः**। मन बोधे-असुन्। मननात्मकं चित्तम्। हृदयम्। **इदम्**। सन्मार्गप्रवृत्तम्। **हिनस्ति**। हिसि हिंसायाम्। बाधते। क्लिश्नाति ॥

३—**इदम्** म० २। वक्ष्यमाणं वाक्यम्। **इन्द्र**। हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्!

की रक्षा करने वाले] (इन्द्र) राजन्! पमेश्वर! (इदम्) इस [वचन] को (शृणुहि) तू सुन (यत्) क्योंकि (शोचता) शोक करते हुए (हृदा) हृदय से (त्वा) तुझे (जोहवीमि) आवाहन करता रहता हूं। (इव) जैसे (कुलिशेन) कुठारी से (वृक्षम्) वृक्ष को [काटते हैं वैसे ही] मैं (तम्) उस [मनुष्य] को (वृश्चामि) काट डालूं (यः) जो (अस्माकम्) हमारे (इदम्) इस [सन्मार्ग में लगे हुए] (मनः) मन को (हिनस्ति) सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजा गण दुष्टों से पीड़ित होकर राजा के सहाय से उद्धार पाते हैं, वैसे ही बलवान् राजा उस परम् पिता जगदीश्वर के आवाहन से पुरुषार्थ करके अपने कष्टों से छुटकारा पावे ॥ ३ ॥

शृणुहि। उतश्च प्रत्ययादित्यत्र छन्दसि वेति वक्तव्यम्। वा० पा० ६। ४। १०६। इति हेरलुक्। शृणु। **सोमप**। अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि०। उ० १। १४०। इति षु गतौ। ऐश्वर्यप्रसवयोश्च-मन्। सवति ऐश्वर्यहेतुर्भवतीति सोमः। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति सोम+पा रक्षणे पाने वा-क। हे सोमस्य ऐश्वर्यस्य रक्षक! यद्वा। अमृतस्य मोक्षसुखस्य पानशील रक्षक वा! **यत्**। यतः। यस्मात् कारणात्। **त्वा**। त्वामिन्द्रम्। **हृदा**। हृञ् हरणे-क्विप्। तुक् च। हृदयेन। मनसा। **शोचता**। शुच शोके-शतृ। शोकार्तेन। दुःखितेन। **जोहवीमि**। ह्वेञ् आह्वाने-यङ्लुगन्तात् लडुत्तमैकवचने। ह्वः सम्प्रसारणम् पा० ६। १। ३२। अभ्यस्तस्य च। पा० ६। १। ३३। इति सम्प्रसारणम्। पुनः पुनराह्वयामि। **वृश्चामि**। ओव्रश्चू छेदने। तुदादित्वात् शः। छिनद्मि। **कुलिशेन**। कुल बन्धे संहतौ च-इन्, किच्च। कुलिः = हस्तः। यद्वा। कुल अस्त्यर्थे इनि। कुली पर्वतः। कुलौ हस्ते शेते वर्तते, शीङ् शयने-ड। यद्वा। कुलिनं संहतिवन्तं पर्वतं पर्ववन्तम् अतिदृढं श्यति, शो तनूकरणे-ड। वज्रेण। **वृक्षम्**। स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति ओव्रश्चू छेदने-स प्रत्ययः। स च कित्। यद्वा। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः पा० ३। १। १३५। इति वृक्ष स्वीकरणे-कः। वृश्चति परिश्रमम्।। यद्वा। वृक्षते स्वीकरोति श्रान्तं जनं स वृक्षः। विटपम्। पादपम्। अन्यद् व्याख्यातम्॥

अशीतिभिस्तिसृभिः सामगेभिरादित्येभिर्वसुभिरङ्गिरोभिः।
इष्टापूर्तमवतु नः पितॄणामामुं ददे हरसा दैव्येन ॥ ४ ॥

अशीति-भिः । तिसृ-भिः । साम-गेभिः । आदित्येभिः । वसु-भिः । अङ्गिरः-भिः । इष्टापूर्तम् । अवतु । नः । पितॄणाम् । आ । अमुम् । ददे । हरसा । दैव्येन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तिसृभिः) तीन (अशीतिभिः) व्याप्तियों [अर्थात् ईश्वर, जीव, और प्रकृति] से (सामगेभिः = ०—गैः) मोक्ष विद्या [ब्रह्म विद्या] के गाने वाले, (आदित्येभिः = ०—त्यैः) सर्वथा दीप्यमान, (वसुभिः) प्रशस्त गुण वाले (अङ्गिरोभिः) ज्ञानी पुरुषों के साथ (पितॄणाम्) रक्षक पिताओं

४—अशीतिभिः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अशू व्याप्तौ-ति छन्दसि इडागमो दीर्घश्च । अथवा, तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके । पा० ७ । ३ । ९५ । इति बाहुलकात् ईडागमः । व्याप्तिभिः, ईश्वरजीवप्रकृतिरूपाभिः । तिसृभिः । त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृ चतसृ । पा० ७ । २ । ९९ । इति त्रि शब्दस्य तिसृ इत्यादेशः । त्रिसंख्याकाभिः । सामगेभिः । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । इति षो नाशे-मनिन् । स्यति नष्टीकरोति पापं दुःखमिति साम, सामभिर्गीयमानो वेदः । साम + गै- ड । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १० । इति भिस ऐस भावो न । सामगैः । वेदपाठिभिः । ब्राह्मणैः । आदित्येभिः । अ० १ । ९ । १ । आङ् + दाप् दाने दीपी दीप्तौ वा-यक्, निपात्यते । आदातृभिर्ग्रहीतृभिर्गुणानाम् । प्रकाशमानैः । सूर्यवत्तेजस्विभिः । वसुभिः । अ० १ । ९ । १ । वस आच्छादने, निवासे, दीप्तौ च-उप्रत्ययः । छन्दसो वसीयश्श्रेयसः । पा० ५ । ४ । ८० । वसु शब्दः प्रशस्तवाची-इति भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुद्याम् । प्रशस्तैः । श्रेष्ठैः । अङ्गिरोभिः । अङ्गेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २३६ । इति अगि गतौ-असि, इरुडागमः । अङ्गनशीलैः । व्यापनशीलैः ज्ञानिभिः । महर्षिभिः । इष्टापूर्तम् । इष्टं च पूर्तं च द्वयोः समाहारः, पूर्वपददीर्घः । यज देवपूजनदानसङ्गतिकरणेषु, इषु वाञ्छे वा-भावे क्त । इज्यते इष्यते वा यत्तद् इष्टम् । पॄ पालने-क्त । न ध्याख्यापॄमूर्च्छिमदाम् । पा० ८ । २ । ५७ । इति तस्य न नत्वम् । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म । यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे ।

[पिता के समान उपकारियों] के (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (नः) हमें (अवतु) तृप्त करें, (दैव्येन) विद्वानों के सम्बन्धी (हरसा) तेज से (अमुम्) उस [दुष्ट] को (आ+ददे) मैं पकड़ता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा बहुत से सत्यवादी, सत्यपराक्रमी, सर्वहितैषी, निष्कपटी, विद्वानों की सम्मति और सहाय, और बड़े २ पुरुषों के पुण्य कर्मों के अनुकरण, और दुष्टों को दण्ड दान से प्रजा में शान्ति स्थापित करके सदा सुखी रहे ॥ ४ ॥

द्यावापृथिवी अनु मा दीधीथां विश्वे देवासो अनु मा रभध्वम् । अङ्गिरसः पितरः सोम्यासः पापमार्छत्वपकामस्य कर्ता ॥५॥

द्यावापृथिवी इति । अनु । मा । आ । दीधीयाम् । विश्वे । देवासः । अनु । मा । आ । रभध्वम् । अङ्गिरसः । पितरः सोम्यासः । पापम् । आ । ऋच्छतु । अप-कामस्य । कर्ता ॥५॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे सूर्य और पृथिवी ! (मा) मुझ पर (अनु=अनुलक्ष्य) अनुग्रह कर के (आ) भले प्रकार (दीधीथाम्)

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥ १ ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्त्तमित्यभिधीयते ॥ २ ॥

अवतु । रक्षतु । तर्पयतु । नः । अस्मान् । पितॄणाम् । अ० १ । २ । १। पालयितॄणाम् । रक्षकानाम् । आददे । गृह्णामि । स्वीकरोमि । अमुम् । तं शत्रुं पूर्वमन्त्रोक्तम् । हरसा । हृञ् हरणे-असुन् । हरो हरते ज्योतिर्हर उच्यते-निरु० ४ । १६ । हरः क्रोधः-निघ० २ । १३ । ज्योतिषा । तेजसा । दैव्येन । अ० २ । २ । २ । देव-यञ् । देवसम्बन्धिना ॥

५—द्यावापृथिवी । मा० १ । हे सूर्यभूमी । सर्वे पदार्थाः । अनु । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इति अनोः कर्मप्रवचनीयता । कर्मप्रचनीयक्तेयु

दोनों प्रकाशित हो, (विश्वे) हे सब (देवासः=०—वाः) उत्तम गुण वाले महात्माओ ! (मा) मुझ पर (अनु) अनुग्रह करके (आ) भले प्रकार (रभध्वम्) उत्साही बनो । (अङ्गिरसः) हे ज्ञानी पुरुषो ! (पितरः) हे रक्षक पिताओ ! (सोम्यासः=०—म्याः) हे सौम्य, मनोहर गुण वाले विद्वानो ! (अपकामस्य) अनिष्ट का (कर्त्ता) कर्त्ता (पापम्) दुःख (आ+ऋच्छतु) प्राप्त करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य को प्रयत्न करना चाहिये कि सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थ अनुकूल रहें, और बड़े २ उपकारी विद्वानों के सत्संग से डाकू उचक्के आदि को यथोचित दण्ड देकर और वश में करके शान्ति रक्खे ५॥

अतीव यो मरुतो मन्यते नो ब्रह्म वा यो निन्दिषत् क्रियमाणम् । तपूंषि तस्मै वृजिनानि सन्तु ब्रह्मद्विषं द्यौरभिसंतपाति ॥६॥

अति-इव । यः । मरुतः । मन्यते । नः । ब्रह्म । वा । यः । निन्दिषत् । क्रियमाणम् । तपूंषि । तस्मै । वृजिनानि । सन्तु । ब्रह्म-द्विषम् । द्यौः । अभि-संतपाति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुओं को मारने वाले शूरो ! (यः) जो [दुष्ट

द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति मा इत्यस्य द्वितीया । अनुलक्ष्य । **मा** । माम् । **दीधीयाम्** । दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः–लोट्, अदादित्वात् शपो लुक् । दीप्येताम् । **विश्वे** । सर्वे । **देवासः** । जसि असुगागमः । हे देवाः । महात्मानः । **आ+रभध्वम्** । रभ राभस्ये=उत्सुकीभावे–लोट् । उत्सुका भवत । उद्युक्ता भवत–इति सायणाचार्यः। **अङ्गिरसः** । म० ४ । हे ज्ञानिनः । महर्षयः । **पितरः** । म० ४ । हे पालकाः । पितृवत् सत्करणीयाः । **सोम्यासः** । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति यत् । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ ५ । इति असुक् । हे सोम्याः । सोमाय ऐश्वर्याय हिताः । मनोहराः । प्रियदर्शनाः । **पापम्** । पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति पा रक्षणे-प प्रत्ययः । पाति रक्षति अस्मादात्मानमिति । अधर्मम् । पातकम् । दुःखम् । **आ+ऋच्छतु** । आर्च्छतु । ऋच्छ गतौ । उपसर्गादृति धातौ । पा० ६ । १ । ९१ । इति गुणापवादे वृद्धिः । प्राप्नोतु । **अपकामस्य** । अप नञर्थे+कमु इच्छायाम्–घञ । अनिष्टस्य । अपकारस्य । अत्याचारस्य । **कर्ता** । कृञ्–तृच् । कारकः । प्रयोजकः ॥

६—**अतीव** । अतिरतिक्रमणे च । पा० १ । ४ । ९५ । इव अवधारणे,

पुरुष] (नः) हम पर (अतीव=अतीत्य एव) हाथ बढ़ा कर (मन्यते= मानयते) मान करे, (वा) अथवा (यः) जो (क्रियमाणम्) उपयुक्त किये हुये (ब्रह्म) [हमारे] वेद विज्ञान वा धन की (निन्दिषेत्) निन्दा करे। (वृजिनानि) [उसके] पाप कर्म (तस्मै) उस के लिये (तपूंषि) तापकारी [तुपक रूप] (सन्तु) हों। (द्यौः) दीप्यमान परमेश्वर (ब्रह्मद्विषम्) वेद विरोधी जन को (अभिसंतपाति) सब प्रकार से सन्ताप दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदों की सर्वोपकारी आज्ञाओं का उल्लंघन करे, उसे शूरवीर पुरुष योग्य दण्ड देवें, वह दुराचारी परमेश्वर की न्यायव्यवस्था से भी कष्ट भोगता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ६।५२।२ है ॥

सप्त प्राणानष्टौ मन्यस्तांस्ते वृश्चामि ब्रह्मणा ।
अया यमस्य सादनमग्निदूतो अरंकृतः ॥ ७ ॥

सप्त । प्राणान् । अष्टौ । मन्यः । तान् । ते । वृश्चामि । ब्रह्मणा ।
अयाः । यमस्य । सदनम् । अग्नि-दूतः । अरम्-कृतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे दुष्ट जीव] (ते) तेरे (तान्) उन [प्रसिद्ध] (सप्त) सात

प्रादिसमासः। अत्येव। अतिशयेन अतिक्रम्य तिरस्कृत्य। यः। विरोधी जनः। **मरुतः**। अ० १। २०। १। मृङ् प्राणत्यागे अन्तर्भावितण्यर्थः-उति। हे शत्रुनाशकाः। शूराः। **मन्यते**। मन गर्वे चुरादिः, छन्दसि दिवादिः। मानयते। गर्वयते। **नः**। अस्मान्। **ब्रह्म**। अ० १। ८। ४। वेदविज्ञानम्। धनम्। **निन्दिषत्**। णिदि कुत्सायाम्, इदित्त्वान्नुम्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४ ९४। इत्यडागमः। सिब् बहुलं लेटि। ३। १। ३४। इति सिप्। निन्देत्। दूषयेत्। **क्रियमाणम्**। कृञ् करणे-कर्मणि शानच्, मुक् च। अनुष्ठीयमानम्। विधीयमानम्। **तपूंषि**। अर्त्तिपृवपियजितनिधनितपिभ्यो नित्। उ० २। ११९। इति तप दाहे-उसि, नित्वाद् आद्युदात्तः। तापकानि तेजांसि आयुधानि वा-इति श्री सायणः। **वृजिनानि**। वृजेः किच्च। उ०.२। ४७। इति वृजी वर्जने-इनच्। धर्मवर्जकानि पापकर्माणि। **ब्रह्मद्विषम्**। ब्रह्म+द्विष अप्रीतौ-क्विप्। वेदविरोधिनम्। **द्यौः**। गमेर्डोः। उ० २। ६७। इति द्युत दीप्तौ-डो। गोतो णित्। पा० ७। १। ९०। इति वृद्धिः। द्योतमानः परमेश्वरः। **अभि-सम्-तपाति**। तप दाहे-लेट्। आडागमः। सर्वतः संदहेत् ॥

७—**सप्त**। सप्यशूभ्यां तुट् च। उ० १। १। १५७। इति षप समवाये-कनिन्,

(प्राणान्) प्राणों को और (अष्टौ) आठ (मन्यः=मन्याः) नाड़ियों को (ब्रह्मणा) वेद नीति से (वृश्चामि) मैं तोड़ता हूं। तू (अग्निदूतः) अग्नि को दूत बनाता हुआ और (अरंकृतः) शीघ्रता करता हुआ (यमस्य) न्यायकारी या मृत्यु के (सादनम्=सदनम्) घर में (अयाः) आ पहुंचा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सात प्राण अर्थात् दो आंख, दो नथने, दो कान और एक मुख. और आठ प्रधान नाड़ियां वा अवयव अर्थात् दो दो दोनों भुजाओं और दोनों टांगों के हैं। तात्पर्य यह है। यथादण्ड शत्रु के अंगों को छेद कर अनेक क्लेशों के साथ भस्म करके शीघ्र नाश कर देना चाहिये कि फिर अन्य पुरुष दुष्ट कर्म न करने पावें ॥ ७ ॥

लिपि प्रमाद से [मन्याः] के स्थान में (मन्यः) पद जान पड़ता है।

टिप्पणी—देखिये अथर्ववेद १० । २ । ६ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥

(कः) प्रजापति ने (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ) यह दोनों कान, (नासिके) दो नथने,

---

तुट् च । सप्त संख्याकान् । **प्राणान्** । प्र+अन जीवने-करणे घञ्, प्राणिति जीवत्यनेन। शीर्षण्यानि कर्णनासिकादीन्द्रियाणि । **अष्टौ** । सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति अशू व्याप्तौ-कनिन, तुट् च । अष्टाभ्य औश् । पा० ७ । १ । २१ । इति औश्। अष्टसंख्याकाः । **मन्यः** । मन धृतौ-क्यप्, स्त्रियां टाप् । लिपिप्रमादेन मन्याः-इत्यस्य स्थाने मन्यः, इति जातमनुमीयते।। ग्रीवायाः पश्चात् शिराः । अत्र तु हस्तपादद्वयस्थान् अष्टप्रधानावयवान् । **वृश्चामि** । छिनद्मि । **ब्रह्मणा** । वेदज्ञानेन। धर्मेण । **अयाः** । या प्रापणे-लङ् । त्वं प्राप्तवानसि । **यमस्य** । यम प्रतिबन्धे-अच्, यमयति नियमयति जीवानां पुण्यापुण्यफलम् । न्यायकारिणः पुरुषस्य । मृत्योः । **सादनम्** । षद गतौ-ल्युट्, सीदन्त्यत्र ।

(चक्षुषी) दो आंखें, और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (महनि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दो पाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं॥

आ दधामि ते पदं समिद्धे जातवेदसि।

अग्निः शरीरं वेवेष्ट्वसुं वागपि गच्छतु ॥ ८ ॥

आ। दधामि। ते। पदम्। सम्-इद्धे। जात-वेदसि। अग्निः। शरीरम्। वेवेष्टु। असुम्। वाक्। अपि। गच्छतु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे दुराचरी] (ते) तेरे (पदम्) पद [वा स्थान] को (समिद्धे) जलती हुई (जातवेदसि) वेदना अर्थात् पीड़ा देने वाली अग्नि में (आ+दधामि) डाले देता हूं। (अग्निः) अग्नि (शरीरम्) [तेरे] शरीर में (वेवेष्टु) प्रवेश करे, और (वाक्) वाणी (अपि) भी (असुम्) [अपने] प्राण [अंश] में (गच्छतु) जावे ॥ ८ ॥

सांहितको दीर्घः। सदनम्। गृहम्। **अग्निदूतः**। बहुव्रीहौ पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वम्। अग्निर्दूतः अनुचरो यस्य स तथोक्तः। **अरंकृतः**। ऋ गतौ-अच्, इयर्त्तिगच्छत्यनेनेति अरं शीघ्रम्। शीघ्रीकृतः। शीघ्रं न्यायालये प्राप्तः॥

८—**आ**। समन्तात्। **दधामि**। स्थापयामि। **ते**। तव। त्वदीयम्। **पदम्**। नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः। पा० ३।१।१३४। इति पद गत्याम्-अच्। व्यवसायम्। स्थानम्। पादम्। **समिद्धे**। सम्+इन्धी दीप्तौ-क्त। प्रदीप्ते। **जातवेदसि**। अ० १।७।२। जात+विद वेदनायां, ज्ञाने, सत्तायाम्। यद्वा विद्लृ लाभे-असुन्। जातं वेदो वेदना दुःखं यस्मात् स जातवेदाः, तस्मिन् पीड़ाजनकेऽग्नौ। **अग्निः**। पावकः। **शरीरम्**। कॄशॄपॄकटिपटिशौटिभ्य ईरन्। उ० ४।३०। इति शॄ हिंसायाम्-ईरन्। शीर्य्यते हिंस्यते रोगादिना यत्। गात्रम्। कायम्। **वेवेष्टु**। विष्लृ व्याप्तौ। जुहोत्यादित्वात् शपः श्लुः। णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ। पा० ७।४।७५। प्रविशतु। **असुम्**। शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसि। उ० १।१०। इति असु क्षेपणे-उ प्रत्ययः। असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति-निरु० ३।८। प्राणम्। स्वकारणम्। **वाक्**। क्विप् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २।

भावार्थ—दुराचारी मनुष्य राजदण्ड और ईश्वर नियम से ऐसा शारीरिक और मानसिक ताप पाता है जैसे कोई प्रज्वलित अग्नि में जल कर कष्ट पाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—५ । ब्रह्मचारी देवता ॥ १—३, ५ त्रिष्टुप्, ४ अनुष्टुप्छन्दः ॥

ब्रह्मचारिणः समावर्त्तने वस्त्रादिधारणोपदेशः—ब्रह्मचारी के समावर्त्तन, विद्या समाप्ति पर वस्त्र आदि के लिये उपदेश ॥

आयुर्दा अग्ने जरसं वृणानो घृतप्रतीको घृतपृष्ठो अग्ने ।
घृतं पीत्वा मधु चारु गव्यं पितेव पुत्रानभि रक्षतादिमम् ॥१॥

आयुः-दाः । अग्ने । जरसम् । वृणानः । घृत-प्रतीकः । घृत-पृष्ठः । अग्ने । घृतम् । पीत्वा । मधु । चारु । गव्यम् । पिता-इव । पुत्रान् । अभि । रक्षतात् । इमम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्विन् परमेश्वर ! तू (आयुर्दाः) जीवन दाता और (जरसम्) स्तुति योग्य कर्म को (वृणानः) स्वीकार करने वाला, (घृतप्रतीकः) प्रकाश स्वरूप और (घृतपृष्ठः) प्रकाश [वा सार तत्त्व] से सींचने वाला है । (अग्ने) हे तेजस्विन् ईश्वर ! [अग्नि के समान] (मधु)

---

५७ । इति वच कथने-क्विप्, दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । वागिन्द्रियम् । गच्छतु । प्राप्नोतु ॥

१—आयुर्दाः । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति आयुः+दा दाने-विच् । आयुः-अ० १ । ३० । ३ । जीवनदाता । अग्ने । हे तेजस्विन् परमेश्वर ! जरसम् । अ० १ । ३० । ३ । जरस्-अर्शआद्यच् । स्तुत्यम् । प्रशंसनीयं कर्म । वृणानः । वृङ् संभक्तौ-लटः शानच् । श्नाभ्यस्तयोरातः । पा० ६ । ४ । ११२ । इत्याकारलोपः । संभजमानः । स्वीकुर्वाणः । घृतप्रतीकः । अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति घृ भासि सेके च-क्त ।

मधुर, (चारु) निर्मल, (गव्यम्) गौ के (घृतम्) घृत को (पीत्वा) पीकर, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रान्) पुत्रों को (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] की (अभि) सब ओर से (रक्षतात्) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि गौ के घृत, काष्ठ आदि हवन सामग्री से प्रज्वलित होकर, हवन, अन्न संस्कार, शिल्प प्रयोग आदि में उपयोगी होता है, वैसे ही परमेश्वर वेद विद्या के और बुद्धि, अन्न आदि पदार्थों के दान से मनुष्यों पर उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्यों को परस्पर उपकारी होना चाहिये ॥१॥

परि धत्त धत्त नो वर्चसेमं जरामृत्युं कृणुत दीर्घमायुः। बृहस्पतिः प्रायच्छद् वास एतत् सोमाय राज्ञे परिधातवा उ ॥ २ ॥

परि । धत्त । धत्त । नः । वर्चसा । इमम् । जरा-मृत्युम् । [जरा-अमृत्युम् ।] कृणुत । दीर्घम् । आयुः । बृहस्पतिः । प्र । अयच्छत् । वासः । एतत् । सोमाय । राज्ञे । परि-धातवै । ऊं इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (नः) हमारे लिये (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (परि+धत्त) वस्त्र पहराओ, और (वर्चसा) तेज वा अन्न से (धत्त)

अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । इति प्रति+इण् गतौ—कीकन् । घृता दीप्ताः प्रतीका अङ्गानि यस्य सः । प्रकाशस्वरूपः । **घृतपृष्ठः** । तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । इति पृषु सेके-थक् प्रत्ययान्तो निपातः । घृतस्य पृष्ठं सेचनं यस्मात् सः । प्रकाशेन सेचकः । **घृतम्** । आज्यम् । **पीत्वा** । पानेन स्वीकृत्य । **मधु** । मन-उ । मधुरम् । **चारु** । अ० २ । ५ । १ । मनोहरम् । **गव्यम्** । गोपयसोर्यत् । पा० ४ । ३ । १६० । इति गो-यत् । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७६ । इति अव् । गोसम्बन्धि । **पिता** । पाता पालकः, जनकः । **इव** । यथा । **पुत्रान्** । अ० १ । ११ । ५ । पूङ् शोधे-क्त् । शुभकर्मणा मातापित्रादिशोधकान् । तनयान् । अपत्यानि । **अभि** । सर्वतः । **रक्षतात्** । हेस्तातङ् आदेशः । पाहि । **इमम्** । एनमुपासकम् । ब्रह्मचारिणम् ॥

२—**परि धत्त** । अन्तर्भावितण्यर्थः । परिधापयत । वस्त्रेण अलङ्कुरुत । **धत्त** । पोषयत । **नः** । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । **वर्चसा** । तेजसा । अन्नेन,

पुष्ट करो, [तथा इस का] (दीर्घम्) बड़ा (आयुः) आयु, वा आय, अर्थात् धन प्राप्ति, और (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति से अमरपन, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु (कृणुत) करो। (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [विद्वानों] के रक्षक [राजा वा प्रधानाचार्य] ने (एतत्) यह (वासः) वस्त्र (सोमाय) सूर्य समान (राज्ञे) ऐश्वर्य वाले [ब्रह्मचारी] को (उ) ही (परिधातवै) धारण करने के लिये (प्र+अयच्छत्) दान किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी विद्या समाप्त कर चुके; विद्वान् पुरुष परस्पर उपकार के लिये उस की योग्यता का सत्कार करें और राजा वा आचार्य विशेष वस्त्र आदि से अलंकृत करके उस का मान बढ़ावें जिस से विद्या का प्रचार और आपस में प्रीति अधिक होवे ॥ २ ॥

२—जैसे विद्वान् पुरुष विद्यादि चिह्नों से अलंकृत होकर पुरुषों में दर्शनीय होता है, वैसे ही मनुष्य, मनुष्य-शरीर का चोला पाकर सृष्टि में सर्व श्रेष्ठ गिना जाता है ॥

टिप्पणी—यह मन्त्र अथर्ववेद १९। २४। ३। में भी है ॥

निघ० ३। ७। **इमम्**। दर्शनीयं ब्रह्मचारिणम्। **जरामृत्युम्**। जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा। षिद्भिदादिभ्योऽङ्। पा० ३। ३। १०४। इति जॄ-ष् वयोहानौ वेदे तु स्तुतौ च-अङ्। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७। ४। १६। इति गुणः। टाप्। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १०। ८। भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ। उ० ३। २१। इति मृङ् प्राणत्यागे-त्युक्। जरया स्तुत्या अमृत्युम् अमरत्वम्। यद्वा। जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युं मरणम्। **कृणुत**। कुरुत। **दीर्घम्**। दृ विदारणे-घञ्। आयतम्। प्रवृद्धम्। **आयुः**। अ० १। ३०। ३। इण् गतौ-उसि। जीवितकालः। जीवनसाधनम्। आयः। धनप्राप्तिः। **बृहस्पतिः**। अ० १। ८। २। बृहत्+पतिः, सुट्तलोपौ। बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा-निरु० १०। ११। बृहतां विदुषां रक्षकः। **प्र+अयच्छत्**। दाण् दाने-लङ्। पाघ्राध्मास्थादाण्०। पा० ७। ३। ७८। इति यच्छादेशः। अददात्। **वासः**। वसेर्णित्। उ० ४। २१८। इति वस आच्छादने-असुन्, स च णित्। वस्त्रम्। वासनम्। छादनम्। **एतत्**। पुरोवर्त्ति। **सोमाय**। अ० १। ६। २। षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन्। सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः—निरु० १४। १२। सूर्यवत्तेजस्विने। **राज्ञे**। अ० १। १०। १। राजति=ईष्टे। निघ० २। २१। ऐश्वर्यवते पुरुषाय। **परि-धातवै**। तुमर्थे सेसेन्० पा० ३। ४। ९। इति तवै प्रत्ययः। परिधातुम्। **उ**। एव ॥

परीदं वासो अधिथाः स्वस्तयेऽभूर्गृष्टीनामभिशस्तिपा उं। शतं च जीव शरदः पुरूचीं रायश्च पोषमुपसंव्ययस्व ॥३॥

परि। इदम्। वासः। अधिथाः। स्वस्तये। अभूः। गृष्टीनाम्। अभिशस्ति-पाः। ऊं इति। शतम्। च। जीव। शरदः॥ पुरूचीः। रायः। च। पोषम्। उप-संव्ययस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्!] (इदम्) इस (वासः) वस्त्र को (स्वस्तये) आनन्द बढ़ाने के लिये (परि + अधिथाः) तूने धारण किया है, और (गृष्टीनाम्) ग्रहणीय गौओं की (अभिशस्तिपाः) हिंसा से रक्षा करने वाला (उ) अवश्य (अभूः) तू हुआ है। (च) निश्चय करके (पुरूचीः) बहुत पदार्थों से व्याप्त (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीव) तू जीवित रह, (च) और (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि [वृद्धि] को (उप-सं-व्ययस्व) अपने सब ओर धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ब्रह्मचारी को विदित कर दें कि यह उस की विद्या का सन्मान इस लिये किया गया है कि संसार में गौ आदि उपकारी पदार्थों

३—**इदम्**। अ० २। १। १। पुरोवर्त्ति। **वासः**। म० २। वस्त्रम्। **परि+अधिथाः**। स्थाघ्वोरिच्च। पा० १। २। १७। इति धाञो लुङि इकारोऽन्तादेशः, सिच्च किद्वत्। ह्रस्वादङ्गात्। पा० ८। २। २७। इति सिज्लोपः। परिहितवानसि। प्राप्तवानसि। **स्वस्तये**। अ० १। ३०। २। सु+अस सत्तायाम्-ति प्रत्ययः। क्षेमाय। **अभूः**। भू-लुङ्। त्वं वर्त्तमानोऽभूः। **गृष्टीनाम्**। ग्रहज् उपादाने-क्तिच्। पृषोदरादित्वात् साधुः। ग्राह्याणां गवाम्। **अभिशस्तिपाः**। अभि-शंसु स्तुतौ, हिंसायां च-क्तिन्। +पा रक्षणे-विच्। अभिशस्तिः अभितो विशसनं हिंसा, तन्निमित्ताद् भयात् पालकः-इति सायणः। हिंसाभयाद् रक्षकः। **शतम्**। बहुनाम-निघ० ३। १। बह्वीः। **जीव**। जीव् प्राणे। प्राणान् धारय। **शरदः**। अ० १। १०। २। ऋतुविशेषान्। संवत्सरान्। **पुरूचीः**। ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३। २। ५९। इति पुरु+अञ्चू गतिपूजनयोः-क्विन्। अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति। पा०। ६। ४। २४। इति नलोपः। उगितश्च। पा० ४। १। ६।

और विद्या धन और सुवर्ण आदि धन की वृद्धि करके कीर्तियुक्त जीवन व्यतीत करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अथर्ववेद १६ । २४ । ६ में है ॥

एह्यश्मा॑नमा ति॑ष्ठाश्मा॑ भवतु ते तुनूः ।
कृ॒ण्वन्तु विश्वे॑ दे॒वा आयु॑ष्टे श॒रदः॑ श॒तम् ॥४॥

आ । इ॒हि । अश्मा॑नम् । आ । ति॒ष्ठ॒ । अश्मा॑ । भ॒व॒तु॒ । ते॒ । त॒नूः । कृ॒ण्वन्तु॑ । विश्वे॑ । दे॒वाः । आयुः॑ । ते॒ । श॒रदः॑ । श॒तम् ॥४॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (एहि=आ+इहि) तू आ, (अश्मानम्) इस शिला पर (आ+तिष्ठ) चढ़, (ते) तेरा (तनूः) तन [शरीर] (अश्मा) शिला [शिला जैसा दृढ़] (भवतु) होवे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले [पुरुष और पदार्थ] (ते) तेरी (आयुः) आयु को (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (कृण्वन्तु) [दीर्घ] करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी को शिक्षा दें कि वह यथानियम पथ्य सेवन, व्यायाम, ब्रह्मचर्य और पौरुष करके अपने शरीर को दृढ़ और स्वस्थ रक्खे, और विद्वानों के मेल, और उत्तम पदार्थों के सेवन से पूर्ण आयु भोगकर संसार में उपकार करे ॥ ४ ॥

अथर्व० १ । २ । २ । में आया है " (अश्मानं तन्वं कृधि) शरीर को पत्थर सा दृढ़ बना " ॥

अत्र वार्त्तिकम् । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । इति ङीप् । बहुविधान् पदार्थान् व्याप्नुवतीः । रायः । रै-ङस् विभक्तिः । धनस्य । पोषम् । पुष्ल पोषणे-घञ् । पुष्टिम् । समृद्धिम् । उप-सम्-व्ययस्व । व्येञ् आच्छादने । परिधत्स्व ॥

४—आ+इहि । आगच्छ । अश्मानम् । अ० १ । २ । २ । प्रस्तरम् । अश्मा । पाषाणशिला । पाषाणवद् दृढ़ा । आ+तिष्ठ । अधितिष्ठ । आरूढो भव । तनूः । तनु विस्तारे-ऊ । शरीरम् । कृण्वन्तु । कुर्वन्तु । विश्वे । सर्वे । देवाः । दिव्यगुणाः पुरुषाः पदार्था वा । आयुः । म० २ । जीवनम् । ते । तव । युष्मत्तत्ततक्षुष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति सकारस्य षत्वम् । शरदः । शरदृतून् । संवत्सरान् । शतम् । बह्वीः । बहुसंवत्सरान् ॥

यस्य॑ ते॒ वास॑: प्रथमवा॒स्य॑१॒ हरा॑म॒स्तं त्वा॒ विश्वे॑ऽवन्तु दे॒वाः । तं त्वा॒ भ्रात॑रः सु॒वृधा॒ वर्ध॑मान॒मनु॑ जायन्तां ब॒हव॑: सु॒जात॑म् ॥ ५ ॥

यस्य॑ । ते॒ । वास॑: । प्र॒थ॒म॒-वा॒स्य॑म् । हरा॑म॒: । तम् । त्वा॒ । विश्वे॑ । अ॒व॒न्तु॒ । दे॒वाः । तम् । त्वा॒ । भ्रात॑रः । सु॒-वृधा॑ । वर्ध॑मानम् । अनु॑ । जा॒य॒न्ता॒म् । ब॒हव॑: । सु॒-जात॑म् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिन्] (यस्य) जिस (ते) तेरे (प्रथमवास्यम्) प्रधानता से धारण योग्य (वासः) वस्त्र को (हरामः) हम लाते हैं [धारण कराते हैं] (तम्) उस (त्वा) तेरी (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (अवन्तु) रक्षा करें । और (तम्) उस (सुवृधा) उत्तम सम्पत्ति से (वर्धमानम्) बढ़ते हुये, (सुजातम्) पूजनीय जन्म वाले (त्वा) तेरे (अनु) पीछे (बहवः) बहुत से (भ्रातरः) भाई (जायन्ताम्) प्रकट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी इस प्रकार विद्वानों में बड़ा मान पावे, तब वह उत्तम गुणों की प्राप्ति से ऐसी वृद्धि और उन्नति करे कि उसी के समान उस के दूसरे भ्रातृगण संसार में यश प्राप्त करें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—इस सूक्त में (वासः) पद का चोला अर्थात् मनुष्य शरीर का अर्थ करने से आध्यात्मिक विषय का विनियोग भी हो सकता है—

टिप्पणी २—मन्त्र २ देखिये ॥

५—**वासः** । वस्त्रम् । शरीरम् । **प्रथमवास्यम्** । प्रथ ख्यातौ-अमच् । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वस आच्छादने-कर्मणि ण्यत् । तित् स्वरितः । पा० ६ । १ । १८५ । इति स्वरितः । प्रथमं प्रधानत्वेन वास्यं परिधानीयम् । **हरामः** । प्रापयामः । **तम्** । तादृशम् । **त्वा** । त्वां ब्रह्मचारिणमात्मानं वा । **अवन्तु** । रक्षन्तु । **भ्रातरः** । नप्तृनेष्टृत्वष्टृहोतृपोतृभ्रातृ० । उ० २ । ९५ । इति टु भ्राजृ दीप्तौ-तृन् । यद्वा । भृञ् भरणे-तृन् । भ्राजमानाः परस्परं दीप्यमानाः । परस्परपोषकाः । सहोदराः । भ्रातृवत् परस्परपोषणशीलाः पुरुषाः । **सुवृधा** । वृधु वृद्धौ-क्विप् । महावृद्ध्या । समृद्ध्या । **वर्धमानम्** । वृधु-शानच् । वृद्धिविशिष्टम् । **अनु** । अनुसृत्य । **जायन्ताम्** । जनी प्रादुर्भावे । प्रादुर्भवन्तु । उत्पद्यन्ताम् । **बहवः** । अनेकाः । **सु-जातम्** । जनी-क्त । प्रशस्तजन्मानम् ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—६ ॥ अलक्ष्मीर्दुर्भिक्षता वा देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

अलक्ष्मीर्मनुष्यैः प्रयत्नेन नाशनीया—निर्धनता मनुष्यों को प्रयत्न से नाश करनी चाहिये ॥

निः सालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम् ।
सर्वाश्चण्डस्य नप्त्यो नाशयामः सदान्वाः ॥ १ ॥

निःसालाम् । धृष्णुम् । धिषणम् । एक-वाद्याम् । जिघत्-स्वम् । सर्वाः । चण्डस्य । नप्त्यः । नाशयामः । सदान्वाः ॥१॥

भाषार्थ—(निः सालाम्) विना साला वा घर वाली, (धृष्णुम्) भयानक रूपवाली, (एकवाद्याम्) [दीनता का] एक वचन बोलने वाली, (धिषणम्) बोध वा उत्तम वाणी को (जिघत्स्वम्) खालेने वाली, (चण्डस्य) क्रोध की (सर्वाः) इन सब (नप्त्यः=नप्त्रीः) सन्तानों, (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली यद्वा, दानवों, दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (नाशयामः) हम मिटा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—निर्धनता के कारण मनुष्य घर से निकल जाता, कुरूप हो जाता, दीन वचन बोलता और मतिभ्रष्ट हो जाता है, और निर्धनता की पीड़ायें

१—**निः सालाम्** । षल गतौ–घञ् । सालः प्राकारोऽस्त्यस्याः सा साला गृहम् । अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति अच् । टाप् । निर्गता सालायास्ताम् । निर्गृहाम् । **धृष्णुम्** । स्त्री० । त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३ । २ । १४० । इति धृषि क्रोधे हिंसे, शक्तिबन्धे-क्नु । धर्षणशीलां भयस्य जनयित्रीम् । **धिषणम्** । धृषेर्धिष च सञ्ज्ञायाम् । उ० २ । ८२ इति ञिधृषा प्रागल्भ्ये-क्यु, धिषादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे-क्यु, धिषणा वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । बुद्धिः, कोपे च । बोधं वाचं वा । (जिघत्स्वम्) इत्यस्य कर्म । **एकवाद्याम्** । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति वद वाचि ण्यत् । एकम् एकप्रकारमेव वाद्यं दीनतारूपं वचनं यस्याः सा । ताम् अलक्ष्मीम् ।

क्रोध अर्थात् काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि दुष्टताओं से उत्पन्न होती हैं। मनुष्य को चाहिये कि दूरदर्शी होकर पुरुषार्थ से धन प्राप्त करके निर्धनता को न आने दे और सदा सुखी रहे ॥ १ ॥

ऋग्वेद म० १० । सू० १५५ । म० १ में ऐसा वर्णन है ।

अरा॑यि॒ काणे॒ विक॑टे गि॒रिं ग॑च्छ सदान्वे ।

शि॒रिम्बि॑ठस्य॒ सत्व॑भि॒स्तेभि॑ष्ट्वा चातयामसि ॥ १ ॥

(अरायि) हे अदान शील [कंजूसिनि] ! (काणे) हे कानी ! (विकटे) हे लंगड़ी ! (सदान्वे=सदानोनुवे शब्दकारिके) सदा चिल्लाने वाली ! (गिरिम्) पहाड़ को (गच्छ) चली जा ! (शिरिम्बिठस्य) मेघ के (तेभिः) उन (सत्वभिः) जलों से (त्वा) तुझे (चातयामसि) हम मिटाये देते हैं ॥

इस ऋग्वेद मन्त्र की व्याख्या निरु० ६ । ३० । में है । उसके और निरुक्त टीकाकार देवराज यज्वा के आधार पर यहां अर्थ किया है ॥

जिघत्स्वस् । लुङ्सनोर्घस्लृट । पा० २ । ४ । ३७ । इति अद भक्षणे + सन्-घस्लादेशः । ततः । सनाशंसभिक्ष उः । पा० ३ । २ १६८ इति उः, स्त्रियाम् ऊङ् वा । अत्तुमिच्छुम् । **सर्वाः** । निखिलाः । **चण्डस्य** । नपुंसकलिंगम् । चडि कोपे-पचाद्यच् । यद्वा । अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । इति चण हिंसे-डः । डस्य न इत्वम् । कोपस्य । क्रोधस्य । **नप्त्यः** । न पतन्ति पितरो येनेनि नप्ता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ९५ । इति न + पत अधोगतौ-तृन् । ऋन्नेभ्यो ङीप् पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । छन्दसि र लोपो जस्त्वं च । नप्त्रीः । अपत्यभूताः । **नाशयामः** । हन्मः । **सदान्वाः** । नौतेः शब्दकर्मणो यङ् लुगन्तात् । नन्दिग्रहिपचादिभ्या ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पचाद्यच् । न धातु लोप आर्धधातुके । पा० १ । १ । ४ । इति गुणप्रतिषेधे उवङ्स्थाने छान्दसो यण् आदेशः, टाप् च । सदान्वे सदानोनुवे शब्दकारिके-निरु० ६ । ३० । दुर्भिक्षाधिदेवतोच्यते, कालकर्णी वा अलक्ष्मीः-इति तत्र टीकायां देवराज यज्वा । सदानोनुवाः । सर्वदा नोनूयमानाः शब्दायमानाः सर्वप्रकारा दरिद्रतादिविपत्तीः यद्वा । स + दानवाः । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । अत्र वार्त्तिकम् । अन्येभ्योऽपि दृश्यते । इति व प्रत्ययो मत्वर्थे । अकारलोपः । दानवैश्छेदनशीलैः सह वर्तमानाः ॥

निर्वो गोष्ठादजामसि निरक्षान्निरुपानसात् ।
निर्वो मगुन्द्या दुहितरो गृहेभ्यश्चातयामहे ॥ २ ॥

निः । वः । गो-स्थात् । अजामसि । निः । अक्षात् । निः । उप-आनसात् । निः । वः । मगुन्द्याः । दुहितरः । गृहेभ्यः । चातयामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (गोष्ठात्) [अपनी] गोठ अर्थात् वाचनालय वा गोशाला से (निर्+अजामसि) हम निकाले देते हैं, (अक्षात्) व्यवहार से (निर्) निकाले, (उपानसात्) अन्नगृह वा धान्य की गाड़ी से (निर्) निकाले देते हैं। (मगुन्द्याः) हे ज्ञान को मिथ्या करनेवाली [कुवासना वा निर्धनता] की (दुहितरः) पुत्रियो ! [पुत्री समान उत्पन्न पीड़ाओं] (वः) तुम को (गृहेभ्यः) [अपने] घरों से (निर्) निकालकर (चातयामहे) हम नाश करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धन के उपार्जन और व्यय करने में ऐसा प्रबन्ध करे

२—वः । युष्मान् । **गोष्ठात्** । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति गो+ष्ठा गतिनिवृत्तौ–क । यद्वा । घञर्थे कः । अम्बाम्बगोभूमि पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । गावो वाचो धेन्वादिपशवो वा तिष्ठन्ति यत्र । गोष्ठयाः । वाचनालयात् । गोशालायाः । **निर्+अजामसि** । अज गतिक्षेपणयोः । इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मस् इत्यस्य इकारागमः । निरजामः । निः सारयामः । **निर्** निरजामसि । **अक्षात्** । अक्षू व्याप्तौ–पचाद्यच् अच् वा । व्यवहारात् **उपनसात्** । । अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । पा० ५ । ४ । १०७ । इति अनस् शब्दात् टच् समासान्तः । अन जीवने–असुन् । अनः, अन्नम् । शकटम् । जन्म । अनसः समीपम् उपानसं धान्यगृहम् । यद्वा । अनोऽश्मायःसरसां जातिसंज्ञयोः । पा० ५ । ४ । ९४ । इति तत्पुरुषे टच् । उपगतं च तद् अनश्च उपानसं धान्यपूर्णं शकटम् । तस्मात् । धान्यगृहात् । धान्यपूर्णशकटात् । **मगुन्द्याः** । मनु बोधे–ड+गुद्रि मिथ्योक्तौ–अच्, ङीप् च, छन्दसि रलोपः । मं ज्ञानं गुन्द्रयति मिथ्या वदति सा मगुन्द्री तस्याः । ज्ञाननाशयित्र्याः कुवासनाया

कि पठन पाठन, गौ आदि पशुओं, व्यापार, और अन्न आदि में हानि न हो किन्तु सब पदार्थों के यथावत् संग्रह से सर्वदा सुख की वृद्धि रहे ॥ २ ॥

टिप्पणी—गोट (गोष्ठ) शब्द राजस्थान में घात चीत के स्थान अर्थ में लाया जाता है।

असौ यो अधराद् गृहस्तत्र सन्त्वराय्यः ।
तत्र सेदिर्न्युच्यतु सर्वाश्च यातुधान्यः ॥ ३ ॥

असौ । यः । अधरात् । गृहः । तत्र । सन्तु । अराय्यः । तत्र । सेदिः । नि । उच्यतु । सर्वाः । च । यातु-धान्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह (यः) जो (गृहः) घर (अधरात्) नीचे की ओर है, (तत्र) वहां पर (अराय्यः) निर्धनता वाली [विपत्तियां] (सन्तु) रहें। (तत्र) वहां ही (सेदिः) महामारी आदि क्लेश (नि+उच्यतु) नित्य निवास करे, (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः) पीड़ा देने वाली क्रियायें भी ॥ ३ ॥

निर्धनतायाः । **दुहितरः** । नप्तृनेष्टृ......दुहितृ । उ० २ । ९५ । इति दुह प्रपूरणे-तृन्, निपातनाद् गुणाभावः । दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता । पुत्र्यः । पुत्रीवद् उत्पन्नाः । **गृहेभ्यः** । गेहे कः । पा० ३ । १ । १४४ । इति ग्रह उपादाने-क । गेहात् । **निर्** । निःसार्य निःशेषेण वा । **चातयामहे** । चातयतिर्नाशने-निरु० ६ । ३० । नाशयामः ॥

३—**अधरात्** । अधस्-आति । अधोभागे । नीचस्थाने । **गृहः** । म० २ । गेहम् । **अराय्यः** । रा दानग्रहणयोः—घञ् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् आगमः । राति ददातीति रायो धनम् । न रायः, अरायः, अधनम् । केशाद्वोऽन्यतरस्याम् । पा० ५ । २ । १०९ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । इति मत्वर्थीय ईकारः । अरायः, अधनं यस्याः सा अरायी । अलक्ष्म्यः । विपत्तयः । **तत्र** । अधोदेशे । **सेदिः** । आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इत्यत्र वार्त्तिकम् । किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि

भावार्थ—जैसे राजा चौर आदि दुष्टों को पकड़ कर कारागार में रखता है, ऐसे ही मनुष्यों को प्रयत्न पूर्वक निर्धनता, दुर्भिक्षता, और दुःखदायी रोगों को हटा कर आनन्दित रहना चाहिये ॥ ३ ॥

भूतपतिर्निरजत्विन्द्रश्चेतः सदान्वाः ।
गृहस्य बुध्न आसीनास्ता इन्द्रो वज्रेणाधि तिष्ठतु ॥ ४ ॥

भूत-पतिः । निः । अजतु । इन्द्रः । च । इतः । सदान्वाः । गृहस्य । बुध्ने । आसीनाः । ताः । इन्द्रः । वज्रेण । अधि । तिष्ठतु ॥४॥

भाषार्थ—(भूतपतिः) न्याय वा सत्य वा प्राणियों का रक्षक (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला पुरुष (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों दुष्कर्मियों के साथ रहने वाली [निर्धनता की पीड़ाओं] को (इतः) यहां से (निर्+अजतु) निकाल देवे। (इन्द्रः) वही महा प्रतापी पुरुष (गृहस्य) [हमारे] घर की (बुध्ने) जड़ में (आसीनाः) बैठी हुई (ताः) उन [पीड़ाओं] को (वज्रेण) वज्र [कुल्हाड़े आदि) से (अधि+तिष्ठतु) वश में करे ॥ ४ ॥

सदादिभ्यो दर्शनात् । इति पद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कि प्रत्ययः । तस्य लिड्वद्भावाद् द्विर्वचने एत्वाभ्यासलोपौ । निर्ऋतिः । विषादः । न्युच्यतु । उच समवाये दिवादिः । नित्यं समवैतु । **सर्वाः** । निखिलाः । **यातुधान्यः** । अ० १ । ७ । १ । यत ताड़ने-उण्+धाञ्-युच्, ङीप् । यातनाप्रदाः पीड़ादात्र्यः क्रियाः । (न्युच्यन्तु) इति शेषः ॥

४—**भूतपतिः** । भू सत्तायां प्राप्तौ च-कर्त्तरि क्त । भूतस्य न्यायस्य सत्यस्य वा, अथवा भूतानां प्राणिनां पालकः पुरुषः । **निर्** । निसार्य । **अजतु** । प्रेरयतु । बहिष्करोतु । **इन्द्रः** । अ० १ । २ । ३ । इदि परमैश्वर्ये-रन् इन्दतेर्वैश्वर्यकर्मण इदञ्छत्रूणां दारयिता वा द्रावयिता वा दरयिता च यज्वानाम् निरु० १० । ८ परमैश्वर्यवान् महात्मा । **इतः** । अस्मात् स्थानात् । **सदा-**

भावार्थ—क्लेशों के भीतरी कारणों को भली भांति विचार कर राजा और गृहपति सब पुरुषों को सचेत करके क्लेशों से बचावें और आनन्द में रक्खें ॥४॥

यदि॒ स्थ क्षे॑त्रि॒याणां॒ यदि॒ वा पुरु॑षेषिताः ।
यदि॒ स्थ दस्यु॑भ्यो जा॒ता नश्य॑ते॒तः स॒दान्वा॑ः ॥ ५ ॥

यदि॑ । स्थ । क्षे॒त्रि॒याणा॑म् । यदि॑ । वा॒ । पुरु॑ष-इ॒षि॒ताः । यदि॑ । स्थ । दस्यु॑-भ्यः । जा॒ताः । नश्य॑त । इ॒तः । स॒दान्वा॑ः ॥५ ॥

भाषार्थ—[हे पीड़ाओ !] (यदि) यदि (क्षेत्रियाणाम्) शरीर सम्बन्धी, वा वंश सम्बन्धी रोगों की (वा) अथवा (यदि) यदि (पुरुषेषिताः) अन्य पुरुषों की प्रेषित (स्थ) हो, (यदि) जो (दस्युभ्यः) चोर आदिकों से (जाताः) प्रकट हुयी (स्थ) हो, वह तुम (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओ !] (इतः) यहां से (नश्यत) हट जाओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अपने कुपथ्य सेवन, ब्रह्मचर्य आदि के खण्डन से अथवा माता पिता आदि के कुसंस्कार से, शारीरिक वा अध्यात्मिक, और शत्रु चोर आदि के अन्यथा व्यवहार से आधिभौतिक पीड़ायें प्राप्त होती हैं। मनुष्य पुरुषार्थ से सब प्रकार के क्लेशों का नाश करके आनन्द से रहें ॥५॥

न्वाः । म० १ । सदा+ नोनुवाः । आक्रोशकारिणीः, यद्वा, । स+ दानवाः, दानवैः सह वर्त्तमानाः पीड़ाः ॥

५-यदि । पक्षान्तरम् । चेत् । स्थ । यूयं भवथ । क्षेत्रियाणाम् । अ० २ । ८ । १ । स्वकीये देहे वंशे वा जातानां रोगाणाम् । पुरुषेषिताः । पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । इति पुर अग्रगतौ–कुषन् । पुरति अग्रे गच्छतीति पुरुषः । इष गतौ यद्वा, ईष दाने–कर्मणि निष्ठा, इडागमः । अन्यजनैः प्रेषिताः प्रेरिता दत्ता वा । दस्युभ्यः । यजिमनिशुन्धिदसिजनिभ्यो युच् । उ० ३ । २० । इति दसु उपक्षये–युच् । बाहुलकाद् अनादेशाभावः । दस्यति नाशयति परपदार्थानिति दस्युः । चोरादिभ्यः शकाशात् । जाताः । प्रादुर्भूताः । नश्यत । णश अदर्शने, दिवादिः । तिरोभवत । निर्गच्छत । सदान्वाः । म० १ । हे सर्वदा शब्दयित्र्यः, यद्वा, दानवैः सह वर्त्तमानाः ॥

परि धामान्यासामाशुर्गाष्ठामिवासरन् ।
अजैषं सर्वानाजीन् वो नश्यतेतः सदान्वाः ॥ ६ ॥

परि । धामानि । आसाम् । आशुः । गाष्ठाम्-इव । असरन् ।
अजैषम् । सर्वान् । आजीन् । वः । नश्यत । इतः । सदान्वाः ॥६॥

भाषार्थ—[वे विद्वान्] (आसाम्) इन [पीड़ाओं] के (धामानि) घरों को (परि) सब प्रकार (असरन्) पहुंच गये हैं । (आशुः इव) जैसे शीघ्र गमी घोड़ा (गाष्ठाम्) अपने गमन स्थान [थान] पर । (वः) तुम्हारे (सर्वान्) सब (आजीन्) संग्रामों को (अजैषम्) मैं ने जीत लिया है, (सदान्वाः) हे सदा चिल्लाने वाली, अथवा, दानवों के साथ रहने वाली [पीड़ाओ !] (इतः) यहां से (नश्यत) चंपत हो जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्वज विद्वान् लोग क्लेशों के कारण शीघ्र जान चुके हैं, जैसे कि घोड़ा मार्ग से लौटते समय अपने थान की ओर शीघ्र चलता है, अथवा, जैसे शूरवीर पुरुष संग्राम में शत्रुओं को हराकर शीघ्र विजयी होता है, वैसे ही मनुष्य आयी हुयी विपत्तियों का कारण सावधानी से जानकर शीघ्र प्रतीकार करे और सुख से आयु को भोगे ॥ ६ ॥

६—**परि** । परितः सर्वतः । **धामानि** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धाञ्-मनिन् । धीयन्ते द्रव्यजातानि यत्र । गृहाणि । जन्मानि । कारणानि । **आसाम्** । पूर्वोक्तानां पीड़ानाम् । **आशुः** । कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूभ्य उण् । उ० १ । १ । इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-उण् । अश्वनाम निघ० १ । १४ । अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा-निरु० २ । २७ । शीघ्रगामी घोटकः । **गाष्ठाम्** । गाङ् गतौ-क्विप्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच् । गमनाय गमनाद्वा तिष्ठति यत्र । गमनस्थानम् । **असरन्** । सृ गतौ भ्वादिः, लङ् । अगच्छन् ते विद्वांसः । **अजैषम्** । जि जये-लुङ् । अहं जितवानस्मि । **आजीन्** । अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । इति अज गतिक्षेपणयोः-इण् । वीभावाभावः । आजौ, संग्रामनामसु-निघ० २ । १७ । अजन्ति गच्छन्ति

(असरन्) के स्थान पर सायणभाष्य में [असरम्] और (गाष्ठाम्) के स्थान पर [ग्लाष्ठाम्] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ प्राणो देवता । गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यो धर्मपालने निर्भयो भवेत्—मनुष्य धर्म के पालन में निर्भय रहे ॥

**यथा द्यौश्च पृथिवी च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ १ ॥**

**यथा । द्यौः । च । पृथिवी । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ १ ॥**

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी दोनों (न) न (रिष्यतः) दुःख देते हैं, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं । (एव) ऐसे ही, (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ १ ॥

भावार्थ—यह आकाश और पृथिवी आदि लोक परमेश्वर के नियम पालन से अपने २ स्थान और मार्ग में स्थिर रह कर जगत् का उपकार करते हैं, ऐसे ही मनुष्य ईश्वर की आज्ञा मानने से पापों को छोड़ कर और सुकर्मों को करके सदा निर्भय और सुखी रहता है ॥ १ ॥

यत्र विजयश्रियं योद्धारः, क्षिपन्ति शस्त्राणि यत्र । संग्रामान् । वः । युष्माकम् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१ **यथा** । येन प्रकारेण । **द्यौः** । अ० २ । १२ । ६ । द्योतन्ते लोका यत्र । आकाशम् । **च** । निश्चये । समुच्चये । **पृथिवी** । अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे-पिवन्, ङीप् । भूमिः । सत्तास्थानम् । **न** । निषेधे । **बिभीतः** । ञिभी भये । दरं त्रासं प्राप्नुतः । **रिष्यतः** । रिष हिंसायाम्, दिवादिः सकर्मकः । हिनस्तः । आज्ञाभङ्गं कुरुतः—इत्यर्थः । **एव** । एवम् । तथा । **मे** । मम । **प्राण** । प्र+अन् जीवने-अच्, घञ् वा । हे आत्मन् । **मा बिभेः** । ञिभी भये, लङ् । त्वं शङ्कां मा कार्षीः ॥

यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ २ ॥

यथा । अहः । च । रात्री । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (अहः) दिन (च) और (रात्री) रात दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (बिभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने काल प्रयोग में नहीं चूकते वे अपने सुप्रबन्ध से सदा निर्भय रहते हैं ॥ २ ॥

यथा सूर्यश्च चन्द्रश्च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । न । बिभीतः । न रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण मा । बिभेः ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रः) चन्द्र, दोनों (न) न (रिष्यतः) दुख देते हैं और (न) न (बिभीतः) डरते हैं, (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपनी राशियों में घूमकर संसार में किरणों और प्रकाश द्वारा वृष्टि आदि से, और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश लेकर अन्न आदि ओषधों को पुष्ट करके; उपकार करते और निर्भय विचरते हैं, ऐसे ही मनुष्य भी वेद विहित धर्म की रक्षा करके सदा प्रसन्न रहें ॥

२—अहः । नञि जहातेः । उ० १ । १५८ । इति नञ्+ओहाक् त्यागे-कनिन् । न जहाति न त्यजति सर्वथा परिवर्त्तमानत्वात् तद् अहः । दिनम् । रात्री । अ० २ । ८ । २ । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः, निरु० २ । १८ । क्षपा । निशा ॥

३-सूर्यः अ० १ । ३ । ५ । आदित्यः । सप्ताश्वः । चन्द्रः । अ० १ । ३ । ४ । चन्द्रमाः ॥

यथा ब्रह्म च क्षत्रं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ४ ॥

यथा । ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] जन (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय जन, दोनों (न) (रिष्यतः) न दुःख देते और (न) (बिभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ४ ॥

भावार्थ जैसे सत्यवक्ता ब्राह्मण और सत्य पराक्रमी क्षत्रिय न सताते और न भय करते हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य सत्यवक्ता और सत्यपराक्रमी होकर ईश्वराज्ञा पालन में निश्चय होकर आनन्द उठावे ॥ ४ ॥

यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ५ ॥

यथा । सत्यम् । च । अनृतम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ (च) और (अनृतम्) अयथार्थ (न) न (रिष्यतः) दुःख देते, और (न) न (बिभीतः) डरते हैं । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सत्य अर्थात् धर्म का विधान, और असत्य अर्थात् अधर्म का निषेध, यह दो प्रधान अंग न्याय के हैं । मनुष्य विधि और निषेध के यथावत्

४—ब्रह्म । अ० १ । ८ । ४ । ब्राह्मणजातिः । वेदवेत्तृजनः । क्षत्रम् । क्षणु वधे-क्विप्, क्षत् क्षतम् । ततस्त्रायते । क्षत्+त्रैङ् पालने-क । यद्वा । गृधृवी० उ० ४ । १६७ । इति क्षद भक्षणे; संवेषणो, संवृतौ, वधे च-त्र । क्षदति शत्रूनिति क्षत्रम् । क्षत्रियकुलम् ॥

५—सत्यम् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति सत्-यत् । सद्भ्यो

रूप को समझ कर, कुमार्ग छोड़ कर सुमार्ग में निर्भय चलें और अचल आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

यजुर्वेद में वर्णन है—अ० १६ म० ७७ ।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः ।
अश्रद्धामनृतेऽदधाच्छ्रद्धाᳬ सत्ये प्रजापतिः ॥ १ ॥

(प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक परमेश्वर ने (रूपे) दो रूप, (सत्यानृते) सत्य और झूठ (दृष्ट्वा) देखकर (व्याकरोत्) समझाये। (प्रजापतिः) उस प्रजापति ने (अनृते) झूठ में (अश्रद्धाम्) अश्रद्धा वा अप्रीति और (सत्ये) सत्य में (श्रद्धाम्) श्रद्धा वा प्रीति को (अदधात्) धारण कराया।

यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः ।
एवा मे प्राण मा बिभेः ॥ ६ ॥

यथा । भूतम् । च । भव्यम् । च । न । बिभीतः । न । रिष्यतः ।
एव । मे । प्राण । मा । बिभेः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (च) निश्चय करके (भूतम्) अतीत काल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् [होने हारा] काल (न) न (रिष्यतः) दुःख देते और (न) न (बिभीतः) डरते हैं (एव) वैसे ही (मे) मेरे (प्राण) प्राण ! तू (मा बिभेः) मत डर ॥ ६ ॥

भावार्थ—समर्थ, सत्य प्रतिज्ञा वाले मनुष्य पहले विजयी हुये हैं और आगे होंगे। इसी प्रकार सब मनुष्य भूत और भविष्यत् का विचार करके जो कार्य करते हैं वे सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

हितम्। तथ्यम्। यथार्थकथनम्। अनृतम्। न ऋतं नञ्समासः। मिथ्याभाषणम् ॥

६—भूतम्। भू-क्त। अतीतम्। गतकालः। भव्यम्। भव्यगेयप्रवचनीयो०। पा० ३। ४। ६८। इति भू-यत्। भविष्यत्। अनागतम् ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—५ ॥ आत्मा देवता । १ आसुरी पङ्क्तिः, २ आसुर्युष्णिक्, ३ आसुरी त्रिष्टुप्, ४—५ आसुरी गायत्री ॥

आत्मरक्षाया उपदेशः—आत्म रक्षा के लिये उपदेश ॥

प्राणापानौ मृत्योर्मा पातं स्वाहा ॥ १ ॥

प्राणापानौ । मृत्योः । मा । पातम् । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मृत्योः) मृत्यु से (मा) मुझे (पातम्) बचाओ, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी [आशीर्वाद] हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य, ब्रह्मचर्य, व्यायाम, प्राणायाम, पथ्य भोजन आदि से प्राण अर्थात् भीतर जाने वाली श्वास, और अपान, अर्थात् बाहिर आने वाली श्वास की स्वस्थता स्थापित करें और बलवान् रह कर चिरंजीव होवें ॥ १ ॥

द्यावापृथिवी उपश्रुत्या मा पातं स्वाहा ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । उप-श्रुत्या । मा । पातम् । स्वाहा ॥ २ ॥

भावार्थ—(द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे आकाश और पृथिवी ! दोनों (उपश्रुत्या) पूर्ण श्रवण शक्ति के साथ (मा) मेरी (पातम्) रक्षा करो, (स्वाहा) यह सुवाणी [सुन्दर आशीर्वाद] हो ॥ २ ॥

१—**प्राणापानौ** । अन जीवने-अच् वा घञ् । प्राणश्च अपानश्च तौ । हे उच्छ्वासनिश्वासौ । हे अन्तर्मुखश्वासबहिर्मुखश्वासौ । **मृत्योः** । अ० १ । ३० । ३ । मृङ्-त्युक् । प्राणत्यागात् । मरणात् । **मा** । माम् । **पातम्** । युवां रक्षतम् । **स्वाहा** । सु+आङ्+ह्वेञ् आह्वाने-डा । वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । स्वाहेत्येतत् सु आहेति स्वा वागाहेति वा स्वं प्राहेति वा स्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ८ । २० । सुवाणी । आशीर्वादः । सुदानम् ॥

२—**द्यावापृथिवी** । अ० २ । १ । ४ । हे आकाशभूमी ! तदन्तराल-

भावार्थ—सब दिशाओं में मनुष्य को अपनी श्रवणशक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ २ ॥

सूर्य॒ चक्षु॑षा मा पा॒हि स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

सूर्य॑ । चक्षु॑षा । मा॒ । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य, तू (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुवाणी हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य प्रकाश का आधार है, और उसी से नेत्र में ज्योति आती है। मनुष्य को सूर्य के समान अपनी दर्शन शक्ति संसार में स्थिर रखनी चाहिये ॥ ३ ॥

अग्ने॑ वैश्वानर॒ विश्वै॑र्मा दे॒वैः पा॑हि स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अग्ने॑ । वै॒श्वा॒न॒र॒ । विश्वैः॑ । मा॒ । दे॒वैः । पा॒हि॒ । स्वाहा॑ ॥४॥

भाषार्थ—(वैश्वानर) हे सब को चलाने वाले (अग्ने) अग्नि ! (विश्वैः) सब (देवैः) इन्द्रियों [वा विद्वानों] के साथ (मा) मेरी (पाहि) रक्षाकर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—शरीर में अग्नि अर्थात् उष्णता का होना बल, तेज और प्रताप का लक्षण है और इन्द्रिय आदि का चलाने वाला है। सब मनुष्य अन्न की पाचन शक्ति से शरीर में अग्नि स्थिर रखकर सब इन्द्रियों को पुष्ट करें और उत्तम पुरुषों के सत्संग से स्वस्थ और सुखी रहें ॥ ४ ॥

दालवर्तिन्यो दिशो विवक्षिताः । उपश्रुत्या । उप+श्रु-क्तिन्, उपश्रूयते । समीपश्रवणेन । पूर्णश्रवणशक्तिप्रदानेन । अन्यद् गतम् ॥

३—सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सर्वप्रेरक ! हे आदित्य ! चक्षुषा । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् कथने दर्शने च-उसि । नेत्रेण । रूपदर्शनशक्त्या ।

४-अग्ने । अ० १ । ६ । २ । अग्निः कस्मादग्रणी भवत्यग्रं यज्ञेषु प्रणीयतेऽङ्गंनयति सन्नममानोऽक्नोपनो भवतीति स्थौलाष्ठीविः-निरु० ७ । १४ । हे शरीरस्थतेजोविशेष !। वैश्वानर । अ० १ । १० । ४ । वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयति विश्व एनं नरा नयन्तीति वा-निरु० ७ । २१ । हे सर्वेषामिन्द्रियादीनां नायक !। विश्वैः । सर्वैः । देवैः । दिवु-अच् । इन्द्रियैः विद्वद्भिः ॥

विश्वंम्भर विश्वेन मा भरसा पाहि स्वाहा ॥ ५ ॥

विश्वम्-भर । विश्वेन । मा । भरसा । पाहि । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्भर) हे सर्वपोषक परमेश्वर ! (विश्वेन) सब (भरसा) पोषण शक्ति से (मा) मेरी (पाहि) रक्षा कर, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब शरीर को स्वस्थ रखकर मनुष्य उस (विश्वम्भर) परमेश्वर के अनन्त पथ्य, पोषक द्रव्यों और शक्तियों का उपयोग करें और अपनी शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर सदा बलवान् रहकर (विश्वम्भर) सर्व पोषक बनें और आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १७

१—७ ॥ ईश्वरो देवता ॥ १—६ आसुरी त्रिष्टुप्, ७ आसुर्युष्णिक् ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

ओजोऽस्योजो मे दाः स्वाहा ॥ १॥

ओजः । असि । ओजः । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर] तू (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (असि) है, (मे) मुझे (ओजः) शारीरिक सामर्थ्य (दाः=दद्याः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(ओजः) बल और प्रकाश का नाम है। वैद्यक में रसादि सात धातुओं से उत्पन्न, आठवें धातु शरीर के बल और पुष्टि के कारण, और

५-**विश्वम्भर**। संज्ञायां भृतॄवृजि०। पा० ३। २। ४६। इति विश्व+डुभृञ धारणपोषयोः—खच्। अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम्। पा० ६। ३ ६७। इति मुम्। हे सर्वधारक ! जगत्पोषक ! विष्णो ! परमात्मन् ! **विश्वेन**। समस्तेन। **भरसा**। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति डुभृञ्—असुन्। पोषणशक्त्या। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

१—**ओजः**। अ० १। १२। १। ओज बले, तेजसि—असुन्। बलम्।

ज्ञानेन्द्रियों की नीरोगता को (ओजः) कहते हैं। जैसे (ओजः) हमारे शरीरों के लिये है वैसे ही परमात्मा सब ब्रह्माण्ड के लिये है ऐसा विचार कर मनुष्यों को शारीरिक शक्ति बढ़ानी चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का पाठ यजुर्वेद के पाठ से प्रायः मिलता है—अ० १६। ६।

तेजोऽसि तेजो मयि धेहि। वीर्यमसि वीर्यं मयि धेहि। बलमसि बलं मयि धेहि। ओजोऽस्योजो मयि धेहि। मन्युरसि मन्युं मयि धेहि। सहोऽसि सहो मयि धेहि ॥१॥

तू तेज है, मुझ में तेज धारण कर-इत्यादि ॥

सहोऽसि सहो मे दाः स्वाहा ॥ २ ॥

सहः। असि। सहः। मे। दाः। स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मा !] तू (सहः) पराक्रम स्वरूप (असि) है, (मे) मुझे (सहः) आत्मिक पराक्रम (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ।—अनन्त ब्रह्माण्डों का रचक और धारक परमेश्वर पराक्रम स्वरूप है। ऐसा सोचकर विद्यादि उपायों से मनुष्य अपनी आत्मिक शक्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

बलमसि बलं मे दाः स्वाहा ॥ ३ ॥

बलम्। असि। बलम्। मे। दाः। स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ— [हे ईश्वर।] तू (बलम्) सामाजिक बल (असि) है, (मे) मुझे (बलम्) सामाजिक बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में सब देवता, मनुष्य आदि समाजों का बल है, ऐसा जान कर मनुष्य अपने कुटुम्बी आदि से प्रीति बढ़ा कर सामाजिक बल बढ़ावे ॥ ३ ॥

प्रकाशः । वैद्यके रसादिसप्तधातुसारजधातुविशेषः शरीरस्य बलपुष्टिकारणम्। ज्ञानेन्द्रियाणां पाटवम्। मे। मह्यम्। दाः। त्वं दद्याः, देयाः।

२-सहः। षह अभिभवे, क्षमायाम्-असुन्। मानसिकबलं। पराक्रमः।

३—बलम्। बल जीवने, दाने, वधे-पचाद्यच्। बलते विपक्षान् हन्तीति। सामान्यशक्तिः। सैन्यम्। सामाजिकं सामर्थ्यम् ॥

आयु॑रस्यायु॒र्मे॑ दाः स्वाहा॑ ॥४॥
आयुः॑ । अ॒सि॒ । आयुः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (आयुः) आयु [जीवन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (आयुः) आयु (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥४॥

भषार्थ—ईश्वर ने हमें अन्न बुद्धि, ज्ञान आदि जीवन सामग्री देकर बड़ा उपकार किया है, ऐसे ही हम भी परस्पर उपकार से अपना जीवन बढ़ावें ॥ ४ ॥

श्रोत्र॑मसि॒ श्रोत्रं॑ मे दाः स्वाहा॑ ॥५॥
श्रोत्र॑म् । अ॒सि॒ । श्रोत्र॑म् । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति (असि) है (मे) मुझे (श्रवणम्) श्रवण शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अनन्त श्रवण शक्ति से हमारी टेर सुनता और संकटों को काटता है। ऐसे ही हम अपनी श्रवण शक्ति को नीरोग रख कर दूसरों के दुःखों का निवारण करें और वेदादि शास्त्रों का श्रवण करें ॥५॥

चक्षु॑रसि॒ चक्षु॑र्मे दाः स्वाहा॑ ॥ ६ ॥
चक्षुः॑ । अ॒सि॒ । चक्षुः॑ । मे॒ । दाः॒ । स्वाहा॑ ॥६॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (चक्षुः) दृष्टि [दर्शन शक्ति] (असि) है, (मे) मुझे (चक्षुः) दर्शन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥६॥

भावार्थ—ऋग्वेद पुरुष सूक्त १० । ९० । १ । में भी परमेश्वर का नाम (सहस्राक्षः) अनन्त दर्शन शक्ति वाला है, इस प्रकार परमात्मा को सर्वद्रष्टा समझ कर मनुष्य अपनी दर्शन शक्ति चंगी रक्खे, और यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर के बहुदर्शी, दूरदर्शी और न्यायकारी होवे ॥६॥

४—आयुः । अ० १ । ३० । ३ । इण् गतौ-उसि, स च णित् । जीवनम् । जीवनकारणम् ।

५—श्रोत्रम् । हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । इति श्रु गतिश्रुत्योः-त्रन् । श्रवणेन्द्रियम् । कर्णम् ॥

६—चक्षुः । अ० १ । ३३ । ४ । चक्षिङ् दर्शने-उसि । दृष्ट्या । दर्शन-शक्त्या ॥

परिपाणमसि परिपाणं मे दाः स्वाहा ॥ ७ ॥

परि-पानम् । असि । परि-पानम् । मे । दाः । स्वाहा ॥७॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (परिपाणम्) सब प्रकार पालन शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (परिपाणम्) सब प्रकार की पालन शक्ति (दाः) दे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को अथर्व० १९ । ६ । १ । में (सहस्रबाहुः) अनन्त भुजाओं की शक्ति वाला कहा है । मनुष्य उस की अनन्त रक्षण शक्ति देख कर आप भी मनुष्यों में (सहस्रबाहुः) महा रक्षक और (शतक्रतुः) शतकर्मा अर्थात् बहुकार्य कर्त्ता होवे ॥ ७ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ ईश्वरो देवता । साम्नी बृहती छन्दः—१८ अक्षराणि ॥

शत्रुभ्यो रक्षा कर्तव्येत्युपदिश्यते—शत्रुओं से रक्षा करनी चाहिये—इसका उपदेश ॥

भ्रातृव्यक्षयणमसि भ्रातृव्यचातनं मे दाः स्वाहा ॥१॥

भ्रातृव्य-क्षयणम् । असि । भ्रातृव्य-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भ्रातृव्यक्षयणम्) वैरियों की नाशन शक्ति (असि) तू है,

---

७—**परिपाणम्** । परि+पा रक्षणे-ल्युट् । कृत्यचः । पा० ८ । ४ । २९ । इति नस्य णत्वम् । परितः सर्वतः पालनं रक्षणसामर्थ्यम् ॥

१—**भ्रातृव्यक्षयणम्** । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । २ । ९६ । इति भ्राजृ दीप्तौ, वा भृञ् धारणपोषणयोः—तृन् । ततः । व्यन् सपत्ने । पा । ४ । १ । १४५ । इति व्यन् ।

(मे) मुझे (भ्रातृव्यचातनम्) वैरियों के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—(भ्रातृव्य) वह छली पुरुष है जो देखने में भ्राता के समान प्रीति, और भीतर से दुष्ट आचरण करे। परमेश्वर वा राजा ऐसे दुराचारियों का नाश करता है, ऐसे ही मनुष्य मृगतृष्णारूप, इन्द्रिय लोलुपता और अन्य आत्मिक दोषों का नाश कर के सुख से रहे ॥ १ ॥

सपत्नक्षयणमसि सपत्नचातनं मे दाः स्वाहा ॥२॥

सपत्न-क्षयणम् । असि । सपत्न-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥२॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सपत्नक्षयणम्) प्रकट शत्रुओं की नाशशक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सपत्नचातनम्) प्रकट शत्रुओं के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर वा राजा प्रकट कुचालियों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य अपने प्रकट दोषों का नाश करके सुख भोगे ॥ २ ॥

अरायक्षयणमस्यरायचातनं मे दाः स्वाहा ॥३॥

अराय-क्षयणम् । असि । अराय-चातनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (अरायक्षयणम्) निर्धनता की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (अरायचातनम्) निर्धनता मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर सर्व शक्तिमान् और महा धनी है, ऐसा विचार कर मनुष्य अपनी दुष्टता और दुर्मति से अथवा अन्य विघ्नों से उत्पन्न निर्धनता को उद्योग कर के मिटावें ॥ ३ ॥

क्षि क्षये—ल्युट्। भ्रातृव्यो गुप्तशत्रुः, तस्य क्षयणं नाशनम्। **भ्रातृव्यचातनम्।** चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । गुप्तशत्रुनाशनम् । **स्वाहा** । अ० २ । १६ । १ । आशीर्वादोऽस्तु ॥

२—**सपत्नक्षयणम्** । सह+पत गतौ, ऐश्वर्ये-न, सहस्य सः । एकार्थे पतन्ति यतन्ते ते सपत्नाः । तेषां प्रकटशत्रूणां क्षयणं नाशनम् । अन्यद् गतम् ॥

३—**अरायक्षयणम्** । रा+दाने-घञ्, युक् आगमः । नञ्तत्पुरुषः । अरायस्य निर्धनत्वस्य नाशनम् ॥

पिशाचक्षयंणमसि पिशाचचातनं मे दाः स्वाहा ॥ ४ ॥

पिशाच-क्षयंणम् । असि । पिशाच-चातंनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥४॥

भाषार्थ—हे ईश्वर ! तू (पिशाचक्षयणम्) मांस खाने वालों की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (पिशाचचातनम्) मांस खाने वालों के मिटाने का बल (दाः) दे । (स्वाहा) यह सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की न्याय शक्ति का विचार करके मनुष्य कुविचार, कुशीलता और रोगादि दोषों को जो शरीर और आत्मा के हानिकारक हैं मिटावें तथा हिंसक सिंह सर्प्पादि जीवों का भी नाश करें ॥ ४ ॥

सदान्वाक्षयंणमसि सदान्वाचातनं मे दाः स्वाहा ॥५॥

सदान्वा-क्षयंणम् । असि । सदान्वा-चातंनम् । मे । दाः । स्वाहा ॥५॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] तू (सदान्वाक्षयणम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली (निर्धनता वा दुर्भिक्षता) की नाश शक्ति (असि) है, (मे) मुझे (सदान्वाचातनम्) सदा चिल्लाने वाली वा दानवों के साथ रहने वाली [निर्धनता वा दुर्भिक्षता] के मिटाने का बल (दाः) दे, (स्वाहा) यही सुन्दर आशीर्वाद हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—निर्धनता और दुर्भिक्षता [अकाल] आदि विपत्तियों के मारे सब प्राणी महा दुःखी होकर आर्तध्वनि करते, और चोर आदि उन्हें सताते हैं। परमेश्वर की दयालुता और पूर्णता पर ध्यान कर के, मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्रभूत धन और अन्न का संचय करके आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

४—पिशाचक्षयणम् । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति पिशित+अश भक्षणे-अण् । पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । पा० ६ । ३ । १०९ । इति शित-भागस्य लोपः, अशभागस्य शाचादेशः । पिशितं मांसम् अश्नन्तीति पिशाचाः कुविचाराः, अथवा, शारीरिकरोगा हिंसकाः प्राणिनो वा, तेषां नाशनम् ॥

५—सदान्वाक्षयणम् । अ० २ । १४ । १ । सदानोनुवानां सर्वदा शब्दकारिकाणां वा दानवै राक्षसैः सह वर्त्तमानानां दरिद्रतादिविपत्तीनां नाशनम् ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, २२ अक्षराणि, ५ साम्नी जगती ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

अग्ने यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

अग्ने । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप [ऐश्वर्य] है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—दुराचारी, कामी, क्रोधी आदि पुरुष की मति भ्रष्ट हो जाती है, और कुप्रयोग से शारीरिक और बाह्य अग्नि दुःखदायी होती, और वही अग्नि सुप्रयोग से विचारशील सदाचारियों को सुखप्रद होती है। ऐसा ही आगे समझना चाहिये ॥ १ ॥

ऐसा कहा भी है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः ॥

गुण गुण जानने वालों में गुण होते हैं, वही निर्गुणी को पाकर दोष हो जाते हैं ॥

१—अग्ने । अग्निनामतेजो विशेष ! ते । त्वदीयम् । तपः । तप दयैश्वर्ययोः-असुन् । प्रतापः । ऐश्वर्यम् । तेन । तपसा । तम् । दोषम् । प्रति । लक्षीकृत्य । तप । प्रतापी भव । यः अस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । इति व्याख्यातम्-अ० २ । ११ । ३ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥२॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । हरः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । ह॒र॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाश शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से............मन्त्र १ ॥२॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥३॥

अग्ने॒ यत्ते॒ऽर्चिस्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ३ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । अ॒र्चिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । अ॒र्च॒ । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥३॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से.........मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ शोचि॒स्तेन॒ तं प्रति॑ शोच॒ यो॒३॑ऽस्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ४ ॥

२—हरः । हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु-असुन् । हरो हरतेर्ज्योतिर्हर उच्यते-निरु० ४ । १९ । हरति तमः । नाशनशक्तिः । हर । नाशय ॥

३—अर्चिः । अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ । इति अर्च पूजाप्रकाशयोः-इसि । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । दीपनम् । ज्वाला । अर्च । ज्वलितो भव । दीप्यस्व ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । शोचिः॑ । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । शो॒च॒ । यः॑ ।
अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधनशक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से ········मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

अग्ने॒ यत्ते॒ तेज॒स्तेन॒ तम॑ते॒जसं॑ कृणु॒ यो३॒॑ स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

अग्ने॑ । यत् । ते॒ । तेजः॑ । तेन॑ । तम् । अ॒ते॒जस॑म् । कृ॒णु॒ ।
यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [अग्नि पदार्थ] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज़ है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-५ ॥ वायुर्देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

वायो॒ यत्ते॒ तप॒स्तेन॒ तं प्रति॑ तप॒ यो३॒॑ स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ १ ॥

४—**शोचिः** । अर्चिशुचि० । उ० २ । १०८ । इति ईशुचिर् शौचविशरणयोः-इसि । ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । शुच्यत्यनेनेति । शोधनसामर्थ्यम् । **शोच** । शोचय, शोधय ॥

५—**तेजः** । अ० १ । ३५ । ३ । तिज निशाने, तेज निशानपालनयोः—असुन् । कान्तिः । **अतेजसम्** । तिज, तेज-असुन् । नञ्समासः । कान्तिरहितम् । निस्तेजस्कम् । **कृणु** । कुरु ॥

वायो इति । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व !] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो. (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—कुप्रयोग से वायु तत्त्व दुःख देता और सुप्रयोग से आनन्द बढ़ाता है । सू० १९ म० १ देखें ॥ १ ॥

वायो यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

वायो इति । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उससे (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश कर दे (यः) जो (अस्मान्) हम से ·········मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

वायो यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

वायो इति । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो (यः) जो (अस्मान्) हम से·········मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

१—वायो । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयोः—उण् आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । वायुर्वातेर्वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः—निरु० १० । १ । हे पवन ! अन्यद् गतम्, सू० १९ ॥

२, ३, ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

वायो यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

वायो । इति । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से········मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

वायो यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

वायो इति । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वायो) हे पवन [पवन तत्त्व] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) कर दे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-५ । सूर्यो देवता । १-४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागायोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

सूर्य यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

सूर्य । यत् । ते । तपः । तेन । तम् । प्रति । तप । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [आदित्य मण्डल] ! (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से [वयम्] हम [द्विष्मः] अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य सृष्टि के पदार्थों को वीर्यवान् और तेजस्वी करता है। किन्तु वही कुप्रयोग से दुःखदायी, और सुप्रयोग से सुखदायी होता है ॥ १ ॥

सूर्य यत्ते हरस्तेन तं प्रति हर यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

सूर्य । यत् । ते । हरः । तेन । तम् । प्रति । हर । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हर) नाश करडाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से......मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

सूर्य यत्तेऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्च यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

सूर्य । यत् । ते । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्च । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य, हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः)

१-सूर्य । अ० १ । ३ । ५ । हे सरणशील ! हे प्रेरणशील ! आदित्य ! अन्यद्गुपरिगतम् ॥

२, ३ ४, ५—उपरि व्याख्याताः ॥

दीपन शक्ति है, (तेन) उससे (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सूर्य् यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

सूर्य । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे, (यः) जो (अस्मान्) हमसे...मन्त्र ॥ १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

सूर्य् यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

सूर्य । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य [सूर्य मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥५॥

सूक्तम् २२

चन्द्रो देवता ॥ १—४ साम्नी त्रिष्टुप्, ५ साम्नी जगती छन्दः॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग के त्याग के लिये उपदेश ॥

चन्द्र् यत्ते तपस्तेन तं प्रति तप यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

चन्द्र॑ । यत् । ते । तप॑ः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । तप । यः । अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥१॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र मण्डल !] (यत्) जो (ते) तेरा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस (दोष) पर (तप) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—शीतल स्वभाव चन्द्रमा स्वभावतः अपनी किरणों से अनिष्टों को हटा कर अन्न आदि ओषधियों को पुष्ट कर के प्राणियों को आनन्द देता है। परन्तु उसी चन्द्रमा के कुप्रयोग से मनुष्य पागल [Lunatic] और घोड़े आदि पशु रोगी हो जाते हैं। इस कुप्रयोग का त्याग कर के सुप्रयोग से आनन्द प्राप्त करना चाहिये ॥ १ ॥

चन्द्र॒ यत्ते॒ हर॒स्तेन॒ तं प्रति॑ हर॒ यो॒॑ऽ॒स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

चन्द्र॑ । यत् । ते । हर॑ः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । हर॒ । यः । अ॒स्मान् द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] का (प्रति हर) नाश कर डाल, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

चन्द्र॒ यत्ते॒ऽर्चि॒स्तेन॒ तं प्रत्य॑र्च॒ यो॒॑ऽ॒स्मान् द्वेष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥ ३ ॥

चन्द्र॑ । यत् । ते । अ॒र्चिः । तेन॑ । तम् । प्रति॑ । अ॒र्च॒ । यः अ॒स्मान् । द्वेष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ३ ॥

१—चन्द्र । अ० १ । ३ । ४ । हे आह्लादक चन्द्रलोक ! ।

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्च) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

चन्द्र यत्ते शोचिस्तेन तं प्रति शोच यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

चन्द्र । यत् । ते । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोच । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोच) शुद्ध करदे (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

चन्द्र यत्ते तेजस्तेन तमतेजसं कृणु यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

चन्द्र । यत् । ते । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥५॥

भषार्थ—(चन्द्र) हे चन्द्र [चन्द्र लोक !] (यत्) जो (ते) तेरा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणु) करदे, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा (यम) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—५ ॥ आपो देवताः । १—४ साम्नी जगती, ५ स्वराट् साम्नी जगती छन्दः ॥

कुप्रयोगत्यागोपदेशः—कुप्रयोग त्याग के लिये उपदेश ॥

आपो यद् वस्तपस्तेन तं प्रति तपत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ १ ॥

आपः । यत् । वः । तपः । तेन । तम् । प्रति । तपत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जल [जल पदार्थ !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तपः) प्रताप है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (तपत) प्रतापी हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ १ ॥

भावार्थ—वृष्टि, नदी, कूप आदि का जल अनावृष्टि दोषों को मिटाकर अन्न आदि पदार्थों को उत्पन्न करके प्राणियों को बल और सुख देता है, और वही कुप्रबन्ध से दुख का कारण होता है, ऐसे ही राजा सामाजिक नियमों के विरोधी दुष्टों का नाश करके प्रजा को समृद्ध करता और सुख देता है ॥ १ ॥

आपो यद्वो हरस्तेन तं प्रति हरत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ २ ॥

आपः । यत् । वः । हरः । तेन । तम् । प्रति । हरत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (हरः) नाशन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति हरत) नाश कर डालो, (यः) जो (अस्मान्) हम से ... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

आपो यद्वोऽर्चिस्तेन तं प्रत्यर्चत यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ३ ॥

आपः । यत् । वः । अर्चिः । तेन । तम् । प्रति । अर्चत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो (यत्) जो (वः) तुम्हारी (अर्चिः) दीपन शक्ति है, (तेन) उस से (तम् प्रति) उस [दोष] पर (अर्चत) प्रदीप्त हो, (यः) जो (अस्मान्) हम से... म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

आपो यद् वः शोचिस्तेन तं प्रति शोचत यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ४ ॥

आपः । यत् । वः । शोचिः । तेन । तम् । प्रति । शोचत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारी (शोचिः) शोधन शक्ति है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (प्रति शोचत) शुद्ध करदो, (यः) जो (अस्मान्) हम से...मन्त्र १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

आपो यद् वस्तेजस्तेन तमतेजसं कृणुत यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ॥ ५ ॥

आपः । यत् । वः । तेजः । तेन । तम् । अतेजसम् । कृणुत । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जलो ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (तेजः) तेज है, (तेन) उस से (तम्) उस [दोष] को (अतेजसम्) निस्तेज (कृणुत) करदो, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) अप्रिय करे, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) अप्रिय करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-८ ॥ ईश्वरो देवता । पूर्वार्धाः-१, २ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप् २३; ३, ४ निचृत् साम्नी त्रिष्टुप् २१; ५ साम्नी बृहती १८; ६-७ भुरिक् साम्नी बृहती छन्दः, १९; उत्तरार्धाः सर्वत्र साम्नी बृहती १८ अक्षराणि ॥

म० १-४ । कुसंस्काराणां ५-८ कुवासनानां च नाशायोपदेशः-म० १-४ कुसंस्कारों के और ५-८ कुवासनाओं के नाश का उपदेश ॥

शेरभक शेरभ पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥१॥

शेरभक । शेरभ । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ १ ॥

भषार्थ—(शेरभक) अरे वधकपन में मन लगाने वाले ! (शेरभ) अरे रंग में भंग डालने वाले ! [दुष्ट !] और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें । तुम (यस्य) जिस के [साथी] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्=प्राहैषीत्) भेजा है, (तम) उस को (अत्त) खाओ, (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नीति निपुण राजा अपने बुद्धिबल से ऐसा प्रबन्ध करता है कि शत्रु जो कुछ छलबल करे वह उसी को ही उलटा दुःखदायी हो, और उसके मनुष्य उस की कुनीतियों को जान कर उस का ही नाश कर दें, और वह लोग

१—शेरभक । शसु वधे-ड । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५।३५। इति रभङ् उत्सुकीभावे=अविचारप्रवृत्तौ—वुन् । शसति हन्ति येनेति शः । शस्त्रं हननं वधो वा । शे वधे । रभते उत्सुकीभवतीति शेरभकः, तत्सम्बुद्धौ । अलुक् समासः । हे हिंसायामुत्सुक । शेरभ । वृथिवपिभ्यां रन् । उ० २ । २७ । इति शीङ् स्वप्ने-रन् । ओभञ्जो मोटने-ड । शेवं सुखनाम-निघ० ३ । ६ । शेरं शेवं सुखं भनक्तीति शेरभः सुखभञ्जकः, तत्सम्बुद्धौ । पुनः । पन स्तुतौ-अर्, अकारस्य उत्वम् । द्वितीय-वारे । भेदे । निवृत्य । वः । युष्माकम् । यन्तु । इण् गतौ । गच्छन्तु । यातवः । अ० १ । ७ । १ । यत ताड़ने-उण् । ताड़नाः । पीड़ाः । हेतिः । अ० १ । १३ । ३ । हन वधे-क्तिन् । हननम् । वज्रः । किमीदिनः । अ० १ । ७ । १ । किम्+इदम्-इनि । पिशुनाः । यस्य । अस्मद्विरोधिनः । स्थ । सहायका भवथ । तम् । विरोधिनम् । अत्त । भक्षयत । वः । युष्मान् ।

आपस में विरोध करके परस्पर मार डालें। इसी प्रकार आत्मजिज्ञासु पुरुष अपने शरीर और आत्मा की निर्बलता और दोषों और उन से उत्पन्न दुष्ट फलों को समझ कर बुद्धिपूर्वक उन्हें एक एक करके नाश करदे, और जितेन्द्रिय हो कर आनन्द भोगे ॥ १॥

सायणभाष्य में (स्वा) पद के स्थान में (सा) पद है और उसका अर्थ [तस्य शत्रोः यद्वा सा हेतिः] ऐसा किया है, हमारी समझ में बहुवचनान्त (स्वा) पद ही ठीक है ॥

इस सूक्त के पहिले चार मन्त्रों में पुंलिङ्ग शब्दों का, और पिछले पांच मन्त्रों में स्त्रीलिङ्गों का संबोधन है ॥

शेवृ॑धक शेवृ॑ध पुन॑र्वो यन्तु यातवः पुन॒र्हेतिः॑ किमीदिनः। यस्य॒ स्थ तम॑त्त॒ यो वः॒ प्राहै॑त् तम॑त्त॒ स्वा मांसान्य॑त्त ॥२॥

शेवृ॑धक। शेवृ॑ध। पुनः॑। वः॒। यन्तु॒। यातवः॑। पुनः॑। हे॒तिः। किमी॑दिनः। यस्य॑। स्थ। तम्। अ॒त्त। यः। व॒ः। प्र-अहै॑त्। तम्। अ॒त्त। स्वा। मां॒सानि॑। अ॒त्त ॥ २ ॥

भषार्थ—(शेवृधक) अरे वधक पन में बढ़ने वाले! (शेवृध) अरे सुख के नाश करने वाले [दुष्ट]! और (किमीदिनः) अरे लुतरे लोगों! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) (चोट)...मन्त्र १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

प्र-अहैत्। हि गतौ–अन्तर्भावितण्यर्थः। लुङि सिचि वृद्धौ। बहुलं छन्दसि। पा ७। ३। ६७। इति अपृक्तप्रत्ययस्य ईडभावे। स्कोः संयोगाद्योरन्ते०। पा० ८। २। २६। इति सलोपः। प्राहैषीत्। प्रेषितवान्। **स्वा**। स्वानि। **मांसानि**। अ० १। ११। ४। मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः। पिशितानि ॥

२-शेवृधक। शसु वधे–ड। बहुलमन्यत्रापि। उ० २। ३७। इति वृधु वृद्धौ वृध दीप्तौ–कुन्। शे शस्त्रे हनने वधे वा वर्धते दीप्यते वा स शेवृधकः। तत्सम्बुद्धौ। **शेवृध**। सावसेर्ऋन्। उ० २। ६६। इति शेवृ सेवने–ऋन्। धक्क नाशने–डप्रत्ययः। शेवं सुखनाम–निघं ३। ६। शेवृ शेवं सुखं धक्कयतीति शेवृधः। हे सुखनाशक। अन्यत् पूर्ववत् ॥

म्रोकानुम्रोक पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥३॥

म्रोक । अनु-म्रोक । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् ।
तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(म्रोक) अरे चोर ! (अनुम्रोक) अरे चोरों के साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें...मन्त्र १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ३ ॥

सर्पानुसर्प पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनः।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥४॥

सर्प । अनु-सर्प । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः ।
किमीदिनः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् ।
तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सर्प) अरे सांप [क्रूर स्वभाव !] (अनुसर्प) अरे सांपों के साथी ! (किमीदिनः) अरे तुम लुतरे लोगो ! (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ...म० १॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ४ ॥

३-म्रोक । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति मुच गतौ-कर्तरि घ प्रत्ययः । चजोः कुघिण्यतोः । पा० ७ । ३ ५२ । इतिः कुत्वम् । म्रोचति धनादिकम् अपहृत्य क्षुब्धः सन् गच्छतीति म्रोकः-इति सायणः । हे चौर, म्लेच्छ । अनुम्रोक । म्रोकान् अनु गच्छतीति अनुम्रोकः । चौरसहायक ! ॥

४-सर्प—सृप्लृ गतौ पचाद्यच् । सर्पति इतस्ततो गच्छतीति सर्पः हे हिंस्रजन्तुविशेष ! तद्वत् क्रूरस्वभाव पुरुष ! अनु सर्प । सर्पान् अनुसृत्य सह व्याप्य गच्छतीति अनुसर्पः । हे सर्पानुसारिन् । हिंस्रसहायक ॥

जूर्णि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥५॥

जूर्णि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जूर्णि) अरी जूड़ी [जाड़े के ज्वर] ! (किमीदिनीः=०न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें…… म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो नीतिज्ञ पुरुष अपने मन की कुवासनाओं और उन के कारण को जान कर उनको सर्वथा मिटाता है, वह वशिष्ठ महा उपकारी जितेन्द्रिय होकर संसार का उपकार करके आनन्दित होता है ॥ ५ ॥

उपब्दे पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥६॥

उपब्दे । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उपब्दे) अरी चिंघारने वाली ! और (किमीदिनीः=०—न्यः)

५—जूर्णि । वीज्याज्वरादिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इति ज्वर रोगे-नि । ज्वरत्वरस्रिव्यवि० । पा० ६ । ४ । २० । इति वकारोपधयोरूठ् । शीतज्वरवद् दुःखप्रदकुवासने । किमीदिनीः । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । किमीदिन्यः । पिशुन्यः ।

६—उपब्दे । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति उपपूर्वात् पद गतौ,

अरी तुम लुतरियो [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट लौट कर (यन्तु) चली जावें ··· म० ५ ॥ ६ ॥

भावार्थ—कुवासनाओं और कुचिन्ताओं से मनुष्य कठोरवादी हो जाता है ॥ ६ ॥

अर्जुनि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः ।
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥७॥

अर्जुनि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अर्जुनि) अरे कुटिनी [दूती !] (किमीदिनीः=न्यः) अरी तुम लुतरियो ! [कुवासनाओ] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीडायें······ म० ५ ॥ ७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कुवासनाओं को कुटिनी वा दूती इत्यादि माना है—शेष मन्त्र ५ के समान ॥ ७ ॥

भरूजि पुनर्वो यन्तु यातवः पुनर्हेतिः किमीदिनीः
यस्य स्थ तमत्त यो वः प्राहैत् तमत्त स्वा मांसान्यत्त ॥८॥

भरूजि । पुनः । वः । यन्तु । यातवः । पुनः । हेतिः । किमीदिनीः । यस्य । स्थ । तम् । अत्त । यः । वः । प्र-अहैत् । तम् । अत्त । स्वा । मांसानि । अत्त ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(भरूजि=भरुजि) अरी नीच शृगाली [गीदड़नी, लोमड़ी]!

वा वद वाचि-इन् । यद्वा, कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति बहुलवचनात् । उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति दो अवखण्डने-कि । पृषोदरादित्वाद् रूपसिद्धिः । उपब्दिः, वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । उपेत्य द्यति खण्डयतीति । हे क्रूरशब्दकारिणि ॥

७—अर्जुनि । ऋजेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज लाभे, संस्कारे च-उनन् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । ङीष् । हे कुट्टिनि ॥

८—भरूजि । भ + रुजो भङ्गे, वा रुज हिंसायाम्-क । भ-इति शब्देन रुज-

(किमीद्नी :=०-न्यः) अरी तुम लुतरी [कुवासनाओ !] (वः) तुम्हारी (यातवः) पीड़ायें, और (हेतिः) चोट (पुनः पुनः) लौट २ कर (यन्तु) चली जावें। तुम (यस्य) जिस की [साथिनि] (स्थ) हो, (तम्) उस [पुरुष] को (अत्त) खाओ, (यः) जिस [पुरुष] ने (वः) तुम को (प्राहैत्) भेजा है, (तम्) उसे (अत्त) खाओ. (स्वा=स्वानि) अपने ही (मांसानि) मांस की बोटियां (अत्त) खाओ ॥ ८)

भावार्थ—(भरूजी वा भरुजी) गीदड़नी को कहते हैं। जैसे गीदड़नी छल कपट कर के पीड़ा देती है, ऐसे ही मनुष्य कुवासनाओं के कारण कपटी छली होकर सताने लगता है। कुवासनाओं के नाश करने का उपाय पुरुष को प्रयत्न पूर्वक करना चाहिये-म० ५. देखो ॥ ८ ॥

टिप्पणी—(भरूजि) पद के स्थान में सायणभाष्य में [भरूचि] पद व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-५ ॥ पृश्निपर्णी देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशायोपदेशः—शत्रुओं के नाश के लिये उपदेश ॥

शं नो॑ दे॒वी पृ॑श्निप॒र्ण्यशं॒ निर्ऋ॑त्या अकः ।
उ॒ग्रा हि क॑ण्वज॒म्भनी॒ ताम॑भक्षि॒ सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

शम् । नः॒ । दे॒वी । पृ॒श्नि॒-प॒र्णी । अश॑म् । निः-ऋ॑त्यै । अ॒कः॒ ।
उ॒ग्रा । हि । क॒ण्व॒-ज॒म्भनी॑ । ताम् । अ॒भ॒क्षि॒ । सह॑स्वतीम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवी) दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर

तीति भरुजः क्षुद्रशृगालः—इति शब्दकल्पद्रुमकोषे। जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्। पा० ४। १। ६३। इति ङीष्, उकारस्य छान्दसो दीर्घः। हे क्षुद्रशृगालि। तद्वत् कपटिनि ॥

१-शम्। सुखम्। नः। अस्मभ्यम्। देवी। दीप्यमाना। पृश्निपर्णी। पृश्निः—इति व्याख्यातम्, अ० २। १। १। स्पृश स्पर्शे—नि, सलोपः। पृश्निः= सूर्यः, पृथिवी। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पॄ पालन-पूरणयोः—न। पिपर्त्ति पालयति पूरयति वा तत् पर्णं पत्रं वा। स्त्रियां ङीष्। सूर्यस्य पृथिव्या वा परमेश्वरस्य पालनशक्तिः। सूर्यवत् पृथिवी वद्वा पर्णानि पत्राणि यस्याः सा पृश्निपर्णी, ओषधिरूपा परमेश्वरशक्तिः। पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः—इति सायणः। पृश्नि स्वल्पं पर्णमस्याः—जात-

शक्ति] ने (नः) हमारे [पुरुषार्थियों के] लिये (शम्) सुख, और (निर्ऋत्यै) दुःखदायिनी अलक्ष्मी, महामारी आदि पीड़ा के लिये (अशम्) दुःख (अकः = अकार्षीत्) किया है। (हि) क्योंकि वह शक्ति (उग्रा) प्रचंड और (कण्व-जम्भनी) पाप की नाश करने वाली है, [इसलिये] (ताम्) उस (सहस्वतीम्) बलवती को (अभक्षि) मैं ने भजा वा पूजा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों को धारण किया है और जैसे पृथिवी पर अन्नादि ओषधियां अपने पत्ते, फलादि से उपकार करती हैं, वैसे ही परमेश्वर की सृष्टि में सूर्यादि लोक आकर्षण, धारण, वृष्टि आदि से परस्पर उपकारी होते हैं। परमेश्वर अपने आज्ञापालक पुरुषार्थियों को सुख, और आज्ञानाशक कर्महीनों को दुःख देता है। उस दयालु और प्रचंड परमात्मा की आज्ञा मान कर हम सदा आनन्द भोगें ॥

टिप्पणी—(पृश्नि) शब्द का अर्थ सूर्य है-निरु० २ । १४, और पृथिवी, छोटा और चित्र भी है, और (पर्ण) का अर्थ पालन, और पत्ते हैं। सायणाचार्य ने (पृश्निपर्णी) का अर्थ चित्रपर्णी ओषधि लिखा है। शब्दकल्पद्रुमकोष में वर्णन है कि (पृश्निपर्णी) छोटे पत्ते वाली लता विशेष है, उसे बंगला में "चाकुलिया" और नागरी में "चकरौत्" कहते हैं, इसके गुण कटुत्व; और अतीसार, कास, वातरोग, ज्वर, उन्माद, व्रण, और दाह नाशक हैं ॥

विशेषः, चाकुलिया इति वङ्गभाषा, चकरौत् इति हिन्दी भाषा, अस्या गुणाः। कटुत्वम्, अतीसारकासवातरोगज्वरोन्मादव्रणदाहनाशित्वञ्च—इति शब्दकल्पद्रुमे। **अशम्**। अशान्तिम्। दुःखम्। **निर्ऋत्यै**। अ० १ । ३१ । २ । निः+ऋ हिंसने—क्तिन्। अलक्ष्म्यै, निर्धनतायै। **अकः**। डुकृञ् करणे लुङ्। मन्त्रे घस०। पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक्। गुणे। हल्ङ्याब्भ्यो०। पा० ६ । १ । ६८ । इति तिलोपः। अकार्षीत्, कृतवती। **उग्रा**। अ० १ । १० । १ । उच समवाये-रक्। प्रचण्डा। **हि**। यस्मात् कारणात्। **कण्वजम्भनी**। अशूप्रुषिलटिकणिखटिविशिभ्यः क्वन्। उ० १ । १५१ । इति कण गतौ, आर्तस्वरे—क्वन्। कण्यते अपोह्यते तत् कण्वं पापम्। जभि नष्टीकरणे—ल्युट्, ङीप्। पापस्य नाशयित्री। **अभक्षि**। भज सेवायाम्, लुङि आत्मनेपदोत्तमैकवचनम्। अहं सेवितवानस्मि। **सहस्वतीम्**। सहस्-मतुप् ङीप्। तसौ मत्वर्थे। पा० १ । ४ । १९ । इति भत्वेन आदन्ताद् रुत्वाभावः। अभिभवनशीलाम्। बलवतीम् ॥

सह॑माने॒यं प्र॑थ॒मा पृ॑श्निप॒र्ण्य॑जायत ।
तया॒हं दु॒र्णाम्नां॒ शिरो॑ वृश्चामि श॒कुने॑रिव ॥ २ ॥

सह॑माना । इ॒यम् । प्र॒थ॒मा । पृ॒श्नि॒-प॒र्णी । अ॒जा॒य॒त॒ । तया॑ । अ॒हम् । दुः॒-नाम्ना॑म् । शिरः॑ । वृ॒श्चा॒मि॒ । श॒कुनेः॑-इ॒व ॥२॥

भाषार्थ—(सहमाना) जीतने वाली (इयम्) यह (पृश्निपर्णी) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा, सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (प्रथमा) सब से पहिले (अजायत) प्रकट हुयी है । (तया) उस [शक्ति] से (अहम्) मैं (दुर्णाम्नाम्) बुरे नाम वाले दोषों के (शिरः) शिर को (वृश्चामि) तोड़ डालूँ, (इव) जैसे (शकुनेः) पक्षी के [शिर को तोड़ डालते हैं]॥२॥

भावार्थ—मनुष्य आदिकारण परमेश्वर के विश्वास पर अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर अपने शत्रुओं और दोषों का नाश करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(दुर्नाम) शब्द कल्पद्रुम कोष में (अर्श) अर्थात् बवासीर रोग का भी नाम है ।

२-**सहमाना** । षहिर् अभिभवे—शानच् । दोषान् अभिभवन्ती । **इयम्** । समीपवर्त्तिनी पृश्निपर्णी । **प्रथमा** । प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ —अमच्, टाप् । प्रख्याता । मुख्या । सृष्टेः प्राग्भवा । **पृश्निपर्णी** । म० १ । **अजायत** । जनी प्रादुर्भावे-लङ् । ज्ञाजनोर्जा पा० । ७ । ३ । ७९ । इति;जा इत्या देशः । प्रादुरभवत् । **दुर्णाम्नाम्** । दुर्दुष्टं निन्दितं नाम येषाम् । दुष्टदोषा-नाम् । दुर्नाम,अर्शो रोगः-इति शब्दकल्पद्रुमे । **शिरः** । श्रयते स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १९४ । इति श्रिञ् सेवने-असुन्, स च कित्, धातोः शिरादेशश्च । मस्तकम् । **वृश्चामि** । ओव्रश्चू छेदे । छिनद्मि । **शकुनेरिव** । शकेरुनोन्तो-न्त्युनयः । उ० ३ । ४९ । इति शक्लृ शक्तौ-उनि । यथा पक्षिणः शिरः खड्गादिकं विनापि छिद्यते ॥

अ॒रा॒यम॑सृ॒क्पावा॑नं॒ यश्च॑ स्फा॒तिं जिही॑र्षति ।
ग॒र्भा॒दं कण्वं॑ नाशय॒ पृश्निपर्णि॒ सह॑स्व च ॥ ३ ॥

अ॒रा॒यम् । अ॒सृ॒क्-पावा॑नम् । यः । च॒ । स्फा॒तिम् । जिही॑र्षति ।
ग॒र्भ॒-अ॒दम् । कण्व॑म् । ना॒श॒य॒ । पृश्नि॑-प॒र्णि॒ । सह॑स्व । च॒ ॥३॥

भाषार्थ—(पृश्निपर्णि) हे सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधि रूप परमेश्वर शक्ति] (अरायम्) निर्धनता को, (च) और (यः) जो [रोग] (स्फातिम्) बढ़वार को (जिहीर्षति) छीनना चाहे, [उस] (असृक्पावानम्) रक्त पीने वाले, और (गर्भादम्) गर्भ खाने वाले [गर्भाधान शक्ति नाश करने वाले] (कण्वम्) पाप [रोग] को (सहस्व) जीत ले (च) और (नाशय) मिटा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिन आलस्यादि दोषों और ब्रह्मचर्यादि खण्डन रूप कुकर्मों से हम धन हीन, तन क्षीण, मन मलीन होकर वंशच्छेद करें। ऐसे दोषों को हम सर्वथा त्यागें, और उस (पृश्निपर्णी) सूर्यादि जगत् के रचक, पोषक, अखण्डव्रत परमात्मा का ध्यान करके विद्यावृद्धि धनवृद्धि और कुलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३-अरायम् । रा दानादानयोः-घञ् युक् आगमः। नञ्समासः। निर्धनताम्। असृक्पावानम् । असु क्षेपे, यद्वा असञ् दीप्तिग्रहणगतिषु-ऋजिप्रत्ययः। अस्यते क्षिप्यते नाड़ीभिः। यद्वा असति शरीरं येन, यद्वा गृह्णाति गच्छति वा यत्तद् असृक्, रक्तम्। आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च। पा० ३। २। ७४ इति पा पाने वनिप्। रुधिरस्य पानशीलं नाशकम्। स्फातिम् । स्फायी वृद्धौ-क्तिन्। वृद्धिम्। जिहीर्षति । हृञ् हरणे-सनि लट्। हर्तुं नाशयितुमिच्छति उपक्रमते। गर्भादम् । अदोऽनन्ने। पा० ३। २। ६८। इति गर्भ+अद भक्षणे-विट्। गर्भस्य भक्षकम्। कण्वम् । व्याख्यतम् (कण्वजम्भनी) इति शब्दे-म० १। कण्यते अपोह्यते इति कण्वं पापम्। अर्श आदिभ्योऽच् पा० ४। २। १२७ इति मत्वर्थे अच्। पापयुक्तं दुःखकरं रोगम्। नाशय । मारय। पृश्निपर्णि । म० १। सहस्व । अभिभव ॥

गिरिमेनाँ आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान् ।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥ ४ ॥

गिरिम् । एनान् । आ । वेशय । कण्वान् । जीवित-योपनान् । तान् । त्वम् । देवि । पृश्नि-पर्णि । अग्निः-इव । अनु-दहन् । इहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य गुण वाली (पृश्निपर्णि) सूर्य वा पृथिवी की पालने वाली [अथवा सूर्य वा पृथिवी जैसे पत्ते वाली ओषधिरूप परमेश्वरशक्ति] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले [व्याकुल करने वाले] (कण्वान्) पाप रोगों को (गिरिम्) पहाड़ [अगम्य स्थान] में (आ वेशय) गाड़ दे। और (त्वम्) तू, (अनुदहन्) क्रम से दाह करती हुई (अग्निःइव) आग के समान (तान्) उन पर (इहि) पहुंच ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन (कण्वान्) आत्म दोषों से मनुष्य का जीवन द्विविधा में पड़े और विघ्नों में फंसकर अपकीर्ति मिले, उन दुःखदायी दोषों को परमेश्वर का सहाय लेकर सर्वथा नाश करे ॥ ४ ॥

टिप्पणी—पातञ्जल, योगदर्शन, पाद १ सूत्र ३० में यह विघ्न वर्णन किये हैं।

व्याधिस्त्यानसंशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनाल-
ब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानि चित्तविक्षेपास्तेऽन्तरायाः॥

४—**गिरिम्** । कॄगॄशॄपॄकुटि० । उ० ४ । १४३ । इति गॄ निगरणे, अथवा गृणातिः स्तुतिकर्मा—निरु० ३ । ५ । इप्रत्ययः, किच्च, गिरति धारयति पृथिवीं गिरयते स्तूयते गुरुत्वाद्वा । पर्वतम् । अगम्यस्थानम् । **एनान्** । समीपस्थान्, प्रसिद्धान्, **आ+वेशय** । द्विकर्मकः । प्रवेशय । स्थापय । **कण्वान्** । म० ३ । दुःखकरान् दोषान् । **जीवितयोपनान्** । जीव प्राणे-भावे क्त । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति युप विमोहने-कर्तरि ल्युट् । जीवनस्य विमोहकान् । **अनुदहन्** । अनुक्रमेण भस्मीकुर्वन् । **इहि** । इण् गतौ-लोट् । गच्छ । प्राप्नुहि । आक्रमस्व । अन्यद् गतम् ॥

१—(व्याधि) रोग, २—(स्त्यान) भारीपन, ३—(संशय) द्विविधा, ४—(प्रमाद) भूल, ५—(आलस्य) ढीलापन, ६—(अविरति) जंजाल में फंस जाना, ७—(भ्रान्तिदर्शन) भ्रम वा अज्ञान से कुछ का कुछ देखना, ८—(अलब्धभूमिकत्व) ठिकाने का न पाना, और ९—(अनवस्थितत्वानि) अदृढ़ता, (चित्तविक्षेपाः) चित्त की हलचलें हैं, और (ते अन्तरालाः) वे विघ्न हैं ॥

परा॑च एना॒न् प्र णु॑द॒ कण्वा॑न् जीवि॒तयो॑पनान् ।
तमां॑सि॒ यत्र॒ गच्छ॑न्ति॒ तत् क्र॒व्यादो॑ अजीगमम् ॥५॥

परा॑चः । ए॒ना॒न् । प्र । नु॒द॒ । कण्वा॑न् । जी॒वि॒त-योप॑नान् ।
तमां॑सि । यत्र॑ । गच्छ॑न्ति । तत् । क्र॒व्य-अदः॑ । अ॒जी॒ग॒म॒म् ॥५॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (एनान्) इन (जीवितयोपनान्) प्राणों के मोहने वाले (कण्वान्) पाप रोगों को (पराचः) औंधे मुख (प्र णुद) ढकेल दे। (यत्र) जहां (तमांसि) अन्धकार (गच्छन्ति) व्याप्त रहते हैं, (तत्=तत्र) वहां (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] को (अजीगमम्) मैं ने पहुंचा दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे राजा महापापी दुराचारी पुरुष को बन्ध करके अन्धेरे कारागार में डाल देता है, इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष व्यायाम करने और पथ्य पदार्थों के सेवन से आलस्य, ज्वर आदि शारीरिक रोगों को मिटाकर अविद्यादि मानसिक रोगों का नाश करें ॥ ५ ॥

५—**पराचः** । परा प्रातिलोम्ये, अनादरे, न्यग्भावे, तत्पूर्वाद् अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, शसि रूपम् । पराङ्मुखान्, विमुखान् । **एनान्** । समीपस्थान् । अस्माकं कुसंस्कारोत्पन्नान् । **प्र+नुद** । णुद प्रेरणे । प्रेरय । अपसारय । **तमांसि** । तमिर् खेदे ; इच्छायाम्—असुन् । क्लेशहेतुकाः । अन्धकाराः । **यत्र** । यत् स्थानम् । **गच्छन्ति** । व्याप्नुवन्ति । **तत्** । निःसूर्यस्थानम् । **क्रव्यादः** । क्लव भये-यत् । रलयोरेकत्वात् । क्रव्ये च । पा० ३ । २ । ६९ । क्रव्योपपदाद् अद भक्षणे-विट् । मांसभक्षकान् कुष्टादिरोगान् । **अजीगमम्** । गमेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं प्रेरितवानस्मि ॥

सूक्तम् २६ ॥

१—५ ॥ त्वष्टा सविता वा देवता । १-२ त्रिष्टुप्, ३-५ अनुष्टुप् ॥

सङ्गतिकरणोपदेशः—मेल करने का उपदेश ॥

एह यन्तु पशवो ये परेयुर्वायुर्येषां सहचारं जुजोष । त्वष्टा येषां रूपधेयानि वेदास्मिन् तान् गोष्ठे सविता नि यच्छतु ॥ १ ॥

आ । इह । यन्तु । पशवः । ये । परा-ईयुः । वायुः । येषाम् । सह-चारम् । जुजोष । त्वष्टा । येषाम् । रूप-धेयानि । वेद । अस्मिन् । तान् । गो-स्थे । सविता । नि । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पशवः) वे पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इह) यहां (आ यन्तु) आ जावें, (ये) जो (परेयुः) भटक गये हैं । (येषाम्) जिन के (सहचारम्) साथ साथ चलना (वायुः) पवन ने (जुजोष) अंगीकार किया है । (त्वष्टा) सूक्ष्म क्रियाओं का रचने वाला [सूक्ष्मदर्शी पुरुष] (येषाम्) जिन के (रूपधेयानि) रूपों [शारिरिक रूपों और मांसिक स्वभावों] को (वेद) पहिचानता है, (सविता) वह सब का चलाने वाला [गोपाल वा सभाप्रधान पुरुष] (तान्) उन [पशुओं] को (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) [गोठ, अर्थात् गोशाला वा सभा] में (नियच्छतु) बांध कर रक्खे ॥ १ ॥

१—इह । अत्र गोष्ठे सभायां वा । आ+यन्तु । इण् गतौ । आगच्छन्तु । **पशवः** । अ० १ । १५ । २ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु, पश्यादेशः । पशवः= व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ । मनुष्यगवादिप्राणिनः । जीवाः । **परा-ईयुः** । इण् गतौ-लिट् । विमुखा जग्मुः । **वायुः** । अ २।२०।१। पवनः । **येषाम्** । पशूनाम् । **सहचारम्** । सह+चर गतौ-घञ् । सङ्गमनम् । **जुजोष** । जुषी प्रीतिसेवनयोः—लिट्, छन्दसि परस्मैपदम् । जुजुषे । सवते स्म । **त्वष्टा** । अ० । २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे-तृन् । व्यवहारतनूकर्ता ।

भावार्थ—इस सूक्त में (पशु) शब्द का अर्थ गौ आदि और सब प्राणी मात्र है। "पशु व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले हैं—" निरु० ११। २६। अर्थात् मनुष्य आदि और गौ आदि। जैसे विचारशील गोपाल, गोरक्षक वायु लगने से इधर उधर भटकते हुये गौ आदि पशुओं को प्रेम के साथ बाड़े में लाकर बांधता है, वैसे ही सूक्ष्मदर्शी प्रधान पुरुष अपने आश्रितों और सम्बन्धियों को, जो वायु लगने अर्थात् कुसंस्कार पाने से भटक गये हों, उपकार और प्रीति की दृष्टि से ऐकत्र करके सभा में नियमबद्ध करे॥ १॥

पशु शब्द प्राणी मात्र के अर्थ में प्रायः वेद में आया है, जैसे—

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः॥

अ० २। २८। ३॥

तू पृथवी के पशुओं [प्राणियों] का राजा है जो उत्पन्न हुये हैं अथवा जो उत्पन्न होंगे।

य ईशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदामुत यो द्विपदाम्॥

अ० २। ३४। १।

जो पशुपति चौपाये और जो दोपाये पशुओं का स्वामी है॥

इमं गोष्ठं पशवः सं स्रवन्तु बृहस्पतिरा नयतु प्रजानन्।
सिनीवाली नयत्वाग्रमेषामाजग्मुषो अनुमते नि यच्छ॥ २॥

सूक्ष्मदर्शी पुरुषः। रूपधेयानि। भागरूपनामभ्यो धेयः। वार्त्तिकम्। पा० ५। ४। २५। नानारूपाणि। विविधस्वभावान्। वेद। विद ज्ञाने-लट्। वेत्ति। जानाति। अस्मिन्। निकटस्थे। गोष्ठे। अ० २। १४। २। गोशालायाम्। सभायाम्। सविता। अ० १। १८। २। पशुप्रेरकः। सभाप्रधानः। नि+यच्छतु। इषुगमियमां छः। पा० ७। ३। ७७। इति निपूर्वाद् यमेः शपि छत्वम्। नियमयतु नियमे स्थापयतु॥

इमम् । गो-स्थम् । पशवः । सम् । स्रवन्तु । बृहस्पतिः । आ । नयतु । प्र-जानन् । सिनीवाली । नयतु । आ । अग्रम् । एषाम् । आ-जग्मुषः । अनु-मते । नि । यच्छ ॥२॥

भाषार्थ—(पशवः) सब पशु [गौ आदि वा मनुष्यादि प्राणी] (इमम्) इस (गोष्ठम्) स्थिर वचन वाले पुरुष [गोपाल वा प्रधान] से (सम् स्रवन्तु) आ आकर मिलें, और वह (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी [गोपाल वा सभापति] (प्रजानन्) पहचान २ कर [उन को] (आ नयतु) ले आवे। (सिनीवाली) अन्न देने वाली देवी [गृहपत्नी वा नीतिविद्या, आप] (एषाम्) इन का (अग्रम्) आगमन (आ नयतु) स्वीकार करे। (अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि वाली [गृहपत्नी वा नीतिविद्या] (आजग्मुषः) इन आये हुओं को (नियच्छ) नियम में बांध कर रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सायंकाल में गौ आदि मिल कर अपने गोपाले के पास आते हैं, और (बृहस्पति) बड़े उपकारी गौ आदि का रक्षक उन को ढूंढ़ २ कर लाता है, और उस की गृहपत्नी आगे आकर उन को अन्न तृण आदि देकर प्रसन्न करती और अपने २ स्थान पर बांध देती है, इसी प्रकार उत्तम सभा-

---

२—इमम् । शुभगुणैर्निर्दिष्टं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । गोष्ठम् । गौर्वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । गवि वाचि तिष्ठतीति गोष्ठः । स्थिरवाचं दृढ-वचनं गोपालं प्रधानपुरुषं वा । पशवः । म० १ । सम्+स्रवन्तु । स्रु गतौ । समेत्य गच्छन्तु । बृहस्पतिः । अ० २ । १३ । २ । बृहतां महतां प्राणिनां पाता रक्षिता । गोपः सभापतिर्वा । आनयतु । आगमयतु । प्रजानन् । प्र+ज्ञा-शतृ । विद्वान् । सिनीवाली । इण्सिञ्जिदीङु-ष्यविभ्यो नक् । उ० ३ । २ । इति षिञ् बन्धने-नक्, स्त्रियां ङीप् । वल संवरणे, यद्वा, बल जीवने, दाने-अण्, ङीप् । सिनीवली, सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती । निरु० ११ । ३१ । सिनीं सिन-मन्नं वलति धारयतीति । अन्नधर्त्री । अन्नवती गृहपत्नी नीतिविद्या वा । आ+नयतु । छन्दसि परेऽपि । पा० १ । ४ । ८१ । इति उपसर्गस्य परत्वम् ।

पति अपने संगठित सभासदों को यथायोग्य आसन दे और नीति अर्थात् सुशीलता और विनय के साथ उन का आदर सत्कार कर के नियम में रक्खे ॥ २ ॥

(अनुमते) पद के स्थान में सायणभाष्य में (अनुगते] व्याख्यात है ॥

सं सं स्रवन्तु पशवः समश्वाः समु पूरुषाः।
सं धान्यस्य या स्फातिः संस्राव्येण हविषा जुहोमि ॥३॥

सम्। सम्। स्रवन्तु। पशवः। सम्। अश्वाः। सम्। ऊं इति। पूरुषाः। सम्। धान्यस्य। या। स्फातिः। सम्। स्राव्येण। हविषा। जुहोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पशवः) गौ आदि (सम्) मिल कर, (अश्वाः) घोड़े (सम्) मिल कर, (उ) और (पूरुषाः) सब पुरुष (सम् सम्) मिल मिल कर (स्रवन्तु) चलें। और (या) जो (धान्यस्य) धान्य [अन्न] की (स्फातिः) बढ़ती है, [वह भी] (सम्=सम् स्रवतु) मिल कर चले। (संस्राव्येण) कोमलता से युक्त (हविषा) भक्ति वा अन्न के साथ [उन सब को] (जुहोमि) मैं ग्रहण करूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब उपकारी गौ, अश्व आदि पशु और मनुष्य नियम के साथ

आगमयतु। **अग्रम्**। ऋज्रेन्द्राग्रवज्र०। उ० २। २८। इति अगि गतौ-रन्। अग्रतः। पुरस्तात्। **आजग्मुषः**। आङ्+गमेः क्वसुः। वसोः संप्रसारणम्। पा०। ६। ४। १३। इति शसि संप्रसारणम्। आगतान्। पशून्। **अनुमते**। अनु+मन बोधे-क्तिन्। अनुमतिरनुमननात्-निरु० ११। २९। अनुकूलबुद्धियुक्ते। **नियच्छ**। नियमय ॥

३—**सम्**। सम्यक्। यथाविधि। समेत्य। **स्रवन्तु**। गच्छन्तु **पशवः**। गवादयः। **अश्वाः**। अ० १। १६। ४। घोटाः। **पूरुषाः**। अ० १। १६। ४। मनुष्याः। **धान्यस्य**। दधातेर्यन्नुट् च। उ० ५। ४८। इति डुधाञ् धारणपोषणयो:-यत् नुट् च। अन्नस्य। **स्फातिः**। अ० २। २५। ३।

मिल कर रहें, और प्रयत्न पूर्वक पुष्कल जीविका प्राप्त करें, और प्रधान पुरुष उन के शिक्षादान और भरण पोषण की यथोचित सुधि रक्खें ॥ ३॥

सं सिञ्चामि गवां क्षीरं समाज्येन बलं रसम् ।
संसिक्ता अस्माकं वीरा ध्रुवा गावो मयि गोपतौ ॥४॥

सम् । सिञ्चामि । गवाम् । क्षीरम् । । सम् । आज्येन । बलम् । रसम् । सम्-सिक्ताः । अस्माकम् । वीराः । ध्रुवाः । गावः । मयि । गो-पतौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गवाम्) गौओं का (क्षीरम्) दूध [अपने मनुष्यों पर] (सम्) यथानियम (सिञ्चामि) मैं सींचता हूं, और [उन मनुष्यों के] (बलम्) बल और (रसम्) शरीर पोषक धातु को (आज्येन) घृत से (सम्) यथानियम [सींचता हूं]। (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष [दूध, घी आदि से] (संसिक्ताः) अच्छे प्रकार सिंचे रहें, [इस लिये] (मयि) मुझ (गोपतौ) गोपति में (गावः) गौयें (ध्रुवाः) स्थायी [रहें] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न से गौओं की रक्षा कर के उन के दूध घी आदि के सेवन से अपने और अपने पुरुषों के शारीरिक धातुओं को पुष्ट कर के और बल और बुद्धि बढ़ा कर शूर वीर बनावें। इसी प्रकार जो प्रधान पुरुष अपने उपकारी सभासदों को भरण पोषण आदि उचित व्यवहार से पुष्ट करते रहते हैं, वही नीति निपुण संसार की वृद्धि करते हैं ॥ ४ ॥

समृद्धिः। **संस्राव्येण हविषा जुहोमि**। अ० १। १५। १। आर्द्रीभावयुक्तेन भक्त्या अन्नेन वा स्वीकरोमि ॥

४—**सम्**। यथाविधि। **सिञ्चामि**। षिच सेचने। आर्द्रीकरोमि। वर्धयामि। **गवाम्**। गमेर्डोः। उ० २। ६७। धेनूनाम्। **क्षीरम्**। अ० १। १५। ४। घस्लृ=अद भक्षणे—ईरन्। दुग्धम्। **आज्येन**। अ० १। ७। २। घृतेन। **बलम्**। अ० १। १। १। सामर्थ्यम्। **रसम्**। अ० १। ५। २। सारम्। वीर्य्यम्। देहस्थं भुक्तान्नादेः परिणामम्। **संसिक्ताः**। षिच-क्त।

टिप्पणी—इस मन्त्र के अर्थ से [दूधों नहाओ पूतों फलो] इस आशीर्वाद का मिलान कीजिये ॥

आ हरामि गवां क्षीरमाहार्षं धान्यं१ रसम् ।
आहृता अस्माकं वीरा आ पत्नीरिदमस्तकम् ॥ ५ ॥

आ । हरामि । गवाम् । क्षीरम् । आ । अहार्षम् । धान्यम् । रसम् । आऽहृताः । अस्माकम् । वीराः । आ । पत्नीः । इदम् । अस्तकम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गवाम्) गौओं के (क्षीरम्) दूध को (आ हरामि) मैं प्राप्त करूं, [क्योंकि दूध से] (धान्यम्) पोषण वस्तु अन्न और (रसम्) शारीरिक धातु को (आ अहार्षम्) मैंने पाया है । (अस्माकम्) हमारे (वीराः) वीर पुरुष (आहृताः) लाये गये हैं, और (पत्नीः=पत्न्यः) पत्नियां भी (इदम्) इस (अस्तकम्=अस्तम्) घर में (आ=आहृताः) लायी गयी हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा गौओं की रक्षा करनी चाहिये, जिस से सब स्त्री पुरुष दूध घी का सेवन करके हृष्ट पुष्ट होकर शूर वीर रहें और घरों में सब प्रकार की सम्पत्ति बढ़ती जावे ॥ ५ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

घृतदुग्धादिना संसिक्तशरीराः, दृढगात्राः सन्तु । **वीराः** । अ० १ । १६ । ६ । शूरपुरुषाः । **ध्रुवाः** । ध्रुवः कः । उ० २ । ६१ । इति ध्रु स्थैर्ये-क । दृढाः । स्थिराः । **गावः** । धेनवः । **मयि** । उपासके । धार्मिके पुरुषे । **गोपतौ** । गोस्वामिनि ॥

५—**आहरामि** । आनयामि । **गवां क्षीरम्** । म० ४ । धेनूनां दुग्धम् । **आहार्षम्** । हञ् हरणे-लुङ् । आनीतवानस्मि । **धान्यम्** । म० ३ । अन्नम् **रसम्** । म० ४ । शारीरिकधातुम् । **आहृताः** । आनीताः । **वीराः** । अ० १ । २६ । ६ । पराक्रमिणः पुरुषाः । **पत्नीः** । अ० २ । १२ । १ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । पत्न्यः । **अस्तकम्** । हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु-तन्, स्वार्थे कः । अस्तम्=गृहम्-निघ० ३ । ४ ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् २७ ॥

१-७ ॥ १-६ ओषधिर्देवता, ७ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

बुद्ध्या विवादः कर्तव्य इत्युपदिश्यते—बुद्धि से विवाद करे, इसका उपदेश ॥

नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ १ ॥

न । इत् । शत्रुः । प्राशम् । जयाति । सहमाना । अभि-भूः । असि । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शत्रुः) वैरी (प्राशम्) प्रश्न कर्ता [मुझ] को (न इत्) कभी न (जयाति) जीते, [हे बुद्धि] तू (सहमाना) जयशील और (अभिभूः) प्रबल (असि) है। (प्राशम्) [मुझ] प्रश्न कर्ता के (प्रतिप्राशः) प्रतिकूल वादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप की पीने वाली [ज्वरादिताप हरने वाली औषध के समान बुद्धि उन सब को] (अरसान्) नीरस [फीका] (कृणु) कर ॥

भावार्थ—इस सूक्त में ओषधि के उदाहरण से बुद्धि का ग्रहण है। ओषधि का अर्थ निरु० ६। २७ में किया है "ओषधयं ओषत्, दाह वा ताप को पीलेती हैं अथवा ताप में इन को पीते है, अथवा ये दोष को पीलेती हैं "

१—न । निषेधे । इत् । अवधारणे । एव । शत्रुः । अ० २ । ५ । ३ । विपक्षः । प्रतिवादी । प्राशम् । क्विप् वचिप्रच्छिश्रि० । उ० २ । ५७ । इति प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्-क्विप, दीर्घः संप्रसारणाभावश्च । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६ । ४ । १६ । इति च्छस्य शः । प्रष्टारं वादिनं माम् । जयाति । जयतेर्लेटि आडागमः । जयतु । अभिभवतु । सहमाना । अ० २ । २५ । २ । जेत्री । अभिभूः । भुवः संज्ञान्तरयोः ।पा०३।२।१७६। इति अभि+भू-क्विप् । अभिभवित्री । प्रतिप्राशः । प्रति+प्रच्छ-कर्तरि क्विप् । न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । पा० २।३।६९।

२-मन्त्र का आशय। जिस प्रकार शुद्ध परीक्षित औषधि के सेवन करने से ज्वर आदि रोग नाश होते हैं, ऐसेही मनुष्य के बुद्धि पूर्वक, प्रमाण युक्त विवाद करने से बाहिरी और भीतरी प्रतिपक्षी हार जाते हैं ॥ १ ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे ॥ २ ॥

सु-पर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा । प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) सुन्दर पक्ष वाले [गरुड़, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (अनु=अन्विष्य) ढूंढ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सूअर पशु के समान तीव्रबुद्धि और बलवान् पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (प्राशम्) मुझ प्रश्न कर्त्ता के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि] उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ २ ॥

इति तृन् ग्रहणात्। तद्वाचके किपि प्रत्ययेऽपि (प्राशम्) इत्यस्य कर्मत्वम्। प्रतिकूलप्रष्टॄन्। प्रतिवादकान्। जहि। हन हिंसागत्योः-लोट्। नाशय। पराजितान् कुरु। अरसान्। नीरसान्। निर्वीर्यान्। कृणु। कुरु। ओषधे। अ० १। २३। १ उष दाहे-घञ्। ततो धेट् पाने-कि। ओषधय ओषद् धयन्तीति वौषत्येना धयन्तीति वा दोषं धयन्तीति वा-निरु० ६। २७। ओषं दाहं धयति पिबति नाशयतीति ओषधिः। यवादिधान्यम्। रोगनाशकद्रव्यम्। तापनाशिका बुद्धिः। तत्संबुद्धौ ॥

२—सुपर्णः। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति सु+पॄ पालनपूरणयोः-न, यद्वा। पत गतौ-न प्रत्ययः, तकारस्य रेफः। सुपतनः शोभनगमनः। शीघ्रगामी। गरुड़ः। पक्षिमात्रम्। अनु। अन्विष्य। अविन्दत्। विद्लृ लाभे लङ्। शे मुचादीनाम्। पा० ७। १। ५६। इति नुम्। अलभत। सूकरः।

भावार्थ—(सुपर्णः) गिद्ध , मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं और सूकर एक बलवान् पशु अपनी नासिका से अपने खाद्य तृण को पृथिवी में से खोद कर खा जाता है । इसी प्रकार दूरदर्शी, परिश्रमी और बलवान् पुरुष बुद्धि की महिमा को साक्षात् करके यथा योग्य उसका प्रयोग करते हैं और सदा जय पाते हैं ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ह चक्रे त्वा बा॒हावसु॑रेभ्य॒ स्तरी॑तवे ।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो जह्य॒रसान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । ह॒ । च॒क्रे॒ । त्वा॒ । बा॒हौ । असु॑रेभ्यः । स्तरी॑तवे ।
प्राशंस् । प्रति-प्राशः । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओष॒धे॒ ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने (ह) ही (त्वा) तुझ को (बाहौ) अपनी भुजा पर (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (चक्रे) किया है । (प्राशम्) [मेरे] प्रश्न के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ३ ॥

ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ इति सु+कृ विक्षेपे, वा कृञ् हिंसायाम् । वा कृङ् विज्ञाने-अप् । अथवा, टप्रत्ययः । उकारस्य दीर्घः । अथवा, सू इति शब्दं करोति, सू+कृ-टः । सुकिरति भूमिं सुकृणाति मनुष्यान् यद्वा सुकारयते विजानाति खाद्यपदार्थान् । वराहः । अखनत् । खनु विदारे-लङ् । विदारितवान् । उद्धृतवान् । **नसा** । णसङ् कौटिल्ये-क्विप् । नासिकाया ॥

३-**इन्द्रः**—अ० १ । २ । ३ । परमैश्वर्यवान् महाप्रतापी पुरुषः । **ह** । हन हिंसागत्योः-ड । प्रसिद्धम् । **चक्रे** । कृञ्-लिट् । कृतवान् । **त्वा** । त्वाम् । ओषधिम् । **बाहौ** । कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति वह प्रापणे, यद्वा, वाह यत्ने-उण् । यद्वा, अर्जिदृशिकमि० । उ० १ । २७ । इति बाधृ विहतौ-कु, धस्य हः । बकारवकारयोरेकत्वम् । भुजे । **असुरेभ्यः** । सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति षु ऐश्वर्यप्रसवयोः-क्रन् । यद्वा, सुर दीप्त्यैश्वर्ययोः-कप्रत्ययः । देवविरोधिभ्यः । अपण्डितेभ्यः । राक्षसेभ्यः सकाशात् । (असुरेभ्यस्तरीतवे)

भावार्थ—(इन्द्र) महाप्रतापी महाबली पुरुष ही अपने बुद्धि बल से (असुर) देवताओं के विरोधी अधर्मियों का नाश करते आये हैं, करते हैं और और करेंगे ॥ ३ ॥

सायणभाष्य में (स्तीरतवे) के स्थान मे [तरीतवे] है ।

प्राटामिन्द्रो व्या॑श्नादसु॑रेभ्य स्तरीतवे ।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ४ ॥

पाटाम् । इन्द्रः । वि । आश्नात् । असु॑रेभ्यः । स्तरीतवे ।
प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥४॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पाटाम्) चमकती हुयी [ओपधि रूप बुद्धि] को (असुरेभ्यः) असुरों से (स्तरीतवे) रक्षा के लिये (वि) विविध प्रकार से (आश्नात्) भोजन किया है । (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीलेनी वाली [ओपधि के समान बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फींका (कृणु) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओपधि के सेवन से रोग का नाश होकर शरीर और चित्त को आनन्द मिलता है, वैसे ही ऐश्वर्यशाली पुरुष बुद्धि के यथावत् प्रयोग से शत्रुओं का नाश करके शान्ति लाभ करते हैं ॥ ४ ॥

वा शरि । पा० ८ । ३ । ३६ । खर्परे शरि वा लोपो वक्तव्यः । वार्तिकम् । इति विसर्गलोपः । **स्तरीतवे** । तुमर्थे सेसेनसेऽसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति स्तॄ प्रीतिरक्षाप्राणनेषु [श० क० द्रुमकोषे] तवे प्रत्ययः । रक्षितुम् ॥

४—**पाटाम्** । पट गतिदीप्तिवेष्टनेषु–घञ्, टाप् । गतिम् । दीप्तिम् । विद्याम् । ओपधिम् । प्रसङ्गात् सायणभाष्योक्तम् [पाठा] इति पदं व्याख्यायते तद् यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे । पठ्यते बहुगुणवत्तया कथ्यते इति । पठ–कर्मणि घञ्, अजादित्वात् टाप्, लताविशेषः, आकनादि इति भाषा, तत्पर्यायः प्राचीना, दीपनी..., अस्या गुणाः, तिक्तत्वम्, गुरुत्वम्, उष्णत्वम्, वातपित्तज्वर-

तीनों संहिताओं के (पाटाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (पाठाम्) है, और भाष्यकार ने उसे ओषधि विशेष माना है। शब्द कल्पद्रुम कोष में लिखा है कि [पाठा] लता विशेष है, आकनादि भाषा नाम है। उसके गुण तिक्तता, गुरुता, उष्णता, और वातपित्त, ज्वरपित्त, दाह, अतीसार, शूल नाशन आदि हैं।

तयाहं शत्रू॑न्त्साक्ष॒ इन्द्रः॑ सालावृ॒काँ इ॑व ।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ५ ॥

तया । अ॒हम् । शत्रू॑न् । सा॒क्षे॒ । इन्द्रः॑ । सा॒ला॒वृ॒कान्-इ॑व ।
प्राशंम् । प्रति-प्राशः । । ज॒हि॒ । अ॒र॒सान् । कृ॒णु॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥५॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (तया) उस [ओषधि रूप बुद्धि] से (शत्रून्) वैरियों को (साक्षे) हरा दूं, (इन्द्रः) ऐश्वर्यशाली [गृह पति] (सालावृकान् इव) जैसे घर के भेड़ियों, कुत्ते, बिलाव आदिकों को। (प्राशम्) मुख्य वादी के (प्रतिप्राशः) प्रति वादियों को (जहि) मिटा दे, (ओषधे) हे ताप को पी लेने वाली [ओषधि के समान बुद्धि! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे ओषधि बल से रोग निवृत्त होता है, वैसे ही मनुष्य बुद्धि बल से, अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्द लाभ करें ॥ ५ ॥

रुद्र॒ जला॑षभेषज॒ नील॑शिखण्ड॒ कर्म॑कृत् ।
प्राशं॒ प्रतिप्राशो जह्यर॒सान् कृ॑ण्वोषधे ॥ ६ ॥

पित्तदाहातीसारशूलनाशित्वम्, भग्नसन्धानकारित्वं च । वि । विविधम् । आश्नात् । अश भोजने—लङ् । अभक्षयत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—तया । पाटया । तत्प्रभावेन । शत्रून् । वैरिणः । साक्षे । षह अभिभवे-लेटि उत्तमे । अभिभवामि । असत्प्रायान् करोमि । सालावृकान् । सालायां गृहे वृक इव । शालावृकान् । कुक्कुरान् बिडालान् । अन्यद् गतम् ॥

रुद्र॑ । जलाष-भेषज । नील॑-शिखण्ड । कर्म॑-कृत् ।
प्राशम् । प्रति-प्राशः । जहि । अरसान् । कृणु । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे ज्ञान प्रापक ! हे दुःख विनाशक ! (जलाषभेषज) हे सुख दायक ओषधि वाले ! (नीलशिखण्ड) हे निधियों वा निवास स्थानों को प्राप्त कराने वाले ! (कर्मकृत्) हे कार्य्य में कुशल पुरुष ! (प्राशम्) मुझ वादी के (प्रतिप्राशः) प्रतिवादियों को (जहि) मिटादे, (ओषधे) हे ताप को पीने वाली [ओषधि रूप बुद्धि ! उन सब को] (अरसान्) फीका (कृणु) कर दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उपकारी चतुर सद्वैद्य सुपरीक्षित ओषधियों से संसार में उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को अपने बुद्धि प्रभाव से कार्यकुशल होकर सदा उपकारी रहना चाहिये ॥ ६ ॥

तस्य॒ प्राशं॒ त्वं ज॑हि॒ यो न॑ इन्द्राभि॒दास॑ति ।
अधि॑ नो ब्रूहि॒ शक्ति॑भिः प्रा॒शि मामुत्त॑रं कृधि ॥ ७ ॥

६—रुद्र । अ० १ । १९ । ३ । रुत्+र । रु गतौ, वधे-क्विप्, तुक् आगमः । रवते गच्छति जानाति येनेति रुत्, ज्ञानम् । रा दाने-क । यद्वा । मत्वर्थे रप्रत्ययः ज्ञानदाता ज्ञानवान् वा रुद्रः । यद्वा । रवते हिनस्तीति रुत्, दुःखम् । रुत् रवते नाशयतीति रुत्+रु वधे-ड । दुःखनाशको रुद्रः । तत्संबुद्धौ । जलाषभेषज । जनी-ड+लप इच्छायाम्-घञ् । जैः जातैः लप्यते, इति जलाषम् । ततो भिषज् चिकित्सायां सुखने-अच् । जलाषं भेषजं च सुख नाम—निघ० ३ । ६ । जलाषं सुखकरं भेषजं यस्य । हे सुखप्रदौषधयुक्त । नीलशिखण्ड । स्फायितञ्चि-वञ्चि० । उ० २ । १३ । इति णीञ् प्रापणे, रक् । रस्य लः । नीयते प्राप्यते इति नीलः, निधिभेदः । संख्याविशेषो वा । यद्वा । नि+इल गतौ-क । नीलः-नीडः निवासः । अण्डन् कृसृभृवृञः । उ० १ । १२९ । इति शिखि गतौ-अण्डन्, स च कित् । नीलानां निधीनां निवासानां वा शिखण्डः प्राप्तिर्यस्मात् नीलशिखण्डः । हे निधीनां निवासानां वा प्रापक ! कर्मकृत् । कर्म+कृञ्-क्विप्, तुक् च । कर्माणि कृत्यानि करोतीति सः । हे कृत्यकुशल ! । अन्यद् गतम् ॥

तस्य॑ । प्राश॑म् । त्वम् । जहि । यः । नः । इन्द्र । अभि-दास॑ति । अधि । नः । ब्रूहि । शक्ति-भिः । प्राशि । माम् । उत्-त॑रम् । कृधि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले [पुरुष !] (त्वम्) तू (तस्य) उस पुरुष के (प्राशम्) प्रश्न को (जहि) मिटा दे, (यः) जो (नः) हम को (अभि-दासति) दबावे । (नः) हम से (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों के साथ (अधि),अधिकार पूर्वक (ब्रूहि) कथन कर, और (प्राशि) विवाद में (माम्) मुझ को (उत्तरम्) अधिक उत्तम (कृधि) कर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे न्यायी राजा सत्यवादी को जिताता और मिथ्यावादी को हराता है। वैसे ही प्रत्येक मनुष्य अपने कुविचारों को दबाकर और सुविचारों को प्रबल करके आनन्द भोगे। ऐसे ही मनुष्य (इन्द्र) परम सामर्थ वाले होते हैं ॥ ७ ॥

(प्राशि) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [प्राशम्] है ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—५ ॥ अग्निर्देवता । त्रिस्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

तुभ्य॑मे॒व ज॑रिमन् वर्धताम॒यं मेमम॒न्ये मृ॒त्यवो॑ हिंसिषुः श॒तं ये । मा॒तेव॑ पु॒त्रं प्रम॑ना उ॒पस्थे॑ मि॒त्र ए॑नं मि॒त्रिया॑त् पा॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

७—**तस्य** । प्रतिवादिनः । **प्राशम्** । मं० १ । सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । इति प्रच्छ जिज्ञासायाम्–भावे क्विप् । प्रश्नम् । **अभि-दासति** । दसु उपक्षये, णयन्तात् परस्य शपः । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति आर्धधातुकत्वात् । णेरनिटि । पा० ६ । ४ । ५१ । इति णिलोपः । उपक्षपयति । तिरस्करोति । **अधि** । अधिकृत्य । **नः** । अस्मान् । **ब्रूहि** । कथय । निर्णय । **शक्तिभिः** । स्वसामर्थ्यैः । **प्राशि** । पूर्ववद् भावे क्विप् । प्रश्ने । **माम्** । प्रष्टारम् । सत्यवादिनं । **उत्तरम्** । उत् अतिशयेन उद्गतः । उत्-तरप् । ऊर्ध्वम् । उत्कृष्टम् । **कृधि** । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिरादेशः । कुरु ॥

तुभ्य॑म् । एव । ज॒रि॒म॒न् । व॒र्ध॒ता॒म् । अ॒यम् । मा । इ॒मम् । अ॒न्ये । मृ॒त्यवः॑ । हि॒ंसि॒षुः॒ । श॒तम् । ये । मा॒ता-इ॑व । पु॒त्रम् । प्र-म॑नाः । उ॒प-स्थे॑ । मि॒त्रः । ए॒न॒म् । मि॒त्रि॒यात् । पा॒तु॒ । अंह॑सः ॥१॥

भाषार्थ—(जरिमन्) हे स्तुति योग्य परमेश्वर ! (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने के] लिये (एव) ही (अयम्) यह पुरुष (वर्धताम्) बढ़े, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (शतम्) सौ (मृत्यवः) मृत्यु हैं, [वे] (इमम्) इस पुरुष को (मा हिंसिषुः) न मारें । (प्रमनाः) प्रसन्नमन (माता इव) माता जैसे (पुत्रम्) कुलशोधक पुत्र को (उपस्थे) गोद में [पालती है वैसे ही] (मित्रः) मृत्यु से बचाने वाला, वा, बड़ा स्नेही परमेश्वर (एनम्) इस पुरुष को (मित्रियात्) मित्र संबन्धी (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने जीवन को सदैव ईश्वर की आज्ञा पालन अर्थात् शुभ कर्म करने में बितावे, और प्रयत्न करे कि उस का मृत्यु निन्दनीय कामों में कभी न हो और न उसके मित्रों में फूट पड़े और न वे दुष्कर्मी हों। और न कोई दुष्ट पुरुष अपने मित्रों को सता सके । जैसे प्रसन्नचित्त विदुषी माता की गोद में बालक निर्भय क्रीड़ा करता है, वैसे ही वह नीतिज्ञ पुरुष परमेश्वर की शरण पाकर अपने भाई बन्धुओं के बीच सुरक्षित रह कर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

१—**तुभ्यम्** । त्वदर्थम् । त्वदाज्ञापालनाय । **एव** । अवश्यम् । **जरिमन्** । जरास्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु०—१० । ८ । जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जरतेः स्तुतिकर्मणः-कर्मणि इमनिन् । हे स्तुत्य। स्तूयमान परमेश्वर ! **वर्धताम्** । वृद्धिं समृद्धिं प्राप्नोतु । **अयम्** । निर्दिष्टः शरीरस्थो जीवः । **एनम्** । निर्दिष्टं जीवम् । **अन्ये** । स्तुत्यकर्मभ्यो भिन्नाः । **मृत्यवः** । अ० १ । ३० । ३ । मरणानि । **मा हिंसिषुः** । मा वधिषुः । मा हिंसन्तु । **शतम्** । असंख्याताः । **माता** । अ० १ । २ । १ । मान पूजायाम्-तृन् । माननीया जननी। **इव** । यथा । **पुत्रम्** । अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकं सुतम् । **प्रमनाः** । प्र+ मन बोधे-असुन् । प्रसन्नचित्ता । **उपस्थे** । उप+ष्ठा—क । भुजान्तरे । क्रोड़े । **मित्रः** । अ० १ । ३ । २ । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते सम्मिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा-निरु० १० । २१ । मरणाद्रक्षकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः । **एनम्** । जीवम् । **मित्रियात्** । समुद्राभ्राद् घः । पा० ४ । ४ । ११८ । इति बाहुलकात् । मित्र-घ । मित्रसम्बन्धिनः । **अंहसः** । अ० २ । ४ । ३ । पापात् । दोषात् । दुःखात् ॥

मित्र एनं वरुणो वा रिशादा जरामृत्युं कृणुतां संविदानौ। तदग्निर्होता वयुनानि विद्वान् विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति ॥ २ ॥

मित्रः। एनम्। वरुणः। वा। रिशादाः। जरा-मृत्युम् [जरा-अमृत्युम्]। कृणुताम्। सम्-विदानौ। तत्। अग्निः। होता। वयुनानि। विद्वान्। विश्वा। देवानाम्। जनिमा। विवक्ति ॥२॥

भाषार्थ—(मित्रः) सर्व प्रेरक, काम में लगाने वाला दिन का समय (वा) और (रिशादाः) श्रम का भक्षण करने वाला (वरुणः) रात्रि का समय (संविदानौ) दोनों मिले हुए (एनम्) इस पुरुष को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (तत्) इस लिये (होता) महादानी और (वयुनानि) सब व्यवस्थाओं को (विद्वान्) जानने वाला (एनम्) (अग्निः) अग्नि [तेजस्वी परमेश्वर] (देवानाम्) दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा=०—मानि) जन्म विधानों को (विवक्ति) बतलावे ॥ २ ॥

२—**मित्रः**। म० १। मध्यमस्थानदेवता-निरु० १० २१। अहरभिमानी देवः-इति सायणः। दिनकालः। **वरुणः**। मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । ३। द्युस्थानदेवता-निरु० १२। २१। रात्र्यभिमानी [देवः]-इति सायणः। रात्रि-समयः। **एनम्**। जीवम्। **वा**। चार्थे। **रिशादाः**। इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति रिश हिंसायाम्-क। अद भक्षणे-असुन्। रिशानां हिंसकानां श्रमाणां अत्ता नाशयिता। **जरामृत्युम्**। अ० २। १३। २। जरया स्तुत्या अमृत्युः अमरणं यस्य तम्। यद्वा। जरया स्तुत्या वृद्धत्वेन वा मृत्युर्मरणं यस्य तम्। यशस्विनम्। **कृणुताम्**। उभौ कुरुताम्। **संविदानौ**। समो गम्यृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः। पा० १। ३। २९। इति संपूर्वाद् वेत्तेः-रकर्मकात्-आत्मने पदम्। लटः शानच्। संगच्छमानौ। ऐकमत्यं प्राप्तौ। **तत्**। तेन कारणेन। **अग्निः**। अ० १। ६। २। व्यापकः सर्वज्ञः परमेश्वरः।

भावार्थ—जो मनुष्य दिन और रात ईश्वर की आज्ञा पालन में लगे रहते हैं वे ही अन्त में यशस्वी होते हैं, और सर्वज्ञ सर्वान्तर्यामी परमेश्वर उनके हृदय में सब उत्तम २ व्यवस्थाओं और नियमों को प्रकट करता जाता है ॥ २ ॥

त्वमीशिषे पशूनां पार्थिवानां ये जाता उत वा ये जनित्राः । मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो मेमं मित्रा वधिषुर्मो अमित्राः ॥ ३ ॥

त्वम् । ई॒शि॒षे॒ । प॒शू॒नाम् । पार्थिवानाम् । ये । जा॒ताः । उ॒त । वा॒ । ये । ज॒नित्राः । मा । इ॒मम् । प्रा॒णः । हा॒सी॒त् । मो इति । अ॒पानः । मा । इ॒मम् । मि॒त्राः । व॒धि॒षुः । मो इति । अ॒मित्राः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (पार्थिवानाम्) पृथिवी पर के (पशूनाम्) पशुओं [जीवों] का (ईशिषे) स्वामी है, (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हो चुके हैं (उत) और (वा) अथवा (ये) जो (जनित्राः) उत्पन्न होंगे । (इमम्)

होता । अ० १ । ११ । १ । हु-तृन् । दाता । आदाता । **वयुनानि** । अजियमि-शीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति अज गतौ-उनन्, वीभावः । अथवा । वी गति-कान्तिव्याप्त्यादिषु-उनन् । वयुनं वेतेः कान्तिर्वा प्रज्ञा वा-निरु० ५ । १४ । ज्ञात-व्यानि कर्माणि । **विश्वा** । विश्वानि । सर्वाणि । **जनिमा** । जनिमृङ्भ्या-मिमनिन् । उ० ४ । १४६ । इति जन जनी वा-इमनिन् । जनिमानि, जन्मानि । प्रादुर्भावस्थानानि । **विवक्ति** । वचेः-लेटि शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । इत्यभ्यासस्य इकारः । ब्रवीतु । उपदिशतु ॥

३—**त्वम्** । हे अग्ने, परमेश्वर ! **ईशिषे** । ईश ऐश्वर्ये । ईशः से । पा० ७ । २ । ७७ । इडागमः । ईश्वरोऽधिपतिरसि । **पशूनाम्** । अ० २ । २६ । १ । द्विपाच्चतुष्पाद्रूपाणां प्राणिनाम् । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ इति षष्ठी । **पार्थिवानाम्** । दित्यदितीति० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् । पृथिव्या ञाञौ । इति पृथिवी-अञ् । ञित्वादू आद्युदात्तः । पृथिव्यां भवानाम् । **ये** । पशवः । **जाताः** । उत्पन्नाः । **उत** । अपि । **जनित्राः** । अशित्रा-दिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । इति जनु जनी-इत्र । जनिष्यमाणाः । उत्पत्स्य-

इस पुरुष को (प्राणः) प्राण [बाहिर जाने वाला श्वास] (मा हासीत्) न त्यागे, (मो=मा+उ) और न (अपानः) अपान [भीतर आने वाला प्रश्वास]। (इमम्) इस पुरुष को (मित्राः) मित्र (मा वधिषुः) न मारें, (मो=मा+उ) और न (अमित्राः) अमित्र [विरोधी अर्थात् वैरी लोग] ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर महा उपकार करके संसार के चर और अचर का शासक और नियन्ता है, इसी प्रकार मनुष्य को उपकारी होकर प्रयत्न करना चाहिये कि उस का स्वयम्, आत्मा और अन्य मित्र अथवा शत्रु सब प्रीति से आनन्द बढ़ाते रहें ॥ ३ ॥

द्यौष्ट्वा पिता पृथिवी माता जरामृत्युं कृणुतां संविदाने। यथा जीवा अदितेरुपस्थे प्राणापानाभ्यां गुपितः शतं हिमाः ॥ ४ ॥

द्यौः। त्वा। पिता। पृथिवी। माता। जरा-मृत्युम् [जरा-अमृत्युम्]। कृणुताम्। संविदाने इति सम्-विदाने। यथा। जीवाः। अदितेः। उप-स्थे। प्राणापानाभ्याम्। गुपितः। शतम्। हिमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पिता) पिता [के समान रक्षक] (द्यौः) सूर्य लोक और (माता) [के समान प्रीति करने वाली] (पृथिवी) पृथिवी लोक, (संविदाने) दोनों मिले हुये, (त्वा) तुझ को (जरामृत्युम्=जरा-अमृत्युं जरा-मृत्युं वा) स्तुति के

मानाः। **इमम्**। प्राणिनम्। **प्राणः**। अ० २। १५। १। ऊर्ध्वकायस्थो वायुः। **मा हासीत्**। ओहाक् त्यागे—लुङ्। न माङ्योगे। पा० ६।४।४। अडभावः। मा त्याक्षीत्। **मो**। मा + उ। मैव। **अपानः**। अप+अन प्राणने, जीवने-अच्। अपानिति अधो निःसरतीति। अधरकायस्थो वायुः। **मित्राः**। स्नेहिनः। वान्धवाः। **मा वधिषुः**। लुङि च। पा० २।४। ४३। इति हन्तेर्वधादेशः। मा हिंसिषुः। **अमित्राः**। अमेर्द्विषति चित्। उ०। ४। १७४। इति अम रोगे, पीड़ने-इत्रच्। पीडकाः। शत्रवः॥

४-**द्यौः**। अ० २। १२। ६। द्योतमानः सूर्यः। **त्वा**। त्वां प्राणिनम्। **पिता**। अ० १। २। १। रक्षकः। जनकः। तद्वदुपकारकः। **पृथिवी**। अ०

साथ अमर, अथवा, स्तुति वा बुढ़ापे से मृत्यु वाला (कृणुताम्) करें। (यथा) जिस से (अदितेः) अखण्ड परमेश्वर [अथवा अदीन प्रकृति, वा पृथिवी] की (उपस्थे) गोद में (प्राणापानाभ्याम्) प्राण और अपान से (गुपितः) रक्षा किया हुआ तू (शतम्) सौ (हिमाः) हेमन्त ऋतुओं तक (जीवाः) जीता रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी पुरुष प्रबन्ध रक्खे कि सूर्य का तेज और आकार्षण आदि सामर्थ्य और पृथिवी की अन्न आदि की उत्पादनादि शक्ति, और अन्य सब पदार्थ अनुकूल रहें, जैसे माता पिता सन्तानों पर प्रीति रखते हैं, जिस से वह पुरुष परमेश्वर के अनुग्रह से पृथिवी पर यशस्वी होकर पूर्ण आयु भोगे ॥ ४ ॥

इममग्न आयुषे वर्चसे नय प्रियं रेतो वरुण मित्र राजन्। मातेवास्मा अदिते शर्म यच्छ विश्वे देवा जरदष्टिर्यथासत् ॥ ५ ॥

१।२।१। प्रख्याता भूमिः। **माता**। अ० १। २। १। मानकर्त्री, जननी। **जरामृत्युम्**। व्याख्यातं म० २। यशस्विनम्। **कृणुताम्**। कुरुताम्। **संविदाने**। मं० २। ऐक्यमत्यं प्राप्ते। **यथा**। यस्मात् कारणात्। **जीवाः**। जीव प्राणधारणे-लेटि आडागमः। त्वं जीवेः। प्राणान् धरेः। **अदितेः**। कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३। ३। ११३। इति दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने-क्तिन्। द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति। पा० ७। ४। ४०। इति इत्वम्। दीङ् पक्षे ह्रस्वत्वं, नञ् समसाः। अदितिः पृथिवी-निघ० १। १। वाक्-निघ० १। ११। गौः-निघ० २। ११। अदीना देवमाता-निरु० ४। २२। मध्यस्थान देवतासु "प्रथमगामिनी-" निरु० ११। २२। अदीनस्य अखण्डस्य वा परमेश्वरस्य, अथवा अदीनायाः देवमातुः, मनुष्यसूर्यादिदिव्यपदार्थानां जनन्याः प्रकृतेः पृथिव्या वा। **उपस्थे**। क्रोड़े। उत्सङ्गे। **प्राणापानाभ्याम्**। म० ३। श्वासनिःश्वासाभ्याम्। **गुपितः**। गुपू रक्षणे-क्त। रक्षितः। **शतम्**। अपरिमिताः। **हिमाः**। हन्तेर्हिं च। उ० १। १४७। इति हन हिंसागत्योः-मक्। अर्शआद्यच-टाप्। हिमं तुषारोऽस्ति यस्याम्। हेमन्तान् संवत्सरान्। कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। पा० २। ३। ५। इति द्वितिया ॥

इमम् । अग्ने । आयुषे । वर्चसे । नय । प्रियम् । रेतः । वरुण । मित्र । राजन् । माता-इव । अस्मै । अदिते । शर्म । यच्छ । विश्वे । देवाः । जरत्-अष्टिः । यथा । असत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि तत्व, (वरुण) हे जल तत्व ! (राजन्) हे बड़ी शक्ति वाले (मित्र) चेष्टा कराने वाले प्राण वायु ! (इमम्) इस पुरुष को (आयुषे) आयु [बढ़ाने] के लिये और (वर्चसे) तेज वा अन्न के लिये (प्रियम्) प्रसन्न करने वाला (रेतः) वीर्य वा सामर्थ्य (नय) प्राप्त करा। (अदिते) हे अदीन वा अखण्ड प्रकृति वा भूमि ! (माता इव) माता के समान (अस्मै) इस जीव को (शर्म) आनन्द (यच्छ) दान कर। (विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्य पदार्थ वा महात्माओ ! (यथा) जिस से [यह पुरुष] (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि, जल, वायु, और पृथिवी तत्वों को प्रयत्न पूर्वक उचित खान पान ब्रह्मचर्यादि के नियम पालन से अनुकूल रक्खे, जिस से

५—**इमम्** । प्राणिनम् । **अग्ने** । हे अग्नितत्व । **आयुषे** । एतेर्णिच्च । उ० २ । ११८ । इति इण् गतौ-उसि । जीवनवर्धनाय । **वर्चसे** । अ० २ । १३ । २ । तेजसे । अन्नाय । **नय** । प्रापय । द्विकर्मकः । **प्रियम्** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३।१।१३५। इति प्रीङ् प्रीतौ कः । अचि श्नुधातु भ्रुवां० पा०६।४।७७। इयङादेशः । हितकरम् । **रेतः** । स्रुरीभ्यां तुट् च । उ० ४ । २०२ । इति रीङ् स्रवणे-असुन्, तुट् च । शुक्रम् । वीर्यम् । प्रजननसामर्थ्यम् । **वरुण** । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति वृञ् वरणे-उनन् । उत्तमं जलमिति दयानन्द सरस्वती तद्वृत्तौ । अपानवायुः—यथा । ब्रह्माण्डस्थौ गमनागमनशीलौ मित्रावरुणौ प्राणापानौ-इति दयानन्दकृतयजुर्वेदभाष्ये, २ । ३ । तत्संबुद्धौ । **मित्र** । हे प्राणवायो यथा पूर्वोक्तम् । **राजन्** । कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये-कनिन् । राजति=ईष्टे-निघ० २ । २१ । हे दीप्यमान, हे ऐश्वर्यवत् । **मातेव** । जननीव । **अस्मै** । प्राणिने । **अदिते** । म० ४ । हे प्रकृते । भूमे । **शर्म** । अ० १ । २० । ३ । शॄ हिंसायाम्-मनिन् । गृहम् । निघं० ३ । ४ । सुखम्-निघ० ३ । ६ । **यच्छ** । देहि **विश्वे** । सर्वे । **देवाः** ।

शरीर की पुष्टि और आत्मा की उन्नति करके उत्साही, और यशस्वी होवें ॥ ५ ॥

टिप्पणी—बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक की संहिता और पद पाठ में [मित्र-राजन्] एक पद है। परन्तु सायणभाष्य और अन्य दो पुस्तकों में (मित्र राजन्) दो पद हैं वही हम ने लिये हैं ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—७ ॥ बृहस्पतिरिन्द्रो वा देवता । १ अनुष्टुप्; ४ चतुर्थे चतुर्थी दैवी त्रिष्टुप्; अन्ये पादास्त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः स्वोन्नतिं कुर्यादित्युपदिश्यते—मनुष्य अपनी उन्नति करता रहे, इस का उपदेश ॥

पार्थिवस्य रसे देवा भगस्य तन्वो३ बले ।
आयुष्यमस्मा अग्निः सूर्यो वर्च आधाद् बृहस्पतिः ॥१॥

पार्थिवस्य । रसे । देवाः । भगस्य । तन्वः । बले । आयुष्यम् । अस्मै । अग्निः । सूर्यः । वर्चः । आ । धात् । बृहस्पतिः ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल, महात्माओ ! (अग्निः) सर्वव्यापक, (सूर्यः) लोकों में चलने वाला, वा लोकों का चलाने वाला, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े [ब्रह्माण्डों] का रक्षक परमेश्वर ! (पार्थिवस्य) पृथिवी पर वर्त्तमान

दिव्याः पदार्थाः पुरुषा वा । **जरदष्टिः** । जीर्यतेरतृन् । पा० ३ । २ । १०४ । इति बाहुकालात् जरतेः स्तुतिकर्मणः—अतृन् । अशू व्याप्तौ, अश भोजने—क्तिन् जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः । **यथा** । येन प्रकारेण । **असत्** । अस्तेर्लेटि अडागमः । भवेत् ॥

१—**पार्थिवस्य** । अ० २ । २८ । ३ । भूमेः सम्बन्धिनः । **रसे** । रस स्वने आस्वादे—अच् । सारे शरीरपुष्टौ । **देवाः** । हे व्यवहारकुशला विद्वांसः । **भगस्य** । अ० १ । १४ । १ । भज सेवायाम्—घ । ऐश्वर्यस्य । **तन्वः** । अ० १ ।

(भगस्य) ऐश्वर्य के (तन्वः) विस्तार के (रसे) रस अर्थात् तत्त्व ज्ञान, और (बले) बल में (अस्मै) इस [जीव] को (आयुष्यम्) आयु बढ़ाने वाला (वर्चः) तेज [शरीर कान्ति और ब्रह्म वर्चस] (आ) सब ओर से (धात्=धत्तात्) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से आध्यात्मिक पक्ष में परमेश्वर के ज्ञान से, और आधिभौतिक पक्ष में (अग्नि) जो बिजुली आदि रूप से सब शरीरों में बड़ा उपयोगी पदार्थ है, और (सूर्य) जो अनेक बड़े बड़े लोकों को अपने आकर्षण आदि में रखता है, इन के विज्ञान से, अपनी शरीर कान्ति और आत्मिक शक्ति बढ़ावें, और पृथिवी आदि पदार्थों के सारतत्त्व से उपकार लेकर प्रतापी, यशस्वी, और चिरंजीवी बनें ॥ १ ॥

आयुरस्मै धेहि जातवेदः प्रजां त्वंष्टरधिनिधेह्यस्मै ।
रायस्पोषं सवितरा सुवास्मै शतं जीवाति शरदस्तवायम् ॥२॥

आयुः । अस्मै । धेहि । जात-वेदः । प्र-जाम् । त्वष्टः । अधि-निधेहि । अस्मै । रायः । पोषम् । सवितः । आ । सुव । अस्मै । शतम् । जीवाति । शरदः । तव । अयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्राणियों को जानने वा धन देने वाले परमेश्वर! [वा अग्नि] (अस्मै) इस [जीव] को (आयुः) आयु (धेहि) दे, (त्वष्टः)

---

१ । १ । विस्तारस्य । बले । आत्मशरीरसामर्थ्ये । आयुष्यम् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । आयुष्-यत् । जीवनवर्धकम् । अस्मै । निर्दिष्टप्राणिने । अग्निः । व्यापकः । तेजोविशेषः । सूर्यः । अ० १ । ३ । ५ । राजसूयसूर्य० । पा० ३ । १ । ११४ । अत्र सिद्धान्तकौमुदीटीकायां भट्टोजिदीक्षितः । "सरत्याकाशे सूर्यः । यद्वा सुवति कर्मणि लोकं प्रेरयतीति" । परमेश्वरः । सूर्यलोकः । वर्चः । तेजः शरीरकान्तिर्ब्रह्मवर्चसं च । आ । समन्तात् । यथाविधि । धात् । छान्दसं रूपम् । धत्तात् । धेयात् । स्थापयतु । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । २ । महतां पृथिव्यादिलोकानां रक्षकः प्रकाशवृष्टिदानेनाकर्षणेन च । परमात्मा । सूर्यः ॥

२ आयुः । जीवनम् । अस्मै । समीपस्थाय प्राणिने । धेहि । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु । देहि । प्रयच्छ । जातवेदः । अ० १ । ७ । २ । वेदो धनम् ।

हे सूक्ष्म रचना करने वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (प्रजाम्) प्रजा जन (अधि-निधेहि) अधिक २ संग्रह कर । (सवितः) हे परम ऐश्वर्य वाले परमेश्वर ! [वा सूर्य] (अस्मै) इस को (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टता (आसुव) भेज दे, (तव) तेरा [सेवक] (अयं) यह [जीव] (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के गुणों को विचार कर मनुष्य को (जातवेदाः) अपने लोगों का जाननेवाला, (त्वष्टा) विश्वकर्मा, सब कामों में कुशल और (सविता) महाप्रतापी होकर अपनी सामाजिक और आर्थिक शक्ति बढ़ा कर और संसार में कीर्ति फैला कर पूर्ण आयु भोगना चाहिये ॥ २ ॥

२—अग्नि के प्रभाव से शरीर में चेष्टा होती है, और सूर्य से वृष्टि, वृष्टि से अन्न, अन्न से बल होता है । जो मनुष्य योग्य प्रयोग से इन को अनुकूल रखता है वह प्रजावान्, धनवान् और आयुष्मान् होता है ॥ २ ॥

आशीर्ण ऊर्जमुत सौप्रजास्त्वं दक्षं धत्तं द्रविणं सचेतसौ । जयं क्षेत्राणि सहसायमिन्द्र कृण्वानो अन्यानधरान्त्सपत्नान् ॥ ३ ॥

निघ० २ । १० । जातेभ्यः प्राणिभ्यो धनं ज्ञानं वा यस्मात् सजातवेदाः । हे प्राणिभ्यो धनप्रद, सर्वज्ञ, परमेश्वर । **प्रजाम्** । सन्तानम् । पुत्रपौत्रभृत्यादिकम् । **त्वष्टः** । अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष काश्य-तृन् । हे तनूकारक । विश्वकर्मन् । सूर्य । **अधिनिधेहि** । अधिकं बाहुल्येन स्थापय । **रायस्पोषम्** । अ० १ । ६ । ४ । रायो धनस्य पोषं वर्धनम् । **सवितः** । अ० १ । १८ । २ षु षू वा प्रसवैश्वर्ययोः-तृचि । स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा । पा० ७ । २ । ४४ । विकल्पाद् इडागमः । परमेश्वरः । वृष्टिदानादिना शरीरिणां जनयिता सूर्यः । हे उत्पादक । ऐश्वर्यवन् । **आ** । अभिमुखम् । **सुव** ! षू प्ररेणे । प्रेरय । प्रापय । **शतम्** । बह्वीः । अपरिमिताः । **जीवाति** । जीव प्राणधारणे-लेट् । आडागमः । जीवतु । **शरदः** । अ० १।१०।२ । शरदृतून् । संवत्सरान् । **तव** । तवानुगृहीतः । **अयम्** । प्राणी ॥

आ-शीः । नः । ऊर्जम् । उत । सौप्रजाः-त्वम् । दक्षम् । धत्तम् । द्रविणम् । स-चेतसौ । जयम् । क्षेत्राणि । सहसा । अयम् । इन्द्र । कृण्वानः । अन्यान् । अधरान् । स-पत्नान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (आशीः) आशीर्वाद [हो], (सचेतसौ) हे समान चित्त वाले [माता पिता तुम दोनों] ! (ऊर्जम्) अन्न, (सौप्रजास्त्वम =०=ज़स्त्वम्) उत्तम प्रजायें, (दक्षम्) बल, (उत) और (द्रविणम्) धन (धत्तम्) दान करो ।

(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर (अयम्) यह [जीव] (सहसा) [आप के] बल से (जयम्) जय और (क्षेत्राणि) ऐश्वर्य के कारण खेतों को (कृण्वानः) करता हुआ, और (अन्यान्) जीवित [वा भिन्न भिन्न] (सपत्नान्) विपक्षियों को (अधरान्) नीचे [करता हुआ] [जीवाति=जीता रहे-मं० २ से]॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (जीवाति) जीता रहे, इस पद की अनुवृत्ति मं० २ से है। माता पिता प्रयत्न करें कि उन के पुत्र पुत्री सब सन्तान, बड़े

३—**आशीः** । आङ्ःशासु इच्छायाम्-क्विप्, उपधाया इत्वम् । आशीर्वादः । मङ्गलवचनम् । **नः** । अस्मभ्यम्+अस्तु । **ऊर्जम्** । ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । ऊर्गित्यन्नामोर्जयतीति सतः पक्वं सुप्रवृक्णमिति वा-निरु० ३ । ८ । ऊर्जयति प्रबलति बलवन्तं प्राणवन्तं वा करोतीति सा ऊर्क् । अन्नम् । **उत** । अपि च । **सौप्रजास्त्वम्** । नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । इति सु+प्रजा-असिच् । छान्दसौ वृद्धिदीर्घौ । सुप्रजस्त्वम् । शोभनसन्तानत्वम् । **दक्षम्** । दक्ष वृद्धौ—अच् । पुष्टिम् । दक्षः=बलम् निघ० २ । ९ । **धत्तम्** । युवां धारयतम् । स्थापयतम् । **द्रविणम्** । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २२ । ५० । इति द्रु गतौ-इनन् । धनम् । निघ० २ । १० । **सचेतसौ** । समानमनसौ । मातापितरौ । **क्षेत्राणि** । दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० इति क्षि क्षयै-श्वर्यगतिनिवासेषु-त्रन् । क्षेत्रं क्षियतेर्निवासकर्मणः-निरु० १० । १४ । ऐश्वर्याणि । भूमिप्रदेशान् । **सहसा** । बलेन तव दत्तेन । **अयम्** । निर्दिष्टः पुरुषः । **इन्द्र** । हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् । **कृण्वानः** । कुर्वाणः । उत्पादयन् ।

अन्नवान्, बलवान्, और धनवान् होकर, उत्तम गृहस्थी बनें और जितेन्द्रिय होकर अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इन्द्रे॑ण दु॒त्तो वरु॑णेन शि॒ष्टो मु॒रुद्भि॑रु॒ग्रः प्रहि॑तो न॒ आग॑न् ।
ए॒ष वां॑ द्यावापृथिवी उ॒पस्थे॒ मा क्षु॑धन्मा तृ॑षत् ॥४॥

इन्द्रे॑ण । दु॒त्तः । वरु॑णेन । शि॒ष्टः । मु॒रुत्-भिः॑ । उ॒ग्रः । प्र-हि॑तः । नुः । आ । अ॒गन् । ए॒षः । वाम् । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वी॒ इति॑ । उ॒प-स्थे॑ । मा । क्षु॒धत् । मा । तृ॒षत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह [जीव] (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा करके (दत्तः) दिया हुआ, (वरुणेन) श्रेष्ठ गुण वाले पिता करके (शिष्टः) शिक्षा किया हुआ, और (मरुद्भिः) शूर वीर महात्माओं करके (प्रहितः) भेजा हुआ, (उग्रः) तेजस्वी होकर, (नः) हम लोगों में (आ अगन्=अगमत्) आया है। (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) हे सूर्य और भूमि ! (वाम्) तुम दोनों की (उपस्थे) गोद में [यह जीव] (मा क्षुदत्) न भूखा रहे और (मा तृषत्) न पियासा मरे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी न्याय व्यवस्था से इस जीव को मनुष्य जन्म दिया है, माता पिता ने शिक्षा दी है, विद्वानों ने उत्तम विद्याओं का अभ्यास कराया है ; इस प्रकार वह अध्ययन समाप्ति पर समावर्तन कर के संसार में प्रवेश करे, और सूर्य पृथिवी आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगे ॥ ४ ॥

अन्यान् । माच्छाशसिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति अन जीवने-य । अनिति जीवतीति अन्यः । जीवितान् । भिन्नान् । **अधरान्** । न + धृङ्-अच् । अधोगतान् । नीचान् । **सपत्नान्** । अ० १ । ६ । २ । सहपतनशीलान् । शत्रून् ॥

४—**इन्द्रेण** । परमैश्वर्यवता परमात्मना । **दत्तः** । दो दद्घोः । पा० ७ । ४ । ४६ । इति दा दाने-क्त, दद् भावः । लब्धजीवनः । **वरुणेन** । वृञ् । उनन् । श्रेष्ठजनकेन । **शिष्टः** । शासु शासने-क्त । शास इदङ् हलोः । पा० ६ । ४ । ३४ । इत्युपधाया इकारः । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० ।

ऊर्जमस्मा ऊर्जस्वती धत्तं पयो अस्मै पयस्वती धत्तम्।
ऊर्जमस्मै द्यावापृथिवी अधातां विश्वे देवा मरुत
ऊर्जमापः ॥ ५ ॥

ऊर्जम् । अस्मै । ऊर्जस्वती इति । धत्तम् । पयः । अस्मै ।
पयस्वती इति । धत्तम् । ऊर्जम् । अस्मै । द्यावापृथिवी
इति । अधाताम् । विश्वे । देवाः । मरुतः । ऊर्जम् । आपः ॥५॥

भाषार्थ—(ऊर्जस्वती=०—त्यौ) हे अन्न वाली [पिता और माता] दोनों! (अस्मै) इस [जीव को] (ऊर्जम्) अन्न (धत्तम्) दान करो, (पयस्वती=०—त्यौ) हे दूध वाली तुम दोनों! (अस्मै) इस को (पयः) दूध वा जल (धत्तम्) दान करो। (द्यावापृथिवी=०—व्यौ) सूर्य और पृथिवी ने (अस्मै)

इति सस्य पः। शासितः। अनुशातः। **मरुद्भिः**। अ० १। २०। १। शत्रुमारणशीलैः शूरैः। **उग्रः**। तेजस्वी। **प्रहितः**। हि गतौ—क्त। प्रेषितः, प्रेरितः। **नः**। अस्मान्। आ+अगन्। गमेर्लुङि। मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुक्। मो नो धातोः। पा० ८।२।६४। इति नत्वम्। आगमन्। **एषः**। प्राणी। **वाम्**। युवयोः। **द्यावापृथिवी**। हे द्यावापृथिव्यौ। तत्रस्थपदार्थाः—इत्यर्थः। **उपस्थे**। क्रोडे। **मा क्षुदत्**। क्षुत्पीडां मा प्राप्नोतु। **मा तृषत्**। तृषार्तो मा भवतु। क्षुद् बुभुक्षायाम्। ञि तृषा पिपासायाम्। उभयोर्माङि लुङि पुषादित्वाद् अङ्॥

५—**ऊर्जम्**। म० ३। अन्नम्। **ऊर्जस्वती**। ऊर्ज बलप्राणनयोः—असुन्। ततो मतुप्। मस्य वः। तसौ मत्वर्थे। पा० १। ४। ४९। इति भत्वाद् रुत्वाभावः। विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। हे अन्नवत्यौ। बलवत्यौ मातापितरौ। **धत्तम्**। दत्तम्। **पयः**। अ० १। ४। १। दुग्धम्। जलम्। **अस्मै**। जीवाय। **पयस्वती**। पूर्ववत् सिद्धिः। दुग्धवत्यौ। जलवत्यौ। **द्यावापृथिवी**। अ० २। १। ४। प्रगृह्यत्वाद् अचि प्रकृतिभावः। सूर्यभूमी। **अधाताम्**। डुधाञ्—लुङ्। दत्तवत्यौ। **विश्वे**। सर्वे। **देवाः**। दिव्यगुणयुक्ताः।

इस [जीव] को (ऊर्जम्) अन्न (अधाताम्) दिया है, (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुण वाले (मरुतः) दोषनाशक, प्राण अपानादि वायु और (आपः) व्यापन शील जल ने (ऊर्जम्) अन्न [अधुः] [दिया है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—माता पिता संतानों को ऐसी शिक्षा देकर उद्यमी करें कि वे खान पान आदि प्राप्त करके सदा सुखी रहें। सूर्य भूमि वायु जलादि प्राकृतिक पदार्थ अन्न पानादि देकर बड़ा उपकार कर रहे हैं। उस से सब को लाभ उठाना चाहिये ॥ ५ ॥

शिवाभिष्टे हृदयं तर्पयाम्यनमीवो मोदिषीष्ठाः सुवर्चाः । सवासिनौ पिबतां मन्थमेतमश्विनो रूपं परिधाय मायाम् ॥ ६ ॥

शिवाभिः । ते । हृदयम् । तर्पयामि । अनमीवः । मोदिषीष्ठाः । सु-वर्चाः । स-वासिनौ । पिबताम् । मन्थम् । एतम् । अश्विनोः । रूपम् । परि-धाय । मायाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (शिवाभिः) मङ्गल करनेवाली [विद्याओं वा शक्तियों] से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (तर्पयामि) मैं तृप्त करता हूं, तू (अनमीवः) नीरोग और (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (मोदिषीष्ठाः) हर्ष प्राप्त कर। (सवासिनौ) मिलकर निवास करनेवाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अश्विनोः) माता

मरुतः। अ० १।२०।१। अथातो मध्यस्थाना देवगणास्तेषां मरुतः प्रथमगामिनो भवन्ति मरुतो मितराविणो वा मितरोचिनो वा महद् द्रवन्तीति वा-निरु० ११।१३। वायुः। ऋत्विजः। शूराः पुरुषाः। आपः। अ० १।४।३। जलम्। आप्ताः प्रजाः-दयानन्दभाष्ये, य० ६।२७॥

६—शिवाभिः। शिव-टाप्। अ० २।६।३। मङ्गलवतीभिर्विद्याभिः शक्तिभिर्वा। (शिवाभिष्टे) युष्मत्तत्ततुःष्वन्तः पादम्। पा० ८।३।१०३। इति षत्वम्। ते। तव। हृदयम्। वृहोः पुग्दुकौ च। उ० ४।१००। इति हृञ् हरणे-कयन् दुक् च। हरति स्वीकरोति विषयानिति। मनः। तर्पयामि। सुखयामि। अनमीवः। इण्शीभ्यां वन्। उ० १।१५२। इति अम रोगे-वन्, ईडागमः।

पिता के (रूपम्) स्वभाव और (मायाम्) बुद्धि को (परिधाय) सर्वथा धारण करके (एतम्) इस (मन्थम्) रस का (पिवताम्) पान करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि हे मनुष्य तेरे आनन्द के लिये मैं ने तुझे अनेक विद्यायें और शक्तियां दी हैं, तुम दोनों स्त्री पुरुषो ! माता पिता रूप से संसार का उपकार करके इस [मेरे दिये] आनन्दरस को भोगो ॥६॥

इन्द्र॑ एतां स॑सृजे वि॒द्धो अग्र॑ ऊ॒र्जां स्व॒धाम॒जरां॒ सा त॑ ए॒षा । तया॒ त्वं जी॑व श॒रद॑: सुव॒र्चा मा त॒ आ सु॑स्रोद्भि॒षज॑स्ते अक्रन् ॥ ७ ॥

इन्द्र॑: । ए॒ताम् । स॒सृ॒जे॒ । वि॒द्धः । अग्रे॑ । ऊ॒र्जाम् । स्व॒धाम् । अ॒जरा॑म् । सा । ते॒ । ए॒षा । तया॑ । त्वम् । जीव॑ । श॒रद॑: । सु॒-वर्चा॑: । मा । ते॒ । आ । सु॒स्रो॒त् । भि॒षज॑: । ते॒ । अ॒क्र॒न् ॥७॥

भाषार्थ—(विद्धः) सेवा किये हुये (इन्द्रः) परमेश्वर ने (एताम्) इस (अजराम्) अक्षय (ऊर्जाम्) अन्नयुक्त (स्वधाम्) अमृत को (अग्रे)

रोगरहितः । **मोदिषीष्ठाः** । मुद हर्षे । आशिषि लिङ् । मोदस्व । हृष्टो भव । **सुवर्चाः** । सु+वर्च-असुन् । सुजेनस्कः । **सवासिनौ** । व्रते । पा० ३ । २ । ८० । इति वस निवासे-णिनि । समानस्य सभावः । पुमान् स्त्रिया । पा० ३ । २ । ६७ । इत्येकशेषः । समानम् एकत्रनिवसन्तौ स्त्रीपुरुषौ । **पिवताम्** । पीतं कुरुताम् । **मन्थम्** । मन्थ गाहे-घञ् विलोडनम् । रसम् । **एतम्** । निर्दिष्टम् । वेदोक्तम् । **अश्विनोः** । अशुप्रुशिलटि० । उ० १ । १५१ । अशू व्याप्तौ-कन् । अश्वो व्याप्तिः—इनि प्रत्ययः । एकशेषः पूर्ववत् । अश्विनौ द्यावापृथिव्यावित्येकेऽहोरात्रावित्येके सूर्याचन्द्रमसावित्येके राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः—निरु० १२ । १ । कार्येषु व्याप्तिमतोः, जननीजनकयोः । **रूपम्** । स्वभावम् । **परिधाय** । धृत्वा । **मायाम्** । माछासलिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । माङ् माने य, टाप् । बुद्धिम् । प्रज्ञाम्-निघ० ३ । ६॥

७—**इन्द्रः** । परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः । **एताम्** । सर्वत्र विद्यमानाम् । **ससृजे** । सृज-लिट् । सृष्टवान् । उत्पादितवान् । **विद्धः** । विध विधाने-क-

पहिले से (ससृजे) उत्पन्न किया है। (सा एषः) सो यह (ते) तेरे लिये [है], (तया) उस [अमृत] से (त्वम्) तू (सुवर्चाः) उत्तम कान्ति वाला होकर (शरदः) बहुत शरद् ऋतुओं तक (जीव) जीता रह, (आ) और [मा स्वधा] [वह] (ते) तेरे लिये (मा सुस्रोत्) न घट जावे। (भिषजः) वैद्यों ने (ते) तेरे लिये [उस अमृत को] (अक्रन्) बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—अनादि परमेश्वर ने सृष्टि के पहिले मनुष्य को अमृत रूप सार्वभौम ज्ञान दिया है उस की कभी हानि नहीं होती, मनुष्य जितना जितना उसे काम में लाता है उतना ही वह बढ़ता जाता है और सुखदायक होता है। उसके उचित प्रयोग से मनुष्य पूर्ण आयु भोगता है। बुद्धिमानों ने बुद्धि को महौषधि बनाया है ॥ ७ ॥

(ऊर्जाम्) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (ऊर्जम्) है ॥

तुदादिः, छन्दसि अनिट्। विधेम=परिचरेम-निघ० ३।५. वेधितः।परिचरितः। सेवितः। **अग्रे** । सर्वेभ्यः पूर्वम्। **ऊर्जाम्** । म० ३। ऊर्क्=अन्नं बलं वा। ततः, अर्शआद्यच्, टाप्। अन्नवतीम् । बलवतीम्। **स्वधाम्** । आः समिण्-निकषिभ्याम्। उ० ४। १७५। इति ष्वद् स्वादे-आ, दस्य धः। स्वादयति रसान् उत्पादयतीति स्वधा। यद्वा। आतो ऽनुपसर्गे कः। पा० ३।२।३। इति स्व+डुधाञ् धारणपोषणदानेषु-क, टाप्। अथवा क्विप्। स्वम् आत्मानं भोक्तृशरीरं दधाति पुष्णातीति वा स्वधा। यद्वा। स्व+धेट् पाने-क, टाप्। उदकम्। निघ० १। १२। अन्नम्-निघ० २।७। पितॄणाम् अन्नम्। अमृतम्। शरीरपोषकं पदार्थम्। **अजराम्** । ऋच्छेररः उ० ४। १३१। इति अज गतिक्षेपणयोः—अर प्रत्ययः, टाप्। गतिशीलाम्। उत्साहवर्धयित्रीम्। यद्वा। जॄ-ष् वयोहानौ-अङ्, टाप्। अक्षीणाम्। **ते** । तुभ्यम्। **तया** । स्वधया। **जीव** । प्राणान् धारय। **शरदः** । अ० १। १०। २। शरदृतून्। वर्षाणि। **आ** । आप्लृ व्याप्तौ-क्विप्, पलोपः। समुच्चये। यथा। देवेभ्यश्च पितृभ्यश्च आ। **मा सुस्रोत्** । स्रु गतौ-लुङि, छन्दसि शपः श्लुः। नष्टो मा भूत्। **भिषजः** । अ० २। ६। ३। चिकित्सकाः। **अक्रन्** । मन्त्रे घस०। पा० २। ४। ८०। इति करोतेः—च्लेर्लुक्। अकार्षुः॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पङ्क्तिः, २—५ अनुष्टुप् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशायोपदेशः—गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने के लिये उपदेश ॥

यथे॒दं भूम्या॒ अधि॒ तृणं॒ वातो॑ मथा॒यति॑। ए॒वा म॑थ्नामि ते॒ मनो॒ यथा॒ मां का॒मिन्यसो॒ यथा॒मन्नाप॑गा॒ असः॑ ॥१॥

यथा॑। इ॒दम्। भूम्याः॑। अधि॑। तृण॑म्। वातः॑। म॒थायति॑। ए॒व। म॒थ्ना॒मि॒। ते। मनः॑। यथा॑। माम्। का॒मिनी॑। असः॑। यथा॑। मत्। न। अप॑-गाः। असः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि के (अधि) ऊपर (इदम्) इस (तृणम्) तृण को (मथायति) चलाता है। (एव) वैसे ही (ते) तेरे (मनः) मन को (मथ्नामि) मैं चलाता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) वियोग करने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्यासमाप्ति पर ब्रह्मचारी अपने अनुरूप गुणवती कन्या को ढूंढ़े, और कन्या भी अपने सदृश वर ढूंढ़े। इस प्रकार विवाह होने से वियोग न होकर आपस में प्रेम बढ़ता और आनन्द मिलता है ॥ १ ॥

१—**यथा**। येन प्रकारेण। **इदम्**। परिदृश्यमानम्। **भूम्याः**। अ० १। ११। २। पृथिव्याः। **अधि**। उपरि। **तृणम्**। तृहेः क्नो हलोपश्च। उ० ५। ८। इति तृह हिंसायाम्–क्न, हलोपः। तृह्यते हन्यते भक्ष्यते। गवादिभिः। गवादि-भक्ष्यम्। **वातः**। अ० १। ११। ६। वायुः। **मथायति**। छन्दसि शायजपि। पा० ३। १। ८४। इति बाहुलकात् मथ विलोडने–शायच्। विलोडयति। भ्रामयति। **एव**। एवम्। तथा। **मथ्नामि**। मन्थ विलोडने। विलोडयामि। **ते**। तव। **मनः**। मन–असुन्। चित्तम्। **यथा**। यस्मात् कारणात्। **माम्**। कामयमानं वरम्। **कामिनी**। कमेर्णिजन्ताद् औणादिक इनि प्रत्ययः। ङीप्। भविष्यति गम्यादयः। पा० ३। ३। ३। इति भविष्यदर्थत्वम्। अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः। पा० २। ३। ७० इति कर्मणि षष्ठी प्रतिषेधत्वात् (माम्) इति

(भूम्याः) पद के स्थान पर सायणभाष्य में (भूम्याम्) है।

इस मन्त्र का अन्तिम भाग (यथामां—मन्नापगा असः) अ० १ । ३४ । ५, और ६ । ८ । १-३ । में भी है।

सं चेन्नयाथो अश्विना कामिना सं च वक्ष॑थः ।
सं वां भगासो अग्मत सं चित्तानि समु॑ व्रता ॥ २ ॥

सम् । च । इत् । नयाथः । अश्विना । कामिना । सम् । च । वक्ष॑थः । सम । वाम् । भगासः । अग्मत । सम् । चित्तानि । सम् । ऊं॒ इति॑ । व्रता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(च) और (अश्विना=०—नौ) हे कार्य में व्याप्ति वाले माता और पिता, तुम दोनों, (इत्) ही (कामिना=०--नौ) कामना वाले दोनों [वर कन्या] को (सम्) मिल कर (नयाथः) ले चलो, (च) और (सम्) मिल कर (वक्षथः) आगे बढ़ाओ। (वाम्) तुम दोनों के (भगासः=भगाः) सब ऐश्वर्य (सम् अग्मत) [हम को] मिल गये हैं, (चित्तानि) [हमारे] चित्त (सम=सम्+अग्मत) मिल गये हैं, (उ) और भी (व्रता=व्रतानि) नियम और कर्म (सम्+अग्मत) मिल गये हैं ॥ २ ॥

द्वितिया । काङ्क्षिष्यन्ती । **असः** । भवेः । **मत्** । मत्तः सकाशात् । **न** । निषेधे । **अपगाः** । जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति गमेर्विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । अपसृत्य गन्त्री । वियोगं प्राप्ता ॥

२—**सम** । मिलित्वा । संगत्य । **च** । समुच्चये । **इत्** । अवश्यम् । **नयाथः** । नयतेर्लेटि आडागमः । प्रापयतम् । **अश्विना** । अ० २ । २९ । ६ । हे कार्येषु व्यापनशीलौ मातापितरौ । **कामिना** । म० १ । कम-णिच्-इनि । कामयमानौ । कन्यावरौ । **वक्षथः** । वहेर्लेटि अडागमः, सिप् च । युवां वहतम । संयोजयतम् । **वाम** । युवयोः । **भगासः** । आज्जसेरसुक् । पा० ७ । १ । ५० । इति जसि असुक् । भगाः । भजनीयानि, ऐश्वर्याणि । **सम+अग्मत** । समो गम्यृच्छि० । पा० १ । ३ । २९ । आत्मनेपदम् । लुङि म्लेर्लुक्,

भावार्थ—वर और कन्या माता पिता आदि बड़ों की भी सम्मति प्राप्त करें। उनके अनुग्रह से दोनों ने विद्या धन और सुवर्ण आदि धन, और परस्पर एक चित्त होने और नियम पालन की शक्ति को पाया है। यह मूल मन्त्र गृहस्थाश्रम में आनन्द वर्धक है॥

यत् सु॒प॒र्णा वि॑व॒क्षवो॑ अनमी॒वा वि॑व॒क्षवः॑ ।
तत्र॑ मे गच्छता॒द्धवं॑ श॒ल्य इ॑व॒ कुल्म॑लं॒ यथा॑ ॥ ३ ॥

यत् । सु॒-प॒र्णाः । वि॒व॒क्षवः॑ । अ॒न॒मी॒वाः । वि॒व॒क्षवः॑ । तत्र॑ । मे॒ । ग॒च्छ॒ता॒त् । हव॑म् । श॒ल्यः॑-इ॑व । कुल्म॑लम् । यथा॑ ॥ ३ ॥

भावार्थ—(यत्=यत्र) जहां (सुपर्णाः) बड़ी पूर्त्ति वाले [अथवा गरुड़ गिद्ध, मोर आदि के समान दूर दर्शी पुरुष] (विवक्षवः) विविध प्रकार से राशि वा समूह करने वाले, और (अनमीवाः) रोगरहित स्वस्थ पुरुष (विवक्षवः) बोलने वाले हों, (तत्र) उस स्थान में [वह वर वा कन्या] (मे) मेरी [वर व कन्या को] (हवम) पुकार [विज्ञापन] को (गच्छतात्] पावे, (शल्यः इव) जैसे बाण की कील (यथा) जिस प्रकार (कुल्मलम्) अपने दंडे में [पहुंचती है] ॥ ३ ॥

सम्यग् अगमन्। **चित्तानि**। चिती ज्ञाने-क्त। मनांसि। **व्रतानि** पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति वृञ्-अतच्। कित्त्वाद् गुणाभावः, यणादेशः। व्रतमिति कर्म नाम वृणोतीति सत इदमपीतरद् व्रतमेतस्मादेव निवृत्तिकर्म वारयतीति सतोऽन्नमपि व्रतमुच्यते यदावृणोति शरीरम्-निरुक्ते—२। १३। कर्माणि। नियमान्॥

३—**यत्**। यत्र स्थाने। **सुपर्णाः**। अ० १। २४। १। सुपालनाः, सुपूरणाः। सुपतनशीला गरुडादयः पक्षिणो यथा। **विवक्षवः**। भृमृशीङ्०। उ० १। ७। इति वि+वक्ष रोषसंहत्योः—उ। विविधं राशीकरणशीलाः, विद्यासुवर्णादीनाम्। **अनमीवाः**। अ० २। २६। ६ रोगरहिताः। स्वस्थाः। **विवक्षवः**। ब्रुवः सनि वच्यादेशे। सनाशंसभिक्ष उः। पा० ३। २। १६८। उप्रत्ययः। वक्तुमिच्छवः। **तत्र**। तस्मिन् स्थाने। **मे**। मम। **गच्छतात्**। प्राप्नुयात् वरः कन्या वा। **हवम्**। अ० १। १५। २। ह्वेञ्-अप्। आवाहनम्। विज्ञापनम्। **शल्यः**।

भावार्थ—जहां विद्वान् पुरुषों में रहकर वर ने, और विदुषी स्त्रियों में रहकर कन्या ने विद्या और सुवर्णादि धन प्राप्त किये हों; और नीरोग रहने और धर्म उपदेश करने की शिक्षा पायी हो, वहां पर उन दोनों के विवाह की बात चीत पहुंचे, और ऐसी दृढ़ होजावे जैसे बाण की कील, बाण की दंडी में पक्की जम जाती है ॥ ३ ॥

यदन्त॑रं॒ तद् बाह्यं॒ यद् बाह्यं॒ तदन्त॑रम् ।
क॒न्या॑नां वि॒श्वरू॑पाणां॒ मनो॑ गृभायौषधे ॥ ४ ॥

यत् । अन्त॑रम् । तत् । बाह्य॑म् । यत् । बाह्य॑म् । तत् । अन्त॑रम् ।
क॒न्या॑नाम् । वि॒श्व-रू॑पाणाम् । मनः॑ । गृ॒भा॒य॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे वर ! (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव आदि] (अन्तरम्) भीतर [तेरे हृदय में] है, (तत्) वह (बाह्यम्) बाहिर [कन्या को प्रकट] हो, और (यत्) जो कुछ [प्रीति भाव] (बाह्यम्) बाहिर [प्रकट किया जाय,] (तत्) वह (अन्तरम्) भीतर [कन्या के हृदय में स्थिर हो] (ओषधे) हे ताप नाशक [ओषधिरूप वर] (विश्वरूपाणाम्) सर्व सुन्दरी (कन्यानाम्) कन्याओं [कन्या] के (मनः) मन को (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—वर हार्दिक प्रीति से कन्या के साथ व्यवहार करे, और पत्नी भी पति से हार्दिक प्रीति रक्खे । इस प्रकार परस्पर प्रसन्नता से गृह लक्ष्मी बढ़ेगी और नित्य प्रति आनन्द रहेगा । (कन्यानाम्) बहुवचन एक के लिये आदरार्थ है, और मन्त्र में जो वर को उपदेश है वही कन्या के लिये भी समझना चाहिये ॥ ४ ॥

सानसिवर्णसिपर्णसि...शल्याः । उ० ४।१०७। इति शल गतौ–य । बाणाग्रभागः । शस्त्रविशेषः । कुल्मलम् । कुषेर्लश्च । उ० ४ । १८८ । इति कुष निष्कर्षे, दीप्तौ क्मलन् । षस्य लः । कुष्मलम् । छेदनम् । बाणदण्डछिद्रम् ॥

४—यत् । किञ्चित्, प्रीतिभावः । शुभविचारः । अन्तरम् । अन्त+रा-क । अन्तं राति ददाति । मध्यम् । अन्तर्धानम् । आत्मीयम् । बाह्यम् । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । अत्र वार्त्तिकम् । बहिषष्टिलोपो यञ् च । इति बहिस्-यञ्, टिलोपश्च । बहिष्ठम् । प्रकटम् । कन्यानाम् । अघ्न्यादयश्च ।

एयमंगुन् पतिकामा जनिकामोहमागमम् ।
अश्वः कनिक्रदद् यथा भगेनाहं सहागमम् ॥ ५ ॥

आ । इयम । अगन् । पति-कामा । जनि-कामः । अहम् । आ । अगमम् । अश्वः । कनिक्रदत् । यथा । भगेन । अहम् । सह । आ । अगमम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (पतिकामा) पति की कामना करती हुई कन्या (आ+अगन्=आगमत्) आयी है, और (जनिकामः) पत्नी की कामना वाला (अहम्) मैं (आ+अगमम्) आया हूं। (अहम्) मैं (भगेन) ऐश्वर्य के (सह) साथ (आ+अगमम्) आया हूं। (यथा) जैसे (कनिक्रदत्) हींसता हुआ (अश्वः) घोड़ा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् घोड़ा मार्ग गमन, अन्न, घास आदि भोजन के समय हिनहिनाकर प्रसन्नता प्रकट करता है, इसी प्रकार विद्या समाप्ति पर पूर्ण विद्वान् और समर्थ कन्या और वर गृहाश्रम में प्रवेश करके आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

उ० ४ । ११२ । इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यच्, टाप् च । आदरार्थं बहुवचनम् । दीप्यमानायाः । कमनीयायाः । कुमार्याः । **विश्वरूपाणाम्** । सर्वाङ्गसुन्दरीणाम् । **मनः** । चित्तम । **गृभाय** । छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहे लोटि श्नः शायजादेशः । हस्य भः । गृहाण । **ओषधे** । अ० । १ । २३ । १ । हे तापनाशक । ओषधिरूपवर ॥

५—**इयम्** । कमनीया कन्या । **आ+अगन्** । गमेर्लुङि तिपि च्लेर्लुकि । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् । **पतिकामा** । भर्त्तारमिच्छन्ती । **जनिकामः** । जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । इति जन जनने वा जनी प्रादुर्भावे—इण् । जनिवध्योश्च । पा० ७ । ३ । ३५ । इति वृद्धिनिषेधः । जनयति वीरपुत्रान् जायते सुखमनया सा जनिर्जाया । तां कामयमानः । **अहम्** । वरः । **आ+अगमम्** । आगतवानस्मि । **अश्वः** । अ० १ । १६ । ४ । तुरङ्गः । **कनिक्रदत्** । दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । इति क्रन्द आह्वाने यङि शत्रन्तो निपातितः । भृशं हेषां कुर्वन् । **भगेन** । भजनीयेन पत्नीरूपैश्वर्येण । **सह** । सङ्गतः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्; ३, ५ त्रिष्टुप् ।

स्वल्पानपि दोषान्नाशयेत्—छोटे २ भी दोषों का नाश करे ॥

इन्द्रस्य या मही दृषत् क्रिमेर्विश्वस्य तर्हणी ।
तया पिनष्मि सं क्रिमीन् दृषदा खल्वाँ इव ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । या । मही । दृषत् । क्रिमेः । विश्वस्य । तर्हणी ।
तया । पिनष्मि । सम् । क्रिमीन् । दृषदा । खल्वान्-इव ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (या) जो (मही) विशाल [सर्वव्यापिनी विद्यारूप] (दृषत्) शिला (विश्वस्य) प्रत्येक (क्रिमेः) क्रमि (कीड़े) की (तर्हणी) नाश करने वाली है, (तया) उस से (क्रिमीन्) सब क्रमियों को (सम्) यथा नियम (पिनष्मि) पीस डालूं, (इव) जैसे (दृषदा) शिला से (खल्वान्) चनों को [पीसते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी अटूट न्याय व्यवस्था से प्रत्येक दु ाचारी को दंड देता है, इस प्रकार मनुष्य अपने छोटे २ दोषों को नाश करे । क्योंकि छोटे छोटों से ही बड़े बड़े दोष उत्पन्न होकर अन्त में बड़ी हानि पहुंचाते हैं । जैसे कि शिर वा उदर में छोटे २ कीड़े उत्पन्न होकर बड़ी व्याकुलता और रोग के कारण होते हैं ॥ १ ॥

इस सूक्त में क्रमियों के उदाहरण से क्षुद्र दोषों के नाश का उपदेश है ॥

इस सूक्त और आगामी सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सूक्त २३ से कीजिये ॥

१—**इन्द्रस्य** । परमैश्वर्यवतः परमात्मनः । **मही** । मह पूजायाम्-अच् । पिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । मह्यते मही । महती । विशाला । **दृषत्** । दृणातेः पुग्घ्रस्वश्च । उ० १ । १३१ । इति दृ विदारे-अदि प्रत्यये-धातोः पुक् ह्रस्वश्च । दीर्यते यया । शिला । **क्रिमेः** । क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च । उ० ४ । १२२ । इति क्रमु पादविक्षेपे-इन्, कित्, अत इत् । क्रमेः । क्षुद्रजन्तोः कीटस्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **तर्हणी** । तृह हिंसे-करणे ल्युट् । ङीप् । हन्त्री । **पिनष्मि** । पिष्लृ संचूर्णे । संचूर्णयामि । **क्रिमीन्** । कीटान् । **दृषदा** । शिलया । **खल्वान्** । सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति खल संचये-वन् । चणकान्-इति सायणः ॥

दृष्टमदृष्टमतृहमथो कुरूरुमतृहम्। अल्गण्डून्त्सर्वाञ्छलुनान् क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि ॥ २ ॥

दृष्टम्। अदृष्टम्। अतृहम्। अथो इति। कुरूरुम्। अतृहम्। अल्गण्डून्। सर्वान्। शलुनान्। क्रिमीन्। वचसा। जम्भयामसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दृष्टम्) दीखते हुये और (अदृष्टम्) न दीखते हुये [क्रिमिगण] को (अतृहम्) मैं ने नष्ट कर दिया है, (अथो) और भी (कुरूरुम्) भूमि पर रेंगने वाले, वा बुरे प्रकार से सताने वा भिन भिनाने वाले को (अतृहम्) मैंने नष्ट कर दिया है। (सर्वान्) सब (अल्गण्डून्) उपधानों [तकियों] में भरे हुये, (शलुनान्) वेग वेग चलने वाले (क्रिमीन्) कीड़ों को (वचसा) वचन से (जम्भयामसि=०—मः) हम मार डालें ॥ २ ॥

भावार्थ—१, जैसे मनुष्य बड़े और छोटे क्षुद्र जन्तुओं को, जो अशुद्धि, मलिनता आदि से उत्पन्न होकर बड़े २ रोगों के कारण होते हैं, मार डालते हैं, इसी प्रकार अपने छोटे २ दोषों का शीघ्र ही नाश करना चाहिये ॥ २ ॥

२—(वचसा जम्भयामसि) वचन से हम मार डालें। इसका यह अभिप्राय है कि। १—वचन मात्र से अर्थात् शीघ्र ही, २—ओषधि, शौच आदि

२—दृष्टम्। दृष्टिगोचरम्। स्थूलशरीरयुक्तम्। अदृष्टम्। अगोचरम्। सूक्ष्मकायम्। अस्माकं शरीरान्तः स्थितं वा। अतृहम्। तृह हिंसायाम्-छन्दसि लङि च्लेरङ्। नाशितवानस्मि। अथो। अथ+उ। अपि च। कुरूरुम्। कु-रुरुम्। कु शब्दे, आर्त्तस्वरे-डु। कवन्ते शब्दयन्ति प्राणिनो यत्र सा कुः पृथिवी। कुवन्ते आर्त्तस्वरं कुर्वन्ति यस्मात् कु पापम्, कुत्सा। रुशातिभ्यां क्रन्। उ० ४। १०३। इति रुङ् गतौ वधे, वा रु ध्वनौ-कुन्। छान्दसो दीर्घः। कौ भूमौ रवते गच्छतीति कुरुरुः। यद्वा, कुत्सितं रवते हिनस्ति, वा रौति ध्वनयतीति कुरुरुः। भूमिगन्तारम्। कुहिंसकम्। कुत्सितध्वनियुक्तं कीटम्।

के हित उपदेश से, ३—ओ३म् शब्द, गायत्री आदि मन्त्र के जप से, ४—रोचक कथा, लौरी वा गीत आदि के सुनाने से चित्त को शान्ति, और शान्ति से कुरोग और कुवासनाओं का नाश होता है ॥

टिप्पणी—(कुरूरुम्) के स्थान पर सायणभाष्य में [कुरीरम्] और (शलुनान्) के स्थान पर (शल्गान्) है ॥

अ॒ल्ग॒ण्डू॑न् ह॑न्मि मह॒ता व॒धेन॑ दू॒ना अदू॑ना अ॒र॒सा अ॑भूवन् । शि॒ष्टान॑शि॒ष्टान् नि ति॑रामि वा॒चा यथा॒ क्रिमी॑णां नकि॑रु॒च्छिषा॑तै ॥ ३ ॥

अ॒ल्ग॒ण्डू॑न् । ह॒न्मि॒ । म॒ह॒ता । व॒धेन॑ । दू॒नाः । अदू॑नाः । अ॒र॒साः । अ॒भू॒व॒न् । शि॒ष्टान् । अशि॑ष्टान् । नि । ति॒रा॒मि॒ । वा॒चा । यथा॑ । क्रिमी॑णाम् । नकिः॑ । उ॒त्-शिषा॑तै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अलगण्डून्) उपधानों [तकियों में] भरे हुये जन्तुओं को (महता) बड़ी (वधेन) चोट से (हन्मि) मैं मारता हूं। (दूनाः) तपे

अल्गराडून । अल्-गण्डून् । अल पर्याप्तौ-क्विप् । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति गडि कपोलविषयक्रियायाम्-उ । गण्डयते शिरोभागः स्थाप्यतेऽत्रेति गण्डुः । उपधानम् । अलन्ति पर्याप्ता भवन्ति गण्डुषु, उपधानेषु ये तान् । **सर्वान्** । निःशेषान् । **शलुनान्** । कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । इति शल वेगे-उनन् । शीघ्रगतीन् । **क्रिमीन्** । म० १ । कीटान् । **वचसा** । वच कथने-असुन् । वचनेन । कथनेन । वचनमात्रेण, अतिशीघ्रम् । ओषधिशौचादि-हितकथनेन-ओ३म्, गायत्र्यादिजपेन-रोचककथा-निद्रागीतादि वर्णनेन-इत्ये-वमर्थः । **जम्भयामसि** । जभि नाशे, नाशने च । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । जम्भयामः । नाशयामः ॥

३—**अल्गण्डून्** । म० २ । उपधानेषु पूर्णान् । **हन्मि** । नष्टीकरोमि । **महता** । अ० १ । १० । ४ । प्रभूतेन । **वधेन** । हनश्च वधः । पा० ३ । ३ । ७६ । इति हन-अप्, वधादेशः । हननसाधनेन । प्रहारेण । **नाः** । वादिभ्यः ।

हुये और (अदूनाः) विना तपे हुये [पक्के और कच्चे कीड़े] (अरसाः) नीरस [निर्बल] (अभूवन्) हो गये हैं। (शिष्टान्) बचे हुये (अशिष्टान्) दुष्टों को (वाचा) वचन से (नि) नीचे डाल कर (तिरामि) मार डालूं, (यथा) जिस से (क्रिमीणाम्) कीड़ों में से (नकिः) कोई भी न (उच्छिषातै) बचा रहे॥ ३॥

भावार्थ—मन्त्र १, और २ के समान है॥ ३॥

अन्वान्त्र्यं शीर्षण्यं१ मथो पार्ष्टेयं क्रिमीन्।
अवस्कवं व्यध्वरं क्रिमीन् वचसा जम्भयामसि॥ ४॥

अनु-आन्त्र्यम्। शीर्षण्यम्। अथो इति। पार्ष्टेयम्। क्रिमीन्। अवस्कवम्। वि-अध्वरम्। क्रिमीन्। वचसा। जम्भयामसि॥ ४॥

भाषार्थ—(अन्वान्त्र्यम्) आंतों में के (शीर्षण्यम्) शिर पर वा शिर में के (अथो=अथ-उ) और भी (पार्ष्टेयम्) पसलियों में के (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को, (अवस्कवम्) नीचे २ रेंगने वाले [जैसे दद्रु कृमि] और

पा० ८। २। ४४। अत्र वार्त्तिकम्। दुग्वोर्दीर्घश्च। इति दु गतौ-क्त। अथवा। ओदितश्च। पा० ८। २। ४५। इति ओदूङ् खेदे उपतापे-क्त। तस्य नः। खेदिताः। परितप्ताः। **अदूनाः**। अखेदिताः। अतप्ताः। **अरसाः**। शुष्काः। निर्बलाः। **शिष्टान्**। शिष असर्वोपयोगे-क्त। अवशिष्टान्। शेषान्। **अशिष्टान्**। शासु शासने-क्त। शास इदङ्हलोः। पा० ६। ४। ३४। इति इकारः। शासिवसिघसीनाम् च। पा० ८। ३। ६०। इति सस्य षः। शिष्टविरोधिनः। दुष्टान। **नि+तिरामि**। निपूर्वस्तिरतिर्हिंसने। निहन्मि। **वाचा**। वचसा म० २। **क्रिमीणाम्**। कीटानां मध्ये। **नकिः**। न कश्चिदपि। **उच्छिषातै**। शिष्लृ विशेषणे लेटि आडागमः। छन्दसि आत्मनेपदम्। टेरेत्वे कृते। वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ३। ९६। इति ऐत्वम्। उच्छिष्यात॥

४-**अन्वान्त्र्यम्**। अमिजगमिनमिहनिविशयशां वृद्धिश्च। उ० ४। १६०। इति अम गतौ, यद्वा, अति बन्धने—ष्ट्रन्, धातोर्वृद्धिश्च। अन्यते बध्यते देहोऽ-

(व्यध्वरम्) छेद करने वाले वा पीड़ा देने वाले, वा यज्ञ के विरोधी (क्रिमीन्) इन सब कीड़ों को (वचसा) बात मात्र से (जम्भयामसि =०-मः) हम नाश करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ के समान है ॥ ४ ॥

सायणभाष्य में (पार्ष्टेयम्) के स्थान पर [पार्ष्णेयम्] है ॥

ये क्रिम॑यः॒ पर्व॑तेषु॒ वने॒ष्वोष॑धीषु प॒शुष्व॒प्स्व१॒न्तः । ये अ॒स्माकं॑ त॒न्व॑मावि॒वि॒शुः सर्वं॒ तद्ध॑न्मि॒ जनि॑म॒ क्रिमी॑णाम् ॥ ५ ॥

ये । क्रिम॑यः । पर्व॑तेषु । वने॑षु । ओष॑धीषु । प॒शुषु॑ । अ॒प्-सु । अ॒न्तः । ये । अ॒स्माक॑म् । त॒न्व॑म् । आ॒-वि॒वि॒शुः । सर्व॑म् । तत् । ह॒न्मि॒ । जनि॑म । क्रिमी॑णाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (पर्वतेषु) पहाड़ों में, (वनेषु)

नेनेति आन्त्रं देहबन्धको नाड़ीभेदः । शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति भवे यत् । अनुक्रमेण आन्त्रेषु भवम् । शीर्षण्यम् । शरीरावयवाच्च पा० ४ । ३ । ५५ । इति शिरस्-यत् । ये च तद्धिते । पा० ६ । १ । ६१ । इति शीर्षन् आदेशः । शिरसि भवम् । पार्ष्टेयम् । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति पृषु सेके—क्तिच् । इति पृष्टिः—अ० २ । ७ । ५ । ततो ढञ् । आयनेयीनीयियः० । पा० ७ । १ । २ । इति ढस्य एयादेशः । पृष्टिषु पार्श्वावयवेषु भवम् । अवस्कवम् । अव+स्कुञ् आप्लावने "कृदना"—पचाद्यच् । अवागमनस्वभावम् । अन्तरन्तः प्रविश्य वर्त्तमानम् । व्यध्वरम् । १—उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति वि+अध्वन्—अच् प्रत्ययः, प्रादिसमासः । रो मत्वर्थीयः । विरुद्धमार्गयुक्तम् । कुपथगामिनम् । २—स्थेशभासपिसकसो वरच् । पा० ३ । २ । १७५ । इति व्यध ताड़ने—वरच् । चितः पा० ६ । १ । १६३ । इति चिति प्रत्यये अन्त उदात्तः । व्याधम् । ताड़कम् । पीडकम् । अथवा । ३-ध्वरति =हन्ति—निघ० २ । १७ । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति घ । वि विरोधे+अध्वरा, अहिंसा । अहिंसाविरोधिनम् । हिंसावर्धकम् । शरीरमांसभक्षकम् । अयं शब्दः सर्वत्रान्तोदात्तः । अन्यद् व्याख्यातं म० २ ॥

५—क्रिमयः । म० १ । क्षुद्रजन्तवः । पर्वतेषु । भृमृदृशियजिपर्वि० ।

बनों में, (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में, (पशुषु) गौ आदि पशुओं में और (अप्सु) जल में (अन्तः) भीतर हैं। और (ये) जो (अस्माकम्) हमारे (तन्वम्) शरीर में (आविविशुः) प्रविष्ट हो गये हैं, (क्रिमीणाम्) कमियों के (तत्) उस (सर्वम्) सब (जनिम) जन्म को (हन्मि) मैं नाश करूं ॥५॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब स्थानों, सब वस्तुओं और अपने शरीरों को शुद्ध रक्खें कि छोटे बड़े कोई जन्तु क्लेश न देवें, ऐसे ही सब पुरुष आत्म शुद्धि करके अपने भीतरी बाहिरी, छोटे बड़े दोषों को मिटाकर आनन्द से रहें ॥ ५ ॥

सायणभाष्य में (ये) स्थान में [ते] और (तन्वम्) के स्थान में [तन्वः] है ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३२ ॥

१—६ ॥ आदित्यो देवता । १ गायत्री, २—६ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रिमितुल्यान् दोषान् नाशयेत्, इत्युपदेशः—कीड़ों के समान दोषों का नाश करे, इस का उपदेश ॥

उ॒द्यन्ना॑दि॒त्यः क्रिमी॑न् हन्तु नि॒म्रोच॑न् हन्तु र॒श्मिभिः॑ ।
ये अ॒न्तः क्रिम॑यो॒ गवि॑ ॥ १ ॥

उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे-अतच् । पर्वति पूरयति भूमिमिति । शैलेषु । **वनेषु** । पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति वन सम्भक्तौ-घः वन्यते सेव्यते वृक्षैः । बहुवृक्षयुक्तस्थानेषु । अरण्येषु । **ओषधीषु । पशुषु । अप्सु । अन्तः** । व्याख्यातानि—अ० १ । ३० । ३ । **ओषधीषु** । धान्यादिषु । **पशुषु** । गवादिषु । सर्वजीवेषु । **अप्सु** । जलेषु । **अन्तः** । मध्ये । **तन्वम्** । अ० १ । १ । १ । शरीरम् । **आ-विविशुः** । विश प्रवेशे-लिट् । प्रविष्टाः । **सर्वम्** । प्रत्येकम् । **तत्** । पूर्वोक्तम् । **हन्मि** । नाशयामि । **जनिम** । अ० १ । ८ । ४ । उत्पत्तिकारणम् । **क्रिमीणाम्** । कृमीणाम् । कीटानाम् ॥

उत्-यन् । आदित्यः । क्रिमीन् । हन्तु । नि-म्रोचन् । हन्तु । रश्मि-भिः । ये । अन्तः । क्रिमयः । गवि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उद्यन्) उदय होता हुआ (आदित्यः) प्रकाशमान सूर्य (क्रिमीन्) उन कीड़ों को (हन्तु) मारे, और (निम्रोचन्) अस्त हुआ [भी सूर्य] (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (हन्तु) मारे, (ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (गवि) पृथिवी में (अन्तः) भीतर हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—१-प्रातःकाल और सायंकाल में सूर्य की कोमल किरणों और शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु के सेवन से शारीरिक रोग के कीड़ों का नाश होकर मन हृष्ट और शरीर पुष्ट होता है ॥ १ ॥

२—उदय और अस्त होते हुये सूर्य के समान मनुष्य बालपन से बुढ़ापे तक अपने दोषों का नाश करके सदा प्रसन्न रहे ।

टिप्पणी । इस सूक्त और ३३वें सूक्त का मिलान अथर्व० का० ५ सू० २३ । से करें ॥

विश्वरूपं चतुरक्षं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।
शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ २ ॥

१-उद्यन् । उत्+इण् गतौ—शतृ । उदयं प्राप्नुवन् । आदित्यः । अ० १ । ६ । १ । आङ्+दीपी दीप्तौ—यक्प्रत्ययान्तो निपातितः । आदीप्यमानः सूर्यः । क्रिमीन् । अ० २ । ३१ । १ । क्षुद्रजन्तून् । हन्तु । नाशयतु । निम्रोचन् । नि+म्रुचु गतौ—शतृ । अस्तं गच्छन् । रश्मिभिः । अश्नोतेरश च । उ० ४ । ४६ । इति अशू व्याप्तौ—मि, धातो रशादेशश्च । किरणैः । अन्तः । मध्ये । क्रिमयः । क्रमणशीलाः क्षुद्रजन्तवः । गवि । गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ-डो । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति गातेर्वौकारो नामकरणः-निरु० २ । ५ । पृथिव्याम् इन्द्रिये वा ॥

विश्व-रूपम् । चतुः-अक्षम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् ।
शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥२॥

भषार्थ—(विश्वरूपम्) नाना आकार वाले (चतुरक्षम्) [चार दिशाओं में] नेत्र वाले, (सारङ्गम्) रींगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) संचय शील [वा श्वेत वर्ण] (क्रिमिम्) कीड़े को (शृणामि) मैं मारता हूं, (अस्य) इस की (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, और (यत्) जो (शिरः) शिर है [उस को भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—पृथिवी और अन्तरिक्ष के नाना आकार और नाना वर्ण वाले मकड़ी मांखी आदि क्षुद्र जन्तुओं को शुद्धि आदि द्वारा पृथक् रखने से शरीर स्वस्थ रहता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों की निवृत्ति से आत्मिक शान्ति होती है ॥ २ ॥

टिप्पणी—(चतुरक्ष) चार आंख वाला—ऐसा प्रयोग वेद में अन्यत्र भी आया है, वहां भी चारों दिशाओं का ही ग्रहण है ।

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्चतुरक्ष्याः ॥ १ ॥

अथर्ववेद ४ । २० । ७ । [और ऋ० १० । १४ । १०, ११ भी देखिये ।] तू (कश्यपस्य) सूर्य की और (चतुरक्ष्याः) चार आंख वाली (शुन्याः) व्याप्ति वाली दिशा की (चक्षुः) आंख है ॥

अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्वज्जमदग्निवत् ।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन् ॥ ३ ॥

विश्वरूपम् । नानाकारम् । चतुरक्षम् । बहुव्रीहौ । सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । चतुर्नेत्रम् । चतुर्दिक्षु नेत्रयुक्तम् । सारङ्गम् । सृवृभ्योर्वृद्धिश्च । उ० १ । १२२ । इति सृ गतौ—अङ्गच्, धातोर्वृद्धिश्च । सरणशीलम् । शबलवर्णम् । अर्जुनम् । अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज सम्पादने—उनन् । संचयशीलम् । श्वेतवर्णम् । शृणामि । शॄ हिंसायाम् । हन्मि । पृष्टीः । अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वस्थीनि । वृश्चामि । छिनद्मि । शिरः । अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् ॥

अत्रि-वत् । वः । क्रिमयः । हन्मि । कण्व-वत् । जमदग्नि-वत् । अगस्त्यस्य । ब्रह्मणा । सम् । पिनष्मि । अहम् । क्रिमीन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(क्रिमयः) हे कीड़ो ! (वः) तुम को (अत्रिवत्) दोष भक्षक, वा गतिशील, मुनि के समान (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूं। (अगस्त्यस्य) कुटिल गति पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों को (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूं ॥ ३ ४

भावार्थ—मनुष्य को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेद ज्ञान प्राप्त करके पाप का नाश करना चाहिये ॥ ३ ॥

मन्त्र ३-५ अथर्ववेद का० ५ सू० २३ मन्त्र १०—१२ में भी हैं ॥

३—अत्रिवत् । अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६७ । इति अद भक्षणे अत सातत्यगमने वा-त्रिप् । अत्ति दोषान् भक्षयति नाशयतीति अततीति वा अत्रिः । मुनिः । अथवा । रसान् अत्तीति सूर्यः । तत्सदृशः । वः । युष्मान् । क्रिमयः । हे क्षुद्रजन्तवः । हन्मि । नाशयामि । कण्ववत् अ० २ । २५ । ३ । अशूप्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । इति कण शब्दे, निमीलने-क्वन् । कणति उपदेशशब्दं करोति, कण्यते स्तूयते वा । निमीलयति परान् वा स्वतेजसा । मेधाविवत्-निघ० ३ । १५ । जमदग्निवत् । जमु भक्षणे, दीप्तौ च-शतृ, + अग्नि-वतुप् । जमदग्नयः प्रजमिताग्नयो वा प्रज्वलिताग्नयो वा-निरु० ७ । २४ । जमन् हुतभक्षणशीलः, अथवा, प्रज्वलितो अग्निरिव तेजो येषां ते जमदग्नयः । तत्सदृशः । अगस्त्यस्य । अग वक्रगतौ-अच् ततः । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अग + असु क्षेपणे-भावे तिप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । इति यत् । पृषोदरादित्वाद् दीर्घाभावः । अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने समर्थस्य परमेश्वरस्य । ब्रह्मणा । अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । सम्+पिनष्मि । अ० २ । ३१ । १ । संचूर्णयामि । अन्यद् गतम् ॥

हतो राजा क्रिमीणामुतैषां स्थपतिर्हतः ।
हतो हतमाता क्रिमिर्हतभ्राता हतस्वसा ॥ ४ ॥

हतः । राजा । क्रिमीणाम् । उत । एषाम् । स्थपतिः । हतः ।
हतः । हत-माता । क्रिमिः । हत-भ्राता । हत-स्वसा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा (हतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वार पाल (हतः) नष्ट होवे। (हतमाता) जिस की माता नष्ट हो चुकी है, (हतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है और (हतस्वसा) जिस की बहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हतः) मारडाला जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दोषों और उन के कारणों को उचित प्रकार के समझकर नष्ट करे, जैसे वैद्य दोषों के प्रधान और गौण कारणों को समझ कर रोग निवृत्ति करता है ॥ ४ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः ॥
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥५॥

४—हतः । नाशितः । राजा । अ० १ । १० । १ । अधिपतिः । उत । अपि च । एषाम् । उपस्थितानाम् । स्थपतिः । ष्ठा-कः । स्थः स्थानम् । अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । इति पा रक्षणे-अति । अथवा, णयन्तस्य स्था धातोः पुकि-अति प्रत्यये ह्रस्वः । स्थं स्थानं पाति, अथवा पुरुषान् स्थापयतीति स्थपतिः कञ्चुकी, द्वारपालः । हतमाता । हता माता यस्य । नद्यृतश्च । पा० ५ । ४ । १५३ । इति बहुव्रीहौ नित्यं प्राप्तस्य कपः । ऋतश्छन्दसि पा० ५ । ४ । १५८ । इति प्रतिषेधः । नष्टमातृकः । हतभ्राता । पूर्ववत् कपः प्रतिषेधः । नष्टभ्रातृकः । हतस्वसा । पूर्ववत् सिद्धिः । हतस्वसृकः । नष्टभगिनीकः । अन्यद् गतम् ॥

हुतासः । अस्य । वेशसः । हुतासः । परि-वेशसः । अथो इति ये । क्षुल्लकाः-इव । सर्वे । ते । क्रिमयः । हुताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [क्रिमी] के (वेशसः) मुख्य सेवक (हतासः = हताः) नष्ट हों, और (परिवेशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों । (अथो = अथ-उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) वहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं, (ते) वे (सर्वे) (क्रिमयः) कीड़े (हताः) नष्ट हों ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उन की सामग्री का सर्वनाश करदे, जैसे रोग जनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥ ५ ॥

प्र ते शृणामि शृङ्गे याभ्यां वितुदायसि ।
भिनद्मि ते कुषुम्भं यस्ते विषधानः ॥ ६ ॥

प्र । ते । शृणामि । शृङ्गे इति । याभ्याम् । वि-तुदायसि । भिनद्मि । ते । कुषुम्भम् । यः । ते । विष-धानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (शृङ्गे) दो सींगों को (प्र+शृणामि) मैं तोड़े डालता हूं, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वितुदायसि) तू सब ओर टक्कर मारता है । (ते) तेरे (कुषुम्भम्) जल पात्र को (भिनद्मि) तोड़ता हूं (यः) जो (ते) तेरे (विषधानः) विष की थैली है ॥ ६ ॥

५—हतासः । असुक् आगमः । हताः । वेशसः । मिथुनेऽसि । उ० ४ । २२३ । इति बाहुलकाद् अमिथुनेऽपि । विश-असि प्रत्ययः । प्रवेशकाः । मुख्यसेवकाः । परिवेशसः । परितः स्थिताः । अनुचराः । अथो । अपि च क्षुल्लकाः । क्षुद्+लकाः । क्षुदिर संपेषणे-क्विप्+लक आस्वादे, प्राप्तौ-अच् । तोर्लि । पा० ८ । ४ । ६० । इति परसवर्णः । क्षुदं क्षुद्रत्वं लाकयन्ति प्राप्नुवन्ति ते क्षुल्लकाः । सूक्ष्माकाराः क्षुद्रजन्तवः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

६—ते । तव । शृणामि । भिनद्मि । शृंगे । शृणाते र्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । इति शॄ हिंसायाम्-गन्, धातो र्ह्रस्वत्वं कित्वं नुट् च प्रत्ययस्य । शृङ्गं श्रय-

भावार्थ—जैसे दुष्ट वृषभ अपने सींगों से अन्य जीवों को सताता है, इसी प्रकार जो क्षुद्र क्रिमियों के समान आत्मदोष दिन रात कष्ट देते हैं, उन को और उनके कारणों को खोजकर नष्ट करना चाहिये ॥ ६ ॥

(कुषभ्भम्) के स्थान पर सायण भाष्य में (पुरूम्भम्) पद है।

सूक्तम् ३३ ॥

१-७ ॥ आत्मा देवता । १-६ अनुष्टुप् , ७ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षा-शारीरिक विषय में शरीररक्षा ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि ।
यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥१॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि । यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नथुनों से (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात्=चुबुकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः)

तेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा-निरु० २।७। श्रृङ्गे विषाणे। वि-तुदायसि । तुद व्यथने-शस्य शायजादेशः। विशेषेण तुदसि । व्यथयसे । भिनद्मि । भिदिर् विदारणे । विदारयामि । कुषुम्भम् । कुसेरुम्भोमेदेताः । उ० ४ । १०६। इति कुष निष्कर्षे, वा, कुस श्लेषे-उम्भ प्रत्ययः । सकारषकारयोरेकत्वम् । कुसुम्भः=कमण्डलुः, जलपात्रम् । शरीरे जलनाडीविशेषम् । विषधानः । करणाधिकरणयोश्च । पा० ३ । ३ । ११७ । इति विष+डुधाञ् धारणपोषणयोः—अधिकरणे ल्युट् । विषं धीयतेऽत्र । विषस्थानम् ।

१—अक्षीभ्याम् । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति अक्षि शब्दस्य ईकारादेशः । स चोदात्तः । चक्षुर्भ्याम् । ते । तव । नासिकाभ्याम् ।

जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [छयी] रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—१,—इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है। जैसे सद्वैद्य उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥ १ ॥

२—सायणभाष्य में (छुबुकात्) के स्थान में (चुबकात्) है, और ऋग्वेद में भी (छुबुकात्) पाठ है।

३—इस सूक्त के ७ मन्त्रों के स्थान में ऋग्वेद म० १० सू० १६३ में ६ मन्त्र हैं। मन्त्र ३ का पहिला आधा (हृदयात् ते परि...) और म० ४ का दूसरा आधा (यक्ष्मं कुक्षिभ्यां...) ऋग्वेद में नहीं हैं, शेष मन्त्र कुछ भेद से हैं। ऋग्वेद में इस सूक्त के ऋषि विवृहा काश्यप हैं ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं१ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥२॥

ण्वुल् तृचौ। पा० ३। १। १३३। इति णास शब्दे-ण्वुल्। टापि अत इत्वम्। घ्राणछिद्राभ्याम्। **कर्णाभ्याम्**। कृवृजॄसि०। उ० ३। १०। इति कॄ शविक्षेपे-नन्। कीर्यते विक्षिप्यते शब्दो वायुना यत्र। श्रवणाभ्याम्। **छुबुकात्**। चलेरूकः। उ० ४। ४०। इति ओछुप स्पर्शे-उक प्रत्ययो वाहुलकात्, पस्य च बः। ओष्ठाधोभागात्। चिबुकात्। **अधि**। पञ्चम्यर्थानुयायी। सर्वथा। **यक्ष्मम्**। अ० २। १०। ५। राजरोगम्। क्षयरोगम्। **शीर्षण्यम्**। शरीरावयवाच्च। पा० ४। ३। १४२। इति शिरस्-यत्। ये च तद्धिते। पा० ६। १। ६१। इति शिरसः शीर्षन् आदेशः। ये चाभावकर्मणोः। पा० ६। ४। १६८। इति प्रकृतिभावः। शिरसि भवम्। **मस्तिष्कात्**। मस्त+इष गतौ-क, पृषोदरादित्वात् साधुः। मस्तं मस्तकम् इष्यति स्वाधारत्वेन प्राप्नोतीति। मस्तकभवघृताकारस्नेहम्। मस्तकस्नेहम्। **जिह्वायाः**। अ० १। १०। ३। रसनायाः सकाशात्। **वि+वृहामि** – वृह उद्यमने – उद्धरामि। पृथक्करोमि ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् । यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहु-भ्याम् । वि । वृहामि । ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हँसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (अंसाभ्याम्) दोनों कन्धों से, और (ते) तेरे (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से, (दोषण्यम्) भुड्ढे वा बक्खे के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ग्रीवा के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ म० १ के समान है ॥ २ ॥

२—ग्रीवाभ्यः । शेवायह्वाजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः । उ० १ । १५४ । इति गॄ निगरणे-वन् धातोर्ग्रीभावः, टाप् । निगलति यया । कन्धरावयवेभ्यः । उष्णिहाभ्याम् । ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगंचुयुजिक्रुञ्चां च,। पा० ३। २। ५६। इति उत्+ष्णिह प्रीतौ, स्नेहने-क्विन्, तलोपः षत्वं च, टाप् । उष्णिगेव उष्णिहा। उष्णिगुत्स्नाता भवति स्निह्यतेर्वा स्यात् कान्तिकर्मणः । निरु० । ७। १२। ऊर्ध्वं स्निग्धाभ्यः, रक्तादिना उत्स्नाताभ्यो वा नाडीभ्यः। कीकसाभ्यः। अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । इति ककि गतौ-असच्, धातोः कीकादेशः । यद्वा । की कुत्सितेन रक्तादिना देहाभ्यन्तरे कसति उत्पद्यते । की+कस गतौ-अच्, टाप् । जत्रुवक्षोगतास्थिभ्यः । अनूक्यात् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति अनु+उच समवाये अधिकरणे ण्यत् । न्यङ्क्वादीनां च । पा० ७। ३। ५३। इति कुत्वम् । तित् स्वरितम् । पा० ६। १। ८५। इति स्वरितः। अनुक्रमेण उच्यन्ति समवयन्ति अस्थीनि यत्र । पृष्ठास्थिसकाशात्। यक्ष्मम् । अ० २। १०। ५। राजरोगम् । क्षयरोगम । दोषण्यम् । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ ११० । इति दोस्-यत् । पद्न्नः० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोषन् आदेशः दोष्णोः, भुजदण्डयोर्भवम् । अंसाभ्याम् । अमेः सन्। उ० ५ । २१ । इति। अम गतौ-सन् । स्कन्धाभ्याम् । बाहुभ्याम् । अ० २ । २७ । ३ । भुजाभ्याम् वि+वृहामि । म० १ । उन्मूलयामि ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम्।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥३॥

हृदयात्। ते। परि। क्लोम्नः। हलीक्ष्णात्। पार्श्वभ्याम्।
यक्ष्मम्। मतस्नाभ्याम्। प्लीह्नः। यक्नः। ते। वि। वृहामसि ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेंफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्ते से, (पार्श्वाभ्याम् परि) दोनों कांखों [कक्षाओं वा बग़लों] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुर्दों] से, (प्लीह्नः) प्लीहा, वा पिलई [तिल्ली] से, और (यक्नः) यकृत् [काल खण्ड वा जिगर] से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामसि=०—मः) हम उखाड़े देते हैं ॥३॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ३॥

३—**हृदयात्**। अ० २। २६। ६। वक्षःस्थमांसपिण्डात्। हृदयलक्षणं, यथा। शोणितकफप्रसादजं हृदयं तदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः। तस्याधो-वामतः प्लीहा फुस्फुसश्च दक्षिणतो यकृत् क्लोम च। इति शब्दकल्पद्रुमे सुश्रुतात्। **क्लोम्नः**। क्लुङ् गतौ मनिन्। फुप्फुसात्। बाह्वोर्द्वयोर्मध्ये वक्षः, तन्मध्ये हृदय तत्पार्श्वे क्लोम पिपासास्थानम्। इति श० क० द्रुमे। **हलीक्ष्णात्**। अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः। इति हल विलेखे-ई। क्षणु तेजने-ड। हलीं विलेखं क्षणोति तेजयति। मांसपिण्डविशेषात् पित्तात्। **पार्श्वभ्याम्**। स्पृशेः श्वणशुनौ पृ च। उ० ५। २७। इति स्पृश-श्वण् पृ आदेशश्च। कक्षयोरधोभागाभ्याम्। **मतस्नाभ्याम्**। मत+ष्णिह स्नेहने-ड। मतं ज्ञानं स्नेहयतीति मतस्नम्। उभयपार्श्वसंबन्धाभ्यां वृक्याभ्यां तत्समीपस्थपित्ताधारपात्राभ्यां वा-इति सायणः। ग्रीवाधस्ताद् भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी मतस्ने ताभ्याम् इति महीधरः, शुक्लयजु० २५। ८। **प्लीह्नः**। श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्०। उ० १। १५६। इति प्लिहङ् गतौ-कनिन्। कुक्षिवामपार्श्वस्थमांसखण्डात्। **यक्नः**। शकेर्ऋतिन्। उ० ४। ५८। इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-ऋतिन्। जस्य कः। यजति संगच्छते यकृत्। पद्दन्नो०। पा० ६। १। ६३ इति यकन् आदेशः। कुक्षेर्दक्षिणभागस्थमांसखण्डात्। कालखण्डात्। अन्यद् गतम् ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ ४ ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ।
यक्ष्मम् । कुक्षि-भ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते ॥४॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [भीतरी मलस्थान] से, (उदरात् अधि) उदर में से. और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) कोख में की थैली से, और (नाभ्याः) नाभि से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ४ ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् ।
यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ ५ ॥

४—आन्त्रेभ्यः । अ० १ । ३ । ६ । अस्तिजगमिनमि० । उ० ४ । १६० । इति अति बन्धने-ष्ट्रन् । उदरनाड़ीविशेषेभ्यः । पुरीतद्भ्यः । गुदाभ्यः । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति गुद खेलने-क । टाप् । गोदते खेलति चलति अपानवायुर्यया । मलत्यागनाड़ीभ्यः । वनिष्ठोः । वन संभक्तौ—औणादिक इष्ठुप् प्रत्ययः । स्थूलान्त्रात् । उदरात् । उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उ० ५ । १६ । इति उद् + दृ विदारे-अच् । उपसर्गस्य दलोपः । नाभिस्तनयोर्मध्यभागात् । जठरात् । कुक्षिभ्याम् । प्लुषिकुषिशुषिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । इति कुष निष्कर्षे-क्सि । दक्षिणोत्तरोदरभागाभ्याम् । प्लाशेः । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति प्र + अश व्याप्तौ-इञ्, रस्य लः । बहुच्छिद्रात् मलपात्रात्-इति सायणः [Mesentery-*Griffith.*] । शिश्नात्, यथा महीधरः-यजु० १६ । ८७ । कुक्षिस्थनाडीविशेषात् । नाभ्याः । अ० १ । १३ । ३ । उदरावर्तात् । नाभिमण्डलात् । अन्यद् गतम् ॥

ऊरु-भ्याम् । ते । अष्ठीवत्-भ्याम् । पार्ष्णि-भ्याम् । प्र-पदा-भ्याम् । यक्ष्मम् । भसद्यम् । श्रोणि-भ्याम् । भासदम् । भंससः । वि । वृहामि । ते ॥ ५॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से, (पार्ष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से, (प्रपदाभ्याम्) दोनों पैरों के पंजों से और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से [वा नितम्बों से] और (भंससः) गुह्य स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासदम्) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कटि से नीचे के अवयवों का वर्णन है। भावार्थ मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

अस्थिभ्यस्ते मुज्जभ्यः स्नावभ्यो धुमनिभ्यः ।
यक्ष्मं पाणिभ्यामुङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥६॥

५-ऊरुभ्याम् । ऊर्णोतेर्नुलोपश्च । उ० १ । ३० । इति ऊर्णु आच्छादने-कु, नुलोपश्च । जानूपरिभागाभ्याम् । जङ्घाभ्याम् । अष्ठीवद्भ्याम् । आसन्दी-वदष्ठीवच्चक्रीवत्० । पा० ८ । २ । १२ । इति अस्थि-मतुप्, अष्ठीभावो निपात्यते । जानुभ्याम् । पार्ष्णिभ्याम् । घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । इति पृषु सेके—नि, निपातनात् साधुः । पृष्यते भूम्यादिकमनेनेति । गुल्-फस्याधोभागाभ्याम् । पादग्रन्थ्यधराभ्याम् । प्रपदाभ्याम् । प्रारब्धं प्रगतं वा पदमिति प्रादि समासः । पादाग्रभागाभ्याम् । भसद्यम् । शृदृभसोऽदिः । उ० १ । १३० । इति भस दीप्तौ—अदि, यत् । भसत्=जघनं योनिर्वा—श० क० द्रुमे । कटिप्रदेशे भवम् । श्रोणिभ्याम् । वहिश्रिश्रुयु० । उ० ४ । ५१ । इति श्रु गतौ, श्रुतौ—नि । यद्वा, श्रोण संघाते—इन् । कटिभ्याम् । नितम्बाभ्याम् । भासदम् । भसद्—अण् । भसदि, योनौ भवम् । भंससः । भस दीप्तौ—असुन्, नुट् च । भासमानात् पायोः, गुह्यस्थानात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अस्थि-भ्यः । ते । मज्ज-भ्यः । स्नाव-भ्यः । धमनि-भ्यः । यक्ष्मम् । पाणि-भ्याम् । अङ्गुलि-भ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि । ते ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [अस्थि के भीतर के रस] से (स्नावभ्यः) पुट्ठों से और (धमनिभ्यः) नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अंगुलियों से, और (नखेभ्यः) नखों से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ आदि बाहिरी अंगों को यथा योग्य आहार, विहार से पुष्ट और स्वस्थ रक्खें, जिस से आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि । यक्ष्मं त्वचस्यं ते व॒यं क॒श्यप॑स्य वीब॒र्हेण॒ विष्व॑ञ्चं॒ वि वृ॑हामसि ॥७॥

६-अस्थिभ्यः । अ० १ । २३ । ४ । असु क्षेपणे—क्थिन् । शरीरस्थ-धातुविशेषेभ्यः । मज्जभ्यः । अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहेभ्यः । स्नावभ्यः । स्नामदिपद्यर्त्ति० । उ० ४ । ११३ । इति ष्णा शोधने—वनिप् । वायु-वाहिनी नाड़ीभ्यः । सूक्ष्मशिराभ्यः । धमनिभ्यः । अर्त्तिसृधृधम्यम्य० । उ० २ । १०२ । इति धम प्रापणे—अनि सौत्रो धातुः । धमतिः, गतिकर्मा निघ० २ । १४ । यद्वा ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः—अनि । धमति प्रापयति रसादिकमिति धमनिः । स्थूलनाड़ीभ्यः । पाणिभ्याम् । अशिपणाय्योरुडायलुकौ च । उ० ४ । १३३ । इति पणङ् व्यवहारे—इण्, आयलुक् च । हस्ताभ्याम् । अङ्गुलिभ्यः । अङ्ग चिह्नयुक्तकरणे—उलिच् । अङ्गुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्र-गालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः—निरु० ३ । ८ । हस्तपदप्रसिद्धावयवेभ्यः । नखेभ्यः । नहेर्हलोपश्च । उ० ५ । २३ । इति णह बन्धने-ख, हस्य लोपः । नह्यति रुधिरादिकम् । अङ्गुलीकण्टकेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

अङ्गे-अङ्गे। लोम्नि-लोम्नि। यः। ते। पर्वणि-पर्वणि। यक्ष्मम्। त्वचस्यम्। ते। वयम्। कश्यपस्य। वि-बर्हेण। विष्वञ्चम्। वि। वृहामसि ॥ ७॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गे-अङ्गे) अंग अंग में, (लोम्नि-लोम्नि) रोम रोम में (पर्वणि-पर्वणि) गांठ गांठ में है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में व्यापक (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञान दृष्टि वाले विद्वान् के (विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥ ७॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है। जिस प्रकार सद्वैद्य निदान पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग को नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटा कर प्रसन्नचित्त होता है ॥ ७॥

७—**अङ्गे-अङ्गे**। अ० १।१२।२। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति सर्वत्र द्विर्वचनम्। सर्वावयवेषु। **लोम्नि-लोम्नि**। नामन् सीमन्व्योमन्-रोमन्लोमन्० । उ० ४। १५१। इति लूञ् छेदे-मनिन् प्रत्ययान्तः साधुः। लूयते छिद्यते शरीरं येन। सर्वेषु रोमकूपेषु। **पर्वणि-पर्वणि**। अ० २। ६। १। सर्वेषु शरीरसन्धिषु। **त्वचस्यम्**। त्वच संवरणे-असुन्, यत्। यचि भम्। पा० १। ४। १८। इति रुत्वाभावः। त्वचि भवम्। **कश्यपस्य**। अ० १। १४। ४। सोमरसपानशीलस्य। यद्वा। कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन्। उ० ५। ३५। इति दृशिर् प्रेक्षणे-वुन्। पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्दृश्यर्ति०। पा० ७। ३। ७८। इति छन्दसि अशिति प्रत्ययेऽपि, दृशेः पश्य इत्यादेशः, आद्यन्ताक्षरविपर्ययेण सिद्धिः कश्यपस्य पश्यकस्य द्रष्टुर्ज्ञानिनः पुरुषस्य। यथा। "कश्यपः कस्मात् पश्यको भवतीति निरुक्त्या पश्यतीति पश्यः सर्वज्ञतया सकलं जगद् विजानाति स पश्यः पश्य एव निर्भ्रमतयातिसूक्ष्ममपि वस्तु यथार्थं जानात्येवातःपश्यक इति। आद्यन्ताक्षरविपर्य्याद्धिंसः सिंहः कृतेस्तर्कुरित्यादिवत् कश्यप इति हयवरट् इत्येतस्योपरि महाभाष्यप्रमाणेन पदं सिध्यति"—इतिश्रीदयानन्दकृतायां ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकायाम्, पृष्ठे २६१ तमे। **विबर्हेण**। वृहि वृद्धौ, शब्दे, वृह उद्यमे-ल्युट्, उपसर्गस्य दीर्घः। विविधोद्यमेन। **विष्वञ्चम्**। विष व्याप्तौ-कु+अञ्चु गतौ-क्विन्। नानाङ्गव्यापकम्। अन्यद् गतम् ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—५ ॥ पशुपतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

बन्धात् मोक्षायोपदेशः—बन्ध से मुक्ति के लिये उपदेशः ।

य ईशे॑ पशु॒पतिः॑ पशू॒नां चतु॑ष्पदामु॒त यो द्वि॒पदा॑म् । निष्क्री॑तः॒ स य॒ज्ञियं॑ भा॒गमे॑तु रा॒यस्पोषा॒ यज॑मानं सचन्ताम् ॥ १ ॥

यः । ईशे॑ । प॒शु-पतिः॑ । प॒शू॒नाम् । चतुः॑-पदाम् । उ॒त । यः । द्वि-पदा॑म् । निः-क्री॑तः । सः । य॒ज्ञियम् । भा॒गम् । ए॒तु । रा॒यः । पोषाः॑ । यज॑मानम् । स॒च॒न्ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (पशुपतिः) पशुओं [जीवों] का स्वामी परमेश्वर (चतुष्पदाम्) चौपाये, (उत) और (यः) जो (द्विपदाम्) दो पाये (पशूनाम्) जीवों का (ईशे=इष्टे) राजा है । (सः) वह परमेश्वर (निष्क्रीतः) अनुकूल हो

१—ईशे । ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । ईष्टे । ईश्वरः स्वामी वर्तते । **पशुपतिः** । अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० १ । २७ । इति दृशिर् प्रेक्षे—कु । पातेर्डतिः । उ० ४ । इति पा रक्षणे—डति । पशूनां दृष्टिवतां दृष्टानां वा स्थावरजङ्गमनानां जीवानां पाता रक्षिता परमेश्वरः । **पशूनाम्** । अ० १ । २५ । २ । जीवानाम् । **चतुष्पदाम्** । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । २ । १४० । इति बहुव्रीहेः पादशब्दान्तस्य लोपः । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । इति पाद् इत्यस्य पदादेशो भसंज्ञायाम् । गवादीनाम् । **उत** । अपि च । **द्विपदाम्** । पूर्ववत् सिद्धिः । मनुष्यादीनाम् । **निष्क्रीतः** । निः नितराम्+क्रीञ् मूल्यदानेन द्रव्यग्रहणे—क्त । प्रार्थनादिना अनुकूलीकृतः । **यज्ञियम्** । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । पूजाकर्मार्हम् । **भागम्** । भज भागसेवयोः—घञ् । अंशम् । भजनम् । **एतु** । गच्छतु । प्राप्नोतु । **रायः** । रातेर्डैः । उ० २ । ६६ ।

कर (यज्ञियम्) हमारे पूजा योग्य (भागम्) भजन वा अंश को (एतु) प्राप्त करे। (रायः) धन की (पोषाः) वृद्धियां (यजमानम्) पूजनीय कर्म करने वाले को (सचन्ताम्) सींचती रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब मनुष्यादि दोपाये, और गौ आदि चौपाये और और सब संसार का स्वामी है, वह मनुष्यों के धर्मानुकूल चलने से उन का (निष्क्रीतः) मोल लिया हुआ अर्थात् उन का इच्छा वर्ती होकर उन को सब प्रकार का आनन्द देता है ॥ १ ॥

प्रमुञ्चन्तो भुवनस्य रेतो गातुं धत्त यजमानाय देवाः। उपाकृतं शशमानं यदस्थात् प्रियं देवानामप्येतु पाथः ॥ २ ॥

प्र-मुञ्चन्तः। भुवनस्य। रेतः। गातुम्। धत्त। यजमानाय। देवाः। उप-आकृतम्। शशमानम्। यत्। अस्थात्। प्रियम्। देवानाम्। अपि। एतु। पाथः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् महात्माओ! (भुवनस्य) संसार के (रेतः) बीज [वृद्धि सामर्थ्य] का (प्रमुञ्चन्तः) दान करते हुये तुम, [यजमानाय) पूजनीय कर्म करने वाले पुरुष को (गातुम्) मार्ग (धत्त) दान करो, (यत्) जो (शशमानम्) उछल कर प्राप्त होता हुआ (उपाकृतम्) समीप

इति रा दाने ग्रहणे च-डै। धनस्य। स्वर्णस्य। **पोषाः** । पुष पुष्टौ धृतौ च-घञ्। समृद्धयः। षष्ठ्याः पतिपुत्र०। पा० ८। ३। ५३। इति (रायस्पोषाः) अत्र सत्वम्। **यजमानम्**। यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-शानच्। यष्टारम्। याजकम। **सचन्ताम्**। षचङ् सेचने-लोट्। सिञ्चन्तु ॥

२—**प्रमुञ्चन्तः**। प्रपूर्वकात् मुच दाने—शतृ। विसृजन्तः। प्रयच्छन्तः। **भुवनस्य**। अ० २। १। ३। संसारस्य। **रेतः**। अ० २। २८। ५। बीजम्। वृद्धिसामर्थ्यम्। **गातुम्**। कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च। उ० १। ७३। इति गाङ् गतौ-तु। गाते गच्छति येन। मार्गम्। **धत्त**। यूयं दत्त। **यजमा-**

लाया गया (पाथः) रक्षा साधन अन्नादि (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियम्) प्रिय [हितकारक] (अस्थात्) स्थित हुआ है, [वह हमें] (अपि) अवश्य (एतु) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—*विद्वान् महात्मा लोग वेद द्वारा संसार की सृष्टि और स्थिति* का कारण विचार कर सब को सत्य मार्ग का उपदेश करें जिस से मनुष्य ईश्वर कृत रक्षा साधन, ज्ञान, खान पान आदि पदार्थों का [जो सब को सब जगह सुलभ हैं] यथावत् प्राप्त कर, दुःखों से मुक्त हो कर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

ये ब॒ध्यमा॑न॒मनु॒ दीध्या॑ना अ॒न्वैक्ष॑न्त॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा च।
अ॒ग्निष्टान॑ग्रे॒ प्र मु॑मोक्तु दे॒वो वि॒श्वक॑र्मा प्र॒जया॑ संररा॒णः ॥ ३ ॥

ये । ब॒ध्यमा॑नम् । अनु॑ । दीध्या॑नाः । अ॒नु-ऐक्ष॑न्त । मन॑सा । चक्षु॑षा । च॒ । अ॒ग्निः । तान् । अग्रे॑ । प्र । मु॒मो॒क्तु॒ । दे॒वः । वि॒श्व-क॑र्मा । प्र॒-जया॑ । स॒म्-र॒रा॒णः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) *जो [महाविद्वान्] (बध्यामनम् अनु) बन्धन में पड़ते* हुये [जीव] पर (दीध्यानाः+सन्तः) प्रकाश करते हुये, (मनसा) मन से (च) और (चक्षुषा) नेत्र से (अन्वैक्षन्त दया से देख चुके हैं, (तान्) उन (अग्रे=अग्रे वर्त्तमानान्) अग्रगामियों को (अग्निः) सर्वव्यापक, (देवः) प्रकाश-

---

नाय । म० १ । उपकर्त्रे । **देवाः** । हे विद्वांसः । **उपाकृतम्** । उप+आङ्+कृ—क्त । समीप आनीतम् । **शशमानम्** । शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलम् । **यत्** । पाथः । **अस्थात्** । तिष्ठति स्म । **प्रियम्** । अ० २ । २८ । ५ । हितकरम् । **देवानाम्** । विदुषाम् । **एतु** । अस्मान् प्राप्नोतु । **पाथः** । अन्ने च । उ० ४ । २०५ । इति पा रक्षणे—असुन्, थुट् च । रक्षासाधनम् । अन्नम् ॥

३—ये । विद्वांसः । **बध्यमानम्** । सार्वधातुके यक् । पा० ३ । १ । ६७ । इति बन्ध बन्धने-कर्मणि यक्, ततः शानच् । बन्धने गच्छन्तम् । **अनु** । अनुलक्ष्य । **दीध्यानाः** । दी धीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच् । दीप्यमानाः । **अन्वैक्षन्त** । ईक्ष दर्शने-छान्दसो लङ् । अनुकूलम् अनुक्रमेण वा दृष्टवन्तः ।

स्वरूप, (विश्वकर्मा) सब का रचने वाला परमेश्वर, (प्रजया) प्रजा [सृष्टि] के साथ (संरराणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) [विघ्न से] मुक्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो महात्मा अपनी मानसिक और शारीरिक शक्ति से अज्ञान के कारण से दुःख में डूबे हुओं के उद्धार में समर्थ होते हैं, वह सर्वशक्तिमान् सर्वकर्ता परमेश्वर उन परोपकारी जनों का सदा सहायक और आनन्ददायक होता है ॥ ३ ॥

(वध्यमानम्) के स्थान पर (वध्यमानम्) और (अनु दीध्यानाः) दो पद के स्थान पर [अनुदीध्यानाः] एक पद सायण भाष्य में है ॥

ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपा विरूपाः सन्तो बहुधैकरूपाः । वायुष्टानग्रे प्र मुमोक्तु देवः प्रजापतिः प्रजया संरराणः ॥ ४ ॥

ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्व-रूपाः । वि-रूपाः । सन्तः । बहु-धा । एक-रूपाः । वायुः । तान् । अग्रे । प्र । मुमोक्तु । देवः । प्रजा-पतिः । प्र-जया । सम् ररराणः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम में बसने वाले , (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले (पशवः) जीव (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) पृथक् २ रूप वाले

मनसा । चित्तेन । **चक्षुषा** । अ० १ । ३३ । ४ । दर्शनेन्द्रियेण । नेत्रेण । **अग्निः** । सर्वत्रगतिः परमेश्वरः । **तान्** । विदुषः पुरुषान् । युष्मत्तत्तक्षुःष्वन्तः पादम् । पा० ८ । ३ । १०३ । इति (अग्निष्टान्) इत्यत्र षत्वम् । **अग्रे** । अग्रे वर्त्तमानान् । **प्र** । प्रकर्षेण । **मुमोक्तु** । छन्दसि शपः श्लुः । मोचयतु विघ्नात् । **देवः** । दीप्यमानः । **विश्वकर्मा** । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति विश्व+कृञ्-मनिन् । विश्वकर्मा सर्वस्य कर्त्ता [मध्यस्थानः]-निरु० १० । २५ । विश्वेषु कर्म यस्य । सर्वकर्त्ता । परमात्मा । **प्रजया** । स्वसृष्ट्या । **संरराणः** । संरममाणः । सहरममाणः । सम्यग्रममाणः । यद्वा । रा दाने, ग्रहणे, रै शब्दे-लिटः कानच् । सम्यग्दाता ग्रहीता शब्दायमानो वा ॥

४—**ये** । पशवः । **ग्राम्याः** । ग्रसेरात् च । उ० १ । १४३ । इति ग्रस

(सन्तः) होकर (एकरूपाः) एक स्वभाव वाले हैं, (तान्) उन (अग्रे= अग्रे वर्त्तमानान् पशून्) अग्र वर्त्ती जीवों को (वायुः) सर्वव्यापी वा बलदायक (देवः) प्रकाश स्वरूप, (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमेश्वर (प्रजया) प्रजा [अपने जनों] से (संरराणः=संरममाणः) आनन्द करता हुआ (प्र) भले प्रकार (मुमोक्तु) मुक्त करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो (ग्राम्याः) मिलकर भोजन करने वाले मनुष्य भिन्न देश, भिन्न अन्न जल वायु होने से भिन्न वर्ण होकर भी एक ईश्वर की आज्ञा पालन में (एकरूप) तत्पर रहते हैं, परमेश्वर प्रसन्न होकर उन पुरुषार्थी महात्माओं को दुःख से छुड़ा कर सदा आनन्द देता है ॥ ४॥

२—शुद्ध वायु सब प्राणियों को शारीरिक और आत्मिक सुख देता है ॥ ४ ॥

**प्र॒जा॒नन्त॒: प्रति॑ गृह्णन्तु॒ पूर्वे॑ प्रा॒णमङ्गे॑भ्य॒: पर्या॒चर॑न्तम् ।
दिवं॑ गच्छ॒ प्रति॑ तिष्ठा॒ शरी॑रै॒: स्व॒र्गं या॑हि प॒थिभि॑र्देव॒यानै॑: ५**

प्र॒-जा॒नन्त॑: । प्रति॑ । गृ॒ह्ण॒न्तु॒ । पूर्वे॑ । प्रा॒णम् । अङ्गे॑भ्यः । परि॑ । आ॒-चर॑न्तम् । दिव॑म् । ग॒च्छ॒ । प्रति॑ । ति॒ष्ठ॒ । शरी॑रैः । स्वः॒-गम् । या॒हि॒ । प॒थि-भि॑: । दे॒व॒-यानै॑: ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रजानन्तः) बड़े ज्ञान वाले (पूर्वे=पूर्वे वर्त्तमानाः+भवन्तः)

भक्ष-भन् , धातोराकारान्तादेशश्च । ग्रसन्ति यत्र मिलित्वा । ग्रामाद् यखञौ ।) पा० ४ । २ । ६४ । ग्रामे शालासमुदाये भवा उत्पन्नाः । ग्रामीणाः । **पशवः** । प्राणिनः । **विश्वरूपाः** । खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च । रूयते कीर्त्यते तद् रूपम् । शुक्लादिवर्णम् । आकृतिः । स्वभावः । सौन्दर्यम् । नानावर्णाः । **विरूपाः** । विरुद्धाकाराः । **सन्तः** । वर्त्तमाना अपि । **बहुधा** । विभाषा बहोर्धाऽविप्रकृष्टकाले । पा० ५ । ४ । २० । इति बहु+धा । बहुप्रकारम् । प्रायेण । **एकरूपाः** । परमेश्वराज्ञापालन एकस्वभावाः । **वायुः** । अ० २ । २० । १ । सर्वव्यापी । परमेश्वरः पवनः । **प्रजापतिः** । यज्ञः-निघ० ३ । १८ । प्रजानां पाता वा पालयिता वा [मध्यस्थानो देवः] निरु० १० । ४२ । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—**प्रजानन्तः** । प्र+ज्ञा-शतृ । प्रकर्षेण जानन्तः । महाविद्वांसः ।

प्रथम स्थान में वर्त्तमान महात्मा पुरुष आप (अङ्गेभ्यः) सब के अङ्गों के हित के लिये (परि) सब ओर (आचरन्तम्) चलने वाले (प्राणम्) अपने प्राण [बल] को (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णन्तु) ग्रहण करें।

[हे मनुष्य !] (दिवम्) ज्ञान प्रकाश वा व्यवहार को (गच्छ) प्राप्त कर, (शरीरैः) सब अङ्गों के साथ (प्रति तिष्ठ) तू प्रतिष्ठित रह, (देवयानैः) देवताओं के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) स्वर्ग [महा आनन्द] में (याहि) तू पहुंच ॥ ५ ॥

भावार्थ—ज्ञानी महात्मा पुरुष जो श्वास लें वह संसार के उपकार के लिये ही लें. अर्थात् प्रतिक्षण परोपकार में लगकर अपना सामर्थ्य और जीवन बढ़ावें। और प्रत्येक मनुष्य को योग्य है कि अपने आत्मा में ज्ञान का प्रकाश करके सब व्यवहारों में चतुर हो, और आंख, कान, हाथ, पग आदि अङ्गों से शुभ कर्म करके प्रतिष्ठा बढ़ावे, और जिन वेद मार्गों पर देवता चलकर स्वर्ग भोगते हैं उन्हीं वेदरूपी राजपथों पर चल कर जीवन्मुक्त होकर आनन्द भोगे ॥ ५ ॥

टिप्पणी—स्वर्ग का लक्षण टिप्पणी, अ० १। ३०। २ में अथर्व० का० ६। सू० १२० म० ३ के प्रमाण से दिया है, वहां देख लीजिये ॥

प्रति। प्रत्यक्षम्। **गृह्णन्तु**। स्वीकुर्वन्तु। **पूर्वे**। प्रतिष्ठास्थाने वर्त्तमानाः। प्रधानाः। **प्राणम्**। अ० २। १५। १। जीवनसाधनं प्राणापानरूपं बलम्। **अङ्गेभ्यः**। अ० १। १२। ४। अङ्गानां हिताय। **परि**। सर्वतः। **आचरन्तम्**। चर-शतृ। आगच्छन्तम्। **दिवम्**। अ० १। ३०। ३। प्रकाशम्। **शरीरैः**। अ० २। १२। ८। शरीराङ्गैः सह। **स्वर्गम्**। स्वः-इति व्याख्यातम् अ० २। ५। २। स्वः सुखं गीयते यत्र, स्वः+गै-क। यद्वा, सुष्ठु अर्ज्यते, सु+ अर्ज अर्जने-घञ्। शङ्क्वादित्वात् कुत्वम्। देवतानां विदुषां निवासस्थानम्। स्वर्लक्षणं द्रष्टव्यम्-टिप्पण्याम्। अ० १। ३०। २। **पथिभिः**। पतस्थ च। उ० ४। १२। इति पत्लृ गतौ-इनि, थश्चान्तादेशः। मार्गैः। **देवयानैः**। देव+या गतौ-ल्युट्। देवानां यानं गमनं यैः। देवगमनयोग्यैः ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-५ ॥ विश्वकर्मा देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापत्यागात् सुखलाभ इत्युपदिश्यते-पाप के त्याग से सुखलाभ है, इस का उपदेश ॥

ये भ॒क्षय॑न्तो॒ न वसू॑न्यानृ॒धुर्यान॒ग्नयो॑ अ॒न्वत॑प्यन्त॒ धिष्ण्याः॑ । या तेषा॑मव॒या दुरि॑ष्टिः॒ स्वि॑ष्टिं न॒स्तां कृ॑णवद् वि॒श्वक॑र्मा ॥ १ ॥

ये । भ॒क्षय॑न्तः । न । वसू॑नि । आ॒नृ॒धुः । यान् । अ॒ग्नयः॑ । अ॒नु-अत॑प्यन्त । धिष्ण्याः॑ । या । तेषा॑म् । अ॒व॒-याः । दुः-इ॑ष्टिः । सु- इ॑ष्टिम् । नः॒ । ताम् । कृ॒ण॒व॒त् । वि॒श्व-क॑र्मा ॥१॥

भाषार्थ—(ये) जिन मनुष्यों ने (भक्षयन्तः) पेट भरते हुए (वसूनि) धनों को (न) नहीं (आनृधुः) बढ़ाया, और (यान्) जिन पर (धिष्ण्याः) बोलने, वा कर्म वा बुद्धि में चतुर (अग्नयः) गतिशील ज्ञानी [वा अग्नि समान तेजस्वी] पुरुषों ने (अन्वतप्यन्त) अनुताप किया है [शोक माना है], (तेषाम्) उन [कंजूसों] की (या) जो (अवयाः) विनाश हेतु (दुरिष्टिः) खोटी सङ्गति है,

---

१—भक्षयन्तः । भक्ष-शतृ । भक्षकाः । उदरपोषकाः । न । निषेधे । वसूनि । धनानि । आनृधुः । ऋधु वृद्धौ-लिट् । अत आदेः । पा० ७।४।७० । इत्यभ्यासदीर्घत्वे । तस्मान् नुड् द्विहलः । पा० ७ । ४ । ७१ । इति नुडागमः । वर्धितवन्तः । यान् । स्वार्थिनः पुरुषान् । अग्नयः । अगि गतौ- नि । गतिशीलाः । ज्ञानिनः । अग्निवत्तेजस्विनः पुरुषाः । अन्वतप्यन्त । अनुतापं पश्चात्तापं कृतवन्तः । धिष्ण्याः । सानसिवर्णसिपर्णसि०।उ० ४।१०७। इति धिष शब्दे-ण्य प्रत्ययः।शब्दकुशलाः। विद्वांसः । यद्वा । धीङ् आधारे, ध्यै चिन्तने-क्विप् । धीः, कर्मनाम-निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ९ । इष इच्छायाम्-ण्यप्रत्ययः पूर्ववत्, निपातनाद् रूपसिद्धः । धियः कर्माणि प्रज्ञा वा इच्छन्ति ते धिष्ण्याः । कर्मकुशलाः । धीराः । अवयाः । अवे यजः । पा० ३ । २ । ७२ । अव+यज-ण्विन् । अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च । पा० ८।२।६७। इति निपातितः ।

(विश्वकर्मा) सब कर्मों में चतुर [वा संसार का रचने वाला] परमेश्वर (ताम्) उस [कुसंगति] को (नः) हमारे लिये (स्विष्टिम्) उत्तम फलदायक (कृणवत्) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्वार्थी मनुष्य केवल अपना पेट भरना जानते हैं और जो धन एकत्र करके उपकार नहीं करते, उन की दशा उदारशील महात्माओं को शोचनीय होती है, सब कर्मकुशल [परमेश्वर] सुमति दे कि उन का मन स्वार्थपन छोड़ कर जगत् की भलाई में लगे । सब मनुष्य (विश्वकर्मा) विहित कर्मों में कुशल होकर, और कुसंगति का दुष्ट फल देखकर दुष्कर्मों से बचें और सदा आनन्द से रहें ॥ १ ॥

य॒ज्ञप॑तिमृष॑य॒ एन॑साहु॒र्निर्भ॑क्तं प्र॒जा अ॑नुत॒प्यमा॑नम् । म॒थ॒व्या॑न्त्स्तो॒काना॒प यान् र॒राध॒ सं न॒ष्टेभिः॑ सृजतु वि॒श्वक॑र्मा ॥ २ ॥

य॒ज्ञ-प॑तिम् । ऋष॑यः । एन॑सा । आ॒हुः॒ । निः-भ॑क्तम् । प्र॒-जाः । अ॒नु॒-त॒प्यमा॑नम् । म॒थ॒व्या॑न् । स्तो॒कान् । अप॑ । यान् । र॒राध॑ । सम् । नः॒ । तेभिः॑ । सृ॒ज॒तु॒ । वि॒श्व-क॑र्मा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी ऋषि (प्रजाः) मनुष्यादि प्रजाओं पर (अनुतप्यमानम्) अनुताप [अनुकम्पा] करने वाले (यज्ञपतिम्) उत्तम कर्मों के रक्षक पुरुष को (एनसा) पाप से (निर्भक्तम्) पृथक् किया हुआ (आहुः) बताते हैं ।

अवयजामहे=विनाशयामः–इति महीधरः, यजु० ३ । ४५ । विनाशहेतुः । **दुरिष्टिः** । दुर्+इष वाञ्छे, यज यागे वा–क्तिन् । दुष्टक्रिया । कुसंगतिः । **स्विष्टिम्** । सु+इष्टिम् । शोभनाम् इष्टसाधिकाम् । **नः** । अस्मदर्थम् । **कृणवत्** । अ० २ । ६ । ५ । करोतु । **विश्वकर्मा** । अ० २ । ३४ । ३ । सर्वकर्ता परमेश्वरः ॥

२—**यज्ञपतिम्** । शुभकर्मरक्षकम् । **ऋषयः** । अ० २ । ६ । १ । मन्त्रार्थद्रष्टारः । सूक्ष्मदर्शिनः । **एनसा** । अ० २ । १० । ८ । पापेन । अपराधेन । **आहुः** । ब्रूञ् कथने–लट् । ब्रुवन्ति । **निर्भक्तम्** । भज सेवायाम्, विभागे–क्त ।

उस ने (यान्) जिन (मथव्यान्) मथने योग्य (स्तोकान्) प्रसन्न करने वाले, सूक्ष्म विषयों को (अप) आनन्द से (रराध) सिद्ध किया है (विश्वकर्मा) संसार का रचने वाला परमेश्वर (तेभिः=तैः) उन [सूक्ष्म विषयों] के साथ (नः) हमें (सं सृजतु) संयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग उस पुरुषार्थी पुरुष को निष्पाप और पुण्यात्मा मानते हैं जो सब जीवों पर दया और उपकार करता है वही धर्मात्मा आप्तपुरुष, सत्य सिद्धान्तों को साक्षात् करके आनन्द से संसार में प्रकाशित करता है। (विश्वकर्मा) परमेश्वर उन अटल वैदिक धर्मों को हम सब के हृदय में स्थापित करे, जिस से हम पुरुषार्थ पूर्वक सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

टिप्पणी—(अनुतप्यमानम्) के स्थान पर [अनु तप्यमानम्] दो पद और (मथव्यान्) के स्थान पर [मथव्यान्] पद सायणभाष्य में हैं ॥

अदान्यान्त्सोमपान् मन्यमानो यज्ञस्य विद्वान्त्समये न धीरः। यदेनश्चकृवान् बद्ध एष तं विश्वकर्मन् प्र मुञ्चा स्वस्तये ॥ ३ ॥

अदान्यान्। सोम-पान्। मन्यमानः। यज्ञस्य। विद्वान्। सम्-अये। न। धीरः। यत्। एनः। चकृवान्। बद्धः। एषः। तम्। विश्वकर्मन्। प्र। मुञ्च। स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अदान्यान्) दान के अयोग्य पुरुषों को (सोमपान्) अमृत पान

पृथक् कृतम्। वियुक्तम्। **प्रजाः**। ईश्वरसृष्टीः। **अनुतप्यमानम्**। अनुतापं पश्चात्तापं कुर्वन्तम्। **मथव्यान्**। मथ विलोडने-तव्यत्, छान्दसं रूपम्। मथितव्यान्। अन्वेषणीयान्। **स्तोकान्**। ष्टुच प्रसादे दीप्तौ-घञ्। प्रसन्नकरान्, दीप्यमानान् सूक्ष्मविषयान्। विन्दून्। **अप**। आनन्दे-यथा। अपचितिः=पूजा, अपदानम्=प्रशस्यकर्म। **रराध**। राध संसिद्धौ—लिट्। साधितवान्, पूरितवान्। **नः**। अस्मान्। **तैः**। स्तोकैः। **संसृजतु**। संयोजयतु। **विश्वकर्मा**। सर्वरचयिता। अन्यद् गतम् ॥

३—**अदान्यान्**। छन्दसि च। पा० ५। १। ६७। इति अदान-य प्रत्ययः।

करने वाले (मन्यमानः) मनानता हुआ पुरुष, (यज्ञस्य) शुभ कर्म का (विद्वान्) जानने वाला और (समये) समय पर (धीरः) धीर (न) नहीं होता। (एषः) इस पुरुष ने (बद्धः) [अज्ञान में] बन्ध होकर (यत्) जो (एनः) पाप (चकृवान्) किया है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले परमेश्वर ! (तम्) उस पुरुष को (स्वस्तये) आनन्द भोगने के लिये (प्र मुञ्च) मुक्त कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अविवेक के कारण मूढ़ होकर अपनी और संसार की हानि कर डालता है। वह पुरुष अपने प्रमाद पर पश्चात्ताप करके और पाप कर्म छोड़कर ईश्वर आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

घोरा ऋषयो नमो अस्त्वेभ्यश्चक्षुर्यदेषां मनसश्च सत्यम्। बृहस्पतये महिष द्युमन्नमो विश्वकर्मन् नमस्ते पाह्यस्मान् ॥ ४ ॥

दानानर्हान्। **सोमपान्**। गापोष्टक् च। पा० ३। २। ८। सोम+पा पाने-टक्। अमृतपानशीलान् पण्डितान्। **मन्यमानः**। मन बोधे दिवादिः—शानच्। जानन् सन्। **यज्ञस्य**। अ० १। ९। ४। प्रशस्यकर्मणः। **विद्वान्**। विदेः शतुर्वसुः। पा० ७। १। ३६। इति विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः। प्राज्ञः। पण्डितः। **समये**। सम्+इण् गतौ-पचाद्यच्। उचितकाले, अवसरे। **न**। निषेधे। **धीरः**। सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन्। उ० २। २४। इति धाञ् धारण-पोषणयोः-क्रन्। घुमास्थागापा०। पा० ६। ४। ६६। इति ईत्वम्। यद्वा। धीः प्रज्ञा कर्म वा, रो मत्वर्थीयः। यद्वा। कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। इति धी+ईर प्रेरणे-अण्। धियम् ईरयतीति। यद्वा। धी+रा-क। धियं राति ददाति गृह्णातीति वा। मेधावी-निघ० ३। १५। धैर्यवान्। पण्डितः। **एनः**। म० २। अपराधम्। **चकृवान्**। कृञ्-लिटः क्वसुः। कृतवान्। **बद्धः**। बध्यते स्म। बन्ध-क्त। बन्धनयुक्तः। **विश्वकर्मन्**। हे सर्वकृत्। **प्र+मुञ्च**। प्रमोचय। **स्वस्तये**। अ० १। ३०। २। क्षेमाय। कुशलाय ॥

घोराः । ऋषयः । नमः । अस्तु । एभ्यः । चक्षुः । यत् । एषाम् । मनसः । च । सत्यम् । बृहस्पतये । महिष । द्यु-मत् नमः । विश्व-कर्मन् । नमः । ते । पाहि । अस्मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऋषयः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (घोराः) [पाप कर्मों पर] क्रूर होते हैं, (एभ्यः) उन [ऋषियों] को (नमः) अन्न वा नमस्कार (अस्तु) होवे, (यत्) क्योंकि (एषाम्) उन [ऋषियों] के (मनसः) मन की (चक्षुः) आंख (च) निश्चय करके (सत्यम्) यथार्थ [देखने वाली] है। (महिष) हे पूजनीय परमेश्वर ! (बृहस्पतये) सब बड़े बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी [आप] को (द्युमत्) स्पष्ट (नमः) नमस्कार है, (विश्वकर्मन्) हे संसार के रचने वाले ! (नमस्ते) तेरे लिये नमस्कार है, (अस्मान्) हमारी (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिन महात्मा आप्त ऋषियों के मानसिक, वाचिक और कायिक कर्म, संसार को दुःख से मुक्त करने के लिये होते हैं, उन के उपदेशों को सब मनुष्य प्रीति पूर्वक ग्रहण करें, और जो परमेश्वर समस्त सृष्टि का कर्ता धर्ता है,

---

४—**घोराः** । अ० १ । १८ । ३ । हन—अच्, घुरादेशः । यद्वा । घुर ध्वनौ, भीमभवने-अच् । भयानकाः । भीमाः । **ऋषयः** । म० २ । मुनयः । आप्तपुरुषाः । **नमः** । अ० १ । १० । २ । णमु शब्दनत्योः असुन् अन्नम्—निघ० ३ । ७ । सत्कारः । **अस्तु** । भवतु । **एभ्यः** । ऋषिभ्यः । **चक्षुः** । अ० १ । ३३ । ४ दृष्टिः । नेत्रम् । **एषाम्** । ऋषीणाम् । **मनसः** । अ० १ । १ । २ । अन्तः करणस्य । **सत्यम्** । अ० २ । १४ । ४ । तथ्यम् । यथार्थम् । **बृहस्पतये** । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां लोकानां पत्ये स्वमिने । **महिष** । अविमह्योष्टिषच् । उ० १ । ४४ । इति मह पूजायाम्-टिषच् । महिषाः=महान्तः—निरु० ७ । २६ । मह्यते पूज्यते सर्वैः, यद्वा, महति पूजयति शुभगुणानिति । हे महन्-निघ० ३ । ३ । पूजनीय । **द्युमत्** । सम्पदादित्वात् क्विप् । पा० पा० ३ । ३ । ९४ । इति द्यु अभिगमने, यद्वा, द्युत दीप्तौ—क्विप् । मतुपि तलोपः पृषोदरादित्वात्, पा० ६ । ३ । १०९ । यद्वा, दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिकान्तिगतिषु-चिव ।

उस के उपकारों को हृदय में धारण करके उस की उपासना करें और सदा पुरुषार्थ करके श्रेष्ठों की रक्षा करते रहें ॥ ४ ॥

(महिष) के स्थान पर सायण भाष्य में [महि सत्] दो पद हैं ॥

यज्ञस्य चक्षुः प्रभृतिर्मुखं च वाचा श्रोत्रेण मनसा जुहोमि । इमं यज्ञं विततं विश्वकर्मणा देवा यन्तु सुमनस्यमानाः ॥ ५ ॥

यज्ञस्य । चक्षुः । प्र-भृतिः । मुखम् । च । वाचा । श्रोत्रेण । मनसा । जुहोमि । इमम् । यज्ञम् । वि-ततम् । विश्व-कर्मणा आ । देवाः । यन्तु । सु-मनस्यमानाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[जो पुरुष] (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म का (चक्षुः) नेत्र [नेत्र समान प्रदर्शक], (प्रभृतिः) पुष्टि, (च) और (मुखम्) मुख [समान मुख्य] है, [उस को] (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) कान से और (मनसा) मन से (जुहोमि) मैं स्वीकार करता हूं। (सुमनस्यमानाः) शुभ चिन्तकों के जैसे आचरण वाले (देवाः) व्यवहारकुशल महात्मा (विश्वकर्मणा) संसार के रचने वाले परमेश्वर करके (विततम्) फैलाये हुये (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय धर्म को (आ यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्योतनं दिव् । दिव उत् । पा० ६ । १ । १३१ । इति मतुपि उत्त्वम् । दीप्तिमत् । कान्तियुक्तम् । स्पष्टम् । नमः । सत्कारः । विश्वकर्मन् । म० १ । हे सर्वजनक परमात्मन् । पाहि । त्वं रक्ष । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

५—यज्ञस्य । म० ३ । पूजनीयकर्मणः । चक्षुः । म० ४ । नेत्रवत् प्रदर्शको यः पुरुषोऽस्ति । प्रभृतिः । डुभृञ् भरणपोषणयोः—क्तिन् । भरणम् । पोषणम् मुखम् । डित् खनेर्मुट् चोदात्तः । उ० ५ । २० । इति खन विदारणे-अच् । स च डित्, धातोर्मुडागमश्च । तस्योदात्तः । खनति अन्नादिकमनेनेति । आस्यम् । मुखमिव मुख्यः । वाचा । अ० १ । १ । १ । वाण्या । पठनपाठनकर्मणा । श्रोत्रेण । अ० २ । १७ । ५ । श्रुत्या । कर्णेन । श्रवणश्रावणकर्मणा ।

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सत्य सङ्कल्पी, सत्यसन्ध, ऋषि महात्माओं के वैदिक उपदेश को वाणी से पठन पाठन, श्रोत्र से श्रवण श्रावण, और मन से निदिध्यासन अर्थात् वारम्वार विचार, करके ग्रहण करें। और सब अनुग्रहशील महात्मा परमेश्वर के दिये हुये विज्ञान और धर्म का प्रचार करते रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—८ अग्निर्देवता । १, ३, ४ त्रिष्टुप्, २, ५, ६, ७ अनुष्टुप्, ८ गायत्री ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आ नो॑ अग्ने सुम॒तिं सं॑भ॒लो ग॑मेदि॒मां कु॑मा॒रीं स॒ह नो॒ भगे॑न । जु॒ष्टा व॒रेषु॒ सम॑नेषु व॒ल्गुरो॒षं पत्या॒ सौभ॑ग-मस्त्व॒स्यै ॥ १ ॥

आ । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । सु॒-म॒तिम् । स॒म्-भ॒लः । ग॒मे॒त् । इ॒माम् । कु॒मा॒रीम् । स॒ह । नः॒ । भगे॑न । जु॒ष्टा । व॒रेषु॑ । सम॑नेषु । व॒ल्गुः । ओ॒षम् । पत्या॑ । सौभ॑गम् । अ॒स्तु॒ । अ॒स्यै ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) अग्निवत् तेजस्वी राजन् (सम्भलः) यथाविधि सम्भाषण वा निरूपण करने वाला वर (इमाम्) इस (सुमतिम्) सुन्दर बुद्धि वाली (कुमारीम्) कुमारी को (नः) हमारे लिये (भगेन सह+वर्त्तमानः

मनसा । मननेन । अन्तःकरणेन । निदिध्यासनेन । जुहोमि । अ० १। १५।१। आददे । स्वीकरोमि तम् । विततम् । तनु विस्तारे-क्त । विस्तृतम् । विश्वकर्मणा । परमात्मना । देवाः । व्यवहारकुशलाः । महात्मानः । यन्तु । प्राप्नुवन्तु । सुमनस्यमानाः । अ० १। ३५ । १ । शोभनं ध्यायन्तः । शुभचिन्तकाः ॥

१—नः । अस्मान् । अग्ने । हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् । सुमतिम् । सु+मन बोधे-क्तिन् । शोभनबुद्धियुक्ताम् । सम्भलः । सम्+भल परि-

सन्) ऐश्वर्य के साथ वर्त्तमान होकर (नः) हम में (आ=आगत्य) आकर (गमेत्) ले जावे । [इयम् कुमारी] [यह कन्या] (वरेषु) वर पक्ष वालों में (जुष्टा) प्रिय और (समनेषु) साधु विचार वालों में (वल्गुः) मनोहर है । (अस्यै) इस [कन्या] के लिये (ओपम्) शीघ्र (पत्या) पति के साथ (सौभगम्) सुहागपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—यहां (अग्नि) शब्द राजा के लिये है । माता पिता आदि राजव्यवस्था के अनुसार योग्य आयु में गुणवती कन्या का विवाह गुणवान् वर से करें । जिस से वह कन्या पतिकुल में सब को प्रसन्न रक्खे और आप आनन्द से रहे । इसी आशय को राजप्रकरण में मनु महाराज ने अ० ७ । १५२ में वर्णन किया है " [कन्यानां संप्रदानं च कुमाराणां च रक्षणम् ।] कन्याओं के नियम पूर्वक दान [विवाह] का और कुमारों की रक्षा का [राजा चिन्तन करे] " ।

(ओपम्) के स्थान पर सायण भाष्य में [ऊपम्] है ॥

भाषणहिंसादानेषु निरूपणे च-पचाद्यच् । सम्यग् भलते परिभाषते निरूपयति वा स सम्भलः । यथाविधि परिभाषकः यथाशास्त्रं निरूपकः । **आ+गमेत्** । द्विकर्मकः । आगत्य गमयेत् नयेत् । **इमाम्** । प्रसिद्धाम् । गुणवतीम् । **कुमारीम्** । कुमार क्रीडने-अच् । वयसि प्रथमे । पा० ४ । १ । २० । इति ङीप् । कन्याम् । **सह** । सहितः । **नः** । अस्मदर्थम् **भगेन** । भजनीयेन गुणेन ऐश्वर्येण । **जुष्टा** । प्रीता सेविता । **वरेषु** । वृञ् वरणे-अप् । यद्वा वर ईप्से-घञ् श्रेष्ठेषु वरयितृषु, वरपक्षीयेषु । **समनेषु** । सम्+अन जीवने-घञ् । यद्वा । सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे-अच् । सम्यग् अनिति आनीयते वा । समानं तुल्यं साधु वा । समानस्य सभावः । मन बोधे-पचाद्यच् । साधुमननयुक्तेषु । **वल्गुः** । वलेर्गुक् च । उ० १ । १६ । इति वल प्राणने-उप्रत्ययः, गुक् आगमः । रुचिरा । मनोहरा । **ओपम्** । उप दाहे, वधे-घञ् । क्षिप्रम् । निघ० २ । १५ । **पत्या** । स्वामिना सह । **सौभगम्** । सुभग-अण् । सुभगत्वम् । **अस्यै** । कुमार्यै । अन्यद् गतम् ॥

सोम॑जुष्टं॒ ब्रह्म॑जुष्टमर्य॒म्णा संभृ॑तं॒ भग॑म् ।
धा॒तुर्दे॒वस्य॑ स॒त्येन॑ कृ॒णोमि॑ पति॒वेद॑नम् ॥ २ ॥

सोम॑-जुष्टम् । ब्रह्म॑-जुष्टम् । अ॒र्य॒म्णा । सम्-भृ॑तम् । भग॑म् ।
धा॒तुः । दे॒वस्य॑ । स॒त्येन॑ । कृ॒णोमि॑ । प॒ति॒-वेद॑नम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धातुः) सब के धारण करने वाले (देवस्य) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर के (सत्येन) सत्य नियम से (सोमजुष्टम्) ऐश्वर्यवान् पुरुषों के प्रिय, (ब्रह्मजुष्टम्) ब्रह्म ज्ञानी पुरुषों से सेवित और (अर्यम्णा) श्रेष्ठों के मान करने वाले राजा से (संभृतम्) पुष्ट किये हुए (भगम्) सेवनीय वा ऐश्वर्य-युक्त (पतिवेदनम्) पत्नी [वा पति] की प्राप्ति [विवाह] (कृणोमि) मैं करता [वा करती] हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—यह गृहस्थाश्रम ईश्वरकृत नियम है। इस की रक्षा के लिये सब बड़े बड़े महात्मा प्रयत्न करते और राजा नियम बनाते हैं। उस के निर्वाह के लिये माता पिता आदि वर और कन्या को यथावत् उपदेश करें और उन का विवाह करें ॥ २ ॥

२—**सोमजुष्टम्** । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १।१४० । इति षु प्रसवैश्वर्ययोः-मन् । जुषी प्रीतिसेवनयोः-क्त । ऐश्वर्यवद्भिः प्रीतम् । **ब्रह्मजुष्टम्** । बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । इति बृहि वृद्धौ-मनिन्, नस्य अकारः । ब्रह्मभिः अधीतवेदै-र्ब्राह्मणैर्ब्रह्मज्ञानिभिः सेवितम् । **अर्यम्णा** । अ० १ । ११ । १ । अर्यमादित्यो ऽरीन् नियच्छति-नि० ११।२३ । श्रेष्ठानां मानकर्त्रा, न्यायकारिणा राज्ञा । **सम्भृतम्** । सम्यक् पोषितं वर्धितम् । **भगम्** । पुंसि संज्ञायाम् घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति भज सेवायाम्-घ । चजोः कुघिण्ण्यतोः । पा० ७। २ । ५२ । इति जस्य गः । भजनीयम् । सेवनीयम् । ऐश्वर्ययुक्तम् । **धातुः** । सर्वस्यधा-रकस्य पोषकस्य । **देवस्य** । प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य । **सत्येन** । सते हितम्, सत्-यत् । यथार्थधर्मेण । **कृणोमि** । करोमि । **पतिवेदनम्** । विद्लृ लाभे, विद ज्ञाने-ल्युट् । वेदनम्=विवाहः । ज्ञानम । पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इति पत्नी च पतिश्च पती तयोर्वेदनं लाभं ज्ञानं विवाहं वा ॥

इयमग्ने नारी पतिं विदेष्ट सोमो हि राजा सुभगां कृणोति । सुवाना पुत्रान् महिषी भवाति गत्वा पतिं सुभगा वि राजतु ॥ ३ ॥

इयम् । अग्ने । नारी । पतिम् । विदेष्ट । सोमः । हि । राजा । सु-भगाम् । कृणोति । सुवाना । पुत्रान् । महिषी । भवाति । गत्वा । पतिम् । सु-भगा । वि । राजतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (इयम्) यह (नारी) नर [अपने पति] का हित करने वाली कन्या (पतिम्) पति को (विदेष्ट) प्राप्त करे, (हि) क्योंकि (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा चन्द्र समान आनन्द प्रद (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान् वर] [इस को] (सुभगाम्) सौभाग्यवती (कृणोति) करता है । [यह कन्या] (पुत्रान्) कुलशोधक वा बहुरक्षक वीर पुत्रों को (सुवाना) उत्पन्न करती हुई (महिषी) पूजनीय महारानी (भवाति) होवे, और (पतिम्) पति को (गत्वा) पाकर (सुभगा) सौभाग्यवती होकर (वि) अनेक प्रकार से (राजतु) राज्य करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनुग्रह से यह दोनों पति और पत्नी, बड़े ऐश्वर्य वा ठाट वाले राजा और रानी के समान गृह कार्यों को चलावें और वीर पुत्र पौत्र आदिकों को उत्तम शिक्षा देते हुए सदा आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

३—इयम् । निर्दिष्टा गुणवती । अग्ने । हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर । **नारी** । अ० १ । ११ । १ नरस्य हिता । कन्या । वधूः । **पतिम्** । अ० १।१।१। रक्षकम् । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पत ऐश्वर्ये-इन् । ऐश्वर्यवन्तम् । **विदेष्ट** । विद्लृ लाभे-आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । वेदिषीष्ट । विन्दताम् । लभताम् । **सोमः** । अ० १ । ६ । २। ऐश्वर्यवान् । चन्द्रवदानन्दप्रदः । **हि** । यस्मात् । **राजा** । अ० १ । १० । १। ऐश्वर्यवान् । प्रतापी । **सुभगाम्** । सुष्ठु भगं यस्याः । शोभनैश्वर्यवतीम् । पतिप्रियाम् । **कृणोति** । करोति । **सुवाना** । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-शानच् । जनयन्ती । **पुत्रान्** । अ० १ ।

मनु महाराज ने कहा है—अ० ३ । ६० ।

संतुष्टो भार्यया भर्त्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।

यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥ १ ॥

भार्या से भर्त्ता, और भर्त्ता से भार्या, जिस कुल में संतुष्ट हो, वहां पर अवश्य ही नित्य कल्याण रहता है ॥

यथाखरो मघवं श्चारुरेष प्रियो मृगाणां सुषदा बभूव ।
एवा भगस्य जुष्टेयमस्तु नारी संप्रिया पत्याविराधयन्ती ॥ ४ ॥

यथा । आ-खरः । मघ-वन् । चारुः । एषः । प्रियः । मृगाणाम् । सु-सदाः । बभूव । एव । भगस्य । जुष्टा । इयम् । अस्तु । नारी । सम्-प्रिया । पत्या । अवि-राधयन्ती ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे पूजनीय, वा महाधनी परमेश्वर, (यथा) जैसे (एषः) यह (चारुः) सुन्दर (आखरः) खोह वा मांद (मृगाणाम्) जंगली पशुओं का (प्रियः) प्रिय और (सुषदाः) रमणीक घर (बभूव) हुआ है [होता है], (एव =एवम्) ऐसे ही (इयम्) यह (नारी) नारी (भगस्य) ऐश्वर्यवान् [पति] की (जुष्टा) दुलारी और (संप्रिया) प्रियतमा होकर (पत्या) पति से (अविराधयन्ती) वियोग न करती हुती (अस्तु) रहे ॥ ४ ॥

---

११ । ५ । कुलशोधकान् बहुरक्षकान् वा वीरान् । **महिषी** । अ० २ । ३५ । ४ । मह पूजायाम्-टिषच् । टित्वान् ङीप् । पूजनीया । कृताभिषेका राजपत्नी । **भवाति** । भू-लेट् । भूयात् । **गत्वा** । प्राप्य । लब्ध्वा । **सुभगा** । सौभाग्यवती । **वि** । विशेषेण । **राजतु** । ईश्वरी तेजस्विनी भवतु ॥

४—**यथा** । येन प्रकारेण । **आखरः** । आङ् पूर्वात् खनु अवदारणे-डर प्रत्ययः, डित्वाट् टिलोपः । आखन्यते, आखरः । गर्तः । बिलम् । **मघवन्** । अ० २ । ५ । ७ । हे पूजनीय । हे धनवन् परमेश्वर । **चारुः** । अ० २ । ५ । १ । शोभनः । मनोज्ञः । **प्रियः** । प्री-क । हृद्यः । सुखकरः । **मृगाणाम्** । मृग

भावार्थ—जिस प्रकार आरण्यक नर नारी पशु आनन्द पूर्वक अपने बिलों में विश्राम करते हैं, इसी प्रकार मनुष्यजातीय पति पत्नी परस्पर मिल-जुल कर उपकार करते हुये सदा सुख से रहें ॥ ४ ॥

मनु भगवान ने कहा है—अ० ५ । १४८ ।

बाल्ये पितुर्वशे तिष्ठेत् पाणिग्राहस्य यौवने ।
पुत्राणां भर्तरि प्रेते न भजेत् स्त्री स्वतन्त्रताम् ॥ १ ॥

स्त्री बालकपन में पिता के, युवावस्था में पति के, और पति के मरने पर पुत्रों के वश में रहे, स्त्री स्वतन्त्रता का उपभोग न करे ॥

सायणभाष्य में (मघवन्) के स्थान में [मघवान्] और (अविराधयन्ती) के स्थान में [अभिराधयन्ती=अभि वर्धयन्ती, समृद्धा भवन्ती] है ॥

भग॑स्य॒ नाव॒मा रो॑ह पू॒र्णामनु॑पदस्वतीम् ।
तयो॑प॒प्रता॑रय॒ यो व॒रः प्र॑तिका॒म्यः॑ ॥ ५ ॥

भग॑स्य । नाव॑म् । आ । रो॒ह॒ । पू॒र्णाम् । अनु॑प-दस्वतीम् ।
तया॑ । उ॒प॒-प्रता॑रय । यः । व॒रः । प्र॒ति॒-का॒म्यः॑ ॥ ५ ॥

भावार्थ—[हे कन्या !] (भगस्य) ऐश्वर्य की (पूर्णाम्) भरी भरायी और (अनुपदस्वतीम्) अटूट (नावम्) नाव पर (आ रोह) चढ़ । और (तया) उस [नाव] से [अपने वर को] (उप-प्रतारय) आदर पूर्वक पार

अन्वेषणे-इगुपधत्वात् कः । पशूनाम् । **सुपदाः** । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-अतुन् । सुखेन स्थातुं योग्यः । सुखस्थानः । **एव** । एवम् । तथा । **भगस्य** । ऐश्वर्यवतः पत्युः । **जुष्टा** । प्रीता । **अस्तु** । भवतु । **सम्प्रिया** । सम्प्रियमाणा । **पत्या** । भर्त्रा । **अविराधयन्ती** । अ+विपूर्वात् राध वियोगे-शतृ, ङीप् । वियोगम् अकुर्वाणा । अन्यद् गतम् ॥

५—**भगस्य** । भजनीयस्य । ऐश्वर्यस्य । **नावम्** । ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २ । ६४ । इति णुद प्रेरणे-डौ । नुद्यते जले सा नौः । समुद्रादिसन्तरणार्थयानविशेषम् । पोतम् । समुद्रयानम् । गृहस्थाश्रमरूपम् । **आरोह** । अधितिष्ठ आरूढा भव । **पूर्णाम्** । पॄ पूर वा पूर्त्तौ-क्त, तस्य नः । पूरिताम् । कृतपूरणाम् ।

लगा, (यः) जो (वरः) वर (प्रति-काम्यः) प्रतिज्ञा करके चाहने [प्रीति करने] योग्य है ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में गृहपत्नी की भारी उत्तरदातृता [ज़िम्मेदारी] का वर्णन है। जैसे नाविक खान पान आदि आवश्यक सामग्री से लदी लदायी और बड़ी दृढ़ नौका से जल यात्रियों को समुद्र से पार लगाता है, वैसे ही गृहपत्नी अपने घर को धन धान्य आदि ऐश्वर्य से भर पूर और दृढ़ रक्खे और पति को नियम बांधकर पूरे प्रेम से प्रसन्न रखकर गृहस्थाश्रम से पार लगावे ॥ ५ ॥

आ क्रन्दय धनपते वरमामनसं कृणु ।
सर्वं प्रदक्षिणं कृणु यो वरः प्रतिकाम्यः ॥ ६ ॥

आ । क्रन्दय । धन-पते । वरम् । आ-मनसम् । कृणु ।
सर्वम् । प्र-दक्षिणम् । कृणु । यः । वरः । प्रति-काम्यः ॥६॥

भाषार्थ—(धनपते) हे धनों की रक्षा करने वाली [कन्या !] (वरम्) वर को (आ) आदर पूर्वक (क्रन्दय) बुला, और (आमनसम्) अपने मन के अनुकूल (कृणु) कर। [उस वर को] (सर्वम्) सर्वथा (प्रदक्षिणम्) अपनी दाहिनी ओर (कृणु) कर, (यः) जो (वरः) वर (प्रतिकाम्यः) नियम कर के चाहने योग्य है ॥ ६ ॥

अनुपदस्वतीम् । अनु+उप+दसु उपक्षये-क्विप्। मतुप्, मस्य वः । अखण्डिताम्। अक्षीणाम्। **तया** । नावा। **उपप्रतारय** । उप पूजया शक्त्या वा पारय। **यः** । पूर्वोक्तः। **वरः** । ऋदोरप्। पा० ३। ३। ५७। इति वृञ् वरणे-अप्। वरणीयः। श्रेष्ठः पतिः। जामाता **प्रतिकाम्यः** । कमु स्पृहि-णिङ्, कर्मणि यत् प्रति निश्चयेन प्रतिज्ञया कमनीयः कामनायोग्यः ॥

६—**आ क्रन्दय** । क्रदि आह्वाने। आदरेण आह्वय। **धनपते** । हे धनरक्षिके पत्नि। **वरम्** । वरणीयं पतिम्। **आमनसम्** । मन बोधे-असुन्। अभिमुखमनस्कम्। अनुकूलचित्तम्। **कृणु** । कुरु। **सर्वम्** । सर्वथा। **प्रदक्षिणम्** । द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५०। इति दक्ष-ङ् शीघ्रकरणे, वृद्धौ-इनन्। प्रगता दक्षिणा प्रतिष्ठा यस्य तम्। प्रतिष्ठायुक्तम्। प्रवृद्धम्। समर्थम्। प्रतिष्ठापूर्वकं स्वदक्षिणहस्तस्थितम्। अन्यद् व्याख्यातम् ॥

भावार्थ—पत्नी धनो की रक्षा करती है, वह पति को आदर पूर्वक बुलावे और उस की प्रसन्नता में अपनी प्रसन्नता जाने, और सदा उसे अपनी दाहिनी ओर रक्खें, अर्थात् जैसे दाहिना हाथ बायें हाथ की अपेक्षा अधिक सहायक होता है, इसी प्रकार पत्नी अपने पति को सब से अधिक अपना हितकारी जानकर सदा प्रीति से सत्कार मान करती रहे। इसी विधि से पति भी पत्नी को अपना हितकारी जाने, और उस के साथ प्रीति और प्रतिष्ठा के साथ वर्ताव रक्खे ॥ ६ ॥

टिप्पणी—१—विवाह संस्कार में वर का आसन बधू के दाहिने हाथ को किया जाता है॥

२—मन्त्र ५ और ६ का आशय मनु महाराज इस प्रकार कहते हैं—अ० ५। १५०॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

स्त्री घर के कामों में प्रसन्नचित्त और चतुर होवे, घर की सामग्री, बासन, वस्त्र आदि को संभाल कर रक्खे, और व्यय करने में हाथ संकोचे रक्खे ॥

इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः ।
एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥ ७ ॥

इदम् । हिरण्यम् । गुल्गुलु । अयम् । औक्षः । अथो इति । भगः । एते । पति-भ्यः । त्वाम् । अदुः । प्रति-कामाय । वेत्तवे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (हिरण्यम्) सुवर्ण और (गुल्गुलु) गुल्गुले [गुड़ का पका भोजन] (अथो) और (अयम्) यह (औक्षः) महात्माओं के योग्य [वा ऋषभ

७—इदम्। वराय दातव्यम्। हिरण्यम्। अ० १। ६। २। हृञ् हरणे, यद्वा, हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन्, हिरादेशश्च। हिरण्यं कस्माद्ध्रियत आयम्यमानमिति वा ह्रियते जनाज्जनमिति वा हितरमणं भवतीति वा हर्यतेर्वा स्यात् प्रेप्साकर्मणः—निरु० २। १०। सुवर्णम्। गुल्गुलु। कादिभ्यः कित्। उ० १। ११५।

औषध सम्बन्धी] (भगः) ऐश्वर्य है [और हे कन्या !] (एते) इन कन्या के पक्ष वालों ने (पतिभ्यः) पति पक्ष वालों के हितार्थ (त्वाम्) तुझे (प्रतिकामाय) प्रतिज्ञा पूर्वक कामना योग्य [पति] के लिये (वेत्तवे) लाभ पहुंचाने को (अदुः) दिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—कन्या के माता पिता आदि कन्या और वर को विवाह के उपरान्त दाय अर्थात् यौतुक [दैजा, जहेज़] में सुन्दर अलंकार, वस्त्र भोजन पदार्थ वाहन, गौ, धन आदि देवें, और कन्या को पति सेवा की यथा योग्य शिक्षा करें जिस से पति पत्नी मिलकर सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

(गुल्गुलु) पद के स्थान पर सायणभाष्य में [गुग्गुलु] पद है ॥

आ ते॑ नयतु सवि॒ता न॑यतु॒ पति॒र्यः प्र॑तिका॒म्यः॑ ।
त्वम॑स्यै धेह्योषधे ॥ ८ ॥

आ । ते॒ । न॒य॒तु॒ । स॒वि॒ता । न॒य॒तु॒ । पतिः॑ । यः । प्र॒ति॒ऽका॒म्यः॑ । त्वम् । अ॒स्यै॒ । धे॒हि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे कन्ये] (सविता) सर्व प्रेरक, सर्व जनक परमेश्वर (ते) तेरे लिये [उस पति को] (आ नयतु) मर्यादा पूर्वक चलावे, और (नयतु)

इति गुङ् अव्यक्तशब्दे—ड प्रत्ययः, इति गुडः । अकारलोपः । यद्वा गुड वेष्टे, रक्षे—क्विप्, ततो गुड—कु । डलयोरैक्याड् डस्य लत्वम् । गुड एव गुलः । गुडेन इक्षुपाकेन गुडितं वेष्टितं रक्षितं वा गुल्गुलु भोज्यम् । "गुलगुला"—इतिभाषा । अथो । अपि च । औक्षः । श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने—कनिन् । यद्वा, उक्ष—क । उक्षाः, महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उक्षाण उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेन वा—निरु० १२ । ६ । उक्षा ऋषभौषधिः—श० क० द्रु० । ततः, अण् प्रत्ययः । महतां योग्यः । ऋषभौषधिसंबन्धी । प्रलेपनद्रव्यम्—इति सायणः । **भगः** । भज—घञ् सेवनीयम् । ऐश्वर्यम् । **एते** । कन्यापक्षीयाः । **पतिभ्यः** । वरपक्षीयेभ्यः । तेषां हिताय । **त्वाम्** । कन्याम् । **अदुः** । दाञो लुङ् । दत्तवन्तः । **प्रतिकामाय** । प्रतिज्ञापूर्वकं कामनायोग्याय वराय । **वेत्तवे** । तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । इति विद्लृ लाभे—तवे प्रत्ययः । वेत्तुम् । लब्धुम् ॥

८—**आ** । समन्तात् । अनुकूलम् । **ते** । तुभ्यम् । **नयतु** । णीञ् नयने । प्रेरयतु । नायकं करोतु । **सविता** । अ० १ । १८ । २ । सर्वप्रेरकः । सर्वो पादकः

नायक बनावे, (यः पतिः) जो पति (प्रतिकाम्यः) प्रतिज्ञा पूर्वक चाहने योग्य है । (ओषधे) हे ताप नाशक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्यै) इस [कन्या] के लिये [उस पति को] (धेहि) पुष्ट रख ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह आशीर्वाद का मन्त्र है । पति और पत्नी उस सर्वनियन्ता परमेश्वर का सदा ध्यान करते हुये परस्पर हार्दिक प्रीति रखकर वेदोक्त मर्यादा पर चलें, जिस से वे दोनों प्रधान पुरुष और प्रधान स्त्री होकर संसार में कीर्त्तिमान् होवें, और अन्न आदि ओषधि के समान सुखदायक होकर सदा हृष्ट पुष्ट बने रहें ॥ ८ ॥

यजुर्वेद का वचन है-अ० ४० म० २ ।

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ॥

मनुष्य (इह) यहां (कर्माणि) वेदोक्त कर्मों को (कुर्वन्) करता हुआ (एव) ही (शतम्) सौ (समाः) वर्ष तक (जिजीविषेत्) जीवन की इच्छा करे ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति द्वितीयं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्री **सयाजीरावगयकवाडा**-
धिष्ठित वडोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेद-
भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित **क्षेमकरणदास त्रिवेदिना** कृते
अथर्ववेदभाष्ये द्वितीयं काण्डं समाप्तम् ।

इदं काण्डं प्रयागनगरे वैशाखमासे अक्षयायाम् [शुक्लतृतीयायाम्] १९७० तमे
विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-
श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम-
महोदयस्य सुसाम्राज्ये
सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—भाद्रकृष्ण जन्माष्टमी संवत् १९७० ता० २५ अगस्त १९१३ ॥

परमेश्वरः । **पतिः** । म० ३ । ऐश्वर्यवान् । भर्त्ता । **प्रतिकाम्यः** । म० ५ । प्रतिज्ञया कमनीयः । **अस्यै** । वधूहितार्थम् । **धेहि** । डुधाञ् धारणपोषणयोः-लोट् । धारय । पोषय । वर्धय । **ओषधे** । अ० १ । २३ । १ । हे तापभक्षक परमेश्वर ॥

—:o:—

श्रीयुत पं० **शिवशङ्कर जी** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक काङ्गड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र = फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।...आप बहुत दिनों तक सर्कारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य।

श्रीयुत पण्डित **भीमसेन शर्मा**—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में..... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत पण्डित **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है। आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है॥

श्रीयुत पण्डित **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये भाषार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है.. वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य्य लिया जा सकता है॥

बावू **कालिका प्रसाद जी** सिल्कमर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्र संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें।.. आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् at Rs. 1-4-0 per copy. It has been sanctioned for the use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address label "For Encouragement Fund."

हवनमन्त्राः—सम्मतियां।

पण्डित **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि. सम्पादक आर्यमित्र, आगरा ८ फ़रवरी १९१३।.........आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उन का सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इस में किया गया है। अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये॥

सद्धर्म प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८···आज कल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश, मेरठ—मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था. इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी** गवर्नमेंट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। —आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप० मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

रुद्राध्यायः—मूल मात्र, बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

२५ अगस्त १९१३। } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अग्निर्नः शत्रून्	अग्नि आदि	युद्ध विद्या	त्रिष्टुप् आदि
२	अग्निर्नो दूतः	अग्नि आदि	सेनापति कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३	अचिक्रदत् स्वपा	इन्द्र	राजा, प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
४	आ त्वा गन् राष्ट्रं	इन्द्र	राज तिलक	त्रिष्टुप् ।
५	आयमगन् पर्णो	पर्ण मणि	तेज, बल, धन	त्रिष्टुप् आदि
६	पुमान् पुंसः परि	अश्वत्थ	उत्साह बढ़ाना	अनुष्टुप् ।
७	हरिणस्य रघुष्यदो	हरिण आदि	रोग नाश	अनुष्टुप् ।
८	आ यातु मित्र	प्रजापति	प्रीति उत्पादक कर्म	त्रिष्टुप् आदि
९	कर्शफस्य विशफस्य	प्रजापति	विघ्न शान्ति	अनुष्टुप् ।
१०	प्रथमा ह व्युवास सा	रात्रि	पुष्टि बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
११	मुञ्चामि त्वा हविषा	राजयक्ष्मघ्न	रोग नाश	त्रिष्टुप् आदि
१२	इहैव ध्रुवां नि मिनोमि	शाला	शाला निर्माण	त्रिष्टुप् आदि
१३	यदद: संप्रयति	आपः	जल के गुण	अनुष्टुप् आदि
१४	सं वो गोष्ठेन	गावः	गोरक्षा	अनुष्टुप् आदि
१५	इन्द्रमहं वणिजं	इन्द्र	व्यापार लाभ	त्रिष्टुप् आदि
१६	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं	भग उषा आदि	प्रभाती गीत	त्रिष्टुप् आदि
१७	सीरा युञ्जन्ति	कृषीवल	खेती विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१८	इमां खनाम्योषधिं	सपत्नी बाधन	अविद्या नाश	अनुष्टुप् आदि
१९	संशितं म इदं ब्रह्म	पुरोहित	युद्ध विद्या	अनुष्टुप् आदि
२०	अयं ते योनिर्	अग्नि आदि	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् आदि
२१	ये अग्नयो अप्स्व	अग्नि आदि	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् आदि
२२	हस्तिवर्चसं प्रथतां	विश्वे देवाः	कीर्ति पाना	त्रिष्टुप् आदि
२३	येन वेहद् बभूविथ	माता	वीर सन्तान	अनुष्टुप् आदि
२४	पयस्वतीरोषधयः	प्रजापति	धान्य बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि
२५	उत्तुदस्त्वोत् तुदतु	काम	अविद्या नाश	अनुष्टुप् ।
२६	ये ३ स्यां स्थ प्राच्यां	मन्त्रोक्त	मारू गीत	जगती वा त्रिष्टुप्
२७	प्राची दिगग्निरधिपति	मन्त्रोक्त	सेना का व्यूह	त्रिष्टुप् आदि
२८	एकैकयैषा सृष्ट्या	यमिनी	उत्तम नियम	जगती आदि
२९	यद् राजानो विभज	अवि	परमेश्वर भक्ति	अनुष्टुप् आदि
३०	सहृदयं सांमनस्य	प्रजापति	परस्पर मेल	अनुष्टुप् आदि
३१	वि देवा जरसावृतन्	प्रजापति	आयु बढ़ाना	अनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड ३ के मन्त्र अन्य वेदोंमें सम्पूर्ण या कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ३) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, काठक, कपिष्ठल, मैत्रायणी
१	अमीषां चित्तानि	२।५	१०।१०३।१२	१७।४४	उ०६।३।५
२	असौ या सेना मरुतः	२।६		१७।४७	
३	सा नः पयस्वती	१०।१	४।५७।७		
४	पूर्णा दर्वे परापत	१०।७		३।४९	
५-८	मुञ्चामि त्वा हविषा	११।१-४	१०।१६१।१-४		
९	इध्मेनाग्ने इच्छमानो	१५।३	३।१८।३		
१०	इमामग्ने शरणिं	१५।४	१।३१।१६		
११-१७	प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं	१६।१-७	७।४१।१-७	३४।३४-४०	
१८	सीरा युञ्जन्ति	१७।१	१०।१०१।४	१२।६७	
१९	युनक्त सीरा वि	१७।२	१०।१०१।३	१२।६८	
२०	लाङ्गलं पवीरवत्	१७।३		१२।७१	
२१	इन्द्रः सीतां नि	१७।४	४।५७।४		
२२	शुनं सुफाला वि	१७।५	४।५७।८	१२।६९	
२३-२५	शुनं वाहा शुनं नरः	१७।६-८	४।५७।४-६		
२६	घृतेन सीता मधुना	१७।९		१२।७०	
२७-३२	इमां खनाम्योषधिं	१८।१-६	१०।१४५।१-६		
३३	उद्धर्षन्तां मघवन्	१९।६	१०।१०३।१०	१७।४२	
३४	प्रेता जयता नर	१९।७	१०।१०३।१३	१७।४६	
३५	अवसृष्टा परा पत	१९।८	६।७५।१६	१७।४५	
३६	अयं ते योनिर्	२०।१	३।२९।१०	३।१४॥१२।५२	
३७-३८	अग्ने अच्छा वदेह नः	२०।२-३	१०।१४१।१-२	९।२८,२९	
३९	सोमं राजानमवसे	२०।४	१०।१४१।३	९।२६	
४०	त्वं नो अग्ने अग्निभिर्	२०।५	१०।१४१।६		
४१	इन्द्रवायू उभाविह	२०।६	१०।१४१।४	३३।८६	
४२	अर्यमणं बृहस्पति	२०।७	१०।१४१।५	९।२७	
४३	वाजस्य नु प्रसवे	२०।८		१९।२५,२४	
४४	कइदं कस्मा अदात्	२९।७		७।४८	
४५	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	३१।५	१०।१७।१०		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

तृतीयं काण्डम्

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—६ ॥ १ अग्निः, २ मरुतः, ३—६ इन्द्रश्च देवताः। १, २, ४ त्रिष्टुप्; ३, ६ अनुष्टुप्; ५ स्वराड् गायत्री ॥

युद्धविद्योपदेशः—युद्ध विद्या का उपदेश ॥

अग्निर्नः शत्रून् प्रत्येतु विद्वान् प्रतिदहन्नभिशस्तिमरातिम्। स सेनां मोहयतु परेषां निर्हस्तांश्च कृणवज्जातवेदाः ॥ १ ॥

अग्निः। नः। शत्रून्। प्रति। एतु। विद्वान्। प्रति-दहन्। अभि-शस्तिम्। अरातिम् ॥ सः। सेनाम्। मोहयतु। परेषाम्। निः-हस्तान्। च। कृणवत्। जात-वेदाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी] (विद्वान्) विद्वान् राजा (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रति-

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—अग्निः। अ० १।६।२। अङ्गति गच्छति जानाति व्याप्नोतीति वा। विद्वान्। अग्निवत्तेजस्वी। अग्निशब्दो

दहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ, (नः) हमारे (शत्रून्) शत्रुओं पर (प्रति, एतु) चढ़ाई करे। (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला वा बहुत धनवाला राजा (परेषाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे, (च) और [उन वैरियों को] (निर्हस्तान्) निहत्था (कृणवत्) कर डाले ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा में अपकीर्त्ति और अशान्ति फैलावें, विद्वान् अर्थात् नीतिनिपुण राजा ऐसे दुष्टों और उनके साथियों को यथावत् दण्ड देवे, जिससे वे लोग निर्बल होकर उपद्रव न मचा सकें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सूक्त २ में मन्त्र १ है।

यूयमुग्रा मरुत ईदृशे स्थाभि प्रेत मृणत सहध्वम्। अमीमृणन् वसवो नाथिता इमे अग्निर्ह्येषां दूतः प्रत्येतु विद्वान् ॥ २ ॥

यूयम्। उग्राः। मरुतः। ईदृशे। स्थ। अभि। प्र। इत। मृणत। सहध्वम् ॥ अमीमृणन्। वसवः। नाथिताः। इमे।

भगवता यास्केन बहुधा व्याख्यातः—निरु० ७।१४।नः। अस्माकम्। शत्रून्। अ० २। ५। ३। शातयितॄन्। द्वेष्यान्। प्रत्येतु। प्रतिमुखं गच्छतु। विद्वान्। अ० २। १। २। विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः। जयोपायं जानन्। प्रतिदहन्। प्रातिकूल्येन भस्मीकुर्वन्। अभिशस्तिम्। शसु हिंसायाम् क्तिन्। मिथ्यापवादम्। अरातिम्। शत्रुताम्। सः। राजा। सेनाम्। कॄवृजॄसिद्रु०। उ०। ३। १०। इति षिञ् बन्धने-न। सेना सेश्वरा समानगतिर्वा निरु० २। ११। सिनोति बध्नाति व्यूहं युद्धार्थम्। सैन्यम्। मोहयतु। व्याकुलां करोतु। परेषाम्। शत्रूणाम्। निर्हस्तान्। हस्तव्यापारशून्यान्। आयुधग्रहणासमर्थान्। कृणवत्। कृवि हिंसाकरणयोः—लिङर्थे लेट्। अडागमः। कुर्यात्। जातवेदाः। अ० १। ७। २। जातप्रज्ञानः। जातधनः॥

अ॒ग्निः । हि । ए॒षा॒म् । दू॒तः । प्र॒ति-ए॒तु । वि॒द्वान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुघातक शूरो ! (यूयम्) तुम (ईदृशे) ऐसे [कर्म, संग्राम] में (उग्राः) तीव्रस्वभाव (स्थ) हो। (अभि, प्र, इत) आगे बढ़ो, (मृणत) मारो, और (सहध्वम्) जीत लो। (इमे) इन (नाथिताः) प्रार्थना किये हुये (वसवः) श्रेष्ठ पुरुषों [मरुत् गणों] ने [दुष्टों को] (अमीमृणन्) मरवा डाला है। (एषाम्) इन शत्रुओं का (दूतः) दाहकारी (अग्निः) अग्नि [समान] (विद्वान्) विद्वान् राजा (हि) अवश्य करके (प्रत्येतु) चढ़ाई करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो शूरवीर संग्रामविजयी हों, और जो वैरियों के नाश करने में सहायक रहे हों, उन वीरों को अग्रगामी करें और उन का उत्साह बढ़ाते रहें, और राजा विजयी सेनापतियों की पुष्टि करता हुआ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ २ ॥

टिप्पणी—(मरुतः) देवताओं के लिये अ० १ । २० । १ देखिये ॥

अ॒मि॒त्र॒सेनां॑ मघव॒न्नस्माञ्छ॑त्रूय॒तीम॒भि ।
यु॒वं तानि॑न्द्र वृत्रह॒न्नग्नि॑श्च दहतं॒ प्रति॑ ॥ ३ ॥

२—उग्राः । उत्कटाः । मरुतः । अ० १ । २० । १ । मारयन्ति शत्रून् दोषान् वा । शत्रुनाशकाः शूराः । ईदृशे । इदम् + दृशिर् प्रेक्षणे—कञ् । एतत्सदृशे कर्मणि संग्रामलक्षणे । स्थ । भवथ । अभि । आभिमुख्येन । प्र इत । इण् गतौ । प्रकर्षेण गच्छत । मृणत । मृण हिंसायाम् । मारयत । सहध्वम् । अभिभवत । अमीमृणन् । मृणतेर्ण्यन्ताच्छान्दसे लुङि चङि । उर्ऋत् । नित्यं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७, ८ । इति ऋदादेशः । नाशितवन्तः । वसवः । अ० १ । ९ । १ । प्रशस्ता देवाः । नाथिताः । नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—क्त । प्रार्थिताः सन्तः । इमे । प्रशंसिताः । अग्निः । ज्ञानवान् तेजस्वी वा राजा । हि । अवश्यम् । एषाम् । उपस्थितानां शत्रूणाम् । दूतः । अ० १ । ७ । ६ । टुदु उपतापे—क्त, दीर्घश्च । दुनोत्युपतापयतीति । संतापकः । प्रत्येतु । प्रतिगच्छतु । विद्वान् । नीतिकुशलः ॥

अमित्र-सेनाम् । मघ-वन् । अस्मान् । शत्रु-यतीम् । अभि ॥
युवम् । तान् । इन्द्र । वृत्र-हन् । अग्निः । च । दहतम् । प्रति ॥३॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे धनवान्, (वृत्रहन्) अन्धकार वा शत्रुओं के नाश करने वाले, (इन्द्र) सूर्य [समान तेजस्वी] (च) और (अग्निः) हे अग्नि [समान शत्रुदाहक] ! (युवम्) तुम दोनों (अस्मान्) हम पर (शत्रूयतीम्) शत्रुओं के समान आचरण करती हुई (अमित्रसेनाम्) वैरियों की सेना को (अभि=अभिभूय) हराकर (तान्) चोरों वा म्लेच्छों को (प्रति,दहतम्) जला डालो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार का नाश करके और अग्नि अशुद्धतादि दुर्गुणों को जलाकर हटाते और अनेक प्रकार से उपयोगी होते हैं, ऐसे ही धनी और प्रतापी राजा कुमार्गियों को मिटाकर उपकारी होवें ॥ ३ ॥

प्रसू॑त इन्द्र प्रवता हरि॑भ्यां प्र ते॒ वज्रः॑ प्रमृणन्ने॑तु शत्रू॑न् । ज॒हि प्रतीचो॑ अनूचः॒ परा॑चो॒ विष्व॑क् स॒त्यं कृ॑णुहि चि॒त्तमे॑षाम् ॥ ४ ॥

प्र-सू॑तः । इन्द्र॒ । प्र-वता॑ । हरि॑-भ्याम् । प्र । ते॒ । वज्रः॑ ।
प्र-मृ॒णन् । ए॒तु॒ । शत्रू॑न् ॥ ज॒हि । प्र॒तीचः॑ । अ॒नूचः॑ । परा॑चः ।

३—अमित्रसेनाम्। अमित्रशब्दो व्याख्यातः—अं०२।२८।३। अम पीडने इत्रच्। पीडकसेनाम्। मघवन्। हे धनवन्। अस्मान्। प्रजागणान्। शत्रूयतीम्। उपमानादाचारे। पा०३।१।१०। इति शत्रु—क्यच्। अकृत्सार्वधातुकयोः। पा० ७।४।२५। इति दीर्घः। तदन्तात् शतरि। उगितश्च। पा० ४। १।६। इति ङीप्। शतुरनुमो०। पा०६।१।१७३। इति ङीप उदात्तत्वम्। शत्रूनिव आचरन्तीम्। अभि। अभिभूय। युवम्। युवाम्। तान्। तर्द हिंसे—ड। तर्दति हिनस्तीति तः। चोरान्। म्लेच्छान्। इन्द्र। सूर्यवत्प्रतापिन्। वृत्रहन्। अं० १।२१।१। हे अन्धकारनाशक। शत्रुघातक। अग्निः। हे अग्निवद् दाहक। च। समुच्चये। दहतम्। भस्मीकुरुतम्। प्रति। प्रातिकूल्येन ॥

विष्वक् । सत्यम् । कृणुहि । चित्तम् । एषाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन्! (प्रवता) उत्तम गति वा मार्ग से (हरिभ्याम्) स्वीकरण और प्रापण [ग्रहण और दान] के साथ (ते) तेरा (प्रसूतः) चलाया हुआ (वज्रः) वज्र अर्थात् दण्ड (शत्रून्) शत्रुओं को (प्रमृणन्) पीड़ा देता हुआ (प्र, एतु) आगे चले । (प्रतीचः) सन्मुख आते हुए, (अनूचः) पीछे से आते हुये और (पराचः) तिरस्कार करके चलते हुये [शत्रुओं] को (जहि) नाश करदे, और (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (चित्तम्) चित्त को (विष्वक्) सब प्रकार (सत्यम्) सत्पुरुषों का हितकारी (कृणु) बना दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ राजा प्रजा और शत्रुओं से कर लेकर उन के हित कार्य में लगावे, जिस से सब बाहिरी और भीतरी शत्रु लोग नष्ट होकर दबे रहें और श्रेष्ठों का पालन किया करें ॥ ४ ॥

४—**प्रसूतः** । षू प्रेरणे-क्त । प्रेरितः । प्रवर्त्तितः । **इन्द्र** । हे प्रतापिन् राजन् । **प्रवता** । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गात् साधने धात्वर्थे वर्त्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । प्रवत उद्वतो निवत इत्यवतिर्गतिकर्मा—निरु० १० । २० । प्रकृष्टगत्या मार्गेण, प्रावनेन वा । **हरिभ्याम्** । इपिपिरुहि० । उ० ४ । ११९ । इति हृञ् हरणे-इन् । हरणं स्वीकारः प्रापणं स्तेयं नाशनं च । हरिः स्वीकारो ग्रहणं, प्रापणं दानं च ताभ्यां ग्रहणदानाभ्याम् । **ते** । तव । **वज्रः** । दण्डरूपः । **प्रमृणन्** । प्रकर्षेण हिंसन् । **प्र,एतु** । प्रगच्छतु । **शत्रून्** । अरातीन् । **जहि** । हन वधगत्योः । विनाशय । **प्रतीचः** । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति प्रति+अञ्चतेः क्विन् अनिदिताम्० । पा० ६ । ४ । २४ । इति न लोपः । शसि । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इत्यलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । प्रतिमुखमागच्छतः शत्रून् । **अनूचः** । अनु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । पूर्ववत् सिद्धिः । अनु पश्चाद् आगच्छतः । **पराचः** । परा+अञ्चु-क्विन् । पूर्ववत् सिद्धिः । परा तिरस्कृत्य पराङ्मुखं वा गच्छतः । **विष्वक्** । विषु+अञ्चु—क्विन् । सर्वतः । **सत्यम्** । सद्भ्यो हितम् । **कृणुहि** । उतश्च प्रत्ययाच्छन्दसि वा वचनम् । वा० पा० ६ । ४ । १०६ । इति हेरलुक् । कृणु, कुरु । **चित्तम्** । अन्तःकरणम् **एषाम्** । शत्रूणाम् ॥

इन्द्र सेनां मोहयामित्राणाम् ।
अग्नेर्वातस्य ध्राज्या तान् विषूचो वि नाशय ॥५॥

इन्द्र । सेनाम् । मोहय । अमित्राणाम् ॥ अग्नेः । वातस्य । ध्राज्या । तान् । विषूचः । वि । नाशय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (सेनाम्) सेना को (मोहय) व्याकुल करदे । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (विषूचः) सब ओर फिरने वाले (तान्) चोरों को (वि,नाशय) नाश कर डाल ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सेना के बल से शत्रु सेना को जीते और जैसे दावानल वन को भस्म करता और प्रचंड वायु वृक्षादि को गिरा देता है, वैसे ही विघ्नकारी वैरियों को मिटाता रहे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । २ । ३ । में आया है ।

इन्द्रः सेनां मोहयतु मरुतो घ्नन्त्वोजसा ।
चक्षूंष्यग्निरा दत्तां पुनरेतु पराजिता ॥ ६ ॥

इन्द्रः । सेनाम् । मोहयतु । मरुतः । घ्नन्तु । ओजसा ॥ चक्षूंषि । अग्निः । आ । दत्ताम् । पुनः । एतु । परा-जिता ॥६॥

५—इन्द्र । हे परमैश्वर्य राजन् । सेनाम् । चमूम् । पृतनाम् । मोहय । मूढ़ां कुरु । अमित्राणाम् । म० ३ । पीड़कानां शत्रूणाम् । अग्नेः । पावकस्य । वातस्य । पवनस्य । ध्राज्या । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ध्रज गतौ-इञ् । वेगगत्या । तान् । म० ३ । चोरान् । विषूचः । विषु+अन्चु-क्विन् । जसि (प्रतीचः) इति शब्दवत् सिद्धिः—म० ४ । सर्वतः प्राप्तान् । वि,नाशय । विध्वंसय ॥

भाषार्थ— (इन्द्रः) प्रतापी सूर्य (सेनाम्) [शत्रु] सेनाको (मोहयतु) व्याकुल करदे । (मरुतः) दोष नाशक पवन के झोके (ओजसा) बल से (घ्नन्तु) नाश करदें । (अग्निः) अग्नि (चक्षूंषि) नेत्रों को (आ, दत्ताम्) निकाल लेवे । [जिससे] (पराजिता) हारी हुई सेना (पुनः) पीछे (एतु) चली जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—युद्धकुशल सेनापति राजा अपनी सेना का व्यूह ऐसा करे जिससे उसकी सेना सूर्य, वायु और अग्नि वा बिजुली और जल के प्रयोग वाले अस्त्र, शस्त्र, विमान, रथ, नौकादि के बल से शत्रु सेना को नेत्रादि से अंग भंग करके सर्वदा हराकर भगा दे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—६ ॥ १—२ अग्निः, ३—४ इन्द्रः, ५ अप्वा । ६ मरुतो देवताः । १, ५, ६ त्रिष्टुप्, २—४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्यमुपदिश्यते । सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अ॒ग्निर्नो॑ दू॒तः प्र॒त्ये॑तु वि॒द्वान् प्र॑ति॒दह॑न्न॒भिश॑स्ति॒मरा॑तिम् । स चि॒त्तानि॑ मोहयतु॒ परे॑षां॒ निर्ह॑स्तांश्च कृणव॒ज्जात॑वेदाः ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । नः॒ । दू॒तः । प्र॒ति॒-ए॒तु॒ । वि॒द्वान् । प्र॒ति॒-दह॑न् । अ॒भि-श॑स्तिम् । अरा॑तिम् ॥ सः । चि॒त्तानि॑ । मो॒ह॒य॒तु॒ । परे॑षाम् । निः-ह॑स्तान् । च॒ । कृ॒ण॒व॒त् । जा॒त-वे॑दाः ॥ १ ॥

६—इन्द्रः । प्रतापी सूर्यः । मरुतः । दोषनाशका वायुवेगाः । घ्नन्तु । हन-लोट् । नाशयन्तु । ओजसा । शस्त्रास्त्रादीनां बलेन । चक्षूंषि । अक्षीणि । नेत्राणि । अग्निः । अग्निप्रयोगः । आ, दत्ताम् । अपहरतु । पुनः । पश्चात् । निवर्त्य । एतु गच्छतु । पराजिता । पराभूता सती । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च ॥

भाषार्थ-(अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी], (दूतः) अग्रगामी वा तापकारी (विद्वान्) विद्वान् राजा (नः) हमारे लिये (अभिशस्तिम्) मिथ्या अपवाद और (अरातिम्) शत्रुता को (प्रतिदहन्) सर्वथा भस्म करता हुआ (प्रत्येतु) चढ़ाई करे। (सः) वह (जातवेदाः) प्रजाओं का जानने वाला [सेनापति] (परेषाम्) शत्रुओं के (चित्तानि) चित्तों को (मोहयतु) व्याकुल कर देवे (च) और [उनको] (निर्हस्तान्) निहत्ता (कृणवत्) कर डाले ॥ १॥

भावार्थ-राजा सेनादि से ऐसा प्रबन्ध रक्खे कि प्रजा गण आपस में मिथ्या कलङ्क न लगावें और न वैर करें और दुराचारियों को दंड देता रहे कि वे शक्तिहीन होकर सदा दबे रहें, जिससे श्रेष्ठों को सुख मिले और राज्य बढ़ता रहे ॥ १॥

यह मन्त्र इसी काण्ड में सूक्त १ मन्त्र १ कुछ भेद से है।

अ॒यम॒ग्निर॑मूमुह॒द् यानि॑ चि॒त्तानि॑ वो हृ॒दि ।
वि वो॑ धम॒त्वोक॑सः॒ प्र वो॑ धमतु स॒र्वतः॑ ॥ २ ॥

अ॒यम् । अ॒ग्निः । अ॒मू॒मु॒ह॒त् । यानि॑ । चि॒त्तानि॑ । वः॒ । हृ॒दि ॥
वि । वः॒ । ध॒म॒तु॒ । ओक॑सः । प्र । वः॒ । ध॒म॒तु॒ । स॒र्वतः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] ने (चित्तानि) उन ज्ञानों को (अमूमुहत्) उलट पलट कर दिया है (यानि) जो (वः) तुम्हारे (हृदि) हृदय में [थे]। वह (वः) तुम को (ओकसः) घर से (वि, धमतु) निकाल देवे, वह (वः) तुम को (सर्वतः) सब स्थान से (प्र, धमतु) बाहिर कर देवे ॥ २॥

१-दूतः । अ० १।७।६। दु गतौ-यद्वा, टुदु उपतापे-क्त । अग्रेसरः। उपतापकः। चित्तानि । अन्तःकरणानि । अन्यद् व्याख्यातम्-सू० १ म० १ ॥

२—अयम् । समीपवर्ती । प्रसिद्धः । अग्निः। ज्ञानवान् । अग्निवत्तेजस्वी । अमूमुहत्। मुहेर्ण्यन्ताद् लुङि चङि रूपम् । व्याकुलीकृतवान् । चित्तानि। ज्ञानानि । वः । युष्माकम् । हृदि । हृञ् हरणे-क्विप्, तुक्, तस्य दः । हृदये ।

भावार्थ—जिस सेनापति राजा ने दुष्टों को वश में करके रक्खा था, वह राजा विरोधियों को प्रतिज्ञा भंग करने पर देश निकाला आदि दण्ड देवे ॥ २ ॥

इन्द्र॑ चि॒त्तानि॑ मो॒हय॑न्न॒र्वाङाकू॑त्या चर ।
अ॒ग्नेर्वात॑स्य॒ ध्राज्या॒ तान् विषू॑चो॒ वि ना॑शय ॥३॥

इन्द्र॑ । चि॒त्तानि॑ । मो॒हय॑न् । अ॒र्वाङ् । आ-कू॑त्या । च॒र ॥
अ॒ग्नेः । वात॑स्य । ध्राज्या॑ । तान् । विषू॑चः । वि । ना॒श॒य ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! [शत्रुओं के] (चित्तानि) चित्त को (मोहयन्) व्याकुल करता हुआ (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (आकूत्या) उत्तम संकल्प से (चर) आ । (अग्नेः) अग्नि के और (वातस्य) पवन के (ध्राज्या) झोके से (तान्) उन (विषूचः) विरुद्ध गति वालों को (वि, नाशय) नाश कर डाल ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि और वायु मिलकर प्रचंड होजाते हैं, इसी प्रकार राजा प्रचण्ड होकर दुष्टों को दंड देवे और सत्कर्मी पुरुषों का शिष्टाचार करे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा अ० ३ । १ । ५ । में आ चुका है ।

वि । विशेषेण । वः । युष्मान् । धमतु । धमति, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । वधकर्मा—निघ० २ । १९ । सौत्रो धातुः । अन्तर्भावितण्यर्थः । धमयतु । गमयतु । निः सारयतु । ओकसः । उच समवाये- असुन्, गुणः, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । गृहात् । सर्वतः । सर्वप्रकारेण । अन्यत् सुगमम् ॥

३—इन्द्र । हे परमैश्वर्यवन् राजन् । चित्तानि । मनांसि । मोहयन् । व्याकुलीकुर्वन् । अर्वाङ् । अवरे काले देशे वा अञ्चति । अवर+अञ्चु—क्विन्, अर्वादेशः । अस्मदभिमुखः । आकूत्या । आङ्+कूङ् शब्दे-क्तिन् । संकल्पेन । अन्यद् व्याख्यातं सू० १ म० ५ ॥

व्याकूतय एषामितार्थो चित्तानि मुह्यत ।
अथो यदद्यैषां हृदि तदेषां परि निर्जहि ॥ ४ ॥

वि । आ-कूतयः । एषाम् । इत । अथो इति । चित्तानि । मुह्यत ॥ अथो इति । यत् । अद्य । एषाम् । हृदि । तत् । एषाम् । परि । निः । जहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—हे (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (आकूतयः) विचारो ! (वि) उलट पलट होकर (इत) चले जाओ, (अथो) और हे (चित्तानि) इनके चित्तो ! (मुह्यत) व्याकुल होजाओ ।

(अथो) और [हे राजन्] (यत्) जो कुछ [मनोरथ] (अद्य) अब (एषाम्) इनके (हृदि) हृदय में है, (एषाम्) इनके (तत्) उस [मनोरथ] को (परि) सर्वथा (निर्जहि) नाश करदे ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीतिकुशल राजा दुराचारियों में परस्पर मतभेद करादे और उनका मनोरथ सिद्ध न होने दे ॥ ४ ॥

अमीषां चित्तानि प्रतिमोहयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि ।
अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैर्ग्राह्यामित्रांस्तमसा विध्य शत्रून् ॥ ५ ॥

अमीषाम् । चित्तानि । प्रति-मोहयन्ती । गृहाण । अङ्गानि । अप्वे । परा । इहि ॥ अभि । प्र । इहि । निः । दह । हृत्-

४—आकूतयः । म० ३ । हे सङ्कल्पाः । मनोरथाः । एषाम् । शत्रूणाम् । वि,इत । विरोधेन गच्छत । अथो । अपि च । चित्तानि । मनांसि । मुह्यत । व्याकुलानि भवत । यत् । प्रयोजनम् । अद्य । इदानीम् । हृदि । मनसि । तत् । प्रयोजनम् । परि । परितः । सर्वतः । निः । नितराम् । जहि । नाशय ॥

सु । शोकैः । ग्राह्या । अमित्रान् । तमसा । विध्य । शत्रून् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अप्वे) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देनेवाली सेना (अमीषाम्) उन [शत्रुओं] के (चित्तानि) चित्तों, और (अङ्गानि) शरीर के अवयवों और सेना विभागों को (प्रतिमोहयन्ती) व्याकुल करती हुई (गृहाण) पकड़ ले, और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि) चारों ओर से (प्र, इहि) धावा कर, (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन करदे, और (ग्राह्या) ग्रहण शक्ति [बन्धनादि] से और (तमसा) अन्धकार से (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले (शत्रून्) शत्रुओं को (विध्य) छेद डाल ॥ ५ ॥

भावार्थ—सेनापति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि उसकी उत्साहित सेना धावा करके अश्ववार अश्ववारों को, रथी रथियों को, पदाति पदातियों को व्याकुल करदें, अर्थात् आग्नेय अस्त्रों से धूंआ धड़क, और वारुणेय अस्त्रों से मन्धन में करके जीत लें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का ऋग्वेद १० । १०३ । १२, यजुर्वेद १७ । ४४, साम वेद उ० ६ । ३ । ५, तथा निरुक्त ६ । ३३ में इस प्रकार समान पाठ है ।

अमीषां चित्तं प्रतिलोभयन्ती गृहाणाङ्गान्यप्वे परेहि । अभि प्रेहि निर्दह हृत्सु शोकैरन्धेनामित्रास्तमसा सचन्ताम् ॥

(अप्वे) हे शत्रुओं को मार डालने वा हटा देनेवाली सेना । (अमीषाम्) उनके (चित्तम्) चित्त को (प्रतिलोभयन्ती) व्याकुल करती हुई (अङ्गानि) अङ्गों को (गृहाण) पकड़ ले और (परा, इहि) पराक्रम से चल । (अभि)

५—अमीषाम् । अदस्-शब्दस्य रूपम् । परिदृश्यमानानां शत्रूणाम् । चित्तानि । मनांसि । प्रतिमोहयन्ती । मुह वैचित्ये-हेतौ शतृ । सर्वथा व्याकुलीकुर्वती । गृहाण । वशीकुरु । अङ्गानि । शरीरावयवान् । सेना विभागान् । अप्वे । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति अपपूर्वात् व

चारों ओर से (प्र,इहि) आगे बढ़ (हृत्सु) उनके हृदयों में (शोकैः) शोकों से (निर्दह) जलन करदे। (अन्धेन) गाढ़े [दृष्टि रोकने वाले] (तमसा) अन्धकार से (अमित्राः) पीड़ा देनेवाले लोग (सचन्ताम्) संयुक्त हो जावें ॥

असौ या सेना मरुतः परेषामस्मानैत्यभ्योजसा स्पर्धमाना। तां विध्यत तमसापव्रतेन यथैषामन्यो अन्यं न जानात् ॥ ६ ॥

असौ। या। सेना। मरुतः। परेषाम्। अस्मान्। आ-एति। अभि। ओजसा। स्पर्धमाना ॥ ताम्। विध्यत। तमसा। अपव्रतेन। यथा। एषाम्। अन्यः। अन्यम्। न। जानात् ॥ ६॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शूर पुरुषो ! (परेषाम्) वैरियों की (असौ) वह (या) जो (सेना) सेना (अस्मान्) हम पर (अभि) चारों ओर से (ओजसा) बल के साथ (स्पर्धमाना) ललकारती हुयी (आ-एति) चढ़ी

गतिहिंसनयोः, अथवा, वेञ् तन्तुसन्ताने, ऊन्दर्तिरत्यर्थात् उ प्रत्ययः। अथवा। शेवायह्वजिह्वाग्रीवाऽप्वामीवाः। उ० १। १५४। इति आप्लृ व्याप्तौ-वन्। टाप्। छान्दसं रूपम्। अप्वा यदेनया विद्धोऽपवीयते। व्याधिर्वा भयं वा। निरु० ६। १२। अपवाति हिनस्ति, यद्वा, अपवयति अपगमयति वा आप्नोति शत्रून् सा अप्वा तत्संबुद्धौ। **परा**। पराक्रमेण। **इहि**। गच्छ। **अभि**। अभितः सर्वतः। **प्र**। प्रकर्षेण **निः**। नितराम्। **दह**। दहनं कुरु। **हृत्सु**। हृदयेषु। **शोकैः**। शुच शोके—घञ्। खेदैः। **ग्राह्या**। अ० २। ६। १। ग्रह आदाने इञ्। ग्रहण-शक्त्या। बन्धनादिना। **अमित्रान्**। अ० १। १६। २। पीडकान्। **तमसा**। अन्धकारेण। आग्नेयास्त्रोत्थितेन धूमेनेत्यर्थः। **विध्य**। व्यध ताडने, छेदने। ताडय। छिन्धि। **शत्रून्** अ० २। ५। ३ शातयितॄन्, हिंसकान्॥

६—**असौ**। परिदृश्यमाना। **या**। **सेना**। सू० १ म० १। सैन्यम्। **मरुतः**। अ० १। २०। १। हे शत्रुमारणशीलाः। शूराः। **आ-एति**।

आती है । (ताम्) उसको (अपव्रतेन) क्रियाहीन कर देने वाले (तमसा) अन्धकार से (विध्यत) छेद डालो, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (अन्यः) कोई (अन्यम्) किसी को (न) न (जानात्) जाने ॥ ६ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी पलटनों को घातस्थानों में इस प्रकार खड़ा करे कि आती हुयी शत्रुसेना को रोक कर सब नष्ट करदेवें ॥ ६ ॥

(मरुतः) शब्द के लिये अ० १ । २० । १ । देखो ।

यह मन्त्र यजुर्वेद १७ । ४७ । में इस प्रकार है ।

असौ या सेना मरुतः परेषामभ्यैति न ओजसा स्पर्धमाना । तां गूहत तमसापव्रतेन यथामी अन्यो अन्यं न जानन् ॥

(मरुतः) हे शूरो ! (परेषाम्) वैरियों की (असौ या सेना) वह जो सेना (नः) हमको (अभि) चारों ओर से (ओजसा स्पर्धमाना) बल के साथ ललकारती हुयी (आ, एति) चली आती है । (ताम्) उसको (अपव्रतेन तमसा) क्रियाहीन कर देने वाले अंधकार से (गूहत) ढक दो, (यथा) जिससे (अमी) ये लोग (अन्यः,अन्यम्) एक दूसरे को (न जानन्) न जानें ॥

आगच्छति । अभि । सर्वतः । ओजसा । बलेन । स्पर्धमाना । स्पर्ध संघर्षे—लटः शानच् । संघर्षं युद्धोद्यमं कुर्वाणा । ताम् । सेनाम् । विध्यत । ताडयत । छिन्त । तमसा । अन्धकारेण । अपव्रतेन । व्रतंकर्म-निघ० २।१। अपगतकर्मणा । सर्वव्यापारविघातकेन । यथा । येन प्रकारेण । एषाम् । उपस्थितानां शत्रूणाम् । अन्यः । कश्चित् । अन्यम् । कमपि । न । निषेधे । जानात् । ज्ञा अवबोधने-लेट् । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इकारलोपः । जानीयात् ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-६ ॥ इन्द्रो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५,६ अनुष्टुप् छन्दः॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अचिक्रदत् स्वपा इह भुवदग्ने व्यचस्व रोदसी उरूची।
युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आमुं नय नमसा रातहव्यम् ॥ १ ॥

अचिक्रदत् । स्व-पाः [सु-अपाः] इह । भुवत् । अग्ने । वि । अचस्व । रोदसी इति । उरूची इति ॥ युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः विश्व-वेदसः । आ । अमुम् । नय । नमसा । रात-हव्यम् ॥१॥

भाषार्थ—(अचिक्रदत्) उस [परमेश्वर] ने पुकारकर कहा है, "(इह) यहां पर (स्वपाः) अपने जनों का पालने वाला, अथवा, उत्तम कर्मों वाला प्राणी (भुवत्) होवे ।"

(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वि राजन् !] (उरूची) बहुत पदार्थों को प्राप्त करानेवाले (रोदसी) सूर्य और पृथ्वी में (वि) विविध प्रकार से (अचस्व) गति कर। (विश्ववेदसः) सब प्रकार के ज्ञान या ध्यानवाले (मरुतः) शूर और विद्वान् पुरुष (त्वा) तुझसे (युञ्जन्तु) मिलें। [हे राजन्] (रातहव्यम्) भेंट वा भक्ति का दान करनेवाले (अमुम्) उस [प्रजा गण] को (नमसा) अन्न वा सत्कार के साथ (आ,नय) अपने समीप ला॥ १॥

१—अचिक्रदत् । क्रदि आह्वाने रोदने च—ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम्, नुमभावः । आहूतवान्, शब्दमकरोत् । स्वपाः। स्व+पा रक्षणे-विच् । अथवा । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट्, च वा । उ० ४ । २०८ । इति सु+आप्लृ व्याप्तौ-असुन्। स्वकीयप्रजापालकः । शोभनकर्मा । इह । अत्र । अस्मिन् जन्मनि लोके वा । भुवत् । भू-लेट् । भवेत् । वि । विविधम् । अचस्व । अचु गतौ ।

भावार्थ-परमेश्वर ने यजुर्वेद ४० । २ । भी कहा है ।

(कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छत ँ समाः)

मनुष्य (इह) यहां पर (कर्माणि कुर्वन् एव) कर्मों को करता हुआ ही (शतं समाः) सौ वर्षों तक (जिजीविषेत्) जीना चाहे ।

इस प्रकार राजा परमेश्वर की आज्ञा पालन और स्वप्रजापालन में कुशल होकर सूर्य विद्या और पृथिवी आदि विद्या में निपुण बन कर विज्ञानी होवे, शूरवीर विद्वान् लोग उससे मिलें और राजा उन भक्त प्रजागणों का सत्कार करे ॥ १ ॥

दूरे चित् सन्तमरुषास इन्द्रमा च्यावयन्तु सख्याय विप्रम् । यद् गायत्रीं बृहतीमर्कमस्मै सौत्रामण्या दधृषन्त देवाः ॥ २ ॥

दूरे । चित् । सन्तम् । अरुषासः । इन्द्रम् । आ । च्यावयन्तु ।

गच्छ । प्राप्नुहि । **रोदसी** । अ० १ । ३२ । ३ । सर्वधातुभ्योऽसुन । उ० ४ । १८६ । इति रुधिर् आवरणे-असुन् । गौरादित्वात् ङीप् । धकारस्य दकारः । पा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णः । आभ्यां हि रुद्धानि सर्वभूतानि । रोदस्यौ । द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० । भूमिस्वर्गौ । **उरूची** । उरु बहुनाम-निघ० ३ । १ । ऋत्विग्दधृक् । पा० ३ । २ । ५९ । इति उरु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् अनलोपो दीर्घश्च । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा०४ । १ । ६। इति ङीप् । ङीपउदात्तत्वम । पूर्ववत् पूर्वसवर्णः । उरवो बहवः पदार्था अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्यां ते उरूच्यौ । बहुपदार्थप्रापिके । **युञ्जन्तु** । प्राप्नुवन्तु । **त्वा** । त्वाम् । **मरुतः** । अ० १ । २० । १ । शूराः । विद्वांसः । **विश्ववेदसः** । विश्व+विद ज्ञाने, वा विद्लृ लाभे-असुन् । सर्वविषयज्ञातारः । सर्वधनयुक्ताः । **अमुम्** । परिदृश्यमानं प्रजागणम् । **आ, नय** । समीपे प्रापय । **नमसा** । अन्नेन—निघ० ३ । ७ । सत्कारेण । **रातहव्यम** । हुदानादनादानप्रीणनेषु-यत । हूयते हव्यम् । रातं दत्तं हव्यं देवान्नं देवपूजनं येन तम्॥

सख्यायं । विप्रम् ॥ यत् । गायत्रीम् । बृहतीम् । अर्कम् । अस्मै । सौत्रामण्या । दधृषन्त । देवाः ॥ २ ॥

भाषार्थ । (अरुषासः=०-षाः) गतिशील [उद्यमी] पुरुष (दूरे) दुर्गम वा दूर देश में (चित्) भी (सन्तम्) विद्यमान (विप्रम्) बुद्धिमान् (इन्द्रम्) बड़े प्रतापी राजा को (सख्याय) अपना सखा बनाने के लिये (आ,च्यावयन्तु) ले आवें । (यत्) क्योंकि (देवाः) व्यवहार कुशल महात्माओं ने (गायत्रीम्) गान किया, (बृहतीम्) स्तुति किया और (अर्कम्) अन्न वा सत्कार किया को (अस्मै) इस [इन्द्र] के लिये (सौत्रामण्या) सुत्रामा [उत्तम रक्षक] के योग्य भक्ति के साथ (दधृषन्त) एकत्र किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—उद्योगी प्रजागण प्रजापालक नीतिकुशल राजा को दूर देश से भी अपनी सहायता के लिये बुलावें, और अनेक प्रकार से उसका उत्साह और अपना आनन्द बढ़ाने के लिये उसका योग्य अभिनन्द करें, और गायत्री, बृहती आदि छन्दों से भी उसका यश गावें ॥ २ ॥

२—**दूरे** । दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दुर्+इण् गतौ—रक्, इणो लोपो दीर्घश्च । दुःखेनेयते प्राप्यते । दुर्गमे विप्रकृष्टे वा स्थाने । **चित्** । अपि । **सन्तम्** । अस-शतृ । विद्यमानम् । **अरुषासः** । अहनिभ्यामृषन् । उ० ४ । ७३ । ऊषन्नेव उषन् । इति ऋ गतिप्रापणयोः–उषन् । असि असुक् । अरुषः=अश्वः–निघ० १ । १४ । अरुष आरोचनात्–निरु० १२ । ७ । गतिशीलाः । ज्ञानिनः । उद्योगिनः पुरुषाः । **इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्तं सम्राजम् । **आ,च्यावयन्तु** । च्यु हासे, सहने । वेदे च गतौ । आगमयन्तु । **सख्याय** । सख्युर्यः । पा० ५ । १ । १२६ । इति सखि–य । सखिकर्मणे । साहाय्याचरणाय । **विप्रम्** । ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० । २ । २८ । इति टुवप बीजसन्ताने–रन्, इत्वं गुणाभावश्च निपात्येते । वपति धर्ममिति । यद्वा । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति वि+प्रा पूरणे—क । विशेषेण पूरयति सच्छिष्यानिति विप्रः । विप्राणां व्यापनकर्मणामादित्यरश्मीनाम्—निरु० १४ । १३ । मेधाविनम्–निघ० ३ । १५ । **यत्** । यस्मात् कारणात् । **गायत्रीम्** । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति गायत्+त्रैङ् पालने–क । ततो ङीप् । गायत्री गायतेः स्तुति कर्मणः–निरु० ७ । १२ । गानक्रियाम् स्तुतिम् । **बृहतीम्** । वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृ-

अ॒द्भ्यस्त्वा॒ राजा॒ वरु॑णो ह्वयतु॒ सोम॑स्त्वा ह्वयतु॒ पर्व॑तेभ्यः। इन्द्र॑स्त्वा ह्वयतु वि॒ड्भ्य आ॒भ्यः श्ये॒नो भू॒त्वा विश॒ आ प॑ते॒मा: ॥ ३ ॥

अ॒त्-भ्यः। त्वा॒। राजा॑। वरु॑णः। ह्व॒यतु॒। सोम॑ः। त्वा॒। ह्व॒यतु॒। पर्व॑तेभ्यः। इन्द्र॑ः॥ त्वा॒। ह्व॒यतु॒। वि॒ट्-भ्यः। आ॒भ्यः। श्ये॒नः। भू॒त्वा। वि॒शः। आ। प॒त। इ॒माः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजराजेश्वर !] (वरुणः) अति श्रेष्ठ (राजा) शासन-कर्ता पुरुष (त्वा) तुझको (अद्भ्यः) प्राणों के लिये (ह्वयतु) बुलावे, (सोमः) औषधों का रस निकालने वाला [वैद्यराज] (त्वा) तुझको (पर्वतेभ्यः) [शरीर की] पुष्टियों के लिये (ह्वयतु) बुलावे। (इन्द्रः) बड़ा प्रतापी सेनापति

बन्च उ० २ । ८४ । इति बृह वृद्धौ—अति, गौरादित्वात् ङीप् । बृहती परिबर्ह-णात्—निरु० ७ । १२ । वृद्धिम् । कीर्त्तिम् । अर्कम् । कृदाधाराचिकलिभ्यः क। उ० ३ । ४० । इति अर्च पूजायाम्—क । यद्वा । अर्क तापे स्तुतौ च—अच् । अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना—निरु० ५ । ४ । सत्कारम् । अन्नम् । अस्मै । इन्द्राय । सौत्रामण्या । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति सु+त्रैङ् पालने-मनिन् । साऽस्य देवता । पा० ४ । २ । २४ । इति सुत्रामन् अण् । बाहुलकात् न टिलोपः, स्त्रियां ङीप् । महारक्षकयोग्यां भक्तिं पूजां वा । दधृपन्त । धृप संदीप्तौ । संगृहीतवन्तः । अधारयन् । देवाः । व्यवहारकुशलाः । विद्वांसः ॥

३—अद्भ्यः । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् । आपः=अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । उदकानि—निघ० १ । १२ । भूस्थान-देवताः, आप आप्नोतेः-निरु० ६ । २६ । प्राणा जलानि वा-यजु० ४ । ७ । आप्ता, प्रजाः—म० वे० ६ । २७, दयानन्दभाष्ये । प्राणेभ्यः । प्रजाभ्यः । त्वा । सम्राजम् । राजा । अ० १ । १० । १ । राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च-कनिन् । ऐश्वर्यवान् ।

वा निधिपति (त्वा) तुझको (आभ्यः विड्भ्यः) इन प्रजाओं के लिये (ह्वयतु) बुलावे, [हे महाराजाधिराज !] (श्येनः) शीघ्र गति वाला [वा बाज़ पक्षी के समान शीघ्रगति वाला] (भूत्वा) होकर (इमाः) इन (विशः) प्रजाओं में (आ,पत) उड़कर आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा वरुण, सोम, इन्द्रादि पदवीवाले बड़े २ अधिकारी अपने अधिकार की उन्नति के लिये राजाज्ञा का पालन करें और प्रधान राजा अपनी प्रजा के हित का उद्योग सदा करता रहे ॥ ३ ॥

श्येनो हव्यं नयत्वा परस्मादन्यक्षेत्रे अपरुद्धं चरन्तम्। अश्विना पन्थां कृणुतां सुगं त इमं संजाता अभिसंविशध्वम् ॥ ४ ॥

श्येनः । हव्यम् । नयतु । आ । परस्मात् । अन्य-क्षेत्रे । अप-रुद्धम् । चरन्तम् ॥ अश्विना । पन्थाम् । कृणुताम् ।

वरुणः । अ० १ । ३ । ३ । वृञ् वरणे-उनन् । वरणीयः पुरुषः । दुष्टनिवारकः । ह्वयतु । आकारयतु । सोमः । अ० १ । ६ । २ । षुञ् अभिषवे-मन् । सुनोति यः । ओषधिरसानां निःसारकः । वैद्यराजः । पर्वतेभ्यः । भृमृदृशियजिपर्वि०। उ० ३ । ११० । इति पर्व पूर्तौ-अतच् । पूर्त्तिभ्यः । पुष्टिभ्यः । इन्द्रः । ऐश्वर्यवान् । सेनापतिः । निधिपतिः । विड्भ्यः । अ० १ । २१ । १ । विश प्रवेशने—क्विप् । विशः, मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रजाः । आभ्यः । परिदृश्यमानाभ्यः । श्येनः । श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् । उ० २ । ४६ । इति श्यैङ् गतौ—इनच् । श्येनासः=अश्वाः—निघ० ४ । १४ । श्येनः शंसनीयं गच्छति—निरु० ४ । २४ । श्येन आदित्य आत्मा च भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः—निरु० १४।१३ । शीघ्रगतिः। श्येनपक्षिवच्छीघ्रगामी । भूत्वा । विशः । प्रजाः । आ पत । शीघ्रमागच्छ । इमाः । उपस्थिताः ॥

सु-गम् । ते । इमम् । स-जाताः । अभि-संविशध्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्येनः) शीघ्रगति वाले आप (अन्यक्षेत्रे) परदेश में (अपरुद्धम्) रोक दिये गये (चरन्तम्) उत्तम आचरण करते हुये (हव्यम्) बुलाने योग्य पुरुष को (परस्मात्) दूर देश से (आ, नयतु) समीप लावें । (अश्विना=०—नौ) सूर्य और चन्द्रमा (ते) तेरे (पन्थाम्=पन्थानम्) मार्ग को (सुगम्) सुगम (कृणुताम्) करें । (सजाताः) हे सजातीय लोगो ! (इमम्) इस [वीर पुरुष] से (अभि-सं-विशध्वम्) चारो ओर से मिलो ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि कोई सत्पुरुष प्रजागण परदेश में रोक दिया गया हो, राजा उसे प्रयत्न पूर्वक बुला लेवे । और सूर्य चन्द्रमा के समान नियम से प्रजा पालन करे जिससे सब प्रजागण उससे मिले रहें ॥ ४ ॥

ह्वयन्तु त्वा प्रतिजनाः प्रति मित्रा अवृषत ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्ते विशि क्षेममदीधरन् ॥ ५ ॥

ह्वयन्तु । त्वा । प्रति-जनाः । प्रति । मित्राः । अवृषत ॥

४—श्येनः । म० ३ । शीघ्रगतिः पुरुषः । हव्यम् । ह्वेञ्-यत् । आह्वातव्यम् । नयतु । प्रापयतु । आ । समीपे । परस्मात् । दूरदेशात् । अन्यक्षेत्रे । परभूमौ । अपरुद्धम् । निरुद्धम् । चरन्तम् । चर गमने, अदने, आचारे च—शतृ । शुभाचारवन्तम् । अश्विना । अ० २ । २९ । ६ । सूर्याचन्द्रमसौ—निरु० १२ । १ । पन्थाम् । छान्दसो नलोपः । पन्थानम् । कृणुताम् । कुरुताम् । सुगम् । सुदुरोरधिकरणे । वा० पा० ३ । २ । ४८ । इति सु+गम्लृ ड । सुखेन गन्तव्यम् । ते । तव । इमम् । प्रशंसितं राजानम् । सजाताः । हे समानजन्मानाः । सजातीयाः । बान्धवाः । अभिसंविशध्वम् । विशेश्छन्दस्यात्मनेपदम् । अभितः संगच्छध्वम् ॥

इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । विशि । क्षेमम् । अदी-धरन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रतिजनाः) प्रतिकूल जन (त्वा) तुझे (ह्वयन्तु) बुलावें । (मित्राः) स्नेही पुरुषों ने (प्रति) प्रत्यक्ष (अवृषत) सेवा की है । (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [के समान गुणवाले] (ते) उन (विश्वे देवाः) सब तेजस्वी पुरुषों ने (विशि) प्रजा में (क्षेमम्) कुशल (अदीधरन्) स्थापित की है ॥५॥

भावार्थ—जिस राजा को प्रजा गण चुनते हैं, वैरी लोग उस राजा के अधीन रहते हैं । और विद्वान् शूर वीर पुरुष प्रजा में उन्नति करते हैं ॥ ५ ॥

यस्ते हवं विवदत् सजातो यश्च निष्ट्यः ।
अपाञ्चमिन्द्र तं कृत्वाथेममिहाव गमय ॥ ६ ॥

यः । ते । हवम् । वि-वदत् । स-जातः । यः । च । निष्ट्यः ॥
अपाञ्चम् । इन्द्र । तम् । कृत्वा । अर्थ । इमम् । इह । अव । गमय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अथ) और (इन्द्र) हे महाप्रतापी राजन् ! (यः) जो

५—ह्वयन्तु । आह्वयन्तु । त्वा । त्वां धर्मात्मानम् । प्रतिजनाः । प्रतिकूलजनाः । शत्रवः । प्रति । प्रत्यक्षम् । मित्राः । अ० १ । ३ । २ । स्नेहिनः । अवृषत । वृङ् संभक्तौ—छान्दसे लुङि रूपम् । सेवितवन्तः । इन्द्राग्नी । वायुपावकौ । तद्वद्गुणवन्तः पुरुषाः । विश्वे । सर्वे । देवाः । तेजस्विनो व्यवहारिणो वा जनाः । ते । उदात्तोऽयंशब्दः । प्रसिद्धाः । विशि । प्रजायाम् । क्षेमम् अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षि० । उ० १ । १४० । इति क्षि क्षयैश्वर्ययोः—मन् । क्षयति दुःखं नाशयतीति, ऐश्वर्यवान् भवतीति वानेन । कुशलम् । ऐश्वर्यम् । अदीधरन् । धृ धारणे—णयन्तात् लुङि चङि रूपम् । धृतवन्तः ॥

६—यः । यः पुरुषः । ते । तव । हवम् । ह्वेञ् आह्वाने—अप् । आवाहनम् ।

(सजातः) सजातीय, (च) और (यः) जो (निष्ट्यः) विजातीय पुरुष (ते) तेरे (हवम्) विज्ञापन में (विवदत्) विवाद करे, (तम्) उसको (अपाञ्चम्) बहिष्कृत [देश बाहिर] (कृत्वा) करके (इमम्) इस [विज्ञापन] को (इह) यहां पर (अव, गमय) जता दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा अपने और पराये का विचार छोड़ पक्षपात रहित होकर शान्तिनाशक विवादी पुरुष को देश बाहिर करदे, और यह विज्ञापन राज्य भर में प्रसिद्ध कर दे जिससे फिर कोई धर्म विरुद्ध चेष्टा न करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राज्याभिषेकोत्सवः—राज तिलक का उत्सव ।

आ त्वा गन् राष्ट्रं सह वर्चसोदिहि प्राङ् विशां पतिरेकराट् त्वं वि राज । सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह ॥ १ ॥

आ । त्वा । गन् । राष्ट्रम् । सह । वर्चसा । उत् । इहि । प्राङ् । विशाम् । पतिः । एक-राट् । त्वम् । वि । राज ॥

विज्ञापनम् । **विवदत्** । वि पूर्वाद् वदेर्लेटि अडागमः । विरुद्धं वदेत् । विवादयेत् । **सजातः** । समानजातीयः । बान्धवः । **निष्ट्यः** । अव्ययात् त्यप् । पा० ४ । २ । १०४ । इत्यत्र निसो गते । इति वार्त्तिकेन–निस + त्यप् । ह्रस्वात्तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । निर्गतो वर्णाश्रमादिभ्यः । म्लेच्छः । चाण्डालः । **अपाञ्चम्** । अप + अञ्चु गति पूजनयोः–क्विन् । अपगतम् । बहिर्गतम् । बहिष्कृतम् । **इन्द्र** । परमैश्वर्यवन् राजन् । **तम्** । विवादिनम् । **कृत्वा** । विधाय । **अथ** । तदनन्तरम् । **इमम्** । हवम् । **इह** । अस्मिन् राज्ये । **अव गमय** । बोधय । ज्ञापय ॥

सर्वाः । त्वा । राजन् । प्र-दिशः । ह्वयन्तु । उप-सद्यः । नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (राष्ट्रम्) यह राज्य (त्वा) तुझ को (आ, गन्=अगमत्) प्राप्त हुआ है। (वर्चसा सह) तेज के साथ (उत्+इहि= उदिहि) उदय हो। (प्राङ्) अच्छे प्रकार पूजा हुआ, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) रक्षक, (एकराट्) एक महाराजाधिराज (त्वम्) तू (वि, राज) विराजमान हो। (सर्वाः) सब (प्रदिशः) पूर्वादि दिशायें (त्वा) तुझ को (ह्वयन्तु) पुकारें। (उपसद्यः) सब का सेवनीय और (नमस्यः) नमस्कार योग्य (इह) यहां पर [अपने राज्य में] (भव) तू हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा सिंहासन पर विराज कर महाप्रतापी और प्रजापालक हो, सब दिशाओं में उसकी दुहाई फिरे, और सब प्रजागण उसकी न्यायव्यवस्था पर चलकर उसका सदा आदर और अभिनन्दन करते रहें ॥ १ ॥

१—त्वा। त्वां शूरवीरम्। आ, गन्। गमेर्लुङि। मन्त्रे घस०। पा० २।४।८०। इति च्लेर्लुक्। मो नो धातोः। पा० ८।२।६४। इति नत्वम्। आगमत्। प्राप्तम्। राष्ट्रम्। अ० १।२९।१। राज्यम्। सह। सहितम्। वर्चसा। तेजसा। उदिहि। उदितः प्रख्यातो भव। प्राङ्। ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३।२।५९। इति प्र+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। सम्यक् पूजितः। विशाम्। प्रजानाम्। पतिः। पालकः। एकराट्। सत्सूद्विष०। पा० ३। २।६१। इति एक+राजृ—क्विप्। मुख्यो राजा। वि राज। विशेषेण दीप्यस्व, ईश्वरो भव। सर्वाः। निखिलाः। राजन्। हे नृपते। प्रदिशः। अ० १। ११।२। प्रकृष्टा दिशः। प्राच्याद्याः। तत्रस्था जनाः। ह्वयन्तु। स्वामित्वेन अनुजानन्तु। उपसद्यः। उप+षद्लृ गतौ—यत्। सर्वैरुपसदनीयः। सेवनीयः। नमस्यः। नमस्य नामधातुः+कर्मणि यत्। नमस्कारयोग्यः। इह। अस्मिन् राज्ये। भव। वर्त्तस्व॥

त्वां विशो॑ वृणतां राज्या॑य त्वामि॒माः प्र॒दिशः॒ पञ्च॑ दे॒वीः । वर्ष्म॑न् रा॒ष्ट्रस्य॑ क॒कुदि॑ श्रयस्व॒ ततो॑ न उ॒ग्रो वि भ॑जा॒ वसू॑नि ॥ २ ॥

त्वाम् । विशः॑ । वृ॒णता॒म् । रा॒ज्या॑य । त्वाम् । इ॒माः । प्र॒ऽदिशः॑ । पञ्च॑ । दे॒वीः ॥ वर्ष्म॑न् । रा॒ष्ट्रस्य॑ । क॒कुदि॑ । श्र॒यस्व॒ । ततः॑ । नः॒ । उ॒ग्रः वि । भ॒ज॒ । वसू॑नि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वाम्) तुझ को (राज्याय) राज्य के लिये (विशः) प्रजायें, और (त्वाम्) तुझ को ही (इमाः) यह सब (पञ्च) विस्तीर्ण या पांच (देवीः=०—व्यः) दिव्य गुणवाली (प्रदिशः) महा दिशायें (वृणताम्) स्वीकार करें । (राष्ट्रस्य) राज्य के (वर्ष्मन्=०—णि) ऐश्वर्ययुक्त या ऊंचे (ककुदि) शिखर पर (श्रयस्व) आश्रय ले । (ततः) फिर

२—त्वाम् । राजानम् । विशः । प्रजाः । वृणताम् । वृङ् सम्भक्तौ-लोट् । संभजताम् । सेवन्ताम् । राज्याय । पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । इति राजन्—यक् । राजकर्मणे । राष्ट्राय । इमाः । परिदृश्यमानाः । प्रदिशः । प्रधानदिशाः । पञ्च । अ० १ । ३० । ४ । पचि विस्तारे-कनिन् । विस्तीर्णाः । प्राच्याद्या मध्यदिशा सह पञ्चसंख्याकाः । देवीः । देव्यः । प्रकाशमानाः । दिव्याः । वर्ष्मन् । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति वृष प्रजननैश्वर्ययोः-मनिन् । सप्तम्या लुक् । वर्ष्मन् शब्द उन्नतवचनः स्थिरवचनो वा, इति सायणः, ऋग्वेदभाष्ये म० १० । २८ । २ । ऐश्वर्ययुक्ते । उन्नते । स्थिरे । राष्ट्रस्य । राज्यस्य । ककुदि । क+कु शब्दे-क्विप, तुक् च, तस्य दः, अन्तर्भावितण्यर्थः । कं सुखं कावयति गृहस्थस्य औन्नत्यं प्रापयतीति ककुद् । वृषस्कन्धपृष्ठस्थमांसपिण्डे । नृपचिह्ने । पर्वतशिखरे । श्रयस्व । श्रिञ् सेवने आश्रितो भव । आस्व । ततः । तदनन्तरम् । नः । अस्मभ्यम् । वि, भ॰

(उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को सब प्रजा गण चुनें। और सब मनुष्यादि प्रजा और चारों पूर्वादि दिशाओं और पांचवी ऊपर-नीचे की दिशा के पदार्थ [जैसे आकाश मार्ग और भूगर्भादि के पदार्थ] सब राजा के अधीन रहें, और वह बड़ा ऐश्वर्यवान् होकर राजभक्त सुपात्रों को विद्या और सुवर्णादि धनों का दान करता रहे ॥ २ ॥

अच्छ॑ त्वा यन्तु ह॒विनः॑ सजा॒ता अ॒ग्निर्दू॒तो अ॑जि॒रः सं च॑राते। जा॒याः पु॒त्राः सु॒मन॑सो भवन्तु ब॒हुं ब॒लिं प्रति॑ पश्यासा उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

अच्छ॑। त्वा॒। य॒न्तु॒। ह॒विनः॑। स॒ऽजा॒ताः। अ॒ग्निः। दू॒तः। अ॒जि॒रः। सम्। च॒रा॒ते॒॥ जा॒याः। पु॒त्राः। सु॒ऽमन॑सः। भ॒व॒न्तु॒। ब॒हुम्। ब॒लिम्। प्रति॑। प॒श्या॒सै॒। उ॒ग्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हविनः) पुकार करने वाले (सजाताः) सजातीय लोग (त्वा) तुझको (अच्छ) सन्मुख आकर (यन्तु) मिलें। (अग्निः) आग के

सांहितिको दीर्घः। यथाभागं देहि। **वसूनि**। धनानि ॥

३—**अच्छ**। अभिमुखम्। **यन्तु**। गच्छन्तु, प्राप्नुवन्तु। **हविनः**। हव इनि। आह्वानशीलाः। **सजाताः**। समानजन्मानः। बान्धवाः। **अग्निः**। पावकवद् राजा। **दूतः**। अ० ३। २। १। तापकारी। गतिशीलः। **अजिरः**। अजिर शिशिर शिथिल०। उ० १। ५३। इति अज गतिक्षेपणयोः–किरच्। गमनशीलः। प्रजाप्रेरकः। **सम्**। सम्यक्। विधिवत्। **चराते**। चरतेर्लेटि आडागमः। वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ४। ९६। इत्यैकारः। आचरतु भवान्। **जायाः**। जनेर्यक्। उ० ४। १११। इति जन जनने–यक्, आत्वम्, टाप्। जनयति वीरान्। भार्याः।

समान (दूतः) तापकारी और (अजिरः) वेगवान् [आप] (सम्) यथा-योग्य (चराते) आचरण करें । (जायाः) हमारी धर्मपत्नियां और (पुत्राः) कुलशोधक वा बहुरक्षक सन्तान (सुमनसः) प्रसन्नमन (भवन्तु) रहें । (उग्रः) तेजस्वी तू (बहुं बलिम्) बहुत भेंट को (प्रति) संमुख (पश्यासै) देखे ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब भाई बन्धु और प्रजागण राजा से मिले रहें, और प्रसन्न होके (बलि) राजग्राह्य भाग कर आदि देवें, और वह राजा भी उनकी रक्षा में सर्वथा तत्पर रहे ॥ ३ ॥

अश्विना त्वाग्ने मित्रावरुणोभा विश्वे देवा मरुतस्त्वा ह्वयन्तु । अधा मनो वसुदेयाय कृणुष्व ततो न उग्रो वि भजा वसूनि ॥ ४ ॥

अश्विना । त्वा । अग्ने । मित्रावरुणा । उभा । विश्वे । देवाः । मरुतः । त्वा । ह्वयन्तु ॥ अध । मनः । वसु-देयाय । कृणुष्व । ततः । नः । उग्रः । वि । भज । वसूनि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) अगले वा मुख्य पद पर [विराजमान] (त्वा) तुझ

पुत्राः । अ० १ । ११ । ५ । पूञ् शोधे—क्त । पुत्रः पुरु त्रायते निपरणाद् [पालनात्] वा पुं नरकं ततस्त्रायत इति वा—निरु०२ । ११ । कुलशोधकाः । बहुरक्षका वा दुःखनाशका वा सन्तानाः । वीराः पुत्रीपुत्राः । सुमनसः । शोभनमनस्काः । प्रसन्नचित्ताः । भवन्तु । सन्तु । बहुम् । लङ्घि बंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । बहि वृद्धौ-कु, नलोपः । विपुलम् । बलिम् । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति बल संवरणे, दाने-इन् । बल्यते दीयते स बलिः । राजग्राह्य भागम् । करम् । उपहारम् । पूजासामग्रीम् । प्रति । अभिमुखम् । पश्यासै । दृशेर्लेटि आडैत्वे, यथा (चराते) शब्दे । आत्मने पदम् । पश्य । उग्रः उत्कटः । तेजस्वी ॥

४—अश्विना । अ० २ । २६ । ६ । सूर्याचन्द्रमसावित्येके—निरु०

को (अश्विना=०–नौ) सूर्य और चन्द्र, और (उभा=उभौ) दोनों (मित्रावरुणा=०–णौ) प्राण और अपान वा दिन और रात और (विश्वे देवाः) सब व्यवहार कुशल (मरुतः) शूर पुरुष (त्वा) तुझ को (ह्वयन्तु) पुकारें [मार्गदर्शक हों]। (अध) और, तू (मनः) अपने मन को (वसुदेयाय) धन का दान करने के लिये (कृणुष्व) स्थिर कर। (ततः) फिर (उग्रः) तेजस्वी तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) धनों का (वि, भज) विभाग कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्र परस्पर आकर्षण से, दिन और रात, प्राण और अपान अपने २ क्रम से, और शूर विद्वान् पुरुष नियम पर चलने से संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार ऐश्वर्यवान् राजा विचार पूर्वक सुपात्रों को दान देकर प्रजा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (ततो न उग्रो……) मन्त्र २ में आ चुका है।

ऋ० म० ५ सू० ५१ म० १५। का भी मिलान करें ॥।

स्वस्ति पन्थामनु चरेम सूर्याचन्द्रमसाविव ॥

(सूर्याचन्द्रमसौ इव) सूर्य और चन्द्रमा के समान (स्वस्ति) कल्याणयुक्त (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुचरेम) हम चलते रहें ॥

आ प्र द्र॑व पर॒मस्याः॑ परा॒वतः॑ शि॒वे ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे स्ता॑म्। तद॒यं राजा॒ वरु॑ण॒स्तथा॑ह॒ स त्वा॒यम॑ह्व॒त् स उपे॒दमेहि॑ ॥ ५ ॥

१२। १। सूर्यचन्द्रौ। अग्रे। मुख्यपदे वर्त्तमानम्। मित्रावरुणा। अ० १। २०। २। प्राणापानौ। अहोरात्रौ। उभा। उभौ। विश्वेदेवाः। सर्वे व्यवहारिणः। मरुतः। अ० १। २०। १। शूराः पुरुषाः। ह्वयन्तु। आह्वयन्तु। अधा। =अथ। पुनः। मनः। चित्तम्। वसुदेयाय। अचो यत्। पा० ३। १। ९७। इति वसु+दाञ् दाने-भावे यत्। ईद्यति। पा० ६। ४। ६५। ईकारादेशः। वसुनो धनस्य प्रदानाय। अन्यत् सुगमम्। ततो न इत्यादि व्याख्यातं मं० २ ॥

आ। प्र। द्रव। पुरम्स्याः। पुरा-वतः। शिवे इति। ते। द्यावा-पृथिवी इति। उभे इति। स्ताम्। तत्॥ अयम्। राजा। वरुणः। तथा। आह। सः। त्वा। अयम्। अह्वत्। सः। उप। इदम्। आ। इहि॥ ५॥

भाषार्थ—(परमस्याः) अत्यन्त (परावतः) दूर देश से (आ, प्र, द्रव) आकर पधार। (ते) तेरे लिये (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी=०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी (स्ताम्) होवें। (तथा) वैसा ही (अयम्) यह (राजा) राजा (वरुणः) सब में श्रेष्ठ परमेश्वर (तत्) यह (आह) कहता है। (सः) सो (अयम्) इस [वरुण परमेश्वर] ने (त्वा) तुझको (अह्वत्) बुलाया है। (सः=सः त्वम्) सो तू (इदम्) इस [राज्य] को (उप) आदर पूर्वक (आ) आकर (इहि) प्राप्त कर॥ ५॥

भावार्थ—प्रजा गण श्रेष्ठ राजा को दूर देश से भी बुला लेवें, और वह अपने बुद्धियत्न से ऐसा प्रबन्ध करे कि राज्य भर में दैवी और पार्थिव शान्ति रहे, अर्थात् अनावृष्टि और दुर्भिक्षादि में भी उपद्रव न मचे, और आकाश, पृथिवी और समुद्रादि के मार्ग अनुकूल रहें। यही आज्ञा परमेश्वर ने वेदों में दी है, उसको राजा यथावत् माने॥ ५॥

५—आ। आगत्य। प्र द्रव। द्रु गतौ। प्रकर्षेण प्राप्नुहि। परमस्याः। स्याडागमः। अत्यन्तात्। परावतः। उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे, पा० ५। १। ११८। इति उपसर्गसाधने धात्वर्थे स्वार्थे वतिः प्रत्ययः। परावतः प्रेरितवतः परागताद्वा—निरु० ११। ४८। दूरदेशात्। शिवे। मङ्गलकारिण्यौ। ते। तुभ्यम्। द्यावापृथिवी। सूर्यभूमी। तत्रत्याः पदार्था इत्यर्थः। स्ताम्। भवताम्। तत्। प्रसिद्धं वचनम्। अयम्। सर्वव्यापकः। राजा। ईश्वरः। समर्थः। वरुणः। वरणीयः। परमेश्वरः। तथा। तेनैव प्रकारेण। आह। ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट्। ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः। पा० ३। ४। ८४। इति आहादेशः परस्मैपदे। ब्रवीति। कथयति। अह्वत्। ह्वेञ्—लुङ्। आहूतवान्। उप। पूजायाम्। इहि। इण् गतौ। प्राप्नुहि। अन्यत् सुगमम्॥

इन्द्रे॑न्द्र मनु॒ष्या॒३॑ः परे॑हि॒ सं ह्यज्ञा॑स्था॒ वरु॑णैः सं॒विदा॒नः । स त्वा॒यम॑ह्व॒त् स्वे स॒धस्थे॒ स दे॒वान् य॑क्ष॒त् स उ॑ कल्पया॒द् विशः॑ ॥ ६ ॥

इन्द्र॒-इ॒न्द्र॒ । म॒नु॒ष्याः॑ । परा॑ । इ॒हि॒ । सम् । हि । अज्ञा॑स्थाः । वरु॑णैः । स॒म्-वि॒दा॒नः ॥ सः । त्वा॒ । अ॒यम् । अ॒ह्व॒त् । स्वे । स॒ध-स्थे॑ । सः । दे॒वान् । य॒क्ष॒त् । सः । ऊं॒ इति॑ । क॒ल्प॒या॒त् । विशः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेन्द्र) हे राजराजेश्वर ! (मनुष्याः=मनुष्यान्) मनुष्यों को (परेहि) समीप से प्राप्त कर, (हि) क्योंकि (वरुणैः) श्रेष्ठ पुरुषों से (संविदानः) मिलाप करता हुआ तू (सम्) यथाविधि (अज्ञास्थाः) जाना गया है । (सः अयम्) सो इस [प्रत्येक मनुष्य] ने (त्वा) तुझको (स्वे सधस्थे) अपने समाज में (अह्वत्) बुलाया है । (सः=सः भवान्) सो आप (देवान्) व्यवहार कुशल पुरुषों का (यक्षत्) सत्कार करें, (सः उ=सः उं भवान्) वही आप (विशः) प्रजाओं को (कल्पयात्) समर्थ करें ॥ ६ ॥

६—इन्द्रेन्द्र । हे इन्द्राणामिन्द्र । राजराजेश्वर । मनुष्याः । मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । इति मनु-यत्-षुक् च । मनुर्मननम् । शसो नत्वाभावश्छान्दसः । मनुष्यजातीन् मनुष्यान् । मननशीलान् प्रजागणान् परा । समीपे । इहि । गच्छ । प्राप्नुहि । हि । यस्मात् कारणात् । सम्, अज्ञास्थाः । ज्ञा अवबोधने-लुङि । सम्प्रतिभ्यामनाध्याने । पा० १ । ३ । ४६ । इत्यात्मनेपदम् । सम्यक्, यथाविधि ज्ञातोऽसि । वरुणैः । वरणीयैः । श्रेष्ठैः । वरयितृभिः । संविदानः । अ० २ । २८ । २ । सम्+विद ज्ञाने-शानच् । संगच्छमानः । सः । स प्रत्यकजनः । अह्वत् । आह्वयति स्म । स्वे । स्वकीये । सधस्थे । सह + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क । सध मादस्थयोश्छन्दसि । पा० ६ । ३ । ९६ । इति सहस्य सधादेशः । समाजे । सः । स भवान् राजा । देवान् । व्यवहारिणः पुरुषोत्

भावार्थ—प्रजापालक राजा विद्वान् चतुर मनुष्यों से मिलाता रहे और सुपात्रों को योग्यतानुसार पदाधिकारी करे ॥ ६ ॥

पथ्या॑ रे॒वतीर्ब॑हु॒धा विरू॑पाः सर्वाः॑ सं॒गत्य॒ वरी॑यस्ते अक्रन् । तास्त्वा॒ सर्वाः॑ संविदा॒ना ह्व॑यन्तु द॒श॒मीमु॒ग्रः सु॒मना॑ वशेह ॥ ७ ॥

पथ्याः॑ । रे॒वतीः॑ । ब॒हु॒-धा । वि-रू॑पाः । सर्वाः॑ । स॒म्-गत्य॑ । वरी॑यः । ते॒ । अ॒क्र॒न् ॥ ताः । त्वा॒ । सर्वाः॑ । स॒म्-वि॒दा॒नाः । ह्व॒य॒न्तु॒ । द॒श॒मीम् । उ॒ग्रः सु॒-मनाः॑ । व॒श॒ । इ॒ह ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पथ्याः) मार्ग पर चलने वाली, (रेवतीः=०—त्यः) धन वाली, (बहुधा) प्रायः (विरूपाः) विविध आकार वा स्वभाव वाली (सर्वाः) सब [प्रजाओं] ने (संगत्य) मिलकर (ते) तेरे लिये (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण वा श्रेष्ठ [पद] (अक्रन्) किया है । (ताः सर्वाः) वे सब [प्रजायें] (संविदानाः) एकमत होकर (त्वा) तुझको (ह्वयन्तु)

मान् । यक्षत् । यजतेर्लेटि अडागमः । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । यजतु । सत्करोतु । उ । अवधारणे । कल्पयात् । कृपू । सामर्थ्ये णिचि लेटि आडागमः । कल्पयतु । समर्थयतु । विशः । प्रजाः ॥

७—पथ्याः । धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते । पा० ४ । ४ । ९२ । इति पथिन्—यत् । पथोऽनपेताः । सुमार्गगामिन्यः । रेवतीः । रयेर्मतौ बहुलम् । वा० पा० ६।१।३७। इति रयि—मतुप्, संप्रसारणं गुणश्च । छन्दसीरः । पा० ८ । २ । १५ । इति मतुपो वत्वम् । ङीप् । विभक्तौ पूर्वसवर्णदीर्घः । रेवत्यः । धनवत्यः बहुधा । प्रायः । विरूपाः । विविधाकाराः : नानास्वभावाः । सर्वाः । अखिलाःप्रजाः । संगत्य । संभूय । वरीयः । प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ । १५७ । इति उरु+ ईयसुनि वरादेशः । यद्वा, वर+ईयसुन् । उरुतरं वरतरं पदं सिंहासनं वा । ते । तुभ्यम् । अक्रन् । करोतेर्लुङि च्लेर्लुक् । कृतवत्यः । संविदानाः ।

पुकारें। (उग्रः) तेजस्वी और (सुमनाः) प्रसन्न चित्त तू (इह) इस [राज्य] में (दशमीम्) दसमी [नब्बे वर्ष से ऊपर] अवस्था को (वश) वश में कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब प्रजा गण मिलकर और सुमार्ग में चलकर राजा को सिंहासन पर बिठलावें और अपना रक्षक बनावें। और वह राजा भी इस प्रकार से न्याय और आनन्द करता हुआ नीरोग पूर्ण आयु भोगे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ५ ।

१—८ ॥ पर्णमणिर्देवता । १, ४ त्रिष्टुप् । २, ३, ५—८ अनुष्टुप् ॥

तेजोबलायुर्धनादिपुष्ट्य उपदेशः—तेज, बल, आयु, धनादि बढ़ाने का उपदेश ॥

आयमगन् पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्। ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन् ॥ १ ॥

आ। अयम्। अगन्। पर्ण-मणिः। बली। बलेन। प्र-मृणन्। स-पत्नान्॥ ओजः। देवानाम्। पयः॥ ओषधीनाम्। वर्चसा। मा। जिन्वतु। अप्र-यावन् ॥ १ ॥

भावार्थ—(अयम्) यह (बली) बली (पर्णमणिः) पालन करने वालों में प्रशंसनीय [परमेश्वर] (बलेन) अपने बल से (सपत्नान्) हमारे वैरियों

मं० ६। संगच्छमानाः। ऐकमत्यं प्राप्ताः सत्यः। ह्वयन्तु। आह्वयन्तु रक्षार्थम्। दशमीम्। नवतिसंवत्सरोर्ध्वभाविनीं चरमावस्थाम्। उग्रः। पराक्रमी। सुमनाः। प्रसन्नचित्तः। दयालुः। वश। आयत्तीकुरु। इह। अस्मिन् राज्ये॥

१—अयम्। सर्वत्र वर्तमानः। आ, अगन्। गमेर्लुङ्। आगतवान्।

को (प्रमृणन्) विध्वंस करता हुआ (आ अगन्) प्राप्त हुआ है (देवानाम्) इन्द्रियों का (ओजः) बल और (ओषधीनाम्) अन्नादि औषधों का (पयः) रस, (अप्रयावन्=०-वा) भूल न करने वाला वह (मा) मुझको (वर्चसा) तेज से (जिन्वतु) सन्तुष्ट करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तर्यामी परम कारण परमेश्वर अपने सामर्थ्य से हमारे विघ्नों को हटाकर हमें ओजस्वी इन्द्रियां और पुष्टिकारक अन्नादि पदार्थ देकर उपकार करता है। वैसे ही हम ओजस्वी, पराक्रमी होकर परस्पर उपकार करते रहें ॥ १ ॥

मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद् रयिम् ।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

मयि । क्षत्रम् । पर्ण-मणे । मयि । धारयतात् । रयिम् ॥
अहम् । राष्ट्रस्य । अभि-वर्गे । नि-जः । भूयासम् । उत्-तमः ॥२॥

भाषार्थ—(पर्णमणे) हे पालन करने वालों में प्रशंसनीय ! तू (मयि)

प्राप्तवान् । पर्णमणिः । धापूवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति पॄ पालने पूर्त्तौ च न । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मण शब्दे-इन् । मण्यते स्तूयते स मणिः । पालकेषु स्तुत्यः । बली । शक्तिमान् । बलेन । शक्त्या । प्रमृणन् । विनाशयन् । सपत्नान् । शत्रून् । ओजः । सामर्थ्यम् । देवानाम् । इन्द्रियाणाम् । पयः । दुग्धम् । जलम् । रसः । सारः । ओषधीनाम् । अ० १ । २३ । १ । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोद्गमाः । मनु० १ । ४६ । ओहियवादीनाम् । रोगनाशकद्रव्याणाम् । वर्चसा । तेजसा । मा । माम् । जिन्वतु । जिवि प्रीणने । इदित्वान्नुम् । प्रीणयतु । तर्पयतु । अप्रयावन् । यातेर्वनिप् । सुपां सुलुक० । पा० ७ । १ । ३९ । इति सोर्लुक् । नलोपाभावश्छान्दसः । अप्रयावा । अप्रगन्ता । अनपगन्ता अप्रमादशीलः सन् ॥

२—मयि । ईश्वरोपासके । क्षत्रम् । अ० २ । १५ । ४ । क्षतोहिंसनात्

मुझ में (क्षत्रम्) बल, और (मयि) मुझ में ही (रयिम्) सम्पत्ति (धारयताम्) स्थापित कर। (अहम्) मैं (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (निजः) आप ही (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) बना रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ — मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने बुद्धिबल और बाहुबल से शारीरिक आत्मिक और सामाजिक उन्नति और सुवर्णादि धन प्राप्त करके संसार भर में कीर्त्ति बढ़ावे और आनन्द भोगे ॥ २ ॥

यं निदुधुर्वनुस्पतौ गुह्यं दे॒वाः प्रि॒यं म॒णिम् ।
तम॒स्मभ्यं॑ स॒हायु॑षा दे॒वा द॑दतु भर्त॑वे ॥ ३ ॥

यम् । नि-दुधुः । वनुस्पतौ । गुह्य॑म् । दे॒वाः । प्रि॒यम् । म॒णिम् ॥ तम् । अ॒स्मभ्य॑म् । स॒ह । आयु॑षा । दे॒वाः । द॒द॒तु । भर्त॑वे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (गुह्यम्) गुप्त, (प्रियम्) प्रिय वा हितकारी (मणिम्) प्रशंसनीय [परमेश्वर] को (देवाः) व्यवहार जानने वाले देवताओं ने (वनस्पतौ) वननीय अर्थात् सेवनीय गुणों के रक्षक [पुरुष] में (निदधुः) अवश्य दान किया है, (तम्) उस [परमेश्वर] को (अस्मभ्यम्)

त्रायते। बलम्। पर्णमणे। म० १। हे पालकेषु प्रशंसनीय। धारयतात् धारयतेर्हेस्तातङ् आदेशः। धारय। स्थापय। रयिम्। अ० १। १५। २। रा दानादानयोः-इ, कुक्। धनम्-निघ० २। १०। सम्पत्तिम्। राष्ट्रस्य। अ० १। २९। १। राज्यस्य। अभीवर्गे। अभि+वृजी वर्जने-घञ्। उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्। पा० ६। ३। १२२। इति दीर्घः। अभिगतो वर्गो मनुष्यादिसमूहो यस्मिन्। राज्यमण्डले। निजः। नि+जनी प्रादुर्भावे-ड। निश्चयेन जायते। स्वकीयः। भूयासम्। भू-आशीर्लिङ्। अहं भवानि। उत्तमः। उत्कृष्टतमः ॥

३—यम्। प्रसिद्धम्। निदधुः। नि धाञ् धारणपोषणदानेषु-लिट्, निहितवन्तः। स्थापितवन्तः। निश्चयेन दत्तवन्तः। वनस्पतौ।

इमें (देवाः) तेजस्वी महात्मा पुरुष (आयुषा सह) बड़ी आयु के साथ (भर्तवे) हमारे पोषण करने के लिये (ददतु) दान करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूक्ष्मदर्शी देवताओं ने निश्चय किया है कि वह अन्तर्यामी, सर्वहितकारी परमेश्वर प्रत्येक शुभचिन्तक पुरुष में वर्तमान रहकर साहस बढ़ाता है, उसी परमात्मा का उपदेश विद्वान् महात्मा संसार में करें ॥ ३ ॥

सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः । तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ४ ॥

सोमस्य । पर्णः । सहः । उग्रम् । आ । अगन् । इन्द्रेण । दत्तः । वरुणेन । शिष्टः ॥ तम् । प्रियासम् । बहु । रोचमानः । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले और (वरुणेन) स्वीकरणीय श्रेष्ठ, गुरु आदि करके (दत्तः) हमें दिया हुआ और (शिष्टः) सिखाया

म० १ । १२ । ३ । वन सेवने—अच् । पारस्करादित्वात् सुट् । वन्यते सेव्यते वनः । वनानां वननीयानां गुणानां पत्यौ रक्षके पुरुषे । गुह्यम् । तदर्हति । पा० ५ । १ । ६३ । इति गुहा+यत् । गुहां गोपनमर्हतीति । यद्वा । शंसि गुहि-दुहिभ्यो वा । वार्त्तिकम्, पा० ३ । १ । १०६ । इति गुहू संवरणे—कर्मणि क्यप् । गुहायां हृदये गुप्तम् । प्रियम् । प्रीतिकरम् । हितकारम् । मणिम् । म० १ । प्रशंसनीयं परमेश्वरम् । तम् । मणिम् । तस्य परमेश्वरस्य बोधमित्यर्थः । अस्मभ्यम् । अस्मदर्थम् । अस्माकं लाभाय । सह । सहितम् । आयुषा । चिरजीवनेन । देवाः । तेजस्विनः पुरुषाः । ददतु । डुदाञ् दाने—लोट् । प्रयच्छन्तु । भर्तवे । तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्क्से० । पा० ३ । ४ । ६ । इति डुभृञ् धारणपोषणयोः—तवेन् । पालनाय । भरणाय ॥

४—सोमस्य । ऐश्वर्यस्य । अमृतस्य । मोक्षस्य । पर्णः । म० १ ।

हुआ (सोमस्य) अमृत का (पर्णः) पूर्ण करने वाला परमेश्वर, (उग्रम्) पराक्रम वाला (सहः) बल [बलरूप], (आ) सब ओर से (अगन्) मिला है। (बहु) अनेक प्रकार से (रोचमानः) रुचि करता हुआ मैं (तम्) उस [अमृतपूरक परमेश्वर] को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु युक्त (दीर्घायुत्वाय) बड़े जीवन के लिये (प्रियासम्) प्रसन्न करूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्वानों की शिक्षा पाकर शुद्ध बुद्धि स्वभाव परमेश्वर के ज्ञान से आत्मा में बल पाता है, तब वह धर्मात्मा बड़े उत्साह से परमात्मा की आज्ञा पालता हुआ बड़े अर्थात् यशस्वी जीवन के साथ आनन्द भोगता है ॥ ४ ॥

(इन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः) यह पाद अ० २ । २६ । ४ । में और (दीर्घायुत्वाय शतशारदाय) यह पाद अ० १ । ३५ । १ । में आचुके हैं ॥

आ मा॑रुक्षत् पर्णम॒णिर्म॒ह्या अ॑रिष्टता॑तये ।
यथा॒हमु॑त्त॒रोऽसा॑न्यर्य॒म्ण उ॒त सं॒विदः॑ ॥ ५ ॥

आ । मा । अरुक्षत् । पर्ण-म॒णिः । म॒ह्यै । अ॒रिष्ट-तातये ॥ यथा । अ॒हम् । उ॒त्तरः । असानि । अ॒र्य॒म्णः । उ॒त । सम्-विदः ॥ ५ ॥

पालकः । पूरकः । सहः । बलरूपः परमेश्वरः । उग्रम् । उत्कटम् । आ । समन्तात् । सम्यक्प्रकारेण । अगन् । अगमत् । प्राप्तः । इन्द्रेण । परमैश्वर्यवता तेजस्विना पुरुषेण । दत्तः । प्रापितः । वरुणेन । श्रेष्ठेन । शिष्टेन । अ० २ । २६ । ४ । शिक्षितः । अनुज्ञातः । तम् । सोमस्य पर्णम् । प्रियासम् । प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च—आशीर्लिङ् । तर्पयामि । प्रसन्नीकियासम् । बहु । अनेकविधम् । रोचमानः । रुच प्रीतिप्रकाशयोः—शानच् । रोचिष्णुः प्रसन्नः । दीप्यमानः । दीर्घायुत्वाय । अ० १ । ३५ । १ । चिरजीवनाय । शतशारदाय । अ० १ । ३५ । १ । शतशरदृतुयुक्ताय ॥

भाषार्थ—(पर्णमणिः) पालन करने वालों में श्रेष्ठ परमेश्वर (मह्यै अरिष्टतातये) बड़ी कुशलता के लिये (मा) मेरे (आ,अरुक्षत्) ऊपर बैठा है। (यथा) जिससे (अहम्) मैं (अर्यम्णः) श्रेष्ठों के मान करने वाले, (उत) और (संविदः) ज्ञानी पुरुष से (उत्तरः) अधिक श्रेष्ठ (असानि) हो जाऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वोपरि परमेश्वर अन्तर्यामी होकर हमें दुष्कर्मों से बचने की प्रेरणा करता है जिससे हम श्रेष्ठों में अति श्रेष्ठ और ज्ञानियों में अति ज्ञानी होवें ॥

ये धीवा॑नो रथका॒राः क॒र्मा॒रा ये म॑नी॒षिणः॑ ।
उ॒प॒स्तीन् प॑र्ण॒ मह्यं॒ त्वं सर्वा॑न् कृण्व॒भितो॒ जना॑न् ॥६॥

ये । धीवा॑नः । र॒थ॒-का॒राः । क॒र्मा॒राः । ये । म॒नी॒षिणः॑ ॥
उ॒प॒-स्तीन् । प॒र्ण॒ । मह्य॑म् । त्वम् । सर्वा॑न् । कृ॒णु॒ । अ॒भितः॑ ।
जना॑न् ॥ ६ ॥

५—मा । माम् । आ,अरुक्षत् । रुह जन्मप्रादुर्भावयोः—लुङ् । आरूढवान् । उपरि विराजमानोऽभूत् । पर्णमणिः । म० १ पालकेषु श्रेष्ठः। मह्यै । महत्यै । अरिष्टतातये । रिष हिंसायाम्—क्त । रिष्टं हिंसनम् । उपद्रवः । उत्पातः । नञ्समासः । शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति अरिष्ट-करोत्यर्थे तातिल् । प्रत्ययः । लिति । पा० ६ । १ । १९३ । इति प्रत्ययात् पूर्वस्य उदात्तः । रिष्टवर्जनाय । अनुपद्रवाय । क्षेमकरणाय । यथा । येन प्रकारेण । अहम् । परमेश्वरोपासकः । उत्तरः । उत्कृष्टः । असानि । अस्तेर्लोट् । भवानि । अर्यम्णः । श्वन्नुक्षन् पूषन्प्लीहन् उ० १ । १५९ । इति अर्य+माङ् माने शब्दे च—कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मातीति । श्रेष्ठानां सत्कारकात् । उत । अपि च । संविदः । सम्+विद ज्ञाने—क्विप् । ज्ञानिनः पुरुषात् ॥

भाषार्थ—(ये) जो (धीवानः) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (रथकाराः) रथों के बनाने वाले, और (ये) जो (मनीषिणः) बड़े पण्डित (कर्माराः) कर्मों में गति रखनेवाले शिल्पी जन हैं। (पर्ण) हे पालन करनेवाले परमेश्वर! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारो ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्ती (कृणु) कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों और विशेष कर राजा लोगों को चाहिये कि भूमिरथ, आकाशरथ, जलरथ आदि के बनाने वाले, और अन्य शिल्पकर्मी विश्वकर्मा चतुर विद्वानों का सत्कार करते रहें जिससे अनेक व्यापारों से संसार में उन्नति होवे ॥ ६ ॥

ये राजानो राजकृतः सूता ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन् पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान्॥७॥

ये। राजानः। राज-कृतः। सूताः। ग्रामण्यः। च। ये॥

६—ये। प्रसिद्धाः। **धीवानः।** ध्याप्योः सम्प्रसारणं च। उ० ४। ११५। इति ध्यै चिन्तने-कनिप्। ध्यानशीलाः। पण्डिताः। **रथकाराः।** कर्मण्यण्। पा० ३। २। १। इति रथ+कृञ्—अण्। विमानादिनिर्मातारः। **कर्माराः।** कर्म+ऋ गतौ—अण् पूर्ववत्। कर्माणि ऋच्छन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्तीति। विश्वकर्माणः। कर्मकाराः। अस्त्रशस्त्रकारिणः। **मनीषिणः।** कॄतॄभ्यामीषन्। उ० ४। २६। इति मनु अवबोधने-ईषन्। टाप्। मनीषा प्रज्ञाऽस्यास्ति व्रीह्यादित्वाद् इनि। यद्वा। ईष गतौ—अ,टाप्। शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। वार्त्तिकम्। पा० १। १। ६४। इति पररूपम्। मनस् ईषा मनस ईषा मनीषा मनोगतिः बुद्धिः। पूर्ववद्—इनि। मेधाविनः पुरुषाः-निघ० ३। १५। पण्डिताः। **उपस्तीन्।** उप+अस सत्तायाम्, यद्वा, आस उपवेशने-क्तिच्। आदिलोपश्छान्दसः। समीपे विद्यमानान्। उपासीनान्। **पर्ण।** म० १। हे पालक, पूरक। **मह्यम्।** मदर्थम्। **सर्वान्।** अखिलान्। **कृणु।** कुरु। **अभितः।** सर्वतः। **जनान्।** लोकान्॥

उप-स्तीन् । पर्ण । मह्यम् । त्वम् । सर्वान् । कृणु । अभितः । जनान् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (राजानः) ऐश्वर्यवाले (राजकृतः) राजाओं के बनाने वाले, (च) और (ये) जो (सूताः) सर्वप्रेरक, (ग्रामण्यः) ग्रामों के नेता लोग हैं। (पर्ण) हे पालन करने वाले परमेश्वर ! (त्वम्) तू (मह्यम्) मेरे लिये (सर्वान्) उन सब (जनान्) जनों को (अभितः) चारों ओर से (उपस्तीन्) समीपवर्त्ती (कृणु) कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—चक्रवर्ती राजा सबके राजाधिराज परमेश्वर का ध्यान करता हुआ अपने हितकारी माण्डलिक राजाओं और अन्य प्रधान पुरुषों को यथोचित व्यवहार से अपना इष्ट मित्र बनाये रक्खे ॥ ७ ॥

पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया ।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे ॥ ८ ॥

पर्णः । असि । तनू-पानः । स-योनिः । वीरः । वीरेण । मया ॥ सम्-वत्सरस्य । तेजसा । तेन । बध्नामि । त्वा । मणे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मणे) हे प्रशंसनीय परमेश्वर ! तू (पर्णः) हमारा पूर्ण करने वाला, (तनूपानः) शरीर रक्षक और (वीरेण मया) मुझ वीर के

७—ये । हितकारिणः । राजानः । राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च—कनिन् । दीप्यमानाः । ऐश्वर्यवन्तः । राजकृतः । राजन्+कृञ् करणे—क्विप्, तुक् च । राज्ञां कर्तारः, अभिषेचकाः । सूताः । षू प्रेरणे, ऐश्वर्ये, प्रसवे च—क्त । प्रेरकाः । ऐश्वर्यवन्तः । सूर्याः, सूर्यवत्तेजस्विनः । ग्रामण्यः । ग्राम+णीञ् प्रापणे—क्विप् । ग्रामं संघसथं तत्रत्यान् जनान् नयतीति ग्रामणीः । प्रधानाः । अधिपतयः । अन्यद् व्याख्यातं म० ६ ॥

८—पर्णः । पूरकः । पालकः । असि । भवसि । तनूपानः । शरीररक्षकः । सयोनिः । वहिश्रिश्रुयुद्रु० । उ० ४ । ५१ । इति यु मिश्रणामिश्र-

साथ (सयोनिः) मिलने योग्य घर में रहनेवाला (वीरः) वीर (असि) है। (संवत्सरस्य) सब में यथा नियम वास करनेवाले [तेरे] (तेन तेजसा) उस तेज से (त्वा) तुझको (बध्नामि) मैं बांधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस उत्तम कामनाओं के पूरक, और शरीररक्षक महापराक्रमी परमेश्वर को अपने साथ सब स्थानोंमें निवास करता हुआ जानकर, और उसके तेजोमय स्वरूप को हृदय में धारण करके पराक्रमी और तेजस्वी होकर आनन्द भोगे ॥ ८ ॥

ईश्वर का जीव के साथ नित्य सम्बन्ध है जैसे—

द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते। तयो॑र॒न्यः पि॒प्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति ॥

ऋग्वेद १। १६४। २०॥ अथर्व० ९। ९। २० ॥

(द्वा) दो (सुपर्णा) सुन्दर पालन शक्ति वाले, (सयुजा) समान योग्य रखने वाले, (सखाया) मित्रों के समान वर्त्तमान [ईश्वर और जीव] (समानम्) एक (वृक्षम्) सेवनीय [संसार वा वृक्ष] से (परि) सब प्रकार (सस्वजाते) संबन्ध रखते हैं। (तयोः) उन दोनों में (अन्यः) एक [जीव, ईश्वराधीन होने से] (स्वादु) चखने योग्य (पिप्पलम्) फल [पुण्य पाप का] (अत्ति) खाता है. (अन्यः) दूसरा [परमात्मा] (अनश्नन्) न खाता हुआ (अभि) भले प्रकार [जीवों को] (चाकशीति) देखता है ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः।

णयोः—नि। युतं सम्पृक्तं सर्वपदार्थैः। योनिः, गृहनाम-निघ० ३। ४। समानगृहयुक्तः। **वीरः**। स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। इति अज गतिक्षेपणयोः—रक्। अजेर्वीभावः। यद्वा। वीर विक्रान्तौ-पचाद्यच्। यद्वा। वि+ईर गतौ-क। वीरो वीरयत्यमित्रान् वेतेर्वा स्याद् गतिकर्मणो वीरयतेर्वा—निरु० १। ७। शूरः। **वीरेण**। पराक्रमिणा। **मया**। उपासकेन। **संवत्सरस्य**। अ०१।३५।४।संपूर्वाच्चित्। उ०३।७२। इति सम्+वस निवासे-सरन्। स च चित्। सम्यग्वसन्ति लोका यत्र, निवसति लोकेषु यः। सम्यग्निवासस्थानस्य परमेश्वरस्य। **तेजसा**। प्रकाशेन। **तेन**। प्रसिद्धेन। **बध्नामि**। धारयामि। स्वदीयतेजोऽवाप्तये स्वहृदये स्थापयामीत्यर्थः॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६

१—८ ॥ अश्वत्थो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्साहवर्धनायोपदेशः—उत्साह बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

पुमान् पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि ।
स हन्तु शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥१॥

पुमान् । पुंसः । परि-जातः । अश्वत्थः । खदिरात् । अधि । सः । हन्तु । शत्रून् । मामकान् । यान् । अहम् । द्वेष्मि । ये । च । माम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) (पुमान्) रक्षाशील (अश्वत्थः) अश्वत्थामा अर्थात् अश्वों, बलवानों में ठहरने वाला पुरुष, अथवा वीरों के ठहरने का स्थान पीपल का वृक्ष, (पुंसः) रक्षाशील (खदिरात् अधि) स्थिर स्वभाव वाले परमेश्वर से, अथवा खैर वृक्ष से (परिजातः) प्रकट होकर (मामकान् शत्रून्) मेरे उन शत्रुओं

१—पुमान् । पातेर्डुमसुन् । उ० ४ । १७८ । इति पा रक्षणे—डुमसुन्, डित्वात् टिलोपः । पातीति पुमान् [पुमस्] । रक्षकः पुरुषः । पुंसः । रक्षकात् । परिजातः । प्रादुर्भूतो भवति । अश्वत्थः । अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । इति अशू व्याप्तिसंहत्योः—क्वन् । अश्नुते कार्याणि स अश्वः, बलवान् पुरुषः । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क । पृषोदरादित्वाद् रूपम् । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति सः । अतिवीरपुरुषः । अश्वत्थामा । अथवा । अश्वा वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थः पिप्पलवृक्षः । खदिरात् । अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । इति खद स्थैर्यहिंसयोः—किरच् । स्थिर-स्वभावात् परमेश्वरात् । वृक्षविशेषाद्वा । अधि । पञ्चम्यर्थानुवादी । सः ।

वा रोगों को (हन्तु) नाश करे (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) वैरी मानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [वैरी जानते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष सर्वरक्षक दृढ़ स्वभावादि गुण वाले परमेश्वर का विचार करके अपने को सुधारते हैं, वे शूरों में महाशूर होकर कुकर्मी शत्रुओं से बचाकर संसार में कीर्त्ति पाते हैं ॥ १ ॥

२—अश्वत्थ, पीपल का वृक्ष दूसरे वृक्षों के खोखले, घरों की भीतों, और अन्य स्थानों में उगता है, और बहुत गुणकारी है। खैर के वृक्ष पर उगने से अधिक गुणदायक होजाता है। लोग बड़ा आदर करके पवित्र पीपल की चित्त-प्रसादक छाया और वायु में सन्ध्या, हवन, व्यायाम आदि करते, और इस के दूध, पत्ते फल, छाल, लकड़ी से बहुत ओषधें बनाते हैं। शब्दकल्पद्रुम कोष में इस को मधुर, कसैला, शीतल, कफ पित्त विनाशी, रक्तदाहशान्तिकारक आदि, और खदिर अर्थात् खैर को शीतल, तीखा, कसैला, दांतों का हितकारी, कृमि, प्रमेह, ज्वर, फोड़े, कुष्ठ, शोथ, आम, पित्त, रुधिर पांडु और कफ का विनाशक आदि लिखा है॥

पाद्मोत्तरखण्ड अध्याय १२६, १६०—१६१ में अश्वत्थ की कथा सविस्तार लिखी है।

तानंश्वत्थ निः शृंणीहि शत्रून् वैबाधदोधंतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥

तान्। अश्वत्थ। निः। शृणीहि। शत्रून्। वैबाध-दोधतः॥ इन्द्रेण। वृत्र-घ्ना। मेदी। मित्रेण। वरुणेन। च ॥ २ ॥

स अश्वत्थः। हन्तु। नाशयतु। शत्रून्। शातयितॄन्। अरीन्। रोगान्। मामकान्। म० १। २८। ५। मदीयान्। यान्। अपकारिणः। द्वेष्मि। द्विष वैरे। प्रतिकूलान् जानामि। ये। अपकारिणः। माम्। उपासकं द्विषन्तीति विपरिणामेन सम्बन्धः॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे बलवानों में ठहरने वाले शूर ! [वा पीपल वृक्ष !] (वृत्रघ्ना) अन्धकार मिटाने वाले (इन्द्रेण) सूर्य से, (मित्रेण) प्रेरणाकरने वाले वायु से (च) और (वरुणेन) स्वीकार करने योग्य जल से (मेदी+सन्) स्नेही होकर (तान्) उन (वैबाधदोधतः) विविध बाधा डालने वाले क्रोधशील (शत्रून्) शत्रुओं वा रोगों को (निः) सर्वथा (शृणीहि) मार डाल ॥२॥

भावार्थ—राजा सूर्यादि के समान गुणयुक्त होकर भीतरी और बाहिरी वैरियों का और सद्वैद्य पीपल के प्रयोग से रोगों का नाश करके प्रजा में शान्ति रक्खे ॥ २ ॥

यथा॑श्वत्थ नि॒रभ॑नो॒ऽन्तर्म॑ह॒त्य॑र्ण॒वे ।
ए॒वा तान्त्सर्वा॒न्निर्भ॑ङ्ग्धि॒ याने॒हं द्वेष्मि॒ ये च॒ माम्॥३॥

यथा॑ । अ॒श्व॒त्थ॒ । निः॒ऽअभ॑नः । अ॒न्तः । म॒ह॒ति । अ॒र्ण॒वे ॥
ए॒व । तान् सर्वा॑न् । निः । भ॒ङ्ग्धि॒ । यान् । अ॒हम् । द्वेष्मि॑ । ये । च॒ । माम् ॥ ३ ॥

२—तान् । प्रसिद्धान् । अश्वत्थ । म० १ । हे अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशील शूरराजन् । निः । निःशेषम् । शृणीहि । शॄ हिंसायाम् । घातय शत्रून् । अपकारिणः । वैबाधदोधतः । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति विबाध+अण् । विविधं बाधः प्रतिरोधो यस्य स वैबाधः । दोधतिः क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २ । १२ । नैरुक्तोधातुः–शतृप्रत्ययः । वैबाधान् विबाधकान् दोधतः क्रोधशीलान् । इन्द्रेण । ऐश्वर्यवता सूर्येण । वृत्रघ्ना । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु—क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति वृत्र+हन वधे-क्विप् । अन्धकारं हतवतः । मेदी । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति ञिमिदा स्नेहे—णिनि । घञन्ताद्वा मत्वर्थीय इनि । स्नेही । मित्रेण । अ० १ । ३ । २ । डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्त । यद्वा । ञिमिदा स्नेहे–त्र । सर्वप्रेरकः । स्नेहवान् । वायुः । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । २१—२२ । वरुणेन । अ० १ । ३ । ३ । मध्यस्थानदेवता-निरु० १० । ३ । वृष्टिजलेन ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे वीरों में ठहरने वाले राजन्! [वा पीपल वृक्ष!] (यथा) जैसे (महति) बड़े (अर्णवे अन्तः) समुद्र के बीच में (निरभनः) निश्चय करके तू भद्र करने वाला हुआ है। (एव) वैसे ही (तान् सर्वान्) उन सब को (निर्) निरन्तर (भङ्ग्धि) नष्ट करदे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) वैरी जानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [वैरी जानते हैं] ॥३॥

भावार्थ—मनुष्यों को शूर वीर और सद्वैद्य होकर दुःख सागर में डूबे हुए प्रजागणों के उभारने में प्रयत्न करना चाहिये ॥ ३ ॥

यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः ।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥

यः । सहमानः । चरसि । ससहानः-इव । ऋषभः ॥ तेन । अश्वत्थ । त्वया । वयम् । स-पत्नान् । सहिषीमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरनेवाले राजन्! [वा पीपल वृक्ष]! (यः) जो तू (सहमानः) [वैरियों को] दबाता हुआ, (ससहानः) महाबली (ऋषभः इव) श्रेष्ठ पुरुष वा बलीवर्द वा ऋषभ औषध के समान (चरसि) विचरता

३—यथा । येन प्रकारेण । अश्वत्थ । म० १ । हे बलवत्सु स्थितिशील !। पिप्पलवृक्ष! निरभनः । भदि कल्याणकरणे—लङि हल्ङ्यादिना सिपो लोपे। दश्च । पा० ८ । २ । ७५ । इति धातुदकारस्य वैकल्पकं रुत्वम् । निरन्तरं भद्रं कृतवानसि । महति । विशाले । अर्णवे । अ० १ । १० । ४ । समुद्रे । निर् । निश्चयेन । निरन्तरम् । भङ्ग्धि । भञ्जो आमर्दने—लोट् । भञ्जय । विदारय । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च । म० १ ॥

४—यः । यस्त्वम् । सहमानः । षह अभिभवे-शानच् । शत्रून् अभिभवन् । चरसि । गच्छसि । वर्तसे । ससहानः । सहेर्यङ्लुगन्तात् लटः शानच् । संहितायां दीर्घः । अत्यर्थमभिभवन् । इव । यथा । ऋषभः ।

है । (तेन त्वया) उस तेरे साथ (वयम्) हम (सपत्नान्) बैरियों को (सहिषीमहि) हरा देवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजा गण शूरवीर नीतिनिपुण राजा और सद्वैद्य के सहाय से शत्रुओं को वश में करते रहें । ऋषभ औषध विशेष है । इस को शब्द कल्पद्रुम कोष में मीठा, शीतल, रक्त-पित्त-विरेक—नाशक, वीर्य-श्लेष्म-कारी, और दाह-क्षय-ज्वरहारी आदि लिखा है ॥ ४ ॥

सिनात्वेनान् । निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः ।
अश्वत्थ शत्रून् मामकान् यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥५॥

सिनातु । एनान् । निःऽऋतिः । मृत्योः । पाशैः । अमोक्यैः ॥
अश्वत्थ । शत्रून् । मामकान् । यान् । अहम् । द्वेष्मि । ये । च । माम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरने वाले राजन् ! [वा पीपल वृक्ष !] (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (मृत्योः) मृत्यु के (अमोक्यैः) न खुल सकने वाले (पाशैः) पाशों से (एनान्) इन (मामकान् शत्रून्) मेरे शत्रुओं को (सिनातु) बांध लेवे, (यान्) जिन्हें (अहम्) मैं (द्वेष्मि) वैरी जानता हूं, (च) और (ये) जो (माम्) मुझे [वैरी जानते हैं] ॥५॥

भावार्थ—राजा सत्पुरुषों के विरोधी दुराचारियों को दृढ़ बन्धनों में डालकर निर्धन और नष्ट करदे ॥५॥

ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति ऋष गतौ । दर्शने च—अभक् । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । श्रेष्ठपुरुषो बलीवर्दो वा । औषधविशेषो वा । तेन । उक्तलक्षणेन । त्वया । अश्वत्थेन । वयम् । सपत्नान् । शत्रून् ॥ सहिषीमहि । सहेराशीर्लिङि रूपम् । सहामहै । अभिभूयास्म ॥

५—सिनातु । षिञ् बन्धने । बध्नातु । एनान् । समीपवर्त्तिनः । निर्ऋतिः । अ० १ । ३१ । २ । निः+ऋ हिंसने—क्तिन् । अलक्ष्मीः । मृत्योः । मरणस्य । पाशैः । बन्धनैः । अमोक्यैः । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ इति मुच्लृ मोक्षे=त्यागे—ण्यत् । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अमोचनीयैः । अत्याज्यैः । अश्वत्थ, शत्रून् । इत्यादि व्याख्यातं म०१ ॥

यथा॑श्वत्थ वानस्प॒त्याना॒रोह॑न् कृणु॒षेऽध॑रान् ।
ए॒वा मे॒ शत्रो॑र्मू॒र्धानं॒ विष्व॑ग् भिन्धि॒ सह॑स्व च ॥६॥

यथा॑ । अ॒श्व॒त्थ॒ । वा॒न॒स्प॒त्यान् । आ॒-रोह॑न् । कृ॒णु॒षे । अध॑-रान् ॥ ए॒व । मे॒ । शत्रोः॑ । मू॒र्धान॑म् । विष्व॑क् । भि॒न्धि॒ । सह॑स्व । च॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अश्वत्थ) हे शूरों में ठहरने वाले अश्वत्थामा राजन् ! [वा पीपल वृक्ष] ! (वानस्पत्यान्) सेवकों वा सेवनीय गणों के रक्षक [आप] से सम्बन्ध वाले पुरुषों [वा वृक्ष समूहों] पर (आरोहन्) ऊंचा होकर (अधरान्) नेचे (कृणुषे) तू करता है, (एव) वैसे ही (मे शत्रोः) मेरे शत्रु के (मूर्धानम्) मस्तक को (विष्वक्) सब विधि से (भिन्धि) तोड़ दे (च) और (सहस्व) जीत ले ॥ ६ ॥

भावार्थ—समस्त और प्रत्येक प्रजागण समर्थ शूर वीर पुरुष वा सद्वैद्य को नायक बनाकर शत्रुओं और रोगों से अपने को बचावें ॥ ६ ॥

तेऽध॑रा॒ञ्चः प्र प्ल॑वन्तां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात् ।
न वै॑बा॒धप्र॑णुत्ता॒नां पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम् ॥ ७ ॥

६—वानस्पत्यान् । वनति सेवते । अथवा । वन्यते सेव्यते स वनः । तेषां पतिः, वनस्पतिः । [वनस्पते] वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ । ततः । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । इति ण्यप्रत्ययः । सेवकानां सेव्यगुणानां वा पालकस्य संबन्धिनः पुरुषान् । स्वभक्तानित्यर्थः । यद्वा, समूहार्थे ण्यः । वृक्षान् । आरोहन् । रुह जन्मप्रादुर्भावयोः—शतृ । आरूढः, अधिष्ठाता सन् । कृणुषे । करोषि । अधरान् । नीचान् । स्वशरणे रक्षितान् । मूर्धानम् । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५९ । इति मुर्व बन्धने—कनिन् । मस्तकम् । विष्वक् । विषु+अञ्चु—क्विन् । सर्वतः । भिन्धि । विदारय । सहस्व । अभिभव ॥

ते । अधराञ्चः । प्र । प्लवन्ताम् । छिन्ना । नौः-इव । बन्धनात् ॥ न । वैबाध-प्रनुत्तानाम् । पुनः । अस्ति । नि-वर्तनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (अधराञ्चः) अधोगति वाले लोग वा रोग (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) छूटी हुयी (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) बहते चले जावें जिस से (वैबाधप्रणुत्तानाम्) विविध बाधा डालने वालों में पड़े हुये लोगों का (पुनः) फिर (निवर्तनम्) लौटना (न) नहीं (अस्ति) है॥७॥

भावार्थ—महादुष्ट रोग वा दुराचारियों के हटाने के लिये कठिन उपाय करना चाहिये, क्योंकि कोमलता से उन का सुधार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

प्रैणान् नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा ।
प्रैणान् वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥

प्र । एनान् । नुदे । मनसा । प्र । चित्तेन । उत । ब्रह्मणा ॥ प्र । एनान् । वृक्षस्य । शाखया । अश्वत्थस्य । नुदामहे ॥८॥

भाषार्थ—(एनान्) इन [शत्रुओं] को (मनसा) मनन शक्ति से, (चि-

७—ते । शत्रवः । अधराञ्चः । अधर+अञ्चतेः । क्विन् । अधोगतिं प्राप्ताः । प्रप्लवन्ताम् । प्लुङ् गतौ । प्रवाहेण सह गच्छन्तु । न कदाचित् पारं प्राप्नुवन्तु । छिन्ना । भिन्ना । वियुक्ता । नौः । ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २ । ६४ । इति णुद प्रेरणे—डौ। जलतरणसाधनम् । तरणिः । बन्धनात् । बन्ध-ल्युट् । रज्ज्वाः सकाशात् । न । निषेधे । वैबाधप्रणुत्तानाम् । वैबाधो यथा मन्त्रे २ । प्र+णुद प्रेरणे—क्त, तस्य नः । वैबाधेषु विविधबाधकेषु प्रणुत्तानां प्रेरितानां क्षिप्तानां । पुनः । पश्चात् । अस्ति । भवति । निवर्त्तनम् । नि+वृत—ल्युट् निवृत्य आगमनम् ॥

८—एनान् । पूर्वोक्तान् शत्रून् । नुदे । णुद प्रेरणे । स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम् । प्रेरयामि । निः सारयामिः । मनसा । मननशक्त्या । चित्तेन ।

तेन) ज्ञान शक्ति से (उत) और (ब्रह्मणा) वेदशक्ति से (प्र प्र) सर्वथा (नुदे) मैं हटाता हूं । (एनान्) इन को (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (अश्वत्थस्य) बलवानों में ठहरने वाले शूर [वा पीपल] की (शाखया) व्याप्ति [वा शाखा] से (प्र, नुदामहे) हम निकाले देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रत्येक व्यक्ति और सब लोग मिल कर शूर वीर वा पीपल के प्रभाव से आगा पीछा विचारकर शत्रुओं को नष्ट कर देते हैं ॥

सूक्तम् ७ ॥

१–७ ॥ १-३ हरिणो देवता, ४-७ मन्त्रोक्ता देवताः । अनुष्टुप् छन्दः॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

हुरिणस्यं रघुष्यदोऽधि शीर्षणि भेषुजम् ।
स क्षेत्रियं विषाणया विषूचीनमनीनशत् ॥ १ ॥

हुरिणस्य । रघु-स्यदः । अधि । शीर्षणि । भेषुजम् ॥ सः । क्षेत्रियम् । विसानया । विषूचीनम् । अनीनशत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) अन्धकार हरने वाले सूर्य रूप परमेश्वर के (शीर्षणि अधि) आश्रय में ही (भेषजम्) भय जीतने वाला औषध है । (सः) उस [ईश्वर] ने (विषाणया) विविध दानों से (क्षेत्रियम्)

चिती ज्ञाने-क्तः । ज्ञानशक्त्या । **ब्रह्मणा** । वेदविज्ञानेन । **वृक्षस्य** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः । पा० ३ । १ । १३५ । इति वृञ् वरणे-क । वरणीयस्य । विटपस्य वा । **शाखया** । शाख व्याप्तौ-अच्, टाप् । व्याप्त्या । पूर्णतया । वृक्षावयवेन । **अश्वत्थस्य** । म० १ । बलवत्सु स्थितिशीलस्य शूरस्य । पिप्पलस्य । **नुदामहे** । प्रेरयामः ॥

१—**हरिणस्य** । श्यास्त्याहृञविभ्य इनच् । उ० २ । ४६ । इति हृञ् हरणे-इनच् । दुःखहरणशीलस्य परमेश्वरस्य । सूर्यस्य । पशुविशेषस्य मृगस्य । **रघु-**

शरीर वा वंश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर से (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने आदि सृष्टि में वेद द्वारा हमारे स्वाभाविक और शारीरिक रोगों की औषधि दी है उसी के आज्ञापालन में हमारा कल्याण है ॥

(हरिण) "शब्दकल्पद्रुम" कोष में विष्णु, शिव, सूर्य, हंस और पशु विशेष मृग का नाम है और पहिले चारो नाम प्रायः परमेश्वर के है ॥

दूसरा अर्थ ॥

(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरिणस्य) हरिण के (शीर्षणि अधि) मस्तक के भीतर (भेषजम्) औषध है । (सः) उस [हरिण] ने (विषाणया) [अपने] सींग से (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (विषूचीनम्) सब ओर (अनीनशत्) नष्ट कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मृग के सींग आदि से मनुष्य बड़े २ रोग नष्ट करें । मृगक नाभि में प्रसिद्ध औषधि कस्तूरी होती है । उस का सींग पसली आदि की पीड़ा में लगाया जाता है, प्रायः घरों में रक्खा रहता है और उस में नौसादर भी होता है । [विषाणम्] सींग कुष्ठ का औषध है ॥ १ ॥

ष्यदः । लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इति लघि अभुग्गत्योः—कु, नलोपः । बालमूललघ्वसुरालम० वा० पा० ८ । २ । १८ । इति लस्य रत्वम् । स्यन्देः क्विप् । अनिदिताम् ० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । शीघ्रगामिनः । **अधि** । सप्तम्यर्थानुवादी । **शीर्षणि** । श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १६४ । इति श्रिञ् सेवने-असुन् । इति शिरः । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन्, इत्यादेशः । आश्रये । मस्तके । **भेषजम्** । अ० १ । ४ । ४ । भयजेतृसामर्थ्यम् । **सः** । पूर्वोक्तो हरिणः । **क्षेत्रियम्** । अ० २ । ८ । १ । क्षेत्र-घच् । क्षेत्रे देहे वंशे वा जातं रोगं दोषं वा । **विषाणया** । वि+षणु दाने, सेवने च-घञ् टाप् । विषाणं विशेषेण मदस्य दातारम्-इति सायणः-ऋ० ५ । ४४ ११ । विषाणेन । विविधदानेन । शृङ्गेण । **विषूचीनम्** । विषु+अञ्चतेः-क्विन् । अनिदितां हल उप० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थे खः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । इत्यकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । विष्वक्, सर्वतः । **अनीनशत्** । णश अदर्शने-णिच्, लुङ् । नाशितवान् ॥

अनु त्वा हरिणो वृषा पद्भिश्चतुर्भिरक्रमीत् ।
विषाणे वि ष्य गुष्पितं यदस्य क्षेत्रियं हृदि ॥ २ ॥

अनु । त्वा । हरिणः । वृषा । पत्-भिः । चतुः-भिः । अक्र-मीत् ॥ वि-साने । वि । स्य । गुष्पितम् । यत् । अस्य । क्षेत्रियम् । हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (वृषा) परम ऐश्वर्यवाला (हरिणः) विष्णु भगवान् (चतुर्भिः) मांगने योग्य [अथवा चार, धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] (पद्भिः) पदार्थों के साथ (त्वा अनु) तेरे साथ २ (अक्रमीत्) पद जमाकर आगे बढ़ा है । (विषाणे) [परमेश्वर के] विविध दान में [उस रोग को] (विष्य) नाश करदे (यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर व वंश का रोग (अस्य) इसके (हृदि) हृदय में (गुष्पितम्=गुफितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अनेक उत्तम २ पदार्थ देकर सदा सहायक रहता है । उसकी अनन्त दया से ओषधि द्वारा नीरोग रहकर अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ २ ॥

दूसरा अर्थ ।

[हे मनुष्य !] (वृषा) बलवान् (हरिणः) हरिण (चतुर्भिः पद्भिः) चारों पैरों से (त्वा अनु) तेरे अनुकूल (अक्रमीत्) प्राप्त हुआ है ।

२—अनु । सह । अनुकूलं व्याप्य । त्वा । त्वां मनुष्यम् । हरिणः । म० १ । विष्णुः । परमेश्वरः । मृगः । वृषा । कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु कनिन् । ऐश्वर्यवान् । इन्द्रः । पद्भिः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति पद स्थैर्ये गतौ च-अच् । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ इति । पद् आदेशः । स्थातव्यैः । प्राप्तव्यैः । पदार्थैः । पादैः चतुर्भिः । चतेरुरन् । उ० ५ । ५८ । इति चते याचने-उरन् । याचनीयैः । चतुःसंख्याकैर्धर्मार्थकाममोक्षैर्वा । अक्रमीत् । क्रमु पादविक्षेपे, गतौ-लुङ् । पादविक्षेपेण प्राप्तवान् । विषाणे । म० १ । वि+षणु दाने-घञ् । विविधदानेन ।

(विषाणे) हे सींग ! [उस रोग को] (विष्य) नाश करदे (श्रेतु) जो (क्षेत्रियम) शरीर वा वंश का रोग (अस्य हृदि) इसके हृदय में (गुष्पितम्) गुंथा हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य हरिण के सींग आदि औषध से रोग निवृत्ति करें ॥ २ ॥

अदो यद॑वरोच॑ते चतु॑ष्पक्षमिव च्छ॒दिः ।
तेना॑ ते स॒र्वं॑ क्षे॑त्रि॒यमङ्गे॑भ्यो नाशयामसि ॥ ३ ॥

अदः । यत् । अव॒-रोच॑ते । चतु॑ष्पक्षम्-इव । छदिः ॥ तेन॑ । ते । सर्व॑म् । क्षे॒त्रियम् । अङ्गे॑भ्यः । ना॒श॒या॒म॒सि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो [वा पूजनीय ब्रह्म] (चतुष्पक्षम्) याचनीय व्यवहारों से युक्त, अथवा चार पक्ष वाले (छदिः इव) घर के समान (अवरोचते) चमकता है । (तेन) उसके द्वारा (ते अङ्गेभ्यः) तेरे अङ्गों से

अथवा (विषाण) इत्यस्य संबोधनम् । हे शृङ्ग । वि, स्य । षो अन्तकर्मणि-लोट् । विनाशय । गुष्पितम् । गुफ, गुम्फ ग्रन्थे-क्त । छान्दसं रूपम् । गुफितं गुम्फितं वा ग्रन्थितम् । यत् । यत्किंचित् । अस्य । समीपवर्त्तिनः पुरुषस्य । क्षेत्रियम् । रोगजातम् । हृदि । हृदये ॥

३—अदः । न+दसु उत्क्षेपे-क्विप् । एतत् । पुरोवर्त्ति । यत् । त्यजितनियजि० । उ० १ । १३२ । इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु-अदि, स च डित् । सर्वत्रसंगतं सर्वपूजनीयं ब्रह्म । अथवा, सर्वनामैतत् । अवरोचते । निश्चयेन व्याप्य वा दीप्यते । चतुष्पक्षम् । चते याचने-उरन् । म० २। गृधिपण्योर्दकौ च । उ०३। ६६ । इति पण व्यवहारे स्तुतौ च-स,कश्चान्तादेशः । यद्वा । पक्ष परिग्रहे-घञ् । याचनीयव्यवहारयुक्तम् । चतुकोण वा । छदिः । अर्चिशुचिहुसृपिछदिछर्दिभ्य इसिः । उ० २। १०८ । इति छद संवृतौ+णिच्—इसि । इस्मन्त्रन्क्विषु । पा० ६ । ४ । ९७। इति ह्रस्वः । पटलम् । गृहम् । आच्छादनम् । तेन । ब्रह्मणा । ते । तव । सर्वम् ।

(सर्वम्) सब (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश के रोग को (नाशयामसि=०-मः) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष उस सर्वत्र विराजमान परब्रह्म की रचनाओं में उत्तम कर्मों से युक्त घर के समान आनन्द पाकर अपने सब विघ्नों का सब जगह नाश करके आगे बढ़े चले जाते हैं ॥ ३ ॥

२—हरिण के सींग आदि औषध से रोग नष्ट करना चाहिये ॥ ३ ॥

अमू ये दिवि सुभगे विचृतौ नाम तारके ।
वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम् ॥ ४ ॥

अमू इति । ये इति । दिवि । सुभगे इति सु-भगे । वि-चृतौ । नाम । तारके इति ॥ वि । क्षेत्रियस्य । मुञ्चताम् । अधमम् । पाशम् । उत्-तमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अमू) वे (ये) जो (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (तारके) दो तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (दिवि) आकाश में हैं, वे दोनों (क्षेत्रियस्य) शरीर वा वंश के दोष वा रोग के (अधमम्) नीचे और (उत्तमम्) ऊंचे (पाशम्) पाश को (वि+मुञ्चताम्) छुड़ा देव ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और चन्द्रमा परस्पर आकर्षण से प्रकाश, वृष्टि और पुष्टि आदि देकर संसार का उपकार करते हैं, इसी प्रकार मनुष्य सुमार्ग में चलकर सब विघ्नों को हटाकर स्वस्थ और यशस्वी हों ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० २ । ८ । १ । में कुछ भेद से आ चुका है ।

अखिलम् । क्षेत्रियम् । नाशकरं रोगम् । अङ्गेभ्यः । शरीरावयवेभ्यः । नाशयामसि । वयं नाशयामः ॥

४—अमू । परिदृश्यमाने । ये । ज्ञाते । दिवि । द्युलोके । आकाशे । सुभगे । शोभनैश्वर्ययुक्ते । शिष्टं व्याख्यातम्-अ० २ । ८ । १ ।

आप इद्वा उं भेषजीरापो अमीवचातनीः ।
आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्त्वा मुञ्चन्तु क्षेत्रियात् ॥५॥

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीव-चातनीः । आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । त्वा । मुञ्चन्तु । क्षेत्रियात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आपः) सर्वव्यापक परमेश्वर वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजीः=०—ज्यः) भय निवारक है, (आपः) परमेश्वर, वा जल (अमीवचातनीः=०—न्यः) पीड़ानाशक है। (आपः) परमेश्वर वा जल (विश्वस्य) सब का (भेषजीः) भय निवारक है, (ताः) वह (त्वा) तुझ को (क्षेत्रियात्) शरीर वा वंश के दोष वा रोग से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को बुद्धि, नेत्र, हस्तादि, सूर्य, चन्द्र, पृथिवी आदि, और अन्नादि पदार्थ देकर बड़ा उपकार किया है, सो हम भी उसको धन्यवाद देते हुये सब के साथ उपकार करें, और खेती आदि में जल के सुप्रयोग से पुरानी और नवी दरिद्रता, और स्नान आदि में प्रयोगों से सब रोग नाश करें ॥ ५ ॥

(आपः) शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त है, इसी से उस के विशेषण भी स्त्रीलिङ्ग बहुवचनान्त हैं। (आपः) शब्द परमेश्वरवाची भी है, प्रमाण में अगला मन्त्र है। उस में एक वचनान्त शब्दों के साथ प्रयोग से उसका अर्थ एक परमेश्वर का है ॥

५—आपः । अ० १ । ४ । ३ । सर्वव्यापकः परमेश्वरः । जलानि । इत्, वै, उ । इति सर्वेऽवधारणे । अत्यन्तनिश्चयेन । भेषजीः । भेषं भयं जयतीति भेषजम् । भेष+जि—ड । केवलमामकभागधेय० । पा० ४ । १ । ३० इति । भेषज, ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । भेषज्यः । भयनिवारिकाः । अमीवचातनीः । अ० १ । २८ । १ । रोगाणां नाशयित्र्यः ।

तदे॒वाग्निस्तदा॑दि॒त्यस्तद्वा॒युस्तदु॑ च॒न्द्रमाः॑। तदे॒व शु॒क्रं तद्ब्रह्म॒ ता आपः॒ स प्र॒जाप॑तिः ॥

(तत्) विस्तार करने वाला प्रसिद्ध ब्रह्म (एव) ही (अग्निः) ज्ञान-स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (आदित्यः) प्रकाश स्वरूप, (तत्) ब्रह्म ही (वायुः) गतिशील बलवान्, और (तत् उ) ब्रह्म ही (चन्द्रमाः) आनन्द कारक है। (तत् एव) ब्रह्म ही (शुक्रम्) शुक्र वा शुद्धस्वभाव, (तत्) सब में विस्तृत ब्रह्म (ब्रह्म) महान्, (ताः) वही (आपः) सर्वव्यापक, और (सः) वही (प्रजापतिः) प्रजापालक है॥

तनोति विस्तारयतीति तद् ब्रह्म। तनु विस्तारे-अदि, स च डित् उ० १। १३२।

यदा॑सुतेः क्रि॒यमा॑णायाः क्षेत्रि॒यं त्वा॑ व्यानु॒शे ।
वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं क्षेत्रि॒यं ना॑शयामि॒ त्वत् ॥ ६ ॥

यत् । आ॒ऽसु॒तेः । क्रि॒यमा॑णायाः । क्षे॒त्रि॒यम् । त्वा॒ । वि॒ऽआ॒नु॒शे ॥ वेद॑ । अ॒हम् तस्य॑ । भे॒ष॒जम् । क्षे॒त्रि॒यम् । ना॒श॒या॒मि॒ । त्वत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (क्रियामाणायाः) विगड़ते हुये (आसुतेः) काढ़े से (त्वा) तुझ में (व्यानशे) व्याप गया है। (अहम्) मैं (तस्य) उसका (भेषजम्) औषध (वेद) जानता हूं। (क्षेत्रि-

---

पीड़ानाशिकाः । विश्वस्य । सर्वस्य। त्वा । त्वां मनुष्यम्। मुञ्चन्तु । मोचयन्तु । वियोजयन्तु, इत्यर्थः। क्षेत्रियात् । महारोगात्।

६—यत् । यत्किञ्चित् । आसुतेः । आङ्+षुञ् सन्धानपीड़नमन्थनेषु-क्तिन्। ओषधिपाकात्। काथात्। क्रियमाणायाः । कृञ् वधे कर्मणि शानच्, मुक् आगमः । वध्यमानायाः । नश्यमानायाः । क्षेत्रियम् । म० १ । महारोगः । त्वा । त्वां मनुष्यम्। व्यानशे । वि+अशू व्याप्तौ—लिट्। अश्नोतेश्च । पा०

यम्) शरीर वा वंश के रोग को (त्वत्) तुम से (नाशयामि) नाश करता हूं ॥६॥

भावार्थ—विकृत औषध और विकृत अन्न के काढ़े वा पाक रस आदि से शरीर में भारी रोग व्याप जाते हैं, मनुष्य हितकारक पदार्थों का सेवन प्रयत्न करके किया करें ॥ ६ ॥

अपवासे नक्षत्राणामपवास उषसामुत ।
अपास्मत् सर्वं दुर्भूतमप क्षेत्रियमुच्छतु ॥ ७ ॥

अप-वासे । नक्षत्राणाम् । अप-वासे । उषसाम् । उत ॥ अप । अस्मत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । अप । क्षेत्रियम् । उच्छतु ॥७॥

भाषार्थ—(नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (अपवासे) छिपने पर (उत) और (उषसाम्) प्रभात वेलाओं के (अपवासे) चले जाने पर (अस्मत्) हम से (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) अनिष्ट (अप=अप उच्छतु) चला जावे, और (क्षेत्रियम्) शरीर वा वंश का रोग (अप उच्छतु) हट जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र उपसंहार है, अर्थात् जैसे प्रतापी सूर्य के चमकने पर तारे छिप जाते और उषाओं का रङ्ग फीका पड़ जाता है, वैसे ही उद्योगी पुरुष आलस्यादि अनिष्टों और रोगों को दबाकर आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

---

७ । ४ । ७२ । इति दीर्घीभूतात् अभ्यास्यात् नुट् । व्याप्नोत् । वेद । जानामि । अहम् । उपासकः । तस्य । क्षेत्रियस्य । भेषजम् । भयनिवारक—मौषधम् । नाशयामि । निवारयामि । त्वत् । त्वत्तः सकाशात् ॥

७—अपवासे । अप+वस वासे, आच्छादने—भावे घञ् । अन्तर्धाने । अपगमने । नक्षत्राणाम् । अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति णक्ष गतौ—अत्रन् । नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः—निरु० ३ । २० । तारकाणाम् । उषसाम् । उषः किच्च । उ० ४ । २३४ । इति उष वधे दाहे च—असि । प्रभात प्रकाशानाम् । उत । अपि । अप । अप उच्छतु । अस्मत् । अस्मत्तः । सर्वम् । निखिलम् । दुर्भूतम् । दुर्+भू—क्त । दुर् दुःखेन भूतं युक्तम् । अनिष्टम् । दुःखम् । क्षेत्रियम् । महारोगजातम् । अप उच्छतु । उछी विवासे । अपगच्छतु । निवर्तताम् ॥

सूक्तम ८ ॥

१—६ ॥ प्रजापतिर्मन्त्रोक्ता देवता वा । १-४, ६ त्रिष्टुप्, ५ अनुष्टुप् ॥

प्रीतिजननायोपदेशः—प्रीति उत्पन्न करने का उपदेश ॥

आ यातु मित्र ऋतुभिः कल्पमानः संवेशयन् पृथिवीमुस्रियाभिः । अथास्मभ्यं वरुणो वायुरग्निर्बृहद् राष्ट्रं संवेश्यं दधातु ॥ १ ॥

आ । यातु । मित्रः । ऋतु-भिः । कल्पमानः । सम्-वेशयन् । पृथिवीम् । उस्रियाभिः ॥ अथ । अस्मभ्यम् । वरुणः । वायुः । अग्निः । बृहत् । राष्ट्रम् । सम्-वेश्यम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतुभिः) ऋतुओं से (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ, और (उस्रियाभिः) किरणों से (पृथिवीम्) पृथिवी को (संवेशयन्) सुखी करता हुआ (मित्रः) मरण से बचाने वाला वा लोकों का चलाने वाला सूर्य (आयातु) आवे । (अथ) और (वरुणः) वृष्टि आदि का जल (वायुः)

---

१ आयातु । आगच्छतु । दीप्यतामित्यर्थः । मित्रः । अ० १ । ३ । २ । मित्रः प्रमीतेस्त्रायते संमिन्वानो द्रवतीति वा मेदयतेर्वा-निरु० १० । २१ । सुपि स्थः । पा० ३ । २ । ४ । इति प्रमीति+त्रैङ् रक्षणे-क, प्रमीतिशब्दस्य च मिद्भावः । यद्वा, डुमिञ् प्रक्षेपणे-क्र । यद्वा, ञि मिदा स्नेहने क्र । प्रमीतेः मरणात् त्राता रक्षको वृष्टिदानेन । लोकान् सम्मिन्वानः प्रक्षिपन् प्रेरयन् आकर्षणेन । शस्यानि स्नेहयति जलेन । यद्वा, मित्रवद् उपकारकः । सूर्यः । ऋतुभिः वसन्ताद्यैः । कल्पमानः । कृपू सामर्थ्ये—लटः शानच् । कृपो रो लः पा० ८ । २ । १८ । इति लत्वम् । उपकाराय समर्थः सन् । संवेशयन् । संपूर्वाद् विश सुखीकरणे, णिच्, शतृ । सुखीकुर्वन् । पृथिवीम् । विस्तीर्णां भूमिम् ।

पवन और (अग्निः) अग्नि (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (बृहत्) विशाल (संवेश्यम्) शान्तिदायक (राष्ट्रम्) राज्य को (दधातु) स्थिर करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न करे कि उसके प्रजागण सब ऋतुओं में पृथिवी पर भानुताप [सूर्य की किरणों को कांच के दर्पणों से खींचने का यन्त्र] आदि यन्त्रों द्वारा सूर्य से, जल चक्र, जल नाली आदि द्वारा जल से, पवन चक्रादि द्वारा पवन से, और आग्नेय अस्त्र शस्त्र द्वारा अग्नि से, विमान, अग्निरथ, नौका आदि में अनेक विधि से उपकार लेकर राज्य की उन्नति करें ॥ १ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तामिन्द्रस्त्वष्टा प्रति हर्यन्तु मे वचः। हुवे देवीमदितिं शूरपुत्रां सजातानां मध्यमेष्ठा यथासानि ॥ २ ॥

धाता। रातिः। सविता। इदम्। जुषन्ताम्। इन्द्रः। त्वष्टा। प्रति। हर्यन्तु। मे। वचः॥ हुवे। देवीम्। अदितिम्। शूर-पुत्राम्। स-जातानाम्। मध्यमे-स्थाः। यथा। असानि॥ २ ॥

भाषार्थ—(धाता) पोषणकर्ता, (रातिः) दानकर्ता, (सविता) सर्व

उस्रियाभिः। स्फायि त ञ्चि वञ्चि०। उ० २। १३। इति वस निवासे रक्, टाप्। इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्। वा० पा० ७। १। ३९। इति विभक्तौ डियाच्, भिस् इति च छान्दसः प्रयोगः। वसन्त्यत्र रसाः। उस्रैः किरणैः। अथ। अपि च। अस्मभ्यम्। अस्मदर्थम्। वरुणः। वरणीयं जलम्। वायुः। पवनः। अग्निः। पावकः। बृहत्। महत्। राष्ट्रम्। अ० १। २९। १ राज्यम्। संवेश्यम्। संपूर्वाद् विश सुखीकरणे—अर्हार्थे यत्। सुखीकरणयोग्यम्। शान्तिदायकम्। दधातु। धरतु। विदधातु। करोतु। स्थापयतु। प्रत्येकापेक्षयैकवचनम् ॥

२—धाता। धारकः। पोषकः। रातिः। रा दाने—कर्तरि क्तिच्।

प्रेरक, (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान्, और (त्वष्टा) देवशिल्पी वा विश्वकर्मा [यह सब पुरुष] (मे) मेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य के कारण (वचः) वचन को (जुषन्ताम्) विचारें और (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (हर्यन्तु) स्वीकार करें। (देवीम्) दिव्य गुणवाली, (शूरपुत्राम्) शूर पुत्रों वाली (अदितिम्) अदीन वा अखण्ड व्रतवाली देव माता [चतुर स्त्री वा विद्या] को (हुवे) मैं आवाहन करता हूं, (यथा) जिससे मैं (सजातानाम्) अपने समान जन्मवाले भाई बन्धुओं में (मध्यमेष्ठाः) प्रधान मध्यस्थ [mediator] होकर (असानि) रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा बड़े २ गुणवान् पुरुषों, बड़ी २ गुणवती स्त्रियों और विद्या की प्रतिष्ठा बढ़ावे, जिस से वह उनके सहाय से अपनी उन्नति करे ॥ २ ॥

हुवे सोमं सवितारं नमोभिर्विश्वानादित्याँ अहमुत्त-रत्वे । अयमग्निर्दीदायद् दीर्घमेव संजातैरिद्धोऽप्रतिब्रुवत्-भिः ॥ ३ ॥

दानशीलः। सविता। सर्वप्रेरकः। इदम्। इन्देः कमिन्नलोपश्च। उ० ४। १५७। इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन्, न लोपः। परमैश्वर्यकारणम्। जुषन्ताम्। जुष तर्के, जुषी प्रीतिसेवनयोः। तर्कयन्तु। विचारयन्तु सेवन्ताम्। इन्द्रः। परमैश्वर्यवान्। त्वष्टा। अ० २। ५। ६। देवशिल्पी विश्वकर्मा। प्रति। प्रत्यक्षम्। हर्यन्तु। हर्य गतिकान्त्योः। कामयन्ताम् सादरं शृण्वन्तु। स्वीकुर्वन्तु। मे। मदीयम्। वचः। वच कथने, संदेशे च-असुन्। वचनम्। हुवे। ह्वेञ् आह्वाने। आह्वयामि। देवीम्। दानादिगुणयुक्ताम्। दिव्यगुणवतीम्। अदितिम्। अ० २। २८। ५। अखण्डव्रताम्। अदीनां देवमातरम्। सुलक्षणां स्त्रियं विद्यां वा। शूरपुत्राम्। शूरा विक्रान्ताः शौर्योपेताः पुत्रा यस्याः सा तथोक्ता। ताम्। वीरपुत्रवतीम्। सजातानाम्। समानजन्मनाम्। बन्धूनाम्। मध्यमेष्ठाः। अ० २। ६। ४। मध्यम+ ष्ठा गतिनिवृत्तौ-विच्। सप्तम्या अलुक्। मध्यमवेषु प्रधानेषु स्थितः। यथा। यस्मात् कारणात्। असानि। असेर्लोटि। अहं भवानि॥

हुवे । सोमम् । सुवितारम् । नमः-भिः । विश्वान् । आदित्यान् । अहम् । उत्तर-त्वे ॥ अयम् । अग्निः । दीदयत् । दीर्घम् । एव । स-जातैः । इद्धः । अप्रतिब्रुवत्-भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सोमम्) ऐश्वर्यवाले और (सवितारम्) सर्वप्रेरक पुरुष को और (विश्वान्) सब (आदित्यान्) अदीन देवमाता के पुत्रों वा तेजस्वी शूर जनों को (उत्तरत्वे) श्रेष्ठता के निमित्त (नमोभिः) अनेक सत्कारों से (हुवे) आवाहन करता हूं । (अप्रतिब्रुवद्भिः) प्रतिकूल न बोलने वाले (सजातैः) समान जन्म वाले भाई बन्धुओं करके (इद्धः) प्रकाशित किया हुआ (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [सदृश तेजस्वी पुरुष] (दीर्घम्) बहुत काल तक (एव) अवश्य (दीदयत्) ज्योतिवाला रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा शूर वीर सत्यवादी पुरुषों और भाई बन्धुओं का सत्कार करता रहता है, वह उनकी सहायता से चिरकाल तक तेजस्वी होकर संसार में कीर्त्ति पाता है ॥ ३ ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेर्यो गोपाः पुष्टपतिर्व आजत् ।

३—हुवे । आह्वयामि । सोमम् । ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् सवितारम् । सर्वस्य प्रेरकं नायकम् । नमोभिः । सत्कारैः । विश्वान् । सर्वान् । आदित्यान् । अ० १ । ९ । १ । अदिति-ण्य । यद्वा । आङ् दीपी दीप्तौ-यक् निपातनात् साधुः । अदितिपुत्रान् । देदीप्यमानान् शूरान् । अहम् । प्रधानपुरुषः । उत्तरत्वे । निमित्ते सप्तमी । श्रेष्ठतार्थम् । अयम् । निर्दिष्टः । अहमित्यर्थः । अग्निः । अग्निवत् तेजस्वी । दीदयत् । दीदेतिश्छान्दसो दीप्तिकर्मा-लेटि । अडागमः दीर्घश्छान्दसः । दीप्यताम् । दीर्घमेव । चिरकालमेव । सजातैः । समानजन्मभिः । बन्धुभिः । इद्धः । ञि इन्धी दीप्तौ-क्त । समिद्धः । अभिवर्धितः । अप्रतिब्रुवद्भिः । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-शतृ । अप्रतिकूलवादिभिः । सत्यवादिभिः ॥

अस्मै कामायोपं कामिनीर्विश्वे वो देवा उपसं-यन्तु ॥ ४ ॥

इह । इत् । असाथ । न । परः । गमाथ । इर्यः । गोपाः । पुष्ट-पतिः । वः । आ । अजत् ॥ अस्मै । कामाय । उप । कामिनीः । विश्वे । वः । देवाः । उप-संयन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ ! स्त्री पुरुषो !] (इह इत्) यहां पर ही (असाथ) रहो, (परः) दूर (न) मत (गमाथ) जाओ, (इर्यः) अन्नवान् वा विद्यावान् (गोपाः) भूमि, वा विद्या वा गौ का रक्षक, (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी पुरुष (वः) तुम को (आ, अजत्) यहां लावे । (अस्मै) इस [पुरुष] के अर्थ (कामाय) कामना [की पूर्त्ति] के लिये (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम २ गुण (कामिनीः) उत्तम कामना वाली (वः) तुम प्रजाओं को (उप) अच्छे प्रकार से (उपसंयन्तु) आकर प्राप्त हों ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा राज्य की वृद्धि के लिये प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषों को नगरों

४—इह । अस्मिन् राज्ये । इत् । एव । असाथ । अस्तेर्लेटि आडागमः । भवत । वर्तध्वम् । न । निषेधे । परः । पूर्वाधरावराणामसि० । पा० ५ । ३ । ३९ । इति छन्दसि पर-असि । दूरे । गमाथ । गमेर्लेटि आडागमः । गच्छत । इर्यः । ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ रक्, टाप्, गुणाभावो निपात्यते । इरा, अन्ननाम-निघ० २ । ७ । सरस्वती । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति इरा-यत् । अन्नवान् । विद्यावान् । गोपाः । आतो मनिन्क्वनि-ब्वनिपश्च । पा० ४ । २ । ७४ । इति गो+पा रक्षणे-विच् । चितः । पा० ६ । १ । १६३ । इति अन्तोदात्तः । गां भूमिं वाचं धेनुं वा पातीति । भूपालः । विद्यारक्षकः । धेनुरक्षकः । पुष्टपतिः । पुष्टस्य पोषणस्य स्वामी । वः । युष्मान् । आ, अजत् । अज गतिक्षेपणयोः । आगमयतु । आनयतु । अस्मै । अस्य हिताय । कामाय । शुभकामनासिद्धये । इष्टप्राप्तये । उप । अधिके । पूजायाम् । कामिनीः । काम-इनि, ङीप् । शुभकामवतीः प्रजाः । विश्वे । सर्वे ।

में बसावे और अन्नादि से पोषण करके शुभ गुणों के उपार्जन में सदा प्रवृत्त रक्खे ॥ ४ ॥

सं वो मनांसि सं व्रता समाकूतीर्नमामसि ।
अमी ये विव्रता स्थन तान् वः सं नमयामसि ॥ ५ ॥

सम् । वः । मनांसि । सम् । व्रता । सम् । आऽकूतीः । नमामसि ॥ अमी इति । ये । विऽव्रताः । स्थन । तान् । वः । सम् । नमयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम्) ठीक रीति से, (व्रता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से, (आकूतीः) संकल्पों को (सम्) ठीक रीति से, (नमामसि=०—मः) हम झुकते हैं। (अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्ध कर्मी (स्थन) हो, (तान् वः) उन तुम को (सम्) ठीक रीतिसे (नमयामसि=०—मः) हम झुकाते हैं ॥५॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों को माने और धर्म पथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत करलेवे ॥५॥

देवाः । दिव्यगुणाः । उपसंयन्तु । इण् गतौ—लोट् । समीपे सम्यक् प्राप्नुवन्तु ॥

५—सम् । षो नाशने-कमु । स्यति अनर्थान् सम्यक् । यथाविधि । वः । युष्माकम् । मनांसि । मननानि । चेतांसि । व्रता । अ० २ । ३० । २ । कर्माणि-निघ० २ । १ । आकूतीः । अ० ३ । २ । २ । सङ्कल्पान् । मनोरथान् । नमामसि । इदन्तो मसि । पा० ७।१।४६ । इति मसःस्थाने मसि । वयं नमामः । नम्रीभवामः । अमी । समीपस्थाः । ये । पुरुषाः । विव्रताः । विरुद्धकर्माणः । स्थन । अ० १ । ३१ । २ । यूयं स्थ । वर्तध्वे । तान् । पूर्वोक्तान् । वः । युष्मान् । नमयामसि । णम नम्रीभावे । णिच, लट् । नामयामः । प्रह्वीकुर्मः । नम्रीकुर्मः ॥

अहं गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत। मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥ ६ ॥

अहम्। गृभ्णामि। मनसा। मनांसि। मम। चित्तम्। अनु। चित्तेभिः। आ। इत ॥ मम। वशेषु। हृदयानि। वः। कृणोमि। मम। यातम्। अनुऽवर्त्मानः। आ। इत ॥६॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि=गृह्णामि) थामता हूं, (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे २ (चित्तेभिः=चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ। (मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूं, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्त्मानः) मार्ग चलते हुये (आ इत) यहां आओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदों और प्रजागणों को धर्म पथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावे ॥ ६ ॥

६—अहम्। प्रधानपुरुषः। गृभ्णामि। भस्य हः। गृह्णामि। स्थिरीकरोमि। मनसा। मानसिकबलेन। मनांसि। मानसिकबलानि। चित्तम्। ज्ञानम्। अनु। अनुसृत्य। चित्तेभिः। चित्तैः। ज्ञानैः। आ इत। आगच्छत। मम। स्वकीयेषु। वशेषु। वश कान्तौ—अप्। आयत्तत्वेषु। प्रभुत्वेषु। हृदयानि। अन्तः करणानि। वः। युष्माकम्। कृणोमि। करोमि। यातम्। या गतौ—क्त। गमनम्। अनुवर्त्मानः। अनु+वर्त्मन्। अनुसृतमार्गाः सन्तः ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-६ । प्रजापतिर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्नशमनायोपदेशः—विघ्न की शान्ति के लिये उपदेश ॥

कुर्शफस्य विशफस्य द्यौः पिता पृथिवी माता ।
यथाभिचक्र देवास्तथापं कृणुता पुनः ॥ १ ॥

कुर्शफस्य । वि-शुफस्यं [विशफस्य] । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता ॥ यथा । अभि-चक्र । देवाः । तथा । अपं । कृणुत । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(कर्शफस्य) निर्बल का और (विशफस्य) प्रबल का (द्यौः) प्रकाशमान परमेश्वर (पिता) पिता और (पृथिवी) विस्तीर्ण परमेश्वर (माता) निर्मात्री, माता है । (देवाः) हे विजयी पुरुषो ! (यथा) जैसे [शत्रुओं को] (अभिचक्र) तुम ने हराया था, (तथा) वैसेही (पुनः) फिर [उन्हें] (अप कृणुत) हटा दो ॥ १ ॥

भावार्थ—जगत् के माता पिता परमेश्वर ने वृष्टि द्वारा सूर्य और पृथिवी के संयोग से सब निर्बल और प्रबल जीवों को उत्पन्न किया है, इसलिये

१—कर्शफस्य । कॄशॄशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् । उ० ३ । १२२ । इति कृश तनूकरणे, अल्पीभावे-अभच्, भस्य फः । कृशस्य । निर्बलस्य । **विशफस्य** । ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति विश अन्तर्गमने-अभच् स च कित्, भस्य फः । विशः=मनुष्याः निघ० २ । ३ । विशालस्य । प्रबलस्य । **द्यौः** । गमेर्डोः उ० २।६७। इति द्युत दीप्तौ—डो । द्योतमानः परमेश्वरः । **पिता** । पालकः । जनकः । **पृथिवी** । विस्तीर्णा । भूमिः । परमेश्वरः । **माता** । अ० १ । २ । १ । मानङ् । पूजायाम्—माङ् माने वा तृच् । निपातितश्च । मातरः=निर्मात्र्यः—निरु० १२ । ७ । मान्या । निर्मात्री । जननी । **यथा** । येन प्रकारेण । **अभिचक्र** । करोतेर्लिटि मध्यमबहुवचने रूपम् । यूयम् अभिभूतवन्तः । जितवन्तः । **देवाः** ।

सब सबल और निर्बल मिलकर अविद्या, निर्धनता आदि शत्रुओं को मिटाकर आनन्द से रहें ॥ १ ॥

अश्रे॑ष्माणो अधारयन् तथा तन्मनु॑ना कृतम् ।
कृणोमि वध्रि विष्क॑न्धं मुष्काबर्हो गवामिव ॥ २ ॥

अश्रे॑ष्माणः । अधारयन् । तथा । तत् । मनु॑ना । कृतम् ॥ कृणोमि॑ । वध्रि॑ । वि-स्क॑न्धम् । मुष्क-आबर्हः । गवाम्-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्रेष्माणः) दाह [डाह] न करने वाले पुरुषों ने [जगत् को] (अधारयन्) धारण किया है, (तथा) उसी प्रकार से ही (तत्) वह [जगत् का धारण] (मनुना) सर्वज्ञ परमेश्वर करके (कृतम्) किया गया है। (विष्कन्धम्) विघ्न को (वध्रि) निर्बल (कृणोमि) मैं करता हूं, (गवाम् इव), जैसे बैलों के (मुष्कावर्हः) अण्डकोष तोड़ने वाला [बैलों को निर्बल कर देता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—पक्षपातरहित परमेश्वर संसार का धारण पोषण करता है, उसी

दिषु विजिगीषायाम्-अच् । हे विजिगीषवः । विजयिनः । तथा । तेन प्रकारेण । अप कृणुत । कृवि हिंसाकरणयोः । अपकुरुत । निवारयत शत्रून् । पुनः । अवधारणे । द्वितीयवारे ॥

२—अश्रेष्माणः । सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति श्रिषु दाहे-मनिन् । दाहशून्याः । अमत्सराः । अधारयन् । धृतवन्तः । तथा । तद्वदेव । तत् । धारणरूपं कर्म । मनुना । शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति मन बोधे-उ । सर्वज्ञेन परमेश्वरेण । कृतम् । अनुष्ठितम् । कृणोमि । करोमि। वध्रि । अदि शदिभूशुभिभ्यः क्रिन् । उ०४।६५।इति बन्ध बन्धने क्रिन् । बन्ध्यम् । विफलम् । निर्वीर्यम् । विष्कन्धम् । अ० १ । १६ । ३ । वि+ स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—अच् । विशेषेण शोषकम् । विघ्नजातम् । मुष्का।

प्रकार धर्मात्मा पुरुष किसी से वैर न करके उपकार करते आये हैं, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विघ्नों को हटाकर उन्नति करे, जैसे दुर्दमनीय बैल को असह्य बल से हीन करके कृषि आदि में चलाते हैं ॥ ॥

पिशङ्गे सूत्रे खृगलं तदा बध्नन्ति वेधसः ।
श्रवस्युं शुष्मं काबवं वध्रिं कृण्वन्तु बन्धुरः ॥ ३ ॥

पिशङ्गे । सूत्रे । खृगलम् । तत् । आ । बध्नन्ति । वेधसः ॥
श्रवस्युम् । शुष्मम् । काबवम् । वध्रिम् । कृण्वन्तु । बन्धुरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वेधसः) बुद्धिमान् पुरुष (पिशङ्गे) व्यवस्था वा अवयवों से युक्त वा दृढ़ (सूत्रे) सूत में (तत्) विस्तीर्ण (खृगलम्) खनती वा छिद्र में गलाने वाले, विघ्न को (आ) सब ओर से (बध्नन्ति) बांधते हैं। (बन्धुरः=०—राः) बन्धुजन (श्रवस्युम्) प्रसिद्ध, (शुष्मम्) सुखाने

बर्हः । सृवृभृशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति मुष लुण्ठने, वधे च, कक् । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति मुष्क+आङ्—वृह वधे दीप्तौ च—अण् । मुष्कम् अण्डकोषम् आवृहति उन्मूलयतीति । अण्डकोपच्छेदकः । **गवाम्** । पुंगवानाम् । **इव** । यथा ॥

३—**पिशङ्गे** । पिडादिभ्यः कित् । उ० १ । १२१ । इति पिश व्यवस्थायाम्, अवयवे च—अङ्गच् व्यवस्थायुक्ते । अवयवयुक्ते । दृढे । **सूत्रे** । सिविमुच्योष्टेरू च । उ० ४ । १६३ । इति षिवु तन्तुसन्ताने-ष्ट्रन् । यद्वा । सूत्र ग्रन्थने वेष्टने च-अच् । तन्तौ । व्यवस्थायाम् । नियमे । **खृगलम्** । नयतेर्डिच्च । उ० २।१००। इति खनु विदारे-ऋप्रत्ययः, टिलोपः। गल भक्षे स्रावे च-अच् । खृ खननं छिद्रं, तत्र गलयतीति खृगलः । छिद्रे गलनशीलं विघ्नम् । **तत्** । त्यजितनियजिभ्यो डित् । १ । १३२ । इति तनु विस्तारे-अदि, स च डित् । विस्तृतम् । **आ** । समन्तात् । **बध्नन्ति** । नियमे कुर्वन्ति । **वेधसः** । अ० १ । ११ । १ । ब्राह्मणाः । मेधाविनः। **श्रवस्युम्** । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति श्रवस्-क्यच्-उ श्रवः श्रवणम् इच्छन्तम् । महान्तम् । प्रसिद्धम् **शुष्मम्** ।

वाले (कावकम्) स्तुतिनाशक शत्रु को (वध्रिम्) निर्वीर्य (कृणवन्तु) कर देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेद द्वारा छोटे छोटों के मेल से बड़ी २ विपत्तियों को हटा देते हैं, इससे सब बान्धव मिलकर बाहिरी और भीतरी दोषों को मिटाकर सुख भोगें ॥ ३ ॥

येना॑ श्रव॒स्यव॒श्चर॑थ दे॒वा इ॑वासुरमा॒यया॑ ।
शुनां॑ क॒पिरि॑व॒ दूष॑णो॒ बन्धु॑रा काव॒कस्य॑ च ॥ ४ ॥

येन॑ । श्र॒व॒स्यवः॑ । चर॑थ । दे॒वाः-इ॑व । अ॒सु॒र-मा॒यया॑ ॥
शुना॑म् । क॒पिः-इ॑व । दूष॑णः । बन्धु॑रा । का॒व॒कस्य॑ । च ॥४॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] के साथ (श्रवस्यवः) हे प्रसिद्ध महापुरुषो ! (देवाः इव) विजयी लोगों के समान (असुरमायया) प्रकाशमान ईश्वर की बुद्धि से (चरथ) तुम आचरण करते हो, [उसी बल के साथ] (शुनाम्) कुत्तों के (दूषणः) तुच्छ जानने वाले (कपिः इव) बन्दर के समान, (बन्धुरा)

अवि-सिवि सिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति शुष शोषणे-मन् । शोषकम् । **कावकम्** । कवृ स्तुतौ-वर्णे च वञ्+वा गतिहिंसनयोः—क । स्तुतेर्वर्णस्य वा नाशकम् । शत्रुम् । **वध्रिम्** । म० २ । निर्वीर्यम् । असमर्थम् । **कृण-वन्तु** । कुर्वन्तु । **बन्धुरः** । मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । इति बन्ध बन्धने—उरच् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति जसः स्थाने सु । बन्धुराः । नियमबद्धाः । बान्धवाः ॥

४—**येन** । शास्त्रबलेन । **श्रवस्यवः** । म० ३ । प्रसिद्धाः । महान्तः कीर्तिमन्तः । **चरथ** । आचरणं कुरुथ । **देवाः इव** । विजयिनो यथा । **असुरमायया** । असुर इति व्याख्यातम्-अ० १ । १० । १ असेरुरन् उ० १।४२। इति असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-उरन् । माछाशसिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति माङ् माने-य, टाप् । माया प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ९ । असुरस्य प्रकाशमानस्य परमेश्वरस्य मायया प्रज्ञया सह । **शुनाम्** । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । इति श्वि गतौ वृद्धौ च-कनिन् । कुक्कुराणाम् । **कपिः** । कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० ४ । १४३ । इति कपि चलने—इ प्रत्ययः ।

बन्धन शक्ति [नीति विद्या] (च) निश्चय करके (कावबस्य) स्तुतिनाशक शत्रु को [तुच्छ करने वाली होती है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—शास्त्र बल से प्रसिद्ध पुरुष अन्य महात्माओं का अनुकरण करके तीव्र बुद्धि के साथ उदाहरण बनते हैं, इसी प्रकार सब पुरुष नीति बल से शत्रुओं पर प्रबल रहें, जैसे बन्दर वृक्ष पर चढ़कर कुत्तों से निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

दुष्टयै हि त्वा भत्स्यामि दूषयिष्यामि काबवम् ।
उदाशवो रथा इव शपथेभिः सरिष्यथ ॥ ५ ॥

दुष्टयै । हि । त्वा । भत्स्यामि । दूषयिष्यामि । काबवम् ॥ उत् । आशवः । रथाः इव । शपथेभिः । सरिष्यथ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दुष्टयै) दुष्टता [हटाने] के लिये (हि) ही (काबवम्) स्तुति नाशक (त्वा) तुझ को (भत्स्यामि) मैं बांधूंगा और (दूषयिष्यामि) दोषी ठहराऊंगा । (आशवः) शीघ्रगामी (रथाः इव) रथों के समान (शप-

---

वानरः । इव । यथा । दूषणः । नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३४ । इति दुष वैकृत्ये, णिच्—ल्यु । दूषयतीति यः । दूषकः । दोषोत्पादकः । बन्धुरा । म० ३ । बन्ध-उरच्, टाप् । बध्यतेऽनया । बन्धन-शीला । नीतिविद्या । काबवस्य । म० ३ । स्तुतिनाशकस्य शत्रोः । दूषयित्री भवतीति शेषः । च । अवधारणे ॥

५—दुष्टयै दुष वैकृत्ये-क्तिन् । दोषनिवारणाय । हि । निश्चयेन । त्वा । शत्रुम् । भत्स्यामि । बन्धेर्लृटि । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इति इट् प्रतिषेधः । नलोपश्छान्दसः । यद्वा । भस भर्त्सनदीप्त्योः । लृट् । छान्दस इडभावः । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४९ । इति सस्य तः ।

थेभिः=०—थैः) हमारे शाप अर्थात् दण्ड वचनों से (उत् सरिष्यथ) तुम सब बन्धन में चले जाओगे ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा नाम में धब्बा लगाने वाले दुष्ट को कारागार में रख कर उसके दोष प्रसिद्ध करदे, और उसके सहायकों को भी उचित दण्ड देवे ॥ ५ ॥

एकंशतं विष्कंन्धानि विष्ठिंता पृथिवीमनुं ।
तेषां त्वामग्र उज्जहरुर्मणिं विष्कन्धदूषंणम् ॥ ६ ॥

एकं-शतम् । वि-स्कंन्धानि । वि-स्थिता । पृथिवीम् । अनुं ॥
तेषाम् । त्वाम् । अग्रे । उत् । जहरुः । मणिम् । विस्कन्ध-दूषणम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एकशतम्) एक सौ एक (विष्कन्धानि) विघ्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (विष्ठिता=०—तानि) फैले हुए हैं, [हे शूर !] (तेषाम् अग्रे) उनके सन्मुख (विष्कन्धदूषणम्) विघ्न नाशक (मणिम्) प्रशंसनीय मणिरूप (त्वाम्) तुझ को उन्हों ने [देवताओं ने] (उत् जहरुः) ऊंचा उठाया है ॥ ६ ॥

बन्धे करिष्यामि । भर्त्सयिष्यामि । तिरस्करिष्यामि । कावचम् । म० २ स्तुतिनाशकम् । आशवः । अश व्याप्तौ-उण् । शीघ्रगामिनः । रथाः । हनि-कुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । इति रमु क्रीडे-क्थन्, अनुनासिकलोपः । स्यन्दनाः । इव । यथा । शपथेभिः । अ० २ । ७ । १ । शपथैः । शापैः । क्रोधवचनैः । उत् सरिष्यथ । सृ लृट् । उत् बन्धने चरिष्यथ गमिष्यथ ।

६—एकशतम् । एकं च शतं चैकशतम् । एकोत्तरशतसंख्यानि, अपरिमितानि । विष्कन्धानि । म० २ । विघ्नाः । विष्ठिता । शेर्लोपः । विविधं स्थितानि । पृथिवीम् अनु । अनुर्लक्षणे । पा० १ । ४ । ८४ । इत्यनोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति द्वितीया । भूमिं प्रति । तेषाम् । विघ्नानाम् । अग्रे । पुरस्तात् । उज्जहरुः । हृञ् हरणे-लिट् उज्जहुः । उद्धृतवन्तः । उन्नीतवन्तः । मणिम् । मण शब्दे-इन् ।

भावार्थ—प्रतिष्ठित लोग राजा को (एकशतम्) अनेक विघ्नों से रक्षा के लिये अग्रगामी बनाते हैं, इस लिये राजा अपने धर्म का यथार्थ पालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १० ॥

१-१३ । रात्रिरेकाष्टका वा देवता । १-३, ८-११, १३ अनुष्टुप्; ४-६, १२ त्रिष्टुप्; ७ षट्पदानुष्टुप् ॥

पुष्टिवर्धनाय प्रकृतिवर्णनम्—पुष्टि बढ़ाने के लिये प्रकृति का वर्णन ॥

प्रथमा ह व्युवास सा धेनुरभवद् यमे ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ १ ॥

प्रथमा । ह । वि । उवास । सा । धेनुः । अभवत् । यमे ॥
सा । नः । पतस्वती । दुहाम् । उत्तराम-उत्तराम् । समाम् ॥१॥

भावार्थ—(सा) वह [ईश्वरी वा लक्ष्मी] (प्रथमा) प्रसिद्ध वा पहिली शक्ति [प्रकृति] (ह) निश्चय करके (वि, उवास) प्रकाशित हुई । वह (यमे) नियम में (धेनुः) तृप्त करने वाली [वा गौ के समान] (अभवत्)

शब्दनीयं स्तुत्यम् । प्रशस्यम् मणिरूपं वा । विष्कन्धदूषणम् । विघ्न-नाशकम् ॥

१-प्रथमा । प्रथेरमच् उ० ५ । ६८ । इति प्रथ ख्यातौ-अमच् । प्रख्याता । प्रधाना । आद्या । ह । खलु । व्युवास । वस अच्छादाने, विपूर्वको वस तेजसि, दीप्तौ-लिट् । दिदीपे । सा । षो नाशने-ड । स्यति दुःखानीति सः, ईश्वरः । विष्णुः । स्त्रियां टाप् । सा । ईश्वरी । लक्ष्मीः । प्रकृतिरित्यर्थः । यद्वा, सर्वनामैव । प्रसिद्धा इत्यर्थः । धेनुः । धेट इच्च । उ० ३ । ३४ । इति धेट् पाने नु । यद्वा, धि, धारणे, तर्पणे च-नु । धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा । निरु० ११ । ४२ ।

हुई है। (सा) वह (पयस्वती) दुधेल [प्रकृति] (नः) हमको (उत्तराम्-उत्तरम्) उत्तम उत्तम (समाम्) सम [समान वा निष्पक्ष] शक्ति से (दुहाम्) भरती रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में (रात्रि) म० २ और (एकाष्टका) म० ५, दोनों शब्द प्रकृति के वाचक हैं। प्रकृति ईश्वर शक्ति वा जगत् की सामग्री, सृष्टि से पहिले विद्यमान थी, उसने ईश्वर नियम से [मन्त्र २ व ८ देखो] विविध पदार्थ सूर्य, अन्नादि उत्पन्न किये हैं। विद्वान् लोग प्रकृति के विज्ञान और प्रयोग से अधिक २ ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध (सा नः पयस्ती...) ऋ० ४ । ५७ । ७ । में है ॥

यां दे॒वाः प्र॑ति॒नन्द॑न्ति॒ रात्रिं॑ धे॒नुमु॑पा॒यती॑म् ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ या पत्नी॒ सा नो॑ अस्तु सुम॒ङ्ग॒ली ॥ २ ॥

याम् । दे॒वाः । प्र॒ति-न॒न्द॑न्ति । रात्रि॑म् । धे॒नुम् । उ॒प-आ॒यती॑म् ॥ सम्-व॒त्स॒रस्य॑ । या । पत्नी॑ । सा । नः॒ । अ॒स्तु॒ । सु॒-म॒ङ्ग॒ली ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) महात्मा पुरुष, वा सूर्य, वायु, चन्द्रादि दिव्य पदार्थ (उपायतीम्) पास आती हुई (धेनुम्) तृप्त करने वाली (याम्) जिस

दोग्ध्री। तर्पयित्री। **अभवत्** । आसीत्। **यमे** । नियमे । **सा** । पूर्वोक्ता। **नः** । अस्मान्। **पयस्वती** । दुग्धवती । सारवती । **दुहाम्** । दुह प्रपूरणे-लोट्। स्वरितेत्त्वाद् आत्मनेपदम्। अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति द्विकर्मकता। यथा, गां दोग्धि पयः। दुग्धाम्। प्रपूरयतु। **उत्तरामुत्तराम्** । उद्+तॄ अप्। टाप्। नित्यवीप्सयोः। पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम्। अतिशयेनोत्कृष्टाम्। **समाम्** । षम वैक्लव्ये-अच् अकथितं कर्मकत्वम । पूर्णाम्। समक्रियाम्। समानाम्। साध्वीं शक्तिम् ॥

२—**याम्** । **देवाः** । विद्वांसः। सूर्यवायुचन्द्रादिदिव्यपदार्थाः ।

(रात्रिम्) दानशीला और ग्रहणशीला शक्ति, वा राति रूप [प्रकृति] को (प्रतिनन्दन्ति) अभिनन्दन करते [धन्य मानते] हैं और (या) जो (संवत्सरस्य) यथावत् निवास देनेवाले [परमेश्वर] की (पत्नी) पालन शक्ति है, (सा=सा सा) वह ईश्वरी (नः) हमारे लिये (सुमङ्गली) बड़े २ मङ्गल करनेवाली (अस्तु) होवे ॥२

भावार्थ—प्रकृति ईश्वर नियम से पदार्थों को उत्पन्न करके जीवों को सुख देकर उनका दुःख हरती है, और अनन्त होने से वह रात्रि वा अन्धकार रूप है। विज्ञानी पुरुष खोज लगा २ कर उससे उपकार लेकर विविध उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

सं॒व॒त्स॒रस्य॑ प्रति॒मां यां त्वा॑ रात्र्यु॒पास्म॑हे ।
सा न॒ आयु॑ष्मतीं प्र॒जां रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज ॥३॥

सम्-व॒त्स॒रस्य॑ । प्र॒ति-माम् । याम् । त्वा॒ । रा॒त्रि॒ । उ॒प-

प्रतिनन्दन्ति । टुनदि आनन्दे । प्रतिनद अभिनन्दने, धन्यवादे । अभिनन्दयन्ति । स्तुवन्ति । **रात्रिम्** । राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ इति रा दाने ग्रहणे च—त्रिप् । यद्वा । रमतेः—त्रिप्, मकारस्याकारश्च । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तञ्चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः—निरु० २ । १८ । रात्रिः-भूस्थानदेवता-निरु० ६ । २८ । सुखदात्रीम् । दुःखहर्त्रीम् । अनन्तत्वात्, निशारूपाम् अन्वेषणीयां वा प्रकृतिमित्यर्थः । **धेनुम्** । प्रीणयित्रीम् । **उपायतीम्** । उप+आङ्+इण् गतौ-शतृ । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । समीपम् आगच्छन्तीम् **संवत्सरस्य** । अ० ३ । ५ । ८ । सः स्यार्धधातुके । पा० ७।४।४९ । इति सस्य तकारः । सम्यक् निवासकस्य । परमेश्वरस्य । **या** । रात्रिः **पत्नी** । पत्युर्नो यज्ञसंयोगे । पा० ४ । १ । ३३ । इति इकारस्य नकारो ङीप् च । इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७ । इन्द्रस्य विभूतिः-इति दुर्गाचार्यस्य टीका । देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः—निरु० १२ । ४४ । पालयित्र्यः पालनीया वा-इति तस्य टीका । पातीति पतिः पत्नी वा । पालयित्री शक्तिः **सा** । सा सा । म० १ । पूर्वोक्तेश्वरी । **नः** । अस्मभ्यम् । **अस्तु** । भवतु । **सुमङ्गली** । मङ्गेरलच् । उ० ५ । ७० । इति मगि सर्पणे-अलच् । ङीप । शोभनं मङ्गलं यस्याः । अत्यन्तकल्याणकरी । सुभद्रा ।

आस्महे । सा । नः । आयुष्मतीम् । प्र-जाम् । रायः । पोषेण । सम् । सृज ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे सुखदात्री वा दुःखहर्त्री वा रात्रिरूप [प्रकृति] (संवत्सरस्य) यथावत् निवास देने वाले परमेश्वर की (प्रतिमाम्) प्रतिमा [प्रतिरूप वा, प्रतिनिधि] (याम्) सर्वत्र व्यापिनी (त्वा) तुझको (उपास्महे) हम भजते हैं । (सा) वह लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) चिरंजीविनी (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (संसृज) संयुक्त कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—अनन्त परमेश्वरी प्रकृति के सूक्ष्म और स्थूल रूप के ज्ञान से उपकार लेकर हम अपनी सन्तान के सहित धनी, स्वस्थ और चिरंजीवी बने रहें ॥ ३ ॥

इयमेव सा या प्रथमा व्यौच्छदास्वितरासु चरति प्रविष्टा । महान्तो अस्यां महिमानो अन्तर्वधूर्जिगाय नवगज्जनित्री ॥ ४ ॥

इयम् । एव । सा । या । प्रथमा । वि-औच्छत् । आसु । इतरासु । चरति । प्र-विष्टा ॥ महान्तः । अस्याम् । महि-

३-संवत्सरस्य । म० २ । सम्यक् निवासकस्य परमेश्वरस्य । प्रतिमाम् । आतश्चोपसर्गे । पा० ६ । ३ । १०६ । इति प्रति + माङ् माने-अङ्, टाप् । प्रतिनिधित्वेन निर्मीयत इति प्रतिमा । प्रतिरूपाम् । प्रतिमूर्त्तिम् । या । या गतौ—ड । यातीति यः- वायुः । स्त्रियां टाप् । सर्वत्रगन्त्रीम् । सर्वव्यापिनीम् त्वा । त्वाम् । रात्रि । म० २ । विकल्पकत्वात् ङीप् । हे सुखदायिनि । हे रात्रिरूपे । अन्वेषणीये । उपास्महे । उप+आस उपवेशने । वयं सेवामहे । सा । म० १ । ईश्वरी त्वम् । नः । अस्मदर्थं । आयुष्मतीम् । चिरकालजीवनवतीम् । प्रजाम् । पुत्रपौत्रादिरूपाम् । रायः । अ० १ । ६ । ४ । धनस्य । पोषेण । पुष्ट्या । वृद्ध्या । सं सृज । संयोजय ॥

मानः । अन्तः । वधूः । जिगाय । नव-गत् । जनित्री ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इयम् एव) यही (सा) वह ईश्वरी, [रात्रि, प्रकृति] है (या) जो (प्रथमा) प्रथम (वि-औच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियों] में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर (महान्तः) बड़ी २ (महिमानः) महिमायें हैं। उस (नवगत्) नवीन २ गति वाली (वधूः) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थों को] (जिगाय) जीत लिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमाणु रूप प्रकृति जगत् के सब पदार्थों में प्रविष्ट है। विद्वान् लोग जैसे २ खोजते हैं उसकी नवीन २ शक्तियों का प्रादुर्भाव करके सुख पाते हैं ॥ ४ ॥

वानस्पत्या ग्रावाणो घोषमक्रत हविष्कृण्वन्तः परिवत्सरीणम् । एकाष्टके सुप्रजसः सुवीरा वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ५ ॥

४—इयम् । परिदृश्यमाना । एव । हि । सा । म० १ । ईश्वरी । या । रात्रिः प्रकृतिः । प्रथमा । म० १ । आद्या । व्यौच्छत् । वि + उछी विवासे लङ् । अदीप्यत । आसु । परिदृश्यमानासु । इतरासु । इण् गतौ—क्विप् ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति इ + तॄ तरणे अभि भवे च-अप्, टाप् । इः कामः । ईन् कामान् तरतीति इतरा । कामानां शुभकामानां तारयित्रीषु सृष्टिषु । अन्यासु । चरति । गच्छति । । प्रविष्टा । अनुप्रविष्टा । महान्तः । विशालाः । महिमानः । पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति महत्—इमनिच् । टिलोपः । ऐश्वर्याणि । प्रभावाः । अन्तः । मध्ये । वधूः । वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । इति वह प्रापणे-ऊप्रत्ययः । वहनयोग्या । प्राप्या । जिगाय । जि जये—लिट् । जितवती विग्नान् । नवगत् । णु स्तुतौ-अप् । नवः स्तुत्यः नूतनः । नवपूर्वाद् गमेः क्विप् । गमः क्वौ । पा० ६ । ४ । ४० । इत्यनुनासिकलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति० । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् । प्रशस्यगतियुक्ता । नवीनगतिवती । जनित्री । अ० २ । १ । ३ । जनितृ-ङीप् । जनयित्री जगज्जननी ॥

वानस्पत्याः । ग्रावाणः । घोषम् । अक्रत । हविः । कृण्वन्तः । परि-वत्सरीणम् ॥ एक-अष्टके । सु-प्रजसः । सु-वीराः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वानस्पत्याः) वनस्पति अर्थात् सेवकों वा सेवनीय गुणों के रक्षक परमेश्वर से संबन्धवाले (ग्रावाणः) सूक्ष्मदर्शी, स्तोता पुरुषों ने, (परिवत्सरीणम्) परिवत्सर, सब प्रकार निवास देनेवाले परमेश्वर से सिद्ध किये हुये (हविः) ग्राह्य वस्तु को (कृण्वन्तः) उत्पन्न करते हुये (घोषम्) ध्वनि (अक्रत) की है। "(एकाष्टके) हे अकेली व्याप्ति वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति]! (वयम्) हम लोग (सुप्रजसः) उत्तम सन्तान वाले, (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले और (रयीणाम्) सब प्रकार के धनों के (पतयः) पति (स्याम) होवें " ॥ ५ ॥

५—**वानस्पत्याः** । अ० ३ । ६ । ६ । वनानां पतेः सेवकानां सेव्यगुणानां वा पालकस्य परमेश्वरस्य संबन्धिनः पुरुषाः । **ग्रावाणः** । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति हन गतिहिंसनयोः, वा, ग्रह ग्रहणे, वा, गॄ विज्ञापे, शब्दे, निगरणे क्वनिप् । पृषोदरादित्वात् साधुः । गृणातिः स्तुतिकर्मा । निरु० ३ । ५ । ग्रावाणो हन्तेर्वा गृणातेर्वा गृह्णातेर्वा-निरु० ६ । ८ । तथा च । गारयते सूक्ष्मार्थं सुधीः । शास्त्रविज्ञापकाः स्तोतारः । पण्डिताः । **घोषम्** । ध्वनिम् । **अक्रत** । कृञो लुङि । अकृषत । कृतवन्तः । **हविः** । अ० १ । ४ । ३ ग्राह्यवस्तु । **कृण्वन्तः** । उत्पादयन्तः । आविष्कुर्वाणाः । **परिवत्सरीणम्** । वसेश्च । उ० ३ । ७१ । इति परि+वस निवासे-सरन् । इति परिवत्सरः परितो निवासकः । परमेश्वरः । संपरिपूर्वात् ख च । पा० ५ । १ । ९२ । इति निर्वृत्तार्थे ख । संवत्सरेण निर्वृत्तं साधितं रचितम् । **एकाष्टके** । इष्यशिभ्यां तकन् । उ० ३ । १४८ । इति अशू व्याप्तौ, यद्वा, अश भोजने-तकन् । टाप् । अष्टका पितृदैवत्ये । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इति इत्वाभावः । अश्नुते व्याप्नोति सर्वं जगत् सा, यद्वा, अश्नन्ति सर्वे प्राणिनो यस्यां सा अष्टका । एका चासावष्टका एकाष्टका । हे एकमात्रव्यापनशीले । एकमात्रभोजनस्थाने

भावार्थ—ऋषि मुनि प्रकृतिद्वारा परमेश्वर रचित पदार्थों के गुणों के ज्ञान और प्रयोग से सब प्रकार का सुख भोगते हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य उद्योग करके आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

इडायास्पदं घृतवत् सरीसृपं जातवेदः प्रति हव्या गृभाय । ये ग्राम्याः पशवो विश्वरूपास्तेषां सप्तानां मयि रन्तिरस्तु ॥ ६ ॥

इडायाः । पदम् । घृत-वत् । सरीसृपम् । जात-वेदः । प्रति । हव्या । गृभाय ॥ ये । ग्राम्याः । पशवः । विश्व-रूपाः । तेषाम् । सप्तानाम् । मयि । रन्तिः । अस्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले पुरुष ! (इडायाः) प्राप्ति योग्य [प्रकृति] के (घृतवत्) सारयुक्त और (सरीसृपम्) अत्यन्त रेंगते हुये (पदम् प्रति) पद से (हव्या=हव्यानि) देने लेने योग्य वस्तुओं को (गृभाय) ग्रहण कर। (ये) जो (ग्राम्याः) ग्राम निवासी, (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले (पशवः) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीव हैं, (तेषाम्) उन

प्रकृते। **सुप्रजसः** । नित्यमसिच् प्रजामेधयोः। पा० ५। ४। १२२। इति असिच् समासान्तः। शोभनपुत्रपौत्रादियुक्ताः। **सुवीराः** । अ० ३। ५। ८। महाशूरयुक्ताः। **वयम्** । मनुष्याः। **स्याम** । भवेम। **पतयः** । स्वामिनः। **रयीणाम्** । धनानाम्॥

६—**इडायाः** । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति इल स्वप्नगतिक्षेपणेषु-क, लस्य डः। यद्वा। ईड स्तुतौ-घञ्, ईकारस्य ह्रस्वत्वम्। टाप्। इला, पृथिवी-निघ० १। १। वाक्। ३। ११। अन्नम्-२। ७। गौः-२। ११। प्राप्तव्यायाः स्तुत्यायाः प्रकृतेः। **पदम्** । पद स्थैर्ये गतौ च-पचाद्यच्। स्थानम्। गतिः। पादचिह्नम्। **घृतवत्** । सारोपेतम्। **सरीसृपम्** ।

सब (समानाम्) आपस में मिले हुये प्राणियों की (रन्तिः) प्रीति वा क्रीड़ा (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—सृष्टि विद्या में निपुण पुरुष संसार के पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सब प्राणियों को सुखी रखकर आप सुखी रहते हैं ॥ ६ ॥

आ मा पुष्टे च पोषे च रात्रि देवानां सुमतौ स्याम ।
पूर्णा दर्वे परा पत सुपूर्णा पुनरा पत ।
सर्वान् यज्ञान्त्संभुञ्जतीषमूर्जं न आ भर ॥ ७ ॥

आ । मा । पुष्टे । च । पोषे । च । रात्रि । देवानाम् । सु-मतौ । स्याम ॥ पूर्णा । दर्वे । परा । पत । सु-पूर्णा । पुनः । आ । पत ॥ सर्वान् । यज्ञान् । सम् । भुञ्जती । इषम् । ऊर्जम् । नः । आ । भर ॥ ७ ॥

सृपेर्यङ्लुगन्तात्-पचाद्यच् । अत्यर्थं सर्पत् गच्छत् । जातवेदः । अ० १।७।२। हे जातप्रज्ञान ! । प्रति । प्रथ ख्यातौ-डति । व्याप्य । हव्या । हु दानादाना-दनेषु-यत् । शेर्लोपः । हव्यानि । दातव्यानि ग्राह्याणि वा वस्तूनि । दैवाप्तानि । गृभाय । छन्दसि शायजपि० पा० ३ । १ । ८४ । इति ग्रहेर्लोटि श्नः शायच् । तत्रैव वार्त्तिकं सिद्धान्तकौमुद्याम् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि । इति हस्य भः । गृहाण । ये । ग्राम्यः । अ० २ । ३४ । ४ । ग्रामीणाः । पशवः । व्याख्यातम्-अ० २ । २६ । १ । व्यक्तवचनाश्चाव्यक्तवचनाश्च मनुष्यगवादिप्राणिनः । विश्व-रूपाः । नानाकाराः । तेषाम् । समानाम् । अ०१। १ । १ । षच समवाये-क्त । समवेतानां परस्परसंबद्धानां संयुक्तानाम् । मयि । गृहस्वामिनि । रन्तिः । रमेः क्तिन्, अनुनासिकलोपाभावः । रतिः । रमणम् । प्रीतिः । अस्तु । भवतु ॥

भाषार्थ—(रात्रि) हे सुख देने वाली वा दुःख हरने वाली, वा रात्री रूप [प्रकृति] (पुष्टे) धनकी समृद्धि (च) और (पोषे) अन्नादि की वृद्धि में (च) निश्चय करके (मा) मुझको (आ—आ भर) भर दे, [जिससे] (देवानाम्) देवताओं की (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम रहें। (दर्वे) हे दुःख दलने वाली ! [वा चमसारूप !] (पूर्णा) भरी भराई (परापत) ऊपर आ, और (पुनः) वार २ (सुपूर्णा) भले प्रकार भरी भराई (आ पत) पास आ ! (सर्वान्) सब (यज्ञान्) पूजनीय गुणों का (सम्भुञ्जती) ठीक ठीक पालन करती हुई तू (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) बल (नः) हमें (आ भर) लाकर भरदे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सृष्टि के पदार्थों के गुण साक्षात् करके जितना २ आगे बढ़ता है, उतना २ ही वह धनी और बली होकर देवताओं का प्रिय होता और आनन्द भोगता है ॥ ७ ॥

(पूर्णा दर्वे…पुनरा पत) इतना भाग यजुर्वेद अ० ३। ४९ में है, वहां (दर्वे) के स्थान पर (दर्वि) पद है ॥

७—आ । आ भर—इति मन्त्रस्थान्तपदेन सम्बन्धः। मा । माम्। पुष्टे । पुष पोषणे-भावेक्त। धनसमृद्धौ। च । समुच्चये। अवधारणे। पोषे । अन्नादिवृद्धौ। रात्रि । म०२। हे सुखदात्रि। दुःखहर्त्रि, रात्रिरूपे, एकाष्टके प्रकृते देवानाम् । विदुषाम्। सुमतौ । कल्याण्यां बुद्धौ। स्याम । भवेम। पूर्णा । पॄ पूर वा पूर्त्तौ-क्त। वा दान्तशान्तपूर्णदस्त०। पा० ७।२।२७। इति इडभावो निपात्यते। पूरिता। दर्वे । दृदभ्यां विन्। उ० ४।५३। इति दृङ् आदरे, यद्वा, दृ विदारणे—विन्। आद्रियते विदारयतीति वा। हे दुःखदलनशीले। हे चमसरूपे वा। परा । प्राधान्ये। त्यागे। विक्रमे। गतौ। भङ्गे। पत । पत्लृ गतौ। आगच्छ। सुपूर्णा । परिपूर्णा। पुनः । वारम्वारम्। सर्वान् । सकलान्। यज्ञान् । अ० १।९।४। यष्टव्यान् पूज्यान् देवान् दिव्यगुणान्। सम्भुञ्जती । भुज पालने-शतृ, ङीप्। सम्यक् पालयन्ती। इषम् । इषु इच्छायाम्, गतौ वा—क्विप्। अन्नम्—निघ० २।७। ऊर्जम् । अ० २।२९।३। ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप्। बलम्। पराक्रमम्। नः । अस्मभ्यम्। आ भर । आनीय भर ॥

आयमगन्त्संवत्सरः पतिरेकाष्टके तव ।
सा न आयुष्मतीं प्रजां रायस्पोषेण सं सृज ॥ ८॥

आ। अयम्। अगन्। सम् - वत्सरः। पतिः। एक-अष्टके। तव॥ सा। नः। आयुष्मतीम्। प्र-जाम्। रायः। पोषेण। सम्। सृज॥ ८॥

भाषार्थ—(एकाष्टके) अकेली व्यापक रहने वाली, वा अकेली भोजन स्थान शक्ति ! [प्रकृति] (अयम्) यह (संवत्सरः) यथावत् निवास देने वाला, (तव) तेरा (पतिः) पति वा रक्षक [परमेश्वर] (आ अगन्) प्राप्त हुआ है। (सा) लक्ष्मी तू (नः) हमारे लिये (आयुष्मतीम्) बड़ी आयु वाली (प्रजाम्) प्रजा को (रायः) धन की (पोषेण) बढ़ती के साथ (सं सृज) संयुक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् साक्षात् कर लेते हैं कि परमेश्वर ही प्रकृति, जगत् सामग्री, का स्वामी अर्थात् उसके अंशों का संयोजक और वियोजक है, और कि प्रकृति के यथावत् प्रयोग से मनुष्य अपनी सन्तान सहित चिरंजीवी और धनी होते हैं ॥ ८ ॥

ऋतून् यज ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान् ।
समाः संवत्सरान् मासान् भूतस्य पतये यजे ॥ ९ ॥

ऋतून्। यजे। ऋतु-पतीन्। आर्तवान्। उत। हायनान्॥ समाः। सम्-वत्सरान्। मासान्। भूतस्य। पतये। यजे ॥ ९ ॥

८—अयम्। परिदृश्यमानः। आ, अगन्। गमेर्लुङ्। आगमत्। आगतः। संवत्सरः। म० २। सम्यक् निवासकः। पतिः। रक्षकः। एकाष्टके। म० ५। हे एकमात्रव्यापिके। एकमात्रभोजनस्थाने। तव। त्वदीयः। सा नः··· इति गतं म० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के स्वामियों [सूर्य वायु आदिकों], (आर्तवान्) ऋतुओं में उत्पन्न होनेवाले (हायनान्) पाने योग्य चावल आदि पदार्थों से (संवत्सरान्) यथा विधि निवास देने वाले, (मासान्) कर्मों के नापने वाले महीनों (उत्) और (समाः) सब अनुकूल क्रियाओं को (भूतस्य) सत्ता में आये हुये जगत् के (पतये) पति के (यजे यजे) मैं बार बार अर्पण करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—तत्वज्ञानी पुरुष ग्रीष्म, वर्षा, शीतादि ऋतुओं, और उनके कारण सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि, और संसार के अन्य पदार्थों और क्रियाओं का आदि कारण जगत् पिता परमेश्वर को मानते और उसका धन्यवाद करते हैं ॥ ९ ॥

ऋ॒तुभ्य॑स्त्वार्त॒वेभ्यो॑ मा॒द्भ्यः सं॑वत्स॒रेभ्यः॑ ।
धा॒त्रे वि॑धा॒त्रे स॒मृधे॑ भू॒तस्य॒ पत॑ये यजे ॥ १० ॥

ऋ॒तु-भ्यः॑ । त्वा॒ । । आ॒र्त॒वेभ्यः॑ । मा॒त्-भ्यः । सु॒म्-व॒त्स॒रेभ्यः॑ ॥

९—ऋतून् । अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । इति ऋ गतौ-तु, स च कित् । वसन्तादिकालान् । यजे । यज देवपूजादानसङ्गतिकरणेषु । अहं समर्पयामि । ऋतुपतीन् । ऋतूनाम् अधिष्ठातॄन्, सूर्यचन्द्रवायुपृथिव्यादीन् देवान् । आर्तवान् । ऋतोरण् । पा० ५ । १ । १०५ । इति ऋतु-अण्, तदस्य प्राप्तमित्यर्थे । ऋतूद्भवान् । ऋतुजातान् । उत । अपि च । हायनान् । हश्च व्रीहिकालयोः । पा० ३ । १ । १४८ । इति ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च-ण्युट् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । दातव्यान् प्राप्तव्यान् व्रीह्यादीन् भोज्यपदार्थान् । समाः । अ० २ । ६ । १ । अनुकूलाः क्रियाः । संवत्सरान् । म० २ । सम्यग् वासयितॄन् द्वादशमासात्मकान् कालान् । मासान् । मस परिमाणे— घञ् । शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकान् कालान् । भूतस्य । भू सत्तायाम्-क्त । सत्तां प्राप्तस्य चराचरात्मकस्य जगतः । पतये । तादर्थ्ये चतुर्थी । पालकस्य । स्वामिने ॥

धात्रे । वि-धात्रे । सम्-ऋधे । भूतस्य । पतये । यजे ॥१०॥

भाषार्थ—[हे एकाष्टके प्रकृति !] (त्वा) तुझ को (ऋतुभ्यः) ऋतुओं के लिये, (आर्तवेभ्यः) ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थों के लिये, (माद्भ्यः) महीनों के लिये और (संवत्सरेभ्यः) यथावत् निवास देने वाले वर्षों के [सुधार के] लिये, (धात्रे) धारण करने वाले, (विधात्रे) रचने वाले, (समृधे) यथा नियम बढ़ानेवाले (भूतस्य) जगत् के (पतये) पति के (यजे) मैं समर्पण करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर नियम से जगत् की उत्पन्न करनेवाली प्रकृति की चेष्टाओं को सब ऋतुओं में देखते हुये विद्वान् लोग अपने समय को उपकार में लगाते हैं ॥ १० ॥

इडया जुह्वतो वयं देवान् घृतवता यजे ।
गृहानलुभ्यतो वयं सं विशेमोप गोमतः ॥ ११ ॥

इडया । जुह्वतः । वयम् । देवान् । घृत-वता । यजे ॥
गृहान् । अलुभ्यतः । वयम् । सम् । विशेम । उप । गो-मतः ॥११

भाषार्थ—(इडया) स्तुति योग्य प्रकृति [की विद्या] से (घृतवता=घृतवता कर्मणा) सार युक्त [कर्म] के द्वारा (जुह्वतः) होम [आत्म दान करने वाले (देवान्) देवताओं को (वयम्) हम (यजे=यजामहे) पूजते हैं

१०—ऋतुभ्यः । म० ६ । वसन्तादीनां प्रीत्यर्थम् । त्वा । त्वाम् । एकाष्टकाम् । प्रकृतिम् । आर्तवेभ्यः । म० ६ । ऋतूद्भवेभ्यः । माद्भ्यः । पद्दन्नो मास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति मासशब्दस्य मास् इत्यादेशः । सस्य तः मासेभ्यः । संवत्सरेभ्यः । म० २ । वर्षेभ्यः । धात्रे । धारयित्रे । विधात्रे । सर्वस्य निर्मात्रे । समृधे । सम्+ऋधु वृद्धौ-क्विप् । समर्धयित्रे । अन्यत् गतम्—६ ॥

११-इडया । म०६ । स्तुत्यया प्राप्तव्यया वा प्रकृत्या । जुह्वतः । हु दाना दानादनेषु-शतृ । शसि रूपम् । होमम् आत्मसमर्पणं कुर्वतः । वयम् । पुरुषाः

[जिससे] (अलुभ्यतः) तृष्णा रहित [सर्वथा भरे पूरे) और (गोमतः) बहुत सी उत्तम २ गौओं वाले (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (वयम्) हम (संविशेम) सुख से रहें ॥ ११ ॥

भावार्थ—संसार के ज्ञान से उत्तम कामों में आत्मदान करने वाले महात्माओं के हम आदर पूर्वक अनुगामी बनें और सब कामनाओं और घृत दुग्धादि पोषक पदार्थों को प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ १ ॥

एकाष्टका तपसा तप्यमाना जजान गर्भं महिमानमिन्द्रम् । तेन देवा व्यसहन्त शत्रून् हन्ता दस्यूनामभवच्छचीपतिः ॥१२॥

एक-अष्टका । तपसा । तप्यमाना । जजान । गर्भम् । महिमानम् । इन्द्रम् ॥ तेन । देवाः । वि । असहन्त । शत्रून् । हन्ता । दस्यूनाम् । अभवत् । शची-पतिः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एकाष्टका) अकेली व्यापक रहने वाली वा अकेली भोजन स्थान शक्ति [प्रकृति] ने (तपसा) बड़े ऐश्वर्य वाले ब्रह्म द्वारा (तप्यमाना)

देवान् । विजिगीषून् व्यवहारकुशलान् वा पुरुषान् । **घृतवता** । दीप्तिमता सारयुक्तेन वा, कर्मणा-इति शेषः । **यजे** । तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इत्येकवचनं बहुवचने । यजामहे । पूजयामः । **गृहान्** । गृह ग्रहणे-क । गेहानि । **अलुभ्यतः** । लुभ गार्ध्ये=आकाङ्क्षायाम् विमोहने च-शतृ, दिवादित्वात् श्यन् । शसि रूपम् । तृष्णारहितान् सर्वमनोरथयुक्तान् । **संविशेम** । सुखेन निवसेम । **उप** । उपेत्य । आगत्य । **गोमतः** । भूम्नि प्रशंसायां च मतुप् । बहुभिः प्रशस्ताभिर्गोभिर्युक्तान् ॥

१२-**एकाष्टका** । म० ८ । **तपसा** । सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तप दाहैश्वर्ययोः—असुन् । तप्यते धनी, ईश्वरो भवतीत्यर्थः । ऐश्वर्यवता ब्रह्मणा । **तप्यमाना** । तप ऐश्वर्ये-शानच् । दिवादिः, आत्मनेपदी । ईशाना

ऐश्वर्य वाली होकर (गर्भम्) स्तुति योग्य, (महिमानम्) पूजनीय (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य वाले जीव को (जजान) प्रकट किया। (तेन) उस [इन्द्र, जीव] के द्वारा (देवाः) प्रकाशमान इन्द्रियों ने (शत्रून्) शत्रुओं [दोषों] को (वि) विविध प्रकार से (असहन्त) हराया है, और (शचीपतिः) वाणियों वा कर्मों वा बुद्धियों का पति [इन्द्र, जीव] (दस्यूनाम्) दस्युओं (हन्ता) मारने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम से प्रकृति के संयोग वियोग से शरीर पाकर इन्द्रियों द्वारा परीक्षा करके दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करके आनन्द भोगते और भुगाते हैं ॥ १२ ॥

(तपस्) शब्द ब्रह्म वा परमेश्वर वाची है, जैसे (ओं तपः । ओं सत्यम्) प्राणायाम मन्त्र में है। ऋग्वेद मण्डल १० सूक्त १९० मन्त्र १ में भी ऐसा वर्णन है।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत ॥

(ऋतम्) यथार्थ वेदशास्त्र (च) और (सत्यम्) सत्ता वाला जगत्(च) भी (अभीद्धात्) सर्वथा प्रकाशमान (तपसः अधि) तप अर्थात् ऐश्वर्य वाले ब्रह्म सेही (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥

समर्था सती। **जजान** । जनयामास। प्राकाशयत् **गर्भम्** । अर्त्तिगृभ्यां भन्। उ० ३। १५२। इति गॄ शब्दे-भन्। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा यदा हि स्त्री गुणान् गृह्णाति गुणाश्चास्या गृह्यन्तेऽथ गर्भोभवति-निरु० १०। २३। गर्भं गर्भभूतं यद्वा गरणीयं स्तुत्यं वन्दनीयम्—इति सायणः। **महिमानम्** । हृभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच्। उ० ४। १४८। इति मह पूजायाम्—इमनिच्। पूजनीयम्। **इन्द्रम्** । ऐश्वर्यवन्तं जीवम्। **तेन** । इन्द्रेण सह। **देवाः** । द्योतनात्मकाश्चक्षुरादीन्द्रियाणि—इति महीधरो यजु० ४०। ४। चक्षुरादीनीन्द्रियाणि वा—तत्रैव दयानन्दभाष्ये। **वि** । विविधम्। विशेषेण। **असहन्त** । अभ्यभवन्। **शत्रून्** । शातयितॄन्। घातकान्। **हन्ता** । नाशकः। **दस्यूनाम्** । अ० २। १४। ५। उपक्षपयितॄणाम्। चौराणाम्। **अभवत्** । आसीत्। **शचीपतिः** । सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति शच व्यक्तायां वाचि—इन्। कृदिकारादक्तिनः। वा० पा० ४। १। ४५। इति ङीप्। शची=वाक्-निघ० १। ११। कर्म—२। १। प्रज्ञा—३। ९। शचीनां वाचां कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः यथार्थवक्ता यथार्थकर्मा यथार्थ प्रज्ञो वा॥

इन्द्रपुत्रे सोमपुत्रे दुहितासि प्रजापतेः ।
कामानस्माकं पूरय प्रति गृह्णाहि नो हविः ॥ १३ ॥

इन्द्र-पुत्रे । सोम-पुत्रे । दुहिता । असि । प्रजा-पतेः ॥ कामान् । अस्माकम् । पूरय । प्रति । गृह्णाहि । नः । हविः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रपुत्रे) हे सूर्य जैसे पुत्रवाली ! (सोमपुत्रे) हे चन्द्रमा जैसे पुत्रवाली ! [प्रकृति]. तू (प्रजापतेः) प्रजारक्षक परमेश्वर के (दुहिता) कार्यों की पूर्ण करने वाली (असि) है, (अस्माकम्) हमारे (कामान्) मनोरथों को (पूरय) पूर्ण कर, (नः) हमारी (हविः) भक्ति को (प्रति गृह्णाहि) स्वीकार कर ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रकृति से सूर्य चन्द्रादि लोक और बड़े २ प्रतापी और उपकारी मनुष्य उत्पन्न किये हैं; उस प्रकृति की शक्तियों के ज्ञान और प्रयोग से संसार की भलाई चाहने वाले पुरुष अपनी कामनायें पूरी करते हैं ॥ १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

१३—इन्द्रपुत्रे । इन्द्रवत्पुत्रो यस्यास्तादृशि । हे सूर्यवत्पुत्रयुक्ते । सोमपुत्रे । हे चन्द्रवत्पुत्रयुक्ते प्रकृते । दुहिता । नप्तृनेष्टृत्वष्टृ०। उ० २। ९५ । इति दुह प्रपूरणे-तृच् । दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा—निरु० ३ । ४ । पिता दुहितुर्गर्भं दधाति पर्जन्यः पृथिव्याः-निरु०४ । २१ । अत्र पृथिव्येव दुहितृ-शब्देनोक्ता, सा हि द्युलोकात् ' दूरे निहिता ' अथवा सा हि द्युलोकं " दोग्धीति " दुहिता-इति देवराजयज्वा तट्टीकायाम् । दोग्धि कार्याणि प्रपूरयतीति सा । कार्याणां प्रपूरयित्री । असि । भवसि । प्रजापतेः । प्रजानां मनुष्यादीनां रक्षकस्य परमेश्वरस्य । कामान् । मनोरथान् । अस्माकम् । पूरय । समर्धय । प्रति । गृह्णाहि । प्रतिगृहाण । स्वीकुरु । नः । अस्माकम् । हविः । आत्मदानम् । भक्तिम् ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ११ ॥

१-८ ॥ राजयक्ष्मघ्नं देवता । १-४ त्रिष्टुप् । ५, ६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः । ८ षट्पदानुष्टुप् ॥

रोगनाशनायोपदेशः—रोग नाश करने के लिये उपदेश ॥

मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात् । ग्राहिर्जग्राह यद्येतदेनं तस्या इन्द्राग्नी प्र मुमुक्तमेनम् ॥ १ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञात-यक्ष्मात् । उत । राज-यक्ष्मात् ॥ ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति के साथ (कम्) सुख से (जीवनाय) जीवन के लिये (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राज रोग से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं । (यदि) जो (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय में (एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड़ लिया है, (तस्याः) उस [पीड़ा] से

१—मुञ्चामि । विश्लेषयामि । त्वा । प्राणिनम् । हविषा । आत्मदानेन । भक्त्या । उपायेन । जीवनाय । प्राणधारणाय । चिरकालायशोधारणाय-इत्यर्थः । कम् । अव्ययम् । सुखेन । अज्ञातयक्ष्मात् । अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति यक्ष पूजायाम्-मन् । अलक्षितमहारोगात् । राजयक्ष्मात् । राजदन्तादिषु परम् । पा० २ । २ । ३१ । इति उपसर्जनस्य परत्वम् । यक्ष्माणां राजा राजयक्ष्मः, तस्मात् । क्षयरोगात् । ग्राहिः । अ० २ ।

(इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि ! (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छुड़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगों से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानों से मिलकर, अपने दोषों को मिटाकर यशस्वी होवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० का० २ सू० ६ म० १ से करो ॥

मन्त्र १-४ ऋग्वेद १० । १६१ । १-४ कुछ भेद से, और फिर अथर्व० २० । ९६ । ६-९ में हैं । ऋग्वेद में इस सूक्तका ऋषि [यक्ष्मनाशनः प्राजापत्यः] और देवता [राजयक्ष्मघ्नम्] हैं ॥

यदि॑ क्षि॒तायु॒र्यदि॑ वा॒ परे॑तो॒ यदि॑ मृ॒त्योर॑न्ति॒कं नीत ए॒व । तमा ह॑रामि॒ निर्ऋ॑तेरु॒पस्था॒दस्पा॑र्षमेनं श॒तशा॑रदाय ॥ २ ॥

यदि॑ । क्षि॒त-आ॒युः । यदि॑ । वा॒ । परा॑-इ॒तः । यदि॑ । मृ॒त्योः । अ॒न्ति॒कम् । नि-इ॒तः । ए॒व ॥ तम् । आ । ह॒रा॒मि॒ । निः-ऋ॑तेः । उ॒प-स्था॑त् । अस्पा॑र्षम् । ए॒न॒म् । श॒त-शा॑रदाय ॥२॥

भावार्थ—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायुः) टूटी आयु वाला, (यदि

---

१ । १ । ग्रहणशीला पीड़ा । जग्राह । गृहीतवती । यदि । चेत् । तस्याः । ग्राह्याः सकाशात् । इन्द्राग्नी । सूर्याग्नी । दिव्यपार्थिवपदार्थाः, यद्वा । तद्वत् तेजस्वी विद्वान् पुरुषः । प्र मुमुक्तम् । मुचेर्विकरणस्य श्लुः । प्रमोचयतम् । एनम् । शरीरस्थं प्राणिनम् ॥

२—यदि । चेत् । क्षितायुः । क्षीणजीवनः । यदि वा । अथवा ।

वा) अथवा (परेतः) अंग भङ्ग है, (यदि) चाहे (मृत्योः) मृत्यु के (अन्तिकम्) समीप (एव) ही (नीतः=नि-इतः) आ चुका है। (तम्) उसको (निर्ऋतेः) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूं, (एनम्) इसको (शतशारदाय+जीवनाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (अस्पार्षम्) मैंने प्रबल किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर वैद्य यत्न करके भारी २ रोगियों को चङ्गा करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजाजिक कठिन संकट पड़ने पर अपने आत्मा को प्रबल रक्खे ॥ २ ॥

अथर्व० १। ३५। १। में (दीर्घत्वाय शतशारदाय) पाठ है, यहाँ (जीवनाय) पद मन्त्र १ से लाया गया है ॥

अन्य दो संहिताओं, सायणभाष्य और ऋग्वेद में (अस्पार्षम्) पाठ है, परन्तु बम्बई गवर्नमेंट संहिता में शोधा हुआ और अथर्व० का० २० सू० ९६ म० ७ में [अस्पार्शम्) पाठ है। हमने (अस्पार्षम्) लिया है।

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम्।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥ ३ ॥

सहस्र-अक्षेण। शत-वीर्येण। शत-आयुषा। हविषा।

परेतः। परा भङ्गे+इण् गतौ-क्त। भङ्गं प्राप्तः। मृत्योः। मरणस्य। अन्तिकम्। अन्त—मत्वर्थीयो ठन्, तस्य इकः। निकटम्। नीतः। नि+इतः। नीचैर्गतः। एव। अवश्यम्। तम्। रोगिणम्। आ हरामि। आ नयामि। निर्ऋतेः। अ० २। १०। १। निर्ऋतिः=कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २। ७। महारोगस्य। अलक्ष्म्याः। उपस्थात्। उपस्थानात्। अङ्कात्। अस्पार्षम्। स्पृ प्रीति बलनयोः, छान्दसो लुङ्। प्रबलं कृतवानस्मि। एनम्। समीपस्थम्। आत्मानम्। शतशारदाय। अ० १। ३५। १। शतशरदृतुयुक्ताय, जीवनाय, इति शेषः—म० १ ॥

आ । अहार्षम् । एनम् ॥ इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य । दुः-इतस्य । पारम् ॥ ३॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्रवाले, (शतवीर्येण) सैकड़ों सामर्थ्य वाले, (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) मैंने उभारा है। (यथा) जिससे (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [देही] को (विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति=अतीत्य) निकाल कर (शरदः) [सौ] शरद् ऋतुओं तक (नयाति) पहुंचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य एकाग्रचित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन शक्ति, कर्मशक्ति और जीविकाशक्ति बढ़ाकर अपने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझा कर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है ॥३॥

३—**सहस्राक्षेण** । सहस्रम् बहुनाम-निघ० ३ । १ । सहो बलम्—निघ० २ । ९ । रो मत्वर्थीयः । सहस्रं सहस्वत्-निरु० ३ । १० । बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । सहस्रं बहूनि अक्षीणि चक्षूंषि दर्शनशक्तयो यस्य तेन तथोक्तेन । **शतवीर्येण** । शतम् । शो तीक्ष्णीकरणे-डतच् । बहुनाम । निघ० ३ । १ । शतं दशदशतः-निरु० ३ । १० । बहुसामर्थ्योपेतेन । **शतायुषा** । बहुजीवनसाधनयुक्तेन । **हविषा** । आत्मदानेन । भक्त्या । **आ अहार्षम्** । हृञ् हरणे—लुङ् समन्ताद् अनैषम् । उन्नीतवानस्मि । **एनम्** । आत्मानम् । देहिनम् । **इन्द्रः** । प्रतापी जीवः । **यथा** । येन प्रकारेण । **शरदः** । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । शतं शरदः संवत्सरान् । **नयाति** । णीञ् प्रापणे लेटि आडागमः । नयेत् । प्रापयेत् । **अति** । अतीत्य । **विश्वस्य** । सर्वस्य । प्रत्येकस्य । **दुरितस्य** । अ० २ । ६ । ५ । पापस्य । कष्टस्य । **पारम्** । पार कर्मसमाप्तौ—अच् । तीरम् । अन्तम् ॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्ताञ्छतमु वसन्तान् । शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ॥ ४ ॥

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊं इति । वसन्तान् ॥ शतम् । ते । इन्द्रः । अग्निः । सविता । बृहस्पतिः । शत-आयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ ४ ॥.

भाषार्थ—(वर्धमानः+त्वम्) बढ़ती करता हुआ तू (शतम् शरदः) सौ शरद् ऋतुओं तक, (शतम् हेमन्तान्) सौ शीत ऋतुओं तक, (उ) और (शतम् वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (जीव) जीता रह। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (अग्निः) तेजस्वी विद्वान्, (सविता) सब का चलाने वाला, (बृहस्पतिः +अहं जीवः) बड़े बड़ों के रक्षक मैंने (शतम्) अनेक प्रकारसे (ते) तेरे लिये (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम् उभारा है ॥ ४ ॥

४—शतम् । बहुनाम । जीव । प्राणान् धारय । शरदः । शरदृतून् वर्षाकालान् इत्यर्थः । वर्धमानः । वृद्धिं कुर्वाणः । हेमन्तान् । हन्तेर्मुट् हि च । उ० ३।१२९। इति हन वधगत्योः—झच्, हन्तेर्हिः, मुडागमः । हन्ति उष्णत्वम् । शीतकालान् । उ । समुच्चये । वसन्तान् । तॄभूवहिवसिभासि० । उ० ३। १२८। इति वस वासे, निवासे, आच्छादने च—झच् । पुष्पसमयान् । ग्रीष्मकालान् । शतम् । यथा तथा । बहुप्रकारेण । ते । तुभ्यम् । इन्द्रः । ऐश्वर्यवान् । अग्निः । अगि गतौ-नि । ज्ञानवान् । सविता । सर्वस्य प्रेरकः । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । २ । तथा २ । १३ । २ । बृहत्+पतिः, सुट्, तलोपः । बृहतां विदुषां कर्मणां वा पालकः । इन्द्रादीनि चत्वारि (अहम्) इति पदस्य विशेषणानि । अन्यद् व्याख्यातम्-म० ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उचित रीति से वर्षा, शीत और उष्ण ऋतुओं को सह कर बहु प्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्यादि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

ऋग्वेद में (इन्द्रः अग्निः)=[इन्द्राग्नी और (आ अहार्षम् एनम्)=[इमम् पुनः दुः] ॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
व्य१न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितरांछतम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौ-इव । व्रजम् ॥ वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥५॥

भाषार्थ—(प्राणपानौ) हे श्वास और प्रश्वास तुम दोनों, [इस शरीर में] (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (अनड्वाहौ-इव) रथ ले चलने वाले दो बैल जैसे (व्रजम्) गोशाला में (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वियन्तु) उलटे चले जावें (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम्) सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्राणायाम, व्यायामदि से अपने प्राण और अपान को

५—**प्र विशतम्** । अन्तः प्राप्नुतम् । **प्राणापानौ** । शरीरधारकौ श्वास-प्रश्वासौ । **अनड्वाहौ** । अनः शकटं वहतीति अनड्वान् । अनसि वहेः क्विप्, अनसो डकारः । अनसः शकटस्य रथस्य वोढारौ बलीवर्दौ । **इव** । यथा । **व्रजम्** । गोचरसंचर० । पा० ३ । ३ । ११९ । इति व्रज गतौ-घञोऽपवादत्वेन घप्रत्ययान्तो निपातितः । गोष्ठम् । **वि यन्तु** । विमुखा गच्छन्तु । **अन्ये** । धार्मिकमरणाद् भिन्नाः । **मृत्यवः** । मरणकारणानि । **यान्** । मृत्यून् । **आहुः** । ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-लट् । ब्रुवन्ति । कथयन्ति विद्वांसः । **इत-रान्** अ० ३।१०।४ इ+तॄ अभिभवे-अप् । सुकामनाशकान् । **शतम्** । बहून् ॥

अनुकूल रखकर शारीरिक अवस्था सुधारे रहें और दुराचारों से बचकर अपना जीवन शुभ कामों में लगावें ॥ ५ ॥

इहैव स्तं प्राणापानौ मापं गातमितो युवम् ।
शरीरमस्याङ्गानि जरसे वहतं पुनः ॥ ६ ॥

इह । एव । स्तम् । प्राणापानौ । मा । अपं । गातम् । इतः । युवम् ॥ शरीरम् । अस्य । अङ्गानि । जरसे । वहतम् । पुनः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे श्वास प्रश्वास ! (युवम्) तुम दोनों (इह एव) इस में ही (स्तम्) रहो, (इतः) इससे (मा अप गातम्) दूर मत जाओ। (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर और (अङ्गानि) अंगों को (जरसे) स्तुति के लिये (पुनः) अवश्य (वहतम्) तुम दोनों ले चलो ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्राण और अपान वायु का संचार ठीक न होने से रुधिर जमकर रोग उत्पन्न होता है, इससे मनुष्य सब शरीर में वायु संचार ठीक रखकर दृढ़ शरीर वाले हों और स्तुति प्राप्त करें ॥ ६ ॥

जरायैं त्वा परिं ददामि जरायै नि धुंवामि त्वा ।
जरा त्वां भद्रा नेष्ट व्यं१ न्ये यन्तु मृत्यवो यानाहुरितंराञ्छतम् ॥ ७ ॥

जरायैं । त्वा । परिं । ददामि । जरायैं । नि । धुवामि

६—इह एव । अस्मिन्नेव शरीरे । स्तम् । भवतम् । प्राणापानौ । श्वासप्रश्वासौ । मा अप गातम । इण् गतौ–माङि लुङि । माप गच्छतम् । इत : । अस्माच्छरीरात् । युवम । युवाम् । शरीरम । अ० २ । १२ । ८ । कायम् । अस्य । पुरुषस्य । अङ्गानि । देहावयवान् । जरसे । अ० १ । ३० २ । जॄ स्तुतौ, यद्वा, गॄ शब्दे=स्तुतौ-असुन् । गस्यजः । स्तुत्यर्थम् । वहतम । युवां प्रापयतम् । पुनः अवधारणे ॥

त्वा ॥ जरा । त्वा । भद्रा । नेष्टु । वि । अन्ये । यन्तु । मृत्यवः । यान् । आहुः । इतरान् । शतम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझे (जरायै) स्तुति पाने के लिये (परि) सब प्रकार (ददामि) दान करता हूं । (जरायै) स्तुति के लिये (त्वा) तेरे (नि धुवामि) निहोरे करता हूं [अथवा, तुझे झकझोरता हूं] (जरा) स्तुति (त्वा) तुझे (भद्रा=भद्राणि) अनेक सुख (नेष्ट) पहुंचावे । (अन्ये) दूसरे (मृत्यवः) मृत्यु के कारण (वि यन्तु) उलटे चले जावें, (यान्) जिन (इतरान्) कामना नाशक [मृत्युओं] को (शतम] सौ प्रकार का (आहुः) बतलाते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य कभी नम्र, कभी कठोर होकर स्तुति के लिये अपना आत्मा लगावें, और निर्धनता, रोगादि मृत्यु के कारणों को हटाकर सुखी रहे ॥ ७ ॥

अभि त्वा जरिमाहित गामुक्षणमिव रज्ज्वा ।
यस्त्वा मृत्युरभ्यधत्त जायमानं सुपाशया ।
तं ते सत्यस्य हस्ताभ्यामुदमुञ्चद् बृहस्पतिः ॥ ८ ॥

अभि । त्वा । जरिमा । अहित । गाम् । उक्षणम्-इव । रज्ज्वा ॥ यः । त्वा । मृत्युः । अभि-अधत्त । जायमानम् ।

७—जरायै । षिद्भिदादिभ्योऽङ् । पा० ३ । ३ । १०४ । इति जॄ स्तुतौ-अङ्, टाप् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १० । ८ । स्तुतिप्राप्तये । परि ददामि । अ० १ । ३० । २ । समर्पयामि । नि । आदरे । निश्चये । अधोभागे । धुवामि । धूञ् कम्पने, तुदादिः सकर्मकः । कम्पयामि । प्रेरयामि । त्वा । प्राणिनम् । भद्रा । भद्राणि । मङ्गलानि । नेष्ट । लेट् । नयतु प्रापयतु । अन्यद् गतम्-म० ५ ॥

सु-पाशर्या ॥ तम् । ते । सुत्यस्य । हस्ताभ्याम् । उत् । अमु-ञ्चत् । बृह॒स्पतिः ॥ ८ ॥

[हे प्राणी !] (जरिमा) निर्बलता ने (त्वा) तुझको (अभि अहित) बांधा है, (उक्षाणम्) बलवान् (गाम् इव) बैल को जैसे (रज्ज्वा) रस्सी से। (यः मृत्युः) जिस मृत्यु ने (जायमानम्) उत्पन्न वा प्रसिद्ध होते हुये (त्वा) तुझ को (सुपाशया) दृढ़ फंदे से (अभि-अधत्त) बन्धन में किया है, (तम्) उस [मृत्यु] को (सत्यस्य) सत्य के (ते) तेरे (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के हित के लिये (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों के रक्षक [देवगुरु] परमेश्वर वा आचार्य ने [तुझ से] (उत् अमुञ्चत्) छुड़ा दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य जन्म से लेकर भूख, पियास, रोग आदि विपत्तियों से ईश्वरदत्त ज्ञान और विद्वानों की रक्षा तथा शिक्षा द्वारा छूट कर दोनों हाथों अर्थात् सब प्रकार से धर्म आचरण के लिये आगे बढ़ता है ॥ ८ ॥

८—**अभि अहित** । अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । अश्वाभिधानी=अश्वबन्धनरज्जुः । ततो लुङ् । स्थाघ्वोरिच्च । पा० १ । २ । १७ । इति इत्वकित्त्वे । बद्धं कृतवान् । **त्वा** । त्वां प्राणिनम् । **जरिमा** । हभृधृसृस्तृशृभ्य इमनिच् । उ० ४ । १४८ । इति जॄष् वयोहानौ — इमनिच् । जरा । निर्बलता । **गाम्** । वृषभम् । **उक्षाणम्** । श्वनुक्षन्पूषन् ० । उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने वृद्धौ च-कनिन् । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः-निरु० १२ । ६ । वा षपूर्वस्य निगमे । पा० ६ । ४ । ६ । इति दीर्घाभावः । उक्षाणम् । बलवन्तम् । **इव** । यथा **रज्ज्वा** । सृजेरसुम् च । उ० १ । १५ । इति सृज त्यागे-उ रूपसिद्धिर्निपातः । सृज्यते रच्यते इति । बन्धनसाधनवस्तुना । **यः** । **त्वा** । **मृत्युः** । **अभि-अधत्त** । धाञो लङ् । अबध्नात् । **जायमानम्** । उत्पद्यमानम् । प्रसिद्धिं कुर्वन्तम् । **सुपाशया** । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेया० । पा० ७ । १ । ३९ । इति तृतीयाविभक्तौ या । सुपाशेन । दृढबन्धनेन । **तम्** । मृत्युम् **ते** । तव । **सत्यस्य** । यथार्थनियमस्य । **हस्ताभ्याम्** । कराभ्याम् तयोर्हितार्थम् । **उत् अमुञ्चत्** । उदमोचयत् । **बृहस्पतिः** । म० ४ । बृहतां पतिः । देवगुरुः परमेश्वरः । आचार्यः ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—९ । शाला देवता ॥ १, २, ४—६, ८ त्रिष्टुप् । ३ पथ्या पङ्क्तिः । ७, ९ अनुष्टुप् ॥

नवशाला निर्माणं प्रवेशश्च—नवीन शाला का निर्माण और प्रवेश ॥

इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा । तां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम ॥ १ ॥

इह । एव । ध्रुवाम् । नि । मिनोमि । शालाम् । क्षेमे । तिष्ठाति । घृतम् । उक्षमाणा ॥ ताम् । त्वा । शाले । सर्व-वीराः । सु-वीराः । अरिष्ट-वीराः । उप । सम् । चरेम ॥ १ ॥

भाषार्थ — (इह एव) यहां पर ही (ध्रुवाम्) ठहराऊ (शालाम्) शालाको (नि मिनोमि) जमाकर बनाता हूं । यह (घृतम्) घी (उक्षमाणा) सींचती हुई (क्षेमे) लब्ध वस्तु की रक्षा में (तिष्ठाति) ठहरी रहे । (शाले) हे शाला (ताम् त्वा) उस तुझ में (उप=उपेत्य) आकर (सर्ववीराः) सब

१—इह । अस्मिन् विचारिते स्थाने । एव । अवधारणे । ध्रुवाम् । ध्रु स्थैर्ये गतौ च—क । स्थिराम् । निश्चिताम् । नि मिनोमि । डुमिञ् प्रक्षेपणे । नितरां प्रक्षिपामि स्थापयामि । शालाम् । तमिविशि विडि० । उ० १ । ११८ । इति शो निशाने अल्पीकरणे-कालन् । अथवा, शाल कथने-अच् । टाप् । गृहम् । क्षेमे । लब्धवस्तुनो रक्षणे । कुशले । तिष्ठाति । लेटि आडागमः । तिष्ठेत् । घृतम् । आज्यम् । दीप्तिम् । उक्षमाणा । सिञ्चन्ती । प्रयच्छन्ती । ताम् । तादृशीम् । त्वा । शाले । सर्ववीराः । अनेकशूरोपेताः । सुवीराः । शुभगुणवीरैर्युक्ताः । अरिष्टवीराः । रिष हिंसायाम्-क ।

वीर पुरुषों वाले (सुवीराः) अच्छे २ पराक्रमी पुरुषों वाले और (अरिष्टवीराः) नीरोग पुरुषों वाले (संचरेम) हम चलते फिरते रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—हम अपने घर दृढ और उचित विभाग वाले बनावें, जिस से वायु घाम आदि के यथावत् सेवन से सब गृहस्थ स्त्री पुरुष सदा दृढ पुष्ट और स्वस्थ रहें ॥ १ ॥

इ॒हैव ध्रु॒वा प्रति॑ तिष्ठ शाले॒ऽश्वा॑वती॒ गोम॑ती सू॒नृता॑वती। ऊर्ज॑स्वती घृ॒तव॑ती॒ पय॑स्व॒त्युच्छ्र॑यस्व मह॒ते सौभ॑गाय ॥ २ ॥

इ॒ह। ए॒व। ध्रु॒वा। प्रति॑। ति॒ष्ठ॒। शा॒ले॒। अश्व॑-वती। गो-म॑ती। सू॒नृता॑-वती॥ ऊर्ज॑स्वती। घृ॒त-व॑ती। पय॑स्वती। उत्। श्र॒य॒स्व॒। म॒ह॒ते। सौभ॑गाय ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! तू (इह एव) यहां पर ही (अश्वावती) बहुत घोड़ों वाली, (गोमती) बहुत गौओं वाली और (सूनृतावती) बहुत प्रिय सत्य वाणियों वाली होकर (ध्रुवा) ठहराऊ (प्रतितिष्ठ) जमी रह। (ऊर्जस्वती) बहुत अन्न वाली, (घृतवती) बहुत घी वाली और (पय-

---

अहिंसितवीराः। स्वस्थशूरयुक्ताः। उप। उपेत्य। संचरेम। व्यवहरेम ॥

२—ध्रुवा। दृढा। प्रति तिष्ठ। स्थिता भव। वर्तस्व। शाले। हे गृह। अश्वावती। मादुपधायाश्च०। पा० ८। २। ११। इति मतुपो वत्वम्। मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय०। पा० ६। ३। १३१। इति मतौ दीर्घः। भूमनिन्दाप्रशंसासु०। इति सर्वत्र भूम्नि मतुप्। बहुभिरश्वैरुपेता। गोमती। बहुभिर्गोभिर्युक्ता। सूनृतावती। सु+नृत नर्तने- घञर्थे कः। यद्वा। सु+नृ+तन विस्तारे-ड। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति दीर्घः। वा टाप्। सुष्ठु नृत्यतेऽनेन, यद्वा, सूनृषु शोभननरेषु तायते विस्तीर्यते। सूनृ-

स्वती] बहुत दुध वाली होकर (महते) बड़ी (सौभगाय) सुन्दर भाग्यवानी के लिये (उत् श्रयस्व) ऊंची हो ॥ २ ॥

भावार्थ--- मनुष्य शाला में योग्य योग्य स्थान बनाकर उनको आवश्यक पदार्थों से भरपूर रक्खें ॥

धरुण्यसि शाले बृहच्छन्दाः पूतिधान्या । आ त्वा वत्सो गमेदा कुमार आ धेनवः सायमास्पन्दमानाः ॥३॥

धरुणी । असि । शाले । बृहत्-छन्दाः । पूति-धान्या ॥ आ । त्वा । वत्सः । गमेत् । आ । कुमारः । आ । धेनवः । सायम् । आ-स्पन्दमानाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! तू (बृहच्छन्दाः) विशाल छतवाली, वा बहुत से छन्द वा वेद मन्त्रों वाली, (पूतिधान्या) शुद्ध धान्य वाली (धरुणी) भण्डार (असि) है। (त्वा) तुझ में (वत्सः) बछड़ा (आ) और

ता, अन्ननाम-निघ० २।७। सूनृतम्, सत्यप्रियवाक्यम् इति कोषे । सत्यप्रियवाग्भिर्बालादीनां वाणीभिर्युक्ता । **ऊर्जस्वती** । ऊर्ज बलप्राणनयोः-असुन् । प्रभूतान्नवती । **घृतवती** । बहुघृतयुक्ता। **पयस्वती**। बहुदुग्धा। **उच्छ्रयस्व**। उद्गता, उत्कृष्टा भव। **महते** । प्रभूताय। **सौभगाय** । अ० १।१८।२। सुभग-अण्। सुभगत्वाय। ऐश्वर्यवत्त्वाय ॥

३—**धरुणी** । कृवृदारिभ्य उनन्। उ० ३।५३। इति धृञ्-उनन्। ङीप्। भोगजातस्य धारयित्री। **शाले** । **बृहच्छन्दाः** । चन्देरादेश्च छः। उ० ४। २१९। इति बृहत्+चदि आह्लादे-असुन्। चस्य छः। यद्वा । छदि आच्छादने-असुन् । प्रभूताच्छादना । महद्भिश्छन्दोभिर्वेदमन्त्रैरुपेता । **पूतिधान्या** । क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा०३। ३। १७४। इति पूञ् शोधे-क्तिच्। पूतानि पवित्राणि धान्यानि यस्यां सा तथोक्ता । शुद्धधान्ययुक्ता। **वत्सः** ।

(कुमारः) बालक (आ गमेत्) आवे । (सायम्) सायंकाल में (आस्पन्दमानाः) कूदती हुई (धेनवः) दुधेल गौयें (आ = आगच्छन्तु) आवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है। और २ स्थानों के साथ घरों में वैदिकगायन भी होवे ॥ ३ ॥

इमां शालां सविता वायुरिन्द्रो बृहस्पतिर्नि मिनोतु प्रजानन्। उक्षन्तूद्ना मरुतो घृतेन भगो नो राजा नि कृषिं तनोतु ॥ ४ ॥

इमाम् । । शालाम् । सविता । वायुः । इन्द्रः । बृहस्पतिः । नि । मिनोतु । प्र-जानन् ॥ उक्षन्तु । उद्ना । मरुतः । घृतेन । भगः । नः । राजा । नि । कृषिम् । तनोतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमाम् शालम्) इस शाला को (सविता) सब का चलाने वाला पुरुष [वा सूर्य], (वायुः) वेगवान् पुरुष [वा पवन] (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष [वा मेघ] और (प्रजानन्) ज्ञानवान् (बृहस्पतिः) बड़े बड़े कामों का रक्षक पुरुष [प्रत्येक] (नि मिनोतु) जमाकर बनावे । (मरुतः) शूर देवता

वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वद कथने-सप्रत्ययः । वदतीति वत्सः । आगमेत् । आगच्छेत् । आ । समुच्चये । कुमारः । कमेः किदुच्चोपधायाः । उ० ३ । १३८ । इति कम इच्छायाम्-आरन् । यद्वा । कुमार क्रीडायाम्-अच् । कमनीयः क्रीडको वा । बालकः । आ । आगच्छेयुः । धेनवः । दोग्ध्र्यो गावः । सायम् । सयंकाले । आस्पन्दमानाः । स्पदि ईषत्कम्पे शानच् । कूर्दमानाः । क्रीड़ां कुर्वाणाः ॥

४—इमाम् । रच्यमानाम् । शालाम् । गृहम् सविता । सर्वस्य प्रेरकः पुरुषः सूर्यो वा । वायुः । वेगवान् पुरुषः पवनो वा । इन्द्रः । ऐश्वर्यवान् पुरुषो मेघो वा । बृहस्पतिः । भ० १ । ८ । २ । बृहतां कर्मणां

[विद्वान् लोग] (उद्गना) जल से और (घृतेन) घी से (उक्षन्तु) सींचें, और (भगः) भाग्यवान् (राजा) राजा [प्रधान पुरुष] (नः) हमारे लिये (कृषिम्) खेती को (नि) सदैव (तनोतु) बढ़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—शाला निर्माण में प्रधान पुरुष और सब कार्यकर्ता कर्म-कुशल हों, और घाम, वायु और मेघ, और जल, घी आदि सामग्री के लिये यथावत् अवकाश रहे। और निर्वाह के लिये खेती की विद्या का विस्तार करें ॥ ४ ॥

मानस्य पत्नि शरणा स्योना देवी देवेभिर्निर्मितास्यग्रे। तृणं वसाना सुमना असस्त्वमथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः ॥ ५ ॥

मानस्य। पत्नि। शरणा। स्योना। देवी। देवेभिः। नि-मिता। असि। अग्रे॥ तृणम्। वसाना। सु-मनाः। असः। त्वम्। अथ। अस्मभ्यम्। सह-वीरम्। रयिम्। दाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मानस्य) हे मान अर्थात् प्रतिष्ठा की (पत्नि) रक्षा करनेवाली, (शरणा) शरण देने वाली, (स्योना) सुखदायिनी, (देवी) उज्याले वाली

रक्षकः पुरुषः। **निमिनोतु**। डुमिञ् प्रक्षेपणे। स्थापयतु। दृढां करोतु। **प्रजानन्**। शालानिर्माणप्रकारं प्रकर्षेण जानन्। **उक्षन्तु**। सिञ्चन्तु। **उद्गना**। पद्दन्नोमास्० । पा० ६। १। ६३। इति उदकशब्दस्य उदन्। भसंज्ञायाम् अकारलोपः। उदकेन। **मरुतः**। अ० १। २०। १। शत्रूणां मारणशीलाः। शूराः। **घृतेन**। घृ सेके दीप्तौ-क्त। आज्येन। **भगः**। अ०१। २६। २। भजनीयः। भाग्यवान्। **नः**। अस्मभ्यम्। **राजा**। प्रतापी। प्रधानः। **कृषिम्**। इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। इति कृष विलेखने-इन्। स च कित्। भूमिकर्षणविद्याम्। **नि**। नितराम्। **तनोतु**। विस्तारयतु ॥

५मा—**नस्य**। मान पूजायाम्-घञ्। चित्त समुन्नतेः। सत्कारस्य। **पत्नि**।

तू (देवेभिः=०-वैः) देवताओं [विश्वकर्मा पुरुषों] करके (निमिता) मा थी हुई (अग्रे) हमारे सन्मुख (असि) वर्त्तमान है। (तृणम्) घास को (वसाना) पहिने हुये (त्वम्) तू (सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः) हो, (अथ) और (अस्मभ्यम्) हमें (सहवीरम्) वीर पुरुषों के सहित (रयिम्) धन (दाः) दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य गृहनिर्माण विद्या में कुशल पुरुषों से सम्मति लेकर बाहिर और भीतर से मनोरम्य घर बनावें, जिससे संसार में सन्मान हो और सब गृहस्थ स्वस्थ, वीर और उद्योगी होकर धनवान् होवें ॥ ५ ॥

(अथास्मभ्यं सहवीरं रयिं दाः) यह पाद अ० २। ६। ५। में आया है ॥

ऋतेन स्थूणामधि रोह वंशोग्रो विराजन्नप वृङ्क्ष्व शत्रून्। मा ते रिषन्नुपसत्तारो गृहाणां शाले शतं जीवेम शरदः सर्ववीराः ॥ ६ ॥

ऋतेन। स्थूणाम्। अधि। रोह। वंश। उग्रः। वि-राजन्। अप। वृङ्क्ष्व। शत्रून् ॥ मा। ते। रिषन्। उप-सत्तारः। गृहाणाम्। शाले। शतम्। जीवेम। शरदः। सर्व-वीराः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वंश) हे बांस तू (ऋतेन) अपने सत्य से (स्थूणाम्)

अ० ३। १०। २। हे पालयित्रि। शरणा। अर्श आदिभ्योऽच्। पा० ५। २। १२७। इति शरण-अच् मत्वर्थे। टाप्। शरणवती। आश्रयवती। स्योना। स्योनं सुखं व्याख्यातम्। अ० २। १०। ७। पूर्ववत् अच् टाप् च। सुखवती। देवी। द्योतमाना। देवेभिः। देवैः। विश्वकर्मभिः। निर्माणविद्याकुशलैः। निमिता। डुमिञ् क्षेपे-क्त। दृढीकृता। असि। वर्तसे। अग्रे। अस्माकमभिमुखम्। तृणम्। अ० २। ३०। १। तृह हिंसायाम्-क्न, हलोपः। गवादिभक्ष्यम्। वसाना। वस आच्छादने-शानच्। आच्छादयन्ती। सुमनाः। शोभनमनस्का। असः। अस्तेर्लेटि अडागमः। भव। अथ...दाः। इतिगतम्, अ० २। ६। ५। दाः। दद्याः ॥

थूनी [टेक वा खूंटी] पर (अधि रोह) चढ़ जा, और (उग्रः) दृढ़ वा प्रचंड होकर (विराजन्) विशेष रूप से प्रकाशित होता हुआ तू (शत्रून्) शत्रुओं को (अप वृङ्क्ष्व) दूर हटा दे। (शाले) हे शाला! (ते) तेरे (गृहाणाम्) घरों के (उपसत्तारः) रहनेवाले पुरुष (मा रिषन्) दुःखी न होवें। (सर्ववीराः) सब वीरों को रखते हुये हम लोग (शतम्) सौ (शरदः) शरद् ऋतुओं तक (जीवेम) जीते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घर ऊंचे, दृढ़ और प्रकाशयुक्त बनावें जिस से चोर डाकू सिंहादि हिंसक और रोग न सता सकें और सब लोग स्वस्थ होकर वीर रहें ॥ ६ ॥

एमां कु॑मा॒रस्तरु॑ण॒ आ व॒त्सो जग॑ता स॒ह ।
एमां परि॒स्रुत॑: कु॒म्भ आ द॒ध्नः क॒लशै॑रगुः ॥ ७ ॥

आ । इमाम् । कुमारः । तरुणः । आ । वत्सः । जगता । सह ॥ आ । इमाम् । परि-स्रुतः । कुम्भः । आ । दध्नः । कलशैः । अगुः ॥ ७ ॥

६—ऋतेन । सत्यधर्मेण । दृढभावेन । स्थूणाम् । रास्नासास्नास्थूणावीणाः । उ० ३ । १५ । इति ष्ठा—न प्रत्ययः, आकारस्य ऊकारः । गृहस्तम्भम् । अधि रोह । अधितिष्ठ । वंश । वन सेवनशब्दयोः—श प्रत्ययः । यद्वा । वश कान्तौ-अच् घञ् वा, नुम् च । हे वेणुस्तम्भ । उग्रः । प्रचण्डः । सुदृढः । विराजन् । विशेषेण दीप्यमानः सन् । अप वृङ्क्ष्व । वृजी वर्जने, रुधादिः । अपवर्जय । शत्रून् । हिंसिकान् सिंहादीन् रोगान् वा । ते । तव । मा रिषन् । रिष हिंसायाम् । हिंसिता मा भूवन् । उपसत्तारः । षद्लृ गतिविषादयोः—तृच् । उपसदनशीलाः । निवासिनः । गृहाणाम् । सदनानाम् । शाले । हे भवन । शतम् । शरदः । जीवेम । प्राणान् धरेम । सर्ववीराः । सर्ववीरपुरुषसमेताः ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [शाला] में (कुमारः) बालक, (आ) और (तरुणः) युवा, (आ) और (जगता सह) चलने वाले गौआदि के साथ (वत्सः) बछड़ा, (आ) और (इमाम्) इस [शाला] में (परिस्रुतः) पिघलते हुए रस का (कुम्भः) घड़ा (दध्नः) दही के (कलशैः) कलसों के साथ (आ अगुः) आये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग सब प्रकार की आवश्यक सामग्री अपने घरों में रक्खें ॥ ७ ॥

पूर्णं नारि प्र भर कुम्भमेतं घृतस्य धारामुमृतेन संभृताम्। इमां पातॄनुमृतेना समङ्ग्धीष्टापूर्तमभि रक्षात्येनाम् ॥ ८ ॥

पूर्णम् । नारि । प्र । भर । कुम्भम् । एतम् । घृतस्य । धाराम् । अमृतेन । सम्-भृताम् ॥ इमाम् । पातॄन् । अमृतेन । सम् । अङ्ग्धि । इष्टापूर्तम् । अभि । रक्षाति । एनाम् ॥८॥

७—आ । समुच्चये । इमाम् । परिदृश्यमानां शालाम् । कुमारः । म० ३ । बालकः । तरुणः । त्रो रश्च लो वा । उ० ३ । ५४ । इति तॄ तरणे अभिभवे च-उनन् । युवा । वत्सः । म० ३ । गोशिशुः । जगता । अ० ३।२१।४ गमनशीलेन । गवादिना सह । परिस्रुतः । स्रु गतौ-क्विप्, तुक् आगमः । परिस्रवणशीलस्य रसस्य । कुम्भः । कुं भूमिं उम्भति पूरयति जलेन । कु+उम्भ पूरणे-अच् । शकन्ध्वादिरूपम् । घटः । दध्नः । भाषायां धाञ्कृसृजनिगमिनमिभ्यः किकिनौ । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति धाञ् धारणे-कि, लिड्वच्च । दुग्धविकृतभेदस्य । कलशैः । कलं शब्दं शवति प्राप्नोति । कल+शु गतौ ड— । यद्वा । कला+शीङ् शयने-ड । कलशः कस्मात् कला अस्मिञ्छेरते मात्राः कलिश्च कलाश्च किरतेर्विकीर्णमात्राः-निरु० ११।१२ । कलसैः घटैः । आ अगुः । इण् गतौ-लुङ् । आगमन् । आगताः ॥

भाषार्थ—(नारि) हे नर का हित करने वाली गृहपत्नी ! (एतम्) इस (पूर्णम्) पूरे (कुम्भम्) घड़े में से (अमृतेन) अमृत [हितकारी पदार्थ] से (संभृताम्) भरी हुयी (घृतस्य) घी की (धाराम्) धारा को (प्र, भर= हर) अच्छे प्रकार ला । (इमाम्) इस [शाला] को और (पातॄन्) पान कर्ताओं वा रक्षकों को (अमृतेन) अमृत से (सम्) अच्छे प्रकार (अङ्ग्धि) पूर्ण कर । (इष्टापूर्तम्) यज्ञ और वेदों का अध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म (एनाम्) इस [शाला] की (अभि) सब ओर से (रक्षाति) रक्षा करे ॥८॥

भावार्थ—गृहपत्नी घर को घृत, दुग्ध आदि अमृत पदार्थों से परिपूर्ण रखकर सब कुटुम्बियों को स्वस्थ और पुष्ट रक्खे । और सब स्त्री पुरुष धार्मिक, पुरुषार्थी और धनी होकर चोर उचक्के सिंहादि दुष्टों से रक्षा करते हुए बस्ती को बसाये रक्खें ॥ ८ ॥

मनु भगवान् ने अध्याय ५ श्लोक १५० में कहा है ॥

सदा प्रहृष्टया भाव्यं गृहकार्येषु दक्षया ।
सुसंस्कृतोपस्करया व्यये चामुक्तहस्तया ॥ १ ॥

स्त्री सदा प्रसन्नचित्त और घर के कामोंमें चतुर हो और (सुसंस्कृतोपस्करया) घर की सामग्री, बासन भांड़े भली भांति ठीक रखती हुई, व्यय करने में हाथ सकोड़े रहे ॥

८—पूर्णम् । पूरितम् । नारि । अ० १ । ११ । १ । हे नरस्य धर्म्ये हितकारिणि ! प्रभर । हस्य भः । आहर । द्विकर्मकत्वात् (कुम्भम्, धाराम्) इत्येतयोः कर्मता । कुम्भम् । म० ७ । अपादाने द्वितीया । घटात्—इत्यर्थः । एतम् । घृतस्य । आज्यस्य । धाराम् । धृ-णिच्-अङ्, टाप । सन्तत्या पतनम् । अमृतेन । मरणाद्रक्षकेण स्वास्थ्यवर्धकेन पदार्थसमूहेन । संभृताम् । संपादिताम् । इमाम् । पातॄन् । पा पाने, पा रक्षणे वा—तृच् । पानकर्तॄन् । रक्षकान् । सम् । सम्यक् । अङ्ग्धि । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—लोट् प्रक्ष, संयोजय । इष्टापूर्तम् । अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादि पुण्यकर्म । अभि । सर्वतः । रक्षाति । लेट् । रक्षेत् ॥

इ॒मा आपः॒ प्र भ॑राम्यय॒क्ष्मा य॑क्ष्म॒नाश॑नीः ।
गृ॒हानुप॒ प्र सी॑दाम्य॒मृते॑न स॒हाग्निना॑ ॥ ९ ॥

इ॒माः । आपः॑ । [आ । अपः॑] प्र । भ॒रा॒मि॒ । अ॒य॒क्ष्माः । य॒क्ष्म॒-नाश॑नीः ॥ गृ॒हान् । उप॑ । प्र । सी॒दा॒मि॒ । अ॒मृते॑न । स॒ह । अ॒ग्निना॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाशनीः) रोगनाशक (अपः) जल को (प्र) अच्छे प्रकार (आ भरामि) मैं लाता हूं । (अमृतेन) मृत्यु से बचाने वाले अन्न, घृत, दुग्धादि सामग्री और (अग्निना सह) अग्नि के सहित (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (प्र) अच्छे प्रकार (सीदामि) मैं बैठता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—गृहपति रोगों से बचने और स्वास्थ्य बढ़ाने के लिये अपने घर में शुद्ध, जल, अग्नि, आदि पदार्थों का सदा उचित प्रयोग करें ॥ ९ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-७॥ आपो देवताः । १-४, ५ अनुष्टुप्, ५, ६ त्रिष्टुप् ।

अपां गुणा उपदिश्यन्ते—जल के गुणों का उपदेश ॥

यद॒दः सं॑प्रय॒तीरहा॒वन॑दता ह॒ते ।
तस्मा॒दा न॒द्यो॒३॒॑ नाम॑ स्थ॒ ता वो॒ नामा॑नि सिन्धवः ॥ १ ॥

यत् । अ॒दः । स॒म्-प्र॒य॒तीः । अहौ॑ । अन॑दत । ह॒ते ॥ तस्मा॑त् ।

९—इमाः । दृश्यमानाः । आ । समन्तात् । अपः । जलानि । प्र । भरामि । हरामि । अयक्ष्माः । यक्ष्मरहिताः । यक्ष्मनाशनीः । यक्ष्मनाशिकाः। स्वास्थ्यवर्धयित्रीः । गृहान् । भवनानि । उप । उपेत्य । सीदामि । उपविशामि । अमृतेन । नास्ति मृतं येन तेन । पौष्टिकेन । अन्नघृतदुग्धादि-पदार्थसमूहेन । अग्निना । पावकेन । सह । सहितः ॥

आ। नद्यः। नाम। स्थ। ता। वः। नामानि। सिन्धवः ॥२॥

भाषार्थ—(सिन्धवः) हे बहने वाली नदियो। (संप्रयतीः=संप्रयत्यः+यूयम्) मिलकर आगे बढ़ती हुई तुमने (अहौ हते) मेघ के ताड़े जाने पर (अदः) वह (यत्) जो (अनदत) नाद किया है। (तस्मात्) इसलिये (आ) ही (नद्यः) नाद करने वाली, नदी (नाम) नाम (स्थ) तुम हो, (ता=तानि) वह [वैसे ही] (वः) तुम्हारे (नमानि) नाम हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मेघ आपस में टकराकर गरजकर बरसते हैं, तब वह जल पृथिवी पर एकत्र होकर नाद करता हुआ बहता है, इससे उसका नदी नाम है। इसी प्रकार वैदिक शब्दों की व्युत्पत्ति समझकर अर्थ करना चाहिये ॥ १ ॥

अजमेर पुस्तक में (संप्रयतिः) है हमने अन्य पुस्तकों से (संप्रयतीः) लिया है ॥

यत् प्रेषिता वरुणेनाच्छीभं समवल्गत ।

तदाप्नोदिन्द्रो वो यतीस्तस्मादापो अनु ष्ठन ॥ २ ॥

यत्। प्र-इषिताः। वरुणेन। आत्। शीभम्। सम्-अवल्गत।

तत्। आप्नोत्। इन्द्रः। वः। यतीः। तस्मात्। आपः। अनु। स्थन ॥ २ ॥

१—यत्। यत् किंचित्। अदः। तत्। संप्रयतीः। इण् गतौ शतृ, ङीप्। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वसवर्णदीर्घः। संभूय, प्रयान्त्यः। अहौ। अ० २। ५। ५। मेघे। अनदत। णद, नदद्। वा अव्यक्ते शब्दे-लङ्। सांहितिको दीर्घः। यूयं ध्वनिं कृतवत्यः। हते। ताड़िते। तस्मात्। तस्मात् कारणात्। आ। अवधारणे। नद्यः। नदट् पचाद्यच्। टिड्ढाणञ्०। पा० ४। १। १५। इति ङीप्। नद्यः कस्मान्नदना भवन्ति शब्दवन्त्यः—निरु० २। २४। नदनशीलाः। सरितः। नाम। अ० १। २४। ३। नामधेयम्। स्थ। भवथ। ता। तानि। वः। युष्माकम्। सिन्धवः। अ० १। १५। १। स्यन्दनशीलाः। नद्यः ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आत्) फिर (वरुणेन) सूर्य करके (प्रेषिताः) भेजे हुये तुम (शीभम्) शीघ्र (समवल्गत) मिलकर चले, (तत्) तब (इन्द्रः) जीव ने [वा सूर्य ने] (यतीः) चलते हुये (वः) तुमको (आप्नोत्) प्राप्त किया, (तस्मात्) उससे (अनु) पीछे (आपः) प्राप्ति योग्य जल [नाम] (स्थन) तुम हो ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (आप्नोत्) और (आपः) शब्द एक ही धातु आप्लृ पाना से सिद्ध है। जब सूर्य की शक्ति से जल भूमि पर आकर फैलता है, तब जीव उसे पाता है, [और सूर्य भी फिर ले लेता है] इससे जल का नाम (आपः) पाने योग्य वस्तु है (आपः) शब्द नित्य स्त्री लिङ्ग बहुवचनान्त है ॥ २ ॥

अपकामं स्यन्दमाना अवीवरत वो हि कम् ।
इन्द्रो वः शक्तिभिर्देवीस्तस्माद् वार्नाम वो हितम् ॥३॥

अप-कामम् । स्यन्दमानाः । अवीवरत । वः । हि । कम् ॥ इन्द्रः । वः । शक्ति-भिः । देवीः । तस्मात् । वाः । नाम । वः । हितम् ॥ ३ ॥

२—यत् । यदा । प्रेषिताः । इष गतौ-क्त । प्रेरिताः । वरुणेन । वरणीयेन सूर्येण । आत् । अनन्तरम् । शीभम् । शीभ कत्थने—घञ् । क्षिप्रम्-निघ० २ । १५ । समवल्गत । वल्ग गतौ-लङ्, भौवादिकः । यूयं सम्भूय गतवत्यः । तत् । तदा । आप्नोत् । आप्लृ व्याप्तौ-लङ् । प्राप्तवान् । इन्द्रः । जीवः । सूर्यः । वः । युष्मान् । यतीः । इण् गतौ-शतृ । गमनं कुर्वतीः । तस्मात् । आपः । आप्नोतेर्ह्रस्वश्च । उ० २ । ५८ । इति आप्लृ व्याप्तौ-क्विप् । अप्तृन्तृच्० पा० ६ । ४ । ११ । इति सर्वनामस्थाने दीर्घः । आप आप्नोतेः—निरु० ६ । २६ । प्राप्तव्यानि जलानि । अनु । पश्चात् । स्थन । यूयं स्थ ॥

भाषार्थ—(वः) वेगवान् वा वरणीय (इन्द्रः) जीव [वा सूर्य्य] ने (हि) ही (अपकामम्) व्यर्थ (स्यन्दमानाः) बहते हुये (वः) तुमको (शक्तिभिः) अपनी शक्तियों द्वारा (कम्) सुख से (अवीवरत) वरण [स्वीकार] अथवा, धारण [रोकना] किया, (तस्मात्) इससे (देवीः=देव्यः) हे दिव्य गुण वाली वा खेलवाली जल धाराओ ! (वः) तुम्हारा (नाम) नाम (वार्) वरण योग्य वा वारण योग्य जल (हितम्) रक्खा गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमि पर अन्नादि के लिये और सूर्य्य आकाश में वृष्टि के लिये जल को चाहता है वा रोकता है, इसलिये जल का नाम (वार्) है। (अवीवरत) क्रिया और (वार्) शब्द दोनों वृ चाहना वा रोकना धातु से बनते हैं ॥ ३ ॥

एको॑ वो दे॒वोऽप्य॑तिष्ठ॒त् स्यन्द॑माना यथाव॒शम् ।
उदा॑निषु॒र्म॒हीरिति॒ तस्मा॑दुद॒कमु॑च्यते ॥ ४ ॥

एकः॑ । व॒: । दे॒वः । अपि॑ । अ॒ति॒ष्ठ॒त् । स्यन्द॑मानाः । य॒था॒ऽव॒शम् । उत् । आ॒नि॒षुः॒ । म॒हीः । इति॑ । तस्मा॑त् । उ॒द॒कम् । उ॒च्य॒ते॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एकः) अकेला (देवः) जयशील परमात्मा (यथावशम्)

३—अपकामम् । विनैव कामेन, व्यर्थम् । स्यन्दमानाः । स्यन्दनं कुर्वाणाः । अवीवरत । वृञ् वरणे, यद्वा, वृ वारणे, स्वार्थिके णिच् । वृत वान् । वारितवान् । वः । युष्मान् । हि । निश्चयेन । कम् । सुखेन । इन्द्रः। जीवः । सूर्य्यः । वः । गतौ, वा, वृञ् वरणे-ड । वायुः, वरुणः । वेगवान् । वरणीयः । शक्तिभिः । स्वसामर्थ्यैः । देवीः । दिवु दीप्तौ, क्रीडायां च-अच्, ङीप् । हे देव्यः । दिव्यगुणाः । देवनशीलाः । वार् । वृञ् वरणे, वा वृ वारणे-णिच् क्विप् । व्रियते वार्यते वा यत्तद् । जलम् । वः । युष्माकम् । हितम् । धाञ् धारणे-क्त । धृतम् ॥

४—एकः । अद्वितीयः । वः । युष्मान् । देवः । दिवु विजिगीषायाम्-

इच्छानुसार (स्यन्दमानाः) बहते हुये (वः) तुम्हारा (अपि अतिष्ठत्) अधिष्ठाता हुआ। (महीः=महत्यः) शक्ति वाले [आप जल] ने (इति) इस प्रकार (उत्+आनिषुः) ऊपर को श्वास ली, (तस्मात्) इस लिये (उदकम्) ऊपर को श्वास लेने वाला उदक वा जल (उच्यते) कहा जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर सामर्थ्य से सूर्य द्वारा जल आकाश में चढ़ता है इस लिये (उदक) जल का नाम है। (उत् आनिषुः) और (उदकम्) उत्+अन, श्वास लेना-धातु से बनते हैं ॥ ४ ॥

आपो॑ भ॒द्रा घृ॒तमिदाप॑ आसन्न॒ग्नीषोमौ॒ बिभ्र॒त्याप॒ इत् ताः। ती॒व्रो रसो॑ मधु॒पृचा॑मरंग॒म आ मा॑ प्रा॒णेन॑ स॒ह वर्च॑सा गमेत् ॥ ५ ॥

आपः॑। भ॒द्राः। घृ॒तम्। इत्। आपः॑। आ॒स॒न्। अ॒ग्नीषोमौ॑। बिभ्र॒ति। आपः॑। इत्। ताः॥ ती॒व्रः। रसः॑। म॒धु॒-पृचा॑म्। अ॒र॒म्-ग॒मः। आ। मा॒। प्रा॒णेन॑। स॒ह। वर्च॑सा। ग॒मे॒त्॥५॥

भाषार्थ—(आपः) जल (भद्राः) मंगलमय, और (आपः) जल

अच्।जेता। अपि अतिष्ठत्। अपि=अधि। अधिष्ठितवान्। शासितवान्। स्यन्दमानाः। स्यन्दनशीलाः। यथावशम्। यथेच्छम्। उत् आनिषुः। अन प्राणने-लुङ्। उच्छ्वासितवत्यः। महीः। महत्यः। इति। एवम्। तस्मात्। उदकम्। कृदाधार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३। ४०। इति उत्+अन प्राणने-क। नलोपः। यद्वा। उदकं च। उ० २। ३६। इति उन्दी क्लेदने—क्वुन्। उदकं कस्मादुनत्तीति सतः-निरु० २। २४। उच्छ्वासकम्। उन्दनशीलम्। जलम्। उच्यते। कथ्यते॥

५—आपः। प्रापणीयं जलम्। भद्राः। भदि कल्याणकारणे-रक्।

(इत्) ही (घृतम्) घृत (आसन्) था । (ताः) वह (इत्) ही (आपः) जल (अग्नीषोमौ) अग्नि और चन्द्रमा को (बिभ्रति) पुष्ट करता है । (मधुपृचाम्) मधुरता से भरी [जल धाराओं] का (अरंगमः) परिपूर्ण मिलने वाला, (तीव्रः) तीव्र [तीक्ष्ण, शीघ्र प्रवेश होने वाला] (रसः) रस (मा) मुझ को (प्राणेन) प्राण और (वर्चसा सह) कान्ति वा बल के साथ (आ गमेत्) आने ले चले ॥ ५ ॥

भावार्थ—जल से (घृत) सारमय पदार्थ उत्पन्न होते हैं, जल अग्नि अर्थात् जाठराग्नि, बिजुली, वड़वानल आदि और चन्द्र लोक से मिलकर हमें पुष्टि देता है, और कृषि आदि में प्रयुक्त होकर अन्नादि उत्पन्न करके प्राणियों का बल और तेज बढ़ाता है ॥ ५ ॥

आदित् पंश्याम्युत वा शृणोम्या मा घोषो गच्छति वाङ् मांसाम् । मन्ये भेजानो अमृतस्य तर्हि हिरण्यवर्णा अतृपं यदा वः ॥ ६ ॥

आत् । इत् । पश्यामि । उत । वा । शृणोमि । आ । मा । घोषः । गच्छति । वाक् । मा । आसाम् ॥ मन्ये । भेजानः । अमृतस्य । तर्हि । हिरण्य-वर्णाः । अतृपम् । यदा । वः ॥ ६ ॥

मङ्गलप्रदाः । घृतम् । घृतवत् सारवस्तु । इत् । एव । आसन् । अभवन् । अग्नीषोमौ । ईदग्नेः सोमवरुणयोः। पा० ६।३।२७। इति ईत्वम्। अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः। पा० ८।३।८२। इति षत्वम् । अग्निं च सोमं चन्द्रं च । बिभ्रति । धारयन्ति । तीव्रः । ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति बाहुलकात् । तिज तीक्ष्णीकरणे—रन्, जस्य वो दीर्घत्वं च । तीक्ष्णम् । रसः । सारः । मधुपृचाम् । पृची संपर्के—क्विप् । मधुना रसेन संपृक्तानाम् । अरंगमः । अलंगमः । पर्याप्तगमनः । अतीगाः । प्राणेन । जीवनेन । मा । माम् । वर्चसा । तेजसा । बलेन । आ गमेत् । आगमयेत्, प्रापयेत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(आत्) तब (इत्) ही (पश्यामि) मैं देखता हूं, (उत) और (वा) अथवा (शृणोमि) मैं सुनता हूं, (आसाम्) इनकी [जल के रस की] (घोषः) ध्वनि (मा) मुझे (आ गच्छति) आती है और (वाक्) वाक् शक्ति (मा) मुझे [आती है] । (हिरण्यवर्णाः) हे कमनीय पदार्थ वा सुवर्ण का विस्तार करने वाले [जल] ! (तर्हि) तभी (अमृतस्य) अमृत का (भेजानः) भोग करता हुआ मैं (मन्ये) अपने को मानूं, (यदा) जब (वः) तुम्हारी (अतृपम्) तृप्ति मैंने पायी हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जल के यथावत् प्रयोग से प्राणी में दर्शन शक्ति और श्रवण शक्ति, और (घोष) ध्वन्यात्मिक शब्द और (वाक्) वर्णात्मिक शब्द बोलने की शक्ति होती है, और तभी वह इष्ट सुवर्णादि धन की प्राप्ति से भूख आदि से मृत्यु दुःख का त्याग करके अमृत अर्थात् आनन्द भोगता है ॥

इदं वं आपो हृदंयमयं वृत्स ऋतावरीः ।
इहेत्थमेतं शक्करीर्यत्रेदं वेशयांमि वः ॥ ७ ॥

इदम् । वः । आपः । हृदंयम् । अयम् । वत्सः । ऋत-वरीः ॥ इह । इत्थम् । आ । इत । शक्करीः । यत्र । इदम् । वेशयांमि । वः ॥ ७ ॥

६—आत् इत् । अनन्तरमेव । पश्यामि । ईक्षे । उत वा । अपि वा । शृणोमि । आकर्णयामि । मा । माम् । घोषः । घुष स्तुतिविशब्दयोः-घञ् । ध्वन्यात्मिकशब्दः । ध्वनिः । आ गच्छति । प्राप्नोति । वाक् । वर्णात्मिकशब्दः । वाणी । आसाम् । अपाम् । जलस्य । मन्ये । जाने । तर्कयामि । भेजानः । भज सेवायां लिटः कानच् । तॄफलभजत्रपश्च । पा० ६ । ४ १२२ । इति लिटि अकारस्य एत्वम् अभ्यासलोपश्च । भजमानाः सेवमानाः । अमृतस्य । मरणनाशकस्य । सुखस्य । तर्हि । तदा । हिरण्यवर्णाः । अ० १ । ३३ । १ । वर्ण वर्णक्रियाविस्तारगुणवचनेषु-घञ् । हिरण्यस्य कमनीयपदार्थस्य सुवर्णस्य वा वर्णं विस्तारो याभिस्तास्तथाभूताः । तत्सम्बुद्धौ । अतृपम् । तृप तृप्तौ लङ् । तृप्तिं प्राप्तवानस्मि । यदा । वः । युष्माकम् ॥

भाषार्थ—(आपः) हे प्राप्ति के योग्य जल धाराओं ! (इदम्) यह (वः) तुम्हारा (हृदयम्) स्वीकार योग्य हृदय वा कर्म है। (ऋतावरीः) हे सत्यशील [जल धाराओं !] (अयम्) यह (वत्सः) निवास देने वाला, आश्रय है। (शक्वरीः) हे शक्ति वालियो ! (इत्थम्) इस प्रकार से (इह) यहां पर (आ इत) आओ, (यत्र) जहां (वः) तुम्हारे (इदम्) जल को (वेशयामि) प्रवेश करूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—कृषि, यन्त्र, औषधादि में जल के यथायोग्य प्रयोग से प्राणियों को सुख मिलता है ॥ ७ ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-६ ॥ गावो देवताः । १-५ अनुष्टुप्, ६ त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः—गोरक्षा का उपदेश ॥

सं वो गोष्ठेन सुषदा सं रय्या सं सुभूत्या ।
अहर्जातस्य यन्नाम तेना वः सं सृजामसि ॥ १ ॥

७—इदम् । उपरोक्तम् । वः । युष्माकम् । आपः । हे प्राप्तव्या जलधाराः । हृदयम् । वृहोः पुग्दुकौ च । उ० । ४ । १०० । इति हृञ् हरणे-कयन्, दुक् च, हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च । हरणीयं प्राप्तव्यं हृदयं कर्मवा । वत्सः । वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे-स । निवासकः । आश्रयः । ऋतवरीः । छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मत्वर्थीयो वनिप् । वनोर च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति सांहितको दीर्घः । वा छन्दसि । पा० ३ । ४ । ८८ । इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः । हे ऋतवर्यः । सत्योपेताः । इत्थम् । अनेन प्रकारेण । आ इत । आगच्छत । शक्वरीः । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शक्लृ शक्तौ—वनिप् । पूर्ववद् ङीब्रेफपूर्वसवर्णदीर्घाः । शक्तयः । शक्ताः । समर्थाः । यत्र । इदम् । इन्देः कमिन्नलोपः । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । उदकम्-निघ० १ । १२ । वेशयामि । प्रवेशयामि । अन्तः स्थापयामि ॥

सम् । वः । गो-स्थेन । सु-सद्ा । सम् । रय्या । सम् । सु-भूत्या ।
अहः-जातस्य । यत् । नाम । तेन । वः । सम् । सृजामसि ॥१॥

भाषार्थ=[हे गौओ !] (वः) तुम को (सुपदा) सुख से बैठने योग्य (गोष्ठेन) गोशाला से (सम्) मिलाकर, (रय्या) धन से (सम्) मिलाकर और (सुभूत्या) बहुत सम्पत्ति से (सम्) मिलाकर और (अहर्जातस्य) प्रतिदिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है, (तेन) उस [नाम] से (वः) तुमको (सम्, सृजामसि=०—मः) हम मिलाकर रखते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौओं को स्वच्छ नीरोग गोशाला में रखकर पालें, और उनको अपने धन और संपत्ति का कारण जानकर अन्य प्राणियों के समान उनके नाम बहुला, कामधेनु, नन्दिनी आदि रक्खें ॥ १ ॥

सं वः सृजत्वर्यमा सं पूषा सं बृहस्पतिः ।
समिन्द्रो यो धनंजयो मयि पुष्यत यद् वसु ॥ २ ॥

सम् । वः । सृजतु । अर्यमा । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः ।
सम् । इन्द्रः । यः । धनम्-जयः । मयि । पुष्यत । यत् । वसु ॥२॥

१—सम् । सृजामसि इति व्यवहितक्रियापदेन सर्वत्र संबन्धः । वः । युष्मान् । गोष्ठेन । गोशालया । सुषदा । षद्लृ गतौ-क्विप् । सुखेन सीदन्ति यत्रेति सुषत् । सुखसदनयोग्येन । रय्या । धनेन । सुभूत्या । भू सत्तायां प्राप्तौ च-क्तिन् । बहुसम्पत्त्या । अहर्जातस्य । नञि जहातेः । उ० १ । १५८। इति नञ्+ओहाक् त्यागे, कनिन्, आतो लोपः । न जहाति न त्यजति परिवर्त्त-मानत्वात्, इत्यहः, दिनम् । जनी जन्मनि-क्त । अहन्यहनि जातस्य उत्पन्नस्य प्राणिनः । संसृजामसि । संसृजामः संयोजयामः । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थ—(वः) तुमको (अर्यमा) अरि अर्थात् हिंसकों का नियामक [गोपाल] (सम्) मिलाकर; (पूषा) पोषण करने वाला [गृहपति] (सम्) मिलाकर और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक [विद्वान् वैद्यादि पुरुष] (सम्) मिलाकर, और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा, (यः धनंजयः) जो धनों का जीतने वाला है, (सम् सृजतु) मिलाकर रक्खे। (मयि) मुझमें (यत्) पूजनीय (वसु) धनको (पुष्यत) तुम पुष्ट करो ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण और प्रजापालक राजा राज नियम से गौओं की वृद्धि करें जिससे कृषि, व्यापारादि द्वारा संसार में धन बढ़े ॥ २ ॥

संजग्माना अबिभ्युषीरस्मिन् गोष्ठे करीषिणीः ।
बिभ्रतीः सोम्यं मध्वनमीवा उपेतन ॥ ३ ॥

सम्-जग्मानाः । अबिभ्युषीः । अस्मिन् । गो-स्थे । करीषिणीः ।
बिभ्रतीः । सोम्यम् । मधु । अनमीवाः । उप-एतन ॥ ६ ॥

२—वः । युष्मान् । सं सृजतु । संयोज्य पालयतु । अर्यमा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति ऋ हिंसायाम्-विच् । पुगन्तलघूपधस्य च । पा० ७ । ३ । ८६ । इति गुणः । ऋणाति हिनस्तीति अर् अरिः । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन्मज्जन्मूर्धन्नर्यमन्० । उ० १ । १५८ । इति अर्+यम नियमे-कनिन् । अर्यमादित्योऽरीन्नियच्छतीति—निरु० ११ । २३ । अराम् अरीणां हिंसकानां नियामकः । गोपालः । पूषा । अ० १ । ६ । १ । पुष पुष्टौ-कनिन् । पोषकः । गृहपतिः । बृहस्पतिः । अ० १ । ८ । २ । बृहतां वेदादिशास्त्राणां पालकः । वैद्यादिविद्वान् पुरुषः । इन्द्रः । परमैश्वर्यवान् राजा । धनंजयः । संज्ञायां भृतॄवृजिधा० । पा० ३ । २ । ४६ । इति धन+जि जये खच् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । धनानां जेता । पुष्यत । पोषयत । वर्धयत । यत् । त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १।१३२। इति यज पूजायाम्-अदि, स च डित् । यजनीयं पूजनीयम् । वसु । धनम् ॥

भाषार्थ—(अस्मिन् गोष्ठे) इस गोशाला में (संजग्मानाः) मिलकर चलती हुई, (अबिभ्युषीः=०ष्यः) निर्भय रहती हुई, (करीषिणी=०—ण्यः) गोबर करने वाली, (सोम्यम्) अमृतमय (मधु) रस (बिभ्रतीः=०—त्यः) धारण करती हुई, (अनमीवाः) नीरोग तुम (उपेतन=उप, आ, इत) चली आओ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौओं को हिंसक जीवों से बचाकर नीरोग रक्खें जिस से वे रोगनाशक, अमृतमय दूध, घृत आदि पदार्थ देती रहें। गौ के मूत्र, गोबर, दूध आदि के गुण और प्रयोग बहुत हैं ॥ ३ ॥

शब्द कल्पद्रुम कोष में गौ के गुण वर्णन करते हुए कहा है।

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं सर्पिर्दधि च रोचना।

षडङ्गमेतन्मङ्गल्यं पवित्रं सर्वदा गवाम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, घी, दही और गोरोचना, गौओं के यह छह प्रकार के सर्वदा मङ्गलकारी शुद्ध पदार्थ हैं ॥

मनु भगवान् का वचन है—मनुस्मृति, अ० ११ श्लोक २१२ ॥

गोमूत्रं गोमयं क्षीरं दधि सर्पिः कुशोदकम्।

एकरात्रोपवासश्च कृच्छ्रं सान्तपनं स्मृतम् ॥

गोमूत्र, गोबर, दूध, दही, घी और कुशा का पानी, एक दिन [खावे] फिर एक दिन रात उपवास करे। यह कृच्छ्र सान्तपन कहाता है ॥

३—**संजग्मानाः**। समो गम्यृच्छिभ्याम्। पा० १। ३। २९। इति सं-पूर्वाद् गमेरात्मनेपदत्वात् लिटः कानच्। संगच्छमानाः। **अबिभ्युषीः**। ञिभी भये—लिटः क्वसुः, ङीप्। वसोः संप्रसारणम्। पा० ६। ४। ३१। इति संप्रसारणम्। जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। अबिभ्यत्यः। **करीषिणीः**। कॄतृभ्यामी-षन्। उ० ४। २६। इति कॄ विक्षेपे, विज्ञाने—ईषन्। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति इनि। करीषिण्यः करीषेण गोमयेन युक्ताः। **बिभ्रतीः**। भृञ् भर-णे-शतृ। बिभ्रत्यः। धारयन्त्यः। **सोम्यम्**। मये च पा० ४। ४। १३८। इति

इहैव गा॑व॒ एत॑ने॒हो श॒केव॑ पुष्यत ।
इ॒हैवोत प्र जा॑यध्वं॒ मयि॑ सं॒ज्ञान॑मस्तु वः ॥ ४ ॥

इ॒ह । ए॒व । गा॒वः । आ । इ॒तन॒ । इ॒हो इति॑ । श॒का-इ॑व । पु॒ष्य॒त॒ ॥ इ॒ह । ए॒व । उ॒त । प्र । जा॒य॒ध्व॒म् । मयि॑ । स॒म्-ज्ञान॑म् । अ॒स्तु॒ । व॒ः ॥ ४ ॥

भाषार्थ——(गावः) हे गौओ ! (इह एव) यहां ही (एतन) आओ (इहो=इह-उ) यहां ही (शका इव) समर्था [गृहपत्नी] के समान (पुष्यत) पोषण करो। (उत) और (इह एव) यहां पर ही (प्रजायध्वम्) बच्चों से बढ़ो। (मयि) मुझ में (वः) तुम्हारा (संज्ञानम्) प्रेम (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे समर्थ गृहपत्नी घर वालों का पोषण करके प्रसन्न रखती है, ऐसे ही गौयें अपने दूध, घी आदि से अपने रक्षकों को पुष्ट और स्वस्थ करती हैं। इस से सब मनुष्य प्रीति पूर्वक उन का पालन करें और उन का वंश बढ़ावें ॥ ४ ॥

शि॒वो वो॑ गो॒ष्ठो भ॑वतु शारि॒शाके॑व पुष्यत ।
इ॒हैवोत प्र जा॑यध्वं॒ मया॑ वः॒ सं सृ॑जामसि ॥ ५ ॥

सोम-य प्रत्ययः। अमृतमयम्। **मधु** । मधुरं दुग्धघृतादि। **अनमीवाः** । अ० २ । ३० । ३। रोगरहिताः। **उपेतन** । इण् गतौ-लोट्। तस्य तनादेशः। उपागच्छत ॥

४—**आ इतन** । एत। आगच्छत। **इहो** । इह—उ। अत्रैव। **शका** । शक्लृ सामर्थ्ये—पचाद्यच्, टाप्। शक्नोतीति शका-इति सिद्धान्तकौमुद्याम् [प्रत्ययस्थात् कात्० । पा० ७ । ३ । ४४] इति व्याख्यायाम्। समर्था राजपत्नी गृहपत्नी वा। **पुष्यत** । पोषयत। **उत** । अपि च । **प्र जायध्वम्** । प्रजया प्रवर्धध्वम्। **मयि** । गोरक्षके। **संज्ञानम्** । सम्यग् ज्ञानम् । प्रीतिभावः। **वः** । युष्माकम् ॥

शिवः। वः। गो-स्थः। भवतु। शारिशाका-इव। पुष्यत॥ इह। एव। उत। प्र। जायध्वम्। मया। वः। सम्। सृजामसि॥५॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला (शिवः) मङ्गलदायक (भवतु) होवे। (शारिशाका इव) शालि [साठी चांवल] की शाखा [उपज] के समान (पुष्यत) पोषण करो। (उत) और (इह एव) यहां ही (प्रजायध्वम्) बच्चों से बढ़ो। (मया=अस्माभिः) अपने साथ (वः) तुम को (संसृजामसि=०—मः) हम मिलाकर रखते हैं॥ ५॥

भावार्थ—जैसे (शारि, शालि) साठी चावल की साखा (शाका) थोड़े प्रयत्न से साठ दिन में ही पक जाती है, वैसे ही मनुष्य यत्न पूर्वक थोड़े परिश्रम से पालन करके गौओं से दूध, घी, और खेती के लिये बैल आदि पाकर बहुत लाभ उठाते हैं॥ ५॥

मया गावो गोपतिना सचध्वमयं वो गोष्ठ इह पोषयिष्णुः। रायस्पोषेण बहुला भवन्तीर्जीवा जीवन्तीरुप वः सदेम॥ ६॥

मया। गावः। गो-पतिना। सचध्वम्। अयम्। वः। गोस्थः इह। पोषयिष्णुः॥ रायः। पोषेण। बहुलाः। भवन्तीः। जीवाः। जीवन्तीः। उप। वः। सदेम॥ ६॥

५—शिवः। सुख करः। वः। युष्माकम्। गोष्ठः। गोशलाः। शारिशाका। जनिघसिभ्यामिण्। उ० ४। १३०। इति शल गतौ—इञ्। लस्य रत्वम्। शल्यते प्राप्यतेऽसौ शालिः। षष्टिकादिधान्यम्। शक सामर्थ्ये घञ्, टाप्। शक्नोति कर्षको यया सा शाका, साखा, इति भाषा। अन्नोत्पत्तिः। पुष्यत। पोषयत। मया। एकवचनं बहुवचने। अस्माभिः। अन्यद् व्याख्यातं म० ४, १॥

भाषार्थ—(गावः) हे गौओं ! (मया गोपतिना) मुझ गोपति से (सचध्वम्) मिली रहो । (इह) यहां (अयम्) यह (पोषयिष्णुः) पोषण करने वाली (वः) तुम्हारी (गोष्ठः) गोशाला है । (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (बहुलाः) बहुत पदार्थ देनेवाली अथवा वृद्धि करनेवाली (भवन्तीः) होती हुई और (जीवन्तीः) जीती हुई (वः) तुमको (जीवाः) जीते हुये हम लोग (उप) आदर से (सदेम) प्राप्त करते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य गौओं की सेवा से दुग्ध, घृत, कृषि आदि की उत्पत्ति करके बहुत काल तक जीते और सुख भोगते रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—८ ॥ इन्द्रोदेवता । १-६, त्रिष्टुप्, ७ अनुष्टुप्, ८ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयार्धस्त्रिष्टुप् ॥

व्यापारलाभोपदेशः—व्यापार के लाभ का उपदेश ॥

इन्द्रम॒हं व॒णिजं॑ चोदयामि॒ स न॒ ऐतु॑ पुरए॒ता नो॑ अस्तु । नु॒दन्नरा॑तिं परिप॒न्थिनं॑ मृ॒गं स ईशा॒नो ध॑न॒दा अ॑स्तु॒ मह्य॑म् ॥ १ ॥

इन्द्र॑म् । अ॒हम् । व॒णिज॑म् । चो॒दया॑मि । सः । नः॒ । आ ।

६—गावः । हे धेनवः । गोपतिना । गोरक्षकेण । सचध्वम् । षच समवाये । समवेता भवत । संगच्छध्वम् । पोषयिष्णुः । णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । इति पोषयतेः-इष्णुच् । पोषकः । बहुलाः । बहु + ला दाने क, टाप् । यद्वा । हंसेरुलुच् । उ० १ । ६६ । इति बहि वृद्धौ-उलच् । न लोपः । यद्वा, बह प्रापणे-उलच् । टाप् । बहुपदार्थदात्रीः । वृद्धिशीलाः । भवन्तीः । भू सत्तायाम्-शतृ, ङीप् । वर्त्तमानाः । जीवाः । चिरजीविनो वयम् । जीवन्तीः । बहुकालजीवनोपेताः । उप । आदरेण । वः । युष्मान् । सदेम । सदेराशीर्लिङि । गच्छेम । प्राप्नुयाम । अन्यद् गतम् ॥

एतु । पुरःऽएता । नः । अस्तु ॥ नुदन् । अरातिम् । परिऽपन्थिनम् । मृगम् । सः । ईशानः । धनऽदाः । अस्तु । मह्यम् ॥१॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (वणिजम्) वणिक् को (चोदयामि) आगे बढ़ाता हूं, (सः) वह (नः) हम में (एतु) आवे, और (नः) हमारा (पुरएता) अगुआ (अस्तु) होवे। (अरातिम्) वैरी, (परिपन्थिनम्) डाकू और (मृगम्) बनैले पशु को (नुदन्) हटाता हुआ (सः) वह (ईशानः) समर्थ पुरुष (मह्यम्) मुझे (धनदाः) धन देने वाला (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य व्यापारकुशल पुरुष को अपना मुखिया बनाकर वाणिज्य और मार्ग की ऊंच नीच समझकर वाणिज्यमें धन लगानेसे लाभ उठाते हैं ॥१॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति । ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि ॥ २ ॥

१—इन्द्रम् । परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् । वणिजम् । पणेरिज्यादेश्च वः । उ० २ । ७० । इति पण व्यवहारे—इजि, पस्य वः । व्यापारिणम् । चोदयामि । प्रेरयामि । प्रवर्तयामि । नः । अस्मान् । एतु । आगच्छतु । पुरएता । पुरस्+इण् गतौ—तृच् । पुरोगन्ता । अग्रगामी । नः । अस्माकम् । नुदन् । णुद प्रेरणे-शतृ । प्रेरयन् । अपगमयन् । अरातिम् । अ० १ । १८ । १ । शत्रुम् । परिपन्थिनम् । अ० १ । २७ । १ । पर्यवस्थातारं मार्गनिरोधकं चोरम् । मृगम् । मृग अन्वेषणे—क । मृगयते अन्वेषयति तृणादिकम् पशुम् । वन्यपशुम् । ईशानः । ईश ऐश्वर्ये-शानच् । ईश्वरः । नियन्ता । धनदाः । आतो मनिन्क्वनि० । पा० ३ । २ । ७४ । इति धन+ददातेः—विच् वाणिज्यलाभरूपधनप्रदाता । मह्यम् । वणिजे ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देव-यानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । सम्-चरन्ति ॥ ते । मा । जुषन्ताम् । पयसा । घृतेन यथा । क्रीत्वा । धनम् । आहराणि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवयानाः) विद्वान् व्यापारियों के यानों रथादिकों के योग्य (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी =०—द्यौ) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं, (ते) वे [मार्ग] (पयसा) दूध से और (घृतेन) घी से (मा) मुझको (जुषन्ताम्) तृप्त करें, (यथा) जिससे (क्रीत्वा) मोल लेकर [व्यापार करके] (धनम्) धन (आहराणि) मैं लाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—व्यापारी लोग विमान, रथ, नौकादि द्वारा आकाश भूमि समुद्र, पर्वत, आदि से देश देशान्तरों में जाकर अनेक प्रकार व्यापार करके मूलधन बढ़ावें और धनाढ्य होकर घर आवें ॥ २ ॥

इध्मेनाग्न इच्छमानो घृतेन जुहोमि हव्यं तरसे बलाय । यावदीशे ब्रह्मणा वन्दमान इमां धियं शतसेयाय देवीम् ॥ ३ ॥

२—पन्थानः । मार्गाः । बहवः । बहुदेशसंबन्धिनः । देवयानाः । दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारादिषु-अच् । या गतौ-युट् । देवानां विदुषां व्यवहारिणां यानानि गमनसाधनानि विमानरथादीनि चरन्ति येषु ते तथाभूताः । अन्तरा । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया । मध्ये । द्यावापृथिवी । अ० २ । १ । ४ । सूर्यभूमी । तयोर्मध्य इत्यर्थः । संचरन्ति । वर्त्तन्ते । ते । पन्थानः । मा । मां वणिजम् । जुषन्ताम् । जुषी प्रीतिसेवनयोः । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु । पयसा । दुग्धेन । घृतेन । आज्येन । यथा । येन प्रकारेण । क्रीत्वा । डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये । विनिमयेन गृहीत्वा । धनम् । लाभसहितं मूलधनम् । आहराणि । स्वगृहं प्रापयाणि ॥

इध्मेन । अग्ने । इच्छमानः । घृतेन । जुहोमि । हव्यम् । तरसे । बलाय ॥ यावत् । ईशे । ब्रह्मणा । वन्दमानः । इमाम् । धियम् । शत-सेयाय । देवीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (इच्छमानः) [लाभ की] इच्छा करता हुआ मैं (इध्मेन) इन्धन और (घृतेन) घृत से (तरसे) तराने वाले वा जिताने वाले (बलाय) बल के लिये (हव्यम्) हवन सामग्री का (जुहोमि) होम करता हूं, (यावत्) जहां तक (ब्रह्मणा) ब्रह्म द्वारा [दी हुई] (इमाम्) इस (देवीम्) व्यवहार कुशल (धियम) निश्चल बुद्धि की (वन्दमानः) वन्दना करता हुआ मैं (शतसेयाय) सैकड़ों उद्यम के लिये (ईशे) समर्थ हूं ॥

भावार्थ—जैसे समिधा और घृतादि से अग्नि का तेज बढ़कर अन्धकार हटाता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोत्तम वेदविद्या को प्रीति पूर्वक ग्रहण करके

३—इध्मेन । इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति इन्धी दीप्तौ-मक् । इन्धनेन । अग्ने । हे अग्निवत् तेजस्विन् । विद्वन् । इच्छमानः । इषु इच्छायाम्—शानच् । वाणिज्यलाभं कामयमानः । जुहोमि । हु दानादनयोः —लट् । ददामि । हव्यम् । हुदानादनयोः-यत् । देवयोग्यान्नम् । हवनीयद्रव्यम् । तरसे । तॄ तरणे, प्लवने, अभिभवे च-असुन् । तारकाय । जयसाधनाय । वेगाय । बलाय । पराक्रमाय । यावत् । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् । पा० ५ । २ । ३९ । इति यत्-वतुप् । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ९१ । इति आत्वम् । यत्परिमाणम् । ईशे । ईश्वरः शक्तो भवामि । ब्रह्मणा । वेदद्वारा दत्ताम् । वन्दमानः । स्तुवन् । इमाम् । उपस्थिताम् । धियम् । अ० २ । ५ । ४ । धृञ्, यद्वा, डुधाञ् धारणे—क्विप् । घुमास्थागापाजहातिसां हलि । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्विम्, ईत्वं च क्विब्लोपेऽपि । यद्वा । ध्यै चिन्तने-क्विप् संप्रसारणं च । वेदोक्तं कर्म । धारणावतीं बुद्धिम् । शतसेयाय । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । इति दो अन्तकर्मणि-यत् । आदेच उपदेशेऽशिति । पा० ६ । १ । ४५ । इति आत्वम् ।

सामर्थ्य भर वाणिज्य में उद्योग करके प्रभूत धन पावें और दरिद्रतादि को मिटावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है, म० ३ सू० १८ म० ३ ॥

इमाम॑ग्ने श॒रणिं॑ मीमृषो नो॒ यमध्वा॑न॒मगा॑म दू॒रम् । शु॒नं नो॑ अस्तु प्रप॒णो वि॒क्रय॑श्च प्रतिप॒णः फ॒लिनं॑ मा कृणोतु । इ॒दं ह॒व्यं सं॑विदा॒नौ जु॑षेथां शु॒नं नो॑ अस्तु चरि॒तमुत्थि॑तं च ॥ ४ ॥

इ॒माम् । अ॒ग्ने॒ । श॒रणि॑म् । मी॒मृ॒षः॒ । नः॒ । यम् । अध्वा॑नम् । अगा॑म । दू॒रम् ॥ शु॒नम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । प्र॒-प॒णः । वि॒-क्रयः॑ । च॒ । प्र॒ति॒-प॒णः । फ॒लिन॑म् । मा॒ । कृ॒णो॒तु॒ ॥ इ॒दम् । ह॒-व्यम् । स॒म्-वि॒दा॒नौ । जु॒षे॒था॒म् । शु॒नम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । च॒-रि॒तम् । उत्थि॑तम् । च॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (नः) हमारी (इमाम्) इस (शरणिम) पीड़ा को [उस मार्ग में] (मीमृषः) तूने सहा है (यम् दूरम् अध्वानम्) जिस दूर मार्ग को (अगाम) हम चले गये हैं ।

ईयति । पा० ६ । ४ । ६५ । इति ईत्वम् आर्धधातुकत्वे गुणः । शतादिसंख्यापरिमितव्यवसायाय बहूद्यमाय । देवीम् । व्यवहारकुशलाम् ॥

४ अग्ने । म० ३ । शरणिम् । अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । इति शॄ हिंसायाम्-अनि । हिंसाम् । प्रमादरूपां पीडाम् । मीमृषः । मृष तितिक्षायाम् लुङ्, अडभावः । स्वार्थिको णिच् । त्वं क्षमितवानसि । नः । अस्माकम् । अध्वानम् । अदेर्ध च । उ० ४ । ११६ । इति अद भक्षणे । यद्वा, अदि बन्धने क्वनिप्, दस्य धः । मार्गम् । अगाम । इण् गतौ—लुङ् । वयं गतवन्तः । दूरम् । अ० ३ । ३ । २ । विप्रकृष्टदेशम् । शुनम् । अव्ययम् । गेहे कः ।

(नः) हमारा (प्रपणः) क्रय [मोल लेना] (च) और (विक्रयः) बिक्री (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) हो, (प्रतिपणः) वस्तुओं का लौट फेर (मा) मुझ को (फलिनम्) बहुत लाभ वाला (कृणोतु) करे ।

(संविदानौ) एक मत होते हुये तुम दोनों [हम और तुम] (इदम् हव्यम्) इस भेट को (जुषेथाम्) सेवें । (नः) हमारा (चरितम्) व्यापार (च) और (उत्थितम्) उठान [लाभ] (शुनम्) सुखदायक (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विनय पूर्वक अपनी चूक मानकर विद्वानों की सम्मति से अपना सुधार करते हैं, वे व्यापार में अधिक लाभ उठाकर आनन्द पाते हैं ॥

इस मन्त्र की प्रथम पंक्ति कुछ भेद से ऋ० म० ? सू० ३? म० १? में है ॥

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः । तन्मे॒ भूयो॑ भवतु॒ मा कनी॒योऽग्ने॑ सात॒घ्नो दे॒वान् ह॒विषा॒ नि षे॑ध ॥ ५ ॥

येन॑ । धने॑न । प्र॒ऽप॒णम् । चरा॑मि । धने॑न । दे॒वाः॒ । धन॑म् । इ॒च्छमा॑नः ॥ तत् । मे॒ । भूयः॑ । भ॒व॒तु॒ । मा । कनी॑यः । अग्ने॑ । सा॒त॒ऽघ्नः । दे॒वान् । ह॒विषा॑ । नि । से॒ध॒ ॥ ५ ॥

पा० ३ । ३ । १४४ । इति शुन गतौ-क । सुखनाम-निघ० ३ । ६ । सुखप्रदः । **प्रपणः** । पण व्यवहारे-अच् । क्रयः । व्यापारः । **विक्रयः** । एरच् । पा० ३ । ३ । ५६ । इति वि+क्रीञ् द्रव्यविनिमये-अच् । विक्रयणम् । विपणनम् । **प्रति-पणः** । पण-अच् । सलाभमूल्यस्वीकारेण परेभ्यः प्रदानम् । **फलिनम्** । बहुलाभयुक्तम् । **मा** । माम् । **कृणोतु** । करोतु । **हव्यम्** । हविः । **संवि-दानौ** । अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानौ । ऐकमत्यं प्राप्तौ । अहं च त्वं च । **जुषेथाम्** । युवां सेवेथाम् । **चरितम्** । चर-क्त । अनुष्ठानम् । विक्रयादि-कर्म । **उत्थितम्** । उद्+ष्ठा-क्त । सलाभं धनम् ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहनेवाला मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूं, (तत्) वह धन (मे) मेरे लिये (भूयः) अधिक २ (भवतु) होवे, (कनीयः) थोड़ा (मा) न [होवे]। (अग्ने) हे अग्नि सदृश तेजस्वी विद्वान् ! (सातघ्नः) लाभ नाश करनेवाले (देवान्) मूर्खों को (हविषा) हमारी भक्ति द्वारा (निषेध) रोक दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—नवशिक्षित व्यापारी बड़े बड़े व्यापारियों से लाभ हानि की रीतें समझकर अपने मूल धन को बढ़ाते रहें और कुव्यवहारियों के फंदे में न पड़ें ॥ ५ ॥

येन॒ धने॑न प्रप॒णं चरा॑मि॒ धने॑न देवा॒ धन॑मि॒च्छमा॑नः। तस्मि॑न् म॒ इन्द्रो॒ रुचि॒मा द॑धातु प्र॒जाप॑तिः सवि॒ता सोमो॑ अ॒ग्निः ॥ ६ ॥

येन॑ । धने॑न । प्र॒-प॒णम् । चरा॑मि॒ । धने॑न । दे॒वाः॒ । धन॑म् । इ॒च्छमा॑नः ॥ तस्मि॑न् । मे॒ । इन्द्रः॑ । रुचि॑म् । आ ।

५—**प्रपणम्** । म० ४ । व्यापारम् । **चरामि** । करोमि । **धनेन** । मूलधनेन । **धनम्** । सलाभं धनम् । **इच्छमानः** । कामयमानः । **तत्** । धनम् । **मे** । मह्यम् । **भूयः** । द्विवचनविभज्योपपदे तरबयीसुनौ । पा० ५ । ३ । ५७ । इति बहु—ईयसुन् बहोर्लोपो भू च बहोः पा० ६ । ४ । १५८ । इति ईलोपो भू च बहोः । बहुतरम् । **मा** । न । **कनीयः** । युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् । पा० ६ । ४ । ६४ । इति अल्प-ईयसुन्, कनादेशः । अल्पतरम् । **अग्ने** । म० ३ । **सातघ्नः** । षणु दाने-क्त भावे । सातं लाभः । हन वधे गतौ च-क्विप् । शसि रूपम् । लाभहन्तॄन् । लाभनाशकान् । **देवान्** । दिवु क्रीडास्तुतिमोदमदादिषु, अत्र मदे-अच् । मत्तान् मूर्खान् । **हविषा** । भक्त्या । **निषेध** । षिधु गत्याम् । उपसर्गात् सुनोति पा० ८ । ३ । ६५ । इति षत्वम् । निवारय ॥

दधातु । प्रजा-पतिः । सविता । सोमः । अग्निः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहारकुशल व्यापारियो ! (धनेन) मूल धन से (धनम्) धन (इच्छमानः) चाहता हुआ मैं (येन धनेन) जिस धन से (प्रपणम्) व्यापार (चरामि) चलाता हूं, (तस्मिन्) उस [धन] में (मे) मुझे (प्रजापतिः) प्रजापालक, (सविता) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्र [समान शान्त स्वभाव], (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी], (इन्द्रः) बड़ा समर्थ प्रधान पुरुष (रुचिम्) रुचि (आदधातु) देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम स्वभाव वाले अनुभवी पुरुषों की सम्मति से व्यापार में मन लगाकर लाभ के साथ मूलधन को बढ़ावें ॥ ६ ॥

उप त्वा नमसा वयं होतर्वैश्वानर स्तुमः ।
स नः प्रजास्वात्मसु गोषु प्राणेषु जागृहि ॥ ७ ॥

उप । त्वा । नमसा । वयम् । होतः । वैश्वानर । स्तुमः ।
सः । नः । प्र-जासु । आत्म-सु । गोषु । प्राणेषु । जागृहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(होतः) हे दानशील ! (वैश्वानर) हे सब नरों के हितकारक

६—तस्मिन् । पूर्वोक्ते धने । मे । मह्यम् । इन्द्रः । प्रधानपुरुषः । रुचिम् । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—कि । अभिप्रीतिम् । आ । दधातु । स्थापयतु । ददातु । प्रजापतिः । पुत्रभृत्यादीनां पालकः । सविता । परमैश्वर्यवान् । सोमः । चन्द्रसमानशान्तस्वभावः । अग्निः । म० ३ । अन्यद् यथा म० ५ ॥

७—उप । पूजायाम् । त्वा । त्वाम् । इन्द्रम् । नमसा । नमस्कारेण । वयम् । व्यापारिणः । होतः । हु दाने—तृच् । हे दातः । वैश्वानर । अ० १ । १० । ४ । हे सर्वनरहित ! हे सर्वनायक । स्तुमः । प्रशंसामः । सः ।

वा सब के नायक पुरुष ! (वयम्) हम लोग (नमसा) नमस्कार के साथ (त्वा) तुझको (उप) आदर से (स्तुमः) सराहते हैं। (सः=सः त्वम्) सो तू (नः) हमारी (प्रजासु) प्रजाओं पर, (आत्मसु) आत्माओं वा शरीरों पर (गोषु) गौओं पर और (प्राणेषु) प्राणों वा जीवनों पर (जागृहि) जागता रह ॥ ७ ॥

भावार्थ—व्यापारी लोग सर्वहितकारी, कर्मकुशल पुरुष को प्रधान बना कर अपने धनादि की रक्षा करें ॥ ७ ॥

विश्वाहा ते सद्मिद् भरेमाश्वायेव तिष्ठते जातवेदः। रायस्पोषेण समिषा मदन्तो मा ते अग्ने प्रतिवेशा रिषाम ॥ ८ ॥

विश्वाहा। ते। सदम्। इत्। भरेम। अश्वाय-इव। तिष्ठते। जात-वेदः॥ रायः। पोषेण। सम्। इषा। मदन्तः। मा। ते। अग्ने। प्रति-वेशाः। रिषाम ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्तम धन वाले पुरुष ! (विश्वाहा=०—हानि) सब दिनों (ते) तेरे [उद्देश्य के] लिये (इत्) ही (सदम्) समाज को (भरेम) भरते रहें, (इव) जैसे (तिष्ठते) थान पर ठहरे हुए (अश्वाय) घोड़े को [घास अन्नादि भरते हैं]। (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् ! (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से और (इषा) अन्न से (सम्) अच्छे

सत्यम्। (नः) अस्माकम्। (प्रजासु) पुत्रपौत्रभृत्यादिषु। (आत्मसु) अ० १।१८।३। जीवेषु। शरीरेषु। (गोषु) धेनुषु। (प्राणेषु) जीवनेषु। (जागृहि) बुध्यस्व। सावधानो वर्तस्व।

८—(विश्वाहा) सर्वाण्यहानि। (ते) तुभ्यम्। (सदम्) षद्लृ गतौ—अच्। समाजम्। वणिक्मण्डलीम्। (इत्) एव। (भरेम) भृञ्-विधिलिङ्। पोषयेम। (अश्वाय-इव) घोटकाय यथा। (तिष्ठते) ष्ठा-शतृ। स्वस्थाने

प्रकार (मदन्तः) आनन्द करते हुये (ते) तेरे (प्रतिवेशाः) सन्मुख रहने वाले हम लोग (मा रिषाम) न दुःखी होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे मार्ग से आये घोड़े को अन्न घासादि से पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सब व्यापारी बड़ी बड़ी वणिक् मंडली बना कर प्रधान पुरुष की शक्ति बढ़ावें, जिससे सब लोग बहुतसा धन और अन्नादि पाकर आनन्द भोगें ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-७ । वसिष्ठर्षिः । १ लिङ्गोक्तदेवताः, २-६ भगः, ७ उषाः । १ जगतीछन्दः । २, ३, ५—७ त्रिष्टुप्, ४ पङ्क्तिः ॥

बुद्धिवर्धनाय प्रभातगीतिः—बुद्धि बढ़ाने के लिये प्रभाती गीत ॥

प्रातरग्निं प्रातरिन्द्रं हवामहे प्रातर्मित्रावरुणा प्रातरश्विना । प्रातर्भगं पूषणं ब्रह्मणस्पतिं प्रातः सोममुत रुद्रं हवामहे ॥ १ ॥

प्रातः । अग्निम् । प्रातः । इन्द्रम् । हवामहे । प्रातः । मित्रावरुणा । प्रातः । अश्विना ॥ प्रातः । भगम् । पूषणम् । ब्रह्मणः ।

वर्त्तमानाय । (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । जातानि प्रशस्तानि वेदांसि धनानि यस्य स जातवेदाः । तत्संबुद्धौ । (रायः) धनस्य । (पोषेण) वर्धनेन (सम्) सम्यक् । (मदन्तः) मदी हर्षग्लेपनयोः-शतृ हृष्टा भवन्तः । (अग्ने) म० ३ । (प्रतिवेशाः) प्रति+विश-घञ् । आसन्नवर्त्तिनः । (मा रिषाम) रिष हिंसायाम्-कर्मणि कर्तृप्रयोगः । हिंसिता विनष्टा मा भूम ॥

पतिम् । प्रातः । सोमम् । उत । रुद्रम् । हवामहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रातः) प्रातःकाल (अग्निम्) [पार्थिव] अग्नि को, (प्रातः) प्रातःकाल (इन्द्रम्) बिजुली वा सूर्य को, (प्रातः) प्रातःकाल (मित्रावरुणा =०—णौ) प्राण और अपान को, (प्रातः) प्रातःकाल (अश्विना) कामों में व्याप्ति रखने वाले माता पिता को (हवामहे) हम बुलाते हैं। (प्रातः) प्रातः काल (भगम्) ऐश्वर्यवान्, (पूषणम्) पोषण करने वाले (ब्रह्मणः) वेद, ब्रह्माण्ड, अन्न वा धन के (पतिम्) पति, परमेश्वर को, (प्रातः) प्रातःकाल (सोमम्) ऐश्वर्य कराने वाले वा मथन किये हुये पदार्थ वा आत्मा [अपने बल] वा अमृत [मोक्ष, वा अन्न, दुग्ध, घृतादि] को (उत) और (रुद्रम्) दुःख-नाशक वा ज्ञान दाता आचार्य को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रातःकाल [सूर्य निकलने से छः घड़ी पहिले] परमेश्वर का ध्यान करता हुआ, मन्त्र में वर्णित पार्थिव और सौर अग्नि के प्रयोग आदि अन्य आवश्यक कर्मों का विचार करके आत्मा को बढ़ाता हुआ अपने कर्तव्य में लगे ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद मण्ड ७ सूक्त ४१म०१-७ और यजुर्वेद अध्याय ३४ मन्त्र ३४-४० में है।

१—(प्रातः) प्राततेररन् । उ० ५ । ५६ । इति प्र+अत सातत्यगमने-अरन् । सूर्योदयादधित्रिमुहूर्त्तकाले । प्रभातकाले । (अग्निम्) पार्थिवाग्निम् । (इन्द्रम्) विद्युतं सूर्यं वा । (हवामहे) आह्वयामः । (मित्रावरुणा) अ० १ । २० । ३ । प्राणापानौ । (अश्विना अ०२ । २६ । ६ । अश्नोते व्याप्तिः-इनि । कार्येषु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ । (भगम्) अ० १ । १४ । १ । भगो धनम्, ततो अर्श-आद्यच् । ऐश्वर्यवन्तम् । (पूषणम्) अ० १ । ९ । १ । सर्वपोषकम् । (ब्रह्मणः) अ० १ । ८ । ४ । वेदस्य । ब्रह्माण्डस्य । अन्नस्य-निघ० २ । ७ । धनस्य-निघ० २ । १० । (पतिम्) रक्षकम् । स्वामिनम् । (सोमम्) अ० १ । ६ । २ । षु प्रसवैश्वर्ययोः, यद्वा, षुञ् अभिषवे-मन् । सोमः सूर्यः प्रसवनात्......सोम आत्माप्येतस्मादेवेन्द्रियाणां जनितेत्यर्थः—निरु० १४ । २५ । ऐश्वर्यवन्तम् । अभिषुतं मथितम् । आत्मानम् । अमृतम् । (उत) अपि च । (रुद्रम्) अ० २ । २७ । ६ । रुत्+र । दुःखनाशकं ज्ञानदातारं वाचार्यम् ॥

प्रातर्जितं भगमुग्रं हुवामहे वयं पुत्रमदितेर्यो विधर्ता ।
आध्रश्चिद्यं मन्यमानस्तुरश्चिद्राजा चिद्यं भगं भक्षीत्याह ॥ २ ॥

प्रातः-जितम् । भगम् । उग्रम् । हुवामहे । वयम् । पुत्रम् । अदितेः । यः । वि-धर्ता ॥ आध्रः । चित् । यम् । मन्यमानः । तुरः । चित् । राजा । चित् । यम् । भगम् । भक्षि । इति । आह ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (प्रातर्जितम्) प्रातः काल में [अन्धकारादि को] जीतनेवाले (भगम्) सूर्य [समान] (उग्रम्) तेजस्वी (पुत्रम्) पवित्र, अथवा बहुविधिसे रक्षा करनेवाले, अथवा नरक से बचानेवाले [परमेश्वर] को (हुवामहे) बुलाते हैं, (यः) जो [परमेश्वर] (अदितेः) प्रकृति वा भूमि का (विधर्ता) धारण करनेवाला और (यम्) जिस [परमेश्वर] को (मन्यमानः) पूजता हुआ (आध्रः) सब प्रकार धारण योग्य कंगाल, (चित्) भी, और (तुरः) शीघ्रकारी बलवान् (चित्) भी, और (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा

२—(प्रातर्जितम्) सत्सूद्विष० । पा० ३ । २ । ६१ । इति प्रातर्+जि जये-क्विप्, तुक् । प्रातःकाले जयशीलम् अन्धकारादिकस्य । (भगम्) सूर्यं यथा । (उग्रम्) तेजस्विनम् (हुवामहे) म० १ । (पुत्रम्) अ० १।११।५। पूञ् शोधे क्त । यद्वा । पुरु यद्वा, पुत्+त्रैङ रक्षणे-ड । पवित्रं बहुत्रातारं पुतो नरकात् त्रातारं वा परमेश्वरम् । (अदितेः) अ० २।२८।४। प्रकृतेः पृथिव्या वा । (विधर्ता) विविधं धारकः पोषकः । (आध्रः) आङ्+धृञ्—क । आधारयितव्यो दरिद्रः । (चित्) अपि च । (यम्) परमेश्वरम् । (मन्यमानः) मन्यते, अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । अर्चन् । पूजयन् । स्तुवन् । (तुरः) तुर वेगे, इगुपधलक्षणः कः । त्वरमाणः बलवान् । (राजा) अ० १।१८।२ । ऐश्वर्यवान् पुरुषः । (यम्) या गतौ, यज देवपूजने, वा, यम परिवेषणे-ड । यशः । कीर्तिम् । (भगम्) धनम्, निघ० २ । १० । (भक्षि) भज सेवायाम्, आत्मनेपदस्य आशीर्लिङि उत्तमैकवचने छान्दसं रूपम् । अहं भक्षीय ।

(चित्) भी (इति) इस प्रकार (आह) कहता है, "(यम्) यश और (भगम्) धन को (भक्षि=अहं भक्षीय) मैं सेवूं" ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य प्रातः काल अन्धकार, आलस्यादि मिटाकर जीवों में नयी शक्ति देता है, ऐसेही सब छोटे बड़े जीव और पृथिवी आदि लोक भी परमात्मा की शक्ति से अपनी २ शक्ति बढ़ाते हैं, उसी का धन्यवाद हम सब पिता पुत्रादि मिलकर गावें ॥ २ ॥

(हवामहे) के स्थान पर ऋग्वेद और यजुर्वेद में [हुवेम] पद है ॥

भग प्रणेतर्भग सत्यराधो भगेमां धियमुदवा ददन्नः ।
भग प्र णो जनय गोभिरश्वैर्भग प्र नृभिर्नृवन्तः स्याम ॥३॥

भग । प्र-नेतः । भग । सत्य-राधः । भग । इमाम् । धियम् । उत् । अव । ददत् । नः ॥ भग । प्र । नः । जनय । गोभिः । अश्वैः ॥ भग । प्र । नृ-भिः । नृ-वन्तः । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भग) हे भगवान् ! (प्रणेतः) हे बड़े नेता ! (भग) हे सेवनीय ! (सत्यराधः) हे सत्य धनी ! (भग) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (इमाम्) इस [वेदोक्त] (धियम्) बुद्धि को (ददत्) देता हुआ तू (नः) हमारी (उत्) उत्तमता से (अव) रक्षाकर । (भग) हे ज्योतिःस्वरूप ! (नः) हम को (गोभिः) गौओं से और (अश्वैः) घोड़ों से (प्र जनय) अच्छे प्रकार

सेवेय । (इति) अनेन प्रकारेण । (आह) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट् । ब्रवीति । प्रार्थयते, आध्रादीनां प्रत्येकम् ॥

३—(भग) भज भागे सेवायां च—घञ् । हे विभाजक । सेवनीय । ऐश्वर्यवन् । ज्ञानस्वरूप । प्रकाशस्वरूप । शिव । आदिकारण । (प्रणेतः) णीञ् प्रापणे तृच् । हे प्रकृष्टनायक । (सत्यराधः) राध संसिद्धौ—असुन् । राध इति धननाम राध्नुवन्त्येनेन—निरु० ४ । ४ । सत्यानि अनश्वराणि राधांसि धनानि यस्य स सत्यराधाः । तत्सम्बुद्धौ । (इमाम् । धियम्) प्रज्ञाम् । (उत् अव) उत्तमतया रक्ष, सफलां कुरु । (ददत्) डुदाञ्—शतृ । प्रयच्छन् । (नः)

बढ़ा। (भग) हे शिव (नृभिः) नेता पुरुषों के साथ हम (नृवन्तः) नेता पुरुषों वाले होकर (प्र स्याम) समर्थ होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर की प्रार्थना और आज्ञा पालन करते और नेता वा वीर पुरुषों को अपनाते हैं, वे संसार में उन्नति करके यशस्वी और ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

उतेदानीं भग॑वन्तः स्यामोत प्र॑पि॒त्व उ॒त मध्ये॒ अह्ना॑म् । उ॒तोदि॑तौ मघव॒न्त्सूर्य॑स्य व॒यं दे॒वानां॑ सुम॒तौ स्या॑म ॥ ४ ॥

उ॒त । इ॒दानीम् । भग॑-वन्तः । स्या॒म॒ । उ॒त । प्र॒-पि॒त्वे । उ॒त । मध्ये॑ । अह्ना॑म् ॥ उ॒त । उत्-इ॑तौ । म॒घ-व॒न् । सूर्य॑स्य । व॒यम् । दे॒वाना॑म् । सु॒-म॒तौ । स्या॒म॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत) और (इदानीम्) इस समय (उत उत) और भी (अह्नाम्) दिनों के (मध्ये) मध्य (प्रपित्वे) पाये हुये [ऐश्वर्य] में हम (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें। (उत) और (मघवन्) हे

अस्मान्। (प्र जनय) प्रादुर्भावय। प्रवर्धय। (गोभिः) धेनुभिः (अश्वैः) अ० १। १६। ४। तुरङ्गैः। (नृभिः) नयतेर्डिच्च। उ० २। १००। इति णीञ् प्रापणे—ऋ प्रत्ययः,डित्वाट् टिलोपः। नेतृभिः। वीरैः। (नृवन्तः) प्रशस्तशूरोपेताः।(प्र स्याम) प्रभवेम ॥

४—(उत) समुच्चये। (इदानीम्) इदम्-दानीम्। इदम इश्। पा० ५। ३। ३। दानीं च। पा० ५। ३। १८। इति वर्तमाने दानीम्। अस्मिन् काले। (भगवन्तः) सकलैश्वर्ययुक्ताः। (स्याम) भवेम। (उत, उत) नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति द्विर्वचनम्। अपि च। (प्रपित्वे) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। उ० ४। १०५। प्र+आप्लृ व्याप्तौ-इत्वन्, आकार लोपः। प्रपित्वेऽभीक इत्यासन्नस्य

महाधनी ईश्वर ! (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में (देवानाम्) विद्वानों की (समतौ) सुमति में (वयम्) हम (स्याम) रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के अनुसार पाये हुये ऐश्वर्य को हम अब और आगे भी बढ़ावें, और जैसे सूर्य के उदय में प्रकाश बढ़ता जाता है वैसे ही देवताओं के अनुकरण से हम अपनी धार्मिक बुद्धि का अभ्युदय करें ॥ ४ ॥

(उदितौ) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में [उदिता] है ।

भग॑ एव भग॑वाँ अस्तु देवस्तेना॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
तं त्वा॑ भग॒ सर्व॒ इज्जो॑हवीमि॒ स नो॑ भग पुरए॒ता भ॑वे॒ह ॥ ५ ॥

भगः॑ । ए॒व । भग॑-वान् । अ॒स्तु॒ । दे॒वः । तेन॑ । व॒यम् । भग॑-वन्तः । स्या॒म॒ ॥ तम् । त्वा॒ । भग॒ । सर्वः॑ । इ॒त् । जो॒ह॒वी॒मि॒ । सः । नः॒ । भग॒ । पु॒रः-ए॒ता । भ॒व॒ । इ॒ह ॥ ५ ॥

भाषार्थ—"(भगः) सेवनीय (देवः) विद्वान् विजयी पुरुष (एव) ही (भगवान्) भगवान् [भाग्यवान्, बड़े ऐश्वर्य वाला] (अस्तु) होवे"—(तेन) इसी [कारण] से (वयम्) हम (भगवन्तः) भाग्यवान् (स्याम) होवें। (तम् त्वा) उस तुझ को, (भग) हे ईश्वर ! (सर्वः=सर्वः अहम्) मैं सब

प्रपित्वे प्राप्ते—निरु० ३ । २० । प्राप्ते सौभाग्ये । (अह्नाम् मध्ये) दिनानां । मध्ये । भविष्यत्काले । (उदितौ) उद्+इण् गतौ—क्तिन् । उदये । उद्गमने । (मघवन्) अ०२ । ५ । ७ । मंहि वृद्धौ, दाने च-घञर्थे क,मतुप् । मघमिति धन नामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । हे प्रशस्तधनवन् । (सूर्यस्य) आदित्यस्य। (देवानाम्) आप्तविदुषाम् । (सुमतौ) कल्याण्यां बुद्धौ ॥

५—(भगः) सेवनीयः श्रेष्ठः पुरुषः । (भगवान्) ऐश्वर्यवान् । (देवः) विद्वान् । विजयी । (तेन) तेन कारणेन । (तम्) तादृशम् । (सर्वः) सर्वा-

(इत्) ही (जोहवीमि) बार बार पुकारता हूं । (सः=सः त्वम्) सो तू, (भग) हे शिव ! (इह) यहां पर (नः) हमारा (पुरएता) अगुआ (भव) हो ॥५॥

भावार्थ—"सुकर्मी पुरुषार्थी पुरुषही भाग्यवान् होवें," यह ईश्वर आज्ञा है, इस से सब लोग धार्मिक पुरुषार्थी होकर भाग्यवान् बनें । ईश्वर ही अपने ध्यानी आज्ञा पालकों का मार्गदर्शक होता है ॥ ५ ॥

(देवः, जोहवीमि) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में [देवा, जोहवीति] पद हैं॥

समध्वरायोषसो नमन्त दधिक्रावेव शुचये पदाय । अर्वाचीनं वसुविदं भगं मे रथमिवाश्वा वाजिन आ वहन्तु ॥ ६ ॥

सम् । अध्वराय । उषसः । नमन्त । दधिक्राव-इव । शुचये पदाय ॥ अर्वाचीनम् वसु-विदम् । भगम् । मे । रथम्-इव । अश्वाः वाजिनः । आ । वहन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उषसः) उषायें [प्रभात वेलायें] (अध्वराय मार्ग देने के लिये, अथवा हिंसारहित यज्ञ के लिये (सम् नमन्त=०-न्ते) झुकतीं हैं, (दधिक्रावा इव) जैसे चढ़ाकर चलने वाला, वा हींसने वाला घोड़ा (शुचये)

त्मना सहितोऽहम् । (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । (सः) स त्वम् । (पुरएता) अ० ३ । १५ । १ । अग्रगामी । अन्यद् गतं ॥

६—(अध्वराय) अ०१।४।१ । अध्वन्+रा-क । यद्वा,न+ध्वृ हिंसने-अच् । अध्वर इति यज्ञ नाम ध्वरतिर्हिंसाकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु०१ । ८ । मार्गदानाय । अहिंसामयाय व्यवहाराय यज्ञाय । (उषसः) प्रभाताः । (समनमन्त) छान्दसो-लट् । संनमन्ते । प्रह्वीभवन्ति । (दधिक्रावा) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, स च लिड्वत् । इति दधिः। अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा०३।२।७५। इति दधि+क्रमु, पादविक्षेपे वा क्रदि आह्वाने, क्रन्द सातत्यशब्दे-वनिप् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा०६।४।४१।

शुद्ध [अचूक] (पदाय) पद रखने के लिये। (वाजिनः) अन्नवान् वा बलवान वा ज्ञानवान् (अर्वाचीनम्) नवीन २ और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने वाले (भगम्) ऐश्वर्य को (मे) मेरे लिये (आ वहन्तु) लावें (अश्वाः इव) जैसे घोड़े (रथम्) रथ को [लाते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे उषा देवी अन्धकार हटाकर मार्ग खोलती चलती है अथवा, जैसे बली और वेगवान् घोड़ा अपने असवार वा रथको मार्ग चलकर ठिकाने पर शीघ्र पहुंचाता है। इसी प्रकार पुरुषार्थी पुरुष बड़े बड़े महात्माओं के सत्सङ्ग और अनुकरण से अपना ऐश्वर्य बढ़ाते रहें ॥ ६ ॥

(मे) के स्थान पर ऋग् और यजुर्वेद में (नः) पद है ॥

अश्वा॑वती॒र्गोम॑तीर्न उ॒षासो॑ वी॒रव॑तीः॒ सद॑मुच्छन्तु भ॒द्राः। घृ॒तं दुहा॑ना वि॒श्वतः॒ प्रपी॑ता यू॒यं पा॑त स्व॒स्तिभिः॒ सदा॑ नः ॥ ७ ॥

अश्व॑-वतीः। गो-मतीः। नः॒। उ॒षसः॑। वी॒र-व॑तीः। सद॑म्। उ॒च्छ॒न्तु॒। भ॒द्राः॥ घृ॒तम्। दुहा॑नाः। वि॒श्वतः॑। प्र-पी॑ताः। यू॒यम्। पा॒त॒। स्व॒स्ति-भिः॑। सदा॑। नः॒ ॥७॥

इत्यादयम्। दधिक्रावा=अश्वः—निघ० १। १४। दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारी भवतीति वा—निरु० २। २७। दधिः, धारयिता सन् क्रामतीति वा क्रन्दतीति वा दधिक्रावा। दधिक्राः। अश्वः। (शुचये) शुद्धाय। प्रमादशून्याय। (पदाय) गमनाय। (अर्वाचीनम्) अर्वाच्—ख। इदानीन्तनम्। नूतनम्। (वसुविदम्) इगुपध०। पा०३।१।१३५। इति वसु+विद् लाभे-क। धनानां लम्भकं प्रापकम्। (भगम्) ऐश्वर्यम्। (मे) मह्यम्। (रथमिव) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्। उ० २। २। इति रमु क्रीडने-क्थन्। यानं यथा। (अश्वाः) घोटाः। (वाजिनः) वज गतौ-घञ्। वाजः=अन्नम्, निघ० २। ७। बलम्, निघ०२। ६। अत इनिठनौ। पा ०५। २। ११५। इति इनि। अन्नवन्तः। बलवन्तः। ज्ञानवन्तः। (आ वहन्तु) आगमयन्तु ॥

भाषार्थ—(अश्ववतीः=०-त्यः) उत्तम २ घोड़ों वाली, (गोमतीः) उत्तम २ गौओं वाली, (वीरवतीः) बहुत वीर पुरुषों वाली और (भद्राः) मङ्गल करने वाली (उपासः=उपसः) उषायें (नः सदम्) हमारे समाज पर (उच्छन्तु) चमकती रहें। (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] को (दुहानाः) दुहते हुए और (विश्वतः) सब प्रकार से (प्रपीताः) भरे हुये (यूयम्) तुम [वीर पुरुषो !] (स्वस्तिभिः) अनेक सुखों से (सदा) सदा (नः) हमारी (पात) रक्षा करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके अपने घरों को घोड़ों, गौओं और वीर पुरुषों से भरे रक्खें, और सब मिलकर तत्त्व ग्रहण करके सदा परस्पर रक्षा करें ॥ ७ ॥

(यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः) यह पाद प्रायः ऋग्वेद मण्डल ७ के सब सूक्तों के अन्त में है ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—८ ॥ कृषीवला देवताः । १ गायत्री; २, ५, ९ त्रिष्टुप्, ३ पङ्क्तिः, ४, ६, ८ अनुष्टुप्; ७ पुर उष्णिक्छन्दः ॥

कृषि विद्योपदेशः—खेती की विद्या का उपदेश ॥

७—(अश्ववतीः) प्रशस्ताश्ववत्यः । (गोमतीः) प्रशस्तगोमत्यः । (नः) अस्माकम् । (उपासः) उपसः । प्रभाताः । (वीरवतीः) बहुवीरवत्यः । (सदम्) षद्लृ गतौ-अच् । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा०२ । ३ । ५ । इति द्वितीया । समाजं प्रति । (उच्छन्तु) उच्छी समाप्तौ, अकर्मकः । अत्र दीप्तौ । समाप्ता व्युष्टाः प्रदीप्ता भवन्तु । (भद्राः) मङ्गलकारिण्यः । (घृतम्) सारपदार्थम् । (दुहानाः । दुह प्रपूरणे-शानच् । प्रपूरयन्तः । (विश्वतः) सर्वतः । (प्रपीताः) प्यायः पी । पा० ६ । १ । २८ । इति ओप्यायी वृद्धौ-क्त, पी आदेशः । प्रवृद्धाः । (यूयम) वीरपुरुषाः । (पात) रक्षत । (स्वस्तिभिः) अनेकसुखैः । (सदा) सर्वस्मिन् काले । (नः) अस्मान् ॥

सीरा॑ युञ्जन्ति क॒वयो॑ यु॒गा वि त॑न्वते॒ पृथ॑क् ।
धीरा॑ दे॒वेषु॑ सुम्न॒यौ ॥ १ ॥

सीरा॑ । यु॒ञ्जन्ति॒ । क॒वय॑: । यु॒गा । वि । त॒न्व॒ते॒ । पृथ॑क् ॥
धीरा॑: । दे॒वेषु॑ । सु॒म्न॒ऽयौ ॥

भाषार्थ—(धीराः) धीर (कवयः) बुद्धिमान् [किसान] लोग (देवेषु) व्यवहारी पुरुषों पर (सुम्नयौ) सुख पाने [की आशा] में (सीरा=सीराणि) हलों को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं, और (युगा=युगानि) जुओं को (पृथक्) अलग अलग करके [दोनों ओर] (वि तन्वते) फैलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग खेती करके अन्य पुरुषों को सुख पहुंचाते और आप सुखी रहते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्यों को परस्पर उपकारी होकर सुख भोगना चाहिये ॥ १ ॥

यु॒नक्त॒ सीरा॒ वि यु॒गा त॑नोत कृ॒ते योनौ॑ वपते॒ह

१—(सीरा) शुसिचिमीनां दीर्घश्च । उ० २ । २५ । इति षिञ् बन्धने-क्रन् । दीर्घश्च । सीराणि लाङ्गलानि । (युञ्जन्ति) योजयन्ति कर्षणार्थम् । (कवयः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ । कुशलाः कृषीवलाः । (युगा) उञ्छादीनां च । पा० ६ । १ । १६० । इति युज संयमे, युतौ-घञ् । अगुणत्वं निपातनात् । युगानि । रथहलादेरङ्गभेदान् । (वि तन्वते) प्रसारयन्ति । (पृथक्) प्रथेः कित् सम्प्रसारणं च । उ० १ । १३७ । इति प्रथ ख्यातौ-अजि । भिन्नभिन्ने स्कन्धदेशे । (धीराः) अ० २ । ३५ । ३ । ध्यानवन्तः । (देवेषु) विद्वत्सु । व्यवहारिषु पुरुषेषु । (सुम्नयौ) रास्ना सास्ना० । उ० ३ । १५ । इति सु + म्ना अभ्यासे, वा मा माने-नप्रत्ययः । निपातनात् सिद्धिः । सुम्नं सुखम्-निघ० ३ । ६ । मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । इति सुम्न + या गतौ प्रापणे च भावे कु । सुखस्य गतौ प्राप्तौ प्रापणे वा ॥

बीजंम् । विराजः श्नुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत् सृण्यः पक्वमा यवन् ॥ २ ॥

युनक्त । सीरा । वि । युगा । तनोत । कृते । योनौ । वपत । इह । बीजम् ॥ वि-राजः । श्नुष्टिः । स-भराः । असत् । नः । नेदीयः । इत् । सृण्यः । पक्वम् । आ । यवन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विराजः) हे शोभायमान [किसानो !] (सीरा=सीराणि) हलों को (युनक्त) जोड़ो, (युगा=युगानि) जूओं को (वितनोत) फैलाओ, और (कृते) बने हुये (योनौ) खेत में (इह) यहां पर (बीजम्) बीज (वपत) बोओ । (श्नुष्टिः ।) [तुम्हारी] अन्न की उपज (नः) हमारे लिये (सभराः) भरी पूरी (असत्) होवे, (सृण्यः) हंसुये वा दरांत (इत्) भी (पक्वम्) पके अन्न को (नेदीयः) अधिक निकट (आ यवन्) लावें ॥ २ ॥

२—(युनक्त) योजयत । (सीरा) म० १ । (वि तनोत) विस्तारयत । (कृते) सम्पादिते । कृष्टे । (योनौ) क्षेत्रे । (वपत) निक्षिपत । (बीजम्) उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा० ३ । २ । ९९ । इति वि+जन उत्पादने-ड, उपसर्गस्य दीर्घः । यद्वा, बीज प्रजननकान्त्यसनाखादनेषु-अच् । इति शब्दकल्पद्रुमे । उत्पत्तिमूलम् । अपत्यम्-निघ०२।२। (इह)अत्र ।(विराजः) वि+राजृ दीप्तौ-क्विप् । हे विराजमानाः शोभायमानाः कृषीवलाः । (श्नुष्टिः) ष्णुसु अदने, आदाने च—क्तिन् । छान्दसं रूपम् । अन्नोत्पत्तिः । उपलब्धिः । (सभराः) सह+भृञ्-असुन् । भरसा भरणेन सहिता । (असत्) भवेत् । (नः) अस्मभ्यम् । (नेदीयः) अन्तिक-ईयसुन् । अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ । पा० ५ । ३ । ६३ । इति नेदादेशः । समीपतरम् । (इत्) एव । (सृण्यः) सृवृषिभ्यां कित् । उ० ४ । ४९ । इति सृ गतौ-नि, ङीप् । अङ्कुशाः । लवणसाधनशस्त्राणि । (पक्वम्) पच-क्त । पचो वः । पा० ८ । २ । ५२ । इति तस्य वः । प्राप्तपाकम् अन्नम् । (आ यवन्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—लेट् । आयुवन्तु । प्रापयन्तु ॥

भावार्थ—चतुर किसान यथाविधि खेत जोत कर उत्तम बीज आदि साधनों से उत्तम अन्न आदि पाते हैं, इसी सिद्धान्त पर विद्वान् बलवान् स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्य सेवन से यथावत् क्रिया के साथ बलवान् बुद्धिमान् और आयुष्मान् सन्तान उत्पन्न करते हैं देखो—श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कारविधि-गर्भाधान प्रकरण ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ पद भेद से ऋ० १० । १०१ । ३ । और य० १२ । ६८ में है

लाङ्गलं पवीरवत् सुशीमं सोमसत्सरु । उदिद् वपतु गामविं प्रस्थावद् रथवाहनं पीवरीं च प्रफर्व्यम् ॥३॥

लाङ्गलम् । पवीर-वत् । सु-शीमम् । सोमसत्-सरु ॥ उत् । इत् । वपतु । गाम् । अविम् । प्र-स्था-वत् । रथ-वाहनम् । पीवरीम् । च । प्र-फर्व्यम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(पवीरवत्) अच्छे फाले वाला, (सुशीमम्) बहुत सुख देने वाला, और (सोमसत्सरु=सोमसत्+सरु, यद्वा, स-ऊम, वा, उम+स-त्सरु) ऐश्वर्य युक्त व अमृत युक्त मूठ वाला, अथवा रस्सी वाला और मूठ वाला (लाङ्गलम्) हल (इत्) ही (अविम्) रक्षा करनेवाली, और (पीवरीम्) वृद्धि वाली (गाम्) भूमि को (च) और (प्रस्थावत्) प्रस्थान वा चढ़ाई के

३—(लाङ्गलम्) अ० २ । ८ । ४ । हलम् । (पवीरवत्) कॄगॄपॄकटिपटि० । उ० ४ । ३० । इति पूञ् शोधे-ईरन् । मतुप् । पवीर पवि पविः, वज्रं लाङ्गले प्रोतं लोहमयं शल्यम् । फालयुक्तम् । (सुशीमम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति सु+शीङ् शयने-मक् । शेवम्=सुखम्-निघ० ३ । ६ । सुशेवम् । बहु सुखकरम् । (सोमत्सरु) सोमसत्+सरु । सोमे ऐश्वर्ये अमृते वा सीदतीति सोमसत् । षद्लृ गतौ-क्विप् । सरतीति सरुः । सृ गतौ-उन् । खड्गादिमुष्टिः । ऐश्वर्य-वन्मुष्टियुक्तम् । अमृतमयमुष्टियुक्तम् । यद्वा । स-ऊम,वा उम+स-त्सरु । अवि-सिवि० । उ० १ । १४४ । इति अव रक्षणे—मन् । ऊमं रक्षासाधनम् । यद्वा, वेञ् तन्तुसन्ताने-मन्, उत स्यूतम् उमम् । रज्ज्वादिकं तेन सह सोमम् । भृमृशीङ् तॄच-

योग्य और (प्रफर्व्यम्) शीघ्र गति वाले (रथवाहनम्) रथयान [गाड़ी] को (उत्) उत्तमता से (वपतु) उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्तम साधनों से खेती में अधिक धान्य उत्पन्न होता है, उस से राज्य की और अश्व, बैल आदि की वृद्धि से राजा और प्रजा सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ शब्द भेद से यजुर्वेद १२ । ७१ में है ॥

इन्द्रः सीतां नि गृह्णातु तां पूषाभि रक्षतु ।
सा नः पयस्वती दुहामुत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ४ ॥

इन्द्रः । सीताम् । नि । गृह्णातु । ताम् । पूषा । अभि । रक्षतु ।
सा । नः । पयस्वती । दुहाम् । उत्तराम्-उत्तराम् । समाम् ॥४॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) भूमि जोतने वाला (सीताम्) हल की रेखा [जुती धरती] को (नि) नीचे (गृह्णातु) दबावे, (पूषा) पोषण करनेवाला [किसान] (ताम्) उस [जुती धरती] की (रक्षतु) रखवाली करे । (सा)

रित्सरि० । उ० १ । ७ । इति त्सर छद्मगतौ, कौटिल्ये-उ,त्सरुः,मुष्टिः । तेन सह सत्सरु । सोमं च सत्सरु च सोमत्सरु । रज्ज्वादिकेन मुष्टिना च सहितम् । (उत्) उत्तमतया । (इत) एव । (वपतु) डुवप बीजसन्ताने, उत्पादयतु । (गाम्) भूमिम् । (अविम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति अव रक्षादिषु-इन् । रक्षिकाम् । (प्रस्थावत्) प्रस्थानस्य, विजिगीषोः प्रयाणस्य योग्यम् (रथवाहनम् । वह णिच्-ल्युट् । रथयानम् (पीवरीम्) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ०४ । ११५ । इति प्यैङ् वृद्धौ—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीप्रेफौ । वृद्धिशीलाम् (प्रफर्व्यम्) फर्व गतौ—अच् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति यत् । शीघ्रगमनयोग्यम् । फर्वतिर्गतिकर्मा-इति महीधरः, य० १२ । ७१ । प्रफर्व्यम्, प्रफर्वितुं गमयितुं योग्यम् इति—तत्रैव दयानन्दभाष्ये ॥

४—(इन्द्रः) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इरा+दॄ विदारणे रक् । इन्द्र इरां दृणातीति वा०-निरु०१० । ८ । इरायां भूमेर्विदारकः कर्षकः । (सीताम्)

यह (पयस्वती) पानी से भरी [जुती धरती] (नः) हमको (उत्तराम्—उत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) अनुकूल क्रिया से (दुहाम्) भरती रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—किसान बीज बोने के पीछे जुती धरती को पटेले से चौरस करके रक्षा करे और यथा समय पानी देता रहे जिससे खेतों में ठीक ठीक उपज होवे ॥ ४ ॥

यह मंत्र कुछ भेद से ऋ० ४।५७।७ में है। और इसका उत्तरार्ध अ० ३।१०।१। में आचुका है है ॥ ४ ॥

शुनं सुफाला वि तुदन्तु भूमिं शुनं कीनाशा अनु यन्तु वाहान्। शुनासीरा हविषा तोशमाना सुपिप्पला ओषधीः कर्तमस्मै ॥ ५ ॥

शुनम् । सु-फालाः । वि । तुदन्तु । भूमिम् । शुनम् । कीनाशाः । अनु । यन्तु । वाहान् ॥ शुनासीरा । हविषा । तोशमाना । सु-पिप्पलाः । ओषधीः । कर्तम् । अस्मै ॥५॥

भाषार्थ—(सुफालाः) सुन्दर फाले (शुनम्) सुख से (भूमिम्) भूमि को (वि तुदन्तु) जोतें। (कीनाशाः) क्लेश सहने वाले किसान (वाहान् अनु) बैलादि वाहनों के पीछे पीछे (शुनम्) सुखसे (यन्तु) चलें। (हविषा) जल से (तोशमाना=तोषमानौ) सन्तुष्ट करने वाले (शुनासीरा=० रौ) हे पवन

शुनिभ्यां दीर्घश्च। उ० ३। ६०। इति पिञ् बन्धे-क्त। यद्वा हलेन कृता रेखा। कर्षितभूमिरित्यर्थः। (नि) नीचैः। (गृह्णातु) सम्पादयतु। (पूषा) पोषकः कृषीवलः। (अभि) सर्वतः। (रक्षतु) पालयतु। (पयस्वती) उदकवती सती। (नः) अस्मान्। (दुहाम्) द्विकर्मकः। दुग्धाम्। प्रपूरयतु। (उत्तराम्—उत्तराम्) अतिशयेनोत्कृष्टाम्। (समाम्) अ० २। १०। १। समक्रियाम्। अनुकूलक्रियाम् ॥

५—(शुनम्) सुखेन। (सुफालाः) फल भेदने-घञ्। फल्यते विदार्यते भूमिरनेन। शोभनाः फाला लाङ्गलस्थलौहभेदाः। (वि तुदन्तु) तुद व्यथने। वि-

और सूर्य तुम दोनों ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये (सुपिप्पलाः) सुन्दर फल वाली (ओषधीः) जौ, चावल आदि ओषधियां (कर्तम्) करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—चतुर किसान लोग उत्तम कृषिशस्त्रों, उत्तम बैल आदिकों, और पानी आदि की सुधि रखने से उत्तम अन्नादि पदार्थ उत्पन्न करते हैं, इसीप्रकार विद्वान् लोग विद्यावल से अनेक शिल्पों का अविष्कार करके संसार को सुख पहुंचाते और आप सुख भोगते हैं ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ८ और य० १२ । ६६ में है ॥

यजुर्वेद अ० २२ । म० २२ में वर्णन है ।

निकामे निकामे नः पर्जन्यो वर्षतु फलवत्यो न ओषधयः पच्यन्ताम् ॥

कामना के अनुसार ही हमारे लिये मेह बरसे, हमारे लिये उत्तम फलवाली जौ आदि ओषधें पकें ॥

द्रारयन्तु । विकृषन्तु । (भूमिम्) पृथिवीम् । (कीनाशाः) क्लिशेरीच्चोपधायाः कन् लोपश्च लो नाम् च । उ० ५ । ५६ । इति क्लिशू विवाधने, वधे वा—कन् , उपधाया ईत्वं ललोपो नामागमश्च । क्लेशसहनशीलाः । कर्षकाः । (अनु) अनुसृत्य । (यन्तु) गच्छन्तु । (वाहान्) वहनशीलान् बलीवर्दादीन । (शुनासीरा) इगुपधज्ञा० । पा०३ । १ । १३५ । इति शुन गतौ—क । कृ शॄ पॄ कटि पटि० । उ०४ । ३० । इति सृ गतौ—ईरन्, टि लोपः । शुनश्च सीरश्च । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपददीर्घः । शुनासीरौ शुनो वायुः शु एत्यन्तरिक्षे सीर आदित्यः सरणात् । निरु० ६ । ४० । हे वाय्वादित्यौ । (हविषा) अ० १ । ४ । ३ । उदकेन, निघ० १ । १२ । (तोशमाना) पस्य शः । तोषमाणौ । सन्तोषकौ । (सुपिप्पलाः) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति पॄ पालनपूरणयोः—कलप्रत्ययः । पृषोदरादित्वात् साधुः । पिप्पलम्, उदकम्—निघ० १ । १२ । पिप्पलं पालकं फलम्—इति सायणः—ऋग्वेदभाष्ये म० १ । १६४ । २२ । शोभनफलोपेताः । (ओषधीः) अ० १ । २३ । १ । व्रीहियवाद्याः । (कर्तम्) युवां कुरुतम् । (अस्मै) उद्योगिने पुरुषाय ॥

शुनं वाहाः शुनं नरः शुनं कृषतु लाङ्गलम् ।
शुनं वरत्रा बध्यन्तां शुनमष्ट्रामुदिङ्गय ॥ ६ ॥

शुनम् । वाहाः । शुनम् । नरः । शुनम् । कृषतु । लाङ्गलम् ।
शुनम् । वरत्राः । बध्यन्ताम् । शुनम् । अष्ट्राम् । उत् । इङ्गय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वाहाः) बैल आदि पशु (शुनम्) सुख से रहें । (नरः) हांकने वाले किसान (शुनम्) सुख से रहें । (लाङ्गलम्) हल (शुनम्) सुख से (कृषतु) जोते । (वरत्राः) हल की रस्सियां (शुनम्) सुखसे (बध्यन्ताम्) बांधी जावें । (अष्ट्राम्) पैना [आर वा कांटे] को (शुनम्) सुख से (उत् इङ्गय) ऊपर चला ॥ ६ ॥

भावार्थ—किसान लोग सब सामग्री उत्तम रीति से बनाकर रखने से अपने सब काम सुख से चलावें ॥ ६ ॥

मन्त्र ६-८ कुछ भेद से ऋ० ४ । ५७ । ४—६ में है ।

शुनासीरेह स्म मे जुषेथाम् ।
यद् दिवि चक्रथुः पयस्तेनेमामुप सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

शुनासीरा । इह । स्म । मे । जुषेथाम् ॥ यत् । दिवि । चक्रथुः । पयः । तेन । इमाम् । उप । सिञ्चतम् ॥ ७ ॥

६—(शुनम्) सुखेन । (वाहाः) वृषभादयः । (नरः) अ० ३ । १६ । ३ । नयतीति ना । नेतारः कर्षकाः । (कृषतु) विलिखतु । (लाङ्गलम्) हलम् । (वरत्राः) वृञश्चित् । उ० ३ । १०७ । इति वृञ संवरणे-अत्रन् । टाप् । बन्धन-रज्जवः । (बध्यन्ताम्) बद्धा भवन्तु । (अष्ट्राम्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । इति अशूङ् व्याप्तौ-क्त्र, टाप् । प्रतोदम् । ताडनीम् । (उत् इङ्गय) उपरि गमय । प्रेरय ॥

भाषार्थ—(शुनासीरा=०-रौ) हे वायु और सूर्य तुम दोनों ! (इह स्मं) यहां पर ही (मे) मेरी [विनय] (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (यत् पयः) जो जल (दिवि) आकाश में (चक्रथुः) तुम दोनों ने बनाया है, (तेन) उस से (इमाम्) इस [भूमि) को (उप सिञ्चतम्) सींचते रहो ॥ ७ ॥

भावार्थ—पवन और सूर्य के द्वारा पृथिवी का जल आकाश में आकर फिर पृथिवी पर बरसता है, वह खेती के लिये बहुत उपयोगी होता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से निरु० ६ । ४१ । में भी है ।

सीते॒ वन्दा॑महे त्वा॒र्वाची॑ सुभगे भव ।

यथा॑ नः सु॒मना॒ अस॒ो यथा॑ नः सु॒फ॒ला भुवः॑ ॥ ८ ॥

सीते॑ । वन्दा॑महे । त्वा॒ । अ॒र्वाची॑ । सु॒-भ॒गे॒ । भ॒व॒ ॥ यथा॑ । न॒ः । सु॒-मनाः॑ । अस॑ः । यथा॑ । न॒ः । सु॒-फ॒ला । भुवः॑ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सीते) हे जुती धरती ! [लक्ष्मी । खेती] (त्वा) तेरी (वन्दामहे) हम वन्दना करते हैं, (सुभगे) हे सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्य वाली] (अर्वाची) हमारे सन्मुख (भव) रह, (यथा) जिससे तू (नः) हमारे लिये

७—(शुनासीरा) म० ५ । हे पवनादित्यौ । (इह स्म) अत्रैव । (जुषे] (थाम्) युवां सेवेथाम् । स्वीकुरुतम् । (दिवि) आकाशे । (चक्रथुः) डुकृञ् करणे लिट् । युवां कृतवन्तौ । (पयः) उदकम् । निघ० १ । १२ । (इमाम्) दृश्यमानां भूमिम् । (उप सिञ्चतम्) व्याप्य आर्द्रीकुरुतम् ॥

८—(सीते) म० ४ । लाङ्गलपद्धतिरूपा कृषिक्रिया लक्ष्मीः । तत्सम्बुद्धौ । (वन्दामहे) वदि अभिवादनस्तुत्योः । अभिवादयामः । स्तुमः । (त्वा) त्वाम् । (अर्वाची) अवर+अञ्चु गतिपूजनयोः- क्विन्, ङीप् । अर्वादेशः । निकटस्था । अभिमुखी । (सुभगे) हे सौभाग्ययुक्ते । ऐश्वर्यवति । (नः) अस्मभ्यम् । (सुमनाः) प्रसन्नमनस्का । (असः) लेट् । त्वं स्याः । (सुफला) शोभनफलोपेता । (भुवः) लेट् । त्वं भवेः ॥

(सुमनाः) प्रसन्न मन वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से (नः) हमारे लिये (सुफला) सुन्दर फल वाली (भुवः) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती को मन लगाकर करके चौकसी रक्खें जिस से अन्नवान् और धनवान् होकर सदा आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

घृतेन॒ सीता॒ मधु॑ना॒ सम॑क्ता॒ विश्वै॑र्दे॒वैरनु॑मता म॒रुद्भिः॑ । सा नः॑ सीते॒ पय॒साभ्या॒वव॑त्स्वोर्ज॑स्वती घृ॒तव॑त् पिन्व॑माना ॥ ९ ॥

घृतेन॑ । सीता॑ । मधु॑ना । सम्ऽअ॑क्ता । विश्वै॑ः । दे॒वैः । अनु॑ऽमता । म॒रुत्ऽभिः॑ ॥ सा । नः॒ । सी॒ते॒ । पय॑सा । अ॒भि॒ऽआ॒वव॑त्स्व । ऊर्ज॑स्वती । घृ॒तऽव॑त् । पिन्व॑माना ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(घृतेन) घी से और (मधुना) मधु [शहद] से (समक्ता) यथाविधि सानी हुई (सीता) जुती धरती (विश्वैः) सब (देवैः) व्यवहार कुशल (मरुद्भिः) विद्वान् देवताओं करके (अनुमता) अङ्गीकृत है । (सीते) हे जुती धरती ! (सा) सो (ऊर्जस्वती) बलवती और (घृतवत्) घृतयुक्त [अन्न आदि] से (पिन्वमाना) सींचती हुई तू (पयसा) दूध के साथ (नः) हमारे (अभ्यावव‍ृत्स्व) सब ओर से सन्मुख वर्तमान हो ॥ ९ ॥

९—(घृतेन) आज्येन । (सीता) म० ४ । कृष्टा भूमिः । (मधुना) क्षौद्रेण । (समक्ता) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । सम्यक् मिश्रिता । (विश्वैः) सर्वैः । (देवैः) दिवु व्यवहारे—अच् । व्यवहारकुशलैः । (अनुमता) अङ्गीकृता । (मरुद्भिः) अ० १ । २० । १ । देवैः । ऋत्विग्भिः, निघ० ३ । १८ । (सा) सा त्वम् । (नः) अस्मान् (पयसा) दुग्धेन । (अभ्याववृत्स्व) बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७६ । इति वृतेः । शपः श्लुः । अभित आगत्य वर्तस्व । (ऊर्जस्वती) बलवती । (घृतवत्) यथा तथा घृतयुक्तेन अन्नेन । (पिन्वमाना) पिवि सेचने—शानच् । आत्मनेपदं छान्दसम् । सिञ्चन्ती । वर्धयन्ती ॥

जिससे (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को (संविन्दते) यथावत् पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मविद्या परिश्रम पूर्वक प्राप्त करें। ईश्वर ज्ञान से दृढ़ विज्ञान बढ़कर मिथ्याज्ञान का नाश होकर परम ऐश्वर्य वा मोक्ष मिलता है ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद म० १० सू० १४५। १-६ है। अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋग्वेदसंहिता, मोहमयी [मुम्बै] की शाकलर्क् संहिता, और ऋग्वेदीय सायणभाष्य में [उपनिषत्सपत्नीबाधनम्] इस सूक्तका देवता लिखा है, इससे इस सूक्त में ब्रह्मविद्या ही का उपदेश है ॥

उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति ।
सपत्नीं मे परा णुद पतिं मे केवलं कृधि ॥ २ ॥

उत्तान-पर्णे । सु-भगे । देव-जूते । सहस्वति ॥ स-पत्नीम् । मे । परा । नुद । पतिम् । मे । केवलम् । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उत्तानपर्णे) हे विस्तृत पालन वाली ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (देवजूते) हे विद्वानों करके प्राप्त की हुई ! (सहस्वति) हे बलवती [ब्रह्मविद्या] ! (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (परा नुद) दूर हटा दे और (पतिम्) सर्वरक्षक वा सर्वशक्तिमान् परमेश्वर

(संविन्दते) सम्यक् लभते। (पतिम्) पातेर्डतिः। उ० ४। ५७। इति पा रक्षणे डति। यद्वा। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति पत ऐश्वर्ये-इन्। सर्वरक्षकम्। ऐश्वर्यवन्तं परमेश्वरम् ॥

२—(उत्तानपर्णे) उत्+तनु विस्तारे-घञ्। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति पॄ पालनपूरणयोः-न। हे उत्तानतया विस्तृतपालनयुक्ते। (सुभगे) हे सौभाग्यहेतुभूते। (देवजूते) जु गतौ-क्त। विद्वद्भिः प्राप्ते। (सहस्वति) हे बलवति ब्रह्मविद्ये। (सपत्नीम्) म० १। विरोधिनीम्। अविद्याम्। (मे) मम। (परा नुद) पराङ्मुखीं गमय।(पतिम्) म० १। (केवलम्) वृषादिभ्यश्चित्। उ० १। १०६। इति केवृ सेवने-कलच्। निर्णीतम्। सेवनीयम्।

भावार्थ—चतुर किसान युक्ति से बीज में वा धरती में घी और मधु आदि मिलाकर धान्य आदि को पुष्ट और मधुर बनावें, जैसे क्रिया विशेष से, माली लोग आम,दाख, केसर, फूल आदि को उत्तम बनाते और मनुष्य उत्तम सन्तान उत्पन्न करते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० १२ म० ७० में है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-६ ॥ ऋषिः-इन्द्राणी । देवता-उपनिषत्सपत्नीबाधनम् । १-५ अनुष्टुप् ६ पङ्क्तिः ॥

उपनिषत्सपत्नीबाधनोपदेशः - ब्रह्मविद्या की सपत्नी अविद्या के नाश का उपदेश ॥

इ॒मां ख॑ना॒म्योष॑धिं वी॒रुधां॒ बल॑वत्तमाम् ।
यया॑ स॒पत्नीं॒ बाध॑ते॒ यया॑ सं॒विन्द॑ते॒ पति॑म् ॥ १ ॥

इ॒माम् । ख॒ना॒मि॒ । ओष॑धिम् । वी॒रुधा॑म् । बल॑वत्-तमाम् ॥
यया॑ । स॒-पत्नी॑म् । बाध॑ते । यया॑ । स॒म्-वि॒न्दते॑ । पति॑म् ॥१॥

भाषार्थ—(वीरुधाम्) उगती हुई लताओं [सृष्टि के पदार्थों] में (इमाम्) इस (बलवत्तमाम्) बड़ी बल वाली (ओषधिम्) रोग नाशक ओषधि [ब्रह्मविद्या] को (खनामि) मैं खोदता हूं, (यया) जिस [ओषधि] से [प्राणी] (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (बाधते) हटाता है, और (यया)

१—(इमाम्) प्रत्यक्षाम् । (खनामि) खनु विदारे । खननेन अन्वेषणेन संपादयामि । (ओषधिम्) अ० १ । २३ । १ । रोगनाशिकां ब्रह्मविद्याम् । (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीलानां लतारूपाणां प्रजानां मध्ये । (बलवत्तमाम्) बलवत्-तमप्, टाप् । अतिशयेन बलवतीम् । (यया) ओषध्या । (सपत्नीम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति समान+पत्लृ अधोगतौ-इन् । नित्यं सपत्न्यादिषु । पा० ४ । १ । ३५ । इति ङीप् नकारान्तादेशश्च । समानपातनशीलाम् । ब्रह्मविद्याविरोधिनीम् । अविद्याम् । (बाधते) विहन्ति ।

को (मे) मेरा (केवलम्) सेवनीय (कृधि) कर ॥ २ ॥

भावार्थ—अनन्यवृत्ति पुरुष ब्रह्मविद्या से अविद्या को हटाकर आनन्द स्वरूप जगदीश्वर को जानकर आनन्द भोगता है ॥ २ ॥

नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ ।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि ॥ ३ ॥

नहि । ते । नाम । जग्राह । नो इति । अस्मिन् । रमसे । पतौ ॥ पराम् । एव । परा-वतम् । स-पत्नीम् । गमयामसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे सपत्नी अविद्या] (ते) तेरा (नाम) नाम । (नहि) कभी नहीं (जग्राह) मैं ने लिया है, (अस्मिन्) इस (पतौ) जगत् पति परमेश्वर में (नो) कभी नहीं (रमसे) तू रमण करती है । (पराम्) बैरिनि, (सपत्नीम्) विरोध डालने वाली [अविद्या] को (परावतम् एव) बहुत दूर ही (गमयामसि) हम पहुंचाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग अविद्या का मान नहीं करके अविद्या रहित सर्वविद्या-युक्त परमात्मा का ध्यान करते, और अविद्या को हटाकर सत्यज्ञान पाते हैं ॥३॥

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः ।
अधः सपत्नी या ममाधरा साधराभ्यः ॥ ४ ॥

(कृधि) कुरु ॥

३—(नहि) नव । (ते) तव । (नाम) नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति म्ना अभ्यासे-मनिन् । नामधेयम् (जग्राह) अहं गृहीतवान् । (नो) नैव । (अस्मिन्) प्रसिद्धे । (रमसे) त्वं क्रीडसि । (पतौ) म० १ । छान्दसी घिसंज्ञा । पत्यौ । परमेश्वरे । (पराम्) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति पॄ पालनपूरणयोः—अपादाने अप् । टाप् । शत्रुम् । वैरिणीम् । (एव) अवश्यम् । (परावतम्) अ० ३ । ४ । ५ । दूरदेशगतम् । (सपत्नीम्) म० १ । विरोधिनीम् । (गमयामसि) गमयामः । प्रापयामः ॥

उत्-तरा । अहम् । उत्-तरे । उत्-तरा । इत् । उत्-तराभ्यः ॥
अधः । स-पत्नी । या । मम । अधरा । सा । अधराभ्यः ॥४॥

भाषार्थ—(उत्तरे) हे अति उत्तम [ब्रह्मविद्या] (अहम्) मैं [प्रजा] (उत्तरा) अधिक उत्तम [भूयासम्=होजाऊं], (उत्तराभ्यः) अन्य उत्तम [पशुआदि प्रजाओं] से (इत्) तो (उत्तरा) अधिक उत्तम [प्रजा अस्मि=प्रजा हूं]। (मम) मेरी (या) जो (अधरा) नीच (सपत्नी) विरोधिनी [अविद्या है], (सा) वह (अधराभ्यः) नीच [विपत्तियों] से (अधः) नीची है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पशु आदि प्राणियों से उत्तम है, इससे वह सब उत्तम विद्याओं में परम उत्तम, ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सर्वोत्कृष्ट होवे, और सब विपत्तियों वा क्लेशों के मूल अविद्या को निकालता रहे ॥ ४ ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है—योग दर्शन पाद २ सू० ३, ४ ॥

अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशाः ॥ १ ॥
अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम् ॥२॥

१—(अविद्या) मिथ्याज्ञान, २-(अस्मिता) अहंकार, ३-(राग) राग, वा तृष्णा, ४-(द्वेष) द्वेष वा घृणा, और ५—(अभिनिवेश) शरीर से प्रीति वा मरण से भय, यह पांच क्लेश हैं ॥१॥

अविद्या पिछले चार [अस्मिता आदि] का खेत है, चाहे वे १-सोते हुये २-सूक्ष्म, ३-रुके हुये, वा ४-फैले हुये हों ॥

४—(उत्तरा) उत्कृष्टतरा । (अहम्) मनुष्यरूपा प्रजा । (उत्तरे) हे उत्कृष्टतरे ब्रह्मविद्ये । (उत्तराभ्यः) अन्यपश्वादिप्रजाभ्य उत्कृष्टतराभ्यः । (अधः) अधस्तात् । (सपत्नी) म० १ । विरोधिनी । अविद्या । (अधरा) अन्यनिकृष्टाभ्यो विपत्तिभ्यः ॥

अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः ।
उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै ॥ ५ ॥

अहम् । अस्मि । सहमाना । अथो इति । त्वम् । असि । स-सहिः ॥ उभे इति । सहस्वती इति । भूत्वा । स-पत्नीम् । मे । सहावहै ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्या] (अहम्) मैं (सहमाना) जयशील [प्रजा] (अस्मि) हूं, (अथो) और (त्वम्) तू भी (सासहिः=ससहिः) जयशील (असि) है। (उभे) दोनों हम [तू और मैं] (सहस्वती=०-त्यौ) जयशील (भूत्वा) होकर (मे) मेरी (सपत्नीम्) विरोधिनी [अविद्या] को (सहावहै) जीत लें ॥ ५ ॥

भावार्थ—योगी जन ब्रह्मविद्या में एकवृत्ति होकर अविद्या को जीतकर आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम् । मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु ॥ ६ ॥

अभि । ते । अधाम् । सहमानाम् । उप । ते । अधाम् । सहीयसीम् । माम् । अनु । प्र । ते । मनः । वत्सम् । गौः-इव । धावतु । पथा । वाः-इव । धावतु ॥ ६ ॥

५—(सहमाना) षह अभिभवे—शानच् । अभिभवित्री प्रजा । (अथो) अपि च । (सासहिः) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति षह अभिभवे-कि, लिड्वद्भावः । छान्दसो दीर्घः । अभिभवित्री । (उभे) त्वं च अहं च, आवाम् । (सहस्वती) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ ।३९। इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । अभिभवनवत्यौ । जयशीले । (सपत्नीम्) म० १ । विरोधिनीम्, अविद्याम् । (सहावहै) षह अभिभवे-लोट् । आवाम् अभिभवाव ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (ते) तेरे लिये (सहमानाम्) प्रबल [अविद्या] को (अभि=अभिभूय) हराकर (अधाम्) मैंने रक्खा है, और (ते) तेरे लिये (सहीयसीम्) अधिक प्रबल [ब्रह्मविद्या] को (उप) आदर से (अधाम्) मैंने रक्खा है। सो (ते मनः) तेरा मन (माम् अनु) मेरे पीछे पीछे [योगी के स्वरूप में] (प्रधावतु) दौड़ता रहे और (धावतु) दौड़ता रहे, (गौः इव) जैसे गौ (वत्सम्) अपने बछड़े के पीछे,और (वाः इव) जैसे जल (पथा) अपने मार्ग से [दौड़ता है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—योगी वृत्तियों के निरोध से अविद्या को जीतकर स्वरूप अर्थात् अपनी और परमात्मा की शक्ति को जानकर परोपकार में आगे बढ़ता है, जैसे स्वभाव से गौ अपने छोटे बच्चे के पीछे दौड़ती फिरती है और पानी नीचे मार्ग से समुद्र को चला जाता है ॥

भगवान् पतञ्जलि ने कहा है-योगदर्शन, पाद १ सू० २, ३ ॥

योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः ॥ १ ॥

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ॥ २ ॥

योग चित्त की वृत्तियों का रोकना है ॥ १ ॥
तब देखनेवाले के अपने रूप में चित्त का ठहराव होता है ॥ २ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—८ ॥ पुरोहितो देवता । १, २, ४ अनुष्टुप्, ३ पूर्वार्ध-स्त्रिष्टुप्, द्वितीयोऽनुष्टुप्, ५ त्रिष्टुप् ६, उद्धर्षन्तां मघवन्

६—(अभि) अभिभूय । जित्वा । (ते) तव हिताय । (अधाम्) डुधाञ् धारणपोषणयोः—लुङ् । अहम् अधार्षम् । (सहमानाम्) म० ५ । प्रबलाम् अविद्याम् । (उप) पूजायाम् । (सहीयसीम् । सोढ़-ईयसुन् । सोढृतराम । बलवत्तरां ब्रह्मविद्याम् । (माम्) योगिनम् । (अनु) अनुसृत्य । (ते) तव । (मनः) चित्तम् । (वत्सम्) । गोशिशुम् । (गौः इव) धेनुर्यथा । (प्रधावतु) प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छतु । (पथा) मार्गेण । (वार्) अ० ३ । १३ । ३ । जलम् ॥

इति त्रिष्टुप्, पृथग् घोषा इत्यनुष्टुप्, ७ पूर्वार्धोऽनुष्टुप्, द्वितीयस्त्रिष्टुप्, ८ पङ्क्तिः॥

युद्धविद्याया उपदेशः—युद्धविद्या का उपदेश ॥

संशि॑तं म इ॒दं ब्रह्म॒ संशि॑तं वी॒र्यं१॒ बल॑म्।
संशि॑तं क्ष॒त्रम॒जर॑मस्तु जि॒ष्णुर्येषा॒मस्मि॑ पु॒रोहि॑तः ॥१॥

सम्-शि॑तम्। मे॒। इ॒दम्। ब्रह्म॑। सम्-शि॑तम्। वी॒र्य॑म्। बल॑म्॥ सम्-शि॑तम्। क्ष॒त्रम्। अ॒जर॑म्। अ॒स्तु॒। जि॒ष्णुः। येषा॑म्। अस्मि॑। पु॒रः-हि॑तः ॥ १ ॥

भषार्थ—(मे) मेरे लिये [इन वीरों का] (इदम्) यह (ब्रह्म) वेदज्ञान वा अन्न वा धन (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, और (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया गया है, (संशितम्) यथाविधि सिद्ध किया हुआ (क्षत्रम्) राज्य (अजरम्) अटल (अस्तु) होवे, (येषाम्) जिनका मैं (जिष्णुः) विजयी (पुरोहितः) पुरोहित अर्थात् प्रधान (अस्मि) हूं ॥ १ ॥

१—(संशितम्) सम्+शो तनूकरणे-क्त। सम्यक् सम्पादितं साधितम्। (मे) ममार्थम्। (इदम्) प्रसिद्धम्। (ब्रह्म) प्रवृद्धं वेदज्ञानम्। अन्नम्, निघ० २।८। धनम्, निघ० २।१०। (वीर्यम्) वीर—भावे यत्। वीरता। (बलम्) सैन्यम्। (क्षत्रम्)। अ० २।१५।४। क्षत्रियकुलम्। राज्यम्। (अजरम्) जरारहितम्। (जिष्णुः) ग्लाजिस्थश्च ग्स्नुः। पा० ३।२।१३९। इति जि जये-ग्स्नु। विजयी। (येषाम्) योद्धॄणाम्। (पुरोहितः) पुरस्+डुधाञ धारणपोषणयोः—क्त। पूर्वाधरावराणामसिः०। पा० ५।३।३९। इति पूर्व-असि, पुर् आदेशः। दधातेर्हिः। पा० ७।४।४२। इति हि। पुरोहितः पुर एनं दधति होत्राय वृतः कृपायमाणोऽन्वध्यायत्। निरु० २।१२। पूर्वम् अग्रे कर्मसु धीयते, आरोप्यते यः। प्रधानः। अग्रसरः ॥

भावार्थ—सेनापति राजा विद्या, अन्न, और धन आदि की यथावत् वृद्धि करके अपने वीरों और सेना का उत्साह बढ़ाता रहे, जिससे राज्य चिरस्थायी हो ॥ १ ॥

समहमेषां राष्ट्रं स्यामि समोजो वीर्यं१ बलम् ।
वृश्चामि शत्रूणां बाहूननेन हविषाहम् ॥ २ ॥

सम् । अहम् । एषाम् । राष्ट्रम् । स्यामि । सम् । ओजः । वीर्यम् । बलम् ॥ वृश्चामि । शत्रूणाम् । बाहून् । अनेन । हविषा । अहम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [अपने वीरों] के (राष्ट्रम्) राज्य, (ओजः) शारीरिक बल, (वीर्यम्) वीरता और (बलम्) सेना दल को (सम्) भले प्रकार (संस्यामि) जोड़ता हूं । (अहम्) मैं (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (अनेन) इस (हविषा) अन्न वा आवाहन से (वृश्चामि) काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा सत्कारपूर्वक अपने वीरों को, सामाजिक शारीरिक और (हविषा) आर्थिक दशा के सुधार से, सन्तुष्ट रखकर शत्रुओं का नाश करे ॥ २ ॥

नीचैः पद्यन्तामधरे भवन्तु ये नः सूरिं मघवानं पृतन्यान् ।
क्षिणामि ब्रह्मणामित्रानुन्नयामि स्वानहम् ॥ ३ ॥

२—(सम्) सम्यक् प्रकारेण । (अहम्) पुरोहितः । राजा । (एषाम्) स्ववीराणाम् । (राष्ट्रम्) अ० ३ । ४ । १ । राज्यम् । (संस्यामि) षो अन्तकर्मणि । सम् + षो संयोजने । संयोजयामि । वर्धयामि । दृढीकरोमि । (ओजः) अ० १ । १२ । १ । शारीरिकबलम् । (वीर्यम्) वीरताम् । (बलम्) सैन्यम् । (वृश्चामि) ओव्रश्चू छेदने । छिनद्मि । (बाहून्) भुजान् । पराक्रमान् । (हविषा) अ० १ । ४ । २ । अन्नेन आवाहनेन ॥

नीचैः। पद्यन्ताम्। अधरे। भवन्तु। ये। नः। सूरिम्। मघ-वानम्। पृतन्यान्॥ क्षिणामि। ब्रह्मणा। अमित्रान्। उत्। नयामि। स्वान्। अहम्॥ ३॥

भाषार्थ—वे [शत्रु] (नीचैः) नीचे (पद्यन्ताम्) गिरें और (अधरे) नीचे (भवन्तु) रहें, (ये) जो (नः) हमारे (मघवानम्) धनी (सूरिम्) सूरमा राजा पर (पृतन्यान्) सेना चढ़ावें।

(अहम्) मैं (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अमित्रान्) शत्रुओं को (क्षिणामि) मारे डालता हूं, और (स्वान्) अपने लोगों को (उन्नयामि) ऊंचा करता हूं ॥३॥

भावार्थ—सैनिक लोग ललकार कर वैरियों पर धावा करके मार गिरावें और राजा उन अपने वीरों को ऊंची २ पदवी देवे ॥ ३ ॥

तीक्ष्णीयांसः परशोरग्नेस्तीक्ष्णतरा उत।
इन्द्रस्य वज्रात् तीक्ष्णीयांसो येषामस्मि पुरोहितः॥४॥

तीक्ष्णीयांसः। परशोः। अग्नेः। तीक्ष्ण-तराः। उत॥ इन्द्रस्य। वज्रात्। तीक्ष्णीयांसः। येषाम्। अस्मि। पुरः-हितः॥ ४॥

३—(नीचैः) अवाङ्मुखाः। (पद्यन्ताम्) पतन्तु। (अधरे) निकृष्टाः। पादाक्रान्ताः। (नः) अस्माकम्। (सूरिम्) सूङः क्रिः। उ० ४। ६४। इति पूङ् प्रसवे, वा षू प्रेरणे—क्रि। सूते अर्थान्। सुवति शत्रून्। शूरम्। राजानम्। पण्डितम्। (मघवानम्) मघम्=धनम्। निघ० २। १०। मत्वर्थीयो वनिप्। प्रभूतधनवन्तम्। (पृतन्यान्) सुप आत्मनः क्यच्। पा०३। १। ८ इति पृतना—क्यच्। कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः। पा० ७। ४। ३९। इति क्यचि पृतना-शब्दस्य अन्त्यलोपः। लेटि आडागमः। पृतन्यन्तु पृतनां सेनाम् आत्मन इच्छन्तु। (क्षिणामि) क्षि हिंसायाम्। नाशयामि। (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन। शास्त्रबोधेन। (अमित्रान्) अ० १। १९। २। पीड़कान्। (उत् नयामि) उन्नतान् करोमि। (स्वान्) स्वकीयान् वीरान्। (अहम्) सेनापतिः॥

भाषार्थ—वे वीर (परशोः) परसे [कुल्हाड़ी] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण, (अग्नेः) अग्नि से (तीक्ष्णतराः) अधिक तीक्ष्ण (उत) और (इन्द्रस्य) मेघ के (वज्रात्) वज्र [बिजुली] से (तीक्ष्णीयांसः) अधिक तीक्ष्ण हैं, (येषाम्) जिनका मैं (पुरोहितः) पुरोहित वा मुखिया (अस्मि) हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना का आत्मबल बढ़ावे। आत्मबल से अस्त्र शस्त्र आदि की अपेक्षा अधिक कार्य सिद्ध होता है ॥ ४ ॥

एषामहमायुधा सं स्याम्येषां राष्ट्रं सुवीरं वर्धयामि। एषां क्षत्रमजरमस्तु जिष्ण्वे३षां चित्तं विश्वेऽवन्तु देवाः ॥ ५ ॥

एषाम्। अहम्। आयुधा। सम्। स्यामि। एषाम्। राष्ट्रम्। सु-वीरम्। वर्धयामि ॥ एषाम्। क्षत्रम्। अजरम्। अस्तु। जिष्णु। एषाम्। चित्तम्। विश्वे। अवन्तु। देवाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एषाम्) इन [वीरों] के (आयुधा=०—नि)

४—(तीक्ष्णीयांसः) तीक्ष्ण-ईयसुन्। आत्मबले तीक्ष्णतराः। (परशोः) आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च। उ० १। ३३। इति शॄ हिंसायाम्-कु, स च डित्। परान् शत्रून् शृणाति येन। अस्त्रविशेषात्। कुठारात्। (अग्नेः) पावकात्। (तीक्ष्णतराः) तीक्ष्ण—तरप्। निशिततराः। (उत) अपि च। (इन्द्रस्य) वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः—निरु० ७। ५। मेघस्य। (वज्रात्) विद्युतः। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

५—(एषाम्) स्ववीराणाम्। (अहम्) पुरोहितः, सेनापतिः। (आयुधा) आङ्+युध संप्रहारे-करणे घञर्थे क। प्रहरणसाधनानि। बाणखड्गकुन्तादीनि। (सं स्यामि।

हथियारों को (सं स्यामि) जोड़ता हूं [दृढ़ करता हूं], (एषाम्) इन के (सुवीरम्) साहसी वीरों वाले (राष्ट्रम्) राज्य को (वर्धयामि) बढ़ाता हूं, (एषाम्) इन का (क्षत्रम्) क्षत्रियपन (अजरम्) अजर [अटल] और (जिष्णु) विजयी (अस्तु) होवे। (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य [विजयी, कमनीय, वा प्रशंसनीय धार्मिक] गुण (एषाम्) इनके (चित्तम्) चित्त को (अवन्तु) तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति अपने योधाओं के बाण [तोप, तुपक, धनुषादि,] तरवारि, शक्ति, भाले आदि अस्त्र शस्त्र धनुर्वेद की रीति से दृढ़ बनवावे, और प्रसिद्ध वीरों का पद बढ़ाकर उत्साह बढ़ावे ॥ ५ ॥

उद्धर्षन्तां मघवन् वाजिनान्युद् वीराणां जयतामेतु घोषः। पृथग् घोषा उलुलयः केतुमन्त उदीरताम्। देवा इन्द्रज्येष्ठा मरुतो यन्तु सेनया ॥ ६ ॥

उत्। हर्षन्ताम्। मघ-वन्। वाजिनानि। उत्। वीराणाम्। जयताम्। एतु। घोषः ॥ पृथक्। घोषाः। उलुलयः। केतु-मन्तः। उत्। ईरताम् ॥ देवाः। इन्द्र-ज्येष्ठाः। मरुतः। यन्तु। सेनया ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े धनी राजन् ! (वाजिनानि) सेना दल

राष्ट्रम्) म० २। (सुवीरम्) शोभनवीरयुक्तम्। (वर्धयामि) समर्धयामि। (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं क्षत्रियत्वम् (अजरम्) जरारहितं सुदृढम्। (जिष्णु) म० १। (चित्तम्) अन्तःकरणम् (विश्वे) सर्वे। (अवन्तु) तर्पयन्तु। (देवाः) दिवु विजिगीषाकान्तिस्तुत्यादिषु-अच्। दिव्यानि विजयशीलानि, काम्यानि, स्तुत्यानि, धार्मिककर्माणि ॥

६—(उत् हर्षन्ताम्) उत्कर्षेण हर्षयुक्तानि भवन्तु। (मघवन्) म० २। हे

(उत् हर्षन्ताम्) मनको ऊंचा उठावें और(जयताम्) जीतते हुये (वीराणम्) वीरों का (घोषः) जयजयकार वा सिंहनाद (उत् एतु) ऊंचा उठे।

(उलुलयः) जलाने वालों के जलानेवाले, (केतुमन्तः) ऊंचे झंडा वाले (घोषाः) जयजयकार शब्द (पृथक्)नाना रूप में (उत् ईरताम्) ऊपर चढ़ें।

(इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्र, प्रतापी पुरुष को ज्येष्ठ वा स्वामी रखनेवाले(मरुतः) शूर (देवाः) जय चाहने वाले देवता लोग (सेनया) सेना के साथ (यन्तु) चलें ॥ ५ ॥

भावार्थ—समस्त सेनादल बड़ी उमंगसे व्यूह बनाकर नानारूपमें मारू बाजे गाजे के साथ "जय जय" करते हुए आगे बढ़ें, और सब दल पति लोग प्रधान सेनापति की आज्ञानुसार अपनी २ टुकरी लेकर धावा करें॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद १० । १०३ । १० और यजुर्वेद १७ । ४२ । में है

प्रेता जयता नर उग्रा वः सन्तु बाहवः । तीक्ष्णेषवोऽबलधन्वनो हतोग्रायुधा अबलानुग्रबाहवः ॥७॥

प्र । इत । जयत । नरः । उग्राः । वः । सन्तु । बाहवः ॥

बहुधनवन्। (वाजिनानि) महेरिनण् च । उ० २ । ५६ । इति वज गतौ—इनण्। बलानि हस्त्यश्वरथादीनि । वाजः=बलम् । निघ० २ । ९ । (वीराणाम्) शूराणाम् । (जयताम्) जि—शतृ । जयं प्राप्नुवताम् । (उत् एतु) गद्गच्छतु । (घोषः) जयजयकारः । सिंहनादः । (पृथक्) नानारूपे (उलुलयः) उल्+उलयः । उल दाहे—क्विप् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति उल दाहे—इन्, स च कित् । इति उलुलिः । उलां दाहकानाम् उलयो दाहकाः शत्रुनाशकाः । (केतुमन्तः) पताकायुक्ताः । (उत् ईरताम्) ईर गतौ, अदादिः,उद्गच्छन्तु । (देवाः) विजिगीषवः । (इन्द्रज्येष्ठाः) इन्द्रः, ऐश्वर्यवान् पुरुषो ज्येष्ठः श्रेष्ठो वृद्धो वा स्वामी येषां ते तथाविधाः । (मरुतः) अ० १ । २० । १ । मारयन्ति दुष्टान् । शूरा देवाः । (यन्तु) गच्छन्तु । (सेनया) स्वस्वसेनया सार्धम् ॥

तीक्ष्ण-इ॑षवः । अ॒बल-ध॑न्वनः । ह॒त ! उ॒ग्र-आ॑युधाः अ॒ब॒-लान् । उ॒ग्र-बा॑हवः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नरः) हे नरो (प्र इत) धावा करो, (जयत) जीतो । (वः) तुम्हारी (बाहवः) भुजायें (उग्राः) प्रचण्ड [कट्टर] (सन्तु) होवें । (तीक्ष्णेषवः) हे तीखे बाण वाले ! (उग्रायुधाः) हे कट्टर हथियारों वाले (उग्रबाहवः) हे कट्टर भुजाओं वाले वीरो ! (अबलधन्वनः) निर्बल धनुष वाले (अबलान्) निर्बल [शत्रुओं] को (हत) मारो ॥ ७ ॥

भावार्थ—(प्रेता जयता) पदों में दीर्घता उत्साह के लिये है । सेनापतिकी आज्ञा से सब सैन्यक लोग उमंग के साथ मारू बजाते गाते धावा करके तुच्छ वैरियों को मारें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद १० । १०३ । १३ । और यजुर्वेद १७।४६ में है॥

अव॑सृष्टा॒ परा॑पत॒ शर॑व्ये॒ ब्रह्म॑संशिते । जया॒मित्रा॒न् प्र प॑द्यस्व ज॒ह्ये॑षां॒ वरं॑वरं॒ मामीषां॑ मोचि॒ कश्च॒न॥८॥

अव॑-सृष्टा । परा॑ । प॒त॒ । शर॑व्ये॒ । ब्रह्म॑-संशिते ॥ जय॑ । अ॒मि-त्रा॑न् । प्र । प॒द्य॒स्व॒ । ज॒हि॒ । ए॒षा॒म् । वर॑म्-वरम् । मा । अ॒मीषा॑म् । मो॒चि॒ । कः । च॒न ॥ ८ ॥

७—(प्र इत) प्रक्रम्य रणक्षेत्रं गच्छत । (जयत) अभिभवत । उभयत्र बलवर्धनाय सांहितको दीर्घः । (नरः) अ० ३ । १७ । ६ । हे नेतारः (उग्राः) प्रचण्डाः । (वः) युष्माकम् । (बाहवः) भुजाः । (तीक्ष्णेषवः) निशितबाणाद्यायुधयुक्ताः । (अबलधन्वनः) । निर्बलधनुराद्यायुधोपेतान् । (हत) नाशयत । (उग्रायुधाः)निशिततरवारिशक्त्याद्यायुधयुक्ताः । (अबलान्) निर्बलान् । (उग्रबाहवः) दृढभुजाः ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मसंशिते) हे ब्रह्माओं, वेदवेत्ताओं से प्रशंसित वा यथावत् तीक्ष्ण की हुई (शरव्ये) वाण विद्यामें चतुर सेना ! (अवसृष्टा) छोड़ी हुई तू (परा) पराक्रम के साथ (पत) झपट । (अमित्रान्) वैरियों को (जय) जीत, (प्र पद्यस्व) आगे बढ़, (एषाम्) इन में से (वरंवरम्) एक एक बड़े वीर को (जहि) मार डाल, (अमीषाम्) इनमें से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छुटे ॥ ८ ॥

भावार्थ—धर्मज्ञ और युद्ध विद्या में कुशल आचार्यों से शिक्षा पाकर सेना के स्त्री पुरुष सेनापति की आज्ञा पातेही उमंग से धावा करके शत्रुओं को मार गिरावें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद ६ । ७५ । १६ । और यजुर्वेद १७ । ४५ । में है ॥

सूक्तम् २० ।

१-१० ॥ १, २, ५, अग्निर्देवता, अन्यत्र मन्त्रोक्ता देवताः । १-५, ७, ९, १० अनुष्टुप्, ६ पङ्क्तिः, ८ जगती ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेशः—ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

अयं ते योनि॑र्ऋ॒त्वियो॒ यतो॑ जा॒तो अरो॑चथाः ।
तं जा॒नन्न॑ग्न॒ आ रो॑हाथा॑ नो वर्धया र॒यिम् ॥ १ ॥

अयम् । ते । योनिः । ऋ॒त्वियः॑ । यतः॑ । जा॒तः । अरो॑चथाः ॥

८—(अवसृष्टा) सृज-क्त । प्रेरिता । (परा) पराक्रमेण । (पत) शीघ्रं गच्छ । (शरव्ये) अ० १ । १९ । १ । शरु—यत् । हे शरौ बाणविद्यायां कुशले सेने । (ब्रह्मसंशिते) ब्रह्मभिर्वेदवेतृभिः प्रशंसिते वा सम्यक् शिते तीक्ष्णीकृते सुशिक्षिते । (एषाम्) शत्रूणां मध्ये । (वरंवरम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते-निरु० १० । ४२ । प्रत्येकं श्रेष्ठं वीरम् । (अमीषाम्) दूरे दृश्यमानानां वैरिणां मध्ये । (कश्चन) कोऽपि । (मा मोचि) मुच्लृ मोक्षे-कर्मणि माङि लुङि रूपम् । मुक्तो मा भूत । अन्यत् सुगमम् ॥

तम् । जानन् । अग्ने । आ । रोह । अथ । नः । वर्धय । रयिम् ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [सर्वव्यापी परमेश्वर] (ते) तेरा (ऋत्वियः) सब ऋतुओं [कालों] में मिलने वाला (योनिः) कारण है. (यतः) जिससे (जातः) प्रकट होकर (अरोचथाः) तू प्रकाशमान हुआ है, (तम्) उस [योनि] को (जानन्) पहिचान कर (आ रोह) ऊंचा चढ़, (अथ) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (वर्धय) बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता और सर्वव्यापकता से हमें बड़ा समर्थ और उपकारी मनुष्य देह दिया है। ऐसा जानकर हम अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद ३ । २९ । १० । और यजुर्वेद ३ । १४ ॥ १२ । ५२ । और १५ ॥ ५६ । में है ॥

अग्ने अच्छा वदेह नः प्रत्यङ् नः सुमना भव ।
प्र णो यच्छ विशां पते धनदा असि नस्त्वम् ॥ २ ॥

अग्ने । अच्छ । वद । इह । नः । प्रत्यङ् । नः । सु-मनाः । भव ॥ प्र । नः । यच्छ । विशाम् । पते । धन-दाः । असि । नः । त्वम् ॥ २ ॥

१—(अयम्) सर्वत्र दृश्यमानः । (ते) तव । (योनिः) अ० १ । ११ । ३ । कारणम् । (ऋत्वियः) अर्तेश्च तुः । उ० ऋ गतौ-तु,चकारात् कित् । छन्दसि घस् । पा० ५ । १ । १०६ । इति ऋतु शब्दात् तस्य प्राप्तमित्यर्थे घस् । इयादेशः । सर्वेषु ऋतुषु कालेषु प्राप्तः । (यतः) यस्माद् योनेः । (जातः) उत्पन्नः । प्रकटः सन् । (अरोचथाः) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च लङ् । त्वम् अदीप्यथाः । दीप्तोऽभवः । (तम्) योनिम् । (जानन्) अवगच्छन् । (अग्ने) अगि गतौ-नि । हे विद्वन् । (आ रोह) उन्नतिं प्राप्नुहि । (अथ) अनन्तरम् । (नः) अस्मभ्यम् । (वर्धय) समर्धय । (रयिम्) धनम् । ऐश्वर्यम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अच्छ) अच्छे प्रकार से (इह) यहां पर (नः) हम से (वद) बोल, और (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (नः) हमारे लिये (सुमनाः) प्रसन्न मन (भव) हो। (विशाम् पते) हे प्रजाओं के रक्षक ! (नः) हमें (प्र यच्छ) दान दे, (त्वम्) तू (नः) हमारा (धनदाः) धन दाता (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों से विद्या ग्रहण करके संसार में ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ २ ॥

मन्त्र २-७ ऋग्वेद म० १० सू० १४१ म० १, २, ३, ६, ४, ५ कुछ भेद से हैं। यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६। म० २८ में है ॥

प्र णो॑ यच्छत्व॒र्य॒मा प्र भगः॒ प्र बृह॒स्पतिः॑ ।
प्र दे॒वीः प्रोत सू॒नृता॑ र॒यिं दे॒वी द॑धातु मे ॥ ३ ॥

प्र । नः॒ । य॒च्छ॒तु॒ । अ॒र्य॒मा । प्र । भगः॑ । प्र । बृ॒ह॒स्पतिः॑ ।
प्र । दे॒वीः । प्र । उ॒त । सू॒नृता॑ । र॒यिम् । दे॒वी । द॒धा॒तु॒ । मे॒ ॥३॥

भाषार्थ—(अर्यमा) वैरियों का नियन्ता वीर पुरुष, (प्र) अच्छे प्रकार (भगः) ऐश्वर्यवान्, धनी पुरुष (प्र) अच्छे प्रकार, और (बृहस्पतिः) बड़ी बड़ी विद्याओं का स्वामी, प्रधान आचार्य (प्र) अच्छे प्रकार (नः) हमें (देवीः)

२—(अग्ने) हे विद्वन्। (अच्छ) सम्यक्। (वद) ब्रूहि। उपदिश। (इह) अत्र समाजे। (प्रत्यङ्) प्रत्यञ्चन् अभिमुखं गच्छन्। (नः) अस्मान्। अस्मभ्यम्। (सुमनाः) प्रीतिमनाः। (प्र यच्छ) दानं कुरु। (विशांपते) हे प्रजानां पालक। (धनदाः) धन+दा-विच्। ऐश्वर्यस्य दाता। अन्यत् सुगमम् ॥

३—(नः) अस्मभ्यम्। (प्र यच्छतु) ददातु। (अर्यमा) अ० १।११।१। अ० ३।१४।२। शत्रुनियन्ता। (प्र) प्रकर्षेण। (भगः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः। (बृहस्पतिः) अ० १।८।२। बृहतां बोधानां पालकः। आचार्यः। (देवीः)

दिव्य शक्तियां (प्र यच्छतु) प्रदान करे। (उत) और (सूनृता) प्रिय सत्य वाणी (देवी) देवी [दिव्य गुण वाली] (मे) मुझे (रयिम्) ऐश्वर्य (प्र) अच्छे प्रकार (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य, विशेष गुणी आचार्यों से विशेष शिक्षायें पाकर, सत्यवादी सत्यकर्मी होकर ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ९ । २९ । में है ॥

सोमं राजानमवसेऽग्निं गीर्भिर्हवामहे ।
आदित्यं विष्णुं सूर्यं ब्रह्माणं च बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

सोमम् । राजानम् । अवसे । अग्निम् । गीःभिः । हवामहे ।
आदित्यम् । विष्णुम् । सूर्यम् । ब्रह्माणम् । च । बृहस्पतिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अवसे) रक्षा के लिये (गीर्भिः) स्तुतियों से (सोमम्) ऐश्वर्य के कारण, (राजानम्) सबके शासक (अग्निम्) विद्वान् (आदित्यम्) बड़े दीप्यमान, (विष्णुम्) सबमें व्यापक, (सूर्यम्) सब के चलाने वाले, (ब्रह्माणम्) सब में बड़े वेद प्रकाशक ब्रह्मा (च) और (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के

व्यावहारिकाः शक्तीः । (सूनृता) अ० ३ । १२ । २ । सत्यप्रियात्मिका वाक् । सरस्वती । (रयिम्) ऐश्वर्यम् । (देवी) शोभनगुणवती । (दधातु) ददातु । (मे) मह्यम् ॥

४—(सोमम्) अ० १ । ६ । २ । ऐश्वर्यहेतुम् । (राजानम्) अ० १ । १० । १ । सर्वशासकम् । (अवसे) रक्षणाय । (अग्निम्) विद्वांसम् । (गीर्भिः) वाणीभिः । स्तुतिभिः । (हवामहे) आह्वयामः । (आदित्यम्) अ० १ । ९ । १ । आदीप्यमानम् । (विष्णुम्) विषेः किच्च । उ० ३ । ३९ इति विष्लृ, व्याप्तौ—नु । विष्णुः, यज्ञः । निघ० ३ । १७ । पदनाम, निघ० ४ । २ । यद्विषितोभवति तद्विष्णुर्भवति विष्णुर्विशतेर्वा व्यश्नोतेर्वा—निरु० १२ । १८ । व्यापकम् । (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । सर्वप्रेरकम् । (ब्रह्माणम्) अ० २ । ६ । २ । सर्ववृद्धम् । वेद प्रका-

रक्षक बृहस्पति [परमेश्वर वा मनुष्य] को (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य जगदीश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव के ज्ञान और बड़े लोगों के आश्रय से अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ६। २६ में है ॥

त्वं नो अग्ने अग्निभिर्ब्रह्म यज्ञं च वर्धय ।
त्वं नो देव दातवे रयिं दानाय चोदय ॥ ५ ॥

त्वम् । नः । अग्ने । अग्नि-भिः । ब्रह्म । यज्ञम् । च । वर्धय ।
त्वम् । नः । देव । दातवे । रयिम् । दानाय । चोदय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् [परमेश्वर वा पुरुष] (अग्निभिः) विद्वानों के द्वारा (त्वम्) तू (नः) हमारे (ब्रह्म) वेद ज्ञान वा ब्रह्मचर्य (च) और (यज्ञम्) यज्ञ [१—विद्वानों के पूजन, २—पदार्थों के संगतिकरण, और ३—विद्यादि के दान] को (वर्धय) बढ़ा, (देव) हे दानशील ! (त्वम्) तू (नः) हम में से (दातवे) दानशील पुरुष को (दानाय) दान के लिये (रयिम्) धन (चोदय) भेज ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरके ज्ञानसे अपना ज्ञान और कर्मकौशल्य बढ़ावें और उपकारी कामों में आप सहायक बनें और दूसरों को सहायक बनावें ॥५॥

रक्षकम् । (बृहस्पतिम् । अ० १ । ८ । २ । बृहतां महतां पालकम् ॥

५—(नः) अस्माकम् । अस्माकं मध्ये । (अग्ने) हे विद्वन् परमेश्वर राजन् वा (अग्निभिः) म० १ । विद्वद्भिः सह । (ब्रह्म) वेदज्ञानम् । ब्रह्मचर्यम् । (यज्ञम्) देवपूजनम् । पदार्थसंगतिकरणम् । विद्यादिदानम् (वर्धय) उन्नय । (देव) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा-निरु० ७ । १५ । हे दानशील (दातवे) सितनिगमिमसि० । उ०१ । ६६ । इति डुदाञ्-दाने-तुन् । दात्रे पुरुषाय । (रयिम्) धनम् । (दानाय) त्यागाय । (चोदय) प्रेरय ॥

इन्द्रवायू उभाविह सुहवेह हवामहे ।
यथा नः सर्व इज्जनः संगत्यां सुमना असद् दानकामश्च नो भुवत् ॥ ६ ॥

इन्द्रवायू इति । उभौ । इह । सु-हवा । इह । हवामहे ॥ यथा । नः । सर्वः । इत् । जनः । सम्-गत्याम् । सु-मनाः । असत् । दान-कामः । च । नः । भुवत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उभौ) दोनों (सुहवा=०—वौ) सुख से बुलाने योग्य (इन्द्रवायू) सूर्य और पवन [के समान स्त्री पुरुष] को (इह इह) यहाँ पर ही (हवामहे) हम बुलाते हैं, (यथा)जिससे (सर्वः इत्) सभी (जनः) जने (नः) हमारी (संगत्याम्) संगति में (सुमनाः) प्रसन्न चित्त वाले (असत्) होवें, (च) और (नः) हमारी (दानकामः) दान के लिये कामना (भुवत्) होवे ॥६॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके घर में और सभा में परस्पर परोपकारी, प्रसन्न चित्त, धार्मिक और धर्मकार्यों में दानशील हों, जैसे सूर्य अपने प्रकाश और वृष्टि आदि से, और पवन अपने चेष्टादान और शीघ्रगमन आदि से असंख्यलाभ पहुंचाते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ३३ । ८६ में है ॥

अर्यमणं बृहस्पतिमिन्द्रं दानाय चोदय ।
वातं विष्णुं सरस्वतीं सवितारं च वाजिनम् ॥ ७ ॥

६—(इन्द्रवायू) ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम् । पा० १ । १ । ११ । इति उभौ परे प्रकृतिभावः । सूर्यपवनसदृशौ स्त्रीपुरुषौ । (उभौ) द्वौ । (इह इह) अस्मिन्नेव गृहे समाजे वा । (सुहवा) ईषद् दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । सु+ह्वयतेः—खल् । सुहवौ सुखेन ह्वातुं शक्यौ । (हवामहे) आह्वयामः । (यथा) यस्मात् । (नः) अस्माकम् (इत्) एव । (जनः) लोकः । (संगत्याम्) समितौ । सभायाम् । (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः । (असत्, भुवत) लेटि रूपम् । भवेत् । (दानकामः,) दानाय कामः, अभिलाषः ॥

अर्यमणम् । बृहस्पतिम् । इन्द्रम् । दानाय । चोदय ॥ वातम् । विष्णुम् । सरस्वतीम् । सवितारम् । च । वाजिनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (अर्यमणम्) वैरियों के रोकनेवाले राजा, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के रक्षक गुरु और (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष और (वातम्) पवन, (विष्णुम्) यज्ञ, (च) और (वाजिनम्) वेग वाले, वा अन्नवाले, वा बलवाले (सवितारम्) लोकों के चलाने वाले सूर्य से (सरस्वतीम्) विज्ञानों के भंडार सरस्वती, वेद विद्या को (दानाय) दान के लिये (चोदय) प्रवृत्त कर ॥ ७ ॥

भावार्थ— ईश्वर भक्त (अर्यमा) राजा वा सेनापति, (बृहस्पति) प्रधान आचार्य और (इन्द्र) दण्डनेता वा कोषाध्यक्ष आदि अधिकारी अपने २ पदों पर दृढ़ रह कर, पवन, सूर्य, अग्नि, जल, पृथिवी आदि अद्भुत पदार्थों द्वारा वेद विज्ञान फैलावें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद अ० ६ म० २७ में है ॥

मनु महाराज ने लिखा है—मनु० अ० १२ श्लो० १०८ ॥

सैनापत्यं च राज्यं च दण्डनेतृत्वमेव च ।
सर्वलोकाधिपत्यं च वेदशास्त्रविदर्हति ॥ १ ॥

वेद शास्त्र का जानने वाला पुरुष, सेनापतिके पद, राजा के पद, और दण्ड दाताके पद और सब लोगोंपर आधिपत्य [चक्रवर्त्ति राज्य]के योग्य होताहै॥१॥

७—(अर्यमणम्) म० ३ । अरिनियन्तारम् । (बृहस्पतिम्) म० । बृहतां पालकम् । (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् । (दानाय) त्यागाय । (चोदय) नय । प्रवर्त्तय । अस्य धातोः-णीञ् इत्येतेन सह अर्थनिबन्धनायां द्विकर्मकत्वम् । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अर्यमणमादीनां सप्तपदानाम् अपादाने कर्मत्वम् । (वातम्) पवनम् । (विष्णुम्) म० ४ । यज्ञम् । (सरस्वतीम्) सरोभिर्विज्ञानैर्युक्तां वेदविद्याम् । (सवितारम्) अ० १ । १८ । २ । लोकानां प्रेरकम् । (वाजिनम्) अ०१ । ४ । ४ । वाज-इनि । वेगवन्तम् । अन्नवन्तम् । बलवन्तम् ॥

वाज॑स्य॒ नु प्र॑स॒वे सं ब॑भूवि॒मेमा च॒ विश्वा॒ भुव॑नान्य॒न्तः । उ॒तादि॑त्सन्तं दापयतु प्रजा॒नन् र॒यिं च॑ नः॒ सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छ ॥ ८ ॥

वाज॑स्य । नु । प्र॒-स॒वे । सम् । ब॒भू॒वि॒म॒ । इ॒मा । च॒ । विश्वा॑ । भुव॑नानि । अ॒न्तः ॥ उ॒त । अदि॑त्सन्तम् । दा॒प॒य॒तु॒ । प्र॒-जा॒नन् । र॒यिम् । च॒ । नः॒ । सर्व॑-वीरम् । नि । य॒च्छ॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वाजस्य) बल के (प्रसवे) उत्पत्ति में (नु) ही (संबभूविम) हम समर्थ हुए हैं, (च) और (इमा=इमानि) यह (विश्वा=विश्वानि) सब (भुवनानि) लोक (अन्तः) [उसी के] भीतर हैं । (प्रजानन्) ज्ञानवान् ईश्वर (अदित्सन्तम्) देने की इच्छा न करने वाले से (उत) भी (दापयतु) दिलावे । (च) और [हे ईश्वर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) सर्ववीरों से युक्त (रयिम्) धन (नि) नित्य (यच्छ) दे ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब चराचर जगत् अन्न के आश्रित ठहरा है । सर्वज्ञ परमेश्वर अदानी पुरुषों को भी सुपात्रों के लिये दान शक्ति देवे, और हमें और हमारे वीरों को धनी बनावे ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १६ । २५ व २४ में है ॥

८—(वाजस्य) बलस्य । (नु) एव । (प्रसवे) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति प्र+पू प्रेरणे, यद्वा, पूङ् प्राणिगर्भविमोचने-अप् । उत्पत्तौ । (संबभूविम) भू सत्तायाम्-लिट् । वयं समर्था बभूविम । (इमा) इमानि । परिदृश्यमानानि । (विश्वा) सर्वाणि । (भुवनानि) अ० २ । १ । ४ । भू—क्युन् । लोकाः (अन्तः) वाजप्रसवस्य मध्ये वर्त्तन्ते । (उत) अपि । (अदित्सन्तम्) नञ्+दा, सन्-शतृ । सनि मीमाघुरभ० । पा० ७ । ४ । ५४ । इति इसादेशः । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तकारः । दातुमनिच्छन्तम् । (दापयतु) दानाय प्रवर्तयतु । (प्रजानन्) अवगच्छन् परमेश्वरः । (रयिम्) धनम् । (नः) अस्मभ्यम् । (सर्ववीरम्) सर्ववीरोपेतम् (नि) नियमेन । नित्यम् । (यच्छतु) पाघ्राध्मास्थाम्नादाण्० पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने यच्छादेशः । ददातु ॥

दुह्नां मे पञ्च प्रदिशों दुह्नामुर्वीर्यथाब॒लम् ।
प्रापेयं सर्वा आकू॑तीर्मन॑सा हृद॑येन च ॥ ९ ॥

दुह्नाम् । मे॒ । पञ्च॑ । प्र-दिश॑: । दुह्नाम् । उ॒र्वीः । य॒था-ब॒लम् । प्र । आपे॒य॒म् । सर्वाः । आ-कू॑तीः । मन॑सा । हृद॑येन । च ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(पञ्च) फैली हुयी [वा पांच] (प्रदिशः) उत्तमदान क्रियायें [वा प्रधान दिशायें] (मे) मेरे लिये (उर्वीः) फैली हुई शक्तियों को (यथा बलम्) यथाशक्ति (दुह्राम्) भरती रहें, (दुह्राम्) भरती रहें। (मनसा) मन [मनन शक्ति] से (च) और (हृदयेन) हृदय [ग्रहण शक्ति] से (सर्वाः) सब (आकूतीः) संकल्पों को (प्र, आपेयम्) मैं पाता रहूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि के दान से अपना सामर्थ्य बढ़ावें और सब दिशाओं से उत्तम गुण प्राप्त करें, तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासन [ध्यान देकर विचार] से अपने मनोरथ सिद्ध करें ॥ ९ ॥

९—(दुह्राम् दुह्राम्) दुह प्रपूरणे—लोट्। आत्मनेपदम्। बहुलं छन्दसि। पा० ३।७।८। इति भ्रप्रत्ययस्य अतो रुडागमः। लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७।१।४१। इति तलोपः। नित्यवीप्सयोः। पा० ८।१।४। इति द्विर्वचनम्। अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते-निरु० १०।४२। नित्यं दुहताम्। प्रपूरयन्तु। (पञ्च) अ० १।३०।४। पचि विस्तारे—कनिन्। विस्तृताः। संख्यावाची वा। (प्रदिशः) अ० १।३०।४। दिश दाने क्विप्। प्रकृष्टा दानक्रियाः। अथवा। प्राच्याद्याश्चतस्रः शिरोबिन्दुश्चेतेति पञ्च प्रदिशः। (उर्वीः) वोतो गुणवचनात्। पा० ४।१।४४। इति उरु—ङीप्। विस्तीर्णाः शक्तीः। (यथा-बलम्) यथाशक्ति। (प्र, आपेयम्) आप्लृ व्याप्तौ-आशिषि लिङि। अहं प्राप्नवानि। (सर्वाः) समस्ताः। (आकूतीः) । अ० ३।२।३। संकल्पान्। (मनसा) मननेन। (हृदयेन) अ० २।२९।६। हृञ् स्वीकारे-कयन्, दुक् च। ग्रहणेन। निदिध्यासनेनेत्यर्थः॥

गोसनिं वाचमुदेयं वर्चसा माभ्युदिहि।
आ रुन्धां सर्वतो वायुस्त्वष्टा पोषं दधातु मे ॥१०॥

गो-सनिम्। वाचम्। उत्-एयम्। वर्चसा। मा। अभि-उदिहि।
आ। रुन्धाम्। सर्वतः। वायुः। त्वष्टा। पोषम्। दधातु। मे ॥१०॥

भषार्थ—(गोसनिम्) गोलोक [गौओं वा स्वर्ग] की देने वाली (वाचम्) वाणी को (उदेयम्) मैं बोलूं। [हे ईश्वर!] (वर्चसा) तेज के साथ (मा=माम्) मेरे ऊपर (अभ्युदिहि) सब ओर से उदय हो। (वायुः) प्राण वायु [मुझको] (सर्वतः) सब प्रकार से (आ रुन्धाम्) घेरे रहे। (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर वा सूर्य (मे) मेरे लिये (पोषम्) पोषण (दधातु) देता रहे ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वरके ध्यानसे सत्यवादी और सत्यकर्मी होकर अपने प्राणों को वश में रक्खे और पुरुषार्थी होकर सूर्य से वृष्टि द्वारा अपना पोषण प्राप्त करे ॥ १० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-१० ॥ १-७ अग्नयो देवताः, ८-१० मन्त्रोक्तादेवताः ॥ १-४,

१०—(गोसनिम्) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। इति षणु दाने-इन्। गां धेनुं स्वर्गं वा सनोति ददातीति गोसनिः। गोलोकस्य धेनसमूहस्य स्वर्गलोकस्य वा दात्रीम्। (वाचम्) वाणीम्। (उदेयम्) लिङ्याशिष्यङ्। पा० ३। १। ८६। इति वद व्यक्तायां वाचि-अङ्। उद्यासम्। (वर्चसा) तेजसा। अन्नेन-निघ० २। ७। (मा) माम्। (अभ्युदिहि) अभित उद्गच्छ प्राप्नुहि। (आ रुन्धाम्) रुधिर् आवरणे-लोट्। आवृणोतु। आच्छादयतु। (सर्वतः) सर्वाभ्यो दिग्भ्यः। (वायुः) सूत्रात्मा। प्राणः। (त्वष्टा) अ० २। ५। ६। सूक्ष्मकर्ता। विश्वकर्मा परमेश्वरः। सूर्यः। (पोषम्) पुष्टिम्। (दधातु) धारयतु। ददातु। (मे) मह्यम् ॥

१, ८ त्रिष्टुप्; ५ जगती; ६, ८, १० अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ये अग्नयो अप्स्व१न्तर्ये वृत्रे ये पुरुषे ये अश्मसु ।
य आविवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥१॥

ये । अग्नयः । अप्-सु । अन्तः । ये । वृत्रे । ये । पुरुषे । ये । अश्म-सु ॥ यः । आ-विवेश । ओषधीः । यः । वनस्पतीन् । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्नयः) अग्नियां [ईश्वर के तेज] (अप्सुअन्तः) जल के भीतर, (ये) जो (वृत्रे) मेघ में, (ये) जो (पुरुषे) पुरुष [मनुष्य शरीर] में और (ये) जो (अश्मसु) शिलाओं में हैं । (यः) जिस [अग्नि] ने (ओषधीः) ओषधियों [अन्न, सोम लता आदि] में, और (यः) जिसने (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि] में (आ विवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्म समर्पण] (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी परमेश्वर का ग्रहण है, अर्थात् जिस परमेश्वर की शक्ति से समुद्र में बड़वानल, मेघ में बिजुली, मनुष्य में अन्न पाचक अग्नि और पत्थर में चकमक, ओषधियों में फलपाक अग्नि आदि अद्भुत उपकारी शक्तियां वर्त्तमान हैं, उनके प्रेरक परमेश्वर को हमारा प्रणाम है ॥ १ ॥

१—(अग्नयः) ईश्वरतेजांसि । (अप्सु) उदकेषु । (अन्तः) मध्ये । (वृत्रे) अ० २ । ५ । ३ । वृत्रो वृणोतेर्वा वर्ततेर्वा वर्धतेर्वा–निरु० २ । १७ । मेघे–निघ० १ । १० । (पुरुषे) अ० १ । १६ । ४ । मानुषशरीरे । (अश्मसु) अ० १ । २ । २ । पाषाणशिलासु । (आविवेश) प्रविष्टवान् । (ओषधीः) व्रीहियवादिरूपाः । (वनस्पतीन्) अ० १ । १२ । ३ । सेवकरक्षकान् । वृक्षान् । (हुतम्) हु दाने-क्त । हविः । आत्मसमर्पणम् ॥

यः सोमे॑ अ॒न्तर्यो गोष्व॒न्तर्य आवि॑ष्टो॒ वयः॑सु॒ यो मृ॒गेषु॑।
य आ॑वि॒वेश॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑
हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ २ ॥

यः । सोमे॑ । अ॒न्तः । यः । गोषु॑ । अ॒न्तः । यः । आ-वि॑ष्टः ।
वयः॑-सु । यः । मृ॒गेषु॑ ॥ यः । आ-वि॒वेश॑ । द्वि॒-पदः॑ । यः ।
चतु॑ः-पदः । तेभ्यः॑ । अ॒ग्नि-भ्यः॑ । हु॒तम् । अ॒स्तु॒ । ए॒तत् ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो [अग्नि] (सोमे) सोम [चन्द्र, अमृत वा दूध, घी, आदि] के (अन्तः) भीतर, (यः) जो (गोषु अन्तः) गौ आदि पालतू पशुओं में, (यः) जो (वयःसु) पक्षियों में और (यः) जो (मृगेषु) वनैले जीवों में (आविष्टः) प्रविष्ट है, और (यः) जिसने (द्विपदः) दोपायों, और (यः) जिसने (चतुष्पदः) चौपायों में (आविवेश) प्रवेश किया है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो अग्नि चन्द्रमा में सूर्य से है और जो सोमलता वा दूध आदि में रस पकाकर पौष्टिक बनाता है, और जो प्राणियों में वेग, बलवत्ता, जंगलीपन, और अन्य विशेषता का कारण है, उस अग्नि के संयोजक, वियोजक परमात्मा को हमारा नमस्कार है ॥ २ ॥

य इन्द्रे॑ण स॒रथं॒ याति॑ दे॒वो वै॑श्वान॒र उ॒त वि॑श्वदा॒व्यः।
यं जोह॑वीमि॒ पृत॑नासु सास॒हिं तेभ्यो॑ अ॒ग्निभ्यो॑ हु॒तम॑-
स्त्वे॒तत् ॥ ३ ॥

२—(यः) अग्निः । (सोमे) चन्द्रे । अमृते । सोमलतादुग्धघृतादौ । (अन्तः) मध्ये । (गोषु) ग्राम्यपशुषु । (आविष्टः) प्रविष्टः । (वयःसु) पक्षिषु । (मृगेषु) अ० २ । ३६ । ४ । आरण्यपशुषु । (आविवेश) म० १ (द्विपदः) अ० २ । ३४ । १ । पादद्वययुक्तान् मनुष्यादीन् । (चतुष्पदः) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेतान् प्राणिनः । अन्यद् गतम् ॥

यः । इन्द्रेण । स॒-रथ॑म् । याति॑ । दे॒वः । वै॒श्वान॒रः । उ॒त । वि॒श्व॒-दा॒व्यः । यम् । जोह॑वीमि । पृत॑नासु । सा॒स॒हिम् । तेभ्यः॑ । अ॒ग्नि-भ्यः॑ । हु॒तम् । अ॒स्तु॒ । ए॒तत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) प्रकाशमान वा जय चाहने वाला, [अग्नि] (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् शूर के साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़कर (याति) चलता है. और [जो हमारे] (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (उत) और [जो शत्रु का] (विश्वदाव्यः) सब कुछ जलाने वाला है. और (यम्) जिस (सासहिम्) विजयी [अग्नि] को (पृतनासु) संग्रामों में (जोहवीमि) बारंबार आवाहन करता हूं, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के तेज को हृदय में धारण करके साहसी शूर आग्नेय अस्त्र शस्त्रधारी सेना के द्वारा शत्रुओं को शीघ्र जीत लेता है, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ३ ॥

यो दे॒वो वि॒श्वाद् यमु॒ काम॑मा॒हुर्यं दा॒तारं॑ प्रतिगृ॒ह्णन्त॑मा॒हुः । यो धीरः॑ श॒क्रः प॑रि॒भूरदा॑भ्यस्तेभ्यो॑ अ॒ग्नि-भ्यो॑ हु॒तम॑स्त्वे॒तत् ॥ ४ ॥

३—(यः) अग्निः । (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवता शूरेण । (सरथम्) समानरथम् । एकरथमारुह्य । (याति) गच्छति । (देवः) दीप्यमानः । विजिगीषुः । (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः । (विश्वदाव्यः) टुन्योरनुपसर्गे । पा० ३ । १ । १४२ । इति टु उपतापे-णः । दावः=उपतापः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । शत्रूणां सर्वोपतापने साधुः । सर्वदाहकुशलः । (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । (पृतनासु) पीपतिभ्यां तनन् । उ० ३।१५०। इति पृङ् व्यायामे-तनन्,स च कित् । टाप् । संग्रामेषु-निघ० २ । १७ । (सासहिम्) अ० ३ । १८ । ५ । सस्रहिम् । अभिभवितारम् । अन्यद् गतम् ॥

यः । देवः । विश्व-अत् । यम् । ऊं इति । कामम् । आहुः । यम् । दातारम् । प्रति-गृह्णन्तम् । आहुः ॥ यः । धीरः । शक्रः । परि-भूः । अदाभ्यः । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) प्रकाशमान अग्नि, [वैरियों में] (विश्वात्) सब का खाने वाला है, (यम्) जिसको (उ) ही (कामम्) कमनीय वा कामना पूरी करने वाला (आहुः) लोग कहते हैं, (यम्) जिसको (दातारम्) देने वाला और (प्रतिगृह्णन्तम्) लेने वाला (आहुः) बताते हैं । (यः) जो (धीरः) पुष्टि करने वाला, (शक्रः) शक्तिमान् (परिभूः) सर्वव्यापक और (अदाभ्यः) न दबने योग्य है, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥४॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को विद्वान् लोग आनन्द दाता और प्रार्थना का मानने वाला जानते हैं, और जिसके ध्यान से पुरुषार्थी लोग शत्रुओं को जीतते हैं, उसको हमारा प्रणाम है ॥ ४ ॥

यं त्वा होतारं मनसाभि संविदुस्त्रयोदश भौवनाः पञ्च मानवाः। वर्चोधसे यशसे सूनृतावते तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥५॥

४—(देवः) प्रकाशमानोऽग्निः । (विश्वात्) अदोऽनन्ने । अ० ३ । २ । ६८ । इति विश्व+अद भक्षणे-विट् । शत्रूणां सर्वभक्षकः । (कामम्) कमु इच्छायाम्-घञ् । कमनीयम् । कामयितारम् । (आहुः) ब्रूञ्-लट् । ब्रुवन्ति । (दातारम्) इष्टफलस्य प्रदातारम् । (प्रतिगृह्णन्तम्) ग्रह-शतृ । प्रार्थनायाः स्वीकर्तारम् । (धीरः) अ० २ । ३५ । ३ । धाञ्-क्रन्, ईत्वम् । दधाति पोषयतीति । धारकः । पोषकः । (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमान् । (परिभूः) परि+भू सत्तायाम्, प्राप्तौ-क्विप् । सर्वव्यापकः । (अदाभ्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति दम्भु दम्भे-ण्यत् । दभ्नोति वधकर्मा-निघ० २ । १६ । अहिंस्यः । अजेयः ॥

यम् । त्वा । होतारम् । मनसा । अभि । सम्-विदुः । त्रयः-दश । भौवनाः । पञ्च । मानवाः ॥ वर्चः-धसे । यशसे । सूनृता-वते । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(त्रयोदश) तेरह [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख यह सात शिर के, और दो हात, दो पद, एक उपस्थन्द्रिय, और एक गुदास्थान, यह छः शिर के नीचे के] (भौवनाः) भुवनों से संबन्ध वाले प्राणी, और (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्व] से संबन्ध वाले (मानवाः) मनुष्य (मनसा) मनन शक्ति से (वर्चोधसे) तेज धारण करानेवाले और (सूनृतावते) प्रिय सत्य वाणी वाले (यशसे) यश के लिये (यम्) जिस (त्वा) तुझ [अग्नि] को (होतारम्) दानी (अभि) सब प्रकार (संविदुः) ठीक ठीक जानते हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ५ ॥

५—(यम् । त्वा) अग्निम् । (होतारम्) दातारम् । मनसा । मननेन । चित्तेन । (अभि) अभितः सर्वतः । (संविदुः) विद ज्ञाने-लट् । सम्यग् विदन्ति जानन्ति । (त्रयोदश) त्रयश्च दश च । सप्त शीर्षण्याः षड् अधोभागस्थाः पाणिपादोपस्थगुदावयवाः । (भौवनाः) भू सत्तायाम्-क्युन्, इति भुवनम् । अ० २ । १ । ३ । भुवन—अण् । भुवनानि भवनानि गृहाणि इन्द्रियाणि येषां ते भौवनाः प्राणिनः । (पञ्च, मानवाः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति मनु-अण् । मनुर्मननं येषां ते मानवाः । पञ्चभूतसम्बन्धिनो मनुष्याः । अथवा, पञ्च-मानवा एव पञ्चजनाः । पञ्चजनाः, मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । पञ्चजनाः... गन्धर्वाः पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवो निषादः कस्मान्निषदनो भवति निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ताः—निरु० ३ । ८ । (वर्चोधसे) दधातेरसुन् । तेजसां दात्रे । (यशसे) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १९१ । इति अशू व्याप्तौ—असुन्, युडागमश्च, देवनं स्तुतिः । यशःप्राप्तये । (सूनृतावते) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिका वाक् सूनृता, तद्वते । एवंभूताय यशसे । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—सब शरीरधारी उस परमपिता की महिमा विचार पूर्वक गाकर तेजस्वी, सत्यवादी और यशस्वी होते हैं, उसको यह हमारा नमस्कार है ॥ ५ ॥

(पञ्च मानवाः) शब्द [पञ्च जनाः] शब्द का पर्यायवाची है जिस का अर्थ "मनुष्य" है–निघ० २ । ३ । उसकी व्याख्या, निरु० ३ । ८ में इस प्रकार की है "पञ्चजनाः...गन्धर्व, पितृ,देव,असुर, और राक्षस, ऐसा कोई २ मानते हैं,चारों वर्ण और निषाद पांचवां, यह औपमन्यव ऋषि का मत है, निषाद किस लिये, इस में पाप स्थित है ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे । वैश्वानरज्येष्ठेभ्यस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ६ ॥

उक्ष-अन्नाय । वशा-अन्नाय । सोम-पृष्ठाय । वेधसे॥ वैश्वानर-ज्येष्ठेभ्यः। तेभ्यः । अग्नि-भ्यः। हुतम् । अस्तु । एतत्॥६॥

भाषार्थ—(उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्नदाता, (वशान्नाय) वशीभूत, निर्बल प्रजाओं के अन्न दाता, (सोमपृष्ठाय) अमृत सींचने वाले और (वेधसे) उत्पन्न करने वाले, (तेभ्यः) उन [चार प्रकार के] (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) सब नरों के हितकारी [परमेश्वर] को प्रधान रखने वाले (अग्निभ्यः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे॥६॥

६—(उक्षान्नाय) श्वनुक्षनपूषन् ०। उ० १ । १५६ । इति उक्ष सेचने, वृद्धौ च–कनिन् । उक्षा महन्नाम–निघ० ३ । ३ । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः । निरु० १२ । ६ । कॄवॄजॄसिद्रुपन्यनि० । उ० ३ । १० । इति अन प्राणने–न । इति अन्नम् । उक्षभ्यो महद्भ्यः प्रबलेभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । प्रबलानां भोजनदात्रे । (वशान्नाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा०३ । ३ । ५८ । इति वश स्पृहायाम्—अप्,टाप् । वशाभ्यो वशीभूताभ्यः प्रजाभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । निर्बलप्रजानां भोजनदात्रे । (सोमपृष्ठाय) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । इति पृषु सेचने–थक् । अमृतसेचकाय । (वेधसे) अ० ११ । १ । विधात्रे । विधानकर्त्रे (वैश्वानरज्येष्ठेभ्यः) वैश्वानर इति व्याख्यातम्—अ० १ । १० । ४ । विश्वनरहितः परमेश्वरो ज्येष्ठो वृद्धः प्रधानो येषां तेभ्यः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जिस (वैश्वानर) सब मनुष्य आदि के हितकारी परमेश्वर की शक्ति से सब प्राणी पुष्ट होते हैं, उसको हमारा नमस्कार है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद ८ । ४३ । ११ में है ।

दिवं पृथिवीमन्वन्तरिक्षं ये विद्युतमनुसंचरन्ति ।
ये दिक्ष्व१न्तर्ये वाते अन्तस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत् ॥ ७ ॥

दिवम् । पृथिवीम् । अनु । अन्तरिक्षम् । ये । वि-द्युतम् । अनु-संचरन्ति ॥ ये । दिक्षु । अन्तः । ये । वाते । अन्तः । तेभ्यः । अग्नि-भ्यः । हुतम् । अस्तु । एतत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [तेज] (दिवम्) सूर्य लोक में, (पृथिवीम्) पृथिवी में और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (अनु) लगातार और (विद्युतम्) बिजुली में (अनुसंचरन्ति) लगातार चलते रहते हैं, (ये) जो (दिक्षु अन्तः) दिशाओं के भीतर और (ये) जो (वाते अन्तः) पवन के भीतर हैं, (तेभ्यः) उन (अग्निभिः) अग्नियों [ईश्वर तेजों] को (एतत्) यह (हुतम्) दान [आत्मसमर्पण] (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के तेज सब लोकों, सब पदार्थों और सब दिशाओं में हैं, उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ ७ ॥

हिरण्यपाणिं सवितारमिन्द्रं बृहस्पतिं वरुणं मित्रमग्निम् । विश्वान् देवानङ्गिरसो हवामह इमं क्रव्यादं शमयन्त्वग्निम् ॥ ८ ॥

हिरण्य-पाणिम् । सवितारम् । इन्द्रम् । बृहस्पतिम् । वरु-

७—(दिवम्) सूर्य लोकम् । (पृथिवीम्) भूमिम् । (अनु) अनुप्रविश्य । (ये) अग्नयः । (विद्युतम्) अ० १ । १३ । १ । विद्योतमानां तडितम् । (अनुसंचरन्ति) अनुप्रविश्य सम्यग् गच्छन्ति व्याप्नुवन्ति । अन्यद् गतम् ॥

णम् । मि॒त्रम् । अ॒ग्निम् ॥ विश्वा॑न् । दे॒वान् । अङ्गि॑रसः । ह॒वा॒म॒हे॒ । इ॒मम् । क्र॒व्य॒-अद॑म् श॒म॒य॒न्तु॒ । अ॒ग्निम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यपाणिम्) सूर्य आदि तेजों से स्तुति किये हुए (सवितारम्) सब के प्रेरक (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले (बृहस्पतिम्) बड़े लोकों के रक्षक (वरुणम्) सब में श्रेष्ठ. (मित्रम्) हितकारी (अग्निम्) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर से (विश्वान्) सब (देवान्) विजय कराने वाले (अङ्गिरसः) ज्ञानों वा पुरुषार्थों को (हवामहे) हम मांगते हैं, (इमम्) इस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले (अग्निम्) अग्नि [समान दुःख] को (शमयन्तु) वे शान्त करदें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर के अनुपम गुणों का अनुभव करके पुरुषार्थी बनें और अग्नि समान तापकारी और शरीर शोषक दुःखों का नाश करें ॥८॥

शान्तो अ॒ग्निः क्र॒व्याच्छान्तः पु॑रुष॒रेष॑णः ।
अ॒थो यो वि॒श्वदा॒व्य१॒॑स्तं क्र॒व्याद॑मशीशमम् ॥९॥

शान्तः । अ॒ग्निः । क्र॒व्य-अत् । शान्तः । पु॒रु॒ष॒-रेष॑णः ॥ अथो॒ इति॑ । यः । वि॒श्व-दा॒व्यः॑ । तम् । क्र॒व्य-अद॑म् । अ॒शी॒श॒म॒म् ॥ ९ ॥

८—(हिरण्यपाणिम्) हिरण्यम्-इति व्याख्यातम् । अ० १ । ६ । २ । अशि-पण्योरुडायलुकौ च । उ० ४ । १३३ । इति पण व्यवहारे, पन स्तुतौ च-इण् । इति पाणिः । हिरण्यपाणिम्—हिरण्यानि सूर्यादीनि तेजांसि पाणौ स्तवने यस्य तम्-इति दयानन्दभाष्ये य० २२ । १० । (सवितारम्) सर्वप्रेरकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तम् । (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां रक्षकम् । (वरुणम्) वरणीयम् । (मित्रम्) स्नेहिनम् । (अग्निम्) ज्ञानस्वरूपं परमेश्वरम् । (देवान्) विजिगीषून् । (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । अगि गतौ-भावे इसि, रुट् च । ज्ञानानि । पुरुषार्थान् । (हवामहे) आह्वयामः । याचामहे । द्विकर्मकत्वात् अग्निम्—इत्यस्य, अङ्गिरसः — इत्यस्य च कर्मत्वम् । (क्रव्यादम्) क्रव्ये च । पा० ३ । २ । ६९ । इति अदेर्विट् मांसभक्षकम् । (शमयन्तु) शान्तं कुर्वन्तु । (अग्निम्) अग्निवत्तापकं दुःखम् ॥

भाषार्थ—(क्रव्यात्) मांस खाने वाला (अग्निः) अग्नि [समान तापकारी दुःख] (शान्तः) शान्त हो, (पुरुषेषणः) पुरुषों का सताने वाला [कष्ट] (शान्तः) शान्त हो, । (अथो) और भी (यः) जो (विश्वदाव्यः) सब [सुखों] का जलाने वाला है (तम्) उस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले [अग्निरूप दुःख] को (अशीशमम्) मैंने शान्त करदिया है ॥ ६ ॥

भवार्थ—दूरदर्शी पुरुष विघ्नों को हटाकर आप सुखी रहते और सब को सुखी रखते हैं ॥ ६ ॥

ये पर्वताः सोमपृष्ठा आप उत्तानशीवरीः ।

वातः पर्जन्य आदग्निस्ते क्रव्यादमशीशमन् ॥१०॥

ये । पर्वताः । सोम-पृष्ठाः । आपः । उत्तान-शीवरीः ॥ वातः । पर्जन्यः । आत् । अग्निः । ते । क्रव्य-अदम् । अशी-शमन् ॥१०॥

भाषार्थ—(ये) जो (पर्वताः) पहाड़ (सोमपृष्ठाः) सोम [अमृत-अर्थात् ओषधि वा जल] को पीठ पर रखने वाले हैं,[उन्होंने और] (उत्तानशीवरीः—०-वर्यः) ऊपर को मुख करके सोने वाले [सूर्य की ओर चढ़ने वाले] (आपः) जल, (वातः) पवन, (पर्जन्यः) मेघ, (आत्) और (अग्निः)

९—(शान्तः) सुखकरः । (अग्निः) अग्निवत्तापकरं दुःखम् । (क्रव्यात्) म० ८ । मांसभक्षकः । (पुरुषेषणः) रिष वधे-ल्युट् । पुरुषहिंसकः । (विश्वदाव्यः) म० ३ । सर्वसुखनाशनसमर्थः । (अशीशमम्) शमु उपशमे—ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । अहं शान्तं कृतवान् । अन्यद् गतम् ॥

१०—(पर्वताः) पर्व पूर्तौ—अतच् । शैलाः । (सोमपृष्ठाः) सोमः, अमृतम् ओषधिर्जलं वा पृष्ठे उपरिभागे येषां ते तथाभूताः । (आपः) जलानि । (उत्तानशीवरीः) उत्+तनु विस्तारे—घञ् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति शीङः क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । वा

अग्नि, (ते) उन सब ने (क्रव्यादम्) मांस भक्षक [अग्नि रूप दुःख] को (अशीशमन्) शान्त कर दिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि सोमलता आदि औषध उत्पन्न करने वाले पर्वत, जल, वायु, मेघ, अग्नि आदि सब पदार्थ शुद्ध रहकर सुखदायक होवें ॥ १० ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-६ ॥ विश्वे देवा देवताः । १, ३ त्रिष्टुप्, २, ४-६ अनुष्टुप् ॥

कीर्त्तिप्राप्त्युपदेशः—कीर्ति पाने के लिये उपदेश ॥

हस्तिवर्चसं प्रथतां बृहद् यशो अदित्या यत् तन्वः संबभूव। तत् सर्वे समदुर्मह्यमेतद् विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥ १ ॥

हस्ति-वर्चसम् । प्रथताम् । बृहत् । यशः । अदित्याः । यत् । तन्वः । सम्-बभूव ॥ तत् । सर्वे । सम् । अदुः । मह्यम् । एतत् । विश्वे । देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल से युक्त (बृहत्) बड़ा (यशः) यश (प्रथताम्) फैले, (यत्) जो (अदित्याः) अदीन वेद वाणी वा प्रकृति के

छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । ऊर्ध्वमुखशयाः । सूर्यभिमुखवर्त्तमानाः । (वातः) वायुः । (पर्जन्यः । सेचको मेघः । (आत्) अपि च । (अग्निः) पावकः । (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं रोगम् । (अशीशमन्) शमु णिच्, लुङि । शान्तं कृतवन्तः ॥

१—(हस्तिवर्चसम्) हस्ताज्जातौ । पा० ५ । २ । १३३ । इति हस्त-इनि । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति वर्चस्—अच् मत्वर्थे । गजस्य बलयुक्तम् । (प्रथताम्) प्रथ प्रख्याने—लोट् । प्रख्यातं भवतु । (बृहत्) महत् । (यशः) कीर्त्तिः । (अदित्याः । अ० २ । २८ । ४ । अदितिः, वाक्—निघ० १।११।

(तन्वः) विस्तार से (संबभूव) उत्पन्न हुआ है, (तत्) सो (एतत्) यह [यश] (मह्यम्) मुझको (सजोषाः) समान प्रीति वाली (अदितिः) अखण्ड वेद वाणी वा प्रकृति और (विश्वे) सब (देवाः) प्रकाशमान गुणों ने (सर्वे) सर्वव्यापक विष्णु भगवान् में (सम्) ठीक प्रकार से (अदुः) दिया है ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या और प्रकृति के यथावत् ज्ञान से, जिस सब का केन्द्र परमेश्वर है, हाथी आदि का सामर्थ्य पाकर यशस्वी होता है। म० ६ देखो ॥

भगवान् पतञ्जलि का वचन है, योगदर्शन, पाद ३ सूत्र २३ ।

बलेषु हस्तिबलादीनि ॥ १ ॥

बलों में [संयम करने से] हाथी के से बल होजाते हैं ॥

मि॒त्रश्च॒ वरु॑णश्चेन्द्रो॑ रु॒द्रश्च॑ चेततु ।
दे॒वासो॑ वि॒श्वधा॑यस॒स्ते मा॑ऽञ्जन्तु॒ वर्च॑सा ॥ २ ॥

मि॒त्रः । च॒ । वरु॑णः । च॒ । इन्द्रः॑ । रु॒द्रः । च॒ । चे॒त॒तु॒ ॥
दे॒वासः॑ । वि॒श्व-धा॑यसः । ते । मा॒ । अ॒ञ्ज॒न्तु॒ । वर्च॑सा ॥२॥

भाषार्थ—(मित्रः) सब का मित्र, (च) और (वरुणः) अति श्रेष्ठ, (च) और (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (च) और (रुद्रः) ज्ञान दाता वा दुःखनाशक

अदीनाया वेदवाण्याः प्रकृतेर्वा । (यत्) यशः । (तन्वः) अ० १ । १ । १ । १ । शरीरात् । विस्तृतेः । (संबभूव) उत्पन्नमभवत् । (सर्वे) सर्वनिघृष्व० । उ० १ । १५३ । इति सृ गतौ-वन्, यद्वा । सर्व गतौ-अच् । सरति सर्वति वा गच्छति व्याप्नोतीति सर्वः, शिवः, विष्णुः । तस्मिन् व्यापके परमेश्वरे । (सम्) सम्यक् । (अदुः) दाञो लुङ् । दत्तवन्तः । (मह्यम्) मदर्थम् । (विश्वे) सर्वे । (देवाः) दिव्यगुणाः । (अदितिः) अदीना, अखण्डिता वा वेदवाणी प्रकृतिर्वा । (सजोषाः) समान + जुषी प्रीतिसेवनयोः—असुन् । समानप्रीतिः ॥

२—(मित्रः) सर्वप्रेरकः । सर्वहितकारी । (वरुणः) वरणीयः । श्रेष्ठः । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । (रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । रुत्-र । ज्ञानदाता । दुःख-

परमेश्वर (चेततु) चेताता रहे, और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वधायसः) सब जगत् के पोषण करने वाले (देवासः=देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी, जल, वायु, तेज, आकाश आदि] (मा) मुझको (वर्चसा) तेज वा बल से (अञ्जन्तु) कान्ति वाला करें ॥ २ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की महिमा को जानें और विज्ञान पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेकर तेजस्वी और यशस्वी होवें ॥ २ ॥

येन ह॒स्ती वर्च॑सा सं॑ब॒भूव॒ येन॒ राजा॑ मनु॒ष्ये॑ष्व॒प्स्व-१॒न्तः । येन॑ दे॒वा दे॒वता॒मग्र॑ आय॒न् तेन॒ माम॒द्य वर्च॑साग्ने॑ वर्च॒स्विनं॑ कृणु ॥ ३ ॥

येन॑ । ह॒स्ती । वर्च॑सा । सम्-ब॒भूव॑ । येन॑ । राजा॑ । म॒नु॒ष्ये॑षु । अ॒प्-सु । अ॒न्तः ॥ येन॑ । दे॒वाः । दे॒वता॑म् । अग्रे॑ । आय॑न् । तेन॑ । माम् । अ॒द्य । वर्च॑सा । अग्ने॑ । व॒र्च॒स्विन॑म् । कृ॒णु ॥३॥

भाषार्थ—(येन) जिस (वर्चसा) तेज से (हस्ती) हाथी, और (येन) जिस [तेज] से (राजा) ऐश्वर्यवान् राजा (मनुष्येषु) मनुष्यों और (अप्सु अन्तः) जल और अन्तरिक्ष के भीतर (संबभूव) पराक्रमी हुआ है। और

नाशकः परमेश्वरः। (चेततु) चिती ज्ञाने। चेतयतु। (देवासः) असुगागमः। पृथिव्यादिदेवाः। (विश्वधायसः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। इति विश्व+दधातेरसुन्। आतो युक् चिण्कृतोः। पा० ७। ३। ३३। इति युक्। सर्वस्य जगतो धातारः पोषयितारः। (ते) प्रसिद्धाः। (अञ्जन्तु) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु। प्रकाशयन्तु। संयोजयन्तु। (वर्चसा) तेजसा। बलेन॥

३—(हस्ती) म० १। गजः। (वर्चसा) तेजसा। (संबभूव) समर्थो बभूव। (राजा) राजति ईष्टे स राजा। ऐश्वर्यवान् पुरुषः। (मनुष्येषु) अ० ३। ४। ६। मनु-यत्, षुगागमः। मननशीलेषु। स्थलप्राणिषु, इत्यर्थः। (अप्सु) उदकेषु—निघ० १। १२। अन्तरिक्षे-निघ० १। ३। (अन्तः) मध्ये। (देवाः)

(येन) जिस [तेज] से (देवाः) देवताओं [महात्मा पुरुषों] ने (अग्रे) पहिले काल में (देवताम्) देवतापन (आयन्) पाया है, (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर ! (तेन वर्चसा) उस तेज से (माम्) मुझ को (अद्य) आज (वर्चस्विनम्) तेजस्वी (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष हाथी आदि पशुओं, और पूर्वज शूर वीर ऋषि महात्माओं के बुद्धिबल का अनुभव करके (अद्य) आज अर्थात् शीघ्र उपाय से जल, थल, और आकाश में, (अग्नि) परमेश्वर की भक्ति के साथ, अपनी गति बढ़ावें और अग्नि के समान तेजस्वी होकर संसार में कीर्त्तिमान् होवें ॥ ३ ॥

योगीश्वर पतञ्जलि का वचन है-योगदर्शन, समाधिपाद १ सूत्र २१ ॥

तीव्रसंवेगानामासन्नः ॥

[समाधि लाभ] उग्र अच्छे वेग वालों के समीप होता है ॥

यत् ते॒ वर्चो॑ जातवेदो बृ॒हद् भव॒त्याहु॑तेः ।
याव॒त् सूर्य॑स्य॒ वर्च॑ आसु॒रस्य॑ च ह॒स्तिनः॑ ।
ताव॒न्मे अ॒श्विना॒ वर्च॒ आ ध॑त्तां॒ पुष्क॑रस्रजा ॥ ४ ॥

यत् । ते॒ । वर्चः । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । बृ॒हत् । भव॑ति । आऽहु॑तेः ॥ याव॑त् । सूर्य॑स्य । वर्चः॑ । आ॒सु॒रस्य॑ । च॒ । ह॒स्तिनः॑ ॥ ताव॑त् । मे॒ । अ॒श्विना॑ । वर्चः॑ । आ । ध॒त्ता॒म् । पुष्क॑रऽस्रजा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—((यत्) जिस कारण से (जातवेदः) उत्पन्न संसार के

विजिगीषवो महात्मानः । (देवताम्) देवत्वम् । माहात्म्यम् । (अग्रे) पूर्वकाले । (आयन्) इण् गतौ—लङ् । प्राप्नुवन् । (माम्) उपासकम् । (अद्य) अ० १ । १ । १ । अस्मिन् दिने । तत्कालम् । (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् । (वर्चस्विनम्) तेजस्विनम् । (कृणु) कुरु ॥

४—(यत्) यस्मात् कारणात् । (ते) तुभ्यम् । (वर्चः) तेजः । बलम् । (जात-

ज्ञान वाले परमेश्वर ! (ते) तेरे लिये (आहुतेः) आहुति [आत्मदान] से [हमारा] (वर्चः) तेज (बृहत्) बड़ा (भवति) होता है, (यावत्) जितना (वर्चः) तेज वा बल (आसुरस्य) प्राणियों वा मेघों के हितकारक (सूर्यस्य) सूर्य का (च) और (हस्तिनः) हाथी का है, (तावत्) उतना (वर्चः) तेज वा बल (मे) मेरे लिये (पुष्करस्रजा—०—जौ) पोषण देने वाले (अश्विना=०—नौ) माता पिता वा सूर्य्य चन्द्रमा (आधत्ताम्) सब प्रकार देवें ॥ ४॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष माता पिता की सुशिक्षा और सूर्यचन्द्रमा के समान नियम से परमेश्वर की आज्ञा पालनमें मन लगाकर अपना बल बढ़ावें और सूर्य आदि दूरस्थ और हाथी आदि पृथिवीस्थ पदार्थों का बल, विज्ञान द्वारा जानकर उन्नति करें ॥ ४ ॥

यावच्चतस्रः प्रदिशश्चक्षुर्यावत् समश्नुते ।
तावत् समैत्विन्द्रियं मयि तद्धस्तिवर्चसम् ॥५॥

यावत् । चतस्रः । प्र-दिशः । चक्षुः । यावत् । सम्-अश्नुते ।
तावत् । सम्-ऐतु । इन्द्रियम् । मयि । तत् । हस्ति-वर्चसम् ॥५॥

वेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातस्य उत्पन्नस्य संसारस्य ज्ञातः परमेश्वर ! (बृहत्) महत् । (आहुतेः) दानात् । आत्मसमर्पणात् । (यावत्) अ० ३ । १५ । ३ । यत्परिमाणम् । (सूर्यस्य) आदित्यस्य । (आसुरस्य) असुर इति व्याख्यातम् अ० १ । १० । १ । असुः प्राणः—रो मत्वर्थीयः । असुरः प्राणी, ततो अण् प्रत्ययः प्राणिभ्यो हितस्य । यद्वा, असुरो मेघः–निघ०१।१० । तेभ्यो हितस्य । (हस्तिनः) गजस्य । (तावत्) तत्परिमाणम् । (मे) मह्यम् । (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । मातापितरौ । सूर्याचन्द्रमसौ । (आ धत्ताम्) समन्तात् स्थापयताम् । प्रयच्छताम् (पुष्करस्रजौ) पुषः कित् । उ०४ । ४ । इति पुष पोषणे-करन् । पुष्णातीति पुष्करम् । ऋत्विदधृक्– सग्० पा० ३ । २ । ५९ । इति सृज त्यागे=दाने—क्विन् । पोषणदातारौ ॥

भाषार्थ—(यावत्) जितनी दूर (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) महादिशायें हैं, और (यावत्) जितनी दूर (चक्षुः) आंख [दर्शन शक्ति] (समश्नुते) फैलती है, (तावत्) वहां तक (मयि) मुझ में (तत्) वह (हस्तिवर्चसम्) हाथी के बल वाला (इन्द्रियम्) परम ऐश्वर्य (समैतु) आकर मिले ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पार्थिव और दिव्य पदार्थों के यथावत् ज्ञान से सामर्थ्य बढ़ाकर उन्नति करें ॥ ५ ॥

हस्ती मृगाणां सुषदामतिष्ठावान् बभूव हि ।
तस्य भगेन वर्चसाभि षिञ्चामि मामहम् ॥ ६ ॥

हस्ती । मृगाणाम् । सु-सदाम् । अतिस्था-वान् । बभूव । हि ॥
तस्य । भगेन । वर्चसा । अभि । सिञ्चामि । माम् । अहम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (सुषदाम्) सुख से चढ़ने योग्य (मृगाणाम्) पशुओं में (हस्ती) हाथी (अतिष्ठावान्) प्रतिष्ठावाला (बभूव) हुआ है, (तस्य) उसके (भगेन) सेवनीय (वर्चसा) कान्ति से (अहम्) मैं (माम्) अपने को (अभिषिञ्चामि) भले प्रकार सींचूं [शुद्ध करूं] ॥ ६ ॥

५—(चतस्रः) चतुः संख्याकाः । (प्रदिशः) महादिशाः । (चक्षुः) अ० १ । ३३ । ४ । नेत्रम् । दर्शनसामर्थ्यम् । (समश्नुते) सम्यग् व्याप्नोति (समैतु) सम्+आ एतु । सम्यग् आगच्छतु । (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्र-घञ् । इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य लिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । (मयि) ईश्वरभक्ते । (तत्) प्रसिद्धम् । (हस्तिवर्चसम्) म० १ । गजस्य बलयुक्तम् ॥

६—(हस्ती) गजः । (मृगाणाम्) पशूनां मध्ये । (सुषदाम्) अ० ३ । १४ । १ । सुखेन सदनयोग्यानाम् । (अतिष्ठावान्) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १०६ । इति अति+ष्ठा—अङ्, टाप्, मतुप् । प्रतिष्ठावान् । (हि) यस्मात् कारणात् । (तस्य) गजस्य । (भगेन) भजनीयेन । सेवनीयेन । (वर्चसा) तेजसा । (अभि) सर्वतः । (सिञ्चामि) शोधयामि । (माम्) आत्मानम् । (अहम्) उपासकः ॥

भावार्थ—जैसे हाथी में अन्य पशुओं से अधिक बुद्धिबल होता है, वैसे ही प्रधान पुरुष अन्य पुरुषों से अधिक बुद्धिबल वाला होवे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—६ ॥ माता देवता । १—४ अनुष्टुप्, ५ पङ्क्तिः, ६ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, उत्तरार्धोऽनुष्टुप् ।

वीरसन्तानोत्पादनोपदेशः—वीर सन्तान उत्पन्न करने के उपदेश ॥

येन॑ वेहद्ब॒भूवि॑थ ना॒शया॑मसि॒ तत् त्वत् ।
इ॒दं तद॒न्यत्र॒ त्वदप॑ दू॒रे नि द॑ध्मसि ॥ १ ॥

येन॑ । वे॒हत् । ब॒भूवि॑थ । ना॒शया॑मसि । तत् । त्वत् ॥ इ॒दम् । तत् । अ॒न्यत्र॑ । त्वत् । अप॑ । दू॒रे । नि । द॒ध्म॒सि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री] (येन) जिस कारण से तू (वेहत्) वन्ध्या [बांझ] (बभूविथ) हुई है, (तत्) उस कारण को (त्वत्) तुझ से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं । (इदम्=इदानीम्) अभी (तत्) उसको (त्वत्) तुझ से (अन्यत्र) और कहीं (दूरे) दूर (अप=अपहृत्य) हटाकर (नि दध्मसि=०-ध्मः) हम रखते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य पुत्रेष्टि यज्ञ करके ओषधि द्वारा बांझपन मिटाकर वीर सन्तान उत्पन्न करते हैं, देखो श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कार विधि—गर्भाधान प्रकरण ॥ १ ॥

१—(येन) येन पापजन्यरोगादिना (वेहत्) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । इति वि+हन वधे-अति । इकारस्य एकारो नलोपश्च निपात्येते । विशेषेण हन्ति गर्भं या, गर्भघातिनी । वन्ध्या । (नाशयामसि) नाशयामः । चिकित्सया अपहन्मः । (त्वत्) त्वत्तः सकाशात् । (इदम्) इदानीम् । (दूरे) दूरदेशे । (अप नि दध्मसि) अपहृत्य निक्षिपामः ॥

आ ते योनिं गर्भ एतु पुमान् बाण इवेषुधिम् ।
आ वीरोऽत्र जायतां पुत्रस्ते दशमास्यः ॥ २ ॥

आ । ते । योनिम् । गर्भः । एतु । पुमान् । बाणः-इव । इषु-धिम् ॥
आ । वीरः । अत्र । जायताम् । पुत्रः । ते । दश-मास्यः ॥२॥

भाषार्थ—[हे सुभगे] (पुमान्) रक्षा करने वाला, पराक्रमी (गर्भः) गर्भ (ते) तेरे (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे, (बाणः इव) जैसे बाण (इषुधिम्) तूनीर [तीरों के थैले] में । (अत्र) इस घर में (दशमास्यः) दस महीने तक पुष्ट हुआ, (ते) तेरा (वीरः) वीर, (पुत्रः) कुलशोधक बालक (आ जायताम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न हो॥ २ ॥

भावार्थ—वधू और वर यथाविधि ब्रह्मचारी रहकर युक्त आहार विहार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिसमें गर्भ अवश्य स्थिर रहे और पूर्ण रीति से पुष्ट होकर वीर सन्तान उत्पन्न हो ॥ २ ॥

यहां पर अथर्ववेद का० १ सू० ११ मन्त्र ६ का मिलान करो ॥

ऋग्वेद में ऐसा वर्णन है—म० ५ सू० ७८ म० ६ ॥

दश मासाञ्छशयानः कुमारो अधि मातरि ।
निरैतु जीवो अक्षतो जीवो जीवन्त्या अधि॥१॥

२—(योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गर्भाशयम् ॥ (गर्भः) अ० १ । ११ । २ । भ्रूणः । उदरस्थबालकः । (आ, एतु) आगच्छतु । (पुमान्) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे-डुमसुन् । रक्षणसमर्थः सन्तानः । (बाणः) बण शब्दे गतौ वा—घञ् । शरः । नाराचः । (इषुधिम्) कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति इषु + धा—कि । निषङ्गम् । (वीरः) शूरः । (अत्र) अस्मिन् कुले । (जायताम्) उत्पद्यताम् । (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । कुल शोधकः पुरुत्राता । पुतो नरकात् त्राता सन्तानः । यथा, तनयः, सूनुः, इति अपत्यनामसु पठितम्—निघ० २ । २ ॥ (दशमास्यः) अ० १ । ११ । ६ । दशमासान् भृतः ॥

(मातरि अधि) माता के गर्भ में जो (कुमारः) बालक (दश मासान्) दस महीनों तक (शशयानः) सोता रहा है,वह (जीवः) जीता हुआ (अक्षतः) घाव से रहित (जीवः) जीव (जीवन्त्याः अधि) जीवती हुई माता से (निरैतु) बाहिर आवे ॥

श्री सायणाचार्य ने यह मन्त्र इस प्रकार श्लोक में लिखा है।

दश मासानुषित्वासौ जननीजठरे सुखम् ।
निर्गच्छतु सुखं जीवो जननी चापि जीवतु ॥ १ ॥

(जननीजठरे) माता के पेट में (सुखम्) सुख से (दश मासान्) दस महीनों तक (उषित्वा) सोकर (असौ जीवः) वह जीव (निर्गच्छतु) बाहिर आवे, (च) और (जननी अपि) माता भी (जीवतु) जीवती रहे ॥

पुमांसं पुत्रं जनय तं पुमाननु जायताम् ।
भवासि पुत्राणां माता जातानां जनयांश्च यान् ॥३॥

पुमांसम् । पुत्रम् । जनय । तम् । पुमान् । अनु । जायताम् ॥
भवासि । पुत्राणाम् । माता । जातानाम् । जनयाः । च । यान् ॥३॥

भाषार्थ—[हे वधू] (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) बहुरक्षक, वीर सन्तान (जनय) उत्पन्न कर, (तम् अनु) उसके पीछे (पुमान्) रक्षा करने वाला वीर बालक (जायताम्) उत्पन्न होवे । (जातानाम्) उत्पन्न हुये (पुत्राणाम्) नरक से बचाने वाले सन्तानों की (माता) माननीय माता (भ-

---

३—(पुमांसम्) म०२ । रक्षणसमर्थम् । (पुत्रम्) म० २ । पुरुत्रातारम् । नरकात् त्रातारम् । सन्तानम् । (जनय) उत्पादय । (तम् अनु) तमनुसृत्य । तत्पश्चात् । (भवासि) लेटि आडागमः । त्वं भूयाः । (माता) अ० १ । २ । १ माननीया । जननी (जातानाम्) उत्पन्नानाम् । (जनयाः) जनेर्ण्यन्तात् लेटि

वासि) हो, (च) और [उनको भी] (यान्) जिनको (जनयाः) तू उत्पन्न करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता ब्रह्मचर्य और इष्ट भोजन, छादन, व्यायाम आदिसे से प्रयत्न करें कि उन के सब पुत्र पुत्री सदैव पराक्रमी उत्पन्न होवें, और माता पिता और संसार की सेवा करके (पुमान) रक्षक बने रहें ॥ ३ ॥

यानि भद्राणि बीजान्यृषभा जनयन्ति च ।
तैस्त्वं पुत्रं विन्दस्व सा प्रसूर्धेनुका भव ॥ ४ ॥

यानि । भद्राणि । बीजानि । ऋषभाः । जनयन्ति । च ॥ तैः । त्वम् । पुत्रम् । विन्दस्व । सा । प्र-सूः । धेनुका । भव ॥४॥

भाषार्थ—(च) और (यानि) जैसे (भद्राणि) मङ्गल दायक (बीजानि) बालकों को (ऋषभाः) सूक्ष्म दर्शी ऋषि लोग, अथवा, ऋषभ ओषधि के रस (जनयन्ति) उत्पन्न करते हैं, (तैः) वैसे ही [सन्तानों] के साथ (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक वा बहुरक्षक बालक को (विन्दस्व) प्राप्त कर, (सा=सा त्वम्) सो तू (प्रसूः) जनने वाली (धेनुका) दूध पिलाने वाली माता [अथवा दुधैल गौ के समान] (भव) हो ॥ ४ ॥

आडागमः । त्वं जनयेः । (यान्) पुत्रान्, तेषामपि—इति शेषः । अन्यद् गतम् ॥

४—(यानि) यादृशानि । (भद्राणि) मङ्गलप्रदानि । अमोघवीर्याणि । (बीजानि) अ० ३ । १७ । २ । अपत्यानि-निघ० २ । २ (ऋषभाः) अ० ३ । ६ । ४ । सूक्ष्मदर्शिनः । ऋषयः । ऋषभौषधविशेषस्य रसाः । तस्य गुणाः । मधुरत्वम् । शीतत्वम् । रक्तपित्तविरेकनाशित्वम् । शुक्रश्लेष्मकारित्वम् । दाहक्षयज्वरहरत्वं च । इति शब्दकल्पद्रुमे । (जनयन्ति) उत्पादयन्ति । (तैः) तथाविधैः। (विन्दस्व) विद्लृ लाभे । लभस्व । (सा) सा त्वम् । (प्रसूः) सत्सूद्विष० पा० ३ । २ । ६१ । इति प्र+षूङ् प्राणिप्रसवे-क्विप् । सन्तानोत्पादिका । (धेनुका) अ० ३ । १० । १ । धेनुरेव धेनुका । स्वार्थिकः कः । दुग्धदात्री । तर्पयित्री । धेनु धन् पोषयित्री ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े लोगों से ब्रह्मचर्य विद्या और ओषधि विद्या प्राप्त करके बली धर्मात्मा सन्तान उत्पन्न करें। और बलवती माता अपने बच्चों को अपना दूध पिला कर बलवान् करे, जैसे गौ दूध पिला कर बच्चे को पुष्ट बनाती है ॥ ४ ॥

शब्द कल्पद्रुम कोष में ऋषभ औषध को मधुर, शीतल, रक्तपित्तविरेक-नाशी, वीर्य श्लेष्म कारी, और दाहज्वरहारी लिखा है ॥

कृणोमि॑ ते प्राजाप॒त्यमा योनिं॒ गर्भ॑ एतु ते । वि॒न्दस्व॒ त्वं पु॒त्रं ना॑रि॒ यस्तुभ्यं॒ शमस॒च्छमु॒ तस्मै॒ त्वं भव॑ ॥५॥

कृ॒णोमि॑ । ते॒ । प्रा॒जा॒ऽप॒त्यम् । आ । योनि॑म् । गर्भः॑ । ए॒तु॒ । ते॒ ॥ वि॒न्दस्व॑ । त्वम् । पु॒त्रम् । ना॒रि॒ । यः । तुभ्य॑म् । शम् । अस॑त् । शम् । ऊं॒ इति॑ । तस्मै॑ । त्वम् । भव॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (प्राजापत्यम्) सन्तान रक्षक कर्म [गर्भाधान, पुंसवनादि संस्कार] (कृणोमि) मैं करता हूं, (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (योनिम्) गर्भाशय में (आ एतु) आवे। (नारि) हे नर की हितकारिणी ! (त्वम्) तू (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (विन्दस्व) प्राप्त कर, (यः) जो (तुभ्यम्) तुझको (शम्) सुखदायक (असत्) होवे, (उ) और (त्वम्) तू (तस्मै) उसको (शम्) सुख दायक (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वैद्यक शास्त्र के अनुसार उचित काल में उचित रीति से अमोघ गर्भाधानादि संस्कार करके सन्तान उत्पन्न करें, जिससे उस सन्तान का जन्म; आप उसको और माता पिता आदि सब को सुख दायक हो ॥ ५ ॥

५—(कृणोमि) करोमि। (ते) तुभ्यम्। (प्राजापत्यम्) दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः। पा० ४।१।८५। इति प्रजापति-ण्य। प्रजापतेर्गृहस्थस्य कर्म धर्म वा। गर्भाधानपुंसवनादिसंस्कारम्। (नारि) अ० १।११।१ हे नरस्य धर्म्ये। (शम्) सुखहेतुः। (उ) अपि च। अन्यद् गतम्—म० २, ४ ॥

यासां द्यौःपिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव।
तास्त्वा पुत्रविद्याय दैवीः प्रावन्त्वोषधयः ॥६॥

यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् । विरुधाम् । बभूव ॥ ताः । त्वा । पुत्र-विद्याय । दैवीः । प्र । अवन्तु । ओषधयः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली अन्नादि ओषधियों का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाली, और (समुद्रः) समुद्र [जल] (मूलम्) जड़ (बभूव) हुआ है, (ताः) वे (दैवीः) दिव्य गुणवाली (ओषधयः) ओषधें (पुत्रविद्याय) सन्तान पाने के लिये (त्वा) तेरी (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करें ॥६॥

भावार्थ—अन्न आदि अनेक ओषधियां सूर्य द्वारा वृष्टि और प्रकाश पाकर पृथिवी और जल के संयोग से उत्पन्न होती हैं, उनमें से उत्तम २ बल वर्धक ओषधों के उचित खान पान से माता पिता उत्तम सन्तान उत्पन्न करें॥६॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७॥ प्रजापतिर्देवता । १, ३-७ अनुष्टुप् २ पङ्क्तिः ॥

धान्यसमृद्धिकर्मोपदेशः—धान्य बढ़ाने के कर्म का उपदेश ॥

६—(द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः । (पिता) अ० १ । २ । १ । वृष्टिदानेन रक्षको जनयिता । (पृथिवी) अ० १ । २ । १ । विस्तृता भूमिः । (माता) अ० ३ । ६ । १ । निर्मात्री । जननी । (समुद्रः) अ० १ । १३ । ३ । समुन्दनशीलः सागरः । (मूलम्) अ० २ । ७ । ३ । मुख्यकारणम् । (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणस्वभावानाम् । ओषधीनाम् । (पुत्रविद्याय) संज्ञायां समजनिषदनिपत० । पा ३ । ३ । ९९ । इति विद्लृ लाभे, छन्दसि भावे क्यप् । सन्तानलाभाय । (दैवीः) अ० १ । १६ । २ । दैव्यः । दिव्याः । अन्यद् गतम् ॥

पर्यस्वतीरोषधयः पर्यस्वन्मामकं वचः ।
अथो पर्यस्वतीनामा भरेऽहं सहस्रशः ॥ १ ॥

पर्यस्वतीः । ओषधयः । पर्यस्वत् । मामकम् । वचः ॥ अथो इति । पर्यस्वतीनाम् । आ । भरे । अहम् । सहस्रःशः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधियां, चावल जौ आदि वस्तुयें (पयस्वतीः =०—त्यः) सारवाली होवें, और (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (पयस्वत्) सार वाला होवे । (अथो) और भी (अहम्) मैं (पयस्वततीनाम्) सारवाली [ओषधियों] का (सहस्रशः) सहस्रों प्रकार से (आ) यथा विधि (भरे) धारण करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को उत्तम बनावें और दृढ़ सत्य वचन बोलें । ऐसा करनेसे शारीरिक और आत्मिक उन्नति होती है॥=॥

मनु महाराज का वचन है, अध्याय १ श्लोक ४६ ॥

उद्भिज्जाः स्थावराः सर्वे बीजकाण्डप्ररोहिणः ।
ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः ॥ १ ॥

सब भूमि को फोड़कर उपजने वाले, और बीज वा शाखा से उगने वाले वृक्ष हैं, फल पाक के साथ नष्ट होने वाली और बहुत फूल फल वाली ओषधियां [चावल, जौ आदि] हैं ॥ १ ॥

वेदाहं पर्यस्वन्तं चकार धान्यं बहु । संभृत्वा नाम यो देवस्तं वयं हवामहे योयो अयज्वनो गृहे ॥२॥

१—(पयस्वतीः) पयस्वत्यः । सारवत्यः (ओषधयः) अ० १ । २३ । १ । व्रीहियवाद्याः (पयस्वत्) सारयुक्तम् । (मामकम्) मदीयम् । [वचः] वचनम् । (अथो) अपि च । (पयस्वतीनाम्) कर्मणि षष्ठी । सारवतीनामोषधीनाम् । (आ) समन्तात् (भरे) भरामि । [सहस्रशः] बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम् । पा० ५ । ४ । ४२ । इति सहस्र-शस् । बहुप्रकारेण ॥

वेद । अहम् । पयस्वन्तम् । चकार । धान्यम् । बहु ॥ सम्-भृत्वा । नाम । यः । देवः । तम् । वयम् । हवामहे । यः-यः । अयज्वनः । गृहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पयस्वन्तम्) सार वाले परमेश्वर को (वेद) जानता हूँ । (बहु) बहुत सा (धान्यम्) धान्य (चकार) उसने उत्पन्न किया है । (यः) जो (देवः) दान शील ईश्वर (संभृत्वा) यथावत् पोषक (नाम) नाम (अयज्वनः) यज्ञ न करने वाले के (गृहे) घर में (योयः = यस्-यः) गति वाला है, (तम्) उस [परमात्मा] का (वयम्) हम (हवामहे) आवाहन करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रत्येक प्राणी उस उत्तम पदार्थों के भण्डार परमात्मा को जानता है जो अनेक अन्न उपजा कर [धर्मात्माओं का तो क्या कहना है] पापियों तक के घर भोजन पहुँचाता है । हम उसकी उपासना नित्य किया करें । ॥ २ ॥

शेख़ सादी शीराज़ी ने अपनी पुस्तक पुष्पवाटिका [गुलिस्ताँ] में इस मन्त्र का आशय इस प्रकार दिखलाया है ।

२—(वेद) वेद्मि । जानामि । (अहम्) मनुष्यः । (पयस्वन्तम्) सारवन्तं परमात्मनम् । (चकार) स उत्पादयामास । (धान्यम्) अ० २ । २६ । ५ । धारणसाधनम् । अन्नम् (बहु) अधिकम् (संभृत्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति सम्+भृञ् भरणे—क्वनिप् । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । इति तुक् । संभरणशीलः । सम्यक् पोषकः । (नाम) एतत्संज्ञः । (देवः) दानशीलः । (हवामहे) आह्वयामः । (योयः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति या गतौऽसुन् । इति यस् ।, या—ड । यस् , गमनं याति प्राप्नोतीति योयः । गतियुक्तः । (अयज्वनः) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । इति यज—ङ्वनिप् । अकृतयागस्य । देवपूजासंगतिकरणदानरहितस्य । (गृहे) गेहे ॥

" ऐ करीमे कि अज़ ख़ज़ाने गैब । गब्रो तर्सा वज़ीफ़ा ख़ुर दारी ॥ १ ॥
दोस्ताँ रा कुजा कुनी महरूम् । तो कि बा दुश्मनाँ नज़र दारी ॥ २ ॥"

हे ऐसे उदार कि तू गुप्त कोष से विरोधी और नास्तिक को पेटिया खिलाता है। मित्रों को तू कब निराश करे, जब कि तू द्वेषियों पर आँख रखता है ॥

इमा याः पञ्च प्रदिशो मानवीः पञ्च कृष्टयः ।
वृष्टे शापं नदीरिवेह स्फातिं समावहान् ॥ ३ ॥

इमाः । याः । पञ्च । प्र-दिशः । मानवीः । पञ्च । कृष्टयः ॥
वृष्टे । शापम् । नदीः-इव । इह । स्फातिम् । सम्-आवहान् ॥३॥

उदुत्सं शतधारं सहस्रधारमक्षितम् ।
एवास्माकेदं धान्यं सहस्रधारमक्षितम् ॥ ४ ॥

उत् । उत्सम् । शत-धारम् । सहस्र-धारम् । अक्षितम् ॥ एव ।
अस्माक । इदम् । धान्यम् । सहस्र-धारम् । अक्षितम् ॥४॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (याः) जो (मानवीः =०—व्यः) मानुषी (पञ्च) पांच भूत [पृथिवी आदि] से संबन्ध वाली (कृष्टयः) प्रजायें (पञ्च प्रदिशः) पाँच फैली हुई दिशाओं में हैं, वे प्रजायें (शापम्) अनिष्ट वा मलिनता हटा कर (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती को (समावहान्) यथावत् लावें,

---

३, ४—(इमाः) परिदृश्यमानाः । (याः) कृष्टयः । (पञ्च) पञ्चसंख्याकाः । (प्रदिशः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । चतस्रः प्राच्याद्याः, पञ्चमी ध्रुवा दिग्, ऊर्ध्वा दिग्वा । (मानवीः) अ० ३ । २१ । ५ । मानव—ङीप् । मानव्यः मानुष्यः । (पञ्च) पञ्चभूतसंबन्धिन्यः (कृष्टयः) क्तिच्क्तौ चसंज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति कृष विलेखने—क्तिच् ।

और (नदीः इव, नद्यः इव) जैसे नदियाँ (वृष्टे) बरसने पर [अनिष्ट वा मलिनता हटा कर] (शतधारम्) सैकड़ों धाराओं वाले और (सहस्रधारम्) सहस्रों विधि से धारण करने वाले, (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने के साधन [झरना, कूप आदि] को (उत् = उदावहन्ति) निकालती हैं, (एव = एवम्) ऐसे ही (अस्माक = अस्माकम्) हमारा (इदम्) यह (धान्यम्) धान्य (सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से धारण करने वाला और (अक्षितम्) अक्षय [होवे] ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती व्यापार आदि द्वारा पूर्वादि चार दिशाओं और ऊपर नीचे की दिशा [वायु मंडल वा पाताल] से बहुत धन प्राप्त करें और अनेक प्रयोगों से उसकी यथावत् वृद्धि करें, जैसे बरसा का जल नदियों में एकत्र होकर और झरनों, कूपों, नालियों से खेती आदि में पहुँच कर दरिद्रता आदि मिटा कर संसार को लाभ पहुँचाता है ॥ ३ । ४ ॥

मन्त्र ३ व ४ युग्मक है छन्द ।

शतहस्त समाहर सहस्रहस्त सं किर ।
कृतस्य कार्यस्य चेह स्फातिं समावह ॥५॥

प्रजाः । मनुष्याः—निघ० २ । ३ (वृष्टे) भावे—क्त । वर्षणे सति । (शापम्) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति अपादाने द्वितीया । शापात् । शापम् अनिष्टं मलं वा वर्जयित्वा । (नदीः इव) नद्यो यथा (इह) अत्र । (स्फातिम्) स्फायी वृद्धौ—क्तिन् । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति यलोपः । धनधान्यवृद्धिम् । (समावहान्) । सम्+आङ्+वहेर्लेटि आडागमः । सम्यग् आनयन्तु । वहेर्द्विकर्मकत्वात्, शापं स्फातिम्, इत्येतयोः कर्मत्वम् । (उत्) तृतीयमन्त्रसंबन्धात्, उत्+आङ्+वहन्तु । (उत्सम्) अ० १ । १५ । ३ । सेचनसाधनम् । निर्झरम् । कूपम् । (शतधारम्) बहुधारायुक्तम् । (सहस्रधारम्) बहु प्रकारेण धारकम् (अक्षितम्) अक्षीणम् । अनश्वरम् । (एव) एवम् (अस्माक), मलोपश्छान्दसः । अस्माकम् । (इदम्) परिदृश्यमानम् । अ यद्-गतम् ॥

शत॑-हस्त । स॒म्-आह॑र । सह॑स्र-हस्त । सम् । कि॒र॒ ॥
कृ॒तस्य॑ । का॒र्य॑स्य । च॒ । इ॒ह । स्फा॒तिम् । सम्-आव॑ह ॥५॥

भाषार्थ—(शतहस्त) हे सैकड़ों हाथों वाले ! [मनुष्य !] [धान्य को—म० ४] (समाहर) बटोर कर ला, और (सहस्रहस्त) हे सहस्रों हाथों वाले (सम्) अच्छे प्रकार से (किर) फैला । (च) और (कृतस्य) किये हुये और (कार्यस्य) कर्तव्य कर्म की (स्फातिम्) बढ़ती को (इह) यहाँ पर (समावह) मिलकर ला ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सैकड़ों और सहस्रों प्रकार से कर्मकुशल होकर, और सहस्रों कर्मकुशलों से मिल कर धन धान्य एकत्र करे और उत्तम कर्मों में व्यय करके आगा पीछा सोच कर सदैव उन्नति करता रहे ॥ ५ ॥

ति॒स्रो मात्रा॑ ग॒न्ध॒र्वाणां॒ चत॑स्रो गृ॒हप॑त्न्याः ।
तासां॒ या स्फा॑ति॒मत्त॑मा॒ तया॑ त्वा॒भिमृ॑शामसि ॥ ६ ॥
ति॒स्रः । मात्राः॑ । ग॒न्ध॒र्वाणा॑म् । चत॑स्रः । गृ॒ह-प॑त्न्याः ॥
तासा॑म् । या । स्फा॒ति॒मत्-त॑मा । तया॑ । त्वा॒ । अ॒भि ।
मृ॒शा॒म॒सि॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तिस्रः) तीन (मात्राः) मात्रायें [भाग] (गन्धर्वाणाम्)

५—(शतहस्त) हे बहुप्रकारेण हस्तक्रियाकुशल । हे बहुक्रियाकुशलपुरुषैर्युक्त मनुष्य ! (समाहर) समाहृत्य प्रापय हि । (सहस्रहस्त) असंख्यहस्तक्रियाकुशलपुरुषैर्युक्त ! (सम्) सम्यक् । शोभनरीत्या । (किर) कॄ विक्षेपे । ॠत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इत्वम् । विक्षिप । प्रयच्छ । (कृतस्य) निष्पन्नस्य । (कार्यस्य) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति कृञ्-ण्यत् । कर्त्तव्यस्य कर्मणः । (स्फातिम्) म० ४ । समृद्धिम् । (समाहर) सम्यग् आनय ॥

६—(तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (मात्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ ।

विद्या वा पृथिवी धारण करने वालों की, और (चतस्रः) चार (गृहपत्न्याः) गृहपत्नी [घर की पालन शक्ति] की [होवें], (तासाम्) उन सब [मात्राओं] में से (या) जो (स्फातिमत्तमा) अत्यन्त समृद्धि वाली है, (तया) उस [मात्रा] से (त्वा) तुझको (अभि) सब ओर से (मृशामसि = ०—मः) हम छूते [संयुक्त करते] हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब कुटुम्बी लोग जो धन धान्य कमावें, उसमें से उत्तम अधिकांश अनदेखे विपत्ति समय के लिये प्रधान पुरुष को सौंपें, और शेष के सात भाग करके तीन भाग विद्यावृद्धि और राजप्रबंध आदि और चार भाग सामान्य निर्वाह खान पान वस्त्र आदि में व्यय करें। यह वैदिक शिक्षा सब मनुष्यों के सुख का मूल है ॥ ६ ॥

उपोहश्च समूहश्च क्षत्तारौ ते प्रजापते ।
ताविहा वहतां स्फातिं बहुं भूमानमक्षितम् ॥ ७ ॥

उप-ऊहः । च । सम्-ऊहः । च । क्षत्तारौ । ते । प्रजा-पते ॥ तौ । इह । आ । वहताम् । स्फातिम् । बहुम् । भूमानम् । अक्षितम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक गृहस्थ ! (उपोहः) योग [प्राप्ति] (च) और (समूहः) संग्रह [क्षेम वा रक्षा] दोनों (च) निश्चय करके

इति माङ् माने—त्रन्, टाप् । परिमाणानि (गन्धर्वाणाम्) अ० २ । १ । २ । गो+धृञ्—व । गोर्विद्यायाः पृथिव्या वा धारकाणाम् । (चतस्रः) (गृहपत्न्याः) गृहपालनशक्तेः । (तासाम्) सर्वमात्राणाम् (स्फातिमत्तमा) स्फाति+मतुप्+तमप्+टाप् । अतिशयेन समृद्धियुक्ता । (त्वा) प्रधानम् (अभि) सर्वतः (मृशामसि) मृशामः । स्पृशामः । संयोजयामः ॥

७—(उपोहः) उप+ऊह वितर्के—घञ् । योगः । अलब्धलाभः । (समूहः) सम्+ऊह—घञ् । समुदायः । क्षेमः । लब्धस्य रक्षणम् (क्षत्तारौ) क्षणु वधे-क्विप्,

(ते) तेरे (क्षत्तारौ) क्षत्रिय [क्षति वा हानि से बचाने वाले] हैं। (तौ) वे दोनों (इह) यहाँ पर (स्फातिम्) बढ़ती और (बहुम्) बहुत (अक्षितम्) अचूक (भूमानम्) अधिकाई (आ वहताम्) लावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग पुरुषार्थ करके विद्या, धन, धान्य आदि जीवन सामग्री की १—प्राप्ति, २—रक्षा और ३—वृद्धि वा ऋद्धि सिद्धि करके आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

यजुर्वेद अ० २२ म० २२ का वचन है।

योग क्षेमो नः कल्पताम ॥

(नः (हमारा (योगक्षेमः) योग-अप्राप्त वस्तु का लाभ, और क्षेम - प्राप्त पदार्थ की रक्षा (कल्पताम्) समर्थ अर्थात् पर्याप्त होवे ॥

सूक्तम २५ ॥

१—६ ॥ कामो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

अविद्यानाशेन विद्यालाभोपदेशः—अविद्या के नाश से विद्या प्राप्त का उपदेश।

उत्तुदस्त्वोत् तुदतु मा धृथाः शयने स्वे ।
इषुः कामस्य या भीमा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ १ ॥

उत्-तुदः । त्वा । उत् । तुदतु । मा । धृथाः । शयने ॥ स्वे

इति क्षत् । तॄ तरणे, णिच्—अच् । तारयतीति तारः । क्षतः क्षतात् रक्षकौ । क्षत्रियौ । (ते) तव । (प्रजापते) हे सन्तानपालक गृहस्थ । (तौ) तादृशौ । उपोहसमूहौ । (आ वहताम्) आनयताम् (स्फातिम्) म० ४ । समृद्धिम् (बहुम्) विपुलम् (भूमानम्) बहु-इमनिच् । बहोर्लोपो भू च बहोः । पा० ६ । ४ । १५८ । इति इमनिच इकारलोपो बहोर्भूभावश्च । धनधान्यविषयं बहुभावम् । (अक्षितम्) क्षयरहितम् ॥

इषुः । कामस्य । या । भीमा । तया । विध्यामि । त्वा । हृदि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे अविद्या !] (उत्तुदः) तेरा उखाड़ने वाला [विद्वान्] (त्वा) तुझको (उत् तुदतु उखाड़ दे । (स्वे शयने) अपने शयन स्थान (हृदय) में (मा धृथाः) मत ठहर । (कामस्य) सुकामना का (या) जो [तेरे लिये] (भीमा) भयानक (इषुः) तीर है, (तया) उससे (त्वा) तुझको (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बधेता हूँ ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में स्त्री लिङ्ग शब्द अविद्या और विद्या के लिये आये हैं । पहिले तीन मन्त्र अविद्यापरक, और पिछले तीन विद्यापरक हैं । अलङ्कार से अविद्या को दुःख दायिनी और विद्या को सुखदायिनी मानकर संबोधन किया है ।

मन्त्र का आशय—सब स्त्री पुरुष ब्रह्मचर्यादि तपोबल द्वारा अविद्या को हृदय से मिटावें, जैसे शूर वीर योद्धा शत्रु सेना को अस्त्र शस्त्रों से मार गिराता है ॥ १ ॥

आधीपर्णां कामशल्यामिषुं संकल्पकुल्मलाम् ।
तां सुसंनतां कृत्वा कामो विध्यतु त्वां हृदि ॥ २ ॥

आधी-पर्णाम् । काम-शल्याम् । इषुम् । सं॒क॒ल्प-कुल्मलाम् ॥

१—(उत्तुदः) उत्+तुद व्यथने—क । ऊर्ध्वमुखं व्यथयिता । अविद्यायाःसर्वनाशको विद्वान् (त्वा) अविद्याम् (उत् तुदतु) उत्कृष्य व्यथयतु नाशयतु । (मा धृथाः) धृञ् धारणे—लुङ् । लुङ् योगे अडभावः । स्थिता मा भूः(शयने) । शीङ्—ल्युट् । निद्रास्थाने । ब्रह्मचारिहृदये—इत्यर्थः । (स्वे) आत्मयी । (इषुः) तीरम् । (कामस्य) सुकामस्य । विद्याभिलषस्य । (भीमा) भियःषुग् वा । उ० १ । १४८ । इति ञि भी—अपादाने मक्, टाप् । भयानका (तया) इष्वा (विध्यामि) व्यध ताडने । ताडयामि (हृदि) हृदये ॥

ताम् । सुसंनताम् । कृत्वा । कामः । विध्यतु । त्वा । हृदि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आधीपर्णाम्) अधिष्ठान वा प्रतिष्ठा के पंख वाले, (कामशल्याम्) वीर्य [तपोबल] की अणि वाले (संकल्पकुल्मलाम्) संकल्प के दंड छिद्र वाले (ताम्) उस [प्रसिद्ध, बुद्धि रूपी] (इषुम्) तीर को (सुसंनताम्) ठीक २ लक्ष्य पर सीधा (कृत्वा) करके (कामः) सुन्दर मनोरथ (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय में (विध्यतु) बेधे ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी योगी बुद्धि बल से अविद्या को हटाकर प्रतिष्ठावान्, बलवान्, और सत्य संकल्पी होता है ॥ २ ॥

मुण्डकोपनिषद् का वचन है, मुण्ड २ खण्ड २ मन्त्र ४ ॥

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते ।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत् ॥ १॥

(प्रणवः) ओ३म् (धनुः) धनुष् (आत्मा हि) आत्मा ही (शरः) तीर, और (ब्रह्म) ब्रह्म (तल्लक्ष्यम्) उसका लक्ष्य (उच्यते) कहा जाता है, (अप्रमत्तेन) अप्रमत्त, अति सावधान मनुष्य (वेधव्यम्) बेधे, और वह (शरवत्) तीर के समान (तन्मयः) उसमें लय (भवेत्) हो जावे ॥

२—(आधीपर्णाम्) आ+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, ङीप् । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति पॄ पालनपूरणयोः—न । आधी अधिष्ठानं प्रतिष्ठा पर्णं पत्रमिव यस्यास्तां तथाविधाम् । (कामशल्याम्) शल्यः । अ० २ । ३० । ३ । कामं वीर्यं तपोबलं शल्यो बाणाग्रभाग इव यस्यास्तां तथोक्ताम् (इषुम्) तीरम् । (संकल्पकुल्मलाम्) सम्+कृपू सामर्थ्ये—घञ्, रस्य लः । कुल्मलम् । अ० २ । ३० । ३ । संकल्पो दृढविचारः कुल्मलं बाणदण्डछिद्रमिव यस्यास्तां तथोक्ताम् । (ताम) प्रसिद्धाम् । (सुसंनताम्) सु+सम्+णम नतौ ।—क्त । सुष्ठु सम्यङ् नतां लक्ष्यीकृताम् । (कृत्वा) विधाय (कामः) कमु-घञ् । सुमनोरथः, यथा धर्मार्थकाममोक्षाः । (विध्यतु) म० १ । ताडयतु (त्वा) त्वामविद्याम् (हृदि) हृदये ॥

या प्लीहानं शोषयति कामस्येषुः सुसंनता ।
प्राचीनपक्षा व्योषा तया विध्यामि त्वा हृदि ॥ ३ ॥

या । प्लीहानम् । शोषयति । कामस्य । इषुः । सु-संनता ।
प्राचीन-पक्षा । वि-ओषा । तया । विध्यामि । त्वा ।
हृदि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कामस्य) सुन्दर मनोरथ का (सुसंनता) ठीक २ लक्ष्य पर चलाया हुआ, (प्राचीनपक्षा) प्राचीन [वेदविज्ञान] का पँख रखने वाला, (व्योषा) विविध प्रकार से [अविद्या का] दाह करने वाला [बुद्धिरूपी] (या) जो (इषुः) तीर [अविद्या की] (प्लीहानम्) गति [वा तिल्लीनाम मर्मस्थान] को (शोषयति) सुखा देता है, (तया) उससे (त्वा) तुझ [अविद्या] को (हृदि) हृदय में (विध्यामि) बेधता हूँ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य और दृढ़ प्रतिज्ञा से वेदविज्ञान द्वारा अविद्या मिटाकर आनन्द भोगे, जैसे शूर वैरी का मर्म स्थान छेद कर सुखी होता है ॥ ३ ॥

शुचा विद्धा व्योषया शुष्कास्याभि सर्प मा ।
मृदुर्निमन्युः केवली प्रियवादिन्यनुव्रता ॥ ४ ॥

शुचा । विद्धा । वि-ओषया । शुष्क-आस्या । अभि । सर्प ।
मा ॥ मृदुः । नि-मन्युः । केवली । प्रिय-वादिनी । अनु-व्रता ४

३—(प्लीहानम्) अ० २ । ३३ । ३ । प्लिह गतौ-कनिन । गमनम् । कुक्षिवामपार्श्वस्थमांसखण्डम् (शोषयति) दहति (कामस्य) सुमनोरथस्य (इषुः) तीरम् (सुसंनता) सुष्ठु सम्यक् लक्ष्यीकृता (प्राचीनपक्षा) प्राचीनं वेदविज्ञानं पक्ष इव यस्याःसा तथोक्ता (व्योषा) वि + उष दाहे-पचाद्यच्, टाप् । विशेषेण दाहशीला । अन्यद्गतम्-म० १ ॥

४—(शुचा) शुच शोके-क्विप् । शोकेन । पीड़या (विद्धा) ताडिता (व्योषया)

भाषार्थ—[हे विद्या,] (व्योपया) विशेष दाह करने वाली (शुचा) पीड़ा से (विद्धा) बिधी हुई, (शुष्कास्या) सूखे मुखे वाली, (मृदुः) कोमल स्वभाव वाली (निमन्युः) निरभिमान, (केवली) सेवनीया, (प्रियवादिनी) प्रिय बोलने वाली और (अनुव्रता) अनुकूल आचरण वाली [पतिव्रता स्त्री के समान] तू (मा अभि) मेरी ओर (सर्प) चली आ ॥ ४ ॥

भावार्थ—यहाँ से तीन मन्त्र विद्यापरक हैं। मन्त्र का आशय यह है, जो ब्रह्मचारी विद्या के लिए पूरी लालसा से यत्नपूर्वक परिश्रम करता है, विद्या शीघ्र ही उसको मिल कर हितकारिणी होती है, जैसे सती गुणवती स्त्री मन, वचन, और कर्म से अपने पति की सेवा करती है ॥ ४ ॥

ऋग्वेद के परब्रह्मज्ञान सूक्त वा विद्यासूक्त में भी विद्या की उपमा पतिव्रता स्त्री से दी है, ऋ० म० १० सू० ७१ म० ४ ॥

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः १

(त्वः) एक पुरुष ने (पश्यन् उत) देखते हुये भी (वाचम्) वेद वाणी को (न ददर्श) नहीं देखा है, (त्वः) एक पुरुष (शृण्वन् उत) सुनता हुआ भी (एनाम्) इसको (न शृणोति) नहीं सुनता है। (उतो) किन्तु (त्वस्मै) एक पुरुष को [अपना] (तन्वम्) स्वरूप [परब्रह्मज्ञान] (विसस्रे) उसने दिखाया है, (इव) जैसे (उशती) अनुरागवती (सुवासाः) सुन्दर वस्त्र वाली (जाया) पत्नी [अपने] (पत्ये) पति को ॥ १ ॥

म० ३। विशेषेण दाहशीलया (शुष्कास्या) शुष्कमुखयुक्ता (अभि) अभिगत्य। उपेत्य (सर्प) गच्छ (मृदुः) प्रथिम्रदिभ्रस्जां० उ०१।२८। इति म्रद चोदे—कु। संप्रसारणं च। कोमलस्वभावा (निमन्युः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३।२०। इति मन गर्वे—युच्। निरभिमाना (केवली) अ० ३। १८। २। केवलमामक०। पा०४।१।३०। इति ङीप्। सेवनीया। सेवमाना वा (प्रियवादिनी) हितभाषिणी (अनुव्रता) अनुकूलाचरणपरा ॥

आजा॑मि॒ त्वाज॑न्या॒ परि॑ मा॒तुरथो॑ पि॒तुः ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ ५ ॥

आ । अ॒जा॒मि॒ । त्वा॒ । आ॒-अज॑न्या । परि॑ । मा॒तुः ।
अथो॒ इति॑ । पि॒तुः ॥ यथा॑ । मम॑ । क्रतौ॑ । अस॑ः । मम॑ ।
चि॒त्तम् । उ॒प॒-आय॑सि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हे विद्या !) (त्वा) तुझ को (आजन्या) पूरे उपाय से [अपनी] (मातुः) माता से (अथो) और (पितुः) पिता से (परि) सब ओर (आ) यथानियम (अजामि) प्राप्त करता हूं, (यथा) जिस से (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम चित्तम्) मेरे चित्त में (उपायसि) तू पहुँचती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष माता पिता आदि से विद्या पाकर परीक्षा द्वारा साक्षात् करके हृदय में दृढ़ करें ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से अथर्व० १ । ३४ । २ । में आया है ॥

व्य॑स्यै मित्रावरुणौ हृ॒दश्चि॒त्तान्य॑स्यतम् ।
अथै॑नामक्र॒तुं कृ॒त्वा ममै॒व कृ॑णुतं॒ वशे॑ ॥ ६ ॥

वि । अ॒स्यै॒ । मि॒त्रा॒व॒रु॒णौ॒ । हृ॒दः । चि॒त्ता॒नि॒ । अ॒स्य॒त॒म् ॥

५-(आ) समन्तात् (अजामि) अज गतिक्षेपणयोः । गच्छामि । प्राप्नोमि (आजन्या) आ+अज गतौ-ल्युट्, ङीप् । समन्ताद् गत्या । पूर्णोपायेन (परि), सर्वतः (मातुः) जनन्याः सकाशात् (अथो) अपि च (पितुः) पालकात् । अन्-कात् (यथा) येन प्रकारेण । अन्यद् व्याख्यतम्—अ० १ । ३४ । २ ॥

६—अस्यै । अस्या विद्यायाः प्राप्तये (मित्रावरुणौ) अ० १।२०।२। हे प्राण-

अथ । एनाम् । अक्रतुम् । कृत्वा । मम । एव । कृणु-
तम् । वशे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान (अस्यै) इस [विद्या] के लिये [मेरे] (हृदः) हृदय के (चित्तानि) विचारों को (वि अस्यतम्) फैलाओ । (अथ) और (एनाम्) इस को (अक्रतुम्) अहिंसिका [हित-कारिणी] (कृत्वा) करके (मम एव) मेरे ही (वशे) वश में (कृणुतम्) करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियों को जीतकर अपने विचारों को बढ़ाकर महाहितकारिणी विद्या को उपयोगी बनावें ॥ ६ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

—:o:—

सूक्तम् २६ ॥

१—६ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः । जगती त्रिष्टुब् वा छन्दः ॥
युद्धगीतिः—मारू गीत ॥

ये३ ऽस्यां स्थ प्राच्यां दिशि हेतयो नाम देवास्तेषां वो अग्निरिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नम-

पानौ (हृदः) मम हृदयस्य (चित्तानि) ज्ञानानि । विचारान् (वि+अस्यतम्) असु क्षेपणे । विस्तारयतम् (अथ) अनन्तरम् (एनाम्) निर्दिष्टाम् (अक्रतुम्) कृञः कतुः उ० १ । ७६ । इतिकृञ् हिंसायाम्—कतु । अहिंसाशीलाम् । सुख-प्रदाम् (कृत्वा) विधाय (कृणुतम्) कुरुतम् (वशे) आयत्तत्वे । प्रभुत्वे ॥

एतेभ्यो वः स्वाहा ॥ १ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । प्राच्याम् । दिशि । हेतयः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । अग्निः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्राच्याम्) पूर्व वा सन्मुख (दिशि) दिशा में (हेतयः) वज्र रूप (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारी (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोलो, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशंसा] होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—सेनानी अपनी सेना का व्यूह करके आग्नेय अस्त्र वाले शूर

१-(ये) ये यूयं शूराः (अस्याम्) निर्दिष्टायाम् (स्थ) भवथ (प्राच्याम्) ऋत्विग्दधृक्स्रग०। पा० ३ । २ । ५९ इति प्र+अञ्चू गतिपूजनयोः—क्विन्। अनिदितां हल उप०। पा० ६ । ४ । २४। इति नलोपः। उगितश्च। पा० ४। १। ६। अत्र वार्त्तिकम्। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। इति ङीप्। अचः । पा० ६ । ४ । १३८। इति अकारलोपे। चौ। पा० ६ । ३ । १३८। इति पूर्वपदस्य दीर्घः। स्वस्थानात् पूर्वस्याम्। स्वाभिमुखीभूतायाम् (दिशि) दिशायाम् (हेतयः) अ० १ । १३ । ३। वज्ररूपाः। हन्तारः (नाम) प्रसिद्धाः (देवाः) विजिगीषवः (तेषाम्) पूर्वदिक्स्थानाम् (वः) युष्माकम् (अग्निः) पावकः (इषवः) अ० १ । १३ । ४। बाणाः। तीराणि (ते) ते यूयम् (नः) अस्मान् (मृडत) सुखयत (नः) अस्मदर्थम् (अधि) अधिकारेण । ऐश्वर्येण (ब्रूत) वदत । विज्ञापयत (तेभ्यः) तथाविधेभ्यः (वः) युष्मभ्यम् (नमः) सत्कारः। अन्नम्-निघ० २ । ७ (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । वाक्-नाम-निघ० १ । ११ । सुवाणी । प्रशंसा ॥

वीरों को पूर्व दिशा में वा अपने सन्मुख स्थान में रक्खे, वे लोग शत्रुओं को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥ १ ॥

ये ३' स्यां स्थ दक्षिणायां दिश्यविष्यवो नाम देवास्तेषां वः काम इषवः ॥ ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ २ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । दक्षिणायाम् । दिशि । अविष्यवः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । कामः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशि) दिशा में (अविष्यवः) रक्षा की इच्छा वाले (नाम) नाम देवाः) विजय चाहनेवाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (कामः) मनोरथ (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें...... [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—दक्षिण दिशा वा दाहिनी ओर वाले रक्षक विजयी वीर दृढ़ मनोरथ से शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ २ ॥

२—(दक्षिणायाम्) स्याडभावश्छान्दसः । दक्षिणस्याम् । दक्षिणहस्तस्थितायाम् (अविष्यवः) अर्चिशुचि .... इसिः । उ० २ । १०८ । इति अव रक्षणे-इसि । इति अविः, रक्षणम् । छन्दसि परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । अवनेच्छवः । पररक्षणेच्छवः । (कामः) दृढमनोरथः । इष्टविषयोऽभिलापः । अन्यद्गतम्—म० १ ॥

ये३ऽस्यां स्थ प्रतीच्यां दिशि वैराजा नाम देवास्तेषां व आप इषवः ॥ ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ३ ॥

ये। अस्याम्। स्थ। प्रतीच्याम्। दिशि। वैराजाः। नाम। देवाः। तेषाम्। वः। आपः। इषवः॥ ते। नः। मृडत। ते। नः। अधि। ब्रूत। तेभ्यः। वः। नमः। तेभ्यः। वः। स्वाहा॥ ३॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (वैराजाः) विविध ऐश्वर्य वाले क्षत्रिय (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (आपः) जल [जल विद्या] (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें ......[म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—पश्चिम वा पीछे वाली दिशा के क्षत्रिय लोग वारुणेय वा जलास्त्रों से शत्रुओं को जीत कर ...... [म० १] ॥ ३ ॥

ये३ऽस्यां स्थोदीच्यां दिशि प्रविध्यन्तो नाम देवास्तेषां वो वात इषवः। ते नो मृडत तो नोऽधि ब्रूत तेभ्यो

३—(प्रतीच्याम्) प्राच्याम्, म० १। इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धिः। पश्चिमायाम्। पश्चाद्भागे स्थितायाम् (आपः) जलानि (वैराजाः) राजति, ऐश्वर्यकर्मसु-निघ० २। २१। वि+राजृ ऐश्वर्ये—भावे क्विप्। तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति अण्। विराट्, विविधं राज्यं येषां ते वैराजाः। क्षत्रियाः। विविधैश्वर्यवन्तः। अन्यद् गतं म० १॥

वो नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

ये । अ॒स्याम् । स्थ । उदी॑च्याम् । दि॒शि । प्र-विध्य॑न्तः । नाम॑ । दे॒वाः । तेषा॑म् । वः॒ । वातः॑ । इष॑वः ॥ ते॒ । नः॒ । मृ॒डत॒ । ते । नः॒ । अधि॑ । ब्रू॒त॒ । तेभ्यः॑ । वः॒ । नमः॑ । तेभ्यः॑ । वः॒ । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (उदीच्याम्) उत्तर वा वायीं ओर वाली (दिशि) दिशा में (प्रविध्यन्तः) वेधने वाले (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (वातः) पवन (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें ...... [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्तर वा वायीं ओर वाली दिशा में बरछी, भाले, गोली आदि से छेदने वाले, वायु विद्या में कुशल योधा, वायव्य अस्त्र शस्त्र, विमानों द्वारा वैरियों को जीत कर...... [म० १] ॥ ४ ॥

ये॒३॑ऽस्यां स्थ ध्रु॒वायां॑ दि॒शि नि॑लि॒म्पा नाम॑ दे॒वास्तेषां॑ व॒ ओष॑धी॒रिष॑वः । ते नो॑ मृडत॒ ते नोऽधि॑ ब्रूत॒ तेभ्यो॑ वो॒ नम॒स्तेभ्यो॑ वः॒ स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

ये । अ॒स्याम् । स्थ । ध्रु॒वाया॑म् । दि॒शि । नि॒-लि॒म्पाः ।

४—(उदीच्याम्) उत्पूर्वाद् अञ्चतेः पूर्ववत् क्विनादि-म० १ । उद ईत् । पा० ६ । ४ । १३९ । इति धात्वकारस्य ईकारः । उत्तरस्याम् । वामभागवर्त्तमानायाम् (वातः) पवनः । वायुविद्या (प्रविध्यन्तः) व्यध वेधने-शतृ । प्रकर्षेण वेधनं कुर्वन्तः । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

५—(ध्रुवायाम) अ० २ । २६ । ४ । स्थिरायाम् । निश्चितायाम् (निलिम्पाः)

नाम । देवाः । तेषाम् । वः । ओषधीः । इषवः ॥ ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ध्रुवायाम्) स्थिर वा निश्चित (दिशि) दिशा में (निलिम्पाः) लेप करने लाले वैद्य (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, तेषाम् वः) उन तुम्हारी (ओषधीः) अन्न, सोमलतादि ओषधियां (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—लेप, पट्टी आदि करने वाले सद्वैद्य दृढ़ निश्चित स्थान में औषधालय बना कर सैनिकों को स्वस्थ रखकर शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ ५ ॥

ये ३ ऽस्यां स्थोर्ध्वायां दिश्यवस्वन्तो नाम देवास्तेषां वो बृहस्पतिरिषवः । ते नो मृडत ते नोऽधि ब्रूत तेभ्यो वो नमस्तेभ्यो वः स्वाहा ॥ ६ ॥

ये । अस्याम् । स्थ । ऊर्ध्वायाम् । दिशि । अवस्वन्तः । नाम । देवाः । तेषाम् । वः । बृहस्पतिः । इषवः । ते । नः । मृडत । ते । नः । अधि । ब्रूत । तेभ्यः । वः । नमः । तेभ्यः । वः । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अस्याम्) इस (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर

नौ लिम्पेरिति वक्तव्यम् । वा० पा० ३ । १ । १३८ । इति नि+लिप लेपे मुचादिः—शप्रत्ययः । नितरां लेपनकर्तारः सद्वैद्याः (ओषधीः) अ० १ । ३० । ३ । ओषधयः । व्रीहियवसोमलताद्याः । अन्यद् गतम् म० १ ॥

६—ऊर्ध्वायाम् । उत् उपरि ध्वन्यते । ध्वन शब्दे ड । आदेरूरादेशः ।

वाली (दिशि) दिशा में (अवस्वन्तः) रक्षा के अधिकारी (नाम) नाम (देवाः) विजय चाहने वाले वीर (स्थ) हो, (तेषाम् वः) उन तुम्हारा (बृहस्पतिः) बड़ों का स्वामी, मुख्य सेनापति (इषवः) तीर हैं, (ते) वे तुम (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (ते) वे तुम (नः) हमारे लिये (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रूत) बोलो, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (नमः) सत्कार वा अन्न होवे, (तेभ्यः वः) उन तुम्हारे लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी [प्रशंसा होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—बड़े साहसी रक्षाधिकारी, युद्ध विद्या में कुशल योधा लोग ऊँचे स्थान पर रहकर मुख्य सेनापति की सहायता से वैरियों को जीत कर अपने राजा की दुहाई वा जयघोषणा फेरें, और राजा सत्कार पूर्वक ऊँचे २ अधिकार देकर उनका उत्साह बढ़ावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६॥ मन्त्रोक्ता देवताः। प्रथमा पङ्क्तिः—द्विपदा त्रिष्टुप्, द्वितीया द्विपदा भुरिग् जगती, तृतीया द्विपदानुष्टुप् ॥

सेनाव्यूहोपदेशः—सेना व्यूह का उपदेश ॥

प्राची दिगग्निरधिपतिरसितो रक्षितादित्या इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ १ ॥

प्राची। दिक्। अग्निः। अधि-पतिः। असितः। रक्षिता।

टाप् उपरि वर्त्तमानायाम् (अवस्वन्तः। अव रक्षणगतिस्पृहादिषु—असुन्, मतुप् च। अवनवन्तः। रक्षाधिकारिणः (बृहस्पतिः) अ० १।८।२। बृहतां महतां योद्धॄणां पतिः। मुख्यसेनापतिः। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

१—प्राची। प्राच्याम्। सू० २६ म० १। इत्यत्रोक्तप्रकारेण रूपसिद्धिः।

आदित्याः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः ॥ अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषुभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राची=प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (अग्निः) अग्नि [अग्नि विद्या में निपुण सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (असितः) कृष्ण सर्प [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (आदित्याः) सूर्य से संबंध वाले (इषवः) बाण हों। (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाओं और (रक्षितृभ्यः) रक्षकों के लिये (नमोनमः) बहुत बहुत सत्कार वा अन्न और (एभ्यः) इन (इषुभ्यः) बाणों [बाण वालों] के लिये (नमोनमः) बहुत सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे। (यः) जो [वैरी] (अस्मान्) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस [वैरी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) वैर करते हैं, [हे शूरो] (तम्) उसको (वः) तुम्हारे (जम्भे) जबड़े में (दध्मः) हम धरते हैं ॥ १ ॥

सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तिलोपः । प्राच्याः । पूर्वायाः । अभिमुखीभूतायाः (दिक्) विभक्तिलोपः । दिशः (अग्निः) अग्निविद्यायां कुशलः पुरुषः (अधिपतिः) अधिष्ठाता । स्वामी (असितः) अ० १ । २३ । ३ । अबद्धः । कृष्णवर्णः सर्पः—इति सायणः । कृष्णसर्पवत् सेनाव्यूहः (रक्षिता) रक्षकः (आदित्याः) अ० १ । ९ । १ । दित्यदित्यादित्य० पा० ४ । १ । ८५ । इति आदित्य—ण्य प्रत्ययः । आदित्यस्य सूर्यस्य सम्बन्धिनः । सूर्यविद्युदग्निप्रयोगेण सिद्धाः (इषवः) अ० १ । १३ । ४ । आयुधानि—इति सायणः । इषुरीषतेर्गतिकर्मणो वधकर्मणो वा—निरु० ९ । १८ । बाणाः । अस्त्रशस्त्राणि । इषुधारिणः । शूराः (तेभ्यः) दूरस्थेभ्यः । (नमः नमः) अतिशयेन सत्कारोऽन्नं वा । नमः=अन्नम्—निघ० २ । ७ (एभ्यः) समीपस्थेभ्यः (यः) दुष्टः । शत्रुः (द्वेष्टि) बाधते (द्विष्मः) बाधामहे (वः) युष्माकम् । शूराणाम् (जम्भे) जभि नाशे-घञ् । हनौ [Jaw] (दध्मः) धारयामः । अन्यत् सुगमम् ॥

भावार्थ—(आदित्याः इषवः) बाण अर्थात् सब अस्त्र शस्त्र सूर्य वा बिजुली वा अग्नि के प्रयोग से चलने वाले हों। शत्रु दो प्रकार के होते हैं, एक वे जो अपनी दुष्टता से धर्मात्माओं को बुरा जानते हैं, दूसरे वे जिन को धर्मात्मा लोग उनकी दुष्टता के कारण बुरा समझते हैं। उक्त दिशा में (अग्नि) पद वाला सेनापति (असित) नाम काले साँप के समान सेना व्यूह से ऐसे दुष्टों को जीत कर सैनिकों सहित यशस्वी होकर धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

दक्षिणा दिगिन्द्रोऽधिपतिस्तिरश्चिराजी रक्षिता पितर इषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ २ ॥

दक्षिणा। दिक्। इन्द्रः। अधि-पतिः। तिरश्चि-राजिः। रक्षिता। पितरः। इषवः॥ तेभ्यः। नमः। अधिपति-भ्यः। नमः। रक्षितृ-भ्यः। नमः। इषु-भ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु॥ यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणा—०—णायाः) दक्षिण वा दाहिनी ओर वाली

२—(दक्षिणा) दक्षिणायाः (दिक्) दिशः। दिशायाः। उभयत्र विभक्तेर्लुप्। (तरश्चिराजिः) ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३। २। ५९। इति तिरस्+ अञ्चू गतिपूजनयोः— क्विन्। अनिदितां हल उप०। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। उगितश्च। पा० ४। १। ६। अत्र वार्त्तिकम्। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। इति ङीप्। छान्दसो ह्रस्वः। वसिवपियजिराजि०। उ० ४। १२५। इति राजृ दीप्तौ, ऐश्वर्ये च-इञ्। तिरश्च्यः तिर्यग् अवस्थिता राजयः, आवलयः, यस्य तथा विधः सर्पः-

(दिक् = दिशः) दिशा का (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला इन्द्र [अधिकारी सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (तिरश्चिराजिः) तिरछी धारी वाले सांप यद्वा पशु पक्षी आदि की पंक्ति [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, (पितरः) रक्षा करने हारे (इषवः) बाण होवें। (तेभ्यः) उन (अधिपतिभ्यः) अधिष्ठाताओं और........ [म० ॥ १ ॥

भावार्थ—उक्त दिशा में (इन्द्र पदधारी सेनापति (तिरश्चिराजि) नाम सेना व्यूह करके शत्रुओं को जीत कर......[म० १] ॥ २ ॥

प्रतीची दिग् वरुणोऽधिपतिः पृदाकू रक्षितान्नमिषवः। तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु। यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ३ ॥

प्रतीची। दिक्। वरुणः। अधि-पतिः। पृदाकुः। रक्षिता। अन्नम्। इषवः॥ तेभ्यः। नमः। अधिपति-भ्यः। नमः। रक्षितृभ्यः। नमः। इषु-भ्यः। नमः। एभ्यः। अस्तु॥ यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। तम्। वः। जम्भे। दध्मः ॥ ३ ॥

इति सायणः। तथाविधसर्पवत् सेनाव्यूहः। यद्वा तिरश्चीनां तिर्यग्जातीनां पशुपक्ष्यादीनां पङ्क्तिवत् पङ्क्तिर्यस्य तथाविधः सेना व्यूहः (पितरः) अ० १। २। १। रक्षकाः। इषवः, इत्यस्य विशेषणम्। अन्यद् गतम् ॥

३—(प्रतीची) प्रतीच्याः पश्चिमायाः पश्चाद्भागस्थाया वा (दिक्)

भाषार्थ—(प्रतीची=०—च्याः) पश्चिम वा पीछे की (दिक्= दिशः) दिशा का (वरुणः) शत्रुओं का रोकने वाला, वरुण [पदवाला सेना-पति (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (पृदाकुः) अजगर, बिच्छू, बाघ, चीता वा हाथी [के समान सेनाव्यूह] (रक्षिता) रक्षक हो, और (अन्नम्) अन्न (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाओं और...... [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—उक्त दिशा में (वरुण) नाम अधिकारी सेनापति (पृदाकु) नाम सेनाव्यूह बना कर, और अन्न आदि सामग्री एकत्र रखकर शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ ३ ॥

उदीची दिक् सोमोऽधिपतिः स्वजो रक्षिताशनिरिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३स्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ४ ॥

उदीची । दिक् । सोमः । अधि-पतिः । स्वजः । रक्षिता । अशनिः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषुभ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ४ ॥

दिशः (वरुणः) वारयति शत्रूनिति । शत्रुनिवारकः सेनापतिः (पृदाकुः) अ० १ । २७ । १ । अजगरः । वृश्चिकः । व्याघ्रः । चित्रकः । गजः । तद्वत् सेना व्यूहः । (अन्नम्) अद भक्षणे- क्त । सेनारक्षासाधनं भोजनम् । अन्यद् गतम् ॥

४—(उदीची) उदीच्याम्-सू० २६ म० ४ । तत्रवद् रूपसिद्धिः । उदीच्याः । उत्तर-

भाषार्थ—(उदीची = ०—च्याः) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिक् = दिशः) दिशा का (सोमः) प्रेरक वा उत्तेजक [सोम पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (स्वजः) आप उत्पन्न होने वाले वा बहुत दौड़ने वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (अशनिः) बिजुली (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाओं और......[म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस दिशा में (सोम) नाम अधिकारी सेनापति (स्वज) नाम सेना व्यूह रच कर बिजुली के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीत कर...... [म० १] ॥ ४ ॥

ध्रुवा दिग् विष्णुरधिपतिः कल्माषग्रीवो रक्षिता वीरुध इषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ५ ॥

ध्रुवा । दिक् । विष्णुः । अधि-पतिः । कल्माष-ग्रीवः । रक्षिता । वीरुधः । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥ यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् ।

भागस्थितायाः । वामभागवर्त्तमाना याः (सोमः) अ० ३ । १६ । १ । षू प्रेरणे-मन्, तुदादिः । प्रेरकः । उत्तेजकः सेनापतिः (स्वजः) स्व+जः । यद्वा । सु+अज गतिक्षेपणयोः—अच् । स्वयमेवोत्पन्नः सृजनशीलो वा सर्पः स्वज :—इति सायणः । तथाविधसर्पवत् सेनाव्यूहः (अशनिः) अर्त्तिस्टधृधम्यम्यश्य० । उ० २ । १०२ । इति अश भक्षणे; वा अशू व्याप्तौ—अनि । विद्युद्विद्या ॥ अन्यद् गतम् ॥

द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवा=ध्रुवायाः) स्थिर (दिक्=दिशः) दिशा का (विष्णुः) कामों में व्यापक [सद्वैद्य] (अधिपतिः) अधिष्ठाता होवे, (कल्माषग्रीवः) चितकबरे वा काले गले वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, और (वीरुधः) जड़ी बूटी ओषधें (इषवः) बाण होवें । (तेभ्यः अधिपतिभ्यः) उन अधिष्ठाताओं और ..... [म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य दृढ़ वा निश्चित स्थान में औषधालय से सैनिकों को स्वस्थ रक्खे और उसके साथ सेना (कल्माषग्रीवा) नाम व्यूह बनाकर रहे, और सब मिलकर शत्रुओं को जीतकर...... [म० १] ॥ ५ ॥

ऊर्ध्वा दिग् बृहस्पतिरधिपतिः श्वित्रो रक्षिता वर्षमिषवः । तेभ्यो नमोऽधिपतिभ्यो नमो रक्षितृभ्यो नम इषुभ्यो नम एभ्यो अस्तु । यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तं वो जम्भे दध्मः ॥ ६ ॥

ऊर्ध्वा । दिक् । बृहस्पतिः । अधि-पतिः । श्वित्रः । रक्षिता । वर्षम् । इषवः ॥ तेभ्यः । नमः । अधिपति-भ्यः । नमः । रक्षितृ-भ्यः । नमः । इषु-भ्यः । नमः । एभ्यः । अस्तु ॥

५—(ध्रुवा) अ० २ । २६ । ४ । ध्रुवायाः । स्थिरायाः (दिक्) दिशः । (विष्णुः) अ० ३ । २० । ४ । वेवेष्टि कार्याणि स विष्णुः सद्वैद्यः (कल्माषग्रीवः) कल गतौ—क्विप्, मष वधे—अण् । शेवायह्वजिह्वाग्रीवा० । उ० १ । १५४ । इति गॄ निगलने—वन् । कल्माषः कृष्णवर्णः ग्रीवासु यस्यस कल्माषग्रीवः, एतदाख्यः सर्पः—इति सायणः । चित्रग्रीवायुक्तः कृष्णग्रीवायुक्तो वा सर्प इव सेनाव्यूहः (वीरुधः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला ओषधयः । शिष्टं स्पष्टम् ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः । तम् । वः । जम्भे । दध्मः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वा—ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिक्=दिशः) दिशा का (बृहस्पतिः) बड़े २ शूरों का स्वामी, बृहस्पति [पद वाला सेनापति] (अधिपतिः) अधिष्ठाता हो, (श्वित्रः) श्वेत वर्ण वाले सांप [के समान सेना व्यूह] (रक्षिता) रक्षक होवे, (वर्षम्) वर्षा [वृष्टि विद्या] (इषवः) बाण होवें। (तेभ्यः अधिपतिभ्यः रक्षितृभ्यः) उन अधिष्ठाओं और रक्षकों के लिये (नमो नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न, और (एभ्यः इषुभ्यः) इन बाणों (बाण वालों) को (नमो नमः) बहुत २ सत्कार वा अन्न (अस्तु) होवे । (यः)जो [वैरी] (अस्मान् द्वेष्टि) हम से वैर करता है, [अथवा] (यम्) जिस से (वयम् द्विष्मः) हम वैर करते हैं, [हे शूरो !] (तम्) उस को (वः जम्भे) तुम्हारे जबड़े में (दध्मः) हम धरते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—(बृहस्पति) मुख्य सेनापति पर्वत आदि उच्च स्थान में (श्वित्र) नाम सेना व्यूह रच कर ठहरे और वारुणेय अर्थात् जल संबन्धी अस्त्र शस्त्रों से, अथवा अस्त्र शस्त्रों की वर्षा करके वैरियों को मिटा कर संसार में सैनिकों समेत कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—६ ॥ यमिनी देवता ॥ १ भुरिग् जगती । २, ३ अनुष्टुप्,

६—(ऊर्ध्वा) सू० २६ म० ६ । ऊर्ध्वायाः । उपरिवर्तमानायः । (दिक्) दिशः । दिशायाः (बृहस्पतिः) बृहतां शूराणां स्वामी । मुख्यसेनापतिः (श्वित्रः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति श्विता वर्णे—रक् । श्वित्रः श्वेतवर्णः, एतत्संज्ञः सर्पः—इति सायणः । श्वेतसर्पवत् सेनाव्यूहः (वर्षम्) वृष्टिजलविद्या । वृष्टिवदायुधवृष्टिः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

४ स्वराड् गायत्री । ५ त्रिष्टुप् । ६ पूर्वार्धः स्वराड् गायत्री, द्वितीयस्त्रिष्टुप् , ॥

सुनियमेन सुखं भवति-उत्तम नियम से सुख होता है ।

एकै॑कयै॒षा सृष्ट्या॒ सं ब॑भूव॒ यत्र॒ गा अ॑सृ॑जन्त भूत॒कृतो॑ वि॒श्वरू॑पाः । यत्र॑ वि॒जाय॑ते य॒मिन्य॑प॒र्तुः सा प॒शून् क्षि॑णाति रिफ॒ती रु॒शती॑ ॥ १ ॥

एकै॑-एकया । ए॒षा । सृ॒ष्ट्या । सम् । ब॒भू॒व॒ । यत्र॑ । गाः । अस॑ृजन्त । भू॒त॒-कृतः॑ । वि॒श्व-रू॑पाः ॥ यत्र॑ । वि-जाय॑ते । य॒मिनी॑ । अ॒प॒-ऋ॒तुः । सा । प॒शून् । क्षि॒णा॒ति॒ । रि॒फ॒ती । रु॒श॒ती ॥ १ ॥

भावार्थ—(एषा) यह [साधारणी सृष्टि] (एकैकया) एक एक (सृष्ट्या) सृष्टि [सृष्टि के परमाणु] से (सम्=संभूय) मिलकर (बभूव) हुई है, (यत्र) जिसमें (भूतकृतः) पृथ्वी आदि भूतों से बनाने वाले (विश्वरूपाः) नाना रूप वाले [ईश्वर गुणों] ने (गाः) भूमि, सूर्य आदि लोकों को

१—(एकैकया) भिन्नभिन्नया । व्यस्तिरूपया (सृष्ट्या) सृज विसर्गे-क्तिन् । सृजमानया (एषा) समस्तिरूपा सृष्टिः (सम्) संभूय (यत्र) यस्मिन् काले । (गाः) गौः, पृथिवी—निघ० १ । १ । गौरिति पृथिव्या नामधेयं यद् दूरङ्गता भवति यच्चास्यां भूतानि गच्छन्ति—निरु० २ । ५ । गौरित्यादित्यो भवति गमयति रसान् गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । भूमिसूर्यादीन् लोकान् (असृजन्त) उदपादयन् (भूतकृतः) डुकृञ् करणे -क्विप् । पृथिवीजलतेजोवायुगगनभूतैर्निर्मातारः (विश्वरूपाः) नानारूपाः परमेश्वरगुणाः (विजायते) विविधं प्रादुर्भवति (यमिनी) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति यम-इनि । ऋतुभ्यो

(असृजन्त) सृजा है। (यत्र) जहाँ पर (यमिनी) उत्तम नियम वाली [बुद्धि] (अपतुः) ऋतु अर्थात् क्रम वा व्यवस्था से विरुद्ध (विजायते) हो जाती है, [वहाँ] (सा) वह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (रिफती) पीड़ा देती हुई और (रुशती) सताती हुई (पशून्) व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवों को (क्षिणाति) नष्ट कर देती है ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने अपनी सर्वशक्तिमत्ता से एक एक परमाणु के संयोग से नियमानुसार यह इतनी बड़ी सृष्टि रची है, । जो प्राणी ईश्वरीय नियम तोड़ता है, वह दुःखदायी होता है ॥ १ ॥

एषा पशून्त्सं क्षिणाति क्रव्याद् भूत्वा व्यद्वरी ।
उतैनां ब्रह्मणे दद्यात् तथा स्योना शिवा स्यात् ॥ २ ॥

एषा । पशून् । सम् । क्षिणाति । क्रव्य-अत् । भूत्वा । वि-अद्वरी ॥ उत । एनाम् । ब्रह्मणे । दद्यात् । तथा । स्योना । शिवा । स्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(एषा) यह [व्यवस्था विरुद्ध बुद्धि] (क्रव्याद्) मांस

ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने । संबन्धेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः। वा० पा० ५ । २ । ९४, प्रशस्तव्रतयुक्ता सृष्टिः प्रजा बुद्धिर्वा (अपतुः) अपगतो वर्जित ऋतुर्नियमितकालः क्रमो व्यवस्था यस्याः सा तथाभूता (सा) अपतुर्बुद्धिः (पशून्) पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ । मनुष्यगवादीन् जीवान् (क्षिणाति) क्षि हिंसायाम् । नाशयति (रिफती) रिफ हिंसायाम्-शतृ । पीड़ां कुर्वती (रुशती) रुश हिंसायाम्—शतृ । दुःखं प्रापयन्ती ॥

२—(एषा) अपतुर्बुद्धिः (पशून्) द्विपदश्चतुष्पदः प्राणिनः (संक्षिणाति),

खाने वाली और (व्यद्वरी) अनेक विधि से भक्षणशीला (भूत्वा) होकर (पशून्) दोपाये और चौपाये जीवों को (संक्षिणाति) सर्वथा नष्ट करती है। (उत) इसलिए (एनाम्) इस [अनिष्ट बुद्धि को] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [ईश्वर, वेद, वा ब्राह्मण को] (दद्यात्) वह सौंपे, (तथा) तो वह (स्योना) सुखदायिनी और (शिवा) कल्याणी (स्यात्) हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—कुबुद्धि पापी मनुष्य परमात्मा वा वेद वा उत्तम विद्वान् की शरण लेकर उत्तम कर्म करने से सुधर जाता है ॥ २ ॥

शिवा भव पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यः शिवा ।
शिवास्मै सर्वस्मै क्षेत्राय शिवा न इहैधि ॥ ३ ॥

शिवा । भव । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । शिवा ॥
शिवा । अस्मै । सर्वस्मै । क्षेत्राय । शिवा । नः । इह ।
एधि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(हे यमिनी, उत्तम नियम वाली बुद्धि!) (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवा) कल्याणी, और (गोभ्यः) गौओं को और (अश्वेभ्यः) घोड़ों को (शिवा) कल्याणी (भव) हो, (इह) यहां (अस्मै सर्वस्मै क्षेत्राय) इस सब खेत को (शिवा) कल्याणी और (नः) हम को (शिवा) कल्याणी (एधि) हो ॥३

सर्वथा नाशयति (क्रव्याद्) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षिका (व्यद्वरी) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इतिवि+अद भक्षणे—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । विविधं भक्षणशीला (उत) एवंविधे । (एनाम्) अपतुं बुद्धिम् (ब्रह्मणे) ईश्वरस्य वेदस्य ब्राह्मणस्य वा शरणाय । (दद्यात्) समर्पयेत् (तथा) तेन प्रकारेण (स्योना)अ० १ । ३३ । १ । सुखकरी । (शिवा) कल्याणी । (स्यात्) भवेत् ॥

३—(क्षेत्राय) अ० २ । ८ । ५ । शालिगोधूमादिकेदारवर्धनाय (एधि)

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर ज्ञान से उत्तम बुद्धि पाकर सब संसार को सुखदायी होता है ॥ ३ ॥

इह पुष्टिरिह रस॑ इह सहस्रसातमा भव।
पशून् यमिनि पोषय ॥ ४ ॥

इह। पुष्टिः। इह। रसः। इह। सहस्र-सातमा। भव ॥
पशून्। यमिनि। पोषय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (पुष्टिः) पुष्टि, और (इह) यहां पर ही (रसः) रस होवे। (यमिनि) हे उत्तम नियम वाली बुद्धि ! (इह) यहां पर (सहस्रसातमा) अत्यन्त करके सहस्रों प्रकार से धन देने वाली (भव) हो, और (पशून्) व्यक्त और अव्यक्त वाणी वाले जीवों को (पोषय) पुष्ट कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—उत्तम नियम युक्त बुद्धि से मनुष्य अनेक प्रकार की वृद्धि, और दुग्ध, घी, आदि रस, और बहुत सा धन पाकर सब जीवों की रक्षा करता है ॥ ४ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्व॑१ः स्वायाः॑। तं लो॒कं य॒मिन्य॑भि॒संब॑भूव॒ सा नो॒ मा हिं॑सीत्

अस्तेर्लोटि रूपम्। भव। अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(पुष्टिः) वृद्धिः। समृद्धिः (रसः) क्षीरदुग्धादिरूपः (सहस्रसातमा) जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति सहस्र+षणु दाने-विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। इति आत्वम्। अतिशायने तमविष्ठनौ। पा० ५। ३। ५५। इति तमप्। टाप्। अतिशयेन सहस्रधनस्य दात्री (पोषय) समर्धय। अन्यद् व्याख्यातं म० १ ॥

पुरुषान् पशूंश्च ॥ ५ ॥

यत्र । सु-हार्दः । सु-कृतः । मदन्ति । वि-हाय । रोगम् । तन्वः । स्वायाः ॥ तम् । लोकम् । यमिनी । अभि-संबभूव । सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च । ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः) सुकर्मी लोग (स्वायाः तन्वः) अपने शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) त्याग कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं। (तम्) उस (लोकम्) लोक [जनसमूह] को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर मिली है। (सा) वह [सुमति] (नः) हमारे (पुरुषान्) पुरुषों (च) और (पशून्) ढोरों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस घर में परस्पर हितैषी पुण्यात्मा स्त्री पुरुष नीरोग रहकर विद्या और धन को भोगते हैं, वह उनको नियमवती सुमति देवी का

५—(यत्र) यस्मिन् लोके गृहे (सुहार्दः) हृदये भवं हार्दम्। प्राग्दीव्यतोऽण्। पा० ४। १। ८३। इति हृदय-अण्। हृदयस्य हृल्लेखयदण्लासेषु। पा० ६। ३। ५०। इति हृदयस्य हृत्। अन्त्यलोपश्छान्दसः। यद्वा। हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयति। हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम्। शोभनहार्दः। सुहृदयाः। अनुकूलकारिणः। (सुकृतः) सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृञः। पा० ३। २। ८६। डुकृञ् करणे-क्विप्। शोभनकर्माणः। (मदन्ति) मदी = हर्षे। हृष्यन्ति (विहाय) ओहाक् त्यागे-ल्यप्। त्यक्त्वा (रोगम्) व्याधिम् (तन्वः) शरीरस्य। (स्वायाः) स्वकीयस्य (लोकम्) लोक दर्शने To look घञ्। जनसमूहम् (यमिनी) म० १। नियमवती सुमतिः (अभिसंबभूव) भू सत्तायाम् प्राप्तौ च-लिट् आभिमुख्येन सम्यक् प्राप्तवती (मा हिंसीत्) मा हिनस्तु (नः) अस्माकम् (पुरुषान्) कलत्रपुत्रपौत्रभृत्यादीन्। (पशून्) गवश्वादीन् ॥

साक्षात् फल है। वहाँ पर सब मनुष्य और गौ, घोड़े आदि बहुत काल तक जीकर आपस में उपकारी होते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध अ० का० ६ सू० १२० म० ३ में इस प्रकार है।

यत्रा सुहार्दः सुकृतो मदन्ति विहाय रोगं तन्वः स्वायाः। अश्लोणा अङ्गैरह्रुताः स्वर्गे तत्र पश्येम पितरौ च पुत्रान् ॥

जहाँ पर सुन्दर हृदय वाले सुकर्मी लोग अपने शरीर का रोग त्याग कर आनन्द भोगते हैं, (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग में (अश्लोणाः) विना लँगड़े हुये और (अङ्गैः अह्रुताः) अंगों से विना टेढ़े हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) सन्तानों को (पश्येम) देखते रहें ॥

यत्रा सुहार्दां सुकृतामग्निहोत्रहुतां यत्र लोकः। तं लोकं यमिन्यभिसंबभूव सा नो मा हिंसीत् पुरुषान् पशूंश्च ॥६॥

यत्र । सु-हार्दाम् । सु-कृताम् । अग्निहोत्र-हुताम् । यत्र । लोकः ॥ तम् । लोकम् । यमिनी । अभि-संबभूव । सा । नः । मा । हिंसीत् । पुरुषान् । पशून् । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहाँ पर (सुहार्दाम्) सुन्दर हृदय वाले (सुकृताम्) सुकर्मियों का और (यत्र) जहाँ पर (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र

६—(सुहार्दाम्) म० ५। शोभनहृदयानां शोभनज्ञानानाम्। (सुकृताम्) म० ५। शोभनं कर्म कृतवताम् (अग्निहोत्रहुताम्) अग्निहोत्र+हु दानादानादनेषु क्विप्, तुक् च। अग्नौ होमादिकं जुह्वतां कुर्वताम्। अन्यद् गतम् ॥

करने वालों का (लोकः) लोक [जन समूह] है, (तम् लोकम्) उस लोक को (यमिनी) उत्तम नियम वाली [सुमति] (अभिसंबभूव) साक्षात् आकर मिली है। (सा) वह [सुमति] (नः पुरुषान्) हमारे पुरुषों (च) और (पशून्) ढोरों को (मा हिंसीत्) न पीड़ा दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहाँ सब स्त्री पुरुष एक मन रहकर पुण्यात्मा पुरुषार्थी होकर अग्निहोत्र करते अर्थात् वेद मन्त्रों से अग्नि में मिष्ट सुगन्ध द्रव्य चढ़ा कर वायुशुद्धि करते और अग्निविद्या द्वारा अग्निनौका, अग्नियान, विमान आदि रचते, वहाँ (यमिनी) नियमवती सुमति के निवास से सब जने आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २९ ॥

१—८ ॥ १—६ अविर्देवता, ७, ८ कामो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः । २, ४—६ अनुष्टुप् । ३ पङ्क्तिः, ७ साम्नी गायत्री । ८ पूर्वार्धो द्विपदानुष्टुप्, उत्तरार्धो द्विपदा त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यः परमेश्वर भक्त्या सुखंलभते=मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सुख पाता है ॥

यद् राजानो विभजन्त इष्टापूर्तस्य षोडशं यमस्यामी सभासदः । अविस्तस्मात् प्र मुञ्चति दत्तः शितिपात् स्वधा ॥ १ ॥

यत् । राजानः । वि-भजन्ते । इष्टापूर्तस्य । षोडशम् । यमस्य । अमी इति । सभा-सदः ॥ अविः । तस्मात् ।

प्र । मुञ्चति । दुत्तः । शिति-पात् । स्वधा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (यमस्य) नियमकर्ता परमेश्वर के (अमी सभासदः) यह सभासद् (राजानः) ऐश्वर्य वाले राजा लोग (इष्टापूर्तस्य) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदानादि पुण्य कर्म के [फल], (षोडशम्) सोलहवें पदार्थ मोक्ष को [चार वर्ण, चार आश्रम, सुनना, विचारना, ध्यान करना, अप्राप्त की इच्छा, प्राप्त की रक्षा, रक्षित का बढ़ाना, बढ़े हुए का अच्छे मार्ग में व्यय करना, इन पन्द्रह प्रकार के अनुष्ठान से पाये हुए सोलहवें मोक्ष को]

१—(यद्) यस्मात् कारणात् (राजानः) अ० १ । १० । १ । ईश्वराः । समर्थाः (विभजन्ते) विशेषेण सेवन्ते (इष्टापूर्तस्य) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नदानादिपुण्यकर्मणः (षोडशम्) तस्य पूरणे डट् । पा० ५ । २ । ४८ । इति षोडशन्—डट् । षष उत्वं दतृदशाधासूत्तरपदादेः ष्टुत्वं च । वा० पा० ६ । ३ । १०६ । इति उत्वष्टुत्वे । षोडशानां पूरकम् । चत्वारो वर्णाश्चत्वार आश्रमाः श्रवण मनन निदिध्यासनानि त्रीणि कर्माणि, अलब्धस्य लिप्सा, लब्धस्य यत्नेन रक्षणं, रक्षितस्य वृद्धिः, वृद्धस्य सन्मार्गे व्ययकरणमेव चतुर्विधः पुरुषार्थः । एतैः पञ्चदशभिः प्राप्तं षोडशं मोक्षम् यथा दयानन्दभाष्ये, यजुर्वेदे ८ । ३४ (यमस्य) यमयतीति यमः । यम परिवेषणे—अच् । नियन्तुः । नियामकस्य । धर्मराजस्य । परमेश्वरस्य (अमी) परिदृश्यमानाः (सभासदः) सभा+षद्लृगतौ, उपवेशने—क्विप् । सभेयाः (अविः) अ० ३ । १७ । ३ । अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु—इन् । रक्षकः । गतिवान् । प्रभुः । सूर्यः, सूर्यरूपः परमात्मा (तस्मात्) पूर्वोक्तात् कारणात् (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चति) दुःखात् मुक्तं करोति (दत्तः) आत्मने समर्पितः (शितिपात्) क्रमितमिशतिस्तम्भामत इच्च उ० ४ । १२२ इति शति, हिंसायाम्—इन् । स च कित, अत इकारः । पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः । पा० ५ । ४ । १३८ । इति अकारलोपः । शितिः शुक्लः, कृष्णश्च । तयोर्मध्ये पादो गमनं यस्य स तथाभूतः । प्रकाशान्धकारयोः समानगमनः । (स्वधा) अ० २ । २६ । ७ । स्वम् अस्माकमात्मानं पुष्णाति धनं ददातीति वा, । अमृतरूपः । अन्नरूपो भूत्वा ॥

(विभजन्ते विशेष करके भोगते हैं, (तस्मात्) उसी कारण से [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) उज्याले और अन्धेरे में गति वाला, (अविः) प्रभु (स्वधा) हमारे आत्मा का पुष्ट करने वाला वा धन का देने वाला अमृत रूप वा अन्न रूप होकर [पुरुषार्थी को] (प्र) अच्छे प्रकार से (मुञ्चति मुक्त करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—धर्मराज परमेश्वर की आज्ञा मानने वाले पुरुषार्थी स्त्री पुरुष मोक्ष सुख भोगते रहते हैं, इसी से सब लोग उस अन्तर्यामी को हृदय में रख कर पुरुषार्थ से (स्वधा) अमृत अर्थात् आत्म बल और धनधान्य पाकर मोक्ष आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सर्वा॑न् कामा॑न् पूरयत्या॒भव॑न् प्र॒भव॑न् भव॑न् ।
आ॒कू॒ति॒प्रो॑ऽवि॒र्द॒त्तः शि॑ति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ २ ॥

सर्वा॑न् । कामा॑न् । पू॒र॒य॒ति॒ । आ॒ऽभव॑न् । प्र॒ऽभव॑न् । भव॑न् । आ॒कू॒ति॒ऽप्रः । अवि॑ः । द॒त्तः । शि॒ति॒ऽपात् । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(आकूतिप्रः) संकल्पों का पूरा करने वाला, [आत्मा को] (दत्तः) दिया हुआ, (शितिपात्) प्रकाश और अप्रकाश में गति वाला (अविः) रक्षक प्रभु (आभवन्) व्यापक, (प्रभवन्) समर्थ और (भवन्) वर्तमान होता हुआ (सर्वान् कामान्) सब सुन्दर कामनाओं को (पूरयति) पूरा करता है, और (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥ २ ॥

२—(सर्वान्) समस्तान (कामान्) शुभाभिलाषान् (पूरयति) संपूर्णान् करोति (आभवन्) भू सत्तायां व्याप्तौ च-शतृ । आ समान्ताद् भवन् व्याप्नुवन् (प्रभवन्) समर्थः प्रबलः सन् (भवन्) वर्त्तमानः सन् (आकूतिप्रः) आकूति + प्रा पूरणे-क । संकल्पपूरकः (नोपदस्यति) दसु उपक्षये । नपोक्षीयते । अपितु वर्धते । अन्यद् गतं म० ॥ १ ॥

भावार्थ— उस सर्वशक्तिमान् परमात्मा का इतना बड़ा कोश है कि सब सृष्टि की शुभ कामनाओं को पूरा करते २ भी भरपूर ही बना रहता है ॥२॥

ईशावस्योपनिषद् के आरंभ में पाठ हैं।

ओ३म् । पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते ।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥ १ ॥

ओ३म् । वह [ब्रह्म] पूर्ण [भरपूर] है, यह [जगत्] पूर्ण है, पूर्ण से पूर्ण उदय होता है, पूर्ण से पूर्ण लेकर पूर्ण ही बच रहता है ॥ १ ॥

यो ददाति शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
स नाकमभ्यारोहति यत्र शुल्को न क्रियते अबलेन बलीयसे ॥ ३ ॥

यः । ददाति । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-मितम् । सः । नाकम् । अभि-आरोहति । यत्र । शुल्कः । न । क्रियते । अबलेन । बलीयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गतिवाले (अविम्)

३—(यः) यः कश्चित् (ददाति) स्वात्मने प्रयच्छति, समर्पयति । (शितिपादम्) म० १ । प्रकाशान्धकारगतिवन्तम् । (अविम्) म० १ । प्रभुम् । (लोकेन) संसारेण (संमितम्) माङ् माने-क्त । द्यतिस्यतिमास्थामित् ति किति । पा० ७ । ४ । ४० । इति इकारः । सन्मानितः (नाकम्) अ० १ । ६ । २, न+अकम् । स्वर्गम् । सुखम् (अभ्यारोहति) अभित आरूढो भवति । अभिप्राप्नोति (यत्र) स्वर्गे (शुल्कः) शुल्क कथने, सर्जने, वर्जने च—घञ् । करः (न) निषेधे (क्रियते) दीयते (अबलेन) निर्बलेन (बलीयसे) बलवत्—ईयसुन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । इति मतोर्लुक् । बलवत्तराय ॥

रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (ददाति) दान करता है, (सः) वह पुरुष (नाकम्) दुःख रहित स्वर्ग को (अभ्यारोहति) चढ़ जाता है, (यत्र) जहाँ पर (अबलेन) निर्बल करके (बलीयसे) अधिक बलवान् को (शुल्कः) शुल्क [कर] (न) नहीं (क्रियते) किया जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो कोई सर्वश्रेष्ठ परब्रह्म को अपने में ग्रहण करता है, वह सन्मार्गी बड़ों और छोटों के साथ एक सा न्याय करता हुआ सदा आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति पितॄणां लोकेऽक्षितम् ॥ ४ ॥

पञ्च-अपूपम् । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-मितम् ॥ प्र-दाता । उप । जीवति । पितॄणाम् । लोके । अक्षितम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे

४—(पञ्चापूपम्) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्तीकारे विस्तारे च-कनिन् । इति पञ्च विस्तीर्णः संख्यावाचको वा । पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति पूर्यी विशरणे दुर्गन्धे च पप्रत्ययः, यलोपः । अपूपः, अविशरणम् अहानिः गोधूमादिपिष्टकं वा । विस्तीर्णाविशरणम् । संपूर्णवृद्धियुक्तम् । यद्वा मध्यपदलोपः । पञ्चसु दिक्षु अपूपः, अविशरणम् अहानिः पूर्णता यस्य, यद्वा, दुर्गन्धरहितं पिष्टकं यस्मात् तं तथाभूतम् (प्रदाता) न लोकाव्ययनिष्ठा० । पा० २ । ३ । ६९ । इति तृन्नन्तत्वात् कर्मणि षष्ठ्या निषेधे द्वितीयैव । प्रदायकः (उपजीवति) उपभुङ्क्ते (पितॄणाम्) रक्षकाणाम् । जननीजनकादिमान्यानां विदुषां शूराणाम् (लोके) जनसमूहे (अक्षितम्) नपुंसके भावे क्तः । पा० ३ । ३ । ११४ । इति क्षि क्षये-भावे क्त । अक्षयत्वम् । सम्यग्वृद्धिम् । अन्यद् गतम् ॥

की पाँचवीं] पाचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (दाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (पितॄणाम्) रक्षक पुरुषों [वलवान और विद्वानों] के (लोके) लोक में (अक्षितम्) अक्षयता [नित्य वृद्धि] को (उपजीवति) भोगता है ॥ ४)

भावार्थ—अक्षय शक्ति वाले, सृष्टि भर को नित्य नवीन भोजन देने वाले, सर्वद्रष्टा परमेश्वर का उपासक माता पिता आदि विद्वान् वीर पितरों के साथ अक्षय (नित्य नवीन) सुख पाता है ॥ ४ ॥

पञ्चापूपं शितिपादमविं लोकेन संमितम् ।
प्रदातोप जीवति सूर्यामासयोरक्षितम् ॥ ५ ॥

पञ्च-अपूपम् । शिति-पादम् । अविम् । लोकेन । सम्-मितम् ॥ प्र-दाता । उप । जीवति । सूर्यामासयोः । अक्षितम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पञ्चापूपम्) विस्तीर्ण वा [पूर्वादि चार और ऊपर-नीचे की पांचवीं] पाँचों दिशाओं में अटूट शक्ति वाले, अथवा बिना सड़ी रोटी देने वाले, (शितिपादम्) प्रकाश और अन्धकार में गति वाले, (लोकेन) संसार करके (संमितम्) सन्मान किये गये (अविम्) रक्षक प्रभु का [अपने आत्मा में] (प्रदाता) अच्छे प्रकार दान करने वाला (सूर्यामासयोः) सूर्य और चन्द्रमा

५—(सूर्यामासयोः) सुवति प्रेरयति लोकान् कर्मणि स सूर्यः । अ० १ । ३ । ५ । मसी परिमाणे-घञ् । मस्यते परिमीयते गगनं येन स मासः, चन्द्रमाः । सूर्यश्च मासश्च सूर्यामासौ । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति आनङ् । सूर्याचन्द्रमसोर्नियमेन । अन्यदुपरि व्याख्यातम् ॥

में [उनके नियम में] (अक्षितम्) अक्षयता [नित्यवृद्धि] को (उप जीवति) भोगता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य आकर्षण और वृष्टि आदि से पृथिवी आदि लोकों का धारण करता और चन्द्रमा सूर्य से प्रकाश पाकर हमें पुष्टि पहुँचाता है। इसी प्रकार जो मनुष्य मन्त्रोक्त ईश्वर को अपने हृदय में रखकर परोपकार करता है उसका सुख नित्य बढ़ता है ॥ ५ ॥

इरे॑व॒ नोप॑ दस्यति समु॒द्र इ॑व॒ पयो॑ म॒हत् ।
दे॒वौ सं॑वा॒सिना॑विव शिति॒पान्नोप॑ दस्यति ॥ ६ ॥

इरा॑ऽइव । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ । स॒मु॒द्रःऽइ॑व । पयः॑ । म॒हत् ॥
दे॒वौ । स॒वा॒सिनौ॑ऽइव । शि॒ति॒ऽपात् । न । उप॑ । द॒स्य॒ति॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शितिपात्) प्रकाश और अन्धकार में गतिवाला परमेश्वर (इरा इव) भूमि वा विद्या के समान और (समुद्रः) समुद्र, अर्थात् (महत्) बड़े (पयः इव) जलराशि के समान (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है, और (देवौ) दिव्य गुण वाले (सवासिनौ इव) साथ साथ निवास करने वाले दोनों [प्राण और अपान वा दिनरात] के समान वह (न) नहीं (उप दस्यति) घटता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि, विद्या, जल, वायु आदि उचित प्रयोग से अधिक अधिक उपकारी होते हैं, इसी प्रकार ईश्वर का उपकारी कोश विज्ञान द्वारा मनुष्य को बढ़ता चला जाता है ॥ ६ ॥

६—(इरा) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ-रक् । अथवा, इं कामं सुकामनां राति ददाति । रा दाने-क । टाप् । भूमिः । वाक् । विद्या (नोपदस्यति) म० २ । नोपक्षीयते (समुद्रः) जलधिः । अन्तरिक्षं वा (पयः) जलौघः (महत्) विशालम् (देवौ) दिव्यगुणयुक्तौ (सवासिनौ) सह समानं वा निवसन्तौ । अश्विनौ प्राणापानौ । अन्यद् व्याख्यातं ॥

क इ॒दं कस्मा॑ अदा॒त् कामः॒ कामा॑यादात् ।
कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामः॑ समु॒द्रमा वि॑वेश ।
कामे॑न त्वा॒ प्रति॑ गृह्णा॒मि॒ कामै॒तत् ते॑ ॥ ७ ॥

कः । इ॒दम् । कस्मै॑ । अ॒दा॒त् । कामः॑ । कामा॑य । अ॒दा॒त् ॥
कामः॑ । दा॒ता । कामः॑ । प्र॒ति॒ऽग्र॒ही॒ता । कामः॑ । स॒मु॒द्रम् ।
आ । वि॒वे॒श॒ ॥ कामे॑न । त्वा॒ । प्रति॑ । गृ॒ह्णा॒मि॒ । काम॑ ।
ए॒तत् । ते॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कः) किसने (इदम्) यह [कर्मफल] (कस्मै) किस को (अदात्) दिया है ? [इसका उत्तर] (कामः) मनोरथ [वा कामना योग्य परमेश्वर] ने (कामाय) मनोरथ [वा कामना करने वाले जीव] को (अदात्) दिया है।

(कामः) मनोरथ [वा कमनीय ईश्वर] (दाता) देने वाला और (कामः) मनोरथ [वा कामना वाला जीव] (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है। (कामः) मनोरथ ने (समुद्रम्) समुद्र [पार्थिव समुद्र वा अन्तरिक्ष] में (आ विवेश) प्रवेश किया है।

(काम) हे मनोरथ ! [वा कमनीय ईश्वर] (त्वा) तुझ को (प्रति गृह्णामि) मैं जीव ग्रहण करता हूँ, (एतत्) यह [सब काम] (ते) तेरा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—संसार में देना लेना आदि सब उपकारी काम कामना

७—(इदम्) कर्मफलम् (अदात्) दत्तवान् (कामः) कमु-घञ् । कामना। सर्वैः कमनीयः परमेश्वरः । कामयमानो जीवः (दाता) कर्मफलस्य प्रदायकः (प्रतिग्रहीता) स्वीकर्ता (समुद्रम्) अगम्यस्थानम् । जलधिम् । अन्तरिक्षम् । (आ विवेश) प्रविष्टवान् । प्राप्तवान् (त्वा) कामम् (प्रति गृह्णामि) अङ्गीकरोमि (एतत्) कर्म (ते) तुभ्यम् । अन्यत् सुगमम् ॥

से सिद्ध होते हैं, कामना से ही प्रयत्न के साथ मन देने पर मनुष्य के सब कठिन कामों को परमेश्वर सुगम करदेता है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद ७। ४८। में है। उसका अर्थ श्रीमद् दयानन्द सरस्वती के भाष्य के आधार पर किया है।

कोऽदा॒त् कस्मा॒ अदा॒त् कामोऽदा॒त् कामा॒याद॒ात्।
कामो॑ दा॒ता कामः॑ प्रतिग्रही॒ता कामै॒ तत्ते॑ ॥

(कः) किस ने [कर्म फल] (अदात्] दिया है, और [कस्मै] किस को [अदात्] दिया है। इन दो प्रश्नों के उत्तर, (कामः) कामनायोग्य परमेश्वर ने (अदात्) दिया है, और (कामाय) कामना करने वाले जीव को (अदात्) दिया है। (कामः) योगीजनों के कामना योग्य परमेश्वर [दाता] देने वाला है। (कामः) कामना करने वाला जीव (प्रतिग्रहीता) लेने वाला है। (काम) हे कामना करने वाले जीव ! (ते) तेरे लिये (एतत्) यह सब है ॥

भूमि॑ष्ट्वा॒ प्रति॑ गृह्णात्व॒न्तरि॑क्षमि॒दं म॒हत्।
माहं प्रा॒णेन॒ मात्मना॒ मा प्र॒जया॒ प्रति॒गृह्य॒ वि रा-
धिषि ॥ ८ ॥

भूमिः॑। त्वा॒। प्रति॑। गृ॒ह्णा॒तु॒। अ॒न्तरि॑क्षम्। इ॒दम्। म॒हत् ॥ मा। अ॒हम्। प्रा॒णेन॑। मा। आ॒त्मना॑। मा। प्र॒ऽजया॑। प्र॒ति॒ऽगृह्य॑। वि। रा॒धि॒षि॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हे) काम (भूमिः) भूमि और (इदम्) यह (महत्) बड़ा

८—(भूमिः) भूमिस्थपदार्थाः, इत्यर्थः (त्वा) कामम् (प्रतिगृह्णातु) अङ्गीकरोतु (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षस्थपदार्थाः। (मा) निषेधे (प्राणेन) (मुख्यना-

(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष भी (त्वा) तुझको (प्रति गृह्णातु) स्वीकार करे। (अहम्) मैं जीव, (प्रतिगृह्य) पाकर, (मा) न (प्राणेन) प्राण से, [शरीर बल] से, (मा) न (आत्मना) आत्मबल से, और (मा) न (प्रजया) प्रजा से, (वि राधिषि) अलग हो जाऊं ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य सत्य कामना से भूमि और आकाश का राज्य हस्तगत कर लेता है, और शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल दृढ़ करके संसार में सुखी रहता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-७ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १-४ अनुष्टुप्। ५ त्रिष्टुप् जगती वा। ६ प्रस्तारपङ्क्तिः। ७ त्रिष्टुप्।

परस्परप्रीत्युपदेशः—परस्पर मेल का उपदेश ॥

सहृदयं सांमनस्यमविद्वेषं कृणोमि वः।
अन्यो अन्यमभि हर्यत वत्सं जातमिवाघ्न्या ॥ १ ॥

स-हृदयम्। साम्-मनस्यम्। अवि-द्वेषम्। कृणोमि। वः ॥
अन्यः। अन्यम्। अभि। हर्यत। वत्सम्। जातम्-इव। अघ्न्या ॥१॥

भाषार्थ—(सहृदयम्) एक हृदयता, (सांमनस्यम्) एकमनता और (अविद्वेषम्) निर्वैरता (वः) तुम्हारे लिये (कृणोमि) मैं करता हूं। (अन्यो अन्यम्) एक दूसरे को (अभि) सब ओर से (हर्यत) तुम प्रीति से चाहो,

---

सिकाभ्यां संचरता जीवस्थितिलिङ्गेन वायुना, शारीरिकबलेन। (आत्मना) आत्मिकबलेन। (प्रजया) सामाजिकबलेन। (मा+वि+राधिषि) अ० १। १। ४। अहं विराद्धो वर्जितो वियुक्तो मा भूवम् ॥

१—(सहृदयम्) वृहोः षुग्दुकौ च। उ० ४। १००। इति हृञ हरणे=स्वीकारे कयन्, दुक् च। सहस्य सभावः। सहग्रहणम्। सहवीर्यम्। (सांमनस्यम्) सम्+मनस्—भावे ष्यञ्। सामानमननत्वम्। ऐकमत्यम् (अवि-

(अघ्न्या इव) जैसे न मारने योग्य, गौ (जातम्) उत्पन्न हुए (वत्सम्) बछड़े को [प्यार करती है] ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर उपदेश करता है, सब मनुष्य वेदानुगामी होकर सत्य ग्रहण करके एकमता करें और आपा छोड़ कर सच्चे प्रेम से एक दूसरे को सुधारें, जैसे गौ आपा छोड़ कर तद्रूप होकर पूर्ण प्रीति से उत्पन्न हुए बच्चे को जीभ से चाट कर शुद्ध करती और खड़ा करके दूध पिलाती और पुष्ट करती है ॥ १ ॥

१—कठोपनिषद् के आरम्भ में पाठ है।

ओ३म् । सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ॥१॥

ओ३म् । (सः+ह) वही (नौ) हम दोनों को (अवतु) बचावे । (सः+ह) वही (नौ) हम दोनों को (भुनक्तु) पाले । हम दोनों (सह) मिलकर (वीर्यम्) उत्साह (करवावहै) करें । (नौ) हम दोनों का (अधीतम्) पढ़ा हुआ (तेजस्वि) तेजस्वी (अस्तु) होवे । (मा विद्विषावहै) हम दोनों झगड़ा न करें ॥

२—भगवान् यास्क मुनि कहते हैं।

(अघ्न्या) गौ का नाम है—निघ० २ । ११ । वह अहन्तव्या, [अवध्या न मारने योग्य] अथवा, अघघ्नी [पाप अर्थात् शारीरिक दुःख अथवा दुर्भिक्षादि पीड़ा नाश करने वाली] होती है—निरुक्त ११ । ४३ ॥

द्वेषम् । द्विष वैरे-घञ् । अशत्रुताम् । सख्यम (कृणोमि) उत्पादयामि । (वः) युष्मभ्यम् । (अन्यो अन्यम्) छान्दसं द्विपदत्वम । परस्परम् । (अभि) सर्वतः । (हर्यत) हर्य गतिकान्त्योः । कामयध्वम् । (वत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । गोशिशुम् । (जातम्) नवोत्पन्नम् । (इव) यथा । (अघ्न्या) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । नञि अघे वोपपदे हन्तेर्यगन्तो निपातः । गौः—निघ० २ । ११ । अघ्न्याहन्तव्या भवत्यघघ्नीति वा—निरु० ११ । ४३ । अघ्न्याः । गावः । गोवधस्योपपातकरूपत्वाद्धन्तुमयोग्या अघ्न्या उच्यन्ते—इति श्रीमन्महीधरो यजुर्वेदभाष्ये १।१॥

श्रीमान् महीधर यजुर्वेदभाष्य अ० १ म० १ में लिखते हैं—अघ्न्या गौयें हैं। गोवध उपपातक [भारी पाप] है, इसलिये वे न मारने योग्य (अघ्न्या) कही जाती हैं ॥

अनुव्रतः पितुः पुत्रो मात्रा भवतु संमनाः ।
जाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम् ॥ २ ॥

अनु-व्रतः । पितुः । पुत्रः । मात्रा । भवतु । सम्-मनाः ॥ जाया । पत्ये । मधु-मतीम् । वाचम् । वदतु । शन्ति-वाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुत्रः) कुल शोधक पवित्र, बहुरक्षक वा नरक से बचाने वाला, पुत्र [सन्तान] (पितुः) पिताके (अनुव्रतः) अनुकूल व्रती होकर (मात्रा) माता के साथ (संमनाः) एक मन वाला (भवतु) होवे। (जाया) पत्नी (पत्ये) पति से (मधुमतीम्) जैसे मधु में सनी और (शन्तिवाम्) शान्ति से भरी (वाचम्) वाणी (वदतु) बोले ॥ २ ॥

भावार्थ—सन्तान माता पिता के आज्ञाकारी, और माता पिता सन्तानों के हितकारी, पत्नी और पति आपस में मधुर भाषी और सुखदायी हों। यही वैदिक कर्म आनन्द मूल है। मन्त्र १ देखो ॥ २ ॥

२—(अनुव्रतः) पॄभिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति वृञ् वरणे अतच्-कित्वाद् गुणाभावे यणादेशः। व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः—निरु० २। १३। अनुकूलकर्मा। (पितुः) रक्षकस्य। जनकस्य(पुत्रः) अ० १। ११। ५। पुनातीति पुत्रः कुलशोधकः। पवित्रः। पुरुत्राता पुतो नरकात् त्राता वा। सन्तानः। (मात्रा) अ० १। २। १। माननीयया जनन्या सह। (संमनाः) समानमनस्कः (जाया) अ० ३। ४। ३। जनयति वीरान्। भार्या। पत्नी। (पत्ये) भर्त्रे। (मधुमतीम्) क्षौद्रयुक्तां यथा। माधुर्यवतीम्। (शन्तिवाम्) शमु उपशमे-क्तिन्। छान्दसो ह्रस्वः। वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते। वा० पा० ५। २। १०६। इति मत्वर्थे वप्रत्ययः। टाप्। शान्तियुक्ताम्। सुखोपेताम् ॥

मा भ्राता भ्रातरं द्विक्षन्मा स्वसारमुत स्वसा ।
सम्यञ्चः सव्रता भूत्वा वाचं वदत भद्रया ॥ ३ ॥

मा । भ्राता । भ्रातरम् । द्विक्षत् । मा । स्वसारम् । उत । स्वसा ॥
सम्यञ्चः । स-व्रता । भूत्वा । वाचम् । वदत । भद्रया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भ्राता) भ्राता (भ्रातरम्) भ्राता से (मा द्विक्षत्) द्वेष न करे, (उत) और (स्वसा) बहिन (स्वसारम्) बहिन से भी (मा) नहीं। (सम्यञ्चः) एक मत वाले और (सव्रताः) एक व्रती (भूत्वा) होकर (भद्रया) कल्याणी रीति से (वाचम्) वाणी (वदत) बोलो ॥ ३ ॥

भावार्थ—भाई भाई, बहिन बहिन, और सब कुटुम्बी नियम पूर्वक मेल से वैदिक रीति पर चल कर सुख भोगें ॥ ३ ॥

येन देवा न वियन्ति नो च विद्विषते मिथः ।
तत् कृण्मो ब्रह्म वो गृहे संज्ञानं पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

येन । देवाः । न । वि-यन्ति । नो इति । च । वि-द्विषते । मिथः ॥
तत् । कृण्मः । ब्रह्म । वः । गृहे । सम्-ज्ञानम् । पुरुषेभ्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [वेद पथ] से (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (न) नहीं (वियन्ति) विरुद्ध चलते हैं (च) और (नो) न कभी (मिथः) आपस

३—(भ्राता) अ० १ । १४ । २ । भ्राजते यः । सहोदरः । (मा द्विक्षत्) मा द्विष्यात् । (स्वसारम्) अ० १ । २८ । ४ । भगिनीम् । (सम्यञ्चः) । ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति सम् + अञ्चू गतिपूजनयोः–क्विन् । समः समि । पा० ६ । ३ । ९३ । इति समि इत्यादेशः । समञ्चनाः सङ्गताः । समानज्ञानाः । सम्यक् पूजनशीलाः । (सव्रताः) सहकर्माणः । (वाचम्) वाणीम् । (वदत) कथयत । (भद्रया) कल्याण्या रीत्या । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(देवाः) विजिगीषवः (वियन्ति) इण् गतौ । विरुद्धं गच्छन्ति (विद्विषते) द्विष अप्रीतौ-अदादिः । विद्वेषं कुर्वते (मिथः) परस्परम् (कृण्मः)

में (विद्विषते) विद्वेष करते हैं। (तत्) उस (ब्रह्म) वेद पथ को (वः) तुम्हारे (गृहे) घर में (पुरुषेभ्यः) सब पुरुषों के लिये (संज्ञानम्) ठीक ठीक ज्ञान का कारण (कृण्मः) हम करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—सार्वभौम हितकारी वेद मार्ग पर चलकर घरके सब लोग आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

ज्यायंस्वन्तश्चित्तिनो मा वि यौष्ट संराधयंन्तः सधुंराश्चरंन्तः। अन्यो अन्यस्मै वल्गु वदंन्त एत सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोमि ॥ ५ ॥

ज्यायंस्वन्तः। चित्तिनंः। मा। वि। यौष्ट। सम्। राधयंन्तः। स-धुंराः। चरंन्तः॥ अन्यः। अन्यस्मै। वल्गु। वदंन्तः। आ। इत। सध्रीचीनान्। वः। सम्-मंनसः। कृणोमि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ज्यायस्वन्तः) बड़ों का मान रखने वाले (चित्तिनः) उत्तम चित्त वाले, (संराधयन्तः) समृद्धि [धन धान्य की वृद्धि] करते हुये और (सधुराः) एक धुरा होकर (चरन्तः) चलते हुये तुम लोग (मा वि यौष्ट) अलग २ न होओ, और (अन्यो अन्यस्मै) एक दूसरे से (वल्गु) मनोहर (वदन्तः) बोलते हुये (एत) आओ। (वः) तुमको (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा विज्ञान] वाले और (संमनसः) एक मन वाले (कृणोमि) मैं करता हूं ॥५॥

कृवि हिंसाकरणयोः। कृण्मः (ब्रह्म) वेद ज्ञानम् (संज्ञानम्) सम्यग् ज्ञानम्। अन्यत् सुगमम् ॥

५—(ज्यायस्वन्तः) ज्यायस्-वन्तः। ज्य च। वृद्धस्य च। पा० ५। ३। ६१, ६२। इति प्रशस्यस्य वृद्धस्यस्य वा ज्य इत्यादेशः, ईयसुनि प्रत्यये। ज्यादादीयसः। पा० ६। ४। १६०। इति ईकारस्य आकारः। ततो मतुप् प्रशंसायाम्। ज्यायांसो प्रशस्या वृद्धा वा प्रशंसनीया येषां ते तथोक्ताः। (चित्तिनः) उत्तमचित्तवन्तः।

भावार्थ—वेदानुयायी मनुष्य विद्यावृद्ध, धनवृद्ध, आयुवृद्धों का आदर करके उत्तम गुणों की प्राप्ति, और मिलकर उद्योग से, धन धान्य राज आदि बढ़ाते और आनन्द भोगते हैं ॥ ५ ॥

स॒मा॒नी प्र॒पा स॒ह वो॑ऽन्नभा॒गः स॑मा॒ने योक्त्रे॑ स॒ह वो॑ युनज्मि। स॒म्यञ्चो॒ऽग्निं स॑पर्यता॒रा नाभि॑मिवा॒भित॑ः ॥६॥

स॒मा॒नी। प्र॒ऽपा। स॒ह। वः॒। अ॒न्न॒ऽभा॒गः। स॒मा॒ने। योक्त्रे॑। स॒ह। वः॒। यु॒न॒ज्मि॒॥ स॒म्यञ्चः॑। अ॒ग्निम्। स॒प॒र्य॒त॒। अ॒राः। नाभि॑म्ऽइव। अ॒भितः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारी (प्रपा) जल शाला (समानी) एकही, और (अन्नभागः) अन्न का भाग (सह) साथ साथ हो, (समाने) एकही [योक्त्रे] जोते में (वः) तुम को (सह) साथ साथ (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं। (सम्यञ्चः) मिलकर गति [उद्योग वा ज्ञान] रखने वाले तुम (अग्निम्) अग्नि [ईश्वर

(मा वि यौष्ट) यु मिश्रणामिश्रणयोः, माङि लुङि रूपम्। इडभावश्छान्दसः। मा पृथग् भूत। वियुक्ता मा भवत। (संराधयन्तः) राध संसिद्धौ, णिच्-शतृ। सम्यक् संसिद्धिकाः। समानकार्याः। (सधुराः) ऋक्पूरब्धूःपथामानक्षे। पा० ५। ४। ७४। इति सह+धुर—अकारः समासान्तः। सहकार्योद्वहनाः। (चरन्तः) गच्छन्तः। (वल्गु) अ० २। ३६। १। मनोहरम्। प्रियवाक्यम्। (वदन्तः) भाषमाणाः (एत) आ+इत। आगच्छत (सध्रीचीनान्) ऋत्विगदधृक्०। पा० ३। २। ५६। इति सह+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् सहस्य सध्रिः। पा० ६। ३। ६५। इति सध्रि। विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम्। पा० ५। ४। ८। इति स्वार्थिकः खः। अकारलोपे दीर्घत्वम्। सहाञ्चतः कार्येषु सहप्रवृत्तान् (समनसः) समानमनस्कान्। (कृणोमि) करोमि ॥

६—(समानी) अ० २। १। ५। साधारणा। एका। (प्रपा) प्रपीयतेऽस्याम्। पा पाने—ड, टाप्। पानीयशाला। (सह) मिलित्वा। (वः) युष्माकम्। युष्मान्। (अन्नभागः) भोजनस्य अंशः। (समाने) एकस्मिन् (योक्त्रे)

वा भौतिक अग्नि] को (सपर्यत) पूजो (इव) जैसे (अराः) अरा [पहिये के डंडे] (नाभिम्) नाभि [पहिये के बीच वाले काठ] में (अभितः) चारों ओर से [सटे होते हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे अरे एक नाभि में सटकर पहिये को रथ का बोझ सुगमता से लेचलने योग्य करते हैं, ऐसेही मनुष्य एक वेदानुकूल धार्मिक रीति पर चलकर अपना खान पान मिलकर करें और मिलकर रहें और मिलकरही (अग्नि) को पूजें अर्थात् १—परमेश्वर की उपासना करें, २-शारीरिक अग्नि को, जो जीवन और वीरपन का चिन्ह है, स्थिर रक्खें, ३—हवन करके जल, वायु शुद्ध रक्खें, और ४-शिल्प व्यवहार में प्रयोग करके उपकार करें और सुख से रहें ॥ ६ ॥

सध्रीचीनान् वः संमनसस्कृणोम्येकश्नुष्टीन्त्संवननेन सर्वान्। देवा इवामृतं रक्षमाणाः सायंप्रातः सौमनसो वो अस्तु ॥ ७ ॥

सध्रीचीनान्। वः। सम्-मनसः। कृणोमि। एक-श्नुष्टीन्। सम्-वननेन। सर्वान् ॥ देवाः-इव। अमृतम्। रक्षमाणाः। सायम्-प्रातः। सौमनसः। वः। अस्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(संवननेन) यथावत् सेवन वा व्यापार से (वः सर्वान्) तुम सब को (सध्रीचीनान्) साथ साथ गति [उद्योग वा ज्ञान] वाले, (संम-

---

दाम्नीशसयुयुज०। पा० ३। २। १८२। इति युज योगे—ष्ट्रन्। युगेन सह युज्यते आबध्यतेऽनेन तस्मिन्। योत्रे। बन्धने। स्नेहपाशे। (युनज्मि) युजिर युतौ। बध्नामि। (सम्यञ्चः) म० ३। सङ्गताः। (अग्निम्) परमेश्वरं भौतिकं वा। (सपर्यत) सपर पूजायाम्। कण्ड्वादित्वाद् यक्। पूजयत। (अराः) ऋ गतौ—अच्। चक्रकीलकाः। (नाभिम्) अ० १। ३। रथचक्रस्य मध्यभागम्। (अभितः) सर्वतः। अभितः परितः समया०। वा० पा० २। ३। २। इति नाभिम् इति द्वितीया ॥

७—(एकश्नुष्टीन्) ष्णसु अदने, आदाने, च—क्तिन्। एकभुक्तीन्। समान-

नसः) एक मन वाले और (एकश्नुष्टीन्) एक भोजनवाले (कृणोमि) मैं करता हूं। (देवाः इव) विजय चाहने वाले पुरुषों के समान (अमृतम्) अमरपन [जीवन की सुफलता] को (रक्षमाणाः) रखते हुये तुम [बने रहो] (सायं प्रातः) सायंकाल और प्रातः काल में (सौमनसः) चित्त की प्रसन्नता (वः) तुम्हारे लिये (अस्तु) होवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—(देव) पुरुषार्थी विजयी पुरुष मिलकर मृत्यु के कारण आलस्य आदि छोड़ने से अमर अर्थात् यशस्वी होते हैं। इसी प्रकार सब मनुष्य आपस में मिलकर उद्योग करके सुखी रहें और सायं प्रातः दो काल परमेश्वर की आराधना करके चित्त प्रसन्न करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१—११ ॥ प्रजापतिर्देवता । १—४, ६—११ अनुष्टुप्, ५ बृहती ॥

आयुर्वर्धनायोपदेशः—आयु बढ़ाने का उपदेश ॥

वि दे॒वा ज॒रसा॑वृत॒न् वि त्वम॑ग्ने॒ अरा॑त्या ।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ १ ॥

वि । दे॒वाः । ज॒रसा॑ । अ॒वृ॒त॒न् । वि । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । अरा॑त्या ।
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (जरसा) आयु के घटाव से (वि) अलग (अवृतन्) रहे हैं। (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष (त्वम्) तू

भोजनात्। (संवननेन) वन संभक्तौ-ल्युट्। सम्यक् सेवनेन व्यापारेण। (देवाः) विजिगीषवः। पुरुषार्थिनः। (अमृतम्) अमरत्वम्। जीवनसाफल्यम्। (रक्षमाणाः) पालयन्तो भवत-इति शेषः (सायंप्रातः) उभयसंध्याकाले। (सौमनसः) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति सुमनस्—भावे अण्। सुमनसो भावः। सुहृद्भावः। चित्तप्रसादः। अन्यद्गतम् ॥ ५ ॥

१—(देवाः) विजिगीषवः। (जरसा) षिद्भिदादिभ्योऽङ्। इति जॄष् वयोहानौ—अङ्। ऋदृशोऽङि गुणः। पा० ७। ४। १६। इति गुणः। टाप्। जरया

(अरात्या) कंजूसी वा शत्रुता से (वि=वि वर्तस्व) अलग रह । (अहम्) मैं (सर्वेण , सब (पाप्मना) पाप कर्म से (वि) अलग और (यक्ष्मेण) राज रोग, क्षयी आदि से (वि=वि वर्ते) अलग रहूं, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम् वर्ते) मिला रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से सदा बलवान् रहे हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य मानसिक पाप और शारीरिक रोग के त्याग और शुभ गुणों के सेवन से बल बढ़ाकर अपना जीवन सफल करें ॥ १ ॥

व्यार्त्या पर्वमानो वि शुक्रः पापकृत्यया ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ २ ॥

वि । आऽर्त्या । पर्वमानः । वि । शुक्रः । पापऽकृत्यया ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥२॥

भाषार्थ—(पवमानः) शोधन करने वाला पुरुष (आर्त्या) पीड़ा से (वि) अलग, और (शुक्रः) शक्तिमान् पुरुष (पापकृत्यया) पाप क्रिया से (वि= वि वर्तताम्) अलग रहे । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से ......[म० १] ॥ २ ॥

जरसन्यतरस्याम् । पा० ७ । २ । १०१ । इति जरस् । वयोहान्या । (वि) पृथग्भूय (अवृतन्) वृतु वर्तने, भावे—लुङ् , अभूवन् । (वि) वि वर्तस्व । पृथग्भव । (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (अरात्या) अ० १ । २ । २ । अदानेन । शत्रुतया (पाप्मना) नामन्सीमन् व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति पा रक्षणे—अपादाने मनिन् , पुक् च । मानसेन पापेन । दुष्टकर्मणा । (वि) वि वर्ते । पृथग् भवानि । (यक्ष्मेण) अ० २ । १० । ५ । शारीरेण राजरोगेण । क्षयादिना । (सम्) सं वर्ते । सम्भूय भवानि । (आयुषा) चिरकालजीवनेन ॥

२—(वि) विवर्तताम् । वियुक्तो भवतु । (आर्त्या) आङ्+ऋ हिंसने-क्तिन् । पीड़या । रोगेन । (पवमानः) पूङ्यजोः शानन् । पा० ३ । २ । १२८ ।

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध आचरण से सामाजिक आत्मिक और शारीरिक पीड़ा मिटावें और बलवान् होकर पाप को हटावें ॥ २ ॥

वि ग्राम्याः पशव आरण्यैर्व्यापस्तृष्णयासरन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ३ ॥

वि । ग्राम्याः । पशवः । आरण्यैः । वि । आपः । तृष्णया । असरन् ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥३॥

भाषार्थ—(ग्राम्याः) गाम वाले (पशवः) जीव (आरण्यैः) जङ्गली जीवों से (वि) अलग, और (आपः) जल (तृष्णया) पियास से (वि) अलग, (असरन्) चले हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से ......[म०१] ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे ग्राम्य पशु जङ्गली जीवों से अलग रहकर प्रसन्न रहते हैं और जल की उपस्थिति में पियास से निवृत्ति होती है, इसी प्रकार मनुष्य पाप से निवृत होकर सब के सुख में प्रवृत्त हों।

वी३मे द्यावापृथिवी इतो वि पन्थानो दिशंदिशम् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ४ ॥

इति पूञ् शोधने—शानच् । आने मुक् । पा० ७ । २ । ८२ । इति मुक् । संशोधकः (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तः । इन्द्रः । (पापकृत्यया) पापम् इति व्याख्यातम्-अ० २ । १२ । ५ । कृञः श च । पा० ३ । ३ । १०० । इति डुकृञ् करणे, यद्वा, कृञ् हिंसायाम्-क्यप्, तुक् । पापक्रियया महाहिंसया । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(ग्राम्याः) अ० २ । ३४ । ४ । ग्राम—य । ग्रामीणाः । (आरण्यैः) अरण्य—ण्यञ् । अरण्यजातैः । (आपः) जलानि । (तृष्णया) तृषिशुषिरसिभ्यः कित् । उ० ३।१२ । इति तृषिर् आकाङ्क्षायाम्—न, स च कित् । टाप् पानेच्छया । पिपासया । (वि असरन्) सृ गतौ—लुङ् । विगता अभूवन् । अन्यद् गतम् ॥

वि । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । इतः । वि । पन्थानः । दिशम्-दिशम् ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमे) यह दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (वि) अलग अलग (इतः) चलते हैं, (पन्थानः) सब मार्ग (दिशंदिशम्) दिशा दिशा को (वि=वियन्ति) अलग अलग जाते हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य पृथिवी और मार्ग अलग अलग रहकर संसार का क्लेश हरते हैं, ऐसे ही सब मनुष्य दुःख का नाश करके सुख भोगें ॥ ४ ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं युनक्तीतीदं विश्वं भुवनं वि याति । व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ५ ॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । युनक्ति । इति । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । वि । याति ॥ वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) बेटी को (वहतुम्) दायज [स्त्री धन] (युनक्ति=वि युनक्ति) अलग करके देता है। (इति) इसी प्रकार (इदम् विश्वम्) यह प्रत्येक (भुवनम्) लोक (वि याति) अलग २ चलता है। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ५ ॥

४—(इमे) परिदृश्यमाने। (द्यावापृथिवी) अ० २। १। ४। सूर्यभूमी। (इतः) गच्छतः। (पन्थानः) मार्गाः। (वि) वियन्ति ॥ अन्यद् गतम् ॥

५—(त्वष्टा) अ० २। ५। ६। व्यवहाराणां तनूकर्ता, पिता। (दुहित्रे) अ० २। १४। २। दोग्धि प्रपूरयति कार्याणीति दुहिता तस्यै। पुत्र्यै। (वहतुम्)

भावार्थ—जैसे पिता पुत्री को दायज देकर सदा हित करता रहता है, सब लोक और पदार्थ अलग अलग रहकर परस्पर उपकार करते हैं, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष हटाकर परस्पर सुख बढ़ावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऋग्वेद १० । १७ १ । १ में इस प्रकार है ।

त्वष्टा॑ दुहि॒त्रे व॑ह॒तुं कृ॑णो॒तीती॒दं विश्वं॒ भुव॑नं॒ समे॑ति॥

(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पिता (दुहित्रे) वेटी के लिये (वहतुम्) दायज (कृणोति) करता है, (इति) इस प्रकार (इदम् विश्वम् भुवनम्) यह सब जगत् (समेति) मिलकर चलता है ॥

अ॒ग्निः प्रा॒णान्त्सं द॑धाति च॒न्द्रः प्रा॒णेन॒ संहि॑तः ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण समायु॑षा ॥ ६ ॥

अ॒ग्निः । प्रा॒णान् । सम् । द॒धा॒ति॒ । च॒न्द्रः । प्रा॒णेन॑ । सम्ऽहि॑तः ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि (प्राणान्) प्राणों, जीवन शक्तियों को (सम्= सम्भूय) मिलकर (दधाति) पुष्ट करता है, और (चन्द्रः) चन्द्र (प्राणेन) प्राण के साथ (संहितः) सन्धि वाला है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ६ ॥

पथिवह्योश्चतुः । उ० १ । ७७ । इति वह प्रापणे-चतु । विवाहकाले कन्यायै देयवस्तु (युनक्ति)वियुनक्ति पृथग् बध्नाति । (इति) अनेन प्रकारेण । (भुवनम) अ० २ । १ । ३ । भूतजातम् । लोकः । (वि याति) पृथग् गच्छति । अन्यद् गतम् ॥

६—(अग्निः) अशितपीतपरिणामहेतुर्जाठररूपः सूर्यतापः (प्राणान्) अ० २ । १२ । ७ । जीवनहेतून् श्वासप्रश्वासादीन् । चक्षुरादीन्द्रियाणि वा । (सं दधाति) संभूय पोषयति, स्वस्वकार्यसमर्थान् करोति । (चन्द्रः) अ०

भावार्थ—सूर्य का ताप श्वास प्रश्वास द्वारा शरीर में प्रविष्ट होकर नेत्र आदि इन्द्रियों को अन्न रस पहुंचाता है, और चन्द्रमा की शीतलता प्राण द्वारा रुधिर आदि में प्रणित रस से इन्द्रियों को पुष्ट करती है। ऐसेही मनुष्य अपने दोष मिटाकर शुभ गुणों से युक्त होवे ॥ ६ ॥

मन्त्र १—५ में दोषों से (वि) वियोग के और मन्त्र ६—१० में पुरुषार्थ से (सम्) संयोग के वर्णन से आयु बढ़ाने का उपदेश है ॥

प्राणेन विश्वतोवीर्यं देवाः सूर्यं समैरयन् ।
व्य१हं सर्वेण पाप्मना वि यक्ष्मेण समायुषा ॥ ७ ॥

प्राणेन । विश्वतः-वीर्यम् । देवाः । सूर्यम् । सम् । ऐरयन् ॥
वि । अहम् । सर्वेण । पाप्मना । वि । यक्ष्मेण । सम् । आयुषा ॥७॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले महात्माओं ने (विश्वतोवीर्यम्) सब ओर से वीर्यवान् (सूर्यम्) सर्वप्रेरक वा सर्वत्रगति परमेश्वर वा सूर्य को (प्राणेन) प्राण से (सम्) मिलकर (ऐरयन्) पाया है । (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय वीरों ने आत्मा के सहारे, अर्थात् आत्मज्ञान और आत्मबल से, परमात्मा को पाकर और सूर्य आदि लोकों तक गति करके परम पद पाया है । मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष मिटाकर जीवन सुफल करें ॥ ७ ॥

१।२।४। चदि आह्लादने—रक्। आह्लादकः। सोमः। चन्द्रमाः (प्राणेन) जीवनहेतुना सह (संहितः) सम्+धा—क्त । सन्धियुक्तः । संश्लिष्टः । अन्यद् गतम् ॥

७—(प्राणेन) जीवनहेतुना । (विश्वतोवीर्यम्) सर्वतःसामर्थ्यम् । सर्वशक्तिमन्तम् । (देवाः) विजिगीषवो जितेन्द्रिया योगिनः । (सूर्यम्) अ० १।३।५। सुवति प्रेरयति लोकान् सूर्यं वा सरति सर्वत्र स सूर्यः । लोकप्रेरकम् । सर्वत्रगतिं परमात्मानं (सम्) सम्भूय । (ऐरयन्) अ० १।११।२। ईर गतौ-लङ् । अगच्छन् । प्राप्नुवन् । अन्यद् गतम् ॥

आयु॑ष्मतामायुष्कृतां॑ प्राणेन॑ जीव मा मृ॑थाः ।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पाप्मना वि यक्ष्मे॑ण समायु॑षा ॥ ८ ॥

आयु॑ष्मताम् । आयुः-कृताम् । प्राणेन॑ । जीव । मा । मृथाः ॥
वि । अहम् । सर्वे॑ण । पाप्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा॥८॥

भाषार्थ—(आयुष्मताम्) बड़ी आयु वाले, और [दूसरों की] (आयुष्कृताम्) बड़ी आयु करने वाले [देवताओं] के (प्राणेन) प्राण के साथ (जीव) जीता रह, (मा मृथाः) मरा मत जा। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म०१] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने और दूसरों के सुधारने वाले वीर योगियों [देवताओं—म०] के अनुकरणी होकर पुरुषार्थ करें और आलस्य आदि में व्यर्थ जन्म न खोवें ॥ ८ ॥

प्राणेन॑ प्राणतां प्राणेहैव भ॑व मा मृ॑थाः ।
व्य१॒॑हं सर्वे॑ण पाप्मना वि यक्ष्मे॑ण समायु॑षा ॥ ९ ॥

प्राणेन॑ । प्राणताम् । प्र । अन । इह । एव । भव । मा। मृथाः॥
वि। अहम्। सर्वे॑ण। पाप्मना॑। वि। यक्ष्मे॑ण। सम्। आयु॑षा ॥९॥

भाषार्थ—(प्राणताम्) जीते हुओं के (प्राणेन) श्वास से (प्राण) श्वास ले, (इह) यहां पर (एव) ही (भव) रह, (मा मृथाः) मरा मत जा। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से......[म० १] ॥ ९ ॥

८—(आयुष्मताम्) प्रशस्तेन दीर्घेणायुषा तद्वताम्। (आयुष्कृताम्) अन्येषां प्रशस्तदीर्घायुषः कर्तॄणां देवानाम्—म० ७। (प्राणेन) अ० २। १५। १। जीवनबलेन। (जीव) प्राणान् धारय। (मा मृथाः) मृङ् प्राणत्यागे—लुङ्, माङि अडभावः। प्राणान् मा त्याक्षीः। अन्यद् गतम् ॥

९—(प्राणेन) प्रकृष्टजीवनेन। श्वासप्रश्वासव्यापारेण। (प्राणताम्)

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थियों के समान अपने श्वास श्वास पर कर्तव्य करे और संसार में रहकर भूल, आलस्य आदि दोष छोड़कर कीर्ति पावे ॥ ६ ॥

उदायु॑षा समायु॒षोदोष॑धीनां॒ रसे॑न ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥१०॥

उत् । आयु॑षा । सम् । आयु॑षा । उत् । ओष॑धीनाम् । रसे॑न ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि । यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥१०॥

भाषार्थ—(आयुषा) जीवन [उत्साह] के साथ (उत्=उद्भव) खड़ा हो (आयुषा) जीवन के साथ (सम्=सम् भव) पराक्रमी हो। (ओषधीनाम्) ओषधियों, अन्न आदि, के (रसेन) रस [भोग] से (उत्=उद्भव) ऊंचा हो। (अहम्) (मैं सर्वेण पाप्मना) सब कर्म से⋯ ⋯[म० १] ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जीवन भर उद्योगी और पराक्रमी रहे, और अन्न आदि पदार्थों के भोगों के अनुसार उपकार का प्रतिफल देकर जीवन सुफल करे ॥१०॥

इस मन्त्र में (भव) पद की अनुवृत्ति मन्त्र ६ से आती है ॥

आ प॒र्जन्य॑स्य वृ॒ष्ट्योद॑स्थामा॒मृता॑ व॒यम् ।
व्य१॒हं सर्वे॑ण पा॒प्मना॒ वि यक्ष्मे॑ण॒ समायु॑षा ॥ ११ ॥

आ । प॒र्जन्य॑स्य । वृ॒ष्ट्या । उत् । अ॒स्था॒म॒ । अ॒मृताः॑ । व॒यम् ॥
वि । अ॒हम् । सर्वे॑ण । पा॒प्मना॑ । वि यक्ष्मे॑ण । सम् । आयु॑षा ॥११॥

प्र+अन जीवने-शतृ । श्वसताम् । आत्मवताम् । (प्राण) प्राणान् धारय । (इह पत्र) अस्मिन्नेव जन्मनि लोके वा । (भव) वर्तस्व । अन्यद् गतम् ॥

१०—(उत्) अत्र पूर्वमन्त्राद् भव इति क्रियापदम् अनुवर्तते । उद्भव ऊर्ध्वो वर्तस्व । (आयुषा) जीवनेन । उत्साहेन । (सम्) सम्भव । पराक्रमी भव । (ओषधीनाम्) अ० ३ । ५ । १ । व्रीहियवादीनाम् । (रसेन) आयुष्करेण सारेण । अन्यत् स्पष्टम् ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (अमृताः) अमर होकर (पर्जन्यस्य) सींचने वाले मेघ की (वृष्ट्या) वरसा से [जैसे] (आ) सब ओर से (उत् अस्थाम) उठ खड़े हुये हैं। (अहम्) मैं (सर्वेण पाप्मना) सब पाप कर्म से (वि) अलग, और (यक्ष्मेण) राज रोग, क्षयी आदि से (वि=विवर्तें) अलग रहूं, और (आयुषा) जीवन [उत्साह] से (सम्=सम् वर्तें) मिला रहूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य इस सूक्त में वर्णित उपदेश के अनुसार ब्रह्मज्ञान के श्रवण मनन, और निदिध्यासन [विचार] से ऐसे हर्ष में बढ़े हैं जैसे अन्न आदि ओषधें जल की वरसा से नवीन जीवन पाकर उगती हैं, इसलिये प्रत्येक मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोष छोड़कर अपना जीवन का लाभ उठावे ॥ ११ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति तृतीयं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजीराव गायकवाड़ा-धिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासदक्षिणायाम् ऋक् सामाथर्ववेद-भाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना कृते अथर्ववेदभाष्ये तृतीयं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे रामनवम्याम् [शुक्लनवम्याम्] १९७१ तमे क्रमीयेसंवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आषाढ़ शुक्ल पूर्णमास्यां संवत् १९७१ ता० ७ जूलाई १९१४ ॥

११—(आ) समन्तात् (पर्जन्यस्य) अ० १ । २ । १ । सेचकस्य । मेघस्य (वृष्ट्या) वर्षजलेन । (उत् अस्थाम) तिष्ठतेर्लुङ् । उत्थिता अभूम । (अमृताः) मरणरहिता अमृतत्वं जीवनत्वं प्राप्ताः सन्तः । (वयम्) उपासकाः । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

ओ३म् ।

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये ।]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी जिन वेदों का महत्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् भी जिनकी महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ सर्वसाधारण उन का अर्थ नहीं समझ सकते थे। अब तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है, और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था. इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से उसका भाष्य बड़े परिश्रम से बना कर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ. ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ट में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूपपाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण, निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, पूरे एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त, स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप कर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे महराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जान कर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है। पूरे भाष्य के स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जनों को नियत मूल्य में से २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी० पी० द्वारा वा नगद दाम पर दिये जाते हैं।

	मूल्य	स्थायी ग्राहकों से
काण्ड १—छप गया, भूमिका सहित, पृष्ठ २०२,	१।)	१)
काण्ड २—छप गया, पृष्ठ २१२	१।–)	१–)
काण्ड ३—छप गया, पृष्ठ २५०	१॥–)	१।)
काण्ड ४—शीघ्र प्रकाशित होगा।		

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेवगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित. संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।) ॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

७ जुलाई १९१४

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,
५२ लूकरगंज, प्रयाग (allahabad)।

अथर्ववेदभाष्य—सम्मतियां ।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३ ।

...ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी । पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है । भाष्य का क्रम अच्छा है । यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा ।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त । आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३ ।

...श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया । त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार, भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया. फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका, दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्य समाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे ।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ कर के एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है । ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें, निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो, छपाई और कागज़ भी अच्छा है ।...

श्रीयुत महात्मा मुन्शीराम जी जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुलकांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ९४ तिथि २७-१०-१९९९ ।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है ।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९९९ ।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ ।

श्रीयुत पं० शिवशङ्कर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक काङ्गड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि संपादक आर्यमित्र = फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। आप बहुत दिनों तक सर्कारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पण्डित भीमसेन शर्मा—उपनिषद् गीतादिभाष्यकर्त्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य-इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ·····अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है···भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है और अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है,···और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती;प्रयाग, फ़र्वरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और परिश्रम का यह फल है। आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है. बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मंत्र, पदपाठ हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है·····आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है॥

श्रीयुत पण्डित गणेशप्रसाद शर्मा—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३॥

हर्ष की बात है कि जिन वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ हो गया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भावार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये

धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है...वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि इनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य्य लिया जा सकता है ॥

बाबू **कालिका प्रसाद जी** सिल्कमर्चेन्ट. कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्र संख्या ५८९ ता० २७-३-१३ ।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर साहाय्य करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें । ···आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे । मेरा नाम ग्राहकों में लिख लिजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना ॥

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्म्मा**, मु० एकलड़ा, पोस्ट किशुन पुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १९१३ ।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है । आप ने यह साहस दिखा कर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है । ईश्वर आप को वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करे ॥

श्रीयुत विख्यात **पण्डित श्रीधर पाठक जी**, मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटेरियट पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३ ।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ । आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है ॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), Baroda State, letter No. 624 dated 6th February, 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्······It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund".

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan,

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverence that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power......

Lettr dated 30th april 1914.

I very much admire your labor of lore and hope the venture with not fail for want of pecuiary support......

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverence and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature....The arrangement is good the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini. *Unadikosha* of Dyananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works....The Pandit appears to have labored very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind....Cross reference to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves. ...Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B.—The printing and paper are good; the price of Book is moderate.

हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

पण्डित **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार—पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि. सम्पादक आर्यमित्र, आगरा ८ फ़रवरी १९१३ ।......आर्य पुरुष हवनकाल में जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उन का सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पदका पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये ॥

सद्धर्म प्रचारक—गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८ ..आज कल लोग हवन मन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते, उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रेल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश, मेरठ—मई १९१२ ।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषा में अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी** गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। ...आप ने हवन मन्त्रों का भषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

७ जुलाई १९१४। } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ४ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ब्रह्म जज्ञानम्	वेनः	ब्रह्म का विचार	त्रिष्टुप्
२	य आत्मदा बलदा	प्रजापति	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
३	उदितस्त्रयः	इन्द्र	शत्रु नाश	पथ्यापङ्क्ति इत्यादि
४	यां त्वा गन्धर्वो	वृषा, इन्द्र	मनुष्य बल	अनुष्टुप्
५	सहस्रशृङ्गो	इन्द्र	बच्चों के सुलाना	अनुष्टुप् पथ्यापंक्ति
६	ब्राह्मणो जज्ञे	विष	विष दूर करना	अनुष्टुप् इत्यादि
७	वारिदं वारयातै	विष	विष नाश	अनुष्टुप्
८	भूतो भूतेषु	भूतानामधिपति	राज तिलक यज्ञ	त्रिष्टुप् इत्यादि
९	एहि जीवम्	आञ्जन	ब्रह्म विद्या	अनुष्टुप् इत्यादि
१०	वाताज्जातो	शङ्ख	विघ्नों के हटाना	अनुष्टुप् इत्यादि
११	अनड्वान् दाधार	अनड्वान्	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२	रोहण्य सिरोह	धाता	दोष मिटाना	अनुष्टुप् आदि
१३	उत देवा अवहितं	आत्मा	स्वास्थ्य रक्षा	अनुष्टुप्
१४	अजोह्यग्नेर	अग्नि	ब्रह्म प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
१५	समुत्पतन्तु प्रदिशो	पर्जन्य	वृष्टि प्रार्थना	जगती इत्यादि
१६	बृहन्नेषामधिष्ठाता	वरुण	वरुण की सर्वज्ञता	अनुष्टुप् इत्यादि
१७	ईशानां त्वा भेषजा	अपामार्ग	राजा का लक्षण	अनुष्टुप्
१८	समंज्योतिः सूर्येण	अपामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप्
१९	उतो अस्यबन्धुकृ	अपामार्ग	राजधर्म	अनुष्टुप् इत्यादि
२०	आपश्यति प्रति	ब्रह्म	ब्रह्म की उपासना	अनुष्टुप्
२१	आ गावो अग्मन्	गावः	विद्या के गुण	त्रिष्टुप् जगती
२२	इममिन्द्र वर्धय	इन्द्र	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
२३	अग्नेर्मन्वे	अग्नि	कष्ट हटाना.	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	इन्द्रस्य मन्महे	इन्द्र	पूर्ण सुख	जगती अनुष्टुप्
२५	वायोः सवितुर्	पवन	पवन और सूर्य	अनुष्टुप् इत्यादि
२६	मन्वे वां द्यावापृथि	सूर्य पृथिवी	सूर्य और पृथिवी	अनुष्टुप् इत्यादि
२७	मरुतां मन्वे	मरुतः	पवन के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
२८	भवाशर्वौ मन्वेअधि	भवाशर्वौ	परमेश्वर के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
२९	मन्वे वां मित्रा	मित्र, वरुण	पुरुषार्थ	अनुष्टुप् इत्यादि
३०	अहं रुद्रेभिः	राष्ट्री	परमेश्वर के गुण	त्रिष्टुप् जगती
३१	त्वया मन्यो सरथ	मन्यु	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्, जगती
३२	यस्ते मन्योऽवि	मन्यु	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
३३	अप नः शोशुचद्	अग्नि	सर्व रक्षा	गायत्री
३४	ब्रह्मास्य शीर्ष	ओदन	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्. इत्यादि
३५	यमोदनं प्रथमजा	ओदन	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्. जगती
३६	तान्त्सत्यौजाः	अग्नि	राज धर्म	अनुष्टुप्
३७	त्वया पूर्वमथर्वा	ओषधि, इत्यादि	गन्धर्व आदि	अनुष्टुप् इत्यादि
३८	उद्भिदन्तीं संजय	अप्सरा	परमेश्वर के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
३९	पृथिव्यामग्नये	अग्नि इत्यादि	परमेश्वर गुण	त्रिपदा जगती इत्यादि
४०	ये पुरस्ताज्जुह्वति	जातवेदाः	शत्रुनाश	त्रिष्टुप् इत्यादि

—:o:—

२-अथर्ववेद, काण्ड ४ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ४) सूक्त. मन्त्र	ऋग्वेद, मंडल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं	१ । १		१३ । ३	पू० ४ । ३ । ६
२	य आत्मदा बलदा	२ । १	१० । १२१ । २,३	२५ । १३,११	
३	यः प्राणतो निमिषतो	२ । २	१० । १२१ । ३.२	२५ । ११,१२	
४	यं क्रन्दसी अवतश्च यस्यासौ पन्था	२ । ३	१० । १२१ । ६	३२ । ७ ३२ । ६	
५	यस्य विश्वे हिम	२ । ५	१० । १२१ । ४	२५ । १२	
६	आपो अग्रे विश्व	२ । ६	१० । १२१ । ७,८	२७ । २५,२६	
७	हिरण्य गर्भः सम	२ । ७	१० । १२१ । १	१३ । ४; २५ । १०	
८	आपो वत्सं जनयन्ती	२ । ८	१० । १२१ । ७	२७ । २५	
९	सहस्र शृङ्गोवृषभो	५ । १	७ । ५५ । ७		
१०	प्रोष्ठे शयास्तल्पे	५ । ३	७ । ५५ । ८		
११	य आस्ते यश्चर	५ । ५	७ । ५५ । ६		
१२	स्वप्तु माता स्वप्तु	५ । ६	७ । ५५ । ५		
१३	सनेयमश्वं गां	९ । ७	१० । ९७ । ४	१२ । ७८	
१४-१८	उत देवा अवहितं	१३ । १-५	१० । १३७ । १-५		
१९	अयं मे हस्तो भगवान्	१३ । ६	१० । ६० । १२		
२०	हस्ताभ्यां दश शाखा	१३ । ७	१० । १३७ । ७		
२१	अजो ह्यग्नेर	१४ । १		१३ । ५१	
२२	क्रमध्वमग्निना नाक	१४ । २		१७ । ६५	
२३-२५	पृष्ठात् पृथिव्या अह	१४ । ३-५		१७ । ६७-६९	
२६	अर्वाङ्केतेन	१५ । ११	५ । ८३ । ६		
२७	अपोनिषिञ्चन्न	१५ । १२	५ । ८३ । ६		
२८	संवत्सरं शशयाना	१५ । १३	७ । १०३ । १		
२९	महान्तं कोशमुद	१५ । १६	५ । ८३ । ८		
३०-३६	आ गावो अग्मन्नुत	२१ । १-७	६ । २८ । १-७		
३७	मा वस्तेन	२१ । ७		१ । १	
३८	परि वो रुद्रस्य	२१ । ७		१६ । ५०	
३९-४६	अहंरुद्रेभिर्	३० । १-८	१० । १२५ । १-८		
४७-५२	त्वया मन्यो	३१ । १-७	१० । ८४ । १-७ (अ)		
५३-५९	यस्ते मन्यो	३२ । १-७	१० । ८३ । १-७		
६०-६७	अप नः शोशुचदघ	३३ । १-८	१० । ९७ । १-८		
६५	विश्वानि देव	३९ । १०		४० । १६	

(अ)—सूक्त ३१ म० १ के साथ यह टिप्पणी छपने से छुट गयी है॥

"यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १० । ८४ । वहां पर सूक्त के ऋषि मन्यु तामस और देवता मन्यु हैं॥"

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

चतुर्थं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ॥ १ ॥

मन्त्राः १—७ ॥ वेनो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सृष्टि विद्यया ब्रह्मविचारः—सृष्टि विद्या से ब्रह्म का विचार ।

ब्रह्मं जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद्वि सीमतः सुरुचो वेन आवः। स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

ब्रह्म । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सु-रुचः । वेनः । आवः ॥ सः । बुध्न्याः । उप-माः । अस्य । वि-स्थाः । सतः । च । योनिम् । असतः । च । वि । वः ॥ १ ॥

सान्वय भाषार्थ—(वेनः) प्रकाशमान वा मेधावी परमेश्वर ने (पुरस्तात्) पहिले काल में (प्रथमम्) प्रख्यात (जज्ञानम्) उपस्थित रहने वाले (ब्रह्म) वृद्धि के कारण अन्न को और (सुरुचः) बड़े रुचिर लोकों को (सीमतः)

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ब्रह्म) अ० १।८।४। वृद्धिकारणम् अन्नम्—निरु० २।७। (जज्ञानम्) जनी प्रादुर्भावे—शानचि शपः श्लौ सति

सीमाओं वा छोरों से (वि आवः) फैलाया है। (सः) उस ने (बुध्न्याः) अन्तरिक्ष में वर्तमान (उपमाः) [परस्पर आकर्षण से] तुलना करने वाले (विष्ठाः) विशेष विशेष स्थानों, अर्थात् (अस्य) इस (सतः) विद्यमान [स्थूल] के (च) और (असतः) अविद्यमान [सूक्ष्म जगत्] के (योनिम्) घर को (च) निश्चय करके (वि वः) खोला है॥ १॥

भावार्थ—जैसे उत्पन्न होने से पहिले बालक के लिये माता के स्तनों में दूध हो जाता है, ऐसेही जगत् के जननी जनक परमेश्वर ने सृष्टि से पूर्व प्रत्येक शरीरी के लिये प्रभूत (ब्रह्म) अन्न वा पालन शक्ति और पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, आदि को बनाया, जो परस्पर आकर्षण से स्थिर हैं। यही सब

रूपम्। जायमानम्। दृश्यमानम् (प्रथमम्) अ० १।१२।१। प्रख्यातम्। (पुरस्तात्) दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः। पा० ५।३।२७। इति पूर्व-अस्ताति। अस्ताति च। पा० ५।३।४०। इति पूर्वस्य पुरादेशः। अतीते प्रथमे काले वा। सृष्ट्यादौ। (वि) व्यवहिताश्च। पा० १।४।८२। इति व्यवधानम्। (सीमतः) नामन्सीमन्व्योमन् ०। उ० ४।१५१। इति षिञ् बन्धने—मनिन्। अपादाने चाहीयरुहोः। पा० ५।४।४५। इति तसि। सीम्नः सीमतः सीमातो मर्यादातः। सीमा मर्यादा विषीव्यति देशाविति-निरु० १।७। सीमभ्यः। लोकमर्यादाभ्यः (सुरुचः) रुच्लृ प्रीतिप्रकाशयोः—क्विप्। सुष्ठु रोचमानान् लोकान्। (वेनः) अ० २।१।१। दीप्यमानः परब्रह्मात्मकः-इति सायणोऽपि। मेधावी—निघ० २।१५। (वि आवः) वृञ् वरणे-लुङ्। मन्त्रे घस०। पा० २।४।८०। इति च्लेर्लुक्। हल्ङ्यादिलोपे। छन्दस्यपि दृश्यते। पा० ६।४।७३। इति आडागमः। विवृतानकरोत्। (सः) वेनः। (बुध्न्याः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च। उ० ३।५। इति बन्ध बन्धने-नक्, बुधादेशः। बुध्नो मेघो मूलमन्तरिक्षं वा। भवे छन्दसि। पा० ४।४।११०। इति यत्। बुध्नमन्तरिक्षं बद्धा अस्मिन् धृता आप इति वा इदमपीतरद् बुध्नमेतस्मादेव बद्धा अस्मिन् धृताः प्राणा इति योऽहिः स बुध्न्योबुध्नमन्तरिक्षं तन्निवासात्। निरु० १०। ४४। बुध्नेऽन्तरिक्षे भवाः सूर्यचन्द्रपृथिवीतारकादयो लोकाः (उपमाः) आतश्चोपसर्गे। पा० ३।३।१०६। इति उप+माङ् माने-अङ्, टाप्। उपमीयमानाः। मानं प्राप्ताः। (अस्य) दृश्यमानस्य जगतः। (विष्ठाः) आतश्चोपसर्गे। पा० ३।३।१०६। वि+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अङ्,

लोक कार्य वा मूर्त और कारण वा अमूर्त दो प्रकार के जगत् के भण्डार हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद अ० १३ म० ३ और सामवेद पूर्वार्चिक प्र० ४ द० ३ म० ६ में है ॥

इयं पित्र्या राष्ट्र्ये॒त्वग्रे॑ प्रथमाय॑ जनुषे॑ भुवनेष्ठाः ।
तस्मा॑ एतं सुरुच॑ ह्वारमह्यं घर्मं श्रीणन्तु प्रथमाय॑ धास्यवे॑ ॥ २ ॥

इयम् । पित्र्या॑ । राष्ट्री॑ । एतु । अग्रे॑ । प्रथमाय॑ । जनुषे॑ । भुवने॒-स्थाः । तस्मै॑ । एतम् । सु-रुच॑म् । ह्वारम् । अह्य॒म् । घर्मम् । श्रीणन्तु । प्रथमाय॑ । धास्यवे॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पित्र्या) पिता [जगत् पिता परमेश्वर] से आई हुई, (भुवनेष्ठाः) सब जगत् में ठहरी हुई (इयम्) यह (राष्ट्री) राजराजेश्वरी शक्ति [वेद वाणी] (प्रथमाय) सब से उत्तम (जनुषे) जन्म के लिये (अग्रे) हमारे आगे (एतु) आवे, [अर्थात्] "(तस्मै) उस (प्रथमाय) सब से ऊपर विराजमान (धास्यवे) संसार का धारण पोषण चाहने वाले परमात्मा के लिए (एतम्) इस (सुरुचम्) बड़े रुचिर (ह्वारम्) अनिष्ट को झुका देने वाले (अह्यम्) प्राप्ति के योग्य, वा प्रति दिन वर्तमान (घर्मम्) यज्ञ को (श्रीणन्तु) सब लोग परिपक्व करें" ॥ २ ॥

टाप् । उपसर्गात् सुनोतिसुवति० । पा० ८ । ३ । ६५ । इति । पत्वम् (सतः) विद्यमानस्य । मूर्तस्य । स्थूलस्य (च) समुच्चये । अवधारणे (योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गृहम्—निघ० ३ । ४ । आकाशम् । कारणम् (वि वः) वि+वृञ् वरणे-लङ् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । पा० ६ । ४ । ७५ । इति अडभावः । विवृतमकरोत् ।

२—(इयम्) परिदृश्यमाना (पित्र्या) पितुर्यच्च । पा० ४ । ३ । ७६ । इति पितृ-यत्, टाप् । पितृसकाशाद् आगता । पैतृका । (राष्ट्री) राजतिः, ऐश्वर्यकर्मा—निरु० २ । २१ । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । इति राजृ दीप्तौ,

भावार्थ—जैसे पैतृक धन सब सन्तानों को यथावत् मिलता है वैसे ही जगत् पिता परमेश्वर की सर्वव्यापिनी, सर्वनियन्त्री यह वेदवाणीरूप शक्ति सब के हृदय में बसे कि सब मनुष्य अपना यज्ञ अर्थात् पुरुषार्थ परमात्मा को समर्पण करें जिससे मनुष्य जन्म सफल होवे ॥ २ ॥

प्र यो ज॒ज्ञे वि॒द्वान॑स्य॒ बन्धु॒र्विश्वा॑ दे॒वानां॒ जनि॑मा वि॒वक्ति । ब्रह्म॒ ब्रह्म॑ण॒ उज्ज॑भार॒ मध्या॑न्नी॒चैरु॒च्चैः स्व॒धा अ॒भि प्र त॑स्थौ ॥ ३ ॥

प्र । यः । ज॒ज्ञे । वि॒द्वान् । अ॒स्य॒ । बन्धु॑ः । विश्वा॑ । दे॒वाना॑म् । जनि॑म । वि॒वक्ति॒ । ब्रह्म॑ । ब्रह्म॑णः । उत् । ज॒भा॒र॒ । मध्या॑त् । नी॒चैः । उ॒च्चैः । स्व॒धाः । अ॒भि । प्र । त॒स्थौ॒ ॥ ३॥

भाषार्थ—(यः विद्वान्) जो विद्वान् परमेश्वर (अस्य) इस [जगत्]

ऐश्वर्ये—ष्ट्रन् । व्रश्चभ्रस्ज० । पा० ८ । २ । ३६ । इति षत्वम् । षित्त्वात् ङीप् । पा० ४ । १ । ४१ । राष्ट्री, ईश्वरनामसु, निघ० । २ । २२ । राज्ञी । ईश्वरी । सर्वजगद्व्यवहारस्य नियन्त्री शक्तिः (एतु) गच्छतु । प्राप्नोतु । (अग्रे) अभिमुखम् (प्रथमाय) म० १ । प्रख्याताय । प्रधानाय, (जनुषे) जनेरुसिः । उ० २ । ११५ । इति जनी प्रादुर्भावे—उसि । जन्मने । जीवनाय (भुवनेष्ठाः) अ० २ । १ । ४ । सर्वलोके स्थिता व्याप्ता (तस्मै) वेनाय (एतम्) समीपस्थम् (सुरुचम्) म० १ । सुष्ठु रोचमानम् (ह्वारम्) ह्वृ कौटिल्ये-एयन्तात् पचाद्यच् । अनिष्टस्य कुटिलीकारकम् । (अह्यम्) अहि गतौ—एयत् । संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः—इति परिभाषया वृद्धेरभावः । गन्तव्यम् प्राप्यम् । यद्वा । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४-११० । इति अहन्—यत् । नस्तद्धिते । पा० । ६ । ४ । १४४ । इति टिलोपः । अहनि भवम् (घर्मम) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४६ । इति घृ सेचनदीप्त्योः—मक् । आतपम् । ग्रीष्मम् । स्वेदम् । यज्ञम्, निघ० ३ । १७ (श्रीणन्तु) श्रीञ् पाके । पचन्तु । पक्वं कुर्वन्तु । संस्कुर्वन्तु (धास्यवे) अ० २ । १ । ४ । जगतो धारणपोषणेच्छवे ॥

३ (प्र) प्रकर्षेण । सर्वोपरि (यः) वेनः परमेश्वरः (जज्ञे) जनी

का (बन्धुः) बन्धन वा नियम करने वाला, अथवा, बन्धु हितकारी (प्र) अच्छे प्रकार (जज्ञे) प्रकट हुआ था, और जो (देवानाम्) भूमि, सूर्य आदि दिव्य पदार्थों वा महात्माओं के (विश्वा=विश्वानि) सब (जनिमा) जन्मों को (विवक्ति) बतलाता है। उसने (ब्रह्मणः) ब्रह्म [अपने परब्रह्म स्वरूप] के (मध्यात्) मध्य से (ब्रह्म) वेद को (उज्जहार) उभारा था, वही (नीचैः) नीचे और (उच्चैः) ऊंचे (स्वधाः) अनेक अमृतों वा अन्नों को (अभि= अभिलक्ष्य) सन्मुख करके (प्र) उत्तमता से (तस्थौ) स्थित हुआ था ॥ ३ ॥

भावार्थ—अनादि, सर्वज्ञ सर्वोत्तम परमात्मा ने सब चराचर जगत् को यथानियम रचा और वेद विद्या को अपने में से प्रकट करके नीचे ऊंचे लोकों की सृष्टि के अनकूल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न किये हैं, सब मनुष्य उस जगत् नियन्ता की उपासना द्वारा पुरुषार्थ करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का (विश्वा देवानां जनिमा विवक्ति) यह पाद अथ० २ । २८ । २ । में आया है ।

स हि दिवः स पृथिव्या ऋतस्था मही क्षेमं रोदसी अस्कभायत् । महान् मही अस्कभायद् वि जातो द्यां सद्म पार्थिवं च रजः ॥ ४ ॥

प्रादुर्भावे—लिट् । यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६ । इति निघातप्रतिषेधः । प्रादुर्बभूव (विद्वान्) अ० २ । १ । २ । ज्ञानी (अस्य) दृश्यमानस्य जगतः (बन्धुः) अ० २ । १ । ३ । बन्धकः । नियामकः । बान्धवः (विश्वा) विश्वानि । सर्वाणि (देवानाम्) पृथिवीसूर्यादीनां दिव्यपदार्थानाम् । महात्मनाम् (जनिम=जनिमानि) अ० १ । ८ । ४ । जन्मविधानानि (विवक्ति) अ० २ । २८ । २ । वच परिभाषणे । आदादिकः । शपः श्लुः । कथयति । उपदिशति (ब्रह्म) वेदम् (ब्रह्मणः) स्वपरब्रह्मस्वरूपस्य (उज्जभार) हृञ् हरणे-लिट् । हृग्रहोर्भश्छन्दसि । वार्त्तिकम् । इति भकारः । उज्जहार । उद्धृतवान् । उत्थापितवान् (मध्यात्) मध्यभागात् (नीचैः) अ० २ । ३ । ३ । अधोदेशे (उच्चैः) उदि चेर्डैसिः । उ० ५ । १२ । इति उत्+चिञ् चयने—डैसि । उपरिभागे (स्वधाः) अ० २ । २९ । ७ । अन्नानि । पापकद्रव्याणि (अभि) अभिलक्ष्य (तस्थौ) स्थितवान् ॥

सः । हि । दिवः । सः । पृथिव्याः । ऋत-स्थाः । मही इति । क्षेमम् । रोदसी इति । अस्कभायत् । महान् । मही इति । अस्कभायत् । वि । जातः । द्याम् । सद्म । पार्थिवम् । च । रजः ॥४॥

भाषार्थ—(सः) उस (सः) विष्णु वा शिव ने (हि) ही (दिवः) सूर्य के और (पृथिव्याः) पृथिवी के (ऋतस्थाः+सन्) सत्य वा कारण में स्थित होकर (मही=महत्यौ) विशाल (रोदसी=०—स्यौ) सूर्य और पृथिवी को (क्षेमम्) क्षेम के साथ (अस्कभायत्) ठहराया। (महान्) उस विशाल परमेश्वर ने (जातः+सन्) प्रकट होकर (मही=महत्यौ) दोनों विशालों, अर्थात् (द्याम्) सूर्यरूप (सद्म) घर (च) और (पार्थिवम्) पृथिवी वाले (रजः) लोक को (वि) अलग अलग (अस्कभायत्) स्थिर किया ॥ ४ ॥

४—(सः) प्रसिद्धः (हि) अवश्यम् (दिवः) द्युलोकस्य। सूर्यस्य (सः) षो अन्तकर्मणि—ड। स्यति नाशयति दुष्टानिति सः। विष्णुः। ईश्वरः। शिवः। (पृथिव्याः) भूलोकस्य (ऋतस्थाः) अशिघृसिभ्यः क्तः। उ० ३। ८९। इति ऋ गतौ, हिंसने च—क्त। ऋतं सत्यनाम—निघ० ३। १०। उदकम्—निघ० १। १२। आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च। पा० ३। २। ७४। इति ऋत+ष्ठा गति-निवृत्तौ-विच्। ऋते सत्ये कारणे स्थितः। कारणस्य कारणमित्यर्थः (मही) मह पूजायाम्-क्विप। इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्। वा० पा० ७। १। ३९। इति ईकारो विभक्तौ। महत्यौ। विशाले। (क्षेमम्) अ० ३। ३। ५, कुशलम्। (रोदसी) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति रुधेरसुन्। धस्य दकारः, उगितश्च। पा० ४। १। ६। इति ङीप्। वा छन्दसि। पा० ६। १। १०६। इति पूर्वसवर्णः। आभ्यां हि रुद्धानि सर्वभूतानि। रोदस्यौ। द्यावापृथिव्यौ-निघ० ३। ३० (अस्कभायत्) स्कन्भु गतिप्रतिबन्धे—लङ्। छन्दसि शायजपि। पा० ३। १। ८४। इति श्नः शायच्। अस्कभ्नात्। स्थापितवान् (महान्) विशालः (मही) पूर्ववत्। महत्यौ। (वि) पृथक् पृथक् (जातः) प्रादुर्भूतः। (द्याम्) अ० १। २। ४। द्योतमानं सूर्यात्मकम् (सद्म) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-मनिन्। संग्रामनाम-निघ० २। १७। गृहनाम-निघ० ३। ४। उदकनाम-निघ० १। १२। सदनम्। गृहम्।

भावार्थ—सूर्य आदि के (ऋतस्थाः) कारण के कारण परमेश्वर ने सूर्य आदि लोकों को रचा, और परस्पर आकर्षणरूप डोरी लगाकर उन को पृथक् पृथक् कर दिया। उस परमेश्वर की ऐसी बड़ी महिमा देखकर हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ ४ ॥

स बुध्न्यादाष्ट्र जनुषोऽभ्यग्रं बृहस्पतिर्देवता तस्य सम्राट् । अहर्यच्छुक्रं ज्योतिषो जनिष्टाथ द्युमन्तो वि वसन्तु विप्राः ॥ ५ ॥

सः । बुध्न्यात् । आष्ट्र । जनुषः । अभि । अग्रम् । बृहस्पतिः । देवता । तस्य । सम्-राट् । अहः । यत् । शुक्रम् । ज्योतिषः । जनिष्ट । अथ । द्यु-मन्तः । वि । वसन्तु । विप्राः ॥ ५ ॥

भावार्थ—(सः) ईश्वर (जनुषः) उत्पन्न जगत् के (बुध्न्यात्) मूल देश से लेकर (अग्रम् अभि) उपरि भाग तक (आष्ट्र=आष्ट) व्याप्त हुआ। (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का स्वामी (देवता) प्रकाशमान परमेश्वर (तस्य) उस [जगत्] का (सम्राट्) सम्राट् [राजराजेश्वर] है। (यत्) क्योंकि (ज्योतिषः) ज्योतिः स्वरूप परमेश्वर से (शुक्रम्) चमचमाता हुआ (अहः) दिन [सूर्य] (जनिष्ट=अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ, (अथ) तभी (विप्राः) इन्द्रियां वा बुद्धिमान् लोग (द्युमन्तः) प्रकाशमान् होकर (वि) विविध प्रकार से (वसन्तु) निवास करें ॥ ५ ॥

(पार्थिवम्) अ० २ । २८ । ३ । भौमम् (रजः) भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० ४ । २१७ । इति रञ्ज रागे-असुन् । रजो रजतेर्ज्योती रज उच्यते उदकं रज उच्यते लोका रजांस्युच्यन्तेऽसृगहनी रजसी उच्येते-निरु० ४ । १९ । लोकम् ॥

५—(सः) म० ४ । ईश्वरः (बुध्न्यात्) म० १ । मूले भवाद् देशात् (आष्ट्र) अशू व्याप्तौ-छान्दसो लुङ् । आष्ट । आश्नुत । व्याप्नोत् (जनुषः) म० २ । प्रादुर्भूतस्य संसारस्य (अभि) अभितः सर्वतः (अग्रम्) उपरिभागम् (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां स्वामी (देवता) देवात् तल् । पा० ५ । ४ । २७ ।

भावार्थ—परमेश्वर इस सब जगत् के आदि अन्त में विराजमान है, वही सार्वभौम शासक है, उसी ने सूर्य को बनाया है जिससे इन्द्रियां प्रकाश पाकर अपना व्यापार करती हैं। उसी से पंडित जन विद्या प्रकाश करके कीर्तिमान होते हैं ॥ ५ ॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता और सायणभाष्य में (आष्ट्र) के स्थान में [आष्ट] है ।

नूनं तद॑स्य का॒व्यो हि॑नोति म॒हो दे॒वस्य॑ पू॒र्व्यस्य॒ धाम॑ । ए॒ष ज॑ज्ञे ब॒हुभिः॑ सा॒कमि॒त्था पूर्वे॒ अर्धे॒ विषि॑ते स॒सन् नु ॥ ६ ॥

नूनम् । तत् । अ॒स्य॒ । का॒व्यः । हि॒नोति॒ । म॒हः । दे॒वस्य॑ । पू॒र्व्यस्य॑ । धाम॑ । ए॒षः । ज॒ज्ञे॒ । ब॒हु-भिः॑ । सा॒कम् । इ॒त्था । पूर्वे॑ । अर्धे॑ । वि-सि॑ते । स॒सन् । नु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(काव्यः) स्तुतियोग्य परमेश्वर [वेनः, म० १] (अस्य) इस (पूर्व्यस्य) समग्र जगत् के हित करनेवाले (देवस्य) प्रकाशमान सूर्य के (तत्) उस (महः)

इति स्वार्थे तल् । देवः । प्रकाशमानः परमेश्वरः (तस्य) जनुषो जगतः (सम्राट्) सत्सूद्विष० । पा० ३ । २ । ६१ । इति सम्+राजृ दीप्त्यैश्वर्ययोः क्विप् । मो राजि समः क्वौ । पा० ८ । ३ । २५ । इति समो मस्य अनुस्वाराभावः । सम्यक् राजमानः । राजाधिराजः । चक्रवर्त्ती (अहः) दिनम् (यत्) यस्मात् कारणात् (शुक्रम्) अ० । २ । ११ । ५ । दीप्यमानम् (ज्योतिषः) अ० १ । ९ । १ । द्योतमानात् परमेश्वरात् (जनिष्ट) जनी प्रादुर्भावे लुङ्, अडभावः । प्रादुरभूत् (अथ) अनन्तरम् । तस्मात् कारणात् (द्युमन्तः) दीप्तिमन्तः (वि वसन्तु) विविधं वर्तन्ताम् (विप्राः) अ० ३ । ३ । २ । विप्राणी व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्-निरु० १४ । १३ । इन्द्रियाणि । मेधाविनः पुरुषाः ॥

६ (नूनम्) निश्चयेन (तत्) प्रसिद्धम् (अस्य) दृश्यमानस्य (काव्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति कवृ स्तुतौ-ण्यत् । वकयोरैक्यम्,

विशाल (धाम) तेज को (नूनम्) अवश्य (हिनोति) भेजता है। (ससन्) सोता हुआ (एषः) यह परमेश्वर (पूर्वे) समस्त (अर्धे) प्रवृद्ध जगत् के (विषिते) खुलने पर (इत्था) इस प्रकार से [जैसे सूर्य] (बहुभिः साकम्) बहुत [लोकों] के साथ (नु) शीघ्र (जज्ञे) प्रकट हुआ है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रलय की अवस्था में सोता हुआ सा था, उस ने सृष्टि उत्पन्न करने पर, आकर्षण, आतप वृष्टि आदि द्वारा संसार के हित के लिये सूर्य, पृथिवी, बृहस्पति, शुक्र आदि असंख्य लोक रचे। उस जगदीश्वर का सामर्थ्य विचार कर हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर उपकार करें ॥ ६ ॥

योऽथर्वाणं पितरं देवबन्धुं बृहस्पतिं नमसावं च गच्छात्। त्वं विश्वेषां जनिता यथासः कविर्देवो न दभायत् स्वधावान् ॥ ७ ॥

यः। अथर्वाणम्। पितरम्। देव-बन्धुम्। बृहस्पतिम्। नमसा। अव। च। गच्छात्। त्वम्। विश्वेषाम्। जनिता। यथा। असः। कविः। देवः। न। दभायत्। स्वधावान् ॥७॥

भाषार्थ—(यः) गतिवाला, पुषार्थी पुरुष (अथर्वाणम्) निश्चल, (पितरम्) पिता, (देवबन्धुम्) विद्वानों वा सूर्यादि दिव्य लोकों का बन्धु वा

यथा, काव्या=बुद्धिः। स्तुत्यः परमेश्वरः (हिनोति) हि गतौ वृद्धौ च। प्रेरयति (महः) विशालम् (देवस्य) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (पूर्व्यस्य) तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। इति पूर्व—यत्। पूर्वाय समस्ताय जगते हितम् (धाम) अ० १। १३। ३। प्रभावम्। लोकम्। तेजः (एषः) पुरोवर्त्ती परमेश्वरः (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (बहुभिः) असंख्यैर्देवैर्लोकैः (साकम्) सार्धम् (इत्था) था हेतौ च च्छन्दसि। पा० ५। ३। २६। इति इदम्-था। अनेन प्रकारेण यथा सूर्यः (पूर्वे) पूर्व पूर्व पूरणे, निवासे—अच्। समस्ते (अर्धे) ऋध वृद्धौ-घञ्। प्रवृद्धे संसारे (विषिते) वि विरोधे। षिञ् बन्धने—क्त। विमुक्ते प्रकाशिते सति (ससन्) षस स्वप्ने—शतृ। निद्रां गच्छन् सन्। प्रलयकालेऽज्ञातदशायां वर्तमान इत्यर्थः॥

७—(यः) यातीति यः। या गतौ-ड। याता। गतिवान्। उद्योगी पुरुषः (अथर्वाणम्) अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११।

नियामक, (बृहस्पतिम्) बड़े बड़ों के स्वामी परमेश्वर को (नमसा) नमस्कार के साथ (च) निश्चय करके (अव गच्छात्) पहिचाने। [हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (विश्वेषाम्) सब [सुखों] का (जनिता) उत्पादक (असः) हो, (यथा) क्योंकि (कविः) मेधावी, (स्वधावान्) अन्नवान् वा स्वयं धारण सामर्थ्य वाला (देवः) परमेश्वर (न) कभी नहीं (दभायत्) ठगता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विश्वास करके सत्य स्वाभाव परमेश्वर से प्रार्थना करें "हे ईश्वर आप दुःखों से मुक्ति दाता हैं और आप कभी किसी को नहीं सताते" और पुरुषार्थ से पाप कर्मों को त्यागकर सुख प्राप्त करें ॥ ७ ॥

१८। स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। इति अ+थर्व चरणे=गतौ—वनिप्। वकारलोपो विकल्पेन। न थर्वति न चरतीति अथर्वा निश्चलः परमेश्वरः। यद्वा। अथ+ऋ गतौ-वनिप्। अथ लोकमङ्गलाय ऋच्छति गच्छति व्याप्नोतीति अथर्वा। निश्चलं मङ्गलाय व्यापकं वा परमात्मानम् (पितरम्) अ० १। २। १। पातारं पालयितारं वा—निरु० ४। १६ (देवबन्धुम्) देवानां विदुषां सूर्यादिदिव्यलोकानां वा बन्धुं हितकरं बन्धकं नियामकं वा (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां रक्षकम् (नमसा) नमस्कारेण। कराभ्यां शिरः संयोगविशेषेण स्वापकर्षसूचकेन व्यापारभेदेन (च) अवधारणे (अव गच्छात्) अवगच्छेत् जानीयात् (त्वम्) अथर्वा वेनो वा परमेश्वरः (विश्वेषाम्) सर्वेषां सुखानाम् (जनिता) अ० २। १। ३। जनयिता (यथा) यस्मात् कारणात् (असः) भवेः (कविः) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति कब्रृ स्तुतौ वर्णे च-इन्। यद्वा अच इः। उ० ४। १३६। इति कु शब्दे—इ। कविः क्रान्तदर्शनो भवति कवतेर्वा निरु० १२। १३। अतीतानागतविप्रकृष्टविषयं युगत् ज्ञानं यस्य स क्रान्तदर्शनः—इति देवराजयज्वा निरुक्तटीकाकारः-निघ० ३। १५ मेधावी—निघ० ३। १५। ब्रह्मा पण्डितः। (देवः) दीप्यमानः (न) नहि (दभायत्) दन्भु दम्भे=वञ्चने। छन्दसि शायजपि। पा० ३। १। ८४। इति श्नः शायच्। इकारलोपश्च। दभ्नोति वञ्चति (स्वधावान्) अन्नवान्। स्वयं धारणवान् ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१—८ ॥ कः प्रजापतिर्देवता । १-७ त्रिष्टुप् छन्दः, ८ आपो वत्समिति अनुष्टुप्, कस्मै देवायेति त्रिष्टुप् पादः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

य आ॑त्म॒दा ब॑ल॒दा यस्य॒ विश्वे॑ उ॒पास॑ते प्र॒शिषं॒ यस्य॑ दे॒वाः । यो३॒॑ऽस्येशे॑ द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पदः॒ कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ १ ॥

यः । आ॒त्म॒ऽदाः । ब॒ल॒ऽदाः । यस्य॑ । विश्वे॑ । उ॒प॒ऽआस॑ते । प्र॒ऽशिष॑म् । यस्य॑ । दे॒वाः । यः । अ॒स्य॒ । ईशे॑ । द्वि॒ऽपदः॑ । यः । चतुः॑ऽपदः । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (आत्मदाः) प्राण [आत्मबल] का देने वा शुद्ध करने वाला और (बलदाः) शारीरिक बल का देने वा शुद्ध करने वाला है, (यस्य) जिस (यस्य) व्यापक वा पूजनीय के (प्रशिषम्) उत्तम शासन को (विश्वे) सब (देवाः) देवता [सूर्य चन्द्रादि सब लोक] (उपासते) सेवते हैं, (यः) जो (यः) व्यापक वा पूजनीय (अस्य) इस (द्विपदः) दुपाये और (चतुष्पदः) चौपाये जीव समूह का (ईशे=ईष्टे) ईश्वर है, उस (कस्मै=काय) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ १ ॥

१—(यः) कः परमेश्वरः (आत्मदाः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति आत्मन्+दाञ् दाने, दैप् शोधने वा—विच् । आत्मनः प्राणस्य आत्मबलस्य दाता शोधयिता वा (बलदाः) इति पूर्ववत् सिद्धिः । शरीरबलस्य दाता शोधयिता वा (यस्य) ईश्वरस्य (विश्वे) सर्वे (उपासते) आस उपवेशने—अदादिः । सेवन्ते । भजन्ते (प्रशिषम्) क्वौ च शास इत्वं भवतीति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति शासु अनुशिष्टौ, इति क्विबन्तस्य उपधाया इत्वम् । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० । इति । षत्वम् । प्रकृष्टं

भावार्थ—जिस परमात्मा की आज्ञा में अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा आदि सब देवता [यजु० १४ । २०] और मनुष्य गौ आदि सब प्राणी, चलते हैं, उस जगदीश्वर की उपासना करके हम लोग आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर सुख भोगें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । २, ३, और य० २५ । १३, ११ में है ॥

य: प्राणतो निमिषतो महित्वैको राजा जगतो बभूव । यस्यच्छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ २ ॥

यः । प्राणतः । नि-मिषतः । महि-त्वा । एकः । राजा । जगतः । बभूव । यस्य । छाया । अमृतम् । यस्य । मृत्युः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (महित्वा=०—त्वेन) अपनी महिमा से (प्राणतः)

शासनम् । आज्ञाम् (यस्य) या गतौ वा यज पूजायाम्—ड । याति व्याप्नोति यद्वा इज्यते पूज्यते स यः । व्यापकस्य । पूज्यस्य (देवाः) अग्निवायुसूर्यादयः-यथा यजु० १४।२०। (अस्य) दृश्यमानस्य (ईशे) ईश ऐश्वर्ये । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (द्विपदः) अ० २।३४।१ । पादद्वययुक्तस्य मनुष्यादेः (यः) व्यापकः । यजनीयः (चतुष्पदः) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेतस्य गवाश्वादेः (कस्मै) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति कच दीप्तौ वा कमु कान्तौ वा क्रमु पादविक्षेपे गतौच—ड प्रत्ययः । छान्दसी सर्वनामता । द्वितीयार्थे चतुर्थी । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा निरु० १० । २२ । कमिति सुखनाम—निघ० ३ । ६ । काय । दीप्यमानाय प्रजापतये । सुखकारकाय (देवाय) दिव्यगुणाय-यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ४ । ३५ (हविषा) अ० १ । ४ । ३ । आत्मदानेन । भक्त्या (विधेम) अ० १ । १२ । २ । परिचरेम । सेवेमहि । परिचरणं कुर्याम ॥

२—(यः) प्रजापतिः कः (प्राणतः) अन प्राणने—शतृ । प्रश्वसतः । चेतनस्य

श्वास लेते हुए, चेतन और (निमिषतः) आंख मूंदे हुए, अचेतन (जगतः) जगत् का (एकः) एक (राजा) राजा (बभूव) हुआ है। (यस्य) जिसकी (छाया) छाया [छाया समान अनुगामी अथवा आश्रय वा कान्ति अर्थात् ज्ञान] (अमृतम्) अमरपन [जीवन वा पुरुषार्थ वा जीवन की सफलता, मोक्ष पद] है और (यस्य=यस्यच्छाया) जिसकी [छाया अर्थात् छाया समान अनुगामी अथवा अनाश्रय, वा प्रकाश का ढकना, अज्ञान] (मृत्युः) मरण [शरीर त्याग वा निरुत्साह, वा जीवन की विफलता, नरक] है, उस (कस्मै) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) श्रेष्ठ गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) सेवा किया करें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब चेतन और अचेतन जगत् के एक स्वामी परमेश्वर की आज्ञा में चलता है, वह जीते जागते हृदय वाला पुरुष पुरुषार्थ करके अमर [यशस्वी वा मुक्त] होजाता है और इसके विपरीत मरेमन वाला निरुत्साही मृतक सा होकर नरक भोगता है ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ३, २ और यजु० २५ । ११, १३ में है ॥

यं क्रन्दसी अवतश्चस्कभाने भियसाने रोदसी अह्वयेथाम् । यस्यासौ पन्था रजसो विमानः कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ३ ॥

(निमिषतः) मिष स्पर्धायाम्—शतृ । तुदादित्वात् शः । निमेषणं निमीलनं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वतः । अचेतनस्य (महित्वा) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति मह पूजायाम्-इन् । महेर्महतो भावो महित्वम् । यद्वा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । इति मह-भावे इत्वन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति तृतीयाया आकारः । महित्वेन । महत्त्वेन (एकः) अद्वितीयः (राजा) शासकः अधिपतिः (जगतः) संसारस्य (बभूव) (यस्य) कस्य । प्रजापतेः (छाया) माछासस्यिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति छो छेदने—य, टाप् । गृहनाम—निघ० ३ । ४ । आश्रयः, इत्यर्थः । कान्तिः प्रकाशः । प्रतिबिम्बम् । प्रकाशावरणम् अज्ञानमित्यर्थः । यद्वा । छायेव अनुगामी वशीभूतः (अमृतम्) भावे—क्त । अमरणम् । जीवनम् । जीवनसाफल्यम् (यस्य) यस्यच्छाया (मृत्युः) मरणम् । जीवनवैफल्यम् । अन्यद् गतम् ॥ म० १ ॥

यम् । क्रन्दसी इति । अवतः । चस्कभाने इति । भियसाने इति । रोदसी इति । अह्वयेथाम् । यस्य । असौ । पन्थाः । रजसः । वि-मानः । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥३॥

भाषार्थ—(यम्) जिसको (चस्कभाने) परस्पर रोकती हुई (क्रन्दसी) ललकारती हुई दो सेनायें (अवतः) प्राप्त होती हैं, और [जिसको] (भियसाने) हे डरती हुई (रोदसी) सूर्य और भूमि ! (अह्वयेथाम्) तुम दोनों ने पुकारा है। (यस्य) जिसका (असौ पन्थाः) यह मार्ग (रजसः) संसार का (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला वा विमान रूप है, उस (कस्मै) प्रजापति सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) उत्तम गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर को ही दो लड़ती हुई सेनायें पुकारती हैं, उसी की आज्ञा में सूर्य आदि लोक रहते हैं, उसी की व्याप्ति संसार भर में है, उसी परब्रह्म की भक्ति करके सब मनुष्य पुरुषार्थ करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ६ और यजु० ३२ । ७ और उत्तरार्ध यजु० ३२ । ६ में है ॥

३—(यम्) प्रजापतिम् (क्रन्दसी) सर्वधातुभ्य इन् । उ० । ४ । ११८ । इति क्रदि आह्वाने रोदनेच—असुन् । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । इति ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णः । क्रन्दस्यौ । आक्रोशन्त्यौ । आह्वानं शब्दं वा कुर्वाणे द्वे सेने (अवतः) अव रक्षणगतिकान्तिप्रीत्यादिषु । अत्र गतौ प्राप्तौ—लट् । गच्छतः । प्राप्नुतः (चस्कभाने) स्कभि प्रतिबन्धे—कानच् । प्रतिबन्धं कुर्वाणे (भियसाने) छन्दस्यसानच् शुजृभ्याम् । उ० २ । ८६ । इति ञि भी भये—असानच् । बिभ्यत्यौ (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । भूतानां निरोधनशीले द्यावापृथिव्यौ (अह्वयेथाम्) ह्वेञ् आह्वाने, स्पर्धायां शब्दे च—लङ् । युवाम् आहूतवत्यौ । (यस्य) कस्य । प्रजापतेः (असौ) प्रसिद्धः । दृश्यमानः (पन्थाः) पतस्थ च । उ० ४ । १२ । इति पत्लृ गतौ—इन् । मार्गः । (रजसः) अ० ४ । १ । ४ । लोकस्य (विमानः) वि+माङ् माने ल्युट् । परिच्छेदकः सर्वमानः । देवरथः । व्योमयानम् । विमानवत् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

यस्य द्यौरुर्वी पृथिवी च मही यस्याद उर्व१न्तरिक्षम् । यस्यासौ सूरो विततो महित्वा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ४ ॥

यस्य । द्यौः । उर्वी । पृथिवी । च । मही । यस्य । अदः । उरु । अन्तरिक्षम् । यस्य । असौ । सूरः । वि-ततः । महि-त्वा । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (महित्वा=०—त्वेन) महिमा से (उर्वी) विस्तीर्ण (द्यौः)सूर्य (च) और (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी है, (यस्य) जिसकी [महिमा से] (अदः) यह (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक है । (यस्य) जिसकी [महिमा से] (असौ) यह (सूरः) धर्म प्रचारक विद्वान् मनुष्य (विततः) विस्तारवाला है, उस (कस्मै) प्रजापति, सुखदाता परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने सूर्य आदि अनेक लोकों को रचकर परस्पर आकर्षण द्वारा स्थिर किया है, और जिसने मनुष्य को अद्भुत शक्तियां देकर ऐश्वर्यवान् और प्रतापी बनाया है, उसकी भक्ति करके हम पुरुषार्थ के साथ अपनी उन्नति करें ॥ ४ ॥

४—(यस्य) कस्य । प्रजापतेः (द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । द्योतमानः सूर्यः (उर्वी) अ० ३ । २० । ६ । विस्तीर्णा (पृथवी) भूलोकः (मही) महती । विशाला (अदः) एतत् । दृश्यमानम् (उरु) अ० २ । १२ । १ । विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) अ० १ । ३० । ३ । मध्यलोकः (असौ) प्रत्यक्षं दृश्यमानः (सूरः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । ४ । इति षू प्रेरणे वा षूङ् प्राणिगर्भविमोचने, क्रन् । सुवति प्रेरयति, यद्वा, सूते उत्पादयति लोकं धर्मं वा । सूर्यः । पण्डितः (महित्वा) म० २ । महित्वेन । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

यस्य॒ विश्वे॑ हि॒मव॑न्तो महि॒त्वा स॑मु॒द्रे यस्य॑ र॒साामि॒-दा॒हुः । इ॒माश्च॑ प्र॒दिशो॒ यस्य॑ बा॒हू कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ५ ॥

यस्य॑ । विश्वे॑ । हि॒म-व॑न्तः । म॒हि-त्वा । स॒मु॒द्रे । यस्य॑ । र॒-साम् । इ॒त् । आ॒हुः । इ॒माः । च॒ । प्र॒-दिशः॑ । यस्य॑ । बा॒हू इति॑ । कस्मै॑ । दे॒वाय॑ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (महित्वा=०—त्वेन) महिमा से (विश्वे) सब (हिमवन्तः) हिम वाले पहाड़ हैं, और (यस्य) जिसकी [महिमा से] (समुद्रे) समुद्र [अन्तरिक्ष, वा पार्थिव समुद्र] में (रसाम्) नदी को (इत्) भी (आहुः) बताते हैं । (च) और (इमाः) यह (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (यस्य) जिसकी (बाहू) दो भुजायें हैं, उस (कस्मै) सुख दायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्तिके साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अपनी दो भुजाओं के बल से अर्थात् शारीरिक और आत्मिक सामर्थ्य से प्रजा पालन आदि बड़े २ बोझ उठाते हैं, उसी प्रकार परमेश्वर ने दिशाओं अर्थात् अवकाश के भीतर सब लोकों को रचकर परस्पर आकर्षण द्वारा स्थापित किया है, उस जगदीश्वर की आज्ञा में चलकर हम यत्न से उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ४ और यजु० २५ । १२ में है ॥

५—(यस्य) कस्य । ईश्वरस्य (विश्वे) सर्वे (हिमवन्तः) भूम्नि मतुप्, मस्य वः । बहुहिमयुक्ता महागिरयः (महित्वा) म० २ । महित्वे (समुद्रे) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षे । पार्थिवसागरे (रसाम्) नन्दिग्रहि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति रस शब्दे—पचाद्यच् । यद्वा । रस उदकम्—निघ० १ । १२ । रसोऽस्त्यस्यामिति रसा । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति रस—अच् । रसा नदी भवति रसतेः शब्दकर्मणः—निरु० ११ । २५ । नदीम् । जलधाराम् (इत्) एव (आहुः) ब्रुवन्ति (इमाः) दृश्यमानाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (बाहू) अ० २ । २७ । ३ । भुजद्वयवद् वर्तमानाः । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

आपो अग्रे विश्वमावन् गर्भं दधाना अमृता ऋतज्ञाः। यासु देवीष्वधि देव आसीत् कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ६ ॥

आपः। अग्रे। विश्वम्। आवन्। गर्भम्। दधानाः। अमृताः। ऋत-ज्ञाः। यासु। देवीषु। अधि। देवः। आसीत्। कस्मै। देवाय। हविषा। विधेम ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गर्भम्) बीज को (दधानाः) धारण करते हुए, (अमृताः) मरण रहित [जीवन शक्तिवाले] (ऋतज्ञाः) सत्य नियम को जानने वाले (आपः) उन व्यापक जलों [वा तन्मात्राओं] ने (अग्रे) पहिले (विश्वम्) जगत् की (आवन्) रक्षा की थी, (यासु देवीषु अधि) जिन दिव्य गुण वालों के ऊपर (देवः) परमेश्वर (आसीत्) था उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुणके लिये (हविषा) भक्तिके साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—सृष्टि की आदि में ईश्वर नियम से जल [वा तन्मात्रा] के भीतर जगत् का बीज और जीवन सामर्थ्य था, जिससे यह सृष्टि हुई है। उसी परमात्मा के नियम पर चलकर हम अपने जीवन को पुरुषार्थ करके सुधारें ॥६॥

६—(आपः) अ० १।४।३। जलानि। व्यापिकास्तन्मात्राः—इति दयानन्दो यजुर्वेदभाष्ये २७।२५ (अग्रे) सृष्टयादौ (विश्वम्) सर्वं जगत् (आवन्) अव रक्षणगत्यादिषु—लङ्। अरक्षन् (गर्भम्) अ० ३। १०।१२। बीजम्। मूलम्। प्रधानम् (दधानाः) दधातेः शानच्। धारयन्त्यः। धरन्त्यः सत्यः (अमृताः) नास्ति मृतं मरणं याभिस्ताः। मरणरहिताः। प्राप्तजीवनशक्तयः (ऋतज्ञाः) आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३।२।३। इति ऋत+ज्ञा बोधे-क। टाप्। ऋतं सत्यं नियमं जानानाः (यासु) अप्सु (देवीषु) दिव्यगुणसंपन्नासु (अधि) अधिकम्। उपरि (देवः) परमेश्वरः (आसीत्) अभवत्। अन्यद् व्याख्यातम्—म० १॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ७,८ और यजु० २७ । २५,२६ में है। मनु महाराज ने भी ऐसा कहा है—मनु १ । ८ ॥

सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः । अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥

उस परमात्मा ने सब ओर ध्यान करके अपने शरीर [अव्याकृत रूप वा सामर्थ्य] से नाना विध प्रजायें उत्पन्न करने की इच्छा करते हुये जलही पहिले उत्पन्न किया और उसमें बीज छोड़ दिया ॥

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् । स दाधार पृथिवीमुत द्यां कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥ ७ ॥

हिरण्य-गर्भः । सम् । अवर्तत । अग्रे । भूतस्य । जातः । पतिः । एकः । आसीत् । सः । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । कस्मै । देवाय । हविषा । विधेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यगर्भः) तेजवाले लोकों का आधार (अग्रे) पहिले ही पहिले (सम्) ठीक ठीक (अवर्तत) वर्त्तमान था। वही (जातः) प्रकट होकर (भूतस्य) पृथिवी आदि पंचभूत का (एकः) एक (पतिः) पति, ईश्वर (आसीत्) हुआ, (सः) उसने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया, उस (कस्मै) सुखदायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ७ ॥

७—(हिरण्यगर्भः) हिरण्यं व्याख्यातम्—अ० १ । ६ । २ । गर्भश्च, अ० ३ । १० । १२ । हिरण्यगर्भो हिरण्यमयो गर्भो हिरण्यमयो गर्भोऽस्येति—वा निरु० १० । २३ । हिरण्यानि सूर्यादितेजांसि गर्भे यस्य स परमात्मा—इति दयानन्द भाष्ये यजु० २५ । १० (सम्) प्रकर्षेण (अवर्तत) वृतु वर्तने—लङ् । वर्तमान आसीत् (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (भूतस्य) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशपञ्चकस्य

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् अविनाशी परमात्मा प्रलयकाल में विद्यमान था। उसके कर्मों से ज्ञात होता है कि उस अकेले ने सूक्ष्म पंचभूत का यथावत् संयोग वियोग करके पृथिवी, सूर्य आदि सृष्टि को रचा और धारण किया है, उसकी उपासना से उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १०। १२१। १, यजु० १३। ४ तथा २५। १० और निरु० १०। २३ में है ॥

आपो॑ व॒त्सं ज॒नय॑न्ती॒र्गर्भ॑म॒ग्रे॒ समै॑रयन्।
तस्यो॒त जाय॑मान॒स्योल्ब॑ आसीद्धि॒र॒ण्यय॑ः कस्मै॑ दे॒वाय॑ ह॒विषा॑ विधेम ॥ ८ ॥

आप॑ः। व॒त्सम्। ज॒नय॑न्तीः। गर्भ॑म्। अग्रे॑। सम्। ऐ॒र॒य॒न्। तस्य॑। उ॒त। जाय॑मानस्य। उल्ब॑ः। आ॒सी॒त्। हि॒र॒ण्यय॑ः। कस्मै॑। दे॒वाय॑। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले ही पहिले (वत्सम्) निवास स्थान संसार को वा बालक रूप संसार को (जनयन्तीः=०-न्त्यः) उत्पन्न करते हुए (आपः) जल धाराओं [वा तन्मात्राओं] ने (गर्भम्) बालक [रूप संसार] को (समैरयन्) यथावत् प्रकट किया, (उत) और (तस्य) उस (जायमानस्य)

वस्तुतत्त्वस्य। उदकस्य—निघ० १। १२। (जातः) उत्पन्नः। प्रादुर्भूतः। प्रसिद्धः सन् (पतिः) अ० १। १। १। पाता। रक्षिता। ईश्वरः। स्वतन्त्रः (एकः) मुख्यः। अद्वितीयः (आसीत्) अभवत् (दाधार) धृञ् धारणे-लिट्। धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) अ० २। १२। ६। प्रकाशम्। सूर्यम्। अन्यद् गतम् ॥

८—(आपः) जलानि। तन्मात्राः (वत्सम्) अ० ३। १२। ३। वृतॄवदिवचिवसि०। उ० ३। ६२। इति वद कथने यद्वा वस निवासे—सः। वसन्ति भूतान्यस्मिंस्तं संसारम्। वदति सततमिति वत्सो बालस्तं वा—इति दयानन्दभाष्ये यजु०३३। ५। (जनयन्तीः) जनयतेः शतृ। जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। जनयन्त्यः।

उत्पन्न होते हुए [बालक, संसार] का (उल्वः) जरायु [गर्भ की झिल्ली] (हिरण्ययः) तेजोमय परमात्मा (आसीत्) था, इस (कस्मै) सुख दायक प्रजापति परमेश्वर की (देवाय) दिव्य गुण के लिये (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा किया करें ॥ ८॥

भावार्थ—जल [वा तन्मात्राओं] की उत्पादन शक्तिसे यह संसार उत्पन्न हुआ है और सृष्टि का आदिकारण परमेश्वर है, जो सृष्टि को सब ओर से गर्भ की झिल्ली के समान ढके हुए है और बीज में भी उत्पादन शक्ति देनेवाला वही है—मन्त्र ६ देखो ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । १२१ । ७ और यजु० २७ । २५ में है ॥

मनु भगवान् ने इस प्रकार कहा है—म० १ । ६ ।

तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम् ।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोकपितामहः ॥

वह [बीज] सूर्य के समान प्रकाशवाला चमकीला अंडा होगया, उस [अण्डे] में ब्रह्मा [परमात्मा] सब लोकों का पितामह [दादा] अपने आप प्रकट हुआ [अर्थात् उसमें परमात्मा की महिमा जान पड़ी] ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १ पथ्या पङ्क्तिः, २, ४-७ अनुष्टुप्, ३ गायत्री ।

शत्रुनाशोपदेशः—वैरी के नाश का उपदेश ॥

उदितस्त्रयो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः । हिरुग्घि यन्ति सिन्धवो हिरुग् देवो वनस्पतिर्हिरुङ् नमन्तु शत्रवः ॥ १ ॥

उत्पादयन्त्यः (गर्भम्) मूलं प्रधानम् । वीर्यम् । शिशुम् (अग्रे) प्राक्काले (सम्) सम्यक् । यथावत् (ऐरयन्) ईर गतौ ण्यन्ताल्लङ् । प्रेरितवत्यः । प्रकाशितवत्यः (तस्य) प्रसिद्धस्य (उत) अपि च (जायमानस्य) उत्पद्यमानस्य गर्भस्य (उल्वः) उल्वादयश्च । उ० ४ । ६५ । इति उच समवाये-वन् चस्य लत्वं गुणाभावश्च । यद्वा । वल संवरणे-वन्प्रत्ययः संप्रसारणं च । जरायुः । गर्भवेष्टनः (आसीत्) अभवत् (हिरण्ययः) मलोपः । हिरण्मयः । तेजोमयः । अन्यद् गतम् म० ॥ १ ॥

उत् । इतः । त्रयः । अक्रमन् । व्याघ्रः । पुरुषः । वृकः । हिरुक् । हि । यन्ति । सिन्धवः । हिरुक् । देवः । वनस्पतिः । हिरुक् । नमन्तु । शत्रवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीनों, (व्याघ्रः) सूंघकर पकड़ने वाला, बाघ, (पुरुषः) आगे बढ़नेवाला, [चोर] मनुष्य, और (वृकः) हुंडार वा भेड़िया (इतः) यहां से (उदक्रमन्) फलांगकर निकल गये । (सिन्धवः) नदियां (हि) अवश्य (हिरुक्) नीचे को (यन्ति) जाती हैं, (देवः) दिव्य गुणवाला (वनस्पतिः) सेवकों का रक्षक, वृक्ष भी (हिरुक्) नीचे को, [इसी प्रकार] (शत्रवः) हमारे वैरी (हिरुक्) नीचे को (नमन्तु) झुकें । ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि हिंसक मनुष्य और अन्य प्राणी वशीभूत होकर झुके रहें, जैसे नदी और वृक्ष नीचे को झुकते हैं ॥

परेणैतु पथा वृकः परमेणोत तस्करः ।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाघायुरर्षतु ॥ २ ॥

१—(उत्) उपसर्गः क्रियायोगे (इतः) अस्मात् स्थानात् (त्रयः) त्रिसंख्यकाः (उदक्रमन्) क्रमु पादविक्षेपे—लङ् । क्रमः परस्मैपदेषु । पा० ७ । ३ । ७६ । इति दीर्घाभावश्छान्दसः । उदक्रामन् । उत्क्रान्ता उत्थिता अभवन् (व्याघ्रः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १३६ । इति वि+आङ्+घ्रा गन्धोपादाने क । व्याजिघ्रति विशिष्टाघ्राणमात्रेण प्राणिनो हन्तीति । हिंसकजन्तुविशेषः (पुरुषः) अ० १ । १६ । ४ । पुर—कुषन् । पुरति अग्रे ऽगच्छतीति । चोरः । परमेणोत तस्करः । इति उत्तरत्र म० २, तस्यैवानुकीर्तनात् (वृकः) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । इति वृञ् वरणे—कक् । यद्वा । वृक आदाने—क । कुक्कुरप्रमाणहरिणादिभक्षजन्तुविशेषः । हुण्डार इति भाषा (हिरुक्) हि गतौ—रुकक् । वर्जने । त्यागे । अधमे । विना । निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३ । २५ । अन्तर्हितम् (हि) प्रसिद्धौ (यन्ति) गच्छन्ति (सिन्धवः) स्यन्देः सम्प्रसारणं धश्च । उ० १ । ११ । इति स्यन्दू प्रस्रवणे—उ । दस्य धः । सिन्धुः स्यन्दनात्—निरु ६ । २६ । स्यन्दनशीला नद्यः (देवः) दिव्यगुणयुक्तः (वनस्पतिः) वनानां सेवकानां पाता रक्षकः । वृक्षः (नमन्तु) प्रह्वीभवन्तु (शत्रवः) शातनशीलाः । विरोधिनः ॥

परेण । एतु । पथा । वृकः । परमेण । उत । तस्करः । परेण । दत्वती । रज्जुः । परेण । अघ-युः । अर्षतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृकः) हुण्डार या भेड़िया (परेण) दूर (पथा) मार्ग से (एतु) चला जावे, (उत) और (तस्करः) पीड़ा देने वाला चोर (परमेण) अधिक दूर मार्ग से। (दत्वती) दान्तवाली (रज्जुः) रसरी अर्थात् साँप (परेण) दूर से, और (अघायुः) बुरा चीतनेवाला पापी (परेण) दूर से (अर्षतु) भाग जावे ॥२॥

भषार्थ—मनुष्य अपने घर ऐसे बनावें और ऐसा प्रबन्ध करें जिससे दुष्ट मनुष्य और हिंसक जीवों से रक्षा रहे ॥ २ ॥

अक्ष्यौ च ते मुखं च ते व्याघ्र जम्भयामसि ।
आत् सर्वान् विंशतिं नखान् ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ । च । ते । मुखम् । च । ते । व्याघ्र । जम्भयामसि । आत् । सर्वान् । विंशतिम् । नखान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(व्याघ्र) हे बाघ ! (ते) तेरी (अक्ष्यौ) दोनों [हृदय और

२—(परेण) अन्येन दूरेण (एतु) गच्छतु (पथा) मार्गेण (वृकः) म०१। अरण्यश्वा (परमेण) दूरतरेण (उत) अपि (तस्करः) त्यजितनियजिभ्यो डित्। उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारोपकृतिशब्दोपतापेषु-अदि । तनति उपतापयतीति तद्, उपतापः पीड़ा । दिवाविभानिशा० । पा० ३ । २ । २१ । इति तत् इत्युपपदे कृञ् करणे—टप्रत्ययः । तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च । पा० ६ । १ । १५७ । इति सुट्तलोपौ । तत् उपतापं करोतीति तस्करः । चोरः। (दत्वती) दन्त-मतुप् ङीप् । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दत् । दन्तवती (दत्वती रज्जुः) दन्तयुक्तो रज्वाकृतिः सर्पः (अघायुः) म० १ । २० । २ । अनिष्टचारी । पापात्मा (अर्षतु) ऋषी गतौ । गच्छतु ॥

३—(अक्ष्यौ) म० १ । २७ । २ । अक्षिणी । उभे मानसिकमस्तिष्कनेत्रे ।

मस्तक की] आंखों को (च) और (च) भी (ते मुखम्) तेरे मुख को, (आत्) और भी (सर्वान्) सब (विंशतिम्) बीसों (नखान्) नखों को (जम्भयामसि=०—मः) हम नष्ट करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे हिंसक जन्तुओं को अंग भंग करके नष्ट कर देते हैं, इसी प्रकार मनुष्य अपने अपने शत्रुओं को सेनादि और शरीर के अंगों से नष्ट करके प्रजा में शान्ति रक्खें ॥ ३ ॥

व्या॒घ्रं द॒त्वतां॑ व॒यं प्र॑थ॒मं ज॑म्भयामसि ।
आदु॑ ष्टे॒नमथो॒ अहिं॑ यातु॒धान॒मथो॒ वृक॑म् ॥ ४ ॥

व्या॒घ्रम् । द॒त्वता॑म् । व॒यम् । प्र॒थ॒मम् । ज॒म्भ॒या॒म॒सि॒ । आत् । ऊं॒ इति॑ । स्ते॒नम् । अथो॒ इति॑ । अहि॑म् । या॒तु॒ऽधान॑म् । अथो॒ इति॑ । वृक॑म् ॥४॥

भाषार्थ—(दत्वताम्) दान्त वालों में से (प्रथमम्) पहिले (व्याघ्रम्) बाघ, (आत् उ) और भी (अहिम्) सांप, (अथो) और भी (वृकम्) भेड़िये, (स्तेनम्) चोर (अथो) और भी (यातुधानम्) पीड़ा देनेवाले राक्षस को (वयम्) हम (जम्भयामसि) नष्ट करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक दुष्ट जन्तुओं और उनके समान दुष्ट स्वभाववाले चोर डाकुओं और रोगों तथा दोषों को नष्ट करें ॥ ४ ॥

(मुखम्) अ० २ । ३५ । ५ । आस्यम् (ते) तव (व्याघ्र) म० १ । हे व्याघ्रेव हिंसक पुरुष (जम्भयामसि) म० ३ । नाशयामः (आत्) अनन्तरम् (सर्वान्) सकलान् (विंशतिम्) पङ्क्तिविंशति० । पा० ५ । १ । ५६ । इति विन् शब्दात् शतिच् प्रत्ययान्तो निपातः । द्वे दशती । पादचतुष्टये पञ्चशोऽवस्थितान् (नखान्) अ० २ । ३३ । ६ नखरान् ॥

४—(व्याघ्रम्) म० १ । हिंसकजन्तुविशेषं शार्दूलम् । (दत्वताम्) म० २ । दन्तवतां दंशनशीलानां हिंस्राणां मध्ये (वयम्) मनुष्याः (प्रथमम्) अग्रे (जम्भयामसि) म० ३ । नाशयामः (आत् उ) अनन्तरमेव (स्तेनम्) स्तेन चौर्ये—पचाद्यच् । चोरम् (अथो) अनन्तरमेव (अहिम्) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारम् । सर्पम् (यातुधानम्) अ० १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदं राक्षसम् (वृकम्) म० १ । अरण्यश्वानम् ॥

यो अद्य स्ते॒न आय॑ति॒ स संपि॑ष्टो॒ अपा॑यति ।
प॒थाम॑पध्वं॒सेनै॒त्विन्द्रो॒ वज्रे॑ण हन्तु॒ तम् ॥ ५ ॥

यः । अ॒द्य । स्ते॒नः । आ॒-अय॑ति । सः । सम्-पि॑ष्टः । अप॑ । अ॒यति॒ । प॒थाम् । अ॒प॒ध्वं॒सेन॑ । ए॒तु । इन्द्रः॑ । वज्रे॑ण । ह॒न्तु॒ । तम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः स्तेनः) जो कोई चोर (अद्य) आज (आयति) आवे, (संपिष्टः) चूर चूर किया हुआ (सः) वह (अप अयति) हटजावे और (पथाम्) मार्गों के (अपध्वंसेन) विनाश से (एतु) चला जावे, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् प्रतापी मनुष्य (वज्रेण) वज्र से (तम्) उसको (हन्तु) मार डाले ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य घर और रक्षकों का ऐसा प्रबन्ध करें कि यदि चोर आदि आ भी जावे तो मार्ग भूलकर निराश होकर भागने लगे, और राजा पकड़ कर उसे यथोचित दंड देवे ॥ ५ ॥

मू॒र्णा मृ॒गस्य॒ दन्ता॒ अपि॑शीर्णा उ पृ॒ष्टयः॑ ।
नि॒म्रुक् ते॑ गो॒धा भ॑वतु नी॒चाय॑च्छश॒युर्मृ॒गः ॥ ६ ॥

मू॒र्णाः । मृ॒गस्य॑ । दन्ताः॑ । अपि॑-शीर्णाः । ऊं॒ इति॑ । पृ॒ष्टयः॑ । नि॒-म्रुक् । ते॒ । गो॒धा । भ॒व॒तु॒ । नी॒चा । अ॒य॒त् । श॒श॒युः । मृ॒गः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे चोर !] (मृगस्य) पशु [अर्थात् तेरी गाह] के (दन्तः) दान्त (मूर्णा) बन्द वा मोथरे (उ) और (पृष्टयः) पसलियां (अपि शीर्णाः)

५—(यः) (अद्य) अस्मिन् दिने (स्तेनः) म० ४ । चोरः (आ-अयति) अय गतौ । आगच्छतु (सः) चोरः (संपिष्टः) पिष्लृ संचूर्णने-क्त । सर्वथा चूर्णीकृतः (अप-अयति) निर्गच्छतु (पथाम्) मार्गाणाम् (अपध्वंसेन) ध्वन्सु गतौ, अधः पतने-घञ् । विनाशेन (एतु) गच्छतु (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (वज्रेण) अस्त्रभेदेन (हन्तु) मारयतु (तम्) चोरम् ॥

६—(मूर्णाः) मुर्व बन्धने-राल्लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । इति वकारलोपः । रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । पा० ८ । २ । ४२ । इति तस्य नः । बद्धाः ।

चूर चूर [हो जावें], (ते) तेरी (गोधा) गोह (निम्रुक्) नीचे (भवतु) हो जावे, और (मृगः) वह पशु (शशयुः) सोता हुआ [निरुद्यमी होकर] (नीचा) नीचे (अयात्) आ जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—(गोधा) गोह वा गोसांप एक छपकली जाति का जन्तु होता है, चोर उसको पूंछमें डोरी बांधकर ऊंचे घरोंपर फेंक देते, और उसे पकड़ कर ऊपर चढ़ जाते हैं। मनुष्य घर ऐसे चिकने और दृढ़ बनावें और सावधानी रक्खें कि चोर, डाकुओं की गोह आदि फंदे घरों पर न चिपट सकें किन्तु निकम्मे होकर नीचे फिसलपड़ें ॥ ६ ॥

यत् सं॒यमो॒ न वि य॒मो वि य॒मो यन्न सं॒यमः॑ ।
इ॒न्द्र॒जाः सो॑म॒जा आ॑थर्व॒णम॑सि व्या॒घ्र॒जम्भ॑नम् ॥ ७ ॥

यत् । सम्-यमः । न । वि । यमः । वि । यमः । यत् । न । सम-यमः । इन्द्र-जाः । सोम-जाः । आथर्वणम् । असि । व्याघ्र-जम्भनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिससे (इन्द्रजाः) परमेश्वर से प्रकट हुआ, और (सोमजाः) मथन करने वाले तत्ववेत्ताओं अथवा सर्वप्रेरक शूरवीर पुरुषों से

कुण्ठिताः (मृगस्य) अ० २ । ३६ । ४ । अन्वेषणशीलस्य । पशोः । गोधायाः (दन्ताः) हसिमृग्रिण्वामिदमि० । उ० ३ । ८६ । इति दमु उपशमे-तन् । रदनाः। दशनाः (अपि—शीर्णाः) शॄ हिंसने-क्त । हिंसिताः । विदीर्णाः । त्रोटिताः (उ) अपि (पृष्टयः) पृषु सेके-क्तिच् । पर्शवः । पार्श्वास्थीनि (निम्रुक्) नि+म्रुचु गतौ—क्विप् । नीचगतिः (ते) तव । चोरस्य (गोधा) हलश्च । पा०३ । ३ । १२१। इति गुध परिवेष्टने-घञ् । टाप् । धनुर्गुणाघातवारणाय प्रकोष्ठबद्धा चर्मपट्टिका। जन्तुविशेषः (भवतु) (नीचा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति नीचैः डा । नीचैः (अयत्) अय गतौ लेट् । अडागमः । अयताम् गच्छतु (शशयुः) भृमृशीङ्तॄ० उ० १ । ७ । इति शीङ् स्वप्ने—उ । बाहुलकाद् द्विर्वचनम् । शयुः शयानः । निरुद्यमः (मृगः) पशुः ॥

७—(यत्) यस्मात् कारणात् (संयमः) सम्यङ् नियमः सुनियमः :

प्रकाशित हुआ (संयमः) यथावत् नियम (वि यमः) विरुद्ध नियम (न) नहीं होता, और (यत्) जिस से (वि यमः) विरुद्ध नियम (संयमः) यथावत् नियम (न) नहीं होता है, [इस लिये हे मनुष्य तू] (आथर्वणम्) निश्चल वा मंगलप्रद परमेश्वर से आया हुआ (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रों [व्याघ्र स्वभाववाले शत्रुओं और विघ्नों] के नाश का सामर्थ्य (असि) है ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर ने, और वेदवेत्ता आप्त पुरुषों ने जिन कर्मों को सत्य, और जिनको विरुद्ध वा असत्य बताया है, वे सर्वदा वैसे ही हैं, इसलिये मनुष्य विवेक पूर्वक विघ्नों को निर्मूल करके सदा आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

सूक्त ॥ ४ ॥

१--८ ॥ वृषेन्द्रश्च देवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यो बलं वर्धयेत्—मनुष्य बल को बढ़ावे ॥

यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रंजे ।
तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥ १ ॥

याम् । त्वा । गन्धर्वः । अखनत् । वरुणाय । मृत-भ्रंजे ।
ताम् । त्वा । वयम् । खनामसि । ओषधिम् । शेपः-हर्षणीम् ॥ १

प्रबन्धः (वि यमः) विरुद्ध नियमः (इन्द्रजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । इति इन्द्र+जनी प्रादुर्भावे-विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इति आत्वम् । इन्द्रात् परमेश्वराज्जातः प्रादुर्भूतः (सोमजाः) पूर्ववद् विट् प्रत्यये सिद्धिः । षुञ् अभिषवे, यद्वा षूप्रेरणे-मन् । सोमेभ्यो मन्थनशीलेभ्यः सर्वप्रेरकेभ्यो वा पुरुषेभ्यः प्रकाशितः (आथर्वणम्) अथर्वा, इति व्याख्यातः—अ० ४ । १ । ७ । तत आगतः । पा० ४।३ । ७४ । इति अथर्वन्-अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । इति अणि प्रकृतिभावः । अथर्वणो निश्चलात् मङ्गलप्रदाद् वा परमेश्वराद् आगतं प्राप्तम् (असि) हे मनुष्य त्वं भवसि (व्याघ्रजम्भनम्) व्याघ्रस्वभावानां हिंसकानां शत्रूणां नाशसामर्थ्यम् ।

भाषार्थ—(याम् त्वा) जिस तुझ को (गन्धर्वः) वेद विद्या धारण करनेवाले पुरुष ने (मृतभ्रजे) नष्ट बल वाले (वरुणाय) उत्तम गुण युक्त मनुष्य केलिये (अखनत्) खना है, (ताम् त्वा) उस तुझ (शेपहर्षणीम्) सामर्थ्य बढ़ानेवाली (ओषधिम्) ओषधि को (वयम्) हम (खनामसि) खनते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्व ऋषियों ने मनुष्य के हित के लिये परीक्षा करके श्रेष्ठ ओषधियों को प्राप्त किया है, उसी प्रकार हम उत्तम ओषधियों की परीक्षा और सेवन से बलवान् होकर सुखी रहें ॥ १ ॥

संहिता के (शेपहर्षणीम्) के स्थान पर पदच्छेद में (शेपः हर्षणीम्) है ॥

उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः ।
उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥ २॥

उत् । उषाः । उत् । ऊं इति । सूर्यः । उत् । इदम् । मामकम् । वचः । उत् । एजतु । प्रजा-पतिः । वृषा । शुष्मेण । वाजिना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वाजिना) वेग रखने वाले (शुष्मेण) बल वा प्रभाव से (उषाः) प्रभात वेला (उत्=उदेजतु) ऊंची होवे, (उ) और (सूर्यः) सूर्य

१—(याम् त्वा) यां त्वाम् ओषधिम् (गन्धर्वः) अ० २ । १ । २ । गां वाणीं पृथिवीं गतिं वा धरति धारयति वा सः । वेदवेत्ता पुरुषः (अखनत्) विदारितवान् (वरुणाय) अ० १ । ३ । ३ । वरेण्याय वरणीयाय जीवाय (मृतभ्रजे) भ्रस्ज पाके-क्विप्, सलोपः । नष्टपाकसामर्थ्याय । नष्टबलाय (वयम्) आयुर्वेददक्षाः (खनामसि) खनामः । विदारयामः (ओषधिम्) अ०१ । ३० । ३ । भेषजम् (शेपहर्षणीम्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । इति शीङ् शयने-प प्रत्ययः । शेते वर्त्तते स शेपः सामर्थ्यम् । हृष्यतेः करणे ल्युट्, टित्वाद् ङीप् । शेपस्य वीर्यस्य वर्धनीम् ।

२—(उत्) उदेजतु (उषाः) उषः किच्च । उ० ४।२३४ । इति उष दाहे बधे च, यद्वा, वसी विवासे, यद्वा, वश कान्तौ असि । उषाः कस्मादुच्छतीति

(उत्) ऊंचा चढ़े, (इदम्) यह (मामकम्) मेरा (वचः) वचन (उत्) ऊंचा होवे, (प्रजापतिः) प्रजाओं की पालन करनेवाली (वृषा) बल बढ़ाने वाली [कोई ओषधि वा मूलाकनी ओषधि विशेष] (उदेजतु) ऊंची होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रभात समय उठकर ईश्वर चिन्तनादि, सूर्य के उदय पर जीविकादि, की प्राप्ति और आप्त पुरुषों से वेद अध्ययनादि, और बल बर्धक वृषा आदि ओषधि सेवन से बलवृद्धि करके आनन्द भोगें ॥

वृषा [स्त्रीलिंग] ओषधि के नाम अमरकोश १४ । ८७, ८८ में ये हैं ।

चित्रोपचित्रा न्यग्रोधी द्रवन्ती शम्बरी वृषा ।
प्रत्यक्श्रेणी सुतश्रेणी रण्डा मूषिकपर्ण्यपि ॥

चित्रा, उपचित्रा, न्यग्रोधी, द्रवन्ती, शम्बरी, वृषा, प्रत्यक्श्रेणी, सुतश्रेणी, रण्डा, मूषिकपर्णी, ये दस नाम मूषा पर्णी के हैं ॥

यथा॑ स्म ते विरोह॑तो॒ऽभित॑प्तमि॒वान॑ति ।
तत॑स्ते॒ शुष्म॑वत्तरमि॒यं कृ॑णो॒त्वोष॑धिः ॥ ३ ॥

सत्या रात्रे रपरकालः—निरु० २ । १८ । उषा वष्टेः कान्ति कर्मण उच्छतेरितरा माध्यमिका—निरु० १२ । ५ । कल्यम् । प्रभातकालः (उ) अपि (सूर्यः) रविः (इदम्) मन्त्रात्मकम् (मामकम्) अ० १ । २६ । ५ । मदीयम् (वचः) वचनम् (उदेजतु) एजृ कम्पने । उत्कम्पयतु । उदेतु (प्रजापतिः) प्रजायन्ते प्रजाः । उपसर्गे च संज्ञायाम् । पा०३।२।८६। इति प्र + जनी प्रादुर्भावे-ड । प्रजानां पालयित्री (वृषा) अ०१।१२।१ । वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः—कनिन् । यद्वा कप्रत्ययः, टाप् स्त्रियाम् । बलसेचिका । ओषधिविशेषः । तत्पर्यायाः । चित्रा । उपचित्रादयः—अमरकोशे १४ । ८७, ८८ (शुष्मेण) अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । इति शुष शोषणे—मन् । शुष्ममिति बलनाम शोपयतीतिः सतः—निरु० २ । २४ । बलेन । प्रभावेण (वाजिना) वज गतौ—घञ् । वाजो वेगः । अन्नम्—निघ० २ । ७ । बलम्—निघ० २ । ६ । अत इनिठनौ पा० ५ । २ । ११५ । इति इति । वेगवता अन्नवता ॥

यथा । स्म । ते । वि-रोहतः । अभितप्तम्-इव । अनति ।
ततः । ते । शुष्म॑वत-तरम् । इयम् । कृणोतु । ओषधिः ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (यथा स्म) जिस प्रकार से ही (ते विरोहतः) तुझ वृद्धिशील का [मन विद्या से](अभितप्तमिव) प्रतापयुक्त सा (अनति) चेष्टा करता है, (ततः) उस प्रकार से ही (ते=त्वाम्) तुझे (इयम् ओषधिः) यह ओषधि (शुष्मवत्तरम्) अधिक बलयुक्त (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विद्याभ्यास से मनुष्यों का मन बढ़ता जावे उसी प्रकार परीक्षित उत्तम उत्तम बलवर्धक वृषा आदि ओषधि और यथावत् आहार विहार से अपना शरीर बल भी बढ़ावें ॥ ३

उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणाम् ।
सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥ ४ ॥

उत् । शुष्मा । ओषधीनाम् । सारा । ऋषभाणाम् । सम् ।
पुंसाम् । इन्द्र । वृष्ण्यम् । अस्मिन् । धेहि । तनू-वशिन् ॥४॥

भाषार्थ—(ऋषभाणाम्) श्रेष्ठ [अथवा कांकड़ासिंगी आदि] (ओषधीनाम्) ओषधियों में से (शुष्मा) बल वाली (सारा) श्रेष्ठ [वा वृषा नाम ओषधि] (उत्=उदेजतु) उदय हो। (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में

३—(यथा) येन प्रकारेण (स्म) खलु (ते) तव मनः (विरोहतः) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—शतृ । वृद्धिशीलस्य (अभितप्तम् इव) तप दाहैश्वर्ययोः—क्त । प्रतापयुक्तं यथा (अनति) अनिति चेष्टते (ततः) तेनैव प्रकारेण (ते) द्वितीयार्थे षष्ठी । त्वाम् (शुष्मवत्तरम्) अधिकबलयुक्तम् (इयम्) पूर्वोक्ता वृषा (कृणोतु) करोतु (ओषधिः) औषधम् ॥

४—(उत्) उदेजतु—म० २ (शुष्मा) म० २ ! बलवती (ओषधीनाम्) वीरुधां मध्ये (सारा) सृ—घञ्, टाप् । श्रेष्ठा । यद्वा । सृ णिच्—अच्, टाप् दूर्वा । शातला—यथा । शातला सप्तला सारा विमला विद्दुला च सा । तथा

रखने वाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले सद्वैद्य ! (पुंसाम्) रक्षाशील पुरुषों के मध्य (वृष्ण्यम्) बल (अस्मिन्) इस मनुष्य में (संधेहि) यथावत् धारण करदे ॥ ४)

भावार्थ—सद्वैद्य प्रयत्न करें कि उत्तम सारवती बलवर्धक [वृषा आदि] ओषधियों के सेवन से मनुष्य ऐसे वीर्यवान् हों कि शूरवीरों के मध्य उनके बल की प्रशंसा होवे ॥ ४ ॥

(ऋषभ) और (सारा) श्रेष्ठ वाचक हैं और ओषधि विशेष भी हैं ॥

अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम् ।

उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥ ५ ॥

अपाम् । रसः । प्रथम-जः । अथो इति । वनस्पतीनाम् । उत । सोमस्य । भ्राता असि । उत । आर्शम् । असि । वृष्ण्यम् ॥५॥

भाषार्थ—[हे औषध !] तू (अपाम्) व्यापन शील जलों का (अथो) और भी (वनस्पतीनाम्] अपने सेवा करनेवालों के पालक वृक्षों का (प्रथमजः) प्रथम उत्पन्न होने वाला (रसः) रस, (उत) और (सोमस्य) अमृत वा

निगदिता भूरिरेफा चर्मकषेत्यपि ॥ इति शब्द कल्पद्रुमः (ऋषभाणाम्) उ० ३ । २३ । ४ । ऋष गतौ दर्शने च—अभक् । टाप् । श्रेष्ठानाम् । ऋषभौषधादिरसानाम् ('सार ऋषभाणाम्) ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । इति प्रकृतिभावः । (पुंसाम्) उ०१। ८ । १ । पा रक्षणे—डुमसुन् । रक्षणशीलानां पुरुषाणां मध्ये (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सद्वैद्य (वृष्ण्यम्) खलयवमापतिलवृषब्रह्मणश्च । पा० ५ । १ । ७ । इति वृषन्—यत् । वृष्णे—इन्द्राय जीवाय हितं बलम् । वीर्यम् । (अस्मिन्) पुरुषे (संधेहि) सम्यग् धारय (तनूवशिन्) उ० १ । ७ । २ । हे तनूनां शरीराणां वशयितः ॥

५—(अपाम्) व्यापनशीलानां जलानाम् (रसः) सारः (प्रथमजः) प्रथमं जातः प्रादुर्भूतः (अथो) अपि च (वनस्पतीनाम्) उ० २ । १२ । ३ । वनानां सेवकानां पतीनां पालकानां वृक्षाणाम् (उत) अपि (सोमस्य) अमृत-

ऐश्वर्य का (भ्राता) प्रकाशक वा धारक और पोषक (असि) है, (उत) और (आर्शम्) शूरों का हितकारक (वृष्ण्यम्) बल (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—उत्तम जल और उत्तम वृक्षों और अन्न आदिकों के यथावत् सेवन से मनुष्य ऐश्वर्यवान् और बलवान् होते हैं ॥ ५ ॥

अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति ।
अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥ ६ ॥

अद्य । अग्ने । अद्य । सवितः । अद्य । देवि । सरस्वति । अद्य । अस्य । ब्रह्मणः । पते । धनुः-इव । आ । तानय । पसः ॥६॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (अग्ने) हे भौतिक अग्नि ! (अद्य) आज (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य ! (अद्य) आज (देवि) दिव्य गुण वाली (सरस्वति) विज्ञानवति विद्या ! (अद्य) आज (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद, वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर ! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥ ६ ॥

स्य । ऐश्वर्यस्य (भ्राता) अ० १ । १४ । २ । भ्राजृ दीप्तौ-तृन् । प्रकाशकः । अथवा । डुभृञ् धारणपोषणयोः—तृन् । अन्योऽन्यभरणशीलः । भ्राता भरतेर्हरतिकर्मणो हरते भागं भर्त्तव्यो भवतीतिवा—निरु० ४ । २६ । भ्रातृसमानगुणः (असि) भवसि (आर्शम्) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति ऋश हिंसायाम्-कु, सौत्रो धातुः । ऋशति शृयते हिनस्ति शत्रूनिति ऋशः शूरः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति अण् । ऋशाय शूराय हितम् (वृष्ण्यम्) म० ४ । बलम् ॥

६—(अद्य) वर्तमानदिने । (अग्ने) भौतिकाग्ने (सवितः) हे लोकप्रेरक सूर्य (देवि) हे दिव्यगुणे (सरस्वति) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति सृ गतौ—असुन् । मतुप, मस्य वः, ङीप् । सरो नीरं विज्ञानं वा विद्यतेऽस्यां सा सरस्वती । वाक्—निघ० १ । ११ । सरस्वतीत्येतस्य नदीवद्देवतावच्च निगमा भवन्ति—निरु० २ । २३ । हे विज्ञानवति विद्ये (अस्य) शूर पुरुषस्य (ब्रह्मणस्पते)

भावार्थ—मनुष्य यथावत् ओषधि सेवन से अपना शारीरिक और मानसिक बल बढ़ाकर अग्नि, सूर्य आदि पदार्थों और अनेक उत्तम विद्याओं से नित्य उपकार करता हुआ, ईश्वर के आश्रय से अन्न आदि प्राप्त करके अपना राज्य और सुख फैलावे, जैसे धनुष को लक्ष्य के लिये दृढ़ तानते हैं ॥ ६ ॥

आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि ।
क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥ ७ ॥

आ । अहम् । तनोमि । ते । पसः । अधि । ज्याम्-इव । धन्वनि । क्रमस्व । ऋशः-इव । रोहितम् । अनव-ग्लायता । सदा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [हे मनुष्य !] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूं (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि अधि) धनुष में । (अनवग्लायता) विना ग्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (ऋशःइव) जैसे हिंसकजन्तु, सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥ ७ ॥

अ० १ । २६ । २ । ब्रह्मणस्पतिर्ब्रह्मणः पाता वा पालयिता वा । ब्रह्म, अन्नम्—निघ० २ । ८ । धनम्—निघ० २ । ११ । हे ब्रह्मणोऽन्नस्य, धनस्य, वेदस्य विप्रस्य वा पालक परमेश्वर (धनुरिव) अर्त्तिपॄवपियजि० । उ० २ । ११७ । इति धन धान्ये—उसि । चापं यथा (आ) समन्तात् (तानय) तनु विस्तारे-णिच् । विस्तारय (पसः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति पस बन्धे, बाधे च-असुन् । राज्यप्रबन्धम् । राष्ट्रम्-इति दयानन्द भाष्ये, यजु० २३ । २२ ॥ ६ ॥

७—(आ) समन्तात् (अहम्) नीतिज्ञः (तनोमि) विस्तारयामि (ते) तव (पसः) म० ६ । राष्ट्रम् (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (ज्यामिव) मौर्वीमिव (धन्वनि) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्वि० । उ० १ । १५६ । इति धन्व गतौ-कनिन् । धनुषि (क्रमस्व) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः । पा० १ । ३ । ३८ । इति आत्मनेपदम् । आक्रमस्व (ऋशः) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ इति ऋश

भावार्थ—जैसे लक्ष्य वेधने के लिये धनुष में डोरी को दृढ़ कसते हैं, वैसे ही बलवान् पुरुष राज्य प्रबन्ध को प्रजा के सुख के लिये यथाशास्त्र दृढ़ रक्खे, और जैसे सिंह आदि हरिण आदि को दबोच लेते हैं, वैसे ही शत्रुओं पर धावा करके कुरीतियों को मिटावे ॥ ७ ॥

अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च ।
अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥८॥

अश्वस्य । अश्वतरस्य । अजस्य । पेत्वस्य । च । अथ । ऋषभस्य । ये । वाजाः । तान् । अस्मिन् । धेहि । तनू-वशिन् ॥८॥

भाषार्थ—(अश्वस्य) घोड़े के, (अश्वतरस्य) खच्चर के, (अजस्य) बकरे के, (च) और (पेत्वस्य) मेंढ़े के, (अथ) और भी (ऋषभस्य) बलीवर्द के (ये वाजाः) जो बल हैं, (तान्) उनको, (तनूवशिन्) हे शरीरों को वश में रखने वाले शूर! (अस्मिन्) इस पुरुष में (धेहि) धारण कर ॥ ८ ॥

हिंसायाम्-क । ऋशति शृणाति हिनस्ति शत्रूनिति ऋशः । शूरो हिंसको जन्तुर्वा (रोहितम्) हसृरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १ । ९७ । इति रुह प्रादुर्भावे-इति । मृगं हरिणम्—यथा, शार्दूलाय रोहित् । य० २४ । ३० । एको रोहिद् ऋष्यः शार्दूलाय—इति तद्भाष्ये महीधरः । शार्दूलाय महासिंहाय रोहित् रक्तगुणविशिष्टो मृगः—इति तत्रैव दयानन्दभाष्ये (अनवग्लायता) संश्चत्तृ यद्‌वेहत् । उ० २ । ८५ । इति अन्+अव+ग्लै हर्षक्षये—अति प्रत्ययः, स च शतृवत् अहर्षक्षयेण । अग्लानेन । आनन्देन (सदा) सर्वदा ॥ ७ ॥

८—(अश्वस्य) अ० १ । १६ । ४ । अश्वः कस्मादश्नुतेऽध्वानं महाशनो भवतीति वा-निरु० २ । २७ । घोटस्य (अश्वतरस्य) वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे । पा० ५ । ३ । ९१ । इति अश्व-ष्टरच् तनुत्वे । अश्वायां गर्दभेन जातस्य पशुविशेषस्य खचरस्य (अजस्य) अज गतिक्षेपणयोः—अच् । छागस्य (पेत्वस्य) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । इति पा पाने, वा पत्लृ पतने—

भावार्थ—शूरवीर पुरुष अश्व आदि उपकारी पशुओं को पालकर खेती, वाणिज्य, सेना आदि के यथायोग्य कामों में लगाकर संसार में सुख बढ़ावें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १-६ अनुष्टुप्, ७ पथ्या पङ्क्तिः ॥

प्रजास्वापनार्थं गीतम्—बच्चों के सुलाने का गीत अर्थात् लोरी ॥

सहस्रशृङ्गो वृषभो यः समुद्रादुदाचरत् ।
तेना सहस्येना वयं नि जनान्त्स्वापयामसि ॥ १ ॥

सहस्र-शृङ्गः । वृषभः । यः । समुद्रात् । उत्-आचरत् । तेन । सहस्येन । वयम् । नि । जनान् । स्वापयामसि ॥ १ ॥

भावार्थ—(यः) जो (वृषभः) सुख बरसाने वाला (सहस्रशृङ्गः) सहस्रों तेज अर्थात् नक्षत्रों वाला चन्द्रमा [अथवा सहस्रों किरणों वाला सूर्य] (समुद्रात्) आकाश से (उदाचरत्) उदय हुआ है, (तेन) उस (सहस्येन) बल के लिये हितकारक [चन्द्रमा] से (वयम्) हम लोग (जनान्) सब जनों को (नि स्वापयामसि) सुलादें ॥ १ ॥

त्वन्, पृषोदरादिरूपम् । पेत्वः पतनशीलो वेगवान् पशुः—इति महीधरो यजुर्वेदभाष्ये—२६ । ५८ । मेषस्य (अथ) अपि च (ऋषभस्य) ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति ऋष गतौ—अभच् । बलीवर्दस्य (वाजाः) बलानि । अन्यत् सुगमं व्याख्यातं च म० ४ ॥

१—(सहस्रशृङ्गः) सहो बलम्—निघ० २ । ६ । रो मत्वर्थे । सहस्रं बहुनाम—निघ० ३ । १ । शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । इति शॄ हिंसायाम्-गन्, स च कित्, नुडागमः । शृङ्गाणि ज्वलतो नामसु—निघ० १ । १७ । शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शम्नातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा निरु० २ । ७ । सहस्राणि बहूनि शृङ्गाणि तेजांसि नक्षत्राणि किरणा वा यस्य सः

भावार्थ—माता पिता आदि बच्चों को चन्द्रमा के दर्शन कराते हुये सुलावें, जिस से उनके शरीर की पुष्टि और नेत्रोंकी ज्योति बढ़े [(सहस्रशृङ्गः) का अर्थ सूर्य भी है, अर्थात् सूर्य का प्रकाश आने से यह घर स्वास्थ्यकारक है। हम सब सोवें] ॥ १ ॥

इस सूक्त के चार मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद म० ७। सू० ५५ के हैं जिनका इन्द्र देवता है, इससे यहां भी सूक्त का इन्द्र ही देवता है। यह मन्त्र उक्त सूक्त का मन्त्र ७ है ॥

न भूमिं वातो अति वाति नाति पश्यति कश्चन।
स्त्रियश्च सर्वाः स्वापय शुनश्चेन्द्रसखा चरन् ॥ २॥

न। भूमिम्। वातः। अति। वाति। न। अति। पश्यति। कः। चन। स्त्रियः। च। सर्वाः। स्वापय। शुनः। च। इन्द्र-सखा। चरन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) न (वातः) पवन (भूमिम्) भूमि पर (अति) अत्यन्त (वाति) चलता है, और (न) न (कश्चन) कोई जन (अति) ऊपर से (पश्यति) देखता है, [हे पवन!] (इन्द्रसखा) इन्द्र अर्थात् जीवात्मा को अपना सखा

बहुतेजाः। असंख्यातनक्षत्रः। चन्द्रः। सूर्यः (वृषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित् उ० ३। १२३। इति वृषुसेचने—अभच्। यद्वा, वृह वृद्धौ—अभच, हस्य षकारः। वृषभः प्रजां वर्षतीति वातिवृहति रेत इति वा तद् वृषकर्मा वर्षणाद् वृषभः—निरु० ९। २२। किरणद्वारा सुखस्य वर्षकः (यः) (समुद्रात्) अ० १। ३। ८। अन्तरिक्षात्—निघ० १। ३ (उत्+आ+अचरत्) उदागात् (तेन) प्रसिद्धेन तादृशेन (सहस्येन) तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। इति सहस्—यत् सहसे बलाय हितेन चन्द्रेण (वयम्) (नि) नित्यम्। सर्वथा (जनान्) गृहस्थप्राणिनः (स्वापयामसि) स्वापयामः। निद्रापयामः ॥

२—(न) निषेधे (भूमिम्) पृथिवीम् (वातः) अ० १। ११। ६। पवनः (अति) अतिशयेन (वाति) गच्छति (पश्यति) प्रेक्षते (कश्चन) कोऽपि-जनः (स्त्रियः) अ० १। ८। १। स्त्यायति स्तौति वा गुणान् स्तूयते वा सा

रखने वाला तू, (चरन्) चलता हुआ, (सर्वाः स्त्रियः) सब स्त्रियों (च) और (शुनः) कुत्तों को (च) भी (स्वापय) सुला दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि रात्री को सोते समय तीव्र वायु वा अन्य किसी तुच्छ कारण से निद्रा भंग न हो और न बाहिरी पुरुष गुप्त बातें सुनें॥२॥

प्रो॒ष्ठे॒श॒यास्त॑ल्पेश॒या नारी॒र्या व॑ह्य॒शीव॑रीः ।
स्त्रियो॒ याः पुण्य॑गन्धय॒स्ताः सर्वाः॑ स्वापयामसि ॥ ३॥

प्रो॒ष्ठे॒-श॒याः । त॒ल्पे॒-श॒याः । नारीः॑ । याः । व॒ह्य॒-शीव॑रीः ।
स्त्रियः॑ । याः । पुण्य॑-गन्धयः । ताः । सर्वाः॑ । स्वा॒प॒या॒म॒सि॒ ॥ ३॥

भाषार्थ—(प्रोष्ठेशयाः) बड़े घर वा बड़े आंगन में सोने वाली, (तल्पेशयाः) खाटों पर सोने वाली, और (वह्यशीवरीः=०-र्यः) हिंडोला आदि में सोने वाली (याः) जो (नारीः=नार्यः) नारियां हैं, और (याः) जो (स्त्रियः) स्त्रियां (पुण्यगन्धयः) पुण्य गति वाली हैं, (ताः सर्वाः) उन सब को (स्वापयामसि=०—मः) हम सुलाते हैं ३ ॥

स्त्रीः । नारीः (सर्वाः) (स्वापय) निद्रापय (शुनः) श्वनुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । श्वयतीति श्वा । कुक्कुरान् (च) (इन्द्रसखा) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५ । २ । ९३ । इति इन्द्र आत्मा । "इन्द्र आत्मा स सखा यस्य प्राणवायोस्तदात्मकः"—इति सायणः । आत्मप्रियः । वातः (चरन्) देहे वर्तमानः ॥

३—(प्रोष्ठेशयाः) उषिकुषिगर्त्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । इति उष दाहे—थन् । इति ओष्ठः । एङि पररूपम् । पा० ६ । १ । ९४ । अत्र वार्त्तिकम् । ओत्वोष्ठयोः समासे वा । इति पररूपम् । अधिकरणे शेतेः । पा० ३ । २ । १५ । इति प्रोष्ठे+शीङ् शयने—अच् । शयवासवासिष्वकालात् । पा० ६ । ३ १८ । इति सप्तम्या अलुक् । प्रोष्ठे अतिशयेन प्रौढे गृहे प्राङ्गणे वा शयानाः (तल्पेशयाः) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । इति तल प्रतिष्ठायाम्—पप्रत्ययः । शेषे पूर्ववत् सिद्धिः । खट्वासु शयानाः । (नारीः) नार्यः । (वह्यशीवरीः) वह्यं करणम् । पा० ३ । १ । १०२ । इति वह प्रापणे—यत् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ ।

भावार्थ—गृहस्थ लोग स्त्रियों के रहने के घर ऐसे उत्तम बनावें जिससे रात्री को वे सुख पूर्वक सोया करें ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० ७ । ५५ । ८ में है ॥

एजदेजदजग्रभं चक्षुः प्राणमजग्रभम् ।
अङ्गान्यजग्रभं सर्वा रात्रीणामतिशर्वरे ॥ ४ ॥

एजत्-एजत् । अजग्रभम् । चक्षुः । प्राणम् । अजग्रभम् । अङ्गानि । अजग्रभम् । सर्वा । रात्रीणाम् । अति-शर्वरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एजदेजत्) इधर उधर पड़ी हुई प्रत्येक वस्तु को (अजग्रभम्) मैंने संग्रह करलिया है, (चक्षुः) नेत्र और (प्राणम्) प्राण मार्ग [नासिका] को (अजग्रभम्) मैंने ग्रहण करलिया है, और (रात्रीणाम्) रात्रियों के मध्य (अतिशर्वरे) अत्यन्त अन्धकार में (सर्वा=सर्वाणि) सब (अङ्गानि) अंगों को (अजग्रभम्) मैंने थांभ लिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रिय निग्रह करके शान्त चित्त होकर रात्रि में सोवें ॥ ४ ॥

---

७५ । इति वह्य+शीङ्—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४।१ । ७ । इति ङीब्रेफौ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०१ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । वह्ये वहनसाधने आन्दोलिकादौ शयनस्वभावाः (पुण्यगन्धयः) पूञो यण् णुग्घ्रस्वश्च । उ० ५ । १५ । इति पूञ् शोधे-यत्, णुक् च । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति गन्ध गतिहिंसायाचनेषु—इन् । पुण्यं पवित्रं गन्धिगमनं यासां ताः पवित्रगतयः । अन्यद् गतम् ॥

४—(एजदेजत्) एजृ कम्पने—शतृ । इतस्ततः पतत् प्रत्येकं वस्तु (अजग्रभम्) ग्रह उपादाने—लङ् । हस्य भत्वम् । अहं संगृहीतवानस्मि (चक्षुः) दर्शनसाधनं नेत्रम् (प्राणम्) प्राणसंचारमार्गं घ्राणम् । (अजग्रभम्) निद्रया सह गृहीतवानस्मि (अङ्गानि) हस्तपादादीनि (अजग्रभम्) (सर्वा) सर्वाणि (रात्रीणाम्) रात्रीणां मध्ये (अतिशर्वरे) कॄगॄशॄवृचतिभ्यः ष्वरच् । उ० २ । १२१ । इति शॄ हिंसायाम्—ष्वरच् । शर्वरं तमः । अत्यन्ततमसि ॥

य आस्ते यश्चरति यश्च तिष्ठन् विपश्यति ।
तेषां सं दध्मो अक्षीणि यथेदं हर्म्यं तथा ॥ ५ ॥

यः । आस्ते । यः । चरति । यः । च । तिष्ठन् । वि-पश्यति ।
तेषाम् । सम् । दध्मः । अक्षीणि । यथा । इदम् । हर्म्यम् । तथा ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (आस्ते) बैठता है, (यः) जो (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो (तिष्ठन्) खड़े होकर (विपश्यति) विविध प्रकार से देखता है, (तेषाम्) उनकी (अक्षीणि) आंखों को (तथा) उस प्रकार से (संदध्मः) हम मूंदते हैं, (यथा) जैसे (इदम्) इस (हर्म्यम्) हर्म्य [धनियों के मनोहर घर] को ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे धनिक लोगों के घर सुरक्षित होते हैं, जिन्हें बन्ध करके सुख पूर्वक वे सोते हैं वैसेही घर सब गृहस्थ बनावें, जिनमें निर्भय होकर रात्रि को आनन्द से सोवें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद मं० ७ । ५५ । ६ । में है ॥

स्वप्तु माता स्वप्तु पिता स्वप्तु श्वा स्वप्तु विश्पतिः ।
स्वपन्त्वस्यै ज्ञातयः स्वप्त्वयमभितो जनः ॥ ६ ॥

स्वप्तु । माता । स्वप्तु । पिता । स्वप्तु । श्वा । स्वप्तु । विश्पतिः । स्वपन्तु । अस्यै । ज्ञातयः । स्वप्तु । अयम् । अभितः । जनः ॥ ६ ॥

५—(यः) (आस्ते) उपविशति (यः) (चरति) संचरति (यः च) (तिष्ठन्) स्थितः सन् (विपश्यति) विविधम् इतस्ततः पश्यति (तेषाम्) (संदध्मः) संहितानि निमीलितानि अदर्शकानि कुर्मः (अक्षीणि) चक्षूंषि (यथा) येन प्रकारेण (इदम्) दृश्यमानम् (हर्म्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४।११२ । इति हृञ् हरणे—यक्, मुट् च । हरति मनांसि । धनिनां वासम् । मनोहरं गृहम् (तथा) तेन प्रकारेण ॥

भाषार्थ—(अस्यै) इस [सन्तति, पुत्री वा पुत्री के हित] के लिये (माता) माता (स्वप्तु) सोवे, (पिता) पिता (स्वप्तु) सोवे, (श्वा) कुत्ता (स्वप्तु) सोवे, (विश्पतिः) प्रजापालक, गृहपति (स्वप्तु) सोवे। (ज्ञातयः) ज्ञाति के लोग (स्वपन्तु) सोवें, और (अयम्) यह (जनः) सब जने (अभितः) चारों ओर (स्वप्तु) सोवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—अब रात्री में सब लोग चुप चाप सो जावें, खलबल न मचावें जिससे यह बालक सुखपूर्वक सो जावे ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वे ७।५५।५ में है ॥

स्वप्न॑ स्वप्ना॒भि॒कर॑णेन॒ सर्वं॒ नि ष्वा॑पया॒ जन॑म्। ओ॒-त्सू॒र्य॑म॒न्याल्त्स्वा॒पया॑व्यु॒षं जा॑गृता॒द॒हमिन्द्र॑ इ॒वारि॑ष्टो॒ अक्षि॑तः ॥ ७ ॥

स्वप्न॑। स्व॒प्न॒-अ॒भि॒कर॑णेन। सर्व॑म्। नि। स्वा॒प॒य॒। जन॑म्। आ॒-उ॒त्सू॒र्य॑म्। अ॒न्यान्। स्वा॒पय॑। आ॒-व्यु॒षम्। जा॒गृ॒ता॒त्। अ॒हम्। इन्द्रः॒-इ॒व। अरि॑ष्टः। अक्षि॑तः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे निद्रा ! (स्वप्नाभिकरणेन) नींद के उपाय वा साधन से (सर्वं जनम्) सब जनों को (नि, स्वापय) सुलादे। (अन्यान्) दूसरे

६—(स्वप्तु) ञिष्वप शयने। इडभावश्छान्दसः। स्वपितु। निद्रातु (माता) जननी (पिता) जनकः (श्वा) म० २। गमनशीलः। वृद्धिशीलः। कुक्कुरः (विश्पतिः) विशां प्रजानां पालको गृही। गृहाधिपतिः (स्वपन्तु) निद्रान्तु (अस्यै) दृश्यमानायै प्रजायै सन्तत्यै। कन्यायाः पुत्रस्य वा हिताय (ज्ञातयः) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३।३। १७४। इति ज्ञा ज्ञाने—क्तिच्। जानाति कुलस्थितिं स ज्ञातिः। एककुलोत्पन्नाः पितृव्यादयः। बान्धवाः। सम्बन्धिनः (अभितः) परितः स्थितः (जनः) लोकः। मनुष्यसमूहः ॥

७—(स्वप्न) ञिष्वप् शये-नन्। हे निद्रे (स्वप्नाभिकरणेन) निद्राजनकेन साधनेन कर्मणा द्रव्येण वा (सर्वम्) सकलम् (नि स्वापय) सर्वथा निद्रापय

पुरुषों को (ओत्सूर्यम्) सूर्य उदय तक (स्वापय) सुला, (अहम्) मैं (इन्द्रः इव) प्रतापी मनुष्य के समान (अरिष्टः) नाश रहित और (अक्षितः) हानि रहित (आव्युषम्) प्रभात तक (जागृतात्=जागराणि) जागरण करूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—घर के अन्य सब स्त्री पुरुष अपने अपने स्थानों पर सो जावें और गृहपति यथावत् जाग कर सावधानी रक्खे ॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः

सूक्तम् ६ ॥

१—८ ॥ विषं देवता । १, ३—८ अनुष्टुप्, २ यावतीति त्रिष्टुप्, वाचमित्यनुष्टुप् ॥

विषनिवारणयोपदेशः—विष दूर करने के लिये उपदेश ॥

ब्राह्मणो जज्ञे प्रथमो दशशीर्षो दशास्यः ।
स सोमं प्रथमः पपौ स चकाराऽरसं विषम् ॥ १ ॥

ब्राह्मणः । जज्ञे । प्रथमः । दश-शीर्षः । दश-आस्यः । सः । सोमम् । प्रथमः । पपौ । सः । चकार । अरसम् । विषम् ॥१॥

(जनम्) मनुष्यसमूहम् (ओत्सूर्यम्) उद्यन् सूर्यो यस्मिन् काले स उत्सूर्यः कालः । सूर्योदयपर्यन्तम् (अन्यान्) इतरान् मनुष्यान् । (आव्युषम्) उष वधे दाहे च—क, वा टाप् । उषः, उषा वा रात्रिशेषः । उषः कालावधि । राऽयवसानपर्यन्तम् (जागृतात्) जागृ निद्राक्षये लोट्, उत्तमपुरुषस्य छन्दसि प्रथमपुरुषः । अहं जागराणि । जागृतो भवानि (अहम्) गृहपतिः (इन्द्रः इव) प्रतापी पुरुषो यथा (अरिष्टः) अहिंसितः (अक्षितः) क्षयरहितः ॥

भाषार्थ—(प्रथमः) सब वर्णों में प्रधान, (दशशीर्षः) दस प्रकार के [१—दान, २—शील, ३—क्षमा, ४—वीर्य, ५—ध्यान, ६—बुद्धि, —७ सेना, ८—उपाय, ६—गुप्त दूत, और १०—ज्ञान] बलों में शिर रखनेवाला, और (दशास्यः) दस दिशाओं में मुख के समान पोषण शक्ति वाला वा दस दिशाओं में स्थिति वाला (ब्राह्मणः) ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता पुरुष (जज्ञे) उत्पन्न हुआ। (सः प्रथमः) उस प्रधान पुरुष ने (सोमम्) सोम नाम ओषधि का रस (पपौ) पिया, और (सः) उसने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्गुण कर दिया ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वेदवेत्ता महर्षियों ने पूर्ण विद्या प्राप्त करके सब दिशाओं में खोजकर संसार के उपकार के लिये सोम रस को पाया और आरोग्यनाशक और शरीरविकारक विष को हटाया है, हम लोग इसी प्रकार सोमलता आदि औषधों की प्राप्ति और परीक्षा करके संसार का कष्ट मिटाकर सब को सुख पहुंचावें और ब्राह्मण अर्थात् वेदवेत्ता होकर अगुआ बनें ॥ १ ॥

सोम का विशेष वर्णन ऋग्वेद मण्डल ६, और सामवेद उत्तरार्चिक प्रपाठक १ आदि में है, यहां दो मन्त्र लिखते हैं।

स्वादिष्ठया मदिष्ठया पवस्व सोम धारया ।
इन्द्राय पातवे सुतः ॥ १ ॥
रक्षोहा विश्वचर्षणिरभि योनिमयोहतम् ।
द्रुणा सधस्थमासदत् ॥ २ ॥

ऋग्वेद ६ । १ । १, २ ॥ यजु० २६ । २५, २६ ॥ साम उत्तरा० प्र० १ अ० १ त्रिक १५ ॥

(सोम) हे सोम रस (स्वादिष्ठया) बड़ी स्वादिष्ट और (मदिष्ठया) अति आनन्द कारक (धारया) धारा से (इन्द्राय) बड़े प्रतापी इन्द्र, पुरुष के लिये (पातवे) पीने को (सुतः) छनकर (पवस्व) शुद्ध हो ॥ १ ॥

१—(ब्राह्मणः) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इति ब्रह्मन्—अण् । ब्राह्मोऽजातौ । पा० ६ । ४ । १७१ । इति न टिलोपः । वेदपाठी । वेदवेत्ता पुरुषः (जज्ञे) जनी—लिट् । प्रादुर्बभूव (प्रथमः) सर्ववर्णेषु प्रधानः । अग्रिमः (दशशीर्षः) श्रयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १६४ । श्रिञ् सेवायाम्—असुन्, शिरादेशः । शिरः शब्दस्य शीर्ष वा । उत्तमाङ्ग शिरः शीर्ष मूर्धा ना

(रक्षोहा) रोगादि दुष्ट राक्षसों के नाश करने वाले, (विश्वचर्षणिः) सब मनुष्यों के हितकारक उस [सोम] ने (अयोहतम्) सुवर्ण से बने हुये (सधस्थम्) एक साथ ठहरने योग्य (योनिम्) स्थान (द्रुणा=द्रोणे) द्रोण कलश में (अभि) व्याप कर (आ असदत्) पाया है ॥ २ ॥

सोम का वृतांत सुश्रुतचरक आदि वैद्यक ग्रन्थों में सविस्तार है वहां देख लेवें ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावत् सप्त सिन्धवो वितष्ठिरे। वाचं विषस्य दूषणीं तामितो निरवादिषम् ॥ २ ॥

यावती इति। द्यावापृथिवी इति। वरिम्णा। यावत्। सप्त। सिन्धवः। वि-तस्थिरे। वाचम्। विषस्य। दूषणीम्। ताम्। इतः। निः। अवादिषम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी=०–व्यौ) सूर्य और पृथिवी लोक (वरिम्णा)

मस्तकोऽस्त्रियाम्, इत्यमरः, १६।६५। दानशीलक्षमावीर्य्यध्यानप्रज्ञा बलानि च। उपायः प्रणिधिर्ज्ञानं दश बुद्धबलानि च। इति शब्दकल्पद्रुमवचनाद् दशसु बलेषु शीर्ष शिरोबलं यस्य स तथाभूतः पुरुषः (दशास्यः) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३।१।१२४। इति असु क्षेपणे–ण्यत्। अस्यतेऽन्नमस्मिनिति आस्यं मुखम्। यद्वा। आस उपवेशने –ण्यत्, टाप् आस्या स्थितिः, आसनम्। दशसु दिक्षु आस्यं मुखवत् पोषणं यस्य। यद्वा। दशसु दिक्षु आस्या स्थितिर्यस्य स तथाभूतः (सः) ब्राह्मणः (सोमम्) अ० १।६।२। सोमलतारसम्। ओषधिः सोमः सुनोतेर्यदेनमभिषुण्वन्ति। बहुलमस्य नैघण्टुकं वृत्तमाश्चर्य्यमिव प्राधान्येन तस्य पावमानीषु—निरु० ११। २। (प्रथमः) प्रधानः। (पपौ) पीतवान् (चकार) कृतवान् (अरसम्) रसरहितं निर्वीर्यम् (विषम्) विष विप्रयोगे, यद्वा, विष्लृ व्याप्तौ—क। विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्धयर्थस्य विपूर्वस्य वा सचतेः निरु० २२। २६ आरोग्यस्य शरीरस्य नाशकं द्रव्यम् ॥

२—(यावती) यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप् पा० ५।२।३९। इति यत्—

अपने विस्तार से (यावती=०-त्यौ) जितने हैं, और (सप्त) जीव से मिली हुई वा गमन शील, वा सात (सिन्धवः) बहने वाली नदी रूप इन्द्रियां [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] (यावत्) जितने (वितष्ठिरे) फैलकर स्थित हैं। (इतः) इस स्थान से (विषस्य) विष की (दूषणीम्) खंडन करने वाली (ताम्) उस (वाचम्) वाणी को (निरवादिषम्) मैं ने कह दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उपाय करें कि आकाश और पृथिवी के सब गोचर पदार्थों में विष का संसर्ग न हो और पुष्टिकारक और बलवर्धक वस्तुओं के स्पर्श, दर्श, श्रवण, मनन, संभोग आदि से आनन्द प्राप्त हों ॥ २ ॥

सुपर्णस्त्वा गरुत्मान् विष प्रथममावयत् ।
नामीमदो नारूरुप उतास्मा अभवः पितुः ॥ ३ ॥

सु-पर्णः । त्वा । गरुत्मान् । विष । प्रथमम् । आवयत् । न । अमीमदः । न । अरूरुपः । उत । अस्मै । अभवः । पितुः ॥३॥

वतुप् । ङीप् । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ९१ । इति आत्वम् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । यावत्यौ । यावत्परिमाणयुक्ते (द्यावापृथिवी) पूर्वसवर्णदीर्घः । सूर्यपृथिव्यौ (वरिम्णा) पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति उरु-इमनिच् । प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ । १५७ इति वर् आदेशः । उरुत्वेन । विस्तारेण (सप्त) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति षप समवाये, यद्वा, सृप्लृ गतौ कनिन् । तुट् च, ऋकारस्य अकारः । सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमति वा सप्त सृप्ता सङ्ख्या सप्तादित्यरश्मय इति निरु० ४ । २६ । जीवेन सह समवेताः सर्पणा गमनशीला वा सप्तसङ्ख्याका वा (सिन्धवः) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीलानि नदीरूपाणि शीर्षण्यानि कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखानि-व्याख्यातम् । अ० २।१२। ७ । (वितष्ठिरे) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-लिट् । समवप्रविभ्यः स्थः । पा० १ । ३ । २२ । इति आत्मनेपदम् । विस्तारेण स्थिताः (वाचम्) वाणीम् (दूषणीम्) दुष वैकृते-ण्यन्तात् ल्युट् । ङीप् । नाशनीम् (ताम्) तादृशीम् (इतः) अस्माद् देशात् (निः अवादिषम्) वद वाक्ये-लुङ् । वदव्रजहलन्तस्याचः । पा० ७ । २ । ३ । इति वृद्धिः । अहं निर्गमय्य उच्चारितवानस्मि ॥

भाषार्थ—(विष) हे विष ! (सुपर्णः) शीघ्रगामी (गरुत्मान्) सुन्दर पंख वाले गरुड़ ने (प्रथमम्) प्रसिद्ध (त्वा) तुझ को (आवयत्) खाया, तू ने [उसे] (न) न तो (अमीमदः) मत्त किया और (न) न (अरूरुपः) घबरा दिया, (उत) किन्तु तू (अस्मै) उसके लिये (पितुः) अन्न (अभवः) हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे गरुड़, मोर आदि पक्षी अपनी विष पाचक शक्ति से विषधारी सर्प को खाकर अपना शरीर पुष्ट करते हैं, इसी प्रकार सद्वैद्य ओषधि द्वारा विष जनक रोगों का नाश करके संसार में नीरोगता फैलाते हैं ॥ ३ ॥

यस्त आस्युत् पञ्चाङ्गुरिर्वुक्राच्चिदधि धन्वनः ।
अपस्कुम्भस्यं शुल्यान्निरंवोचमुहं विषम् ॥ ४ ॥

यः । ते । आस्यत् । पञ्च-अङ्गुरिः । वुक्रात् । चित् । अधि । धन्वनः । अप-स्कुम्भस्यं । शुल्यात् । निः । अवोचम् । अहम् । विषम् ॥ ४ ॥

३—(सुपर्णः) आ० १ । २४ । १ । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः, सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि—निरु० ३ । १२ । शीघ्रगतिः । शोभनपक्षयुक्तः (त्वा) त्वां विषम् (गरुत्मान्) मृग्रोरुतिः । उ० १ । ९४ । इति गॄ शब्दे-उति । गृणाति शब्दायते वायुवेगात् स गरुत् पक्षः । ततो मतुप् । उरगाशनः पक्षिविशेषः । गरुड़ः (विष) (प्रथमम्) प्रधानम् । अतिप्रभावयुक्तमित्यर्थः (आवयत्=आ अवयत्) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु—लङ् । आवयतिः, अत्तिकर्मा—निघ० २ । ८ । अभक्षयत् (न) निषेधे (अमीमदः) मदी हर्षग्लेपनयोः । ग्लेपनं दैन्यम् । णयन्तात् लुङि चङि रूपम् । मत्तं ज्ञान—विकलम् अकार्षीः (अरूरुपः) रुप विमोहने णयन्तात् लुङि चङि रूपम् । विमूढम् अकार्षीः (उत) अपि तु (अस्मै) गरुत्मते (अभवः) लङ् (पितुः) कमिमनि० । उ० १ । ७१ । इति पा रक्षणे, वा पा पाने, अथवा ओप्यायी वृद्धौ तु प्रत्ययः । धातो. पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० ९ । २४ । अन्नम् ॥

भाषार्थ—(यः) जिस किसी पुरुष ने (पञ्चाङ्गुरिः) पांचों अंगुली जमा कर (वक्रात्) टेढ़े (चित्) ही (धन्वनः अधि) धनुष परसे (अपस्कम्भस्य) तीर के बन्धन की (शल्यात्) अणि व पैनी कील से (ते) तेरे लिये [विष] (आस्यत्) चलाया है, (अहम्) मैंने (विषम्) उस विष को (निः) निकाल कर (अवोचम्) वचन बोला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यदि शत्रु अपने छल बल से दृढ़ हाथ से छोड़े हुये विष में बुझे तीरसे किसी वीर मनुष्य के शरीर में विष प्रवेश करदे, चतुर वैद्य उसकी चिकित्सा करके यश प्राप्त करे ॥ ४ ॥

शल्याद् विषं निरवोचं प्राञ्जनादुत पर्णधेः ।
अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम् ॥ ५ ॥

शल्यात् । विषम् । निः । अवोचम् । प्र-अञ्जनात् । उत । पर्ण-धेः । अपाष्ठात् । शृङ्गात् । कुल्मलात् । निः । अवोचम् । अहम् । विषम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शल्यात्) बाण की अणि से, (प्राञ्जनात्) लेप से (उत) और (पर्णधेः) पंखवाले तीर के भाग से (विषम्) विष को (निः) निकाल

४—(यः) कश्चित् पुरुषः (ते) तुभ्यम् (आस्यत्) असु क्षेपणे लङ्। प्राक्षिपत् (पञ्चाङ्गुरिः) बालमूललघ्वसुरालमङ्गुलीनां वा रो लमापद्यत इति वक्तव्यम्। वा० पा० ८।२।१८ इति लस्य रत्वम्। बाणक्षेपणे पञ्च अङ्गुरयः अङ्गुलयो यस्य स-तथोक्तः। दृढहस्तः सन् (वक्रात्) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। इति वञ्चु प्रलम्भने—रक्। कुटिलात्। क्रूरात् (चित्) अपि (अधि) उपरिभावे (धन्वनः) अ० १। ३। ६। चापात् (अपस्कम्भस्य) स्कभि गतिप्रतिबन्धे—घञ्। शर-बन्धनात् (शल्यात्) अ० २। ३०। ३। शल गतौ—य। बाणाग्रभागात् (निः) ओषधिबलेन निःसार्य (अवोचम्) उक्तवानस्मि (विषम्) हलाहलम् ॥

५—(शल्यात् । विषम्) निः । अवोचम्) गतम्—म० ४। (प्राञ्ज-नात्) अञ्जू व्यक्तिगतिम्रक्षणेषु—ल्युट्। प्रलेपात् (उत) अपि (पर्णधेः) पत्रयुक्तशरकाण्डात् (अपाष्ठात्) अप+आङ्+ष्ठा—क। अपस्थिताद्

कर (अवोचम्) मैं ने वचन बोला है। (शृङ्गात्) तीक्ष्ण (अपाष्ठात्) बाणके फल से और (कुल्मलात्) बाण छिद्र से (विषम्) विष को (निः=निर्गमय्य) निकालकर (अहम्) मैंने (अवोचम्) वचन कहा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विषैले बाण के जिस जिस खंड से जहां जहां शरीर में घाव हो, बुद्धिमान् वैद्य वहां वहां से सावधानी के साथ विष निकालकर घायल पुरुष को स्वस्थ करे ॥ ५ ॥

अरसस्त इषो शल्योऽथो ते अरसं विषम्।
उतारसस्य वृक्षस्य धनुष्टे अरसारसम् ॥ ६ ॥

अरसः। ते। इषो इति। शल्यः। अथो इति। ते। अरसम्। विषम्। उत। अरसस्य। वृक्षस्य। धनुः। ते। अरस। अरसम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इषो) हे हिंसक वैरी ! (ते) तेरे (शल्यः) बाण की अणि (अरसः) निर्बल. (अथो) और भी (ते) तेरा (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल [हो जावे]। (उत) और (अरस) हे निर्बल शत्रु ! (अरसस्य) निर्बल (वृक्षस्य) वृक्ष का (ते धनुः) तेरा धनुष (अरसम्) निकम्मा [हो जावे] ॥६॥

बाणफलात् (शृङ्गात्) अ० २। ३२। ६। शॄ हिंसायाम्—गन्, नुट् च। शृणातीति शृङ्गं तीक्ष्णम्। तीक्ष्णात् (कुल्मलात्) अ० २। ३०। ३। बाणदण्डच्छिद्रात्। गतमन्यत् ॥

६—(अरसः) निर्बलः (ते) तव। (इषो) ईषेः किच्च। उ० १। १३। ईषति हिनस्तीति इषुः। हे हिंसक ! हे बाण ! हे बाणधारिन्—इत्यर्थः (शल्यः) म० ४। बाणाग्रभागः (अथो) अपि च (अरसम्) निर्वीर्यम्। निष्प्रभावम् (विषम्) (उत) अपि च (अरसस्य) निःसारस्य (वृक्षस्य) अ० १। २। ३। अ० ३। ६। ८। वृक्ष वरणे—क। स्वीकरणीयस्य। विटपस्य। वृक्षकाष्ठस्येत्यर्थः (धनुः) अ० ४। ४। ६। चापः (ते) तव (अरस) निर्वीर्यशत्रो ॥

भावार्थ—चिकित्सक लोग ऐसी उत्तम संजीवनी ओषधें उपस्थित रक्खें जिनसे शत्रुओं के अस्त्र शस्त्रों के घाव योधाओं के अंगों में भर कर तुरन्त अच्छे हो जावें ॥ ६ ॥

ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन् ।
सर्वे ते वध्रयः कृता वध्रिर्विषगिरिः कृतः ॥ ७ ॥

ये । अपीषन् । ये । अदिहन् । ये । आस्यन् । ये । अव-असृजन् ।
सर्वे । ते । वध्रयः । कृताः । वध्रिः । विष-गिरिः । कृतः ॥७॥

भाषार्थ—(ये) जिन शत्रुओं ने [विष को] (अपीषन्) पीसा है, (ये) जिन्हों ने (अदिहन्) लेप किया है, (ये) जिन्हों ने (आस्यन्) दूर से फेंका है, और (ये) जिन्हों ने (अवासृजन्) पास से छोड़ा है। (ते सर्वे) वे सब (वध्रयः) असमर्थ (कृताः) कर दिये गये, और (विषगिरिः) विष पर्वत भी (वध्रिः) निर्वीर्य (कृतः) करदिया गया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा विष प्रयोगी पुरुषों को यथावत् दंड देकर सर्वथा बलहीन करदेवे, और विष के उत्पत्ति स्थानों को भी नियम बद्ध रक्खे ॥ ७ ॥

वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे ।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम् ॥ ८ ॥

वध्रयः । ते । खनितारः । वध्रिः । त्वम् । असि । ओषधे ।
वध्रिः । सः । पर्वतः । गिरिः । यतः । जातम् । इदम् । विषम् ॥८॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे दाह [जलन] के धारण करने वाले विष ! (ते)

७-(ये) जनाः (अपीषन्) पिलृ संचूर्णने लङि छान्दसंरूपम्। अपिंषन्। पिष्टवन्तः। विषमिति शेषः (अदिहन्) दिह उपचये=वृद्धौ—लङ्। लिप्तवन्तः (आस्यन्) म० ४। दूरात् क्षिप्तवन्तः (अव—असृजन्) सृज विसर्गे—लङ्। अवसृष्टवन्तः। समीपे त्यक्तवन्तः (सर्वे) (ते) पूर्वोक्ता जनाः (वध्रयः) अ० ३। ६। २। वन्ध बन्धने क्रिन्। विफलाः। निर्वीर्याः। (कृताः) निष्पादिताः। (वध्रिः) निर्वीर्यः (विषगिरिः) विषोत्पत्तिहेतुः पर्वतः॥

८—(वध्रयः) म० ७। असमर्थाः (ते) तव (खनितारः) खननकर्तारः

तेरे (खनितारः) खोदने वाले (वध्रयः) असमर्थ [हो जावें] और (त्वम्) तू भी (वध्रिः) निर्वीर्य (असि) है। (सः) वह (पर्वतः) अवयव वाला (गिरिः) पहाड़ (वध्रिः) असमर्थ [हो जावे], (यतः) जिस से (इदम् विषम्) यह विष (जातम्) उत्पन्न हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा विष व्यापारियों और विष स्थानों को नीति विधान से अपने वश में रक्खे ॥ ८ ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१—७ ॥ विषो देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

विषनाशायोपदेशः—विष नाश करने का उपदेश ॥

वारिदं वारयातै वरणावत्यामधि ।
तत्रामृतस्यासिक्तं तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

वाः । इदम् । वारयातै । वरण-वत्याम् । अधि । तत्र । अमृतस्य । आ-सिक्तम् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरणावत्याम् अधि) उत्तम गुण वाली क्रिया में [अथवा वरण नामवाली ओषधि में] वर्तमान (इदम्) यह (वाः) जल (वारयातै) [विष को] हटावे। (तत्र) उस [जल] में (अमृतस्य) अमृत अर्थात्

(वध्रिः) निर्वीर्या। निर्वीर्यः। (त्वम् असि) (ओषधे) अ० १। २३। १। उष दाहे—घञ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि। हे दाहधारक विष (सः) (पर्वतः) अ० १। १२। ३। पर्व पूरणे अतच्। पर्वति पूरयति भूमिम्। यद्वा। पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः। वा० पा० ५। २। १२२। इति पर्वन्—तन् मत्वर्थे। पर्ववान्। अवयवयुक्तः (गिरिः) अ० २। २५। ४। शैलः (यतः) यस्माद् गिरेः (जातम्) उत्पन्नम् (इदम्, विषम्)।

१—(वाः) अ० ३। १३। ३। वारि। जलम् (इदम्) (वारयातै) वारयतेर्लेटि आडागमः। निवारयतु विषम् (वरणावत्याम्) सुयुरुवृञो युच्। उ० २। ७४। इति वृञ् वरणे—युच्। शरादीनां च। पा० ६। ३। १२०। इति मतौ पूर्वपदस्य

स्वास्थ्य का (आसिक्तम्) रस है। (तेन) उस [जल] से (ते विषम्) तेरे विष को (वारये) मैं हटाता हूं॥ १॥

भावार्थ—१-यथावत् क्रिया से किये हुये जलके अभिषेक आदि से और २—वरुण नाम औषध के रस प्रयोग से विष और विष जनक रोगों की निवृत्ति होती है॥ १॥

अ॒र॒सं प्रा॒च्यं॑ वि॒षम॑र॒सं यदु॑दी॒च्य॑म् ।
अथे॒दम॑ध॒रा॒च्यं॑ कर॒म्भेण॒ वि क॑ल्पते ॥ २ ॥

अ॒र॒सम् । प्रा॒च्य॑म् । वि॒षम् । अ॒र॒सम् । यत् । उ॒दी॒च्य॑म् ।
अथ॑ । इ॒दम् । अ॒ध॒रा॒च्य॑म् । क॒र॒म्भेण॑ । वि । क॒ल्प॒ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राच्यम्) पूर्व वा सन्मुख दिशा का (विषम्) विष (अरसम्) अरस होवे, और (यत्) जो (उदीच्यम्) उत्तर वा बांयी दिशा में

दीर्घः। वरणीयगुणयुक्तायां क्रियायाम्। अथवा वरणो वरुणो वृक्षविशेषः। वरुणरसवत्याम् औषधौ वर्तमानम्। वरुणस्य गुणाः। कटुत्वम्, उष्णत्वम् रक्तदोषशीतवातहरत्वम्, स्निग्धत्वम, दीपनत्वं च—इति शब्दकल्पद्रुमात् (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (तत्र) तस्मिन् जले (अमृतस्य) अमरणस्य, स्वास्थ्यस्य (आसिक्तम्) षिच क्षरणे—भावे क्त। आसेचनम्। समन्ताद् वर्षणम्। रसः (तेन) उदकेन (वारये) अहं निवारयामि (विषम्) विषप्रभावम्॥

२—(अरसम्) नीरसम्। निष्प्रभावम्, भवतु (प्राच्यम्) द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्। पा० ४। २। १०१। इति प्राच्—यत्। पूर्वदिग्भवम् (स्वाभिमुखदिशि भवम्) (यत्) यद् विषमस्ति तदपि (उदीच्यम्) उदच्—यत् पूर्ववत्। उत्तरदिशि भवम् वामदिशि भवम् (अथ) अनन्तरम् (इदम्) (अधराच्यम्) अधराच्—यत्। अधस्ताद् वर्तमानायां दिशि भवम्। (करम्भेण) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १९। इति क+रभि शब्दे, अत्र सेके—घञ्। रभेरशब्लिटोः। पा० ७। १। ६३। इति नुम्। केन जलेन रभ्यते सिच्यते मिश्रीक्रियते वा स करम्भः तेन, जलसेचनकर्मणा। यद्वा दधिमिश्रितशक्तुभिः (विकल्पते) कृपू सामर्थ्ये। कृपो रो लः। पा० ८। २। १८। इति लत्वम्। विगतसामर्थ्यं भवति॥

है [वह भी] (अरसम्) अरस होवे । (अथ) और (इदम्) यह (अधराच्यम्) नीचे की दिशा का [विष] (करम्भेण) जल सेचन से [वा दही मिले सत्तुओं से] (विकल्पते) असमर्थ हो जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चिकित्सक लोग विष और विषैले रोगों को यथावत् जल सेचन से अथवा सत्तुओं के प्रयोग से हटावें ॥ २ ॥

(करम्भ) शब्द का अर्थ जल क्रिया वा जल सेचन का और दही सत्तुओं का है [करम्भो दधिसक्तवः—इत्यमरः, १९ । ४८]

करम्भं कृत्वा तिर्यं पीबस्पाकमुदारथिम् ।
क्षुधा किल त्वा दुष्टनो जक्षिवान्त्स न रूरुपः ॥३॥

करम्भम् । कृत्वा । तिर्यम् । पीबः-पाकम् । उदारथिम् । क्षुधा । किल । त्वा । दुस्तनो इति दुः-तनो । जक्षि-वान् । सः । न । रूरुपः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दुष्टनो) हे शरीर के दुःख दायक [विष !] (किल) तिरस्कार के साथ (त्वा) तेरे लिये [तेरे हटाने के लिये] (तिर्यम्) रोग जीतने में समर्थ, (पीवस्पाकम्) मुटाई वा चर्बी रोग पचाने वाले और

३—(करम्भम्) म० २ । जलसेचनम् । दधिसक्तून् (कृत्वा) विधाय (तिर्यम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति तॄप्लवनतरणयोः—असुन् । गुणविषये इर् । तरतीति तिरः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । अव्ययानां च० । वा० पा० ६।४। १४४ । इति टिलोपः । तरणे रोगजये समर्थम् । रोगतिरस्कारे कुशलम् (पीवस्पाकम्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति पीव स्थौल्ये—असुन् । पचेः करणे—घञ् । पीवः स्थौल्यं मेदो वा रोगविशेषः पच्यते येन तम् (उदारथिम्) उदर्त्तेश्चित् । उ० ४ । ८८ इति उत्+ऋ गतौ-थिन् । छान्दसो दीर्घः । उदरथिम् । उद्गमयितारम् जाठराग्नेरुद्दीपयितारम् (क्षुधा) बुभुक्षया (किल) तिरस्कारेण । निश्चयेन (त्वा) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति चतुर्थ्यर्थे द्वितीया, त्वदर्थम् । तवनिवारणायेत्यर्थः (दुष्टनो) दुर्-तनो । हे शरीरदूषक ! (जक्षिवान्) अदेर्लिटः

क्तुः । (उद्वारथिम्) जाठर अग्नि बढ़ाने वाले (करम्भम्) जल सेचन [वा दही सत्तुओं] को (कृत्वा) बनाकर (क्षुधा) भूख के कारण (जक्षिवान्=यः जक्षिवान् तम्) जिस ने खालिया, उसको (सः=स त्वम्) उस तू ने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जल सेचन और सत्तुओं के सेवन से विषैले रोगों का नाश होता है ॥ ३ ॥

वि ते॒ मदं॑ मदावति शुरमि॑व पातयामसि ।
प्र त्वा॑ चुरुमि॑व येष॑न्तं वच॑सा स्थापयामसि ॥ ४ ॥

वि । ते॒ । मद॑म् । मुद॒-वृति॒ । शुरम्-ईव । पातयामसि । प्र । त्वा॒ । चुरुम्-ईव । येष॑न्तम् । वच॑सा । स्थापयमसि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मदावति) हे मूर्छा करने वाली [विष पीड़ा] (ते) तेरे (मदम्) मद्यपन को (शरमिव) तीर के समान (वि) अलग (पातयामसि=०-मः) हम फेंके देते हैं । और (येषन्तम) खदबदाते हुये (चरुमिव) चरुये [वासन] के समान (त्वा) तुझको (वचसा) वचन मात्र से [शीघ्र] (प्र स्थापयामसि=०—मः) हम हटाते हैं ॥ ४ ॥

लिट्यन्यतरस्याम् । पा० २ । ४ । ४० । इति घस्लृ आदेशः । वस्वेकाजाद्घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इति इटि कृते उपधालोपे स्थानिवद्भावाद् द्विर्वचनादि । भक्षितवान् यः पुरुषः, तम् इति शेषः (सः) स त्वम् (न) नहि (रूरुपः) रुप विमोहने । ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् अडभावः । अरूरुपः । अमूमुहः । मूर्छितम् अकार्षीः ॥

४—(वि) वियोगे (ते) त्वदीयम् (मदम्) मदी स्वप्ने, जाड्ये, मदे—अच् । मद्यम् । मत्तताम् । विकलताम् (मदावति) शरादीनां च । पा० ६ । ३ । १२० । इति मतौ दीर्घः । हे मूर्छाकरगुणयुक्ते विषपीडे (शरमिव) शॄ हिंसायाम्—अप् । चापाद् विमुक्तं तीरमिव (वि पातयामसि) शरीराद् विश्लेषयामः (त्वा) त्वाम् (चरुमिव) भृमृशीङ्तॄचरि० उ० १।७। इति चर गमने, अदने, आचारे-उ । चर्यते भक्ष्यते अग्निना, अन्नपाक भाण्डं यथा (येषन्तम्) जुविशिभ्यां झच् ।

भावार्थ—वैद्य लोग विषैली, मदकरी पीडाओंको बहुत शीघ्र प्रयत्न करके हटावें, जैसे धनुष से तीर को फेंकते अथवा अतितप्त बरतन को आग पर से हटाते हैं ॥ ४ ॥

परि ग्राममिवाचितं वचसा स्थापयामसि ।
तिष्ठा वृक्ष इव स्थाम्न्यभ्रिखाते न रूरुपः ॥ ५ ॥

परि । ग्रामम्ऽइव । आऽचितम् । वचसा । स्थापयामसि ।
तिष्ठ । वृक्षःऽइव । स्थाम्नि । अभ्रिऽखाते । न । रूरुपः ॥५॥

भाषार्थ—(आचितम्) एकत्र हुए (ग्रामम् इव) जन समूह [शत्रु वृन्द] के समान [तुझको] (वचसा) वचन मात्र से (परि:स्थापयामसि=०—मः) हम घेरते हैं। (वृक्षः इव) वृक्ष के समान (स्थाम्नि) अपने स्थान पर (तिष्ठ) ठहर । (अभ्रिखाते) हे कुद्दाल से खोदी हुई ! तूने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान वैद्य विचार पूर्वक उपाय के साथ विष को प्रभाव रहित करके निकाल देते हैं जैसे शूर पुरुष शत्रुसेना को घेरकर हरा देते हैं ॥ ५ ॥

उ० ३ । १२६ । इति येषृ प्रयत्ने—ऋच् । येषमाणम् । प्रयतमानम् अङ्ग-प्रत्यङ्गानि व्याप्नुवन्तम् प्रतप्तं वा (वचसा) वचनमात्रेण (प्र स्थापयामसि) दूरी कुर्मः ॥

५—(परि) परितः सर्वतः (ग्रामम्) ग्रसेरा च । उ० १ । १४३ । इति ग्रस ग्रहणे, भक्षणे—मन्, धातोराकारः । जनसमूहम् । शत्रुवृन्दम् (इव) यथा (आचितम्) आङ्+चि-क्त । आकीर्णम् । व्याप्तम् (वचसा) वचनमात्रेण (स्थापयामसि) दध्मः (तिष्ठ) स्थिता भव (वृक्ष इव) यथा वृक्षो निश्चलो भूत्वा (स्थाम्नि) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४ । १४५ । इति ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन् स्वस्थाने । मूले (अभ्रिखाते) सर्वधातुभ्य इन् उ० ४ । ११८ । इति अभ्र गतौ-इन् अपादाने । अभ्रिः काष्ठकुद्दालः । तीक्ष्णाग्रो लोहदण्डः । खन विदारे—क्त । हे खन—नसाधनेन विदारिते ओषधे (न) नहि (रूरुपः) म० ३ । अमूमुहः ॥

प॒वस्तै॑स्त्वा॒ पर्य॑क्रीणन् दू॒र्शेभि॑र॒जिनै॑रु॒त ।
प्र॒क्रीर॑सि॒ त्वमो॑षधे॒ऽभिखा॑ते॒ न रू॑रुपः ॥ ६ ॥

प॒वस्तैः॑ । त्वा॒ । परि॑ । अ॒क्री॒ण॒न् । दू॒र्शेभिः॑ । अ॒जिनैः॑ । उ॒त ।
प्र॒ऽक्रीः । अ॒सि॒ । त्वम् । ओ॒ष॒धे॒ । अ॒भि॒ऽखा॒ते॒ । न । रू॒रु॒पः॒ ॥६॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझ से (पवस्तैः) मंडप वा घरों के लिये, (दूर्शेभिः=दूर्शैः) वस्त्र गृहों के लिये, (उत) और (अजिनैः) चर्म के लिये (परि अक्रीणन्) उन्हों ने [पुरुषों ने] व्यापार किया है। (ओषधे) हे दाह-धारण करनेवाली ! (त्वम्) तू (प्रक्रीः) बिकाऊ वस्तु (असि) है। (अभि-खाते) हे कुद्दाल से खोदी हुई ! तू ने (न) नहीं (रूरुपः) मूर्छित किया है ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य अपने लाभ के लिये विष का व्यापार भी करते हैं, विद्वान् लोग अपनी योग्यता से विष को निर्बल करके रखते हैं ॥ ६ ॥

अना॑प्ता॒ ये वः॑ प्रथ॒मा यानि॒ कर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
वी॒रान् नो॒ अत्र॒ मा द॑भ॒न् तद् व॑ ए॒तत् पु॒रो द॑धे ॥७॥

अना॑प्ताः । ये । वः॒ । प्र॒थ॒माः । यानि॑ । कर्मा॑णि । च॒क्रि॒रे । वी॒रान् । नः॒ । अत्र॑ । मा । द॒भ॒न् । तत् । वः॒ । ए॒तत् । पु॒रः । द॒धे॒ ॥७॥

६—(पवस्तैः) पवते, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अस्माद् औणादिको अस्तप्रत्ययः । पवन्ते गच्छन्ति यत्र । मण्डपैः । गृहैः । अत्रसर्वत्रनिमित्ते तृतीया । पवस्तशब्दो द्यावापृथिव्योर्वाचको दृष्टः । ऋ० १० । २७ । ७ । (त्वा) त्वां विषरूपाम् (परि अक्रीणन्) डुक्रीञ् द्रव्यविनिमये—लङ् । परिक्रीतवन्तः पुरुषाः (दूर्शेभिः) दुर्+शो तनूकरणे—ड । दुर् दुःखं श्यतीति दूर्शम् । दूर्शैः । दूश्यैः । दूष्यैः । वस्त्रनिर्मितगृहैः (अजिनैः) अजेरज च । उ० २ । ४८ । इति अज गतिक्षेपणयोः—इनच् । चर्मभिः (उत) अपि च (प्रक्रीः) प्रपूर्वात् क्रीणातेः कर्मणि संपदादित्वात् क्विप् । प्रकर्षेण क्रीता (असि) भवसि (त्वम्) (ओषधे) हे तापधारिणि । अन्यद् गतम्—म० ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (प्रथमाः) प्रधान (अनाप्ताः) अत्यन्त यथार्थ ज्ञानी पुरुषों ने (वः) तुम्हारे लिये (यानि) पूजनीय (कर्माणि) कर्म (चक्रिरे) किये हैं, वे (नः) हम (वीरान्) वीरों को (अत्र) यहां पर (मा दभन्) न मारें (तत्) सो (एतत्) इस कर्म को (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि जगत् हितकारी महात्मा लोग आनन्द प्राप्त करके सब की यथावत् रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र अ० ५ । ६ । २ । में भी है ।

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१—७ ॥ भूतानामधिपतिर्देवता ॥ १, ३, ७ त्रिष्टुप्, शिष्टानुष्टुप् ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

भूतो भूतेषु पय आ दंधाति स भूतानामधिपतिर्बभूव। तस्यं मृत्युश्चंरति राजसूयं स राजा राज्यमनुं मन्यतामिदम् ॥ १ ॥

भूतः । भूतेषु । पयः । आ । दधाति । सः । भूतानाम् । अधिऽपतिः । बभूव । तस्य । मृत्युः । चरति । राजऽसूयम् । सः । राजा । राज्यम् । अनु । मन्यताम् । इदम् ॥ १ ॥

७—(अनाप्ताः) आप्लृ व्याप्तौ—क्त । आप्ता यथार्थज्ञातारः । न सन्ति आप्ता येभ्यस्ते अनाप्ताः, अनुत्तमाः । अतिशयेन आप्ताः (ये) पुरुषाः (वः) युष्मभ्यम् (प्रथमाः) प्रधानाः (यानि) यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—ड । यजनीयानि । पूज्यानि (कर्माणि) कर्तव्यानि । आचरणानि (चक्रिरे) कृतवन्तः (वीरान्) शूरान् (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् संसारे विघ्ननिवारणकर्मणि वा (मा दभन्) दन्भु दम्भे=कपटे । मा हिंसन्तु ते शत्रवः (तत्) तस्मात् (वः) युष्माकम् (एतत्) क्रियमाणं कर्म (पुरः) पुरस्तात् (दधे) धारयामि ॥

भाषार्थ—(भूतः) विभूति वा ऐश्वर्यवाला पुरुष (भूतेषु) सब स्थावर जंगम पदार्थों में (पयः) दूध, अन्न जल आदि (आ) अच्छे प्रकार (दधाति) धारण करता है, (सः) वही (भूतानाम्) प्राणी और अप्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता (बभूव) हुआ है। (मृत्युः) मृत्यु [मारणसामर्थ्य] (तस्य) उसके (राजसूयम्) राज तिलक यज्ञ में (चरति) अनुचर होता है। (सः राजा) वह राजा (इदम् राज्यम्) इस राज्य को (अनु मन्यताम्) अङ्गीकार करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रतापी पुरुष को विद्वान् पुरुषों ने राजा बनाया है, वह अपनी बुद्धि, नीति और वीरता से प्रजा के प्राण और धन की रक्षा करता है, और वही शिष्टों का पालन करके मृत्यु से बचाता और दुष्टों को दण्ड देकर मारता है ॥ १ ॥

अभि प्रेहि माप वेन उग्रश्चेत्ता सपत्नहा ।
आ तिष्ठ मित्रवर्धन तुभ्यं देवा अधि ब्रुवन् ॥ २ ॥

१—(भूतः) भू सत्तायां प्राप्तौ च, यद्वा, शुद्धिचिन्तनमिश्रणेषु—क्त। भवति विद्यते भूयते प्राप्यते वा भूतः। प्राणी। भूतिवान् ऐश्वर्यवान् राजा (भूतेषु) सत्तां प्राप्तेषु स्थावरजङ्गमद्रव्येषु (पयः) स्पेरत पश्च। ४।१६०। इति पय गतौ, पीङ् वा पा पाने—असुन्। पयः पिवतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु २। ५। पयः, रात्रिनाम—निघ० १। ७। उदकनाम—निघ० १। १२। अन्ननाम—निघ० २। ७। दुग्धान्नजलादि-पदार्थजातम् (आ) सम्यक् (दधाति) स्थापयति (सः) राजा (भूतानाम्) प्राणिनाम् (अधिपतिः) अधिष्ठाता। स्वामी। (बभूव) (तस्य) राज्ञः (मृत्युः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्युकौ। उ० ३। २१। इति मृङ् प्राणत्यागे—त्युक्। अन्त-र्भावितण्यर्थः। मृत्युर्मारयतीति सतो मृतं च्यावयतीति वा शतबलाक्षो मौद्ग-ल्यः—निरु० ११। ६। मारणसामर्थ्यम्, दुष्टनिग्रहेण शिष्टपरिपालनेन च (चरति) अनुचरति। सेवते (राजसूयम्) राजसूयसूर्य०। पा० ३। १। ११४। इति राजन्+षुञ् अभिषवे—क्यप्। अभिषवः स्नपनं पीडनं स्नानं सुरासंधानं च। राजा सूयते अभिषिच्यते यत्र। राजाभिषेकयज्ञम् (सः) कृताभिषेकः (राजा) ऐश्वर्यशाली। प्रतापवान् (राज्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्। पा० ५। १। १२८। इति राजन्—यक्। राज्ञः कर्म प्रजारक्षणादिकम् (अनु मन्यताम्) अनुजानातु। अङ्गीकरोतु (इदम्) प्रत्यक्षम् ॥

अभि । प्र । इ॒हि॒ । मा । अप॑ । वे॒नः॒ । उ॒ग्रः । चे॒त्ता । स॒पत्न॒-हा । आ । ति॒ष्ठ॒ । मि॒त्र॒-व॒र्ध॒न॒ । तु॒भ्य॑म् । दे॒वाः । अधि॑ । ब्रु॒व॒न् ॥२॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (उग्रः) तेजस्वी, (चेत्ता) चैतन्य स्वभाव और (सपत्नहा) शत्रुनाशक तू (अभि) सब ओर से (प्रेहि) आगे बढ़, (मा अप वेनः) पीछे न हट । (मित्रवर्धन) हे मित्रों के बढ़ाने हारे ! (आतिष्ठ) [सिंहासन वा हाथी आदि पर] आकर बैठ । (देवाः) विजय चाहने वाले वीर विद्वानों ने (तुभ्यम्) तेरे लिये (अधि ब्रुवन्) यह अनुग्रहवचन दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—(देवाः) मुख्य मुख्य शूर विद्वान् लोग राजा को सहाय वचन के साथ अभिनन्दन कर के राजसिंहासन और हाथी आदि यान पर बिठलावें और (मित्रवर्धन) राजा माननीय पुरुषों का आदर मान करे ॥ २ ॥

आ ति॒ष्ठन्तं॒ परि॒ विश्वे॑ अभूष॒ञ्छ्रियं॒ वसा॑नश्चरति॒ स्वरो॑चिः । म॒हत् तद् वृष्णो॒ असु॑रस्य॒ नामा वि॒श्वरू॑पो अ॒मृता॑नि तस्थौ ॥ ३ ॥

आ-तिष्ठ॑न्तम् । परि॑ । विश्वे॑ । अ॒भू॒ष॒न् । श्रिय॑म् । वसा॑नः । च॒र॒ति॒ । स्व-रो॑चिः । म॒हत् । तत् । वृष्णः॑ । असु॑रस्य । नाम॑ । आ । वि॒श्व-रू॑पः । अ॒मृता॑नि । त॒स्थौ॒ ॥ ३ ॥

२—(अभि) अभितः सर्वतः (प्रेहि) प्रगच्छ (मा अप वेनः) वेनतिः कान्तिकर्मा—निघ २ । ६ । गतिकर्मा०—२ । १४ । अर्चतिकर्मा—३ । १४ । माप गच्छ (उग्रः) तीव्रस्वभावः (चेत्ता) चिती संज्ञाने—तृन् । चेतिता । ज्ञानवान् (सपत्नहा) अ० १ । २९ । ५ । शत्रूणां हन्ता (आतिष्ठ) राजासनं हस्त्यश्वादियानं च आरोह (मित्रवर्धन) नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । इति वृधेर्ण्यन्तात्—ल्यु । हे मित्राणां वर्धयितः (तुभ्यम्) (देवाः) विजिगीषवो विद्वांसः (अधि ब्रुवन्) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लङ् । अधि अब्रुवन् । अधिवचनम् अनुग्रहवचनम् उच्चारितवन्तः ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब जनों ने (आतिष्ठन्तम्) [सिंहासन आदि पर] बैठते हुये राजा को (परि अभूषन्) सब प्रकार से अलंकृत वा प्राप्त किया है। (श्रियम्) राज लक्ष्मी को (वसानः) धारण करता हुआ, (स्वरोचिः) स्वयं प्रकाशमान वह (चरति) वर्त्तमान होता है। (वृष्णः) उस ऐश्वर्य वाले (असुरस्य) प्राणदाता का (तत्) वह (महत्) विशाल (नाम) नाम है। (विश्वरूपः) अनेक प्रकार के स्वभाव वाले उसने (अमृतानि) अनश्वर सुखों को (आ तस्थौ) प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजा गण सिंहासन पर बैठे हुये राजा को भेट आदि देकर सेवा करें, और राजा यथायोग्य सब से वर्त्ताव करके आनन्द प्राप्त करे ॥ ३ ॥

व्याघ्रो अधि वैयाघ्रे वि क्रमस्व दिशो महीः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ ४ ॥

व्याघ्रः। अधि। वैयाघ्रे। वि। क्रमस्व। दिशः। महीः। विशः। त्वा। सर्वाः। वाञ्छन्तु। आपः। दिव्याः। पयस्वतीः ॥ ४ ॥

३—(आतिष्ठन्तम्) सिंहासनादिकम् आरोहन्तम् (परि) परितः सर्वतः (विश्वे) विश्वे देवाः। सर्वे शूरविद्वांसः (अभूषन्) भूष अलंकारे लुङ्। यद्वा, भू प्राप्तौ छान्दसे लुङि सिप्। अलंकृतवन्तः। प्राप्तवन्तः (श्रियम्) क्विब् वचिप्रच्छिश्रिस्रु० । उ० २। ५७। इति श्रिञ् सेवने—क्विप् दीर्घश्च। श्रयति पुरुषार्थिनं सा श्रीः। राजलक्ष्मीम्। सम्पत्तिम् (वसानः) वस आच्छादने—लटः शानच्। धारयन् (चरति) राज्यपालने वर्तते (स्वरोचिः) वसौ रुचेः संज्ञायाम्। उ० २। १११। रुच दीप्तौ अभिप्रीतौ च—इसिन्। स्वयं रोचमानो दीप्यमानः। स्वरुचिः। स्वतन्त्रः (महत्) अधिकम्। विशालम् (तत्) प्रसिद्धम् (वृष्णः) अ० १। १२। १। वर्षकस्य। ऐश्वर्ययुक्तस्य। इन्द्रस्य (असुरस्य) अ० १। १०। १। दीप्यमानस्य। प्राणप्रदस्य। शूरस्य (नाम) अ० १। २४। ३। म्ना अभ्यासे—मनिन्। अभ्यस्तं नामधेयम्। संज्ञा। (आ) समन्तात् (विश्वरूपः) शत्रुमित्रकलत्रादिषु नानास्वभावः। यथायोग्यं वर्त्तमानः (अमृतानि) अनश्वरसुखानि (आ तस्थौ) आरूढवान्। प्राप्तवान् ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (व्याघ्रः) बाघ के समान पराक्रमी तू (वैयाघ्रे अधि) बाघ के स्वभाव में [स्थित होकर] (महीः दिशः) बड़ी दिशाओं को (वि क्रमस्व) विक्रम से जीत। (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें, और (दिव्याः) उत्तम (पयस्वतीः = ०—त्यः) सार वाली (आपः) जल धारायें (त्वा) तुझ को (वाञ्छन्तु) चाहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा व्याघ्र के समान पराक्रमी और जल के समान उपकारी होवे, सब प्रजागण उस से प्रीति करें और राज्य में अनावृष्टि आदि न हो ॥४॥

या आपो॑ दि॒व्याः पय॑सा मद॑न्त्य॒न्तरि॑क्ष उ॒त वा॑ पृथि॒व्याम्। तासां॑ त्वा स॒र्वा॑साम॒पाम॒भि षि॑ञ्चामि॒ वर्च॑सा ॥५॥

याः। आपः॑। दि॒व्याः। पय॑सा। मद॑न्ति। अ॒न्तरि॑क्षे। उ॒त। वा॒। पृ॒थि॒व्याम्। तासा॑म्। त्वा॒। सर्वा॑साम्। अ॒पाम्। अ॒भि। सि॒ञ्चा॒मि॒। वर्च॑सा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में की (उत वा) और भी (पृथिव्याम्) पृथिवी पर की (याः) जो (दिव्याः) दिव्य (आपः) जल धारायें (पयसा) अपने रस से (मदन्ति) [प्राणियों को] तृप्त करती हैं, (तासाम्)

४—(व्याघ्र) अ० ४। ३। १। व्याघ्रो व्याघ्राणाद् व्यादाय हन्तीति वा निरु० ३। १८। लुप्तोपममेतत्। व्याघ्रवद् दुष्प्रधर्षः (अधि) उपरि उपविष्टः सन् (वैयाघ्रे) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति व्याघ्र—अण्। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्याम०। पा० ७। ३। ३। इति यकारात् पूर्वम् ऐच्। व्याघ्रस्यायं स्वभावस्तस्मिन् (विक्रमस्व) वेः पादविहरणे। पा० १। ३। ४१। इति क्रमेरात्मनेपदम्। विक्रमेण शौर्येण व्याप्नुहि। विजयस्व (दिशः) प्राच्याद्याः (महीः) महतीः (विशः) प्रजाः (त्वा) त्वां राजानम् (सर्वाः) (वाञ्छन्तु) वाछि इच्छायाम्। स्वामित्वेन इच्छन्तु (आपः) जलानि (दिव्याः) दिवि भवः—यत्। उत्तमगुणयुक्ताः (पयस्वतीः) पयस्वत्यः। सारवत्यः ॥

५—(याः) (आपः) जलधाराः (दिव्याः) श्रेष्ठाः (पयसा) रसेन। सारेण (मदन्ति) मद तृप्तियोगे। तर्पयन्ति प्राणिनः (अन्तरिक्षे) आकाशे वर्त-

इन (सर्वासाम्) सब (अपाम्) जल धाराओं के (वर्चसा) बल दायक सार से (त्वा) तुझको (अभि षिञ्चामि) अभिषेक कराता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजगद्दी पर बैठने के समय राजा को ओषधियों के रस से मिले हुये वृष्टि, नदी, कूप आदि के उत्तम जलों से स्नान करावें, जिस से उस का शरीर पुष्ट रहे और जल के समान वह अपने प्रजा को सुख पहुंचावे ॥ ५ ॥

अभि त्वा वर्चसासिचन्नापो दिव्याः पयस्वतीः ।
यथासो मित्रवर्धनस्तथा त्वा सविता करत् ॥ ६ ॥

अभि । त्वा । वर्चसा । असिचन् । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ।
यथा । असः । मित्र-वर्धनः । तथा । त्वा । सविता । करत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वा) तुझ को (दिव्याः) दिव्य (पयस्वतीः=०—स्यः) सारयुक्त (आपः) जल धाराओं ने (वर्चसा) अपने बलदायक सार से (अभि असिचन्) सब प्रकार सींचा है, (यथा) जिससे तू (मित्रवर्धनः) मित्रों की वृद्धि करने वाला (असः) होवे । (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (तथा) वैसे गुण वाला [जैसा जल] (करत्) करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—अभिषेक के उपरान्त सब लोग आशीर्वाद दें, हे राजन् ! तुझे यह अभिषेक वा स्नान इस लिये कराया है कि जैसे जल अन्न आदि उत्पन्न

मानाः (उत वा) अपि वा (पृथिव्याम्) भूम्याम् अवस्थिताः (तासाम्) तथाविधानाम् (त्वा) राजानम् (सर्वासाम्) सर्वत्र व्याप्तानाम् (अपाम्) जलधाराणाम् (अभि षिञ्चामि) अभिषेकयुक्तं करोमि (वर्चसा) तेजसा । बलकरेण सारेण ॥

६—(अभि असिचन्) षिच क्षरणे, सेके—लुङ् । अभिषेकयुक्तं कृतवत्यः (त्वा) राजानम् (वर्चसा) स्वकीयेन सारेण (आपः) (दिव्याः) (पयस्वतीः) पयस्वत्यः । सारवत्यः (यथा) येन प्रकारेण (असः) अस्तेर्लेटि अडागमः । त्वं भवेः (मित्रवर्धनः) म० २ । मित्राणां वर्धयिता (तथा) तेन प्रकारेण । जलवत्स्वभावेन (सविता) सर्वप्रेरको देवः परमेश्वरः (करत्) लेट् । कुर्यात् ॥

करके संसार का उपकार करता है, वैसे ही सर्व प्रेरक परमेश्वर के अनुग्रह से तू प्रजाप्रेरक होकर अपने हितैषी जनों की सदा उन्नति करता रह॥ ६ ॥

एना व्याघ्रं परिषस्वजानाः सिंहं हिन्वन्ति महते सौभगाय। समुद्रं न सुभुवस्तस्थिवांसं मर्मृज्यन्ते द्वीपिनमप्स्व१न्तः ॥ ७ ॥

एना। व्याघ्रम्। परि-सस्वजानाः। सिंहम्। हिन्वन्ति। महते। सौभगाय। समुद्रम्। न। सु-भुवः। तस्थि-वांसम्। मर्मृज्यन्ते। द्वीपिनम्। अप्-सु। अन्तः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(परिषस्वजानाः) सब ओर से चिपटे हुये लोग (एना=एनम्) इस (व्याघ्रम्) व्याघ्ररूप और (सिंहम्) सिंह समान [पराक्रमी राजा] को (महते) बहुत ही (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (हिन्वन्ति) तृप्त करते हैं, और (सुभुवः) सुन्दर जन्म वा बड़ी भूमि वाले पुरुष (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (तस्थिवांसम्) स्थित हुये, (समुद्रम् न) समुद्र के समान [गम्भीर स्वभाव] और (द्वीपिनम्) चीते [के तुल्य पराक्रमी राजा] को (मर्मृज्यन्ते) अनेक प्रकार से शुद्ध करते वा सजाते हैं ॥ ७ ॥

७—(एना) द्वितीयाटौस्स्वेनः। पा० २। ४। ३४। इति एतच्छब्दस्य एनादेशो द्वितीयायाम्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। इति विभक्तेः आच्। चितः। पा० ६। १। १६३। इति चित्वाद् अन्तोदात्तः। एनम् (व्याघ्रम्) व्याघ्रवत् पराक्रमयुक्तम् (परिषस्वजानाः) ष्वञ्ज सङ्गे-लिटः कानच्। आलिङ्गन्तः। परितः संगच्छमानाः पुरुषाः (सिंहम्) सिचेः संज्ञायां हनुमौ कश्च। उ० ५। ६२। इति षिच क्षरणे कप्रत्ययः, चस्य हकारो नुम च। यद्वा। आद्यन्तविपर्यये। हिसि वधे-अच्। हिनस्तीति सिंहः। पञ्चास्यः। सिंहः सहनाद्धिंसेर्वा स्याद् विपरीतस्य सम्पूर्वस्य वा हन्तेः संहाय हन्तीति वा-निरु० ३। १८, सिंहतुल्यपराक्रमवन्तं राजानम् (हिन्वन्ति) हिवि प्रीणने। इदित्वान्नुम्। प्रीणयन्ति। तर्पयन्ति (महते) अधिकाय (सौभगाय) प्राणभृज्जातिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्। पा० ५। १। १२६। इति सुभग मन्त्रे, इति उद्गात्रादिषु पाठाद् भावे अञ्। ञ्नित्यादिर्नित्यम्। पा० ६। १। १९७। इति आद्युदात्तः

भावार्थ—अभिषेक विधि के समाप्त हो चुकने पर सब बड़े बड़े लोग प्रशंसा करके राजा का उत्साह बढ़ावें और अलंकार आदि से उसको यथावत् शोभायमान करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—१० ॥ आञ्जनं देवता ॥ १, २, ४-१० अनुष्टुप् । ३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यक्ष्यम् ।
विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम् ॥ १ ॥

आ । इहि । जीवम् । त्रायमाणम् । पर्वतस्य । असि । अक्ष्यम् । विश्वेभिः । देवैः । दत्तम् । परि-धिः । जीवनाय । कम् ॥१॥

भाषार्थ—(एहि) आ । (जीवम्) जीव को (त्रायमाणम्) पालता हुआ, (पर्वतस्य) पूर्ति करने वाले वा अवयवों वाले मेघ के (अक्ष्यम्) व्यवहार के लिये हितकारक, (विश्वेभिः) सब (देवैः) दिव्य गुणों के साथ (दत्तम्) दिया हुआ (कम्) तू सुख स्वरूप ब्रह्म (जीवनाय) हमारे जीवन के लिये (परिधिः) परकोटा रूप (असि) है ॥ १ ॥

सुभगत्वाय । शोभनैश्वर्याय (समुद्रम् न) समुद्रवद् गम्भीरस्वभावम् (सुभुवः) सु+भू-क्विप् । शोभना भूरुत्पत्तिर्भूमिर्वा यस्य स सुभूः शोभन— जन्मानः । यद्वा । शोभनभूमयः पुरुषाः (तस्थिवांसम्) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क्वसु । स्थितवन्तम् (मर्मृज्यन्ते) मृजू शौचालंकारयोः । यङि निपातनादभ्यासस्य रुगागमः । पुनः पुनः, अत्यर्थं वा शोधयन्ति अलंकुर्वन्ति वा (द्वीपिनम्) द्वि+ई गतौ-पप्रत्ययः । द्वौ वर्णौ ईयते द्वीपं द्विवर्णं चर्म । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति इनि । शार्दूलवद् अधृष्यं राजानम् (अप्सु) उदकेषु (अन्तः) मध्ये ॥

१—(एहि) आगच्छ (जीवम्) इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति जीव प्राणधारणे—क । जीवति प्राणयतीति जीवः । प्राणिनम् । आत्मानम्

भावार्थ—परमेश्वर मेघ के समान जगत् की रक्षा करने वाला हमारे हृदयों में विराजमान होकर हमारा प्राणाधार है. ऐसा समझ कर हम पुरुषार्थ के साथ सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

परि॒पाणं॒ पुरु॑षाणां परि॒पाणं॒ गवा॑मसि ।
अश्वा॑ना॒मर्व॑तां परि॒पाणा॑य तस्थिषे ॥ २ ॥

परि॒-पान॑म् । पुरु॑षाणाम् । परि॒-पान॑म् । गवा॑म् । अ॒सि॒ ।
अश्वा॑नाम् । अर्व॑ताम् । परि॒-पाना॑य । त॒स्थि॒षे ॥ २ ॥

भाषार्थ—तू (पुरुषाणाम्) अग्रगामी मनुष्यों का (परिपाणम्) रक्षा-साधन, और (गवाम्) गौओं का (परिपाणम्) रक्षा साधन (असि) है। और (अर्वताम्) शीघ्र गामी (अश्वानाम्) घोड़ों के (परिपाणाय) पूर्ण रक्षा के लिये (तस्थिषे) तू ही स्थित हुआ है ॥ २ ॥

(त्रायमाणम्) त्रैङ् पालने—शानच् । पालयन् (पर्वतस्य) भृमृदृशियजिपर्वि० । उ० ३ । ११० । इति पर्व पूरणे—अतच् । यद्वा । पर्वतो मेघः—निघ० १ । १० । पर्वमरुद्भ्यां तन् वक्तव्यः । वा० पा० ५।२।१२२। इति पर्वन्-मत्वर्थे तन्। पर्ववान् पर्वतः पर्व पुनः पृणातेः प्रीणातेर्वा । निरु० १ । २० । इष्टपूरकस्य यद्वा अवयवयुक्तस्य मेघस्य (असि) भवसि (भव्यम्) अशेर्देवने । उ०।३। ६५ । इति अशू व्याप्तौ—स । अक्षो व्यवहारः । अक्ष—यत् । अक्षाय व्यवहाराय हितम् (विश्वेभिः) सर्वैः (देवैः) दिव्यगुणैः सह (दत्तम्) हृदये समर्पितम् (परिधिः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति परि+धाञ्—कि । परितो धीयते परिधिः प्राकारः (जीवनाय) चिरकालजीवनार्थम् (कम्) कच दीप्तौ—ड । सुखस्वरूपं ब्रह्म ॥

२—(परिपाणम्) पातेः करणे—ल्युट् । वा भावकरणयोः । पा० ८ । ४ । १० । इति विकल्पेन नस्य णः । परिरक्षणसाधनम् (पुरुषाणाम्) अ० १।१६ ।४। पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य—नि रु०२ । ३ । अग्रगामिनां । मनुष्याणाम् (गवाम्) धेनूनाम् (असि) भवसि (अश्वानाम्) मार्गव्यापनशीलानां तुरङ्गाणाम् (अर्वताम्) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो

भावार्थ—वह परब्रह्म कृपा करके हमसे सब पदार्थों की रक्षा कराता है, इस कारण अभिमान छोड़कर हम पुरुषार्थ करते रहें ॥ २ ॥

उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन । उतामृतस्य त्वं वेत्थाथो असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम् ॥ ३ ॥

उत । असि । परि-पानम् । यातु-जम्भनम् । आ-अञ्जन । उत । अमृतस्य । त्वम् । वेत्थ । अथो इति । असि । जीव-भोजनम् । अथो इति । हरित-भेषजम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उत) और (आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करने वाले ब्रह्म ! तू (परिपाणम्) हमारी रक्षा का साधन, (यातुजम्भनम्) पीड़ाओं का नाश करने वाला (असि) है, (उत) और (त्वम्) तू (अमृतस्य) अमृत अर्थात् मोक्ष सुखका (वेत्थ) ज्ञाता है, (अथो) और भी तू (जीवभोजनम्) जीवों का पालने वाला (अथो) और भी (हरितभेषजम्) रोग से उत्पन्न पीतरंग की ओषधि (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संसार के कर्ता धर्ता परमेश्वर के उपकारों को देखकर मनुष्य प्रयत्न पूर्वक विद्यादि सुख साधनों की प्राप्ति से मोक्षानन्द भोगें ॥ ३ ॥

वनिप् । उ० ४ । ११३ । इति ऋ गतिप्रापणयोः—वनिप् । अर्वणस्त्रसावनञः । पा० ६ । ४ । १२७ । इति नकारस्य तृ=तकारः । गन्तॄणाम् । शीघ्रगामिनाम् (परिपाणाय) परिरक्षणाय (तस्थिषे) ष्ठा-लिट् । स्थितं प्रभूविथ त्वं ब्रह्म ॥

३—(उत) अपि च (असि) भवसि (परिपाणम्) म० २ । परिरक्षणसाधनम् (यातुजम्भनम्) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति यत ताडने-उण् । जभि नाशने—ल्युट् । यातूनां यातनानां पीडानां नाशनम् (आञ्जन) आङ् पूर्वाद् अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—ल्युट् । आसमन्ताद् अनक्ति व्यनक्ति व्यक्तं करोति अव्यक्तं जगत् आञ्जनम् । तत्सम्बुद्धौ । हे यथावत् संसारस्य व्यक्तीकारक ब्रह्म (अमृतस्य) मोक्षस्य । परमानन्दस्य (त्वम्) (वेत्थ) विदो लटो वा।पा०३।४।८३। इति थल् आदेशः । ज्ञाता भवसि(अथो) अपि च (जीवभोजनम्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—ल्युट् । जीवानां जीवतां प्राणिनां पालनम्

यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ।
ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव ॥ ४ ॥

यस्य । आ-अञ्जन । प्र-सर्पसि । अंगम्-अंगम् । परुः-परुः ।
ततः । यक्ष्मम् । वि । बाधसे । उग्रः । मध्यमशीः-इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसार के प्रकट करने वाले ब्रह्म ! तू (यस्य) जिसके (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग में और (परुष्परुः) जोड़ जोड़ में (प्रसर्पसि) व्याप जाता है, (ततः) उस पुरुष से (यक्ष्मम्) राजरोग को (विबाधसे) तू सर्वथा हटा देता है, (इव) जैसे (उग्रः) प्रबल (मध्यमशीः) बिचौलिया पुरुष ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पूर्ण भक्ति से परमात्मा को अपने रोम २ में व्यापक जानकर पुरुषार्थ करता है । परमात्मा उसके सब विघ्नों का नाश कर देता है, जैसे सद्वैद्य बड़े बड़े रोगों को, और नीति कुशल मध्यस्थ राजा आदि वादी और प्रतिवादी के टंटों को मिटा देता है ॥ ४ ॥

नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम् ।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन ॥ ५ ॥

(हरितभेषजम्) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति हृञ् हरणे—इतन् । हरति सुखमिति हरितः । भेषं रोगं जयतीति भेषजम् । भेष+जि—ड । हरितस्य रोगजनितस्य पीतवर्णस्यौषधम् । तद्वद् उपकारकम् ॥

४—(यस्य) पुरुषस्य (आञ्जन) हे सम्यक् संसारस्य व्यक्तिकारक ब्रह्म (प्रसर्पसि) प्रकर्षेण व्याप्नोषि (अङ्गमङ्गम्) प्रत्येकमङ्गम् (परुष्परुः) अर्त्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । इति पॄ पालनपूरणयोः—उसि । प्रत्येकपरुः । प्रत्येकग्रन्थिम् (ततः) तस्मात् पुरुषात् (वि बाधसे) विविधं निवारयसि (यक्ष्मम्) अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् । क्षयम् (उग्रः) उद्गूर्णबलः । प्रबलः (मध्यमशीः) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति मध्यम+शीङ्—क्विप् । मध्यदेशे शेते वर्तते सः । वादिप्रतिवादिनोर्वाक्यादिविषयविमर्शपूर्वकं तत्वनिर्णायकः । मध्यवर्त्ती । मध्यस्थः (इव) यथा ॥

न । एनम् । प्र । आप्नोति । शपथः । न । कृत्या । न । अभि-शोचनम् । न । एनम् । वि-स्कन्धम् । अश्नुते । यः । त्वा । बिभर्ति । आ-अञ्जन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) नतो (एनम्) इस [पुरुष] को (शपथः) क्रोध वचन, (न) न (कृत्या) हिंसा क्रिया और (न) न (अभिशोचनम्) महाशोक (प्राप्नोति) पहुंचता है, और (न) न (एनम्) इसको (विष्कन्धम्) विघ्न (अश्नुते) व्यापता है, (यः) जो [पुरुष] (आञ्जन) हे संसार को व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! (त्वा) तुझको (बिभर्ति) धारण करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से परमात्मा को आत्मा में स्थिर करता है, उसको आध्यात्मिक शान्ति होने से आधिभौतिक और आधिदैविक शान्ति भी मिलती है ॥ ५ ॥

असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत ।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन ॥ ६ ॥

असत्-मन्त्रात् । दुः-स्वप्न्यात् । दुः-कृतात् । शमलात् । उत । दुः-हार्दः । चक्षुषः । घोरात् । तस्मात् । नः । पाहि । आ-अञ्जन ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसारके व्यक्त करने वाले ब्रह्म! तू (असन्म-

---

५—(न) नहि (एनम्) पुरुषम् (प्राप्नोति) गच्छति (शपथः) शीङ्-शपिरुगमि० । उ० ३ । १३ । इति शप आक्रोशे-अथ । मिथ्यापवादः । उपद्रवः । क्रोधवचनम् (कृत्या) विभाषा कृवृषोः । पा० ३ । १ । १२० । इति कृञ् हिंसायाम्—क्यप्, तुक् टाप् च । हिंसाक्रिया (अभिशोचनम्) शुच शोके-ल्युट् । इष्टवियोगानुचिन्तनम् । चित्तविकलता (विष्कन्धम्) अ० १ । १६ । ३ । विशेषेण शोषकः । विघ्नः (अश्नुते) व्याप्नोति (यः) आत्मा (त्वा) त्वाम् (बिभर्ति) आत्मनि धारयति (आञ्जन) म० ३ । हे जगतो व्यक्तीकारक ब्रह्म ॥

६—(असन्मन्त्रात्) असत्+मन्त्रि गुप्तभाषणे-घञ् । मन्त्रो मननात्—

-न्नात्) असत्य भाषण से, (दुष्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुए कुविचार से, (दुष्कृतात्) दुष्ट कर्म से, (शमलात्) अशुद्धता से (उत) और (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले (घोरात्) घोर वा भयानक (चक्षुषः) नेत्र से (तस्मात्) इस सब से (नः) हमें (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के सहाय से प्रयत्न करें कि वे कभी मिथ्या न बोलें, स्वप्न में बुरा विचार न करें, और दुष्कर्मों से बच कर शुद्ध आचरण रक्खें और नेत्र आदि इन्द्रियों से कुचेष्टा न करें ॥ ६ ॥

इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम् ।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष ॥ ७ ॥

इदम् । विद्वान् । आ-अञ्जन । सत्यम् । वक्ष्यामि । न । अनृतम् । सनेयम् । । अश्वम् । गाम् । अहम् । आत्मानम् । तव । पुरुष ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(आञ्जन) हे संसार के व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! तेरे (इदम्) परम ऐश्वर्य को (विद्वान्) जानता हुआ मैं (सत्यम्) सत्य (वक्ष्यामि) बोलूंगा, (अनृतम्) असत्य (न) नहीं । (पूरुष=पुरुष) हे सब के अगुआ पुरुष,

---

निरु० ७, । १२ । असत्यभाषणात् (दुष्वप्न्यात) दुःस्वप्न—यत् । दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् कुविचारात् (दुष्कृतात्) दुष्टकृतात् । पापात् (शमलात्) शकिशम्योर्नित् । उ० १ । ११२ । इति शम उपशमे-कलप्रत्ययः । अशुद्धव्यवहारात् (उत) अपि च (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । हार्दयतेः क्विपि णिलोपे रूपम् । दुष्टहृदययुक्तात् (चक्षुषः) नेत्रात् (घोरात्) क्रूरात् (तस्मात्) उपर्युक्तात् सर्वस्मात् (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (आञ्जन) म० ३ । हे जगतो व्यक्तीकारक ब्रह्म ।

७—(इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्य्ये कमिन्, नलोपः । परमैश्वर्यम् । महाप्रभुताम् (विद्वान्) अ० २ । १ । २ । विद ज्ञाने—शतृ । वसुरादेशः । जानन् (सत्यम्) यथार्थम् (वक्ष्यामि) वच-लृट् । वदिष्यामि (न) नहि (अनृतम्) असत्यम् (सनेयम्) षण सम्भक्तौ-लिङ् ।

परमेश्वर ! (तव) तेरे [दिये हुये] (अश्वम्) घोड़े, (गाम्) गौ वा भूमि और (आत्मानम्) आत्मबल को (अहम्) मैं (सनेयम्) सेवन करूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा देखकर सदा सत्य ही बोले और पुरुषार्थ पूर्वक सब पदार्थों से उपकार लेवे ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध ऋ० १० । ९७ । ४ और यजु० १२ । ७८ में इस प्रकार है ।

सनेयमश्वं गां वासं आत्मानं तवं पूरुष ॥

हे पुरुष ! तेरे [दिये हुये] घोड़े, गौ वा भूमि वस्त्र और आत्मबल को सेवन करूं ॥

त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः ।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता ॥ ८ ॥

त्रयः । दासाः । आ-अञ्जनस्य । तक्मा । बलासः । आत् । अहिः । वर्षिष्ठः । पर्वतानाम् । त्रि-ककुत् । नाम । ते । पिता ॥ ८ ॥

भावार्थ—(तक्मा) जीवन को कष्ट देने वाला ज्वर, (बलासः) बल का गिराने वाला संनिपात, कफ़ादि रोग, (आत्) और (अहिः) जीवों को मारने वाला सांप, (त्रयः) यह तीनों (आञ्जनस्य) संसार के व्यक्त करने वाले

संभजेयम् (अश्वम्) हयम् (गाम्) धेनुं भूमिं वा (अहम्) उपासकः (आत्मानम्) अ० १ । १८ । ३ । आत्मबलम् । पुरुषार्थम् (तव) तव प्रसादात् (पूरुष) म० २ । छान्दसो दीर्घः । हे अग्रगामिन् परमात्मन् ॥

८—(त्रयः) त्रिसंख्याकाः (दासाः) दंसेष्टटनौ न आ च । उ० ५ । १० इति दसि दर्शने—ट । दंसयति पश्यतीति दासः । यद्वा । दास दाने—अच् । दासति ददाति आत्मानं स दासः । सेवकाः (आञ्जनस्य) म० ३ । जगतो व्यक्तीकारकस्य ब्रह्मणः (तक्मा) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकारी ज्वरः (बलासः) बल+असु क्षेपणे—अण् । बलमस्यति क्षिपतीति । श्लेष्मविकारः (आत्) अपि च (अहिः) अ० २।५।५। आहन्ता । सर्पः (वर्षिष्ठः) प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ । १५७ । इति वृद्ध—इष्ठन् । वर्षि इत्यादेशः । वृद्धतमः (पर्वतानाम्) म० १ । पर्ववान् पर्वतः—निरु० १ । २० । पर्ववतां लोकानाम् (त्रिककुत्) त्रि+

ब्रह्म के (दासाः) दास हैं। [हे आञ्जन, ईश्वर !] (वर्षिष्ठः) सब में वृद्ध, (पर्वतानाम्) अवयव वाले स्थूल लोकों का (पिता) पालन कर्ता,(त्रिककुत्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] सुखों का पहुंचाने वाला यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाला (ते) तेरा (नाम) नाम है ॥८॥

भावार्थ—ईश्वरीय नियम तोड़ने वाले मनुष्यों को परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से रोग आदि कष्ट देता है, और अपने आज्ञाकारियों को वह अत्यन्त सुख पहुंचाता है ॥ ८ ॥

यदाञ्ज॑नं त्रैककु॒दं जा॒तं हि॒मव॑त॒स्परि॑ ।
या॒तूँश्च॒ सर्वा॑न् ज॒म्भय॒त्सर्वा॑श्च यातुधा॒न्य॑: ॥ ९ ॥

यत् । आ॒-अ॒ञ्जन॑म् । त्रै॒क॒कु॒दम् । जा॒तम् । हि॒म-व॑तः । परि॑ ।
या॒तून् । च॒ । सर्वा॑न् । ज॒म्भय॑त् । सर्वा॑: । च॒ । या॒तु॒-धा॒न्य॑: ॥९॥

भाषार्थ—(यत्) सब का पूजनीय वा पदार्थों की संगति करने वाला, (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुंचाने वाले यद्वा तीनों लोकों वा कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर, (जातम्) सब में

क+कुत्। कं सुखम्—निघ० ३। ६। कवते, गतिकर्मा—निघ० २। १४। कुङ् गतिशोषणयोः—क्विप्, तुक् च। अन्तर्भावितण्यर्थः, पृषोदरादित्वात् तस्य दः। आध्यात्मकादीनि त्रीणि कानि सुखानि कावयति गमयति स त्रिककुत्। यद्वा। मृग्रोरुतिः। उ० १। ६४। इति त्रि+ककि गतौ—उति, तस्य दः। त्रिषु लोकेषु कालेषु वा ककुद् गतिर्यस्य सः (नाम) संज्ञा (ते) तव (पिता) सर्वस्य पाता पालयिता वा ॥

९—(यत्) त्यजितनियजिभ्यो डित्। उ० १। १३२। इति यज देवपूजसङ्गतिकरणदानेषु—अदि, स च डित्। यजनीयं पूजनीयम्। पदार्थानां सङ्गतिकारकम् (आञ्जनम्) म० ३। लोकानां व्यक्तीकारकम् ब्रह्म (त्रैककुदम्) तस्येश्वरः। पा० ५। १। ४२। इति बाहुलकात् त्रिककुद्–अण्। त्रिककुद्—इति व्याख्यातम् म० ८। त्रिककुदाम् आध्यात्मादित्रिप्रकारस्य सुखस्य प्रापकानां, यद्वा, त्रिषु लोकेषु कालेषु गतिवतां मनुष्याणां ईश्वरम् (जातम्)

प्रसिद्ध, (हिमवतः) हिंसा वाले कर्म से (परि) पृथक् वर्तमान, (आञ्जनम्) संसार का व्यक्त करने वाला ब्रह्म (सर्वान्) सब (यातून्) पीड़ा देने वाले दुष्टों (च) और (सर्वाः) सब (यातुधान्यः=०—नीः) पीड़ा देने वाली शत्रु सेनाओं को (च) भी (जम्भयत्) नाश करने वाला है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो पुण्यात्मा पुरुष विद्या बल से सब प्रकार के सुखों को पहुंचाते, और तीनों द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष लोकों, और तीनों भूत, भविष्यत् और वर्तमान कालों के वृत्तान्त जानते हैं, वे परब्रह्म की छत्र छाया में रहकर सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगते हैं ॥ ९ ॥

यदि॒ वासि॒ त्रैक॑कु॒दं यदि॑ या॒मु॑नमु॒च्यसे॑ ।
उ॒भे तें॑ भ॒द्रे नाम्नी॒ ताभ्यां॑ नः पा॒ह्याञ्जन ॥ १० ॥

यदि॑ । वा॒ । असि॑ । त्रै॒क॑कु॒दम् । यदि॑ । या॒मु॑नम् । उ॒च्यसे॑ ।
उ॒भे इति॑ । ते॒ । भ॒द्रे इति॑ । नाम्नी॒ इति॑ । ताभ्या॑म् । नः॒ ।
पा॒हि॒ । आ॒-अ॒ञ्ज॒न ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यदि वा) चाहे तू (त्रैककुदम्) तीन प्रकार के [आध्यात्मिक आदि] सुखों के पहुंचाने वाले, वा तीनों लोकों या कालों में गति वाले पुरुषों का ईश्वर (असि) है, (यदि=यदि वा) चाहे तू (यामुनम्) यमों, नियन्ताओं, न्यायकारियों का हितकारी (उच्यसे) कहा जाता है, (उभे) दोनों (ते) तेरे (नाम्नी) नाम (भद्रे) कल्याण कारक हैं, (आञ्जन) हे

सर्वप्रप्रादुर्भूतम् (हिमवतः) हन्तेर्हि च । उ० ४ । १४७ । इति हन हिंसागत्योः मक्, हिरादेशः । मतुप् । हिंसायुक्तात् कर्मणः (परि) वर्जने । पृथग् वर्तमानम् (यातून्) कृवापा० । उ० १ । १ । इति यत ताड़ने—उण् । पीड़कान् राक्षसान् (सर्वान्) अशेषान् (जम्भयत्) नाशयद् वर्तते (सर्वाः) (च) (यातुधान्यः) अ० १ । २८ । २ । शसः स्थाने जस् । यातुधानीः । पीड़ादायिनीः शत्रुसेनाः ॥

१०—(यदि वा) अथवा (असि) भवसि (त्रैककुदम्) व्याख्यातम् म० ९ (यदि) अथवा (यामुनम्) अजियमिशीङ्भ्यश्च । उ० ३ । ६१ । इति यम नियमने—उनन् । यमयतीति यमुनः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति अण् ।

संसार के व्यक्त करनेवाले ब्रह्म ! (ताभ्याम्) उन दोनों से (नः पाहि) हमारी रक्षा कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम उत्तम गुणों का चिन्तन करके पुरुषार्थ के साथ दुष्कर्मों से बचकर सदा आनन्द भोगें ॥ १० ॥

सूक्तम् १० ॥

१—७ ॥ शङ्खो देवता ॥ १-५ अनुष्टुप्, ६ पथ्या पङ्क्तिः, ७ पञ्चपदा त्रिष्टुप् ॥

विघ्ननिवारणायोपदेशः—विघ्नों के हटाने के लिये उपदेश।

वाताज्जातो अन्तरिक्षाद् विद्युतो ज्योतिषस्परि ।
स नो हिरण्यजाः शङ्खः कृशनः पात्वंहसः ॥ १ ॥

वातात् । जातः । अन्तरिक्षात् । वि-द्युतः । ज्योतिषः । परि । सः । नः । हिरण्य-जाः । शङ्खः । कृशनः । पातु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वातात्) पवन से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से (विद्युतः) बिजुली से, और (ज्योतिषः) सूर्य से (परि) ऊपर (जातः) प्रकट होने वाला (सः) दुःख नाशक ईश्वर (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (कृशनः) सूक्ष्म रचना करने वाला, (शङ्खः) सबों का विवेचन करने वाला

यमुनेभ्यो यमेभ्यो न्यायकारिभ्यो हितम् (उच्यसे) त्वं कथ्यसे (उभे) त्रैककुदं यामुनमिति (ते) तव (भद्रे) कल्याणकरे (नाम्नी) नामनी, संज्ञे (ताभ्याम्) नामभ्याम् (नः) अस्मान् (पाहि) रक्ष (आञ्जन) म० ३ । हे संसारस्य व्यक्तीकारक, ब्रह्म ॥

१—(वातात्) अ० १ । ११ । ६ । वायुसकाशात् (जातः) प्रादुर्भूतः (अन्तरिक्षात्) अ० १ । ३० । ३ । सर्वमध्ये दृश्यमानात् । आकाशात् (विद्युतः) भ्राजभासधुर्विद्युतोर्जि० । पा० ३ । २ । १७७ इति वि+द्युत दीप्तौ—क्विप् । विद्योतमानायाः । तडितः सकाशात् (ज्योतिषः) अ० १ । ६ । १ । दीप्यमानात् सूर्यात् (परि) अधि । उपरि भागे जातः । पञ्चम्याः परावध्यर्थे । पा० ८ । ३ । ५१ । इति विसर्गनीयस्य सत्वम् (सः) षो अन्तकर्मणि—ड । दुःखनाशकः । विष्णुः । ईश्वरः (नः) अस्मान् (हिरण्यजाः) हिरण्यम् । अ० १ । ६ । २ । जन

वा देखने वाला, वा शान्ति देने वाला परमेश्वर (नः) हमको (अंहसः) रोग जनक दुष्कर्म से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार के सब सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों का रचने वाला और हमारे गुप्त प्रकट कर्मों का देखने और विचारनेवाला है, उसका सदा ध्यान करके हम दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्म करते रहें ॥ १ ॥

यो अग्रतो रोचनानां समुद्रादधि जज्ञिषे ।
शङ्खेन हत्वा रक्षांस्यत्रिणो वि षहामहे ॥ २ ॥

यः । अग्रतः । रोचनानाम् । समुद्रात् । अधि । जज्ञिषे ।
शङ्खेन । हत्वा । रक्षांसि । अत्रिणः । वि । सहामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः=यः त्वम्) जो तू (रोचनानाम) प्रकाशमान लोकों के (अग्रतः) आगे और (समुद्रात्) जल समूह समुद्र से भी (अधि) ऊपर [देश और काल में] (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, [उस तुझ] (शङ्खेन) सबों के विवेचन करनेवाले, वा देखने वाले, वा शान्ति देने वाले, परमेश्वर [के आश्रय]

सनखन० । पा०३ । २। ६७ । इति जन जनने,वा जनी प्रादुर्भावे—विट् । विड्वनो रनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ इति आत्वम् । हिरण्यानां तेजसां सूर्यादीनां सुवर्णादिधनानां च जनयिता (शङ्खः) शमेः खः । उ० १ । १०२ । इति शम आलोचने=विवेचने । यद्वा शमो दर्शने । यद्वा । शमु उपशमे, शान्तीकरणे—ख प्रत्ययः । सर्वेषां विवेचको विचारकर्ता दर्शको शान्तिदायको वा परमेश्वरः (कृशनः) कृपृवृजि० । उ० २ । ८१ । इति कृश तनूकरणे—क्यु । कृशनं हिरण्य म—निघ० १ । २ । रूपमं—निघ० ३ । ७ । तनूकर्ता । सूक्ष्मरचयिता (पातु) रक्षतु (अंहसः) अमेर्हुक् च । उ० ४ । ११३ । इति अम रोगे गतौ च—असुन् हुक् च । पापात् ॥

२—(यः) हे शङ्ख यस्त्वम् (अग्रतः) अग्रे । आदौ (रोचनानाम्)अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४८ । इति रुच दीप्तौ—युच् । प्रकाशमानानां नक्षत्रादीनाम् (समुद्रात्) जलसमूहात् (अधि) उपरि देशे काले च (जज्ञिषे) जनी-लिट् । त्वं प्रादुर्बभूविथ (शङ्खेन) म० १ । सर्वेषां विवेचकेन दर्शकेन शा-

से (रक्षांसि) जिन से रक्षा की जावे उन राक्षसों को (हत्वा) मारकर (अत्रिणः) पेटार्थियों को (वि) विविध प्रकार से (सहामहे) हम दबाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वदा सर्वोपरि विराजमान परमेश्वर की महिमा और उपकारों को विचारकर, हम लोग कुव्यवहार से बचकर पुरुषार्थ के साथ आनन्द भोगें ॥ २ ॥

श॒ङ्खेना॑मी॒वाम॑म॑तिं श॒ङ्खेनो॒त स॒दान्वाः॑ ।
श॒ङ्खो नो॑ वि॒श्वभे॑षजः॒ कृश॑नः पा॒त्वंह॑सः ॥ ३ ॥

श॒ङ्खेन॑ । अमी॑वाम् । अम॑तिम् । श॒ङ्खेन॑ । उ॒त । स॒दान्वाः॑ ।
श॒ङ्खः । नः॒ । वि॒श्व-भे॑षजः । कृश॑नः । पा॒तु । अंह॑सः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शङ्खेन) सबों के विचार करने वाले परमेश्वर से (अमीवाम्) अपनी पीड़ा और (अमतिम्) कुमति को (उत) और भी (शङ्खेन) सबों के देखने वाले परमेश्वर से (सदान्वाः) सदा चिल्लाने वाली, यद्वा, दानवों, दुष्टों के साथ रहने वाली निर्धनता आदि विपत्तियों को [विषहामहे म० २] [हम दबाते हैं म० २] । (शङ्खः) शान्ति देने वाला, (विश्वभेषजः) सब भय का जीतने वाला, (कृशनः) सूक्ष्म रचना करने वाला परमात्मा (नः) हम को (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर के सर्वोपकारक गुणों को विचारता हुआ प्रयत्न करके दुष्कर्मों से अपनी रक्षा करे ॥ ३ ॥

न्तिदायकेन वा परमेश्वरेण (हत्वा) नाशयित्वा (रक्षांसि) अ० १ । २१ । ३ । राक्षसान् । शत्रून् (अत्रिणः) अ० १ । ७ । ३ । अद भक्षणे-त्रिनि । भक्षणशीलान् । उदरपोषकान् (वि) विशेषेण (सहामहे) अभिभवामः ॥

३—(शङ्खेन) म० १ तथा २ (अमीवाम्) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति अम रोगे-वन् । ईडागमः । टाप् । पीडाम् । रोगम् (अमतिम्) कुमतिम् । अज्ञानम् (उत) अपि च (सदान्वाः) अ० २ । १४ । १ । सदा नोनूयमानाः शब्दायमानाः । यद्वा । सदानवाः, दानवैः सह वर्तमाना दरिद्रतादिविपत्तीः, "विषहामहे"—इत्यनुषज्यते—म० २ (शङ्खः) म० १ । (नः) अस्मान् (विश्वभेषजः) अ० २ । ४ । ३ । सर्वभयजेता । सर्वौषधः (कृशनः पातु अंहसः) व्याख्यातं म० ॥ १ ॥

दिवि जातः समुद्रजः सिन्धुतस्पर्याभृतः ।
स नो हिरण्यजाः शङ्ख आयुष्प्रतरणो मणिः ॥ ४ ॥

दिवि । जातः । समुद्र-जः । सिन्धुतः । परि । आ-भृतः । सः ।
नः । हिरण्य-जाः । शङ्खः । आयुः-प्रतरणः । मणिः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दिवि) सूर्य मण्डल में (जातः) प्रकट, (समुद्रजः) अन्तरिक्ष में प्रकट, (सिन्धुतः) पार्थिव समुद्र से (परि) ऊपर (आभृतः) सर्वथा पुष्टि को प्राप्त, (सः) दुःखनाशक, (हिरण्यजाः) सूर्यादि तेजों का उत्पन्न करने वाला, (शङ्खः) शान्तिकारक, (मणिः) प्रशंसा योग्य परमेश्वर (नः) हमारा (आयुष्प्रतरणः) जीवन बढ़ाने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब के ऊपर, नीचे, मध्य में विराजमान होकर अपनी न्याय व्यवस्था से हमारे उत्तम कर्मों के अनुसार हमें उत्तम फल देता है ॥ ४ ॥

समुद्राज्जातो मणिर्वृत्राज्जातो दिवाकरः ।
सो अस्मान्त्सर्वतः पातु हेत्या देवासुरेभ्यः ॥ ५ ॥

समुद्रात् । जातः । मणिः । वृत्रात् । जातः । दिवा-करः । सः ।
अस्मान् । सर्वतः । पातु । हेत्याः । देव-असुरेभ्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वृत्रात्) ढकने वाले मेघ से (जातः) प्रकट हुये (दिवाकरः)

४—(दिवि) द्युलोके । सूर्यमण्डले (जातः) प्रादुर्भूतः । वर्तमानः (समुद्रजः) सप्तम्यां जनेर्डः । पा० ३ । २ । ९७ । इति डप्रत्ययः । अन्तरिक्षे प्रत्यक्षः (सिन्धुतः) पार्थिवजलौघात् (परि) म० १ । अधि । उपरि (आभृतः) समन्तात् पुष्टिं प्राप्तः (सः) म० १ । दुःखनाशक ईश्वरः (नः) अस्माकम् । अस्मभ्यम् (हिरण्यजाः) म० १ । तेजसां जनयिता (शङ्खः) म० १ । शान्तिकारकः (आयुष्प्रतरणः) आयुषो जीवनस्य प्रवर्धयिता (मणिः) अ० १ । २९ । १ । रत्नम् । प्रशंसनीयः परमेश्वरः ॥

५—(समुद्रात्) अन्तरिक्षात् । अन्तरिक्षस्थलोकजातात् (जातः) प्रादु

सूर्य [के समान] (समुद्रात) अन्तरिक्ष से (जातः) प्रकट हुआ, (मणिः) प्रशंसा योग्य (सः) दुःखनाशक, विष्णु (अस्मान्) हम को (सर्वतः) सब ओर से (हेत्या) अपने वज्र द्वारा (देवासुरेभ्यः) देवताओं के गिराने वाले शत्रुओं से (पातु) बचावे ॥५॥

भावार्थ—जैसे सूर्य मेघ मंडल से निकल कर देदीप्यमान होता है, इसी प्रकार परमात्मा अन्तरिक्षस्थ प्रत्येक पदार्थ से विज्ञानियों को प्रकाशमान दीखता है। वह जगदीश्वर दुष्टों को दंड और शिष्टों को आनन्द देता है ॥ ५ ॥

हिरण्यानामेकोऽसि सोमात् त्वमधि जज्ञिषे । रथे त्वमसि दर्शत इषुधौ रोचनस्त्वं प्रण आयूंषि तारिषत् ॥ ६ ॥

हिरण्यानाम् । एकः । असि । सोमात् । त्वम् । अधि । जज्ञिषे । रथे । त्वम् । असि । दर्शतः । इषु-धौ । रोचनः । त्वम् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यानाम्) सूर्यादि तेजों के बीच तू (एकः) एक (असि) है, (त्वम्) तू (सोमात्) सूर्य लोक से (अधि) ऊपर (जज्ञिषे) प्रकट हुआ था, (त्वम्) तू (रथे) रथ में (दर्शतः) दृश्यमान और (त्वम्)

भूतः। जातः (मणिः) म० ४। प्रशंसनीयः परमेश्वरः (वृत्रात्) अ० २। ५। ३। आवरकाद् मेघात् (दिवाकरः) दिवाविभानिशा०। पा० ३। २। २१। इति दिवा+कृञ् करणे—ट। दिवा दिनं करोतीति। सूर्यः। लुप्तोपममेतत्। तद्वत् प्रभातिशययुक्तः परमेश्वरः (सः) म० १। दुःखनाशक ईश्वरः (अस्मान्) वेदानुगामिनः पुरुषान् (सर्वतः) सर्वस्मादुपद्रवात् (पातु) रक्षतु (हेत्या) अ० १। १३। ३। वज्रेण—निघ० २। २० (देवासुरेभ्यः) असेरुरन्। उ० १। ४२। इति असु क्षेपणे—उरन्। अस्यति क्षिपति देवान् सोऽसुरः। देवानां धर्मात्मनाम् असुरेभ्यः क्षेपकेभ्यः सकाशात् ॥

६—(हिरण्यानाम्) अन्धकारहरणशीलानां सूर्यादितेजसां मध्ये (एकः) अद्वितीयः (असि) (सोमात्) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु० १४। १२।

तू (इषुधौ) तूणीर में (रोचनः) प्रकाशमान (असि) है। [आप] (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्रतारिषत्) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ--अद्वितीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा सूर्यादि लोकों से काल और विस्तार में बड़ा है, वही रथारूढ़ और बाणधारी शूर को रणक्षेत्र में बल देता है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम अपना जीवन धार्मिक बनाकर आनन्द भोगें ॥ ६ ॥

दे॒वाना॒मस्थि॒ कृश॑नं बभूव॒ तदा॑त्म॒न्वच्च॑रत्य॒प्स्व॑१॒॑न्तः ।
तत् ते॑ बध्ना॒म्यायु॑षे॒ वर्च॑से॒ बला॑य दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय कार्श॒नस्त्वा॒भि र॑क्षतु ॥ ७ ॥

दे॒वाना॑म् । अस्थि॑ । कृश॑नम् । ब॒भू॒व॒ । तत् । आ॒त्म॒न्-वत् । च॒र॒ति॒ । अ॒प्-सु । अ॒न्तः । तत् । ते॒ । ब॒ध्ना॒मि॒ । आयु॑षे । वर्च॑से । बला॑य । दी॒र्घा॒यु॒-त्वाय॑ । श॒त-शा॑रदाय । का॒र्श॒नः । त्वा॒ । अ॒भि । र॒क्ष॒तु॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ--(कृशनम्) सूक्ष्म रचना करने वाला ब्रह्म (देवानाम्) दिव्य गुणों और प्रकाशमान पदार्थों का (अस्थि) प्रकाशक (बभूव) हुआ था।

सूर्यलोकात् (त्वम्) (अधि) उपरि देशे काले च (जज्ञिषे) प्रादुर्बभूविथ (रथे) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन्। उ० २।२। इति रमु क्रीड़ने क्थन्। रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा--निरु० ६।११। रमणीये याने। रथारूढे, इत्यर्थः (त्वम् असि) (दर्शतः) भृमृदृशि० । उ० ३। ११० । इति दृशिर् प्रेक्षणे--अतच्। दृश्यमानः (इषुधौ) अ० ३। २३। २। बाणाधारे। तूणीरे (रोचनः) रोचमानः। दीप्यमानः (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (प्रतारिषत्) अ० २।४।६। लेटि रूपम्। प्रवर्धयेत्, भवान् इति शेषः॥

७--(देवानाम्) दिव्यगुणानां प्रकाशमानानां पदार्थानां च (अस्थि) असिसञ्जिभ्यां क्थिन्। उ० ३। १५४। इति असु क्षेपे, यद्वा। अस गतिदीप्त्यादानविद्यमानतासु--क्थिन्। प्रदीपकं प्रकाशकम् (कृशनम्) म० १। सूक्ष्मकारकं

(तत्) विस्तृत ब्रह्म (अप्सु अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर [ठहरे हुये] (आत्मन्वत्) आत्मा वाले जगत् में (चरित) विचरता है। [हे प्राणी !] (तत्) उस ब्रह्म को (ते) तेरे (आयुषे) लाभ के लिये, (वर्चसे) तेज वा यश के लिये (बलाय) बल के लिये, और (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये [अन्तः करण के भीतर] (बध्नामि) मैं बांधता हूं। (कार्शनः) अनेक सुवर्णादि धनों और तेजों वाला परमेश्वर (त्वा) तुझको (अभि) सब प्रकार (रक्षतु) पाले ॥ ७ ॥

भावार्थ—विश्वकर्मा ब्रह्म ने बुद्धि आदि गुण और मनुष्य शरीर आदि दिव्य पदार्थ रचे हैं, वही सब में रमकर जीवन शक्ति देरहा है, उसी को मनुष्य हृदय में धारण करके पुरुषार्थ के साथ यशस्वी होकर आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ।

ब्रह्म (तत्) विस्तृतम् ब्रह्म (आत्मन्वत्) आत्मन्—मतुप्। मादुपधायाश्च०। पा० ८। २। ९। इति वत्वम्। अनो नुट्। पा० ८। २। १६। इति नुट्। सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत्। (चरति) गच्छति व्याप्नोति (अप्सु) अन्तरिक्षे—निघ० १। ३। (तत् ते ...... शतशारदाय) व्याख्यातम्—अ० १। ३५। १। (तत्) प्रसिद्धम् (ते) तव (बध्नामि) धारयामि (आयुषे) आयाय। लाभाय (वर्चसे) तेजसे। यशसे (बलाय) पराक्रमाय (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) शतशरदृतुयुक्ताय। शतसंवत्सरयुक्ताय (कार्शनः) कृशनः—मा० १। कृशनं हिरण्यम्—निघ० १। २। रूपम्—निघ० ३। ७। तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति कृशन—अण्। कृशनानि हिरण्यानि सुवर्णादिधनानि तेजांसि च यस्य स कार्शनः (त्वा) प्राणिनम् (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पालयतु ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ११ ॥

१-१२ ॥ अनड्वान् देवता ॥ १-६ त्रिष्टुप्, ७ षट्पदा त्रिष्टुप्, ८-१२ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्या पुरुपार्थश्चोपदिश्येते । ब्रह्म विद्या और पुरुषार्थ का उपदेश ॥

अनड्वान् दाधार पृथिवीमुत द्यामनड्वान् दाधारोर्व१न्तरिक्षम् । अनड्वान् दाधार प्रदिशः षडुर्वीरनड्वान् विश्वं भुवनमा विवेश ॥ १ ॥

अनड्वान् । दाधार । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अनड्वान् । दाधार । उरु । अन्तरिक्षम् । अनड्वान् । दाधार । प्र-दिशः । षट् । उर्वीः । अनड्वान् । विश्वम् । भुवनम् । आ । विवेश ॥१॥

भाषार्थ—(अनड्वान्) प्राण जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वरने (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक वा आकाश को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (षट्) पूर्वादि, नीचे और ऊपकरी छह (उर्वीः) चौड़ी (प्रदिशः) महादिशाओं को (दाधार) धारण किया था । (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (विश्वं भुवनम्) सब जगत् में (आ विवेश) सब प्रकार प्रवेश किया था ॥ १ ॥

१—(अनड्वान्) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति अन प्राणने-असुन् । अनो वायुरनितेरपि वोपमार्थे स्यादनस इव शकटादिव, अनः शकटमानद्धमस्मिंश्चीवरमनितेर्वा स्याज्जीवनकर्मणा उपजीवन्त्येनन्मेघोऽप्यन एतस्मादेव—निरु० ११ । ४७ । अनः प्राणं जीवनं वायुं मेघं शकटं वहति वा गमयतीति विग्रहे । क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । इति अनसि वहेः क्विप्, अनसो डश्च ।

भावार्थ—पुनरुक्ति निश्चय द्योतक है, अर्थात् एक परमात्मा ही सब जीवन साधन देकर सब पदार्थों को रचता है। सब मनुष्य भक्ति पूर्वक उसकी अपार महिमा को विचार कर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

अनड्वानिन्द्रः स पशुभ्यो वि चष्टे त्रयाञ्छक्रो वि मिमीते अध्वनः। भूतं भविष्यद् भुवना दुहानः सर्वा देवानां चरति व्रतानि ॥ २ ॥

अनड्वान्। इन्द्रः। सः। पशु-भ्यः। वि। चष्टे। त्रयान्। शक्रः। वि। मिमीते। अध्वनः। भूतम्। भविष्यत्। भुवना। दुहानः। सर्वा। देवानाम्। चरति। व्रतानि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला (अनड्वान्) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर (पशुभ्यः) व्यक्त वाणी वाले और अव्यक्त वाणी वाले जीवों के लिये (वि) विविध प्रकार से (चष्टे) देखता है (शक्रः) वह समर्थ परमात्मा (त्रयान्) तीन अवयव [भूमि सूर्य और अन्तरिक्ष] वाले

वचिस्वपियजादीनां किति। पा० ६। १। १५। इति यजादित्वात् संप्रसारणम्। अनडुह् इति स्थते। आम्नुम्सुलोपेषु कृतेषु संयोगान्तलोपेन हकारलोपः। अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकः प्रापकः परमेश्वरः (दाधार) तुजादित्वाद् अभ्यासदीर्घत्वम्। धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (प्रदिशः) महादिशाः (षट्) प्राच्यादिनीचोच्चपद् संख्याकाः (उर्वीः) विस्तीर्णाः (विश्वं भुवनम्) सर्वं जगत् (आ विवेश) सर्वतः प्रविष्टवान् ॥

२—(अनड्वान्) म० १। अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (सः) प्रसिद्धः (पशुभ्यः) अ० २। २६। १। व्यक्तवाग्भ्योऽव्यक्तवाग्भ्यो जीवेभ्यः—निरु० ११।२९। तेषां हिताय (वि) विविधम् (चष्टे) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च। चष्टे पश्यतिकर्मा—निघ० ३। ११। पश्यति कथयति वा (त्रयान्) संख्याया अवयवे तयप्। पा० ५। २। ४२। इति तयप्। द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा। पा० ५।२।४३। इति तयस्य अयच्। त्र्यवयववान् (शक्रः)

(अध्वनः) मार्गों को (वि) विशेष करके (मिमीते) नापता है । (भूतम्) भूत, (भविष्यत्) भविष्यत् और (भुवना=०-नि) लोकों वा वर्त्तमान वस्तुओं को (दुहानः) परिपूर्ण करता हुआ वह (देवानाम्) इन्द्रियों के (सर्वा व्रतानि) सब कामों को (चरति) सिद्ध करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार के कर्मों का साक्षी होकर तीनों लोकों और तीनों कालों की सुधि रखता, और देखना आदि सब काम करता है ॥ २ ॥

इन्द्रो जातो मनुष्येष्वन्तर्घर्मस्तप्तश्चरति शोशुचानः । सुप्रजाः सन्त्स उदारे न सर्षद् यो नाश्नीयादनडुहो विजानन् ॥ ३ ॥

इन्द्रः । जातः । मनुष्येषु । अन्तः । घर्मः । तप्तः । चरति । शोशुचानः । सु-प्रजाः । सन् । सः । उत्-आरे । न । सर्षत् । यः । न । अश्नीयात् । अनडुहः । वि-जानन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तप्तः) तपते हुये (घर्मः) सूर्य के समान (शोशुचानः) अत्यन्त प्रकाशमान (इन्द्रः) परमेश्वर (मनुष्येषु अन्तः) मननशील मनुष्यों के भीतर (जातः) प्रकट होकर (चरति) विचरता है । (यः) जो पुरुष

शक्तः समर्थः (वि) विशेषेण (मिमीते) माङ् माने शब्दे च । भृञामित् । पा० ७ । ४ । ७६ । इत्यभ्यासस्य इत्वम् । परिमितान् करोति (अध्वनः) अ० १ । ४ । १ । मार्गान् (भूतम्) गतम् (भविष्यत्) अनागतम् (भुवना) भुवनानि । लोकान् वर्तमानानि वस्तूनि वा (दुहानः) दुह प्रपूरणे—शानच् । प्रपूरयन् (सर्वा) सर्वाणि (देवानाम्) इन्द्रियाण्यत्र देवा उच्यन्ते—निरु० १३ । ११ । इन्द्रियाणाम् (व्रतानि) कर्माणि (चरति) करोति ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (मनुष्येषु) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलेषु (अन्तः) मध्ये (घर्मः) अ० ४ । १ । २ । दीप्यमानः । घृणिः सूर्य इव । घर्मः, अहर्नाम—निघ० १।९ (तप्तः) तापयुक्तः (चरति) संचरति । वर्तते (शोशुचानः) शुच दीप्तौ यङन्तात् शानच् । देदीप्यमानः (सुप्रजाः) उत्तमान् पुत्रपौत्रभृत्यादीन् (सन्) अस भुवि—शतृ । विद्यमानः पुरुषः (सः)

(अनडुहः) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले परमेश्वर का (न विजानन्) विज्ञान न रखता हुआ (अश्नीयात्) भोजन करे, (सः) वह (सन्) विद्यमान पुरुष (उदारे) बड़े पद पर वर्तमान (सुप्रजाः) उत्तम प्रजा गणों को (न सर्पत्) न पावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा मनुष्यादि प्राणियों में निःसन्देह प्रकाशमान है। जो अज्ञानी पुरुष उसकी महिमा को नहीं जानता, वह दुष्ट आप, और उसके साथी प्रजा गण महा दुःख भोगते हैं ॥ ३ ॥

अनड्वान् दुहे सुकृतस्य लोक ऐनं प्याययति पवमानः पुरस्तात्। पर्जन्यो धारा मरुत ऊधो अस्य यज्ञः पयो दक्षिणा दोहो अस्य ॥ ४ ॥

अनड्वान्। दुहे। सु-कृतस्य। लोके। आ। एनम्। प्याययति। पवमानः। पुरस्तात्। पर्जन्यः। धाराः। मरुतः। ऊधः। अस्य। यज्ञः। पयः। दक्षिणा। दोहः। अस्य ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अनड्वान्) प्राण वा जीविका पहुंचाने वाला परमेश्वर (सुकृतस्य) पुण्य के (लोके) स्थान में (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है, (पवमानः) शुद्ध करने वाला परमात्मा (पुरस्तात्) पहिले से ही (एनम्) इस

(उदारे) उत्+आङ्+रा दानादानयोः—क। यद्वा। उत्+ऋ गतिप्रापणयोः घञ्। महति पदे। 'उदारो दातृमहतोः' इत्यमरः—२३। १६२ (न) नहि (सर्पत्) सृ गतौ लेटि अडागमः, सिप् च। प्राप्नुयात् (यः) पुरुषः (न) नहि (अश्नीयात्) अश भोजने—विधिलिङ्। भक्षयेत् (अनडुहः) म० १। प्राणस्य जीवनस्य च वाहकस्य परमेश्वरस्य (विजानन्) विशेषेण ज्ञानं प्राप्नुवन् ॥

४—(अनड्वान्) म० १। प्राणस्य जीवनस्य वा प्रापकः परमेश्वरः (दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। इति तलोपः। दुग्धे। इष्टं प्रपूरयति (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोके) लोक दर्शने—घञ्। भुवने। गृहे (एनम्) इमं जीवं संसारं वा (आ प्याययति) प्रवर्धयति, (पवमानः) अ० ३। ३१। २। संशोधकः परमेश्वरः (पुरस्तात्) अग्रतः। सृष्ट्यादौ (पर्जन्यः) अ० १। २। १।

[जीव] को (आ प्याययति) सब प्रकार बढ़ाता है । (अस्य) इस [परमेश्वर] की (धाराः) धारण शक्तियां (पर्जन्यः) मेघ [के समान] हैं, और (ऊधः) वहन वा लेचलने का सामर्थ्य (मरुतः) पवन [के समान] है, (अस्य) इसकी (यज्ञः) संगति क्रिया (पयः) दूध [के समान] है, और (दक्षिणा) दान शक्ति (दोहः) दोहनी [के समान] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह जगदीश्वर पुण्यात्माओं की इच्छा पूर्ण करता है, और सृष्टि की आदि में वेद देकर सब की वृद्धि करता है और जैसे मेघ, वायु आदि पदार्थ उपकारी हैं, इसी प्रकार वह परमात्मा मेघ, पवन आदिकों का धारण करने वाला आदिमूल है ॥ ४ ॥

यस्य नेशे यज्ञपतिर्न यज्ञो नास्य दातेशे न प्रतिग्रहीता । यो विश्वजिद् विश्वभृद् विश्वकर्मा घर्मं नो ब्रूत यतमश्चतुष्पात् ॥ ५ ॥

यस्य । न । ईशे । यज्ञ-पतिः । न । यज्ञः । न । अस्य । दाता । ईशे । न । प्रति-ग्रहीता । यः । विश्व-जित् । विश्व-भृत् । विश्व-कर्मा । घर्मम् । नः । ब्रूत । यतमः । चतुः-पात् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (यज्ञपतिः) संगतिकर्ता पुरुष, और (न) न

मेघ इव (धारा) धृ धारणे णिच्—अङ्, टाप् । धार्य्यते यया । धारणशक्तयः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । वायुरिव (ऊधः) श्वेः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । १९३ । इति वह-असुन् । धातोः सम्प्रसारणे कृते दीर्घत्वं धकारश्चान्तादेशः । वहनसामर्थ्यम् (अस्य) अनडुहः परमेश्वरस्य (यज्ञः) संगतिकरणम् (पयः) दुग्धमिव (दक्षिणा) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति दक्ष वृद्धिशैघ्रयोः—इनन् । टाप् । दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः, दक्षिणो हस्तो दक्षतेरुत्साहकर्मणो दाशतेर्वास्याद् दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । दानशक्तिः (दोहः) दुह प्रपूरणे—घञ् । दोहनपात्रमिव ॥

५—(यस्य) घर्मस्य । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति

(यज्ञः) संगतिकर्म (यस्य) जिस [परमेश्वर] का (ईशे=ईष्टे) ईश्वर है, (न) नतौ (दाता) दाता, (न) न (प्रतिग्रहीता) ग्रहणकर्ता (अस्य) इस का (ईशे) ईश्वर है, (यः) जो (विश्वजित्) सब का जीतने वाला, (विश्वभृत्) सब का पोषण करने वाला, (विश्वकर्मा) सब काम करने वाला, और (यतमः) जौन सा (चतुष्पात्) चारो दिशाओं में स्थिति वा गति वाला है, (घर्मम्) उस प्रकाशमान सूर्यसदृश परमात्मा को (नः) हमें, [हे ऋषियो !] (ब्रूत) बताओ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस परमात्मा को शासक कोई अन्य नहीं है, वह सर्वशक्तिमान् सर्वरक्षक, सर्वव्यापक प्रकाश स्वरूप है। उसकी उपासना और अन्वेषण से सब मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ ५ ॥

येन॑ दे॒वाः स्व॑रारुरु॒हुर्हि॒त्वा शरी॑रम॒मृत॑स्य॒ नाभि॑म्। तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं घ॒र्मस्य॑ व्र॒तेन॒ तप॑सा यश॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

येन॑ । दे॒वाः । स्वः॑ । आ॒ऽरु॒रु॒हुः । हि॒त्वा । शरी॑रम् । अ॒मृत॑स्य । नाभि॑म् । तेन॑ । गे॒ष्म॒ । सु॒ऽकृ॒तस्य॑ । लो॒कम् । घ॒र्मस्य॑ । व्र॒तेन॑ । तप॑सा । य॒श॒स्यवः॑ ॥ ६ ॥

कर्मणि षष्ठी (न) नहि (ईशे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । ईष्टे । शासिता भवति (यज्ञपतिः) यजमानः सङ्गतिकर्ता (यज्ञः) संगतिक्रिया (दाता) दानशीलः (प्रतिग्रहीता) दानस्य स्वीकर्ता (यः) अनड्वान् । घर्मः (विश्वजित्) विश्वस्य जेता (विश्वभृत्) सर्वस्य भर्ता पोषयिता वा (विश्वकर्मा) विश्वं सर्वं कर्म कर्तव्यं व्यापारो यस्य । सर्वव्यापारकर्ता (घर्मम्) म० ३ । तं दीप्यमानम् । आदित्यरूपं । अनड्वाहं परमात्मानम् (नः) अस्मभ्यम् (ब्रूत) कथयत । उपदिशत (यतमः) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच् । पा० ५।३।९३। इति यत्—डतमच् । बहूनां मध्ये निर्द्धारित एकः । एषां मध्ये यः (चतुष्पात्) पद स्थैर्ये,गतौ च—घञ् । इति पादः । संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ ।४। १४० । इति बहुव्रीहेः पादान्तस्य लोपः । चतसृषु दिक्षु पादः स्थितिर्गतिर्वा यस्य सः ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [परमात्मा] के द्वारा (देवाः) व्यवहार कुशल पुरुष (शरीरम्) नाशमान शरीर [देह अभिमान] (हित्वा) छोड़ कर (अमृतस्य) अमरपन के (नाभिम्) केन्द्र (स्वः) स्वर्ग को (आरुरुहुः) चढ़े थे। (तेन) उसी [ईश्वर] के सहारे से (यशस्यवः) यश चाहने वाले हम लोग (घर्मस्य) दीप्यमान सूर्य के [समान] (व्रतेन) कर्म और (तपसा) सामर्थ्य से (सुकृतस्य) पुण्य के (लोकम्) लोक [परमात्मा] को (गेष्म) खोजें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज महात्मा परमात्मा की भक्ति से मोक्ष सुख पाकर अमर अर्थात् कीर्तिमान हुये हैं, उसी प्रकार हम परमेश्वर की आज्ञा पाल कर संसार में उपकार करके यशस्वी होवें, जैसे सूर्य अपने तेज से वृष्टि दान और आकर्षण आदि करके लोक का उपकार करता है ॥ ६ ॥

इन्द्रो॑ रू॒पेणा॒ग्निर्वहे॑न प्र॒जाप॑तिः परमे॒ष्ठी वि॒राट् । वि॒श्वान॑रे अक्रमत वैश्वान॒रे अ॑क्रमतान॒डुह्य॑क्रमत । सो॑ऽदृं॑हयत॒ सो॑ऽधारयत ॥ ७ ॥

इन्द्रः॑ । रू॒पेण॑ । अ॒ग्निः । वहे॑न । प्र॒जा-प॑तिः । प॒र॒मे॒-स्थी । वि॒-राट् । वि॒श्वान॑रे । अ॒क्र॒म॒त । वै॒श्वा॒न॒रे । अ॒क्र॒म॒त । अ॒न॒डुहि॑ । अ॒क्र॒म॒त । सः । अ॒दृं॒ह॒य॒त । सः । अ॒धा॒र॒य॒त ॥७

६—(येन) अनडुहा परमेश्वरेण (देवाः) व्यवहारिणः पुरुषाः (स्वः) अ० २ । ५ । २ । स्वर्गम् । देवालयम् (आरुरुहुः) आरूढवन्तः (हित्वा) ओहाक् त्यागे—क्त्वा । त्यक्त्वा । (शरीरम्) अ० २ । १२ । ८ । शीर्यमाणं देहम् । देहाभिमानमित्यर्थः (अमृतस्य) अमरणस्य । मोक्षसुखस्य (नाभिम्) अ० १ । १३ । ३ । मध्यस्थानम् । केन्द्रम् (तेन) अनडुहा (गेष्म) गेषृ अन्विच्छायाम्-लोटि छान्दसं रूपम् । गेषामहै । अन्विच्छाम । अन्वेषणेन प्राप्नवाम (सुकृतस्य) पुण्यस्य (लोकम्) गृहम् (घर्मस्य) म० ३ । प्रकाशमानस्य । आदित्यस्य (व्रतेन) वरणीयेन कर्मणा (तपसा) ऐश्वर्येण (यशस्यवः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति यशस्—क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । इति उप्रत्ययः । यशः कीर्तिमात्मन इच्छन्तः ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) उत्पन्न पदार्थों का रक्षक, (परमेष्ठी) ऊंचे स्थान पर ठहरने वाला, (विराट्) विशेष प्रकाशमान, (अग्निः) व्यापक वा अग्निरूप (इन्द्रः) सूर्य (रूपेण) अपने रूप से और (वहेन) चलाने के सामर्थ्य से (विश्वानरे) सब के नायक परमात्मा में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ, (वैश्वानरे) सब नायकों के हित कारी परमेश्वर में (अक्रमत) प्राप्त हुआ, (अनडुहि) जीवन पहुंचाने वाले जगदीश्वर में (अक्रमत) प्रविष्ट हुआ है, (सः) उस [जगदीश्वर] ने [सूर्य को] (अदृंहयत) दृढ़ किया और (सः) उसने ही (अधारयत) धारण किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सूर्य अर्थात् सूर्य आदि बड़े बड़े लोक अपने आकर्षण आदि शक्तियों के साथ सर्वनियन्ता जगदीश्वर में स्थित हैं, वही उनका धारण पोषण करता है। उसीकी उपासना हम सदा करें ॥ ७ ॥

मध्यमेतदनडुहो यत्रैष वह आहितः ।
एतावदस्य प्राचीनं यावान् प्रत्यङ् समाहितः ॥ ८ ॥

मध्यम् । एतत् । अनडुहः । यत्र । एषः । वहः । आऽहितः ।
एतावत् । अस्य । प्राचीनम् । यावान् । प्रत्यङ् । सम्ऽआहितः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अनडुहः) जीविका पहुंचाने वाले परमात्मा का (एतत्)

७—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सूर्यः (रूपेण) तेजसा (अग्निः) व्यापकः । अग्निरूपः (वहेन) वहनसामर्थ्येन । आकर्षणेन (प्रजापतिः) प्रजानां प्रजातानां पदार्थानां पालकः (परमेष्ठी) अ० १।७।२ । परमे प्रधानस्थाने स्थितः (विराट्) राजृ दीप्तौ—क्विप् विशेषेण दीप्यमानः (विश्वानरे) विश्व+णीञ् नीतौ—अच् । नरे संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । १२९ । इति दीर्घः । सर्वनायके परमेश्वरे (अक्रमत) अक्रामत संक्रान्तवान् प्राप्तवान् (वैश्वानरे) अ० १ । १० । ४ । विश्वनरेभ्यः सर्वनायकेभ्यो हिते परमात्मनि (अनडुहि) म० १ । जीवनप्रापके परमेश्वरे (सः) अनड्वान् (अदृंहयत) दृढमकरोत् (अधारयत) धृतवान् ॥

८—(मध्यम्) अ० १ । ३२ । २ । द्वयोरन्तरालम् । गोलस्य मध्यस्थानम् ।

यह [स्थान वा काल] (मध्यम्) मध्य है (यत्र) जहां (एषः) यह (वहः) [आकर्षित] भार (आहितः) धरा हुआ है। (अस्य) सर्वव्यापक वा सर्वरक्षक विष्णु का (एतावत्) उतना ही (प्राचीनम्) प्राचीन काल वा देश है, (यावान्) जितना (प्रत्यङ्) आगामी काल वा देश (समाहितः) सिद्ध है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की सर्व व्यापकता और नित्यता को विचार कर मनुष्य सावधानी से प्रयत्न करता रहे ॥

यो वेदा॑नडुहो॒ दोहा॑न् स॒प्तानु॑पदस्वतः ।
प्र॒जां च॑ लो॒कं चा॒प्नोति॒ तथा॑ सप्तऋ॒षयो॑ विदुः ॥९॥

यः । वेद॑ । अ॒न॒डुहः॑ । दोहा॑न् । स॒प्त । अनु॑प-द॒स्वतः । प्र॒-जाम् । च॒ । लो॒कम् । च॒ । आ॒प्नोति॒ । तथा॑ । स॒प्त-ऋ॒षयः॑ । वि॒दुः ॥९॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (अनडुहः) जीवन पहुंचाने वाले परमेश्वर के (दोहान्) पूर्ति के प्रवाहों को (सप्त) नित्य संबन्ध वाले और (अनुपदस्वतः) अक्षय (वेद) जानता है, वह (प्रजाम्) प्रजा (च) और (लोकम्) लोक (च) भी (आप्नोति) पाता है, (तथा) ऐसा (सप्तऋषयः) सात व्यापनशील वा दर्शनशील, [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख और मुख यह सात छिद्र] (विदुः) जानते हैं [प्रत्यक्ष करते हैं] ॥ ९ ॥

(एतत्) दृश्यमानं सर्वम् (अनडुहः) म० १ । जीवनप्रापकस्य परमेश्वरस्य (यत्र) यस्मिन् स्थाने (एषः) अयम् (वहः) वहनीयः पदार्थो भारो वा (आहितः) धा—क्त । स्थापितः (एतावत्) एतत्परिमाणयुक्तम् (अस्य) अतति सर्वं व्याप्नोतीति अः । अत सातत्यगमने—ड । यद्वा अवति रक्षतीति अव रक्षणे ड । अः विष्णुः । सर्वव्यापकस्य सर्वरक्षकस्य वा परमेश्वरस्य (प्राचीनम्) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थे खः । खस्य ईनादेशः । प्राक् पूर्वः कालो देशो वा (यावान्) यत्परिमाणवान् (प्रत्यङ्) प्रति+अन्चु—क्विन् । पश्चिमकालः । पश्चिमदेशः (समाहितः) निष्पन्नः ॥

९—(यः) यः पुरुषः (वेद) वेत्ति (अनडुहः) म० १ । प्राणप्रापकस्य (दोहान्) म० ४ पूर्तिप्रवाहान् (सप्त) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ ।

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष जीवनदाता परमेश्वर के सर्वव्यापी और अनन्त कोश को अपनी ज्ञानेन्द्रियों, कर्मेन्द्रियों, मन और बुद्धि द्वारा साक्षात् करके अपना आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाते हैं ॥ ९ ॥

पद्भिः सेदिमवक्रामन्निरां जङ्घाभिरुत्खिदन् ।
श्रमेणानड्वान् कीलालं कीनाशश्चाभि गच्छतः ॥ १० ॥

पत्-भिः । सेदिम् । अव-क्रामन् । इराम् । जङ्घाभिः । उत्-खिदन् । श्रमेण । अनड्वान् । कीलालम् । कीनाशः । च । अभि । गच्छतः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(कीनाशः) निन्दित कर्म का नाश करने वाला (अनड्वान्) जीवन पहुंचाने वाला परमेश्वर, (श्रमेण) परिश्रम से (अभिगच्छतः) चलते

इति षप समवाये—कनिन् । अथवा क्तप्रत्ययः । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तिलोपः । समवेतान् । नित्यसम्बद्धान् । अथवा, सप्तपुत्रं सप्तमपुत्रं सर्पणपुत्रमिति वा सप्त सृप्ता सङ्ख्या सप्तादित्यरश्मयः । निरु० ४ । २६ । इति यास्कवचनात् सूर्यरश्मिवत् परस्परसंयुक्तान् (अनुपदस्वतः) दसु उपक्षये—असुन्, मतुप् । अक्षयान् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिकम् (च) समुच्चये । अवधारणे (लोकम्) संसारम् । संसारराज्यम् (आप्नोति) लभते (तथा) तेनैव प्रकारेण (सप्तऋषयः) सप्त समवेताः । इगुपधात् । कित् । उ० ४ । १२० । इति ऋष गतौ दर्शने च—इन् । ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । इति प्रकृतिभावः । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । य० ३४ । ५५ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी । निरु० १२ । ३७ । कः सप्त खानि वितर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ०१०।२ । त्वक्चक्षुः श्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः । अथवा । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (विदुः) जानन्ति । प्रत्यक्षीकुर्वन्ति ॥

१०—(पद्भिः) पद स्थैर्ये गतौ च—क्विप् । स्वस्थितिभिः (सेदिम्) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । इति

फिरते पुरुष के (सेदिम्) विषाद को (पद्भिः) अपनी स्थितियों से (अव-क्रामन्) दबाता हुआ, (च) और (जङ्घाभिः) अपनी अत्यन्त व्याप्तियों से [उस के] (कीलालम्) बन्ध के निवारण, अर्थात् (इराम्) अन्न को (उत्-खिदन्) उत्पन्न करता हुआ [वर्तमान है] ॥ १० ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुष सब स्थानों में परमेश्वर रचित पदार्थों से अन्नादि प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ १० ॥

द्वाद॑श॒ वा ए॒ता रात्री॑र्व्र॒त्या॑ आहुः प्र॒जाप॑तेः ।

तत्रोप॒ ब्रह्म॒ यो वेद॒ तद् वा अ॑न॒डुहो॑ व्र॒तम् ॥ ११ ॥

द्वाद॑श । वै । ए॒ताः । रात्रीः । व्र॒त्याः । आ॒हुः । प्र॒जा-प॑तेः ।

तत्र॑ । उप॑ । ब्रह्म॑ । यः । वेद॑ । तत् । वै ।अ॒न॒डुहः॑ । व्र॒तम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(द्वादश) बारह (एताः) प्राप्तियोग्य (रात्रीः) विषय ग्रहण करने वाली और विज्ञान देनेवाली मन बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और

पद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्वि । अवसादनम् । दरिद्रताम् (अवक्रामन्) अवाङ्मुखीं कुर्वन् (इराम्) ऋज्रेन्द्र० । उ० २ । २८ । इति इण् गतौ—रन्, गुणाभावः । अन्नम्—निघ० २।७ (जङ्घाभिः) अच् तस्य जङ्घ च । उ० ५ । ३१ । इति जनी प्रादुर्भावे—अच्, जङ्घ इत्यादेशः । प्रादुर्भावैः । यद्वा । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति हन हिंसागत्योः—यङ्लुगन्तात्—ड प्रत्ययः । अतिवेग-गतिभिः । अत्यन्तव्याप्तिभिः (उत्खिदन्) खिद दैन्ये, परिघाते । उत्पूर्वात् खिद उत्पादने—शतृ । उत्पादयन् वर्तते (श्रमेण) श्रम तपसि, आयासे, खेदे च-घञ् आयासेन । प्रयत्नेन (अनड्वान्) म० १ । जीवनप्रापकः (कीलालम्) कील बन्धे—घञ्+अल वारणपर्याप्तिभूषासु—अण् । बन्धनिवारणम् । अमृतम् । जीवनसाधनम् (कीनाशः) अ० ३। १७। ५ । कुकुत्सितं नाशयतीति । कोः कीति आदेशः । निन्दितकर्मनाशकः परमेश्वरः (अभि गच्छतः) अभितो गच्छतः पुरुषस्य ॥

११—(द्वादश) द्वे च दश च (वै) वा गतौ—डै । निश्चयेन (एताः) हसिमृग्रिण्वा० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ—तन् । प्राप्तव्याः । (रात्रीः)

पांच कर्मेन्द्रियों को (प्रजापतेः) प्रजापालक परमात्मा के (व्रत्याः) व्रतयोग्य (वै) निश्चय करके [वे विज्ञानी] (आहुः) बताते हैं। (तत्र) उन [मन बुद्धि सहित इन्द्रियों] में (यः) गतिशील पुरुषार्थी पुरुष (अनडुहः) जीवन पहुंचाने वाले परमेश्वर के (तत्) विस्तृत (ब्रह्म) वेद विज्ञान और (व्रतम्) व्रत को (वै) निश्चय करके (उप) आदर से (वेद) जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन बुद्धि और इन्द्रियों से योगी पुरुषार्थी लोग परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव को जान कर संसार में उन्नति करते हैं ॥ ११ ॥

दुहे सायं दुहे प्रातर्दुहे मध्यं दिनं परि।
दोहा ये अस्य संयन्ति तान् विद्मानुपदस्वतः ॥१२॥

दुहे। सायम्। दुहे। प्रातः। दुहे। मध्यंदिनम्। परि। दोहाः। ये। अस्य। सम्-यन्ति। तान्। विद्म। अनुप-दस्वतः ॥१२॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (सायम्) सायंकाल में (परि) सब ओर से (दुहे=दुग्धे) पूर्ण करता है। (प्रातः) प्रातः काल (दुहे) पूर्ण करता है। (मध्यं दिनं) मध्याह्न में (दुहे) पूर्ण करता है। (अस्य) सर्वव्यापक वा

राशदिभ्यां त्रिप्। उ० ४।६७।इति रा दानग्रहणयोः-त्रिप्। विषयग्रहीतॄणि विज्ञानदातॄणि मनोबुद्धिसहितानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च (व्रत्याः) व्रतं व्याख्यातम्—अ० २। ३०। २। व्रत—यत्। व्रतहिताः। कर्मयोग्याः (आहुः) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—लट्। ब्रुवन्ति विज्ञानिनः (प्रजापतेः) प्रजापालकस्य अनडुहः (तत्र) रात्रिषु (उप) आदरेण (ब्रह्म) अ० १। ८। ४। वेदविज्ञानम् (यः) या गतौ—ड। याता। गतिशीलः (वेद) वेत्ति (तत्) त्यजितनि०। उ० १। १३२। इति तनु विस्तारे—अदि। विस्तृतम् (अनडुहः) म० १। प्राणप्रापकस्य परमेश्वरस्य (व्रतम्) वरणीयं कर्म ॥

१२—(दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। इति तलोपः। दुग्धे प्रपूरयति अनड्वान् (सायम्) षो अन्तकर्मणि—णम्, युगागमः। दिनान्ते (प्रातः) प्रातःतेररन्। उ० ५। ५६। इति प्र+अत सातत्यगमने—अरन्।

सर्वरक्षक विष्णु के (ये) जो (दोहाः) पूर्त्ति प्रवाह (संयन्ति) चलते रहते हैं (तान्) उनको (अनुपदस्वतः) अक्षय (विद्म) हम जानते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का सदा अक्षय भण्डार है। ऐसा जानकर मनुष्य विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ता रहे ॥ १२ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—७ ॥ धाता देवता। १ गायत्री, २-५ अनुष्टुप्, ६ पद-पङ्क्तिः, ७ बृहती छन्दः ॥

स्वदोषनिवारणायोपदेशः—अपने दोष मिटाने का उपदेश ॥

रोह॑ण्यसि॒ रोह॑ण्य॒स्थ्नश्छि॒न्नस्य॒ रोह॑णी ।
रो॒हये॒दमं॑रुन्धति ॥ १ ॥

रोह॑णी । अ॒सि॒ । रोह॑णी । अ॒स्थ्नः । छि॒न्नस्य॑ । रोह॑णी ।
रो॒हय॑ । इ॒दम् । अ॒रु॒न्ध॒ति॒ ॥ १ ॥

भावार्थ [हे मानुषी प्रजा तू] (छिन्नस्य) टूटी (अस्थ्नः) हड्डी की (रोहणी) पूरनेवाली (रोहणी) रोहिणी वा लाक्षा [के समान] (रोहणी) पूरनेवाली शक्ति (असि) है। (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति तू! (इदम्) ऐश्वर्य (रोहय) सम्पूर्ण कर ॥ १ ॥

प्रभातकाले (मध्यं दिनम्) राजदन्तादित्वात् मध्यशब्दस्य पूर्वत्वम्। पृषोदरादित्वात् नकारागमः। दिनस्य मध्यम्। मध्याह्नम् (परि) परितः। सर्वतः। (दोहाः) पूर्त्तिप्रवाहाः (अस्य) म० ८। सर्वव्यापकस्य सर्वरक्षकस्य वा विष्णोः परमेश्वरस्य (संयन्ति) इण् गतौ। संगच्छन्ते (तान्) दोहान् (विद्म) विदो लटो वा। पा० ३। ४। ८३, इति मसो मादेशो वा। विद्मः। जानीमः (अनुपदस्वतः) म० ६। क्षयरहितान् ॥

१—(रोहणी) रुह प्रादुर्भावे-णिच्-ल्युट्, ङीप्। रोहयित्री पूरयित्री शक्तिः। नित्यवीप्सयोः। पा० ८। १। ४। इति द्विर्वचनम् (असि) भवसि (अस्थ्नः) अ० १। २३। ४। मांसाभ्यन्तरस्थस्य धातुविशेषस्य (छिन्नस्य)

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष विज्ञान पूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को मिटावे जैसे सद्वैद्य रोहिणी वा लाक्षा [लाख वा लाह] आदि ओषधि से रोगों को निवृत्त करता है ॥ १ ॥

सायण भाष्य में (रोहणी) पदके स्थान में [रोहिणी] मानकर "लाक्षा" अर्थ किया है ॥

यत् ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि ।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥ २ ॥

यत् । ते । रिष्टम् । यत् । ते । द्युत्तम् । अस्ति । पेष्ट्रम् । ते । आत्मनि । धाता । तत् । भद्रया । पुनः । सम् । दधत् परुषा । परुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा (रिष्टम्) टूटा हुआ और (यत्) जो (ते) तेरा (द्युत्तम्) जलता हुआ, और जो (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पेष्ट्रम्) पिसा हुआ (अस्ति) है । (धाता) पोषण करने वाला वैद्य (भद्रया) कल्याण करने वाली क्रिया से (तत् परुः) उस जोड़ को (परुषा) दूसरे जोड़ से (पुनः) फिर (सं दधत्) सन्धि कर देवे ॥ २॥

भिन्नस्य (रोहणी) व्युत्पत्तिः पूर्ववत् । रोहणी एव रोहिणी, ओषधिविशेषः । तत्पर्यायाः शब्दकल्पद्रुमे । कटुम्भरा । सोमवल्कः । सोमवृक्षः । सायणमते तु रोहिणी लाक्षा नामौषधविशेषः (रोहय) प्ररोहय । पूरय (इदम्) इन्देः कमि नलोपश्च । उ०४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । परमैश्वर्यम् (अरुन्धति) नञ्+रुधिर् आवरणे—शतृ, ङीप् । हे अरोधनशीले । हे अवारयित्रि शक्ते ॥

२—(यत्) अङ्गम् (ते) तव (द्युत्तम्) द्योतते, ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६ । द्योतितम् । प्रज्वलितम् (अस्ति) (पेष्ट्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति पिष्लृ चूर्णे-ष्ट्रन् । पिष्टम् । चूर्णितम् (आत्मनि) शरीरे (धाता) पोषयिता पुरुषः (तत्) सर्वमङ्गम् (भद्रया) कल्याण्या क्रियया

भावार्थ—विचारवान् पुरुष आप ही अपने दोषों का वैद्य होता है ॥ २ ॥

सं ते॑ मज्जा मज्ज्ञा भ॑वतु समु॑ ते॒ परु॑षा परुः॑ ।
सं ते॑ मांसस्य॒ विस्र॑स्तं॒ समस्थ्यपि॑ रोहतु ॥ ३ ॥

सम् । ते॒ । मज्जा । मज्ज्ञा । भ॒वतु । सम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । परु॑षा । परु॑ः । सम् । ते॒ । मांसस्य॑ । वि-स्र॑स्तम् । सम् । अस्थि॑ । अपि॑ । रोहतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्] (ते) तेरे (मज्जा) हाड़की मींग (मज्ज्ञा) हाड़ की मींगसे (सं भवतु) मिल जावे (उ) और (ते परुः) तेरा जोड़ (परुषा) जोड़ से (सम्=संभवतु) मिल जावे । (ते) तेरे (मांसस्य) मांस का (विस्रस्तम्) हटा हुआ अंश (सम्=सं रोहतु) जुड़ जावे, और (अस्थि) हाड़ (अपि) भी (सं रोहतु) जुड़ कर ठीक होजावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने चंचल मन को ज्ञान प्राप्ति में ऐसा जोड़ दे जैसे वैद्य विचलित अवयवों को जोड़ देता है ॥ ३ ॥

मज्जा मज्ज्ञा सं धी॑यतां चर्म॑णा चर्म॑ रोहतु ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु मांसं मांसेन॑ रोहतु ॥ ४ ॥

मज्जा । मज्ज्ञा । सम् । धी॒यताम् । चर्म॑णा । चर्म॑ । रोहतु । असृ॑क् । ते॒ । अस्थि॑ । रोहतु । मांसम् । मांसेन॑ । रोहतु ॥४॥

(पुनः) अवधारणे । द्वितीयवारे (संदधत्) संदधातु संयुनक्तु (परुषा) पर्वणा (परुः) पर्व । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(ते) तव (मज्जा) अ० १ । ११ । ४ । अस्थिमध्यस्थस्नेहः (मज्ज्ञा) अस्थिस्नेहेन (सं भवतु) संयुक्तो भवतु (उ) अपि (परुषा) पर्वणा (परुः) पर्व (मांसस्य) मन ज्ञाने धृतौ च—सप्रत्ययः । रक्तजधातुविशेषस्य (विस्रस्तम्) वि+स्रन्सु पतने—क्त । विचलितो भागः (अस्थि) शरीरस्थधातुविशेषः (अपि) (सं रोहतु) संहितं भवतु ॥

भाषार्थ—(मज्जा) हाड़ की मींग (मज्ज्ञा) हाड़ की मींग से (सं धीयताम्) मिल जावे, (चर्म) चाम (चर्मणा) चाम के साथ (रोहतु) जम जावे। (ते) तेरा (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हाड़ (रोहतु) जमे, और (मांसम्) मांस (मांसेन) मांस के साथ (रोहतु) जमे ॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के समान ॥ ४ ॥

लोम॒ लोम्ना॒ सं क॑ल्पया त्व॒चा सं क॑ल्पया॒ त्वच॑म् ।
असृ॑क् ते॒ अस्थि॑ रोहतु च्छि॒न्नं सं धे॑ह्योषधे ॥ ५ ॥

लोम॑ । लोम्ना॑ । सम् । क॒ल्प॒य॒ । त्व॒चा । सम् । क॒ल्प॒य॒ । त्वच॑म् । असृ॑क् । ते॒ । अस्थि॑ । रो॒ह॒तु॒ । छि॒न्नम् । सम् । धे॒हि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ताप नाशक ओषधि [के समान मनुष्य !] (लोम) रोम को (लोम्ना) रोम के साथ (सं कल्पय) जमा दे, (त्वचम्) त्वचा को (त्वचा) त्वचा के साथ (संकल्पय) जोड़ दे, (ते) तेरा (असृक्) रुधिर और (अस्थि) हाड (रोहतु) उगे, (छिन्नम्) टूटा अंग भी (संधेहि) अच्छे प्रकार मिलादे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर विचार से अपने दोषों की चिकित्सा करे जैसे वैद्य ओषधि से करते हैं ॥ ५ ॥

४—(मज्जा) अस्थिस्नेहः (मज्ज्ञा) अस्थिस्नेहेन (सं धीयताम्) संहितः संयुक्तो भवतु (चर्मणा) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति चर गतौ-मनिन्। शरीरावरणम् (चर्म) त्वचा (रोहतु) प्ररूढं भवतु संयुज्यताम् (असृक्) असु क्षेपे-ऋजिप्रत्ययः। अस्यते क्षिप्यते इतस्ततो नाडीभिः। रुधिरः। अन्यत् सुगमम् ॥

५—(लोम) अ० ३। २३। ७। देहजातं केशाकारं द्रव्यम्। रोम। (लोम्ना) रोम्णा (संकल्पय) संक्लृप्तं पुनः स्वस्थानगतं कुरु। संयोजय (त्वचा) चर्मणा (त्वचम्) चर्म (छिन्नम्) भिन्नमङ्गम् (सं धेहि) संहितं संश्लिष्टं व्यापारक्षमं कुरु। अन्यत् पूर्ववत् ॥

स उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः।
प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥ ६ ॥

सः । उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । रथः । सु-चक्रः ।
सु-पविः । सु-नाभिः । प्रति । तिष्ठ । ऊर्ध्वः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः=स त्वम्) सो तू (उत्तिष्ठ) उठ, (प्रेहि) आगे बढ़, (सुचक्रः) सुन्दर पहिये वाले, (सुपविः) दृढ़ नेमि वा पुट्ठी वाले, (सुनाभिः) सुन्दर मध्य छिद्र वाले (रथः) रथ [के समान] (प्र द्रव) वेग से चल और (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक आगे बढ़कर प्रतिष्ठा प्राप्त करे जैसे उत्तम शिल्पी का बनाया हुआ सुदृढ़ रथ अन्य रथों से आगे निकल जाता है ॥ ६ ॥

यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान ।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ ७ ॥

यदि । कर्तम् । पतित्वा । सम्-शश्रे । यदि । वा । अश्मा ।
प्र-हृतः । जघान । ऋभुः । रथस्य-इव । अङ्गानि । सम् ।
दधत् । परुषा । परुः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यदि) यदि (कर्तम्) कटारी आदि हथियार ने (पतित्वा)

६—(सः) तादृशो विचारवान् त्वम् (उत्तिष्ठ) उद्गच्छ । सावधानो भव (प्रेहि) प्रकर्षेण गच्छ (प्रद्रव) प्रधाव (रथः) हनिकुषिनीरमि० । उ० २। २ । इति रमु क्रीडायाम्, वा रंहतेर्गतिकर्मणः क्थन् । रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वास्याद् विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा—निरु ६। ११ । वेगवान् । स्यन्दनो यथा (सुचक्रः) सुदृढैश्चक्रैर्युक्तः (सुपविः) सुदृढः पविर्नेमिश्चक्रधारा यस्य स तथोक्तः (सुनाभिः) दृढ़या नाभ्या, अन्तच्छिद्रेण युक्तः (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (ऊर्ध्वः) उत्थितः सन् ॥

७—(यदि) पक्षान्तरे । सम्भावनायाम् (कर्तम्) कृती छेदने—घञ् ।

गिर कर (संशश्रे) काट कर दिया है, (यदि वा) अथवा (प्रहृतः) फेंके हुये (अश्मा) पत्थर ने (जघान) चोट लगाई है । (ऋभुः) बुद्धिमान् पुरुष (रथस्य अङ्गानि इव) रथ के अंगों के समान (परुः) एक जोड़ को (परुषा) दूसरे जोड़ से (सं दधत्) मिला लेवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपने विचलित मन को इस प्रकार ठीक करे, जैसे चिकित्सक चोट को, और शिल्पी टूटे रथ को फिर जोड़कर सुधार लेते हैं ॥ ७ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—७ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य रक्षा का उपदेश

उत देवा अवहितं देवा उन्नयथा पुनः ।
उतागश्चक्रुषं देवा देवा जीवयथा पुनः ॥ १ ॥

उत । देवाः । अव-हितम् । देवाः । उत् । नयथ । पुनः । उत । आगः । चक्रुषम् । देवाः । देवाः । जीवयथ । पुनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे व्यवहार कुशल (देवाः) विद्वान् लोगो ! (अव-हितम्) अधोगत पुरुष को (उत) अवश्य (पुनः) फिर (उन्नयथ) तुम उठाते हो । (उत) और भी, (देवाः) हे दानशील (देवाः) महात्माओ ! (आगः)

कर्तकं छेदकमायुधम् । कर्त्तरी । कृपाणी (पतित्वा) अधः प्राप्य (संशश्रे) शॄ हिंसायाम्—लिट् । संशृणाति स्म । संछिनत्ति स्म (यदि वा) अपि वा (अश्मा) प्रस्तरः (प्रहृतः) प्रक्षिप्तः (जघान) हन—लिट् । हतवान् (ऋभुः) ऋ० १ । २ । ३ । मेधावी—निघ० ३ । ५ (रथस्य) (इव) यथा (अङ्गानि) अक्षचक्रेषायुगादीनि (सं दधत्) संदधातु । संयोजयतु (परुषा) पर्वान्तरेण (परुः) पर्व ॥

१—(उत) निश्चयेन (देवाः) हे व्यवहारकुशलाः (अव हितम्) अव परिभवे+धाञ्—क्त । अधोधृतम् । अवनीतं पुरुषम् (देवाः) दिव्यगुणवन्तो विद्वांसः (उन्नयथ) उन्नतं कुरुथ (पुनः) (उत) अपि च (आगः) इण

अपराध (चक्रुषम्) करने वाले प्राणी को (पुनः) फिर (जीवयथ) तुम जिलाते हो ॥ १ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग स्वभाव से ही अधोगत पुरुषों को ऊंचा करते और मृतक समान अपराधियों को पाप से छुड़ा कर उन का जीवन सुफल कराते हैं। मनुष्य सत्पुरुषों के सत्सङ्ग से अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को त्याग कर जीवन सुधारें ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्र १—५, ७ ऋग्वेद १०। १३७ के म० १—५, ७ कुछ भेद से हैं ॥

द्वाविमौ वातौ वात आ सिन्धोरा परावतः।
दक्षं ते अन्य आवातु व्य१न्यो वातु यद्रपः ॥ २ ॥

द्वौ। इमौ। वातौ। वातः। आ। सिन्धोः। आ। परा-वतः।
दक्षम्। ते। अन्यः। आ-वातु। वि। अन्यः। वातु। यत्। रपः॥२

भाषार्थ—(इमौ) यह (द्वौ) दोनों (वातौ) पवन, अर्थात् प्राण और अपान वायु (आसिन्धोः) बहने वाले इन्द्रियदेश तक और (आ परावतः) बाहिर दूर स्थान तक (वातः) चलते रहते हैं। (अन्यः) एक [प्राण वायु] (ते) तेरा (दक्षम्) वृद्धि करने वाले बल को (आवातु) बह कर लावे और (अन्यः) दूसरा [अपान वायु] (यत् रपः) जो दोष है उसे (विवातु) बहकर निकाल देवे ॥ २ ॥

आगोऽपराधे च। उ० ४। २१२। इति इण् गतौ—असुन्, आगादेशः। अपराधम् (चक्रुषम्) करोतेर्लिटः क्वसुः। भमि भत्वाभावेऽपि छान्दसं वसोः संप्रसारणम्। चकृवांसम्। कृतवन्तं पुरुषम् (देवाः) हे दानशीलाः (देवाः) महात्मानः (जीवयथ) जीवनवन्तं कुरुथ ॥

२—(द्वौ) (इमौ) दृश्यमानौ (वातौ) पवनौ। प्राणापानौ (वातः) वा गतिगन्धनयोः। गच्छतः संचरतः (आसिन्धोः) मर्यादायामाकारः। स्यन्दनशील-नाडीदेशपर्यन्तम् (आ परावतः) शरीराद् बाह्यदेशपर्यन्तम् (दक्षम्) दक्ष। वृद्धौ—अच वृद्धिकरं बलम् (ते) तव (अन्यः) एकः प्राणवायुः (आवातु)

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध स्थान में शुद्ध वायु के सेवन से प्राण वायु के सञ्चार द्वारा शरीर का वल वढ़ाकर और अपान से पसीना आदि मल दोष नाश करके स्वस्थ रहें ॥ २॥

आ वात वाहि भेषजं वि वात वाहि यद् रपः ।
त्वं हि विश्वभेषज देवानां दूत ईयसे ॥ ३ ॥

आ । वात । वाहि । भेषजम् । वि । वात । वाहि । यत् । रपः ।
त्वम् । हि । विश्व-भेषज । देवानाम् । दूतः । ईयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वात) हे वायु (भेषजम्) स्वास्थ्य को (आ वाहि) वह कर ला और, (वात) हे वायु (यत् रपः = यत् रपः तत्) जो दोष है उसे (विवाहि) वह कर निकाल दे (हि) क्योंकि (विश्वभेषज) हे सर्व रोग-नाशक वायु ! (त्वम्) तू (देवानाम्) इन्द्रियों, विद्वानों और सूर्यादि लोकों के बीच (दूतः) चलने वाला वा दूत [समान सन्देश पहुंचाने वाला] होकर (ईयसे) फिरता रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वायु के संचार से शरीर का मल निकलकर स्वास्थ्य मिलता है और तार, विमान, ताप, वृष्टि आदि का संचार होता है ॥ ३ ॥

आगमयतु (अन्यः) द्वितीयोऽपानवायुः (वि वातु) विगमयतु। निवारयतु (यत्) (रपः) रप कथने—असुन्। रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४। २१। पापम् दोषम् ॥ २ ॥

३—(वात) हे वायो ! (आ वाहि) आवह। आगमय (भेषजम्) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति भिषज्—अण्। निपातनाद् गुणः। भिषजो वैद्यस्येदम्। स्वास्थ्यम्। (वि वाहि) विगमय। विनाशय (यत्) यत्किञ्चित् (रपः) पापम्। दोषः (हि) यस्मात् कारणात् (विश्वभेषज) भेषं भयं जयतीति। जि—ड। सर्वव्याधिनिवर्तक वायो ! (देवानाम्) इन्द्रियाणां विदुषां सूर्यादीनां च मध्ये (दूतः) दुतनिभ्यां दीर्घश्च। उ० ३। ९०। इति दु गतौ उपतापे वा—कर्त्तरि क्त। गन्ता। यद्वा दूतवत्सन्देशहरः (ईयसे) ईङ् गतौ—श्यन्। संचरसि ॥

त्रायन्तामिमं देवास्त्रायन्तां मरुतां गणाः ॥
त्रायन्तां विश्वा भूतानि यथायमरपा असत् ॥ ४ ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । देवाः । त्रायन्ताम् । मरुताम् । गणाः ॥
त्रायन्ताम् । विश्वा । भूतानि । यथा । अयम् । अरपाः । असत् ॥४॥

भाषार्थ—(देवाः) इन्द्रियां (इमम्) इस [जीव] की (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, और (मरुताम्) पवनों [श्वास प्रश्वासों] के (गणाः) प्रवाह (त्रायन्ताम्) रक्षा करें। और (विश्वा=०—नि) सब (भूतानि) पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, पांच तत्त्व (त्रायन्ताम्) रक्षा करें, (यथा) जिस से (अयम्) यह [प्राणी] (अरपाः) दोष रहित (असत्) रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के शोधन और श्वास प्रश्वास के यथावत् प्राणायाम से पंच भूतों को सम रख कर सदा हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ४ ॥

आ त्वागमं शंतातिभिरथो अरिष्टतातिभिः ।
दक्षं त उग्रमाभारिषं परा यक्ष्मं सुवामि ते ॥५॥

आ । त्वा । अगमम् । शंताति-भिः । अथो इति । अरिष्ट-ताति-भिः । दक्षम् । ते । उग्रम् । आ । अभारिषम् । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ॥ ५ ॥

४—(त्रायन्ताम्) रक्षन्तु (इमम्) प्राणिनम् (देवाः) इन्द्रियाणि (मरुताम्) वायूनां श्वासप्रश्वासानाम् (गणाः) समूहाः । प्रवाहाः (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (भूतानि) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशानि (यथा) येन प्रकारेण (अयम्) देहस्थो जीवः (अरपाः) न विद्यन्ते रपांसि पापानि यस्मिन्निति बहुव्रीहौ । नञ्सुभ्याम् । पा० ६ । २ । १७२ । इति उत्तरपदान्तोदात्तः । अपापः । निर्दोषः (असत्) लोट् । भवेत् ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (शन्तातिभिः) शान्तिदायक कर्मों से (अथो) और भी (अरिष्टतातिभिः) अहिंसाकारक कर्मों से (आगमम्) मैं प्राप्त हुआ हूं । (ते) तेरे लिये (उग्रम्) उग्र (दक्षम्) वृद्धिकारक बल (आ अभारिषम्) मैं लाया हूं, [उससे] (ते) तेरे (यक्ष्मम्) महारोग को (परा सुवामि) दूर हटाता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य श्वास प्रश्वास और पंच भूतों की यथावत् समता और ब्रह्मचर्य आदि शुभ कर्मों द्वारा दुष्कर्मों से बच कर बलवान् धनवान् और नीरोग होवे ॥ ५ ॥

अयं मे हस्तो भगवानयं मे भगवत्तरः ।
अयं मे विश्वभेषजोऽयं शिवाभिमर्शनः ॥ ६ ॥

अयम् । मे । हस्तः । भग-वान् । अयम् । मे । भगवत्-तरः ।
अयम् । मे । विश्व-भेषजः । अयम् । शिव-अभिमर्शनः ॥६॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मे) मेरा (हस्तः) [बायां] हाथ (भगवान्) भाग्यवान् है, और (अयम्) यह (मे) मेरा [दायां हाथ] (भगवत्तरः) अधिक भाग्यवान् है । (अयम्) यह (मे) मेरा [हाथ] (विश्वभेषजः) सर्वरोगनाशक, और (अयम्) यह (शिवाभिमर्शनः) छूने में मंगल दायक है ॥६॥

५—(त्वा) त्वां प्राणिनम् (आगमम्) गमेर्लुङि रूपम् । आगतवान् प्राप्तवानस्मि (शंतातिभिः) शिवशमरिष्टस्य करे । पा० ४ । ४ । १४३ । इति करणेऽर्थे तातिल् प्रत्ययः । लिति । पा० ६ । १ । १९३ । इति प्रत्ययपूर्व उदात्तः । शंकरैः सुखकरैः कर्मभिः (अथो) अपि च (अरिष्टतातिभिः) पूर्ववत् तातिल्, उदात्तत्वं च । अरिष्टम् अहिंसा । तत्करैः श्रेयोहेतुभिः कर्मभिः (दक्षम्) वृद्धिकरं बलम् (ते) तुभ्यम् (उग्रम्) उद्गूर्णम् । तीव्रम् (आ अभारिषम्) हस्य भकारः । आहार्षम् । आहृतवानस्मि । आनैषम् (यक्ष्मम्) महारोगम् (परा सुवामि) षू प्रेरणे, तौदादिकः । पराङ्मुखं प्रेरयामि (ते) तव ॥

६—(अयम्) दृश्यमानो वामहस्तः (मे) मदीयः (हस्तः) करः (भगवान्) भाग्यवान् । समर्थः (अयम्) दक्षिणहस्तः (भगवत्तरः) वामहस्ताद्

भावार्थ—मनुष्य श्वास प्रश्वास और पंच भूतों के परिज्ञान से स्पर्श द्वारा रोगों का निदान करके शरीर को रोग रहित और पुष्ट करे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ६ । म० १२ ।

हस्ताभ्यां दशशाखाभ्यां जिह्वा वाचः पुरोगवी ।
अनामयित्नुभ्यां हस्ताभ्यां ताभ्यां त्वाभि मृशामसि ॥७॥

हस्ताभ्याम् । दश-शाखाभ्याम् । जिह्वा । वाचः । पुरः-गवी । अनामयित्नु-भ्याम् । हस्ताभ्याम् । ताभ्याम् । त्वा । अभि । मृशामसि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दशशाखाभ्याम्) दश शाखा वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों के द्वारा (जिह्वा) जिह्वा (वाचः) वाणी की (पुरोगवी) आगे लेचलने वाली है । (ताभ्याम्) उन (अनामयित्नुभ्याम्) आरोग्य देने वाले (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (त्वा) तुझ को (अभि मृशामसि) हम छूते हैं ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण अपान और पंच भूत परीक्षा द्वारा दस अंगुलियों से दस इन्द्रियों और दस दिशाओं का ज्ञान प्राप्त करके दुःख की निवृत्ति और सुख की प्रवृत्ति करें ॥ ७ ॥

अधिकभाग्यवान् (विश्वभेषजः) सर्वरोगनिवर्तकः । (शिवाभिमर्शनः) मङ्गलस्पर्शयुक्तः । सुखस्पर्शः ॥

७—(हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (दशशाखाभ्याम्) दश अङ्गुलयः शाखाभूता ययोस्ताद्दशाभ्याम् (जिह्वा) रसना (वाचः) वाण्याः (पुरोगवी) गोरतद्धितलुकि । पा० ५।४ । ६२ । इति पुरस्+गो समासे टच्, स्त्रियां ङीप् , अन्तर्गतण्यर्थः । पुरो अग्रे गौर्गमयित्री (अनामयित्नुभ्याम्) अनामय-इत्नुच् । अनामयशीलाभ्याम् ।आरोग्यहेतुभ्याम् (त्वा) त्वां प्राणिनम् (अभि मृशामसि) इदन्तो मसिः । पा० ७ । १ । ४६ । इति मसः स्थाने मसि । अभितः स्पृशामः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-८ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ५-त्रिष्टुप् । २, ४ अनुष्टुप् । ३ प्रस्तारपङ्क्तिः । ८ पञ्चपदा जगती, ८ जगती ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकात् सो अपश्यज्जनितारमग्रे । तेन देवा देवतामग्र आयन् तेन रोहान् रुरुहुर्मेध्यासः ॥ १ ॥

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । सः । अपश्यत् । जनितारम् । अग्रे । तेन । देवाः । देवताम् । अग्रे । आ । अयन् । तेन । रोहान् । रुरुहुः । मेध्यासः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा, वा गतिशील, अज अर्थात् जीवात्मा (शोकात्) दीप्यमान (अग्नेः) सर्वव्यापक अग्नि अर्थात् परमेश्वर से (हि) ही (अजनिष्ट) प्रकट हुआ। (सः) उस (जीवात्मा) ने (अग्रे) पहिले से वर्तमान (जनितारम्) अपने जनक [परमात्मा] को (अपश्यत्) देखा। (तेन) उस [ज्ञान] से (देवाः) देवताओं ने (अग्रे) पहिले कालमें (देवताम्) देवतापन (आयन्) पाया, (तेन) उस से ही (मेध्यासः) मेधावी वा पवित्रस्वभाव पुरुष (रोहान्) चढ़ने योग्य पदों पर (रुरुहुः) चढ़े ॥ १ ॥

१—(अजः) न जायते यः। नञ्+जन—ड। यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः, अच्। अजन्मा। गतिशीलः। जीवात्मा—इति शब्दस्तोममहानिधिः (हि) निश्चयेन (अग्नेः) अगि गतौ—नि। सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (अजनिष्ट) प्रादुरभूत् (शोकात्) शुच शौचे, शोके च—घञ्। दीप्यमानात्—इति महीधरः य० १३। ५१। (सः) अजः। जीवात्मा (अपश्यत्) दृष्टवान् (जनितारम्) जनयितारं स्वोत्पादकं प्रजापतिम् अग्निम् (अग्रे) सृष्टेः प्राग् वर्तमानम् (तेन) जनयितृज्ञानेन (देवाः) विद्वांसः। महात्मानः (देवताम्) तस्य भावस्त्वतलौ—पा० ५। १

भावार्थ—मनुष्य आदि पिता जगदीश्वर से अपना शरीर और सामर्थ्य पाकर अपने जन्म और वंश का गौरव बढ़ाते हैं, जैसे पूर्वज महात्माओं ने परमात्मा की महिमा पहचानकर मोक्ष आदि उच्च पद पाये हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद १३ । ५१ में है ॥

क्रमध्वमग्निना नाकमुख्यान् हस्तेषु बिभ्रतः ।
दिवस्पृष्ठं स्वर्गत्वा मिश्रा देवेभिराध्वम् ॥ २ ॥

क्रमध्वम् । अग्निना । नाकम् । उख्यान् । हस्तेषु । बिभ्रतः ।
दिवः । पृष्ठम् । स्वः । गत्वा । मिश्राः । देवेभिः । आ । ध्वम् ॥२॥

भाषार्थ—[हे वीरो !] (उख्यान्) पके हुये आहारों को (हस्तेषु) हाथों में (बिभ्रतः) भरे हुये तुम (अग्निना) अग्नि अर्थात् परमेश्वर के सहारे से [अथवा अपने शरीर की उष्णता वा बल से] (नाकम्) पूर्ण सुख (क्रमध्वम्) पराक्रम से प्राप्त करो । और (देवेभिः) विद्वानों के साथ (मिश्राः) मिलते हुये तुम (दिवः) व्यवहार के (पृष्ठम्) सींचने वा बढ़ानेवाले अथवा पीठ के समान सहायक (स्वः) सुख स्वरूप परमात्मा को (गत्वा) प्राप्त होकर (आध्वम्) बैठो ॥ २ ॥

---

१५६ । इति तल् । देवभावम् । दिव्यगुणताम् (अग्रे) अस्मत्पूर्वकाले वर्त्तमानाः (आयन्) इण् गतौ-लङ् । प्राप्नुवन् (रोहान्) रुह-घञ् । आरोहणीयान् सुखलोकान् (रुरुहुः) आरूढवन्तः (मेध्यासः) उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति मेधा-यत् । असुगागमः । मेधायै हिताः । मेध्याः । मेधाविनः । पवित्राः पुरुषाः ॥

२—(क्रमध्वम्) पराक्रमेण प्राप्नुत (अग्निना) परमेश्वरसहायेन । यद्वा स्वशरीरस्थेन उष्णत्वेन (नाकम्) अकेन दुःखेन रहितं पूर्णसुखम् (उख्यान्) शूलोखाद्यत् । पा० ४ । २ । १७ इति उखा—"संस्कृतं भक्षाः"—इत्यर्थे यत् । उखायां पाकपात्रे संस्कृतान् आहारान् (हस्तेषु) करेषु दानाय (बिभ्रतः) धरन्तः (दिवः) व्यवहारस्य (पृष्ठम्) तिथपृष्ठयूथ० । उ० २ । १२ । इति पृषु सेके—थक् । सेचकं वर्धकम् । यद्वा पृष्ठवत् सहायकम् (स्वः) सुखस्वरूपं

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अपार सृष्टि में पुरुषार्थ पूर्वक परोपकार के लिये अन्न प्राप्त करें और विद्वानों से व्यवहार शिक्षा पाकर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से य० १७। ६५ में है ॥

पृष्ठात् पृ॑थि॒व्या अ॒हम॒न्तरि॑क्ष॒मारु॑हम॒न्तरि॑क्षा॒द् दिव॒मारु॑हम्। दि॒वो नाक॑स्य पृ॒ष्ठात् स्व१॒र्ज्योति॑रगाम॒हम् ॥ ३ ॥

पृ॒ष्ठात्। पृ॒थि॒व्याः। अ॒हम्। अ॒न्तरि॑क्षम्। आ। अ॒रु॒हम्। अ॒न्तरि॑क्षात्। दिव॑म्। आ। अ॒रु॒हम्। दि॒वः। नाक॑स्य। पृ॒ष्ठात्। स्व॑ः। ज्योति॑ः। अ॒गा॒म्। अ॒हम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक, आकाश को (आ अरुहम्) चढ़ गया, (अन्तरिक्षात्) आकाश लोक से (दिवम्) सूर्य लोक को (आ अरुहम्) मैं चढ़ गया। (नाकस्य) सुख देने हारे (दिवः) प्रकाशमान सूर्य लोक के (पृष्ठात्) पृष्ठ से (अहम्) मैंने (स्वः) सुख स्वरूप और (ज्योतिः) ज्योति स्वरूप परमात्मा को (अगाम्) प्राप्त किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—योगी पुरुष विद्याभ्यास और योगभ्यास से पृथिवी, अन्तरिक्ष

परमात्मनम् (गत्वा) प्राप्य (मिश्राः) मिश्रिताः। मिलिताः सन्तः (देवेभिः) देवैः। विद्वद्भिः (आध्वम्) आस उपवेशने—लोट्। उपविशत ॥

३—(पृष्ठात्) तलात् (पृथिव्याः) भूमेः (अहम्) विद्वान् योगी जनः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (आ अरुहम्) रुह—लुङ्। आरूढवान् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (दिवम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (दिवः) सूर्यस्य (नाकस्य) सुखनिमित्तस्य अन्धकारनाशकत्वात् (पृष्ठात्) उपरिभागात् (स्वः) सुखस्वरूपम्

और सूर्य लोक में खोजता हुआ तुरीय अर्थात् इन तीनों से चौथे आनन्दघन, ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म को प्राप्त करके ब्रह्मानन्द में मग्न होजाता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० १७। ६७ में है ॥

स्व१र्यन्तो नापेक्षन्त आ द्यां रोहन्ति रोदसी ।
यज्ञं ये विश्वतोधारं सुविद्वांसो वितेनिरे ॥ ४ ॥

स्वः । यन्तः । न । अप । ईक्षन्ते । आ । द्याम् । रोहन्ति । रोदसी इति । यज्ञम् । ये । विश्वतः-धारम् । सु-विद्वांसः । वि-तेनिरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सुविद्वांसः) बड़े विद्वान् योगी जन (द्याम्) अन्तरिक्ष और (रोदसी) सूर्य और पृथिवी लोक तक (आरोहन्ति) चढ़ते हैं, और जिन्होंने (विश्वतोधारम्) सब प्रकार से धारण शक्ति वाले (यज्ञम्) देव अर्थात् ब्रह्म के पूजन को (वितेनिरे) फैलाया है, वे ही योगी पुरुष (यन्तः न) चलते फिरते उद्योगी पुरुषों के समान (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अपेक्षन्ते) हृदय से चाहते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् योगी जन संसार के सब पदार्थों के विज्ञानी होकर परमात्मा की महिमा को विचारते हैं, वे ही उससे प्रीति करके आत्मबल पाकर यशस्वी होते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है-अ० १७ म० ६८ ॥

(ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूपं परमात्मानम् (अगम्) इण् गतौ—लुङ्। आगमम्। प्राप्तवान् ॥

४—(स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (यन्तः) गच्छन्तः। उद्योगिनः पुरुषाः (न) इव—निरु० ३। १५। (अप ईक्षन्ते) अप+ईक्ष दर्शने। आकाङ्क्षन्ति। समालोकन्ते ते सुविद्वांसः (द्याम्) अन्तरिक्षम् (आ रोहन्ति) आरूढा भवन्ति ये सुविद्वांसः (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ च (यज्ञम्) देवस्य परब्रह्मणः पूजनम् (ये) (विश्वतोधारम्) सर्वतो धाराभिर्धारणशक्तिभिर्युक्तम् (सुविद्वांसः) सुष्ठु विशेषेण कर्मप्रकारं जानन्तः पण्डिता योगिनः (वितेनिरे) तनु—लिट्। विस्तारितवन्तः ॥

अग्ने प्रेहि प्रथमो देवतानां चक्षुर्देवानामुत मानुषाणाम्। इयक्षमाणा भृगुभिः सजोषाः स्वर्यन्तु यजमानाः स्वस्ति ॥ ५ ॥

अग्ने। प्र। इहि। प्रथमः। देवतानाम्। चक्षुः। देवानाम्। उत। मानुषाणाम्। इयक्षमाणाः। भृगु-भिः। स-जोषाः। स्वः। यन्तु। यजमानाः। स्वस्ति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन्! (प्रेहि) प्राप्त हो, तू (देवतानाम्) सब विद्वानों में (प्रथमः) पहिला, और (देवानाम्) सूर्य आदि लोकों का (उत) और भी (मानुषाणाम्) मनुष्य जातियों का (चक्षुः) नेत्र [के समान देखने वाला] है। (इयक्षमाणाः) संगति चाहने वाले, (भृगुभिः) परिपक्व विज्ञानी वेदज्ञ ब्राह्मणों के साथ (सजोषाः) एकसी प्रीति करते हुये, (यजमानाः) दानशील यजमान लोग (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म और (स्वस्ति) कल्याण को (यन्तु) प्राप्त होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब का आदि गुरु है वही सब का साक्षी और नियन्ता है, पुरुषार्थी सदाचारी पुरुष विज्ञानी महात्माओं के सत्संग से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति करके परमगति प्राप्त करें।

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७। ६६ ॥

५—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! (प्रेहि) प्रगच्छ। अस्मान् प्राप्नुहि (प्रथमः) आदिमः। मुख्यः (देवतानाम्) देव-स्वार्थे तल्। देवानां विदुषाम् (चक्षुः) नेत्रवद् द्रष्टा (देवानाम्) सूर्यादिलोकानाम् (उत) अपि च (मानुषाणाम्) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च। पा० ४। १। १६१। इति मनु-अञ्, षुगागमः। मनुष्यजातीनाम् (इयक्षमाणाः) यजेः सन्। सन्यतः। पा० ७। ४। ७६। इति अभ्यासाकारस्य इकारः, यलोपश्छान्दसः। यियक्षमाणाः। यष्टुं संगन्तुमिच्छन्तः (भृगुभिः) अ० २। ५। ३। परिपक्वविज्ञानैः। अनूचानब्राह्मणैः। (सजोषाः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—घञ्। समानस्य सभावः। समानप्रीतयः। प्रतिमन्तः (स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (यजमानाः) यज—शानच्। दानशीलाः (स्वस्ति) कल्याणं च ॥

अ॒जम॑न॒ज्मि॒ पय॑सा घृ॒तेन॑ दि॒व्यं॒ सु॑प॒र्णं प॑य॒सं बृ॒ह॒न्त॑म्। तेन॑ गेष्म सु॒कृ॒तस्य॑ लो॒कं स्व॑रा॒रोह॑न्तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मम् ॥ ६ ॥

अ॒जम्। अ॒न॒ज्मि॒। पय॑सा। घृ॒तेन॑। दि॒व्यम्। सु॒-प॒र्णम्। प॒य॒सम्। बृ॒ह॒न्त॑म्। तेन॑। गे॒ष्म॒। सु॒-कृ॒तस्य॑। लो॒कम्। स्वः॑। आ॒-रोह॑न्तः। अ॒भि। नाक॑म्। उ॒त्-त॒मम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दिव्यम्) दिव्य गुण वाले, (सुपर्णम्) बड़े पूर्ण शुभ लक्षण वाले (पयसम्) गतिवान् वा उद्योगी (बृहन्तम्) बड़े बली (अजम्) जीवात्मा को (घृतेन) प्रकाशमान (पयसा) ज्ञान से (अनज्मि) मैं [मनुष्य] संयुक्त करता हूं। (तेन) उस [ज्ञान] से (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) दुःख रहित (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि=अभिलक्ष्य) लख कर (आरोहन्तः) चढ़ते हुये हम (सुकृतस्य लोकम्) पुण्य लोक को (गेष्म) खोजें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की दी हुई अद्भुत शक्तियों से अपना ज्ञान बढ़ावे, और उस आनन्दस्वरूप जगत्पति की अनन्त महिमा को खोजता हुआ निरन्तर उन्नति करके मोक्ष पद प्राप्त करे ॥ ६ ॥

६-(अजम्) म० १। अजनशीलम् जीवात्मानम् (अनज्मि) अञ्जू व्यक्ति-म्रक्षणकान्तिगतिषु। म्रक्षयामि। मिश्रयामि (पयसा) पय गतौ-असुन्। ज्ञानेन (घृतेन) घृ भासे, सेके च-क्त। प्रकाशमानेन (दिव्यम्) प्रकाशार्हम्। मनोहरम् (सुपर्णम्) पॄ पूर्तिपालनयोः-न। शोभनानि पर्णानि पूर्णानि शुभलक्षणानि यस्य तम्-यथा दयानन्दभाष्ये य० १७।७२ (पयसम्) अत्यविचमि०। उ० ३।११७। इति पय गतौ—असच्। गतिशीलम्। उद्योगिनम् (बृहन्तम्) महान्तं बलिनम् (तेन) उक्तप्रकारेण (गेष्म) अ० ४।११।६। अन्विच्छाम (सुकृतस्य) शुभकर्मणः (लोकम्) स्थानम् अ० ४।११।६। (स्वः) सुखस्वरूपं परब्रह्म (आरोहन्तः) रुह-शतृ। अधिरोहन्तः (अभि) अभिलक्ष्य (नाकम्) दुःखशून्यम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् ॥

पञ्चौदनं पञ्चभिरङ्गुलिभिर्दर्व्योद्धर पञ्चधैतमोदनम्।
प्राच्यां दिशि शिरो अजस्य धेहि दक्षिणायां दिशि
दक्षिणं धेहि पार्श्वम् ॥ ७ ॥

पञ्च-ओदनम्। पञ्च-भिः। अङ्गुलि-भिः। दर्व्या। उत्। हर।
पञ्च-धा। एतम्। ओदनम्। प्राच्याम्। दिशि। शिरः। अजस्य। धेहि। दक्षिणायाम्। दिशि। दक्षिणम्। धेहि। पार्श्वम्॥७॥

भाषार्थ—(एतम्) इस (पञ्चधा) पांच प्रकार पर (पञ्चौदनम्) पांच भूतों से सींचे हुये (ओदनम्) वृद्धि करने वाले आत्मा को (पञ्चभिः) विस्तृत (अङ्गुलिभिः) चेष्टाओं के साथ (दर्व्या) विदारण वा पृथक् करण शक्ति से (उद्धर=उत्‌हर) ऊपर ला, (प्राच्याम्) अपने से पूर्व वा सन्मुख (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा का (शिरः) शिर (धेहि) धर, (दक्षिणायाम् दिशि) दक्षिण दिशा में (दक्षिणम्) दाहिने (पार्श्वम्) कक्षा के नीचे भाग को (धेहि) धर ॥ ७ ॥

७—(पंचौदनम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति पचि व्यक्तीकरणे विस्तारे च-कनिन् । उन्देर्नलोपश्च । उ० २ । ७६ । इति उन्दी क्लेदने-युच् । ओदनो मेघः-निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्-निरु० ६ । ३४ । पंचभिर्भूतैः ओदनः सेचनं यस्यतम् (पंचभिः) विस्तृताभिः (अङ्गुलिभिः) ऋतन्यञ्जि० । उ० ४ । २ । इति अङ्ग पदे=चेष्टायाम्-उलिप्रत्ययः । अंगुलयः कस्मादग्रगामिन्यो भवन्तीति वाग्रगालिन्यो भवन्तीति वाग्रकारिण्यो भवन्तीति वाङ्कना भवन्तीति वाञ्चना भवन्तीति वापि वाभ्यञ्चनादेव स्युः । निरु० ३ । ८ । चेष्टाभिः (दर्व्या) वृदृभ्यां विन् । उ० ४ । ५३ । इति दॄ विदारणे विन्, ङीप् । विदारणशक्त्या । वियोगशक्त्या (उद् हर) उद्धृत्य स्थापय (पंचधा) पंचप्रकारेण विभज्य (एतम्) आ—इण्-क्त । आगतं दृश्यमानं वा (ओदनम्) व्याख्यातम् । सेचनसमर्थं यद्वा, अन्नवद् वृद्धिकरम् आत्मानम् (प्राच्याम्) अ० ३ । २६ । १ । स्वस्थानात् पूर्वस्याम् । स्वाभिमुखी भूतायाम् (दिशि) दिशायाम् (शिरः) अ० २ । २५ । २ । मस्तकम् (अजस्य) म० १ । अजन-

भावार्थ—पंच भूत निर्मित स्थूल शरीर में सूक्ष्म शरीर वाला आत्मा इन्द्रियों सहित रहता है। योगी विवेक दृष्टि द्वारा, आत्मा को स्थूल शरीर से पृथक् करे, और आत्मा के सूक्ष्म अवयवों को मन्त्र ७ व ८ के अनुसार स्थापित करके मन्त्र ९ के अनुसार मोक्ष फल प्राप्त करे ॥ ७ ॥

प्रतीच्यां दिशि भसदमस्य धेह्युत्तरस्यां दिश्युत्तरं धेहि पार्श्वम्। ऊर्ध्वायां दिश्यजस्यानूकं धेहि दिशि ध्रुवायां धेहि पाजस्यमन्तरिक्षे मध्यतो मध्यमस्य ॥८॥

प्रतीच्याम्। दिशि। भसदम्। अस्य। धेहि। उत्तरस्याम्। दिशि। उत्तरम्। धेहि। पार्श्वम्। ऊर्ध्वायाम्। दिशि। अजस्य। अनूकम्। धेहि। दिशि। ध्रुवायाम्। धेहि। पाजस्यम्। अन्तरिक्षे। मध्यतः। मध्यम्। अस्य ॥ ८ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (अस्य) इस [जीवात्मा] के (भसदम्) दीप्ति वा कटि भाग को (धेहि) धर, (उत्तरस्याम्) उत्तर वा बाईं (दिशि) दिशा में (उत्तरम्) बायें (पार्श्वम्) कक्षा के नीचे भाग को (धेहि) धर। (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि) दिशा में (अजस्य) जीवात्मा की (अनूकम्) रीढ़ को (धेहि)

शीलस्य जीवात्मनः (धेहि) धर (दक्षिणायाम्) दक्षिणस्याम् (पार्श्वम्) स्पृशेः श्वणशुनौ पृ च। उ० ५। २७ इति स्पृश संपर्के-श्वण्, धातोः पृ इत्यादेशः। कक्षयोरधोभागम् ॥

८—(प्रतीच्याम्) अ० ३। २६। ३। पश्चिमायाम्, पश्चात् स्थितायाम् (दिशि) दिशायाम् (भसदम्) शृदृभसोऽदिः। उ० १। १३०। इति भस भर्त्सनदीप्त्योः-अदि। कटिप्रदेशं जघनं वा (अस्य) अजस्य (धेहि) स्थापय (उत्तरस्याम्) उदीच्याम्। वामभागवर्तमानायाम् (उत्तरम्) वामभागस्थम् (पार्श्वम्) म० ७ (ऊर्ध्वायाम्) अ० ३। २६। ६। उपरि वर्तमानायाम् [अजस्य] म० १। जीवात्मनः (अनूकम्) अनु+उच् समवाये

धर, (ध्रुवायाम्) स्थिर (दिशि) दिशा में (अस्य) इसके (पाजस्यम्) बल देने वाले उदर को, और (अन्तरिक्षे) आकाश में (मध्यतः) बीचाबीच (मध्यम्) मध्य भाग को (धेहि) धर ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ देखो ।

शृतम॒जं शृ॒तया॒ प्रोर्णु॑हि त्व॒चा स॒र्वैरङ्गैः॒ संभृ॑तं वि॒श्वरू॑पम् । स उत् ति॑ष्ठे॒तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मं प॒द्भिश्च॒तुर्भि॒ः प्रति॑ तिष्ठ दि॒क्षु ॥ ९ ॥

शृ॒तम् । अ॒जम् । शृ॒तया॑ । प्र । ऊ॒र्णु॒हि॒ । त्व॒चा । सर्वैः॑ । अङ्गैः॑ । सम्-भृ॑तम् । वि॒श्व-रू॑पम् । सः । उत् । ति॒ष्ठ॒ । इ॒तः । अ॒भि । नाक॑म् । उ॒त्-त॒मम् । प॒त्-भिः । च॒तुः-भिः । प्रति॑ । ति॒ष्ठ॒ । दि॒क्षु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (विश्वरूपम्) संपूर्ण रूप से (सर्वैः) सब (अङ्गैः) अंगों के साथ (संभृतम्) भले प्रकार पुष्ट, और (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ ज्ञानी] (अजम्) जीवात्मा को (शृतया) परिपक्व (त्वचा) विस्तृत शक्ति से (प्र) भले प्रकार (ऊर्णुहि) ढकले । (सः) सो तू (इतः) यहां से (उत्तमम्) सर्वोत्तम (नाकम्) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि=अभिलक्ष्य) लखकर (उत् तिष्ठ) उठ, और (चतुर्भिः पद्भिः) धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार पदार्थों के सहित (दिक्षु) सब दिशाओं में (प्रतितिष्ठ) प्रतिष्ठित हो ॥ ९ ॥

यज्ञर्थे कः । न्यङ्क्वादीनां च । पा० ७ । ३ । ५३ । इति कुत्वम् । पृष्ठवंशम् (ध्रुवायाम्) अ० २ । २६ । ४ । स्थिरायाम् । अधस्तात् (पाजस्यम्) पाज इति बलनाम-निघ० २ । ९ । पाजसे हितम् । बलकरमङ्गम् । उदरम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (मध्यतः) मध्यभागे (मध्यम्) शरीरमध्यभागम् (अस्य) निर्दिष्टस्य ॥

९—(शृतम्) शॄ वा श्रै पाके-क्त । श्रृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । इति शृभावः । पक्वम् । परिपक्वज्ञानम् (अजम्) म० १ । जीवात्मानम् (शृतया) परिपक्वया । दृढया (प्र ऊर्णुहि) ऊर्णुञ् आच्छादने । प्रकर्षेणाच्छादय (त्वचा) तनोतेरनश्च वः । उ० २ । ६३ । इति तनु विस्तारे-चिक्, अनश्च वः । यद्वा, त्वच

भावार्थ—मनुष्य उपरोक्त रीति से पंच भूत और जीवात्मा के विवेक से पक्का ज्ञानी होकर सब प्रकार पुष्ट और परमात्मा में लवलीन होकर धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, की प्राप्ति से संसार भर में प्रतिष्ठावान् होता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१-१६ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ १-३, ५ जगती, ४, ७, ८, १३-१५ अनुष्टुप्, ६, १०, ११, १६ त्रिष्टुप् १२ जगती ज्योतिष्मती, ॥

वृष्टेः प्रार्थना गुणाश्चोपदिश्यन्ते—वृष्टि की प्रार्थना और गुणोंका उपदेश ॥

समुत्पतन्तु प्रदिशो नभस्वतीः समभ्राणि वातजूतानि यन्तु । महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ १ ॥

सम्-उत्पतन्तु । प्र-दिशः । नभस्वतीः । सम् । अभ्राणि । वात-जूतानि । यन्तु । महा-ऋषभस्य । नदतः । नभस्वतः । वाश्राः । आपः । पृथिवीम् । तर्पयन्तु ॥ १ ॥

भावार्थ—(नभस्वतीः=०-त्यः) बादल से छायी हुई (प्रदिशः) दिशायें (समुत्पतन्तु) भले प्रकार उदय हों, (वातजूतानि) पवन से चलाये गये (अभ्राणि) जल भरे बादल (संयन्तु) छा जावें । (महऋषभस्य) बड़े

संवरणे-क्विप् । विस्तृतशक्तया । ज्ञानावरणेन वा (सर्वैः) अशेषैः (अङ्गैः) अवयवैः (संभृतम्) सम्यक् पुष्टम् (विश्वरूपम्) यथा तथा । सर्वरूपेण । सर्वाकारेण (सः) तादृशः परिपक्वज्ञानः (उत् तिष्ठ) उद्गच्छ (इतः) अस्माद् देशात् (अभि) अभिलक्ष्य (नाकम्) दुःखरहितं परब्रह्म (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (पादैः) पद स्थैर्ये गतौ च—क्विप् । धर्मार्थकाममोक्षाख्यैः पदार्थैः (चतुर्भिः) (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (दिक्षु) सर्वासु दिशासु ॥

१—(समुत्पतन्तु) सम्यग् उद्गच्छन्तु । उद्यन्तु (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशः (नभस्वतीः) नभः-म० ३ । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । नभस्वत्यः । मेघवत्यः (अभ्राणि] अभ्र गतौ=पचाद्यच् । पा० ६ । १ ।

गमन शील (नदतः) गरजते हुये (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल] की (वाश्राः) धड़ धड़ाती (आपः) जल धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥१॥

भावार्थ—पवन द्वारा वर्षा होने से दिशायें निर्मल और पृथिवी अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करने योग्य हो जाती है, इसी प्रकार मनुष्य उपकारी बनें ॥१॥

समीक्षयन्तु तविषाः सुदानवोऽपां रसा ओषधीभिः सचन्ताम् । वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तामोषधयो विश्वरूपाः ॥२॥

सम् । ईक्षयन्तु । तविषाः । सु-दानवः । अपाम् । रसाः । ओषधीभिः । सचन्ताम् । वर्षस्य । सर्गाः । महयन्तु । भूमिम् । पृथक् । जायन्ताम् । ओषधयः । विश्व-रूपाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तविषाः) विशाल गुण वाले (सुदानवः) बड़े दान करने वाले [मेघ, हमें वृष्टि] (समीक्षयन्तु) दिखावें, (अपाम्) जल के (रसाः) रस (ओषधीभिः) अन्नादि ओषधियों से (सचन्ताम्) एक रस होजावें । (वर्षस्य)

---

१३४ । यद्वा, अप्—भृञ्—क । अपो जलानि विभूति धारयन्तीति । मेघाः (वातजूतानि) जु वेगे-क्त, दीर्घत्वम् । वायुना प्रेरितानि (संयन्तु) संगच्छन्ताम् (महऋषभस्य) ऋषिवृषिभ्यां कित् । उ० ३ । १२३ । इति ऋष गतौ-अभच् स च कित् । महागतिशीलस्य (नदतः) गर्जतः (नभस्वतः) आकाशस्थस्य मेघस्य (वाश्राः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति वाशृ शब्दे-रक् । शब्दायमानाः (आपः) जल धाराः (पृथिवीम्) भूमिम् (तर्पयन्तु) तृप्ताम् ओषधिप्ररोहणसमर्थां कुर्वन्तु ॥

२—(समीक्षयन्तु) ईक्ष दर्शने, णिच् । संदर्शयन्तु अस्मान् वृष्टिम् (तविषाः) तवेर्णिद्वा । उ० १ । ४८ । इति तु वृद्धिहिंसापूर्तिषु-टिषच् । तविषो महन्नाम निघ० ३ । ३ महान्तः (सुदानवः) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । इति दा—नु । शोभनदाना मेघाः (अपाम्) उदकानाम् (रसाः) श्रेष्ठगुणाः (ओषधीभिः) व्रीहियवादिभिः । अन्नैः । (सचन्ताम्) षच समवाये । समवयन्तु

वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमि को (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्वरूपाः) नाना रूपवाली (ओषधयः) चावल, यवादि ओषधें (पृथक्) नाना प्रकार से (जायन्ताम्) उत्पन्न होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे मेघों की वर्षा से सब लोग आनन्द पाते हैं, वैस ही मनुष्य विद्वानों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ २ ॥

समीक्षयस्व गायतो नभांस्यपां वेगासः पृथगुद् विजन्ताम्। वर्षस्य सर्गा महयन्तु भूमिं पृथग् जायन्तां वीरुधो विश्वरूपाः ॥ ३ ॥

सम्। ईक्षयस्व। गायतः। नभांसि। अपाम्। वेगासः। पृथक्। उत्। विजन्ताम्। वर्षस्य। सर्गाः। महयन्तु। भूमिम्। पृथक्। जायन्ताम्। वीरुधः। विश्व-रूपाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (गायतः) गान करने वाले लोगों को (नभांसि) बादलों का (समीक्षयस्व) दर्शन करा। (अपाम्) जल के (वेगासः) प्रवाह (पृथक्) नाना प्रकार से (उद् विजन्ताम्) उमड़कर चलें। (वर्षस्य) वर्षा की (सर्गाः) धारायें (भूमिम्) भूमिको (महयन्तु) समृद्ध करें, (विश्व-

---

(वर्षस्य) वृष्टिजलस्य (सर्गाः) सृज्यमानाः प्रवाहाः (महयन्तु) मह वृद्धौ। वर्धयन्तु। समर्धयन्तु (भूमिम्) पृथिवीम् भूमिस्थपदार्थानित्यर्थः (पृथक्) नानाप्रकारेण जातिभेदेन (जायन्ताम्) उत्पद्यन्ताम् (ओषधयः) व्रीहियवाद्याः (विश्वरूपाः) नानाविधाः ॥

३—(समीक्षयस्व) द्विकर्मकः। सन्दर्शय (गायतः) स्तुवतो लोकान् (नभांसि) नहेर्दिवि भश्च। उ० ४। २११। इति णह बन्धने-असुन् हस्य भः। यद्वा णभ हिंसायाम्-असुन्। नभ उदकम्-निघ० १। १२। नभ आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽपि वा भन एव स्याद् विपरीतो न न भातीति वैतेन द्यौर्व्याख्याता-निरु० २। १४। अभ्राणि (अपाम्) उदकानाम् (वेगासः) वेगा प्रवाहाः (पृथक्) भिन्नभिन्नप्रकारेण (उद् विजन्ताम्) ओविजी भयचलनयोः। उच्चलन्तु (वीरुधः) विरोहणशीला आरण्या ओषधिवनस्पतयः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

रूपाः) नाना रूप (वीरुधः) झाड़ लतायें (पृथक्) नाना प्रकार से (जायन्ताम्) उपजें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ३ ॥

गणास्त्वोप गायन्तु मारुताः पर्जन्य घोषिणः पृथक् ।
सर्गा वर्षस्य वर्षतो वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ४ ॥

गणाः । त्वा । उप । गायन्तु । मारुताः । पर्जन्य । घोषिणः । पृथक् । सर्गाः । वर्षस्य । वर्षतः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥४॥

भाषार्थ—(पर्जन्य) हे मेघ ! (घोषिणः) आनन्द ध्वनि करने वाले (मारुताः) ऋत्विज् लोगों के (गणाः) समूह (त्वा) तेरा (पृथक्) नाना प्रकार से (उप) आदर पूर्वक (गायन्तु) गान करें । (वर्षतः) बरसते हुये (वर्षस्य) वृष्टि जल की (सर्गाः) धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें ॥ ४ ॥

भावार्थ—वृष्टि से अन्न आदि यज्ञ के पादार्थ उत्पन्न होते और याजक गण वृष्टि के गुणों को गागाकर आनन्द मनाते हैं ॥ ४ ॥

उदीरयत मरुतः समुद्रतस्त्वेषो अर्को नभ उत् पातयाथ । महऋषभस्य नदतो नभस्वतो वाश्रा आपः पृथिवीं तर्पयन्तु ॥ ५ ॥

४—(गणाः) समूहाः (त्वा) त्वाम् (उप गायन्तु) उप आदरेण स्तुवन्तु (मारुताः) मरुतः—अ० १ । २० । १ । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । मरुत्—अण् । ऋत्विक्संबन्धिनः (पर्जन्य) अ० १ । २ । १ । हे सेचक, मेघ ! (घोषिणः) आनन्द घोषयुक्ताः (पृथक्) नानात्वेन (सर्गाः) प्रवाहाः (वर्षस्य) वृष्टिजलस्य (वर्षतः) सिञ्चतः (वर्षन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु (पृथिवीम्) (अनु) अनुकूलम् ॥

उत् । ई॒र॒य॒त॒ । म॒रु॒तः॒ । स॒मु॒द्र॒तः । त्वे॒षः । अ॒र्कः । नभः॑ । उत् । पा॒त॒या॒थ॒ । म॒हा-ऋ॒ष॒भस्य॑ । नद॑तः । नभ॑स्वतः । वा॒श्राः । आप॑ः । पृ॒थि॒वीम् । त॒र्प॒य॒न्तु॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे वायुवेगो ! (अर्कः=अर्कस्य) सूर्य के (त्वेषः=त्वेषेण) प्रकाश द्वारा (नभः) जलको (समुद्रतः) समुद्र से (उदीरयत) उठाओ और (उत् पातयाथ) ऊपर लेजाओ। (मह ऋषभस्य) बड़े गमन शील, (नदतः) गरजते हुये, (नभस्वतः) आकाश में छाये [बादल.] की (वाश्राः) धड़धड़ाती (आपः) जल धारायें (पृथिवीम्) पृथिवी को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जल, पवन और प्रकाश द्वारा पृथिवी से मेघमंडल में चढ़ता और फिर पृथिवी पर बरसकर अनेक पदार्थ उपजाता है, इसी प्रकार सज्जन पुरुष विज्ञान से परिपूर्ण होकर संसार में विद्या फैलाते हैं ॥ ५ ॥

अ॒भि क्र॑न्द स्त॒नया॒र्दयो॑द॒धिं भूमिं॑ पर्जन्य॒ पय॑सा॒ सम॑ङ्ग्धि । त्वया॑ सृ॒ष्टं ब॑हु॒लमैतु॑ व॒र्षमा॑शारैषी कृ॒शगु॑रे॒त्वस्त॑म् ॥ ६ ॥

अ॒भि । क्र॒न्द॒ । स्त॒नय॑ । अ॒र्दय॑ । उ॒द॒-धिम् । भूमि॑म् । पर्ज॑न्य॒ । पय॑सा । सम् । अ॒ङ्ग्धि॒ । त्वया॑ । सृ॒ष्टम् । ब॒हु॒लम् । आ । ए॒तु॒ । व॒र्षम् । आ॒शा॒र॒-ए॒षी । कृ॒श-गुः॑ । ए॒तु॒ । अस्त॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पर्जन्य) हे मेघ ! तू (अभि) सब ओर (क्रन्द) गड़गड़ कर, (स्तनय) गरज, (उदधिम्) समुद्र को (अर्दय) हिलादे, (भूमिम्) भूमि

५—(उदीरयत) ऊर्ध्वं प्रेरयत जलम् (मरुतः) वायुवेगाः (समुद्रतः) पार्थिवसमुद्रात् (त्वेषः) त्विष दीप्तौ—घञ् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ इति तृतीयायां प्रथमा । त्वेषेण । प्रकाशेन (अर्कः) अर्क स्तवने तापे च—अच् । षष्ठ्यर्थे प्रथमा । सूर्यस्य (नभः) म० ३ । उदकम् (उत् पातयाथ) पत गतौ—णिच्, लेट् । उद्गमयत । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

६—(अभि) अभितः (क्रन्द) शब्दं कुरु (स्तनय) घोषय । गर्ज (अर्दय)

(पयसा) जलसे (सम् अङ्धि) भरदे। (त्वया) तुझ करके (सृष्टम्) भेजा हुआ (बहुलम्) बहुत पदार्थ लाने वाला (वर्षम्) वृष्टि जल (ऐतु)आवे, (आशारैषी) शरण चाहने वाला, (कृशगुः) दुबली गौ बैल वाला किसान (अस्तम्) अपने घर (एतु) जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पृथिवी पर वृष्टि होने से अनेक पदार्थ उपजते हैं, तब किसान आनन्द पूर्वक थके दुर्बल पशुओं को चराकर घर ले जाते हैं ॥ ६ ॥

सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघा वर्षन्तु पृथिवीमनु ॥ ७ ॥

सम् । वः । अवन्तु । सु-दानवः । उत्साः । अजगराः । उत ।
मरुत्-भिः । प्र-च्युताः । मेघाः । वर्षन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥७॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (सुदानवः) महा दानी, (अजगराः) अजगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) सोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अवन्तु) तृप्त करें। (मरुद्भिः) पवन से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेघ (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (वर्षन्तु) बरसें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेह के समान परस्पर उपकार करें ॥

पीडय (उदधिम्) जलधिम् (भूमिम्) (पर्जन्य) हे मेघ (पयसा) वृष्टिजलेन (सम् अङ्धि) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । समक्तां संसिक्तां कुरु (त्वया) (सृष्टम्) प्रेरितम् (बहुलम्) अ० ३ । १४ । ६ । बहूनर्थान् लातीति, बहु+ला दानादानयोः—क। बहुपदार्थप्रापकम् (आ एतु) आगच्छतु (वर्षम्) वृष्टिजलम् (आशारैषी) शॄ वायुवर्णनिवृत्तेषु। वा० पा० ३ । ३ । २१ । इति आङ्+शॄ हिंसायाम्—घञ् । आशृणाति दुःखम् आशारः शरणम् । आशारमिच्छतीति, इष—णिनि । शरणेच्छुः (कृशगुः) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १।२।४८। इति ह्रस्वः। कृशा दुर्बल गावः पशवो यस्य तथाविधिः कर्षकः (एतु) गच्छतु (अस्तम) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । अस गतिदीप्त्यादानेषु-तन् । गृहम्—निघ० ३ । ४ ॥

७—(सम्) सम्यक् । एकीभूय (वः) युष्मान् हे जनाः (अवन्तु) तर्पयन्तु (सुदानवः) म० २ । महादातारः (उत्साः) अ० १ । १५ । ३ । स्रोतां-

आशामाशां वि द्योततां वाता वान्तु दिशोदिशः ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः सं यन्तु पृथिवीमनु ॥८॥

आशाम्-आशाम् । वि । द्योतताम् । वाताः । वान्तु । दिशः-दिशः । मरुत्-भिः । प्र-च्युताः । मेघाः । सम् । यन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥८॥

भाषार्थ—(वाताः) पवनें (दिशोदिशः) दिशा दिशा से (द्योतताम्) दीप्यमान (आशाम्-आशाम्) प्रत्येक दिशा को (वि) विविध प्रकार से (वान्तु) चलें। (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेह (पृथिवीम्) पृथिवी पर (अनु) अनुकूल (संयन्तु) उमड़ कर आवें ॥८॥

भावार्थ—जैसे मेह पवन द्वारा एक देश से दूसरे देश में बरसते हैं वैसे ही मनुष्य प्रयत्न करके देश देशान्तरों में वेद विद्या फैलावें ॥८॥

आपो विद्युदभ्रं वर्षं सं वोऽवन्तु सुदानव उत्सा अजगरा उत ।
मरुद्भिः प्रच्युता मेघाः प्रावन्तु पृथिवीमनु ॥९॥

आपः । वि-द्युत् । अभ्रम् । वर्षम् । सम् । वः । अवन्तु । सु-दानवः । उत्साः । अजगराः । उत । मरुत्-भिः । प्र-च्युताः । मेघाः । प्र । अवन्तु । पृथिवीम् । अनु ॥ ९ ॥

सि । कूपाः-निघ० ३ । २३ । (अजगराः) अज+गॄ निगरणे-अच् । अजान् गतिशीलान् जन्तून गिरन्तिभक्षयन्ति ये । बृहत्सर्पाः । तद्वत् स्थूलाकाराः (उत) अत्यर्थम् । एव । (मरुद्भिः) वायुभिः (प्रच्युताः) प्रेरिताः (मेघाः) मिह सेचने-अच्, कुत्वम् । वारिवाहाः (वर्षन्तु) सिंचन्तु (पृथिवीम्) (अनु) अनुकूलमे ॥

८—(आशामाशाम्) दिशंदिशम् आश्रित्य (द्योतताम्) भृमृदृशि० । उ० ३ । ११० । इति द्युत दीप्तौ-अतच्, टाप् । द्योतमानाम्, दीप्यमानाम् (वाताः) पवनाः (वि वान्तु) विविधं संचरन्तु (दिशोदिशः) सर्वस्या अपि दिशः सकाशात् (संयन्तु) संगता भवन्तु (अनु) अनुलक्ष्य । अन्यद् यथा म० ॥७॥

भाषार्थ—(आपः) जल धारायें, (विद्युत्) बिजुली, (अभ्रम्) जल से भरा मेह (वर्षम्) बरसा और (सुदानवः) महादानी, (अजगराः) अजगर [समान स्थूल आकार वाले] (उत्साः) सोते (वः) तुम्हें (उत) अत्यन्त करके (सम्) यथावत् (अवन्तु) तृप्त करें। (मरुद्भिः) पवनों से (प्रच्युताः) चलाये गये (मेघाः) मेह (पृथिवीम्) पृथिवी को (अनु) अनुकूल (प्र) भले प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें ॥९॥

भावार्थ—जैसे जल, बिजुली आदि मिलकर जगत् का उपकार करते हैं, वैसेही मनुष्य परस्पर मिलकर संसार का सुधार करें ॥९॥

मन्त्र ७ व ८ का मिलान करो ॥

अपामग्निस्तनूभिः संविदानो य ओषधीनामधिपा बभूव। स नो वर्षं वनुतां जातवेदाः प्राणं प्रजाभ्यो अमृतं दिवस्परि ॥ १० ॥

अपाम्। अग्निः। तनूभिः। सम्-विदानः। यः। ओषधीनाम्। अधि-पाः। बभूव। सः। नः। वर्षम्। वनुताम्। जात-वेदाः। प्राणम्। प्र-जाभ्यः। अमृतम्। दिवः। परि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) अग्नि [सूर्य ताप] (अपाम्) जलों के (तनूभिः) विस्तारों से (संविदानः) मिलता हुआ (ओषधीनाम्) चावल, यवादियों का (अधिपाः) विशेष पालन कर्ता (बभूव) हुआ है। (सः) वह (जातवेदाः) धनों का उत्पन्न करने वाला, वा उत्पन्न पदार्थों में सत्ता वाला अग्नि (नः प्रजाभ्यः) हम प्रजाओं के लिये (दिवः) अन्तरिक्ष से (परि) सब

९—(आपः) जलधाराः (विद्युत्) तडित् (अभ्रम्) उदकपूर्णो मेघः (वर्षम्) वृष्टिजलम् (प्र) प्रकर्षेण। अन्यद् यथा म० ७॥

१०—(अपाम्) जलानाम् (अग्निः) सूर्यतापः (तनूभिः) विस्तारैः। कणैः (संविदानः) संगच्छमानः (यः) (ओषधीनाम्) व्रीहियवादीनाम् (अधिपाः) अधि+पा रक्षणे-विच्। विशेषरक्षकः (बभूव) (सः) तादृशोऽग्निः (नः) अस्मभ्यम् (वर्षम्) वृष्टिजलम् (वनुताम्) प्रयच्छतु (जातवेदाः) अ० १। ७। २। वेदः=धनम्-निघ० २। १०। जातानि वेदांसि धनानि यस्मात्, यद्वा

ओर (वर्षम्) वरसा, (प्राणम्) प्राण और (अमृतम्) अमृत [मरण से व-चाव का साधन] (वनुताम्) देवे ॥१०॥

भावार्थ—जैसे सूर्य जल को खैंच लेकर फिर वरसा कर सब प्राणियों का जीवन आधार होता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धन प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥१०॥

प्रजापतिः सलिलादा समुद्रादाप ईरयन्नुदधिमर्दयाति। प्र प्यायतां वृष्णो अश्वस्य रेतोऽर्वाङेतेन स्तनयित्नुनेहि ॥ ११ ॥

प्रजा-पतिः । सलिलात् । आ । समुद्रात् । आपः । ईरयन् । उद-धिम् । अर्दयाति । प्र । प्यायताम् । वृष्णः । अश्वस्य । रेतः । अर्वाङ् । एतेन । स्तनयित्नुना । आ । इहि ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक सूर्य (सलिलात्) व्यापक (समुद्रात्) आकाश से (आपः=अपः) जल (आ ईरयन्) भेजता हुआ (उदधिम्) [पार्थिव] समुद्र को (अर्दयाति) बढ़ावे [जल खैंचे] । (अश्वस्य) व्यापक (वृष्णः) बरसने वाले मेघ का (रेतः) जल (प्रप्यायताम्) अच्छे प्रकार बढ़े । [हे पर्जन्य ! तू] (एतेन) इस (स्तनयित्नुना) गर्जन के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख (आ इहि) आ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र १० के समान है ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद (अर्वाङेतेन...) ऋ० ५ । ८३ । ६ का तीसर पाद है ॥

जातेषु पदार्थेषु वेदः सत्ता यस्य स तथाभूतः (प्राणम्) जीवनम् (प्रजाभ्यः) सृष्टिपदार्थेभ्यः (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् । अमरणम् (दिवः) अन्तरिक्षात् (परि) परितः ॥

११—(प्रजापतिः) प्रजानां पालयिता वृष्टिप्रदः सूर्यः (सलिलात्) सलिकल्यनि० । उ० १ । ५४ । इति षल गतौ-इलच् । व्यापनशीलात् (आ) समन्तात् (समुद्रात्) अन्तरिक्षात्-निघ० १ । ३ (आपः) सुपां सुलुक्० ।

अपो निषिञ्चन्नसुरः पिता नः श्वसन्तु गर्गरा अपां वरुणाव नीचीरपः सृज। वदन्तु पृश्निबाहवो मण्डूका इरिणानु ॥ १२ ॥

अपः। नि-सिञ्चन्। असुरः। पिता। नः। श्वसन्तु। गर्गराः। अपाम्। वरुण। अव। नीचीः। अपः। सृज। वदन्तु। पृश्नि-बाहवः। मण्डूकाः। इरिणा। अनु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (पिता) पालन करने वाला (असुरः) प्राण दाता मेघ (अपः) जल धारायें (निषिञ्चन्) उंडेलता हुआ [वर्तमान हो]। (अपाम्) जलके (गर्गराः) गड़गड़ाते हुये गगरे ((श्वसन्तु) श्वास लेवें। (वरुण) हे वरणीय मेघ! (अपः) जल धाराओं को (नीचीः) नीचे की ओर (अव सृज्) छोड़दे। (पृश्निबाहवः) छोटी २ भुजा वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ाने वाले वा डुबकी लगाने वाले मेंडके (इरिणा=इरिणानि) ऊसर भूमियों को (अनु=अनुहाय) छोड़कर (वदन्तु) ध्वनि करें॥ १२॥

भावार्थ—वरसा होने पर जैसे मेंडकों में फिर प्राण आजाते हैं इसी प्रकार अनेक पदार्थ उगकर आनन्द दायक होते हैं ॥ १२ ॥

इस मन्त्रका पहिला पाद (अपो...नः) ऋ० ५। ८३। ६ का चौथा पाद है ॥

पा० ७। १। ३६। इति शसः स्थाने जस्। अपः। उदकानि (ईरयन्) प्रेरयन् (उदधिम्) जलधिम् (अर्दयाति) अर्दयतेर्लेटि आडागमः। अर्दयतु। रश्मिभिर्जलादानेन पीडयतु (प्र प्यायताम्) प्रवर्धताम् (वृष्णः) वर्षकस्य मेघस्य (अश्वस्य) व्यापकस्य (रेतः) स्रुरीभ्यां तुट् च। उ० ४। २०२। इति रि, रीङ् स्रवणे—असुन्, तुट् च। उदकम्—निघ० १। १२। (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (एतेन) पूर्वोक्तेन (स्तनयित्नुना) स्तनिहृषिपुषि०। उ० ३। २६। इति स्तन देवशब्दे—इत्नुच्। गर्जनेन सह (आ—इहि) आगच्छ हे पर्जन्य॥

१२—(अपः) जलानि (निषिञ्चन्) न्यग्भावेन नितरां वा वर्षयन् (असुरः) अ० १। १०। १। असून् प्राणान् रातीति। असु+रा दाने—क। प्राणप्रदः। मेघः—निघ० १। १० (पिता) पालकः (नः) अस्माकम् (श्वसन्तु) उच्छ्वसिता भवन्तु (गर्गराः) मुदिग्रोर्गग्घौ। उ० । १ १२८। इति गॄ शब्दे—गग्र-

संवत्सरं शशयाना ब्राह्मणा व्रतचारिणः ।
वाचं पर्जन्यजिन्वितां प्र मण्डूका अवादिषुः ॥ १३ ॥

सम्-वत्सरम् । शशयानाः । ब्राह्मणाः । व्रत-चारिणः ।
वाचम् । पर्जन्य-जिन्विताम् । प्र । मण्डूकाः । अवादिषुः ॥१३॥

भाषार्थ—(संवत्सरम्) बोलने के समय तक (शशयानाः) शयन करने वाले (मण्डूकाः) शोभा बढ़ानेवाले वा डुबकी लगाने वाले मेंडुके, (व्रतचारिणः) व्रतधारी (ब्राह्मणाः) ब्राह्मणों के समान, (पर्जन्यजिन्विताम्) मेह से तृप्त की हुई (वाचम्) वाणी को (प्र) अच्छे प्रकार (अवादिषुः) बोले ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे वेदज्ञानी पुरुष वेदों में मौन [मनन] व्रत साधकर सत्य ज्ञान से तृप्त होकर संसार में उपदेश करते हैं, इसी प्रकार मेंडुके वृष्टि होने से संतुष्ट होकर बोलते हैं ॥ १४

यह मन्त्र ऋ० ७ । १०३ । १ में है । और निरुक्त ९ । ६ में भी व्याख्यात है ॥

त्ययः । गर्ग+रा-क । गर्गं शब्दं रान्ति ददतीति । शब्दं कुर्वाणः कलसा जलपात्राणि । प्रवाहाः (अपाम्) उदकानाम् (वरुण) हे वरणीय जलेश मेघ (नीचीः) न्यग्भावं गताः (अपः) वृष्टिधाराः (अव) नीचैः (सृज) त्यज (वदन्तु) ध्वनिं कुर्वन्तु (पृश्निबाहवः) स्वल्पभुजयुक्ताः (मण्डूकाः) शलिमण्डिभ्यामूकण् । उ० ४ । ४२ । इति मडि भूषणे-ऊकण् । यद्वा । मस्ज स्नाने-ऊकण्, जकारस्य डकारे नुमि ष्टुत्वम् । मण्डयन्ति भूषयन्ति जलाशयं निमज्जन्ति जले वा । मण्डूका मज्जूका मज्जनान्मदतेर्वा मोदतिकर्मणो मन्दतेर्वा तृप्तिकर्मणो मण्डयतेरिति वैयाकरणा मण्ड एषामोक इति वा मण्डो मदेर्वा मुदेर्वा—निरु० ९।५। मण्डनशीलाः । मज्जनस्वभावाः । मज्जूकाः । भेकाः (इरिणा) अर्तेः किदिच्च । उ० २ । ५१ । इति ऋ० हिंसागतिप्रापणेषु—इनन्, शेलोपः । इरिणानि । ऊषरभूमीः (अनु) हीने । विद्याय् ॥

१३—(संवत्सरम्) संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति बाहुलकात् सम्+वद कथने—सरन् प्रत्ययः, स च चित् । चित्वादन्तोदात्तः । सम्यग् वदनपर्यन्तम् । वर्षारम्भपर्यन्तम् इत्यर्थः (शशयानः) शिश्यानाः शयानाः । शयनशीलाः । निद्रालवः (ब्राह्मणाः) अ० २ । ६ । ३ । वेदपाठिनः । ब्रह्मज्ञानिनो यथा

उप॒प्रव॑द मण्डूकि व॒र्षमा व॑द तादुरि ।
मध्ये॑ ह्र॒दस्य॑ प्लवस्व वि॒गृह्य॑ च॒तुर॑: प॒दः ॥ १४ ॥

उ॒प॒-प्रव॑द । म॒ण्डू॒कि॒ । व॒र्षम् । आ । व॒द॒ । ता॒दु॒रि॒ ।
मध्ये॑ । ह्र॒दस्य॑ । प्ल॒व॒स्व॒ । वि॒-गृह्य॑ । च॒तुर॑: । प॒दः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(मण्डूकि) हे शोभा बढ़ाने वाली वा डुबकी लगाने वाली मेंडुकी ! (उप प्रवद) पास आकर बोल, (तदुरि) हे तैरनेवाली वा उतने [शरीर जितना] उदरवाली (वर्षम्) वर्षा को (आवद) बुला (ह्रदस्य) पोखर के (मध्ये) बीच में (चतुरः) चारों (पदः) पदों को (विगृह्य) फैलाकर (प्लवस्व) तैर ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे मेंडुकी वर्षा होने पर आनन्द से जल के भीतर तैरती फिरती है, ऐसे ही ब्रह्मज्ञानी लोग ब्रह्मविद्या में मग्न होकर विचरते हैं ॥ १४ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ९ । ७ में उदाहृत है ॥

खण्व॒खा३इ॒ खैमखा३इ॒ मध्ये॑ तदुरि ।
व॒र्षं व॑नुध्वं पितरो म॒रुतां॒ मन॑ इच्छत ॥ १५ ॥

खण्व॒खा३इ॑ । खैम॒खा३ इ॑ । मध्ये॑ । त॒दु॒रि॒ ।
व॒र्षम् । व॒नु॒ध्व॒म् । पि॒त॒रः॒ । म॒रुता॑म् । मन॑: । इ॒च्छ॒त॒ ॥ १५ ॥

(व्रतचारिणः) व्रत+चर-णिनि । कृतसंयमाः (वाचम्) वाणीम् (पर्जन्यजिन्विताम्) जिवि प्रीणने—क्त । पर्जन्येनप्रीतांतर्पिताम् (प्र) प्रकर्षेण (मण्डूकाः) म० १२ । मज्जूकाः । भेकाः (अवादिषुः) वद—लुङ् । अवोचन् ॥

१४—(उपप्रवद) उपेत्य प्रकृष्टं घोषं कुरु (मण्डूकि) मण्डूक, म० १२ स्त्रियां ङीप् । हे मण्डनशीले । निमज्जनस्वभावे । भेकि (वर्षम्) वृष्टिम् (आवद) आभाषय (तदुरि) तरणशीले ! अथवा तावत् उदरि ! यावच्छरीरं तावदेवोदरं तस्याः—इति दुर्गाचार्यो निरुक्तटीकायाम्—९ । ७ । दर्दुरि इत्यस्यैव छान्दसं रूपम् । भकुरदर्दुरौ । उ० १ । ४० । इति दॄ विदारणे—उरच्, निपातनात् साधुः । दृणाति भूमिं करणे वा स दर्दुरः । ङीप् । हे दर्दुरि ! मण्डूकि ! (मध्ये) मध्यदेशे (ह्रदस्य) ह्राद अव्यक्तशब्दे—अच् । पृषोदरादि ह्रस्वत्वम् । जलाशयस्य (प्लवस्व) प्रतर (विगृह्य) प्रसार्य (चतुरः) (पदः) पादान ॥

भाषार्थ—(खण्वखा ३ इ=खण्वखे) हे खनती में लंगड़ाने वाली (खैमखा ३ इ=खैमखे) हे कष्ट में ठहरी हुई (तदुरि=दर्दुरि) हे [भूमि वा कान] फोड़नेवाली दादुरी ! (मध्ये) [जल के] भीतर वर्तमान ! और (पितरः) हे पालन करनेवाले विद्वान् किसान आदि लोगो ! (वर्षम्) वर्षा का (वनध्वम्)सेवन करो (मरुताम्) याजकों के (मनः) मन को (इच्छत) चाहो [प्रसन्न करो ॥ १५ ॥

भावार्थ—वृष्टि होने से अन्न आदि पदार्थों की उत्पत्ति से सब प्राणी मेंडुकी के समान प्रसन्न होते हैं और यज्ञादि उत्तम कर्मों में प्रवृत्ति होते हैं॥१५॥

महान्तं कोशमुदंचाभि षिञ्च सविद्युतं भवतु वातु वातः । तन्वतां यज्ञं बहुधा विसृष्टा आनन्दिनी-रोषधयो भवन्तु ॥ १६ ॥

महान्तम् । कोशम् । उत् । अ॒च । अ॒भि । सिञ्च । सु-विद्युतम् । भवतु । वातु । वातः । तन्वताम् । यज्ञम् । बहु-धा । वि-सृष्टाः । आ-नन्दिनीः । ओषधयः । भवन्तु ॥ १६ ॥

१५—(खण्वखा३ इ=खण्वखे) अशूप्रुषि० । उ० । १ । १५१ । इति खनु अवदारणे—क्वन् । णत्वं छान्दसम् । खजि गतिवैकल्ये—ड । टाप् । एचोऽप्रगृह्यस्यादूराद्धूते पूर्वस्यार्धस्यादुत्तरस्येदुतौ । पा० ८ । २ । १०७ । इति एकारं विगृह्य अकारस्य प्लुतः । खण्वे खनने छिद्रे खञ्जति सा खण्वखा, तत्सम्बुद्धौ खण्वखे । हे बिले पङ्गुगते ! (खैमखा३ इ=खैमखे) अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति खै स्थैर्ये, खनने, हिंसायां चेति शब्दकल्पद्रुमः—ततो मन् प्रत्ययः, स च णित् । पुनः खै—ड, टाप् । खैमे हिंसायां कष्टे खायति तिष्ठति सा खैमखा । हे कष्टस्थिते (तदुरि) म० १४ । हे दर्दुरि ! मण्डूकि (वर्षम्) वृष्टिम् (वनुध्वम्) वन सम्भक्तौ । सेवध्वम् (पितरः) हे पालयितारो विद्वांसो यूयं च (मरुताम्) ऋत्विजाम्—निघ० ३ । १८ । दोषनाशकानां याजकानाम् (मनः) चित्तम् (इच्छत) कामयध्वम् ॥

१६

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (महान्तम्) बड़े (कोशम्) धन भण्डार को (उत् अच) ऊंचा कर, (अभि) सब ओरसे (सिञ्च) बरसा दे। (सविद्युतम्)समान विविध प्रकाशित [जगत्] (भवतु) होवे । (वातः) वायु (वातु) [अनुकूल] चले । (बहुधा) अनेक प्रकार से (विसृष्टाः) फैली हुई (ओषधयः) चावल, यव आदि ओषधें (यज्ञम्) यज्ञ को(तन्वताम्) फैलावें, और (आनन्दिनीः=०—न्यः) आनन्द युक्त (भवन्तु) होवें ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमात्मा के अनुग्रह से मनुष्य प्रयत्न पूर्वक धन संचय करें और वायु, वृष्टि आदि से उपकार लेकर यज्ञ अर्थात् अनेक विज्ञान युक्त कर्मों को फैलावें और अन्न आदि पदार्थ को पुष्टिकारक करें ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद (महांतं···पिञ्च) ऋ० ५ । ८३ । ८ में है ।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-६ ॥ वरुणो देवता । १ अनुष्टुप्, २-६ त्रिष्टुप् ७ जगती, ८, ९, त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

वरुणस्य सर्वव्यापकतोपदिश्यते—वरुण की सर्वव्यापकता का उपदेश ॥

बृहन्नेषामधिष्ठाता अन्तिकादिव पश्यति ।
यस्तायन्मन्यते चरन्त्सर्वं देवा इदं विदुः ॥ १ ॥

बृहन् । एषाम् । अधि-स्थाता । अन्तिकात्-इव । पश्यति ।
यः । तायत् । मन्यते । चरन् । सर्वम् । देवाः । इदम् । विदुः ॥१॥

१६—(महान्तम्) विशालम् (कोशम्) कुश श्लेषे-घञ् । हिरण्यादिस्थापनगृहम् । मेघम्-निघ० १ । १० (उत् अच) अञ्चु गतौ । ऊर्ध्वं प्राप्नुहि । उत्थापय (अभि) अभितः (सिञ्च) वर्षय (सविद्युतम्) स+वि+द्युत दीप्तौ—क । समानं विविधं प्रकाशितं जगत् (भवतु) (वातु) अनुकूलं संचरतु (वातः) पवनः (तन्वताम्) विस्तारयन्तु (यज्ञम्) यजनीयं कर्म (बहुधा) नानाप्रकारेण (विसृष्टाः) उत्पन्नाः । वितीर्णाः (आनन्दिनीः) आनन्द-इनि,ङीप् । आनन्दिन्यः । हर्षयुक्ताः (ओषधयः) व्रीहियवतण्डुलमादयः ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [लोकों] का (बृहन्) बड़ा (अधिष्ठाता) अधिष्ठाता [वह वरुण] (अन्तिकात् इव) समीप में वर्तमान सा (पश्यति) देखता है, (यः) जो [वरुण] (तायत्) विस्तार वा पालन (चरन्) करता हुआ (सर्वम्) सब जगत् को (मन्यते) जानता है। (देवाः) व्यवहार में कुशल देवता लोग (इदम्) यह बात (विदुः) जानते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्व नियन्ता, सर्वज्ञाता, सर्वस्रष्टा और सर्वरक्षिता है, इस बात को ऋषि महात्मा साक्षात् करते हैं ॥ १ ॥

यस्तिष्ठ॑ति॒ चर॑ति॒ यश्च॒ वञ्च॑ति॒ यो नि॒लाय॑ं॒ चर॑ति॒ यः प्र॒तङ्क॑म्। द्वौ सं॑नि॒षद्य॒ यन्म॒न्त्रये॑ते॒ राजा॒ तद् वे॑द॒ वरु॑णस्तृ॒तीय॑ः ॥ २ ॥

यः। तिष्ठ॑ति। चर॑ति। यः। च॒। वञ्च॑ति। यः। नि॒-लाय॑न्। चर॑ति। यः। प्र॒-तङ्क॑म्। द्वौ। स॒म्-नि॒षद्य॑। यत्। म॒न्त्रये॑ते॒ इति॑। राजा॑। तत्। वे॒द॒। वरु॑णः। तृ॒तीय॑ः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (तिष्ठति) खड़ा होता है, वा (चरति) चलता है, (च) और (यः) जो पुरुष (वञ्चति) ठगी करता है, और (यः) जो (निलायन्) भीतर घुसकर, और (यः) जो (प्रतङ्कम्) बाहिर निकलकर

१—(बृहन्) महान् (एषाम्) दृश्यमानानां लोकानाम् (अधिष्ठाता) नियन्ता (अन्तिकात्) इव समीपदेशाद् यथा (पश्यति) अवलोकयति (यः) वरुणः (तायत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च। उ० २। ८४। इति तायृ सन्तानपालनयोः—अति। विस्तारम्। पालनम् (मन्यते) जानाति (चरन्) चर आचारे-शतृ। कुर्वन् सन् (सर्वम्) सरणशीलं जगत् (देवाः) व्यवहार-कुशलाः। विद्वांसः (इदम्) निर्दिष्टं वृत्तम् (विदुः) विदन्ति। जानन्ति। साक्षात् कुर्वन्ति ॥

२—(यः) पुरुषः (तिष्ठति) स्थितो भवति (चरति) गच्छति (वञ्चति) प्रतारयति। वञ्चनं करोति (निलायन्) नि+ली श्लेषे द्रावणे च—शतृ। निलीनः अदृश्यः सन् (चरति) आचरति (प्रतङ्कम्) प्र+तकि कृच्छ्रजीवने-णमुल्।

(चरति) काम करता है और (द्वौ) दो जने (संनिषद्य) एक साथ बैठकर (यत्) जो कुछ (मन्त्रयेते) कानाफूसी करते हैं, (तृतीयः) तीसरा (राजा) राजा (वरुणः) वरणीय वा दुष्टनिवारक वरुण परमेश्वर (तत्) उसे (वेद) जानता है ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर प्राणियों के गुप्त से गुप्त कर्मों को सर्वथा जानता और उनका यथावत् फल देता है ॥ २ ॥

उ॒तेयं भूमि॒र्वरु॑णस्य॒ राज्ञ॑ उ॒तासौ द्यौर्बृ॑ह॒ती दू॒रेअ॑न्ता।
उ॒तो स॑मु॒द्रौ वरु॑णस्य कु॒क्षी उ॒तास्मिन्न॒ल्प उ॑द॒के निली॑नः॥३॥

उ॒त । इ॒यम् । भूमिः॑ । वरु॑णस्य । राज्ञः॑ । उ॒त । अ॒सौ । द्यौः । बृ॒ह॒ती । दू॒रे-अ॑न्ता । उ॒तो इति॑ । स॒मु॒द्रौ । वरु॑णस्य । कु॒क्षी इति॑ । उ॒त । अ॒स्मिन् । अ॒ल्पे । उ॒द॒के । नि-ली॑नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इयम् भूमिः) यह भूमि (उत) भी, (उत) और (असौ) वह (बृहती) बड़ा, (दूरे अन्ता) [पृथिवी से] दूर गति वाला (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा का है, (उतो) और भी [पृथिवी और आकाश के] (समुद्रौ) दोनों समुद्र (वरुणस्य) वरुण की (कुक्षी) दो कोखें हैं, (उत) और वह (अस्मिन्) इस (अल्पे) थोड़े से (उदके) जल में भी (निलीनः) लीन हो रहा है ॥ ३ ॥

प्रकृष्टगमनं बहिर्गमनं प्राप्य (द्वौ) यौ पुरुषौ (संनिषद्य) सहोपविश्य (यत्) यत्किञ्चित् कार्यम् (मन्त्रयेते) मन्त्रि गुप्तभाषणे। रहसि गुप्तं भाषेते (राजा) ईश्वरः (सर्वम्) (वेद) वेत्ति (वरुणः) वरणीयो दुष्टानां निवारको वा (तृतीयः) त्रेः संप्रसारणं च । पा० ५ । २ । ५५ । इति त्रि—तीय, संप्रसारणं च । त्रयाणां पूरकः ॥

३—(उत) अपि (इयम्) दृश्यमाना (भूमिः) (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (राज्ञः) ईश्वरस्य । समर्थस्य (असौ) विप्रकृष्टा (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यलोकः (बृहती) महती (दूरेअन्ता) दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दुर+इण् गतौ—रक् । इति दूरम् । इसिमृमिणवामि० । उ० ३ । ८६ । इति

भावार्थ—वरुण परमात्मा की ईश्वरता बड़ों से बड़े और छोटों से छोटे पदार्थों में है, अर्थात् यह स्थूल और सूक्ष्म जगत् उसी के आकर्षण, धारण, संयोग, वियोग सामर्थ्य में स्थित हैं। उस की उपासना करके सब मनुष्य अपनी उन्नति करें॥ ३ ॥

उत यो द्यामतिसर्पात् परस्तान्न स मुच्यातै वरुणस्य राज्ञः। दिव स्पशः प्र चरन्तीदमस्य सहस्राक्षा अति पश्यन्ति भूमिम् ॥ ४ ॥

उत। यः। द्याम्। अति-सर्पात। परस्तात्। न। सः। मुच्यातै। वरुणस्य। राज्ञः। दिवः। स्पशः। प्र। चरन्ति। इदम्। अस्य। सहस्र-अक्षाः। अति। पश्यन्ति। भूमिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत) और (यः) जो [दुष्ट] (परस्तात्) दूर देश में (द्याम्) सूर्य लोक को (अतिसर्पात्) पार करके चुपके से रेंग जावे, (सः) वह पुरुष (वरुणस्य राज्ञः) वरुण राजा की (न मुच्यातै) मुक्ति न पासके। (दिवः) प्रकाशमान (अस्य) इस [वरुण] के (स्पशः) वन्धन सामर्थ्य (इदम्)

अम गतौ—तन्। अन्तो अततेः-निरु ४। २५। पृथिव्या दूरे अन्तं गमनं यस्याः सा। (उतो) अपि च (समुद्रौ) अन्तरिक्षभूमिस्थौ जलधी (कुक्षी) प्लुषि कुषिशुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। इति कुष निष्कर्षे-क्सि। उदरस्य दक्षिणवाम-पार्श्वौ यथा (अस्मिन्) निकटस्थे (अल्पे) अल वारणपर्य्याप्तिभूषासु-पप्रत्ययः। लेशमात्रे (उदके) जले (निलीनः) अन्तर्हितः॥

४—(उत) अपि च (यः) दुष्टः (द्याम्) सूर्यलोकम् (अतिसर्पात्) सृप—लेट्। अतिक्रम्य सर्पेत् गुप्तं गच्छेत् (परस्तात्) दिक्शब्देभ्यः सप्तमी-पञ्चमी०। पा० ५। ३। २७। इति पर-अस्ताति। परस्मिन् दूरे देशे (न) नहि (सः) पुरुषः (मुच्यातै) मुचेः कर्मणि लेटि आडागमः, वैतोऽन्यत्र। पा० ३। ४। ९६। इति ऐकारः। मुक्तिं प्राप्नुयात् (वरुणस्य) वरणीयस्य परमेश्वरस्य (राज्ञः) ईश्वरस्य (दिवः) प्रकाशमानस्य (स्पशः) स्पश बाधनस्पर्शनयोः—क्विप्) बाधमानाः। बन्धाः। पाशाः (प्र चरन्ति) प्रकर्षेण गच्छन्ति (इदम्)

इस [जगत्] में (प्र चरन्ति) चलते रहते हैं, [उन को] (सहस्राक्षाः) सहस्र प्रकार की दृष्टि वा व्यवहार वाले पुरुष (भूमिम् अति) भूमि के पार (पश्यन्ति) देखते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—चाहे कोई दुष्कर्म करके कहीं छिप जावे, तो भी वह वरुण परमेश्वर के अखंड दण्ड से नहीं बच सकता। वह अपनी करनी का फल इस जन्म वा परजन्म में अवश्य पाता है ॥ ४ ॥

सर्वं तद् राजा वरुणो वि चष्टे यदन्तरा रोदसी यत् परस्तात्। संख्याता अस्य निमिषो जनानामक्षानिव श्वघ्नी नि मिनोति तानि ॥ ५ ॥

सर्वम्। तत्। राजा। वरुणः। वि। चष्टे। यत्। अन्तरा। रोदसी इति। यत्। परस्तात्। सम्-ख्याताः। अस्य। नि-मिषः। जनानाम्। अक्षान्-इव। श्व-घ्नी। नि। मिनोति। तानि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(राजा वरुणः) राजा वरुण (तत् सर्वम्) वह सब (वि चष्टे) देखता रहता है, (यत्) जो कुछ (रोदसी अन्तरा) सूर्य और भूमि के बीच में, और (यत्) जो कुछ (परस्तात्) परे हैं। (जनानाम्) मनुष्यों के (निमिषः) पलक मारने (अस्य) इस [वरुण] के (संख्याताः) गिने हुये

दृश्यमानं जगत् (अस्य) वरुणस्य (सहस्राक्षाः) अ० ३। ११। ३। सहस्र+अक्षि-षच्। यद्वा। सहस्र+अक्ष। सहस्राणि बहूनि अक्षीणि दर्शनसामर्थ्यानि, अथवा, अक्षा व्यवहारा येषां ते तथाभूताः। बहुदर्शकाः बहुव्यवहारशीलाः पुरुषाः (अति) अतीत्य (पश्यन्ति) साक्षात्कुर्वन्ति तान् स्पशः (भूमिम्) भूलोकम् ॥

५—(सर्वम् तत्) सकलं वृत्तम् (राजा वरुणः) समर्थः परमेश्वरः (विचष्टे) अ० ४। ११। २। विशेषेण पश्यति (यत्) (रोदसी अन्तरा) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (परस्तात्) म० ४। दूरदेशे (संख्याताः) परिगणिताः (अस्य) वरुणस्य (निमिषः) मिष स्पर्धायाम्—क्विप्। निमेषाः। चक्षुषः स्पन्दनकालाः।

हैं, वह (तानि) हिंसा कर्मों को (नि मिनोति) गिरा देता है (श्वघ्नी इव) जैसे धन हारने वाला जुआरी (अक्षान्) पासों को [गिरा देता है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—वरुण सर्वज्ञ सर्वनियन्ता है, वह दुष्टों को दण्ड देकर ऐसे गिरा देता है जैसे हारा जुआरी निर्धन होकर क्रोध से पासे आदि पटक देता है। यहां गिराने मात्र में दृष्टान्त है ॥ ५ ॥

ये ते॒ पाशा॑ वरुण स॒प्तस॑प्त त्रे॒धा तिष्ठ॑न्ति॒ विषि॑ता॒ रुश॑न्तः । छि॒नन्तु॒ सर्वे॒ अनृ॑तं॒ वद॑न्तं॒ यः स॑त्यवा॒द्यति॒ तं सृ॑जन्तु ॥ ६ ॥

ये । ते॒ । पाशाः॑ । व॒रु॒ण॒ । स॒प्त-स॑प्त । त्रे॒धा । तिष्ठ॑न्ति । वि-सि॑ताः । रुश॑न्तः । छि॒नन्तु॑ । सर्वे॑ । अनृ॑तम् । वद॑न्तम् । यः । स॒त्य-वा॒दी । अति॑ । तम् । सृ॒जन्तु॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुष्ट निवारक परमेश्वर ! (सप्तसप्त=सप्तसप्ताः) सात धाम [पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, विराट् अर्थात् स्थूल जगत्, परमाणु और प्रकृति] से सम्बन्धवाले, (त्रेधा) तीन प्रकार से [भूत, भविष्यत् और वर्त्तमान काल में] (विषिताः) फैले हुए (रुशन्तः) [दुष्टों वा दोषों

(जनानाम्) प्राणिनाम् (अक्षान्) अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अशू व्याप्तौ-स । द्यूतसाधनानि (इव) यथा (श्वघ्नी) कर्मणि हनः । पा० ३ । २ । ७६ इति । स्व+हन—णिनि । सस्य शः । श्वघ्नी कितवो भवति, स्वं हन्ति स्वं पुनराश्रितं भवति-निरु० ५ । २२ । स्वहा, स्वघाती । धननाशकः । द्यूतकारकः (निमिनोति) डुमिञ् प्रक्षेपणे । नीचैः क्षिपति (तानि) तर्द हिंसे-ड । तर्दनानि । हिंसनानि ॥

६—(ये) (ते) तव (पाशाः) अ० १ । ३१ । २ । बन्धनानि (वरुण) परमेश्वर (सप्तसप्त) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति षप समवाये-कनिन् तुट् च । षप—क्त । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक्, मध्यपदलोपश्च । सप्तसप्ताः । सप्तधामभिः पृथिवीजलाग्निवायुविराट्परमाणुप्रकृतिभिः संयेताः संबद्धाः-यथा [पृथिव्याः सप्त धामभिः] ऋ० १ । २२ ।

को] नाश करते हुये (ये) जो (ते) तेरे (पाशाः) फांस वा जाल (तिष्ठन्ति) स्थित हैं। (सर्वे) वे सब [फांस] (अनृतं वदन्तम्) मिथ्या बोलने वाले को (छिनन्तु) छिन्न भिन्न करें, और (यः) जो (सत्यवादी) सत्यवादी है (तम्) उसको (अति) सत्कार पूर्वक (सृजन्तु) छोड़ें ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा प्रत्येक वस्तु और काल में व्यापक होकर दुष्टों को यथावत् दण्ड और शिष्टों को यथावत् आनन्द देता है ॥ ६ ॥

शतेन पाशैर॒भि धे॑हि वरुणैनं मा ते॑ मोच्यनृतवाङ् नृ॑चक्षः । आस्तां॑ जा॒ल्म उ॒दरं॑ श्रं॒शयि॒त्वा को॒श इ॑वा-बु॒न्धः प॑रिकृ॒त्यमा॑नः ॥ ७ ॥

श॒तेन॑ । पाशैः॑ । अ॒भि । धे॒हि॒ । व॒रु॒ण॒ । ए॒न॒म् । मा । ते॒ । मो॒चि॒ । अ॒नृ॒त॒-वा॒क् । नृ॒-च॒क्षः॒ । आस्ता॑म् । जा॒ल्मः । उ॒दर॑म् । श्रं॒शयि॒त्वा । कोशः॑-इ॒व । अ॒बु॒न्धः । परि॑-कृ॒त्यमा॑नः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुष्टनिवारक परमेश्वर ! (शतेन) सौ (पाशैः) फांसों से (एनम्) इस [मिथ्यवादी] को (अभि धेहि) बांध ले, (नृचक्षः) हे मनुष्यों के देखनेवाले ! (अनृतवाक्) मिथ्यावादी पुरुष (ते) तेरी (मा मोचि) मुक्ति न पावे। (जाल्मः) नीच अन्यायी (उदरम्) युद्ध कर्म को (श्रंशयित्वा—

१६ । इत्यत्र दयानन्दभाष्ये (त्रेधा) त्रिप्रकारं भूतभविष्यत्वर्तमानकालेषु (तिष्ठन्ति) वर्त्तन्ते (विषिताः) षिञ् बन्धेने-क्त । विविधं बद्धाः । विस्तृताः (रुशन्तः) दुष्टान् दोषान् वा हिंसन्तः (छिनन्तु) छिन्दन्तु (सर्वे) पाशाः (अनृतम्) असत्यम् (वदन्तम्) कथयन्तम् (यः) (सत्यवादी) सत्यवक्ता (तम्) (अति) अत सातत्यगमने—इन् । पूजायाम् । उत्कर्षे । (सृजन्तु) त्यजन्तु मुञ्चन्तु ॥

७—(शतेन) बहुभिः (पाशैः) दण्डबन्धनैः (अभि धेहि) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । बधान (वरुण) हे दुष्टनिवारक (एनम्) अनृतवादिनम् (ते) तव (मा मोचि) मुक्तिं न प्राप्नुयात् (अनृतवाक्) मिथ्यावादी (नृचक्षः) चक्षे-र्बहुलं शिच्च । उ० ४ । २३३ । नृ + चक्षिङ् दर्शने-असुन् । हे नृणां मनुष्याणां साध्व-साधुच रित्राणां द्रष्टः (आस्ताम्) तिष्ठतु (जाल्मः) जल अपवारणे-मप्रत्ययः ।

स्रंसयित्वा) नीचे गिराकर (परिकृत्यमानः) कटी हुई, (अवन्धः) अपने से छुटी (कोशः इव) फूल की कली के समान (आस्ताम्) बैठा रहे ॥ ७ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर के दण्ड से कोई मिथ्यवादी नहीं छूट सकता, और अधर्मी दुष्ट धर्मात्माओं के सन्मुख ऐसा गिर जाता है, जैसे फूल की अधखिली कली अधिक पवन आदि के कारण गिरकर कुम्हला जाती है ॥७॥

यः सं॑मा॒म्यो॒ ३॒ वरु॑णो॒ यो व्या॒म्यो॒ ३॒ यः सं॑दे॒श्यो॒ ३॒ वरु॑णो॒ यो वि॑दे॒श्यः॑ । यो दै॒वो वरु॑णो॒ यश्च॒ मानु॑षः ॥८॥

यः । सम्-आ॒म्यः॑ । वरु॑णः । यः । वि-आ॒म्यः॑ । यः । सम्-दे॒श्यः॑ । वरु॑णः । यः । वि-दे॒श्यः॑ । यः । दै॒वः । वरु॑णः । यः । च॒ । मानु॑षः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) वरुण परमेश्वर (यः) व्यापक, (समाम्यः) समान सेवनीय,(यः) सर्वनियन्ता और (व्याम्यः) पीड़ा रहित है, (वरुणः) वरुण ही (यः) यत्नशील, (संदेश्यः) समान देशीय, (यः) संयोग और वियोग

जालयति दूरीकरोति हितज्ञानमिति । पामरः । क्रूरः (उदरम्) उदि दृणातेरलचौ पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उ० ५ । १६ । इति उद्+दृ विदारे-अच् । उदो दस्य लोपः । उद्विदारणं युद्धम् (भ्रंशयित्वा) स्रंसु अवस्रंसने=अधः पतने णिचि क्त्वा, सकारस्य शकारः । स्रंसयित्वा । अधः पातयित्वा (कोशः) कुश संश्लेषे-घञ् । कोशोऽस्त्री कुड्मले, इत्यमरः—२३ । २१८ । कुड्मलः । विकाशोन्मुखकलिका (इव) यथा (अवन्धः) वन्धेन शाखासंयोगतन्तुना विश्लिष्टः (परिकृत्यमानः) कृती छेदने-कर्मणि यक्, शानच्, मुक् च । परिच्छिद्यमानः ॥

८—(यः) या गतौ-ड । व्यापकः (समाम्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति सम्+अम गतौ, भजने च-ण्यत् । सम्यग् आम्यो भजनीयः सेवनीयः (वरुणः) वरणीयः सर्वश्रेष्ठः (यः) यम-ड । नियन्ता (व्याम्यः) वि+अम पीड़ने-भावे ण्यत् । विगतम् आम्यं पीडनं यस्मात् सः । पीडारहितः । आनन्दस्वरूपः (यः) यती यत्ने-ड । यत्नशीलः (संदेश्यः) दिगादिभ्यो यत् । पा० ४ । ३ । ५४ । इति देश-यत् । समानदेशे भवः (यः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—ड । यविता संयोक्ता वियोक्ता च (विदेश्यः) पूर्ववद्-यत् । विदेशे भवः (यः) यज देवपू-

करने वाला, (विदेश्यः) विदेशीय है। (वरुणः) वरुण ही (यः) पूजनीय, (दैवः) दिव्य गुण वालों में वर्त्तमान, (च) और (यः) दाता, और (मानुषः) मनन शील मनुष्यों में वर्तमान है ॥८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा भले प्रकार जान कर अपने आत्मा की उन्नति करें ॥८॥

तैस्त्वा सर्वैरभि ष्यामि पाशैरसावामुष्यायणामुष्याः पुत्र । तानु ते सर्वाननु संदिशामि ॥ ९ ॥

तैः । त्वा । सर्वैः । अभि । स्यामि । पाशैः । असौ । आमुष्यायण । अमुष्याः । पुत्र । तान् । ऊं इति । ते । सर्वान् । अनु-संदिशामि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(असौ=असौ त्वम्) वह तू (आमुष्यायण) हे अमुक पिता के पुत्र ! और (अमुष्याः पुत्र) हे अमुक माता के पुत्र ! (त्वा) तुझ को (तैः सर्वैः) उन सब (पाशैः) नियम बन्धनों से (अभि ष्यामि) मैं [वरुण] बांधता हूं, और (तान् सर्वान्) उन सबों को (उ) अवश्य (ते) तेरे लिये (अनुसंदिशामि) समीप से समझाता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने वेद द्वारा स्पष्ट दिखा दिया है कि सत्कर्म सुख के और दुष्कर्म दुःख के मूल हैं। इस लिये मनुष्य दुष्कर्मों को छोड़कर सत्कर्म करके आनन्द भोगें॥ ९ ॥

जने-ड। पूजनीयः (दैवः)देवाद् यञञौ। वा० पा० ४।१।८५। इति देव-अञ्। देवेषु दिव्यगुणवत्सु भवः (यः) यज दाने—ड। दाता (च) समुच्चये (मानुषः) अ० ४। १४। ५। मनुष्येषु मननशीलेषु भवः ॥

९—(तैः) सुप्रसिद्धैः (त्वा) त्वां मनुष्यम् (सर्वैः) (अभि ष्यामि) अभिपूर्वः षो बन्धने। बध्नामि, अहं वरुणः (पाशैः) बन्धैः (असौ) स त्वम् (आमुष्यायण) अमुष्य, अदस् इत्यस्य षष्ठी, फक्, षष्ठ्या अलुक। हे अमुष्य-पुरुषस्य पुत्र। हे प्रख्यातकुलोद्भव (अमुष्याः) स्त्रियाम् अदस्-षष्ठी। अमुक-जनन्याः (पुत्र) (तान्) (सर्वान्) पाशान् (उ) अवश्यम् (ते) तुभ्यम् (अनुसंदिशामि) दिश दाने आज्ञापने। अनु सामीप्येन विज्ञापयामि निरूपयामि ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्वापामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ॥

ईशानां त्वा भेषजानामुज्जेष आ रभामहे ।
चक्रे सहस्रवीर्यं सर्वस्मा ओषधे त्वा ॥ १ ॥

ईशानाम् । त्वा । भेषजानाम् । उत्-जेषे । आ । रभामहे ।
चक्रे । सहस्र-वीर्यम् । सर्वस्मै । ओषधे । त्वा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ईशानाम्) समर्थ (भेषजानाम्) भय निवारक पुरुषों में (त्वा) तेरा (उज्जेषे) [शत्रुओं को] जीतने के लिये (आरभामहे) हम आश्रय लेते हैं। (ओषधे) हे ताप नाशक [वा अन्न आदि ओषधि के समान उपकारक !] (सर्वस्मै) सब जनों के लिये (त्वा) तुझे (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्य वाला (चक्रे) उस [परमात्मा] ने बनाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थियों में महा पुरुषार्थी पुरुष को अपना प्रधान बनावें और उससे अपनी रक्षा का सहारा लें ॥ १ ॥

सत्यजितं शपथयावनीं सहमानां पुनःसराम् ।
सर्वाः समह्व्योषधीरितो नः पारयादिति ॥ २ ॥

सत्य-जितम् । शपथ-यावनीम् । सहमानाम् । पुनः-सराम् ।
सर्वाः । सम् । अह्वि । ओषधीः । इतः । नः । पारयात् । इति ॥२॥

१—(ईशानाम्) ईश ऐश्वर्ये—क । ईश्वराणां समर्थानाम् (त्वा) त्वां राजानम् (भेषजानाम्) भेष+जि जये—ड । भेषस्य भयस्य जेतॄणां मध्ये (उज्जेषे) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति जि—सेप्रत्ययः । उज्जेतुं, निवारयितुं शत्रून् (आ रभामहे) आङ्पूर्वको रभ स्पर्शे । संस्पृशामः । आश्रयामः (चक्रे) स परमेश्वरः कृतवान् (सहस्रवीर्यम्) अपरिमितसामर्थ्ययुक्तम् (सर्वस्मै) सर्वजनहिताय (ओषधे) हे दाहनाशक ! अन्नाद्योषधिवद् उपकारक (त्वा) त्वाम् ॥

भाषार्थ—(सत्यजितम्) सत्य से जीते वाली, (शपथयावनीम्) शाप वा क्रोध वचन हटाने वाली, (सहमानाम्) शत्रुओं को हराने वाली, और (पुनः सराम्) बारंबार आगे बढ़ाने वाली सेना को, और (सर्वाः) सब (ओषधीः) ताप नाश करने वाली प्रजाओं को (सम् अह्वि) यथावत् मैंने आवाहन किया है, (इतः) इस [कठिन कर्म] से (नः) हमें (पारयात्) वह [पुरुषार्थी] पार लगावे, (इति) इस अभिप्राय से ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजा प्रतिनिधि सब हितकारी सेना और प्रजा गणों को बुला कर शत्रुओं से बचने के लिये राजा बनाने का प्रयोजन प्रकाशित करे ॥ २ ॥

या श॒शाप॒ शप॑नेन॒ याघं मूर॑माद॒धे ।
या रस॑स्य॒ हर॑णाय जा॒तमा॑रे॒भे तो॒कम॑त्तु॒ सा ॥ ३ ॥

या । श॒शाप॑ । शप॑नेन । या । अ॒घम् । मूर॑म् । आ॒-द॒धे ।
या । रस॑स्य । हर॑णाय । जा॒तम् । आ॒-रे॒भे । तो॒कम् । अ॒त्तु॒ । सा ॥३॥

भाषार्थ—(या) जिस [शत्रुसेना] ने (शपनेन) शाप [कुवचन] से (शशाप) कोसा है और (या) जिसने (अघम्) दुःख देने वाली (मूरम्) मूलको (आदधे) जमा लिया है। और (या) जिसने (रसस्य) रस के (हर-

२—(सत्यजितम्) जि-क्विप्, तुक्। सत्येन जयशीलाम् (शपथयावनीम्) यु अमिश्रणे-णिच्, ल्युट्, ङीप्। शपथस्य आक्रोशस्य क्रोधवचनस्य पृथक्कर्त्रीं नाशयित्रीम् (सहमानाम्) अभिभवशीलाम् (पुनः सराम्) पुनः पुनः सरति प्रवर्तते सा तां सेनां प्रजां वा (सर्वाः) (सम्) सम्यक्। (अह्वि) अह्वे। आहूतवानस्मि (ओषधीः) तापनिवारिकाः प्रजाः (इतः) अस्मात् कठिनकर्मणः (नः) अस्मान् (पारयात्) पार कर्मसमाप्तौ। अस्मत्कर्तव्यं समापयेत्। पारं गमयेत् स राजा (इति) अनेन हेतुना॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० १। २८। ३। इह शब्दार्थो दीयते। (या) शत्रुसेना (शशाप) अनिष्टकथनं कृतवती। (शपनेन) शापेन कुवचनेन (अघम्) दुःखकरम् (मूरम्) लस्य रः। मूलं प्रतिष्ठाम् (आदधे) परिजग्राह (रसस्य) सारस्य। आनन्दस्य (हरणाय) नाशनाय (आरेभे) आलेभे। स्पृष्टवती (तोकम्) वर्धनम्। सन्तानम् (अत्तु) भक्षयतु (सा) शत्रुसेना ॥

णाय) हरण के लिये (जातम्) [हमारे] समूह को (आरेभे) छूआ है, (सा) वह [शत्रुसेना] (तोकम्) अपनी बढ़ती वा संतान को (अत्तु) खा लेवे ॥३॥

भावार्थ—जब शत्रु सेना दुर्वचन बोलती और उपद्रव मचाती बढ़ती आवे, युद्ध कुशल सेनापति उनमें भेद डाल दे कि वह लोग अपने संतान अर्थात् इष्ट मित्रों को ही नाश करदें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र पहले आ चुका है—अ० १ । २८ । ३ ॥

यां ते॑ चक्रुरा॒मे पात्रे॒ यां च॒क्रुर्नी॑ललोहि॒ते ।
आ॒मे मां॒से कृ॒त्यां यां च॒क्रुस्तया॑ कृत्या॒कृतो॑ जहि ॥४॥

याम् । ते॒ । च॒क्रुः॑ । आ॒मे । पात्रे॑ । याम् । च॒क्रुः । नी॒ल॒-लो॒हि॒ते । आ॒मे । मां॒से । कृ॒त्याम् । याम् । च॒क्रुः । तया॑ । कृ॒त्या॒-कृतः॑ । ज॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (आमे) भोजन में, वा (पात्रे) पानी में (चक्रुः) उन्होंने [हिंसाकारियों ने] किया है, (याम्) जिसको [तेरे] (नीललोहिते=नीलरोहिते) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति में (चक्रुः) उन्हों ने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को [तेरे] (आमे) चलने में वा (मांसे) ज्ञान वा काल वा मांस में (चक्रुः)

४—(याम्) कृत्याम् (ते) तव (चक्रुः) कृतवन्तः ते कृत्याकृतः (आमे) अम गतिभोजनादिषु-घञ् । भोजने (पात्रे) दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । इति पा पाने-त्रन् । पाने जलभाजने वा (नीललोहिते) नि नितराम् इलन्ति प्राप्नुवन्ति यं स नीलो निधिः कोशः । नि+इल गतौ-क । रुहेश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । इति रुह बीजजन्मनि, प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्य लः । निधीनां प्रादुर्भावे, उत्पत्तौ (आमे) अम गतौ-घञ् । गमने (मांसे) मनेर्दीर्घश्च ।उ० ३ । ६४ । इति मन ज्ञाने, अर्चने, गर्वे, धृतौ-सप्रत्ययः, दीर्घश्च । मन्यते ज्ञायते ध्रियते वानेन तन्मांसम् । ज्ञाने । मांसः कालः, कीटः—इति शब्दकल्पद्रुमः । काले । यद्वा रक्तजधातुविशेषः (कृत्याम्) अ० ४ । ९ । ५ । हिंसाक्रियाम् । विपत्तिम् (तया) कृत्यया (कृत्याकृतः) कृत्या+डुकृञ् करणे-क्विप्, तुक् । हिंसाकारिणः पुरुषान् (जहि) हन-लोट् । नाशय ॥

उन्होंने किया है, (तया) उस [हिंसा] के कारण (कृत्याकृतः) हिंसाकारियों को (जहि) नाश करदे ॥४॥

भावार्थ—जो दुष्कर्मी राजा के खान, पान, धनसंचय, मार्ग, वा सत्य सत्य जानने, वा काल के सुप्रयोग वा शरीर में विपत्ति डालें, राजा उनको यथावत् दंड देकर नाश कर दे ॥ ४ ॥

दौष्व॑प्न्यं॒ दौर्जी॑वित्यं॒ रक्षो॑ अ॒भ्व॑मरा॒य्यः॑ ।
दु॒र्णाम्नी॒: सर्वा॑ दु॒र्वाच॒स्ता अ॒स्मन्ना॑शयामसि ॥ ५ ॥

दौः-स्वप्न्यम् । दौः-जीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः । दुः-नाम्नीः । सर्वाः । दुः-वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥५॥

भाषार्थ—(दौष्वप्न्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा ऐसी नीति चलावे कि प्रजागण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥ ५ ॥

५—(दौष्वप्न्यम्) दुर्+स्वप्न-ष्यञ् । बाह्याभ्यन्तरकारणैः स्वप्नावसादं निद्राभङ्गम् (दौर्जीवित्यम्) दुर्+जीवित-ष्यञ् । दुर्जीवनत्वम् (रक्षः) राक्षसम् (अभ्वम्) अशू प्रुषि० । उ० १ । १५१ । इति अभि शब्दे-क्वन्, नलोपः । अभ्वो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । महद् । अतिभयकरम् । (अराय्यः) अ० २ । १४ । ३ । शसि जस् । अरायीः । अलक्ष्मीः । विपत्तीः (दुर्णाम्नीः) दुर्+नामन्—ङीप् दुष्टनामोपेताः (सर्वाः) दुर्वाचः । दुष्टवाणीः (ताः) (अस्मत्) अस्मत्सकाशात् (नाशयामसि) नाशयामः ॥

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम् ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ६ ॥ —

क्षुधा-मारम् । तृष्णा-मारम् । अगोताम् । अनप-त्यताम् ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥६॥

भाषार्थ—(क्षुधामारम्) भूख से मरना, (तृष्णामारम्) पियास से मरना, (अगोताम्) गौओं की हानि, और (अनपत्यताम्) बच्चों का अभाव, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक ! [वा अपामार्ग औषध के समान उपकारी राजन् !] (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा के सुप्रबन्ध से सूखा के समय भी अन्न, जल, गौ, बैल आदि की बहुतायत से मनुष्य यथावत् बढ़ते रहते हैं ॥ ६ ॥

(अपामार्ग) का अर्थ सर्वथा संशोधक है, और एक औषध भी है, जिस से कफ, बवासीर, खुजिली, उदर रोग और विष रोग का नाश होता है ॥ ६ ॥

तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम् ॥
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७ ॥ —

तृष्णा-मारम् । क्षुधा-मारम् । अथो इति । अक्ष-पराजयम् ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥७॥

६—(क्षुधामारम्) मृञ्—घञ् । क्षुत्पीडया मरणम् (तृष्णामारम्) पिपासया मरणम् (अगोताम्) गवाम् अभावम् (अनपत्यताम्) अपत्यानां राहित्यम् (अपामार्ग) अप+आङ्+मृजू शौचालंकारयोः—घञ् । हे सर्वथा संशोधक । हे अपामार्गौषधवद् उपकारिन् ! अपामार्गपर्य्यायः—अपामार्गः शैखरिको धामार्गवमयूरकौ—इत्यमरः, १४ । ८८ । अस्यगुणाः । कफार्शः कण्डूदरामयविषरोगनाशित्वम्—इति शब्दकल्पद्रुमः (त्वया) राज्ञा (वयम्) प्रजागणाः (सर्वम्) (तत्) एतत् [अपमृज्महे] अपमार्जयामः शोधयामः, विनाशयामः—इत्यर्थः ॥

भाषार्थ—(तृष्णामारम्) पियास से मरना, (क्षुधामारम्) भूख से मरना, (अथो) और भी (अक्षपराजयम्) व्यवहारों वा इन्द्रियों की हार, (तत् सर्वम्) इस सब को, (अपामार्ग) हे सर्व संशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम् अपमृज्महे) हम शोधते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा के उत्तम प्रबन्ध से न तो जल, अन्न और दैनिक काम काज की हानि, और न शरीर और आत्मा की दुर्बलता होती है ॥ ७ ॥

अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी ॥
तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर ॥ ८ ॥

अपामार्गः । ओषधीनाम् । सर्वासाम् । एकः । इत् । वशी ।
तेन । ते । मृज्मः । आ-स्थितम् । अथ । त्वम् । अगदः । चर ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अपामार्गः) सब दोषों का शोधने वाला परमेश्वर (सर्वासाम्) सब (ओषधीनाम्) तापनाशक अन्न आदि पदार्थों का (एकः इत्) एक ही (वशी) वश में रखने वाला है। (तेन) उस [के आश्रय] से [हे राजन् !] (ते) तेरे (आस्थितम्) उपस्थित [भय] को (मृज्मः) हम शोधते हैं, (अथ) इस लिये (त्वम्) तू (अगदः) नीरोग होकर (चर) विचर ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रजागण कहते हैं "परमात्मा सब संसार का स्वामी है, उसी सहारे से हम आप पर यह राज्य भार रखते हैं, आप भी उसी के सहारे से निश्चिन्त होकर अपना कर्तव्य करें" ॥ ८ ॥

७—(अथो) अपि च (अक्षपराजयम्) अक्षू व्याप्तौ-पचाद्यच् घञ् वा। यद्वा। अशेर्देवने। उ० ३। ६५। इति अशू व्याप्तौ सप्रत्ययः। अक्षाणां व्यवहाराणाम् इन्द्रियाणां वा पराजयं पराभवम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(अपामार्गः) म० ६। सर्वदोषशोधकः परमेश्वरः (ओषधीनाम्) तापनाशयित्रीणाम् अन्नादिपदार्थानाम् (सर्वासाम्) अशेषाणाम् (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (वशी) वशयिता (तेन) अपामार्गेण परमेश्वरेण (ते) तव (मृज्मः) मार्जयामः शोधयामः (आस्थितम्) आपतितं राज्यभार रूपं भयम् (अथ) अनन्तरम् (त्वम्) राजन् (अगदः) गद व्यक्तायां वाचि रोगे च-अच्। रोगशून्यः स्वस्थः (चर) चिरकालं वर्तस्व ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती ।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः ॥ १ ॥

समम् । ज्योतिः । सूर्येण । अह्ना । रात्री । समऽवती ॥
कृणोमि । सत्यम् । ऊतये । अरसाः । सन्तु । कृत्वरीः ॥१॥

भाषार्थ—(ज्योतिः) ज्योति (सूर्येण समम्) सूर्य के साथ साथ और (रात्री) रात्री (अह्ना समावती) दिन के साथ वर्तमान है, [ऐसे ही] मैं (सत्यम्) सत्यकर्म को (ऊतये) रक्षा के लिये (कृणोमि) करता हूं (कृत्वरीः=कृत्वर्यः) कतरने वाली विपत्तियां (अरसाः) नीरस (सन्तु) हो जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे प्रकाश के साथ सूर्य का और दिन के साथ रात्री का नित्य सम्बन्ध है, ऐसे ही मनुष्य का सत्य के साथ नित्य सम्बन्ध है । इससे राजा और प्रजा सदा सत्य में प्रवृत्त होकर मिथ्या कामों की विपत्तियों से बचें ॥ १ ॥

यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम् ।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम् ॥ २ ॥

१—(समम्) सह वर्तमानम् (ज्योतिः) प्रभामण्डलम् (सूर्येण) आदित्येन (अह्ना) दिवसेन (रात्री) अ० २ । ८ । २ । निशा (समावती) सम-मतुप् । छान्दसो दीर्घः । समं समानं वर्तमाना (कृणोमि) करोमि (सत्यम्) यथार्थं कर्म (ऊतये) रक्षणार्थम् (अरसाः) निर्बलाः (सन्तु) भवन्तु (कृत्वरीः) इण्नश्जिसर्त्तिभ्यः क्वरप् । पा० ३ । २ । १६३ । इति कृती छेदने-क्वरप् । टिड्ढाणञ्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । पूर्वसवर्णदीर्घः । कर्तनशीलाः । विपत्तयः । बाधाः ॥

यः । दे॒वाः । कृ॒त्याम् । कृ॒त्वा । हरा॑त् । अवि॑दुषः । गृ॒हम् ॥
व॒त्सः । धा॒रुःऽइ॑व । मा॒तर॑म् । तम् । प्र॒त्यक् । उप॑ । प॒द्य॒ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (यः) जो पुरुष (कृत्याम्) हिंसा (कृत्वा) करके (अविदुषः) अजान मनुष्य के (गृहम्) घर को (हरात्) हर लेवे। वह दुष्कर्म (प्रत्यक्) लौट कर (तम्) उसी [दुष्कर्मी] को (उप पद्यताम्) जा मिले, (इव) जैसे (धारुः) दूध पीने वाला (वत्सः) बछड़ा (मातरम्) अपने माता [गौ के पीछे पीछे दौड़ता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—दुष्ट मनुष्य को उसकी दुष्टता का दण्ड राज प्रबन्ध वा ईश्वर व्यवस्था से अवश्य पहुंचता है, जैसे छोटा बछड़ा अनेक गौओं में से अपनी ही माता को चिपट जाता है ॥ २ ॥

अ॒मा कृ॒त्वा पा॒प्मानं॒ यस्तेना॒न्यं जिघां॑सति ।
अश्मा॑न॒स्तस्यां॑ द॒ग्धायां॑ बहु॒लाः फट् क॑रिक्रति ॥ ३ ॥

अ॒मा । कृ॒त्वा । पा॒प्मान॑म् । यः । तेन॑ । अ॒न्यम् । जिघां॑सति ।
अश्मा॑नः । तस्या॑म् । द॒ग्धाया॑म् । ब॒हु॒लाः । फट् । क॒रि॒क्र॒ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (तेन अमा) चोर वा म्लेच्छ के साथ होकर (पाप्मानम्) पाप कर्म (कृत्वा) करके (अन्यम्) दूसरे को (जिघांसति) मारना चाहे, (बहुलाः] वृद्धि करने वाले (अश्मानः) व्यापनशील वा

२—(यः) शत्रुः (देवाः) हे विद्वांसः (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्वा) विधाय (हरात्) लेटि आडागमः । हरेत् (अविदुषः) अजानानस्य (गृहम्) गेहम् (वत्सः) वदनशीलः । गोशिशुः (धारुः) दाधेट्सिशदसदो रुः । पा० ३ । २ । १५९ । इति धेट पाने-रु । स्तनपानकर्ता (इव) यथा (मातरम्) जननीम् (तम्) दुष्टम् (प्रत्यक्) प्रतिनिवृत्य (उप पद्यताम्) उप गच्छतु ॥

३—(अमा) अम गतौ- का । सह (कृत्वा) (पाप्मानम्) अ० ३ । ३१ । १ । पाति यस्मात् स पाप्मा । पापम् (यः) शत्रुः (तेन) तर्द हिंसे-ड । तर्दति हिनस्तीति तः । चौरः । म्लेच्छः । चोरेण । पामरेण (अन्यम्) सत्कर्माणम् (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (अश्मानः) अ० १ । २ । २ । व्यापनशीलाः पाषा-

पाषाण के समान दृढ़स्वभाव पुरुष (तस्याम्)। उस [दुष्क्रिया] के (दग्धायाम्) भस्म किये जाने पर (फट्) [उस दुष्ट का] नाश (करिक्रति) कर डालें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष दुष्टों से मिल कर लोगों में उपद्रव मचावें, राजपुरुष अनुसन्धान करके उन दोनों को यथावत् दण्ड देवें ॥ ३ ॥

सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवाञ् छायया त्वम् ।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर ॥ ४ ॥

सहस्र-धामन् । वि-शिखान् । वि-ग्रीवान् । शायय । त्वम् ।
प्रति । स्म । चक्रुषे । कृत्याम् । प्रियाम् । प्रिय-वते । हर ॥४॥

भाषार्थ—(सहस्रधामन्) हे सहस्रों धारण, पोषण और दान वाले राजन् ! (त्वम्) तू (विशिखान्) विरुद्ध प्रकार से सोने वाले, वा विरुद्ध गति वाले, (विग्रीवान्) विरुद्ध रीति से खाने वाले [दुष्टों] को (शायय) सुला दे [गिरा दे] । (कृत्याम्) दुष्क्रिया (चक्रुषे) करने वाले पुरुष को (प्रति] प्रत्यक्ष (स्म) अवश्य [वैसी ही दण्ड पीड़ा] (हर) पहुंचा [जैसे] (प्रियाम्) प्रिया, भार्या को (प्रियावते) उसके स्वामी के पास [प्रत्यक्ष पहुंचाते हैं] ॥ ४ ॥

एव दृढ़स्वभावा वा राजपुरुषाः (तस्याम्) पूर्वोक्तायां कृत्यायाम्-म० २ (दग्धायाम्) भस्मीकृतायां नष्टायां सत्याम् (बहुलाः) अ० ३ । १४ । ६ । वृद्धिशीलाः (फट्) ञिफला विशरणे-क्विप् । डलयोरैक्यम् । तस्य विशीर्णम् (करिक्रति) करोतेर्यङ्लुगन्तात् लेटि । रुग्रिकौ च लुकि । पा० ७ । ४ ९१ । इति अभ्यासस्य रिगागमः । पुनः पुनः कुर्वन्तु ॥

४—(सहस्रधामन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति डुधाञ् धारणपोषणदानेषु-मनिन् । हे असंख्यातधारणपोषणदानयुक्त राजन् ! (विशिखान्) शीङो ह्रस्वश्च । उ० ५ । २४ । इति शीङ् शयने-ख, ह्रस्वो गुणाभावश्च । यद्वा, शिखि गतौ-क, नलोपः । विरुद्धनिद्रान् । विरुद्धगतीन् (विग्रीवान्) शेवायह्वजिह्वाग्रीवा० । उ०१।१५४। इति गॄ निगरणे-वन् । ग्री इत्यादेशः । विरुद्ध निगलनशीलान् भक्षकान् दुष्टान् (शायय) शीङ् शयने-णिच् । स्वापय ।

भावार्थ—राजा अनेक प्रकार से प्रजा का रक्षण आदि करता हुआ दुष्टों को दण्ड पहुंचावे, जैसे भूली भटकी स्त्री को उसके स्वामी के पास प्रसन्न पहुंचा देते हैं ॥ ४ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् ।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ५ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ।
याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ॥५॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (अनया ओषध्या) इस ओषधिरूप [ताप-नाशक तुझ राजा] के साथ (सर्वाः कृत्याः) सब हिंसाओं को (अदूदुषम्) खंडित कर दिया है, (याम्) जिस [हिंसा] को (क्षेत्रे) खेत में, अथवा (याम्) जिसको (गोषु) गौओं में (वा) अथवा (याम्) जिसको (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) उन लोगों ने किया था ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट लोग प्रजा को किसी प्रकार से सतावें, प्रजा गण और राज पुरुष मिलकर दुष्टों का नाश करें ॥ ५ ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् ।
चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः ॥ ६ ॥

यः । चकार । न । शशाक । कर्तुम् । शश्रे । पादम् । अङ्गुरिम् ।
चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । आत्मने । तपनम् । तु । सः ॥६॥

निद्रापय पातय । (त्वम्) (प्रति) प्रत्यक्षम् (स्म) अवश्यम् (चक्रुषे) करोतेः क्वसुः । कृतवते पुरुषाय (कृत्याम्) हिंसां दुष्क्रियाम् (प्रियाम्) प्रीञ् प्रीणने-क, टाप् । भार्यां यथा (प्रियावते) प्रियया भार्यया तद्वते (हर) प्रापय=दण्डपीडां प्रापय ॥

५—(अनया ओषध्या) अनेन ओषधिरूपेण तापनाशकेन राज्ञा सह (अहम्) प्रजागणः (सर्वाः) (कृत्याः) हिंसाः (अदूदुषम्) दुषेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । दूषितवान् खण्डितवानस्मि (याम्) कृत्याम् (क्षेत्रे) शस्यवपनयोग्ये प्रदेशे (चक्रुः) कृतवन्तः शत्रवः (गोषु) गोषु मध्ये (वा) अथवा (ते) तव (पुरुषेषु) मनुष्येषु ॥

भाषार्थ—(यः) जिस दुष्ट ने (कर्तुम्) हिंसा को (चकार) किया था, वह (न शशाक) समर्थ न था, उसने (पादम्) अपना पैर और (अंगुरिम्) अंगुरी (शश्रे) तोड़ली । (सः) उसने (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (भद्रम्) आनन्द, और (आत्मने) अपने लिये (तु) तौ (तपनम्) तपन (चकार) कर लिया ॥ ६ ॥

भावार्थ—पापी का आत्मा दुर्बल होता है, वह दण्ड पाने से आप ही अपने हाथ पैर में कुल्हाड़ी मारता है । उससे शिष्टोंको सुख और उस दुष्ट को दुःख होता है ॥ ६ ॥

अपामार्गोऽप मार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः ।
अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः ॥ ७ ॥

अपामार्गः । अप । मार्ष्टु । क्षेत्रियम् । शपथः । च । यः ।
अप । अह । यातु-धानीः । अप । सर्वाः । अराय्यः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अपामार्गः) दोषों का शोधने वाला राजा (क्षेत्रियम्) देह या वंश के दोष को, (च) और (यः) जो कुछ (शपथः) दुर्वचन हो [उसे भी] (अप मार्ष्टु) शुद्ध कर देवे । (अह) अरे (यातुधानीः) यातना देने वाली शत्रु सेनाओं को (अप=अप मार्ष्टु) शुद्ध कर डाले, और (सर्वाः) सब (अराय्यः=अरायीः) अलक्ष्मियों को (अप=अप मार्ष्टु) शुद्ध कर डाले ॥ ७ ॥

६—(यः) दुष्टपुरुषः (चकार) कृतवान् (न) नहि (शशाक) शक्तः समर्थ आसीत् (कर्तुम्) सितनिगमि० । उ० ३ । ६६ । इति कृञ् हिंसायाम्—तुन् । हिंसाम् (शश्रे) शॄ हिंसायाम्—लिट् । शीर्णवान् । छिन्नवान् (पादम्) चरणम् (अंगुरिम्) अ० २ । ३३ । ६ । अङ्गुलिम् (भद्रम्) मङ्गलम् (अस्मभ्यम्) प्रजागणेभ्यः (आत्मने) स्वस्मै (तपनम्) दहनं पीडनम् (तु) किन्तु (सः) दुष्कर्मी ॥

७—(अपामार्गः) अ० ४ । १७ । ६ । सर्वथा शोधको राजा (अप मार्ष्टु) मृजूष् शुद्धौ । शोधयतु । अपगमयतु (क्षेत्रियम्) अ० २ । ८ । १ । क्षेत्र-घस् । देहे वंशे वा भवं रोगं दोषं वा (शपथः) क्रोशः । दुर्वचनम् (च) (यः)

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से प्रजा के दुःखों का नाश करके उनके स्वास्थ्य और धन की वृद्धि करे ॥ ७ ॥

अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः ।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥८॥

अप-मृज्य । यातु-धानान् । अप । सर्वाः । अराय्यः ।
अपामार्ग । त्वया । वयम् । सर्वम् । तत् । अप । मृज्महे ॥८॥

भाषार्थ—(यातुधानान्) पीड़ा देने वाले राक्षसों को (अपमृज्य) शोधकर, और (सर्वाः) सब प्रकार की (अराय्यः) दरिद्रताओं को (अप= अपमृज्य) शोधकर, (अपामार्ग) हे सर्वसंशोधक राजन् ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (तत् सर्वम्) उस सब [कष्ट कर्म] को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—नीति निपुण राजा के शासन में सब प्रजागण अपने कष्टों को दूर करके आनन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध सूक्त १७ मन्त्र ६ में आया है ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-८ ॥ अपामार्गो देवता ॥ १, ३-८ अनुष्टुप्, २ पथ्या पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत् ।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम् ॥१॥

यः, तमपि (अप) अप मार्ष्टु (अह) विनिग्रहे (यातुधानीः) अ० १ । २८ । २ । पीडादायिनीः शत्रुसेनाः (सर्वाः) (अराय्यः) अ० ४ । १७ ५ । अलक्ष्मीः ॥

८—(अपमृज्य) सम्यक् शोधयित्वा (यातुधानान्) अ० १ । ७ । १ । पीडाप्रदान् राक्षसान् (अप) अपमृज्य (सर्वाः) (अराय्यः) म० ७ । अरायीः अलक्ष्मीः । अन्यद् व्याख्यातं सू० १७ म० ६ ॥

उता इति । असि । अबन्धु-कृत् । उतो इति । असि । नु । जामि-कृत् । उतो इति । कृत्या-कृतः । प्र-जाम् । नडम्-इव । आ । छिन्धि । वार्षिकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] तू (अबन्धुकृत्) अबन्धुओं का काटनेवाला (उतो) भी (असि) है, (नु) और (जामिकृत्) बन्धुओं का बनानेवाला (उतो) भी (असि) है। (उतो) इससे (कृत्याकृतः) हिंसा करते वालों और (प्रजाम्) उनके सेवकों को (आ छिन्धि) काट डाल, (इव) जैसे (वार्षिकम्) वर्षा में उत्पन्न (नडम्) नरकट घास को ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने उत्तम शासन से हिंसक दुष्टों का नाश करके इष्ट मित्रों में मेल बढ़ावे ॥ १ ॥

ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन। सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे ॥ २ ॥

ब्राह्मणेन । परि-उक्ता । असि । कण्वेन । नार्षदेन । सेना-इव । एषि । त्विषि-मती । न । तत्र । भयम् । अस्ति । यत्र । प्र-आप्नोषि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] तू (ब्राह्मणेन) वेदज्ञानी ब्राह्मण, (कण्वेन) मेधावी, (नार्षदेन) नायकों की सभा के हितकारी पुरुष करके (पर्युक्ता) उप-

---

१—(उतो) अपि च (असि) (अबन्धुकृत्) कृती छेदने-क्विप्। अबन्धूनां शत्रूणां कर्तकश्छेदकः (नु) अनुनये (जामिकृत्) जामिरिति व्याख्यातम्-अ० २।७।२। जामिः, बन्धुः-यथा सायणः-ऋ० १।७५।३। करोतेः क्विप्। बन्धूनां कर्ता सम्पादकः (कृत्याकृतः) हिंसाकर्तॄन् (प्रजाम्) तेषां जनान् भृत्यादीन् च (नडम्) नल बन्धे=पचाद्यच्। लस्य डत्वम्। सुच्छेद्यं तृणविशेषम् (इव) यथा (आ) समन्तात् (छिन्धि) भिन्धि। विदारय (वार्षिकम्) छन्दसि ठञ्। पा० ४।३।१९। इति वर्षा-ठञ्। वर्षाकालोद्भवम्॥

२—(ब्राह्मणेन) वेदज्ञेन विदुषा (पर्युक्ता) उपविष्टौषधिवत् (असि) (कण्वेन) अ० २।३२।३ उपदेशकेन। मेधाविना-निघ० ३।१५ (नार्षदेन)

विष्ट [ओषध समान] (असि) है। (त्विषीमती) प्रकाशयुक्त (सेना) सेना, अर्थात् सूर्य की किरण पुंज के (इव) समान (एषि) तू चलता है। (तत्र) वहां पर (भयम्) भय (न अस्ति) नहीं होता, (यत्र) जहां पर ओषधे हे ओषधि तुल्य तापनाशक राजन् (व्याप्नोषि) तू व्यापक होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य की बतलाई ओषधि बड़ी गुणकारी होती है और जैसे सूर्य अपनी किरणों से अन्धकार मिटाता है, वैसे ही राजा वेदज्ञानी, बुद्धिमान् नरशिरोमणि पुरुषों के उपदेशक और सत्संग से प्रतापी होकर शत्रुओंका नाश करके प्रजाको सुख देता है ॥ २ ॥

अग्रमे॒ष्योष॑धीनां॒ ज्योति॑षेवाभिदी॒पय॑न् ।
उ॒त त्रा॒तासि॒ पाक॒स्याथो॑ ह॒न्तासि॑ र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

अग्र॑म् । ए॒षि॒ । ओष॑धीनाम् । ज्योति॑षा-इव । अ॒भि-दी॒पय॑न् । उ॒त । त्रा॒ता । अ॒सि॒ । पाक॑स्य । अथो॒ इति॑ । ह॒न्ता । अ॒सि॒ । र॒क्षसः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ज्योतिषा इव) अपने तेज से जैसे (अभिदीपयन्) सब ओर प्रकाश फैलाता हुआ (ओषधीनाम्) ओषधि तुल्य उपकारी पुरुषों में (अग्रम्) आगे आगे (एषि) तू चलता है। (उत) और तू (पाकस्य) पक्का [दृढ़] करने योग्य अथवा रक्षा योग्य दुर्बल पुरुष का (त्राता)

नरो नायकाः सीदन्ति यत्रेति नृषत् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति नृषद्-अण् । नृणां नायकानां सभाया हितकारकेण (सेनाइव) यथा सेना सूर्यकिरणसमूहः (एषि) गच्छसि (त्विषीमती) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति त्विष दीप्तौ–इन् 'स च कित्' ङीप् । दीप्तियुक्ता (न) (तत्र) (भयम्) भीतिः दरः (अस्ति) (यत्र) (प्राप्नोषि) व्याप्नोषि (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक राजन् ॥

३—(अग्रम्) अग्रतः (एषि) गच्छसि (ओषधीनाम्) ओषधिसमानहितकारकाणां मध्ये (ज्योतिषा) तेजसा स्वप्रतापेन (अभि दीपयन्) अभितः सर्वतः प्रकाशयन् (उत) अपि च (त्राता) रक्षिता (असि) (पाकस्य) पच पाके–घञ् । पक्तव्यस्य दृढीकरणीयस्य । यद्वा, इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ ।

रक्षक (असि) है (अथो) और भी तू (रक्षसः) राक्षस का (हन्ता) हनन करने वाला (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा सब उपकारी पुरुषों में अग्रगामी होकर यथावत् शासन करता है ॥ ३ ॥

यद॒दो दे॒वा असु॑रां॒स्त्वयाग्रे॑ नि॒रकु॑र्वत ।

तत॒स्त्वमध्यो॑षधेऽपामा॒र्गो अ॑जायथाः ॥ ४ ॥

यत् । अ॒दः । दे॒वाः । असु॑रान् । त्वया॑ । अग्रे॑ । नि॒ः-अकु॑र्वत ।

तत॑ः । त्वम् । अधि॑ । ओ॒ष॒धे॒ । अ॒पा॒मा॒र्गः । अ॒जा॒य॒थाः ॥४॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो (अग्रे) पूर्वकाल में (त्वया) तेरे साथ होकर (देवाः) देवताओं [विद्वान् शूरों] ने (असुरान्) असुरों को (निरकुर्वत) निकाल दिया है, (ततः) उसी से (ओषधे) हे ओषधि समान ताप-नाशक राजन् ! (त्वम्) तू (अपामार्गः) संशोधक (अधि) अधिक करके (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रशंसनीय काम करने से ही संसार में प्रशंसा पाते हैं ॥ ४ ॥

वि॒भि॒न्द॒ती श॒तशा॑खा वि॒भि॒न्दन् नाम॑ ते पि॒ता ।

प्र॒त्यग् वि भि॑न्धि॒ त्वं तं यो अ॒स्माँ अ॑भि॒दास॑ति ॥५॥

वि॒-भि॒न्द॒ती । श॒त-शा॑खा । वि॒-भि॒न्दन् । नाम॑ । ते॒ । पि॒ता ।

प्र॒त्यक् । वि । भि॒न्धि॒ । त्वम् । तम् । यः । अ॒स्मान् । अ॒भि॒-दास॑ति ॥ ५ ॥

इति पा रक्षणे—कन् । रक्षणीयस्य दुर्बलस्य पुरुषस्य (अथो) अपि च (हन्ता) नाशयिता (रक्षसः) राक्षस्य ॥

४—(यत्) यस्मात् (अदः) तत् (देवाः) विद्वांसः शूराः (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् (त्वया) राज्ञा (अग्रे) पूर्वकाले (निरकुर्वत) निरा-कृतवन्तः । निवारितवन्तः (ततः) तस्मात् कारणात् (त्वम्) (अधि) उपरि वर्त्तमानः श्रेष्ठः सन् (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक राजन् ! (अपा-मार्गः) दोषाणाम् अपमार्जनशीलः संशोधकः (अजायथाः) उत्पन्नोऽभवः ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (विभिन्दती) रोगों को छिन्न भिन्न करनेवाली (शतशाखा) सैकड़ों शाखावाली [ओषधि के समान] (विभिन्दन्) शत्रुओं को छिन्न भिन्न करनेवाला (नाम) प्रसिद्ध (ते) तेरा (पिता) पिता है। (त्वम्) तू भी (प्रत्यक्) लौटाकर (तम्) उसको (वि भिन्धि) छिन्न भिन्न करदे, (यः) जो (अस्मान्) हमको (अभिदासति) सताता रहता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—शूरवीर पिता का पुत्र भी अपने पिता के तुल्य शूरवीर होकर वैरियों का नाश करता है ॥ ५ ॥

असद् भूम्याः समभवत् तद्यामेति महद् व्यचः ।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु ॥ ६ ॥

असत् । भूम्याः । सम् । अभवत् । तत् । याम् । एति । महत् । व्यचः । तत् । वै । ततः । वि-धूपायत् । प्रत्यक् । कर्तारम् । ऋच्छतु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तत्) यह (महत्) बड़ा (व्यचः) परस्पर मिला हुआ वा फैला हुआ (असत्) अनित्य जगत् (भूम्याः) भूमि से (समभवत्) उत्पन्न हुआ है, [जो जगत्] (याम्) जिस [भूमि] को (एति) चला जाता है। (ततः) उसी कारण से (तत्) वह [दुष्ट कर्म] (वै) अवश्य (प्रत्यक्) लौटकर (कर्तारम्) हिंसक को (विधूपायत्) संताप देता हुआ [उसको ही (ऋच्छतु) पहुंचे ॥ ६ ॥

५—(विभिन्दती) भिदिर् विदारणे—शतृ । रोगविदारणशीला (शतशाखा) बहुशाखायुक्ता यथौषधिः (विभिन्दन्) शत्रूणां विभेदकः । विदारणशक्तिः (नाम) प्रसिद्धः (ते) तव (पिता) पालकः । जनकः (प्रत्यक्) प्रति गमनेन प्रतिनिवार्य (वि भिन्धि) विदारय (त्वम्) हे राजन् (तम्) अस्मदीयं शत्रुम् (यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) दासवधे-वैदिकः । अभितो हिनस्ति ॥

६—(असत्) सत् नित्यम् असत् अनित्यं नश्वरं कार्यरूपं जगत् (भूम्याः) भूमिसकाशात् (समभवत्) उदपद्यत (तत्) असद् यत् (याम्) भूमिम् (एति) प्राप्नोति प्रतिनिवृत्य (महत्) विशालम् (व्यचः) व्यच छले । सम्बन्धे-असुन् । संबद्धं व्याप्तम् (तत्) शत्रुकृतं कर्म (वै) अवश्यम् (ततः)

भावार्थ—जैसे ईश्वर नियम से कार्य रूप स्थूल पदार्थ भूमि आदि तत्त्वों से उत्पन्न होकर फिर छिन्न भिन्न होकर भूमि आदि अपने कारणों में लौट जाते हैं, ऐसे ही राजा के दण्ड से दुष्ट की दुष्टता उसी को ही लौटती और सताती है ॥ ६ ॥

बम्बई गवर्नमेन्ट पुस्तक में टिप्पणी है कि जर्मनी के भट्ट रोथ और ह्विटनी महाशय के मतमें (याम्) के स्थान पर [द्याम्] होना चाहिये और ग्रिफ़िथ महाशय ने भी [द्याम्] मान कर स्वर्ग [heaven] अनुवाद किया है, परन्तु पद पाठ और सायण भाष्य में (याम्) है, और हमारे मत में भी (याम्) ही शुद्ध है ॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम् ।
सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम् ॥ ७ ॥

प्रत्यङ् । हि । सम्-बभूविथ । प्रतीचीन-फलः । त्वम् । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवय । वधम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वम्) तू (हि) ही (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष होकर (प्रतिचीनफलः) प्रतिकूल गति में रहने वालों का नाश करने वाला (संबभूविथ) हुआ है, [इस कारण] (मत्) मुझ से [शत्रु के] (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों को और (वरीयः) अधिक विस्तीर्ण (वधम्) हथियार को (अधि) अधिकार पूर्वक (यवय) पृथक् कर ॥ ७ ॥

तस्मात् कारणात् (धिधूपायत्) धूप संतापे । गुपूधूपविच्छि० । पा० ३ । १ । २८ । इति आयप्रत्ययः स्वार्थे, ततः शतृ । संतापयत् शत्रुम् (प्रत्यक्) प्रतिनिवृत्य (कर्तारम्) कृञ् हिंसायाम्–तृच् । हिंसकम् (ऋच्छतु) गच्छतु ॥

७—(प्रत्यङ्) प्रति+अञ्चु–क्विन् । प्रत्यञ्चनः । प्रतिगतः । अभिमुखः सन् (हि) एव (संबभूविथ) सम्यग् विद्यमानो बभूविथ (प्रतीचीनफलः) प्रत्यच्–खप्रत्ययः, ञिफला विशरणे–अच् । प्रत्यक् प्रतिगमनं तत्र भवानां फलं विशरणं नाशनं यस्मात् स तथाभूतः । प्रतिगतिभवानां शत्रूणां विदारकः (त्वम्) राजन् (सर्वान्) (मत्) मत्तः (शपथान्) शापान् । शत्रुकृतानि

भावार्थ—पराक्रमी विजयी राजा शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख पहुंचावे ॥ ७ ॥

शतेन॑ मा॒ परि॑ पाहि स॒हस्रे॑णा॒भि र॑क्ष मा ।
इन्द्र॑स्ते वीरुधां पत उ॒ग्र ओ॒ज्मान॒मा द॑धत् ॥ ८ ॥

शतेन॑ । मा॒ । परि॑ । पा॒हि॒ । स॒ह॒स्रे॑ण । अ॒भि । र॒क्ष॒ । मा॒ ।
इन्द्रः॑ । ते॒ । वी॒रु॒धा॒म् । प॒ते॒ । उ॒ग्रः । ओ॒ज्मान॑म् । आ ।
द॒ध॒त् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (शतेन) सौ [उपाय] से (मा) मेरा (परि पाहि) सब प्रकार पालन कर, (सहस्रेण) सहस्र साधन से (मा) मेरी (अभि) सब ओर से (रक्ष) रक्षा कर। (वीरुधां पते) हे विविध प्रकार बढ़ने वाली प्रजाओं के पालक ! (उग्रः) महाबली (इन्द्रः) परमेश्वर (ते) तुझको (ओज्मानम्) पराक्रम (आ) यथावत् (दधत्) देता हुआ वर्तमान है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा की सदा रक्षा करे। वह पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वरकी न्याय व्यवस्था से सब बल पाता रहता है॥ ८ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-९ । ब्रह्म देवता । अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

आ प॑श्यति॒ प्रति॑ पश्यति॒ परा॑ पश्यति॒ पश्य॑ति ।
दिव॑म॒न्तरि॑क्ष॒माद् भूमिं॒ सर्वं॒ तद् दे॑वि पश्यति ॥ १ ॥

दुर्वाक्याणि (अधि) अधिकृत्य (वरीयः) उरु-ईयसुन् । उरुतरं विस्तीर्णतरम् (यवय) पृथक् कुरु (वधम्) हननसाधनम्। आयुधम् ॥

८—(शतेन) शतसंख्याकेन रक्षणोपायेन (मा) माम् (परि) परितः (पाहि) रक्ष (सहस्रेण) सहस्रसंख्याकेन, साधनेन (अभिरक्ष) सर्वतः पालय (इन्द्रः) परमेश्वरः (ते) तुभ्यम् (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां लतारूपाणां वा प्रजानाम् (पते) अधिपते (उग्रः) उद्गूर्णबलः। महाबली (ओज्मानम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४ । १४५ । इति ओज बले-मनिन्। बलम्। पराक्रमम् (आ) समन्तात् (दधत्) डुधाञ् दाने-शतृ। ददत् प्रयच्छन् वर्तते॥

आ । पुश्यति । प्रति । पुश्यति । परां । पुश्यति । पश्यति । दिवम् । अन्तरिक्षम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । तत् । देवि । पुश्यति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्यशक्ति परमात्मन् ! तू, (तत्) विस्तार करने वाला वा विस्तीर्ण ब्रह्म आप (आ) अभिमुख (पश्यति) देखता है, (प्रति) पीछे से (पश्यति) देखता है, (परा) दूर से (पश्यति) देखता है, और (पश्यति) सामान्यतः देखता है। (दिवम्) सूर्य लोक, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (आत्) और भी (भूमिम्) भूमि अर्थात् (सर्वम्) सब को (पश्यति) देखता है ॥ १ ॥

भावार्थ—वह ब्रह्म सब संसार को एक रस देखता रहता है, इस लिये सब मनुष्य उस की उपासना करके दुष्कर्मों से बचकर सत्कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ १ ॥

तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक् ।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे ॥ २ ॥

तिस्रः । दिवः । तिस्रः । पृथिवीः । षट् । च । इमाः । प्रदिशः । पृथक् । त्वया । अहम् । सर्वा । भूतानि । पश्यानि । देवि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य शक्ति, (ओषधे) तापनाशक परमात्मन् ! (त्वया) तेरे सहारे से (अहम्) मैं (तिस्रः) तीनों (दिवः) सूर्य लोकों,

---

१—(आ) अभिमुखम् (पश्यति) अवलोकयति (प्रति) प्रतिमुखम् (परा) दूरतः (पश्यति) अविशेषेण साक्षात्करोति (दिवम्) सूर्यलोकम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (आत्) अपि च (भूमिम्) पृथिवीम् (सर्वम्) सकलम् (तत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारोपकृतिशब्दोपतापेषु—अदि, स च डित् । विस्तारकं विस्तीर्णं वा, ब्रह्मनामैतत् । (देवि) हे दिव्यशक्ते त्वं तद् ब्रह्म भवत् (पश्यति)

२—(तिस्रः) उत्तममध्यमाधमरूपेण त्रिसंख्याकाः (दिवः) द्युलोकान् (पृथिवीः) भूलोकान् (षट्) प्राच्याद्या ऊर्ध्वाधोदिग्भ्यां सह षट्संख्याकाः

(तिस्रः) तीनों (पृथ्वीः) भूमियों (च) और (इमाः) इन (पद्) बृह (प्रदिशः) फैली हुई दिशाओं और (सर्वा) सब (भूतानि) सृष्ट पदार्थों को (पृथक्) नाना प्रकार से (पश्यानि) देखूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा के साथ तीन उत्तम, मध्यम और अधम प्रकार से संसार के सब पदार्थों को साक्षात् करके विज्ञान पूर्वक उनसे उपकार लेवे ॥ २ ॥

दि॒व्यस्य॑ सुप॒र्णस्य॒ तस्य॑ हासि क॒नीनि॑का ।
सा भूमि॒मा रु॑रोहिथ व॒ह्यं॑ श्रा॒न्ता व॒धूरि॑व ॥ ३ ॥

दि॒व्यस्य॑ । सु॒-प॒र्णस्य॒ । तस्य॑ । ह॒ । अ॒सि॒ । क॒नीनि॑का । सा । भूमि॑म् । आ । रु॒रो॒हि॒थ॒ । व॒ह्य॑म् । श्रा॒न्ता । व॒धूः-इ॑व ॥३॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (दिव्यस्य) दिव्य गुण वाले (सुपर्णस्य) यथावत् पालनीय जीव की तू (ह) अवश्य (कनीनिका) कमनीया देवी, अथवा नेत्र तारा समान (असि) है। (सा=सा त्वम्) उस तूने (भूमिम्) हृदय भूमि को (आ रुरोहिथ) प्राप्त किया है, (इव) जैसे (श्रान्ता) थकी हुई, वा शान्त स्वभाव, वा जितेन्द्रिय (वधूः) स्त्री (वह्यम्) अपने पाने योग्य पदार्थ को [प्राप्त करती है] ॥ ३ ॥

(च) (इमाः) परिदृश्यमानाः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (पृथक्) नानारूपेण (त्वया) ब्रह्मणा सहायेन (अहम्) उपासकः (सर्वा) सर्वाणि (भूतानि) भूतजातानि (पश्यानि) साक्षात्करवाणि (देवि) हे दिव्यशक्ते (ओषधे) हे अन्नाद्योषधिवत् ताप नाशक परमात्मन् ॥

३—(दिव्यस्य) दिव्यस्वभावस्य (सुपर्णस्य) पॄ पालनपूरणयोः—न। सुष्ठु यथावत् पालनीयस्य जीवस्य (तस्य) प्रसिद्धस्य (ह) प्रसिद्धौ (असि) (कनीनिका) कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—ईन, कन्, टाप्, अत इत्वम्। कमनीया। यद्वा, चक्षुस्तारावत् प्रदर्शिका (सा) सा त्वं देवी (भूमिम्) योगिनो हृदय-भूमिम् (आ रुरोहिथ) आरूढवती, प्राप्तवती (वह्यम्) अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति वह—यक्। यद्वा। वह्यं करणम्। पा० ३। १। १०२। इति वह-यत्। प्रापणीयं पदार्थं स्थानं वा (श्रान्ता) श्रम तपःखेदयोः—क।

भावार्थ—जैसे जैसे योगी समाधि लगाकर परमात्मा की महिमा देखता है वैसे वैसे ही परमात्मा उस के हृदय में दृढ़ भूमि होता है, जैसे जितेन्द्रिय स्त्री वा पुरुष ठिकाने पर पहुंचकर ठहर जाता है ३

तां मे॑ सहस्राक्षो दे॒वो दक्षि॑णे॒ हस्त॒ आ द॑धत् ।
तयाहं सर्वं॑ पश्यामि॒ यश्च॑ शू॒द्र उ॒तार्यः॑ ॥ ४ ॥

ताम् । मे॒ । स॒ह॒स्र॒-अ॒क्षः । दे॒वः । दक्षि॑णे । हस्ते॑ । आ । द॒धत् ।
तया॑ । अ॒हम् । सर्व॑म् । प॒श्या॒मि॒ । यः । च॒ । शू॒द्रः । उ॒त । आर्यः॑ ॥४

भावार्थ—(सहस्राक्षः) असंख्य दर्शन शक्ति वाला अथवा सहस्रों व्यवहारों वाला (देवः) प्रकाश स्वरूप परमात्मा (दक्षिणे) प्रवृद्ध (हस्ते) प्रकाश के निमित्त (ताम्) उपकारशक्ति (मे) मुझ को (आ) सब ओर से (दधत्) दान कर रहा है, (तया) उस [उपकारशक्ति] से (अहम्) मैं (सर्वम्) सब को (पश्यामि) देखता हूं, (यः च) जो कोई (शूद्रः) शोचनीय शूद्र अर्थात् मूर्ख (उत) अथवा (आर्यः) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥ ४ ॥

अध्वश्रमयुक्ता । शान्ता । जितेन्द्रिया (वधूः) वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । इति वह प्रापणे—ऊप्रत्ययः, हस्य धः । वहति सुखानि । यद्वा । बन्ध—ऊः, नलोपः, बध्नाति प्रेम्णा या । नारी, स्त्री (इव) यथा ॥

४—(ताम्) तनु विस्तारे, उपकृतौ च—ड । टाप् । विस्तृतिम् उपकृतिम् (मे) मह्यम् (सहस्राक्षः) अ० ४। १६ । ४ । बहुदर्शकः । बहुव्यवहारवान् । असंख्यदर्शनः । (देवः) प्रकाशदानादिगुणयुक्तः परमेश्वरः (दक्षिणे) अ० ४ । ११ । ४ । समर्थे । प्रवृद्धे (हस्ते) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति हस विकाशे—तन् । विकाशे । प्रकाशे निमित्ते (आ) समन्तात् (दधत्) ददद् वर्तते (तया) विस्तृत्या (अहम्) उपासकः (सर्वम्) शूद्रमार्यं च (पश्यामि) साक्षात्करोमि निर्णयामि (यः) (च) पक्षान्तरे (शूद्रः) शुचेर्दश्च । उ० २ । १६ । इति शुच शोके—रक्, चस्य दः, धातोर्दीर्घश्च । शोचनीयः । मूर्खः (उत) विकल्पे (आर्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति ऋ गतौ-ण्यत् ।

भावार्थ—सर्व व्यवहार कुशल, सर्वद्रष्टा, सर्वनियन्ता जगदीश्वर की दी हुई उपकारशक्ति द्वारा मनुष्य सब मनुष्यों और पदार्थों का यथावत् विवेक करके संसार की उन्नति करे ॥ ४ ॥

आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः ।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः ॥ ५ ॥

आविः । कृणुष्व । रूपाणि । मा । आत्मानम् । अप । गूहथाः ।
अथो इति । सहस्रचक्षो इति सहस्र-चक्षो । त्वम् । प्रति ।
पश्याः । किमीदिनः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(रूपाणि) [पदार्थों के] रूपों अर्थात् बाहिरी आकार को (आविष्कृणुष्व) प्रकट करदे, (आत्मानम्) [वस्तुओं के] आत्मा अर्थात् भीतरी स्वभाव को (मा अप गूहथाः) गुप्त मत रख (अथो) और भी (सहस्रचक्षो) हे असंख्य दर्शन शक्ति वाले परमात्मन्! (त्वम्) तू (किमीदिनः) अब क्या, यह क्या होरहा है, ऐसे गुप्त कर्म करने वाले को लुतरे लोगों को (प्रति) प्रत्यक्ष (पश्याः) देखले ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पदार्थों के आकार और गुण को स्थूल और सूक्ष्म रीति से पहिचानकर दोषों से बचें और दूसरों को बचावें ॥ ५ ॥

अर्तुं प्राप्तुं योग्यः । पूज्यः । श्रेष्ठः विद्वान् । ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यो वा । महाकुलकुलीनार्यसभ्यसज्जनसाधवः-इत्यमरः, १७ । ३ ।

५—(आविष्कृणुष्व) प्रकटी कुरु । प्रकाशय (रूपाणि) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-पप्रत्ययः, दीर्घश्च । यद्वा, रूप रूपस्य दर्शने करणे वा-अच् । पदार्थानां वाह्याकारान् (मा अप गूहथाः) गुहू संवरणे । संवृतम् आच्छादितं मा कार्षीः (आत्मानम्) अ० १ । १८ । ३ । पदार्थानां सूक्ष्मस्वभावं सारं तत्त्वं वा (अथो) अपि च (सहस्रचक्षो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति चक्षिङ् कथने दर्शने च- उ । हे बहुदर्शनशक्ते परमात्मन् (त्वम्); (प्रति) प्रत्यक्षम् (पश्य) दृशेर्लेटि आडागमः । अवलोकय (किमीदिनः) अ० १ । ७।१। किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते-इत्येवमन्वेषमाणान् पिशुनान् राक्षसान् ॥

दर्शय मा यातुधानान् दर्शय यातुधान्यः ।
पिशाचान्त्सर्वान् दर्शयेति त्वा रभ ओषधे ॥ ६ ॥

दर्शय । मा । यातु-धानान् । दर्शय । यातु-धान्यः । पिशाचान् । सर्वान् । दर्शय । इति । त्वा । आ । रभे । ओषधे ॥६॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (यातुधानान्) यातना देने वाले दोषों को (मा) मुझे (दर्शय) दिखा, (यातुधान्यः=०-नीः) महापीड़ा देने वाली कुवासनाओं को (दर्शय) दिखा । (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस खाने वाले विघ्नों को (दर्शय) दिखा, (ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (इति) इस के लिये (त्वा) तेरा (आरभे) मैं सहारा लेता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य की बाहिरी कुचेष्टायें और भीतरी कुवासनायें उस की उन्नति के महाविघ्न हैं । इस लिये वह विवेक पूर्वक उनका संशोधन करे ॥ ६ ॥

कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्ष्याः ।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः ॥ ७ ॥

कश्यपस्य । चक्षुः । असि । शुन्याः । च । चतुः-अक्ष्याः । वीध्रे । सूर्यम्-इव । सर्पन्तम् । मा । पिशाचम् । तिरः । करः ॥७॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (कश्यपस्य) रस पीने वाले सूर्य का (च) और (चतुरक्ष्याः) पूर्वादि चार प्रकार से व्याप्ति वाली (शुन्याः) बढ़ी हुई दिशा का (चक्षुः) देखने वाला ब्रह्म (असि) है । (पिशाचम्) मांस

६—(दर्शय) आविष्कारय, प्रकाशय (मा) माम् (यातुधानान्) पीडाप्रदान् दोषान् (यातुधान्यः) यातुधानीः । पीडाप्रदायिकाः कुवासनाः (सर्वान्) (पिशाचान्) अ० १ । १६ । ३ । पिशितस्य मांसस्य भक्षकान् महादुःखदायिनो विघ्नान् (इति) एवमर्थम् (त्वा) त्वां परमात्मानम् (आरभे) आलभे । स्पृशामि । धारयामि ॥

७—(कश्यपस्य) अ० २ । ३७ । ७ । कश्यं जलरसं पिबतीति, तस्य, सूर्यस्य (चक्षुः) दर्शकं ब्रह्म (असि) (शुन्याः) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १।

खाने वाले [पीड़ादायक] विघ्न को (मा तिरस्करः) गुप्त मत रख [प्रकाश करदे], (वींधे) विशेष चमकने के समय अर्थात् मध्यान्ह में (सर्पन्तम्) चलते हुये (सूर्यमिव) सूर्य को जैसे [नहीं छिपा सकते] ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा इस सब विशाल संसार को सर्वथा देखता है और सब के दोषों को इस प्रकार जानता है, जैसे दोपहर के सूर्य को। इससे सब मनुष्य दोषों को त्याग कर सदा सुख से रहें ॥ ७ ॥

उदग्रभं परिपाणाद् यातुधानं किमीदिनम्।

तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम् ॥ ८ ॥

उत्। अग्रभम्। परि-पानात्। यातु-धानम्। किमीदिनम्।

तेन। अहम्। सर्वम्। पश्यामि। उत। शूद्रम्। उत। आर्यम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(परिपाणात्) रक्षास्थान [अपने हृदय देश] से (यातुधानम्) पीड़ा देने हारे (किमीदिनम्) पिशुन रूप अपने दोष को (उत् अग्रभम्) मैं ने पकड़ लिया है। (तेन) उसी से (अहम्) मैं (सर्वम्) सब को (पश्यामि) देखता हूं, (यः च) जो कोई (शूद्रः) शोचनीय शूद्र अर्थात् मूर्ख, (उत) अथवा (आर्यः) प्राप्त करने योग्य आर्य अर्थात् विद्वान् [ब्राह्मण, क्षत्रिय वा वैश्य] हो ॥ ८ ॥

१५९। इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः–कनिन्, नान्तत्वात् ङीप्। व्याप्तायाः प्रवृद्धाया दिशायाः (चतुरक्ष्याः) चतुर्+अक्षू व्याप्तौ–इन–ङीप्। पूर्वादि दिग्रूपेण चतुर्विधानि अक्षीणि व्यापनानि यस्याः सा चतुरक्षी तस्याः। चतुर्विधव्यापनशीलायाः (वींध्रे) वाविन्धेः। उ० २।२६। इति वि+इन्धी दीप्तौ–क्रन्। विशेषदीप्तिकाले। मध्याह्ने) (सूर्यमिव) (सर्पन्तम्) गच्छन्तम् (पिशाचम्) पिशितभक्षकं विघ्नम् (मा तिरस्करः) करोतेर्माङि लुङि। कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि। पा० ३।१।५९। इति च्लेः अङ् आदेशः। अन्तर्हितं मा कार्षीः। सर्वथा प्रकाशय–इत्यर्थः।

८—(उत् अग्रभम्) उत्कर्षेण अग्रहं गृहीतवानस्मि वशीकृतवानस्मि (परिपाणात्) परिरक्षणस्थानात्। हृदयदेशात् (यातुधानम्) यातनाप्रदम

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष आत्मदोष के निवारण और बुरे भले के विवेक से शिवसंकल्पी होकर अविद्या का नाश और विद्या का प्रकाश करके सुखी होता है ॥ ८ ॥

इस मन्त्र के उत्तरार्ध के लिये मन्त्र ४ देखो ॥

यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति ।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्र दर्शय ॥ ९ ॥

यः । अन्तरिक्षेण । पतति । दिवम् । यः । च । अति-सर्पति । भूमिम् । यः । मन्यते । नाथम् । तम् । पिशाचम् । प्र । दर्शय ॥९॥

भाषार्थ—(यः) जो [उपद्रवी] (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्ती हृदय अवकाश द्वारा (पतति) नीचे गिरता है, (च) और (यः) जो (दिवम्) व्यवहार वा प्रकाश को (अतिसर्पति) लांघकर रेंगता है, और (यः) जो (भूमिम्) अपनी सत्ता को [अहंकार से] (नाथम्) ईश्वर (मन्यते) मानता है, (तम्) उस (पिशाचम्) मांसभक्षक, दुःखदायक, आत्मा को (प्रदर्शय) तू दिखा दे ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मनोविकार से वेद मार्यादा छोड़ कुकर्मी बनजाता है, वह मनुष्य ईश्वर भक्ति से अपने अविद्यादि दोषों को छोड़कर सुखी होवे ॥ ९ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

(किमीदिनम्) म० ५ । पिशुनरूपं स्वदोषम् (तेन) तेन कारणेन दोषनिग्रहेण । अन्यद् व्याख्यातं म ४ ॥

९—(यः) आत्मदोषः । उपद्रवी जनो वा (अन्तरिक्षेण) मध्यवर्त्तिना हृदयावकाशेन, तत्सहायेन (पतति) अधोगच्छति (दिवम्) इगुपध- ज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारादिषु—क प्रत्ययः । व्यवहारम् । प्रकाशम् (यः) (च) (अतिसर्पति) (अतीत्य, उल्लङ्घ्य गच्छति (भूमिम्) अ० १ ।११ ।२। भू सत्तायाम्—मि । सत्ताम् (यः)(मन्यते) अहंकारेण जानाति (नाथम्) नाथ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—अच् । प्रभुम् । ईश्वरम् (तम्) (पशाचम्) पिशिताशिनम् । दुःखदायकमात्मानम् (प्रदर्शय) अवगमय ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २१ ॥

१-७ ॥ गावो देवताः । १, ५-७ त्रिष्टुप् २-४ जगती ॥

विद्यागुणोपदेशः—विद्या के गुणों का उपदेश ॥

आ गावो॑ अग्मन्नुत भ॒द्रम॑क्र॒न्त्सीद॑न्तु गो॒ष्ठे र॒णय॑न्त्व॒स्मे ।
प्र॒जाव॑तीः पुरु॒रूपा॑ इ॒ह स्यु॒रिन्द्रा॑य पू॒र्वीरु॒षसो॒ दुहा॑नाः ॥१

आ । गाव॑ः । अ॒ग्म॒न् । उ॒त । भ॒द्रम् । अ॒क्र॒न् । सीद॑न्तु । गो॒ऽस्थे । र॒णय॑न्तु । अ॒स्मे इति॑ । प्र॒जाऽव॑तीः । पु॒रु॒ऽरूपाः॑ । इ॒ह । स्यु॒ः । इन्द्रा॑य । पू॒र्वीः । उ॒षस॑ः । दुहा॑नाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गावः) पाने वा स्तुति योग्य, विद्यायें (आ अग्मन्) प्राप्त हुई हैं, (उत) और उन्हों ने (भद्रम्) कल्याण (अक्रन्) किया है। वे (गोष्ठे) हमारी गोठ अर्थात् विद्यासमाज में (सीदन्तु) प्राप्त होवें और (अस्मे) हमें (रणयन्तु = रमयन्तु) सुख देवें । वे (इह) यहां समाज में (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले पुरुष के लिये (पूर्वीः) बहुत (उषसः) प्रभात वेलाओं तक (प्रजावतीः) उत्तम मनुष्यों वाली, (पुरुरूपाः) अनेक लक्षण वाली होकर (दुहानाः) [कामनाओं को] पूर्ण करती हुई (स्युः) रहें ॥ १ ॥

१—(गावः) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ गाने वा—डो । गौरिति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । प्रापणीया गानयोग्या वा वाचः । विद्याः (आ अग्मन्) मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति लुङि च्लेर्लुक् । अगमन् आगताः प्राप्ता अभवन् (उत) अपि च (भद्रम्) कल्याणम् (अक्रन्) पूर्ववत् लुङ् । अकार्षुः (सीदन्तु) षद्लृ गतौ । ताः प्राप्नुवन्तु (गोष्ठे) गावो वाचस्तिष्ठन्ति यत्र । विद्यासमाजे (रणयन्तु) रणाय रमणीयाय संग्रामाय—निरु० १० । ४७ । इति निर्देशात् मस्य णः । रमयन्तु सुखयन्तु (अस्मे) विभक्तेः शे । अस्मान् (प्रजावतीः) प्रजावत्यः । प्रशस्तजनवत्यः (पुरुरूपाः) बहुरूपाः । नानाविधाः (इह) अस्मिन् गोष्ठे (स्युः) भवेयुः (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय

भावार्थ—विद्यायें परमेश्वर से आकर संसार को महा उपकारी हुई हैं। मनुष्य ईश्वर विद्या, शिल्प विद्या आदि अनेक विद्याओं को प्राप्त करें और (इन्द्र) महापुरूपार्थी प्रधान पुरुष के सहायक होकर बहुत काल तक सुख भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है, म० ६ सू० २८ म० १—७। उस में सूक्त के भरद्वाज बार्हस्पत्य ऋषि हैं ॥

इन्द्रो यज्वने गृणते च शिक्षत उपेद् ददाति न स्वं मुषायति। भूयोभूयो रयिमिदस्य वर्धयन्नभिन्ने खिल्ये नि दधाति देवयुम् ॥ २ ॥

इन्द्रः। यज्वने। गृणते। च। शिक्षते। उप। इत्। ददाति। न। स्वम्। मुषायति। भूयः-भूयः। रयिम्। इत्। अस्य। वर्धयन्। अभिन्ने। खिल्ये। नि। दधाति। देव-युम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (यज्वने) यज्ञ करने वाले (च) और (गृणते) उपदेशक पुरुष को (शिक्षते) शिक्षा देता है, और (उप=उपेत्य) आदर करके (स्वम्) धन (ददाति) देता है, और (न) न (मुषायति) चुराता है, और (देवयुम्) दिव्य गुण वा विद्वानों के प्राप्त कराने

पुरुषाय (पूर्वीः) पुरु बहुनाम-निघ० ३। १। ततो ङीप्। पुर्वीः। बह्वीः (उषसः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे। पा० २। ३। ५। इति द्वितीया। उषः-कालोपलक्षितान् दिवसान्। सर्वकालम् (दुहानाः) दुह प्रपूरणे-शानच्। कामान् प्रपूरयन्त्यः ॥

२—(इन्द्रः) राजा (यज्वने) सुयजोर्ङ्वनिप्। पा० ३। २। १०३। इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—ङ्वनिप्। यज्ञकर्त्रे (गृणते) गॄ शब्दे-शतृ। उपदेशकाय जनाय (च) (शिक्षते) उपदिशति (उप) उपेत्य (इत्) अवधारणे (ददाति) सुपात्राय प्रयच्छति (न) निषेधे (स्वम्) धनम् (मुषायति) छन्दसि शायजपि। पा० ३। १। ८४। इति मुष स्तेये श्नः शायच्। मुष्णाति, चोरयति (भूयोभूयो) बहुतरम् (रयिम्) धनम्, (इत्) (अस्य) संसा-

वाले (रयिम्) धन को (भूयोभूयः) अधिक अधिक (इत) ही (वर्धयन्) बढ़ाता हुआ (अस्य) इस संसार के (अभिन्ने) अटूट (खिल्ये) कण कण प्राप्ति के लाभ में (निदधाति) निधि रूप से रखता है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा स्वार्थ छोड़कर विद्यादानादि में धन को व्यय करता है, विद्याबल से धन बढ़ाता हुआ संसार को बहुत लाभ पहुंचाता है ॥ २ ॥

न ता नंशन्ति न दंभाति तस्करो नासामामित्रो व्यथिरा दंधर्षति। देवांश्च याभिर्यजते ददाति च ज्योगित् ताभिः सचते गोपतिः सह ॥ ३ ॥

न । ताः । नशन्ति । न । दभाति । तस्करः । न । आसाम् । आमित्रः । व्यथिः । आ । दधर्षति । देवान् । च । याभिः । यजते । ददाति । च । ज्योक् । इत् । ताभिः । सचते । गोपतिः । सह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताः) वे [विद्यायें] (न) नहीं (नशन्ति) नष्ट होती हैं, (न) न [उन्हें] (तस्करः) चोर (दभाति) ठगता है, (न) न (आमित्रः) पीडा देने वाला (व्यथिः) व्यथाकारी शत्रु (आसाम्) इनकी (आ दधर्षति) हंसी उड़ाता है। (च) और (गोपतिः) विद्याओं का स्वामी, वाचस्पति (याभिः)

स्य (वर्धयन्) समर्धयन् (अभिन्ने) अच्छिन्ने। निरुपद्रवे (खिल्ये) खिल कणश आदाने-क। ततो यत्। कणश आदानस्थाने, अप्रहते देशे भवे सुरक्षिते लाभे (निदधाति) निधिरूपेण स्थापयति (देवयुम्) मृगय्वादयश्च। उ० १। ३७। इति-देव+या प्रापणे—कु। देवानां दिव्यगुणानां विदुषां वा प्रापकम् ॥

३—(न) नहि (ताः) गावः। विद्याः (नशन्ति) णश अदर्शने, श्यनःशप्। नश्यन्ति (दभाति) दम्भु दम्भे = वञ्चने, छान्दसं रूपम्। दम्भयति दभ्नोति वञ्चति ताः तस्करः) अ० ४। ३। २। उपतापकरः। चोरः (आसाम्) गवाम्। विद्यानाम् (आमित्रः) अमेर्द्विषिति चित्। उ० ४। १७४। इति आङ्+अम पीडने-इत्रिच्। आ समन्ताद् आमयति पीडयतीति सः। शत्रुः (व्यथिः) सर्व-

जिन [विद्याओं] से (देवान्) दिव्य गुणों को (यजते) पूजता (च) और (ददाति) देता है, (ताभिःसह) उन [विद्याओं] के साथ (ज्योक्इत्) बहुत ही काल तक वह (सचते) मिला रहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्या अक्षय कोश है। जो मनुष्य विद्याओं को सत्कारपूर्वक ग्रहण करके संसार में फैलाता है। वह यशस्वी होकर सदा आनन्द भोगता है॥३॥

न ता अर्वा रेणुकंकाटोऽश्नुते न संस्कृतत्रमुप यन्ति ता अभि ॥ उरुगायमभयं तस्य ता अनु गावो मर्तस्य वि चरन्ति यज्वनः ॥ ४ ॥

न । ताः । अर्वा । रेणु-कंकाटः । अश्नुते । न । संस्कृतत्रम् । उप । यन्ति । ताः । अभि । उरु-गायम् । अभयम् । तस्य । ताः । अनु । गावः । मर्तस्य । वि । चरन्ति । यज्वनः ॥ ४ ॥

भाषार्थ —(न) न तो (अर्वा) घोड़े के समान विषयासक्त, अथवा हिंसक पुरुष, और (न) न (रेणुककाटः) धूलि के कूये के समान गिरजाने वाला मनुष्य (ताः) उन [विद्याओं] को (अश्नुते) पाता है। (ताः) वे विद्यायें (संस्कृतत्रम्) संस्कृत [शुद्ध] विद्याओं के रक्षक जनको (अभि) सब ओर से (उप यन्ति) आती हैं। (ताः गावः) वे विद्यायें (तस्य) उस (यज्वनः)

धातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति व्यथ भयसंचलनयोः-इन्। व्यथाजनको दुष्टः (आ दधर्षति) धृष प्रहसने। आधर्षति आधर्षणं प्रहसनं तिरस्कारं करोति (देवान) दिव्यगुणान् (च) (याभिः) गोभिः। विद्याभिः (यजते) पूजयति (ददाति) प्रयच्छति (च) (ज्योक्) निरन्तरम् (इत्) (ताभिः) गोभिः। विद्याभिः (सचते) समवैति (गोपतिः) गवां विद्यानां स्वामी। वाचस्पतिः (सह) सहितः ॥

४—(न) निषेधे (ताः) गाः। वाचः। विद्याः (अर्वा) अर्हयावमाध-मार्वरेफाः कुत्सिते। उ०५।५४। इति ऋ गतौ हिंसायां च-वन्। अर्वा, अश्वनाम-निघ० १। १४। अर्वेरणवान्-निरु० १०। ३१। निकृष्टप्रतिकृष्टार्वरेफ०। इत्यमरः-२१। ५४। ऋच्छति मार्गम्, ऋणोत्यन्यान्। अश्व इव विषयासक्तो हिंसको

देवताओं के पूजने वाले (मर्त्तस्य) मनुष्य के (उरुगायम्) बड़े प्रशंसनीय (अभयम्) निर्भय राज्य में (अनु) अनुकूलता से (विचरन्ति) विचरती हैं ॥४॥

भावार्थ—विषयी, अदृढ़स्वभाव, दुष्ट जन विद्या के उत्तम फल को नहीं पासकते हैं। जितेन्द्रिय, विद्वानों के सत्कार करने वाले राजा के सुरक्षित राज्य में अनेक उत्तम विद्यायें उन्नति को प्राप्त होती हैं ॥ ४ ॥

गावो भगो गाव इन्द्रो म इच्छाद् गावः सोमस्य प्रथमस्य भक्षः । इमा या गावः स जनास इन्द्र इच्छामि हृदा मनसा चिदिन्द्रम् ॥ ५ ॥

गावः । भगः । गावः । इन्द्रः । मे । इच्छात् । गावः । सोमस्य । प्रथमस्य । भक्षः । इमाः । याः । गावः । सः । जनासः । इन्द्रः । इच्छामि । हृदा । मनसा । चित् । इन्द्रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गावः) विद्यायें ही (भगः) धन हैं, (गावः) विद्यायें (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य हैं, (गावः) विद्यायें (प्रथमस्य) अति श्रेष्ठ (सोमस्य) सोमरस अर्थात् अमृत वा मोक्ष का (भक्षः) सेवन हैं, [इति] (मे इच्छात्)

वा कुत्सितः पुरुषः (रेणुककाटः) रेणु+क+काटः । अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । इति री गतिरेषणयोः—नु । इति रेणुः । कटे वर्षावरणयोः—घञ् । कस्य जलस्य काटो वर्षणं सेचनं यस्मात् स ककाटः कूपः । धूलिकूप इवपतनस्वभावः (अश्नुते) प्राप्नोति (संस्कृतत्रम्) संस्कृत+त्रैङ् रक्षणे—क । संस्कृतानां देववाणीनां शोभनविद्यानां रक्षकम् (उपयन्ति) आगच्छन्ति प्राप्नुवन्ति (अभि) आभिमुख्येन (उरुगायम्) म० २ । १२ । १ । बहुप्रशंसनीयम् (अभयम्) निर्भयं राज्यम् (तस्य) विद्यारक्षकस्य (ताः) (अनु) अनुकूलतया (गावः) विद्याः (मर्तस्य) हसिमृग्रिण०। उ०।३।८६ । इति मृङ् प्राणत्यागे-तन् । मारयति दोषान् स मर्तः । मनुष्यस्य (विचरन्ति) विविधं गच्छन्ति (यज्वनः) म० २ । याजकस्य । देवपूजकस्य ॥

५—(गावः) वाचः । विद्याः (भगः) भजनीयं धनम्-निघ० २ । १० (इन्द्रः) परमैश्वर्यं सन्ति (मे) मम (इच्छात्) इषु इच्छायां लेटि आडागमः । इच्छा भवेत्-इति (सोमस्य) ऐश्वर्यवतो अमृतस्य मोक्षस्य (प्रथमस्य)

[यह] मेरी इच्छा हो। (जनासः) हे मनुष्यो ! (इमाः) ये (याः) जो (गावः) विद्यायें हैं, (सः) सो ही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य है। (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य की (चित्) ही (हृदा) हृदय अर्थात् आत्मा और (मनसा) विज्ञान के साथ (इच्छामि) मैं चाह करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं को धन, ऐश्वर्य और मोक्ष का मुख्य साधन जानकर पूर्ण श्रद्धा से प्राप्त करें ॥ ५ ॥

यूयं गावो मेदयथा कृशं चिदश्रीरं चित् कृणुथा सुप्रतीकम्। भद्रं गृहं कृणुथ भद्रवाचो बृहद् वो वय उच्यते सभासु ॥ ६ ॥

यूयम्। गावः। मेदयथ। कृशम्। चित्। अश्रीरम्। चित्। कृणुथ। सु-प्रतीकम्। भद्रम्। गृहम्। कृणुथ। भद्र-वाचः। बृहत्। वः। वयः। उच्यते। सभासु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे विद्याओ ! (यूयम्) तुम (कृशम्) दुर्बल से (चित्) भी, (अश्रीरम्) श्रीरहित निर्धन से (चित्) भी (मेदयथ) स्नेह करती हो और (सुप्रतीकम्) बड़ी प्रतीति वाला वा बड़े रूप वाला (कृणुथ) बना देती हो। (भद्रवाचः) हे कल्याणी विद्याओ ! (गृहम्) घर को (भद्रम्)

अतिश्रेष्ठस्य (भक्षः) वृतॄवदिवचि०। उ० ३। ६२। इति भज सेवने-स। सेवनम्। भोगः (इमाः) (याः) (वाचः) (सः) स एव (इन्द्रः) ऐश्वर्यम् (जनासः) हे जनाः। विद्वांसः (इच्छामि) अहं कामये (हृदा) हृदयेन। आत्मना (मनसा) विज्ञानेन (चित्) अपि। एव (इन्द्रम्) विद्यारूपम् ऐश्वर्यम् ॥

६—(यूयम्) (गावः) हे विद्याः (मेदयथ) ञि मिदा स्नेहने-णिच्। स्नेहयथ। आप्याययथ (कृशम्) अनुपसर्गात् फुल्लक्षीबकृशोल्लाघाः। पा० ८। २। ५५। इति कृश तनूकरणे-क्तप्रत्ययान्तो निपात्यते। क्षीणं निर्बलम् (चित्) अपि (अश्रीरम्) रो मत्वर्थीयः। अश्रीयुक्तम्। निर्धनम्। अमङ्गलम् (कृणुथ) कुरुथ (सुप्रतीकम) अलीकादयश्च। उ० ४। २५। इति सु+प्र+इण् गतौ-

मंगलमय (कृणुथ) कर देती हो, (सभासु) विद्वानों से प्रकाशमान सभाओं में (वः) तुम्हारा ही (वयः) बल (बृहत्) बड़ा (उच्यते) बखाना जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्या से दुर्बल मनुष्य सबल, और निर्धन बड़ा विश्वासी और रूपवान् होता है, विद्वानों के घर में सदा आनन्द रहता, और विद्वानों की ही राज सभा और पंचायतों में बड़ाई होती है ॥ ६ ॥

प्रजावतीः सूयवसे रुशन्तीः शुद्धा अपः सुप्रपाणे पिबन्तीः। मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ ७ ॥

प्रजाऽवतीः। सुऽयवसे। रुशन्तीः। शुद्धाः। अपः। सुऽप्रपाने। पिबन्तीः। मा। वः। स्तेनः। ईशत। मा। अघऽशंसः। परि। वः। रुद्रस्य। हेतिः। वृणक्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य प्रजाओ!] (प्रजावतीः) उत्तम सन्तान वाली, (सुयवसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतनेवाला, डाकू उचक्का आदि [वश में करे]।

कीकन्, धातोस्तुट् च। शोभनप्रतीतिवन्तम्। शोभनावयवम्। सुरूपम् (भद्रम्) कल्याणकरम् (गृहम्) गेहम् (भद्रवाचः) हे शोभना वाचो विद्याः (बृहत्) महत् (वः) युष्माकम् (वयः) अ० २। १०। ३। यौवनम्। बलम् (उच्यते) प्रशस्यते (सभासु) सह+भा दीप्तौ-अङ्, टाप्, सहस्य सः। विद्वद्भिः प्रकाशमानासु परिषत्सु ॥

७— (प्रजावतीः) उत्तमसन्तानयुक्ताः [हे प्रजाः—इति शेषः] (सुयवसे) अत्यविचमि०। उ० ३।११७। इति सु+यु मिश्रणामिश्रणयोः— असच्। शोभनानि यवाद्यन्नानि यस्मिन् तस्मिन् गृहे (रुशन्तीः) रुश हिंसायाम्—शतृ। अन्नं भक्षयन्तीः (शुद्धाः) निर्मलाः (अपः) जलानि (सुप्रपाणे) सुन्दरे जलपानस्थाने (पिबन्तीः)

(रुद्रस्य) पीड़ानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यायें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥ ७ ॥

(मा वस्तेन इति) यह पाद य० १ । १ और (परि वो रुद्रस्येति) यह पाद य० १६ । ५० में है ॥

सूक्तम् २२ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

संग्रामजयायोपदेशः—संग्राम में जय के लिये उपदेश ॥

इममिन्द्र वर्धय क्षत्रियं म इमं विशामेकवृषं कृणु त्वम् । निरमित्रानक्ष्णुह्यस्य सर्वांस्तान् रन्धयास्मा अहमुत्तरेषु ॥ १ ॥

इमम् । इन्द्र । वर्धय । क्षत्रियम् । मे । इमम् । विशाम् । एक-वृषम् । कृणु । त्वम् । निः । अमित्रान् । अक्ष्णुहि । अस्य । सर्वान् । तान् । रन्धय । अस्मै । अहम्-उत्तरेषु ॥ १ ॥

पानं कुर्वतीः (वः) युष्मान् (स्तेनः) चोरः (व स्तेन) खर्परे शरिवा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ८ । ३ । ३६ । इति विसर्गलोपः । (मा ईशत) मा ईशिष्ट । अधिकारे वशे न करोतु (मा) मा ईशत (अघशंसः) अघ पापकरणे-पचाद्यच्, शसि इच्छायाम्- अच् । अघं पापं शंसति इच्छतीति यः । अनिष्टचिन्तकः (परि) सर्वतः (वः) युष्मान् (रुद्रस्य) रुद्+रस्य । रुदिर् अश्रुविमोचने-क्विप, इति रुत् पीडा । रुङ् गतिहिंसनयोः-ड । रुदं पीडां रवते नाशयतीति रुद्रः, तस्य दुःखनाशकस्य परमेश्वरस्य (हेतिः) ऊतियूतिजूति० । पा० ३ । ३ । ९७ इति हन वधे क्तिन् । हन्यते ताड्यते अनया । हननशक्तिः (वृणक्तु) वृजी वर्जने । वर्जयतु । त्यजतु ॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे परमेश्वर ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (क्षत्रियम्) राज्य करने में चतुर राजा को (मे) मेरे लिये (वर्धय) बढ़ा, और (इमम्) इसको (विशाम्) मनुष्यों का (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान अर्थात् सार्वभौम शासक (कृणु) बना। (अस्य) इसके (सर्वान्) सब (अमित्रान्) वैरियों को (निरक्ष्णुहि) निर्बल करदे, और (तान्) उन्हें (अस्मै) इसके लिये (अहमुत्तरेषु) मैं ऊंचा होता हूं, मैं ऊंचा होता हूं, ऐसे कथन स्थान रण क्षेत्रों में (रन्धय) नाश कर वा वश में कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण सर्व श्रेष्ठ पुरुष को राजा बनायें जो परमेश्वर में विश्वास करके युद्ध भूमि में शत्रुओं को मारकर प्रजाको सुखी रक्खे ॥ १ ॥

सायणाचार्य ने (अहमुत्तरेषु) पद को पदपाठ के विरुद्ध [अहम् उत्तरेषु] ऐसे दो पद मानकर व्याख्या की है ॥

एमं भ॑ज॒ ग्रामे॒ अश्वे॑षु॒ गोषु॒ निष्टं भ॑ज॒ यो अ॒मित्रो॑ अ॒स्य। वर्ष्म॑ क्ष॒त्राणा॑म॒यम॑स्तु॒ राजेन्द्र॒ शत्रुं॑ रन्धय॒ सर्व॑म॒स्मै ॥ २ ॥

आ। इ॒मम्। भ॒ज॒। ग्रामे॑। अश्वे॑षु। गोषु॑। निः। तम्। भ॒ज॒। यः। अ॒मित्रः॑। अ॒स्य। वर्ष्म॑। क्ष॒त्राणा॑म्। अ॒यम्। अ॒स्तु॒। राजा॑। इन्द्र॑। शत्रु॑म्। र॒न्धय॒। सर्व॑म्॥ अ॒स्मै ॥२॥

१—(इमम्) अस्माकं मध्ये वर्त्तमानम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (वर्धय) समर्धय (क्षत्रियम्) क्षत्राद् घः। पा० ४।१।१३८। इति क्षत्र-घ। क्षत्रे राष्ट्रे साधुम्। राजानम् (मे) मह्यम् (विशाम्) विश प्रवेशने-क्विप्। विशः, मनुष्यनाम-निघ० २। ३। मनुष्याणाम्। प्रजानाम् (एकवृषम्) वृषु सेचने, प्रजननैश्वर्ययोः-क। अद्वितीयप्रधानम्। एकवीरम्। सार्वभौमम् (कृणु) कुरु (त्वम्) (अमित्रान्) अ० १। १९। २ पीडकान् शत्रून् (निः अक्ष्णुहि) अक्षू व्याप्तौ। निर्गतव्याप्तिकान् निर्बलान् कुरु (अस्य) राज्ञः (सर्वान्) तान् तथाविधान् शत्रून् (रन्धय) रध हिंसापाकयोः। रधिजभोरचि। पा० ७। १। ६१। इति नुमागमः। रध्यतिर्वशगमने-निरु० १०।४०। नाशय। वशीकुरु (अस्मै) राज्ञे (अहमुत्तरेषु) अहम् + उत्तरेषु। अहमुत्तरो भवामि अहमुत्तरो भवामि इति कथनं यत्र। परस्परोत्कर्षाय योधानां धावनकर्मसु। महासंग्रामेषु ॥

भाषार्थ—(इमम्) इसको (ग्रामे) ग्राममें, (अश्वेषु) घोड़ों में, और (गोषु) गौ आदिकों में (आभज) भाग्यवान् कर, और (यः) जो (अस्य) इसका (अमित्रः) वैरी है, (तम्) उस को (निर्भज) अलग कर दे। (अयम्) यह (राजा) राजा (क्षत्राणाम्) क्षत्रियों का (वर्ष्म) मस्तक [समान ऊंचा] (अस्तु) होवे। (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले इन्द्र भगवान्! (अस्मै) इसके लिये (सर्वम्) सब (शत्रुम्) शत्रु को (रन्धय) वश में कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर में श्रद्धा रखता हुआ अपनी प्रजा, सेना, और गौ आदि पशुओं की रक्षा करता हुआ अपने सब शत्रुओं का नाश करके क्षत्रियों का शिरोमणि बने ॥ २ ॥

अयमस्तु धनंपतिर्धनानामयं विशां विश्पतिरस्तु राजा।
अस्मिन्निन्द्र महि वर्चांसि धेह्यवर्चसं कृणुहि शत्रुमस्य॥३॥

अयम्। अस्तु। धनं-पतिः। धनानाम्। अयम्। विशाम्। विश्पतिः। अस्तु। राजा। अस्मिन्। महि। इन्द्र। वर्चांसि। धेहि। अवर्चसम्। कृणुहि। शत्रुम्। अस्य॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (धनानाम्) बहुत प्रकार के धनों का (धनपतिः) धनपति (अस्तु) होवे। (अयम्) यह (राजा) राजा (विशाम्) बहुत प्रजाओं का (विश्पतिः) प्रजापति (अस्तु) होवे। (इन्द्र) हे परमेश्वर!

२—(इमम्) राजानम् (आ भज) भज सेवाविश्राणनयोः। समन्तात् सेवस्व। भागं देहि (ग्रामे) अ० ४। ७। ५। वसतौ। (अश्वेषु) तुरङ्गेषु (गोषु) धेन्वादिपशुषु (तम्) शत्रुम् (निर्भज) निर्भक्तं वियुक्तं कुरु (यः) (अमित्रः) पीडकः शत्रुः (अस्य) राज्ञः (वर्ष्म) अ० ३। ४। २। उन्नतस्थानम्। शिरोवद् उन्नतः (क्षत्राणाम्) अ० २। १५। ४। क्षतत्रायकाणां क्षत्रियाणां मध्ये (अस्तु) (राजा) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (शत्रुम्) रिपुम् (रन्धय) म० १। वशीकुरु (सर्वम्) (अस्मै) राजहिताय ॥

३—(अयम्) (अस्तु) (धनपतिः) धनानां निधीनां पालकः (धनानाम्) बहुविधधनानाम् (विशाम्) बहुप्रजानाम् (विश्पतिः) प्रजापालकः (राजा) (अस्मिन्) राजनि (इन्द्र) हे परमात्मन् (महि) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४।

(अस्मिन्) इस राज्य में (महि=महीनि) बड़े बड़े (वर्चांसि) तेजों को (धेहि) धारण कर, (अस्य) इसके (शत्रुम्) वैरी को (अवर्चसम्) निस्तेज (कृणुहि) करदे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के अनुग्रह से पुरुषार्थ पूर्वक बहुत धन एकत्र करके प्रजा की रक्षा करे और महा प्रतापी होकर शत्रुओं को वश में रक्खे ॥ ३ ॥

अस्मै द्यावापृथिवी भूरि वामं दुहाथां घर्मदुघे इव धेनू । अयं राजा प्रिय इन्द्रस्य भूयात् प्रियो गवामोषधीनां पशूनाम् ॥ ४ ॥

अस्मै । द्यावापृथिवी इति । भूरि । वामम् । दुहाथाम् । घर्म-दुघे इवेति घर्मदुघे-इव । धेनू इति । अयम् । राजा । प्रियः । इन्द्रस्य । भूयात् । प्रियः । गवाम् । ओषधीनाम् । पशूनाम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों ! (अस्मै) इसराजा के लिये (घर्मदुघे) यज्ञ की पूर्ति करने वाली (धेनू इव) दो गौओं के समान (भूरि) बहुत (वामम्) उत्तम धन (दुहाथाम्) पूर्णकरो । (अयम्) यह (राजा) राजा (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (प्रियः) प्रिय (गवाम्) विद्याओं का, (ओषधीनाम्) सब अन्नों का और (पशूनाम्) दोपाये और चौपाये जीवों का (प्रियः) प्रिय (भूयात्) होवे ॥ ४ ॥

---

११८ । इति मह पूजायाम्—इन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३९ । इति शसः सुः । महीनि महान्ति (वर्चांसि) तेजांसि (धेहि) धारय (अवर्चसम्) अतेजस्कम् (कृणुहि) कुरु (शत्रुम्) (अस्य) ॥

४—(अस्मै) राज्ञे (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिव्यौ । सूर्यभूलोकौ । तत्रस्थपदार्थाः, इत्यर्थः (भूरि) प्रभूतम् (वामम्) अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । इति वा गतिगन्धनयोः—मन् । यद्वा । इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति वन सम्भक्तौ याचने च—मक् । नस्य आकारः । प्रशस्यम्-निघ० ३ । ८ । धनम् (दुहाथाम्) दुग्धम् । प्रपूरयतम् (घर्मदुघे) घर्म+दुघे । घर्म इति

भावार्थ—राजा सूर्य पृथिवी आदि सब लोकों और पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन संचय करे, और अनेक विद्याओं और अन्नों और सब प्राणियों की वृद्धि करके सुख प्राप्त करे ॥ ४ ॥

युनज्मि त उत्तरावन्तमिन्द्रं येन जयन्ति न पराजयन्ते। यस्त्वा करदेकवृषं जनानामुत राज्ञामुत्तमं मानवानाम् ॥ ५ ॥

युनज्मि। ते। उत्तर-वन्तम्। इन्द्रम्। येन। जयन्ति। न। परा-जयन्ते। यः। त्वा। करत्। एक-वृषम्। जनानाम्। उत। राज्ञाम्। उत्-तमम्। मानवानाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते !) तेरे लिये (उत्तरावन्तम्) अत्यन्त उत्तम गुण वाले (इन्द्रम्) परमेश्वर को (युनज्मि) मैं संयुक्त करता हूं, (येन) जिसके साथ [शूर जन] (जयन्ति) जय पाते हैं, और (न) कभी नहीं (पराजयन्ते) हारते हैं। (यः) जो (त्वा) तुझको (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (एकवृषम्) अद्वितीय प्रधान, और (मानवानाम्) मनन शील अथवा माननीय (राज्ञाम्) राजाओं में (उत्तमम्) अति श्रेष्ठ (करत्) करे ॥ ५ ॥

व्याख्यातम्—अ० ४। १। २। दुहः कब्घश्च। पा० ३। २। ७०। इति दुह प्रपूरणे-कप्, हस्य घश्च। टाप्। घर्मस्य यज्ञस्य प्रपूरयित्र्यौ यज्ञाय दोग्ध्र्यौ (इव) यथा (धेनू) गावौ (अयम्) (राजा) (प्रियः) हृद्यः। तर्पकः। (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (गवाम्) वाणीनाम्। विद्यानाम् (ओषधीनाम्) व्रीहियवादिसस्यानाम् (पशूनाम्) द्विपाच्चतुष्पदां प्राणिनाम् ॥

५—(युनज्मि) योजयामि (ते) तुभ्यम् (उत्तरावन्तम्) छान्दसो दीर्घः। अत्युत्कृष्टगुणयुक्तम् (इन्द्रम्) परमात्मानम् (येन) इन्द्रेण सह (जयन्ति) शूरा जयं प्राप्नुवन्ति (न) निषेधे (पराजयन्ते) विपराभ्यां जेः। पा० १। ३। १९। इति आत्मनेपदम्। शत्रुभ्यः सकाशात् पराभवं प्राप्नुवन्ति (यः) इन्द्रः (त्वा) त्वां राजानम् (करत्) करोतेर्लेट्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४।

भावार्थ—विद्वान् पुरुष राजा को परमेश्वर का उपदेश करें, जिसके आश्रय से वह राजा धीर वीर होकर प्रजा का पालन करे और उत्तमों में उत्तम राजा हो ॥ ५ ॥

उत्त॑र॒स्त्वमध॑रे ते स॒पत्ना॒ ये के च॑ राजन् प्रतिशत्र॑वस्ते । ए॒क॒वृ॒ष इन्द्र॑सखा जिगी॒वाञ्छ॑त्रूय॒ताम॒ भ॑रा भोज॑नानि ॥ ६ ॥

उत्त॑रः । त्वम् । अध॑रे । ते॒ । स॒-पत्नाः । ये । के । च॒ । रा॒ज॒न् । प्रति॑-शत्रवः । ते॒ । ए॒क॒-वृ॒षः । इन्द्र॑-सखा । जि॒गी॒वान् । श॒त्रु॒-य॒ताम् । आ । भ॒र॒ । भोज॑नानि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[राजन् !] हे राजन् ! (त्वम्) तू (उत्तरः) अधिक ऊंचा हो, (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्ती शत्रु और (ते) तेरे (सपत्नाः) साथ झगड़नेवाले हैं, [वे] (अधरे) नीचे होवें। (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रुओं जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन, धन धान्यों को (आभर) लाकर भरदे ॥६॥

इति अडागमः । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इति इकारलोपः । कुर्यात् (एकवृषम्) म० १ । अद्वितीयं सुखसेचकं सार्वभौमम् (जनानाम्) शूरजनानाम् (उत) अपि च (राज्ञाम्) क्षत्रियाणाम् (उत्तमम्) मुख्यं सर्वश्रेष्ठं प्रजापरिपालनशौर्यादिगुणैरुत्कृष्टम् (मानवानाम्) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति । मनु—अण् । मननशीलानाम् । यद्वा । छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मान—वप्रत्ययौ मत्वर्थे । मान्यानाम् ॥

६—(उत्तरः) ऊर्ध्वतरः (त्वम्) राजन् (अधरे) नीचाः (ते) त्वदीयाः (सपत्नाः) अ० १ । ९ । २ । सहपतित्वयन्तः । शत्रवः (ये के च राजन्) (प्रतिशत्रवः) प्रतिकूलवर्तिनो वैरिणः (एकवृषः) म० १ । अद्वितीयशासकः (इन्द्रसखा) इन्द्रेण परमेश्वरेण सखित्वयुक्तः (जिगीवान्) जि जये+क्वसु । सन्लिटोर्जेः । पा० ७ । ३ । ५७ । इत्यभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम् । छान्दसो दीर्घः । जयशीलः (शत्रूयताम्) अ० ३ । १ । ३ । शत्रु—क्यच्,—शतृ । शत्रुवदाचरताम्

भावार्थ—राजा प्रतिकूलवर्ती सब शत्रुओं को परमेश्वर के सहाय से जीतकर सर्वथा निर्बल करे और प्रजा को सुख देवे ॥ ६ ॥

सिं॒हप्र॑तीको॒ विशो॑ अद्धि॒ सर्वा॑ व्या॒घ्रप्र॑तीको॒ऽव॑ बाधस्व॒ शत्रू॑न् । ए॒क॒वृ॒ष इन्द्र॑सखा जिगी॒वाञ्छ॑त्रूय॒ताम् आ खि॑दा॒ भोज॑नानि ॥ ७ ॥

सिं॒ह-प्र॑तीकः । विशः॑ । अ॒द्धि॒ । सर्वाः॑ । व्या॒घ्र-प्र॑तीकः । अव॑ । बा॒ध॒स्व॒ । शत्रू॑न् । ए॒क॒-वृ॒षः । इन्द्र॑-सखा । जि॒गी॒वान् । श॒त्रु॒-य॒ताम् । आ । खि॒द॒ । भोज॑नानि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सिंहप्रतीकः) सिंह तुल्य पराक्रमी तू (सर्वाः) सब [शत्रुओं के] (विशः) मनुष्यों को (अद्धि) खाले, (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्र समान झपट कर (शत्रून्) दुष्ट वैरियों को (अव बाधस्व) हटादे । (इन्द्रसखा) परमेश्वर का मित्र, (जिगीवान्) विजयी और (एकवृषः) अद्वितीय प्रधान तू (शत्रूयताम्) शत्रु जैसे आचरण वाले मनुष्यों के (भोजनानि) भोगों के साधन धन धान्यों को (आ खिद) छीनले ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा पूर्ण पराक्रमसे शत्रुओं की सेनाओं और शत्रुओं का नाश करे और सब प्रकार से विजय प्राप्त करके उन्हें अपने अधीन रक्खे ॥ ७ ॥

(आ भरा) छान्दसो दीर्घः । आनीय धर (भोजनानि) ल्युट् च । पा० ३ । ३ । ११५ । इति भुज पालनाभ्यवहारयोः—ल्युट् । भोगसाधनानि धान्यानि धनानि च ॥

७—(सिंहप्रतीकः) सिंह इति । गतम्-अ० ४ । ८ । ७ । अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । इति प्रति+इण् गतौ-कीकन् । प्रतीयते स प्रतीकः । प्रतीतिः ख्यातिः । सिंहतुल्यपराक्रमः (विशः) प्रजाः शत्रूणाम् (अद्धि) अद भक्षणे—लोट् । भुङ्क्ष्व नाशय (सर्वाः) सकलाः (व्याघ्रप्रतीकः) व्याघ्रवदाक्रमणशीलः (अव बाधस्व) निवारय (शत्रून्) शातयितॄन् । हिंसकान् (आखिद) खिद दैन्ये परिघाते च । आङ्पूर्वः खिदिः आच्छेदने । आच्छिन्धि । अपहरेत्यर्थः । अन्यद् व्याख्यातं म० ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१-७ ॥ अग्निर्देवता । १, २, ५, ७, पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती, ४ अनुष्टुप्, ६ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप्, उत्तरोऽनुष्टुप् ॥

कष्टनिवारणायोपदेशः—कष्ट हटाने के लिये उपदेश ॥

अ॒ग्नेर्म॑न्वे प्रथ॒मस्य॒ प्रचे॑तसः पाञ्च॑जन्यस्य बहु॒धा यमि॒न्धते॑ । विशो॑विशः प्रविशि॒वांस॑मीमहे॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ १ ॥

अ॒ग्नेः । म॒न्वे॒ । प्र॒थ॒मस्य॑ । प्र-चे॑तसः । पाञ्च॑-जन्यस्य । ब॒हु॒धा । यम् । इ॒न्धते॑ । विशः॑-विशः । प्र॒वि॒शि-वांस॑म् । ई॒म॒हे॒ । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रथमस्य) सबसे पहिले वर्तमान, (प्रचेतसः) बड़े ज्ञान वाले (पाञ्चजन्यस्य) पांच भूतों से उत्पन्न मनुष्य आदि के हितकारक (अग्नेः) सर्वव्यापक अग्नि, अर्थात् परमेश्वर का (मन्वे) में मनन करता हूं, (यम्) जिसको [ऋषि लोग] (बहुधा) बहुत प्रकार से (इन्धते) प्रकाशित करते हैं (विशोविशः) सब प्रवेश स्थानों में (प्रविशिवांसम्) प्रवेश करने वाले परमेश्वर को (ईमहे) हम पहुंचते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ १ ॥

१—(अग्नेः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (मन्वे) मनु अवबोधने । मननं करोमि (प्रथमस्य) आद्यस्य । मुख्यस्य (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानस्य (पाञ्चजन्यस्य) पञ्चजनाः, इति मनुष्य नाम—निघ० २ । ३ । पञ्चभिर्भूतैर्जाताः, इत्यर्थः । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ इति पञ्चजन-ञ्य । पञ्चजनेभ्यो मनुष्येभ्यो हितस्य (बहुधा) बहुप्रकारेण (यम्) अग्निम् (इन्धते) दीपयन्ति प्रकाशयन्ति (विशोविशः) विश आवेशने—क्विप् । सर्वप्रवेशस्थानानि । सर्वाःप्रजाः (प्रविशिवांसम्) विश प्रवेशने । छान्दसं रूपम् । प्रविविशिवांसम् । प्रविष्टवन्तम् । (ईमहे) ईङ् गतौ । प्राप्नुमः । याचामहे—निघ० ३ । १९ । (सः)

भावार्थ—सबके आदि कारण, सर्वज्ञ, सर्वहितकारक, सर्वव्यापक परमेश्वर की महिमा विचारते हुये मनुष्य पुरुषार्थ करके अधर्म को छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यथा॑ ह॒व्यं वह॑सि जातवेदो॒ यथा॑ य॒ज्ञं क॒ल्पय॑सि प्रजा॒नन् । ए॒वा दे॒वेभ्यः॑ सुम॒तिं न॒ आ व॑ह॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥२

यथा॑ । ह॒व्यम् । वह॑सि । जा॒त॒-वे॒दः॒ । यथा॑ । य॒ज्ञम् । क॒ल्पय॑सि । प्र॒-जा॒नन् । ए॒व । दे॒वेभ्यः॑ । सु॒-म॒तिम् । नः॒ । आ । व॒ह॒ । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्पन्नपदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! (यथा) जिस प्रकार से (हव्यम्) देने वा खाने योग्य अन्न को (वहसि) तू पहुंचाता है, (यथा) जिस प्रकार से (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (प्रजानन्) अच्छे प्रकार जानता हुआ (कल्पयसि) तू रचता है । (एव) वैसही (देवेभ्यः) दिव्य गुणों के लिये (सुमतिम्) सुमति (नः) हमें (आवह) पहुंचा, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) पीड़ा से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ २ ॥

भवार्थ—परमेश्वर ने पुष्टि कारक और सुखदायक अन्न सूर्य आदि पदार्थ उत्पन्न करके हम पर बड़ा उपकार किया है, उसके गुणों को जानकर विज्ञानपूर्वक अपनी धार्मिक बुद्धि बढ़ावें और दुष्कर्मों से पृथक रहकर जीवन लाभ उठावें ॥ २ ॥

अग्निः (नः) अस्मान् (मुञ्चतु) मोचयतु वियोजयतु (अंहसः) अ० २ । ४ ३ । अमेर्हुक् च । उ० ४ । २१३ इति अम रोगे, पीडने—असुन्, हुक् च । रोगात् पीडकात् कष्टात् ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (हव्यम्) अ० ३ । ३ । ४।हु दानादनयोः—यत् । दातव्यं भोक्तव्यं वान्नम् (वहसि) प्रापयसि (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ जातानामुत्पन्नानां वेदितः (यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयं कर्म (कल्पयसि) विरचयसि (प्रजानन्) प्रकर्षेणावगच्छन् (एव) एवम् । तथा (देवेभ्यः) दिव्यगुणानां प्राप्तये (सुमतिम्) धार्मिकां बुद्धिम् (नः) अस्मान् (आवह) द्विकर्मकः । प्रापय । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

यामन्यामन्नुपयुक्तं वहिष्ठं कर्मन्कर्मन्नाभगम्। अग्निमीडे रक्षोहणं यज्ञवृधं घृताहुतं स नो मुञ्चत्वंहसः ॥३॥

यामन्-यामन्। उप-युक्तम्। वहिष्ठम्। कर्मन्-कर्मन्। आ-भगम्। अग्निम्। ईडे। रक्षः-हनम्। यज्ञ-वृधम्। घृत-आ-हुतम्। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः॥ ३॥

भाषार्थ—(यामन् यामन्) प्रत्येक गति वा उद्योग में (उपयुक्तम्) उपयोग किये, (कर्मन्कर्मन्) प्रत्येक कर्म में (आभगम्) अच्छे प्रकार से भक्ति योग्य, (वहिष्ठम्) अतिबली, (रक्षोहणम्) राक्षसों के हनन करनेहारे, (यज्ञवृधम्) पूजनीय कर्म के बढ़ाने वाले, (घृताहुतम्) प्रकाश के भलीभांति देनेवाले, (अग्निम्) सर्वज्ञ अग्नि, परमात्मा की (ईडे) मैं स्तुति करता हूं। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे॥ ३॥

भवार्थ—जो मनुष्य प्रत्येक कर्म में परमात्मा का ध्यान करके उद्योग करते हैं, वही बाहिरी और भीतरी शत्रुओं को हटाकर संसार में सुख भोगते हैं॥ ३॥

३—(यामन् यामन्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति या प्रापणे—मनिन्। सप्तम्या लुक्। यामनि यामनि। सर्वस्यां गतौ (उपयुक्तम्) उपयोगीभूतम् (वहिष्ठम्) तुश्छन्दसि। पा० ५। ३। ५९। इति वोढृ—इष्ठन्। तुरिष्ठेमेयस्सु। पा० ६। ४। १५४। इति तृलोपः। वोढृतमम्। अतिशयेन प्रापकम्। बलिष्ठम् (कर्मन् कर्मन्) डुकृञ् करणे—मनिन्। सप्तम्या लुक्। सर्वस्मिन् कर्मणि (आभगम्) आभक्तव्यम्। आसेव्यम् (अग्निम्) सर्वज्ञं परमात्मानम् (ईडे) ईड स्तुतौ। अग्निमीडेऽग्निं याचामीडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा–निरु० ७। १५। स्तौमि (रक्षोहणम्) रक्षस्+हन् हिंसागत्योः–क्विप्। रक्षसां हन्तारम् (यज्ञवृधम्) यज्ञस्य पूजनीयकर्मणो वर्धयितारम् (घृताहुतम्) घृत+आङ्–हु दाने–क्विप्, तुक् च। घृतस्य प्रकाशस्य सम्यग् दातारम्। अन्यत् पूर्ववत् अ० १॥

सुजातं जातवेदसमग्निं वैश्वानरं विभुम्।

हव्यवाहं हवामहे स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ४ ॥

सु-जातम्। जात-वेदसम्। अग्निम्। वैश्वानरम्। वि-भुम्।

हव्य-वाहम्। हवामहे। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुजातम्) बड़े प्रसिद्ध, (जातवेदसम्) उत्पन्नपदार्थों के जानने वाले अथवा धन प्राप्त कराने हारे (वैश्वानरम्) सब नरों [नायकों] के हित करने वाले, (विभुम्) सर्वशक्तिमान्, (हव्यवाहम्) उत्तम अन्न पहुंचाने वाले (अग्निम्) सर्वव्यापक परमेश्वर को (हवामहे) हम पुकारते हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुण और कर्मों को जानकर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावें और परस्पर उपकार करके आनन्दित रहें ॥ ४ ॥

येन ऋषयो बलमद्योतयन् युजा येनासुराणामयुवन्त मायाः। येनाग्निना पणीनिन्द्रो जिगाय स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

येन। ऋषयः। बलम्। अद्योतयन्। युजा। येन। असुराणाम्। अयुवन्त। मायाः। येन। अग्निना। पणीन्। इन्द्रः। जिगाय। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस (युजा) मित्र परमेश्वर के साथ (ऋषयः)

४—(सुजातम्) जनी प्रादुर्भावे-क्त। सुप्रसिद्धम् (जातवेदसम्) म० २। जातानां वेदितारम्। धनस्य जनयितारं प्रापकम्। (अग्निम्) सर्वव्यापकम् (वैश्वानरम्) अ० १। १०। ४। सर्वेषां नराणां नायकानां हितम् (विभुम्) विप्रसंभ्यो ड्वसंज्ञायाम्। पा० ३। २। १८०। इति वि+भू डु। सर्वगतम्। प्रभुम् (हव्यवाहम्) हव्यं वहतीति। हव्य+वह-अण्। अन्नप्रापकम् (हवामहे) आह्वयामः। अन्यद् गतम् ॥

५—(येन) अग्निना परमेश्वरेण (ऋषयः) म० २। ६। १। ऋषिर्द-

ऋषि लोगों ने (बलम्) बल (अद्योतयन्) प्रकाशित किया है, और (येन) जिसके साथ (असुराणाम्) असुरों की (मायाः) मायाओं [छलों] को (अयुवन्त) हटाया है। और (येन) जिस (अग्निना) सर्व व्यापक परमेश्वर के साथ (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (पणीन्) कुव्यवहारी मनुष्यों को (जिगाय) जीता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुडावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा का आश्रय लेकर सूक्ष्मदर्शी महात्माओं ने सत्य का प्रकाश और असत्य का नाश किया है. और जिस पर विश्वास करके प्रतापी मनुष्यों ने दुष्टों को जीता है, उसी परमात्मा की शरण लेकर हम विघ्नों को हटा कर सुख पावें ॥५॥

येन॑ दे॒वा अ॒मृत॑म॒न्वविन्द॒न् येनौष॑धी॒र्मधु॑मती॒रकृ॑ण्वन्।
येन॑ दे॒वाः स्वः॒ऽआभ॑र॒न्त्स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ६ ॥

येन॑ । दे॒वाः । अ॒मृत॑म् । अ॒नु॒-अ॒विन्द॑न् । येन॑ । ओष॑धीः । मधु॑-मतीः । अकृ॑ण्वन् । येन॑ । दे॒वाः । स्वः॑ । आ॒-अभ॑रन् । सः । नः॒ । मु॒ञ्च॒तु॒ । अंह॑सः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(येन) जिसके द्वारा (देवाः) विद्वान् देवताओं ने (अमृतम्)

र्शनात्—निरु० २ । ११ । साक्षात्कृतधर्म्माणः । सन्मार्गदर्शकाः । अतीन्द्रियार्थदर्शिनः (बलम्) सामर्थ्यम् (अद्योतयन्) द्युत दीप्तौ णिचि लङि रूपम् । अदीपयन् (युजा) सख्या, मित्रेण सह (असुराणाम्) सुरविरोधिनाम् । खलानाम् (अयुवन्त) यु मिश्रणामिश्रणयोः—आत्मनेपदं छान्दसम् । अयुवन् । पृथक् कृतवन्तः (मायाः) माछाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । इति माङ् माने—य । टाप् । प्रज्ञाः—नि घ० ३ । ९ । छलानि । मिथ्याजालान् (अग्निना) परमात्मना (पणीन्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पण व्यवहारे स्तुतौ च-इन् । पणिर्वणिग्भवति पणिः पणनात्—निरु० २ । १७ । कुव्यवहारिणः पुरुषान् (इन्द्रः) परमैश्वर्य्यवान् पुरुषः (जिगाय) जि जये-लिट् । जितवान् अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

६—(येन) अग्निना परमेश्वरेण (देवाः) विद्वांसः (अमृतम्) अमरत्वम् ।

अमरपन [मृत्यु से छुटकारा अर्थात् मोक्ष वा कीर्ति] को (अनु-अविन्दन्) अनन्तर पाया है, और (येन) जिसके आश्रय से (ओषधीः) यव आदि पदार्थों को (मधुमतीः) मधुर रस वाली (अकृण्वन्) बनाया है, और (येन) जिसके द्वारा (देवाः) देवताओं ने (स्वः) स्वर्ग अर्थात् महा आनन्द (आ अभरन्) यथावत् धारण किया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर की महिमा से महापुरुषों ने पुरुषार्थ करके अमरपन अर्थात् सुन्दर नाम प्राप्त किया है, और सांसारिक पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर अत्यन्त सुख पाया है, उसी जगदीश्वर के आश्रय से हम भी उद्योग करके दुःख से छूटें ॥ ६ ॥

यस्ये॒दं प्र॒दिशि॒ यद्वि॒रोच॑ते॒ यज्जा॒तं ज॑नित॒व्यं॑ च॒ केव॑लम्। स्तौम्य॒ग्निं ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

यस्य॑। इ॒दम्। प्र॒-दिशि॑। यत्। वि-रोच॑ते। यत्। जा॒तम्। ज॒नि॒त॒व्य॑म्। च॒। केव॑लम्। स्तौमि॑। अ॒ग्निम्। ना॒थि॒तः। जो॒ह॒वी॒मि॒। सः। नः॒। मु॒ञ्च॒तु॒। अंह॑सः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(केवलम्) केवल (यस्य) जिस परमेश्वर के (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह [जगत्] है, अर्थात् (यत्) जो कुछ (विरोचते) चमकता है, और (यत्) जो कुछ (जातम्) उत्पन्न हुआ है (च) और (जनि-

---

मोक्षम् (अनु—अविन्दन्) विद्लृ लाभे—लङ्। अनुक्रमेण अलभन्त (ओषधीः) व्रीहियवाद्यास्तण्डुलमाद्याश्च (मधुमतीः) मधुररसयुक्ताः (अकृण्वन्) अकुर्वन् (स्वः) स्वर्गं सुखम् (आ—अभरन्) डुभृञ् धारण-पोषणयोः—लङ् सम्यग् अधारयन्। अलभन्तेत्यर्थः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यस्य) अग्नेः परमेश्वरस्य (इदम्) परिदृश्यमानं जगत् (प्रदिशि) प्रदेशने। प्रशासने (यत्) (विरोचते) विविधं दीप्यते (यत्) (जातम्) उत्पन्नम् (जनितव्यम्) जनयितव्यम्। जनिष्यमाणम् (च) समुच्चये (केव-

तव्यम्) उत्पन्न होगा। (नाथितः) मैं भक्त (अग्निम्) उस सर्वव्यापक परमेश्वर को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) वारंवार पुकारता हूं। (सः) वह (नः) हमे (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जगत्पिता परमेश्वर की आज्ञा में यह सब जगत् वर्तमान है, उसी की प्रार्थना उपासना करके मनुष्य अपने विघ्नों को हटाकर सदा धर्म में प्रवृत्त होकर प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१-७ ॥ इन्द्रो देवता । १, ४ पादत्रयं जगती, अन्तिमोऽनुष्टुप्, २, ३, ५-७ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

सर्व सुख प्राप्त्युपदेशः—पूर्ण सुख पाने का उपदेश ॥

इन्द्रस्य मन्महे शश्वदिदस्य मन्महे वृत्रघ्न स्तोमा उप मेम आगुः । यो दाशुषः सुकृतो हवमेति स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । मन्महे । शश्वत् । इत् । अस्य । मन्महे । वृत्र-घ्नः । स्तोमाः । उप । मा । इमे । आ । अगुः । यः । दाशुषः । सु-कृतः । हवम् । एति । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमऐश्वर्य वाले परमात्मा का (मन्महे) हम मनन करते हैं, (शश्वत् इत्) सदाही (अस्य) इस (वृत्रघ्नः) शत्रु नाशक

लम्) अ० ३ । १८ । २ । निश्चितम् । अनन्यसाधारणम् (स्तौमि) प्रशंसामि (अग्निम्) सर्वव्यापकं परमेश्वरम् (नाथितः) तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच् । पा० ५ । २ ।३६ । इति नाथ-इतच् । नाथःस्वामी संजातोयस्य स नाथितः । नाथवान् । भक्तः (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि । अन्यद् व्याख्याम् म० १ ॥

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्ययुक्तस्य परमात्मनः (मन्महे) मनुमहे । मनन कुर्मः (शश्वत्) सर्वदा (इत्) निश्चयेन (अस्य) इन्द्रस्य (वृत्रघ्नः) अ० १ ।

वा अन्धकार निवारक का (मन्महे) हम मनन करते हैं। (इमे) ये (स्तोमाः) स्तुति के ज्ञान (मा) मुझको (उप आ अगुः) प्राप्त हुये हैं। (यः) जो परमेश्वर (दाशुषः) दानशील और (सुकृतः) सुकर्मी पुरुष के (हवम्) आवाहन को (एति) प्राप्त होता है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के गुणों को नित्य गाते हुए हम लोग पापसे बचकर धर्म प्रचार करें ॥ १ ॥

य उग्रीणामुग्रबाहुर्ययुर्यो दानवानां बलमारुरोज ।
येन जिताः सिन्धवो येन गावः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥२॥

यः । उग्रीणाम् । उग्रबाहुः । ययुः । यः । दानवानाम् । बलम् । आ-रुरोज । येन । जिताः । सिन्धवः । येन । गावः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ययुः) शीघ्रगामी परमात्मा (उग्रीणाम्) प्रचण्ड सेनाओं के (उग्रबाहुः) भुजाओं का प्रचण्ड करने वाला है, (यः) जिसने (दानवानाम्) छेदनशील राक्षसों का (बलम्) बल (आरुरोज) तोड़ दिया है, (येन) जिस परमेश्वर करके (सिन्धवः) जल और (येन)

२१ । १ । शत्रुनाशकस्य । अन्धकारनिवारकस्य (स्तोमाः) अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । ष्टुञ् स्तुतौ—मन् । स्तोत्राणि (उप) समीपे (मा) मां सेवकम् (इमे) वक्ष्यमाणाः (आ अगुः) इण् गतौ-लुङ् । आगमन् (यः) इन्द्रः (दाशुषः) दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च । पा० ६ । १ । १२ । इति दाशृ दाने-क्वसौ निपात्यते । दानशीलस्य (सुकृतः) शोभनकर्मणः । धार्मिकस्य पुरुषस्य (हवम्) अ० १ । १५ । २ । आह्वानम् (एति) गच्छति प्राप्नोति । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

२—(यः) इन्द्रः (उग्रीणाम्) षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० । ४ । १ । ४१ । इति उग्र-ङीष् । उग्रस्वभावानां प्रजानां सेनानां वा (उग्रबाहुः) उग्रा बाहवो यस्मात् स तथाभूतः । अतिशयेन बलदाता, इत्यर्थः (ययुः) यो द्वे च । उ० १ । २१ । इति या प्रापणे-उप्रत्ययः, द्वित्वं च । शीघ्रगामी (दानवानाम्) दो

जिस करके (गावः) वायु, सूर्य, और भू लोक (जिताः) जीते गये हैं, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सब विघ्नों का नाश करके जल पृथिवी आदि पदार्थों को उपकारी बनाया है, उसीकी उपासना से हम अपना सामर्थ्य बढ़ाकर क्लेशों से बचें ॥ २ ॥

यश्चर्षणिप्रो वृषभः स्वर्विद् यस्मै ग्रावाणः प्रवदन्ति नृम्णम्। यस्याध्वरः सप्तहोता मदिष्ठः स नो मुञ्चत्वंहसः॥३॥

यः । चर्षणि-प्रः । वृषभः । स्वः-वित् । यस्मै । ग्रावाणः । प्र-वदन्ति । नृम्णम् । यस्य । अध्वरः । सप्त-होता । मदिष्ठः । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (चर्पणिप्रः) उद्योगी पुरुषों का मनोरथ पूरा करने वाला, (वृषभः) सुख की वर्षा करने वाला, श्रेष्ठ और (स्वर्वित्) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने हारा है और (यस्मै) जिसके [आज्ञा पालन के] लिये (ग्रावाणः) शास्त्र वेत्ता पण्डित जन (नृम्णम्) बल वा धन (प्रवदन्ति) बताते हैं। (यस्य) जिसका (अध्वरः) सन्मार्गदर्शक वा हिंसारहित

अवखण्डने-ल्युट्। इति दानं छेदनम्। ततः छन्दसीवनिपौ च। वा० पा० ।५।२। १०६। इति-वप्रत्ययो मत्वर्थे। छेदनशीलानां राक्षसानाम् (बलम्) सामर्थ्यम् (आ-रुरोज) रुजो भङ्गे-लिट्। सर्वतो बभञ्ज (येन) इन्द्रेण (जिताः) वशीकृताः (सिन्धवः) स्यन्दनशीलानि जलानि (गावः) गच्छतीति गौः। वायुसूर्यभूलोकाः। अन्यद् गतम् ॥

३—(यः) इन्द्रः (चर्षणिप्रः) अर्तिसृधृ०। उ० २। १०२। इति चर गतौ—अनि, षुगागमश्च। यद्वा। कृषेरादेश्च चः। उ० २। १०४। इति कृष विलेखने-अनि, आदेश्च चः। चर्षणयो मनुष्याः-निघ०२। ३। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३। २। ३। इति प्रा पूरणे-क। मनुष्याणां मनोरथपूरकः। (वृषभः) अ० ४। ५। १। सुखस्य वर्षकः। श्रेष्ठः (स्वर्वित्) अन्तर्गतण्यर्थः। स्वर्गस्य प्रापयिता (यस्मै) इन्द्राय (ग्रावाणः) अ० ३। १०। ५। गॄ विज्ञापे-क्वनिप्।

व्यवहार (सप्तहोता) सातहोताओं से [अर्थात् विषयों के ग्रहण करने और देने वाले त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि से] साक्षात् किया हुआ (मदिष्ठः) अतिशय आनन्द दायक है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सुखदायक गुणों को साक्षात् करके पुरुषार्थ पूर्वक कष्टों का नाश करके आनन्द प्राप्त करें ॥३॥

यहां पर [सप्त प्राणान्] अ० २ । १२ । ७ और [सप्त ऋषयः] अ० ४ । ११ । ६ । इन पदों की भी व्याख्या देखो ॥

यस्य॑ वृशास॑ ऋषृभास॑ उक्षणो॒ यस्मै॑ मीयन्ते॒ स्वर॑वः स्वर्विदे॑ । यस्मै॑ शुक्रः पव॑ते॒ ब्रह्मशुम्भितः स नो॑ मुञ्चुत्वंह॑सः ॥ ४ ॥

यस्य॑ । वृशासः॑ । ऋषुभासः॑ । उक्षणः॑ । यस्मै॑ । मीयन्ते॑ । स्वर॑वः स्वः-विदे॑ । यस्मै॑ । शुक्रः । पव॑ते । ब्रह्म-शुम्भितः । सः । नः । मुञ्चतु । अंह॑सः ॥ ४ ॥

शास्त्रविज्ञापकाः । पण्डिताः (प्रवदन्ति) प्रकथयन्ति (नृम्णम्) णम प्रह्वत्वे-शब्दे, च-पचाद्यच् । पृषोदरादित्वादाद्यन्तविपर्ययोऽल्लोपश्च । इति नृणम, रूपं जातम् । नृम्णं च बले नृमतम्-निरु० ११ । ६ । नॄन् नमयति प्रह्वीकरोतीति । बलम्-निघ० २ । ६ । धनम्-निघं० २ । १० । (यस्य) इन्द्रस्य (अध्वरः) अ० १ । ४ । २ । सन्मार्गदाता हिंसारहितो वा व्यवहारः (सप्तहोता) सप्त + हु दानादानादनतर्पणेषु-तृच् । सप्तहोता सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति, सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा-नि रु० ११ । २३ । सप्त त्वक्चक्षुः श्रवण-रसनाघ्राणमनोबुद्धयो होतारो विषयाणां ग्रहीतारो दातारःसाक्षात्कर्तारो यस्य स सप्तहोता । अत्र [सप्त प्राणान्] इत्यस्य पदस्य, अ० २ । १२ । ७ । तथा [सप्तऋषयः] इतिपदस्यच, अ० ४ । ११ । ६ । व्याख्या द्रष्टव्या । (मदिष्ठः) मदी हर्षे-तृच् । तुश्छन्दसि । पा० ५ । ३ । ५६ । इति इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६।४।१५४ । इति तृलोपः अतिशयेन मादयिता हर्षकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस परमेश्वर के (वशासः) वशी भूत होकर (ऋषभासः) धर्म जाननेवाले ऋषि लोग (उक्षणः) सुख की वर्षा करने वाले होते हैं, और (यस्मै) जिस (स्वर्विदे) सुख प्राप्त कराने वाले के लिये (स्वरवः) जयस्तम्भ (मीयन्ते) गाड़े जाते हैं। (यस्मै) जिसके लिये (ब्रह्मशुम्भितः) वेदों से कहा गया (शुक्रः) निर्मल सोम रस [अमृत वा मोक्षानन्द] (पवते) शुद्ध किया जाता है। (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की आज्ञा पालन से ऋषि महात्मा वेदों का उपदेश करके संसार को सुख देते हैं और शूरवीर लोग शत्रुओं पर जय पाते हैं और ब्रह्मज्ञानी मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं, वही परमात्मा हमारे कष्टों को मिटावे ॥ ४ ॥

यस्य जुष्टिं सोमिनः कामयन्ते यं हवन्त इषुमन्तं गविष्टौ। यस्मिन्नर्कः शिश्रिये यस्मिन्नोजः स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ५ ॥

यस्य। जुष्टिम्। सोमिनः। कामयन्ते। यम्। हवन्ते। इषु-मन्तम्। गो-इष्टौ। यस्मिन्। अर्कः। शिश्रिये। यस्मिन्। ओजः। सः। नः। मुञ्चतु। अंहसः ॥ ५ ॥

४—(यस्य) इन्द्रस्य परमेश्वरस्य (वशासः) असुगागमः। वशाः। अधीनाः सन्तः (ऋषभासः) अ० ३। ६। ४। असुगागमः। ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति-सर्वान् मन्त्रानिति ऋषभाः। साक्षात्कृतधर्माण ऋषयः। ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २। ११। श्रेष्ठाः (उक्षणः) अ० ३। ११। ८। उक्षाणः। बलवन्तः (यस्मै) इन्द्राय (मीयन्ते) डुमिञ् प्रक्षेपणे। स्थाप्यन्ते (स्वरवः) शॄस्वृस्निहि० । उ०। १। १०। इति स्वृ शब्दोपतापयोः—उ। यूपाः। जयस्तम्भाः (स्वर्विदे) म०। ३। स्वर्गप्रापकाय (शुक्रः) अ० २। ११। ५। शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः—निरु० ८। ११। निर्मलो रसवान् सोमः (पवते) गच्छति—निघ० २। १४। पूयते (ब्रह्मशुम्भितः) शुम्भ भाषणभासनहिंसासु—क्तः। ब्रह्मभिर्वेदैः शुम्भितो भाषितः कथितः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(सोमिनः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य वाले पुरुष (यस्य) जिस परमात्मा की (जुष्टिम्) प्रीति की (कामयन्ते) कामना करते हैं, (यम्) जिस (इषुमन्तम्) दृष्टिवाले परमात्मा को (गविष्टौ) वज्रोंके दान स्थान, संग्राम में [शूर लोग] (हवन्ते) पुकारते हैं। (यस्मिन्) जिसमें (अर्कः) अन्न और (यस्मिन्) जिसमें (ओजः) पराक्रम (शिश्रिये) आश्रित हुआ है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के आश्रय से ऐश्वर्य, विजय, अन्न, और पराक्रम प्राप्त होते हैं, उसी के विश्वास पर हम पुरुषार्थ पूर्वक दुखों का नाश करें ॥ ५ ॥

यः प्र॑थ॒मः क॑र्म॒कृत्या॑य ज॒ज्ञे यस्य॑ वी॒र्यं॑ प्रथ॒मस्यानु॑-बुद्धम्। येनोद्य॑तो वज्रो॒ऽभ्याय॑ता॒हिं॒ स नो॑ मुञ्च॒त्वंह॑सः॥६

यः। प्र॒थ॒मः। क॒र्म॒-कृत्या॑य। ज॒ज्ञे। यस्य॑। वी॒र्य॑म्। प्र॒थ॒मस्य॑। अनु॑-बुद्धम्। येन॑। उत्-य॑तः। वज्रः॑। अ॒भि-आय॑त। अ॒हि॑म्। सः। नः॒। मु॒ञ्च॒तु॒। अंह॑सः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रथमः) मुख्य परमात्मा (कर्मकृत्याय) कर्म करने वाले के हित के लिये (जज्ञे) प्रगट हुआ है, (यस्य) जिस (प्रथमस्य)

५—(यस्य) परमात्मनः (जुष्टिम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः-क्तिन्। प्रीतिम् (सोमिनः) सोमवन्तः। ऐश्वर्यवन्तः (कामयन्ते) अभिलषन्ति (यम्) इन्द्रम् (हवन्ते) आह्वयन्ति (इषुमन्तम्) ईषेः किच्च। उ० १।१३। इति ईष गतिहिंसा-दर्शनेषु-उ। ह्रस्वश्च। दर्शनवन्तम् (गविष्टौ) गौरिति वज्रम्। इत्यमरः-२३। २५। यज दाने-क्तिन्। गवां वज्राणां शस्त्राणामिष्टिर्दानं यत्र। संग्रामे (यस्मिन्) इन्द्रे (अर्कः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः। उ० ३। ४०। इति अर्च पूजायाम्-क अर्कः—अन्ननाम-निघ० २। ७। अर्कमन्नंभवत्यर्चति भूतानि—निरु० ५। ४। अन्नम् (शिश्रिये) श्रिञ् सेवायाम्—लिट्। आश्रितो बभूव (ओजः) बलम्। पराक्रमः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (प्रथमः) मुख्यः। श्रेष्ठः। (कर्मकृत्याय) विभाषा कृवृषोः। पा० ३। १। १२०। इति डुकृञ् करणे—कर्तरि क्यप् तुकच।

श्रेष्ठ परमात्मा का (वीर्यम्) सामर्थ्य (अनुबुद्धम्) सर्वत्र जाना गया है। (येन) जिस परमात्मा करके (उद्यतः) उठाये गये (वज्रः) वज्र ने (अहिम्) हनन करने वाले शत्रु को (अभ्यायत) हनन कर दिया है, (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर वैदिक कर्म करने वालों का सदा आनन्द दायक है, उसी शत्रुनाशक जगदीश्वर की कृपा से हम अपने दोषों को त्याग कर सदा प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

यः संग्रामान् नयति सं युधे वशी यः पुष्टानि संसृजति द्वयानि । स्तौमीन्द्रं नाथितो जोहवीमि स नो मुञ्चत्वंहसः ॥ ७ ॥

यः । सम्-ग्रामान् । नयति । सम् । युधे । वशी । यः । पुष्टानि । सम्-सृजति । द्वयानि । स्तौमि । इन्द्रम् । नाथितः । जोहवीमि । सः । नः । मुञ्चतु । अंहसः ॥७॥

भाषार्थ—(यः) जो (वशी) स्वतन्त्र परमात्मा (संग्रामान्) संग्राम करने वाले योधाओं को (युधे) युद्ध करने के लिये (संनयति) यथावत् ले चलता है, और (यः) जो (द्वयानि) दो प्रकार की [शारीरिक और आत्मिक]

कर्मणां कर्तुर्हिताय (जज्ञे) जातवान्। प्रादुर्बभूव (यस्य) (वीर्यम्) सामर्थ्यम् (प्रथमस्य) श्रेष्ठस्य (अनुबुद्धम्) अनुज्ञातम् (येन) इन्द्रेण (उद्यतः) उद्धृतः (वज्रः) दण्डः (अभ्यायत) आङ्पूर्वाद् यमेर्लुङि्म्लेःसिच् । यमो गन्धने। पा० १।२।१५ । इति सिचेः कित्वात्। अनुदात्तोपदेश०। पा० ६।४।३७। इति अनुनासिकलोपः। ह्रस्वादङ्गात्। पा० ८।२।२७। इति सिज्लोपः। अभितः सर्वतोऽहिंसीत् (अहिम्) अ० २।५।५। आहन्तारम्। क्लेशप्रदम्। अन्यत् पूर्ववत्॥

७—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (संग्रामान्) संग्राम युद्धे-पचाद्यच्। योद्धॄन् (सन्नयति) सम्यक्प्रापयति (युधे) युद्धाय (वशी) स्वतन्त्रः (पुष्टानि) पोषणानि (संसृजति) सम्यग् ददाति (द्वयानि) संख्याया अवयवे तयप्।

(पुष्टानि) पुष्टियां (संसृजति) यथावत् देता है । (नाधितः) मैं भक्त (इन्द्रम्) परमैश्वर्य वाले परमात्मा को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारं-बार पुकारता हूं (सः) वह (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥७॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सत्यवादी शूरों का जय करता है और वेद द्वारा शरीर और आत्मा का सुख देता है। उसी परमात्मा की उपासना और प्रार्थना से सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर कष्टों को निवारें ॥७॥

सूक्तम् २५ ॥

१-७ ॥ वायुसवितारौ देवते १, २, ४-६ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप्, ३ त्रिष्टुप् ७ ७ बृहती छन्दः ॥

वायुसूर्यगुणोपदेशः—पवन और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

वायोः सवितुर्विदथानि मन्महे यावात्मन्वद् विशथो यौ च रक्षथः । यौ विश्वस्य परिभू बभूवथुस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

वायोः । सवितुः । विदथानि । मन्महे । यौ । आत्मन्-वत् । विशथः । यौ । च । रक्षथः । यौ । विश्वस्य । परिभू इति परि-भू । बभूवथुः । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(वायोः) गतिशील वा दोषनाशक पवन के और (सवितुः) सर्वप्रेरक सूर्य के (विदथानि कर्मों को (मन्महे) हम विचारते हैं । (यौ) जो तुम (यौ) गमनशील होकर (आत्मन्वत) आत्मा वाले जगत में (विशथः)

पा० ५।२।४२ । इति द्वि-तयप् । द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा । पा० ५।२।४३ । इति तयस्य अयच् । द्वौ अवयवौ यस्य तद्द्वयम् । द्वन्द्वानि । शारीरिकात्मिकानि (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् । अन्यद् व्याख्यातम्-सू० २३ म० ७ ॥

१—(वायोः) कृवापा० । उ० १ । १ । इति वा गतिगन्धनयोः-उण्, युगागमः । गमनशीलस्य दोषनाशकस्य वा जगदाधारभूतस्य वातस्य (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य सूर्यस्य (विदथानि) विद ज्ञाने-अथ । वेदितव्यानि कर्माणि (मन्महे) जानीमः । विचारयामः (यौ) वायुसवितारौ युवाम् (आत्म-

प्रवेश करते हो (च) और (रक्षथः) रक्षा करते हो, (यौ) जो तुम दोनों (विश्वस्य) सब जग के (परिभू) सहारा देने वाले (बभूवथुः) हुये हो, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥१॥

भावार्थ—वायु और सूर्य के यथावत् गुण जानकर मनुष्य आत्मिक शारीरिक और सामाजिक उन्नति करें ॥ १ ॥

ययोः संख्याता वरिमा पार्थिवानि याभ्यां रजो युपितमन्तरिक्षे । ययोः प्रायं नान्वानशे कश्चन तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

ययोः । सम्-ख्याता । वरिमा । पार्थिवानि । याभ्याम् । रजः । युपितम् । अन्तरिक्षे । ययोः । प्र-अयम् । न । अनु-आनशे । कः । चन । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों [वायु सूर्य] के (संख्याता) गिने हुए (पार्थिवानि) पृथिवी के (वरिमा) विस्तार हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों करके (अन्तरिक्षे) आकाश में (रजः) जल वा जगत् (युपितम्) विमोहित किया गया [मेघ मण्डल में ताड़न शक्ति से रोका गया] है । (ययोः) जिन दोनों की

न्वत्) अ० ४ । १० । ७ । सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकं जगत् । जीवनशक्तियुक्तम् (विशथः) प्रविशथः (यौ) या प्रापणे-ड । यातारौ । गन्तारौ सन्तौ (रक्षथः) पालयथः (विश्वस्य) सर्वस्य जगतः (परिभू) अ० ३।२१।४। सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३९। इति पूर्वसवर्णदीर्घः । परिग्रहीतारौ । सर्वतो व्यापकौ (बभूवथुः) (तौ) तथाभूतौ युवाम् (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(ययोः) वायुसवित्रोः (संख्याता) संख्यातानि परिगणितानि (वरिमा) पृथ्वादिभ्य इमनिज् वा । पा० ५ । १ । १२२ । इति । उरु-इमनिच् । प्रियस्थिर० । पा० ६ । ४ १५७ । इति वर् आदेशः शेर्लोपः । वरिमाणि । उरुत्वानि । महत्वानि । (पार्थिवानि) पृथिव्या ञाञौ । वा० पा० ४ । १ । ८५ । इति पृथिवी-अञ् । पृथिव्यां भवानि जातानि (याभ्याम्) वायुसवितृभ्याम् (रजः) अ० ४ । १ । ४ । उदकम् । जगत् (युपितम्) युपु विमोहने-क ।

(प्रायम्) उत्तम गति को (कश्चन) कोई भी जीव (न) नहीं (अन्वानशे) पहुंचा है, (तौ) वह तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो २॥

भावार्थ—जगत् व्यापी वायु और सूर्य के प्रभाव से जल, पृथिवी से आकाश पर और आकाश से पृथिवी पर आता है, और उन को मनुष्य जितना जितना खोजते हैं, उतना उतना ही अधिक उनका विषय जानते जाते हैं, उन वायु और सूर्य से यथावत् उपकार लेकर हम लाभ उठावें ॥२॥

तव॑ व्र॒ते नि वि॑शन्ते॒ जना॑स॒स्त्वय्युदि॑ते॒ प्रेर॑ते चित्रभानो।
यु॒वं वा॑यो सवि॒ता च॒ भुव॑नानि रक्षथ॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ३ ॥

तव॑ । व्र॒ते । नि । वि॒श॒न्ते॒ । जना॑सः । त्वयि॑ । उत्-इ॑ते । प्र । ई॒र॒ते॒ । चि॒त्र॒-भा॒नो॒ इति॑ चित्र-भानो । यु॒वम् । वा॒यो॒ इति॑ । स॒वि॒ता । च॒ । भुव॑नानि । र॒क्ष॒थः॒ । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥३

भाषार्थ—[हे वायु] (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (जनासः) सब जने (निविशन्ते) प्रवृत्त होते हैं, और (चित्रभानो) हे विचित्र प्रकाश वाले सूर्य ! (त्वयि उदिते) तेरे उदय होने पर [कामों में] (प्रेरते) लगते हैं। (वायो) हे वायु ! (च) और (सविता) हे सूर्य ! (युवम्) तुम दोनों (भुवनानि) सब प्राणियों को (रक्षथः) बचाते हो, (तौ) तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ३ ॥

विमोहितम्। ताडनैर्मेघमण्डले भृतम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (प्रायम्) एरच् पा० ३। ३। ५६। इति प्र+इण् गतौ-अच्। प्रकृष्टगमनम् (न) निषेधे (अन्वानशे) अशू व्याप्तौ-लिट्। अनुप्राप। अनुगन्तुं समर्थो बभूव (कश्चन) कोऽपि जीवः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—[हे वायो] (तव) त्वदीये (व्रते) अ० २। ३०। २। वरणीये कर्मणि। नियमे (निविशन्ते) नेर्विशः। पा० १। ३। १७। इति आत्मनेपदम्। नितरां वर्तन्ते (जनासः) जनाः। प्राणिनः (त्वयि) सवितरि (उदिते) उदयं प्राप्ते सति (प्रेरिते) ईर गतौ। प्रवर्तन्ते (चित्रभानो) हे विचित्रदीप्ते सवितः

भावार्थ—वायुविद्या और सूर्यविद्या से उपकार लेकर मनुष्य अनेक प्रकार के लाभ उठावें ॥ ३ ॥

अपे॒तो वा॑यो सवि॒ता च॑ दु॒ष्कृ॒तमप॒ रक्षां॑सि॒ शिमि॑दां॒ च सेधतम्। सं ह्यू॑३॒र्जया॑ सृ॒जथः॒ सं बले॑न॒ तौ नो॑ मुञ्च॒तमंह॑सः ॥ ४ ॥

अप॑ । इ॒तः । वा॒यो॒ इति॑ । स॒वि॒ता । च॒ । दुः॒-कृ॒तम् । अप॑ । रक्षां॑सि । शिमि॑दाम् । च॒ । से॒ध॒त॒म् । सम् । हि । ऊ॒र्जया॑ । सृ॒जथः॑ । सम् । बले॑न । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥४॥

भाषार्थ—(वायो) हे वायु (च) और (सविता) हे सूर्य ! तुम् दोनों (इतः) यहां से (दुष्कृतम्) मलिन काम को (अप=अप सेधतम्) हटा दो, (रक्षांसि) निवारणीय रोगों (च) और (शिमिदाम्) कर्म छेदन करने हारी पीड़ा को (अप सेधतम्) निकाल दो। (हि) क्योंकि ऊर्जया) आत्मिक पुष्टि के साथ (सं सृजथः) तुम दोनों मिलाते हो और (बलेन) शारीरिक बल के साथ (सम्=सं सृजथः) तुम संयुक्त करते हो, (तौ) सो तुम् दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पवन और सूर्य के यथावत् सेवन और उपयोग से

(युवम्) युवाम् (वायो) (सविता) हे सवितः, त्वम् (च) (भुवनानि) भूतजातानि (रक्षथः) पालयथः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अप)=अप सेधतम् (इतः) अस्मात्स्थानात् (वायो) (सविता) हे सवितः ! (च) समुच्चये (दुष्कृतम्) दुष्टं कर्म (अप सेधतम्) षिध गत्याम्, अन्तर्गतो णिजर्थः । अपगमयतम् (रक्षांसि) रक्षो रक्षितव्यमस्मात्—निरु० ४ । १८ । उपद्रवकारिणो रोगान् (शिमिदाम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति शम उपशमे-इन्, आकारस्य इकारः । शिमी कर्मनाम—निघ० २ । १ । दाप् लवने-ड । टाप् । कर्मछेदिकां पीडाम् (च) (हि) अवश्यम् (ऊर्जया) ऊर्ज बलप्राणनयोः-पचाद्यच्, टाप् । पुष्ट्या । मानसिकपराक्रमेण

दोषों और मलीनता को दूर करके स्वस्थ रहें और आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥ ४ ॥

रयिं मे पोषं सवितोत वायुस्तनू दक्षमा सुवतां सुशेवम्।
अयक्ष्मतातिं मह इह धत्तं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥५॥

रयिम् । मे । पोषम् । सविता । उत । वायुः । तनू इति । दक्षम् । आ । सुवताम् । सु-शेवम् । अयक्ष्म-तातिम् । महः । इह । धत्तम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सविता) सूर्य (उत) और (वायुः) पवन (मे) मेरे लिये (तनू=तन्वाम्) अपने शरीर में वर्त्तमान (सुशेवम्) अति सुखदायक (रयिम्) धन, (पोषम्) पुष्टि और (दक्षम्) बल को (आ सुवताम्) भेजें। (इह) यहां पर (अयक्ष्मतातिम्) नीरोगता और (महः) तेज (धत्तम्) तुम दोनों दान करो, (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्टसे (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ५ ॥

भवार्थ—मनुष्य वायु और सूर्य के विज्ञान से ऋद्धि, सिद्धि, बल और स्वस्थता प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

(संसृजथः) संयोजयथः (सम्) संसृजथः (बलेन) शारीकसामर्थ्येन। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(रयिम्) धनम् (मे) मह्यम् (पोषम्) पुष्टिं समृद्धिम् (सविता) सूर्यः (उत) अपि च (वायुः) पवनः (तनू) सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति। सप्तम्या लुक्। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे। पा० १। १। १९। इति प्रगृह्यम्। तन्वाम्। स्वशरीरे वर्तमानम् (दक्षम्) बलम्—निघ० २। ९। (आसुवताम्) षू प्रेरणे। समन्तात् प्रेरयताम्। प्रयच्छताम् (सुशेवम्) इण्शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इति शीङ् स्वप्ने-वन्। शेवं सुखम्-निघ० ३। ६। अतिशयेन सुखकरम् (अयक्ष्मतातिम्) भावे च। पा०। ४। ४। १४४। इति बाहुलकात् भावे तातिल्। अयक्ष्मताम्। यक्ष्माद् राहित्यम्। आरोग्यम् (महः) तेजः (इह) अस्मिन् शरीरे (धत्तम्) दत्तम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

प्र सुमतिं सवितर्वाय ऊतये महस्वन्तं मत्सरं मादयाथः।
अर्वाग् वामस्य प्रवतो नि यच्छतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥६॥

प्र। सु-मतिम्। सवितः। वायो इति। ऊतये। महस्वन्तम्। मत्सरम्। मादयाथः। अर्वाक्। वामस्य। प्र-वतः। नि। यच्छतम्। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे वायु ! (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (सुमतिम्) सुमति और (महस्वन्तम्) तेजवाले (मत्सरम्) हर्ष को (प्र) अच्छे प्रकार (मादयाथः) तुम दोनों परिपूर्ण करो। (अर्वाक्) हमारे सन्मुख (प्रवतः) बड़ाई वाले (वामस्य) धन का (नि) नियमपूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दान करो। (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और वायु के गुणों का यथावत् प्रयोग करके बुद्धि, प्रताप और धन बढ़ा कर आनन्द भोगें ॥६॥

उप श्रेष्ठा न आशिषो देवयोर्धामन्नस्थिरन्।
स्तौमि देवं सवितारं च वायुं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥७॥

उप। श्रेष्ठाः। नः। आ-शिषः। देवयोः। धामन्। अस्थिरन्।

६—(प्र) प्रकर्षेण (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (सवितः) हे सूर्य ! (वायो) हे पवन ! (ऊतये) रक्षणाय (महस्वन्तम्) तेजोवन्तम् (मत्सरम्) कृधूमदिभ्यः कित्। उ० ३। ७३। इति मदी हर्षे-सरन्। मत्सरः सोमो मन्दतेस्तृप्तिकर्मणो मत्सर इति लोभनामाभिमत्त एनेन धनं भवति—निरु० २। ५। हर्षम्। सोमम्। आनन्दरसम् (मादयाथः) मद तृप्तियोगे-चुरादिः। णिच्-लेट्। युवां तर्पयतं पूरयतम् (अर्वाक्) सन्मुखम् (वामस्य) धनस्य (प्रवतः) अ० ३। १। ४। प्रकर्षवतः (नि) नियमेन (यच्छतम्) दाण् दाने। पाघ्राध्मा०। पा० ७। ३। ७८। इति यच्छ आदेशः। दानं कुरुतम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

स्तौमि । दे॒वम् । स॒वि॒तार॑म् । च॒ । वा॒युम् । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒तम् । अंह॑सः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवयोः) उन दोनों देवों की [=के लिये] (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (आशिषः) कामनायें (नः) हमारे (धामन्) देह में (उप अस्थिरन्) उपस्थित हुई हैं। (देवम्) दिव्य (सवितारम्) सूर्य (च) और (वायुम्) वायु की (स्तौमि) मैं स्तुति करता हूं। (तौ) सो तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और वायु से गुण ग्रहण करने के लिये पूरी इच्छा अपने हृदय में स्थित करके प्रयत्न पूर्वक लाभ उठावें और सदा सुखी रहें ॥७॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-७ ॥ द्यावापृथिव्यौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप् । शेषाः पादाः-१ स्वराट् पथ्याबृहती, २-५ त्रिष्टुप्, ६, ७ बृहती ॥

द्यावापृथिव्योर्गुणोपदेशः—सूर्य और पृथिवी के गुणों का उपदेश ॥

म॒न्वे वां॑ द्यावापृथिवी सुभोजसौ॒ सचे॑तसौ॒ ये अप्र॑थे॒-

७—(उप) उपसर्गः (श्रेष्ठाः) अतिशयेन प्रशस्ताः (नः) अस्माकम् (आशिषः) आङ्पूर्वः शासु इच्छायाम्—क्विप् । आशासः क्वावुपधाया इत्वम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति इत्वम् । कामनाः (देवयोः) दानादिगुणयुक्तयोः । वायुसवित्रोः (धामन्) धामनि । स्थाने । देहे (उप अस्थिरन्) तिष्ठतेर्लुङि । अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । उपस्थिता अभवन् (स्तौमि) प्रशंसामि (देवम्) दिव्यम् (सवितारम्) सूर्यम् (च) (वायुम्) पवनम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

थाममिता योजनानि । प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

मन्वे । वाम् । द्यावापृथिवी इति । सु-भोजसौ । स-चेतसौ । ये इति । अप्रथेथाम् । अमिता । योजनानि । प्रतिस्थे इति प्रति-स्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(सुभोजसौ) हे उत्तम भोग देने वाली वा पालन करने वाली (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी ! (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूं, (ये) जिन तुम दोनों ने (अमिता) अगणित (योजनानि) संयोग कर्मों को (अप्रथेथाम्) प्रसिद्ध किया है और (हि) अवश्य ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवतम्) हुई हो । (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें) (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से अन्न, धन और अनेक संयोग वियोग क्रियायें प्रकट होती हैं । मनुष्य उनके गुणों का यथावत् उपयोग करके आनन्द भोगें ॥ १ ॥

१—(मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिव्यौ ! हे सूर्यभूलोकौ ! (सुभोजसौ) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति भुज पालनाभ्यवहारयोः-असुन् । शोभनपालयित्र्यौ । सुष्ठु भोजयित्र्यौ (सचेतसौ) अ० १ । ३० । २ । समानचेतयित्र्यौ (ये) द्यावापृथिव्यौ (अप्रथेथाम्) प्रथ प्रख्याने-लङ् । प्रख्यातवत्यौ । प्रसिद्धीकृतवत्यौ (अमिता माङ माने शब्दे च-क्त । अमितानि । अपरिमितानि बहूनि (योजनानि) युजिर् योगे-ल्युट् । संयोजनानि । संयोगकर्माणि (प्रतिष्ठे) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । इति प्रति+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-अधिकरणेऽङ् । आधारभूते (हि) अवश्यम् (अभवतम्) (वसूनाम्) निवासहेतूनां धनानाम्-निघ० २ । १० । (ते) तथाभूते युवाम् (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

प्रतिष्ठे ह्यभवतं वसूनां प्रवृद्धे देवी सुभगे उरूची ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

प्रतिस्थे । इति प्रति-स्थे । हि । अभवतम् । वसूनाम् । प्रवृद्धे इति प्र-वृद्धे । देवी इति । सुभगे इति सु-भगे । उरूची इति । द्यावापृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रवृद्धे) हे बड़ी वृद्धिवाली, (देवी) दिव्य स्वरूप (सुभगे) बड़े ऐश्वर्य वाली, (उरूची) बहुत पदार्थ प्राप्त कराने वाली तुम दोनों (हि) ही (वसूनाम्) धनों की (प्रतिष्ठे) आधार (अभवतम्) हुई हो। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवतम्) होओ। (ते) वे तुमदोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य और पृथिवी के विज्ञान से अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करके सुखी रहें ॥ २ ॥

असंतापे सुतपसौ हुवेऽहमुर्वी गम्भीरे कविभिर्नमस्ये ।
द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥३॥

असंतापे इत्यसम्-तापे । सु-तपसौ । हुवे । अहम् । उर्वी इति । गम्भीरे इति । कवि-भिः । नमस्ये३ इति । द्यावा-

२—(प्रतिष्ठे) म० १। आधारभूते (हि) अवश्यम् (अभवतम्) (वसूनाम्) धनानाम् (प्रवृद्धे) हे प्रकर्षेण वृद्धियुक्ते (देवी) हे देव्यौ दिव्यस्वरूपे (सुभगे) हे शोभनैश्वर्ये (उरूची) अ० ३। ३। १। उरवो बहवः पदार्था अञ्चन्ति गच्छन्ति प्राप्नुवन्ति याभ्यां सकाशात् ते उरूच्यौ। बहुपदार्थप्रापिके (द्यावापृथिवी) हे सूर्यभूलोकौ। (भवतम् (मे) मह्यम् (स्योने) अ० १। ३३। १। सुखवत्यौ। अन्यत् पूर्ववत् ॥

पृथिवी इति । भवतम् । मे । स्योने इति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुतपसौ) सुन्दर ताप रखने वाली, (असंतापे) संताप न देने वाली, (उर्वी) चौड़ी, (गम्भीरे) गहरी [शान्त स्वभाव वाली] (कविभिः) विद्वानों से (नमस्ये) नमस्कार योग्य तुम दोनों को (अहम्) मैं (हुवे) पुकारता हूं। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये ......म० २ ॥ ३ ॥

भावार्थ—सूर्य के पिण्ड में ताप है जिससे पृथिवी तापयुक्त होती है। इस प्रकार दोनों के ताप से सब जगत् के पदार्थ रक्षित रहते हैं। उन दोनों के यथावत् ज्ञानसे मनुष्य बुद्धिमान् होकर आनन्द प्राप्त करें ॥ ३ ॥

ये अमृतं बिभृथो ये हवींषि ये स्रोत्या बिभृथो ये मनुष्यान्। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः ॥ ४ ॥

ये इति । अमृतम् । बिभृथः । ये इति । हवींषि । ये इति । स्रोत्याः । बिभृथः । ये इति । मनुष्यान् । द्यावापृथिवी इति भवतम् । मे । स्योनेइति । ते इति । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (अमृतम्) मृत्यु से बचने के साधन और (ये) जो तुम (हवींषि) देने और ग्रहण करने योग्य अन्न आदि पदार्थों को (बिभृथः) धारण करती हो, (ये) जो तुम दोनों (स्रोत्याः) जल वा

३—(असंतापे) नास्ति संतापो याभ्याम्। असंतापकर्त्र्यौ (सुतपसौ) सुन्दरतापयुक्ते। शोभनैश्वर्ययुक्ते (हुवे) आह्वयामि (अहम्) जीवः (उर्वी) उर्व्यौ। विस्तीर्णे (गम्भीरे) गभीरगम्भीरौ। उ० ४। ३५। इति गम्लृ गतौ-ईरन्, मस्य भः, नुम् च। गमनीये प्रापणीये। शान्तस्वभावे। महाशये (कविभिः) मेधाविभिः (नमस्ये) वन्दनीये। अन्यत् पूर्ववत् म०-२।

४—(ये) द्यावापृथिव्यौ युवाम् (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत्। मरणा द्रक्षणसाधनम्। अन्नादिकम् (बिभृथः) धारयथः (हवींषि)

नदियों को और (ये) जो तुम दोनों (मनुष्यान्) मनुष्यों को (विभृथः) धारण करती हो। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये......म० २ ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के परस्पर आकर्षण से वृष्टि होकर अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, जिन से मनुष्य आदि प्राणियों को अमृत अर्थात् अन्न आदि पदार्थ मिलते हैं ॥ ४ ॥

ये उस्रियां बिभृथो ये वनस्पतीन् ययोर्वां विश्वा भुवनान्यन्तः। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चतमंहसः॥५॥

ये इति। उस्रियाः। बिभृथः। ये इति। वनस्पतीन्। ययोः। वाम्। विश्वा। भुवनानि। अन्तः। द्यावापृथिवी इति। भवतम्। मे स्योने इति। ते इति। नः। मुञ्चतम्। अंहसः॥५॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (उस्रियाः) गौओं को और (ये) जो तुम दोनों (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (विभृथः) धारण करती हो, (ययोः वाम्) जिन तुम दोनों के (अन्तः) भीतर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक हैं। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी तुम दोनों (मे) मेरे लिये...... म०२॥ ५ ॥

भावार्थ—सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से किरण द्वारा वृष्टि

अर्चिशुचिहु०। उ० २। १०८। इति हु दानादानादनतर्पणेषु—इसि। देयग्राह्याद्यानि धान्यादीनि (स्रोत्याः) स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ। पा० ४। ४। ११३। इति स्रोतस्—ड्य। स्रोतसि भवाः। अपो जलानि। स्रोत्याः,नदी नाम—निघ०१। १३ (मनुष्यान्) मननशीलान् नरान्। अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

५—(ये) युवाम् (उस्रियाः) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ०२। १३। इति वस निवासे—रक्, सम्प्रसारणं च। वसति क्षीरादिहविरस्याम्—इति उस्रा। ततः—पृषोदरादित्वात्स्वार्थे घ। उस्रियेति गोनाम्। उस्राविणोऽस्यां भोगाः। उस्रेति च, निरु० ४। १९। गाः (विभृथः) धारयथः (वनस्पतीन्) अ० १। १२। ३। वनानां सेवकानां पालकान्। वृक्षान् (ययोः) (वाम्) युवयोः (विश्वा)

होकर गौ आदि सब पशु और सब वृक्ष पुष्ट होते हैं और सब लोक उन के ही प्रभाव में ठहरे हैं ॥ ५ ॥

ये कीलालेन तर्पयथो ये घृतेन याभ्यामृते न किं चन शक्नुवन्ति। द्यावापृथिवी भवतं मे स्योने ते नो मुञ्चत-मंहसः ॥ ६ ॥

ये इति। कीलालेन। तर्पयथः। ये इति। घृतेन। याभ्याम्। ऋते। न। किम्। चन। शक्नुवन्ति। द्यावापृथिवी इति। भवतम्। मे। स्योने इति। ते इति। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥६॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम दोनों (कीलालेन) जाठराग्नि के निवारण करने वाले अन्न से, और (ये) जो तुम दोनों (घृतेन) जल से (तर्पयथः) तृप्त करती हो, (याभ्याम् ऋते) जिन तुम दोनों के विना [सब प्राणी] (किम् चन) कुछ भी (न) नहीं (शक्नुवन्ति) शक्ति रखते हैं। (द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी (मे) मेरे लिये (स्योने) सुखवती (भवतम्) हो। (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी के प्रभाव से अन्न और जल आदि पदार्थ उत्पन्न होकर जगत् का उपकार करते हैं। उनके विज्ञान से सब मनुष्य सुखी रहें ॥ ६ ॥

विश्वानि सर्वाणि (भुवनानि) अ० २। १। ३। लोकान्। (अन्तः) मध्ये। अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

६—(ये) युवाम् (कीलालेन) कील—अलेन। कील बन्धने खण्डने च घञ् क वा। अल निवारणे-अण्। कीलं जाठराग्नेर्ज्वालामलति वारयतीति। कीलालम् अन्नम्—निघ० २। ७। अन्नेन (तर्पयथः) (घृतेन) उदकेन-निघ० १। १२। (याभ्याम्) अन्यारादितरर्ते०। पा० २। ३। २६। इति पञ्चमी (ऋते) विना (न) निषेधे (किञ्चन) यथातथा। किमपि (शक्नुवन्ति) शक्ता भवन्ति सर्वे जनाः। अन्यत् पूर्ववत। म० १ ॥

यन्मे॒दम॑भि॒शोच॑ति॒ येनं॑येन वा कृ॒तं पौरु॑षेया॒न्न दैवा॑त्। स्तौमि॒ द्यावा॑पृथि॒वी ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ ते नो॑ मुञ्चत॒म॑ंहसः ॥ ७ ॥

यत्। मा। इ॒दम्। अ॒भि॒-शोच॑ति। येनं॑-येन। वा। कृ॒तम्। पौरु॑षेयात्। न। दैवा॑त्। स्तौमि॑। द्यावा॑पृथिवी इति॑। ना॒थि॒तः। जो॒हु॒वी॒मि॒। ते इति॑। नः। मु॒ञ्च॒त॒म्। अंह॑सः ॥७॥

भाषार्थ—(येनयेन) जिस किसी कारण से (पौरुषेयात्) पुरुष [इस शरीर] से किया हुआ (वा) अथवा (दैवात्) दैव [प्रारब्ध, पूर्वजन्म] के फल से प्राप्त हुआ (यत्) जो (इदम्) यह (कृतम्) कर्म (न) इस समय (मा) मुझ को (अभिशोचति) शोक में डालता है। [इस लिये] (नाथितः) मैं अधीन होकर (द्यावपृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारता हूं। (ते) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुकर्म करके इस जन्म वा प्रारब्ध से प्राप्त हुए दुःख का नाश करके सूर्य पृथिवी आदि लोकों के उपयोग से सुख भोगें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—७ ॥ मरुतो देवताः ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, शेषाः पादाः-१-४, ६, ७, त्रिष्टुप्, ५ बृहती छन्दः ॥

मरुतां गुणोपदेशः—पवन के गुणों का उपदेश ॥

७—(यत्) (मा) माम् (इदम्) इण् गतौ-दमुक्। पुरोवर्त्ति (अभिशोचति) अभितः सर्वतो दहति (येनयेन) येनकेन कारणेन (वा) अथवा (कृतम्) कर्म (पौरुषेयात्) पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेषु। वा० पा० ५। १। १०। इति पुरुष-ढञ्। पुरुषकृतात्कर्मणः (न) सम्प्रत्यर्थे-निरु० ७। ३१। (दैवात्) अ० ४। १६। ८। पूर्वजन्मार्जितात् कर्मणः (स्तौमि) प्रशंसामि (द्यावपृथिव्यौ) (नाथितः) अ० ४। २३। ७। नाथवान्। अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

मरुतां मन्वे अधि मे ब्रुवन्तु प्रेमं वाजं वाजसाते अवन्तु।
आशूनिव सुयमानह्व ऊतये ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

मरुताम् । मन्वे । अधि । मे । ब्रुवन्तु । प्र । इमम् । वाजम् । वाज-साते । अवन्तु । आशून्-इव । सु-यमान् । अह्वे । ऊतये । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुताम्) दोष नाशक वायुओं का (मन्वे) मैं मनन करता हूं। (मे) मेरे लिये (अधि) अनुग्रह से (ब्रुवन्तु) बोलें और (इमम्) इस (वाजम्) बल को (वाजसाते) अन्न के सुख वा दान के निमित्त (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) तृप्त करें। (आशून् इव) शीघ्रगामी घोड़ों के समान (सुयमान्) उन सुन्दर नियम वालों को (ऊतये) अपनी रक्षा के लिये (अह्वे) मैंने पुकारा है। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण अपान व्यानरूप वायुओं के शोधन, सेवन, और प्राणायाम से बल और अन्न प्राप्त करके अपनी रक्षा करें ॥ १ ॥

उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा य आसिञ्चन्ति रसमोषधीषु। पुरो दधे मरुतः पृश्निमातॄंस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥२॥

१—(मरुताम्) अ० १ । २० । १ । मारयन्ति दोषान् मरुतः । दोषनाशकानां प्राणापानव्यानरूपाणां वायूनाम् (मन्वे) मननं करोमि (मे) मह्यम् (अधि ब्रुवन्तु) अधिकमनुग्रहेण वदन्तु (इमम्) (वाजम्) बलम्—निघ० २ । ९ (वाजसाते) वाजः, अन्नम्—निघ० २ । ७ । अनुपसर्गाल्लिम्पविन्द०। पा० ३ । १ । १३८ । इति सूत्रे पठितः सातिः सौत्रो धातुः । सात सुखे-अच् । यद्वा षणु दाने-क्त । जनसनखनाम् । पा० ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । वाजस्य अन्नस्य साते सुखे दाने वा निमित्तभूते सति (प्र अवन्तु) प्रकर्षेण तर्पयन्तु (आशून्) अ० २ । १४ । ६ । शीघ्रगामिनोऽश्वान् (इव) तथा (सुयमान्) शोभननियमयुक्तान् तान् मरुतः (अह्वे) ह्वेञ् आह्वाने—लुङ् । लिपिसिचिह्वश्च । पा० ३ । १ । ५३ । इति च्लेः अङ् आदेशः । आहूतवानस्मि (ऊतये) रक्षायै (ते) मरुतः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

उत्सम् । अक्षितम् । वि-अचन्ति । ये । सदा । ये । आ-सिञ्चन्ति । रसम् । ओषधीषु । पुरः । दधे । मरुतः । पृश्नि-मातॄन् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [मरुत् देवता] (सदा) सदा (अक्षितम्) अक्षय (उत्सम्) सींचने वाले जल को (व्यचन्ति) विविध प्रकार से पहुंचाते हैं, और (ये) जो (रसम्) रस को (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (आसिञ्चन्ति) सींच देते हैं। (पृश्निमातॄन्) छूने योग्य पदार्थों को वा आकाश के नापने वाले (मरुतः) उन वायु देवताओं को (पुरो दधे) मैं सन्मुख रखता रखता हूं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य वायु के गुणों में विज्ञान प्राप्त करके सदा आनन्दित रहें ॥ २ ॥

पयो धेनूनां रसमोषधीनां जवमर्वतां कवयो य इन्वथ। शग्मा भवन्तु मरुतो नः स्योनास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥३॥

पयः । धेनूनाम् । रसम् । ओषधीनाम् । जवम् । अर्वताम् । कवयः । ये । इन्वथ । शग्माः । भवन्तु । मरुतः । नः । स्योनाः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ३ ॥

२—(उत्सम्) अ० १।१५।३। सेचनसाधनं जलं वा (अक्षितम्) अक्षीणम् (व्यचन्ति) अंचु अचु गतौ याचने च, अन्तर्गतो ण्यर्थः। विविधं गमयन्ति (ये) मरुतः (सदा) सर्वदा (आसिञ्चन्ति) समन्तात् क्षारयन्ति वर्षयन्ति (रसम्) सारम् (ओषधीषु) व्रीहियवाद्यासु तरुगुल्मादिषु च (पुरो दधे) पुरस्ताद् धारयामि। भजामि। पूजयामि (मरुतः) दोषनाशकान् वायून् (पृश्नि-मातॄन्) घृणिपृश्निपार्ष्णि०। उ० ४।५२। इति स्पृश संस्पर्शे-नि। धातोः पृशू भावः। पृश्निः……द्यौः संस्पृष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च—निरु० २।१४। नप्तृनेष्टृ…। पा० ३।१।१३३। इति माङ् माने-तृच्। पृश्नीनां स्पर्शनीयानां पदार्थानाम्। अथवा। पृश्नेः दिव आकाशस्य मातारो मानकर्तारः परिच्छेत्तारो ये तान्। अन्यत् पूर्ववत्॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (कवयः) चलने फिरने वाले अथवा सुखाने वाले [मरुत् देवता] (धेनूनाम्) गौओं का (पयः) दूध, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों का (रसम्) रस और (अर्वताम्) घोड़ों का (जवम्) वेग (इन्वथ) भरदेते हो। (शग्माः) शक्ति वाले (मरुतः) वे आप दोषनाशक वायु गण (नः) हमारे लिये (स्योनाः) सुख दायक (भवन्तु) होवें। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्राण अपान आदि द्वारा सब पदार्थों में शक्ति पहुंचती है। उन वायु प्रवाहों का ज्ञान प्राप्त करके मनुष्य सदा प्रसन्न रहें ॥ ३ ॥

अपः संमुद्राद् दिवमुद् वहन्ति दिवस्पृथिवीमभि ये सृजन्ति। ये अद्भिरीशाना मरुतश्चरन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

अपः। समुद्रात्। दिवम्। उत्। वहन्ति। दिवः। पृथिवीम्। अभि। ये। सृजन्ति। ये। अत्-भिः। ईशानाः। मरुतः। चरन्ति। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [वायुगण] (अपः) जलको (समुद्रात्) पार्थिव समुद्र से (दिवम्) आकाश में (उद्वहन्ति) उठाकर पहुंचाते हैं और (दिवः)

३—(पयः) दुग्धम् (धेनूनाम्) अ० २। ५। ६। दुग्धं पाययित्रीणां गवाम् (रसम्) सारम् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (जवम्) ऋदोरप्। पा० । ३। ३। ५७। इति जु वेगे-अप्। वेगम् (अर्वताम्) अ० । ४। ६। २। अश्वानाम् (कवयः) कुङ् गतिशोषणयोः-इन्। कवते, गतिकर्मा-निघ० २। १४। गन्तारः। शोषयितारः (ये) यूयं मरुतः (इन्वथ) इवि व्याप्तौ। इदितो नुम्। व्यापयथ। स्थापयथ (शग्माः) अर्तिस्तुसुहु० । उ० । १। १४०। इति शक्लृ-मन्। शकाराः। समर्थाः (भवन्तु) (मरुतः) वायवः (नः) अस्मभ्यम् (स्योनाः) सुखकराः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अपः) जलानि (समुद्रात्) पार्थिवसागरात् (दिवम्) अन्तरिक्षम् (उत्) ऊर्ध्वम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (दिवः) अन्तरिक्षात् (पृथिवीम्)

आकाश से (पृथिवीम् अभि) पृथिवी पर (सृजन्ति) छोड़ देते हैं। और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल के साथ (चरन्ति) चलते रहते हैं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सूर्य की किरनों से मिलकर वायु गण जल आकाश में ले जाते और पृथिवी पर बरसाते हैं। उनके उपकारों को समझ कर मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ ४ ॥

ये कीलालेन तर्पयन्ति ये घृतेन ये वा वयो मेदसा संसृजन्ति। ये अद्भिरीशाना मरुतो वर्षयन्ति ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

ये। कीलालेन। तर्पयन्ति। ये। घृतेन। ये। वा। वयः। मेदसा। सम्-सृजन्ति। ये। अत्-भिः। ईशानाः। मरुतः। वर्षयन्ति। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [मरुत्गण] (वयः) जीवन को (कीलालेन) अन्न से और (ये) जो (घृतेन) जलसे (तर्पयन्ति) तृप्त करते हैं, (वा) और (ये) जो (मेदसा) मेदा अर्थात् चर्बी से (संसृजन्ति) संयुक्त करते हैं। और (ये) जो (ईशानाः) समर्थ (मरुतः) वायुगण (अद्भिः) जल से [प्राणियों को] (वर्षयन्ति) सींचते हैं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ५ ॥

भूमिम् (अभि) अभिलक्ष्य (ये) मरुतः (सृजन्ति) त्यजन्ति (अद्भिः) जलैः (ईशानाः) ईश्वराः समर्थाः (मरुतः) दोषनाशका वायवः (चरन्ति) गच्छन्ति। अन्यद् गतम् ॥

५—(ये) मरुतः (कीलालेन) अ० ४। २६। ६। अन्नेन (तर्पयन्ति) पोषयन्ति (घृतेन) उदकेन (वा) चार्थे (वयः) अ० २। १०। ३। वी गतौ—असुन्। अन्नम्—निघ० २। ७। आयुः। जीवनम् (मेदसा) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८६। इति ञिमिदा स्नेहने—असुन्। मांसप्रभवधातुविशेषेण।

भावार्थ—वायु वेग द्वारा अन्न, जल मिलकर शरीर रक्षा के लिये रक्त अस्थि आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं। उन वायु गणों के गुणों से हम सदा स्वस्थ और पुष्ट रहें ॥ ५ ॥

यदीदिदं मरुतो मारुतेन यदि देवा दैव्येनेदृगार।
यूयमीशिध्वे वसवस्तस्य निष्कृतेस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥६॥

यदि। इत्। इदम्। मरुतः। मारुतेन। यदि। देवाः। दैव्येन। ईदृक्। आर। यूयम्। ईशिध्वे। वसवः। तस्य। निःऽकृतेः। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः॥ ६॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयशील (मरुतः) दोषनाशक वायुगण ! (यदि) यत्नशील (इदम्) चलता हुआ जगत् (इत्) निश्चय करके [तुम्हारे] (मारुतेन) दोषनाशक धर्म से और (दैव्येन) दिव्यपन से (ईदृक्) ऐसा (यदि) यत्नशील (आर) प्राप्त हुआ है। (वसवः) हे निवास कराने वाले ! (यूयम्) तुम (तस्य) उस जगत् के (निष्कृतेः) उद्धारके (ईशिध्वे) समर्थ होते हो। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥६॥

भावार्थ—यह सब जगत् वायु के कारण चेष्टा करता हुआ उद्योगी रहता है, उस वायु के गुणों को जान कर सब मनुष्य प्रसन्न रहें ॥ ६॥

वा तुरीयधातुना (संसृजन्ति) संयोजयन्ति (वर्षयन्ति) सिञ्चन्ति प्राणिनः। अन्यत् पूर्ववत्-म० ४ ॥

६—(यदि) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति यती प्रयत्ने-इन् तस्य दः। यत्नशीलम् (इत्) अवधारणे (इदम्) इण् गतौ दमुक्। एति गच्छतीति इदं जगत् (मरुतः) हे दोषनाशका वायवः (मारुतेन) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। इति मरुत्-भावेऽण्। मरुत्वेन मरुतो दोषनाशकधर्मेण (यदि) यत्नशीलम् (देवाः) हे विजिगीषवः (दैव्येन) दिवि भवं दिव्यम्। ततो भावे अण्। दिव्यगुणेन (ईदृक्) त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ् च। पा० ३। २। ६०। इति दृशेः क्विन्। इदंकिमोरीश्की। पा० ६। ३। ६०। इति इदम ईशादेशः। एवंरूपं जगद् यथा दृश्यते (आर) ऋ गतौ लिट्। प्राप्तं बभूव (यूयम्) (ईशिध्वे) ईश्वराः समर्था भवथ (वसवः) हे वासयितारः। प्रशस्ताः (तस्य) दृश्यमानस्य जगतः (निष्कृतेः) निस्तारस्य उद्धारस्य। अन्यत् पूर्ववत्॥

ति॒ग्ममनी॑कं वि॒दि॒तं सह॑स्व॒न्मारु॑तं॒ शर्धः॒ पृत॑ना-सू॒ग्रम् । स्तौमि॑ म॒रुतो॑ नाथि॒तो जो॑हवीमि॒ ते नो॑ मु-ञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ ७ ॥

ति॒ग्मम् । अनी॑कम् । वि॒दि॒तम् । सह॑स्वत् । मारु॑तम् । शर्धः॑ । पृत॑नासु । उ॒ग्रम् । स्तौमि॑ । म॒रुतः॑ । ना॒थि॒तः । जो॒हु-वी॒मि॒ । ते । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(मारुतम्) दोष नाशक वायु गणों का (अनीकम्) सेना-दल और (शर्धः) बल (पृतनासु) संग्रामों में (तिग्मम्) तीक्ष्ण, (सहस्वत्) बड़ा साहसी और (उग्रम्) बड़ा प्रचण्ड (विदितम्) विदित है (नाथितः) अधीन मैं (मरुतः) वायु गणों को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) वारंवार पुकारता हूं । (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो साहसी शूरवीर संग्रामों में अपने श्वास प्रश्वास को सावधान रखके वायु का यथावत् प्रयोग करते हैं, वे विजयी होकर आनन्द भोगते हैं ॥ ७ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-७ ॥ भवाशर्वौ देवते ॥ पादत्रयं त्रिष्टुप्, अन्तिमोऽनुष्टुप् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

७—(तिग्मम्) युजिरुजितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । इति तिज निशाने-मक्, कुत्वं च । तीक्ष्णम् (अनीकम्) अनिहृपिभ्यां किच्च । उ० ४ । १७ । इति अन प्राणने-ईकन् । सैन्यम् (विदितम्) प्रख्यातम् (सहस्वत्) बलवत् (मारुतम्) मरुतां सम्बन्धि (शर्धः) शर्द्धतिरुत्साहार्थः-असुन् । इति .देवराजयज्वा निघ-ण्टुटीकायाम् । बलम् निघ० २ । ९ (पृतनासु) अ० ३ । २१ । ३ । संग्रामेषु (उग्रम्) प्रचण्डम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भवाशर्वौ मन्वे वां तस्य वित्तं ययोर्वामिदं प्रदिशि यद् विरोचते। यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ १ ॥

भवाशर्वौ। मन्वे। वाम्। तस्य। वित्तम्। ययोः। वाम्। इदम्। प्र-दिशि। यत्। वि-रोचते। यौ। अस्य। ईशाथे इति। द्वि-पदः। यौ। चतुः-पदः। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(भवाशर्वौ) हे सुख उत्पन्न करने हारे और शत्रु नाशक [परमेश्वर के गुणो !] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे, मैं मनन करता हूं। (तस्य) उस [जगत्] का (वित्तम्) वे तुम दोनों ज्ञान रखते हो, (ययोः वाम्) जिन तुमदोनोंके (प्रदिशि) शासन में (इदम्) यह (यत्) जो कुछ जगत् (विरोचते) प्रकाशमान है। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुंचतम्) छुड़ावो ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वजनक सर्वशासक और सर्वज्ञ है, उसकी उपासना करके सब मनुष्य सुखी रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त में गुणों के वर्णन से गुणी अर्थात् ईश्वर का ग्रहण है ॥

१—(भवाशर्वौ) भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः। सुखोत्पादको गुणः। कृगृशॄदृभ्यो वः। उ० १। १५५। इति शॄ हिंसायाम्-व। शत्रुनाशको गुणः। भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ परमेश्वरस्य गुणौ। देवताद्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इति आनङ्। अस्मिन् सूक्ते गुणग्रहणेन गुणिग्रहणम्। (मन्वे) मननं करोमि (वाम्) युवयोः (तस्य) जगतः (वित्तम्) लडर्थे लोट्। वित्थः। वेदनं ज्ञानं कुरुथः (ययोः) (वाम्) युवयोः (इदम्) दृश्यमानं गमनशीलं वा जगत् (प्रदिशि) प्रदेशने प्रशासने (यत्) यत्किञ्चित् (विरोचते) रुच दीप्तौ। प्रकाशते (यौ) (अस्य) वर्तमानस्य (ईशाथे) ईश्वरौ भवथः (द्विपदः) पादद्वयोपेतस्य प्राणिमात्रस्य (चतुष्पदः) पादचतुष्टयोपेतस्य गवादेः (तौ) भवाशर्वौ (नः) अस्मान् (मुञ्चतम्) मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

ययोरभ्यध्व उत यद् दूरे चिद् यौ विदितविषुभृतामसिष्ठौ। यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ २ ॥

ययोः। अभि-अध्वे। उत। यत्। दूरे। चित्। यौ। विदितौ। इषु-भृताम्। असिष्ठौ। यौ। अस्य। ईशाथे इति। द्वि-पदः। यौ। चतुः-पदः। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों का [वह सब है] (यत् चित्) जो कुछ (अभ्यध्वे) समीप में (उत) और (दूरे) दूर देश में है। (यौ) जो तुम दोनों (इषुभृताम्) हिंसा कारियों के (असिष्ठौ) अत्यन्त गिराने वाले (विदितौ) विदित हो। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये ......म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्व अन्तर्यामी और शत्रुनाशक है हम उसकी उपासना से सदा पुरुषार्थी रहें ॥ २ ॥

सहस्राक्षौ वृत्रहणा हुवेऽहं दूरेगव्यूती स्तुवन्नेम्युग्रौ। यावस्येशाथे द्विपदो यौ चतुष्पदस्तौ नो मुञ्चतमंहसः॥३

सहस्र-अक्षौ। वृत्र-हना। हुवे। अहम्। दूरे-गव्यूती इति। दूरे-गव्यूती। स्तुवन्। एमि। उग्रौ। यौ। अस्य। ईशाथे इति। द्वि-पदः। यौ। चतुः-पदः। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः॥३॥

२—(ययोः) भवाशर्वयोः (अभ्यध्वे) अभि अध्वन अभ्यध्वः। उपसर्गादध्वनः। पा० ५। ४। ८५। इति अच् समासान्तः। समीपदेशे (उत) अपि (यत् चित्) यत्किञ्चित (दूरे) दूरदेशे (यौ) भवाशर्वौ (विदितौ) प्रज्ञातौ (इषुभृताम्) ईष हिंसायाम्-कु, ह्रस्वश्च। डुभृञ् धारणपोषणयोः-क्विप्-तुक् च। हिंसाधारकाणाम् (असिष्ठौ) तुश्छन्दसि। पा० ५। ३। ५९। इति असितृ-इष्ठन्। तुरिष्ठेमेयस्सु। पा० ६। ४। १५४। इति तृलोपः। असितृतमौ। क्षेप्तृतमौ। अन्यत् पूर्ववत्—म० १॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (स्तुवन्) स्तुति करता हुआ (उग्रौ) उग्र स्वभाव वाले, (सहस्राक्षौ) सहस्रों व्यवहारों में व्यापक रहने वाले वा दृष्टि रखने वाले, (वृत्रहणा=०-णौ) शत्रुओं वा अन्धकार के नाश करने वाले, (दूरेगव्यूती) दूर तक प्रकाश का संयोग रखने वाले, दोनों को (हुवे) मैं पुकारता हूं और (एमि) प्राप्त होता हूं। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) होपाये......म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्व व्यापक, सर्वदर्शक, शत्रु वा अज्ञान नाशक और सूर्य आदि लोकों का प्रकाशक है, उसकी स्तुति उपासना करके हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ ३ ॥

यावारे॑भाथे ब॒हु सा॒कमग्रे॒ प्र चेद॑स्राष्ट्रम॒भिभां॒ जने॑षु ।
याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पदु॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ४ ॥

यौ । आरे॑भाथे॒ इत्या-रे॑भाथे॑ । ब॒हु । सा॒कम् । अग्रे॑ । प्र । च॒ । इत् । अस्राष्ट्रम् । अ॒भि-भाम् । जने॑षु । यौ । अ॒स्य । ईशा॑थे॒ इति । द्वि॒-पदः॑ । यौ । चतुः॑-पदः । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒तम् । अंह॑सः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जिन तुम दोनों ने (बहु) बहुत सा जगत् (साकम्)

३—(सहस्राक्षौ) अ० ४ । २० । ४ । बहुव्यवहारव्यापकौ । यद्वा । सर्वतोदत्त-दृष्टी स्थूलसूक्ष्मविषयेष्वपि प्राप्तदर्शनौ । (वृत्रहणा) अ० १ । २१ । १ । शत्रु-नाशकौ । अन्धकारनिवारकौ (हुवे) आह्वयामि (अहम्) मनुष्यः (दूरेगव्यूती) दूरे+गो+यूती । दुरीणो लोपश्च । उ० २ । २० । इति दुर्+इण् गतौ-रक् धातु-लोपश्च । इति दूरं विप्रकृष्टम् । गमेर्डो । उ० २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ—डो प्रत्ययः । ऊतियूतिजूति० । पा० ३ । ३ । ९७ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः-क्तिन् । निपातनात् साधुः । गोर्यूतौ छन्दसि । वा० पा० ६ । १ । ७९ । इति अव् आदेशः । रश्मयो गाव उच्यन्ते—निरु० २ । ६ । दूरे दूरदेशे गवां रश्मीनां प्रका-शानां यूतिः संयोगो ययोस्तौ । सर्वलोकप्रकाशकौ—इत्यर्थः (स्तुवन्) प्रशंसन् सन् (एमि) प्राप्नोमि (उग्रौ) तीक्ष्णस्वभावौ । अन्यत् पूर्ववत् म० ॥ १ ॥

४—(यौ) भवाशर्वौ (आरेभाथे) रभ राभस्ये=उपक्रमे-लुङ् । आरब्ध-

एक साथ (अग्रे) पूर्वकाल में (आरेभाथे) आरम्भ किया (च) और जिन तुम दोनों ने (इत्) ही (जनेषु) प्राणियों में (अभिभाम्) प्रतिभा अर्थात् बुद्धि को (प्र असाष्टम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न किया। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये......म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सृष्टि को उत्पन्न करके प्राणियों में इष्ट-अनिष्ट और सुख दुःख जानने के लिये बुद्धि दी है, उसकी ही भक्ति से हम सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

य॒योर्व॒धान्नाप॒पद्य॑ते॒ कश्च॒नान्तर्दे॒वेषू॒त मानु॑षेषु ।
या॒व॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पद॒स्तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥५॥

य॒योः । व॒धात् । न । अ॒प॒ऽपद्य॑ते । कः । च॒न । अ॒न्तः । दे॒वेषु॑ उ॒त । मानु॑षेषु । यौ । अ॒स्य । ईशा॑थे॒ इति॑ । द्वि॒ऽपदः॑ । यौ । चतुः॑ऽपदः । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अंह॑सः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन तुम दोनों के (वधात्) हनन सामर्थ्य से (देवेषु) प्रकाशमान सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषेषु अन्तः) मनुष्यों के बीच (कश्चन) कोई भी (न) नहीं (अपपद्यते) छुटकर जाता है। (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्व नियन्ता जगदीश्वर की आज्ञा पालन करके सब मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ ५ ॥

यन्तौ (वसु) प्रभूतं जगत् (साकम्) सह (अग्रे) आदौ (प्र) प्रकर्षेण (च) (इत्) एव (असाष्टम्) सृज विसर्गे छान्दसं लुङि रूपम्। असाष्टम्। सृष्टवन्तौ। उत्पादितवन्तौ (अभिभाम्) भा क्वप्। प्रतिभां बुद्धिं। (जनेषु) उत्पन्नेषु प्राणिषु। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

५—(ययोः) भवाशर्वयोः (वधात्) अ० १। २०। २। हननसामर्थ्यात् (न) निषेधे (अपपद्यते) अपेत्य गच्छति (कश्चन) कोऽपि (अन्तः) मध्ये (देवेषु) प्रकाशमानेषु सूर्यादिलोकेषु (उत) अपि च (मानुषेषु) अ० ४। १४। ५। मनुष्-अण्। मनुष्येषु। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

यः कृ॒त्याकृन्मू॑लकृद्द्या॑तुधानो॒ नि तस्मि॑न्धत्तं॒ वज्र॑मुग्रौ । याव॒स्येशा॑थे द्वि॒पदो॒ यौ चतु॑ष्पदस्तौ नो॑ मु॒ञ्चत॒मंह॑सः ॥ ६ ॥

यः । कृ॒त्या-कृत् । मू॒ल-कृत् । या॒तु-धानः॑ । नि । तस्मि॑न् । ध॒त्त॒म् । वज्र॑म् । उ॒ग्रौ । यौ । अ॒स्य । ईशा॑थे॒ इति॑ । द्वि-पदः॑ । यौ । चतु॑ः-पदः । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अं॑हसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (कृत्याकृत्) हिंसा कारी, (मूलकृत्) मूल कतरने वाला और (यातुधानः) पीड़ा देने वाला पुरुष है, (तस्मिन्) उसपर (उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (वज्रम्) वज्र (निधत्तम्) गिरावो (यौ) जो तुम दोनों (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह के और (यौ) जो तुम दोनों (चतुष्पदः) चौपाये संसार के (ईशाथे) ईश्वर हो, (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दुष्ट नाशक और शिष्ट रक्षक है, उसकी ही उपासना से मनुष्य बलवान् होवें ॥ ६ ॥

अधि॑ नो ब्रूतं॒ पृत॑नासूग्रौ सं वज्रे॑ण सृजतं॒ यः कि॑मी॒दी । स्तौमि॑ भवाश॒र्वौ ना॑थि॒तो जो॑हवीमि॒ तौ नो॑ मुञ्चत॒मंह॑सः ॥ ७ ॥

अधि॑ । नः॒ । ब्रू॒त॒म् । पृत॑नासु । उ॒ग्रौ । सम् । वज्रे॑ण । सृ॒ज॒त॒म् । यः । कि॒मी॒दी । स्तौमि॑ । भ॒वा॒श॒र्वौ । ना॒थि॒तः । जो॒ह॒वी॒मि॒ । तौ । नः॒ । मु॒ञ्च॒त॒म् । अं॑हसः ॥ ७ ॥

६—(यः) शत्रुः (कृत्याकृत्) अ० ४ । १७ । ४ । हिंसाकारकः (मूलकृत्) मूल+कृती छेदने—क्विप् । मूलकर्तकः । प्रतिष्ठाछेदकः (यातुधानः) अ० १ । ७ । १ । यातनाकरः । पीड़ाकारकः (तस्मिन्) यातुधाने (निधत्तम्) निक्षिपतम् (वज्रम्) अ० १।७।७। दण्डरूपम् कुठारम् (उग्रौ) प्रचण्डस्वभावौ । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

भाषार्थ—(उग्रौ) हे उग्र स्वभाव वाले तुम दोनों (नः) हम से (पृतनासु) संग्रामों में (अधि) अनुग्रह से (ब्रूतम्) बोलो और [उसको] (वज्रेण) वज्र के साथ (सम् सृजतम्) संयुक्त करो (यः) जो (किमीदी) अब क्या हो रहा है, यह क्या होरहाहै, ऐसा खोजने वाला लुतरा पुरुष है। (नाधितः) मैं अधीन होकर (भवाशर्वौ) सुख उत्पन्न करने वाले और शत्रु नाश करने वाले तुम दोनों को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) बारंबार पुकारताहूं। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्टसे (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदाचारी और सत्यवादी होकर शत्रुओं को संग्राम में जीतें और परमेश्वर की उपासना करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१-७ ॥ मित्रावरुणौ देवते ॥ सर्वत्रान्तिमः पादोऽनुष्टुप्, ५-७ जगती ॥

पुरुषार्थकरणायोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

मन्वे वां मित्रावरुणावृतावृधौ सचेतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे। प्र सत्यावानमवथो भरेषु तौ नो मुञ्चतमंहसः॥१

मन्वे। वाम्। मित्रावरुणौ। ऋत-वृधौ। स-चेतसौ। द्रुह्वणः। यौ। नुदेथे इति। प्र। सत्य-वानम्। अवथः। भरेषु। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः॥ १॥

७—(अधिब्रूतम्) अधिकमनुग्रहेण वदतम् (नः) अस्मभ्यम् (पृतनासु) संग्रामेषु (वज्रेण) (संसृजतम्) संयोजतम् (यः) पुरुषः (किमीदी) अ० १। ७। १। किमिदानीं वर्तते किमिदं वर्तते—इत्येवमन्वेषणं कुर्वाणः। पिशुनः (स्तौमि) प्रशंसामि (भवाशर्वौ) सुखजनकशत्रुनाशकौ परमेश्वरगुणौ (नाधितः) अ० ४। २३। ७। नाथवान्। अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि। अन्यत् पूर्ववत्॥

भाषार्थ—(ऋतावृधौ) हे सत्य के बढ़ाने वाले (सचेतसौ) समान ज्ञान कराने हारे (मित्रावरुणौ) मित्र और वरुण [प्राण और अपान अथवा दिन और रात] (वाम्) तुम दोनों का (मन्वे) मैं मनन करता हूं, (यौ) जो तुम दोनों (द्रुह्वणः) द्रोहकारियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्राणायाम करके श्वास श्वास पर दिन रात शुभ चिन्तन करते हैं, वे सत्यवादी सत्यसंकल्पी पुरुष आत्म दोषों को त्याग कर संसार में विजय पाते और आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

सचैतसौ द्रुह्वणो यौ नुदेथे प्र सुत्यावानमवथो भरेषु ।
यौ गच्छथो नृचक्षसौ बभ्रुणा सुतं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥२॥

स-चैतसौ । द्रुह्वणः । यौ । नुदेथे इति । प्र । सुत्य-वानम् । अवथः । भरेषु । यौ । गच्छथः । नृ-चक्षसौ । बभ्रुणा । सुतम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ २ ॥

१—(मन्वे) मननं करोमि (वाम्)युवयोः (मित्रावरुणौ) अ० १ ।२०। २। मिनोति प्रेरयति जगत् कार्ये स मित्रः। वृणोति आच्छादयति स्वाकरोति वा स वरुणः।प्राणापानौ,दयानन्दभाष्ये-य० २। ३। अहोरात्राभिमानिनौ-इतिसायणः, म० २। अहोरात्रौ। (ऋतावृधौ) छान्दसो दीर्घः। ऋतस्य सत्यस्य वर्धयितारौ (सचेतसौ) अ० ४। २६। १ । समानचेतयितारौ (द्रुह्वणः) अन्यभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३।२। ७५। इति द्रुह जिघांसायाम् क्वनिप्। द्रोग्धॄन्। उपद्रविणः (यौ) मित्रावरुणौ (नुदेथे) णुद प्रेरणे। दूरे प्रेरयथः। स्थानात् प्रच्यावयथः (प्र) प्रकर्षेण (सत्यावानम्) छन्दसीवनिपौ। वा० पा० ५।२। १०९। इति मत्वर्थीयो वनिप्। छान्दसो दीर्घः। सत्यवन्तं सत्यप्रतिज्ञं पुरुषम् (अवथः) रक्षथः (भरेषु) भृ भर्त्सने क्र्यादिः—पचाद्यच्। संग्रामेषु-निरु० २। १७। (तौ) तादृशौ युवाम् (नः) अस्मान् (मुंचतम् मोचयतम् (अंहसः) कष्टात् ॥

भाषार्थ—(सचेतसौ) हे समान ज्ञान करानेवाले ! (यौ) जो तुम दोनों (द्रुह्वणः) उपद्रवियों को (नुदेथे) निकाल देते हो और (सत्यावानम्) सत्यवान् पुरुष को (भरेषु) संग्रामों में (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (नृचक्षसौ) मनुष्यों के देखने वाले (यौ) जो तुम दोनों (बभ्रुणा) पोषण के साथ (सुतम्) उत्पन्न जगत् वा पराक्रमी वा पुत्र समान सेवक पुरुष को (गच्छथः) प्राप्त होते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य श्वास श्वास और पल पल पर दृष्टि रख कर वैदिक कर्म करते रहते हैं, वे सत्य प्रतिज्ञ पुरुष बल पराक्रम प्राप्त करके सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ २ ॥

यावङ्गिरसमवथो यावगस्तिं मित्रावरुणा जमदग्निमत्रिम् । यौ कश्यपमवथो यौ वसिष्ठं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ३ ॥

यौ । अङ्गिरसम् । अवथः । यौ । अगस्तिम् । मित्रावरुणा । जमत्-अग्निम् । अत्रिम् । यौ । कश्यपम् । अवथः । यौ । वसिष्ठम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (अङ्गिरसम्) उद्योगी वा ज्ञानी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (अगस्तिम्)

२—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—म० १ (यौ) मित्रावरुणौ (गच्छथः) प्राप्नुथः (नृचक्षसौ) अ० १ । ७ । ५ । हे नृणां चष्टारौ द्रष्टारौ, सर्वस्यापि मानुषव्यापारस्य साक्षिणौ (बभ्रुणा) कुर्भ्रश्च । उ० १ । २२ । इति डुभृञ् धारणपोषणयोः—कु, द्वित्वं च । भरणेन पोषणेन (सुतम्) षु प्रसवैश्वर्ययोः—क्तः । उत्पन्नं जगत् ऐश्वर्यवन्तम् । पराक्रमिणम् । पुत्रवत्सेवकं वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(यौ) युवाम् (अङ्गिरसम्) अ० २ । १२ । ४ । गन्तारम् । उद्योगिनं ज्ञानिनं वा (अवथः) रक्षथः (अगस्तिम्) अ० २ । ३२ । ३ । अग वक्रगतौ-अच् । वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । इति अग+असु क्षेपणे कर्त्तरि-ति प्रत्ययः । पृषो-

वक्रगति पाप के गिरा देने वाले, (जमदग्निम्) [यज्ञ वा शिल्प सिद्धि में] प्रकाशमान अग्नि वाले और (अत्रिम्) दोष के नाश करने वाले, यद्वा निरन्तर गतिशील, यद्वा कायिक वाचिक और मानसिक तीन दोष रहित महात्मा को (अवथः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (कश्यपम्) सोमरस पीने वाले वा सूक्ष्मदर्शी पुरुष को और (यौ) जो तुम दोनों (वसिष्ठम्) बड़े धनी और बड़े श्रेष्ठ जन को (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य (मित्रावरुणा) दिन रात अर्थात् समय, और प्राण और अपान अर्थात् इन्द्रियों के यथावत् प्रयोग से ज्ञानी, शुद्ध चित्त, और सूक्ष्म दर्शी होकर सदा आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

यौ श्यावाश्वमवथो वध्र्यश्वं मित्रावरुणा पुरुमीढम-त्रिम्। यौ विमदमवथः सप्तवध्रिं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥४॥

यौ। श्याव-अश्वम्। अवथः। वध्रि-अश्वम्। मित्रावरुणा। पुरु-मीढम्। अत्रिम्। यौ। वि-मदम्। अवथः। सप्त-वध्रिम्। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणा) मित्र और वरुण तुम दोनों (श्यावाश्वम्) ज्ञान में व्याप्ति रखने वाले को, (वध्र्यश्वम्) मित भोजन करने वाले

दरादित्वाद् दीर्घाभावः। अगं कुटिलगतिं पापम् अस्यति उत्पाटयतीति अगस्तिः। तथाभूतं पापनाशकं महर्षिम् (मित्रावरुणा) म० १। हे अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (जमदग्निम्) अ० २। ३२। ३। जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा यस्य तं महर्षिम् (अत्रिम्) अ० २। ३२। ३। दोषभक्षकं निरन्तरगतिशीलं वा मुनिम् यद्वा। अत्रिर्न त्रयः—निरु० ३। १७। इति कायिकवाचिकमानसिकत्रि-दोषरहितं पुरुषम् (कश्यपम्) अ० २। ३३। ७। सोमरसपानशीलम्। यद्वा पश्यकं सूक्ष्मदर्शिनम् (वसिष्ठम्) वसुमत्-इष्ठन्। विन्मतोर्लुक्। पा० ५। ३। ६५। इति मतुपो लुक्। वसुमत्तमम्। अतिशयेन धनवन्तम्। यद्वा वसु-इष्ठन्। सर्वश्रेष्ठम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(यौ) युवां मित्रावरुणौ (श्यावाश्वम्) कॄगृशॄदृभ्यो वः। उ० १। १५५। इति श्यैङ् गतौ-व। इति श्यावः। अशूप्रुषिलटि०। १। १५१। इति

को, (पुरुमीढम्) बड़े धनी को और (अत्रिम्)नित्य उद्योगी को (अवथः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (विमदम्) मदरहित वा अदीन पुरुष को और (सप्तवध्रिम्) [पंच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि इन] सात को संयम में रखने वाले पुरुष को (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुंचतम्) छुड़ावो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य समय और प्राण के संयम से ज्ञान पूर्वक, शुद्ध आहार, विहार करके निरभिमानी और अदीन अर्थात् उत्साही, स्वस्थ और धनी होके सदा आनन्दित रहते हैं ॥ ४ ॥

यौ भुरद्वाजमवथो यौ गविष्ठिरं विश्वामित्रं वरुण मित्र कुत्सम्। यौ कक्षीवन्तमवथः प्रोत कण्वं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ५ ॥

यौ । भरत्-वाजम् । अवथः । यौ । गविष्ठिरम् । विश्वामित्रम् । वरुण । मित्र । कुत्सम् । यौ । कक्षीवन्तम् । अवथः । प्र । उत । कण्वम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्र वरुण) मित्र और वरुण तुम दोनों

अशू व्याप्तौ, अश भोजने वा—क्वन्। इति अश्वः। श्यावे ज्ञाने अश्वो व्याप्तिर्यस्य तं ज्ञानव्याप्तिकम् (अवथः) रक्षथः (वध्र्यश्वम्) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्। उ० ४। ६५। इति बध बन्धने भ्वा०, वा बध संयमने चुरा०—क्रिन्। वध्री संयमने अश्वोऽशनं भोजनं यस्य तं मितभोजिनम् (मित्रावरुणा) म० १। अहोरात्रौ। प्राणापानौ (पुरुमीढम्) मिह सेचने—क्त। मीढं धननाम—निघ० २। १२। बहुधनयुक्तम् (अत्रिम्) म० ३। निरन्तरगतिशीलम् (विमदम्) मदी हर्षग्लेपनयोः, गर्वे च—अच्। ग्लेपनं दैन्यम्। विगतो मदोऽहङ्कारो दैन्यं वा यस्य तम्। निरहङ्कारम्। अदीनम् (सप्तवध्रिम्) वध संयमने-क्रिन् पूर्ववत्। पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च सप्त वध्रौ संयमने यस्य तम्। अतिजितेन्द्रियम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(यौ) मित्रावरुणौ युवाम् (भरद्वाजम्) अ० २। १२। २। अन्नस्य बलस्य विज्ञानस्य वा भर्तारं-धारकं पुरुषम् (अवथः) रक्षथः (गविष्ठिरम्)

(म्हाजम्) अन्न वा बल, वा ज्ञान के धारण करने वाले को, (यौ) जो तुम (गविष्ठिरम्) वेद वाणी में स्थिर को, (विश्वामित्रम्) सब के मित्र को, वा सब हैं मित्र जिसके उसको, और (कुत्सम्) संगतिशील वा दोषों के कतरने वाले को (अवथः) बचाते हो, (यौ) जो तुम दोनों (कक्षीवन्तम्) उद्योगी वा शासन शील (उत) और (कण्वम्) स्तुति करने वाले मेधावी पुरुष को (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, वेदों की आज्ञा पालन करने वाले सर्वहितकारक आदिक पुरुषों के लिये समय और आत्मबल सदा अनुकूल रहते हैं ॥ ५ ॥

यौ मेधातिथिमवथो यौ त्रिशोकं मित्रावरुणावुशनां काव्यं यौ। यौ गोतममवथः प्रोत मुद्गलं तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ६ ॥

तत्पुरुषे कृति बहुलम्। पा० ६। ३। १४। इत्यलुक्। गवियुधिभ्यां स्थिरः। पा० ८। ३। ९५। इति षत्वम्। गवि वाचि वेदात्मिकायां स्थिरं दृढम् (विश्वामित्रम्) मित्रे चर्षौ। पा० ६। ३। १३०। इति दीर्घः। विश्वामित्रः सर्वमित्रः, सर्वं संसृतम्—निरु० । २। २४। सर्वस्यैव मित्रं सर्वमेव वा तस्य मित्रम्। तं सर्वहितम् (वरुण मित्र) हे मित्रावरुणौ (कुत्सम्) स्तुवश्चिकृत्यृषिभ्यः कित्। उ० ३। ६६। इति—कुस संश्लेषणे—स। सः स्यार्धधातुके। पा० ७। ४। ४९। इति सस्य तः। सद्भिः संगतिशीलम्। यद्वा कृती छेदने सप्रत्ययः। ऋकारस्य उत्वम्। दोषाणां कर्तकं छेत्तारम्। यद्वा कुत्स अवक्षेपणे चुरा०—घञ्। कुत्सयति दोषान् यः तम्। कुत्सो वज्रः—निघ० २। २० कुत्स इत्येतत्कृन्ततेः। ऋषिः कुत्सो भवति, कर्ता स्तोमानामित्यौपमन्यवः। अथाप्यस्य वधकर्मैव भवति तत्सख इन्द्रःशुष्णं जघानेति—निरु० ३। ११। (कक्षीवन्तम्) अशेर्नित्। उ० ३। १५६। इति कश गतिशासनयोः—क्सि। ततो मतुप्। मस्य वः। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति दीर्घः। कक्षिर्गतिः शासनं वा विद्यते यस्मिन् स कक्षीवान् तं गतिशील शासनशीलं वा कक्षीवान् कक्ष्यावान्… अपि त्वयं मनुष्यकक्ष एवाभिप्रेतः स्यात्—निरु० ६। १०। (प्र) प्रकर्षेण (उत) अपि च (कण्वम्). अ० २। २५। ३। अशूप्रुषिलटिकणि०। उ० १। १५१। इति कण शब्दे निमीलने वा—क्वन्। कणति स्तौति यद्वा निमीलयति दोषान् स्वज्ञानेन, तम्। मेधाविनम्—निघ० ३। १५। अन्यत्पूर्ववत् ॥

यौ । मेध-अतिथिम् । अवथः । यौ । त्रि-शोकम् । मित्रावरुणौ । उशनाम् । काव्यम् । यौ । यौ । गोतमम् । अवथः । प्र । उत । मुद्गलम् । तौ । नः । मुञ्चतम् । अंहसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण और अपान तुम दोनों ! (मेधातिथिम्) धारणावती बुद्धि के नित्य प्राप्त करने वाले को और (यौ) जो तुम दोनों (त्रिशोकम्) कायिक, वाचिक, और मानसिक तीन दोषों पर शोक करने वाले को, और (यौ) जो तुम दोनों (उशनाम्) कामना योग्य नीति को और (काव्यम्) बुद्धिमानों के कर्म को (अवथः) बचाते हो। (यौ) जो तुम दोनों (गोतमम्) अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की कामना करने वाले को (उत) और (मुद्गलम्) मोद अर्थात् हर्ष देने वाले को (प्र) अच्छे प्रकार (अवथः) बचाते हो। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य तपश्चर्या करके अपने समय और शारीरिक मानसिक शक्तियों का यथावत् उपयोग करते हैं वे उत्तम नीति और कर्म प्राप्त करके आनन्दित होते हैं ॥ ६ ॥

६—(यौ) युवाम् (मेधातिथिम्) षिद्भिदादिभ्योऽङ् । पा० । ३ । ३ । १०४ । इति मेधृ वधहिंसासङ्गमेषु—अङ् । टाप् । धीर्धारणावती मेधा—इत्यमरः । ५ । २ । ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्यङ्गि० । उ० ४ । २ । इति अत सातत्यगमने-इथिन् । अततीति अतिथिः । मेधां धारणावतीं बुद्धिं अतति निरन्तरं प्राप्नोति यः, तम् । (अवथः) (त्रिशोकम्) त्रिषु कायिकवाचिकमानसिकदोषेषु शोकः खेदो यस्य तम् (मित्रावरुणौ) अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (उशनाम्) रञ्जतेः क्युन् । उ० २ । ७९ । इति वश कान्तौ—क्युन् । टाप् । सम्प्रसारणं च । कमनीयां नीतिम् (काव्यम्) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च पा० ५ । १ । १२४ । इति कवि-ष्यञ् । कवीनां मेधाविनां कर्म (गोतमम्) गो-तमप् । गौः स्तोता—निरु०३। १६ । अतिशयेन स्तोतारम् । यद्वा, गौः, वाङ्नाम-निघ०१ । ११ । तमु काङ्क्षायाम्—पचाद्यच् । गां वाचं विद्यां ताम्यति काङ्क्षति यस्तं विद्याकामम् (प्र उत) (मुद्गलम्) मुदिग्रोर्गग्गौ । उ०१ । १२८ । इति मुद हर्षे-गक् । ला दानादनयोः क । मुद्गलो मुद्गवान् मुद्गिलो वा मदनङ्गिलतीति वा मदङ्गिलो वा मुदङ्गिलो वा निरु० ९ । २४ , मोदस्य हर्षस्य दातारम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ययो रथः सत्यवर्त्म ऋजुरश्मिर्मिथुया चरन्तमभियाति दूषयन्। स्तौमि मित्रावरुणौ नाथितो जोहवीमि तौ नो मुञ्चतमंहसः ॥ ७ ॥

ययोः। रथः। सत्य-वर्त्मा। ऋजु-रश्मिः। मिथुया। चरन्तम्। अभि-याति। दूषयन्। स्तौमि। मित्रावरुणौ। नाथितः। जोहवीमि। तौ। नः। मुञ्चतम्। अंहसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों का (सत्यवर्त्मा) सत्यमार्ग वाला, (ऋजुरश्मिः) सरल व्याप्ति वा डोरी वाला (रथः) रथ (मिथुया) हिंसा के साथ (चरन्तम्) चलते हुये पुरुष को (दूषयन्) सताता हुआ (अभियाति) चढ़ाई करता है। (नाथितः) मैं अधीन होकर (मित्रावरुणौ) दिन रात वा प्राण अपान को (स्तौमि) सराहता हूं और (जोहवीमि) वारंवार पुकारता हूं। (तौ) वे तुम दोनों (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतम्) छुड़ावो ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य समय और आत्मिक शक्तियों का कुप्रयोग करते हैं, वेही कर्म उन दुराचारियों का नाश कर देते हैं। इस लिये मनुष्य अपने काल और सामर्थ्य को उत्तम कामों में लगाकर प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

७—(ययोः) मित्रावरुणयोः (रथः) अ० ४। १२। ६। वेगवान्। स्यन्दनः (सत्यवर्त्मा) अवितथमार्गयुक्तः (ऋजुरश्मिः) अर्जिदृशिकम्यमि०। उ० १। २७। इति अर्ज अर्जने-कु। इति ऋजु। अश्नोतेरश्च। उ० ४। ४६। इति अशू व्याप्तौ-मि। रश इत्यादेशो धातोः। ऋजवः सरला अनुकूला रश्मयो व्याप्तयः प्रग्रहा वा यस्य सः (मिथुया) मिथ वधे-कु। सुपां सुलुक्। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेर्याच्। मिथुना हिंसनेन (चरन्तम्) गच्छन्तम् (अभियाति) अभिमुखं गच्छति (दूषयन्) दुष वैकृत्ये एयन्तात्-शतृ। दोषो णौ। पा० ६। ४। ९०। इति ऊत्वम् (स्तौमि) प्रशंसामि (मित्रावरुणौ) अहोरात्रौ प्राणापानौ वा (नाथितः) नाथवान्। अधीनः (जोहवीमि) पुनः पुनराह्वयामि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-८ ॥ राष्ट्री देवता । १-५, ७, ८ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः ।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा ॥ १ ॥

अहम् । रुद्रेभिः । वसु-भिः । चरामि । अहम् । आदित्यैः । उत । विश्व-देवैः । अहम् । मित्रावरुणा । उभा । बिभर्मि । अहम् । इन्द्राग्नी इति । अहम् । अश्विना । उभा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [परमेश्वर] (रुद्रेभिः) ज्ञान दाताओं वा दुःख नाशकों (वसुभिः) निवास कराने वाले पुरुषों के साथ (उत) और (अहम्) मैं ही (विश्वदेवैः) सर्व दिव्य गुण वाले (आदित्यैः) प्रकाशमान, अथवा अदीन प्रकृति से उत्पन्न हुये सूर्य आदि लोकों के साथ (चरामि) चलता हूं । (अहम्) मैं (उभा) दोनों (मित्रावरुणा) दिन और रात को, (अहम्) मैं (इन्द्राग्नी) पवन और अग्नि को, (अहम्) मैं ही (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और पृथिवी को (बिभर्मि) धारण करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वोत्पादक और सर्वपोषक है, उसकी उपासना से सब मनुष्य नित्य उन्नति करें ॥ १ ॥

१—(अहम्) परमेश्वरः (रुद्रेभिः) अ० २ । २७ । ६ । रुत्+र । रुद्रैः । ज्ञानदातृभिः । दुःखनाशकैः (वसुभिः) अ० २ । १२ । ४ । वासयितृभिः । धनैः (चरामि) गच्छामि (आदित्यैः) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमानैः । अदितेरदीनायाः, देवमातुः प्रकृतेः सकाशादुत्पन्नैः सूर्यादिलोकैः (उत) अपि च (विश्वदेवैः) सर्वदिव्यगुणयुक्तैः (मित्रावरुणा) अहोरात्रौ । (उभा) उभौ (बिभर्मि) धारयामि (इन्द्राग्नी) अ० १ । ३५ । ४ । वाय्वग्नी (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । द्यावापृथिव्यौ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—मण्डल १० सूक्त १२५। वहाँ सूक्त की वागाम्भृणी ऋषि और वागाम्भृणी ही देवता है ॥

अहं राष्ट्री। संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्। तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तः ॥ २ ॥

अहम्। राष्ट्री। सम्-गमनी। वसूनाम्। चिकितुषी। प्रथमा। यज्ञियानाम्। ताम्। मा। देवाः। वि। अदधुः। पुरु-त्रा। भूरि-स्थात्राम्। भूरि। आ-वेशयन्तः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (वसूनाम्) धनों की (संगमनी) पहुंचाने वाली और (यज्ञियानाम्) संगति योग्य पूजनीय विषयों की (चिकितुषी) जानने वाली (प्रथमा) पहिली (राष्ट्री) नियम करने वाली शक्ति हूं। (देवाः) विद्वानों ने (पुरुत्रा) बहुत प्रकारों से (भूरिस्थात्राम्) अनेक पदार्थों में ठहरी हुई (ताम् मा) उस मुझ को (भूरि) अनेक विध से (आवेशयन्तः) [अपने आत्मा में] प्रवेश कराके (व्यदधुः) विविध प्रकार धारण किया है ॥२॥

भावार्थ—अनादि, अनन्त, सर्वज्ञ, सर्वपोषक, सर्वनियन्ता परमेश्वर सब स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों में विद्यमान है। विद्वान् लोग ही उसकी अपार महिमा का अनुभव करते हैं ॥ २ ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (राष्ट्री) अ० ४। १। ९। राज्ञी। नियन्त्री शक्तिः (संगमनी) सम्+गम्लृ-ल्युट्। ङीप्। संगमयित्री प्रापयित्री (चिकितुषी) कित ज्ञाने-क्वसु। उगितश्च। पा० ४। १। ६। इति ङीप्। ज्ञातवती। प्राप्तज्ञाना (प्रथमा) प्रख्याता मुख्या (यज्ञियानाम्) अ० २। १२। २। यज्ञार्हाणां संगमनीयानां देवानाम् (ताम्) तथाविधाम् (मा) माम्। परमेश्वरम् (देवाः) विद्वांसः (व्यदधुः) धाञो लङि रूपम्। विविधं स्थापितवन्तः (पुरुत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यः। पा० ५। ४। ५६। इति सप्तम्यर्थे-त्रा। बहुषु प्रकारेषु (भूरिस्थात्राम्) अदिशदिभू०। उ० ४। ६५। इति भू-क्रिन्। भूरि बहु-निघ० ३। १। दादिभ्यश्छन्दसि। उ० ४। १७०। इति ष्ठा-त्रन्। बहुपदार्थेषु कृतावस्थानाम् (भूरि) अनेकधा (आवेशयन्तः) विश, णिच्-शतृ। प्रवेशयन्तः स्वात्मानं प्रति ॥

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवानामुत मानुषाणाम्। यं कामये तंतमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥ ३ ॥

अहम्। एव। स्वयम्। इदम्। वदामि। जुष्टम्। देवानाम्। उत। मानुषाणाम्। यम्। कामये। तम्ऽतम्। उग्रम्। कृणोमि। तम्। ब्रह्माणम्। तम्। ऋषिम्। तम्। सुऽमेधाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एव) ही (स्वयम्) आप (देवानाम्) सूर्य आदि लोकों (उत) और (मानुषाणाम्) मननशील मनुष्यों का (जुष्टम्) प्रिय (इदम्) यह वचन (वदामि) कहता हूं। [अर्थात्] (यम्) जिस किस को (कामये) मैं चाहता हूं (तम्-तम्) उस उसको ही [कर्मानुसार] (उग्रम्) तेजस्वी, (तम्) उस को ही (ब्रह्माणम्) वृद्धिशील ब्रह्मा, (तम्) उसी को (ऋषिम्) सन्मार्गदर्शक ऋषि, (तम्) उसीको (सुमेधाम्=०-धम्) उत्तम बुद्धि वाला (कृणोमि) बनाता हूं ॥३॥

भावार्थ—परमात्मा सब लोकों और प्राणियों को शरण में रखकर उपदेश करता है कि मैं अपने आज्ञाकारियों को प्रीति पूर्वक उत्तम गति देता हूं ॥ ३ ॥

३—(अहम्) परमेश्वरः (एव) अवधारणे। नान्योऽस्ति ममोपदेष्टेति यावत् (स्वयम्) आत्मना (इदम्) अनुभूयमानं ब्रह्मात्मकं वाक्यम् (वदामि) उपदिशामि। प्रकटयामि (जुष्टम्) प्रियं हितम्। सेवितम् (देवानाम्) सूर्यादिलोकानाम् (उत) अपि च (मानुषाणाम्) मननशीलानां मनुष्याणाम् (यम्) उपासकम् (कामये) वाञ्छामि (तम्-तम्) प्रत्येकं वाञ्छितं पुरुषम् (उग्रम्) दुष्प्रधर्षं तेजस्विनम् (कृणोमि) करोमि (ब्रह्माणम्) वृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। इति वृहि वृद्धौ-मनिन्। नस्य अकारः। वृंहति वर्धते वृंहयति वर्धयति वेदज्ञानेन स ब्रह्मा। विधातारं ब्रह्माणम् (ऋषिम्) अ० २। ६। १। ऋषिर्दर्शनात्-निरु० २। ११ आप्तं सन्मार्गदर्शकम् (सुमेधाम्) दीर्घश्छान्दसः। सुमेधम्। सुमेधसम्। शोभनप्रज्ञम् ॥

मया सोऽन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्। अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धेयं ते वदामि ॥ ४ ॥

मया। सः। अन्नम्। अत्ति। यः। वि-पश्यति। यः। प्राणिति। यः। ईम्। शृणोति। उक्तम्। अमन्तवः। माम्। ते। उप। क्षियन्ति। श्रुधि। श्रुत। श्रत्-धेयम्। ते। वदामि॥४॥

भाषार्थ—(मया) मेरे द्वारा ही (सः) वह (अन्नम्) (अत्ति) खाता है (यः) जो कोई (विपश्यति) विशेष करके देखता है, (यः) जो (प्राणति) श्वास लेता है और (यः) जो (ईम्) यह (उक्तम्) वचन (शृणोति) सुनता है। (माम्) मुझे (अमन्तवः) न जानने वाले (ते) वे पुरुष (उप) हीन होकर (क्षियन्ति) नष्ट हो जाते हैं। (श्रुत) हे सुनने में समर्थ जीव ! (श्रुधि) तू सुन, (ते) तुझसे (श्रद्धेयम्) आदर योग्य सत्य (वदामि) बताता हूं ॥४॥

भावार्थ—विवेकी पुरुष परमात्मा को जानकर आनन्द, और अज्ञानी नास्तिक उससे विमुख होकर दुःख भोगते हैं। यह परमेश्वर का उपदेश है ॥४॥

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ। अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश ॥५॥

४—(मया) मम द्वारा (सः) पुरुषार्थी (अन्नम्) अदनीयम्। जीवनसाधनं वा (अत्ति) भक्षयति (यः) (वि पश्यति) विशेषेणावलोकयति (प्राणति) शपःप्रयोगश्छान्दसः। प्राणिति प्रश्वसिति (ईम्) इदम् (शृणोति) श्रोत्रेण गृह्णाति (उक्तम्) वचनम् (अमन्तवः) कमिमनिजनि०। उ० १। ७३। इति नञ्+मनु अवबोधने-तु। अजानन्तः (माम्) परमेश्वरम्। न लोकाव्यय०। पा० २। ३। ६९। इति द्वितीया (ते) प्रसिद्धा मूर्खाः (उप) हीने (क्षियन्ति) क्षि क्षये। नश्यन्ति (श्रुधि) शृणु (श्रुत) श्रुतं श्रवणं यस्यास्तीति श्रुतः। श्रुत-अर्श आद्यच्। हे श्रवणसमर्थ (श्रद्धेयम्) श्रत्, सत्यम्-निघ० ३। १०। अचो यत्। पा० ३। १। ९७। इति श्रत्+धाञो यत्। ईद्यति। पा० ६। ४। ६५। इति ईकारः। श्रद्धातव्यम्। आदरणीयं सत्यम् (ते) तुभ्यम् (वदामि) उपदिशामि॥

अहम् । रुद्राय । धनुः । आ । तनोमि । ब्रह्म-द्विषे । शरवे । हन्तवै । ऊं इति । अहम् । जनाय । स-मदम् । कृणोमि । अहम् । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (रुद्राय) दुःखनाशक शूर के लिये (ब्रह्मद्विषे) ब्राह्मणों के द्वेषी (शरवे) हिंसक के (हन्तवै) मारने को (उ) ही (धनुः) धनुष् (आ तनोमि) सब ओर से तानता हूं । (अहम्) मैं (जनाय) भक्त जन के लिये (समदम्) आनन्दयुक्त [जगत्] (कृणोमि) करता हूं । (अहम्) मैं ने (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक में (आ) सब ओर से (विवेश) प्रवेश किया है । ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर शिष्टों की रक्षा के लिये दुष्टों का नाश करता है और अपने भक्तों को सब स्थानों में आनन्द देता है ॥ ५ ॥

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविणा हविष्मते सुप्राव्या३ यजमानाय सुन्वते ॥ ६ ॥

अहम् । सोमम् । आहनसम् । बिभर्मि । अहम् । त्वष्टारम् । उत । पूषणम् । भगम् । अहम् । दधामि । द्रविणा । हविष्मते । सुप्र-अव्या । यजमानाय । सुन्वते ॥ ६ ॥

५—(अहम्) परमेश्वरः (रुद्राय) म० । १ । ज्ञानदात्रे । दुःखनाशकाय । तस्य हितायेत्यर्थः (धनुः) अ० ४ । ६ । ६ । चापम् (आ तनोमि) विस्तारयामि । सज्यं करोमि (ब्रह्मद्विषे) द्विष अप्रीतौ—क्विप् । ब्राह्मणानां द्वेष्ट्रे (शरवे) शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति शॄ हिंसायाम्—उ । कर्मणि चतुर्थी । हिंसकम् । दुष्टम् (हन्तवै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । इति हन हिंसागत्योः —तवै । हन्तुं हिंसितुम् (उ) अवधारणे (जनाय) भक्तजनार्थम् (समदम्) मदोऽनुपसर्गे । पा० ३ । ३ । ६८ । इति मदी हर्षे—अप् । मदेन हर्षेण सहितम् (कृणोमि) करोमि (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (आविवेश) प्रविष्टवान् ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (आहनसम्) प्राप्तियोग्य (सोमम्) ऐश्वर्य को (अहम्) मैं (त्वष्टारम्) रसों के छिन्न भिन्न करने हारे सूर्य को (उत) और (पूषणम्) पोषण करने हारी पृथिवी को और (भगम्) सेवनीय चन्द्रमा को (बिभर्मि) धारण करता हूं। (अहम्) मैं (हविष्मते) भक्ति रखनेवाले, (सुन्वते) विद्या रस का निचोड़ करने हारे (यजमानाय) देवताओं की पूजा वा संगति करनेहारे पुरुष को (सु प्राव्या=०—णि) सुन्दर सुन्दर रक्षा योग्य (द्रविणा) अनेक धन (दधामि) देता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अनेक प्रकार के ऐश्वर्य और सूर्य आदि बड़े उपकारी पदार्थ रचे हैं। विद्वान् लोग विज्ञान द्वारा उनसे लाभ प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ६ ॥

अ॒हं सु॑वे पि॒तर॑मस्य मू॒र्धन् मम॒ योनि॑र॒प्स्व॑१॒न्तः स॑मु॒द्रे। ततो॒ वि ति॑ष्ठे॒ भुव॑नानि॒ विश्वो॒तामूं द्यां व॒र्ष्मणोप॑ स्पृशामि ॥ ७ ॥

अ॒हम्। सु॒वे॒। पि॒तर॑म्। अ॒स्य॒। मू॒र्धन्। मम॑। योनि॑ः। अ॒प्-सु। अ॒न्तः। स॒मु॒द्रे। तत॑ः। वि। ति॒ष्ठे॒। भुव॑नानि। विश्वा॑। उ॒त। अ॒मूम्। द्याम्। व॒र्ष्मणा॑। उप॑। स्पृ॒शा॒मि॒ ॥ ७ ॥

६—(अहम्) परमेश्वरः (सोमम्) अ० १। ६। २। ऐश्वर्यम् (आहनसम्) आङ्+हन हिंसागत्योः—असुन्। सम्यक् प्रापणीयम् (बिभर्मि) धारयामि (त्वष्टारम्) अ० २। ५। ६। रसानां तनूकर्तारं सूर्यम् (उत) अपि च (पूषणम्) अ० १। ६। १। पूषा पृथिवीनाम। निघ० १। १। पोषयित्रीं पृथिवीम् (भगम्) अ० १। १४। १। भगो भजतेः—निरु० १। ७। सेवनीयं चन्द्रम् (दधामि) ददामि प्रयच्छामि (द्रविणा) द्रविणानि। धनानि (हविष्मते) हविः—अ० १। ४। ३। दानयुक्ताय। भक्तिविशिष्टाय (सुप्राव्या) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। ३। १२४। इति सु+प्र+अव रक्षणे—ण्यत्। संज्ञापूर्वको विधिरनित्यः—इति वृद्धेरभावः। सुष्ठु प्रकर्षेण अवनीयानि। रक्षणीयानि। (यजमानाय) देवपूजकाय (सुन्वते) षुञ् अभिषवे शतृ। विद्यारसस्याभिषवं मथनं कुर्वते ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (अस्य) इस जगत् के (मूर्धन्) नियम के निमित्त (पितरम्) पालन करनेवाले गुण को (सुवे) उत्पन्न करता हूं। (मम) मेरा (योनिः) घर (समुद्रे) अन्तरिक्ष में वर्तमान (अप्सु अन्तः) व्यापनशील रचनाओं के भीतर है। (ततः) इसी से (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (वि तिष्ठे) व्यापकर वर्तमान हूं (उत) और (अमूम् द्याम्) उस प्रकाशमान सूर्य को (वर्ष्मणा) अपने ऐश्वर्य से (उप स्पृशामि) छूता रहता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब में व्यापक रहकर सब का पालन कर्ता, और नियन्ता और उपास्य है ॥ ७ ॥

अ॒हमे॒व वात॑ इव॒ प्र वा॑म्यार॒भ॑माणा॒ भुव॑नानि॒ विश्वा॑।
प॒रो दि॒वा प॒र ए॒ना पृ॑थि॒व्यैताव॑ती महि॒म्ना सं ब॑भूव ॥८॥

अ॒हम् । ए॒व । वात॑:-इव । प्र । वा॒मि॒ । आ॒-रभ॑माणा । भुव॑नानि । विश्वा॑ । प॒रः । दि॒वा । प॒रः । ए॒ना । पृ॒थि॒व्या । ए॒ताव॑ती । म॒हि॒म्ना । सम् । ब॒भू॒व॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अहम् एव) मैं ही (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों को (आरभमाणा=आलभमाना) छूती हुई शक्ति (वातः) पवन के समान

७—(अहम्) परमेश्वरः (सुवे) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने। जनयामि (पितरम्) पालकं गुणं (अस्य) दृश्यमानस्य। जगतः (मूर्धन्) अ० ३। ६। ६। मुर्वि बन्धने—कनिन्। मूर्धनि। बन्धने। नियमे निमित्ते (मम) (योनिः) गृहम्—निघ० ३। ४। (अप्सु) व्यापनशीलासु प्रकृतिरचनासु (अन्तः) मध्ये (समुद्रे) अ० १। ३। ८। समुद्रवन्त्यस्माद् भूतानि। अन्तरिक्षे—निघ० १। ३ (ततः) तस्मात्कारणात् (वितिष्ठे) समवप्रविभ्यः स्थः। पा० १। ३। २२। इति आत्मने पदम्। विविधं व्याप्य तिष्ठामि (भुवनानि) भूतजातानि (विश्वा) विश्वानि सर्वाणि (अमूम्) विप्रकृष्टाम् (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (वर्ष्मणा) अ० ३। ४। २। वृषु प्रजननैश्वर्ययोः—मनिन्। स्वैश्वर्येण (उप स्पृशामि) व्याप्नोमि—इत्यर्थः॥

८—(अहम्) परमेश्वरः (एव) निश्चयेन (वातः) पवनः (इव) यथा (प्र वामि) प्रवर्ते (आरभमाणा) आङ् पूर्वको लभ स्पर्शे—शानच्। लस्य रः।

(प्र वामि) चलती रहती हूं। (दिवा) सूर्य लोक से (परः) परे और (एना पृथिव्या) इस पृथिवी से (परः) परे [वर्तमान होकर] (एतावती) इतनी बड़ी शक्ति (महिम्ना) अपनी महिमा से (संबभूव) हो गई हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे वायु सब सांसारिक पदार्थों का अवलम्बन कर्ता है उसी प्रकार परमात्मा वायु का भी आश्रय दाता है और वह इन्द्रियों के विषय, सूर्य पृथिवी आदि पदार्थों से अलग है। उस की महिमा को जान कर सब मनुष्य पुरुषार्थी होकर आनन्दित रहें ॥ ८ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-७ ॥ मन्युर्देवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्, ४-७ जगती ॥

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

त्वया॑ मन्यो स॒रथ॑मारु॒जन्तो॒ हर्ष॑माणा हृषि॒तासो॑ मरुत्वन् । ति॒ग्मेष॑व॒ आयु॑धा सं॒शिशा॑ना॒ उप॒ प्र य॑न्तु॒ नरो॑ अ॒ग्निरू॑पाः ॥ १ ॥

त्वया॑ । म॒न्यो॒ इति॑ । स॒-रथ॑म् । आ॒-रु॒जन्तः॑ । हर्ष॑माणाः । हृ॒षि॒तासः॑ । म॒रु॒त्व॒न् । ति॒ग्म-इ॑षवः । आयु॑धा । स॒म्-शिशा॑नाः । उप॑ । प्र । य॒न्तु॒ । नरः॑ । अ॒ग्नि-रू॑पाः ॥ १ ॥

आलभमाना। स्पृशन्ती। आलम्बमाना शक्तिः (भुवनानि) भूतजातानि लोकान् वा (विश्वा) सर्वाणि (परः) परस्तात्। दूरे (दिवा) सूर्येण (एना) सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। इति आच्। एनया। अनया (पृथिव्या) भूम्या (एतावती) यत्तदेतेभ्यः परिमाणे०। पा० ५।२।३९। इति एतद्-वतुप्। आसर्वनाम्नः। पा० ६।३।९१। इति आत्वम्। एतत्परिमाणा महती (महिम्ना) माहात्म्येन (सं बभूव) समर्था बभूव ॥

भाषार्थ—(मरुत्वन्) हे शूरवीरों वाले (मन्यो) क्रोध ! (त्वया) तेरे साथ (सरथम्) एक रथ पर चढ़ कर [शत्रुओं को] (आरुजन्तः) तोड़ते फोड़ते हुये, (हर्षमाणाः) हर्ष मानते हुये, (हृषितासः) संतुष्ट मन, (तिग्मेषवः) तीक्ष्ण बाणों वाले, (आयुधा) शस्त्रों को (संशिशानाः) तीक्ष्ण करते हुये, (अग्निरूपाः) अग्निरूप [अग्नि तुल्य प्रचण्ड कर्मों वाले, अथवा सन्नद्ध कवच पहिने हुये] (नरः) हमारे नर [मुखिया लोग] (उप प्र यन्तु) व्यापकर चढ़ाई करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर दुष्टों पर क्रोध करके चढ़ाई करते हैं, वे विजयी होते हैं ॥ १ ॥

अ॒ग्निरि॑व मन्यो त्विषि॒तः स॑हस्व सेना॒नीर्नः॑ सहुरे हू॒त ए॑धि । ह॒त्वाय॒ शत्रू॒न् वि भ॑जस्व॒ वेद॒ ओजो॒ मिमा॑नो॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २ ॥

अ॒ग्निः-इ॑व । म॒न्यो॒ इति॑ । त्वि॒षि॒तः । स॒ह॒स्व॒ । से॒ना॒-नीः । नः॒ । स॒हु॒रे॒ । हू॒तः । ए॒धि॒ । ह॒त्वाय॑ । शत्रू॑न् । वि । भ॒ज॒स्व॒ । वेदः॑ । ओजः॑ । मिमा॑नः । वि । मृधः॑ । नु॒द॒स्व॒ ॥ २ ॥

१—(त्वया) मन्युना (मन्यो) यजिमनिशुन्धि० । उ० । ३।२० इति मन ज्ञाने गर्वे च—युच्, अनादेशाभावः । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा मन्यन्त्यस्मादिषवः—निरु० १० । २९ । हे क्रोध—निघ० २ । १३ । (सरथम्) समानं रथमारुह्य । सरथमारुह्य—निरु० १० । ३० (आरुजन्तः) आभञ्जन्तः पीडयन्तः शत्रून् (हर्षमाणाः) हृष तुष्टौ—शानच् । हर्षं कुर्वाणाः (हृषितासः) संतुष्टाः सन्तः (मरुत्वन्) अ० १ । २० । १ । मरुद्भिः शूरैर्युक्त (तिग्मेषवः) तीक्ष्णशराः (आयुधा) आयुधानि खड्गादीनि शस्त्राणि (संशिशानाः) शो तनूकरणे—कानच् । संश्यन्तः । तीक्ष्णीकुर्वन्तः (उप) व्याप्तौ (प्र यन्तु) प्रकर्षेण गच्छन्तु (नरः) । नयतेर्डिच्च । उ० २ । १०० । इति णीञ् प्रापणे—ऋ । नेतारः (अग्निरूपाः) अग्निवत्तीक्ष्णदाहादिकर्माणः । यद्वा सन्नद्धाः कवचिनः । अग्निरूपा अग्निकर्माणः सन्नद्धाः कवचिन इतिवा—निरु० १० । ३० ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अग्निः इव) अग्नि के समान (त्विषितः) प्रज्वलित होकर (सहस्व) समर्थ हो, (सहुरे) हे प्रबल ! (हूतः) आवाहन किया हुआ तू (नः) हमारा (सेनानीः) सेनापति (एधि) हो। (शत्रून्) शत्रुओं को (हत्वाय) मारकर (वेदः) उनका धन (वि भजस्व) बांट दे, और (ओजः) बल (मिमानः) दिखाता हुआ तू (मृधः) हिंसक लोगों को (वि नुदस्व) इधर उधर फेंकदे ॥२॥

भावार्थ—सेनानी लोग क्रोध के साथ शत्रुओं को मारकर उन का धन बांट लें और उन्हें इतर वितर कर दें ॥२॥

सह॑स्व मन्यो अ॒भिमा॑तिम॒स्मै रु॒जन् मृ॒णन् प्र॑मृ॒णन् प्रेहि॒ शत्रू॑न्। उ॒ग्रं ते॒ पाजो॑ न॒न्वा र॑रुध्रे व॒शी वशं॑ नयासा एकज॒ त्वम् ॥ ३ ॥

सह॑स्व। म॒न्यो॒ इति॑। अ॒भि-मा॑तिम्। अ॒स्मै। रु॒जन्॥ मृ॒णन्। प्र॒-मृ॒णन्। प्र। इ॒हि॒। शत्रू॑न्। उ॒ग्रम्। ते॒। पाजः॑ ननु। आ। र॒रु॒ध्रे॒। व॒शी। वश॑म्। न॒या॒सै॒। ए॒क॒-ज॒। त्वम्॥३

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अस्मै) इस पुरुष के लिये (अभिमातिम्) अभिमानी शत्रु को (सहस्व) दबा दे, और (शत्रून्) वैरियों को (रुजन्)

२—(अग्निरिव) (मन्यो हे क्रोध ! (त्विषितः) प्रदीप्तः सन् (सहस्व) षह मर्षणे शक्तौ च। शक्तो भव (सेनानीः) सेनाया नेता सेनाधिपतिः (नः) अस्माकम् (सहुरे) जसिसहोरुरिन्। उ० २। ७३। इति षह-उरिन्। हे शक्तिमन् (हूतः) आहूतः (एधि) अस भुवि-लोट्। भव (हत्वाय) छान्दसः क्त्वा-ल्यपोः प्रयोगः। हत्वा (शत्रून्) वैरिणः (विभजस्व) विभज्य देहि (वेदः) विद्लृ लाभे-असुन्। धनम्-निघ० २। १०। (ओजः) बलम् (मिमानः) माङ् माने-कानच्। आविष्कुर्वन् (मृधः) अ० १। २१। २। हिंसकान् शत्रून् (विनुदस्व) विविधं प्रेरय ॥

३—(सहस्व) अभिभव (मन्यो) म० १। हे क्रोध ! (अभिमातिम्) अ० २। ६। ३। अभिमन्तारं शत्रुम् (अस्मै) अस्य जनस्य हितार्थम् (रुजन्) भञ्जन् (मृणन्) हिंसन् (प्रमृणन्) प्रकर्षेण नाशयन् (प्रेहि) प्रगच्छ (शत्रून्)

तोड़ता हुआ, (मृणन्) मारता हुआ, (प्रमृणन्) कुचिलता हुआ (प्रेहि) चढ़ाई कर। (ते) तेरे (उग्रम्) उग्र (पाजः) बल को (ननु) कभी नहीं (आ रुरुध्रे) वे रोक सके। (एकज) हे एक [परमात्मा] से उत्पन्न हुये (वशी) बलवान् (त्वम्) तू [उनको] (वशम्) वश में (नयासै) लेआ ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध करके अभिमान आदि शत्रुओं को जीतकर अपनी इन्द्रियों को वश में रक्खे ॥ ३ ॥

एको बहूनामसि मन्य ईडिता विशंविशं युद्धाय सं शिशाधि। अकृत्तरुक् त्वया युजा वयं द्युमन्तं घोषं विजयाय कृण्मसि ॥ ४ ॥

एकः। बहूनाम्। असि। मन्यो इति। ईडिता। विशम्-विशम्। युद्धाय। सम्। शिशाधि। अकृत्त-रुक्। त्वया। युजा। वयम्। द्यु-मन्तम्। घोषम्। वि-जयाय। कृण्मसि ॥४॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध! (एकः) अकेला ही तू (बहूनाम्) बहुत से शूरों का (ईडिता) सत्कार करने वाला (असि) है। (विशंविशम्) प्रत्येक प्रजा वा मनुष्य को (युद्धाय) युद्ध के लिये (सम्) यथावत् (शिशाधि) शिक्षा दे या तीक्ष्ण कर। (अकृत्तरुक्) हे पूर्ण कान्ति वाले! (त्वया युजा)

शातयित्वन् वैरिणः (उग्रम्) प्रचण्डम् (ते) त्वदीयम् (पाजः) पातेर्बले जुट् च। उ० ४। २०३। इति पा रक्षणे-असुन्, जुट् च। बलम्-निघ० २। ६। (ननु) न नुदति, प्रेरयतीति। हरिमितयोर्द्रुवः। उ० १। ३४। इति न+णुद प्रेरणे-कु, स च डित्। प्रश्नेनैव (आ) समन्तात् (रुरुध्रे) रुधिर आवरणे लिटि छान्दसं रूपम्। रुरुधिरे। रुद्धवन्तः। आवृतवन्तः केचित्शत्रवः (वशी) वशयिता स्वतन्त्रः (वशम्) अधीनत्वम् (नयासै) लेटि रूपम्। नय। प्रापय शत्रून् (एकज) एकस्मात्परमेश्वराज्जात! (त्वम्) ॥

४—(एकः) एकएव (बहूनाम्) अनेकानां शूराणाम् (असि) भवसि (मन्यो) हे क्रोध (ईडिता) ईड-तृच्। ईडिरध्येषणाकर्मा पूजाकर्मा वा-निरु० ७। १५। याचकः। पूजकः सत्कारकः (विशंविशम्) प्रत्येकप्रजाम्। मनुष्यं वा-निघ० २। ३। (युद्धाय) संग्रामाय (सम) सम्यक् (शिशाधि) शासु अनु-

तुझ मित्र के साथ (वयम्) हम लोग (द्युमन्तम्) हर्षयुक्त (घोषम्) ध्वनि [सिंहनाद वा मारू गीत] (विजयाय) विजय के लिये (कृण्मसि) करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध पूर्वक शत्रुओं पर धावा करके स्तुति, विजय और कीर्ति पाते हैं ॥ ४ ॥

विजेषकृदिन्द्र इवानवब्रवो३ऽस्माकं मन्यो अधिपा भवेह । प्रियं ते नाम सहुरे गृणीमसि विद्मा तमुत्सं यत आबभूथ ॥ ५ ॥

विजेष-कृत् । इन्द्रःऽइव । अनवऽब्रवः । अस्माकम् । मन्यो इति । अधिऽपाः । भव । इह । प्रियम् । ते । नाम । सहुरे । गृणीमसि । विद्म । तम् । उत्सम् । यतः । आऽबभूथ ॥५॥

भावार्थ—(मन्यो) हे क्रोध ! (अनवब्रवः) नीच वचन न बोलने वाला, (विजेषकृत्) विजय करने वाला तू (इन्द्रः इव) बड़े प्रतापी पुरुष के समान (इह) यहां पर (अस्माकम्) हमारा (अधिपाः) बड़ा स्वामी (भव) हो। (सहुरे) हे शक्तिमान् (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय (नाम) नाम (गृणी-

---

शिष्टौ। यद्वा शो तनू करणे। लोटि छान्दसं रूपम्। विकरणस्य श्लौ द्वित्वमभ्यासस्येत्वम्। हेर्धित्वम्। शाधि शिक्षय। श्य तीक्ष्णीकुरु (अकृत्तरुक्) हे अच्छिन्नदीप्ते। संपूर्णप्रकाश ! (त्वया) (युजा) मित्रेण (वयम्) (द्युमन्तम्) दिवु मोदे-क्विप्। हर्षवन्तम् (घोषम्) सिंहनादात्मकं ध्वनिम् (विजयाय) विजयार्थम् (कृण्मसि) कृणमः कुर्मः ॥

५—(विजेषकृत्) वृतृवदि०। उ०। ३। ६२। इति जि जये-स। विजेषस्य विजयस्य कर्ता (इन्द्रः इव) प्रतापी पुरुषो यथा (अनवब्रवः) अन्+अव+ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि-पचाद्यच्। निपातनात्साधुः। अनवनतवचनः। उन्नतवचनः (अस्माकम्) (मन्यो) हे क्रोध (अधिपाः) पा रक्षणे-विच्। अधिकं पालकः (भव) (इह) अत्र संग्रामे (प्रियम्) प्रीतिकरम् (ते) तव (नाम) (सहुरे) म० २। हे शक्तिमन् (गृणीमसि) गॄ शब्दे। गृणीमः स्तुमः (विद्म) जानीमः

मसि) हम सराहते हैं। (तम्) उस (उत्सम्) स्रोता [परमेश्वर को] (विद्म) हम जानते हैं (यतः) जिससे (आबभूथ) तू आकार प्रकट हुआ है ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य अदीन वचन बोलते हैं वेही विजयी होकर कीर्त्ति पाते हैं ॥५॥

आभूत्या सहजा वज्र सायक सहो बिभर्षि सहभूत उत्तरम्। क्रत्वा नो मन्यो सह मेद्येधि महाधनस्य पुरुहूत संसृजि ॥ ६ ॥

आ-भूत्या। सह-जाः। वज्र। सायक। सहः। बिभर्षि। सह-भूते। उत्-तरम्। क्रत्वा। नः। मन्यो इति। सह। मेदी। एधि। महा-धनस्य। पुरु-हूत। सम्-सृजि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वज्र) वज्र रूप! (सायक) हे शत्रुओं के अन्त करने वाले! (सहभूते) हे सम्पति के साथ वर्तमान! (आभूत्या सहजाः) विभूति के साथ साथ उत्पन्न होने वाला तू (उत्तरम्) अधिक उत्तम (सहः) बल (बिभर्षि) धारण करता है, (पुरुहूत) बहुतों से आवाहन किये हुए (मन्यो) क्रोध! (महाधनस्य) बड़े धन प्राप्त कराने हारे संग्राम के (संसृजि) भिड़-

---

(तम्) (उत्सम्) अ० ३। २४। ४। निर्झरं। कूपम्। परमेश्वरमित्यर्थः (यतः) यस्मात्स्थानात् (आ बभूथ) आगत्य प्रादुर्बभूविथ ॥

६—(आभूत्या) विभूत्या (सहजाः) जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति जनी-विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। सहजायते प्रादुर्भवतीति सहजाः (वज्र) अ० १। ७। ७। (सायक) षो अन्तकर्मणि-ण्वुल्, युक् च। हे अन्तकर (सहः) बलम् (बिभर्षि) धारयसि (सहभूते) आत्मना सह भूतिः सम्पत्तिर्यस्य तत्सम्बुद्धौ (उत्तरम्) उत्कृष्टतरम् (क्रत्वा) कृञः कतुः। उ० १। ७६। क्रतुना कर्मणा-निघ० २। १। प्रज्ञया-निघ० ३। ६। (नः) अस्माकम् (मन्यो) (सह) सार्धम् (मेदी) मेद-इनि। स्नेही (एधि) भव (महाधनस्य) महान्ति धनानि प्राप्यन्ते यस्मिन् तस्य महाधनस्य

जाने पर (क्रत्वा सह) बुद्धि के साथ (नः) हमारा (मेदी) स्नेही (एधि) हो ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य संग्राम में बुद्धि पूर्वक क्रोध करके विजयी होते हैं ॥६॥

संसृष्टं धनमुभयं समाकृतमस्मभ्यं धत्तां वरुणश्च मन्युः। भियो दधाना हृदयेषु शत्रवः पराजितासो अप नि लयन्ताम् ॥ ७ ॥

सम्-सृष्टम्। धनम्। उभयम्। सम्-आकृतम्। अस्मभ्यम्। धत्ताम्। वरुणः। च। मन्युः। भियः। दधानाः। हृदयेषु। शत्रवः। परा-जितासः। अप। नि। लयन्ताम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) श्रेष्ठ शूर (च) और (मन्युः) क्रोध (संसृष्टम्) संग्रह किया हुआ और (समाकृतम्) उगाही किया हुआ (उभयम्) दो प्रकार का [आत्मिक और समाजिक] (धनम्) धन (अस्मभ्यम्) हमें (धत्ताम्) देवें। (पराजितासः) हारे हुए, और (हृदयेषु) हृदयों में (भियः) अनेक भय (दधानाः) रखते हुए (शत्रवः) शत्रु लोग (अप=अपक्रम्य) भागकर (नि लयन्ताम्) खिसक जावें ॥७॥

भावार्थ—शूर पुरुष यथानीति क्रोध धारण करके शत्रुओं को हराते और बहुत धन प्राप्त करके अपनी और समाज की उन्नति करते हैं ॥७॥

संग्रामस्य-निघ० २। १७। (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत ! (संसृजि) सृज-क्विप्। संसर्गे संयोजने सति ॥६॥

७—(संसृष्टम्) सृज विसर्गे-क्त। संगृहीतम् (धनम्) वित्तम् (उभयम्) संख्याया अवयवे तयप्। पा० ५। २। ४२। इति उभ-तयप्। उभादुदात्तो नित्यम्। पा० ५। २। ४४। इति तयपोऽयजादेशः। उभयविधम्। आत्मिकं समाजिकं चेत्यर्थः (समाकृतम्) समानीतम् (अस्मभ्यम्) (धत्ताम्) प्रयच्छताम्। दत्ताम् (वरुणः) वरणीयः स्वीकरणीयः शूरः (च) समुच्चये (मन्युः) म० १। क्रोधः (भियः) ञिभी भये- संपदादित्वात् क्विप्। भयानि (दधानाः) धारयन्तः (हृदयेषु) मनःसु (शत्रवः) अरयः (पराजितासः) पराजिताः। अभिभूताः (अप) अपक्रम्य (नि) नितराम्। नीचैः (लयन्ताम्) लीङ् श्लेषणे-लोट्। लयं प्रलयं विनाशं प्राप्नुवन्तु। प्रच्छन्नं वर्तन्ताम् ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-७ ॥ मन्युर्देवता ॥ १ जगती, २-७ त्रिष्टुप् ।

संग्रामे जयप्राप्त्युपदेशः—संग्राम में जय पाने का उपदेश ॥

यस्ते॑ मन्यो॒ऽवि॑धद्वज्र सायक॒ सह॒ ओजः॑ पुष्यति॒ विश्व॑मानु॒षक्। सा॒ह्याम॒ दास॒मार्यं॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यं सह॑स्कृतेन॒ सह॑सा॒ सह॑स्वता ॥ १ ॥

यः । ते॒ । म॒न्यो॒ इति॑ । अवि॑धत् । व॒ज्र॒ । सा॒य॒क॒ । सहः॑ । ओजः॑ । पुष्य॑ति । विश्व॑म् । आ॒नु॒षक् । स॒ह्याम॑ । दास॑म् । आर्य॑म् । त्वया॑ । यु॒जा । व॒यम् । सहः॑-कृतेन । सह॑सा । सह॑स्वता ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वज्र) हे वज्र रूप (सायक) हे शत्रुनाशक (मन्यो) दीप्तिमान् क्रोध ! (यः) जिस पुरुष ने (ते) तेरी (अविधत्) सेवा की है, वह (विश्वम्) सब (सहः) शरीर बल और (ओजः) समाज बल (आनुषक्) लगातार (पुष्यति) पुष्ट करता है। (सहस्कृतेन) बल से उत्पन्न हुए, (सहस्वता) बलवान्, (त्वया युजा) तुझ सहायक के साथ (सहसा) बल से (वयम्) हम लोग (दासम्) दास, काम बिगाड़ देने वाले मूर्ख और (आर्यम्) आर्य अर्थात् विद्वान् का (सह्याम) निर्णय करें ॥ १ ॥

१—(यः) पुरुषः (ते) तव (मन्यो) अ० ४ । ३१ । १ । हे दीप्तिमन् क्रोध ! (अविधत्) विध विधाने-लङ् । विधेम परिचरणकर्मा-निघ० ३ । ५ । परिचरणं शुश्रूषणं कृतवान् (वज्र) हे व्यापनशील वज्र रूप (सायक) हे शत्रुनाशक (सहः) शारीरिकं बलम् (ओजः) सामाजिकं बलम् (पुष्यति) वर्धयति (विश्वम्) सर्वम् (आनुषक्) अनुपूर्वात् षञ्ज सङ्गे-क्विप् । अनिदिताम् । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अनोरकारस्य दीर्घश्छान्दसः । अनुषगिति नामानुपूर्वस्यानुषक्तं भवति । निरु० ६ । १४ । अनुषक्तमुपर्युपरि लग्नम् । निरन्तरम् (सह्याम) वेर्लोपः । वि + षह निर्णये । विषह्याम निर्णयाम (दासम) उदसिर

भावार्थ—जो मनुष्य बुद्धि पूर्वक क्रोध का आराधन करते हैं वे भीतरी और बाहिरी बल बढ़ा कर मूर्खों का निरादर और विद्वानों का आदर करके कीर्त्ति पाते हैं ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है। म० १०। सू० ८३। वहां सूक्त के ऋषि मन्यु तापस और देवता मन्यु हैं॥

मन्युरिन्द्रो॑ मन्युरे॒वास॑ दे॒वो मन्यु॒र्होता॒ वरु॑णो जा॒तवे॑दाः। मन्युर्विश॑ ईडते॒ मानु॑षी॒र्याः पा॒हि नो॑ मन्यो॒ तप॑सा स॒जोषाः॥ २॥

मन्युः। इन्द्रः। मन्युः। ए॒व। आ॒स॒। दे॒वः। मन्युः। होता॑। वरु॑णः। जा॒त-वे॑दाः। मन्युः। विशः॑। ई॒ड॒ते॒। मानु॑षीः। याः। पा॒हि। नः॒। मन्यो॒ इति॑। तप॑सा। स॒-जोषाः॑॥ २॥

भाषार्थ—(मन्युः) प्रकाशमान क्रोध (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (मन्युः) क्रोध (एव) ही (देवः) दिव्यगुण वाला, (मन्युः) क्रोध (होता) दाता वा ग्रहीता, (वरुणः) वरणीय अङ्गीकारयोग्य, और (जातवेदाः) धन प्राप्त कराने वाला (आस) हुआ है। (मन्युः=मन्युम्) क्रोध को (याः) उद्योग करने वाली (मानुषीः=०-ष्यः) मनुष्य जातीय (विशः) प्रजायें (ईडते) सराहती हैं। (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) ऐश्वर्य से (सजोषाः) प्रीति करता हुआ तू (नः) हमें (पाहि) बचा ॥२॥

उत्क्षेपे-घञ्। दासो दस्यतेः, उपदासयति कर्माणि-निरु० २। १७। उत्क्षपयितारम्। दस्युं चोरम् (आर्यम्) अ० ४। २०। ४। श्रेष्ठं। विद्वांसम्। (त्वया) मन्युना (युजा) सहायेन (वयम्) पुरुषार्थिनः पुरुषाः (सहस्कृतेन) सहसा बलेनोत्पादितेन (सहसा) बलेन (सहस्वता) बलवता ॥

२—(मन्युः) दीप्यमानः क्रोधः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (एव) निश्चयेन (आस) अस्तेर्लिटि छान्दसो भूभावाभावः। बभूव (देवः) दिव्यगुणयुक्तः। प्रकाशमानः (होता) दाता ग्रहीता वा (वरुणः) श्रेष्ठः। (जातवेदाः) अ० १। ७। २। जातधनः (मन्युः) सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७। १। ३९। इति

भावार्थ—यथावत् प्रयुक्त क्रोध के गुण पहिले से विदित हैं नीतिज्ञ पुरुष विधिपूर्वक क्रोध से ऐश्वर्य बढ़ा कर रक्षा करते हैं ॥२।

(मन्युर्विशः) के स्थान में सायण भाष्य और ऋग्वेद में [मन्युं विशः] पद है ॥

अभीहि मन्यो तवसस्तवीयान् तपसा युजा वि जहि शत्रून् । अमित्रहा वृत्रहा दस्युहा च विश्वा वसून्या भरा त्वं नः ॥ ३ ॥

अभि । इहि । मन्यो इति । तवसः । तवीयान् । तपसा । युजा । वि । जहि । शत्रून् । अमित्र-हा । वृत्र-हा । दस्यु-हा । च । विश्वा । वसूनि । आ । भर । त्वम् । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे प्रकाशमान क्रोध (तवसः) महान् से भी (तवीयान्) अति महान् तू (अभीहि) इधर आ, (तपसा युजा) अपने ऐश्वर्य, मित्र के साथ (शत्रून्) शत्रुओं को (विजहि) मिटा दे। (च) और (अमित्रहा) पीड़ा देने वालों का मारनेवाला, (वृत्रहा) अन्धकार नाश करने वाला, (दस्युहा) डाकुओं का मारनेवाला (त्वम्) तू (विश्वा) सब (वसूनि) धनों को (नः) हमारे लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥ ३ ॥

द्वितीयार्थे प्रथमा। मन्युं क्रोधम् (विशः) प्रजाः (ईडते) स्तुवन्ति (मानुषीः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च। पा० ४।१।१६१। इति मनु-अञ् षुक् च टिड्ढाण०। पा० ४।१।१५। इति-ङीप् यद्वा। जनेरुसिः। उ० २।११५। इति मनु अवबोधने-उसि। मनुष्-अण्, ङीप्। मानुष्यः। मनुष्यजातीयाः (याः) या गतौ-ड, टाप्। उद्योगशीलाः (पाहि) रक्ष (नः) अस्मान् (मन्यो) हे क्रोध (तपसा) तप संतापैश्वर्ययोः-असुन्। प्रतापेन। ऐश्वर्येण (सजोषाः) जुषी-असुन्। समानप्रीतिः ॥

३—(अभीहि) अभिमुखं गच्छ (मन्यो) हे क्रोध (तवसः) तु सौत्रो धातुर्गतिवृद्धिहिंसासु—असुन्। तवस इति महतो नामधेयम्—निरु० ५।६ तवः, इति बलनाम-निघ० २।६। महतः प्रवृद्धादपि (तवीयान्) तोतृ-ईयसुन् तृलोपः। प्रवृद्धतरः (तपसा) सामर्थ्येन (युजा) सहायेन (वि जहि) विनाशय

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य नीति पूर्वक क्रोध से धन प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

त्वं हि मन्यो अभिभूत्योजाः स्वयंभूर्भामो अभिमातिषाहः । विश्वचर्षणिः सहुरिः सहीयानस्मास्वोजः पृतनासु धेहि ॥ ४ ॥

त्वम् । हि । मन्यो इति । अभिभूति-ओजाः । स्वयम्-भूः । भामः । अभिमाति-सहः । विश्व-चर्षणिः । सहुरिः । सहीयान् । अस्मासु । ओजः । पृतनासु । धेहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मन्यो) हे क्रोध (त्वम् हि) तू ही (अभि भूत्योजाः) शत्रु पराजय का सामर्थ्यवाला, (स्वयंभूः) अपने आप उत्पन्न होनेवाला, (भामः) प्रकाशमान और (अभिमातिषाहः) अभिमानियों का हरानेवाला है । (विश्वचर्षणिः) सब देखनेवाला, (सहुरिः) शक्तिमान्, (सहीयान्) अधिक बलवान् तू (पृतनासु) संग्रामों के बीच (अस्मासु) हम में (ओजः) पराक्रम (धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नीति कुशल और कर्म कुशल होकर दुष्टों पर क्रोध करते हैं; वे ही संग्रामों में विजयी होते हैं ॥ ४ ॥

(शत्रून्) अरीन् (अमित्रहा) (अ० १ । १६ । २ । पीड़कनाशकः (वृत्रहा) शत्रुहन्ता (दस्युहा) चोरादीनां घातकः (च) (विश्वा) सर्वाणि (वसूनि) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धारय (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् ॥

४—(त्वम्) (हि) (मन्यो) हे दीप्यमान क्रोध (अभिभूत्योजाः) अभिभूतये शत्रुपराजयाय ओजो बलं यस्य स तथाभूतः (स्वयंभूः) स्वयमेव आत्मन्युत्पद्यमानः (भामः) अर्तिस्तुसुहु० । उ१ । १४० । इति भा दीप्तौ-मन् । प्रदीप्यमानः (अभिमातिषहः) षह शक्तौ अभिभवे च—पचाद्यच् । छान्दसो दीर्घः । अभिमातीनामभिमानिनां पराजेता (विश्वचर्षणिः) विश्वचर्षणिः— पश्यतिकर्मा-निघ० ३ । ११ । विश्वस्य सर्वस्य द्रष्टा (सहुरिः) सू० ३१ । १ । शक्तिमान् (सहीयान्) सोढृतरः । बलवत्तरः (अस्मासु) (ओजः) पराक्रमम् (पृतनासु) संग्रामेषु (धेहि) धारय ॥

अभागः सन्नप परेतो अस्मि तव क्रत्वा तविषस्य प्रचेतः । तं त्वा मन्यो अक्रतुर्जिहीडाहं स्वा तनूर्बलदावा न एहि ॥ ५ ॥

अभागः । सन् । अप । परा-इतः । अस्मि । तव । क्रत्वा । तविषस्य । प्र-चेतः । तम् । त्वा । मन्यो इति । अक्रतुः । जिहीड । अहम् । स्वा । तनूः । बल-दावा । नः । आ । इहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतः) हे उत्तमज्ञानवाले ! मैं (अभागः सन्) अभागा होकर (तव तविषस्य) तुझ बलवान् के (क्रत्वा) कर्म वा बुद्धि से (अप= अपेत्य) हटकर (परेतः) दूर पड़ा हुआ (अस्मि) हूं । (मन्यो) हे क्रोध (अक्रतुः) बुद्धि हीन वा कर्म हीन (अहम्) मैं ने (तम् त्वा) उस तुझ को को (जिहीड) क्रुद्ध करदिया है, (बलदावा) बलदाता तू (स्वा तनूः) अपने स्वरूप से (नः) हमको (आ इहि) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—अनीतिज्ञ पुरुष यथावत् क्रोध न करके दरिद्र और बुद्धिहीन होजाते हैं, इससे मनुष्यों को यथावत् वर्तना चाहिये ॥ ५ ॥

५—(अभागः) भगानामैश्वर्याणां समूहः-इति भग-अण् । ऐश्वर्यसमूहरहितः । सर्वथा निर्धनः (सन्) वर्तमानः सन् (अप) अपेत्य (परेतः) परागतः (अस्मि) वर्ते (तव) (क्रत्वा) अ० ४ । ३१ । ६ । कर्मणा प्रज्ञया वा (तविषस्य) अ० ४ । १५ । २ । महतः पूजनीयस्य (प्रचेतः) हे प्रकृष्टज्ञान (तम्) (त्वा) त्वाम् (अक्रतुः) अप्रज्ञः,बुद्धिहीनः कर्महीनो वा(जिहीड) हेडृ अनादरे क्रोधे च । लिटि छान्दसं रूपम् । हेडते, क्रुध्यतिकर्मा—निघ०२ । १२ । जिहीडे क्रुद्धं कृतवानस्मि (स्वा) सुपां सुलुक्० । पा०७।१।३६ । विभक्तेः सुः । स्वया आत्मीयया (तनूः) उक्तसूत्रेण विभक्तेः सुः । तन्वा । स्वरूपेण (बलदावा) आतो मनिन्क्वनि० । पा० ३ । २ । ७४ । इति बल+डुदाञ् दाने—वनिप् । बलस्यदाता (नः) अस्मान् (आ इहि) आगच्छ ॥

अ॒यं ते॑ अ॒स्म्युप॑ न॒ एह्य॒र्वाङ् प्र॑ती॒ची॒नः स॑हुरे वि॒श्वदा॒व॒न्। मन्यो॑ वज्रिन्न॒भि न॒ आ व॑वृत्स्व॒ हना॑व॒ दस्यूँ॑रु॒त बो॑ध्या॒पेः ॥ ६ ॥

अ॒यम्। ते॒। अ॒स्मि॒। उप॑। न॒ः। आ। इ॒हि॒। अ॒र्वाङ्। प्र॒ती॒ची॒नः। स॒हु॒रे॒। वि॒श्व॒-दा॒व॒न्। मन्यो॒ इति॑। व॒ज्रि॒न्। अ॒भि। न॒ः। आ। व॒वृ॒त्स्व॒। हना॑व। दस्यू॑न्। उ॒त। बो॒धि॒। आ॒पेः॥६

भाषार्थ—(अयम्) यह मैं (ते) तेरा (अस्मि) हूं। (सहुरे) हे समर्थ ! (विश्वदावन्) हे सर्वदाता ! (प्रतीचीनः) प्रत्यक्ष चलता हुआ तू (नः) हमारे (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (उप एहि) समीप आ (वज्रिन्) हे वज्रधारी (मन्यो) क्रोध ! (नः अभि) हमारी ओर (आ ववृत्स्व) वर्तमान होजा, (उत) और (आपेः) अपने बन्धु का (बोधि) बोधकर, [जिससे हम दोनों] (दस्यून्) दुष्टों को (हनाव) मारें॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब प्रकार विचार करके दुष्टों पर क्रोध करते हैं वे विजयी होते हैं ॥ ६ ॥

अ॒भि प्रेहि॑ दक्षिण॒तो भ॑वा॒ नोऽधा॑ वृ॒त्राणि॑ जङ्घनाव॒ भूरि॑। जु॒होमि॑ ते ध॒रुणं॒ मध्वो॒ अग्र॑मु॒भा उ॑पां॒शु प्र॑थ॒मा पि॑बाव ॥ ७ ॥

६—(अयम्) पुरुषार्थी (ते) तव (अस्मि) (उप) समीपे (नः) अस्माकम् (आ इहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः (प्रतीचीनः) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम्। पा०५। ४। ८। इति प्रत्यच्—स्वार्थे ख। अल्लोपो दीर्घश्च। प्रत्यञ्चन्। प्रत्यक्षं गच्छन् (सहुरे) हे शक्तिमन् (विश्वदावन्) विश्व+डुदाञ्—वनिप्। हे सर्वस्य दातः। (मन्यो) हे क्रोध (वज्रिन्) हे वज्रोपेत (अभि) अभिलक्ष्य (नः) अस्मान् (आ) समन्तात् (ववृत्स्व) छान्दसः शपः श्लुः। वर्तस्व (हनाव) आवां हिनसाव (दस्यून्) उपक्षपयितन् दुष्टान् (उत) अपि च (बोधि) बुध अवगमने लोटि छान्दसं रूपम्। बुध्यस्व। बोधं कुरु (आपेः) इणजादिभ्यः। वा० पा० ३। ३। १०८ इति आप्लृ व्याप्तौ—इण्। बन्धोः ॥

अभि । प्र । इहि । दक्षिणतः । भव । नः । अध । वृत्राणि ।
जङ्घनाव । भूरि । जुहोमि । ते । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् ।
उभौ । उप-अंशु । प्रथमा । पिबाव ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अभि प्र इहि) आगे आ, और (नः) हमारी (दक्षिणतः) दहिनी ओर (भव) वर्त्तमान हो, (अध) तब (भूरि) बहुत से (वृत्राणि) अन्धकारों को (जङ्घनाव) हम दोनों मिटा देवें । (मध्वः) मधुर रस का (अग्रम्) श्रेष्ठ (धरुणम्) धारण करने योग्य [स्तुतिरूप] रस (ते) तुझे (जुहोमि) भेंट करता हूं । (प्रथमा=०-मौ) पहिले वर्तमान (उभौ) हम दोनों (उपांशु) एकान्त में (पिबाव) [रसपान] करें ॥७॥

भावार्थ—महात्मा पुरुष आत्मदोषों पर क्रोध करके अनेक अन्धकारों को मिटाते हैं और वे ही इस मन्युस्तुति को एकान्त में सूक्ष्म रूप से विचारकर अधिक आनन्द भोगते हैं ॥७॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-८ ॥ अग्निर्देवता । गायत्री छन्दः ॥

सर्वरक्षणोपदेशः—सब प्रकार की रक्षा का उपदेश ॥

अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम॑ग्ने॑ शुशु॒ग्ध्या र॒यिम् ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ १ ॥

७—(अभि) (प्र) (इहि) गच्छ (दक्षिणतः) दक्षिणोत्तराभ्या-मतसुच् । पा० ५ । ३ । २८ । इति अतसुच् । दक्षिणभागे परमसहायकत्वेन (भव) (नः) अस्माकम् (अध) अथ । अनन्तरम् (वृत्राणि) तमांसि (जङ्घनाव) हन्ते र्यङ्लुगन्तात् लोटि । आडुत्तमस्य पिच्च । पा० ३ । ४ । ९२ । इति आडागमः । आवामतिशयेन हनाव (भूरि) भूरीणि बहूनि (जुहोमि) ददामि (ते) तुभ्यम् (धरुणम्) अ० ३ । १२ । ३ । धर्तव्यम् । स्तुतिरूपं रसम् (मध्वः) मधोः । मधुररसस्य (अग्रम्) श्रेष्ठं सारभूतम् (उभौ) अहं च मन्युश्च (उपांशु) निर्जने देशे (प्रथमा) प्रथमौ । शत्रुभ्यः पूर्वभाविनौ सन्तौ (पिबाव) आवां पानं करवाव ॥

अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् । अग्ने॑ । शु॒शु॒ग्धि । आ ।
र॒यिम् । अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् ॥ अ॒घम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे। (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर! (रयिम्) धनको (आ) अच्छे प्रकार (शुशुग्धि) सींच। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचारते हुए दुष्कर्म के त्याग और सुकर्म के ग्रहण से विद्या रूप और सुवर्ण आदि रूप धन प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १ सू० ६७ ॥

सु॒क्षे॒त्रि॒या सु॑गातु॒या व॑सू॒या च॑ यजामहे ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ २ ॥

सु॒-क्षे॒त्रि॒या । सु॒-गा॒तु॒या । व॒सु॒-या । च॒ । य॒जा॒म॒हे॒ ।
अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुक्षेत्रिया) उत्तम खेत के लिये, (सुगातुया) उत्तम भूमि के लिये (च) और (वसुया) धनके लिये (यजामहे) हम [परमेश्वर को] पूजते हैं। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ २ ॥

१—(अप) दूरीभूय (नः) अस्माकम् (शोशुचत्) शुचिर् शौचे क्लेदे च, यङ् लुगन्तात् लेटि अडागमः। अत्यन्तं शुच्यात् विनश्येदित्यर्थः (अघम्)पापम् (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (शुशुग्धि) शुचिर् क्लेदे—लोट्। अन्तर्गतण्यर्थः। श्यनः श्लुः। हुझल्भ्यो हेर्धिः। पा० ६। ४। १०१। इति धिः। चोः कुः। पा० ८। २। ३०। इति कुत्वम्। क्लेदय। सिंच (आ) समन्तात् (रयिम्) धनम्। अन्यद् गतम्। आदरार्थं पुनः प्रयोगः ॥

२—(सुक्षेत्रिया) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्। वा० पा०७। १। ३९। इति ङे डियाजादेशः। चित्त्वादन्तोदात्तः शोभनाय क्षेत्राय (सुगातुया)। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति ङेर्याच्। गातुः-पृथिवीनाम-निघ० १। १।

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर अनिष्टों को मिटाकर पुरुषार्थ से अपनी प्रभुता बढ़ावें ॥ २ ॥

प्र यद् भन्दिष्ठ एषां प्रास्माकासश्च सूरयः ।
अप नः शोशुचदघम् ३ ॥

प्र । यत् । भन्दिष्ठः । एषाम् । प्र । अस्माकासः । च ।
सूरयः । अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस प्रकार से (एषाम्) इन प्राणियों के मध्य (भन्दिष्ठः) अत्यन्त सुखी होकर (प्र) प्रकृष्ट [होजाऊं] (च) और (अस्माकासः) हमारे (सूरयः) विद्वान् लोग (प्र) प्रकृष्ट [होवें] [उसी प्रकार से] (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुलजावे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य शुभ कर्मों में प्रवृत्त होकर दरिद्रता आदि दुःखों को मिटावें ॥ ३ ॥

प्र यत् ते अग्ने सूरयो जायेमहि प्र ते वयम् ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ४ ॥

प्र । यत् । ते । अग्ने । सूरयः । जायेमहि । प्र । ते । वयम् ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ४ ॥

शोभनभूमिप्राप्तये (वसुया) पूर्वसूत्रेणडेयाच् । वसुने धनाय (च) समुच्चये (यजामहे) परमेश्वरं पूजयामः । अन्यत्पूर्ववत् ॥ २ ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण भवानि (यत्) यथा (भन्दिष्ठः) भदि कल्याणे सुखे स्तुतौ च—तृच्, इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृ लोपः । भन्दना भन्दतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५ । २ । स्तोतृतमः सुखितमः (एषाम्) मनुष्यादिप्राणिनां मध्ये (प्र) प्रकर्षेण भवन्तु (अस्माकासः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति अस्मद्—अण् । तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ । पा०४ । ३ । २ । इति अस्माकादेशः । अणि वृद्ध्यभावश्छान्दसः । असुगागमश्च । अस्माकाः । अस्मदीयाः (च) (सूरयः) अ० २ । ११ । ४ । विद्वांसः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे परमात्मन् (सूरयः) विद्वान् लोग (यत् ते) जिस तेरे (प्र=प्रजायन्ते) प्रजा हैं, (ते) उस तेरे ही (वयम्) हम लोग (प्र जायेमहि) प्रजा होवें । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुलजावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के समान परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर सदा सुखी रहें ॥ ४ ॥

प्र यद॒ग्नेः सह॑स्वतो वि॒श्वतो॒ यन्ति॑ भा॒नवः॑ ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ५ ॥

प्र । यत् । अ॒ग्नेः । सह॑स्वतः । वि॒श्वतः॑ । यन्ति॑ । भा॒नवः॑ ।
अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (सहस्वतः) बलवान् (अग्नेः) परमात्मा के (भानवः) अनेक प्रकाश (विश्वतः) सब ओर (प्र) भली भांति (यन्ति) चलते रहते हैं । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अनेक सूक्ष्म और स्थूल रचनाओं को देखकर अपने विघ्नों को मिटावें ॥ ५ ॥

त्वं हि वि॑श्वतोमुख वि॒श्वतः॑ परि॒भूरसि॑ ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ६ ॥

४—(प्र) इत्यस्य, जायेमहि, इति क्रियया सह सम्बन्धः । प्रजायन्ते प्रजाः सन्ति (यत्) यस्य (ते) तव (अग्ने) परमात्मन् (सूरयः) विद्वांसः (प्र जायेमहि) प्रजा भवेम (ते) तस्य तव (वयम्) उपासकाः । अन्यद् गतम् ॥

५—(प्र) प्रकर्षेण (यत्) यस्मात् (अग्नेः) परमात्मनः (सहस्वतः) बलवतः (विश्वतः) सर्वतः (यन्ति) गच्छन्ति (भानवः) प्रकाशाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

त्वम् । हि । विश्वतः-मुख । विश्वतः । परि-भूः । असि ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हि) जिस कारण से (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (त्वम्) तू (विश्वतः) सब ओर से (परिभूः) वश में रखने वाला (असि) है। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के समान (विश्वतोमुख) होकर सदा चैतन्य रहें और अनिष्टों को मिटा कर अपनी वृद्धि करें ॥ ६ ॥

द्विषो नो विश्वतोमुखाति नावेव पारय ।
अप नः शोशुचदघम् ॥ ७ ॥

द्विषः । नः । विश्वतः-मुख । अति । नावा-इव । पारय ।
अप । नः । शोशुचत् । अघम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख वाले [मुख के समान, सर्वोपदेशक सर्वोत्तम] परमेश्वर ! (द्विषः) द्वेषियों को (अति=अतीत्य) लांघ कर (नः) हमें (पारय) पार लगा, (नावा इव) जैसे नाव से [समुद्र को पार करते हैं] । (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे पोत द्वारा समुद्र पार करते हैं, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से सब दोषों को हटा कर सुखी रहें ॥ ७ ॥

६—(त्वम्) (हि) (विश्वतोमुख) हे मुखवत् सर्वोपदेशक, सर्वोत्तम, परमात्मन् (विश्वतः) सर्वतः (परिभूः) अ० ३ । २१ । ४ । ग्रहीता व्यापकः (असि) अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(द्विषः) द्वेष्टॄन् शत्रून् (नः) अस्मान् (विश्वतोमुख) म० ६ (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (नावा इव) यथा नौकया (पारय) पारं गमय । अन्यत्पूर्ववत् ॥

स नः॒ सिन्धु॑मिव ना॒वाति॑ पर्षा स्व॒स्तये॑ ।
अप॑ नः॒ शोशु॑चद॒घम् ॥ ८ ॥

सः । नः॒ । सिन्धु॑म्-इव । ना॒वा । अति॑ । प॒र्ष॒ । स्व॒स्तये॑ ।
अप॑ । नः॒ । शोशु॑चत् । अ॒घम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) सो तू (नः) हमें (स्वस्तये) आनन्द के लिये (पर्ष) पार लगा, (इव) जैसे (नावा) नावसे (सिन्धुम्) समुद्र को (अति=अतीत्य) लांघ कर [पार करते] हैं। (नः) हमारा (अघम्) पाप (अप शोशुचत्) दूर धुल जावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में निष्ठा करके पुरुषार्थ पूर्वक दुःख सागर से पार होकर सुखी होवें जैसे नाव के आश्रय से जलयात्री समुद्र पार करके प्रसन्न होते हैं ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१-८ ॥ ओदनो देवता । १-४ त्रिष्टुप्, ५ एष यज्ञानामिति त्रिष्टुप्, एतात्स्त्वेति द्विपदा जगती, ६, ७ पञ्चपदा जगती, ८ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

ब्रह्मास्य शी॒र्षं बृ॒हद॑स्य पृ॒ष्ठं वा॑मदे॒व्यमु॒दर॑मोद॒नस्य॑ ।
छन्दां॑सि प॒क्षौ मुख॑मस्य स॒त्यं वि॑ष्टा॒री जा॒तस्तप॑सो॒ऽधि॑ य॒ज्ञः ॥ १ ॥

८—(सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (सिन्धुम् इव) यथा समुद्रं तथा (नावा) नौकया (अति) अतीत्य (पर्ष) पॄ पालनपूरणयोः, लेटि अडागमः । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति-सिप् । पारं प्रापय । (स्वस्तये) आनन्दाय । अन्यत् पूर्ववत ॥

ब्रह्म । अस्य । शीर्षम् । बृहत् । अस्य । पृष्ठम् । वामऽदेव्यम् । उदरम् । ओदनस्य । छन्दांसि । पक्षौ । मुखम् । अस्य । सत्यम् । विष्टारी । जातः । तपसः । अधि । यज्ञः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (ओदनस्य) सेचनसमर्थ वा अन्नरूप परमेश्वर का (शीर्षम्) शिर (ब्रह्म) वेद है, (अस्य) इसकी (पृष्ठम्) पीठ (बृहत्) प्रवृद्ध जगत् और (उदरम्) उदर (वामदेव्यम्) मनोहर परमात्मा से जताया गया [भूतपञ्चक] है। (अस्य) इसके (पक्षौ) दोनों पार्श्व (छन्दांसि) आनन्दप्रद वा पूजनीय कर्म और (मुखम्) मुख (सत्यम्) सत्य है। (विष्टारी) वह विस्तार वाला (यज्ञः) पूजनीय परमात्मा (तपसः) अपने ऐश्वर्य से (अधि) सब से ऊपर (जातः) प्रकट हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापक और सर्वान्तर्यामी है, उसकी उपासना सब मनुष्य नित्य करें ॥ १ ॥

अनस्थाः पूताः पवनेन शुद्धाः शुचयः शुचिमपि यन्ति लोकम् । नैषां शिश्नं प्र दहति जातवेदाः स्वर्गे लोके बहु स्त्रैणमेषाम् ॥ २ ॥

१—(ब्रह्म) वेदः (अस्य) प्रत्यक्षस्य (शीर्षम्) शिरः (बृहत्) प्रवृद्धं जगत् (पृष्ठम्) पृष्ठभागः (वामदेव्यम्) वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ। पा० ४। २। ९। इति वामदेव-ड्य। वामदेवेन दृष्टं विज्ञातं विज्ञापितं वा-इति दयानन्दभाष्ये यजु० १२। ४। वामो वल्गुरेव देवः, वामदेवः परमेश्वरः, तेन विज्ञापितं भूतपञ्चकम् (उदरम्) उदरस्थानीयम् (ओदनस्य) अ० ४। १४। ७। सेचनशीलस्य प्रवर्धकस्य अन्नरूपस्य वा परमात्मनः (छन्दांसि) चन्देरादेश्च छः। उ० ४। २१९। इति चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः। छन्दति, अर्चतिकर्मा-निघ० ३। १४। छन्दांसि छादनात्—निरु० ७। १२। आह्लादकर्माणि। अर्चनीयकर्माणि (पक्षौ) पक्ष परिग्रहे-अच्। पार्श्वौ (मुखम्) (सत्यम्) याथार्थ्यम् (विष्टारी) अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति विस्तार-इनि। विस्तारवान् (जातः) प्रादुर्भूतः (तपसः) स्वैश्वर्यात् (अधि) उपरि (यज्ञः) यजनीयः। ओदनः। परमेश्वरः ॥

अनुस्थाः । पूताः । पवनेन । शुद्धाः । शुचयः । शुचिम् । अपि । यन्ति । लोकम् । न । एषाम् । शिश्नम् । प्र । दहति । जात-वेदाः । स्वः-गे । लोके । बहु । स्त्रैणम् । एषाम् ॥२॥

भाषार्थ—(अनस्थाः) न गिराने योग्य (पवनेन) शुद्ध आचरण से (पूताः) शुद्ध किये गये, (शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव, (शुचयः) प्रकाशमान महात्मा लोग (अपि) ही (शुचिम्) ज्योतिः स्वरूप (लोकम्) लोक [परमात्मा) को (यन्ति) पाते हैं। (जातवेदाः) प्राणियों का जाननेवाला परमेश्वर (एषाम्) इनकी (शिश्नम्) गति वा सामर्थ्य को (न) नहीं (प्रदहति) जलाता है। [इस लिये कि] (एषाम्) इन [महात्माओं] का (स्त्रैणम्) सृष्टि का हितकर्म (स्वर्गे) अच्छे प्रकार पाने योग्य सुख दायक (लोके) लोक [परमात्मा] में (बहु) बहुत है ॥ २ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय शुद्ध स्वभाव योगी जन ही परमात्मा को पाते हैं, और उस जगदीश्वर के सहारे में रह कर संसार का हित करते हुए सर्वत्रगति होते हैं ॥ २ ॥

२—(अनस्थाः) असिसंञ्जिभ्यां क्थिन्। उ० ३। १५४। इति असु क्षेपणे—क्थिन्। इति अस्थि क्षेपणम्। छन्दस्यपि दृश्यते। पा० ७। १। ७६। इति अस्थि शब्दस्य अनङ् आदेशः। अनसनीयाः। अक्षेपणीयाः। अनिवारणीयाः, इत्यर्थः (पूताः) पवित्रीकृताः (पवनेन) शोधनकर्मणा (शुद्धाः) निर्मलाः (शुचयः) दीप्यमानाः परमयोगिनः (शुचिम्) दीप्यमानं ज्योतिर्मयम् (अपि) अवधारणे (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (लोकम्) परब्रह्मधाम (न) निषेधे (एषाम्) योगिनाम् (शिश्नम्) इण्सञ्जि०। उ० ३। २। इति शश प्लुतगतौ-नक्। शिश्नं श्नथतेः—निरु० । ४। १९। गतिम्। बलम् (प्र) (दहति) भस्मीकरोति (जातवेदाः) अ० १। ७। २। जातानां वेदिता परमेश्वरः (स्वर्गे) सु+अर्ज-घञ्। सुष्ठु अर्जनीये। सुखप्रदे (लोके) स्थाने (बहु) विपुलम् (स्त्रैणम्) स्त्यायतेर्ड्रट्। उ०। ४। १६६। इति स्त्यै शब्दसंघातयोः—ड्रट्। लोपो व्योर्वलि। पा० ६। १। ६६। इति यलोपः। टित्वात् ङीप्। इति स्त्री संहतिः। स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्। पा० ४। १। ८७। तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। इति हितार्थे नञ्। स्त्रीभ्यः संहतिभ्यः सृष्टिभ्यो हितम् (एषाम्) ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनानवर्तिः सचते कदा चन । आस्ते यम उप याति देवान्त्सं गन्धर्वैर्मदते सोम्येभिः ॥ ३ ॥

विष्टारिणम् । ओदनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । अवर्तिः । सचते । कदा । चन । आस्ते । यमे । उप । याति । देवान् । सम् । गन्धर्वैः । मदते । सोम्येभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो महात्मा लोग (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओदनम्) सेचन समर्थ वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पचन्ति) परिपक्व करते हैं, (एनान्) इन लोगों को (अवर्तिः) दरिद्रता (कदा चन) कभी भी (न) नहीं (सचते) मिलती है । [जो पुरुष] (यमे) नियम वा न्यायकारी परमात्मा में (आस्ते) रहता है, [वह] (देवान्) उत्तम गुणों को (उप) अधिक अधिक (याति) पाता है, और (गन्धर्वैः) पृथिवी आदि लोकों वा वेद वाणियों को धारण करने वाले (सोम्येभिः) सोम अर्थात् ऐश्वर्य योग्य महात्माओं से (सम्) मिल कर (मदते) आनन्द भोगता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—योगी जन परमात्मा में श्रद्धा रखकर सदा उदारचित्त रहते हैं, क्योंकि जितेन्द्रिय पुरुष ही विद्वानों के सत्सङ्ग से उत्तम उत्तम गुण पाकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

३—(विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (ओदनम्) म० १ । सेचनशीलम् अन्नरूपं वा परमात्मानम् (ये) महात्मानो योगिनः (पचन्ति) पक्वं श्रद्धया दृढं कुर्वन्ति (न) निषेधे (एनान्) एतान् योगिनः (अवर्तिः) हृपिषिरुहिवृति० । उ० ४ । ११९ । इति वृतु वर्तने-इन् । वर्ति वृत्तिः, जीविका । तदभावः अवर्तिः । दारिद्र्यम् (सचते) समवैति यः (कदा चन) कदाचिदपि (आस्ते) तिष्ठति (यमे) नियमे न्यायकारिणि परमात्मनि वा (उप) अधिकम् (याति) प्राप्नोति सः (देवान्) दिव्यगुणान् (सम्) सह भूत्वा (गन्धर्वैः) अ० २ । १ । २ । गवां पृथिव्यादिलोकानां वेदवाणीनां वा धारकैः (मदते) हृष्यति (सोम्यैः) सोमार्हैः, ऐश्वर्ययोग्यैः ॥

विष्टारिणमोदनं ये पचन्ति नैनान् यमः परि मुष्णाति रेतः । रथी ह भूत्वा रथयान ईयते पक्षी ह भूत्वाति दिवः समेति ॥ ४ ॥

विष्टारिणम् । ओदनम् । ये । पचन्ति । न । एनान् । यमः । परि । मुष्णाति । रेतः । रथी । ह । भूत्वा । रथ-याने । ईयते । पक्षी । ह । भूत्वा । अति । दिवः । सम् । एति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो महात्मा (विष्टारिणम्) विस्तारवान् (ओदनम्) सेचनशील वा अन्नरूप परमात्मा को [हृदय में] (पचन्ति) पक्का करते हैं, (एनान्) इन से (यमः) नियम (रेतः) सामर्थ्य को (न) नहीं (परि मुष्णाति) मुस लेता है । वह पुरुष (रथयाने) शरीर से चलने योग्य संसार में (ह) निश्चय करके (रथी) क्रीडाशील (भूत्वा) होकर (ईयते) विचरता है और (ह) अवश्य (पक्षी) सबका पक्ष करने वाला (भूत्वा) होकर (अति) अत्यन्त (दिवः) प्रकाशमान लोकों को (सम्) यथावत् (एति) पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा में पूर्ण श्रद्धालु शूरवीर महात्मा सदा बलवान् होकर संसार को सहारा देते हुये सूर्य समान प्रकाशित रहते और आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

एष यज्ञानां विततो वहिष्ठो विष्टारिणं पक्त्वा दिवमा विवेश । आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली । एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे

४—पचन्तीत्यन्तं व्याख्यातम् म० ३ (न) निषेधे (एनान्) एतान् । अपादाने द्वितीया (यमः) नियमः (परि) वर्जने (मुष्णाति) द्विकर्मकः । अपहरति (रेतः) बलं सामर्थ्यम् (रथी) रथ-इनि । रथवान् (ह) अवधारणे (भूत्वा) (रथयाने) रथेन शरीरेण यातव्ये लोके (ईयते) ईङ् गतौ । संचरति (पक्षी) पक्ष परिग्रहे-अच्, तत-इनि । पक्षवान् परिग्रही (अति) अत्यन्तम् (दिवः) प्रकाशमानान् लोकान् (समेति) सम्यक् प्राप्नोति

लोके मधु॑मत् पिन्व॑माना उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क-रिणीः सम॑न्ताः ॥ ५ ॥

एषः । यज्ञानाम् । वि-ततः । बहिष्ठः । विष्टारिणम् । पक्त्वा । दिवम् । आ । विवेश । आण्डीकम् । कुमु॑दम् । सम् । तनोति । बिसम् । शालूकम् । शफकः । मुलाली । एताः । त्वा । धाराः । उप॑ । यन्तु । सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधु॑-मत् । पिन्व॑मानाः । उप॑ । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्-अन्ताः ॥ ५ ॥

भावार्थ—(एषः) यह (यज्ञानाम्) उत्तम कर्मों के बीच (विततः) फैला हुआ (बहिष्ठः) अत्यन्त बहुत शुभ गुणों वाला पुरुष (विष्टारिणम्) बड़े विस्तार वाले परमात्मा को [हृदय में] (पक्त्वा) पक्का, दृढ़, करके (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा में (आ विवेश) प्रविष्ट हुआ है ।

५—(एषः) दृश्यमानः पुरुषः (यज्ञानाम्) यजनीयानां कर्मणां मध्ये (विततः) विस्तृतः (बहिष्ठः) अतिशायने तमबिष्ठनौ । पा० ५ । ३ । ५५ । इति बहु-इष्ठन् । टेः । पा० ६ । ४ । १५५ । इति टिलोपः । अतिशयेन बहुशुभ-गुणोपेतः (विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (पक्त्वा) परिपक्वं हृदये दृढं कृत्वा (दिवम्) प्रकाशमानं परमात्मानम् (आ विवेश) प्रविष्टवान् (आण्डीकम्) अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । इति अम गतौ-ड । ईकञ् छन्दसि । वा० पा० ४ । १ । ८५ । इति अण्ड-ईकञ् बाहुलकात् । प्राप्तियोग्यम्, (कुमुदम्) इगुपध० । पा० ३ । १ । १३५ । इति कु+मुद हर्षे-क । कौ भूमौ मोदते । पृथिव्यां मोदकरं वस्तु (सम्) सम्यक् (तनोति) विस्तारयति (बिसम्) बिस प्रेरणे, दिवा०-क । प्रेरकम् । चलकरं वस्तु (शालूकम्) शलिमण्डिभ्यामूकण् । उ० ४ । ४२ । इति शल गतौ-ऊकण् । वेगकरं वस्तु (शफकः) शमु उपशमे-अच्, मस्य फः । इति शब्दस्तोममहानिधिः । कमु कान्तौ-ड । शफं शान्तिं निवृत्तिं कामयते स शफकः । शान्तिकामः (मुलाली) मुल रोपणे-क । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति मुल+मल भूषणपर्याप्ति-

(शफकः) शान्ति की कामना करने वाला, (मुलाली) कर्म फल के रोपण, उत्पत्ति को सुधारने वाला पुरुष (आण्डीकम्) प्राप्तियोग्य (कुमुदम्) पृथिवी में आनन्द करने वाली वस्तु को, (विसम्) वल दायक गुण को (शालूकम्) वेगशील कर्म को (सम्) यथावत् (तनोति) फैलाता है।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०-ण्यः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की महिमा में लवलीन होकर मधुमती नाम प्रजा की प्राप्ति से संसार का पूरा उपकार कर्ता हैं ॥ ५ ॥

घृतह्र॑दा मधु॑कूलाः सुरो॑दकाः क्षीरेण॑ पूर्णा उ॑दकेन॑ दध्ना। ए॒तास्त्वा॒ धारा॒ उप॑ यन्तु सर्वाः स्व॒र्गे लो॒के मधु॑मत् पिन्व॑माना॒ उप॑ त्वा तिष्ठन्तु पुष्क॒रिणीः सम॑न्ताः ॥६॥

घृत-ह्र॑दाः। मधु॑-कूलाः। सुरा-उदकाः। क्षीरेण॑। पूर्णाः। उ॒द॒केन॑। द॒ध्ना। ए॒ताः। त्वा॒। धाराः। उप॑। यन्तु। सर्वाः। स्वः॒-गे। लो॒के। मधु॑-मत्। पिन्व॑मानाः। उप॑। त्वा॒। तिष्ठ॑न्तु। पु॒ष्क॒रिणीः। सम्-अ॑न्ताः ॥ ६ ॥

वारणेषु-णिनि। मुलं रोपणं कर्मफलजननम् अलति भूषयतीति मुलाली। सत्पुरुषः (एताः) (त्वा) त्वां पुरुषम् (धाराः) धारणशक्तयः। (उप) समीपे (यन्तु) गच्छन्तु (सर्वाः) सकलाः (स्वर्गे) म० २। सुष्ठु अर्जनीये पुण्ये (लोके) दर्शनीये स्थाने (मधुमत्) फलिपाटिनमिमनि०। उ० १। १८। इति मनु ज्ञाने-उ,नस्य धः। यथा तथा मधुमत्तया ज्ञानवत्तया (पिन्वमानाः) पिवि-सेचने-शानच्। सिंचन्त्यः (उप तिष्ठन्तु) उपस्थिताः संगता भवन्तु (पुष्करिणीः) पुषः कित्। उ० ४। ४। इति पुष पुष्टौ-करन्। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इति पुष्कर-इनि। पुष्कराणि पोषणानि सन्ति यत्र पुष्करिण्यः पोषणवत्यः शक्तयः (समन्ताः) सम्पूर्णाः॥

भाषार्थ—(घृतह्रदाः) प्रकाश की ध्वनि वाली, (मधुकूलाः) मधु अर्थात् ज्ञान के रक्षा साधन वाली, (सुरोदकाः) सुरा अर्थात् ऐश्वर्य वा तत्त्व मथन का सेवन करने वाली, (क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन वा वृद्धि साधन से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णाः) परिपूर्ण,

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई, (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०-ण्यः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य योग साधन से अपनी अनेक शक्तियां बढ़ाकर संसार का उपकार करके आनन्द भोगता है ॥ ६ ॥

चतुरः कुम्भांश्चतुर्धा ददामि क्षीरेण पूर्णां उदकेन दध्ना।
एतास्त्वा धारा उप यन्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥७॥

६—(घृतह्रदाः) अक्षिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । इति घृ क्षरणदीप्त्योः—क्त । घृतं प्रकाशः । ह्राद अव्यक्ते शब्दे-अच्, निपातः । प्रकाशयुक्त-ध्वनयः (मधुकूलाः) कूल आवरणे-अच् । मधु ज्ञानं कूलम् आवरणं रक्षासाधनं यासां ताः (सुरोदकाः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । षु प्रसवैश्वर्ययोः; यद्वा षुञ् अभिषवे-क्रन् ।, यद्वा, षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः=क, टाप् । सुरा=उदकम्—निघ० १ । १५ । सुरा सुनोतेः—निरु० १ । ११ । सुराणां पत्नी शक्तिः सुरा । उदकं च । उ० २ । ३९ । इति उन्दी क्लेदने-क्वुन् । सुरा, ऐश्वर्यं तत्त्वमथनं वा, उदकं सेचनं यासां ताः (क्षीरेण) घसेः किच्च । उ० ४ । ३४ । इति घस्लृ अदने-ईरन् । वा क्षर संचलने-डीरन् । क्षीरम् उदकम्—निघ० १ । १२ । क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वेरो नामकरण उशीरमिति यथा—निरु० २ । ५ । भोजनसाधनेन (पूर्णाः)- पूरिताः (उदकेन) सेचनसाधनेन (दध्ना) अ० ३ । १२ । ७ । दधि धारणं पोषणं तेन । अन्यत् पूर्ववत् म० ५ ॥

चतुरः । कुम्भान् । चतुः-धा । ददामि । क्षीरेण । पूर्णान् । उदकेन । दध्ना । एताः । त्वा । धाराः । उप । यन्तु । सर्वाः । स्वः-गे । लोके । मधुमत् । पिन्वमानाः । उप । त्वा । तिष्ठन्तु । पुष्करिणीः । सम्-अन्ताः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(क्षीरेण) भोजन साधन से, (उदकेन) सेचन या वृद्धि साधन से और (दध्ना) धारण पोषण सामर्थ्य से (पूर्णान्) परिपूर्ण (कुम्भान्) भूमि को पूर्ण करने वाले (चतुरः) चार अर्थात् धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को (चतुर्धा) चार प्रकार से अर्थात् ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यास आश्रम वा चारों वेद द्वारा (ददामि) दान करता हूं।

(एताः) ये (सर्वाः) सब (धाराः) धारण शक्तियां (स्वर्गे लोके) स्वर्ग लोक में (मधुमत्) मधु नाम ज्ञान की पूर्णता से (त्वा) तुझ को (पिन्वमानाः) सींचती हुई (उप) आदर से (यन्तु) मिलें, और (समन्ताः) सम्पूर्ण (पुष्करिणीः=०—ण्यः) पोषणवती शक्तियां (त्वा) तुझ में (उप तिष्ठन्तु) उपस्थित होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ब्रह्मचर्य आदि चारों आश्रम द्वारा और चारों वेद द्वारा धर्म अर्थ आदि चार पदार्थ देता है। इसलिये मनुष्य चारों आश्रम और चारों वेदों के यथावत् सेवन से चारों पदार्थ प्राप्त करके सदा आनन्दित रहें ॥७॥

इ॒मम् ओ॑द॒नं नि द॑धे ब्राह्म॒णेषु॑ विष्टा॒रिणं॑ लोक॒जितं॑ स्व॒र्गम् । स मे॒ मा क्षे॑ष्ट स्व॒धया॒ पिन्व॑मानो वि॒श्वरू॑पा धे॒नुः का॑म॒दुघा॑ मे अस्तु ॥ ८ ॥

७—(चतुरः) चतुः संख्याकान् धर्मार्थकाममोक्षान् (कुम्भान्) अ० ३ । १२ । ७ । कुं भूमिम् उम्भति पूरयतीति कुम्भः । भूमिपूरकान् (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमरूपेण यद्वा वेदचतुष्टयेन (ददामि) प्रयच्छामि (क्षीरेण) म० ६ भोजनसाधनेन (पूर्णान्) पूरितान् (उदकेन) सेचनसाधनेन (दध्ना) म० ६ । धारणेन पोषणेन वा । अन्यत् पूर्ववत् म० ५ ॥

इमम् । ओदनम् । नि । दधे । ब्राह्मणेषु । विष्टारिणम् । लोकजितम् । स्वः-गम् । सः । मे । मा । क्षेष्ट । स्वधया । पिन्वमानः । विश्व-रूपा । धेनुः । काम-दुघा । मे । अस्तु ॥८॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानियों के बीच (विष्टारिणम्) विस्तार वाले (लोकजितम्) सब लोक के जीतनेवाले (स्वर्गम्) सुख स्वरूप (इमम्) इस (ओदनम्) सींचने वा बढ़ानेवाले वा अन्नरूप परमात्माको (नि) निरन्तर (दधे) धरता हूं। (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पिन्वमानः) बढ़ता हुआ (सः) वह ईश्वर (मे) मेरे लिये (मा क्षेष्ट) कभी न घटे। (विश्वरूपाः) सब अङ्गों से सिद्ध (धेनुः) यह तृप्त करनेवाली वेदवाणी (मे) मेरे लिये (कामदुघा) उत्तम कामनाओं की पूर्ण करनेवाली (अस्तु) होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी महात्मा लोग परमात्मा की महिमा को साक्षात् करके सुखी होते हैं, सब मनुष्य परमकल्याणी वेदवाणी को प्राप्त कर उस जगदीश्वर के ज्ञान से सदा आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-७ ॥ ओदनो देवता । १, २, ५-७ त्रिष्टुप् ३, ४ जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

यमोदनं प्रथमजा ऋतस्य प्रजापतिस्तपसा ब्रह्मणेऽपचत् । यो लोकानां विधृतिर्नाभिरेषात् तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ १ ॥

८—(इमम्) निर्दिष्टम् (ओदनम्) सेचनशीलं प्रवर्धकम् अन्नरूपं वा परमात्मानं (नि) नितराम् (दधे) धरामि (ब्राह्मणेषु) अ० ४ । ६ । १ । वेदवेत्तृषु पण्डितेषु (विष्टारिणम्) म० १ । विस्तारवन्तम् (लोकजितम्) सर्वलोकजेतारम् (स्वर्गम्) सुष्ठु अर्जनीयं सुखस्वरूपम् (सः) ओदनः (मे) मह्यम् (मा क्षेष्ट) क्षि क्षये, माङि लुङ् । क्षयं मा प्राप्नोतु (स्वधया) स्वधारणशक्त्या । (पिन्वमानः) वर्धमानः (विश्वरूपा) सर्वाङ्गसिद्धा (धेनुः) अ० ३ । १० । १ । वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । तर्पयित्री वेदवाणी (कामदुघा) दुहः कब्घश्च । पा०३ । २ । ७० । इति काम+दुह प्रपूरणे—कप्, हस्य घः । उत्तमकामानां दोग्ध्री प्रपूरयित्री । अभीष्टसम्पादयित्री (मे) मह्यम् (अस्तु) ॥

यम् । ओदनम् । प्रथम-जाः । ऋतस्य । प्रजा-पतिः । तपसा । ब्रह्मणे । अपचत् । यः । लोकानाम् । वि-धृतिः । न । अभि-रेषात् । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य के (यम्) जिस (ओदनम्) वृद्धि करने वाले परमात्मा को (प्रथमजाः) प्रख्यात पुरुषों में उत्पन्न हुए, (प्रजापतिः) प्रजापालक योगी जन ने (तपसा) अपने तप, सामर्थ्य से (ब्रह्मणे) ब्रह्म की प्राप्ति के लिये (अपचत्) परिपक्व अर्थात् हृदय में दृढ़ किया है। (यः) जो परमात्मा (लोकानाम्) सब लोकों का (विधृतिः) विधाता (न) कभी नहीं (अभिरेषात्) घटता है, (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मृत्यु के कारण [निरुत्साह आदि दोष] को (अति=अतीत्य) लांघकर (तराणि) मैं तर जाऊं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को ऋषि मुनि महात्मा लोग साक्षात् करते चले आये हैं, उसी के गुणों को हम जानकर पुरुषार्थ के साथ अपने जीवन को सुधारें ॥ १ ॥

येनातरन् भूतकृतोऽति मृत्युं यमन्वविन्दन् तपसा श्रमेण। यं पपाच ब्रह्मणे ब्रह्म पूर्वं तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ २ ॥

१—(यम्) (ओदनम्) सू० ३४ । म० १ । सेचकं प्रवर्धकं वा परमात्मानम् (प्रथमजाः) प्रथमेषु श्रेष्ठपुरुषेषु जातः (ऋतस्य) सत्यस्य परब्रह्मरूपस्य (प्रजापतिः) प्रजानां पालको योगिजनः (तपसा) स्वसामर्थ्येन (ब्रह्मणे) ब्रह्मप्राप्तये (अपचत्) पक्वं हृदये दृढं कृतवान् (यः) ओदनः (लोकानाम्) ब्रह्माण्डानाम् (विधृतिः) विधारयिता (न) निषेधे (अभिरेषात्) रिष हिंसायाम्—लडर्थे लेट्, कर्मण्यर्थे । रेष्यते । नश्यति (तेन) (ओदनेन) सेचकेन प्रवर्धकेन अन्नरूपेण वा परमात्मना (अति) अतीत्य (तराणि) पारं गच्छानि प्राप्नवानि (मृत्युम्) मरणकारणं निरुत्साहम् ॥

येन । अतरन् । भूत-कृतः । अति । मृत्युम् । यम् । अनु-अविन्दन् । तपसा । श्रमेण । यम् । पपाच । ब्रह्मणे । ब्रह्म । पूर्वम् । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस परमात्मा के साथ (भूतकृतः) प्राणियों को [उत्तम] बनाने वाले पुरुष (मृत्युम्) मृत्यु के कारण निरुत्साह आदि को (अति=अतीत्य) लांघकर (अतरन्) तरगये हैं, और (यम्) जिसको (तपसा) ब्रह्मचर्य आदि तप और (श्रमेण) परिश्रम से (अन्वविन्दन्) उन्हों ने अनुक्रम से पाया है। और (यम्) जिसको (ब्रह्मणे) ब्रह्मा, [वेदज्ञानी] के लिये (ब्रह्म) वेद ने (पूर्वम्) पहिले ही (पपाच) परिपक्व वा दृढ किया था। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥२॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को पाकर महाउपकारी जनों ने तप और परिश्रम से अनेक विघ्नों को हटाकर सुख प्राप्त किया है और जिसका प्रतिपादन वेदों ने किया है, उसी के ज्ञान से सब मनुष्य अपने क्लेश टालकर आनन्द पावें ॥ २ ॥

यो दाधार पृथिवीं विश्वभोजसं यो अन्तरिक्षमापृणाद् रसेन । यो अस्तभ्नाद् दिवमूर्ध्वो महिम्ना तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ३ ॥

यः । दाधार । पृथिवीम् । विश्व-भोजसम् । यः । अन्तरिक्षम् । आ-अपृणात् । रसेन । यः । अस्तभ्नात् । दिवम् । ऊर्ध्वः । महिम्ना । तेन । ओदनेन । अति । तराणि । मृत्युम् ॥ ३ ॥

२—(येन) ओदनेन (अतरन्) पारं प्राप्नुवन् (भूतकृतः) भूतानां प्राणिनां कर्तारः उपकर्तारः पुरुषाः (अति) अतीत्य (मृत्युम्) मरणहेतुं निरुत्साहादिकम् (यम्) (अन्वविन्दन्) अनुक्रमेण प्राप्नुवन् (तपसा) ब्रह्मचर्येण (श्रमेण) श्रमु तपसि खेदे च–घञ् । परिश्रमेण । ब्रह्माभ्यासेन (यम्) (पपाच) पक्वं दृढं चकार (ब्रह्मणे) ब्रह्मज्ञानिने (ब्रह्म) वेदः (पूर्वम्) प्रथमम् । अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस परमेश्वर ने (विश्वभोजसम्) सब का पालन करने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया था, (यः) जिस ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (रसेन) रस अर्थात् अन्न वा जल से (आ अपृणात्) भर दिया है। (यः) जिसने (महिम्ना) अपनी महिमा से (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (दिवम्) प्रकाशमान सूर्य को (अस्तभ्नात्) ठहराया है। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पृथिवी आदि लोकों और सब चराचर जगत् को रचकर धारण किया है और जो सब से ऊपर विराजमान है, उसकी महिमा को विचार कर हम अपनी उन्नति करें ॥३॥

यस्मान्मासा निर्मितास्त्रिंशदराः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः। अहोरात्रा यं परियन्तो नापुस्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम् ॥ ४ ॥

यस्मात्। मासाः। निःऽमिताः। त्रिंशत्ऽअराः। सम्ऽवत्सरः। यस्मात्। निःऽमितः। द्वादशऽअरः। अहोरात्राः। यम्। परिऽयन्तः। न। आपुः। तेन। ओदनेन। अति। तराणि। मृत्युम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यस्मात्) जिस [परमात्मा] से (त्रिंशदराः) तीस अरों

३—(यः) ओदनः (दाधार) धृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (विश्वभोजसम्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—असुन्। सर्वस्य पालयित्रीम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम् (आ-अपृणात्) पॄ पालनपूरणयोः—लङ्। सम्यक् पूरितवान् (रसेन) अन्नेन—निघ० २। ७। उदकेन—निघ० १। १२। (अस्तभ्नात्) स्तन्भु रोधने—लङ्। अवरुद्धवान्। दृढीकृतवान् (दिवम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (ऊर्ध्वः) उपरि वर्तमानः सन् (महिम्ना) महत्त्वेन। प्रभावेण। अन्यत् पूर्ववत् म० १ ॥

४—(यस्मात्) ओदनात्परमेश्वरात् (मासाः) मस परिमाणे—घञ्।

वाले (मासाः) महीने (निर्मिताः) बने हैं, (यस्मात्) जिस से (द्वादशारः) बारह अरों [के समान महीनों] वाला (संवत्सरः) संवत् (निर्मितः) बना है। (यम्) जिस को (परियन्तः) घूमते हुए (अहोरात्राः) दिनरात (न) नहीं (आपुः) पकड़सके हैं। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ...म० १॥४॥

भावार्थ—परमात्मा ने दिनरात आदि काल चक्र बनाया है परन्तु वह अनादि अनन्त होने से काल के अधिकार से बाहिर है। उसी की उपासना सब मनुष्य करें॥ ४॥

यः प्राणदः प्राणदवान् बभूव यस्मै लोका घृतवन्तः क्षरन्ति। ज्योतिष्मतीः प्रदिशो यस्य सर्वास्तेनौदनेनाति तराणि मृत्युम्॥ ५॥

यः। प्राणदः। प्राणद-वान्। बभूव। यस्मै। लोकाः। घृत-वन्तः। क्षरन्ति। ज्योतिष्मतीः। प्र-दिशः। यस्य। सर्वाः। तेन। ओदनेन। अति। तराणि। मृत्युम्॥ ५॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (प्राणदः) प्राणदेने वाला और (प्राणदवान्) प्राणदाताओं [सूर्यपृथिवीवायु आदि] का रखने वाला (बभूव)

मस्यते परिमीयते कालोऽनेन स मासः। शुक्लकृष्णपक्षद्वयात्मकाः कालाः (निर्मिताः) रचिताः (त्रिंशदराः) रथचक्रावयवाः कीलका अराः। चक्रवदावर्तमानत्वान्मासास्तथा रूप्यन्ते। त्रिंशत्संख्याकानि दिनानि अरा इव येषां ते तथोक्ताः (संवत्सरः) अ० १। ३५। ४। द्वादशमासात्मकः कालः (यस्मात्) (निर्मितः) (द्वादशारः) द्वादशमासा अराइव चक्रे स्थिता यस्मिन् स तथाभूतः (अहोरात्राः) अहानि च रात्रयश्च (यम्) परमात्मानम् (परियन्तः) परिगच्छन्तः। परिवर्त्तमानाः (न) निषेधे (आपुः) प्राप्तवन्तः। अन्यत् पूर्ववत्। म० १॥

५—(यः) ओदनः। परमात्मा (प्राणदः) प्राणदाता (प्राणदवान्) प्राणदैः प्राणप्रदैः सूर्यपृथिवीप्राण्यादिभिर्युक्तः (बभूव) (यस्मै) परमेश्वराय

हुआ और (यस्मै) जिसके लिये (घृतवन्तः) प्रकाशमान वा सारवान् (लोकाः) सब लोक (क्षरन्ति) बहते हैं। और (यस्य) जिस की ही (सर्वाः) सब (ज्योतिष्मतीः=०-त्यः) तेजोमय (प्रदिशः) बड़ी दिशायें हैं। (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब लोक लोकान्तर और सब पदार्थ परमेश्वर के वशवर्ती हैं। उसकी आज्ञा पालन से हम सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

यस्मा॑त् प॒क्वाद॒मृतं॑ संब॒भूव॒ यो गा॑य॒त्र्या अधि॑पतिर्ब॒भूव॑। यस्मि॑न् वेदा॒ निहि॑ता वि॒श्वरू॑पा॒स्तेनौ॑द॒नेनाति॑ तरा॒णि मृ॒त्युम्॥ ६ ॥

यस्मा॑त्। प॒क्वात्। अ॒मृत॑म्। स॒म्-ब॒भूव॑। यः। गा॒य॒त्र्याः। अधि॑-पतिः। ब॒भूव॑। यस्मि॑न्। वेदाः॑। नि-हि॑ताः। वि॒श्व-रू॑पाः। तेन॑। ओ॒द॒नेन॑। अति॑। त॒रा॒णि॒। मृ॒त्युम्॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यस्मात् पक्वात्) जिस परिपक्व परमात्मा से (अमृतम्) मोक्ष (संबभूव) उत्पन्न हुआ, (यः) जो (गायत्र्याः) गायत्री [स्तुति वा वेद वाणी] का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (यस्मिन्) जिसमें (विश्वरूपाः) सब से कीर्तन योग्य अथवा सब का निरूपण करने वाले (वेदाः)

(लोकाः) दृश्यमानानि भुवनानि (घृतवन्तः) दीप्तिमन्तः। सारवन्तः (क्षरन्ति) स्रवन्ति (ज्योतिष्मतीः) प्रशस्ततेजस्काः। प्रकाशवत्यः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (यस्य) ओदनस्य सम्बन्धिन्यः सन्ति (सर्वाः) समस्ताः। अन्यत् पूर्ववत्। म० १ ॥

६—(यस्मात्) परमात्मनः (पक्वात्) दृढस्वभावात् (अमृतम्) अमरणहेतुः। मोक्षः (संबभूव) उत्पन्नं बभूव (यः) (गायत्र्याः) अ० ३। ३। २। अमिनक्षियजि०। उ० ३। १०५। इति गै शब्दे-अत्रन्, स च णित, ङीप्। गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० ७। १२। गायनीयायाः स्तुतेः। वेदवाण्याः। (अधिपतिः) स्वामी (बभूव) (यस्मिन्) (वेदाः) विद ज्ञाने, विद सत्तायम्,

वेद (निहिताः) निधिरूप से स्थित हैं । (तेन) उस (ओदनेन) बढ़ाने वाले वा अन्नरूप परमात्मा के साथ (मृत्युम्) मरण के कारण [निरुत्साह आदि दोष] को (अति=अतीत्य) लांघ कर (तराणि) मैं तरजाऊं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने कल्याणमयी वेदवाणी देकर मनुष्यों को मोक्ष का अधिकारी किया है । उसके गुण कर्म स्वभाव को पहिचान कर हम सदा पुरुषार्थ करते रहें ॥ ६ ॥

अव बाधे द्विषन्तं देवपीयुं सपत्ना ये मेऽप ते भवन्तु । ब्रह्मौदनं विश्वजितं पचामि शृण्वन्तु मे श्रद्दधानस्य देवाः ॥ ७ ॥

अव । बाधे । द्विषन्तम् । देव-पीयुम् । स-पत्नाः । ये । मे । अप । ते । भवन्तु । ब्रह्म-ओदनम् । विश्व-जितम् । पचामि । शृण्वन्तु । मे । श्रत्-दधानस्य । देवाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(द्विषन्तम्) द्वेष करने वाले (देवपीयुम्) देवताओं के हिंसक को (अव बाधे) मैं हटाता हूं । (ये) जो (मे) मेरे (सपत्नाः) प्रतियोगी हैं, (ते) वे (अप भवन्तु) हट जावें । (विश्वजितम्) संसार के जीतने वाले (ब्रह्मौदनम्) सब से बड़े सींचने वाले वा अन्नरूप परमात्मा को

विद्लृ लाभे विद विचारणे-घञ् । धर्मब्रह्मप्रतिपादकानि ऋग्यजुःसामाथर्वात्मकानि अपौरुषेयाणि शास्त्राणि (निहिताः) निधिरूपेण स्थापिताः (विश्वरूपाः) खष्पशिल्पशष्पवाष्परूपपर्पतल्पाः । उ० ३ । २८ । इति रु शब्दे-प, दीर्घश्च । यद्वा रूप रूपक्रियायाम्-अच्, रूयते रूप्यते वा रूपम् । सर्वैः रूयमाणाः कीर्त्यमानाः । सर्वेषां पदार्थानां रूपका निरूपकाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(अव बाधे) अपचारयामि (द्विषन्तम्) हिंसन्तम् (देवपीयुम्) पीयति हिंसाकर्मा-निरु० ४।२५. खरुशङ्कुपीयु० । उ० १ । ३६ । इति पीयतेः-कु । देवानां हिंसकम् (सपत्नाः) अ० १ । ६ । २ । शत्रवः (ये) (मे) मम (अप भवन्तु) दूरे गच्छन्तु (ते) शत्रवः (ब्रह्मौदनम्) ओदन इति व्याख्यातम्-सू० ३४ म० १ । प्रवृद्धं सेचकं प्रवर्धकम् अन्नरूपं वा परमात्मानम् (विश्वजितम्)

(पचामि) पक्का [हृदय में दृढ़] करता हूं। (देवाः) व्यवहार कुशल विद्वान् लोग (श्रद्दधानस्य) श्रद्धा रखने वाले (मे) मेरी [वार्ता] (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर में पूरी भक्ति करके पुरुषार्थ पूर्वक अपने सब विघ्नों को हटा कर आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथ अष्टमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ३६ ॥

१-१० । अग्निर्देवता । अनुष्टुप् छन्दः ।

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

तान्त्सत्यौजाः प्र दहत्वग्निर्वैश्वानरो वृषा ।
यो नो दुरस्याद् दिप्साच्चाथो यो नो अरातियात् ॥१॥

तान् । सत्य-ओजाः । प्र । दहतु । अग्निः । वैश्वानरः । वृषा । यः । नः । दुरस्यात् । दिप्सात् । च । अथो इति । यः । नः । अराति-यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सत्यौजाः) सत्य बल वाला, (वैश्वानरः) सब नरों का हित करनेवाला, (वृषा) सुख वर्षाने वाला वा ऐश्वर्यवान् (अग्निः) सर्व-व्यापक परमेश्वर (तान्) उन सब को (प्र दहतु) भस्म कर डाले। (यः)

सर्वस्य जेतारम् (पचामि) परिपक्वं दृढं करोमि (शृण्वन्तु) आकर्णयन्तु (मे) मम वाक्यम् (श्रद्दधानस्य) श्रद्धाधारकस्य (देवाः) व्यवहारिणो विद्वांसः ॥

१—(तान्) निर्दिष्टान् (सत्यौजाः) अवितथबलः (प्र) प्रकर्षेण (दहतु) भस्मीकरोतु (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (वृषा) अ० १ । १२ । १ । सुखवर्षकः । ऐश्वर्यवान् (यः) शत्रुः

जो (नः) हमें (दुरस्यात्) दुष्ट माने, (च) और जो (दिप्सात्) मारना चाहे, (अथो) और भी (यः) जो (नः) हम से (अरातियात्) बैरी सा बर्ताव करे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके धर्म के विघ्नकारियों को नष्ट करें ॥ १ ॥

यो नो दिप्सददिप्सतो दिप्सतो यश्च दिप्सति ।
वैश्वानरस्य दंष्ट्रयोरग्नेरपि दधामि तम् ॥ २ ॥

यः । नः । दिप्सत् । अदिप्सतः । दिप्सतः । यः । च । दिप्सति ।
वैश्वानरस्य । दंष्ट्रयोः । अग्नेः । अपि । दधामि । तम् ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (अदिप्सतः) न सताने वाले (नः) हम को (दिप्सत्) सताना चाहे, (च) और (यः) जो (दिप्सतः) सताने वाले [हम] को (दिप्सति) सताना चाहता है, (तम्) उसको (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) ज्ञानीपुरुष के (दंष्ट्रयोः) दोनों डाढ़ों के बीच जैसे (अपि) अवश्य (दधामि) धरता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मात्माओं को बिना कारण सतावे, और जो दुष्ट धर्मात्माओं को उनके दण्ड देने पर भी दुष्ट आचरण करे, उन शत्रुओं को

(नः) अस्मान् (दुरस्यात्) उपमानादाचारे । पा०३। १। १० । इति दुष्ट—क्यच् । दुरस्युर्द्रविणस्युर्० । पा ७ । ४ । ३६ । इति क्यचि दुष्टस्य दुरस् भावः । तदन्तात्लेटि आडागमः । दुष्टानिवाचरेत् (दिप्सात्)दन्भु दम्भे—सन् । दम्भ इच्च पा० । ७ । ४ । ५६ । इति इत्वम् । अत्र लोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इति अभ्यासलोपः । भष्भावाभावश्छान्दसः । धिप्सेत् । दम्भितुं हिंसितुमिच्छेत् (च) (अथो) अपि च (अरातियात्) पूर्ववत् क्यचि लेट् । अरातिवदाचरेत् । शत्रुवदनुतिष्ठेत् ॥

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (दिप्सत्) लेटि अडागमः । दम्भितुं हिंसितुमिच्छेत् (अदिप्सतः)दम्भितुं हिंसितुमनिच्छतः (दिप्सतः) हिंसितुमिच्छतः (यः च) (दिप्सति) दम्भितुमिच्छति । जिहिंसिषति (वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य (दंष्ट्रयोः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५८ । इति दंश दशने—ष्ट्रन्, अजा-

राजा परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से ऐसे कुचिल डाले जैसे डाढ़ों के बीच अन्न को ॥ २ ॥

य आगरे मृगयन्ते प्रतिक्रोशेऽमावास्ये ।
क्रव्यादो अन्यान् दिप्सतः सर्वांस्तान्त्सहसा सहे ॥३॥

ये । आ-गरे । मृगयन्ते । प्रति-क्रोशे । अमा-वास्ये । क्रव्य-अदः । अन्यान् । दिप्सतः । सर्वान् । तान् । सहसा । सहे ॥३॥

भाषार्थ—(ये) जो दुष्ट (आगरे) घर में (प्रतिक्रोशे) गूंजते हुये (अमावास्ये) अमावस के अन्धकार में (मृगयन्ते) खोजते फिरते हैं । (अन्यान्) दूसरों को (दिप्सतः) सतानेवाले (तान् सर्वान्) उन सब (क्रव्यादः) मांस भक्षी सिंह आदिकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—रात्री के अन्धकार में जो सिंह आदि हिंसक पशु वा मनुष्य सतावें, राजा उनका यथावत् प्रबन्ध करे ॥ ३ ॥

सहे पिशाचान्त्सहसैषां द्रविणं ददे ।
सर्वान् दुरस्यतो हन्मि सं म आकूतिर्ऋध्यताम् ॥४॥

सहे । पिशाचान् । सहसा । एषाम् । द्रविणम् । ददे । सर्वान् दुरस्यतः । हन्मि । सम् । मे । आ-कूतिः । ऋध्यताम् ॥४॥

दित्वात्—टाप् । खादनसाधनयोर्दन्तविशेषयोर्मध्ये यथा (अग्नेः) ज्ञानिनः पुरुषस्य (अपि) अवधारणे (दधामि) धरामि (तम्) शत्रुम् ॥

३—(ये) शत्रवः (आगरे) ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ७७ । इति गॄ निगरणे-अप् । आगारे । गृहे (मृगयन्ते) मृग अन्वेषणे । अन्विच्छन्ति (प्रतिक्रोशे) प्रतिध्वनियुक्ते (अमावास्ये) अमा सह वसतश्चन्द्रार्कौ यस्याम्, अमा+वस निवासे—ण्यत्, टाप् । इति अमावास्या कृष्णपक्षान्ततिथिः । अ च । पा० ४ । ३ । ३१ । इति अमावास्या—अ प्रत्ययः, जात इत्यर्थे । अमावास्यायां जाते कृष्णकाले (क्रव्यादः) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षकान् सिंहादीन् (अन्यान्) इतरान् पुरुषान् (दिप्सतः) हिंसितुमिच्छून् । (सर्वान्) (तान्) (सहसा) बलेन (सहे) अभिभवामि ॥

भाषार्थ—(पिशाचान्) मांसभक्षकों को (सहसा) बल से (सहे) मैं जीतता हूं, और (एषाम्) इनका (द्रविणम्) धन [सुपात्रों को] (ददे) मैं देता हूं। (दुरस्यतः) सताने वाले (सर्वान्) सबों को (हन्मि) मैं मारता हूं। (मे) मेरा (आकूतिः) शुभ संकल्प (सम् ऋध्यताम्) यथावत् सिद्ध होवे ॥४॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का हनन करके उनका धन सेनापति आदि योग्य पुरुषों को पारितोषिक देवे और प्रयत्न पूर्वक अपना शुभ संकल्प सिद्ध करे॥४॥

ये दे॒वास्तेन॒ हास॑न्ते॒ सूर्ये॑ण मिमते॒ ज॒वम्।

न॒दीषु॒ पर्व॑तेषु॒ ये सं तैः प॒शुभि॑र्विदे ॥ ५ ॥

ये। दे॒वाः। तेन॑। हास॑न्ते। सूर्ये॑ण। मि॒म॒ते॒। ज॒वम्। न॒दीषु॑। पर्व॑तेषु॑। ये। सम्। तैः। प॒शु-भिः। वि॒दे॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) विजयी शूर (तेन) पुण्य के साथ (हासन्ते) चलना चाहते हैं, और (ये) जो (नदीषु पर्वतेषु) नदियों और पर्वतों पर (सूर्येण) सूर्य के साथ (जवम्) अपना वेग (मिमते) करते हैं (तैः) उन (पशुभिः) दृष्टि वाले देवताओं से (सम् विदे) मैं मिलता हूं॥५॥

भावार्थ—जो महात्मा लोग सूर्य के समान शीघ्रगामी होकर बड़े बड़े कठिन कामों को सिद्ध करते हैं। उन से मिलकर सब मनुष्य उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ५ ॥

४—(सहे) अभिभवामि (पिशाचान्) अ० १।१६।३। पिशिताशिनो राक्षसान् (सहसा) बलेन (एषाम्) (द्रविणम्) अ० २।२९।३। धनम् (ददे) ददामि पात्रेभ्यः (सर्वान्) (दुरस्यतः) हन्तुमिच्छून् (हन्मि) नाशयामि (मे) मम (आकूतिः) अ० ३।२।३। शुभसंकल्पः (सम् ऋध्यताम्) सम्यक् सिध्यतु ॥

५—(ये) (देवाः) विजिगीषवः शूराः (तेन) तॄ तरणे-ड। पुण्येन-इति शब्दकल्पद्रुमः (हासन्ते) ओ हाङ् गतौ-सनि छान्दसं रूपम्। जिहासन्ते। गन्तुमिच्छन्ति (सूर्येण) आदित्येन (मिमते) माङ् माने-लट्। उपमया सादृश्येन कुर्वन्ति (जवम्) स्ववेगम् (नदीषु) (पर्वतेषु) गिरिषु (ये) (तैः) (पशुभिः) अ० २।२६।१। द्रष्टृभिर्देवैः (सम् विदे) संजाने। संगच्छे ॥

तपनो अस्मि पिशाचानां व्याघ्रो गोमतामिव ।
श्वानः सिंहमिव दृष्ट्वा तेन विन्दन्ते न्यञ्चनम् ॥ ६ ॥

तपनः । अस्मि । पिशाचानाम् । व्याघ्रः । गोमताम्-इव ।
श्वानः । सिंहम्-इव । दृष्ट्वा । ते । न । विन्दन्ते । नि-अञ्चनम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—मैं (पिशाचानाम्) मांसाहारियों का (तपनः) संताप देने वाला (अस्मि) हूं, (इव) जैसे (व्याघ्रः) बाघ (गोमताम्) गौ वालों का होता है । (ते) वे लोग (न्यञ्चनम्) छिपने का स्थान (न) नहीं (विन्दन्ते) पाते हैं, (इव) जैसे (श्वानः) कुत्ते (सिंहम्) सिंह को (दृष्ट्वा) देखकर [घबड़ा जाते हैं]

भावार्थ—दण्डवान् प्रतापी पुरुष के सन्मुख हिंसक जीव नहीं ठहरते हैं ॥ ६ ॥

न पिशाचैः सं शक्नोमि न स्तेनैर्न वनर्गुभिः । पिशाचास्तस्मान्नश्यन्ति यमहं ग्राममाविशे ॥ ७ ॥

न । पिशाचैः । सम् । शक्नोमि । न । स्तेनैः । न । वनर्गु-भिः ।
पिशाचाः । तस्मात् । नश्यन्ति । यम् । अहम् । ग्रामम् । आ-विशे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (पिशाचैः) पिशाचों के साथ, (न) न

६—(तपनः) तप-ल्यु । संतापकः (अस्मि) (पिशाचानाम्) मांसभक्षकाणाम् (व्याघ्रः) हिंसकजन्तुविशेषः (गोमताम्) गोस्वामिनाम् (इव) यथा (श्वानः) अ० ४ । ५ । २ । श्वाऽऽशुयायी शवतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा—निरु० ३ । १८ । कुक्कुराः (सिंहम्) अ० । ४ । ८ । ७ (इव) (दृष्ट्वा) अवलोक्य (ते) पिशाचाः (न) निषेधे (विन्दन्ते) लभन्ते (न्यञ्चनम्) निम्नगमनं रक्षास्थानम् ॥

७—(न) निषेधे (पिशाचैः पिशिताशिभिः (सम्) संवस्तुम् (शक्नोमि)

(स्तेनैः) चोरों के साथ, और (न) न (वनर्गुभिः) वनचर डाकुओं के साथ (सम् शक्नोमि) रह सकता हूं। (यम्) जिस (ग्रामम्) ग्राम में (अहम्) मैं (आविशे) घसता हूं, (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं ॥७॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि बस्तियों में हिंसक चोर आदि लूट खसोट न करें ॥ ७ ॥

यं ग्राम॑मावि॒शत॑ इ॒दमु॒ग्रं सहो॒ मम॑ ।
पि॒शा॒चास्तस्मा॑न्नश्यन्ति॒ न पा॒पमुप॑ जानते ॥ ८ ॥

यम् । ग्राम॑म् । आ॒-वि॒शते॑ । इ॒दम् । उ॒ग्रम् । सहः॑ । मम॑ ।
पि॒शा॒चाः । तस्मा॑त् । न॒श्य॒न्ति॒ । न । पा॒पम् । उप॑ । जा॒न॒ते॒ ॥८॥

भाषार्थ—(यम् ग्रामम्) जिस ग्राम में (इदम्) यह (उग्रम्) उग्र (मम) मेरा (सहः) बल (आ विशते) प्रवेश करता है। (पिशाचाः) पिशाच लोग (तस्मात्) उस स्थान से (नश्यन्ति) भाग जाते हैं और (पापम्) पाप को (न) नहीं (उप जानते) जानते हैं ॥८॥

भावार्थ—प्रतापी नीति निपुण राजा के शासन में दुष्ट लोग उपद्रव नहीं मचाते हैं ॥८॥

शक्तो भवामि (स्तेनैः) चौरैः (वनर्गुभिः) मृगयवादयश्च। उ० १। ३७। इति वन+गम्लृ गतौ—डु रुडागमः। स्तेननाम-निघ० ३। २४। वनर्गू वनगामिनौ-निरु० ३। १४। वनचरैः। दस्युभिः (पिशाचाः) पिशिताशनाः (तस्मात्) ग्रामात् (नश्यन्ति) अदृष्टा भवन्ति पलायन्ते (यम्) (अहम्) (ग्रामम्) अ० ४। ७। ५। वसतिम् (आविशे) प्रविशामि ॥

८—(यम्) (ग्रामम्) वसतिम् (आविशते) प्रविशति (इदम्) (उग्रम्) तीक्ष्णम् (सहः) बलम् (मम) मदीयम् (पिशाचाः, तस्मात्, नश्यन्ति) म० ७। (न) निषेधे (पापम्) पाति यस्मात् तत्। अनिष्टम् (उप जानते) अवबुध्यन्ते ॥

ये मा क्रोधयन्ति लपिता हस्तिनं मशका इव ।
तानहं मन्ये दुर्हितान् जने अल्पशयूनिव ॥ ९ ॥

ये । मा । क्रोधयन्ति । लपिताः । हस्तिनम् । मशकाः-इव ।
तान् । अहम् । मन्ये । दुः-हितान् । जने । अल्पशयून-इव ॥९॥

भाषार्थ—(ये) जो (लपिताः) बकवादी लोग (मा) मुझे (क्रोधयन्ति) क्रुध करते हैं, (मशकाः इव) जैसे मच्छड़ (हस्तिनम्) हाथी को । (तान्) उन (दुर्हितान्) दुष्कर्मियों को (जने) मनुष्यों के बीच (अल्पशयून् इव) थोड़े सोने वाले कीट पतंगों के समान (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूं ॥९॥

भावार्थ—बकबके दुराचारियों को दण्ड देकर राजा सदा दुर्बल रक्खे ॥ ९ ॥

अभि तं निर्ऋतिर्धत्तामश्वमिवाश्वाभिधान्या ।
मल्वो यो मह्यं क्रुध्यति स उ पाशान्न मुच्यते ॥१०॥

अभि । तम् । निः-ऋतिः । धत्ताम् । अश्वम्-इव । अश्व-अभिधान्या । मल्वः । यः । मह्यम् । क्रुध्यति । सः । ऊं इति । पाशात् । न । मुच्यते ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तम्) उस को (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (अभि धत्ताम्) बांध लेवे (अश्वम् इव) जैसे घोड़े को (अश्वाभिधान्या) घोड़ा बांधने की

९—(ये) दुष्टाः (मा) माम् (क्रोधयन्ति) कोपयन्ति (लपिताः) लप कथने-क्त । लपितं कथनमस्यास्तीति, अर्श आद्यच् । बहुवचनयुक्ताः । वाचालाः (हस्तिनम्) गजम् (मशकाः) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० । ५ । ३५ । इति मश ध्वनौ-वुन् । दंशकाः (इव) यथा (तान् (अहम् (मन्ये) जानामि (दुर्हितान्) दुष्कर्मिणः (जने) जनसमूहे (अल्पशयून्) भृमृशीङ् ० । उ० । १ । ७ । इति अल्प+शीङ् स्वप्ने-उ । अल्पशयनस्वभावान् क्षुद्रजन्तून् ॥

१०— (अभि धत्ताम्) बध्नातु (तम्) दुष्टम् (निर्ऋतिः) अ० ३ । ११ । २ । कृच्छापत्तिः-निरु० २ । ७ । अलक्ष्मीः (अश्वम् इव) यथा तुरङ्गम् (अ-

रसरी से। (यः मल्वः) जो मलिन पुरुष (मह्यम्) मुझ पर (क्रुध्यति) क्रोध करता है, (सः) वह (पाशात्) फांसी से (उ न) कभी नहीं (मुच्यते) छुटता है ॥१०॥

भावार्थ—राजा कुकर्मी दुष्टों को यथावत् दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करे ॥ १० ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१-१२ ॥ १, २, ६, १० ओषधिः, ३, ४, ५ अप्सरसः, ८, ९, इन्द्रः, ११ गन्धर्वः, ७, १२ गन्धर्वाप्सरसो देवताः ॥ १-४, ६, ८-१५ अनुष्टुप्, ५ पथ्या पङ्क्तिः, ७ उष्णिक् ॥

गन्धर्वाप्सरसां गुणोपदेशः-गन्धर्व और अप्सराओं के गुणों का उपदेश ॥

त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे ।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः ॥ १ ॥

त्वया । पूर्वम् । अथर्वाणः । जघ्नुः । रक्षांसि । ओषधे ।
त्वया । जघान । कश्यपः । त्वया । कण्वः । अगस्त्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे तापनाशक परमेश्वर ! (त्वया) तेरे सहारेसे (पूर्वम्) पहिले (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले अथवा मंगल के लिये व्यापक महात्माओं ने (रक्षांसि) राक्षसों को (जघ्नुः) मारा था । (त्वया)

श्वाभिधान्या) अश्वमभिदधाति बध्नात्यनया सा अश्वाभिधानी। करणे-ल्युट् टित्त्वाद् ङीप्। अश्वबन्धनरज्ज्वा (मल्वः) कॄ गॄशॄदृभ्यो वः। उ० १। १५५। इति मल धारणे—व। मलिनः। क्रूरः (यः) (मह्यम्) क्रुधद्रुहेर्ष्या०। पा० १। ४। ३७। इति चतुर्थी (क्रुध्यति) कुप्यति (सः) (उ) एव (पाशात्) बन्धनात् (न) (मुच्यते) विमुच्यते ॥

१—(त्वया) (पूर्वम्) अग्रे (अथर्वाणः) अ० ४। १। ७। निश्चलस्वभावाः। मङ्गलाय व्यापका महात्मानः (जघ्नुः) हतवन्तः (रक्षांसि) राक्षसान् (ओषधे) अ० १। २३। १। हे तापनाशक परमेश्वर (जघान) हतवान्

तेरे साथ ही (कश्यपः) तत्त्वदर्शी पुरुष ने, और (त्वया) तेरे साथ ही (कण्वः) मेधावी, तथा (अगस्त्यः) कुटिलगति, पाप के फेंकने में समर्थ जीव ने (जघान) मारा था ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज ऐतिहासिक जितेन्द्रिय पुरुषों ने जगत् का उपकार किया है, वैसे ही सब मनुष्य ज्ञान पूर्वक दोषों का नाश करके परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

त्वया॑ व॒यम॑प्स॒रसो॑ गन्ध॒र्वांश्चा॑तयामहे ।
अज॑शृ॒ङ्ग्यज॒ रक्षः॒ सर्वा॑न् ग॒न्धेन॑ नाशय ॥ २ ॥

त्वया॑ । व॒यम् । अ॒प्स॒रसः॑ । ग॒न्ध॒र्वान् । चा॒त॒या॒म॒हे॒ । अज॑ऽशृ॒ङ्गि॒ । अज॑ । रक्षः॑ । सर्वा॑न् । ग॒न्धेन॑ । ना॒श॒य॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अजशृङ्गि) हे जीवात्मा के दुःखनाशक शक्ति परमेश्वर ! (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम लोग (अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों को और (गन्धर्वान्) विद्या वा पृथिवी धारण करने वाले गुणों को (चातयामहे) मांगते हैं। (गन्धेन) अपनी व्याप्ति से (सर्वान्) सब (रक्षः) राक्षसों को (अज) हटा दे और (नाशय) नाश करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर पर विश्वास करके पुरुषार्थ करते हैं वे ही संसार को सुख देते हैं। [अजशृङ्गी एक औषध भी है] ॥ २ ॥

इन मन्त्रों के साथ अ० का० २ सू० २ का मिलान् करो ॥

(कश्यपः) अ०२ । ३३ । ७ । पश्यकः, तत्त्वदर्शकः पुरुषः (कण्वः) अ० २ । ३२ ३ । मेधावी-निघ० ३ । १५ । (अगस्त्यः) अ० २ । ३२ । ३ । अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पाटने समर्थः पुरुषः ॥

२—(त्वया) (वयम्) (अप्सरसः) अ० २ । २ । ३ । सरतेरप्पूर्वादसिः। उ० ४ । २३७ । इति अप्+सृगतौ- असि । अप्सु आकाशे, जले प्राणेषु प्रजासु च सरणशीलाः शक्तीः (गन्धर्वान्) अ० २ । १ । २ । विद्याधारकान् पृथिवीधारकान् वा गुणान् (चातयामहे) चते याचने, भ्वा० । अत्र चुरादिः । याचामहे (अजशृङ्गि) अजो जीवात्मा-अ० ४ । १४ । १ । शृङ्गम्-अ० २ । ३२ । ६ । शॄ हिंसायाम्-गन्, स च कित् नुट् च । ङीप् । अजस्य जीवात्मनः शृङ्गं दुःखनाशनं यस्याः सा शक्तिः परमेश्वरः, तत्सम्बुद्धौ अजशृङ्गीति ओषधिविशेषोऽप्यस्ति (अज) प्रक्षिप (रक्षः) रक्ष पालने-अपादाने क्विप् । राक्षसान् (सर्वान्) (गन्धेन) गन्ध गतिहिंसायाचनेषु-अच् । स्वव्याप्तया (नाशय) ॥

नदीं यन्त्वप्सरसोऽपां तारमवश्वसम्। गुल्गुलूः पीला नलद्यौ३क्षगन्धिः प्रमन्दनी। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ३ ॥

नदीम्। यन्तु। अप्सरसः। अपाम्। तारम्। अव-श्वसम्। गुल्गुलूः। पीला। नलदी। औक्ष-गन्धिः। प्र-मन्दनी। तत्। परा। इत। अप्सरसः। प्रति-बुद्धाः। अभूतन ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश, जल, प्राण, और प्रजाओं में व्यापक शक्तियां (अपाम्) जल के (तारम्) तटको (अवश्वसम्) भरती हुई (नदीम्) नदी [नदी के समान पूर्णता] को (यन्तु) प्राप्त हों ॥

[जो प्रत्येक] (गुल्गुलूः) रक्षा साधन से रक्षित, (पीला) सब को घेरने वाली, (नलदी) बन्धन काटने वाली, (औक्षगन्धिः) बड़ों के योग्य गतिवाली, और (प्रमन्दनी) आनन्द देने वाली शक्ति है।

(तत्) इसलिये (अप्सरसः) हे आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुयी (अभूतन) होचुकी हो ॥ ३ ॥

३—(नदीम्) अ० १।८।१ नदीत्वम्। नदीवत्पूर्णताम् (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (अप्सरसः) म० २। अप्सु आकाशजलप्राणप्रजासु व्यापनशीलाः शक्तयः (अपाम्) व्याप्तिमतां जलानाम् (तारम्) तॄ प्लवनतरणयोः-घञ्। तरणस्थानम्, तीर्थम्, नदीकूलम् (अवश्वसम्) श्वस प्राणने-क्विप्, अन्तर्भावितण्यर्थः। अवश्वासयन्तीम्। सर्वतः पूरयन्तीम् (गुल्गुलूः) अ० २।३६।७। गुड रक्षायाम्-क्विप+गुड-कु, स्त्रियाम् ऊङ्। डलयोरैक्यम्। गुडा रक्षासाधनेन गुडिता रक्षिता शक्तिः (पीला) पील रोधने-अच्, टाप्। रोधनशीला नियामिका (नलदी) णल बन्धने-अच्+दो अवखण्डने—क, ङीप्। बन्धनच्छेदिका (औक्षगन्धिः) औक्षः, अ० २।३६।७। उक्षाः, महन्नाम-निघ० ३।३। ततः, अण्। सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४।११८। इति गन्ध गतिहिंसायाचनेषु-इन्। महतां योग्या गतिर्यस्याः सा (प्रमन्दनी) मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु-ल्युट्,

भावार्थ—परमेश्वर की अनन्त गुणवाली शक्तियां संसार में व्याप्त हैं। मनुष्य विज्ञान पूर्वक उनसे उपकार लेकर आनन्द पावें ॥ ३ ॥

यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥ ४ ॥

यत्र । अश्वत्थाः । न्यग्रोधाः । महा-वृक्षाः । शिखण्डिनः ।
तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रति-बुद्धाः । अभूतन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां पर (अश्वत्थाः) वीरों में खड़े होने वाले, (न्यग्रोधाः) शत्रुओं को रोक देने वाले, (महावृक्षाः) अत्यन्त स्वीकार करने योग्य, और (शिखण्डिनः) अत्यन्त उद्यमी पुरुष हों।

(तत्) वहां (अप्सरसः) हे आकाश आदि में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जानकर महापुरुषार्थी होवें ॥ ४ ॥

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति । तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥५॥

ङीप्। प्रमोदयित्री, हर्षयित्री (तत्) तस्मात् (परा) पराक्रमेण (इत) गच्छत प्राप्नुत (अप्सरसः) हे अप्सरसः । आकाशजलप्राणप्रजासु व्यापनशीलाः शक्तयः। (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्षज्ञाताः (अभूतन) भू सत्तायाम् लुङ्। तप्तनप्तन-थनाश्च। पा० ७। १। ४५। इति तकारस्य तन। अभूत। अवर्तिद्ध्वम् ॥

४—(यत्र) यस्मिन् स्थाने (अश्वत्थाः) अ० ३। ६। १। अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशीलाः। अश्वत्थामानः। अतिवीरपुरुषाः (न्यग्रोधाः) न्यक्+रुधिर् आवरणे—अच्। शत्रूणां नीचं रोधकाः (महावृक्षाः) वृक्ष वरणे—क। महावरणीयाः। अतिश्रेष्ठाः (शिखण्डिनः) अण्डन् कृसृभृवृभ्यः। उ० १। १२६। इति शिख गतौ—अण्डन्, स च कित्, तत इनि। गतिवन्तः। उद्योगिनः। अन्यत् पूर्ववत् म० ३ ॥

यत्रं । वः । प्र-ईङ्खाः । हरिताः । अर्जुनाः । उत । यत्रं । आघाटाः । कर्कर्यः । सम्-वदन्ति । तत् । परा । इत । अप्सरसः । प्रति-बुद्धाः । अभूतन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां (प्रेङ्खाः) उत्तम गतिवाली, (हरिताः) स्वीकार करने योग्य, (अर्जुनाः) उपार्जन करने वाली, (उत) और (यत्र) जहां (आघाटाः) चेष्टा करती हुई (कर्कर्यः) उत्तमकर्म ग्रहण करने वाली प्रजायें (वः) तुम्हारा (संवदन्ति) सम्वाद करती हैं।

(तत्) वहां (अप्सरसः) हे आकाशादि में व्यापक शक्तियो ! (परा) पराक्रम से (इत) प्राप्त हो, तुम (प्रतिबुद्धाः) प्रत्यक्ष जानी हुई (अभूतन) हो चुकी हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुषार्थी पुरुष परमेश्वर की महिमा साक्षात् करके आनन्दित होते हैं ॥ ५ ॥

एयमंगन्नोषधीनां वीरुधां वीर्यावती ।
अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥ ६ ॥

आ । इयम् । अगन् । ओषधीनाम् । वीरुधाम् । वीर्य-वती । अज-शृङ्गी । अराटकी । तीक्ष्ण-शृङ्गी । वि । ऋषतु ॥६॥

भाषार्थ—(ओषधीनाम्) ताप नाशक (वीरुधाम्) विविध प्रकार से उगने वाली प्रजाओं के बीच (वीर्यावती) बड़ी सामर्थ्य वाली (इयम्) यह

५—(यत्र) (वः) युष्माकम् (प्रेङ्खाः) प्र+ईखि गतौ-घञ्, टाप् । प्रकृष्टगतयः (हरिताः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति हञ् हरणे=स्वीकारे-इतन्, टाप् हरणीयाः स्वीकरणीयाः (अर्जुनाः) अर्ज अर्जने प्रतियत्ने च उनन्, टाप् । अर्जनशीलाः । प्रयत्नस्वभावाः (उत) अपि च (आघाटाः) आङ्+घट चेष्टायाम्-घञ् । चेष्टायमानाः (कर्कर्यः) कृदाधा० । उ० ३ । ४० । इति डुकृञ् करणे-क, रा दानग्रहणयोः-क, ङीप् । कर्क रातीति कर्करी । कर्मग्रहीत्र्यः प्रजाः (सम्वदन्ति) सम्वादं कुर्वन्ति । अन्यत् पूर्ववत् म० ३ ॥

६—(इयम्) समीपे वर्तमाना (आ अगन्) गमेर्लुङि छान्दसं रूपम् ।

शक्ति (आ अगन्) प्राप्त हुई है। वही (अजशृङ्गी) जीवात्मा का दुःख काटने वाली, (अराटकी) शीघ्र प्राप्त होने वाली, (तीक्ष्णशृङ्गी) बड़े तेज वाली शक्ति परमेश्वर (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमपिता परमेश्वर की शक्ति सब पदार्थों में व्यापक है, उसके ज्ञान से हम लोग अपनी उन्नति करें ॥ ६ ॥

आनृत्यतः शिखण्डिनो गन्धर्वस्याप्सरापतेः ।
भिनद्मि मुष्कावपि यामि शेपः ॥ ७ ॥

आ-नृत्यतः । शिखण्डिनः । गन्धर्वस्य । अप्सरा-पतेः ।
भिनद्मि । मुष्कौ । अपि । यामि । शेपः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(आनृत्यतः) सब ओर चेष्टा करने वाले, (शिखण्डिनः) महा उद्योगी (गन्धर्वस्य) वेदवाणी और पृथिवी आदि को धारण करने वाले (अप्सरापतेः) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों के रक्षक परमेश्वर का (शेपः) सामर्थ्य (यामि) मैं मांगता हूं, [जिस से] (मुष्कौ) [कामक्रोधरूप] दो चोरों को (अपि) अवश्य (भिनद्मि) छिन्न भिन्न करूं ॥ ७ ॥

आगमत्। आगता (ओषधीनाम्) तापनाशयित्रीणां मध्ये (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (वीर्यावती) छान्दसो दीर्घः। अतिशयेन सामर्थ्ययुक्ता (अजशृङ्गी) म० २। अजस्य जीवात्मनो दुःखनाशनी शक्तिः (अराटकी) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन्। उ० ।५।३५। इति अर+अट गतौ—वुन्। ङीष्। अरं शीघ्रम् अटति सा। शीघ्रगामिनी (तीक्ष्णशृङ्गी) म० २। शृङ्गाणि ज्वलतो नाम-निघ० १।१७। तीव्रतेजाः (वि ऋषतु) ऋषी गतौ। व्याप्नोतु ॥

७—(आनृत्यतः) नृती गात्रविक्षेपे—शतृ। सम्यक् चेष्टायमानस्य (शिखण्डिनः) म० ४। उद्योगिनः (गन्धर्वस्य) म० २। पृथिव्यादिधारकस्य (अप्सरापतेः) अ० २।२।३। अप्सराणाम् आकाशजलप्राणप्रजासु सरणशीलानां शक्तीनां पालकस्य परमेश्वरस्य (भिनद्मि) विदारयामि (मुष्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्। उ० ३।४१। इति मुष स्तेये-कक्। कामक्रोधरूपौ तस्करौ (अपि) एव (यामि) याच्ञाकर्मा-निघ० ३।१९। अहं याचे (शेपः) पानीविषिभ्यः पः।

भावार्थ—सर्वव्यापक सर्वनियामक परमेश्वर के विचार से मनुष्य जितेन्द्रिय होकर कुकाम कुक्रोध आदि दोषों को मिटावें ॥ ७ ॥

भीमा इन्द्र॑स्य हे॒तयः॑ श॒तमृ॒ष्टीर॑यस्मयीः ।
ताभि॑र्हविरदान् ग॑न्धर्वान॑वकादान् व्यृ॑षतु ॥ ८ ॥

भीमाः । इन्द्र॑स्य । हे॒तयः॑ । श॒तम् । ऋ॒ष्टीः । अ॒यस्मयीः । ताभिः । ह॒विः-अ॒दान् । ग॒न्धर्वान् । अ॒व॒का-अ॒दान् । वि । ऋ॒ष॒तु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (अयस्मयीः) लोह की बनी हुई (ऋष्टीः) खड्गों के समान (भीमाः) भयानक हैं । (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (गन्धर्वान्) वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दुराचारियों को अनेक प्रकार से दण्ड देकर सत्पुरुषों की रक्षा करता है ॥ ८ ॥

उ० ३ । २३ । इति शीङ् शयने-प । शेपो वैतस इति पुंस्प्रजननस्य । शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः-निरु० ३ । २१ । सामर्थ्यम् ॥

८—(भीमाः) अ० ३ । २५ । १ । भयंकराः (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (हेतयः) अ० १ । १३ । ३ । हननशक्तयः (शतम्) बहु—निघ० ३ । १ । (ऋष्टीः) ऋषी गतौ—क्तिच् क्तिन् वा । ऋष्टयः । खड्गा यथा (अयस्मयीः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति इण् गतौ—असुन् । अयस्मय्यः लौहे निर्मिताः (ताभिः) (हविरदान्) हविः+अद भक्षणे पचाद्यच् । ग्राह्यान्नभोक्तॄन् (गन्धर्वान्) म० २ । वेदवाण्यादिधारकान (अवकादान्) कृञादिभ्यः उ० ५ । ३५ । इति अव रक्षणगतिहिंसादिषु—वुन् । टाप्+अद-अच् । हिंसानां भक्षकान् नाशकान् (वि ऋषतु) व्याप्नोतु ॥

भीमा इन्द्रस्य हेतयः शतमृष्टीर्हिरण्ययीः ।
ताभिर्हविरदान् गन्धर्वानवकादान् व्यृषतु ॥ ९ ॥

भीमाः । इन्द्रस्य । हेतयः । शतम् । ऋष्टीः । हिरण्ययीः । ताभिः । हविः-अदान् । गन्धर्वान् । अवका-अदान् । वि । ऋषतु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) परमेश्वर की (शतम्) सौ (हेतयः) हनन शक्तियां (हिरण्ययीः) तेजोमयी (ऋष्टीः) तरवारों के समान (भीमाः) भयानक हैं। (ताभिः) उनके साथ [दुष्ट दमन के लिये] (हविरदान्) ग्राह्य अन्न के भोजन करने वाले (अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले (गन्धर्वान्) वेदवाणी और पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषों को [वह परमेश्वर] (वि ऋषतु) व्याप्त होवे ॥ ९ ॥

भावार्थ—म० ८ के समान ॥ ९ ॥

अवकादानभिशोचानप्सु ज्योतय मामकान् ।
पिशाचान्त्सर्वानोषधे प्र मृणीहि सहस्व च ॥ १० ॥

अवका-अदान् । अभि-शोचान् । अप्-सु । ज्योतय । मामकान् । पिशाचान् । सर्वान् । ओषधे । प्र । मृणीहि । सहस्व । च ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अवकादान्) हिंसाओं के नाश करने वाले, (अभिशोचान्) सब ओर प्रकाशमान (मामकान्) मेरे पुरुषों को (अप्सु) व्याप्यमान प्रजाओं

९—(हिरण्ययीः) हिरण्ययः=हिरण्मयः=निरु० १० । २३। हिरण्मय्यः। तेजोमय्यः। अन्यत् पूर्ववत्-म० ८॥

१०—(अवकादान्) म० ८। हिंसानां भक्षकान् नाशकान् (अभिशोचान्) अभितः शोचमानान् दीप्यमानान् (अप्सु) व्याप्यमानासु प्रजासु (ज्योतय) ज्योततेर्ज्वलतिकर्मा—निघ० । १। १६। णिचि रूपम्। द्योतय प्रकाशय (मामकान्) मत्सम्बन्धिनः पुरुषान् (पिशाचान्) मांसभक्षकान् रोगादीन्

के बीच (ज्योतय) ज्योति वाला कर । (ओषधे) हे औषध समान ताप नाशक परमेश्वर (सर्वान्) सब (पिशाचान्) मांस भक्षक रोग वा जीवों को (प्र मृणीहि) मारडाल (च) और (सहस्व) हरा दे ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर की प्रार्थना पूर्वक धर्मात्मा पुरुष दुष्ट स्वभावों, रोग और दुष्ट जीवों का नाश करें ॥ १० ॥

श्वेवैकः कुपिरिवैकः कुमारः सर्वकेशकः ।
प्रियो दृश इव भूत्वा गन्धर्वः सचते स्त्रियस्तमितो नाशयामसि ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ ११ ॥

श्वा-इव । एकः । कुपिः-इव । एकः । कुमारः । सर्व-केशकः । प्रियः । दृशे-इव । भूत्वा । गन्धर्वः । सचते । स्त्रियः । तम् । इतः । नाशयामसि । ब्रह्मणा । वीर्यवता ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एकः इव) एक ही परमेश्वर (श्वा) गतिशील वा वृद्धिशील है, (एकः इव) एक ही (कपिः) कपाने वाला वा क्रोध शील, (कुमारः) कामना योग्य, (सर्वकेशकः) सर्व प्रकाशक है । (प्रियः इव) प्रिय ही परमेश्वर (गन्धर्वः) वेदवाणी वा पृथिवी का धारण करने वाला (भूत्वा) होकर (दृशे) सबके देखने के लिये (स्त्रियः) आपस में संगति रखने वाले समूहों में (सचते) मिला रहता है । (वीर्यावता) उस सामर्थ्य वाले (ब्रह्मणा) परब्रह्म के साथ (तम्) चोट करने वाले चोर को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

(सर्वान्) (ओषधे) हे ओषधिवत् तापनाशक परमेश्वर (प्र) (मृणीहि) मृण । नाशय (सहस्व) अभिभव (च) समुच्चये ॥

११—(श्वा) श्वनुक्षन्० । उ० १ । १५६ । इति टुओ श्वि गति वृद्ध्योः कनिन् । श्वाऽऽशुयायी शवते वा स्याद् गतिकर्मणः श्वसितेर्वा—निरु० । ३ । १८ । गतिशीलः । वृद्धिशीलः (इव) अवधारणे (एकः) अद्वितीयः (कपिः) कुण्ठि-कम्प्योर्नलोपश्च । ४ । १४४ । इति कपि चलने-इ । कम्पते क्रुध्यतिकर्मा—निघ० । २ । १२ । कम्पयिता । क्रोधशीलः (कुमारः) कमेः किदुच्चोपधायाः । उ० । ३ ।

भावार्थ—परमात्मा को सर्वद्रष्टा आदि गुण विशिष्ट जानकर मनुष्य ज्ञान पूर्वक अपने दुष्कर्मों का नाश करें ॥ ११ ॥

जाया इद् वो अप्सरसो गन्धर्वाः पतयो यूयम् ।
अप धावतामर्त्या मर्त्यान् मा सचध्वम् ॥ १२ ॥

जायाः । इत् । वः । अप्सरसः । गन्धर्वाः । पतयः । यूयम् ।
अप । धावत । अमर्त्याः । मर्त्यान् । मा । सचध्वम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाः) हे वेद वाणी वा पृथिवी के धारण करने वाले पुरुषो ! (अप्सरसः) आकाश आदि में व्यापक शक्तियां (वः) तुम्हारे लिये (इत्) ही (जायाः) सुख उत्पन्न करने वाली हैं (यूयम्) तुम [उनके] (पतयः) रक्षक [बनो] । (अप) आनन्द से (धावत) धाओ और (अमर्त्याः) हे अमर [नित्य उत्साही] पुरुषो ! (मर्त्यान्) मरते हुये [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले पुरुषों को (मा=मया) लक्ष्मी के साथ (सचध्वम्) सदा मिले ॥ १२ ॥

---

१३८ । इति कमु कान्तौ—आरन् । कमनीयः (सर्वकेशकः) काशृ दीप्तौ—वुन् । अकारस्य एकारः । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद्वा, निरु० १२ । २५ । सर्वप्रकाशकः (प्रियः) प्रीतिकरः (दृशे) अ० १ । ६ । ३ । द्रष्टुम् । सर्वदर्शनाय (भूत्वा) (गन्धर्वः) पृथिव्यादिधारकः परमेश्वरः (स्त्रियः) अ० १ । ८ । १ । स्त्यै संघाते ड्रट्, ङीप् । सर्वाः संहतीः । समूहान् (तम्) तन आघाते-ड । तानयतीति तः । आहन्तारं चोरम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) नाशयामः (ब्रह्मणा) परमेश्वरेण सह (वीर्यावता) अतिशयसामर्थ्ययुक्तेन ॥

१२—(जायाः) जनेर्यक् । उ० ४ । १११ । इति जन जनने—यक्, टाप् । ये विभाषा । पा० । ६ । ४ । ४३ । इति आत्वम् । सुखस्य जनयित्र्यः (इत्) एव (वः) युष्मभ्यम् (अप्सरसः) म० २ । आकाशादिषु सरणशीलाः शक्तयः (गन्धर्वाः) म० २ । हे विद्यायाः पृथिव्या वा धारकाः पुरुषाः (पतयः) रक्षकाः (यूयम्) (अप) आनन्देन । यथा—अपचितिः पूजा (धावत) शीघ्रं गच्छत (अमर्त्याः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति मृङ् प्राणत्यागे-यक् तुक् च,

भावार्थ—परमेश्वर की अनन्त अद्भुत शक्तियां संसार में उपस्थित हैं, उत्साही पुरुष उनसे उपकार लेकर सदा परस्पर उन्नति करें ॥ १२ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-७ ॥ अप्सरा देवता ॥ १-४ अनुष्टुप्, ५, ७ जगती, ६ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

उद्भिन्दतीं संजयन्तीमप्सरां साधुदेविनीम् ।
ग्लहे कृतानि कृण्वानामप्सरां तामिह हुवे ॥ १ ॥

उत्-भिन्दतीम् । सम्-जयन्तीम् । अप्सराम् । साधु-देविनीम् । ग्लहे । कृतानि । कृण्वानाम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥१॥

भावार्थ—(उद्भिन्दतीम्) [शत्रुओं को] उखाड़ने वाली, (सञ्जयन्तीम्) यथावत् जीतने वाली, (अप्सराम्) अद्भुतरूप वाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे=ग्रहे) [अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (कृण्वानाम्) करती हुई (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक [परमेश्वर] शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ १ ॥

निपातनात्साधुः । अमराः । नित्योत्साहिनः (मर्त्यान्) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति मृङ् प्राणत्यागे—तन् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति मर्त-यत् । मर्तेभ्यो मनुष्येभ्यो हितान् पुरुषान् (मा) माङ् माने—क्विप् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेर्लुक् । मया लक्ष्म्या । इन्दिरा लोकमाता मा—इत्यमरः । १ । २६ । (सचध्वम्) समवेत ॥

१—(उद्भिन्दतीम्) भिदिर् विदारणे—शतृ, ङीप् । उत्कर्षेण शत्रून् विदारयन्तीम् (संजयन्तीम्) सम्यग् जयं कुर्वतीम् (अप्सराम्) अ० २ । २ । ३ । अद्भुतरूपवतीम् । (साधुदेविनीम्) सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये । पा० ३ । २ । ७८ । इति साधु+दिवु क्रीडाव्यवहारस्तुत्यादिषु—णिनि । उचितव्यवहार-

भावार्थ—परमेश्वर की अद्भुत शक्तियां सब व्यवहारों में व्याप्त हैं। मनुष्य उनका खोज लगा कर सदा सुखी रहें॥ १॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० २ सू० २ और पिछले सूक्त से करो॥

विचिन्वतीमाकिरन्तीमप्सरां साधुदेविनीम्।
ग्लहे कृतानि गृह्णानामप्सरां तामिह हुवे॥ २॥

वि-चिन्वतीम्। आ-किरन्तीम्। अप्सराम्। साधु-देविनीम्।
ग्लहे। कृतानि। गृह्णानाम्। अप्सराम्। ताम्। इह। हुवे॥२॥

भाषार्थ—(विचिन्वतीम्) [पदार्थों को] समेटने वाली, (आकिरन्तीम्) फैलानेवाली, (अप्सराम्) अद्भुत रूप वाली, (साधुदेविनीम्) उचित व्यवहार वाली, (ग्लहे)[अपने] अनुग्रह में (कृतानि) कर्मों को (गृह्णानाम्) ग्रहण करती हुयी (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं॥ २॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्तियों से अपने कार्य सिद्ध करके आनन्द प्राप्त करें॥ २॥

यायैः परिनृत्यत्याददाना कृतं ग्लहात्।
सा नः कृतानि सीषती प्रहामाप्नोतु मायया।
सा नः पयस्वत्यैतु मा नो जैषुरिदं धनम्॥ ३॥

शीलाम् (ग्लहे) अक्षेषु ग्लहः। पा० ३। ३। ७०। इति ग्लह ग्रहणे—अप्। अनुग्रहे (कृतानि) कर्माणि (गृह्णानाम्) कुर्वाणाम् (अप्सराम्) अ० २। २। ३। अप्सु आकाशजलप्राणप्रजासु सरणशीलां परमेश्वरशक्तिम् (ताम्) प्रसिद्धाम् (इह) अस्मिन् वर्त्तमानकर्मणि (हुवे) आह्वयामि॥

२—(विचिन्वतीम्) चिञ् चयने—शतृ। संग्रीकुर्वतीम् (आकिरन्तीम्) कॄ विक्षेपे—शतृ। विक्षिपन्तीम् (गृह्णानाम्) ग्रह उपादाने—शानच्। आददानाम्। अन्यत् पूर्ववत् म० २॥

या । अयैः । परि-नृत्यति । आ-ददाना । कृतम् । ग्लहात् । सा । नः । कृतानि । सीषती । प्र-हाम् । आप्नोतु । मायया । सा । नः । पयस्वती । आ । एतु । मा । नः । जैषुः । इदम् । धनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(या) जो शक्ति (अयैः) मङ्गल अनुष्ठानों के साथ (ग्लहात्) [अपने] अनुग्रह से (कृतम्) कर्म (आददाना) स्वीकार करती हुयी (परि-नृत्यति) सब ओर चेष्टा करती है। (सा) वही (नः) हमारे (कृतानि) कर्मों को (मायया) बुद्धि के साथ (सीषती) नियम बद्ध चाहती हुयी (प्रहाम्) उत्तम गति (आप्नोतु) प्राप्त करे [अर्थात् प्रसन्न हो] (सा) वही (नः) हमारे लिये (पयस्वती) अन्न वाली होकर (ऐतु) आवे। (नः) हमारे (इदम्) इस (धनम्) धन को [शत्रु लोग] (मा जैषुः) न जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों को जानकर पुष्कल अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके बलवान् हों ॥ ३ ॥

या अक्षेषु प्रमोदन्ते शुचं क्रोधं च बिभ्रती ।
आनन्दिनीं प्रमोदिनीमप्सरां तामिह हुवे ॥ ४ ॥

३—(या) (अयैः) एति सुखमनेन, इण् गतौ—अच्। अयः शुभावहो विधिः—इत्यमरः। ४। २७। शुभावहैर्विधिभिः। मङ्गलानुष्ठानैः (परिनृत्यति) सर्वत्र चेष्टते (आददाना) स्वीकुर्वाणा (कृतम्) कर्म (ग्लहात्) स्वानुग्रहात् (सा) (नः) अस्माकम् (कृतानि) कर्माणि (सीषती) षिञ् बन्धने—सनि, शतरि छान्दसं रूपम्। सिषीषन्ती। बन्धुं नियन्तुम् इच्छन्ती (प्रहाम्) प्र+ ओहाङ् गतौ—क, टाप्। प्रकृष्टां गतिम् (आप्नोतु) प्राप्नोतु (मायया) प्रज्ञया-निघ० ३। ६। (नः) अस्मभ्यम् (पयस्वती) पयः=अन्नम्—निघ० २। ७। अन्नवती (ऐतु) आगच्छतु (नः) अस्माकम् (मा जैषुः) जि जये माङि लुङि रूपम्। न जयन्तु। मापहार्षुः शत्रवः (इदम्) (धनम्) वित्तम् ॥

याः । अक्षेषु । प्र-मोदन्ते । शुचम् । क्रोधम् । च । बिभ्रती । आ-नन्दिनीम् । प्र-मोदिनीम् । अप्सराम् । ताम् । इह । हुवे ॥४

भाषार्थ—(याः=या) जो शक्ति (शुचम्) शुद्धि (च) और (क्रोधम्) क्रोध (बिभ्रती) धारण करती हुई (अक्षेषु) सब व्यवहारों में (प्रमोदन्ते=०—दते) हर्ष पाती है । (आनन्दिनीम्) आनन्द दायिनी, (प्रमोदिनीम्) हर्ष कारिणी (ताम्) उस (अप्सराम्) आकाश आदि में व्यापक शक्ति को (इह) यहां पर (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—न्यायस्वरूप परमात्मा की महिमा जानकर मनुष्य सब व्यवहारों में आनन्द प्राप्त करें ॥ ४ ॥

पण्डित सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (बिभ्रती) के स्थान पर (बिभ्रति) पद है ॥

सूर्यस्य रश्मीननु याः संचरन्ति मरीचीर्वा या अनुसंचरन्ति । यासामृषभो दूरतो वाजिनीवान्त्सद्यः सर्वान् लोकान् पर्येति रक्षन् । स न ऐतु होममिमं जुषाणो३ऽन्तरिक्षेण सह वाजिनीवान् ॥ ५ ॥

सूर्यस्य । रश्मीन् । अनु । याः । सम्-चरन्ति । मरीचीः । वा । याः । अनु-संचरन्ति । यासाम् । ऋषभः । दूरतः । वाजिनी-वान् । सद्यः । सर्वान् । लोकान् । परि-एति । रक्षन् । सः । नः । आ । एतु । होमम् । इमम् । जुषाणः । अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वान् ॥ ५ ॥

४—(याः) एकवचने बहुवचनम् । या । अप्सरा (अक्षेषु) अक्षू व्याप्तौ संघाते च-अच्, घञ् वा । यद्वा । अशेर्देवने । उ० ३ । ६५ । इति अशू व्याप्ती-स । व्यवहारेषु (प्रमोदन्ते) प्रमोदते । प्रहृष्यति (शुचम्) शुचिर् शौचे—क्विप् । शुद्धिम् (क्रोधम्) कोपम् (च) (बिभ्रती) धारयन्ती (आनन्दिनीम्) सुखवतीम् (प्रमोदिनीम्) प्रहर्षयित्रीम् । अन्यद् यथा म० ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याः) जो [शक्तियां] (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन् अनु) व्यापक किरनों के साथ साथ (संचरन्ति) चलती रहती हैं, (वा) और (याः) जो (मरीचीः) सब प्रकाशों के (अनुसंचरन्ति) साथ साथ फिरती हैं।

(यासाम्=तासाम्) उनका (ऋषभः) दर्शक परमेश्वर (वाजीनीवान्) अन्नवती क्रिया धारण करता हुआ (दूरतः) दूर से (सद्यः) तुरन्त ही (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (रक्षन्) पालता हुआ (पर्यैति) घेरकर आता है।

(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवान्) बलवती क्रिया वाला (सः) वह परमेश्वर (नः) हमारे (इमम्) इस (होमम्) आत्मदान को (जुषाणः) स्वीकार करता हुआ (ऐतु) आवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी शक्ति से सब दूर और निकट के पदार्थों में व्यापक होकर रक्षा करता है। मनुष्य उसमें पूर्ण श्रद्धा करके पुरुषार्थ पूर्वक अपनी उन्नति करें ॥ ५ ॥

पं० सेवकलाल कृष्णदास की संहिता में (पर्यैति) के स्थान पर [पर्यंति] और पद पाठ में [परि—एति] पद है ॥

अ॒न्तरि॑क्षेण स॒ह वा॑जिनीवन् क॒र्कीं व॒त्सामि॒ह र॑क्ष वाजिन् । इ॒मे ते॑ स्तो॒का ब॑हु॒ला एह्य॒र्वाङि॒यं ते॑ क॒र्कीह ते॒ मनो॑ऽस्तु ॥ ६ ॥

५—(सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मीन्) अ० २। ३२। १। व्यापकान् किरणान् (अनु) अनुसृत्य (याः) अप्सराः। ईश्वरशक्तयः (संचरन्ति) सम्यग् गच्छन्ति (मरीचीः) म्रियन्ते तमांसि यया। मृकणिभ्यामीचिः। उ० ४। ७०। इति मृङ—ईचि। दीप्तीः। प्रकाशान् (वा) वेति विचारणार्थे...अथापि समुच्चयार्थे भवति-निरु० १। ४। (अनुसंचरन्ति) अनुलक्ष्य व्याप्नुवन्ति (यासाम्)=तासाम् अप्सराणाम् (ऋषभः) अ० ३। ६। ४। द्रष्टा सर्वश्रेष्ठः परमेश्वरः (दूरतः) दूरदेशात्। अगम्यस्थानात् (वाजिनीवान्) अन्नवतीक्रियावान् (सद्यः) अ० २। १। ४। तत्क्षणम् (सर्वान्) (लोकान्) दृश्यमानानि भुवनानि (पर्यैति) परित आगच्छति (रक्षन्) पालयन् (सः) (नः) अस्माकम् (ऐतु) आगच्छतु (होमम्) अर्त्तिस्तुसुहु० । उ०१। १४०। इति हु दानादानादनेषु—मन्। आत्मदानम् (इमम्) (जुषाणः) सेवमानः (अन्तरिक्षेण) सर्वमध्यदृश्यमानेन सामर्थ्येन (सह) (वाजिनीनाम्) बलवतीक्रियायुक्तः ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह ।
रक्ष । वाजिन् । इमे । ते । स्तोकाः । बहुलाः । आ । इहि ।
अर्वाङ् । इयम् । ते । कर्की । इह । ते । मनः । अस्तु ॥६॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवन्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले, (वाजिन्) हे बलवान् परमेश्वर ! (इह) यहां पर (कर्कीम्) अपनी बनाने वाली और (वत्साम्) निवास देने वाली शक्ति की (रक्ष) रक्षा कर । (इमे) यह सब (ते) तेरे (स्तोकाः) अनुग्रह (बहुलाः) बहुत पदार्थ देने वाले हैं । (अर्वाङ्) सन्मुख (एहि) तू आ । (इयम्) यह (ते) तेरी (कर्की) रचना शक्ति है । (इहि) इसमें (ते) तेरा (मनः) मनन (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी व्यापकता और कृपा से सब संसार हमारे लिये रचा है । हम उसका मनन करके सदा सुखी रहें ॥ ६ ॥

अन्तरिक्षेण सह वाजिनीवन् कर्कीं वत्सामिह रक्ष वाजिन् । अयं घासो अयं व्रज इह वत्सां नि बध्नीमः । यथानाम वं ईश्महे स्वाहा ॥ ७ ॥

६—(अन्तरिक्षेण) सर्वमध्यदृश्यमानेन सामर्थ्येन (सह) (वाजिनीवन्) वाजिनी अन्नवती बलवती वा क्रिया तया तद्वन् (कर्कीम्) कृदाधा० । उ० ३ । ४० । इति डुकृञ्—क, ङीप् । कर्त्रीं शक्तिम् (वत्साम्) वृतॄवदिचिवसि० । उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे—स । निवासयित्रीम् (इह) अस्मिन् शरीरे (रक्ष) पालय (वाजिन्) हे बलवन् (इमे) दृश्यमानाः (ते) तव (स्तोकाः) ष्टुच् प्रसादे-घञ् । प्रसादाः । अनुग्रहाः । यद्वा । आद्यन्तविपर्ययो भवति, स्तोकाः—निरु० २ । १ । इति श्चुतिर् क्षरणे—घञ् । विन्दवः (बहुलाः) अ० ३ । १४ । ६ । वृद्धिशीलाः । बहुदातारः (एहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः (इयम्) (ते) (कर्की) कर्त्री शक्तिः (इह) (ते) (मनः) मननम् । विज्ञानम् (अस्तु) भवतु ॥

अन्तरिक्षेण । सह । वाजिनी-वन् । कर्कीम् । वत्साम् । इह । रक्ष । वाजिन् । अयम् । घासः । अयम् । व्रजः । इह । वत्साम् । नि । बध्नीमः । यथा-नाम । वः । ईश्महे । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षेण सह) सब में दृश्यमान सामर्थ्य के साथ (वाजिनीवन्) हे अन्नवती वा बलवती क्रिया वाले,(वाजिन्) हे बलवान परमेश्वर (इह) यहां पर (कर्कीम्) अपनी बनाने वाली और (वत्साम्) निवास देने वाली शक्ति की (रक्ष) रक्षा कर। (अयम्) यह (घासः) भोजन है, (अयम्) यह (व्रजः)आने जाने का स्थान है, (इह) यहां पर [हृदय में] (वत्साम्) तेरी निवास देने वाली शक्ति को (नि) निरन्तर (बध्नीमः) हम बांधते हैं।

(वः) तुम्हारा (यथानाम) जैसा नाम है, [वैसे ही] (ईश्महे) हम ऐश्वर्य वान् होवें। (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने अनन्त सामर्थ्य से अन्न, शरीर, घर आदि पदार्थ हमें दिये हैं, हम उनका यथावत् उपयोग करके सदा ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ३९ ॥

१-१० ॥ १, २, ९, १० अग्निः, ३, ४ वायुः; ५, ६ आदित्यः; ७, ८ चन्द्रो देवता ॥ १, ३, ५, ७ त्रिपदजगती; २, ४, ६, ८ संस्तारपङ्क्तिः, ९, १० त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश।

७—(अन्तरिक्षेणेत्यादि) पूर्वोऽर्धर्चः पूर्ववद् योज्यः (अयम्) उपस्थितः (घासः) घञपोश्च। पा० २।४।३८। इति अदो घस्लृ आदेशो घञि। अदनीयः पदार्थः (अयम्) (व्रजः) गोचरसंचर वहव्रज०। पा० ३।३।११९। इति व्रज गतौ घ। गमनप्रदेशः (इह) अस्मिन् विषये (वत्साम्) म० ६। निवासयित्रीं शक्तिम् (नि) नितराम् (बध्नीमः) हृदये धारयामः (यथानाम) यादृशगुणविशिष्टं नामास्ति तथैव। (वः) आदरे बहुवचनम्। तव (ईश्महे) ऐश्वर्यवन्तो भवामः (स्वाहा) अ० २।१६।१। सुवाणी। आशीर्वादः। सुदानम् ॥

पृथिव्यामग्नये समनमन्त्स आर्ध्नोत् । यथा पृथिव्यामग्नये समनमन्न्वा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥ १ ॥

पृथिव्याम् । अग्नये । सम् । अनमन् । सः । आर्ध्नोत् । यथा । पृथिव्याम् । अग्नये । सम् । अनमन् । एव । मह्यम् । सम्नमः । सम् । नमन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ-(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) भौतिक अग्निके लिये वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अग्नये) अग्निके लिये वे (सम् अनमन्) यथावत नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मेरे लिये (संनमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत (नमन्तु) नमें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्व ऋषियों ने शिल्प आदि में भौतिक अग्नि के प्रयोग सेयश सिद्ध करके अनेक सम्पत्तियां प्राप्त की हैं, वैसे ही हम भी प्राप्त करें ॥१॥

पृथिवी धेनुस्तस्या अग्निर्वत्सः ।
सा मेऽग्निना वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥ २ ॥

पृथिवी । धेनुः । तस्याः । अग्निः । वत्सः । सा । मे । अग्निना । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् । आयुः । प्रथमम् । प्र-जाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥ २ ॥

१—(पृथिव्याम्) भूलोके (अग्नये) भौतिकाग्नये (सम्) सम्यक्। यथाविधि (अनमन्) णम प्रह्वत्वे शब्दे च-लङ्। नता अभवन् ते ऋषयः (सः) अग्निः (आर्ध्नोत्) ऋधु वृद्धौ-लङ्, अन्तर्गतण्यर्थः। अवर्धयत् (यथा) येन प्रकारेण (एव) एवम् (मह्यम्) पुरुषार्थिने पुरुषाय (संनमः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते पा० ३। २। ७५। इति सम्+णम-विच्। सर्वाः सन्नतयः सम्पत्तयः (नमन्तु) प्रह्वीभवन्तु। अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(पृथिवी) पृथिवी (धेनुः) दुधेल गौ के समान है। (तस्याः) उस [धेनु] के (वत्सः) बच्चा सदृश (अग्निः) है। (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चे रूप (अग्निना) अग्नि के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे। (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बछड़े द्वारा गौ से दूध लेते हैं इसी प्रकार अग्नि विद्या द्वारा पृथिवी के पदार्थों से अनेक कला कौशल सिद्ध करके मनुष्य समृद्ध होवें ॥ २ ॥

अन्तरिक्षे वायवे समनमन्त्स आर्ध्नोत्। यथान्तरिक्षे वायवे समनमन्नेवा मह्यं संनमः सं नमन्तु ॥३॥

अन्तरिक्षे। वायवे। सम्। अनमन्। सः। आर्ध्नोत्। यथा। अन्तरिक्षे। वायवे। सम्-अनमन्। एव। मह्यम्। सम्-नमः। सम्। नमन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (वायवे) वायु को (सम्

२—(पृथिवी) भूमिः (धेनुः) अ० ३। १०। १। दोग्ध्री गौर्यथा (तस्याः) धेन्वाः (अग्निः) भौतिकाग्निः (वत्सः) अ० ३। १२। ३। गोशिशुर्यथा (सा) धेनुः (मे) मह्यम् (अग्निना) (वत्सेन) शिशुना च (इषम्) अ० ३। १०। ७। अन्नम् (ऊर्जम्) अ० ३। १०। ७। पराक्रमम् (कामम्) सुमनोरथम् (दुहाम्) तलोपः। दुग्धाम्। प्रपूरयतु (आयुः) जीवनम् (प्रथमम्) प्रख्यातं प्रधानम् (प्रजाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपां संततिम् (पोषम्) पोषणम् (रयिम्) धनम् (स्वाहा) आशीर्वादोऽस्तु ॥

३—(अन्तरिक्षे) मध्यलोके (वायवे) पवमाय। अन्यत् पूर्ववत्। म० १ ॥

अनमन्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझको (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज ऋषियों के समान सब में वर्तमान वायु से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

अ॒न्तरि॑क्षं धे॒नुस्तस्या॑ वा॒युर्व॒त्सः ।
सा मे॑ वा॒युना॑ व॒त्सेनेष॒मूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयु॑: प्रथ॒मं प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

अ॒न्तरि॑क्षम् । धे॒नुः । तस्याः॑ । वा॒युः । व॒त्सः । सा । मे॒ । वा॒युना॑ । व॒त्सेन॑ । इष॑म् । ऊर्ज॑म् । काम॑म् । दु॒हा॒म् । आयु॑: । प्र॒थ॒मम् । प्र॒-जाम् । पोष॑म् । र॒यिम् । स्वाहा॑ ॥४॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है। (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (वायुः) वायु है । (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (वायुना) वायु के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—वायु से अनेक प्रकार उपकार लेकर मनुष्य सुखी हों ॥ ४ ॥

दि॒व्या॑दि॒त्याय॒ सम॑नम॒न्त्स आर्ध्नोत् । यथा॑ दि॒व्या॑दि॒त्याय॑ स॒मन॑म॒न्नेवा मह्यं॑ स॒ंनमः॒ सं न॑मन्तु ॥५॥

दि॒वि । आ॒दि॒त्याय॑ । सम् । अ॒न॒म॒न् । सः । आ॒र्ध्नो॒त् । यथा॑ । दि॒वि । आ॒दि॒त्याय॑ । स॒म्-अन॑मन् । ए॒व । मह्य॑म् । स॒म्-नम॑: । सम् । न॒म॒न्तु ॥ ५ ॥

४—सर्वं पूर्ववत् म० २,३ ॥

भाषार्थ—(दिवि) आकाश में वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं, (सः) उस ने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है। (यथा) जैसे (दिवि) आकाश में वर्तमान (आदित्याय) सूर्य को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ ५ ॥

भावार्थ—पहिले ऋषि महात्माओं के समान सूर्य के प्रकाश आदि से उपकार लेकर आनन्द प्राप्त करें ॥ ५ ॥

द्यौर्धे॒नुस्तस्या॑ आदि॒त्यो व॒त्सः ।
सा म॑ आदि॒त्येन॑ व॒त्सेनेष॒मूर्जं॒ कामं॑ दुहाम् ।
आयुः॑ प्रथ॒मं॑ प्र॒जां पोषं॑ र॒यिं स्वाहा॑ ॥६॥

द्यौः । धे॒नुः । तस्याः॑ । आ॒दि॒त्यः । व॒त्सः । सा । मे॒ ।
आ॒दि॒त्येन॑ । व॒त्सेन॑ । इष॑म् । ऊर्ज॑म् । काम॑म् । दु॒हा॒म् ।
आयुः॑ । प्र॒थ॒मम् । प्र॒-जाम् । पोष॑म् । र॒यिम् । स्वाहा॑ ॥६॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्यलोक (धेनुः) दुधैल गौ के समान है, (तस्याः) उस [धेनु] का (वत्सः) बच्चा रूप (आदित्यः) सूर्य है। (सा) वह [धेनु] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (आदित्येन) सूर्य के साथ (इषम्) अन्न (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ, (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण, और (रयिम्) धन (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्यलोक और सूर्य का पृथिवी से संबन्ध जानकर अनेक लाभ उठाकर सुखी होवें ॥ ६ ॥

दि॒क्षु च॒न्द्राय॒ सम॑नम॒न्त्स आ॑र्ध्नोत् । यथा॑ दि॒क्षु च॒न्द्राय॑ स॒मन॑मन्ने॒वा मह्यं॑ स॒न्नमः॒ सं न॑मन्तु ॥७॥

५—(दिवि) आकाशे वर्तमानाय (आदित्याय) अ० १ । ९ । १ । आकाशमानाय सूर्याय । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

६—सर्वं पूर्वतम्-म० २,५ ।

दिक्षु । चन्द्राय । सम् । अनमन् । सः । आर्ध्नोत् । यथा । दिक्षु । चन्द्राय । सम्-अनमन् । एव । मह्यम् । सम्-नमः । सम् । नमन्तु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को वे [ऋषि लोग] (सम्) यथाविधि (अनमन्) नमे हैं । (सः) उसने [उन्हें] (आर्ध्नोत्) बढ़ाया है । (यथा) जैसे (दिक्षु) सब दिशाओं में (चन्द्राय) चन्द्रमा को (सम्-अनमन्) वे यथावत् नमे हैं, (एव) वैसे ही (मह्यम्) मुझ को (सन्नमः) सब सम्पत्तियां (सम्) यथावत् (नमन्तु) नमें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य चन्द्रमा के पुष्टिकारक गुणों से उपकार लेकर आनन्दित हों ॥ ७ ॥

दिशो धेनवस्तासां चन्द्रो वत्सः ।
ता मे चन्द्रेण वत्सेनेषमूर्जं कामं दुहाम् ।
आयुः प्रथमं प्रजां पोषं रयिं स्वाहा ॥८॥

दिशः । धेनवः । तासाम् । चन्द्रः । वत्सः । ताः । मे । चन्द्रेण । वत्सेन । इषम् । ऊर्जम् । कामम् । दुहाम् । आयुः । प्रथमम् । प्र-जाम् । पोषम् । रयिम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(दिशः) सब दिशायें (धेनवः) दुधैल गौओं के समान हैं । (तासाम्) उन [गौरूपों] का (वत्सः) बच्चा रूप (चन्द्रः) चन्द्रमा है । (ताः) वे [गौ रूप] (मे) मुझे (वत्सेन) बच्चा रूप (चन्द्रेण) चन्द्रमा के साथ (इषम्) अन्न, (ऊर्जम्) पराक्रम, (कामम्) उत्तम मनोरथ (प्रथमम् आयुः) प्रधान जीवन, (प्रजाम्) प्रजा, (पोषम्) पोषण और (रयिम्) धन (दुहाम्=दुहताम्) परिपूर्ण करें । (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ ८ ॥

७—(दिक्षु) प्राच्यादिषु (चन्द्राय) आह्लादकाय चन्द्रमसे । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

८—(दुहाम्) दुहताम् प्रपूरयन्तु । अन्यत् पूर्ववत् । म० २, ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य चन्द्रमा के गुणों का पृथिवी के साथ सम्बन्ध जान कर अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करके आनन्द भोगें ॥ ८ ॥

अग्नावग्निश्चरति प्रविष्ट ऋषीणां पुत्रो अभिशस्तिपा उ । नमस्कारेण नमसा ते जुहोमि मा देवानां मिथुया कर्म भागम् ॥९॥

अग्नौ । अग्निः । चरति । प्र-विष्टः । ऋषीणाम् । पुत्रः । अभिशस्ति-पाः । ऊं इति । नमः-कारेण । नमसा । ते । जुहोमि । मा । देवानाम् । मिथुया । कर्म । भागम् ॥९॥

भाषार्थ—(ऋषीणाम्) धर्म साक्षात् करनेवाले मुनियों वा विषय देखने वाली इन्द्रियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला,(अभिशस्तिपाः) हिंसाके भयसे बचाने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उ) निश्चय करके (अग्नौ) सूर्य,अग्नि आदि तेज में (प्रविष्टः) प्रवेश किये हुये (चरति) चलता है । (ते) [उस] तुझको (नमस्कारेण) नमस्कार और (नमसा) आदर के साथ (जुहोमि) मैं आत्मदान करता हूं । (देवानाम्) महात्माओं के (भागम्) ऐश्वर्य वा सेवनीय कर्म को (मिथुया=मिथुना) दुष्टता से (मा कर्म) हम नष्ट न करें ॥ ९ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परब्रह्म जगदीश्वर को पूर्ण भक्तिसे सर्वत्र व्यापक जानकर महात्माओं के समान शुभ कर्म करके सदा ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ९ ॥

९—(अग्नौ) सूर्यादितेजसि (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (चरति) व्याप्नोति (प्रविष्टः) अन्तर्गतः (ऋषीणाम्) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृत-धर्मणां मुनीनाम्, विषयद्रष्टॄणामिन्द्रियाणां वा (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्रः । पविता शोधकः (अभिशस्तिपाः) अ० २ । १३ । ३ । हिंसा-भयाद्रक्षकः (उ) निश्चयेन (नमस्कारेण) सत्कारेण (नमसा) नमनेन, आदरेण (ते) तथाविधाय तुभ्यम् (जुहोमि) आत्मदानं करोमि (देवानाम्) महात्मनां (मिथुया) अ० ४ । २९ । ७ । मिथुना हिंसनेन दुष्कर्मणा (मा कर्म) कृञ् हिंसायाम्-माङि लुङि । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मा कार्ष्म मा हिंसिष्म (भागम्) भग-अण् । ऐश्वर्याणां समूहम् । यद्वा, भज-घञ् । भजनीयं कर्म ॥

हृदा पूतं मन॑सा जातवेदो विश्वा॑नि देव वयुना॑नि विद्वान् । सप्तास्यानि तव॑ जातवेदस्तेभ्यो॑ जुहोमि स जु॑षस्व हव्यम् ॥१०॥

हृदा । पूतम् मनसा । जात-वेदः । विश्वा॑नि । देव । वयुना॑नि । विद्वान् । सप्त । आस्या॑नि । तव॑ । जात-वेदः । तेभ्यः । जुहोमि । सः । जुषस्व । हव्यम् ॥१०॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् ! (देव) हे प्रकाशमान परमेश्वर ! तू (विश्वानि) सब (वयुनानि) ज्ञानों को (विद्वान्) जानने वाला है । (जातवेदः) हे बड़े धन वाले ! [मेरी] (सप्त) सात (आस्यानि) [मस्तक की] गोलकें (तव) तेरी [तेरे तत्पर हों] । (तेभ्यः) उनके हित के लिये (हृदा) हृदय और (मनसा) मन से (पूतम्) शोधे हुये कर्म को (जुहोमि) समर्पण करता हूं । (सः) सो तू [मेरे] (हव्यम्) आवाहन को (जुषस्व) स्वीकार कर ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी सब इन्द्रियों को उस सर्वशक्तिमान् की आज्ञा में लगा कर सदा आनन्द भोगें । मस्तक की सात इन्द्रियों के जीतने में ही सब प्राणी आनन्द पाते हैं जैसा (कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि......) अ० १० । २ । ६ में वर्णन है ॥ (सप्त आस्यानि) पद की व्याख्या में (सप्त ऋषयः) पद अ० ४ । ११ । ६ । में देखो ॥ १० ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद (विश्वानि देव... विद्वान्) य० ४० । १६ में है ॥

१०—(हृदा) हृदयेन (पूतम्) शोधितं कर्म (मनसा) अन्तः करणेन (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान परमेश्वर (विश्वानि) सर्वाणि (देव) हे प्रकाशमान (वयुनानि) अ० २ । २८ । २ । ज्ञानानि (विद्वान्) जानन् सन् वर्त्तसे (सप्त) सप्तसंख्याकानि (आस्यानि) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति असु क्षेपणे, यद्वा आस उपवेशने-ण्यत् । अस्यन्ते क्षिप्यन्ते, यद्वा, आसते तिष्ठन्ति विषया यत्र तानि । शीर्षण्यानि खानि इन्द्रियाणि मम प्राणिनः (तव) तव परमेश्वरस्य, तत्पराणि भवन्तु-इत्यर्थः (जातवेदः) हे जातधन (तेभ्यः) तादर्थ्ये चतुर्थी । तेषामास्यानां हिताय (जुहोमि) समर्पयामि (सः) स त्वम् (जुषस्व) सेवस्व । स्वीकुरु (हव्यम्) ह्वेञ्-यत् । आह्वानम् ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-८ ॥ जातवेदा देवता ॥ १-७ त्रिष्टुप्, ८ ये दिशामे-त्यस्य जगती छन्दः । ब्रह्मेत्यस्य त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशनायोपदेशः—शत्रु के नाश करने का उपदेश ॥

ये पुरस्ताज्जुह्वति जातवेदः प्राच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् । अग्निमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ १ ॥

ये । पुरस्तात् । जुह्वति । जात-वेदः । प्राच्याः । दिशः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । अग्निम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (पुरस्तात्) सन्मुख होकर (प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुख (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुहति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (अग्निम्) [तुझ] सर्व व्यापक को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ देते हुए (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें । (एनान्) इन को (प्रतिसरेण) [तुझ] अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उलटा (हन्मि) मैं मारता हूं ॥ १ ।

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में भक्ति करके पुरुषार्थ पूर्वक अपने आत्मिक और शारीरिक शत्रुओं का नाश करें । ऐसा हि भाव अन्य मन्त्रों का समझो ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अथर्व० ३ । २६ तथा २७ से करो ॥

१—(ये) शत्रवः (पुरस्तात्) अग्रतः (जुहति) हु दानादनयोः । अदन्ति । नाशयन्ति (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातप्रज्ञान परमेश्वर (प्राच्याः) अ० ३ । २६ । १ । स्वास्थानात् पूर्वायाः स्वाभिमुखीभूतायाः (दिशः) दिशायाः सकाशात् (अभिदासन्ति) अभितो घ्नन्ति (अस्मान्) (धार्मिकान्) (अग्निम्) सर्वव्यापिनं त्वां जातवेदसम् (ऋत्वा) गत्वा, प्राप्य (ते) शत्रवः (पराञ्चः) पराङ्मुखाः कुण्ठितशक्तयः सन्तः (व्यथन्ताम्) व्यथ भयचलनयोः । व्यथिताः संतप्ता भवन्तु (प्रत्यक्) प्रतिमुखम् (एनान्) दुष्टान् शत्रून् (प्रतिसरेण) अ० २ । ११ । २ । अग्रगामिना त्वया सह (हन्मि) नाशयामि ॥

ये द॑क्षिण॒तो जुह्व॑ति जातवेदो॒ दक्षि॑णाया दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् । य॒मम॒ृत्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॒नान् प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥२॥

ये । द॒क्षि॒ण॒तः । जुह्व॑ति । जात॒-वे॒दः॒ । दक्षि॑णायाः । दि॒शः । अ॒भि-दास॑न्ति । अ॒स्मान् । य॒मम् । ऋ॒त्वा । ते । परा॑ञ्चः । व्यथ॒न्ताम् । प्र॒त्यक् । ए॒नान् । प्र॒ति-स॒रेण॑ । ह॒न्मि ॥ २ ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दक्षिणतः) दाहिनी ओर में (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं । (ते) वे (यमम्) [तुझ] धर्मराज न्यायकारी को (ऋत्वा) पाकर······ म० १ ॥ २ ॥

ये प॒श्चाज्जुह्व॑ति जातवेदः प्र॒तीच्या॑ दि॒शो॒ऽभि॒दास॑न्त्य॒स्मान् । वरु॑णमृ॒त्वा ते परा॑ञ्चो व्यथन्तां प्र॒त्यगे॒नान् प्रतिस॒रेण॑ हन्मि ॥ ३ ॥

ये । प॒श्चात् । जुह्व॑ति । जात॒-वे॒दः॒ । प्र॒तीच्याः॑ । दि॒शः । अ॒भि-दास॑न्ति । अ॒स्मान् । वरु॑णम् । ऋ॒त्वा । ते । परा॑ञ्चः । व्यथ॒न्ताम् । प्र॒त्यक् । ए॒नान् । प्र॒ति-स॒रेण॑ । ह॒न्मि ॥ ३ ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (पश्चात्) पीछे की ओर में (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः)

२—(दक्षिणतः) अ० ४ । ३२ । ७ । दक्षिणहस्तादिशि (दक्षिणायाः) अ० ३ । २६ । २ । दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तवर्तमानायाः (यमम्) यमयति नियमयति जीवान् स यमः, यम—अच् । धर्मराजं न्यायिनं जातवेदसम् । अन्यद् यथा म० १ ॥

३—(पश्चात्) पश्चात् । पा० ५ । ३ । ३२ । इति अपर—आति,पश्चभावः

दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे) वरुणम् [तुझ] सर्वश्रेष्ठ को (ऋत्वा) पाकर म०...१ ॥३॥

य उत्तरतो जुह्वति जातवेद उदीच्या दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। सोममृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ४ ॥

ये। उत्तरतः। जुह्वति। जात-वेदः। उदीच्याः। दिशः। अभि-दासन्ति। अस्मान्। सोमम्। ऋत्वा। ते। पराञ्चः। व्यथन्ताम्। प्रत्यक्। एनान्। प्रति-सरेण। हन्मि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उत्तरतः) बायीं ओर में (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (सोमम्) [तुझ] ऐश्वर्य वाले को (ऋत्वा) पाकर......म० १ ॥ ४ ॥

ये३ऽधस्ताज्जुह्वति जातवेदो ध्रुवाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान्। भूमिमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ५ ॥

ये। अधस्तात्। जुह्वति। जात-वेदः। ध्रुवायाः। दिशः। अभि-दासन्ति। अस्मान्। भूमिम्। ऋत्वा। ते। पराञ्चः। व्यथन्ताम्। प्रत्यक्। एनान्। प्रति-सरेण। हन्मि ॥ ५ ॥

पश्चाद् देशे (प्रतीच्याः) अ० ३। २६। ३। पश्चिमायाः। पश्चाद्भागे स्थितायाः (वरुणम्) वरणीयं श्रेष्ठं त्वाम् ॥

४—(उत्तरतः) उत्तर-अतसुच्। वामहस्तदिशि (उदीच्याः) अ० ३। २६। ४। उत्तरस्याः। वामभागवर्त्तमानायाः (सोमम्) ऐश्वर्यवन्तं त्वाम् ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अधस्तात्) नीचे की ओर में (ध्रुवायाः) स्थिर (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हम को (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (भूमिम्) [तुझ] सर्वाधार को (ऋत्वा) पाकर......म० १ ॥ ५ ॥

ये ३ऽन्तरिक्षाज्जुह्वति जातवेदो व्यध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् । वायुमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ६ ॥

ये । अन्तरिक्षात् । जुह्वति । जात-वेदः । वि-अध्वायाः । दिशः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । वायुम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥६॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष वा आकाश से (व्यध्वायाः) विविध मार्ग वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (वायुम्) [तुझ] बलवानों में महाबलवान् को (ऋत्वा) पाकर.........म० १ ॥ ६ ॥

य उपरिष्टाज्जुह्वति जातवेदो ऊर्ध्वाया दिशोऽभिदासन्त्यस्मान् । सूर्यमृत्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ७ ॥

५—(अधस्तात्) दिक्शब्देभ्यः० । पा० ५ । ३ । २७ । इति अधर—अस्ताति । अस्ताति च । पा० ५ । ३ । ४० । इति अध् इत्यादेशः । अधोभागे (ध्रुवायाः) अ० ३ । २६ । ५ । स्थिरायाः (भूमिम्) अ० १ । ११ । २ । भवन्ति भूतानि यस्यां सा भूमिः, ईश्वरनाम—सत्यार्थप्रकाशे, समुल्लासे १ । सर्वाधारं त्वाम् ॥

६—(अन्तरिक्षात्) अ० १ । ३० । ३१ । आकाशात् (व्यध्वायाः) उपसर्गादध्वनः । पा० ५ । ४ । ८५ । इति वि+अध्वन्—अच् समासान्तः । विविधमार्गायाः (वायुम्) अ० २ । २० । १ । बलिनां बलिष्ठं त्वामीश्वरम् ॥

ये । उपरिष्टात् । जुह्वति । जात-वेदः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । सूर्यम् । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि ॥७॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (उपरिष्टात्) ऊंचे स्थान में (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (सूर्यम्) [तुझ] सर्वव्यापक वा सर्व प्रेरक को (ऋत्वा) पाकर......म० १ ॥ ७ ॥

ये दिशामन्तर्देशेभ्यो जुह्वति जातवेदः सर्वाभ्यो दिग्भ्योऽभिदासन्त्यस्मान्। ब्रह्म र्त्वा ते पराञ्चो व्यथन्तां प्रत्यगेनान् प्रतिसरेण हन्मि ॥ ८ ॥

ये । दिशाम् । अन्तः-देशेभ्यः । जुह्वति । जात-वेदः । सर्वाभ्यः । दिक्-भ्यः । अभि-दासन्ति । अस्मान् । ब्रह्म । ऋत्वा । ते । पराञ्चः । व्यथन्ताम् । प्रत्यक् । एनान् । प्रति-सरेण । हन्मि । ॥ ८ ॥

भावार्थ—(जातवेदः) हे ज्ञानवान् परमेश्वर ! (ये) जो लोग (दिशाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) मध्य देशों से (सर्वाभ्यः) सब (दिग्भ्यः) दिशाओं से (अस्मान्) हमको (जुह्वति) खाते और (अभिदासन्ति) चढ़ाई करते हैं। (ते) वे (ब्रह्म) [तुझ] ब्रह्म को (ऋत्वा) पाकर (पराञ्चः) पीठ देते हुये (व्यथन्ताम्) व्यथा में पड़ें। (एनान्) इनको (प्रतिसरेण) [तुझ] अग्रगामी के साथ (प्रत्यक्) उलटा (हन्मि) मैं मारता हूं ॥ ७ ॥

७—(उपरिष्टात्) उपर्युपरिष्टात्। पा० ५।३।३१। इति ऊर्ध्व-रिष्टातिल्, ऊर्ध्वस्य उपभावः। ऊर्ध्वभागे (ऊर्ध्वायाः) अ० ३।२६।६। उपरि वर्तमानायाः (सूर्यम्) अ० १।३।५। सर्वव्यापकं सर्वप्रेरकं वा त्वां परमात्मानम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य उस सर्वनियन्ता परब्रह्म का आश्रय लेकर विचार पूर्वक अपने सब विघ्नों का नाश करके आनन्द भोगें। ८॥

इति अष्टमो ऽनुवाकः॥

इति चतुर्थं काण्डम्॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायकवाडा-
धिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये चतुर्थकाण्डं समाप्तम्॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे फाल्गुनमासे शिवचतुर्दश्याम् [कृष्णचतुर्दश्याम्]
१९७१ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि
श्री राजराजेश्वर जार्ज पञ्चम महोदयस्य
सुसाम्राज्ये समाप्तिमगात्॥

मुद्रितम्—आषाढकृष्णैकादश्यां संवत् १९७२ ता० ७ जुलाई १९१५॥

८—(दिशाम्) दिशानाम् (अन्तर्देशेभ्यः) अन्तरालेभ्यः (सर्वाभ्यः) सकलाभ्यः (दिग्भ्यः) दिशाभ्यः (ब्रह्म) अ० १। ८। ४। सर्वेभ्यो बृहत्त्वाद् ब्रह्म। तं त्वां परमेश्वरम्। अन्यत् पूर्ववत्॥

॥ ओ३म् ॥

आनन्द समाचार ।

[आप देखिये और अपने मित्रों को भी दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी जिन वेदों का महत्त्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् जिनकी महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ कर सर्वसाधारण उनका अर्थ नहीं समझ सकते थे, अब तक ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है। और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से उसका भाष्य बड़े परिश्रम से बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण, संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप कर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे महराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें, और जगत्पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जान कर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी हो कर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जनों को २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी०पी० वा नगद दाम पर दिये जाते हैं।

काण्ड १—भूमिका सहित पृष्ठ २०२, १।); काण्ड २—पृष्ठ २१२ १।-)

काण्ड ३—पृष्ठ २५० १॥-); काण्ड ४—पृष्ठ ३०२ २)

काण्ड ५—शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित, संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अङ्गरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

७ जूलाई १९१५।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad)

अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती **आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।**

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उक्त महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ,

(एम० ए० एल,एल, बी०)

मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**-प्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त, सामवेदभाष्यकार, सम्पादक वेद प्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का काम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं,...मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द की शैली के अनुसार भावपूर्ण, संक्षिप्त, और स्पष्टतय प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटोंमें व्याकरण तथा निरुक्तके प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका देदेने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाजका पक्षपोषक और इसयोग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उन को बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा **मुन्शीरामजी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९९९।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा-पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६८।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत **पं० शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।...आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उन में उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत परिडत **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व, इटावा फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के परिडत क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है... भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसमाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है, तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीयुत परिडत **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़र्वरी १९१३॥

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है। आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पदपाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी

राय है कि 'वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है॥

श्रीयुत पंडित **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़ ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भावार्थ. उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्कमर्चेंट कमनगढ़ा, बनारस सिटी, पत्रसंख्या ५८६ ता० २७-२-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ. परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगा कर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिखलीजिये, जब २ अंक छपें मेरे पास भेज देना॥

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, —मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रलिया चाहता है। आपने यह साहस दिखा कर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें॥

श्रीयुत विख्यात **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनौ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटेरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, प० ता० १७-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी आप का व्याख्या क्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State*, *letter No 624 dated 6th February 1913*

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, *Dera Ismail Khan*,

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

The Magistrate of Allahabad,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London,

---

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914

THE *Atharva Veda Bhashya* or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the orginal *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works .....The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedicinterpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves. ...Our earnest request is that the revered Pandit will go with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N. B. The printing and paper are good, the price is moderete.

हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

पण्डित **शिवशङ्कर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, पंजाब आर्य प्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ फ़रवरी १९१३ ।.........आर्य पुरुष हवन कालमें जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदी जी ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है। अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य खरीदना चाहिये।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी १७ फाल्गुण सं० १९६८ ..आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश मेरठ, —मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी,** गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है। आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

७ जुलाई १९१५। } ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ वाजपेयी के प्रबन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ५॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
१	ऋधङ्मन्त्रो योनिं	त्रित इन्द्रो वा	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप्
२	तदिदास भुवनेषु	इन्द्रः	परमेश्वर का गुण	त्रिष्टुप्
३	ममाग्ने वर्चो	विश्वे देवाः	रक्षा के उपाय	त्रिष्टुप् आदि
४	यो गिरिष्वजायथा	कुष्ठः	राजा का धर्म	गायत्री आदि
५	रात्री माता नभः पिता	लाक्षा	ब्रह्मविद्या	अनुष्टुप्
६	ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं	ब्रह्मादयः	सब सुख प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
७	आ नो भर मा परिष्ठा	प्रजापतिः	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप् आदि
८	वैकङ्कतेनेध्मेन	इन्द्रः	राजा का धर्म	अनुष्टुप् आदि
९	दिवे स्वाहा	प्रजापतिः	आत्मा की उन्नति	दैवी बृहती आदि
१०	अश्मवर्म मेऽसि	ब्रह्म	ब्रह्म की उत्तमता	पदपङ्क्ति, अनुष्टुप्
११	कथं महे असुराया	ब्रह्म	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१२	समिद्धो अद्य मनुषो	विद्वान् आदि	मनुष्य की उन्नति	त्रिष्टुप्
१३	ददिर्हि मह्यं	प्रजापतिः	दोष निवारण	जगती आदि
१४	सुपर्णस्त्वान्वविन्दत्	प्रजापतिः	शत्रु का विनाश	अनुष्टुप् आदि
१५	एका च मे दश च मे	ओषधिः	विघ्नों का हटाना	अनुष्टुप्
१६	यद्येकवृषोऽसि	आत्मा	पुरुषार्थ	त्रिष्टुप्
१७	तेऽवदन् प्रथमा	विश्वेदेवाः	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१८	नैतां ते देवा अददु	गौर्ब्राह्मणो वा	वेद विद्या की रक्षा	अनुष्टुप् आदि
१९	अतिमात्रमवर्धन्त	ब्राह्मणः	नास्तिक तिरस्कार	अनुष्टुप् आदि
२०	उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः	दुन्दुभिः	संग्राम में जय	त्रिष्टुप्
२१	विहृदयं वैमनस्यं	दुन्दुभिरादिः	शत्रुओं का जीतना	पथ्या पङ्क्ति आदि
२२	अग्निस्तक्मानम्	वैद्यः	रोग का नाश	त्रिष्टुप् आदि
२३	ओते मे द्यावापृथिवी	वैद्यः	छोटे २ दोषों का नाश	अनुष्टुप्
२४	सविता प्रसवानामधि	मन्त्रोक्ताः	रक्षा के लिये प्रयत्न	शक्वरी आदि
२५	पर्वताद् दिवो योनेर	प्रजापतिः	गर्भाधान	अनुष्टुप्
२६	यजूंषि यज्ञे समिधः	विद्वान्	समाज की वृद्धि	विराट् आदि
२७	ऊर्ध्वा अस्य समि	अग्निः प्रजापतिर्वा	पुरुषार्थ	पंक्ति आदि
२८	नव प्राणान्नवभिः	प्रजापतिः	रक्षा और ऐश्वर्य	त्रिष्टुप् आदि
२९	पुरस्ताद् युक्तो वह	अग्निः	शत्रु और रोगों का नाश	त्रिष्टुप आदि
३०	आवतस्त आवतः	आत्मा	आत्मा की उन्नति	अनुष्टुप आदि
३१	यां ते चक्रुरामे पात्रे	पुरुषः	राजा का धर्म	अनुष्टुप्

२-अथर्ववेद, काण्ड ५ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से।

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ५) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मंडल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मंत्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	सप्त मर्यादाः कवय	१।६	१०।५।६		
२	तदिदास भुवनेषु	२।१	१०।१२०	३३।८०	
३-१०	वावृधानः शवसा	२।२-९			
११-२०	ममाग्ने वर्चो	३।१-१०	१०।१२८		
२१	ब्रह्म जज्ञानं	६।१		१३।३	पू० ४।३।९
२२	सहस्रधार एव	६।३	९।७३।४		
२३	पर्यूषु प्र धन्वा	६।४	९।११०।१		
२४	तिग्मायुधौति	६।५	६।७४।४		
२५-३५	समिद्धो अद्य	१२।१-११	१०।११०	२९।२५,२६, २८-३६	
३६-४२	तेऽवदन् प्रथमा	१७।१-३	१०।१०९		
	ब्रह्मचारी चरित	१७।५,६			
	पुनर्वै देवा अददुः	१७।१०,११			
४३	गर्भं धेहि सिनीवालि	२५।३	१०।१८४।२		
४४	विष्णुर्योनिं कल्पयतु	२५।५	१०।१८४।१		
४५	गर्भो अस्योषधीनां	२५।७	—	१२।३७	
४६-५७	ऊर्ध्वा अस्य समिधो	२७।१-१२	—	२७।११-२२	
५८	त्र्यायुषं जमदग्नेः	२८।७	—	३।६२	
५९	सनादग्ने मृणसि	२९।११	१०।८७।१९		पू० १।८।८

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

पञ्चमं काण्डम्

प्रथमोऽनुवाकः ।

सूक्तम् १ ॥

मन्त्रः १—९ ॥ त्रित इन्द्रो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

ऋधङ्मन्त्रो॒ योनिं॒ य आ॑बभूवा॒मृता॑सु॒र्वर्ध॑मानः सु॒जन्मा॑ ।
अद॑ब्धासु॒र्भ्राज॑मा॒नोऽहे॑व त्रि॒तो ध॒र्ता दा॑धार॒ त्रीणि॑ ॥१॥

ऋधक्-मन्त्रः । योनिम् । यः । आ-बभूव॑ । अमृत॑-असुः । वर्ध॑-मानः । सु-जन्मा॑ । अद॑ब्ध-असुः । भ्राज॑मानः । अहा॑-इव । त्रितः । धर्ता॑ । दाधार॑ । त्रीणि॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ऋधङ्मन्त्रः) सत्य मन्त्र वा मनन वाला, (अमृतासुः) अमर प्राण वाला, (वर्धमानः) बढ़ता हुआ, (सुजन्मा) अद्भुत जन्म वाला (योनिम्) प्रत्येक घर वा कारण में (आबभूव) व्यापक हुआ है । उस

१—शब्दार्थव्याकरणादिप्रक्रिया—(ऋधङ्मन्त्रः) प्रथेः कित्सम्प्रसारणं च । उ० १ । १३७ । इति ऋधु वृद्धौ—अजि । ऋधक् इत्यव्ययं सत्यार्थे । सर्व-

(अदब्धासुः) अचूक बुद्धि वाले, (अहा इव=अहानि इव) दिनों के समान (भ्राजमानः) प्रकाशमान, (धर्ता) सब के धारण करने वाले, (त्रितः) पालन करने वाले वा सब से बड़े वा तीनों कालों वा लोकों में फैले हुये त्रित परमात्मा ने (त्रीणि) तीनों [धामों, अर्थात् स्थान, नाम और जन्म वा जाति] को (दाधार) धारण किया था ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमात्मा की अनन्त शक्तियों का विचार करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १ ॥

इस काण्ड पर सायण भाष्य नहीं है ॥

आ यो धर्माणि प्रथमः ससाद ततो वपूंषि कृणुषे पुरूणि । धास्युर्योनिं प्रथम आ विवेश यो वाचमनुदितां चिकेत ॥ २ ॥

आ । यः । धर्माणि । प्रथमः । ससाद । ततः । वपूंषि । कृणुषे । पुरूणि । धास्युः । योनिम् । प्रथमः । आ । विवेश । आ । यः । वाचम् । अनुदिताम् । चिकेत ॥ २ ॥

धातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति मन ज्ञाने-ष्ट्रन् । मन्त्रा मननात्—निरु० । ७ । १२ । अभुवन् वर्धमानः सत्यो वा मन्त्रो मननं यस्य सः (योनिम्) अ० १ । ११ । ३ । गृहम्—निघ० । ३ । ४ । कारणम् (यः) त्रितः (आ बभूव) भू सत्तायां प्राप्तौ च लिट् । सम्यक् प्राप्तवान् (अमृतासुः) शृस्वृ स्निहि० । उ० । १ । १० । इति असु क्षेपणे—उ । असुः प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ९ । असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति-निरु० ३ । ८ । अनष्टबुद्धिः । अनश्वरप्राणः (वर्धमानः) वृद्धिशीलः (सुजन्मा) अकृतोत्पत्तिः (अदब्धासुः) दम्भु दम्भे—क्त । अहिंसितबुद्धिः (भ्राजमानः) दीप्यमानः (अहा इव) अहानि यथा (त्रितः) पिशेः किच्च । उ० ३ । ९५ । इति त्रैङ् पालने यद्वा तॄ प्लवनतरणयोः, इतन् यद्वा । त्रि+तनु विस्तारे—ड । त्रितस्तीर्णतमो मेधया बभूव—निरु० ४ । ६ । त्रितस्त्रिस्थान इन्द्रः—निरु० ९ । २५ । त्राता पालयिता । तीर्णः विस्तीर्णः । त्रिषु कालेषु लोकेषु वा विस्तीर्णः (धर्ता) धारयिता (दाधार) धृतवान् (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि धामानि । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९ । २८ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (प्रथमः) प्रख्यात परमेश्वर ने (धर्माणि) धारण योग्य धर्मों वा व्यवस्थाओं को (आ) यथावत् (ससाद) प्राप्त किया, (ततः) उसी [धर्म] से वह [संसार के] (पुरूणि) अनेक (वपूंषि) रूपों को (कृणुषे = कृणुते) बनाता है। (प्रथमः) उस पहिले (धास्युः) धारण की इच्छा करने वाले परमेश्वर ने (योनिम्) प्रत्येक कारण में (आ) यथावत् (विवेश) प्रवेश किया, (यः) जिसने (अनुदिताम्) बिना कही हुई (वाचम्) वाणी को (आ) ठीक ठीक (चिकेत) जाना था ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने नियम स्थापन करके सृष्टि रची है, और वह सब का अन्तर्यामी हो कर सब के हृदयों को जानता है ॥ २ ॥

यस्ते शोकाय तन्वं रिरेच क्षरद्धिरंण्यं शुचयोऽनु स्वाः। अत्रा दधेते अमृतानि नामास्मे वस्त्राणि विश एरयन्ताम् ॥ ३ ॥

यः। ते। शोकाय। तन्वम्। रिरेच। क्षरत्। हिरण्यम्। शुचयः। अनु। स्वाः। अत्र। दधेते इति। अमृतानि। नाम। अस्मे इति। वस्त्राणि। विशः। आ। ईरयन्ताम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (यः) जिस पुरुष ने (ते) तेरा (शोकाय) प्रकाश पाने के लिये (तन्वम्) अपना शरीर (रिरेच) जोड़ दिया है, [क्योंकि]

२—(आ) समन्तात् (यः) परमेश्वरः (धर्माणि) अ० १। १। २५। १। धार्यान् नियमान्। व्यवस्थाः (प्रथमः) आदिमः। प्रधानः (ससाद) प्राप (ततः) तस्मात्, धर्मात् (वपूंषि) अर्त्तिपृवपि०। उ० २। ११७। इति टुवप बीजतन्तुसन्ताने—उसि। रूपाणि—निघ० ३। ७। रूपाणि (कृणुषे) तकारस्य षकारः। कृणुते। कुरुते (पुरूणि) बहूनि (धास्युः) अ० २। १। ४। (योनिम्) कारणम् (प्रथमः) (आ) (विवेश) प्रविष्टवान् (आ) (यः) (वाचम्) वाणीम् (अनुदिताम्) वद वाचि—क्त। यद्वा। उत्+इण्—क्त। अनुक्ताम्। अप्राप्तोदयाम् (चिकेत) कित ज्ञाने लिट्, वैदिकः। ज्ञातवान् ॥

३—(यः) पुरुषः (ते) तव (शोकाय) अ० ४। १४। १। प्रकाशप्राप्तये (तन्वम्) अ० १। १। १। स्वशरीरम् (रिरेच) रिच वियोजनसम्पर्चनयोः—लिट्, चुरा०।

(शुचयः) शुद्धस्वभाव (स्वाः) बन्धुलोग (क्षरत्) चलते हुये (हिरण्यम्) कमनीय ज्योतिः स्वरूप परमात्मा के (अनु) पीछे पीछे वर्तमान रहते हैं। (अत्र) इस पुरुष में ही (अमृतानि) अमर (नाम=नामानि) नामों को (दधेते) वे दोनों [सूर्य पृथ्वी लोक] धरते हैं। (विशः) सब प्रजायें (अस्मे) हमारे लिये (वस्त्राणि) ओढ़ने वा निवासस्थान आदि (आ ईरयन्ताम्) लावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रकाशमय परमात्मा के स्वरूप जानने में अपना सामर्थ्य लगाते हैं वे संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर यश पाते और सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

प्र यदे॒ते प्र॑त॒रं पू॒र्व्यं गुः सदः॑सद आ॒तिष्ठ॑न्तो अजु॒र्यम्। क॒विः शु॒षस्य॑ मा॒तरा॑ रिहा॒णे जा॒म्यै धु॒र्यं॒ पति॒मेर॑येथाम् ॥ ४ ॥

प्र। यत्। ए॒ते। प्र॒ऽत॒रम्। पू॒र्व्यम्। गुः। सदः॑ऽसदः।। आ॒ऽतिष्ठ॑न्तः। अ॒जु॒र्यम्। क॒विः। शु॒षस्य॑। मा॒तरा॑। रि॒हा॒णे इति॑। जा॒म्यै। धु॒र्य॑म्। पति॑म्। आ। ई॒र॒ये॒था॒म् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से कि (एते) इन [शुद्ध स्वभाव बन्धुओं] ने (अजुर्यम्) जरा रहित (सदःसदः) पाने योग्य पदार्थों में पाने

संपृक्तवान्। संयोजितवान् (क्षरत्) संचलत्। हिरण्यम्) अ० १। ६। २। कमनीयं तेजः स्वरूपं परमात्मानम् (शुचयः) अ० १। ३३। १। शुद्धस्वभावाः (अनु) अनुसृत्य वर्तन्ते (स्वाः) अ० १। १९। ३। स्वमज्ञातिधनाख्यायाम्। पा० १। १। ३५। ज्ञातयः। बन्धवः (अत्र) अस्मिन् पुरुषे (दधेते) धरतः—उभे द्यावापृथिव्यौ (अमृतानि) अमराणि। अनश्वराणि (नाम) अ० १। २४। ३। नामानि यशांसि (अस्मे) अस्मभ्यम् (वस्त्राणि) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उ० ४। १५९। इति वस आच्छादने वा वस निवासे-ष्ट्रन्। वस्त्रं वस्तेः—निरु० ४। २४। वसनानि। निवासस्थानादीनि वा (विशः) मनुष्याः—निघ० २। ३। प्रजाः (आ ईरयन्ताम्) आगमयन्तु ॥

४—(प्र) प्रकर्षेण (यत्) यस्मात्कारणात् (एते) शुचयः स्वाः-म०

योग्य मोक्ष पद पर (आतिष्ठन्तः) चढ़ कर (प्रतरम्) अति उत्तम (पूर्व्यम्) सब के हित कारक परमात्मा को (प्र गुः) प्राप्त किया है । (कविः=कवेः) बुद्धिमान् (शुषस्य) बलवान् पुरुष के (मातरा=०-रौ) माताओ, (धुर्यम्) धुरन्धर (पतिम्) जगत्पति परमात्मा को (रिहाणे) स्तुति करती हुयी तुम दोनों [सूर्य और पृथिवी लोक] (जाम्यै) भगिनी के समान हितकारक प्रजा के लिये (आ ईरयेथाम्) प्राप्त कराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से पूर्वज महाशय अक्षय मोक्ष पद पाकर परमात्मा को प्राप्त हुये हैं, उसी प्रकार हम भी सूर्य पृथिवी आदि सब लोकों का ज्ञान प्राप्त करके परमात्मा से मिलें ॥४॥

तदू षु ते महत् पृथुज्मन् नमः कविः काव्येना कृणोमि। यत् सम्यञ्चावभियन्तावभि क्षामत्रा मही रोधचक्रे वावृधेते ॥ ५ ॥

तत् । ऊं इति । सु । ते । महत् । पृथु-ज्मन् । नमः । कविः । काव्येन । कृणोमि । यत् । सम्यञ्चौ । अभि-यन्तौ । अभि ।

२ (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (पूर्व्यम्) अ० ४ । १ । ६ । पूर्व-यत् । पूर्वाय समस्ताय जगते हितं परमात्मानम् (गुः) अगुः । प्रापुः (सदःसदः) सदसां सदनीयानां सदः सदनीयम् । प्राप्तव्यानां मध्ये प्राप्तव्यं मोक्षपदम् ।(आतिष्ठन्तः) आरुहन्तः (अजुर्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति जूरी हिंसावयोहान्योः-यक् । नञ्सुभ्याम् । पा० ६ । २ । १७२ । इति उत्तरपदस्यान्तोदात्तत्वं बहुव्रीहौ । अजरं दृढं सर्वकार्यशक्तम् (कविः) सुपां सुलुक्० पा० ७ । १ । ३९ । इति षष्ठ्याः सुः । कवेः मेधाविनः (शुषस्य) शुष शोषणे-क । शुष्णम्, शुष्मम्-बलनाम-निघ० २ । ९ । बलवतः पुरुषस्य (मातरा) मातरौ मातृवदुपकारिके द्यावापृथिव्यौ (रिहाणे) रिह कत्थने-शानच् । रेहति, अर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । अर्चन्त्यौ । स्तुवाने (जाम्यै) अ० १ । ४ । १ । भगिनीवत्सहायभूतायै प्रजायै (धुर्यम्) धुरं वहतीति । धुरो यड्ढकौ । पा० ४ । ४ । ७७ । इति धुर्-यत् । धुरन्धरम् । श्रेष्ठम् (पतिम्) पालकं परमात्मानम् । मोक्षपदं वा (आ ईरयेथाम्) अव गमयतं युवाम् ॥

क्षाम् । अत्रं । मही इति । रोधचक्रे इति रोध-चक्रे । वावृधेते इति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तत्) उस कारण से (पृथुज्मन्) हे विस्तृत गतिवाले परमात्मन् ! (ते) तेरे लिये (उ) ही (कविः) मैं बुद्धिमान् पुरुष (काव्येन) बुद्धिमत्ता के साथ (सु) सुन्दर रीति से (महत्) बहुत बहुत (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं । (यत्) जिससे (सम्यञ्चौ) आपस में मिले हुये (अभियन्तौ) सब ओर गति वाले [दोनों लोक अर्थात्] (मही) विशाल (रोधचक्रे) [प्राणियों को] रोकने के कर्म वाले [सूर्य पृथिवी अर्थात् ऊंचे नीचे लोक] (क्षाम अभि) हमारे निवास, उद्योग, वा ऐश्वर्य के लिये (अत्र) यहां पर (वावृधेते) बढ़ते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक परम पिता जगदीश्वर का धन्यवाद करें उसने हमारे ऐश्वर्य के लिये संसार में अनेक पदार्थ रचे हैं ॥ ५ ॥

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामिदेकामभ्यंहुरो गात् ।
आयोर्ह स्कुम्भ उपमस्य नीडे पथां विसर्गे धरुणेषु तस्थौ ॥६॥

५—(तत्) तस्मात्कारणात् (उ) निश्चयेन (सु) सुन्दररीत्या (ते) तुभ्यम् (महत्) बृहत् (पृथुज्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति पृथु+अज गतिक्षेपणयोः—मनिन्, अकारलोपः । हे परिज्मन् विस्तीर्णगते परमात्मन् (नमः) नमस्कारम् (कविः) अहं मेधावी (काव्येन) अ० ४ । १ । ६ स्तुत्यकर्मणा । यद्वा । गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । इति कवि—ष्यञ् । कविकर्मणा । बुद्धिमत्तया (कृणोमि) करोमि (यत्) यस्मात्कारणात् सम्यञ्चौ संगच्छमानौ (अभियन्तौ) सर्वतो गच्छन्तौ द्यौलोकौ (अभि) प्रति (क्षाम्) अन्येष्वपि दृश्यते पा० ३ । २ । १०१ । इति क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च—ड, टाप् । क्षा पृथिवीनाम्—निघ० १ । १ । निवासं गतिम् ऐश्वर्यं वा (अत्र) अस्मिन् लोके (मही) महत्यौ (रोधचक्रे) भावे । पा० ३।३।१८। रुधिर् आवरणे—घञ् । घञर्थे कविधानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । इति डुकृञ् करणे-क, । द्वित्वम् । चक्रं करणम् । रोधचक्राः, नदीनाम—निघ० १,१३ । रोधस्य प्राणिनिरोधस्य चक्रं करणं कृतिर्ययोस्ते द्यावापृथिव्यौ (वावृधेते) वृधु वृद्धौ लटि छान्दसं रूपम् । वर्धेते ॥

सप्त । मुर्यादाः । कुवयः । तुतुक्षुः । तासाम् । इत् । एकाम् । अभि । अंहुरः । गात् । आयोः । ह । स्कुम्भः । उपमस्य । नीडे । पुथाम् । वि-सुर्गे । धुरुणेषु । तुस्थौ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कवयः) ऋषि लोगों ने (सप्त) सात (मर्यादाः) मर्यादायें [कुमर्यादायें] (ततक्षुः) ठहरायी हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाम्) एक पर (इत्) भी (अभि गात्) चलता हुआ पुरुष (अंहुरः) पापवान् [होता है] [क्योंकि] (आयोः) मार्ग [सुमार्ग] का (स्कम्भः) थांभने वाला पुरुष (ह) ही (पथाम्) उन मार्गों (कुमार्गों के (विसर्गे) त्यागपर (उपमस्य) समीपवर्ती वा सब के निर्माता परमेश्वर के (नीडे) धाम के भीतर (धरुणेषु) धारण सामर्थ्यों में (तस्थौ) स्थितहुआ है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य निषिद्ध कर्मों से पापी होकर दुःख, और विहित कर्मों के करने से सुकर्मी होकर परमेश्वर की व्यवस्था से सुख पाते हैं ॥ ६ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्ध की व्याख्या भगवान् यास्क ने—निरु० ६ । २७ में इस प्रकार की है—[सप्तैव] सात ही [मर्यादाः] मर्यादायें [कवयः] ऋषियों ने [चक्रुः] बनायी हैं, [तासाम्] उनमें से [एकामपि] एकपर भी [अभि ग[illegible]] चलता हुआ [अंहस्वान् भवति] पापी होता है । [स्तेयम्] चोरी

६—(सप्त) सप्त संख्याकाः (मर्यादाः) मर्य+आ—दा ग्रहणे—अच् यद्वा । परि+आ—दा—अङ् पस्य मः, टाप् । मर्यादा मर्यैरादीयते, मर्यादा=मर्यादिनोर्विभागः—निरु० ४ । २ । कुमर्यादाः—इत्यर्थः (कवयः) ऋषयः (ततक्षुः) तक्षतिः करोति कर्मा—निरु० ४ । १६ । कृतवन्तः (तासाम्) मर्यादानां मध्ये (इत्) अपि (एकाम्) मर्यादाम् (अंहुरः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति अम रोगे पीडने—उ, हुक् च, रोमत्वर्थीयः । अंहस्वान्—निरु० ६ । २७ । पापवान् भवति (अभि गात्) अभि गच्छन्—निरु० । ६ । ७ । (आयोः) छन्दसीणः । उ० १ । २ । इति इण् गतौ—उण् । आयुः, अन्ननाम—निघ० २ । ७ । आयोरयनस्य मनुष्यस्य ज्योतिषो बोदकस्य वा—निरु० १० । ४१ । अयनस्य सुमार्गस्य (ह) एव (स्कम्भः) स्कन्भु स्तम्भे रोधने इत्यर्थः—पचाद्यच् । स्कम्भयिता आलम्बकः । धारकः (उपमस्य) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति उप+माङ् माने—ड । उपमे, अन्तिकनाम—निघ० २ । १६ । समीपभूतस्य

(तल्पारोहणम्) व्यभिचार, [ब्रह्महत्याम्] ब्रह्महत्या, [भ्रूणहत्याम्] गर्भहत्या [सुरापानम्] सुरापान, [दुष्कृतस्य कर्मणः पुनः पुनः सेवाम्] दुष्ट कर्म का बार बार सेवन, और [पातकेऽनृतोद्यम्] पातक लगाने में झूंठ बोलना [इति] यह सात मर्यादा बताई हैं ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० सू० ५ । म० ६ ॥

उतामृतासुर्व्रत एमि कृण्वन्नसुरात्मा तन्व१ स्तत् सुमद्गुः । उत वा शक्रो रत्नं दधात्यूर्जया वा यत्सचते हविर्दाः ॥ ७ ॥

उत । अमृत-असुः । व्रतः । एमि । कृण्वन् । असुः । आत्मा । तन्वः । तत् । सुमत्-गुः । उत । वा । शक्रः । रत्नम् । दधाति । ऊर्जया । वा । यत् । सचते । हविः-दाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अमृतासुः) अमर बुद्धि वा प्राण वाला, (व्रतः) उत्तम कर्म वाला मैं (कृण्वन्) कर्म करता हुआ (उत) ही (एमि) चलता हूं, (तत्) तब (असुः) मेरी बुद्धि (आत्मा) आत्मा और (तन्वः=तनूः) देह (सु[illegible]), उत्तम मनन शील वा तृप्ति कारक विद्या युक्त [होता है] (उत) और (वा) अवश्य (शक्रः) शक्तिमान् परमेश्वर (रत्नम्) रत्न (दधाति) देता है, (यत्)

सर्वनिर्मातुर्वा परमेश्वरस्य (नीडे) नितरामीड्यते स्तूयते स नीडः । नि+ईड स्तुतौ—घञ् । गृहे—निघ० ३ । ४ । धाम्नि (पथाम्) कुमार्गाणामित्यर्थः (विसर्गे) त्यागे (धरुणेषु) अ० ३ । १२ । धारयितृषु सामर्थ्येषु (तस्थौ) स्थितवान् ॥

७—(उत) अपि (अमृतासुः) म० १ । अनष्टबुद्धिः । अनश्वरप्राणः (व्रतः) व्रतं कर्मनाम—निघ०—२ । १ । अर्श आद्यच् । प्रशस्तकर्मवान् (एमि) प्राप्नोमि (कृण्वन्) कर्माणि कुर्वन् (असुः) म० १ । प्राणः । प्रज्ञा (आत्मा) अ० १ । १८ । ३ । जीवः (तन्वः) एकवचनस्य बहुवचनम् । तनूः, देहः (तत्) तदा (सुमद्गुः) सु+मन ज्ञाने—क्विप्, यद्वा मद तर्पणे—क्विप् । गौः, वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । सुमत् प्रशस्तमनना तर्पिका वा गौर्वाग् यस्य सः (वा) अवधारणे (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । इन्द्रः परमात्मा (रत्नम्)

जब (हविर्दाः) भक्ति का देने वाला पुरुष (ऊर्जया) बल के साथ (वा) निश्चय करके [उसको] (सचते) सेवता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य सब प्रकार सावधान होकर परमेश्वर की भक्ति से संसार में अनेक सुख प्राप्त करते हैं ॥ ७ ॥

उत पुत्रः पितरं क्षत्रमीडे ज्येष्ठं मर्यादमह्वयन्त्स्वस्तये।
दर्शन् नु ता वरुण यास्ते विष्ठा आवर्व्रततः कृणवो वपूंषि ॥ ८ ॥

उत । पुत्रः । पितरम् । क्षत्रम् । ईडे । ज्येष्ठम् । मर्यादम् । अह्वयन् । स्वस्तये । दर्शन् । नु । ताः । वरुण । याः । ते । वि-स्थाः । आ-वर्व्रततः । कृणवः । वपूंषि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पुत्रः) मैं पुत्र (पितरम्) पालन कर्ता पिता परमेश्वर से (उत) ही (क्षत्रम्) धन (ईडे) मांगता हूं । (ज्येष्ठम्) अत्यन्त वृद्ध (मर्यादम्) मर्यादा वाले परमात्मा को (स्वस्तये) आनन्द के लिये (अह्वयन्) [ऋषियों ने] आवाहन किया है । (वरुण) हे वरणीय परमेश्वर ! (याः) जो (ते) तेरी (विष्ठाः) व्यवस्थायें हैं (ताः) उन्हें (नु) शीघ्र (दर्शन्)

रमणीयं धनम् (दधाति) ददाति (ऊर्जया) अ० ४ । २५ । ४ । पराक्रमेण (यत्) यदा (सचते) सेवते (हविर्दाः) हविषो भक्तेर्दाता ॥

८—(उत) निश्चयेन (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकः सुतः (पितरम्) पातारम् । जनकम् (क्षत्रम्) अ० २ । १५ । ४ । धनम्—निघ० २ । १० । (ईडे) याचामि—निरु० ७ । १५ । याचे (ज्येष्ठम्) प्रवृद्धतमम् (मर्यादम्) मर्यादा-अर्श आद्यच् । मर्यादावन्तम् । परमेश्वरम् (अह्वयन्) ह्वेञ्-लङ् । आहूतवन्तः कवयः (स्वस्तये) अ० १ । ३० । २ । आनन्दाय (दर्शन्) पश्यन्तु (नु) क्षिप्रम् [ताः] (वरुण) हे वरणीय परमात्मन् (याः) (ते) तव (विष्ठाः) अ० ४ । १ । १ । व्यवस्थाः (आवर्व्रततः) आङ्+वृतु वर्तने । यङ्लुगन्तात्-शतृ, छान्दसं रूपम् । आवर्वृततः । समन्ताद् बहुवर्तनशीलस्य संसारस्य (कृणवः) कृवि हिंसाकरणयोः गतौ च—लेटि मध्यमपुरुषः लेटोऽडाटौ । पा० ३

वे लोग देखें, (आवर्ततः) यथावत् अनेक प्रकार घूमनेवाले [संसार] के (वपूंषि) रूपों को (कृणवः) तू प्रकट कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य पिता से मर्यादा पूर्वक पैतृक धन प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं वैसे ही सब लोग परमात्मा के रचे पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द पावें ॥ ८ ॥

अर्धमर्धेन पयसा पृणक्ष्यर्धेन शुष्म वर्धसे अमुर । अविं वृधाम शग्मियं सखायं वरुणं पुत्रमदित्या इषिरम् । कविशस्तान्यस्मै वपूंष्यवोचाम रोदसी सत्यवाचा ॥९॥

अर्धम् । अर्धेन । पयसा । पृणक्षि । अर्धेन । शुष्म । वर्धसे । अमुर । अविम् । वृधाम । शग्मियम् । सखायम् । वरुणम् । पुत्रम् । अदित्याः । इषिरम् । कवि-शस्तानि । अस्मै । वपूंषि । अवोचाम । रोदसी इति । सत्य-वाचा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(शुष्म) हे बलवान् ! (अमुर) हे किसी से न घेरे गये परमेश्वर ! (अर्धम्) बढ़े हुये संसार को (अर्धेन) बढ़े हुये (पयसा) अपने व्यापकपन से (पृणक्षि) तू संयुक्त करता है और उस (अर्धेन) बढ़े हुये [व्यापकपन] से (वर्धसे) तू बढ़ता है । (अविम्) रक्षक, (शग्मियम्)

४ । ९४ । इति अट् । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इति इकार लोपः । त्वम् आविष्कुर्याः (वपूंषि) म० २ । रूपाणि ॥

९—(अर्धम्) ऋधु वृद्धौ-घञ् । अर्धो हरतेर्विपरीतात्धारयतेर्वा स्यादुद्धृतं भवत्यृध्नोतेर्वा स्यादृद्धतमो विभागः-निरु० । ३ । २० । प्रवृद्धं संसारम् (अर्धेन) प्रवृद्धेन (पयसा) पय गतौ-असुन् । स्वगमनेन स्वव्याप्त्या (पृणक्षि) पृची सम्पर्चने । संयोजयसि (अर्धेन) प्रवृद्धेन व्यापकत्वेन (शुष्म) अ० १ । १२ । ३ । शुष्मम्=बलम्-निघ० २ । ९ । ततोऽच् । हे बलवन् (वर्धसे) प्रवृद्धो भवसि (अमुर) मुर संवेष्टने-क । हे अवेष्टित । हे अहिंसित (अविम्) ३ । १७ । ३ । रक्षकम् (वृधाम) वर्धयाम प्रशंसाम (शग्मियम्) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० । १ । १४६ । इति शकेर्मक्, कस्य गः । शग्मं सुखम्-निरु० ३ । ६ । ततो घः । सुखवन्तम् (सखायम्) मित्रम् (वरुणम्) वरणीयम् (पुत्रम्) म०

सुखवान्, (सखायम्) सब के मित्र, (वरुणम्) सब में श्रेष्ठ, (पुत्रम्) सब के शुद्ध करने हारे, और (अदित्याः) अखण्ड प्रकृति के (इषिरम्) चलाने वा देखने वाले परमेश्वर को (वृधाम) हम बड़ा मानें। (कविशस्तानि) बुद्धिमानों से बड़े माने गये (वपूंषि) रूपों को (अस्मै) इस [परमेश्वर] के लिये (अवोचाम) हम ने कथन किया है, (रोदसी) सूर्य और पृथिवी दोनों (सत्यवाचा) सत्य बोलने वाले हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब संसार में सर्वथा भर पूर है, वही महाबली प्रत्येक परमाणु में संयोग वियोग शक्ति देकर संसार को रचता है। उसकी महिमा सब बुद्धिमान् लोग गाते हैं जो सूर्य और पृथिवी अर्थात् ऊंचे नीचे और प्रकाशमान अप्रकाशमान लोकों से प्रकट है ॥६॥

सूक्तम् २ ॥

१-९ ॥ इन्द्रो देवता । त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वर गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश।

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः ।
सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥ १ ॥

तत् । इत् । आस । भुवनेषु । ज्येष्ठम् । यतः । जज्ञे । उग्रः । त्वेषऽनृम्णः । सद्यः । जज्ञानः । नि । रिणाति । शत्रून् । अनु । यत् । एनम् । मदन्ति । विश्वे । ऊमाः ॥ १ ॥

---

१ । ११ । ५ । शोधकम् (अदित्याः) अ० २ । २८ । ४ । अखण्डायाः प्रकृतेः (इषिरम्) इषिमदिमुदि० । उ० । १ । ५१ । इति इषु इच्छायाम्-किरच् । यद्वा ईष गतौ, दर्शने च-किरच् । ह्रस्वश्च । इषिरेण ..ईषणेन वैषणेन वार्षणेन वा-निरु० । ४ । ७ । गमयितारम् । दर्शकं परमात्मानाम् (कविशस्तानि) मेधाविभिःस्तुतानि (अस्मै) परमेश्वराय (वपूंषि) रूपाणि, स्वभावान् (अवोचाम) वच वा ब्रूञ्-लुङ् । वयमुक्तवन्तः (रोदसी) अ० । ४ । १ । ४ । भूतानां रोधनशीले द्यावापृथिव्यौ (सत्यवाचा) सत्यवाचौ सत्यकथनशीले स्तः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तत्) विस्तीर्ण ब्रह्म (इत्) ही (भुवनेषु) लोकों के भीतर (ज्येष्ठम्) सब में उत्तम और सब में बड़ा (आस) प्रकाशमान हुआ (यतः) जिस ब्रह्म से (उग्रः) तेजस्वी (त्वेषनृम्णः) तेजोमय बल या धन वाला पुरुष (जज्ञे) प्रकट हुआ। (सद्यः) शीघ्र (जज्ञानः) प्रकट होकर (शत्रून्) गिराने वाले विघ्नों को (नि रिणाति) नाश कर देता है। (यत्) जिससे (एनम् अनु) इस [परमात्मा] के पीछे पीछे (विश्वे) सब (ऊमाः) परस्पर रक्षक लोग (मदन्ति) हर्षित होते हैं ॥१॥

भावार्थ—आदि कारण परमात्मा की उपासना से मनुष्य वीर होकर शत्रुओं को मारता है जिसके कारण सब लोग प्रसन्न होते हैं। उस जगदीश्वर की उपासना सब लोग किया करें ॥१॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १२० । वहां बृहद्दिव आथर्वण ऋषि हैं। यह मन्त्र कुछभेद से यजु० में है—अ० ३२ म० ८० ॥

वावृधानः शवसा भूर्योजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥२॥

वावृधानः। शवसा। भूरि-ओजाः। शत्रुः। दासाय। भियसम्।

१—(तत्) विस्तृतं ब्रह्म (इत्) एव (आस) अस गतिदीप्त्यादानेषु लिट्। दिदीपे (भुवनेषु) सत्सु लोकेषु (ज्येष्ठम्) प्रशस्ततमम्। वृद्धतमम् (यतः) यस्माद् ब्रह्मणः (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (उग्रः) प्रचण्डः। तेजस्वी (त्वेषनृम्णः) त्विष दीप्तौ—घञ्। नृम्णं बलनाम—निघ० २।९। धननाम—निघ० २।१०। नृम्णं बलं नॄन् नतम्—निरु० ११।९। नृनमन शब्दस्य वर्णलोपादौ नृम्णमिति रूपम्। त्वेषः कान्तिर्नृम्णं बलं धनं वा यस्य सः। तेजोबलः। तेजोधनः पुरुषः (सद्यः) शीघ्रम् (जज्ञानः) जनेर्लिटः कानच्। जातः सन् (नि) नितराम् (रिणाति) रि गतिरेषणयोः। हिनस्ति (शत्रून्) शातयितॄन्। विघ्नान् (अनु) अनुसृत्य। पश्चात् (यत्) यस्मात्कारणात् (एनम्) परमात्मानम् (मदन्ति) हृष्यन्ति (विश्वे) सर्वे (ऊमाः) अविसिविसिशुषिभ्यः कित्। उ० १।१४४। इति अव रक्षणे—मन्। ज्वरत्वरस्त्रिव्यवि। पा० ६।४।२०। इति ऊठ्। रक्षादिकर्मकर्तारः पुरुषाः ॥

दधाति । अवि-अनत् । च । वि-अनत् । च । सस्नि । सम् । ते । नवन्त । प्र-भृता । मदेषु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शवसा) बल से (वावृधानः) बढ़ता हुआ, (भूर्योजाः) महाबली, (शत्रुः) हमारा शत्रु (दासाय) दानपात्र दास को (भियसम्) भय (दधाति) देता है । (अव्यनत्) गतिशून्य, स्थावर, (च) और (व्यनत्) गतिवाला जङ्गम जगत् (च) निश्चय करके [परमात्मा में] (सस्नि) लपेटा हुआ है, (प्रभृता) अच्छे प्रकार पुष्ट किये हुये प्राणी (मदेषु) आनन्दों में (ते) तेरी (सम् नवन्त=०-न्ते) यथावत् स्तुति करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत् में व्यापक होकर सब को धारण करता है । उसी की महिमा को जानकर सब मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक अपने विघ्नों का नाश करके प्रसन्न होवें ॥२॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः । स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥ ३ ॥

२—(वावृधानः) वृधु—कानच् । वर्धमानः (शवसा) श्वेः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । १५३ । इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः–असुन् । शवः=बलम्–निघ० २ । ६ । बलेन (भूर्योजाः) बहुबलः (शत्रुः) शातयिता । रिपुः । विघ्नः (दासाय) दासृ दाने–घञ् । दानपात्राय सेवकाय (भियसम्) दिवः कित् । उ० ३ । १ । १२१ । इति ञिभी भये—असच् । भयम् (दधाति) ददाति (अव्यनत्) अ+वि+अन प्राणने, गतौ च–शतृ । अनिति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गतिशून्यं स्थावरं जगत् (च) (व्यनत्) विविधं गतिवज्जगमं जगत् (च) अवधारणे (सस्नि) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । ष्णै वेष्टने—किन् । यद्वा, ष्णा शौचे—किन् । आतो लोप इटि च । पा० ६ । ४ । ६४ । आकारलोपः । सस्निं मेघं संस्नातम्—निरु० ५ । १ । परमात्मनि वेष्टितम् (ते) तुभ्यम् (सम् नवन्त) छान्दसमात्मने पदं लटि रूपम् । नवते गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । नवन्ते नुवन्ति । सम्यक् स्तुवन्ति, संगच्छन्ते वा (प्रभृता) प्रभृतानि प्रकर्षेण भृतानि पोषितानि वा (मदेषु) हर्षेषु ॥

त्वे इति । क्रतुम् । अपि । पृञ्चन्ति । भूरि । द्विः । यत् । एते । त्रिः । भवन्ति । ऊमाः । स्वादोः । स्वादीयः । स्वादुना । सृज । सम् । अदः । सु । मधु । मधुना । अभि । योधीः ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वे अपि) तुझ में ही (क्रतुम्) अपनी बुद्धि को (भूरि) बहुत प्रकार से [सब प्राणी] (पृञ्चन्ति) जोड़ते हैं। (एते) यह सब (ऊमाः) रक्षक प्राणी (द्विः) दो वार [स्त्री पुरुष रूप से] (त्रिः) तीन वार (स्थान, नाम और जन्म रूप से) (भवन्ति) रहते हैं। (यत्) क्योंकि (स्वादोः) स्वादु से (स्वादीयः) अधिक स्वादु मोक्ष सुख को (स्वादुना) स्वादु [सांसारिक सुख] के साथ (सम् सृज) संयुक्त कर] (अदः) उस (मधु) मधुर मोक्ष सुख को (मधुना) मधुर [सांसारिक ज्ञान के साथ (सु) भले प्रकार (अभि) सब ओर से (योधीः) तूने पहुंचाया है ॥३॥

भावार्थ—लिङ्ग रहित आत्मा कभी स्त्री कभी पुरुष होकर अपने कर्मानुसार मनुष्य आदि शरीर, नाम और जाति भोगता है। सब प्राणी परमेश्वर की महिमा जानकर सांसारिक व्यवहार द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करें जैसे कि पूर्वज ऋषियों ने वेद द्वारा प्राप्त किया है ॥ ३ ॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।

३—(त्वे) सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेः शे आदेशः। त्वयि (क्रतुम्) प्रज्ञाम्–निघ० ३। ९। (अपि) एव (पृञ्चन्ति) पृची सम्पर्के। संयोजयन्ति सर्वे प्राणिनः (भूरि) बहुप्रकारेण (द्विः) द्वित्रिचतुर्भ्यःसुच्। पा० ५। ४। १८। इति सुच्। द्विवारं स्त्रीरूपेण पुंरूपेण च (यत्) यस्मात्। (एते) दृश्यमानाः (त्रिः) त्रि–सुच्। त्रिवारं स्थाननामजन्मरूपेण। धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति–निरु० ९। २८। (भवन्ति) वर्तन्ते (ऊमाः) म० १। रक्षकाः (स्वादोः) स्वादुनः। प्रियात् (स्वादीयः) स्वादु–ईयसुन्। स्वादुतरम्। प्रियतरं मोक्षसुखम् (स्वादुना) प्रियेण सांसारिकसुखेन (सम् सृज) संयोजय (अदः) तत् (सु) सुष्ठु (मधु) मधुरं मोक्षसुखम् (मधुना) मधुरेण सांसारिकज्ञानेन (अभि) अभितः (योधीः) युध्यति, गतिकर्मा–निघ० २। १४। छान्दसं लुङि रूपम्। अयोत्सीः। त्वं गमितवान् प्रापितवानसि ॥

ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥ ४ ॥

यदि । चित् । नु । त्वा । धना । जयन्तम् । रणे-रणे । अनु-मदन्ति । विप्राः । ओजीयः । शुष्मिन् । स्थिरम् । आ । तनुष्व । मा । त्वा । दभन् । दुः-एवासः । कशोकाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (चित्) निश्चय करके (विप्राः) पंडित जन (रणेरणे) प्रत्येक रण में (नु) शीघ्र (धना) धनों को (जयन्तम्) जीतने वाले (त्वा) तेरे (अनु मदन्ति) पीछे पीछे आनन्द पाते हैं। (शुष्मिन्) हे बलवन् परमात्मन् ! (ओजीयः) अधिक बलवान् (स्थिरम्) स्थिर मोक्ष सुख (आ) सब ओर से (तनुष्व) फैला। (दुरेवासः=दुरेवाः) दुष्ट गतिवाले (कशोकाः) परसुख में शोक करने वाले जन (त्वा) तुझ को (मा दभन्) न सतावें ॥४॥

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य विघ्नों को हटाकर कठिन कठिन कार्य सिद्ध करके स्थिर सुख पाते हैं ॥४॥

त्वया वयं शाशद्महे रणेषु प्रपश्यन्तो युधेन्यानि भूरि। चोदयामि त आयुधा वचोभिः सं ते शिशामि ब्रह्मणा वयांसि ॥ ५ ॥

४—(यदि) सम्भावनायाम् (चित्) एव (नु) क्षिप्रम् (त्वा) त्वाम् (धना) धनानि (जयन्तम्) जयेन प्राप्नुवन्तम् (रणेरणे) सर्वस्मिन् युद्धे (अनुमदन्ति) अनुसृत्य हृष्यन्ति (विप्राः) मेधाविनः (ओजीयः) ओजस्वि-ईयसुन्। विन्मतोर्लुक्। पा० ५। ३। ६५। इति विनो लुक्, टिलोपः। बलवत्तरम् (शुष्मिन्) हे बलवन् (स्थिरम्) निश्चलं मोक्षसुखम् (आ) समन्तात् (तनुष्व) विस्तारय (मा दभन्) मा हिंसन्तु (त्वा) त्वाम् (दुरेवासः) इण्शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इति दुर्+इण् गतौ—वन्, असुक्। दुर्गतयः पुरुषाः (कशोकाः) कं सुखम्—निघ० ३। ६। के परसुखे शोकः खेदो येषां ते ॥

त्वया । वयम् । शाशद्महे । रणेषु । प्र-पश्यन्तः । युधेन्यानि । भूरि । चोदयामि । ते । आयुधा । वचः-भिः । सम् । ते । शिशामि । ब्रह्मणा । वयांसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(भूरि) बहुत से (युधेन्यानि) युद्धों को (प्रपश्यन्तः) देखते हुये (वयम्) हम लोग (त्वया) तेरे साथ (रणेषु) रणक्षेत्रों में [शत्रुओं को] (शाशद्महे) मार गिराते हैं। (ते) तेरे (वचोभिः) वचनों से (आयुधा) अपने शस्त्रों को (चोदयामि) मैं आगे बढ़ाता हूं और (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (वयांसि) अपने जीवनों को (सम्) यथावत् (शिशामि) तीक्ष्ण करता हूं॥ ५ ॥

भावार्थ—शूर वीर मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके पुरुषार्थ पूर्वक बड़े बड़े कार्य सिद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

नि तद् दधिषेऽवरे परे च यस्मिन्नाविथावसा दुरोणे । आ स्थापयत मातरं जिगत्नुमत इन्वत कर्वराणि भूरि ॥ ६ ॥

नि । तत् । दधिषे । अवरे । परे । च । यस्मिन् । आविथ । अवसा । दुरोणे । आ । स्थापयत । मातरम् । जिगत्नुम् । अतः । इन्वत । कर्वराणि । भूरि ॥ ६ ॥

५—(त्वया) इन्द्रेण सह (वयम्) उपासकाः (शाशद्महे) शद्लृ शातने यङ्लुकि रूपम्। भृशं शातयामः, नाशयामः शत्रून् (रणेषु) रणक्षेत्रेषु (प्रपश्यन्तः) प्रकर्षेणावलोकयन्तः (युधेन्यानि) वृञ एण्यः। उ० ३। ९८। इति बाहुलकाद् युध सम्प्रहारे-एन्य, स च कित्। युद्धानि (भूरि) भूरीणि बहूनि (चोदयामि) प्रेरयामि (ते) तव (आयुधा) स्वायुधानि (वचोभिः) वचनैः। उपदेशैः (सम्) सम्यक् (ते) तव (शिशामि) शो तनूकरणे-श्यनः श्लुः, इत्वं च। श्यामि, तनूकरोमि (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानेन (वयांसि) स्वजीवनानि ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्] (अवरे) छोटे (च) और (परे) बड़े मनुष्य में (तत्) उस [घर] को (नि) निश्चय करके (दधिषे) तू ने पोषण किया है। (यस्मिन्) जिस (दुरोणे) कष्ट से भरने योग्य घर में (अवसा) अन्न से (आविथ) तूने रक्षा की है। [हे मनुष्यो !] (जिगत्नुम्) सर्व व्यापक (मातरम्) माता [परमेश्वर] को (आ) भली भांति (स्थापयत) [हृदय में] ठहराओ और (अतः) इसी से (भूरि) बहुत से (कर्वराणि) कर्मों को (इन्वत) सिद्ध करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके अपने सब काम सिद्ध करें ॥ ६ ॥

स्तुष्व व॑र्ष्मन् पु॒रु॒वर्त्मा॑नं॒ सम्भ्वा॑णमि॒नत॑ममा॒प्तमा॒प्त्याना॑म्। आ द॑र्शति॒ शव॑सा॒ भूर्यो॑जाः॒ प्र स॑क्षति॒ प्रति॒मानं॑ पृथि॒व्याः ॥ ७ ॥

स्तुष्व। व॒र्ष्म॒न्। पु॒रु-वर्त्मा॑नम्। सम्। ऋभ्वा॑णम्। इ॒न-त॑मम्। आ॒प्तम्। आ॒प्त्याना॑म्। आ। द॒र्श॒ति॒। शव॑सा। भूरि॑-ओजाः। प्र। स॒क्ष॒ति॒। प्र॒ति-मान॑म्। पृ॒थि॒व्याः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वर्ष्मन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (पुरुवर्त्मानम्) बहुत मार्ग

६—(नि) निश्चयेन (तत्) दुरोणम् (दधिषे) डुधाञ् धारणपोषणयोः-लिट्। पोषितवानसि (अवरे) अल्पे जने (परे) उत्कृष्टे (च) (यस्मिन्) (आविथ) अवतेर्लिट्। त्वं रक्षितवानसि (अवसा) अवः=अन्नम्-निघ० २। ७। तर्पकेणान्नेन (दुरोणे) रास्नासास्ना ०। उ० ३। १५। इति दुःपूर्वादवतेर्नक्ि टाटि गुणः। दुरोण इति गृहनाम दुःखा भवन्ति दुस्तर्पाः-निरु० ४। ५। दुस्तर्प्पे गृहे (आ) समन्तात् (स्थापयत) धारयत हृदये हे जनाः (मातरम्) निर्मात्रीं शक्तिम्। परमात्मानम् (जिगत्नुम्) गमेः सन्वच्च। उ० ३। ३१। इति गम्लृ-गतौ-क्नु। गतिशीलां व्यापिकाम् (अतः) अस्मात्कारणात् (इन्वत) इवि व्याप्तौ। व्याप्नुत। साधयत (कर्वराणि) कृगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच्। उ० २। १२१। इति डुकृञ् करणे-ष्वरच्। कर्माणि-निघ० २। १। (भूरि) भूरीणि ॥

७—(स्तुष्व) प्रशंस (वर्ष्मन्) अ० ३। ४। २। वृष प्रजननैश्वर्ययोः-मनिन्।

वाले (ऋभ्वाणम्) दूर दूर तक चमकने वाले, (इनतमम्) महा प्रभु और (आप्त्यानाम्) आप्त [यथार्थवक्ता] पुरुषों में रहने वाले गुणों के (आप्तम्) यथार्थवक्ता परमेश्वर की (सम्) यथावत् (स्तुष्व) स्तुति कर। (भूर्योजाः) वह महाबली (शवसा) अपने बल से (आ) सब ओर (दर्शति) देखता है, और वह (पृथिव्याः) पृथिवी का (प्रतिमानम्) प्रतिमान होकर (प्र) भली भांति (सश्चति) व्यापता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव विचार कर अपनी उन्नति करें ॥ ७ ॥

(पृथिव्याः प्रतिमानम्) इसके साथ मिलान करो [पृथिवीव वरिम्णा] य० ३ । ५ । वह पृथिवी के समान अपने फैलाव से है ॥

इमा ब्रह्म॑ बृहद्दि॑वः कृणवदिन्द्राय शूषम॑ग्रियः स्वर्षाः । महो गोत्रस्य॑ क्षयति स्वराजा तुर॑श्चिद् विश्व॑मर्णवत् तप॑स्वान् ॥ ८ ॥

इमा । ब्रह्म॑ । बृहत्-दि॑वः । कृणवत् । इन्द्राय । शूषम् । अग्रियः । स्वः-साः । महः । गोत्रस्य॑ । क्षयति । स्व-राजा । तुर॑ः । चित् । विश्व॑म् । अर्णवत् । तप॑स्वान् ॥ ८ ॥

हे ऐश्वर्य्यवन् मनुष्य (पुरुवर्त्मानम्) बहुमार्गवन्तम् (सम्) सम्यक् (ऋभ्वाणम्) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति उरु+ भा दीप्तौ यद्वा भू सत्तायाम्-वनिप्, स च डित् । उरुशब्दस्य ऋकारः । ऋभव उरु भान्तीति वा, ऋतेन भान्तीतिवा, ऋतेन भवन्तीतिवा-निरु० ११ । १५ । उरु-भासनम् । उरुभूतम् (इनतमम्) अतिशयेनेश्वरं (आप्तम्) आप्लृ-क्त । यथार्थ-वक्तारम् (आप्त्यानाम्) आप्त-यत् । आप्तेषु यथार्थज्ञातृषु भवानां गुणानाम् (आ) समन्तात् (दर्शति) पश्यति (शवसा) बलेन (भूर्योजाः) महाबलः (प्र) प्रकर्षेण (सश्चति) षच समवाये-लेटि सिप् । गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । सश्चतिराप्नोतिकर्मा-निरु० ११ । २१ । व्याप्नोति (प्रतिमानम्) माङ् माने-ल्युट् । प्रतिरूपं सत् (पृथिव्याः) भूमेः ॥

भाषार्थ—(बृहद्दिवः) बड़े व्यवहार वा गतिवाला, (अग्रियः) अगुआ और (स्वर्षाः) स्वर्ग का सेवन करने वाला पुरुष (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (इमा) इन (ब्रह्म=ब्रह्माणि) बड़े स्तोत्रों को (शूषम्) अपना बल (कृणवत्) बनावे । (स्वराजा) वह स्वतन्त्र राजा परमेश्वर (महः) बड़े (गोत्रस्य) भूपति राजा का (क्षयति) राजा है, और वह (तुरः) शीघ्र स्वभाव, (तपस्वान्) सामर्थ्यवाला परमात्मा (चित्) ही (विश्वम्) सब जगत् में (अर्णवत्) व्यापता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर परम पिता के गुण जान कर अपना बल बढ़ावें ॥ ८ ॥

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१-मिन्द्रमेव । स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ ९ ॥

एव । महान् । बृहत्-दिवः । अथर्वा । अवोचत् । स्वाम् । तन्वम् । इन्द्रम् । एव । स्वसारौ । मातरिभ्वरी इति । अरिप्रे इति । हिन्वन्ति । च । एने इति । शवसा । वर्धयन्ति । च ॥ ९ ॥

८—(इमा) इमानि (ब्रह्म) ब्रह्माणि बृहन्ति स्तोत्राणि (बृहद्दिवः) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति बृहत्+दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहार-स्तुतिगत्यादिषु—क । बृहद्व्यवहारवान् । महागतिमान् पुरुषः (कृणवत्) कृवि हिंसाकरणयोः—लेट् । कुर्यात् (इन्द्राय) परमेश्वराय (शूषम्) बलनाम-निघ० २ । ९ । स्वबलम् (अग्रियः) घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । इति अग्र—घ । अग्रे भवः । श्रेष्ठः (स्वर्षाः) जनसनखनक्रम० । पा० ३ । २ । ६७ । इति षण सम्भक्तौ दाने च—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । सनोतेरनः । पा० ८ । ३ । १०८ । इति षत्वम् । स्वर्गस्य सम्भक्ता सेवनकर्ता (महः) महतः (गोत्रस्य) गो+त्रैङ् रक्षणे—क । गोः पृथिव्या रक्षकस्य पुरुषस्य (क्षयति) क्षि ऐश्वर्ये । ईष्टे (स्वराजा) स्वतन्त्रः स्वामी (तुरः) शीघ्रस्वभावः (चित्) एव (विश्वम्) सर्वं जगत् (अर्णवत्) ऋण गतौ—लडर्थे लेट् । अर्णोति । व्याप्नोति (तपस्वान्) ऐश्वर्यवान् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान्, (बृहद्दिवः) बड़े व्यवहार वाले, (अथर्वा) निश्चल स्वभाव पुरुष ने (स्वाम्) अपनी (तन्वम्) विस्तृत स्तुति (इन्द्रम्) परमेश्वर के लिये (एव) ही (एव) इस प्रकार से (अवोचत्) कही है। (मातरिश्वरी) आकाश में वर्तमान (स्वसारौ) अच्छे प्रकार ग्रहण करने वाले वा गति वाले [वा दो बहिनों के समान सहाय कारी] दिन और रात (च) और (अरिप्रे) निर्दोष (एने) यह दोनों [सूर्य और पृथिवी] (शवसा) अपने सामर्थ्य से [उसी को] (हिन्वन्ति) प्रसन्न करती (च) और (वर्धयन्ति) सराहती हैं ॥९॥

भावार्थ—हम से पहिले ऋषियों ने भी उसी परमात्मा की स्तुति की है, और दिन रात आदि काल और सूर्य पृथिवी आदि सब लोक उसी के आज्ञाकारी हैं ॥९॥

सूक्तम् ३ ॥

१-११ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ १-९, ११ त्रिष्टुप्, १० जगती ॥

रक्षोपायोपदेशः—रक्षा के उपाय का उपदेश ॥

ममाग्ने वर्चो विहुवेष्वस्तु वयं त्वेन्धानास्तन्वं पुषेम ।

९—(एव) एवम् (महान्) गुणैरधिकः (बृहद्दिवः) म० ८ । बृहद्व्यवहारवान् (अथर्वा) अ० ४ । १ । ७ । निश्चलो मनुष्यः (अवोचत्) वचेर्लुङ् । प्रोक्तवान् (स्वाम्) आत्मीयाम् (तन्वम्) विस्तृतां स्तुतिम्, इति सायणः—ऋ० १० । १२० । ९ (इन्द्रम्) परमेश्वरं प्रति (एव) निश्चयेन (स्वसारौ) स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वा—निरु० ११ । ३२ । सावसेर्ऋन् । उ० २ । ९६ । इति सु+असु क्षेपणे, यद्वा अस दीप्तौ, ग्रहणे, गतौ, सत्तायां च—ऋन् । सुष्ठु ग्रहणशीले गतिशीले वा यद्वा भगिन्यौ यथा सह दृश्यमाने । अहोरात्रौ (मातरिश्वरी) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति मातरि+भू सत्तायाम्—वनिप्, स च डित् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । इति ङीब्रेफौ । वा छन्दसि । पा० ० ६ । १ । १०६ । इति जसि पूर्वसवर्णदीर्घः । मातर्यन्तरिक्षे [निरु० ७ । २६] वर्तमाने (अरिप्रे) रप व्यक्तायां वाचि—रक् । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । निर्दोषे (हिन्वन्ति) हिवि प्रीणने । प्रीणयन्ति तर्पयन्ति (च) समुच्चये (एने) दृश्यमाने द्यावापृथिव्यौ (शवसा) स्वसामर्थ्येन (वर्धयन्ति) स्तुवन्ति (च) समुच्चये ॥

मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रस्त्वयाध्यक्षेण पृतना जयेम॥१

मम । अग्ने । वर्चः । वि-हवेषु । अस्तु । वयम् । त्वा । इन्धानाः । तन्वम् । पुषेम । मह्यम् । नमन्ताम् । प्र-दिशः । चतस्रः । त्वया । अधि-अक्षेण । पृतनाः । जयेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (विहवेषु) संग्रामों में (मम) मेरा (वर्चः) प्रकाश (अस्तु) होवे । (वयम्) हम लोग (त्वा) तुझको (इन्धानाः) प्रकाशित करते हुये (तन्वम्) अपना शरीर (पुषेम) पोषें । (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (मह्यम्) मेरे लिये (नमन्ताम्) नमें, (त्वया) तुझ (अध्यक्षेण) अध्यक्ष के साथ (पृतनाः) संग्रामों को (जयेम) हम जीतें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके अपने सब बाहरी और भीतरी शत्रुओं को जीत कर आनन्द भोगें ॥१॥

इस सूक्त के मन्त्र १—५,६ का पूर्वार्ध, ७ का उत्तरार्ध, ८—१० कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १० सू० १२८ ॥

अग्ने मन्युं प्रतिनुदन् परेषां त्वं नो गोपाः परि पाहि विश्वतः । अपाञ्चो यन्तु निवता दुरस्यवोऽमैषां चित्तं प्रबुधां वि नेशत् ॥ २ ॥

अग्ने । मन्युम् । प्रति-नुदन् । परेषाम् । त्वम् । नः । गोपाः ।

१—(मम) (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (वर्चः) प्रकाशः (विहवेषु) ह्वः सम्प्रसारणं च न्यभ्युपविषु । पा० ३ । ३ । ७२ । इति वि+ ह्वेञ् आह्वाने—अप् । शूराणामाह्वानस्थानेषु संग्रामेषु (अस्तु) (वयम्) (त्वा) त्वाम् (इन्धानाः) इन्धेः—शानच् । दीपयन्तः (तन्वम्) स्वशरीरम् (पुषेम) पोषयेम (मह्यम्) मदर्थम् (नमन्ताम्) प्रह्वीभवन्तु (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः।तद्वासिनो जना इत्यर्थः (चतस्रः) (त्वया) (अध्यक्षेण) अधि+ अक्षू व्याप्तौ—अच् । ईश्वरेण (पृतनाः) संग्रामान्—निघ०—२ । १७ । (जयेम) अभिभवेम ॥

परि । पाहि । विश्वतः । अपाञ्चः । यन्तु । नि-वता । दुः-रस्यवः । अमा । एषाम् चित्तम् । प्र-बुधाम् । वि । नेशत् ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (परेषाम्) शत्रुओं के (मन्युम्) क्रोध को (प्रतिनुदन्) हटाता हुआ, (गोपाः) रक्षक, (त्वम्) तू (नः) हम लोगों को (विश्वतः) सब प्रकार से (परिपाहि) बचाले (अपाञ्चः) दूर हटे हुये (दुरस्यवः) अनिष्ट चिंतक लोग (निवता) नीचे की ओर से (यन्तु) चले जावें और (अमा) अपने घर में (प्रबुधाम्) जागने वाले (एषाम्) इन लोगों का (चित्तम्) चित्त (विनेशत्) नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि शत्रु लोग भाग जावें और अपने घर पर भी दुष्टता का विचार न करें ॥ २ ॥

ममं देवा विहवे संन्तु सर्व इन्द्रवन्तो मरुतो विष्णुरग्निः । ममान्तरिक्षमुरुलोकमस्तु मह्यं वातः पवतां कामायास्मै ॥ ३ ॥

मम । देवाः । वि-हवे । सन्तु । सर्वे । इन्द्र-वन्तः । मरुतः । विष्णुः । अग्निः । मम । अन्तरिक्षम् । उरु-लोकम् । अस्तु । मह्यम् । वातः । पवताम् । कामाय । अस्मै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) सब (देवाः) चाहने योग्य गुण (विहवे) संग्राम में

२—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (मन्युम्) क्रोधम् (प्रतिनुदन्) प्रतिमुखं प्रेरयन् (परेषाम्) शत्रूणाम् (त्वम्) (नः) अस्मान् (गोपाः) गुपू रक्षणे-आयप्रत्ययान्तात् क्विप् । वेरपृक्तलोपात्पूर्वं वलि लोपे रूपमेतत् । गोपायिता रक्षकः (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (विश्वतः) सर्वप्रकारेण (अपाञ्चः) अपगच्छन्तः । निवर्तमानाः (यन्तु) गच्छन्तु (निवता) निम्नदेशेन (दुरस्यवः) दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यति० । पा० ७।४।३६। इति क्यचि दुष्टशब्दस्य दुरस् भावः । क्याच्छन्दसि । पा० ३।२।१७०। इति उप्रत्ययः । अनिष्टं चिकीर्षवः (अमा) गृहे-निघ० ३ । ४ । (एषाम्) शत्रूणाम् (चित्तम्) ज्ञानसाधनं मनः (प्रबुधाम्) प्रबोद्धॄणाम् (वि) विशेषेण (नेशत्) णश अदर्शने । नश्येत् ॥

३—(मम) देवाः) कमनीया गुणाः (विहवे) म० १ संग्रामे (सन्तु)

(मम) मेरे (सन्तु) हों; और (इन्द्रवन्तः) ऐश्वर्य युक्त (मरुतः) शूर देवता गण और (विष्णुः) व्यापक सूर्य और (अग्निः) अग्नि [भी मेरे हों]। (उरुलोकम्) विस्तीर्ण लोकों वाला (अन्तरिक्षम्) आकाश (मम) मेरा (अस्तु) होवे, (अस्मै कामाय) इस कामना के लिये (वातः) पवन (मह्यम्) मेरे हित (पवताम्) शुद्ध चले ॥३॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य सब उपकारी लोगों, सूर्य, अग्नि और वायु आदि पदार्थों से उपकार लेकर अपनी उन्नति करता हुआ संसार भर में बढ़ता चले ॥३॥

मह्यं यजन्तां मम यानीष्टाकूतिः सत्या मनसो मे अस्तु । एनो मा नि गां कतमच्चनाहं विश्वे देवा अभि रक्षन्तु मेह ॥ ४ ॥

मह्यम् । यजन्ताम् । मम । यानि । इष्टा । आ-कूतिः । सत्या । मनसः । मे । अस्तु । एनः । मा । नि । गाम् । कतमत् । चन । अहम् । विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । मा । इह ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मम) मेरे (यानि) पाने योग्य (इष्टा=इष्टानि) इष्ट कर्म (मह्यम्) मुझ को (यजन्ताम्) मिलें, (मे) मेरे (मनसः) मनका (आकूतिः) संकल्प (सत्या) सत्य (अस्तु) होवे । (अहम्) मैं (कतमत्चन) किसी

भवन्तु (सर्वे) सकलाः (इन्द्रवन्तः) ऐश्वर्यवन्तः (मरुतः) अ० १ । २० । १ शूराः (विष्णुः) व्यापकः सूर्यः (मम) (अन्तरिक्षम्) अ० १ । ३० । ३ । आकाशम् । अवकाशः (उरुलोकम्) लोकृ दर्शने—घञ् । विस्तीर्णलोकैर्युक्तम् (अस्तु) (मह्यम्) मदर्थम् (वातः) वायुः (पवताम्) शुद्धो गच्छतु (कामाय) इष्टसिद्धये (अस्मै) निर्दिष्टाय ॥

४—(मह्यम्) मदर्थम् (यजन्ताम्) संगच्छन्ताम् (मम) (यानि) या गतौ—ड । प्राप्तव्यानि (इष्टा) इष्टानि कर्माणि (आकूतिः)संकल्पः । मनोरथः (सत्या) यथार्था (मनसः) अन्तःकरणस्य (मे) मम (अस्तु) (एनः)

भी (एनः) पाप कर्म को (मा नि गाम्) कभी न प्राप्त होऊं, (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (मा) मेरी (इह) इस विषय में (अभि) सब ओर से (रक्षन्तु) रक्षा करें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्तः करण से विचार पूर्वक शुभ कर्मों को प्रतिज्ञा करके पूरा करें, और छल कपट आदि पाप छोड़ कर सब उत्तम उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ ४ ॥

मयि देवा द्रविणमा यजन्तां मय्याशीरस्तु मयि देवहूतिः। दैवा होतारः सनिषन् न एतदरिष्टाः स्याम तन्वा सुवीराः ॥ ५ ॥

मयि। देवाः। द्रविणम्। आ। यजन्ताम्। मयि। आ-शीः। अस्तु। मयि। देव-हूतिः। दैवाः। होतारः। सनिषन्। नः। एतत्। अरिष्टाः। स्याम। तन्वा। सु-वीराः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(देवाः) सब उत्तम गुण (मयि) मुझ में (द्रविणम्) धन (आ यजन्ताम्) लाकर दें। (मयि) मुझ में (आशीः) आशीर्वाद, और (मयि) मुझ में (देवहूतिः) विद्वानों का आवाहन (अस्तु) होवे। (दैवाः) दिव्य गुण वाले (होतारः) दाता पुरुष (नः) हमें (एतत्) यह [दान] (सनिषन्) देवें-(तन्वा) अपने शरीर से (अरिष्टाः) निर्दुःखी और (सुवीराः) बड़े बड़े वीरों वाले (स्याम) हम होवें ॥ ५ ॥

अ० २। १०। ८। पापम् (मा गाम्) एतेर्माङि लुङि रूपम्। मा गच्छेयम् (नि) नितराम् (कतमत् चन) किमपि (अहम्) उपासकः (विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः (अभि) सर्वतः (रक्षन्तु) पालयन्तु (मा) माम् (इह) अस्मिन् मनोरथे ॥

५—(मयि) स्तोतरि (देवाः) शुभगुणाः (द्रविणम्) अ०२। २६। ३। धनम् (आ यजन्ताम्) आनीय ददतु (मयि) (आशीः) अ० २। २६। ३। आशीर्वादः (अस्तु) (मयि) (देवहूतिः) देवानामाह्वानम् (दैवाः) दिव्यगुणयुक्ताः (होतारः) दातारः (सनिषन्) षणु दाने—लेट्। ददतु (नः) अस्म-

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक शिल्प आदि उत्तम गुणों से धन एकत्र करके विद्वानों में बुलाये जाकर सत्कार पावें और अपने शरीर से हृष्ट पुष्ट रह कर अपने सन्तान आदि को उत्तम वीर बनावें ॥ ५ ॥

दैवीः षडुर्वीरुरु नः कृणोत विश्वे देवास इह मादयध्वम् । मा नो विददभिभा मो अशस्तिर्मा नो विदद् वृजिना द्वेष्या या ॥ ६ ॥

दैवीः । षट् । उर्वीः । उरु । नः । कृणोत । विश्वे । देवासः । इह । मादयध्वम् । मा । नः । विदत् । अभि-भाः । मो इति । अशस्तिः । मा । नः । विदत् । वृजिना । द्वेष्या । या ॥६॥

भाषार्थ—(दैवीः) हे दिव्य गुण वाली (षट्) छह [पूर्वादि चार और ऊंची नीची दो] (उर्वीः) फैली हुयी दिशाओ ! (नः) हमारे लिये (उरु) फैला हुआ स्थान (कृणोत) करो । (विश्वे) सब (देवासः) विद्वान् लोगो ! (इह) इस विषय में [हमें] (मादयध्वम्) आनन्दित करो । (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुयी, आपत्ति (नः) हम पर (मा विदत्) न आ पड़े, और (मो=मा उ) न कभी (अशस्तिः) अपकीर्ति, और (या) जो (द्वेष्या) द्वेष योग्य (वृजिना) वर्जनीय पाप बुद्धि है, [वह भी] (नः) हम पर (मा विदत्) न आपड़े ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब दिशाओं में शान्ति रक्खे, जिससे विद्वान् लोग उपकार करते रहें और सब प्रकार की विपत्ति, अपकीर्ति और कुमति से दूर रहें ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध अ० १ । २० । १ में आया है ।

भ्यम् (एतत्) इदं दानम् (अरिष्टाः) अहिंसिताः (स्याम) भवेम (तन्वा) स्वशरीरेण (सुवीराः) शोभनवीरोपेताः ॥

६—(दैवीः) दैव्यः । दिव्यगुणोपेताः (षट्) पूर्वादिचतस्र ऊर्ध्वाधोदिशौ च (उर्वीः) उर्व्यः । विस्तीर्णा दिशः (उरु) विस्तीर्णं स्थानम् (नः) अस्मभ्यम् (कृणोत) कृवि हिंसाकरणयोः—लोटि छान्दसं रूपम् । कृणुत । कुरुत (विश्वे) सर्वे (देवासः) देवाः । विद्वांसः (इह) अस्मिन् विषये (मादयध्वम्) अस्मान् हर्षयत । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० १ । २० । १ । इह तु शब्दार्थो दीयते । (नः) (अस्मान्) (मा विदत्) मा प्राप्नोतु (अभिभाः) आपत्तिः (मो) मा-उ । मैव (अशस्तिः) अपकीर्तिः (वृजिना) वर्जनीया पापबुद्धिः (द्वेष्या) द्वेषणीया (या) ॥

तिस्रो देवीर्महि नः शर्म यच्छत प्रजायै नस्तन्वे३ यच्च पुष्टम्। मा हास्महि प्रजया मा तनूभिर्मा रधाम द्विषते सोम राजन् ॥ ७ ॥

तिस्रः। देवीः। महि। नः। शर्म। यच्छत। प्र-जायै। नः। तन्वे। यत्। च। पुष्टम्। मा। हास्महि। प्र-जया। मा। तनूभिः। मा। रधाम। द्विषते। सोम। राजन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तिस्रः देवीः) हे तीनों कमनीय गुण वाली शक्तियो ! (नः) हमें (महि) बड़ी (शर्म) शरण वा सुख, (च) और (नः) हमारी (प्रजायै) प्रजा के लिये और (तन्वे) शरीर के लिये (यत्) जो कुछ (पुष्टम्) पोषण है [वह भी] (यच्छत) दान करो। (प्रजया) प्रजा से (मा हास्महि) हम न छूटें और (मा) न (तनूभिः) अपने शरीरों से, (सोम) हे ऐश्वर्य वाले (राजन्) राजन् परमेश्वर ! (द्विषते) वैरी के लिये (मा रधाम) हम न दुःखी होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य तीन उत्तम शक्तियों अर्थात् उत्तम विद्या, संग्रह शक्ति और पृथिवी पालन से अपनी और प्रजा की उन्नति करें ॥ ७ ॥

तीनों उत्तम शक्तियों का वर्णन य० २७। १९। में इस प्रकार है।

तिस्रो देवीर्बर्हिरेदꣳ सदन्त्विडा सरस्वती भारती। मही गृणाना ॥

(तिस्रः देवीः) तीन उत्तम शक्तियां, अर्थात् (मही) बड़ी पूजनीय और (गृणाना) उपदेश करने वाली (इडा) स्तुति योग्य भूमि, (सरस्वती) प्रशस्त विज्ञान वाली विद्या और (भारती) धारण पोषण शक्ति (इदम् बर्हिः) इस वृद्धि कर्म में (आ सदन्तु) आवें ॥

७—(तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (देवीः) देव्यः। हे कमनीयाः शक्तयः, इडासरस्वतीभारत्यः—य० २७। १९ (महि) महत् (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) शरणम्। सुखम्—निघ० ३। ६ (यच्छत) दत्त (प्रजायै) प्रजाहिताय (नः) अस्माकम् (तन्वे) शरीराय (यत्) किंचित् (च) समुच्चये (पुष्टम्) पोषणम् (मा हास्महि) ओहाक् त्यागे कर्मणि लुङ्। वयं मा परित्यजेमहि (प्रजया) सन्तानादिना (मा) निषेधे (तनूभिः) स्वशरीरैः (मा रधाम) रध हिंसासंराद्धयोः—माङि लुङि रूपम्। हिंसिता मा भूम (द्विषते) द्विष-शतृ। अप्रीतिं कुर्वते (सोम) हे ऐश्वर्यवन् (राजन्) स्वामिन् परमात्मन् ॥

उरुव्यचा नो महिषः शर्म यच्छत्वस्मिन् हवे पुरुहूतः पुरुक्षु । स नः प्रजायै हर्यश्व मृडेन्द्र मा नो रीरिषो मा परा दाः ॥ ८ ॥

उरु-व्यचाः । नः । महिषः । शर्म । यच्छतु । अस्मिन् । हवे । पुरु-हूतः । । पुरु-क्षु । सः । नः । प्र-जायै । हरि-अश्व । मृड । इन्द्र । मा । नः । रिरिषः मा । परा । दाः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(उरुव्यचाः) बड़ी व्याप्ति वाला, (महिषः) पूज्य, (पुरुहूतः) अत्यन्त करके पुकारा गया परमेश्वर (अस्मिन् हवे) इस आवाहन में (नः) हमें (पुरुक्षु) बहुत अन्नों से युक्त (शर्म) घर (यच्छतु) देवे । (सः) सो तू (हर्यश्व) हे आकर्षण विकर्षण से व्यापक (इन्द्र) परमेश्वर ! (नः) हमारी (प्रजायै) प्रजा के लिये (मृड) सुखी हो, (नः) हमें (मा रिरिषः) मत दुःख दे और (मा परा दाः) मत त्याग कर् ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्न पूर्वक अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करें जिससे प्रजा लोग सदा प्रसन्न रहें और कभी दुःख न पावें ॥ ८ ॥

८—(उरुव्यचाः) अचु गतौ—असुन् । विस्तीर्णव्यापनः (नः) अस्मभ्यम् (महिषः) अ० २ । ३५ । ४ । पूजनीयः । महान् (शर्म) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (यच्छतु) ददातु (अस्मिन्) (हवे) आह्वाने (पुरुहूतः) बहुप्रकारेणाहूतः (पुरुक्षु) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । इति टुक्षु शब्दे, यद्वा क्षि निवासगत्योः–कु, स च डित् । क्षु=अन्नम्—निघ० २ । ७ । बह्वन्नयुक्तम् (सः) सः त्वम् (नः) अस्माकम् (प्रजायै) प्रजाहिताय (हर्यश्व) हृपिषिरुहि० उ० ४ । ११९ । इति हृञ् हरणे—इन् । हरणं प्रापणं स्वीकारः स्तेयं नाशनं च । अशू प्रुषिलटि० । उ० १।१५१ । इति अशूव्याप्तौ—क्वन् । हरी इन्द्रस्य निघ० २ । १५ । [उपयोजनानि साहचर्यज्ञानाय—निरु० २ । २८] हे हरिभ्यामाकर्षणविकर्षणाभ्यां व्यापनशील (मृड) सुखी भव (इन्द्र) परमेश्वर (नः) अस्मान् (मा रिरिषः) रिष हिंसायां लुङि छान्दसं रूपम् । मा हिंसीः (मा परा दाः) डुदाञ् दाने—लुङ् । परादानं परित्यागः । मा परित्याक्षीः ॥

धाता विधाता भुवनस्य यस्पतिर्देवः संविताभिमातिषाहः । आदित्या रुद्रा अश्विनोभा देवाः पान्तु यजमानं निर्ऋथात् ॥ ९ ॥

धाता । वि-धाता । भुवनस्य । यः । पतिः । देवः । सविता । अभिमातिसहः । आदित्याः । रुद्राः । अश्विना । उभा । देवाः । पान्तु । यजमानम् । निः-ऋथात् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(धाता) धारण करने वाला, (विधाता) सृष्टि करने वाला (देवः) प्रकाशमान, (सविता) सबका चलाने वाला, (अभिमातिषहः) अभिमानियों का जीतने वाला परमेश्वर, (यः) जो (भुवनस्य) संसार का (पतिः) पति है, और (आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) दुःख नाश करने वाले विद्वान् शूर पुरुष, (उभा) दोनों (अश्विना) सूर्य और पृथिवी लोक, और (देवाः) सब दिव्य पदार्थ (यजमानम्) यजमान को (निर्ऋथात्) विनाश से (पान्तु) बचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर विद्वानों के सत्सङ्ग और सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ९ ॥

ये नः सपत्ना अप ते भवन्त्विन्द्राग्निभ्यामव बाधामह एनान् । आदित्या रुद्रा उपरिस्पृशो न उग्रं चेत्तारमधिराजमक्रत ॥ १० ॥

९—(धाता) धर्ता (विधाता) स्रष्टा (भुवनस्य) संसारस्य (यः) (पतिः) पालयिता (देवः) प्रकाशमानः (सविता) प्रेरयिता (अभिमातिसहः) अ० ४ । ३२ । ४ । अभिमातीनां अभिमानिनां पराजेता (आदित्याः) अ० १ । ९ । १ । आङ्+दीपी दीप्तौ—यक् । प्रकाशमानाः । (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकाः पुरुषाः (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ अश्विनौ । द्यावापृथिव्यौ (उभा) उभौ (देवाः) दिव्यपदार्थाः (पान्तु) रक्षन्तु (यजमानम्) यज्ञकर्तारम् (निर्ऋथात्) अर्तेर्निरि । उ० २ । ८ । इति निर्+ ऋ हिंसायाम्–थक । परिहिंसनात् । विनाशात् ॥

ये । नः । स-पत्नाः । अप । ते । भवन्तु । इन्द्राग्नि-भ्याम् ।
अव । बाधामहे । एनान् । आदित्याः । रुद्राः । उपरि-स्पृशः ।
नः । उग्रम् । चेत्तारम् । अधि-राजम् । अक्रत ॥ १० ॥

भाषार्थ—(ये) जो (नः) हमारे (सपत्नाः) शत्रु हैं (ते) वे (अप-भवन्तु) दूर हो जावें, (इन्द्राग्निभ्याम्) वायु और अग्नि [प्राण और पराक्रम] द्वारा (एनान्) इनको (अव बाधामहे) हम हटाते हैं (आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) दुःख नाशक, (उपरिस्पृशः) उच्च पद धारण करने वाले पुरुषों ने (चेत्तारम्) सर्वज्ञ, (उग्रम्) तेजस्वी परमात्मा को (नः) हमारा [अधिराजम्] राजाधिराज (अक्रत) बनाया है ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा को ऋषि मुनि महात्माओं ने सब संसार का स्वामी साक्षात् किया है, उसी परमात्मा के आश्रय से हम अपने शत्रुओं को जीतें ॥१०॥

अर्वाञ्चमिन्द्रममुतो हवामहे यो गोजिद् धनजिदश्वजिद् यः । इमं नो यज्ञं विहवे शृणोत्वस्माकमभूर्हर्यश्व मेदी ॥ ११ ॥

अर्वाञ्चम् । इन्द्रम् । अमुतः । हवामहे । यः । गो-जित् ।
धन-जित् । अश्व-जित् । यः । इमम् । नः । यज्ञम् । वि-हवे । शृणोतु । अस्माकम् । अभूः । हरि-अश्व । मेदी ॥११॥

१०—(ये) (नः) अस्माकम् (सपत्नाः) अ० १।६।२। सहपतनशीलाः । शत्रवः (ते) शत्रवः (अप भवन्तु) अपगताः प्रच्युताः सन्तु (इन्द्राग्नीभ्याम्) वाय्वग्निभ्यां प्राणपराक्रमाभ्यां सह (अवबाधामहे) अव रुन्धमः (एनान्) शत्रून् (आदित्याः) म० ६। प्रकाशमानाः (रुद्राः) म० ६। दुःखनाशकाः पुरुषाः (उपरिस्पृशः) उन्नतपदस्य स्प्रष्टारो धर्तारः (नः) अस्माकम् (उग्रम्) तेजस्विनं परमेश्वरम् (चेतारम्) इडभावः । चेतितारं सर्वस्य ज्ञातारम् (अधिराजम्) अधीश्वरम् (अक्रत) लुङि छान्दसं रूपम् । अकुर्वत । कृतवन्तः ॥

भाषार्थ—(अमुतः) वहां से (अर्वाञ्चम्) सन्मुख विराजमान (इन्द्रम्) इन्द्र परमेश्वर को (ह्वामहे) हम पुकारते हैं, (यः) जो (गोजित्) पृथिवी जीतने वाला, (धनजित्) धन जीतने वाला और (यः) जो (अश्वजित्) घोड़ों का जीतने वाला है। वह (नः) हमारे (इमम्) इस (यज्ञम्) देवपूजन को (विहवे) संग्राम में (शृणोतु) सुने। (हर्यश्व) हे आकर्षण और विकर्षण शक्ति से व्यापक इन्द्र! (अस्माकम्) हमारा (मेदी) स्नेही (अभूः) तू रहा है॥ ११ ॥

भावार्थ—जो अन्तर्यामी परमात्मा संसार के सब पदार्थों में उत्कृष्ट है, उसका सदा स्मरण करके मनुष्य अपनी उन्नति करें॥ ११॥

सूक्तम् ४ ॥

१—१०॥ कुष्ठो देवता ॥ ६ गायत्री, शिष्टानुष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश

यो गि॒रिष्वजा॑यथा वी॒रुधां॒ बल॑वत्तमः।
कुष्ठेहि॑ तक्मनाशन त॒क्मानं॑ ना॒शय॑न्नि॒तः॥ १ ॥

यः। गि॒रिषु॑। अजा॑यथाः। वी॒रुधा॑म्। बल॑वत्-तमः। कुष्ठ॑। आ। इ॒हि॒। त॒क्म॒-ना॒श॒न॒। त॒क्मान॑म्। ना॒शय॑न्। इ॒तः॥१॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (गिरिषु) स्तुति योग्य पुरुषों में (वीरुधाम्) विविध उत्पन्न प्रजाओं के बीच (बलवत्तमः) अत्यन्त बलवान् (अजायथाः)

११—(अर्वाञ्चम्) अ० ३।२।३। अभिमुखम् (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (अमुतः) तस्माद् देशात् (ह्वामहे) आह्वयामः (यः) इन्द्रः (गोजित्) गोः पृथिव्या जेता (धनजित्) धनानां जेता (अश्वजित्) अश्वानां जेता (यः) (इमम्) उपस्थितम् (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) देवपूजनम् (विहवे) म० १। संग्रामे (शृणोतु) आकर्णयतु (अस्माकम्) (अभूः) भू-लुङ्। अभवः (हर्यश्व) म० ८। हे हरिभ्यामाकर्षणविकर्षणाभ्यां व्यापनशील (मेदी) अ० ३।६।२। स्नेही॥

१—(यः) यस्त्वम् (गिरिषु) कॄगॄशॄपॄ०। उ० ४।१४३। इति गृणातेः स्तुतिकर्मा-निरु० ३।५। इ प्रत्ययः। स्तूयमानेषु पूज्येषु पुरुषेषु (अजायथाः)

उत्पन्न हुआ है। (तक्मनाशन) हे दुःखित जीवन नाश करने वाले (कुष्ठ) गुणपरीक्षक पुरुष (इतः) यहां से (तक्मानम्) दुःखित जीवन को (नाशयन्) नाश करता हुआ (आ इहि) तू आ ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा प्रजा के दुःखों का नाश करके उन्नति करे [कुष्ठ या कूट एक ओषधि का भी नाम है जो राजयक्ष्म, कुष्ठ आदि रोगों को शान्त करती है] ॥ १ ॥

सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि।
धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥ २ ॥

सुपर्ण-सुवने। गिरौ। जातम्। हिम-वतः। परि। धनैः। अभि। श्रुत्वा। यन्ति। विदुः। हि। तक्म-नाशनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सुपर्णसुवने) उत्तम पालन सामर्थ्य उत्पन्न करने हारे (गिरौ) स्तुति योग्य कुल में (हिमवतः) उद्योगी पुरुष से (परि) अच्छे प्रकार (जातम्) उत्पन्न पुरुष को (धनैः) धनों के साथ वर्तमान (श्रुत्वा) सुनकर [विद्वान लोग] (अभि यन्ति) सन्मुख पहुंचते हैं, [और उस को]

त्वमुत्पन्नोऽभवः (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (बलवत्तमः) अतिशयेन बलवान् (कुष्ठ) हनिकुषिनी० । उ० २ । २ । इति कुष निष्कर्षे-क्थन् । हे निष्कर्षक । गुणपरीक्षक पुरुष (आ इहि) आगच्छ (तक्मनाशन) हे कृच्छ्रजीवननाशक (तक्मानम्) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनम् (नाशयन्) निराकुर्वन् (इतः) अस्माद् देशात् ॥

२—(सुपर्णसुवने) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । इति पॄ पालनपूरणयोः-न । भूसूधू० । उ० २ । ८० । इति षू प्रेरणे, यद्वा षूङ् प्राणिप्रसवे-क्युन् । उत्तम-पालनस्योत्पादके (गिरौ) अ० १ । पूज्ये कुले (जातम्) उत्पन्नम् (हिमवतः) हन्तेर्हिंच । उ० १ । १४७ । इति हन हिंसागत्योः-मक् । गतिवतः । उद्योगिनः पुरुषात् (परि) पूजायाम् । सुष्ठु (धनैः) धनैः सह वर्त्तमानम् (अभि) आभिमुख्येन (श्रुत्वा) श्रवणेन (यन्ति) गच्छन्ति विद्वांसः (विदुः) जानन्ति

(तक्मनाशनम्) दुःखित जीवन नाश करने हारा (हि) निश्चय करके (विदुः) जानते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उत्तम कुल में उत्पन्न प्रतापी, धनी पुरुष को अपना राजा बनाते और उस पर प्रजा की रक्षा का भार रखते हैं ॥ २ ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि ।
तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ३ ॥

अश्वत्थः । देव-सदनः । तृतीयस्याम् । इतः । दिवि ।
तत्र । अमृतस्य । चक्षणम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश (तृतीयस्याम्) तीसरी [निकृष्ट और मध्यम अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) गति में (इतः) प्राप्त होता है, (तत्र) उसमें (अमृतस्य) अमृत के (चक्षणम्) दर्शन, (कुष्ठम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (देवाः) महात्माओं ने (अवन्वत) मांगा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि मनुष्य सर्वोत्तम पुरुषार्थ से सर्वजन हितैषी होता है ॥ ३ ॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ ४ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्य-बन्धना । दिवि ।
तत्र । अमृतस्य । पुष्पम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत ॥ ४ ॥

(हि) निश्चयेन (तक्मनाशनम्) कृच्छ्रजीवननाशकम् ॥

३—(अश्वत्थः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वानां कर्मसु व्यापनशीलानां वीराणां स्थितिदेशः (देवसदनः) महात्मनां स्थितियोग्यः (तृतीयस्याम्) निकृष्टमध्यमाभ्यां तृतीयस्यां श्रेष्ठायाम् (इतः) इण-क्त । प्राप्तः (दिवि) गतौ । अवस्थायाम् (तत्र) तस्मिन् स्थाने (अमृतस्य) अमरणस्य । चिरजीवनस्य (चक्षणम्) दर्शनम् । रूपम् (देवाः) विद्वांसः (कुष्ठम्) म० १ । निष्कर्षकं गुणपरीक्षकम् (अवन्वत) वनु याचने । याचितवन्तः ॥

भाषार्थ—(हिरण्यमयी) तेजोमयी, (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धन वाली (नौः) नाव (दिवि) प्रकाशलोक में (अचरत्) चलती थी। (तत्र) वहां पर (अमृतस्य) अमृत के (पुष्पम्) विकाश, (कुष्ठम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोगों ने (अवन्वत) मांगा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य द्वारा उत्तम विद्या का प्रकाश करके आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया ।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥ ५ ॥

हिरण्ययाः । पन्थानः । आसन् । अरित्राणि । हिरण्यया । नावः । हिरण्ययीः । आसन् । याभिः । कुष्ठम् । निः । आवहन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हिरण्ययाः) तेजोमय (पन्थानः) मार्ग और (हिरण्यया) तेजोमय (अरित्राणी) वल्लियां वा डांड (आसन्) थे। (हिरण्ययीः) तेजोमय (नावः) नावें (आसन्) थीं, (याभिः) जिनसे (कुष्ठम्) गुणपरीक्षक पुरुष को (निरावहन्) वे निश्चय करके लाये हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग विद्वान् का आदर करके आनन्दित होते हैं ॥५॥

इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु ।
तमु मे अगदं कृधि ॥ ६ ॥

४—(हरण्यमयी) हिरण्यमयी तेजोमयी (नौः) अ० ३ । ६ । ७ । तरणिः (अचरत्) अगमत् (हिरण्यबन्धना) तजोमयबन्धनयुक्ता (दिवि) प्रकाशलोके (पुष्पम्) पुष्प विकसने-पचाद्यच् । विकाशम् । अन्यद् गतम् । म० ३ ॥

५—(हिरण्ययाः) हिरण्यमयाः । तेजोयुक्ताः (पन्थानः) मार्गाः (आसन्) अभवन् (अरित्राणि) अर्तिलूधूसूखनसहचर इत्रः। उ० ४ । १७२ । इति ऋ गतौ—इत्र । नौकाचालनकाष्ठानि (हिरण्यया) हिरण्यमयानि (नावः), नौकाः (हिरण्ययीः) हिरण्यमय्यः तेजोयुक्ताः (आसन्) (याभिः) नौभिः (कुष्ठम्) म० १ । गुणपरीक्षकं पुरुषम् (निरावहन्) निर्+आङ्+अवहन् । निश्चयेन आनीतवन्तः ॥

इमम् । मे । कुष्ठ । पुरुषम् । तम् । आ । वह । तम् । निः । कुरु । तम् । ऊं इति । मे । अगदम् । कृधि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कुष्ठ) हे गुण परीक्षक पुरुष ! (मे) मेरे (इमम्) इस (तम्) पीड़ित (पुरुषम्) पुरुष को (आ वह) ले, और (तम्) उसको [दुःख से] (निष्कुरु) बाहिर कर । (तम् उ) उसको ही (मे) मेरे लिये (अगदम्) नीरोग (कृधि) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न पूर्वक प्रजाके मानसिक और शारीरिक रोगों को हटावे ॥ ६ ॥

देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः ।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥ ७ ॥

देवेभ्यः । अधि । जातः । असि । सोमस्य । असि । सखा । हितः । सः । प्राणाय । वि-आनाय । चक्षुषे । मे । अस्मै । मृड ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवेभ्यः) विद्वान् पुरुषों से (अधि) ऐश्वर्य के साथ (जातः असि) तू उत्पन्न है, और (सोमस्य) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (हितः) हितकारी (सखा) (असि) तू है । (सः) सो तू (मे) मेरे (प्राणाय) प्राण के लिये, (व्यानाय) व्यान के लिये और (चक्षुषे) नेत्र के लिये (अस्मै)

६—(इमम्) दृश्यमानम् (मे) मम (कुष्ठ) म० १ । हे गुणपरीक्षक पुरुष (पुरुषम्) अ० १ । १६ । ४ । पुरुषम् । जनम् (तम्) तर्द हिंसायाम्-ड हिंसितम् (आ वह) आनय (तम्) पूर्वोक्तम् (निष्कुरु) बहिष्कुरु । उद्धर (तम्) (उ) एव (अगदम्) गद कथने रोगे च—अच् । अरोगम् (कृधि) कुरु ॥

७—(देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः सकाशात् (अधि) ऐश्वर्येण (जातः) उत्पन्नः (असि) (सोमस्य) ऐश्वर्ययुक्तस्य (सखा) सुहृद् (हितः) शुभकारकः (सः) स त्वम् (प्राणाय) प्राणहिताय (व्यानाय) व्यानहिताय

इस पुरुष पर (मृड) सुखी हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—कुलीन ऐश्वर्यवान् राजा कुलीन ऐश्वर्यवान् पुरुषों का सत्कार करता हुआ उनकी सर्वथा रक्षा करता रहे ॥ ७ ॥

उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम् ।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥ ८ ॥

उदङ् । जातः । हिम-वतः । सः । प्राच्याम् । नीयसे । जनम् ।
तत्र । कुष्ठस्य । नामानि । उत्-तमानि । वि । भेजिरे ॥८॥

भाषार्थ—(सः) सो तू (हिमवतः) उद्योगी पुरुष से (जातः) उत्पन्न होकर और (उदङ्) ऊंचा पद पाकर (प्राच्याम्) प्रकृष्ट गति के बीच (जनम्) मनुष्यों में (नीयसे) लाया जाता है । (तत्र) वहां पर (कुष्ठस्य) गुणपरीक्षक राजा के (उत्तमानि) उत्तम उत्तम (नामानि) यशों का (वि) विविध प्रकार से (भेजिरे) उन्हों ने सेवन किया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रजा गण उत्तम राजा को पाकर सदा उसका नाम गाते रहते हैं ॥ ८ ॥

उत्तमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता ।
यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि ॥ ९ ॥

उत्-तमः । नाम । कुष्ठ । असि । उत्-तमः । नाम । ते । पिता । यक्ष्मम् । च । सर्वम् । नाशय । तक्मानम् । च । अरसम् । कृधि ॥ ९ ॥

(चक्षुषे) चक्षुर्हिताय (मे) मम (अस्मै) उपस्थिताय पुरुषाय (मृड) सुखी भव ॥

८—(उदङ्) ऊर्ध्वं पदं गतः (जातः) प्रादुर्भूतः (हिमवतः) म० २ उद्योगिनः पुरुषात् (सः) स त्वम् (प्राच्याम्) प्रकृष्टायां गत्याम् (नीयसे) प्राप्यसे (जनम्) लोकं प्रति (तत्र) जनसमूहे (कुष्ठस्य) म० १ । गुणपरीक्षकस्य पुरुषस्य (नामानि) यशांसि (उत्तमानि) श्रेष्ठानि (वि) विविधम् (भेजिरे) भज सेवायाम्—लिट् । सेवितवन्तः ॥

भाषार्थ—(कुष्ठ) हे गुण परीक्षक राजन्! तू (नाम) अवश्य (उत्तमः) अतिश्रेष्ठ (असि) है, (ते) तेरा (पिता) पिता (नाम) प्रसिद्ध (उत्तमः) अति उत्तम है। (सर्वम्) सब (यक्ष्मम्) राज रोग को (च) अवश्य (नाशय) नाशकर (च) और (तक्मानाम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (अरसम्) असमर्थ (कृधि) बना ॥ ९ ॥

भावार्थ—उत्तम गुणी राजा अपने उत्तम कुलका स्मरण करके प्रजाको दुःखों से सदा रक्षा करे ॥ ९ ॥

शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वो३ रपः ।
कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम् ॥ १० ॥

शीर्ष-आमयम् । उप-हत्याम् । अक्ष्योः । तन्वः । रपः । कुष्ठः । तत् । सर्वम् । निः । करत् । दैवम् । समह । वृष्ण्यम् ॥१०

भाषार्थ—(शीर्षामयम्) शिर के रोग, (अक्ष्योः) दोनों नेत्र के (उपहत्याम्) उपद्रव और (तन्वः) शरीर के (रपः) दोष, (तत् सर्वम्) इस सबको (कुष्ठः) गुणपरीक्षक पुरुष (निष्करत्) बाहिर करे। (समह) हे सत्कार के साथ वर्तमान राजन्! तेरा (वृष्ण्यम्) जीव का हितकारक बल

९—(उत्तमः) श्रेष्ठः (नाम) स्वीकारे। अवश्यम् (कुष्ठ) म० १ हे गुणपरीक्षक राजन् (असि) (उत्तमः) श्रेष्ठः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) तव (पिता) पालकः। जनकः (यक्ष्मम्) अ० २। १०। ५। राजरोगं क्षयम् (च) (सर्वम्) (नाशय) निवारय (तक्मानम्) म० १ कृच्छ्रजीवनकरं ज्वरम् (च) (अरसम्) असमर्थम् (कृधि) कुरु ॥ ९ ॥

१०—(शीर्षामयम्) वलिमलितनिभ्यः कयन्। उ० ४। ९९। इति आङ्+ अम रोगे—कयन्, यद्वा मीञ् हिंसायाम्-पचाद्यच्। शिरोरोगम् (उपहत्याम्) हनस्त च। पा० ३। १। १०८ इति उप+हन—क्यप्, नस्य तः। उपहानिमुपद्रवम् (अक्ष्योः) अक्ष्णोः। नेत्रयोः (तन्वः) तन्वाः। शरीरस्य (रपः) दोषम् (कुष्ठः) गुणपरीक्षकः पुरुषः (तत्) (सर्वम्) (निष्करत्) बहिष्कुर्यात् (दैवम्) दिव्यगुणविशिष्टम् (समह) मह पूजायाम्-पचाद्यच। हे महेन

(दैवम्) दिव्यगुण वाला है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के स्वास्थ्य रक्षा का सदा उपाय करता रहे॥१०॥

सूक्तम् ५ ॥

१-८ ॥ लाक्षा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्म विद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

रात्री माता नभः पितार्यमा ते पितामहः।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा ॥ १ ॥

रात्री । माता । नभः । पिता । अर्यमा । ते । पितामहः । सिलाची । नाम । वै । असि । सा । देवानाम् । असि । स्वसा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (ते) तेरी (माता) निर्माण शक्ति (रात्री) विश्राम् देने वाली रात्रि समान, (पिता) पालने वाला गुण (नभः) आकाश वा मेघ के समान, और (पितामहः) हमारे पालने वाले का पालने वाला तेरा गुण (अर्यमा) विघ्नों को रोकने वाले सूर्य के समान है। (सिलाची) सब में मेल रखने वाली शक्ति (नाम) नाम (वै) अवश्य ही (असि) तू है, (सा)

सत्कारेण सह वर्तमान ! (वृष्ण्यम्) अ० ४ । ४ । ४ । वृष्णे इन्द्राय जीवाय हितम् । बलम् । तव सामर्थमस्ति ॥

१—(रात्री) अ० १ । १६ । १ । रा दानादानयोः-त्रिप् , ङीप् । विश्रामदात्री रात्रिर्यथा (माता) अ० १ । २ । १ । माङ् माने-तृच् । मातान्तरिक्षं निर्मीयन्तेऽस्मिन् भूतानि-निरु० २ । ८ । मातरो भासो निर्मात्र्यः-निरु० १२ । ७। निर्माणशक्तिः (नभः) अ० ४ । १५ । ६ । आकाशं मेघो वा यथा (पिता) पालको गुणः (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अर्यमादित्योऽरीन्नियच्छतीति—निरु० ११ । २३ । सूर्यो यथा (ते) तव (पितामहः) पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः । पा० ४ । २ । ३६ । इति पितृ—डामहच् । पितुः पिता । अस्माकं पालकस्य पालकस्तव धर्मः (सिलाची) षिल श्लेषे-क, अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप् । सिलेन श्लेषेण संसर्गेण गतिशीला । सिलिकमध्यमाः संसृत-

सो तू (देवानाम्) दिव्य गुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने हारी शक्ति (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही, जो शक्ति विशेष है, संसार के सब पदार्थों का कर्ता धर्ता है ॥ १ ॥

यस्त्वा पिब॑ति जीव॑ति त्राय॑से॒ पुरु॑षं॒ त्वम् ।

भ॒र्त्री हि शश्व॑ता॒मसि॒ जना॑नां च॒ न्यञ्च॑नी ॥ २ ॥

यः । त्वा॒ । पिब॑ति । जीव॑ति । त्राय॑से । पुरु॑षम् । त्वम् ।

भ॒र्त्री । हि । शश्व॑ताम् । असि॑ । जना॑नाम् । च॒ । नि॒-अञ्च॑नी ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (त्वा) तेरा (पिबति) पान करता है, वह (जीवति) जीता है। (त्वम्) तू (पुरुषम्) उस पुरुष की (त्रायसे) रक्षा करती है। (शश्वताम्) अनेक (जनानाम्) जनों की (हि) निश्चय करके (भर्त्री) पालन करनेहारी (च) और (न्यञ्चनी) नित्य व्यापक शक्ति (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जान कर सदा उद्योग करे, वही सब व्यापक सब सृष्टि को पालता है ॥ २ ॥

वृ॒क्षंवृ॑क्ष॒मा रो॑हसि वृषण्य॒न्तीव क॒न्यला॑ ।

जय॑न्ती प्रत्या॒तिष्ठ॑न्ती॒ स्पर॑णी॒ नाम॒ वा अ॑सि ॥ ३ ॥

मध्यमाः शीर्षमध्यमा वा—निरु० ४ । १३ (नाम) प्रसिद्धौ (वै) एव (असि) (सा) सा त्वम् (देवानाम्) दिव्यपदार्थानाम् (स्वसा) सावसे ऋन्। उ० २ । ६६ । इति सु+अस दीप्तौ—ऋन् । सुष्ठु दीपयित्री शक्तिः ॥

२—(यः) पुरुषः (त्वा) त्वाम् (पिबति) प्रीत्या गृह्णाति (जीवति) प्राणान् धारयति (त्रायसे) रक्षसि (पुरुषम्) प्राणिनम् (त्वम्) (भर्त्री) पालयित्री शक्तिः (हि) निश्चयेन (शश्वताम्) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । इति टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—अति । स च डित् । निपातनात्साधुः । शश्वत्, बहुनाम—निघ० ३ । १ । बहूनाम् । अनेकानाम् (असि) भवसि (जनानाम्) जन्यमानानां प्राणिनाम् (च) (न्यञ्चनी) नि+अञ्चु गतिपूजनयोः—ल्युट्, ङीप् । नित्यव्यापिका ॥

वृक्षम्-वृक्षम् । आ । रोहसि । वृषण्यन्ती-इव । कन्यला । जयन्ती । प्रति-आतिष्ठन्ती । स्परणी । नाम । वै । असि ॥३

भाषार्थ—(वृक्षंवृक्षम्) प्रत्येक स्वीकार योग्य पदार्थ में (आ) सब प्रकार (रोहसि) तू प्रकट है, (वृषण्यन्ती इव) जैसे ऐश्वर्यवान् सूर्य को चाहने वाली (कन्यला) प्रकाश पाने हारी उषा [सूर्य में] है । (जयन्ती) जय करने हारी (प्रत्यातिष्ठन्ती) प्रत्यक्ष स्थिर रहने हारी और (स्परणी) प्रीति करने वाली शक्ति (नाम) नाम (वै) अवश्य (असि) तू है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी प्रत्येक वस्तु में ऐसा प्रीति से रम रहा है जैसे उषा सूर्य्य में ॥ ३ ॥

यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम् ।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पूरुषम् ॥ ४ ॥

यत् । दण्डेन । यत् । इष्वा । यत् । वा । अरुः । हरसा । कृतम् । तस्य । त्वम् । असि । निः-कृतिः । सा । इमम् । निः । कृधि । पुरुषम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (दण्डेन) दण्डे से, (यत्) जो कुछ (इष्वा) तीर से, (वा) अथवा (यत्) जो कुछ (अरुः) घाव (हरसा) बल से (कृतम्) किया गया है । (तस्य) उस की (त्वम्) तू (निष्कृतिः)

३—(वृक्षंवृक्षम्) वृक्ष स्वीकारे—पचाद्यच् । प्रत्येकं वरणीयं पदार्थम् (आ) समन्तात् (रोहसि) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च । प्रकटोऽसि (वृषण्यन्ती) वृषन्—अ० १ । १२ । १ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति क्यच्-शतृ । वृषाणं सूर्यमिच्छन्ती (इव) यथा (कन्यला) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु-यक्, ला आदाने—क टाप् । प्रकाशग्रहीत्री । उषाः (जयन्ती) तॄभूवहिवसि० । उ० । ३ । १२८ । इति जि जये—झच्, ङीप् । विजया (प्रत्यातिष्ठन्ती) ष्ठा—शतृ । प्रत्यक्षेण स्थात्री (स्परणी) स्पृ प्रीति-पालनयोः—ल्युट्, ङीप् । प्रीणयित्री (नाम) (वै) (असि) ॥

४—(यत्) किञ्चित् (दण्डेन) अमन्ताड्डः । उ० १ । ११४ इति दमु उपशमे-ड । लगुडेन (यत्) (इष्वा) शरेण (अरुः) अर्तिपृवपि० । उ० २ ।

चंगा करने वाली शक्ति (असि) है, (सा) सो तू (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (निष्कृधि) चंगा करदे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रत्येक रोग के लिये ओषधि उत्पन्न की है, मनुष्य उसके प्रयोग से यथावत् सुख प्राप्त करें ॥ ४ ॥

भुद्रात् प्लुक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वुत्थात् खदिराद्धुवात् ।
भुद्रान्न्यग्रोधात् पुर्णात् सा नु एह्यरुन्धति ॥ ५ ॥

भुद्रात् । प्लुक्षात् । निः । तिष्ठसि । अश्वुत्थात् । खुदिरात् । धुवात् । भुद्रात् । न्युग्रोधात् । पुर्णात् । सा । नुः । आ । इुहि । अरुन्धति ॥५॥

भाषार्थ—(प्लक्षात्) परिपूर्ण, (अश्वत्थात्) वीरों में रहने वाले, (खदिरात्) स्थिर, (धवात्) शुद्ध (भद्रात्) कल्याण से, और (न्यग्रोधात्) शत्रुओं को नीचे रोकने वाले (पर्णात) पालन करने वाले (भद्रात्) आनन्द से (निः) निश्चय करके (तिष्ठसि) तू ठहरी है । (सा) सो तू, (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! (नः) हम में (आइहि) तू आ ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपने उत्तम गुणों से सब स्थान में वर्तमान है, पुरुषार्थी मनुष्य उसका आश्रय लेकर अपने विघ्न हटावें ॥ ५ ॥

लोक में (भद्र) मोथा, (प्लक्ष) पाकर (अश्वत्थ) पीपल, (खदिर) खैर (धव) धव, (न्यग्रोध) गूलर, और (पर्ण) पलाश या ढाक के पेड़ को भी कहते हैं ॥

---

११७ । इति ऋ गतौ हिंसायां च-उसि । कृतम् (हरसा) बलेन (कृतम्) निष्पादितम् (तस्य) अरुषः (त्वम्) (असि) (निष्कृतिः) चिकित्साशक्तिः (सा) सा त्वाम् (इमम्) दृश्यमानम् (निष्कृधि) नीरोगं कुरु । उरुर (पुरुषम्) जीवम् ॥

५ —(भद्रात्)मङ्गलात् (प्लक्षात्) प्लुषे रञ्चोपधायाः ।उ० ३ । ६३ । इति प्लुष दाहे स्नेहनसेवनपूरणेषु च—स । परिपूर्णात् (निः) निश्चयेन (तिष्ठसि) वर्त्तसे (अश्वत्थात्) अ० ३ । ६ । १ । अश्वेषु बलवत्सु स्थितात् (खदिरात्) अ० ३ । ६ । १ । स्थिरात् (धवात्) धावु गतिशुद्ध्योः—पचाद्यच् । पृषोदरादित्वाद्ध्रस्वः । धव इति मनुष्य नाम—निरु० ३ । १५ । शुद्धात् (भद्रात) आनन्दात् (न्यग्रोधात्) अ० ४ । ३७ । ४ । शत्रूणां नीचैं रोधकात् ।(पर्णात्) अ० ३ । ५ । १ । पॄ । पालन । पूरणयोः—न । पालकात् (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (एहि) आगच्छ (अरुन्धति) अ० ४ । १२ । १ । हे अरोधनशीले अवारयित्रि शक्ते ॥

हिर॑ण्यवर्णे॒ सुभ॑गे॒ सूर्य॑वर्णे॒ वपु॑ष्टमे ।
रु॒तं ग॑च्छासि निष्कृते॒ निष्कृ॑ति॒र्नाम॒ वा अ॑सि ॥ ६ ॥

हिर॑ण्य-वर्णे॒ । सु॒-भ॑गे । सूर्य॑-वर्णे । वपुः॑-तमे । रु॒तम् । ग॒च्छा॒सि॒ । नि॒ः-कृ॒ते॒ । निः-कृ॑तिः । नाम॑ । वै । अ॒सि॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यवर्णे) हे सुवर्ण के रूप वाली ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (सूर्यवर्णे) हे सूर्य समान वर्ण वाली ! (वपुष्टमे) हे अतिशय उत्तम रूप वाली ! (निष्कृते) हे उद्धार शक्ति !(रुतम्) हमारे दुःख में (गच्छासि) तू पहुंच । (निष्कृतिः) उद्धार शक्ति (नाम वै) अवश्य ही (असि) है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकार विचारके निर्धनता, रोग आदि क्लेशों को प्रयत्न पूर्वक हटावें ॥ ६ ॥

हिर॑ण्यवर्णे॒ सुभ॑गे शुष्मे॒ लोम॑शवक्षणे ।
अ॒पाम॑सि॒ स्वसा लाक्षे॒ वातो॑ ह्या॒त्मा ब॑भूव ते ॥ ७ ॥

हिर॑ण्य-वर्णे । सु-भ॑गे । शुष्मे॑ । लोम॑श-वक्षणे । अ॒पाम् । अ॒सि॒ । स्वसा॑ । ला॒क्षे॒ । वातः॑ । ह॒ । आ॒त्मा । ब॒भू॒व॒ । ते॒ ॥७॥

भाषार्थ—(हिरण्यवर्णे) हे तेजः स्वरूपिनी ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (शुष्मे) हे महाबल वाली ! (लोमशवक्षणे) हे छेदन शीलों पर रोष वाली ! (लाक्षे) हे दर्शनीय शक्ति परमात्मन् ! तू (अपाम्) व्यापक प्रजाओं

६—(हिरण्यवर्णे) हे सुवर्णरूपे (सुभगे) शोभनैश्वर्ययुक्ते (सूर्यवर्णे) आदित्यवर्णे (वपुष्टमे) वपुः=रूपम्—निघ० ३ । ७ । मतुपो लोपः । वपुष्मत्तमे । अतिशयप्रशस्तरूपे (रुतम्) रुङ् गतिहिंसयोः—क्त । दुःखम् (गच्छासि) लेट् । प्राप्नुयाः (निष्कृते) म० ४ । रोगस्य बहिष्करणशक्ते (निष्कृतिः) निर्मुक्तिः । उद्धारशक्तिः (नाम) अवश्यम् (वै) एव (असि) ॥

७—(हिरण्यवर्णे) हे तेजःस्वरूपे (सुभगे) हे शोभनैश्वर्ययुक्ते (शुष्मे) शुष्मं बलम्-२ । ६ । अर्श आद्यच् । हे बलवति (लोमशवक्षणे) नामन्सीमन्व्योमन् लोमन्० । उ० ४ । १५१ । इति लूञ् छेदने-मनिन् । लोमादिपामादिपिच्छा-

की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने हारी (असि) है। (ते) तेरा (आत्मा) आत्मा (ह) निश्चय करके (वातः) व्यापक (बभूव) हुआ है ॥ ७ ॥

भावार्थ—महाधनी सर्वशक्तिमान् सर्वजनक परमेश्वर दुष्टों पर क्रोध करता है, इस से हम सदा उत्तम कर्म करते रहें ॥ ७ ॥

लोक में (लाक्षा) लाख वा लाह को भी कहते हैं ॥

सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव ।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥ ८ ॥

सिलाची । नाम । कानीनः । अज-बभ्रु । पिता । तव । अश्वः । यमस्य । यः । श्यावः । तस्य । ह । अस्ना । असि । उक्षिता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सिलाची) सब में मेल रखने वाली शक्ति (नाम) तू प्रसिद्ध है। (तव) तेरा (पिता) पालने वाला गुण (कानीनः) कन्या अर्थात् कमनीय शक्ति [परमेश्वर] से आया हुआ, (अजबभ्रु) जीवात्माओं का पोषक है। (यमस्य) सर्व नियामक परमेश्वर का (यः) जो (श्यावः) गति-

---

दिभ्यः शनेलचः। पा० ५। २। १००। इति लोम-श, मत्वर्थे। वच रोपे-ल्युट्। हे लोमशेषु छेदनस्वभावेषु रोपशीले (अपाम्) व्याप्तानां प्रजानाम् (असि) (स्वसा) म० १। सुष्ठु दीपयित्री, (लाक्षे) गुरोश्च हलः। पा० ३। ३। १०३। इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोरालोचने च-अ, टाप्, पृषोदरादित्वाद्वृद्धिः। हे दर्शनीये शक्ते परमात्मन् (वातः) व्यापकः (ह) निश्चयेन (आत्मा) स्वरूपम् (बभूव) (ते) तव ॥

८—(सिलाची) म० १। सिलेन श्लेषेण संसर्गेण गतिशीला (नाम) प्रसिद्धौ (कानीनः) अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। इति कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यक्, टाप्। इति कन्या कमनीया। कन्यायाः कनीन च। पा० ४। १। ११६। इति कन्या—अण्, कनीन आदेशः। कन्यायाः कमनीयायाः शक्तेः परमेश्वराज्जाता (अजबभ्रु) अजः—म० ४। २५। १। अजन्मा गतिशीलो वा जीवात्मा। कुर्भ्रश्च। उ० १। २२। इति डुभृञ् धारणपोषणयोः—कु, द्वित्वं च। विभक्तेर्लुक्। अजानां जीवात्मनां बभ्रुर्भर्ता पोषकः (पिता) रक्षको गुणः

शील (अश्वः) व्यापक गुण है, (तस्य) उसके (अस्ना) प्रकाश से (ह) निश्चय करके तू (उक्षिता) सींची हुयी (असि) है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सर्व रक्षक आदि गुणों को विचार कर मनुष्य सदा उन्नति करें ॥ ८ ॥

अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षाँ अभि सिष्यदे ।
सुरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥ ९ ॥

अश्वस्य । अस्नः । सम्-पतिता । सा । वृक्षान् । अभि । सिस्यदे । सुरा । पतत्रिणी । भूत्वा । सा । नः । आ । इहि । अरुन्धति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अश्वस्य) उस व्यापक गुण के (अस्नः) प्रकाश से (संपतिता) अच्छे प्रकार प्राप्त हुयी (सा) उस [शक्ति] ने (वृक्षान्) सब स्वीकार करने योग्य पदार्थों को (अभि) भले प्रकार से (सिष्यदे) सींचा है । (सा) वह तू, (अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! (पतत्रिणी)

(तव) (अश्वः) व्यापको गुणः (यमस्य) अ० १ । १४ । २ । नियामकस्य परमेश्वरस्य (यः) (श्याकः) कृशृशॄ्द्भ्यो वः । उ० १ । १५५ । इति श्यैङ् गतौ-घ । गतिशीलः (तस्य) अश्वस्य (ह) निश्चयेन (अस्ना) असु क्षेपणे, यद्वा अस दीप्तौ-असृजि । पद्दन्नोमास् । पा० ६ । १ । ६३ । इति असृज् शब्दस्य असन् टाविभक्तिः । प्रकाशेन (असि) (उक्षिता) सिंचिता प्रवर्धिता ॥

९—(अश्वस्य) व्यापकस्य गुणस्य (अस्नः) म० ८ । असृज् उसि । प्रकाशात् (संपतिता) सम्यक् प्राप्ता (सा) (वृक्षान्) म० १ । स्वीकरणीयान् पदार्थान् (अभि) अभितः (सिष्यदे) स्यन्दू प्रस्रवणे सेचने च । लिटि छान्दसं रूपम् । सस्यन्दे । सिक्तवती (सरा) सृ गतौ—अच् टाप् । निर्झररूपा (पतत्रिणी) अमिनक्षियजिपतिभ्योऽत्रन् । उ० ३ । १०५ । इति पत्लृ गतौ—अत्रन् । इति पतत्रम्, तत इनि । अधःपतनशीला । अतिशीघ्रगा-

नीचे गिरने वाले (सरा) झरने के समान (भूत्वा) होकर (नः) हमें (एहि) प्राप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्ति द्वारा उत्पन्न हुये उत्तम पदार्थों से उन्नति करके सदा सुखी रहें ॥ ६ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-१४ ॥ १-४ ब्रह्म देवता, ५-८ सोमारुद्रौ देवते, ९-१४ अग्निर्देवता ॥ १,९ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप्, ३, ४ जगती, ५-७, १० त्रिपदा त्रिष्टुप्, ८ द्विपदा जगती, ११-१४ पङ्क्तिः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख प्राप्ति का उपदेश ॥

ब्रह्म जज्ञानं प्रथमं पुरस्ताद् वि सीमतः सुरुचो वेन आवः । स बुध्न्या उपमा अस्य विष्ठाः सतश्च योनिमसतश्च वि वः ॥ १ ॥

ब्रह्म । जज्ञानम् । प्रथमम् । पुरस्तात् । वि । सीमतः । सुरुचः । वेनः । आवः । सः । बुध्न्याः । उप-माः । अस्य । वि-स्थाः । सतः । च । योनिम् । असतः । च । वि । वः ॥१॥

भावार्थ—(वेनः) प्रकाशमान वा मेधावी परमेश्वर ने (पुरस्तात्) पहिले

मिनी (भूत्वा) भूत्वा (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (एहि) आगच्छ (अरुन्धति) म० ५ । हे अरोधनशीले । अवारयित्रि शक्ते ॥

१—अयं मन्त्रः पूर्वं व्याख्यातः—अ० ४ । १ । १ । (ब्रह्म) वृद्धिकारण-

कालमें (प्रथमम्) प्रख्यात (जज्ञानम्) उपस्थित रहने वाले (ब्रह्म) वृद्धि के कारण अन्नको और (सुरुचः) बड़े रुचिर लोकों को (सीमतःमाओं सी) से (विआवः) फैलाया है। (सः) उसने (बुध्न्याः) अन्तरिक्षमें वर्त्तमान (उपमाः) [परस्परआकर्षण से] तुलना रखनेवाले (विष्ठाः) विशेष स्थानों, अर्थात् (अस्य) इस (सतः) विद्यमान [स्थूल] के (च) और (असतः) अविद्यमान [सूक्ष्म जगत्] के (योनिम्) घर को (च) निश्चयकरके (वि वः) खोला है ॥ १ ॥

भावार्थ—जगत् के जननी जनक परमेश्वर ने सृष्टि से पूर्व प्राणियों के लिये अन्न आदि पदार्थ बनाये और मूर्त और अमूर्त जगत् के भण्डार आकाश पृथिव्यादि लोक रचे ॥ १ ॥

यह मन्त्र पहिले आगया है—अ० ४ । १ । १ ॥ यह मन्त्र यजु० १३ ।३। और सामवेद पूर्वार्चिक अ० ४ द० ३ । मं० ६ में है ॥

अनाप्ता ये वः प्रथमा यानि कर्माणि चक्रिरे ।
वीरान् नो अत्र मा दंभन् तद् व एतत् पुरो दधे ॥२॥

अनाप्ताः । ये । वः । प्रथमाः । यानि । कर्माणि । चक्रिरे । वीरान् । नः । अत्र । मा । दभन् । तत् । वः । एतत् । पुरः । दधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (प्रथमाः) प्रधान (अनाप्ताः) अत्यन्त यथार्थ ज्ञानी पुरुषों ने (वः) तुम्हारे लिये (यानि) पूजनीय (कर्माणि) कर्म

अन्नम् (जज्ञानम्) जायमानम् । दृश्यमानम् (प्रथमम्) प्रख्यातम् (पुरस्तात्) अतीते प्रथमे काले वा । सृष्ट्यादौ (वि) विविधम् (सीमतः) मर्यादातः (सुरुचः) सुष्ठु रोचमानान् लोकान् (वेनः) प्रकाशमानः मेधावी (आवः) वृञ्—लुङ् । विवृतानकरोत् (सः) वेनः (बुध्न्याः) बुध्ने अन्तरिक्षे भवाः सूर्यादयो लोकाः (उपमाः) उपमीयमानाः। मानं प्राप्ताः (अस्य) जगतः (विष्ठाः) विशेषेण स्थिता लोकाः (सतः) मूर्तस्य स्थूलस्य (च) समुच्चये । अवधारणे (योनिम्) गृहम् । आकाशम् (असतः) अविद्यमानस्य सूक्ष्मस्य (वि वः) वृञ्—लुङ् । विवृतमकरोत् ॥

२—अयं मन्त्रः पूर्वं व्याख्यातः—अ० ४ । ७ । ७ (अनाप्ताः) अनुत्तमाः ।

(चक्रिरे) किये हैं, वे (नः) हम (वीरान्) वीरों को (अत्र) यहां पर (मा दभन्) न मारें, (तत्) सो (एतत्) इस कर्म को (वः) तुम्हारे (पुरः) आगे (दधे) मैं धरता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक जगत् हितकारी महात्माओं का अनुकरण करें और दुष्ट कर्म छोड़कर श्रेष्ठ कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ २ ॥

यह मन्त्र पहिले आ चुका है—अ० ४ । ७ । ७ ॥

सहस्रधार एव ते समस्वरन् दिवो नाके मधुजिह्वा असश्चतः । तस्य स्पशो न नि मिषन्ति भूर्णयः पदेपदे पाशिनः सन्ति सेतवे ॥ ३ ॥

सहस्र-धारे । एव । ते । सम् । अस्वरन् । दिवः । नाके । मधु-जिह्वाः । असश्चतः । तस्य । स्पशः । न । नि । मिषन्ति । भूर्णयः । पदे-पदे । पाशिनः । सन्ति । सेतवे ॥३॥

भाषार्थ—(दिवः) प्रकाश के (सहस्रधारे) सहस्र प्रकार से धारण करने वाले (नाके) दुःख रहित परमात्मा में (एव) (ही) (ते) उन (मधुजिह्वाः) ज्ञान से जीतने वाले वा मधुर भाषी (असश्चतः) निश्चल

अतिशयेनाप्ताः (ये) पुरुषाः (वः) युष्मभ्यम् (प्रथमाः) प्रधानाः (यानि) यज-ड । यजनीयानि पूज्यानि (कर्माणि) आचरणानि (चक्रिरे) कृतवन्तः (वीरान्) शूरान् (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् संसारे (मा दभन्) मा हिंसन्तु ते शत्रवः (तत्) तस्मात् (वः) युष्माकम् (एतत्) क्रियमाणं कर्म (पुरः) पुरस्तात् (दधे) धारयामि ॥

३—(सहस्रधारे) सहस्रप्रकारेण धारके (एव) निश्चयेन (ते) प्रसिद्धा ऋषयः (सम्) सम्यक् (अस्वरन्) शब्दं कृतवन्तः (दिवः) प्रकाशस्य (नाके) दुःखरहिते परमात्मनि (मधुजिह्वाः) मन ज्ञाने—उ, नस्य धः अ० १ । ४ । १ । शेवायह्वजिह्वा० । उ० १ । १५४ । इति जि जये-वन् धातोर्डुक् । मधुना ज्ञानेन जयशीलाः । यद्वा, मधुरभाषिणः (असश्चतः) सश्चति, गति-

स्वभाव वाले पुरुषों ने (सम्) यथावत् (अस्वरन्) शब्द किया है । (तस्य) उसके (भूर्णयः) घुड़कने वाले (स्पशः) बन्धन गुण (न) कभी नहीं (नि मिषन्ति) आँख मींचते हैं, (पाशिनः) फांस रखने वाले वे (पदेपदे) पद पद पर (सेतवे) बांधने के लिये (सन्ति) रहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह तेजोमय, आनन्द स्वरूप परमात्मा दुष्टों को सर्वदा सब स्थानों में दण्ड देता है ऐसा ऋषियों ने निश्चय किया है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ९ । ७३ । ४

पर्यू षु प्र धन्वा वाजसातये परि वृत्राणि सक्षणिः । द्विषस्तदध्यर्णवेनेयसे सनिस्रसो नामासि त्रयोदशो मास इन्द्रस्य गृहः ॥ ४ ॥

परि । ऊं इति । सु । प्र । धन्व । वाज-सातये । परि । वृत्राणि । सक्षणिः । द्विषः । तत् । अधि । अर्णवेन । ईयसे । सनि-स्रसः । नाम । असि । त्रयः-दशः । मासः । इन्द्रस्य । गृहः ॥४॥

भाषार्थ—(वृत्राणि) घेरने वाले राक्षसों को (परि) सब ओर से (सक्षणिः) हराने वाला (वाजसातये) हमें अन्न देने के लिये (उ) अवश्य ही (सु) अच्छे प्रकार (परि प्र धन्व) सब ओरसे प्राप्त हो । (तत्) इसी

कर्मा—निघ० २ । १४ । ततः शतृ । निश्चलस्वभावाः (तस्य) नाकस्य परमात्मनः (स्पशः) अ० ४ । १६ । ४ । बाधमानाः । बन्धनगुणाः (न) निषेधे (नि मिषन्ति) निमेषं कुर्वन्ति (भूर्णयः) घृणिपृश्निपार्ष्णिभूर्णयः उ० । ४ । ५२। इति भृ भर्त्सने भरणे च—नि । भर्त्सनशीलाः (पदेपदे) स्थाने स्थाने (पाशिनः) बन्धनयुक्ताः (सन्ति) (सेतवे) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । इति षिञ् बन्धने—तवेन् । बन्धुं दुष्टान् ॥

४—(परि) परितः (उ) निश्चयेन (सु) सुष्ठु (प्र) प्रकर्षेण (धन्व) गच्छ । प्राप्नुहि (वाजसातये) अस्मभ्यमन्नदानाय (परि) परितः (वृत्राणि) आवरकाणि रक्षांसि (सक्षणिः) सक्षति, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अर्तिसृधृ०

लिये (अर्णवेन) जलसे भरे समुद्र द्वारा (द्विषः) वैरियों पर (अधि) ऐश्वर्य से (ईयसे) तू पहुंचाता है । (सनिस्रसः) शत्रुओं का अतिशय नीचे गिराने वाला तू (नाम) प्रसिद्ध (त्रयोदशः) दश इन्द्रिय मन और बुद्धि से परे तेरहवां परमेश्वर, (मासः) परिमाण करने वाला (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (गृह) घर (असि) है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर के आश्रय से हम समुद्रादि में भी सब विघ्न हटाकर पुरुषार्थ करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ८ । ११० । १ ।

न्वे३तेनारात्सीरसौ स्वाहा । तिग्मायुधौ तिग्महेती सुशेवौ सोमारुद्राविह सु मृडतं नः ॥ ५ ॥

नु । एतेन । अरात्सीः । असौ । स्वाहा । तिग्म-आयुधौ । तिग्महेती इति तिग्म-हेती । सु-शेवौ । सोमारुद्रौ । इह । सु । मृडतम् । नः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (एतेन) अपनी व्याप्ति से (असौ) उस तूने (नु) शीघ्र [धर्मात्मा को] (अरात्सीः) समृद्ध किया है (स्वाहा)

उ० २ । १०२ । अनि प्रत्ययः । यद्वा षहः अभिभवे—सनि । अभिभविता (द्विषः) शत्रून् (तत्) तस्मात् कारणात् (अधि) ऐश्वर्येण (अर्णवेन) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८६ । इति ऋणु गतौ—असुन् । अर्णसो लोपश्च । वा० पा० ५ । २ । १०६ । अर्णस्—व, सस्य लोपः । जलयुक्तेन समुद्रेण (ईयसे) प्राप्नोषि (सनिस्रसः) स्रंसु गतौ—यङन्तात् घञ्, अल्लोपयलोपौ । नीग्वञ्चुस्रंसुध्वंसु० पा० ७ । ४ । ८४ । इति नीग् आगमः । छान्दसो ह्रस्वः, अन्तर्गतो ण्यर्थः अतिशयेन अधः पातयिता (नाम) प्रसिद्धौ (असि) (त्रयोदशः) त्रयोदशानां दशेन्द्रियमनोबुद्धीश्वराणां संख्यापूरकः परमेश्वरः (मासः) मसी परिणामे परिमाणे च—घञ् । परिमाणकर्ता (इन्द्रस्य) जीवस्य (गृहः) आश्रयः ॥

५—(नु) क्षिप्रम् (एतेन) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ—तन् । स्वव्यापनेन (अरात्सीः) राध संसिद्धौ—लुङ् । राद्धवान् समृद्धं कृत-

यह सुन्दर वाणी वा स्तुति है (तिग्मायुधौ) हे तेज शस्त्रों वाले, (तिग्महेती) पैने वज्रों वाले, (सुशेवौ) बड़े सुख वाले (सोमारुद्रौ) ऐश्वर्य के कारण और ज्ञान दाता, अथवा चन्द्रमा और प्राण के तुल्य, राजा और वैद्य जनो तुम दोनों (इहि) यहां पर (सु) अच्छे प्रकार (नः) हमें (मृडतम्) सुखी करो ॥५॥

भावार्थ—परमेश्वर सदैव धर्मात्माओं पर दया करता है। इसी से राजा और वैद्य चन्द्रमा और प्राण के समान उपकार करके संसार में सुख बढ़ावें ॥ ५ ॥

(तिग्मायुधौ इत्यादि) ऋग्वेद में है—म० ६ सू० ७४ म० ४ ॥

अवै॒तेना॑रात्सीर॒सौ स्वाहा॑। ति॒ग्मा० ॥ ६ ॥

अव। ए॒तेन॑। ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर] (एतेन) अपनी व्याप्ति से (असौ) उस तूने अधर्मी को (अव अरात्सीः) निर्धन बनाया है, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी वा स्तुति है। (तिग्मायुधौ) हे तेज शस्त्रों वाले........म० ५ ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा अधर्मियों को निर्धनी रखता है, सो राजा और वैद्य धार्मिक होकर प्रजा में सुख बढ़ाते रहें ॥ ६ ॥

अपै॒तेना॑रात्सीर॒सौ स्वाहा॑। ति॒ग्मायु॑धौ ति॒ग्महे॑ती सु॒शेवौ॒ सोमा॑रुद्रावि॒ह सु मृ॑डतं नः ॥ ७ ॥

अप॑। ए॒तेन॑। अ॒रा॒त्सीः॒। अ॒सौ। स्वाहा॑। ति॒ग्म-आ॒यु॒धौ।

वानसि धर्मात्मानम् (असौ) असौ त्वम् (स्वाहा) अ० २। १६। १। सुवाणी स्तुतिरस्ति (तिग्मायुधौ) तेजस्विशस्त्रोपेतौ (तिग्महेती) तीक्ष्णवज्रयुक्तौ (सुशेवौ) बहुसुखोपेतौ (सोमारुद्रौ) सोम ऐश्वर्यहेतुः—अ० १। ६। २। रुद्रः, रुत् ज्ञानम्, रा दाने—क, ज्ञानदाता—अ० २। २७। ६। देवता द्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इति आनङ्। हे ऐश्वर्यहेतुज्ञानदातारौ यद्वा चन्द्रप्राणाविव राजवैद्यौ (इह) अस्मिन्संसारे (सु) सुष्ठु (मृडतम्) सुखयतम् (नः) अस्मान् ॥

६—(अव अरात्सीः) नीचे राद्धवान् निर्धनं कृतवानसि दुरात्मानम् अन्यद् गतम्। म० ५ ॥

तिग्महेती इति तिग्म-हेती । सु-शेवौ । सोमारुद्रौ । इह । सु । मृडतम् । नः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (एतेन) अपनी व्याप्ति से (असौ) उस तूने [दुष्ट जनको] (अप अरात्सीः) अपराधी ठहराया है, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी वा स्तुति है । (तिग्मायुधौ) हे तेज शस्त्रों वाले, (तिग्महेती) पैने वज्रों वाले, (सुशेवौ) बड़े सुख वाले, (सोमारुद्रौ) ऐश्वर्य के कारण और ज्ञानदाता, अथवा चन्द्रमा और प्राणके तुल्य, राजा और वैद्य जनो तुम दोनों (इह) यहां पर (सु) अच्छे प्रकार (नः) हमें (मृडतम्) सुखी करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पापियों को अपराधी ठहराकर दण्ड देता है । राजा और वैद्य धन और नीरोगता राज्य में बढ़ावें ॥७॥

मुमुक्तमस्मान्दुरितादवद्याज्जुषेथां यज्ञममृतमस्मासु धत्तम् ॥ ८ ॥

मुमुक्तम् । अस्मान् । दुः-इतात् । अवद्यात् । जुषेथाम् । यज्ञम् । अमृतम् । अस्मासु । धत्तम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे ऐश्वर्य के कारण और ज्ञानदाता तुम दोनों !] (अस्मान्) हमें (दुरितात्) दुर्गति और (अवद्यात्) अकथनीय निन्दनीय कर्म से (मुमुक्तम्) छुड़ावो, (यज्ञम्) देव पूजन को (जुषेथाम्) स्वीकार करो, (अमृतम्) अमरण अर्थात् पुरुषार्थ अथवा अमरपन अर्थात् कीर्त्तिमत्ता (अस्मासु) हम में (धत्तम्) धारण करो ॥ ८ ॥

भावार्थ–राजा और वैद्य के सुकर्मों से सब लोग आत्मिक और शारीरिक रोग छोड़कर धर्म में प्रवृत्त होकर अमर अर्थात् पुरुषार्थी और यशस्वी होवें ॥८॥

७—(अप अरात्सीः) अपराद्धवानसि, दोषयुक्तं कल्पितवानसि दुष्टम् । अन्यत् पूर्ववत—म० ५ ॥

८—(मुमुक्तम्) मोचयतम् हे सोमारुद्रौ युवाम् (अस्मान्) धार्मिकान् (दुरितात्) अ० २ । १० । ६ । दुर्गतेः (अवद्यात्) अ० २ । १० । ६ । अकथनीयात् । गर्ह्यात् कर्मणः (जुषेथाम्) सेवेथाम् । स्वीकुरुतम् (यज्ञम्) देवपूजनम् (अमृतम्) अमरणं पुरुषार्थम् । अमरत्वं कीर्तिमत्त्वम् (अस्मासु) धर्मात्मसु (धत्तम्) धारयतम् ॥

चक्षु॑षो हेते॒ मन॑सो हेते॒ ब्रह्म॑णो हेते॒ तप॑सश्च हेते।
मे॒न्या मे॒निर॑स्यमे॒नयस्ते स॑न्तु॒ ये॒ ३॒॑स्माँ अ॑भ्य-
घायन्ति ॥ ९ ॥

चक्षु॑षः । हे॒ते॒ । मन॑सः । हे॒ते॒ । ब्रह्म॑णः । हे॒ते॒ । तप॑सः ।
च । हे॒ते॒ । मे॒न्याः । मे॒निः । अ॒सि॒ । अ॒मे॒नय॑ः । ते ।
स॒न्तु॒ । ये । अ॒स्मान् । अ॒भि-अ॒घायन्ति॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे अग्ने परमात्मन् !] (चक्षुषः) [शत्रुओं की] आंख की (हेते) बरछी ! (मनसः) हे मन की (हेते) बरछी ! (ब्रह्मणः) हे अन्न की (हेते) बरछी ! (च) और (तपसः) सामर्थ्य की (हेते) बरछी ! तू (मेन्याः) वज्र का (मेनिः) वज्र (असि) है । (ते) वे लोग (अमेनयः) बे वज्र (सन्तु) होवें (ये) जो (अस्मान्) हमें (अभ्यघायन्ति) सताना चाहते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार चोर आदि दुष्टों को दण्ड देकर असमर्थ कर देते हैं इसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अपने दोषों को निर्बल करदें ॥ ९ ॥

यो॒ ३॒॑स्माँश्चक्षु॑षा मन॑सा चित्त्याकू॑त्या च॒ यो अ॑-
घायुर॑भिदासा॑त् । त्वं तान॑ग्ने मे॒न्यामे॒नीन् कृ॑णु
स्वाहा॑ ॥ १० ॥

९—(चक्षुषः) शत्रूणां नेत्रस्य (हेते) अ० १ । १३ । ३ । हननशक्ते । वज्र, वज्ररूप (मनसः) अन्तःकरणस्य (हेते) (ब्रह्मणः) अन्नस्य—निघ० २ । ७ । (हेते) (तपसः) सामर्थ्यस्य (च) समुच्चये (हेते) (मेन्याः) अ० २ । ११ । १ । वज्रस्य (मेनिः) वज्रः (असि) भवसि (अमेनयः) अवज्राः (ते) शत्रवः (सन्तु) (ये) (अस्मान्) धार्मिकान् (अभ्यघायन्ति) छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वा० पा० ३ । १ । ८ । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । इति आत्वम् । अभितः परस्याघमिच्छन्ति ॥

यः । अस्मान् । चक्षुषा । मनसा । चित्त्या । आ-कूत्या । च । यः । अघ-युः । अभि-दासात् । त्वम् । तान् । अग्ने । मेन्या । अमेनीन् । कृणु । स्वाहा ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जो (यः) घबड़ा देने वाला (अघायुः) बुरा चीतने वाला (अस्मान्) हमें (चक्षुषा) आंख से, (मनसा) मन से, (चित्त्या) बुद्धि से (च) और (आकूत्या) संकल्प से (अभिदासात्) सतावे । (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (तान्) उन्हें (मेन्या) वज्र से (अमेनीन्) वज्र रहित (कृणु) कर, (स्वाहा) यह सुवाणी वा नम्र प्रार्थना है ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके प्रयत्न पूर्वक अपने दोषों का नाश करके बलवान् होवें ॥ १० ॥

इन्द्रस्य गृहोऽसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥११॥

इन्द्रस्य । गृहः । असि । तम् । त्वा । प्र । पद्ये । तम् । त्वा । प्र । विशामि । सर्वगुः । सर्व-पुरुषः । सर्व-आत्मा । सर्व-तनूः । सह । यत् । मे । अस्ति । तेन ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (गृहः) आश्रय (असि) है । (सर्वगुः) सब गौ आदि पशुओं सहित, (सर्वपुरुषः)

१०—(यः) अधर्मी (अस्मान्) धार्मिकान् (चक्षुषा) नेत्रेण (मनसा) हृदयेन (चित्त्या) (बुद्ध्या) (आकूत्या) सङ्कल्पेन (च) समुच्चये (यः) घुप विमोहने—ड । विमोहकः (अघायुः) अ० १ । २० । २ । पापेच्छुः (अभिदासात्) दास वधे—लेट्, वैदिको धातुः । अभितो दास्नुयात् । हिंस्यात् (त्वम्) (तान्) अघायून् (अग्ने) हे सर्व व्यापक परमेश्वर (मेन्या) वज्रेण (अमेनीन्) अवज्रान् (कृणु) कुरु (स्वाहा) इयं सुवाणी प्रार्थनास्ति ॥

११—(इन्द्रस्य) जीवात्मनः (गृहः) आश्रयः (असि) (तम्) तादृशम् (त्वाम्) परमात्मानम् (प्रपद्ये) प्राप्नोमि (तम्) (त्वा) त्वाम् (प्र

सब पुरुषों सहित, (सर्वात्मा) पूरे आत्मबल सहित, (सर्वतनूः) सब शरीर सहित मैं (तम् त्वा) उस तुझ को (प्र पद्ये) प्राप्त होता हूं, (तम् त्वा) उस तुझ में (प्रविशामि) प्रवेश करता हूं। और (यत्) जो कुछ (मे) मेरा (अस्ति) है (तेन सह) उसके साथ भी ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार से आत्म समर्पण करके परमेश्वर की आज्ञा पालन में सदा प्रसन्न चित्त रहे ॥ ११ ॥

इन्द्रस्य शर्मासि ।……म० ११ ॥ १२ ॥

इन्द्रस्य । शर्म । असि ।……म० ११ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (शर्म) शरण (असि) है……म० ११ ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ११ के समान है ॥ १२ ॥

इन्द्रस्य वर्मासि……म० ११ ॥ १३ ॥

इन्द्रस्य । वर्म । असि ।……म० ११ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (वर्म) कवच (असि) है……म० ११ ॥ १३ ॥

भावार्थ—मंत्र ११ के समान है ॥१३॥

इन्द्रस्य वरूथमसि । तं त्वा प्र पद्ये तं त्वा प्र विशामि सर्वगुः सर्वपूरुषः सर्वात्मा सर्वतनूः सह यन्मेऽस्ति तेन ॥१४

विशामि) प्रविष्टो भवामि (सर्वगुः) गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १।२।४८ । इति गोशब्दस्य ह्रस्वः । सर्वपशुभिर्युक्तः (सर्वपुरुषः) सर्वजन सहितः (सर्वात्मा) पूर्णात्मबलसहितः (सर्वतनूः) कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० । इति तनु-विस्तारे-ऊ प्रत्ययः । सर्वशरीरः (सह) सहितः (यत्) यत्किंचिद्वस्तु (मे) मम (अस्ति) भवति (तेन) वस्तुना ॥

१२—(शर्म) शरणम् । अन्यत् पूर्ववत् म० १० ॥

१३—(वर्म) वृञ् वरणे-मनिन् । तनुत्राणम् । अन्यत्—म० १० ।

इन्द्रस्य । वरूथम् । असि । तम् । त्वा । प्र । पद्ये । तम् । त्वा । प्र । विशामि । सर्व-गुः । सर्व-पुरुषः । सर्व-आत्मा । सर्व-तनूः । सह । यत् । मे । अस्ति । तेन ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (इन्द्रस्य) जीवात्मा का (वरूथम्) ढाल (असि) है। (सर्वगुः) सब गौ आदि पशुओं सहित, (सर्वपुरुषः) सब पुरुषों सहित, (सर्वात्मा) पूरे आत्मबल सहित, (सर्वतनूः) सब शरीर सहित मैं (तम् त्वा) उस तुझ को (प्र पद्ये) प्राप्त होता हूं, (तम् त्वा) उस तुझ में (प्र विशामि) प्रवेश करता हूं। और (यत्) जो कुछ (मे) मेरा (अस्ति) है (तेन सह) उसके साथ भी ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार से परमेश्वर की आज्ञा पालन करके सदा प्रसन्न चित्त रहे। १४।

सूक्तम् ७

१-१० ॥ प्रजापतिर्देवता । १ पङ्क्तिः, ४, ६ पथ्या पङ्क्तिः, शिष्टानुष्टुप् ॥

पुरुषार्थकरणायोपदेशः—पुरुषार्थ करने के लिये उपदेश ॥

आ नो भर मा परि ष्ठा अराते मा नो रक्षीर्दक्षिणां नीयमानाम्। नमो वीर्त्सायो असमृद्धये नमो अस्त्वरातये ॥ १ ॥

आ । नः । भर । मा । परि । स्थाः । अराते । मा । नः । रक्षीः । दक्षिणाम् । नीयमानाम् । नमः । वि-ईर्त्सायै । असम्-ऋद्धये । नमः । अस्तु । । अरातये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अराते) हे अदान शक्ति ! (नः) हमें (आ) आकर (भर)

१४—(वरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन्। उ० २ । ६। इति वृञ्—ऊथन। शरीरावरकं शस्त्रम्। चर्म। फलकम्। अन्यत् पूर्ववत् म० ११ ॥

१—(आ) आगत्य (नः) अस्मान् (भर) पोषय (परि) पृथक्

पुष्ट कर, (मा परि स्थाः) अलग मत खड़ी हो, (नः) हमारे लिये (नीयमानाम्) लायी हुई (दक्षिणाम्) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] को (मा रक्षीः) मत रखले । (वीर्त्सायै) अवृद्धि इच्छा, (असमृद्धये) असम्पति अर्थात् (अरातये) अदान शक्ति [निर्धनता] को [नमो नमः] बार बार नमस्कार (अस्तु) होवे ।१।

भावार्थ—जो मनुष्य विपत्ति में निर्भय होकर धैर्य से उपाय करते हैं, वे उन्नति करते हैं । अथवा मनुष्यों को निर्धन विपत्तिग्रस्तों का सत्कार पूर्वक सहायक होना चाहिये ।१।

यमराते पुरोधत्से पुरुषं परिरापिणम् ।
नमस्ते तस्मै कृण्मो मा वनिं व्यथयीर्मम ॥ २ ॥

यम् । अराते । पुरःऽधत्से । पुरुषम् । परिऽरापिणम् । नमः । ते । तस्मै । कृण्मः । मा । वनिम् । व्यथयीः । मम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अराते) हे अदान शक्ति ! (यम्) जिस (परिरापिणम्) बड़बड़िया (पुरुषम्)पुरुष को (पुरोधत्से) तू आगे धरती है । (ते) तेरे (तस्मै) उस पुरुष को (नमः) नमस्कार (कृण्मः) हम करते हैं, (मम) मेरी

(मा स्थाः) मा तिष्ठ (अराते) अ० १ । १८ । १ । रा दाने-क्तिन् । हे अदानशक्ते (नः) अस्मभ्यम् (मा रक्षीः) स्वार्थं मा स्वीकुरु (दक्षिणाम्) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । इति दक्ष वृद्धौ-इनन् । दक्षिणा दक्षतेः समर्द्धयतिकर्मणः—निरु० १ । ७ । दानम् । प्रतिष्ठाम् (नीयमानाम्) उह्यमानाम् (नमः) सत्कारः । अन्ननाम-निघ० २ । ७ । वज्रनाम-निघ० २ । २० । (वीर्त्सायै) आप्ज्ञप्यृधामीत् । पा० ७ । ४ । ५५ । इति वि+ऋधु वृद्धौ सनि, ईत् । अप्रत्ययात् । पा० ३ । ३ । १०२ । इति अ, टाप् । अवृद्धीच्छायै (समृद्धये) सम्पत्तये (नमः) (अस्तु) भवतु (अरातये) अदानशक्तये । निर्धनतायै ।

२—(यम्) पुरुषम् (अराते) म० १ । हे अदानशक्ते (पुरोधत्से) अग्रे धरसि (पुरुषम्) मनुष्यम् (परिरापिणम्) रप व्यक्तायां वाचि-णिनि । परिभाषणशीलम् (नमः) सत्कारः (ते) तव (तस्मै) पुरुषाय (कृण्मः) कृवि करणे । कुर्मः (वनिम्) खनिकष्यज्यसिवसिवनि० । उ० ४ । १४० ।

(वनिम्) भक्ति को (मा व्यथयीः) तू व्यथा में मत डाल ॥२॥

भावार्थ—वीर मनुष्य विपत्ति ग्रस्त पुरुषों को उत्साह पूर्वक विपत्ति से निकालें ॥ २ ॥

प्र णो वनिर्देवकृता दिवा नक्तं च कल्पताम्।
अरातिमनुप्रेमो वयं नमो अस्त्वरातये ॥ ३ ॥

प्र । नः । वनिः । देव-कृता । दिवा । नक्तम् । च । कल्पताम् ।
अरातिम् । अनु-प्रेमः । वयम् । नमः । अस्तु । अरातये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवकृता) महात्माओं की उत्पन्न की हुई (नः) हमारी (वनिः) भक्ति (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) रात (प्र) अच्छे प्रकार (कल्पताम्) समर्थ होवे। (वयम्) हम लोग (अरातिम्) अदान शक्ति [निर्धनता] को (अनुप्रेमः) ढूंढ कर पावें, (अरातये) अदान शक्ति को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ।३।

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से शिक्षा पाकर सदा परस्पर भक्ति बढ़ावें और धैर्य से विपत्तियों को सहकर उत्तम पुरुषार्थ करें ॥३॥

सरस्वतीमनुमतिं भगं यन्तो हवामहे ।
वाचं जुष्टां मधुमतीमवादिषं देवानां देवहूतिषु ॥४॥

सरस्वतीम् । अनु-मतिम् । भगम् । यन्तः । हवामहे । वाचम् ।

इति वन सभक्तौ-इ । भक्तिम् (मा व्यथयीः) व्यथ भयसंचलनयोः-णिचि लुङि छान्दसं रूपम्। मा विव्यथः । मा व्यथय ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण (नः) अस्माकम् (वनिः) भक्तिः (देवकृता) देवैर्विद्वद्भिः सृष्टा पेरिता (दिवा) दिने (नक्तम्) नज व्रीडायाम्-क्त । रात्रौ (च) (कल्पताम्) समर्था भवतु (अरातिम्) अदानशक्तिम् (अनुप्रेमः) इण् गतौ-लट्। अनुसृत्य प्रगच्छामः (वयम्) उत्साहिनः (नमः) (अस्तु) (अरातये) अदानशक्तये निर्धनतायै ॥

जुष्टाम् । मधु-मतीम् । अवादिषम् । देवानाम् । देव-हूतिषु ४

भाषार्थ—(यन्तः) चलते फिरते हम लोग (सरस्वतीम्) विज्ञानवती विद्या, (अनुमतिम्) अनुकूल मति और (भगम्) सेवनीय ऐश्वर्य को (हवामहे) बुलाते हैं। (देवानाम्) महात्माओं की (जुष्टाम्) प्रीति युक्त, (मधुमतीम्) बड़ी मधुर (वाचम्) इस वाणी को (देवहूतिषु) दिव्य गुणों के बुलाने में (अवादिषम्) मैं बोला हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम विद्या से उत्तम बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं; यही वाणी उत्तम गुण पाने के लिये महात्माओं की संमत है ॥४॥

यं याचाम्यहं वाचा सरस्वत्या मनोयुजा ।
श्रद्धा तमद्य विन्दतु दत्ता सोमेन बभ्रुणा ॥ ५ ॥

यम् । याचामि । अहम् । वाचा । सरस्वत्या । मनः युजा ।
श्रद्धा । तम् । अद्य । विन्दतु । दत्ता । सोमेन । बभ्रुणा ॥५॥

भाषार्थ—(यम्) जिस गुण को (अहम्) मैं (सरस्वत्या) विज्ञानयुक्त, (मनोयुजा) मन से जुड़ी हुयी (वाचा) वाणी से (याचामि) मांगता हूं। (बभ्रुणा) पोषण करने वाले (सोमेन) परमेश्वर करके (दत्ता) दी हुयी (श्रद्धा) श्रद्धा (तम्) उस गुण को (अद्य) आज (विन्दतु) पावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा करके विज्ञान और पराक्रम युक्त वाणी से अपना मनोरथ शीघ्र सिद्ध करते हैं ॥ ५ ॥

४—(सरस्वतीम्) विज्ञानवतीं विद्याम् (अनुमतिम्) अनुकूलां बुद्धिम् (भगम्) सेवनीयमैश्वर्यम् (यन्तः) गच्छन्तः । उद्योगिनो वयम् (हवामहे) आह्वयामः (वाचम्) इमां वाणीम् (जुष्टाम्) प्रीताम् (मधुमतीम्) माधुर्योपेताम् (अवादिषम्) वद व्यक्तायां वाचि—लुङ् । उच्चारितवानस्मि (देवानाम्) महात्मनाम् (देवहूतिषु) दिव्यगुणानामाह्वानेषु प्राप्तिषु ॥

५—(यम्) गुणम् (याचामि) प्रार्थये (अहम्) पुरुषार्थी (वाचा) वाण्या (सरस्वत्या) विज्ञानवत्या (मनोयुजा) मनसा युक्तया (श्रद्धा) भक्तिः (तम्) गुणम् (अद्य) वर्तमाने दिने (विन्दतु) प्राप्नोतु (दत्ता) प्रेरिता (सोमेन) परमेश्वरेण (बभ्रुणा) पोषकेण ॥

मा वनिं मा वाचं नो वीर्त्सीरुभाविन्द्राग्नी आ भरतां नो वसूनि । सर्वे नो अद्य दित्सन्तोऽरातिं प्रति हर्यत ॥ ६ ॥

मा । वनिम् । मा । वाचम् । नः । वि । ईर्त्सीः । उभौ । इन्द्राग्नी इति । आ । भरताम् । नः । वसूनि । सर्वे । नः । अद्य । दित्सन्तः । अरातिम् । प्रति । हर्यत ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे अदान शक्ति] (मा) नतो (नः) हमारी (वनिम्) भक्ति को और (मा) न (वाचम्) वाणी को (वि ईर्त्सीः) असिद्ध कर । (उभौ) दोनों (इन्द्राग्नी) जीव और अग्नि [पराक्रम] (नः) हमारे लिये (वसूनि) अनेक धन (आ भरताम्) लाकर भरें । (अद्य) आज (नः) हमें (दित्सन्तः) दान की इच्छा करने वाले (सर्वे) हे सब गुणो ! (अरातिम्) अदान शक्ति को (प्रति) प्रतिकूलपन से (हर्यत) प्राप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण श्रद्धा और सत्य प्रतिज्ञा से आत्मिक और शारिरिक बल बढ़ाकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन बढ़ाकर निर्धनता को हटावें ॥ ६ ॥

परोऽपेह्यसमृद्धे वि ते हेतिं नयामसि ।
वेद त्वाहं निमीवन्तीं नितुदन्तीमराते ॥ ७ ॥

परः । अप । इहि । असम्-ऋद्धे । वि । ते । हेतिम् । नयामसि । वेद । त्वा । अहम् । नि-मीवन्तीम् । नि-तुदन्तीम् । अराते ॥ ७ ॥

६—(मा) निषेधे (वनिम्) भक्तिम् (वाचम्) वाणीम् (नः) अस्माकम् (वि) विरुद्धम् (वि मा ईर्त्सीः) म० १ । ऋधु वृद्धौ सनि माङि लुङि रूपम् । विगतसिद्धिं निष्फलां मा कुरु (उभौ) द्वौ (इन्द्राग्नी) इन्द्रो जीवात्मा, अग्निः पराक्रमश्च (आ) आनीय (भरताम्) पोषयताम् (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) धनानि (सर्वे) (नः) अस्मभ्यम् (अद्य) वर्तमाने दिने (दित्सन्तः) दातुमिच्छन्तः (अरातिम्) अदानशक्तिम् (प्रति) प्रातिकूल्येन (हर्यत) हर्य गतिकान्त्योः । गच्छत ॥

भाषार्थ—(असमृद्धे) हे असमृद्धि ! (परः) परे (अप इहि) चली जा, (ते) तेरी (हेतिम्) बरछी को (वि नयामसि) हम अलग हटाते हैं। (अराते) हे अदान शक्ति ! [निर्धनता !] (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (निमीवन्तीम्) निर्बल करने वाली और (नितुदन्तीम्) भीतर चुभने वाली (वेद) जानता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य महादुःखदायिनी निर्धनता को प्रयत्न पूर्वक हटावे ॥७॥

उत नग्ना बोभुवती स्वप्नया सचसे जनम् ।
अराते चित्तं वीर्त्सन्त्याकूतिं पुरुषस्य च ॥ ८ ॥

उत । नग्ना । बोभुवती । स्वप्न-या । सचसे । जनम् । अराते । चित्तम् । वि-ईर्त्सन्ती । आ-कूतिम् । पुरुषस्य । च ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(उत) और (अराते) हे अदान शक्तिः [निर्धनता] (पुरुषस्य) मनुष्य के (चितम्) चित्त (च) और (आकूतिम्) संकल्प (वीर्त्सन्ती) असिद्ध करती हुयी (नग्ना) लज्जित (बोभुवती) बार बार होती हुयी तू (स्वप्नया) नींद [आलस्य] के साथ (जनम्) जनसमूह को (सचसे) प्राप्त होती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य निर्धनता के कारण अपने चित्त और संकल्प को नष्ट करते, लज्जित और आलसी होते हैं ॥ ८ ॥

७—(परः) परस्तात् दूरदेशे (अप इहि) अपगच्छ (असमृद्धे) हे असम्पत्ते (वि) पृथक् (ते) तव (हेतिम्) हननशक्तिम् (नयामसि) नयामः प्रापयामः (वेद) जानामि (त्वा) त्वाम् (अहम्) (नि मीवन्तीम्) नि निषेधे+मीव स्थौल्ये-शतृ, ङीप्। क्षीणस्थौल्यं निर्बलं कुर्वतीम् (नि तुदन्तीम्) तुद व्यथने-शतृ। नितरां व्यथयन्तीम् (अराते) अदानशक्ते ॥

८—(उत) अपिच (नग्ना) ओलज ब्रीडायाम्—क्त ओदितश्च। पा० । ८ । २ । ४५ । इति तस्य न । लज्जिता (बोभुवती) भू सत्तायां यङ् लुगन्तात्—शतृ । पुनः पुनर्भवन्ती (स्वप्नया) सुपां सुलुक्०। पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्याच् । स्वप्नेन । आलस्येन (सचसे) समवैषि (जनम्) मनुष्यसमूहम् (अराते) हे अदानशक्ते (चित्तम्) अन्तःकरणम् (वीर्त्सन्ती) म० १ । वि+ऋधु-सन्, शतृ, ङीप् । असाधयन्ती नाशयन्ती (आकूतिम्) संकल्पम् (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (च) ॥

या मंहुती मुहोन्मा॑ना विश्वा॒ आशा॒ व्या॑नुशे ।
तस्यै॑ हिरण्यके॒श्यै॑ निर्ऋ॑त्या अकरं॒ नमः॑ ॥ ९ ॥

या । मुहुती । मुहा-उन्माना । विश्वाः । आशाः । वि-आनुशे ।
तस्यै । हिरण्य-केश्यै । निः-ऋत्यै । अकुरम् । नमः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(या) जो (महती) बलवती, (महोन्माना) वड़े डील वाली [निर्धनता] (विश्वाः) सब (आशाः) दिशाओं में (व्यानशे) व्याप्त हुई है। (तस्यै) उस (हिरण्यकेश्यै) सुवर्ण का प्रकाश कराने वाली (निर्ऋत्यै) क्रूर विपत्ति को (नमः अकरम्) मैं ने नमस्कार किया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वव्यापिनी निर्धनता में फंसकर और अन्त में उस का नाश करके सुवर्ण आदि धन प्राप्त करते हैं ॥ ९ ॥

हिर॑ण्यवर्णा सु॒भगा॒ हिर॑ण्यकशिपुर्म॒ही ।
तस्यै॑ हिर॑ण्यद्रापयेऽरा॑त्या अकरं॒ नमः॑ ॥ १० ॥

हिरण्य-वर्णा । सु-भगा । हिरण्य-कशिपुः । मही । तस्यै ।
हिरण्य-द्रापये । अरात्यै । अकुरम् । नमः ॥ १० ॥

भाषार्थ—[जो] (सुभगा) वड़े ऐश्वर्य वाली (हिरण्यवर्णा) सुवर्ण का रूप रखने वाली (हिरण्यकशिपुः) सुवर्ण के वस्त्र वाली (मही) बलवती है। (तस्यै) उस (हिरण्यद्रापये) सुवर्ण द्वारा निन्दित गति से बचाने

९—(या) अरातिः (महती) बलवती (महोन्माना) विशाल परिमाणा (विश्वाः) सर्वाः (आशाः) दिशाः (व्यानशे) अशू-लिट् । व्याप (तस्यै) (हिरण्यकेश्यै) हिरण्य+केश—ङीप् । केशा रश्मयः'''काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा-निरु० १२ । २५ । सुवर्णस्य प्रकाशिकायै (निर्ऋत्यै) अ० ३ । ११ । २ । कृच्छ्रापत्तये—निरु० २ । ७ । (अकरम्) अहं कृतवानस्मि (नमः) सत्कारम् ॥

१०—(हिरण्यवर्णा) सुवर्णरूपा (सुभगा) वह्वैश्वर्ययुक्ता (हिरण्यकशिपुः) कश शब्दे हिंसायां च-कु । निपातनात् साधुः । कशिपुर्वस्त्रम् । सुवर्ण

वाली (अरात्यै) अदान शक्ति [निर्धनता] को (नमः अकरम्) मैंने नमस्कार किया है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विपत्तियों का सहन करके अन्त में धनी, बली और सुखी होते हैं ॥ १० ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-९ ॥ इन्द्रो देवता । १, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ४ पथ्या पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश :

वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह ।
अग्ने ताँ इह मादय सर्व आ यन्तु मे हवम् ॥

वैकङ्कतेन । इध्मेन । देवेभ्यः । आज्यम् । वह । अग्ने । तान् । इह । मादय । सर्वे । आ । यन्तु । मे । हवम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैकङ्कतेन) विज्ञान सम्बन्धी (इध्मेन) प्रकाश के साथ (देवेभ्यः) व्यवहार कुशल पुरुषों को (आज्यम्) पाने योग्य वस्तु (वह)

वस्त्रा (मही) बलवती (तस्यै) (हिरण्यद्रापये) द्रा कुत्सायां गतौ-क्विप् । भुजेः किच्च । उ० ४ । १४२ । इति द्रा+पा रक्षणे-इ; स च कित् । हिरण्येन सुवर्णेन कुत्साया गतेः रक्षिकायै (अरात्यै) अदानशक्तये निर्धनतायै (अकरम्) अहं कृतवानस्मि (नमः) नमस्कारम् ॥

१—(वैकङ्कतेन) भृमृदृशि० । उ० ३ । १०१ । इति विपूर्वात् ककि गतौ —अतच्, ततः अण् । विज्ञानेन सम्बन्धिना । वैज्ञानिकेन (इध्मेन) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति ञि इन्धी दीप्तौ-मक् । प्रकाशेन (देवेभ्यः) व्यवहारकुशलेभ्यः (आज्यम्) आङ् पूर्वादञ्जेः संज्ञायामुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । १ । १०९ । इति आङ्+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्यप् । अनिदितां हल० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नस्य लोपः । व्यक्तीकरणीयं प्रकाशनीयम् । गम्यं प्राप्यं वस्तु (वह) प्रापय (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (तान्)

पहुंचा। (अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी राजन्! (तान्) उन लोगों को (इह) यहां पर (मादय) प्रसन्न कर। (सर्वे) वे सब (मे) मेरी (हवम्) पुकार को (आ यन्तु) आकर प्राप्त हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अनेक विद्याओं का प्रचार करके विद्वानों का सत्कार करे, जिस से प्रजा में दुःख लेश मात्र न रहे ॥ १ ॥

इन्द्रा याहि मे हवमिदं करिष्यामि तच्छृणु ।
इम ऐन्द्रा अतिसरा आकूतिं सं नमन्तु मे ।
तेभिः शकेम वीर्यं१ जातवेदस्तनूवशिन् ॥ २ ॥

इन्द्र । आ । याहि । मे । हवम् । इदम् । करिष्यामि । तत् । शृणु । इमे । ऐन्द्राः । अति-सराः । आ-कूतिम् । सम् । नमन्तु । मे । तेभिः । शकेम । वीर्यम् । जात-वेदः । तनू-वशिन् ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन्! (मे हवम्) मेरी पुकार को (आ याहि) तू पहुंच। (इदम्) ऐश्वर्य सम्बन्धी कर्म (करिष्यामि) मैं करूंगा। (तत्) सो (शृणु) तू सुन। (इमे) यह (ऐन्द्राः) ऐश्वर्यवान् राजा के (अतिसराः) प्रयत्न (मे) मेरे (आकूतिम्) संकल्प को (सम नमन्तु) सिद्ध करें। (जातवेदः) हे बहुत धनवाले (तनूवशिन्) हे शरीरों को

देवान् (इह) अस्मिन् देशे (मादय) हर्षय (सर्वे) देवाः (आ यन्तु) आगच्छन्तु (मे) मम (हवम्) आह्वानम् ॥

२—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (आ याहि) आगच्छ (मे) मम (हवम्) आह्वानम् (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । परमैश्वर्यहेतु कर्म (करिष्यामि) अनुष्ठास्यामि (तत्) तस्मात् (शृणु) आकर्णय (इमे) (ऐन्द्राः) इन्द्र—अण् । इन्द्रसम्बन्धिनः । राजसम्बन्धिनः (अतिसराः) सृ गतौ—पचाद्यच् । प्रयत्नाः (आकूतिम्) संकल्पम् (सम्) सम्यक् (नमन्तु) प्रह्वीकुर्वन्तु । साधयन्तु (मे) मम (तेभिः) तैः । अतिसरैः (शकेम) प्राप्तुं शक्नुयाम (वीर्यम्) वीर्याय वीरकर्मणे—

वश में रखने वाले राजन् ! (तेभिः) उन [प्रयत्नों] से (वीर्यम्) वीरपन (शकेम) पासकें ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजागण की पुकार सुन कर प्रयत्न पूर्वक उनकी उन्नति करे ॥ २ ॥

यद॒साव॒मुतो॑ देवा अदे॒वः संश्चिकी॑र्षति । मा तस्या॒ग्निर्ह॒व्यं वा॑क्षी॒द्धवं॑ दे॒वा अ॑स्य॒ मोप॑ गु॒र्ममै॒व हव॒मेत॑न ॥३॥

यत् । अ॒सौ । अ॒मुतः॑ । दे॒वाः । अ॒दे॒वः । सन् । चिकी॑र्षति । मा । तस्य॑ । अ॒ग्निः । ह॒व्यम् । वा॒क्षी॒त् । हव॑म् । दे॒वाः । अ॒स्य॒ । मा । उप॑ । गुः॒ । मम॑ । ए॒व । हव॑म् । आ । इ॒त॒न ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी पुरुषो ! (असौ) वह (अदेवः सन्) राज द्रोही होकर (अमुतः) उस स्थान से (यत्) जो कुछ [कुमन्त्र] (चिकीर्षति) करना चाहता है । (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी राजा (तस्य=तस्मै) उसको (हव्यम्) अन्न (मा वाक्षीत्) न पहुंचावे । (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (अस्य) इस की (हवम्) पुकार को (मा उप गुः) न प्राप्त करें । (मम एव) मेरी ही (हवम्) पुकार को (आ-इतन) तुम आकर प्राप्त होवो ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा और सब विद्वान् लोग राज विद्रोही पुरुष को यथावत् दण्ड देकर प्रजा में शान्ति फैलावें ॥ ३ ॥

निरु० १० । १६ । वीरकर्म (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे जातधन (तनुवशिन्) अ० १ । ७ । २ । हे शरीराणां वशयितः ॥

३—(यत्) यत्किञ्चित्कुमन्त्रम् (असौ) (अमुतः) अमुष्मात् । तस्माद्देशात् (देवाः) हे विजिगीषवः (अदेवः) देवविरोधी । राजविद्रोही (सन्) वर्तमानः सन् (चिकीर्षति) कर्तुमिच्छति (तस्य) चतुर्थ्याः षष्ठी । तस्मै । अदेवाय (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी राजा (हव्यम्) हु अदने—यत् । अन्नम् (मा वाक्षीत्) वह-लुङ् । न प्रापयेत् (हवम्) आह्वानम् (देवाः) व्यवहारिणः (मा उप गुः) नैव प्राप्नुवन्तु (मम) (एव) हि (हवम्) (आ इतन) आ गच्छत ॥

अति धावतातिसरा इन्द्रस्य वचसा हत। अविं वृक इव मथ्नीत स वो जीवन् मा मोचि प्राणमस्यापि नह्यत ॥४॥

अति। धावत। अति-सराः। इन्द्रस्य। वचसा। हत। अविम्। वृकः-इव। मथ्नीत। सः। वः। जीवन्। मा। मोचि। प्राणम्। अस्य। अपि। नह्यत ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अतिसराः) हे उद्योगी शूरो ! (अति धावत) अत्यन्त करके धावा करो। (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले राजा के (वचसा) वचन से (हत) मारो। [उसे] (मथ्नीत) मथ डालो, (वृक इव) जैसे भेड़िया (अविम्) भेड़ को। (सः) वो (जीवन्) जीता हुआ (वः) तुम्हारी (मा मोचि) मुक्ति न पावे। (अस्य) इसके (प्राणम्) प्राण को (अपि) भी (नह्यत) बांध लो ॥ ४ ॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष राजा की आज्ञा से चढ़ाई करके शत्रुओं का सर्वथा नाश करें ॥ ४ ॥

यममी पुरोदधिरे ब्रह्माणमपभूतये।
इन्द्र स ते अधस्पदं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥ ५ ॥

यम्। अमी इति। पुरः-दधिरे। ब्रह्माणम्। अप-भूतये। इन्द्र। सः। ते। अधः-पदम्। तम्। प्रति। अस्यामि। मृत्यवे ॥ ५ ॥

४—(अति) अत्यन्त (धावत) धावु गतिशुद्धयोः। शीघ्रं गच्छत (अतिसराः) म० २। अर्श आद्यच्। हे अतिसरोपेताः। हे उद्योगिनः पुरुषाः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (वचसा) वचनेन (हत) नाशयत (अविम्) रक्षणीयं मेषम् (वृकः) वृक आदाने-क। आदानशीलो घातकजन्तुविशेषः (इव) यथा (मथ्नीत) विलोडयत। (सः) शत्रुः (वः) युष्माकम् (जीवन्) प्राणान् धारयन् (मा मोचि) मुक्तिं न प्राप्नुयात् (प्राणम्) जीवनम् (अस्य) शत्रोः (अपि) (नह्यत्) बध्नीत ॥

भाषार्थ—(अमी) इन [शत्रुओं] ने (यम्) जिस (ब्रह्माणम्) वृद्धिशील पुरुष को (अपभूतये) हमारी हार के लिये (पुरोदधिरे) उच्च पद पर रक्खा है। (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (सः) वह मैं (ते) तेरे (अधस्पदम्) पाव के नीचे (तम्) उसको (मृत्यवे) मृत्यु के लिये (प्रति) प्रतिकूलता से (अस्यामि) फेंकता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—शत्रु लोग जिस विद्वान् पुरुष को बहकाकर बड़ा पद देकर हमारी हानि करावें, हमारे राजपुरुष उसको पकड़ कर प्राणान्त तक दण्ड देवे ॥५।

यदि॑ प्रे॒युर्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे। त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि ॥ ६ ॥

यदि॑। प्र॒-ई॒युः। दे॒व॒-पु॒राः। ब्रह्म॑। वर्मा॑णि। च॒क्रि॒रे। त॒नू॒-पान॑म्। प॒रि॒-पान॑म्। कृ॒ण्वा॒नाः। यत्। उ॒प॒-ऊ॒चि॒रे। सर्व॑म्। तत्। अ॒र॒सम्। कृ॒धि॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो [शत्रुओं ने] (देवपुराः) राजा के नगरों पर (प्रेयुः) चढ़ाई की है, और (ब्रह्म) हमारे धन को (वर्माणि) अपने रक्षासाधन (चक्रिरे) बनाया है। (तनूपानम्) हमारे शरीर रक्षासाधन को (परि-

५—(यम्) (अमी) शत्रवः (पुरोदधिरे) अग्रे धृतवन्तः। प्रधानपदे स्थापितवन्तः (ब्रह्माणम्) ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः—निरु० १। ८। वृद्धिशीलं विद्वांसम् (अपभूतये) अस्माकं पराजयाय (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सः) सोऽहम् (ते) तव (अधस्पदम्) अ० २। ७। २। अधोभागे पादतले (तम्) शत्रुम् (प्रति) प्रतिकूलतया (अस्यामि) प्रक्षिपामि (मृत्यवे) मरणाय ॥

६—(यदि) सम्भावनायाम् (प्रेयुः) इण्—लिट्। प्रजग्मुः (देवपुराः) ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे। पा० ५। ४। ७४। इति देव+पुर्—अप्रत्ययः, टाप्। राजनगरीः (ब्रह्म) अस्माकं धनम्—निघ० २। १०। (वर्माणि) स्वकीयानि रक्षासाधनानि (चक्रिरे) आत्मसात्कृतवन्तः (तनूपानम्) अस्माकं शरीररक्षासाधनम् (परिपाणम्) स्वकीयं परित्राणम् (कृण्वानाः) आत्मसात्कृत-

पाणम्) अपना रक्षा साधन (कृण्वानाः) बनाते हुये उन लोगों ने (यत्) जो कुछ (उपोचिरे) डींग मारी है, (तत् सर्वम्) उस सब को (अरसम्) नीरस वा फीका (कृधि) करदे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवी शत्रुओं को जीतकर प्रजा की सदा रक्षा करे ॥६॥

यानुसावतिसुरांश्चकार कृणवंच्च यान् । त्वं तानिन्द्र वृत्रहन् प्रतीचः पुनरा कृधि यथामुं तृणहां जनम् ॥७॥

यान् । असौ । अति-सरान् । चकार । कृणवंत् । च । यान् । त्वम् । तान् । इन्द्र । वृत्र-हन् । प्रतीचः । पुनः । आ । कृधि । यथा । अमुम् । तृणहान् । जनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(असौ) उसने (यान्) जिन (अतिसरान्) प्रयत्नों को (चकार) किया है, (च) और (यान्) जिनको (कृणवत्) करे, (वृत्रहन्) हे अन्धकार नाशक (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्यवाले राजन् ! (त्वम्) तू (तान्) उन [प्रयत्नों] को (प्रतीचः) औंधे मुख करके (पुनः) अवश्य (आकृधि) तुच्छ करदे, (यथा) जिस से (अमुम् जनम्) उस जन समूह को वे [हमारे लोग] (तृणहान्) मारडालें ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा सेना आदि द्वारा शत्रुओं का नाश करता रहे ॥ ७ ॥

यथेन्द्र उद्वाचनं लब्ध्वा चक्रे अधस्पदम् ।
कृण्वे३ हमधरांस्तथामूञ्छश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

वन्तः (यत्) वचनम् (उपोचिरे) उप हीने । वच—लिट् । कुत्सितमुक्तवन्तः (सर्वम्) सकलम् (तत्) कर्म (अरसम्) असमर्थम् (कृधि) कुरु ॥

७—(यान्) (असौ) शत्रुः (अतिसरान्) म० २ । प्रयत्नान् (चकार) कृतवान् (कृणवत्) कुर्यात् (च) (यान्) (त्वम्) (तान्) अतिसरान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (वृत्रहन्) अन्धकारनाशक (प्रतीचः) प्रतिकूलमुखान् अधोमुखान् (पुनः) अवधारणे (आ) ईषदर्थे (आकृधि) तुच्छान् कुरु (यथा) येन प्रकारेण (अमुम्) (तृणहान्) तृह हिंसायाम्—लेट् । हिंस्युः (जनम्) शत्रु समूहम् ॥

यथा । इन्द्रः । उत्-वाचनम् । लब्ध्वा । चक्रे । अधः-पदम् । कृण्वे । अहम् । अधरान् । तथा । अमून् । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाले पुरुष ने (उद्वाचनम्) ऊंचे बोलने वाले, बड़बढ़ियां शत्रु को (लब्ध्वा) पाकर (अधस्पदम्) पांव तले (चक्रे) किया है । (तथा) वैसे ही (अहम्) मैं (शश्वतीभ्यः) सनातन (समाभ्यः) प्रजाओं के लिये (अमून्) उन [शत्रुओं] को (अधरान्) नीचे (कृण्वे) करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज शूरवीरों के समान संसार के हित के लिये काम क्रोध आदि शत्रुओं का नाश करे ॥ ८ ॥

अत्रैनानिन्द्र वृत्रहन्नुग्रो मर्मणि विध्य ।
अत्रैवैनानभि तिष्ठेन्द्र मेद्य १ हं तव ।
अनु त्वेन्द्रा रभामहे स्याम सुमतौ तव ॥ ९ ॥

अत्र । एनान् । इन्द्र । वृत्र-हन् । उग्रः । मर्मणि । विध्य । अत्र । एव । एनान् । अभि । तिष्ठ । इन्द्र । मेदी । अहम् । तव । अनु । त्वा । इन्द्र । आ । रभामहे । स्याम । सु-मतौ । तव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां (वृत्रहन्) हे अन्धकार नाशक (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (उग्रः) तेजस्वी तू (एनान्) इन लोगों को (मर्मणि) मर्म स्थान में (विध्य) छेद । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अत्र

८—(यथा) येन प्रकारेण (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (उद्वाचनम्) वच परिभाषणे, णिच्-ल्युट् । उच्चैर्बहुभाषिणम् । वाचालम् (लब्ध्वा) प्राप्य (चक्रे) कृतवान् (अधस्पदम्) पादतले (कृण्वे) करोमि (अहम्) (अधरान्) नीचान् (तथा) तेन प्रकारेण (अमून्) शत्रून् (शश्वतीभ्यः) सनातनीभ्यः (समाभ्यः) प्रजाभ्यः—यथा दयानन्दभाष्ये यजु० ४० । ८ ॥

९—(अत्र) अस्मिन् स्थाने (एनान्) शत्रून् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् ! (वृत्रहन्) अन्धकारनाशक (उग्रः) तेजस्वी (मर्मणि) मृङ् प्राणत्यागे—मनिन् । सन्धिस्थाने । जीवस्थाने (विध्य) ताडय (अत्र) (एव) (एनान्)

एव) यहां पर ही (एनान्) इनको (अभि तिष्ठ) दबा ले । (अहम्) मैं (तव) तेरा (मेदी) स्नेही हूं । (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् राजन् ! (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (आरभामहे) हम आरम्भ करते हैं । (तव) तेरी (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का सर्वथा नाश करके प्रजा पालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-८ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ५ दैवी बृहती ; २, ६ दैवी पङ्क्तिः ३, ४ दैवी जगती ; ७ सूर्योम इति द्विपदा विराट्, अस्तृतो नामेति द्विपदा जगती ; ८ पञ्चपदा विराट् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

दिवे स्वाहा ॥ १ ॥ दिवे । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिवे) प्रकाशमान परमेश्वर के लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी है ॥ १ ॥

पृथिव्यै स्वाहा ॥ २ ॥ पृथिव्यै । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पृथिव्यै) विस्तृत नीति के लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी है ॥ २ ॥

अन्तरिक्षाय स्वाहा ॥ ३ ॥ अन्तरिक्षाय । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षाय) भीतर दिखाई देने हारे हृदय [की शुद्धि] के लिये (स्वाहा) प्रार्थना है ॥ ३ ॥

(अभि तिष्ठ) अभिभव । पराजय (इन्द्र) (मेदी) स्नेही (अहम्) प्रजागणः (तव) (अनु) अनुलक्ष्य (इन्द्र) (आ रभामहे) रभ औत्सुक्ये । उत्सुका भवामः (स्याम) भवेम । निवसाम (सुमतौ) दयाबुद्धौ (तव) ॥

१—(दिवे) प्रकाशमानाय परमात्मने (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । प्रार्थना ॥

२—(पृथिव्यै) विस्तृतायै नीतये (स्वाहा) ॥

३—(अन्तरिक्षाय) सर्वमध्ये दृश्यमानाय हृदयाय । तस्य शुद्धये—इत्यर्थः । अन्तरिक्षं कस्मादन्तरा क्षान्तं भवत्यन्तरेमे इति वा शरीरेष्वन्तरक्षय-मिति वा-निरु० २ । १० ॥

अ॒न्तरि॑क्षाय॒ स्वाहा॑ ॥ ४ ॥ अ॒न्तरि॑क्षाय । स्वाहा॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षाय) मध्य लोक, वायु मण्डल [के ज्ञान] के लिये (स्वाहा) प्रार्थना है ॥ ४ ॥

दि॒वे स्वाहा॑ ॥ ५ ॥ दि॒वे । स्वाहा॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दिवे) व्यवहार के लिये (स्वाहा) प्रार्थना है ॥ ५ ॥

पृ॒थि॒व्यै स्वाहा॑ ॥ ६ ॥ पृ॒थि॒व्यै । स्वाहा॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पृथिव्यै) पृथिवी [के राज्य] के लिये (स्वाहा) सुन्दर वाणी है ॥ ६ ॥

सूर्यो॑ मे॒ चक्षु॒र्वातः॑ प्रा॒णो॒३॒॑ न्तरि॑क्षमा॒त्मा पृ॑थि॒वी शरी॑रम् । अ॒स्तृ॒तो नामा॒हम॒यम॑स्मि॒ स आ॒त्मानं॒ नि द॑धे द्यावापृथि॒वीभ्यां॑ गोपी॒थाय॑ ॥ ७ ॥

सूर्यः॑ । मे॒ । चक्षुः॑ । वातः॑ । प्रा॒णः । अ॒न्तरि॑क्षम् । आ॒त्मा । पृ॒थि॒वी । शरी॑रम् । अ॒स्तृ॒तः । नाम॑ । अ॒हम् । अ॒यम् । अ॒स्मि॒ । सः । आ॒त्मान॑म् । नि । द॒धे । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वीभ्या॑म् । गो॒पी॒थाय॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (चक्षुः) नेत्र (सूर्यः) । सूर्य [के सदृश प्रकाशमान], (प्राणः) प्राण (वातः) वायु [के समान चलने वाला], (आत्मा) आत्मा (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक [के समान मध्यवर्ती], (शरीरम्) शरीर (पृथिवी) पृथिवी [के समान सहन शील] है । (अयम्) यह (अहम्) मैं (अस्तृतः)

४—(अन्तरिक्षाय) द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानाय वायुमण्डलाय ॥

५—(दिवे) व्यवहाराय ॥

६—(पृथिव्यै) भूमिराज्याय (स्वाहा) ॥

७—(सूर्यः) सूर्यवत्प्रकाशनमस्ति (मे) मम (चक्षुः) नेत्रम् (वातः) वायुः । वायुसदृशप्रगमनः (प्राणः) (अन्तरिक्षम्) द्यावापृथिव्योर्मध्ये वर्तमानोऽवकाशतुल्यः (पृथिवी) भूमिवत् सहनशीलम् (शरीरम्) देहः (अस्तृ-

बिना ढका हुआ (नाम) प्रसिद्ध (अस्मि) हूं। (सः-सः अहम्) वह मैं (आत्मानम्) अपना आत्मा (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्य और पृथिवी को (गोपीथाय) रक्षा [अथवा पृथिवी, इन्द्रिय आदि की रक्षा] के लिये (नि) नित्य (दधे) देता रहता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—योगी जन विद्याभ्यास और तपोबल से संसार के सब तत्त्वों से उपकार लेकर संसार की रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

उदायुरुद्बलमुत् कृतमुत् कृत्यामुन्मनीषामुदिन्द्रियम्।
आयुष्कृदायुष्पत्नी स्वधावन्तौ गोपा मे स्तं गोपायतंमा।
आत्मसदौ मे स्तं मा मा हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

उत्। आयुः। उत्। बलम्। उत्। कृतम्। उत्। कृत्याम्। उत्। मनीषाम्। उत्। इन्द्रियम्। आयुः-कृत्। आयुष्पत्नीत्यायुः-पत्नी। स्वधा-वन्तौ। गोपा। मे। स्तम्। गोपायतम्। मा। आत्म-सदौ। मे। स्तम्। मा। मा। हिंसिष्टम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(आयुः) मेरा जीवन (उत्) उत्तम, (बलम्) बल (उत्) उत्तम, (कृतम्) किया हुआ काम (उत्) उत्तम, (कृत्याम्) कर्तव्य कर्म (उत्) उत्तम, (मनीषाम्) बुद्धि (उत्) उत्तम, (इन्द्रियम्) इन्द्रपन अर्थात्

तः) स्तृञ् आच्छादने-क। अनाच्छादितः (नाम) प्रसिद्धो (अयम्) (अस्मि) (सः) सोऽहम् (आत्मानम्) आत्मसामर्थ्यम् (नि) नित्यम् (दधे) ददामि (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यभूमिभ्याम्। तदुपलक्षितसर्वलोकाय (गोपीथाय) निशीथगोपीथावगथाः। उ० २। ६। इति गुपू रक्षणे-थक्, निपातनात् साधुः। रक्षणाय। यद्वा गो+पा रक्षणे-थक्, निपातनादीत्वम्। पृथिवीन्द्रियादीनां रक्षणाय-इतिदयानन्दभाष्ये, ऋ० १। १६। १ ॥

८—(उत्) उत्कर्षतम् (आयुः) जीवनम् (बलम्) सामर्थ्यम् (कृत्याम्) अ० ४। ६। ५। डुकृञ् करणे-क्यप्, तुक्, टाप्। कर्तव्यम् (मनीषाम्) कृतॄभ्यामीषन्। उ० ४। २६। इति मन अवबोधने-ईषन्, टाप्। यद्वा,

परम ऐश्वर्य (उत्=उत्कर्षतम्) उत्तम बनाओ। (आयुष्पत्नी) जीवन पालने वाली माता और (आयुष्कृत्) जीवन करने वाले पिता, तुम दोनों (स्वधावन्तौ) अन्न वाले होकर (मे) मेरे (गोपा=गोपौ) रक्षक (स्तम्) होओ। (मा) मुझको (गोपायतम्) बचाओ। (मे) मेरे (आत्मसदौ) आत्मा में रहने वाले (स्तम्) होओ। (मा) मुझे (मा हिंसिष्टम्) दुःखी मत होने दो ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम विद्या, पुरुषार्थ आदि प्राप्त करके संसार में सुखी रहते हैं ॥ ८ ॥

सूक्तम् ॥ १० ॥

१—८ ॥ ब्रह्म देवता ॥ १-७ पद पङ्क्तिः ; ८ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मोत्कर्षोपदेशः—ब्रह्म की उत्तमता का उपदेश ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्राच्या दिशोऽघायुरभिदासात्। एतत् स ऋच्छात् ॥ १ ॥

अश्म-वर्म। मे। असि। यः। मा। प्राच्याः। दिशः। अघ-युः। अभि-दासात्। एतत्। सः। ऋच्छात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है। (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला

मनस्+ईष गतौ-क, टाप्। शकन्ध्वादित्वात्पररूपम्। मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा-निरु० २।२५। तथा ९।१०। मनस ईषां गतिम्। प्रज्ञाम् (इन्द्रियम्) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५।२।९३। इति इन्द्र-घ। धननाम-निघ० २।१०। परमैश्वर्यम्। (आयुष्कृत्) जीवनकर्ता (आयुष्पत्नी) जीवनपालयित्री (स्वधावन्तौ) स्वधा=अन्नम्—निघ० २।७। अन्नवन्तौ सन्तौ (गोपा) गोपायतीति गोपाः, गुपू-क्विप्, अतोलोपः, यलोपः। सुपां सुलुक्० । पा० ७।१।३९। इति आकारः। गोपौ। गोप्तारौ। रक्षकौ (मे) मम (स्तम्) भवतम् (गोपायतम्) रक्षतम् (मा) माम् (आत्मसदौ) आत्मनि तिष्ठन्तौ (मे) (स्तम्) (मा) माम् (मा हिंसिष्टम्) मा वधीष्टम् ॥

१—(अश्मवर्म) वर्म गृहनाम—निघ०। ३।४। अश्मनः पाषाणस्य

मनुष्य (प्राच्याः) पूर्व वा सन्मुखवाली (दिशः) दिशा से (मा) मुझ पर (अभिदासात्) चढ़ाई करे, (सः) वह दुष्ट (एतत्) व्यापक दुःख (ऋच्छात्) पावे ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक ब्रह्म प्रत्येक दिशा में दुष्टों को सर्वत्र दण्ड देकर शिष्टों की रक्षा करता है इसी प्रकार आगे समझो ॥ १ ॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा दक्षिणाया दिशः०।० ॥ २ ॥

०मा । दक्षिणायाः । दिशः ०।० ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा से......म० १ । ॥२॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मा प्रतीच्या दिशः ०।० ॥ ३ ॥

०मा । प्रतीच्याः । दिशः ०।० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से......म० १ ॥३॥

अश्मवर्म मेऽसि यो मोदीच्या दिशः ०।० ॥ ४ ॥

०मा । उदीच्याः । दिशः ०।० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है । (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (उदीच्याः) उत्तर वा बायीं (दिशः) दिशा से......म० १ । ॥ ४ ॥

गृहमिव दृढं ब्रह्म (मे) मह्यम् (असि) भवसि (यः) (मा) माम् (प्राच्याः) अ० ३ । २६ । १ पूर्वायाः । अभिमुखीभूतायाः (दिशः) दिशायाः (अघायुः) आ० १ । २० । ३ । पापेच्छुः (अभिदासात्) अभिक्षिपेत् (एतत्) एतेस्तुट् च । उ० १ । १३३ । इति इण् गतौ—अदि, तुट् च । व्यापकं दुःखम् (सः) अघायुः (ऋच्छात्) ऋच्छ गतौ—लेट् । प्राप्नुयात् ॥

२—(दक्षिणायाः) दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तस्थितायाः ॥

३—(प्रतीच्याः) पश्चिमायाः । पश्चाद्भागे स्थितायाः ॥

४—(उदीच्याः) उत्तरस्याः । वामभागस्थितायाः ॥

अ॒श्म॒व॒र्म मे॑ऽसि॒ यो मा॑ ध्रु॒वाया॑ दि॒शः०।०॥ ५ ॥

० मा॒। ध्रु॒वायाः॑। दि॒शः०।०॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है। (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (ध्रुवायाः) स्थिर वा नीचे वाली (दिशः) दिशा से......म० १। ॥५॥

अ॒श्म॒व॒र्म मे॑ऽसि॒ यो मो॒र्ध्वाया॑ दि॒शो॑ऽघा॒युः०।० ६

० मा॒। ऊ॒र्ध्वायाः॑। दि॒शः०।०॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है। (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (ऊर्ध्वायाः) ऊपर वाली (दिशः) दिशा से......म० १। ॥ ६ ॥

अ॒श्म॒व॒र्म मे॑ऽसि॒ यो मा॑ दि॒शाम॑न्तर्दे॒शेभ्यो॑ऽघा॒युर॑भि॒दा-सा॑त्। ए॒तत् स ऋ॑च्छात् ॥ ७ ॥

अ॒श्म॒-व॒र्म। मे॒। अ॒सि॒। यः। मा॒। दि॒शाम्। अ॒न्तः॒-दे॒शेभ्यः॑। अ॒घ॒-युः। अ॒भि॒-दासा॑त्। ए॒तत्। सः। ऋ॒च्छा॒त् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्म !] (मे) मेरे लिये तू (अश्मवर्म) पत्थर के घर [के समान दृढ़] (असि) है। (यः) जो (अघायुः) बुरा चीतने वाला मनुष्य (दिशाम्) दिशाओं के (अन्तर्देशेभ्यः) मध्यदेशों से (मा) मुझ पर (अभिदासात्) चढ़ाई करे, (सः) वह दुष्ट (एतत्) व्यापक दुःख (ऋच्छात्) पावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—म० १। के समान ॥ ७ ॥

५—(ध्रुवायाः) स्थिरायाः। अधः स्थायाः ॥

६—(ऊर्ध्वायाः) उपरि वर्तमानायाः ॥

७—(दिशाम्) दिशानाम् (अन्तर्देशेभ्यः) अन्तरालेभ्यः ॥

बृहता मन उप॑ ह्वये मातरिश्वना प्राणापानौ ।
सूर्याच्चक्षुरन्तरिक्षाच्छ्रोत्रं पृथिव्याः शरीरम् ।
सरस्वत्या वाचमुप॑ ह्वयामहे मनोयुजा ॥ ८ ॥

बृहता । मनः । उप॑ । ह्वये । मातरिश्वना । प्राणापानौ । सूर्यात् । चक्षुः । अन्तरिक्षात् । श्रोत्रम् । पृथिव्याः । शरीरम् । सरस्वत्या । वाचम् । उप॑ । ह्वयामहे । मनः-युजा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(बृहता) बढ़े हुये ज्ञान के साथ (मनः) मन को, (मातरिश्वना) आकाशगामी वायु के साथ (प्राणापानौ) भीतर और बाहिर जाने वाले श्वास को, (सूर्यात्) सूर्य से (चक्षुः) दृष्टि, (अन्तरिक्षात्) आकाश से (श्रोत्रम्) श्रवण शक्ति, और (पृथिव्याः) पृथिवी से (शरीरम्) शरीर को (उप ह्वये) मैं आदर से मांगता हूं । (मनोयुजा) मन से जुड़ी हुयी (सरस्वत्या) विज्ञान वाली विद्या के साथ (वाचम्) वाणी को (उप) आदर से (ह्वयामहे) हम मांगते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विज्ञान द्वारा वायु, सूर्य, आकाश, और पृथिवी से उत्तम गुणों की प्राप्ति करके शारीरिक और मानसिक बल बढ़ावें ॥ ८ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

८—(बृहता) प्रवृद्धेन ज्ञानेन (मनः) चित्तम् (उप) आदरेण (ह्वये) याचे (मातरिश्वना) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । इति मातरि+टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । मातरिश्वा वायुर्मातर्यन्तरिक्षे श्वसिति मातर्याश्वनितीति वा—निरु० । ७ । २६ । मातरि मानकर्तरि आकाशे गमनशीलेन वायुना (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासौ (सूर्यात्) आदित्यात् (चक्षुः) दृष्टिम् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (श्रोत्रम्) श्रवणम् (पृथिव्याः) भूमेः (शरीरम्) देहम् (सरस्वत्या) ज्ञानवत्या विद्यया (वाचम्) वाणीम् (उप) (ह्वयामहे) याचामहे (मनोयुजा) सू० ७ । ५ । मनसा युक्तया ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१-११ ॥ ब्रह्म देवता । ६ शक्वरी; ११ षट्पदा त्रिष्टुप्; अन्यत्र त्रिष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

कथं महे असुरायाब्रवीरिह कथं पित्रे हरये त्वेषनृम्णः ।
पृश्निं वरुण दक्षिणां ददावान् पुनर्मघ त्वं मनसाचिकित्सीः ॥ १ ॥

कथम् । महे । असुराय । अब्रवीः । इह । कथम् । पित्रे । हरये । त्वेष-नृम्णः । पृश्निम् । वरुण । दक्षिणाम् । ददावान् । पुनःऽमघ । त्वम् । मनसा । अचिकित्सीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्वेषनृम्णः) तेजोमय बल वाले तूने (कथम् कथम्) कैसे कैसे (महे) महान् (असुराय) प्राणदाता वा बुद्धिमान्, (पित्रे) जगत्पिता, (हरये) दुःख नाशक हरि, परमेश्वर [की प्राप्ति] के लिये (इह) यहां (अब्रवीः) कथन किया है । (वरुण) हे वरणीय विद्वान्! तूने (पृश्निम्) वेद विद्या और (दक्षिणाम्) प्रतिष्ठा (ददावान्) दान की है । (पुनर्मघ)

१—(कथम्) केन प्रकारेण (महे) महते (असुराय) अ० १ । १० । १ । प्राणदात्रे । प्रज्ञावते परमेश्वराय । तस्य प्राप्तय इत्यर्थः (अब्रवीः) त्वं कथितवान् (इह) अत्र संसारे (कथम्) (पित्रे) पालकाय (हरये) दुःख नाशकाय । परमेश्वरप्राप्तये (त्वेषनृम्णः) अ० ५ । २ । १ । तेजोबलस्त्वम् (पृश्निम्) अ० २ । १ । १ । स्पृश स्पर्शे—नि । स्पृशति योगिनः । वेदविद्याम् । पृश्निः=वेदाः—इति शब्दकल्पद्रुमः (वरुण) हे वरणीय विद्वन् (दक्षिणाम्) अ० ५ । ७ । १ । प्रतिष्ठाम् (ददावान्) ददातेः—क्वसु । छान्दसं रूपम् । ददिवान् । दत्तवान् त्वम् (पुनर्मघ) मघमिति धननामधेयं मंहतेर्दानकर्मणः—निरु० १ । ७ । पुनर्भूयो भूयो मघं धनं यस्मात् स पुनर्मघः,

हे बार बार धन देने वाले पुरुष ! (त्वम्) तूने (मनसा) मन से (अचिकित्सीः) हमारी चिकित्सा की है ॥१॥

भावार्थ—विद्वान् जन कठिन तपश्चर्या से परमेश्वर की विद्या प्राप्त करके उसके उपदेश से संसार को सुखी करते हैं ॥ १ ॥

न कामे॑न॒ पुन॑र्मघो भवा॒मि॒ सं च॑क्षे॒ कं पृश्नि॑मे॒ताम् उपा॑जे । केन॒ नु त्वम॑थर्व॒न् काव्ये॑न॒ केन॑ जा॒तेना॑सि जा॒तवे॑दाः ॥ २ ॥

न । कामेन । पुनः-मघः । भवामि । सम् । चक्षे । कम् । पृश्निम् । एताम् । उप । अजे । केन । नु । त्वम् । अथर्वन् । काव्येन । केन । जातेन । असि । जात-वेदाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कामेन) शुभ कामना से (न) अब (पुनर्मघः) अवश्य धन देने वाला मैं (भवामि) होता हूं, [क्योंकि] (एताम्) इस (पृश्निम्) वेद विद्या को (कम्) सुख से (सम्) ठीक ठीक (चक्षे) देखता हूं और (उप) आदर से (अजे) प्राप्त करता हूं। (अथर्वन्) हे निश्चल स्वभाव वाले पुरुष ! (त्वम्) तू (नु) निश्चय करके (केन) कामना योग्य (काव्येन) स्तुति योग्य (जातेन) प्रसिद्ध (केन) सुख प्रद प्रजापति परमेश्वर के साथ (जातवेदाः) बहुत धन वा बुद्धि वाला (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—योगी जन आदर से वेद विद्या प्राप्त करता, और उसके प्रचार से संसार को सुखी करके आप सुखी होता है ॥ २ ॥

तत्सम्बुद्धौ । हे पुनः पुनर्धनदातः (त्वम्) [मनसा] हृदयेन [अचिकित्सीः] कित रोगापनयने—लुङ् । त्वं चिकित्सां रोगप्रतिकारं कृतवानसि ॥

२—(न) सम्प्रत्यर्थे-निरु० ७ । ३१ (कामेन) शुभकामनया (पुनर्मघः) म० १ । पुनर् अवधारणे । अवश्यं धनदाता (भवामि) (सम्) सम्यक् (चक्षे) चक्षिङ् दर्शने कथने च । पश्यामि (कम्) सुखेन (पृश्निम्) म० १ । वेदविद्याम् (एताम्) सुप्रसिद्धाम् (उप) आदरेण (अजे) अज गतिक्षेपणयोः । अजामि । प्राप्नोमि (केन) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति कमेः क्रमे र्वा-ड । यद्वा कं सुखम्-अर्शआद्यच् । कः. कमनो वा क्रमणो वा-सुखो वा-निरु० । १० । २२ । कमनीयेन, व्यापकेन, सुखप्रदेन वा प्रजापतिना (नु) निश्चयेन (त्वम्) (अथर्वन्) अ० ४ । १ । ७ । हे निश्चलस्वभाव पुरुष (काव्येन) अ० ४ । १ । ६ । कवृ स्तुतौ-ण्यत् । स्तुत्येन ब्रह्मणा (केन) (जातेन) प्रसिद्धेन सह (असि) (जातवेदाः) जातधनः । जातप्रज्ञः ॥

स॒त्यम॒हं ग॑भी॒रः काव्ये॑न स॒त्यं जा॒तेना॑स्मि॒ जा॒तवे॑दाः ।
न मे॑ दा॒सो नार्यो॑ महि॒त्वा व्र॒तं मी॑माय॒ यद॒हं ध॑रि॒ष्ये ॥३॥

स॒त्यम् । अ॒हम् । ग॒भी॒रः । काव्ये॑न । स॒त्यम् । जा॒तेन॑ । अ॒स्मि॒ । जा॒त-वे॑दाः । न । मे॒ । दा॒सः । न । आर्यः॑ । म॒हि॒-त्वा । व्र॒तम् । मी॒मा॒य॒ । यत् । अ॒हम् । ध॒रि॒ष्ये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सत्यम् सत्यम्) सत्य सत्य (काव्येन) स्तुति योग्य (जातेन) प्रसिद्ध ब्रह्म के साथ (गभीरः) शान्त (जातवेदाः) बड़ी बुद्धि वाला (अस्मि) हूं । (न आर्यः) अनार्य, अविद्वान् (दासः) दास, शूद्र (मे) मेरे (व्रतम्) व्रत को (न) नहीं (मीमाय) तोड़ सका, (यत्) जिसको (अहम्) मैं (महित्वा) बड़ेपन से (धरिष्ये) धारण करूंगा ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्म विद्या से धीर ज्ञानी होता और कोई मूर्ख उसके संकल्प में विघ्न नहीं डाल सकता ॥ ३ ॥

न त्वद॒न्यः क॒वित॑रो॒ न मे॒धया॒ धीर॑तरो वरुण स्वधावन् ।
त्वं ता विश्वा॒ भुव॑नानि वेत्थ॒ स चि॒न्नु त्वज्जनो॑ मा॒यी बि॑भाय ॥ ४ ॥

न । त्वत् । अ॒न्यः । क॒वि-त॑रः । न । मे॒धया॑ । धीर॑-तरः । व॒रु॒ण॒ । स्व॒धा-व॒न् । त्वम् । ता । विश्वा॑ । भुव॑नानि । वे॒त्थ॒ ।

३—(सत्यम्) यथार्थम् (अहम्) जीवः (गभीरः) गभीरगम्भीरौ । उ० ४ । ३५ । इति गम्लृ-ईरन्, मस्य भः । शान्तः (काव्येन) म० । १ । स्तुत्येन ब्रह्मणा (सत्यम्) (जातेन) प्रसिद्धेन (अस्मि) (जातवेदाः) जातधनः। जातप्रज्ञः (न) निषेधे (मे) मम (दासः) अ० ४ । ३२ । १ । शूद्रः (न आर्यः) अ० ४ । ३२ । १ । न प्राप्तुं योग्यः । अनार्यः । अविद्वान् । (महित्वा) अ० ४ । २ २ । महत्त्वेन (व्रतम्) वरणीयं कर्म (मीमाय) मीञ् हिंसायाम्-लिटि छान्दसं रूपम् । हिंसितवान् (यत्) व्रतम् (अहम्) (धरिष्ये) धरिष्यामि॥

सः । चित् । नु । त्वत् । जनः । मायी । विभाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(स्वधावन्) हे आत्मधारण वाले, स्वाधीन, (वरुण) श्रेष्ठ पुरुष ! (मेधया) अपनी बुद्धि के कारण (त्वत्) तुझ से (अन्यः) अन्य [मूर्ख] (न) न तो (कवितरः) अधिक सूक्ष्मदर्शी और (न) न (धीरतरः) अधिक बुद्धिमान् है । (त्वम्) तू (ता) उन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (वेत्थ) जानता है । (सः) वह (मायी) मायावी (जनः) जन (त्वत्) तुझ से (चित् नु) अवश्य ही (विभाय) भयभीत हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसा आत्मबल और ज्ञान ईश्वरभक्तों में होता है वैसा नास्तिकों में कभी नहीं होता अर्थात् उनका आत्मा डरपोक होता है ॥ ४ ॥

त्वं ह्य१ङ्ग वरुण स्वधावन् विश्वा वेत्थ जनिमा सुप्रणीते । किं रजस एना परो अन्यदस्त्येना किं परेणावरममुर ॥ ५ ॥

त्वम् । हि । अङ्ग । वरुण । स्वधा-वन् । विश्वा । वेत्थ । जनिम । सु-प्रनीते । किम् । रजसः । एना । परः । अन्यत् । अस्ति । एना । किम् । परेण । अवरम् । अमुर ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे (स्वधावन्) आत्मधारण वाले, स्वाधीन (सुप्रणीते) हे उत्तम नीति वाले (वरुण) श्रेष्ठ पुरुष ! (त्वम्) तू (हि) ही (विश्वा) सब (जनिमा) उत्पन्न लोकों को (वेत्थ) जानता है (किम्) क्या

४—(न) निषेधे (त्वत्) त्वत्तः (अन्यः) भिन्नः । मूर्खः (कवितरः) सूक्ष्मदर्शितरः (न) (मेधया) प्रज्ञया (धीरतरः) बुद्धिमत्तरः (वरुण) हे वरणीय पुरुष (स्वधावन्) अ० २ । २९ । ७ । स्व+डुधाञ् धारणपोषणयोः-क्विप् । हे आत्मधारणयुक्त । स्वाधीन । असवन् (त्वम्) (ता) तानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) लोकान् (वेत्थ) वेत्सि । जानासि (सः) (चित्) अपि (नु) निश्चयेन (त्वत्) त्वत्तः (जनः) मनुष्यः (मायी) छली (विभाय) भयं प्राप ॥

५—(त्वम्) (हि) निश्चयेन (अङ्ग) सम्बोधने । हे (वरुण) हे श्रेष्ठ (स्वधावन्) हे आत्मधारणयुक्त (विश्वा) सर्वाणि (वेत्थ) जानासि (जनिमा) जन्मानि । भुवनानि (सुप्रणीते) हे शोभननीतियुक्त, हे सुनायक

(एना) इस (रजसः) लोक से (परः) परे (अन्यत्) और कुछ (अस्ति) है। (असुर) हे गतिशील ! (किम्) क्या (एना) इस (परेण) पर की अपेक्षा (अवरम्) कुछ पीछे [अधिक दूर] रहने वाला ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य योगी ब्रह्मज्ञानियों से वार्तालाप करके अपनी ब्रह्मविद्या दृढ़ावें ॥ ५ ॥

एकं रजस एना परो अन्यदस्त्येना पर एकेन दुर्णशं चिदर्वाक् । तत् ते विद्वान् वरुण प्र ब्रवीम्यधोवचसः पणयो भवन्तु नीचैर्दासा उप सर्पन्तु भूमिम् ॥ ६ ॥

एकम् । रजसः । एना । परः । अन्यत् । अस्ति । एना । परः । एकेन । दुः नशम् । चित् । अर्वाक् । तत् । ते । विद्वान् । वरुण । प्र । ब्रवीमि । अधः-वचसः । पणयः । भवन्तु । नीचैः । दासाः । उप । सर्पन्तु । भूमिम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एना) इस (रजसः) लोक से (परः) परे (अन्यत्) और कुछ (एकम्) अकेला [ब्रह्म] (अस्ति) है। (एना) इस (एकेन) अकेले ब्रह्म की अपेक्षा (परः) परे (दुर्णशम्) दुष्प्राप्य और (अर्वाक्) पीछे वर्तमान (चित्) भी [वही है]। (वरुण) हे श्रेष्ठ पुरुष ! (विद्वान्)

(किम्) (रजसः) लोकात् (एना) विभक्तेरेकारः। अस्मात्। दृश्यमानात् (परः) परस्तात्। दूरदेशे (अन्यत्) भिन्नम् (अस्ति) वर्तते (एना) अनेन (किम्) (परेण) दूरदेशेन (अवरम्) पश्चाद्वर्तमानं दूरगतम् (असुर) असेरुरन्। उ० १। ४२। इति अस गतौ—उरन्। हे गतिशील। उद्योगिन् ॥

६—(एकम्) अद्वितीयं ब्रह्म (रजसः) लोकात् (एना) अस्मात् (परः) दूरदेशे (अन्यत्) (अस्ति) (एना) अनेन (परः) दूरदेशे (एकेन) अद्वितीयेन ब्रह्मणा (दुर्णशम्) नशत् व्याप्तिकर्मा—निघ० २। १८। दुष्प्राप्यम् (चित्) अपि (अर्वाक्) अवरदेशभवम्। पश्चाद्वर्तमानम् (तत्) ब्रह्मज्ञानम् (ते) तुभ्यम् (विद्वान्) प्राप्तविद्यः (वरुण) श्रेष्ठ (प्र) प्रकर्षेण (ब्रवीमि)

विद्वान् मैं (ते) तुझको (तत्) वह बात (प्र) अच्छे प्रकार (ब्रवीमि) कहता हूं। (पणयः) कुव्यवहारी लोग (अधोवचसः) तुच्छ वचन वाले [असत्यवादी] (भवन्तु) होवें। (दासाः) दास अर्थात् शूद्र (नीचैः) नीचे की ओर (भूमिम्) भूमि पर (उप) हीन हो कर (सर्पन्तु) रेंग जावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह अकेला अद्भुतमूर्ति परब्रह्म हमारे गोचर और अगोचर पदार्थों से भिन्न है, यह बात बुद्धिमान् लोग जानते हैं, और कुबुद्धि नास्तिक सदा नीचा देखते हैं ॥ ६ ॥

त्वं ह्यं१ङ्ग वरुण ब्रवीषि पुनर्मघेष्ववद्यानि भूरि। मो पु पणींर॒भ्ये३॑तावतो भून्मा त्वा वोचन्नराधसं जनासः ॥७॥

त्वम्। हि। अङ्ग। वरुण। ब्रवीषि। पुनः-मघेषु। अवद्यानि। भूरि। मो इति। सु। पणीन्। अभि। एतावतः। भूत्। मा। त्वा। वोचन्। अराधसम्। जनासः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे (वरुण) वरुण श्रेष्ठ पुरुष ! (त्वम्) तू (हि) ही (पुनर्मघेषु) बार बार धन देने वालों के बीच [वर्तमान होकर] (भूरि) बहुत से (अवद्यानि) अनिन्दनीय अर्थात् प्रशंसनीय वचनों को (ब्रवीषि) बोलता है। (एतावतः) इतने (पणीन् अभि) कुव्यवहारी पुरुषों की ओर (सु) अनायास [सहज स्वभाव से] (मो भूत) कभी मत हो, [जिस से]

कथयामि (अधोवचसः) अधोगतानि वचांसि येषां ते। असत्यवचनाः (पणयः) कुव्यवहारिणः (भवन्तु) (नीचैः) अधोदेशे (दासाः) शूद्राः। अविद्वांसः (उप) हीने (सर्पन्तु) सर्पणेन गच्छन्तु (भूमिम्) भूतलम् ॥

७—(त्वम्) (हि) अवश्यम् (अङ्ग) हे वरुण श्रेष्ठपुरुष (ब्रवीषि) कथयसि (पुनर्मघेषु) म० १। भूयो भूयो धनदातृषु वर्तमानः सन् (अवद्यानि) अव हीने यथा, अवमानम्=अपमानम्। दै तिरस्कारे-क। अवगतानि अपगतानि द्यानि तिरस्कारा येषां तानि। अनिन्द्यानि प्रशंसनीयानि वचनानि (भूरि) भूरीणि बहूनि (मो भूत्) मध्यमपुरुषस्य प्रथमपुरुषः। मैवभूः (सु) सुन्दररीत्या (पणीन्) कुव्यवहारिणः पुरुषान् (अभि) अभिलक्ष्य। व्याप्य (एता-

(जनासः) लोग (त्वा) तुझको (अराधसम्) अदानी (मा वोचन्) न कहें ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य सत्पुरुषों में उत्तम शिक्षाओं का प्रचार करें, क्योंकि दुष्ट पुरुषों और दुष्ट कर्मों में पड़कर अच्छा मनुष्य भी दोषी हो जाता है॥७॥

मा मा वोचन्नराधसं जनासः पुनस्ते पृश्निं जरितर्ददामि । स्तोत्रं मे विश्वमा याहि शचीभिरन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु ॥८॥

मा । मा । वोचन् । अराधसम् । जनासः । पुनः । ते । पृश्निम् । जरितः । ददामि । स्तोत्रम् । मे । विश्वम् । आ । याहि । शचीभिः । अन्तः । विश्वासु । मानुषीषु । दिक्षु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जनासः) मनुष्य (मा) मुझको (अराधसम्) अदाता (मा वोचन्) न कहें । (जरितः) हे स्तुति करने वाले पुरुष ! (पुनः) अवश्य (ते) तुझे (पृश्निम्) वेदविद्या (ददामि) देता हूं । (विश्वासु) सब (मानुषीषु) मनुष्य सम्बन्धिनी (दिक्षु अन्तः) दिशाओं के भीतर (शचीभिः) बुद्धि-

---

वतः) एतत्परिमाणान् । पुरोवर्तिनः (मा वोचन्) न कथयन्तु (त्वा) त्वाम् (अराधसम्) नास्ति राधो धनं यस्मात् सोऽराधास्तम् । अधनदातारम् । कृपणम् (जनासः) जनाः ॥

८—(मा वोचन्) न कथयन्तु (मा) माम् (अराधसम्) अदातारम् (जनासाः) जनाः (पुनः) अवधारणे (ते) तुभ्यम् (पृश्निम्) म० १ । वेदविद्याम् (जरितः) जरिता गरिता-निरु० १ । ७ । हे स्तोतः (ददामि) प्रयच्छामि (स्तोत्रम्) स्तुत्यं कर्म (मे) मम (विश्वम्) सर्वम् (आयाहि) आगच्छ । प्राप्नुहि (शचीभिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति शच व्यक्तायां वाचि-इन् । कृदिकारादक्तिनः । वा० पा० ४ । १ । ४५ । इति ङीष् । शची=वाक्-निघ० । १ । ११ । प्रज्ञा-३ । ८ । प्रज्ञाभिः (अन्तः) मध्ये (मानु-

यों के साथ (मे) मेरे (विश्वम्) सब (स्तोत्रम्) स्तुतियोग्य कर्म को (आयाहि) प्राप्त हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष उदारचित्त होकर वेद विद्या संसार में फैलावे और सब लोग विवेक पूर्वक उसके उत्तम कर्म का अनुकरण करें ॥ ८ ॥

आ तै स्तौत्राण्युद्यतानि यन्त्वन्तर्विश्वासु मानुषीषु दिक्षु। देहि नु मे यन्मे अदत्तो असि युज्यो मे सप्तपदः सखासि ॥९॥

आ । ते । स्तोत्राणि । उत्-यतानि । यन्तु । अन्तः । विश्वासु । मानुषीषु । दिक्षु । देहि । नु । मे । यत् । मे । अदत्तः । असि । युज्यः । मे । सप्त-पदः । सखा । असि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वन्] (विश्वासु) सब (मानुषीषु) मनुष्य सम्बन्धिनी (दिक्षु अन्तः) दिशाओं के भीतर (ते) तेरे (उद्यतानि) प्रवृत्त किये हुये (स्तोत्राणि) स्तुति योग्य कर्म (आ यन्तु) प्राप्त हों । (मे) मुझे (नु) निश्चय करके वह (देहि) दे (यत्) जो कुछ (मे) मुझ को (अदत्तः असि) तू ने नहीं दिया है । (मे) मेरा (युज्यः) योग्य (सप्तपदः) अधिकार पाये हुये (सखा) सखा (असि) तू है ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सब मनुष्यों में उत्तम कर्मों का प्रचार करे और विचार पूर्वक सब लोग उससे गुण प्राप्त करें ॥ ९ ॥

षीषु) अ० ४ । ३२ । २ । मनुष्-अण्, ङीप् । मनुष्यसम्बन्धिनीषु (दिक्षु) दिशासु ॥

९—(आ यन्तु) आगच्छन्तु (ते) तव (स्तोत्राणि) स्तुत्यानि कर्माणि (उद्यतानि) उद्+यम-क्त । ऊर्ध्वीकृतानि । प्रस्तुतानि (अन्तः) मध्ये (विश्वासु) सर्वासु (मानुषीषु) म० ८ । मनुष्यसम्बन्धिनीषु (दिक्षु) दिशासु (देहि) प्रयच्छ (नु) अवश्यम् (मे) मह्यम् (यत्) दानम् (मे) मह्यम् (अदत्तः) नास्ति दत्तं दानं यस्य सः । अदत्तवान् (असि) (युज्यः) युज-क्यप् । योज्यः । अनुरूपः (मे) मम (सप्तपदः) षप समवाये-क्त । सप्तं समवेतं प्राप्तं पदं स्थानं येन सः । प्राप्ताधिकारः । सुहृदः (सखा) मित्रम् (असि) भवसि ॥

समा नौ बन्धुर्वरुण समा जा वेदाहं तद्यन्नावेषा समा जा। ददामि तद्यत् ते अदत्तो अस्मि युज्यस्ते सप्तपदः सखास्मि ॥ १० ॥

समा। नौ। बन्धुः। वरुण। समा। जा। वेद। अहम्। तत्। यत्। नौ। एषा। समा। जा। ददामि। तत्। यत्। ते। अदत्तः। अस्मि। युज्यः। ते। सप्त-पदः। सखा। अस्मि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे श्रेष्ठ पुरुष ! (नौ) हम दोनों की (बन्धुः) बन्धुता (समा) एक ही है और (जा) जाति भी (समा) एक ही है। (अहम्) मैं (तत्) वह (वेद) जानता हूं (यत्) जिससे (नौ) हम दोनों की (एषा) यह (जा) उत्पत्ति (समा) एक है। (तत्) वह (ददामि) देता हूं (यत्) जो (ते) तुझे (अदत्तः) बिना दिये हुये [अस्मि] हूं। (ते) तेरा (युज्यः) योग्य (सप्तपदः) अधिकार पाये हुए (सखा) सखा (अस्मि) हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सब मनुष्यों और प्राणियों का अपने समान जान कर प्रीति पूर्वक उनका हित करें ॥ १० ॥

देवो देवाय गृणते वयोधा विप्रो विप्राय स्तुवते सुमेधाः। अजीजनो हि वरुण स्वधावन्नथर्वाणं पितरं देवबन्धुम्। तस्मा उ राधः कृणुहि सुप्रशस्तं सखा नो असि परमं च बन्धुः ॥ ११ ॥

१०—(समा) समाना (नौ) आवयोः (बन्धुः) बन्धुता। स्नेहः (वरुण) हे श्रेष्ठपुरुष (समा) (जा) जनी-ड. टाप्। जातिः। जन्म (वेद) वेद्मि (अहम्) उपासकः (तत्) (यत्) येन (नौ) आवयोः (एषा) (समा) (जा) उत्पत्तिः (ददामि) प्रयच्छामि (तत्) ज्ञानम् (यत्) (ते) तुभ्यम् (अदत्तः) अदत्तवान् (अस्मि) (युज्यः) योग्यः (सप्तपदः) म० ६। प्राप्ताधिकारः (सखा) सुहृत् (अस्मि) ॥

दे॒वः । दे॒वाय॑ । गृ॒ण॒ते । व॒यः॒-धा । विप्रः॑ । विप्रा॑य । स्तु॒व॒ते । सु॒-मे॒धाः । अजी॑जनः । हि । व॒रु॒ण॒ । स्व॒धा॒-व॒न् । अथ॑र्वाणम् । पि॒तर॑म् । दे॒व-ब॑न्धु॒म् । तस्मै॑ । ऊं॒ इति॑ । राधः॑ । कृ॒णु॒हि॒ । सु॒-प्र॒श॒स्तम् । सखा॑ । नः॒ । अ॒सि॒ । प॒र॒मम् । च॒ । बन्धुः॑ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(स्वधावन्) हे आत्म धारण वाले, स्वाधीन (वरुण) श्रेष्ठ ! तू (गृणते) तेरी स्तुति करने वाले (देवाय) विद्वान् पुरुष को (वयोधाः) बल वा अन्न धारण करने वाला (देवः) तू देव है । और (स्तुवते) तेरी स्तुति करने वाले (विप्राय) पंडित के लिये (सुमेधाः) उत्तम बुद्धिवाला (विप्रः) पंडित है । तूने (हि) ही (पितरम्) हमारे पालन कर्ता (देवबन्धुम्) विद्वानों के बन्धु (अथर्वाणम्) निश्चल स्वभाव पुरुष को (अजीजनः) उत्पन्न किया है । (तस्मै) उसके लिये (उ) ही (सुप्रशस्तम्) अति उत्तम (राधः) धन (कृणुहि) कर, तू (नः) हमारा (सखा) सखा (च) और (परमम्) अतिशय करके (बन्धुः) बन्धु (असि) है ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान जन विद्वान् जन का सदा सत्कार करें, इस लिये कि विद्वानों से विद्वान् उत्पन्न होकर जगत् का उपकार करते हैं ॥ ११ ॥

११—(देवः) प्रकाशमानः (देवाय) विदुषे (गृणते) त्वां स्तुवते (वयोधाः) बलस्य अन्नस्य वा दाता (विप्रः) मेधावी (विप्राय) मेधाविने (स्तुवते) त्वां प्रशंसते पुरुषाय (सुमेधाः) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः । पा० ५ । ४ । १२२ । इति सु+मेधा-असिच् । सुबुद्धियुक्तः (अजीजनः) त्वमुत्पादितवानसि (हि) निश्चयेन (वरुण) हे वरणीय पुरुष (स्वधावन्) म० ४ । हे आत्मधारणयुक्त (अथर्वाणम्) म० २ । निश्चलस्वभावम् (पितरम्) पालकं पितृवन्मान्यम् (देवबन्धुम्) विदुषां हितम् (तस्मै) अथर्वणे (उ) अवश्यम् (राधः) धनम् (कृणुहि) कुरु । देहि (सुप्रशस्तम्) अतिशयेन श्रेष्ठम् (सखा) मित्रम् (नः) अस्माकम् (असि) भवसि (परमम्) अतिशयेन (च) अवधारणे (बन्धुः) हितकरः ॥

सूक्तम् ॥ १२ ॥

१-११ ॥ १, २, ९, १० विद्वान्, ३, ११, अग्निः, ४ बर्हिः, ५, प्रजाः, ६, उषासनक्ता, ७ दैव्या होतारा, ८ भारतीडा सरस्वत्योदेवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्योन्नत्युपदेशः-मनुष्य के उन्नति का उपदेश।

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान् यजसि जातवेदः। आ च वह मित्रमहश्चिकित्वान् त्वं दूतः कविरसि प्रचेताः ॥ १ ॥

सम्-इद्धः। अद्य। मनुषः। दुरोणे। देवः। देवान्। यजसि। जात-वेदः। आ। च। वह। मित्र-महः। चिकित्वान्। त्वम्। दूतः। कविः। असि। प्र-चेताः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बहुत ज्ञान वा धन वाले पुरुष ! (समिद्धः) प्रकाश युक्त (देवः) दाता तू (अद्य) इस समय (मनुषः) मनुष्य के (दुरोणे) घर में (देवान) दिव्य गुणों से (यजसि) संगति रखता है। (मित्रमहः) हे मित्रों के सत्कार करने हारे ! [उन दिव्य गुणों को] (च) निश्चय करके (आवह) तू ला। (त्वम्) तू (चिकित्वान्) विज्ञानवान्, (दूतः) गमनशील

१—(समिद्धः) सम्यक् प्रकाशितः (अद्य) इदानीम् (मनुषः) जनेरुसिः। उ० २। ११५। इति मन ज्ञाने-उसि। मननशीलस्य मनुष्यस्य (दुरोणे) अ० ५। २६। दुस्तर्प्ये गृहे (देवः) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा—निरु० । ७। १५। दाता (देवान्) दिव्यगुणान् (यजसि) संगच्छसे (जातवेदः) अ० १। ७। २। हे बहुप्रज्ञान। बहुधन (च) अवधारणे (आ वह) आनय (मित्रमहः) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति मह पूजायाम्-असुन्। हे मित्राणां पूजक (चिकित्वान्) कित ज्ञाने-क्वसु। प्रज्ञावान् (त्वम्) (दूतः) अ० १।

वा दुष्टतापक, (कविः) बुद्धिमान् और (प्रचेताः) उत्तम चेतना वाला (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी धार्मिक विद्वान् मनुष्य अपने कुल में प्रकाशित होकर संसार का उपकार करे ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है-म० १० सू० ११० और यजुर्वेद में भी है-अ० २९ म० २५, २६, २८-३६। ऋषि जमदग्नि हैं। देवता प्रायः दयानन्दकृत यजुर्वेदभाष्य के अनुसार हमने माने हैं। मन्त्र १—१० निरुक्त में भी व्याख्यात हैं-अ० ८ ख० ५, ६, ८—१४, १७ ॥

तनू॑नपात् पथ ऋतस्य॒ याना॒न् मध्वा॑ सम॒ञ्जन्त्स्व॑दया सुजिह्व। मन्मा॑नि धीभिरु॒त य॒ज्ञमृ॒न्धन् दे॑व॒त्रा च॑ कृणु-ह्यध्व॒रं नः॑ ॥ २ ॥

तनू॑-नपात्। प॒थः। ऋ॒तस्य॑। याना॑न्। मध्वा॑। स॒म्-अ॒ञ्जन्। स्व॒द॒य। सु॒-जि॒ह्व॒। मन्मा॑नि। धी॒भिः। उ॒त। य॒ज्ञम्। ऋ॒न्धन्। दे॒व॒-त्रा। च॒। कृ॒णु॒हि॒। अ॒ध्व॒रम्। नः॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तनूनपात्) हे विस्तृत पदार्थों के न गिराने वाले, (सुजिह्व) हे बड़े जयशील वा मधुरभाषी विद्वान्! (ऋतस्य) सत्य के (यानान्) चलने योग्य (पथः) मार्गों को (मध्वा) ज्ञान से (समञ्जन्) प्रकट करता हुआ

७। ६। गमनशीलः। दुष्टसंतापकः (प्रचेताः) प्रकृष्टं चेतः संज्ञानं यस्य सः ॥

२—(तनूनपात्) नभ्राणनपान्नवेदा०। प० ६। ३। ७५। इति न+पत्लृ अधः पतने, णिच्—क्विप्। नञः प्रकृतिभावश्च। हे तनूनां विस्तृतानां पदार्थानां न पातयितः। तनूनपात् पदनाम—निघ० ५। २। इदं पदं बहुधा व्याख्यातम्—निरु० ८। ५। (पथः) मार्गान् (ऋतस्य) सत्यस्य (यानान्) करणाधिकरणयोश्च। पा० ३। ३। ११७। इति या प्रापणे—ल्युट्। यातव्यान् (मध्वा) मन ज्ञाने-उ नस्य धः। ज्ञानेन (समञ्जन्) सम्यक् प्रकटीकुर्वन् (स्वदय) आस्वादय (सुजिह्व) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १। १५४। इति जि जये —वन् हुक् च। हे अतिशयेन जयशील मधुरभाषिन् वा (मन्मानि) सर्वथा-

(स्वादय) स्वाद ले। (धीभिः) कर्मों के साथ (मन्मानि) ज्ञानों (उत) और (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (ऋन्धन्) सिद्ध करता हुआ तू (देवत्रा) विद्वानों के बीच (नः) हमारे लिये (अध्वरम्) सन्मार्ग देने वाला वा हिंसा रहित व्यवहार को (च) अवश्य (कृणुहि) कर २॥

भावार्थ—आप्त विद्वान् पुरुष ज्ञान काण्ड और कर्म काण्ड में निपुण हो कर संसार का उपकार करते हैं ॥ २ ॥

आजुह्वा॑न॒ ईड्यो॒ वन्द्य॒श्चा या॑ह्यग्ने॒ वसु॑भिः स॒जोषाः॑।
त्वं दे॒वाना॑मसि यह्व होता॒ स ए॑नान् यक्षीषि॒तो यजी॑यान्॥३

आ॒-जुह्वा॑नः। ईड्यः॑। वन्द्यः॑। च॒। आ। या॒हि॒। अ॒ग्ने॒। वसु॑-भिः। स॒-जोषाः॑। त्वम्। दे॒वाना॑म्। अ॒सि॒। य॒ह्व॒। होता॑। सः। ए॒नान्। य॒क्षि॒। इ॒षि॒तः। यजी॑यान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि समान तेजस्वी विद्वान् ! (आजुह्वानः) ललकारने वाला, (ईड्यः) स्तुतियोग्य (च) और (वन्द्यः) वन्दना योग्य तू (वसुभिः) निवास के हेतु श्रेष्ठों के साथ (सजोषाः) समान प्रीति निवाहने वाला हो कर (आयाहि) आ। (यह्व) हे पूजनीय ! (त्वम्) तू (देवानाम्)

तुभ्यो मनिन्। उ० । ४ । १४५। मनु ज्ञाने-मनिन्। ज्ञानानि (धीभिः) कर्मभिः—निघ० । २ । १। (उत) अपि च (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (ऋन्धन्) संसाधयन् (देवत्रा) विद्वत्सु (च) अवश्यम् (कृणुहि) कुरु (अध्वरम्) म० १ । ४ । १ । सन्मार्गदातारम् हिंसारहितं वा व्यवहारम् (नः) अस्मभ्यम् ॥

३—(आजुह्वानः) ह्वयतेः शपः श्लुः—शानच्। ह्वः सम्प्रसारणम्। पा० ६ । १ । ३२। इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणम्। समन्तात् स्पर्धमानः (ईड्यः) स्तुत्यः (वन्द्यः) नमस्कार्यः (च) (आ याहि) आगच्छ (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् विद्वान् (वसुभिः) निवासहेतुभिः श्रेष्ठैः पुरुषैः (सजोषाः) म० ३ । २२ । १। समानप्रीतिः (त्वम्) विद्वान् (देवानाम्) (असि) (यह्व) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १ । १५४ । इति यजतेर्वन्, जस्य हः । हे पूजनीय महन्—निघ० । ३ । ३ । (होता) दाता (सः) स त्वम् (एनान्) दिव्यगुणान् (यक्षि) शपोलुकि लोटि छान्दसं रूपम्। यज। देहि (इषितः) इष्टः। प्रियः

दिव्य गुणों का (होता) दाता (असि) है। (सः) सो तू (इषितः) इष्ट और (यजीयान्) अत्यन्त दाता हो कर (एनान्) इन [उत्तम गुणों] का (यक्षि) दानकर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों में प्रशंसनीय हो कर संसार में सर्व हित-कारी होवे ॥ ३ ॥

प्राचीनं बर्हिः प्रदिशा पृथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते अग्रे अह्नाम्। व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम् ॥ ४ ॥

प्राचीनम्। बर्हिः। प्र-दिशा। पृथिव्याः। वस्तोः। अस्याः। वृज्यते। अग्रे। अह्नाम्। वि। ऊं इति। प्रथते। वि-तरम्। वरीयः। देवेभ्यः। अदितये। स्योनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अह्नाम्) दिनों के (अग्रे) पहिले [वर्तमान] (प्राचीनम्) प्राचीन (बर्हिः) प्रवृद्ध ब्रह्म (प्रदिशा) अपने निर्देश वा शासन से (अस्याः) इस (पृथिव्याः) पृथिवी के (वस्तोः) ढक लेने के लिये (वृज्यते) छोड़ा जाता है [वर्तमान रहता है]। (वितरम्) विशेष कर तारने वाला, (देवेभ्यः) प्रकाशमान सूर्य आदि लोकों से (वरीयः) अधिक विस्तार वाला, (स्योनम्)

(यजीयान्) यष्टृ—ईयसुन्। तुरिष्ठेमेयःसु। पा० ६। ४। १५४। इति तृचो-लोपः। अधिकतरो यष्टा दाता संगन्ता वा ॥

४—(प्राचीनम्) प्राक्तनम् (बर्हिः) प्रवृद्धं ब्रह्म (प्रदिशा) निर्देशेन। शासनेन (पृथिव्याः) भूमेः (वस्तोः) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ। पा० ३। ४। ११३। इति वस अच्छादने—तोसुन्। वसितुम्। आच्छादनं कर्तुम् (वृज्यते) त्यज्यते स्वातन्त्र्येण विचरतीत्यर्थः (अग्रे) पूर्ववर्तमानम् (अह्नाम्) दिनानां कालवि-भागानाम् (वि) विशेषेण (उ) एव (प्रथते) विस्तीर्यते (वितरम्) विशेषेण संतारकम् (वरीयः) अ० १। २। २। उरुतरम्। विस्तीर्णतरम् (देवेभ्यः) प्रकाशमानेभ्यः सूर्यादि लोकेभ्यः सकाशात् (अदितये) अ० २। २८। ४।

सुखदायक ब्रह्म (अदितये) अखण्ड मोक्ष सुख [देने] के लिये (वि ड) विशेष करके ही (प्रथते) फैलता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म अपनी अनन्त सामर्थ्य से पृथिवी और सूर्य आदि लोकों को परस्पर आकर्षण में रखता और पुरुषार्थी विद्वानों को मुक्ति देता है ॥ ४ ॥

व्यचस्वतीरुर्विया वि श्रयन्तां पतिभ्यो न जनयः शुम्भमानाः । देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्वा देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः ॥ ५ ॥

व्यचस्वतीः । उर्विया । वि । श्रयन्ताम् । पति-भ्यः । न । जनयः । शुम्भमानाः । देवीः । द्वारः । बृहतीः । विश्वम्-इन्वाः । देवेभ्यः । भवत । सु-प्रायनाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(व्यचस्वतीः) व्याप्ति वाली प्रजायें (उर्व्या) विस्तीर्ण कर्म को (वि) विशेष करके (श्रयन्ताम्) सेवन करें, (न) जैसे (शुम्भमानाः) शोभायमान (जनयः) स्त्रियां (पतिभ्यः) अपने पतियों के लिये । (देवीः) प्रकाशमान (बृहतीः) बड़ी (विश्वमिन्वाः) सब व्यवहार में व्याप्ति रखने वाली प्रजाओं तुम (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (सुप्रायणाः) बड़े उत्तम घर वाले (द्वारः) द्वारों के समान (भवत) हो जावो ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे गुणवती स्त्रियां अपने २ पतियों का हित करती रहती हैं, और जैसे अच्छे घर वाले द्वारों से आना जाना सुगम होता है, इसी प्रकार सब स्त्री पुरुष उत्तम गुण ग्रहण करें और संसार में फैलावें ॥ ५ ॥

अखण्डनीयायै मुक्तये शान्तये (स्योनम्) अ० १ । ३३ । १ । सुखकरम् ॥

५—(व्यचस्वतीः) वि + अञ्चु गतौ–असुन् । व्यञ्चनवत्यः प्रजाः (उर्व्या) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेरियाच् । उरु विस्तीर्णं कर्म (वि) विशेषेण (श्रयन्ताम्) सेवन्ताम् (पतिभ्यः) स्वस्वामिभ्यः (न) इव (जनयः) जायाः । स्त्रियः (शुम्भमानाः) शोभायमानाः (देवीः) देव्यः । देदीप्यमानाः (द्वारः) दृ आच्छादने—विच् । गृहादिगमननिर्गमनस्थानानि (बृहतीः) महत्यः । (विश्वमिन्वाः) इवि व्याप्तौ—पचाद्यच्, वा खल् । सर्वव्यवहारव्यापिन्यः (देवेभ्यः) दिव्यगुणेभ्यः (भवत) (सुप्रायणाः) सुष्ठु प्रकृष्टमयनं गृहं यासु ता द्वारः ॥

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्मे अधि श्रियं शुक्रपिशं दधाने

आ। सुस्वयन्ती इति। यजते इति। उपाके इति। उषासा-नक्ता। सदताम्। नि। योनौ। दिव्ये इति। योषणे इति। बृहती इति। सुरुक्मे इति सु-रुक्मे। अधि। श्रियम्। शुक्र-पिशम्। दधाने इति॥ ६॥

भाषार्थ—(सुष्वयन्ती=सुसुअयन्त्यौ) अति सुन्दरता से चलती हुयी, (यजते) संगति योग्य, (उपाके) पास पास रहने वाली, (दिव्ये) दिव्य गुण वाली, (योषणे) सेवा योग्य, (बृहती) वृद्धि करने वाली, (सुरुक्मे) सुन्दर शोभा वाली, (शुक्रपिशम्) शुद्ध रूप युक्त (श्रियम्) सेवनीय श्री को (अधि) अधिक (दधाने) धारण करने वाली (उषासानक्ता) रात और प्रभात वेलायें [दिन और रात] (योनौ) हमारे घर में (नि) नित्य (आ सदताम्) आवें॥६॥

भावार्थ—मनुष्य रात दिन पुरुषार्थ करके विद्यारूपी और धनरूपी लक्ष्मी को अपने घरों में बढ़ावें॥ ६॥

६—(सुष्वयन्ती) सु+सु+अय गतौ—शतृ, ङीप्। अत्यन्तं सुष्ठु अयन्त्यौ। आसुष्वयन्ती''' सेष्मीयमाणे इति वा सुष्वापयन्त्याविति वा-निरु० ८। ११। (यजते) यज—अतच्। यष्टव्ये। संगतव्ये (उपाके) उप+अक गतौ-पचाद्यच्। सन्निहिते—अन्तिकनाम-निघ० २। १६। (उषासानक्ता) उषः किच्च। उ० ४। २३४। इति उष दाहे-असि, यद्वा उच्छी विवासे वा वश कान्तौ-असि। उषाः कस्मादुच्छतीति सत्या रात्रेरपरः कालः-निरु०। २। १८। नज व्रीडायाम्-क्तः। नक्तं रात्रिः। उषाश्च नक्तं च द्वन्द्वे। उषासोषसः। पा० ६। ३। ३१। इति उषासादेशः। द्विवचनस्याकारः। अहोरात्रे (आसदताम्) आ सीदताम्। आगच्छताम् (नि) नित्यम् (योनौ) गृहे—निघ०। ३। ४। (दिव्ये) दिव्य-स्वरूपे (योषणे) युष सेवने-ल्यु। सेव्ये (बृहती) महत्यौ (सुरुक्मे) सुरोचने (अधि) अधिकम् (श्रियम्) शोभां लक्ष्मीं वा (शुक्रपिशम्) पिश अवयवे-क्विप्। शुक्रपिशम्''' शुक्रपेशसम्''' शुक्रं शोचतेर्ज्वलतिकर्मणः। पेश इति रूपनाम पिंशतेर्विपिशितं भवति-निरु०। ८। ११। शुद्धरूपयुक्ताम् (दधाने) धारयन्त्यौ॥

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै । प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदिशा दिशन्ता ॥ ७ ॥

दैव्या । होतारा । प्रथमा । सु-वाचा । मिमाना । यज्ञम् । मनुषः । यजध्यै । प्र-चोदयन्ता । विदथेषु । कारू इति । प्राचीनम् । ज्योतिः । प्र-दिशा । दिशन्ता ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्रथमा) प्रख्यात, (सुवाचा) सुन्दर वाणी वाले, (दैव्या) दिव्य गुण वाले, (होतारा) दोनों दाता [अग्नि और वायु] (मनुषः) मनुष्य के (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (यजध्यै) पूरा करने के लिये (मिमाना) निर्माण करते हुये (विदथेषु) विज्ञानों में (प्रचोदयन्ता) प्रेरणा करते हुये, (कारू) दो शिल्पी रूप, (प्राचीनम्) प्राचीन (ज्योतिः) ज्योति (प्रदिशा) अपने अनुशासन से (दिशन्ता) देते हुये [आवें-म० ६] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि और वायु से उपकार लेकर स्वस्थ रहकर अनेक प्रकार के शिल्प आदि सिद्ध करके सुखी रहें ॥ ७ ॥

[दैव्या होतारा दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः] निरु० । ८ । ११ । इस वचन के अनुसार (होतारा) का अर्थ अग्नि और वायु लिया गयाहै ॥

आ नो यज्ञं भारती तूयमेत्विडा मनुष्वदिह चेतयन्ती । तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं स्योनं सरस्वतीः स्वपसः सदन्ताम् ॥ ८ ॥

७—(दैव्या) देव-यञ् । दिव्यगुणवन्तौ (होतारा) दैव्यौ होतारावयं चाग्निरसौ च मध्यमः—निरु० । ८ । ११ । दातारौ । अग्निवायू (प्रथमा) प्रख्यातौ (सुवाचा) सुवाचौ । सुवाण्या हेतू (मिमाना) विदधतौ (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (मनुषः) म० १ । मनुष्यस्य (यजध्यै) तुमर्थे सेसेनसे पा० ३ । ४ । ६ । इति यज-शध्यैन् । सुप्टम् । यागसिद्धये (प्रचोदयन्ता) प्रेरयन्तौ (विदथेषु) विज्ञानेषु (कारू) कृवापा० । उ० १ । १ । इति करोतेः-उण् । शिल्पिनौ यथा (प्राचीनम्) प्राक्तनम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (प्रदिशा) प्रदेशेनानुशासनेन (दिशन्ता) प्रददतौ [आ सदताम्] इति पूर्वेणान्वयः ॥

आ। नः। यज्ञम्। भारती। तूयम्। एतु। इळा। मनुष्वत्। इह। चेतयन्ती। तिस्रः। देवीः। बर्हिः। आ। इदम् स्योनम्। सरस्वतीः। सु-अपसः। सदन्ताम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(चेतयन्ती) चेताने वाली (भारती) पोषण करने वाली विद्या (नः) हमारे (यज्ञम्) पूजनीय, (मनुष्वत्) मनुष्यों से युक्त (तूयम्) वृद्धि करने वाले कर्म में (इह) यहां पर (आ एतु) आवे, (इडा) स्तुति योग्य नीति, और (सरस्वतीः=सरस्वती) विज्ञान वाली बुद्धि [भी आवे]। (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवियां (इदम) इस (स्योनम्) सुखकारी (बर्हिः) बढ़े हुये काम में (स्वपसः) उत्तम कर्मों वाले पुरुषों को (आ सदन्ताम्) आकर प्राप्त होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम विद्या, उत्तम नीति और उत्तम बुद्धि प्राप्त करके परस्पर उन्नति करें ॥ ८ ॥

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैरपिंशद् भुवनानि

८—(नः) अस्माकम् (यज्ञम्) पूजनीयम् (भारती) भृमृदृशि० । उ० । ३ । ११० । इति डुभृञ् धारणपोषणयोः—अतच् । प्रज्ञादिभ्यश्च । पा० ५ । ४ । ३८ । इति स्वार्थे अण्, ङीप् । भारती वाङ् नाम-निघ० ।१। ११ । भारती...भरत आदित्यस्तस्य भाः—निरु० । ८ । १३ । पोषयित्री विद्या (तूयम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति तु वृद्धौ—यक् । तविषीति बलनाम तवतेर्वृद्धिकर्मणः— निरु० । ६ । २५ । वृद्धिकरं कर्म (आ एतु) आगच्छतु (इडा) अ० ३ । १० । ६ । इगुपधज्ञा० । पा० ३ । १ । १३५ । इति इल क्षेपणे, यद्वा. ईड स्तुतौ, यद्वा, ञि इन्धी दीप्तौ—क । ईड ईट्टेः स्तुतिकर्मण इन्धतेर्वा—निरु० । ८ । ७ । इडा वाङ् नाम-निघ० । १ । ११ । स्तुत्या नीतिः । (मनुष्वतु) मनुष्—मतुप् । मनुष्ययुक्तम् (इह) अस्मिन् कर्मणि (चेतयन्ती) प्रज्ञापयन्ती (तिस्रः) (देवीः) दीप्यमानाः (बर्हिः) प्रवृद्धकर्म (इदम्) (स्योनम्) सुखम् (सरस्वतीः) बहुवचनं छान्दसम् । ऋग्यजुर्वेदनिरुक्तेषु [सरस्वती] इति पाठो दृश्यते । वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । विज्ञानवती प्रज्ञा (स्वपसः) अपः कर्म नाम-निघ० । २ । १ । शुभकर्मणः पुरुषान् (आसदन्ताम्) आसीदन्ताम् । आगच्छन्तु ॥

विश्वा। तमुद्य हीतरिषितो यजीयान् देवं त्वष्टारमिह यक्षि विद्वान् ॥ ९ ॥

यः । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । जनित्री इति । रूपैः । अपिंशत् । भुवनानि । विश्वा । तम् । अद्य । होतः । इषितः । यजीयान् । देवम् । त्वष्टारम् । इह । यक्षि । विद्वान् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (इमे) इन दोनों (जनित्री) उत्पन्न करने वाली (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को और (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (रूपैः) अनेक रूपों से (अपिंशत्) अवयव वाला बनाया है। (होतः) हे दानशील पुरुष ! (यजीयान्) अधिक संगति करने वाला, (इषितः) प्रेरणा किया गया (विद्वान्) विद्वान् तू (अद्य) आज (इह) यहां पर (तम्) उस (देवम्) प्रकाशमय (त्वष्टारम्) विश्वकर्मा को (यक्षि) पूज ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगत्पालक परमात्मा की अनेक रचनाओं को विचार कर अपनी उपकार शक्ति बढ़ावें ॥ ९ ॥

उपावसृज त्मन्या समुञ्जन् देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि । वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन ॥ १० ॥

उप-अवसृज । त्मन्या । सम्-अञ्जन् । देवानाम् । पाथः ।

९—(यः) त्वष्टा (इमे) प्रत्यक्षे (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (जनित्री) जनयित्र्यौ (रूपैः) नानाकारैः (अपिंशत्) पिश अवयवे-लङ् । अवयवैः सृष्टवान् (भुवनानि) लोकान् (विश्वा) सर्वाणि (तम्) (अद्य) अस्मिन्दिने (होतः) हे दानशील ! (इषितः) प्रेरितः (यजीयान्) म० ३ । अतिशयेन संगन्ता (देवम्) प्रकाशमानम् (त्वष्टारम्) अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे—तृन् । विश्वकर्माणं परमेश्वरम् (इह) अस्मिन् संसारे (यक्षि) म० ३ । यज पूजय (विद्वान्) प्राप्तविद्यः ॥

ऋतु-था । हुवींषि । वनुस्पतिः । शुमिता । देवः । अग्निः ।
स्वदन्तु । हुव्यम् । मधुना । घृतेन ॥ १० ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् पुरुष तू] (त्मन्या) आत्म बल से (समञ्जन्) यथावत् प्रकट करता हुआ (देवानाम्) विद्वानों के (पाथः) रक्षा साधन अन्न और (हवींषि) देने लेने योग्य पदार्थों को (ऋतुथा) ऋतु ऋतु में (उप-अव-सृज) आदर पूर्वक दिया कर। (वनस्पतिः) किरनों का स्वामी सूर्य, (शमिता) शान्तिकर्ता (देवः) दान शील मेघ और (अग्निः) अग्नि (हव्यम्) अन्न को (मधुना) मीठे रस वाले (घृतेन) जल के साथ (स्वदन्तु) स्वादु बनावें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्म बल से अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सुपात्रों को सदा दान करें और सूर्य, जल, अग्नि द्वारा पदार्थों को उत्तम बनावें ॥१०॥

सद्यो जातो व्यमिमीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत् पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रशिष्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः ॥ ११ ॥

सद्यः । जातः । वि । अमिमीत । यज्ञम् । अग्निः । देवानाम् ।
अभवत् । पुरः-गाः । अस्य । होतुः । प्र-शिषि । ऋतस्य ।
वाचि । स्वाहा-कृतम् । हविः । अदन्तु । देवाः ॥ ११ ॥

१०—(उपावसृज) सत्कारेण देहि (त्मन्या) आत्मन्–टा इति स्थिते। मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः। पा० ६। ४। १४१। इति टाविभक्तौ, आकारलोपः। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेर्या इत्यादेशः। आत्मना। आत्मबलेन (समञ्जन्) सम्यक् प्रकटयन् (देवानाम्) विदुषाम् (पाथः) अ० २। ३४। २। रक्षासाधनम्। अन्नम् (ऋतुथा) ऋतावृतौ काले काले—निरु०। ८। १७। (हवींषि) देयग्राह्यपदार्थान् (वनस्पतिः) किरणानां पालकः सूर्यः (शमिता) शमु शान्तीकरणे–तृन्। शान्तीकरः। सुखयिता (देवः) दानशीलो मेघः (अग्निः) पावकः (स्वदन्तु) स्वादयन्तु। स्वादु कुर्वन्तु (हव्यम्) अदनीयमन्नम् (मधुना) मधुररसयुक्तेन (घृतेन) उदकेन—निघ०। १। १२ ॥

भाषार्थ—(सद्यः) शीघ्र (जातः) प्रसिद्ध होकर (अग्निः) विद्वान् पुरुष ने (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (वि) विशेष करके (अमिमीत) निर्माण किया, और (देवानाम्) विद्वान् लोगों का (पुरोगाः) अगुआ (अभवत्) हुआ। (अस्य) इस (होतुः) दानशील, (ऋतस्य) सत्यशील पुरुष के (प्रशिषि) अनुशासन और (वाचि) वाणी में (देवाः) विद्वान् लोग (स्वाहाकृतम्) सुन्दर वाणी से सिद्ध किया हुआ (हविः) खाने योग्य अन्न आदि (अदन्तु) खावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य उत्तम कर्म करने से विद्वानों का अग्रगामी होता है और उसीके शासन और वचन में चलकर विद्वान् लोग आनन्द भोगते हैं ॥ ११ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-११ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३, जगती; २, ६, पथ्या पङ्क्तिः; ४, ९, अनुष्टुप्; ५, त्रिष्टुप्; ७, ८ उष्णिक्; १०, ११ गायत्री छन्दः ॥

दोषनिवारणायोपदेशः—दोष निवारण के लिये उपदेश ॥

द॒दिर्हि मह्यं॒ वरु॑णो दि॒वः क॒विर्वचो॑भिरु॒ग्रैर्नि रि॑णामि ते वि॒षम्। खा॒तमखा॑तमु॒त स॒क्तम॑ग्रभ॒मिरे॑व॒ धन्व॒न्नि ज॑जास ते वि॒षम् ॥ १ ॥

द॒दिः। हि। मह्य॑म्। वरु॑णः। दि॒वः। क॒विः। वचः॑-अभिः।

११—(सद्यः) शीघ्रम् (जातः) प्रकटः सन् (वि) विशेषेण (अमिमीत) माङ् माने शब्दे च, जुहोत्यादिः—लङ्। निर्मितवान् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (देवानाम्) विदुषाम् (अभवत्) (पुरोगाः) गमेर्विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। इति मस्याकारः। अग्रगामी (अस्य) विदुषः (होतुः) दातुः (प्रशिषि) प्रशासने (ऋतस्य) सत्यस्वभावस्य (वाचि) वाण्याम् (स्वाहाकृतम्) सुवाण्या निष्पादितम् (हविः) आद्यमन्नम् (अदन्तु) भुञ्जताम् (देवाः) विद्वांसः ॥

उग्रैः। नि। रिणामि। ते। विषम्। खातम्। अखातम्। उत। सक्तम्। अग्रभम्। इरा-इव। धन्वन्। नि। जजास। ते। विषम्॥ १॥

भाषार्थ—(दिवः) व्यवहार की (कविः) बुद्धि वाला (वरुणः) श्रेष्ठ परमेश्वर (हि) ही (मह्यम्) मुझको (ददिः) दाता है। (उग्रैः) प्रचण्ड (वचोभिः) वचनों से [हे सर्प] (ते विषम्) तेरे विष को (नि रिणामि) मिटाये देता हूं। (खातम्) खुदे हुये (अखातम्) बिना खुदे (उत) और (सक्तम्) चिपटे हुये [विष] को (अग्रभम्) मैं ने पकड़ लिया है। (ते विषम्) तेरा विष (धन्वन्) रेतीले देश में (इरा इव) जल के समान (नि जजास) नष्ट हो गया है॥ १॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये हुये ज्ञान से अपने शारीरिक और आत्मिक दोष मिटावें जैसे वैद्य सर्प आदि के विष को नाश करता है॥ १॥

यत् ते अपोदकं विषं तत् त एतास्वग्रभम्। गृह्णामि ते मध्यममुत्तमं रसमुतावमं भियसा नेशदादु ते॥ २॥

यत्। ते। अप-उदकम्। विषम्। तत्। ते। एतासु। अग्रभम्। गृह्णामि। ते। मध्यमम्। उत्-तमम्। रसम्। उत। अवमम्। भियसा। नेशत्। आत्। ऊं इति। ते॥ २॥

१—(ददिः) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति दद दाने-इन्। दाता (हि) अवश्यम् (मह्यम्) मदर्थम् (वरुणः) वरणीयः परमेश्वरः (दिवः) व्यवहारस्य (कविः) मेधावी (वचोभिः) वेदवचनैः (उग्रैः) प्रचण्डैः (नि) नितराम् (रिणामि) री गतिरेषणयोः। नाशयामि (ते) त्वदीयम् (विषम्) आरोग्यनाशकं द्रव्यम् (खातम्) खनु-क्त। विदारितम् (अखातम्) अविदारितम् (उत) अपि (सक्तम्) षञ्ज सङ्गे-क्त। अभिनिविष्टम् (अग्रभम्) अहं गृहीतवान् (इरा) इण् गतौ-रक्। जलम् (इव) यथा (धन्वन्) कनिन् युवृषितक्षि०। उ० १। १५६। इति धन्व गतौ-कनिन्। धन्वनि। मरुदेशे (नि) (जजास) जसु हिंसायां ताडने च। नाशं प्राप (ते) (विषम्)॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (ते) तेरा (अपोदकम्) जल [रुधिर] का सुखाने वाला (विषम्) विष है, (ते) तेरे (तत्) उसको (एतासु) इन [नाड़ियों] के भीतर (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है। (ते) तेरे (मध्यमम्) मध्य के, (उत्तमम्) ऊपर के (उत) और (अवमम्) नीचे के (रसम्) रस को (गृह्णामि) मैं पकड़ता हूं। (आत्) और (ते) वह तेरा (उ) निश्चय करके (भियसा) भय से (नेशत्) नष्ट हो जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विषरूपी आत्म-दोषों को सर्वथा नष्ट करे ॥ २ ॥

वृषा मे रवो नभसा न तन्यतुरुग्रेण ते वचसा बाध आदु ते। अहं तमस्य नृभिरग्रभं रसं तमस इव ज्योतिरुदेतु सूर्यः ॥ ३ ॥

वृषा। मे। रवः। नभसा। न। तन्यतुः। उग्रेण। ते। वचसा। बाधे। आत्। ऊं इति। ते। अहम्। तम्। अस्य। नृभिः। अग्रभम्। रसम्। तमसः-इव। ज्योतिः। उत्। एतु। सूर्यः ॥३॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (रवः) शब्द (नभसा) मेघ के साथ (तन्यतुः न) गर्जन के समान (वृषा) शक्ति वाला है। (आत् उ) और भी (वचसा) अपने वचन से (ते) तेरे, (ते) तेरे [रस को] (बाधे) हटाता हूं। (अहम्)

२—(यत्) यत् किञ्चित् (ते) तव (अपोदकम्) अपगतजलम् (विषम्) (तत्) (ते) तव (एतासु) नाडीषु वर्तमानम् (अग्रभम्) अहं गृहीतवान् (गृह्णामि) आददे (ते) तव (मध्यमम्) मध्यदेशे भवम् (उत्तमम्) उपरिदेशे भवम् (रसम्) विषप्रभावम् (उत) अपि च (अवमम्) अवद्यावमा० । उ० ५ । ५४ । इति अव रक्षणादौ-अम । अधमम् (भियसा) भूरिञ्जिभ्यां कित्। उ० ४ । २१७ । ञि भी-असुन् । भयेन (नेशत्) नश्येत् (आत्) अनन्तरम् (उ) अवश्यम् (ते) तव रसः ॥

३—(वृषा) अ० १ । १२ । १ । वृषु ऐश्वर्ये-कनिन् । ऐश्वर्यवान् (मे) मम (रवः) शब्दः (नभसा) मेघेन (न) इव (तन्यतुः) ऋतन्यञ्जि० । उ० ४ ।

मैंने (नृभिः) मनुष्यों के साथ (अस्य) इसके (तम् रसम्) उस रस को (तमसः) अन्धकार से (ज्योतिः इव) ज्योति के समान (अग्रभम्) मैंने पकड़ लिया है। [अब] (सूर्यः) सूर्य (उदेतु) उदय होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मबल बढ़ाकर विषरूपी अज्ञान का नाश करके विद्यारूपी सूर्य का प्रकाश करें ॥ ३ ॥

चक्षु॑षा ते॒ चक्षु॑र्हन्मि वि॒षेण॑ हन्मि ते वि॒षम् ।
अहे॒ म्रिय॑स्व॒ मा जी॑वीः प्र॒त्यग॒भ्ये॑तु त्वा वि॒षम् ॥४॥

चक्षु॑षा । ते॒ । चक्षुः॑ । ह॒न्मि॒ । वि॒षेण॑ । ह॒न्मि॒ । ते॒ । वि॒षम् । अहे॑ । म्रिय॑स्व । मा । जी॒वीः॒ । प्र॒त्यक् । अ॒भि । ए॒तु॒ । त्वा॒ । वि॒षम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(चक्षुषा) इस नेत्र से (ते) तेरे (चक्षुः) नेत्र को (हन्मि) नाश करता हूं। (विषेण) इस विष से (ते) तेरे (विषम्) विष को (हन्मि) नाश करता हूं। (अहे) हे बड़े हनन शील, सर्प (म्रियस्व) तू मरजा, (मा जीवीः) मत जीता रह। (विषम्) विष (त्वा) तुझको (प्रत्यक्) प्रतिकूल गति से (अभि) सब ओर (एतु) प्राप्त हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्परूपी कुव्यवहारों को खोज खोज कर हठ के साथ नाश करें जैसे वैद्य एक विष से दूसरे विष को नाश करता है ॥ ४ ॥

२। इति तनु विस्तारे—यतुच्। मेघनादः। विद्युत् (उग्रेण) तीव्रेण (ते) तव रसम् (वचसा) वचनेन (बाधे) निवारयामि (आत्) अनन्तरम् (उ) अवश्यम् (ते) तव (अहम्) जीवः (तम्) प्रसिद्धम् (अस्य) पुरोवर्तिनः (नृभिः) मनुष्यैः (अग्रभम्) अहं गृहीतवान् (रसम्) प्रभावम् (तमसः) अन्धकारात् (इव) यथा (ज्योतिः) प्रकाशम् (उदेतु) उद्गच्छतु (सूर्यः) रविः ॥

४—(चक्षुषा) अनेन नेत्रेण (ते) तव (चक्षुः) नेत्रम् (हन्मि) नाशयामि (विषेण) (ते) तव (विषम्) (अहे) अ० २।५।५। आङ्+हन् हिंसागत्योः—इण्, डित्। हे आहननशील। सर्प (म्रियस्व) प्राणान् त्यज (मा जीवीः) जीवितो मा भूः (प्रत्यक्) प्रतिकूलगति। प्रतिमुखम् (अभि) अभितः (एतु) प्राप्नोतु (त्वा) त्वाम् (विषम्) ॥

कैरा॑त॒ पृश्न॑ उपतृण्य॒ बभ्र॒ आ मे॑ शृणु॒तासि॑ता॒ अली॑काः।
मा मे॒ सख्यु॑ स्ता॒मान॒मपि॑ ष्ठाताश्राव॒यन्तो॒ नि वि॒षे र॑मध्वम् ॥ ५ ॥

कैरा॑त। पृश्ने॑। उप॑-तृण्य। बभ्रो॒ इति॑। आ। मे॒। शृणु॒त। असि॑ताः। अली॑काः। मा। मे॒। सख्यु॑ः। स्ता॒मान॑म्। अपि॑। स्थात॒। आ-श्राव॒यन्तः। नि। वि॒षे। र॒मध्व॒म् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(कैरात) हे किरात अर्थात् शूकरादि के फिरने के स्थान में रहने वाले ! (पृश्ने) हे चिपटने वाले ! (उपतृण्य) हे वागड़ [घासस्थान] में दबक जाने वाले ! (बभ्रो) हे भूरे रंग वाले ! (असिताः) हे काले वर्ण वाले ! (अलीकाः) हे तुच्छ जीवो ! तुम (मे) मेरी (आ) भले प्रकार (शृणुत) सुनो। (मे) मेरे (सख्युः) मित्र के (स्तामानम्) घर के (अपि=अभि) पास (मा स्थात) मत ठहरो। (आश्रावयन्तः) अच्छे प्रकार सुनते हुये तुम (विषे) इस विष में (नि रमध्वम्) चुपचाप ठहरे रहो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्प समान दुःखदायी कुविचारों को नाश करके सदा शान्तस्वभाव रहें ॥ ५ ॥

५—(कैरात) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः। पा० ३। १। १३५। इति कॄ विक्षेपे—क। किराः शूकरादयोऽतन्ति यत्र। अत—अण्। किरातः शूकरादिगमनदेशः। तत्र जातः। पा० ४। ३। २५। इति किरात—अण्। शूकरादिगमनदेशोत्पन्न, सर्प ! (पृश्ने) स्पृश—नि। हे स्पर्शनशील (उपतृण्य) उपतृण—यत्। उपगततृणदेशे भव (बभ्रो) डुभृञ्—कु। हे पिङ्गलवर्ण (आ) समन्तात् (मे) मम वचनम् (शृणुत) आकर्णयत (असिताः) कृष्णवर्णाः (अलीकाः) अलीकादयश्च। उ० ४। २५। इति अल वारणे—कीकन्। हे निवारणीयाः। हे घृणिता जीवाः (मा) निषेधे (मे) मम (सख्युः) मित्रस्य (स्तामानम्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। इति ष्टै वेष्टने—मनिन्। वेष्टनशीलं गृहम् (अपि स्थात) माङि लुङि अडभावः। अभितिष्ठत प्राप्नुत (आश्रावयन्तः) स्वार्थे णिच्। समन्तात् शृण्वन्तः (विषे) (नि रमध्वम्) निवर्तध्वम्। शान्ता भवत ॥

अ॒सि॒तस्य॑ तैमा॒तस्य॑ ब॒भ्रोरपो॑दकस्य च । सा॒त्रा॒सा॒हस्या॒हं म॒न्योरव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो॒ वि मु॑ञ्चामि॒ रथाँ॑ इव ॥६॥

अ॒सि॒तस्य॑ । तै॒मा॒तस्य॑ । ब॒भ्रोः । अप॑-उदकस्य । च॒ । सा॒त्रा॒-स॒हस्य॑ । अ॒हम् । म॒न्योः । अव॑ । ज्याम्-इ॑व । धन्व॑नः । वि । मु॒ञ्चा॒मि॒ । रथा॑न्-इव ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(असितस्य) काले वर्ण वाले, (तैमातस्य) ओदे स्थान में रहने वाले, (बभ्रोः) भूरे वर्ण वाले, (अपोदकस्य) जल से बाहर रहने वाले, (च) और (सात्रासहस्य) मिलकर रहने वाली प्रजाओं के दबाने वाले [सर्प] के (मन्योः) क्रोध के (रथान् इव) रथों को जैसे, (धन्वनः) धनुष की (ज्याम् इव) डोरी को जैसे (अहम्) मैं (अव) अलग (वि मुञ्चामि) ढीला करता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्प रूप भयंकर दुष्ट स्वभावों को ढीला करदें जैसे चाप की डोरी को ढीला करके रखते हैं ॥ ६ ॥

आ॒लि॒गी च॒ वि॒लि॒गी च॑ पि॒ता च॑ मा॒ता च॑ ।
वि॒द्म वः॑ स॒र्वतो॒ बन्ध्वर॑साः किं क॑रिष्यथ ॥ ७ ॥

आ॒-लि॒गी । च॒ । वि-लि॒गी । च॒ । पि॒ता । च॒ । मा॒ता । च॒ ।

६—(असितस्य) शुक्लविरुद्धस्य कृष्णवर्णस्य (तैमातस्य) तिम क्लेदने—क+अत सातत्यगमने-अण् । इति तिमातः । ततो भवे अण् । तिमाते क्लेदने स्थाने भवस्य सर्पस्य (बभ्रो) पिङ्गलवर्णस्य (अपोदकस्य) अपगत उदकात् अपोदकः, तस्य । अपगतजलस्य (च) (सात्रासहस्य) सत्र सम्बन्धे सन्ततौ च—घञ् । सत्रं यज्ञः, अण, टाप् । षह अभिभवे—पचाद्यच् । सात्राणां सम्बन्धे भवानां सहस्य अभिभावकस्य सर्पस्य (अहम्) (मन्योः) क्रोधस्य (अव) पृथग्भावे (ज्याम्) अ० १ । १ । ३ । ज्या जयतेर्वा जिनातेर्वा—निरु० ९ । १७ । जयशीलां मौर्वीम् (इव) यथा (धन्वनः) चापस्य (विमुञ्चामि) विमोचयामि । शिथिलीकरोमि (रथान् इव) रथान् यथा ॥

विद्म । वः । सर्वतः । बन्धु । अरसाः । किम् । करिष्यथ ॥७

भाषार्थ—(च) और (आलिगी) चारों ओर घूमने वाली (च) और (विलिगी) टेढ़ी टेढ़ी चलने वाली [सांपिनी] (च) और (पिता) उसका पिता [सांप] (च) और (माता) उसकी माता [सांपिनी] तुम सब, (वः) तुम्हारे (बन्धु) बन्धुपन को (सर्वतः) सब प्रकार से (विद्म) हम जानते हैं । (अरसाः) निर्वीर्य तुम (किम्) क्या (करिष्यथ) करोगे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य कुवासनाओं का और उनके कारणों का इस प्रकार नाश करें जैसे सांप और उनके माता पिता आदि का नाश करते हैं ॥ ७ ॥

उरुगूलाया दुहिता जाता दास्यसिक्न्या ।
प्रतङ्कं दद्रुषीणां सर्वासामरसं विषम् ॥ ८ ॥

उरु-गूलायाः । दुहिता । जाता । दासी । असिक्न्या । प्र-तङ्कम् । दद्रुषीणाम् । सर्वासाम् । अरसम् । विषम ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(उरुगूलायाः) बहुत डसने वाली [सांपिनि] की (दुहिता) पुत्री, (असिक्न्या) बस काली [नागिनी] से (जाता) उत्पन्न हुयी (दासी) डसने वाली [सांपिनि] है। (सर्वासाम्) सब (दद्रुषीणाम्) दद्रु अर्थात्

७—(आलिगी) लिगि गतौ—पचाद्यच्, गौरादित्वात् नलोपः, ङीष्, समन्ताद् गमनशीला (च) (विलिगी) पूर्ववत्सिद्धिः । विरुद्धगतिशीला (च) (पिता) जनकः सर्पः (माता) जननी सर्पिणी (च) (विद्म) जानीमः (वः) युष्माकम् (सर्वतः) सर्वप्रकारेण (बन्धु) बन्धुत्वम् (अरसाः) निर्वीर्याः(किम्) तिरस्कारे (करिष्यथ) ॥

८—(उरुगूलायाः) उरु+गूरी हिंसागत्योः–क, टाप् । रस्य लः । बहुहिंसिकायाः सर्पिण्याः (दुहिता) पुत्री (जाता) उत्पन्ना (दासी) दास हिंसायाम्–घञ्, ङीप् । हिंस्रा (असिक्न्या) अ० १ । २३ । १ । असितवर्णया कृष्णया सर्पिण्या (प्रतङ्कम्) प्र+तकि कृच्छ्र जीवने–घञ् । कृच्छ्रजीवनकरम् (दद्रुषीणाम्) मृगय्वादयश्च । उ० । १ । ३७ । इति दरिद्रा दुर्गतौ–कु, रि आ इत्येतयोर्लोपः । यद्वा । कुभ्रश्च । उ० १ । २२ । इति दृ विदारणे–कु ।

दुर्गति वा खुजली देने वाली [सांपिनों] (प्रतक्रम्) जीवन को कष्ट देने वाला (विषम्) विष (अरसम्) निर्बल है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य की ओषधि से सर्प आदि का विष निष्फल होता है, वैसे ही मनुष्य सद्ज्ञान से कुवासनाओं की कुचालें मिटावें ॥ ८ ॥

कुर्णा श्वावित् तदब्रवीद् गिरेरवचरन्तिका । याः काश्चेमाः खनित्रिमास्तासामरसतमं विषम् ॥ ९ ॥

कुर्णा । श्वावित् । तत् । अब्रवीत् । गिरेः । अव-चरन्तिका । याः । काः । च । इमाः । खनित्रिमाः । तासाम् । अरसतमम् । विषम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(गिरेः) पहाड़ के (अवचरन्तिका) नीचे घूमने वाली (कर्णा) कान वाली (श्वावित्) साही (तत्) यह (अब्रवीत्) बोली, (याः काः) जो कोई (च) (इमाः) यह सब (खनित्रिमाः) खनती में रहने वाली [सांपिनी] हैं, (तासाम्) उनका (विषम्) विष (अरसतमम्) अत्यन्त निर्बल होवे ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने हृदय की कुवासनाओं को नष्ट करे, जैसे बनैले जन्तुओं के विष को ॥ ९ ॥

अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति षणु दाने-ड, गौरादित्वात् ङीप् । दद्रूणां दुर्गतीनां विदारणानां वा दात्रीणां सर्पिणीनाम् (सर्वासाम्) सकलानाम् (अरसम्) असमर्थम् (विषम्) हलाहलः ॥

९—(कर्णा) कर्ण-पचाद्यच् । कर्णयुक्ता (श्वावित्) शुना आविध्यते श्वन्+आ-व्यध ताडने-क्विप् । शल्यकी (तत्) (अब्रवीत्) अकथयत् (गिरेः) शैलस्य (अवचरन्तिका) चर—शतृ, ङीप्, स्वार्थे कन्, टाप् । अधोभागे चरणशीला (याः) (काः) (च) पादपूरणे (इमाः) (खनित्रिमाः) दाशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । इति खनु विदारणे-त्रिप्, इडागमः । खनित्रिं मायते । माङ् माने—क । खनित्रौ गर्ते मानशीला निवासशीलाः । सर्पिण्यः (तासाम्) सर्पिणीनाम् (अरसतमम्) अतिशयेन निर्बलम् (विषम्) गरलम् ॥

तुा॒बुवं॒ न ता॒बुवं॒ न घेत् त्वम॑सि ता॒बुवम् ।
ता॒बुवे॑नार॒सं वि॒षम् ॥ १० ॥

ता॒बुव॑म् । न । ता॒बुव॑म् । न । घ॒ । इत् । त्वम् । अ॒सि॒ । ता॒बुव॑म् । ता॒बुवे॑न । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(ताबुवम्) वृद्धि करने वाली वस्तु (ताबुवम्) पीड़ा देने वाली वस्तु (न) नहीं होती, (त्वम्) तू [सर्प] (घ इत्) अवश्य ही (ताबुवम्) दुःखनाशक वस्तु (न) नहीं (असि) है। (ताबुवेन) हमारी वृद्धि करने वाले कर्म से (विषम्) तेरा विष (अरसम्) निर्बल हो जावे॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक अपने दुष्ट भावों को नष्ट करे ॥१०॥

त॒स्तुवं॒ न त॒स्तुवं॒ न घेत् त्वम॑सि त॒स्तुवम् ।
त॒स्तुवे॑नार॒सं वि॒षम् ॥ ११ ॥

त॒स्तुव॑म् । न । त॒स्तुव॑म् । न । घ॒ । इत् । त्वम् । अ॒सि॒ । त॒स्तुव॑म् । त॒स्तुवे॑न । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(तस्तुवं न) निन्दानाशक वस्तु के समान (तस्तुवम्) निन्दाप्रापक (न) नहीं है, (त्वम्) तू (घ इत्) अवश्य ही (तस्तुवम्)

१०—(ताबुवम्) कृवापा० । उ० १ । १ । इति तु गतिवृद्धिहिंसासु-उण्+वा गतिगन्धनयोः—क । वृद्धिप्रापकं वस्तु (न) निषेधे (ताबुवम्) तु हिंसायाम्-उण्+वा गतौ-क । पीडाप्रापकं वस्तु (न) (घ) अवधारणे (इत्) एव (त्वम्) सर्पः (असि) (ताबुवम्) तु हिंसायाम्—उण्+वा गन्धने—क । दुःखनाशकं वस्तु (ताबुवेन) दुःखनाशकेन कर्मणा (अरसम्) निर्बलम् (विषम्) गरलम् ॥

११—(तस्तुवम्) सितनिगमि० । उ० १ । ६९ । इति तसु उपक्षये-तुन् । उपक्षयो निन्दा । वा गन्धने—क । निन्दानाशकं वस्तु (न) इव (तस्तुवम्) तस्तु+वा गतौ—क । निन्दाप्रापकं वस्तु (न) निषेधे (घ इत्) अवश्यमेव

निन्दा प्रापक वस्तु (असि) है। (तस्तुवेन) निन्दानाशक कर्म से (विषम्) तेरा विष (अरसम्) शक्ति हीन होवे ॥११॥

भावार्थ—मनुष्य प्रशंसनीय कर्म करके दुष्ट कर्मों को छोड़ें ॥११॥

सूक्तम् ॥ १४ ॥

१-१३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १-७, ९, १०, १२, १३ अनुष्टुप्; ८ पुर उष्णिक्; ११ वर्धमाना गायत्री ॥

शत्रुविनाशोपदेशः—शत्रु के विनाश का उपदेश ॥

सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा ।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि ॥ १ ॥

सु-पर्णः । त्वा । अनु । अविन्दत् । सूकरः । त्वा । अखनत् । नसा । दिप्स । ओषधे । त्वम् । दिप्सन्तम् । अव । कृत्या-कृतम् । जहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुपर्णः) सुन्दर पंखवाले वा शीघ्रगामी [गरुड़, गिद्ध आदि पक्षी के समान दूरदर्शी पुरुष] ने (त्वा) तुझ को (अनु=अन्विष्य) ढूंढ़ कर (अविन्दत्) पाया है, (सूकरः) सूकर [सुअर पशु के समान तीव्र बुद्धि और बलवान् पुरुष] ने (त्वा) तुझको (नसा) नासिका से (अखनत्) खोदा है। (ओषधे) हे तापनाशक पुरुष (त्वम्) तू (दिप्सन्तम्)

(त्वम् असि) (अरसम्) (विषम्) (तस्तुवम्) निन्दाप्रापकं वस्तु (तस्तुवेन) निन्दानाशकेन कर्मणा ॥

१—अस्य पूर्वार्धो व्याख्यातः—अ० २। २७। २ (सुपर्णः) सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः—निरु० ३। १२। तथा ४। ३। सुपतनः। शीघ्रगामी। गरुडः (त्वा) त्वाम् (अनु) अन्विष्य (अविन्दत्) अलभत (सूकरः) सु+कृ विक्षेपे वा कृञ् विज्ञाने-अप्। वराहः। तद्वत्तीव्रबुद्धिर्बलवान् वा (त्वा) (अखनत्) विदारितवान् (नसा) नासिकया (दिप्स) अ० ४। ३६। १। दम्भितुं हिंसितुमिच्छु (ओषधे) हे तापनाशक पुरुष (त्वम्) (दिप्सन्तम्)

मारने की इच्छा करने वाले को (दिप्स) मारना चाह, और (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी पुरुष को (अव जहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—गिद्ध मोर आदि पक्षी बड़े तीव्रदृष्टि होते हैं, और सूअर एक बलवान् तीव्रबुद्धि पशु अपनी नासिका से खाद्य तृण को भूमि से खोद कर खाजाता है। इसी प्रकार दूरदर्शी पुरुषार्थी बलवान् पुरुष अपने शत्रुओं को खोज कर नाश करता है ॥१॥

अवं जहि यातुधानानवं कृत्याकृतं जहि ।
अथो यो अस्मान् दिप्सति तमु त्वं जह्योषधे ॥ २ ॥

अव । जहि । यातु-धानान् । अव । कृत्या-कृतम् । जहि । अथो इति । यः । अस्मान् । दिप्सति । तम् । ऊं इति । त्वम् । जहि । ओषधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यातुधानान्) पीड़ा देने वालों को (अव जहि) मार डाल, और (कृत्याकृतम्) हिंसा करने वाले को (अव जहि) नाश करदे। (अथो) और भी (यः) जो (अस्मान्) हमें (दिप्सति) मारना चाहता है (तम् उ) उसे भी (त्वम्) तू (ओषधे) हे अन्न आदि ओषधि के समान तापनाशक ! (जहि) नाश कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुभ गुण प्राप्त करके दुर्गुणों का नाश करे जैसे अन्न सेवन से भूख का नाश होता है ॥ २ ॥

रिश्यस्येव परीशासं परिकृत्य परि त्वचः ।
कृत्यां कृत्याकृते देवा निष्कमिव प्रति मुञ्चत ॥ ३ ॥

हिंसितुमिच्छन्तम् (अव) निश्चये। अनादरे (कृत्याकृतम्) अ० ४ । १७ । ४ । हिंसाकारिणम् (जहि) नाशय ॥

२—(अव जहि) विनाशय (यातुधानान्) अ० १ । ७ । १ । यातनाप्रदान् (कृत्याकृतम्) अ० ४ । १७ । ४ । हिंसाकारिणम् (अथो) अपि च (यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (दिप्सति) दम्भितुं हिंसितुमिच्छति (तम् उ) तमपि (त्वम्) (जहि) (ओषधे) हे अन्नवत्तापनाशक मनुष्य ॥

रिश्यस्य-इव । परि-शासम् । परि-कृत्य । परि । त्वचः । कृत्याम् । कृत्या-कृते । देवाः । निष्कम्-इव । प्रति । मुञ्चत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रिश्यस्य) हिंसक के (परिशासम्) हिंसा सामर्थ्य को (इव) अवश्य (त्वचः परि) उसके चर्म वा शरीर से (परिकृत्य) काट डालकर, (देवाः) हे विद्वानो ! (कृत्याकृते) हिंसा करने वाले के लिये (कृत्याम्) हिंसा को (निष्कम् इव) तलछट के समान (प्रति मुञ्चत) फेंक दो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुष्कर्म को मूल सहित निकम्मी वस्तु के समान त्यागें ॥ ३ ॥

पुनः कृत्यां कृत्याकृते हस्तगृह्य परा णय ।
समक्षमस्मा आ धेहि यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ४ ॥

पुनः । कृत्याम् । कृत्या-कृते । हस्त-गृह्य । परा । नय । सम्-अक्षम् । अस्मै । आ । धेहि । यथा । कृत्या-कृतम् । हनत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(कृत्याम्) हिंसा को (कृत्याकृते) हिंसाकारी के लिये (हस्तगृह्य) हाथ में लेकर (पुनः) अवश्य (परा नय) दूर लेजा । (अस्मै) इस पुरुष के लिये (समक्षम्) सामने (आ धेहि) रख दे, (यथा) जिससे [वह पुरुष] (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी को (हनत्) मारे ॥ ४ ॥

३—(रिश्यस्य) रिश हिंसायाम्-श्यप् । हिंसकस्य (इव) अवधारणे (परिशासम्) शसु हिंसायाम्—घञ् । हिंसासामर्थ्यम् (परिकृत्य) कृती छेदने—ल्यप् । परिच्छिद्य (परि) सर्वतः (त्वचः) चर्मणः । शरीरादित्यर्थः (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्याकृते) हिंसाकारिणे (देवाः) हे विद्वांसः (निष्कम्) नौ सदेर्डिच्च । उ० ३ । ४५ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-कन्, स च डित् । निषदनम् । किट्टम् (इव) यथा (प्रति) प्रतिकूलम् (मुञ्चत) त्यजत ॥

४—(पुनः) अवधारणे (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्याकृते) हिंसाकारिणे (हस्तगृह्य) नित्यं हस्तेपाणावुपयमने । पा० १ । ४ । ७७ । इति हस्तस्य गतित्वे सति ल्यप् । हस्ते गृहीत्वा (परा) दूरे (नय) प्रेरय (समक्षम्)

भावार्थ—मनुष्य हिंसा आदि कर्मों को इस प्रकार त्याग दे जैसे उपद्रवी को हाथ पकड़ कर निकाल देते हैं ॥ ४ ॥

कृत्याः॑ सन्तु कृत्याकृते॑ शपथः॑ शपथीयते ।
सुखो रथ॑ इव वर्ततां कृत्या कृ॑त्याकृतं॒ पुनः॑ ॥ ५ ॥

कृत्याः । सन्तु । कृत्या-कृते॑ । शपथः॑ । शपथि-यते । सु-खः ।
रथः॑-इव । वर्तताम् । कृत्या । कृत्या-कृतम् । पुनः॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(कृत्याः) शत्रुनाशक सेनायें (कृत्याकृते) हिंसाकारी के लिये (सन्तु) होवें, और (शपथः) दुर्वचन (शपथीयते) दुर्वचन बोलने वाले पुरुष के से आचरण वाले को [होवे], (कृत्या) शत्रुनाशक सेना (कृत्याकृतम्) हिंसा कारी पर (पुनः) अवश्य (वर्तताम्) घूमे, (इव) जैसे (सुखः) अच्छा बना हुआ (रथः) रथ [घूमता है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य दोषों के त्यागने का शीघ्र उपाय करे ॥ ५ ॥

यदि॒ स्त्री यदि॑ वा पुमान् कृत्यां चकार॑ पाप्मने॑ ।
तामु॒ तस्मै॑ नयामस्यश्व॑मिवाश्वाभिधान्या॑ ॥ ६ ॥

अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । पा० ५ । ४ । १०७ । इति सम्+अक्षि—टच् । अक्ष्णोः समीपे । सन्मुखे (अस्मै) पुरुषाय (आ धेहि) स्थापय (यथा) यस्मात् (कृत्याकृतम्) हिंसाकारिणम् (हनत्) हन्यात् ॥

५—(कृत्याः) शत्रुनाशिकाः सेनाः (सन्तु) भवन्तु (कृत्याकृते) हिंसाकारिणे (शपथः) दुर्वचनम् (शपथीयते) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति शपथिन्-क्यङ्, छान्दसं परस्मैपदम् । शपथिवदाचरणं कुर्वते (सुखः) सु+खनु विदारणे-ड । सुखं कस्मात् सु हितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः—निरु० । ३ । १३ । सुख-अर्श आद्यच् । सुनिर्मितः (रथः) यानम् (इव) यथा (वर्तताम्) वर्तनेन गच्छतु (कृत्या) शत्रुनाशिका सेना (कृत्याकृतम्) हिंसाकारिणम् (पुनः) अवश्यम् ॥

यदि । स्त्री । यदि । वा । पुमान् । कृत्याम् । चकार । पाप्मने । ताम् । ऊं इति । तस्मै । नयामसि । अश्वम्-इव । अश्व-अभिधान्या ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे (स्त्री) स्त्री ने (यदि वा) अथवा (पुमान्) पुरुष ने जो (कृत्याम्) हिंसा (पाप्मने) पाप करने के लिये (चकार) की है। (ताम्) उसको (उ) निश्चय करके (तस्मै) उसी पुरुष के लिये (नयामसि) हम लिये चलते हैं, (इव) जैसे (अश्वम्) घोड़े को (अश्वाभिधान्या) घोड़े बांधने की रस्सी से ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुष्ट स्त्री पुरुषों को यथावत् दण्ड देवे ॥ ६ ॥

यदि वासि देवकृता यदि वा पुरुषैः कृता ।
तां त्वा पुनर्णयामसीन्द्रेण सयुजा वयम् ॥ ७ ॥

यदि । वा । असि । देव-कृता । यदि । वा । पुरुषैः । कृता । ताम् । त्वा । पुनः । नयामसि । इन्द्रेण । स-युजा । वयम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यदि वा) चाहे (देवकृता) गतिशील सूर्य आदि लोकों द्वारा की गयी (यदि वा) चाहे (पुरुषैः) पुरुषों से (कृता) की गयी (असि) तू है। (ताम् त्वा) उस तुझ को (पुनः) फिर (वयम्) हम (इन्द्रेण) ऐश्वर्य के साथ (सयुजा) समान संयोग से (नयामसि) लिये चलते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक आधिदैविक, आधिभौतिक तथा आध्या-

---

६—(यदि) पक्षान्तरे (स्त्री) (यदि वा) अथवा (पुमान्) अ० १। ८। १। पा रक्षणे डुम्सुन्। पुरुषः (कृत्याम्) हिंसाम् (चकार) कृतवान् (पाप्मने) पा रक्षणे-मनिन् पुक् च। पापकरणाय (ताम्) कृत्याम् (उ) अवश्यम् (तस्मै) जनाय (नयामसि) गमयामः (अश्वम्) तुरङ्गम् (अश्वाभिधान्या) अभि+धा—ल्युट् ङीप्। अश्वबन्धनरज्ज्वा ॥

७—(यदि) (वा) (असि) (देवकृता) दिवु गतौ-पचाद्यच्। गतिशीलैः सूर्यादिलोकैः कृता (यदि वा) (पुरुषैः) मनुष्यैः (कृता) निष्पा-

तिमक विपत्तियों का प्रतिकार करें ॥ ७ ॥

अग्ने॑ पृतनाषाट् पृत॑नाः सहस्व । पुन॑: कृत्यां कृ॑त्याकृते॑ प्रतिहर॑णेन हरामसि ॥ ८ ॥

अग्ने॑ । पृतनाषाट् । पृत॑नाः । सहस्व । पुन॑: । कृत्याम् । कृत्या-कृते॑ । प्रति-हर॑णेन । हरामसि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् सेनापति ! (पृतनाषाट्) संग्राम जीतने वाला तू (पृतनाः) संग्रामों को (सहस्व) जीत । (पुनः) निश्चय करके (कृत्याम्) हिंसा को (कृत्याकृते) हिंसा करने वाले पुरुष की ओर (प्रति-हरणेन) लौटा देने से (हरामसि) हम नाश करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य शूर सेनापति के साथ शत्रु सेना को नाश करें ॥८॥

कृत॑व्यधनि विध्य॒ तं यश्च॒कार॒ तमिज्ज॑हि । न त्वामच॑क्रुषे व॒यं व॒धाय॒ सं शि॑शीमहि ॥ ९ ॥

कृत॑-व्यधनि । विध्य॑ । तम् । यः । च॒कार॑ । तम् । इत् । ज॒हि॒ । न । त्वाम् । अच॑क्रुषे । व॒यम् । व॒धाय॑ । सम् । शि॒शी॒म॒हि॒ ॥९॥

भाषार्थ—(कृतव्यधनि) हे छेदने वाले शस्त्र युक्त सेना ! (तम्) चोर को (विध्य) छेद ले । (यः) जिसने (चकार) हिंसा की है, (तम्)

हिता (ताम्) (त्वा) (पुनः) (नयामसि) गमयामः (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (सयुजा) सम्पदादित्वात् क्विप् । समानसंयोगेन सह (वयम्) पुरुषार्थिनः ॥

८—(अग्ने) हे विद्वन् सेनापते (पृतनाषाट्) छन्दसि सहः । पा० ३ । २ । ६३ । इति पृतना+षह अभिभवे—ण्वि । सहेः साडः सः । पा० ८ । ३ । ५६ । इति सस्य षः । संग्रामजेता (पृतनाः) अ० ३ । २१ । ३ । संग्रामान् (सहस्व) अभिभव (पुनः) अवश्यम् (कृत्याम्) हिंसाम् (कृत्याकृते) हिंसा-कारिणे (प्रतिहरणेन) प्रतिकूलनयनेन । निरोधेन (हरामसि) नाशयामः ॥

९—(कृतव्यधनि) व्यध ताडने—ल्युट्, ङीप् । कृतानि उद्यतानि व्यधनानि छेदनसाधनानि आयुधानि यया सा कृतव्यधनी, सेना तत्सम्बुद्धौ

उसको (इत्) अवश्य (जहि) नाश कर। (अचक्रुषे) हिंसा न करने वाले पुरुष को (वधाय) मारने के लिये (वयम्) हम लोग (त्वाम्) तुझे (न) नहीं (सम् शिशीमहि) तीक्ष्ण करें ॥ ९ ॥

भावार्थ—सेनापति लोग दुष्कर्मियों पर ही सेना चढ़ावें और सत्पुरुषों पर कभी नहीं ॥ ९ ॥

पुत्र इव पितरं गच्छ स्वज इवाभिष्ठितो दश ।
बन्धमिवावक्रामी गच्छ कृत्ये कृत्याकृतं पुनः ॥ १० ॥

पुत्रः-इव । पितरम् । गच्छ । स्वजः-इव । अभि-स्थितः । दश ।
बन्धम्-इव । अव-क्रामी । गच्छ । कृत्ये । कृत्या-कृतम् । पुनः १०

भाषार्थ—(पुत्रः इव) पुत्र के समान (पितरम्) अपने पिता के पास (गच्छ) पहुंच, (अभिष्ठितः) ठोकर खाये हुये (स्वजः इव) लिपटने वाले सांप के समान [शत्रु को] (दश) डस ले। (कृत्ये) हे हिंसा शक्ति! (बन्धम्) बन्ध (अवक्रामी इव) छोड़ कर भागने वाले के समान, (कृत्याकृतम्) हिंसा कारी को (पुनः) अवश्य (गच्छ) पहुंच ॥ १० ॥

भावार्थ—सेना के लोग सेनापति से अनायास मिलते रहें और शत्रुओं का शीघ्र नाश करें ॥ १० ॥

(विध्य) छिन्धि (तम्) तर्द हिंसायाम्-ड। चोरम् (यः) शत्रुः (चकार) कृञ् हिंसायाम्-लिट्। हिंसितवान् (तम्) (इत्) एव (जहि) नाशय (न) निषेधे (त्वाम्) सेनाम् (अचक्रुषे) कृञ् हिंसायाम्-क्वसु। अहिंसां कृतवते पुरुषाय (वयम्) सेनापतयः (वधाय) हननाय (सम्) सम्यक् (शिशीमहि) शो तनूकरणे। श्यनः श्लुः। विधौ लिङि छान्दसं रूपम्। श्येम तीक्ष्णीकुर्याम ॥

१०—(पुत्रः) कुलशोधकः सन्तानः (इव) यथा (पितरम्) पालकम् जनकम्, (गच्छ) प्राप्नुहि (स्वजः) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे—पचाद्यच्, पृषोदरादित्वा-न्नलोपः। सर्पः (इव) (अभिष्ठितः) पादैरभिभूतः (दश) दंशय (बन्धम्) (इव) यथा (अवक्रामी) उल्लङ्घ्य प्रतिगामी (गच्छ) (कृत्ये) हिंसाशक्ते (कृत्याकृतम्) हिंसाकारिणम् ॥ १० ॥

उदे॒णीव॑ वार॒ण्य॑भि॒स्कन्दं॑ मृ॒गीव॑। कृ॒त्या कु॒र्तार॑मृच्छतु ॥११॥

उत्। ए॒णी-इ॑व। वा॒र॒णी। अ॒भि॒-स्कन्द॑म्। मृ॒गी-इ॑व। कृ॒त्या। कुर्तार॑म्। ऋ॒च्छ॒तु॥ ११ ॥

भाषार्थ—(वारणी) हथिनी, अथवा (एणी इव) कृष्णमृगी के समान (मृगी इव) और मृगी के समान (अभिस्कन्दम्) धावा करने वाले पुरुष पर, (कृत्या) शत्रु नाशक सेना (कर्तारम्) हिंसक को (उद्) उछल कर (ऋच्छतु) प्राप्त होवे ॥ ११ ॥

भावार्थ—हमारी सेना शत्रुओं पर इस प्रकार शीघ्र धावा करे जैसे घेरा हुआ पशु अपने आखेटिक पर दौड़ता है ॥ ११ ॥

इष्वा॒ ऋजी॑यः पतत॒ु द्यावा॑पृथि॒वी तं प्रति॑।
सा तं मृ॒गमि॑व गृह्णातु कृ॒त्या कृ॑त्या॒कृतं॒ पुन॑ः ॥१२॥

इष्वाः॑। ऋजी॑यः। प॒त॒तु॒। द्यावा॑पृथि॒वी इति॑। तम्। प्रति॑। सा। तम्। मृ॒गम्-इ॑व। गृ॒ह्णा॒तु॒। कृ॒त्या। कृ॒त्या॒-कृत॑म्। पुन॑ः॥१२

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी ! (सा) वह (कृत्या) शत्रुनाशक सेना (तम्) चोर (प्रति) पर (इष्वाः) बाण से (ऋजीयः) अधिक सीधी (पततु) गिरे और (पुनः) फिर (तम्) उस (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी को (मृगम् इव) आखेट पशु के समान (गृह्णातु) पकड़ लेवे ॥१२॥

११—(उत्) उद्गत्य (एणी) इण् गतौ—ण, णस्य नेत्वम्, ङीप्। कृष्ण-मृगी (इव) यथा (वारणी) वृञ् आवरणे—णिच्, ल्युट्, ङीप्। गजी (अभिस्कन्दम्) अभि+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—पचाद्यच्। प्रतिकूलगन्तारम् (मृगी) हरिणी (इव) यथा (कृत्या) शत्रुनाशिका सेना (कर्तारम्) कृञ् हिंसायाम्—तृच्। हिंसकम् (ऋच्छ) गच्छतु ॥

१२—(इष्वाः) बाणात् (ऋजीयः) ऋजु—ईयसुन्। ऋजुतरम्। अधिकसरलम् (पततु) अधः पततु (द्यावापृथिवी) हे द्यावापृथिव्योः पदार्थाः

भावार्थ—मनुष्य आकाश और पृथिवी मार्ग से प्रबल सेना द्वारा शत्रुओं को मारें ॥ १२ ॥

अग्निरिवैतु प्रतिकूलमनुकूलमिवोदकम् ।
सुखो रथ इव वर्तताम् कृत्या कृत्याकृतं पुनः ॥ १३ ॥

अग्निः-इव । एतु । प्रति-कूलम् । अनुकूलम्-इव । उदकम् ।
सुखः । रथः-इव । वर्तताम् । कृत्या । कृत्या-कृतम् । पुनः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—वह [सेना] (अग्निः इव) अग्नि के समान (प्रतिकूलम्) विरुद्ध गति से, और (अनुकूलम्) तट तट से चलने वाले (उदकम् इव) जल के समान [शीघ्र] (एतु) चले। (कृत्या) शत्रुनाशक सेना (कृत्याकृतम्) हिंसाकारी पर (पुनः) अवश्य (वर्तताम्) घूमे, (इव) जैसे (सुखः) अच्छा बना हुआ (रथः) रथ [घूमता है] ॥ १३ ॥

भावार्थ—हमारी सेना शत्रुओं पर इस प्रकार शीघ्र धावा करे जैसे दावाग्नि बन में, तट के भीतर भीतर चलने वाला जल नदी में और अच्छा बना हुआ रथ मार्ग में चलता है ॥ १३ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१-११ ॥ ओषधिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विघ्ननिवारणोपदेशः—विघ्नों के हटाने का उपदेश ॥

एका च मे दश च मेऽपवक्तारं ओषधे ।
ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ १ ॥

(तम्) तर्दकं चोरम् (प्रति) (सा) (तम्) पूर्वोक्तम् (मृगम्) आखेट-पशुम् (इव) यथा (गृह्णातु) आदत्ताम् (कृत्या) शत्रुनाशिका सेना (कृत्या-कृतम्) हिंसाकारिणम् (पुनः) पश्चात् । अवश्यम् ॥

१३—(अग्निरिव) अग्निर्यथा (एतु) गच्छतु, अस्माकं सेना (प्रति-कूलम्) यथा तथा विरुद्धपक्षम् (अनुकूलम्) तीरद्वयमनुसृत्य गमनशीलम् (उदकम्) जलम् । अन्यद् व्याख्यातम् म० ५ ॥

एका । च । मे । दश । च । मे । अप-वक्तारः । ओषधे । ऋत-जाते । ऋत-वरि । मधु । मे । मधुला । करः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (एका) एक [संख्या] (च च) और (मे) मेरे लिये (दश) दस (अपवक्तारः) निन्दा करने वाले व्यवहार हैं, (ऋतजाते) हे सत्य में उत्पन्न हुयी, (ऋतावरि) हे सत्यशील, (ओषधे) हे तापनाशक शक्ति परमेश्वर ! (मधुला) ज्ञान वा मिठास देने वाली तू (मे) मेरे लिये (मधु) ज्ञान वा मिठास (करः) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार में अनेक विघ्नों से बचने के लिये पुरुषार्थ पूर्वक परमेश्वर का आश्रय लें ॥ १ ॥

इस सूक्त में मन्त्र १ की संख्या ११, म० २ में द्विगुणी बाईस, म० ३ में तीन गुणी तेतीस, इत्यादि, म० १० तक एक सौ दस, और म० ११ में एक सहस्र एक सौ है। अर्थात् सम मन्त्रों में सम और विषम में विषम संख्यायें हैं ॥

द्वे च मे विंशतिश्च मे ०।० ॥ २ ॥

द्वे इति । च । मे । विंशतिः । च । मे ०।० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्वे) दो (च च) और (मे) मेरे लिये (विंशतिः) बीस···म० १ ॥ २ ॥

तिस्रश्च मे त्रिंशच्च मे ०।० ॥ ३ ॥

तिस्रः । च । मे । त्रिंशत् । च । मे ॥०॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (तिस्रः) तीन (च च) और (मे) मेरे लिये (त्रिंशत्) तीस···म० १ ॥ ३ ॥

१—(एका) एक संख्या (च च) समुच्चये (मे) मह्यम् (दश) (अपवक्तारः) निन्दका व्यवहाराः (ओषधे) हे तापनाशिके शक्ते परमेश्वर (ऋतजाते) सत्येनोत्पन्ने (ऋतावरि) अ० ३। १३।७। ऋत-वनिप्। हे सत्यशीले (मधु) ज्ञानं माधुर्य्यं वा (मधुला) मधु+ला दाने-क । मधुनो ज्ञानस्य माधुर्यस्य वा दात्री (करः) लेटि रूपम्। त्वं कुर्याः ॥

चत॑स्रश्च मे चत्वारिं॒शच्च॑ मे ०।० ॥ ४ ॥

चत॑स्रः । च॒ । मे॒ । च॒त्वा॒रिं॒शत् । च॒ । मे॒ ॥०॥ ४ ॥

भावार्थ—(मे) मेरे लिये (चतस्रः) चार (च च) और (मे) मेरे लिये (चत्वारिंशत्) चालीस...म० १ ॥ ४ ॥

पञ्च॑ च मे पञ्चा॒शच्च॑ मे ०।० ॥ ५ ॥

पञ्च॑ । च॒ । मे॒ । प॒ञ्चा॒शत् । च॒ । मे॒ ॥ ० ॥ ५ ॥

भावार्थ—(मे) मेरे लिये (पञ्च) पांच (च च) और (मे) मेरे लिये (पञ्चाशत्) पंचास...म० १ ॥ ५ ॥

षट् च॑ मे ष॒ष्टिश्च॑ मे ०।० ॥ ६ ॥

षट् । च॒ । मे॒ । ष॒ष्टिः । च॒ । मे॒ ॥०॥ ६ ॥

भावार्थ—(मे) मेरे लिये (षट्) छह (च च) और (मे) मेरे लिये (षष्टिः) साठ...म० १ ॥ ६ ॥

स॒प्त च॑ मे स॒प्ततिश्च॑ मे ०।० ॥ ७ ॥

स॒प्त । च॒ । मे॒ । स॒प्तति॑ः । च॒ । मे॒ ॥ ० ॥ ७ ॥

भावार्थ—(मे) मेरे लिये (सप्त) सात (च च) और (मे) मेरे लिये (सप्ततिः) सत्तर...म० १ ॥ ७ ॥

अ॒ष्ट च॑ मेऽशी॒तिश्च॑ मे ०।० ॥ ८ ॥

अ॒ष्ट । च॒ । मे॒ । अ॒शी॒तिः । च॒ । मे॒ ॥०॥ ८ ॥

भावार्थ—(मे) मेरे लिये (अष्ट) आठ (च च) और (मे) मेरे लिये (अशीतिः) अस्सी...म० १ ॥ ८ ॥

नव॑ च मे नव॒तिश्च॑ मे ०।० ॥ ९ ॥

नव॑ । च॒ । मे॒ । न॒व॒तिः । च॒ । मे॒ ॥०॥ ९ ॥

भावार्थ—(मे) मेरे लिये (नव) नौ (च च) और (मे) मेरे लिये (नवतिः) नव्वे...म० १ ॥ ९ ॥

दश च मे शतं च मे ०।० ॥ १० ॥

दश । च । मे । शतम् । च । मे ॥०॥ १० ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (दश) दस (च च) और (मेरे) लिये (शतम्) सौ···म० १ ॥ १० ॥

शतं च मे सहस्रं चापवक्तार ओषधे ।

ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः ॥ ११ ॥

शतम् । च । मे । सहस्रम् । च । अप-वक्तारः । ओषधे ।

ऋत-जाते । ऋत-वरि । मधु । मे । मधुला । करः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (शतम्) सौ (च च) और (सहस्रम्) सहस्र (अपवक्तारः) निन्दक व्यवहार हैं, (ऋतजाते) हे सत्य में उत्पन्न हुयी (ऋतावरी) हे सत्य शील, (ओषधे) हे तापनाशक शक्ति परमेश्वर ! (मधुला) ज्ञान वा मिठास देने वाली तू (मे) मेरे लिये (मधु) ज्ञान वा मिठास (करः) कर ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ११ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १६ ॥

१-११ ॥ आत्मा देवता ॥ १० जगती; शिष्टाश्चैकपात् त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थोपदेशः—पुरुषार्थ का उपदेश ॥

यद्येकवृषोऽसि सृजारसोऽसि ॥ १ ॥

यदि । एक-वृषः । असि । सृज । अरसः । असि ॥ १ ॥

११—शब्दार्थः प्रथम मन्त्रेण समानः सुगमश्च ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (एकवृषः) एक [परमेश्वर] के साथ ऐश्वर्यवान् (असि) है, [सुख] (सृज) उत्पन्न कर, [नहीं तो] तू (अरसः) निर्बल (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—एक परमात्मा के ज्ञान से मनुष्य संसार का उपकार कर सकता है, ईश्वर ज्ञान के विना मनुष्य जन्म व्यर्थ है ॥ १ ॥

यदि द्विवृषोऽसि० ॥ २ ॥ यदि । द्वि-वृषः । असि ॥०॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (द्विवृषः) दो [परमात्मा और आत्मा] के साथ ऐश्वर्यवान् है······म० ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और आत्मा के ज्ञान से अपना बल बढ़ावे ॥२॥

यदि त्रिवृषोऽसि० ॥ ३ ॥ यदि । त्रि-वृषः । असि ॥०॥३ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (त्रिवृषः) तीन [सत्त्व, रज, और तम, गुणों] पर ऐश्वर्यवान् (असि) है······म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्त्व, रज, तम तीनों गुणों के विज्ञान से उन्नति करें ॥३॥

यदि चतुर्वृषोऽसि० ॥४॥ यदि । चतुः-वृषः । असि ॥०॥४॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (चतुर्वृषः) चार (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के द्वारा समर्थ (असि) है······म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म आदि चार प्रकार के पुरुषार्थों से वृद्धि करें ॥४॥

यदि पञ्चवृषोऽसि० ॥ ५ ॥ यदि । पञ्च-वृषः । असि ॥०॥५॥

१—(यदि) पक्षान्तरे (एकवृषः) वृषु प्रजननैश्वर्ययोः—क । एकेन परमेश्वरेण सहैश्वर्यवान् (असि) (सृज) उत्पादय सुखम् [नोचेत्] इति शेषः (अरसः) असमर्थः (असि) ॥

२—(द्विवृषः) द्वाभ्यां परमात्मात्मभ्यां वृषो वृषा, ऐश्वर्यवान् ॥

३—(त्रिवृषः) त्रिगुणसत्त्वरजस्तमोविज्ञाने समर्थः ॥

४—(चतुर्वृषः) चतुर्वर्गेण धर्मार्थकाममोक्षैः पुरुषार्थैः समर्थः ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (पञ्चवृषः) पांच [भूतों, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] पर ऐश्वर्यवान् (असि) है…म० ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पञ्च भूतों से यथावत् उपकार लेकर सुखी होवें ॥५॥

यदि षड्वृषोऽसि० ॥ ६ ॥ यदि । षट्-वृषः । असि ॥०॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (षड्वृषः) छह [काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, अहङ्कार] पर समर्थ (असि) है…म० १ ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोध आदि षड् वर्ग को वश में रख कर उन्नति करें ॥ ६ ॥

यदि सप्तवृषोऽसि० ॥ ७ ॥ यदि । सप्त-वृषः । असि ॥०॥७॥

भाषार्थ—(यदि जो तू (सप्तवृषः) सात [ऋषियों, पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और बुद्धि] पर समर्थ (असि) है…म० ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य जितेन्द्रिय हो कर आनन्द प्राप्त करें ॥ ७ ॥

यद्यष्टवृषोऽसि० ॥ ८ ॥ यदि । अष्ट-वृषः । असि ॥ ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (अष्टवृषः) आठ [योग के अङ्गों, यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, और समाधि] में समर्थ (असि) है…म० १ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य योग के आठों अङ्गों में अभ्यास करने से अशुद्धि का नाश और ज्ञान का प्रकाश करके विवेक प्राप्त करें ॥ ८ ॥

यदि नववृषोऽसि० ॥ ९ ॥ यदि । नव-वृषः । असि ॥०॥ ९ ॥

५—(पञ्चवृषः) पंचभूतेषु क्षित्यप्तेजोवायुव्योमात्मकेषु समर्थः ॥ ५ ॥

६—(षड्वृषः) षड्वर्गे कामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्येषु समर्थः ॥

७—(सप्तवृषः) सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । सप्त ऋषिषु पञ्चज्ञानेन्द्रियमनोबुद्धिषु समर्थः ॥

८—(अष्टवृषः) यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयो ऽष्टावङ्गानि-योगदर्शने २ । २९ । इत्युक्तेषु अष्टयोगाङ्गेषु समर्थः ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (नववृषः) नव [अर्थात् नव द्वार वाले शरीर] से ऐश्वर्यवान् (असि) है……म० १ ॥ ९ ॥

भावार्थ—शरीर में दो कान, दो आंखें, दो नथने, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थेन्द्रिय नव छिद्र वा द्वार हैं, यथा, नवद्वारपुरे देही–गीता अ० ५ श्लो० १३। मनुष्य शरीर की शुद्धि रखने और उससे कष्ट सहने से ऐश्वर्य-वान् हों ॥ ९ ॥

यदि॑ दशवृ॒षोऽसि सृ॒जार॒सोऽसि ॥ १० ॥

यदि॑ । द॒श॒ऽवृ॒षः । असि॑ । सृ॒ज । अ॒र॒सः । अ॒सि॒ ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (दशवृषः) दस [दस बल अर्थात् दान, शील, क्षमा, वीर्य, ध्यान, प्रज्ञा, सेनायें, उपाय, दूत और ज्ञान] से ऐश्वर्यवान् (असि) है, (सृज) [सुख] उत्पन्न कर, [नहीं तो] तू (अरसः) निर्बल (असि) है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वोक्त दस प्रकार के बलों के अनुष्ठान से ऐश्वर्यवान् होवें ॥ १० ॥

यद्ये॑काद॒शोऽसि॒ सोऽपो॑दकोऽसि ॥ ११ ॥

यदि॑ । ए॒का॒द॒शः । असि॑ । सः । अप॑ऽउ॑दकः । अ॒सि॒ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (एकादशः) ग्यारहवां [पूर्वोक्त दस से भिन्न पुरुपार्थहीन] (असि) है, (सः) वह तू (अपोदकः) वृद्धि सामर्थ्य

९—(नववृषः) नवद्वारपुरेण शरीरेण ऐश्वर्यवान्। नवद्वारपुरे देही–गीता, अ० ५ श्लो० १३। द्वे श्रोत्रे, चक्षुषी नासिके च मुखमेकमिति ऊर्ध्व-स्थानि सप्त, द्वे पायूपस्थेऽधः, इति नव छिद्ररूपाणि शरीरद्वाराणि ॥

१०—(दशवृषः) दशभिर्बलैरैश्वर्यवान् । दानशीलक्षमावीर्यध्यान-प्रज्ञा बलानि च। उपायः प्रणिधिर्ज्ञानं दशबुद्धबलानि च–इति दश बलानि ॥

११—(एकादशः) तस्य पूरणे डट्। पा० ५। २। ४८। इति एकादशन्-डट्। एकादशानां पूरणः। पूर्वमन्त्रोक्तेभ्यो दशभ्यो भिन्नः पुरुपार्थहीनः

रहित (असि) है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वोक्त दस मन्त्रों में कहे पुरुषार्थों को नहीं करता, वह पुरुषार्थहीन अपनी और दूसरों की वृद्धि नहीं कर सकता ॥ ११ ॥

सूक्तम् ॥ १७ ॥

१-१८ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ १-६ त्रिष्टुप्; ७-१८ अनुष्टुप् छन्दः॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

तेऽवदन् प्रथमा ब्रह्मकिल्बिषेऽकूपारः सलिलो मातरिश्वा । वीडुहरास्तप उग्रं मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतस्य ॥ १ ॥

ते । अवदन् । प्रथमाः । ब्रह्म-किल्बिषे । अकूपारः । सलिलः । मातरिश्वा । वीडु-हराः । तपः । उग्रम् । मयः-भूः । आपः । प्रथम-जाः । ऋतस्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्यस्वरूप परमात्मा से (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न हुये, (ते) उन (प्रथमाः) मुख्य देवताओं अर्थात् (वीडुहराः) बड़े तेज वाले, (मयोभूः) सुख देने वाले, (अकूपारः) अकुत्सित वा बड़े पार वाले सूर्य, (सलिलः) जल वाले समुद्र, (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाले वायु, (उग्रम्) उग्र (तपः) अग्नि, (देवीः) दिव्यगुणवाली (आपः)

(असि) (सः) स त्वम् (अपोदकः) अपगतमुदकं सेचनसामर्थ्यं यस्मात् सः । अरसः । निर्वीर्यः ॥

१—(ते) प्रसिद्धा देवाः (अवदन्) अकथयन् (प्रथमाः) मुख्याः (ब्रह्मकिल्बिषे) किलेर्बुक् च । उ० १ । ५० । इति किल श्वैत्यक्रीडनयोः—टिषच्, बुक् च । किल्बिषं किल्भिदं सुकृतकर्मणो भयं कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा—निरु० । ११ । २४ । ब्रह्मणो ब्रह्मवादिनः पुरुषस्य अपराधविषये (अकूपारः) अ+कु+पॄ पालनपूरणयोः—घञ् । पारः पालनं पूरणं वा । आदित्योऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति दूरपारः समुद्रोऽप्यकूपार उच्यतेऽकूपारो भवति महापारः—निरु० । ४ । १८ । अकुत्सितपारो महागतिरादित्यः (सलिलः) सलिलम् उदकनाम—निघ० । १ । १२ । अर्श आद्यच् । जलवान् समुद्रः (मातरिश्वा)

व्यापनशील प्रजाओं ने (ब्रह्मकिल्बिषे) ब्रह्मवादी के अपराध के विषय में (अवदन्) बात चीत की ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग सृष्टि के पदार्थों से ब्रह्मविद्या प्राप्त करके सुख भोगें। और पूर्वज ऋषियों के समान परस्पर शंका समाधान करके ब्रह्मनिष्ठ हों ॥ १ ॥

इस सूक्त के सात मन्त्र १, २, ३, ५, ६, १०, ११, ऋग्वेद के मण्डल १० का सात मन्त्र वाला सूक्त १०९ है ॥ वहां शाकलकसंहिता और अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋक्संहिता के अनुसार जुहू नाम ब्रह्मजाया अथवा ब्रह्मपुत्र ऊर्ध्वनाभा नाम ऋषि और विश्वे देवा देवता हैं, ऋग्वेद सायण भाष्य में जुहू नाम ब्रह्मवादिनी है। इससे यह सूक्त ब्रह्मविद्यापरक है ॥

सोमो॒ राजा॑ प्रथ॒मो ब्र॒ह्म॑जा॒यां पुन॒: प्राय॑च्छ॒दहृ॑णीय-मानः। अ॒न्व॒र्ति॒ता वरु॑णो मि॒त्र आ॑सीद॒ग्निर्होता॑ हस्त॒-गृह्या॑ निनाय ॥ २ ॥

सोम॑ः। राजा॑। प्र॒थ॒मः। ब्र॒ह्म॒-जा॒याम्। पुन॑ः। प्र। अ॒य॒-च्छ॒त्। अहृ॑णीयमानः। अ॒नु॒-अ॒र्ति॒ता। वरु॑णः। मि॒त्रः। आ॒-सी॒त्। अ॒ग्निः। होता॑। ह॒स्त॒-गृ॒ह्य॑। आ। नि॒ना॒य॒ ॥२॥

भाषार्थ—(अहृणीयमानः) क्रोध नहीं करते हुये, (प्रथमः) मुख्य (राजा) राजा (सोमः) बड़े ऐश्वर्य्यवान् परमात्मा ने (पुनः) अवश्य (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्म विद्या को (प्रायच्छत्) दान किया है। (वरुणः) श्रेष्ठ, (मित्रः) सर्व

अ० ५। १०। ८। आकाशे गमनशीलो वायुः (विडुहराः) वीलयति संस्तम्भ-कर्मा-निरु० ५। १६। भूमृशीङ्० । उ०। १। ७। इति वील-उ। वीलु बलनाम-निघ०। २। ९। हञ् हरणे-असुन्। हरो हरतेर्ज्योतिः—निरु०। ४ १९। हद्भूते-जस्कः (तपः) तप-असुन्। अग्निः (उग्रम्) प्रचण्डम् (मयोभूः) मयसः सुखस्य भावयिता (आपः) आप् आप्नोतेः—निरु०। ९। २४। व्यापिकाः सृष्टयः (देवीः) देव्यः। दिव्यगुणाः (प्रथमजाः) प्रथमोत्पन्ना (ऋतस्य) सत्यस्वरू-पस्य परमात्मनः ॥

२—(सोमः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (राजा) शासकः (प्रथमः) मुख्यः (ब्रह्मजायाम्) जनेर्यक्। उ० ५। १११। इति जन जनने—यक् आत्वम्,

प्रेरक, (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (अन्वर्तिता) अनुकूलगामी और (होता) ग्रहीता (आसीत्) था और (हस्तगृह्य) हाथ में लेकर [वही उसे] (आ-निनाय) लाया ॥ २ ॥

भावार्थ—परम कृपालु परमात्मा ने वेद विद्या प्रदान की है, जिसको बुद्धिमान् पुरुष आदर पूर्वक ग्रहण करते हैं ॥ २ ॥

हस्तेनै॒व ग्रा॒ह्य॑ आ॒धिर॑स्या ब्र॒ह्मजा॒येति॒ चेदवो॑चत् । न दू॒ताय॑ प्र॒हेया॑ तस्थ ए॒षा तथा॑ रा॒ष्ट्रं गु॑पि॒तं क्ष॒त्रि॑यस्य ॥ ३ ॥

हस्तै॑न । ए॒व । ग्रा॒ह्य॑ः । आ॒-धिः । अ॒स्याः । ब्र॒ह्म-जा॒या । इति॑ । च॒ । इत् । अवो॑चत् । न । दू॒ताय॑ । प्र॒-हेया॑ । त॒स्थे॒ । ए॒षा । तथा॑ । रा॒ष्ट्रम् । गु॒पि॒तम् । क्ष॒त्रिय॑स्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(च) और [उस विद्वान् ने] (इत्) ही (इति) इस प्रकार से (अवोचत्) कहा है । (ब्रह्मजाया) यह ब्रह्म विद्या है, (अस्याः) इसका (आधिः) आधार वा आश्रय (हस्तेन एव) हाथ से ही (ग्राह्यः) पकड़ना चाहिये । (एषा) यह (दूताय) सताने वाले को (प्रहेया) देने योग्य

टाप् च । यद्वा । जायतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । जै गतौ-घञ्, टाप् । ये धातवो गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः । जनयति उत्पादयति सुखानि या, यद्वा, जायति जानाति यया सा जाया विद्या । ब्रह्मणः परमेश्वरस्य जायां वेदविद्याम् (पुनः) अवश्यम् (प्र) प्रकर्षेण (अयच्छत्) अदात् (अहृणीयमानः) हृणीङ् रोषे लज्जायां च-शानच् । अक्रुध्यन् (अन्वर्तिता) ऋत गतौ-तृच् । अनुकूलं गन्ता (वरुणः) श्रेष्ठः (मित्रः) प्रेरकः (आसीत्) अभवत् (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (होता) आदाता (हस्तगृह्य) नित्यं हस्तेपाणावुपयमने । पा० १ । ४ । ७७ । इति हस्ते शब्दस्य गतिसंज्ञायां ग्रहं-ल्यप्, एकारलोपश्छान्दसः । हस्ते गृहीत्वा (आ निनाय) आनीतवान् ॥

३—(हस्तेन) पाणिना दृढ़तया, इत्यर्थः (एव) अवश्यम् (ग्राह्यः) ग्रह-ण्यत् । ग्रहीतव्यः (आधिः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति आङ्+डुधाञ् धारणपोषणयोः-कि । आधारः । आश्रयः (अस्याः) ब्रह्मवि-

(न तस्थे) नहीं स्थित हुयी है, (तथा) उसी से (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय का (राष्ट्रम्) राज्य (गुपितम्) रक्षा किया गया [रहता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ब्रह्म विद्या का दृढ़ता से आदर करके आनन्द करते हैं, इसी से राज्य की रक्षा रहती है ॥ ३ ॥

यामाहुस्तारकैषा विकेशीति दुच्छुनां ग्राममवपद्यमानाम्। सा ब्रह्मजाया वि दुनोति राष्ट्रं यत्र प्रापादि शश उल्कुषीमान् ॥ ४ ॥

याम्। आहुः। तारका। एषा। वि-केशी। इति। दुच्छुनाम्। ग्रामम्। अव-पद्यमानाम्। सा। ब्रह्म-जाया। वि। दुनोति। राष्ट्रम्। यत्र। प्र-अपादि। शशः। उल्कुषी-मान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ग्रामम्) गांव पर (अवपद्यमानाम्) गिरती हुयी (याम्) जिस (दुच्छुनाम्) दुष्ट गति अविद्या को (आहुः) वे लोग बताते हैं कि (एषा) यह (विकेशी) विरुद्ध प्रकाश वाला (तारका इति) तारा है । (सा) वह (ब्रह्मजाया) ब्रह्मविद्या (राष्ट्रम्) उस राज्य को (वि दुनोति) उलट पलट

धायाः (ब्रह्मजाया) म० २ ब्रह्मविद्या । वेदविद्या (इति) एवं प्रकारेण (च) (इत्) एव (अवोचत्) अवर्णयत् (न) निषेधे (दूताय) अ० १ । ७ । ६ । टु दु उपतापे—कर्त्तरि क्त । उपतापकाय मनुष्याय (प्रहेया) ओहाक् त्यागे-यत् प्रकर्षेण त्याज्या दातव्या (तस्थे) तिष्ठतेर्लिटि । स्थिता बभूव (एषा) ब्रह्मविद्या (तथा) तस्मात्कारणात् (राष्ट्रम्) स० १ । २६ । १ । राज्यम् (गुपितम्) रक्षितम् (क्षत्रियस्य) राज्ञः ॥

४—(याम्) (आहुः) ब्रुवन्ति (तारका) तॄ तरणे-ण्वुल्, टाप् । नक्षत्रम् (एषा) समीपस्था (विकेशी) वि+काशृ दीप्तौ-अच्, ङीप, आकारस्य एकारः । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा-निरु० १२ । २५ । विरुद्धप्रकाशयुक्ता (इति) प्रकरणसमाप्तौ (दुच्छुनाम्) टुदु उपतापे-क्विप् । शुन गतौ-क, टाप् । दुष्टां गतिम् । अविद्याम् (ग्रामम्) वसतिम् (अवपद्यमानाम्) अधोगच्छन्तीम् (सा) (ब्रह्मजाया) म० २ । वेदविद्या (वि) विरोधे (दुनोति) उपतापयति (राष्ट्रम्) राज्यम् (यत्र) यस्मिन् राज्ये (प्र)

कर देती है (यत्र) जिसमें (उल्कुषीमान्) उल्काओं का कोष वा संग्रह वाला (शशः) गतिशील तारा (प्र अपादि) गिरा हो । ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में अविद्या प्रबल होती है वह अत्याचारी राज्य ऐसे नष्ट हो जाता है जैसे आकाश से तारा गिरने से नष्ट होगया हो ॥ ४ ॥

ब्रह्मचारी चरति वेविषद् विषः स देवानां भवत्येक॑मङ्ग॑म् । तेन॑ जायामन्व॑विन्दद् बृहस्पतिः सोमे॑न नीतां जुह्वं १ न देवाः ॥ ५ ॥

ब्रह्म-चारी । चरति । वेविषत् । विषः । सः । देवानाम् । भवति । एकम् । अङ्गम् । तेन । जायाम् । अनु । अविन्दत् । बृहस्पतिः । सोमेन । नीताम् । जुह्वम् । न । देवाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विषः) व्याप्तव्य कर्म में (वेविषत्) प्रवेश करता हुआ (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी अर्थात् वेद के लिये अवश्य आचरण करने वाला पुरुष (चरति) विचरता है, (सः) वह (देवानाम्) विद्वानों का (एकम्) मुख्य (अङ्गम्) अङ्ग (भवति) होता है । (देवाः) हे विद्वान् लोगो ! (तेन) उसी कारण से (बृहस्पतिः) बड़ी बड़ी विद्याओं के रक्षक, बृहस्पति [उस ब्रह्मचारी ने (सोमेन) परमेश्वर करके (नीताम्) लायी गयी (जुह्वम्) दान शीला

प्रकर्षेण (अपादि) प्राप्तः (शशः) शश प्लुतगतौ—अच् । गतिशीलमुल्कारूपं नक्षत्रम् । विरुद्धस्थानमित्यर्थः (उल्कुषीमान्) उल दाहे-क्विप, कुष निष्कर्षे-क, ङीप्, मतुप् । कुषी कोषः । उलाम् उल्कानां कुष्या कोषेण संग्रहेण युक्तः ॥

५—(ब्रह्मचारी) ब्रह्म+चर-आवश्यके णिनि । ब्रह्मणे वेदाय तद्ग्रहणाय चरणशीलः पुरुषः (चरति) विचरति (वेविषत्) विष्लृ व्याप्तौ-शतृ । व्याप्नुवन् (विषः) अयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च । उ० ४ । १९४ । इति विष्लृ-असुन्, स च कित् । व्याप्तव्यं कर्म (सः) (देवानाम्) विदुषाम् (भवति) (एकम्) मुख्यम् (अङ्गम्) अवयवः (तेन) कारणेन (जायाम्) म० २ । सुखजनयित्रीं विद्याम् (अनु) अनुगम्य (अविन्दत्) अलभत (बृहस्पतिः) बृहतीनां वाचां पतिः । पालकः । ब्रह्मचारी (सोमेन) परमेश्वरेण (नीताम्) प्रापिताम् (जुह्वम्) जुहोतिर्दानकर्मा-निघ-१० । १२ । हुवः श्लुवच्च । उ० २ । ६०।

(जायाम्) सुख उत्पन्न करने हारी विद्या को (न) अब (अनु अविन्दत्) पा लिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य तपश्चरण द्वारा ब्रह्मविद्या प्राप्त करके विद्वानों में प्रतिष्ठा पाता और सुख भोगता है ॥ ५ ॥

देवा वा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसा ये निषेदुः। भीमा जाया ब्राह्मणस्यापनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन् ॥ ६ ॥

देवाः। वै। एतस्याम्। अवदन्त। पूर्वे। सप्त-ऋषयः। तपसा। ये। नि-सेदुः। भीमा। जाया। ब्राह्मणस्य। अप-नीता। दुः-धाम्। दधाति। परमे। वि-ओमन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पूर्वे) पूर्व काल में (देवाः) वे दिव्य गुण वाले महात्मा (वै) निश्चय करके (एतस्याम्) इस [ब्रह्म विद्या] के विषय में (अवदन्त) बोले, (ये) जो (सप्त ऋषयः) सात [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] के द्वारा देखने वाले (तपसा) तपके साथ (निषेदुः) बैठे थे। (अपनीता) कुनीति वा खण्डन को प्राप्त हुयी (ब्राह्मणस्य) वेदाधिपति पर-

इति हु-क्विप्, द्वित्वं दीर्घश्च। जुहूम्। दानशीलाम् (न) सम्प्रत्यर्थे-निरु० ७। ३१। (देवाः) हे विद्वांसः ॥

६—(देवाः) दिव्यगुणा विद्वांसः (वै) निश्चयेन (एतस्याम्) ब्रह्मविद्यायाम् (अवदन्त) अवदन्। अवोचन् (पूर्वे) पूर्वस्मिन् काले (सप्त ऋषयः) अ० ४। ११। ६। सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी-निरु०। १२। ३७। ऋषिर्दर्शनात्-१। २०। सप्तभिस्त्वक् चक्षुः श्रवणरसनाघ्राण-मनोबुद्धिभिः दर्शकाः (तपसा) तपश्चरणेन (ये) देवाः (निषेदुः) निषण्णा बभूवुः (भीमाः) भयङ्करा सती (जाया) म० २। जायतिर्गतिकर्मा-निघ० २। १४। जायति जानाति यया सा। विद्या (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मन्-अण्। वेदाधिपतेः परमेश्वरस्य (अपनीता) अपनीतिं कुनीतिं खण्डनं वा गता (दुर्धाम्) दुर्+डुधाञ् धारणपोषणयोः-अङ्, टाप्। कष्टेन धरणीयाम्। दुर्व्यवस्थाम्

मेश्वर की (जाया) विद्या (भीमा) भयङ्कर होकर (परमे) सब से श्रेष्ठ (व्योमन्) रक्षणीय स्थान में (दुर्धाम्) दुष्टव्यवस्था (दधाति) जमाती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—महात्माओं ने पूर्ण शक्ति से परीक्षा करके साक्षात् किया है, कि जहां पर वेद विद्या का निरादर और कुव्यवहार का आदर होता है, वहां अवश्य ही विपत्ति पड़ती है ॥ ६ ॥

ये गर्भा अवपद्यन्ते जगद् यच्चापलुप्यते ।
वीरा ये तृह्यन्ते मिथो ब्रह्मजाया हिनस्ति तान् ॥७॥

ये । गर्भाः । अव-पद्यन्ते । जगत् । यत् । च । अप-लुप्यते । वीराः । ये । तृह्यन्ते । मिथः । ब्रह्म-जाया । हिनस्ति । तान् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (गर्भाः) गर्भ (अवपद्यन्ते) गिर पड़ते हैं, (च) और (यत्) जो (जगत्) जगम् पशु आदि वृन्द (अपलुप्यते) नष्ट हो जाता है। और (ये) जो (वीराः) वीर लोग (मिथः) आपस में (तृह्यन्ते) कट मरते हैं, [कुनीति वा खण्डन को प्राप्त हुयी—म० ६] (ब्रह्मजाया) ब्रह्मविद्या (तान्) उन्हें (हिनस्ति) मार डालती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—वेद विद्या के लोप से संसार में रोग, घरेलू विपत्ति और राज विद्रोह आदि फैलते हैं ॥ ७ ॥

उत यत् पतयो दश स्त्रियाः पूर्वे अब्राह्मणाः । ब्रह्मा चेद्धस्तमग्रहीत् स एव पतिरेकधा ॥ ८ ॥

उत । यत् । पतयः । दश । स्त्रियाः । पूर्वे । अब्राह्मणाः । ब्रह्मा ।

(दधाति) धरति । स्थापयति (परमे) उत्तमे (व्योमन्) वि+अव-मनिन् । सप्तमीलोपः । व्यवने—निरु० ११ । ४० । विविधं रक्षणीये स्थाने ॥

७—(ये) (गर्भाः) भ्रूणाः (अवपद्यन्ते) अधः पतन्ति (जगत्) जङ्गमं पश्वादिवृन्दम् (यत्) (च) (अपलुप्यते) अव छिद्यते (वीराः) शूराः (ये) (तृह्यन्ते) हिंस्यन्ते (मिथः) परस्परम् (ब्रह्मजाया) म० २ । सा अपनीता ब्रह्मविद्या (हिनस्ति) नाशयति (तान) पूर्वोक्तान् ॥

च । इत् । हस्तम् । अग्रहीत् । सः । एव । पतिः । एक-धा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(उत्) और (यत्) जो (स्त्रियाः) शब्दकारिणी विद्या के (दश) दस (पतयः) रक्षक (पूर्वे) सब (अब्राह्मणाः) ब्राह्मण से भिन्न होवें (च) और [जो] (ब्रह्मा) ब्रह्मा, ब्रह्मज्ञानी ने (इत्) ही (हस्तम्) हाथ (अग्रहीत्) पकड़ा, (सः एव) वही (एकधा) मुख्य प्रकार से (पतिः) रक्षक है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अविद्वान् लोग दस वा अधिक मिलकर वेद विद्या की रक्षा नहीं कर सकते, ब्रह्मज्ञानी अकेला ही उसकी रक्षा कर सकता है ॥ ८ ॥

ब्राह्मण एव पतिर्न राजन्यो ३ न वैश्यः ।
तत् सूर्यः प्रब्रुवन्नेति पञ्चभ्यो मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

ब्राह्मणः । एव । पतिः । न । राजन्यः । न । वैश्यः । तत् । सूर्यः । प्र-ब्रुवन् । एति । पञ्चभ्यः । मानवेभ्यः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणः) वेदवेत्ता ब्राह्मण (एव) ही (पतिः) रक्षक है, (न) न (राजन्यः) क्षत्रिय और (न) न (वैश्यः) वैश्य है । (तत्) यह बात (सूर्यः) सर्व प्रेरक परमेश्वर (पञ्चभ्यः) विस्तृत (मानवेभ्यः)

८—(उत) अपि च (यत्) (पतयः) रक्षकाः (दश) दश संख्याकाः (स्त्रियाः) स्त्यायतेर्ड्रट् । उ० ४ । १६६ । इति ष्ट्यै स्त्यै शब्दसंघातयोः-ड्रट्, ङीप् यलोपः । स्त्यायति शब्दयति सा स्त्री तस्याः विद्यायाः (पूर्वे) समस्ताः (अब्राह्मणाः) ब्राह्मणेन वेदज्ञेन भिन्नाः (ब्रह्मा) वृद्धिशीलो ब्रह्मवेत्ता (च) (इत्) एव (हस्तम्) वशम् (अग्रहीत्) आनीतवान् (सः) ब्रह्मा (एव) अवधारणे (पतिः) रक्षकः (एकधा) मुख्य प्रकारेण ॥

९—(ब्राह्मणः) वेदवेत्ता (एव) निश्चयेन (पतिः) रक्षकः (न) निषेधे (राजन्यः) राजेरन्यः । उ० ३ । १०० । इति राजृ दीप्तौ ऐश्ये च-अन्य । ऐश्वर्यवान् । क्षत्रियः (न) (वैश्यः) विश्-ष्यञ् । विड्भ्यः प्रजाभ्यो मनुष्येभ्यो वा हितः । वणिक् । व्यवहर्ता (तत्) वचनम् (सूर्यः) सविता सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (प्र ब्रुवन्) प्रकथयन् (एति) गच्छति (पञ्चभ्यः) सप्पशुभ्यां

मनन शील मनुष्यों को (प्र भुवन्) कहता हुआ (एति) चलता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—ब्रह्म ज्ञानी ही अपनी मानसिक शक्ति से वेद की रक्षा कर सकता है, दूसरे नहीं कर सकते, यह परमेश्वर का वचन है। इस लिये सब मनुष्य मुख्य वेद बल के साथ दूसरे गौण बलों को बढ़ावें ॥ ९ ॥

पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या अददुः ।
राजानः सत्यं गृह्णाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः ॥ १० ॥

पुनः । वै । देवाः । अददुः । पुनः । मनुष्याः । अददुः ।
राजानः । सत्यम् । गृह्णानाः । ब्रह्म-जायाम् । पुनः । ददुः ॥१०

भाषार्थ—(देवाः) सूर्यादि देवताओं ने (पुनः) निश्चय करके (वै) ही (अददुः) दान किया है और (मनुष्याः) मनुष्यों ने (पुनः) निश्चयकरके (अददुः) दान किया है । (सत्यम्) सत्य (गृह्णानाः) ग्रहण करते हुये (राजानः) राजा लोगों ने (ब्रह्मजायाम्) ब्रह्मविद्या को (पुनः) अवश्य (ददुः) दिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर सत्संग, राज नियम, और सूर्य आदि पदार्थों के विवेक से ब्रह्म विद्या का दान करते आये हैं, इसी प्रकार सब को करना चाहिये ॥ १० ॥

पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वा देवैर्निकिल्बिषम् ।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वोरुगायमुपासते ॥ ११ ॥

पुनः-दाय । ब्रह्म-जायाम् । कृत्वा । देवैः । निः-किल्बिषम् ।
ऊर्जम् । पृथिव्याः । भक्त्वा । उरु-गायम् । उप । आसते ॥११॥

मृद् च । उ० १ । १४७ । इति पचि विस्तारे व्यक्तीकारे च—कनिन् । विस्तृतेभ्यः (मानवेभ्यः) मननशीलेभ्यो मनुष्येभ्यः ॥

१०—(पुनः वै) अवश्यमेव (देवाः) सूर्यादयो लोकाः (अददुः) अदुः । दत्तवन्तः (पुनः) (मनुष्याः) (अददुः) (राजानः) ऐश्वर्यवन्तः (सत्यम्) याथातथ्यम् (गृह्णानाः) स्वीकुर्वाणाः (ब्रह्मजायाम्) म० २ । वेद-विद्याम् (पुनः) अवश्यम् (ददुः) दत्तवन्तः ॥

भाषार्थ—[मनुष्य] (ब्रह्मजायाम्) वेद विद्या को (पुनर्दाय) अवश्य देकर और (देवैः) उत्तम गुणों के कारण (निकिल्बिषम्) पाप से छुटकारा (कृत्वा) करके [पृथिव्याः] पृथिवी के (ऊर्जम्) बलदायक अन्न को (भक्त्वा) बांट कर (उरुगायम्) बड़ी कीर्तिवाले परमात्मा को (उपासते) भजते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्या द्वारा शुद्धचित्त होकर सब पदार्थों से उपकार करके परमात्मा की आज्ञा पालते रहते हैं ॥ ११ ॥

नास्य॑ जा॒या श॑तवा॒ही क॑ल्या॒णी त॒ल्प॒मा श॑ये ।

यस्मि॑न् रा॒ष्ट्रे नि॑रु॒ध्यते॑ ब्रह्मजा॒याचि॑त्त्या ॥ १२ ॥

न । अ॒स्य॒ । जा॒या । श॒त॒-वा॒ही । क॒ल्या॒णी । त॒ल्प॑म् । आ । श॒ये॒ । यस्मि॑न् । रा॒ष्ट्रे । नि॒-रु॒ध्यते॑ । ब्र॒ह्म॒-जा॒या । अचि॑त्त्या ॥१२

भाषार्थ—(अस्य) उसकी (जाया) विद्या (शतवाही) सैकड़ों कार्य निबाहने वाली (कल्याणी) कल्याणी होकर (तल्पम्) प्रतिष्ठा (न) नहीं (आ शये=शेते) पाती है । (यस्मिन्) जिस (राष्ट्रे) राज्य में (ब्रह्म-जाया) वेद विद्या (अचित्त्या) अचेतपन से (निरुध्यते) रोकी जाती है ।१२॥

भावार्थ—अविद्या के प्रचार और वेदविद्या की रोक से किसी राज्य में कल्याण नहीं होता ॥ १२ ॥

११—(पुनर्दाय) अवश्यं दत्वा (ब्रह्मजायाम्) म० २ । वेदविद्याम् (कृत्वा) विधाय (देवैः) दिव्यगुणैः (निकिल्बिषम्) म० २ । पापराहित्यम् (ऊर्जम्) बलकरमन्नम् (पृथिव्याः) भूमेः (भक्त्वा) भज भागे सेवायां च । विभज्य (उरुगायम्) अ० २ । १२ । १ । उरु+गै गाने—घञ् बहुगीयमानं परमात्मानम् (उपासते) सेवन्ते ॥

१२—(न) निषेधे (अस्य) राष्ट्रस्य (जाया) म० ६ । विद्या (शतवाही) शत+वह प्रापणे—अण्, ङीप् । बहुपदार्थप्रापयित्री (कल्याणी) कल्ये प्रातः अण्यते शब्द्यते । कल्य+अण शब्दे जीवने च-घञ्, ङीप् । मङ्गलप्रदा (तल्पम्) खष्पशिल्प० । उ० ३ । २८ । इति तल प्रतिष्ठायाम्-प । प्रतिष्ठाम्) स्थिरताम् (आ शये) तलोपः । आशेते । प्राप्नोति (यस्मिन्) (राष्ट्रे) राज्ये (निरुध्यते) निवार्यते (ब्रह्मजाया) म० २ । ब्रह्मविद्या (अचित्त्या) चिती-क्तिन् । अचेतनया । अज्ञानेन ॥

न विकुर्णः पृथुशिरास्तस्मिन् वेश्मनि जायते ।
यस्मिन्० ॥ १३ ॥

न । वि-कुर्णः । पृथु-शिराः । तस्मिन् । वेश्मनि । जायते ॥०॥१३

भाषार्थ—(विकर्णः) विशेष श्रवण शक्ति वाला और (पृथुशिराः) विस्तीर्ण मस्तक शक्ति वाला पुरुष (तस्मिन्) उस (वेश्मनि) घर में (न) नहीं (जायते) होता है (यस्मिन्) जिस (राष्ट्रे) राज्य में······ ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्या से ही बहुश्रुत और विज्ञानी होते हैं ॥ १३ ॥

नास्यं क्षुत्ता निष्कग्रीवः सूनानामेत्यग्रतः ।
यस्मिन् ० ॥ १४ ॥

न । अस्य । क्षुत्ता । निष्क-ग्रीवः । सूनानाम् । एति । अग्रतः ॥० १

भाषार्थ—(अस्य) उसका (निष्कग्रीवः) सोने के कण्ठे वाला (क्षत्ता) द्वारपाल (सूनानाम्) ऐश्वर्य वाले पुरुषों के (अग्रतः) सन्मुख (न) नहीं (एति) जाता है । (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में······ ॥ १४ ॥

भावार्थ—वेदविद्या के नाश होने से मनुष्य निर्धन हो कर उत्तम सेवक नहीं रख सकते ॥ १५ ॥

नास्यं श्वेतः कृष्णकर्णो धुरि युक्तो महीयते ।
यस्मिन्० ॥ १५ ॥

१३—(न) निषेधे (विकर्णः) कर्ण भेदने-अच् । विशेषश्रवणः । बहुश्रुतः (पृथुशिराः) विस्तीर्णमस्तकशक्तियुक्तः । बहुप्रज्ञः (तस्मिन्) (वेश्मनि) गृहे (जायते) उत्पद्यते ॥

१४—(न) निषेधे (अस्य) राज्ञः (क्षत्ता) तृन्तृचौ शंसिक्षदादिभ्यः० । उ० २ । ९४ । इति क्षद सम्वृतौ-तृच् । द्वारपालः (निष्कग्रीवः) निष्क माने —घञ् । सुवर्णालङ्कारः कण्ठे यस्य सः (सूनानाम्) पुञो दीर्घश्च । उ० ३ ।१३। इति षु प्रसवैश्वर्ययोः—न । ऐश्वर्यवतां पुरुषाणाम् (एति) गच्छति (अग्रतः) अभिमुखम् ॥

न । अस्य । श्वेतः । कृष्ण-कर्णः । धुरि । युक्तः । महीयते ॥०॥१५॥

भाषार्थ—(अस्य) उसका (श्वेतः) श्वेत, (कृष्णकर्णः) श्यामकर्ण घोड़ा (धुरि) रथ के जूये में (युक्तः) जुता हुआ (न) नहीं (महीयते) बड़ाई पाता है । (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में······ ॥ १५ ॥

भावार्थ—वेदविद्याहीन पुरुषों के पास उत्तम घोड़े आदि नहीं होते ॥१५

नास्य क्षेत्रे पुष्करिणी नाण्डीकं जायते बिसम् ।
यस्मिन्०॥ १६ ॥

न । अस्य । क्षेत्रे । पुष्करिणी । न । आण्डीकम् । जायते ।
बिसम् ॥ ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उसके (क्षेत्रे) खेत में (न) न (पुष्करिणी) पोषणवती शक्ति, और (न) न (आण्डीकम्) प्राप्ति योग्य और (बिसम्) बल दायक वस्तु (जायते) होती है (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में···॥१६॥

भावार्थ—वेद विद्या के विना न खेती विद्या और न व्यापार विद्या प्रवृत्त होती है ॥ १६ ॥

नास्मै पृश्निं वि दुहन्ति येऽस्या दोहमुपासते ।
यस्मिन् राष्ट्रे निरुध्यते ब्रह्मजायाचित्त्या ॥ १७ ॥

न । अस्मै । पृश्निम् । वि । दुहन्ति । ये । अस्याः । दोहम् ।

१५—(न) निषेधे (अस्य) (श्वेतः) शुक्लवर्णः (कृष्णकर्णः) श्यामकर्णोऽश्वः (धुरि) धुर्व हिंसायाम्-क्विप् । यानमुखे (युक्तः) युगं गतः (महीयते) महीङ् पूजायाम् । पूज्यते स्तूयते ॥

१६—(न) (अस्य) (क्षेत्रे) शस्योत्पत्तिस्थाने (पुष्करिणी) अ० ४ । ३४ । ५ । पुष पुष्टौ-करन् । पुष्करं पोषणमस्त्यत्र, पुष्कर-इनि । पोषणवती शक्तिः (न) निषेधे (आण्डीकम्) अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । इति अम गतौ-ड । अण्ड— ईकन् । प्राप्तियोग्यम् (जायते) उत्पद्यते (बिसम्) अ० ४ । ३४ । ५ । बलकरं वस्तु ॥

उप-आसते । यस्मिन् । राष्ट्रे । नि-रुध्यते । ब्रह्म-जाया । अचित्त्या ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) उस [राजा] के लिये (पृश्निम्) स्पर्शवती पृथिवी को [वे लोग] (वि) विशेष करके (न) नहीं (दुहन्ति) दुहते हैं (ये) जो (अस्याः) इस [भूमि] के (दोहम्) रस को (उपासते) सेवन करते हैं । (यस्मिन् राष्ट्रे) जिस राज्य में (ब्रह्मजाया) वेद विद्या (अचित्त्या) अचेतपन से (निरुध्यते) रोकी जाती है ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में अधिकारी लोग वेदज्ञाता नहीं होते, वहां उस राज्य से राजा को लाभ नहीं पहुंचता ॥ १७ ॥

नास्य धेनुः कल्याणी नानड्वान्त्सहते धुरम् ।
विजानिर्यत्र ब्राह्मणो रात्रिं वसति पापया ॥ १८ ॥

न । अस्य । धेनुः । कल्याणी । न । अनड्वान् । सहते । धुरम् । वि-जानिः । यत्र । ब्राह्मणः । रात्रिम् । वसति । पापया ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(न) न तो (अस्य) उसकी (धेनुः) दुधैल गौ (कल्याणी) कल्याणी [होती है] और (न) (अनड्वान्) छकड़ा ले चलने वाला बैल (धुरम्) धुर वा जूये को (सहते) सहता है । (यत्र) जहां (विजानिः)

१७—(न) निषेधे (अस्मै) राज्ञे (पृश्निम्) स्पर्शवतीं भूमिम् (वि) विशेषेण (दुहन्ति) प्रपूरयन्ति (ये) पुरुषाः (अस्याः) पृश्नेः (दोहम्) रसम् (उपासते) सेवन्ते । अन्यद् यथा म० १२ ॥

१८—(न) निषेधे (अस्य) राज्ञः (धेनुः) दुग्धवती गौः (कल्याणी) मङ्गलवती (न) निषेधे (अनड्वान्) अ० ४ । ११ । १ । शकटवाही वृषभः (सहते) वहति (धुरम्) युगम् । भारम् (विजानिः) जाया-म० २ । जायाया निङ् । पा० ५ । ४ । १३४ । वि+जायाशब्दस्य निङ् । विगता जाया विद्या यस्य सः । विगतविद्याभ्यासः (यत्र) यस्मिन् राष्ट्रे (ब्राह्मणः) वेदवेत्ता

विद्याभ्यास बिना (ब्राह्मणः) ब्राह्मण (रात्रिम्) रात को (पापया) कष्ट से (वसति) वसता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में ब्राह्मण विद्याभ्यास नहीं करता, वहां दुधैल गौयें और बलवान् बैल आदि उपकारी पशु नहीं होते हैं ॥ १८ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-१५ ॥ गौर्ब्राह्मणो वा देवता ॥ १-३, ६, ७, १०- १२, १४, १५ अनुष्टुप्; ४, ५, ८, ६, १३ त्रिष्टुप् ॥

वेदविद्यारक्षणोपदेशः—वेद विद्या की रक्षा का उपदेश ॥

नैतां ते॑ दे॒वा अ॑ददु॒स्तुभ्यं॑ नृपते॒ अत्त॑वे ।
मा ब्रा॑ह्म॒णस्य॑ राजन्य॒ गां जि॑घत्सो अना॒द्याम् ॥ १ ॥

न । ए॒ताम् । ते॒ । दे॒वाः । अ॒द॒दुः । तुभ्य॑म् । नृ॒-प॒ते॒ । अत्त॑वे ।
मा । ब्रा॒ह्म॒णस्य॑ । रा॒ज॒न्य॒ । गाम् । जि॒घ॒त्सः॒ । अ॒ना॒द्याम् ॥१॥

भाषार्थ—(नृपते) हे नरपति राजन् ! (ते) तेरे (देवाः) दिव्य गुण वाले पुरुषों ने (तुभ्यम्) तुझे (एताम्) इस [वाणी] को (अत्तवे) नाशकरने को (न) नहीं (अददुः) दिया है । (राजन्य) हे राजन् ! (ब्राह्मणस्य)

(रात्रिम्) निशाम् (वसति) वासं करोति (पापया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेर्या । पापेन कष्टेन ॥

१—(न) निषेधे (एताम्) गाम् (ते) तव । अनुदात्तोऽयम् (देवाः) दिव्यगुणाः पुरुषः (अददुः) दत्तवन्तः (तुभ्यम्) (नृपते) हे मनुष्यरक्षक राजन् (अत्तवे) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । इति अद भक्षणे नाशने च-तवेन् । नाशयितुम् (मा) निषेधे (ब्राह्मणस्य) वेदज्ञस्य । आप्तपुरुषस्य (राजन्य) अ० ५ । १७ । ६ । हे ऐश्वर्यवन् (गाम्) गमेर्डोः । उ० । २ । ६७ । इति गम्लृ गतौ, यद्वा, गै गाने-डो । गच्छति जानाति यया गीयते वा सा गौः । गौः, वाङ्नाम-निघ० । १ । ११ । वाणीम् (जिघत्सः) अद-सन्, घस्लृ इत्यादेशे

वेदवेत्ता पुरुष की (गाम्) वाणी को, (अनाद्याम्) जो नष्ट नहीं हो सकती है, (मा जिघत्सः) मत नाश कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा आप्त सत्यवादी वेदज्ञ पुरुष की वाणी में रह कर आनन्द करे ॥ १ ॥

अक्षद्रुग्धो राजन्यः पाप आत्मपराजितः ।
स ब्राह्मणस्य गामद्यादद्य जीवानि मा श्वः ॥ २ ॥

अक्ष-द्रुग्धः । राजन्यः । पापः । आत्म-पराजितः । सः । ब्राह्मणस्य । गाम् । अद्यात् । अद्य । जीवानि । मा । श्वः ॥२

भाषार्थ—(अक्षद्रुग्धः) इन्द्रियों से नष्ट किया हुआ, (पापः) पापी, (आत्मपराजितः) आत्मा से हारा हुआ (सः) वह (राजन्यः) क्षत्रिय (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण, वेदवेत्ता की (गाम्) वाणी) को (अद्यात्) नाश करे, (अद्य) आज (जीवानि=जीवतु) वह जीवे, (श्वः) कल्य (मा) नहीं ॥२॥

भावार्थ—वेदविद्या पर न चलने से दुष्कर्मों के कारण अजितेन्द्रिय राजा का जीवन घट जाता है ॥ २ ॥

आविष्टिताघविषा पृदाकूरिव चर्मणा ।
सा ब्राह्मणस्य राजन्य तृष्टैषा गौरनाद्या ॥ ३ ॥

आ-विष्टिता । अघ-विषा । पृदाकूः-इव । चर्मणा । सा । ब्राह्मणस्य । राजन्य । तृष्टा । एषा । गौः । अनाद्या ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(चर्मणा) कांचुली से (आविष्टिता) वियोग रखने वाली,

लेटि रूपम् । नाशय (अनाद्याम्) अद-ण्यत् । केनापि नाशयितुमशक्याम् आप्तवचनत्वात् ॥

२—(अक्षद्रुग्धः) अक्षैरिन्द्रियैर्नाशितः । अजितेन्द्रियः (राजन्यः) राजा (पापः) पाप-अर्श आद्यच् । दुष्टः (आत्मपराजितः) आत्मना पराभूतः (सः) (ब्राह्मणस्य) वेदवेत्तुः विप्रस्य (गाम्) वाणीम् (अद्यात्) भक्षयेत् (अद्य) अस्मिन् दिने (मा) निषेधे (श्वः) आगामिनि दिवसे ॥

३—(आविष्टिता) आङ्+विष विप्रयोगे-क्त । तदस्य संजातं तारका-

(अघविषा) घोर विषैली (पृदाकूः इव) फुंसकारती सांपिनी के समान.(सा एषा) वह यह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गौः) वाणी, (राजन्य) हे राजन्! (तृष्टा) प्यास से व्याकुल के समान है (अनाद्या) जिसे कोई नष्ट नहीं कर सकता ॥३॥

भावार्थ—जैसे कांचुली से निकल कर सांपिनी दुष्ट विषैली होती है, वैसे ही अविद्या के फैलने से नष्ट वेदविद्या सब ओर विपत्ति फैलाती है ॥ ३॥

निर्वै क्षत्रं नयति हन्ति वर्चोऽग्निरिवारब्धो वि दुनोति सर्वम्। यो ब्राह्मणं मन्यते अन्नमेव स विषस्य पिबति तैमातस्य ॥ ४ ॥

निः। वै। क्षत्रम्। नयति। हन्ति। वर्चः। अग्निः-इव। आरब्धः। वि। दुनोति। सर्वम्। यः। ब्राह्मणम्। मन्यते। अन्नम्। एव। सः। विषस्य। पिबति। तैमातस्य ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य (ब्राह्मणम्) ब्रह्म ज्ञानी को (अन्नम्) अन्न (एव) ही (मन्यते) मानता है, (सः) वह (तैमातस्य) जल में भीगे (विषस्य) विष का (पिबति) पान करता है, (वै) निश्चय करके (क्षत्रम्) अपना धन वा बल (निर् नयति) बाहिर फेंकता है, (वर्चः) अपना तेज

दिभ्य इतच्। पा० ५। २। ३६। इति आविष्ट-इतच्। आविष्टेन वियोगेन युक्ता (अघविषा) घोरविषवती (पृदाकूः) अ० १। २७। १। कुत्सितशब्दकारिणी सर्पिणी (इव) यथा (चर्मणा) त्वगावरणेन (सा) (ब्राह्मणस्य) विप्रस्य (राजन्य) हे राजन् (तृष्टा) जि तृषा पिपासायाम्-क्त। पिपासितेव व्याकुला (गौः) वाणी (अनाद्या) म० १। केनापि न नाशनीया ॥

४—(निर्) बहिर्भावे (वै) निश्चयेन (क्षत्रम्) अ० २। १५। ४। क्षतात् त्रायकं बलं धनं वा (नयति) प्रापयति (हन्ति) नाशयति (वर्चः) तेजः (अग्निः) पावकः (इव) यथा (आरब्धः) समन्तादुद्यतः। प्रज्वलितः (वि) विशेषेण (दुनोति) उपतापयति (सर्वम्) सम्पूर्णपदार्थजातम् (यः) दुष्टः (ब्राह्मणम्) अनूचानम् (मन्यते) जानाति (अन्नम्) अदनीयं वस्तु (एव) निश्चयेन (सः) दुराचारी (विषस्य) हलाहलस्य (पिबति) पानं

(हन्ति) खोता है, और (आरब्धः) चारो ओर से लगी हुयी (अग्निः इव) अग्नि के समान (सर्वम्) अपना सब कुछ (वि दुनोति) जला देता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेद ज्ञानियों को सताने वाला पुरुष अज्ञान के कारण अपने आप ही अपना नाश कर लेता है ॥ ४ ॥

य एनं हन्ति मृदुं मन्यमानो देवपीयुर्धनकामो न चित्तात्। सं तस्येन्द्रो हृदयेऽग्निमिन्ध उभे एनं द्विष्टो नभसी चरन्तम् ॥ ५ ॥

यः। एनम्। हन्ति। मृदुम्। मन्यमानः। देव-पीयुः। धन-कामः। न। चित्तात्। सम्। तस्य। इन्द्रः। हृदये। अग्निम्। इन्धे। उभे इति। एनम्। द्विष्टः। नभसी इति। चरन्तम् ॥५॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवपीयुः) विद्वानों का हिंसक, (धनकामः) धन चाहने वाला पुरुषः (न चित्तात्) विना विचारे (एनम्) इस [ब्राह्मण] को (मृदुम्) कोमल (मन्यमानः) मानता हुआ (हन्ति) नाश करता है, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष [ब्राह्मण वा परमेश्वर] (तस्य) उसके (हृदये) हृदय में (अग्निम्) अग्नि (सम् इन्धे) जला देता है, (उभे) दोनों (नभसी) सूर्य और पृथिवी लोक, (चरन्तम्) विचरते हुये (एनम्) इस पुरुष से (द्विष्टः) द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—आप्त पुरुषों के विरोधी मनुष्य का संसार भर में कोई साथी नहीं होता ॥ ५ ॥

करोति (तैमातस्य) अ० ५। १३। ६। तिमात—अण्। तिमातेन क्लेदनसाधनेन जलेन युक्तस्य ॥

५—(यः) नास्तिकः (एनम्) आस्तिकं ब्राह्मणम् (हन्ति) नाशयति (मृदुम्) प्रथिम्रदिभ्रस्जां० । उ० । १ । २८ । इति म्रद मर्दने-कु, सम्प्रसारणं च । कोमलम् (मन्यमानः) जानन् सन् (देवपीयुः) अ० ४ । ३५ । ७। देवानां विदुषां हिंसकः (धनकामः) धनेच्छुः (न चित्तात्) अज्ञानात् (सम) सम्यक् (तस्य) ब्रह्महिंसकस्य (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् ब्राह्मणः परमेश्वरो वा (हृदये) मनसि (अग्निम्) दाहम् (इन्धे) दीपयति (उभे) द्वे (एनम्) ब्रह्मद्वेषम् (द्विष्टः) द्रुह्यतः (नभसी) नहेर्दिवि भश्च । उ० ४ । २११ । इति णह बन्धने-असुन्, हस्य भः । द्यावापृथिव्यौ-निघ० । ३ । ३०. (चरन्तम्) विचारन्तम् ॥

न ब्रा॒ह्म॒णो हिंसि॑त॒व्यो॒३॒॑ग्निः प्रि॒यत॑नोरिव ।
सोमो॒ ह्य॑स्य दाया॒द इन्द्रो॑ अस्याभिशस्ति॒पाः ॥ ६ ॥

न । ब्रा॒ह्म॒णः । हिं॒सि॒त॒व्यः॑ । अ॒ग्निः । प्रि॒यत॑नोः-इव । सोमः॑ । हि । अ॒स्य॒ । दा॒या॒दः । इन्द्रः॑ । अ॒स्य॒ । अ॒भि॒श॒स्ति॒-पाः ॥ ६

भाषार्थ—(प्रियतनोः=०-नुः) तन को प्रिय लगने वाले (अग्निः इव) अग्नि के समान वर्तमान (ब्राह्मणः) ब्रह्मज्ञानी (न) नहीं (हिंसितव्यः) सताया जा सकता है । (हि) क्योंकि (सोमः) चन्द्रमा (अस्य) इसका (दायादः) दायभागी [के समान] और (इन्द्रः) सूर्य (अस्य) इसका (अभिशस्तिपाः) अपवाद से बचाने वला है ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्राह्मण वेदों का तत्त्व जानने से महाप्रबल होता है क्योंकि वह सूर्य चन्द्रमा के समान नियम पर चलता है ॥ ६ ॥

श॒ताप॑ाष्ठां नि गि॑रति॒ तां न श॑क्नोति निः॒खिद॑न् ।
अन्नं॒ यो ब्र॒ह्मणां॑ म॒ल्वः स्वा॒द्व॑१॒द्मीति॒ मन्य॑ते ॥७॥

श॒त-अ॑पाष्ठाम् । नि । गि॒र॒ति॒ । ताम् । न । श॒क्नोति॒ । निः॒-खिद॑न् । अन्न॑म् । यः । ब्र॒ह्मणा॑म् । म॒ल्वः । स्वा॒दु । अ॒द्मि॒ । इति॑ । मन्य॑ते । ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वह [दुष्ट] (शतापाष्ठाम्) सैकड़ों दुर्मार्गों वाली विपत्ति

६—(न) निषेधे (ब्राह्मणः) वेदज्ञ आप्तपुरुषः (हिंसितव्यः) केनापि हिंसितुमशक्यः (अग्निः) पावकः (प्रियतनोः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति प्रथमायाः षष्ठी । प्रियतनुः । शरीरस्य हितकरः (इव) यथा (सोमः) चन्द्रः (हि) यस्मात्कारणात् (अस्य) ब्राह्मणस्य (दायादः) दा दाने-घञ् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । दायं विभजनीयधनमादत्ते । आतश्चोपसर्गे पा० । ३ । १ । १३६ । इति आ+दा-क । यद्वा, दायमत्ति, अद भोजने-अण् । दायभागी पुरुषो यथा (इन्द्रः) सूर्यः (अस्य) (अभिशस्तिपाः) अ० २ । १३ । ३ । अपवादाद् रक्षकः ॥

७—(शतापाष्ठाम्) शत+अप+आस्थाम् । शतानि अपाष्ठा दुर्व्यवस्था

को (नि गरति) निगलता है [पाता है] और (ताम्) उसको (निः खिदन्) पचाता हुआ [पचाने को] (न) नहीं (शक्नोति) समर्थ होता है। (ब्रह्मणाम्) ब्राह्मणों के (अन्नम्) अन्न को (स्वादु) स्वादु से (अद्मि) मैं खाता हूं, (यः) जो (मल्वः) मलिन पुरुष (इति) ऐसा (मन्यते) मानता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य आप्त-विद्वानों पर अत्याचार करता है, वह अनिवारणीय विपत्ति में ही पड़ता है ॥ ७ ॥

जिह्वा ज्या भवति कुल्मलं वाङ्नाडीका दन्तास्तपसाभिदिग्धाः। तेभिर्ब्रह्मा विध्यति देवपीयून् हृद्बलैर्धनुर्भिर्देवजूतैः ॥ ८ ॥

जिह्वा । ज्या । भवति । कुल्मलम् । वाक् । नाडीकाः। दन्ताः । तपसा । अभि-दिग्धाः । तेभिः । ब्रह्मा । विध्यति । देव-पीयून् । हृत्-बलैः । धनुः-भिः । देव-जूतैः ॥८ ॥

भाषार्थ—[ब्राह्मण की] (जिह्वा) जीभ (ज्या) धनुष् की डोरी, (वाक्) वाणी (कुल्मलम्) बाण का दण्डा (भवति) होती है और [उस की] (नाडीकाः) गले के भाग (तपसा) आग से (अभिदिग्धाः) पोते हुये (दन्ताः) तीर के दांत हैं। (ब्रह्मा) ब्राह्मण (हृद्बलैः) हृदय तोड़ने वाले,

---

यस्यां तां बहुदुर्मार्गयुक्तां विपत्तिम् (नि गरति) भक्षयति प्राप्नोति (ताम्) विपत्तिम् (न) निषेधे (शक्नोति) समर्थो भवति (नि खिदन्) खिद परिघाते-शतृ। परिघ्नन्। परिपचन् (अन्नम्) जीवनसाधनं भोग्यम् (यः) (ब्रह्मणाम्) ब्राह्मणानाम् (मल्वः) अ० ४। २६। १०। मलिनः। क्रूरः (स्वादु) कृवापाजिमिस्वदि० । उ० १ । १ । इति ष्वद् स्वादे-उण्। यथा तथा। भोज्यम्। मनोहरम् (अद्मि) भक्षयामि (इति) एवम् (मन्यते) जानाति ॥

८—(जिह्वा) रसना (ज्या) मौर्वी यथा (भवति) (कुल्मलम्) अ० २। ३०। ३। बाणदण्डच्छिद्रम् (वाक्) वाणी (नाडीकाः) नाड्यो विद्यन्तेऽस्य, नाडी-ठन्, छान्दसो दीर्घः। गलभागाः (दन्ताः) अ० ४। ३। ६। दन्तवत्तीक्ष्णाः शराग्रः (तपसा) तापकेनाग्निना (अभिदिग्धाः) अभिलिप्ताः

(देवजूतैः) विद्वानों के भेजे हुये (तेभिः) उन (धनुर्भिः) धनुषों से (देवपीयून्) विद्वानों के सताने वालों को (विध्यति) छेदता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य अपने विद्याबल से दुष्टों का नाश कर देता है ॥८॥

तीक्ष्णेषवो ब्राह्मणा हेतिमन्तो यामस्यन्ति शरव्यां न सा मृषा । अनुहाय तपसा मन्युना चोत दूरादव भिन्दन्त्येनम् ॥ ९ ॥

तीक्ष्ण-इषवः । ब्राह्मणाः । हेति-मन्तः । याम् । अस्यन्ति । शरव्याम् । न । सा । मृषा । अनु-हाय । तपसा । मन्युना । च । उत । दूरात् । अव । भिन्दन्ति । एनम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तीक्ष्णेषवः) तीक्ष्ण बाण वाले, (हेतिमन्तः) बरछियों वाले (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण लोग (याम्) जिस (शरव्याम्) बाणों की झड़ी के (अस्यन्ति) छोड़ते हैं, (सा) वह (मृषा) मिथ्या (न) नहीं होती । (तपसा) तप से (च) और (मन्युना) क्रोध से (अनुहाय) पीछा करके (दूरात्) दूर से (उत) ही (एनम्) इस [वैरी] को (अव भिन्दन्ति) वे लोग छेद डालते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जब ब्राह्मण क्रुद्ध होते हैं, दुष्टों को जड़मूल से मिटा देते हैं ॥ ९ ॥

ये सहस्रमराजन्नासन् दशशता उत ।
ते ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा वैतहव्याः पराभवन् ॥ १० ॥

(तेभिः) तैः (ब्रह्मा) ब्राह्मणः (विध्यति) छिनत्ति (देवपीयून्) म० ५ । विद्वत्पीडकान् (हृद्बलैः) बल प्राणने बधे च-अच् । हृदयघातकैः (धनुर्भिः) चापैः (देवजूतैः) विद्वद्भिः प्रेरितैः ॥

९—(तीक्ष्णेषवः) तीव्रबाणोपेताः (ब्राह्मणाः) वेदज्ञाः (हेतिमन्तः) वज्रोपेताः (याम्) (अस्यन्ति) क्षिपन्ति (शरव्याम्) अ० १ । १९ । ३ । शरसंहतिम् (न) निषेधे (सा) (मृषा) मिथ्या (अनुहाय) ओहाङ् गतौ-ल्यप् । अनुगत्य (तपसा) तपनेन (मन्युना) क्रोधेन (च) (उत) एव (दूरात्) विप्रकृष्टस्थानात् (अव) अनादरे (भिन्दन्ति) छिन्दन्ति (एनम्) शत्रुम् ॥

ये । सहस्रम् । अराजन् । आसन् । दशऽशताः । उत । ते । ब्राह्मणस्य । गाम् । जग्ध्वा । वैतऽहव्याः । परा । अभवन् ॥१०॥

भाषार्थ—(ये) जो (सहस्रम्) बलवान् सेना दल पर (अराजन्) राज करते थे और (उत) आप भी (दशशताः) दस सौ (आसन्) थे। (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गाम्) वाणी को (जग्ध्वा) नाश करके (ते) वे (वैतहव्याः) देवताओं के अन्न खाने वाले (पराभवन्) हार गये ॥ १० ॥

भावार्थ—जिन मनुष्यों के बहुत सी सेना और परिवार भी बड़ा होता है, वे पाखण्डी वेद आज्ञा पर न चल कर नष्ट हो जाते हैं ॥ १० ॥

गौरे॒व तान् ह॒न्यमा॑ना वैतह॒व्याँ अवा॑तिरत् ।
ये केस॑रप्राबन्धायाश्च॒रमाजा॒मपे॑चिरन् ॥ ११ ॥

गौः । एव । तान् । ह॒न्यमा॑ना । वैतऽहव्यान् । अव॑ । अति॒रत् । ये । केस॑रऽप्राबन्धायाः । च॒रम्ऽअजाम् । अपे॑चिरन् ॥११॥

भाषार्थ—(हन्यमाना) नाश कीयी जाती हुयी (गौः) वाणी ने (एव) अवश्य (तान्) उन (वैतहव्यान्) देवताओं के अन्न खाने वालों को (अवातिरत्) उतार दिया है। (ये) जिन्हों ने (केसरप्राबन्धायाः) आत्मा में चलने

१०—(ये) पाखण्डिनः (सहस्रम्) सहस्वत्-निघ० ३ । १० । सहो बलम्-निघ० २ । १, रो मत्वर्थीयः । बलवत् सेनादलम् (अराजन्) अशासुः (आसन्) अभवन् (दशशताः) अर्श आद्यच् । दशशतयुक्ताः । बहुसंख्याकाः (उत) अपि (ते) (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्तुः (गाम्) वाणीम् (जग्ध्वा) भक्षयित्वा नाशयित्वा (वैतहव्याः) वी खादने-क । वीतं खादितं हव्यं देवयोग्यान्नं यैस्ते वीतहव्याः । स्वार्थे अण् (पराभवन्) पराजयं प्राप्तवन्तः ॥

११—(गौः) वाणी (एव) अवश्यम् (तान्) (हन्यमाना) हिंस्यमाना नाश्यमाना (वैतहव्यान्) म० १० । वीतहव्यान् खादितदेवयोग्यान्नान् (अवातिरत्) पराभवत् (ये) (केसरप्राबन्धायाः) के+सृ गतौ-अच्+प्र+अबन्धायाः । के आत्मनि सरणशीलायाः प्रकर्षेण अबन्धायाः मुक्तस्वभावायाः शक्तेः परमेश्वरस्य (चरमाजाम्) चरम्+अजाम् । चरेश्च । उ० ५ । ६६ । इति

वाली अवन्ध शक्ति [परमेश्वर] की (चरमाजाम्) व्यापक विद्या को (अपेचिरन्) पचाया है [नष्ट कर दिया है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट मनुष्य सर्वव्यापिनी वेद वाणी को नाश करना चाहते हैं पंडितों द्वारा वे मूर्ख नष्ट हो जाते हैं ॥ ११ ॥

एकंशतं ता जनता या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ १२ ॥

एकं-शतम् । ताः । जनताः । याः । भूमिः । वि-अधूनुत । प्र-जाम् । हिंसित्वा । ब्राह्मणीम् । असम्-भव्यम् । परा । अभवन् ॥१२

भाषार्थ—(ताः) वे (जनताः) लोग (एकशतम्) एक सौ एक [थे] (याः) जिन को (भूमिः) भूमि ने (व्यधूनुत) हिला दिया है और जो (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण संवन्धिनी (प्रजाम्) प्रजा को (हिंसित्वा) सता कर (असंभव्यम्) संभावना [शक्यता] के विना (पराभवन्) हार गये हैं ॥१२॥

भावार्थ—बहुत से मनुष्य इस पृथिवी पर वेदज्ञानियों को सताने से निःसन्देह नष्ट हो गये हैं ॥१२॥

देवपीयुश्चरति मर्त्येषु गरगीर्णो भवत्यस्थिभूयान् ।
यो ब्राह्मणं देवबन्धुं हिनस्ति न स पितृयाणमप्येति लोकम् ॥ १३ ॥

चर गतौ-अमच्+अज गतिक्षेपणयोः—पचाद्यच्, गतिक्षेपणम्, वीभावाभावः। अजा अजनाः—निरु० । ४ । २५ । चरमां व्यापिकाम् अजां विद्याम् (अपेचिरन्) पच पाके लङि छान्दसं रूपम्। अपचन्। पाकेन तापेन नाशितवन्तः ॥

१२—(एकशतम्) एकाधिकं शतम् असंख्याताः (ताः) (जनताः) समूहार्थे—तल्। जनसमूहाः (याः) (भूमिः) पृथिवी (व्यधूनुत) धूञ् कम्पने—लङ्। विशेषेणाकम्पयत (प्रजाम्) जनताम् (हिंसित्वा) दुःखयित्वा (ब्राह्मणीम्) ब्रह्मन्-अण्, ङीप्। ब्राह्मणसम्बन्धिनीम् (असंभव्यम्) अ+सम्+भू—यत्। यथा तथा सम्भावनां शक्यतां विना। अवश्यम् (पराभवन्) पराजयं गताः ॥

दे॒व॒-पी॒युः । चर॑ति । मर्त्ये॑षु । ग॒र॒-गी॒र्णः । भव॑ति । अ॒स्थि॒-भू॒यान् । यः । ब्रा॒ह्म॒णम् । दे॒व-ब॑न्धुम् । हि॒नस्ति॑ । न । सः । पि॒तृ॒-यान॑म् । अपि॑ । ए॒ति॒ । लो॒कम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(देवपीयुः) विद्वानों का सताने वाला (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच (चरति) फिरता है, (गरगीर्णः) विष खाय हुआ वह (अस्थिभूयान्) हाड़ ही हाड़ (भवति) रह जाता है। (यः) जो मनुष्य (देवबन्धुम्) महात्माओं के बन्धु (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (हिनस्ति) सताता है, (सः) वह (पितृयाणम्) पालन करने वाले विद्वानों के पाने योग्य (लोकम्) लोक को (न अपि) कभी नहीं (एति) पाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—देवनिन्दक पुरुष अविद्या के कारण दुर्बल आत्मा और रोगी हो कर विद्वानों में प्रतिष्ठा नहीं पाता ॥१३॥

अ॒ग्निर्वै नः॑ पद॒वायः॒ सोमो॑ दाया॒द उ॑च्यते ।
ह॒न्ताभिश॒स्तेन्द्र॒स्तथा॒ तद् वे॒धसो॑ विदुः ॥ १४ ॥

अ॒ग्निः । वै । नः॒ । प॒द॒-वा॒यः । सोमः॑ । दा॒या॒दः । उ॒च्य॒ते॒ । ह॒न्ता । अ॒भि-श॒स्ता । इन्द्रः॑ । तथा॑ । तत् । वे॒धसः॑ । वि॒दुः॒ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [सूर्य] (वै) ही (नः) हमारा (पदवायः) पथदर्शक, और (सोमः) चन्द्रमा (दायादः) दायभागी (उच्यते) कहा

१३—(देवपीयुः) म० ५। विदुषां हिंसकः (चरति) गच्छति (मर्त्येषु) मनुष्येषु (गरगीर्णः) गॄ निगरणे अप्+गॄ—क्त । गरो विषो गीर्णो भक्षितो येन सः (भवति) (अस्थिभूयान्) अस्थि+बहु—ईयसुन्। बहोर्लोपो भू च बहोः। पा० ६।४।१५८। इति ईकारलोपो बहोश्च भूरादेशः। अस्थिभिर्बहुतरः। अस्थिशेषः। अतिदुर्बलः (यः) पाखंडी (ब्राह्मणम्) वेदवेत्तारम् (देवबन्धुम्) विदुषां प्रियम् (हिनस्ति) दुःखयति (न अपि) न कदापि (सः) दुष्टः (पितृयाणम्) पितृभिः पालकैर्विद्वद्भिर्गमनीयम् (एति) प्राप्नोति (लोकम्) पदम्। भुवनम् ॥

१४—(अग्निः) सूर्यः (वै) निश्चयेन (नः) अस्माकम् (पदवायः)

जाता है। (इन्द्रः) परमेश्वर (अभिशस्ता=०-स्तुः) अपवादी का (हन्ता) नाश करने वाला है। (तथा) वैसा ही (तत्) उस बात को (वेधसः) विद्वान् लोग (विदुः) जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य चन्द्रमा के समान सन्मार्ग में चलते हैं, वे परमात्मा की कृपा से दुष्कर्मों से बचकर आनन्द भोगते हैं ॥१४॥

इषु॑रिव दि॒ग्धा नृ॑पते पृदा॒कूरि॑व गोपते ।
सा ब्रा॑ह्म॒णस्येषु॑र्घो॒रा तया॑ विध्यति॒ पीय॑तः ॥ १५ ॥

इषुः॑-इव । दि॒ग्धा । नृ॒ऽप॒ते॒ । पृ॒दाकूः॑-इव । गो॒ऽप॒ते॒ । सा । ब्रा॒ह्म॒णस्य॑ । इषुः॑ । घो॒रा । तया॑ । वि॒ध्य॒ति॒ । पीय॑तः ॥१५॥

भाषार्थ—(नृपते) हे नरपालक ! (गोपते) हे भूमिपालक ! (दिग्धा) विष में भरे (इषुः इव) बाण के समान और (पृदाकूः इव) फुंसकारत हुयी सांपिनि के समान (सा) वह (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (घोर) भयानक (इषुः) बरछी है, (तया) उस से (पीयतः) सताने वालों को (विध्यति) वह छेदता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—नीतिकुशल राजा के राज्य में वेद वेत्ता लोग विद्या के प्रभाव से शत्रुओं को नाश करते हैं ॥ २५ ॥

पद+वा गतौ-घञ्, युक् च। पथदर्शकः (सोमः) चन्द्रः (दायादः) म० ६। दायभागी। बन्धुः (उच्यते) कथ्यते (हन्ता) नाशकः (अभिशस्ता) शसु हिंसायाम्-तृच्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। इति षष्ठ्याः सुः। अभिशस्तुः। मिथ्यापवादकस्य (इन्द्रः) परमेश्वरः (तथा) तेन प्रकारेण (तत्) वचनम् (वेधसः) अ० १। ११। १। मेधाविनः (विदुः) जानन्ति ॥

१५—(इषुः) बाणः (इव) यथा (दिग्धा) विषासक्ता (नृपते) हे नरपालक (पृदाकूः) कुत्सितशब्दकारिणी सर्पिणी (इव) (गोपते) हे भूरक्षक (सा) पूर्वोक्ता गौर्वाणी (ब्राह्मणस्य) वेदवेत्तुः (इषुः) हननशक्तिः। अस्त्रभेदः (घोरा) कराला (तया) इष्वा (विध्यति) छिनत्ति (पीयतः) पीय हिंसायाम्-शतृ। हिंसाशीलान् ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-१५ ॥ ब्राह्मणो देवता ॥ ७ उपरिष्टाद् बृहती; शिष्टा अनुष्टुभः ॥

नास्तिकतिरस्कारोपदेशः—नास्तिक के तिरस्कार का उपदेश ॥

अति॒मा॒त्रम॑वर्धन्त॒ नोदि॑व॒ दिव॑मस्पृशन् ।
भृगुं॑ हिंसि॒त्वा सृञ्ज॑या वैतह॒व्याः परा॑भवन् ॥ १ ॥

अ॒ति॒-मा॒त्रम् । अ॒व॒र्ध॒न्त॒ । न । उत्-इ॑व । दिव॑म् । अ॒स्पृ॒श॒न् ।
भृगु॑म् । हिं॒सि॒त्वा । सृन्-ज॑याः । वै॒त॒-ह॒व्याः । परा॑ । अ॒भ॒व॒न् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सृञ्जयाः) पाये हुये शत्रुओं को जीतने वाले, (वैतहव्याः) देवताओं का अन्न खाने वाले लोग (अतिमात्रम्) अत्यन्त (अवर्धन्त) बढ़े, (न=इति न) यही नहीं, (दिवम्) सूर्यलोक को (इव) जैसे (उत्) ऊंचे होकर (अस्पृशन्) उन्होंने छू लिया । [परन्तु] (भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को (हिंसित्वा) सताकर (पराभवन्) हार गये ॥ १ ॥

भावार्थ—पाखण्डी दुरात्मा चाहे कितने ही बढ़ जावें, परन्तु धर्मात्मा उनको अन्त में हरा देते हैं ॥ १ ॥

ये बृ॒हत्सा॑मानमाङ्गि॒रसमार्प॑यन् ब्राह्म॒णं जनाः॑ ।
पे॒त्वस्तेषा॑मुभ॒याद॒मवि॑स्तो॒कान्या॑वयत् ॥ २ ॥

ये । बृ॒हत्-सा॑मानम् । आ॒ङ्गि॒र॒सम् । आर्प॑यन् । ब्रा॒ह्म॒णम् । जनाः॑ ।
पे॒त्वः॑ । तेषा॑म् । उ॒भ॒याद॑म् । अवि॑: । तो॒कानि॑ । आ॒व॒य॒त् ॥ २ ॥

१—(अतिमात्रम्) अत्यर्थम् (अवर्धन्त) वृद्धिं गताः (न) इति न (उत्) ऊर्ध्वम् (इव) यथा (दिवम्) सूर्यलोकम् (अस्पृशन्) स्पृष्टवन्तः (भृगुम्) अ० २ । ५ । ३ । परिपक्वज्ञानम् । ऋषिम् (हिंसित्वा) दुःखयित्वा (सृञ्जयाः) सृ गतौ-क्विप्, तुक् च । संज्ञायां भृतवृजि० । पा० ३ । २ । ४६ । इति सृत्+जि जये-खच्, पूर्वपदस्य मुम् । अन्त्यतकारलोपश्च । प्राप्तानां शत्रूणां जेतारः—यथा दयानन्दभाष्ये, ऋ० ४ । १५ । ४ । (वैतहव्याः) अ० ५ । १८ । १० । भक्षितदेवयोग्यान्नाः (पराभवन्) पराजिता अभवन् ॥

भाषार्थ—(ये जनाः) जिन पुरुषों ने (बृहत्सामानम्) बड़े दुःख नाशक ज्ञान वाले,(आङ्गिरसम्) विज्ञान वाले, (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञानी को (आर्पयन्) सताया है (पेत्वः) उस ज्ञानवान्, (अविः) रक्षक पुरुष ने (उभयादम्= उभयादान्) हमारी पूर्त्ति के लेने वाले से (तेषाम्) उन के (तोकानि) वृद्धि कर्मों को (आवयत्) गिरा दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ता पुरुष दुराचारी नास्तिकों का नाश करता है ॥ २ ॥

ये ब्रा॒ह्म॒णं प्र॒त्यष्ठी॑व॒न् ये वा॑स्मिञ्छु॒ल्कमी॑षि॒रे ।
अ॒स्नस्ते मध्ये॑ कु॒ल्याया॒: केशा॑न् खाद॑न्त आसते ॥३॥

ये । ब्रा॒ह्म॒णम् । प्र॒ति॒-अष्ठी॑वन् । ये । वा॒ । अ॒स्मिन् । शु॒ल्कम् । ई॒षि॒रे । अ॒स्नः । ते । मध्ये॑ । कु॒ल्याया॑: । केशा॑न् । खाद॑न्तः । आ॒स॒ते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन्होंने (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (प्रत्यष्ठीवन्) निकाल ही दिया, (वा) अथवा (ये) जिन्हों ने (अस्मिन्) उस पर से (शुल्कम्)

२—(ये) (बृहत्सामानम्) स्यति दुःखमिति साम । सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १ । ५३ । इति षो अन्तकर्मणि-मनिन् । महादुःखनाशकज्ञानोपेतम् (आङ्गिरसम्) अ० २ । १२ । ४ । अङ्गिरो विज्ञानमस्यास्तीति-अण् । विज्ञानवन्तम् (आर्पयन्) ऋ हिंसायाम्-स्वार्थे णिच, पुक् च लङ् । हिंसितवन्तः (ब्राह्मणम्) वेदवेत्तारम् (जनाः) नास्तिकजनाः (पेत्वः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । उ० ४ । १०५ । इति पि गतौ-त्वन् । गतिशीलः (तेषाम्) शत्रुजनानाम् (उभयादम्) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ९९ । इति उभ पूर्तौ-कयन्+आ+दा—क । बहुवचनस्यैकवचनम् । उभयादान् पूर्तिग्राहकान् (अविः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति अव रक्षणे-इन् । रक्षकः । ब्राह्मणः (तोकानि) अ० १ । १३ । २ । तु वृद्धौ-क । वृद्धिकर्माणि (आवयत्) आ+वो असने—लङ् छान्दसः शप् । आवेत् । प्रक्षिप्तवान् ॥

३—(ये) दुष्टाः (ब्राह्मणम्) ब्रह्मवेत्तारम् (प्रत्यष्ठीवन्) ष्ठिवु निरसने—लङ् । प्रत्यक्षं निरस्तवन्तः बहिष्कृतवन्तः (ये) (वा) अथवा (अस्मिन्) ब्राह्मणे (शुल्कम्) शुल्क अतिस्पर्शने, सर्जने-घञ् । करम् (ईषिरे) ईष उञ्छे-

कर (ईषिरे) उगाहा। (ते) वे लोग (असनः) रुधिर की (कुल्यायाः) नदी के (मध्ये) बीच में (केशान्) क्लिष्ट पदार्थों को (खादन्तः) खाते हुये (आसते) ठहरते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो अत्याचारी राक्षस लोग ब्राह्मणों को सताते हैं, वे घोर युद्धों में हार कर बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं ॥ ३ ॥

ब्रह्मगवी पच्यमाना यावत् साभि विजङ्गहे ।
तेजो राष्ट्रस्य निर्हन्ति न वीरो जायते वृषा ॥ ४ ॥

ब्रह्म-गवी । पच्यमाना । यावत् । सा । अभि । वि-जङ्गहे ।
तेजः । राष्ट्रस्य । निः । हन्ति । न । वीरः । जायते । वृषा ॥४

भाषार्थ—(सा) वह (ब्रह्मगवी) ब्रह्मवाणी (पच्यमाना) पचायी [तपायी] जाती हुयी (यावत्) जब तक (अभि) चारो ओर (विजङ्गहे = विजङ्गन्ति) फड़ फड़ाती रहती है। वह (राष्ट्रस्य) राज्य का (तेजः) तेज (निर्हन्ति) मिटा देती है, और (न वीरः) न कोई वीर पुरुष (वृषा) ऐश्वर्य-वान् (जायते) उत्पन्न होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जहां वेदविद्या का निरादर होता है, वह राज्य सब नष्ट हो जाता है और सब लोग निर्बल हो जाते हैं ॥ ४ ॥

लिट्, आत्मनेपदं छान्दसम्। एकत्र कृतम् (असनः) अ० ५।५।८। असृज्, असन्आदेशः। रुधिरस्य (ते) ब्राह्मणनिन्दकाः (मध्ये) घोरसंग्राममध्ये (कुल्यायाः) कुल संस्त्याने-क्यप्। टाप्। नद्याः—निघ०। १।१३। (केशान्) क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५।३३। इति क्लिश उपतापे-अन्, लस्य लोपः। क्लिष्टान् पदार्थान् (खादन्तः) भक्षयन्तः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

४—(ब्रह्मगवी) गोरतद्धितलुकि। पा० ५।४।९२। इति ब्रह्मगो—टच्, ङीप्। ब्रह्मविद्या (पच्यमाना) तप्यमाना (यावत्) यत्परिमाणम् (सा) प्रसिद्धा (अभि) सर्वतः (विजङ्गहे) गमेर्यङ्लुकि लोटि मध्यमपुरुषे जङ्गहि, इत्यस्य स्थाने जङ्गहे इति रूपम् लटः प्रथमपुरुषस्य स्थाने। विजङ्गन्ति विशेषेण भृशं गच्छति (तेजः) प्रभावः (राष्ट्रस्य) राज्यस्य (निर्हन्ति) नितरां नाशयति (न) निषेधे (वीरः) शूरः (जायते) प्रादुर्भवति (वृषा) ऐश्वर्य-वान्। इन्द्रः ॥

क्रूरम॑स्या आ॒शस॑नं तृ॒ष्टं पि॑शि॒तम॑स्यते ।
क्षी॒रं यद॑स्याः पी॒यते॒ तद् वै पि॒तृषु॒ किल्बि॑षम् ॥ ५ ॥

क्रूर॑म् । अ॒स्याः॒ । आ॒-शस॑नम् । तृ॒ष्टम् । पि॒शि॒तम् । अ॒स्य॒ते॒ । क्षी॒रम् । यत् । अ॒स्याः॒ । पी॒यते॑ । तत् । वै । पि॒तृषु॑ । किल्बि॑षम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ (अस्याः) इस [वेदवाणी] का (आशसनम्) सताना (क्रूरम्) क्रूर, और (पिशितम्) खंडन (तृष्टम्) प्यास के समान दाहजनक (अस्यते) जाना जाता है । (अस्यः) इसका (यत्) जो (क्षीरम्) पीड़ा हटाने वाला कर्म (पीयते) नष्ट किया जाता है, (तत्) वह (वै) निश्चय करके (पितृषु) पालन करने वाले शूर वीरों में (किल्बिषम्) पाप होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—वेद विद्या के विरुद्ध चलने से संसार में बड़े बड़े दुःख फैलते हैं ॥ ५ ॥

उ॒ग्रो राजा॒ मन्य॑मानो ब्रा॒ह्म॒णं यो जि॒घत्स॑ति ।
परा॒ तत् सि॑च्यते रा॒ष्ट्रं ब्रा॒ह्म॒णो यत्र॑ जी॒यते॑ ॥ ६ ॥

५—(क्रूरम्) कृतेश्छः क्रू च । उ० २ । २१ । कृती छेदने-रक्, धातोः क्रू । क्रुरः कृन्ततेः क्रूरमित्यप्यस्य भवति—निरु० । ६ । २२ । कठिनम् । निर्दयम् (अस्याः) गोः । वाण्याः (आशसनम्) शसु हिंसायाम्—ल्युट् । आहननम् (तृष्टम्) पिपासावद् दाहजनकम् (पिशितम्) पिश अवयवे—क्त । खण्डनम् (अस्यते) अस गतौ । गम्यते ज्ञायते (क्षीरम्) क्षी हिंसायाम्-क्विप्; ईर गतौ कम्पने च-अण्-इति शब्दस्तोममहानिधिः । क्षीरं क्षरतेर्घसेर्वेरो नमकरणः-निरु० २ । ५ । पीड़ायाः प्रेरकं दूरीकारकं कर्म (यत्) (अस्याः) (पीयते) पीयतिर्हिंसाकर्मा-निरु० ४ । २५ हिंस्यते शत्रुणा (तत्) (वै) अवश्यम् (पितृषु) पालकेषु शूरेषु (किल्बिषम्) किलेर्बुक् च । उ० १ । ५१ । इति किल शुक्लतायां पीडायां च-टिषच्. बुक् च । किल्बिषं किल्भिदं सुकृतकर्मणो भयं कीर्तिमस्य भिनत्तीति वा-निरु० ११ । २४ । अपराधः पापम् ॥

उग्रः । राजा । मन्यमानः । ब्राह्मणम् । यः । जिघत्सति । परा । तत् । सिच्यते । राष्ट्रम् । ब्राह्मणः । यत्र । जीयते ॥६॥

भावार्थ—(यः) जो (उग्रः) प्रचण्ड (राजा) राजा (मन्यमानः) गर्व करता हुआ (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (जिघत्सति) नष्ट करना चाहता है । (तत्) वह (राष्ट्रम्) राज्य (परा सिच्यते) बह जाता है, (यत्र) जहां (ब्राह्मणः) वेदवेत्ता (जीयते) दबाया जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ताओं के सताने वाले राजा का राज्य सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥ ६ ॥

अष्टापदी चतुरक्षी चतुःश्रोत्रा चतुर्हनुः । द्व्यास्या द्विजिह्वा भूत्वा सा राष्ट्रमव धूनुते ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥

अष्टा-पदी । चतुः-अक्षी । चतुः-श्रोत्रा । चतुः-हनुः । द्वि-आस्या । द्वि-जिह्वा । भूत्वा । सा राष्ट्रम् । अव । धूनुते । ब्रह्मज्यस्य ॥ ७ ॥

भावार्थ—(सा) वह [वेद विद्या] (अष्टापदी) [छोटाई, हलकाई, प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता और सत्य संकल्प, आठ ऐश्वर्य] आठ पद प्राप्त कराने वाली (चतुरक्षी) [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र] चार वर्णों में व्याप्ति वाली, (चतुःश्रोत्रा) [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, और

६—(उग्रः) प्रचण्डः (राजा) शासकः (मन्यमानः) गर्वं कुर्वाणः (ब्राह्मणम्) वेदवेत्तारम् (यः) (जिघत्सति) अत्तुं नाशयितुमिच्छति (परा) पराभवेन (तत्) (सिच्यते) उह्यते (राष्ट्रम्) राज्यम् (ब्राह्मणः) (यत्र) यस्मिन् राज्ये (जीयते) अभिभूयते ॥

७—(अष्टापदी) अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ १ ॥ इति अष्टैश्वर्याणि पदानि प्राप्तव्यानि यया सा (चतुरक्षी) अशेर्नित् । उ० ३ । १५६ । इति अशू व्याप्तौ-क्सि, ङीप् । चतुर्षु ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रेषु वर्णेषु अक्षि व्याप्तिर्यस्याः सा (चतुःश्रोत्रा)

संन्यास] चार आश्रमों में श्रवण शक्ति वाली, (चतुर्हनुः) [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] चार पदार्थों में गति वाली, (द्व्यास्या) [परमात्मा और जीवात्मा] दोनों का ज्ञान कराने वाली और (द्विजिह्वा) [बाहिरी और भीतरी] दोनों सुखों की जीत कराने वाली (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यस्य) ब्राह्मण के हानि करने वाले के (राष्ट्रम्) राज्य को (अवधूनुते) हिला डालती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—वेद विद्या सर्वथा कल्याणी होने से अत्याचारी दुष्टों का नाश कर देती है ॥ ७ ॥

तद् वै राष्ट्रमा स्रवति नावं भिन्नामिवोदकम् ।
ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना ॥ ८ ॥

तत् । वै । राष्ट्रम् । आ । स्रवति । नावम् । भिन्नाम्-इव । उदकम् । ब्राह्मणम् । यत्र । हिंसन्ति । तत् । राष्ट्रम् । हन्ति । दुच्छुना ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(तत्) वह [दुष्ट कर्म] (वै) निश्चय करके (राष्ट्रम्) राज्य को (आ स्रवति) बहा देता है (उदकम् इव) जैसे जल (भिन्नाम्) टूटी (नावम्) नाव को । (यत्र) जहां (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण को (हिंसन्ति) वे

चतुर्षु ब्रह्मचर्यगार्हस्थ्यवानप्रस्थसंन्यासाश्रमेषु श्रोत्रं श्रवणं कीर्तनं यस्याः सा (चतुर्हनुः) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन गतौ-उप्रत्ययः । चतुर्षु धर्मार्थकाममोक्षेषु पदार्थेषु हनुर्गतिर्यस्याः सा (द्व्यास्या) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति अस ग्रहणे-ण्यत् । द्वे परमात्मजीवात्मज्ञाने आस्ये ग्राह्ये यया सा (द्विजिह्वा) शेवायह्वजिह्वा० । उ० १ । १५४ । इति जि जये-वन्-हुक् च । द्वे बाह्याभ्यन्तरसुखे जेतव्ये यया सा (भूत्वा) (सा) ब्रह्मविद्या (राष्ट्रम्) राज्यम् (अव) अनादरे (धूनुते) धूञ् कम्पने- । कम्पयति (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्म+ज्या वयोहानौ-क, अन्तर्गतण्यर्थः । ब्राह्मणस्य हानिकारकस्य ॥

८—(तत्) दुष्ट कर्म (वै) निश्चयेन (राष्ट्रम्) राज्यम् (आ) समन्तात् (स्रवति) स्रावयति प्लावयति (नावम्) अ० । २ । ३६ । ५ । नौकां पोतम् (भिन्नाम्) छिन्नाम् (इव) यथा (उदकम्) जलम् (ब्राह्मणम्) (यत्र-)

सताते हैं, (दुच्छुना) दुर्गति वा दरिद्रता (तत् राष्ट्रम्) उस राज्य को (हन्ति) मिटा देती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में नीति कुशल वेदवेत्ताओं का अनादर होता है, वह राज्य छिन्न भिन्न हो जाता है ॥ ८ ॥

तं वृक्षा अप सेधन्ति छायां नो मोपगा इति ।
यो ब्राह्मणस्य सद्धनमभि नारद मन्यते ॥ ९ ॥

तम् । वृक्षाः । अप । सेधन्ति । छायाम् । नः । मा । उप । गाः । इति । यः । ब्राह्मणस्य । सत् । धनम् । अभि । नारद । मन्यते ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तम्) उसको (वृक्षाः) वृक्ष (अप सेधन्ति) हटा देते हैं, "(नः) हमारी (छायाम्) छाया में (मा उप गाः) मत आ," (इति) ऐसा कह कर । (यः) जो पुरुष, (नारद) हे नर [सर्वनायक, परमात्मा] के ज्ञान देने वाले मनुष्य ! (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण के (सत्) श्रेष्ठ (धनम्) धनको (अभि=अभिभूय) दवा कर (मन्यते) अपना मानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—ब्राह्मण पर अत्याचार के कारण कुप्रबन्ध होने से बन उपबन वाटिका आदि नष्ट हो जाते हैं ॥ ९ ॥

विषमेतद् देवकृतं राजा वरुणोऽब्रवीत् ।

(हिंसन्ति) दुःखयन्ति (तत्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (हन्ति) नाशयति (दुच्छुना) अ० । १७ । ४ । दुष्टा गतिः दरिद्रता ॥

९—(तम्) अत्याचारिणम् (वृक्षाः) अ० ३ । ६ । ८ । स्वीकरणीयास्तरवः (अप सेधन्ति) अपसेधयन्ति निवारयन्ति (छायाम्) (नः) अस्माकम् (मा उप गाः) इणो गा लुङि । पा० २ । ४ । ४५ । इति इण् गतौ लुङि गादेशः । अडभावो माङि । न प्राप्नुहि (इति) वाक्यसमाप्तौ (यः) दुष्टः (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्तुः (सत्) श्रेष्ठम् (धनम्) वित्तम् (अभि) अभिभूय (नारद) नरति नयतीति नरः । नॄ नये-अच् । नरस्येदम्, अण् । नारं परमात्मज्ञानं ददातीति, दा-क । हे सर्वनायकपरमेश्वरस्य ज्ञानप्रद (मन्यते) स्वकीयं जानाति ॥

न ब्राह्मणस्य गां जग्ध्वा राष्ट्रे जागार कश्चन ॥१०॥

विषम् । एतत् । देव-कृतम् । राजा । वरुणः । अब्रवीत् ।
न । ब्राह्मणस्य । गाम् । जग्ध्वा । राष्ट्रे । जागार । कः । चन ॥१०

भाषार्थ—(राजा) राजा (वरुणः) श्रेष्ठ परमात्मा ने (अब्रवीत्) कहा है "(एतत्) यह (देवकृतम्) इन्द्रियों से किया हुआ (विषम्) विष [समान पाप] है, (कश्चन) कोई भी (ब्राह्मणस्य) ब्राह्मण की (गाम्) विद्या को (जग्ध्वा) हड़पकर (राष्ट्रे) राज्य में (न) नहीं (जागार) जागता रहा है" ॥१०॥

भावार्थ—परमेश्वर ने उपदेश किया है कि जैसे विष खाने से मनुष्य अचेत हो जाता है, वैसे ही वेदविद्या के नाश से सब लोग आलसी और निरुत्साही हो जाते हैं ॥१०॥

नवैव ता नवतयो या भूमिर्व्यधूनुत ।
प्रजां हिंसित्वा ब्राह्मणीमसंभव्यं पराभवन् ॥ ११ ॥

नव । एव । ताः । नवतयः । याः । भूमिः । वि-अधूनुत । प्र-जाम् ।
हिंसित्वा । ब्राह्मणीम् । असम्-भव्यम् । परा । अभवन् ॥११॥

भाषार्थ—(ताः) वे लोग (नव नवतयः) नव बार नव्वे [९×९० वा ८१०] (अपि) भी [थे] (याः) जिन को (भूमिः) भूमि ने (व्यधूनुत) हिला दिया है, और जो (ब्राह्मणीम्) ब्राह्मण संबंधिनी (प्रजाम्) प्रजा को

१०—(विषम्) विषं यथा (एतत्) दुष्कर्म (देवकृतम्) इन्द्रियविकारकृतम् (राजा) वरुणः श्रेष्ठः परमेश्वरः (अब्रवीत्) वेदे कथितवान् (न) निषेधे (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मवेत्तुः (गाम्) विद्याम् (जग्ध्वा) भुक्त्वा नाशयित्वा (राष्ट्रे) राज्ये (जागार) जागृ निद्राक्षये-लिटि छान्दसं रूपम् । जजागार विनिद्रो जागरूकः सावधानो बभूव (कश्चन) कश्चिदपि ॥

११—(नव नवतयः) नवगुणिता नवतयः । ९×९०=८१० । असङ्ख्याता

(हिंसित्वा) सताकर (असंमव्यम्) संभावना [शक्यता) के बिना (पराभवन्) हार गये हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—असंख्यात होने पर भी नास्तिक पराजित होते हैं [अ० ५ । १८ । १२ ॥का मिलान करो] ॥ ११ ॥

यां मृतायानुबध्नन्ति कूद्यं पदयोपनीम् ।
तद् वै ब्रह्मज्य ते देवा उपस्तरणमब्रुवन् ॥ १२ ॥

याम् । मृताय । अनु-बध्नन्ति । कूद्यम् । पद-योपनीम् ।
तत् । वै । ब्रह्म-ज्य । ते । देवाः । उप-स्तरणम् । अब्रुवन् ॥१२॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (पदयोपनीम्) पद व्याकुल करने वाली (कूद्यम्=कूदीम्) दुःखित शब्द देने वाली बेड़ी को (मृताय) मरने के लिये (अनुबध्नन्ति) जकड़ देते हैं । (ब्रह्मज्य) हे ब्राह्मण के हानि कारक ! (देवाः) महात्माओं ने (तत्) उसको (वै) अवश्य (ते) तेरे लिये (उपस्तरणम्) विस्तर (अब्रुवन्) कहा है ॥ १२ ॥

भावार्थ—(दुराचारी नास्तिकों को कारागार आदि में रख कर कठिन दण्ड देवें ॥ १२ ॥

अश्रूणि कृपमाणस्य यानि जीतस्य वावृतुः ।
तं वै ब्रह्मज्य ते देवा अपां भागमधारयन् ॥ १३ ॥

अश्रूणि । कृपमाणस्य । यानि । जीतस्य । ववृतुः । तम् । वै ।
ब्रह्म-ज्य । ते । देवाः । अपाम् । भागम् । अधारयन् ॥ १३ ॥

इत्यर्थः (एव) अपि (ताः) जनताः । अन्यद् यथा—अ० ५ । १८ । १२ ॥

१२ (याम्) (मृताय) मरणाय (अनुबध्नन्ति) अनुकृष्य धारयन्ति (कूद्यम्) कूङ् आर्तस्वरे–क्विप् । कुवम् आर्तस्वरं ददाति दा-क, ङीप् । छान्दसो यण् । कूदीम् । आर्तस्वरदात्रीं शृङ्खलाम् (पदयोपनीम्) युप विमोहने-ल्युट्, ङीप् । पदयोर्व्याकुलयित्रीम् (तत्) (वै) अवश्यम् (ब्रह्मज्य) म० ७ । हे ब्राह्मणस्य हानिकारक (ते) तुभ्यम् (देवाः) महात्मानः (उपस्तरणम्) स्तृञ् आच्छादने ल्युट् । विष्टरम् (अब्रुवन्) अकथयन् ॥

भाषार्थ—(कृपमाणस्य) दुःख पाते हुये, (जीतस्य) हारे हुये पुरुष के (यानि) जो (अश्रूणि) आंसू (ववृतुः) बहे हैं ! (ब्रह्मज्य) हे ब्राह्मण की हानि पहुंचाने वाले ! (देवाः) महात्माओं ने (ते) तेरे लिये (तम् वै) वही (अपाम्) जल का (भागम्) भाग (अधारयन्) ठहराया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ईश्वर की आज्ञा भंग करने वाला पुरुष वेदवेत्ताओं द्वारा दण्ड पाकर सदा रोता रहता है ॥ १३ ॥

येन॑ मृ॒तं स्न॒पय॑न्ति श्मश्रू॑णि॒ येनो॒न्दते॑ ।
तं वै ब्र॑ह्मज्य ते दे॒वा अ॒पां भा॒गम॑धारयन् ॥ १४ ॥

येन॑ । मृ॒तम् । स्न॒पय॑न्ति । श्मश्रू॑णि । येन॑ । उ॒न्दते॑ । तम् । वै । ब्र॒ह्म॒ऽज्य॒ । ते॒ । दे॒वाः । अ॒पाम् । भा॒गम् । अ॒धा॒र॒य॒न् ॥१४॥

भाषार्थ—(येन) जिस [जल] से (मृतम्) मृतक को (स्नपयन्ति) स्नान कराते हैं और (येन) जिससे (श्मश्रूणि) अपने शरीर में आश्रित केश वा अङ्गों को (उन्दते) सींचते हैं। (ब्रह्मज्य) हे ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले ! (देवाः) महात्माओं ने (ते) तेरे लिये (अपाम्) जल का (तम् वै) वही (भागम्) भाग (अधारयन्) ठहराया है ॥१४॥

भावार्थ—ईश्वर की आज्ञा न पालने वाले पुरुष अन्त में हारकर अपने मृतक बान्धवों के शोक में पड़े रहते हैं ॥१४॥

१३ (अश्रूणि) अश्रुवादयश्च–उ० ५ । २९ । इति अशू व्याप्तौ--क्रुन्, रुट् च । नेत्रजलबिन्दवः (कृपमाणस्य) कृप दौर्बल्ये-शानच् । दुर्बलीक्रियमाणस्य (यानि) (जीतस्य) अभिभूतस्य (वावृतुः) वृतु वर्तने-लिट् परस्मैपदित्वं दीर्घत्वं च छान्दसम् । ववृतिरे वर्तमाना बभूवुः (तम्)तादृशं(अपाम्) जलानाम् (भागम्) भजनीयमंशम् (अधारयन्) अस्थापयन् । अन्यद् गतम् ॥

१४—(येन) जलेन (मृतम्) मृतकम् (स्नपयन्ति) स्नानं कारयन्ति (श्मश्रूणि) शीङ् शयने—मनिन् स च डित् । इति श्म शरीरम् । श्मनि श्रयतेर्डुन् । उ० ५ । २८ । इति श्म+श्रिञ् सेवायां–डुन् रुट् च । श्म शरीरम्...श्मश्रु लोम श्मनि श्रितं भवति—निरु० । ३ । ५ । शरीरे श्रितानि लोमानि इन्द्रियाणि वा (येन) (उन्दते) क्लेदयन्ति । अन्यत् पूर्ववत—म० १३ ॥

न वर्षं मैत्रावरुणं ब्रह्मज्यमभि वर्षति ।
नास्मै समितिः कल्पते न मित्रं नयते वशम् ॥ १५ ॥

न । वर्षम् । मैत्रावरुणम् । ब्रह्म-ज्यम् । अभि । वर्षति । न । अस्मै । सम्-इतिः । कल्पते । न । मित्रम् । नयते । वशम् ॥१५

भाषार्थ—(मैत्रावरुणम्) वायु और सूर्य से किया हुआ (वर्षम्) वर्षाजल (ब्रह्मज्यम् अभि) ब्राह्मण को हानि पहुंचाने वाले पर (न) नहीं (वर्षति) वर्षता है। और (न) न (अस्मै) इसके लिये (समितिः) सभा (कल्पते) समर्थ होती है, और (न) न वह (मित्रम्) मित्र को (वशम्) अपने वश में (नयते) लाता है ॥१५॥

भावार्थ—वेद विरोधी पुरुष आधिदैविक, आधिभौतिक, और आध्यात्मिक शान्ति न पाकर सदा दुःखी रहता है ॥१५॥

सूक्तम् ॥ २० ॥

१-१२ ॥ दुन्दुभिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

संग्रामे जयोपदेशः—संग्राम में जय का उपदेश ॥

उच्चैर्घोषो दुन्दुभिः सत्वनायन् वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिः । वाचं क्षुणुवानो दमयन्त्सपत्नान्त्सिंह इव जेष्यन्नभि तंस्तनीहि ॥ १ ॥

उच्चैः-घोषः । दुन्दुभिः । सत्वना-यन् । वानस्पत्यः । सम्-भृतः । उस्रियाभिः । वाचम् । क्षुणुवानः । दमयन् । स-पत्नान् । सिंहः-इव । जेष्यन् । अभि । तंस्तनीहि ॥ १ ॥

१५—(न) निषेधे (वर्षम्) वृष्टिः (मैत्रावरुणम्) तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । इति मित्रावरुण-अण् । मित्रावरुणाभ्यां वायुसूर्याभ्यां निर्वृतं निष्पादितम् (ब्रह्मज्यम्) म० ७ । ब्राह्मणस्य हानिकरम् (अभि) प्रति (वर्षति) सिञ्चति (न) (अस्मै) ब्रह्मविरोधिने (समितिः) सभा (कल्पते) समर्था सफला भवति (न) (मित्रम्) सुहृदम् (नयते) प्रापयति (वशम्) अधीनत्वम् ॥

भाषार्थ—(उच्चैर्घोषः) ऊंचा शब्द करने वाला, (सत्वनायन्) पराक्रमियों के समान आचरण करने वाला, (वानस्पत्यः) सेवनीयों के पालकों [सेनापति आदिकों] से प्राप्त हुआ, (उस्रियाभिः) बस्तियों की रक्षक सेनाओं से (संभृतः) यथावत् रक्खा गया, (वाचम्) शब्द (तुणुवानः) करता हुआ (सपत्नान्) वैरियों को (दमयन्) दबाता हुआ, (दुन्दुभिः) दुन्दुभि [ढोल वा नगारा] तू (सिंहः इव) सिंह के समान (जेष्यन्) जीत चाहता हुआ (अभि) सब ओर (तंस्तनीहि) गरजता रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—सेनापति लोग दुन्दुभि आदि मारू बाजे बजा कर शत्रुओं को जीतें ॥ १ ॥

सिंह इवास्तानीद् द्रुवयो विबद्धोऽभिक्रन्दन्नृषभो वासितामिव । वृषा त्वं वध्रयस्ते सपत्ना ऐन्द्रस्ते शुष्मो अभिमातिषाहः ॥ २ ॥

सिंहः-इव । अस्तानीत् । द्रुवयः । वि-बद्धः । अभि-क्रन्दन् । ऋषभः । वासिताम्-इव । वृषा । त्वम् । वध्रयः । ते । स-पत्नाः । ऐन्द्रः । ते । शुष्मः । अभिमाति-सहः ॥ २ ॥

१—(उच्चैर्घोषः) उच्चध्वनिः (दुन्दुभिः) दुन्दु इति शब्देन भाति, भा—कि । वाद्यविशेषः । बृहड्ढक्का (सत्वनायन्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्वनिप् । दस्य तः । सत्वा पराक्रमी पुरुषः । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति सत्वन्—क्यङ्, शतृ, सत्वन शब्दस्य अकारान्तता छान्दसी । पराक्रमीवाचरन् (वानस्पत्यः) अ० ३ । ६ । ६ । वनस्पति—ण्य । वनस्पतिभ्यः सेव्यानां पालकेभ्यः सेनापतिभ्य आगतः (संभृतः) सम्यग्धृतः (उस्रियाभिः) अ० ३ । ८ । १ । वसति यत्र, वस—रक्, टाप् । उस्रा वसतिः । राष्ट्रावारपाराद् घखौ । पा० ४ । २ । ९३ । इति घ । वसतिरक्षिकाभिः सेनाभिः (वाचम्) ध्वनिम् (तुणुवानः) टुनु शब्दे—स्वादिः, शानच् । शब्दायमानः (दमयन्) अभिभवन् (सपत्नान्) शत्रून् (सिंहः इव) (जेष्यन्) जेतुमिच्छन् (अभि) सर्वतः (तंस्तनीहि) स्तन गर्जने यङ्लुकि छान्दसो लोट् । तंस्तंहि । भृशं गर्ज ॥

भाषार्थ—(वासिताम्) गौ पर (अभिक्रन्दन्) दहाड़ते हुये (ऋषभः इव) बलीवर्द के समान, (विबद्धः) विशेष करके जकड़ा हुआ (द्रुवयः) वह ढांचा (सिंहः इव) सिंह के समान (अस्तानीत्) गरजा। (त्वम्) तू (वृषा) बलवान् है, (ते) तेरे (सपत्नाः) वैरी लोग (वध्रयः) निर्बल हैं, (ते) तेरा (ऐन्द्रः) ऐश्वर्यवान् (शुष्मः) बल (अभिमातिषाहः) अभिमानियों का हराने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—शूर वीर सेनापति पूर्ण पराक्रम करके शत्रुओं को जीते ॥२॥

वृषेव यूथे सहसा विदानो गव्यन्नभि रुव संधनाजित्। शुचा विध्य हृदयं परेषां हित्वा ग्रामान् प्रच्युता यन्तु शत्रवः ॥ ३ ॥

वृषा-इव। यूथे। सहसा। विदानः। गव्यन्। अभि। रुव। संधन-जित्। शुचा। विध्य। हृदयम्। परेषाम्। हित्वा। ग्रामान्। प्र-च्युताः। यन्तु। शत्रवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वृषा इव) बैल के समान (यूथे) अपने झुंड में (सहसा) बल से (विदानः) जाना गया, (गव्यन्) भूमि चाहता हुआ (संधनाजित्) यथावत् धन जीतने वाला तू (अभि) चारो ओर (रुव) गरज। (परेषाम्) वैरियों का (हृदयम्) हृदय (शुचा) शोक से (विध्य) छेद डाला (प्रच्युताः) गिरे हुये (शत्रवः) वैरी (ग्रामान्) अपने गांवों को (हित्वा) छोड़ कर

२—(सिंहः इव) (अस्तानीत्) अगर्जीत् (द्रुवयः) वलिमलितनिभ्यः कयन्। उ० ४। ६६। इति द्रु गतौ—कयन्। कलेवरम्। दुन्दुभिरित्यर्थः (विबद्धः) विशेषेण बद्धः (अभिक्रन्दन्) अभितः शब्दं कुर्वन् (ऋषभः) बलीवर्दः (वासिताम्) हृश्याभ्यामितन्। उ० ३। ६३। इति वस निवासे-इतन्, स च णित्। उस्राम्। गाम् (इव) यथा (वृषा) ऐश्वर्यवान् (त्वम्) दुन्दुभे (वध्रयः) अ० ३। ६। २। निर्वीर्याः (ते) तव (सपत्नाः) शत्रवः (ऐन्द्रः) इन्द्र-अण्। ऐश्वर्यवान् (ते) (शुष्मः) बलम् (अभिमातिषाहः) अभिमानिनां जेता ॥

३—(वृषा) बलीवर्दः (इव) यथा (यूथे) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः। उ० २। १२। इति यु मिश्रणामिश्रणयोः। थक्। सजातीयसमूहे (सहसा)

(यन्तु) चले जावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—पराक्रमी योधा लोग संग्राम में वैरियों को जीत कर उनका धन और राज्य छीन लें ॥ ३ ॥

संजयन् पृतना ऊर्ध्वमायुर्गृह्या गृह्णानो बहुधा वि चक्ष्व । दैवीं वाचं दुन्दुभ आ गुरस्व वेधाः शत्रूणामुप भरस्व वेदः ॥ ४ ॥

सम्-जयन् । पृतनाः । ऊर्ध्व-मायुः । गृह्याः । गृह्णानः । बहु-धा । वि । चक्ष्व । दैवीम् । वाचम् । दुन्दुभे । आ । गुरस्व । वेधाः । शत्रूणाम् । उप । भरस्व । वेदः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वमायुः) ऊंचा शब्द करता हुआ, (पृतनाः) संग्रामों को (संजयन्) जीतता हुआ, (गृह्याः) ग्रहण करने योग्य सेनाओं को (गृह्णानः) ग्रहण करता हुआ तू (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि चक्ष्व) देखता रह । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (दैवीम्) दिव्य गुण वाली (वाचम्) वाणी को (आगुरस्व) उच्चारण कर, (वेधाः) विधान करने वाला तू (शत्रूणाम्) वैरियों का (वेदः) धन (उप भरस्व) लाकर भर दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे पराक्रमी योधा दुन्दुभि बजाकर शत्रुओं को जीतकर

बलेन (विदानः) विद ज्ञाने-शानच् कार्थे । विदितः (गव्यन्) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति गो-क्यच् । गां भूमिमिच्छन् (अभि) (रुव) गर्ज (संधनाजित्) छान्दसो दीर्घः । सम्यग्धनानां जेता (शुचा) शोकेन (विध्य) छिन्धि (हृदयम्) अन्तःकरणम् (परेषाम्) शत्रूणाम् (हित्वा) ओहाक् त्यागे । त्यक्त्वा (ग्रामान्) निवासदेशान् (प्रच्युताः) पराजिताः (यन्तु) गच्छन्तु (शत्रवः) वैरिणः ॥

४—(संजयन्) पराभवन् (पृतनाः) संग्रामान् (ऊर्ध्वमायुः) कृवापा० । उ० १ । १ । इति माङ् माने शब्दे च-उण् युक् च । उच्चध्वनिः (गृह्याः) गृह उपादाने-क्यप्, टाप् । ग्रहणीयाः सेनाः (गृह्णानः) आददानः (बहुधा) बहुप्रकारेण (वि) विशेषेण (चक्ष्व) पश्य (दैवीम्) दिव्याम् (वाचम्) वाणीम् (दुन्दुभे) हे बृहड्ढक्के (आ गुरस्व) गुरी उद्यमने ।

कीर्ति पाते हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य आत्मदोष मिटाकर यशस्वी होवें ॥ ४ ॥

दुन्दुभेर्वाचं प्रयतां वदन्तीमाशृण्वती नाथिता घोषबुद्धा। नारी पुत्रं धावतु हस्तगृह्यामित्री भीता समरे वधानाम् ५

दुन्दुभेः । वाचम् । प्र-यताम् । वदन्तीम् । आ-शृण्वती । नाथिता । घोष-बुद्धा । नारी । पुत्रम् । धावतु । हस्त-गृह्य । आमित्री । भीता । सम्-अरे । वधानाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(दुन्दुभेः) दुन्दुभि की (प्रयताम्) नियम युक्त, (वदन्तीम्) गूंजती हुई, (वाचम्) ध्वनि को (आशृण्वती) सुनती हुई, (घोषबुद्धा) गर्जन से जागी हुई, (नाथिता) अधीन हुई, (वधानाम्) मारू शस्त्रों के (समरे) समर में (भीता) डरी हुई (आमित्री) वैरी की (नारी) नारी (पुत्रम्) पुत्र को (हस्तगृह्य) हाथ में पकड़ कर (धावतु) भाग जावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—योधा लोग नियमपूर्वक दुन्दुभि बजावें जिससे शत्रु लोग हार जावें और उनकी स्त्री आदि भी घर छोड़कर चली जावें ॥ ५ ॥

पूर्वो दुन्दुभे प्र वदासि वाचं भूम्याः पृष्ठे वद रोचमानः। अमित्रसेनामभिजञ्जभानो द्युमद् वद दुन्दुभे सूनृतावत् ॥ ६ ॥

उच्चारय (वेधाः) विधानकर्ता (शत्रूणाम्) अरीणाम् (उप) समीपे (भरस्व) धरस्व (वेदः) धनम्-निघ० २ । १० ॥

५—(दुन्दुभेः) बृहड्ढक्कायाः (वाचम्) ध्वनिम् (प्रयताम्) यम उपरमे—क्त । नियमयुक्ताम् (वदन्तीम्) प्रतिध्वनन्तीम् (आशृण्वतीम्) आकर्णयन्तीम् (नाथिता) अ० ४ । २३ । ७ । अधीना (घोषबुद्धा) ध्वनिना जागरिता (नारी) भार्या (पुत्रम्) सुतम् (धावतु) वेगेन गच्छतु (हस्तगृह्य) अ० ५ । १४ । ४ । हस्ते गृहीत्वा (आमित्री) अमित्र-अण्, ङीप् । शात्रवी (भीता) भययुक्ता (समरे) ऋच्छेररः । उ० ३ । १३१ । इति सम्+ऋ गतौ—अर, यद्वा ऋ-अप् । युद्धे (वधानाम्) हननायुधानाम् ॥

पूर्वः । दुन्दुभे । प्र । वदासि । वाचम् । भूम्याः । पृष्ठे । वद । रोचमानः । अमित्र-सेनाम् । अभि-जञ्जभानः । द्यु-मत् । वद । दुन्दुभे । सूनृता-वत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दुन्दुभे) हे ढोल ! (पूर्वः) सब से पहिले तू (वाचम्) ध्वनि (प्रवदासि) ऊंची कर, और (रोचमानः) रुचि करके (भूम्याः) भूमि की (पृष्ठे) पीठ पर (वद) शब्द कर । (दुन्दुभे) हे ढोल ! (अमित्रसेनाम्) वैरियों की सेना को (अभिजञ्जभानः) सर्वथा मेट डालता हुआ तू (द्युमत्) स्पष्ट स्पष्ट और (सूनृतावत्) सत्य प्रिय वाणी से (वद) बोल ॥

भावार्थ—सेना के लोग प्रसन्न चित्त से सत्य प्रतिज्ञा करके ढोल आदि बाजे बजा कर शत्रुओं को जीतें ॥ ६ ॥

अन्तरेमे नभसी घोषो अस्तु पृथक् ते ध्वनयो यन्तु शीभम् । अभि क्रन्द स्तनयोत्पिपानः श्लोककृन्मित्रतूर्याय स्वर्धी ॥ ७ ॥

अन्तरा । इमे इति । नभसी इति । घोषः । अस्तु । पृथक् । ते । ध्वनयः । यन्तु । शीभम् । अभि । क्रन्द । स्तनय । उत्-पिपानः । श्लोक-कृत् । मित्र-तूर्याय । सु-अर्धी ॥७॥

भाषार्थ—(इमे) इन (नभसी) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) बीच

६—(पूर्वः) सर्वेषां प्रथमः सन् (दुन्दुभे) बृहड्ढक्के (प्र) प्रकर्षेण (वदासि) लेटि रूपम् । कथय (वाचम्) वाणीम् (भूम्याः) पृथिव्याः (पृष्ठे) तले (वद) कथय (रोचमानः) रुचियुक्तः (अमित्रसेनाम्) शत्रुसेनाम् (अभिजञ्जभानः) जभि नाशने-यङ्लुकि, शानच् अभितो भृशं नाशयन् (द्युमत्) अ० २ । ३५ । ४ । यथा तथा स्पष्टरीत्या (वद) (दुन्दुभे) (सूनृतावत्) ऋ० ३ । १२ । २ । सत्यप्रियवाग्योगेन ॥

७—(अन्तरा) मध्ये (इमे) प्रत्यक्षे (नभसी) द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० । (घोषः) ध्वनिः (अस्तु) भवतु (पृथक्) नानारूपेण (ते) तव

(घोषः) तेरा शब्द (अस्तु) होवे, (ते) तेरी (ध्वनयः) ध्वनें (शीभम्) शीघ्र (पृथक्) नाना रूप से (यन्तु) जावें। (उत्पिपानः) ऊपर बढ़ता हुआ, (श्लोककृत्) बड़ाई करने वाला, (स्पर्धी) बड़ी वृद्धि वाला तू (मित्रतूर्याय) मित्रों के वेग के लिये (अभि) चारो ओर (क्रन्द) शब्द कर और (स्तनय) गड़ गड़ाकर गर्ज ॥ ७ ॥

भावार्थ—योधा पुरुष दुन्दुभि आदि बाजों की ध्वनि से शत्रुओं को जीत कर कीर्ति पावें ॥ ७ ॥

धीभिः कृतः प्र वंदाति वाचमुद्धर्षय सत्वनामायुधानि।
इन्द्रमेदी सत्वनो नि ह्वयस्व मित्रैरमित्राँ अव जङ्घनीहि ॥८॥

धीभिः। कृतः। प्र। वदाति। वाचम्। उत्। हर्षय। सत्वनाम्। आयुधानि। इन्द्र-मेदी। सत्वनः। नि। ह्वयस्व। मित्रैः। अमित्रान्। अव। जङ्घनीहि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(धीभिः) शिल्पकर्म से (कृतः) बनाया गया वह (वाचम्) शब्द (प्रवदाति) अच्छे प्रकार बोले। (सत्वनाम्) हमारे वीरों के (आयुधानि) शस्त्रों को (उत् हर्षय) ऊंचा उठा। (इन्द्रमेदी) ऐश्वर्यवान् सेनापति का मित्र तू (सत्वनः) हमारे वीरों को (नि) नियम से (ह्वयस्व) बुला। (मित्रैः) मित्रों के साथ (अमित्रान्) वैरियों को (अव जङ्घनीहि) गिरा कर मार डाल ॥ ८ ॥

(ध्वनयः) शब्दाः (यन्तु) गच्छन्तु (शीभम्) शीभृ कत्थने-घञ्। क्षिप्रम्-निघ० । २ । १५ । (अभि) (क्रन्द) शब्दं कुरु (स्तनय) बहु गर्ज (उत्पिपानः) पि गतौ-यङि शानचि छान्दसं रूपम्। उत्पेपीयमानः। अत्यर्थमुद्गच्छन् (श्लोककृत्) स्तुतिकर्ता। श्लोको वाङ्नाम-निघ० । १ । ११ । (मित्रतूर्याय) मित्र+तूरी गतित्वरणहिंसनयोः-ण्यत्। मित्राणां वेगकरणाय (स्पर्धी) सु+ऋधु वृद्धौ-णिनि। सुष्ठुवृद्धिशीलः ॥

८—(धीभिः) शिल्पकर्मभिः। धीः कर्मनाम—निघ० । २ । १ । (कृतः) निष्पादितः (प्र) प्रकर्षेण (वदाति) कथयतु (वाचम्) शब्दम् (उत् हर्षय) ऊर्ध्वानि कुरु (सत्वनाम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ३ । २ । ७५ । इति षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-क्वनिप्, दस्य तः। गतिशीलानां वीराणाम् (आयुधानि)

भावार्थ—सेनादल दुन्दुभि का शब्द सुनकर अपने शस्त्र लेकर शत्रुओं पर धावा करके मारें ॥ ८ ॥

संक्रन्दनः प्रवदो धृष्णुषेणः प्रवेदकृद् बहुधा ग्रामघोषी।
श्रेयो वन्वानो वयुनानि विद्वान् कीर्तिं बहुभ्यो वि हर द्विराजे ॥ ९ ॥

सम्-क्रन्दनः। प्र-वदः। धृष्णु-सेनः। प्रवेद-कृत्। बहु-धा ग्राम-घोषी। श्रेयः। वन्वानः। वयुनानि। विद्वान्। कीर्तिम्। बहु-भ्यः। वि। हर। द्वि-राजे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(संक्रन्दनः) शब्द करने वाला, (प्रवदः) गर्जने वाला, (धृष्णुषेणः) निडर सेना वाला, (प्रवेदकृत्) चेतना करने वाला, (बहुधा) अनेक प्रकार से (ग्रामघोषी) सेनादलों में शब्द करने वाला, (श्रेयः) हमारे आनन्द का (वन्वानः) उद्योग करने वाला, (वयुनानि) धर्मों को (विद्वान्) जानने वाला तू (द्विराजे) दो राजाओं के युद्ध में (बहुभ्यः) बहुतों को (कीर्तिम्) कीर्ति (वि) विविध प्रकार से (हर) प्राप्त करा ॥ ९ ॥

भावार्थ—शूर सेनादल सिंहध्वनि के साथ वैरियों को जीतकर कीर्ति पावें ॥ ९ ॥

शस्त्राणि (इन्द्रमेदी) ऐश्वर्यवतः सेनापतेः स्नेही (सत्वनः) वीरान् (नि) नियमेन (ह्वयस्व) आह्वय (मित्रैः) सुहृद्भिः (अमित्रान्) शत्रून् (अव) अधः-पातेन (जङ्घनीहि) हन हिंसागत्योः-यङ्लुकि लोटि छान्दसं रूपम्। जहि भृशं मारय ॥

९—(संक्रन्दनः) सम्यक् शब्दायमानः (प्रवदः) बहुगर्जनशीलः (धृष्णुषेणः) प्रगल्भसेनायुक्तः (प्रवेदकृत्) प्रज्ञानकर्ता (बहुधा) बहुप्रकारेण (ग्रामघोषी) सेनादलेषु घोषशीलः (श्रेयः) प्रशस्य-ईयसुन्। प्रशस्यतरं कल्याणम् (वन्वानः) वन सम्भक्तौ उपकारे च-शानच्। उपकुर्वन् (वयुनानि) ज्ञानानि। नियमान् (विद्वान्) जानन् (कीर्तिम्) क्तिपिचिरुहि० । उ० ४। ११९। इति कॄत संशब्दने—इन्। यशः (बहुभ्यः) बहुवीरेभ्यः (वि) विविधम् (हर) प्रापय (द्विराजे) राजाहः सखिभ्यष्टच्। पा० ५। ४। ९१। इति द्वि+राजन्-टच्। द्वाभ्यां राजभ्यां कृते युद्धे ॥

श्रेयःकेतो वसुजित् सहीयान्त्संग्रामजित् संशितो ब्रह्मणासि । अंशूनिव ग्रावाधिषवणे अद्रिर्गव्यन् दुन्दुभेऽधि नृत्य वेदः ॥ १० ॥

श्रेयः-केतः । वसु-जित् । सहीयान् । संग्राम-जित् । सम्-शितः । ब्रह्मणा । असि । अंशून्-इव । ग्रावा । अधि-सवने । अद्रिः । गव्यन् । दुन्दुभे । अधि । नृत्य । वेदः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(श्रेयःकेतः) कल्याण का ज्ञान देने वाला, (वसुजित्) धन जीतने वाला, (सहीयान्) अधिक बल वाला, (संग्रामजित्) संग्रामों का जीतने वाला, और (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (संशितः) तीक्ष्ण किया हुआ (असि) तू है । (अद्रिः) निश्चल स्वभाव, (ग्रावा इव) जैसे सूक्ष्मदर्शी पंडित (अधिषवणे) तत्त्व मंथन में (अंशून्) सूक्ष्म अंशो को [वश में करता है, वैसे ही], (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (गव्यन्) भूमि चाहता हुआ तू (वेदः) शत्रु का धन (अधि=अधिकृत्य) वश में करके (नृत्य) नृत्यकर ॥१०॥

भावार्थ—जैसे संग्राम में दुन्दुभि उत्साह बढ़ाता है और जैसे तत्त्ववेत्ता पुरुष तत्त्वों को जीत कर आनन्द भोगता है, वैसे ही प्रत्येक मनुष्य विज्ञान प्राप्त करके सदा सुखी रहे ॥ १० ॥

१०—(श्रेयः केतः) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति कि ज्ञाने-तन् । यद्वा, चायः किः । उ० १ । ७४ । इति निर्देशात्, चायृ पूजानिशामनयोः-तन्प्रत्यये धातोः किरादेशो गुणश्च । केतः प्रज्ञानाम-निघ० ३ । ६ । श्रेयसः कल्याणस्य प्रज्ञा यस्मात् सः (वसुजित्) धनस्य जेता (सहीयान्) अ० ४ । ३२ । ४ । बलवत्तरः (संग्रामजित्) संग्रामाणां जेता (संशितः) तीक्ष्णीकृतः (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (असि) (अंशून्) अंश विभाजने—कु । सूक्ष्मांशान् (इव) यथा (ग्रावा) अ० ३ । १० । ४ । गॄ विज्ञापने-क्वनिप् । शास्त्रविज्ञापकः पण्डितः (अधिषवणे) सुयुरुवृञो युच् । उ० २ । ७४ । इति षुञ् अभिषवे—युच् । तत्त्वानामधिकमन्थने (अद्रिः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् । उ० ४ । ६५ । इति अद भक्षणे-क्रिन् । यद्वा नञ्+दॄ विदारणे-रिन्, टिलोपः । अविदारणीयः । निश्चलस्वभावः (गव्यन्) म० ३ । भूमिमिच्छन् (दुन्दुभे) (अधि) अधिकृत्य (नृत्य) चेष्टां कुरु (वेदः) शत्रुधनम् ॥

शत्रूषाण्नीषाडभिमातिषाहो गवेषणः सहमान उद्भित्।
वाग्वीव मन्त्रं प्र भरस्व वाचं सांग्रामजित्यायेषमुद्वदेह ॥ ११ ॥

शत्रुषाट्। नीषाट्। अभिमाति-सहः। गो-एषणः। सहमानः। उत्-भित्। वाग्वी-इव। मन्त्रम्। प्र। भरस्व। वाचम्। सांग्राम-जित्याय। इषम्। उत्। वद। इह ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शत्रूषाट्) वैरियों को हराने वाला, (नीषाट्) नित्य जीतने वाला, (अभिमातिसाहः) अभिमानियों का वश में करने वाला, (गवेषणः) भूमि वा विद्या का ढूंढ़ने वाला, (सहमानः) शासन करने वाला, (उद्भित्) बहुत तोड़ फोड़ करने वाला तू (वाचम्) वाणी को (प्र भरस्व) अच्छे प्रकार भरदे, (इव) जैसे (वाग्वी) उत्तम बोलने वाला पुरुष (मन्त्रम्) अपने मनन वा उपदेश को। और (संग्रामजित्याय) संग्राम जीतने के लिये (इह) यहां पर (इषम्) अन्न का (उत्) अच्छे प्रकार (वद) कथन कर ॥ ११ ॥

भावार्थ—पराक्रमी शूर पुरुष दुन्दुभि की ध्वनि से उत्साहित होकर शत्रुओं को जीत कर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥ ११ ॥

अच्युतच्युत् समदो गमिष्ठो मृधो जेता पुरएतायो-

११—(शत्रूषाट्) छन्दसि सहः। पा० ३। २। ६३। इति शत्रु+षह अभिभवे-ण्वि। शत्रूणामभिभविता (नीषाट्) नि+सह—ण्वि। नित्यजयशीलः (अभिमातिषाहः) अभिमानिनां दमनशीलः (गवेषणः) गो+इषु इच्छायाम्—ल्युट्। गोर्भूमेर्वाण्या विद्याया वा अन्वेष्टा (सहमानः) शासनं कुर्वन् (उद्भित्) उत्कर्षेण भेदकः (वाग्वी) वाच—ग्मिनि। वाग्मी पुरुषः (इव) यथा (मन्त्रम्) मन्त्रा मननात्—निरु० । ५। १२। शुभविचारम् (प्र) प्रकर्षेण (भरस्व) भर। उच्चारयेत्यर्थः (वाचम्) वाणीम् (संग्रामजित्याय) जि—क्यप् तुक् च। युद्धजयाय (इषम्) अ० ३। १०। ७। अन्नम्—निघ०। २। ७ (उत्) उत्कर्षेण (वद) ब्रूहि (इह) अस्यां दशायाम् ॥

ध्यः । इन्द्रे॑ण गु॒प्तो वि॒दथा॑ नि॒चिक्य॑द्धृ॒द्द्योत॑नो द्वि॒ष॒तां या॑हि॒ शीभ॑म् ॥ १२ ॥

अ॒च्यु॒त॒-च्युत् । स॒-मदः॑ । गमि॑ष्ठः । मृधः॑ । जेता॑ । पु॒रः॒-ए॒ता । अ॒यो॒ध्यः । इन्द्रे॑ण । गु॒प्तः । वि॒दथा॑ । नि॒-चिक्य॑त् । हृ॒त्-द्योत॑नः । द्वि॒ष॒ताम् । या॒हि॒ । शीभ॑म् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अच्युतच्युत्) न गिरे हुओं [शत्रुओं] का गिराने वाला, (समदः) हर्ष सहित (गमिष्ठः) अतिशय गति वाला, (मृधः) संग्रामों को (जेता) जीतने वाला, (पुरएता) आगे आगे चलने वाला, (अयोध्यः) न रुकने योग्य, (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् सेनापति से (गुप्तः) रक्षा किया गया, (विदथा=०-थानि) जानने योग्य कर्मों को (निचक्यत्) जानता हुआ, (द्विषताम्) वैरियों के (हृद्द्योतनः) निश्चय करके हृदयों का जलाने वाला तू (शीभम्) शीघ्र (याहि) प्राप्त हो ॥ १२ ॥

भावार्थ—सेना पति की आज्ञा से दुन्दुभि बजते ही समस्त सेना दल शत्रुओं पर टूट परे ॥ १२ ॥

सूक्तम् ॥ २१ ॥

१-१२ ॥ १-६ दुन्दुभिः, १०-१२ देवसेना देवताः ॥ १, ४, ५ पथ्या पङ्क्तिः; २, ३, ७-१० अनुष्टुप्; ६ जगती; ११ द्विपदा त्रिष्टुब् विराट् च; १२ गायत्री ॥

१२—(अच्युतच्युत्) च्युङ् गतौ—क्त+च्युङ्—क्विप्, तुक् च । अनधःपतितानां शत्रूणामधः पातयिता (समदः) सहर्षः (गमिष्ठः) गन्तृ—इष्ठन् । अतिशयेन गतिवान् (मृधः) मृध हिंसायाम्—क्विप्, संग्रामान्—निघ० । २ । १७ (जेता) जयशीलः (पुरएता) अग्रगामी (अयोध्यः) केनापि योद्धुमशक्यः । अबाध्यः (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवता सेनापतिना (गुप्तः) रक्षितः (विदथा) अ० १ । १३ । ४ । शेर्लोपः । वेदितव्यानि कर्माणि (निचिक्यत्) कि ज्ञाने जुहो०—शतृ । निश्चयेन जानन् (हृद्द्योतनः) द्युत—दीप्तौ—ल्युट् । द्योतते ज्वलतिकर्मा—निघ० । १ । १६ । हृदयानां तापकः (द्विषताम्) द्वेषं कुर्वताम् (याहि) गच्छ (शीभम्) म० ७ । शीघ्रम् ॥

शत्रुजयोपदेशः—शत्रुओं को जीतने का उपदेश ॥

विहृ॑दयं वैमन॒स्यं व॒दामित्रे॑षु दुन्दुभे । वि॒द्वे॒षं कश्म॑शं भ॒यम॒मित्रे॑षु॒ नि द॑ध्मस्य॒वैना॑न् दुन्दुभे ज॒हि ॥ १ ॥

वि-हृ॑दयम् । वै॒मन॒स्यम् । वद॑ । अ॒मित्रे॑षु । दु॒न्दु॒भे॒ । वि॒-द्वे॒षम् । कश्म॑शम् । भ॒यम् । अ॒मित्रे॑षु । नि । द॒ध्म॒सि॒ । अव॑ । ए॒नान् । दु॒न्दु॒भे॒ । ज॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दुन्दुभे) हे दुन्दुभि वा ढोल ! (अमित्रेषु) वैरियों में (विहृदयम्) हृदय व्याकुल करने हारी (वैमनस्यम्) मन की ग्लानी (वद) कह दे । (विद्वेषम्) फूट, (कश्मशम्) गति की रोक और (भयम्) भय (अमित्रेषु) वैरियों के बीच (निदध्मसि) हम डाले देते हैं । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (एनान्) इन [शत्रुओं] को (अव जहि) निकाल दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पराक्रमी शूर के दुन्दुभि आदि बजने पर शत्रु लोग डांवां डोल हो कर भाग जाते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष के विज्ञान द्वारा काम क्रोध आदि नष्ट हो जाते हैं ॥ १ ॥

उ॒द्वेप॑माना॒ मन॑सा॒ चक्षु॑षा॒ हृद॑येन च ।
धाव॑न्तु॒ बिभ्य॑तो॒ऽमित्राः॑ प्र॒त्रासे॑नाज्ये॑ हु॒ते ॥ २ ॥

उ॒त्-वेप॑मानाः । मन॑सा । चक्षु॑षा । हृद॑येन । च॒ । धाव॑न्तु । बिभ्य॑तः । अ॒मित्राः॑ । प्र॒-त्रासे॑न । । आज्ये॑ । हु॒ते ॥ २ ॥

१—(विहृदयम्) वि विकृतं हृदयं यस्मात् तत् (वैमनस्यम्) विमनसो भावः-ष्यञ् । मनोग्लानिम् (वद) ज्ञापय (अमित्रेषु) अ० १ । १९ । २ । पीडकेषु शत्रुषु (दुन्दुभे) सू० २० म० १ । हे बृहड्ढक्के (विद्वेषम्) वैरिभावम् (कश्मशम्) कश गतिशासनयोः—क्विप्+मष् हिंसायाम्-घञर्थे क, षस्य शः । कशः गतेः प्रवृत्तेर्मशं नाशम् (भयम्) दरम् (निदध्मसि) निरंतरं धारयामः (अव) दूरे (एनान्) शत्रून् (जहि) हन हिंसागत्योः । गमय ॥

भाषार्थ—(आज्ये हुते) घृत आग में चढ़ाने पर (मनसा) मन से (चक्षुषा) नेत्र से (च) और (हृदयेन) हृदय से (उद्वेपमानाः) थरथराते हुये, (बिभ्यतः) भय मानते हुये (अमित्राः) वैरी लोग (प्रत्रासेन) घबराहट के साथ (धावन्तु) भागें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि घी चढ़ाने से प्रचंड होता है; वैसे ही युद्धाग्नि प्रचंड होने पर कुशल सेनापति शत्रुओं को अंग भंग करके भगा दे ॥ २ ॥

वानस्पत्यः संभृत उस्रियाभिर्विश्वगोत्र्यः ।
प्रत्रासममित्रेभ्यो वदाज्येनाभिघारितः ॥ ३ ॥

वानस्पत्यः । सम्-भृतः । उस्रियाभिः । विश्व-गोत्र्यः । प्र-त्रासम् । अमित्रेभ्यः । वद । आज्येन । अभि-घारितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे दुन्दुभि !] (वानस्पत्यः) सेवनियों के पालक [सेनापति] से प्राप्त हुआ, (उस्रियाभिः) वस्तियों की रक्षक सेनाओं से (संभृतः) यथावत् रक्खा गया, (विश्वगोत्र्यः) समस्त कुलों का हितकारक तू (अमित्रेभ्यः) वैरियों को (प्रत्रासम्) अति भय (वद) कह दे, [जैसे] (आज्येन) घी से (अभिघारितः) सींचा हुआ [अग्नि प्रकाशित होता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनपति लोग घृत से प्रज्वलित अग्नि के समान प्रचण्ड होकर शत्रुओं को भयभीत करदें ॥ ३ ॥

२—(उद्वेपमानाः) अत्यन्तं कम्पमानाः (मनसा) चित्तेन (चक्षुषा) नेत्रेण (हृदयेन) अन्तःकरणेन (धावन्तु) पलायन्ताम् (बिभ्यतः) भयं प्राप्नुवन्तः (अमित्राः) पीडकाः शत्रवः (प्रत्रासेन) व्याकुलत्वेन (आज्ये) घृते (हुते) अग्नौ प्रक्षिप्ते सति (च) ॥

३—(वानस्पत्यः) सू० २० म० १ । वनस्पतिभ्यः सेव्यानां पालकेभ्यः सेनापतिभ्य आगतः (संभृतः) सम्यग्धृतः (उस्रियाभिः) सू० २० म० १ । वसतिरक्षिकाभिः सेनाभिः (विश्वगोत्र्यः) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति-विश्वगोत्र—यत् । सर्वकुलेभ्यो हितः (प्रत्रासम्) अतिभयम् (अमित्रेभ्यः) म० १ । शत्रुभ्यः (वद) कथय (आज्येन) घृतेन (अभिघारितः) अभिषिक्तोऽग्निरिव ॥

यथा मृगाः संविजन्त आरण्याः पुरुषादधि । एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥४॥

यथा । मृगाः । सम्-विजन्ते । आरण्याः । पुरुषात् । अधि । एव । त्वम् । दुन्दुभे । अमित्रान् अभि । क्रन्द । प्र । त्रासय । अथो-इति । चित्तानि । मोहय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (आरण्याः) वनवासी (मृगाः) पशु (पुरुषात्) मनुष्य से (अधि) अतिशय (संविजन्ते) डरकर भागते हैं; (एव) वैसे ही (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (त्वम्) तू (अमित्रान् अभि) वैरियों पर (क्रन्द) गर्ज, और (प्र त्रासय) डरा दे (अथो) और भी (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) घबड़ा दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे जङ्गलीय पशु मनुष्य को देख कर भागते हैं; वैसे ही शूर वीरों को देख कर ही शत्रु लोग घबड़ा कर भागजावें ॥४॥

यथा वृकादजावयो धावन्ति बहु बिभ्यतीः । एवा० ॥५॥

यथा । वृकात् । अज-अवयः । धावन्ति । बहु । बिभ्यतीः ०॥५॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वृकात्) भेड़िये से (बहु) बहुत (बिभ्यतीः) डरती हुई (अजावयः) बकरी और भेड़ें (धावन्ति) भागजाती हैं । (एव) वैसे ही...म० ४ ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ४ के समान ॥ ५ ॥

४—(यथा) येन प्रकारेण (मृगाः) अन्वेष्टारः पशवः (संविजन्ते) ओ विजी भयचलनयोः । भयेन चलन्ति (आरण्याः) अरण्य-अण् । वनजाताः (पुरुषात्) मनुष्यात् (अधि) अत्यन्तम् (एव) एवम् (त्वम्) (दुन्दुभे) (अमित्रान्) पीडाप्रदान् शत्रून् (अभि) प्रति (क्रन्द) गर्ज (प्र) प्रकर्षेण (त्रासय) भयं प्रापय (अथो) अपि च (चित्तानि) शत्रुमनांसि (मोहय) व्याकुलीकुरु ॥

५—(यथा) येन प्रकारेण (वृकात्) कुकुराकाराद् व्याघ्रभेदात् (अजावयः) वर्करीमेष्यः (धावन्ति) पलायन्ते (बहु) अत्यन्तम् (बिभ्यतीः) बिभ्यत्यः । भयं गच्छन्त्यः । अन्यत् पूर्ववत् म० ॥ ५ ॥

यथा श्येनात् पतत्रिणः संविजन्ते अहर्दिवि सिंहस्य स्तनथोर्यथा । एवा त्वं दुन्दुभेऽमित्रानभि क्रन्द प्र त्रासयाथो चित्तानि मोहय ॥ ६ ॥

यथा । श्येनात् । पतत्रिणः । सम्-विजन्ते । अहः-दिवि । सिंहस्य । स्तनथोः । यथा । एव । त्वम् । दुन्दुभे । अमित्रान् । अभि । क्रन्द । प्र । त्रासय । अथो इति । चित्तानि । मोहय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (श्येनात्) श्येन [बाज] से (पतत्रिणः) पक्षी (अहर्दिवि) प्रति दिन (संविजन्ते) डर कर भागते हैं, और (यथा) जैसे (सिंहस्य) सिंह की (स्तनथोः) गर्जन से, (एव) वैसे ही (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि ! (त्वम्) तू (अमित्रान् अभि) वैरियों पर (क्रन्द) गर्ज, और (प्रत्रासय) डरा दे, (अथो) और भी (चित्तानि) उनके चित्तों को (मोहय) घबड़ा दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ४ के समान ॥ ६ ॥

परामित्रान् दुन्दुभिना हरिणस्याजिनेन च ।
सर्वे देवा अतित्रसन् ये संग्रामस्येशते ॥ ७॥

परा । अमित्रान् । दुन्दुभिना । हरिणस्य । अजिनेन । च । सर्वे । देवाः । अतित्रसन् । ये । सम्-ग्रामस्य । ईशते ॥ ७ ॥

६—(यथा) येन प्रकारेण (श्येनात्) अ० ३ । ३ । ३ । शीघ्रगतिपक्षिविशेषात् (पतत्रिणः) अ० १ । १५ । १ । पक्षिणः (संविजन्ते) भयेन चलन्ति (अहर्दिवि) दिने दिने (सिंहस्य) अ० ४ । ८ । ७ । हिंसकजन्तुविशेषस्य (स्तनथोः) ट्वितोऽथुच् । पा० ३ । ३ । ८९ । इति स्तन देवशब्दे-अथुच्, बाहुलकात । गर्जनात् । अन्यत् पूर्ववत् म० ४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो विद्वान् लोग (संग्रामस्य) संग्राम के (ईशते) स्वामी होते हैं, उन (सर्वे) सब (देवाः) महात्मा लोगों ने (हरिणस्य) हरिण के (अजिनेन) चर्म से युक्त (दुन्दुभिना) दुन्दुभि से (च) निश्चय करके (परा=पराजित्य) हराकर (अतित्रसन्) डरा दिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—शूर सेना पति लोग शत्रुओं को जीत कर भगा देवें ॥ ७ ॥

यैरिन्द्रः प्रक्रीडते पद्घोषैश्छायया सह ।

तैरमित्रास्त्रसन्तु नोऽमी ये यन्त्यनीकशः ॥ ८ ॥

यैः । इन्द्रः । प्र-क्रीडते । पत्-घोषैः । छायया । सह । तैः । अमित्राः । त्रसन्तु । नः । अमी इति । ये । यन्ति । अनीक-शः ॥८

भाषार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सेनापति (छायया सह) छाया के साथ (यैः) जिन (पद्घोषैः) पैरों के खटकों से (प्रक्रीडते) क्रीड़ा करता रहता है, (तैः) उनसे (नः) हमारे (अमी) वे (अमित्राः) शत्रु (त्रसन्तु) डर जावें (ये) जो (अनीकशः) श्रेणी श्रेणी (यन्ति) चलते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—चतुर शीघ्र गामी सेनापति की छाया और पैरों के आहट से शत्रु के दल के दल भाग जावें ॥ ८ ॥

ज्याघोषा दुन्दुभयोऽभि क्रोशन्तु या दिशः ।

सेनाः पराजिता यतीरमित्राणामनीकशः ॥ ९ ॥

७—(परा) पराजित्य (अमित्रान्) म० १ शत्रून् (दुन्दुभिना) बृहड्ढक्कया (हरिणस्य) मृगस्य (अजिनेन) अजिन-अर्शआद्यच् । चर्मयुक्तेन (च) निश्चयेन (सर्वे) सकलाः (देवाः) महात्मानः (अतित्रसन्) त्रसी उद्वेगे णिचि लुङ् । त्रासितवन्तः (ये) देवाः (संग्रामस्य) युद्धस्य (ईशते) ईश्वरा भवन्ति ॥

८—(यैः) (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् सेनापतिः (प्रक्रीडते) विहरति (पद्घोषैः) स्वपादशब्दैः (छायया) स्वप्रतिबिम्बेन (सह) सहितः (तैः) पद्घोषैः (अमित्राः) शत्रवः (त्रसन्तु) बिभ्यतु (नः) अस्माकम् (अमी) दृश्यमानाः (ये) शत्रवः (यन्ति) गच्छन्ति (अनीकशः) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् । पा० ५ । ४ । ४३ । इति अनीक-शस् । सेनाखण्डशः । श्रेण्या श्रेण्या ॥

ज्या-घोषाः । दुन्दुभयः । अभि । क्रोशन्तु । याः । दिशः ।
सेनाः । परा-जिताः । यतीः । अमित्राणाम् । अनीक-शः ॥९॥

भाषार्थ—(ज्याघोषाः) हमारी प्रत्यंचा के शब्द और (दुन्दुभयः) सब दुन्दुभि (याः) व्यापक (दिशः) दिशाओं में (अनीकशः) श्रेणी श्रेणी (यतीः) चलती हुई (अमित्राणाम्) वैरियों की (पराजिताः) हारी (सेनाः अभि) सेनाओं पर (क्रोशन्तु) पुकार मचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—वीर सेनापति अपने अस्त्र शस्त्रों से सब दिशाओं में शत्रु के प्रत्येक दल को रोक कर हरा देवे ॥ ९ ॥

आदित्य चक्षुरा दत्स्व मरीचयोऽनु धावत ।
पत्सङ्गिनीरा सजन्तु विगते बाहुवीर्ये ॥ १० ॥

आदित्य । चक्षुः । आ । दत्स्व । मरीचयः । अनु । धावत ।
पत्-सङ्गिनीः । आ । सजन्तु । वि-गते । बाहु-वीर्ये ॥ १० ॥

भाषार्थ—(आदित्य) हे सूर्य समान सेनापति ! [शत्रुओं की] (चक्षुः) दृष्टि (आ दत्स्व) ले ले, (मरीचयः) हे किरनों के समान सेना दलो ! (अनु) पीछे पीछे (धावत) दौड़ो । (बाहुवीर्ये) बाहु बल (विगते)

९—(ज्याघोषाः) मौर्वीध्वनयः (दुन्दुभयः) (अभि) प्रति (क्रोशन्तु) गर्जन्तु (याः) या गतौ-ड, टाप् । व्यापिकाः (दिशः) अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । पूर्वादिदिशाः (सेनाः) सेनादलान् (पराजिताः) अभिभूताः (यतीः) इण्-शतृ, ङीप् । गच्छन्तीः (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (अनीकशः) म० ८ । श्रेण्या श्रेण्या ॥

१०—(आदित्य) अ० १ । ९ । १ । हे सूर्यसमान तेजस्विन् सेनापते (चक्षुः) शत्रूणां दृष्टिम् (आ दत्स्व) गृहाण । निवारय-इत्यर्थः (मरीचयः) अ० ४ । ३८ । ५ । हे किरणतुल्याः सेनाजनाः (अनु) पश्चात् (धावत) वेगेन गच्छत (पत्सङ्गिनीः) पद्+षञ्ज-सङ्गे-घञ्, इनि, ङीप् । पादेषु सङ्गो

चले आने पर (पत्सङ्गिनीः) पांव में पड़ी बेड़ियों को (आ सजन्तु) वे [शत्रु] लिपटा लेवें ॥ १० ॥

भावार्थ—पराक्रमी सेनापति शत्रुओं की दृष्टि बचा कर अपनी सेना के साथ धावा करके निर्बल शत्रुओं को बांध लेवे ॥ १० ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून् । सोमो राजा वरुणो राजा महादेव उत मृत्युरिन्द्रः ॥ ११ ॥

यूयम् । उग्राः । मरुतः । पृश्नि-मातरः । इन्द्रेण । युजा । प्र । मृणीत । शत्रून् । सोमः । राजा । वरुणः । राजा । महा-देवः । उत । मृत्युः । इन्द्रः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(पृश्निमातरः) हे छूने योग्य पदार्थों के वा आकाश के नापने वाले, (उग्राः) प्रचण्ड (मरुतः) शूर लोगो ! (यूयम्) तुम (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्यवाले सेनापति (युजा) मित्र के साथ (शत्रून्) वैरियों को (प्र मृणीत) मार डालो। (इन्द्रः) वह बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति (सोमः) तत्त्वों का मथन करने वाला (राजा) प्रकाशमान, (वरुणः) श्रेष्ठ (राजा) राजा (उत) और (मृत्युः) मृत्यु के समान (महादेवः) बड़ा देवता है ॥११॥

भावार्थ—महाप्रतापी सेनापति के साथ समस्त शूर सेनादल शत्रुओं को जीत लें ॥ ११ ॥

बन्धो यासां ताः । पादशृङ्खलाः । निगड़ान् (आ सजन्तु) आसक्ताः कुर्वन्तु शत्रवः (विगते) अपगते (बाहुवीर्ये) भुजबले ॥

११—(यूयम्) (उग्राः) प्रचण्डाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । हे शूरवीरा देवाः (पृश्निमातरः) अ० ४ । २७ । २ । हे पृश्नीनां स्पर्शनीयानां पदार्थानाम्, अथवा, पृश्नेराकाशस्य मातारो मानकर्तारः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सेनापतिना (युजा) मित्रेण (प्र) प्रकर्षेण (मृणीत) मृ हिंसायाम्, क्र्य० । मारयत (शत्रून्) अरीन् (सोमः) पुञ अभिषवे-मन् । तत्त्वानां मन्थिता (राजा) प्रकाशमानः (वरुणः) वरणीयः श्रेष्ठः (राजा) शासकः (महादेवः) पूजनीयो देवः (उत) अपि (मृत्युः) मृत्युर्यथा (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः ॥

एता देवसेनाः सूर्यकेतवः सचेतसः ।
अमित्रान् नो जयन्तु स्वाहा ॥ १२ ॥

एताः । देव-सेनाः । सूर्य-केतवः । स-चेतसः । अमित्रान् ।
नः । जयन्तु । स्वाहा ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एताः) यह सब (सूर्यकेतवः) सूर्यसमान पताका वाली, (सचेतसः) समान चित्तवाली (देवसेनाः) विजयी सेनापति की सेनायें (नः) हमारे (अमित्रान्) वैरियों को (जयन्तु) जीतें, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ १२ ॥

भावार्थ—पराक्रमी सेनापति की सहायता से समस्त शूर सेनादल शत्रुओं को हराकर निकालदें ॥ १२ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः

अथ पंचमोऽनुवाकः

सूक्तम् ॥ २२ ॥

१-१४ ॥ वेद्योर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३-१४ अनुष्टुप् ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अग्निस्तक्मानमप बाधतामितः सोमो ग्रावा वरुणः पूतदक्षाः । वेदिर्बर्हिः समिधः शोशुचाना अप द्वेषांस्यमुया भवन्तु ॥ १ ॥

१२—(एताः) समीपस्थाः (देवसेनाः) विजयिनः सेनापतेः सेनाः (सूर्यकेतवः) चायः किः । उ० १ । ७४ । इति चायृ पूजायाम्–तु । इति केतुः पताका । सूर्यवत्पताकायुक्ताः (सचेतसः) समानचित्ताः (अमित्रान्) शत्रून् (नः) अस्माकम् (जयन्तु) अभिभवन्तु (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । इत्याशीर्वादोऽस्तु ॥

अग्निः । तक्मानम् । अप । बाधताम् । इतः । सोमः । ग्रावा । वरुणः । पूत-दक्षाः । वेदिः । बर्हिः । सम्-इधः । शोशुचानाः । अप । द्वेषांसि । अमुया । भवन्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानवान्, (सोमः) तत्त्व मथन करने वाला, (ग्रावा) सूक्ष्मदर्शी, (वरुणः) वरणयोग्य, (पूतदक्षाः) पवित्रबल करने वाला, (शोशुचनाः) बहुत जलते हुये (समिधः) इन्धने के समान (बर्हिः) प्रकाशमान (वेदिः) पंडित (इतः) यहां से (तक्मानम्) दुःखित जीवन करने हारे ज्वर को (अप बाधताम्) निकाल देवे । (द्वेषांसि) हमारे सब अनिष्ट (अमुया) उधर (अप भवन्तु) हट जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सद्वैद्य रोगों की चिकित्सा करता है, उसी प्रकार सब मनुष्य आत्मदोषों का प्रतीकार करें ॥ १ ॥

अयं यो विश्वान् हरितान् कृणोष्युच्छोचयन्नग्निरिवाभिदुन्वन् । अधा हि तक्मन्नरसो हि भूया अधा न्यङ्ङधराङ् वा परेहि ॥ २ ॥

अयम् । यः । विश्वान् । हरितान् । कृणोषि । उत्-शोचयन् । अग्निः-इव । अभि-दुन्वन् । अध । हि । तक्मन् । हि । अरसः ।

१—(अग्निः) विद्वान् (तक्मानम्) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकरं ज्वरम् (अप बाधताम्) निवारयतु (इतः) अस्माद् देशात् पुरुषाद्वा (सोमः) तत्त्वमन्थिता (ग्रावा) अ० ५ । २० । १० । शास्त्रविज्ञापकः । सूक्ष्मदर्शी (वरुणः) वरणयोग्यः । श्रेष्ठः (पूतदक्षाः) दक्ष वृद्धौ शैघ्र्ये च-असुन् । दक्षो बलनाम—निघ० २ । ६ । पूतं पवित्रं दक्षो बलं यस्मात् सः (वेदिः) हपिषिरुहिवृतिविदि० । उ० ४ । ११६ । इति विद ज्ञाने—इन् । पण्डितः (बर्हिः) बृंहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०६ । इति बृहि वृद्धौ दीप्तौ च-इसि । प्रवृद्धं कर्म । दीप्तियुक्तः (समिधः) सम+ञिइन्धी दीप्तौ-क्विप् । इन्धनानि (शोशुचानाः) अ० ४ । ११ । ३ । देदीप्यमानाः (अप) अपगतानि (द्वेषांसि) अप्रियाणि वस्तूनि (अमुया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । इति विभक्तेर्याच् । परस्मिन्देशे (भवन्तु) सन्तु ॥

हि । भूयाः । अध । न्यङ् । अधराङ् । वा । परा । इहि ॥ २

भाषार्थ—(अयम्) यह (यः) जो तू (विश्वान्) सब [मनुष्यों] को (उच्छोचयन्) शोक में डालता हुआ, और (अग्निः इव) अग्नि के समान (अभिदुन्वन्) तपाता हुआ (हरितान्) पीला (कृणोषि) कर देता है। (अध) सो (हि) इसलिये (तक्मन्) हे दुःखित जीवन करने हारे ज्वर ! तू (हि) अवश्य (अरसः) निर्बल (भूयाः) होजा। (अध) और (वा) अथवा (न्यङ्) नीच स्थान से (अधराङ्) नीच स्थान को (परा इहि) चम्पत हो जा ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य ज्वर आदि रोगों को, वैसे ही बुद्धिमान् कुकाम, कुक्रोध आदि को निकाल देवे ॥ २ ॥

यः परुषः पारुषेयोऽवध्वंस इवारुणः ।

तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुवा ॥ ३ ॥

यः । परुषः । पारुषेयः । अवध्वंसः-इव । अरुणः । तक्मानम् । विश्वधा-वीर्य । अधराञ्चम् । परा । सुव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (परुषः) निठुर (पारुषेयः) निठुर से उत्पन्न हुये (अरुणः) रक्तवर्ण (अवध्वंसः इव) नीचे गिरने वाले राक्षसादि के समान है। (विश्वधावीर्य) हे सब प्रकार सामर्थ्य वाले वैद्य ! (तक्मानम्) उस

२—(अयम्) प्रसिद्धः (यः) यस्त्वम् (विश्वान्) सर्वान् मनुष्यान् (हरितान्) अ० १।२५।२। पीतवर्णान् (कृणोषि) करोषि (उच्छोचयन्) शुच शोके णिचि, शतृ। विषादयन् (अग्निः इव) पावको यथा (अभिदुन्वन्) टुदु उपतापे-शतृ। उपतापयन् (अध) अथ। अपि (हि) यस्मात् कारणात् (तक्मन्) म० १। हे कृच्छ्रजीवनकर ज्वर (अरसः) असमर्थः। निष्प्रभावः (हि) अवश्यम् (भूयाः) (अध) (न्यङ्) नि+अञ्चु गतौ-क्विन्, विभक्तिलोपः। नीचः। निम्नस्थानात् (अधराङ्) अधर+अञ्चु-क्विन्। नीचस्थानम् (वा) अथवा (परा) पृथक् (इहि) गच्छ ॥

३—(यः) तक्मा (परुषः) पॄनहिकलिभ्य उपच्। उ० ४।७५। इति पॄ पालनपूरणयोः—उपच्। निष्ठुरः (पारुषेयः) कुञ्जुण्कठजिलसेनिरढञ्०।

दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (अधराञ्चम्) नीचे देश में (परा सुव) दूर गिरादे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान ॥ ३ ॥

अधराञ्चं प्र हिणोमि नमः कृत्वा तक्मने ।
शकम्भरस्य मुष्टिहा पुनरेतु महावृषान् ॥ ४ ॥

अधराञ्चम् । प्र । हिनोमि । नमः । कृत्वा । तक्मने । शकम्-भरस्य । मुष्टि-हा । पुनः । एतु । महा-वृषान् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (कृत्वा) करके (अधराञ्चम्) नीचे देश को (प्र हिनोमि) मैं भेजता हूं । (शकम्भरस्य) शक्ति धारण करने वाले पुरुष का (मुष्टिहा) मुष्टि से मारने वाला [ज्वर] (महावृषान्) बड़ी वृष्टि वाले देशों को (पुनः) लौट-कर (एतु) चला जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—नीचे, बहुत जल वाले स्थानों में ज्वर आदि बलवान् रोग प्रायः होते हैं, मनुष्य सावधान रहें ॥ ४ ॥

ओको अस्य मूजवन्त ओको अस्य महावृषाः ।
यावज्जातस्तक्मंस्तावानसि बल्हिकेषु न्योचरः ॥ ५ ॥

पा० ४ । २ । ८० । इति पुरुष—ढञ् । परुषाज् जातः (अवध्वंसः) ध्वंसु अधःपतने—अच् । अधःपतनशीलः । राक्षसादिः (अरुणः) रक्तवर्णः (तक्मानम्) ज्वरम् (विश्वधावीर्य) हे सर्वप्रकारसमर्थ (अधराञ्चम्) म० २ । निम्नदेशम् (परा) पृथक् (सुव) प्रेरय ॥

४—(अधराञ्चम्) म० २ । निम्नदेशम् (प्र हिणोमि) हि गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रेरयामि (नमः) नमस्कारम् (कृत्वा) विधाय (तक्मने) कृच्छ्रजीवनकराय ज्वराय (शकम्भरस्य) शक्लृ शक्तौ—अच् । संज्ञायां भृतॄवृजि० । पा० ३ । २ । ४६ । इति शक+भृञ् धारणपोषणयोः—खच्, मुम् । शक्तिधारकस्य । बलवतः पुरुषस्य (मुष्टिहा) मुष्टिना हन्ता ज्वरः (पुनः) परावृत्य (एतु) गच्छतु (महावृषान्) वृषु सेचने—क । महावृष्टियुक्तान् देशान् ॥

ओकः । अस्य । मूज-वन्तः । ओकः । अस्य । महा-वृषाः । यावत् । जातः । तक्मन् । तावान् । असि । बल्हिकेषु । नि-ओचरः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इसका (ओकः) घर (मूजवन्तः) मूंज आदि घास वाले पर्वत हैं, और (अस्य) इसका (ओकः) घर (महावृषाः) महावृष्टि वाले देश हैं। (तक्मन्) हे दुःखित जीवन करने हारे ज्वर ! (यावत्) जबसे (जातः) तू उत्पन्न हुआ है, (तावान्=तावत्) तब से तू (बल्हिकेषु) हिंसा वाले देशों में (न्योचरः) नित्य संगति वाला (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—बहुत घास वाले और बहुत वृष्टि वाले देशों में ज्वर आदि रोग अधिक होते हैं, मनुष्य इसका प्रबन्ध रक्खें ॥ ५ ॥

तक्मन् व्याल वि गद व्यङ्ग भूरि यावय ।
दासीं निष्टक्वरीमिच्छ तां वज्रेण समर्पय ॥ ६ ॥

तक्मन् । वि-आल । वि । गद । वि-अङ्ग । भूरि । यवय । दासीम् । निः-तक्वरीम् । इच्छ । ताम् । वज्रेण । सम् । अर्पय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तक्मन्) हे ज्वर ! (व्याल) हे सर्प ! हे धूर्त ! (व्यङ्ग) हे कुरूप ! (विगद) तू बोल, (भूरि) बहुत दूर (यवय) चला जा (निष्ट-

---

५—(ओकः) अञ्च्यञ्जियुजि० उ० ४ । २१६ । इति उच समवाये-असुन्, कुत्वम् । गृहम् (मूजवन्तः) मुजि ध्वनौ-अच्, मतुप् । नलोपे दीर्घश्च । मूजवान् पर्वतो मुञ्जवान् मुञ्जो विमुच्यत इषीकया-निरु० ६ । ८ । मुञ्जादितृणयुक्ताः पर्वताः (ओकः) (अस्य) (महावृषाः) म० ४ । महावृष्टियुक्ता देशाः (यावत्) यत्कालात् (जातः) उत्पन्नोऽसि (तावान्) तावत् । तत्कालात् (असि) (बल्हिकेषु) स्यमेरीट् च । उ० ३ । ४६ । इति बल्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु-कन्, इडागमः । हिंसादेशेषु (न्योचरः) जनेररष्ठ च । उ० ५ । ३८ । इति नि+उच समवाये—अर । नित्यसंगन्ता ॥

६—(तक्मन्) हे ज्वर (व्याल) वि+अड व्याप्तौ उद्यमे च-घञ्, डस्य लः । हे सर्प । हे धूर्त (वि) विशेषेण (गद) वद (व्यङ्ग) वि विकलमङ्ग

करीम्) ठठोल, निर्लज्ज (दासीम्) दासी [नीच स्त्री] को (इच्छ) ढूंढ़ और (ताम्) उसको (वज्रेण) अपने वज्र से (समर्पय) मार गिरा ॥ ६ ॥

भावार्थ—कुचाली, व्यभिचारी स्त्री पुरुष रोगी होकर दारुण दुःख भोगते हैं, इससे मनुष्य सदाचारी होकर सदा स्वस्थ रहें ॥६॥

तक्मन् मूजवतो गच्छ बल्हिकान् वा परस्तराम् ।
शूद्रामिच्छ प्रफर्व्यं१ तां तक्मन् वीव धूनुहि ॥ ७ ॥

तक्मन् । मूज-वतः । गच्छ । बल्हिकान् । वा । परः-तराम् ।
शूद्राम् । इच्छ । प्र-फर्व्यम् । ताम् । तक्मन् । वि-इव । धूनुहि ॥७

भाषार्थ—(तक्मन्) हे ज्वर ! (मूजवतः) मूज वाले पहाड़ों और (बल्हिकान्) हिंसा वाले देशों को, (वा) अथवा (परस्तराम्) और परे (गच्छ) चला जा । (प्रफर्व्यम्=प्रफर्वरीम्) इधर उधर घूमने वाली (शूद्राम्) शूद्रा स्त्री को (इच्छ) ढूंढ़, और (ताम्) हिंसकों को, (तक्मन्) हे ज्वर ! (वीव) विशेष कर के ही (धूनुहि) कंपादे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जहां पर मलिन पदार्थ और मलिन स्वभाव वाले स्त्री पुरुष होते हैं, वहां रोग होते हैं । इससे सबको बाहिर और भीतर शुद्ध रखना चाहिये ॥ ७ ॥

यस्य । हे कुरूप (भूरि) बहुदूरम् (यवय) पृथग्भव (दासीम्) नीच स्त्रियम् (निष्टकरीम्) अः करन् । उ० ४ । ३ । इति निः+तक हसने-करन्, ङीप् । उपहासशीलाम् । निर्लज्जाम् (इच्छ) अन्विच्छ (ताम्) दासीम् (वज्रेण) स्वकुठारेण (समर्पय) सम्+ऋगतौ हिंसायां च-णिच्, पुक् । निक्षिप ॥

७—(तक्मन्) हे ज्वर (मूजवतः) म० ५ । मुञ्जादितृणयुक्तान् पर्वतान् (गच्छ) प्राप्नुहि (बल्हिकान्) म० ५ । हिंसादेशान् (वा) अथवा (परस्तराम्) किमेत्तिङव्यय० । पा० ५ । ४ । ११ । इति परस्+तरप्-आमु । दूरतरम् (शूद्राम्) अ० ४ । २० । ४ । शोचनीयां मूर्खाम् (इच्छ) अन्विच्छ (प्रफर्व्यम्) अ० ३ । १७ । ३ । कोररन् । उ० ४ । १५५ । इति प्र+फर्व गतौ-अरन्, ङीप् । वा छन्दसि । पा० ६ । १ । १०६ । इति अमि पूर्वरूपाभावे यणादेशः । प्रफर्वरीम् । इतस्ततो गमनशीलां व्यभिचारिणीम् (ताम्) तर्व हिंसायाम्-ड । हिंसकान्(वि इव) विविशेषेण । इव अवधारणे । एव (धूनुहि) कम्पय ॥

महावृषान् मूजवतो बन्ध्वद्धि परेत्य ।
प्रैतानि तक्मने ब्रूमो अन्यक्षेत्राणि वा इमा ॥ ८ ॥

महा-वृषान् । मूज-वतः । बन्धु । अद्धि । परा-इत्य । प्र ।
एतानि । तक्मने । ब्रूमः । अन्य-क्षेत्राणि । वै । इमा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(परेत्य) दूर जाकर (महावृषान्) बड़ी वृष्टि वाले देशों और (मूजवतः) मूजवाले पहाड़ों, (वन्धु=बन्धून्) अपने बन्धुओं को (अद्धि) खाले । (एतानि) इन और (इमा=इमानि) इन (अन्यक्षेत्राणि) अन्य निवास स्थानों को (तक्मने) ज्वर के लिये (वै) अवश्य (प्रब्रूमः) हम बताये देते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—अधिक वृष्टि वाले, अधिक तृण वाले, और इसी प्रकार अधिक ताप वाले देशों में प्राणी ज्वर से पीड़ित रहते हैं । इससे मनुष्य उचित प्रबन्ध रक्खें ॥ ८ ॥

अन्यक्षेत्रे न रमसे वशी सन् मृडयासि नः ।
अभूदु प्रार्थस्तक्मा स गमिष्यति बल्हिकान् ॥ ९ ॥

अन्य-क्षेत्रे । न । रमसे । वशी । सन् । मृडयासि । नः ।
अभूत् । ऊं-इति । प्र-अर्थः । तक्मा । सः । गमिष्यति ।
बल्हिकान् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अन्यक्षेत्रे) दूर देश में (न) इस समय (वशी) वश में करने वाला (सन्) होकर (रमसे=रमस्व) तू ठहर, और (नः) हमें (मृडयासि)

८—(महावृषान्) म०५ । अतिवृष्टियुक्तान् देशान् (मूजवतः) म० ६ । (वन्धु) विभक्तिलोपः । स्ववन्धून् (परेत्य) दूरे गत्वा (प्र) प्रकर्षेण (एतानि) समीपस्थानि (तक्मने) ज्वराय (ब्रूमः) कथयामः (अन्यक्षेत्राणि) क्षि निवासे-ष्ट्रन् । अन्यनिवासस्थानानि (वै) निश्चयेन (इमा) इमानि पार्श्वस्थानि ॥

९—(अन्यक्षेत्रे) दूरदेशे (न) सम्प्रति-निरु० ७ । ३१ । (रमसे) लोडर्थे-लट् । रमस्व । विरम (वशी) अ० १ । २१ । १ । वशयिता (मृडयासि)

सुखदे। (तक्मा) ज्वर (प्रार्थः) चालू (उ) अवश्य (अभूत्) हो गया है, (सः) वह (बल्हिकान्) हिंसा वाले देशों को (गमिष्यति) चला जायगा ॥९॥

भावार्थ—सदाचारी पुरुष प्रयत्न करके नीरोग, और हिंसाप्राय लोग रोग ग्रसित रहते हैं।

यत् त्वं शीतोऽथो रूरः सह कासावेपयः। भीमास्ते तक्मन् हेतयस्ताभिः स्म परि वृङ्ग्धि नः ॥ १० ॥

यत्। त्वम्। शीतः। अथो इति। रूरः। सह। कासा। अवेपयः। भीमाः। ते। तक्मन्। हेतयः। ताभिः। स्म। परि। वृङ्ग्धि। नः ॥१०॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण (शीतः) शीत (अथो) और (रूरः) क्रूर (त्वम्) तूने (कासा = कासेन) (सह) खांसी के साथ [हमें] (अवेपयः) कंपा दिया है। (तक्मन्) हे दुःखित जीवन करने वाले ज्वर ! (ते) तेरी (हेतयः) चोटें (भीमाः) भयानक हैं, (ताभिः) उनसे (नः) हमको (स्म) अवश्य (परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य यत्न पूर्वक नीरोग रहकर शारीरिक और मानसिक बल बढ़ावें ॥ १० ॥

(तक्मा) ज्वर विषय का अ० का० १ सू० २५ से मिलान करो ॥

मा स्मैतान्त्सखीन् कुरुथा बलासं कासमुद्युगम्।

लेटि रूपम्। सुखयेः (नः) अस्मान् (अभूत्) (उ) अवश्यम् (प्रार्थः) उषिकुषिगार्तिभ्य स्थन्। उ०।२।४। इति ऋ गतौ—थन्। प्रकर्षेण गतिशीलः (तक्मा) ज्वरः (सः) (गमिष्यति) प्राप्स्यति (बल्हिकान्) म० ५। हिंसादेशान् ॥

१०—(यत्) यस्मात् कारणात् (त्वम्) (शीतः) अ० १। २५। ४। शीतलः (अथो) अपिच (रूरः) अ०१। २५। ४। रुङ्वधे—रक्, दीर्घः। पीडकः (सह) सहितः (कासा) अ०१। १२। ३। विभक्तेराकारः। कासेन। रोगविशेषेण (अवेपयः) टुवेपृ कम्पने णिच्—लङ्। कम्पितवानसि (भीमाः) करालाः (ते) तव (तक्मन्) हे ज्वर (हेतयः) हननशक्तयः (ताभिः) हेतिभिः (स्म) अवश्यम् (परि) (वृङ्ग्धि) वृजी वर्जने। परित्यज (नः) अस्मान् ॥

मा स्मातोऽर्वाङैः पुनस्तत् त्वा तक्मन्नुप ब्रुवे ॥ ११ ॥

मा । स्म । एतान् । सखीन् । कुरुथाः । बलासम् । कासम् । उत्-युगम् । मा । स्म । अतः । अर्वाङ् । आ । ऐः । पुनः । तत् । त्वा । तक्मन् । उप । ब्रुवे ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बलासम्) बल गिराने वाले सन्निपात कफ आदि, (कासम्) कुत्सित शब्द करने वाली खांसी और (उद्युगम्) सुख रोकने वाले, क्षयी रोग, (एतान्) इनको (सखीन्] अपना मित्र [मा स्म कुरथाः] कभी मत बना। [अतः] उस स्थान से (पुनः) फिर (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख होकर (मा स्म आ ऐः] कभी मत आ। [तत्] यह बात (तक्मन्) हे ज्वर ! (त्वा) तुझ से (उप ब्रुवे) मैं कहे देता हूं ॥११॥

भावार्थ—सद्वैद्य प्रयत्न करे जिससे ज्वर के साथ अन्य रोग न होने पावें और ज्वर छुटता चला जावे ॥ ११ ॥

तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्येण सह गच्छामुमरणं जनम् ॥ १२ ॥

तक्मन् । भ्रात्रा । बलासेन । स्वस्रा । कासिकया । सह । पाप्मा । भ्रातृव्येण । सह । गच्छ । अमुम् । अरणम् । जनम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तक्मन्) हे ज्वर ! (भ्रात्रा) अपने भ्राता (बलासेन) बल

११—(स्म) अवश्यम् (एतान्) निर्दिष्टान् (सखीन्) मित्रवत्सहायकान् (मा कुरुथाः) लङि रूपम्. माङि अडभावः। मा कुरु (बलासम्) अ० ४ । ९ । ८ । बलस्य क्षेप्तारम् । श्लेष्मविकारम् (कासम्) अ० १ । १२ । ३ । रोगविशेषम् । (उद्युगम्) उत्+युगि वर्जने-घञर्थे क, नलोपः । सुखवर्जकं क्षयरोगम् (अतः) तस्मात् स्थानात् (अर्वाङ्) अ० ३ । २ । ३ । अस्मदभिमुखः सन् (मा आ ऐः) इण् गतौ-लङ् । नागच्छ (पुनः) पश्चात् (तत्) वचनम् (त्वा) त्वाम् (तक्मन्) हे ज्वर ! (उप) उपेत्य (ब्रुवे) कथयामि ॥

१२—(तक्मन्) हे ज्वर ! (भ्रात्रा) सहोदरेण (बलासेन) म० ११ ।

गिराने वाले सन्निपात, कफ आदि, और (स्वस्रा) अपनी बहिन (कासिकया सह) कुत्सित खांसी के साथ, (भ्रातृव्येण) अपने भतीजे (पाप्मा=पाप्मना) चर्म रोग के (सह) साथ (अमुम्) उस (अरणम्) न भाषण करने योग्य निन्दित (जनम्) जन के पास (गच्छ) चला जा ॥ १२ ॥

भावार्थ—कुकर्मी अपथ्यभोगीपुरुष ज्वर, खांसी आदि से पीड़ित रहते हैं। इस से मनुष्य सुकर्मी और पथ्यभोगी होवें ॥ १२ ॥

तृतीयकं वितृतीयं सदन्दिमुत शारदम् ।
तक्मानं शीतं रूरं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकम् ॥ १३ ॥

तृतीयकम् । वि-तृतीयम् । सदम्-दिम् । उत । शारदम् । तक्मानम् । शीतम् । रूरम् । ग्रैष्मम् । नाशय । वार्षिकम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे वैद्य !] (तृतीयकम्) तिजारी, (वितृतीयम्) चौथिया आदि अंतरिया, (सदन्दिम्) सदा फूटन करने वाले, निरन्तरा (उत्) और (शारदम्) शरदऋतु में आने वाले, (शीतम्) शीत, (रूरम्) क्रूर, (ग्रैष्मम्)

बलनाशकेन श्लेष्मविकारेण (स्वस्रा) अ० १ । २८ । ४ । भगिन्या (कासिकया) कास-कुत्सायां कन्, टाप् । कुत्सितकासेन (सह) सहितः (पाप्मा) रक्षितव्यमस्मात् । नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । इति पा रक्षणे-मनिन्; पुक् च । विभक्तेः सु । पाप्मना । चर्मरोगेण (भ्रातृव्येण) भ्रातुर्व्यच्च । पा० ४ । १ । १४४ । इति भ्रातृ-व्यत् । भ्रातृजेन (सह) (गच्छ) प्राप्नुहि (अमुम्) तम् (अरणम्) अ० १ । १६ । ३ । अ+रण शब्दे-अप् । असम्भाष्यम् । निन्द्यम् । (जनम्) लोकम् ॥

१३—(तृतीयकम्) अ० १ । २५ । ४ । तृतीयदिने आगन्तम् (वितृतीयम्) तृतीयदिनाद् भिन्नम् (सदन्दिम्) सदम् इत्यव्ययं सदेत्यर्थे । उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति सदम्+दो अवखण्डने-कि । सदा खण्डकं पीडकम् । निरन्तरम् (उत) अपि (शारदम्) शरद्-अण् । शरदि भवम् (तक्मानम्) दुःखकरं ज्वरम् (शीतम्) अ० १ । २५ । ४ । शीतस्पर्शम् (रूरम्) म० १० । क्रूरम् (ग्रैष्मम्) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४६ । इति ग्रसु अदने-मक्, ग्री भावः,

ग्रीष्म में आने वाले, (वार्षिकम्) वर्षा में होने वाले (तक्मानम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नाशय) मिटा दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य देश, काल, स्वभाव आदि का विचार करके मनुष्यों को स्वस्थ रक्खें ॥ १३ ॥

गुन्धारिभ्यो मूजवद्भ्योऽङ्गेभ्यो मुगधेभ्यः ।
प्रैष्यन् जनमिव शेवुधिं तुक्मानं परि दद्मसि ॥ १४ ॥

गुन्धारि-भ्यः । मूजवत्-भ्यः । अङ्गेभ्यः । मुगधेभ्यः । प्र-एष्यन् । जनम्-इव । शेवु-धिम् । तुक्मानम् । परि । दुद्मसि ॥१४

भाषार्थ—(गन्धारिभ्यः) हिंसा पहुंचाने वाले, (मूजवद्भ्यः) मूंज आदि घास वाले, (अङ्गेभ्यः) अप्रधान और (मगधेभ्यः) दोष धारण करने वाले देशों के लिये (जनम् इव) पामर पुरुष के समान, (शेवधिम्) सोने के आधार (तक्मानम्) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (प्रैष्यन्=प्रैष्यन्तः) आगे बढ़ते हुये (परि दद्मसि) हम त्यागते हैं ॥१४॥

भावार्थ—हिंसा आदि अशुद्ध व्यवहारों से ज्वर आदि रोग होते हैं। इस से मनुष्य शुद्ध व्यवहार रखकर सदा निरोग रहें ॥१४॥

धुक् च । ग्रीष्म-अण् । ग्रीष्मे भवम् (नाशय) नष्टं कुरु (वार्षिकम्) अ० ४ । १८ । १ । वर्षासु भवम् ॥

१४—(गन्धारिभ्यः) गन्ध-आरिभ्यः । गन्ध हिंसागतियाचनेषु-अच् । वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति गन्ध+ऋ गतौ-इञ् । हिंसाप्रापकेभ्यः (मूजवद्भ्यः) म० ५ । मुञ्जादितृणयुक्तेभ्यः (अङ्गेभ्यः) अङ्ग लक्षणे-अच् । अङ्गेति क्षिप्रनामाञ्चितमेवाङ्कितं भवति-निरु० ५ । १७ । अप्रधानेभ्यः (मगधेभ्यः) मगि सर्पणे-अच् । मगं दोषं दधातीति । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति मग+धा-क । दोषधारकेभ्यो देशेभ्यः (प्रैष्यन्) प्र+इण् गतौ-लृटः शतृ, एकवचनं छान्दसम् । प्रैष्यन्तः । प्रगमिष्यन्तः (जनम्) पामरं पुरुषम् (इव) यथा (शेवधिम्) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इति शीङ् स्वप्ने-वन् । कर्मण्यधिकरणे च । पा० ३ । ३ । ९३ । इति शेव+धाञ्-कि । शयनाधारम् (तक्मानम्) कृच्छ्रजीवनकरं ज्वरम् (परि दद्मसि) परि त्यजामः ॥

सूक्तम् ॥ २३ ॥

१-१३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्वल्पदोषनाशोपदेशः— छोटे २ दोषों के नाश का उपदेश ॥

ओते॑ मे॒ द्यावा॑पृथि॒वी ओता॑ दे॒वी सर॑स्वती ।

ओतौ॑ म॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ क्रिमिं॑ जम्भयता॒मिति॑ ॥ १ ॥

ओते॒ इत्या-उ॑ते । मे॒ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । आ-उ॑ता । दे॒वी । सर॑स्वती । आ-उ॑तौ । मे॒ । इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । क्रिमि॑म् । ज॒म्भ॒यता॒म् । इति॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (ओते) बुने हुये हैं, (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओता) परस्पर बुनी हुयी है। (ओतौ) परस्पर बुने हुये (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि (च) भी (मे) मेरे लिये (क्रिमिम्) कीड़े को (जम्भयताम्) नाश करें, (इति) यह प्रार्थना है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अशुद्धि आदि से उत्पन्न क्षुद्र जन्तुओं को हटाते हैं, वैसे ही पदार्थों के विवेक से छोटे २ भी कुसंस्कार मिटाये जावें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० २ सू० ३१ तथा ३२ से करो ॥

अ॒स्येन्द्र॑ कुमा॒रस्य॒ क्रिमी॒न् धनपते जहि ॥

ह॒ता विश्वा॒ अरा॑तय उ॒ग्रेण॒ वच॑सा मम॑ ॥ २ ॥

अ॒स्य । इ॒न्द्र॒ । कु॒मा॒रस्य॑ । क्रिमी॑न् । ध॒न॒-प॒ते॒ । ज॒हि॒ । ह॒ताः । विश्वाः॑ । अरा॑तयः । उ॒ग्रेण॑ । वच॑सा । मम॑ ॥ २ ॥

१—(ओते) आ+वेञ् तन्तु संताने—क्त। परस्पर स्यूते। अन्तर्व्याप्ते (मे) मह्यम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (ओता) अन्तर्व्याप्ता (देवी) दिव्या (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओतौ) (इन्द्रः) मेघः (च) (अग्निः) भौतिकपावकः (च) (क्रिमिम्) अ० २। ३१। १। कीटवत् कुसंस्कारम् (जम्भयताम्) नाशयताम् (इति) हेतौ ॥

भाषार्थ—(धनपते) हे धन के स्वामी (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्य वाले वैद्य ! (अस्य) इस (कुमारस्य) कमनीय बालक के (क्रिमीन्) कीड़ों को (जहि) मिटा दे । (मम) मेरे (उग्रेण) प्रचण्ड (वचसा) [वैदिक] वचन से (विश्वाः) सब (अरातयः) वैरी (हताः) मारे गये ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य बालक के उदर के कृमि रोग को नाश करता है, वैसे ही मनुष्य ज्ञान के अभ्यास से अज्ञान आदि दोष हटावे ॥२॥

यो अक्ष्यौ परिसर्पति यो नासे परिसर्पति ।
दतां यो मध्यं गच्छति तं क्रिमिं जम्भयामसि ॥ ३ ॥

यः । अक्ष्यौ । परि-सर्पति । यः । नासे इति । परि-सर्पति । दताम् । यः । मध्यम् । गच्छति । तम् । क्रिमिम् । जम्भयामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [कीड़ा] (अक्ष्यौ) दोनों आंखों में (परिसर्पति) रेंग जाता है, (यः) जो (नासे) दोनों नथनों में (परिसर्पति) रेंग जाता है, और (यः) जो (दताम्) दांतों के (मध्यम्) बीच में (गच्छति) चलता है, (तम्) उस (क्रिमिम्) कीड़े को (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष आत्म विघ्नों का इस प्रकार नाश करे जैसे वैद्य कृमि रोग को ॥ ३ ॥

२—(अस्य) निर्दिष्टस्य (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् वैद्य (कुमारस्य) अ० ३ । १२ । ३ । कमनीयस्य बालकस्य (क्रिमीन्) कीटान् (धनपते) हे धनस्य स्वामिन् (जहि) नाशय (हताः) नाशिताः (विश्वाः) सर्वे (अरातयः) शत्रवः (उग्रेण) प्रचण्डेन (वचसा) विज्ञानवचनेन (मम) मदीयेन ॥

३—(यः) क्रिमिः (अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी । नेत्रे (परिसर्पति) परितो गच्छति (यः) (नासे) द्वे नासिकाछिद्रे (दताम्) पद्दन्नो-मास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दन्तस्य दत् । दन्तानाम् (यः) (मध्यम्) अन्तर्वर्त्तिदेशम् (गच्छति) प्राप्नोति (तम्) (क्रिमिम्) कीटम् (जम्भयामसि) नाशयामः ॥

सरूपौ द्वौ विरूपौ द्वौ कृष्णौ द्वौ रोहितौ द्वौ ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्च गृध्रः कोकश्च ते हताः ॥ ४ ॥

स-रूपौ । द्वौ । वि-रूपौ । द्वौ । कृष्णौ । द्वौ । रोहितौ । द्वौ ।
बभ्रुः । बभ्रु-कर्णः । च । गृध्रः । कोकः । च । ते । हताः ॥४॥

भाषार्थ—(द्वौ) दो (सरूपौ) एक से रूप वाले, (द्वौ) दो (विरूपौ) विरुद्ध रूप वाले, (द्वौ) दो (कृष्णौ) काले, (द्वौ) दो (रोहितौ) लाल (च) और (बभ्रुः) भूरा (च) और (बभ्रुकर्णः) भूरे कान वाला और (गृध्रः) गिद्ध, (च) और (कोकः) भेड़िया, (ते) वे सब (हताः) मारे गये ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य नाना आकार वाले कृमियों के समान नाना प्रकार की कुवासनाओं का नाश करें ॥४॥

ये क्रमयः शितिकक्षा ये कृष्णाः शितिबाहवः ॥
ये के च विश्वरूपास्तान् क्रिमीन् जम्भयामसि ॥ ५ ॥

ये । क्रिमयः । शिति-कक्षाः । ये । कृष्णाः । शिति-बाहवः ।
ये । के । च । विश्व-रूपाः । तान् । क्रिमीन् । जम्भयामसि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (क्रिमयः) कीड़े (शितिकक्षाः) काली कांख वाले, (ये) जो (कृष्णाः) काले वर्ण वाले और (कृष्णबाहवः) काली

४—(सरूपौ) समानाकारौ (द्वौ) क्रिमी (विरूपौ) विरुद्धरूपौ (द्वौ) (कृष्णौ) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । इति कृष विलेखने-नक् । श्यामवर्णौ (द्वौ) (रोहितौ) रक्तवर्णौ (बभ्रुः) पिङ्गलवर्णः (बभ्रुकर्णः) पिङ्गलश्रोत्रः (गृध्रः) सुसूधाञ् गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति गृधु अभिकाङ्क्षायाम्-क्रन् । गृध्र आदित्यो भवति गृध्यतेः स्थानकर्मणः......गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः-निरु० १४ । १३ । गृध्राकारः क्रिमिः (कोकः) कुक आदाने-पचाद्यच् । वृकाकारः क्रिमिः (च) (ते) क्रमयः (हताः) नाशिताः ॥

५—(ये) (क्रिमयः) कीटाः (शितिकक्षाः)कृष्णकक्षावन्तः (कृष्णाः) श्यामवर्णाः (शितिबाहवः) कृष्णभुजाः (के) केचित् (च) (विश्वरूपाः)

भुजाओं वाले, (च) और (ये के) जो कोई (विश्वरूपाः) सब वर्ण वाले हैं, (तान्) उन (क्रिमीन्) कीड़ों को (जम्भयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥५॥

भावार्थ—मन्त्र ४ के समान ॥५॥

उत् पुरस्तात् सूर्य एति विश्वदृष्टो अदृष्टहा ।
दृष्टांश्च घ्नन्नदृष्टांश्च सर्वांश्च प्रमृणन् क्रिमीन् ॥ ६ ॥

उत् । पुरस्तात् । सूर्यः । एति । विश्व-दृष्टः । अदृष्ट-हा । दृष्टान् । च । घ्नन् । अदृष्टान् । च । सर्वान् । च । प्र-मृणन् । क्रिमीन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(विश्वदृष्टः) सबों करके देखा गया, (अदृष्टहा) अगोचर पदार्थों में गति वाला (सूर्यः) सूर्य (दृष्टान्) दीखते हुये (च) और (अदृष्टान्) न दीखते हुये (सर्वान्) सब (क्रिमीन्) कीड़ों को (च) अवश्य (घ्नन्) मारता हुआ (च) और (प्रमृणन्) मिटाता हुआ (पुरस्तात्) पूर्व दिशा में (उत् एति) उदय होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से अन्धकार आदि नाश करता है, वैसे ही वैद्य ओषधि द्वारा रोगों को नाश करे ॥ ६ ॥

येवाषासः कष्कषास एजत्काः शिपवित्नुकाः ।
दृष्टश्च हन्यतां क्रिमिरुतादृष्टश्च हन्यताम् ॥ ७ ॥

येवाषासः । कष्कषासः । एजत्-काः । शिपवित्नुकाः । दृष्टः । च । हन्यताम् । क्रिमिः । उत । अदृष्टः । च । हन्यताम् ॥७

सर्ववर्णाः (तान्) पूर्वोक्तान् (क्रिमीन्) कीटान् (जम्भयामसि) नाशयामः ॥

६—(उत् एति) उदितो भवति (पुरस्तात्) पूर्व—अस्ताति, पुर् आदेशः । अग्रतः । पूर्वस्यां दिशि (विश्वदृष्टः) सर्वैर्दृष्टः (अदृष्टहा) हन गतौ—क्विप् । अगोचरपदार्थेषु व्यापकः (दृष्टान्) गोचरान् (च) समुच्चये (घ्नन्) नाशयन् (अदृष्टान्) अगोचरान् (च) (सर्वान्) सकलान् (च) अवश्यम् (प्रमृणन्) प्रकर्षेण नाशयन् (क्रिमीन्) कीटान् ॥

भाषार्थ—(येवापासः=एवापाः) शीघ्र गति वाले, (कष्कपासः=कष्कपाः) अत्यन्त पीड़ा देने वाले, (एजत्काः) चमकने वा थरथराने वाले और (शिपवित्नुकाः) तीक्ष्ण स्वभाव वाले हैं। (दृष्टः) दीखता हुआ (क्रिमिः) कीड़ा (च) अवश्य (हन्यताम्) मारा जावे, (उत) और (अदृष्टः) न दीखता हुआ (च) भी (हन्यताम्) मारा जावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ४ के समान ॥ ७ ॥

हतो येवाषः क्रिमीणां हतो नदनिमोत ।

सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव ॥ ८ ॥

हतः । येवाषः । क्रिमीणाम् । हतः । नदनिमा । उत । सर्वान् । नि । मष्मषा । अकरम् । दृषदा । खल्वान्-इव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(क्रिमीणाम्) कीड़ों में से (येवाषः=एवाषः) शीघ्रगामी (हतः) मारा गया, (उत) और (नदनिमा) नादकरने वाला (हतः) मारा गया। (सर्वान्) सब (कीड़ों) को (मष्मषा) मसल मसल कर (नि अकरम्)

७—(येवापासः) इणशीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इति इण् गतौ-वन्+अप गतौ दीप्तौ च—अच्। आदौ छान्दसो यकारः। एवश्चसौ अपश्च एवापः। जसि असुक्। शीघ्रगामिनः (कष्कपासः) कष हिंसायाम्—क्विप्+कप-अच, असुक् च। कट् चासौ कपश्चेति समासः। अतिशयेन हिंसकः (एजत्काः)वर्तमाने पृषद्बृहन्०। उ० २। ८४। इति एजृ दीप्तौ कम्पने च—अति, स्वार्थे कन्। दीप्यमानाः। कम्पनशीलाः (शिपवित्नुकाः) क्युनः किच्च। उ० ३। २४। इति शिञ् निशाने—प। स्तनिहृषिपुषि०। उ० ३। २६। इति वा गतौ—इत्नुच्, स्वार्थे—कन्। तीक्ष्णस्वभावाः (दृष्टः) गोचरः (च) अवश्य (हन्यताम्) नाश्यताम् (क्रिमिः) कीटः (उत) अपि (अदृष्टः) अगोचरः (च) ॥

८—(हतः) नाशितः (येवाषः) एव+अपः—म० ७। शीघ्रगामी (क्रिमीणाम्) कीटानां मध्ये (नदनिमा) नदनं करोति नदनयित। तत्करोतितदाचष्टे। वा० पा० ३। १। २६। इति नदन—णिच्। हृभृधृसृ०। उ० ४। १४८। इति इमनिच्, णिलोपः। नादकर्ता (उत) अपिच (सर्वान्) सकलान् क्रिमीन् (मष्मषा) मष वधे—सम्पदादित्वात् क्विप्। आबाधे च। पा० ८। १। १०। इति

मैंने नष्ट कर दिया है, (खल्वान् इव) जैसे चनों को (दृषदा) शिलासे [दल डालते हैं] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब कुसंस्कारों का नाश करे, जैसे वैद्य रोग जन्तुओं को नष्ट करता है ॥ ८ ॥

त्रिशीर्षाणं त्रिककुदं क्रिमिं सारङ्गमर्जुनम् ।

शृणाम्यस्य पृष्टीरपि वृश्चामि यच्छिरः ॥ ९ ॥

त्रि-शीर्षाणम् । त्रि-ककुदम् । क्रिमिम् । सारङ्गम् । अर्जुनम् । शृणामि । अस्य । पृष्टीः । अपि । वृश्चामि । यत् । शिरः ॥९॥

भाषार्थ—(त्रिशीर्षाणम्) तीन, ऊंचे नीचे और मध्य स्थानों में आश्रय वाले, (त्रिककुदम्) तीन [कायिक, वाचिक, मानसिक] सुखों की भूमि काटने वाले, (सारङ्गम्) रेंगने वाले [वा चितकबरे] और (अर्जुनम्) संचय करने वाले [वा श्वेतवर्ण] (क्रिमिम्) कीड़ों को (शृणामि) मैं मरता हूं, (अस्य) इसकी (पृष्टीः) पसलियों को (अपि) भी, और (तत्) जो (शिरः) शिर है [उसको भी] (वृश्चामि) तोड़े डालता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार रोगजनक जन्तुओं को शुद्धि आदि द्वारा नाश करने से शारीरिक स्वास्थ्य बढ़ता है, इसी प्रकार आत्मिक दोषों को हटाने से आत्मिक शान्ति होती है ॥ ९ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० २ । ३२ । २ से करो ॥

छित्वम् । अत्यन्तहननेन (नि अकरम्) अहं निराकृतवान् नाशितवान् (दृषदा) अ०२ । ३१ । १ । शिलया (खल्वान्) अ० २ । ३१ । १ । चणकान् (इव) यथा ॥

९—(त्रिशीर्षाणम्) शृणातेः ह्रस्वश्च शिरः किच्च । उ० ४ । १९४ । इति श्रिञ् सेवायाम्—असुन् । शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् । त्रिषु ऊर्ध्वाधोमध्यस्थानेषु शिर आश्रयो यस्य तम् (त्रिककुदम्) त्रि+क+कु+दम् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति त्रिककु+दाप् छेदने क । त्रयाणां कानां कायिकवाचिकमानसिकसुखानां कुं भूमिं दाति छिनत्ति यस्तम् । अन्यद् यथा—अ० २ । ३२ । २ । (क्रिमिम्) कीटम् (सारङ्गम्) सृ गतौ—अङ्गच्, वृद्धिश्च । शरणशीलम् । शबलवर्णम् (अर्जुनम्) संचयशीलम् । श्वेतवर्णम् । (शृणामि) हन्मि (पृष्टीः) पार्श्वास्थीनि (अपि) (वृश्चामि) छिनद्मि (यद्) (शिरः) मस्तकम् ॥

अत्रि॒वद् वः॑ क्रिमयो हन्मि कण्व॒वज्ज॑मदग्नि॒वत् ।
अ॒गस्त्य॑स्य॒ ब्रह्म॑णा॒ सं पि॑नष्म्य॒हं क्रिमी॑न् ॥ १० ॥

अ॒त्रि॒-वत् । व॒ः । क्रि॒म॒यः॒ । ह॒न्मि॒ । क॒ण्व॒-वत् । ज॒म॒द॒ग्नि॒-वत् । अ॒गस्त्य॑स्य । ब्रह्म॑णा । सम् । पि॒न॒ष्मि॒ । अ॒हम् । क्रिमी॑न् १०

भाषार्थ—(क्रिमयः) हे कीड़ो ! (वः) तुमको (अत्रिवत्) दोष भक्षक वा गतिशील, मुनि के समान, (कण्ववत्) स्तुति योग्य मेधावी पुरुष के समान, (जमदग्निवत्) आहुति खाने वाले अथवा प्रज्वलित अग्नि के सदृश तेजस्वी पुरुष के समान, (हन्मि) मैं मारता हूं। (अगस्त्यस्य) कुटिल गति वाले पाप के छेदने में समर्थ परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (अहम्) मैं (क्रिमीन्) कीड़ों को (सम् पिनष्मि) पीसे डालता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को ऋषि, मुनि, धर्मात्माओं के अनुकरण से वेदज्ञान द्वारा पाप का नाश करना चाहिये ॥ १० ॥

मन्त्र १०-१२ अथर्व वेद का० २ सू० ३२ मन्त्र ३-५ में आचुके हैं ॥

ह॒तो राजा॒ क्रिमी॑णामु॒तैषां॑ स्थ॒पति॑र्ह॒तः ।
ह॒तो ह॒तमा॑ता॒ क्रिमि॑र्ह॒तभ्रा॑ता ह॒तस्व॑सा ॥ ११ ॥

ह॒तः । राजा॑ । क्रिमी॑णाम् । उ॒त । ए॒षा॒म् । स्थ॒पतिः॑ । ह॒तः । ह॒तः । ह॒त-मा॑ता । क्रिमिः॑ । ह॒त-भ्रा॑ता । ह॒त-स्व॑सा ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (राजा) राजा

१०—व्याख्यातं यथा—अ० २ । ३२ । ३ । (अत्रि॒वत्) दोषभक्षको गतिशीलो वा मुनिर्यथा (वः) युष्मान् (क्रिमयः) हे क्षुद्रजन्तवः (हन्मि) नाशयामि (कण्ववत्) स्तुत्यो मेधावी तथा (जमदग्निवत्) हुताशनः प्रज्वलितोऽग्निरिव तेजो येषां ते जमदग्नयः । तत्सदृशः पुरुषः (अगस्त्यस्य) अगस्य कुटिलगतेः पापस्य असने उत्पादने समर्थस्य परमेश्वरस्य (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (सम् पिनष्मि) संचूर्णयामि (अहम्) (क्रिमीन्) क्षुद्रजन्तून् ॥

११—तथा—अ० २ । ३२ । ४ । (हतः) नाशितो भवतु (राजा) अधि-

(हतः) नष्ट होवे, (उत) और (स्थपतिः) द्वारपाल (हतः) नष्ट होवे। (हतमाता) जिसकी माता नष्ट हो चुकी है, (हतभ्राता) जिसका भ्राता नष्ट हो चुका है, और (हतस्वसा) जिसकी बहिन नष्ट हो चुकी है, (क्रिमिः) वह चढ़ाई करने वाला कीड़ा (हतः) मार डाला जावे ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दोषों और उनके कारणों को उचित प्रकार से समझ कर नष्ट करे, जैसे वैद्य रोगों के प्रधान और गौण कारणों को जानकर उन्हें निवृत्त करता है ॥ ११ ॥

हतासो अस्य वेशसो हतासः परिवेशसः।
अथो ये क्षुल्लका इव सर्वे ते क्रिमयो हताः ॥ १२ ॥

हतासः। अस्य। वेशसः। हतासः। परि-वेशसः। अथो इति। ये। क्षुल्लकाः-इव। सर्वे। ते। क्रिमयः। हताः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [क्रिमी] के (वेशसः) मुख्य सेवक (हतासः =हताः) नष्ट हों, और (परिवेशसः) साथी भी (हतासः) नष्ट हों। (अथो =अथ-उ) और भी (ये) जो (क्षुल्लकाः इव) बहुत सूक्ष्म आकार वाले से हैं, (ते) वे (सर्वे) सब (क्रिमयः) कीड़े (हताः) नष्ट हों ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी स्थूल और सूक्ष्म कुवासनाओं का और उन की सामग्री का सर्वनाश कर दे, जैसे रोग जनक जन्तुओं को औषध आदि से नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

सर्वेषां च क्रिमीणां सर्वासां च क्रिमीणाम्।
भिनद्म्यश्मना शिरो दहाम्यग्निना मुखम् ॥ १३ ॥

पतिः (क्रिमीणाम्) कीटानाम् (उत) अपि च (एषाम्) उपस्थितानाम् (स्थपतिः) द्वारपालः (हतः) (हतमाता) नष्टमातृकः (क्रिमिः) (हतभ्राता) नष्टमातृकः (हतस्वसा) नष्टभगिनीकः ॥

१२—यथा—अ० २। ३२। ५। (हतासः) हताः (वेशसः) प्रवेशकाः। मुख्यसेवकाः (परिवेशसः) परितः स्थिताः। अनुचराः (अथो) अपि च (क्षुल्लकाः) क्षुदिर् सम्पेषणे-क्विप+लक प्राप्तौ-अच्। सूक्ष्माकाराः क्षुद्रजन्तवः॥

सर्वेषाम् । च । क्रिमीणाम् । सर्वासाम् । च । क्रिमीणाम् ।
भिनद्मि । अश्मना । शिरः । दहामि । अग्निना । मुखम् ॥१३॥

भाषार्थ—(च) और (सर्वेषाम्) सब (क्रिमीणाम्) कीड़ों का (च) और (सर्वासाम्) सब (क्रिमीणाम्) कीड़ों की स्त्रियों का (शिरः) शिर (अश्मना) पत्थर से (भिनद्मि) मैं फोड़ता हूं और (मुखम्) मुख (अग्निना) अग्नि से (दहामि) जलाता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे किसी वस्तु को अग्नि में जलाकर अथवा पत्थर पर तोड़ कर नष्ट कर देते हैं, वैसे ही मनुष्य अपने बाहिरी और भीतरी दोषों को नाश करे ॥ १३ ॥

सूक्तम् ॥ २४ ॥

१-१७ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १-३, ५-१४ शक्वरी; ४, १५-१७ अति-जगती छन्दः ॥

रक्षाप्रयत्नोपदेशः—रक्षा के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

सविता प्रसवानामधिपतिः स मावतु ।
अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १ ॥

सविता । प्र-सवानाम् । अधि-पतिः । सः । मा । अवतु ।
अस्मिन् । ब्रह्मणि । अस्मिन् । कर्मणि । अस्याम् । पुरः-धा-

१३—(सर्वेषाम्) समस्तानाम् (च) (क्रिमीणाम्) क्रमणशीलानां क्षुद्रजन्तूनाम् (सर्वासाम्) सकलानाम् (च) (क्रिमीणाम्) क्रिमिस्त्रीणाम् (भिनद्मि) विदारयामि (अश्मना) प्रस्तरेण (शिरः) मस्तकम् (दहामि) भस्मीकरोमि (अग्निना) पावकेन (मुखम्) अ० २ । ३५ । ५ । खनति अन्नादिकमनेन । आननम् ॥

यांम् । अस्याम् । प्रति-स्थायाम् । अस्याम् । चित्त्याम् । अ-स्याम् । आ-कूत्याम् । अस्याम् । आ-शिषि । अस्याम् । देव-हूत्याम् । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सविता) सब का उत्पन्न करने वाला वा सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (प्रसवानम्) उत्पन्न पदार्थों वा अच्छे, अच्छे ऐश्वर्यों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे। (अस्मिन्) इस (ब्रह्मणि) बड़े वेद ज्ञान में, (अस्मिन्) इस (कर्मणि) कर्तव्य कर्म में, (अस्याम्) इस (पुरोधायाम्) पुरोहित पदवी में, (अस्याम्) इस (प्रतिष्ठायाम्) प्रतिष्ठा वा सत्क्रिया में, (अस्याम्) इस (चित्याम्) चेतना में, (अस्याम्) इस (आकूत्याम्) इस संकल्प वा उत्साह में, (अस्याम्) इस (आशिषि) अनुशासन में, और (अस्याम्) इस (देवहूत्याम्) विद्वानों के बुलावे में, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य जगत्पति परमात्मा का आश्रय लेकर अपने सब उत्तम कार्य पुरुषार्थ पूर्वक सिद्ध करें ॥ १ ॥

अ॒ग्निर्वन॒स्पती॑ना॒मधि॑पति॒: स मा॑वतु । ० ॥ २ ॥

अ॒ग्निः । वन॒स्पती॑नाम् । अधि॑-पतिः । सः । मा । अ॒वतु ०॥२

१—(सविता) सर्वोत्पादकः । सर्वैश्वर्यवान् परमेश्वरः (प्रसवानाम्) प्रसूतानामुत्पन्नानां पदार्थानां प्रकृष्टैश्वर्याणां वा (अधिपतिः) अधिष्ठाता (सः) (मा) माम् (अवतु) पालयतु (अस्मिन्) पुरोवर्त्तिनि (ब्रह्मणि) बृहति वेदज्ञाने (अस्मिन्) (कर्मणि) वेदोक्तकर्तव्ये व्रते (अस्याम्) उपस्थितायाम् (पुरोधायाम्) पुरस+डुधाञ् धारणपोषणयोः—अङ्, टाप् । पुरोहितपदव्याम्। मुख्यपदे (प्रतिष्ठायाम्) प्रति+ष्ठा गतिनिवृत्तौ–अङ्, टाप् । सुकृतौ (चित्त्याम्) चिती संज्ञाने-क्तिन् । चेतनायाम् (आकूत्याम्) कुङ् शब्दे-क्तिन् । संकल्पे । उत्साहे (आशिषि) आङ्+शासु अनुशिष्टौ–क्विप् । आशासः क्वावुपधाया इत्वं वाच्यम् । वा० पा० ६ । ४ । ३४ । इति इत्वम् । अनुशासने (देवहूत्याम्) ह्वेञ् आह्वाने-क्तिन् । विदुषामाह्वाने (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सु+आङ्+ ह्वेञ्-डा । सुवाणी । आशीर्वादः ॥

भाषार्थ—(अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (वनस्पतीनाम्) सेवकों के रक्षकों वा वृक्षों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे,...म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पार्थिव अग्नि के प्रभाव से उत्पन्न हुये पदार्थों द्वारा-बल बढ़ा कर अपनी रक्षा करें ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी दातॄणामधिपत्नी ते मावताम् । ० ॥ ३ ॥

द्यावापृथिवी इति । दातॄणाम् । अधिपत्नी इत्यधि-पत्नी । ते इति । मा । अवताम् । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (दातॄणाम्) दाताओं की (अधिपत्नी) अधिष्ठात्री हैं, (ते) वे दोनों (मा) मुझे (अवताम्) बचावें, म० १ ॥२

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि और प्रकाश पृथिवी में प्रविष्ट हो कर सब पदार्थ उत्पन्न करते हैं, मनुष्य उन पदार्थों से प्रयत्न पूर्वक अपना पालन करें ॥ ३ ॥

वरुणोऽपामधिपतिः स मावतु । ० । ॥ ४ ॥

वरुणः । अपाम् । अधि-पतिः । सः । मा । अवतु ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वरुणः) वरणीय मेघ (अपाम्) जल धाराओं का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचा वे....म० १ ॥४॥

भावार्थ—मेघ से वृष्टि हो कर पृथिवी के पदार्थ उत्पन्न होते हैं, उनसे मनुष्यथ अपनी रक्षा करे ॥ ४ ॥

मित्रावरुणौ वृष्ट्याधिपती तौ मावताम् । ० ॥ ५ ॥

मित्रावरुणौ । वृष्ट्या । अधिपती इत्यधि-पती । तौ । मा । अवताम् । ० ॥ ५ ॥

२—(अग्निः) पार्थिवाग्निः (वनस्तीनाम्) अ० १ । १२ । ३ । स-सेवकानां पालकानां वृक्षाणां वा । अन्यद् यथा म० १ ॥

३—(द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (दातॄणाम्) दानशीलानाम् (अधिपत्नी) अधिष्ठात्र्यौ (ते) उभे (मा) माम् (अवताम्) रक्षताम् ॥

४—(वरुणः) वरणीयो मेघः (अपाम्) जलधाराणाम् ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु (वृष्ट्या=वृष्ट्याः) वृष्टि के (अधिपती) दो अधिष्ठाता हैं, (तौ) वे दोनों (मा) मुझे (अवताम्) बचावें ...म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्राण वायु जल को पृथिवी से मेघ मंडल में ले जाता, और अपान वायु वहां से जल को पृथिवी पर बरसता है, उससे उत्पन्न हुये पदार्थों द्वारा मनुष्य अपनी रक्षा करे ॥ ५ ॥

मरुतः पर्वतानामधिपतयस्ते मावन्तु । ० ॥ ६॥

मरुतः । पर्वतानाम् । अधि-पतयः । ते । मा । अवन्तु । ०॥६॥

भाषार्थ—(मरुतः) ऋत्विक् लोग (पर्वतानाम्) पहाड़ों के (अधिपतयः) अधिष्ठाता हैं, (ते) वे (मा) मुझे (अवन्तु) बचावें,...म० १ ॥६॥

भावार्थ—याजक लोग पर्वत आदि स्थानों से ओषधि आदि उत्तम पदार्थों को लाकर उनसे संसार का उपकार करते हैं। उनसे प्रत्येक मनुष्य उपकार लेकर अपनी रक्षा करें ॥ ६ ॥

सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु । ० ॥ ७ ॥

सोमः । वीरुधाम् । अधि-पतिः । सः । मा । अवतु । ० ॥७॥

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्य का कारण सोमलता (वीरुधाम्) उगने वाली जड़ी बूटियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे,...म० १ ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ओषधियों के सेवन से यथावत् रक्षा करे ॥७॥

५—(मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । प्राणापानौ (वृष्ट्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पञ्चम्या आकारः । वृष्ट्याः (अधिपती) अधिष्ठातारौ (तौ) (मा) माम् (अवताम्) रक्षताम् ॥

६—(मरुतः) अ० १ । २० । १ । ऋत्विजः–निघ० ३ । १८ । याजकाः (पर्वतानाम्) शैलानाम् । तत्रस्थौषधीनाम् (अधिपतयः) अधिष्ठातारः (ते) (मा) (अवन्तु) रक्षन्तु ॥

७—(सोमः) अ० १ । ६ । २ । ऐश्वर्यहेतुः सोमलता—निरु० १४ । १२ (वीरुधाम्) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीलानां लतानाम् ॥

वायुरन्तरिक्षस्याधिपतिः स ०। ०॥ ८ ॥

वायुः । अन्तरिक्षस्य । अधि-पतिः । सः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वायुः) वायु (अन्तरिक्षस्य) मध्य लोक का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह...म० १ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु संचार का यथावत् गुण जानकर उत्तम कामों में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ८ ॥

सूर्यश्चक्षुषामधिपतिः स ०। ०॥ ९ ॥

सूर्यः । चक्षुषाम् । अधि-पतिः । सः । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य (चक्षुषाम्) नेत्रों का (अधिपतिः) बड़ा रक्षक है, (सः) वह...म० १ ॥ ९ ॥

भावार्थ—सूर्य से प्रकाश द्वारा सब मनुष्य दर्शन शक्ति पाते हैं, मनुष्य अपनी दृष्टि को उत्तम कर्मों के देखने के लिये सदा स्थिर रक्खें ॥ ९ ॥

चन्द्रमा नक्षत्राणामधिपतिः स ०। ०॥ १० ॥

चन्द्रमाः । नक्षत्राणाम् अधि-पतिः । सः० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(चन्द्रमाः) आनन्द देने वाला चन्द्र (नक्षत्राणाम्) चलने वाले अश्विनी आदि नक्षत्रों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (सः)...वह म०१॥१०॥

भावार्थ—चन्द्रमा अश्विनी आदि नक्षत्रों का स्वामी हो कर शुक्लपक्ष कृष्ण पक्ष आदि काल बनाता है और अन्न आदि ओषधियों को पुष्ट करता है, उस चन्द्रमा के गुण जान कर मनुष्य सदा आनन्द भोगें ॥ १० ॥

८—(वायुः) पवनः (अन्तरिक्षस्य अ० १ । ३० । ३ । मध्यलोकस्य ॥

९—(सूर्यः) अ० १ । ३ । ५ । कर्मसु प्रेरकः प्रकाशपिण्डविशेषः (चक्षुषाम्) दृष्टीनाम्) ॥

१०—(चन्द्रमाः) चन्द्रमानन्दं मिमीते । चन्द्रे मो डित् । उ० ४ । २२८ । इति चन्द्र+माङ् माने-असि, स च डित् । चन्द्रमाश्चायन् द्रमति चन्द्रो माता चान्द्रं मानमस्येति वा । चन्द्रश्चन्दतेः कान्तिकर्मणः-निरु० ११ । ५ । चन्द्रलोकः (नक्षत्राणाम्) अ० ३ । ७ । ७ । गतिशीलानां खगोलस्थानामश्विन्यादिसप्तविंशतितारकाणाम् ॥

इन्द्रो॑ दि॒वोऽधि॑पति॒: स ०।०॥ ११ ॥

इन्द्र॑: । दि॒वः । अधि॑-पतिः । सः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बिजुली (दिवः) व्यवहार का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (सः) वह...म० १ ॥ ११ ॥

भावार्थ—सब पदार्थों में बिजुली के कारण चेष्टा हो कर व्यवहार की सिद्धि होती है, मनुष्य उसके गुण जान कर यथावत् उपकार करें ॥ ११ ॥

म॒रुतां॑ पि॒ता प॑शू॒नामधि॑पति॒: स ०।०॥ १२ ॥

म॒रुता॑म् । पि॒ता । प॒शू॒नाम् । अधि॑-पतिः । सः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(मरुताम्) सुवर्ण आदि धनों का (पिता) पालक (पशूनाम्) सब जीवों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है, (सः) वह...म० १ ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुवर्ण आदि धनकी रक्षा करके परस्पर उन्नति करें ॥१२

मृ॒त्युः प्र॒जाना॒मधि॑पति॒: स ०।०॥ १३ ॥

मृ॒त्युः । प्र-जाना॑म् । अधि॑-पति॒: । सः । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(मृत्युः) मृत्यु (प्रजानाम्) उत्पन्न प्राणियों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है (सः) वह...म० १ ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु की प्रबलता पर ध्यान देकर सब शुभ काम शीघ्र सिद्ध करें ॥

य॒मः पि॑तृ॒णामधि॑पति॒: स मा॑वतु । ० ॥ १४ ॥

११—(इन्द्रः) विद्युत्-दयानन्द भाष्ये य० २८ । १७ । (दिवः) दिवु व्यवहारे-डिवि । व्यवहारस्य ॥

१२—(मरुताम्) अ० १ । २० । १ । हिरण्यानाम्-निघ० १ । २ । (पिता) पालकः (पशूनाम्) अ० १ । १५ । २ । दृष्टिवतां जीवानाम् ॥

१३—(मृत्युः) अ० १ । ३० । ३ । मरणम् (प्रजानाम्) उत्पन्नानां शरीरिणाम् ॥

यमः । पितृणाम् । अधि-पतिः । सः । मा । अवतु । ० ॥१४॥

भाषार्थ—(यमः) नियम (पितृणाम्) रक्षक पुरुषों का (अधिपतिः) अधिष्ठाता है । (सः) वह (मा) मुझे (अवतु) बचावे...म० १ ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य नियम पूर्वक रक्षा करके यथावत् लाभ उठावें ॥ १४ ॥

पितरः परे ते मावन्तु ०। ० ॥ १५ ॥

पितरः । परे । ते । मा । अवन्तु । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(परे) पूर्व काल में वर्तमान (ते) वे (पितरः) रक्षक लोग (मा) मुझे (अवन्तु) बचावें......म० १ ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रसिद्ध पूर्वज महात्माओं का अनुकरण करके सदा वृद्धि करें ॥ १५ ॥

तता अवरे ते ०। ० ॥ १६ ॥

ततः । अवरे । ते । ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अवरे) पिछले काल में वर्तमान (ते) वे (ततः=ताताः) विस्तार करने वाले पूज्य पुरुष (मा) मुझे (अवन्तु) बचावें......म० १ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य वर्तमान काल के महापुरुषों के समान कार्य सिद्ध करके सदा उन्नति करें ॥ १६ ॥

ततस्ततामहास्ते मावन्तु ।

अस्मिन् ब्रह्मण्यस्मिन् कर्मण्यस्यां पुरोधायामस्यां

१४—(यमः) नियमः। संयमः (पितृणाम्) पातॄणां रक्षकाणां पुरुषाणाम् ॥

१५—(पितरः) पालकाः (परे) पूर्वकाले वर्तमानः (ते) प्रसिद्धाः (मा) माम् (अवन्तु) रक्षन्तु ॥

१६—(ततः) तनोति विस्तारयतीति तातः । दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ९० । इति तनु विस्तारे—क्त । छान्दसो ह्रस्वः । ताताः । विस्तारशीलाः पूज्याः (अवरे) पश्चात् काले वर्तमानाः । इदानीन्तनाः । अन्यद् गतम् ॥

प्रतिष्ठायामस्यां चित्त्यामस्यामाकूत्यामस्यामाशिष्यस्यां देवहूत्यां स्वाहा ॥ १७ ॥

ततः । ततामहाः । ते । मा । अवन्तु । अस्मिन् । ब्रह्मणि । अस्मिन् । कर्मणि । अस्याम् । पुरः-धायाम् । अस्याम् । प्रति-स्थायाम् । अस्याम् । चित्त्याम् । अस्याम् । आ-कूत्याम् । अस्याम् । आ-शिषि । अस्याम् । देव-हूत्याम् । स्वाहा ॥१७॥

भाषार्थ—(ततः) और भी (ते) वे (ततामहाः = तातामहाः) पूजनीयों के पूजनीय पुरुष (मा) मुझे (अवन्तु) बचावें, (अस्मिन्) इस (ब्रह्मणि) वेद ज्ञान में, (अस्मिन् कर्मणि) इस कर्तव्य व्रत में, (अस्याम् पुरोधायम्) इस पुरोहित पदवी में, (अस्याम् प्रतिष्ठायाम्) इस प्रतिष्ठा वा सत्क्रिया में, (अस्याम् चित्त्याम्) इस चेतना में, (अस्याम् आकूत्याम्) इस संकल्प वा उत्साह में, (अस्याम् आशिषि) इस अनुशासन में, और (अस्याम् देवहूत्याम्) इस विद्वानों के बुलावे में, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़ों से बड़े विद्वान्, योगी, शूर वीरों के आचरणों पर पूर्ण ध्यान देकर सदा शुभ कर्म करके परस्पर प्रीति और उन्नति करें ॥ १७ ॥

सूक्तम् ॥ २५ ॥

१-१३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानोपदेशः—गर्भाधान का उपदेशः ॥

पर्वताद् दिवो योनेरङ्गादङ्गात् समाभृतम् ।
शेपो गर्भस्य रेतोधाः सरौ पर्णमिवा दधत् ॥ १ ॥

पर्वतात् । दिवः । योनेः । अङ्गात्-अङ्गात् । सम्-आभृतम् । शेपः । गर्भस्य । रेतः-धाः । सरौ । पर्णम्-इव । आ । दधत् ॥१

१७—(ततः) अनन्तरम् (ततामहाः) म० १६ । मातृपितृभ्यां पितरि डामहच् । वा० पा० ४ । २ । २६ । इति तात—डामहच्, छान्दसो ह्रस्वः । पितॄणां पितरः । पूजनीयानां पूज्याः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—(रेतोधाः) वीर्य वा पराक्रम का रखने वाला पुरुष (पर्वतात्) पर्वत से [पर्वत आदि की ओषधियों से], (दिवः) आकाश के (योनेः) गर्भ आशय से [आकाशस्थ मेघ, वायु, प्रकाश आदि से] और (अङ्गात्—अङ्गात्) अपने अङ्ग से (समाभृतम्) एकत्र किया हुआ (गर्भस्य) स्तुति-योग्य सन्तान के (शेपः) उत्पन्न करने के सामर्थ्य को (आ) यथावत् (दधत्) स्थापित करे, (पर्णम् इव) जैसे पंख को (सरौ) तीर में [लगाते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य और ओषधों के परीक्षण और सेवन से दृढ़ाङ्ग रह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके उत्तम बलवान् संतान उत्पन्न करे ॥ १ ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही भू॒तानां॒ गर्भ॑माद॒धे ।
ए॒वा द॑धामि ते॒ गर्भं॒ तस्मै॒ त्वामव॑से हुवे ॥ २ ॥

यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । भू॒ताना॑म् । गर्भ॑म् । आ॒-द॒धे । ए॒व । आ । द॒धा॒मि॒ । ते॒ । गर्भ॑म् । तस्मै॑ । त्वाम् । अव॑से । हु॒वे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (भूतानाम्) सब जीवों का (गर्भम्) गर्भ (आदधे) धारण किया है। (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भम्) गर्भ (आ) यथावत् (दधामि) स्थापित

१—(पर्वतात्) अ० ४ । ६ । १ । शैलात् । तत्रस्थौषधिसमूहात् (दिवः) आकाशस्य (योनेः) गर्भाशयात् । आकाशस्थवायुजलप्रकाशादिप्रभावात् (अङ्गादङ्गात्) सर्वस्मात् स्वशरीराङ्गात् (समाभृतम्) संगृहीतम् (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । प्रजननसामर्थ्यम् (गर्भस्य) अ० ३ । १० । १२ । गरणीयस्य स्तुत्यस्य सन्तानस्य (रेतोधाः) रेतस्+डुधाञ् धारणपोषणयोः-असुन् । वीर्यस्य पराक्रमस्य धारकः (सरौ) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति सृ गतौ —उन् । शरौ । शरे (पर्णम्) पत्नम् (इव) यथा (आ) समन्तात् (दधत्) लेटि रूपम् । धरेत् ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (इयम्) दृश्यमाना (पृथिवी) भूमिः (मही) विशाला (भूतानाम्) प्राणिनाम् (गर्भम्) स्तुत्यं गर्भाशयम् (आदधे)

करता हूं, (तस्मै) उस [गर्भ] के लिये (अवसे) रक्षा करने को (त्वाम्) तुझे (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे यह विशाल पृथिवी वाली मेघ से गर्भ धारण करके अमूल्य रत्न उत्पन्न करती है, वैसे ही विशाल स्वभाव वाली पत्नी अपने पराक्रमी पति के संयोग से साहसी विद्वान् सन्तान उत्पन्न करे ॥ २ ॥

गर्भं धेहि सिनीवालि गर्भं धेहि सरस्वति ।
गर्भं ते अश्विनोभा धत्तां पुष्करस्रजा ॥ ३ ॥

गर्भम् । धेहि । सिनीवालि । गर्भम् । धेहि । सरस्वति ।
गर्भम् । ते । अश्विना । उभा । आ । धत्ताम् । पुष्कर-स्रजा ३

भाषार्थ—(सिनीवालि) हे अन्न वाली पत्नी ! (गर्भम्) स्तुति योग्य गर्भ (धेहि) धारण कर, (सरस्वति) हे उत्तम ज्ञान वाली ! (गर्भम्) गर्भ (धेहि) धारण कर । (पुष्करस्रजा) पुष्टि देने वाले (उभा) दोनों (अश्विना) दिन और रात (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ के बालक को (आ) अच्छे प्रकार (धत्ताम्) पुष्ट करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—विज्ञानवती स्त्री गर्भ धारण करके आहार विहार आदि का ऐसा प्रबन्ध करे जिससे गर्भस्थ बालक दिन रात पुष्ट होता रहे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–म० १० सू० १८४ । म० २ । और स्वामी दयानन्द कृत संस्कार विधि-गर्भाधान प्रकरण में भी है ॥

गर्भं ते मित्रावरुणौ गर्भं देवो बृहस्पतिः ।
गर्भं त इन्द्रश्चाग्निश्च गर्भं धाता दधातु ते ॥ ४ ॥

सम्यग् भुवनवती (एव) तथा (आ) समन्तात् (दधामि) स्थापयामि (ते) तव (तस्मै) गर्भहिताय (त्वाम्) पत्नीम् (अवसे) रक्षणाय (हुवे) आह्वयामि ॥

३—(गर्भम्) गर्भाशयगतं शुभम् (धेहि) धर (सिनीवालि) अ० २ । २६ । २ । हे अन्नवति—निरु० ११ । ३१ । (गर्भम्) (धेहि) (सरस्वति) हे विज्ञानवति (गर्भम्) गर्भशिशुम (ते) तव (अश्विना) अहोरात्रौ—निरु० १२ । १ । (उभा) द्वौ (आ) समन्तात् (धत्ताम्) पोषयताम् (पुष्करस्रजा) अ० ३ । २२ । ४ । पुष्टिदातारौ ॥

गर्भम् । ते । मित्रावरुणौ । गर्भम् । देवः । बृहस्पतिः । गर्भम् । ते । इन्द्रः । च । अग्निः । च । गर्भम् । धाता । दधातु । ते ॥४

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को [आधत्ताम्=अच्छे प्रकार पुष्ट करें–म० ३] । (देवः) प्रकाशमान (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का रक्षक सूर्य (गर्भम्) गर्भ को, (इन्द्रः) बिजुली (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (च) और (धाता) धारण करने वाला (अग्निः) और अग्नि (च) भी (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (दधातु) पुष्ट करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रयत्न किया जावे कि श्वास प्रश्वास, सूर्य, शारीरिक बिजुली अग्नि, आदि पदार्थ गर्भवती स्त्री के गर्भ को यथावत् पुष्ट करें ॥ ४ ॥

विष्णुर्योनिं कल्पयतु त्वष्टा रूपाणि पिंशतु ।
आ सिञ्चतु प्रजापतिर्धाता गर्भं दधातु ते ॥ ५ ॥

विष्णुः । योनिम् । कल्पयतु । त्वष्टा । रूपाणि । पिंशतु । आ । सिञ्चतु । प्रजा-पतिः । धाता । गर्भम् । दधातु । ते ॥५

भाषार्थ—(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (योनिम्) गर्भाशय को (कल्पयतु) समर्थ करे, और वही (त्वष्टा) विश्वकर्मा ईश्वर [गर्भ के] (रूपाणि) आकारों को (पिंशतु) जोड़ जोड़ बनावे । (धाता) सर्व पोषक (प्रजापतिः) प्रजाओं का रक्षक परमात्मा (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (आ)

४—(गर्भम्) गर्भशिशुम् (ते) तव (मित्रावरुणौ) प्राणापानौ [आधत्ताम्] इति शेषः—म० ३ । (गर्भम्) (देवः) प्रकाशमानः (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां रक्षकः सूर्यः (ते) (इन्द्रः) विद्युत् (च) समुच्चये (अग्निः) जाठराग्निः (च) अवधारणे (धाता) पोषकः (दधातु) पुष्णातु (ते) तव ॥

५—(विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वरः (योनिम्) गर्भाशयम् (कल्पयतु) समर्थयतु (त्वष्टा) अ० २।५।७। त्वक्षतेर्वा स्यात् करोतिकर्मणः–निरु० ८।१३। विश्वकर्मा जगदीश्वरः (रूपाणि) गर्भाकारान् (पिंशतु) अवयव-

सब प्रकार (सिञ्चतु) सींचे और (दधातु) पुष्ट करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—समर्थ गर्भवती स्त्री परमेश्वर के उत्तम गुणों का स्मरण करती हुई गुणी महात्माओं का ध्यान करके गर्भ की रक्षा करे, जिससे बालक रूपवान् गुणी महात्मा उत्पन्न हो ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-म० १० । सू० १८४ । म० १ । और स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि-गर्भाधान प्रकरण में भी है ॥

यद् वेद् राजा वरुणो यद् वा देवी सरस्वती ।

यदिन्द्रो वृत्रहा वेद् तद् गर्भकरणं पिब ॥ ६ ॥

यत् । वेद । राजा । वरुणः । यत् । वा । देवी । सरस्वती ।

यत् । इन्द्रः । वृत्र-हा । वेद । तत् । गर्भ-करणम् । पिब ॥६॥

भाषार्थ—(यत्) जो औषध (राजा) राजा (वरुणः) वरण योग्य पति (वेद) जानता है, (वा) और (यत्) जो (देवी) दिव्य गुण वाली, (सरस्वती) विज्ञानवती पत्नी [जानती है] और (यत्) जो (वृत्रहा) शत्रु वा रोग नाशक (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला वैद्य (वेद) जानता है, (तत्) वह (गर्भकरणम्) गर्भ जनक औषध (पिब) पान कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् पति और विदुषी पत्नी चतुर वैद्य की सम्मति से उचित आहार विहार करके गर्भ रक्षा में तत्पर रहें ॥ ६ ॥

गर्भो अस्योषधीनां गर्भो वनस्पतीनाम् ।

गर्भो विश्वस्य भूतस्य सो अग्ने गर्भमेह धाः ॥ ७ ॥

गर्भः । असि । ओषधीनाम् । गर्भः । वनस्पतीनाम् । गर्भः ।

शुक्लानि करोतु (आ) समन्तात् (सिञ्चतु) रसेन वर्धयतु (प्रजापतिः) सृष्टिपालकः (धाता) पोषकः (गर्भम्) गर्भस्थशिशुम् (दधातु) पुष्णातु ॥

६—(यत्) औषधम् (वेद) जानाति (राजा) ऐश्वर्यवान् (वरुणः) वरणीयः पतिः (वा) समुच्चये (देवी) दिव्यगुणवती (सरस्वती) विज्ञानवती पत्नी (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वैद्यः (वृत्रहा) शत्रो रोगस्य वा नाशकः (वेद) (तत्) (गर्भकरणम्) गर्भोत्पादकं द्रव्यम् (पिब) पानेन सेवस्व ॥

विश्वस्य । भूतस्य । सः । अग्ने । आ । इह । धाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! तू (ओषधीनाम्) सोम लता, अन्न, आदि ओषधियों का (गर्भः) स्तुति योग्य आश्रय, (वनस्पतीनाम्) सेवनीय गुणों के पदार्थों का (गर्भः) ग्रहण करने वाला और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) पञ्च भूत का (गर्भः) आधार (असि) है, (सः) सो तू (इह) इसमें (गर्भम्) गर्भ शक्ति (आ) अच्छे प्रकार (धाः=धेयाः) धारण कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर सब उत्तम पदार्थों को अपने में धारण करता है वैसे ही समर्थ, पराक्रमी स्त्री पुरुष उत्तम सन्तान का कारण पराक्रम, विद्या आदि अपने में रखके गर्भाधान करें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-अ० १२ । म० ३७ ॥

अधि स्कन्द वीरयस्व गर्भमा धेहि योन्याम् ।
वृषासि वृष्ण्यावन् प्रजायै त्वा नयामसि ॥ ८ ॥

अधि । स्कन्द । वीरयस्व । गर्भम् । आ । धेहि । योन्याम् ।
वृषा । असि । वृष्ण्य-वन् । प्र-जायै । त्वा । आ । नयामसि ८

भाषार्थ—(अधि स्कन्द) उठकर खड़ा हो, (वीरयस्व) वीरता कर, और (योन्याम्) गर्भ आशय में (गर्भम्) सन्तान जनक सामर्थ्य (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) स्थापित कर। (वृष्ण्यावन्) हे वीर्यवान् पुरुष ! तू

७—(गर्भः) अ० ३ । १० । १२ । गरणीयः स्तुत्यः (असि) (ओषधीनाम्) सोमलतान्नादीनाम् (गर्भः) ग्रहीता (वनस्पतीनाम्) अ० १ । ३५ । ३ । सेवनीयगुणानां रक्षकपदार्थानाम् (गर्भः) आधारः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) पृथिव्यादिभूतपञ्चकस्य (सः) स त्वम् (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (गर्भम्) सन्तानजनकं सामर्थ्यम् (आ) समन्तात् (इह) अत्र (धाः) आशिषि लिङि छान्दसं रूपम् । धेयाः ॥

८—(अधि) उपरि (स्कन्द) गच्छ (वीरयस्व) विक्रमयस्व (गर्भम्) सन्तानजनकं सामर्थ्यम् (आ) यथावत् (धेहि) धारय (योन्याम्) गर्भाशये (वृषा) ओजस्वी (वृष्ण्यावन्) वृषन्-यत् । वृष्णो वीरस्य कर्म तद्वन् ।

(वृषा) ओजस्वी (असि) है, (प्रजायै) सन्ता के लिये (त्वा) तुझे (आ नयामसि) हम समीप लाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष पराक्रम पूर्वक धन आदि प्राप्त करके गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे जिस से सन्तान की यथावत् रक्षा होवे ॥ ८ ॥

वि जिहीष्व बार्हत्सामे गर्भस्ते योनिमा शयाम् ।
अदुष्टे देवाः पुत्रं सोमपा उभयाविनम् ॥ ९ ॥

वि । जिहीष्व । बार्हत्-सामे । गर्भः । ते । योनिम् । आ । शयाम् । अदुः । ते । देवाः । पुत्रम् । सोम-पाः । उभयाविनम् ९ ।

भाषार्थ—(बार्हत्सामे) हे अत्यन्त करके प्रिय कर्म वा सामवेद जानने वाली पत्नी ! तू (वि) विशेष करके (जिहीष्व) उद्योग कर, (गर्भः) सन्तान जनक सामर्थ्य (ते) तेरे (योनिम्) गर्भ आशय में (आ शयाम्=शेताम्) प्राप्त हो । (सोमपाः) अमृत पान करने वाले (देवाः) उत्तम गुणों ने (उभयाविनम्) दोनों [माता पिता] की रक्षा करने वाला (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान (अदुः) दिया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—बलवती गुणवती स्त्री प्रयत्न पूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करे ॥ ९ ॥

धातः श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।

पराक्रमवन् (प्रजायै) सन्तानाय (त्वा) त्वाम् (आ) समीपे (नयामसि) प्रापयामः ॥

९—(वि) विशेषण (जिहीष्व) ओहाङ् गतौ-लोट् । गच्छ । उद्योग कुरु (बार्हत्सामे) नामन् सीमन्० । उ० ४ । १५१ । इति बृहत्+साम सान्त्वने-मनिन्, मलोपः, । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इति बृहत्सामन्-अण् । अजाद्यतष्टाप् । पा० ४ । १ । ४ । इति टाप् । बृहत् साम सान्त्वनं प्रियकरणं सामवेदं वा जानाति या सा बार्हत्सामा । तत्सम्बुद्धौ (गर्भः) सन्तानजनकं सामर्थ्यम् (ते) तव (योनिम्) गर्भाशयम् (आशयाम्) तलोपः । आशेताम् । प्राप्नोतु (अदुः) दत्तवन्तः (ते) तुभ्यम् (देवाः) दिव्यगुणाः (पुत्रम्) अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकं सन्तानम् (सोमपाः) अमृतपानशीलाः (उभयाविनम्) उभय-आविनम् । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये पा० ३ । २ । ७८ । इति उभय+अव रक्षणे-णिनि । उभयोर्मातापित्रोः रक्षकम् ॥

पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १० ॥

धातः । श्रेष्ठेन । रूपेण । अस्याः । नार्याः । गवीन्योः । पुमांसम् । पुत्रम् । आ । धेहि । दशमे । मासि । सूतवे ॥१०॥

भाषार्थ—(धातः) हे पोषक परमात्मा ! (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) रूप के साथ (अस्याः) इस (नार्याः) नारी की (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में (पुमांसम्) रक्षा करनेवाला (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान (दशमे) दसवें (मासि) महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने को (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) स्थापित कर ॥ १० ॥

भावार्थ—विदुषी पत्नी परमेश्वर के गुणों का विचार करती हुई उत्तम गुण स्वभाव वाला सन्तान गर्भ के पूरे दिनों में उत्पन्न करे ॥ १० ॥

यही भाव मन्त्र १३ तक जानो ॥

त्वष्टः श्रेष्ठेन ०।०॥ ११ ॥ त्वष्टः । श्रेष्ठेन ०।० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टः) हे विश्वकर्मा परमात्मन् । (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ...... म० १० ॥ ११ ॥

सवितः श्रेष्ठेन ०।० ॥ १२ ॥ सवितः । श्रेष्ठेन । ० ॥ १२ ॥

भावार्थ—(सवितः) हे सबके उत्पन्न करने वाले परमेश्वर (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ......म० १० । १२ ॥

प्रजापते श्रेष्ठेन रूपेणास्या नार्या गवीन्योः ।
पुमांसं पुत्रमा धेहि दशमे मासि सूतवे ॥ १३ ॥

१०—(धातः) हे सर्वधारक परमेश्वर (श्रेष्ठेन) उत्तमेन (रूपेण) आकारेण (अस्याः) (नार्याः) स्त्रियाः (गवीन्योः) अ० १ । ३ । ६ । पार्श्वद्वयस्थे नाड्यौ गवीन्यौ तयोः (पुमांसम्) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे—डुम्सुन् । रक्षकम् (पुत्रम्) कुलशोधकं सन्तानम् (आ) सम्यक (धेहि) स्थापय (दशमे) (मासि) (सूतवे) अ० १ । १ ॥ २ । प्रसवार्थम् ॥

१२—(सवितः) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर ।

प्रजा-पते । श्रेष्ठेन । रूपेण । अस्याः । नार्याः । गवीन्योः ।
पुमांसम् । पुत्रम् । आ । धेहि । दशमे । मासि । सूतवे ॥१३॥

भाषार्थ—(प्रजापते) हे सृष्टि पालक जगदीश्वर ! (श्रेष्ठेन) श्रेष्ठ (रूपेण) रूप के साथ (अस्याः) इस (नार्याः) नारी की (गवीन्योः) दोनों पार्श्वस्थ नाड़ियों में (पुमांसम्) रक्षा करने वाला (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान (दशमे) दसवें (मासि) महीने में (सूतवे) उत्पन्न होने को (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) स्थापित कर ॥ १३ ॥

सूक्तम् ॥ २६ ॥

१-१२ ॥ विद्वान् देवता ॥ १-८, १०, ११ विराट्, ९, १२ जगती ॥

समाजवृद्धिकरणोपदेशः—समाज की वृद्धि करने का उपदेश ॥

यजूंषि यज्ञे समिधः स्वाहाग्निः प्रविद्वानिह वो युनक्तु ॥१

यजूंषि । यज्ञे । सम्-इधः । स्वाहा । अग्निः । प्र-विद्वान् । इह । वः । युनक्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान् (अग्निः) तेजस्वी पुरुष (इह) यहां (यज्ञे) संगति में (यजूंषि) पूजनीय कर्मों और (समिधः) विद्यादि प्रकाश क्रियाओं को (वः) तुम्हारे लिये (स्वाहा) उत्तम वाणी से (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष संसार में उत्तम कर्मों और विद्याओं को फैलावे ॥ १ ॥

१३—(प्रजापते) हे सृष्टि पालक जगदीश्वर ॥

१—(यजूंषि) अर्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—उसि । पूजनीयकर्माणि (यज्ञे) संगतौ (समिधः) इन्धी दीप्तौ क्विप् । विद्यादिप्रकाशक्रियाः (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाचा (अग्निः) तेजस्वी पुरुषः (प्रविद्वान्) प्रकृष्टज्ञानी (इह) अत्र (वः) युष्मभ्यम् (युनक्तु) उपयोगे करोतु ॥

युनक्तु देवः सविता प्रजानन्नस्मिन् यज्ञे महिषः स्वाहा ॥२

युनक्तु । देवः । सविता । प्र-जानन् । अस्मिन् । यज्ञे । म-हिषः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(महिषः) महान्, (देवः) व्यवहार कुशल (प्रजानन्) बड़ा ज्ञानी (सविता) प्रेरक पुरुष (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संगति में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से [पूजनीय कर्मों और विद्या आदि प्रकाश क्रियाओं को-म० १] (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—बली विद्वान् पुरुष सभा आदि करके उत्तम कर्मों का प्रचार करे ॥२॥

इन्द्र उक्थामदान्यस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ३ ॥

इन्द्रः । उक्थ-मदानि । अस्मिन् । यज्ञे । प्र-विद्वान् । युन-क्तु । सु-युजः । स्वाहा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान्, (सुयुजः) सुयोग्य (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष (उक्थमदानि) शास्त्रों और सुखों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संगति में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (युनक्तु) उपयुक्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या प्राप्त करके वेदादि शास्त्रों का प्रचार करें ॥३॥

प्रैषा यज्ञे निविदः स्वाहा शिष्टाः पत्नीभिर्वहतेह युक्ताः ४

२—(युनक्तु) उपयोगे करोतु-यजूंषि समिध इति अनुवर्त्तते, म० १ (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) प्रेरकः प्रधानपुरुषः (प्रजानन्) प्रविद्वान् (महिषः) अ० २ । ३५ । ४ । महान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (उक्थमदानि) उक्थानि-अ० २ । १२ । २ । वक्तव्यानि शास्त्राणि, मदानि हर्षकर्माणि च (सुयुजः) युजिर योगे—इगुपधात्वात कः । सुयोग्यः । अन्यद् गतम् ॥

प्र-एषाः । यज्ञे । नि-विदः । स्वाहा । शिष्टाः । पत्नीभिः । वहत । इह । युक्ताः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पत्नीभिः) पालन शील शक्तियों से (युक्ताः) युक्त (शिष्टाः) हे शिष्ट पुरुषो ! (प्रैषाः) भेजने योग्य (निविदः) निश्चित विद्याओं को (इह) यहां (यज्ञे) संगति में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (वहत) लाओ ।४।

भावार्थ—धीर सुशिक्षित पुरुष अन्न आदि दान करके वेद आदि सत्य विद्याओं का प्रचार करें ॥ ४ ॥

छन्दांसि यज्ञे मरुतः स्वाहा मातेव पुत्रं पिपृते॒ह युक्ताः ५

छन्दांसि । यज्ञे । मरुतः । स्वाहा । माता-इव । पुत्रम् । पिपृत । इह । युक्ताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(युक्ताः) हे योग्य (मरुतः) शूर पुरुषो ! (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (इह) यहां (यज्ञे) परस्पर मिलाप में (छन्दांसि) आनन्द बढ़ाने वाले कर्मों को [इस प्रकार] (पिपृत) पालो, (माता इव) जैसे माता (पुत्रम्) कुल शोधक सन्तान को ॥ ५ ॥

भावार्थ—पराक्रमी विजयी महात्मा परोपकार करने में अपने सामर्थ्य भर प्रयत्न करें ॥ ५ ॥

एयमगन् बर्हिषा प्रोक्षणीभिर्यज्ञं तन्वानादितिः स्वाहा ६

४—(प्रैषाः) प्र+इष गतौ-घञ्, टाप् । प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु । वा० पा० ६ । १ । ८९ । इति वृद्धिः । प्रेषणीयाः (निविदः) सत्सूद्विषद्रुहदुह० । पा० ३ । २ । ६१ । इति नि+विद ज्ञाने-क्विप् । निवित्, वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । निश्चितविद्याः (शिष्टाः) शासु अनुशिष्टौ-क्त । हे सुबोधाः पुरुषाः (पत्नीभिः) पालनशक्तिभिः (वहत) नयत (युक्ताः) उपेताः सन्तः ॥

५—(छन्दांसि) अ० ४ । ३४ । १ । आह्लादकानि कर्माणि (यज्ञे) संगमे (मरुतः) अ० १ । २० । १ । हे विजयिनो देवाः (स्वाहा) (माता) अ० १ । २ । १ । माननीया जननी (इव) यथा (पुत्रम्) कुलशोधकं सन्तानम् (पिपृत) पृ पालनपूरणयोः । पालयत (इह) अस्मिन् संसारे (युक्ताः) योग्याः । मिलिताः ॥

आ । इयम् । अगन् । बर्हिषा । प्र-उक्षणीभिः । यज्ञम् । तन्वाना । अदितिः । स्वाहा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (अदितिः) अखण्ड नीति (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (बर्हिषा) उद्यम से और (प्रोक्षणीभिः) अच्छी अच्छी वृद्धियों से (यज्ञम्) आपस में मिलाप (तन्वाना) फैलाती हुई (आ अगन्) आई है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरदत्त वेद विद्या को पुरुषार्थ पूर्वक विचार कर परस्पर उन्नति करें ॥ ६ ॥

विष्णुर्युनक्तु बहुधा तपांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ७ ॥

विष्णुः । युनक्तु । बहु-धा । तपांसि । अस्मिन् । यज्ञे । सु-युजः । स्वाहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सुयुजः) सुयोग्य (विष्णुः) कामों में व्यापक पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (तपांसि) अपनी विभूतियों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) लगावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—चतुर पुरुषार्थी पुरुष दूसरों की उन्नति करने में अपनी उन्नति करे ॥ ७ ॥

त्वष्टा युनक्तु बहुधा नु रूपा अस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ८ ॥

६—(इयम्) प्रसिद्धा वैदिकी (आ अगन्) आगमत् (बर्हिषा) बर्ह उद्यमने—इसि । उद्यमेन (प्रोक्षणीभिः) प्र+उक्ष सेचने वृद्धौ च—ल्युट्, ङीप् । प्रकृष्टवृद्धिभिः । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मण उक्षन्त्युदकेनेति वा—निरु० १२ । ६ । (यज्ञम्) संगमम् (तन्वाना) तनु विस्तारे—शानच् । विस्तारयन्ती सती (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । अखण्डनीतिः (स्वाहा) सुवाण्या ॥

७—(विष्णुः) कर्मसु व्यापकः पुरुषः (युनक्तु) योजयतु (बहुधा) अनेकप्रकारेण (तपांसि) तप संतापे ऐश्वर्ये च—असुन् । ऐश्वर्याणि । विभूतयः । अन्यद् गतम् ॥

त्वष्टा । युनक्तु । बहु-धा । नु । रूपाः । अस्मिन् । यज्ञे । सुयुजः । स्वाहा ॥ ८

भाषार्थ—(सुयुजः) सुयोग्य (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (नु) शीघ्र (रूपाः) अनेक रूप वाली क्रियाओं को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) प्रयुक्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनेक प्रकार से क्रिया कुशल होकर परस्पर उन्नति करें ॥ ८ ॥

भर्गो युनक्त्वाशिषो न्व१स्मा अस्मिन् यज्ञे प्रविद्वान् युनक्तु सुयुजः स्वाहा ॥ ९ ॥

भर्गः । युनक्तु । आ-शिषः । नु । अस्मै । अस्मिन् । यज्ञे । प्र-विद्वान् । युनक्तु । सु-युजः । स्वाहा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(प्रविद्वान्) बड़ा विद्वान्, (सुयुजः) सुयोग्य, (भर्गः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (आशिषः) अपनी इष्ट प्रार्थनाओं को (नु) शीघ्र (अस्मै) इस [संसार के हित] के लिये (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (युनक्तु) लगावे, (युनक्तु) लगावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य निरन्तर प्रयत्न करके संसार की भलाई में सदा लगा रहे ॥ ९ ॥

सोमो युनक्तु बहुधा पयांस्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा १०

८—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सूक्ष्मदर्शी पुरुषः (नु) क्षिप्रम् (रूपाः) अर्शआदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । इति रूप—अच्, भूम्नि । अनेक-रूपवतीः क्रियाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(भर्गः) भगवान् । ऐश्वर्यवान् (युनक्तु युनक्तु) नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति नित्ये द्विर्वचनम् । नित्यं योजयतु (आशिषः) आ+इच्छायाम्—क्विप् । इष्टप्रार्थनाः (अस्मै) दृश्यमानाय संसाराय । अन्यद् गतम् ॥

सोमः । युनक्तु । बहु-धा । पयांसि । अस्मिन् । यज्ञे । सु-युजः । स्वाहा ॥ १० ॥

भाषार्थ—(सुयुजः) बड़ा योग्य (सोमः) शान्त स्वभाव पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (पयांसि) अन्नों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) लगावे ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि प्रचार में अन्न दान करके अपनी योग्यता बढ़ावे ॥ १० ॥

इन्द्रो युनक्तु बहुधा वीर्याण्यस्मिन् यज्ञे सुयुजः स्वाहा ॥ ११ ॥

इन्द्रः । युनक्तु । बहु-धा । वीर्याणि । अस्मिन् । यज्ञे । सु-युजः । स्वाहा ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(सुयुजः) सुयोग्य (इन्द्रः) प्रतापी पुरुष (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (बहुधा) अनेक प्रकार (वीर्याणि) अपने वीर कर्मों को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) परस्पर मेल में (युनक्तु) लगावे ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् उत्साही पुरुष समाज की उन्नति में सदा प्रयत्न करता रहे ॥ ११ ॥

अश्विना ब्रह्मणा यातमर्वाञ्चौ वषट्कारेण यज्ञं वर्धयन्तौ । बृहस्पते ब्रह्मणा याह्यर्वाङ् यज्ञो अयं स्वरिदं यजमानाय स्वाहा ॥ १२ ॥

अश्विना । ब्रह्मणा । आ । यातम् । अर्वाञ्चौ । वषट्-कारेण । यज्ञम् । वर्धयन्तौ । बृहस्पते । ब्रह्मणा । आ । याहि । अर्वाङ् । यज्ञः । अयम् । स्वः । इदम् । यजमानाय । स्वाहा ॥ १२

१०—(सोमः) शान्तस्वभावः पुरुषः (पयांसि) अन्नानि—निघ० २ । ७ । अन्यद् गतम् ॥

११—(इन्द्रः) प्रतापी पुरुषः (वीर्याणि) वीर-यत् । वीरकर्माणि ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे कर्म कुशल स्त्री पुरुषो ! (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से, और (वषट्कारेण) दान कर्म से (यज्ञम्) समाज को (वर्धयन्तौ) बढ़ाते हुये (अर्वाञ्चौ) सन्मुख होते हुये (आयातम्) तुम दोनों आवो। (बृहस्पते) हे बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमात्मन् ! (ब्रह्मणा) वृद्धि साधन के साथ (अर्वाङ्) हमारे सन्मुख (आ याहि) तू आ। (अयम्) यह (यज्ञः) समाज (यजमानाय) संगतिशील पुरुष के लिये (इदम्) ऐश्वर्य देने वाला (स्वः) सुख होवे, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी है ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुष वेद ज्ञान से समाज की उन्नति करते हुये आगे बढ़ें, और परमेश्वर को साक्षी और सहायक जानकर सदा सुखी रहें ॥१२

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठो ऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ २७ ॥

१-१२ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १ आस्तारपङ्क्तिः; २, ७ द्विपदानुष्टुप्; ३, १२ उष्णिक्; ४, ६ द्विपदा विराट्; ८ प्रस्तारपङ्क्तिः; ९ अतिजगती; १०, ११ पदपङ्क्तिः ॥

पुरुषार्थोपदेशः=पुरुषार्थ का उपदेश ॥

ऊर्ध्वा अ॑स्य स॒मिधो॑ भवन्त्यू॒र्ध्वा शु॒क्रा शो॒चींष्य॒ग्नेः ।

१२—(अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । अश्वो व्याप्तिः—इनि । अश्वी च अश्विनी च । पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इत्येकशेषः । कार्येषु व्याप्तिशीलौ स्त्रीपुरुषौ (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (आ यातम्) आ गच्छतम् (अर्वाञ्चौ) अ० म० ३ । २ । ३ । अस्मदभिमुखौ (वषट्कारेण) अ० १ । ११ । १ वह प्रापणे-डषटि । दानकर्मणा (वर्धयन्तौ) समर्धयन्तौ सन्तौ (बृहस्पते) बृहतां लोकानां रक्षक जगदीश्वर (ब्रह्मणा) अस्माकं वृद्धिसाधनेन सह (आ याहि) आ गच्छ । साक्षाद् भव (अर्वाङ्) अ० ३ । २ । ३ । अभिमुखः सन् (यज्ञः) संगमः । समाजः (अयम्) दृश्यमानः (स्वः) सुखम् (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इति इदि परमैश्वर्ये-कमिन् । ऐश्वर्यकरम् (यजमानाय) संगतिशीलाय (स्वाहा) सुवाणी भवतु ।

द्युमत्तमा सुप्रतीकः ससूनुस्तनूनपादसुरो भूरिपाणिः ॥१

ऊर्ध्वाः-। अस्य । सम्-इधः । भवन्ति । ऊर्ध्वा । शुक्रा । शोचींषि । अग्नेः । द्युमत्-तमा । सु-प्रतीक । स-सूनुः । तनू-नपात् । असुरः । भूरि-पाणिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस (अग्नेः) विद्वान् पुरुष की (समिधः) विद्या आदि प्रकाश क्रियायें (ऊर्ध्वाः) ऊंची, और (शुक्रा) अनेक वीर कर्म और (शोचींषि) तेज (ऊर्ध्वा) ऊंचे (भवन्ति) होते हैं [जो विद्वान्] (द्युमत्तमा) अतिशय प्रकाश वाला, (सुप्रतीकः) बड़ी प्रतीति वाला (ससूनुः) प्रेरक अर्थात् प्रधान पुरुषों के साथ वर्त्तमान (तनूनपात्) विस्तृत पदार्थों का न गिराने वाला (असुरः) बड़ी बुद्धि वाला, और (भूरिपाणिः) बहुत व्यवहारों में हाथ रखने वाला होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् मनुष्य महागुणी और बहुक्रियाकुशल होता है, वह संसार में उन्नति करता है ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २७ । म० ११—२२ ॥

देवो देवेषु देवः पथो अनक्ति मध्वा घृतेन ॥ २ ॥

देवः । देवेषु । देवः । पथः । अनक्ति । मध्वा । घृतेन ॥२

१—(ऊर्ध्वाः) उन्नताः (अस्य) प्रसिद्धस्य (समिधः) विद्यादिप्रकाशक्रियाः (भवन्ति) (ऊर्ध्वा) उन्नतानि (शुक्रा) अ० २ । ११ । ५ । शुक्राणि वीर्याणि (शोचींषि) अ० १ । १२ । २ । तेजांसि (अग्नेः) विदुषः पुरुषस्य (द्युमत्तमा) दिव—मतुप्, तमप् । विभक्तेराकारः । द्युमत्तमः । अतिशयेन प्रकाशवान् (सुप्रतीकः) अ० ४ । २१ । ६ । शोभनप्रतीतिवान् (ससूनुः) सुवः कित् । उ० ३ । ३५ । इति पू प्रेरणे—नु । सवितृभिः प्रेरकैः प्रधानैः सह वर्तमानः (तनूनपात्) अ० ५ । १२ । २ । तनूनां विस्तृतानां पदार्थानां न पातयिता (असुरः) अ० १ । १० । १ । असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वम्—निरु० । १० । ३४ । प्रशस्यप्रज्ञावान् (भूरिपाणिः) भूरिषु व्यवहारेषु पाणिर्हस्तो यस्य सः । बहुव्यवहारकुशलः ॥

भाषार्थ—(देवेषु) व्यवहारकुशल लोगों के बीच (देवः) व्यवहार कुशल और (देवः) विजय चाहने वाला पुरुष (मध्वा) ज्ञान से और (घृतेन) प्रकाश से (पथः) मार्गों को (अनक्ति) खोलता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वानों में महा विद्वान् सत्यप्रतिज्ञा वाला पुरुष संसार में सन्मार्ग का प्रचार करता है ॥ २ ॥

मध्वा॑ य॒ज्ञं न॑क्षति प्रैणा॒नो नरा॒शंसो॑ अ॒ग्निः सु॒कृद् दे॒वः स॑वि॒ता वि॒श्ववा॑रः ॥ ३ ॥

मध्वा॑ । य॒ज्ञम् । न॒क्ष॒ति॒ । प्र॒ऽए॒णा॒नः । नरा॒शंसः॑ । अ॒ग्निः । सु॒ऽकृत् । दे॒वः । स॒वि॒ता । वि॒श्वऽवा॑रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नराशंसः) मनुष्यों में प्रशंसा वाला, (सुकृत्) उत्तम कर्म करनेवाला, (देवः) व्यवहार में चतुर, (सविता) ऐश्वर्यवाला (विश्ववारः) सब से अङ्गीकार करने योग्य (अग्निः) विद्वान् पुरुष (मध्वा) ज्ञान से (यज्ञम्) समाज को (प्रैणानः) आगे बढ़ाता हुआ (नक्षति) चलता है ॥३॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुषार्थी मनुष्य विद्या बल से संसार की उन्नति करता है ॥ ३ ॥

(प्रैणानः) पद के स्थान पर यजुर्वेद । २७ । १३ । में [प्रीणानः] है ॥

२—(देवः) व्यवहारकुशलः (देवेषु) व्यवहारिषु विद्वत्सु (देवः) विजिगीषुः (पथः) मार्गान् (अनक्ति) व्यनक्ति व्यक्तीकरोति (मध्वा) अ० १ । ४ । १ । मन ज्ञाने—उ, नस्य धः । मधुना । ज्ञानेन (घृतेन) प्रकाशेन ॥

३—(मध्वा) म० २ । ज्ञानेन (यज्ञम्) समाजम् (नक्षति) गच्छति (प्रैणानः) प्रैणृ गतिप्रेरणश्लेषणेषु—शानच्, आत्मनेपदं छान्दसम् । प्रेरयन् (नराशंसः) नर+आङ्+शंसु स्तुतौ—अ, टाप् । नरेषु आशंसा प्रशंसा यस्य सः । नराशंसो यज्ञ इति कात्थक्यो नरा अस्मिन्नासीनाः शंसन्ति । अग्निरिति शाकपूणिर्नरैः प्रशस्यो भवति—निरु० ८ । ६ (अग्निः) विद्वान् पुरुषः (सुकृत्) सुकर्मा (देवः) व्यवहर्ता (सविता) षु प्रसवैश्वर्ययोः—तृच्, अदा० सेट् । ऐश्वर्यवान् (विश्ववारः) विश्व+वृञ् वरणे—घञ् । सर्वैर्वरणीयः स्वीकरणीयः ॥

अच्छायमेति शवसा घृता चिदीडानो वह्निर्नमसा ॥४॥

अच्छ । अयम् । एति । शवसा । घृता । चित् । ईडानः । वह्निः । नमसा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [शुभ गुणों की] (ईडानः) स्तुति करता हुआ (वह्निः) निर्वाह करने वाला पुरुष (चित्) ही (शवसा) बल, (घृता) जल और (नमसा) अन्न के साथ (अच्छ) अच्छे प्रकार (एति) चलता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सब का बल और धन बढ़ाता हुआ कीर्ति पाता है ॥ ४ ॥

(घृता) के स्थान पर यजुर्वेद, २७ । १४ में [घृतेन] है ॥

अग्निः स्रुचो अध्वरेषु प्रयक्षु स यक्षदस्य महिमानमग्नेः ॥५॥

अग्निः । स्रुचः । अध्वरेषु । प्र-यक्षु । सः । यक्षत् । अस्य । महिमानम् । अग्नेः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (अग्निः) विद्वान् पुरुष (अध्वरेषु) सन्मार्ग वाले (प्रयक्षु) बड़े यज्ञों वा समाजों में (अस्य) इस (अग्नेः) सर्वव्यापक परमेश्वर की (स्रुचः) गति की (महिमानम्) महिमा को (यक्षत्) पूजे ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष संसार में परमात्मा की विचित्र गति को जान कर पुरुषार्थ करता है ॥ ५ ॥

४—(अच्छ) सम्यक् । अभिमुखम् । अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः—निरु० ५ । २८ । (अयम्) प्रसिद्धः (एति) गच्छति (शवसा) बलेन (घृता) घृतेन, उदकेन—निघ० १ । १२ । (चित्) निश्चयेन (ईडानः) शुभगुणान् स्तुवन् (वह्निः) वहिश्रिश्रुयु० । उ० ४ । ५१ । इति वह प्रापणे—नि । कार्यनिर्वाहकः । वह्नयो वोढारः—निरु० ८ । ३ । (नमसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ ॥

५—(अग्निः) विद्वान् पुरुषः (स्रुचः) चिक् च । उ० २ । ६२ । इति स्रु गतौ—चिक् । गतेः (अध्वरेषु) अ० ३ । १६ । ६ । अध्वन्—रो मत्वर्थीयः । सन्मार्गवत्सु (प्रयक्षु) प्र+यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—क्विप् । प्रयागेषु । प्रकृष्टसमाजेषु (सः) विद्वान् (यक्षत्) अ० ३ । ४ । ६ । यजेर्लेटि रूपम् । यजेत् । सत्कुर्यात् (अस्य) प्रसिद्धस्य (महिमानम्) महत्त्वम् (अग्नेः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य ॥

तुरी मुन्द्रासु प्रयक्षु वसवश्चातिष्ठन् वसुधातरश्च ॥६॥

तुरी । मुन्द्रासु । प्र-यक्षु । वसवः । च । अतिष्ठन् । वसु-धातरः । च ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मन्द्रासु) आनन्द क्रियाओं में और (प्रयक्षु) बड़े समाजों में (तरी) तारने वाला विद्वान् (च) और (वसुधातरः) अधिक धनों का धारण करने वाला पुरुष (च) और(वसवः) उत्तम उत्तम गुणी लोग(अतिष्ठन्) स्थित हुये हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—उद्योगी प्रधान होने से समाज के सब सभ्य गुणी और धनी होते हैं ॥ ६ ॥

द्वारो देवीरन्वस्य विश्वे व्रतं रक्षन्ति विश्वहा ॥ ७ ॥

द्वारः । देवीः । अनु । अस्य । विश्वे । व्रतम् । रक्षन्ति । विश्वहा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब [उत्तम गुण] (अस्य) इसके (व्रतम्) व्रत की और (देवीः) प्रकाश वाले (द्वारः) घरके द्वारों की (विश्वहा= विश्वधा) अनेक प्रकार (अनु) अनुकूल रीति से (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् के उत्तम गुण ही उनके नियमों और घर आदि की रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

६—(तरी) तरस्तरणमस्यास्तीति । तर—इनि । स तारको विद्वान् (मन्द्रासु) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । इति मदि मोदे—रक्, टाप् । हर्षक्रियासु (प्रयक्षु) म० ५ । प्रकृष्टसमाजेषु (वसवः) उत्तमगुणाः पुरुषाः (च) (अतिष्ठन्) स्थिता अभवन् (वसुधातरः) वसुधा-तरप् । अधिक-धनानां धारकः (च) ॥

७—(द्वारः) द्वृ संवरणे णिच्—विच् । द्वारः पनदाम-निघ० ५ । २ । द्वारो जवतेर्वा द्रवतेर्वा-निरु० ८ । ६ । यज्ञे गृहद्वार इति कात्थक्योऽग्निरिति शाकपूणिः-निरु ८ । १० । द्वाराणि (देवीः) देदीप्यमानाः (अनु) आनुकूल्येन । (अस्य) विदुषः (विश्वे) विश्वेदेवाः सर्वे दिव्यगुणाः (व्रतम्) सत्यभाषणादिकर्म (रक्षन्ति) पान्ति (विश्वहा) धस्य हः । विश्वधा । अनेकधा ॥

उरुव्यचसाग्नेर्धाम्ना पत्यमाने । आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्तेमं यज्ञमवतामध्वरं नः ॥ ८ ॥

उरु-व्यचसा । अग्नेः । धाम्ना । पत्यमाने इति । आ । सु-स्वयन्ती इति । यजते इति । उपाके इति । उषसानक्ता । इमम् । यज्ञम् । अवताम् । अध्वरम् । नः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्नेः) सर्व व्यापक परमेश्वर के (उरु-व्यचसा) दूर दूर तक व्यापक (धाम्ना) तेज से (पत्यमाने) ऐश्वर्य करती हुयी (सुष्वयन्ती= सुष्ठु अयन्त्यौ) अति सुन्दरता से चलती हुयी, (यजते) संगति योग्य, (उपाके) पास पास रहने वाली (उषासानक्ता) रात और प्रभात वेलायें [दिन और रात] (नः) हमारे (इमम्) इस (अध्वरम्) सन्मार्ग वाले (यज्ञम्) समाज को (आ अवताम्) आती रहें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्ममार्ग में चलकर दिन रात उन्नति करते रहें ॥ ८ ॥

मन्त्र का मिलान अ० ५ । १२ । ६ से करो ॥

दैव्या होतार ऊर्ध्वमध्वरं नोऽग्नेर्जिह्वयाभि गृणत गृणता नः स्विष्टये । तिस्रो देवीर्बर्हिरेदं सदन्तामिडा सरस्वती मही भारती गृणाना ॥ ९ ॥

दैव्या । होतारा । ऊर्ध्वम् । अध्वरम् । नः । अग्नेः । जिह्वया । अभि । गृणत । गृणत । नः । सु-इष्टये । तिस्रः । देवीः ।

८—(उरुव्यचसा) वि+अञ्चु गतौ—असुन् । बहुव्यापकेन (अग्नेः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (धाम्ना) तेजसा (पत्यमाने) पत ऐश्वर्ये–शानच् । ऐश्वर्यं कुर्वाणे (आ सुष्वयन्ती... उषासानक्ता) इति गतम्—अ० ५ । १२ । ६ । (आ) क्रियायोगे (सुष्वयन्ती) अत्यन्तं सुष्ठु अयन्त्यौ (यजते) संगन्तव्ये (उपाके) सन्निहिते (उषासानक्ता) अहोरात्रे (इमम्) (यज्ञम्) यष्टव्यं संगन्तव्यं समाजम् (आ अवताम्) अव रक्षणगत्यादिषु । आगच्छताम् (अध्वरम्) म० ५ । सन्मार्गवन्तम् (नः) अस्माकम् ॥

बुर्हिः । आ । इदम् । सुदुन्ताम् । इडा । सरस्वती । मुही । भारती । गृणाना ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(दैवाः) विद्वानों में रहने वाले विद्वान् (होतारः) हे दान शील पुरुषो ! (नः) हमारे (ऊर्ध्वम्) ऊंचे (अध्वरम्) अकुटिल व्यवहार को (अग्नेः) [शारीरिक और बाह्य] तेज की (जिह्वया) जयसे (नः) हमारे (स्विष्टये) अच्छे समागम के लिये (अभि) अच्छे प्रकार (गृणत) वर्णन करो और (गृणत) वर्णन करो। (तिस्रः) तीनों (देवीः) देवियां (महती) विशाल गुण वाली (गृणाना) उपदेश करती हुयी (इडा) स्तुति योग्य नीति, (सरस्वती) विज्ञानवती बुद्धि और (भारती) पोषण करने वाली विद्या (इदम्) इस (बर्हिः) बढ़े हुये कर्म में (आ सदन्ताम्) आवें॥ ९ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् मनुष्य उत्तम उत्तम नीति, बुद्धि और अनेक व्यवहारिक विद्यायें प्राप्त करके परस्पर वृद्धि करें॥ ९ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० ५। १२। ८ के साथ करो।

तन्नस्तुरीपमद्भुतं पुरुक्षु । देवं त्वष्टा रायस्पोषं वि ष्य नाभिमस्य ॥ १० ॥

तत् । नः । तुरीपम् । अत्-भुतम् । पुरु-क्षु । देव । त्वष्टः । रायः । पोषम् । वि । स्य । नाभिम् । अस्य ॥ १० ॥

९—(दैवाः) देव—अञ्। देवेषु विद्वत्सु भवा विद्वांसः (होतारः) सुखस्य दातारः (ऊर्ध्वम्) उन्नतम् (अध्वरम्) न + ध्वृ—अच्। अकुटिलं व्यवहारम् (नः) अस्माकम् (अग्नेः) शारीरिकस्य वाह्यस्य तेजसः [जिह्वया अ० १। १०। ३। जि जये-वन् हुक् च। जयेन (अभि) सर्वतः (गृणत गृणत नित्यं गृणीत वर्णयत (नः) अस्माकम् (स्विष्टये) यज—क्तिन्। शोभनाय समागमाय (मही) महती। विशालगुणवती (गृणाना) उपदिशन्ती। अन्यत् यथा, अ० ५। १२। ८। (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (देवीः) देव्यः। दीप्यमाना (बर्हिः) प्रवृद्धं कर्म (आसदन्ताम्) आगच्छन्तु (इडा) स्तुत्या नीतिः (सरस्वती) विज्ञानवती प्रज्ञा (भारती) पोषयित्री विद्या ॥

भाषार्थ—(देव) हे व्यवहार में चतुर (त्वष्टः) सूक्ष्मदर्शी पुरुष ! (नः) हमारे लिये (तत्) वह (तुरीपम्) शीघ्र रक्षा करने वाला, (अद्भुतम्) अद्भुत, (पुरुक्षु) बहुत अन्न और (रायः) धन की (पोषम्) पुष्टि (अस्य) इस [घर] के (नाभिम्) मध्यदेश में (वि ष्य) खोल दे ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक पुष्कल अन्न और धन से घरों को परिपूर्ण करके यथावत् पोषण करें ॥ १० ॥

वन॑स्पते॒ऽव॑ सृजा॒ ररा॑णः । त्मना॑ दे॒वेभ्यो॑ अ॒ग्निर्ह॒व्यं श॑मि॒ता स्व॑दयतु ॥ ११ ॥

वन॑स्पते । अव॑ । सृ॒ज॒ । ररा॑णः । त्मना॑ । दे॒वेभ्यः॑ । अ॒ग्निः । ह॒व्यम् । श॒मि॒ता । स्व॒द॒य॒तु॒ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे सेवनीय शास्त्र के रक्षक (रराणः) दानशील तू (अव सृज) दान कर । (शमिता) शान्ति करने वाला (अग्निः) विद्वान् पुरुष (त्मना) आत्म बल से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (हव्यम) ग्राह्यपदार्थ अन्न आदि को (स्वादयतु) स्वादु बनावे ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष विद्वानों का सत्कार करके विद्या आदि उत्तम गुणों की वृद्धि करे ॥ ११ ॥

१०—(तत्) (नः) अस्मभ्यम् (तुरीपम्) तुरी-पम् । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति तुर वेगे-इनि, ङीप्+पा रक्षणे-क । तुर्या वेगेन रक्षकम् । तुरीपं पदनाम-निघ० ४ । ३ । तुरीपं तूर्णापि-निरु० ६ । २१ (अद्भुतम्) आश्चर्यवत् (पुरुक्षु) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । इति क्षि निवासगत्योः-कु, स च डित् । क्षु अन्न नाम-निघ० २ । ७ । बहुक्षम् (देव) हे व्यवहारकुशल (त्वष्टः) सूक्ष्मदर्शिन् (रायः) धनस्य (पोषम) पुष्टिम् (वि ष्य) विमुञ्च । स्यतिरुपसृष्टो विमोचने-निरु० १ । १७ । (नाभिम्) मध्यदेशं प्रति (अस्य) गृहस्य ॥

११—(वनस्पते) वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक-इति दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ । (अव सृज) दानं कुरु (रराणः) रा दाने-कानच् । रराणो रातिरभ्यस्तः—निरु० २ । १२ । ददानः (त्मना) अ० ५ । १२ । १० । आत्मना । आत्मबलेन (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (अग्निः) विद्वान् (हव्यम्) ग्राह्यं पदार्थम् (शमिता) अ० ५ । १२ । १० । शान्तीकरः (स्वदयतु) स्वादु करोतु ॥

अग्ने स्वाहा कृणुहि जातवेदः । इन्द्राय यज्ञं विश्वे देवा हविरिदं जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

अग्ने । स्वाहा । कृणुहि । जात-वेदः । इन्द्राय । यज्ञम् । विश्वे । देवाः । हविः । इदम् । जुषन्ताम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (स्वाहा) सुन्दर वाणी से (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिये (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (कृणुहि) कर। (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (इदम्) इस (हविः) ग्राह्य उत्तम वस्तु को (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके ऐश्वर्य के लिये उत्तम कर्म सदा करें ॥१२॥

सूक्तम् ॥ २८ ॥

१-१४ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १-६, ८, ११, १४ त्रिष्टुप्; ७, ९, १०; अनुष्टुप्; १२, १३ पुरउष्णिक् ॥

रक्षैश्वर्योपदेशः—रक्षा और ऐश्वर्य का उपदेश ॥

नवं प्राणान्नवभिः सं मिमीते दीर्घायुत्वाय शतशारदाय । हरिते त्रीणि रजते त्रीण्ययसि त्रीणि तपसाविष्ठितानि ॥ १ ॥

नव । प्राणान् । नव-भिः । सम् । मिमीते । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय । हरिते । त्रीणि । रजते । त्रीणि । अयसि । त्रीणि । तपसा । आ-विस्थितानि ॥ १ ॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (नव) नौ (प्राणान्) जीवन शक्तियों को

१२—(अग्ने) विद्वन् (स्वाहा) सत्यवाण्या (कृणुहि) कुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धविद्य (इन्द्राय) परमैश्वर्याय (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (हविः) ग्राह्यं वस्तु (इदम्) (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

१—(नव) (प्राणान्) जीवन साधनानि (नवभिः) नवभिरिन्द्रिय-

(नवभिः) नौ [इन्द्रियों] के साथ (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (सं मिमीते) यथावत् मिलाता है। [उसी करके] (हरिते) दरिद्रता हरने वाले पुरुषार्थ में (त्रीणि) तीनों, (रजते) प्रिय होने वाले प्रबन्ध [वा रूप्य] में (त्रीणि) तीनों, और (अयसि) प्राप्त योग्य कर्म [वा सुवर्ण] में (त्रीणि) तीनों [सुख] (तपसा) सामर्थ्य से (आविष्ठितानि) स्थित किये गये हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने नवद्वारपुर शरीर में दोनों कानों, दोनों नेत्रों, दोनों नथनों, मुख, पायु और उपस्थ, नव इन्द्रियों में नव शक्तियां रक्खी हैं उसी जगदीश्वर ने बताया है कि मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, उत्तम प्रबन्ध और उत्तम कर्म से चांदी सोना एकत्र करके तीन सुख अर्थात् अन्न, मनुष्य और पशुओं को बढ़ावे—मन्त्र ३ देखो ॥ १ ॥

अग्निः सूर्यश्चन्द्रमा भूमिरापो द्यौरन्तरिक्षं प्रदिशो दिशश्च । आर्तवा ऋतुभिः संविदाना अनेन मा त्रिवृता पारयन्तु ॥ २ ॥

अग्निः । सूर्यः । चन्द्रमाः । भूमिः । आपः । द्यौः । अन्तरिक्षम् । प्र-दिशः । दिशः । च । आर्तवाः । ऋतु-भिः । सम्-विदानाः ।

छिद्रैः, तानि यथा द्वे श्रोत्रे, चक्षुषी, नासिके, मुखम् पायूपस्थे (सं मिमीते) माङ् माने-लट्। समीकरोति। संगतान् करोति (दीर्घायुत्वाय) अ० १। ३५। १। चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) शतशरदृतुयुक्ताय (हरिते) हरति दारिद्यम्। हृश्याभ्यामितन्। उ० ३। ९३। इति हृञ् हरणे—इतन्। दारिद्र्यहारके पुरुषार्थे (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि सुखानि, अन्नपुरुषपशुबहुत्वरूपाणि—म० ३ (रजते) रजति प्रियं भवतीति। पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। इति रञ्ज रागे-अतच्। प्रियभवे प्रबन्धे रूप्ये वा (त्रीणि) तानि पूर्वोक्तानि (अयसि) ईयते प्राप्यते। सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। इति इण् गतौ-असुन्। प्राप्ये कर्मणि सुवर्णे वा—अयो हिरण्यम्—निघ० १। २। (त्रीणि) (तपसा) सामर्थ्येन (आविष्ठितानि) सम्यक् स्थितानि ॥

अनेन । मा । त्रि-वृता । पारयन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (भूमिः) भूमि, (आपः) जल, (द्यौः) आकाश, (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक, (दिशः) दिशायें, (प्रदिशः) विदिशायें (च) और (ऋतुभिः) ऋतुओं से (संविदानाः) मिले हुये (आर्तवाः) ऋतुओं के विभाग (अनेन) इस (त्रिवृता) त्रिवृति [तीन जीवन साधन म० १] से (मा) मुझे (पारयन्तु) पूर्ण करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब पदार्थों से उपकार, उत्तम पुरुषार्थ आदि [म० १] तीन साधनों से आत्मबल बढ़ावें ॥ २ ॥

त्रयः पोषास्त्रिवृति श्रयन्तामनक्तु पूषा पयसा घृतेन । अन्नस्य भूमा पुरुषस्य भूमा भूमा पशूनां त इह श्रयन्ताम् ॥३॥

त्रयः । पोषाः । त्रि-वृति । श्रयन्ताम् । अनक्तु । पूषा । पयसा । घृतेन । अन्नस्य । भूमा । पुरुषस्य । भूमा । भूमा । पशूनाम् । ते । इह । श्रयन्ताम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीन (पोषाः) पोषण सामर्थ्य (त्रिवृति) त्रिवृति [तीन जीवन साधन—म० १] में (श्रयन्ताम्) बनी रहें । (पूषा) पोषण करने वाला अधिकारी (पयसा) दूध और (घृतेन) घृत से (अनक्तु)

२—(अग्निः) पावकः (सूर्यः) (चन्द्रमाः) (भूमिः) (आपः) जलानि (द्यौः) आकाशम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (प्रदिशः) अन्तराला दिशाः (दिशः) प्राच्याद्याः (आर्तवाः) अ० ३ । १० । ६ । ऋतुभागाः (ऋतुभिः) कालविशेषैः (संविदानाः) अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानाः (अनेन) पूर्वोक्तेन (मा) माम् (त्रिवृता) वृञ् वरणे—क्विप् तुक् च । त्रिवर्तनेन । त्रिजीवनसाधनेन हरितरजतायोरूपेण—म० १ (पारयन्तु) पॄ पालनपूरणयोः । पूर्णं कुर्वन्तु ॥

३—(त्रयः) (पोषाः) पोषणसामर्थ्यानि (त्रिवृति) म० २ । त्रिवृत्तौ हरितरजतायोरूपत्रिसाधने-म० १ (श्रयन्ताम्) आश्रिता भवन्तु । तिष्ठन्तु

संयुक्त करें। (अन्नस्य) अन्न की (भूमा) बहुतायत, (पुरुषस्य) पुरुषों की (भूमा) बहुतायत और (पशूनाम्) पशुओं की (भूमा) बहुतायत (ते) यह सब (इह) यहां पर (श्रयन्ताम्) ठहरी रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, उत्तम प्रबन्ध और उत्तम कर्म से [म० १] अन्न, पुरुषों और पशुओं का योग्य संग्रह करके सुख भोगें ॥ ६ ॥

इममादित्या वसुना समुक्षतेममग्ने वर्धय वावृधानः।
इममिन्द्र संसृज वीर्येणास्मिन् त्रिवृच्छ्रयतां पोपयिष्णु ॥४॥

इमम् । आदित्याः । वसुना । सम् । उक्षत । इमम् । अग्ने । वर्धय । ववृधानः । इमम् । इन्द्र । सम् । सृज । वीर्येण । अस्मिन् । त्रि-वृत् । श्रयताम् । पोपयिष्णु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आदित्याः) हे तेजस्वी पुरुषो ! (इमम्) इस पुरुष को (वसुना) धन से (सम्) अच्छे प्रकार (उक्षत) सींचो, (अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (ववृधानः) बढ़ता हुआ तू (इमम्) पुरुष को (वर्धय) बढ़ा, (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (वीर्येण) वीरता से (सं सृज) संयुक्त कर। (अस्मिन्) इस पुरुष में (पोपयिष्णु) पुष्टि

(अनक्तु) संयोजयतु (पूषा) पोषकोऽधिकारी (पयसा) दुग्धेन (अन्नस्य) कॄवृजॄ०। उ० ३। १०। इति अन जीवने—न, यद्वा अद भक्षणे—क्त। जीवन-साधनस्य भक्षणीयस्य वा पदार्थस्य (भूमा) बहोर्लोपो भू च बहोः। पा० ६। ४। १५८। इति बहोरिमनिच् प्रत्ययस्येकारस्य लोपो बहोश्च भूरादेशः। बहुत्वम् (पुरुषस्य) जनस्य (पशूनाम्) गवादिजन्तूनाम (ते) भूमानः (इह) अस्मिन् संसारे ॥

४—(इमम्) पुरुषम् (आदित्याः) अ० १। ८। १। तेजस्विनः पुरुषाः (वसुना) धनेन (सम्) सम्यक् (उक्षत) सिंचत (अग्ने) सर्वज्ञ परमेश्वर (वर्धय) समर्धय (ववृधानः) अ० १। ८। ४। प्रवृद्धः (इमम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (सं सृज) संयोजय (वीर्येण) वीरभावेन (अस्मिन्)

देने वाली (त्रिवृत्) त्रिवृत्ति [म० १] (श्रयताम्) ठहरी रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् जन उपदेश करें कि सब मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, उत्तम प्रबन्ध और उत्तम कर्म से अन्न पुरुष और पशुओं को प्राप्त करके आनन्द भोगें ॥ ४ ॥

भूमिष्ट्वा पातु हरितेन विश्वभृदग्निः पिपर्त्वयसा सजोषाः । वीरुद्भिष्टे अर्जुनं संविदानं दक्षं दधातु सुमनस्यमानम् ॥ ५ ॥

भूमिः । त्वा । पातु । हरितेन । विश्व-भृत् । अग्निः । पिपर्तु । अयसा । स-जोषाः । वीरुत्-भिः । ते । अर्जुनम् । सम्-विदानम् । दक्षम् । दधातु । सु-मनस्यमानम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विश्वभृत्) सबको धारण करने वाली (भूमिः) भूमि (हरितेन) दरिद्रता हरने वाले पुरुषार्थ से (त्वा) तुझे (पातु) पाले, (सजोषाः) प्रीति युक्त (अग्निः) अग्नि (अयसा) प्राप्ति योग्य कर्म से (पिपर्तु) पूर्ण करे । (वीरुद्भिः) उगती हुयी लता रूप प्रजाओं से (संविदानम्) मिला हुआ (ते) तेरा (अर्जुनम्) अर्थ संग्रह (सुमनस्यमानम्) मन का शुभ करने वाला (दक्षम्) बल (दधातु) दान करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमि, अग्नि आदि पदार्थों के व्यवहार से पुरुषार्थ के साथ उत्तम गुणों का संग्रह करके अपना बल बढ़ावें ॥ ५ ॥

पुरुषे (त्रिवृत्) हरितरजतायोरूपा त्रिवृत्तिः (श्रयताम्) तिष्ठतु (पोषयिष्णु) अ० ३ । १४ । ६ । पोषकम् ॥

५—(भूमिः) भूमिव्यापार इत्यर्थः (त्वा) त्वां मनुष्यम् (पातु) रक्षतु (हरितेन) म० १ । दारिद्र्यहारकेण पुरुषार्थेन (विश्वभृत्) सर्वस्य धारिका (अग्निः) शारीरिकवाह्याग्निः (पिपर्तु) पॄ पालनपूरणयोः । पूरयतु (अयसा) म० १ । प्राप्येन कर्मणा (सजोषाः) सप्रीतिः (वीरुद्भिः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीलाभिर्लतारूपाभिः प्रजाभिः (ते) तव (अर्जुनम्) अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । इति अर्ज सम्पादने णिचि-उनन् । अर्थसंग्रहः (संविदानम्) अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानम् (दधातु) ददातु (सुमनस्यमानम्) अ० १ । ३५ । १ । मनसः शुभकरम् ॥

त्रेधा जातं जन्मनेदं हिरण्यमग्नेरेकं प्रियतमं बभूव सोमस्यैकं हिंसितस्य परापतत्। अपामेकं वेधसां रेत आहुस्तत् ते हिरण्यं त्रिवृदस्त्वायुषे ॥ ६ ॥

त्रेधा । जातम् । जन्मना । इदम् । हिरण्यम् । अग्नेः । एकम् । प्रिय-तमम् । बभूव । सोमस्य । एकम् । हिंसितस्य । परा । अपतत् । अपाम् । एकम् । वेधसाम् । रेतः । आहुः । तत् । ते । हिरण्यम् । त्रि-वृत् । अस्तु । आयुषे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह प्रसिद्ध (हिरण्यम्) कमनीय तेज [ब्रह्म] (त्रैधा) तीन प्रकार से (जन्मना) जन्म से (जातम्) उत्पन्न हुआ, (एकम्) एक (अग्नेः) अग्नि का (प्रियतमम्) अति प्रीति वाला (बभूव) हुआ, (एकम्) एक (हिंसितस्य) पीड़ित (सोमस्य) चन्द्रमा का [प्रियतमः] [अतिप्रिय होकर] (परा अपतत्) [सूर्य से] आकर गिरा। (एकम्) एक को (वेधसाम्) विधान करने वाली (अपाम्) जल धाराओं का (रेतः) बीज (आहुः) वे कहते हैं। (तत्) वह (हिरण्यम्) तेजःस्वरूप ब्रह्म (ते) तेरी) (आयुषे) आयु के लिये (त्रिवृत्) त्रिवृत्ति [तीनों जीवन साधन] (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा का तेज तीन प्रकार से प्रकट होता है, १—भौतिक अग्नि में जो पृथिवी के पदार्थों को पकाता है, २—अन्धकार युक्त चन्द्रमा में जो सूर्यसे प्रकाशित होता है, ३—सूर्यमें, जो जलको खींचकर मेघमंडल से बरसाता है। मनुष्य उस तेजोमय परमेश्वर का नित्य ध्यान करके उत्तम पुरुषार्थ आदि त्रिवृत्ति [म० १] को बढ़ावें ॥ ६ ॥

६—(त्रेधा) त्रिप्रकारेण (जातम्) उत्पन्नम् (जन्मना) उत्पत्त्या (इदम्) (हिरण्यम्) अ० १ । ९ । २ । कमनीयं तेजः । ब्रह्म (अग्नेः) भौतिकाग्नेः (एकम्) (प्रियतमम्) अतिशयप्रीतिकरम् (सोमस्य) चन्द्रस्य (एकम्) तेजः (हिंसितस्य) पीडितस्य । अन्धकारयुक्तस्येत्यर्थः (परा) पृथग्भावे (अपतत्)

त्र्यायुषं जमदग्नेः कश्यपस्य त्र्यायुषम्।
त्रेधामृतस्य चक्षणं त्रीण्यायूंषि तेऽकरम् ॥ ७ ॥

त्रि-आयुषम्। जमत्-अग्नेः। कश्यपस्य। त्रि-आयुषम्। त्रेधा। अमृतस्य। चक्षणम्। त्रीणि। आयूंषि। ते। अकरम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(जमदग्नेः) प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष के [अथवा, नेत्र अर्थात् नेत्र आदि इन्द्रियों के] (त्र्यायुषम्) तीन जीवन साधन म० १ [अथवा, शुद्धि, बल और पराक्रमयुक्त तीन गुण आयु], और (कश्यपस्य) तत्त्व दर्शी ऋषि के [अथवा, ईश्वर की व्यवस्था से सिद्ध] (त्र्यायुषम्) बालकपन, यौवन और बुढ़ापा, तीन प्रकार की आयु [अथवा, ब्रह्मचर्य, गृहस्थ और वानप्रस्थ आश्रमों का सुखकारक तीन गुण आयु], (त्रेधा) तीन प्रकार से [अर्थात् विद्या, शिक्षा और परोपकार सहित तीन गुण आयु से] (अमृतस्य) अमरपन वा मोक्ष का (चक्षणम्) दर्शक होवे। [हे पुरुषार्थी ! वे ही] (त्रीणि) तीन (आयूंषि) जीवन साधन (ते) तेरे लिये (अकरम्) मैंने किये हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रतापी, दूरदर्शी मनुष्य तीन जीवन साधन अर्थात् पुरुषार्थ, प्रबन्ध और कर्म को [म० १], तथा शारीरिक और आत्मिक बल से तीन पदार्थ

अधोऽगच्छत् सूर्यमण्डलात् (अपाम्) जलधाराणाम् (एकम्) तेजः (वेधसाम्) विधात्रीणाम् उत्पादयित्रीणाम् (रेतः) बीजम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (तत्) पूर्वोक्तम् (हिरण्यम्) (त्रिवृत्) म० २। त्रिवृत्तिः। त्रिजीवनसाधनम् (अस्तु) भवतु (आयुषे) अ० १। ३०। ३। जीवनवर्धनाय ॥

७—(त्र्यायुषम्) अचतुरविचतुरसुचतुर०। पा० ५। ४। ७७। इति त्रि+आयुस्—अच् समासान्तः समाहारे। त्रयाणामायुषां जीवनसाधनानां समाहारः—म० १ [अथवा, शुद्धिबलपराक्रमयुक्तं त्रिगुणमायुः] (जमदग्नेः) अ० २। ३२। ३। प्रज्वलिताग्नेरिव तेजस्विनः पुरुषस्य [अथवा, चक्षुषः= चक्षुरादीन्द्रियाणाम्] (कश्यपस्य) अ० २। ३३। ७। पश्यकस्य। तत्त्वदर्शि-पुरुषस्य [अथवा, आदित्यस्येश्वरस्य व्यवस्थासिद्धम्] (त्र्यायुषम्) त्रयाणां बाल्ययौवनस्थाविराणामायुषां समाहारः [अथवा, ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थाश्र-मसुखसंपादकं त्रिगुणमायुः] (त्रेधा) त्रिप्रकारेण [अथवा, विद्याशिक्षापरोप-

अर्थात् अन्न, पुरुष और गौ आदि पशुओं को [म० ३] प्राप्त करके परोपकार करते हुये सदा सुखी रहें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३ म० ६२। कोष्ठ के भीतर महर्षि दयानन्द भाष्य का अर्थ है, उनका मत है—इस मन्त्र में [त्र्यायुषम्] चार बार होने से यह तात्पर्य है कि विद्वान् पुरुष तिगुणी अर्थात् तीन सौ वर्ष से अधिक चार सौ वर्ष पर्यन्त भी आयु भोग सकता है ॥

त्रयः सुपर्णास्त्रिवृता यदायन्नेकाक्षरमभिसंभूयं शक्राः ।
प्रत्यौहन्मृत्युममृतेन साकमन्तर्दधाना दुरितानि विश्वा ॥८॥

त्रयः । सु-पर्णाः । त्रि-वृता । यत् । आयन् । एक-अक्षरम् । अभि-संभूय । शक्राः । प्रति । औहन् । मृत्युम् । अमृतेन । साकम् । अन्तः-दधानाः । दुः-इतानि । विश्वा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीन (शक्राः) समर्थ (सुपर्णाः) बड़े पोषक पदार्थ (त्रिवृता) त्रिवृत्ति [तीन जीवन साधन] के साथ (एकाक्षरम्) एक अविनाशी ब्रह्म को (अभिसंभूय) सब ओर से प्राप्त कर के (यत्) जब (आयन्) प्राप्त हुये । (विश्वा) सब (दुरितानि) अनिष्टों को (अन्तर्दधानाः) ढकते हुये उन्होंने (अमृतेन साकम्) मृत्यु से बचने के साधन के साथ [वर्तमान हो कर] (मृत्युम्) मृत्यु के कारण को (प्रति औहन्) मिटा दिया ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ आदि [म० १] तीन उपायों से अन्न, पुरुष और पशु द्वारा [म० ३] दरिद्रता आदि कष्टों को हटाकर अपना जीवन सुफल करें ॥ ८ ॥

कारसहितेन त्रिगुणायुषा] (अमृतस्य) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तस्य । अमरणस्य मोक्षस्य (चक्षणम्) दर्शकम् (त्रीणि) (आयूंषि) जीवनसाधनानि—म० १ तथा ३ (ते) तुभ्यम् (अकरम्) अहं कृतवान् ॥

८—(त्रयः) (सुपर्णाः) अ० १ । २४ । १ । सुपोषकपदार्थाः—म० ३ (त्रिवृता) म० २ । त्रिवृत्या त्रिजीवनवर्त्तनेन—म० १ (यत्) यदा (आयन्) इण-लङ् । अगच्छन् (एकाक्षरम्) न क्षरतीति अक्षरम् । क्षर संचलने-अच् । अद्वितीयं विनाशरहितं ब्रह्म (अभिसंभूय) भू प्राप्तौ-ल्यप् । सर्वतः प्राप्य (शक्राः) शक्ताः (प्रति) प्रतिकूलम् (औहन्) उहिर् अर्दने-लङ् । हतवन्तः (मृत्युम्) मरणसाधनं बुभुक्षादिरूपम् (अमृतेन) अमरणसाधनेन (साकम्) सहवर्तमानाः सन्तः (अन्तर्दधानाः) आच्छादयन्तः (दुरितानि) अनिष्टानि (विश्वा) सर्वाणि ॥

दिवस्त्वा पातु हरितं मध्यात् त्वा पात्वर्जुनम् ।
भूम्या अयुस्मयं पातु प्रागाद् देवपुरा अयम् ॥ ९ ॥

दिवः । त्वा । पातु । हरितम् । मध्यात् । त्वा । पातु । अर्जुनम् । भूम्याः । अयस्मयम् । पातु । प्र । अगात् । देव-पुराः । अयम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(हरितम्) दरिद्रता हरने वाला पुरुषार्थ (त्वा) तुझको (दिवः) सूर्य से (पातु) बचावे और (अर्जुनम्) अर्थ संग्रह (मध्यात्) मध्यलोक से (त्वा) तुझे (पातु) बचावे । (अयस्मयम्) प्राप्तियोग्य कर्म (भूम्याः) भूमि से (पातु) बचावे । (अयम्) यह पुरुष (देवपुराः) विद्वानों की अग्रगतियों को (प्र) अच्छे प्रकार (अगात्) पहुंचा है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम पुरुषार्थ, प्रबन्ध और कर्म करते हैं वे आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक विपत्तियों से बचकर विद्वानों के योग्य सुख भोगते हैं ॥ ९ ॥

इमास्तिस्रो देवपुरास्तास्त्वा रक्षन्तु सर्वतः ।
तास्त्वं बिभ्रद् वर्चस्व्युत्तरो द्विषतां भव ॥ १० ॥

इमाः । तिस्रः । देव-पुराः । ताः । त्वा । रक्षन्तु । सर्वतः । ताः । त्वम् । बिभ्रत् । वर्चस्वी । उत्तरः । द्विषताम् । भव ॥१०

भाषार्थ—(इमाः) यह समीपस्थ और (ताः) वे दूरस्थ (तिस्रः) तीनों (देवपुराः) विद्वानों की अग्र गतियां (त्वा) तुझे (सर्वतः) सब ओर

९—(दिवः) सूर्यात् (त्वा) यजमानम् (पातु) रक्षतु (हरितम्) म० १ । दारिद्र्यहारकः पुरुषार्थः (मध्यात्) मध्यलोकात् (त्वा) (पातु) (अर्जुनम्) म० ५ । अर्थसंग्रहः (भूम्याः) पृथिव्याः सकाशात् (अयस्मयम्) अयस् , म० १ । स्वार्थे मयट् । प्राप्यं कर्म (पातु) (प्र) प्रकर्षेण (अगात्) अगमत् (देवपुराः) पुर अग्रगमने-क्विप् । ऋक्पूरब्धू० । पा० ५ । ४ । ७४ । इति देव+पुर्—अप्रत्ययः, टाप् । विदुषाम् अग्रगतीः (अयम्) पुरुषार्थी जनः ॥

१०—(इमाः) समीपस्थाः (तिस्रः) (देवपुराः) म० ९ । विदुषामग्र-

से (रक्षन्तु) बचावें। (ताः) उनको (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (त्वम्) तू (वर्चस्वी) तेजस्वी और (द्विषताम्) वैरियों में (उत्तरः) उच्च पदवाला (भव) हो ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य समीप और दूर से पुरुषार्थ आदि [म० १] द्वारा अन्न आदि तीनों पदार्था को [म०३] धारण करता हुआ दरिद्रता आदि शत्रुओं को दबा कर तेजस्वी हो ॥ १० ॥

पुरं देवानाममृतं हिरण्यं य आवेधे प्रथमो देवो अग्रे।
तस्मै नमो दश प्राचीः कृणोम्यनु मन्यतां त्रिवृदावधे मे ॥११

पुरम्। देवानाम्। अमृतम्। हिरण्यम्। यः। आ-वेधे। प्रथमः। देवः। अग्रे। तस्मै। नमः। दश। प्राचीः। कृणोमि। अनु। मन्यताम्। त्रि-वृत्। आ-वधे। मे ॥ ११

भाषार्थ—(यः) जिस (प्रथमः) प्रख्यात (देवः) प्रकाशमय परमेश्वर ने (अग्रे) पहिले काल में (देवानाम्) विद्वानों के (पुरम्) आगे चलने वाले (अमृतम्) अमर (हिरण्यम्) कमनीय तेज को (आवेधे) सब ओर से बांधा था। (तस्मै) उस परमेश्वर को (दश) दस (प्राचीः) फैली हुयी दिशाओं में (नमः) नमस्कार (कृणोमि) मैं करता हूं। (त्रिवृत्) त्रिवृति

गतयः (ताः) दूरस्थाः (त्वा) पुरुपार्थिनम् (रक्षन्तु) (सर्वतः) (ताः) (त्वम्) (बिभ्रत्) धारयन् (वर्चस्वी) तेजस्वी (उत्तरः) उच्चतरः (द्विषताम्) शत्रूणां मध्ये (भव) ॥

११—(पुरम्) पुर अग्रगतौ—क। अग्रगम् (देवानाम्) विदुपाम् (अमृतम्) अमरम् (हिरण्यम्) कमनीयं तेजः (यः) (आवेधे) वध बन्धने लिट्। अहं समन्ताद् बबन्ध (प्रथमः) प्रख्यातः (देवः) प्रकाशमयः परमेश्वरः (अग्रे) पूर्वकाले (तस्मै) सर्वेश्वराय (नमः) सत्कारः (दश) (प्राचीः) अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। विस्तीर्णा दिशाः (कृणोमि) करोमि (अनुमन्यताम्)

[म० १,२] (अनु मन्यताम्) अनुकूल होवे [जिसे] (मे) अपने लिये (आवधे) मैं बांधता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो अनादि, तेजोमय परमात्मा विद्वानों का मुक्तिदाता है, उसी को मनुष्य सब स्थान में साक्षात् करके (त्रिवृत् म० १, २) पुरुषार्थ आदि तीनों गुणों द्वारा आनन्द भोगे ॥ १ ॥

आ त्वा॑ चृतत्वर्य॒मा पू॒षा बृह॒स्पतिः॑ । अ॒हर्जा॑तस्य॒ यन्नाम॒ तेन॒ त्वाति॑ चृतामसि ॥ १२ ॥

आ । त्वा॒ । चृ॒तत॒ । अ॒र्य॒मा । आ । पू॒षा । आ । बृह॒स्पतिः॑ । अहः॑-जातस्य । यत् । नाम॑ । तेन॑ । त्वा॒ । अति॑ । चृ॒ता॒म॒सि॒ १२

भाषार्थ—(अर्यमा) अरि अर्थात् हिंसकों का नियामक (आ) और (पूषा) पोषण करने वाला (आ) और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक पुरुष (त्वा) तुझ [परमेश्वर] को (आ) अच्छे प्रकार (चृततु) बांधे। [हृदय में रक्खे] (अहर्जातस्य) प्रति दिन उत्पन्न होने वाले [प्राणी] का (यत् नाम) जो नाम है, (तेन) उस [नाम से (त्वा) तुझ को (अति) अत्यन्त करके (चृतामसि=०—मः) हम बांधते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विद्वान् मनुष्य परमेश्वर का चिन्तन करते हैं, उसी प्रकार सब प्राणी परमात्मा का ध्यान करें ॥ १२ ॥

ऋ॒तुभि॑ष्ट्वार्त॒वैरायु॑षे॒ वर्च॑से त्वा । सं॒व॒त्स॒रस्य॒ तेज॑सा

अनुमतमनुकूलं भवतु (त्रिवृत्) म० २ । त्रिवृत्तिः (आवधे) वध बन्धने—लट् सम्यग्बध्नामि (मे) मह्यम् । आत्मने ॥

१२—(आ) समुच्चये । सम्यक् (त्वा) देवं परमेश्वरम्—म०११। (चृततु) चृती हिंसाग्रन्थनयोः । बध्नातु । हृदये धरतु (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अरीणां हिंसक । नां नियमाकः (पूषा) अ० १ । ६ । १ । पोषकः (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहतां वेदादिशास्त्राणां पालकः पुरुषः (अहर्जातस्य) अ० ३ ।१४ । १ । अहन्यहनि जातस्योत्पन्नस्य प्राणिनः (यत्) (नाम) संज्ञा (तेन) नाम्ना (त्वा) हिरण्यम् (अति) अत्यर्थम् (चृतामसि) चृतामः । बध्नीमः, धरामः ॥

तेन॒ संह॑नु कृण्मसि ॥ १३ ॥

ऋ॒तु-भिः॑ । त्वा॒ । आ॒र्त॒वैः । आयु॑षे । वर्च॑से । त्वा॒ । स॒म्-व॒त्स॒रस्य॑ । तेज॑सा । तेन॑ । सम्-ह॑नु । कृ॒ण्म॒सि॒ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(ऋतुभिः) ऋतुओं से (त्वा) तुझ परमेश्वर को, (आर्तवैः) ऋतुओं के विभागों से (त्वा) तुझ को और (संवत्सरस्य) सब के निवास देने वाले सूर्य के (तेन) उस (तेजसा) तेज से (आयुषे) अपने जीवन के लिये और (वर्चसे) तेज के लिये (संहनु) संयुक्त (कृण्मसि) हम करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ऋतु, मास आदि काल और सूर्य आदि रचनाओं के विचार से परमेश्वर की महिमा साक्षात् करते हैं ॥ १३ ॥

घृ॒तादुल्लु॑प्तं॒ मधु॑ना॒ सम॑क्तं भूमिदृं॒हमच्यु॑तं पारयि॒ष्णु ।
भि॒न्दत् स॒पत्ना॒नध॑रांश्च कृ॒ण्वदा मा॑ रोह मह॒ते सौभ॑गाय १४

घृ॒तात् । उ॒त्-लु॑प्तम् । मधु॑ना । सम्-अ॑क्तम् । भू॒मि॒-दृं॒हम् । अच्यु॑तम् । पा॒र॒यि॒ष्णु । भि॒न्दत् । स॒-पत्ना॑न् । अध॑रान् । च॒ । कृ॒ण्वत् । आ । मा॒ । रो॒ह॒ । म॒ह॒ते । सौभ॑गाय ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(घृतात) प्रकाश से (उल्लुप्तम्) ऊपर खींचा गया, (मधुना) ज्ञान से (समक्तम्) अच्छे प्रकार प्रगट किया गया, (भूमिदृंहम्) भूमि को दृढ़ करने वाला, (अच्युतम्) अटल, (पारयिष्णु) पार करने वाला,

१३—(ऋतुभिः) वसन्तादिकालविशेषैः (त्वा) ब्रह्म । परमेश्वरम् (आर्तवैः) ऋतुविभागैः (आयुषे) जीवनवर्धनाय (वर्चसे) तेजः प्राप्तये (त्वा) (संवत्सरस्य) अ० १ । ३५ । ४ । सम्यग्निवासकस्य सूर्यस्य (तेजसा) प्रकाशेन (तेन) प्रसिद्धेन (संहनु) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति हन हिंसागत्योः—उ । संगतम् । संयुक्तम् (कृण्मसि) कुर्मः ॥

१४—(घृतात्) प्रकाशात् (उल्लुप्तम्) उद्धृतम् (मधुना) ज्ञानेन (समक्तम्) अञ्जू व्यक्तौ—क्त । सम्यग्—व्यक्तीकृतम् (भूमिदृंहम्) भूमि+दृहि वृद्धौ—अच् । भूमिदृढकरम् (अच्युतम्) च्युङ् गतौ—क्त । अचलम् (पारयिष्णु)

[ब्रह्म] (सपत्नान्) वैरियों को (भिन्दत्) छिन्न भिन्न करता हुआ (च) और (अधरान्) नीचा (कृण्वत्) करता हुआ तू [ब्रह्म] (मा) मुझको (महते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य के लिये (आ रोह) ऊंचा कर ॥१४॥

भावार्थ—मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा की महिमा जानकर अपने विघ्नों का नाश करके सौभाग्य प्राप्त करें ॥ १४ ॥

सूक्तम् ॥ २८ ॥

१-१५ ॥ अग्निर्देवता ॥ १-११ त्रिष्टुप्; १२-१५ अनुष्टुप् ॥

शत्रूणां रोगाणांच नाशोपदेशः=शत्रुओं और रोगों के नाश का उपदेश ॥

पुरस्ताद् युक्तो वह जातवेदोऽग्ने विद्धि क्रियमाणं य-थेदम्। त्वं भिषग् भेषजस्यासि कर्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम ॥ १ ॥

पुरस्तात्। युक्तः। वह। जात-वेदः। अग्ने। विद्धि। क्रि-यमाणम्। यथा। इदम्। त्वम्। भिषक्। भेषजस्य। असि। कर्ता। त्वया। गाम्। अश्वम्। पुरुषम्। सनेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (युक्तः) योग्य हो कर तू (पुरस्तात्) हमारे आगे (वह) प्राप्त हो, (यथा) जिस से (इदम्) इस (क्रियमाणम्) किये जाते हुये कर्म को (विद्धि) तू जान ले। (त्वम्) तू (भिषक्) वैद्य (भेषजस्य) औषध का (कर्ता) करने

रोगच्छन्दसि। पा० ३।२।१२७। इति पार कर्मसमाप्तौ-इष्णुच्। पारकं ब्रह्म (भिन्दन्) विदारयत् (सपत्नान्) शत्रून् (अधरान्) नीचान् (च) (कृण्वत्) कुर्वत् (मा) माम् (आ रोह) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च, अन्तर्गतण्यर्थः। आरूढं कुरु (महते) विशालाय (सौभगाय) अ० १।१८। २। सुभगत्वाय। शोभनैश्वर्याय ॥

१—(पुरस्तात्) अग्रतः (युक्तः) योग्यः। उद्युक्तः (वह) प्राप्नुहि। गच्छ (जातवेदः) हे प्रसिद्धविद्य (अग्ने) विद्वन् (विद्धि) जानीहि (क्रियमाणम्) अनुष्ठीयमानं कर्म (यथा) येन प्रकारेण (इदम्) (त्वम्) (भिषक्)

वाला (असि) है। (त्वया) तेरे साथ (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़ा (पुरुषम्) पुरुष को (सनेम) हम सेवन करें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा आदि प्रधान प्रबन्ध करें कि सब मनुष्य गौओं, घोड़ों और पुरुषों से यथावत् उपकार लेवें ॥ १ ॥

तथा तद॑ग्ने कृणु जातवेदो विश्वे॑भिर्दे॒वैः स॒ह सं॑विदा॒नः। यो नो॑ दि॒देव॑ यत॒मो ज॒घास॒ यथा॒ सो अ॒स्य प॑रि॒धिष्पता॑ति ॥ २ ॥

तथा। तत्। अ॒ग्ने॒। कृ॒णु॒। जा॒त॒-वे॒दः॒। विश्वे॑भिः। दे॒वैः। स॒ह। स॒म्। वि॒दा॒नः। यः। नः॒। दि॒देव॑। य॒त॒मः। ज॒घास॑। यथा॑। सः। अ॒स्य। प॒रि॒-धिः। पता॑ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तत्) सो (जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (विश्वेभिः) सब (देवैः सह) उत्तम गुणों के साथ (संविदानः) मिलता हुआ तू (तथा) वैसा (कृणु) कर। (यथा) जिस से (अस्य) उस [शत्रु] का (सः परिधिः) वह परकोटा (पताति) गिरपड़े, (यः) जिस [शत्रु] ने (नः) हमें (दिदेव) सताया है, अथवा (यतमः) जिस किसी ने (जघास) खाया है ॥२॥

भावार्थ—प्रजा के सताने वाले शत्रुओं को राजा यथावत् दण्ड देवे ॥२॥

अ० २। ६। ३। चिकित्सकः (भेषजस्य) औषधस्य (असि) (कर्ता) अनुष्ठाता (त्वया) (गाम्) गोजातिम् (अश्वम्) अश्वजातिम् (पुरुषम्) पुरुषसमूहम (सनेम) षण सम्भक्तौ। सम्भजेम ॥

२—(तथा) तेन प्रकारेण (तत) तस्मात् (अग्ने) विद्वन् (कृणु) कुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धविद्य (विश्वेभिः) सर्वैः (देवैः) उत्तमगुणैः (सह) सहितः (संविदानः) संगच्छमानः (यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (दिदेव) दिवु मर्दने—लिट्, चुरादिः। ममर्द (यतमः) यः कश्चित् (जघास) भक्षितवान् (यथा) येन प्रकारेण (सः) प्रसिद्धः (अस्य) शत्रोः (परिधिः) अ० ४। ६। १। प्राकारः (पताति) लेटि रूपम्। अधो गच्छेत् ॥

यथा सो अस्य परिधिष्पताति तथा तदग्ने कृणु जातवेदः । विश्वेभिर्देवैः सह संविदानः ॥ ३ ॥

यथा । सः । अस्य । परि-धिः । पताति । तथा । तत् । अग्ने । कृणु । जात-वेदः । विश्वेभिः । देवैः । सह । सम्-विदानः ॥३

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अस्य) उस [शत्रु] का (सः परिधिः) वह परकोटा (पताति) गिर पड़े, (तत्) सो (जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (विश्वेभिः) सब (देवैःसह) उत्तम गुणों के साथ (संविदानः) मिलता हुआ तू (तथा) वैसा (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा शत्रु से प्रजा की रक्षा करने का उपाय सदा करता रहे ॥ ३ ॥

अक्ष्यौ ३ नि विध्य हृदयं नि विध्य जिह्वां नि तृन्द्धि प्र दतो मृणीहि । पिशाचो अस्य यतमो जघासाग्ने यविष्ठ प्रति तं शृणीहि ॥ ४ ॥

अक्ष्यौ । नि । विध्य । हृदयम् । नि । विध्य । जिह्वाम् । नि । तृन्द्धि । प्र । दतः । मृणीहि । पिशाचः । अस्य । यतमः । जघास । अग्ने । यविष्ठ । प्रति । तम् । मृणीहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अक्ष्यौ) उसकी दोनों आंखें (नि विध्य) छेद डाल, (हृदयम्) हृदय (नि विध्य) छेद डाल, (जिह्वाम्) जीभ (नि तृन्द्धि) काट डाल, और (दतः) दांतों को (प्र मृणीहि) तोड़ दे । (यतमः) जिस किसी

३—गतम् । म० २ ॥

४—(अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (नि) नितराम् (विध्य) छिन्धि (हृदयम्) (जिह्वाम्) रसनाम् (नि) (तृन्द्धि) उतृदिर् हिंसानादरयोः । भिन्धि (प्र) प्रकर्षेण (दतः) दन्तान् (मृणीहि) मृ हिंसायाम् । नाशय (पिशाचः) अ० १ । १६ । ३ । मांसभक्षकः (अस्य) पुरुषस्य (यतमः) यः कश्चित् (जघास) भक्षणं कृतवान् (अग्ने) विद्वन् (यविष्ठ) युवन्-इष्ठन् ।

(पिशाचः) मांस खाने वाले पिशाच ने (अस्य) इसका (जत्रास) भक्षण किया है, (यविष्ठ) हे महाबलवान् (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (तम्) उसको (प्रति) प्रत्यक्ष (शृणीहि) टुकड़े टुकड़े करदे ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा हिंसक प्राणियों का यथावत् नाश करता रहे ॥ ४ ॥

यदस्य हृतं विहृतं यत्पराभृतमात्मनो जग्धं यतमत् पिशाचैः। तदग्ने विद्वान् पुनरा भर त्वं शरीरे मांसमसुमेरयामः ॥ ५ ॥

यत्। अस्य। हृतम्। वि-हृतम्। यत्। परा-भृतम्। आत्मनः। जग्धम्। यतमत्। पिशाचैः। तत्। अग्ने। विद्वान्। पुनः। आ। भर। त्वम्। शरीरे। मांसम्। असुम्। आ। ईरयामः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पिशाचैः) पिशाचों करके (अस्य) इसके (आत्मनः) शरीर से (यत्) जो (हृतम्) हरा गया, (विहृतम) लूटा गया, (यत्) जो (पराभृतम्) हटाया गया, और (यतमत्) जो कुछ (जग्धम्) खाया गया है। (अग्ने) हे तेजस्वी पुरुष ! (विद्वान्) विद्वान् (त्वम्) तू (तत्) उसको (पुनः) फिर (आ भर) लाकर भर दे, (शरीरे) इसके शरीर में (मांसम्) मांस और (असुम्) प्राण को (आ ईरयामः) हम स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा और वैद्य गण दुःखी प्रजागणों को यथावत् सुख पहुंचावें ॥ ५ ॥

स्थूलदूरयुवह्रस्व० । पा० ६ । ४ । १५६ । इति वन्लोपः, उकारस्य गुणश्च । हे अतिशयेन तरुण, बलवन् (प्रति) प्रत्यक्षम् (तम्) शत्रुम् (शृणीहि) शॄ हिंसायाम् । नाशय ॥

५—(यत्) वस्तु (अस्य) पुरुषस्य (हृतम्) गृहीतम् (विहृतम्) अपहृतम् (यत्) (पराभृतम्) दूरे हृतम् (आत्मनः) शरीरात् (जग्धम्) भुक्तम् (यतमत्) यत्किञ्चित् (पिशाचैः) मांसभक्षकैः (तत्) नष्टम् (अग्ने) तेजस्विन् (विद्वान् (पण्डितः (पुनः) (आ भर) आ हर । आनय (त्वम्) (शरीरे) देहे (असुम्) प्राणम् (आ) सम्यक् (ईरयामः) प्रापयामः ॥

आमे सुपक्वे शबले विपक्वे यो मा पिशाचो अशने दुदम्भ । तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ६ ॥

आमे । सु-पक्वे । शबले । वि-पक्वे । यः । मा । पिशाचः । अशने । दुदम्भ । तत् । आत्मना । प्र-जया । पिशाचाः । वि । यातयन्ताम् । अगदः । अयम् । अस्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (पिशाचः) पिशाच समूह ने (आमे) कच्चे, (सुपक्वे) अच्छे पक्के, (शबले) चितकबरे अथवा (विपक्वे) विविध प्रकार पके हुये (अशने) भोजन में (मा) मुझे (ददम्भ) धोखा दिया है। (तत्) उससे (पिशाचाः) वे मांस भक्षक (आत्मना) अपने जीव और (प्रजया) प्रजा के साथ (वि) विविध प्रकार (यातयन्ताम्) पीड़ा पावें, और (अयम्) यह पुरुष (अगदः) नीरोग (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—भोजन आदि में कुवस्तु मिलाने वाले दुष्टों को दंड देकर प्रजा को स्वस्थ रखना चाहिये ॥ ६ ॥

क्षीरे मा मन्थे यतमो दुदम्भाकृष्टपच्ये अशने धान्ये३ऽयः । तदा० ॥ ७ ॥

क्षीरे । मा । मन्थे । यतमः । दुदम्भ । अकृष्ट-पच्ये । अशने । धान्ये । यः ॥ ० ॥ ७ ॥

६—(आमे) अपक्वे (सुपक्वे) यथाविधि कृतपाके (शबले) शपेर्वश्च । उ० १ । १०५ । इति शप आक्रोशे—कल, पस्य बः । कर्बुरे (विपक्वे) विविधं पक्वे (यः) (मा) माम् (पिशाचः) मांसभक्षकः (अशने) भोजने (ददम्भ) वञ्चितवान् (तत्) तस्मात् (आत्मना) स्वजीवेन (प्रजया) पुत्रपौत्रादिना सह (पिशाचाः) मांसभक्षकाः (वि) विविधम् (यातयन्ताम्) यत ताडने, चुरादिः । यातनां तीव्रपीडां प्राप्नुवन्तु (अगदः) नीरोगः (अयम्) पुरुषः (अस्तु) भवतु ॥

भाषार्थ—(यतमः) जिस किसी ने (क्षीरे) दूध में, अथवा (मन्थे) मट्ठे में, अथवा (यः) जिसने (अकृष्टपच्ये) विना जुते खेत से उत्पन्न (अशने) भोजन में, अथवा (धान्ये) यव आदि धान्य में (मा) मुझे (ददम्भ) धोखा दिया है। (तत्) उससे ... ...म० ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ देखो ॥ ७ ॥

अपां मा पाने यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्। तद्वा ० ॥ ८ ॥

अपाम्। मा। पाने। यतमः। ददम्भ। क्रव्य-अत्। यातूनाम्। शयने। शयानम् ॥ ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यतमः) जिस किसी (क्रव्यात्) मांसभक्षक ने (अपाम्) जल के (पाने) पान करने में (यातूनाम्) यात्रियों के (शयने) शयन स्थान में (शयानम्) सोते हुये (मा) मुझ को (ददम्भ) ठगा है। (तत्) उससे······ म० ६ ॥ ८ ॥

दिवा मा नक्तं यतमो ददम्भ क्रव्याद् यातूनां शयने शयानम्। तदात्मना प्रजया पिशाचा वि यातयन्तामगदो३ऽयमस्तु ॥ ९ ॥

दिवा। मा। नक्तम्। यतमः। ददम्भ। क्रव्य-अत्। यातूनाम्। शयने। शयानम्। तत्। आत्मना। प्र-जया। पिशा-

७—(क्षीरे) दुग्धे (मा) माम् (मन्थे) पेयभेदे। तक्रे (यतमः) यः कश्चित् (ददम्भ) वञ्चितवान् (अकृष्टपच्ये) राजसूयसूर्य०। पा०३।१।११४। इति अकृष्ट+पच पाके—क्यप्। कृष्यादिकं विना स्वयं पक्वे नीवारादौ (अशने) भोजने (धान्ये) अ०३।२६।३। यवाद्यन्ये ॥

८—(अपाम्) जलानाम् (मा) माम् (पाने) पानकरणे (यतमः) (ददम्भ) (क्रव्यात्) अ०२। २५।५। मांसभक्षकाः (यातूनाम्) कमिमनिजनि०। उ०१।७३। इति या प्रापणे—तु। गन्तॄणाम्। पथिकानाम् (शयने) शय्यास्थाने (शयानम्) स्वपन्तम् ॥

चाः । वि । यातयन्ताम् । अगदः । अयम् । अस्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यतमः) जिस किसी (क्रव्यात्) मांसभक्षक ने (दिवा) दिन में वा (नक्तम्) रात में (यातूनाम्) यात्रियों के (शयने) शयन स्थान में (शयानम्) सोते हुये (मा) मुझ को (ददम्भ) ठगा है। (तत्) उससे (पिशाचाः) वे मांसभक्षक (आत्मना) अपने जीव और (प्रजया) प्रजा के साथ (वि) विविध प्रकार (यातयन्ताम्) पीड़ा पावें, और (अयम्) यह पुरुष (अगदः) नीरोग (अस्तु) होवे ॥ ९ ॥

भावार्थ—म० ६ देखो ॥

क्रव्याद॑मग्ने रुधि॒रं पि॑शा॒चं म॑नो॒हनं॑ जहि जातवेदः । तमिन्द्रो॑ वा॒जी वज्रे॑ण हन्तु छि॒नत्तु॒ सोमः॒ शिरो॑ अस्य धृ॒ष्णुः ॥ १० ॥

क्र॒व्य॒ऽअद॑म् । अग्ने॑ । रु॒धि॒रम् । पि॒शा॒चम् । म॒नः॒ऽहन॑म् । ज॒हि॒ । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । तम् । इन्द्रः॑ । वा॒जी । वज्रे॑ण । ह॒न्तु॒ । छि॒नत्तु॑ । सोमः॑ । शिरः॑ । अ॒स्य॒ । धृ॒ष्णुः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध (अग्ने) विद्वान् पुरुष! (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले, (रुधिरम्) रोकने वाले और (मनोहनम्) मन बिगाड़ देने वाले (पिशाचम्) राक्षस को (जहि) मार डाल। (तम्) उसको (वाजी) पराक्रमी (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले आप (वज्रेण) वज्र से (हन्तु) मारें, और (धृष्णुः) निर्भय (सोमः) प्रतापी आप (अस्य) इसका (शिरः) शिर (छिनत्तु) काटें ॥ १० ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ राजा पराक्रम करके शत्रुओं को मारकर प्रजा को पाले ॥ १० ॥

९—(दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ। अन्यद् यथा म० ८, ६ ॥

१०—(क्रव्यादम्) मांसभक्षकम् (अग्ने) विद्वन् (रुधिरम्) इषिमदिमुदि०। उ० १। ५१। इति रुधिर् आवरणे-किरच्। निरोधकम् (पिशाचम्) म० ६। राक्षसम् (मनोहनम्) चित्तहर्षहन्तारम् (जहि) नाशय (जातवेदः) हे प्रसिद्धविद्य! (तम्) पिशाचम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् भवान् (वाजी) पराक्रमी (वज्रेण) शस्त्रेण (हन्तु) मारयतु (छिनत्तु) भिनत्तु (सोमः) प्रतापी भवान् (शिरः) मस्तकम् (अस्य) पिशाचस्य (धृष्णुः) आ० १। १३। ४। निर्भयः ॥

सुनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृत॑नासु जिग्युः । सहमूरानु॑ दह क्रव्यादो मा ते॑ हेत्या मु॑क्षत दैव्यायाः ॥ ११ ॥

सुनात् । अग्ने । मृणसि । यातु-धानान् । न । त्वा । रक्षांसि । पृत॑नासु । जिग्युः । सह-मू॑रान् । अनु॑ । दह । क्रव्य-अदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत । दैव्यायाः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् [वा भौतिक अग्नि] तू (यातुधानान्) पीड़ा देने हारे [प्राणियों वा रोगों] को (सनात्) नित्य (मृणसि) नष्ट करता है, (रक्षांसि) उन राक्षसों ने (त्वा) तुझे (पृतनासु) संग्रामों में (न) नहीं (जिग्युः) जीता है । (सहमूरान्) समूल (क्रव्यादः) उन मांस भक्षकों को (अनु दह) भस्म करदे । (ते) तेरे (दैव्यायाः) दिव्य गुण वाले (हेत्याः) वज्र से (मा मुक्षत) वे न छूटें ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यापूर्वक शारीरिक अग्नि अर्थात् बल को स्थिर रख कर अपने वैरियों और रोगों को उनके कारणों सहित नाश करे ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋ० १० । ८७ । १९ और सामवेद पू० १ । ८ । ८ । में है ॥

समाहर जातवेदो यद्धृतं यत् पराभृतम् । गात्राण्यस्य वर्धन्तामंशुरिवा प्यायतामयम् ॥ १२ ॥

सम्-आह॑र । जात-वेदः । यत् । हृतम् । यत् । परा-भृतम् ।

११—(सनात्) चिरम्—निरु० १२ । ३६ । नित्यम्—(अग्ने) विद्वन् भौतिक वा (मृणसि) नाशयसि (यातुधानान्) अ० १ । ७ । १ । पीड़ाप्रदान् प्राणिनो रोगान् वा (न) निषेधे (त्वा) त्वामग्निम् (रक्षांसि) राक्षसाः प्राणिनो रोगा वा (पृतनासु) अ० ३ । २१ । ३ । संग्रामेषु (जिग्युः) जि जये लिट् । जयं प्रापुः (सहमूरान्) मूलेन कारणेन सहितान् (अनु) अनुक्रमेण (दह) भस्मीकुरु (क्रव्यादः) मांसभक्षकान् (मा मुक्षत) मुच्लृ मोक्षणे-लुङ्, अडभावो माङि । मुक्ता मा भूवन् । न मुक्ता भवन्तु ॥

गात्रा॑णि । अ॒स्य॒ । व॒र्ध॒न्ता॒म् । अं॒शुः-इ॑व । आ । प्या॒य॒ता॒म् । अ॒यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध ! उसे ! (समाहर) भर दे (यत्) जो कुछ (हृतम्) हर लिया गया, अथवा (यत्) जो कुछ (पराभृतम्) हटाया गया है। (अस्य) इस [मनुष्य] के (गात्राणि) सब अंग (वर्धन्ताम्) बढ़ें। (अयम्) यह पुरुष (अंशुः इव) वृक्ष के अंकुर के समान (आ प्यायताम्) बढ़ता रहे ॥ १२ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य रोगों को हटाकर प्राणियों को स्वस्थ रक्खें ॥ १२ ॥

सोम॑स्येव जातवेदो अं॒शुरा प्या॑यताम॒यम् । अग्ने॑ विर॒प्शिनं॒ मेध्य॑मय॒क्ष्मं कृ॑णु जीव॑तु ॥ १३ ॥

सोम॑स्य-इव । जा॒त॒-वे॒दः॒ । अं॒शुः । आ । प्या॒य॒ता॒म् । अ॒यम् । अग्ने॑ । वि-र॒प्शिन॑म् । मेध्य॑म् । अ॒य॒क्ष्मम् । कृ॒णु॒ । जीव॑तु ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध ! (अयम्) यह पुरुष (सोमस्य अंशुः इव) चन्द्रमा की किरण अथवा सोमलता के अंकुर के समान (आ प्यायताम्) बढ़ता रहे। (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! तू (विरप्शिनम्) विविध प्रकार से कथने योग्य महागुणी पुरुष [को (अयक्ष्मम्) नीरोग और

१२—(समाहर) सम्यगानय पूरय (जातवेदः) प्रसिद्धविद्य (यत्) (हृतम्) गृहीतम् (यत्) (पराभृतम्) दूरे हृतम् (गात्राणि) अ० १। १२। ४। गम्लृ—त्रन्, मस्य आकारः। अङ्गानि (अस्य) पुरुषस्य (वर्धन्ताम्) प्रवृद्धानि भवन्तु (अंशुः) मृगय्वादयश्च। उ० १। ३७। इति अंश विभाजने—कु। वृक्षसूक्ष्माङ्कुरः (इव) यथा (आ) समन्तात् (प्यायताम्) प्रवृद्धो भवतु (अयम्) ॥

१३—(सोमस्य) चन्द्रस्य सोमवृक्षस्य वा (इव) यथा (अंशुः) (म० १२। किरणो अङ्कुरो वा (आ) सम्यक् (प्यायताम्) वर्धताम् (अयम्) पुरुषः (अग्ने) विद्वन् (विरप्शिनम्) वि+रप व्यक्तायां वाचि—शक्। विविधं रपणं विरप्शः। तदस्यास्ति, इनि। विरप्शी, महन्नाम—निघ० ३। ३। महागुणविशिष्टम् (मेध्यम्) उगवादिभ्यो यत्। पा० ५। १। २। इति मेधा—

(मेध्यम्) बुद्धि के लिये हितकारी (कृणु) कर, और (जीवतु) वह जीता रहे ॥ १३ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष शारीरिक और आत्मिक रोगों को नाश करके सब को प्रसन्न रक्खे ॥ १३ ॥

एतास्ते॑ अग्ने समिध॑: पिशाचजम्भ॑नीः ।
तास्त्वं जु॑षस्व प्रति चैना गृहाण जातवेदः ॥ १४ ॥

एताः । ते । अग्ने । सम्-इध॑: । पिशाच-जम्भ॑नीः । ताः । त्वम् । जुषस्व । प्रति॑ । च । एनाः । गृहाण । जात-वेद १४

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (ते) तेरे (एताः) यह (समिधः) विद्यादि की प्रकाश क्रियायें (पिशाचजम्भनीः) मांसभक्षक [प्राणियों वा रोगों] की नाश करने वाली हैं । (जातवेदः) हे विद्या में प्रसिद्ध ! (त्वम्) तू (ताः) उन से (जुषस्व) प्रसन्न हो, (च) और (एनाः) इनको (प्रति गृहाण) प्रतीति से अंगीकार कर ॥ १४ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष विद्या द्वारा दुःखदायी प्राणी और रोगों का नाश करे और धर्म कार्य में सदा प्रवृत्त रहे ॥ १४ ॥

ताष्टा॒घीर॑ग्ने स॒मिधः॒ प्रति॑ गृह्णाह्य॒र्चिषा॑ ।
जहा॑तु क्र॒व्याद्रू॒पं यो अ॑स्य मां॒सं जिही॑र्षति ॥ १५ ॥

ताष्टृ-अघी । अ॒ग्ने॑ । सम्-इधः॑ । प्रति॑ । गृ॒ह्णा॒हि॒ । अ॒र्चि॒षा॑ । जहा॑तु । क्र॒व्य-अत् । रू॒पम् । यः । अ॒स्य॒ । मां॒सम् । जिही॑र्षति ॥ १५ ॥

यत् । मेधायै हितम् । मेधाविनम् (अवदमम्) नीरोगम् (कृणु) कुरु (जीवतु) सप्राणान् धारयतु ॥

१४—(एताः) प्रत्यक्षाः (ते) तव (अग्ने) विद्वन् (समिधः) विद्यादिप्रकाशक्रियाः (पिशाचजम्भनीः) मांसभक्षकानां प्राणिनां रोगाणां वा नाशयित्र्यः (ताः) समिधः (त्वम्) (जुषस्व) प्रीणीहि (प्रति) प्रतीत्य (च) (एनाः) समिधः (गृहाण) स्वीकुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्ध विद्य ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् जन ! (तार्ष्टाघीः) तृष्णाओं की निन्दा करने वाली (समिधः) विद्यादि प्रकाश क्रियाओं को (अर्चिषा) पूजा के साथ (प्रति) निश्चय पूर्वक (गृहाहि) तू अंगीकार कर ! (क्रव्यात्) वह मांस भक्षक [प्राणी वा रोग] (रूपम्) अपने रूप को (जहातु) छोड़ देवे, (यः) जो (अस्य) इस पुरुष का (मांसम्) मांस (जिहीर्षति) हरना चाहता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य लोभादि तृष्णाओं को छोड़कर परीक्षा पूर्वक विद्याओं का प्रचार करके दुष्ट स्वभावों, रोगों और दुराचारों का नाश करें ॥ १५ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१-१७ ॥ आत्मा; देवता ॥ १ पथ्या पङ्क्तिः ; २-११, १३, १५-१७ अनुष्टुप्; १२ त्रिष्टुप् ; १४ बृहती छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा के उन्नति का उपदेश।

आ॒व॒त॑स्त आ॒व॒तः॑ प॒रा॒व॒त॑स्त आ॒व॒तः॑। इ॒हैव भ॑व॒ मा नु गा॒ मा पू॒र्वान॑नु गाः पि॒तॄनसुं॑ बध्नामि ते दृ॒ढम् ॥१॥

आ॒ऽव॒तः॑। ते॒। आ॒ऽव॒तः॑। प॒रा॒ऽव॒तः॑ ते॒। आ॒ऽव॒तः॑। इ॒ह। ए॒व। भ॒व॒। मा। नु। गाः॒। मा। पू॒र्वान्। अनु॑। गाः॒। पि॒तॄन्। असु॑म्। ब॒ध्ना॒मि॒। ते॒। दृ॒ढम् ॥१॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (आवतः) समीप स्थान से, (आवतः) समीप से

१५—(तार्ष्टाघीः) ञितृषा पिपासायाम्-क्त । तृष्टस्य तृषितस्य भावस्तार्ष्टम् । तृष्ट—अण् । तार्ष्ट+अघि गत्याक्षेपयोः-अच्, ङीप् । आक्षेपो निन्दा । तार्ष्टस्य तृष्णाया लोभस्य निन्दिकाः (अग्ने) विद्वन् (समिधः) विद्यादिप्रकाशक्रियाः (प्रति) निश्चयेन (गृहाहि) गृहाण (अर्चिषा) अ० १ । २५ । २ । पूजया (जहातु) नाशयतु (क्रव्यात्) मांसभक्षकः प्राणी दोषो वा (रूपम्) आकारं स्वभावं वा (यः) दुष्टः (अस्य) प्राणिनः (मांसम्) (जिहीर्षति) हर्तुमिच्छति ॥

१—(आवतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गाद् धात्वर्थे वर्त्तमानात् स्वार्थे वतिः । आगतात् समीपात् स्थानात्

(ते) तेरे (परावतः) दूर देश से और (आवतः) अति समीप से [मैं प्रार्थना करता हूं] । (इह एव) यहां ही (भव) रह, (नु) निश्चय करके (मा मा गाः) कभी भी मत जा, (पूर्वान्) पहिले (पितॄन्) पिता आदि लोगों के (अनु) पीछे (गाः = गच्छ) चल । (ते) तेरे (असुम्) प्राण को (दृढम्) दृढ़ (बध्नामि) मैं बांधता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विचार पूर्वक उत्साही पुरुषों में रहकर माननीय माता पिता गुरु आदि का अनुकरण करके बल और कीर्ति बढ़ावें ॥ १ ॥

यत् त्वा॑भिचे॒रुः पुरु॑षः स्वो यदर॑णो जनः॑ ।
उन्मो॒चन॒प्रमो॒चने॒ उभे॒ वाचा॒ वदा॑मि ते ॥ २ ॥

यत् । त्वा॒ । अ॒भि॒-चे॒रुः । पुरु॑षः । स्वः । यत् । अर॑णः । जनः॑ ।
उन्मो॒चन॒प्र॒मोच॒ने इत्यु॑न्मोचन-प्रमोच॒ने । उ॒भे इति॑ । वा॒चा॒ ।
व॒दा॒मि॒ । ते॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) चाहे (स्वः) अपनी ज्ञाति वाले (पुरुषः) पुरुष ने और (यत्) चाहे (अरणः) न बात करने योग्य, अबोध (जनः) जनने (त्वा) तुझसे (अभिचेरुः) दुष्कर्म किया है । (उभे) दोनों (उन्मोचनप्रमोचने) अलग रहना और छुटकारा (ते) तुझको (वाचा) वेद वाणी से (वदामि) मैं बतलाता हूं ॥ २ ॥

(ते) तव (आवतः) समीपात् (परावतः) परा-वति । दूरगतात् स्थानात् (ते) (आवतः) अतिसमीपात् (इह) उत्साहिनां मध्ये (एव) अवधारणे (भव) तिष्ठ । कीर्तिं प्राप्नुहि (नु) निश्चये (मा मा गाः) अ० ५ । १६ । ६ । कदापि मा गच्छ (पूर्वान्) पूर्वजान् (अनु) अनुसृत्य (गाः) लोडर्थे लुङ् । गच्छ (पितॄन्) पितृवत् सत्करणीयान् (असुम्) प्राणम् (बध्नामि) स्थापयामि (ते) तव (दृढम्) दृह वृद्धौ-क्त । प्रगाढम् ॥

२—(यत्) यदा (त्वा) त्वाम् (अभिचेरुः) अभि+चर गतौ भक्षणे च-लिट् । अत एक हल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि । पा० ६ । ४ । १२० । इति एकारः । अभिचरितवन्तः । दुष्कृतवन्तः (पुरुषः) (स्वः) स्वकीयः (यत्) यदि वा (अरणः) अ० १ । १६ । ३ । अ+रण शब्दे-अप् । अरणीयः । असंभाष्यः ।

भावार्थ—मनुष्य दुष्टों के फंदों से अलग रहे, और फंस जाने पर उपाय करके निकल आवे ॥ २ ॥

यद् दुद्रोहिथ शेपिषे स्त्रियै पुंसे अचित्त्या। उन्मो०॥३॥

यत्। दुद्रोहिं। शेपिषे। स्त्रियै। पुंसे। अचित्त्या ॥०॥३॥

भाषार्थ—(यत्) जो (स्त्रियै) स्त्री के लिये वा (पुंसे) पुरुष के लिये (अचित्त्या) अचेतना से (दुद्रोहिथ) तू ने अनिष्ट चीता है वा (शेपिषे) शाप दिया है। (उभे) दोनों ......म०२॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परद्रोह और पर निन्दा से पृथक् रहे और किसी प्रकार से होजाने पर प्रायश्चित्त करे॥ ३ ॥

यदेनसो मातृकृताच्छेषे पितृकृताच्च यत्।
उन्मोचनप्रमोचने उभे वाचा वदामि ते ॥ ४ ॥

यत्। एनसः। मातृ-कृतात्। शेषे। पितृ-कृतात्। च। यत्। उन्मोचनप्रमोचने इत्युन्मोचन-प्रमोचने। उभे इति। वाचा। वदामि। ते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (मातृकृतात्) माता के किये हुये (च) और (यत्) यदि (पितृकृतात्) पिता के किये हुये (एनसः) अपराध से (शेषे) तू सोता है। (उभे) दोनों (उन्मोचनप्रमोचने) अलग रहना और छुटकारा (ते) तुझ को (वाचा) वेद वाणी से (वदामि) मैं बताता हूं ॥ ४ ॥

अयोधः (जनः) (उन्मोचनप्रमोचने) उन्मोचनं पृथक्त्वं प्रमोचनं विमोक्षंच (उभे) द्वे (वाचा) वेदवाण्या (वदामि) कथयामि (ते) तुभ्यम् ॥

३—(यत्) यदि (दुद्रोहिथ) द्रुह-लिट्। अनिष्टं चिन्तितवानसि। (शेपिषे) शपितवानसि (स्त्रियै) (पुंसे) पुरुषाय (अचित्त्या) अचेतनया। अन्यद् गतम् ॥

४—(यत्) यदि (एनसः) अ०२।१०।८। अपराधात् (मातृकृ-

भावार्थ—माता पिता आदि के दोष से जो मनुष्य निरुद्यमी होता हो तो वह उस दोष को त्याग दे ॥ ४ ॥

यत् ते माता यत् ते पिता जामिर्भ्राता च सर्जतः । प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा ॥ ५ ॥

यत् । ते । माता । यत् । ते । पिता । जामिः । भ्राता । च । सर्जतः । प्रत्यक् । सेवस्व । भेषजम् । जरत्-अष्टिम् । कृणोमि । त्वा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [औषध] (ते) तेरे (माता) माता (पिता) पिता (च) और (यत्) जो (ते) तेरे (जामिः) मिलकर भोजन करने वाली बहिन और (भ्राता) पोषक वा पोषणीय भाई (सर्जतः) लाते हैं। (भेषजम्) उस औषध को (प्रत्यक्) प्रत्यक्ष (सेवस्व) सेवन कर, (त्वा) तुझ को (जरदष्टिम्) स्तुत के साथ व्याप्ति वा भोजन वाला (कृणोमि) मैं करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता, बहिन भाइयों से उत्तम शिक्षा पाकर उत्तम जीवन बनावें ॥ ५ ॥

इहैधि पुरुष सर्वेण मनसा सह ।
दूतौ यमस्य मानु गा अधि जीवपुरा इहि ॥ ६ ॥

तात्) मात्रा निष्पादितात् (शेषे) स्वपिषि । आलस्यं करोषि (पितृकृतात्) जनकेन कृतात् । अन्यद् यथा म० २ ॥

५—(यत्) भेषजम् (ते) तव (माता) जननी (यत्) (ते) (पिता) जनकः (जामिः) अ० १ । ४ । १ । संगत्य भोजनशीला । भगिनी (भ्राता) अ० ४ । ४ । ५ । भरणशीलो भरणीयो वा । सहोदरः (च) (सर्जतः) सर्ज अर्जने-लट् । अर्जयतः । प्रापयतः (प्रत्यक्) प्रत्यक्षम् (सेवस्व) संभज (भेषजम्) अ० १ । ४ । ४ । औषधम् (जरदष्टिम्) अ० २ । २८ । ५ । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य तम् । तथाविधम् (कृणोमि) करोमि (त्वा) त्वाम् ॥

इह । एधि । पुरुष । सर्वेण । मनसा । सह । दूतौ । यमस्य । मा । अनु । गाः । अधि । जीव-पुराः । इहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पुरुष) हे पुरुष ! (सर्वेण) संपूर्ण (मनसा सह) मन [साहस] के साथ (इह) यहां पर (एधि) रह । (यमस्य) मृत्यु के (दूतौ अनु) तपाने वाले प्राण और अपान वायु [उलटे श्वास] के पीछे (मा गाः) मत जा । (जीवपुराः) जीवित प्राणियों के नगरों में (अधि इहि) पहुंच ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्साह करके आलस्य आदि मृत्यु के कारणों को छोड़कर जीते हुये अर्थात् पुरुषार्थी शूर वीर महात्माओं में अपना नाम करें ॥६॥

अनुहूतः पुनरेहि विद्वानुदयनं पथः ।
आरोहणमाक्रमणं जीवतोजीवतोऽयनम् ॥ ७ ॥

अनु-हूतः । पुनः । आ । इहि । विद्वान् । उत्-अयनम् । पथः । आ-रोहणम् । आ-क्रमणम् । जीवतः-जीवतः । अयनम् ॥७॥

भाषार्थ—(पथः) मार्ग के (उदयनम्) चढ़ाव को (विद्वान्) जानता हुआ, (अनुहूतः) प्रीति से बुलाया गया तू (पुनः) फिर (आ इहि) आ । (आरोहणम्) चढ़ना और (आक्रमणम्) आगे बढ़ना (जीवतोजीवतः) प्रत्येक जीव का (अयनम्) मार्ग है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य उन्नति के उपायों को जानकर सदा बढ़ता रहे जैसे कि चिउंटी आदि छोटे छोटे जीव भी ऊँचे चढ़ने में लगे रहते हैं ॥ ७ ॥

६—(इह) अत्र पुरुषार्थिसमाजे (एधि) भव (पुरुष) अ०१ । १६ । ४ । हे पौरुषयुक्त (सर्वेण) समस्तेन (मनसा) मनोबलेन (सह) सहितः (दूतौ) अ० १ । ७ । ६ । संतापकौ प्राणापानौ (यमस्य) मृत्युकालस्य (मा गाः) म०१ । मा गच्छ (अनु) अनुसृत्य (अधि इहि) प्राप्नुहि (जीवपुराः) अ० २ । ६ । ३ । जीवितानां नगरीः ॥

७—(अनुहूतः) पुरुषार्थित्वात् प्रीत्या हूतः (पुनः) उत्साहं कृत्वा-इत्यर्थः (आ इहि) आगच्छ (विद्वान्) जानन् (उदयनम्) उद्गमनम् (पथः) मार्गस्य (आरोहणम्) ऊर्ध्वगमनम् (आक्रमणम्) अधिगमनम् । अतिक्रमः (जीवतोजीवतः) जीव प्राणधारणे-शतृ । सर्वस्य प्राणिनः (अयनम्) गतिः । मार्गः ॥

मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा ।
निरवोचमहं यक्ष्ममङ्गेभ्यो अङ्गज्वरं तव ॥ ८ ॥

मा । बिभेः । न । मरिष्यसि । जरत्-अष्टिम् । कृणोमि । त्वा । निः । अवोचम् । अहम् । यक्ष्मम् । अङ्गेभ्यः । अङ्ग-ज्वरम् । तव ॥८

भाषार्थ—(मा बिभेः) तू मत डरे, (न मरिष्यसि) तू नहीं मरेगा। (त्वा) तुझे (जरदष्टिम्) स्तुति के साथ व्याप्ति वा भोजन वाला (कृणोमि) मैं करता हूं। (तव) तेरे (अङ्गेभ्यः) अंगों से (अङ्गज्वरम्) अंग अंग में ज्वर करने वाले (यक्ष्मम्) राज रोग वा क्षय रोग को (निः=निःसार्य) निकाल कर (अहम्) मैं ने (अवोचम्) वचन कहा है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निर्भय होकर धर्म करता है, वह मृत्यु अर्थात् अपकीर्ति से बचकर नाम करता है जैसे सद्वैद्य महारोग को निकाल कर यश पाता है ॥ ८ ॥

अङ्गभेदो अङ्गज्वरो यश्च ते हृदयामयः ।
यक्ष्मः श्येन इव प्रापप्तद् वाचा साढः परस्तराम् ॥९॥

अङ्ग-भेदः । अङ्ग-ज्वरः । यः । च । ते । हृदय-आमयः । यक्ष्मः । श्येनः-इव । प्र । अपप्तत् । वाचा । साढः । परः-तराम् ॥९॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (अङ्गभेदः) हड़फूटन, (अङ्गज्वरः) शरीर का ज्वर, (च) और (यः) जो (हृदयामयः) हृदय का रोग है वह और (यक्ष्मः) राज रोग, (वाचा) वेदवाणी से (साढः) हारा हुआ [वह सब रोग]

८—(मा बिभेः) अ० २ । १५ । १ । शङ्कां मा कुरु (न) निषेधे (मरिष्यसि) प्राणान् मोदयसि (जरदष्टिम्) म० ५ । जरता स्तुत्या सह व्याप्तिवन्तं भोजनवन्तं वा (कृणोमि) करोमि (त्वा) पुरुषार्थिनम् (निः) निःसार्य (अवोचम्) उक्तवानस्मि (अहम्) (यक्ष्मम्) अ० २ । १० । ५ । राजरोगम् क्षयम् (अङ्गेभ्यः) अवयवेभ्यः (अङ्गज्वरम्) अङ्गेषु तापकरम् (तव) ॥

९—(अङ्गभेदः) शरीरावयवविदारः (अङ्गज्वरः) सर्वाङ्गतापः (यः) (च) (ते) तव (हृदयामयः) वृहोःषुग्दुकौ च । उ० ४ । १०० । इति हृञ्

(श्येनः इव) श्येन पक्षी के समान (परस्तराम्) बहुत दूर (प्र अपसत्) भाग गया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य महाकठिन रोगों को अच्छा करता है वैसे ही मनुष्य वेद द्वारा आत्मदोष त्यागकर सुखी होवे ॥ ६ ॥

ऋषी बोधप्रतीबोधावस्वप्नो यश्च जागृविः ।
तौ ते प्राणस्य गोप्तारौ दिवा नक्तं च जागृताम् ॥१०॥

ऋषी इति । बोध-प्रतीबोधौ । अस्वप्नः । यः । च । जागृविः ।
तौ । ते । प्राणस्य । गोप्तारौ । दिवा । नक्तम् । च । जागृताम् १०

भाषार्थ—(ऋषी) दो देखने वाले (बोधप्रतीबोधौ) बोध और प्रतिबोध [अर्थात् विवेक और चेतनता] हैं, (यः) जो एक एक (अस्वप्नः) न सोने वाला (च) और (जागृविः) जागने वाला है । (ते) तेरे (प्राणस्य) प्राण के (गोप्तारौ) रक्षा वाले (तौ) वह दोनों (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) रात (जागृताम्) जागते रहें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विवेक और चेतना पूर्वक नित्य सावधान रहकर रक्षा करे ॥ १० ॥

अयमग्निरुपसद्य इह सूर्य उदेतु ते ।
उदेहि मृत्योर्गम्भीरात् कृष्णाच्चित् तमसस्परि ॥११॥

हरणे-कयन्, डुगागमः । इति हृदयम् । वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ६६ । इति अम पीडने चुरा०—कयन् । इति आमयो रोगः । मनोरोगः (यक्ष्मः) राजरोगः (श्येनः) शीघ्रगामी पक्षिविशेषः (इव) यथा (प्र) (अपसत्) पतॢ गतौ लुङि ऌदित्वात् च्लेरङादेशः । पतः पुम् । पा० ७ । ४ । १६ । इति पुमागमः । प्रागमत् (वाचा) वेदवाण्या (साढः) षह-क्त । अभिभूतः (परस्तराम्) दूरतराम् ॥

१०—(ऋषी) अ० २ । ६ । १ । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । दर्शकौ (बोधप्रतीबोधौ) विवेकचेतने (अस्वप्नः) निद्राहीनः (यः) यः प्रत्येकः (च) (जागृविः) जॄ शॄ जागृभ्यः क्विन् । उ० ४ । ५४ । इति जागृ निद्राक्षये-क्विन् । जागरूकः । नृपतिः (तौ) (ते) तव (प्राणस्य) जीवस्य (गोप्तारौ) रक्षकौ (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ (च) (जागृताम्) जागृतौ भवताम् ॥

अयम् । अग्निः । उप-सद्यः । इह । सूर्यः । उत् । एतु । ते । उत्-एहि । मृत्योः । गम्भीरात् । कृष्णात् । चित् । तमसः । परि ११

भाषार्थ—(अयम्) यह (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उपसद्यः) सेवा योग्य है । (इह) इस में (ते) तेरे लिये (सूर्यः) सूर्य (उदेतु) उदय होवे । (गम्भीरात्) गहरे (मृत्योः) मृत्यु से (चित्) और (कृष्णात्) काले (तमसः) अन्धकार से (परि) अलग होकर (उदेहि) तू ऊपर आ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा मानकर और आलस्यरूपी मृत्यु और अज्ञानरूपी अन्धकार मिटा कर उन्नति का सूर्य चमकावे ॥११॥

नमो यमाय नमो अस्तु मृत्यवे नमः पितृभ्य उत ये नयन्ति । उत्पारणस्य यो वेद तमग्निं पुरो दधेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ १२ ॥

नमः । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे । नमः । पितृभ्यः । उत । ये । नयन्ति । उत्-पारणस्य । यः । वेद । तम् । अग्निम् पुरः । दधे । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यमाय) न्यायकारी परमात्मा को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) (नमः) वारंवार नमस्कार (अस्तु) होवे, (उत) और (पितृभ्यः) उन रक्षक महापुरुषों को (नमः) नमस्कार हो (ये) जो [हमें] (नयन्ति) ले चलते हैं । (यः) जो परमेश्वर (उत्पारणस्य)

११—(अयम्) प्रत्यक्षः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (उपसद्यः) सेवनीयः (इह) अत्र । ईश्वरोपासनायाम् (सूर्यः) उन्नतिरूपः सूर्यः (उदेतु) उद्गच्छतु (ते) तुभ्यम् (उदेहि) उदागच्छ (मृत्योः) मरणात् । आलस्यात् (गम्भीरात्) अ० ४ । २६ । ३ । गहनात् (कृष्णात्) कालवर्णात् (चित्) अपि (तमसः) अन्धकारात् । अज्ञानात् (परि) पृथग् भूत्वा ॥

१२—(नमः) (नमः) वारंवारं सत्कारः (यमाय) न्यायकारिणे परमात्मने (अस्तु) (मृत्यवे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इत्यप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी । मृत्युं नाशयितुम् (नमः) (पितृभ्यः) रक्षकेभ्यो महापुरुषेभ्यः (उत) अपि (ये) पितरः (नयन्ति) प्रेरयन्ति

पार लगाना (वेद) जानता है, (तम्) उस (अग्निम्) ज्ञानवान् परमेश्वर को (अस्मै) इस जीव के लिये (अरिष्टतातये) कल्याण करने को (पुरः) आगे (दधे) रखता हूं [पूजता हूं] ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की महिमा जानकर और विद्वान् परोपकारी महात्माओं का आदर करके सुखी रहें ॥

ऐतु॑ प्रा॒ण ऐतु॒ मन॒ ऐतु॒ चक्षु॒रथो॒ बल॑म् ।
शरी॑रमस्य॒ सं वि॑दां॒ तत् प॒द्भ्यां प्रति॑ तिष्ठतु ॥ १३ ॥

आ । ए॒तु॒ । प्रा॒णः । आ । ए॒तु॒ । मनः॑ । आ । ए॒तु॒ । चक्षुः॑ । अथो॒ इति॑ । बल॑म् । शरी॑रम् । अ॒स्य॒ । सम् । वि॒दाम् । तत् । प॒त्ऽभ्याम् । प्रति॑ । ति॒ष्ठ॒तु॒ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण, पुरुषार्थ [इसमें] (आ एतु) आवे, (मनः) मन (आ एतु) आवे, (अथो) और भी (चक्षुः) दृष्टि और (बलम्) बल (आ एतु) आवे । (तत्) उससे (अस्य) इस पुरुष का (शरीरम्) शरीर (विदां प्रति) बुद्धि की ओर (पद्भ्याम्) दोनों पैरों से (सम्) ठीक ठीक (तिष्ठतु) खड़ा होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल प्राप्त करके और चैतन्य रहकर पुरुषार्थ करे ॥ १३ ॥

(उत्पारणस्य) पार कर्मसमासौ-ल्युट् । उत्कर्षेण पारकरणस्य (यः) परमेश्वरः (वेद) वेत्ताऽस्ति (तम्) (अग्निम्) ज्ञानवन्तं परमेश्वरम् (पुरः दधे) अग्रे धरामि । पूजयामि (अस्मै) पुरुषाय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । क्षेमकरणाय ॥

१३—(आ एतु) आगच्छतु (प्राणः) जीवनसामर्थ्यम् (मनः) मनोबलम् (आ एतु) (चक्षुः) दृष्टिः (अथो) अपि च (बलम्) शक्तिः (शरीरम्) देहः (अस्य) पुरुषस्य (सम्) सम्यक् (विदाम्) षिद्भिदादिभ्योऽङ् । पा० ३ । ३ । १०४ । इति विद ज्ञाने-अङ्, टाप् । बुद्धिम् (तत्) ततः पुरुषार्थात् (पद्भ्याम्) (प्रति) व्याप्य (तिष्ठतु) स्थितं समर्थं भवतु ॥

प्राणेनाग्ने चक्षुषा सं सृजेमं समीरय तन्वा३ सं बलेन। वेत्थामृतस्य मा नु गान्मा नु भूमिगृहो भुवत्॥१४

प्राणेन। अग्ने। चक्षुषा। सम्। सृज। इमम्। सम्। ईरय तन्वा। सम्। बलेन। वेत्थ। अमृतस्य। मा। नु। गात्। मा। नु। भूमि-गृहः। भुवत्॥ १४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानमय परमात्मन्! (इमम्) इस पुरुष को (प्राणेन) प्राण [जीवन सामर्थ्य] से और (चक्षुषा) दृष्टि से (सं सृज) संयुक्त कर, और [उसे] (तन्वा) शरीर से और (बलेन) बल से (सम् सम् ईरय) अच्छे प्रकार आगे बढ़ा। तू (अमृतस्य) अमरपन का (वेत्थ) जानने वाला है। वह [पुरुष] (नु) अब (मा गात्) न चला जावे, और (मा नु) न कभी (भूमिगृहः) भूमि में घर वाला [अर्थात् गुप्त निवास वाला] (भुवत्) होवे॥ १४॥

भावार्थ—परमेश्वर से प्रार्थना करता हुआ मनुष्य सब प्रकार पुरुषार्थ करके कीर्तिमान् होवे, और ऐसा काम न करे जिस से समाज में उसे नीचा देखना पड़े॥१४॥

मा ते प्राण उप दसन्मो अपानोऽपि धायि ते।

सूर्यस्त्वाधिपतिर्मृत्योरुदायच्छतु रश्मिभिः॥ १५॥

मा। ते। प्राणः। उप। दसत्। मो इति। अपानः। अपि। धायि। ते। सूर्यः। त्वा। अधि-पतिः। मृत्योः। उत्-आ-यच्छतु। रश्मि-भिः॥१५॥

१४—(प्राणेन) जीवनसामर्थ्येन (अग्ने) ज्ञानमय परमात्मन् (चक्षुषा) दर्शनशक्त्या (सं सृज) संयोजय (इमम्) पुरुषम् (सम् ईरय) सम्यक् प्रेरय (तन्वा) शरीरेण (सम्) (बलेन) (वेत्थ) वेत्सि। ज्ञातासि (अमृतस्य) अमरणस्य। कीर्त्तिमत्त्वस्य (नु) इदानीम् (मा गात्) न गच्छेत् स पुरुषः (मा) न (नु) (भूमिगृहः) भूमौ गुप्तस्थाने गृहं निवासो अपकीर्त्या यस्य सह सः (भुवत्) भवेत्॥

भाषार्थ—(ते) तेरा (प्राणः) प्राण [भीतर जाने वाला श्वास] (मा उप दसत्) नष्ट न होवे, और (ते) तेरा (अपानः) अपान [बाहिर जाने वाला श्वास] (मो अपि धायि) न ढक जावे । (अधिपतिः) प्रभु (सूर्यः) सर्व प्रेरक परमेश्वर (त्वा) तुझको (मृत्योः) मृत्यु से (रश्मिभिः) अपनी व्याप्तियों द्वारा (उदायच्छतु) उठावे ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी शक्तियों को यथावत् काम में लाकर परमेश्वर के आश्रय से आलस्य, दरिद्रता आदि दुःखों को मिटा कर ऊपर उठे ॥ १५ ॥

इ॒यम॒न्तर्व॑दति जि॒ह्वा ब॒द्धा प॑निष्प॒दा ।
त्वया॒ यक्ष्मं॒ निर॑वोचं श॒तं रोपी॑श्च त॒क्मनः॑ ॥ १६ ॥

इ॒यम् । अ॒न्तः । व॒द॒ति॒ । जि॒ह्वा । ब॒द्धा । प॒नि॒ष्प॒दा । त्वया॑ । यक्ष्म॑म् । निः । अ॒वो॒च॒म् । श॒तम् । रोपीः॑ । च॒ । त॒क्मनः॑ ॥१६

भाषार्थ—(अन्तः) [मुख के] भीतर (बद्धा) बंधी हुई, (पनिष्पदा) थरथराकर चलती हुई (इयम्) यह (जिह्वा) जीभ (वदति) बोलती रहती है । (त्वया) तेरे साथ वर्त्तमान (यक्ष्मम्) राजरोग (च) और (तक्मनः) ज्वर की (शतम्) सौ (रोपीः) पीड़ाओं को (निः=निःसार्य) निकाल कर (अवोचम्) मैंने बचन कहा है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार जीभ को मुख में दबाकर वेद मन्त्र आदि पवित्र वचन बोलते हैं, उसी प्रकार मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके अपने सब मलों को धोकर स्वस्थचित्त होवे ॥ १६ ॥

१५—(मा) निषेधे (ते) तव (प्राणः) नासाग्रवर्त्ती पूरको वायुः (उप दसत्) दसु उपक्षये । नश्येत् (मो) निषेधे (अपानः) रेचको वायुः (अपि धायि) अपि धा आच्छादने । आच्छादितो भवतु (ते) (सूर्यः) अ० १ । ३ । ५ । षू प्रेरणे—क्यप्, रुट् च । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (त्वा) (अधिपतिः) प्रभुः (मृत्योः) आलस्यदरिद्रतादिरूपात् मरणात् (उदायच्छतु) यमु उपरमे । उन्नयतु (रश्मिभिः) अ० २ । ३२ । १ । अशू व्याप्तौ—मि, रशादेशः । स्वव्याप्तिभिः ॥

१६—(इयम्) प्रसिद्धा (अन्तः) मुखमध्ये (वदति) उच्चारयति (जिह्वा) रसना (बद्धा) संयता (पनिष्पदा) अप+निः+पदा । अलोपः । अपगत्य निःकृत्य नितरां गतिवती (त्वया) त्वया सह वर्तमानम् (यक्ष्मम्) राजरोगम् (निः) निःसार्य (अवोचम्) उक्तवानस्मि (शतम्) बह्वीः (रोपीः) रुप विमोहने—इन्, ङीप् । विमोहनानि । यातनाः (च) (तक्मनः) ज्वरस्य ॥

अयं लोकः प्रियतमो देवानामपराजितः ।
यस्मै त्वमिह मृत्यवे दिष्टः पुरुष जज्ञिषे ।
स च त्वानु ह्वयामसि मा पुरा जरसो मृथाः ॥ १७ ॥

अयम् । लोकः । प्रिय-तमः । देवानाम् । अपरा-जितः । यस्मै । त्वम् । इह । मृत्यवे । दिष्टः । पुरुष । जज्ञिषे । सः । च । त्वा । अनु । ह्वयामसि । मा । पुरा । जरसः । मृथाः ॥१७॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (लोकः) संसार, (देवानाम्) विद्वानों का (अपराजितः) न जीता हुआ, (प्रियतमः) अति प्रिय है । (यस्मै) जिस [लोक] के लिये (इह) यहां पर (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने को (दिष्टः) ठहराया हुआ (त्वम्) तू, (पुरुष) हे पुरुष ! (जज्ञिषे) प्रकट हुआ है । (सः) वह [लोक] (च) और हम (त्वा) तुझको (अनु ह्वयामसि) बुला रहे हैं । (जरसः) बुढ़ापे से (पुरा) पहिले (मा मृथाः) मत मर ॥ १७ ॥

भावार्थ—इस अनन्त संसार को विद्वान् सदा खोजते रहे हैं । मनुष्य आलस्य आदि छोड़ कर सदा परोपकार में लगा रहे, और स्वस्थ और सावधान रहकर पूर्ण आयु तक आनन्द भोगे ॥ १७ ॥

सूक्तम् ३१ ॥

१-१२ ॥ पुरुषो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

यां ते चक्रुरामे पात्रे यां चक्रुर्मिश्रधान्ये ।

१७—(अयम्) दृश्यमानः (लोकः) संसारः (प्रियतमः) अतिहितकरः (देवानाम्) विदुषाम् (अपराजितः) अनभिभूतः । सर्वदैवान्वेषणीयः (यस्मै) लोकप्राप्तये (त्वम्) हे मनुष्य (इह) अस्मिन् जन्मनि (मृत्यवे) म० १२ । मृत्युं नाशयितुम् (दिष्टः) आदिष्टः । नियतः (पुरुष) हे पुरुषार्थिन् (जज्ञिषे) प्रादुर्बभूविथ (सः) लोकः (च) वयं च (त्वा) पुरुषम् (अनु) अनुक्रमेण (ह्वयामसि) आह्वामः (मा) निषेधे (पुरा) अग्रे (जरसः) जरायाः (मृथाः) माङि लुङि अडभावः । प्राणान् त्यज ॥

आमे मांसे कृत्यां यां चक्रुः पुनः प्रति हरामि ताम् ॥१॥

याम् । ते । चक्रुः । आमे । पात्रे । याम् । चक्रुः । मिश्रधान्ये । आमे । मांसे । कृत्याम् । याम् । चक्रुः । पुनः । प्रति । हरामि । ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (आमे) भोजन में, वा (पात्रे) पानी में (चक्रुः) उन्होंने [हिंसकों ने] किया है, (याम्) जिसको [तेरे] (मिश्रधान्ये) एकट्ठे किये धान्य में (चक्रुः) उन्होंने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को [तेरे] (आमे) चलने में वा (मांसे) ज्ञान वा काल वा मांस में (चक्रुः) उन्होंने किया है, (ताम्) उसको (पुनः) अवश्य मैं (प्रति) उलटा (हरामि) मिटाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा दुष्कर्मी विघ्नकारियों को सदा दण्ड देता रहे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० ४ । १७ । ४ से करो ॥ १

यां ते चक्रुः कृकवाकावजे वा यां कुरीरिणि। अव्यां ते कृत्यां यां० ॥ २ ॥

याम् । ते । चक्रुः । कृकवाकौ । अजे । वा । याम् । कुरीरिणि । अव्याम् । ते । कृत्याम् । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (कृकवाकौ) गले से बोलने वाले कुक्कुट वा मोर पर (वा) अथवा (याम्) जिसको (कुरी-

---

१—(याम्) कृत्याम् (ते) तव (चक्रुः) कृतवन्तः शत्रवः (आमे) अम गतिभोजनानिषु— घञ् । भोजने (पात्रे) अ० ४ । १७ । ४ । पानीये । जलभाजने (मिश्रधान्ये) एकत्रीकृतधान्ये (आमे) गमने (मांसे) अ० ४ । १७ । ४ । ज्ञाने काले मांसे वा (कृत्याम्) अ० ४ । ६ । ५ । हिंसाम् (पुनः) अवधारणे (प्रति) प्रत्यक्षं प्रतिकूलं वा (हरामि) नाशयामि (ताम्) कृत्याम् ॥

२—(कृकवाकौ) कृके वचः कश्च । उ० १ । ६ । इति कृक+वच परिभाषणे-अण् । कृकेण गलेन वक्तीति तस्मिन् कुक्कुटे मयूरे वा (अजे) गतिशीले छागे (वा) अथवा (कुरीरिणि) कृञ उच्च । उ० । ४ । ३३ । इति

रिशि) केश वाले (अजे) बकरे पर (चक्रुः) उन्होंने [शत्रुओं ने] किया है वा (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (ते) तेरी (अव्याम्) भेड़ी पर" म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा उपकारी पक्षियों और चौपायों की रक्षा करे ॥ २ ॥

यां ते चक्रुरेकशफे पशूनामुभयादति । गर्दभे कृत्यां यां० ॥ ३ ॥

याम् । ते । चक्रुः । एक-शफे । पशूनाम् । उभयादति । गर्दभे । कृत्याम् ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(याम) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (पशूनाम्) पशुओं के मध्य (एकशफे) एक खुर वाले और (उभयादति) दोनों ओर दांत वाले [अश्व आदि] पर (चक्रुः) उन्हों ने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (गर्दभे) गधे पर...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—घोड़े गधे आदि उपकारी पशुओं की राजा रक्षा करे ॥ ३ ॥

यां ते चक्रुरमूलायां वलगं वा नराच्याम् । क्षेत्रे ते कृत्यां यां० ॥ ४ ॥

याम् । ते । चक्रुः । अमूलायाम् । वलगम् । वा । नराच्याम् । क्षेत्रे । ते । कृत्याम् ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस [हिंसा] को (वलगम्) गुप्त कर्म से (ते) तेरे (अमूलायाम्) प्राप्ति योग्य (वा) अथवा (नराच्याम्) मनुष्यों से सत्कार

कृञ् करणे-ईरन्, तत इत्। कुरीराः केशाः, तद्वति, यथा सायणभाष्ये, अ० ६। १३८। २ (अव्याम्) मेष्याम्। अन्यद् गतम्। म० १ ॥

३—(एकशफे) एकखुरयुक्ते अश्वादौ (पशूनाम्) चतुष्पदां मध्ये (उभयादिति) छान्दसो दीर्घः। उभयदति। ऊर्ध्वाधोभागयोर्दन्तयुक्ते (गर्दभे) कॄशॄशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्। उ० ३। १२२। इति गर्द शब्दे-अभच्। खरे। अन्यद् गतम्॥

४—(अमूलायाम्) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ। उ० ४। ६० ।इति अम

योग्य [ओषधि] में (चक्रुः) उन्हों ने किया है । अथवा (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (ते) तेरे (क्षेत्रे) ऐश्वर्य के हेतु खेत में......म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि ओषधि आदि पदार्थ दूषित न होवें ॥४॥

यां ते॑ च॒क्रुर्गार्ह॑पत्ये पूर्वा॒ग्नावु॒त दु॒श्चितः॑ । शालायां॒ कृ॒त्यां यां ० ॥ ५ ॥

याम् । ते॒ । च॒क्रुः । गार्ह॑-पत्ये । पू॒र्व॒-अ॒ग्नौ । उ॒त । दुः॒ऽचितः॑ । शाला॑याम् । कृ॒त्याम् ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस [हिंसा] को (दुश्चितः) बुरा चीतने वालों ने (ते) तेरे (गार्हपत्ये) गृहस्थ काम में (उत) और (पूर्वाग्नौ) निवास के हेतु अग्नि आदि में (चक्रुः) किया है । अथवा (शालायाम्) शाला में (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को......म० १ ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि गृहस्थ लोगों के कामों और पदार्थों में कोई उपद्रव न करे ॥ ५ ॥

यां ते॑ च॒क्रुः स॒भायां॒ यां च॒क्रुर॑धि॒देव॑ने । अ॒क्षेषु॑ कृ॒त्यां यां ० ॥ ६ ॥

याम् । ते॒ । च॒क्रुः । स॒भाया॑म् । याम् । च॒क्रुः । अ॒धि॒-देव॑ने । अ॒क्षेषु॑ । कृ॒त्याम् । ० ॥ ६ ॥

गतौ भोजने-ऊलच्, टाप् । प्रापणीयायाम् (वलगम्) मुदिग्रोर्गग्गौ । उ० १ । १२८ । इति वल संवरणे-गप्रत्ययः; अकारागमः, तृतीयास्थाने प्रथमा। संवरणेन । आच्छादनेन (वा) (नराच्याम्) नर+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन्. ङीप् । नरैः पूजनीयायाम् ओषध्याम् (क्षेत्रे) ऐश्वर्यहेतौ शस्याद्युत्पत्तिस्थाने । अन्यद् गतम् ॥

५—(गार्हपत्ये) गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः । पा० ४ । ४ । ९० । इति गृहपति-ञ्य । गृहपतिना संयुक्ते कर्मणि (पूर्वाग्नौ) पुर्व पूर्तौ निवासे च-अच् । निवास-हेतौ पावकादौ (उत) अपि (दुश्चितः) दुस्+चिती संज्ञाने-क्विप् । दुष्ट-चिन्तकाः (शालायाम्) गृहे । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (हिंसा) को (ते) तेरी (सभायाम्) सभा में (चक्रुः) उन्हों ने (शत्रुओं ने) किया है, और (याम्) जिसको तेरे (अधिदेवने) क्रीड़ा स्थान उपवन आदि में (चक्रुः) उन्हों ने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (अक्षेषु) व्यवहारों में......म० १ ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा सभाओं, उपवन आदिकों और व्यवहारों में विघ्नकारी पुरुषों को दण्ड देता रहे ॥ ६ ॥

यां ते॑ च॒क्रुः सेना॑यां॒ यां च॒क्रुरि॑ष्वायु॒धे। दु॒न्दु॒भौ कृ॒त्यां यां० ॥ ७ ॥

याम् । ते । च॒क्रुः । सेना॑याम् । याम् । च॒क्रुः । इषु-आ॒यु॒धे । दु॒न्दु॒भौ । कृ॒त्याम् । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (हिंसा) को (ते) तेरी (सेनायाम्) सेना में (चक्रुः) उन [शत्रुओं] ने किया है, और (याम्) जिसको तेरे (इष्वायुधे) बाण आदि शस्त्रों में (चक्रुः) उन्होंने किया है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को तेरी (दुन्दुभौ) दुन्दुभि में...म० १ ॥ ७ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना और अस्त्र शस्त्र बाजे आदि की सावधानी से रक्षा करे ॥ ७ ॥

यां ते॑ कृ॒त्यां कूपे॑ऽवद॒धुः श्म॑शा॒ने वा॑ नि॒च॒ख्नुः।
सद्म॑नि कृ॒त्यां यां च॒क्रुः पुन॒: प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ८ ॥

याम् । ते॒ । कृ॒त्याम् । कूपे॑ । अ॒व॒-द॒धुः । श्म॒शा॒ने॒ । वा॒ । नि॒-च॒ख्नुः । सद्म॑नि । कृ॒त्याम् । याम् । च॒क्रुः । पुन॒: । प्रति॑ । ह॒रा॒मि॒ । ताम् ॥ ८ ॥

६—(सभायाम्) सह भान्ति यत्र । समाजे (अधिदेवने) दिवु क्रीड़ा-दिषु-ल्युट् । उपवनादौ क्रीड़ास्थाने (अक्षेषु) अ० ४ । ३८ । ५ । व्यवहारेषु । अन्यद् गतम् ॥

७—(सेनायाम्) योद्धृसमूहे (इष्वायुधे) बाणादिशस्त्रे (दुन्दुभौ) बृहड्ढक्कायाम् । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (ते) तेरे (कूपे) कूये में (अवदधुः) उन [शत्रुओं] ने कर दिया है, (वा) अथवा (श्मशाने) मरघट में (निचख्नुः) उन्होंने खोद कर रक्खा है। (याम्) जिस (कृत्याम्) हिंसा को (सद्मनि) तेरे घर में (चक्रुः) उन्हों ने किया है, (ताम्) उसको (पुनः) अवश्य मैं (प्रति) उलटा करके (हरामि) मिटाता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कूये तालाव, आदि को मलिन करें, अथवा रोगकारक वस्तुयें गाड़कर मरघटों को दूषित करें, अथवा घरों के पास दुर्गन्ध आदि फैलावें, राजा उसका यथावत् प्रवन्ध करे ॥ ८ ॥

यां ते॑ च॒क्रुः पु॑रुषा॒स्थे अ॒ग्नौ संक॑सुके च॒ याम्।
म्रो॒कं नि॑र्दा॒हं क्र॒व्याद॒ं पुनः॒ प्रति॑ हरामि॒ ताम् ॥ ९ ॥

याम् । ते॒ । च॒क्रुः । पु॒रु॒ष॒-अ॒स्थे । अ॒ग्नौ । सम्-क॑सुके । च॒ । याम् । म्रो॒कम् । निः-दा॒हम् । क्र॒व्य-अद॑म् । पुन॑ः । प्रति॑ । ह॒रा॒मि॒ । ताम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस [हिंसा] को (ते) तेरे (पुरुषास्थे) पुरुषों की हड्डी में, (च) और (याम्) जिसको (संकसुके) भभकती (अग्नौ) आग में (चक्रुः) उन [शत्रुओं] ने किया है; (ताम्) उसको (म्रोकम्) चोर समान भयानक (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले (निर्दाहम् प्रति) जला देने वाले अग्नि में (पुनः) अवश्य (हरामि) मैं नाश करता हूं ॥ ९ ॥

८—(कूपे) गम्यते जलार्थिभिः। कुयुभ्यां च। उ० ३। २७। इति कुङ् गतिशोषणयोः-प, स च किद् दीर्घश्च। जलाधारे (अवदधुः) अवधारितवन्तः (श्मशाने) श्मन्+शाने। शीङ् स्वप्ने-मनिन्, डिच्च। श्मानः शवाः शेरते यत्र। शीङ्-शानच्, डिच्च। शवदाहस्थाने (निचख्नुः) खनु अवदारणे लिट्। विदार्य धृतवन्तः (सद्मनि) गृहे। अन्यद् गतम्। म० १ ॥

९—(पुरुषास्थे) अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः। पा० ५। ४। ७५। इति पुरुष+अस्थि-अच्प्रत्ययः, अजिति योगविभागात्। पुरुषाणामस्थिनि (अग्नौ) पावके (संकसुके) वलेरूकः। उ० ४। ४०। इति सम्+कस गतौ शासने च-ऊक, छान्दसो ह्रस्वः। संगच्छमाने। जाज्वल्यमाने (म्रोकम्) अ०

भावार्थ—मृतक दाह क्रिया में विघ्नकारी दुष्टों को राजा यथावत् दण्ड देकर नष्ट करे ॥ ९ ॥

अपथेना जभारैणां तां पथेतः प्र हिंण्मसि । अधीरो मर्याधीरेभ्यः सं जभाराचित्या ॥ १० ॥

अपथेन । आ । जभार । एनाम् । ताम् । पथा । इतः । प्र । हिण्मसि । अधीरः । मर्या-धीरेभ्यः । सम् । जभार । अचित्या १०

भाषार्थ—(अपथेन) कुमार्ग से (एनाम्) इस (हिंसा) को (आ जभार) वह लाया था, (ताम्) उसको (पथा) सुमार्ग से (इतः) इस स्थान से (प्र हिण्मसि) हम निकालते हैं । (अधीरः) वह अधीर [शत्रु] (मर्याधीरेभ्यः) मर्यादा धारण करने वाले पुरुषों के लिये (अचित्या) अपने अज्ञान से [उस] हिंसा को (सम् जभार) लाया था ॥ १० ॥

भावार्थ—जो कुमार्गी पुरुष सत्पुरुषों के साथ द्रोह करते हैं सत्पुरुष उनको कुमार्ग से छुड़ा कर सुमार्ग में ले आते हैं ॥ १० ॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमङ्गुरिम् । चकार भद्रमस्मभ्यमभगो भगवद्भ्यः ॥ ११ ॥

यः । चकार । न । शशाक । कर्तुम् । शश्रे । पादम् । अङ्गुरिम् । चकार । भद्रम् । अस्मभ्यम् । अभगः । भगवत्-भ्यः ॥ ११ ॥

---

२ । २४ । ३ । घोरवद् भयानकम् (निर्दाहम्) नितरां दाहकं पावकम् (क्रव्यादम्) शवमांसभक्षकम् (पुनः) अवश्यम् (प्रति) अभिलक्ष्य (हरामि) नाशयामि (ताम्) हिंसाम् ॥

१०—(अपथेन) ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे । पा० ५ । ४ । ७४ । इति अ+पथिन्-अप्रत्ययः । कुमार्गेण (आ) (जभार) जहार । आनिनाय (एनाम्) कृत्याम् (ताम्) (पथा) सुमार्गेण (इतः) अस्मात् स्थानात् (प्र हिण्मसि) हि गतिवृद्ध्योः । हिनुमीना । पा० ८ । ४ । १५ । इति णत्वम् । प्रेषयामः । अपसारयामः (अधीरः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति डुधाञ् धारणपोषणयोः-क्रन् । अधारकः । अपण्डितः (मर्याधीरेभ्यः) मर्यादाधारकेभ्यः (सम्) सम्यक् (जभार) निनाय (अचित्या) अज्ञानेन ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [दुष्ट] ने (कर्तुम्) हिंसा को (चकार) किया था, वह (न शशाक) समर्थ न था, उसने (पादम्) अपना पैर और (अङ्गुरिम्) अंगुरी (शश्रे) तोड़ डाली। उस (अभगः) अभागे पुरुष ने (अस्मभ्यम्) हम (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवालों को (भद्रम्) आनन्द (चकार) किया ॥ ११ ॥

भावार्थ—दुर्बलात्मा पापी दण्ड पाकर अपने हाथ पैर में कष्ट पाकर धर्मात्माओं को नहीं सता सकता ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अ० ४ । १८ । ६ । में आया है ॥

कृत्याकृतं वलगिनं मूलिनं शपथेय्यम् ।

इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेनाग्निर्विध्यत्वस्तया ॥ १२ ॥

कृत्या-कृतम् । वलगिनम् । मूलिनम् । शपथेय्यम् । इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । अग्निः । विध्यतु । अस्तया ॥१२

भाषार्थ—(इन्द्रः) प्रतापी राजा (वलगिनम्) गुप्त काम करने वाले (मूलिनम्) जड़ पकड़ने वाले, (शपथेय्यम्) कुवचन बोलने वालों के प्रधान, (कृत्याकृतम्) हिंसा करने वाले शत्रु को (महता) अपने बड़े (वधेन) वज्र से (हन्तु) मारे और (अग्निः) वही ज्ञानी राजा (अस्तया) अपने अस्त्र से

११—(यः) दुष्टः (चकार) कृतवान् (न) निषेधे (शशाक) शक्त आसीत् (कर्तुम्) अ० ४ । १८ । ६ । कृञ् हिंसायाम्-तुन् । हिंसाम् (शश्रे) शीर्णवान् (पादम्) चरणम् (अङ्गुरिम्) अङ्गुलिम् (चकार) (भद्रम्) कल्याणम् (अस्मभ्यम्) धर्मात्मभ्यः (अभगः) अनैश्वर्यः (भगवद्भ्यः) ऐश्वर्यवद्भ्यः ॥

१२—(कृत्याकृतम्) अ० ४ । १७ । ४ । हिंसाकारिणम् (वलगिनम्) म० ४ । वलग-इनि । आच्छादनकर्माणम् (मूलिनम्) प्राप्तमूलम् । सुदृढम् (शपथेय्यम्) ढश्छन्दसि । पा० ४ । ४ । १०६ । इति बाहुलकात् शपथ-ढ । शपथे साधुः शपथेयः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । इति यत् । शपथेयेषु साधुस्तम् । महाकुवचनकारिणम् (इन्द्रः) परमैश्वर्य[illegible]

(तम्) उस वैरी को (विध्यतु) वेध डाले ॥ १२ ॥

भावार्थ—शूर वीर विद्वान् राजा दुराचारियों को यथावत् खोजकर दण्ड देता रहे ॥ १२ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

इति पञ्चमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायकवाड़ाधिष्ठितबड़ोदेपुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना कृते अथर्ववेदभाष्ये पञ्चमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे रक्षाबन्धनतिथौ [शुक्लपञ्चदश्याम्] १९७२ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि श्री राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—अग्रहायणे कृष्णचतुर्थ्यां संवत् १९७२-ता० २५ नोवेम्बर १९१५ ॥

(हन्तु) नाशयतु (महता) विशालेन (वधेन) हननसाधनेन वज्रेण (अग्निः) ज्ञानी राजा (विध्यतु) ताडयतु (अस्त्र्या) असिमृसिभ्यां त्रन् । उ० ३ । ८६ । इति असु क्षेपणे-त्रन्, टाप् । अस्त्रेण ॥

॥ ओ३म् ॥

आनन्द समाचार।

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—ब्रह्मा जी से लेकर सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी जिन वेदों का महत्त्व गाते आये हैं, और विदेशीय विद्वान् जिनकी महिमा और अर्थ खोजने में लग रहे हैं, वे अब तक संस्कृत में होनेके कारणबड़े कठिन समझे जाते थे, और कुछ विद्वानों को छोड़ कर सर्वसाधारण उनका अर्थ नहीं समझ सकते थे अबतक ऋग्वेद, यजुर्वेद, औरसामवेद का भाषा में अर्थ हो चुका है। और लोगों को उनके मर्म जानने का सौभाग्य मिला है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी सरल भाषा और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से उसका भाष्य बड़े परिश्रम से बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है, १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्र के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ ५—भावार्थ ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ मे लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल भाषा और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्वसाधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगदीश्वर परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखनेवाले सज्जनों को २०) सैकड़ा छूट देकर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर दिये जाते हैं।

काण्ड १—भूमिका सहित, २, ३, ४, ५ मूल्य ८)

काण्ड ६—छप रहा है।

काण्ड ७—शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्ति करण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान—सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्म निरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में, बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।≈)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

२५ नवम्बर १९१५। पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,
५२ लूकरगञ्ज प्रयाग (Allahadad)

अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-
प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद हैं। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्व पूर्ण कार्य्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ,

(एम० ए० एल० एल० बी०)

मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**-प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेद प्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा!

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, ..मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदीजी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनुसार भावपूर्ण, संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खें।

त्रिवेदीजी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महात्मा मुन्शीरामजी—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता, गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६५ तिथि २७-१०-१९९९।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लग भग देख चुका हूं आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९९९।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ोदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा फर्वरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पंडित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसमाजिकसिद्धान्तों की तरफ है, अतएव भाष्य भी आर्यसमाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है॥

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७ अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पंडित जी नमस्ते॥

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा॥

दो पुस्तक हवनमंत्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है॥

श्रीयुत पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फर्वरी १९१३॥

अथर्ववेद भाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थ ज्ञान और श्रम का यह फल है आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधिसे आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है

श्रीयुत पंडित **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़ ता० १२ अप्रेल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण वा निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझकर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

वावू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्कमर्चेंट कमनगढ़ा, वनारस सिटी, संख्या ५८९ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ अपनी समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**,—मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसंबर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। अपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण करदिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें॥

श्रीयुत विख्यात **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनौ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेन्ट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० ओ प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३।

अपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी आपका व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है

The VIDYADHIKARI (Minister.
Letter No. 624 dated 6th February 1913).

.....It has been decided to purchase
अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned
prize distribution. Please send them...
" For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DIS
Khan.

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya.—It is a gigan
volumes for your energies and perseverance th
unnertaken at an advanced age. I wish I had a po
power.

Letter dated 30th April 1914

I very much admire your labour of lore and hope...the
not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD,

Letter No. 912 dated 21st May 1915

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or Commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words, quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves.......Our earnest request is that the revered Pandit will go with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest.......

N. B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

ः—सम्मतियां ।

काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, पंजाब इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ः फ़रवरी ...न कालमें जिन मन्त्रों को पढ़ते हैं उनका सरल भाषा ...ने किया है। प्रत्येक पद का पृथक् २ अर्थ इसमें किया ...न विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता। अतः प्रत्येक ...ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये।

...वारक गुरुकुल कांगड़ी १७ फाल्गुण सं० १९६८...आजकल लोग ...न्त्र उच्चारण करते हैं, परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते। उन्हें यह पुस्तक अवश्य मंगवा कर पढ़नी चाहिये।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२......इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्ति-वाचन, शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनु-वादित किये हैं।...पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है।

वेदप्रकाश मेरठ,—मई १९१२।...इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है।

महाशय **खुशीराम जी,**—गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८ ...आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है! आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेज़ी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें।

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी,**

२५ नोवेंबर १९१५। ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allhabad)

पं० ओंकारनाथ वाजपेयी के प्रबन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग में मुद्रित हुआ

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है॥"

आनन्द समाचार

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिन का अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु निरुक्त व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मगावें और जगत् पिता परमेश्वर के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्त्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठ पेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी०पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६					पृष्ठ १६०० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१।।।=	३)					१२)

काण्ड ७-छप रहा है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्याय.—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नम.) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेजी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्याय:—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

२० जून १९१६

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad)।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ६ ॥

सं॰	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१	दोषो गाय बृहत्	सविता	ऐश्वर्यकी प्राप्ति	गायत्री
२	इन्द्राय सोम	इन्द्र	परम ऐश्वर्य	उष्णिक्
३	पातं न इन्द्रा	मन्त्रोक्त	वृद्धि करना	पथ्या बृहती जगती
४	त्वष्टा मे दैव्यं	परमेश्वर इत्यादि	सब की रक्षा	आस्तार पंक्ति इ०
५	उदेनमुत्त	इन्द्र	धन और जीवन	अनुष्टुप्
६	योऽस्मान् ब्रह्मण	ब्रह्मणस्पति इत्यादि	शत्रु के नाश	अनुष्टुप्
७	येन सोमादितिः	सोम	सुख की प्राप्ति	गायत्री
८	यथा वृक्षं लिबुजा	विद्या	विद्याकी प्राप्ति	पंक्तिः
९	वाञ्छमे तन्वं	दम्पती	गृहस्थ आश्रम	अनुष्टुप्
१०	पृथिव्यै श्रोत्राय	मन्त्रोक्त	स्वास्थ्य की रक्षा	त्रिपदा विराट्
११	शमीमश्वत्थ	प्रजापति	गर्भाधान	अनुष्टुप्
१२	परिद्यामिव	प्रजापति	पाप का नाश	अनुष्टुप्
१३	नमो देववधेभ्यो	मृत्यु	मृत्यु की प्रबलता	अनुष्टुप्
१४	अस्थिस्रंसं परुस्रं	वैद्य	रोगका नाश	अनुष्टुप्
१५	उत्तमो अस्योष	प्रजापति	उत्तम गुणों की प्राप्ति	अनुष्टुप्
१६	आबयो अनाबयो	प्रजापति	ब्रह्म के गुण	गायत्री इत्यादि
१७	यथेयं पृथिवी	पृथिवी	गर्भाधान	अनुष्टुप्
१८	ईर्ष्याया ध्राजिं	आत्मा	ईर्ष्या के निवारण	अनुष्टुप्
१९	पुनन्तुमा देवजना	पवमान	पवित्र आचरण	अनुष्टुप्, गायत्री
२०	अग्नेरिवास्य	तक्मा	रोगका नाश	जगती इत्यादि
२१	इमा यास्तिस्रः	ब्रह्म	ब्रह्म के गुण	अनुष्टुप्
२२	कृष्णं नियानं	मरुत्	वृष्टि विद्या	त्रिष्टुप् जगती
२३	सस्रुषीस्तदपसो	आपः	कर्म करना	अनुष्टुप् इत्यादि
२४	हिमवतः प्र स्रवन्ति	आपः	ईश्वर के गुण	अनुष्टुप्
२५	पञ्च च याः	वैद्य	रोगका नाश	अनुष्टुप्
२६	अव मा पाप्मन्	पाप्मा	कष्ट त्यागना	अनुष्टुप्
२७	देवाः कपोत	विश्वे देवा	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप्
२८	ऋचा कपोत	विश्वे देवा	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप् इत्यादि
२९	अमून् हेतिः	प्रजापति	शुभ गुण ग्रहण	त्रिष्टुप् इत्यादि
३०	देवा इमं मधुना	सरस्वती इत्यादि	विद्या के गुण	जगती इत्यादि
३१	आयं गौः	सार्पराज्ञी इत्यादि	सूर्य वा भूमि	गायत्री
३२	अन्तर्दावे जुहुता स्वे	अग्नि इत्यादि	राक्षसों का नाश	त्रिष्टुप्, पंक्ति
३३	यस्येदमा रजो	इन्द्र	सर्व लक्ष्मी पाना	गायत्री इत्यादि
३४	प्राग्नये वाचमीरय	अग्नि	शत्रुओं का नाश	गायत्री
३५	वैश्वानरो न ऊतय	वैश्वानर अग्नि	यश की प्राप्ति	गायत्री
३६	ऋतावानं वैश्वानर	अग्नि	ईश्वर के गुण	गायत्री
३७	उप प्रागात् सहस्राक्षो	शपथ	कुवचन का त्याग	अनुष्टुप्
३८	सिंहे व्याघ्र उत	त्विषि	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
३९	यशो हविर्वर्धतामिन्द्र	इन्द्र	यश पाना	जगती इत्यादि

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
४०	अभयं द्यावा पृथिवी	सविता	शत्रुओं से रक्षा का	जगती इत्यादि
४१	मनसे चेतसेधिय	इन्द्र	आत्मा की उन्नति	अनुष्टुप् इत्यादि
४२	अव ज्यामिव धन्वनो	मन्यु	क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
४३	अयं दर्भो विमन्युकः	दर्भ	क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
४४	अस्थाद् द्यौरस्थात्	मनुष्य	रोग का नाश	अनुष्टुप् बृहती
४५	परोपेहि मनस्पाप	अग्नि, इन्द्र	मानसिक पापका नाश	पथ्या पंक्ति इत्यादि
४६	यो न जीवोसि न	स्वप्न	स्वप्न के गुण	बृहतीत्यादि
४७	अग्निः प्रातः सवने	अग्नि इत्यादि	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप्
४८	श्येनो सि गायत्रच्छन्दा	आत्मा	परमात्मा के गुण	पुर उष्णिक्
४९	नहि ते अग्ने तन्व.	अग्नि	प्रलय और सृष्टि	अनुष्टुप् इत्यादि
५०	हतं तर्द समङ्कमाखु	अश्विनौ	आत्मा के दोष नाश	जगती, पथ्या पंक्ति
५१	वायो पूत. पवित्रेण	सोम इत्यादि	द्रोह का नाश	गायत्री इत्यादि
५२	उत् सूर्यो दिव एति	सूर्य	आत्मा के दोषका नाश	अनुष्टुप्
५३	द्यौश्च म इद पृथिवी	विश्वेदेवा इ०	स्वास्थ्य की रक्षा	त्रिष्टुप्
५४	इदं तद् युज उत्तरमिन्द्र	इन्द्र	राज्य की रक्षा	अनुष्टुप्
५५	ये पन्थानो बहवो	विश्वेदेवा	सम्पत्ति प्राप्ति	त्रिष्टुप्
५६	मा नो देवा अहिर्वधीत्	देवजना	दोष के नाश	बृहती इत्यादि
५७	इदमिद् वा उभेषजमिद	रुद्र	दोष का नाश	अनुष्टुप् बृहती
५८	यशस मेन्द्रो मघवान्	विश्वेदेवा	यश पाना	जगती इत्यादि
५९	अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं	अरुन्धती	सब सुख की प्राप्ति	अनुष्टुप्
६०	अयमा यात्यर्यमा	अर्यमा	गृहस्थ आश्रम	अनुष्टुप्
६१	मह्यमापो मधुमद्	परमेश्वर	परमेश्वर की महिमा	त्रिष्टुप्
६२	वैश्वानरो रश्मिभिर्न.	मन्त्रोक्तआदि	धन और नीरोगता	त्रिष्टुप्
६३	यत् ते देवी निर्ऋति	आत्मा	मोक्षप्राप्ति	अनुष्टुप्
६४	स जानीध्व सं	संज्ञान	धर्म का	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
६५	अवमन्युरावयताव	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	पंक्ति अनुष्टुप्
६६	निर्हस्त॰ शत्रुरभि	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	त्रिष्टुप्. अनुष्टुप्
६७	परिवर्त्मानि सर्वत	इन्द्र	सेनापति के लक्षण	अनुष्टुप्
६८	आयमगन्त्सविता	विश्वे देवा	मुण्डन संस्कार	पञ्चपदा इत्यादि
६९	गिरावरगराटेषु	प्रजापति	यश की प्राप्ति	अनुष्टुप्
७०	यथा मांस यथासुरा	प्रजापति	परमेश्वर की भक्ति	अनुष्टुप्
७१	यदन्नमद्मि बहुधा	अग्नि	दोषों का नाश	त्रिष्टुप्
७२	यथासितः प्रथयते	प्रजापति	राज्य बढाना	जगती अनुष्टुप्
७३	एह यातु वरुण.	विश्वे देवा	विद्वानों से समागम	त्रिष्टुप्
७४	स व. पृच्यन्तां	भग	एकमता के लिये	अनुष्टुप् त्रिष्टुप
७५	निरमु नुद ओकसः	इन्द्र	शत्रु का हटाना	अनुष्टुप्
७६	य एन परिषीदन्ति	अग्नि	आयु बढाने के लिये	अनुष्टुप्
७७	अस्थाद्द्यौरस्थात्	गोपा	संपदा पाना	अनुष्टुप्
७८	तेन भूतेन हविषा	दम्पती	गृहस्थ धर्म	अनुष्टुप्
७९	अयनो नभसस्पतिः	नभसस्पति	सर्व सम्पत्ति पाना	गायत्री इत्यादि
८०	अन्तरिक्षेण पतति	परमात्मा	परमात्मा की महिमा	अनुष्टुप्, पंक्ति

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
८१	यन्तासि यच्छसे	दम्पती	उत्तम गर्भ धारण	अनुष्टुप्
८२	आगच्छत आगतस्य	इन्द्र	विवाह संस्कार	अनुष्टुप्
८३	अपचितः प्र पतत	वैद्य	रोग नाश करना	अनुष्टुप्, जगती
८४	यस्यास्त आसनि	निर्ऋति	पाप से मुक्ति	जगती इत्यादि
८५	वरणो वारयाता	विश्वे देवा	रोग का नाश	अनुष्टुप्
८६	वृषेन्द्रस्य वृषा	एकवृष	साम्राज्य पाना	अनुष्टुप्
८७	आत्वाहार्षमन्तर	राज्ञः स्तुति	राजतिलक	अनुष्टुप्
८८	ध्रुवा द्यौ ध्रुवा	राज स्तुति	राजतिलक	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
८९	इदं यत् प्रेण्यः	पुरुषार्थ	शत्रु जीतना	अनुष्टुप्
९०	यां ते रुद्र इषुमास्यद्	रुद्र	कर्म का फल	अनुष्टुप्
९१	इमं यवमष्टायोगैः	आत्मा	आत्मिक दोष नाश	अनुष्टुप्
९२	वा नरहाभव वाजिन्	प्रजापति	राजा के धर्म	जगती, त्रिष्टुप्
९३	यमो मृ त्युरघमारो	यमो विश्वेदेवा	सत्संग के लाभ	त्रिष्टुप्
९४	संवोमनांसि	प्रजापति	शान्ति करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
९५	अश्वत्थो देव सदन	कुष्ठ	विद्वानों के गुण	अनुष्टुप्
९६	या ओषधयः	ओषधयः सोम	ओषधियों के गुण	अनुष्टुप् इत्यादि
९७	अभिभूर्यज्ञो	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप्
९८	इन्द्रो जयाति न परा	इन्द्र	राजा और प्रजाके धर्म	पक्तिरित्यादि
९९	अभि त्वेन्द्र वरिमतः	इन्द्र	संग्राम में जय	अनुष्टुप् बृहती
१००	देवा अदुः सूर्यो	विश्वेदेवा	रोग नाश करना	अनुष्टुप्
१०१	आवृषायस्व श्वसिहि	राजा	राजा का धर्म	अनुष्टुप्
१०२	यथायंवाहो अश्विना	आत्मा	जितेन्द्रिय होना	अनुष्टुप्
१०३	सदानंवोबृहस्पतिः	इन्द्र	शत्रुओं का हराना	अनुष्टुप्
१०४	आदानेन संदानेन	इन्द्र	शत्रुओं का हराना	अनुष्टुप्
१०५	यथामनोमनस्केतैः	मनुष्य	महिमा पाना	अनुष्टुप्
१०६	आयनेतेपरायणे	शाला	गढ़ बनाना	अनुष्टुप्
१०७	विश्वजित् त्रायमाणा	परमेश्वर	सब सुख की प्राप्ति	आर्ष्यनुष्टुप्
१०८	त्वं नो मेधे प्रथमा	मेधा	बुद्धि और धन प्राप्तिका	अनुष्टुप् बृहती
१०९	पिप्पली क्षिप्तभेषज्यू	पिप्पली	रोग नाश	अनुष्टुप्
११०	प्रत्नोहिकमीड्यो	अग्नि	ऐश्वर्य बढाना	त्रिष्टुप्
१११	इमं मे अग्नेपुरुष	अग्नि	मानस विकारका नाश	पक्तिः, अनुष्टुप्
११२	मा ज्येष्ठं वधीदय	अग्नि	कुल रक्षा	त्रिष्टुप्
११३	त्रिते देवा अमृजतैनद्	त्रित	पाप शुद्ध करना	त्रिष्टुप्
११४	यद् देवा देवहेडन	विश्वे देवा	पाप से मुक्ति	अनुष्टुप्
११५	यद् विद्वांसो यद्	विश्वेदेवा	पाप से मुक्ति	अनुष्टुप्
११६	यद् यामचक्रु	वैवस्वत	पाप से निवृत्ति	त्रिष्टुप्
११७	अपमित्यमप्रतीत्तं	अग्नि	ऋण से छुटना	त्रिष्टुप्
११८	यद्धस्ताभ्यां चकृम	अप्सरसौ	ऋण से छुटना	त्रिष्टुप्
११९	यददीव्यन्नृणमहं	वैश्वानर	वचन का पालन	अनुष्टुप्
१२०	यदन्तरिक्षं पृथिवी	प्रजापति	घर में आनन्द बढाना	त्रिष्टुप् विराट्

क	सूक्तके प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१२१	विषाणा पाशान्	अग्नि	मोक्ष पाना	विराट् इत्यादि
१२२	एतं भागं परि ददामि	प्रजापति	आनन्द की प्राप्ति	त्रिष्टुप् इत्यादि
१२३	एतं सधस्थाः परि	प्रजापति	विद्वानों से सत्संग	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
१२४	दिवो नु मां बृहतो	अग्नि	आत्मा की शुद्धि	त्रिष्टुप्
१२५	वनस्पते वीड्वङ्गो	सुवीर	सेना। सेनापति के कर्तव्य	विराट् इत्यादि
१२६	उप श्वासय पृथिवी	वीर	राजा, सेना के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् विराट्
१२७	विद्रधस्य बलासस्य	प्रजापति	रोग का नाश	अनुष्टुप्
१२८	शकधूम नक्षत्राणि	शकधूम	आनन्द पाना	अनुष्टुप्
१२९	भगेन मा शांशपेन	इन्द्र	ऐश्वर्य पाना	अनुष्टुप्
१३०	रथजितां राथजिते	स्मर	स्मरण सामर्थ्य बढ़ाना	अनुष्टुप्
१३१	नि शीर्षतो नि पत्तत	विद्वान्	परस्पर पालन	अनुष्टुप्
१३२	यं देवा स्मरमसि	स्मर	ऐश्वर्य प्राप्ति	त्रिपादनुष्टुप्
१३३	य इमां देवो मेखला	मेखला	मेखला बांधना	त्रिष्टुप् इत्यादि
१३४	अयं वज्रस्तर्पयतां	वज्र	शत्रुओं का शासन	प्रस्तार पंक्ति
१३५	यदश्नामि बल	आत्मा	खान पान	अनुष्टुप्
१३६	देवी देव्यामधि	नितत्नी	केश का बढ़ाना	अनुष्टुप्, बृहती
१३७	यां जमदग्निरखनद्	नितत्नी	केश का बढ़ाना	अनुष्टुप्
१३८	त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमा	ओषधि,इन्द्र	निर्बलता हटाना	अनुष्टुप्, पंक्ति
१३९	न्यस्तिका रुरोहिथ	दम्पती	गृहस्थ आश्रम	जगती इत्यादि
१४०	यौ व्याघ्रावबरूढौ	दन्तौ	बालक का अन्नप्राशन	बृहती इत्यादि
१४१	वायुरेनाः समाकरत्	आचार्य, माता पिता	वृद्धि करना	अनुष्टुप्
१४२	उच्छ्रयस्व बहुर्भव	यव	अन्न की वृद्धि	अनुष्टुप्

२–अथर्ववेद, काण्ड ६ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेदसे॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड ६) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	पुनन्तु मा देव	१९ । १	९ । ६७ । २७	१९ । ३९	
२	उभाभ्यां देव सवितः	१९ । ३	९ । ६७ । २५	१९ । ४३	
३	कृष्णं नियान	२२ । १	१ । १६४ । ४७		
४–६	देवा कपोत	२७ । १–३	१० । १६५ । १–३		
७	ऋचा कपोतं	२८ । १	१० । १६५ । ५		
८	अमून् हेतिः	२९ । १	१० । १६५ । ४		
९–११	आयगौ॰ पृश्नि	३१ । १–३	१० । १८९ । १–३	३ । ६—८	पू६।१४।४–६
१२	अवशसा निःशसा	४५ । २	१० । १६४ । ३		
१३	सुपर्णा वाचमक्र	४९ । ३	१० । ९४ । ५		
१४	वायोः पूतः पवित्रेण	५१ । १		१ । ३१	
१५	आपो अस्मान्	५१ । २		४ । २	
१६	यत् किञ्चेदं	५१ । ३	७ । ८९ । ५		
१७	उत् सूर्यो दिव	५२ । १	१ । १९१ । ८, ९		
१८	नि गावो गोष्ठे	५२ । २	१ । १९१ । ४		
१९	पुनः प्राणः पुनः	५३ । २		४ । १५	
२०	स वर्चसा पयसा	५३ । ३		२ । २४	
२१	इदावत्सराय	५५ । ३		१९ । ५०	
२२	वैश्वानरीं सूनृतामा	६२ । २		१९ । ४४	
२३	संसमिद् युवसे	६३ । ४	१० । १९१ । १	१५ । ३०	
२४–२६	सं जानाध्वं	६४ । १–३	१० । १९१ । २–४		
२७	य उद्गानट् परायणं	७७ । २	१० । १९ । ५		
२८	आ त्वाहर्प मन्त	८७ । १—३	१० । १७३ । १–३	१२ । ११	
२९–३०	वातरंहा भव	९२ । १–२		९ । ८, ९	
३१	या ओषधयः	९६ । १	१० । ९७ । १८, १५	१२ । ८९, ९२	
३२	मुञ्चन्तु मा	९६ । २	१० । ९७ । १५	१२ । ९०	
३३	इम वीरमनु	९७ । ३		१७ । ३८	
३४	आयने ते परायणे	१०६ । १	१० । १४२ । २		
३५	अपामिदं न्यायन	१०६ । २		१७ । ७	
३६	हिमस्य त्वा जरायुणा	१०६ । ३		१७ । ५	
३७	या मृपयो भूनकृतो	१०८ । ४		३२ । १४	
३८	प्रत्नो हिकर्माङ्ग्यो	११० । १	८ । ११ । १०		
३९, ४०	पर्त लथस्था परि	१२३ । १, २		१८ । ५९, ६०	
४१–४३	वनस्पते वीड्वङ्गो	१२५ । १–३	६ । ४७ । २६-२८	२९ । ५२–५४	
४४, ४५	उपश्वासय पृथिवी	१२६ । १, ३	६ । ४७ । २९, ३१	२९ । ५५, ५७	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

षष्ठं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ सविता देवता । गायत्री छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये उपदेश ।

दोषो गाय बृहद् गाय द्युमद्धेहि ।
आथर्वण स्तुहि देवं सवितारम् ॥ १ ॥

दोषो इति । गाय । बृहत् । गाय । द्यु-मत् । धेहि ।
आथर्वण । स्तुहि । देवम् । सवितारम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आथर्वण) हे निश्चल ब्रह्म के जानने वाले महर्षि ! (देवम्) प्रकाश स्वरूप (सवितारम्) सब के प्रेरक परमात्मा को (दोषो) रात्रि में भी (गाय) गा, (बृहत्) विशाल रूप से (गाय) गा, (द्युमत्) स्पष्ट रीति से (धेहि) धारण कर और (स्तुहि) बड़ाई कर ॥ १ ॥

१—(दोषो) दोषा+उ । रात्रावपि । अहोरात्रे, इत्यर्थः (गाय) उच्चारय (बृहत्) विशालरूपेण (गाय) (द्युमत्) यथा तथा, प्रकाशेन (धेहि) धारय हृदये (आथर्वण) अथर्वा व्याख्यातः-अ० ४ । १ । ७ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इति अथर्वन्-अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । इति टिलोपाभावः । अथर्वाणं निश्चलस्वभावं परमात्मानं यो महर्षिर्वेद जानाति

भावार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर के गुणो को हृदय में धारण करके संसार में सदा प्रकाशित करे ॥ १ ॥

तमु ष्टुहि यो अन्तः सिन्धौ सूनुः ।
सत्यस्य युवानमद्रोघवाचं सुशेवम् ॥ २ ॥

तम् । ऊं इति । स्तुहि । यः । अन्तः । सिन्धौ । सूनुः ।
सत्यस्य । युवानम् । अद्रोघ-वाचम् । सु-शेवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (सत्यस्य) सत्य का (सूनुः) प्रेरक परमात्मा (सिन्धौ अन्तः) समुद्र [हृदय आदि गहरे स्थान] के भीतर है, (तम् उ) उस ही (युवानम्) संयोग वियोग करने वाले, अथवा महाबली, (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी वाले, (सुशेवम्) अत्यन्त सुख देने वाले परमेश्वर की (स्तुहि) स्तुति कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमात्मा कल्याण वाणी वेदविद्या द्वारा दुःखों को हटा कर मोक्ष पद देता है, उसकी महिमा जान कर मनुष्य सदा पुरुषार्थ करे ॥ २ ॥

स घा नो देवः सविता साविषदमृतानि भूरि ।
उभे सुष्टुती सुगातवे ॥ ३ ॥

सः । घ । नः । देवः । सविता । साविषत् । अमृतानि ।

तत्सम्बुद्धौ (स्तुहि) प्रशंस (देवम्) प्रकाशस्वरूपम् (सवितारम्) षू प्रेरणे—तृच् । सर्वप्रेरकं जगदीश्वरम् ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (स्तुहि) प्रशंस (यः) परमात्मा (अन्तः) मध्ये (सिन्धौ) स्यन्दनशीले समुद्रे, हृदयादि गम्भीरदेशे (सूनुः) सुवः क्नित् । उ० ३ । ३५ । इति षू प्रेरणे-नु । प्रेरकः (सत्यस्य) यथार्थस्य वेदज्ञानस्य (युवानम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति यु मिश्रणामिश्रणयोः—कनिन् । संयोजकवियोजकम् । बलवन्तम् (अद्रोघवाचम्) द्रुह जिघांसायाम्—घञ्, हस्य घः । द्रोहरहितवाग्युक्तम् । कल्याणवाणिं परमेश्वरम् (सुशेवम्) अ० ४ । २५ । ५ । अतिशयेन सुखकरम् ॥

भूरि । उभे इति । सुस्तुती इति सु-स्तुती । सु-गातवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (घ) ही (देवः) प्रकाश स्वरूप (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (उभे) दोनों [प्रातः सायंकालीन] (सुष्टुती) सुन्दर स्तुतियों को (सुगातवे) अच्छे प्रकार गाने के लिये (नः) हमें (भूरि) बहुत से (अमृतानि) अक्षय सुख (साविषत्) देता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की सदा स्तुति करते हुये आत्मबल बढ़ाकर अक्षय सुख प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता । उष्णिक् छन्दः ॥

परमैश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—परम ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

इन्द्राय सोममृत्विजः सुनोता च धावत ।

स्तोतुर्यो वचः शृणवद्धवं च मे ॥ १ ॥

इन्द्राय । सोमम् । ऋत्विजः । सुनोत । आ । च । धावत । स्तोतुः । यः । वचः । शृणवत् । हवम् । च । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋत्विजः) हे ऋतु ऋतुओं में यज्ञ करने वाले पुरुषो ! (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा के लिये (सोमम्) अमृत रस [तत्त्वज्ञान] (सुनोत) निचोड़ो (च) और (आ) अच्छे प्रकार (धावत) शोधो ।

३—(सः) प्रसिद्धः (घ) संहितिकौ दीर्घः । एव (नः) अस्मभ्यम् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) सर्वप्रेरयिता (साविषत्) षू प्रेरणे, लेटि अडागमः । सिब्बहुलं णिद् वक्तव्य. । वा० पा० ३ । १ । ३४ । इति वृद्धौ सत्यामावादेश । प्रेरयेत् (अमृतानि) अ० ४ । ८ । ३ । अक्षयसुखानि (भूरि) भूरीणि । बहूनि (उभे) प्रातःसायंकालीने, तदुपलक्षिते सर्वकाले–इत्यर्थः (सुष्टुती) शोभने स्तुती (सुगातवे) गायतेस्तुमर्थे तवेप्रत्यय. । सुष्ठु गातुम् ॥

१—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (सोमम्) अ० ३ । १६ । १ । अमृतरसम् । तत्त्वबोधम् (ऋत्विजः) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । इति ऋतु+यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—क्विन् । हे ऋतौ ऋतौ याजकाः । देवपूजकाः (सुनोत) अभिषुणुत (आ) समन्तात् (च) (धावत) धावु गति-

(यः) जो परमेश्वर (स्तोतुः) स्तुति करने वाले (मे) मेरे (वचः) वचन (च) और (हवम्) पुकार को (शृणवत्) सुने ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का तत्त्व ज्ञान प्राप्त करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १ ॥

आ यं विशन्तीन्दवो वयो न वृक्षमन्धसः ।
विरप्शिन् वि मृधो जहि रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

आ । यम् । विशन्ति । इन्दवः । वयः । न । वृक्षम् । अन्धसः ।
वि-रप्शिन् । वि । मृधः । जहि । रक्षस्विनीः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिसमें (इन्दव) अमृत रस वा ऐश्वर्य (आ) आकर (विशन्ति) प्रवेश करते हैं, (न) जैसे (वयः) पक्षी (अन्धसः) अन्न के (वृक्षम्) वृक्ष में । [वह तू] (विरप्शिन्) हे महागुणी परमेश्वर ! (रक्षस्विनीः) राक्षसों [विघ्नों] से युक्त (मृधः) हिंसाकारिणी सेनाओं [कुवासनाओं] को (वि) विविध प्रकार से (जहि) नाश कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्तम गुणों और ऐश्वर्यों को साक्षात् करके अपनी विघ्नकारक कुवासनाओं को दूर करके पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

सुनोता सोमपाव्ने सोममिन्द्राय वज्रिणे ।

शुद्धयोः, णिजर्थः । शोधयत (स्तोतुः) स्तावकस्य (वचः) वाक्यम् (शृणवत्) श्रु श्रवणे, लेटि अडागमः । शृणुयात् (हवम्) आह्वानम् (च) (मे) मदीयम् ॥

२—(आ) आगत्य (यम्) इन्द्रम् (विशन्ति) प्रविष्टा भवन्ति (इन्दवः) उन्देरिच्चादेः । उ० १ । १२ । इति उन्दी क्लेदने—उप्रत्ययः, उकारस्य इत्वम् । यद्वा, इदि परमैश्वर्ये—उप्रत्ययः । अमृतरसाः । ऐश्वर्याणि (वयः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । इति वा गतौ—इण्, स च डित् । पक्षिणः (न) उपमार्थे (वृक्षम्) (अन्धसः) अदेर्नुम् धश्च । उ० ४ । २०६ । इति अद भक्षणे—असुन्, दस्य धः । अन्ध इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति—निरु० ५ । १ । अन्नस्य । फलराशेः (विरप्शिन्) अ० ५ । २६ । १३ । हे महागुणिन् (वि) विविधम् (मृधः) अ० १ । २१ । २ । हिंसिकाः सेनाः । कुवासना (जहि) नाशय (रक्षस्विनीः) रक्षोभिर्बाधकैर्विघ्नैरुपेताः ॥

युवा जेतेशानः स पुरुष्टुतः ॥ ३ ॥

सुनोत । सोम-पाव्ने । सोमम् । इन्द्राय । वज्रिणे ।
युवा । जेता । ईशानः । सः । पुरु-स्तुतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सोमपाव्ने) ऐश्वर्य की रक्षा करने वाले, (वज्रिणे) वज्र वाले (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (सोमम्) अमृत रस (सुनोत) निचोड़ो । (सः) वह (युवा) सयोग वियोग करने वाला वा महाबली, (जेता) विजयी, (ईशानः) ईश्वर (पुरुष्टुतः) सबसे स्तुति किया गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के समस्त ऐश्वर्यों को विचारता हुआ अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १ पथ्या बृहती २, ३ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणायोपदेशः—वृद्धि करने के लिये उपदेश ॥

पातं न इन्द्रापूषणादितिः पान्तु मरुतः । अपां नपात् सिन्धवः सप्त पातन पातु नो विष्णुरुत द्यौः ॥ १ ॥

पातम् । नः । इन्द्रापूषणा । अदितिः । पान्तु । मरुतः ।
अपाम् । नपात् । सिन्धवः । सप्त । पातन । पातु । नः ।
विष्णुः । उत । द्यौः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रापूषणा) हे बिजुली और वायु (नः) हमें (पातम्)

३—(सुनोत) अभिषुणुत (सोमपाव्ने) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । इति सोम+पा रक्षणे—वनिप् । ऐश्वर्यरक्षकाय (सोमम्) अमृतरसम् (इन्द्राय) परमेश्वराय (वज्रिणे) वज्रोपेताय (युवा) सू० १ । २ । सयोजकवियोजकः । महाबली (जेता) विजयी (ईशानः) ईश ऐश्वर्ये—लटः शानच् । ईश्वरः (सः) इन्द्रः (पुरुष्टुतः) पुरुभिः सर्वैः स्तुतः प्रशसितः ॥

१—(पातम्) रक्षतम् (न) अस्मान् (इन्द्रापूषणा) इन्द्रश्च पूषा

बचावो। (अदितिः) अदीन प्रकृति और (मरुतः) विद्वान् लोग (पान्तु) बचावें। (अपाम्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले, अग्नि [शरीर बल] और (सप्त) हे नित्य सम्बन्ध वाले वा सात (सिन्धवः) गतिशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (पातन) बचाओ (विष्णुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (उत) और (द्यौ) प्रकाशमान बुद्धि (नः) हमें (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को विचारता हुआ बिजुली आदि पदार्थों से उपकार लेकर रक्षा करें ॥ १ ॥

पातां नो द्यावापृथिवी अभिष्टये पातु ग्रावा पातु सोमो नो अंहसः। पातु नो देवी सुभगा सरस्वती पात्वग्निः शिवा ये अस्य पायवः ॥ २ ॥

पाताम्। नः। द्यावापृथिवी इति। अभिष्टये। पातु। ग्रावा। पातु। सोमः। नः। अंहसः। पातु। नः। देवी। सु-भगा। सरस्वती। पातु। अग्निः। शिवाः। ये। अस्य। पायवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (नः) हमें (अभिष्टये)

च। देवता द्वन्द्वे च। पा० ६। ३। २६। इति पूर्वपदस्य आनङ्। हे विद्युद्वायू (अदितिः) अ० २। २८। ४। अदीना प्रकृतिः (पान्तु) रक्षन्तु (मरुतः) अ०१। २०। १। ऋत्विजः—निघ०३। ३८। विद्वांसः (अपाम्) जीवानाम्—दयानन्दभाष्ये, य० १७। ३०। (नपात्) अ०१। १३। २। न पातयिता। अग्निः। शारीरिकबलमित्यर्थः (सिन्धवः) अ० ४। ३। १। स्यन्दनशीलाः। सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२। ३७। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धय (सप्त) अ०४। ११। ६। समवेताः। सङ्ख्यावाचको वा। (पातन) तप्तनप्तनथनाश्च। पा० ७। १। ४५। इति मध्यमपुरुषस्य तशब्दस्य तन आदेशः। पात। रक्षत (पातु) रक्षतु (नः) अस्मान् (विष्णुः) अ० ३। २०। ४। सर्वव्यापकः परमेश्वरः (उत) अपि च (द्यौः) प्रकाशमाना बुद्धिः ॥

२—(पाताम्) रक्षताम् (नः) अस्मान् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी

अभीष्ट सिद्धि के लिये (पाताम्) बचावें (आवा) मेघ (नः) हमें (अहसः) कष्ट से (पातु) बचावे और (सोमः) जल (पातु) बचावे । (देवी) व्यवहार वाली, (सुभगा) सुन्दर ऐश्वर्य देने वाली (सरस्वती) विज्ञान वाली वेद विद्या (नः) हमें (पातु) बचावे (अग्निः) अग्नि विद्या (पातु) बचावे और (ये) जो (अस्य) इसके (शिवाः) सुख दायक (पायवः) रक्षक गुण हैं [वे भी बचावें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य पृथिवी आदि और वेद द्वारा अनेक शिल्प आदि पदार्थ विद्यायें सिद्ध करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

पातं नो देवाश्विना शुभस्पती उषासानक्तोत न उरुष्यताम् । अपां नपादभिह्रुती गयस्य चिद् देव त्वष्टर्वर्धय सर्वतातये ॥ ३ ॥

पाताम् । नः । देवा । अश्विना । शुभः । पती इति । उषासानक्ता । उत । नः । उरुष्यताम् । अपाम् । नपात् । अभिह्रुती इत्यभि-ह्रुती । गयस्य । चित् । देव । त्वष्टः । वर्धय । सर्व-तातये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवा) व्यवहार में चतुर, (शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने हारे (अश्विना) कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता (नः) हमें (पाताम्) बचावें, (उत) और (उषासानक्ता) दिन और रात (नः) हमें

(अभिष्टये) अ० १ । ६ । १ । पररूपम् । अभीष्टसिद्धये (पातु) रक्षतु (आवा) अ० ३ । १० । ५ । मेघः—निघ० १ । १० । (पातु) (सोमः) जलम् (नः) (अंहसः) अ० २ । ४ । ३ । कष्टात् (पातु) (नः) (देवी) व्यवहारिणी (सुभगा) शोभनानि भगानि धनानि यस्याः सा सुष्ठ्वैश्वर्यप्रदा (सरस्वती) विज्ञानवती वेदविद्या (पातु) (अग्निः) अग्निविद्या (शिवाः) सुखकराः (ये) (अस्य) अग्नेः (पायवः) कृवापा० । उ० । १ । १ । इति पा रक्षणे-ण् युक् च । रक्षका गुणाः ॥

३—(पाताम्) रक्षताम् (नः) अस्मान् (देवा) व्यवहारकुशलौ

(उरुष्यताम्) बचावें । (अपाम्) हे जीवों के (नपात्) न गिराने वाले (देव) प्रकाशमान (त्वष्टः) विश्वकर्मा परमेश्वर ! (अभिह्रुती) कुटिल दशा में वर्तमान (गयस्य) घर के (सर्वतातये) सम्पूर्ण सुख के लिये [हमें] (चित्) अवश्य (वर्धय) बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर, बल पराक्रम बढ़ाकर, दरिद्रता आदि हटाकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ १ परमेश्वरः; २ मन्त्रोक्ताः; ३ अश्विनौ देवते ॥ १ आस्तारपङ्क्तिः ; २, ३ विराट् छन्दः ॥

सर्वरक्षोपदेशः—सब की रक्षा का उपदेश ॥

त्वष्टा॑ मे॒ दैव्यं॒ वचः॑ पुर्जन्यो॒ ब्रह्म॑णुस्पतिः॑ ।
पुत्रैर्भ्रातृ॑भिरदि॑तिर्नु पा॑तु नो दु॒ष्टरं॒ त्राय॑माणुं॒ सहः॑ ॥१॥

त्वष्टा॑ । मे॒ । दैव्य॑म् । वचः॑ । पुर्जन्यः॑ । ब्रह्म॑णः । पतिः॑ । पुत्रैः॑ । भ्रातृ॑-भिः । अदि॑तिः । नु । पा॒तु । नः॒ । दु॒स्तर॑म् । त्राय॑-मा॒णम् । सहः॑ ॥ १ ॥

(अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । कर्मसु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ (शुभः) शुभ दीप्तौ—क्विप् । शोभनस्य कर्मणः । षष्ठ्याः पतिपुत्र० । पा० ८ । ३ । ५३ । इति विसर्गस्य सत्वम् (पती) पालकौ (उपासानक्ता) अ० ५ । १२ । ६ । अहोरात्रे (उत) अपि च (नः) अस्मान् (उरुष्यताम्) उरुष्यती रक्षाकर्मा—निरु० । ५ । २३ । रक्षताम् (अपां नपात्) म० १ हे जीवानां न पातयितः (अभिह्रुती) अभि+ह्वृ कौटिल्ये—क्तिन्, छान्दसं रूपम् । सुपां सुलक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पूर्वसवर्णत्वात् सप्तम्या ईकारः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १९ । इति प्रगृह्यत्वम् । अभिह्रुतौ सर्वतः कुटिलदशायां वर्तमानस्य (गयस्य) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । इति गल्भ्—यक् निपातनात् साधुः । गृहस्य—निघ० ३ । ४ (चित्) एव (देव) हे प्रकाशमान (त्वष्टः) अ० २ । ५ । ६ । हे विश्वकर्मन् परमात्मन् (वर्धय) अस्मान् समर्धय (सर्वतातये) सर्वदेवात् तातिल् । पा० ४ । ४ । १४२ । इति तातिल् स्वार्थे । सर्वस्मै सुखाय ॥

भापार्थ—(त्वष्टा) सब का बनाने वाला, (पर्जन्यः) सींचने वाला (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड का (पतिः) रक्षक, (अदितिः) अविनाशी परमेश्वर (पुत्रैः) पुत्रों और (भ्रातृभिः) भ्राताओं के सहित (मे) मेरे (दैव्यम्) देवताओं के हितकारक (वचः) वचन को और (नः) हमारे (दुस्तरम्) अजेय, (त्रायमाणम्) रक्षा करने वाले (सहः) बल की (नु) शीघ्र (पातु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर की उपासना प्रार्थना करते हुये पूर्ण बल प्राप्त करके अपने कुटुम्बियों की रक्षा करें ॥ १ ॥

अंशो भगो वरुणो मित्रो अर्यमादितिः पान्तु मरुतः ।
अप तस्य द्वेषो गमेदभिह्रुतो यावयच्छत्रुमन्तितम् ॥२॥

अंशः । भगः । वरुणः । मित्रः । अर्यमा । अदितिः । पान्तु । मरुतः । अप । तस्य । द्वेषः । गमेत् । अभि-ह्रुतः । यवयत् । शत्रुम् । अन्तितम् ॥ २ ॥

भापार्थ—(अंशः) विभाग करने वाला, (भगः) सेवने योग्य (वरुणः) अपान वायु, (मित्रः) प्राण वायु, (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य, और (अदितिः) अदीन भूमि (मरुतः) शूर देवताओं की (पान्तु) रक्षा करें। वे (अभिह्रुतः) कुटिल शील (तस्य) हिंसक चोर के (द्वेषः) दुष्टता को

१—(त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सर्वस्रष्टा (मे) मम (दैव्यम्) देव-यञ् । देवहितम् (वचः) वाक्यम् (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ । सेचकः (ब्रह्मणः) प्रवृद्धस्य जगतः (पतिः) पालकः (पुत्रैः) अस्माकं सुतैः सह (भ्रातृभिः) सहोदरैः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अविनाशी परमेश्वरः (नु) क्षिप्रम् (पातु) रक्षतु (नः) अस्माकम् (दुस्तरम्) दुस्तरणीयम् । अजेयम् (त्रायमाणम्) रक्षकम् (सहः) बलम् ॥

२—(अंशः) विभाजकः (भगः) भजनीयः । सेवनीयः (वरुणः) अपानः (मित्रः) प्राणः (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अन्धकारनाशक आदित्यः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना भूमिः (पान्तु) रक्षन्तु (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूरान् देवान् (अप) दूरीकरणे (तस्य) तर्द हिंसायाम्—ड । हिंस-

(अप गमेत्=गमयेयुः) हटा देवें और (अन्तितम्) बन्ध में डालने वाले (शत्रुम्) शत्रु को (यवयत्=यवयेयुः) पृथक् करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भीतरी और बाहिरी अवस्था को सुधार कर अपने दोषों का नाश करके उन्नति करें ॥ २ ॥

धिये समश्विना प्रावतं न उरुष्या ण उरुज्मन्नप्रयुच्छन्। द्यौ३ष्पितर्यावय दुच्छुना या ॥ ३ ॥

धिये । सम् । अश्विना । प्र । अवतम् । नः । उरुष्य । नः । उरु-ज्मन् । अप्र-युच्छन् । द्यौः । पितः । यवय । दुच्छुना । या ३

भाषार्थ—(अश्विना) हे सब कामों में व्यापक रहने वाले माता पिता ! (धिये) सत् कर्म वा सत् बुद्धि के लिये (नः) हमारी (सम्) मिलकर (प्र) अच्छे प्रकार (अवतम्) रक्षा करो । (उरुज्मन्) हे विस्तीर्ण गति वाले परमात्मन् ! (अप्रयुच्छन्) चूक न करता हुआ तू (नः) हमारी (उरुष्य) रक्षा कर । (द्यौः) हे प्रकाशमान (पितः) पिता परमेश्वर ! (या) जो (दुच्छुना) दुर्गति है [उसको] (यवय) तू हटा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता इस प्रकार शिक्षा देवें जिस से उनके संतान ईश्वर आज्ञा पालन करके ऐश्वर्यवान् हों ॥ ३ ॥

कस्य । चोरस्य (क्षेपः) क्षिप-असुन् । अप्रोणिम् (गमेत्) अन्तर्गतणिजर्थः, बहुवचनस्यैकवचनम् । गमयेयुः (अभिह्रुतः) ह्रृ कौटिल्ये—क्विप् । कुटिलस्य (यवयत्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—एयन्ताल्लेटि अडागमो वृद्ध्यभावो बहुवनस्यैकवचनंच । यवयेयुः पृथक् कुर्युः (शत्रुम्) वैरिणम् (अन्तितम्) अति बन्धने—कर्तरि क्तः । बन्धकम् ॥

३—(धिये) धीः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । सत्कर्मणे सद्बुद्धये वा (सम्) संगत्य (अश्विना) सू० ३ । ३ । कर्मसु व्यापनशीलौ मातापितरौ (प्र) प्रकर्षेण (अवतम्) रक्षतम् (नः) अस्मान् (उरुष्य) सू० ३ । ३ । रक्ष (नः) (उरुज्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् उ० ४ । १४५ । इति उरु+अज गतिक्षेपणयोः—मनिन्, अकारलोपः । हे विस्तीर्णगते परमात्मन् (अप्रयुच्छन्) अ० २ । ६ । ३ । अप्रमाद्यन् (द्यौः) हे प्रकाशमान (पितः) पालक परमेश्वर (यवय) अपगमय (दुच्छुना) अ० ५ । १७ । ४ । दुर्गतिं (या) या, तामपि ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

धनजीवनवर्धनोपदेशः—धन और जीवन की वृद्धि का उपदेश ॥

उदे॑नमुत्त॒रं न॒याग्ने॑ घृ॒तेना॑हुत ।
समे॑नं॒ वर्च॑सा सृज प्र॒जया॑ च ब॒हुं कृ॑धि ॥ १ ॥

उत् । ए॒न॒म् । उ॒त्ऽत॒रम् । न॒य॒ । अग्ने॑ । घृ॒तेन॑ । आऽहु॒त॒ ।
सम् । ए॒न॒म् । वर्च॑सा । सृ॒ज॒ । प्र॒ऽजया॑ । च॒ । ब॒हुम् । कृ॒धि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(घृतेन) घृत से (आहुत) आहुति पाये हुये (अग्ने) हे अग्नि के समान तेजस्वी परमेश्वर ! (एनम्) इस पुरुष को (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (उत् नय) उठा । (एनम्) इस को (वर्चसा) तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर, (च) और (प्रजया) प्रजा से (बहुम्) प्रवृद्ध (कृधि) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से तेजस्वी होकर अपना सामर्थ्य और प्रजा बढ़ावे ॥ १ ॥

इन्द्रे॒मं प्र॑त॒रं कृ॑धि सजा॒ताना॑मसद् व॒शी ।
रा॒यस्पोषे॑ण॒ सं सृ॑ज जी॒वात॑वे ज॒रसे॑ नय ॥ २ ॥

इन्द्र॑ । इ॒मम् । प्र॒ऽत॒रम् । कृ॒धि॒ । स॒ऽजा॒ताना॑म् । अ॒स॒त् । व॒शी । रा॒यः । पोषे॑ण । सम् । सृ॒ज॒ । जी॒वात॑वे । ज॒रसे॑ । न॒य॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (इमम्) इस पुरुष को (प्रतरम्) अधिक ऊंचा (कृधि) कर, यह (सजातानाम्) समान

१—(उत् नय) ऊर्ध्वं प्रापय (एनम्) उपासकम् (उत्तरम्) उन्नतं पदम् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् परमात्मन् (घृतेन) आज्येन (आहुत) प्राप्ताहुते (सम् सृज) संयोजय (एनम्) (वर्चसा) तेजसा (प्रजया) सन्तानभृत्यादिना (च) (बहुम्) लङ्घिबंह्योर्नलोपश्च । उ० १ । २६ । इति बहि वृद्धौ—कु । प्रवृद्धम् (कृधि) कुरु ॥

२—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् भगवन् (इमम) धर्मात्मानम् (प्रतरम्) अधिकप्रवृद्धम् (कृधि) कुरु (सजातानाम्) समानजन्मनां बन्धूनाम् (असत्)

जन्म वाले वन्धुओं का (वशी) वश में रखने वाला, अधिष्ठाता (असत्) होवे। (रायः) धन की (पोषेण) पुष्टि से (सम् सृज) संयुक्त कर और (जीवातवे) बड़े जीवन के लिये और (जरसे) स्तुति के लिये (नय) आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन करके अपने वन्धुओं को उत्तम बर्ताव से वश में रख कर धन की वृद्धि करके पूर्ण यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

यस्यं कृण्मो हविर्गृहे तमंग्ने वर्धया त्वम् ।
तस्मै सोमो अधि ब्रवदयं च ब्रह्मंणस्पतिः ॥ ३ ॥

यस्यं । कृण्मः । हविः । गृहे । तम् । अग्ने । वर्धय । त्वम् ।
तस्मै । सोमः । अधि । ब्रवत् । अयम् । च । ब्रह्मंणः । पतिः ॥ ३

भाषार्थ—(यस्य) जिस पुरुष के (गृहे) घर में (हविः) देने और लेने योग्य व्यवहार (कृण्मः) हम करते हैं, (तम्) उस को (अग्ने) हे सर्व-व्यापक परमेश्वर ! (त्वम्) तू (वर्धय) बढ़ा। (तस्मै) उसी पुरुष के लिये (अयम्) यह (सोमः) ऐश्वर्यवान् (च) और (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः) रक्षक पुरुष (अधि) अधिक (ब्रवत्) कथन करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सबका हितैषी होवे वह परमेश्वर के अनुग्रह से वृद्धि करके ऐश्वर्यशाली विद्वानों में बड़ाई पावे ॥ ३ ॥

भवेत् (वशी) वशयिता। अधिष्ठाता (रायः) धनस्य (पोषेण) वर्धनेन (सम् सृज) संयोजय (जीवातवे) जीवेरातुः। उ० १। ७८। इति जीव प्राणधारणे—आतु। चिरजीवनाय (जरसे) अ० १। ३०। २। स्तुतये (नय) प्रेरय ॥

३—(यस्य) धार्मिकस्य (कृण्मः) कुर्मः (हविः) दातव्यं ग्राह्यं कर्म (गृहे) निवासे (तम्) (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (वर्धय) समर्धय (त्वम्) (तस्मै) पूर्वोक्ताय पुरुषाय (सोमः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (अधि) अधिकम् (ब्रवत्) कथयेत् (अयम्) प्रसिद्धः (च) (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) पालकः ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

मन्त्राः १-३ ॥ ब्रह्मणस्पतिः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

योऽस्मान् ब्रह्मणस्पतेऽदेवो अभिमन्यते ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ १ ॥

यः । अस्मान् । ब्रह्मणः । पते । अदेवः । अभि-मन्यते ।
सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणः पते) हे ब्रह्माण्ड के रक्षक ! (यः) जो (अदेवः) नास्तिक वा कुव्यवहारी पुरुष (अस्मान्) हम से (अभिमन्यते) अभिमान करता है । (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्व मथन करने वाले, (यजमानाय) विद्वानों का आदर करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का ध्यान करता हुआ विवेक पूर्वक यथावत् परीक्षा करके विघ्नों का नाश करे ॥ १ ॥

यो नः सोम सुशंसिनो दुःशंस आदिदेशति ।
वज्रेणास्य मुखे जहि स संपिष्टो अपायति ॥ २ ॥

यः । नः । सोम । सु-शंसिनः । दुः-शंसः । आ-दिदेशति ।
वज्रेण । अस्य । मुखे । जहि । सः । सम्-पिष्टः । अप । अयति २

१—(यः) (अस्मान्) धार्मिकान् प्रति (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्डस्य जगतः (पते) रक्षक परमात्मन् (अदेवः) नास्तिकः कुव्यवहारी वा (अभिमन्यते) अभिमानं करोति (सर्वम्) निःशेषम् (तम्) अदेवम् (रन्धयासि) रध्यति-र्वशगमने—निरु० १० । ४० । रध हिंसासंराद्ध्योः—एयन्ताल्लेटि, आडागमः । रधिजभोरचि । पा० ७ । १ । ६१ । इति नुम् । वशीकुर्याः (मे) मह्यम् (यज-मानाय) देवपूजकाय । सयोजकवियोजकाय (सुन्वते) अ० ४ । ३० । ६ । तत्त्वमथनं कुर्वते ॥

भाषार्थ—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (दुःशंसः) अति दुर्गति वाला शत्रु (सुशंसिनः) बड़ी स्तुति वाले (नः) हम लोगों पर (आदिदेशति) आदेश वा आज्ञा करे। (अस्य) उसके (मुखे) मुख पर (वज्रेण) वज्र से (जहि) ताडना कर। (स) वह (सपिष्टः) चूर चूरहोकर (अप अयति) भाग जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से सामर्थ्य पाकर शत्रुओं को वश में रक्खे ॥ २ ॥

यो नः सोमाभिदासति सनाभिर्यश्च निष्ट्यः ।
अप तस्य बलं तिर महीव द्यौर्वधत्मना ॥ ३ ॥

यः । नः । सोम । अभि-दासति । स-नाभिः । यः । च । निष्ट्यः ।
अप । तस्य । बलम् । तिर । मही-इव । द्यौः । वधत्मना ॥३॥

भाषार्थ—(सोम) हे परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो कोई (सनाभिः) अपना सपिण्डी (च) और (यः) जो कोई (निष्ट्यः) म्लेच्छ (नः) हमें (अभिदासति) सताता है, (तस्य) उसके (बलम्) बल को

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सोम) हे परमैश्वर्यवन् परमेश्वर (सुशंसिनः) शंसु स्तुतौ दुर्गतौ च—णिनि। बहुस्तुतियुक्तान् (दुःशंसः) शंसु—पचाद्यच्। अतिदुर्गतिः। महादुष्टाभिप्रायः (आदिदेशति) आङ्+दिश आदेशे, द्वित्वं शप् च छान्दसम्। आदिशति आज्ञापयति। शास्ति (वज्रेण) वर्जकेन शस्त्रेण (अस्य) शत्रोः (मुखे) वदने (जहि) ताडय (सः) शत्रुः (सपिष्टः) चूर्णीभूतः सन् (अप अयति) अप गच्छति। पलायते ॥

३—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सोम) परमैश्वर्यवन् (अभिदासति) अ० ४। १६। ५। अभितो हिनस्ति (सनाभिः) एकदेहोत्पन्नत्वेन तुल्यनाभिता। समाननाभिः। ज्ञातिः। सपिण्डः (यः) (च) (निष्ट्यः) अ० ३। ३। ६। निस—त्यप्। म्लेच्छः (अप तिर) नाशय (तस्य) शत्रोः (बलम्) सामर्थ्यम् (मही) महती। विस्तीर्णा (इव) यथा (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (वधत्मना) हनश्च वधः। पा० ३। ४। ७६। इति हन—अप्, वधादेशः

(वधत्मना) अपने वज्र रूप स्वभाव से (अप तिर) गिरा दे, (इव) जैसे (मही) बड़ा (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य [अन्धकार को] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक बल बढ़ा कर प्रत्येक शत्रु का नाश करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१-३ ॥ १, २, सोमः, ३ देवा देवताः ॥ गायत्री छन्दः ॥

सुखप्राप्त्युपदेशः—सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

येन॑ सो॒मादि॑तिः प॒था मि॒त्रा वा॒ यन्त्य॒द्रुहः॑
तेना॑ नोऽव॒सा ग॑हि ॥ १ ॥

येन॑ । सो॒म॒ । अदि॑तिः । प॒था । मि॒त्राः । वा॒ । यन्ति॑ । अ॒द्रुहः॑ ।
तेन॑ । नः॒ । अव॑सा । आ । ग॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (येन पथा) जिस मार्ग से (अदितिः) अदीन पृथिवी (वा) और (मित्राः) प्रेरणा करने हारे सूर्य आदि लोक (अद्रुहः) द्रोह रहित होकर (यन्ति) चलते हैं। (तेन) उसी से (अवसा) रक्षा के साथ (नः) हमें (आ गहि) आकर प्राप्त हो ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वेद पथ पर चल कर प्रीतिपूर्वक परस्पर रक्षा करें, जैसे सूर्यादि लोक परस्पर आकर्षण से परस्पर उपकार करते हैं ॥ १ ॥

येन॑ सोम साह॒न्त्यासु॑रान् र॒न्धया॑सि नः ।
तेना॑ नो॒ अधि॑ वोचत ॥ २ ॥

मन्त्रेष्वाङ्यादेरात्मनः । पा० ६ । ४ । १४१ । इति आकारलोपः । वज्ररूपेण स्वभावेन ॥

१—(येन) (सोम) परमैश्वर्यवन् (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना पृथिवी (पथा) मार्गेण (मित्राः) अ० ३ । ८ । १ । डुमिञ् प्रक्षेपणे—क्त्र । प्रेरकाः सूर्यादिलोकाः (वा) चार्थे (यन्ति) संचरन्ति (अद्रुहः) अद्रोग्धारः सन्तः (तेन) पथा (नः) अस्मान् (अवसा) रक्षणेन सह (आ गहि) आगच्छ ॥

येन । सोम । साहन्त्य । असुरान् । रन्धयासि । नः । तेन । नः । अधि । वोचत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(साहन्त्य) हे विजयी शूरों में रहने वाले (सोम) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन् ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुरान्) असुरों को (नः) हमारे लिये (रन्धयासि) तू वश में करे, (तेन) उसीसे (नः) हमारे लिये (अधि) अनुग्रह से (वोचत=अवोचत) आपने कथन किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी सनातनी वेद विद्या द्वारा भूत, भविष्यत् और वर्तमान में रक्षा करता है ॥ २ ॥

येन देवा असुराणामोजांस्यवृणीध्वम् ।
तेना नः शर्म यच्छत ॥ ३ ॥

येन । देवाः । असुराणाम् । ओजांसि । अवृणीध्वम् । तेन । नः । शर्म । यच्छत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी देवताओ ! (येन) जिस [मार्ग] से (असुराणाम्) असुरों के (ओजांसि) बलों को (अवृणीध्वम्) तुम ने रोका है, (तेन) उसी से (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छत) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टोंके जीतने में परस्पर सदा सहायक रहें ३

२—(येन) पथा-म० १ । (सोम) (साहन्त्य) भुवो झिच् । उ० ३ । ५० । इति षह अभिभवे—झिच् । पाथोनदीभ्यां ड्यण् । पा० ४ । ४ । १११ । इति सहन्ति—ड्यण् बाहुलकात् । हे सहन्तिषु सोढृषु जेतृषु भव (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् (रन्धयासि) सू० ६ । १ । त्वं वशीकुर्याः (नः) अस्मदर्थम् (नः) (अधि) अधिकम् अनुग्रहपूर्वकम् (वोचत) लुङि प्रथमपुरुषस्य छान्दसं रूपम् । भवान् कथितवानस्ति ॥

३—(येन,) वेदमार्गेण (देवाः) विजिगीषवः शूराः (असुराणाम्) सुरविरोधिनां शत्रूणाम् (ओजांसि) बलानि (अवृणीध्वम्) वृञ्संवरणे—लङ् । यूयं निवारितवन्तः स्थ (तेन) पथा (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) सुखम् (यच्छत) पाघ्राध्मा० । पा० । ३ । ७८ । इति दाण् दाने, यच्छादेशः । दत्त ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-३ ॥ विद्या देवता ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या की प्राप्ति का उपदेश ॥

यथा वृक्षं लिबुजा समन्तं परिषस्वजे। एवा परि ष्वजस्व मां यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥१॥

यथा। वृक्षम्। लिबुजा। सम्-अन्तम्। परि-सस्वजे। एव। परि। स्वजस्व। माम्। यथा। माम्। कामिनी। असः। यथा। मत्। न। अप-गाः। असः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (लिबुजा) बढ़ने वाले आश्रय के साथ उत्पन्न होने वाली, बेल (वृक्षम्) वृक्ष को (समन्तम्) सब ओर से (परिषस्वजे= परिष्वजते) लिपट जाती है। (एव) वैसे ही [हे विद्या] (माम्) मुझ से (परिस्वजस्व) तू लिपट जा, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुरने वाली (न) न (असः) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी पूरा तपश्चरण करके विद्या को इस प्रकार प्राप्त करे जिस से वह सदा स्मरण करके उससे उपकार लेता रहे ॥ १ ॥

इस मंत्र का (यथा माम्—मन्नापगा असः) यह भाग—अ० १। ३४। ५। और २। ३०। १। में आया है ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (वृक्षम्) स्वीकरणीयं द्रुमम् (लिबुजा) पृभिदिव्यधि०। उ० १। २३। इति लिप वृद्धौ—कु, पस्य बः। जनी प्रादुर्भावे—ड, टाप्। लिबुना वर्धकेन आश्रयेण सह जायते सा। लता, वल्ली। लिबुजा व्रततिर्भवति लीयते विभजन्तीति—निरु० ६।२८। (समन्तम्) सर्वतः (परिषस्वजे) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे, लडर्थे लिट्। परिष्वजते। आश्लिष्यति (एव) तथा (परि स्वजस्व) आश्लिष्य (माम्) ब्रह्मचारिणम्। अन्यद् यथा—अ० १। ३४। ५। (यथा) यस्मात्कारणात् (माम्) (कामिनी) कामयमाना (असः) त्वं भवेः (यथा) (मत्) मत्तः (न) निषेधे (अपगाः) अपगन्त्री। वियोगिनी (असः) ॥

यथा सुपर्णः प्रपतन् पक्षौ निहन्ति भूम्याम् । एवा नि हन्मि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥ २ ॥

यथा । सु-पर्णः । प्र-पतन् । पक्षौ । नि-हन्ति । भूम्याम् । एव । नि । हन्मि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रपतन्) उड़ता हुआ (सुपर्णः) शीघ्रगामी पक्षी (पक्षौ) दोनों पंखों को (भूम्याम्) भूमि पर (निहन्ति) जमा देता है। (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (नि हन्मि) मैं जमाता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली .. म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्यार्थी पूरा मन लगा कर विद्या प्राप्त करके उसकी सफलता करे ॥ २ ॥

यथेमे द्यावापृथिवी सद्यः पर्येति सूर्यः । एवा पर्येमि ते मनो यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः ॥३॥

यथा । इमे इति । द्यावापृथिवी इति । सद्यः । परि-एति । सूर्यः । एव । परि । एमि । ते । मनः । यथा । माम् । कामिनी । असः । यथा । मत् । न । अप-गाः । असः ॥३॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इमे) इस (द्यावापृथिवी) आकाश और

२—(यथा) येन प्रकारेण (सुपर्णः) सुपर्णाः सुपतनाः—निरु० ४ । ३ शीघ्रगामी पक्षी (प्रपतन्) उड्डीयमानः (पक्षौ) खगानां पतत्रौ (निहन्ति) नितरां प्राप्नोति स्थापयति (भूम्याम्) पृथिव्याम् (एव) तथा (नि हन्मि) स्थापयामि (ते) तुभ्यम् (मनः) स्वहृदयम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(यथा) (इमे) परिदृश्यमाने (द्यावापृथिवी) आकाशं भूमिं च

भूमि में (सूर्यः) लोकों का चलाने वाला सूर्य (सद्यः) शीघ्र (पर्येति) व्याप जाता है (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (मनः) अपना मन (परि एमि) मैं व्यापक करता हूं, (यथा) जिस से तू (माम् कामिनी) मेरी कामना करने वाली (असः) होवे, और (यथा) जिस से तू (मत्) मुझ से (अपगाः) बिछुरने वाली (न) न (असः) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य के समान नियम से परिश्रम करके विद्या प्राप्त करते हैं वे परोपकारी होकर सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमोपदेशः—गृहस्थ आश्रम का उपदेश

वाञ्छ मे तन्वं१ पादौ वाञ्छाक्ष्यौ३ वाञ्छ सक्थ्यौ।
अक्ष्यौ वृषण्यन्त्याः केशा मां ते कामेन शुष्यन्तु ॥१॥

वाञ्छ । मे । तन्वम् । पादौ । वाञ्छ । अक्ष्यौ । वाञ्छ । सक्थ्यौ । अक्ष्यौ । वृषण्यन्त्याः । केशाः । माम् । ते । कामेन । शुष्यन्तु ॥१॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (तन्वम्) शरीर की और (पादौ) दोनों पैरों की (वाञ्छ) कामना कर, (अक्ष्यौ) दोनों नेत्रों की (वाञ्छ) कामना कर, (सक्थ्यौ) दोनों जंघाओं की (वाञ्छ) कामना कर । (वृषण्यन्त्याः) ऐश्वर्यवान् पुरुष की इच्छा करती हुयी (ते) तेरी (अक्ष्यौ) दोनों आंखें और (केशाः)

(परि एति) परितो व्याप्नोति (सूर्यः) लोकप्रेरको भास्करः (एव) एवम् (परि एमि) परितः प्राप्नोमि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(वाञ्छ) कामयस्व । इच्छ (मे) मम (तन्वम्) शरीरम् (पादौ) (अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (सक्थ्यौ) सक्थिनी जङ्घे । ई च द्विवचने । पा० ७ । १ । ७७ । इति ईकारः (वृषण्यन्त्याः) अ० ५ । ५ । १ । वृषाण-

केश (कामेन) सुन्दर कामना से (माम्) मुझ को (शुष्यन्तु) सुखावें ॥ १ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष सब अङ्गों से हृष्ट पुष्ट और पुरुषार्थी होकर पूरण युवा अवस्था में गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करने की इच्छा करें ॥ १ ॥

मम॑ त्वा दोषणि॒श्रिषं॑ कृणोमि हृदय॒श्रिषं॑म् ।
यथा॒ मम॒ क्रता॒वसो॒ मम॑ चि॒त्तमु॒पाय॑सि ॥ २ ॥

मम॑ । त्वा॒ । दो॒षणि॒-श्रिषं॑म् । कृ॒णोमि॑ । हृ॒दय॒-श्रिषं॑म् ।
यथा॑ । मम॑ । क्रतौ॑ । अस॑: । मम॑ । चि॒त्तम् । उ॒प॒-आय॑सि ॥२॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझको (मम) अपने (दोषणिश्रिषम्) भुजा पर आश्रय वाली और (हृदयश्रिषम्) हृदय में आश्रय वाली (कृणोमि) मैं करता हूं। (यथा) जिससे (मम) मेरे (क्रतौ) कर्म वा बुद्धि में (असः) तू रहे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उपायसि) तू पहुंचती है ॥ २ ॥

भावार्थ—पति और पत्नी परस्पर पुरुषार्थ और प्रीति पूर्वक गृहस्थ आश्रम को यथावत् सिद्ध करें ॥ २ ॥

यासां॒ नाभि॑रा॒रेह॑णं हृ॒दि सं॒वन॑नं कृ॒तम् ।
गावो॑ घृ॒तस्य॑ मा॒तरो॒ऽमूं सं वा॑नयन्तु मे ॥ ३ ॥

यासा॑म् । नाभि॑: । आ॒-रेह॑णम् । हृ॒दि । स॒म्-वन॑नम् । कृ॒तम् ।
गाव॑: । घृ॒तस्य॑ । मा॒तर॑: । अ॒मूम् । सम् । व॒न॒य॒न्तु॒ । मे॒ ॥३॥

मिन्द्रम् ऐश्वर्यवन्तम् आत्मन इच्छन्त्याः (केशा.) (माम्) पुरुषम् (ते) तव (कामेन) इष्टमनोरथेन (शुष्यन्तु) शोषयन्तु ॥

२—(मम) (त्वा) त्वाम् (दोषणिश्रिषम्) श्रिषु दाहे, श्रिष आलिङ्गने इति सायण –क्विप्। पद्दन्नोमास०। पा० ६। १। ६३। इति दोः शब्दस्य दोषन्। सप्तम्या अलुक्। बाहौ पुरुषार्थे आश्रिताम् (कृणोमि) करोमि (हृदयश्रिषम्) हृदयाश्रिताम् (यथा) यस्मात्कारणात्। अन्यद् व्याख्यातम्। अ० १। ३४। २। (मम) (क्रतौ) कर्मणि बुद्धौ वा (असः) त्वं भूयाः (मम) (चित्तम्) अन्तः करणम् (उपायसि) उप+आङ्+अय गतौ। उपागच्छसि। आदरेण प्राप्नोषि ॥

भाषार्थ—(यासाम्) जिन [स्त्रियों] के (हृदि) हृदय में (नाभिः) स्नेह, (आरेहणम्) प्रशंसा और (संवननम्) भक्ति (कृतम्) की गयी है, (घृतस्य) घृत की (मातरः) बनाने वाली (गावः) गौयें (अमूम्) उस [पत्नी] को (मे) मेरे लिये (सम्) यथावत् (वनयन्तु) सेवन करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर पति पत्नी प्रीति पूर्वक रहते हैं, वहां घृत दुग्ध आदि पदार्थों की बहुतायत होती है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥१०॥

१-३ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ द्विपदा विराट् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

पृथिव्यै श्रोत्राय वनस्पतिभ्योऽग्नयेऽधिपतये स्वाहा॥१॥

पृथिव्यै । श्रोत्राय । वनस्पति-भ्यः । अग्नये । अधि-पतये । स्वाहा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(श्रोत्राय) श्रवण शक्ति के लिये (पृथिव्यै) पृथिवी को, और (वनस्पतिभ्यः) सेवा करने वालों के रक्षकों वृक्ष आदिकों के लिये (अधिपतये) [पृथिवी के] बड़े रक्षक (अग्नये) अग्नि को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी तत्त्व, और उस से अग्नि द्वारा उत्पन्न पदार्थों के विवेक से श्रवण शक्ति बढ़ावें ॥ १ ॥

३—(यासाम्) आदरार्थं बहुवचनम्। स्त्रीणाम् (नाभिः) बन्धनम्। स्नेहः (आरेहणम्) रिह कत्थने-ल्युट्। प्रशंसनम् (हृदि) हृदये (संवननम्) संभक्तिः (कृतम्) निष्पादितम् (गावः) धेनवः (घृतस्य) आज्यादिपदार्थस्य (मातरः) निर्मात्र्यः (अमूम्) पत्नीम् (सम्) सम्यक् (वानयन्तु) दीर्घश्छान्दसः। संभजन्ताम्। सेवन्ताम् (मे) मदर्थम् ॥

१—(पृथिव्यै) भूलोकाय (श्रोत्राय) श्रवणहिताय (वनस्पतिभ्यः) अ० १।३५।३। सेवकपालकेभ्यो वृक्षादिभ्यः। तेषां हितायेत्यर्थः (अग्नये) पृथिवीस्थतेजसे (अधिपतये) पृथिव्या रक्षकाय (स्वाहा) अ० २।१६।१। सुवाणी सुन्दरस्तुतिः ॥

प्राणायान्तरिक्षाय वयोभ्यो वायवेऽधिपतये स्वाहा ॥२॥

प्राणाय । अन्तरिक्षाय । वयःऽभ्यः । वायवे । अधिऽपतये । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राणाय) प्राण के लिये (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को, और (वयोभ्य) अन्न आदि पदार्थों के लिये (अधिपतये) [अन्तरिक्ष के] बड़े रक्षक (वायवे) वायु को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्तरिक्ष और वायु से उपकार लेकर प्राण और अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करें ॥ २ ॥

दिवे चक्षुषे नक्षत्रेभ्यः सूर्यायाधिपतये स्वाहा ॥ ३ ॥

दिवे । चक्षुषे । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याय । अधिऽपतये । स्वाहा ॥३॥

भाषार्थ—(चक्षुषे) दृष्टि शक्ति के लिये (दिवे) प्रकाश को, और (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों के लिये (अधिपतये) [प्रकाश के] बड़े रक्षक (सूर्याय) सूर्य को (स्वाहा) सुन्दर स्तुति है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाश और सूर्य के आकर्षण आदि गुणों को जानकर दृष्टि और नक्षत्र विद्या प्राप्त करें ॥ ३ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ ११ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानोपदेश—गर्भाधान का उपदेश ॥

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसुवनं कृतम् ।

२—(प्राणाय) प्राणहिताय (अन्तरिक्षाय) मध्यलोकाय (वयोभ्यः) अ० २ । १० । ३ । अन्नादिपदार्थेभ्यः (वायवे) गमनशीलाय पवनाय (अधिपतये) अन्तरिक्षस्य पालकाय (स्वाहा) सुन्दरस्तुतिः ॥

३—(दिवे) प्रकाशाय (चक्षुषे) दर्शनशक्तये (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रज्ञानेभ्यः (सूर्याय) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकाय दिवाकराय (अधिपतये) प्रकाशस्य महारक्षकाय ॥

तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि ॥ १ ॥

शमीम् । अश्वत्थः । आ-रूढः । तत्र । पुम्-सुवनम् । कृतम् ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । स्त्रीषु । आ । भरामसि ॥१

भाषार्थ —(अश्वत्थः) बलवानों में ठहरने वाला पुरुष (शमीम्) शान्त स्वभाव स्त्री के प्रति (आरूढः) आरूढ हो चुकता है, (तत्र) उस काल में (पुंसुवनम्) सन्तान का उत्पत्ति कर्म (कृतम्) किया जाता है। (तत्) वह कर्म (वै) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक संतान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) उस कर्म को (स्त्रीषु) स्त्रियों में (आभरामसि) हम पहुंचाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—वीर्यवान् पति और शान्त स्वभाव पत्नी यथा विधि परस्पर संयोग करके सन्तान उत्पन्न करें ॥ १ ॥

इस सूक्त का विधान पुंसवन संस्कार में श्री दयानन्दकृत संस्कार विधि में है ॥

पुंसि वै रेतो भवति तत् स्त्रियामनु षिच्यते ।
तद्वै पुत्रस्य वेदनं तत् प्रजापतिरब्रवीत् ॥ २ ॥

पुंसि । वै । रेतः । भवति । तत् । स्त्रियाम् । अनु । सिच्यते ।
तत् । वै । पुत्रस्य । वेदनम् । तत् । प्रजा-पतिः । अब्रवीत् ॥२॥

१—(शमीम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति शम उपशमे-इन्, ङीप् । शमी कर्मनाम-निरु० २ । १ । शान्तस्वभावां स्त्रियम् (अश्वत्थः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वेषु बलवत्सु तिष्ठतीति सः । अतिवीरपुरुषः (आरूढः) अधिगतः (तत्र) तस्मिन् काले (पुंसुवनम्) भूसूधू० । उ० २ । ८० । इति षूङ् प्रसवे—क्युन् । पुंसो रक्षकस्य सन्तानस्योत्पादनम् (कृतम्) विहितम् (तत्) पुंसवनम् (पुत्रस्य) कुलशोधकस्य सन्तानस्य (वेदनम्) विद्लृ लाभे—ल्युट् । लाभकारणम् (तत) कर्म (स्त्रीषु) पत्नीषु (आभरामसि) आ हरामः । प्रापयामः ॥

भाषार्थ—(पुंसि) रक्षा स्वभाव पुरुष में (वै) ही (रेतः) वीर्य (भवति) होता है, (तत्) वह वीर्य (स्त्रियाम्) स्त्री में (अनु) अनुकूल विधि से (सिच्यते) सींचा जाता है। (तत्) वह कर्म (वै) ही (पुत्रस्य) कुल शोधक संतान की (वेदनम्) प्राप्ति का कारण है, (तत्) वही (प्रजापतिः) प्रजाओं के रक्षक ईश्वर ने (अब्रवीत्) बनाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—युवा अवस्था में ही मनुष्य पूर्ण बलवान् और वीर्यवान् होकर उत्तम बलवान् संतान उत्पन्न करे, यह ईश्वर नियम है ॥ २ ॥

प्रजापतिरनुमतिः सिनीवाल्यचीक्लृपत् ।
स्त्रैषूयमन्यत्र दधत् पुमांसमु दधदिह ॥ ३ ॥

प्रजा-पतिः । अनु-मतिः । सिनीवाली । अचीक्लृपत् । स्त्रैसूयम् । अन्यत्र । दधत् । पुमांसम् । ऊं इति । दधत् । इह ॥३

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाली, (सिनीवाली) अन्नवाली (प्रजापतिः) प्रजापालक शक्ति परमेश्वर ने (अचीक्लृपत्) यह शक्ति दी है। (अन्यत्र) दूसरे प्रकार में [स्त्री का रज अधिक होने में] (स्त्रैसूयम्) स्त्री जन्म संबन्धी क्रिया (दधत्=दधते) वह [ईश्वर] धारण करता है और (इह) इसमें

२—(पुंसि) अ० ३। ६। १। रक्षणस्वभावे बलवति पुरुषे (वै) एव (रेतः) अ० २। २८। ५। वीर्यम् (भवति) (तत्) रेतः (स्त्रियाम्) पत्न्याम् (अनु) आनुकूल्येन। यथाविधि (सिच्यते) सेचनं क्रियते (तत्) रेतःसेचनम् (वै) (पुत्रस्य) (वेदनम्) प्राप्तिकारणम् (प्रजापतिः) प्रजानां पालकः परमेश्वरः (अब्रवीत्) अकथयत् ॥

३—(प्रजापतिः) प्रजापालिका शक्तिः परमेश्वरः (अनुमतिः) अनुकूलबुद्धियुक्ता (सिनीवाली) अ० २। २६। २। अन्नधर्त्री। अन्नवती (अचाक्लृपत्) कृपू सामर्थ्ये एयन्ताल्लुङि चङि रूपम्। समर्थमकरोत् (स्त्रैसूयम्) राजसूयसूर्य० पा० ३। १। ११४। इति स्त्री+षूङ् प्रसवे—क्यप्। स्त्रीसूय-अण् सम्बन्धे। कन्याजन्मसम्बन्धि कर्म (अन्यत्र) अन्यप्रकारे। स्त्रीरजआधिक्ये (दधत्) दध धारणे—लडर्थे लेट् परस्मैपदं च छान्दसम्। ईश्वरो दधते

[पुरुष का वीर्य अधिक होने पर] (उ) निश्चय करके (पुमांसम्) बलवान् संतान को (दधत्) वह स्थापित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि वाला, अन्नवान् और प्रजा पालक होकर ईश्वर नियम से गृहस्थ आश्रम के योग्य होता है और स्त्री का रज अधिक होने पर कन्या और पुरुष का वीर्य अधिक होने पर पुरुष सतान उत्पन्न होता है ३॥

सूक्तम् ॥ १२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापनाशनायोपदेशः—पाप नाश करने के लिये उपदेश ॥

परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम् ।
रात्री जगदिवान्यद्धंसात् तेना ते वारये विषम् ॥ १ ॥

परि । द्याम्-इव । सूर्यः । अहीनाम् । जनिम । अगमम् । रात्री । जगत्-इव । अन्यत् । हंसात् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥१

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य (इव) जैसे (द्याम्) आकाश को, [वैसे ही] (अहीनाम्) सर्पों [सर्प समान दोषों] के (जनिम) जन्म को (परि) सब ओर से (अगमम्) मैंने जान लिया है। (रात्री इव) जैसे रात्री (हंसात्) सूर्य से (अन्यत्) अन्य (जगत्) जगत् का [ढक लेती है], (तेन) उसी प्रकार से ही [हे मनुष्य] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—योगी मनुष्य दोषों के कारणों को ऐसे जान लेता है जैसे सूर्य आकाशस्थ पदार्थों को, और जैसे रात्री में सब पदार्थ सूर्य को छोड़ कर अदृष्ट हो जाते हैं वैसे ही उस योगी के पाप नष्ट हो जाते हैं, और वह पूर्ण ज्ञान से सूर्य समान प्रकाशमान होजाता है ॥ १ ॥

स्थापयति (पुमांसम्) पुरुषसन्तानम् (उ) अवश्यम् (दधत्) (इह) अस्मिन्वधौ । पुरुषवीर्याधिक्ये ॥

१—(परि) परितः (द्याम्) अन्तरिक्षम् (इव) यथा (सूर्यः) भास्करः (अहीनाम्) अ० २ । ५ । ५ । आहननशीलानां सर्पाणां दोषाणां वा (जनिम) अ० १ । ८ । ४ । जन्म (अगमम्) गतवान् ज्ञानवानस्मि (रात्री) निशा (जगत्) प्राणिजातम् (इव) यथा (अन्यत्) इतरत् (हंसात्) वृतृवदि० । उ० ३ । ६२ । इति हन हिंसागत्योः—स । हंसाः, अश्वा.—निघ० १ । १४ । हंसा हन्तेर्घ्नन्त्यध्वानम्-निरु० ४ । १३ । हंसाः सूर्यरश्मयः-निरु० १४ । २९ । गमनशीलात् सूर्यात् (तेन) प्रसिद्धप्रकारेण (ते) तव । आत्मनः (वारये) निवारयामि (विषम्) विषरूपं पापम् ॥ ४

यद् ब्रह्मभिर्यदृषिभिर्यद् देवैर्विदितं पुरा । यद् भूतं भव्यमासन्वत् तेना ते वारये विषम् ॥ २ ॥

यत् । ब्रह्म-भिः । यत् । ऋषि-भिः । यत् । देवैः । विदितम् । पुरा । यत् । भूतम् । भव्यम् । आसन्-वत् । तेन । ते । वारये । विषम् ॥२॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ज्ञान] (ब्रह्मभिः) वेद जानने वाले, ब्रह्मणों करके, (यत्) जो (ऋषिभिः) सन्मार्गदर्शक ऋषियों करके और (यत्) जो (देवैः) व्यवहार कुशल महात्माओं करके (पुरा) पूर्व काल में (विदितम्) जाना गया है। और (यत्) जो (भूतम्) भूत काल में और (भव्यम्) भविष्यत् काल में (आसन्वत्) व्याप्ति वाला है, (तेन) उसी से [हे जीव !] (ते) तेरे (विषम्) विष को (वारये) मैं हटाता हूं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर अपने दोषों का नाश करके सुखी होवें ॥ २ ॥

मध्वा पृञ्चे नद्यः पर्वता गिरयो मधु ।
मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे ॥ ३ ॥

मध्वा । पृञ्चे । नद्यः । पर्वताः । गिरयः । मधु । मधु । परुष्णी । शीपाला । शम् । आस्ने । अस्तु । शम् । हृदे ॥३॥

भाषार्थ—(मध्वा) अमृत से [तुझ को] (पृञ्चे) मैं संयुक्त करता हूं। (नद्यः) नदियां, (पर्वताः) पर्वत और (गिरयः) छोटे पहाड़ (मधु)

२—(यत्) ज्ञानम् (ब्रह्मभिः) वेदज्ञैर्ब्राह्मणैः (ऋषिभि) अ० २। ६। १। सन्मार्गदर्शकैः (देवैः) व्यवहारकुशलैः (विदितम्) परिज्ञातम् (पुरा) पूर्वकाले (भूतम्) अतीतकाले भवम् (भव्यम्) भविष्यत्कालीनम् (आसन्वत्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति आस उपवेशने—कनिन्, मतुप् च । व्याप्तिमत् । अन्यद् गतम् । म० २ ॥

३—(मध्वा) अमृतेन (पृञ्चे) पृची सम्पर्के । संयोजयामि त्वाम् (नद्यः) (पर्वताः) (गिरयः) क्षुद्रशैलाः (मधु) अमृतम् (परुष्णी) अर्ति-

अमृत [होवें]। (परुष्णी) पालन सामर्थ्य वाली, (शीपाला) निद्रा लाने वाली ओषधि (मधु) अमृत [होवे], (आस्ने) तेरे मुख के लिये (शम्) शांति और (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब पदार्थों से विवेक पूर्वक उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १३ ॥

१-३ ॥ मृत्युर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मृत्युप्रबलत्वोपदेशः ॥ मृत्यु की प्रबलता का उपदेश ॥

नमो देववधेभ्यो नमो राजवधेभ्यः ।
अथो ये विश्यानां वधास्तेभ्यो मृत्यो नमोऽस्तु ते ॥१॥

नमः । देव-वधेभ्यः । नमः । राज-वधेभ्यः । अथो इति । ये । विश्यानाम् । वधाः । तेभ्यः । मृत्यो इति । नमः । अस्तु । ते ॥१॥

भाषार्थ—(देववधेभ्यः) ब्राह्मणों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार और (राजवधेभ्यः) क्षत्रियों के शस्त्रों को (नमः) नमस्कार है। (अथो) और भी (ये) जो (विश्यानाम्) वैश्यों के (वधाः) शस्त्र हैं (तेभ्यः) उनको,

---

पृथपि० । उ० २ । ११७ । इति पॄ पालनपूरणयोः—उसि । लोमादिपामादि० । पा० ५ । २ । १०० । इति परुष्—न मत्वर्थे । गौरादित्वाद् ङीप् । परुष्णी पर्ववती भास्वती कुटिलगामिनी—निरु० ६ । २६ । परुष्णीम् पालिकां नीतिम्—दयानन्दभाष्ये ऋ० ७ । १८ । ६ । पालनवती (शीपाला) शीङो धुक्लक्० । उ० ४ । ३८ । इति शीङ् शयने—वालन्, स च कित् वस्य पः, टाप् । शेते अनया । सुखदायिका यवाद्योषधिः (शम्) शान्तिः (आस्ने) पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति आस्यस्य आसन् । आस्याय मुखाय (अस्तु) (हृदे) हृदयाय ॥

१—(नमः) नमस्कारः । सत्कारः (देववधेभ्यः) ब्राह्मणानां विद्यारूपशस्त्रेभ्यः (राजवधेभ्यः) क्षत्रियाणां हननसाधनेभ्यः शस्त्रेभ्यः (अथो) अपि च (ये) (विश्यानाम्) विश प्रवेशने—क्यप् । वैश्यानाम् (वधाः) धनरूपायु-

और (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्यावली, पराक्रमवली और धनवली भी मृत्यु के वश हैं। इस से सब धर्माचरण करते रहें ॥ १ ॥

नम॑स्ते अधिवाकाय॑ परावाकाय॑ ते॒ नमः॑ ।

सुम॒त्यै मृ॑त्यो ते॒ नमो॑ दुर्म॒त्यै त॑ इ॒दं नमः॑ ॥ २ ॥

नमः॑ । ते॒ । अ॒धि॒-वा॒काय॑ । प॒रा॒-वा॒काय॑ । ते॒ । नमः॑ । सु॒म॒त्यै ।
मृ॒त्यो॒ इति॑ । ते॒ । नमः॑ । दुः॒-म॒त्यै । ते॒ । इ॒दम् । नमः॑ ॥२॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अधिवाकाय) अनुग्रह वचन को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (परावाकाय) पराजय वचन को (नमः) नमस्कार है। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरी (सुमत्यै) सुमति को (नमः नमस्कार है और (ते) तेरी (दुर्मत्यै) दुर्मति को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥२॥

भावार्थ—अनुग्रहकारी, पराजयकारी, सुमति वाले और दुर्मति वाले सब ही मृत्यु वश हैं। मनुष्यों को सदा धर्मात्मा रहना चाहिये ॥ २ ॥

नम॑स्ते यातुधाने॑भ्यो॒ नम॑स्ते भेष॒जेभ्यः॑ ।

नम॑स्ते मृत्यो॒ मूले॑भ्यो ब्राह्म॒णेभ्य॑ इ॒दं नमः॑ ॥ ३ ॥

नमः॑ । ते॒ । या॒तु॒-धाने॑भ्यः । नमः॑ । ते॒ । भे॒ष॒जेभ्यः॑ । नमः॑ ।
ते॒ । मृ॒त्यो॒ इति॑ । मूले॑भ्यः । ब्रा॒ह्म॒णेभ्यः॑ । इ॒दम् । नमः॑ ॥३॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (यातुधानेभ्यः) पीड़ाप्रद रोगों को (नमः) नम-

---

धानि (तेभ्यः) धनेभ्य. (मृत्यो) अ० १ । ३० । ३ । हे मरण (अस्तु) (ते) तुभ्यम् ॥

२—(नमः) सत्कारः (ते) तव (अधिवाकाय) वच परिभाषणे—घञ्, कुत्वम् । अनुग्रहवचनाय (परावाकाय) पराभववचनाय (सुमत्यै) शोभनायै बुद्धयै (मृत्यो) हे मरण ! (दुर्मत्यै) कठोरायै बुद्धयै (इदम्) क्रियमाणम् ॥

३—(नमः) नमस्कारः (ते) तव (यातुधानेभ्यः) अ० १ । ७ । १ ।

स्कार और (ते) तेरे (भेषजेभ्यः) सुख देने वाले वैद्यों को (नमः) नमस्कार है। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरे (मूलेभ्यः) कारणों को (नमः) नमस्कार और (ब्राह्मणेभ्यः) वेदवेत्ता विद्वानों को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ—रोगी और वैद्य मृत्यु के वश हैं, तौ भी मनुष्य रोगों का निदान जानकर पुरुषार्थ करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १४ ॥

१-३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः ॥ रोग के नाश का उपदेश ॥

अस्थिस्रंसं परुस्रंसमास्थितं हृदयामयम् ।
बलासं सर्वं नाशयाङ्गेष्ठा यश्च पर्वसु ॥ १ ॥

अस्थि-स्रंसम् । परुः-स्रंसम् । आ-स्थितम् । हृदय-आमयम् ।
बलासम् । सर्वम् । नाशय । अङ्गे-स्थाः । यः । च । पर्व-सु ॥१॥

भाषार्थ—[हे वैद्य !] (अस्थिस्रंसम्) हड्डियां गला देने वाले, (परुस्रंसम्) जोड़ो के ढीला कर देने वाले (आस्थितम्) स्थिर (हृदयामयम्) हृदय रोग, अर्थात् (सर्वम्) सब (बलासम्) बल गिरा देने वाले क्षय रोग [खांसी, कफ़ आदि] को (नाशय) नाश करदे, (यः) जो (अङ्गेष्ठाः) अङ्ग अङ्ग में बैठा हुआ (च) और (पर्वसु) सब जोड़ों में है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा रोगों का नाश करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा अविद्या का नाश करें ॥ १ ॥

पीडाप्रदेभ्यो रोगेभ्यः (भेषजेभ्यः) अ० १। ४। ४। भेष भयं जयतीति। भेषज सुखनाम—निघ० ३। ६। सुखकरेभ्यो वैद्येभ्यः (मृत्यो) (मूलेभ्यः) मूल प्रतिष्ठायाम्—क। मूलं मोचनाद्वा मोषणाद्वा मोहनाद्वा—निरु० ६। ३ कारणेभ्यः। निदानेभ्यः। (ब्राह्मणेभ्य.) वेदविद्भ्यः (इदम्) ॥

१—(अस्थिस्रंसम्) स्रंसु पतने—पचाद्यच्। अस्थ्नां स्रंसः स्रंसनं पतनं यस्मात् तं रोगम् (परुस्रंसम्) परुषां पर्वणां शरीरसन्धीनां पतनं यस्मात् तम् (आस्थितम्) समन्ताद् व्याप्य स्थितम् (हृदयामयम्) हृद्रोगम् (बलासम्) अ० ४। ६। ८। बलस्य असितारं कासकफादिक्षयरोगम् (सर्वम्) निःशेषम् (नाशय) उन्मूलय (अङ्गेष्ठाः) अङ्ग+ष्ठा-विच्। हस्तपादाद्यङ्गेषु स्थितः (यः) (बलासः) (च) (पर्वसु) शरीरसन्धिषु वर्तते ॥

निर्बलासं बलासिनः क्षिणोमि मुष्करं यथा ।
छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव ॥ २ ॥

निः । बलासम् । बलासिनः । क्षिणोमि । मुष्करम् । यथा ।
छिनद्मि । अस्य । बन्धनम् । मूलम् । उर्वार्वाः-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(बलासिनः) क्षय रोग वाले से (बलासम्) बल घटाने वाले क्षय रोग को (निः क्षिणोमि) उखाड़ कर नाश करता हूं (यथा) जैसे (मुष्करम्) कतरन को। (अस्य) इस रोग के (बन्धनम्) बन्धन को (छिनद्मि) काटे डालता हूं, (इव) जैसे (उर्वार्वाः) ककड़ी की (मूलम्) जड़ को ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य रोग का कारण समझ कर शीघ्र चिकित्सा करता है, वैसे ही विद्वान् अपने दोषों को समझ कर हटावे ॥ २ ॥

निर्बलासेतः प्र पताशुंगः शिशुको यथा ।
अथो इट इव हायनोऽपद्राह्यवीरहा ॥ ३ ॥

निः । बलास । इतः । प्र । पत । आशुंगः । शिशुकः । यथा ।
अथो इति । इटः-इव । हायनः । अप । द्राहि । अवीर-हा ॥ ३

भाषार्थ—(बलास) हे बल घटाने वाले क्षय रोग ! (इतः) यहां से (निः=निष्क्रम्य) निकल कर (प्रपत) चला जा, (यथा) जैसे (आशुंगः)

२—(निः) निःसार्य (बलासम्) म० १ । बलनाशकं क्षयादिरोगम् (बलासिनः) क्षयरोगिणः पुरुषात् (क्षिणोमि) नाशयामि (मुष्करम्) पुषः कित्। उ० ४ । ४ । इति मुष छेदने—करन् । छिन्नभागम् (यथा) येन प्रकारेण (छिनद्मि) विश्लेषयामि (अस्य) रोगस्य (बन्धनम्) पीडनम् (मूलम्) (उर्वार्वोः) उरु+आर्वाः । खित् कशिपद्यतेः । उ० १ । ८५ । इति ऋ गतौ—ऊ प्रत्ययः । उरु विस्तीर्णम् ऋच्छतीति उर्वारू तस्याः कर्कट्याः (इव) यथा ॥

३—(निः) निष्क्रम्य (बलास) हे बलनाशक क्षयरोग (इतः) अस्मात् स्थानात् (प्र) प्रकर्षेण (पत) दूरं गच्छ (आशुंगः) आशु+गमेः—खच्,

शीघ्रगामी (शिशुकः) छोटा बछड़ा । (अथो) और भी (अवीरहा) वीरों का न नाश करने वाला तू (अप=अपेत्य) हटकर (द्राहि) भाग जा, (इव) जैसे (हायनः) प्रति वर्ष होने वाला (इटः) घास ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को रोग और अज्ञान नाश करने में शीघ्रता करनी चाहिये, जिससे वीरों की सदा जय रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगुणप्राप्त्युपदेशः—उत्तम गुणों की प्राप्ति का उपदेश ॥

उत्तमो अस्योषधीनां तव वृक्षा उपस्तयः ।
उपस्तिरस्तु सो३ऽस्माकं यो अस्माँ अभिदासति ॥१॥

उत्-तमः । असि । ओषधीनाम् । तव । वृक्षाः । उप-स्तयः । उप-स्तिः । अस्तु । सः । अस्माकम् । यः । अस्मान् । अभि-दासति ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ओषधीनाम्) सब तापनाशक ओषधियों में तू (उत्तमः) उत्तम (असि) है, (वृक्षाः) सब स्वीकार करने योग्य गुण (तव) तेरे (उपस्तयः) उपासक [अधीन] हैं । (सः) वह पुरुष (अस्माकम्) हमारे (उपस्तिः) अधीन (अस्तु) होवे, (यः) जो (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की भक्ति पूर्वक मनुष्य पुरुषार्थ करके अपने विघ्नों को मिटावे ॥ १ ॥

स च डित् । आशुगामी (शिशुकः) वत्सतरः (यथा) (अथो) अपि च (इटः) इट गतौ—क । घासः (इव) यथा (हायनः) हायन—अर्श आद्यच् । प्रतिवर्षभवः (अप) अपेत्य (द्राहि) द्रा कुत्सायां गतौ । पलायस्व (अवीरहा) वीराणाम् अहन्ता त्वम् ॥

१—(उत्तमः) सर्वोत्कृष्टः (असि) (ओषधीनाम्) अ० १ । ३० । ३ । तापनाशकानां पदार्थानाम् (तव) (वृक्षाः) वृक्ष वरणे—क । वरणीयाः श्रेष्ठा गुणाः (उपस्तयः) अ० ३ । ५ । ६ । उपासकाः । वशीभूताः (उपस्तिः) उपासकः (अस्तु) (सः) शत्रुः (अस्माकम्) (यः) (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) अ० ४ । १६ । ५ । अभितो हिनस्ति ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
तेषां सा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ २ ॥

स-बन्धुः । च । असबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभि-दासति ।
तेषाम् । सा । वृक्षाणाम्-इव । अहम् । भूयासम् । उत्-तमः ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जो शत्रु समूह (सबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे । (वृक्षाणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों में (सा इव) लक्ष्मी के समान, (अहम्) मैं (तेषाम्) उनके बीच (उत्तमः) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब प्रकार की उलझनें हटाकर विद्या सुवर्ण आदि उत्तम पदार्थ प्राप्त करे ॥ २ ॥

यथा सोम ओषधीनामुत्तमो हविषां कृतः ।
तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः ॥ ३ ॥

यथा । सोमः । ओषधीनाम् । उत्-तमः । हविषाम् । कृतः ।
तलाशा । वृक्षाणाम्-इव । अहम् । भूयासम् । उत्-तमः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सोमः) अमृत [अन्न वा सोम लता] (ओषधीनाम्) तापनाशक ओषधियों और (हविषाम्) ग्राह्य पदार्थों में (उत्तमः) उत्तम (कृतः) बनाया गया है । और (वृक्षाणाम् इव) जैसे उत्तम

२—(सबन्धु) बन्धुभिः सहितः (च च) समुच्चये (असबन्धुः) समानबन्धुरहितः (यः) शत्रुसमूहः (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिदासति) अ० ४ । १६ । ५ । अभितो हिनस्ति (तेषाम्) शत्रूणाम् (सा) स्यति दारिद्र्यम् । षो अन्तकर्मणि ड, टाप् । लक्ष्मीः (वृक्षाणाम्) वरणीयानां पदार्थानाम् (इव) यथा (अहम्) (भूयासम्) (उत्तम) श्रेष्ठः ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (सोमः) अमृतमन्नं सोमलता वा (ओषधीनाम्) तापनाशकपदार्थानाम् (उत्तमः) श्रेष्ठः (हविषाम्) ग्राह्यवस्तूनाम (कृत) निर्मितः (तलाशा) तलमाधारम् अश्नुते । तल+अशू व्याप्तौ—अच,

पदार्थों में (तलाशा) आश्रय प्राप्त करने वाली लक्ष्मी है, [वैसे ही] (अहम्) मैं (उत्तम) उत्तम (भूयासम्) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न, सुवर्ण आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम होवें ॥३॥

सूक्तम् ॥ १६ ॥

१-४ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १,४ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ उष्णिक् ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः ॥ ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

आबयो अनाबयो रसस्त उग्र आबयो ।
आ ते करम्भमद्मसि ॥ १ ॥

आबयो इति । अनाबयो इति । रसः । ते । उग्रः । आबयो इति । आ । ते । करम्भम् । अद्मसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आबयो) हे चारों ओर गति वाले ! (अनाबयो) हे विना गति वाले ! (आबयो) हे चारों ओर कान्ति वाले ईश्वर ! (ते) तेरा (रसः) रस [आनन्द] (उग्रः) नित्य सम्बन्ध वाला है । हम (ते) तेरे (करम्भम्) सत्तु [अन्न] (आ) भले प्रकार (अद्मसि) खाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में श्रद्धा पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके भोगें ॥ १ ॥

टाप् । आधारत्वात् पवित्री लक्ष्मीः (वृत्ताणाम्) वरणीयानां मध्ये (अहम्) (भूयासम्) (उत्तमः) ॥

१—(आबयो) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । इति आङ्+वी गतिव्याप्ति-प्रजनकान्त्यसनखादनेषु—उ । वस्य बः । हे समन्तात् गतिशील (अनाबयो) वी—उ । हे गतिशून्य (रसः) आनन्दः (ते) तव (उग्रः) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति उच समवाये—रन् । समवेतः । नित्यसम्बद्धः (आबयो) हे समन्तात् प्रकाशमान (आ) सम्यक् (ते) तव (करम्भम्) अ० ७ । ४ । २ । सक्तून् । अन्नम् (अद्मसि) अद्मः । खादामः ॥

विह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता ।
स हिन त्वमसि यस्त्वमात्मानमावयः ॥ २ ॥

वि-ह्लः । नाम । ते । पिता । मद-वती । नाम । ते । माता ।
सः । हिन । त्वम् । असि । यः । त्वम् । आत्मानम् । आवयः ॥२॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तेरा (पिता) पालन करने वाला गुण (विह्लः) विशेष कपाने वाला [आश्चर्यजनक] (नाम) प्रसिद्ध है, और (ते) तेरी (माता) निर्माण शक्ति (मदवती) हर्ष युक्त (नाम) प्रसिद्ध है (सः) वह (हिन=हि) ही (त्वम्) तू (असि) है, (यः) जिस (त्वम्) तू ने (आत्मानम्) हमारे आत्मा की (आवयः) रक्षा की है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में वर्तमान रह कर सदा आत्म-रक्षा करें ॥ २ ॥

तौविलिकेऽवेलयावायमैलव ऐलयीत् ।
बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल ॥ ३ ॥

तौविलिके । अव । ईलय । अव । अयम् । ऐलवः । ऐलयीत् ।
बभ्रुः । च । बभ्रु-कर्णः । च । अप । इहि । निः । आल ॥३॥

भाषार्थ—(तौविलिके) वृद्धि से जीतने वाले व्यवहार में [हमें] (अव) अवश्य (ईलय=ईरय) आगे बढ़ा । (अयम्) इस (ऐलवः) पृथवी

२—(विह्लः) वि+ह्वल चलने—अच् । छान्दसं रूपम् । विशेष-कम्पकः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) तव (पिता) पालको गुणः (मदावती) सांहितिको दीर्घः । हर्षवती (माता) ,अ० ५ । ५ । १ । निर्माणशक्तिः (सः) प्रसिद्धः (हिन) नकारश्छान्दसः । हि । खलु (त्वम्) (असि) (यः) (आत्मानम्) आत्मबलम् (आवयः) अव रक्षणे—लङ्, चुरादित्व छान्दसम् । आवः । रक्षितवानसि ॥

३—(तौविलके) गुपादिभ्यः कित । उ० १ । ५६ । इति तु गति वृद्धिहिंसासु—इलच् । तेन दीव्यतिखनतिजयतिजितम् । पा० ४ । ४ । २ । इति

के पदार्थों में व्यापक तू ने [ऋषियों को] (अव) अवश्य (ऐलयीत्=०-यीः) आगे बढ़ाया है। (आल) हे समर्थ परमेश्वर! (वभ्रुः) पोषण करने वाला (च च) और (बभ्रुकर्णः) पोषक मनुष्यों का पतवार रूप तू (निः) नित्य (अप) आनन्द से (इहि) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व ऋषियों के समान परमेश्वर का सहारा लेकर सदा वृद्धि करें ॥ ३ ॥

अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा ।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

अलसाला । असि । पूर्वा । सिलाञ्जाला । असि । उत्तरा ।
नीलागलसाला ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अलसाला) आलसियों को रोकने वाली (पूर्वा) प्रधान शक्ति (असि) है, और तू (सिलाञ्जाला) कण कण

जयत्यर्थे ठक्, अजादित्वाट्टाप्। तुविलेन वृद्ध्या जयशीले व्यवहारे (अव) अवश्यम् (ईलय) ईर क्षेपे, रस्य लः। अस्मान् प्रेरय (अव) निश्चयेन (अयम्) सर्वव्यापकः (ऐलवः) इला पृथिवी—निघ० १। १। इला-अण्+वा गतिगन्धनयोः—क। इलायाः पृथिव्या इमे पदार्थास्तान् वाति गच्छति स परमेश्वरः (ऐलयीत्) ईल प्रेरणे-णिचि लुङ्, मध्यमपुरुषस्य प्रथमः। नोनयतिध्वनयत्येलयत्यर्दयतिभ्यः। पा० ३। १। ५१। इति च्लेश्चङो निषेधः। ऐलयीः। त्वं प्रेरितवानसि ऋषीन् (वभ्रुः) कुभ्रश्च। उ० १। २२। इति भृञ्-कु। पोषकः (च च) समुच्चये (वभ्रुकर्णः) कॄवृजॄ०। उ० ३। १०। कॄ विक्षेपे-न। वभ्रूणां पोषकाणां कर्णः अरित्रमिव पारकः (अप) आनन्दे (इहि) गच्छ (निः) निश्चयेन (आल) अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु-घञ्। हे शक्त, समर्थ ॥

४—(अलसाला) अलस+अला। न लसतीति, लस दीप्तौ-अच्+अल वारणे—अच्, टाप्। अलसान् क्रियामन्दान् वारयतीति सा (असि) (पूर्वा) प्रधाना शक्तिः (सिलाञ्जाला) षिल कणश आदाने—क। पतिचण्डिभ्यामालञ्। उ० १। ११७। इति सिल+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—आलञ्। सिलान् कणान् कणान् अनक्ति प्रकटयतीति सा (उत्तरा) उत्कृष्टतरा शक्ति (नीलागलसाला) नील+आगल+साला। नि+इल गतौ-क। डलयोरैक्यम्। ऋदो-

को प्रकट करने वाली और (नीलागलसाला) सब लोकों के घर [ब्रह्माण्ड में] व्यापक (उत्तरा) अति उत्तम शक्ति (असि) है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी परमेश्वर की महिमा को विचारते हुये मनुष्य सदा पुरुषार्थी होवें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १७ ॥

१-३ ॥ पृथिवी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गर्भाधानविषयोपदेशः—गर्भाधान का उपदेश ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही भू॒तानां॒ गर्भ॑माद॒धे ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ १ ॥

यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । भू॒ताना॑म् । गर्भ॑म् । आ॒-द॒धे ।
ए॒व । ते॒ । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (भूतानाम्) पञ्च महाभूतों के (गर्भम्) गर्भ को (आदधे) यथावत् धारण किया है, (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) स्थिर होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पृथिवी बीज को अपने में धारण करके अनुकूल समय पर उत्पन्न करती है, वैसे ही प्रयत्न किया जावे कि संतान गर्भ से पूरे दिनों में उत्पन्न होकर बली और पराक्रमी होवे, ऐसा ही भावार्थ आगे समझो ॥ १ ॥

यह सूक्त स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि में गर्भाधान प्रकरण में आया है।

रप्। पा० ३ । ३ । ७७ । इति आङ्+गॄ निगरणे—अप्, रस्य लः । पल गतौ—घञ्, टाप्। नीलानां नीडानां निवासस्थानां लोकानाम् आगले आगरे आगारे गृहे ब्रह्माण्डे व्यापिका ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (इयम्) परिदृश्यमाना (पृथिवी) (मही) विशाला (भूतानाम्) पृथिव्यादिपञ्चभूतानाम् (गर्भम्) अ० ३ । १० । १२ । स्तुत्यं बालकम् (आदधे) सम्यम् धृतवती (एव) एवम् (ते) तव (ध्रियताम्) गर्भाशये धृतः स्थिरो भवतु (गर्भः) (अनु) आनुकूल्येन (सूतुम्) षः कित्च । उ० १ । ७१ । इति पूङ् प्राणिगर्भविमोचने—तुन् कित्। सूनुं संतानम् (सवितवे) पूङ्—तुमर्थेतवे प्रत्ययः । प्रसवितु प्रजनयितुम् ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धारे॒मान् वन॒स्पतीन् ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ २ ॥

यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । दा॒धार॑ । इ॒मान् । व॒न॒स्पती॑न् ।
ए॒व । ते॒ । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥२॥

भावार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (इमान्) इन (वनस्पतीन्) सेवा करने वालों के रक्षक, वृक्ष आदि को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा.. .. म० १ ॥२॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ पर्व॑तान् गि॒रीन् ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ ३ ॥

यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । दा॒धार॑ । पर्व॑तान् । गि॒रीन् ।
ए॒व । ते॒ । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) विशाल (पृथिवी) पृथिवी ने (पर्वतान्) पहाड़ों और (गिरीन्) पहाड़ियों को (दाधार) धारण किया है (एव) वैसे ही (ते) तेरा ...म० १ ॥ ३ ॥

यथे॒यं पृ॑थि॒वी म॒ही दा॒धार॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् ।
ए॒वा ते॑ ध्रियतां॒ गर्भो॒ अनु॒ सूतुं॒ सवि॑तवे ॥ ४ ॥

यथा॑ । इ॒यम् । पृ॒थि॒वी । म॒ही । दा॒धार॑ । वि-स्थि॑तम् । जग॑त् ।
ए॒व । ते॒ । ध्रि॒य॒ता॒म् । गर्भः॑ । अनु॑ । सूतु॑म् । सवि॑तवे ॥४॥

२—(दाधार) धृतवती (इमान्) परिदृश्यमानान् (वनस्पतीन्) अ०१ । १२ । ३ । सेवकानां रक्षकान् वृक्षान् ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(पर्वतान्) महाशैलान् (गिरीन्) क्षुद्रशिलोच्चयान् । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इयम्) इस (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी ने (विष्ठितम्) विविध प्रकार से स्थित (जगत्) जगत को (दाधार) धारण किया है। (एव) वैसे ही (ते) तेरा (गर्भः) गर्भ (सूतुम्) संतान को (अनु) अनुकूलता से (सवितवे) उत्पन्न करने के लिये (ध्रियताम्) धारण किया जावे ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईर्ष्यानिवारणायोपदेशः ॥ ईर्ष्या के निवारण का उपदेश ॥

ई॒र्ष्याया॑ ध्रा॒जिं प्र॑थ॒मां प्र॑थ॒मस्या॑ उ॒ताप॑राम् ।
अ॒ग्निं हृ॑द॒य्यं॑१॒ शोकं॒ तं ते॒ निर्वा॑पयामसि ॥ १ ॥

ई॒र्ष्यायाः॑ । ध्रा॒जिम् । प्र॒थ॒माम् । प्र॒थ॒मस्याः॑ । उ॒त । अप॑राम् ।
अ॒ग्निम् । हृ॒द॒य्य॑म् । शोक॑म् । तम् । ते॒ । निः । वा॒प॒या॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरी (ईर्ष्यायाः) डाह की (प्रथमाम्) पहिली (ध्राजिम्) गति को (उत) और (प्रथमस्याः) पहिली गति की (अपराम्) दूसरी गति को, (हृदय्यम्) हृदय में भरी (तम्) सताने वाली (अग्निम्) अग्नि और (शोकम्) शोक को (निः) सर्वथा (वापयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूसरों की वृद्धि देखकर कभी दाह न करें किन्तु दूसरे की उन्नति में अपनी उन्नति जानें ॥ १ ॥

४—(विष्ठितम्) विविधं स्थितम् (जगत्) चराचरात्मकं संसारम् । अन्यद् गतम् ॥

१—(ईर्ष्यायाः) ईर्ष्य ईर्ष्यायाम्-अ । परसम्पत्त्यसहनस्य मत्सरस्य (ध्राजिम्) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । इति ध्रज गतौ—इञ् । गतिम् (प्रथमाम्) आद्याम् (प्रथमस्याः) प्रथमभाविन्या गतेः (उत) अपि च (अपराम्) अनन्तरां गतिम् (अग्निम्) संतापम् (हृदय्यम्) शरीरावयवाद् यत् । पा० ४ । ३ । ५५ । इति हृदय—यत् । हृदये भवम् (शोकम्) खेदम् (तम्) तर्द—ड । तर्दकं हिंसकम् (ते) तव (निः) नितराम् (वापयामसि) डुवप बीजसंताने छेदने च । वापयामः शमयामः ॥

यथा भूमिर्मृतमना मृतान्मृतमनस्तरा ।
यथोत मम्रुषो मन एवेर्ष्योर्मृतं मनः ॥ २ ॥

यथा । भूमिः । मृत-मनाः । मृतात् । मृतमनः-तरा । यथा । उत । मम्रुषः । मनः । एव । ईर्ष्योः । मृतम् । मनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (भूमि.) भूमि (मृतमना:) मरे मन वाली [ऊसर] होकर (मृतात्) मरे से भी (मृतमनस्तरा) अधिक मरे मन वाली है। (उत) और (यथा) जैसे (मम्रुष) मरे हुये मनुष्य का (मनः) मन है (एव) वैसे ही (ईर्ष्योः) डाह करने वाले का (मनः) मन (मृतम्) मरा होता है ॥ २ ॥

भावार्थ— जैसे भूमि ऊसर हो जाने से उपजाऊ नहीं रहती और जैसे मृतक प्राणी का मन कुछ नहीं कर सकता, वैसे ही डाह करने वाला जल भुन कर उद्योग हीन हो जाता है ॥ २ ॥

अदो यत् ते हृदि श्रितं मनस्कं पतयिष्णुकम् ।
ततस्त ईर्ष्यां मुञ्चामि निरूष्माणं दृतेरिव ॥ ३ ॥

अदः । यत् । ते । हृदि । श्रितम् । मनः-कम् । पतयिष्णुकम् । ततः । ते । ईर्ष्याम् । मुञ्चामि । निः । ऊष्माणम् । दृतेः-इव ॥३॥

भाषार्थ—(अदः) वह (यत्) जो (ते) तेरे (हृदि) हृदय में (श्रितम्) रक्खा हुआ (पतयिष्णुकम्) धडकता हुआ (मनस्कम्) छोटा मन है

२—(यथा) येन प्रकारेण (भूमिः) सर्वप्राणिभिरधिष्ठिता पृथिवी (मृतमनाः) उत्पादनशक्तिहीना। ऊषरा (मृतात्) त्यक्तप्राणात्। मृतकात् (मृतमनस्तरा) अधिकमृतमना (उत) अपि च (मम्रुषः) मृङ् प्राणत्यागे—क्वसु। मृतवतः पुरुषस्य (मनः) मनोबलम् (एव) एवमेव (ईर्ष्योः) भृमृशीङ्० । उ० १।६। इति ईर्ष्य—उ। ईर्ष्यायुक्तस्य पुरुषस्य (मृतम्) विनष्टं भवति (मनः) ॥

३—(अदः) तत् प्रसिद्धम् (यत्) (ते) तव (हृदि) हृदये (श्रितम्) स्थितम् (मनस्कम्) अल्पान्तःकरणम् (पतयिष्णुकम्) शेश्छन्दसि । पा०

(ततः) उससे (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (निः मुञ्चामि) बाहिर निकालता हूं, (इव) जैसे (दृतेः) धौंकनी से (ऊष्माणम्) श्वास को ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य कभी किसी से ईर्ष्या द्वेष न करे क्योंकि उससे मन गिर जाता है, किन्तु पुरुषार्थ से अपनी उन्नति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १८ ॥

१-३ ॥ पवमानो देवता ॥ १ अनुष्टुप् २, ३ गायत्री ॥

पवित्राचरणायोपदेशः—पवित्र आचरण के लिये उपदेश ॥

पुनन्तु मा देवजनाः पुनन्तु मनवो धिया ।
पुनन्तु विश्वा भूतानि पवमानः पुनातु मा ॥ १ ॥

पुनन्तु । मा । देव-जनाः । पुनन्तु । मनवः । धिया । पुनन्तु । विश्वा । भूतानि । पवमानः । पुनातु । मा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवजनाः) विजय चाहने वाले वा व्यवहार कुशल पुरुष (मा) मुझे (धिया) कर्म वा बुद्धि से (पुनन्तु) शुद्ध करें, (मनवः) मननशील विद्वान् लोग (पुनन्तु) शुद्ध करें । (विश्वा) सब (भूतानि) प्राणीमात्र (मा) मुझे (पुनन्तु) शुद्ध करें, (पवमानः) पवित्र परमात्मा (पुनातु) शुद्ध करे ॥ १ ॥

भावार्थ—माता पिता और आचार्य आदि विद्वान् पुरुष संतानों को परमेश्वर के ज्ञान सहित ब्रह्मचर्य और सुशिक्षा से धार्मिक सुशील बनावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ९ सू० ६७ म० २७ और यजु० अ० १९ म० ३९ ॥

---

३ । २ । १३७ । इति पत गतौ–इष्णुच्, कन् च । इतस्ततः पतनशीलम् (ततः) तस्माद् मनसः (ते) तव (ईर्ष्याम्) म० १ । मत्सरम् (मुञ्चामि) मोचयामि (निः) वहिर्भावे (ऊष्माणम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति उष दाहे–मनिन्, छान्दसो दीर्घः । वाष्पम् । अन्तः पूरितं वायुम्, (दृतेः) दृणातेर्ह्रस्वः । उ० ४ । १८४ । इति दृ विदारणे–ति । चर्ममयात् पात्रात् । भस्त्रायाः सकाशात् (इव) यथा ॥

१—(पुनन्तु) शोधयन्तु (मा) मां सन्तानम् (देवजनाः) विजिगीषवो व्यवहारिणो वा मनुष्या. (मनवः) शॄस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । इति मन ज्ञाने—उ । मननशीला विद्वांसः (धिया) कर्मणा—निघ २ । १ । प्रज्ञया—निघ० ३ । ९ । (विश्वा) सर्वाणि (भूतानि) प्राणिजातानि (पवमानः) अ० ३ । ३१ । २ । पवित्रः परमेश्वरः (पुनातु) शोधयतु (मा) माम् ॥

पवमानः पुनातु मा क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
अथो अरिष्टतातये ॥ २ ॥

पवमानः । पुनातु । मा । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे । अथो इति । अरिष्ट-तातये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पवमानः) पवित्र परमेश्वर (मा) मुझे (क्रत्वे) उत्तम कर्म वा बुद्धि के लिये, (दक्षाय) बल के लिये, (जीवसे) जीवन के लिये (अथो) और भी (अरिष्टतातये) कल्याण करने के लिये (पुनातु) शुद्ध आचरण वाला करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा विज्ञान प्राप्त करके बुद्धि, बल और कीर्ति बढ़ा कर आप सुखी रहें और सब को सुखी रक्खें ॥ २ ॥

उभाभ्यां देव सवितः पवित्रेण सवेन च ।
अस्मान् पुनीहि चक्षसे ॥ ३ ॥

उभाभ्याम् । देव । सवितः । पवित्रेण । सवेन । च । अस्मान् । पुनीहि । चक्षसे । ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे दानशील (सवितः) सत्य कर्मों में प्रेरक जगदीश्वर ! (उभाभ्याम्) दोनों अर्थात् (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (च) और (सवेन) ऐश्वर्य से (अस्मान्) हमें (चक्षसे) देखने के लिये (पुनीहि) पवित्र कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर शुद्ध आचरण से ऐश्वर्य बढ़ा कर संसार के पदार्थों को विज्ञान पूर्वक साक्षात् करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—९ । ६७ । २५ । और यजु० १९ । ४३ ॥

२—(पवमानः) पवित्रः परमेश्वरः (पुनातु) शुद्धाचारिणं करोतु (मा) माम् (क्रत्वे) अ० ४ । ३१ । ६ । उत्तमकर्मणे प्रज्ञायै वा (दक्षाय) अ० २ । २९ । ३ । प्रवृद्धाय बलाय (जीवसे) तुमर्थे सेसेन० । पा० ३ । ४ । ९ । इति जीव प्राणधारणे-असे । जीवनार्थम् (अथो) अपि च (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । क्षेमकरणाय ॥

३—(उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (देव) हे दातः (सवितः) सत्यकर्मसु प्रेरकेश्वर (पवित्रेण) शुद्धाचरणेन (सवनेन) ऐश्वर्येण (च) (अस्मान्) धार्मिकान् (पुनीहि) शोधय (चक्षसे) अ० १ । ५ । १ । दर्शनाय ॥

सूक्तम् ॥ २० ॥

१-३ ॥ तक्मा देवता ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः; ३ विराट् पङ्क्तिः ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अग्नेरिवास्य दहत एति शुष्मिण उतेव मत्तो विलपन्नपायति। अन्यमस्मदिच्छतु कं चिदव्रतस्तपुर्वधाय नमो अस्तु तक्मने ॥ १ ॥

अग्नेः-इव। अस्य। दहतः। एति। शुष्मिणः। उत-इव। मत्तः। वि-लपन्। अप। अयति। अन्यम्। अस्मत्। इच्छतु। कम्। चित्। अव्रतः। तपुः-वधाय। नमः। अस्तु। तक्मने ॥१

भाषार्थ—वह [ज्वर] (दहतः) दहकती हुई, (शुष्मिणः) बलवान् (अस्य) इस (अग्नेः) अग्नि के [ताप के] (इव) समान (एति) व्यापता है, (उत) और (मत्तः इव) उन्मत्त के समान (विलपन्) विलपता हुआ (अप अयति) भाग जाता है। (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे (कम् चित्) किसी [कुनयमी] को (अव्रतः) वह व्रतहीन (इच्छतु) ढूंढ लेवे, (तपुर्वधाय) तपते हुये अस्त्र रखने वाले (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर उत्तम वैद्य होते हैं और मनुष्य उचित आहार विहार करते हैं वहां ज्वरादि रोग नहीं होते ॥ १ ॥

१—(अग्नेः) पावकस्य ताप इति शेषः (इव) यथा (अस्य) प्रसिद्धस्य (दहतः) दाहकस्य (एति) व्याप्नोति (शुष्मिणः) शोषकबलयुक्तस्य (उत) अपि च (इव) यथा (मत्तः) उन्मत्तः। आत्मविस्मारकः (विलपन्) विविधं प्रलापं कुर्वन् (अप अयति) दूरं गच्छति (अन्यम्) व्रतहीनम् (अस्मत्) अस्मत्तः। व्रतधारकेभ्यः (इच्छतु) अन्विच्छतु (कम् चित्) कमपि पुरुषम् (अव्रतः) भ्रष्टनियमः (तपुर्वधाय) तापायुधाय (नमः) नमस्कारः (अस्तु) (तक्मने) अ० १। २५। १। कृच्छ्रजीवनकारिणे ज्वराय ॥

नमो॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्तु त॒क्मने॒ नमो॒ राज्ञे॒ वरु॑णाय॒ त्विषी॑मते। नमो॑ दि॒वे नमः॑ पृथि॒व्यै नम॒ ओष॑धीभ्यः॥२॥

नमः॑। रु॒द्राय॑। नमः॑। अ॒स्तु॒। त॒क्मने॑। नमः॑। राज्ञे॑। वरु॑णाय। त्विषि॑-मते। नमः॑। दि॒वे। नमः॑। पृ॒थि॒व्यै। नमः॑। ओष॑धीभ्यः २

भाषार्थ—(रुद्राय) दुःख नाशक वैद्य को (नमः) नमस्कार, (तक्मने) दुःखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (त्विषिमते) प्रकाशमान, (राज्ञे) सब के राजा, (वरुणाय) श्रेष्ठ परमेश्वर को (नमः) नमस्कार हो। (दिवे) प्रकाशमान सूर्य को (नमः) नमस्कार, (पृथिव्यै) फैली हुयी पृथिवी को (नमः) नमस्कार, और (ओषधीभ्यः) ताप नाशक अन्न आदि पदार्थों को (नमः) नमस्कार हो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्पुरुषों के मेल, ईश्वर विचार और सांसारिक पदार्थों के नियमों के साक्षात् करने से स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

अ॒यं यो अ॑भिशोचयि॒ष्णुर्विश्वा॑ रू॒पाणि॒ हरि॑ता कृ॒णोषि॑। तस्मै॑ तेऽरु॒णाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमः॑ कृणोमि॒ वन्या॑य त॒क्मने॑ ॥३॥

अ॒यम्। यः। अ॒भि-शो॒च॒यि॒ष्णुः। विश्वा॑। रू॒पाणि॑। हरि॑ता। कृ॒णोषि॑। तस्मै॑। ते॒। अ॒रु॒णाय॑। ब॒भ्रवे॑। नमः॑। कृ॒णोमि॒। वन्या॑य। त॒क्मने॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (यः) जो (अभिशोचयिष्णुः) बहुत ही शोक में डालने वाला तू (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों को (हरिता) हरे वा पीले

२—(नमः) नमस्कारः (रुद्राय) अ० २। २७। ६। दुःखनाशकाय वैद्याय (अस्तु) (तक्मने) म० १। ज्वराय (राज्ञे) सर्वशासकाय (वरुणाय) वरणीयाय परमेश्वराय (त्विषिमते) अ० ४। १६। २। दीप्तियुक्ताय (दिवे) प्रकाशमानाय सूर्याय (पृथिव्यै) विस्तृतायै भूम्यै (ओषधीभ्यः) तापनाशिकाभ्यो व्रीह्यादिभ्यः ॥

३—(अयम्) निर्दिष्टः (य) तक्मा (अभिशोचयिष्णुः) णेश्छन्दसि। पा० ३। २। १३७। इति शुच शोके-इष्णुच्। सर्वत शोकमुत्पादयन् (विश्वा),

(कृणोषि) कर देता है । (तस्मै) उस (ते) तुझ (अरुणाय) रक्त, (बभ्रवे) भूरे और (वन्याय) बनैले (तक्मने) दुखित जीवन करने वाले ज्वर को (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सावधान रहकर रुधिर विकार आदि से उत्पन्न हुए ज्वर आदि रोगों से बचकर सदा हृष्ट पुष्ट रहें ॥ ३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ २१ ॥

१-३ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा ।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥ १ ॥

इमाः । याः । तिस्रः । पृथिवीः । तासाम् । ह । भूमिः । उत्-तमा । तासाम् । अधि । त्वचः । अहम् । भेषजम् । सम् । ऊं इति । जग्रभम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (याः) जो (तिस्रः) तीन [सूर्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष] (पृथिवीः) विस्तृत लोक हैं, (तासाम्) उन में (ह) निश्चय

सर्वाणि (रूपाणि) सौन्दर्याणि (हरिता) हृञ् हरणे—इतच् । रक्तदूषणेन नीलपीतमिश्रितवर्णानि हरिद्रावर्णानि वा (कृणोषि) करोषि (तस्मै) तादृशाय (ते) तुभ्यम् (अरुणाय) रक्तवर्णाय (बभ्रवे) पिङ्गलवर्णाय (नमः) नमस्कारम् (कृणोमि) करोमि (वन्याय) वने भवाय (तक्मने) म० १ । कृच्छ्रजीवनकारिणे ज्वराय ॥

१—(इमाः) दृश्यमानाः (याः) (तिस्रः) त्रिसङ्ख्याका द्यावापृथिव्यन्तरिक्षरूपाः (पृथिवीः) पृथिव्यः । विस्तृता लोकाः (तासाम्) लोकानां मध्ये (ह) खलु (भूमिः) भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । इति भू सत्तायाम्—मि ।

करके (भूमिः) भूमि, सब का आधार परमेश्वर (उत्तमा) उत्तम है। (तासाम्) उन [लोकों] के (त्वचः अधि) विस्तार से ऊपर (भेषजम्) भयनाशक ब्रह्म को (उ) अवश्य (अहम्) मैंने (सम् जग्रभम्) यथावत् ग्रहण किया ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के रचे लोक लोकान्तरों के सम्बन्ध और गुणों को जान कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम् ।
सोमो भगं इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा ॥ २ ॥

श्रेष्ठम् । असि । भेषजानाम् । वसिष्ठम् । वीरुधानाम् । सोमः । भगःऽइव । यामेषु । देवेषु । वरुणः । यथा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हे ब्रह्म !) तू (भेषजानाम्) भयनाशक पदार्थों में (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ और (वीरुधानाम्) विविध प्रकार से उगती हुई प्रजाओं के बीच (वसिष्ठम्) अत्यन्त धन वाला वा वसने वाला (असि) है, (इव) जैसे (भगः) ऐश्वर्यवान् (सोमः) चन्द्रमा (यामेषु) चलने वाले तारात्रों के बीच, और (यथा) जैसे (वरुणः) सूर्य (देवेषु) प्रकाशमान पदार्थों में है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ परमात्मा का आश्रय लेकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

भवन्ति सर्वे लोका यस्यां सा। परमेश्वरः (उत्तमा) श्रेष्ठा (अधि) उपरि (त्वचः) तनोतेरनश्च वः। उ० २। ६३। इति तनु विस्तारे—चिक्। विस्तारात् (अहम्) ब्रह्मज्ञानी (भेषजम्) भेषस्य भयस्य जेतृ ब्रह्म (सम्) सम्यक् (उ) अवश्यम् (जग्रभम्) ग्रहः स्वार्थण्यन्तात् लुङि चङि छान्दस रूपम्। गृहीतवानस्मि ॥

२—(श्रेष्ठम्) प्रशस्यतमम् (असि) (भेषजानाम्) भयनाशकानां पदार्थानां मध्ये (वसिष्ठम्) अ० ४। २६। ३। वसुमत्तमम्। अतिशयेन धनयुक्तम्। वस्तृतमम् (वीरुधानाम्) अ० १। ३२। १। वि+रुह प्रादुर्भावे—क्विप्, टाप्। विरोहणशीलानां प्रजानां मध्ये (सोमः) चन्द्रमाः (भगः) भगवान्। ऐश्वर्यवान् (इव) यथा (यामेषु) या गतौ—मन्। गन्तृषु नक्षत्रेषु (देवेषु) प्रकाशमानेषु पदार्थेषु (वरुणः) अन्धकारनिवारकः सूर्यः ॥

रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ ।
उत स्थ केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः ॥ ३ ॥
रेवतीः । अनाधृषः । सिषासवः । सिषासथ । उत । स्थ ।
केश-दृंहणीः । अथो इति । ह । केश-वर्धनीः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रेवतीः) हे धन वाली ! (अनाधृषः) कभी हिंसा न करने वाली ! (सिषासवः) हे दान करने वा सेवा करने की इच्छा वाली प्रजाओ ! तुम (सिषासथ=०-सत) सेवा करने की इच्छा करो । तुम (उत) अत्यन्त (केशदृंहणी) प्रकाश दृढ करने वाली (अथो ह) और भी (केश-वर्धनीः) प्रकाश बढाने वाली (स्थ) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या धन और सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके प्रीति पूर्वक ईश्वर भक्ति करते हुये दृढ़ता से विद्या का प्रकाश बढ़ावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २२ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ जगती ॥

वृष्टिविद्योपदेशः—वृष्टि विद्या का उपदेश ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति । त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ १ ॥

३—(रेवतीः) अ० ३ । ४ । ७ । रेवत्यः । रयिमत्यः । विद्यासुवर्णादिधनयुक्ताः (अनाधृषः) धृष हिंसाक्रोधाभिभवेषु—क्विप् । सर्वतोऽहिंसिकाः (सिषासवः) षणु दाने वा षण सम्भक्तौ—सनि-उप्रत्ययः । सनीवन्तर्धभ्रस्ज० । पा० ७ । २ । ४६ । इति इटो विकल्पनाद् अभावपक्षे जनसनखनां । पा० । ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । सनितुं दातुं सेवितुं वेच्छवः (सिषासथ) लोडर्थे लट् । सेवितुमिच्छत (उत) अप्यर्थे (स्थ) भवथ (केशदृंहणीः) केश+दृहि वृद्धौ—ल्युट्, ङीप् । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२ । २५ । प्रकाशस्य दृढकारिण्यः (अथो) अपि च (ह) खलु (केशवर्धनीः) प्रकाशस्य वर्धयित्र्यः ॥

कृष्णम् । नि-यानम् । हरयः । सु-पर्णाः । अपः । वसानाः । दिवम् । उत् । पतन्ति । ते । आ । अववृत्रन् । सदनात् । ऋतस्य । आत् । इत् । घृतेन । पृथिवीम् । वि । ऊदुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हरयः) रस खींचने वाली, (सुपर्णाः) अच्छा उड़ने वाली किरणें (अपः) जल को (वसानाः) ओढ़ कर (कृष्णम्) खींचने वाले (नियानम्) नित्य गमन स्थान अन्तरिक्ष में होकर (दिवम्) प्रकाशमय सूर्य मण्डल को (उत् पतन्ति) चढ़ जाती हैं । (ते) वे (इत्) ही (आत्) फिर (ऋतस्य) जल के (सदनात्) घर [सूर्य] से (आ अववृत्रन्) लौट आती हैं, और उन्हीं ने (घृतेन) जल से (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि) विविध प्रकार से (ऊदुः) सींच दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें पवन द्वारा भूमि से जल को खींच कर और फिर बरसा कर उपकार करती हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-म० १ सू० १६४ । म० ४७ और निरु० ७ । २४ । में भी ॥

पयस्वतीः कृणुथाप ओषधीः शिवा यदेजथा मरुतो रुक्मवक्षसः । ऊर्जं च तत्र सुमतिं च पिन्वत यत्रा नरो मरुतः सिञ्चथा मधु ॥ २ ॥

१—(कृष्णम्) आकर्षकम् (नियानम्) नित्यगमनस्थानम् अन्तरिक्षं प्रति । अत्यन्त संयोगे द्वितीया (हरयः) रसं हरन्तः (सुपर्णाः) आदित्यरश्मयः—निरु० ७ । २४ । (अपः) जलानि (वसानाः) आच्छादयन्तः (दिवम्) प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम् (उत्) उद्गत्य (पतन्ति) प्राप्नुवन्ति (ते) रश्मयः (आ अववृत्रन्) वृतेर्लुङि । द्युद्भ्यो लुङि । पा० १ । ३ । ९१ । इति परस्मैपदम्, च्लेश्चङ् रुडागमश्च छान्दसः । आ वर्तन्ते । आगच्छन्ति (सदनात्) गृहात् । सूर्यमण्डलात् (ऋतस्य) उदकस्य—निघ० १ । १२ । (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (घृतेन) उदकेन । घृतमित्युदकनाम जिघर्तेः सिञ्चतिकर्मणः—निरु० ७ । २४ । (पृथिवीम्) भूमिम् (वि) विविधम् (ऊदुः) उन्दी क्लेदने, लिट्, उपधालोपश्च छान्दसः । उन्दांचक्रुः । सिक्तवन्तः ॥

पर्यस्वतीः । कृणुथ । अपः । ओषधीः । शिवाः । यत् । एजथ । मरुतः । रुक्म-वक्षसः । ऊर्जम् । च । तत्र । सु-मतिम् । च । पिन्वत । यत्र । नरः । मरुतः । सिञ्चथ । मधु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रुक्मवक्षसः) हे तेज[बिजुली]को हृदय में रखने वाले (मरुतः) वायु के वेगो ! (यत्) जब (एजथ) तुम चलते हो, (अपः) जल और (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (पयस्वतीः) रस वाली और (शिवाः) कल्याणकारी (कृणुथ) तुम करते हो । (च) और (तत्र) वहां (ऊर्जम्) बल देने वाला अन्न (च) और (सुमतिम्) उत्तम बुद्धि (पिन्वत) बरसाते हो, (यत्र) जहां पर (नरः) हे नायक (मरुतः) वायुगणो ! (मधु) जल (सिञ्चथ) सींचते हो ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु बिजुली से युक्त मेघ से मिलकर बरसा करता है और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करता है, उसी प्रकार मनुष्यों को विद्या आदि उत्तम गुण प्राप्त करके आनन्दित होना चाहिये ।

उदप्रुतो मरुतस्ताँ इयर्त वृष्टिर्या विश्वा निवतस्पृणाति ।
एजाति ग्लहा कन्येव तुन्नैरुं तुन्दाना पत्येव जाया ॥३॥

उद-प्रुतः । मरुतः । तान् । इयर्त । वृष्टिः । या । विश्वाः । नि-वतः । पृणाति । एजाति । ग्लहा । कन्या-इव । तुन्ना । एरुम् । तुन्दाना । पत्या-इव । जाया ॥ ३ ॥

२—(पयस्वतीः) रसवतीः (कृणुथ) कुरुथ (अपः) जलानि (ओषधीः) अन्ना पदार्थान् (शिवाः) सुखकरीः (यत्) यदा (एजथ) प्रचलथ (मरुतः) अ० १ । २० । १ । वायुगणाः (रुक्मवक्षसः) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १। १४६ । इति रुच दीप्तावभिप्रीतौ च-मक् । पचिवचिभ्यां सुट् च । उ० ४ । २२० । इति वच परिभाषणे—असुन्, सुट् च । रुक्मं विद्युद्रूपा दीप्तिर्वक्षसि मध्ये येषां ते (ऊर्जम्) बलकरमन्नम् (च) समुच्चये (तत्र) तस्मिन् देशे (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (च) (पिन्वत) पिवि सेचने लडर्थे लोट् । सिञ्चथ (यत्र) यस्मिन् स्थाने (नरः) अ० ३ । १६ । ३ । नेतारः (सिञ्चथ) वर्षयथ (मधु) जलम्—निघ० १ । १२ ॥

भाषार्थ—(उदप्रुत) हे जल के भेजने वाले (मरुतः) वायुगणो ! (तान्=ताम्) उस [वृष्टि] को (इयर्त) तुम भेजो, (या) जो (वृष्टिः) बरसा (विश्वाः) सब (निवतः) नीचे स्थानों को (पृणाति) भर देती है। (ग्लहा) वह ग्रहण करने योग्य [वृष्टि] (परुम्) गतिशील समुद्र को (एजाति=एजति) पहुंचती है, (इव) जैसे (तुन्ना) व्यथा में पड़ी (कन्या) कन्या [अपने माता पिता आदि को], और (इव) जैसे (तुन्दाना) दुःख पाती हुई (जाया) पत्नी (पत्या=पतिम्) अपने पति को [पहुंचती है] ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु द्वारा वृष्टि जल संसार का उपकार करता हुआ समुद्र में शान्ति पाता है, इसी प्रकार मनुष्य परस्पर उपकार करके उस परब्रह्म में सुख प्राप्ति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २३ ॥

१-३ ॥ आपो देवताः ॥ १ अनुष्टुप्, २ । गायत्री; ३ उष्णिक् छन्दः ॥

कर्मकरणायोपदेशः—कर्म करने के लिये उपदेश ॥

स॒स्रुषी॒स्तद॒पसो॒ दिवा॒ नक्तं॑ च स॒स्रुषीः॑ ।
व॒रे॒ण्य॒क्र॒तुर॒हम॒पो दे॒वीरुप॑ ह्वये ॥ १ ॥

३—(उदप्रुतः) उदकस्यादः संज्ञायाम् । पा० ६ । ३ । ५७ । इति उदकस्य उदभावः । प्रुङ् गतौ—क्विप् । जलस्य प्रेरकाः (मरुतः) हे वायुगणाः (तान्), छान्दसो मकारस्य नकारः । ताम् । वृष्टिम् (इयर्त) ऋ गतौ—तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति लोटि तस्य तप् । अर्तिपिपर्त्योश्च पा० ७ । ४ । ७७ । इति अभ्यासस्य इत्वम् । इयृत । प्रेरयत (वृष्टिः) वर्षणम् (या) (विश्वाः) सर्वाः (निवतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति गमेरर्थे वतिः । निम्नगतान् देशान् (पृणाति) पॄ पालनपूर्त्योः । पूरयति (एजाति) एजृ कम्पने—लडर्थे लेट् । एजति, गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छति । प्राप्नोति (ग्लहा) अ० ४ । ३८ । ३ । ग्रह उपादाने अप्, रस्य लः, टाप् । ग्राह्या वृष्टिः (कन्या) अ० १ । १४ । २ । कमनीया । पुत्री (इव) यथा (तुन्ना) तुद व्यथने—क्तः । व्यथिता (परुम्) मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । इति इण् गतौ—रु । गन्तारम् । समुद्रम् (तुन्दाना) तुद व्यथने—शानच्, नुम् गुणाभावश्च । व्यथ्यमाना (पत्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति अम् विभक्तेः आ । पतिम् (इव) (जाया) अ० ३ । ४ । ३ । भार्या ॥

स॒स्रु॒षीः । तत् । अ॒पसः॑ । दिवा॑ । नक्त॑म् । च॒ । स॒स्रु॒षीः॑ ।
वरे॑ण्य-क्रतुः । अ॒हम् । अ॒पः । दे॒वीः । उप॑ । ह्व॒ये॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वरेण्यक्रतुः) उत्तम कर्म वा बुद्धि वाला (अहम्) मैं (अपसः) व्यापक (तत्=तस्य) विस्तृत ब्रह्म की (दिवा) दिन (च) और (नक्तम्) राति (सस्रुषीः सस्रुषीः) अत्यन्त उद्योग शील, (देवीः) प्रकाशमय (अपः) व्यापक शक्तियों को (उप) आदर से (ह्वये) बुलाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की शक्तियों का विचार करते हुये सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

ओता आपः॑ कर्म॒ण्या॑ मु॒ञ्च॒न्त्वि॒तः प्रणी॑तये ।
स॒द्यः कृ॑ण्व॒न्त्वेत॑वे ॥ २ ॥

आ-उ॑ताः । आपः॑ । क॒र्म॒ण्याः॑ । मु॒ञ्चन्तु॑ । इ॒तः । प्र-नी॑तये ।
स॒द्यः । कृ॒ण्व॒न्तु॒ । एत॑वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ओताः) अच्छे प्रकार बुनी हुई (कर्मण्या) कामों में कुशल (आपः) [परमेश्वर की] व्यापक शक्तियां [हमें] (इतः) इस [कष्ट] से

१—(सस्रुषीः सस्रुषीः) सृ गतौ, लिटः क्वसु । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ इति ङीप् । वसोः सम्प्रसारणे यण् । नित्यवीप्सयोः । पा० ८ । १ । ४ । इति द्विर्वचनम् । अतिशयेनोद्योगशीलाः (तत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । इति तनु विस्तारे—अदि, स च डित् । विस्तृतस्य ब्रह्मणः (अपसः) आपः कर्माख्यायां० । उ० ४ । २०८ । इति आप्लृ व्याप्तौ—असुन्, ह्रस्वश्च व्यापकस्य (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ (च) (वरेण्यक्रतुः) वृञ एण्यः । उ० ३ । ९८ । इति वृञ् वरणे-एण्य । क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । प्रशस्तकर्मा । उत्तमबुद्धिः (अहम्) पुरुषार्थी (अपः) व्यापिकाः शक्तीः (देवीः) प्रकाशमानाः (उप) आदरे (ह्वये) आह्वयामि ॥

२—(ओताः) आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त । सम्यक् स्यूताः (आपः) परमेश्वरस्य व्यापिकाः शक्तयः (कर्मण्याः) तत्र साधुः । पा० ४ । ४

(प्रणीतये) उत्तम नीति के लिये (मुञ्चन्तु) मुक्त करें । और (सद्यः) तुरन्त (एतवे) चलने को (कृण्वन्तु) बनावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वरीय रचनाओं को देखकर उत्तम नीति पर चलकर सदा आगे बढ़ें ॥ २ ॥

देवस्य सवितुः सवे कर्म कृण्वन्तु मानुषाः ।
शं नो भवन्त्वप ओषधीः शिवाः ॥ ३ ॥

देवस्य । सवितुः । सवे । कर्म । कृण्वन्तु । मानुषाः । शम् ।
नः । भवन्तु । अपः । ओषधीः । शिवाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मानुषाः) सब मनुष्य (देवस्य) प्रकाशमय (सवितुः) सर्वप्रेरक परमेश्वर के (सवे) शासन में (कर्म) कर्म (कृण्वन्तु) करते रहें । (शिवाः) कल्याणकारक (ओषधीः=०-धयः) अन्न आदि पदार्थ (शम्) शान्ति से (नः) हमारे (अपः) कर्म को (भवन्तु) प्राप्त हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विहित कर्मों को करते हुये पुरुषार्थ पूर्वक अन्न आदि पदार्थों को भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २४ ॥

१-३ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

हिमवतः प्र स्रवन्ति सिन्धौ समह संगमः ।
आपो ह मह्यं तद् देवीर्ददन् हृद्द्योतभेषजम् ॥ १ ॥

---

६८ । इति कर्मन्—यत् । ये चाभावकर्मणोः । पा० ६ । ४ । १६८ । इति प्रकृतिभावः । कर्मसु साधवः (मुञ्चन्तु) मुक्तान् कुर्वन्तु, अस्मान् (इनः) अस्मात् कष्टात् (प्रणीतये) प्रकृष्टनीतिप्राप्तये (सद्यः) शीघ्रम् (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु (एतवे) तुमर्थे सेसेन० । पा० ३ । ४ । ६ । इति इण् गतौ, तवे । गन्तुम् ॥

३—(देवस्य) प्रकाशस्वरूपस्य (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य (सवे) प्रेरणे । शासने (कृण्वन्तु) अनुतिष्ठन्तु (मानुषाः) मनुष्याः (शम्) शान्त्या (नः) अस्माकम् (भवन्तु) भू प्राप्तौ । प्राप्नुवन्तु (अपः) म० १ । कर्म-निघ० २ । १ । (ओषधीः) ओषधयः । अन्नादिपदार्थाः (शिवाः) कल्याणकारिण्यः ॥

हिम-वंतः । प्र । स्रवन्ति । सिन्धौ । समह । सम्-गमः । आपः । ह । मह्यम् । तत् । देवीः । ददन् । हृद्द्योत-भेषजम् ॥१॥

भाषार्थ—(आपः) व्यापक शक्तियां [वा जलधारायें] (हिमवत.) वृद्धिशील वा गतिशील परमेश्वर से [वा हिम वाले पहाड से] (प्रस्रवन्ति) बहती रहती हैं, और (समह) हे महिमा के साथ वर्तमान पुरुष ! (सिन्धौ) बहने वाले संसार [वा समुद] में (सङ्गमः) उनका सङ्गम है। (देवीः) वे दिव्य गुण वाली शक्तियां [वा जलधारायें] (ह) निश्चय करके (मह्यम्) मेरे लिये (तत्) वह (हृद्द्योतभेषजम्) हृदय की चमक का भय जीतने वाला औषध (ददन्) देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की उपकार शक्तियों को विचार कर अपने दोष मिटावें, अथवा जल द्वारा रोग नाश करें ॥ १ ॥

यन्मे अक्ष्योरादिद्योत पार्ष्ण्योः प्रपदोश्च यत् ।
आपस्तत् सर्वं निष्करन् भिषजां सुभिषक्तमाः ॥ २ ॥

यत् । मे । अक्ष्योः । आ-दिद्योत । पार्ष्ण्योः । प्र-पदोः । च । यत् । आपः । तत् । सर्वम् । निः । करन् । भिषजाम् । सुभिषक्-तमाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [दुःख] (मे) मेरे (अक्ष्योः) दोनों नेत्रों में (पार्ष्ण्योः) दोनों एडियों में, (च) और (यत्) जो (प्रपदो) पांव के दोनों

१—(हिमवतः) अ० ५ । ४ । २ । हि गतौ वृद्धौ च—मक्। गतिशीलाद् वृद्धिशीलाच्च परमेश्वरात् हिमयुक्तात् पर्वतात् (प्र) प्रकर्षेण (स्रवन्ति) वहन्ति (सिन्धौ) अ० ४ । ३ । १ । स्यन्दनशीले संसारे सागरे वा (समह) अ० । ५ । ४ । १० । हे महेन महिम्ना सह वर्तमान (संगमः) संसर्गः (आपः) अ० । १ । ४ । ३ । व्यापिकाः परमेश्वरशक्तयो जलधारा वा (ह) अवश्यम् (मह्यम्) उपासकाय (तत्) प्रसिद्धम् (देवीः) देव्यः । दिव्याः (ददन्) लेटि रूपम् । ददतु (हृद्द्योतभेषजम्) हृदयदाहनिवर्तकमौषधम् ॥

२—(यत्) दुःखम् (मे) मम (अक्ष्योः) अ० २ । ३३ । १ । अक्ष्णोः (आदिद्योत) द्युत दीप्तौ लिटि च्छान्दसं परस्मैपदम् । आदिद्युते । समन्ताद्

पंजों में (आदियोत) चमक उठा है। (भिषजाम्) वैद्यों में (सुभिषक्तमाः) अति पूजनीय वैद्य रूप (आपः) परमेश्वर की व्यापक शक्तियां वा जलधारायें (तत्) उस (सर्वम्) सब को (निष्करन्) हटावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित पदार्थों के गुण जान कर अपना रोग निवारण करें ॥ २ ॥

सिन्धुपत्नीः सिन्धुराज्ञीः सर्वा या नद्य१ स्थन ।
दत्त नस्तस्य भेषजं तेना वो भुनजामहै ॥ ३ ॥

सिन्धु-पत्नीः । सिन्धु-राज्ञीः । सर्वाः । याः । नद्यः । स्थन ।
दत्त । नः । तस्य । भेषजम् । तेन । वः । भुनजामहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सिन्धुपत्नीः) बहने वाले संसार [वा समुद्र] की पालने वाली, (सिन्धुराज्ञीः) बहने वाले जगत् की शासन करने वाली, [वा समुद्र की शोभा बढ़ाने वाली] (याः) जो तुम (सर्वाः) सब शक्तियां (नद्यः) [परमेश्वर की] स्तुति करने वाली [वा नदियां] (स्थन) हो। वे तुम (नः)

दिद्दीपे (पाष्र्ण्योः) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागयोः (प्रपदोः) अ० २ ३३ । ५ । पादस्य पद्भावः । पादाग्रभागयोः (च) (यत्) (आपः) व्यापिकाः परमेश्वरशक्तयो जलधारा वा (तत्) सर्वम् । सकलं दुःखम् (निष्करन्) अ० २ । ६ । ५ । लेटि रूपम् । इदुदुपधस्य० । पा० ८ । ३ । ४१ । इति षत्वम् । बहिष्कुर्वन्तु (भिषजाम्) वैद्यानां मध्ये (सुभिषक्तमाः) अतिशयेन पूजनीया वैद्यरूपाः ॥

३—(सिन्धुपत्नीः) विभाषा सपूर्वस्य । पा० । ४ । १ । ३४ । इति ङीप् नकारौ । सिन्धोः स्यन्दनशीलस्य ससारस्य समुद्रस्य वा पत्न्यः पालयित्र्यः (सिन्धुराज्ञीः) सिन्धोः स्यन्दशीलस्य जगतो राज्ञः शासिकाः, यद्वा समुद्रस्य राज्ञ[illegible] शोभयित्र्यः (सर्वाः) (याः) (नद्यः) णद भाषणे [illegible] चुरा०—अच्, [illegible] नदतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५ । २ । स्तोत्र्यः परमेश्वर-जलप्रवाहाः (स्थन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० । ७ । १ । भवथ (दत्त) प्रयच्छत (नः) अस्मभ्यम् (तस्य) तदं रोगस्य (भेषजम्) औषधम् (तेन) (वः)

हमें (तस्य) हिंसक रोग की (भेषजम्) ओषधि (दत्त) दो, (तेन) उससे (वः) तुम्हारे [गुणों को] (भुनजामहै) हम भोगें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये अनन्त रचनायें की हैं, उसकी उपासना करके मनुष्य सदा शान्ति पावें और जल द्वारा रोग निवृति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २५ ॥

१-३ ॥ वैद्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशायोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पञ्च च याः पञ्चाशच्च संयन्ति मन्या अभि ।

इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ १ ॥

पञ्च । च । याः । पञ्चाशत् । च । सम्-यन्ति । मन्याः ।

अभि । इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्-इव १

भाषार्थ—(पञ्च) पांच (च च) और (पञ्चाशत्) पचास (याः) जो पीडायें (मन्याः अभि) गले की नसों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्त होती हैं। (ताः सर्वाः) वे सब (इतः) यहां से (नश्यन्तु) नष्ट हो जावें, (इव) जैसे (अपचिताम्) निर्बलों के (वाकाः) वचन [नष्ट हो जाते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य गले के गण्डमाला आदि रोगों को नष्ट करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों का निवारण करें ॥ १ ॥

युष्माकं गुणान् (भुनजामहै) भुज पालनाभ्यवहारयोः । भुजोऽनवने । पा० १ । ३ । ६६ । इत्यात्मनेपदम् । उपजीवाम ॥

१—(पञ्च च पञ्चाशच्च) पञ्चाधिकपञ्चाशत्संख्याकाः (याः) पीडाः (संयन्ति) सर्वतो व्याप्नुवन्ति (मन्याः) मन धृतौ—क्यप्, टाप् । ग्रीवायाः पश्चात् शिराः (अभि) प्रति (इतः) अस्माद्देशात् (ताः) पीडाः (सर्वाः) (नश्यन्तु) अदृष्टा भवन्तु (वाकाः) वच् व्यक्तायां वाचि—घञ् कुत्वम् । वचनानि (अपचिताम्) अप+चिञ् हीनकरणे—क्विप् । हीनानां निर्बलानाम् ॥

सप्त च याः सप्ततिश्च संयन्ति ग्रैव्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ २ ॥

सप्त । च । याः । सप्ततिः । च । सम्-यन्ति । ग्रैव्याः । अभि ।
इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्-इव ॥२॥

भाषार्थ—(सप्त) सात (च च) और (सप्ततिः) सत्तर (याः) जो पीडायें (ग्रैव्याः अभि) कण्ठ की नाड़ियों में (संयन्ति) सब ओर से व्याप्ती हैं (ताः सर्वाः) वे सब ... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

नव च या नवतिश्च संयन्ति स्कन्ध्या अभि ।
इतस्ताः सर्वा नश्यन्तु वाका अपचितामिव ॥ ३ ॥

नव । च । याः । नवतिः । च । सम्-यन्ति । स्कन्ध्याः । अभि ।
इतः । ताः । सर्वाः । नश्यन्तु । वाकाः । अपचिताम्-इव ॥३॥

भाषार्थ—(नव) नव (च च) और (नवतिः) नब्बे (याः) जो पीडायें (स्कन्ध्याः अभि) कन्धे की नाड़ियों में (संयन्ति) व्याप्ती हैं । (ताः सर्वाः) वे सब ...म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के सामान ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २६ ॥

१-३ ॥ पाप्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कष्टत्यागायोपदेशः—कष्ट त्यागने के लिये उपदेश ॥

अव मा पाप्मन्त्सृज वशी सन् मृडयासि नः ।

२—(सप्त च सप्ततिश्च) सप्ताधिकसप्ततिसंख्याकाः (ग्रैव्याः) गम्भीराञ्ञ्यः । पा० ४ । ३ । ५८ । इति वाहुलकात् ग्रीवा—ञ्य । ग्रीवासु भवा नाडीः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

३—(नव च नवतिश्च) नवोत्तरनवतिसंख्याकाः (स्कन्ध्याः) स्कन्ध —यत्, स्कन्धे भवा धमनीः । अन्यद्गतम् ॥

आ मा भद्रस्य लोके पाप्मन् धेह्यविह्रुतम् ॥ १ ॥

अव । मा । पाप्मन् । सृज । वशी । सन् । मृडयासि । नः ।
आ । मा । भद्रस्य । लोके । पाप्मन् । धेहि । अवि-ह्रुतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (मा) मुझे (अव सृज) छोड़ दे और (वशी) वश में पड़ने वाला (सन्) होकर तू (नः) हमें (मृडयासि) सुख दे (पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (भद्रस्य) आनन्द के (लोके) लोक में (मा) मुझे (अविह्रुतम्) पीड़ा रहित (आ) अच्छे प्रकार (धेहि) रख ॥१॥

भावार्थ—जो मनुष्य पुरुषार्थ से विघ्नों को हटाते हैं, वे आनन्द पाते हैं ॥ १ ॥

यो नः पाप्मन् न जहासि तमु त्वा जहिमो वयम् ।
पथामनु व्यावर्तनेऽन्यं पाप्मानु पद्यताम् ॥ २ ॥

यः । नः । पाप्मन् । न । जहासि । तम् । ऊं इति । त्वा ।
जहिमः । वयम् । पथाम् । अनु । वि-आवर्तने । अन्यम् ।
पाप्मा । अनु । पद्यताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पापी विघ्न ! (य) जो तू (नः) हमें (न) नहीं (जहासि) छोड़ता है, (तम्) उस (त्वा) तुझ को (उ) ही (वयम्) हम (जहिमः) छोड़ते हैं । (अनु) फिर (पथाम्) मार्गों के (व्यावर्तने)

१—(मा) माम् (पाप्मन्) अ० ३ । ३१ । १ । हे दुःखप्रद विघ्न (अव सृज) विमोचय (वशी) अ० १ । २१ । १ । आयत्तः (सन्) (मृडयासि) अ० ५ । २२ । ६ । सुखयेः (नः) अस्मान् (आ) समन्तात् (मा) माम् (भद्रस्य) कल्याणस्य (लोके) स्थाने (धेहि) स्थापय (अविह्रुतम्) ह्रु ह्वरेश्छन्दसि । पा० ७ । २ । ३१ । इति ह्वृ कौटिल्ये निष्ठायां ह्रुभावः । अपीडितम् ॥

२—(यः) यस्त्वम् (नः) अस्मान् (पाप्मन्) हे दुःखप्रद विघ्न (न) निषेधे (जहासि) ओ हाक् त्यागे । त्यजसि (तम्) (उ) एव (त्वा) (जहिमः) ओहाक् त्यागे । त्यजामः (वयम्) धर्मिकाः (पथाम्) मार्गाणाम्

घुमाव पर (अन्यम्) दूसरे [अधर्मी] को (पाप्मा) दुःखदायी विघ्न (अनु पद्यताम्) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी लोग अनेक विघ्नों में पड़कर दुःख उठाते हैं। और धर्मात्मा विघ्नों को हटा कर सुख पाते हैं ॥ २ ॥

अन्यत्रास्मन्न्युच्यतु सहस्राक्षो अमर्त्यः ।
यं द्वेषाम् तमृच्छतु यमु द्विष्मस्तमिज्जहि ॥ ३ ॥

अन्यत्र । अस्मत् । नि । उच्यतु । सहस्र-अक्षः । अमर्त्यः ॥
यम् । द्वेषाम । तम् । ऋच्छतु । यम् । ऊं इति । द्विष्मः ।
तम् । इत् । जहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षः) सहस्रों [दोषों] में दृष्टि रखने वाला, (अमर्त्यः) मनुष्यों का हित न करने वाला [विघ्न] (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरों में (नि) नित्य (उच्यतु) प्राप्त हो। (यम्) जिसको (द्वेषाम) हम बुरा जानें, (तम्) उसको (ऋच्छतु) वह [विघ्न] प्राप्त हो। और (यम्) जिसको (उ) ही (द्विष्मः) हम बुरा जानते हैं, (तम्) उसको (इत्) ही (जहि) नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को अनेक दोषों के कारण बड़े हानिकारक विघ्न रोकते हैं। इस लिये मनुष्यों को पुरुषार्थ पूर्वक विघ्न हटाना योग्य है ॥ ३ ॥

(अनु) पश्चात्। पुनः (व्यावर्तने) वृतु वर्तने-ल्युट्। निवृत्तिस्थाने (अन्यम्) अधार्मिकम् (पाप्मा) दुःखप्रदो विघ्नः (अनु पद्यताम्) प्राप्नोतु ॥

३—(अन्यत्र) परात्मसु (अस्मत्) अस्मत्तः। सुकर्मभ्यः (नि) नितराम् (उच्यतु) उच समवाये। गच्छतु (सहस्राक्षः) अ०। ३। ११। ३ सहस्रेषु बहुषु दोषेषु अक्षि दृष्टिर्यस्य सः (अमर्त्यः) तस्मै हितम्। पा०। ५। १। ५। इति यत्। मर्त्येभ्यो मनुष्येभ्योऽहितः (यम्) विघ्नम् (द्वेषाम) अप्रीतिं करवाम (तम्) (ऋच्छतु) प्राप्नोतु (यम्) (उ) अवधारणे (द्विष्मः) अप्रीतिं कुर्मः (तम्) (इत्) एव (जहि) नाशय ॥

सूक्तम् ॥ २७ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

देवाः कपोत इषितो यदिच्छन् दूतो निर्ऋत्या इदमाजगाम। तस्मा अर्चाम कृणवाम निष्कृतिं शं नो अस्तु द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ १ ॥

देवाः । कपोतः । इषितः । यत् । इच्छन् । दूतः । निःऽऋत्याः । इदम् । आऽजगाम । तस्मै । अर्चाम । कृणवाम । निःऽकृतिम् । शम् । नः । अस्तु । द्विऽपदे । शम् । चतुःऽपदे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्तियोग्य, (निर्ऋत्याः) अलक्ष्मी का (दूतः) नाश करने वाला, (कपोतः) वरणीय वा स्तुति योग्य [अथवा, कबूतर पक्षी के समान दूरदर्शी और तीक्ष्ण बुद्धि] पुरुष (यत्) पूजनीय ब्रह्म को (इच्छन्) खोजता हुआ, (इदम्) इस स्थान में (आजगाम) आया है। (तस्मै) उस विद्वान् के लिये (अर्चाम) हम पूजा करें और (निष्कृतिम्) अपनी निर्मुक्ति (कृणवाम) हम करें, [जिससे] (नः) हमारे

१—(देवाः) हे विद्वांसः (कपोतः) कबेरोतच्-पश्च। उ० १। ६२। इति कवृ वर्णे स्तुतौ च-ओतच्। वस्य पः। वरणीयः। स्तुत्यः। अथवा कपोतपक्षिवद् दूरदर्शी तीक्ष्णबुद्धिश्च विद्वान् (इषितः) पिशे. कित्च। उ० ३। ९५। इति इष गतौ-इतन्, स च कित्। प्राप्तव्यः (यत्) त्यजितनियजिभ्यो डित्। उ० १। १३२। इति यज्—अदि, स च डित्। यजनीय पूजनीय ब्रह्म (इच्छन्) अन्विच्छन् (दूतः) अ० १। ७। ६। टु दु उपतापे-क्त, दीर्घश्च, सन्तापस्य नाशकः (निर्ऋत्याः) अ० २। १०। १। अलक्ष्म्या (इदम्) समीपस्थानम् (आजगाम) आगतवान् (तस्मै) कपोताय। विदुषे (अर्चाम) पूजां करवाम (कृणवाम) करवाम (निष्कृतिम्) बहिर्गमनम्। दुःखाद् निर्मुक्तिम् (शम्)

(द्विपदे) दो पाये समूह को (शम्) शान्ति और (चतुष्पदे) चौपाये समूह को (शम्) शान्ति (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कबूतर दूर देशों में सन्देश लेजाकर उत्तर लाते हैं, उसी प्रकार दूरदर्शी और बुद्धिमान् ब्रह्मज्ञानी विद्वानों से मनुष्य आदरपूर्वक विद्या प्राप्त करके और दुःखों से मुक्ति पाकर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में कुछ भेद से है—म० १० । सू० १६५ । म० १–३ । अजमेर वैदिक यन्त्रालय की ऋक् संहिता में [कपोतो नैर्ऋत] कपोत निर्ऋतिका पुत्र ऋषि और [कपोतोपहतौ प्रायश्चित्त वैश्वदेवम्] कपोत के हनन में, विश्वेदेवा, सब विद्वानों का प्रायश्चित्त देवता है ॥

शिवः कपोत इषितो नो अस्त्वनागा देवाः शकुनो गृहं नः । अग्निर्हि विप्रो जुषतां हविर्नः परि हेतिः पक्षिणी नो वृणक्तु ॥ २ ॥

शिवः । कपोतः । इषितः । नः । अस्तु । अनागाः । देवाः । शकुनः । गृहम् । नः । अग्निः । हि । विप्रः । जुषताम् । हविः । नः । परि । हेतिः । पक्षिणी । नः । वृणक्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (इषितः) प्राप्ति योग्य (अनागाः) निर्दोष, (शकुनः) समर्थ (कपोतः) स्तुतियोग्य विद्वान् (नः) हमारे लिये और (नः) हमारे (गृहम्=गृहाय) घर के लिये (शिवः) मङ्गलकारी (अस्तु) होवे । (अग्निः) वह विद्वान् (विप्रः) बुद्धिमान् पुरुष (नः) हमारे (हविः),

---

शान्तिः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (द्विपदे) पादद्वयोपेताय मनुष्यादये (शम्) (चतुष्पदे) पादचतुष्टयोपेताय गवाश्वादये ॥

२—(शिवः) सुखकरः (कपोतः) म० १ । स्तुत्यो दूरदर्शी पुरुषः (इषितः) म० १ । प्राप्तव्यः (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (अनागाः) निर्दोषः (देवाः) हे विद्वांसः (शकुनः) शकेरुनोन्तोन्युनयः । उ० ३ । ४९ । इति शक्लृ-शक्तौ–उन । शक्तः समर्थः (गृहम्) चतुर्थ्यां प्रथमा । गृहाय (नः) अस्माकम् (अग्निः) विद्वान् (हि) निश्चयेन (विप्रः) मेधावी–निघ० ३ । १५ । (जुष-

देने लेने योग्य कर्म को (हि) अवश्य (जुषताम्) स्वीकार करे । (पक्षिणी) पक्षपातवाली (हेतिः) चोट (नः) हमें (परि) सब ओर से (वृणक्तु) छोड़े ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर अन्याय से पक्षपात न करे ॥ २ ॥

हेतिः पक्षिणी न दभात्यस्मानाष्ट्री पदं कृणुते अग्निधाने । शिवो गोभ्य उत पुरुषेभ्यो नो अस्तु मा नो देवा इह हिंसीत् कपोतः ॥ ३ ॥

हेतिः । पक्षिणी । न । दभाति । अस्मान् । आष्ट्री इति । पदम् । कृणुते । अग्नि-धाने । शिवः । गोभ्यः । उत । पुरुषेभ्यः । नः । अस्तु । मा । नः । देवाः । इह । हिंसीत् । कपोतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पक्षिणी) पक्षपात वाली (हेतिः) चोट (अस्मान्) हमें (न) न (दभाति) दबावे । (आष्ट्री) व्याप्त सभा के बीच (अग्निधाने) विद्वानों के स्थान पर [वह विद्वान्] (पदम्) अपना अधिकार (कृणुते) करता है । (देवाः) हे विद्वानो ! (कपोतः) स्तुतियोग्य पुरुष (नः) हमारी (गोभ्यः) गउओं के लिये (उत) और (पुरुषेभ्यः) पुरुषों के लिये (शिवः)

ताम्) सेवताम् । स्वीकरोतु (हविः) दातव्यं ग्राह्यं कर्म (नः) अस्माकम् (परि) सर्वतः (हेतिः) अ० १ । १३ । ३ । हननसाधनम् । वज्रः (पक्षिणी) पक्ष परिग्रहे—अच, इनि, ङीप् । पक्षपातयुक्ता । अन्यायेन साहाय्यकारिणी (नः) अस्मान् (वृणक्तु) वर्जयतु ॥

३—(हेतिः) हननशक्तिः (पक्षिणी) पक्षपातयुक्ता (नः) निषेधे (दभाति) लेटि रूपम् । हिनस्तु (अस्मान्) सदस्यान् (आष्ट्री) अस्जिगमि-नमि० । उ० ४ । १६० । इति अशू व्याप्तौ-ष्ट्रन् वृद्धिश्च, ङीप् । सुपां सुलुक्० पा० ७ । १ । ३९ । इति सप्तम्याः पूर्वसवर्णः, प्रगृह्यं च । आष्ट्र्यां व्याप्तायां सभायाम् (पदम्) अधिकारम् (कृणुते) करोति (अग्निधाने) अग्नीनां विदुषां स्थाने (शिवः) सुखकरः (गोभ्यः) गवादिपशुभ्यः (उत) अपि च

मङ्गलकारी (अस्तु) होवे। और (नः) हमें (इह) यहां पर (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस सभा में सभापति वेदानुगामी न्यायकारी होता है, वहां के सभासद् अन्यायी पक्षपाती नहीं होते और न दुःख उठाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २८ ॥

१-३ विश्वेदेवा देवताः ॥ १, ३ त्रिष्टुप्, २ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वान् के गुणों का उपदेश ॥

ऋचा कपोतं नुदत प्रणोदमिषं मदन्तः परि गां नयामः। संलोभयन्तो दुरिता पदानि हित्वा न ऊर्जं प्र पदात् पथिष्ठः ॥ १ ॥

ऋचा। कपोतम्। नुदत। प्र-नोदम्। इषम्। मदन्तः। परि। गाम्। नयामः। सम्-लोभयन्तः। दुः-इता। पदानि। हित्वा। नः। ऊर्जम्। प्र। पदात्। पथिष्ठः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (ऋचा) स्तुति से (प्रणोदम्) आगे बढ़ाने वाले (कपोतम्) स्तुति योग्य विद्वान् को (नुदत) आगे बढ़ाओ। (मदन्तः) हर्ष करते हुये और (दुरिता) दुर्गति के कारण (पदानि) चिह्नों को (संलोभयन्तः) मिटाते हुये हम लोग (इषम्) अन्न और (गाम्] विद्या को (परि)

(पुरुषेभ्यः) मनुष्यादिप्राणिभ्यः (नः) अस्माकम् (अस्तु) (नः) अस्मान् (इह) अस्यां सभायाम् (मा हिंसीत्) न हन्तु (कपोतः) म० १। स्तुत्यो विद्वान् ॥

१—(ऋचा) ऋच स्तुतौ-क्विप्। स्तुत्या। वेदमन्त्रेण (कपोतम्) सू० २७। म० १। स्तुत्यं दूरदर्शिनं पुरुषम् (नुदत) प्रेरयत (प्रणोदम्) णुद प्रेरणे—विच्। प्रेरकं नायकम् (इषम्) अन्नम् (मदन्तः) हर्षन्तः (परि) सर्वतः (गाम्) विद्याम् (नयामः) प्रापयामः (संलोभयन्तः) लुभ विमोहने तुदा० शतृ। विमोहयन्तो नाशयन्तः (दुरिता) दुरितानि दुर्गतिनिमित्तानि (पदानि) चिह्नानि (हित्वा) डुधाञ् धारणपोषणयोः, दाने च,—क्त्वा। धृत्वा।

सब ओर (नयामः) पहुंचाते हैं। (पथिष्ठः) वह अति शीघ्रगामी विद्वान् (नः) हमें (ऊर्जम्) पराक्रम (हित्वा) देकर (प्र पदात्) आगे ठहरे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उद्योगी पुरुषार्थी विद्वान् पुरुष को अपना नेता बना कर उन्नति करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । १६५ । ५ ।

परीमे३ऽग्निमर्षत परीमे गामनेषत ।
देवेष्वक्रत श्रवः क इमाँ आ दधर्षति ॥ २ ॥

परि । इमे । अग्निम् । अर्षत । परि । इमे । गाम् । अनेषत ।
देवेषु । अक्रत । श्रवः । कः । इमान् । आ । दधर्षति ॥२ ॥

भाषार्थ—(इमे) इन पुरुषों ने (अग्निम्) विद्वान् को (परि) सब ओर (अर्षत) प्राप्त किया है. (इमे) इन्होंने (गाम्) विद्या को (परि) सब ओर (अनेषत) पहुंचाया है। और (देवेषु) विद्वानों में (श्रवः) यश (अक्रत) किया है। (कः) कौन (इमान्) इन लोगों को (आ दधर्षति) जीत सकता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों से विद्या पाकर कीर्ति पाते हैं, वे सदा विजयी होते हैं ॥ २ ॥

यः प्रथमः प्रवतमाससाद बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानः ।

दत्वा (नः) अस्मभ्यम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (प्र) प्रकर्षेण (पदात्) पद स्थैर्ये गतौ च –लेट् । तिष्ठतु । गच्छतु (पथिष्ठः) पथितृ—इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । अतिशयेन गन्ता । महापुरुषार्थी ॥

२—(परि) परितः । सर्वतः (इमे) विद्यार्थिनो मनुष्याः (अग्निम्) विद्वांसम् (अर्षत) ऋष गतौ । प्राप्तवन्तः (परि) (इमे) (गाम्) विद्याम् (अनेषत) णीञ् प्रापणे–लुङ् । प्रापितवन्तः (देवेषु) विद्वत्सु (अक्रत) कृतवन्तः (श्रवः) यशः (कः) शत्रुः (इमान्) समीपवर्तिनो वीरान् (आ) समन्तात् (दधर्षति) धृष अभिभवे, शपः श्लुः । जयति ॥

यो ३ स्येशे द्वि॒पदो॒ यश्चतु॑ष्पद॒स्तस्मै॑ य॒माय॒ नमो॑ अस्तु मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

यः । प्र॒थ॒मः । प्र॒ऽवत॑म् । आ॒स॒साद॑ । ब॒हुभ्यः॑ । पन्था॑म् । अ॒नु॒ऽप॒स्पशा॒नः । यः । अ॒स्य । ईशे॑ । द्वि॒ऽपदः॑ । यः । चतुः॑ऽपदः । तस्मै॑ । य॒माय॑ । नमः॑ । अ॒स्तु॒ । मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रथमः) गुणियों में पहिला पुरुष (बहुभ्यः) अनेकों के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानः) खोजता हुआ (प्रवतम्) उत्तम पाने योग्य अधिकार पर (आससाद) आया है। और (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दोपाये समूह का (यः) और जो (चतुष्पदः) चौपाये समूह का (ईशे=ईष्टे) राजा है (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी पुरुष को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वश्रेष्ठ पुरुष संसार के उपकार के लिये सन्मार्ग दिखाकर सबकी रक्षा करता है, सब मनुष्य विपत्ति से बचने के लिये उस न्यायी वीर पुरुष का सत्कार करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ २९ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुभनुष्टप्‌पौ ॥

शुभगुणग्रहणायोपदेशः—शुभ गुण ग्रहण करने का उपदेश ॥

अ॒मून् हे॒तिः प॑त॒त्रिणी॒ न्ये॑तु॒ यदुलू॑को॒ वद॑ति मो॒घमे॒-

३—(यः) (प्रथमः) सर्वश्रेष्ठः (प्रवतम्) अ० ३।१।४। धात्वर्थे वतिः। प्रगमनीयमधिकारम् (आससाद) आजगाम। प्राप (बहुभ्यः) बहुप्राणिनां हिताय (पन्थाम्) नकारलोपः। पन्थानम्। सन्मार्गम् (अनुपस्पशानः) स्पश बाधनस्पर्शनयोः—शानच्। छन्दसि शपः श्लुः। अनुस्पृशन्। अन्विच्छन् (यः) (अस्य) (ईशे) तलोपः। ईष्टे। राजति (द्विपदः) पादद्वयोपेतस्य मनुष्यादेः (यः) (चतुष्पदः) गवादिप्राणिजातस्य (तस्मै) तादृशाय (यमाय) न्यायकारिणे पुरुषाय (नमः) नमस्कारः (अस्तु) भवतु (मृत्यवे) अ० ५।३०।१२। अप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी। मृत्युं नाशयितुम् ॥

तत् । यद् वा कपोतः पदमग्नौ कृणोति ॥ १ ॥

अमून् । हेतिः । पतत्रिणी । नि । एतु । यत् । उलूकः । वदति । मोघम् । एतत् । यत् । वा । कपोतः । पदम् । अग्नौ । कृणोति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पतत्रिणी) नीचे गिरने वाली (हेतिः) चोट (अमून्) उन [शत्रुओं] को (नि) नीचे (एतु) ले जावे । (उलूकः) अज्ञान से ढकने वाला उल्लू के समान मूर्ख पुरुष (यत्) जो कुछ (वदति) बोलता है, (एतत्) वह (मोघम्) निरर्थक होवे । (यत्) क्योंकि (कपोतः) स्तुति योग्य अथवा कबूतर के समान तीव्र बुद्धि पुरुष (अग्नौ) विद्वानों के समूह में (वा) निश्चय करके (पदम्) अधिकार (कृणोति) करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वान् मनुष्य अधिकारी होते हैं, वहां पर मूर्ख शत्रुओं के वचन और कर्म निष्फल होते हैं ॥ १ ॥

इस मन्त्र का दूसरा और तीसरा पाद ऋग्वेद में है—म० १० । १६५ ॥४॥

यौ ते दूतौ निर्ऋत इदमेतोऽप्रहितौ प्रहितौ वा गृहं नः । कपोतोलूकाभ्यामपदं तदस्तु ॥ २ ॥

यौ । ते । दूतौ । निःऋते । इदम् । आ-इतः । अप्र-हितौ । प्र-हितौ । वा । गृहम् । नः । कपोत-उलूकाभ्याम् । अपदम् । तत् । अस्तु ॥ २ ॥

२—(अमून्) धर्माद् दूरे वर्तमानान् शत्रून् (हेतिः) हननशक्तिः (पतत्रिणी) अधोगामिनी (नि) नीचैः (एतु) अन्तर्गतण्यर्थः । गमयतु (यत्) यत् किंचित् (उलूकः) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । इति वल सम्वरणे, ऊक । अज्ञानेनाच्छादकघूकवद् मूर्खः शत्रुः (वदति) कथयति (मोघम्) मुह अविवेके—घञ्, कुत्वम् । अनर्थकम् (एतत्) वचनम् (यत्) यस्मात् (वा) अवधारणे (कपोतः) सू० २७ । १ । स्तुत्य पुरुषः । यद्वा कपोतवत् तीव्रबुद्धिः (पदम्) अधिकारम् (अग्नौ) विद्वत्समूहे (कृणोति) करोति ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे नित्य मङ्गल देने वाले परमेश्वर ! (यौ) जो (अप्रहितौ) अहित करनेवाले (वा) और (प्रहितौ) हित करने वाले (ते) तेरे (दूतौ) विज्ञान कराने वाले दोनों गुण (नः) हमारे (इदम्) इस (गृहम्) घर में (आ—इतः) आते हैं। (कपोतोलूकाभ्याम्) उन विज्ञान से स्तुति के योग्य और अज्ञान से ढकने वाले गुणों द्वारा (तत्) विस्तृत ब्रह्म (अपदम्) न प्राप्ति योग्य दुःख को (अस्तु=अस्यतु) गिरा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष परमेश्वर की व्यवस्था से सुख और दुःख दोनों का अनुभव करके सुख के मूल सुकर्म का ग्रहण, और दुःख के कारण कुकर्म का त्याग करें ॥ २ ॥

अवैरहत्यायेदमा पपत्यात् सुवीरताया इदमा संसद्यात्। पराङेव परा वद पराचीमनु संवतम्। यथा यमस्य त्वा गृहेऽरसं प्रतिचाकशानाभूकं प्रतिचाकशान् ॥३॥

अवैर-हत्याय। इदम्। आ। पपत्यात्। सु-वीरतायै। इदम्। आ। ससद्यात्। पराङ्। एव। परा। वद। पराचीम्। अनु। सम्-वतम्। यथा। यमस्य। त्वा। गृहे। अरसम्। प्रति-चाकशान्। आभूकम्। प्रति-चाकशान् ॥ ३ ॥

२—(यौ) (ते) त्वदीयौ (दूतौ) दूनो विज्ञापकः—दयानन्दभाष्ये, ऋग्० १। ७२। ७। विज्ञापकौ गुणौ (निर्ऋते) ऋ गतौ—क्तिन्। नितरां ऋतिर्मङ्गलं कल्याणं यस्मात्सः। हे नित्यसुखप्रद परमेश्वर ! निर्ऋतिः पृथिवीनाम—निघ० १। १। (इदम्) (एतः) आगच्छतः (अप्रहितौ) अप्रीतिकरौ (प्रहितौ) हितकारकौ (वा) समुच्चये (गृहम्) निवासम् (नः) अस्माकम् (कपोतोलूकाभ्याम्) कपोतो विज्ञानेन स्तुत्या गुणः—सू० २७। १। उलूकः, अज्ञानेनाच्छादको गुणः—म० १। ताभ्यां द्वाभ्याम् (अपदम्) अप्रापणीयं दुःखम् (तत्) त्यजितनि। उ० १। १३२। इति तनु—अदि, स च डित्। विस्तृतं ब्रह्म (अस्तु) अदादित्वं छान्दसम्। अस्यतु क्षिपतु ॥

भाषार्थ—[स्तुति के योग्य कपोत विद्वान्] (अवैरहत्याय) वीरों के न मारने के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ=आगत्य) आकर (पपत्यात्) समर्थ होवे और (सुवीरतायै) बड़े वीरों के हित के लिये (इदम्) इस स्थान पर (आ) आकर (ससद्यात्) बैठे। [हे उल्लू के समान मूर्ख शत्रु!] (पराङ्) औंधे मुख होकर (पराचीम्) अधोगत (संवतम्) संगति की (अनु=अनुलक्ष्य) ओर (परा) दूर होकर (एव) ही (वद) बात कर। (यथा) क्योंकि (यमस्य) न्यायकारी पुरुष के (गृहे) घर में (त्वा) तुझ को (अरसम्) निर्बल (प्रतिचाकशान्) लोग देखें, और (आभूकम्) असमर्थ (प्रतिचाकशान्) वे देखें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पुरुषार्थी जन का सहाय लेकर न्यायपूर्वक श्रेष्ठ वीरों की रक्षा और मूर्ख दुराचारियों का नाश करके सुखी रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३० ॥

१-३ ॥ सरस्वती शमी वा देवता॥१ जगती;२ विराट् ३ उष्णिक् ॥

विद्यागुणोपदेश । विद्या के गुणों का उपदेश ॥

देवा इमं मधुना संयुतं यवं सरस्वत्यामधि मणावचर्कृषुः । इन्द्र आसीत् सीरपतिः शतक्रतुः कीनाशा आसन् मरुतः सुदानवः ॥ १ ॥

३—(अवैरहत्याय) वीर—अण् समूहार्थे+हन क्यप् । वीराणाम् अहननाय रक्षणाय (इदम्) अस्माकं गृहम् (आ) आगत्य (पपत्यात्) पत ऐश्वर्ये । पत्यनाम् । समर्थो भवतु (सुवीरतायै) समूहार्थे तल् । श्रेष्ठवीराणां हिताय (आ) आगत्य (ससद्यात्) सीदतु स कपोतः (पराङ्) अधोमुखः सन् (एव) अवधारणे (परा) दूरे (वद) कथय, हे उलूक शत्रो (पराचीम्) परा+अञ्चु गतौ—क्विन्, ङीप् । अधोगताम् (अनु) अनुलक्ष्य (संवतम्) उपसर्गाच्छन्दसि० । पा० ५ । १ । ११८ । इति गत्यर्थे वतिः । संगतिम् (यथा) यस्मात्कारणात् (यमस्य) न्यायिनः पुरुषस्य (त्वा) त्वाम् । उलूकम् (गृहे) न्यायालये (अरसम्) निर्बलम् (प्रतिचाकशान्) काशृ दीप्तौ, यङ्लुकि—लेट् । अवचाकशत् पश्यति कर्मा—निघ० ३ । ११ । जनाः प्रतिपश्येयुः (आभूकम्) सृवृभू० । उ० ३ । ४१ । इति आङ् ईपदर्थे+भू—कक् । असमर्थम् (प्रतिचाकशान्) प्रत्यक्षं पश्येयुः ॥

देवाः । इमम् । मधुना । सम्-युतम् । यवम् । सरस्वत्याम् । अधि । मणौ । अचर्कृषुः । इन्द्रः । आसीत् । सीर-पतिः । शत-क्रतुः । कीनाशाः । आसन् । मरुतः । सु-दानवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोगों ने (मधुना) मधुर रस वा ज्ञान से (संयुतम्) मिले हुये (इमम्) इस (यवम्) यव अन्न को (सरस्वत्याम् अधि) विज्ञान से युक्त वेद विद्या को अधिष्ठात्री मानकर (मणौ) उसके श्रेष्ठपन में (अचर्कृषुः) बार बार जोता । (शतक्रतुः) सैकड़ों कर्म वा बुद्धि वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् आचार्य (सीरपति) हल का स्वामी (आसीत्) था और (सुदानवः) बड़े दानी (मरुतः) विद्वान् पुरुष (कीनाशाः) परिश्रमी किसान (आसन्) थे ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग आचार्य के उपदेश से वेदविद्या को प्रधान मान कर उसकी उत्तमता को खोज कर ऐसा आनन्द पाते हैं जैसे किसान लोग अपने स्वामी की आज्ञा से विधिपूर्वक खेत में बीज बोकर अन्न प्राप्त करके प्रसन्न होते हैं ॥ १ ॥

यस्ते मदोऽवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि ।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह ॥ २ ॥

१—(देवाः) विद्वांसः (इमम्) प्रत्यक्षम् (मधुना) मधुररसेन ज्ञानेन वा (संयुतम्) सम्मिलितम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—अप् । यवाभवद् मोक्षसुखम् (सरस्वत्याम् अधि) अधिरीश्वरे । पा० १ । ४ । ९७ । इति अधेः कर्मप्रवचनीयत्वम् । यस्मादधिकं यस्य० । पा० २ । ३ । ९ । इति सप्तमी । विज्ञानवतीं वेदविद्यां सर्वाधिष्ठात्रीं मत्वा (मणौ) स्तुत्ये श्रेष्ठगुणे (अचर्कृषुः) कृष विलेखने यङ्लुकि लुङि । भृशं कृष्टवन्तः कर्षणेन प्राप्तवन्तः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् आचार्यः (आसीत) (सीरपतिः) हलस्य स्वामी । प्रधानकर्षकः (शतक्रतुः) क्रतुः कर्म नाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । बहुकर्मदक्षः । बहुप्रज्ञः (कीनाशाः) अ० ३ । १७ । ५ । परिश्रमिणः कर्षकाः (आसन्) (मरुतः) अ० १ । २० । १ विद्वांसः शूराः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । (सुदानवः) बहुदानारः ॥

यः । ते । मदः । अव-केशः । वि-केशः । येन । अभि-हस्यम् । पुरुषम् । कृणोषि । आरात् । त्वत् । अन्या । वनानि । वृक्षि । त्वम् । शमि । शत-वल्शा । वि । रोह ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शमि) हे शान्ति करने वाली [सरस्वती !] (यः) जो (ते) तेरा (मदः) आनन्द (अवकेशः) शुद्ध प्रकाश वाला और (विकेशः) विविध प्रकाश वाला है, (येन) जिससे (पुरुषम्) पुरुष को (अभिहस्यम्) बड़ा खिलने योग्य (कृणोषि) तू करती है । (त्वत्) तुझ से (अन्या) भिन्न [अविद्यारूप] (वनानि) मांगने के कर्मों को (आरात्) दूर (वृक्षि) मैं ने छोड दिया है । (त्वम्) तू (शतवल्शा) सैकड़ों अंकुर वा शाखा वाली होकर (वि) विविध प्रकार से (रोह) प्रकट हो ॥ २ ॥

भावार्थ—योगी जन विद्या की प्राप्ति से अज्ञान को मिटा कर "ऋत-म्भरा" बुद्धि द्वारा अनेक सुख पाते हैं ॥ २ ॥

बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि ।
मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि ॥ ३ ॥

बृहत्-पलाशे । सु-भगे । वर्ष-वृद्धे । ऋत-वरि । माता-इव । पुत्रेभ्यः । मृड । केशेभ्यः । शमि ॥ ३ ॥

२—(यः) (ते) तव (मदः) हर्षः (अवकेशः) केशी केशा रश्मय-स्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२ । २५ । शुद्धप्रकाश (विकेशः) विविधप्रकाशः (येन) मदेन (अभिहस्यम्) हस विकशने—यत् । अभितो हसनीयं विकाशनीयम् (पुरुषम्) (कृणोषि) करोषि (आरात्) दूरे (त्वत्) त्वत्तः (अन्या) अन्यानि । विरुद्धानि । अविद्यारूपाणि (वनानि) वनु याचने—ल्युट् । याचनानि (वृक्षि) वृजी वर्जने—लुङ् अडभावः । छन्दस्यु-भयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्वधातुकाश्रयात् इटो निषेधः । अवर्जिषि । अहं वर्जितवानस्मि (त्वम्) (शमि) अ० ६ । ११ । हे शान्तिकरि सरस्वति (शतवल्शा) वल सम्वरणे—शक् । बह्वङ्कुरा बहुशाखा सती (वि) विविधम् (रोह) प्रादुर्भव ॥

भाषार्थ—(बृहत्पलाशे) हे बहुत पालन शक्ति से व्याप्त ! (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (वर्षवृद्धे) हे वरणीय गुणों से बढ़ी हुई ! (ऋतावरि) हे सत्यशीला ! (शमि) हे शान्तिकारिणी सरस्वती ! (केशेभ्यः) प्रकाशों के लिये (मृड) सुखी हो, (माता इव) जैसे माता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्या को प्राप्त करते हैं, उन्हें वह ऐसे सुख देती है जैसे माता पुत्रों को ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ३१ ॥

१-३ ॥ सार्पराज्ञी सूर्यो वा देवता । गायत्री छन्दः ॥

सूर्यस्य भूमेर्वा गुणोपदेशः । सूर्य वा भूमि के गुणों का उपदेश

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः ।
पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ १ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् । पुरः । पितरम् । च । प्र-यन् । स्वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (गौ) चलने वा चलाने वाला, (पृश्निः) रसों वा प्रकाश का छूने वाला सूर्य (आ अक्रमीत्) घूमता हुआ है, (च) और (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) आकाश में (प्रयन्) चलता हुआ (पुरः)

३—(बृहत्पलाशे) पल रक्षणे—अप्+अशूङ् व्याप्तौ संघाते च-अण् । बहूनि पलानि पालनानि अश्नुते व्याप्नोति सा । तत्सम्बुद्धौ, (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (वर्षवृद्धे) वृतॄवदि० । उ०३ । ६२ । इति वृञ् वरणे—सप्रत्ययः । वर्षैर्वरणीयगुणैः प्रवृद्धे (ऋतावरि) अ० ५ । १५ । १ । हे सत्यशीले (माता इव) जननी यथा (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (मृड) सुखयुक्ता भव (केशेभ्य.) म० २ प्रकाशेभ्यः (शमि) हे शान्तिकारिणि सरस्वति ॥

१—(अयम्) प्रत्यक्षः (गौः) अ० १ । २ । ३ । गौरादित्यो भवति । गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । (पृश्निः) अ० २ । १ । १ । स्पृश—नि । पृश्निरादित्यो भवति..... संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां संस्पृष्टो भासेति वा—निरु० २ । १४ । (आ अक्रमीत्) समन्तात् क्रान्तवान्

सन्मुख हो कर (मातरम्) सब की बनाने वाली पृथिवी माता को (असदत्) व्यापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—यह सूर्य अन्तरिक्ष में घूम कर आकर्षण, वृष्टि आदि व्यापारों से पृथ्वी आदि लोकों का उपकार करता है ॥ १ ॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र कुछ भेद से अन्य तीनों वेदों में इस प्रकार हैं ॥

वेद	पता	ऋषि	देवता
ऋग्वेद	१०।१८९।१-३	सार्पराज्ञी	सार्पराज्ञी वा सूर्य्य
यजुर्वेद	३।६-८	सार्पराज्ञी कद्रू	अग्नि
सामवेद	पू० ६।१४।४-६	सार्पराज्ञी	सूर्य्य

हमने "सार्पराज्ञी" चलने वाले और चमकने वाले सूर्य से सम्बन्ध वाली पृथ्वी और "सूर्य" को देवता मान कर सूक्त का अर्थ किया है। प्रत्येक मन्त्र के साथ महर्षि दयानन्दकृत भाष्य के अनुसार संक्षिप्त अर्थ दिखाया गया है सविस्तार उनके भाष्य में देख लेवें ॥

ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका-पृष्ठ १३६, पृथिव्यादि भ्रमण-

"(अयम्) यह (गौः) पृथ्वी, सूर्य, चन्द्रमा, अथवा अन्य लोक (पृश्निः=पृश्निम्) अन्तरिक्ष में (आ अक्रमीत्) घूमना चलता है, इनमें पृथिवी (३मातरम्) अपने उत्पत्ति कारण जल को तथा (पितरम्) (स्वः) पिता और अग्निमय सूर्य को (असदत्) प्राप्त होती है (च) और (पुरः) पूर्व पूर्व (प्रयन्) सूर्य के चारों ओर घूमती है। ऐसे ही सूर्य वायु पिता और आकाश माता के, तथा चन्द्रमा, अग्नि पिता और जल माता के प्रति घूमता है ॥"

यजुर्वेद—अ० ३ म० ६ ॥

"(अयम्) यह (गौः) गोलरूपी पृथिवी (पितरम्) पालन करनेवाले (स्वः) सूर्य के और (मातरम्) अपनी योनिरूप जल के (पुरः) आगे आगे (प्रयम्) चलती हुई (पृश्निः) अन्तरिक्ष अर्थात् आकाश में (आ अक्रमीत्) चारो ओर चलती है (च) और (असदत्) अपनी कक्षा में घूमती है ॥

भावार्थ—यह पृथ्वी अपने योनि रूप जल सहित आकर्षण करनेवाले सूर्य के चारों ओर घूमती है, उसी से दिनरात्रि, शुक्ल कृष्णपक्ष और ऋतु और अयन आदि काल विभाग उत्पन्न होते हैं ॥"

(असदत्) असीदत्। प्राप्तवान् (मातरम्) निर्मात्री भूमिम् (पुरः) पुरस्तात्। अग्रे (पितरम्) पालकम् (च) समुच्चये (प्रयन्) इण्—शतृ। सञ्चरन् (स्वः) अ० २। ५। २। अन्तरिक्ष लोकम् ॥

अ॒न्तश्च॑रति रोच॒ना अ॒स्य प्रा॒णाद॑पान॒तः ।
व्य॑ख्यन्म॒हि॒षः स्वः॑ ॥ २ ॥

अ॒न्तरिति॑ । च॒र॒ति॒ । रो॒च॒ना । अ॒स्य । प्रा॒णात् । अ॒पा॒न॒तः ।
वि । अ॒ख्य॒त् । म॒हि॒षः । स्वः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राणात्) भीतर की श्वास के पीछे (अपानतः) बाहर को श्वास निकालते हुये (अस्य) इस [सूर्य] की (रोचना) रोचक ज्योति (अन्तः) [जगत् के] भीतर (चरति) चलती है, और वह (महिषः) बड़ा सूर्य (स्वः) आकाश को (वि) विविध प्रकार (अख्यत्) प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सब प्राणी श्वास प्रश्वास से जीवित रह कर चेष्टा करते हैं, वैसे ही सूर्य प्रकाश का ग्रहण और त्याग करके लोकों को प्रकाशित करता है ॥ २ ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य, यजुर्वेद ३ । ७ ।

"(प्राणात्) ब्रह्माण्ड और शरीर के बीच में ऊपर जाने वाले वायु से (अपानतः) नीचे को जाने वाले वायु को उत्पन्न करते हुये (अस्य) इस अग्नि की (रोचना) दीप्ति अर्थात् बिजुली (अन्तः) ब्रह्माण्ड और शरीर के मध्य (चरति) चलती है, वह (महिषः) अपने गुणों से बड़ा अग्नि (स्वः) सूर्य लोक को (व्यख्यत्) प्रकट करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्राणियों के भीतर रहने वाली अग्नि की कान्ति बिजुली प्राण और अपान के साथ मिलकर सब चेष्टाओं को सिद्ध करती है ॥"

त्रिं॒शद्धाम॒ा वि रा॑जति॒ वाक् प॑त॒ङ्गो अ॑शिश्रियत् ।
प्रति॒ वस्तो॒रह॒र्द्युभिः॑ ॥ ३ ॥

२—(अन्तः) लोकमध्ये (चरति) गच्छति (रोचना) कान्तिः (अस्य) पृश्नेः—म० १ । सूर्यस्य (प्राणात्) श्वासव्यापारादनन्तरम् (अपानतः) प्रश्वासं कुर्वतः (वि) विविधम् (अख्यत्) ख्या प्रकथने—लडर्थे लुङ्, अन्तर्गतण्यर्थः । ख्यापयति प्रकाशयति (महिषः) अ० २ । ३५ । ४ । महान् सूर्यः (स्वः) आकाशम् ॥

त्रिंशत् । धाम॑ । वि । राजति । वाक् । पतङ्गः । अशिश्रि-
यत् । प्रति । वस्तोः । अहः । द्यु-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पतङ्गः) चलने वाला वा ऐश्वर्यवाला सूर्य (त्रिंशत् धामा) तीस धामों पर (दिन राति के तीस मुहूर्तों पर) (वस्तोः, अहः) दिन दिन (द्युभिः) अपनी किरणों और गतियों के साथ (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता वा चमकता है, (वाक्) इस वचन ने [उस सूर्य में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—यह बात स्वयं सिद्ध है कि यह सूर्य सर्वदा सब ओर चमकता रह कर अपनी परिधि के लोकों को गमन, आकर्षण, विकर्षण, वृष्टि, शीत, ताप आदि द्वारा स्थिर रखता है ॥ २ ॥

दिन रात्रि के तीस मुहूर्त भगवान् मनु ने भी माने हैं—अ० १ श्लोक ६४ ॥

निमेषा दश चाष्टौ च काष्ठा त्रिंशत्तु ताः कला ।
त्रिंशत् कला मुहूर्तः स्यादहोरात्रं तु तावतः ॥ १ ॥

१८ पलक की १ काष्ठा, ३० काष्ठा की १ कला, ३० कला का १ मुहूर्त, और उतने ही, ३० मुहूर्त का दिन रात होता है ॥

महर्षि दयानन्दकृत भाष्य यजुर्वेद ३ । ८ ॥

"भावार्थ—(द्युभिः) प्रकाश आदि गुणों से (प्रति वस्तोः, अहः) प्रति दिन (त्रिंशत्) अन्तरिक्ष, आदित्य और अग्नि को छोड़ के पृथिवी आदि तीस (धाम) स्थानों को (पतङ्गः) चलने चलाने वाला अग्नि (वि राजति)

२—(त्रिंशत् धामा) अहोरात्रस्य त्रिंशन्मुहूर्ताख्यानि धामानि स्थानानि (वि) विविधम् (राजति) अन्तर्गतण्यर्थः । राजयति शास्ति दीपयति वा (वाक्) वेदवाणी (पतङ्गः) पतेरङ्गच् पक्षिणि । उ० १ । ११९ । इति पत गतौ ऐश्वर्ये च—अङ्गच् । गतिशीलः । ऐश्वर्यवान् (अशिश्रियत्) णिश्रिद्रुस्रुभ्यः० । पा० ३ । १ । ४८ । इति श्रिञ् सेवायाम्—लुङि च्लेश्चङ् । आश्रितवती (प्रति) प्रत्यक्षम् (वस्तोः) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ । पा० ३ । ४ । १३ । इति वस आच्छा-

प्रकाशित करता है—(वाक्) इस वचन ने [उस अग्नि में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो वाणी प्राणयुक्त शरीर में रहने वाले बिजुली नाम अग्नि से प्रकाशित होती है विद्वान् लोग उसका गुण प्रकाश करने के लिये उसका नित्य उपदेश और श्रवण करें ॥ ३ ॥

ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ६८ वेद विषय में तेंतीस देवता इस प्रकार लिखे हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ ग्यारह रुद्र अर्थात् शरीरस्थ दश प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, धनंजय और ग्यारहवां जीवात्मा ; १२ आदित्य वा महीने; १ इन्द्र अर्थात बिजुली, और १ प्रजापति अर्थात् यज्ञ। उक्त मन्त्र में उनमें से ऊपर लिखे तीन को छोड़ कर तीस देवताओं का ग्रहण है ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१-३ ॥ अग्निः, २ रुद्रः, ३ मित्रावरुणौ देवते ॥

१, ३ त्रिष्टुप्, २ पङ्क्तिः ॥

रक्षोनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

अन्तर्दावे जुहुता स्वे३तद् यातुधानक्षयणं घृतेन।
आराद् रक्षांसि प्रति दह त्वमग्ने न नो गृहाणामुप तीतपासि ॥ १ ॥

अन्तः-दावे। जुहुत। सु। एतत्। यातुधान-क्षयणम्। घृतेन।

दने-कर्त्तरि तोसुन्। दिनम्—निघ० १। ९ (अहः) दिनम् (द्युभिः) दिवु क्रीडाविजिगीषादिषु-क्विप्। किरणैः। गतिभिः ॥

आरात् । रक्षांसि । प्रति । दह । त्वम् । अग्ने । न । नः । गृहाणाम् । उप । तीतपासि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो] (एतत्) इस (यातुधानक्षयणम्) पीड़ा देने वालों के नाश करने वाले कर्म को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अन्तर्दावे) भीतरी सन्ताप में (सु) अच्छे प्रकार (जुहुत) छोड़ो । (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (रक्षांसि) राक्षसों को (आरात्) दूर करके (प्रति-दह) भस्म करदे और (नः) हमारे (गृहाणाम्) घरों का (उप) कुछ भी (न तीतपासि) मत तापकारी हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्धकारनाशक परमेश्वर के ज्ञान से विद्या का प्रकाश करके आत्मिक और शारीरिक रोगों का जड़ से नाश करें ॥ १ ॥

रुद्रो वो ग्रीवा अशरैत् पिशाचाः पृष्टीर्वोऽपि शृणातु यातुधानाः । वीरुद् वो विश्वतोवीर्या यमेन समजीगमत् ॥२॥

रुद्रः । वः । ग्रीवाः । अशरैत् । पिशाचाः । पृष्टीः । वः । अपि । शृणातु । यातुधानाः । वीरुत् । वः । विश्वतः-वीर्या । यमेन । सम् । अजीगमत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पिशाचाः) हे मांसभक्षक ! [रोगो वा प्राणियो] (रुद्रः) दुःखनाशक सेनापति ने (वः) तुम्हारे (ग्रीवाः) गले को (अशरैत्) तोड़ डाला है, (यातुधानाः) हे पीड़ादायको ! (वः) तुम्हारी (पृष्टीः) पसलियां

१—(अन्तर्दावे) दुन्योरनुपसर्गे । पा० ३ । १ । १४२ । इति टु दु उपतापे—ण । अन्तः शत्रूणां हृदयस्य तापे (जुहुत) प्रक्षिपत (सु) सुष्ठु (एतत्) (यातुधानक्षयणम्) पीड़ाप्रदानां नाशकर्म (घृतेन) विद्यादिप्रकाशेन (आरात्) दूरे कृत्वा (रक्षांसि) राक्षसान् । रोगान् (प्रति दह) सर्वथा भस्मसात् कुरु (त्वम्) (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (न) निषेधे (नः) अस्माकम् (गृहाणाम्) निवासानाम् (उप) हीने (तीतपासि) यङ्लुकि च्छान्दसं रूपम् । भृशं तापकरो भव ॥

२—(रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकः सेनापति (वः) युष्माकम् (ग्रीवाः) गलावयवान् (अशरैत्) शॄ हिंसायां छान्दसं लुङिरूपम् ।

(अपि) भी (शृणाति) तोड़े । (विश्वतोवीर्या) सब ओर से सामर्थ्य वाली (वीरुत्) विविध प्रकार से प्रकाशित होने वाली शक्ति [परमेश्वर] ने (वः) तुमको (यमेन) नियम के साथ (सम् अजीगमत्) संयुक्त किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा दुःखदायक शत्रु और रोगों का सदा प्रतीकार करे । उस परमात्मा ने सब के कर्मों को वेद द्वारा नियम बद्ध किया है ।२।

अभयं मित्रावरुणाविहास्तु नोऽर्चिषात्त्रिणो नुदतं प्रतीचः । मा ज्ञातारं मा प्रतिष्ठां विदन्त मिथो विघ्नाना उप यन्तु मृत्युम् ॥ ३ ॥

अभयम् । मित्रावरुणौ । इह । अस्तु । नः । अर्चिषा । अत्त्रिणः । नुदतम् । प्रतीचः । मा । ज्ञातारम् । मा । प्रति-स्थाम् । विदन्त । मिथः । वि-घ्नानाः । उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान् ! [अथवा हे दिन और रात्रि !] (नः) हमारे लिये (इह) यहां पर (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, [तुम दोनों अपने] (अर्चिषा) तेज से (अत्त्रिणः) खा डालने वालों को (प्रतीचः) उलटा (नुदतम्) हटा दो । वे लोग (मा) न तो (ज्ञातारम्) सन्तोषक पुरुष को और (मा) न (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा को (विदन्त) पावें,

---

अशारीत् । शीर्णवान् (पिशाचा) अ० १ । १६ । ३ । हे मांसभक्षका रोगाः प्राणिनो वा (पृष्टीः) अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वास्थीनि (अपि) एव (शृणातु) छिनत्तु (यातुधानाः) अ० १ । ७ । १ । हे पीड़ाप्रदाः (वीरुत्) अ० १ । ३२ । १ । वि+रुह प्रादुर्भावे-क्विप् । विविधं प्रादुर्भवित्री शक्तिः, परमेश्वरः (वः) युष्मान् (विश्वतोवीर्या) सर्वतःसामर्थ्या (यमेन) नियमेन (सम् अजीगमत्) इण्, गम्लृ गतौ वा णिचि लुङ् । संगमितवान् ॥

३—(अभयम्) भयराहित्यम् (मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । हे प्राणापानौ । अहोरात्रे (इह) अत्र (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (अर्चिषा) तेजसा (अत्त्रिणः) अ० १ । ७ । ३ । भक्षकान् (नुदतम्) प्रेरयतम् (प्रतीचः) अ० ३ । १ । ४ । प्रत्यङ्मुखान् (मा) निषेधे (ज्ञातारम्) ज्ञा चुरा० तोषे-तृच् । ज्ञापयितारं सन्तोषकम् (मा) (प्रतिष्ठाम्) आश्रयम् (मा विदन्त) विद्लृ

(मिथः) आपस में (विघ्नानाः) मारते हुये (मृत्युम्) मृत्यु को (उप यन्तु) प्राप्त हों ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और समय का ऐसा सुन्दर प्रयोग करें जिससे शत्रु लोग कहीं शरण न पावें और आपस में कट मरें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री, २ अनुष्टुप्, ३ उष्णिक् ॥

सर्वलक्ष्मीप्राप्त्युपदेशः—सर्व लक्ष्मी पाने का उपदेश ॥

यस्ये॒दमा रजो॒ युज॑स्तु॒जे जना॒ वनं॒ स्वः॑ ।
इन्द्र॑स्य॒ रन्त्यं॑ बृ॒हत् ॥ १ ॥

यस्य॑ । इ॒दम् । आ । रजः॑ । युजः॑ । तु॒जे । जनाः॑ । वन॑म् ।
स्वः॑ । इन्द्र॑स्य । रन्त्य॑म् । बृ॒हत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस (युजः) संयोग करने वाले परमेश्वर के (तुजे) बल में (इदम्) यह (रजः) लोक, (जनाः) सब मनुष्य, (वनम्) जल (आ) और (स्वः) सूर्य्य है। (इन्द्रस्य) उस बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर का (रन्त्यम्) क्रीड़ा स्थान (बृहत्) बड़ा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की शक्ति में यह सब संसार है, उसकी महिमा मनुष्य की समझ से बाहर है ॥ १ ॥

लाभे—लुङ्, तकारश्छान्दसः। अविदन्। मा लभन्ताम् (मिथः) परस्परम् (विघ्नानाः) युधिबुधिदृशः किच्च। उ० २। ९०। इति हन वधे—आनच् कित्। विघातकाः (उपयन्तु) प्राप्नुवन्तु (मृत्युम्) मरणम् ॥

१—(यस्य) (इदम्) पुरोगतम् (आ) चार्थे (रजः) लोकः (युजः) ऋत्विग्दधृक्०। पा० ३। २। ५९। इति युजिर् योगे—क्विन्। संयोजकस्य परमेश्वरस्य (तुजे) तुज चुरा० बले—क। बले (जनाः) मनुष्याः (वनम्) उदकम्—निघ० १। १२। (स्वः) अ० २। ५। २। सु + ऋ गतौ—विच्। सूर्यः। आदित्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (रन्त्यम्) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम्। पा० ३। ३। १७४। इति रमु क्रीडायाम् क्तिच्। न क्तिचि दीर्घश्च। पा० ६। ४। ३९। इति अनुनासिकलोपदीर्घयोरभावः। तत्र भवः। पा० ४। ३। ५३। इति यत्। क्रीडामयं रमणस्थानम् (बृहत्) महत् ॥

नाधृषु आ दधृषते धृषाणो धृषितः शर्वः ।
पुरा यथा व्यथिः श्रव इन्द्रस्य नाधृषे शर्वः ॥ २ ॥
न । आ-धृषे । आ । दधृषते । धृषाणः । धृषितः । शर्वः ।
पुरा । यथा । व्यथिः । श्रवः । इन्द्रस्य । न । आ-धृषे । शर्वः ॥२॥

भाषार्थ—(धृषित.) हारा हुआ शत्रु (धृषाणः=०-णस्य) हराने वाले [इन्द्र] का (शवः) बल (न) नहीं (आधृषे=०-ष्टे) कुछ भी हराता है, (आ) कुछ भी (दधृषते) हराता है । (यथा) क्योंकि (व्यथिः) व्यथा में पड़ा हुआ शत्रु (पुरा) निकट होकर (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के (श्रवः) यश और (शवः) बल को (न) नहीं (आधृषे) कुछ भी हराता है ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी दुष्ट मनुष्य धर्म्मात्मा बलवानों को कदापि नहीं हरा सकते ॥ २ ॥

स नो ददातु तां रयिमुरुं पिशङ्गसंदृशम् ।
इन्द्रः पतिस्तुविष्टमो जनेष्वा ॥ ३ ॥
सः । नः । ददातु । ताम् । रयिम् । उरुम् । पिशङ्ग-संदृशम् ।
इन्द्रः । पतिः । तुवि-तमः । जनेषु । आ ॥ ३ ॥

२—(न) निषेधे (आधृषे) धृष अभिभवे । अदादित्वं छान्दसम् । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । आधृष्टे । ईषद् धर्षयति अभिभवति (आ) ईषदर्थे, किञ्चित् (दधृषते) धर्षयति अभिभवति (धृषाणः) युधिबुधि० । उ० २ । ६० । इति धृष अभिवे—आनच् कित् । षष्ठ्यर्थे सुः । धृषाणस्य धर्षकस्य (धृषितः) अभिभूतः (शवः) बलम्—निघ० २ । ६ (पुरा) समीपे (यथा) यस्मात् (व्यथिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति व्यथ दुःखसंचलनयोः—इन् । दुःखितः (श्रवः) श्रूयमाणं यशः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो जीवस्य (न) (आधृषे) (शवः) ॥

भाषार्थ—(सः) वह (नः) हमें (उरुम्) विस्तृत (पिशङ्गसंदृशम्) अपने अवयवों को दिखाने वाली (ताम्) उस (रयिम्) लक्ष्मी को (ददातु) देवे। (आ) हां, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् ईश्वर (पतिः) पालने वाला और (जनेषु) सब मनुष्यों में (तुविष्टमः) सब से महान् है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की कृपा से सब मनुष्य विद्या, सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके आनन्दित रहें ॥ ३ ॥

(तुविष्टमः) के स्थान में पद पाठ में (तुवि-तमः) है ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१-५ अग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

प्राग्नये वाचमीरय वृषभाय क्षितीनाम् ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ १ ॥

प्र । अग्नये । वाचम् । ईरय । वृषभाय । क्षितीनाम् । सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (क्षितीनाम्) पृथिवी आदि लोकों के बीच (वृषभाय) महाबली (अग्नये) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर के लिये (वाचम्)

३—(सः) इन्द्रः (नः) अस्मभ्यम् (ददातु) प्रयच्छतु (ताम्) प्रसिद्धाम् (रयिम्) लक्ष्मीम्। रयिः, धननाम निघ० २। १०। (उरुम्) विस्तृताम् (पिशङ्गसंदृशम्) पिडादिभ्यः कित्। उ० १। १२१। इति पिश अवयवे—अङ्गच् कित्+सम्—दृशिर् दर्शने-क्विप्। स्वावयवदर्शयित्रीम्। सर्वपूर्णाम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (पतिः) पालकः (तुविष्टमः) भुवः कित्। उ० २। ११२। इति तु वृद्धौ—इसिन् कित्, तमप्। प्रवृद्धतमः। महत्तमः (जनेषु) मनुष्येषु (आ) अङ्गीकारे समुच्चये वा ॥

१—(अग्नये) ज्ञानस्वरूपाय परमेश्वराय (वाचम्) वाणीम्। स्तुतिम् (प्र ईरय) उच्चारय (वृषभाय) अ० ४। ५। १। बलिष्ठाय (क्षितीनाम्) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। क्षि निवासगत्योः—ति। क्षिति. पृथिवीनाम—निघ० १। १। पृथिव्यादिलोकानां मध्ये (सः) अग्निः (नः) अस्मान् (पर्षत्)

वाणी (प्र ईरय) अच्छे प्रकार उच्चारण कर, (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति=अतीत्य) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) पाले ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की स्तुति पूर्वक पुरुषार्थ करके दरिद्रता आदि दुःखों को हटावें ॥ १ ॥

यो रक्षांसि निजूर्वत्यग्निस्तिग्मेन शोचिषा ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ २ ॥

यः । रक्षांसि । नि-जूर्वति । अग्निः । तिग्मेन । शोचिषा ।
सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (तिग्मेन) तीव्र (शोचिषा) तेज से (रक्षांसि) राक्षसों को (निजूर्वति) मार गिराता है ।(सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि के प्रकाश से अन्धकार नष्ट होता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर के ज्ञान से अज्ञान मिटावें ॥ २ ॥

यः परस्याः परावतस्तिरो धन्वातिरोचते ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ३ ॥

यः । परस्याः । परा-वतः । तिरः । धन्व । अति-रोचते ।
सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (परस्याः) दूर दिशा के भी (परावतः) दूर स्थान से (धन्व) अन्तरिक्ष को (तिरः=तिरस्कृत्य) पार करके (अति-

---

पॄ पालनपूरणयोः—लेटि अडागम. । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । पालयेत् । पूर्णान् कुर्य्यात् ॥

२—(रक्षांसि) राक्षसान् । दारिद्र्यादिदोषान् (निजूर्वति) जुर्व वधे । निहन्ति (तिग्मेन) तीक्ष्णेन (शोचिषा) तेजसा । अन्यद् गतम् ॥

३—(यः) परमेश्वरः(परस्याः)दूरदिशायाः (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ ।

रोचते) अत्यन्त चमकता है। (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर दूर और समीप सब स्थान में हमारी रक्षा करता है ॥ ३ ॥

यो विश्वाभि विपश्यति भुवना सं च पश्यति ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ४ ॥

यः । विश्वा । अभि । वि-पश्यति । भुवना । सम् । च । पश्यति । सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो परमेश्वर (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को । (अभि) चारों ओर से (विपश्यति) अलग अलग देखता है (च) और (सम् पश्यति) मिले हुये देखता है। (सः) वह (द्विषः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब लोकों और पदार्थों को व्यस्त और समस्त रूप से देखकर उनकी सुधि रखता है ॥ ४ ॥

यो अस्य पारे रजसः शुक्रो अग्निरजायत ।
स नः पर्षदति द्विषः ॥ ५ ॥

यः । अस्य । पारे । । रजसः । शुक्रः । अग्निः । अजायत । सः । नः । पर्षत् । अति । द्विषः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (शुक्रः) शुद्ध स्वभाव (अग्निः) ज्ञान स्वरूप परमेश्वर (अस्य) इस (रजसः) अन्तरिक्ष के (पारे) पार (अजायत) प्रकट

दूरगतात् स्थानात् (तिरः) तिरस्कृत्य, अन्तर्धाय (धन्व) अ० ४ । ४ । ७ । अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । (अतिरोचते) अतिशयेन दीप्यते । अन्यद् गतम् ॥

४—(यः) परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि (अभि) सर्वतः (विपश्यति) पृथक् पृथगवलोकयति (भुवना) भुवनानि (च) (सम् पश्यति) संगतानि निरीक्षते ॥

५—(यः) परमेश्वरः (अस्य) प्रत्यक्षस्य (पारे) अन्ते (रजसः)

हुआ है। (सः) वह (छिपः) वैरियों को (अति) उलांघ कर (नः) हमें (पर्षत्) भरपूर करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्रत्येक स्थान में व्यापक रहकर हमारी रक्षा करता है ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ वैश्वानरोऽग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

यशःप्राप्त्युपदेश—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

वैश्वानरो न ऊतय आ प्र यातु परावतः ।
अग्निर्नः सुष्टुतीरुप ॥ १ ॥

वैश्वानरः । नः । ऊतये । आ । प्र । यातु । परा-वतः ।
अग्निः । नः । सु-स्तुतीः । उप ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारक परमेश्वर (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (परावतः) दूर वा उत्कृष्ट स्थान से (आ) सन्मुख (प्रयातु) आवे। (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (नः) हमारी (सुष्टुतीः) यथाशास्त्र स्तुतियों को (उप=उपयातु) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—हम सर्वान्तर्यामी परमेश्वर की महिमा जानकर उसकी स्तुति करते रहें ॥ १ ॥

वैश्वानरो न आगमदिमं यज्ञं सजूरुप ।
अग्निरुक्थेष्वंहसु ॥ २ ॥

अन्तरिक्षलोकस्य—निघ० १ । ७ । (शुक्रः) शुद्धस्वभावः (अजायत) प्रादुरभवत् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (आ) अभिमुखम् (प्र) प्रकर्षेण (यातु) गच्छतु (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । परागतात् उत्कर्षं प्राप्तात् दूरगतात् स्थानाद् वा (अग्निः) सर्वव्यापकः (नः) अस्माकम् (सुष्टुतीः) यथाशास्त्रं स्तवान् (उप) उपयातु ॥

वैश्वानरः । नः । आ । अगमत् । इमम् । यज्ञम् । स-जूः ।
उप । अग्निः । उक्थेषु । अंहः-सु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब का नायक, (सजूः) प्रीति वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (अंहसु) प्राप्ति योग्य (उक्थेषु) प्रकथनीय गुणों में वर्तमान होकर (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय कर्म को (उप=उपेत्य) प्राप्त करके (नः) हमको (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति गाकर हम सदा पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

वैश्वानरोऽङ्गिरसां स्तोममुक्थं च चाक्लृपत् ।
ऐषु द्युम्नं स्वर्यमत् ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । अङ्गिरसाम् । स्तोमम् । उक्थम् । च । चक्लृपत् ।
आ । एषु । द्युम्नम् । स्वः । यमत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का नायक परमेश्वर (अङ्गिरसाम्) ज्ञानी महर्षियों के (स्तोमम्) स्तुति-योग्य कर्म (च) और (उक्थम्) प्रकथनीय गुण को (चक्लृपत्) समर्थ करे । (एषु) इन [महर्षियों] में (द्युम्नम्)

२—(वैश्वानरः) सर्वनायकः (नः) अस्मान् (आ अगमत्) प्राप्तवान् (इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सजूः) सह+जुषी प्रीतिसेवनयोः—क्विप् । ससजुषोरुः । पा० ८ । २ । ६६ । इति रुत्वम् । र्वोरुपधाया दीर्घ इकः । पा० ८ । २ । ७६ । इति दीर्घः । जुषा सह वर्तमानः । प्रीतियुक्तः (उप) उपेत्य (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (उक्थेषु) अ० २ । १२ । २ । प्रकथनीयेषु गुणेषु (अंहसु) अहि गतौ—असुन् । प्राप्तव्येषु ॥

३—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः (अङ्गिरसाम्) अ० २ । ५ । २ । ज्ञानिनां महर्षीणाम् (स्तोमम्) स्तुत्यं कर्म (उक्थम्) प्रकथनीयं गुणम् (च) (चक्लृपत्) कृपू सामर्थ्ये—लेट् । छान्दस श्लुत्वम् । कल्पयेत् । समर्थं कुर्यात् (एषु) अङ्गिरःसु (द्युम्नम्) तृषिशुषिरसिभ्यः कित् । उ० ३ । १२ । इति द्युत दीप्तौ—न कित्, तकारस्य मकारः । यद्वा, द्यु अभिगमने—न, मगागमः । द्युम्न द्योततेर्यशो वान्नं वा-निरु० ५ । ५ । द्योतमानं यशः । अन्नम् (स्वः)

प्रकाशमान यश वा अन्न और (स्वः) अच्छे प्रकार प्राप्तियोग्य सुख (आ) सब ओर से (यमत्) स्थिर रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के गुणों को जान कर पुरुषार्थ पूर्वक संसार में कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१-३ वैश्वानरोऽग्निर्देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ऋतावानं वैश्वानरमृतस्य ज्योतिषस्पतिम् ।
अजस्रं घर्ममीमहे ॥ १ ॥

ऋत-वानम् । वैश्वानरम् । ऋतस्य । ज्योतिषः । पतिम् । अजस्रम् । घर्मम् । ईमहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऋतवानम्) सत्यमय, (ऋतस्य) धन के और (ज्योतिषः) प्रकाश के (पतिम्) पति (वैश्वानरम्) सब के नायक परमेश्वर से (अजस्रम्) निरन्तर (घर्म्मम्) प्रकाश को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्यमय ज्योतिःस्वरूप परमात्मा से प्रार्थनापूर्वक विद्या का प्रकाश प्राप्त करें ॥ १ ॥

स विश्वा प्रति चाक्लृप ऋतूंरुत् सृजते वशी ।
यज्ञस्य वयं उत्तिरन् ॥ २ ॥

सः । विश्वा । प्रति । चक्लृपे । ऋतून् । उत् । सृजते । वशी । यज्ञस्य । वयः । उत्-तिरन् ॥२ ॥

सुष्ठु अरणीयं प्रशस्यं सुखम् (यमत्) यमु उपरमे—लेट् । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इकारलोपः । उपरमेत् । तिष्ठेत् ॥

१—(ऋतवानम्) छन्दसीवनिपौ च । वा० पा० ५ । २ । १०९ । इति मत्वर्थे—वनिप् । सत्यमयम् (वैश्वानरम्) सर्वस्य नायकम् (ऋतस्य) धनस्य —निघ० २ । १० । (ज्योतिषः) प्रकाशस्य (पतिम्) स्वामिनम् (अजस्रम्) सततम् (घर्म्मम्) अ० ४ । १ २ । प्रकाशम् (ईमहे) ईङ् गतौ, श्यनो लुक्, द्विकर्मकः, याचामहे–निघ० ३ । १९ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (विश्वा प्रति) सब लोकों में व्यापकर (चक्लृपे) समर्थ हुआ है, (वशी) वह वश में रखने वाला (यज्ञस्य) पूजनीय व्यवहार के (वयः) बल को (उत्तिरन्) बढ़ाता हुआ (ऋतून्) सब ऋतुओं को (उत्) उत्तमता से (सृजते) बनाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमात्मा मनुष्य के सुख के लिये उत्तम उत्तम पदार्थ और सब ऋतुये बनाता है, उसकी स्तुति सदा करनी चाहिये ॥२॥

अग्निः परेषु धामसु कामो भूतस्य भव्यस्य ।

सम्राडेको वि राजति ॥ ३ ॥

अग्निः । परेषु । धाम-सु । कामः । भूतस्य । भव्यस्य ।

सम्-राट । एकः । वि । राजति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कामः) कामना के योग्य, (एकः) एक (सम्राट्) राजाधिराज (अग्निः) सर्वव्यापक परमात्मा (भूतस्य) बीते हुये और (भव्यस्य) होनहार काल के (परेषु) दूर दूर (धामसु) धामों में (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो उस परमात्मा की उपासना करके अपनी उन्नति करो जो अकेला ही इस सब संसार का स्वामी है ॥ ३ ॥

२—(सः) परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि भुवनानि (प्रति) व्याप्य (चक्लृपे) कृपू सामर्थ्ये-लिट् । समर्थो बभूव (ऋतून्) वसन्तादिकालावयवान् (उत्) उत्कर्षेण (सृजते) निर्मिमीते (वशी) वशयिता । स्वतन्त्रः (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (वयः) अ० २ । १० । ३ । सामर्थ्यम् (उत्तिरन्) तॄ प्लवनतरणयोः-शतृ । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इति इकारः प्रवर्धयन् ॥

३—(अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (परेषु) दूरेषु (धामसु) स्थानेषु (कामः) कमु कान्तौ-घञ् । कमनीयः (भूतस्य) अतीतस्य (भव्यस्य) भविष्यतः कालस्य (सम्राट्) राजाधिराज (एकः) अद्वितीयः (वि) विविधम् (राजते) ईष्टे ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१-३ ॥ शपथो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

उप प्रागा॑त् सहस्रा॒क्षो यु॒क्त्वा श॒पथो॒ रथ॑म् ।
श॒प्तार॑मन्वि॒च्छन् मम॒ वृक॑ इ॒वावि॑मतो गृ॒हम् ॥१॥

उप॑ । प्र । अ॒गा॒त् । स॒ह॒स्र॒-अ॒क्षः । यु॒क्त्वा । श॒पथः॑ । रथ॑म् ।
श॒प्तार॑म् । अ॒नु॒-इ॒च्छन् । मम॑ । वृक॑ः-इव । अवि॑-मतः । गृ॒हम् ॥१॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षः) सहस्रों व्यवहार में दृष्टि वाला (शपथः) शांतिपथ बताने वाला (रथम्) रथ को (युक्त्वा) जोत कर (मम) मेरे (शप्तारम्) कुवचन बोलने वाले को (अन्विच्छन्) ढूंढता हुआ (उप) समीप (प्र अगात्) आया है, (इव) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविमतः) भेड़ वाले के (गृहम्) घर में [आता है] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा बहुदर्शी होकर कुवचन भाषियों को दण्ड देता रहे ॥१॥

परि॑ णो वृङ्ग्धि शपथ ह्र॒दम॒ग्निरि॑वा॒ दह॑न् ॥
श॒प्तार॒मत्र॑ नो जहि दि॒वो वृ॒क्षमि॑वा॒शनिः॑ ॥ २ ॥

परि॑ । नः॒ । वृ॒ङ्ग्धि॒ । श॒प॒थ॒ । ह्र॒दम् । अ॒ग्निः॑-इ॑व । दह॑न् ।
श॒प्तार॑म् । अत्र॑ । नः॒ । ज॒हि॒ । दि॒वः । वृ॒क्षम्-इ॑व । अ॒शनिः॑ २

भाषार्थ—(शपथ) हे शान्ति मार्ग दिखाने वाले राजन् ! (न) हमें

१—(उप) समीपे (प्र) प्रकर्षेण (अगात्) आगतवान् (सहस्राक्षः) अ० ३ । ११ । ३ । सहस्रेषु व्यवहारेषु अक्षि दृष्टिर्यस्य सः । बहुदर्शी (युक्त्वा) संयोज्य (शपथः) अ० २ । ७ । २ । शम् शान्तिकरणे—ड+पथ गतौ—अच् । शस्य मङ्गलस्य पथो यस्मात् सः । शान्तिमार्गदर्शकः (रथम्) यानम् (शप्तारम्) शापकारिणम् । कुवचन भाषिणम् (अन्विच्छन्) अनुसृत्य गच्छन् (मम) (वृकः) हिंस्रजन्तुविशेषः (इव) यथा (अविमतः) अवीनां मेषाणां स्वामिनः पुरुषस्य (गृहम्) गेहम् ॥

२—(परि) सर्वतः (नः) अस्मान् (वृङ्धि) अ० १ । २५ १ । वर्जय

(परि वृङ्ग्धि) छोड़ दे (इव) जैसे (दहन्) जलता हुआ (अग्निः) अग्नि (ह्रदम्) अथाह झील को [छोड़ जाता है] । (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (शप्तारम्) कोसने वाले को (जहि) नाश करदे, (इव) जैसे (दिव) आकाश से (अशनिः) बिजुली (वृक्षम्) स्वीकरणीय वृक्ष को ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों के कलङ्क लगाने से धर्मात्माओं की रक्षा करे ॥ २ ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ॥
शुने पेष्ट्रमिवावक्षामं तं प्रत्यस्यामि मृत्यवे ॥३॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात्
शुने । पेष्ट्रम्-इव । अव-क्षामम् । तम् । प्रति । अस्यामि । मृत्यवे ३

भाषार्थ—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (अवक्षामम् तम्) उस निर्बल को (मृत्यवे) मृत्यु के सामने (प्रति अस्यामि) मैं फेंके देता हूं (इव) जैसे (पेष्ट्रम्) रोटी का टुकड़ा (शुने) कुत्ते के सामने ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो अधर्मी धर्मात्माओं में दोष लगावें राजा उसको यथोचित् दण्ड देवे ॥ ३ ॥

(शपथ) म० १ । हे शान्तिपथदर्शक (ह्रदम्) ह्राद स्वने—अच् । अगाधजलाशयम् (अग्निः) पावकः (इव) यथा (दहन्) भस्मीकुर्वन् (शप्तारम्) कुभाषिणम् (अत्र) अस्मिन् राज्ये (नः) अस्माकम् (जहि) नाशय, (दिवः) आकाशात् (वृक्षम्) स्वीकरणीयं द्रुमम् (इव) यथा (अशनिः) विद्युत् ॥

३—(यः) कुभाषणशीलः (नः) अस्मान् (शपात्) शपेत् । परुषं भाषयेत् (अशपतः) अशापिनः (शपतः) शापकारिणः (यः) (च) (नः) (शपात्) (शुने) कुक्कुराय (पेष्ट्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० । ४ । १५८ । इति पिष्लृ सञ्चूर्णने—ष्ट्रन् । रोटिकाखण्डम् (इव) यथा (अवक्षामम्) क्षायो मः । पा० ८ । २ । ५३ । इति क्षै क्षये—निष्ठातकारस्य मः । अवक्षीणं दुर्बलम् (तम्) शप्तारम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (अस्यामि) क्षिपामि (मृत्यवे) मरणाय ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-४ ॥ त्विषिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने के लिये उपदेश ॥

सिंहे व्याघ्र उत या पृदाकौ त्विषिरग्नौ ब्राह्मणे सूर्ये या ।
इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥१॥

सिंहे । व्याघ्रे । उत । या । पृदाकौ । त्विषिः । अग्नौ । ब्राह्मणे । सूर्ये । या । इन्द्रम् । या । देवी । सु-भगा । जजान । सा । नः । आ । एतु । वर्चसा । सम्-विदाना ॥ १ ॥

भाषार्थ—(या) जो (त्विषि) ज्योति (सिंहे) सिंह में, (व्याघ्रे) बाघ में (उत) और (पृदाकौ) फुंसकारते हुये सांप में, और (या) जो (अग्नौ) अग्नि में, (ब्राह्मणे) वेदवेत्ता पुरुष में और (सूर्ये) सूर्य में है। (या) जिस (देवी) दिव्य गुणवाली, (सुभगा) बड़े ऐश्वर्यवाली [ज्योति] ने (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य को (जजान) उत्पन्न किया है, (सा) वह (वर्चसा) अन्न से (संविदाना) मिलती हुई (नः) हमें (आ) आकर (एतु) मिले ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब बलवान् तेजस्वी पदार्थों में संयम करके ऐश्वर्य और पराक्रम प्राप्त करे ॥ १ ॥

यही भावार्थ अगले मन्त्रों भी समझो ॥

१—(सिंहे) अ० ४ । ८ । ७ । हिंसके जन्तौ (व्याघ्रे) अ० ४ । ३ । १ । शार्दूले (उत) अपि (या) (पृदाकौ) अ० ३ । २७ । ३ । कुत्सितशब्दकारिणि सर्पे (त्विषिः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । इति त्विष दीप्तौ—इन् कित् । कान्तिः । उत्साहशक्तिः (अग्नौ) पावके (ब्राह्मणे) अ० २ । ६ । ३ । वेदज्ञे पुरुषे (सूर्ये) आदित्ये (या) (इन्द्रम्) परमैश्वर्य्यम् (देवी) दिव्यगुणा (सुभगा) बह्वैश्वर्ययुक्ता (जजान) जनयामास (सा) त्विषिः (नः) अस्मान् (आ) आगत्य (एतु) प्राप्नोतु (वर्चसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । (संविदाना) अ० २ । २८ । २ । सङ्गच्छमाना ॥

या ह॒स्तिनि॑ द्वी॒पिनि॒ या हिर॑ण्ये॒ त्विषि॑र॒प्सु गोषु॒ या पुरु॑षेषु । इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ २ ॥

या । ह॒स्तिनि॑ । द्वी॒पिनि॑ । या । हिर॑ण्ये । त्विषि॑ः । अ॒प्-सु । गोषु॑ । या । पुरु॑षेषु । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु॒-भगा॑ । ज॒जान॑ । सा । नः॒ । आ । ए॒तु॒ । वर्च॑सा । स॒म्-वि॒दा॒ना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (त्विषि) ज्योति (हस्तिनि) हाथी में, (द्वीपिनि) चीते में, (या) जो (हिरण्ये) सुवर्ण में, और (या) जो (अप्सु) जल में (गोषु) गौ आदिकों में और (पुरुषेषु) पुरुषों में है । (या) जिस ''१॥२॥

रथे॑ अ॒क्षेष्वृ॑ष॒भस्य॒ वाजे॒ वाते॑ प॒र्जन्ये॒ वरु॑णस्य॒ शुष्मे॑ । इन्द्रं॒ या दे॒वी सु॒भगा॑ ज॒जान॒ सा न॒ ऐतु॒ वर्च॑सा संविदा॒ना ॥ ३ ॥

रथे॑ । अ॒क्षेषु॑ । ऋ॒ष॒भस्य॑ । वाजे॑ । वाते॑ । प॒र्जन्ये॑ । वरु॑णस्य । शुष्मे॑ । इन्द्र॑म् । या । दे॒वी । सु॒-भगा॑ । ज॒जान॑ । सा । नः॒ । आ । ए॒तु॒ । वर्च॑सा । स॒म्-वि॒दा॒ना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रथे) रथ में, (अक्षेषु) पहियों में, (ऋषभस्य) बैल के (वाजे) बल में, (वाते) पवन में, (पर्जन्ये) मेघ में, और (वरुणस्य) सूर्य के (शुष्मे) सुखाने वाले सामर्थ्य में [जो ज्योति है] । (या) जिस '' म० १ ॥ ३ ॥

२—(हस्तिनि) अ० ३ । २२ । ३ । गजेन्द्रे (द्वीपिनि) अ० ३ । ८ । ७ । चित्रके (हिरण्ये) सुवर्णे (अप्सु) उदकेषु (गोषु) गवादिपशुषु (पुरुषेषु) मनुष्येषु ॥

३—(रथे) याने (अक्षेषु) रथचक्रेषु (ऋषभस्य) बलीवर्दस्य (वाजे) बले (वाते) पवने (पर्जन्ये) अ० २ । १ । २ । मेघे (वरुणस्य) सूर्यस्य (शुष्मे) शोषके सामर्थ्ये । अन्यद्गतम् ॥

राजन्ये दुन्दुभावायतायामश्वस्य वाजे पुरुषस्य मायौ । इन्द्रं या देवी सुभगा जजान सा न ऐतु वर्चसा संविदाना ॥

राजन्ये । दुन्दुभौ । आ-यतायाम् । अश्वस्य । वाजे । पुरुषस्य । मायौ । इन्द्रम् । या । देवी । सु-भगा । जजान । सा । नः । आ । एतु । वर्चसा । सम्-विदाना ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(राजन्ये) क्षत्रिय में, (आयतायाम्) फली हुई (दुन्दुभौ) दुन्दुभी में, (अश्वस्य) घोड़े के (वाजे) बल में, (पुरुषस्य) मनुष्य के (मायौ) पित्त वा शब्द में [जो ज्योति है] (या) जिस १ ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३९ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ३ अनुष्टुप् ॥

यशःप्राप्त्युपदेशः—यश पाने का उपदेश ॥

यशो हविर्वर्धतामिन्द्रजूतं सहस्रवीर्यं सुभृतं सहस्कृतम् । प्रसर्स्राणमनु दीर्घाय चक्षसे हविष्मन्तं मा वर्धय ज्येष्ठतातये ॥ १ ॥

यशः । हविः । वर्धताम् । इन्द्र-जूतम् । सहस्र-वीर्यम् । सु-भृतम् । सहः-कृतम् । प्र-सर्स्राणम् । अनु । दीर्घाय । चक्षसे । हविष्मन्तम् । मा । वर्धय । ज्येष्ठ-तातये ॥ १ ॥

४—(राजन्ये) अ० ५ । १७ । ९ । क्षत्रियकुले (दुन्दुभौ) अ० ५ । २० । १ । बृहड्ढक्कायाम् (आयतायाम्) दीर्घायाम् (अश्वस्य) तुरङ्गस्य (वाजे) बले (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (मायौ) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । इति मिञ् प्रक्षेपणे-उण् अथवा माङ् माने शब्दे च-युण् । पित्ते । शब्दे । अन्यद्गतम् ॥

भाषार्थ—(इन्द्रजूतम्) परमेश्वर का भेजा हुआ (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्यवाला (सुभृतम्) अच्छे प्रकार भरा गया (सहस्कृतम्) पराक्रम से किया गया (यशः) यश और (हविः) अन्न (वर्धताम्) बढ़े। [हे परमेश्वर !] (दीर्घाय) बड़े और (ज्येष्ठतातये) अत्यन्त प्रशंसनीय (चक्षसे) दर्शन के लिये (प्रसर्स्राणम्) आगे बढ़ने वाले और (हविष्मन्तम्) भक्तिवाले (मा) मुझको (अनु) निरन्तर (वर्धय) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना करके पुरुषार्थपूर्वक संसार में कीर्ति और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥ १ ॥

अच्छा न इन्द्रं यशसं यशोभिर्यशस्विनं नमसाना विधेम । स नो रास्व राष्ट्रमिन्द्रजूतं तस्य ते रातौ यशसः स्याम ॥ २ ॥

अच्छ । नः । इन्द्रम् । यशसम् । यशः-भिः । यशस्विनम् । नमसानाः । विधेम । सः । नः । रास्व । राष्ट्रम् । इन्द्र-जूतम् । तस्य । ते । रातौ । यशसः । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यशसम्) यशस्वी, (यशोभिः) अपनी व्याप्तियों से (यशस्विनम्) बड़े कीर्ति वाले (इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले परमेश्वर को (नम-

१—(यशः) कीर्त्तिः (हविः) देवयोग्यान्नम् (वर्धताम्) समृध्यताम् (इन्द्रजूतम्) परमेश्वरेण प्रेरितम् (सहस्रवीर्यम्) बहुसामर्थ्ययुक्तम् (सुभृतम्) यथावत्पोषितम् (सहस्कृतम्) बलेन सम्पादितम् (प्रसर्स्राणम्) सृ गतौ—यङलुकि ताच्छील्ये चानश् । अतिप्रसरणशीलम् । उद्योगिनम् (अनु) पश्चात् । निरन्तरम् (दीर्घाय) प्रवृद्धाय (चक्षसे) दर्शनाय (हविष्मन्तम्) भक्तिमन्तम् (मा) माम् (वर्धय) समर्धय (ज्येष्ठतातये) ज्येष्ठा प्रशस्ता तातिर्विस्तारो यस्य तस्मै । यद्वा । वृकज्येष्ठाभ्यां तिल्तातिलौ च च्छन्दसि । पा० ५ । ४ । ४१ । इति प्रशंसायां तातिल् । अतिविस्तारयुक्ताय । अत्यन्तप्रशंसनीय ॥

२—(अच्छ) सुष्ठु (नः) अस्मभ्यम् । स्वहिताय (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (यशसम्) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति यशःशब्दात्—क्यच्,

सानाः) नमस्कार करते हुये हम (नः) अपने लिये (अच्छ) अच्छे प्रकार (विधेम) पूजें । (सः) वह तू (इन्द्रजूतम्) तुझ परमेश्वर से भेजा हुआ (राष्ट्रम्) राज्य (नः) हमें (रास्व) दे, (तस्य ते) उस तेरे (रातौ) दान में हम लोग (यशसा) यशस्वी (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना और उपासना करके पुरुषार्थ करते हैं, वे संसार में कीर्ति पाते हैं ॥ २ ॥

य॒शा इन्द्रो॑ य॒शा अ॒ग्निर्य॒शाः सोमो॑ अजायत ।
य॒शा विश्व॑स्य भू॒तस्या॒हम॑स्मि य॒शस्त॑मः ॥ ३ ॥

य॒शाः । इन्द्रः॑ । य॒शाः । अ॒ग्निः । य॒शाः । सोमः॑ । अ॒जा॒य॒त॒ ।
य॒शाः । विश्व॑स्य । भू॒तस्य॑ । अ॒हम् । अ॒स्मि॒ । य॒शः॒ऽत॑मः ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) सूर्य (यशाः) यश वाला, (अग्निः) अग्नि (यशाः) यश वाला, और (सोमः) चन्द्रमा (यशाः) यश वाला (अजायत) हुआ है । (यशाः) यश चाहने वाला (अहम्) मैं (विश्वस्य) सब (भूतस्य) संसार के बीच (यशस्तमः) अतियशस्वी (अस्मि) हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर महायशस्वी होवे ॥ ३ ॥

क्विपि । अल्लोपयलोपौ । आत्मनो यश इच्छन्तम् (यशोभिः) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १९१ । इति अशू व्याप्तौ—असुन्, युट् च धातोः । व्याप्तिभिः (यशस्विनम्) कीर्त्तिमन्तम् (नमसानाः) पूर्ववद् यशस्यतेः क्विपि शानच् । आत्मनेपदं छान्दसम् । नमस्यन्तः (विधेम) परिचरेम (सः) स त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) रासृ दाने । देहि (राष्ट्रम्) राज्यम् (इन्द्रजूतम्) परमेश्वरेण त्वया प्रेरितम् (तस्य) प्रसिद्धस्य (ते) तव (रातौ) दाने (यशसः) आत्मनो यश इच्छन्तः (स्याम) भवेम ॥

३—(यशाः) म० २ । यशस्यतेः क्विप् । यशस्कामः (इन्द्रः) सूर्य्यः (यशाः) यशस्वी (अग्निः) पावकः (सोमः) चन्द्रः (अजायत) प्रादुरभवत् (यशाः) यशस्कामः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) भूतजातस्य । संसारस्य (अहम्) पुरुषार्थी (अस्मि) भवामि (यशस्तमः) अतिशयेन यशस्वी ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-३ ॥ सविता ॥ देवता १, २ जगती, ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुभ्यो रक्षणोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा के लिये उपदेश ॥

अभ॑यं द्यावापृथिवी इ॒हास्तु नोऽभ॑यं॒ सोम॑ः सवि॒ता न॑ः कृणोतु । अभ॑यं नोऽस्तू॒र्व१॒॑न्तरि॑क्षं सप्तऋ॒षीणां॑ च ह॒विषाभ॑यं नो अस्तु ॥ १ ॥

अभ॑यम् । द्यावा॒पृथि॒वी इति॑ । इ॒ह । अ॒स्तु॒ । नः॒ । अभ॑यम् । सोम॑ः । स॒वि॒ता । नः॒ । कृ॒णो॒तु॒ । अभ॑यम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् । स॒प्त-ऋ॒षीणाम् । च॒ । ह॒विषा॑ । अभ॑यम् । नः॒ । अ॒स्तु॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) हे सूर्य और पृथिवी ! (इह) यहां पर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (सोम) बड़े ऐश्वर्य वाला (सविता) सब का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे । (उरु) बड़ा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे, (च) और (सप्तऋषीणाम्) सात व्यापनशीलों वा दर्शन शीलों के [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख, और मुख इन सात छिद्रों के] (हविषा) ठीक ठीक दान और ग्रहण से (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करे कि संसार के सब पदार्थ और अपने शरीर के सब अवयव यथावत् उपकार करके शान्तिप्रद होवें ॥ १ ॥

१—(अभयम्) भयराहित्यम् (द्यावापृथिवी) हे सूर्यभूलोकौ (इह) अत्र (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) (सोम.) परमैश्वर्यवान् (सविता) सर्वोत्पादको जगदीश्वरः (न.) (कृणोतु) करोतु (अभयम्) भयरहितम् । शान्तम् (नः) (अस्तु) (उरु) विस्तीर्णम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सप्तऋषीणाम्) अ० ४ । ११ । ६ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीनाम् । अथवा, शीर्षण्यानां सप्तच्छिद्राणाम् (च) (हविषा) यथावद् दानेन ग्रहणेन च (अभयम्) (न.) (अस्तु) ॥

अस्मै ग्रामाय प्रदिशश्चतस्र ऊर्जं सुभूतं स्वस्ति सविता नः कृणोतु । अशत्रुरिन्द्रो अभयं नः कृणोत्वन्यत्र राज्ञामभि यातु मन्युः ॥ २ ॥

अस्मै । ग्रामाय । प्र-दिशः । चतस्रः । ऊर्जम् । सु-भूतम् । स्वस्ति । सविता । नः । कृणोतु । अशत्रुः । इन्द्रः । अभयम् । नः । कृणोतु । अन्यत्र । राज्ञाम् । अभि । यातु । मन्युः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सविता) सबका चलाने वाला परमेश्वर (अस्मै) इस (ग्रामाय) गांव के लिये और (नः) हमारे लिये (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशाओं में (ऊर्जम्) पराक्रम, (सुभूतम्) बहुत धन और (स्वस्ति) कल्याण (कृणोतु) करे। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला परमात्मा (नः) हमारे लिये (अशत्रु) निर्वैर (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (राज्ञाम्) राजाओं का (मन्युः) क्रोध (अन्यत्र) औरों पर (अभि यातु) चला जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्मपूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके शान्त चित्त रहें और ऐसे शुभ कर्म करें जिससे राजपुरुष उनसे सदा प्रसन्न रहें ॥२

अनमित्रं नो अधरादनमित्रं न उत्तरात् ।
इन्द्रानमित्रं नः पश्चादनमित्रं पुरस्कृधि ॥ ३ ॥

अनमित्रम् । नः । अधरात् । अनमित्रम् । नः । उत्तरात् । इन्द्र । अनमित्रम् । नः । पश्चात् । अनमित्रम् । पुरः । कृधि । ॥३॥

२—(अस्मै) समीपस्थाय (ग्रामाय) जनसमूहाय (प्रदिशः) अत्यन्तसंयोगे द्वितीया । प्राच्यादिदिशाः प्रति (चतस्रः) चतुःसंख्यकाः (ऊर्जम्) पराक्रमम् (सुभूतम्) अ० १ । ३१ । ३ । सुभूतिम् । प्रभूतं धनम् (स्वस्ति) क्षेमम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यं च (कृणोतु) करोतु (अशत्रु) शत्रुरहितम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (अभयम्) भयराहित्यम् । शान्तिम् (नः) (कृणोतु) (अन्यत्र) अन्येषु शत्रुषु (राज्ञाम्) शासकानाम् (अभि) (यातु) प्राप्नोतु (मन्युः) क्रोधः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे महाप्रतापी परमेश्वर ! (नः) हमारे लिये (अधरात्) नीचे से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (उत्तरात्) ऊपर से (अनमित्रम्) निर्वैरता, (नः) हमारे लिये (पश्चात्) पीछे से (अनमित्रम्) निर्वैरता और (पुरः) आगे से (अनमित्रम्) निर्वैरता (कृधि) तू कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब स्थान और सब काल में शान्तिदायक कर्म करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४१ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

मन॑से॒ चेत॑से धि॒य आकू॑तय उ॒त चित्त॑ये ।
म॒त्यै श्रु॒ताय॒ चक्ष॑से वि॒धेम॑ ह॒विषा॑ व॒यम् ॥ १ ॥

मन॑से । चेत॑से । धि॒ये । आ-कू॑तये । उ॒त । चित्त॑ये । म॒त्यै । श्रु॒ताय॑ । चक्ष॑से । वि॒धेम॑ । ह॒विषा॑ । व॒यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मनसे) उत्तम मनन साधन मन के लिये, (चेतसे) ज्ञान के साधन चित्त के लिये, (धिये) धारणवती बुद्धि के लिये, (आकूतये) अच्छे सङ्कल्प वा उत्साह के लिये (उत) और (चित्तये) स्मृति के हेतु विवेक के लिये, (मत्यै) समझ के लिये, (श्रुताय) श्रवण के लिये और (चक्षसे) दर्शन के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को (विधेम) पूजें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर ज्ञान द्वारा आत्मिक शक्तियों को बढ़ा कर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

३—(अनमित्रम्) अमेर्द्विषति चित् । उ० ४ । १७४ । इति अम पीड़ने—भावे इत्रच् । निर्वैरत्वम् (नः) अस्मभ्यम् (अधरात्) अधस्तात् (उत्तरात्) उपरिदेशात् (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् जगदीश्वर (पश्चात्) अ० ४ । ४० । ३ । पृष्ठतो देशात् (पुरः) अग्रदेशात् (कृधि) कुरु । अन्यद्गतम् ॥

१—(मनसे) मननसाधनाय हृदयाय (चेतसे) चिती संज्ञाने—असुन् । ज्ञानसाधनाय चित्ताय (धिये) धारणवत्यै प्रज्ञायै (आकूतये) सङ्कल्पाय । उत्साहाय (उत) अपिच (चित्तये) स्मृतिहेतवे विवेकाय (मत्यै) ज्ञानजनन्यै शक्तये (श्रुताय) श्रवणाय (चक्षसे) दर्शनाय (विधेम) परिचरेम—इन्द्रम्, इति शेषः (हविषा) आत्मदानेन । भक्त्या (वयम्) धार्मिकाः ॥

अपानाय व्यानाय प्राणाय भूरिधायसे ।
सरस्वत्या उरुव्यचे विधेम हविषा वयम् ॥ २ ॥

अपानाय । वि-आनाय । प्राणाय । भूरि-धायसे । सरस्वत्यै । उरु-व्यचे । विधेम । हविषा । वयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अपानाय) बाहिर निकलने वाले अपानवायु के लिये, (व्यानाय) शरीर में व्यापक व्यान वायु के लिये, (भूरिधायसे) अनेक प्रकार से धारण करने वाले (प्राणाय) जीवन वायु प्राण के लिये और (उरुव्यचे) दूर दूर तक फैलने वाले (सरस्वत्यै) विज्ञानवती सरस्वती [विद्या] के लिये (वयम्) हम लोग (हविषा) भक्ति से [परमेश्वर को (विधेम) पूजें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को आत्म समर्पण करके आत्मा और शरीर से स्वस्थ रहकर अनेक प्रकार से विज्ञान प्राप्त करें ॥ १ ॥

मा नो हासिषुर्ऋषयो दैव्या ये तनूपा ये नस्तन्वस्तनूजाः । अमर्त्या मर्त्यां अभि नः सचध्वमायुर्धत्त प्रतरं जीवसे नः ॥ ३ ॥

मा । नः । हासिषुः । ऋषयः । दैव्याः । ये । तनू-पाः । ये । नः । तन्वः । तनू-जाः । अमर्त्याः । मर्त्यान् । अभि । नः । सचध्वम् । आयुः । धत्त । प्र-तरम् । जीवसे । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दैव्याः) दिव्यगुण वाले (ऋषयः) व्यापनशील वा दर्शनशील [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि; अथवा दो कान

१—(अपानाय) शरीराद्बहिर्गन्त्रे वायवे (व्यानाय) शरीरव्यापकाय पवनाय (प्राणाय) जीवनसाधनाय समीराय (भूरिधायसे) अ० १ । २ । १ । बहुपोषकाय (सरस्वत्यै) विज्ञानवत्यै विद्यायै (उरुव्यचे) अ० ५ । ३ । ८ । उरु+वि+अच गतौ—क्विप् । बहुल व्याप्नुवत्यै । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(मा हासिषुः) ओहाक् त्यागे—लुङ् । मा त्यजन्तु (नः) अस्मान् (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ९ । व्यापनशीलाः । दर्शनशीलाः । त्वक्चक्षुःश्रवण-

दो नथने, दो आंख और मुख] (नः) हमें (मा हासिषुः) न त्यागें, (ये) जो (तनूपाः) शरीर की रक्षा करने हारे और (ये) जो (नः) हमारे (तन्वः) शरीर के (तनूजाः) विस्तार के साथ उत्पन्न हुये हैं। (अमर्त्याः) हे अमर! [नित्य उत्साहियो] (मर्त्यान्) मरते हुये [निरुत्साही] मनुष्यों के हित करने वाले (नः) हम से (अभि) सब ओर से (सचध्वम्) मिले रहो, और (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ (आयुः) आयु (जीवसे) जीवन के लिये (धत्त) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य, योगाभ्यास, विद्याप्राप्ति आदि कर्मों से हृष्ट पुष्ट रह कर संसार का उपकार करके कीर्ति पावें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र स्वामी दयानन्द कृत "संस्कार विधि, जातकर्म" में आशीर्वाद का है॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-३ ॥ मन्युर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशान्त्युपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अव॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नो म॒न्युं त॑नोमि ते हृ॒दः ।
यथा॒ संम॑नसौ भू॒त्वा सखा॑यावि॒व सचा॑वहै ॥ १ ॥

अव॑ । ज्याम्-इ॑व । धन्व॑नः । म॒न्युम् । त॒नो॒मि॒ । ते॒ । हृ॒दः । यथा॑ । सम्-म॑नसौ । भू॒त्वा । सखा॑यौ-इव । सचा॑वहै ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हृदः) हृदय से (मन्युम्) क्रोध

रसनाघ्राणमनो बुद्धयः । अथवा । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (दैव्याः) अ० २।२।२। दिव्यगुणयुक्ताः (ये) ऋषयः (तनूपाः) तन्वा शरीरस्य पातारः (ये) (नः) अस्माकम् (तन्वः) शरीरस्य (तनूजाः) तन्वा विस्तृत्या सह जाताः (अमर्त्याः) अ० ४।३७।१२। अमराः। नित्योत्साहिनः (मर्त्यान्) अ० ४। ३७।१२। मर्तेभ्यो मनुष्येभ्यो हितान् (अभि) अभितः (नः) अस्मान् (सचध्वम्) समवेत (आयुः) जीवनम् (धत्त) डुधाञ् धारणपोषणदानेषु। दत्त (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (जीवसे) जीवनाय (नः) अस्मभ्यम् ॥

१—(ज्याम्) अ० १।१।३। मौर्वीम् (इव) यथा (धन्वनः)

को (अव तनोमि) मैं उतारता हूं, (इव) जैसे (धन्वनः) धनुष से (ज्याम्) डोरी को। (यथा) जिस से (समनसौ) एकमन (भूत्वा) होकर (सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को ईर्ष्या द्वेष छोड़कर सदा मित्र होकर रहना चाहिये ॥ १ ॥

सखायाविव सचावहा अव मन्युं तनोमि ते ।
अधस्ते अश्मनो मन्युमुपास्यामसि यो गुरुः ॥ २ ॥

सखायौ-इव । सचावहै । अव । मन्युम् । तनोमि । ते । अधः । ते । अश्मनः । मन्युम् । उप । अस्यामसि । यः । गुरुः ॥२॥

भाषार्थ—(सखायौ इव) दो मित्रों के समान (सचावहै) हम दोनों मिले रहें, (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अव तनोमि) मैं उतारता हूं। (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को (अश्मनः) उस पत्थर के (अधः) नीचे (उप अस्यामसि) दबाकर हम गिराते हैं (यः) जो (गुरुः) भारी [पत्थर] है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोध छोड़कर परस्पर प्रीति से रहें ॥ २ ॥

अभि तिष्ठामि ते मन्युं पार्ष्ण्या प्रपदेन च ।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

अभि । तिष्ठामि । ते । मन्युम् । पार्ष्ण्या । प्र-पदेन । च । यथा । अवशः । न । वादिषः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥३॥

धनुषः (मन्युम्) क्रोधम् (अव तनोमि) अवरोपयामि । अवतरामि (ते) तव (हृदः) हृदयात् (यथा) येन प्रकारेण (संमनसौ) समानमनस्कौ परस्परानुरागिणौ (भूत्वा) (सखायौ) सुहृदौ (सचावहै) षच समवाये—लोट् । समवेतौ नित्यसंगतौ भवाव ॥

२—पूर्वार्धो यथा म० १ । (अधः) अधस्तात् (ते) तव (अश्मनः) पाषाणस्य (मन्युम्) क्रोधम् (उप) उपेत्य (अस्यामसि) क्षिपामः (यः) अश्मा (गुरुः) भारोपेतः ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (मन्युम्) क्रोध को [तेरी] (पार्ष्ण्या) एड़ी से (च) और (प्रपदेन) ठोकर से (अभि तिष्ठामि) मैं दबाता हूं। (यथा) जिस से (अवशः) परवश (न=न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बात चीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप-आयसि) तू पहुंच करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य क्रोधवश न होकर परस्पर शान्त चित्त रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४३ ॥

१-३ ॥ दर्भो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

क्रोधशमनोपदेशः—क्रोध की शान्ति के लिये उपदेश ॥

अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च ।
मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते ॥ १ ॥

अयम् । दर्भः । वि-मन्युकः । स्वाय । च । अरणाय । च । मन्योः । वि-मन्युकस्य । अयम् । मन्यु-शमनः । उच्यते ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (दर्भः) दर्भ अर्थात् दुःख नाश करने वाला वा सुकर्म गूथने वाला पुरुष (स्वाय) अपने समुदाय के लिये (च च) और (अरणाय) प्राप्ति योग्य शूद्र अन्त्यज आदि के लिये (विमन्युकः) क्रोध हटाने वाला है।

३—(अभि तिष्ठामि) अभिभवामि (ते) तव (मन्युम् क्रोधम्) (पार्ष्ण्या) पादापरभागेन (प्रपदेन) पादाग्रेण (यथा) येन प्रकारेण (अवशः) परवशः। क्रोधवश (न) न भूत्वा (वादिषः) वदेर्लेटि अडागमः, सिप् च। त्वं ब्रूयाः (मम) (चित्तम्) अन्त करणम् (उप—आयसि) अ० १।३४।२। उपागच्छसि। आदरेण सर्वतः प्राप्नोसि ॥

१—(अयम्) पुरोवर्ती (दर्भः) दॄदलिभ्यां भः। उ० ३।१५१। इति दॄ विदारणे—भ। यद्वा। दभो ग्रन्थे—घञ्। दुःखविदारकः। सुकर्मग्रन्थकः (विमन्युकः) शेषाद् विभाषा। पा० ५।४।१५४। इति कप्। वि विगमितो मन्युर्येन सः। क्रोधनिवारकः (स्वाय) ज्ञातये (च च) समुच्चये (अरणाय) ऋ गतौ—ल्यु। प्राप्तव्याय शूद्रान्त्यजादये (मन्योः) मतुपो लोपः। मन्यु-

(अयम्) यह (मन्यो) क्रोधी का (विमन्युकः) क्रोध दूर करने वाला और (मन्युशमनः) क्रोध शान्ति करनेवाला (उच्यते) कहा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि बड़े और छोटों से शान्त चित्त होकर बर्ताव करें ॥ १ ॥

(दर्भ) अर्थात् कुश नाम औषध विशेष भी है जो वात पित्त कफ त्रिदोष आदि रोग नाश करता है ॥

अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति ।

दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते ॥ २ ॥

अयम् । यः । भूरि-मूलः । समुद्रम् । अव-तिष्ठति । दर्भः । पृथिव्याः । उत्थितः । मन्यु-शमनः । उच्यते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (यः) जो (भूरिमूलः) बहुत प्रतिष्ठा वाला होकर (समुद्रम्) अन्तरिक्ष लोक तक (अवतिष्ठति) फैलता है । (दर्भ) वह दर्भ सुकर्मों का गूथने वाला पुरुष (पृथिव्याः) पृथिवी से (उत्थितः) उठकर (मन्युशमनः) क्रोध शान्त करने वाला (उच्यते) कहा जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विवेक द्वारा प्रतिष्ठित होकर अन्तरिक्ष आदि लोक तक अधिकार जमाता है, वह संसार में यशस्वी और शान्त चित्त माना जाता है ॥ २ ॥

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि ।

यथावशो न वादिषो मम चित्तमुपायसि ॥ ३ ॥

वि । ते । हनव्याम् । शरणिम् । वि । ते । मुख्याम् । नयामसि ।

मतः पुरुषस्य (विमन्युकस्य) सुपां सुपो भवन्तीतिवक्तव्यम् । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति प्रथमार्थे षष्ठी । विमन्युकः । क्रोधनिवारकः (अयम्) (मन्युशमनः) क्रोधशान्तिकरः (उच्यते) अभिधीयते ॥

२—(अयम्) (यः) दर्भः (भूरिमूलः) मूल प्रतिष्ठायां रोपणे च—क बहुप्रतिष्ठितः सन् (समुद्रम्) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । (अवतिष्ठति) व्याप्य वर्तते (दर्भः) म० १ । सुकर्मणां ग्रन्थकः (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (उत्थितः) उपरि स्थितः सन् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

यथा । अवशः । न । वादिषः । मम । चित्तम् । उप-आयसि ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (हनव्याम्) ठोड़ी में वर्त्तमान और (ते) तेरे (मुख्याम्) मुख पर वर्त्तमान (शरणिम्) हिंसा के चिह्न को (वि वि नयामसि) सर्वथा हम हटाते हैं । (यथा) जिससे (अवशः) परवश (न=न भूत्वा) न होकर (वादिषः) तू बात चीत करे, (मम) मेरे (चित्तम्) चित्त में (उप आयसि) तू पहुंच करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के सब अङ्गों से सुचेष्टा करके सबका प्रिय रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४४ ॥

१-३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
अस्थुर्वृक्षा ऊर्ध्वस्वप्नास्तिष्ठाद् रोगो अयं तव ॥ १ ॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् । इदम् । जगत् । अस्थुः । वृक्षाः । ऊर्ध्व-स्वप्नाः । तिष्ठात् । रोगः । अयम् । तव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्)

३—(ते) तव (हनव्याम्) शरीरावयवाच्च । पा० ४ । ३ । ५५ । इति हनु-यत् । ओर्गुणः । पा० ६ । ४ । १४६ । इति गुणः । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६ । १ । ७९ । इति अवादेशः । हनौ वर्तमानाम् (शरणिम्) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । इति शॄ हिंसायाम्-अनि । हिंसालक्षणम् (मुख्याम्) मुख-यत् पूर्ववत् । मुखे वर्त्तमानाम् (वि वि नयामसि) सर्वथा विनयामः । अपगमयामः । अन्यद् गतम्-सू० ४२ । म० ३ ॥

१—(अस्थात्) स्थिरोऽभूत् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अस्थात्) (पृथिवी) विस्तृता भूमिः (अस्थात्) (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम्

ठहरा है। (ऊर्ध्वस्वप्नाः) ऊपर को मुख करके सोने वाले (वृक्षाः) वृक्ष (अस्थुः) ठहरे हुये हैं, [ऐसे ही] (तव) तेरा (अयम्) यह (रोगः) रोग (तिष्ठात्) ठहर जावे [और न बढ़े] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे संसार के सब लोक परस्पर धारण और आकर्षण द्वारा अपनी अपनी कक्षा और परिधि में स्थित हैं, वैसे ही मनुष्य अपने दोषों को नियम में रक्खें ॥ १ ॥

शृतं या भेषजानि ते सहस्रं संगतानि च ।
श्रेष्ठमास्त्रावभेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम् ॥ २ ॥

शृतम् । या । भेषजानि । ते । सहस्रम् । सम्-गतानि । च । श्रेष्ठम् । आस्त्राव-भेषजम् । वसिष्ठम् । रोग-नाशनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (या) जो (शतम्) सौ (च) और (सहस्रम्) सहस्र (भेषजानि) ओषधियां (संगतानि) परस्पर मेल वाली हैं, [उनमें से] (वसिष्ठम्) अतिशय धनी वा निवास करने वाला ब्रह्म (श्रेष्ठम्) अति श्रेष्ठ (आस्त्रावभेषजम्) रुधिर के बहाव वा घाव की औषध और (रोगनाशनम्) रोगों का नाश करने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—योगीजन सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके उस परब्रह्म की आज्ञा पालन से सदा स्वस्थ और सुखी रहते हैं ॥ २ ॥

(जगत्) लोकः (अस्थुः) स्थिता अभूवन् (वृक्षाः) पादपाः (ऊर्ध्वस्वप्नाः) उपरिमुखाः सन्तो निद्रालवः (तिष्ठात्) गतिनिवृत्तो भूयात् (रोगः) शारीरिको मानसिको वा व्याधिः (अयम् तव) ॥

२—(शतम्) (या) यानि (भेषजानि) भयनिवर्त्तकानि । औषधानि (ते) तुभ्यम् (सहस्रम्) बहूनि (संगतानि) परस्परमिलितानि (च) (श्रेष्ठम्) सर्वेषां प्रशस्ततमम् (आस्त्रावभेषजम्) आस्त्रावः—अ० १ । २ । ४ । आङ्+स्रु स्रवणे-ण । आस्त्रावस्य रुधिरादिस्रवणस्य आघातस्य चौषधम् (वसिष्ठम्) अ० ४ । २६ । ३ । अतिशयेन धनयुक्तम् । वस्तृतमं ब्रह्म (रोगनाशनम्) सर्वव्याधिनाशकम् ॥

रुद्रस्य मूत्रमस्यमृतस्य नाभिः । विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी ॥३॥

रुद्रस्य । मूत्रम् । असि । अमृतस्य । नाभिः । वि-साणका । नाम । वै । असि । पितृणाम् । मूलात् । उत्थिता । वातीकृत-नाशनी ३

भाषार्थ—[हे पुरुष] (रुद्रस्य) रुलाने वाले भीषण क्लेश का (मूत्रम्) छुडाने वा बन्ध करने वाला बल और (अमृतस्य) अमरपन वा मुक्ति का (नाभिः) मध्यस्थ (असि) तू है । (विषाणका) विषाणका, विविध भक्ति का उपदेश करने वाली (नाम) प्रसिद्ध (पितृणाम्) पालन करने वाले गुणों के (मूलात्) मूल से [आदि कारण परमेश्वर से] (उत्थिता) प्रकट हुई और (वातीकृतनाशनी) हिंसा कर्म की नाश करने वाली शक्ति (वै) निश्चय करके (असि) तू है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अनेक क्लेशों को सहते हैं और परमेश्वर का विश्वास करते हैं, वे ही सब प्रकार का सुख प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

विषाण और विषाणिका ओषधि विशेष भी हैं ॥

३—(रुद्रस्य) रोदेर्णिलुक् च । उ० २ । २२ । इति रोदयतेः—रक् । रुद्रो रौतीतिसतो रोरूयमाणो द्रवतीति वा रोदयतेर्वा । निरु० १० । ५ । रोदकस्य भीषणक्लेशस्य (मूत्रम्) सिविमुच्योष्टेरू च । उ० ४ । १६३ । इति मुच्लृ मोक्षणे—ष्ट्रन्, टेः ऊ । यद्वा, मूत्र बन्धने—ष्ट्रन् । मोचकम् । मोचक बन्धक बलम् (अमृतस्य) मोक्षस्य (नाभिः) मध्यस्थानम् (विषाणका) वि+षण सम्भक्तौ-घञ् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति विषाण+कै शब्दे—क । टाप् । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १९ । इति समासः । विषाणं विविध सम्भजनं कायति कथयति या सा शक्तिः (नाम) प्रसिद्धौ (वै) निश्चयेन (असि) (पितृणाम्) पालकगुणानाम् (मूलात्) आदिकारणात् परमेश्वरात् (उत्थिता) प्रादुर्भूता (वातीकृतनाशनी) वातेर्नित् । उ० ५ । ६ । इति वा गतिहिंसनयोः—अति । छान्दसो दीर्घः । वातेर्हिंसायाः कृतस्य कर्मणो नाशयित्री ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-३ ॥ अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ १ पथ्या पङ्क्तिः; २ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप ॥

मानसिकपापनाशोपदेशः—मानसिक पाप के नाश का उपदेश ॥

परोऽपेहि मनस्पाप किमशस्तानि शंससि। परेहि न त्वा कामये वृक्षां वनानि सं चर गृहेषु गोषु मे मनः ॥१॥

परः। अप। इहि। मनः-पाप। किम्। अशस्तानि। शंससि। परा। इहि। न। त्वा। कामये। वृक्षान्। वनानि। सम्। चर। गृहेषु। गोषु। मे। मनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मनस्पाप) हे मानसिक पाप ! (परः) दूर (अप इहि) हट जा; (किम्) क्या (अशस्तानि) बुरी बातें (शंससि) तू बताता है। (परा इहि) दूर चला जा, (त्वा) तुझको (न कामये) मैं नहीं चाहता, (वृक्षान्) वृक्षों और (वनानि) वनों में (सम् चर) फिरता रह, (गृहेषु घरों में और (गोषु) गौ आदि, पशुओं में (मे) मेरा (मनः) मन है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि वनचर डाकू आदियों के समान दुष्कर्मों में अपना मन न लगावें, किन्तु सत्य व्यवहारी होकर परस्पर रक्षा करें॥ १ ॥

अवशसा निःशसा यत् पराशसोपारिम जाग्रतो यत्

१—(परः) परस्तात्। दूरदेशे (अपेहि) अपगच्छ (मनस्पाप) हे मनसि चेतसि वर्तमान पाप (किम्) निन्दायाम् (अशस्तानि) अशोभनानि कर्माणि (शंससि) कथयसि (परेहि) दूरे गच्छ (न) निषेधे (त्वा) त्वाम्) (कामये) अभिलष्यामि (वृक्षान्) वृक्षवासिन पुरुषान्–इत्यर्थः (वनानि) वनचरान् दस्य्वादीनिति यावत् (स चर) सम्यक् प्राप्नुहि (गृहेषु) गृहाव-स्थितेषु जनेषु (गोषु) गवादिपशुषु, तेषां रक्षण इत्यर्थः (मे) मम (मनः) अन्तःकरणम् ॥

स्वपन्तः । अग्निर्विश्वान्यप दुष्कृतान्यजुष्टान्यारे अस्मद् दधातु ॥ २ ॥

अव-शसा । निः-शसा । यत् । परा-शसा । उप-आरिम । जाग्रतः । यत् । स्वपन्तः । अग्निः । विश्वानि । अप । दुः-कृतानि । अजुष्टानि । आरे । अस्मत् । दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो पाप (अवशसा) विश्वास घात से (निःशसा) घृणा से, और (पराशसा) अपवाद से, अथवा (यत्) जो पाप (जाग्रतः) जागते हुये वा (स्वपन्तः) सोते हुये (उपारिम) हम ने किया है। (अग्नि.) सर्वव्यापक परमेश्वर (विश्वानि) सब (अजुष्टानि) अप्रिय (दुष्कृतानि) दुष्कर्मों को (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (अप दधातु) हटा रक्खे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् न्यायकारी परमेश्वर का भय मानकर कभी कोई दुष्कर्म न करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६४ । ३ ॥

यदिन्द्र ब्रह्मणस्पतेऽपि मृषा चरामसि ।
प्रचेता न आङ्गिरसो दुरितात् पात्वंहसः ॥ ३ ॥

यत् । इन्द्र । ब्रह्मणः । पते । अपि । मृषा । चरामसि । प्रचेताः । नः । आङ्गिरसः । दुः-इतात् । पातु । अंहसः ॥३॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणस्पते) हे बड़े बड़े लोकों के स्वामी (इन्द्र) सम्पूर्ण

२—(अवशसा) शसु हिंसायाम्—क्विप् । अपशसनेन । विश्वासघातेन (निःशसा) नितरां हिंसनेन । अतिघृणया (यत्) यत्किंचित् पापम् (पराशसा) पराङ्मुखहिंसनेन अपवादेन (उप—आरिम) ऋ गतौ—लिट् । वय समीपे प्राप्तवन्तः । कृतवन्तः (जाग्रतः) जागृ निद्राक्षये—शतृ । जागरदवस्थापन्नाः (स्वपन्तः) निद्रावस्थां प्राप्ताः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (विश्वानि) सर्वाणि (अप) अपकृष्य (दुष्कृतानि) दुष्कर्माणि (अजुष्टानि) अप्रियाणि (आरे) दूरे (अस्मत्) अस्मत्तः (दधातु) स्थापयतु ॥

३—(यत् अपि) यत् किञ्चिदपि पापम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जग-

ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर! (यत् अपि) जो कुछ भी पाप (मृषा) असत्य व्यवहार से (चरामसि) हम करें। (आङ्गिरसः) ज्ञानियों का हितकारी (प्रचेता) बड़ी बुद्धि वाला परमात्मा (नः) हमें (दुरितात्) दुर्गति और (अंहसः) पाप से (पातु) बचावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य न्यायकारी परमात्मा का ध्यान रखते हैं, वे पापों से बचकर सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ४६ ॥

१-३ ॥ स्वप्नो देवता ॥ १ बृहती; २ विद्म त इत्यनुष्टुप्, तं त्वेति बृहती; ३ अनुष्टुप् ॥

स्वप्नगुणोपदेशः—स्वप्न के गुणों का उपदेश ॥

यो न जीवोऽसि न मृतो देवानाममृतगर्भोऽसि स्वप्न ।
वरुणानी ते माता यमः पितारंरुर्नामासि ॥ १ ॥

यः । न । जीवः । असि । न । मृतः । देवानाम् । अमृत-गर्भः । असि । स्वप्न । वरुणानी । ते । माता । यमः । पिता । अरंरुः । नाम । असि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न! (यः) जो तू (न) न तो (जीवः) जीवित और (न) न (मृत) मृतक (असि) है, [परन्तु] (देवानाम्)

दीश्वर (ब्रह्मणस्पते) बृहतां लोकाना पालक (मृषा) असत्यव्यवहारेण (चरामसि) चरामः। वयं कुर्मः (प्रचेताः) प्रकृष्टज्ञानोपेतः परमेश्वरः (नः) अस्मान् (आङ्गिरसः) अङ्गिरस्-अण्। अङ्गिरोभ्यो ज्ञानिभ्यो हितः (दुरितात्) दुर्गतेः। कष्टात् (पातु) रक्षतु (अंहसः) पापात् ॥

१—(यः) यस्त्वम् (न) निषेधे (जीवः) प्राणधारकः (असि) (न) (मृतः) मृतकः। त्यक्तप्राणः (देवानाम्) इन्द्रियाणाम् (अमृतगर्भः) अमरणस्य सुखस्य गर्भ आधारः (असि) (स्वप्न) स्वपो नन्। पा० ३। ३। ९१। इति ञिष्वप् शये—नन्। यद्वा। कृवृजृ०। उ० ३। १०। इति नन्। हे निद्रे (वरुणानी) वृणोति आच्छादयतीति वरुणः, अन्धकारः—अ० १। ३। ३। इन्द्रवरुणभवशर्व०। पा० ४। १। ४९। इति वरुण—ङीपानुकौ। वरुणस्य अन्ध-

इन्द्रियों के (अमृतगर्भः) अमरपन का आधार (असि) तू है। (वरुणानी) वरुण अर्थात् ढकने वाले अन्धकार की शक्ति, रात्रि (ते) तेरी (माता) माता और (यमः) नियम में चलाने वाला सूर्य (पिता) पिता है, और तू (अररु) हिंसक (नाम) नाम (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—स्वप्न अवस्था में शरीर के कुछ अंग चेष्टा करते रहते हैं और कुछ चेष्टा बिना हो जाते हैं, इससे स्वप्न जीवन और मरण के बीच में है। स्वप्न इन्द्रियों को सुख देता है अर्थात् दिन में परिश्रम करने वालों को रात्रि में सोने से सुख मिलता है परन्तु नियम विरुद्ध सोने से आयु घटती है॥१

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः। अन्तकोऽसि मृत्युरसि। तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥ २ ॥

विद्म। ते। स्वप्न। जनित्रम्। देव-जामीनाम्। पुत्रः। असि। यमस्य। करणः। अन्तकः। असि। मृत्युः। असि। तम्। त्वा। स्वप्न। तथा। सम्। विद्म। सः। नः। स्वप्न। दुः-स्वप्न्यात्। पाहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (देवजामीनाम्) इन्द्रियों की गतियों का (पुत्रः) शुद्ध करने वाला और (यमस्य) नियम का (करणः) बनाने वाला (असि) है। तू (अन्तकः) अन्त करने वाला (असि) है, और तू (मृत्युः) मरण

कारस्य पत्नी पालयित्री शक्तिः। रात्रिः (ते) तव (माता) जननी (यमः) नियामकः सूर्यः (पिता) पालकः। जनकः (अररुः) अर्तेररुः। उ० ४। ७९। इति ऋ गतिहिंसनयोः—अरु। हिंसकः। वधोनाशकः (असि)॥

२—(विद्म) जानीमः (ते) तव (स्वप्न) म० १। हे निद्रे (जनित्रम्) अ० १। २५। १। जन्मस्थानम् (देवजामीनाम्) नियो मिः। उ० ४। ४३। इति या प्रापणे—मि, यस्य जः। इन्द्रियाणां जामीनां गतीनाम् (पुत्रः) अ० १। ११। ५। पुनातीति यः सः। पावकः। शोधकः (असि) (यमस्य) नियमस्य

करने वाला (असि) है। (स्वप्न) हे स्वप्न ! (तम्) उस (त्वा) तुझको (तथा) वैसा ही (सम्) अच्छे प्रकार (विद्म) हम जानते हैं, (स) सो तू (स्वप्न) हे स्वप्न ! (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे कुविचार से (पाहि) बचा ॥ २॥

भावार्थ—जो मनुष्य सदा धर्म कर्म में लगे रहते हैं उनके हृदय में सोते समय भी कुविचार नहीं आते ॥ २ ॥

यथा॑ क॒लां यथा॑ श॒फं यथ॒र्णं सं॒नय॑न्ति ।
ए॒वा दु॒ष्वप्न्यं॒ सर्वं॑ द्वि॒ष॒ते सं न॑यामसि ॥ ३ ॥

यथा॑ । क॒लाम् । यथा॑ । श॒फम् । यथा॑ । ऋ॒णम् । स॒म्-नय॑न्ति ।
ए॒व । दुः॒-स्वप्न्य॑म् । सर्व॑म् । द्वि॒ष॒ते । सम् । न॒या॒म॒सि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा यथा) जैसे जैसे (कलाम्) सोलहवां अंश और (यथा) जैसे (शफम्) आठवां अंश [देकर] (ऋणम्) ऋण को (सनमयन्ति) लोग चुकाते हैं। (एव); वैसे ही (सर्वम्) सब (दुःस्वप्न्यम्) नींद में उठे बुरे विचार को (द्विषते) वैरी के लिये (सम् नयामसि) हम यथावत् छोड़ते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अपने आय का सोलहवां वा आठवां अंश देकर ऋण चुकाते हैं वैसे ही स्वप्न के कुविचारों को वैरी पर छोड़ते हैं ॥ ३ ॥

(करणः) करोतेः—ल्युु । कर्ता (अन्तकः) तत्करोती त्युपसङ्ख्यानम् । वा० पा० ३ । १ । २६ । इति अन्त, णिच्—ण्वुल् । अन्तयतीति अन्तकः । अन्तकरः (असि) (मृत्युः) मरणकर्ता (तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (स्वप्न) (तथा) तेन प्रकारेण (सम्) सम्यक् (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (दुःस्वप्न्यात्) अ० ४ । ६ । ६ । दुःस्वप्न—यत् । दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् कुविचारात् ॥

३—(यथ यथा) येनैव प्रकारेण (कलाम्) आयस्य षोडशांशम् (शफम्) गवादिपादचतुष्टयस्य द्विखुरत्वाद् एकस्य खुरस्याष्टमांशग्रहणम्। अष्टमांशम् (ऋणम्) पुनर्देयत्वेन गृहीतं धनम् (सनमयन्ति) सम्प्रदानेन गमयन्ति (एव) एवम् (दुःस्वप्न्यम्) कुनिद्राभवं विचारम् (सर्वम्) (द्विषते) द्वेष्टे जनाय (सम्) सम्यक् (नयामसि) प्रापयामः ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः; २, ३ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अ॒ग्निः प्रा॒तःस॑व॒ने पा॑त्व॒स्मान् वै॑श्वान॒रो वि॑श्व॒कृद् वि॒श्वशं॑भूः । स नः॑ पाव॒को द्रवि॑णे दधा॒त्वायु॑ष्मन्तः स॒हभ॑क्षाः स्याम ॥ १ ॥

अ॒ग्निः । प्रा॒तः॒-स॒व॒ने । पा॒तु॒ । अ॒स्मान् । वै॒श्वा॒न॒रः । वि॒श्व॒-कृत् । वि॒श्व-शं॑भूः । सः । नः॒ । पा॒व॒कः । द्रवि॑णे । द॒धा॒तु॒ । आयु॑ष्मन्तः । स॒ह-भ॑क्षाः । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी, (विश्वकृत्) जगत् का बनाने वाला, (विश्वशंभूः) संसार को सुख पहुंचाने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (प्रातः सवने) प्रातःकाल के यज्ञ में (अस्मान्) हमारी (पातु) रक्षा करे। (स) वह (पावकः) शुद्ध करने वाला जगदीश्वर (नः) हमको (द्रविणे) धन के बीच (दधातु) रक्खे, (आयुष्मन्तः) उत्तम आयु वाले और (सहभक्षाः) साथ साथ भोजन करने वाले (स्याम) हम रहें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के महा उपकारों को देखकर पुरुषार्थ करके धन प्राप्त करें और परस्पर सहायक होकर सुख भोगें ॥ १ ॥

विश्वे॑ दे॒वा म॒रुत॒ इन्द्रो॑ अ॒स्मान॒स्मिन् द्वि॒तीये॒ सव॑ने

१—(अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (प्रातः सवने) प्रातःकालस्य यज्ञे (पातु) रक्षतु (अस्मान्) धार्मिकान् (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः (विश्वकृत्) सर्वस्य जगतः कर्ता (विश्वशंभूः) भू—क्विप् । सर्वस्मिन् जगति सुखस्य भावयिता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्मान् (पावकः) शोधकः (द्रविणे) अ० २ । २९ । ३ । धने (दधातु) धरतु (आयुष्मन्तः) प्रशस्तेन जीवनेन युक्ताः (सहभक्षाः) सहभोजनाः (स्याम) भवेम ॥

न जह्युः । आयुष्मन्तः प्रियमेषां वदन्तो वयं देवानां सुमतौ स्याम ॥ २ ॥

विश्वे । देवाः । मरुतः । इन्द्रः । अस्मान् । अस्मिन् । द्वितीये । सवने । न । जह्युः । आयुष्मन्तः । प्रियम् । एषाम् । वदन्तः । वयम् । देवानाम् । सु-मतौ । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण, (मरुतः) विद्वान् लोग और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (अस्मान्) हमको (अस्मिन्) इस (द्वितीये) दूसरे (सवने) यज्ञ में (न) नहीं (जह्युः=जहतु) त्याग करें (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन रखने वाले, (प्रियम्) प्रिय (वदन्तः) बोलते हुये (वयम्) हम लोग (एषाम्) इन (देवानाम्) उत्तम गुणों की (सुमतौ) सुमति में (स्याम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर आदि सब उत्तम पदार्थों का विचार करके उत्तम बुद्धि प्राप्त करें ॥ २ ॥

इदं तृतीयं सवनं कवीनामृतेन ये चमसमैरयन्त ।
ते सौधन्वनाः स्वरानशानाः स्विष्टिं नो अभि वस्यो नयन्तु ३

इदम् । तृतीयम् । सवनम् । कवीनाम् । ऋतेन । ये । चमसम् । ऐरयन्त । ते । सौधन्वनाः । स्वः । आनशानाः । सु-इष्टिम् । नः । अभि । वस्यः । नयन्तु ॥ ३ ॥

२—(विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (इन्द्रः) जगदीश्वरः (अस्मान्) (अस्मिन्) वर्तमाने (द्वितीये) मध्याह्ने भवे (सवने) यज्ञे (न) निषेधे (जह्युः) ओ हाक् त्यागे लोडर्थे लिङ् । यकारश्छान्दसः । जह्युः । जहतु । त्यजन्तु (आयुष्मन्तः) उत्तमेन जीवनेन युक्ताः (प्रियम्) प्रीतिकरम् (एषाम्) एतेषाम् (वदन्तः) कथयन्तः (वयम्) (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (सुमतौ) शोभनायां बुद्धौ (स्याम) ॥

भाषार्थ—(ये) जिन [महात्माओं] ने (कवीनाम्) बुद्धिमानों के (ऋतेन) सत्य से (इदम्) इस (तृतीयम्) तीसरे (सवनम्) यज्ञ में (चमसम्) अन्न (ऐरयन्त) प्राप्त कराया है । (ते) वे (स्वः) सुख (आनशानाः) भोगते हुये (सौधन्वानाः) अच्छे अच्छे धनुष् वा विज्ञान वाले पुरुष (नः) हमारे (स्विष्टिम्) अच्छे यज्ञ को (वस्यः अभि) उत्तम फल की ओर (नयन्तु) ले चलें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परोपकारी पूर्वज महाशयों से उत्तम धनुर्वेद विद्या और शास्त्र विद्या प्राप्त करके उत्तम फल भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ पुरउष्णिक् छन्दः ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

१ येनो॑सि गाय॒त्रच्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वा॒ र॑भे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑ह॒ास्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ १ ॥

श्ये॒नः । अ॒सि॒ । गा॒य॒त्र-छ॑न्दाः । अनु॑ । त्वा॒ । आ । र॒भे॒ । स्व॒स्ति । मा॒ । सम् । व॒ह॒ । अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । उ॒त्-ऋचि॑ । स्वाहा॑ ॥१॥

३—(इदम्) (तृतीयम्) सायंकालीनम् (सवनम्) यज्ञं प्रति (कवीनाम्) मेधाविनाम्—निघ० ३ । १५ । (ऋतेन) सत्येन (ये) विद्वांसः (चमसम्) अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । इति चमु अदने—असच् । चमसः कस्माच्चमन्त्यस्मिन्निति-निरु० १० । १२ । अन्नम् (ऐरयन्त) ईर गतौ कम्पने च, द्विकर्मकः । प्रापितवन्तः (ते) प्रसिद्धाः (सौधन्वानाः) कनिन् युवृषि-तक्षि० । उ० १ । १५६ । इति धवि, धन्व गतौ—कनिन् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति सुधन्वन्—अण् । सुधन्वानि शोभनानि धनूंषि विज्ञानानि वा येषां ते । शोभनधनुर्वेदयुक्ताः । शोभनविज्ञानाः—दयानन्दभाष्ये, ऋ० १ । ११० । ४, ८ (स्वः) सुखम् (आनशानाः) अ० २ । १ । ५ । प्राप्नुवन्तः (स्विष्टिम्) शोभनं यज्ञम् (नः) अस्माकम् (अभि) अभिलक्ष्य (वस्यः) वसु–ईयसुन्, ईकारलोपः । वसीयः । अतिप्रशस्तं फलम् (नयन्तु) गमयन्तु ॥

भाषार्थ—तू (गायत्रच्छन्दाः) गाने योग्य आनन्द कर्मों वाला (श्येनः) महाज्ञानी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (आ रभे) मैं ग्रहण करता हूं। (मा) मुझ को (अस्य) इस (यज्ञस्य) पूजनीय कर्म को (उद्दचि) उत्तम स्तुति में (स्वस्ति) आनन्द से (सम्) यथावत् (वह) ले चल, (स्वाहा) यह आशीर्वाद हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के गुण कर्म स्वभाव जान कर पुरुषार्थ करते हैं, वेही उत्तम कर्मों को समाप्त करके कीर्ति और आनन्द पाते हैं ॥१॥

ऋभुरसि जगच्छन्दा अनु त्वा रभे ।

स्वस्ति मा सं वहास्य यज्ञस्योदृचि स्वाहा ॥ २ ॥

ऋभुः । असि । जगत्-छन्दाः । अनु । त्वा । आ । रभे ।

स्वस्ति । मा । सम् । वह । अस्य । यज्ञस्य । उत्-ऋचि । स्वाहा २

भाषार्थ—तू (जगच्छन्दाः) जगत् में स्वतन्त्र (ऋभुः) मेधावी परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझ को ·····म० । १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ २ ॥

१—(श्येनः) अ० । ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० । १४ । १३ । महाज्ञानी परमात्मा (असि) (गायत्रच्छन्दाः) अमिनक्षियजि० । उ० । ३ । १०५ । इति गै गाने—अत्रन्, स च णित् । आतो युक् चिण् कृतोः । पा० । ७ । ३ । ३३ । इति-युक् । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः, निरु० । १ । ८ । चन्देरादेश्च छः । उ० । ४ । २१६ । इति चदि आह्लादने-असुन् चस्य छः । छन्दति, अर्चतिकर्मा—निघ० । ३ । १४ । गायत्राणि गानयोग्यानि छन्दांस्याह्लादकर्माणि यस्य सः (अनु) पश्चात् निरन्तरम् (त्वा) त्वाम् (आ रभे) परिगृह्णामि । आश्रयामि (स्वस्ति) कल्याणेन (मा) माम् (सम्) सम्यक् (वह) गमय (अस्य) वर्तमानस्य (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (उद्दचि) उत्तमायां स्तुतौ (स्वाहा) अ० । २ । १६ । १ । सुवाणी । आशीर्वादः ॥

२—(ऋभुः) अ० । १ । २ । ३ । मेधावी—निघ० । ३ । १५ । (जगच्छन्दाः) जगत्सु लोकेषु । छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

वृषा॑सि त्रि॒ष्टुप्छ॑न्दा॒ अनु॑ त्वा॒ र॑भे ।
स्व॒स्ति मा॒ सं व॑हा॒स्य य॒ज्ञस्यो॒दृचि॒ स्वाहा॑ ॥ ३ ॥

वृषा॑ । अ॒सि॒ । त्रि॒स्तुप्-छ॑न्दाः । अनु॑ । त्वा॒ । आ । र॒भे॒ ।
स्व॒स्ति । मा॒ । सम् । व॒ह॒ । अ॒स्य । य॒ज्ञस्य॑ । उ॒त्-ऋचि॑ स्वाहा॑ ॥३

भाषार्थ—तू (त्रिष्टुप्छन्दाः) तीनों [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] ताप छोड़ाने में समर्थ (वृषा) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (असि) है, (त्वा) तुझको म० । १ ।॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥

प्रलयसृष्टि विद्योपदेशः—प्रलय और सृष्टि विद्या का उपदेश ॥

न॒हि ते॑ अग्ने त॒न्व॑: क्रू॒रमा॒नंश॒ मर्त्यः॑ ।
क॒पिर्ब॑भस्ति॒ तेज॑नं॒ स्वं ज॒रायु॒ गौरि॑व ॥ १ ॥

न॒हि । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । त॒न्व॑: । क्रू॒रम् । आ॒नंश॑ । मर्त्यः॑ ।
क॒पिः । ब॒भ॒स्ति॒ । तेज॑नम् । स्वम् । ज॒रायु॑ । गौः-इ॑व ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप परमेश्वर ! (मर्त्यः) मनुष्य ने (ते) तेरे (तन्वः) स्वरूप की (क्रूरम्) क्रूरता को (नहि) नहीं (आनश) पाया है । (कपिः) कपाने वाले आप (तेजनम्) प्रकाशमान सूर्य मण्डल को

३—(वृषा) म० । १ । १२ । १ । ऐश्वर्यवान् परमात्मा (त्रिष्टुप्छन्दाः) ष्टुभ स्तम्भे—क्विप् । तापत्रयस्य आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकरूपस्य स्तोभने वर्जने छन्दः स्वातन्त्र्यं यस्य सः । अन्यत् पूर्ववत्—म० । १ ।

१—(नहि) नैव (ते) तव (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (तन्वः) विस्तृतस्य स्वरूपस्य (क्रूरम्) म० । ५ । १६ । ५ । क्रूरभावम् (आनंश) अश्नोते लिंट् । परस्मैपदं छान्दसम् । प्राप (मर्त्यः) अघ्न्यादयश्च । उ० । ४ । ११२ । इति मृङ् प्राणत्यागे—यक्, तुडागमः । मनुष्य,—निघ० । २ । ३

(बभस्ति) खा जाते हैं (इव) जैसे (गौः) गौ (स्वम्) अपनी (जरायु) जरायु को [खा लेती है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की अनन्त शक्ति को नहीं जान सकता है। परमेश्वर ही इस संसार को बना कर फिर अपने में प्रविष्ट कर लेता है, जैसे गौ बच्चा उत्पन्न होने के पीछे अपने पेट से निकली झिल्ली को आप निगल जाती है ॥ १ ॥

मे॒ष इ॑व॒ वै सं च॒ वि चो॒र्व॑च्यसे॒ यदु॑त्तर॒द्रावुप॑रश्च॒ खाद॑तः। शी॒र्ष्णा शिरोऽप्स॒साप्सो॑ अ॒र्दय॑न्न॒ंशून् ब॑भस्ति॒ हरि॑तेभिरा॒सभिः॑ ॥२॥

मे॒षः-इ॑व। वै। सम्। च॒। वि। च॒। उ॒रु। अ॒च्यसे॒। यत्। उ॒त्त॒र॒-द्रौ। उप॑रः। च॒। खाद॑तः। शी॒र्ष्णा। शिरः॑। अप्स॑सा। अप्सः॑। अ॒र्दय॑न्। अं॒शून्। ब॒भ॒स्ति॒। हरि॑तेभिः। आ॒स-भिः॑ ॥२॥

भाषार्थ—[हे अग्ने परमात्मन्] (मेषः इव) मेढ़ा के समान तू (वै) निश्चय करके (सम् अच्यसे) सिमट जाता है (च च) और (उरु) बहुत (वि=वि अच्यसे) फैल जाता है, (यत्) जब कि (उत्तरद्रौ) ऊंची शाखा पर (खादत.=खादन्) खाता हुआ तू (च) निश्चय करके (उपरः) ठहरने वाला होता है। (शीर्ष्णा) शिर से (शिरः) शिर को, और (अप्ससा)

(कपिः) कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० । ४ । १४४ । इति कपि चलने—इ । कम्पकः (बभस्ति) भस भर्त्सनदीप्त्योः, अदने च । बभस्तिरत्तिकर्मा—निरु० । ५ । १२ । भक्षयति (तेजनम्) अ० । १ । २ । ४ । प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम् (स्वम्) स्वकीयम् (जरायु) अ० । १ । ११ । ४ । गर्भवेष्टनम् (गौः) प्रसूता धेनुः ॥

२—(मेष) मिष स्पर्धने सेचने च—अच्। पशुभेद (इव) यथा (वै) निश्चयेन (सम्) संगत्य (च च) समुच्चये (वि) व्याप्य (उरु) बहुलम् (अचयसे) गच्छसि (यत्)यदा (उत्तरद्रौ) द्रु गतौ—डु। उच्च शाखायाम् (उपरः) उप+रमु उपरमे—ड। उपरत । स्थितो वर्तसे (च) (खादतः)

रूप से (अप्सः) रूप को (अर्दयन्) दबाते हुये आप (हरितेभिः) हरण शील (आसभिः) गिराने के सामर्थ्यों से (अंशून्) सूर्य आदि लोकों को (बभस्ति) खा जाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे भेड़ बकरी सिमट कर और फैल कर पेड़ों की पत्ती खा जाती हैं, वैसे ही परमात्मा सृष्टि और प्रलय करके सब से ऊपर विराजमान रहता है। वही सब पदार्थों को आपस में टकराकर परमाणुओं की अवस्था में करता है ॥ २ ॥

सुपर्णा वाचमक्रतोप द्यव्याखरे कृष्णा इषिरा अनर्तिषुः।
नि यन्नियन्त्युपरस्य निष्कृतिं पुरू रेतो दधिरे सूर्यश्रितः॥३॥

सु-पर्णाः। वाचम्। अक्रत। उप। द्यवि। आ-खरे। कृष्णाः। इषिराः। अनर्तिषुः। नि। यत्। नि-यन्ति। उपरस्य। निः-कृतिम्। पुरु। रेतः। दधिरे। सूर्य-श्रितः॥ ३॥

भाषार्थ—(सूर्यश्रितः) सूर्य में ठहरी हुई (सुपर्णाः) अच्छे प्रकार पालन करने वाली वा बड़ी शीघ्रगामी किरणों ने (आखरे) खनन योग्य (द्यवि) अन्तरिक्ष में (उप=उपेत्य) मिलकर (वाचम्) शब्द (अक्रत) किया, और (कृष्णाः) रस खैंचने वाली (इषिराः) चलने वाली [उन किरणों]

प्रथमार्थे षष्ठी। खादन् भक्षयन् (शीर्ष्णा) शिरसा (शिरः) मस्तकम् (अप्सः) रूपेण (अप्सः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा। उ० ४। २०८। इति आप्लृ व्याप्तौ—असुन्, अकारलोपः। अप्स इति रूपनामाप्सातेरप्सानीयं भवति आदर्शनीयं व्यापनीयं वा–निरु० । ५ । १३। रूपम्। आकारम् (अर्दयन्) पीडयन् (अंशून्) अंश विभाजने—कु। सूर्यादिलोकान् (बभस्ति) म० १। भक्षयति भवान् (हरितेभिः) हरितैः। हरणशीलैः (आसभिः) असु क्षेपणे—घञ्। आसैः। असनसामर्थ्यैः॥

३—(सुपर्णाः) अ० १। २४। १। सुपालकाः। शोभनपतनाः किरणाः (वाचम्) शब्दम् (अक्रत) करोतेर्लुङि। मन्त्रे घसह्वरणश०। पा० २। ४। ८०। इतिच्लेर्लुक्। अकृषत। कृतवन्तः (उप) उपेत्य (द्यवि) गमेर्डोसिः। उ०। २। ६८। इति द्युत दीप्तौ–डोसि। द्योतते द्यौः। अन्तरिक्षे (आखरे) डरो

ने (अनर्तिषुः) नृत्य किया। (यत्) जब वे (उपरस्य) मेघ की (निष्कृतिम्) रचना की ओर (नि) नियम से (नियन्ति) झुकती हैं, [तब] उन्होंने (पुरु) बहुत (रेतः) वृष्टि जल (दधिरे) धारण किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा से सूर्य की किरणें विशाल आकाश में शब्द करके पार्थिव रस को खींचकर इधर उधर चेष्टा करती हैं। उससे मेघ, मेघ से वृष्टि होकर संसार का उपकार करती है। इसी प्रकार प्रलय के पीछे सृष्टि और सृष्टि के पीछे प्रलय होती है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । सू० ९४ म० ५ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-३ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ जगती; २, ३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

आत्मदोषनिवारणोपदेशः—आत्मा के दोष निवारण का उपदेश ॥

हुतं तर्दं समङ्कमाखुमश्विना छिन्तं शिरो अपि पृष्टीः शृणीतम् । यवान्नेददानपि नह्यतं मुखमथाभयं कृणुतं धान्याय ॥ १ ॥

हुतम् । तर्दम् । सम्-अङ्कम् । आखुम् । अश्विना । छिन्तम् । शिरः । अपि । पृष्टीः । शृणीतम् । यवान् । न । इत् । अदान् । अपि । नह्यतम् । मुखम् । अथ । अभयम् । कृणुतम् । धान्याय ॥१॥

वक्तव्यः । वा० पा० । ३ । ३ । १२५ । इति आङ्+खनु अवदारणे—डर । समन्तात् खननीये (कृष्णाः) अ० ५ । ७३ । ५ । रसानामाकर्षकाः (इपिराः) अ० । ५ । १ । ६ । गमनशीलाः (अनर्तिषुः) नृती गात्रविक्षेपे—लुङ् । नृत्यन्ति स्म । चेष्टां कृतवन्तः (नि) नियमेन (यत्) यदा (नियन्ति) नीचैः प्राप्नुवन्ति (उपरस्य) म० । २ । उपर उपलो मेघोभवत्युपरमन्तेऽस्मिन्नभ्राण्युपरता आप इति वा—निरु० २ । २१ । मेघस्य (निष्कृतिम्) अ० ४ । २७ । ६ । निर्माणम् (उरु) बहुलम् (रेतः) अ० २ । २८ । ५ । जलम्—निघ० १ । १२ । (दधिरे) धृतवन्तः (सूर्यश्रितः) श्रिञ् सेवायाम्—क्विप् । सूर्यं प्राप्ताः किरणाः ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे कामों में व्याप्त रहने वाले स्त्री पुरुषो! (तर्दम्) हिंसा करने वाले कौवे आदि को, (समङ्कम्) पृथिवी में अङ्क करने वाले शूकर आदि को और (आखुम्) कुतरने वाले चूहे आदि को (हतम्) तुम मारो, (शिरः) उनका शिर (छिन्तम्) काटो और (पृष्टीः) पसलियां (अपि) भी (शृणीतम्) तोड़ो। वे (यवान्) जवादि अन्नों को (न इत्) कभी न (अदान्) खावें, (मुखम्) उनका मुख (अपि) भी (नह्यतम्) तुम बाँधो, (अथ) और (धान्याय) धान्य के लिये (अभयम्) अभय (कृणुतम्) करो ॥१॥

भावार्थ—जैसे किसान लोग हानिकारक पक्षी पशु आदि से खेती की रक्षा करके धान्य प्राप्त करते हैं। वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष काम क्रोध आदि शत्रुओं से अपनी रक्षा करके सुख भोगें ॥ १ ॥

तर्द॒ है पत॑ङ्ग॒ है जभ्य॒ हा उप॑क्वस । ब्र॒ह्मेवास॑स्थितं ह॒विरन॑दन्त इ॒मान् यवा॒नहिं॑सन्तो अ॒पोदि॑त ॥ २ ॥

तर्द॑ । है । पत॑ङ्ग । है । जभ्य॑ । है । उप॑-क्वस । ब्र॒ह्मा-इ॑व । अस॑म्-स्थितम् । ह॒विः । अन॑दन्तः । इ॒मान् । यवा॑न् । अहिं॑-सन्तः । अ॒प-उ॒दित ॥ २ ॥

१—(हतम्) हन्तेर्लोट् । युवां नाशयतम् (तर्दम्) तर्द हिंसायाम्—अच् । हिंसकं काकादिकम् (समङ्कम्), अकि लक्षणे—अच् । भूमौ अङ्कनशीलं शूकरादिकम् (आखुम्) आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । इति आङ्+खनु अवदारणे—उ, स च डित् । खननशील मूषकादिकम् (अश्विना) अ० । २ । २९ । ६ । अश्विनौ । हे कर्मसु व्यापनशीलौ स्त्रीपुरुषौ (छिन्तम्) भिन्तम् (शिरः) ललाटम् (अपि) (पृष्टीः) अ० २ । ७ । ५ । पार्श्वास्थीनि (शृणीतम्) हिंस्तं चूर्णीकुरुतम् (यवान्) यवाद्यन्नानि (न इत्) नैव (अदान्) अद भक्षणे—लेट् । भक्षयेयुः (अपि) (नह्यतम्) बध्नीतम् (मुखम्) (अथ) अनन्तरम् (अभयम्) भयराहित्यं कुशलम् (कृणुतम्) कुरुतम् (धान्याय) अन्नवर्धनाय ॥

भाषार्थ—(हे) हे (तर्द) हे हिंसक काक आदि ! (हे) हे (पतङ्ग) फुदकने वाले टिड्डी आदि । (हा) हे (जभ्य) वधयोग्य (उपक्कस) भूमि पर रेंगने वाले कीड़े ! (ब्रह्मा इव) विद्वान् पुरुष ब्रह्मा के समान (असंस्थितम्) विना संस्कार किये हुये (हविः) अन्न को, (इमाम्) इन् (यवान्) जव आदि अन्न को (अनदन्तः) न खाते हुये और (अहिंसन्तः) न तोड़ते हुये (अपोदित) उड़ जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् पुरुष कुपथ्य अन्न को छोड़कर चला जाता है, इसी प्रकार हिंसक पशु आदि जवादि अन्नों के खेतों को छोड़कर चले जावें ॥२॥

तर्दा॑पते॒ वघा॑पते॒ तृष्ट॑जम्भा॒ आ शृ॑णोत मे । य आ॑रण्या व्य॑द्व॒रा ये के च॒ स्थ व्य॑द्व॒रास्तान्त्सर्वा॑न् जम्भयामसि ॥ ३ ॥

तर्द॑-पते । वघा॑-पते । तृष्ट॑-जम्भाः । आ । शृ॒णो॒त॒ । मे॒ । ये । आ॒र॒ण्याः । वि॒-अ॒द्व॒राः । ये । के । च॒ । स्थ । वि॒-अ॒द्व॒राः । तान् । सर्वा॑न् । ज॒म्भ॒या॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तर्दपते) हे हिंसकों के स्वामी ! (वघापते) हे टिड्डी आदिकों के स्वामी ! (तृष्टजम्भाः) हे प्यासे मुख वाले कीड़ो ! (मे) मेरी (आ) अच्छे प्रकार (शृणोत) सुनो । (ये) जो तुम (आरण्याः) जंगली और

२—(तर्द) हिंसककाकादे (हे) हे (पतङ्ग) पतनशील शलभादे (हे) (जभ्य) हिंस्य (हा) हे (उपक्कस) उप+कु+अस गतौ—अच् । उप हीनतया कौ भूमौ असति गच्छतीति यः सः, तत्सम्बुद्धौ । हे कीटादे (ब्रह्मा) ऋत्विक् । महाविद्वान् (इव) यथा (असंस्थितम्) असंस्कृतम् । अपथ्यम् (हविः) अन्नम् (अनदन्तः) अभक्षयन्तः (इमान्) समीपस्थान् (यवान्) यवाद्यन्नानि (अहिंसन्तः) अविनाशयन्तः (अपोदित) अप+उत्+इण गतौ लोट् । उड्डीय गच्छत ॥

३—(तर्दपते) सांहितको दीर्घः । तर्दानां हिंसकानां स्वामिन् (वघापते) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । इति अव+हन् हिंसागत्योः—ड । वष्टि भागुरिरल्लोपम्—अव शब्दस्य अलोपः-टाप । हे अवहननशीलानां जन्तूनां कीटा-

(व्यद्वराः) विविध प्रकार खाने वाले (च) और (ये) (के) जो कोई दूसरे जन्तु (व्यद्वराः) भख लेने वाले (स्थ) हो, (तान्) उन तुम (सर्वान्) सब को (जम्भयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य छोटे बडे हिंसक जन्तुओं को मार हटाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग अपने दोषों को हटावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१-३ ॥ १ सोमः; २ आपः; ३ वरुणो देवता ॥ १ गायत्री; २ त्रिष्टुप्; ३ जगती ॥

द्रोहनाशोपदेशः—द्रोह के नाश का उपदेश ॥

वायोः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ् सोमो अति द्रुतः ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ १ ॥

वायोः । पूतः । पवित्रेण । प्रत्यङ् । सोमः । अति । द्रुतः ।
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वायोः) सर्वव्यापक परमेश्वर के [बताये हुये] (पवित्रेण) शुद्ध आचरण से (पूतः) शुद्ध किया हुआ, (प्रत्यङ्) प्रत्यक्ष पूजनीय, (अति) अति (द्रुत) शीघ्रगामी (सोमः) ऐश्वर्यवान् वा अच्छे गुण वाला पुरुष (इन्द्रस्य) परमेश्वर का (युज्यः) योगी (सखा) सखा होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वेदविहित कर्मों को अति शीघ्र करके परमेश्वर के मित्र बन के सदा सुखी रहें ॥ १ ॥

(वायु) शब्द परमेश्वर वाचक है-देखो [तद् वायुस्तदु चन्द्रमाः] य० ३२ । १ । ब्रह्म [वायु.] सर्वव्यापक और ब्रह्म ही आनन्द दाता है ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १ । ३१ ॥

दोनों स्वामिन् (तृष्टजम्भाः) पिपासितमुखाः (आ) सम्यक् (शृणोत) तशब्दस्य तप् । शृणुत (मे) मम वचनम् (ये) (आरण्याः) अरण्ये भवाः (व्यद्वराः) अ० ३ । २८ । २ । विविधमदनशीलाः (ये के) ये केचित् अन्ये जन्तवः (च) (स्थ) भवथ (तान्) तान् युष्मान् (सर्वान्) समस्तान् (जम्भयामसि) जम्भयामः । नाशयामः ॥

१—(वायोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य विज्ञापितेन—तद् यथा [तद् वायुस्तदु चन्द्रमा] य० ३२ । १ । (पूत) शोधितः (पवित्रेण) शुद्धेन धर्म्माचरणेन (प्रत्यङ्) प्रत्यक्षमञ्चितः पूजितः (सोमः) ऐश्वर्यवान् सोमगुणसम्पन्नो वा (अति) अत्यन्तम् (द्रुतः) शीघ्रगामी (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (युज्यः) समाहितः । योगी (सखा) मित्रम् ॥

आपो अस्मान् मातरः सूदयन्तु घृतेन नो घृतप्वः पुनन्तु।
विश्वं हि रिप्रं प्रवहन्ति देवीरुदिदाभ्यः शुचिरा पूत एमि॥२॥

आपः। अस्मान्। मातरः। सूदयन्तु। घृतेन। नः। घृत-प्वः। पुनन्तु। विश्वम्। हि। रिप्रम्। प्र-वहन्ति। देवीः। उत्। इत्। आभ्यः। शुचिः। आ। पूतः। एमि॥ २॥

भाषार्थ—(मातरः) माता के समान पालन करने वाले (आपः) जल (अस्मान्) हम को (सूदयन्तु) सींचें, (घृतप्वः) घृतको पवित्र करने वाले [जल] (घृतेन) घृत से (नः) हमको (पुनन्तु) पवित्र करें। (देवीः) दिव्यगुणयुक्त जल (विश्वम्) सब (हि) ही (रिप्रम्) मल को (प्रवहन्ति) बहा देते हैं, (आभ्यः) इन जलों से (इत्) ही (शुचिः) शुद्ध और (आ पूतः) सर्वथा पवित्र होकर (उत् एमि) मैं ऊँचा चलता हूं॥ २॥

भावार्थ—जैसे जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके मलों को शुद्ध करके और अनेक शिल्पों में प्रयुक्त होकर उपकारी होते हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त करके परस्पर उपकार करके उदय को प्राप्त हों॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४। २॥

यत् किं चेदं वरुण दैव्ये जनेऽभिद्रोहं मनुष्याः श्चरन्ति
अचित्त्या चेत् तव धर्मा युयोपिम मा नस्तस्मादेनसो
देव रीरिषः॥ ३॥

२—(आपः) जलानि (अस्मान्) मनुष्यादीन् (मातरः) मातृवत्पालिकाः (सूदयन्तु) षूद क्षरणे। सिञ्चन्तु। शुन्धयन्तु (घृतेन) आज्येन (नः) अस्मान् (घृतप्वः) घृत+पूञ् पवने-क्विप्। घृत पुनन्ति यास्ता आपः (पुनन्तु) पवित्रयन्तु (विश्वम्) सर्वम् (हि) खलु (रिप्रम्) लीरीङो ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः। उ० ५। ५५। इति रीङ् श्रवणे—रमत्ययः, ह्रस्वः पुट् च। रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४। २१। कुत्सितं मलम् (प्रवहन्ति) प्रकर्षेण-क्षालयन्ति, अपगमयन्ति (देवीः) देव्यः। दिव्यगुणयुक्ताः (उत्) उदित्य (इत्) एव (आभ्यः) अद्भ्यः (शुचिः) शुद्धः (आ) समन्तात् (पूतः) पवित्रः (एमि) गच्छामि॥

यत् । किम् । च । इदम् । वरुण । दैव्ये । जने । अभि-द्रोहम् । मनुष्याः । चरन्ति । अचित्त्या । च । इत् । तव । धर्म । युयोपिम । मा । नः । तस्मात् । एनसः । देव । रीरिषः ॥३॥

भाषार्थ—(वरुण) हे अति उत्तम परमेश्वर ! (मनुष्याः) मनुष्य (इदम्) यह (यत् किम् च) जो कुछ भी (अभिद्रोहम्) अपकार (दैव्ये) विद्वानों के बीच विद्वान् (जने) मनुष्य पर (चरन्ति) करते हैं । (च) और (इत्) भी (अचित्त्या) अचेतनपन से (तव) तेरे (धर्म्म) धर्म को (युयोपिम) हमने तोडा है, (देव) हे प्रकाशमय परमात्मन् ! (नः) हमें (तस्मात्) उस (एनसः) पाप से (मा रीरिषः) मत नष्ट कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्य अज्ञान से कोई पाप कर्म करें तो वे दण्ड रूप प्रायश्चित्त, अनुताप आदि करके धर्म आचरण में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋगवेद में है-म० ७ । ८९ । ५ ।

इति पञ्चमोऽनुवाकः ।

अथ षष्ठोऽनुवाकः

सूक्तम् ५२ ॥

१-३ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मदोषनाशोपदेशः—आत्मा के दोष के नाश का उपदेश ॥

उत् सूर्यो दिव एति पुरो रक्षांसि निजूर्वन् ।

३—(यत्) (किम् च इदम्) किञ्चिदपि (वरुण) हे अत्युत्तम परमेश्वर (दैव्ये) अ० २ । २ । २ । देवेषु विद्वत्सु जाते विदुषि (जने) मनुष्ये (अभिद्रोहम्) अपराधम् (मनुष्याः) पुरुषाः (चरन्ति) अनुतिष्ठन्ति (अचित्त्या) अ० ५ । १७ । १२ । अज्ञानेन (च) (इत्) अपि (धर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति धृ धारणे-मनिन् । धारणसामर्थ्यम् । नियमम् (युयोपिम) युप् विमोहने—लिट् । विमोहितवन्तः । नाशितवन्तः (न) अस्मान् (तस्मात्) (एनसः) अ० २ । १० । ८ । पापात् (देव) हे प्रकाशमय परमात्मन् (मा रीरिषः) रिष हिंसायाम्, एयन्ताद् माङि लुङि चङि रूपम् । मा हिंसीः ॥

आदित्यः पर्वतेभ्यो विश्वदृष्टो अदृष्टहा ॥ १ ॥
उत् । सूर्यः । दिवः । एति । पुरः । रक्षांसि । नि-जूर्वन् ।
आदित्यः । पर्वतेभ्यः । विश्व-दृष्टः । अदृष्ट-हा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आदित्यः) सब ओर प्रकाश वाला, (विश्वदृष्टः) सबों करके देखा गया और (अदृष्टहा) न दीखते हुये पदार्थों में गति वाला (सूर्यः) सूर्य (दिवः) अन्तरिक्ष के बीच (रक्षांसि) राक्षसों [अन्धकार आदि उपद्रवों] को (निजूर्वन्) सर्वथा नाश करता हुआ (पर्वतेभ्यः) मेघों वा पहाड़ों से (पुरः) सन्मुख (उत् एति) उदय होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार हटा कर प्रकाश करता है, वैसे ही विद्वान् लोग अविद्या मिटा कर विद्या का प्रकाश करते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-म० १ । १६१ । ८, ६ ॥

नि गावो गोष्ठे असदन् नि मृगासो अविक्षत ।
न्यूर्मयो नदीनां न्यदृष्टा अलिप्सत ॥ २ ॥
नि । गावः । गो-स्थे । असदन् । नि । मृगासः । अविक्षत ।
नि । ऊर्मयः । नदीनाम् । नि । अदृष्टाः । अलिप्सत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(गावः) किरणें (गोष्ठे) किरणों के स्थान, अन्तरिक्ष में (नि) पैठ कर (असदन्) ठहरी हैं, (मृगासः) खोजने वाले पुरुषों ने (नि

१—(उत्) उद्गत्य (सूर्यः) लोकस्य प्रेरको दिनकरः (दिवः) अन्तरिक्षस्य मध्यात् (एति) गच्छति (पुरः) अग्रे (रक्षांसि) अ० १ । २१ । ३ । रक्षो रक्षितव्यमस्मात्-निरु० ४ । १८ । अन्धकारादीन् उपद्रवान् (निजूर्वन्) जुर्वी हिंसायाम्—शतृ । नितरां नाशयन् (आदित्यः) अ० १ । ६ । १ । आदीप्यमानः (पर्वतेभ्यः) मेघेभ्यः शैलेभ्यो वा (विश्वदृष्टः) विश्वेन दृष्टः (अदृष्टहा) अ० ५ । २३ । ६ । अदृष्टान् अन्धकारयुक्तान् पदार्थान् हन्ति गच्छतीति यः सः ॥

२—(नि) अन्तर्भूय (गावः) किरणाः (गोष्ठे) गवां किरणानां स्थाने अन्तरिक्षे (असदन्) निषण्णा अभूवन् (नि) (मृगासः) मृग

अविक्षत) [अपने कामों में] प्रवेश किया है। (नदीनाम्) स्तुति करने वाली प्रजाओं की (ऊर्मयः) गति क्रियाओं ने (अदृष्टाः) न दीखती हुई पंक्तियों को (नि नि) अति निश्चय करके (अलिप्सत) पाने की इच्छा की है॥ २॥

भावार्थ—सूर्य के चमकने पर सब मनुष्य आदि प्राणी परमेश्वर की स्तुति करते हुये अभीष्ट पदार्थों को खोजकर अपने २ कर्तव्य कर्म करते हैं॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १९१। ४।

आयुर्ददं विपश्चितं श्रुतां कण्वस्य वीरुधम्।
आभारिषं विश्वभेषजीमस्यादृष्टान् नि शमयत्॥ ३॥

आयुः-ददम्। विपः-चितम्। श्रुताम्। कण्वस्य। वीरुधम्। आ। अभारिषम्। विश्व-भेषजीम्। अस्य। अदृष्टान्। नि। शमयत्॥ ३॥

भाषार्थ—(कण्वस्य) बुद्धिमान् पुरुष की (आयुर्ददम्) जीवन देने वाली, (विपश्चितम्) भले प्रकार चेताने वाली, (श्रुताम्) प्रसिद्ध, (वीरुधम्) विविध प्रकार प्रगट होने वाली, (विश्वभेषजीम्) संसार का भय जीतने वाली वेद विद्या को (आ अभारिषम्) मैंने पाया है, वह (अस्य) इस

अन्वेषणे—क, असुक् च। मृगाः। अन्वेषकाः पुरुषाः (अविक्षत) नेर्विशः। पा० १। ३। १७। इत्यात्मनेपदम्। शल इगुपधादनिटः क्सः। पा० ३। १। ४५। इति लुङि च्लेः क्सः। स्वकार्येषु प्रविष्टा अभूवन् (नि नि) निश्चयेनैव (ऊर्मयः) अर्तेरूच्च। उ० ४। ४४। इति ऋ गतौ–मि। गतिक्रियाः (नदीनाम्) नद—ङीप्। नदः स्तोता—निघ० ३। १६। स्तोत्रीणां प्रजानाम् (अदृष्टाः) अगोचराः पंक्तीः। अन्धकारयुक्तान् पदार्थान् (अलिप्सत) लभेः सनि। सनिमीमाघुरभलभ०। पा० ७। ४। ५४। इति अचः स्थाने इस्। स्कोः संयोगा०। पा० ८। २। २९। सकार लोपः। लब्धुमैच्छन्॥

३—(आयुर्ददम्) दद दाने—क्विप्। उत्कृष्टजीवनस्य दात्रीम् (विपश्चितम्) वि+प्र+चिती संज्ञाने—क्विप्, पृषोदरादि रूपम्। विविधं प्रकृष्टं ज्ञापयित्रीम् (श्रुताम्) प्रसिद्धाम् (कण्वस्य) अशू प्रुषिलटिकणि०। उ० १। १५१। इति कण शब्दे—क्वन्। मेधाविनः पुरुषस्य—निघ० ३। १५। (वीरु-

पुरुष के (अदृष्टान्) न दीखते हुये दोषों को (नि शमयत्) शान्त कर देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व सुख दायक वेद विद्या द्वारा अपने सब कुसंस्कारों का नाश करके आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-३ ॥ १ विश्वेदेवाः; २ अग्निः; ३ त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्वास्थ्यरक्षणोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश ॥

द्यौश्च म इदं पृथिवी च प्रचेतसौ शुक्रो बृहन् दक्षिणया पिपर्तु । अनु स्वधा चिकितां सोमो अग्निर्वायुर्नः पातु सविता भगश्च ॥ १ ॥

द्यौः । च । मे । इदम् । पृथिवी । च । प्र-चेतसौ । शुक्रः । बृहन् । दक्षिणया । पिपर्तु । अनु । स्वधा । चिकिताम् । सोमः । अग्निः । वायुः । नः । पातु । सविता । भगः । च ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतसौ) उत्तम ज्ञान देने वाले (द्यौः) आकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी (च) और (बृहन्) बड़ा (शुक्रः) प्रकाशमान सूर्य (मे) मेरे लिये (इदम्) इस घर को (दक्षिणया) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] से (पिपर्तु) भरपूर करे । (सोमः) चन्द्रमा और (अग्निः) अग्नि (अनु) अनुग्रह करके (स्वधा) अन्न को (चिकिताम्) जनावे, (वायुः) वायु (च)

धम्) विविध शत्रुमर्दिनीम् (आ अभारिषम्) हृञ् प्रापणे, हृस्य भत्वम् आहार्षम् । प्राप्तवानस्मि (विश्वभेषजीम्) सर्वस्य भयस्य शमनीं वेदविद्याम् (अस्य) पुरुषस्य (अदृष्टान्) अलक्षितान् दोषान् कुसंस्कारान् (नि शमयत्) शम उपशमने, एयन्ताल्लेटि अडागमः । निशमयतु ॥

१—(द्यौः) आकाशः (च च) समुच्चये (मे) मह्यम् (इदम्) पुरोवर्त्ति गृहम् (पृथिवी) (च) (प्रचेतसौ) प्रचेतः प्रज्ञानं याभ्यां सकाशात् ते । प्रकृष्टज्ञानदात्र्यौ (शुक्रः) शोचमानो दीप्यमानः सूर्यः (बृहन्) महान् (दक्षिणया) अ० ५ । ७ । १ । दानेन । प्रतिष्ठया (पिपर्तु) प्रपूरयतु (अनु) अनुग्रहेण (स्वधा)

और (सविता) सबका उत्पन्न करने हारा (भगः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (नः) हमारी (पातु) रक्षा करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर रचित पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर सदा सुखी रहें ॥ १ ॥

पुनः प्राणः पुनरात्मा न ऐतु पुनश्चक्षुः पुनरसुर्न ऐतु । वैश्वानरो नो अदब्धस्तनूपा अन्तस्तिष्ठाति दुरितानि विश्वा ॥ २ ॥

पुनः । प्राणः । पुनः । आत्मा । नः । आ । एतु । पुनः । चक्षुः । पुनः । असुः । नः । आ । एतु । वैश्वानरः । नः । अदब्धः । तनू-पाः । अन्तः । तिष्ठाति । दुः-इतानि । विश्वा २

भाषार्थ—(पुनः) वार वार (प्राणः) प्राण, (पुनः) वार वार (आत्मा) आत्मबल (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो, (पुनः) वार वार (चक्षुः) देखने का सामर्थ्य, (पुनः) वार वार (असुः) बुद्धि (नः) हमें (ऐतु) प्राप्त हो। (अदब्धः) बेचूक, (तनूपाः) शरीरों का रक्षक, (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमात्मा (नः) हमारे (विश्वा) सब (दुरितानि) कष्टों के (अन्तः) बीच में (तिष्ठाति) स्थित रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सदा धर्म में प्रवृत्त रह कर परमेश्वर की आज्ञा पालन करें, जिससे विश्राम के पश्चात् और पुनर्जन्म में भी उत्तम शरीर और इन्द्रियां प्राप्त करके सुख भोगते रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ४ । म० १५ ।

असम् (चिकिताम्) कित ज्ञाने—अन्तर्गतएयर्थः । ज्ञापयतु (अग्निः) पावकः (वायु) पवनः (नः) अस्मान् (पातु) रक्षतु (सविता) सर्वोत्पादकः (भग) भगमैश्वर्यं यस्य सः । भगवान् परमेश्वरः (च) ॥

२—(पुनः) वारं वारम् । विश्रामानन्तरं द्वितीये जन्मनि वा (प्राणः) जीवस्थितिहेतुः प्राणवायुः (पुनः) (आत्मा) आत्मबलम् (नः) अस्मान् (ऐतु) आगच्छतु । प्राप्नोतु (पुनः) (चक्षुः) दर्शनशक्तिः (पुनः) (असुः) प्रज्ञा—निघ० ३ । ६ । (नः) (ऐतु) (वैश्वानरः) सर्वनरहितः परमेश्वरः (नः) अस्माकम् (तनूपाः) शरीरपालकः (अन्तः) मध्ये । अन्तरान्तरेणयुक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया (तिष्ठाति) लेट् । तिष्ठेत् (दुरितानि) दुःखानि (विश्वा) सर्वाणि ॥

सं वर्चसा पयसा सं तनूभिरगन्महि मनसा सं शिवेन।
त्वष्टा नो अत्र वरीयः कृणोत्वनु नो मार्ष्टु तन्वोऽ
यद् विरिष्टम् ॥ ३ ॥

सम्। वर्चसा। पयसा। सम्। तनूभिः। अगन्महि। मनसा।
सम्। शिवेन। त्वष्टा। नः। अत्र। वरीयः। कृणोतु। अनु।
नः। मार्ष्टु। तन्वः। यत्। वि-रिष्टम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वर्चसा) अन्न के साथ, (पयसा) विज्ञान के साथ (सम्) यथावत्, (तनूभि) शरीरों के साथ (सम्) यथाविधि, और (शिवेन) मङ्गलकारी (मनसा) मन के साथ (सम् अगन्महि) हम संगत हुये हैं। (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अत्र) यहां पर (वरीयः) अति विस्तीर्ण धन (कृणोतु) करे और (नः) हमारे (तन्वः) शरीर का (यत्) जो (विरिष्टम्) विविध कष्ट है उसे (अनु मार्ष्टु) शुद्ध करता रहे ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर ने कृपा करके हमें अन्न, विद्या, और मनन शक्ति पहिले से दी है, हम उन सब से यथावत् उपकार लेकर अपने सब कष्ट दूर करें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २। २४।

३—(सम्) सम्यक् (वर्चसा) अन्नेन—निघ० २।७। (पयसा) पय गतौ—असुन्। विज्ञानेन (सम्) यथाविधि (तनूभिः) शरीरैः (सम् अगन्महि) समो गम्यृच्छिभ्याम्। पा० १।३।२९। इत्यात्मनेपदम्। संगता अभूम (मनसा) अन्तः करणेन (शिवेन) कल्याणकरेण (त्वष्टा) अ० २। ५। ६। त्वष्टा त्विषेर्वा स्याद् दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वा स्यात्करोतिकर्मणः-निरु० ८। १३। विश्वकर्मा परमात्मा (नः) अस्मभ्यम् (अत्र) अस्मिन् गृहे (वरीयः) अ० १। २। २। उरुतरम्। विस्तीर्णतरं धनम् (कृणोतु) करोतु (अनु) अनन्तरम् (न) अस्माकम् (मार्ष्टु) मृजूष् शुद्धौ। शोधयतु (तन्वः) शरीरस्य (यत्) यावत् (विरिष्टम्) रिष हिंसायाम्—भावे क्त। विहिंसनम्। विविध दुःखम् ॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्यरक्षणायोपदेशः—राज्य की रक्षा के लिये उपदेश ॥

इदं तद् युज उत्त॑रमिन्द्रं॑ शुम्भाम्यष्ट॑ये ।
अस्य क्षत्रं श्रियं॑ मुहीं वृष्टि॑रिव वर्धया तृणम् ॥ १ ॥

इदम् । तत् । युजे । उत्-त॑रम् । इन्द्र॑म् । शुम्भामि । अष्ट॑ये ।
अस्य । क्षत्रम् । श्रियम् । मुहीम् । वृष्टिः-इ॑व । वर्धय । तृणम् ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजा को (अष्टये) इष्ट प्राप्ति के लिये (शुम्भामि) सुशोभित करता हूं, [जिस से] (युजे) उसके मित्र के लिये (इदम्) यह और (तत्) वह (उत्तरम्) अधिक ऊंचा पद होवे। [हे जगदीश्वर !] (अस्य) इस पुरुष के (क्षत्रम्) राज्य और (महीम्) बड़ी (श्रियम्) सम्पत्ति को (वर्धय) बढ़ा, (वृष्टिः इव) जैसे बरसा (तृणम्) घास को ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर के अनुग्रह से धर्म आचरण करता हुआ सर्वत्र अपने राज्य की वृद्धि करे ॥ १ ॥

अस्मै क्षत्रम॑ग्नीषोमावस्मै धारयतं रयिम् ।
इमं राष्ट्रस्या॑भीवर्गे कृ॑णुतं युज उत्त॑रम् ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्रम् । अग्नीषोमौ । अस्मै । धारयतम् । रयिम् ।
इमम् । राष्ट्रस्य॑ । अभि-वर्गे । कृणुतम् । युजे । उत्-त॑रम् ॥२॥

१—(इदम्) समीपस्थम् (तत्) दूरस्थम् (युजे) युजे—क्विप् मित्राय (उत्तरम्) उच्चतरं पदं भवतु (इन्द्रम्) राजानम् (शुम्भामि) शुम्भ शोभायाम्, णिजर्थः । शोभयामि (अष्टये) अशू व्याप्तौ—क्तिन् । इष्ट प्राप्तये (अस्य) पुरुषस्य (क्षत्रम्) राज्यम् (श्रियम्) सम्पत्तिम् (महीम्) महतीम् (वृष्टिः) वर्षणम् (इव) यथा (वर्धय) समर्धय (तृणम्) घासम् ॥

भाषार्थ—(अग्नीषोमौ) हे सूर्य और चन्द्रमा ! तुम दोनों (अस्मै) इस पुरुष के लिये (क्षत्रम्) राज्य को और (अस्मै) इसके लिये (रयिम्) सम्पत्ति को (धारयतम्) दृढ़ करो। (इमम्) इस पुरुष को (राष्ट्रस्य) राज्य के (अभीवर्गे) मण्डल में (युजे) मित्र वर्ग के लिये (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (कृणुतम्) करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य चन्द्रमा नियम बद्ध होकर परस्पर आकर्षण आदि से जगत् का उपकार करते हैं वैसे ही मनुष्य सब से प्रीति करके अपना राज्य और धन बढ़ावे ॥ २ ॥

सबन्धुश्चासबन्धुश्च यो अस्माँ अभिदासति ।
सर्वं तं रन्धयासि मे यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

स-बन्धुः । च । असबन्धुः । च । यः । अस्मान् । अभि-दासति ।
सर्वम् । तम् । रन्धयासि । मे । यजमानाय । सुन्वते ॥३॥

भाषार्थ—(यः) जो शत्रु (सबन्धुः) बन्धुओं सहित (च च) और (असबन्धुः) बिना बन्धुओं के होकर (अस्मान्) हमें (अभिदासति) सतावे। (तम्) उस (सर्वम्) सब को (सुन्वते) तत्त्वमथन करने वाले (यजमानाय) विद्वानों का सत्कार करने वाले (मे) मेरे लिये (रन्धयासि) वश में कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—धार्मिक पुरुष परमात्मा की आज्ञा मान कर तत्त्वमथन कर के शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ६। १५-२। और उत्तरार्द्ध अ० ६। ६। १। में आया है ॥

२—(अस्मै) पुरुषाय (क्षत्रम्) राष्ट्रम् (अग्नीषोमौ) सूर्यचन्द्रौ (अस्मै) (धारयतम्) दृढीकुरुतम् (रयिम्) वैभवम् (इमम्) पुरुषम् (राष्ट्रस्य) राज्यस्य (अभीवर्गे) अ० ३। ५। २। राज्यमण्डले (कृणुतम्) कुरुतम् (युजे) मित्रवर्गहिताय (उत्तरम्) उच्चतरम् ॥

३—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० ६। १५। २। उत्तरार्द्धः—अ० ६। ६। १।

सूक्तम् ५५ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सब सम्पत्ति प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति । तेषामज्यानिं यतमो वहाति तस्मै मा देवाः परि धत्तेह सर्वे ॥ १ ॥

ये । पन्थानः । बहवः । देव-यानाः । अन्तरा । द्यावापृथिवी इति । सम्-चरन्ति । तेषाम् । अज्यानिम् । यतमः । वहाति । तस्मै । मा । देवाः । परि । धत्त । इह । सर्वे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवयानाः) विद्वानों के यानों, रथादिकों के योग्य (वहवः) वहुत से (पन्थानः) मार्ग (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी के (अन्तरा) वीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं। (तेषाम्) उन मार्गों में से (यतमः) जो कोई मार्ग (अज्यानिम्) अभङ्ग शान्ति (वहाति) पहुंचावे। (सर्वे देवा) हे सब विद्वानो ! (तस्मै) उस मार्ग के लिये (मा) मुझे (इह) यहां पर (परि) अच्छे प्रकार (धत्त) स्थिर करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज महात्माओं के समान विज्ञान पूर्वक वैदिक मार्ग में चलकर शांन्ति प्राप्त करें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध अ० ३ । १५ । २ में आ गया है ॥

१—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० ३ । १५ । २ । यथा (ये) (पन्थानः) मार्गाः (बहवः) नानाविधाः (देवयानाः) विदुषां यानयोग्याः (अन्तरा) मध्ये (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (संचरन्ति) वर्तन्ते (तेषाम्) पथां मध्ये (अज्यानिम्) ज्या वयोहनौ-क्तिन् । अजरां शान्तिम् (यतम.) अ० ४ । ११ । ५ । यः कश्चित् (वहाति) लेटि, अडागमः । वहेत् प्रापयेत् (तस्मै) मार्गाय (मा) माम् (देवाः) विद्वांसः (परि) सर्वतः (धत्त) स्थापय (इह) अस्मिन् लोके (सर्वे) समस्ताः ॥

ग्रीष्मो हेमन्तः शिशिरो वसन्तः शरद् वर्षाः स्विते नो दधात । आ नो गोषु भजता प्रजायां निवात इद् वः शरणे स्याम ॥ २ ॥

ग्रीष्मः । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः । शरत् । वर्षाः । सु-इते । नः । दधात । आ । नः । गोषु । भजत । आ । प्र-जायाम् । नि-वाते । इत् । वः । शरणे । स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसन्तः) वसन्तकाल [चैत्र, वैशाख] (ग्रीष्मः) घाम ऋतु [ज्येष्ठ, आषाढ़] (वर्षाः) बरसा [श्रावण भाद्रमास] (शरत्) शरद् ऋतु [आश्विन, कार्तिक] (हेमन्तः) शीत काल [अग्रहायण, पौष] (शिशिरः) उतरता शीतकाल [माघ, फाल्गुन] यह तुम सब (नः) हमें (स्विते) अच्छे प्रकार प्राप्त कुशल में (दधात) स्थापित करो। (नः) हमें (गोषु) गौ आदि पशुओं में (आ) और (प्रजायाम्) प्रजा में (आ) सब ओर से (भजत) भागी करो, (वः) तुम्हारे (इत्) ही (निवाते) हिंसारहित (शरणे) शरण में (स्याम) हम रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रत्येक ऋतु में उचित आहार विहार करके गौ आदि पशुओं और पुत्र पौत्र भृत्य प्रजाओं सहित सुखी रहें ॥ २ ॥

२—(ग्रीष्मः) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४८ । इति ग्रसु अदने-मक्, ग्रीभावः पुगागमश्च । निदाघः । ज्येष्ठाषाढ़ात्मकः कालः (हेमन्तः) अ० ३ । ११ । ४ । अग्रहायणपौषात्मकः कालः (शिशिरः) अजिरशिशिर० । उ० १ । ५३ । इति शश प्लुतगतौ-किरच्, उपधाया इत्वम् । माघफाल्गुनमासात्मक. शीतान्तः कालः (वसन्तः) अ० ३ । ११ । ४ । चैत्रवैशाखात्मकः पुष्पकालः (शरत्) अ० १ । १० । २ । आश्विनकार्तिकात्मकः कालः (वर्षाः) वर्ष वर्षणमस्त्यासु । वर्ष—अर्शआदिभ्योऽच्, टाप्। यद्वा । व्रियन्ते । वृतॄवदि० । उ० ३ । ६२ । इति वृञ् वरणे—स, टाप् । श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः (स्विते) सुष्ठु प्राप्ते कुशले (नः) अस्मान् (दधात) धत्त । स्थापयत (आ) समुच्चये (न.) अस्मान् (गोषु) गवादिपशुषु (भजत) भागिनः कुरुत (आ) समन्तात् (प्रजायाम्) पुत्रपौत्रभृत्यादिरूपे जने (निवाते) वा गतिहिंसनयोः—क्त । अहिंसिते (इत्) एव (वः) युष्माकम् (शरणे) रक्षणे (स्याम) भवेम ॥

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ परिवत्स॒राय॑ संवत्स॒राय॑ कृणुता बृ॒हन्नमः॑ ।
तेषां॑ व॒यं सु॑म॒तौ य॒ज्ञियानामपि॑ भ॒द्रे सौमन॒से स्या॑म ॥३॥

इ॒दा॒व॒त्स॒राय॑ । परि॑-व॒त्स॒राय॑ । स॒म्-व॒त्स॒राय॑ । कृ॒णु॒त॒ । बृ॒हत् । नमः॑ । तेषा॑म् । व॒यम् । सु॒-म॒तौ । य॒ज्ञियाना॑म् । अपि॑ । भ॒द्रे । सौ॒म॒न॒से । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(परिवत्सराय) सब ओर से निवास कराने वाले पिता को, (इदावत्सराय) विद्या में निवास कराने वाले आचार्य को और (संवत्सराय) यथा नियम निवास कराने वाले राजा को तुम (बृहत्) बहुत बहुत (नमः) नमस्कार (कृणुत) करो। (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) उत्तम व्यवहार करने हारों के (अपि) ही (सुमतौ) सुमतिवाले और (भद्रे) कल्याणकारक (सौमनसे) हार्दिक स्नेह में (वयम्) हम लोग (स्याम) रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता, आचार्य और राजा की आज्ञा सत्कार पूर्वक मानकर उत्तम विद्या प्राप्त करके आनन्द से रहें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध यजुर्वेद में है—अ० १६ । ५० ।

३—(इदावत्सराय) इडा+वत्सराय, डस्य दः । वसेश्च । उ० ३ । ७१ । इति वस निवासे—सरन् । सः स्यार्धधातुके । पा० ७ । ४ । ४६ । इति सस्य तकारः । इडायां विद्यायां निवासकायाचार्याय (परिवत्सराय) परितो निवासकाय जनकाय (संवत्सराय) सं पूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । इति सम्+वस—सरन्, स च चित् तत्वं च । सम्यग् यथाविधि निवासकाय राज्ञे (कृणुत) कुरुत (बृहत्) प्रभूतम् (नमः) नमस्कारम् (तेषाम्) (वयम्) (सुमतौ) शोभनबुद्धियुक्ते (यज्ञियानाम्) यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । इति घ प्रत्ययः । पूजार्हाणां विदुषाम् (अपि) एव (भद्रे) कल्याणकारके (सौमनसे) सुमनस्—अण् । सुमनसो भावे । हार्दिक- स्नेहे (स्याम) भवेम ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१-३ ॥ देवजना देवताः ॥ १ बृहती; २, ३ अनुष्टुप् ॥

दोषनाशोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

मा नो॑ देवा अहि॑र्वधी॒त् सतो॑कान्त्स॒हपू॑रुषान् ।
सं॒यतं॒ न वि ष्प॑रद् व्यात्तं॒ न सं य॑मु॒न्नमो॑ देवज॒नेभ्यः॑ ॥१॥

मा । नः॒ । दे॒वाः॒ । अहिः॑ । व॒धी॒त् । स-तो॑कान् । स॒ह-पू॑रुषान् । सम्-य॑तम् । न । वि । स्प॒र॒त् । वि-आ॑त्तम् । न । सम् । य॒म॒त् । नमः॑ । दे॒व-ज॒नेभ्यः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (सतोकान्) सन्तानों सहित और (सहपूरुषान्) पुरुषों सहित (नः) हमको (अहिः) चोट देने वाला सर्प [सर्प तुल्य अपना दोष] (मा वधीत्) न काटे। वह (संयतम्) मुंदे हुये मुख को (न) न (वि स्परत्) खोले और (व्यात्तम्) खुले मुख को (न) न (सम् यमत्) मूंदे। (देवजनेभ्यः) विद्वान् जनों को (नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् महात्माओं से शिक्षा पाकर अपने और अपने सन्तानों और बांधव भृत्य आदि पुरुषों के दोषों को इस प्रकार निर्बल करदें जैसे दुष्ट सर्प को मार मार कर निर्बल कर देते हैं ॥१॥

१—(मा वधीत्) हन्तेर्लुङि। माहिंसीत् (नः) अस्मान् (देवाः) हे विद्वांसः (अहिः) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८ । इति आङ्+ हन हिंसागत्योः-इञ्, स च डित्, आङो ह्रस्वश्च । आहननशीलः सर्पः । सर्प-तुल्यआत्मदोषः (सतोकान्) अपत्यैः सहितान् (सहपूरुषान्) वान्धवभृत्यादि-सहितान् (संयतम्) संकुचितम् (न) निषेधे (वि) विवृत्य (स्परत्) स्पृ प्रीतिचलनयोः-लेट् । चालयेत् (व्यात्तम्) अच उपसर्गात् तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति व्याङ् पूर्वाद् दाञो निष्ठायां तकारः । विवृतं मुखम् (न) (सयमत्) संश्लिष्येत् (नमः) सत्कारः (देवजनेभ्यः) विद्वत्पुरुषेभ्यः ॥

नमो॑ऽस्त्वसि॒ताय॒ नम॒स्तिर॑श्चिराजये ।
स्व॒जाय॑ ब॒भ्रवे॒ नमो॒ नमो॑ देवज॒नेभ्य॑: ॥ २ ॥

नम॑: । अ॒स्तु॒ । अ॒सि॒ताय॑ । नम॑: । तिर॑श्चि-राजये । स्व॒जाय॑ । ब॒भ्रवे॑ । नम॑: । नम॑: । दे॒व-ज॒नेभ्य॑: ॥ २ ॥

भाषार्थ—(असिताय) काले सांप के लिये (नमः) वज्र (अस्तु) होवे, (तिरश्चिराजये) तिरछी धारी वाले सांप के लिये (नमः) वज्र और (स्वजाय) लिपटने वाले (बभ्रवे) भूरे सांप के लिये (नमः) वज्र होवे। (देवजनेभ्यः) विद्वान्जनों के लिये (नमः) सत्कार है ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति से अपने पापों का नाश करे, जैसे सर्प को वज्रादि से मारडालते हैं ॥२॥

सं ते॑ हन्मि द॒ता द॒तः समु॑ ते॒ हन्वा॒ हनू॑ ।
सं ते॑ जि॒ह्वया॑ जि॒ह्वां सम्वा॒स्नाह॑ आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

सम् । ते॒ । ह॒न्मि॒ । द॒ता । द॒तः । सम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । हन्वा॑ । हनू॒ इति॑ । सम् । ते॒ । जि॒ह्वया॑ । जि॒ह्वाम् । सम् । ऊं॒ इति॑ । आ॒स्ना । अ॒हे॒ । आ॒स्य॑म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहे) हे सर्प । (ते) तेरे (दता) दांत से (दतः) दांतों

२—(नमः) नमयति शत्रून् । वज्रनाम—निघ० २ । २० । (अस्तु) भवतु (असिताय) अ० ३ । २७ । १ । कृष्णसर्पाय (नमः) वज्रः (तिरश्चिराजये) अ० ३ । २७ । २ । तिरश्च्यः, तिर्यगवस्थिता राजयः पंक्तयो यस्य तथाविधाय सर्पाय (स्वजाय) अ० ३ । २७ । ४ । कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । इति ष्वञ्ज आलिङ्गने—क । अनिदितां हल उपधायाः० । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । आलिङ्गनशीलाय सर्पाय (बभ्रवे) पिङ्गलवर्णाय । अन्यद् गतम् ॥

३—(सम्) संयोज्य (ते) तव (हन्मि) नाशयामि (दता) पद्भो

को (सम् हन्मि) मिला कर तोड़ता हूं, (उ) और (ते) तेरे (हन्वा) जावड़े से (हनू) दोनों जावड़ों को (सम्) मिसल कर, (ते) तेरी (जिह्वया) जीभ से (जिह्वाम्) जीभ को (सम्) मिसलकर (उ) और (आस्ना) मुख से (आस्यम्) मुख को (सम्) मिला कर [तोड़ता हूं] ॥३॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य विषैले सांप को कुचल कर मार डालते हैं, उसी प्रकार से विद्वान् पुरुष अपने पापों का सर्वथा नाश करे ॥३॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-३ ॥ रुद्रो देवता । १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

दोषनाशायोपदेशः—दोष के नाश के लिये उपदेश ॥

इदमिद् वा उ भेषजमिदं रुद्रस्य भेषजम् ।
येनेषुमेकतेजनां शतशल्यामपब्रवत् ॥ १ ॥

इदम् । इत् । वै । ऊं इति । भेषजम् । इदम् । रुद्रस्य । भेषजम् ।
येन । इषुम् । एक-तेजनाम् । शत-शल्याम् । अप-ब्रवत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह [वेद ज्ञान] (इत्) ही (वै) निश्चय करके (भेषजम्) भय निवारक वस्तु है, (इदम्) यह (उ) ही (रुद्रस्य) दुःख नाशक परमेश्वर का (भेषजम्) औषध है । (येन) जिससे [मनुष्य]

मासू० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दन्तस्य दत् । दन्तेन (दतः) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति दमु शमने—तन् । दन्तान् (सम्) (उ) समुच्चये (हन्वा) मुखावयवविशेषेण (हनू) हनुद्वयम् (सम्) (ते) (जिह्वया) रसनया (जिह्वाम्) रसनाम् (सम्) (उ) (आस्ना) पद्दन्न० । इति आस्यस्य आसन् । आस्येन (अहे) म० १ । हे आहननशील सर्प (आस्यम्) मुखम् ॥

१—(इदम्) प्रत्यक्षं वेदज्ञानम् (इत्) एव (वै) निश्चयेन (उ) एव (भेषजम्) भयनाशकं वस्तु (इदम्) (रुद्रस्य) अ० २ । २७ । ६ । दुःख-नाशकस्य परमेश्वरस्य (भेषजम्) औषधम् (येन) औषधेन (इषुम्) बाणम् (एकतेजनाम्) तेज निशाने पालने च—ल्युट् । तेजनो वंशः । एकस्तेजनः शरीर-रूपो वेणुकाण्डो यस्याः सा, तथाविधाम् (शतशल्याम्) व्याधिरूपाणि

(एकतेजनाम्) देहरूप एक दण्डवाले और (शतशल्याम्) व्याधिरूप सैकड़ो अणी वाले (इषुम्) बाण को (अपब्रवत्) हटा कर बोले ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरदत्त वेद ज्ञान से अपने पापों को नष्ट कर सुखी होवे, जैसे घाव से तीर निकलने पर सुख मिलता है ॥१॥

जालाषेणाभि षिञ्चत जालाषेणोप सिञ्चत ।
जालाषमुग्रं भेषजं तेन नो मृड जीवसे ॥ २ ॥

जालाषेण । अभि । सिञ्चत । जालाषेण । उप । सिञ्चत ।
जालाषम् । उग्रम् । भेषजम् । तेन । नः । मृड । जीवसे ॥२॥

भाषार्थ—(जालाषेण) जल सम्बन्धी द्रव्य से [फोड़े को] (अभि सिञ्चत) सब ओर से सींचो, (जालाषेण) सुख कारक पदार्थों से [उसे] (उप सिञ्चत) पास से सींचो। (जालाषम्) सुखों का समूह [वेदज्ञान] (उग्रम्) तीक्ष्ण (भेषजम्) औषध है, (तेन) उससे [हे रुद्र] (नः) हमें (जीवसे) जीने के लिये (मृड) सुखी रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य औषधियों द्वारा रोगों को अच्छा करते हैं वैसे ही मनुष्य वेद ज्ञान से अपने पाप नष्ट कर के सुखी होवें ॥ २ ॥

शतानि बहूनि शल्यानि अयोमुखानि प्रोतानि यस्यां, तादृशीम् (अपब्रवत्) अप वियोगे। वियुज्य ब्रूयात् ॥

२—(जालाषेण) जायते जः । जैर्जातैर्लष्यते वाञ्छ्यते। ज+लष इच्छायाम्—घञ्। जलाषमुदकम्—निघ० १। १२। सुखनाम—निघ० ३। ६। तस्येदम्। पा० ४। १। ९२। इति, अण्। जलसम्बन्धिना वस्तुना (अभि) अभितः (सिञ्चत) व्रणं प्रक्षालयत हे वैद्याः (जालाषेण) सुखकरेण द्रव्येण (उप) उपेत्य (सिञ्चत) शोधयत (जालाषम्) तस्य समूहः। पा० ४। २। ३७। इति, अण्। सुखस्य समूहो वेदज्ञानम् (उग्रम्) तीक्ष्णम् (भेषजम्) भयनिवारकं वस्तु (तेन) जालाषेण (नः) अस्मान् (मृड) सुखय (जीवसे) जीवनार्थम् ॥

शं च॑ नो॒ मय॑श्च नो॒ मा च॑ नः॒ किं च॒नाम॑मत् । क्षमा रपो॒ विश्वं॑ नो अस्तु भेष॒जं सर्वं॑ नो अस्तु भेष॒जम् ॥३॥

शम् । च॒ । नः॒ । मयः॑ । च॒ । नः॒ । मा । च॒ । नः॒ । किम् । च॒न । आ॒म॒म॒त् । क्ष॒मा । रपः॑ । विश्व॑म् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । भे॒ष॒जम् । सर्व॑म् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । भे॒ष॒जम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(च) निश्चय करके (नः) हमारे लिये (शम्) शान्ति (च) और (नः) हमारे लिये (मयः) सुख होवे, (च) और (न) हमें (कि चन) कोई भी दुःख (मा आममत्) न पीड़ा देवे । (रपः=रपसः) पाप की (क्षमा) क्षमा हो । (विश्वम्) सब जगत् (नः) हमारे लिये (भेषजम्) भयनिवारक (अस्तु) होवे, (सर्वम्) सब (नः) हमारे लिये (भेषजम्) रोगनाशक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य रुद्र परमात्मा के अनुग्रह से पुरुषार्थ पूर्वक अपने विघ्न हटा कर सुख भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ जगती; २ पूर्वार्धस्त्रिष्टुप् द्वितीयो बृहती; ३ अनुष्टुप् ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश पाने के लिये उपदेश ॥

य॒शसं॒ मेन्द्रो॑ म॒घवा॑न् कृणोतु य॒शसं॒ द्यावा॑पृथि॒वी

३—(शम्) शान्तिः । स्वास्थ्यम् (च) निश्चयेन (नः) अस्मभ्यम् (मयः) अ० १ । १३ । २ । सुखम् (च) समुच्चये (नः) (च) (नः) अस्मान् (किंचन) किमपि दुःखम् (मा आममत्) अम पीड़ने-लुङि चङि रूपम् । न पीडयेत् (क्षमा) क्षमूष् सहने-अङ् । क्षान्तिः । उपशमः (रपः) अ० ४ । १३ । २ । रपोरिप्रमिति पापनामनी भवतः-निरु० ४ । २१ । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति षष्ठ्या लुक् । रपसः । दोषस्य (विश्वम्) सर्वं जगत् (नः) अस्मभ्यम् (भेषजम्) भयनिवारकम् (सर्वम्) समस्तम् (नः) (अस्तु) (भेषजम्) रोगनाशकम् ॥

उभे इमे । यशसं मा देवः सविता कृणोतु प्रियो दातुर्दक्षिणाया इह स्याम् ॥ १ ॥

यशसम् । मा । इन्द्रः । मघ-वान् । कृणोतु । यशसम् । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति । यशसम् । मा । देवः । सविता । कृणोतु । प्रियः । दातुः । दक्षिणायाः । इह । स्याम् ॥१॥

भाषार्थ—(मघवान्) बड़ा धनी (इन्द्रः) परमेश्वर (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे, (इमे) यह (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (यशसम्) कीर्तिमान् [करें]। (देवः) व्यवहार कुशल (सविता) विद्याप्रेरक आचार्य (मा) मुझे (यशसम्) यशस्वी (कृणोतु) करे (दक्षिणायाः) दक्षिणा वा प्रतिष्ठा के (दातुः) देने वाले राजा का (प्रियः) प्रिय (इह) यहां पर (स्याम्) मैं रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर पराक्रम पूर्वक संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर और सर्वप्रिय होकर कीर्ति प्राप्त करे ॥१॥

यथेन्द्रो द्यावापृथिव्योर्यशस्वान् यथाप ओषधीषु यशस्वतीः । एवा विश्वेषु देवेषु वयं सर्वेषु यशसः स्याम ॥२॥

यथा । इन्द्रः । द्यावापृथिव्योः । यशस्वान् । यथा । आपः । ओषधीषु । यशस्वतीः । एव । विश्वेषु । देवेषु । वयम् । सर्वेषु । यशसः । स्याम ॥ २ ॥

१—(यशसम्) अर्श आदित्वाद्—अच् । यशस्विनम् । कीर्तियुक्तम् (मा) माम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (मघवान्) मघं धनम्—निघ० २ । १० । मतुप् । महाधनी (कृणोतु) करोतु (यशसम्) (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) (इमे) दृश्यमाने (यशसम्) (मा) (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) विद्याप्रेरक आचार्यः (प्रियः) प्रीतिकरः (दातुः) दानशीलस्य राज्ञः (दक्षिणायाः) दानस्य । प्रतिष्ठायाः (इह) अत्र लोके (स्याम्) भवेयम् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (इन्द्रः) परमेश्वर (द्यावापृथिव्योः) सूर्य और पृथिवी लोक में (यशस्वान्) कीर्तिमान् है, और (यथा) जैसे (आपः) जल (ओषधीषु) अन्न आदि ओषधियों में (यशस्वतीः) यश वाले हैं। (एव) वैसे ही (विश्वेषु) सब (देवेषु) व्यवहारकुशल महात्माओं में और (सर्वेषु) सब गुणों में (वयम्) हम लोग (यशसः) यश चाहने वाले (स्याम) होवें ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और परमेश्वर रचित पदार्थों का महत्त्व जानकर संसार में यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

यशा इन्द्रो यशा अग्निर्यशाः सोमो अजायत ।
यशा विश्वस्य भूतस्याहमस्मि यशस्तमः ॥ ३ ॥

यशाः । इन्द्रः । यशाः । अग्निः । यशाः । सोमः । अजायत ।
यशाः । विश्वस्य । भूतस्य । अहम् । अस्मि । यशः-तमः ॥३॥

भाषार्थ—यह मन्त्र इसी काण्ड के सूक्त ३९ मन्त्र ३ में आचुका है, वहां देखलेवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५९ ॥

१-३ ॥ अरुन्धती देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

अनडुद्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति ।
अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे ॥ १ ॥

अनडुत्-भ्यः । त्वम् । प्रथमम् । धेनु-भ्यः । त्वम् । अरुन्धति ।
अधेनवे । वयसे । शर्म । यच्छ । चतुः-पदे ॥ १ ॥

२—(यथा) येन प्रकारेण (इन्द्रः) परमेश्वरः (द्यावापृथिव्योः) सूर्य-भूलोकयोर्मध्ये (यशस्वान्) कीर्तिमान् (यथा) (आपः) जलानि (ओषधीषु) व्रीहियवादिपदार्थेषु (यशस्वतीः) कीर्तिमत्यः (एव) एवम् (विश्वेषु) समस्तेषु (देवेषु) व्यवहारकुशलेषु महात्मसु (वयम्) विज्ञानिनः पुरुषाः (सर्वेषु) व्याप्तेषु गुणेषु (यशसः) अ० ६ । ३९ । २ । आत्मनो यश इच्छन्तः (स्याम)भवेम ॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ६ । ३९ । ३ ॥

भाषार्थ—(अरुन्धति) हे रोक न डालने वाली शक्ति ! परमात्मन् (त्वम्) तू (अनड्डुद्भ्यः) प्राण और जीविका पहुंचाने वाले पुरुषों को (त्वम्) तू (धेनुभ्यः) तृप्त करने वाली स्त्रियों को और (अधेनवे) विना दूध वाले (चतुष्पदे) चौपाये को (वयसे) अन्नप्राप्ति के लिये (प्रथमम्) विस्तृत (शर्म) घर (यच्छ) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष परमेश्वर की उपासना करके प्रयत्न पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके उत्तम २ घर बनावें ॥ १ ॥

शर्म॑ यच्छ॒त्वोष॑धिः स॒ह दे॒वीर॑रुन्ध॒ती ।
कर॑त् पय॑स्वन्तं गो॒ष्ठम॑यु॒क्ष्माँ उ॒त पूरु॑षान् ॥ २ ॥

शर्म॑ । य॒च्छ॒तु॒ । ओष॑धिः । स॒ह । दे॒वीः । अ॒रु॒न्ध॒ती । कर॑त् । पय॑स्वन्तम् । गो॒-स्थम् । अ॒य॒क्ष्मान् । उ॒त । पुरु॑षान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ओषधिः) तापनाशक (अरुन्धती) न रोक डालने वाली शक्ति परमेश्वर (देवीः सह=देवीभिः सह) उत्तम क्रियाओं के साथ (शर्म) शरण (यच्छतु) देवे । (गोष्ठम्) हमारी गोशाला को (पयस्वन्तम्) बहुत

१—(अनड्डुद्भ्यः) अ० ४ । ११ । १ । अनसः प्राणस्य जीवनस्य च वाहकेभ्यः प्रापकेभ्यः पुरुषेभ्यः (त्वम्) (प्रथमम्) अ० १ । १२ । १ । प्रथ ख्यातौ-अमच् । प्रख्यातम् (धेनुभ्य.) अ० ३ । १० । १ । धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा-निरु० ११ । ४२ । धि धारणे तर्पणे च-नु । तर्पयित्रीभ्यः स्त्रीभ्यः (त्वम्) (अरुन्धति) अ० ४ । १२ । १ । हे अरोधनशीले शक्ते परमात्मन् (अधेनवे) अ० ३ । १० । १ । धेट् पाने—नु । दुग्धरहिताय (वयसे) अन्नप्राप्तये—निघ० २ । ७ । (शर्म) गृहम्—निघ० ३ । ४ (चतुष्पदे) अ० २ । ३४ । १ । पादचतुष्टयोपेताय गवादिपशवे ॥

२—(शर्म) शरणम् (यच्छतु) ददातु (ओषधिः) अ० १ । २३ । १ । तापनाशयित्री (देवीः सह) तृतीयार्थे द्वितीया । देवीभिर्दिव्यक्रियाभिः सहिता (अरुन्धती) अरोधनशक्तिः परमेश्वरः (करत्) कुर्यात् (पयस्वन्तम्) प्रभूत-

दुग्ध वाली (उत) और (पूरुषान्) पुरुषों को (अयक्ष्मान्) नीरोग (करत्) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने घरों में अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा स्वस्थ रहें ॥ २ ॥

विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम् ।
सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः ॥ ३ ॥

विश्व-रूपाम् । सु-भगाम् । अच्छ-आवदामि । जीवलाम् । सा । नः । रुद्रस्य । अस्ताम् । हेतिम् । दूरम् । नयतु । गोभ्यः ॥३॥

भाषार्थ—(विश्वरूपाम्) सबका रूप [रचना] करने वाली, (सुभगाम्) बड़े ऐश्वर्य वाली, (जीवलाम्) जीवन देने वाली अथवा जीवन सामर्थ्य वाली शक्ति परमात्मा को (अच्छावदामि) मैं स्वागत करके आवाहन करता हूं । (सा) वह (रुद्रस्य) दुःख नाशक परमेश्वर की (अस्ताम्) गिराई हुई (हेतिम्) ताड़ना को (नः) हमारी (गोभ्यः) भूमियों से (दूरम्) दूर (नयतु) ले जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर को सर्व व्यापी जानकर पाप करके दण्ड भागी न होवें ॥ ३ ॥

दुग्धयुक्तम (गोष्ठम्) गोनिवासदेशम् (अयक्ष्मान) राजरोगरहितान् (उत) अपि च (पूरुषान्) सम्बन्धिनो मनुष्यान् ॥

३—(विश्वरूपाम्) विश्वस्य रूपं रचनं यस्यास्ताम् जगद्रूपकर्त्रीम् (सुभगाम्) शोभनैश्वर्यवतीम् (अच्छावदामि) अच्छ सुष्ठु स्वागतेन आवदामि आह्वयामि (जीवलाम्) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । इति जीव+ रा दाने-क, रस्य लत्वम् । जीवनदात्रीम् । यद्वा । सिध्मादिभ्यश्च । पा० ५ । २ ९७ । इति जीव-मत्वर्थीयो लच् । जीवनवतीं शक्तिं परमेश्वरम् (सा) शक्तिः (नः) अस्माकम् (रुद्रस्य) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकस्य परमेश्वरस्य (अस्ताम्) असु क्षेपणे—क्त । क्षिप्ताम् (हेतिम्) ताडनाम् (दूरम्) (नयतु) गमयतु (गोभ्यः) भूमिभ्यः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-३ ॥ अर्य्यमा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश का उपदेश ॥

अयमा यात्यर्यमा पुरस्ताद् विषितस्तुपः ।
अस्या इच्छन्नग्रुवै पतिमुत जायामजानये ॥ १ ॥

अयम् । आ । याति । अर्यमा । पुरस्तात् । विसित-स्तुपः । अस्यै । इच्छन् । अग्रुवै । पतिम् । उत । जायाम् । अजानये ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (विषितस्तुपः) प्रसिद्ध स्तुति वाला (अर्यमा) अन्धकार नाशक सूर्य (अस्यै) इस (अग्रुवै) ज्ञानवती कन्या के लिये (पतिम्) पति, (उत) और (अजानये) अविवाहित पुरुष के लिये (जायाम्) पत्नी (इच्छन्) चाहता हुआ (पुरस्तात्) हमारे आगे (आ याति) आता है ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मचारी वेद आदि शास्त्रों के अध्ययन से सूर्य के समान तेजस्वी अर्थात् ब्रह्मवर्चसी होकर युवा अवस्था में गृहस्थाश्रम में प्रवेश करें ॥ १ ॥

अश्रमदियमर्यमन्नन्यासां समनं यती ।
अङ्गो न्वर्यमन्नस्या अन्याः समनमायति ॥ २ ॥

अश्रमत् । इयम् । अर्यमन् । अन्यासाम् । समनम् । यती । अङ्गो इति । नु । अर्यमन् । अस्याः । अन्याः । समनम् । आ-अयति ॥२॥

१—(अयम्) पुरोदृश्यमानः (आ याति) आगच्छति (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अन्धकारनाशकः सूर्यः (पुरस्तात्) अस्माकमग्रे (विषितस्तुपः) वि-षो अन्तकर्मणि-क्त । स्तुवो दीर्घश्च । उ० ३ । २५ । इति ष्टुञ् स्तुतौ-प । विषितो विज्ञातः स्तुपः स्तुतिर्यस्य सः । प्रसिद्धस्तोमः (अस्यै) प्रसिद्धायै गुणवत्यै (इच्छन्) अभिलष्यन् (अग्रुवै) जत्र्वादयश्च । उ० ४ । १०२ । इति अगि गतौ-रु, ऊङ् । ज्ञानवत्यै कन्यायै (पतिम्) भर्तारम् (जायाम्) पत्नीम् (अजानये) जायारहिताय । अविवाहिताय पुरुषाय ॥

भाषार्थ—(अर्यमन्) हे शत्रुनाशक परमेश्वर ! (अन्यासाम्) दूसरी कन्याओं के (समनम्) विवाह में (यती) जाती हुई (इयम्) इस कन्या ने (अश्रमत्) तप किया है। (अङ्गो) हे (अर्यमन्) न्यायकारी परमेश्वर ! (अन्याः) दूसरी कन्यायें (अस्याः) इस कन्या के (समनम्) विवाह में (नु) अवश्य (आयति) आवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे यह कन्या अन्य कन्याओं के विवाह संस्कार में मिलती। रही है, वैसे ही अन्य कन्यायें इसके विवाह में आकर शोभा बढ़ावें ॥ २॥

धाता दाधार पृथिवीं धाता द्यामुत सूर्यम् ।
धातास्या अग्रुवै पतिं दधातु प्रतिकाम्यम् ॥ ३ ॥

धाता । दाधार । पृथिवीम् । धाता । द्याम् । उत । सूर्यम् ।
धाता । अस्यै । अग्रुवै । पतिम् । दधातु । प्रति-काम्यम् ॥३॥

भाषार्थ—(धाता) विधाता ने (पृथिवीम्) पृथिवी को, (उत) और (धाता) विधाता ने (द्याम्) आकाश और (सूर्यम्) सूर्य को (दाधार) धारण किया। (धाता) वही विधाता (अस्यै) इस (अग्रुवै) उद्योगशील

२—(अश्रमत्) श्रमु तपसि खेदे च। अतपत् तपश्चर्य्यां कृतवती (इयम्) पुरोवर्तिनी (अर्यमन्) हे न्यायकारिन् परमेश्वर (अन्यासाम्) कन्यानाम् (समनम्) सम्+अन प्राणने—अच्। यद्वा। स+मनु ज्ञाने-अच्। समनाः समनसः। समनं समननाद्वा सम्माननाद्वा—निरु० ७। १७। समनं संग्रामनाम—निघ० २। १७। विवाहोत्सवम्। सङ्ग्रामम् (यती) गच्छन्ती (अङ्गो) आभिमुख्यकरणे (नु) क्षिप्रम् (अर्यमन्) (अस्याः) कन्यायाः (अन्याः) कन्याः (समनम्) (आयति) अय गतौ, एकवचनं छान्दसम्। आयन्ति। आगच्छन्ति ॥

३—(धाता) विधाता सर्वकर्त्ता (दाधार) तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य। पा० ६। १। ७। इत्यभ्यासस्य दीर्घः। दधार। धृतवान् (पृथिवीम्) विस्तृतां भूमिम् (धाता) (द्याम्) आकाशम् (उत) अपि च (सूर्यम्) लोकानां प्रेरकमादित्यम् (धाता) (अस्यै) प्रसिद्धायै (अग्रुवै) म० २।

कन्या को (प्रतिकाम्यम्) प्रतिज्ञा करके चाहने योग्य (पतिम्) पति (दधातु) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सब संसार के धारण पोषण में समर्थ है वैसे ही कन्या और कुमार [उपलक्षण से] विद्या और धन आदि से समर्थ होकर गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-३ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरमहत्त्वोपदेशः—परमेश्वर की महिमा का उपदेश ॥

मह्यमापो मधुमदेरयन्तां मह्यं सूरो अभरज्ज्योतिषे कम्। मह्यं देवा उत विश्वे तपोजा मह्यं देवः सविता व्यचो धात् ॥ १ ॥

मह्यम्। आपः। मधु-मत्। आ। ई्रयन्ताम्। मह्यम्। सूरः। अभरत्। ज्योतिषे। कम्। मह्यम्। देवाः। उत। विश्वे। तपः-जाः। मह्यम्। देवः। सविता। व्यचः। धात् ॥१॥

भाषार्थ—(मह्यम्) मेरे लिये (आपः) व्यापनशील जल (मधुमत्) मधुरपन से (आ ईरयन्ताम्) आकर बहें, (मह्यम्) मेरे लिये (सूरः) लोकों को चलाने वाले सूर्य ने (ज्योतिषे) ज्योति करने को (कम्) सुख (अभरत्) धारण किया है। (उत) और (मह्यम्) मेरे लिये (तपोजाः) तप से उत्पन्न

उद्योगवत्यै कन्यायै (पतिम्) भर्तारम् (दधातु) ददातु (प्रतिकाम्यम्) अ० २। ३६। ५। प्रति प्रतिज्ञया कमनीयम् ॥

१—(मह्यम्) मदर्थम्। ममाज्ञापालनायेत्यर्थः (आपः) व्याप्तिशीला जलधाराः (मधुमत्) यथा तथा माधुर्य्येण (आ) समन्तात् (ईरयन्ताम्) गच्छन्तु (मह्यम्) (सूर) अ० ४। २। ४। लोकप्रेरकः सूर्यः (अभरत्) अधरत् (ज्योतिषे) अ० १। ९। १। प्रकाशदानाय (कम्) सुखम्—निघ०

होने वाले (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण हैं, (मह्यम्) मेरे लिये (देवः) व्यवहार में चतुर (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने (व्यचः) विस्तार (धात=अधात्) धारण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि संसार के सब पदार्थ मेरी आज्ञा में रहकर संसार का उपकार करते हैं ॥ १ ॥

अहं विवेच पृथिवीमुत द्यामहमृतूँरजनयं सप्त साकम्। अहं सत्यमनृतं यद् वदाम्यहं दैवीं परि वाचं विशश्च ॥२॥

अहम्। विवेच। पृथिवीम्। उत। द्याम्। अहम्। ऋतून्। अजनयम्। सप्त। साकम्। अहम्। सत्यम्। अनृतम्। यत्। वदामि। अहम्। दैवीम्। परि। वाचम्। विशः। च ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (विवेच) पृथक् पृथक् किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) व्यापनशील [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को (साकम्) आपस में मिला हुआ (अजनयम्) उत्पन्न किया है। (अहम्) मैं (यत्) जो कुछ (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ है [उसे] (च) और (अहम्)

३। ६। (मह्यम्) (देवाः) उत्तमगुणाः (उत) अपि च (विश्वे) सब (-तपोजाः) तपसः सामर्थ्याज् जाताः (मह्यम्) (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) ऐश्वर्यवान् मनुष्यः (व्यचः) अ० ४। १६। ६। व्याप्तिम् (धात्) लुङि रूपम्। अधात्। धृतवान् ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (विवेच) विचिर् पृथग्भावे—लिट्। पृथक् पृथक् कृतवान् (पृथिवीम्) भूमिम् (उत) अपि च (द्याम्) सूर्यलोकम् (अहम्) (ऋतून्) अर्तेश्च—तुः। उ० १। ७२। इति ऋ गतौ- तु, स च कित्। ऋतुरर्तेर्गतिकर्मणः-निरु० २। २५। ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२। ३७। सप्त ऋषीन्। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिरूपान् (अजनयम्) उत्पादितवानस्मि (साकम्) सह परस्पर संहतान् (अहम्) (सत्यम्) यथार्थम् (अनृतम्) (यत्) यत् किञ्चित् तदपि (वदामि) कथ-

में (दैवीम्) विद्वानों में होने वाली (वाचम्) वाणी को (विशः परि) सब मनुष्यों में भरपूर (वदामि) बताता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने पृथिवी सूर्य आदि पदार्थों को रचकर सत्य का विधान और असत्य का निषेध वेद द्वारा सब प्राणियों को बताया है ॥ २ ॥

अहं जजान पृथिवीमुत द्यामहमृतूरंजनयं सप्त सिन्धून्। अहं सत्यमनृतं यद्द वदामि यो अंग्नीषोमावजुषे सखाया ॥ ३ ॥

अहम् । जजान । पृथिवीम् । उत । द्याम् । अहम् । ऋतून् । अजनयम् । सप्त । सिन्धून् । अहम् । सत्यम् । अनृतम् । यत् । वदामि । यः । अग्नीषोमौ । अजुषे । सखाया ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) सूर्य को (जजान) उत्पन्न किया, (अहम्) मैंने (सप्त) सात (ऋतून्) [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को और (सिन्धून्) उनकी व्यापक शक्तियों को (अजनयम्) उत्पन्न किया है। (अहम्) मैं (सत्यम्) सत्य और (अनृतम्) झूठ (यत्) जो कुछ है [उसे] (वदामि) बताता हूं, (यः) जिसमें (सखाया) आपस में मित्र (अग्नीषोमौ) अग्नि और जल को (अजुषे) तृप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सब पृथिवी आदि पदार्थ और इन्द्रियाँ और इन्द्रियों की शक्तियों को रचकर धर्म और अधर्म का लक्षण बताया है और अग्नि और जल वायु आदि को संसार की स्थिति का कारण रक्खा है उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ३ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ।

यामि विधिनिषेधरूपेण (अहम्) (दैवीम्) देव—अञ् । विद्वत्सु भवाम् (परि) परीत्य व्याप्य (वाचाम्) वेदवाणीम् (विशः) मनुष्यान् निघ० २।३। (च) समुच्चये ॥

३—(जजान) उत्पादितवानस्मि (ऋतून्) म० २। व्यापनशीलान् ऋषीन् त्वक्चक्षुरादीन् (सप्त) सप्तसंख्यकान् (सिन्धून्) अ० ४।६।२। स्यन्दनशीला व्यापिकाः शक्तीः, त्वक्चक्षुरादीनाम् (यः) अहं परमेश्वरः (अग्नीषोमौ) अग्निं च जलं च (अजुषे) जुषी प्रीतिसेवनयोः। तर्पितवानस्मि (सखाया) सखायौ, सहायभूतौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः

सूक्तम् ६२ ॥

१-३ ॥ १ मन्त्रोक्तदेवता; २,३ सूनृता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

धनस्य नैरोग्यस्यचोपदेशः—धन और नीरोगता का उपदेश ॥

वै॒श्वा॒न॒रो र॒श्मिभि॑र्नः पुनातु॒ वातः॑ प्रा॒णेने॑षि॒रो नभो॑भिः। द्यावा॑पृथि॒वी पय॑सा॒ पय॑स्वती ऋ॒ताव॑री य॒ज्ञिये॑ नः पुनीताम् ॥ १ ॥

वै॒श्वा॒न॒रः । र॒श्मि-भिः । नः॒ । पु॒ना॒तु॒ । वातः॑ । प्रा॒णेन॑ । इ॒षि॒रः । नभः॑-भिः । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । पय॑सा । पय॑स्वती॒ इति॑ । ऋ॒तव॑री॒ इत्यृ॒त-व॑री । य॒ज्ञिये॒ इति॑ । नः॒ । पु॒नी॒ता॒म् ॥१

भाषार्थ—(वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमेश्वर (रश्मिभिः) विद्या प्रकाशों से और (इषिरः) शीघ्र गामी (वातः) पवन (प्राणेन) प्राण से और (नभोभिः) मेघों से (नः) हमें (पुनातु) पवित्र करे। (पयस्वती) रसवाली (ऋतावरी) सत्यशील और (यज्ञिये) संगति करने योग्य (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (पयसा) अपने रस से (नः) हमें (पुनीताम्) शुद्ध करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक सूर्य, वायु, मेघ, पृथिवी, आदि पदार्थों से शिल्प आदि और शरीर रक्षण आदि में उपकार लेकर सुखी हों ॥१॥

१—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः परमेश्वरः (रश्मिभिः) विद्याप्रकाशैः (नः) अस्मान् (पुनातु) शोधयतु (वातः) वायुः (प्राणेन) श्वासप्रश्वासव्यापारेण (इषिरः) अ० ५ । १ । ६ । गमनशील (नभोभिः) अ० ४ । १५ । ३ । मेघैः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (पयसा) रसेन (पयस्वती) रसवत्यौ (ऋतावरी) अ० ३ । १२ । ७ । सत्ययुक्ते (यज्ञिये) संगतिकरणयोग्ये (नः) (पुनीताम्) शोधयताम् ॥

वै॒श्वा॒न॒रीं सू॒नृता॒मा र॑भध्वं॒ यस्या॒ आशा॑स्त॒न्वो॑ वी॒तपृ॑ष्ठाः । तया॑ गृ॒णन्तः॑ सध॒माद्दे॑षु व॒यं स्या॑म॒ पत॑यो र॒यी॒णाम् ॥ २ ॥

वै॒श्वा॒न॒रीम् । सू॒नृता॑म् । आ । र॒भ॒ध्व॒म् । यस्याः॑ । आशाः॑ । त॒न्वः॑ । वी॒त-पृ॑ष्ठाः । तया॑ । गृ॒णन्तः॑ । स॒ध॒-मादे॑षु । व॒यम् । स्या॒म॒ । पत॑यः । र॒यी॒णाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करनेवाली (सूनृताम्) प्रिय सत्य वेद वाणी को (आ रभध्वम्) तुम आरम्भ करो, (यस्याः) जिसके (तन्वः) शरीर के (आशाः) विस्तार (वीतपृष्ठाः) सेचन सामर्थ्य पहुंचाने वाले हैं । (तया) उस [वेद वाणी] से (सधमादेषु) परस्पर आनन्द उत्सवों पर (गृणन्तः) बात चीत करते हुये (वयम्) हम लोग (रयीणाम्) धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या का सर्वत्र प्रचार करके विद्या धन और सुवर्णादि धन बढ़ावें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है=अ० १६ । ४४ ॥

वै॒श्वा॒न॒रीं वर्च॑स॒ आ र॑भध्वं शु॒द्धा भव॑न्तः॒ शुच॑यः पाव॒काः । इ॒हेड॑या सध॒मादं॒ मद॑न्तो॒ ज्योक् प॑श्येम॒ सूर्य॑मु॒च्चर॑न्तम् ॥ ३ ॥

२—(वैश्वानरीम्) अ० १ । १० । ४ । वैश्वानर—ङीप् । सर्वनरहिताम् (सूनृताम्) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिकां वेदवाणीम् (आरभध्वम्) उपक्रमध्वम् (यस्याः) सूनृतायाः (आशाः) आङ्+अशू व्याप्तौ—अच्, टाप् । विस्ताराः (तन्वः) अ० १ । १ । १ । तन्वाः शरीरस्य । स्वरूपस्य (वीतपृष्ठाः) वी गतिव्याप्त्यादिषु—क्त । तिथपृष्ठ० । उ० २ । १२ । इति पृषु सेचने-थक् । वीतानि प्राप्तानि पृष्ठानि सेचनानि वर्धनानि यासां ताः । वृद्धिप्रापिकाः । (तया) सूनृतया (गृणन्तः) गॄ शब्दे—शतृ । शब्दयन्तः (सधमादेषु) सह+मदी हर्षग्लेपनयोः—घञ् । सध मादस्थयोश्छन्दसि । पा० ६ । ३ । ९६ । सहर्षोत्सवेषु (वयम्) वेदानुगामिनः (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) बहुधनानाम् ॥

वैश्वानरीम् । वर्चसे । आ । रभध्वम् । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः । इह । इडया । सध-मादम् । मदन्तः । ज्योक् । पश्येम । सूर्यम् । उत्-चरन्तम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (शुद्धाः) शुद्ध, (शुचयः) पवित्र और (पावकाः) शुद्ध करने वाले (भवन्तः) होते हुये तुम (वैश्वानरीम्) सब नरों का हित करने वाली [वेद वाणी] को (वर्चसे) तेज पाने के लिये (आ-रभध्वम्) आरम्भ करो। (इह) यहां पर (इडया) वेद वाणी से (सधमादम्) परस्पर हर्ष उत्सव को (मदन्तः) आनन्दित करते हुये हम (ज्योक्) बहुत काल तक (उच्चरन्तम्) चढ़ते हुये (सूर्य्यम्) सूर्य को (पश्येम) देखते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद विद्या का आश्रय लेकर आप शुद्ध होकर और दूसरे अज्ञानियों को शुद्ध करके परस्पर आनन्द भोगते हुये चढ़ते हुये सूर्य के समान प्रतापी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१-४ ॥ आत्मा देवता ॥ १-३ त्रिष्टुप्; ४ अनुष्टुप् छन्दः ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष प्राप्ति का उपदेश ॥

यत् ते देवी निर्ऋतिराबबन्ध दाम ग्रीवास्वविमोक्यं यत् । तत् ते वि ष्याम्यायुषे वर्चसे बलायादोमदमन्नमद्धि प्रसूतः ॥ १ ॥

३—(वैश्वानरीम्) म० २। विश्वनरहितां वेदवाणीम् (वर्चसे) ब्रह्मवर्चसप्राप्तये (आ रभध्वम्) उपक्रमध्वम् (शुद्धाः) पवित्राचाराः (भवन्तः) सन्त (शुचयः) निष्पापाः (पावकाः) अन्येषां शोधकाः (इह) अस्मिन् लोके (इडया) वाचा। वेदवाण्या (सधमादम्)—म० २। परस्परहर्षोत्सवम् (मदन्तः) अन्तर्गतण्यर्थः। मादयन्तः। आनन्दयन्तः (ज्योक्) म० १। ६। ३। चिरकालम् (पश्येम) अवलोकयेम (सूर्यम्) आदित्यम् (उच्चरन्तम्) उद्गच्छन्तम् ॥

यत् । ते । देवी । निः-ऋतिः । आ-बबन्ध । दाम । ग्रीवासु । अवि-मोक्यम् । यत् । तत् । ते । वि । स्यामि । आयुषे । वर्चसे । बलाय । अदोमदम् । अन्नम् । अद्धि । प्र-सूतः ॥ १ ॥

भाषार्थ -[हे मनुष्य !] (देवी) प्राप्त हुई (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी ने (यत्) जो (दाम) रस्सी (ते) तेरे (ग्रीवासु) गले में (आबबन्ध) बांध दी है, (यत्) जो [ज्ञानाद् ऋते, ज्ञान विना] (अमोक्यम्) न खुलने वाली है । (तत्) उसको (ते) तेरे (आयुषे) उत्तम जीवन के लिये, (वर्चसे) तेज के लिये और (बलाय) बल के लिये, [ज्ञानेन, ज्ञान से] (वि स्यामि) मैं खोलता हूं, (प्रसूतः) आगे बढ़ाया गया तू (अदोमदम्) अक्षय हर्ष युक्त (अन्नम्) अन्न का (अद्धि) भोग कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अज्ञान के फल दरिद्रता आदि दुःखों को ज्ञान द्वारा पुरुषार्थ पूर्वक नाश करके अक्षय आनन्द भोगें ॥ १ ॥

नमोऽस्तु ते निर्ऋते तिग्मतेजोऽयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ २ ॥

१—(यत्) (ते) तव (देवी) दिवु क्रीडागत्यादिषु—अच्, ङीप् । प्राप्ता (निर्ऋतिः) अ० १ । ३१ । २ । निर्ऋतिर्निरमणादृच्छतेः कृच्छ्रापत्तिः । निरु० २ । ७ । अलक्ष्मीः । दरिद्रता कुकर्मफलरूपा (आबबन्ध) आबद्धवती (दाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति डुदाञ् दाने-मनिन् । पाशम् (ग्रीवासु) कण्ठगतासु धमनीषु (अमोक्यम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । इति मुच्लृ त्यागे—ण्यत् । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अविमोचनीयम् (यत्) (दाम) (तत्) दाम (ते) तव (वि स्यामि) षो अन्तकर्मणि, उपसर्गवशाद् विमोचने । स्यतिरुपसृष्टो विमोचने—निरु० १ । १७ । विमुञ्चामि ज्ञानेन (आयुषे) उत्तमजीवनाय (वर्चसे) तेजसे (बलाय) पराक्रमाय (अदोमदम्) अ+दसु उपक्षये—क्विप् । अदाः अक्षीणो मदो हर्षो यस्मिन् तत् । अक्षयहर्षयुक्तम् (अन्नम्) अन प्राणने—नन् । जीवनसाधनभोजनम् (अद्धि) भुङ्क्ष्व (प्रसूतः) प्रेरितः सुकर्मभिः ॥

नमः । अस्तु । ते । निः-ऋते । तिग्म-तेजः । अयस्मयान् । वि । चृत । बन्ध-पाशान् । यमः । मह्यम् । पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥२

भाषार्थ—(तिग्मतेजः) हे तेज नाश करने वाली (निर्ऋते) अलक्ष्मी (ते) तेरे लिये (नमः) वज्र (अस्तु) होवे, (अयस्मयान्) लोह के बनी (बन्धपाशान्) बन्धन की बेड़ियों को (वि चृत) तोड़ डाल । (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बारं बार (इत्) ही (त्वाम्) तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःख रूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥२॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से दुष्कर्मियों को अनेक दारुण दुःख देता है, इस लिये मनुष्य ज्ञान द्वारा पापों से बचकर मृत्यु अर्थात् दुःख से बचे रहें ॥ २ ॥

अयस्मये द्रुपदे बेधिष इहाभिहितो मृत्युभिर्ये सहस्रम् । यमेन त्वं पितृभिः संविदान उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥३

अयस्मये । द्रु-पदे । बेधिषे । इह । अभि-हितः । मृत्यु-भिः । ये । सहस्रम् । यमेन । त्वम् । पितृ-भिः । सम्-विदानः । उत्-तमम् । नाकम् । अधि । रोहय । इमम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों

२—(नमः) वज्रः-निघ० २ । २० (अस्तु) (ते) तुभ्यम् (निर्ऋते) हे अलक्ष्मि (तिग्मतेजः) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति तिगं गतौ हिंसायां च-मक् । तिग्मानि हिंसितानि तेजांसि यया सा तिग्मतेजा, तत्सम्बुद्धौ । हे नाशिततेजः (अयस्मयान्) लोहमयान्, अतिदृढान् (विचृत) चृती हिंसाग्रन्थनयोः । विहिन्धि । विनाशय (बन्धपाशान्) बन्धनजालान् (यमः) न्यायकारी परमेश्वरः (मह्यम्) प्राणिने (पुनः) बारं बारम् (इत्) एव (त्वाम्) निर्ऋतिम् (ददाति) प्रयच्छति । अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ६ । २८ । ३ ॥

३—(अयस्मये) अयोमये (द्रुपदे) दारुनिर्मिते पादबन्धने (बेधिषे)

से, (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं, (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अयस्मये) लोहे से जकड़े हुये (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (वेधिषे=बध्य-से) बध रहा है। (यमेन) नियम के साथ (पितृभिः) पालन करने वाले ज्ञानियों से (संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहय) ऊपर चढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्षपद प्राप्त करें ॥ ३ ॥

संसमिद् युवसे वृषन्नग्ने विश्वान्यर्य आ ।
इडस्पदे समिध्यसे स नो वसून्या भर ॥ ४ ॥

सम्-सम् । इत् । युवसे । वृषन् । अग्ने । विश्वानि । अर्यः । आ ।
इडः । पदे । सम् । इध्यसे । सः । नः । वसूनि । आ । भर ॥४॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् पुरुष ! (अर्यः) स्वामी होकर तू (विश्वानि इत्) सब ही [सुखों] को (संसम्) यथावत् रीति से (आ=आनीय) ला कर (युवसे) मिलाता है । और (इडः) प्रशंसा

बन्ध बन्धने कर्मणि-लट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्व-धातुकार्धधातुकत्वाद् नलोपः, यगभाव इडागमश्च, छान्दसमेत्वम् । बध्यसे बद्धो भवसि (इह) अस्मिन् लोके (अभिहित) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । वेष्टितः (मृत्युभिः) मरणकारणैः । महाकष्टैः (ये) (सहस्रम्) अनेकविधम् (यमेन) नियमेन (त्वम्) मनुष्यः (पितृभिः) पालकैर्महात्मभिः (संविदानः) अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानः (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (नाकम्) अ० १ । ६ । २ । दुःखरहितं कं सुखम् (अधि रोहय) उपरि प्रापय (इमम्) आत्मानम् ॥

४—(संसम) अतिसम्यग् रीत्या (इत्) एव (युवसे) यु मिश्रणा-मिश्रणयोः, तुदादित्वमात्मनेपदत्वं च छान्दसम् । यौषि । मिश्रयसि (वृषन्) बलवन् (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (विश्वानि) सर्वाणि सुखानि (अर्यः) अर्यः स्वामिवैश्ययोः । पा० ३ । १ । १०३ । इति ऋ गतौ-यत् प्रत्ययो निपातनात् । स्वामी त्वम् (आ) आनीय (इडः) ईड स्तुतौ-क्विप्, ह्रस्वश्च । प्रशंसायाः

के (पदे) पदपर (सम् इध्यसे) तू सुशोभित होता है, (सः) सो तू (नः) हमारे लिये (वसूनि) अनेक धनों को (आ भर) भर दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी धर्मात्माओं का आश्रय लेकर सम्पूर्ण धन प्राप्त करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—अ० १५ । ३० । और ऋग्वेद में भी है—म० १० । १९१ । १ । ७ । जिसके आगे के शेष तीन मन्त्र अगले सूक्त ६४ में हैं ॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-३ ॥ सांमनस्यं देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

संगतिलाभोपदेशः—संगति के लाभ का उपदेश ॥

सं जा॑नीध्वं॒ सं पृ॑च्यध्वं॒ सं वो॒ मनां॑सि जानताम् ।
दे॒वा भा॒गं यथा॒ पूर्वे॑ संजाना॒ना उ॒पास॑ते ॥ १ ॥

सम् । जा॒नी॒ध्व॒म् । सम् । पृ॒च्य॒ध्व॒म् । सम् । वः॒ । मनां॑सि । जा॒न॒ता॒म् । दे॒वाः । भा॒गम् । यथा॑ । पूर्वे॑ । स॒म्-जा॒ना॒नाः । उ॒प-आस॑ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सम् जानीध्वम्) आपस में जान पहिचान करो, (सम् पृच्यध्वम्) आपस में मिले रहो, (जानताम् वः) ज्ञानवाले तुम लोगों के (मनांसि) मन (सम्) एकसे होवें [अथवा-(वः) तुम्हारे (मनांसि) मन (सम्) एकसे (जानताम्) होवें] । (यथा) जैसे (पूर्वे) प्रथम स्थान

(पदे) अधिकारे (सम्) सम्यक् (इध्यसे) दीप्यसे । (सः) त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (वसूनि) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धर ॥

१—(सम् जानीध्वम्) संप्रतिभ्यामनाध्याने। पा० १।३।४६। इत्यात्मनेपदत्वम्। समानज्ञानयुक्ता भवत (सम् पृच्यध्वम्) पृची सम्पर्के । संपृक्ताः संसृष्टकार्य्या भवत (सम्) समानानि (वः) युष्माकम् (मनांसि) अन्तःकरणानि (जानताम्) ज्ञा अवबोधने—शतृ । ज्ञानवताम्, अथवा। अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । ४५ । इत्यात्मनेपदम्। लोटि रूपम्। प्रवर्तन्ताम् (देवाः) विद्वांसः (भागम्) भज सेवायाम्—घञ्। भजनीयमीश्वरम्, अथवा, भग—अण्। भगाना-

वाले, (संजानानाः) यथावत् ज्ञानी (देवाः) विद्वान् लोग (भागम्) सेवनीय परमेश्वर अथवा ऐश्वर्यों के समूह को (उपासते) सेवन करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर मिल कर वेद आदि शास्त्रों का विचार करके ज्ञानी पुरुषों के समान ईश्वर आज्ञा पालन करते हुये अनेक ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद के चार मन्त्र वाले अन्तिम सूक्त, म० १० । सू० १६१ के म० २—४ । हैं, पहिला मन्त्र गत सूक्त में आ चुका है । और स्वामी दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका, वेदोक्त धर्म विषय में भी आये हैं ॥

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं व्रतं सह चित्तमेषाम् । समानेन वो हविषा जुहोमि समानं चेतो अभिसंविशध्वम् ॥ २ ॥

समानः । मन्त्रः । सम्-इतिः । समानी । समानम् । व्रतम् । सह । चित्तम् । एषाम् । समानेन । वः । हविषा । जुहोमि । समानम् । चेतः । अभि-संविशध्वम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो तुम्हारा] (मन्त्रः) मन्त्र, विचार (समानः) एकसा, (समितिः) समिति [सामाजिक व्यवस्था] (समानी) एकसी, (व्रतम्) धर्म का आचरण (समानम्) एकसा और (एषाम्) इन तुम सब का (चित्तम्) चित्त [सब पदार्थों का ज्ञान] (सह) मिला हुआ होवे । (समानेन) एक से

मैश्वर्याणां समूहम् (यथा) येन प्रकारेण (पूर्वे) प्रथमस्थाने वर्तमानाः श्रेष्ठाः (संजानानाः) सम्+ज्ञा—शानच् । सम्यग् ज्ञानवन्तः (उपासते) सेवन्ते ॥

२—(समानः) सम्+अन प्राणने—घञ् । तुल्यः । एकरूपः (मन्त्रः) मत्रि गुप्तभाषणे—घञ् । सत्यासत्यविवेकः (समितिः) सम्+इण—क्तिन् । संगतिः । सभा (समानी) एकरसा (समानम्) अविरुद्धम् (व्रतम्) अ० २ । ३० । २ । वृञ्-अतच् । वरणीयं धर्माचरणम् (सह) संगतम् (चित्तम्) सर्वपदार्थविषयि ज्ञानम् (एषाम्) एतेषां युष्माकम् (समानेन) एकरूपेण (वः) युष्मान् (हविषा) ग्राह्येण धर्मेण (जुहोमि) हु दानादानादनेषु । आददे ।

(हविषा) ग्राह्य धर्म के साथ (वः) तुम को (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं, (समानम्) एक से (चेतः) चिन्तन [भूत, भविष्यत् के अनुभव के स्मरण] में (अभिसंविशध्वम्) तुम भली भांति प्रवेश करो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सदा वेद मार्ग पर चलकर एकचित्त होकर धर्म सभा, विद्यासभा, राजसभा आदि बनाकर बुद्धि, बल, और पराक्रम आदि उत्तम गुण बढ़ावें ॥ २ ॥

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति ॥ ३ ॥

समानी । वः । आ-कूतिः । समाना । हृदयानि । वः । समानम् । अस्तु । वः । मनः । यथा । वः । सु-सह । असति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारा (आकूतिः) निश्चय, उत्साह, अथवा सङ्कल्प (समानी) एकसा और (वः) तुम्हारे (हृदयानि) हृदय [हार्दिक कर्म] (समाना) एक से होवें । (वः) तुम्हारा (मनः) मन [मनन कर्म] (समानम्) एकसा (अस्तु) होवे, (यथा) जिससे (वः) तुम्हारी (असति) गति (सुसह) बड़ा सहाय करने वाली होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म के विचारों में प्रीति पूर्वक एक मत होकर अपने सब काम समाज द्वारा सिद्ध करके सुख बढ़ावें ॥ ३ ॥

स्वीकरोमि (समानम्) साधारणम् (चेतः) पूर्वापरानुभूतं स्मरणात्मकं चिन्तनम् (अभिसविशध्वम्) अभितः प्रविशत । आत्मनि धारयत ॥

३—(समानी) एकरूपा (वः) युष्माकम् (आकूतिः) अध्यवसाय उत्साह आप्तरीतिः संकल्पो वा (समाना) अविरुद्धानि (हृदयानि) हार्दिककर्माणि (वः) (समानम्) तुल्यम् (अस्तु) भवतु (वः) युष्माकम् (मनः) मननम् । सङ्कल्पविकल्पात्मकेन्द्रियव्यापारः (यथा) येन प्रकारेण (वः) युष्माकम् (सुसह) अव्ययम् । सुष्ठु धर्मेण सह सहायिका भवतु (असति) असेरतिः । उ० ४ । ५९ । इति अस गतौ—अति । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक् । असतिः । गतिः ॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

अव॑ म॒न्युरवा॑य॒ताव॑ बा॒हू म॑नो॒युजा॑ । परा॑शर॒ त्वं

तेषां॒ परा॑ञ्चं॒ शुष्म॑मर्द॒याधा॑ नो र॒यिमा कृ॑धि ॥ १ ॥

अव॑ । म॒न्युः । अव॑ । आ-य॑ता । अव॑ । बा॒हू इति॑ । म॒नः॒-

युजा॑ । परा॑-शर । त्वम् । तेषा॑म् । परा॑ञ्चम् । शुष्म॑म् ।

अ॒र्द॒य॒ । अध॑ । नः॒ । र॒यिम् । आ । कृ॒धि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मन्युः) क्रोध (अव=अवगच्छतु) ढीला होवे, (आयता) फैले हुये शस्त्र (अव=अवगच्छन्तु) ढीले होवें (मनोयुजा) मन के साथ संयोग वाली (बाहू) भुजायें (अव=अवगच्छताम्) नीचे होवें। (पराशर) हे शत्रुनाशक सेनापति ! (त्वम्) तू (तेषाम्) उन [शत्रुओं] का (शुष्मम्) बल (पराञ्चम्) औंधा करके (अर्दय) मिटा दे, (अध) और (नः) हमारे लिये (रयिम्) धन (आ कृधि) सन्मुख कर ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति शत्रुओं को हराकर शान्त चित्त होकर प्रजा में धन की बढ़ती करे ॥ १ ॥

निर्ह॑स्तेभ्यो नैर्ह॒स्तं यं दे॑वाः शरु॒मस्य॑थ ।

वृ॒श्चामि॒ शत्रू॑णां बा॒हून॒नेन॑ ह॒विषा॒हम् ॥ २ ॥

१—(अव) अवगच्छतु (मन्युः) क्रोधः (अव) अवगच्छन्तु (आयता) आयतानि प्रसारितानि शस्त्राणि (अव) अवगच्छताम् (बाहू) भुजौ (मनोयुजा) सत्सूद्विषद्रुहदुहयुज० । पा० ३ । २ । ६१ । इति मनः+ युजिर् योगे—क्विप् । मनसा संयोजकौ (पराशर) परागत्य शृणाति शत्रून् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । इति परा+शॄ हिंसायाम्—अप् । इन्द्रोऽपि पराशर उच्यते परशातयिता यातूनाम्–निरु० ६ । ३० । हे शत्रुनाशक वीर सेनापते (त्वम्) (तेषाम्) शत्रूणाम् (पराञ्चम्) पराङ्मुखं कृत्वा (शुष्मम्) शोषकं बलम् (अर्दय) नाशय (अध) अथ । अनन्तरम् (रयिम्) धनम् (आ कृधि) अभिमुखं कुरु ॥

निः-हस्तेभ्यः । नैः-हस्तम् । यम् । देवाः । शरुम् । अस्यथ ।
वृश्चामि । शत्रूणाम् । बाहून् । अनेन । हविषा । अहम् ॥२॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजयी लोगो ! (निर्हस्तेभ्यः) निहत्थे [निर्बल-हम लोगों] के हित के लिये (नैर्हस्तम्) निहत्थे [निर्बल शत्रुओं] के ऊपर (यम्) जिस (शरुम्) बाण को (अस्यथ) तुम छोड़ते हो (अनेन) उसी ही (हविषा) ग्राह्य शस्त्र से (अहम्) मैं [प्रजागण वा राजगण] (शत्रूणाम्) शत्रुओं की (बाहून्) भुजाओं को (वृश्चामि) काटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण और राज पुरुष मिलकर शत्रुओं के नाश करने के प्रयत्न करें ॥ २ ॥

इन्द्रश्चकार प्रथमं नैर्हस्तमसुरेभ्यः ।
जयन्तु सत्वानो मम स्थिरेणेन्द्रेण मेदिना ॥ ३ ॥

इन्द्रः । चकार । प्रथमम् । नैः-हस्तम् । असुरेभ्यः । जयन्तु ।
सत्वानः । मम । स्थिरेण । इन्द्रेण । मेदिना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति ने (असुरेभ्यः) असुर शत्रुओं को (नैर्हस्तम्) निहत्थापन (प्रथमम्) पहिले (चकार) किया था ॥ (स्थिरेण) स्थिर स्वभाव, (मेदिना) स्नेही (इन्द्रेण) उस बड़े सेनापति के साथ (मम) मेरे (सत्वानः) वीर लोग (जयन्तु) जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस शूर सेनापति की सहायता से पहिले शत्रुओं को जीता है उसकी सहायता से शत्रुओं को अब भी जीतें ॥ ३ ॥

२—(निर्हस्तेभ्यः) निर्गतहस्तसामर्थ्येभ्यः प्रजागणेभ्यः । तेषां हितायेत्यर्थः (नैर्हस्तम्) समूहे —अण् । निर्गतहस्तसामर्थ्यानां शत्रूणां समूहं प्रति (यम्) (देवाः) विजिगीषवः पुरुषाः (शरुम्) अ० १ । २ । ३ । हिंसकं बाणाद्यायुधम् (अस्यथ) क्षिप्रकर्मकोऽयम् । क्षिपथ (वृश्चामि) छिनद्मि (शत्रूणाम्) वैरिणाम् (बाहून्) भुजान् (अनेन) निर्दिष्टेन (हविषा) ग्राह्येण शस्त्रेण (अहम्) प्रजागणो राजगणो वा ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (चकार) कृतवान् (प्रथमम्) पूर्वस्मिन् काले (नैर्हस्तम्) भावे—अण् । निर्हस्तत्वं हस्तसामर्थ्यवैकल्यम् (असुरेभ्यः) देवविरुद्धेभ्यः शत्रुभ्यः (जयन्तु) अभिभवन्तु शत्रून् (सत्वानः) अ० ५ । २ । ८ । उद्योगिनो वीराः (मम) प्रजागणस्य (स्थिरेण) दृढस्वभावेन (इन्द्रेण) सेनापतिना (मेदिना) अ० ३ । ६ । २ । शमित्यष्टाभ्यो घिनुण् । पा० ३ । २ । १४१ । इति ञिमिदा स्नेहने—घिनुण् । स्नेहिना ॥

सूक्तम् ६६ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ अनुष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

निर्हस्तः शत्रुरभिदासन्नस्तु ये सेनाभिर्युधमायन्त्यस्मान् ।
समर्पयेन्द्र महता वधेन द्रात्वेषामघहारो विविद्धः ॥१॥

निः-हस्तः । शत्रुः । अभि-दासन् । अस्तु । ये । सेनाभिः । युधम् । आ-यन्ति । अस्मान् । सम् । अर्पय । इन्द्र । महता । वधेन । द्रातु । एषाम् । अघ-हारः । वि-विद्धः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शत्रुः) शत्रु (न) हम पर (अभिदासन्) चढ़ाई करता हुआ (निर्हस्तः) निहत्था (अस्तु) होवे, [और वे भी,] (ये) जो (सेनाभिः) अपनी सेनाओं के साथ (युधम्) युद्ध करने के लिये (अस्मान्) हम पर (आयन्ति) चले आते हैं । (इन्द्र) हे प्रतापी सेनापति इन्द्र ! [उन सब को] (महता) बड़े (वधेन) वध के साथ (समर्पय) मार गिरा, (एषाम्) इन सब का (अघहारः) दुःखदायी प्रधान (विविद्धः) आर पार छिदकर (द्रातु) भाग जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति शत्रुओं और उनकी सेनाओं को अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा हरा कर भगा देवे ॥ १ ॥

१—(निर्हस्तः) निर्गतहस्तसामर्थ्यः (शत्रुः) अरिः (अभिदासन्) दासृ वधे—शतृ । अभिहिंसन् (अस्तु) (ये) ये तेऽपि (सेनाभिः) सैन्यैः (युधम्) युध संप्रहारे—क्विप् । चतुर्थ्यर्थे द्वितीया । युधे । युद्धाय (आयन्ति) अभिगच्छन्ति (अस्मान्) धार्मिकान् (समर्पय) अ० ५ । २२ । ६ । ऋ हिंसायाम्—णिच् पुक् । सम्यग् विनाशय (इन्द्र) हे प्रतापिन् सेनापते (महता) विशालेन (वधेन) हननेन (द्रातु) द्रा कुत्सायां गतौ । पलायताम् (एषाम्) शत्रूणाम् (अघहारः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । इति—अघ+हृञ् हरणे-अण् । अघस्य दुःखस्य प्रापयिता (विविद्धः) व्यध ताडने—क्त । विशेषेण छिन्नः ॥

आतन्वाना आयच्छन्तोऽस्यन्तो ये च धावथ ।
निर्हस्ताः शत्रवः स्थनेन्द्रो वोऽद्य पराशरीत् ॥ २ ॥

आ-तन्वानाः । आ-यच्छन्तः । अस्यन्तः । ये । च । धावथ ।
निः-हस्ताः । शत्रवः । स्थन । इन्द्रः । वः । अद्य । परा । अशरीत् २॥

भाषार्थ—(ये) जो तुम (आतन्वाना.) [धनुष बाण] तानते हुये (च) और (आयच्छन्तः) [तरवारें] खैंचते हुये और (अस्यन्तः) चलाते हुये (धावथ) दौड़े चले आते हो । (शत्रवः) हे शत्रुओ ! तुम सब (निर्हस्ताः) निहत्थे (स्थन) हो जाओ, (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ने (वः) तुम को (अद्य) आज (परा अशरीत्) मार गिराया है ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुओं के धावे को रोक कर उन्हें मार गिरावे ॥ २ ॥

निर्हस्ताः सन्तु शत्रवोऽङ्गैषां म्लापयामसि ।
अथैषामिन्द्र वेदांसि शतशो वि भजामहै ॥ ३ ॥

निः-हस्ताः । सन्तु । शत्रवः । अङ्गा । एषाम् । म्लापयामसि ।
अथ । एषाम् । इन्द्र । वेदांसि । शत-शः । वि । भजामहै ॥३॥

भाषार्थ—(शत्रवः) शत्रु लोग (निर्हस्ताः) निहत्थे (सन्तु) हो जावें, (तेषाम्) उन के (अङ्गा) अंगों को (म्लापयामसि) हम शिथिल करते हैं ।

२—(आतन्वानाः) धनूंषि बाणान् च अनुसंदधतः (आयच्छन्त) तरवारीन् आकर्षन्तः (अस्यन्तः) निक्षिपन्तः (ये) शत्रवः (च) (धावथ) शीघ्रं गच्छथ (निर्हस्ताः) लुप्तहस्तबलाः (शत्रवः) अरयः (स्थन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति अस्तेर्लोटि तस्य थनादेशः । भवत (इन्द्रः) सेनापतिः (वः) युष्मान् (अद्य) अस्मिन् दिने (परा अशरीत्) शॄ हिंसायाम्—लुङ् । पराहतान् कृतवान् ॥

३—(निर्हस्ताः) लुप्तहस्तसामर्थ्याः (सन्तु) (शत्रवः) (अङ्गा) अङ्गानि हस्तपादादीनि (एषाम्) शत्रूणाम् (म्लापयामसि) म्लै हर्षक्षये-

(अथ) फिर (इन्द्र) हे महाप्रतापी सेनापति इन्द्र ! (तेषाम्) उनके (वेदांसि) सब धनों को (शतशः) सैंकड़ों प्रकार से (वि भजामहै) हम बांट लेवें ॥३॥

भावार्थ—विजयी वीर पुरुष शत्रुओं को जीत कर सेनापति की आज्ञा अनुसार राजविभाग निकाल कर उनका धन बांट लेवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेना पति के लक्षणों का उपदेश ॥

परि॒ वर्त्मा॑नि स॒र्वत॒ इन्द्रः॑ पू॒षा च॑ सस्रतुः ।
मुह्य॒न्त्व॒द्यामूः सेना॑ अ॒मित्रा॑णां पर॒स्त॒राम् ॥ १ ॥

परि॑ । वर्त्मा॑नि । स॒र्वतः॑ । इन्द्रः॑ । पू॒षा । च॒ । स॒स्र॒तुः॒ । मुह्य॑न्तु । अ॒द्य । अ॒मूः । सेनाः॑ । अ॒मित्रा॑णाम् । प॒रः॒-त॒राम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाला राजा (च) और (पूषा) पोषण करनेवाला मन्त्री (वर्त्मानि) मार्गों पर (सर्वतः) सब दिशाओं में (परि सस्रतुः) सब ओर चलते रहे हैं । (अमित्राणाम्) पीड़ा देनेवाले शत्रुओं की (अमूः) वे सब (सेनाः) सेनायें (अद्य) आज (परस्तराम्) बहुत दूर (मुह्यन्तु) घबड़ा कर चली जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल राजा और मन्त्री के उपाय से शत्रु की सब सेनायें भाग जावें ॥ १ ॥

णौ आत्वे पुगागमः । ग्लापयामः । क्षीणहर्षान् शिथिलान् कुर्मः (अथ) अनन्तरम् (एषाम्) (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् सेनापते (वेदांसि) धनानि (शतशः) शतप्रकारेण (वि भजामहै) विभज्य प्राप्नुयाम ॥

१—(परि) परितः (वर्त्मानि) वृतु वर्तने—मनिन् । धर्ममार्गान् (सर्वतः) सर्वासु दिक्षु (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (पूषा) पोषको मन्त्री (च) (सस्रतुः) सृ गतौ—लिट् । जग्मतुः (मुह्यन्तु) मूढचित्ताः पलायन्ताम् (अद्य) अस्मिन् दिने (अमूः) दूरे दृश्यमानाः (सेनाः) सैन्यानि (अमित्राणाम्) पीडकानां शत्रूणाम् (परस्तराम्) परः+तरप् । किमेत्तिङव्ययघात्० । ५ । ४ । ११ । इति आमु । अधिकदूरदेशे ॥

मूढा अमित्राश्चरताशीर्षाण इवाहयः ।
तेषां वो अग्निमूढानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ॥ २ ॥

मूढाः । अमित्राः । चरत । अशीर्षाणः-इव । अहयः । तेषाम् । वः । अग्नि-मूढानाम् । इन्द्रः । हन्तु । वरम्-वरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मूढाः) हे घबड़ाये हुये (अमित्राः) पीड़ा देने वाले शत्रुओं ! (अशीर्षाणः) बिना शिर वाले [शिर कटे] (अहयः इव) सांपों के समान (चरत) चेष्टा करो । (इन्द्रः) प्रतापी वीर राजा (अग्निमूढानाम्) अग्नि [आग्नेय शस्त्रों] से घबड़ाये हुये (तेषां वः) उन तुम सबों में से (वरंवरम्) अच्छे अच्छों को चुन कर (हन्तु) मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—कुशल सेना पति इस प्रकार व्यूह रचना करे कि शत्रु के सेना दल विध्वस हो कर घबड़ा जावें और उनके बड़े बड़े नायक मारे जावें ॥ २ ॥

ऐषु नह्य वृषाजिनं हरिणस्या भियं कृधि ।
पराङ्मित्र एषत्वर्वाची गौरुपेषतु ॥ ३ ॥

आ । एषु । नह्य । वृषा । अजिनम् । हरिणस्य । भियम् । कृधि । पराङ् । अमित्रः । एषतु । अर्वाची । गौः । उप । एषतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे सेनापति !] (एषु) इन [अपने वीरों] में (वृषा=वृष्णः) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (अजिनम्) चर्म [कवच] (आ नह्य) पहिना दे, और [शत्रुओं

२—(मूढाः) मुह वैचित्ये—क्त । व्याकुलाः (अमित्राः) पीडकाः शत्रवः (चरत) चेष्टां कुरुत (अशीर्षाणः) शीर्षंश्छन्दसि । पा० ६ । १ । ६० । इति शिरः शब्दस्य शीर्षन् । अशिरसः । छिन्नशिरस्काः (इव) यथा (अहयः) अ० २ । ५ । ५ । आहन्तारः सर्पाः (तेषाम्) तादृशानाम् (वः) युष्माकम् (अग्निमूढानाम्) अग्निना आग्नेयास्त्रैर्व्याकलीकृतानां मध्ये (इन्द्रः) प्रतापी वीरो राजा (हन्तु) नाशयतु (वरंवरम्) श्रेष्ठं श्रेष्ठं नायकम् ॥

३—(एषु) स्वभटेषु (आ नह्य) आबधान । आच्छादय (वृषा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति षष्ठ्याः लुः । वृष्णः । इन्द्रस्य । ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य

में] (हरिणस्य) हरिण का (भियम्) डरपोकपन (कृधि) करदे । (अमित्र.) शत्रु (पराङ्) उलटे मुख हो कर, (एषतु) चला जावे (गौः) भूमि [युद्ध भूमि और राज्य] (अर्वाची) हमारी ओर (उप एषतु) चली आवे ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनापति अपने वीरों को कवच आदि पहिना कर शत्रुओं को भयभीत करके रणभूमि और राज्य अपने हाथ करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवताः ॥ १ पञ्चपदा विराट; २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

चूडाकरणसंस्कारोपदेशः—मुण्डन संस्कार का उपदेश ॥

आयमंगन्त्सविता क्षुरेणोष्णेनं वाय उदकेनेहि। आदित्या रुद्रा वसंव उन्दन्तु सचैतसः सोमंस्य राज्ञो वपत प्रचैतसः ॥ १ ॥

आ । अयम् । अगुन् । सविता । क्षुरेण । उष्णेनं । वायो इति । उदकेनं । आ । इहि । आदित्याः । रुद्राः । वसंवः । उन्दन्तु । स-चैतसः । सोमंस्य । राज्ञः । वपत । प्र-चैतसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (सविता) काम का चलानेवाला फुरतीला नापित (क्षुरेण) छुरा सहित (आ अगन्) आया है, (वायो) हे शीघ्रगामी पुरुष ! (उष्णेन) तप्त [तत्ते] (उदकेन) जलसहित (आ इहि) तू आ ।

(अजिनम्) अ० ४ । ७ । ६ । चर्म। कवचम् (हरिणस्य, मृगस्य (भियम्) भीतिम् (कृधि) कुरु शत्रुषु (पराङ्) पराङ्मुखः सन् (अमित्रः) शत्रुः (एषतु) इष गतौ गच्छतु । पलायताम् (अर्वाची) अस्मदभिमुखा । अनुकूला (गौः) पृथ्वी—निघ० । १ । १ । रणभूमिः । राजभूमिः (उप एषतु) समीपं प्राप्नोतु ॥

१—(अयम्) दृश्यमानः (आ अगन्) आगमत् । आगतवान् (सविता) कर्मप्रेरकः स्फूर्तिशीलो नापितः (क्षुरेण) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इति क्षुर विलेखने—रन्, रेफलोपः । लोमच्छेदकेनास्त्रेण (उष्णेन) तप्तेन (वायो) हे शीघ्रगामिन् पुरुष (उदकेन) जलेन (आ इहि) आगच्छ (आदित्याः)

(आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) ज्ञानवान्, (वसवः) श्रेष्ठ पुरुष आप (सचेतसः) एक चित्त हो कर [बालक के केश] (उन्दन्तु) भिगोवें, (प्रचेतसः) प्रकृष्ट ज्ञानवाले पुरुषो तुम (सोमस्य) शान्तस्वभाव (राज्ञः) तेजस्वी बालक का (वपत=वपयत) मुण्डन कराओ ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थ प्रवीण शुद्ध नापित को बुलाकर गुनगुने जल से मुण्डन करावें और सब बड़े बड़े विद्वान् पुरुष उत्सव में आकर यथोचित सम्मति देवें ॥१॥

इस सूक्त के तीनों मन्त्र श्रीमद् दयानन्दकृत संस्कारविधि चूडाकर्म संस्कार में लिखे हैं ॥ १ ॥

अदि॑तिः श्मश्रु॑ वपत्वाप॑ उन्दन्तु॒ वर्च॑सा ।
चिकि॑त्सतु प्र॒जाप॑तिर्दीर्घायु॒त्वाय॒ चक्ष॑से ॥ २ ॥

अदि॑तिः । श्मश्रु॑ । वपतु॒ । आप॑ः । उन्दन्तु॒ । वर्च॑सा । चिकि॑त्सतु । प्र॒जा-प॑तिः । दी॒र्घा॒यु-त्वाय॑ । चक्ष॑से ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अखण्डित छुरा (श्मश्रु) केश (वपतु) काटे (आपः) जल (वर्चसा) अपनी शोभा से (उन्दन्तु) सींचे। (प्रजापतिः) सन्तान का पालन करनेवाला पिता (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये और (चक्षसे) दृष्टि बढ़ाने के लिये (चिकित्सतु) [बालक के] रोग की निवृत्ति करे ॥२॥

भावार्थ—मुण्डन होने के पश्चात् स्नान करा के यथोचित् ओषधि खान पान आदि द्वारा बालक को प्रसन्न करें। इस संस्कार से बालक की आयु और दृष्टि बढ़ती है ॥ २ ॥

अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमाना विद्वांसः (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । ज्ञानदातारः (वसवः) श्रेष्ठा जनाः (उन्दन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु । माणवकस्य शिर इतिशेषः (सचेतसः) समानज्ञानाः (सोमस्य) शान्तस्वभावस्य (राज्ञः) तेजस्विनो माणवकस्य (वपत) वपयत । मुण्डनं कारयत (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानाः पुरुषाः ॥

२—(अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दो अवखण्डने-क्तिन् । अखण्डितस्तीक्ष्णधारश्छुरः (श्मश्रु) अ० ५ । १६ । १४ । श्म शरीरम् श्म श्रु लोम, श्मनि श्रितं भवति । निरु० ३ । ५ । शिरः केशम् (वपतु) मुण्डतु (आपः) जलानि (उन्दन्तु) सिञ्चन्तु स्नानेन (वर्चसा) तेजसा (चिकित्सतु) कित रोगापनयने । भिषज्यतु बालकस्य रोगनिवृत्तिं करोतु (प्रजापतिः) सन्तानपालकः पिता (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (चक्षसे) अ० १ । ५ । १ । दृष्टिवर्धनाय ॥

येनावपत् सविता क्षुरेण सोमस्य राज्ञो वरुणस्य विद्वान्। तेन ब्रह्माणो वपतेदमस्य गोमानश्ववानयमस्तु प्रजावान् ॥ ३ ॥

येन। अवपत्। सविता। क्षुरेण। सोमस्य। राज्ञः। वरुणस्य। विद्वान्। तेन। ब्रह्माणः। वपत। इदम्। अस्य। गो-मान्। अश्व-वान्। अयम्। अस्तु। प्रजा-वान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस विधि के साथ (विद्वान्) अपना कर्म जानने वाले (सविता) फुरतीले नापित ने (क्षुरेण) छुरा से (सोमस्य) शान्त-स्वभाव, (राज्ञः) तेजस्वी, (वरुणस्य) उत्तम स्वभाव वाले बालक का (अवपत्) मुण्डन किया है। (तेन) उसी विधि से (ब्रह्माणः) हे ब्राह्मणो! (अस्य) इस बालक का (इदम्) यह शिर (वपत) मुण्डन कराओ, (अयम्) यह बालक (गोमान्) उत्तम गौओं वाला, (अश्ववान्) उत्तम घोड़ों वाला और (प्रजावान्) उत्तम सन्तानों वाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग बालकों का मुण्डन संस्कार कराके उन्हें प्रतापी, धनी और बलवान् बनावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

यशः प्राप्त्युपदेशः—यश की प्राप्ति का उपदेश ॥

गिरावरगराटेषु हिरण्ये गोषु यद् यशः।

३—(येन) यादृशेन विधिना (अवपत्) मुण्डनं कृतवान् (सविता) म० १। स्फूर्तिशील: (क्षुरेण) अस्त्रेण (सोमस्य) शान्तस्वभावस्य (राज्ञः) तेजस्विनः (वरुणस्य) श्रेष्ठबालकस्य (विद्वान्) स्वकर्मज्ञाता नापितः (तेन) तादृशेन कर्मणा (ब्रह्माणः) हे वेदज्ञातारो ब्राह्मणाः (वपत) मुण्डन कारयत (इदम्) शिरः (अस्य) माणवकस्य (गोमान्) प्रशस्तगोयुक्तः (अश्ववान्) बहुमूल्यतुरङ्गोपेतः (अयम्) माणवकः (अस्तु) (प्रजावान्) प्रशस्तसन्तान-युक्त ॥

सुरायां सिच्यमानायां कीलाले मधु तन्मयि ॥ १ ॥

गिरौ । अरगराटेषु । हिरण्ये । गोषु । यत् । यशः । सुरायाम् । सिच्यमानायाम् । कीलाले । मधु । तत् । मयि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गिरौ) उपदेश करने वाले सन्यासी में, (अरगराटेषु) ज्ञान के उपदेशकों में विचरने वालों [ब्रह्मचारी आदिकों] के बीच, (हिरण्ये) सुवर्ण में और (गोषु) विद्याओं में (यत्) जो (यशः) यश है। और (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) बहते हुये जल [अथवा बढ़ते हुये ऐश्वर्य] में और (कीलाले) अन्न में (मधु) जो मीठापन है, (तत्) वह (मयि) मुझ में होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विद्या आदि प्राप्त करके अपना ऐश्वर्य और स्वास्थ्य स्थिर रखकर यश पावें ॥ १ ॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।

यथा भर्गस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ २ ॥

अश्विना । सारघेण । मा । मधुना । अङ्क्तम् । शुभः । पती इति । यथा । भर्गस्वतीम् । वाचम् । आ-वदानि । जनान् । अनु ॥ २ ॥

१—(गिरौ) अ० ५ । ४ । १ । गॄ विज्ञापने—इ । विज्ञापके । उपदेशके संन्यासिनि (अरगराटेषु) ऋ गतौ—अच्+गॄ विज्ञापने—अच्+अट=गतौ—अच् । अरस्य ज्ञानस्य गरेषु विज्ञापकेषु आचार्येषु अटन्ति विचरन्ति ये तेषु ब्रह्मचारिषु (हिरण्ये) सुवर्णे (गोषु) वाक्षु । विद्यासु (सुरायाम्) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति षुञ् अभिषवे=स्नाने, यद्वा, षु ऐश्वर्ये—क्रन् । यद्वा । षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—क, टाप् । सुरा सुनोतेः । निरु० १ । ११ । सुरा, उदकनाम—दयानन्दसंशोधिते निघण्टौ, १ । १२ । जले । ऐश्वर्ये (सिच्यमानायाम्) प्रवहन्त्याम् । प्रवर्धमानायाम् (कीलाले) अ० ४।११ । १० । अन्ने—निघ० २ । ७ (मधु) माधुर्यम् । बलवत्त्वम् (तत्) (मयि) पुरुषार्थिनि ॥

भाषार्थ—(शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अश्विना) हे कर्मों में व्याप्ति वाले माता पिता ! (सारघेण) सार अर्थात् बल वा धन के पहुंचाने वाले (मधुना) ज्ञान से (मा) मुझ को (अङ्क्तम्) प्रकाशित करो। (यथा) जिससे (जनान् अनु) मनुष्यों के साथ (भर्गस्वतीम्) तेजोमयी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) मैं बोला करूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर मनुष्यों में सारगर्भित सत्य वचन बोलें ॥ २ ॥

मयि वर्चो अथो यशोऽथो यज्ञस्य यत् पयः ।
तन्मयि प्रजापतिर्दिवि द्यामिव दृंहतु ॥ ३ ॥

मयि । वर्चः । अथो इति । यशः । अथो इति । यज्ञस्य । यत् । पयः । तत् । मयि । प्रजा-पतिः । दिवि । द्याम्-इव । दृंहतु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मयि) मुझ में (वर्चः) प्रताप, (अथो) और (यशः) यश हो, (अथो) और (यज्ञस्य) देव पूजा आदि यज्ञ का (यत्) जो (पयः) सार है, (तत्) उसको भी (मयि) मुझ में (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर

२—(अश्विना) अ० ६ । ३ । ३ । कर्मसु व्याप्तिमन्तौ मातापितरौ (सारघेण) सार+घट सघाते, खुरादौ—ड । सारं घाटयति सम्राहयतीति तेन । सारस्य बलस्य धनस्य वा सम्राहकेण (मधुना) मन ज्ञाने–उ, नस्य ध । ज्ञानेन (अङ्क्तम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु–लोट् । प्रकाशयतम् (शुभः) शोभनस्य कर्मणः (पती) पालकौ (यथा) येन प्रकारेण (भर्गस्वतीम्) तेजोमयीम् (वाचम्) वाणीम् (आवदानि) उच्चारयाणि (जनान्) मनुष्यान् (अनु) अनुलक्ष्य ॥

३—(मयि) प्रयत्नशीले (वर्चः) प्रतापः (अथो) अपि च (यशः) कीर्त्तिः (अथो) (यज्ञस्य) देवपूजादिकस्य (यत्) (पयः) तत्त्वम् । फलम् (तत्) पयः (मयि) (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (दिवि) अन्तरिक्षे

(दृंहतु) दृढ़ करे, (इव) जैसे (दिवि) अन्तरिक्ष में (द्याम्) सूर्य मण्डल को ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने आकाश में सूर्य को स्थिर करके आकर्षण, प्रकाश आदि द्वारा महा उपकारी बनाया है, वैसे ही मनुष्य उत्तम शिक्षा प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४० ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमेश्वरभक्त्युपदेशः—परमेश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

यथा मांसं यथा सुरा यथाक्षा अधिदेवने ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ १ ॥

यथा । मांसम् । यथा । सुरा । यथा । अक्षाः । अधि-देवने ।
यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव ।
ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (मांसम्) ज्ञान, (यथा) जैसे (सुरा) ऐश्वर्य, (यथा) जैसे (अक्षाः) अनेक व्यवहार (अधिदेवने) बहुत व्यवहार-युक्त राजद्वार में रहते हैं। (यथा) जैसे (वृषण्यतः) अपने को ऐश्वर्यवान् मानने वाले (पुंसः) पुरुष का (मनः) मन (स्त्रियाम्) स्तुति क्रिया [वा

(द्याम्) दीप्यमानं सूर्यमण्डलम् (इव) यथा (दृंहतु) दृहि वृद्धौ। दृढीकरोतु वर्धयतु ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (मांसम्) अ० ४। १७। ४। मन ज्ञाने—सप्रत्ययः, दीर्घश्च। मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा निरु० ४। ३। ज्ञानम् (यथा) (सुरा) सू० ७०। म० १। ऐश्वर्यम् (यथा) (अक्षाः) अक्षू व्याप्तिसंघातयोः—अच्। यद्वा। अशेर्देवने। उ० ३। ६५। इति अशू व्याप्तौ—सप्रत्ययः। व्यवहाराः (अधिदेवने) दिवु व्यवहारे—ल्युट्।

अपनी पत्नी] में (निहन्यते) स्थिर रहता है। (एव) वैसे ही (अघ्न्ये) हे न मारने योग्य प्रजा! (ते) तेरा (मनः) मन: (वत्से) सब में निवास करने वाले परमेश्वर में (अधि) अच्छे प्रकार (नि हन्यताम्) दृढ़ होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में दृढ़ भक्ति करके सदा आनन्द भोगे ॥१॥

यथा॑ ह॒स्ती ह॑स्ति॒न्याः प॒देन॑ प॒दमु॑द्यु॒जे ।
यथा॑ पुं॒सो वृ॑षण्य॒त स्त्रि॒यां नि॑ह॒न्यते॒ मनः॑ ।
ए॒वा ते॑ अघ्न्ये॒ मनोऽधि॑ व॒त्से नि ह॑न्यताम् ॥ २ ॥

यथा॑ । ह॒स्ती । ह॒स्ति॒न्याः । प॒देन॑ । प॒दम् । उ॒त्ऽयु॒जे ।
यथा॑ । पुं॒सः । वृ॒ष॒ण्य॒तः । स्त्रि॒याम् । नि॒ऽह॒न्यते॑ । मनः॑ । ए॒व ।
ते॒ । अ॒घ्न्ये॒ । मनः॑ । अधि॑ । व॒त्से । नि । ह॒न्य॒ता॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (हस्ती) हाथी (हस्तिन्याः) हथिनी के (पदेन) पद चिह्न से (पदम्) अपना पद (उद्युजे) बढ़ाये जाता है। (यथा) जैसे··· म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान है ॥ २ ॥

अधिकरण्यव्यवहारस्थाने राजद्वारे। (पुंसः) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे—डुमसुन्। रक्षणशीलस्य पुरुषस्य (वृषण्यतः) दुरस्युर्द्रविणस्युर्वृषण्यतिरिषण्यति। पा० ७ । ४ । ३६ । इति वृषन्—क्यचि निपातितः। वृषाणाम् इन्द्रम् ऐश्वर्यवन्तमात्मानमिच्छतः (स्त्रियाम्) अ० १ । ८ । १ । ष्टुञ् स्तुतौ—ड्रट्, ङीप्। स्तुतिक्रियायाम्। स्तुत्यायां पत्न्यां वा (निहन्यते) स्थाप्यते (मनः) चित्तम् (एव) एवम्। तथा (ते) तव (अघ्न्ये) अ० ३ । ३० । १ । अघ्न्याऽहन्तव्या भवत्यघघ्नीतिवा—निरु० ११ । ४३ । हे अहन्तव्ये प्रजे (मनः) (अधि) (अधिकम्) (वत्से) अ० ३ । १२ । ३ । वृतृवदिहनिकमिकषिभ्यः सः। उ० ३ । ६२ । इति वस निवासे—स । सर्वनिवासशीले परमेश्वरे (निहन्यताम्) दृढीक्रियाताम् ॥

२—(यथा) (हस्ती) हस्ताज्जातौ। पा० ५ । २ । १३३ । इति—णिनि। गजः (हस्तिन्याः) करेण्वाः (पदम्) पादम् (उद्युजे) युजिर् योगे, छान्दसो विकरणस्य लुक्। उद्युङ्क्ते। उन्नयति। अन्यत्पूर्ववत् ॥

यथा प्रधिर्यथोपधिर्यथा नभ्यं प्रधावधि ।
यथा पुंसो वृषण्यत स्त्रियां निहन्यते मनः ।
एवा ते अघ्न्ये मनोऽधि वत्से नि हन्यताम् ॥ ३ ॥

यथा । प्र-धिः । यथा । उप-धिः । यथा । नभ्यम् । प्र-धौ । अधि ।
यथा । पुंसः । वृषण्यतः । स्त्रियाम् । नि-हन्यते । मनः । एव ।
ते । अघ्न्ये । मनः । अधि । वत्से । नि । हन्यताम् ॥३॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रधिः) पहिये की पुट्ठी [अरों के जोड़ से] और (यथा) जैसे (उपधिः) अरों का जोड़ [पुट्ठी से] और (यथा) जैसे (नभ्यम) नाभि स्थान (प्रधौ अधि) पुट्ठी के भीतर [जमा होता है], (यथा) जैसे म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक के समान है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

दोषनाशोपदेशः—दोषों के नाश का उपदेश ॥

यदन्नमद्मि बहुधा विरूपं हिरण्यमश्वमुत गामजामविम् । यदेव किं च प्रतिजग्रहाहमग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु ॥ १ ॥

यत् । अन्नम् । अद्मि । बहु-धा । वि-रूपम् । हिरण्यम् । अश्वम् ।
उत । गाम् । अजाम् । अविम् । यत् । एव । किम् । च । प्रति-जग्रह ।
अहम् । अग्निः । तत् । होता । सु-हुतम् । कृणोतु ॥ १ ॥

३—(प्रधिः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । इति धाञः—कि । रथचक्रस्य नेमिः (उपधिः) अराणां सन्धिः (नभ्यम्) उगवादिभ्यो यत् । पा० ५ । १ । २ । इति नाभि—यत् । नाभये हित रथाङ्गम्—अन्यत्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—(विरूपम्) अनेक रूप वाला (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (बहुधा) प्रायः (अद्मि) मैं खाता हूं, (उत) और (हिरण्यम्) सुवर्ण, (अश्वम्) घोड़ा, (गाम्) गौ, (अजाम्) बकरी, (अविम्) भेड, और (यत् एव किम् च) जो कुछ भी (अहम्) मैंने (प्रतिजग्रह) ग्रहण किया है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ज्ञान पूर्वक परमेश्वर को आत्मसमर्पण करते हैं, वे सुखी होते हैं ॥ १ ॥

यन्मा हुतमहुतमाजगाम दत्तं पितृभिरनुमतं मनुष्यैः।
यस्मान्मे मन उदिव रारजीत्यग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु॥२

यत्। मा। हुतम्। अहुतम्। आ-जगाम। दत्तम्। पितृ-भिः। अनु-मतम्। मनुष्यैः। यस्मात्। मे। मनः। उत्-इव। रारजीति। अग्निः। तत्। होता। सु-हुतम्। कृणोतु॥२

भावार्थ—(हुतम्) दिया हुआ [माता पिता आदि से पाया हुआ], अथवा (अहुतम्) न दिया हुआ [स्वयं प्राप्त किया], (पितृभिः) दूसरे विद्वान् महाशयों करके (दत्तम्) दिया हुआ और (मनुष्यैः) मननशील पुरुषों करि के (अनुमतम) अङ्गीकार किया हुआ (यत) जो कुछ द्रव्य (मा) मुझ

१—(यत्) (अन्नम्) भोजनम् (अद्मि) भक्षयामि (बहुधा) प्रायः (विरूपम्) विविधप्रकारम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (अश्वम्) तुरङ्गम् (गाम्) धेनुम् (अजाम्) छागीम् (अविम्) मेषम् (यत् एव किम् च) यत्किमपि द्रव्यजातम् (प्रतिजग्रह) ह्रस्वत्वं छान्दसम्। प्रतिजग्राह। प्राप (अहम्) उपासकः (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (तत्) सर्वं पूर्वोक्तम् (होता) दाता (सुहुतम्) हु दानादानयोः—क्त। सुष्ठु धार्मिकरीत्या गृहीतम् (कृणोतु) करोतु॥

२—(यत्) द्रव्यम् (मा) माम् (हुतम्) दत्तं माता पित्रादिभिः (अहुतम्) अदत्तं स्वपौरुषेण प्राप्तम् (आजगाम) प्राप (दत्तम्) वितीर्णम् (पितृभिः) पालनशीलैर्महात्मभिः (अनुमतम्) अङ्गीकृतम् (मनुष्यैः) अ० ३। ४। ६। मननशीलैः पुरुषैः (यस्मात्) कारणात् (मे) मम (मनः) चित्तम्

को (आजगाम) प्राप्त हुआ है । (यस्मात्) जिसके कारण से (मे) मेरा (मनः) मन (उत् इव) उदय होता हुआ सा (राराजीति) अत्यन्त शोभित रहता है, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उसको (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को जो कुछ पदार्थ अन्य महाशयों से अथवा अपने पुरुषार्थ से मिले, उसे विचार पूर्वक धार्मिक रीति से व्यय करें ॥ २ ॥

यदन्नमद्म्यनृतेन देवा दास्यन्नदास्यन्नुत संगृणामि ।
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम् ॥३॥

यत् । अन्नम् । अद्मि । अनृतेन । देवाः । दास्यन् । अदास्यन् । उत । सम्-गृणामि । वैश्वानरस्य । महतः । महिम्ना । शिवम् । मह्यम् । मधु-मत् । अस्तु । अन्नम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वान् पुरुषो ! (यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (अनृतेन) असत्य व्यवहार से (अद्मि) मैं खाता हूं, (उत) और (दास्यन्) देना चाहता हुआ [अथवा] (अदास्यन्) न देना चाहता हुआ मैं [जो कुछ] (संगृणामि=संगिरामि) खा जाता हूं । (महतः) पूजनीय (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी परमेश्वर की (महिम्ना) महिमा से (अन्नम्) वह अन्न (मह्यम्) मेरे लिये (शिवम्) सुखकारक और (मधुमत्) मीठे रसवाला (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा जानकर दुष्ट कर्म छोड़ कर अपने कर्तव्य सत्यमार्ग पर चलकर आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

(उत् इव) उन्नतं यथा (राराजीति) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च, यङ्लुकि छान्दसमुपधाह्रस्वत्वम् । रारजीति । भृशं दीप्यते शोभते । अन्यद् गतम् ॥

३—(यत्) (अन्नम्) (अद्मि) भक्षयामि (अनृतेन) असत्यव्यवहारेण (देवाः) हे विद्वांसः (दास्यन्) लृटः सद्वा । पा० ३ । ३ । १४ । इति दास्यतेः—शतृ । दातुमिच्छन् (अदास्यन्) नदातुमिच्छन् (उत) अपि च (संगृणामि) गॄ निगरणे, छान्दसः श्ना । संगिरामि । भक्षयामि (वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य परमेश्वरस्य (महतः) पूजनीयस्य (महिम्ना) प्रतापेन (शिवम्) सुखकरम् (मह्यम्) मदर्थम् (मधुमत्) माधुर्योपेतम् (अस्तु) भवतु (अन्नम्) भोजनम् ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ जगती; २; ३ अनुष्टुप् ॥

राज्यवर्धनोपदेशः—राज्य बढ़ाने का उपदेश ॥

यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूंषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु ॥१॥

यथा। असितः। प्रथयते। वशान्। अनु। वपूंषि। कृण्वन्। असुरस्य। मायया। एव। ते। शेपः। सहसा। अयम्। अर्कः। अङ्गेन। अङ्गम्। सम्-समकम्। कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (असितः) बन्धन रहित, स्वतन्त्र परमात्मा (वशान् अनु) अपने वशवर्त्ती प्राणियों के लिये (असुरस्य) बुद्धिमान् की (मायया) बुद्धि से (वपूंषि) अनेक शरीरों को (कृण्वन्) बनाता हुआ (प्रथयते) विस्तार करता है। (एव) वैसे ही (अयम्) यह (अर्कः) मन्त्र [विचार] (ते) तेरे (शेपः) सामर्थ्य को (सहसा) सहनशक्ति के साथ और (अङ्गम्) अङ्ग को (अङ्गेन) अङ्ग के साथ (संसमकम्) भली भांति संयुक्त (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने अपनी बुद्धिमत्ता से जगत् को रचकर महा उपकार किया है, वैसे ही मनुष्य वेदों के विचार से अपनी शक्ति बढ़ा कर बढ़ती करें ॥ १ ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (असितः) अबद्धः। मुक्तस्वभावः परमेश्वरः (प्रथयते) विस्तारं करोति (वशान) वशवर्त्तिनो जीवान् (अनु) अनुलक्ष्य (वपूंषि) शरीराणि (कृण्वन्) रचयन् (असुरस्य) अ० १। १०। १। असुरिति प्रज्ञा नाम—निरु० १०। ३४। रो मत्वर्थीयः। प्रज्ञावतः पुरुषस्य (मायया) अ० २। २९। ६। प्रज्ञया—निघ० ३। ९। (एव) एवम् (ते) तव (शेपः) अ० ४। ३७। ७। शीङ् शयने—प। शेते, शरीरे वर्तते। सामर्थ्यम् (सहसा) षह मर्षणे—असुन्। सहन शक्त्या (अयम्) प्रसिद्धः (अर्कः) अ० ३। ३। २। अर्च पूजायाम्—क। अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति—निरु० ५। ४। विचारः। वेदविवेकः (अङ्गेन) शरीरावयवेन (अङ्गम्) शरीरावयवम् (संसमकम्) अञ्चु गतौ याचने च—अच् न्यङ्क्वादीनां च। पा० ७। ३। ५३। इति कुत्वम्। सम्यक् संगतम् (कृणोतु) करोतु ॥

यथा पसस्तायादरं वातेन स्थूलभं कृतम् ।
यावत् परस्वतः पसस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ २ ॥

यथा । पसः । तायादरम् । वातेन । स्थूलभम् । कृतम् । यावत् । परस्वतः । पसः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (तायादरम्) प्रबन्ध से आदर योग्य (पसः) राज्य (वातेन) उद्योग से (स्थूलभम्) मनुष्यों में प्रकाश वाला (कृतम्) बनाया जाता है, (यावत्) जितना (परस्वतः) पालने में समर्थ पुरुष का (पसः) राज्य होता है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः राज्य(वर्धताम्) बढ़े ॥२॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति निपुण, उद्योगी और प्रजापालक राजा के राज्य में उन्नति होती है, वैसे ही शुभ गुणों द्वारा मनुष्य अपना राज्य बढ़ावें ॥२॥

यावदङ्गीनं पारस्वतं हास्तिनं गार्दभं च यत् ।
यावदश्वस्य वाजिनस्तावत् ते वर्धतां पसः ॥ ३ ॥

यावत्-अङ्गीनम् । पारस्वतम् । हास्तिनम् । गार्दभम् । च । यत् । यावत् । अश्वस्य । वाजिनः । तावत् । ते । वर्धताम् । पसः ॥ ३ ॥

२—(यथा) (पस) अ० ४ । ४ । ६ । पस बन्धे बाधे च—असुन् । राज्यम् (तायादरम्) ताय—आदरम् । तायृ सन्तानपालनयोः—घञ्, सन्तानः प्रबन्धः । तायेन प्रबन्धेनादरः सत्कारो यस्य तद्राज्यम् (वातेन) वा गतिगन्धनयोः—तन् । उद्योगेन (स्थूलभम्) स्थः किच्च । उ० ५ । ४ । इति ष्ठा—ऊरन्, रस्य लः । भा दीप्तौ—ड । स्थूलेषु मनुष्येषु भातीति तत् (कृतम्) अनुष्ठितम् (यावत्) यत्प्रमाणम् । बहुविस्तीर्णमित्यर्थः (परस्वतः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । इति पॄ पालनपूरणयोः—असुन् । पालनवत पुरुषस्य (पसः) राज्यप्रबन्धः (तावत्) तत्परिमाणविशिष्टम् (ते) तव (वर्धताम्) प्रवृद्धं भवतु (पसः) राज्यम् ॥

भाषार्थ—(यावदङ्गीनम्) जितने अङ्ग हैं उनसे सिद्ध, (पारस्वतम्) पालन समर्थ पुरुषों से सिद्ध, (च) और (गार्दभम्) [बोझ उठाने वाले] गदहों से सिद्ध, (यत्) जितना राज्य है । और (यावत्) जितना (वाजिनः) अन्नयुक्त (अश्वस्य) बलवान् पुरुष [राज्य] का है, (तावत्) उतना (ते) तेरा (पसः) राज्य (वर्धताम्) बढ़े ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में सब राज्य के अङ्ग, अर्थात्, १—राजा, २—मन्त्री, ३—मित्र, ४—कोश, ५—राज्य प्रबन्ध, ६—गढ, ७—सेना, देखो अमर १८ । १७, १८, प्रजापालक अधिकारी और हस्ती गर्दभ आदि पशु और अन्न और बलवान् राजा होते हैं, वहां अनेक प्रकार से वृद्धि होती है, वैसे ही सब मनुष्यों को वृद्धि करनी चाहिये ॥ ३ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७३॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्समागमोपदेशः—विद्वानों से समागम का उपदेश ॥

३—(यावदङ्गीनम्) तेन निर्वृत्तम् । ४ । २ । ६८ । इति—ख । यावन्ति अङ्गानि तावद्भिर्निर्वृत्तं सिद्धम्, तानि यथा । स्वाम्यमात्यसुहृत्कोशराष्ट्रदुर्गबलानि च । राज्याङ्गानि प्रकृतयः" ॥ इत्यमरः, १८ । १७, १८ ॥ (पारस्वतम्) परस्वत्—अण् । परस्वद्भिः पालनसमर्थैः पुरुषैर्निर्वृत्तम् (हास्तिनम्) हस्तिन्—अण् । इनण्यनपत्ये । पा० ६ । ४ । १६४ । इति प्रकृतिभावः हस्तिभिर्निर्वृत्तं सिद्धम् (गार्दभम्) गर्दभ—अण् । गर्दभैर्वहनशीलैः पशुभिर्निर्वृत्तम् (च) (यत्) यत्प्रमाणम् (यावत्) (अश्वस्य) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । इति अशू व्याप्तिसंहत्योः—क्वन् । अश्नुते व्याप्नोति कार्याणि सोऽश्वः, बलवान् पुरुषः, तस्य (वाजिनः) वाजः, अन्नम्—निघ० २ । ७ । अन्नवतः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

एह यातु वरुणः सोमो अग्निर्बृहस्पतिर्वसुभिरेह यातु।
अस्य श्रियमुपसंयात सर्व उग्रस्य चेत्तुःसंमनसःसजाताः१

आ। इह। यातु। वरुणः। सोमः। अग्निः। बृहस्पतिः।
वसु-भिः। आ। इह। यातु। अस्य। श्रियम्। उप-संयात।
सर्वे। उग्रस्य। चेत्तुः। सम्-मनसः। सु-जाताः॥ १॥

भाषार्थ—(वरुणः) सूर्य्य समान प्रतापी और (सोमः) चन्द्र समान शान्त स्वभाव पुरुष (इह) यहां पर (आ यातु) आवे और (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी (बृहस्पतिः) बडी वेदवाणी का रक्षा करनेवाला पुरुष (वसुभिः) उत्तम उत्तम गुणों वा धनों के साथ (इह) यहां पर (आयातु) आवे। (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो! (सर्वे) तुम सब (संमनसः) एक मन होकर, (अस्य) इस (उग्रस्य) तेजस्वी (चेत्तुः) ज्ञानवान पुरुष की (श्रियम्) सम्पदा को (उपसंयात) भली भांति प्राप्त करो॥ १॥

भावार्थ—गृहस्थी को योग्य है कि अनेक अनेक विद्वानों से सत्कार पूर्वक समागम करके गृह लक्ष्मी बढा कर अपनी उन्नति करे॥

यो वः शुष्मो हृदयेष्वन्तराकूतिर्या वो मनसि प्रविष्टा।
तान्त्सीवयामि हविषा घृतेन मयि सजाता रमतिर्वो अस्तु॥ २॥

१—(आयातु) आगच्छतु (इह) अस्मिन् गृहे (वरुणः) सूर्य्यवत् प्रतापी पुरुषः (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्याः पालकः (वसुभिः) श्रेष्ठगुणैर्धनैर्वा (इह आ यातु) (अस्य) गृहस्थस्य (श्रियम्) सम्पदाम् (उपसंयात) उप आदरेण सम्यक् प्राप्नुत (सर्वे) समस्ताः पूर्वोक्ता यूयम् (उग्रस्य) तेजस्विनः (चेत्तुः) कर्त्तव्याकर्त्तव्यस्य ज्ञातुः (संमनसः) संमिलितचित्ताः (सजाताः) हे समानजन्मानो बान्धवाः॥

यः । वः । शुष्मः । हृदयेषु । अन्तः । आ-कूतिः । या । वः । मनसि । प्र-विष्टा । तान् । सीवयामि । हविषा । घृतेन । मयि । सु-जाताः । रमतिः । वः । अस्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (यः) जो (शुष्मः) पराक्रम (वः) तुम्हारे (हृदयेषु अन्तः) हृदयों मे भरा है, और (या) जो (आकूतिः) उत्साह वा शुभसंकल्प (व) तुम्हारे (मनसि) मन में (प्रविष्टा) प्रवेश हो रहा है। [उसी के कारण] (हविषा) उत्तम अन्न से और (घृतेन) जल से (तान्) उन तुम सब को (सीवयामि=सेवे) मैं सेवा करता हूं, (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारी (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य यथावत् शुश्रूषा करके विद्वानों से उत्तम उत्तम विद्यायें ग्रहण करके अपने आत्मा को सदा सन्तुष्ट करते रहें ॥ २ ॥

इहैव स्त मापं यातोध्यस्मत् पूषा परस्तादपंथं वः कृणोतु । वास्तोष्पतिरनुं वो जोहवीतु मयिं सजाता रमतिर्वो अस्तु ॥ ३ ॥

इह । एव । स्त । मा । अपं । यात । अधि । अस्मत् । पूषा । परस्तात् । अपंथम् । वः । कृणोतु । वस्तोः । पतिः । अनुं ।

२—(यः) (वः) युष्माकम् (शुष्मः) पराक्रमः । बलम् निघ० २ । ९ (हृदयेषु) विषयाणां ग्रहणशीलेषु चित्तेषु (अन्तः) मध्ये (आकूतिः) उत्साहः । शिवसंकल्पः (या) (वः) (मनसि) मननसाधने । अन्तःकरणे (प्रविष्टा) अन्तर्गता (तान्) तथाविधान् युष्मान् (सीवयामि) षेवृ सेवायाम्, षकारस्य ईत्वं चुरादित्वं च छान्दसम् । अहं सेवे । शुश्रूषयामि (हविषा) हव्येन देवयोग्येनान्नेन (घृतेन) उदकेन—निघ० १ । १२ । (मयि) उपासके (सजाताः) हे समान-जन्मानो बान्धवाः (रमतिः) रमेर्नित् । उ० ४ । ६३ । इति रमु क्रीडायाम्—अति । क्रीडा । मनःप्रसन्नता (वः) युष्माकम् (अस्तु) भवतु ॥

वः । जोहवीतु । मयि । स-जाताः रमतिः । वः अस्तु ॥३॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (इह) यहां पर (एव) ही (स्त) रहो (अस्मत् अधि) हम से (मा अप यात) हट कर न जाओ, (पूषा) पोषण करने वाला गृहस्थ (परस्तात्) उत्तर उत्तर काल में (वः) तुम्हारे लिये (अपथम्) अभय (कृणोतु) करे । (वास्तोः) घर का (पतिः) स्वामी [गृहस्थ] (वः) तुमको (अनु) निरन्तर (जोहवीतु) बुलाता रहै । (सजाताः) हे समान जन्मवाले बान्धवो ! (वः) तुम्हारे (रमतिः) क्रीड़ा [प्रसन्नता] (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो धार्मिक गृहस्थ विद्वानों को अभय दान करके आदर पूर्वक गुण ग्रहण करते हैं, वे संसार में आनन्द भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१-३ ॥ भगो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

सांमनस्योपदेशः—एकमता के लिये उपदेश ॥

सं वः पृच्यन्तां तन्वः१ः सं मनांसि समु व्रता ।
सं वोऽयं ब्रह्मणस्पतिर्भगः सं वो अजीगमत् ॥ १ ॥

३—(इह) अस्मिन् समाजे (एव) निश्चयेन (स्त) वर्त्तध्वम् (मा अपयात) दूरे मा गच्छत (अधि) पञ्चम्यर्थानुवादी (अस्मत्) अस्मत्तः (पूषा) पोषको गृहस्थः (परस्तात्) अ० ४ । १६ । ४ । पर—अस्ताति । परस्मिन् पश्चात्काले (अपथम्) अप–थम् । थुड् सवरणे—ड । थं भयम् । अपगतं च तत् थं च तत् । अभयम् (वः) युष्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु (वास्तोः) वसेरगारे णिच्च । उ० १ । ७० । इति वस निवासे तुन् स च णित् । वास्तुर्वसतेर्निवासकर्मणः—निरु० १२ । १६ । गृहस्य (पतिः) स्वामी (अनु) अनन्तरम् (वः) युष्मान् (जोहवीतु) अ० २ । १२ । ३ । ह्वयतेर्यङ्लुकि लोट् । पुनः पुनराह्वयतु॥ अन्यत् पूर्ववत्–म० २ ॥

सम् । वः । पृच्यन्ताम् । तन्वः । सम् । मनांसि । सम् । ऊं इति । व्रता । सम् । वः । अयम् । ब्रह्मणः । पतिः । भगः । सम् । वः । अजीगमत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारी (तन्वः) विस्तृत विद्यायें (सम्) यथावत् (मनांसि) मनन सामर्थ्य (सम्) यथावत् (उ) और (व्रता) सब कर्म (सम्) यथावत् (पृच्यन्ताम्) मिले रहें । (अयम्) इस (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पतिः) पति (भगः) भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमेश्वर] ने (वः) तुमको (वः) तुम्हारे हित के लिये (सम्) यथावत् (सम् अजीगमत्) मिलाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परस्पर मिल कर उत्तम विद्यायें, उत्तम विचार, और उत्तम कर्म प्राप्त करके सुख भोगें । यह परमेश्वर कृत नियम है ॥ १ ॥

संज्ञपनं वो मनसोऽथो संज्ञपनं हृदः ।
अथो भगस्य यच्छ्रान्तं तेन संज्ञपयामि वः ॥ २ ॥

सम्-ज्ञपनम् । वः । मनसः । अथो इति । सम्-ज्ञपनम् । हृदः । अथो इति । भगस्य । यत् । श्रान्तम् । तेन । सम्-ज्ञपयामि । वः ॥ २

१—(सम्) सम्यक् यथावत् (वः) युष्माकम् (पृच्यन्ताम्) पृची सम्पर्के—कर्मणि लोट् । संमिल्यन्ताम् (तन्वः) अ० १ । १ । विस्तृतविद्याः-दयानन्दभाष्ये यजु० १६ । ४४ । (सम्) (मनांसि) मननानि (सम्) (उ) अपि (व्रतानि) वरणीयानि कर्माणि (सम्) (वः) युष्मान् (अयम्) सर्वव्यापकः (ब्रह्मणः) बृहतो जगतः । अन्नस्य—निघ० २ । ७ (पतिः) रक्षकः (भगवान्) ऐश्वर्यवान् परमेश्वरः (वः) युष्मदर्थम् (सम् अजीगमत्) अ० ६ । ३२ । २ । संगतान् कृतवान् ॥

भाषार्थ—(वः) तुम्हारे (मनसः) मनन का (संज्ञपनम्) विज्ञापन (अथो) और भी (हृदः) हृदय का (संज्ञपनम्) संतोषक कर्म होवे। (अथो) और भी (भगस्य) भगवान् [की प्राप्ति] का (यत्) जो (श्रान्तम्) तप है, (तेन) उस कारण से (वः) तुमको (संज्ञपयामि) मैं संतुष्ट करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पूर्ण विद्या प्राप्त करके शुद्ध हृदय से भगवान् की भक्ति करके संसार में विद्या प्रचार करें ॥ २ ॥

यथा॑दि॒त्या वसु॑भिः संब॒भू॒वुर्म॒रुद्भि॑रु॒ग्रा अहृ॑णीयमानाः। ए॒वा त्रि॑णामन्नहृ॑णीयमान इ॒माञ्जना॒न्त्संम॑नसस्कृधी॒ह ॥ ३ ॥

यथा॑। आ॒दि॒त्याः। वसु॑-भिः। स॒म्-ब॒भू॒वुः। म॒रुत्-भिः। उ॒ग्राः। अहृ॑णीयमानाः। ए॒व। त्रि॒-ना॒म॒न्। अहृ॑णीयमानः। इ॒मान्। जना॑न्। सम्-म॑नसः। कृ॒धि॒। इ॒ह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (उग्राः) तेजस्वी (आदित्याः) प्रकाशमान विद्वान् [अथवा अदीन देव माता अदिति, पृथ्वी वा वेदवाणी के

२—(संज्ञपनम्) ज्ञा मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञापने स्तुतौ च—णिचि, ल्युट्। विज्ञापन प्रकाशनम् (वः) युष्माकम् (मनसः) मननस्य विचारस्य (अथो) अपि च (संज्ञपनम्) सन्तोषणम् (हृदः) हृदयस्य (अथो) (भगस्य) भगवतः परमेश्वरस्य (यत्) (श्रान्तम्) श्रमु तपसि खेदे च—भावे क्त। तपः। जितेन्द्रियत्वम् (तेन) कारणेन (संज्ञपयामि) सतोषयामि। स्तौमि (वः) युष्मान् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (आदित्याः) अ० १। ६। १। आङ् + दीपी दीप्तौ—यक्। यद्वा। अदिति—ण्य। प्रकाशमाना विद्वांसः। यद्वा। आदितेः अदीनाया देवमातुः पृथिव्या वेदवाण्या वा पुत्रवद्मानकर्तारः (वसुभिः) श्रेष्ठगुणैः (संबभूवुः) सम् + भू सामर्थ्ये। पराक्रमिणो बभूवुः (मरुद्भिः) अ० १। २०। १। शत्रुमारकैः शूरैः (उग्राः) तेजस्विनः (अहृणीयमानाः)

पुत्र समान मान करने वाले] पुरुष (अहृणीयमाना) सङ्कोच न करते हुये (वसुभिः) उत्तम गुणों और (मरुद्भिः) शत्रुनाशक वीरों के साथ (संवभूवु) पराक्रमी हुये हैं। (एव) वैसे ही (त्रिणामन्) हे तीनों कालों और तीनों लोकों को झुकाने वाले परमेश्वर ! (अहृणीयमानः) क्रोध न करता हुआ तू (इमानि) इन सब (जनान्) जनों को (इह) यहां पर (समनसः) एकमन (कृधि) कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से पूर्वज महात्मा विद्वानों से शिक्षा पाकर उपकारक हुये हैं, इसी प्रकार मनुष्य त्रिलोकीनाथ परमात्मा की भक्ति के साथ एकचित्त होकर परोपकार करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनिवारणायोपदेशः—शत्रु के हटाने का उपदेश ॥

निर॒मुं नु॑द॒ ओक॑सः स॒पत्नो॒ यः पृ॑त॒न्यति॑ ।
नै॒र्बा॒ध्ये॑न ह॒विषेन्द्र॑ एनं॒ परा॑शरीत् ॥ १ ॥

निः । अ॒मुम् । नु॒दे॒ । ओक॑सः । स॒-पत्नः॑ । यः । पृ॒त॒न्यति॑ ।
नैः॒-बा॒ध्ये॑न । ह॒विषा॑ । इन्द्रः॑ । ए॒न॒म् । परा॑ । अ॒श॒री॒त् ॥१॥

भाषार्थ—मैं (अमुम्) उस [शत्रु] को (ओकसः) उसके घर से (निर्नुदे) निकालता हूं, (यः सपत्नः) जो शत्रु (पृतन्यति) सेना चढ़ाता

अ० १ । ३५ । ४ । हृणीङ् रोषणे लज्जायां च—शानच् । असंकुचन्तः (एव) एवम् । तथा (त्रिणामन्) हे त्रयाणां लोकानां कालानां वा नामयितो वशयितः परमेश्वर (अहृणीयमानः) अक्रुध्यंस्त्वम् (इमान्) अस्मदीयान् (संमनसः) समानमनस्कान् । परस्परानुरक्तचित्तान् (कृधि) कुरु (इह) अस्मिन् ग्रामनगरादौ ॥

१—(निर्नुदे) अहं निर्गमयामि (अमुम्) शत्रुम् (ओकसः) तस्य गृहात् (सपत्नः) शत्रुः (यः) (पृतन्यति) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ ।

है। (इन्द्रः) प्रतापी राजा ने (एनम्) उसको (नैर्बाध्येन) अपने निर्विघ्न (हविषा) ग्राह्य व्यवहार से (परा अशरीत्) मार गिराया है ॥ १ ॥

भावार्थ—सुपरीक्षित शूर वीरों के समान हम पुरुषार्थ करके अपने शत्रुओं को हटावें ॥ १ ॥

प॒र॒मां तं प॑रा॒वत॒मिन्द्रो॑ नुदतु वृत्र॒हा ।

यतो॒ न पुन॒राय॑ति शश्व॒तीभ्यः॒ समा॑भ्यः ॥ २ ॥

प॒र॒माम् । तम् । प॒रा॒-वत॑म् । इन्द्रः॑ । नु॒द॒तु॒ । वृ॒त्र॒-हा । यतः॑ । न । पुनः॑ । आ॒-अय॑ति । श॒श्व॒तीभ्यः॑ । समा॑भ्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहा) शत्रुओं वा अन्धकार का नाश करने वाला (इन्द्रः) प्रतापी राजा (तम्) चोर को (परमाम्) अतिशय (परावतम्) दूर भूमि में (नुदतु) भेज देवे । (यतः) जहां से वह (शश्वतीभ्यः) बहुत (समाभ्यः) बरसों तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारी लोगों को दूर स्थान में कारागार के भीतर रक्खे ॥ २ ॥

इति पृतना—क्यच् । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इति इत्याकार-लोपः । पृतनां सेनामात्मन इच्छति (नैर्बाध्येन) ऋहलोर्ण्यत् पा० ३ । १ । १२४ । इति निर् + बाधृ लोडने—ण्यत् । प्रज्ञादिभ्यश्च पा० ५ । ४ । ३८ । इति स्वार्थे अण् । निर्बाध्येन । अबाधनीयेन (हविषा) ग्राह्येण व्यवहारेण (इन्द्र) प्रतापी राजा (एनम्) शत्रुम् (परा) दूरे (अशरीत्) शॄ हिंसायाम्—लुङ् । अशारीत् । पराङ्मुख हतवान् ॥

२—(परमाम्) अतिशयिताम् (तम्) तर्द हिंसने ड । तर्दकं चोरम् (परावतम्) अ० ३ । ४ । ५ । दूरगतां भूमिम् । (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यतः) यस्या दूरभूमेः सकाशात् (न) निषेधे (पुनः) द्वितीयवारम् (आयति) आवर्तते (शश्वतीभ्यः) बहुभ्यः—निघ० ३ । १ । (समाभ्यः) संवत्सरेभ्यः ॥

एतु तिस्रः परावत एतु पञ्च जनाँ अति ।
एतु तिस्रोऽति रोचना यतो न पुनरायति
शश्वतीभ्यः समाभ्यो यावत् सूर्यो असद् दिवि ॥ ३ ॥

एतु । तिस्रः । परा-वतः । एतु । पञ्च । जनान् । अति । एतु । तिस्रः । अति । रोचना । यतः । न । पुनः । आ-अयति । शश्वतीभ्यः । समाभ्यः । यावत् । सूर्यः । असत् । दिवि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—जो पुरुष (तिस्रः) तीन [अपने मानुष स्थान, नाम और जाति रूप] (परावतः) उत्कृष्ट भूमियों [वा धामों] को (अति = अतीत्य) उलांघ कर (एतु) चले, और (पञ्च जनान्) पांच [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र, चारों वर्ण, और पाचवें नीच योनि, पशु, पक्षी, वृक्ष आदि] प्राणियों [की मर्यादा] को [उलांघकर] (एतु) चले । वह पुरुष (तस्रः रोचनाः) तीन [जीव, प्रकृति और परमेश्वर की] रुचि योग्य विद्याओं को [अथवा, सूर्य, चन्द्र और अग्नि के] प्रकाशों को (अति=अतीत्य) उलांघ कर [वहां] (एतु) चला जावे, (यत.) जहां से वह (शश्वतीभ्य. समाभ्यः) बहुत बरसों

३—(एतु) गच्छतु । प्राप्नोतु (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (परावतः) म० २ । परा प्राधान्ये । मानुषस्थाननामजन्मरूपा उत्कर्षगता भूमीर्धामानि वा । धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ६ । २८ (एतु) (पञ्च जनान्) पञ्च जनाः, मनुष्यनाम—निघ० ३ । २ । पञ्च जनाः... गन्धर्वा. पितरो देवा असुरा रक्षांसीत्येके चत्वारो वर्णा निषादः पञ्चम इत्यौपमन्यवो निषाद कस्मान्निषण्णमस्मिन् पापकमिति नैरुक्ता—निरु० ३ । ८ । पञ्चभूतसम्बन्धिन. प्राणिन । ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रांश्चतुरो वर्णान् नीचयोनिपशुपक्ष्यादिकं पञ्चम च (अति) अतीत्य (एतु) (तिस्र.) त्रिसंख्याकाः (अति) उल्लङ्घ्य (रोचना.) अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४६ । इति रुच दीप्तावभिप्रीतौच—युच् । जीवप्रकृतिपरमेश्वराणां रोचिका विद्याः । यद्वा,

तक (पुनः) फिर (न) न (आयति) आवे, (यावत्) जब तक (सूर्यः) सूर्य (दिवि) अन्तरिक्ष में (असत्) रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य मानुषी मर्यादा को छोड़ कर महाघोर पातक करते हैं उनकी तामसी वृत्ति हो जाती है, और वे जन्म जन्मान्तरों तक सदा दुःख सागर में डूबे रहते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—ऋग्वेद २ । २७ । ८, ९ ॥

पदपाठ में (रोचना) पद के स्थान पर सायणभाष्य के अनुसार (रोचनाः) ऐसा पद हमने माना है ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आयुर्वर्धनायोपदेश —आयु बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

य एनं परिषीदन्ति समादधति चक्षसे ।
संप्रेद्धो अग्निर्जिह्वाभिरुदेतु हृदयादधि ॥ १ ॥

ये । एनम् । परि-सीदन्ति । सम्-आदधति । चक्षसे । सम्-प्रेद्धः । अग्निः । जिह्वाभिः । उत् । एतु । हृदयात् । अधि ॥१॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (चक्षसे) दर्शन के लिये (एनम्) इस [अग्नि] को (परिषीदन्ति) सेवा करते और (समादधति) ध्यान करते हैं । (संप्रेद्धः) [उन करके] अच्छे प्रकार प्रकाशित किया हुआ (अग्निः) अग्नि (जिह्वाभिः) अपनी जिह्वाओं के सहित (हृदयात्) हमारे हृदय से (अधि) अधिकार पूर्वक (उदेतु) उदय होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् सूर्य, बिजुली आदि अग्नि के गुणों को जानते हैं, उनसे अग्नि विद्या प्राप्त करके मनुष्य संसार में फैलावें ॥ १ ॥

सूर्यचन्द्राग्नीनां रोचमानाः प्रभाः (यावत्) यत्कालपर्यन्तम् (सूर्यः) लोकानां प्रेरक आदित्यः (असत्) भवेत् (दिवि) आकाशे ॥

१—(ये) पुरुषाः (एनम्) अग्निम् (परिषीदन्ति) सेवन्ते (समादधति) समाहितं कुर्वन्ति । ध्यायन्ति (चक्षसे) दर्शनाय (संप्रेद्धः) तैः प्रकर्षेण संदीपितः (अग्निः) सूर्यविद्युदादिरूपः (जिह्वाभिः) स्वज्वालाभिः (उदेतु) उद्गच्छतु (हृदयात्) अस्माकमन्तःकरणात् (अधि) अधिकृत्य ॥

अ॒ग्नेः सां॑तप॒नस्या॒हमायु॑षे प॒दमा र॑भे ।
अ॒द्धा॒तिर्यस्य॒ पश्य॑ति धू॒मम्‌ु॒द्यन्त॑मास्य॒तः ॥ २ ॥

अ॒ग्नेः । सा॒म्-त॒प॒नस्य॑ । अ॒हम् । आयु॑षे । प॒दम् । आ । र॒भे॒ ।
अ॒द्धा॒तिः । यस्य॑ । पश्य॑ति । धू॒मम् । उ॒त्-यन्त॑म् । आ॒स्य॒तः ॥२॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सांतपनस्य) ताप गुण वाले (अग्नेः) उस अग्नि के (पदम्) प्राप्तियोग्य गुण को (आयुषे) आयु बढ़ाने के लिये (आरभे) प्रस्तुत करता हूं, (यस्य) जिस [अग्नि) के (आस्यतः) मुख से (उद्यन्तम्) निकलते हुये (धूमम्) धूयें को (अद्धातिः) सत्य जानने वाला पुरुष (पश्यति) देखता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शरीरस्थ अग्नि और प्रत्यक्ष अग्नि के गुण जान कर शारीरिक बल बढ़ाने और अस्त्र शस्त्र आदि कला यन्त्रों में उसका प्रयोग करते हैं, वे सुख वृद्धि करके अपना जीवन बढ़ाते हैं ॥ २ ॥

यो अ॑स्य स॒मिधं॒ वेद॑ क्ष॒त्रियै॑ण स॒माहि॑ताम् ।
नाभिह्वा॒रे प॒दं नि द॑धाति॒ स मृ॒त्यवे॑ ॥ ३ ॥

यः । अ॒स्य॒ । स॒म्-इध॑म् । वेद॑ । क्ष॒त्रियै॑ण । स॒म्-आहि॑ताम् ।

२—(अग्नेः) सूर्यविद्युदादिरूपस्य (सांतपनस्य) संतपन-अण् । सम्यक् तपनयुक्तस्य (अहम्) शिल्पी (आयुषे) जीवनवर्धनाय (पदम्) प्रापणीय गुणम् (आ रभे) उपक्रमे (अद्धातिः) अद्धा—अति.। अत सातत्यगमने—क्विप्+ धाञ् धारणे-क्विप् । अतं सततं गमनं ज्ञानं दधातीति अद्धा सत्यम्+अत सातत्यगमने-इन् । सत्यमतति गच्छति जानतीति । सत्यज्ञाता । मेधावी-निघ० ३ । १५ (यस्य) अग्नेः (पश्यति) साक्षात्करोति (धूमम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ १४५ । इति धूञ् कम्पने-मक् । अग्निनार्द्रकाष्ठजातं पदार्थम् (उद्यन्तम्) उद्गच्छन्तम् (आस्यतः) अग्निमुखात् ॥

न । अभि-ह्वारे । पदम् । नि । दधाति । सः । मृत्यवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (क्षत्रियेण) दुःख से बचाने वाले क्षत्रिय करके (समाहिताम्) संभाली हुई (अस्य) इस [अग्नि] की (समिधम्) प्रकाश क्रिया को (वेद) जानता है (सः) वह पुरुष (अभिह्वारे) कुटिल स्थान में (मृत्यवे)मृत्यु पाने के लिये (पदम्) अपना पैर (न) नहीं (निदधाति) जमाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर राजप्रबन्ध से शिल्प, कला, यन्त्र आदि में अग्नि का यथावत् प्रयोग किया जाता है, वहां मनुष्य मृत्यु के कारण दरिद्रता आदि से निर्भय रहते हैं ॥ ३ ॥

नैनं घ्नन्ति पर्यायिणो न सन्नाँ अव गच्छति ।
अग्नेर्यः क्षत्रियो विद्वान्नाम गृह्णात्यायुषे ॥ ४ ॥

न । एनम् । घ्नन्ति । परि-आयिनः । न । सन्नान् । अव । गच्छति ।
अग्नेः । यः । क्षत्रियः । विद्वान् । नाम । गृह्णाति । आयुषे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [क्षत्रिय] को (पर्यायिणः) घेरने वाले शत्रु (न) नहीं (घ्नन्ति) मारते हैं, और (न) न वह (सन्नान्) घात में बैठने वालों को (अवगच्छति) जानता है। (यः) जो (विद्वान्) विद्वान्

३—(यः) विद्वान् (अस्य) अग्नेः (समिधम्) प्रकाशक्रियाम् (वेद) वेत्ति (क्षत्रियेण) क्षत्रे राष्ट्रे साधुः । क्षत्राद् घ. । पा० ४ । १ । १३८ । इति क्षत्र-घ, जातौ । राज्ञा (समाहिताम्) सम्+आधा-क्त । सम्यक् निष्पादिताम् (न) निषेधे (अभिह्वारे) ह्वृ कौटिल्ये—घञ् । अभिकुटिलस्थाने । भयास्पदे (पदम्) (निदधाति) निक्षिपति (सः) पुरुष. (मृत्यवे) मृत्यु प्राप्तुम् ॥

४—(न) निषेधे (एनम्) क्षत्रियम् (घ्नन्ति) हिंसन्ति (पर्यायिणः) परि+इण्—घञ्, पर्याय—इनि । परितो गमनशीलाः शत्रवः (न) (सन्नान्) घातस्थान् शत्रून् (अवगच्छति) अवबुध्यते (अग्नेः) भौतिकस्य पावकस्य

(क्षत्रियः) क्षत्रिय (अग्नेः) अग्नि के (नाम) नाम को (आयुषे) आयुष बढ़ाने के लिये (गृह्णाति) लेता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो राजा अग्नि के गुण जान कर कला कुशल होकर अपना बल बढ़ाता है वह शत्रुओं से सदा निर्भय रहता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१-३ ॥ गोपा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सम्पदाप्राप्त्युपदेशः—संपदा पाने का उपदेश

अस्थाद् द्यौरस्थात् पृथिव्यस्थाद् विश्वमिदं जगत् ।
आस्थाने पर्वता अस्थु स्थाम्न्यश्वाँ अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

अस्थात् । द्यौः । अस्थात् । पृथिवी । अस्थात् । विश्वम् । इदम् । जगत् । आ-स्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाम्नि । अश्वान् । अतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्य लोक (अस्थात्) ठहरा हुआ है, (पृथिवी) पृथिवी (अस्थात्) ठहरी हुई है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (अस्थात्) ठहरा हुआ है । (पर्वताः) सब पर्वत (आस्थाने) विश्रामस्थान में (अस्थु) ठहरे हुये हैं । (अश्वान्) घोड़ों को (स्थाम्नि) स्थान पर (अतिष्ठिपम्) मैंने खड़ा कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य घोड़े आदि पशुओं को रसरी से बांधता है, वैसे ही सूर्य आदि लोक परमेश्वर नियम से परस्पर आकर्षण द्वारा स्थित हैं, वैसे ही मनुष्यों को धार्मिक कर्मों के लिये सदा कटिबद्ध रहना चाहिये ॥ १ ॥

(य.) (क्षत्रियः) राजा (विद्वान्) (नाम) स्तावकं नामधेयम् (गृह्णाति) उच्चारयति (आयुषे) जीवनवर्धनाय ॥

१—(अस्थात्) तिष्ठति स्म (द्यौः) सूर्यलोकः (अस्थात्) (पृथिवी) (अस्थात्) (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम् (जगत्) (आस्थाने) विश्रामस्थाने (पर्वताः) शैलाः (अस्थुः) स्थिता अभवन् (स्थाम्नि) आतो मनिन्क्वनिब्० । पा० ३ । २ । ७४ । इति ष्ठा—मनिन् । स्थितिस्थाने (अश्वान्) तुरङ्गान् (अतिष्ठिपम्) तिष्ठतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । स्थापितवानस्मि ॥

य उदानंट् परायंणं य उदानण्न्यायंनम् ।
आवर्तनं निवर्तनं यो गोपा अपि तं हुवे ॥ २ ॥

यः । उत्-आनंट् । परा-अयंनम् । यः । उत्-आनंट् । नि-अयंनम् ।
आ-वर्तनम् । नि-वर्तनम् । यः । गोपाः । अपि । तम् । हुवे ॥२॥

भाषार्थ—(यः) जिस (गोपाः) भूमिपालक राजा ने (परायणम्) निकल जाने का सामर्थ्य (उदानट्) पाया है, (यः) जिस ने (न्ययनम्) भीतर जाने का सामर्थ्य, और (यः) जिसने (आवर्तनम्) घूमने और (निवर्तनम्) लौटने का सामर्थ्य (उदानट्) पाया है, (तम्) उसको (अपि) ही (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नीति निपुण और कला कुशल होवे, उसका आदर सत्कार सब मनुष्य करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० सू० १९ म० ५ ॥

जातवेदो नि वर्तय शतं ते सन्त्वावृतः ।
सहस्रं त उपावृतस्ताभिर्नः पुनरा कृधि ॥ ३ ॥

जात-वेदः । नि । वर्तय । शतम् । ते । सन्तु । आ-वृतः ।
सहस्रम् । ते । उप-आवृतः । ताभिः । नः । पुनः । आ । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बहुत धन वाले पुरुष ! [हमारी ओर] (नि वर्तय) लौट आ । (ते) तेरे (आवृतः) आगमन के उपाय (शतम्)

२—(यः) बलवान् पुरुषः (उदानट्) उत्+अशू व्याप्तौ संघाते च लिटि एशत्वे, एशो लुक्, ब्रश्चादिना षत्वम् । झलां जशोऽन्ते । पा० ८ । २ । ३९ । इति डत्वम् । वावसाने । पा० ८ । ४ । ५६ । इति टत्वम् । आनट्, व्याप्तिकर्मा- निघ० २ । १८ । उत्कर्षेण व्याप प्राप (परायणम्) बहिर्गमनसामर्थ्यम् (यः) (उदानट्) (न्ययनम्) सांहितको दीर्घः । अन्तर्गमनम् (आवर्तनम्) चक्रवत् परिक्रमणम् (निवर्तनम्) निवृत्य गमनम् (यः) (गोपाः) गो+पा रक्षणे- विच् । भूमिपालकः । राजा (अपि) एव (तम्) तादृशम् (हुवे) आह्वयामि ॥

३—(जातवेदः) जातानि वेदांसि धनानि यस्य तत्संबुद्धौ हे महाधनिन् पुरुष (नि वर्तय) निवृत्य आगच्छ (शतम्) बहुसंख्याकाः (ते) तव (सन्तु)

सौ, और (ते) तेरे (उपावृतः) समीप में भ्रमण मार्ग (सहस्रम्) सहस्र (सन्तु) होवें। (ताभिः) उन क्रियाओं से (नः) हमें (पुनः) अवश्य (आ कृधि) स्वीकार कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अपने विद्याबल से अनेक रक्षा के उपाय जानते हैं, मनुष्य उनकी सहायता प्राप्त करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ के धर्म का उपदेश ॥

तेन॑ भू॒तेन॑ ह॒विषा॒यमा प्या॑यतां॒ पुनः॑ ।
जा॒यां याम॑स्मा॒ आवा॑क्षु॒स्तां रसे॑ना॒भि व॑र्धताम् ॥ १ ॥

तेन॑ । भू॒तेन॑ । ह॒विषा॑ । अ॒यम् । आ । प्या॒य॒ता॒म् । पुन॒रिति॑ । जा॒याम् । याम् । अ॒स्मै॒ । आ॒ऽअवा॑क्षुः । ताम् । रसे॑न । अ॒भि । व॒र्ध॒ता॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह पुरुष (तेन) उस [प्रसिद्ध] (भूतेन) बहुत (हविषा) ग्राह्य अन्न के साथ (आ) सब ओर से (पुनः) अवश्य (प्यायताम्) बढ़ती करे। (अस्मै) इस पुरुष को (याम् जायाम्) जो वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी (आवाक्षुः) उन लोगों ने प्राप्त करायी है, (ताम् अभि) उस पत्नी के लिये वह [पति] (रसेन) अनुराग से वा पराक्रम से (वर्धताम्) बढ़े ॥ १ ॥

भावार्थ—अन्न आदि पदार्थों के उपार्जन का पूर्ण सामर्थ्य प्राप्त करके माता पिता आचार्य आदि की अनुमति से स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में प्रवेश करके पुरुषार्थ पूर्वक उन्नति करें ॥ १ ॥

(आवृतः) वृतु-क्विप्। आवर्तनानि। आगमनोपायाः (सहस्रम्) बहुप्रकाराः (ते) (उपावृतः) समीपदेशप्राप्त्युपायाः (ताभिः) आवृद्भिरुपावृद्भिश्च (नः) अस्मान् (पुनः) अवधारणे (आकृधि) स्वीकुरु ॥

१—(तेन) प्रसिद्धेन (भूतेन) प्रभूतेन (हविषा) ग्राह्येण, अन्नेन (अयम्) वरः। उपलक्षणेन कन्यापि (आ) समन्तात् (प्यायताम्) वर्धताम् (पुनः) अवधारणे (जायाम्) अ० ३। ४। ३। जनयति वीरान् तां वीरजननीं पत्नीम् (याम्) (अस्मै) वराय (आवाक्षुः) वह प्रापणे-लुङि रूपम्। प्रापितवन्तः, मातापित्राचार्यादयः (ताम्) पत्नीम् (रसेन) अनुरागेण। वीरभावेन (अभि) अभिरभागे। पा० १। ४। ९१। इति इत्थंभूताख्याने कर्मप्रवचनीयत्वम्। प्रति (वर्धताम्) प्रवृद्धो भवतु ॥

अभि वर्धतां पय॑साभि राष्ट्रेण॑ वर्धताम् ।
र॒य्या स॒हस्र॑वर्चसे॒मौ स्ता॒मनु॑पक्षितौ ॥ २ ॥

अ॒भि । व॒र्ध॒ता॒म् । पय॑सा । अ॒भि । रा॒ष्ट्रेण॑ । व॒र्ध॒ता॒म् । र॒य्या । स॒हस्र॑-वर्चसा । इ॒मौ । स्ता॒म् । अनु॑प-क्षितौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पयसा) प्राप्ति योग्य अन्न से और (राष्ट्रेण) राज्य वा ऐश्वर्य से (अभि) पत्नी के लिये (वर्द्धताम्) पति बढ़े, और (अभि) पति के लिये (वर्धताम्) पत्नी बढ़े। (सहस्रवर्चसा) सहस्र प्रकार के तेज वाले (रय्या) धन से (इमौ) यह दोनों (अनुपक्षितौ) घटती बिना [सदा भरपूर] (स्ताम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस घर में स्त्री पुरुष प्रसन्न रह कर पुरुषार्थ पूर्वक परस्पर सहाय करते हैं, वहां सब प्रकार की सम्पदा सदा विराजमान रहती है ॥ २॥

त्वष्टा॑ जा॒याम॑जनय॒त् त्वष्टा॒स्यै॒ त्वां पति॑म् ।
त्वष्टा॑ स॒हस्र॒मायूं॑षि दी॒र्घमायु॑: कृणोतु वाम् ॥ ३ ॥

त्वष्टा॑ । जा॒याम् । अ॒ज॒न॒य॒त् । त्वष्टा॑ । अ॒स्यै॒ । त्वाम् । पति॑म् । त्वष्टा॑ । स॒हस्र॑म् । आयूं॑षि । दी॒र्घम् । आयु॑: । कृ॒णो॒तु॒ । वा॒म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वर ने [तेरे हित के लिये] (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी को, और (त्वष्टा) विश्वकर्मा

२—(अभि) पत्नीं प्रति (वर्धताम्) पति प्रवृद्धो भवतु (पयसा) प्राप्तव्येनान्नेन। पयः, अन्नम्-निघ० २।७ (अभि) पतिं प्रति (राष्ट्रेण) राज्येन ऐश्वर्येण (वर्धताम्) वधूः प्रवृद्धा भवतु (रय्या) रयिः, धननाम-निघ० २।१०। (सहस्रवर्चसा) अपरिमिततेजोयुक्तेन (इमौ) जायापती (स्ताम्) भवताम् (अनुपक्षितौ) अनुपक्षीणौ। सम्पूर्णकामौ ॥

३—(त्वष्टा) अ० २।५।६। विश्वकर्मा परमेश्वरः। तुभ्यमिति शेषः (जायाम्) म० १। वीरजननीं वधूम् (अजनयत्) उदपादयत् (त्वष्टा) (अस्यै)

ने (अस्यै) इस पत्नी के लिये (त्वाम्) तुझे (पतिम्) पति (अजनयत्) उत्पन्न किया है। (त्वष्टा) वही विश्वकर्मा (सहस्रम्=सहस्राणि) बल देने वाले (आयूंषि) जीवन साधन और (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वाम्) तुम दोनों के लिये (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष परमेश्वर की आज्ञा मान कर परस्पर हित करते हैं, वे अनेक प्रकार की वृद्धि करके अति आनन्द और कीर्ति पाते हैं ॥३॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-३ ॥ नभसस्पतिर्देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ षडक्षरा, पञ्चपदा गायत्री ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सर्वसम्पत्ति पाने का उपदेश ॥

अयं नो नभसस्पतिः संस्फानो अभि रक्षतु ।
असमातिं गृहेषु नः ॥ १ ॥

अयम् । नः । नभसः । पतिः । सम्-स्फानः । अभि । रक्षतु । असमातिम् । गृहेषु । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (नभसः) सूर्यलोक का (पतिः) स्वामी परमेश्वर (संस्फानः) यथावत् बढ़ता हुआ (नः) हमारे लिये (नः) हमारे

वधूहिताय (त्वाम्) विद्वांसम् (पतिम्) भर्तारम् (त्वष्टा) (सहस्रम्) महो-बलनाम-निघ० २ । ६ । सहः+रा दाने-क, बहुवचनस्यैकवचनम् । सहस्राणि । बलप्रदानि (आयूंषि) प्राप्याणि जीवनसाधनानि (दीर्घम्) चिरम् । कीर्ति-युक्तम् (आयुः) जीवनम् (कृणोतु) करोतु (वाम्) युवाभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्यां ॥

१—(अयम्) सर्वव्यापकः (नः) अस्मदर्थम् (नभसः) अ० ४ । १५ । ३ । णह बन्धने-असुन् । हस्य भः । नभ आदित्यो भवति—निरु० २ । १४ । सूर्यस्य (पतिः) पालयिता परमेश्वरः (संस्फानः) स्फायी वृद्धौ-क, छान्दसं रूपम् । सम्यक् स्फीतः प्रवृद्धः (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पातु (असमातिम्) मसेरितः । उ० ४ । १८० । माङ् माने-ति, यद्वा, मनु अवबोधने-क्तिन्, दीर्घश्च

(गृहेषु) घरों में (असमातिम्) असामान्य [विशेष] लक्ष्मी वा बुद्धि (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्खे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य आदि लोकों के स्वामी परमात्मा की महिमा विचारते हुये विद्या आदि शुभ गुणों की प्राप्ति से असाधारण धन और बुद्धि पाकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

त्वं नो नभसस्पत ऊर्जं गृहेषु धारय ।
आ पुष्टमेत्वा वसु ॥ २ ॥

त्वम् । नः । नभसः । पते । ऊर्जम् । गृहेषु । धारय । आ । पुष्टम् । एतु । आ । वसु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नभसस्पते) हे सूर्य लोक के स्वामी (त्वम्) तू (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (ऊर्जम्) बल बढ़ाने वाला अन्न (धारय) धारण कर। (पुष्टम्) पुष्टि (आ) और (वसु) धन (आ एतु) चला आवे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके जो मनुष्य सूर्य की वृष्टि ताप आदि से उपकार लेते हैं, वे ही सब प्रकार की वृद्धि और धन प्राप्त करते हैं ॥ २ ॥

देवं संस्फान सहस्रापोषस्येशिषे । तस्य नो रास्व तस्य नो धेहि तस्य ते भक्तिवांसः स्याम ॥ ३ ॥

देव । सम्-स्फान । सहस्र-पोषस्य । ईशिषे । तस्य । नः । रास्व । तस्य । नः । धेहि । तस्य । ते । भक्ति-वांसः । स्याम ॥३॥

भाषार्थ—(संस्फान) हे सब प्रकार वृद्धि वाले (देव) प्रकाश स्वरूप

समानस्य सः । असमानां विशेषां मां लक्ष्मीं मतिं बुद्धिं वा (गृहेषु) गेहेषु (नः) अस्माकम् ॥

२—(त्वम्) (नः) अस्माकम् (नभसस्पते) हे सूर्यलोकस्य पालक (ऊर्जम्) बलकरमन्नम् (गृहेषु) (धारय) स्थापय (आ) चार्थे (पुष्टम्) पुष्टिम् । वृद्धिम् (एतु) आगच्छतु (वसु) धनम् ॥

३—(देव) हे प्रकाशमय (संस्फान) सम्+स्फायी वृद्धौ-क, छान्दसं

परमात्मन्! (सहस्रपोषस्य) सहस्र प्रकार के पोषण का (ईशिषे) तू स्वामी है। (तस्य) उस [पोषण] का (नः) हमें (रास्व) दान कर, (तस्य) उसका (नः) हमारे लिये (धेहि) धारण कर, (तस्य ते) उस तेरी (भक्तिवांसः) भक्तिवाले (स्याम) हम होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति पूर्वक पुरुषार्थ करके उसके अक्षय भंडार से सब प्रकार के अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-२ ॥ परमात्मा देवता ॥ १, २ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परमात्ममहिमोपदेशः—परमात्मा की महिमा का उपदेश ॥

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा भूतावचाकशत्।
शुनो दिव्यस्य यन्महस्तेना ते हविषा विधेम ॥ १ ॥

अन्तरिक्षेण। पतति। विश्वा। भूता। अव-चाकशत्। शुनः।
दिव्यस्य। यत्। महः। तेन। ते। हविषा। विधेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—वह [परमेश्वर] (अन्तरिक्षेण) आकाश के समान अन्तर्यामी रूप से (विश्वा) सब (भूता) जीवों को (अवचाकशत्) अत्यन्त देखता हुआ (पतति) ईश्वर होता है। (शुनः) उस व्यापक (दिव्यस्य) दिव्य स्वरूप

रूपम्। हे सम्यक् स्फीत। प्रवृद्ध (सहस्रपोषस्य) अपरिमितपोषणस्य (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (तस्य) पोषस्य (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) दानं कुरु (तस्य) (नः) (धेहि) धारणं कुरु (तस्य) तथाविधस्य (ते) तव, परमेश्वरस्य (भक्तिवांसः) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ। वा० पा० ५। २। १०९। इति भक्ति–वनिप् मत्वर्थे, सकारोपजनश्छान्दसः। भक्तिवानः श्रद्धावन्तः (स्याम) भवेम ॥

१—(अन्तरिक्षेण) अ० १। ३०। ३। आकाशवदन्तर्यामिरूपेण (पतति) पत गतौ ऐश्वर्ये च। ईश्वरो भवति स परमात्मा (विश्वा) सर्वाणि (भूता) भूतजातानि (अवचाकशत्) पश्यति कर्मा–निघ० ३। ११। अव+काशृ दीप्तौ –यङ्लुकि, शतरिच्छान्दसो ह्रस्वः। भृशं पश्यन् (शुनः) शुन गतौ—क्विप्।

परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है, (तेन) उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर घट घट वासी होकर सब को कर्मों का फल देता है, उसकी आज्ञा पालन करके हम सदा धर्म आचरण करें ॥ १ ॥

ये त्रयः कालकाञ्जा दिवि देवा इव श्रिताः ।
तान्त्सर्वानह्व ऊतयेऽस्मा अरिष्टतातये ॥ २ ॥

ये । त्रयः । कालकाञ्जाः । दिवि । देवाः-इव । श्रिताः । तान् । सर्वान् । अह्वे । ऊतये । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (कालकाञ्जाः) काल अर्थात् सब की संख्या करने वाले परमेश्वर के प्रकाश (दिवि) आकाश में (श्रिताः) आश्रित (त्रयः) तीन (देवाः इव) देवताओं [अग्नि, वायु और सूर्य-निरु० ७ । ५] के समान वर्तमान हैं । (तान्) उन (सर्वान्) सब [परमेश्वर के प्रकाशों] को (अस्मै) इस [जीव] के हित के लिये (ऊतये) रक्षा करने और (अरिष्टतातये) क्षेम करने को (अह्वे) मैं ने बुलाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्वयं प्रकाश स्वरूप परमात्मा की महिमायें सर्वत्र साक्षात् करके अपनी रक्षा करें ॥ २ ॥

व्यापकस्य (दिव्यस्य) दिवु क्रीडादिषु—क्यप् । मनोहरस्य । परमेश्वरस्य (यत्) (महः) महत्त्वम् (तेन) महत्त्वेन (ते) तुभ्यं परमेश्वराय (हविषा) भक्त्या (विधेम) परिचरणं कुर्याम ॥

२—(ये) (त्रयः) त्रिसंख्याकाः (कालकाञ्जाः) कालक+अञ्जाः । कल गतौ संख्याने च णयन्तात्—पचाद्यच्, स्वार्थे कन् । यद्वा । एवुल्तृचौ । पा० ३ । १ । १३३ । इति कल-एवुल् । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणादिषु–घञ् । कालकस्य कालस्य सर्वगणकस्य परमेश्वरस्य अञ्जाः प्रकाशाः (दिवि) आकाशे (देवः) यो देवः सा देवता—निरु० ७ । १५ । तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः । अग्निः पृथिवीस्थानो वायुर्वेन्द्रो वाऽन्तरिक्षस्थानः सूर्यो द्युस्थानः—निरु०७ । ५ । (इव) यथा (श्रिताः) आश्रिताः (तान्) प्रसिद्धान् (सर्वान्) कालकाञ्जान् (अह्वे) अ० ४ । २७ । १ । ह्वेञ् आह्वाने—लुङ् । आहूतवानस्मि (ऊतये) रक्षार्थम् (अस्मै) अस्य जीवस्य हिताय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । अरिष्ट-तातिल् करोत्यर्थे । क्षेमकरणाय ॥

अप्सु ते॒ जन्म॑ दि॒वि ते॑ स॒धस्थं॑ समु॒द्रे अ॒न्तर्म॑हि॒मा ते॑ पृथि॒व्याम् । शुनो॑ दि॒व्यस्य॒ यन्मह॒स्तेना॑ ते ह॒विषा॑ विधेम ॥ ३ ॥

अप्-सु । ते॒ । जन्म॑ । दि॒वि । ते॒ । स॒ध-स्थ॑म् । स॒मु॒द्रे । अ॒न्तः । म॒हि॒मा । ते॒ । पृ॒थि॒व्याम् । शुनः॑ । दि॒व्यस्य॑ । यत् । महः॑ । तेन॑ । ते॒ । ह॒विषा॑ । वि॒धे॒म ॥ ३॥

भाषार्थ—(अप्सु) प्राणों में [हे परमेश्वर] (ते) तेरा (जन्म) प्रादुर्भाव है, (दिवि) सूर्य मण्डल में (ते) तेरा (सधस्थम्) सहवास है, (समुद्रे अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर और (पृथिव्याम्) पृथिवी में (ते) तेरी (महिमा) महिमा है। (शुनः) व्यापक (दिव्यस्य) दिव्यस्वरूप परमेश्वर का (यत् महः) जो महत्त्व है (तेन) उसी [महत्त्व] से (ते) तेरे लिये [हे परमेश्वर !] (हविषा) भक्ति के साथ (विधेम) हम सेवा करें ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर को परमाणु से लेकर स्थूल से स्थूल पदार्थों में साक्षात् करते हैं, वे योगी जन आत्मबल प्राप्त करके सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-३ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्तमगर्भधारणोपदेशः—उत्तम गर्भ धारण का उपदेश ॥

य॒न्तासि॒ यच्छ॑से॒ हस्ता॒वप॒ रक्षां॑सि सेधसि ।
प्र॒जां धनं॑ च गृह्णा॒नः परिह॒स्तो अ॑भूद॒यम् ॥ १ ॥

य॒न्ता । अ॒सि॒ । यच्छ॑से । हस्तौ॑ । अप॑ । रक्षां॑सि । से॒ध॒सि॒ । प्र॒-जाम् । धन॑म् । च॒ । गृ॒ह्णा॒नः । परि॒-ह॒स्तः । अ॒भू॒त् । अ॒यम् ॥१

२—(अप्सु) प्राणेषु—दयानन्दभाष्ये यजु० ८ । २५ (ते) तव । परमेश्वरस्य (जन्म) प्रादुर्भावः (दिवि) दीप्यमाने सूर्यमण्डले (ते) (सधस्थम्) सहस्थानम् (समुद्रे) अन्तरिक्षे—निघ० १ । ३ (अन्तः) मध्ये (महिमा) प्रभावः (ते) (पृथिव्याम्) भूमौ । अन्यद् गतम् म० ॥१॥

भावार्थ—[हे पुरुष]! तू (यन्ता) नियम में चलने वाला (असि) है, तू (हस्तौ) अपने दोनों हाथों को [सहायता के लिये] (यच्छसे) देने वाला है, तू (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (अप सेधसि) हटाता है। (प्रजाम्) प्रजा (च) और (धनम्) धन को (गृह्णानः) सहारा देते हुये (अयम्) यह आप (परिहस्तः) हाथ का सहारा देने वाले (अभूत्) हुये हैं ॥१॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही सब दरिद्रता आदि विघ्नों को हटा कर प्रजा और धन की रक्षा करके गृहस्थ आश्रम चलाने में समर्थ होते हैं ॥१॥

परिहस्त वि धारय योनिं गर्भाय धातवे ।
मर्यादे पुत्रमा धेहि तं त्वमा गमयागमे ॥ २ ॥

परि-हस्त । वि । धारय । योनिम् । गर्भाय । धातवे । मर्यादे । पुत्रम् । आ । धेहि । तम् । त्वम् । आ । गमय । आ-गमे ॥२॥

भाषार्थ—(परिहस्त) हे हाथ का सहारा देने वाले पुरुष! (योनिम्) घर को (गर्भाय धातवे) गर्भ पुष्ट करने के लिये (वि) विशेष करके (धारय) सम्भाल। (मर्यादे) हे मर्यादायुक्त पत्नी! (पुत्रम्) [गर्भस्थ] कुल शोधक सन्तान को (आ) भले प्रकार से (धेहि) पुष्ट कर। (त्वम्)

१—(यन्ता) नियामक। जितेन्द्रियः (असि) (यच्छसे) पाघ्रा-ध्मास्थाम्नादाण्० । पा० ७ । ३ । ७८ । इति दाण् दाने-यच्छादेशः, आत्मनेपदं छान्दसम् । ददासि सहायार्थम् (हस्तौ) (रक्षांसि) दारिद्र्यादिविघ्नान् (अप सेधसि) अपगमयसि (प्रजाम्) पुत्रभृत्यादिरूपाम् (धनम्) सुवर्णादिकम् (च) (गृह्णानः) अवलम्बमानः (परिहस्तः) परिगतः प्रसृतः परोपकाराय हस्तो यस्य सः पुरुषः (अभूत्) (अयम्) प्रसिद्धो भवान् ॥

२—(परिहस्त) हे प्रसृतहस्त सहायार्थम् (वि) विशेषेण (धारय) स्थापय (योनिम्) गृहम्—निघ० ३ । ४ । (गर्भाय) कर्मणि चतुर्थी। गर्भम् (धातवे) धाञस्तुमर्थे तवेन्। धातुं पोषयितुम् (मर्यादे) मर्यादा—अर्श आद्यच्। हे मर्यादायुक्ते पत्नि (पुत्रम्) अ० १ । ११ । ५ । गर्भस्थं कुलशोधकं

तू (तम्) उस [सन्तान] को (आगमे) योग्य समय पर (आ गमय) उत्पन्न कर ॥ २ ॥

भावार्थ—उचित गृह आदि से यथावत् गर्भरक्षा करके पति पत्नी सावधान रहें जिससे बालक पूरे दिनों में उत्पन्न होवे ॥ २ ॥

यं परिहस्तमबिभरदितिः पुत्रकाम्या ।

त्वष्टा तमस्या आ बध्नाद् यथा पुत्रं जनादिति ॥ ३ ॥

यम् । परि-हस्तम् । अबिभः । अदितिः । पुत्र-काम्या । त्वष्टा । तम् । अस्यै । आ । बध्नात् । यथा । पुत्रम् । जनात् । इति ॥३॥

भाषार्थ—(पुत्रकाम्या) उत्तम सन्तान की कामना वाली (अदितिः) अखण्डव्रता स्त्री ने (यम्) जिस [जैसे] (परिहस्तम्) हाथ का सहारा देने वाले पति को (अबिभः) धारण किया है। (त्वष्टा) विश्वकर्मा वा शिल्पी परमात्मा (तम्) उस [वैसे ही पति] को (अस्यै) इस पत्नी के लिये (आ बध्नात्) नियमबद्ध करे (यथा) जिससे यह पत्नी (पुत्रम्) कुलशोधक सन्तान (जनात्) उत्पन्न करे, (इति) यही प्रयोजन है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार स्त्री पुरुष वेदविहित रीति से प्रेम के साथ उत्तम सन्तान उत्पन्न करते रहे हैं, उसी प्रकार से स्त्री पुरुष परस्पर अनुराग के साथ श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करें ॥ ३ ॥

सन्तानम् (आ) समन्तात् (धेहि) पोषय (तम्) गर्भम् (त्वम्) (आ गमय) उत्पादय (आगमे) आगमनकाले । उत्पत्तियोग्यस्थाने ॥

३—(यम्) यादृशम् (परिहस्तम्) परोपकाराय प्रसृतकरं पुरुषम् (अबिभः) डुभृञ् धारणपोषणयोः—लङि रूपम् । धृतवती (अदितिः) अ० २। २८। ४। दो अवखण्डने-क्तिन् । अखण्डव्रता स्त्री (पुत्रकाम्या) काम्यच्च । पा० ३। १। ९। इति पुत्र—काम्यच् इच्छार्थे । पुत्रं कुलशोधकं सन्तानम् आत्मनमिच्छन्ती (त्वष्टा) अ० २। ५। ६। विश्वकर्मा परमात्मा (तम्) तादृशं पतिम् (अस्यै) पत्नीहिताय (आ) समन्तात् (बध्नात्) नियमे बध्नातु (यथा) येन प्रकारेण (पुत्रम्) कुलशोधकं सन्तानम् (जनात्) जनेर्ण्यन्तात् लेटि आडागमः । छन्दस्युभयथा । पा० ३। ४। ११७। आर्धधातुकत्वात् णिलोप । जनयेत् ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

आगच्छंत आगंतस्य नाम गृह्णाम्यायतः ।
इन्द्रंस्य वृत्रघ्नो वन्वे वासवस्य शतक्रतोः ॥ १ ॥

आ-गच्छंतः । आ-गंतस्य । नाम । गृह्णामि । आ-यतः ।
इन्द्रंस्य । वृत्र-घ्नः । वन्वे । वासवस्यं । शत-क्रतोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आयतः) अति यत्नशाली वा नियमवान् मैं (आगच्छतः) आते हुये और (आगतस्य) आये हुये पुरुष का (नाम) नाम [कीर्ति] (गृह्णामि) स्वीकार करता हूं । (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशक, (वासवस्य) बहुत धन वाले और (शतक्रतोः) सैकड़ों कर्मों वाले (इन्द्रस्य) संपूर्ण ऐश्वर्य वाले परमात्मा की (वन्वे) मैं प्रार्थना करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करके प्रयत्न करें जिससे उनके आचरण वर्तमान और पूर्वज महात्माओं के समान धार्मिक होवें ॥ १ ॥

येन सूर्यां सावित्रीमश्विनोहतुः पथा ।
तेन मामंब्रवीद् भगो जायामा वंहतादिति ॥ २ ॥

येनं । सूर्याम् । सावित्रीम् । अश्विना । ऊहतुः । पथा । तेनं । माम् । अब्रवीत् । भगः । जायाम् । आ । वहतात् । इति ॥२॥

१—(आगच्छतः) इदानीं वर्तमानस्य (आगतस्य) भूतकाले प्राप्तस्य पुरुषस्य (नाम) कीर्तनम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (आयतः) (आङ्+यती प्रयत्ने—अच्, यद्वा । आङ् + यम नियमने-क्त । अतिप्रयत्नशाली । प्रशस्तनियमवान् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (वृत्रघ्नः) अन्धकारनाशस्य (वन्वे) वनु याचने । अहं याचे (वासवस्य) वसु-अण् । वसु धनम्-निघ० २ । १० । वसूनि धनानि सन्ति यस्य तस्य (शतक्रतोः) क्रतुः कर्म-निघ० २ । १ । बहुकर्मयुक्तस्य ॥

भाषार्थ—(येन पथा) जिस मार्ग से (अश्विना) दिन और रात्री ने (सावित्रीम्) सूर्य सम्बन्धी (सूर्याम्) ज्योति को (ऊहतुः) प्राप्त किया है। (तेन) उसी [मार्ग से] (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली भार्या को (आ) मार्यादा पूर्वक (वहतात्) तू प्राप्त कर, (इति) यह बात (भगः) बड़े ऐश्वर्यवाले भगवान् ने (माम्) मुझसे (अब्रवीत्) कही है॥ २॥

भावार्थ—परमेश्वर ने आज्ञा दी है कि जिस प्रकार दिन और रात सूर्य की गति के आश्रित होकर उपकार करते हैं इसी प्रकार स्त्री पुरुष धर्म के लिये ही विवाह संस्कार करें॥ २॥

यस्तेऽङ्कुशो वसुदानो बृहन्निन्द्र हिरण्ययः।
तेना जनीयते जायां मह्यं धेहि शचीपते॥ ३॥

यः। ते। अङ्कुशः। वसु-दानः। बृहन्। इन्द्र। हिरण्ययः॥
तेन। जनि-यते। जायाम्। मह्यम्। धेहि। शची-पते॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (यः) जो (ते) तेरा (अंकुशः) गणना व्यवहार [अथवा, अंकुश, दुष्कर्मों का दण्ड] (बृहन्) बहुत बड़ा और (हिरण्ययः) ज्योति स्वरुप और (वसुदानः) धन देने वाला है। (तेन) उसी के द्वारा, (शचीपते) वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक

२—(येन) (सूर्याम्) सूर्य-अर्शआद्यच्, सूर्यदीप्तिम् (सावित्रीम्) सवितृ-अण्, ङीप्। सूर्यसम्बन्धिनीम् (अश्विना) अ० २। २९। ६। अहोरात्रौ (ऊहतुः) वह प्रापणे-लिट्। प्राप्तवन्तौ (पथा) मार्गेण (तेन) पथा (माम्) (अब्रवीत्) (भगः) ऐश्वर्यवान् परमेश्वरः (जायाम्) वीरजननीं पत्नीम् (आ) मर्यादायाम् (वहतात) वह। प्राप्नुहि (इति) वाक्यसमाप्तौ॥

३—(यः) (ते) तव (अकुशः) सानसिवर्णसि०। उ० ४। १०७। इति अङ्क संख्याकरणे, यद्वा, अकि लक्षणे-उशच्। चितः। पा० ६। १। १६३। इत्यन्तोदात्तः। गणनाव्यवहारः। दुष्कर्मणां दण्डायास्त्रभेदः (वसुदानः) वसुदानेर्ल्युट्। धनदाता (बृहन्) महान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (हिरण्ययः) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्व०। पा० ६। ४। १७५। इति हिरण्यशब्दात् मयटि मलोपः। हिरण्मयः। तेजोमयः (तेन) अङ्कुशेन जनीयते सुप

परमेश्वर ! (जनीयते) पत्नी की इच्छा वाले (मह्यम्) मुझे (जायाम्) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नी (धेहि) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ--परमेश्वर के उत्तम २ गुणों को अपने में धारण करके विद्यावान् और धनवान् होकर पति पत्नी को और पत्नी पति को अपने सदृश ग्रहण करें ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वैद्यो देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्; ४ जगती छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अपचितः प्र पतत सुपर्णो वसतेरिव ।
सूर्यः कृणोतु भेषजं चन्द्रमा वोऽपोच्छतु ॥ १ ॥

अप-चितः । प्र । पतत । सु-पर्णः । वसतेः-इव । सूर्यः । कृणोतु । भेषजम् । चन्द्रमाः । वः । अप । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपचितः) हे सुख नाश करने वाली गंड माला आदि पीड़ाओ ! (प्र पतत) चली जाओ, (सुपर्णः इव) जैसे शीघ्रगामी पक्षी [श्येन] (वसतेः) अपनी वसती से । (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला [वैद्य

आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । इति जनि-क्यच्, शतृ । जनिर्जाया तामात्मन इच्छते पुरुषाय (जायाम्) वीरजननीम् (मह्यम्) (धेहि) देहि । प्रयच्छ (शचीपते) शच वाचि—इन्, ङीप् । शची वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । कर्म नाम—२ । १ । प्रज्ञानाम । ३ । ६ । वाचां कर्मणां प्रज्ञानां वा रक्षक परमेश्वर ॥

१—(अपचितः) अप पूर्वात् चिनोतेः—क्विप् । हे सुखनाशिका गण्ड-मालादिपीडाः (प्र पतत) प्रकर्षेण निर्गच्छत (सुपर्णः) अ० १ । २४ । १ । शोभन-पतनः शीघ्रगामी पक्षी (वसतेः) वहिवस्यर्त्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । इति वस निवासे—अति । गृहात् नीडात् (इव) यथा (सूर्यः) प्रेरको वैद्यः

वा सूर्य लोक] (भेषजम्) औषध (कृणोतु) करे, और (चन्द्रमाः) आनन्द देने वाला [वैद्य वा चन्द्र लोक] (वः) तुम को (अप उच्छतु) निकाल देवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य गड माला आदि रोगों को सूर्य वा चन्द्रमा की किरणों द्वारा वा अन्य औषधों से अच्छा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या का नाश करके सुखी होवें ॥ १ ॥

एन्येका श्येन्येका कृष्णैका रोहिणी द्वे ।
सर्वासामग्रभं नामावीरघ्नीरपेतन ॥ २ ॥

एनी । एका । श्येनी । एका । कृष्णा । एका । रोहिणी इति । द्वे इति । सर्वासाम् । अग्रभम् । नाम । अवीर-घ्नीः । अप । इतन ॥२॥

भाषार्थ—(एका) एक [गण्डमाला आदि] (एनी) चितकबरी, (एका) एक (श्येनी) श्वेतवर्ण, (एका) एक (कृष्णा) काली और (द्वे) दो (रोहिणी) लाल रंग हैं । (सर्वासाम्) सब [गण्डमाला आदि पीड़ाओं]

सूर्यलोको वा स्वकिरणद्वारा (कृणोतु) करोतु (भेषजम्) चिकित्सनम् (चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । आह्लादकरो वैद्यश्चन्द्रलोको वा स्वकिरणद्वारा (वः) युष्मान् (अपोच्छतु) उच्छी विवासे, अपवासयतु । अपवर्जयतु ॥

२—(एनी) इस्यिमृभ्रिण्० । उ० ३ । ८६ । इति इण् गतौ–तन् । वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । इति ङीप, तस्य च नः । चित्रवर्णा (एका) गण्डमालादिपीडा (श्येनी) इश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । इति श्यैङ् गतौ—इतन् । पूर्ववद्ङीप, तस्य च नः । श्वेतवर्णा (एका) (कृष्णा) कृष्णवर्णा (एका) (रोहिणी) रोहितशब्दस्य पूर्ववद्ङीप्नकारौ । रोहिण्यौ । लोहितवर्णे वातपित्तश्लेष्मवशाद् वर्णनानात्वाद् एतासां नानात्वम् (सर्वासाम्) अपचिताम् (अग्रभम्) अहमग्रहीषम् (नाम) प्रसिद्धौ (अवीरघ्नीः) बहुलं छन्दसि । पा० ३ । २ । ८८ । इति वीर + हन वधे—क्विप् । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप् । अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । अकार लोपः वा छन्दसि पा० ६ । १ । १०६ । इति पूर्वसवर्णदीर्घः । अवीरान् कातरान्

इन्द्र का (नाम) नाम (अग्रभम्) मैंने ग्रहण किया है, (अवीरघ्नीः) अवीरों कायरों को नाश करती हुई (अपइतन) तुम चली जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार चिकित्सक रोग का वात पित्त श्लेष्म आदि निदान समझ कर गंडमाला आदि रोगों की निवृत्ति करता है। उसी प्रकार बुद्धिमान् मनुष्य अपनी कुवासनाओं का कारण समझ कर उनका नाश करे ॥२॥

असूतिका रामायण्यपचित् प्र पतिष्यति ।
ग्लौरितः प्र पतिष्यति स गलुन्तो नशिष्यति ॥ ३ ॥

असूतिका । रामायणी । अप-चित् । प्र । पतिष्यति । ग्लौः । इतः । प्र । पतिष्यति । सः । गलुन्तः । नशिष्यति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रामायणी) प्राण वायु के रमणस्थान नाड़ियों में मार्गवाली (अपचित्) सुख नाश करने वाली गण्डमाला आदि पीड़ा (असूतिका) बांझ होकर (प्र पतिष्यति) चली जायगी। (ग्लौः) हर्षनाशक घाव (इतः) इस [रोगी] से (प्रपतिष्यति) चला जावेगा (सः) वह [घाव] (गलुन्तः) गलाव से कोमल होकर (नशिष्यति) नष्ट हो जावेगा ॥३॥

भावार्थ—जिस प्रकार सद्वैद्य की ओषधि से रोग बढ़ने से रुककर नष्ट हो जाता है, वैसे ही मनुष्य विद्या की प्राप्ति से अविद्या को मिटा कर सुखी होता है ॥३॥

सत्यः (अपेतन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति एतेर्लोटि तस्य तनादेशः । अपगच्छत ॥

३—(असूतिका) पूङ् प्राणिप्रसवे—क्त, स्वार्थे कन् । वन्ध्या । रोगानुत्पादिका सती (रामायणी) रमते आसु प्राणवायुरिति रामा नाड्यः, ता अयनं मार्गो यस्याः सा तथाभूता (अपचित्) म० १ । हर्षनाशिका गण्डमालादिपीडा (प्रपतिष्यति) प्रकर्षेण गमिष्यति (ग्लौः) ग्लानुदिभ्यां डौः । उ० २ । ६४ । इति ग्लै हर्षक्षये—डौ । हर्षनाशको व्रणः (इतः) एतस्माद् रोगिणः पुरुषात् (प्रपतिष्यति (सः) ग्लौः (गलुन्तः) गल क्षरणे—क्विप् । + उन्दी क्लेदने—क्त । नुदविदोन्द० पा० ८ । २ । ५६ । इति वैकल्पिकत्वाद् नत्व न । गला गलनेन उन्तः उन्नः क्लिन्नः, कोमलीकृतः (नशिष्यति) णश् अदर्शने । अदृष्टो भविष्यति ॥

वीहि स्वामाहुतिं जुषाणो मनसा स्वाहा मनसा यदिदं जुहोमि ॥ ४ ॥

वीहि । स्वाम् । आ-हुतिम् । जुषाणः । मनसा । स्वाहा । मनसा । यत् । इदम् । जुहोमि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (मनसा) मन से (जुषाणः) प्रीति करता हुआ तू (स्वाम्) अपनी (आहुतिम्) धर्म से देने लेने योग्य क्रिया को (वीहि) प्राप्त हो, (यत्) क्योंकि (स्वाहा) सुन्दर वाणी से और (मनसा) उत्तम विचार से (इदम्) ऐश्वर्य का कारण ज्ञान (जुहोमि) मैं देता हूं ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और विद्वानों के उपदेश अनुसार विचार पूर्वक पुरुषार्थ के साथ अपना कर्तव्य पालन करके प्रसन्न होवे ॥४॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-४ ॥ निर्ऋतिर्देवता ॥ १ जगती; २ गायत्री; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

पापमोचनायोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यस्यास्त आसनि घोरे जुहोम्येषां बद्धानामवसर्जनाय कम् । भूमिरिति त्वाभिप्रमन्वते जना निर्ऋतिरिति त्वाहं परि वेद सर्वतः ॥ १ ॥

४—(वीहि) प्राप्नुहि (स्वाम्) स्वकीयाम् । पौरुषेण प्राप्ताम् (आहुतिम्) हु दानादानयोः—क्तिन् । समन्ताद् दातव्यग्राह्यक्रियाम् (जुषाणः) प्रीयमाणः (मनसा) अन्तःकरणेन ॥ सुविचारेण (स्वाहा) सुवाण्या (मनसा) (यत्) यस्मात्कारणात् (इदम्) इन्देः कमिन् नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । ऐश्वर्यहेतु ज्ञानम् (जुहोमि) ददामि । उपदिशामि ॥

यस्याः । ते । आसनि । घोरे । जुहोमि । एषाम् । बद्धानाम् । अव-सर्जनाय । कम् । भूमिः । इति । त्वा । अभि-प्रमन्वते । जनाः । निःऋतिः । इति । त्वा । अहम् । परि । वेद । सर्वतः ॥१॥

भाषार्थ—(यस्याः) जिस (ते) तेरे (घोरे) भयानक (आसनि) मुख में (एषाम्) इन (बद्धानाम्) बंधे हुये प्राणियों के (अवसर्जनाय) छुड़ाने के लिये (कम्) कमनीय व्यवहार को (जुहोमि) मैं देता हूं। (त्वा) उस तुझको (जनाः) पामर लोग (भूमिः इति) यह भूमि अर्थात् आश्रय देने वाली है (अभिप्रमन्वते) मानते हैं; (अहम्) मैं (त्वा) तुझको (निर्ऋतिः इति) यह अलक्ष्मी है (सर्वतः) सब प्रकार से (परि वेद) भली भांति जानता हूं ॥१॥

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य दुष्क्रिया को अपनी उन्नति की (भूमि) आश्रय समझते हैं, और बुद्धिमान मनुष्य उसको (निर्ऋति) अलक्ष्मी अर्थात् अवनति का कारण जानते हैं, इस लिये विद्वान् मनुष्य अज्ञान बन्धन में फंसे हुये प्राणियों के छुड़ाने के लिये अलक्ष्मी के कारणों को जताकर उत्तम व्यवहार का उपदेश करें ॥ १ ॥

भूते हविष्मती भवैष ते भागो यो अस्मासु ।
मुञ्चेमानमूनेनसः स्वाहा ॥ २ ॥

१—(यस्याः) निर्ऋतेः (ते) तव (आसनि) आस्ये। मुखे (घोरे) घुर भीमभावे—अच्। भयानके (जुहोमि) ददामि (एषाम्) प्राणिनाम् (बद्धानाम्) बन्धं गतानाम् (अवसर्जनाय) दुःखात् विमोचनाय (कम्) अ० २।१।५। कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा। निरु० १०।२२। कमनीयं व्यवहारम् (भूमिः) आश्रयभूता (इति) वाक्यसमाप्तौ (त्वा) तां त्वाम् (अभिप्रमन्वते) मनु अवबोधने। अभितः प्रबुध्यन्ते (जनाः) पामरलोकाः (निर्ऋतिः) अ० २।१०।१। निर्ऋतिः—कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २।७। अलक्ष्मीः (इति) (त्वा) निर्ऋतिम् (अहम्) तत्त्वज्ञानी पुरुषः (परि) परितः (वेद) जानामि (सर्वतः) सर्वस्मात्कारणात् ॥

भूते । हविष्मती । भव । एषः । ते । भागः । यः । अस्मासु । मुञ्च । इमान् । अमून् । एनसः । स्वाहा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(भूते) हे चिन्ता योग्य [अलक्ष्मी !] [हमारे लिये] (हविष्मती) देने और लेने योग्य क्रिया वाली (भव) हो, (एषः) यह (ते) तेरा (भागः) सेवनीय व्यवहार है, (यः) जो (अस्मासु) हम लोगों के बीच होवे । "(इमान्) इन [इस जन्म वाले] और (अमून्) उन [अगले वा पिछले जन्म वाले] जीवों को (एनसः) पाप से (मुञ्च) मुक्त करदे, (स्वाहा) यह सुन्दर वाणी है" ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य तीव्र तप अर्थात् पूर्ण पुरुषार्थ करके भूत भविष्यत् और वर्तमान् क्लेशों के फल को नाश करके सुखी होवे ॥ २ ॥

एवो ष्व१स्मन्निर्ऋतेऽनेहा त्वमयस्मयान् वि चृता बन्धपाशान् । यमो मह्यं पुनरित् त्वां ददाति तस्मै यमाय नमो अस्तु मृत्यवे ॥ ३ ॥

एवो इति । सु । अस्मत् । निः-ऋते । अनेहा । त्वम् । अयस्मयान् । वि । चृत । बन्ध-पाशान् । यमः । मह्यम् । पुनः । इत् । त्वाम् । ददाति । तस्मै । यमाय । नमः । अस्तु । मृत्यवे ॥ ३ ॥

२—(भूते) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । इति चौरादिको भू चिन्तने—क्तिच् । आमन्त्रितस्य च । पा० ६ । १ । १९८ इति आदिरुदात्तः । हे चिन्तनीये निर्ऋते (हविष्मती) दातव्य ग्राह्यक्रियायुक्ता (भव) (एषः) वक्ष्यमाणः—मुञ्चेमानम् (ते) तव (भागः) भजनीयः स्वीकरणीयो व्यवहारः (यः) (अस्मासु) अस्माकं मध्ये भवतु (मुञ्च) विसृज (इमान्) इदानींतनान् जीवान् (अमून्) दूरस्थान् पूर्वपरजन्मनि वर्तमानान् (एनसः) पापात् । कष्टात् (स्वाहा) सुवाणी । सुप्रार्थना ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे अलक्ष्मी ! (त्वम्) तू (अनेहा) न मारने वाली होकर (अस्मत्) हमसे (अयस्मयान्) लोहे की बनी (बन्धपाशान्) बन्धन की बेड़ियों को (पवो) अवश्य ही (सु) भले प्रकार (वि चृत) खोल दे। (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (मह्यम्) मेरे लिये (पुनः) बार बार (इत्) ही (त्वाम्) तुझको (ददाति) देता है, (तस्मै) उस (यमाय) न्यायकारी परमेश्वर को (मृत्यवे) दुःखरूप मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पाप कर्मों को छोड़ कर सदा धर्म आचरण करें। परमेश्वर अपनी न्यायव्यवस्था से पापियों को सदा दण्ड देता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से अ० ६ । ६३ । २ में आ चुका है ॥

अ॒य॒स्मये॑ द्रुप॒दे बे॑धिष इ॒हाभिहि॑तो मृ॒त्युभि॒र्ये स॒हस्र॑म् ।
य॒मेन॒ त्वं पि॒तृभिः॑ संविदा॒न उ॑त्त॒मं नाक॒मधि॑ रोहये॒मम् ॥४॥

अ॒य॒स्मये॑ । द्रु॒-प॒दे । बे॒धि॒षे॒ । इ॒ह । अ॒भि-हि॑तः । मृ॒त्यु-भिः॑ । ये । स॒हस्र॑म् । य॒मेन॑ । त्वम् । पि॒तृ-भिः॑ । स॒म्-वि॒दा॒नः । उ॒त्-त॒मम् । नाक॑म् । अधि॑ । रो॒ह॒य॒ । इ॒मम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इह) यहां पर (मृत्युभिः) मृत्यु के कारणों से (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र प्रकार हैं (अभिहितः) घिरा हुआ तू (अयस्मये) लोहे से जकड़े हुये (द्रुपदे) काठ के बन्धन में (बेधिषे=बध्यसे) बध रहा है। (यमेन) नियम से (पितृभिः) पालन करने वाले ज्ञानियों से

३—(पवो) पव—उ। अवश्यमेव (सु) सुष्ठु। यथाविधि (अस्मत्) अस्मत्तः (निर्ऋते) म० १। हे कृच्छ्रापत्ते (अनेहा) नञि हन एह च। उ० ४। २२४। इति हन्तेर्नञ्युपपदेऽसिः, धातोरेहादेशश्च। ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च पा० ७। १। ६४। इति सावनङ्। अहन्त्री। अबाधमाना (त्वम्) अन्यद् गतम्—अ० ६। ६३। २॥

४—(अयस्मये द्रुपदे) इत्येषा व्याख्याता—अ० ६। ६३-३॥

(संविदानः) मिला हुआ (त्वम्) तू (इमम्) इस पुरुष को (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) आनन्द में (अधि रोहय) ऊपर चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पापों के कारण बड़े बड़े कष्ट उठाते हैं, वे विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके मोक्ष पद प्राप्त करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र अ० ६ । ६३ । ३ । में आ चुका है ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ १ ॥

वरणः । वारयातै । अयम् । देवः । वनस्पतिः । यक्ष्मः । यः । अस्मिन् । आ-विष्टः । तम् । ऊं इति । देवाः । अवीवरन् ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवः) दिव्य गुणवाला, (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक (वरणः) स्वीकार करने योग्य [वैद्य अथवा वरणा अर्थात् वरुणवृक्ष] [राजरोग आदि को] (वारयातै) हटावे । (यः) जो (यक्ष्मः) राजरोग (अस्मिन्) इस पुरुष में (आविष्टः) प्रवेश कर गया है (तम्) उसको (उ) निश्चय करके (देवाः) व्यवहार जानने वाले विद्वानों

१—(वरणः) सुयुरुवृञ्ो युच् । उ० २ । ७४ । इति वृञ्—वरणे= स्वीकरणे—युच् । स्वीकरणीयः । वैद्यो वरुणवृक्षो वा । वरुणस्य गुणाः । कटुत्वम् उष्णत्वम्, रक्तदोषशातवातहरत्वम्, स्निग्धत्वम्, दीपनत्वम्—इति शब्दकल्पद्रुमात् (वारयातै) अ० ४ । ७ । १ । वारयतेर्लेटि आडागमः । वैतोऽन्यत्र । पा० ३ । ४ । ९६ । इति ऐकारः । वारयतु । निवर्तयतु (अयम्) प्रसिद्धः । (देवः) दिव्यः (वनस्पतिः) अ० १ । ३५ । ३ । वन सेवने—अच् । वन+पतिः, सुट् च । सेवनीयगुणानां रक्षकः (यक्ष्मः) अ० २ । १० । ५ । राजरोगः क्षयः (यः)

ने (अवीवरन्) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से महवैद्य पूर्वज विद्वानों से शिक्षा पाकर बड़े बड़े रोगों को वरण वा अन्य औषधि द्वारा मिटाता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम गुण को प्राप्त करके दुष्कर्मों का नाश करे ॥ १ ॥

(वरणः) ओषधि विशेष भी है जिसको वरुण, वरणा और उरण आदि कहते हैं। वरुण कटु, उष्ण, रक्तदोष, शीत वात हरने वाला, चिकना और दीपन है ॥

इन्द्र॑स्य॒ वर्च॑सा व॒यं मि॒त्रस्य॒ वरु॑णस्य च ।
दे॒वानां॒ सर्वे॑षां वा॒चा यक्ष्मं॑ ते वारयामहे ॥ २ ॥

इन्द्र॑स्य । वर्च॑सा । व॒यम् । मि॒त्रस्य॑ । वरु॑णस्य । च॒ । दे॒वाना॑म् । सर्वे॑षाम् । वा॒चा । यक्ष्म॑म् । ते॒ । वा॒र॒या॒म॒हे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) प्रतापी, (मित्रस्य) स्नेही (च) और (वरुणस्य) सेवनीय पुरुष के (वचसा) वचन से और (सर्वेषाम्) सब (देवानाम्) व्यवहार जानने वाले विद्वानों के (वाचा) वचन से (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वयम्) हम लोग (वारयामहे) हटाते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे विद्वानों से शिक्षा पाकर वैद्य रोगों की निवृत्ति करता है, इसी प्रकार मनुष्य अपने दोषों की निवृत्ति करें ॥ २ ॥

यथा॑ वृ॒त्र इ॒मा आप॑स्त॒स्तम्भ॑ वि॒श्वधा॑ य॒तीः ।
ए॒वा ते॑ अ॒ग्निना॒ यक्ष्मं॑ वैश्वान॒रेण॑ वारये ॥ ३ ॥

(अस्मिन्) पुरुषे (आविष्टः) प्रविष्टः (तम्) यक्ष्मम् (उ) एव (देवाः) व्यवहारकुशला विद्वांसः (अवीवरन्) वारयतेर्लुङि चङि रूपम्। निवारितवन्तः ॥

२—(इन्द्रस्य) प्रतापिनः पुरुषस्य (वचसा) वचनेन। उपदेशेन (वयम्) पुरुषार्थिनः (मित्रस्य) स्नेहिनः (वरुणस्य) वरणीयस्य। सेवनीयस्य (च) (देवानाम्) व्यवहारिणां विदुषाम् (सर्वेषाम्) समस्तानाम् (वाचा) वचनेन (यक्ष्मम्) राजरोगम् (ते) तव (वारयामहे) निवारयामः ॥

यथा । वृत्रः । इमाः । आपः । तस्तम्भ । विश्वधा । यतीः ।
एव । ते । अग्निना । यक्ष्मम् । वैश्वानरेण । वारये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वृत्रः) मेघने (विश्वधा) सब ओर (यतीः) बहती हुई (इमाः) इन (आपः=अपः) जलधाराओं को (तस्तम्भ) रोका था। (एव) वैसे ही (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (वैश्वानरेण) सब मनुष्यों के हित करने वाले (अग्निना) अग्नि से (वारये) मैं हटाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ ईश्वर नियम से जल की भाफों को मेघ मण्डल में रोक लेता है, उसी प्रकार वैद्य रोगी की पाचन शक्ति ठीक करके रोग को रोक दे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१-३ ॥ एकवृषो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

साम्राज्योपदेशः—साम्राज्य पाने का उपदेश ॥

वृषेन्द्रस्य वृषा दिवो वृषा पृथिव्या अयम् ।
वृषा विश्वस्य भूतस्य त्वमेकवृषो भव ॥ १ ॥

वृषा । इन्द्रस्य । वृषा । दिवः । वृषा । पृथिव्याः । अयम् ।
वृषा । विश्वस्य । भूतस्य । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (इन्द्रस्य) सूर्य का (वृषा) स्वामी,

---

३—(यथा) येन प्रकारेण (वृत्रः) अ० २ । ५ । ३ । आवरको मेघः—निघ० १ । १० । (इमाः) परिदृश्यमानाः (आपः) अपः । जलानि (तस्तम्भ) ष्टभि गतिप्रतिबन्धे । अवरुरोध (विश्वधा) सर्वतः (यतीः) इण् गतौ—शतृ, ङीप् । गच्छन्ती (एव) एवम् । तथा (ते) त्वदीयम् (अग्निना) [जाठराग्निना, (यक्ष्मम्) राजरोगम् (वैश्वानरेण) अ० १ । १० । ४ । विश्वनरहितेन (वारये) निवारयामि ॥

१—(वृषा) अ० १ । १२ । १ । वृषु सेचने, प्रजनैश्वर्ययोः—कनिन् । ईश्वरः । स्वामी (इन्द्रस्य) सूर्यस्य (दिवः) अन्तरिक्षस्य (पृथिव्याः) भूम्याः (अयम्)

(दिवः) अन्तरिक्ष का (वृषा) स्वामी, (पृथिव्याः) पृथिवी का (वृषा) स्वामी और (विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणियों का (वृषा) स्वामी है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी(भव) हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की सर्वशक्तिमत्ता और सर्वशासकता विचार कर अपनी शक्ति बढ़ा कर चक्रवर्ती राज्य प्राप्त करे ॥ १ ॥

सुमुद्र ईशे स्रवतामुग्निः पृथिव्या वुशी ।
चुन्द्रमा नक्षत्राणामीशे त्वमेकवृषो भव ॥ २ ॥

सुमुद्रः । ईशे । स्रवताम् । अुग्निः । पृथिव्याः । वुशी । चुन्द्रमाः । नक्षत्राणाम् । ईशे । त्वम् । एुक-वृषः । भुव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(समुद्रः) समुद्र (स्रवताम्) बहते हुए जलों का (ईशे= ईष्टे) स्वामी है, (अग्निः) सूर्यरूप अग्नि (पृथिव्याः) पृथिवी का (वशी) वश में करने वाला है। (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (नक्षत्राणाम्) चलने वाले नक्षत्रों का (ईशे) अधिष्ठाता है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृषः) अकेला स्वामी (भव) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य समुद्र, सूर्य, चन्द्र आदि लोकों की आकर्षण शक्ति देख कर अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ २ ॥

सुम्राडस्यसुराणां कुकुन्मनुष्याणाम् ।
देवानामर्धभागसि त्वमेकवृषो भव ॥ ३ ॥

प्रसिद्ध परमेश्वरः (विश्वस्य) सर्वस्य (भूतस्य) प्राणिजातस्य (त्वम्) (एकवृषः) अ० ४ । २२ । १ । वृषु ऐश्वर्ये—क । अद्वितीयप्रधानः । सार्वभौमः (भव)॥

२—(समुद्रः) सागरः (ईशे) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (स्रवताम्) प्रवहतामुदकानाम् (अग्निः) सूर्यरूपोऽग्निः (पृथिव्याः) भूमेः (वशी) वशयिता । स्वामी (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (नक्षत्राणाम्) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति णक्ष गतौ—अत्रन् । गतिशीलानां तारकाणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सम्-राट् । असि । असुराणाम् । ककुत् । मनुष्याणाम् । देवानाम् । अर्ध-भाक् । असि । त्वम् । एक-वृषः । भव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (असुराणाम्) बुद्धिमानों का (सम्राट्) सम्राट्, और (मनुष्याणाम्) मननशील—मनुष्यों का (ककुत्) शिखा (असि) है। (देवानाम्) जय चाहने वालों की (अर्धभाक्) वृद्धि का बाटने वाला (असि) है, [हे पुरुष !] (त्वम्) तू (एकवृष.) अकेला स्वामी (भव)हो ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य सब से अधिक गुणी होकर चक्रवर्ती राजा बने ॥३॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-३ राज्ञः स्तुतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजसूययज्ञोपदेश;—राज तिलक यज्ञ के लिये उपदेश ॥

आ त्वाहार्षमन्तरभूर्ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलत् ।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधि भ्रशत् ॥१॥

आ । त्वा । अहार्षम् । अन्तः । अभूः । ध्रुवः । तिष्ठ । अवि-चाचलत् । विशः । त्वा । सर्वाः । वाञ्छन्तु । मा । त्वत् । राष्ट्रम् । अधि । भ्रशत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (त्वा) तुझको (आ=आनीय) लाकर (अहार्षम्) मैंने स्वाकार किया है। (अन्तः) सभा के मध्य (अभूः) तू वर्तमान

३—(सम्राट्) अ० ४ । १ । ५ । सम्यग्राजमानः । चक्रवर्ती (असि) वर्तसे (असुराणाम्) असुरत्व प्रज्ञावत्वम् , असुरिति प्रज्ञानाम—निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः प्रज्ञावताम् (ककुत्) अ० ३ । ४ । २ । शिखररूपः । प्रधानः (मनुष्याणाम्) मननशीलानाम् (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (अर्धभाक्) ऋधु वृद्धौ भावे—घञ् । अर्ध+भाज पृथक्कर्मणि—क्विप् । अर्धस्य वर्धनस्य भागी । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(आ) आनीय (त्वा) त्वराजानम् (अहार्षम्) स्वीकृतवानस्मि (अन्तः) सभामध्ये (अभूः) विराजमानोऽभवः (ध्रुवः) ध्रुवः क । उ०

हुआ है। (ध्रुवः) निश्चित बुद्धि और (अविचाचलत्) निश्चलस्वभाव होकर (तिष्ठ) स्थिर हो (सर्वाः) सब (विशः) प्रजायें (त्वा वाञ्छन्तु) तेरी कामना करें, (राष्ट्रम्) राज्य (त्वत्) तुझसे (मा अधिभ्रशत्) कभी भ्रष्ट न होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण सबसे उत्तम पुरुष को राजा बना कर उपदेश करें, जिससे वह सदा धार्मिक पुरुषार्थी रहे और बुरे आचरण से राज्य नष्ट न होवे ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । १७३ । १-३ । और यह मन्त्र यजुर्वेद में है—१२ । ११ ॥

इहैवैधि माप॑ च्योष्ठाः पर्व॑त इवाविचाचलत् ।
इन्द्र॑ इवेह ध्रुवस्तिष्ठे॒ह राष्ट्रमु॑ धारय ॥ २ ॥

इह । एव । एधि । मा । अप॑ । च्योष्ठाः । पर्व॑तःऽइव । अवि॑ऽचाचलत् । इन्द्रः॑ऽइव । इह । ध्रुवः । तिष्ठ । इह । राष्ट्रम् । ऊं॒ इति॑ । धारय ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (पर्वतः इव) पहाड़ के समान (अविचाचलत्) निश्चल स्वभाव तू (इह एव) यहां ही (एधि) रह, (मा अप च्योष्ठाः) कदापि मत गिर। (इन्द्रः इव) सूर्य के समान (इह) यहां पर (ध्रुवः) स्थिर स्वभाव

---

२ । ६१ । इति ध्रु स्थैर्ये—क । निश्चितबुद्धिः (तिष्ठ) स्थिरो भव (अविचाचलत्) चल गतौ—यङ्लुगन्तात्, शतृ । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति नुम्प्रतिषेधः । निश्चलस्वभावः (विशः) प्रजाः । मनुष्याः—निघ० २ । ३ (सर्वाः) अखिलाः (त्वा) (वाञ्छन्तु) वाछि इच्छायाम् । कामयन्तु (त्वत्) त्वत्तः (राष्ट्रम्) राज्यम् (अधि) अधिकम् । कदापि (मा भ्रशत्) भ्रशु अधःपतने माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेरङादेशः । मा नष्टं स्यात् ॥

२—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) निश्चयेन (एधि) अस भुवि-लोट् । भव । सर्वदा वर्तस्व (मा अप च्योष्ठाः) च्युङ् गतौ-माङि लुङि च्लेः सिच् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । इत्यडभावः । कदापि प्रच्युतो माभू (पर्वत)

होकर (तिष्ठ) ठहर, (उ) और (इह) यहां पर (राष्ट्रम्) राज्य को (धारय) अधिकार में रख ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण धार्मिक राजा का यथावत् सहाय करें जिससे वह प्रजापालन में ऐसा दृढ रहे, जैसे सूर्य अपनी कक्षा में स्थिर रह कर वृष्टि आदि से अनेक लोकों का पालन करता है ॥ २ ॥

इन्द्र॑ एतम॑दीधरद् ध्रुवं ध्रुवेण॑ ह॒विषा॑ ।
तस्मै॒ सोमो॒ अधि॑ ब्रवद॒यं च॒ ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ॥३॥

इन्द्रः॑ । एतम् । अ॒दी॒ध॒र॒त् । ध्रु॒वम् । ध्रु॒वेण॑ । ह॒विषा॑ । तस्मै॑ । सोमः॑ । अधि॑ । ब्र॒व॒त् । अ॒यम् । च॒ । ब्रह्म॑णः । पतिः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) परमेश्वर ने (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) देने लेने योग्य शुभकर्म के साथ (एतम्) इस राजा को (ध्रुवम्) दृढ़ (अदीधरत्) स्थापित किया है। (अयम्) यही (सोमः) सब का उत्पन्न करने वाला (च) और (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्ड और वेद का पालक परमेश्वर (तस्मै) उस राजा को (अधि) अधिक अधिक (ब्रवत्) उपदेश करे ॥३॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि परमेश्वर में श्रद्धा करके प्रजा पालन, विद्या आदि शुभकर्म करता हुआ सदा उन्नति करे ॥ ३ ॥

महीधरः (इव) यथा (अविचाचलत्) म० १। दृढस्वभावः (इन्द्रः) सूर्यः (इव) (इह) अस्मिन् राज्ये (ध्रुवः) स्थिरः (तिष्ठ) वर्तस्व (इह) अस्मिन् लोके (राष्ट्रम्) राज्यम् (उ) चार्थे (धारय) स्वाधिकारे स्थापय ॥

३—(इन्द्रः) परमेश्वरः (एतम्) राजानम् (अदीधरत्) धारयतेः—लुङि चङि रूपम्। धारितवान्। स्थापितवान् (ध्रुवम्) स्थिरम् (ध्रुवेण) दृढेन (हविषा) दातव्यग्राह्यशुभकर्मणा (तस्मै) राज्ञे (सोमः) सर्वोत्पादकः (अधि) अधिकमधिकम् (ब्रवत्) ब्रूयात्। उपदिशेत् (च) (ब्रह्मणस्पतिः) ब्रह्माण्डस्य वेदस्य च पालकः परमेश्वरः ॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ राज्ञः स्तुतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

राजसूययज्ञोपदेशः—राज तिलक यज्ञ का उपदेश ॥

ध्रुवा द्यौर्ध्रुवा पृ॑थिवी ध्रुवं विश्व॑मिदं जग॑त् ।
ध्रुवासः पर्व॑ता इमे ध्रुवो राजा॑ विशाम॒यम् ॥१॥

ध्रुवा । द्यौः । ध्रुवा । पृथिवी । ध्रुवम् । विश्व॑म् । इदम् । जग॑त् ।
ध्रुवासः । पर्व॑ताः । इ॒मे । ध्रुवः । राजा॑ । विशाम् । अयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यौः) सूर्यलोक (ध्रुवा) दृढ़ है, (पृथिवी) पृथिवी (ध्रुवा) दृढ़ है, (इदम्) यह (विश्वम्) सब (जगत्) जगत् (ध्रुवम्) दृढ़ है । (इमे) यह सब (पर्वताः) पहाड़ (ध्रुवासः) दृढ़ हैं, (विशाम्) प्रजाओं का (अयम्) यह (राजा) राजा (ध्रुवः) दृढ़स्वभाव है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य आदि पदार्थ अपने अपने कर्त्तव्य में दृढ़ हैं, ऐसे ही निश्चलस्वभाव धर्मात्मा पुरुष को प्रजा लोग अपना राजा चुनें ॥१॥

ध्रुवं ते॒ राजा॒ वरु॑णो ध्रुवं दे॒वो बृह॒स्पतिः ।
ध्रुवं त॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ रा॒ष्ट्रं धा॑रयतां ध्रुवम् ॥२॥

ध्रुवम् । ते॒ । राजा॑ । वरु॑णः । ध्रुवम् । दे॒वः । बृह॒स्पतिः । ध्रुवम् । ते॒ । इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । रा॒ष्ट्रम् । धा॒र॒य॒ताम् । ध्रुवम् ॥२॥

भाषार्थ—(राजा) सब का राजा (वरुणः) वरुण, सेवनीय परमेश्वर

१—(ध्रुवा) स्थिरा (द्यौः) अहर्नाम—निघ० १ । २ । द्यावी द्योतनात्—निरु० २ । २० । प्रकाशमानः सूर्यलोकः (ध्रुवा) (पृथिवी) (ध्रुवम्) दृढम् (विश्वम्) सर्वम् (इदम्) दृश्यमानम् (जगत्) लोकः (ध्रुवासः) ध्रुवाः स्थिराः (पर्वताः) शैलाः (इमे) पुरोवर्तमानाः (ध्रुवः) निश्चलः । धार्मिकः (राजा) शासकः (विशाम्) प्रजानाम् (अयम्) परोवर्त्ती शूरः ॥

२—(ध्रुवम्) स्थिरम् । दृढम् (ते) तुभ्यम् (राजा) सर्वेश्वरः (वरुणः)

(ते) तेरे लिये (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (ध्रुवम्) स्थिर, (देव.) प्रकाशमान (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालन करने वाला परमात्मा (ध्रुवम्) स्थिर, (च) और (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाला जगदीश्वर (ध्रुवम्) स्थिर, (च) और (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वर (ध्रुवम्) स्थिर (धारयताम्) रक्खे ॥२॥

भावार्थ—बली प्रतापी राजा परमात्मा की शासन शक्ति विचार कर प्रजा पालन में सदा कटिबद्ध रहे ॥२॥

ध्रुवोऽच्युतः प्र मृणीहि शत्रूञ्छत्रूयतोऽधरान् पादयस्व। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीर्ध्रुवाय ते समितिः कल्पतामिह ॥३॥

ध्रुवः। अच्युतः। प्र। मृणीहि। शत्रून्। शत्रु-यतः। अधरान्। पादयस्व॥ सर्वाः। दिशः। सम्-मनसः। सध्रीचीः। ध्रुवाय। ते। सम्-इतिः। कल्पताम्। इह ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (ध्रुवः) दृढ़ और (अच्युतः) अचल होकर तू (शत्रून्) शत्रुओं को (प्र मृणीहि) नाश कर दे और (शत्रूयतः) शत्रु समान आचरण करने वाले (अधरान्) नीचों को (पादयस्व) अपने पैर से दबा दे। (इह) यहां पर (ध्रुवाय ते) तुझ निश्चल स्वभाव के लिये (सध्रीचीः) साथ

सेवनीयः परमेश्वरः (देवः) प्रकाशमानः (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः (ते) तव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (च) (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वरः (च) (राष्ट्रम्) राज्यम् (धारयताम्) धारयतु। रक्षतु ॥

३—(ध्रुवः) दृढः (अच्युतः) अचलः (प्र मृणीहि) मृञ् हिंसायाम् सर्वथा नाशय (शत्रून्) शातयितॄन्। अरीन् (शत्रूयतः) अ० ३। १। ३। शत्रु-क्यच् शत्रुवदाचरतः (अधरान्) नीचजनान् (पादयस्व) प्रातिपदिकाद् धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च। गणसूत्रं सिद्धान्तकौमुद्यां चुरादिप्रकरणे। इति पाद-धात्वर्थे णिच्। स्वपादाभ्यां निक्षिप (सर्वाः) प्राच्यादयः (दिशः) दिशाः। तत्रस्थाः प्राणिन इत्यर्थः (समनसः) समानमनस्काः (सध्रीचीः) अ० ३। ३०। ५। सह+अञ्चु गतौ—क्विन्, सहस्य सध्रि, ङीप् पूर्वस्यवर्णदीर्घश्च।

साथ रहने वाली (सर्वाः) सब (दिशः) दिशायें (संमनसः) एक मनवाली हों, और (समितिः) यह सभा (कल्पताम्) समर्थ होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूरवीर प्रतापी राजा सब विरोधी दुष्कर्मियों को नाश करके सब देशों की प्रजाओं को वश में रख कर अपनी राज सभा को प्रबल बनावे ॥३

सूक्तम् ८८ ॥

१-३ ॥ पुरुषार्थो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रु का जीतने का उपदेश ॥

इदं यत् प्रेण्यः शिरो दत्तं सोमेन वृष्ण्यम् ।
ततः परि प्रजातेन हार्दिं ते शोचयामसि ॥ १ ॥

इदम् । यत् । प्रेण्यः । शिरः । दत्तम् । सोमेन । वृष्ण्यम् ।
ततः । परि । प्र-जातेन । हार्दिम् । ते । शोचयामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रेण्यः=प्रेण्याः) तृप्त करने वाली ओषधि का (यत्) जो (इदम्) यह (शिरः) मस्तकबल और (सोमेन) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर करके (दत्तम्) दिया हुआ (वृष्ण्यम्) जो वीरत्व है। (ततः) उस से (परि) सब प्रकार (प्रजातेन) उत्पन्न हुये [साहस] से (ते) तेरी (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सोमलता आदि उत्तम ओषधियों के सेवन से और परमेश्वर के दिये बल से शत्रुओं को पीड़ित करें ॥ १ ॥

सध्रीच्यः । सहाञ्चनशीलाः । सहवर्तमानाः (ध्रुवाय) दृढ़स्वभावाय (ते) तुभ्यम् (समितिः) इयं राजसभा (कल्पताम्) समर्था भवतु (इह) अस्मिन् राज्ये ॥

१—(इदम्) शरीरस्थम् (यत्) (प्रेण्यः) वीज्याज्वरिभ्यो निः। उ० ४ । ४८ । इति प्रीङ् प्रीतौ, वा प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च-नि, वा ङीप् छान्दसो ह्रस्व. । प्रेण्याः । तर्पयित्र्याः सोमलताद्योषध्याः (शिरः) शिरोबलम् (दत्तम्) (सोमेन) सर्वोत्पादकेन परमेश्वरेण (वृष्ण्यम्) अ० ४ । ४ । ४ । वीरत्वेन (ततः) तस्माद् बलात् (परि) सर्वतः (प्रजातेन) उत्पन्नेन साहसेन (हार्दिम्) बाह्वादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ९६ । इति हृद्—इञ् । हार्दिकां शक्तिम् (ते) तव हे शत्रो (शोचयामसि) शोचयाम, सन्तापयामः ॥

शोचयामसि ते हार्दिं शोचयामसि ते मनः ।
वातं धूम इव सध्र्य१ङ् मामेवान्वेतु ते मनः ॥२॥

शोचयामसि । ते । हार्दिम् । शोचयामसि । ते । मनः । वातम् । धूमः-इव । सध्र्यङ् । माम् । एव । अनु । एतु । ते । मनः ॥२॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं, (ते) तेरे (मनः) मन अर्थात् मनन सामर्थ्य को (शोचयामसि) हम शोक में डालते हैं । (ते) तेरा (मनः) मन (माम् एव अनु) मेरे ही पीछे पीछे (एतु) चले, (इव) जैसे (सध्र्यङ्) [वायु से] मिला हुआ (धूमः) धुआं (वातम्) वायु के [साथ साथ चलता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् मनुष्य शत्रु को उसके शरीर और आत्मा से व्याकुल करके सदा अपने वश में रक्खे ॥ २ ॥

मह्यं त्वा मित्रावरुणौ मह्यं देवी सरस्वती ।
मह्यं त्वा मध्यं भूम्या उभावन्तौ समस्यताम् ॥३॥

मह्यम् । त्वा । मित्रावरुणौ । मह्यम् । देवी । सरस्वती । मह्यम् । त्वा । मध्यम् । भूम्याः । उभौ । अन्तौ । सम् । अस्यताम् ॥३॥

भाषार्थ—[हे शत्रु!] [मित्रावरुणौ) मेरे प्राण और अपान वायु (त्वा)

२—(मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकं मननसामर्थ्यम् (वातम्) वायुम् (धूमः) (इव) यथा (सध्र्यङ्) अ० ३ । ३० । ५ । सह अञ्चतीति, सहस्य सध्रिः । वातेन सह गन्ता (माम्) पुरुषार्थिनम् (एव) अवश्यम् (अनु) अनुसृत्य (एतु) गच्छतु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(मह्यम्) मदर्थम् (त्वा) त्वां शत्रुम् (मित्रावरुणौ) प्राणापानौ,

तुझको, और (देवी) दिव्यगुणवाली (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझसे, और (भूम्याः) भूमिका (मध्यम्) मध्यस्थान और (उभौ) दोनों (अन्तौ) अन्त (त्वा) तुझको (मह्यम्) मुझसे (सम अस्यताम्) संयुक्त करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक बल और सांसारिक पदार्थों के अनुकूल वर्ताव से शत्रुओं को अपने वश में रक्खे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ रुद्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कर्मफलोपदेशः—कर्म के फल का उपदेश ॥

यां ते रुद्र इषुमास्यदङ्गेभ्यो हृदयाय च ।
इदं तामद्य त्वद् वयं विषूचीं वि वृहामसि ॥ १ ॥

याम् । ते । रुद्रः । इषुम् । आस्यत् । अङ्गेभ्यः । हृदयाय । च । इदम् । ताम् । अद्य । त्वत् । वयम् । विषूचीम् । वि । वृहामसि ॥ १ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (रुद्रः) पापियों के रुलाने वाले परमेश्वर ने (ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अगों [शरीर] को पीड़ा देने (च) और (हृदयाय) हृदय [आत्मा] दुखाने के लिये (याम्) जिस (इषुम्) बरछी [पीड़ा] को

ममशारीरिकबलमित्यर्थः (मह्यम्) (देवी) दिव्यगुणा (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (मह्यम्) (त्वा) (मध्यम्) मध्यस्थित प्राणिजातमित्यर्थः (भूम्याः) पृथिव्याः (उभौ) द्वौ (अन्तौ) ऊर्ध्वाधःप्रदेशौ (सम् अस्यताम्) असु क्षेपणे। संयोजयताम् ॥

१—(याम्) (ते) तव (रुद्रः) अ० १ । १९ । ३ । पापिनां रोदयिता (इषुम्) अ० १ । १३ । ४ । शक्तिनामायुधम् । पीडाम् (आस्यत्) असु क्षेपणे—लङ् । अक्षिपत् (अङ्गेभ्यः) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इत्यप्रयुज्यमानस्य धातोः कर्मणि चतुर्थी । अङ्गानि पीडयितुम् ।

(आस्यत्) छोड़ा है। (इदम्) सो (अद्य) अब (विषूचीम्) नाना गति वाली (ताम्) उस [बरछी] को (वयम्) हम लोग (त्वत्) तुझ से (वि बृहामसि=०-मः) उखाड़ते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ--परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से पापियों को शारीरिक और आत्मिक दुःख देता और सुकर्म करने पर उन्हें उस क्लेश से छुड़ाकर आनन्दित करता है ॥ १ ॥

यास्ते॑ शतं ध॒मन॒योऽङ्गा॒न्यनु॒ विष्ठि॑ताः ।

तासां॑ ते॒ सर्वा॑सां व॒यं निर्वि॒षाणि॑ ह्वयामसि ॥ २ ॥

याः । ते॒ । श॒तम् । ध॒मन॑यः । अङ्गा॑नि । अनु॑ । वि-स्थि॑ताः । तासा॑म् । ते॒ । सर्वा॑साम् । व॒यम् । निः । वि॒षाणि॑ । ह्व॒या॒म॒सि॒ ॥२॥

भाषार्थ—(याः) जो (शतम्) सौ [असंख्य] (धमनयः) नाड़ियां (ते) तेरे (अङ्गानि अनु) अंगों में (विष्ठिताः) फैली हुई हैं। (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (विषाणि) विषों को (नि =निष्कृष्य) निकाल कर (वयम्) हम (ह्वयामसि=०—मः) पुकारते हैं ॥२॥

भावार्थ—जैसे वैद्य शरीर के भीतरी रोगों को समझ कर दूर करता है, वैसे ही विद्वान् आत्मदोषों को मिटावे ॥ २॥

(हृदयाय) हृदय दुःखयितुम् (च) (इदम्) तत्प्रतीकारार्थम् (ताम्) इषुम् (अद्य) इदानीम् (त्वत्) त्वत्तः (वयम्) सुकर्मिणः (विषूचीम्) अ० १। १९। १। विषु + अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन्। ङीप्। नानागतिम् (वि बृहामसि) बृहू उद्यमने। विबृहामः। उत्क्षिपामः ॥

२—(याः) (ते) तव (शतम्) बह्व्यः (धमनयः) नाड्यः, अङ्गानि) शरीरावयवान् (अनु) अनुसृत्य (विष्ठिताः) विविधं स्थिताः (तासाम्) (ते) तव (सर्वासाम्) धमनीनाम् (वयम्) (निः) निष्कृष्य (विषाणि) दुःखानि (ह्वयामसि) आह्वयामः ॥

नम॑स्ते रुद्रास्य॑ते॒ नम॑: प्रति॑हितायै ।
नमो॑ विसृ॒ज्यमा॑नायै॒ नमो॑ निप॑तितायै ॥३॥

नम॑: । ते॒ । रु॒द्र॒ । अस्य॑ते । नम॑: । प्रति॑-हितायै । नम॑: ।
वि॒-सृ॒ज्यमा॑नायै । नम॑: । नि-प॑तितायै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे पापियों के रुलाने वाले परमेश्वर ! (अस्यते) [बरछी वा बाण] छोड़ने वाले (ते) तुझको (नमः) नमस्कार है, (प्रतिहितायै) तानी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है । (विसृज्यमानायै) छुटती हुई को (नमः) नमस्कार है, और (निपतितायै) लक्ष्य पर पड़ी हुई [बरछी] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की विविध दण्ड व्यवस्था को विचार कर उसकी उपासना करके पापों से बचें ॥३॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-३ ॥ आत्मादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आत्मिकदोषनाशोपदेशः—आत्मिक दोष नाश करने का उपदेश ॥

इ॒मं यव॑मष्टायो॒गैः ष॑ड्यो॒गेभि॑रचर्कृषुः ।
तेना॑ ते त॒न्वो॒३॒॑ रपो॑ऽपा॒चीन॒मप॑ व्यये ॥ १ ॥

इ॒मम् । यव॑म् । अ॒ष्टा-यो॒गैः । ष॒ट्-यो॒गेभि॑: । अ॒च॒र्कृ॒षुः ।
तेन॑ । ते॒ । त॒न्व॑: । रप॑: । अ॒पा॒चीन॑म् । अप॑ । व्य॒ये॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमम्) इस [सर्वव्यापी] (यवम्) संयोग वियोग करने

३—(नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (रुद्र) हे पापिनां रोदयितः परमेश्वर (अस्यते) इषुं क्षिपते (प्रतिहितायै) हननाय संहितायै त्वदीयेषवे (विसृज्यमानायै) प्रेर्यमाणायै (निपतितायै) लक्ष्ये अधः पतितायै ॥

१—(इमम्) दृश्यमानं सर्वव्यापिनम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—

वाले परमेश्वर को (अष्टायोगैः) आठ प्रकार के [यम नियम आदि] योगों से और (षड्योगेभिः) छह प्रकार के [पढना पाढाना आदि ब्राह्मणों के कर्मों से (अचर्कृषुः) उन [महात्माओं] ने कर्षण अर्थात् परिश्रम से प्राप्त किया है। (तेन) उसी [कर्म] से (ते) तेरे (तन्वः) शरीर के (रपः) पाप को (अपाचीनम्) विपरीत गति करके (अप व्यये) मैं हटाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से महर्षियों ने योगसाधन और ब्राह्मण कर्म से ईश्वर को प्राप्त किया है, इसी प्रकार विद्वान् मनुष्य ईश्वर प्राप्ति से आत्मदोष त्यागकर आनन्दित होवें ॥१॥

आठ प्रकार के योगाङ्ग यह हैं—

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ॥ योगदर्शने २ । २६ ।

अर्थात् १—यम, २—नियम, ३—आसन, ४—प्राणायाम, ५—प्रत्याहार, अर्थात् जितेन्द्रियता, ६—धारणा, ७—ध्यान और ८—समाधि, यह आठ योग के अङ्ग हैं ॥

ब्राह्मणों के छह कर्म यह हैं :—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनुः १ । ८८ ।

१—पढ़ना, २—पढ़ाना, ३—यज्ञ करना, ४—यज्ञ कराना, ५—दान देना और ६—दान लेना यह छह कर्म [प्रभु ने] ब्राह्मणों के बताये हैं ॥

न्य१ग् वातो वाति न्यक् तपति सूर्यः ।
नीचीनमघ्न्या दुहे न्यग् भवतु ते रपः ॥२॥

अप । यवः, मिश्रणामिश्रणकर्ता इति दयानन्दभाष्ये यजुः० ५ । २६ । संयोजकवियोजक परमात्मानम् (अष्टायोगैः) यमनियमाद्यष्टयोगाङ्गैः—योगदर्शने २ । २९ (षड्योगेभिः) अध्यापनाध्ययनादिब्राह्मणषट्कर्मभिः—मनुस्मृत १ । ८८ (अचर्कृषुः) कृष विलेखने स्वार्थे णयन्ताल्लुङि चङिरूपम् । कर्षणेन श्रमेण प्राप्तवन्तः (तेन) कर्षणकर्मणा (ते) तव (तन्वः) शरीरस्य (रपः) अ० । ४ । १३ । २ । दोषम् (अपाचीनम्) विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति अपाच्—स्वार्थे ख, खस्य ईनादेशः । अपगतम् । अपाङ्मुखम् (अप व्यये) व्यय गतौ वित्तसमुत्सर्गे च । अपगमयामि ॥

न्यक् । वातः । वाति । न्यक् । तपति । सूर्यः । नीचीनम् । अघ्न्या । दुहे । न्यक् । भवतु । ते । रपः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वातः) वायु (न्यक्) नीचे की ओर (वाति) बहता है, (सूर्य) सूर्य (न्यक्) नीचे की ओर (तपति) तपता है (अघ्न्या) न मारने योग्य गौ (नीचीनम्) नीचे को (दुहे=दुग्धे) दूध देती है, [हे मनुष्य!] (ते) तेरा (रपः) दोष (न्यक्) नीचे की ओर (भवतु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार वायु आदि पदार्थ निर्दोष होकर उपकार करते हैं; वैसे ही मनुष्य दोषों को त्याग कर उपकारी हों ॥ २ ॥

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः ।

आपो विश्वस्य भेषजीस्तास्ते कृण्वन्तु भेषजम् ॥ ३ ॥

आपः । इत् । वै । ऊं इति । भेषजीः । आपः । अमीव-चातनीः आपः । विश्वस्य । भेषजीः । ताः । ते । कृण्वन्तु । भेषजम् ॥३॥

भाषार्थ—(आपः) शुभकर्म वा जल (इत् वै उ) अवश्य ही (भेषजीः=०-ज्यः) भय निवारक है, (आपः) शुभकर्म वा जल (अमीवचातनीः=०-न्यः) पीड़ा नाशक है। (आपः) शुभ कर्म वा जल (विश्वस्य) सब के

२—(न्यक्) नि+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। निम्नम् (वातः) वायुः (वाति) गच्छति (न्यक्) (तपति) उपतापयति (सूर्यः) सरणशील आदित्य. (नीचीनम्) विभाषाञ्चतेर०। पा० ५। ४। ८। इति न्यच्—स्वार्थे ख, खस्य ईनादेशः (अघ्न्या) अहन्तव्या गौ—निघ० २। ११। (दुहे) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। इति तलोपः। दुग्धे दुग्धं ददाति (न्यक्) अधोमुखम् (भवतु) (ते) तव (रपः) पापम् ॥

३—(आपः) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च उ० २। ५८। इति आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् अप्तृन्तृच्०। पा० ६। ४। ११। इत्युपधादीर्घः। अपः कर्मनाम—निघ० २। १। आप्यन्ते प्राप्यन्ते सुखदुःखानि याभिस्ता आपः कर्माणि—इति महीधरभाष्ये यजु० ४०। ४। वेदविहितकर्माणि (इत् वै उ) इति सर्वेऽवधारणे (भेषजीः) अ० ३। ७। ५। भेषज्यः। भयनिवारकाः (अमीवचातनीः—रोगाणां

(भेषजी॰) भय निवारक हैं, (ताः) वे (ते) तेरा (भेषजम्) भय निवारण (कृणवन्तु) करें॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविहित कर्मों को करके अपने आत्मिक, और शारीरिक दोष मिटावें, और जल चिकित्सा करके शारीरिक रोगों की निवृत्ति करें॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३।७।५।

सूक्तम् ८२ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता, १ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

वातरंहा भव वाजिन् युज्यमान् इन्द्रस्य याहि प्रसवे मनोजवाः । युञ्जन्तु त्वा मरुतो विश्ववेदस आ ते त्वष्टा पत्सु जवं दधातु ॥ १ ॥

वात-रंहाः । भव । वाजिन् । युज्यमानः । इन्द्रस्य । याहि । प्र-सवे । मनः-जवाः । युञ्जन्तु । त्वा । मरुतः । विश्व-वेदसः । आ । ते । त्वष्टा । पत्-सु । जवम् । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वाजिन्) हे अन्न वा बलवाले राजन्! (युज्यमानः) सावधान होकर (वातरंहाः) वायु के समान वेगवाला (भव) हो, और (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर की (प्रसवे) आज्ञा में (मनोजवाः) मन के समान गति वाला होकर (याहि) चल। (विश्ववेदसः)

नाशयित्र्य॰ (विश्वस्य) सर्वस्य (ताः) आप॰ (ते) तव (कृणवन्तु) कुर्वन्तु (भेषजम्) रोगनिवर्तनम् ॥

१—(वातरंहाः) रमेश्च । उ० ४ । २१४ । इति रमु क्रीडायाम्—असुन् हुक् च । रंहो वेगः । वायुवद्वेगयुक्त (भव) (वाजिन्) वाज—इनि । वाजोऽन्नम्—निघ० २ । ७ । बलम्—२ । ६ । अन्नवन् । बलवन् राजन् (युज्यमानः) समाहितः सन् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो जगदीश्वरस्य (याहि) गच्छ (प्रसवे)

समस्त विद्याओं वा धनों वाले (मरुत.) दोषों के नाश करने वाले विद्वान् लोग (त्वा) तुझको (युञ्जन्तु) [राज कार्य में] युक्त करें, (त्वष्टा) सूक्ष्म-दर्शी मनुष्य (ते) तेरे (पत्सु) पगों में (जवम्) वेग को (आ) अच्छे प्रकार (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर की वेदविहित आज्ञा में चलकर और नीतिज्ञ विद्वानोंसे मेल करके राज्य की रक्षा करे और यान विमान द्वारा अभीष्ट देशों में जाकर यथावत् कार्य सिद्ध करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० ९ म० ८, ९ ॥

जवस्ते अर्वन् निहितो गुहा यः श्येने वात उत योऽचरत् परीत्तः । तेन त्वं वाजिन् बलवान् बलेनाजिं जय समने पारयिष्णुः ॥२॥

जवः । ते । अर्वन् । नि-हितः । गुहा । यः । श्येने । वाते । उत । यः । अचरत् । परीत्तः । तेन । त्वम् । वाजिन् । बल-वान् । बलेन । आजिम् । जय । समने । पारयिष्णुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अर्वन्) हे विज्ञानयुक्त राजन् ! (यः) जो (जवः) वेग (ते) तेरे (गुहा=गुहायाम्) हृदय में (निहित.) धरा हुआ है, और (यः) जो (परीत्तः) सब प्रकार दिया हुआ [वेग] (श्येने) श्येन अर्थात् बाज पक्षी

पू प्रेरणे-अप् । अनुज्ञायाम् (मनोजवाः) जु रंहसि-असुन् । मनोवद्वेगवान्-(युञ्जन्तु) राजकार्ये संयोजयन्तु (त्वा) त्वाम् (मरुतः) अ० १ । २० । १ । दोष—नाशकाः । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (विश्ववेदसः) विद—असुन् सर्वज्ञाः । सर्वधनाः (आ) समन्तात् (ते) तव (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सूक्ष्मदर्शी मनुष्यः (पत्सु) पादेषु (जवम्) वेगम् (दधातु) स्थापयतु ॥

२—(जवः) वेग. (ते) तव (अर्वन्) अ० ४ । ९ । २ । ऋ गतिप्रापणयोः—वनिप् । हे शीघ्रगामिन् । विज्ञानिन् (निहितः) धाञ्—क्त । नितरां धृतः (गुहा) अ० १ । ८ । ४ । गुहायाम् । हृदये (यः) जवः (श्येने) अ० ३ । ३ । पक्षिविशेषे बाजे (वाते) वायौ (उत) अपि च (अचरत्) अवर्तत (परीत्तः)

में (उत) और (वाते) पवन में (अचरत्) विचरा है। (वाजिन्) हे वेगयुक्त राजन्! (त्वम्) तू (तेन) उस (बलेन) बल से (बलवान्) बलवान और (समने) संग्राम में (पारयिष्णुः) पार लगाने वाला होकर (आजिम्) युद्ध को (जय) जीत॥ २॥

भावार्थ—विद्वान् राजा आत्मिक बल बढ़ाकर शत्रुओं को शीघ्र जीते॥२॥

तनूष्टे वाजिन् तन्वं॒ नयन्ती वाममस्मभ्यं धावतु शर्म तुभ्यम्। अह्रुतो महो धरुणाय देवो दिवीव ज्योतिः स्वमा मिमीयात्॥३॥

तनूः। ते। वाजिन्। तन्वम्। नयन्ती। वामम्। अस्मभ्यम्। धावतु। शर्म। तुभ्यम्। अह्रुतः। महः। धरुणाय। देवः। दिविऽइव। ज्योतिः। स्वम्। आ। मिमीयात्॥ ३॥

भाषार्थ—(वाजिन्) हे बलवान् राजन्! (ते) तेरा (तनूः) शरीर (तन्वम्) हमारे शरीर को (नयन्ती) ले चलता हुआ (अस्मभ्यम्) हमारे लिये और (तुभ्यम्) तेरे लिये (वामम्) सेवनीय धन और (शर्म) सुख (धावतु) शीघ्र पहुंचावे। (अह्रुतः) कुटिलता रहित (देवः) विजय चाहने

परि पूर्वाद् ददातेः—क्त। अच उपसर्गात्तः। पा० ७। ४। ४७। इति आकारस्य तकारः। झरो झरि सवर्णे। पा० ८। ४। ६५। इति तलोपः। ढ्लोपे। पा० ६। ३। १२४। इति इगन्तोपसर्गस्य दीर्घः। सर्वतो दत्तः (तेन) जवेन (त्वम्) (वाजिन्) हे वेगवन् (बलवान्) अतिबलयुक्तः (बलेन) पौरुषेण (आजिम्) अ० २। १४। ६। युद्धम् (जय) अभिभावय। उत्कर्षेण प्राप्नुहि (समने) अ० ६। ६। २। संग्रामे (पारयिष्णुः) अ० ५। २८। १४। पारप्रापकः॥

३—(तनूः) शरीरयष्टिः (ते) तव (वाजिन्) हे बलवन् राजन् (तन्वम्) अस्माकं शरीरम् (नयन्ती) प्रेरयन्ती (वामम्) अ० ४। २२। ४। वननीयं धनम् (अस्मभ्यम्) प्रजागणेभ्यः (धावतु) धाव जवे, अन्तर्गतण्यर्थः। शीघ्रं प्रापयतु (शर्म) सुखम् (तुभ्यम्) राज्ञे (अह्रुतः) ह्रु ह्वरेश्छन्दसि पा० ७। २। ३१। इति ह्वृ कौटिल्ये -क्त ह्रु आदेशः। अकुटिलः। छलरहितः (महः) मह–असुन्। महत् (धरुणाय) अ० ३। १२। ३। अस्माकं धारणाय (देवः)

याले आप (भगाय) हमारे भाग्य के लिये (महः) बड़ी (स्वम्) अपनी (ज्योतिः) ज्योति (आ) भले प्रकार (मिमीयात्) निर्माण करें (दिवि इव) जैसे सूर्यमण्डल में [ज्योति] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि छल कपट छोड़ कर अनेक प्रकार के वैज्ञानिक शिल्प आदि व्यवहारों से अपने लिये और प्रजा के लिये धन और सुख बढ़ा कर अद्वितीय कीर्तिमान् हो ॥ ३ ॥

इति नवमोऽनुवाकः

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-३ ॥ यमो विश्वे देवाश्च देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सत्सङ्गलाभोपदेशः—सत्सङ्ग के लाभ का उपदेश ॥

यमो मृत्युरघमारो निर्ऋथो बभ्रुः शर्वोऽस्ता नीलशिखण्डः । देवजनाः सेनयोत्तस्थिवांसस्ते अस्माकं परि वृञ्जन्तु वीरान् ॥१॥

यमः । मृत्युः । अघ-मारः । निः-ऋथः । बभ्रुः । शर्वः । अस्ता । नील-शिखण्डः । देव-जनाः । सेनया । उत्-तस्थि-वांसः । ते । अस्माकम् । परि । वृञ्जन्तु । वीरान् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमः) न्यायकारी परमेश्वर [पापियों का] (अघमारः) पाप के कारण मारने वाला, (मृत्युः) प्राण छोड़ाने वाला, (निर्ऋथः) निर-

---

विजिगीषुर्भवान् राजा (दिवि) सूर्ये वर्तमानम् (इव) यथा (ज्योतिः) तेजः (स्वम्) स्वकीयम् (मिमीयात्) माङ् माने शब्दे च, विधिलिङि छान्दसं परस्मैपदम् । मिमीत । निर्माणयेत् ॥

१—(यमः) नियन्ता परमेश्वरः (मृत्युः) पापिनां प्राणत्याजयिता (अघमारः) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । इति मृङ् प्राणत्यागे-

न्तर पीडा देने वाला और [धर्मात्माओं का] (बभ्रुः) पालन करने वाला, (शर्वः) कष्ट काटने वाला (अस्ता) ग्रहण करने वाला और (नीलशिखण्डः) निधियों वा निवासों का देने वाला है । (सेनया) अपनी सेना के साथ (उत्तस्थिवांसः) उठे हुये (ते) वे (देवजनाः) विजय चाहने वाले पुरुष (अस्माकम्) हमारे (वीरान्) वीर लोगों को [विघ्न से] (परि) सर्वथा (वृञ्जन्तु) छुडावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर विद्वान् स्त्री पुरुष परमात्मा को शत्रुनाशक सुख वर्धक जान कर परोपकार करते हैं, वे ही कीर्ति पाते हैं ॥१॥

मनसा होमैर्हरसा घृतेन शर्वायास्त्र उत राज्ञे भवाय ।
नमस्येभ्यो नम एभ्यः कृणोम्यन्यत्रास्मदघविषा नयन्तु ॥२

मनसा । होमैः । हरसा । घृतेन । शर्वाय । अस्त्रे । उत । राज्ञे । भवाय । नमस्येभ्यः । नमः । एभ्यः । कृणोमि । अन्यत्र । अस्मत् । अघ-विषाः । नयन्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मनसा) विज्ञान के साथ, (होमैः) देने और लेने योग्य व्यवहारों के साथ, (हरसा) अन्धकार हरने वाले (घृतेन) प्रकाश के साथ वर्तमान (शर्वाय) [धर्मात्माओं के] कष्टनाशक, (अस्त्रे) ग्रहण करने वाले

घ । पापेन मारयिता (निर्ऋथः) अवे भृञः । उ० २ । ३ । इति निर्+ऋ हिंसायाम्—क्थन् । निरन्तरपीडकः (बभ्रु) कुर्भ्रश्च । उ० १ । २२ । इति भृञ् भरणे —कु, द्विर्भावश्च । भर्त्ता । पालयिता (शर्वः) अ० ४ । २८ । १ । कष्टनाशकः (अस्ता) अस ग्रहणे—तृन् । ग्रहीता (नीलशिखण्डः) अ० २ । २७ । ६ । नीलानां निधीनां वा नीडानां निवासानां प्रापकः (देवजनाः) विजिगीषवः पुरुषाः (सेनया) स्वस्वजनसंघेन (उत्तस्थिवांसः) उत्पूर्वात् तिष्ठतेर्लिटः—क्वसुः । उत्कर्षेण स्थिता. (ते) प्रसिद्धाः (अस्माकम्) धार्मिकाणाम् (परि) सर्वतः (वृञ्जन्तु) वृजी वर्जने । वर्जयन्तु विघ्नात् (वीरान्) पराक्रमिणः पुरुषान् ॥

२—(मनसा) मन ज्ञाने—असुन् । विज्ञानेन सह (होमैः) अ० ४ । ३८ । ५ । हु दानादानयोः—मन् । दातव्यग्राह्यव्यवहारैः (हरसा) अन्धकार हारकेण (घृतेन) घृ भासे—क्त । प्रकाशेन (शर्वाय) अ० ४ । २८ । १ । कष्ट-

(उत) और (भवाय) सुख देने वाले (राज्ञे) राजा परमेश्वर को, और (एभ्यः) इन (नमस्येभ्यः) नमस्कार योग्य महात्माओं को (नमः) विनति (कृणोमि) करता हूं । वे सब (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरों पर [दुष्कर्मियों पर] (अघविषाः) पाप रूप विषवाली पीड़ाओं को (नयन्तु) ले जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के और विद्वानों के वेदविहित उपदेशों को मान कर दुराचारों को छोड़ कर धार्मिक होकर आनन्दित होवें ॥२॥

त्रायध्वं नो अघविषाभ्यो वधाद् विश्वे देवा मरुतो विश्ववेदसः । अग्नीषोमा वरुणः पूतदक्षा वातापर्जन्ययोः सुमतौ स्याम ॥३॥

त्रायध्वम् । नः । अघ-विषाभ्यः । वधात् । विश्वे । देवाः । मरुतः । विश्व-वेदसः । अग्नीषोमा । वरुणः । पूत-दक्षाः । वातापर्जन्ययोः । सु-मतौ । स्याम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) हे सब (देवाः) दिव्यगुणवाले (विश्ववेदसः) संसार के जानने वाले (मरुतः) दोषनाशक विद्वान् पुरुषो ! (नः) हमें (अघविषाभ्यः) पापरूप विषवाली पीड़ाओं के (वधात्) हनन से (त्रायध्वम्) बचाओ । (अग्नीषोमा) अग्नि और चन्द्रलोक और (वरुणः) सूर्यलोक

नाशकाय (अक्ष्णे) म० १ । अहीन्ने (उत) अपि च (राज्ञे) शासकाय (भवाय) अ० ४ । २८ । १ । सुखोत्पादकाय परमेश्वराय (नमस्येभ्यः) नमस्कारार्हेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) विनतिम् (एभ्यः) (कृणोमि) करोमि (अन्यत्र) अन्येषु दुष्कर्मिषु (अस्मत्) धार्मिकेभ्यः (अघविषाः) अघं पापमेव विषं विषवन्मृतिकरं यासु ताः पीडाः (नयन्तु) प्रापयन्तु ॥

३—(त्रायध्वम्) पालयत (नः) अस्मान् धार्मिकान् (अघविषाभ्यः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । इति षष्ठ्याः पञ्चमी । पापरूपविषयुक्तानां पीडानाम् (वधात्) हननात् (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणयुक्ताः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । हे दोषनाशका विद्वांसः (विश्ववेदसः) विश्वस्य

(पूतदक्षाः) पवित्र बलवाले हैं, [उनकी और] (वातापर्जन्ययोः) वायु और मेघ की (सुमतौ) श्रेष्ठ बुद्धि में (स्याम) हम रहें ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य आप्त विद्वानों के उपदेश और अग्नि, चन्द्र, सूर्य आदि पदार्थों से यथावत् उपकार करके सुखी होवें ॥३॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

शान्तिकरणोपदेशः—शान्ति करने के लिये उपदेश ॥

सं वो॒ मनां॑सि॒ सं व्र॒ता समाकू॑तीर्नमामसि ।
अ॒मी ये विव्र॑ता॒ स्थन॒ तान् व॒ः सं न॑मयामसि ॥ १ ॥

सम् । वः॒ । मनां॑सि । सम् । व्र॒ता । सम् । आ-कू॑तीः । न॒मा॒म॒सि॒ । अ॒मी इति॑ । ये । वि-व्र॑ताः । स्थन॑ । तान् । वः॒ । सम् । न॒म॒या॒म॒सि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (सम्) ठीक रीति से, (व्रता=व्रतानि) कर्मों को (सम्) ठीक रीति से (आकूतीः) सङ्कल्प को (सम्) ठीक रीति से (नमामसि—०-मः) हम झुकाते हैं । (अमी ये) यह जो तुम (विव्रताः) विरुद्धकर्मी (स्थन) हो, (तान् वः) उन तुमको (सम्) ठीक रीति से (नमयामसि—०—मः) हम झुकाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष सब के उत्तम विचारों, उत्तम कर्मों और उत्तम मनोरथों का माने और धर्मपथ में विरुद्ध मतवालों को भी सहमत कर लेवे ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३ । ८ । ५ ॥

जगतो वेत्तारः (अग्नीषोमा) अ० १ । ८ । २ । अग्निश्च चन्द्रश्च तौ (वरुणः) वरणीय सूर्यः (पूतदक्षाः) दक्ष वृद्धौ गतौ च—अच् । दक्षो बलम्—निघ० २ । ९ । पवित्रबलाः (वातापर्जन्ययोः) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति पूर्वपदस्यानङ् । वायुमेघयोः (सुमतौ) श्रेष्ठायां बुद्धौ (स्याम) ॥

१—पूर्ववद् व्याख्येयः—अ० ३ । ८ । ५ ।

अह गृभ्णामि मनसा मनांसि मम चित्तमनु चित्तेभिरेत । मम वशेषु हृदयानि वः कृणोमि मम यातमनुवर्त्मान एत ॥२॥

अहम् । गृभ्णामि । मनसा । मनांसि । मम । चित्तम् । अनु । चित्तेभिः । आ । इत । मम । वशेषु । हृदयानि । वः । कृणोमि । मम । यातम् । अनु-वर्त्मानः । आ । इत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (मनसा) अपने मन से (मनांसि) तुम्हारे मनों को (गृभ्णामि=गृह्णामि) थामता हूं (मम) मेरे (चित्तम् अनु) चित्त के पीछे पीछे (चित्तेभि =चित्तैः) अपने चित्तों से (आ इत) आओ । (मम वशेषु) अपने वश में (वः हृदयानि) तुम्हारे हृदयों को (कृणोमि) मैं करता हूं, (मम यातम्) मेरी चाल पर (अनुवर्त्मानः) मार्ग चलते हुये (आ इत) यहां आओ ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अपने शुभ विचार और साहस से सब सभासदों और प्रजागणों को धर्मपथ पर चलाकर परस्पर मेल के साथ साहसी और उत्साही बनावें ॥ २ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ३ । ८ । ६ ॥

ओते मे द्यावापृथिवी ओता देवी सरस्वती । ओतौ म इन्द्रश्चाग्निश्चर्ध्यास्मेदं सरस्वति ॥३॥

ओते इत्या-उते । मे । द्यावापृथिवी इति । आ-उता । देवी । सरस्वती । आ-उतौ । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । ऋध्यास्म । इदम् । सरस्वति ॥३॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (ओते) बुने हुये हैं, (देवी) दिव्य गुण वाली (सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (ओता)

२—पूर्ववद् व्याख्येयः—अ० ३ । ८ । ६ ॥

३—(ओते) आ+वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त । परस्परं स्यूते । अन्तर्व्याप्ते

परस्पर बुनी हुई है। (च) और (मे) मेरे लिये (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि (ओतौ) परस्पर बुने हुये हैं। (सरस्वति) हे विज्ञानवती विद्या! (इदम्) अब (ऋध्यास्म) हम श्रीमान् होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक विद्या प्राप्त करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर धनी होवें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ५। २३। १॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३॥ कुष्ठो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि।

तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ १ ॥

अश्वत्थः। देव-सदनः। तृतीयस्याम्। इतः। दिवि। तत्र। अमृतस्य। चक्षणम्। देवाः। कुष्ठम्। अवन्वत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवसदनः) विद्वानों के बैठने योग्य (अश्वत्थः) वीरों के ठहरने का देश [अधिकार] (तृतीयस्याम्) तीसरी [निकृष्ट और मध्यम अवस्था से परे, श्रेष्ठ] (दिवि) गति में (इतः) प्राप्त होना है। (तत्र) उसमें (अमृतस्य) अमृत [पूर्ण सुख] के (चक्षणम्) दर्शन (कुष्ठम्) गुण परीक्षक पुरुष को (देवाः) महात्माओं ने (अवन्वत) मांगा है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग इस ईश्वर नियम को निश्चय करके मानते हैं कि अति विद्वान् पुरुषार्थी मनुष्य उच्च अधिकार के योग्य होता है ॥१॥

(अश्वत्थः) पीपल के वृक्ष को भी कहते हैं, इसका गुण—अ० ३। ६। १। में वर्णन हो चुका है। (कुष्ठ) कूट ओषधि विशेष भी है देखो—अ० ५। ४। १॥

(सरस्वती) विज्ञानवती विद्या (इन्द्रः) मेघः (ऋध्यास्म) ऋधु वृद्धौ। श्रीमन्तो भूयास्म। अन्यद् गतम्—अ० ५। २३। १॥

१—(अश्वत्थः) अ० ३। ६। १ अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क, पृषोदरादिरूपम्। अश्वानां कर्मसु व्यापनशीलानां वीराणां स्थितिदेशः। (तृतीयस्याम्) निकृष्टमध्यमाभ्यां परायां श्रेष्ठायाम् (दिवि) गतौ (कुष्ठम्) अ० ५। ४। १। कुष निष्कर्षे—क्थन्। गुणपरीक्षकम् (अवन्वत) याचितवन्तः। अन्यद् गतम्—अ० ५। ४। ३॥

हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि ।
तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥ २ ॥

हिरण्ययी । नौः । अचरत् । हिरण्य-बन्धना । दिवि । तत्र । अमृतस्य । पुष्पम् । देवाः । कुष्ठम् । अवन्वत । ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हिरण्ययी) तेज वाली [अग्नि वा बिजुली वा सूर्य से चलने वाली] (हिरण्यबन्धना) तेजोमय बन्धन वाली (नौः) नाव (दिवि) चलने के व्यवहार में (अचरत्) चलती थी । (तत्र) वहां पर (अमृतस्य) अमृत के (पुष्पम्) विकाश, (कुष्ठम्) गुण परीक्षक पुरुष को (देवाः) विद्वान् लोगों ने (अवन्वत) मांगा है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग तीक्ष्णबुद्धि मनुष्य द्वारा, अग्नि, बिजुली और सूर्य विद्या से, अग्निपोत, पुष्पक विमान आदि यान बना कर आनन्द पाते हैं ॥२॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ५ । ४ । ४ ॥

गर्भो असि ओषधीनां गर्भो हिमवतामुत ।
गर्भो विश्वस्य भूतस्येमं मे अगदं कृधि ॥ ३ ॥

गर्भः । असि । ओषधीनाम् । गर्भः । हिम-वताम् । उत । गर्भः । विश्वस्य । भूतस्य । इमम् । मे । अगदम् । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (ओषधीनाम्) ताप रखने वाले [सूर्य आदि] लोकों का (गर्भः) स्तुति योग्य आधार (उत) और (हिमवताम्) शीतस्पर्शवालों [जल मेघ आदि] का (गर्भः) ग्रहण करने वाला और

२—(हिरण्ययी) तेजोमयी अग्निना विद्युता सूर्येण वा गन्त्री (दिवि) गमने ॥ अन्यद् यथा—अ० ५ । ४ । ४ ॥

३—(गर्भः) अ० ३ । १० । १२ । गरणीयः । स्तुत्यः । ग्रहीता । आधारः (ओषधीनाम्) अ० १ । २३ । १ । ओष+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । ओषस्य तापस्य धारकाणां सूर्यादिलोकानाम् (हिमवताम्) शीतस्पर्शवतां

(विश्वस्य) सब (भूतस्य) प्राणिसमूह का (गर्भः) आधार (असि) है। (मे) मेरे लिये (इमम्) इस [संसार] को (अगदम्) नीरोग (कृधि) तू कर ॥३॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न पदार्थों का गुण जान कर प्रयोग करते हैं, वे संसार में सुख भोगते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० २५ । ५ । ७ ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१-३ ॥ १, २ ओषधयः; ३ सोमो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिपाद् विराड्गायत्री ॥

ओषधिगुणोपदेशः—ओषधियों के गुणों का उपदेश ॥

या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

याः । ओषधयः । सोम-राज्ञीः । बह्वीः । शत-विचक्षणाः । बृहस्पति-प्रसूताः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(सोमराज्ञीः) बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर वा चन्द्रमा वा सोमलता को राजा रखने वाली, (शतविचक्षणाः) सैकड़ों कथनीय और दर्शनीय शुभ गुणों वाली और (बृहस्पतिप्रसूताः) बृहस्पतियों, बड़े विद्वानों द्वारा काम में लायी गयीं, (बह्वीः) बहुत सी (याः) जो (ओषधयः) ताप

जलमेघादीनाम् (उत) अपि च (भूतस्य) प्राणिजातस्य (इमम्) दृश्यमानं संसारम् (अगदम्) अ० ४ । १७ । ८ । नीरोगम् (कृधि) कुरु । अन्यद् गतम्—अ० ५ । २५ । ७ ॥

१—(याः) (ओषधयः) अ० १ । २३ । १ । ओष+धेट् पाने—कि । ओषस्य तापस्य पिबन्त्यो नाशयित्र्यः (सोमराज्ञीः) सर्वैश्वर्ययुक्तः परमेश्वरश्चन्द्रः सोमो वा राजा शासको यासां ताः (बह्वी) बह्व्यः । अनेकविधाः (शतविचक्षणाः) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—ल्युट् । बहुकथनीया दर्शनीयशुभगुणाः

नाश करने वाली ओषधि हैं, (ताः) वे (नः) हमको (अंहसः) रोग से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर रचित ओषधियों का यथावत् परीक्षण पूर्वक सेवन करके स्वस्थ रह कर आनन्द पावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ९७ । १८, १५ और यजु० १२ । ९०, ८९ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३दथो वरुण्या᳡दुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात्॥२

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत । अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात्

भावार्थ—वे [ओषधे] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथसम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुये [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेडी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) इन्द्रियों के दोष से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमादकारक द्रव्यों को छोड़ कर सात्विक भोजन करें। जिससे साधु स्वभाव रहकर सौगन्द, श्रेष्ठों के अपराध, राजा के बन्धन और इन्द्रियों के विकार से पृथक् रहें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से है—ऋग्० १० । ९७ । १५, यजु० १२ । ९० ॥

(बृहस्पतिप्रसूताः) विद्वद्भिः प्रेरिता विनियुक्ताः (ताः) ओषधयः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) रोगात् ॥ १ ॥

२—(मुञ्चन्तु) विसृजन्तु (मा) माम् (शपथ्यात्) शपथे भवात् (अथो) अपि च (वरुण्यात्) वरुणेषु वरेषु भवादपराधात् (उत) अपि (अथो) (यमस्य) न्यायिनो राज्ञः (पड्वीशात्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । इति पश बन्धने—इन्, स च डित्+विश प्रवेशे—क, छान्दसो दीर्घः । पड्भिः पदनाम—निघ० ४ । २ । पड्भिः पानैरिति वा स्पाशनैरिति वा स्पर्शनैरिति वा—निरु० ५ । ३ । पाशप्रवेशात् (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् (देवकिल्बिषात्) किल्बिषम्—अ० ५ । १९ । ५ । इन्द्रियाणां दोषात् ॥

यच्चक्षु॑षा मन॑सा यच्च॑ वा॒चोपा॑रि॒म जाग्र॑तो यत् स्व॒पन्तः॑ । सोम॒स्तानि॑ स्व॒धया॑ नः पुनातु ॥ ३ ॥

यत् । चक्षु॑षा । मन॑सा । यत् । च । वा॒चा । उ॒प॒-आ॒रि॒म । जाग्र॑तः ॥ यत् । स्व॒पन्तः॑ । सोमः॑ । तानि॑ । स्व॒धया॑ । नः॒ । पु॒ना॒तु॒ ॥३॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ पाप (चक्षुषा) नेत्र से (च) और (यत्) जो कुछ (मनसा) मन से और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से (जाग्रतः) जागते हुये [अथवा] (स्वपन्तः) सोते हुये (उपारिम) हमने किया है। (सोमः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (नः) हमारे (तानि) उन पापों को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (पुनातु) शुद्ध करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के विचार और युक्त आहार विहार से सोते जागते सदा धर्म का विचार और अनुष्ठान करते रहें ॥३॥

सूक्तम् ॥ ८७ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

अ॒भि॒भूर्य॒ज्ञो अ॑भि॒भूर॒ग्निर॑भि॒भूः सोमो॑ अभि॒भूरिन्द्रः॑ । अ॒भ्य॒१॒हं विश्वाः॒ पृत॑ना॒ यथासा॑न्ये॒वा वि॑धे॒माग्नि-हो॑त्रा इ॒दं ह॒विः ॥ १ ॥

अ॒भि॒-भूः । य॒ज्ञः । अ॒भि॒-भूः । अ॒ग्निः । अ॒भि॒-भूः । सोमः॑ ।

३—(यत्) पापम् । किल्बिषम् । मन्त्र २ (चक्षुषा) नेत्रेण (मनसा) मननसाधकेन चित्तेन (वाचा) वाण्या (उपारिम) अ० ६ । ४५ । २ । कृतवन्तः (जाग्रतः) जागृ निद्राक्षये—शतृ । जक्षित्यादयः षट् । पा० ६ । १ । ६ । इत्यभ्यस्तत्वात् । नाभ्यस्ताच्छतुः । पा० ७ । १ । ७८ । इति नुमभावः । जागरदवस्थापन्नाः (स्वपन्तः) निद्रालवः (सोमः) सर्वैश्वर्यवान् जगदीश्वर, (तानि) किल्बिषाणि (स्वधया) अ० २ । २९ । ७ । स्व+डुधाञ् धारणपोषणयोः—क, टाप् । आत्मधारणशक्त्या (नः) अस्माकम् (पुनातु) शोधयतु ॥

अभि-भूः । इन्द्रः । अभि । अहम् । विश्वाः । पृतनाः । यथा । असानि । एव । विधेम । अग्नि-होत्राः । इदम् । हविः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिस प्रकार से (अहम्) मैं (अभिभूः) दुष्टों का तिरस्कार करने वाला (यज्ञः) पूजनीय, (अभिभूः) शत्रुओं का जीतने वाला (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी, (अभिभूः) वैरियों को वश में करने वाला (सोमः) चन्द्र समान सुख देने वाला और (अभिभूः) दुराचारियों को हराने वाला (इन्द्रः) महा प्रतापी होकर (विश्वाः) सब (पृतनाः) शत्रु सेनाओं को (अभि असानि) हरा दूं । (एव) वैसे ही (अग्निहोत्राः) अग्नि [परमेश्वर, सूर्य, बिजुली और आग की विद्या] के लिये वाणी वाले हम लोग (इदम्) यह (हविः) देने लेने योग्य कर्म (विधेम) करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ाकर शत्रुओं का नाश करके अपनी उन्नति करें ॥१॥

स्वधास्तु मित्रावरुणा विपश्चिता प्रजावत् क्षत्रं मधुनेह पिन्वतम् । बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥२॥

स्वधा । । अस्तु । मित्रावरुणा । विपः-चिता । प्रजा-वत् । क्षत्रम् । मधुना । इह । पिन्वतम् । बाधेथाम् । दूरम् । निः-

१—(अभिभूः) दुष्टानां तिरस्कर्त्ता (यज्ञः) पूजनीयः (अभिभूः) शत्रुजेता (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (अभिभूः) वैरिणां वशयिता (सोमः) चन्द्रवदाह्लादकः (अभिभूः) दुराचारिणामभिभावयिता (इन्द्र) महाप्रतापी (अहम्) जयकामः (विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः) अ० ३ । २१ । ३ शात्रवीः सेनाः (यथा) येन प्रकारेण (अभि असानि) अभिभवानि (एव) एवम् (विधेम) विध विधाने । कुर्याम (अग्निहोत्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । इति हु दानादानादनेषु—त्रन्, टाप् । होत्रा वाक्—निघ० १ । ११ । अग्नये परमेश्वरस्य सूर्यविद्युत्पावकस्य वा बोधाय होत्रा वाणी येषां ते तथाभूताः (इदम्) अनष्टीयमानम् (हविः) दातव्यग्राह्यकर्म ॥

ऋ॑तिम् । प॒रा॒चैः । कृ॒तम् । चि॒त् । एनः॑ । प्र । मु॒मु॒क्त॒म् । अ॒स्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विपश्चिता) हे बड़े बुद्धिमान् (मित्रावरुणा) प्राण और अपान के समान प्रिय माता पिता ! [हम में] (स्वधा) आत्म धारण शक्ति (अस्तु) होवे, (प्रजावत्) उत्तम प्रजाओं से युक्त (क्षत्रम्) राज्य को (मधुना) मधुविद्या से [ईश्वर ज्ञान से] (इह) यहां पर (पिन्वतम्) सींचो । (निर्ऋतिम्) अलक्ष्मी को (पराचैः) अधोमुख करके (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाओ और [इसके] (कृतम्) किये हुये (एनः) दुःख को (चित्) भी (अस्मत्) हम से (प्र) अच्छे प्रकार (मुमुक्तम्) छुड़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सन्तान माता पिता से उत्तम शिक्षा पाकर सुख भोगते हैं इसी प्रकार मनुष्य उत्तम ज्ञानियों के सत्संग से क्लेशों का नाश करके सुखी होवें ॥ २ ॥

इ॒मं वी॒रमनु॑ हर्षध्वमु॒ग्रमिन्द्रं॑ सखायो॒ अनु॒ सं र॑भध्वम् । ग्रा॒म॒जितं॑ गो॒जितं॒ वज्र॑बाहुं॒ जय॑न्त॒मज्म॑ प्रमृ॒णन्त॒मोज॑सा ॥३॥

इ॒मम् । वी॒रम् । अनु॑ । ह॒र्ष॒ध्व॒म् । उ॒ग्रम् । इन्द्र॑म् । स॒खा॒यः॒ । अनु॑ । सम् । र॒भ॒ध्व॒म् । ग्रा॒म॒-जित॑म् । गो॒-जित॑म् । वज्र॑-बाहुम् । जय॑न्तम् । अज्म॑ । प्र॒-मृ॒णन्त॑म् । ओज॑सा ॥ ३ ॥

२—(स्वधा) अ० ६ । ६६ । ३ । आत्मधारणशक्तिः (अस्तु) भवतु (मित्रावरुणा) प्राणापानवत् प्रियमातापितरौ (विपश्चिता) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधाविनौ (प्रजावत्) उत्तमप्रजायुक्तम् (क्षत्रम्) राज्यम् (मधुना) मधुविद्यया । ईश्वरज्ञानेन (इह) अत्र लोके (पिन्वतम्) पिवि सेचने, इदित्वान्नुम् । सिञ्चतम् । प्रवर्धयतम् (बाधेथाम्) निवर्त्तयतम् (दूरम्) (निर्ऋतिम्) अ० १ । ३१ । २ । अलक्ष्मीम् कृच्छ्रापत्तिम्—निरु० २ । ७ (पराचैः) अ० २ । १० । ५ । पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) निर्ऋत्या निष्पादितम् (चित्) अपि (एनः) दुःखम् (प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) छान्दस शपः श्लुः । मोचयतम् (अस्मत्) धार्मिकेभ्यः सकाशात् ॥

भाषार्थ—(सखाय) हे परस्पर सहायक मित्रो! (इमम्) इस (वीरम् अनु) वीर सेनापति के साथ (हर्षध्वम्) हर्ष करो, (ओजसा) अपने शरीर, बुद्धि और सेना बल से (ग्रामजितम्) शत्रुओं के समूह को जीतने वाले, (गोजितम्) उनकी भूमि को जीतने वाले (वज्रबाहुम्) अपनी भुजाओं में शस्त्र रखने वाले, (अज्म) संग्राम को (जयन्तम्) विजय करने वाले (प्रमृणन्तम्) वैरियों को मार डालने वाले (उग्रम्) तेजस्वी; (इन्द्रम् अनु) महा प्रतापी सेनाध्यक्ष के साथ होकर (सम्) अच्छे प्रकार (रभध्वम्) युद्ध आरम्भ करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति और सैनिक लोग परस्पर सहायक होकर शत्रुओं का राज्य आदि पाकर प्रजापालन करके सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, राजप्रजा धर्म विषय में पृष्ठ २२५ पर व्याख्यात है, और कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ३८ ॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पङ्क्तिः ॥ २ बृहती ॥ ३ विराट् ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रो॑ जयाति॒ न परा॑ जयाता अधिरा॒जो राज॑सु राजयातै ।
च॒र्कृत्य॑ ईड्यो॒ वन्द्य॑श्चोप॒सद्यो॑ नम॒स्यो॑ भवे॒ह ॥१॥

इन्द्रः॑ । जयाति॒ । न । परा॑ । जयातै॒ । अधि-रा॒जः । राज॑-सु । रा॒जयातै॒ । च॒र्कृत्यः॑ । ईड्यः॑ । वन्द्यः॑ । च॒ । उप-सद्यः॑ ।

३—(इमम्) (वीरम्) शूर सेनापतिम् (अनु) अनुसृत्य (हर्षध्वम्) हर्षं प्राप्नुत (उग्रम्) तेजस्विनम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनाध्यक्षम् (अनु) अनुगत्य (सम्) सम्यक् (रभध्वम्) युद्धारम्भं कुरुत (ग्रामजितम्) जि-क्विप् । शत्रुसमूहजेतारम् (गोजितम्) शत्रुभूमिविजयिनम् (वज्रबाहुम्) वज्राः शस्त्राणि बाह्वोर्यस्य तं (जयन्तम्) तॄभूवहिवसि० । उ० ३ । १२८ । जि जये—झच् । विजयिनम् (अज्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । अज गतिक्षेपणयोः मनिन् । संग्रामम्—निघ० २ । १७ (प्रमृणन्तम्) प्रकर्षेण शत्रुं मारयन्तम् (ओजसा) स्वस्य शरीरबुद्धिसेनाबलेन ॥

नमस्यः । भव । इह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाला परमात्मा [हमें] (जयाति) विजय करावे, और (न पराजयासै) कभी न हरावे, (अधिराजः) महाराजाधिराज जगदीश्वर [हमें] (राजयातै) राजा बनाये रक्खे। [हे महाराजेश्वर !] (चर्कृत्यः) अत्यन्त करने योग्य कर्मों में चतुर, (ईड्यः) प्रशंसनीय, (वन्द्यः) वन्दना योग्य, (उपसद्यः) शरण लेने योग्य (च) और (नमस्यः) नमस्कार योग्य तू (इह) यहां [हमारे बीच] (भव) वर्तमान हो ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य राजा और प्रजा एक सर्वनियन्ता सर्वाधीश परमपिता जगदीश्वर को महाराजाधिराज जान कर धर्म से परस्पर पालन में प्रवृत्त रहें ॥१॥

मन्त्र १, २, ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका, राजप्रजाधर्म विषय, पृष्ठ २२१ में व्याख्यात है ॥

त्वमिन्द्राधिराजः श्रवस्युस्त्वं भूरभिभूतिर्जनानाम् ।
त्वं दैवीर्विश इमा वि राजायुष्मत् क्षत्रमजरं ते अस्तु ॥२॥

त्वम् । इन्द्र । अधि-राजः । श्रवस्युः । त्वम् । भूः । अभिभूतिः । जनानाम् । त्वम् । दैवीः । विशः । इमाः । वि । राज । । आयुष्मत् । क्षत्रम् । अजरम् । ते । अस्तु ॥ २ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (जयाति) लेटि रूपं णिजर्थः । विजापयेत् स्वसेवकान् (न परा जयातै) मा पराजयं प्रापयेत् (अधिराजः) राजाहःसखिभ्यष्टच् । पा० । ५ । ४ । ९१ । इति राजशब्दात्—टच्, टेर्लोपश्च । सर्वेषां राज्ञामधिपतिः (राजसु) चक्रवर्तिराजसु माण्डलिकेषु च (राजयातै) णिचि लेटि रूपम् । राजयेत् । राज्ञः कुर्यात् (चर्कृत्यः) यङ्लुगन्तात्करोतेः—क्त, ततः साध्वर्थे यत् । चर्कृतेषु, अतिशयेन कर्तव्येषु कर्मसु साधुः कुशलः (ईड्यः) स्तुत्यः (वन्द्यः) वन्दनीयः (उपसद्यः) उपसदनीयः शरणयोग्यः (नमस्य) नमस्करणीयः । माननीयः (भव) वर्तस्व (इह) अत्र । अस्मासु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (त्वम्) तू (श्रवस्युः) सब को सुनने वाला (अधिराजः) राजराजेश्वर, (त्वम्) तू ही (जनानाम् अभिभूतिः) अपने भक्तों का सब प्रकार ऐश्वर्यदाता [वा पामर जनों का तिरस्कार करने वाला] (भूः=अभूः) हुआ है। (त्वम्) तू (इमाः) इन (दैवीः) दिव्य गुणवाली (विशः) प्रजाओं पर (वि) विविध प्रकार से (राज) राज्य कर, (ते) तेरा (क्षत्रम्) राज्य [हमारे लिये] (आयुष्मत्) उत्तम जीवन वाला और (अजरम्) जरारहित [नित्य तरुण) (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमदयालु परमात्मा का शरण लेकर सब प्रकार उन्नति करते हुये चिरस्थायी सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

प्राच्या॑ दि॒शस्त्वमि॑न्द्रासि॒ राजो॒तोदी॑च्या दि॒शो वृ॑त्र-
हञ्छत्रु॒होऽसि । यत्र॒ यन्ति॑ स्रो॒त्यास्तज्जि॒तं ते॑ दक्षिण॒तो
वृ॑ष॒भ ए॑षि॒ हव्यः॑ ॥३॥

प्राच्याः॑ । दि॒शः । त्वम् । इ॒न्द्र॒ । अ॒सि॒ । राजा॑ । उ॒त । उदी॑च्याः ।
दि॒शः । वृ॒त्र॒ह॒न् । श॒त्रु॒-हः । अ॒सि॒ । यत्र॑ । यन्ति॑ । स्रो॒त्याः ।
तत् । जि॒तम् । ते॒ । द॒क्षि॒ण॒तः । वृ॒ष॒भः । ए॒षि॒ । हव्यः॑ ॥३॥

२—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् भगवान् (अधिराजः) म० १। राज्ञामधिको राजा (श्रवस्युः) श्रु—असुन्। श्रवः श्रवणम्। कर्तुःक्यङ् सलोपश्च। पा० ३। १। ११। इति क्यङ्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७०। उप्रत्ययः। श्रव इवाचरतीति। सर्वस्यश्रोता (भूः) लुङि अडभावः। अभूः (अभिभूतिः) अभितः सर्वतो भूतिरैश्वर्यं यस्मात्सः। सर्वैश्वर्यदाता। यद्वा, अभिभविता तिरस्कर्ता (जनानाम्) भक्तानां पामरजनानां वा (दैवीः) दिव्यगुणसम्पन्नाः (विशः) प्रजाः (इमाः) दृश्यमानाः (वि) विविधम् (राज) राजय। शाधि (आयुष्मत्) उत्तमजीवनयुक्तम् (क्षत्रम्) राज्यम् (अजरम्) जरारहितम्। नित्यतरुणम् (ते) तव (अस्तु) भवतु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परमात्मन् ! (त्वम्) तू (प्राच्याः दिशः) पूर्व वा सन्मुख वाली दिशा का (उत) और (उदीच्याः दिशः) उत्तर वा बाईं दिशा का (राजा असि) राजा है, (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक ! तू (शत्रुहः) हमारे शत्रुओं का नाश करने वाला (असि) है। (यत्र) जिस स्थान में (स्रोत्याः) जल धारायें (यन्ति) चलती हैं (तत्) वह स्थान [समुद्र वा अन्तरिक्ष] (ते) तेरा (जितम्) जीता हुआ है, (वृषभः) महापराक्रमी, (हव्यः) आवाहन योग्य तू (दक्षिणतः) हमारी दाहिनी ओर (एषि) पहुंचता है ॥३॥

भावार्थ—परमेश्वर सब स्थान और सब काल में सब का शासक है, जो मनुष्य उस पर विश्वास करते हैं वह उनका सदा सहायक होता है ॥३॥

सूक्तम् ॥ ८८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ बृहती ॥

संग्रामजयोपदेशः—संग्राम में जय का उपदेश ॥

अभि त्वेन्द्र वरिमतः पुरा त्वांहूरणाद्धुवे ।
ह्वयाम्युग्रं चेत्तारं पुरुणामानमेकजम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । इन्द्र । वरिमतः । पुरा । त्वा । अंहूरणात् । हुवे । ह्वयामि । उग्रम् । चेत्तारम् । पुरुनामानम् । एकऽजम् ॥ १ ॥

३—(प्राच्याः) पूर्वस्याः । अभिमुखीभूतायाः (दिशः) दिशायाः (त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (असि) (राजा) शासकः (उत) अपि च (उदीच्याः) उत्तरस्याः । वामभागभवायाः (वृत्रहन्) हे अन्धकारनाशक (शत्रुहः) आशिषि हनः । पा० ३ । २ । ४६ । इति हन्तेर्डः । शत्रूणां हन्ता (यत्र) यस्मिन् स्थाने (यन्ति) प्रवहन्ति (स्रोत्याः) स्रोतसो विभाषा ड्यड्ड्यौ । पा० ४ । ४ । ११३ । इति स्रोतस्—ड्य । स्रोतसि भवाः । नद्यः—निघ० १ । १३ । जलधाराः (तत्) स्थानम् । समुद्रोऽन्तरिक्षं वा (जितम्) वशीकृतम् (ते) तव (दक्षिणतः) अ० ४ । ३२ । ७ । दक्षिणभागे परमसहायकत्वेन (वृषभ) अ० ४ । ५ । १ । वृषु परमैश्वर्ये—अभच् । महापराक्रमी (एषि) गच्छसि (हव्यः) बहुलं छन्दसि । पा० ६ । १ । ३४ । इति ह्वयतेः सम्प्रसारणे । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । इति यत् । आह्वातव्यः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे संपूर्ण ऐश्वर्य वाले इन्द्र जगदीश्वर ! (त्वा त्वा) तुझको, तुझको (वरिमतः) तेरे विस्तार के कारण (अंहूरणात्) पाप वाले कर्म से (पुरा) पहिले (अभि) सब ओर से (हुवे) मैं बुलाता हूं। (उग्रम्) तेजस्वी, (चेत्तारम्) सत्य और असत्य के जानने वाले, (पुरुनामानम्) अनेक उत्तम नाम वाले, (एकजम्) अकेले उत्पन्न [अद्वितीय, तुझ प्रभु] को (ह्वयामि) मैं पुकारता हूं ॥१॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि उस जगदीश्वर को सर्वव्यापक और सर्वशक्तिमान् जान कर पाप कर्म को छोड़ कर शुभ कर्म करते रहें ॥१॥

यो अद्य सेन्यो वधो जिघांसन् न उदीरते ।
इन्द्रस्य तत्र बाहू समन्तं परि दद्मः ॥ २ ॥

यः । अद्य । सेन्यः । वधः । जिघांसन् । नः । उत्-ईरते ।
इन्द्रस्य । तत्र । बाहू इति । सम्-अन्तम् । परि । दद्मः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (यः) (सेन्यः) शत्रु सेना सम्बन्धी (वधः) शस्त्र समूह (जिघांसन्) मारने की इच्छा करता हुआ (नः) हम पर (उदीरते) चढ़ा आता है। (तत्र) उसमें (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के

१—(अभि) अभितः (त्वा) त्वाम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (वरिमतः) अ० ४।५।२। उरुत्वात्। विस्तारहेतोः (पुरा) पूर्वम् (त्वा) (अंहूरणात्) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ। उ० ४।९०। इति अहि गतौ-ऊर—प्रत्ययः, इदित्त्वान्नुम्। पामादिभ्यो नः। वा० पा० ५।२।१००। इति मत्वर्थे नः। आङ्पूर्वाद्धन्तेर्वा रूपमुन्नेयम्। अंहुरोऽहंस्वानहूरणमित्यप्यस्य भवति—निरु० ६।२७। अंहस्वतः पापयुक्तात् कर्मणः (हुवे) ह्वयामि (ह्वयामि) (उग्रम्) तेजस्विनम् (चेत्तारम्) सत्यासत्ययोर्विज्ञातारम् (पुरुनामानम्) पुरुभिर्बहुभिः प्रशस्तैर्नामधेयैर्युक्तम् (एकजम्) एकं जातम्। अद्वितीयम् ॥

२—(यः) (अद्य) वर्तमाने दिने (सेन्यः) सेना यत्। शत्रुसेनासंबन्धी (वधः) हननसाधकः शस्त्रसमूहः (जिघांसन्) हन्तुमिच्छन् (नः) अस्मान् (उदीरते) उद्गच्छति (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (तत्र) तस्मिन्

(बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तः) सब प्रकार (परिदद्मः) हम ग्रहण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य कठिन समय में परमात्मा का आश्रय लेकर शत्रुओं का सामना करके दुःख से निवृत्त होवें ॥ २ ॥

परि दद्म इन्द्रस्य बाहू समन्तं त्रातुस्त्रायतां नः ।
देव सवितः सोम राजन्त्सुमनसं मा कृणु स्वस्तये ॥ ३ ॥

परि । दद्मः । इन्द्रस्य । बाहू इति । समन्तम् । त्रातुः । त्रायताम् । नः । देव । सवितः । सोम । राजन् । सु-मनसम् । मा । कृणु । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्रातुः) रक्षा करने वाले (इन्द्रस्य) महाप्रतापी इन्द्र परमात्मा के (बाहू) भुजाओं के तुल्य बल पराक्रम को (समन्तम्) सब प्रकार (परिदद्मः) हम ग्रहण करते हैं, वह (नः) हमारी (त्रायताम्) रक्षा करे । (देव) प्रकाश स्वरूप, (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) संपूर्ण ऐश्वर्ययुक्त (राजन्) राजन् जगदीश्वर ! (स्वस्तये) कल्याण पाने के लिये (मा) मुझे (सुमनसम्) उत्तम विचार वाला (कुरु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्म की भुजाओं में शरण लेकर शुद्ध अन्तःकरण से पुरुषार्थ करके सुखी रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १०० ॥

१-३ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

देवा अदुः सूर्यो अदाद् द्यौरदात् पृथिव्यदात् ।

कर्मणि (बाहू) भुजवद्बलपराक्रमौ (समन्तम्) सर्वतः।(परिदद्मः) अङ्गीकुर्मः । आश्रयामः ॥

३—(त्रातुः) रक्षकस्य (त्रायताम्) स रक्षतु (नः) अस्मान् (देव) हे प्रकाशस्वरूप (सवितः) सर्वप्रेरक (सोम) परमैश्वर्यवन् (राजन्) सर्वनियामक (सुमनसम्) शोभनमननयुक्तम् (मा) माम् (कृणु) कुरु (स्वस्तये) क्षेमाय ॥

तिस्रः सरस्वतीरदुः सचित्ता विषदूषणम् ॥१॥

देवाः। अदुः। सूर्यः। अदात्। द्यौः। अदात्। पृथिवी। अदात्।
तिस्रः। सरस्वतीः। अदुः। स-चित्ताः। विष-दूषणम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जलदाता मेघों ने (विषदूषणम्) विषनाशक औषध रूप विज्ञान को (अदुः) दिया है, (सूर्यः) सूर्य ने (अदात्) दिया है, (द्यौः) अन्तरिक्ष ने (अदात्) दिया है, (पृथिवी) पृथिवी ने (अदात्) दिया है। (सचित्ताः) समान ज्ञानवाली (तिस्रः) तीनों (सरस्वतीः) विज्ञान वाली देवियों ने (अदुः) दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ सूर्य आदि पदार्थों और विद्याओं से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

तीन देवियां यह हैं [अ० ५। १२। ८] १—भारती, पोषण करने वाली विद्या, २—इडा, स्तुति योग्य नीति और ३—सरस्वती, विज्ञानवाली बुद्धि ॥

यद् वो देवा उपजीका आसिञ्चन् धन्वन्युदकम् ।
तेन देवप्रसूतेनेदं दूषयता विषम् ॥२॥

यत्। वः। देवाः। उप-जीकाः। आ-असिञ्चन्। धन्वनि।
उदकम्। तेन। देव-प्रसूतेन। इदम्। दूषयत। विषम् ॥२॥

भाषार्थ—(उपजीकाः) हे [परमेश्वर के] आश्रित प्राणियो ! (वः) तुम्हारे लिये (देवाः) विद्वानों ने (धन्वनि) निर्जल स्थान में (यत् उदकम्)

१—(देवाः) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा—निरु० ७। १५। जलप्रदा मेघाः (अदुः) दत्तवन्तः (सूर्यः) आदित्यः (अदात्) दत्तवान् (द्यौः) अन्तरिक्षम् (पृथिवी) भूमिः (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (सरस्वतीः) सरस्वत्यः। विज्ञानवत्यो विद्याः, भारती, इडा, सरस्वतीति—अ० ५। १२। ८ (सचित्ताः) समानज्ञानाः (विषदूषणम्) विषनिवारकौषधरूप विज्ञानम् ॥

२—(यत्) (वः) युष्मदर्थम् (देवाः) विद्वांसः (उपजीकाः) अ० २। ३। ४। उप+जीव प्राणधारणे—ईकन्, स च डित्। उपजीविनः। परमेश्वरा-

जिस जल को (आ—असिञ्चन्) लाकर सींचा है। (देवप्रसूतेन) विद्वानों के दिये हुये (तेन) अमृत से (इदम् विषम्) इस विष को (दूषयत) नाश करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार विद्वान् लोग मरु स्थल में कूप, तड़ाग, जल नाली आदि द्वारा जल लाकर सुख पाते हैं, वैसे ही मनुष्य विज्ञान द्वारा आत्मिक दोष मिटाकर सुखी होवें ॥ २ ॥

असु॒राणां॑ दुहि॒तासि॒ सा दे॒वाना॑मसि॒ स्वसा॑ ।
दि॒वस्पृ॑थि॒व्याः सम्भू॑ता सा च॑कर्था॒रसं॑ वि॒षम् ॥३॥

असु॑राणाम् । दु॒हि॒ता । अ॒सि॒ । सा । दे॒वाना॑म् । अ॒सि॒ । स्वसा॑ । दि॒वः । पृ॒थि॒व्याः । सम्-भू॑ता । सा । च॒क॒र्थ॒ । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (असुराणाम्) श्रेष्ठ बुद्धिमानों की (दुहिता) कामनायें पूरी करने वाली (असि) है, (सा) सो तू (देवानाम्) उत्तम गुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली (असि) है। (दिवः) सूर्य से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (संभूता) उत्पन्न हुई (सा) उस तुझ ने (विषम्) विष को (अरसम्) निर्बल (चकर्थ) कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के ताप और पृथिवी के संयोग से उत्पन्न ओषधियों से उपकार होता है, वैसे ही मनुष्य परोपकार करके परस्पर लाभ उठावें ॥ ३ ॥

श्रिनाः प्राणिनः (आ—असिञ्चन्) आनीय सिक्तवन्तः (धन्वनि) मरुदेशे (उदकम्) जलम् (तेन) नक सहने हासे च, यद्वा तर्द हिंसे—ड। अमृतेन (देवप्रसूतेन) विद्वद्भिः प्रेषितेन (इदम्) (दूषयत) नाशयत (विषम्) विषरूपं दुःखम् ॥

३—(असुराणाम्) प्रज्ञावताम्—निरु० १० । ३४ । (दुहिता) अ० ५ । १० । १३ । कामानां पूरयित्री (असि) (स्वसा) अ० ५ । ५ । १ । सु+अस दीप्तौ-ऋन् । सुष्ठु दीपयित्री । स्वसा सुअसा स्वेषु सीदतीति वा—निरु० ११ । ३२ । (दिवः) आदित्यात् (पृथिव्याः) भूमेः (सम्भूता) उत्पन्ना (चकर्थ) त्वं कृतवती (अरसम्) निर्वीर्यम् (विषम्) विषरूपं दुःखम् ॥

सूक्तम् ॥ १०१ ॥

१-३ ॥ राजा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा का धर्म का उपदेश ॥

आ वृ॑षायस्व श्वसि॒हि वर्ध॑स्व प्र॒थय॑स्व च ।
य॒था॒ङ्गं व॑र्धतां॒ शेप॒स्तेन॑ यो॒षित॒मिज्ज॑हि ॥ १ ॥

आ । वृष॒-य॒स्व॒ । श्व॒सि॒हि । वर्ध॑स्व । प्र॒थय॑स्व । च॒ । य॒था॒-अ॒ङ्गम् । व॒र्ध॒ता॒म् । शेपः॑ । तेन॑ । यो॒षित॑म् । इत् । ज॒हि॒ ॥१॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (आ) भले प्रकार (वृषायस्व) इन्द्र, बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष के समान आचरण कर, (श्वसिहि) जीता रह, (वर्धस्व) बढ़ती कर (च) और [इसे] (प्रथयस्व) फैला। (यथाङ्गम्) प्रत्येक अंग में [तेरा] (शेपः) सामर्थ्य (वर्धताम्) बढ़े, (तेन) इसलिये (योषितम्) सेवनीय नीति को (इत्) ही (जहि) तू प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा पुरुषार्थ पूर्वक अपनी और प्रजा की उन्नति में सदा तत्पर रहे ॥ १ ॥

राज्य की बढ़ती के चार अंग वा उपाय यह हैं [सामदाने भेददण्डावित्युपायचतुष्टयम्—अमर १८ । २०] १—साम, प्रियवचन; २-दान धन देना; ३—भेद, शत्रुओं में फूट कर देना, ४-दण्ड ॥

येन॑ कृ॒शं वा॒जय॑न्ति॒ येन॑ हि॒न्वन्त्यातु॑रम् ।
तेना॒स्य ब्र॑ह्मणस्पते॒ धनु॑रि॒वा ता॑नया॒ पसः॑ ॥ २ ॥

१—(आ) समन्तात् (वृषायस्व) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । इति वृषन्—क्यङ् । वृषा इन्द्र इवाचर (श्वसिहि) श्वस प्राणने । प्राणिहि । बलवान् भव (वर्धस्व) वृद्धिं कुरु (प्रथयस्व) विस्तारय प्रजागणान् (च) (यथाङ्गम्) अङ्गान्यनतिक्रम्य । सर्वाङ्गम् (वर्धताम्) वृद्धिं प्राप्नोतु (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । शेते वर्तते शरीरे तत् सामर्थ्यम् (तेन) कारणेन (योषितम्) अ० १ । १७ । १ । युष सेवने-इति । सेव्यां नीतिम् (इत्) एव (जहि) हन गतौ । गच्छ ॥

येन॑ । कृ॒शम् । वा॒जय॑न्ति । येन॑ । हि॒न्वन्ति॑ । आतु॑रम् । तेन॑ ।
अ॒स्य । ब्र॒ह्म॒णः । प॒ते॒ । धनुः॑-इव । आ । ता॒न॒य॒ । पसः॑ ॥२॥

भाषार्थ—(येन) जिस कर्म से (कृशम्) दुर्बल को (वाजयन्ति) बली करते हैं और (येन) जिस से (आतुरम्) अशान्त पुरुष को (हिन्वन्ति) प्रसन्न करते हैं। (तेन) उसी कर्म से (ब्रह्मणस्पते) हे अन्न, वा धन, वा वेद वा ब्राह्मण के रक्षक परमेश्वर! (अस्य) इसके (पसः) राज्य को (धनुः इव) धनुष के समान (आ) भले प्रकार (तानय) फैला ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा निर्बल और रोगियों को यथावत् सुख देकर अपने राज्य को सदा बढ़ावे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ४ । ४ । ६ ॥

आहं त॑नोमि ते॒ पसो॒ अधि॒ ज्यामि॑व॒ धन्व॑नि ।
क्रम॑स्वर्श॑ इव रो॒हित॒मन॑वग्लायता॒ सदा॑ ॥ ३ ॥

आ । अ॒हम् । त॒नो॒मि॒ । ते॒ । पसः॑ । अधि॑ । ज्याम्-इ॑व । धन्व॑नि ।
क्रम॑स्व । ऋशः॑-इव । रो॒हित॑म् । अन॑व-ग्लायता । सदा॑ ॥३॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [हे मनुष्य!] (ते) तेरे (पसः) राज्य को (आ) यथावत् (तनोमि) फैलाता हूं (ज्याम् इव) जैसे डोरी को (धन्वनि अधि) धनुष में। (अनवग्लायता) विना ग्लानि वा थकावट के (सदा) सदा [शत्रुओं पर] (क्रमस्व) धावा कर, (ऋशः इव) जैसे हिंसक जन्तु सिंह आदि (रोहितम्) हरिण पर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्यों से निरालसी होकर शत्रुओं को वश में करके सदा प्रजापालन करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । ४ । ७ ॥

२—(येन) कर्मणा (कृशम्) दुर्बलम् (वाजयन्ति) वाजयति= अर्चति-निघ० ३ । १४ । वाजो बलम्-निघ० २ । ९ । अर्श आद्यच् । वाज बलिनं कुर्वन्ति वाजयन्ति (हिन्वन्ति) हिवि प्रीणने । प्रीणयन्ति (आतुरम्) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । अत सातत्य-गमने उरच्, धातो दीर्घः । अशान्तम । रोगार्तम् (तेन) कर्मणा । अन्यद् गतम्-अ० ४ । ४ । ६ (पसः) पस बन्धने बाधे च-असुन् । राष्ट्रम्-दयानन्द भाष्ये यजु० २३ । २२ ।

३—अयं मन्त्रो व्याख्येयो यथा—अ० ४ । ४ । ४७ ॥

सूक्तम् ॥ १०२ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

जितेन्द्रियत्वोपदेशः—जितेन्द्रिय होने का उपदेश ॥

यथायं वाहो अश्विना समैति सं च वर्तते ।

एवा मामभि ते मनः समैतु सं च वर्तताम् ॥ १ ॥

यथा । अयम् । वाहः । अश्विना । सम्-ऐति । सम् । च । वर्तते । एव । माम् । अभि । ते । मनः । सम्-एतु । सम् । च । वर्तताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे सूर्य और चन्द्रमा [के समान नियम वाले पुरुष ! (यथा) जैसे (अयम्) यह (वाहः) लद्दू पशु [घोड़ा बैल मूआदि] (समैति) मिलकर आता है (च) और (सम्) ठीक ठीक (वर्तते) वर्तता है । (एव) वैसे ही [हे जीव !] (माम् अभि) मेरी ओर (ते मनः) तेरा मन (समैतु) मिल कर आवे (च) और (सम् वर्तताम्) ठीक ठीक वर्ताव करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य पशु आदि को शिक्षा देकर सुमार्ग पर चलाता है, वैसे ही जितेन्द्रिय पुरुष मन को वश में करके शुभ मार्ग में अपने को चलावे ॥१॥

आहं खिदामि ते मनो राजाश्वः पृष्ट्यामिव ।

रेष्मच्छिन्नं यथा तृणं मयि ते वेष्टतां मनः ॥ २ ॥

आ । अहम् । खिदामि । ते । मनः । राज-अश्वः । पृष्ट्याम्-इव ।

१—(यथा) येन प्रकारेण (अयम्) पुरोवर्तमानः (वाहः) भारवाहकः पशुः (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । अश्विनौ सूर्याचन्द्रमसावित्येके—निरु० १२ । १ । हे सूर्यचन्द्रतुल्यनियमवन् पुरुष (समैति) संगत्यागच्छति (सम्) सम्यक् (च) (वर्तते) भवति (एव) एवम् (माम्) जितेन्द्रिय (अभि) प्रति (ते) तव (मनः) मननसाधनं चित्तम् (समैतु) संगत्यागच्छतु (सम् च वर्तताम्) ॥

रेष्म-छिन्नम् । यथा । तृणम् । मयि । ते । वेष्टताम् । मनः ॥२॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (अहम्) मैं (ते मनः) तेरे मन को (आखिदामि) ऐसे खींचता हूं (इव) जैसे (राजाश्वः) बड़ा अश्ववार (पृष्ट्याम्) बागडोर को। (मयि) मुझ में (ते मन) तेरा मन (वेष्टताम्) लिपटा रहे (यथा) जैसे (रेष्मच्छिन्नम्) व्याकुल करने वाली आंधी से तोड़ा गया (तृणम्) घास ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने मन को कुविषयों से खींच कर तत्त्व विचार में ऐसा लगावे, जैसा सुसारथी चंचल घोड़े को बागडोरी से वश में करता है, अथवा जैसे घास आंधी से टूट कर आंधी के वश में हो जाती है ॥ २ ॥

आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च ।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे ॥ ३ ॥

आ-अञ्जनस्य । मदुघस्य । कुष्ठस्य । नलदस्य । च । तुरः। भगस्य । हस्ताभ्याम् । अनु-रोधनम् । उत् । भरे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आञ्जनस्य) संसार के प्रकट करने वाले, (मदुघस्य) आनन्द के सींचने वाले, (कुष्ठस्य) गुण जांचने वाले, (नलदस्य) बन्धन काटने

२—(अहम्) जितेन्द्रियः (आखिदामि) आकर्षामि (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (राजाश्वः) अश्वमारोहतीति अश्वारूढः, स एव अश्वः । विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ३ । ८३। इत्यारूढपद-लोपः राजाश्वारूढः=राजाश्वः, कुशलोऽश्वारूढः (पृष्ट्याम्) पृषु सेचनहिंसा सक्लेशनेषु—क्तिन्, ततो यत् । पृष्टौ क्लेशसाधनाय रज्ज्वां भव रश्मि प्रग्रहम् (इव) यथा (रेष्मच्छिन्नम्) रिष हिंसायाम्—मनिन् । रेषकेण तीव्रवायुना भग्नम् (यथा) येन प्रकारेण (मयि) ममवशे (ते) तव (वेष्टताम्) आच्छाद्यताम् (मनः) ॥

३—(आञ्जनस्य) अ० ४ । ६ । २ आङ्+अञ्ज व्यक्तौ—ल्युट् । यथावत्संसारस्य व्यक्तीकारकस्य ब्रह्मणः (मदुघस्य) भृमृशीङ् ०। उ० १। ७ ।इति मद हर्षे—उप्रत्ययः + घृ सेके भासे च—ड । हर्ष सेचकस्य (कुष्ठस्य) अ० ५ ।

वाले, (तुरः) शीघ्रकारी, (च) और (भगस्य) बड़े ऐश्वर्यवाले ब्रह्म के (अनुरोधनम्) यथावत् पूजन को (हस्ताभ्याम्) अपने दोनों हाथों [में बल] के लिये (उत्) उत्तम रीति से (भरे) मैं धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस जगदीश्वर के अनन्त शुभगुणों का विचार करके प्रयत्न पूर्वक सदा प्रसन्न रहें ॥३॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

अथैकादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १०३ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रु पराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

सं॒दानं॑ वो॒ बृह॒स्पति॑ः सं॒दानं॑ सवि॒ता क॑रत् ।

सं॒दानं॑ मि॒त्रो अ॑र्य॒मा सं॒दानं॒ भगो॑ अ॒श्विना॑ ॥ १ ॥

स॒म्-दान॑म् । व॒ः । बृह॒स्पति॑ः । स॒म्-दान॑म् । स॒वि॒ता । क॒र॒त् ।

स॒म्-दान॑म् । मि॒त्रः । अ॒र्य॒मा । स॒म्-दान॑म् । भग॑ः । अ॒श्विना॑ ॥१॥

भाषार्थ—[हे शत्रु लोगो !] (बृहस्पतिः) बड़े बड़े सैनिकों का स्वामी (वः) तुम्हारा (संदानम्) खण्डन, (सविता) प्रेरणा करने वाला सेनाध्यक्ष

---

४ । १ । कुष निष्कर्षे—कथन् । गुणपरीक्षकस्य (नलदस्य) अ० ४ । ३७ । ३ । णल बन्धने—अच्+दो अवखण्डने—क । बन्धनच्छेदकस्य (च) (तुरः) तुर त्वरणे—क्विप् । त्वरणशीलस्य (भगस्य) ऐश्वर्यवतो ब्रह्मणः (हस्ताभ्याम्) हस्तयोर्बलप्राप्तये (अनुरोधनम्) यथावत्पूजनम् (उत्) उत्कर्षेण (भरे) हृदये धरामि ॥

१—(सन्दानम्) दो अवखण्डने—ल्युट् । सम्यग् बन्धनं खण्डनं वा (वः) युष्माकम् (बृहस्पतिः) बृहतां सैनिकानां स्वामी, सेनापतिः (सविता)

(सन्दानम्) तुम्हारा बन्धन, (मित्रः) सब का मित्र (अर्यमा) न्यायाधीश (सन्दानम्) तुम्हारा खण्डन, (अश्विना) सूर्य चन्द्रमा के समान नियम वाला (भगः) ऐश्वर्यवान् राजा (सन्दानम्) तुम्हारा बन्धन (करत्) करे ॥१॥

भावार्थ—रणक्षेत्र में सब सेनापति लोग अपनी अपनी सेना से शत्रुओं को मारें और बांधें ॥१॥

सं पर॑मान्त्सम॑व॒मानथो॒ सं द्या॑मि मध्य॒मान् ।
इन्द्र॒स्तान् पर्य॑हा॒र्दाम्ना॒ तान॑ग्ने॒ सं द्या॒ त्वम् ॥ २ ॥

सम् । प॒र॒मान् । सम् । अ॒व॒मान् । अथो॒ इति॑ । सम् । द्या॒मि॒ । म॒ध्य॒मान् । इन्द्रः॑ । तान् । परि॑ । अ॒हाः॒ । दाम्ना॑ । तान् । अ॒ग्ने॒ । सम् । द्य॒ । त्वम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(परमान्) ऊंचे वैरियों को (सम्) यथावत्, (अवमान्) नीचे शत्रुओं को (सम्) यथावत् (अथो) और (मध्यमान्) बीच वाले शत्रुओं को (सम्) यथावत् (द्यामि) खण्ड खण्ड करता हूं। (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा ने (तान्) चोरों को (परि) सब ओर से (अहाः) नाश कर दिया है, (अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (त्वम्) तू (दाम्ना) पाश से (तान्) म्लेच्छों को (सम् द्य) बांध ले ॥२॥

भावार्थ—प्रत्येक सैनिक सेनादल में शत्रुओं को सब स्थान से मारे और बांधे ॥२॥

सर्वप्रेरकः। सेनाध्यक्षः (करत्) कुर्य्यात् (मित्र.) सर्वसखा (अर्यमा) अ० ३। १४। २। न्यायाधीशः (भगः) ऐश्वर्यवान् (अश्विना) सूर्यचन्द्रवद्—नियमवान् पुरुषः ॥

२—(सम्) सम्यक् (परमान्) उच्चस्थान् शत्रून् (सम्) (अवमान्) नीचस्थान् (अथो) अपि च (द्यामि) दो अवखण्डने। खण्डशः करोमि (मध्यमान्) मध्यस्थान् (इन्द्रः) प्रतापी राजा (तान्) तर्दकांश्चोरान्। (परि) परितः (अहाः) हरतेर्लुङि च्लेः सिच्। बहुलं छन्दसि। पा० ७। ३। ९७। इति ईडभावे। हल्ङ्याब्भ्यः०। पा० ६। १। ६८। इति तलोपे। रात् सस्य। पा० ८। २। २४। इति सलोपः। हृतवान् नाशितवान् (दाम्ना) पाशेन (अग्ने) हे विद्वन् राजन् (सम् द्य) बधान (त्वम्) ॥

अमी ये युधमायन्ति केतून् कृत्वानीकशः ।
इन्द्रस्तान् पर्यहार्दाम्ना तानग्ने सं द्या त्वम् ॥ ३ ॥

अमी इति । ये । युधम् । आ-यन्ति । केतून् । कृत्वा । अनीक-शः । इन्द्रः । तान् । परि । अहाः । दाम्ना । तान् । अग्ने । सम् । द्य । त्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अमी ये) वे जो शत्रु (केतून्) ध्वजा पताकायें (कृत्वा) बनाकर (अनीकशः) टोली टोली से (युधम्) युद्ध में (आयन्ति) आते हैं। (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा ने (तान्) उन चोरों को (परि) सब ओर से (अहाः) नाश कर दिया है, (अग्ने) हे विद्वन् राजन् ! (त्वम्) तू (दाम्ना) पाश से (तान्) म्लेच्छों को (सम् द्य) बांध ले ॥ ३ ॥

भावार्थ—शत्रुओं को रणक्षेत्र में आते हुये देखकर सेनापति व्यूह रचना करके उन्हें रोके ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १०४ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

आदानेन संदानेनामित्राना द्यामसि ।
अपाना ये चैषां प्राणा असुनासून्त्समच्छिदन् ॥ १ ॥

आ-दानेन । सम्-दानेन । अमित्रान् । आ । द्यामसि । अपानाः । ये । च । एषाम् । प्राणाः । असुना । असून् । सम् । अच्छिदन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आदानेन) आकर्षणपाश से और (सन्दानेन) बन्धन

३—(अमी) दूरे दृश्यमानाः (ये) शत्रवः (युधम्) सङ्ग्रामम् (केतून्) चायः किः । उ० १ । ७४ । चायृ पूजानिशामनयोः—तु, यद्वा, कि ज्ञाने–तु । केतुः प्रज्ञा—निघ० ३ । ९ । केतुना कर्मणा प्रज्ञया वा—निरु० ११ । २७ । ज्ञापकान् ध्वजान् (कृत्वा) अनुष्ठाय (अनीकशः) अ० ५ । २१ । ८ । सङ्घशः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

१—(आदानेन) आदीयते आबध्यते अनेन । आकर्षणपाशेन (सन्दानेन)

पाश से (अमित्रान्) अपने शत्रुओं को (आ द्यामसि) हम बांधते हैं। (च) और (एषाम्) इनके (ये) जो (अपानाः) अपान वायु और (प्राणाः) प्राण वायु हैं। (असून्) इनके प्राणों को (असुना) अपनी बुद्धि से (सम् अच्छिदन्) उन [हमारे वीरों] ने छिन्न भिन्न कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—शूरवीर धावा करके अपने अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीवन से हताश करके निर्बल करें ॥ १ ॥

इ॒दमा॒दान॑मकरं॒ तप॒सेन्द्रे॑ण॒ संशि॑तम् ।
अ॒मित्रा॒ येऽत्र॑ नः॒ सन्ति॒ ताने॑ग्न॒ आ द्या॒ त्वम् ॥२॥

इ॒दम् । आ॒ऽदान॑म् । अ॒क॒र॒म् । तप॑सा । इन्द्रे॑ण । सम्ऽशि॑तम् ।
अ॒मित्राः॑ । ये । अत्र॑ । नः॒ । सन्ति॑ । तान् । अ॒ग्ने॒ । आ । द्य॒ । त्वम् ॥२

भाषार्थ—(इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले आचार्यकरके (संशितम्) तीक्ष्ण किया गया (इदम्) यह (आदानम्) आकर्षण यन्त्र (तपसा) तप से (अकरम्) मैं ने बनाया है। (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (ये) जो (अमित्राः) शत्रु (सन्ति) हैं, (तान्) उनको (अग्ने) हे तेजस्वी राजन्! (त्वम्) तू (आ द्य) बाँध ले ॥ २॥

भावार्थ—बड़े बड़े विद्वानों की सम्मति से सेनापति लोग अस्त्र शस्त्र बना कर शत्रुओं को वश में करें ॥ २ ॥

बन्धनपाशेन (अमित्रान्) शत्रून् (आद्यामसि) बध्नीमः (अपानाः) बहिर्गमनशीलाः श्वासवृत्तयः (ये) (च) (एषाम्) शत्रूणाम् (प्राणाः) अन्तर्गमनाः श्वासाः (असुना) स्वप्रज्ञया—निघ० ३ । ९ । (असून्) शत्रुप्राणान् (सम्) सम्यक् (अच्छिदन्) छिदिर् द्वैधीकरणे । छिन्नवन्तः शूराः ॥

२—(इदम्) निर्दिष्टम् (आदानम्) आकर्षणपाशम् (अकरम्) अकार्षम् (तपसा) तपोबलेन (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवता गुरुणा (संशितम्) सम्यक् तीक्ष्णीकृतम् (अमित्राः) शत्रवः (ये) (अत्र) अस्मिन् संग्रामे (नः) अस्माकम् (सन्ति) वर्तन्ते (तान्) शत्रून् (अग्ने) हे तेजस्विन् राजन् (आ द्य) बधान। पाशयन्त्रेण गृहाण (त्वम्) ॥

ऐनान् द्यतामिन्द्राग्नी सोमो राजा च मेदिनौ ।
इन्द्रो मरुत्वानादानममित्रेभ्यः कृणोतु नः ॥ ३॥

आ । एनान् । द्यताम् । इन्द्राग्नी इति । सोमः । राजा ।
च । मेदिनौ । इन्द्रः । मरुत्वान् । आ-दानम् । अमित्रेभ्यः ।
कृणोतु । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि के समान गुणवान् (मेदिनौ) प्रीति करने वाले (सोमः) सेनाप्रेरक युद्धमन्त्री (च) और (राजा) ऐश्वर्यवान् न्यायाधीश दोनों (एनान्) इन शत्रुओं को (आद्यताम्) बांध लेवें । (मरुत्वान्) शूरों को साथ रखने वाला (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (नः) हमारे (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के लिये (आदानम्) आकर्षण यन्त्र (कृणोतु) बनावे ॥३॥

भावार्थ—सेनासचिव, न्यायमन्त्री और मुख्य सेनापति अपने शूर वीरों से शत्रुओं को परास्त करें ॥३॥

सूक्तम् ॥ १०५ ॥

१-३ ॥ मनुष्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

उत्कर्षप्राप्त्युपदेशः—महिमा पाने के लिये उपदेश ॥

यथा मनो मनस्केतैः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत मनसोऽनु प्रवाय्यम् ॥ १ ॥

यथा । मनः । मनः-केतैः । परा-पतति । आशु-मत् । एव ।
त्वम् । कासे । प्र । पत । मनसः । अनु । प्र-वाय्याम् ॥ १ ॥

३—(एनान्) शत्रून् (आद्यताम्) बध्नीताम् (इन्द्राग्नी) वाय्वग्निवद् गुणवन्तौ । इन्द्राग्नी=वाय्वग्नी—दयानन्द भाष्ये यजु० २१ । २० (सोमः) सेनाप्रेरको युद्धमन्त्री (राजा) ऐश्वर्यवान् न्यायसचिवः (च) (मेदिनौ) मिद स्नेहने—णिनि । स्नेहिनौ (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (मरुद्भिः) मरुद्भिः शूरवीरैर्युक्तः—अ० १ । २० । १ । (आदानम्) आकर्षणयन्त्रम् (अमित्रेभ्यः) शत्रूणां बन्धाय (कृणोतु) करोतु (नः) अस्माकम् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (मनः) मन (मनस्केतैः) मन के विषयों के साथ (आशुमत्) शीघ्रता से (परापतति) आगे बढ़ता जाता है। (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) ज्ञान वा उपाय के बीच (मनसः) मन के (प्रवाय्यम् अनु) प्राप्ति योग्य देश की ओर (प्र पत) आगे बढ़ ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य मन की कुवृत्तियों को रोक कर ज्ञान पूर्वक शुभकर्म में शीघ्र लगावे ॥१॥

यथा बाणः सुसंशितः परापतत्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत पृथिव्या अनु संवतम् ॥ २ ॥

यथा । बाणः । सु-संशितः । परा-पतति । आशु-मत् । एव । त्वम् । कासे । प्र । पत । पृथिव्याः । अनु । सम्-वतम् ॥२॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सुसंशितः) यथाविधि तीक्ष्ण किया हुआ (बाणः) बाण वा शब्द (आशुमत्) वेग से (परापतति) आगे बढ़ा जाता है। (एव) वैसे ही) [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) ज्ञान वा उपाय के बीच (पृथिव्याः) पृथिवी के (संवतम् अनु) यथावत् सेवनीय देश की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार यथावत् सन्धान किया हुआ बाण और ठीक ठीक बोला गया शब्द लक्ष्य पर शीघ्र पहुंचता है, वैसे ही मनुष्य यथावत् ज्ञान और उपाय से पृथिवी पर अभीष्ट पदार्थ को शीघ्र प्राप्त करे ॥ २ ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (मनः) मननसाधकमिन्द्रियम् (मनस्केतैः) कित ज्ञाने—घञ् । अन्तःकरणस्य ज्ञायमानैर्विषयैः सह (परापतति) आभिमुख्येन गच्छति (आशुमत्) यथा तथा । शीघ्रम् (एव) एवम् (त्वम्) हे मनुष्य त्वम् (कासे) कस गतौ—घञ् । ज्ञाने। उपाये (मनसः) अन्तःकरणस्य (अनु) अनुलक्ष्य (प्रवाय्यम्) भय्यप्रवय्ये च च्छन्दसि । पा० ६ । १ । ८३ । इति प्र+वी गतौ—यत्, अयादेशश्च, छान्दसो दीर्घः । प्रवय्य प्रगन्तव्यं देशम् । अवधिम् ॥

२—(बाणः) अकर्तरि च कारके संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १९ । इति बण शब्दे—घञ् । बाणी वाक्—निघ० १ । ११ । शरः । शब्दः (सुसंशितः) शो तनूकरणे—क्त । सुष्ठु सम्यक् तीक्ष्णीकृतः (पृथिव्याः) भूम्याः (संवतम्) अ० ६ । २६ । ३ । सम् + वन संभक्तौ—क्विप्, नकारलोपे तुक् । सम्यग् वननीयं सेवनीयं देशम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १॥

यथा सूर्यस्य रश्मयः परापतन्त्याशुमत् ।
एवा त्वं कासे प्र पत समुद्रस्यानु विक्षरम् ॥ ३ ॥

यथा । सूर्यस्य । रश्मयः परा-पतन्ति । आशु-मत् । एव ।
त्वम् । कासे । प्र । पत । समुद्रस्य । अनु । वि-क्षरम् ॥३॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मयः) किरणें (आशुमत्) शीघ्र (परापतन्ति) आगे बढ़ती जाती हैं। (एव) वैसे ही [हे मनुष्य !] (त्वम्) तू (कासे) ज्ञान वा उपाय के बीच (समुद्रस्य) अन्तरिक्ष के (विक्षरम् अनु) प्रवाहस्थान [मेघ मण्डल आदि] की ओर (प्रपत) आगे बढ़ ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य की किरणों के समान बे रोक शीघ्रगामी होकर विज्ञान पूर्वक पुष्पक विमान आदि द्वारा अन्तरिक्ष में प्रवेश करे ॥३॥

सूक्तम् ॥ १०६ ॥

१-३ ॥ शालादेवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

दुर्गनिर्माणोपदेशः—गढ़ बनाने का उपदेश ॥

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः ।
उत्सो वा तत्र जायतां ह्रदो वा पुण्डरीकवान् ॥ १ ॥

आ-अयने । ते । परा-अयने । दूर्वाः । रोहन्तु । पुष्पिणीः ।
उत्सः । वा । तत्र । जायताम् । ह्रदः । वा । पुण्डरीक-वान् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (आयने) आगमनमार्ग और (परायणे) निकास में (पुष्पिणीः) फूलवाली (दूर्वाः) दूब घासें (रोहन्तु)

३—(सूर्यस्य) भूचन्द्रादिलोकप्रेरकस्यादित्यस्य (रश्मयः) अ० २ । ३२ । १ । व्यापनाः किरणाः (समुद्रस्य) अ० १ । ३ । ८ । अन्तरिक्षस्य—निघ० १ । ३ । (विक्षरम्) विविध क्षरणं प्रवाहो यस्मिन् तं देशं मेघमण्डलादिलोकम् । अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—(आयने) आङ्+इण् गतौ—ल्युट् । आगमने (ते) तव (परायणे) इण्—ल्युट् । बहिर्गमने (दूर्वाः) दुर्वी हिंसायाम्—अ । स्वनामख्यातघासाः ।

उगें। (वा) और (तत्र) वहां (उत्सः) कुआ (वा) और (पुण्डरीकवान्) कमलों वाला (ह्रदः) ताल (आयताम्) होवे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य दुर्ग और घरों के आस पास के दृश्य को सुख बढ़ाने वाले दूब, जल, कमल आदि से स्वस्थता के लिये सुशोभित रक्खें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० स० १४२ म० ८॥

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम् ।
मध्ये ह्रदस्य नो गृहाः पराचीना मुखा कृधि ॥ २ ॥

अपाम् । इदम् । नि-अयनम् । समुद्रस्य । नि-वेशनम् ।
मध्ये । ह्रदस्य । नः । गृहाः । पराचीना । मुखा । कृधि ॥२॥

भाषार्थ—(अपाम्) प्रजाओं का (इदम्) यह (न्ययनम्) निवास स्थान (समुद्रस्य) जल समूह का (निवेशनम्) प्रवेश हो। (नः गृहाः) हमारे घर (ह्रदस्य) ताल वा खाई के (मध्ये) बीच में हों, [हे राजन् शत्रुओं के] (मुखा) मुखों को (पराचीना) उलटा (कृधि) कर दे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये दुर्ग के चारों ओर जल की गहरी खाई रक्खे जिससे शत्रुओं का मार्ग रुका रहे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध यजुर्वेद में है—अ० १७ म० ७ ॥

हिमस्य त्वा जरायुणा शाले परि व्ययामसि ।

सहस्रवीर्याः। हरिताः (रोहन्तु) उद्भवन्तु (पुष्पिणीः) बहुपुष्पयुक्ताः (उत्सः) अ० १ १५। ३। कूपः—निघ० ३। २३। (वा) चार्थे (तत्र) तस्मिन् देशे (जायताम्) वर्तताम् (ह्रदः) अगाधजलाशयः (पुण्डरीकवान्) फर्फरीकादयश्च। उ० ४। २०। इति पुडि खण्डने—यद्वा पुण शुभकर्मणि—ईकन्, उभयपक्षे पृषोदरादित्वात्साधुः। कमलैर्युक्तः ॥

२—(अपाम्) प्रजानाम्। आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये—यजु० ६। २७। (इदम्) (न्ययनम्) इण—ल्युट्। निवासस्थानम् (समुद्रस्य) जलौघस्य (निवेशनम्) प्रवेशनम् (मध्ये) (ह्रदस्य) जलाशयस्य। परिखायाः (नः) अस्माकम् (गृहाः) गेहानि (पराचीना) प्रतिकूलानि (कृधि) कुरु ॥

शीतह्र॑दा हि नो॑ भुवो॑ऽग्निष्कृ॑णोतु भेष॒जम् ॥ ३ ॥

हि॒मस्य॑ । त्वा॒ । ज॒रायु॑णा । शाले॑ । परि॑ । व्य॒या॒म॒सि॒ । शीत॑-ह्र॒दा । हि । नः॒ । भुवः॑ । अ॒ग्निः । कृ॒णोतु॒ । भे॒ष॒जम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! (हिमस्य) शीत के (जरायुणा) जीर्ण करने वाले वस्त्र वा अग्नि के साथ (त्वा) तुझको (परि) अच्छे प्रकार (व्ययामसि) हम प्राप्त होवे हैं । (हि) क्योंकि [जब] तू (नः) हमारे लिये (शीतह्रदा) ताल के समान शीतल (भुवः) होवे, (अग्निः) अग्नि [ताप] (भेषजम्) भय निवारक कर्म (कृणोतु) करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शीत के लिये उष्ण सामग्री और उसी प्रकार उष्ण ऋतु के लिये शीतल वस्तुओं का भण्डार दुर्ग और घरों में रक्खें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७ । ५ ॥

सूक्तम् ॥ १०७ ॥

१-४ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वसुखप्राप्त्युपदेशः—सब सुख की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

विश्व॑जित् त्रायमा॒णायै॑ मा॒ परि॑ दे॒हि । त्राय॑माणे द्वि॒पाच्च॒ सर्वं॑ नो॒ रक्ष॒ चतु॑ष्पा॒द् यच्च॑ नः॒ स्वम् ॥ १ ॥

विश्व॑-जित् । त्रा॒य॒मा॒णायै॑ । मा॒ । परि॑ । दे॒हि॒ । त्राय॑माणे । द्वि॒-पात् । च॒ । सर्व॑म् । नः॒ । रक्ष॑ । चतुः॑-पात् । यत् । च॒ । नः॒ । स्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! (त्राय-

३—(हिमस्य) शीतस्य (त्वा) त्वाम् (जरायुणा) कृजरयोः श्रिणः । उ० १ । ४ । इति जरा+इण् गतौ— ञुण् । जरामेति येन जरायुस्तेन वस्त्रेणाग्निना वा (शाले) हे गृह (परि) परितः (व्ययामसि) व्यय गतौ वित्तसमुत्सर्गे च । प्राप्नुमः (शीतह्रदा) शीता ह्रद इव (हि) यस्मात् कारणात् (नः) अस्मभ्यम् (भुवः) त्वं भवेः (अग्निः) तापः (कृणोतु) करोतु (भेषजम्) भयनिवारकं कर्म ॥

१—(विश्वजित्) हे जगद्विजयिन् परमेश्वर (त्रायमाणायै) त्रैङ्

माणायै) त्रायमाणा, रक्षा करने वाली [शाला वा ओषधि विशेष] को (मा) मुझे (परि देहि) सौंप । (त्रायमाणे) हे रक्षा करने वाली शाला ! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दो पाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाये (च) और (नः) हमारे (यत् स्वम्) सब कुछ धन की (रक्ष) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से दृढ़स्थान बनाकर और त्रायमाणा आदि औषध का सेवन करके मनुष्यों, पशुओं और धन की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

इस मन्त्र में (शाला) शब्द की अनुवृत्ति गतमन्त्र ३ से आती है, और (त्रायमाणा) ओषधि विशेष भी है जिसके नाम त्रायन्ती, बलभद्रिका आदि हैं ॥

त्रायमाणे विश्वजिते मा परि देहि । विश्वजिद्द्
द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्द् यच्च नः स्वम् ॥२॥

त्रायमाणे । विश्व-जिते । मा । परि । देहि । विश्व-जित् । द्वि-पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् २

भाषार्थ—(त्रायमाणे) हे त्रायमाणा, रक्षा करने वाली ! (विश्वजिते) संसार के जीतने वाले परमेश्वर को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप । (विश्वजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर (नः) हमारे (सर्वम्) सब...... म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम घर और औषध के सेवन से परमेश्वर की आज्ञा पालन करके सब पदार्थों की यथावत् रक्षा करें ॥ २ ॥

विश्वजित् कल्याण्यै मा परि देहि । कल्याणि
द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद्द् यच्च नः स्वम् ॥३॥

पालने—शानच् । रक्षाशीलायै शालायै ओषधिविशेषायै वा (मा) माम् (परि देहि) समर्पय (त्रायमाणे) हे रक्षाशीले (द्विपात्) पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् (सर्वम्) अखिलम् (नः) अस्माकम् (रक्ष) पालय (चतुष्पात्) गोमहिषादिकम् (यत्) यत्किञ्चित्सर्वम् (स्वम्) धनम् ॥

२—यथा व्याख्यातम्—म० १ ।

विश्वं-जित् । कुल्याण्यै । मा । परि । देहि । कल्याणि । द्वि-पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥३॥

भाषार्थ—(विश्वजित्) हे संसार के जीतने वाले परमेश्वर ! (कल्याण्यै) कल्याणी, मङ्गल करने वाली [शाला अथवा ओषधि विशेष] को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप । (कल्याणि) हे कल्याणि (नः) हमारे (सर्वम्) सब मं० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक तथा दो के समान ॥३॥

(कल्याणी) ओषधि विशेष भी है जिसका नाम माषपर्णी है ॥

कल्याणि सर्वविदे मा परि देहि । सर्वविद् द्विपाच्च सर्वं नो रक्ष चतुष्पाद् यच्च नः स्वम् ॥ ४ ॥

कल्याणि । सर्व-विदे । मा । परि । देहि । सर्व-वित् । द्वि-पात् । च । सर्वम् । नः । रक्ष । चतुः-पात् । यत् । च । नः । स्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(कल्याणि) हे कल्याणी, मङ्गलकारिणी ! [शाला वा ओषधि विशेष] (सर्वविदे) सर्वज्ञ परमेश्वर को (मा) मुझे (परिदेहि) सौंप (सर्व विद्) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (नः) हमारे (सर्वम्) सब (द्विपात्) दोपाये (च) और (चतुष्पात्) चौपाये (च) और (नः) हमारे (यत् स्वम्) जो कुछ धन को (रक्ष) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र एक और दो के समान ॥ ४ ॥

सूक्तम् ॥ १०८ ॥

१-५ ॥ मेधा देवता ॥ १, ४, ५ अनुष्टुप्; २, ३ बृहती ॥

बुद्धिधनयोः प्राप्त्युपदेशः—बुद्धि और धन की प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

त्वं नो मेधे प्रथमा गोभिरश्वेभिरा गहि ।

३—(कल्याण्यै) कल्य शुभम् अण्यते शब्द्यते । अकर्तरि च कारके० । पा० ३ । ३ । १९ । कल्य+अण शब्दे जीवने च—घञ्, ङीप् । हे मङ्गलकारिणि शाले माषपर्णि वा । अन्यद् गतम् ॥

४—(सर्वविदे) विद ज्ञाने—क्विप् । सर्वज्ञाय परमेश्वराय । (सर्ववित्) हे सर्वज्ञ ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

त्वं सूर्यस्य रश्मिभिस्त्वं नो असि यज्ञिया ॥ १ ॥

त्वम् । नः । मेधे । प्रथमा । गोभिः । अश्वेभिः । आ । गहि । त्वम् । सूर्यस्य । रश्मि-भिः । त्वम् । नः । असि । यज्ञिया ॥१॥

भाषार्थ—(मेधे) हे धारणावती बुद्धि वा संपत्ति ! (प्रथमा) प्रख्यात (त्वम्) तू (गोभिः) गौओं और (अश्वेभिः) घोड़ों के साथ (नः) हमको (आ गहि) प्राप्त हो। (त्वम्) तू (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) फैलने वाली किरणों के साथ वर्तमान, और (त्वम्) तू (नः) हमारी (यज्ञिया) पूजनीय (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के समान प्रख्यात स्मरणशील बुद्धि और श्रेष्ठ धन प्राप्त करके सांसारिक और पारमार्थिक व्यवहार सिद्ध करें ॥१॥

मेधामहं प्रथमां ब्रह्मण्वतीं ब्रह्मजूतामृषिष्टुताम् ।
प्रपीतां ब्रह्मचारिभिर्देवानामवसे हुवे ॥ २ ॥

मेधाम् । अहम् । प्रथमाम् । ब्रह्मण्-वतीम् । ब्रह्म-जूताम् । ऋषि-स्तुताम् । प्र-पीताम् । ब्रह्मचारि-भिः । देवानाम् । अवसे । हुवे ॥२॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (प्रथमाम्) पहिली [अति श्रेष्ठ] (ब्रह्मण्वतीम्) ब्रह्म अर्थात् ईश्वर, वा वेद वा अन्न वा धन की धारण करनेवाली, (ब्रह्मजूताम्) ब्राह्मणों, ब्रह्मज्ञानियों से प्राप्त वा प्रीति की गयी, (ऋषिष्टुताम्) ऋषियों,

---

१—(त्वम्) (नः) अस्मान् (मेधे) मिधृ मेधृ संगमे च, चकारात् हिंसामेधयोश्च—घञ्। मेधा धननाम—निघ० २। १०। मेधावी कस्मान्मेधया तद्वान् भवति मेधा मतौ धीयते—निरु० ३। १९। हे धारणावति बुद्धे हे धन (प्रथमा) प्रख्याता। मुख्या (गोभिः) गवादिपशुभिः (अश्वेभि) अश्वैः। अश्वादिवहनशीलैः (सूर्यस्य) प्रेरकस्य। आदित्यस्य (रश्मिभिः) व्यापनशीलैः किरणैः (नः) अस्माकम् (असि) वर्तसे (यज्ञिया) यज्ञ—घ। यज्ञार्हा। पूजनीया ॥

२—(मेधाम्) म० १। सत्यधारणावतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा (प्रथमाम्) श्रेष्ठाम् (ब्रह्मण्वतीम्) मादुपधायाश्च०। पा० ८। २। ९। इति मतुपो वत्वम्। अनो नुट्। पा० ८। २। १६। इति नुडागमः। ब्रह्म—अन्नम्—निघ० २। ७। धनम्—

वेदार्थ जानने वाले मुनियों से स्तुति की गई, (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्मचारियों अर्थात् वेदपाठी और वीर्यनिग्राहक पुरुषों से (प्रपीताम्) अच्छे प्रकार पान की गयी (मेधाम्) सत्य धारणा करने वाली बुद्धि वा संपत्ति को (देवानाम) दिव्य गुणों की (अवसे) रक्षा के लिये (हुवे) आवाहन करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद आदि शास्त्र और ऋषि, मुनि, महात्माओं के इतिहासों के विचार से सदा स्मरण वाली बुद्धि और ऐश्वर्य प्राप्त करके संसार में उन्नति करें ॥२॥

यां मे॒धामृ॒भवो॑ वि॒दुर्यां मे॒धामसु॑रा वि॒दुः ।
ऋष॑यो भ॒द्रां मे॒धां यां वि॒दुस्तां मय्या वे॑शयामसि ॥३॥

याम् । मे॒धाम् । ऋ॒भवः॑। वि॒दुः । याम् । मे॒धाम् । असु॑राः। वि॒दुः । ऋष॑यः । भ॒द्राम् । मे॒धाम् । याम् । वि॒दुः । ताम् । मयि । आ । वे॒शया॒म॒सि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (मेधाम्) शुभगुण धारण करने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (ऋभवः) सत्य के साथ चमकने वाले महात्मा (विदुः) जानते हैं, (याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को (असुराः) बड़े बुद्धिमान पुरुष (विदुः) जानते हैं। (याम्) जिस (भद्राम्) कल्याण करने वाली (मेधाम्) निश्चल बुद्धि वा सम्पत्ति को (ऋषयः) ऋषि लोग

—२ । १० । ईश्वरवेदाश्नधर्मैर्युक्ताम् (ब्रह्मजूताम्) जु गतौ प्रीतौ च—क्त । जूतिर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगत देवप्रीतं वा—निरु० १० । २८ । ब्राह्मणैः प्राप्तां प्रीतां वा (ऋषिष्टुताम्) ऋषिः—अ० २ । ६ । १ । वेदार्थदर्शिभिर्मुनिभिः प्रशंसितम् (प्रपीताम्) प्रपूर्वात् पिबतेः—क्त, घुमास्था० । पा० ६ । ४ । ६६ । ईत्वम् । कृतपानाम् । सेवितनाम् (ब्रह्मचारिभिः) ब्रह्म+चर—णिनि । वेदपाठिभिर्वीर्यनिग्रहीतृभिः (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (अवसे) रक्षणाय (हुवे) आह्वयामि ॥

३—(याम्) (मेधाम्) म० १ । निश्चलां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (ऋभवः) अ० १ । २ । ३ । ऋतेन भान्तीति वा—निरु० ११ । १५ । (विदुः) विदन्ति । जानन्ति (असुराः) प्रज्ञावन्तः—निरु० १० । ३४ । (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः

(विदु) जानते हैं (ताम्) उसी को (मयि) अपने में (आ) सब ओर से (वेशयामसि) हम स्थापित करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े आप्त विज्ञानी पुरुषों के समान निश्चल बुद्धि और सम्पत्ति प्राप्त करके धर्म के आचरण के साथ सदा उपकार करें ॥ ३ ॥

यामृषयो भूतकृतो मेधां मेधाविनो विदुः ।

तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कृणु ॥ ४ ॥

याम् । ऋषयः । भूत-कृतः । मेधाम् । मेधाविनः । विदुः ।

तया । माम् । अद्य । मेधया । अग्ने । मेधाविनम् । कृणु ॥४॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (मेधाम्) धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति को (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले, (मेधाविनः) उत्तमबुद्धि वा सम्पत्ति वाले (ऋषयः) ऋषि लोग (विदुः) जानते हैं। (अग्ने) हे विद्या प्रकाशक परमेश्वर वा आचार्य ! (तया मेधया) उसी धारणावती बुद्धि वा सम्पत्ति से (माम्) मुझको (अद्य) आज (मेधाविनम्) उत्तमबुद्धि वा संपत्ति वाला (कृणु) कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना और आप्त धर्मज्ञ विद्वानों की सेवा से शुद्ध विज्ञान प्राप्त करके उन्नति करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३२ । म० १४ ।

मेधां सायं मेधां प्रातर्मेधां मध्यन्दिनं परि ।

मेधां सूर्यस्य रश्मिभिर्वचसा वेशयामहे ॥ ५ ॥

(भद्राम्) कल्याणीम् । वेदशास्त्रादिविषयाम् (मयि) आत्मनि (आ) समन्तात् (वेशयामसि) प्रवेशयामः । स्थापयामः ॥

४—(याम्) (ऋषयः) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः (भूतकृतः) भूतमुचितं कर्म कुर्वन्ति ते (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा (मेधाविनः) धीमन्तः, ऐश्वर्यवन्तः (विदुः) साक्षात्कुर्वन्ति (तया) (माम्) उपासकम् (अद्य) अस्मिन् दिने (मेधया) धारणावत्या बुद्ध्या सम्पत्त्या वा (मेधाविनम्) बुद्धिमन्तं धनिनं वा (कृणु) कुरु ॥

मे॒धाम् । सा॒यम् । मे॒धाम् । प्रा॒तः । मे॒धाम् । म॒ध्यम्ऽदि॒नम् । परि ।
मे॒धाम् । सूर्य॑स्य । र॒श्मिऽभिः । वच॑सा । आ । वे॒श॒या॒म॒हे॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मेधाम) शुभ गुण वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (सायम्) सायकाल, (मेधाम्) शास्त्रादि विषयवाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (प्रातः) प्रातःकाल, (मेधाम्) धर्म का स्मरण रखने वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (मध्यन्दिनम् परि) मध्याह्न समय में, (मेधाम्) सत्य व्यवहार वाली बुद्धि वा सम्पत्ति को (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) फैलने वाली किरणों के साथ (वचसा) परस्पर बात चीत से (आ) भले प्रकार (वेशयामहे) हम स्थापित करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सोते, जागते, और कर्म करते धार्मिक बुद्धि और सम्पत्ति को सूर्य के प्रकाश के समान विस्तीर्ण करके आनन्द प्राप्त करें ॥५॥

सूक्तम् ॥ १०९ ॥

१-३ ॥ पिप्पली देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश के लिये उपदेश ॥

पि॒प्प॒ली क्षि॑प्तभेष॒ज्यु॒३॒॑ताति॑विद्धभेष॒जी ।
तां दे॒वाः सम॑कल्पयन्नि॒यं जीवि॑त॒वा अल॑म् ॥ १ ॥

पि॒प्प॒ली । क्षि॒प्त॒ऽभे॒ष॒जी । उ॒त । अ॒ति॒वि॒द्ध॒ऽभे॒ष॒जी । ताम् ।
दे॒वाः । सम् । अ॒क॒ल्प॒य॒न् । इ॒यम् । जीवि॑त॒वै । अल॑म् ॥१॥

५—(मेधाम्) शुभगुणवतीं बुद्धिं सम्पत्तिं वा (सायम्) सायंकाले (मेधाम्) शास्त्रादिविषयां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (प्रातः) प्रातःकाले (मेधाम्) धर्मस्मरणशीलां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (मध्यन्दिनम्) दिनस्य मध्यं राजदन्तादित्वात् पूर्वनिपातः। पूर्वोत्तरादिःवामकारागमः। मध्याह्नम् (परि) लक्षणेत्थंभूताख्यान० पा० १।४।९०। इति इत्थंभूताख्यान कर्मप्रवचनीयत्वम्। प्रति (मेधाम्) सत्यव्यवहारां बुद्धिं सम्पत्तिं वा (सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मिभिः) व्यापकैः किरणैः (वचसा) परस्परसम्वादेन (आ) समन्तात् (वेशयामहे) आत्मनि स्थापयामः॥

भाषार्थ—(पिप्पली) पालन करने वाली, पिप्पली [ओषधि विशेष] (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्त, उन्मत्त की ओषधि, (उत) और (अतिविद्धभेषजी) बड़े घाव वाले की ओषधी है। (देवाः) विद्वानों ने (ताम्) उसको (सम् अकल्पयन्) अच्छे प्रकार माना है कि (इयम्) यह (जीवितवै) जिलाने के लिये (अलम्) समर्थ है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पीपली, ओषधि विशेष के सेवन से अनेक रोग की निवृत्ति होती है, वैसे ही मनुष्य कर्मों के फल भोग से सुख पावें ॥१॥

पिप्पली के गुण ज्वर, कुष्ठ, प्रमेह, गुल्म, अर्श, प्लीह, शूल, आम आदि रोगों का नाश करना है—शब्दकल्पद्रुम ॥

पिप्पल्यः॒ सम॑वदन्तायती॒र्जन॑नादधि ।
यं जी॒वम॒श्नवा॑महै॒ न स रि॑ष्याति॒ पूरु॑षः ॥ २ ॥

पि॒प्प॒ल्यः॑ । सम् । अ॒व॒द॒न्त॒ । आ॒ऽय॒तीः । जन॑नात् । अधि ॥
यम् । जी॒वम् । अ॒श्नवा॑महै । न । सः । रि॒ष्या॒ति॒ । पुरु॑षः ॥२॥

भाषार्थ—(पिप्पल्य) पीपली ओषधियों ने (जननात् अधि) जन्म से ही (आयतीः) आती हुयी (सम) आपस में (अवदन्त) बातचीत की (यम) जिस (जीवम्) जीव को (अश्नवामहै) हम प्राप्त होवें, (सः पुरुषः) वह पुरुष (न) नहीं (रिष्याति) नष्ट होवे ॥ २ ॥

१—(पिप्पली) कलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । इति पा पालने, वापृ पालनपूरणयोः—कल । पृषोदरादिरूपम् , ङीप् । पालयित्री पूरयित्री वा । ओषधिविशेषा । अस्या गुणा ज्वरकुष्ठादिनाशकाः (क्षिप्तभेषजी) विक्षिप्तस्योन्मत्तस्य रोगनिवर्तिका (उत) अपि च (अतिविद्धभेषजी) व्यध ताडने—क । अतिक्षतस्य पुरुषस्य व्याधिनिवर्तिका (ताम्) (देवा.) वैद्या. (सम्) सम्यक् (अकल्पयन्) कल्पितवन्तः (इयम्) पिप्पली (जीवितवै) जीव प्राणधारणे णिचि तुमर्थे तवै प्रत्ययः । जीवयितुम् (अलम्) समर्था । पर्याप्ता ॥

२—(पिप्पल्यः) म० १ । ओषधय. (सम् अवदन्त) व्यक्तवाचां समुच्चारणे । पा० १ । ३ । ४८ । इत्यात्मनेपदम् । परस्परं सम्वादं कृतवन्त्यः (आयती) आयत्यः । आगच्छन्त्यः (जननात्) जन्मनः प्रभृति (अधि) अधिकम् (यम्) (जीवम्) प्राणिनम् (अश्नवामहै) वयं व्याप्नवाम (न) निषेधे (सः) रिष्याति) रिष हिंसायाम्—लेट् । विनश्येत् (पुरुष) मनुष्यः ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य परस्पर संवाद से ओषधियों की उत्पत्ति स्थान और काल का विचार करके उनके प्रयोग से रोगियों को नीरोग करते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग आपस में वार्तालाप द्वारा दोषों को हटाकर सुखी होते हैं ॥२॥

असु॑रास्त्वा॒ न्य॑खनन् दे॒वास्त्वोद॑वपु॒न् पुन॑: ।
वा॒तीकृ॑तस्य भेष॒जीमथो॑ क्षि॒प्तस्य॑ भेष॒जीम् ॥ ३ ॥

असु॑राः । त्वा॒ । नि । अ॒ख॒न॒न् । दे॒वाः । त्वा॒ । उत् । अ॒व॒प॒न् । पुन॑: । वा॒ती-कृ॑तस्य । भे॒ष॒जीम् । अथो॒ इति॑ । क्षि॒प्तस्य॑ । भे॒ष॒जीम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे पिप्पली] (असुराः) बुद्धिमान् पुरुषों ने (वातीकृतस्य) गठिया के रोगी की (भेषजीम्) ओषधी, (अथो) और (क्षिप्तस्य) उन्मत्त की (भेषजीम्) ओषधि (त्वा) तुझको (नि) निरन्तर (अखनन्) खोदा है और (देवाः) व्यवहार कुशल पुरुषों ने (त्वा) तुझको (पुनः) फिर (उत्) उत्तम रीति से (अवपन्) बोया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य परीक्षा करके पिप्पली आदि ओषधियों को खोदते और बोते और काम में लाते हैं, वैसेही विद्वान् पुरुष विद्या का सुप्रयोग करते हैं ॥३॥

सूक्तम् ॥ ११० ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यवर्धनायोपदेशः—ऐश्वर्य बढ़ाने के लिये उपदेश ॥

प्र॒त्नो हि कमीड्यो॑ अध्व॒रेषु॑ स॒नाच्च॒ होता॒ नव्य॑श्च॒ सत्सि॑ । स्वां चा॑ग्ने त॒न्वं॑ पि॒प्राय॑स्वा॒स्मभ्यं॑ च॒ सौभ॑-ग॒मा य॑जस्व ॥ १ ॥

३—(असुराः) प्रज्ञावन्तः (त्वा) पिप्पलीम् (नि) निरन्तरम् (अखनन्) खननेन प्राप्तवन्तः (देवाः) व्यवहारकुशलाः (उत्) उत्कर्षेण (अवपन्) डुवप् बीजतन्तुसन्ताने । रोपितवन्तः (वातीकृतस्य) वातरोगग्रस्तस्य पुरुषस्य (भेषजीम्) भयनिवर्तिकाम् (अथो) अपि च (क्षिप्तस्य) विक्षिप्तस्य (भेषजीम्) ओषधिम् ॥

प्रत्नः । हि । कम् । ईड्यः । अध्वरेषु । सनात् । च । होता । नव्यः । च । सत्सि । स्वाम् । च । अग्ने । तन्वम् । पिप्रायस्व । अस्मभ्यम् । च । सौभगम् । आ । यजस्व ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् आचार्य ! (प्रत्नः) प्राचीन, [अनुभवी] (च) और (नव्यः) नूतन [उद्योगी,] (ईड्यः) स्तुतियोग्य (च) और (होता) दाता होकर (सनात्) सदा से (अध्वरेषु) सन्मार्ग देने वाले वा हिंसा रहित व्यवहारों में (हि) अवश्य (कम्) सुख से (सत्सि) तू बैठता है। (च) निश्चय करके (स्वाम्) अपने (तन्वम्) शरीर को (पिप्रायस्व) प्रीतियुक्त कर (च) और (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (सौभगम्) अनेक सुन्दर ऐश्वर्य (आ) आकर (यजस्व) दान कर ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य वृद्ध, अनुभवी उत्साही, उत्तम आचार्य से नम्रता पूर्वक उत्तम शिक्षा ग्रहण करके अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ८। ११। १० ॥

ज्येष्ठघ्न्यां जातो विचृतोर्यमस्य मूलबर्हणात् परि पाह्येनम्। अत्येनं नेषद् दुरितानि विश्वा दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ २ ॥

ज्येष्ठ-घ्न्याम् । जातः वि-चृतोः । यमस्य मूल-बर्हणात् ॥ परि । पाहि । एनम् । अति । एनम् । नेषत् । दुः-इतानि । विश्वा । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ २ ॥

१—(प्रत्न.) नश्च पुराणे प्रात्। वा० पा० ५। ४। २५। इति प्र—त्नप्। प्रत्नः पुराणः—निघ० १२। २२। प्राचीनः। अनुभवी (हि) अवश्यम् (कम्) सुखेन (ईड्य.) स्तुत्यः (अध्वरेषु) अ० ३। १६। ६। सन्मार्गदातृषु हिंसा—रहितेषु वा व्यवहारेषु (सनात्) नित्यम् (च) समुच्चये। अवधारणे (होता) दाता (नव्यः) अचो यत्। पा० ३। १। ९७। णु स्तुतौ—यत्। नूतनः। पुरुषार्थी (सत्सि) सीदसि (स्वाम्) स्वकीयाम् (अग्ने) हे विद्वन्। आचार्य (तन्वम्) शरीरम् (पिप्रायस्व) प्री प्रीती णिचि छान्दसं रूपम्। प्रसन्नां कुरु (अस्मभ्यम्) सेवकेभ्यः (सौभगम्) सुहृदे—अण्। बह्वैश्वर्याणां समूहम् (आ) आगत्य (यजस्व) देहि ॥

भावार्थ—(ज्येष्ठघ्न्याम्) ज्येष्ठ अर्थात् अतिवृद्ध वा उत्तम ब्रह्म को प्राप्त करने वाली क्रिया में (जातः) प्रसिद्ध तू (विचृतो) अन्धकार से छुड़ाने वाले, सूर्य और चन्द्रमा के (यमस्य) नियम के (मूलबर्हणात्) मूल छेदन से (एनम्) इस जीव को (परि पाहि) सब प्रकार बचा। (विश्वा) सब (दुरितानि) विघ्नों को (अति=अतीत्य) उलांघ कर (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन के लिये (एनम्) इस [प्राणी] को (नेषत्) आप ले चलें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य श्रेष्ठजनों के अनुकरण से पुरुषार्थ के साथ विघ्नों को हटा कर सूर्य और चन्द्रमा के समान सदा नियम में चलकर यश प्राप्त करे ॥ २ ॥

व्याघ्रेऽह्न्यजनिष्ट वीरो नक्षत्रजा जायमानः सुवीरः। स मा वधीत् पितरं वर्धमानो मा मातरं प्र मिनी-ज्जनित्रीम् ॥ ३ ॥

व्याघ्रे। अह्नि। अजनिष्ट। वीरः। नक्षत्र-जाः। जायमानः। सु-वीरः। सः। मा। वधीत्। पितरम्। वर्धमानः। मा। मातरम्। प्र। मिनीत्। जनित्रीम् ॥ ३ ॥

भावार्थ—(वीरः) वह वीर पुरुष (नक्षत्रजाः) नक्षत्र के समान गति,

---

२—(ज्येष्ठघ्न्याम्) बहुलं छन्दसि। पा० ३। २। ८८। इति ज्येष्ठ+हन् गतौ—क्विप्। ऋन्नेभ्यो ङीप्। पा० ४। १। ५। इति ङीप्। अल्लोपोऽनः। पा० ६। ४। १३४। इत्यकारलोपः। ज्येष्ठं वृद्धतमं प्रशस्यतमं वा ब्रह्म हन्ति प्राप्नोति यया तस्यां क्रियायाम् (जातः) प्रसिद्धः (विचृतोः) अ० २। ८। १। अन्धकाराद् विमोचयित्रोः सूर्याचन्द्रमसोः (यमस्य) नियमस्य (मूलबर्हणात्) बर्ह हिंसायाम्—ल्युट्। मूलच्छेदनात् (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (एनम्) जीवम् (अति) अतीत्य (एनम्) प्राणिनम् (नेषत्) नयतु भवान् (दुरितानि) विघ्नान् (विश्वा) सर्वाणि (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल-जीवनाय (शतशारदाय) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्ताय ॥

३—(व्याघ्रे) अ० ४। ३। ७। सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम् व्याघ्रो

उपाय उत्पन्न करने वाला (सुवीरः) महावीर (जायमानः) होता हुआ (व्याघ्रे) व्याघ्र के समान बलवान् (अहि) दिन में [माता। पिता के बल के समय] (अजनिष्ट) उत्पन्न हुआ है। (सः) वह (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (पितरम्) पिता को (मा वधीत्) न मारे और (जनित्रीम्) जन्म देने वाली (मातरम्) माता को (मा प्र मिनीत्) कभी न सतावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—शूरवीर पुरुष सुशिक्षित बलवान् माता से जन्म पाकर उनको कष्ट से बचा कर सदा सुखी रख कर अपना सौभाग्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ १११ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-४ अनुष्टुप् ॥

मानसविकारनाशोपदेशः—मानसविकार के नाश का उपदेश ॥

इमं मे अग्ने पुरुषं मुमुग्ध्ययं यो बद्धः सुयतो लालपीति। अतोऽधि ते कृणवद् भागधेयं यदानुन्मदितोऽसति ॥१॥

इमम्। मे। अग्ने। पुरुषम्। मुमुग्धि। अयम्। यः। बद्धः। सु-यतः। लालपीति। अतः। अधि। ते। कृणवत्। भागधेयम्। यदा। अनुत्-मदितः। असति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष! (मे) मेरे लिये (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को [आत्मा को] (मुमुग्धि) मुक्त कर, (अयम् यः) यह जो

व्याघ्रणाद् व्यादाय हन्तीति वा—निरु० ३। १८। व्याघ्रतुल्ये बलवति (अहि) दिने। काले (अजनिष्ट) जातोऽभूत् (वीर.) वीर्योपेतः (नक्षत्रजाः) जनसनखनक्रमगमो विट्। पा० ३। २। ६७। इति नक्ष+जन जनने विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात् पा० ६। ४। ४१। इत्यात्वम्। नक्षत्रसमानां गतिमुपायं जनयति यः सः (जायमानः) उत्पद्यमानः (सुवीरः) अतिशूरः (सः) (मा वधीत्) मा हन्तु (पितरम्) पालकं जनकम् (वर्धमानः) वृद्धिं कुर्वन् (मातरम्) मानकर्त्रीम् (मा प्र मिनीत्) मीञ् हिंसायाम्, लिङि लिपि छान्दसं रूपम्। मा प्र मीनीयात् न दुःखयेत् (जनित्रीम्) जनयित्रीम्। जननीम् ॥

१—(इमम्) समीपस्थम् (मे) मह्यम् (अग्ने) विद्वन् (पुरुषम्) आत्मनम् (मुमुग्धि) मोचय (अयम्) (यः) (बद्धः) बन्धं गतः (सुयतः)

[जीव] (बद्धः) बंधा हुआ और (सुयतः) बहुत जकड़ा हुआ (लालपीति) अत्यन्त बर्राता है। (अतः) फिर यह (ते) तेरे (भागधेयम्) सेवनीय भाग को (अधि) अधिकार पूर्वक (कृणवत्) करे, (यदा) जब वह (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से दुष्टकर्म छोड़ कर सावधान होकर धार्मिक कर्म करे ॥ १ ॥

अग्निष्टे नि शमयतु यदि ते मन उद्युतम् ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यथानुन्मदितोऽससि ॥२॥

अग्निः । ते । नि । शमयतु । यदि । ते । मनः । उत्-युतम् । कृणोमि । विद्वान् । भेषजम् । यथा । अनुत्-मदितः । अससि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) विद्वान् पुरुष (ते) तेरे [मन को] (नि शमयतु) शान्त करता रहे, (यदि) जब (ते मनः) तेरा मन (उद्युतम्) व्याकुल होवे। (विद्वान्) विद्वान् मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं, (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (अससि) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से शिक्षा पाकर अपनी रोग निवृत्ति करे ॥२॥

देवैनसादुन्मदितमुन्मत्तं रक्षसस्परि ।
कृणोमि विद्वान् भेषजं यदानुन्मदितोऽसति ॥३॥

यम उपरमे—क्त। दृढप्रतिरुद्धः (लालपीति) भृशं प्रलपति (अतः) मोचनानन्तरम् (अधि) अधिकृत्य (ते) तव (कृणवत्) कुर्य्यात् (भागधेयम्) सेवनीयं कर्म (यदा) (अनुन्मदितः) अनुन्मत्तः उन्मादरहितः (असति) भवेत् ॥

२—(अग्निः) विद्वान् पुरुषः (ते) तव (मनः) (नि शमयतु) नितरां शान्तं करोतु (यदि) सम्भावनायाम् (ते मनः) (उद्युतम्) युछ् प्रमादे—क्त। उद्विग्नम् (कृणोमि) करोमि (विद्वान्) विज्ञोऽहम् (भेषजम्) औषधम् (यथा) येन प्रकारेण (अनुन्मदितः) चित्तभ्रमरहितः (अससि) भूयाः ॥

दे॒व॒-ए॒न॒सात्। उत-मं॑दित्तम्। उत्-मं॑त्तम्। रक्ष॑सः। परि॑। कृ॒णोमि॑।
वि॒द्वान्। भे॒ष॒जम्। य॒दा। अनु॑त्-मदितः। अस॑ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवैनसात्) विद्वानों के लिये [किये] पाप से (उन्मदितम्) उन्मत्त, अथवा (रक्षसः) राक्षस [दुःखदायी जीव वा रोग] से (उन्मत्तम् परि) उन्मत्त पुरुष के लिये (विद्वान्) विद्वान् मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं (यदा) जिस से वह (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (असति) हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखों वा रोगों के कारणों को विचार कर उनकी निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

पुन॑स्त्वा दुरप्स॒रसः॒ पुन॒रिन्द्रः॒ पुन॒र्भगः॑ ।
पुन॑स्त्वा दु॒र्विश्वे॑ दे॒वा यथा॑नु॑न्मदि॒तोऽस॑सि ॥ ४ ॥

पुनः॑। त्वा॒। दुः॒। अ॒प्स॒रसः॑। पुनः॑। इन्द्रः॑। पुनः॑। भगः॑। पुनः॑।
त्वा॒। दुः॒। विश्वे॑। दे॒वाः। यथा॑। अनु॑त्-मदितः। अस॑सि ॥४॥

भाषार्थ—[हे रोगी !] (अप्सरसः) आकाश, जल वा प्रजाओं में रहने वाली बिजुलियां (त्वा) तुझको [विद्वानों में] (पुनः) फिर (दुः) देवें, (इन्द्रः) सूर्य (पुनः) फिर, (भगः) चन्द्रमा (पुनः) फिर [देवे] (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम पदार्थ (त्वा) तुझे (पुनः) फिर (दुः) देवें, (यथा) जिससे तू (अनुन्मदितः) उन्माद रहित (अससि) होवे ॥ ४ ॥

३—(देवैनसात्) अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १०३ । इति टच्, समासान्तः । देवेभ्यः कृतात् पापात् (उन्मादितम्) भ्रमितचित्तपुरुषम् (उन्मत्तम्) उन्मादविशिष्टम् (रक्षसः) राक्षसात् । दुःखदायिनो जीवाद् रोगाद् वा (परि) प्रति । प्राप्य (यदा) यस्य हेतोः । यथा (असति) भवेत् ॥

४—(पुनः) रोगशान्त्यनन्तरम् (त्वा) त्वां रोगिणम् (दुः) डुदाञ् दाने विधि लिङि छान्दसं रूपम् । दद्युः (अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे प्रजासु च सरणशीला विद्युतः (इन्द्रः) सूर्यः (भगः) चन्द्रः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यपदार्थाः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—वैज्ञानिक पुरुष बिजुली सूर्य आदि सब पदार्थों से यथोचित उपकार लेकर स्वस्थ रह कर सुखी होवें ॥४॥

सूक्तम् ॥ ११२ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कुलरक्षोपदेशः—कुल की रक्षा का उपदेश ॥

मा ज्येष्ठं वधीदयमग्न एषां मूलबर्हणात् परि पाह्येनम् । स ग्राह्याः पाशान् वि चृत प्रजानन् तुभ्यं देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ १ ॥

मा । ज्येष्ठम् । वधीत् । अयम् । अग्ने । एषाम् । मूल-बर्हणात् । परि । पाहि । एनम् । सः । ग्राह्याः । पाशान् । वि । चृत । प्र-जानन् । तुभ्यम् । देवाः । अनु । जानन्तु । विश्वे ॥१॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (अयम्) यह [रोग] (एषाम्) इन [पुरुषों] के बीच (ज्येष्ठम्) विद्या और वय में बहुत बड़े पुरुष को (मा वधीत्) न मारे, (एनम्) इस [पुरुष] को (मूलबर्हणात्) मूल छेदन से (परि पाहि) सर्वथा बचा । (सः) सो तू (प्रजानन्) ज्ञानी होकर (ग्राह्याः) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के (पाशान्) फन्दों को (विचृत) खोल दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (तुभ्यम्) तुझको (अनु जानन्तु) अनुमति देवें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सम्मति से श्रेष्ठ पुरुष की रक्षा का सदा उपाय करें ॥१॥

१—(ज्येष्ठम्) प्रशस्य वा वृद्ध—इष्ठन् । ज्य च । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६१, ६२ । इति प्रशस्य, वृद्धस्य वा ज्य इत्यादेशः । ज्ञाने वयसि वा वृद्धतमम् (मा वधीत्) मा हन्तु (अयम्) रोगः (अग्ने) हे विद्वन् (एषाम्) गृहस्थानां मध्ये (मूलबर्हणात्) अ० ६ । ११० । २ । मूलच्छेदनात् (परि) सर्वतः (पाहि) (एनम्) ज्येष्ठम् (सः) स त्वम् (ग्राह्याः) अ० २ । ६ । १ । अङ्गग्रहीत्र्याः पीडायाः (पाशान्) बन्धान् क्लेशान् (वि चृत) चृती हिंसाग्रन्थनयोः विमुञ्च (प्रजानन्) विद्वान् (तुभ्यम्) विदुषे (देवाः) विद्वांसः (अनु जानन्तु) अनुमतिं ददतु (विश्वे) सर्वे ॥

उन्मु॑ञ्च॒ पाशां॒स्त्वम॑ग्न ए॒षां त्रय॑स्त्रि॒भिरुत्सि॑ता॒ येभि॒रास॑न्। स ग्राह्याः॒ पाशा॒न् वि चृ॑त प्रजा॒नन् पि॑ता॒पु॒त्रौ मा॒तरं॑ मुञ्च॒ सर्वा॑न् ॥ २ ॥

उत्। मु॒ञ्च॒। पाशा॑न्। त्वम्। अ॒ग्ने॒। ए॒षाम्। त्रयः॑। त्रि॒भिः॑। उत्ऽसि॑ताः। येभिः॑। आस॑न्। सः। ग्राह्याः॑। पाशा॑न्। वि। चृ॒त॒। प्र॒ऽजा॒नन्। पि॒ता॒पु॒त्रौ। मा॒तर॑म्। मु॒ञ्च॒। सर्वा॑न् ॥२॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान्! (त्वम्) तू (एषाम्) इन [पिता पुत्र और माता] के (पाशान्) फन्दों को (उन्मुञ्च) खोल दे, (त्रयः) जो तीनों (एभिः) जिन (त्रिभिः) तीनों [ऊंचे, नीचे, मध्यम पाशों] से (उत्सिताः) जकड़े हुये (आसन्) हैं। (सः) सो तू (प्रजानन्) ज्ञानी होकर (ग्राह्याः) जकड़ने वाले गठिया आदि रोग के (पाशान्) फन्दों को (वि चृत) खोल दे, (पितापुत्रौ) पिता पुत्र, (मातरम्) माता, (सर्वान्) सब को (मुञ्च) [दुःख से] मुक्त कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के अनुशासन से माता पिता पुत्र आदि सब की यथा योग्य रक्षा करें ॥२॥

येभिः॒ पाशैः॒ परि॑वित्तो॒ विब॒द्धोऽङ्गे॑अङ्ग॒ आर्पि॑त॒ उत्सि॑तश्च। वि ते मु॑च्यन्तां वि॒मुचो॒ हि सन्ति॑ भ्रूण॒घ्नि पू॑षन् दुरि॒तानि॑ मृक्ष्व ॥ ३ ॥

२—(उन्मुञ्च) वियोजय (पाशान्) क्लेशान् (त्वम्) (अग्ने) विद्वन् (एषाम्) पित्रादीनाम् (त्रयः) माता पिता पुत्र इति ये त्रयः (त्रिभिः) उत्तमाधममध्यमैः पाशैः (उत्सिताः) षिञ् बन्धने—क्त। उत्कर्षेण बद्धाः (येभिः) यैः (आसन्) लडर्थे-लङ्। सन्ति (पितापुत्रौ) आनङ् ऋतो द्वन्द्वे। पा० ६।३।२५। इति पूर्वपदस्य आनङ्। पिता च पुत्रश्च (मातरम्) जननीम् (मुञ्च) दुःखाद् विमोचय (सर्वान्)। अन्यद् गतम् ॥

येभिः । पाशैः । परि-वित्तः । वि-बद्धः । अङ्गे-अङ्गे । आ-र्पितः । उत्-सितः । च । वि । ते । मुच्यन्ताम् । वि-मुचः । हि । सन्ति । भ्रूण-घ्नि । पूषन् । दुः-इतानि । मृक्ष ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(परिवित्तः) विवाहित छोटे भाई का विना विवाहित बड़ा भाई (येभिः) जिन (पाशैः) फन्दों से (अङ्गे-अङ्गे) अङ्ग अङ्ग में (विबद्धः) बंधा हुआ, (आर्पितः) दुखाया गया (च) और (उत्सितः) जकड़ा गया है । (ते) वे [फन्दे] (विमुच्यन्ताम्) खुल जावें, (हि) क्योंकि वे (विमुचः) खुलने योग्य (सन्ति) हैं, (पूषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्नि) स्त्री के गर्भघाती रोग में [वर्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृक्ष) दूर कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रयत्न करें कि सब सन्तान गुणी होकर अपने अपने समय पर विवाहित होकर सुखी होवें और यथावत् ब्रह्मचर्य सेवन से कुल में गर्भ पतन आदि रोग न होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११३ ॥

१-३ ॥ त्रितो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पापशोधनोपदेशः—पाप शुद्ध करने का उपदेश ॥

त्रिते देवा अमृजतैतदेनस्त्रित एनन्मनुष्येषु ममृजे ।
ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥ १ ॥

३—(येभिः) यैः (पाशैः) बन्धैः (परिवित्त) परि+विद ज्ञाने—क्त । परिविण्णः । परिवित्तिः । कृतविवाहस्यानूढज्येष्ठभ्राता (विबद्धः) विविधं बद्धः (अङ्गे अङ्गे) सर्वाङ्गे (आर्पितः) आङ्+ऋ हिंसायाम्, णिचि क्त । आर्तिं पीडां प्रापितः (उत्सितः) म० २ । अतिशयेन बद्धः (च) (ते) पाशाः (विमुच्यन्ताम्) विसृज्यन्ताम् । (विमुचः) सम्पदादिः क्विप् । विमोचनीयाः पाशाः (हि) यस्मात्कारणात् (सन्ति) वर्तन्ते (भ्रूणघ्नि) भ्रूण आशाविशङ्कयोः—घञ् । ब्रह्मभ्रूणवृत्रेषु क्विप् । पा० ३ । २ । ८७ । इति भ्रूण+हन—क्विप् । स्त्रीगर्भघातिनि रोगे वर्तमानानि (दुरितानि) कष्टानि (मृक्ष) मृजू शौचालङ्कारयोः । शोधय । दूरीकुरु ॥

त्रिते । दे॒वाः । अ॒मृ॒ज॒त॒ । ए॒तत् । ए॒नः॑ । त्रि॒तः । ए॒न॒त् । म॒नु॒ष्ये॑षु । म॒मृ॒जे॒ । ततः॑ । यदि॑ । त्वा॒ । ग्राहिः॑ । आ॒न॒शे । ताम् । ते॒ । दे॒वाः । ब्रह्म॑णा । ना॒श॒य॒न्तु॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रिते) तीनों कालों वा लोकों में फैले हुये त्रित परमात्मा के बीच [वर्तमान] (देवाः) विद्वानों ने (एतत्) इस (एनः) पाप को (अमृजत) शुद्ध किया है, (त्रितः) त्रिलोकीनाथ त्रित परमेश्वर ने (एनत्) इस [पाप] को (मनुष्येषु) मनुष्यों में [ज्ञान द्वारा] (ममृजे) शोधा है। [हे मनुष्य !] (ततः) इस पर भी (यदि) जो (त्वा) तुझको (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीड़ा [गठिया आदि] ने (आनशे) घेर लिया है, (देवाः) विद्वान् लोग (ते) तेरा (ताम्) उस [पीड़ा] को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (नाशयन्तु) नाश करें ॥१॥

भावार्थ—परमात्मा ने वेद द्वारा मनुष्य को पाप नाश का उपाय बताया है, यह बात साक्षात् करके विद्वानों ने अपने दोष नाश किये हैं, इतना जानने पर भी यदि मनुष्य पाप में फंसे तो विद्वानों से पूछकर दोष निवृत्ति करें ॥१॥

मरी॑चीर्धू॒मान् प्र वि॒शानु॑ पाप्मन्नुदा॒रान् ग॑च्छो॒त वा॑ नीहा॒रान् । न॒दीनां॒ फेनाँ॒ अनु॒ तान् वि न॑श्य भ्रूण॒घ्नि पू॑षन् दुरि॒तानि॑ मृक्ष्व ॥ २ ॥

१—(त्रिते) अ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे—ड । त्रिषु कालेषु लोकेषु वा विस्तीर्णे परमेश्वरे वर्त्तमानाः (देवाः) विद्वांसः (अमृजत) मृजू शौचालङ्कारयोः । शोधितवन्तः (एतत्) आत्मनि वर्त्तमानम् (एनः) अ० २ । १० । ८ । पापम् (त्रितः) त्रिलोकीनाथः (एनत्) पापम् (मनुष्येषु) (ममृजे) मृष्टवान् (ततः) तदनन्तरमपि (यदि) (त्वा) (ग्राहिः) अ० २ । ९ । १ । अङ्गग्रहीत्री पीडा (आनशे) अश्नोतेश्च । पा० ७ । ४ । ७२ । इत्यभ्यासादुत्तरस्य नुट् । व्याप (ताम्) ग्राहिम् (ते) तव (देवाः) विद्वांसः (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (नाशयन्तु) ॥

मरीचीः। धूमान्। प्र। विश। अनु। पाप्मन्। उत्-आरान्। गच्छ। उत। वा। नीहारान्। नदीनाम्। फेनान्। अनु। तान्। वि। नश्य। भ्रूण-घ्नि। पूषन्। दुः-इतानि। मृक्ष्व ॥२॥

भाषार्थ—(पाप्मन्) हे पाप ! तू (मरीचीः) किरणों और (धूमान्) धूमों का (अनु) अनुकरण करके (प्र विश) प्रवेश कर, (उत) और (उदारान्) बड़े दाता वा ऊपर चढ़ने वाले मेघों (वा) और (नीहारान्) कोहरों को (गच्छ) प्राप्त हो। (नदीनाम्) नदियों के (तान्) उन (फेनान्) फेनों के (अनु) पीछे पीछे (वि नश्य) विनष्ट हो जा। (पूषन्) हे पोषण करने वाले विद्वान् ! (भ्रूणघ्नि) स्त्री के गर्भघाती रोग में [वर्त्तमान] (दुरितानि) कष्टों को (मृक्ष्व) दूर कर ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य, किरणों, धूम, मेघ, कुहरे और जल फेन की सूक्ष्मता और शीघ्र गति के अनुसार ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा सूक्ष्म पापों को बहुत शीघ्र नष्ट करके सुखी होवें ॥२॥

द्वादशधा निहितं त्रितस्यापमृष्टं मनुष्यैनसानि। ततो यदि त्वा ग्राहिरानशे तां ते देवा ब्रह्मणा नाशयन्तु ॥३॥

द्वादश-धा। नि-हितम्। त्रितस्य। अप-मृष्टम्। मनुष्य-एनसानि। ततः। यदि। त्वा। ग्राहिः। आनशे। ताम्। ते। देवाः। ब्रह्मणा। नाशयन्तु ॥ ३ ॥

२—(मरीचीः) अ० ४। ३८। ५। अन्धकारनाशकान् किरणान् (धूमान्) अ० ६। ७६। ४। अग्निना काष्ठजातान् पदार्थान् (प्रविश) (अनु) अनुकृत्य (पाप्मन्) अ० ३। ३१। १। पाति यस्मात्। हे पाप (उदारान्) उत्+आ+रा दाने क, यद्वा, उत् + ऋ गतिप्रापणयोः—घञ्। उत्कृष्टं समन्तात् जलस्य दातॄन् ऊर्ध्वं गतान् वा मेघान् (उत) (वा) चार्थे (नीहारान्) निपूर्वात् हरतेर्घञ्। उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्। पा० ६। ३। १२२। इति दीर्घः। अवश्यायान् (नदीनाम्) सरिताम् (फेनान्) अ० १। ८। १। बुद्बुदाकारान् पदार्थान् (अनु) अनुसृत्य (तान्) प्रसिद्धान् (वि नश्य) अदृष्टं भव। अन्यद् गतम्—अ० ६। ११२। २॥

भाषार्थ—(द्वादशधा) बारह [मन और बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों] में (निहितम्=०-तानि) ठहरे हुये (मनुष्यैनसानि) मनुष्यों के पाप (त्रितस्य—त्रितेन) त्रित परमेश्वर करके [वेद द्वारा] (अपमृष्टम्=०—ष्टानि) शुद्ध किये गये हैं। (ततः) इस पर भी (यदि) जो म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के विकार से उत्पन्न पापों को वेदज्ञान द्वारा विद्वानों के सत्सग से सर्वथा शोधकर सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

इत्येकादशोऽनुवाकः ॥

अथ द्वादशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ ११४ ॥

१-२ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् देवा देवहेडनं देवासश्चकृमा वयम् ।
आदित्यास्तस्मान्नो यूयमृतस्यर्तेन मुञ्चत ॥ १ ॥

यत् । देवाः । देव-हेडनम् । देवासः । चकृम । वयम् । आदित्याः । तस्मात् । नः । यूयम् । ऋतस्य । ऋतेन । मुञ्चत ॥१॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (देवासः) खेल करते हुये (वयम्) हम लोगों ने (यत्) जो (देवहेडनम्) विद्वानों का अनादर (चकृम) किया

३—(द्वादशधा) द्वादशसु मनोबुद्धिसहितेषु दशसु ज्ञानकर्मेन्द्रियेषु (निहितम्), सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७। १। ३९। इति बहुवचनस्यैकवचनम्। निहितानि। नितरां धृतानि (त्रितस्य) तृतीयायाः षष्ठी। त्रितेन परमेश्वरेण (अपमृष्टम्) अपमृष्टानि। शोधितानि (मनुष्यैनसानि) अनसन्तान्नपुंसकाच्छन्दसि। पा० ५। ४। १०३। इति टच्। मनुष्यपापानि। अन्यद् यथा—म० १ ॥

१—(यत्) (देवाः) हे विद्वांसः (देवहेडनम्) हेडृ अनादरे—ल्युट्। विदुषामनादरम् (देवासः) देवाः क्रीडकाः (चकृम) कृतवन्तः (वयम्)

है। (आदित्याः) हे सूर्य समान तेजस्वी ! (यूयम्) तुम लोग (तस्मात्) उस [पाप] से (नः) हमको (ऋतस्य) धर्म के (ऋतेन) सत्य व्यवहार द्वारा (मुञ्चत) छुड़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि मनुष्यों से प्रमाद के कारण विद्वानों का अनादर हो जावे तो उनको योग्य है कि वे धार्मिक व्यवहार करके विद्वानों को प्रसन्न करें ॥१॥

ऋतस्यर्तेनादित्या यजत्रा मुञ्चतेह नः ।
यज्ञं यद् यज्ञवाहसः शिक्षन्तो नोपशेकिम ॥ २ ॥

ऋतस्य । ऋतेन । आदित्याः । यजत्राः । मुञ्चत । इह । नः ।
यज्ञम् । यत् । यज्ञ-वाहसः । शिक्षन्तः । न । उप-शेकिम ॥२॥

भाषार्थ—(आदित्याः) हे विद्या से प्रकाशमान (यजत्राः) पूजनीय संगति योग्य पुरुषो ! (ऋतस्य) धर्म के (ऋतेन) सत्य व्यवहार से (इह)-इस [पापकर्म] में (नः) हमें (मुञ्चत) मुक्त करो। (यत्) क्योंकि (यज्ञवाहसः) हे यज्ञ अर्थात् परमेश्वर की उपासना वा शिल्पविद्या प्राप्त कराने वाले महाशयो ! (यज्ञम्) देवताओं की पूजा (शिक्षन्तः) करने की इच्छा करते हुये हम लोग (न उपशेकिम) उसे न कर सके ॥ २ ॥

मनुष्याः (आदित्याः) अ० १ । ६ । १ । सूर्यवत्तेजस्विनः (तस्मात्) पापात् (यूयम्) (ऋतस्य) धर्मस्य (ऋतेन) सत्यव्यवहारेण ॥

२—(ऋतस्य) धर्मस्य (ऋतेन) सत्यव्यवहारेण (आदित्याः) हे विद्यया प्रकाशमानाः (यजत्राः) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । इति यजेः अत्रन् । यष्टव्याः । पूजनीयाः । संगमनीयाः (मुञ्चत) वियोजयत (इह) अस्मिन् पापकर्मणि (नः) अस्मान् (यज्ञम्) देवपूजनम् (यत्) यस्मात्कारणात् (यज्ञवाहसः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । इति वहेरसुन् । हे यज्ञस्य परमेश्वरोपासनस्य शिल्पज्ञानस्य वा प्रापकाः (शिक्षन्तः) शक्लृ शक्तौ-सनि । सनि मीमाघुरभलभशक० । पा० ७ । ४ । ५४ । इत्यच इस् । अत्रलोपोऽभ्यासस्य । पा० ७ । ४ । ५८ । इत्यभ्यासलोपः । शक्तुं निष्पादयितुमिच्छन्तः (न) निषेधे (उपशेकिम) शक्लृ-लिट् । कर्तुं शक्ता बभूविम ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रमादी आलसी पुरुषों को धार्मिक व्यवहारों में लगाकर पुरुषार्थी बनावें ॥ २ ॥

मेदस्वता यजमानाः स्रुचाज्यानि जुह्वतः ।
अकामा विश्वे वो देवाः शिक्षन्तो नोप शेकिम ॥ ३ ॥

मेदस्वता । यजमानाः । स्रुचा । आज्यानि । जुह्वतः । अकामाः । विश्वे । वः । देवाः । शिक्षन्तः । न । उप । शेकिम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यजमानाः) यजमान, ईश्वर उपासक वा पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले विज्ञानी लोग (मेदस्वता) चिकने घृत आदि पदार्थ वाले (स्रुचा) स्रुवा [चमसे] से (आज्यानि) यज्ञ के साधन घृत, तेल आदि द्रव्यों को (जुह्वतः) होमते हुये [रहते हैं] ! (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानों ! (वः) तुम्हारी (अकामाः) कामना न करने वाले (शिक्षन्तः) [यज्ञ] करने की इच्छा करते हुये हम लोग (न उप शेकिम) उसे न कर सके ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैज्ञानिक विद्वानों के समान विद्वानों का सत्कार करके विज्ञान सिद्ध ईश्वरविद्या और शिल्पविद्या को प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११५ ॥

१-३ ॥ विश्वेदेवा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पापमोचनोपदेशः—पाप से मुक्ति का उपदेश ॥

यद् विद्वांसो यदविद्वांस एनांसि चकृमा वयम् ।
यूयं नस्तस्मान्मुञ्चत विश्वे देवाः सजोषसः ॥ १ ॥

यत् । विद्वांसः । यत् । अविद्वांसः । एनांसि । चकृम । वयम् ।

३—(मेदस्वता) मेदृ मेधाहिंसनयोः—असुन् । स्निग्धपदार्थयुक्तेन (यजमानाः) ईश्वरोपासकाः । पदार्थसंयोजकवियोजका विज्ञानिनः (स्रुचा) अ० ५ । २७ । ५ । स्रु-चिक् । स्रावयन्ति गमयन्ति हविर्येन तेन । स्रुवेण । यज्ञपात्रेण (आज्यानि) अ० ५ । ८ । १ । योगक्रियासाधनानि घृततैलादिकानि (जुह्वतः) समर्पयन्तः (अकामाः) कामनारहिताः (विन्दे) वयं (वः) युष्माकम् (देवाः) विद्वांसः । अन्यद्‌ यथा-म० २ ॥

यू॒यम् । नः॒ । तस्मा॑त् । मु॒ञ्च॒त॒ । विश्वे॑ । दे॒वाः॒ । स॒-जो॒ष॒सः॒ ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (विद्वांस) जानते हुये, (यत्) यदि (अवि-द्वांसः) न जानते हुये (वयम्) हम ने (एनांसि) पाप कर्म (चकृम) किये हैं। (विश्वे देवाः) हे सब विद्वानो ! (सजोषसः) समान प्रीति युक्त (यूयम्) तुम (नः) हमें (तस्मात्) उस [अपराध] से (मुञ्चत) मुक्त करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार के पापों को छोड़ कर सदा उत्तम कर्मों में प्रवृत्त रहें ॥ १ ॥

यदि॒ जाग्र॒द्‌ यदि॒ स्वप॒न्नेन॑ एन॒स्योऽक॑रम् ।

भू॒तं मा॒ तस्मा॒द्‌ भव्यं॑ च द्रुप॒दादि॑व मुञ्चताम् ॥ २ ॥

यदि॑ । जाग्र॑त् । यदि॑ । स्वप॑न् । एनः॑ । ए॒न॒स्यः॑ । अक॑रम् ।

भू॒तम् । मा॒ । तस्मा॑त् । भव्य॑म् । च॒ । द्रु॒प॒दात्-इ॑व । मु॒ञ्च॒ता॒म् ॥२

भाषार्थ—(यदि) जो (जाग्रत्) जागते हुये, (यदि) जो (स्वपन्) सोते हुये (एनस्यः) पापी मैंने (एनः) पाप (अकरम्) किया है। (भूतम्) वर्तमान प्राणी समूह (च) और (भव्यम्) भविष्यत् प्राणीसमूह (द्रुपदात् इव) काठ के बन्धन के सदृश वर्तमान (तस्मात्) उस [पाप] से (मा) मुझको (मुञ्चताम्) छोड़ावें ॥ २ ॥

१—(यत्) यदि (विद्वांसः) जानन्तः (यत्) यदि (अविद्वांसः) अजानानाः (एनांसि) अ० २। १०। ८। अपराधान् (चकृम) कृतवन्तः (वयम्) (यूयम्) (नः) अस्मान् (तस्मात्) अपराधात् (मुञ्चत) (विश्वे) (देवाः) (सजोषसः) अ० ३। २२। १। समानप्रीतयः ॥

२—(यदि) सम्भावनायाम् (जाग्रत्) अ० ६। ८६। ३। जागरणं प्राप्तः (स्वपन) निद्रां प्राप्तः (एनः) पापम् (एनस्यः) एनसि साधुः (अकरम्) अहं कृतवान् (भूतम्) लब्धसत्ताकं प्राणिजातम् (भव्यम्) भव्यगेय०। पा० ३। ४। ६८। इति कर्तरि यत्। भविष्यत्सत्ताकं प्राणिजातम् (द्रुपदात) अ० ६। ६२। ३। काष्ठमयपादबन्धनात् (इव) यथा (मुञ्चताम्) उभे भूत-भव्ये वियोजयताम् ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसे अपराध कभी भी न करें जिस से वर्तमान और भविष्यत् प्राणियों को दुःख होवे ॥ २ ॥

द्रुपदादिव मुमुचानः स्विन्नः स्नात्वा मलादिव ।
पूतं पवित्रेणेवाज्यं विश्वे शुम्भन्तु मैनसः ॥ ३ ॥

द्रुपदात्-इव । मुमुचानः । स्विन्नः । स्नात्वा । मलात्-इव । पूतम् । पवित्रेण-इव । आज्यम् । विश्वे । शुम्भन्तु । मा । एनसः ॥३॥

भाषार्थ—(द्रुपदात्) काष्ठ बन्धन से (मुमुचानः इव) छूटे हुये पुरुष के समान, (स्विन्नः) पसीने में डूबे हुये (स्नात्वा) स्नान करके (मलात्) मल से [छूटे हुये के] (इव) समान (पवित्रेण) शुद्ध करने वाले छन्ना वा अग्नि से (पूतम्) शुद्ध किये हुये (आज्यम् इव) घृत के समान, (विश्वे) सब [दिव्यगुण] (मा) मुझको (एनसः) पाप से (शुम्भन्तु) शुद्ध करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक सर्वथा पापों से शुद्ध रहकर सदा आनन्द भोगें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ॥ ११६ ॥

१-२ ॥ वैवस्वतो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पाप निवृत्त्युपदेश—पाप से निवृत्ति का उपदेश ॥

यद् यामं चक्रुर्निखनन्तो अग्रे कार्षीवणा अन्नविदो न विद्यया । वैवस्वते राजनि तज्जुहोम्यथ यज्ञियं मधुमदस्तु नोऽन्नम् ॥ १ ॥

३—(द्रुपदात्) काष्ठमयबन्धात् (इव) यथा (मुमुचानः) मुच्लृ-शानच्, छान्दसो यकः श्लुः । मुच्यमानः (स्विन्नः) स्वेदयुक्तः पुरुषः (स्नात्वा) स्नानं कृत्वा (मलात्) मालिन्यात् (इव) (पूतम्) शोधितम् (पवित्रेण) शुद्धिसाधनेन वस्त्रेणाग्निना वा (इव) (आज्यम्) घृतम् (विश्वे) सर्वे देवा दिव्यगुणाः (शुम्भन्तु) शोधयन्तु (मा) माम् (एनसः) पापात् ॥

यत् । यामम् । चक्रुः । नि-खनन्तः । अग्रे । कार्षीवणाः । अन्न-विदः । न । विद्यया । वैवस्वते । राजनि । तत् । जुहोमि । अथ । यज्ञियम् । मधु-मत् । अस्तु । नः । अन्नम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्रे) पहिले (निखनन्तः) [भूमि का] खोदते हुये (कार्षीवणाः) खेती के सेवन करने वाले किसानों ने (विद्यया) विद्या के साथ (अन्नविदः न) अन्न प्राप्त करने वाले पुरुषों के समान, (यत् यामम्) जिस नियम समूह को (चक्रुः) किया है। (तत्) उसी [नियम समूह] को (वैवस्वते) मनुष्यों के स्वामी (राजनि) राजा परमेश्वर में (जुहोमि) मैं समर्पण करता हूं, [जिससे] (अथ) फिर (नः) हमारा (अन्नम्) प्राण साधन अन्न (यज्ञियम्) यज्ञ के योग्य और (मधुमत्) ज्ञानयुक्त (अस्तु) होवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे विद्वानों के समान किसान लोग भूमि जोत कर, बीज बोकर अन्न प्राप्त करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य सर्वनियन्ता जगदीश्वर का आश्रय लेकर कर्म करते हुये आनन्द भोगें ॥ १ ॥

वैवस्वतः कृणवद् भागधेयं मधुभागो मधुना सं सृजाति ।
मातुर्यदेन इषितं न आगन् यद्वा पितापराद्धो जिहीडे ॥ २ ॥

१—(याम्) (यामम्) तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । इति यम—अण् । नियमानां समूहम् (चक्रुः) कृतवन्तः (निखनन्तः) भूमिं कर्षन्तः (अग्रे) पुरा (कार्षीवणाः) कृषि—ङीप्, कृष्या वनं सेवनं कृषीवणं, तदस्ति येषाम् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इत्यण् । कृषिसेविनः । कर्षकाः (अन्नविदः) अन्नप्रापकाः (न) उपमायाम्—निघ० ३ । १३ । (विद्यया) ज्ञानेन (वैवस्वते) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इति विवस्वत्—अण् । विवस्वन्तो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । विवस्वत आदित्याद् विवस्वान् विवासनवान्—निरु० ७ । २६ । विवस्वतां मनुष्याणां स्वामिनि (राजनि) शासके परमात्मनि (तत्) तथाविधं यामम् (जुहोमि) समर्पयामि (अथ), अनन्तरम् (यज्ञियम्) यज्ञार्हम् (मधुमत्) ज्ञानयुक्तम् (अस्तु) (नः) अस्माकम् (अन्नम्) जीवनसाधनम् ॥

वैवस्वतः । कृणवत् । भाग-धेयम् । मधु-भागः । मधुना । सम् । सृजाति । मातुः । यत् । एनः । इषितम् । नः । आ-अगन् । यत् । वा । पिता । अप-राद्धः । जिहीडे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मधुभागः) ज्ञान का भाग करने वाला, (वैवस्वतः) मनुष्यों का स्वामी परमेश्वर (भागधेयम्) भाग (कृणवत्) करे और (मधुना) [उस पाप के] ज्ञान के साथ [हमें] (सम् सृजाति) संयुक्त करे । (मातुः) माता को प्राप्त करके (इषितम्) उतावली से किया हुआ (नः) हमारा (यत्) जो (एनः) पाप (आगन्) हो गया है, (वा) अथवा (यत्) जिस पाप के कारण (पिता) पिता, (अपराद्धः) जिसका हमने अपराध किया है, (जिहीडे) क्रोधित हुआ है ॥२॥

भावार्थ—यदि मनुष्य प्रमाद के कारण माता पिता आदि को अप्रसन्न करे तो वह उनसे क्षमा मांगकर प्रायश्चित्त करके शुद्ध होवे ॥ २ ॥

यदीदं मातुर्यदि वा पितुर्नः परि भ्रातुः पुत्राच्चेतस एन आगन् । यावन्तो अस्मान् पितरः सचन्ते तेषां सर्वेषां शिवो अस्तु मन्युः ॥ ३ ॥

यदि । इदम् । मातुः । यदि । वा । पितुः । नः । परि । भ्रातुः । पुत्रात् । चेतसः । एनः । आ-अगन् । यावन्तः । अस्मान् । पितरः । सचन्ते । तेषाम् । सर्वेषाम् । शिवः । अस्तु । मन्युः ॥३॥

२—(वैवस्वतः) म० १ । मनुष्याणां स्वामी (कृणवत्) कुर्यात् (भागधेयम्) भागम् (मधुभागः) मधुनो ज्ञानस्य भागकर्ता (मधुना) तस्य एनसो ज्ञानेन (संसृजाति) संयोजयेद् अस्मान् (मातुः) पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । इति मातरं प्राप्य (यत्) (एनः) पापम् (इषितम्) प्रमादेन प्रेषितम् (नः) अस्माकम् (आगन्) गमेर्लुङि । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । मो नो धातोः । पा० ८ । २ । ६४ । इति नत्वम् । आगमत् (यत्) पापम् (वा) अथवा (पिता) (अपराद्धः) कृतदोषः सन् विमुखः (जिहीडे) हेडृ अनादरे-लिट्, छान्दसं रूपम् । हेडते क्रुध्यति कर्मा—निघ० २ । १२ । जिहेडे । चुक्रोध ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (मातुः) माता के प्रति, (यदि वा) अथवा, (पितुः) पिता के प्रति, (भ्रातुः) भ्राता के प्रति, अथवा (पुत्रात्) पुत्र के प्रति (नः) हमारे (चेतसः) चित्त से (इदम्) यह (एनः) पाप (परि) सब ओर से (आगन्) हो गया है। (यावन्तः) जितने (पितरः) पिता के समान माननीय (अस्मान्) हमको (सचन्ते) सदा मिलते हैं [उनके विषय में भी जो पाप हुआ है], (तेषाम् सर्वेषाम्) उन सब का (मन्युः) क्रोध (शिवः) शान्त (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब कुटुम्बियों और सब मान्य पुरुषों को सदा प्रसन्न रक्खें ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणाद् विमोचनोपदेशः—ऋण से छुटने का उपदेश ॥

अ॒प॒मि॒त्यमप्र॑तीत्तं॒ यदस्मि॑ य॒मस्य॒ येन॑ ब॒लिना॒ च॒रा॑मि । इ॒दं तद॑ग्ने अनृ॒णो भ॑वामि॒ त्वं पाशा॑न् वि॒चृतं॑ वेत्थ॒ सर्वा॑न् ॥ १ ॥

अ॒प॒-मि॒त्य॑म् । अप्र॑तीत्तम् । यत् । अस्मि॑ । य॒मस्य॑ । येन॑ । ब॒लिना॑ । च॒रा॑मि । इ॒दम् । तत् । अ॒ग्ने॒ । अ॒नृ॒णः । भ॒वा॒मि॒ । त्वम् । पाशा॑न् । वि॒-चृत॑म् । वे॒त्थ॒ । सर्वा॑न् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) नियम करने वाले [ऋणदाता] के (अप्रतीत्तम्) बिना चुकाये (यत्) जिस (अपमित्यम्) अपमान के हेतु ऋण को (अस्मि=

२—(यदि) (इदम्) (मातुः)–म० २। मातरं प्राप्य (यदि वा) (पितुः) पितरं प्राप्य (भ्रातुः) भ्रातरं प्राप्य (नः) अस्माकम् (चेतसः) चित्तात् (परि) सर्वतः (एनः) पापम् (आगन्)—म० २। आगमत् (यावन्तः) यत्परिमाणाः (अस्मान्) (पितरः) पितृवद् मान्याः (सचन्ते) समवयन्ति। सगच्छन्ते (तेषाम् सर्वेषाम्) (शिवः) शान्तः (अस्तु) (मन्युः) क्रोधः ॥

१—(अपमित्यम्) तत्र साधुः। पा० ४। ४। ९८। इति अपमिति—यत्। अपमितौ अपमाने साधु। अपमानसाधकमृणम् (अप्रतीत्तम्) प्रति-

असामि) मैं ग्रहण करता हूं, और (येन बलिना) जिस बलवान् के साथ [ऋण लेकर] (चरामि) मैं चेष्टा करता हूं। (इदम्) अब (तत्) उससे, (अग्ने) हे विद्वान्! मैं (अनृणः) ऋण रहित (भवामि) हो जाऊं, (त्वम्) तू (सर्वान्) सब (पाशान्) बन्धनों को (विचृतम्) खोलना (वेत्थ) जानता है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य ज्ञान पूर्वक पुरुषार्थ करके माता पिता आचार्य आदि की सेवा से देव ऋण, पितृ ऋण और ऋषि ऋण चुकावें ॥१॥

इहैव सन्तः प्रति दद्म एनज्जीवा जीवेभ्यो नि हराम एनत्। अपमित्यं धान्यं१ यज्जघसाहमिदं तदग्ने अनृणो भवामि ॥ २ ॥

इह। एव। सन्तः। प्रति। दद्मः। एनत्। जीवाः। जीवेभ्यः। नि। हरामः। एनत्। अप-मित्यं। धान्यम्। यत्। जघस। अहम्। इदम्। तत्। अग्ने। अनृणः। भवामि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां [इस शरीर में] (एव) ही (सन्तः) रहते हुये हम (एनत्) इस [ऋण] को (प्रति दद्मः) चुका देवें, (जीवाः) जीते हुये हम (जीवेभ्यः) जीते हुये पुरुषों को (एनत्) यह [उधार] (नि) नियम

पूर्वाद् ददातेर्निष्ठा। अच उपसर्गात्त। पा० । ७ । ४ । ४७। इत्याकारस्य तकारः। दस्ति। ६ । ३ । १२४। उपसर्गस्य दीर्घः। अप्रत्यर्पितम् (यत्) (अस्मि) ग्रस ग्रहणे अदादिः शपो लुक् छान्दसः। असामि। गृह्णामि (यमस्य) नियामकस्य। यरामर्षस्य (येन) (बलिना) बलवता ऋणेन (चरामि) प्रवर्ते (इदम्) इदानीम् (तत्) तस्माद ऋणात् (अग्ने) विद्वन् (अनृणः) ऋणरहितः (भवामि) (त्वम्) (पाशान्) बन्धान् (विचृतम्) शकि णमुल्कमुलौ। पा० ३ । ४ । १२। इति विचृती हिंसाग्रन्थनयोः—बाहुलकात् कमुल् तुमर्थे। विचर्तितुं मोचयितुम् (वेत्थ) जानासि(सर्वान्)

२—(इह) अस्मिन् शरीरे (एव) (सन्तः) विद्यमाना वयम् (प्रति दद्मः) प्रत्यर्पयामः (एनत्) ऋणम् (जीवाः) जीवन्तो वयम् (नि) नियमेन (हरामः) प्रापयामः (एनत्) ऋणम् (अपमित्य) उदीचां माङो व्यतीहारे।

से (हराम:) दे देवें । (यत्) जो (धान्यम्) धान्य (अपमित्य) उधार लेकर (अहम्) मैंने (जघस) खाया है, (अग्ने) हे विद्वान्! (इदम्) अभी (तत्) उससे मैं (अनृणः) अऋण (भवामि) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के सब जीवों का उपकार अपने पर विचार कर अपने और उनके जीवन में ही यथोचित सेवा से उनका ऋण चुकावे ॥२॥

अनृणा अस्मिन्ननृणाः परस्मिन् तृतीये लोके अनृणाः स्याम। ये देवयानाः पितृयाणाश्च लोकाः सर्वान् पथो अनृणा आ क्षियेम ॥ ३ ॥

अनृणाः । अस्मिन् । अनृणाः । परस्मिन् । तृतीये । लोके । अनृणाः । स्याम । ये । देव-यानाः । पितृ-यानाः । च । लोकाः । सर्वान् । पथः । अनृणाः । आ । क्षियेम ॥ ३ ॥

भावार्थ—हम (अस्मिन् लोके) इस लोक [बालकपन] में (अनृणाः) अऋण, (परस्मिन्) दूसरे [युवापन] में (अनृणाः) अऋण और (तृतीये) तीसरे [बुढ़ापे] में (अनृणाः) अऋण (स्याम) होवें । (देवयानाः) विजय चाहने वाले और व्यापारियों के यान अर्थात् विमान रथ आदि के चलने योग्य (च) और (पितृयाणाः) पालन करने वाले विज्ञानियों के गमन योग्य (ये) जो (लोकाः) लोक [स्थान] और (पथः=पन्थान) मार्ग हैं, (सर्वान्)

पा ३ । ४ । १६ । इति मेङ् प्रणिदाने—क्त्वा, ल्यबादेशे । मयतेरिदन्यतरस्याम् पा० ६ । ४ । ७१ । इति लुक् । ऋणे गृहीत्वा (धान्यम्) अन्नम् (जघस) अद भक्षणे, लिटि घस्लृ आदेशः । भक्षितवानस्मि (अहम्) (इदम्) इदानीम् (तत्) तस्मात् (अग्ने) विद्वन् (अनृणः) ऋणरहित. (भवामि) ॥

३—(अनृणाः) ऋणरहिताः (अस्मिन्) प्रथमे बाल्ये (परस्मिन्) द्वितीये यौवने (तृतीये) वार्द्धिके (लोके) लोकृ दर्शने, भाषायां, दीप्तौ च—घञ् । वयसि । समाजे (स्याम) भवेम (ये) (देवयानाः) अ० ३ । १५ । २ । विजिगीषूणां व्यापारिणां विमानरथादीनां गमनयोग्याः (पितृयाणाः) पालकैर्विज्ञानिभिर्गमनीयाः (च) (लोकाः) धामानि। समाजाः (सर्वान्) लोकान् पथश्च (पथः) प्रथमायां द्वितीया। पन्थानः । मार्गाः (आसमन्तात्) (क्षियेम) क्षि

उन सब में (अनृणाः) हम अऋण होकर (आ) सब ओर से (क्षियेम) बसते रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आश्रम में विद्या अभ्यास से बालकपन का ऋण, गृहस्थ आश्रम में धन और प्रजा पालन आदि की सम्पन्नता से युवावस्था का ऋण, और वान प्रस्थ और सन्यास आश्रम के सेवन से बुढ़ापे का ऋण चुकाकर महात्माओं के समान धार्मिक होकर परोपकारी बनें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१-३ ॥ अप्सरसौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऋणात् विमोचनोपदेशः—ऋण से छूटने का उपदेश ॥

यद्धस्ताभ्यां चकृम किल्बिषाण्यक्षाणां गत्नुमुपलिप्समानाः।
उग्रंपश्ये उग्रजितौ तदद्याप्सरसावनु दत्तामृणं नः ॥१॥

यत् । हस्ताभ्याम् । चकृम । किल्बिषाणि । अक्षाणाम् । गत्नुम् । उप-लिप्समानाः । उग्रम्पश्ये इत्युग्रम्-पश्ये । उग्र-जितौ । तत् । अद्य । अप्सरसौ । अनु । दत्ताम् । ऋणम् । नः ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (अक्षाणाम्) इन्द्रियों के (गत्नुम्) पाने योग्य विषय के (उपलिप्समानाः) लाभ की इच्छा करते हुये हमने (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (किल्बिषाणि) अनेक पाप (चकृम) किये हैं। (उग्रंपश्ये) तीव्र दृष्टि वाली, (उग्रजितौ) उग्र होकर जीतने वाली, (अप्सरसौ) अन्तरिक्ष में विचरने वाली अप्सरायें सूर्य भूमि दोनों (अद्य) आज (नः) हमारे

निवासगत्योः । गच्छेम ॥

१—(यत्) यदि (हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (चकृम) वयं कृतवन्तः (किल्बिषाणि) बहूनि पापानि (अक्षाणाम्) इन्द्रियाणाम् (गत्नुम्) हृहनिभ्यां क्नुः । अनुदात्तोपदेश० । पा० ६ । ४ । ३७ । अनुनासिकलोपः । गन्तव्यं शब्द-स्पर्शादिविषयम् (उपलिप्समानाः) लभेः सनि शानच् । उपलब्धुम् अनुभवितु-मिच्छन्तः (उग्रंपश्ये) उग्रंपश्येरम्मदपाणिंधमाश्च । पा० ३ । २ । ३७ । इति खश्

(तत्) उस (ऋणम्) ऋण को (अनु) अनुग्रह करके (दत्ताम्) दे देवें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों को वश में करके सूर्य और पृथिवी अर्थात् संसार के सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर अपना कर्त्तव्य करें ॥१॥

उग्रंपश्ये राष्ट्रभृत् किल्बिषाणि यदक्षवृत्तमनु दत्तं न एतत्। ऋणान्नो नर्णमेर्त्समानो यमस्य लोके अधिरज्जुरायत् ॥ २ ॥

उग्रंपश्ये इत्युग्रम्-पश्ये। राष्ट्र-भृत्। किल्बिषाणि। यत्। अक्ष-वृत्तम्। अनु। दत्तम्। नः। एतत्। ऋणात्। नः। न। ऋणम्। एर्त्समानः। यमस्य। लोके। अधि-रज्जुः। आ। अयत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उग्रंपश्ये) हे तीव्र दृष्टि वाली ! (राष्ट्रभृत्) हे राज्य को पालने वाली ! [सूर्य और पृथिवी] (किल्बिषाणि) हमारे अनेक पाप हैं। (यत्) जो (अक्षवृत्तम्) इन्द्रियों का सदाचार है, (एतत्) वह (नः) हमें (अनु) अनुग्रह करके (दत्तम्) तुम दोनों दान करो। (ऋणात् ऋणम्) ऋण के पीछे ऋण को (एर्त्समानः) लगातार बढ़ाने की इच्छा करता, हुआ, (अधिरज्जुः) रसरी लिये हुये [उधार देने वाला] (यमस्य) न्यायाधीश के

निपात्यते। तीक्ष्णदर्शने (उग्रजितौ) तीव्रजयशीले (तत्) (अद्य) (अप्सरसौ) अ० ४। ३७। २। अन्तरिक्षे सरन्त्यौ द्यावापृथिव्यौ। तत्रत्याः पदार्था इत्यर्थः (अनु) अनुग्रहेण (दत्ताम्) प्रयच्छताम् (ऋणम्) प्रतिदेयं धनम् (नः) अस्माकम् ॥

२—(उग्रंपश्ये) म० १। हे तीव्रदर्शने (राष्ट्रभृत्) हे राज्यस्य पोषयित्रि (किल्बिषाणि) पापानि (यत्) (अक्षवृत्तम्) इन्द्रियाणां सच्चरित्रम् (अनु) अनुग्रहेण (दत्तम्) प्रयच्छतम् (नः) अस्मभ्यम् (एतत्) अक्षवृत्तम् (ऋणात्) ऋणकारणात् (ऋणम्) (नः) अस्मान् (न) निषेधे (एर्त्समानः) आ+ऋधु वृद्धौ—सनि चानश्। आप्ज्ञप्यृधामीत्। पा० ७। ४। ५५। अच ईकारः। ताच्छील्यवयो०। पा० ३। २। १२९। इति चानश्। आने मुक्। पा०

(लोके) समाज में (नः) हमको (आ) आकर (न) न (अयत्) प्राप्त हो ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पापों को छोड़कर सदा सदाचार करें जिस से उन्हें संसार में लज्जित न होना पड़े, जिस प्रकार ऋण दाता ब्याज पर ब्याज बढ़ा कर अपने ऋणी को राजद्वार में लज्जित करता है ॥ २ ॥

यस्मा॑ ऋ॒णं यस्य॑ जा॒याम॑पै॒मि यं याच॑मानो अ॒भ्यैमि॑ दे॒वाः। ते वाचं॑ वादिषु॒र्मोत्त॑रां॒ मद्दे॑वपत्नी॒ अप्स॑रसा॒वधी॑तम् ॥३॥

यस्मै॑। ऋ॒णम्। यस्य॑। जा॒याम्। उ॒प॒-ऐमि॑। यम्। याच॑मानः। अ॒भि-ऐमि॑। दे॒वाः। ते। वाच॑म्। वा॒दि॒षुः॒। मा। उत्त॑राम्। मत्। देव॑पत्नी॒ इति॒ देव॑-पत्नी। अप्स॑रसौ। अधि॑। इ॒त॒म् ॥३॥

भावार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (यस्मै ऋणम्) जिस का मुझ पर उधार है, (यस्य) जिसकी (जायाम्) स्त्री के पास (उपैमि) मैं जाऊं, अथवा (याचमानः) अनुचित मांगता हुआ मैं (यम्) जिसके पास (अभ्यैमि) पहुंचूं । (ते) वे लोग (मत्) मुझसे (उत्तराम्) (वाचम्) बढ़ कर बात (मा वादिषुः) न बोलें, (देवपत्नी) हे दिव्यपदार्थों की रक्षा करने वाली (अप्सरसौ) आकाश में चलने वाली, सूर्य और पृथिवी ! (अधीतम्) [यह बात] स्मरण रक्खो ॥ ३ ॥

---

७ । २ । ८२ । इति मुक् । समन्ताद् वर्धयितुमिच्छन् (यनस्य) न्यायाधीशस्य (लोके) समाजे (अधिरज्जुः) गृहीतपाशः (आ) आगत्य (अयत्) अयेत प्राप्नुयात् ॥

३—(यस्मै) उत्तमर्णाय (ऋणम्) प्रतिदेयं धनम् (यस्य) (जायाम्) भार्य्याम् (उपैमि) उपगच्छामि व्यभिचारेण (यम्) (याचमानः) अनुचितं प्रार्थयमानः (अभ्यैमि) प्राप्नोमि (देवाः) हे विद्वांसः (ते) त्रयो जनाः (वाचम्) वाणीम् (मा वादिषुः) मा ब्रुवन्तु (उत्तराम्) उत्कृष्टतराम् । प्रतिकूलामित्यर्थः (मत्) मत्तः (देवपत्नी) देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः—निरु० १२ । ४४ । हे दिव्यपदार्थानां पालयित्र्यौ (अप्सरसौ)—म० १ । अन्तरिक्षे सरन्त्यौ द्यावापृथिव्यौ (अधीतम्) इक् स्मरणे । अधिकं स्मरतम् ॥

भावार्थ—संसार के मनुष्य स्मरण रक्खें कि ऋण लेने, व्यभिचार करने और अनुचित मांगने से प्रशंसा में बट्टा लगता है, इस से पुरुषार्थ करके कीर्ति बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१-३ ॥ वैश्वानरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

प्रतिज्ञाप्रतिपालनोपदेशः—वचन के प्रति पालन का उपदेश ॥

यददीव्यन्नृणमहं कृणोम्यदास्यन्नग्न उत संगृणामि। वैश्वानरो नो अधिपा वसिष्ठ उदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥१॥

यत्। अदीव्यन्। ऋणम्। अहम्। कृणोमि। अदास्यन्। अग्ने। उत। सम्-गृणामि। वैश्वानरः। नः। अधि-पाः। वसिष्ठः। उत्। इत्। नयाति। सु-कृतस्य। लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (अदीव्यन्) व्यवहार न करता हुआ (अहम्) मैं (यत्) जो (ऋणम्) ऋण (कृणोमि) करूं (उत) अथवा (अदास्यन्) चुकाना न चाहता हुआ (संगृणामि) प्रण करूं। (वैश्वानरः) सब नरों का स्वामी, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला, (वसिष्ठः) अति उत्तम परमेश्वर (इत्) ही (नः) हमें (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (लोकम्) लोक [समाज] में (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को साक्षी करके पुरुषार्थ पूर्वक माता पिता आदि के ऋण को चुकावें और अपने वचन को मिथ्या न करें ॥ १ ॥

वैश्वानराय प्रति वेदयामि यद्यृणं संगरो देवतासु।

१—(यत्) (अदीव्यन्) व्यवहारम् अकुर्वन् (ऋणम्) (अहम्) (कृणोमि) करोमि (अदास्यन्) प्रतिदानम् अकरिष्यन् (अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् (उत) अपि (संगृणामि) गॄ शब्दे। प्रतिजानामि (वैश्वानरः) अ० १। १०। ४। सर्वनरहित (नः) अस्मान् (अधिपाः) अधिकं पालयिता (वसिष्ठः) वसु—इष्ठन्। अतिश्रेष्ठः परमेश्वरः (इत्) एव (उन्नयाति) ऊर्ध्वं प्रापयेत् (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोकम्) समाजम् ॥

स एतान् पाशान् विचृतं वेद सर्वानथ पक्केन सह सं भवेम ॥ २ ॥

वैश्वानराय । प्रति । वेदयामि । यदि । ऋणम् । सम्-गरः । देवतासु । सः । एतान् । पाशान् । वि-चृतम् । वेद । सर्वान् । अथ । पक्केन । सह । सम् । भवेम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानराय) सब नरों के हितकारी परमेश्वर से (प्रति) प्रत्यक्ष (वेदयामि) निवेदन करता हूं कि (देवतासु) विद्वानों के विषय [मेरी ओर से] (यत्) जो (ऋणम्) ऋण और (सगरः) प्रण है। (सः) वह परमेश्वर (एतान्) इन (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (विचृतम्) खोल देना (वेद) जानता है, (अथ) सो (पक्केन सह) उस पक्के [दृढ़] स्वभाव वाले परमेश्वर के साथ (सम् भवेम) हम बने रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अपने ऋण और प्रतिज्ञा को पूरा करके सदा परमेश्वर की आज्ञा पालन करते रहें ॥ २ ॥

वैश्वानरः पविता मा पुनातु यत् संगरमभिधावाम्याशाम्। अनाजानन् मनसा याचमानो यत् तत्रैनो अप तत् सुवामि ॥ ३ ॥

वैश्वानरः । पविता । मा । पुनातु । यत् । सम्-गरम् । अभि-धावामि । आ-शाम् । अनाजानन् । मनसा । याचमानः । यत् । तत्र । एनः । अप । तत् । सुवामि ॥ ३ ॥

२—(वैश्वानराय) सर्वनरहिताय जगदीश्वराय (प्रति) प्रत्यक्षम् (वेदयामि) विज्ञापयामि (यत्) (ऋणम्) (सगरः) प्रणयः (देवतासु) विदुषां विषये (सः) परमेश्वरः (एतान्) (पाशान्) बन्धान् (विचृतम्) अ० ६ । ११७ । १ । विचर्तितुं विश्लेषयितुम् (वेद) वेत्ति (सर्वान्) (अथ) अनन्तरम् (पक्वेन) पच पाके, व्यक्तीकारे च-क्त, तस्य वः । दृढस्वभावेन परमात्मना (सह) (संभवेम) सगच्छेमहि ॥

भाषार्थ—(पविता) सब शुद्ध करने वाला (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी (मा) मुझे (पुनातु) शुद्ध करे, (यत्) यदि (मनसा) मन से (अनाजानन्) अज्ञान होकर (याचमानः) [अनुचित] मांगता हुआ मैं (संगरम्) अपनी प्रतिज्ञा और (आशाम्) उनकी आशा पर (अभिधावामि) पानी फेर दूं। (तत्र) उस [कर्म] में (यत्) जो (एनः) पाप है, (तत्) उसको (अप सुवामि) मैं हटाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्धस्वभाव परमात्मा के गुणों को विचारता हुआ अपनी प्रतिज्ञा को सत्य करे, और प्रमाद करके दुष्ट कर्मों में न पड़े ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२० ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ विराट् छन्दः ॥

गृहमोदवर्द्धनायोपदेशः—घर में आनन्द बढ़ाने का उपदेश ॥

यद॒न्तरि॑क्षं पृथि॒वीमु॒त द्यां यन्मा॒तरं॑ पि॒तरं॑ वा जिहिंसि॒म । अ॒यं तस्मा॒द् गार्ह॑पत्यो नो अ॒ग्निरुदिन्न॑याति सुकृ॒तस्य॑ लो॒कम् ॥ १ ॥

यत् । अ॒न्तरि॑क्षम् । पृ॒थि॒वीम् । उ॒त । द्याम् । यत् । मा॒तर॑म् । पि॒तर॑म् । वा॒ । जि॒हिं॒सि॒म । अ॒यम् । तस्मा॑त् । गार्ह॑-पत्यः । नः॒ । अ॒ग्निः । उत् । इत् । न॒या॒ति॒ । सु॒-कृ॒तस्य॑ । लो॒कम् ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (अन्तरिक्षम्) आकाश [वहां के प्राणियों] को (पृथिवी) भूमि [वहां के जीवों] को (उत) और (द्याम्) प्रकाशमान लोक

३—(वैश्वानरः) सर्वनरहितः (पविता) सर्वशोधयिता (मा) माम् (पुनातु) शोधयतु (यत्) यदि (संगरम्) स्वप्रतिज्ञाम् (अभिधावामि) धावु गतिशुद्ध्योः। अभिशोधयामि। अभिभवामि (आशाम्) तेषां लालसाम् (अनाजानन्) अज्ञानं कुर्वन् (मनसा) चेतसा (याचमानः) अनुचितं प्रार्थयमानः (यत्) (तत्र) तस्मिन् कर्मणि (एनः) पापम् (तत्) (अप सुवामि) षू प्रेरणे। अपगमयामि ॥

१—(यत्) यदि (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम्। तत्रत्यान् जनान् (पृथिवीम्) भूमिस्थानप्राणिनः (उत) अपि (द्याम्) प्रकाशमानंलोकम्,

[प्रकाश के जीवों] को, (यत्) यदि (मातरम्) माता (वा) अथवा (पितरम्) पिता को (जिहिंसिम) हमने सताया है। (अयम्) यह (गार्हपत्यः) घर के स्वामियों का संयोगी (अग्निः) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर (तस्मात्) उस [पाप] से पृथक् करके (नः) हमें (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (इत्) अवश्य (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को साक्षात् करके संसार के सब जीवों और माता पिता आदि माननीय महात्माओं का उपकार करके धर्मात्माओं के समाज में प्रतिष्ठा पावे ॥ १ ॥

भूमिर्मातादितिर्नो जनित्रं भ्रातान्तरिक्षमभिशस्त्या नः। द्यौर्नः पिता पित्र्याच्छं भवाति जामिमृत्वा माव पत्सि लोकात् ॥ २ ॥

भूमिः। माता। अदितिः। नः। जनित्रम्। भ्राता। अन्तरिक्षम्। अभि-शस्त्या। नः। द्यौः। नः। पिता। पित्र्यात्। शम्। भवाति। जामिम्। ऋत्वा। मा। अव। पत्सि। लोकात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अविनाशिनी प्रकृति (नः) हमारी (जनित्रम्) उत्पत्ति का निमित है, (भूमिः) सब के आधार पृथिवी के समान (माता) माता, (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश के समान (नः) हमारा (भ्राता) भ्राता, (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य के समान (नः) हमारा (पिता) पिता (अभि-

---

तत्रस्थान् जीवान् (यत्) (मातरम्) (पितरम्) (वा) (जिहिंसिम) हिंसि हिंसायाम्—लिट्। वयं पीडितवन्तः (अयम्) सुप्रसिद्धः (तस्मात्) तद्विधात् पापात् पृथक् कृत्वा (गार्हपत्यः) गृहपतिना संयुक्ते ञ्यः। पा० ४। ४। ६०। इति ञ्य। गृहपतिभिः संयुक्तः (नः) अस्मान् (अग्निः) सर्वज्ञः परमेश्वरः (उत्) ऊर्ध्वम् (इत्) एव (नयाति) नयेत्। गमयेत् (सुकृतस्य) धर्मस्य (लोकम्) समाजम् ॥

२—(भूमि) सर्वाधारभूमितुल्या (माता) अ० ५। ५। १। जननी (अदितिः) अ० २। २८। ४। अविनाशिनी प्रकृतिः (नः) अस्माकम् (जनित्रम्) उत्पत्तिस्थानम् (भ्राता) अ० ४। ४। ५। भरणशीलः सहोदरः (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्तिलोकसदृशः (अभिशस्त्या) पंचम्यर्थे तृतीया। अपवादात्

शुत्या—०—शुत्याः) अपवाद से [अलग करके] (शम्) शान्तिकारक (भवाति) होवे, (जामिम्) बन्धुवर्ग को (ऋत्वा) पाकर (पित्र्यात्) पितरों, विज्ञानियों के प्रिय (लोकात्) समाज से (मा अव पत्सि) मैं कभी न गिरूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर, परमेश्वर रचित पदार्थों और माता पिता आदि कुटुम्बियों का उपकार विचार कर उनकी यथावत् सेवा से मनुष्य समाज में कीर्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

यत्रा॑ सु॒हार्दः॑ सु॒कृतो॒ मद॑न्ति वि॒हाय॒ रोगं॑ त॒न्वः॑ स्वायाः॑ । अश्लो॑णा॒ अङ्गै॒रह्रु॑ताः स्व॒र्गे तत्र॑ पश्येम पि॒तरौ॑ च पु॒त्रान् ॥ ३ ॥

यत्र॑ । सु॒ऽहार्दः॑ । सु॒ऽकृतः॑ । मद॑न्ति । वि॒ऽहाय॑ । रोग॑म् । त॒न्वः॑ । स्वायाः॑ । अश्लो॑णाः । अङ्गैः॑ । अह्रु॑ताः । स्वः॒ऽगे । तत्र॑ । प॒श्ये॒म॒ । पि॒तरौ॑ । च॒ । पु॒त्रान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां पर (सुहार्दः) सुन्दर हृदय वाले (सुकृतः) पुण्यात्मा लोग (स्वायाः) अपने (तन्वः) शरीर का (रोगम्) रोग (विहाय) छोड़ कर (मदन्ति) आनन्द भोगते हैं। (तत्र) वहाँ पर (स्वर्गे) स्वर्ग में (अश्लोणाः) बिना लगड़े हुये और (अङ्गैः) अङ्गों से (अह्रुताः) बिना टेढ़े

(नः) अस्माकम् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्य इव (पिता) जनकः (पित्र्यात्) पितुर्यत्। पा० ४। ३। ७६। पितृ—यत्। रीङ् ऋतः। पा० ७। ४। २७। रीङ्। पितृणां विज्ञानिनां प्रियात् (शम्) शान्तिकारकः (भवाति) भवेत् (जामिम्) अ० २। ७। २। बन्धुवर्गम् (ऋत्वा) प्राप्य (मा अव पत्सि) पद गतौ, माङि लुङि उत्तमैक वचने रूपम्। अवपन्नो मा भूवम् ॥

३—(यत्र) यस्मिन् गृहे (सुहार्दः) अ० ३। २८। ५। सुहृदया। अनुकूलकारिणः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (मदन्ति) हर्षन्ति (विहाय) परित्यज्य (रोगम्) व्याधिम् (तन्वः) शरीरस्य (स्वायाः) स्वकीयायाः (अश्लोणाः) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। इति श्रु अपगमे गतौ च—न,

हुये हम (पितरौ) माता पिता (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (पश्येम) देखते रहें ॥

भावार्थ—जिस घर में सब स्त्री पुरुष सुकर्मी और नीरोग होवें उस स्वर्ग में ही सब कुटुम्बी मिलकर सुख के स्थिर रखने का प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध आ चुका है—अ० ३। २८। ५॥

सूक्तम् १२१ ॥

१-४ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराट्; २ त्रिष्टुप्; ३, ४ अनुष्टुप् ॥

मोक्षप्राप्त्युपदेशः—मोक्ष पाने का उपदेश ॥

विषाणा पाशान् वि ष्याध्यस्मद् य उत्तमा अधमा वारुणा ये । दुष्वप्न्यं दुरितं नि ष्वास्मदथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ १ ॥

वि-सानां । पाशान् । वि । स्य । अधि । अस्मत् । ये । उत्-तमाः । अधमाः । वारुणाः । ये । दुःस्वप्न्यम् दुः-इतम् । निः । स्व । अस्मत् । अथ । गच्छेम । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (विषाणा=०—सेन) विविध भक्ति के साथ (पाशान्) फन्दों को (अस्मत्) हमसे (अधि) अधिकार पूर्वक (वि ष्य) खोल दे, (ये) जो (उत्तमाः) ऊंचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे फंदे (वारुणाः) जो दोष निवारक वरुण परमात्मा से आये हैं। (दुःष्वप्न्यम्) नींद

यद्वा । श्रोण संघाते—अच्, रस्य लत्वम्, यद्वा श्लोण संघाते—अच् । अश्लोणाः । अपङ्गवः (अङ्गैः) शरीरावयवैः (अह्रुताः) अकुटिलगतयः (स्वर्गे) सुखविशेषे (पश्येम) साक्षात्कुर्य्याम (पितरौ) मातरं पितरं च । (च) (पुत्रान्) सुतान् ॥

१—(विषाणा) अ० ३। ७। १। षण सम्भक्तौ-घञ् । सुपां सुलुक्० । पा० ७। १। ३९। इति आत् । विविधसेवनेन (पाशान्) बन्धान् (वि ष्य) षो अन्तकर्मणि । विमुञ्च (अधि) अधिकृत्य (अस्मत्) अस्मत्तः (ये) पाशाः (उत्तमाः) ऊर्द्ध्वकायाश्रिताः (अधमाः) अधःकायाश्रिताः (वारुणाः) तत्र

में उठे कुविचार और (दुरितम्) विघ्न को (अस्मत्) हम से (निः) निकाल दे, (अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भक्ति की शक्ति को बढ़ाकर अपने बुरे कर्म के फल दुःखों को पुरुषार्थ से हटाकर सोते जागते उत्तम विचार करते हैं वे ही पुण्यात्मा कीर्ति पाते हैं ॥ १ ॥

यद् दारुणि बध्यसे यच्च रज्ज्वां यद् भूम्यां बध्यसे यच्च वाचा । अयं तस्माद् गार्हपत्यो नो अग्निरुदिन्नयाति सुकृतस्य लोकम् ॥ २ ॥

यत् । दारुणि । बध्यसे । यत् । च । रज्ज्वाम् । यत् । भूम्याम् । बध्यसे । यत् । च । वाचा । अयम् । तस्मात् । गार्हपत्यः । नः । अग्निः । उत् । इत् । नयाति । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (यत्) यदि तू (दारुणि) काष्ठ में, (च) और (यत्) यदि तू (भूम्याम्) भूमि में (च) और (यत्) यदि (वाचा) वचन के साथ (बध्यसे) बधा है। (अयम्) यह (गार्हपत्यः) घर के स्वामियों का सयोगी (अग्नि.) अग्नि, सर्वज्ञ परमेश्वर (तस्मात्) उस [कष्ट] से पृथक् करके (नः) हमें (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (इत्) अवश्य (उन्नयाति) ऊंचा चढ़ावे ॥ २ ॥

आगतः । पा० ४ । ३ । ७४ । इत्यण् । वरुणात् कष्टनिवारकात् परमेश्वरात् प्राप्ताः (ये) (दुःष्वप्न्यम्) अ० ६ । ४६ । ३ । कुनिद्राभवं विचारम् (दुरितम्) कष्टम् (निः स्व) तन्वादीनां छन्दसि बहुलम् । वा० पा० ६ । ४ । ८६ । षू प्रेरणे यण् । निः सुव । निर्गमय (अथ) अनन्तरम् (गच्छेम) प्राप्नुयाम (सुकृतस्य) पुण्यस्य (लोकम्) समाजम् ॥

२—(यत्) यदि (दारुणि) दृसनिजनि० । उ० १ । ३ । दृ विदारणे—ञुण् । काष्ठे (बध्यसे) बद्धो भवसि (रज्ज्वाम्) दाम्नि (भूम्याम्) भूमिगर्ते (वाचा) राजाज्ञाप्रकाशकेन वचनेन । अन्यद् गतम्—अ० ६ । १२० । १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य बडी विपत्तियों में पड कर परमात्मा की शरण लेना और पुरुषार्थ करता है वह से छूट कर उन्नति पाता है ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० ६ । १२० । १ ॥

उदंगातां भगंवती विचृतौ नाम तारंके ।
प्रेहामृतंस्य यच्छतां प्रैतुं बद्धकमोचंनम् ॥ ३ ॥

उत् । अगाताम् । भगंवती इति भगं-वती । वि-चृतौं । नामं । तारंके इति । प्र । इह । अमृतंस्य । यच्छताम् । प्र । एतु । बद्धक-मोचंनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भगवती=०—त्यौ) दो ऐश्वर्य वाले (विचृतौ) [अन्धकार से] छुड़ाने हारे (नाम) प्रसिद्ध (तारके) तारे [सूर्य और चन्द्रमा] (उद्गाताम्) उदय हुये हैं । वे दोनों (इह) यहां पर (अमृतस्य) मरण से बचाव [पुरुषार्थ] का (प्रयच्छताम्) दान करें, [तब] (बद्धकमोचनम्) बंधुवे [आत्मा] की मुक्ति (प्र एतु) हो जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य और चन्द्रमा नियम पर चलकर जगत् का उपकार करते हैं, इसी प्रकार पुरुषार्थी मनुष्य ईश्वर आज्ञा पालन करके आप दुःख से छूटते और औरों को छुडाते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध पहिले आ चुका है—अ० २ । ८ । १ ।

वि जिहीष्व लोकं कृंणु बन्धान्मुंञ्चासि बद्धंकम् ।
योन्यां इव प्रच्युंतो गर्भः पथः सर्वा अनुं क्षिय ॥४॥

वि । जिहीष्व । लोकम् । कृणु । बन्धात् । मुञ्चासि । बद्धंकम् ।

३—(उद्गाताम्) उदितेऽभूताम् (भगवती) भगवत्यौ । ऐश्वर्यवत्यौ (विचृतौ) अन्धकाराद् विमोचयित्र्यौ (नाम) प्रसिद्धे (तारके) ज्योतिषी । सूर्यचन्द्रौ (इह) अस्मिन् पुरुषे (अमृतस्य) मरणराहित्यस्य । पुरुषार्थस्य (प्रयच्छताम्) । उभे दानं कुरुताम् (प्र एतु) प्रकर्षेण गच्छतु (बद्धकमोचनम्) कुत्सायां कन् । कुत्सितबन्धं प्राप्तस्य मोक्षः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० २ । ८ । १ ।

योन्याः-इव । प्र-च्युतः । गर्भः । पथः । सर्वान् । अनु । क्षिय ॥४॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (वि जिहीष्व) विविध प्रकार से चल, (लोकम्) समाज को (कृणु) बना, (बद्धकम्) बड़े बंधुवे [आत्मा) को (बन्धात्) बन्ध से (मुञ्चासि) तू छुड़ा दे (योन्याः) गर्भाशय से (प्रच्युतः) बाहर निकले हुये (गर्भः इव) बालक के समान (सर्वान्) सब (पथः अनु) मार्गों की ओर (क्षिय) चल ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे जैसे प्रयत्न करता है वैसे वैसे दुःख बन्धन से छूट कर आनन्द भोगता है, जैसे गौ आदि का बच्चा गर्भ से उत्पन्न होकर प्रसन्नता से विचरता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १२२ ॥

१-५ प्रजापति र्देवता ॥ १,३,४ त्रिष्टुप्;२ विराट्; ५ जगती ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द प्राप्ति की करने का उपदेश ॥

एतं भागं परि ददामि विद्वान् विश्वकर्मन् प्रथमजा ऋतस्य । अस्माभिर्दत्तं जरसः परस्तादच्छिन्नं तन्तुमनु सं तरेम ॥ १ ॥

एतम् । भागम् । परि । ददामि । विद्वान् । विश्व-कर्मन् । प्रथम-जाः । ऋतस्य । अस्माभिः । दत्तम् । जरसः । परस्तात् । अच्छिन्नम् । तन्तुम् । अनु । सम् । तरेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रथमजाः) श्रेष्ठों में प्रसिद्ध, (विद्वान्) विद्वान् मैं (ऋतस्य) सत्य धर्म के (एतम्) इस (भागम्) सेवनीय व्यवहार को (विश्वकर्मन्)

४—(वि) विविधम् (जिहीष्व) ओहाङ् गतौ । गच्छ (लोकम्) स्थानम् । समाजम् (कृणु) कुरु (बन्धात्) दुःखबन्धनात् (मुञ्चासि) लेटि रूपम् । विमोचय (बद्धकम्) कुत्सितबन्धं गतम् (योन्याः) गर्भाशयात् (इव)यथा (प्रच्युतः) बहिर्निर्गतः (गर्भः) बालकः (पथः) मार्गान् (सर्वान्) समस्तान् (अनु) अनुलक्ष्य (क्षिय) क्षि निवासगत्योः । गच्छ ॥

१—(एतम्) क्रियमाणम् (भागम) भजनीय व्यवहारम् (परि ददामि) समर्पयामि (विद्वान्) तत्त्वं जानन् (विश्वकर्मन्) अ० २।३४।३। सुपांसु-

जगत् के रचने वाले विश्वकर्मा परमेश्वर में (परि ददामि) समर्पण करता हूं। (जरसः) बुढ़ापे से (परस्तात्) दूर देश में (अस्माभि. दत्तम्) अपने दिये हुये (अच्छिन्नम्) बिना टूटे (तन्तुम् अनु) फैले हुये [अथवा वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक] परब्रह्म के पीछे पीछे (सम्) यथावत् (तरेम) हम पार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके अजर अमर के समान तत्वज्ञान प्राप्त करके विद्यादान करें ॥ १ ॥

तुतं तन्तुमन्वेके तरन्ति येषां दुत्तं पित्र्यमायनेन । अबुन्ध्वेके दद॑तः प्रयच्छन्तो दातुं चेच्छिक्षान्त्स स्वर्ग एव ॥ २ ॥

तुतम् । तन्तुम् । अनु । एके । तरन्ति । येषाम् । दुत्तम् । पित्र्यम् । आ-अयनेन । अबन्धु । एके । दद॑तः । प्र-यच्छन्तः । दातुम् । च । इत् । शिक्षान् । सः । स्वः-गः । एव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन लोगों का (पित्र्यम्) पितरों, माननीयों का प्रिय (दत्तम्) दान (आयनेन) यथाशास्त्र होता है, (एके) वे कोई (ततम्) फैले हुये (तन्तुम् अनु) वस्त्र में सूत के समान सर्वव्यापक ब्रह्म के पीछे पीछे

लुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तिलोपः । जगत्कर्तरि परमात्मनि (प्रथमजाः) जनसनखन० । पा० ३ । २ । ६७ । इति जनी प्रादुर्भावे—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । प्रथमेषु श्रेष्ठेषु जातः प्रादुर्भूतः (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (अस्माभिः) उपासकैः (दत्तम्) समर्पितं कर्म (जरसः) जराया सकाशात् (परस्तात्) अ० ४ । १६ । ४ । परस्मिन् दूरे देशे । यावज्जरा न भवेत् तावत्, इत्यर्थः (अच्छिन्नम्) अभिन्नम् (तन्तुम्) अ० २ । १ । ५ । विस्तीर्णम् । यद्वा । वस्त्रे सूत्रवत् सर्वव्यापक ब्रह्म (अनु) अनुलक्ष्य (सम्) सम्यक् (तरेम) पारयेम ॥

२—(ततम्) विस्तृतम् (तन्तुम्)—म० १ । पटे सूत्रवत्सर्वव्यापकं ब्रह्म (अनु) अनुलक्ष्य (एके) केचन धीराः (तरन्ति) पार गच्छन्ति (येषाम्) धीराणाम् (दत्तम्) दानम् (पित्र्यम्) अ० ६ । १२० । २ । पितृणां प्रियम्

(तरन्ति) तरते हैं। (एके) कोई कोई (अबन्धु) बन्धुरहितों [अनाथों] को (ददतः) देते हुये और (प्रयच्छन्तः) सौंपते हुये रहते हैं, [जो] (दातुम्) दान करने को (च इत्) अवश्य ही (शिक्षान्) समर्थ हों, (सः एव) वही [उनको] (स्वर्गः) स्वर्ग है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अनाथों का सत्कार करके परमात्मा की आज्ञा पालन करते हैं, वे ही विशेष सुख के भागी होते हैं ॥ २ ॥

अन्वारभेथामनुसंरभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते। यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दम्पती सं श्रयेथाम् ॥ ३ ॥

अनु-आरभेथाम्। अनु-संरभेथाम्। एतम्। लोकम्। श्रत्-दधानाः। सचन्ते। यत्। वाम्। पक्वम्। परि-विष्टम्। अग्नौ। तस्य। गुप्तये। दम्पती इति दम्-पती। सम्। श्रयेथाम् ॥३॥

भाषार्थ—(दम्पती) हे स्त्री पुरुषो ! [सत्कर्म को] (अन्वारभेथाम्) निरन्तर आरम्भ करो, (अनुसंरभेथाम्) मिलकर आरम्भ करते रहो, (श्रद्दधानाः) श्रद्धा वाले लोग (एतम्) इस [स्वर्ग] (लोकम्) लोक को (सचन्ते)

(आयनेन) आ+अय गतौ—ल्युट्। आगमेन। यथाशास्त्रम् (अबन्धु) सुपां सुलुक्०। इति चतुर्थ्या लुक्। अबन्धुभ्यः। बन्धुरहितेभ्यः। अनाथेभ्यः (एके) सुजनाः (ददतः) दानं कुर्वन्तः (प्रयच्छन्तः) समर्पयन्तः सन्ति (दातुम्) (च इत्) अवश्यमेव (शिक्षान्) शक्लृ शक्तौ सनि। सनिमीमा०। पा० ७।४।५४। इत्यचः स्थाने इस्। अत्र लोपोऽभ्यासस्य। पा० ७।४।५८। इत्यभ्यासलोपः। लेटि आडागमः। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु। पा० ३।४।९७। इकारलोपः। संयोगान्तलोपे नस्य असिद्धत्वान्नलोपाभावः। शक्नुयुरिच्छेयुः। समर्था भवेयुः ॥ २ ॥

३—(अन्वारभेथाम्) निरन्तरमारम्भं कुरुतं सत्कर्मणः (अनुसंरभेथाम्) निरन्तरं संयुक्तौ भूत्वा आरम्भं कुरुतम् (एतम्) (लोकम्) दर्शनीयं स्वर्गम् (श्रद्दधानाः) श्रद्धावन्तः कर्मानुष्ठानतत्पराः (सचन्ते) सेवन्ते—

निरन्तर सेवते हैं। (अग्नौ) अग्नि में (पक्वम्) पका हुआ (यत्) जो [अन्न] (वाम्) तुम्हारे लिये (परिविष्टम्) उपस्थित है, (तस्य गुप्तये) उसकी रक्षा के लिये (सम् श्रयेथाम्) तुम दोनों परस्पर आश्रय लो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष गृहस्थ आश्रम में यथावत प्रवेश करके परमात्मा में श्रद्धा रखते हुये अपने कर्तव्य का यथावत् पालन करके सदा सुख भोगें ॥३॥

य॒ज्ञं यन्तं॒ मन॑सा बृ॒हन्त॑म॒न्वारो॑हामि॒ तप॑सा॒ सयो॑निः।
उप॑हूता अग्ने ज॒रसः॑ प॒रस्ता॑त् तृ॒तीये॒ नाके॑ सध॒मादं॑ मदेम ॥ ४ ॥

य॒ज्ञम् । यन्त॑म् । मन॑सा । बृ॒हन्त॑म् । अ॒नु-आरो॑हामि । तप॑सा । स-यो॑निः । उप॑हूताः। अ॒ग्ने॒ । ज॒रसः॑ । प॒रस्ता॑त्। तृ॒तीये॑ । नाके॑ । स॒ध॒-माद॑म् । म॒दे॒म ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मनसा) विज्ञान और (तपसा) तप अर्थात् उत्साह के साथ (सयोनिः) निवास करता हुआ मैं (यन्तम्) व्याप्तिशील (बृहन्तम्) सब में बड़े (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्म को (अन्वारोहामि) निरन्तर ऊंचा होकर प्राप्त करता हूं। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (जरसः) वयोहानि से (परस्तात्) दूर देश में (उपहूताः) बुलाये गये हम (तृतीये) तीसरे [जीव और

निघ० ३। २१। (यत्) अन्नम् (वाम्) युवाभ्याम् (पक्वम्) पाकेन संस्कृतम् (परिविष्टम्) प्राप्तम् (अग्नौ) पावके (तस्य) अन्नस्य (गुप्तये) रक्षणाय (दम्पती) राजदन्तादिषु परम्। पा० २। २। ३१। अत्र पाठात् जायाया दम्भावो निपात्यते। भार्यापती (सम्) समन्तात् (श्रयेथाम्) श्रिञ् सेवायाम्। सेवेथाम् ॥

४—(यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयं परमात्मानं (यन्तम्) गच्छन्तं व्याप्तिशीलम् (बृहन्तम्) महान्तम् (अन्वारोहामि) निरन्तरमारुह्य प्राप्नोमि (मनसा) विज्ञानेन (तपसा) श्रमेण। उत्साहेन (सयोनिः) समानगृहः सन्। योनिः-गृहनाम-निघ० ३। ४। (उपहूताः) आदरेणानुज्ञाताः (अग्ने) सर्वव्यापक परमात्मन् (जरसः) वयोहानेः सकाशात् (परस्तात्) परे दूरे देशे (तृतीये)

प्रकृति से भिन्न] (नाके) सुख स्वरूप परमात्मा में (सधमादम्) हर्ष से (मदेम) मनावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पुरुष विज्ञान और तपस्या से परब्रह्म को जान कर उपकारी होते हैं, वे अजर अमर होकर उस परमात्मा के साथ आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि । यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददातु तन्मे ॥ ५ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । ब्रह्मणाम् । हस्तेषु । प्र-पृथक् । सादयामि । यत्-कामः । इदम् । अभि-सिञ्चामि । वः । अहम् । इन्द्रः । मरुत्वान् । सः । ददातु । तत् । मे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव वाली, (पूताः) पवित्र आचरण वाली, (यज्ञियाः) पूजनीय (इमाः) इन (योषितः) सेवा योग्य स्त्रियों को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानी पुरुषों के (हस्तेषु) हाथों के बीच [विज्ञान के बलों में] (प्रपृथक्) नाना प्रकार से (सादयामि) मैं बैठालता हूं । [हे विद्वान् स्त्री पुरुष !] (यत्कामः) जिस उत्तम कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हारा (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, (सः) वह

जीवप्रकृतिभ्यां भिन्ने (नाके) सुखस्वरूपे परमात्मनि (सधमादम्) अ० ६ । ६२ । २ । सहर्षम् (मदेम) हृष्येम ॥

५—(शुद्धाः) निर्मलस्वभावाः (पूताः) पवित्राचाराः (योषितः) अ० १ । १७ । १ । सेव्याः स्त्रीः (यज्ञियाः) पूजार्हाः (इमाः) विदुष्यः (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानिनाम् (हस्तेषु) करेषु । विज्ञानबलेषु (प्रपृथक्) प्रथे कित् सम्प्रसारणं च । उ० १ । १३७ । इति प्रथ प्रख्याने—अजि, स च कित् । पृथक् प्रथते—निरु० ५ । २५ । विस्तारेण । नाना प्रकारेण (सादयामि) स्थापयामि (यत्कामः) यत्पदार्थं कामयमानः (इदम्) इदानीम् (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्तान् करोमि

(मरुत्वान्) दोषनाशक गुणों वाला (इन्द्रः) सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाला जगदीश्वर (तत्) वह वस्तु (मे) मुझे (ददातु) देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने विज्ञान प्राप्ति में स्त्री पुरुषों को समान रचा है, इसलिये मनुष्य को विद्वान् स्त्री पुरुषों से सादर विज्ञान प्राप्त करके परमात्मा में श्रद्धालु होकर आनन्दित होवे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२३ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

विद्वद्भिः सत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों से सत्सग का उपदेश ॥

एतं संधस्थाः परि वो ददामि यं शेवधिमावहाज्जातवेदाः । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्ति तं स्म जानीत परमे व्योमन् ॥ १ ॥

एतम् । सध-स्थाः । परि । वः । ददामि । यम् । शेव-धिम् । आ-वहात् । जात-वेदाः । अनु-आगन्ता । यजमानः । स्वस्ति । तम् । स्म । जानीत । परमे । वि-ओमन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सधस्थाः) हे साथ साथ बैठने वाले सज्जनो ! (वः) तुम्हारे लिये (एतम्) इस (शेवधिम्) सुखनिधि परमेश्वर को (परिददामि) सब प्रकार से देता हूं [उपदेश करता हूं], (यम्) जिस [परमेश्वर]को (जातवेदाः) विज्ञान को प्राप्त वेदार्थ जानने वाला पुरुष (आवहात्) अच्छे

(वः) युष्मान् विदुषः स्त्रीपुरुषान् (मरुत्वान्) अ० १ । २० । १ । मारयन्ति दोषानिति मरुतः । दोषनाशकगुणैर्युक्तः (सः) प्रसिद्धः (ददातु) प्रयच्छतु (तत्) इष्टं फल (मे) मह्यम् ॥

१—(एतम्) सर्वव्यापकम् (सधस्था) सहस्थानाः (परि) सर्वतः (वः) युष्मभ्यम् (ददामि) (यम्) (शेवधिम्) शेवं सुखं धीयते यस्मिंस्तं निधिम्—निरु० २ । ४ । सुखनिधिं परमात्मानम् (आवहात्) लेटि रूपम् । समन्तात् प्राप्नुयात् (जातवेदाः) जातप्रज्ञो वेदार्थवित् (अन्वागन्ता) गमेर्लुट् ।

प्रकार प्राप्त होवे, और [जिसके द्वारा] (यजमान:) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (परमे) परम उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्तमान (तम्) उस परमेश्वर को तुम (स्म) अवश्य (जानीत) जानो ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों से मिलकर सदाचारी होते हैं, वे ही सर्वव्यापी परमेश्वर से मिलते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—अ० १८ । ५६ । ६०, इनका अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर यहां किया गया है ॥

जानीत स्मैनं परमे व्योमन् देवाः सधस्था विद लोकमत्र । अन्वागन्ता यजमानः स्वस्तीष्टापूर्तं स्म कृणुताविरस्मै ॥ २ ॥

जानीत । स्म । एनम् । परमे । वि-ओमन् । देवाः । सध-स्थाः । विद । लोकम् । अत्र । अनु-आगन्ता । यजमानः । स्वस्ति । इष्टापूर्तम् । स्म । कृणुत । आविः । अस्मै ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सधस्थाः) हे साथ साथ बैठने वाले (देवाः) विद्वानो ! (परमे) परम उत्तम (व्योमन्) आकाश में वर्तमान (एनम्) इस [परमात्मा] को (स्म) अवश्य (जानीत) जानो, और (अत्र) इस [परमात्मा] में

निरन्तरमागमिष्यति । प्राप्स्यति (यजमानः) परमेश्वरपूजकः (स्वस्ति) कल्याणम् (तम्) परमात्मानम् (स्म) अवश्यम् (परमे) प्रकृष्टे (व्योमन्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । इति अव रक्षणे—मनिन् । ज्वरत्वरस्रिव्यवि० । पा० ६ । ४ । २० । इति ऊठि कृते गुणः । सुपांसु लुक्० । सप्तम्या लुक् । न ङि-सम्बुद्ध्योः । पा० ८ । २ । ८ । नलोपाभावः । व्योमन्=व्यवने—निरु० ११ । ४० । व्योमनि । आकाशे ॥

२—(एनम्) सर्वव्यापकं परमेश्वरम् (देवाः) विद्वांसः (विद) लोडर्थे—लट् । वित्त, जानीत (लोकम्) संसारम् (अत्र) अस्मिन् परमात्मनि (इष्टापूर्त्तम्) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादिपुण्य-

(लोकम्) संसार को (विद) जानो [और जिसके द्वारा] (यजमानः) परमेश्वर का पूजने वाला (स्वस्ति) कल्याण (अन्वागन्ता) लगातार पावेगा, (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन, अन्नदान आदि पुण्य कर्म को, (अस्मै) इस परमेश्वर की प्राप्ति के लिये (स्म) अवश्य (आविः) प्रकाशित (कृणुत) करो ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग से योगाभ्यास और धर्म्म का आचरण करके परमेश्वर को जान कर आनन्द करें ॥ २ ॥

देवाः पितरः पितरो देवाः। यो अस्मि सो अस्मि ॥३॥

देवाः। पितरः। पितरः। देवाः। यः। अस्मि। सः। अस्मि ॥३॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (पितरः) माननीय, और (पितरः) पालन करने वाले लोग (देवाः) विजयी होते हैं। मैं (यः) चलने फिरने वाला [उद्योगी] (अस्मि) हूं, मैं ही (सः) दुःख मिटाने वाला (अस्मि) हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् ही परस्पर पालन करके विजयी, और आत्म विश्वासी और उद्योगी ही परस्पर सहायक होते हैं ॥ ३ ॥

स पचामि स ददामि स यजे स दत्तान्मा यूषम् ॥४॥

सः। पचामि। सः। ददामि। सः। यजे। सः। दत्तात्। मा। यूषम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) क्लेशनाशक मैं [अन्न][१] को (पचामि) परिपक्व करता हूं, (सः) वही मैं (ददामि) दान करता हूं, (सः) वही मैं (यजे)

कर्म। (कृणुत) कुरुत (आविः) प्रकाशे (अस्मै) परमात्मप्राप्तये। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(देवाः) विद्वांसः (पितरः) पालयितारः। माननीयाः (देवाः) विजिगीषवः (यः) या प्रापणे—ड। गन्ता। उद्योगी (अस्मि) अहं वर्ते (सः) षो अन्तकर्मणि—ड। दुःखनाशकः ॥

४—(सः)—म० ३। क्लेशनाशकः (पचामि) पाकेन संस्करोमि (सः) प्रसिद्धः (ददामि) दानानि करोमि (यजे) देवान् पूजयामि (दत्तात्)

विद्वानों को पूजता हूं (सः) वह मैं (दत्तात्) दान से [सुपात्रों के लिये] (मा यूयम्) पृथक् न होऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ सुपात्रों का सत्कार करके कीर्त्तिमान् होवें ॥ ४ ॥

नाके राजन् प्रति तिष्ठ तत्रैतत् प्रति तिष्ठतु ।
विद्धि पूर्तस्य नो राजन्त्स देव सुमना भव ॥ ५ ॥

नाके । राजन् । प्रति । तिष्ठ । तत्र । एतत् । प्रति । तिष्ठतु । विद्धि । पूर्तस्य । नः । राजन् । सः । देव । सु-मनाः । भव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे समर्थ मनुष्य ! (नाके) सुख स्वरूप परमात्मा में (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा पा, (तत्र) उसी [परमात्मा] में ही (एतत्) यह [मेरा पुण्य कर्म] (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठा पावे । (राजन्) हे विद्या से प्रकाशमान् ! (नः) हमारे लिये (पूर्तस्य) अन्न दान आदि पुण्य कर्म का (विद्धि) ज्ञान कर, (सः) वह तू, (देव) हे गतिशील ! (सुमना) प्रसन्नचित्त (भव) हो ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब शुभ कर्मों को परमात्मा में समर्पण करके पुण्य कर्म करता हुआ सदा प्रसन्न रहे ॥ ५ ॥

सूक्तम् १२४ ॥

१-३ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आत्मशुद्ध्युपदेशः—आत्मा की शुद्धि का उपदेश ॥

दिवो नु मां बृहतो अन्तरिक्षादपां स्तोको अभ्यपप्तद्

सुपात्रेभ्यो दानात् (मा यूयम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—माङि लुङि च्लेः सिच्, छान्दसो दीर्घः । पृथक्कृतो मा भूवम् ॥

५—(नाके) दुःख रहिते सुखस्वरूपे परमात्मनि (राजन्) हे समर्थ जीव (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठया स्थितो भव (तत्र) तस्मिन् परमात्मनि (एतत्) पूर्तम् । पुण्यकर्म (प्रति तिष्ठतु) प्रतिष्ठया स्थितं भवतु (विद्धि) ज्ञानं कुरु (पूर्तस्य) अ० २ । १२ । ४ । अन्नप्रदानादिपुण्यकर्मणः (नः) अस्मभ्यम् (राजन्) (सः) स त्वम् (देव) उद्योगिन् (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (भव) ॥

रसेन । समिन्द्रियेण पयसाहमग्ने छन्दोभिर्यज्ञैः सुकृतां कृतेन ॥ १ ॥

दिवः । नु । माम् । बृहतः । अन्तरिक्षात् । अपाम् । स्तोकः । अभि । अपप्तत् । रसेन । सम् । इन्द्रियेण । पयसा । अहम् । अग्ने । छन्दःऽभिः । यज्ञैः । सुऽकृताम् । कृतेन ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिवः) प्रकाशमान सूर्य से, (नु) अथवा (बृहतः) [सूर्य से] बड़े (अन्तरिक्षात्) आकाश से (अपाम्) जल का (स्तोकः) विन्दु (माम् अभि) मेरे ऊपर (रसेन) रस के साथ (अपप्तत्) गिरा है। (सुकृताम्) सुकर्मियों के (कृतेन) कर्म से, (अग्ने) हे सर्वव्यापी परमेश्वर! (इन्द्रियेण) इन्द्रपन अर्थात् सम्पूर्ण ऐश्वर्य के साथ, (पयसा) अन्न के साथ (छन्दोभिः) आनन्ददायक कर्मों के साथ (यज्ञैः) विद्या आदि दानों के साथ (अहम्) मैं (सम्=सगच्छेय) मिला रहूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे जल सूर्य द्वारा खिच कर मेघमण्डल से बरस कर संसार को पुष्ट करता है, वैसे ही धर्म्मात्माओं से उत्तम गुण ग्रहण करके मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यदि वृक्षादभ्यपप्तत् फलं तद् यद्यन्तरिक्षात् स उ वायुरेव । यत्रास्पृक्षत् तन्वो३ यच्च वाससु आपो

१—(दिवः) प्रकाशमानात् सूर्यात् (नु) अथवा (माम्) प्राणिनम् (अभि) अभिलक्ष्य (बृहतः) विशालात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (अपाम्) जलानाम् (स्तोकः) अ० ४। ३८। ६। विन्दुः (अपप्तत्) अ० ५। ३०। ६। पतितोऽभूत् (रसेन) सारेण (सम्) क्रियाग्रहणम्। संगच्छेय (इन्द्रियेण) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५। २। ९३। इन्द्रस्य आत्मनो लिङ्गम्। ऐश्वर्यम्। धनम्—निघ० २। १०। (पयसा) अन्नेन—निघ० २। ७। (अहम्) मनुष्यः (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (छन्दोभिः) अ० ४। ३४। १। आह्लादनैः (यज्ञैः) विद्यादिदानैः सह (सुकृताम्) पुण्यकर्मिणाम् (कृतेन) कर्मणा ॥

नुदन्तु निर्ऋतिं पराचैः ॥ २ ॥

यदि । वृक्षात् । अभि-अपप्तत् । फलम् । तत् । यदि । अन्तरिक्षात् । सः । ऊं इति । वायुः । एव । यत्र । अस्पृक्षत् । तन्वः । यत् । च । वाससः । आपः । नुदन्तु । निः-ऋतिम् । पराचैः ॥ २

भाषार्थ—(यदि) यदि (वृक्षात्) वृक्ष से (तत् फलम्) वह [अशुद्ध] फल, और (यदि) यदि (अन्तरिक्षात्) आकाश से (सः उ वायुः) वही [अशुद्ध] वायु (एव) वैसे ही (अभ्यपप्तत) गिर पड़ा है, और (यत्) जिसने (यत्र) जहां पर (तन्वः) शरीर का (च) और (वाससः) वस्त्र का (अस्पृक्षत्) स्पर्श किया है, (आपः) जल (निर्ऋतिम्) अलक्ष्मी [अशुद्धि] को (पराचैः) उलटे मुह (नुदन्तु) हटा देवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अशुद्ध फल वा अशुद्ध वायु से मलिन वस्त्र वा शरीर को जल से शुद्ध करते, हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों से दूषित आत्मा को यथार्थ ज्ञान से शुद्ध कर लेवें ॥ २ ॥

अभ्यञ्जनं सुरभि सा समृद्धिर्हिरण्यं वर्चस्तदु पूत्रिममेव । सर्वा पवित्रा वितताध्यस्मत् तन्मा तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः ॥ ३ ॥

अभि-अञ्जनम् । सुरभि । सा । सम्-ऋद्धिः । हिरण्यम् । वर्चः । तत् । ऊं इति । पूत्रिमम् । एव । सर्वा । पवित्रा ।

२—(यदि) (वृक्षात्) (अभ्यपप्तत्) म० १ । अभितः पतितम् (फलम्) (तत्) (यदि) (अन्तरिक्षात्) (सः) (उ) अवधारणे (वायुः) (एव) एवं तथा (यत्र) यस्मिन् भागे (अस्पृक्षत्) स्पर्शतेर्लुङि रूपम् । स्पर्शम् अकरोत् (तन्वः) शरीरस्य (यत्) (च) (वाससः) वस्त्रस्य (आपः) जलानि (नुदन्तु) प्रेरयन्तु (निर्ऋतिम्) अ० २ । १० । १ । अलक्ष्मीम् । अशुद्धिम् (पराचैः) पराङ्मुखी कृत्वा ॥

वि-तता। अधि। अस्मत्। तत्। मा। तारीत्। निः-ऋतिः। मो इति। अरातिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अभ्यञ्जनम्) तेल आदि लगाना, (सुरभि) सुगन्ध चन्दनादि, (सा समृद्धिः) वह सम्पत्ति, (हिरण्यम्) सुवर्ण, (वर्चः) तेज, (तत् उ) वही (पूत्रिमम्) पवित्रता (एव) वैसे ही है, (सर्वा) सब (पवित्रा) शोधन के साधन (अस्मत् अधि) हमारे ऊपर (वितता) फैले हुये हैं (तत्) इस लिये [हम को] (मा) न तो (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (मो) और न (अरातिः) कंजूस पुरुष (तारीत्) दबावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पवित्र धार्मिक व्यवहारों से संसार के आवश्यक पदार्थों को प्राप्त करके सदा सुख भोगें ॥ ३ ॥

इति द्वादशोऽनुवाकः ॥

अथ त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १२५ ॥

१-३ ॥ सुवीरो देवता ॥ १ विराट्; २ जगती; ३ त्रिष्टुप् ॥

सेनासेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेना और सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

वनस्पते वीड्वङ्गो हि भूया अस्मत्सखा प्रतरणः सु-

३—(अभ्यञ्जनम्) अभ्यङ्गसाधकं तैलादिकम् (सुरभि) सुगन्धं चन्दनादिकम् (सा) प्रसिद्धा (समृद्धिः) सम्पत्तिः (हिरण्यम्) सुवर्णम् (वर्चः) तेजः। बलम् (तत्) (उ) (पूत्रिमम्) ड्वितः क्त्रिः। पा० ३।३।८८। इति बाहुलकात् पूञ् पवने—क्त्रिः। मेर्मम् नित्यम्। पा० ४।४।२०। इति मप्। शुद्धिसाधनम् (एव) (एवम्) (सर्वा) सर्वाणि (पवित्रा) शोधनानि (वितता) विस्तृतानि (अस्मदधि) अस्माकमुपरि (तत्) तस्मात् (मा) निषेधे (निर्ऋतिः) अलक्ष्मीः (मो तारीत्) अ० २।७।४। नैवाभिभवतु (अरातिः) अ० २।७।४। अदाता। कृपणः ॥

वीरः । गोभिः संनद्धो असि वीडयस्वास्थाता ते जयतु जेत्वानि ॥ १ ॥

वनस्पते । वीडु-अङ्गः । हि । भूयाः । अस्मत्-सखा । प्र-तरणः । सु-वीरः । गोभिः । सम्-नद्धः । असि । वीडयस्व । आ-स्थाता । ते । जयतु । जेत्वानि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे किरणों के पालन करनेवाले सूर्य के समान राजन् ! (वीड्वङ्ग·) बलिष्ठ अङ्गों वाला तू (हि) ही (प्रतरणः) बढ़ाने वाला (सुवीरः) अच्छे अच्छे वीरों से युक्त (अस्मत्सखा) हमारा मित्र (भूयाः) हो । तू (गोभिः) बाणों और वज्रों से (सनद्धः) अच्छे प्रकार सजा हुआ (असि) है, [हमें] (वीडयस्व) दृढ़ बना, (ते) तेरा (आस्थाता) श्रद्धावान् सेनापति (जेत्वानि) जीतने योग्य शत्रुओं की सेनाओं को (जयन्तु) जीते ॥१॥

भावार्थ—परस्पर नित्य सबन्ध वाले सूर्य और किरणों के समान राजा, सेना और प्रजा का परस्पर नित्य संबन्ध होवे, और जितेन्द्रिय बलवान् राजा के समान सेना और प्रजा भी जितेन्द्रिय और बलवान् होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १–३ कुछ भेद से ऋ० ६ । ४७ । २६-२८ और यजुर्वेद २६ । ५२-५४ में हैं । इन का भाष्य महर्षि दयानन्द सरस्वती के आधार पर किया गया है ॥ १ ॥

दिवस्पृथिव्याः पर्योज उद्धृतं वनस्पतिभ्यः पर्याभृतं

१—(वनस्पते) अ० १ । ३५ । ३ । वनानां किरणानां पालकः सूर्य इव राजन् (वीड्वङ्गः) वीळु बलम् निघ० २ । ६ । बलिष्ठाङ्गः (हि) (भूयाः) भवेः (अस्मत्सखा) अस्माकं मित्रम् (प्रतरण) प्रतारकः । प्रवर्धकः (सुवीरः) कल्याण-वीरः-निरु० ६ । १२ । सुष्ठु वीरयुक्तः (गोभिः) इषुभिः । वज्रैः । स्वर्गेषुपशु-वाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले-इत्यमरः, २३ । २५ । (सन्नद्धः) सम्यक् सज्जः (असि) (वीडयस्व) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५ । १६ । यद्वा, वीर विक्रान्तौ, रस्य डः । दृढान् कुरु (आस्थाता) आस्थया श्रद्धया युक्तः (ते) तव (जयतु) (जेत्वानि) कृत्यार्थे तवैकेन् ० । पा० ३ । ४ । १४ । जि जये—त्वन् । जेतव्यानि शत्रुसैन्यानि ॥

सहः । अपामोज्मानं परि गोभिरावृतमिन्द्रस्य वज्रं हविषा रथं यज ॥ २ ॥

दिवः । पृथिव्याः । परि । ओजः । उत्-भृतम् । वनस्पति-भ्यः । परि । आ-भृतम् । सहः । अपाम् । ओज्मानम् । परि । गोभिः। आ-वृतम् । इन्द्रस्य । वज्रम् । हविषा । रथम् । यज ॥२॥

भाषार्थ—(दिवः) बिजुली वा सूर्य से और (पृथिव्याः) भूमि वा अन्तरिक्ष से (उद्भृतम्) उत्तम रीति से धारण किये गये (ओजः) बल को (परि) प्राप्त करके, (वनस्पतिभ्यः) वट आदि वनस्पतियों से (आभृतम्) अच्छे प्रकार पुष्ट किये गये (सहः) बल को (परि) प्राप्त करके (गोभिः) किरणों से (आवृतम्) ढांपे हुये (अपाम्) जलों के (ओज्मानम्) बल को (परि) प्राप्त करके (वज्रम्) शस्त्र समूह और (रथम्) रथ को (इन्द्रस्य) बिजुली के (हविषा) ग्राह्य गुण के साथ (यज) संयुक्त कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथ्वी आदि भूतों और उनसे उत्पन्न पदार्थों के सम्बन्ध से बल और पराक्रम बढ़ा कर विमान आदि यानों को बना कर आनन्दित होवें ॥ २ ॥

इन्द्रस्यौजो मरुतामनीकं मित्रस्य गर्भो वरुणस्य नाभिः । स इमां नो हव्यदातिं जुषाणो देव रथ प्रति हव्या गृभाय ॥ ३ ॥

२—(दिवः) विद्युतः सूर्याद् वा (पृथिव्याः) भूमेरन्तरिक्षाद् वा (परि) लक्षणेत्थंभूताख्यान० । पा० । १ । ४ । ९० । इति कर्मप्रवचनीयत्वम् । प्राप्य (ओजः) बलम् (उद्भृतम्) उत्तमतया धृतम् (वनस्पतिभ्यः) वटादिभ्यः (परि) प्राप्य (आभृतम्) समन्तात् पोषितम् (सहः) बलम् (अपाम्) जलानाम् (ओज्मानम्) अ० ४ । १९ । ८ । बलम् (परि) प्राप्य (गोभिः) किरणैः (आवृतम्) आच्छादितम् (इन्द्रस्य) विद्युतः (वज्रम्) शस्त्रसमूहम् (हविषा) ग्रहणेन (रथम्) रमणीय विमानादियानम् (यज) संयोजय ॥

इन्द्रस्य । ओजः । मुरुताम् । अनीकम् । मित्रस्य । गर्भः । वरुणस्य । नाभिः । सः । इमाम् । हुव्य-दातिम् । जुषाणः । देव । रथ । प्रति । हुव्या । गृभाय ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् ! यहां पर] (मरुताम्) शूरों का (अनीकम्) सेनादल, (इन्द्रस्य) बिजुली का (ओजः) बल, (मित्रस्य) प्राण [चढने वाले वायु] का (गर्भः) गर्भ [अधिष्ठान] और (वरुणस्य) अपान [उतरने वाले वायु] का (नाभिः) नाभि [मध्यस्थान] है। (सः) सो तू (देव) हे प्रकाशमान ! (रथ) रमणीय स्वरूप विद्वान् ! (नः) हमारे लिये (इमाम्) इस (हव्यदातिम्) देने योग्य पदार्थों की दान क्रिया को (जुषाणः) सेवता हुआ (हव्या) ग्राह्य वस्तुओं को (प्रति) प्रतीति के साथ (गृभाय) ग्रहण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस सेना में शूर वीर सैनिक बिजुली की शक्ति और वायु के चढाव उतार क्रियाओं में कुशल होते हैं, वे सेनापति और सेनादल परस्पर सहाय करके विजयी होते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२६ ॥

१-३ ॥ वीरा देवताः ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ विराट् ॥

राजसेनयोः कर्तव्योपदेशः—राजा और सेना के कर्तव्यों का उपदेश ॥

उप॑ श्वासय पृथि॒वीमु॒त द्यां पु॑रु॒त्रा ते॑ वन्वतां॒ विष्ठि॑तं॒ जग॑त् । स दु॑न्दुभे स॒जूरिन्द्रे॑ण दे॒वैर्दू॒राद् दवी॑यो॒ अप॑ सेध॒ शत्रू॑न् ॥ १ ॥

उप॑ । श्वा॒सय॒ । पृ॒थि॒वीम् । उ॒त । द्याम् । पु॒रु॒-त्रा । ते॒ ।

३—(इन्द्रस्य) विद्युतः (ओजः) बलम् (मरुताम्) अ० १ । २० । १ । शूराणाम् (अनीकम्) सैन्यम् (मित्रस्य) प्राणस्य (गर्भः) आधार (वरुणस्य) अपानस्य (नाभिः) बन्धनम्। मध्यस्थानम् (सः) स त्वम (नः) अस्मभ्यम् (हव्यदातिम्) दातव्यदानक्रियाम् (जुषाणः) सेवमानः (देव) हे दिव्यविद्य (रथ) रमणीयस्वरूप (प्रति) प्रतीत्या (हव्या) ग्राह्यवस्तूनि (गृभाय) गृहाण ॥

वुन्वताम् । वि-स्थितम् । जगत् । सः । दुन्दुभे । स-जूः । इन्द्रेण । देवैः । दूरात् । दवीयः । अप । सेध । शत्रून् ॥१॥

भाषार्थ—[हे राजन्] (पृथिवीम्) भूमि वा अन्तरिक्ष को (उत) और (द्याम्) सूर्य वा बिजुली में (उप) उपयोग के साथ (श्वासय) जीवन डाल, (पुरुत्रा) अनेक पदार्थों में (ते) तेरे लिये (विष्ठितम्) व्याप्त (जगत्) जगत् की (वन्वताम्) वे [वीर लोग] याचना करें । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभि [ढोल) के सदृश गर्जने वाले वीर! (सः) सो तू (इन्द्रेण) ऐश्वर्य व बिजुली के अस्त्र समूह से और (देवैः) विजयी वीरों से (सजूः) प्रीति करता हुआ (दूरात्) दूर से (दवीयः) अति दूर (शत्रून्) शत्रुओं को (अपसेध) हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा वीरों द्वारा बिजुली आदि के अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को हटा कर चक्रवर्ती राज्य करके आकाश और भूमि पर शान्ति करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ४७ । २९, ३१, यजु० २९ । ५५ । ५७ । इन मन्त्रों का अर्थ भगवान् दयानन्द सरस्वती के आधार पर किया गया है ॥

आ क्रन्दय बलमोजो न आ धा अभि ष्टन दुरिता बाधमानः । अप सेध दुन्दुभे दुच्छुनामित इन्द्रस्य मुष्टिरसि वीडयस्व ॥ २ ॥

आ । क्रन्दय । बलम् । ओजः । नः । आ । धाः । अभि । स्तन ।

१—(उप) उपयोगेन (श्वासय) प्राणय । आश्रय (पृथिवीम्) भूमिमन्तरिक्षं वा (उत) अपि (द्याम्) सूर्यं विद्युतं वा (पुरुत्रा) बहुषु पदार्थेषु (ते) तुभ्यम् (वन्वताम्) वनु याचने । याचन्तां वीराः (विष्ठितम्) व्याप्तम् (जगत्) जगद्राज्यम् (सः) स त्वम् (दुन्दुभे) अ० ५ । २० । १ । दुन्दुभिरिव गर्जक (सजूः) अ० ६ । ३५ । २ । प्रीतिसहितः (इन्द्रेण) विद्युदस्त्रेण (देवैः) विजिगीषुभिर्वीरैः (दूरात्) (दवीयः) दूर—ईयसुन् । स्थूलदूरयुव० पा० ६ । ४ । १५६ । इति रलोपः पूर्वस्य च गुणः । अदूरतरम् (अपसेध) अपनय (शत्रून्) ॥

दुः-हिता । बाधमानः । अप । सेध । दुन्दुभे । दुच्छुनाम् । इतः । इन्द्रस्य । मुष्टिः । असि । वीडयस्व ॥ २ ॥

भाषार्थ— [हे राजन्!] (बलम्) बल और (ओजः) पराक्रम (नः) हमें (आ धाः) अच्छे प्रकार दे, [शत्रुओं को] (आ क्रन्दय) सब ओर से रुला और (दुरिता) कष्टों को (बाधमानः) हटाता हुआ (अभि) सब ओर (स्तन) मेघध्वनि कर । (दुन्दुभे) हे दुन्दुभी [के समान गरजने वाले !] (इतः) यहां से (दुच्छुनाम्) दुष्ट गति को (अप सेध) हटा दे, तू (इन्द्रस्य) बिजली की (मुष्टिः) मूंठ [के समान दुष्टों को मारने वाला] (असि) है, [राज्य को] (वीडयस्व) दृढ़ कर ॥ २ ॥

भावार्थ— जैसे राजा बलवान् होकर यथावत् अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को जीतकर प्रजा पालन करता है, वैसे ही मनुष्य आत्मदोष मिटा कर धर्मिष्ठ होवें ॥ २ ॥

प्रामूं जयाभीमे जयन्तु केतुमद् दुन्दुभिर्वावदीतु । समश्वपर्णाः पतन्तु नो नरोऽस्माकमिन्द्र रथिनो जयन्तु ॥ ३ ॥

प्र । अमूम् । जय । अभि । इमे । जयन्तु । केतु-मत् । दुन्दुभिः । वावदीतु । सम् । अश्व-पर्णाः । पतन्तु । नः । नरः । अस्माकम् । इन्द्र । रथिनः । जयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अमूम्) उस [शत्रुसेना] को (प्र) अच्छे प्रकार (जय) जीत ले, (इमे) यह (केतुमत्) ध्वजा पताका वाले शूर (अभि) सब ओर से

२—(आ) समन्तात् (क्रन्दय) रोदय शत्रून् (बलम्) (ओजः) पराक्रमम् (नः) अस्मभ्यम् (आ) (धा) धेहि (अभि) सर्वतः (स्तन) स्तन मेघशब्दे । मेघध्वनिं कुरु (दुरिता) कष्टानि (बाधमानः) निवारयन् (अप सेध) अपगमय (दुन्दुभे) दुन्दुभिरिव शब्दायमान (दुच्छुनाम्) अ० ५ । १७ । ४ । दुर्गतिम् (इतः) अस्माद् देशात् (इन्द्रस्य) विद्युतः (मुष्टिः) मुष्टिरिव दुष्टानां हन्ता (असि) (वीडयस्व) बलयस्व राज्यम् ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण (अमूम्) शत्रुसेनाम् (अभि) सर्वतः (जयन्तु) (केतुमत्) विमलकेतुक । प्रशस्तध्वजयुक्ताः शूरा (वावदीति) भृशं वदन्ति (सम्)

(जयन्तु) जीत लेवें, (दुन्दुभिः) ढोल (वावदीति) ऊंचे स्वर से बजता है। (अश्वपर्णाः) घुड़चढ़ों के पक्ष [सेना दल] वाले (नः) हमारे (नरः) नायक लोग (सम्) ठीक रीति से (पतन्तु) धावा करें, (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (अस्माकम्) हमारे (रथिनः) अच्छे अच्छे रथों पर चढ़े हुये वीर (जयन्तु) जीतें ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों से दुन्दुभि बजा कर घुड़चढ़े सैन्यकों का दल बना कर शत्रुओं पर धावा करके जीत लेवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२७ ॥

१-३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

रोगनाशोपदेशः—रोग के नाश का उपदेश ॥

विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते ।
विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितं चन ॥ १ ॥

वि-द्रधस्य । बलासस्य । लोहितस्य । वनस्पते । वि-सल्पकस्य । ओषधे । मा । उत् । शिषः । पिशितम् । चन ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे वटादि वृक्ष ! (ओषधे) हे अन्न आदि ओषधि ! (विद्रधस्य) ज्ञाननाशक, हृदय के फोड़े के, (बलासस्य) बल के गिराने वाले सन्निपात कफादि रोग के, (लोहितस्य) रुधिर विकार सूजन आदि के, (विसल्पकस्य) शरीर में फैलने वाले हड फूटन के (पिशितम् चन)

सम्यक् (अश्वपर्णाः) अश्वानामश्वधारिणां पर्णाः पक्षाः पार्श्वा येषां ते (पतन्तु) धावन्तु (नः) अस्माकम् (नरः) नायकाः (अस्माकम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (रथिनः) प्रशस्तरथारूढाः शूराः (जयन्तु) ॥

१—(विद्रधस्य) विदं ज्ञानं रध्यति हिनस्तीति. विद ज्ञाने क्विप+रध हिंसने पाके च—अच् । हृदयव्रणस्य । विद्रधेः (बलासस्य) अ० ४ । ६ । ८ । सन्निपातश्लेष्मादिविकारस्य (लोहितस्य) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ६४ । इति रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्य लः । प्रादुर्भावस्य । रुधिरविकारस्य

थोड़े अंश को भी (मा उत शिपः) शेष मत छोड़ ॥ १ ॥

भावार्थ—वैद्य रोग निदान जानकर उत्तम परीक्षित ओषधियों से रोग निवृत्ति करे ॥ १ ॥

यौ ते॑ बलास॒ तिष्ठ॑तः॒ कक्षे॑ मु॒ष्कावप॑श्रितौ ।

वेदा॒हं तस्य॑ भेष॒जं चीपु॒द्रुर॑भि॒चक्ष॑णम् ॥ २ ॥

यौ । ते॒ । ब॒ला॒स॒ । तिष्ठ॑तः । कक्षे॑ । मु॒ष्कौ । अप॑-श्रितौ ।

वेद॑ । अ॒हम् । तस्य॑ । भे॒ष॒जम् । चीपु॒द्रुः॑ । अ॒भि॒-चक्ष॑णम् ॥२॥

भाषार्थ—(बलास) हे सन्निपात कफ आदि रोग ! (यौ) जो (ते) तेरी (मुष्कौ) दो गिलटियां (कक्षे) [रोगी की] कांख में (अपश्रितौ) आश्रय लिये हुये (तिष्ठतः) स्थित हैं । (अहम्) मैं (तस्य भेषजम्) उसकी ओषधि (वेद) जानता हूं, (चीपुद्रुः) ग्रहण करने योग्य चीपुद्रु [ओषधि विशेष] (अभिचक्षणम्) औषध है ॥२॥

भावार्थ—वैद्य ज्वर, गिलटी आदि रोगों की यथावत् चिकित्सा करे ॥२॥

यो अङ्ग्यो॒ यः कर्ण्यो॒ यो अ॒क्ष्योर्वि॒सल्प॑कः ।

वि वृ॑हामो वि॒सल्प॑कं विद्र॒धं हृ॑दयाम॒यम् ।

परा॒ तमज्ञा॑तं॒ यक्ष्म॑मध॒राञ्चं॑ सुवामसि ॥ ३ ॥

यः । अङ्ग्य॑ः । यः । कर्ण्य॑ः । यः । अ॒क्ष्योः । वि॒-सल्प॑कः । वि । वृ॒हा॒मः । वि॒-सल्प॑कम् । वि॒-द्र॒धम् । हृ॒द॒य॒-आ॒म॒यम् । परा॑ ।

(वनस्पते) वटादिवृक्ष (विसल्पकस्य) सृप सर्पणे—अच्, कन्, रस्य लः । शरीरे विसर्पणशीलस्य विसर्परोगस्य (ओषधे॰) (मोच्छिपः) शिष्लृ विशेषणे-लुङ्। मोच्छेषय (पिशितम्) पिश अवयवे—क्त । अवयवम् । अंशम् (चन) किमपि ॥

२—(यौ) (ते) तव (बलास) म० १ । (तिष्ठत.) वर्तेते (कक्षे) रोगिणो बाहुमूले (मुष्कौ) अण्डरूपौ रोगग्रन्थी (अपश्रितौ आश्रितौ (वेद) जानामि (अहम्) वैद्यः (तस्य) रोगस्य (भेषजम्) (चीपुद्रु॰) चीवृ आदान-संवरणयोः—उ, पृषोदरादि । द्रुमविशेष (अभिचक्षणम्) व्याधिनिवर्तकम् ॥

लम् । अज्ञातम् । यक्ष्मम् । अधराञ्चम् । सुवामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अङ्ग्यः) अङ्गों में रहने वाला, (यः) जो (कर्ण्यः) कानों में होने वाला, (यः) जो (अक्ष्योः) दोनों आंखों का (विसल्पकः) हड़फूटन है। (विसल्पकम्) उस हड़फूटन रोग को, (विद्रधम्) हृदय के फोड़े को और (हृदयामयम्) हृदय की पीड़ा को (वि वृहामः) हम उखाड़े देते हैं। (अज्ञातम्) अप्रकट (यक्ष्मम्) उस राज रोग को (अधराञ्चम्) नीचे की ओर (परा) दूर (सुवामसि) हम फेंकते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान अ० २। ३३। १ से करो ॥

भावार्थ—सद्वैद्य सब प्रकट और अप्रकट रोगों को यथावत् जान कर रोग निवृत्ति करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१-४ ॥ शकधूमो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

आनन्दप्राप्त्युपदेशः—आनन्द पाने का उपदेश ॥

शकधूमं नक्षत्राणि यद् राजानमकुर्वत ।
भद्राहमस्मै प्रायच्छन्निदं राष्ट्रमसादिति ॥ १ ॥

शक-धूमम् । नक्षत्राणि । यत् । राजानम् । अकुर्वत । भद्र-अहम् । अस्मै । प्र । अयच्छन् । इदम् । राष्ट्रम् । असात् । इति ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से (नक्षत्राणि) चलने वाले नक्षत्रों ने (शकधूमम्) समर्थ [सूर्य आदि] लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर को

३—(यः) विसल्पकः (अङ्ग्यः) शरीरावयवाच्च। पा० ४। ३। ५५। इति भवे यत्। अङ्गेषु हस्तपादादिषु भवः (कर्ण्यः) कर्णयोरुत्पन्नः (अक्ष्योः) अ० २। ३३। १। नेत्रयोः (विसल्पकः) म० १। विसर्परोगः (विवृहामः) उन्मूलयामः (विसल्पकम्) (विद्रधम्) म० १। हृदयव्रणम् (हृदयामयम्) हृद्रोगम् (परा) दूरे (अज्ञातम्) अप्रकटम् (यक्ष्मम्) राजरोगम् (अधराञ्चम्) अधोमुखम् (सुवामसि) प्रेरयामः ॥

१—(शकधूमम्) शक्लृ शक्तौ—पचाद्यच्+धूञ् कम्पने—मक्। शकानां समर्थानां सूर्यादिलोकानां कम्पकं परमेश्वरम् (नक्षत्राणि) गमनशीला-

(राजानम्) राजा (अकुर्वत) बनाया, और (अस्मै) उसी के लिये (भद्राहम्) शुभ दिन का (प्र अयच्छन्) अच्छे प्रकार समर्पण किया, (इति) इसी कारण से (इदम्) यह जगत् (राष्ट्रम्) उस का राज्य (असात्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के वश में सूर्य आदि लोक और सब नक्षत्र हैं, वही जगत् स्वामी हमें सदा आनन्द देता रहे ॥ १ ॥

भद्राहं नो मध्यंदिने भद्राहं सायमस्तु नः ।
भद्राहं नो अह्नां प्राता रात्री भद्राहमस्तु नः ॥ २ ॥

भद्र-अहम् । नः । मध्यंदिने । भद्र-अहम् । सायम् । अस्तु । नः । भद्र-अहम् । नः । अह्नाम् । प्रातः । रात्री । भद्र-अहम् । अस्तु । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (मध्यन्दिने) मध्य दिन में (भद्राहम्) शुभ दिन, (नः) हमारे लिये (सायम्) सायंकाल में (भद्राहम्) शुभ दिन, (नः) हमारे लिये (अह्नाम्) सब दिनों के (प्रातः) प्रातःकाल में (भद्राहम्) शुभ दिन (अस्तु) होवे, (नः) हमारे लिये (रात्री) रात्रि में (भद्राहम्) शुभ दिन (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनुग्रह से सब काल में धर्म का आचरण कर के सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

अहोरात्राभ्यां नक्षत्रेभ्यः सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् ।
भद्राहमस्मभ्यं राजञ्छकधूम त्वं कृधि ॥ ३ ॥

स्तारागणाः (यत्) यतः (राजानम्) शासकम् (अकुर्वत) कृतवन्ति (भद्राहम् राजाहः सखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ६१ । भद्र+अहन्—टच् । पुण्याह शुभदिनम् (अस्मै) परमेश्वराय (प्र) प्रकर्षेण (अयच्छन्) समर्पितवन्ति (इदम्) जगत् (राष्ट्रम्) तस्य राज्यम् (असात्) भवेत् (इति) हेतोः ॥ १ ॥

२—(भद्राहम्) म० १ । शुभकालः (नः) अस्मभ्यम् (मध्यन्दिने) मध्याह्ने (सायम्) सूर्यास्ते (अस्तु) (अह्नाम्) सर्वदिनानाम् (प्रातः) सूर्योदये (रात्री) रात्र्याम् ॥ अन्यद् व्याख्यातम् ॥

अहोरात्राभ्याम् । नक्षत्रेभ्यः । सूर्याचन्द्रमसाभ्याम् । भद्र-अहम् । अस्मभ्यम् । राजन् । शक-धूम । त्वम् । कृधि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शकधूम) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कपाने वाले (राजन्) परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि से, (नक्षत्रेभ्यः) नक्षत्रों से और (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा से (भद्राहम्) शुभ दिन (कृधि) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब काल में, सब स्थान में, सब पदार्थों से उपकार लेकर परमेश्वर की महिमा विचारते हुये सदा सुखी रहें ॥ ३ ॥

यो नो भद्राहमंकरः सायं नक्तमथो दिवा ।
तस्मै ते नक्षत्रराज शकधूम सदा नमः ॥ ४ ॥

यः । नः । भद्र-अहम् । अकरः । सायम् । नक्तम् । अथो इति । दिवा । तस्मै । ते । नक्षत्र-राज । शक-धूम । सदा । नमः ॥४॥

भाषार्थ—(यः) जिस तू ने (नः) हमारे लिये (सायम्) सायंकाल में, (नक्तम्) रात्रि में (अथो) और (दिवा) दिन में (भद्राहम्) शुभ दिन (अकरः) किया है । (नक्षत्रराज) हे नक्षत्रों के राजा ! (शकधूम) हे समर्थ सूर्य आदि लोकों के कंपाने वाले परमेश्वर ! (तस्मै ते) उस तेरे लिये (सदा) सदा (नमः) नमस्कार होवे ॥ ४ ॥

३—(अहोरात्राभ्याम्) अह. सर्वैकदेश० । पा० ५ । ४ । ८७ । इत्यकारः समासान्तः । अहश्चरात्रिश्च ताभ्यां सकाशात् (नक्षत्रेभ्यः) अश्विन्यादिभ्यः (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) अकारश्छान्दसः समासान्तः । सूर्यचन्द्राभ्याम् (भद्राहम्) शुभदिनम् (अस्मभ्यम्) अस्मदर्थम् (राजन्) शासितः (शकधूम) म० १ । समर्थानां सूर्यादिलोकानां कम्पक (त्वम्) (कृधि) कुरु ॥

४—(यः) यस्त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (भद्राहम्) म० १ । (अकरः) कृतवानसि (सायम्) (नक्तम्) रात्रौ (अथो) अपि च (दिवा) दिवसे (तस्मै) तथाभूताय (ते) तुभ्यम् (नक्षत्रराज) नक्षत्राणां स्वामिन् (शकधूम) म० १ । (सदा) सर्वदा (नमः) सत्कारः ॥

भावार्थ—मनुष्य सुखनिधि परमात्मा का उपकार साक्षात् करके संसार का उपकार करते हुये उसकी आज्ञा का पालन करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १२९ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

भगेन मा शांशपेन साकमिन्द्रेण मेदिना ।
कृणोमि भगिनं माप द्रान्त्वरातयः ॥ १ ॥

भगेन । मा । शांशपेन । साकम् । इन्द्रेण । मेदिना ।
कृणोमि । भगिनम् । मा । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मेदिना) परममित्र (इन्द्रेण साकम्) सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर के साथ वर्तमान (शांशपेन) शान्ति के स्पर्श से युक्त (भगेन) ऐश्वर्य से (मा मा) अपने को अवश्य (भगिनम्) बड़े ऐश्वर्य वाला (कृणोमि) मैं करूं । (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य आनन्द कन्द परमेश्वर के अखण्ड कोश से उपकार लेकर सुपात्रों को दान करते रहें ॥ १ ॥

येन वृक्षाँ अभ्यभवो भगेन वर्चसा सह ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ २ ॥

१—(भगेन) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । भज सेवायाम्—घ । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । ऐश्वर्येण । धनेन—निघ० २ । १० । (मा मा) मां माम् । आत्मानमेव (शांशपेन) शेपः शपतेः स्पृशतिकर्मणः—निरु० ३ । २१ । शम्+शप स्पर्शे—अच् । ततोऽण् । शान्तेः स्पर्शयुक्तेन (साकम्) सह वर्तमानेन (इन्द्रेण) परमेश्वरेण (मेदिना) परमस्नेहिना (कृणोमि) करोमि (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (अप द्रान्तु) द्रा कुत्सायां गतौ । दूरे पलायन्ताम् (अरातयः) अदानशीला अस्माकं स्वभावाः ॥

येन । वृक्षान् । अभि-अभवः । भगेन । वर्चसा । सह । तेन ।
मा । भगिनम् । कृणु । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर] (वर्चसा सह) तेजके साथ वर्तमान (येन भगेन) जैसे ऐश्वर्य से तू (वृक्षान्) सब स्वीकार योग्य पदार्थों से (अभ्यभवः) बढ गया है। (तेन) वैसे ऐश्वर्य से (मा) मुझको (भगिनम्) बडे ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को सर्व श्रेष्ठ जान कर संसार में तेजस्वी और धनवान् होवें ॥ २ ॥

यो अन्धो यः पुनःसरो भगो वृक्षेष्वाहितः ।
तेन मा भगिनं कृण्वप द्रान्त्वरातयः ॥ ३ ॥

यः । अन्धः । यः । पुनः-सरः। भगः । वृक्षेषु । आ-हितः। तेन ।
मा । भगिनम् । कृणु । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (यः) जो (अन्धः) जीवन का आधार और (यः) जो (पुनःसरः) वारवार आगे बढ़ने वाला (भगः) ऐश्वर्य (वृक्षेषु) सब स्वीकारयोग्य पदार्थों में (आहितः) अच्छे प्रकार धारण किया गया है। (तेन) उस ऐश्वर्य से (मा) मुझको (भगिनम्) ऐश्वर्य वाला (कृणु) कर, (अरातयः) हमारे सब कंजूस स्वभाव (अप द्रान्तु) दूर भाग जावें ॥ ३ ॥

२—(येन) यादृशेन (वृक्षान्) अ० ३।६।८। सर्वान् स्वीकरणीयान् पदार्थान् (अभ्यभवः) पराजितवानसि (भगेन) ऐश्वर्येण (वर्चसा सह) तेजसा सहितेन (तेन) तादृशेन (मा) माम् (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (कृणु) कुरु। अन्यद् गतम्—म० १ ॥

३—(यः) भगः (अन्धः) अन्धः इत्यन्ननामाध्यानीयं भवति–निरु० ५।१। अन जीवने—पचाद्यच्, धुगागमः। जीवनाधारः (पुनः सरः) अ० ४। १७।२। वारंवारं सरति प्रवर्तते यः सः (भगः) ऐश्वर्यम् (वृक्षेषु) म० २। वरणीयेषु श्रेष्ठेषु पदार्थेषु (आहितः) समन्तात् स्थापितः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुणों को ध्यान करके चिरस्थायी ऐश्वर्य और सुख बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३० ॥

१-४ ॥ स्मरो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

स्मरणसामर्थ्यवर्धनोपदेशः—स्मरण सामर्थ्य बढ़ाने का उपदेश ॥

रथजितां राथजितेयीनामप्सरसामयं स्मरः ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

रथ-जिताम् । राथ-जितेयीनाम् । अप्सरसाम् । अयम् । स्मरः ।
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥१॥

भाषार्थ—(रथजिताम्) रमणीय पदार्थों की जिताने वाली, और (राथजितेयीनाम्) और रमणीय पदार्थों के विजयी पुरुषों के समीप रहने वाली (अप्सरसाम्) आकाश, जल, प्राण और प्रजाओं में व्यापक शक्तियों का (अयम्) यह जो (स्मरः) स्मरण सामर्थ्य है। (देवाः) हे विद्वानो! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से विज्ञान पूर्वक संसार की उपकारी विद्याओं को स्मरण रखकर उपयोगी बनावें ॥ १ ॥

१—(रथजिताम्) जि—क्विप्, अन्तर्गतणिच्। रमणीयानां पदार्थानां जापयित्रीणाम् (राथजितेयीनाम्) शुभ्रादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । १२३ । रथजित्—ढक्। अदूरभवश्च । पा०४।२ । ७० । इत्यर्थे । रथजितां रमणीयपदार्थजेतॄणां समीपभवानाम् (अप्सरसाम्) अप्सु आकाशे, जले, प्राणेषु प्रजासु च सरणशीलानां शक्तीनाम् (अयम्) (स्मरः) स्मृ आध्याने चिन्तायां च—अप्। ध्यानसामर्थ्यम् (देवाः) हे विद्वांसः (प्र) प्रकर्षेण (हिणुत) हि गतौ वृद्धौ च । वर्धयत (स्मरम्) चिन्तनम् (असौ) स्मरः (माम्) ब्रह्मचारिणम् (अनु) व्याप्य (शोचतु) ई शुचिर् शौचे, छान्दसः शप्। शुच्यतु शुध्यतु ॥

असौ मे॑ स्मरतादिति प्रियो मे॑ स्मरतादिति ।
दे॒वाः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ माम॑नु॑ शोचतु ॥ २ ॥

असौ । मे । स्म॒र॒ता॒त् । इति । प्रियः । मे । स्म॒र॒ता॒त् । इति ।
देवाः । प्र । हि॒णु॒त । स्म॒रम् । अ॒सौ । माम् । अनु॑ । शो॒च॒तु ॥२॥

भाषार्थ—(असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) स्मरण रक्खे, (इति) बस यही, (प्रियः) वह प्यारा [सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरतात्) चिन्तन करे, (इति) बस यही । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को ...म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्याओं को स्मरण रख कर उपयोग करते हैं वे ही संसार में प्रिय होते हैं ॥

यथा मम॒ स्मरा॑द॒सौ नामु॒ष्याहं कुदा च॒न ।
दे॒वाः प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ माम॑नु॑ शोचतु ॥ ३ ॥

यथा । मम॑ । स्मरा॑त् । अ॒सौ । न । अ॒मु॒ष्य॒ । अ॒हम् । क॒दा । च॒न ।
देवाः । प्र । हि॒णु॒त । स्म॒रम् । अ॒सौ । माम् । अनु॑ । शो॒च॒तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जिससे (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (मे) मेरा (स्मरात्) स्मरण रक्खे, और (अहम्) मैं (कदा चन) कभी भी (अमुष्य) उसको (न) न [भूल करूं] । (देवाः) हे विद्वानो ! (स्मरम्) उस स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्याप कर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ ३ ॥

२—(असौ) स्मरः (मे) अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । मम (स्मरतात्) स्मृ लोटि तातङ् । स्मरतु (इति) वाक्यसमाप्तौ (प्रियः) हितकरः अन्यद् गतम् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (मम) (स्मरात्) स्मरेत् (असौ) स्मरः (न) निषेधे (अमुष्य) स्मरस्य (अहम्) (कदा चन) कदापि [स्मरामि= स्मृणोमि] इत्याध्याहारः । स्मृ प्रीतिचलनयोः, स्वादिः । चलनं करोमि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक समस्त क्रियाओं को समग्र रख कर उपयोगी बनावें ॥ ३ ॥

उन्मादयत मरुत उदन्तरिक्ष मादय ।
अग्न उन्मादया त्वमसौ मामनु शोचतु ॥ ४ ॥

उत् । मादयत । मरुतः । उत् । अन्तरिक्ष । मादय । अग्ने ।
उत् । मादय । त्वम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ ४ ॥

भावार्थ—(मरुतः) हे वायुगणो ! (उत्) उत्तम प्रकार से (मादयत) प्रसन्न करो, (अन्तरिक्ष) हे मध्यलोक ! (उत्) अच्छे प्रकार (मादय) हर्षित कर। (अग्ने) हे अग्नि ! (त्वम्) तू (उत्) उत्तम गति से (मादय) आनन्दित कर, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम्) मुझको (अनु) व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक प्राण अपान गति, जाठर अग्नि और बाहिर भीतर स्थान को ठीक ठीक रख कर स्वस्थ रहकर अपनी स्मृति बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३१ ॥

१-३ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परपालनोपदेशः—परस्पर पालन का उपदेश ॥

नि शीर्षतो नि पत्तत आध्यो३ नि तिरामि ते ।
देवाः प्र हिणुत स्मरमसौ मामनु शोचतु ॥ १ ॥

नि । शीर्षतः । नि । पत्ततः । आ-ध्यः । नि । तिरामि । ते ।
देवाः । प्र । हिणुत । स्मरम् । असौ । माम् । अनु । शोचतु ॥ १ ॥

४—(उत्) उत्तमतया (मादयत) हर्षयत (मरुतः) हे मरुद्गणाः । प्राणापानाः (उत्) (अन्तरिक्ष) मध्यलोक (मादय) आनन्दय (अग्ने) जाठराग्ने । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (शीर्षतः) अपने मस्तक [सामर्थ्य] से (नि) निश्चय करके, (पत्ततः) अपने पद [के सामर्थ्य] से (नि) नियम करके (आध्यः) यथावत् ध्यान धर्मों को (नि) लगातार (तिरामि) मैं पार करूं । (देवा) हे विद्वानो ! (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझ में व्यापकर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग द्वारा पूर्ण पुरुषार्थ से स्मरण शक्ति बढ़ाकर सुखी होवे ॥ १ ॥

अनु॑मतेऽन्वि॒दं म॑न्यस्वाकू॑ते॒ समि॒दं नम॑: ।
दे॒वा: प्र हि॑णुत स्म॒रम॒सौ मामनु॑ शोचतु ॥ २ ॥

अनु॑-मते । अनु॑ । इ॒दम् । म॒न्य॒स्व॒ । आ-कू॑ते । सम् । इ॒दम् । नम॑: । दे॒वा॑: । प्र । हि॒णु॒त॒ । स्म॒रम् । अ॒सौ । माम् । अनु॑ । शो॒च॒तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अनुमते) हे अनुकूल बुद्धि ! तू (इदम्) इसको (अनु मन्यस्व) प्रसन्नता से स्वीकार कर, (आकूते) हे उत्साह शक्ति ! (इदम्) यह (नमः) अन्न (सम्) ठीक रीति से [हमारे लिये हो] । (देवा:) हे विद्वानो ! (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (प्र) अच्छे प्रकार (हिणुत) बढ़ाओ, (असौ) वह [स्मरण सामर्थ्य] (माम् अनु) मुझमें व्याप कर (शोचतु) शुद्ध रहे ॥२॥

१—(नि) निश्चयेन (शीर्षतः) शिरःसामर्थ्यात् (नि) नियमेन (पत्ततः) पकस्तकारश्छान्दसः । पत्तः । पादसामर्थ्यात् (आध्यः) आध्यायने आधीः । ध्यायतेः क्विप् सम्प्रसारणं च । वा० पा० ३ । २ । १७८ । आङ्+ध्यै चिन्तायाम्—क्विप्, शसि रूपम् । सम्यग्ध्यानधर्मान् (नि) निरन्तरम् (तिरामि) तुदादित्वाद्विकारः । पारं गमयामि । समापयामि । अन्यद् पूर्ववत्—सू० १३० म० १॥

२—(अनुमते) अ० १ । १८ । २ । हे सहायिके बुद्धे (इदम्) क्रियमाणं कर्म (अनु मन्यस्व) स्वीकुरु (आकूते) हे उत्साहशक्ते—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ४ । ७ । (सम्) सम्यक् (इदम्) (नमः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य बुद्धि और उत्साह के साथ अपने सब काम ठीक ठीक सिद्ध करें ॥ २ ॥

यद् धावसि त्रियोजनं पञ्चयोजनमाश्विनम् ।
ततस्त्वं पुनरायसि पुत्राणां नो असः पिता ॥ ३ ॥

यत् । धावसि । त्रि-योजनम् । पञ्च-योजनम् । आश्विनम् ।
ततः । त्वम् । पुनः । आ-अयसि । पुत्राणाम् । नः । असः । पिता ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (यत्) जो तू (त्रियोजनम्) तीन योजन, (पञ्चयोजनम्) पांच योजन, अथवा (आश्विनम्) अश्ववार के चलने योग्य देश को (धावसि) दौड़ कर जाता है । (ततः) उससे (त्वम्) तू (पुनः) फिर (आयसि) आ । और (नः) हमारे (पुत्राणाम्) पुत्र आदिकों का (पिता) पिता [पालने वाला] (असः) हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य दूर देशों से विद्या और धन प्राप्त करके कुटुम्ब आदि का पालन करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३२ ॥

१-५ ॥ स्मरो देवता ॥ त्रिपादनुष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य प्राप्ति का उपदेश ॥

यं देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्वन्तः शोशुचानं सहाध्या ।
तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ १ ॥

यम् । देवाः । स्मरम् । असिञ्चन् । अप्-सु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ १ ॥

३—(यत्) यदि (धावसि) शीघ्रं गच्छसि (त्रियोजनम्) योजनत्रयपरिमितं देशम् (पञ्चयोजनम्) पञ्चयोजनपरिमितं देशम् (आश्विनम्) अश्विन्-अण् । अश्विना अश्वचारेण गन्तव्यं देशम् (ततः) तस्माद्देशात् (पुनः) निवृत्य (आयसि) आगच्छ (पुत्राणाम्) पुत्रादीनाम् (नः) अस्माकम् (असः) भवेः (पिता) पालकः ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजयी लोगों ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम्) जिस (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चन्) सींचा है। (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को (ते) तेरे लिये (वरुणस्य) सर्व श्रेष्ठ परमेश्वर के (धर्मणा) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से (तपामि) ऐश्वर्य युक्त करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विजयी शूरों का अनुकरण करके ध्यान पूर्वक स्मरण शक्ति बढ़ाकर ईश्वर नियम से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ १ ॥

यं विश्वे देवाः स्मरमसिञ्चन्नप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या । तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ २ ॥

यम् । विश्वे । देवाः । स्मरम् । असिञ्चन् । अप्-सु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुणों ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच म० १ ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

यमिन्द्राणी स्मरमसिञ्चदप्स्व१न्तः शोशुचानं सहाध्या । तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ३ ॥

१—(यम्) (देवाः) विजिगीषवः (स्मरम्) अ० ६ । १३० । १ । स्मरणसामर्थ्यम् (असिञ्चन्) षिच सेके । अवर्धयन् (अप्सु) प्रजासु—दयानन्दभाष्ये य० ६ । २७ । (अन्तः) मध्ये (शोशुचानम्) अ० ४ । ११ । ३ । देदीप्यमानम् (सह) (आध्या) सू० १३१ म० १ । ध्यानशक्त्या (तम्) स्मरम्-(ते) तुभ्यम् (तपामि) ऐश्वर्यवन्तं करोमि (वरुणस्य) वरणीयस्य श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (धर्मणा) धारणशक्त्या । नियमेन ॥

२—(विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यम् । इन्द्राणी । स्मरम् । असिञ्चत् । अप्-सु । अन्तः । शोशुचा-नम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥३॥

भाषार्थ—(इन्द्राणी) परम ऐश्वर्य करने वाली नीति ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम) जिस (स्मरम्) स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चत्) सींचा है । (तम) उस [स्मरण सामर्थ्य] को. . म० १ ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य यथार्थ नीति, स्मृति और ध्यान पूर्वक ईश्वर नियम से ऐश्वर्यवान् हों ॥ ३ ॥

यमिन्द्राग्नी स्मरमसिञ्चताम्प्स्वं १ न्तः शोशुचानं सहाध्या । तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ४ ॥

यम् । इन्द्राग्नी इति । स्मरम् । असिञ्चताम् । अप्-सु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी) बिजुली और भौतिक अग्नि ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम् स्मरम्) जिस स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चताम्) सींचा है (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को म० १ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे बिजुली और अग्नि के नित्य सम्बन्ध से वृष्टि, प्रकाशादि द्वारा, संसार में होती है वैसे ही मनुष्य विद्या द्वारा परस्पर उपकार करें ॥ ४ ॥

यं मित्रावरुणौ स्मरमसिञ्चताम्प्स्वं १ न्तः शोशुचानं सहाध्या । तं ते तपामि वरुणस्य धर्मणा ॥ ५ ॥

३—(इन्द्राणी) अ० १ । २७ । ४ । परमैश्वर्यकारिणी राजनीतिः—दयानन्द भाष्ये यजु० ३८ । ३ (असिञ्चत्) क्रमेणावर्धयत् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (असिञ्चताम्) अवर्धयताम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यम् । मित्रावरुणौ । स्मरम् । आ॑शिञ्चताम् । अप्-सु । अन्तः । शोशुचानम् । सह । आध्या । तम् । ते । तपामि । वरुणस्य । धर्मणा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु ने (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के बीच (आध्या सह) ध्यान शक्ति के साथ (शोशुचानम्) अत्यन्त प्रकाशमान (यम् स्मरम्) जिस स्मरण सामर्थ्य को (असिञ्चताम्) सींचा है (तम्) उस [स्मरण सामर्थ्य] को (ते) तेरे लिये (वरुणस्य) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर के (धर्मणा) धर्म अर्थात् धारण सामर्थ्य से (तपामि) ऐश्वर्ययुक्त करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण और अपान के समान संसार में परस्पर उपकारी होकर ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३३ ॥

१-५ ॥ मेखला देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २, ५ अनुष्टुप्; ४ जगती ॥

मेखलाबन्धनोपदेशः—मेखला बांधने का उपदेश ॥

य इमां देवो मेखलामाबबन्ध यः संननाह य उ नो युयोज । यस्य देवस्य प्रशिषा चरामः स पारमिच्छात् स उ नो वि मुञ्चात् ॥ १ ॥

यः । इमाम् । देवः । मेखलाम् । आ-बबन्ध । यः । सम्-ननाह । यः । ऊं इति । नः । युयोज । यस्य । देवस्य । प्र-शिषा । चरामः । सः । पारम् । इच्छात् । सः । ऊं इति । नः । वि । मुञ्चात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः देवः) जिस विद्वान् [आचार्य] ने (नः) हमारे (इमाम्)

५—(मित्रावरुणौ) अ० १ । २० । २ । प्राणापानौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(यः) (इमाम्) (देवः) विद्वान्, आचार्यः (मेखलाम्) मीयते

मह (मेखलाम्) मेखला [तागड़ी, पेटी, कटिबन्धन] (आबबन्ध) अच्छे प्रकार बाधी है, (यः) जिसने (सननाह) सजाई है। (उ) और (यः) जिसने (युयोज) संयुक्त की है। (यस्य देवस्य) जिस विद्वान् के (प्रशिषा) उत्तम शासन से (चरामः) हम विचरते हैं (सः) वह (नः) हमें (पारम्) पार (इच्छात्) लगावें, (सः उ) वही [कष्टसे] (विमुञ्चात्) मुक्त करे ॥१॥

भावार्थ—वेदारम्भ संस्कार के अन्तर्गत मेखला बन्धन एक संस्कार है। आचार्य ब्रह्मचारी को मेखला इस लिये बांधे कि वह कटि को कस कर फुर्ती से वेदों को पढ़ कर संसार में उपकारी होवे ॥ १ ॥

आहुतास्यभिहुत ऋषीणामस्यायुधम् ।
पूर्वा व्रतस्य प्राश्नती वीरघ्नी भव मेखले ॥ २ ॥

आ-हुता । असि । अभि-हुता । ऋषीणाम् । असि । आयुधम् । पूर्वा । व्रतस्य । प्र-अश्नती । वीर-घ्नी । भव । मेखले ॥२॥

भाषार्थ—(मेखले) हे मेखला ! तू (आहुता) यथा विधि दान की गई (असि) है, (ऋषीणाम्) धर्म मार्ग बताने वाले ऋषियों का (आयुधम्) शस्त्ररूप (असि) है। (व्रतस्य) उत्तम व्रत वा नियम के (पूर्वा) पहिले (प्राश्नती) व्याप्त होने वाली और (वीरघ्नी) वीरों को प्राप्त होने वाली तू (भव) हो ॥ २ ॥

प्रक्षिप्यते कायमध्यभागे । डुमिञ् क्षेपे—खलच् । कटिबन्धनम् । कट्याम् (आबबन्ध) आबद्धवान् (यः) (सननाह) णह बन्धने लिट् । सज्जितवान् (यः उ) (नः) अस्मभ्यम् (युयोज) संयोजितवान् (यस्य) (देवस्य) विदुषः (प्रशिषा) उत्तमशासनेन (चरामः) वर्त्तामहे (सः) (पारम्) कर्मणः समाप्तिम् (इच्छात्) इच्छेत (सः) (उ) (नः) अस्मान् (विमुञ्चात्) कष्टात् विमोचयेत् ॥

२—(आहुता) यथाविधि दत्ता (अभिहुता) सर्वतः स्वीकृता (ऋषीणाम्) अ० २ । ६ । १ । सन्मार्गदर्शकानाम् (असि) (आयुधम्) शस्त्ररूपा (पूर्वा) आद्या (व्रतस्य) अ० १ । ३० । २ । श्रेष्ठकर्मणः (प्राश्नती) व्याप्नुवती (वीरघ्नी) हन गतौ—क्विप् । वीराणां हन्त्री गन्त्री (भव) (मेखले)—म० १ । हे कटिबन्धन ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नियम पूर्वक मेखला से कटि कस कर कर्म करते हैं वे ही वीर होते हैं ॥ २ ॥

मृत्योरहं ब्रह्मचारी यदस्मि निर्याचन् भूतात् पुरुषं यमाय । तमहं ब्रह्मणा तपसा श्रमेणानयैनं मेखलया सिनामि ॥ ३ ॥

मृत्योः । अहम् । ब्रह्म-चारी । यत् । अस्मि । निः-याचन् । भूतात् । पुरुषम् । यमाय । तम् । अहम् । ब्रह्मणा । तपसा । श्रमेण । अनया । एनम् । मेखलया । सिनामि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भूतात्) प्राप्त (मृत्योः) मृत्यु से (पुरुषम्) इस पुरुष, आत्मा को (निर्याचन्) बाहिर निकालता हुआ (अहम्) मैं (यमाय) नियम पालन के लिये (यत्) जो (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी, वेदपाठी और वीर्य निग्राहक पुरुष (अस्मि) हूं । (तम्) वैसे (एनम्) इस आत्मा को (ब्रह्मणा) वेदज्ञान, (तपसा) तप [योगाभ्यास] और (श्रमेण) परिश्रम के साथ (अनया मेखलया) इस मेखला से (अहम्) मैं (सिनामि) बांधता हूं ॥३ ॥

भावार्थ—जो ब्रह्मचारी मेखला के समान शरीर को कसकर शीत उष्ण आदि द्वन्द्व का सहन करके आलस्य आदि मृत्यु को हटाते हैं वे ही ब्रह्मज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

श्रद्धाया दुहिता तपसोऽधि जाता स्वसऋषीणां भूतकृतां बभूव । सा नो मेखले मतिमा धेहि मेधामथो नो धेहि तप इन्द्रियं च ॥ ४ ॥

३—मृत्योः) आलस्यरूपमरणात् (अहम्) (ब्रह्मचारी) अ० ६ । १०८ । २ । वेदपाठी वीर्यनिग्रहीता (यत्) (अस्मि) (निर्याचन्) निर्गमयन् (भूतात्) प्राप्तात् (पुरुषम्) अ० १ । १६ । ४ । अग्रगामिनमात्मानम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (तपसा) योगाभ्यासेन (श्रमेण) शीतोष्णादिद्वन्द्वसहनेन (अनया) उपस्थितया (एनम्) पुरुषम् (मेखलया) (सिनामि) बध्नामि ॥

श्र॒द्धायाः । दु॒हि॒ता । तप॑सः । अधि॑ । जा॒ता । स्वसा॑ । ऋषी॑णाम् । भू॒त॒-कृता॑म् । ब॒भूव॑ । सा । नः॒ । मे॒ख॒ले॒ । म॒तिम् । आ । धे॒हि॒ । मे॒धाम् । अथो॒ इति॑ । नः॒ । धे॒हि॒ । तपः॑ । इ॒न्द्रि॒यम् । च॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[वह मेखला] (श्रद्धायाः) श्रद्धा [आस्तिक बुद्धि, विश्वास] की (दुहिता) पूरण करने हारी [वा पुत्री समान प्रिय], (तपसः) तप [योगाभ्यास] से (अधि) अच्छे प्रकार (जाता) उत्पन्न हुई, (भूतकृताम्) सत्यकर्मी (ऋषीणाम्) ऋषियों [सन्मार्गदर्शकों] की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने हारी [अथवा बहिन के समान हितकारिणी] (बभूव) हुई है। (सा) सो तू (मेखले) हे मेखला ! (नः) हमें (मतिम्) मननशक्ति और (मेधाम्) निश्चय बुद्धि (आ) सब ओर से (धेहि) दान कर, (अथो) और भी (नः) हमें (तपः) योगाभ्यास (च) और (इन्द्रियम्) इन्द्र का चिन्ह [पराक्रम वा परम ऐश्वर्य] (धेहि) दान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो श्रद्धालु, तपस्वी ऋषियों के समान शुभकर्म के लिये कटिबद्ध रहते हैं, वे ही मननशक्ति और निश्चल बुद्धि पाकर ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥४॥

यां त्वा॒ पूर्वे॑ भूत॒कृत॒ ऋष॑यः परिबे॒धि॒रे ।
सा त्वं परि॑ ष्वजस्व॒ मां दी॑र्घायु॒त्वाय॑ मेखले ॥ ५ ॥

याम् । त्वा॒ । पूर्वे॑ । भू॒त॒-कृत॑ः । ऋष॑यः । प॒रि॒-बे॒धि॒रे । सा ।

४—(श्रद्धायाः) श्रत् सत्यम्—निघ० ३ । १० । श्रद्धा श्रद्धानात्—निरु० ६ । ३० । सत्यं धीयतेऽत्र । षिद्भिदादिभ्योऽङ् । पा० ३ । ३ । १०४ । श्रत्+धा—अङ्, टाप् । आस्तिक्यबुद्धेः । विश्वासस्य (दुहिता) अ० ३ । १० । १३ । प्रपूरयित्री । पुत्रीसदृशहितकारिका वा (तपसः) योगाभ्यासात् । (अधि) अधिकम् (जाता) उत्पन्ना (स्वसा) अ० ६ । १०० । ३ । सुदीपयित्री । भगिनीतुल्यहिता (ऋषीणाम्)—म० २ । सन्मार्गदर्शकानाम् (भूतकृताम्) अ० ६ । १०८ । ४ । सत्यकर्मणाम् (बभूव) (सा) त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (मेखले) (मतिम्) मननशक्तिम् (आ) समन्तात् (धेहि) देहि (मेधाम्) अ० ६ । १०८ । २ । निश्चलां बुद्धिम् (अथो) अपि च (तपः) (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्ग वीर्यमैश्वर्यं वा (च) ॥

त्वम् । परि । स्वजस्व । माम् । दीर्घायु-त्वाय । मे खले ॥५॥

भावार्थ—(याम् त्वा) जिस तुझको (पूर्वे) पहिले (भूतकृतः) सत्यकर्मा (ऋषयः) ऋषियों ने (परिवेधिरे) चारों ओर बांधा था। (सा त्वम्) सो तू, (मेखले) हे मेखला ! (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (माम्) मुझ में (परि) सब ओर से (स्वजस्व) चिपट जा ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऋषियों के समान कटिबद्ध होकर शुभकार्य करते हैं, वे ही कीर्त्तिमान् होते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३४ ॥

१-३ ॥ वज्रो देवता ॥ १ प्रस्तारपङ्क्तिः; २ गायत्री ३ अनुष्टुप् ॥

शत्रुशासनोपदेशः—शत्रुओं के शासन का उपदेश ॥

अयं वज्रस्तर्पयतामृतस्यावास्य राष्ट्रमप हन्तु जीवितम्।
शृणातु ग्रीवाः प्र शृणातूष्णिहा वृत्रस्येव शचीपतिः ॥१

अयम् । वज्रः । तर्पयताम् । ऋतस्य । अव । अस्य । राष्ट्रम् । अप । हन्तु । जीवितम् । शृणातु । ग्रीवाः । प्र । शृणातु । उष्णिहाः । वृत्रस्य-इव । शची-पतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (वज्रः) वज्र [दण्ड] (ऋतस्य) सत्य धर्म की (तर्पयताम्) तृप्ति करे, (अस्य) इस [शत्रु] के (राष्ट्रम्) राज्य को (अव=अवहत्य) नाश करके [उसके] (जीवितम्) जीवन को (अप हन्तु)

५—(याम्) मेखलाम् (त्वा) (पूर्वे) पूर्वजाः (भूतकृतः) सत्यकर्माणः (ऋषयः) साक्षात्कृतधर्माणः (परिवेधिरे) बध बन्धने—लिट्, आत्मनेपदत्वं छान्दसम्। परिबद्धवन्तः (सा) (त्वम्) (परि) सर्वतः (स्वजस्व) ष्वञ्ज परिष्वङ्गे। आलिङ्ग (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (मेखले) ॥

१—(अयम्) (वज्रः) दण्डः। शासनम् (तर्पयताम्) तृप्तिं कुर्यात् (ऋतस्य) सत्यस्य धर्मस्य (अव) अवहत्य (अस्य) शत्रोः (राष्ट्रम्) राज्यम् (अपहन्तु) विनाशयतु (जीवितम्) जीवनम् (शृणातु) हिनस्तु (ग्रीवाः)

नाश कर देवे, (ग्रीवाः) गले की नाड़ियों को (श्रृणातु) काटे और (उष्णिहा) गुद्दी की नाड़ियों को (प्रश्रृणातु) तोड़ डाले, (इव) जैसे (शचीपतिः) कर्म्मों वा बुद्धियों का पति [मनुष्य] (वृत्रस्य) अपने शत्रु के [ग्रीवा आदि को ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा यथावत् शासन से शत्रुओं को नाश करके प्रजापालन करे ॥ १ ॥

अधरोऽधर उत्तरेभ्यो गूढः पृथिव्या मोत्सृपत् ।
वज्रेणावहतः शयाम् ॥ २ ॥

अधरः-अधरः । उत्तरेभ्यः । गूढः । पृथिव्याः । मा । उत् । सृपत् । वज्रेण । अव-हतः । शयाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[वह शत्रु] (उत्तरेभ्यः) ऊंचे लोगों से (अधरोऽधरः) नीचे नीचे और (गूढः) गुप्त होकर (पृथिव्याः) पृथिवी से (मा उत् सृपत्) कभी न उठे, और (वज्रेण) वज्र से (अवहतः) मार डाला गया (शयाम्) पड़ा रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—अधर्मी लोगों को श्रेष्ठों के बीच उच्च आसन कभी न मिले ॥२॥

यो जिनाति तमन्विच्छ यो जिनाति तमिज्जहि ।
जिनतो वज्र त्वं सीमन्तमन्वञ्चमनु पातय ॥ ३ ॥

यः। जिनाति। तम्। अनु। इच्छ। यः। जिनाति। तम्। इत्। जहि। जिनतः। वज्र। त्वम्। सीमन्तम्। अन्वञ्चम्। अनु। पातय ॥३॥

अ० २। ३३। २। कन्धरावयववान् (प्रश्रृणातु) प्रच्छिनत्तु (उष्णिहा) अ० २। ३३। २। बहुवचनस्यैकवचनम्। उत्स्नाता धमनी- (वृत्रस्य) शत्रोः (इव) यथा (शचीपतिः) अ० ३। १०। १२। कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः पुरुषः ॥

२—(अधरोऽधरः) अतिशयेनाधरः। निकृष्टतरः (उत्तरेभ्यः) उत्कृष्टतरेभ्यः (गूढः) संवृतः (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (मा) निषेधे (उत्सृपत्) उत्सर्पतु। उत्तिष्ठतु (वज्रेण) (अवहतः) चूर्णीकृतः (शयाम्) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। तलोपः। शेताम्। म्रियतामित्यर्थः ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (जिनाति) अत्याचार करे, (तम्) उसको (अनु इच्छ) ढूंढ ले, (यः) जो (जिनाति) उपद्रव करे (तम् इत्) उसी को (जहि) मार डाल, (वज्र) हे वज्रधारी (त्वम्) तू (जिनतः) अत्याचारी के (सीमन्तम्) मस्तक को (अन्वञ्चम्) लगातार (अनुपातय) गिराये जा ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा नीति पूर्वक दुराचारियों को सदा दण्ड देवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२५ ॥

१-३ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

खादनपानोपदेशः—खान पान का उपदेश ॥

यदश्नामि बलं कुर्व इत्थं वज्रमा ददे ।
स्कन्धानमुष्य शातयन् वृत्रस्येव शचीपतिः ॥ १ ॥

यत् । अश्नामि । बलम् । कुर्वे । इत्थम् । वज्रम् । आ । ददे ।
स्कन्धान् । अमुष्य । शातयन् । वृत्रस्य-इव । शची-पतिः ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (अश्नामि) मैं खाता हूं [उसे] (बलम्) बल (कुर्वे) बना देता हूं, (इत्थम्) तब मैं (वज्रम्) वज्र को (आ ददे) ग्रहण करता हूं। (अमुष्य) उस [शत्रु] के (स्कन्धान्) कन्धों को (शातयन्) तोड़ता हुआ, (इव) जैसे (शचीपतिः) कर्म वा बुद्धि का स्वामी [शूर] (वृत्रस्य) शत्रु वा अन्धकार के ॥ १ ॥

३—(यः) दुराचारी (जिनाति) ज्या वयोहानौ । क्र्यादि० । पा० ६ । १ । १६ । इति संप्रसारणम् । हानिं करोति (तम्) (अन्विच्छ) अन्वेषणेन प्राप्नुहि (इत्) एव (जहि) मारय (जिनतः) हानिं कुर्वतः पुरुषस्य (वज्र) अर्शआद्यच् । वज्रधारिन्, (सीमन्तः) शरीरस्य सीम्नोऽन्तः । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । शिरः (अन्वञ्चम्) अनु + अञ्चु गतौ—क्विन् । अनु पश्चात् अनुक्रमेण प्राप्तम् (अनु) पश्चात् (पातय) अधो गमय ॥

१—(यत्) भोजनम् (अश्नामि) भुञ्जे (बलम्) (कुर्वे) करोमि (इत्थम्) एवम् (वज्रम्) वर्जकं शस्त्रम् (आ ददे) गृह्णामि (स्कन्धान्) स्कन्धादिशरीरावयवान् (अमुष्य) शत्रोः (शातयन्) शद्लृ शातने णिचि । शदेरगतौ तः । पा० ७ । ३ । ४२ । इति तकारादेशः, शतृ प्रत्ययः । छिन्दन् (इव) यथा (शचीपतिः) अ० ३ । १० । १२ । कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः ॥

भावार्थ—मनुष्य पाचन शक्ति से भोजन को भलीभांति पचावे, जिस से वह शारीरिक और आत्मिक बल बढाकर उसे सुखदायक हो। इसी मन्त्र का विवरण मन्त्र २ तथा ३ में है ॥ १ ॥

यत् पिबा॑मि॒ सं पि॑बामि समु॒द्र इ॑व संपि॒बः ।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒पाय॒ सं पि॑बामो अ॒मुं व॒यम् ॥ २ ॥

यत् । पिबा॑मि । सम् । पि॒बा॒मि॒ । स॒मु॒द्रः-इ॑व । स॒म्-पि॒बः । प्रा॒णा-न् । अ॒मुष्य॑ । स॒म्-पाय॑ । सम् । पि॒बा॒मः॒ । अ॒मुम् । व॒यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ [जल दुग्ध आदि] (पिबामि) मैं पीता हूं, (सम्) यथाविधि (पिबामि) पीता हू (इव) जैसे (संपिबः) यथाविधि पीने वाला (समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है] । (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्)जीवन बलों को (संपाय) चूस कर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (पिबामः) पीवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य न्यूनाधिक मात्रा और देश काल का विचार करके जल दुग्ध आदि पीकर पुष्टि बढाकर सुख प्राप्त करें ॥ २ ॥

यद् गिरा॑मि॒ सं गि॑रामि समु॒द्र इ॑व संगि॒रः ।
प्रा॒णान॒मुष्य॑ सं॒गीर्य॒ सं गि॑रामो अ॒मुं व॒यम् ॥ ३ ॥

यत् । गिरा॑मि । सम् । गि॒रा॒मि॒ । स॒मु॒द्रःइ॑व । स॒म्-गि॒रः । प्रा॒णा-न् । अ॒मुष्य॑ । स॒म्-गीर्य॑ । सम् । गि॒रा॒मः॒ । अ॒मुम् । व॒यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ वस्तु (गिरामि) मैं खाता हूं, (सम्) यथाविधि (गिरामि) खाता हूं, (इव) जैसे (संगिरः) यथाविधि खाने वाला

२—(यत्) जलदुग्धादिपानम् (पिबामि) (सम्) यथाविधि (संपिबः) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति पा पाने-श प्रत्ययः । सम्यक् पाता (प्राणान्) जीवनबलानि (अमुष्य) तस्य पदार्थस्य (सम्पाय) सम्यक् पीत्वा (सम्) (पिबामः) (अमुम्) पदार्थम् (वयम्) पानकर्तारः ॥

३—(यत्) भोजनम् (गिरामि) गॄ निगरणे तुदादित्वात्-शः । ऋत इद्धातोः । पा० ७ । १ । १०० । इत्वम् । भक्षयामि (सम्) सम्यक् (संगिरः)

(समुद्रः) समुद्र [खाकर पचा लेता है]। (अमुष्य) उस [पदार्थ] के (प्राणान्) जीवन शक्तियों को (संगीर्य) चबाकर (अमुम्) उस [पदार्थ] को (सम्) यथाविधि (वयम्) हम (गिरामः) खावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो निरालसी मनुष्य विचार पूर्वक भोजन करके उसे पचाते हैं, वे बलवान् रहते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १३६ ॥

१-३ ॥ नितत्नी देवता ॥ १, ३ अनुष्टुप्; २ बृहती ॥

केशवर्धनोपदेशः—केश के बढ़ाने का उपदेश ॥

दे॒वी दे॒व्याम॑धि जा॒ता पृ॑थि॒व्याम॑स्योषधे ।
तां त्वा॑ नितत्नि॒ केशे॑भ्यो दृं॑हणा॑य खनामसि ॥ १ ॥

दे॒वी । दे॒व्याम् । अधि । जा॒ता । पृ॒थि॒व्याम् । अ॒सि॒ । ओ॒ष॒धे॒ ।
ताम् । त्वा॒ । नि॒ऽत॒त्नि॒ । केशे॑भ्यः । दृं॑हणाय । ख॒ना॒म॒सि॒ ॥१

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! तू (देव्याम्) दिव्य [प्रकाशवाली, अच्छे गुणवाली] (पृथिव्याम्) पृथिवी में (अधि) ठीक ठीक (जाता) उत्पन्न हुई (देवी) दिव्य गुणवाली (असि) है। (नितत्नि) हे नीचे को फैलने वाली, नितत्नी ! [ओषधी विशेष] (ताम् त्वा) उस तुझ को (केशेभ्यः) केशों के (दृंहणाय) दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये (खनामसि) हम खोदते हैं ॥ १ ॥

इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । इति किरतेर्विधीयमानः कप्रत्ययो गिरतेरपि । सम्यङ् निगरिता (संगीर्य) ऋत इत्वे । हलि च । पा० ८ । २ । ७७ । इति दीर्घः । यथाविधि भक्षयित्वा । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(देवी) दिव्यगुणा (देव्याम्) दिव्यगुणायाम् (अधि) अधिकम् (जाता) उत्पन्ना (पृथिव्याम्) (असि) (ओषधे) (ताम्) तादृशीम् (त्वा) (नितत्नि) आदृगमहन० । पा० ३ । २ । १७१ । इति तनोतेः– कि, लिड्वद्भावाद् द्विर्वचनम् । तनिपत्योश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । ९९ । उपधालोपः। हे नितन्वाने न्यक्प्रसरणशीले (केशेभ्यः) केशानामर्थे (दृंहणाय) दृढीकरणाय । वर्धनाय (खनामसि) खनामः । खोदामः ॥

भावार्थ—मनुष्य नितत्नी नाम ओषधि को केश दृढ़ करने और बढ़ाने के लिये काम में लावें। काचमाची फल, जीवन्तीफल और भृङ्गराज वा भंगरा ओषधि के भी केश बढ़ाना आदि गुण हैं ॥ १ ॥

दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि ॥२॥

दृंह । प्रत्नान् । जनय । अजातान् । जातान् । ऊं इति । वर्षीयसः । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे नितत्नी !] (प्रत्नान्) पुराने [केशों] को (दृंह) दृढ़कर, (अजातान्) बिना उत्पन्न हुओं को (जनय) उत्पन्न कर, (उ) और (जातान्) उत्पन्न हुओं को (वर्षीयसः) बहुत लम्बा (कृधि) बना ॥ २ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में नितत्नी ओषधि के गुणों का वर्णन है ॥ २ ॥

यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते ।
इदं तं विश्वभेषज्याभि षिञ्चामि वीरुधा ॥३॥

यः । ते । केशः । अव-पद्यते । स-मूलः । यः । च । वृश्चते । इदम् । तम् । विश्व-भेषज्या । अभि । सिञ्चामि । वीरुधा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (यः) जो (ते) तेरा (केशः) केश (अवपद्यते) गिर जावे (च) और (यः) जो (समूलः) समूल (वृश्चते) टूट जावे। (इदम्) अब (तम्) उस को (विश्वभेषज्या) सब [केश रोगों] की ओषधि (वीरुधा) उस जड़ी बूटी से (अभि षिञ्चामि) चुपड़ कर ठीक करता हूं॥३॥

भावार्थ—मनुष्य नितत्नी नाम ओषधि से केशों के रोगों को दूर करें ॥३॥

२—(दृंह) दृढीकुरु (प्रत्नान्) पुरातनान् केशान् (जनय) उत्पादय (अजातान्) अनुत्पन्नान् (जातान्) (उ) अपि (वर्षीयसः) अ० ४ । ६ । ८ । वृद्ध-ईयसुन्। प्रवृद्धतरान् (कृधि) कुरु ॥

३—(यः) (ते) तव (अवपद्यते) निपतति (समूलः) मूलसहितः (यः) (च) (वृश्चते) वृश्च्यते। छिद्यते (इदम्) इदानीम् (तम्) केशम् (विश्वभेषज्या) सर्वस्य केशरोगस्य निवर्तयित्र्या (अभि) अभितः (सिञ्चामि) आर्द्रीकरोमि (वीरुधा) लतया ॥

सूक्तम् १३७ ॥

१-३ ॥ नितत्नी देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

केशवर्धनोपदेशः—केश बढ़ाने का उपदेश ॥

यां ज॒मद॑ग्नि॒रख॑नद् दुहि॒त्रे के॑श॒वर्ध॑नीम् ।

तां वी॒तह॑व्य॒ आभ॑रद॒सित॑स्य गृ॒हेभ्यः॑ ॥ १ ॥

याम् । ज॒मत्ऽअ॑ग्निः । अख॑नत् । दु॒हि॒त्रे । के॒श॒ऽवर्ध॑नीम् ।

ताम् । वी॒तऽह॑व्यः । आ । अ॒भ॒र॒त् । अ॒सित॑स्य । गृ॒हेभ्यः॑ ॥१॥

भाषार्थ—(केशवर्धनीम्) केश बढ़ाने वाली (याम्) जिस [नितत्नी ओषधि] को (जमदग्निः) जलती अग्नि के समान तेजस्वी पुरुष ने (दुहित्रे) पूर्ति करनेवाली क्रिया के लिये (अखनत्) खोदा है। (ताम्) उस [ओषधि] को (वीतहव्यः) पाने योग्य पदार्थ का पाने वाला ऋषि (असितस्य) मुक्त स्वभाव महात्मा के (गृहेभ्यः) घरों से (आ अभरत्) लाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस सूक्त में (नितत्नी) पद की अनुवृत्ति गत सूक्त से आती है। जिस प्रकार से वैद्य जन परम्परा से एक दूसरे के पीछे शिक्षा पाते चले आये हैं वैसे ही मनुष्य शिक्षा ग्रहण करते रहें ॥ १ ॥

अ॒भीशु॑ना मेया॑ आसन् व्या॒मेना॑नु॒मेयाः॑ ।

केशा॑ न॒डा इ॑व वर्धन्तां शी॒र्ष्णस्ते॑ अ॒सि॒ताः परि॑ ॥२॥

अ॒भीशु॑ना । मेयाः॑ । आ॒स॒न् । वि॒ऽआ॒मेन॑ । अ॒नु॒ऽमेयाः॑ । केशाः॑ ।

न॒डाःऽइ॑व । व॒र्ध॒न्ता॒म् । शी॒र्ष्णः । ते॒ । अ॒सि॒ताः । परि॑ ॥ २ ॥

१—(याम्) नितत्नीम्—गतसूक्तात् (जमदग्निः) अ० २ । ३२ । ३ । प्रज्वलिताग्निवत्तेजस्वी (अखनत्) खननेन प्राप्तवान् (दुहित्रे) प्रपूरयित्रीक्रियायै (केशवर्धनीम्) केशवृद्धिकरीम् (ताम्) ओषधिम् (वीतहव्यः) वी गतौ-क्त+हु आदाने यत् । प्राप्तप्राप्तव्यः पुरुषः (असितस्य) षिञ् बन्धने-क्त । अबद्धस्य । मुक्तस्वभावस्य (गृहेभ्यः) गेहेभ्यः सकाशात् ॥

भाषार्थ—(केशाः) केश (अभीशुना) अंगुली से (मेया) नापने योग्य, फिर (व्यामेन) दोनों [ऊपर नीचे के] भुज दण्ड से (अनुमेया) नापने योग्य (आसन्) हो गये हैं। वे (असिताः) काले होकर (ते) तेरे (शीर्ष्णः) शिर से (नडाः इव) नरकट घास के समान (परि वर्धन्ताम्) भले प्रकार बढ़ें ॥ २ ॥

भावार्थ—केशरोगी मनुष्य वैद्य की सम्मति से रोग निवृति करे ॥२॥

दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे ।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि ॥३॥

दृंह । मूलम् । आ । अग्रम् । यच्छ । वि । मध्यम् । यमय । ओषधे ।
केशाः । नडाः-इव । वर्धन्ताम् । शीर्ष्णः । ते । असिताः । परि ॥३॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! [केशों के] (मूलम्) मूल को (दृंह) दृढ़ कर, (अग्रम्) अग्र भाग को (आ यच्छ) बढ़ा, (मध्यम्) मध्यभाग को (वि यमय) लम्बा कर। (केशाः) केश (असिताः) काले होकर (ते शीर्ष्णः) तेरे शिर से (नडा इव) नरकट घास के समान (परि वर्धताम्) भले प्रकार बढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान ॥ ३ ॥

२—(अभीशुना) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ इति अभि+अशू व्याप्तौ-उ अलोपो दीर्घश्च । अभीशवः, रश्मिनाम-निघ० १ । ५ । अङ्गुलिनाम-२ । ५ । पदनाम-५ । ३ । अभीशवोऽभ्यश्नुवते कर्माणि-निरु० ३ । ६ । अंगुल्या (मेयाः) मातव्याः (आसन्) (व्यामेन) वि+अम गतौ-घञ् । प्रसारितभुजद्वयपरिमाणेन (अनुमेयाः) पश्चात् मातव्याः (केशाः) (नडाः) तृणविशेषाः (इव) यथा (वर्धन्ताम्) वर्धमाना भवन्तु (शीर्ष्णः) शिरसः (ते) तव (असिताः) कृष्णवर्णाः (परि) सर्वतः ॥

३—(दृंह) दृढीकुरु (मूलम्) केशमूलम् (अग्रम्) अग्रभागम् (आ यच्छ) आयतं कुरु (मध्यम्) (वियमय) विविधं दीर्घीकुरु (ओषधे) अन्यत्पूर्ववत् ॥

सूक्तम् १३८ ॥

१-५ ॥ ओषधिरिन्द्रश्च देवते ॥ १,२,४,५, अनुष्टुप्; ३पङ्क्तिः ।

निर्बलत्वनिवारणोपदेशः—निर्बलता हटाने का उपदेश ॥

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे ।
इमं मे अद्य पूरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि ॥ १ ॥

त्वम् । वीरुधाम् । श्रेष्ठ-तमा । अभि-श्रुता । असि । ओषधे ।
इमम् । मे । अद्य । पुरुषम् । क्लीबम् । ओपशिनम् । कृधि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ओषधे) हे ओषधि ! (त्वम्) तू (वीरुधाम्) सब ओषधियों में (श्रेष्ठतमा) अति श्रेष्ठ और (अभिश्रुता) बड़ी विख्यात (असि) है। (मे) मेरे लिये (अद्य) अब (इमम्) इस (क्लीबम्) बलहीन (पुरुषम्) पुरुष को (ओपशिनम्) सब प्रकार उपयोगी (कृधि) बना ॥ १ ॥

भावार्थ—वैद्य उत्तम ओषधि द्वारा बलहीन पुरुषों को बलवान् बनावें ॥१॥

क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि ।
अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ ॥ २ ॥

क्लीबम् । कृधि । ओपशिनम् । अथो इति । कुरीरिणम् ।
कृधि । अथ । अस्य । इन्द्रः । ग्रावभ्याम् । उभे इति ।
भिनत्तु । आण्ड्यौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(क्लीबम्) बलहीन पुरुष को (ओपशिनम्) उपयोगी

१—(त्वम्) (वीरुधाम्) लतानां मध्ये (श्रेष्ठतमा) अतिशयेन प्रशस्या (अभिश्रुता) सर्वतः प्रख्याता (असि) (ओषधे) (इमम्) (मे) मदर्थम् (अद्य) इदानीम् (पुरुषम्) (क्लीबम्) क्लीबृ अधार्ष्ट्ये—अच् । अधृष्टम् । निर्वीर्य्यम् (ओपशिनम्) आङ्+उप+शीङ् शयने-ड, इनि । ओपशः=उपशय.=उपयोगः । समन्तादुपयोगिनम् (कृधि) कुरु ॥

२—(क्लीबम्) म० १ । निर्बलम् (कृधि) कुरु (ओपशिनम्)

(कृधि) बना, (अथो) और भी (कुरीरिणम्) कर्मकारी (कृधि) बना। (अथ) और (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले वैद्य आप (ग्रावभ्याम्) पत्थर समान दो दृढ़ शस्त्रों से (अस्य) इस [रोगी] के (उभे) दोनों (आण्ड्यौ) आंडी [वा अंडिनी, दोनों अण्डकोश के रोग] को (भिनत्तु) छेदे ॥ २ ॥

भावार्थ—वैद्य अंडकोष के आंडी, अडिनी, पथरी आदि रोगों को दृढ़ शस्त्रों से तोड़ कर ओषधि करें ॥ २ ॥

क्लीव॑ क्लीवं त्वाकरं वध्रे॒ वध्रिं॑ त्वाकर॒मर॑सार॒सं त्वा॑करम्। कुरीर॑मस्य शी॒र्षणि॒ कुम्बं॑ चाधिनि॒द॑ध्मसि ॥३॥

क्लीव॑। क्लीबम्। त्वा। अकरम्। वध्रे॑। वध्रिम्। त्वा। अकरम्। अर॑स। अरसम्। त्वा। अकरम्। कुरीर॑म्। अस्य। शीर्षणि। कुम्ब॑म्। च। अधि-निद॑ध्मसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(क्लीव) हे निर्बल करने वाले रोग ! (त्वा) तुझको मैं ने (क्लीवम्) निर्बल (अकरम्) कर दिया है, (वध्रे) हे बल को बांधने वाले रोग ! (त्वा) तुझको (वध्रिम्) शक्तिहीन (अकरम्) मैंने कर दिया है, (अरस) हे नीरस करने वाले रोग ! (त्वा) तुझे (अरसम्) नीरस (अकरम्) मैंने कर दिया है। (अस्य) इस [स्वस्थ] पुरुष के (शीर्षणि) शिर पर (कुरीरम्) कर्म सामर्थ्य (च) और (कुम्बम्) विस्तृत आभूषण (अधि-

---

म०१। समन्तादुपयोगिनम् (अथो) अपि च (कुरीरिणम्) अ० ५। ३१। २। कृञ उच्च। उ० ४। ३३। डुकृञ् करणे-ईरन्, तत इनि। कर्मवन्तम् (अथ) पुनः (अस्य) रोगिणः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वैद्यः (ग्रावभ्याम्) अ० ३। १०। ५। पाषाणवद् दृढाभ्यां शस्त्राभ्याम् (उभे) द्वे (भिनत्तु) छिनत्तु (आण्ड्यौ) अण्ड-अण, ङीप्। अण्डकोशभवौ। आण्डीरोगौ ॥

३—(क्लीव) हे निर्बलकर रोग (क्लीवम्) निर्बलम् (त्वा) (अकरम्) अकार्षम् (वध्रे) अ० ३। ६। २। हे शक्तिबन्धक रोग (वध्रिम्) शक्तिहीनम् (अरस) हे नीरसकर (अरसम्) रसहीनम्। निर्वीर्यम् (कुरीरम्)-म० २। कर्मसामर्थ्यम् (अस्य) स्वस्थस्य (शीर्षणि) शिरसि (कुम्बम्) कुवि आच्छादने-

निद्ध्मसि) हम अधिकार पूर्वक रखते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ--मनुष्य बलहीन क्रियाहीन रोगियों को स्वस्थ और उत्साही बनावें ॥ ३ ॥

ये ते॑ ना॒ड्यौ॑ दे॒वकृ॑ते॒ ययो॑स्तिष्ठ॑ति॒ वृष्ण्य॑म् ।
ते ते॑ भिनद्मि॒ शम्य॒याऽमुष्या॒ अधि॑ मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

ये इति॑ । ते॒ । ना॒ड्यौ॑ । दे॒वकृ॑ते॒ इति॑ दे॒व-कृ॑ते । ययोः॑ । तिष्ठ॑ति । वृष्ण्य॑म् । ते इति॑ । ते॒ । भि॒न॒द्मि॒ । शम्य॑या । अ॒मु॒ष्याः॑ । अधि॑ । मु॒ष्कयोः॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे रोगी ! (ये) जो (ते) तेरी (नाड्यौ) दो नाडियां (देवकृते) मद अर्थात् उन्माद से पीड़ित हैं और (ययोः) जिन दोनों में (वृष्ण्यम्) ढीलापन (तिष्ठति) स्थित है। (ते) तेरे लिये (ते) उन दोनों [नाड़ियों] को (अमुष्याः) उस [स्वस्थ नाड़ी] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों में (शम्यया) शान्तिकारक शम्या [हल के जुये के कील के समान] शस्त्र से (अधि) अधिकार पूर्वक (भिनद्मि) मैं छेदता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्यराज विचार पूर्वक अन्य मर्म नाड़ियों को छोड़कर अण्ड कोश की रोगग्रस्त नाड़ियों को छेद कर स्वस्थ करे ॥ ४ ॥

अच् । विस्तृतं भूषणं (च) (अधिनिदध्मसि) अधिकृत्य स्थापयामः ॥

४—(ये) (ते) तुभ्यम् (नाड्यौ) आरड्यौ-म० २ । (देवकृते) दिवु क्रीडामदादिषु—अच्+कृञ् हिंसायाम्-क्त । मदेनोन्मादेन हिंसितम् (ययोः) नाड्योः (तिष्ठति) वर्तते (वृष्ण्यम्) कनिन् युवृषितक्षि० । उ० १ । १५६ । इति वृष शक्तिबन्धने—कनिन् । खलयवमाषतिलवृष० । पा० ५ । १ । ७ इति वृषन्-यत् । वृष्णः शिथिलस्य भावो वृष्ण्यं शैथिल्यम् (ते) नाड्यौ (ते) त्वदर्थम् (भिनद्मि) छिनद्मि (शम्यया) शम शान्तौ आलोचने च-यत्, टाप् । शम्या= युगकीलकः-अमर १६ । १४ । शान्तिकरेण युगकीलतुल्यशस्त्रेण (अमुष्याः) तस्या नाड्याः पृथक् (अधि) अधिकृत्य (मुष्कयोः) अण्डकोशयोर्मध्ये ॥

यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना ।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः ॥ ५ ॥

यथा । नडम् । कशिपुने । स्त्रियः । भिन्दन्ति । अश्मना ।
एव । भिनद्मि । ते । शेपः। अमुष्याः । अधि । मुष्कयोः ॥५॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (स्त्रियः) स्त्रियां (नडम्) नरकट घास आदि को (कशिपुने) अन्न वा वस्त्र के लिये (अश्मना) पत्थर से (भिन्दन्ति) तोड़ती हैं। (एव) वैसे ही (ते) तेरे लिये (अमुष्याः) उस [नीरोग नाडी] से अलग (मुष्कयोः) दोनों अण्डकोशों के (शेपः) रोग बल को (अधि) अधिकार के साथ (भिनद्मि) मैं तोड़ता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे किसी तृण में से अन्न वा वस्त्र की सार वस्तु बचाकर अभीष्ट भाग को तोड़ डालते हैं, वैसे ही चिकित्सक लोग मर्म स्थल को छोड़कर रोगकारक नाड़ी को छेदकर स्वस्थ करें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १३९ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ १ जगती; २, ३, ५ अनुष्टुप्; ४ पुरउष्णिक् ॥

गृहस्थाश्रमप्रवेशोपदेशः—गृहस्थ आश्रम में प्रवेश के लिये उपदेश ॥

न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम ।
शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः ।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते ॥ १ ॥

नि-अस्तिका । रुरोहिथ । सुभगम्-करणी । मम । शतम् ।

५—(यथा) येन प्रकारेण (नडम्) तृणम् (कशिपुने) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । इति कश गतिशासनयोः—कु, निपातनात् साधुः । अन्नाय वस्त्राय वा—अमर० २३ । १३० (स्त्रियः) (भिन्दन्ति) आघ्नन्ति (अश्मना) पाषाणेन (एव) एवम् (भिनद्मि) (ते) तुभ्यम् (शेपः) रोगबलम् (अमुष्याः) तस्या नीरोगाया नाड्याः (अधि) अधिकृत्य (मुष्कयोः) अण्डकोशयोः ॥

तवं । प्र-तानाः । त्रयः-त्रिंशत् । नि-तानाः । तयां ।
सहस्र-पर्ण्या । हृदयम् । शोषयामि । ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्या !] (न्यस्तिका) नित्य प्रकाशमान और (मम) मेरी (सुभगंकरणी) सुन्दर ऐश्वर्य करनेवाली तू (करोहिथ) प्रकट हुई है। (ते) तेरे (प्रतानाः) उत्तम फैलाव (शतम्) सौ [अनेक], और (नितानाः) नियमित विस्तार (त्रयस्त्रिंशत्) तैंतीस [तैंतीस देवताओं के जतानेवाले] हैं।

[हे ब्रह्मचारिणि !] (तया) उस (सहस्रपर्ण्या) सहस्रों पालन शक्ति वाली विद्या से (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (शोषयामि) मैं सुखाता हूं [प्रेम मग्न करता हूं] ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी समावर्तन के पश्चात् यथार्थ विद्या से संसार के सब पदार्थ और तेंतीस देवताओं का ज्ञान प्राप्त करके अपने सदृश विदुषी स्त्री से विवाह की कामना करे। तैंतीस देवता यह हैं,—८ वसु अर्थात् अग्नि पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,—११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त, और धनञ्जय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ आदित्य अर्थात् महीने १ इन्द्र अर्थात् बिजुली;—१ प्रजापति अर्थात् यज्ञ—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, वेद विषय, पृष्ठ ६६—६८।।१॥

शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम् ।
अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर ॥ २ ॥

१—(न्यस्तिका) वृत्तेस्तिकन् । उ० ३ । १४६ । नि+अस दीप्तौ-तिकन् । नितरां दीप्यमाना विद्या (करोहिथ) प्रादुर्बभूविथ (सुभगंकरणी) आढ्य-सुभग० । पा० ३ । २ । ५६ । इति करोतेः ख्युन् । खित्यनव्ययस्य । पा० ६ । ३ । ६६ । इति पूर्वपदस्य मुम् । टिड्ढाणञ्० । पा० ४ । १ । १५ । इति ङीप् । सौभाग्यं कुर्वती (मम) (शतम्) बहु (तव) (प्रतानाः) प्रकृष्टविस्ताराः (त्रयस्त्रिंशत्) एतत्संख्यानां देवानामुपकारकत्वात् तत्संख्या (नितानाः) नियमितविस्ताराः (तया) (सहस्रपर्ण्या) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६। इति पॄ पालनपूरणयोः-न । बहुपालनशक्त्या विद्यया (हृदयम्) (शोषयामि) परितप्त प्रेममग्न करोमि (ते) तव ॥

शुष्यतु । मयि । ते । हृदयम् । अथो इति । शुष्यतु । आस्यम् । अथो इति । नि । शुष्य । माम् । कामेन । अथो इति । नि । शुष्क-आस्या । चर ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारिणि !] (मयि) मेरे विषय में (ते हृदयम्) तेरा हृदय (शुष्यतु) सूख जावे, (अथो) और (आस्यम्) मुख (शुष्यतु) सूख जावे । (अथो) और भी (माम्) मुझ को (कामेन) अपने प्रेम से (नि) नित्य (शुष्य) सुखा, (अथो) और तू भी (शुष्कास्या) सूखे मुखवाली हो कर (चर) विचर ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् वर और कन्या परस्पर गुणों का परिचय करके वाचिक और मानसिक प्रेम से गृह आश्रम में प्रवेश करने की चेष्टा करें ॥२॥

संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद ।
अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥ ३ ॥

सम्-वननी । सम्-उष्पला । बभ्रु । कल्याणि । सम् । नुद । अमूम् । च । माम् । च । सम् । नुद । समानम् । हृदयम् । कृधि ॥३॥

भाषार्थ—(बभ्रु) हे पालन शील ! (कल्याणि) हे मङ्गल कारिणी विद्या ! (संवननी) यथावत् सेवनीय और (समुष्पला) यथाविधि निवास की रक्षा करने हारी तू [हम दोनों को] (सम्) मिला कर (नुद) आगे बढ़ा । (अमूम्) उस [विदुषी] को (च च] और (माम्) मुझ को (सम्)

२—(शुष्यतु) परितप्तं प्रेममग्नं भवतु (मयि) मद्विषये (ते) तव (हृदयम्) (अथो) अपि च (शुष्यतु) (आस्यम्) मुखम् (अथो) (नि) नित्यम् (शुष्य) शोषय (माम्) वरम् (कामेन) प्रेम्णा (अथो) (शुष्कास्या) परितप्तवदना (चर) गच्छ ॥

३—(संवननी) सम्यक् सेवनीया (समुष्पला) वस निवासे-क्विप् । वचिस्वपियजादीनां किति । पा० ६ । १ । १५ । इति सम्प्रसारणम् । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० । इति षत्वम् । पल गतौ रक्षणे-अच्, टाप् । सम्यग् उषो गृहस्य पला पालयित्री विद्या (बभ्रु) अ० ४ । २६ । २ डु भृञ्—

मिला कर (नुद) आगे बढ़ा, [इन दोनों के] (हृदयम्) हृदय को (समानम्) एक (कृधि) कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष पूर्ण विद्वान् होकर गृहस्थ बनते हैं, वे ही परस्पर उपकार करके सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यथो॑द॒कमप॑पुषोऽपशु॒ष्यत्या॒स्य॑म् ।

ए॒वा नि शु॑ष्य॒ मां कामे॑ना॒थो शुष्का॑स्या चर ॥ ४ ॥

यथा॑ । उ॒द॒कम् । अप॑पुषः । अ॒प॒-शु॒ष्य॑ति । आ॒स्य॑म् । ए॒व । नि । शु॒ष्य॒ । माम् । कामे॑न । अथो॒ इति॑ । शुष्क॑-आ॒स्या । च॒र ॥४॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (उदकम्) जल को (अपपुषः) न पीनेवाले पुरुष का (आस्यम्) मुख (अपशुष्यति) सूख जाता है । (एव) वैसे ही (माम्) मुझ को (कामेन) अपने प्रेम से (नि) नित्य (शुष्य) सुखा (अथो) और तू भी (शुष्कास्या) सूखे मुख वाली होकर (चर) विचर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे अति प्यासे मनुष्य को जल की बड़ी चिन्ता रहती है, वैसे ही पति पत्नी पूर्ण प्रीति से एक दूसरे का ध्यान रक्खें ॥ ४ ॥

यथा॑ नकु॒लो वि॒च्छिद्य॑ सं॒दधा॒त्यहिं॒ पुन॑ः ।

ए॒वा काम॑स्य॒ विच्छि॑न्नं॒ सं धे॑हि वीर्यावति ॥ ५ ॥

यथा॑ । न॒कु॒लः । वि॒-छिद्य॑ । स॒म्-द॒धाति॑ । अहि॑म् । पुन॒रिति॑ । ए॒व । काम॑स्य । वि-छि॑न्नम् । सम् । धे॒हि॒ । वी॒र्य॒-व॒ति॒ ॥५॥

कृ, ऊङ् । अम्बार्थनद्योर्ह्रस्वः । पा० ७ । ३ । १०७ । इति ह्रस्वः । हे पालनशीले (कल्याणि) हे मङ्गलकारिणि विद्ये (सम्) संयोज्य (नुद) प्रवर्तय (अमूम्) विदुषीम् (च) (माम्) विद्वांसम् (समानम्) एकम् (हृदयम्) (कृधि) ॥

४—(यथा) येन प्रकारेण (उदकम्) जलम् (अपपुषः) पा पाने—लिट् क्वसुः । अपीतवतस्तृषितस्य पुरुषस्य (अपशुष्यति) शुष्कं भवति (आस्यम्) मुखम् (एव) एवम् । अन्यद् गतम्—म० २ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (नकुलः) कुत्सितकर्म न ग्रहण करने वाला, नेवला (अहिम्) सांप को (विच्छिद्य) टुकड़े टुकड़े करके (पुनः) फिर (सन्दधाति) समाहित चित्त हो जाता है। (एव) वैसे ही (वीर्यवति) हे बलवती ! (कामस्य) कामना के (विच्छिन्नम्) घाव को (संधेहि) भर दे ॥५॥

भावार्थ—जैसे नेवला जन्तु सांप को मार कर आप स्वस्थ और शांत होजाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष विदुषी पत्नी को पाकर दुःख नाश करके आनंद भोगता है ॥ ५ ॥

॥ सूक्तम् १४० ॥

१-३ ॥ दन्तौ देवते ॥ १ बृहती; २ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः॥

बालस्यान्नप्राशनोपदेशः—बालक के अन्न प्राशन का उपदेश ॥

यौ व्या॒घ्राववरू॑ढौ॒ जिघ॑त्सतः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च ।
तौ दन्तौ॑ ब्रह्मणस्पते शि॒वौ कृ॑णु जातवेदः ॥ १॥

यौ । व्या॒घ्रौ । अव॑-रूढौ । जिघ॑त्सतः । पि॒तर॑म् । मा॒तर॑म् । च॒ । तौ । दन्तौ॑ । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । शि॒वौ । कृ॒णु॒ । जा॒त॒-वे॒दः॒ ॥१॥

भाषार्थ—(व्याघ्रौ) व्याघ्र के समान बलवान् (यौ) जो (दन्तौ) ऊपर नीचे के दांत (अवरूढौ) उत्पन्न होकर (पितरम्) पिता को (च) और (मातरम्) माता को (जिघत्सतः) काटने की इच्छा करते हैं। (ब्रह्मणः)

५—(यथा) (नकुलः) न+कु+ला आदाने-क। नभ्राण्नपान्नवेदा०। पा० ६। ३। ७५। इति नञः प्रकृतिभावः। न कु कुत्सितं कर्म लाति गृह्णातीति यः स नकुलः। जन्तुविशेषः (विच्छिद्य) खण्डशः कृत्वा (संदधाति) समाहितः स्वस्थो भवति (अहिम्) आहन्तारं सर्पम् (पुनः) अनन्तरम् (एव) एवम् (कामस्य) प्रेम्णः (विच्छिन्नम्) अवखण्डितं क्षतम् (संधेहि) संयोजय (वीर्यवति) हे बलवति ॥

१—(यौ) (व्याघ्रौ) अ० ४। ३। १। सिंहो व्याघ्र इति पूजायाम् —निरु० ३। १८। व्याघ्रवद्बलवन्तौ (अवरूढौ) प्रादुर्भूतौ (जिघत्सतः) अद भक्षणे सन्। लुङ्सनोर्घस्लृ। पा० २। ४। ३७। इति घस्लृ। सः स्यार्धधातुके।

हे अन्न के (पते) स्वामी ! (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के ज्ञान वाले गृहस्थ ! (तौ) उन दोनों को (शिवौ) सुखकारक (कृणु) कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दांत निकलने पर बालक माता पिता के काटने लगे, तब गृहस्थ उनका अन्नप्राशन करके उस का पोषण करे ॥ १ ॥

व्रीहिमत्तं यवमत्तमथो माषमथो तिलम्। एष वां भागो निहितो रत्नधेयाय दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥२॥

व्रीहिम्। अत्तम्। यवम्। अत्तम्। अथो इति। माषम्। अथो इति। तिलम्। एषः। वाम्। भागः। नि-हितः। रत्न-धेयाय। दन्तौ। मा। हिंसिष्टम्। पितरम्। मातरम्। च ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे दांतों की दोनों पंक्तियो !] (व्रीहिम्) चावल (अत्तम्) खाओ, (यवम्) जौ (अत्तम्) खाओ, (अथो) फिर (माषम्) उरद, (अथो) फिर (तिलम्) तिल [खाओ], (वाम्) तुम दोनों का (एषः) यह (भागः) भाग [चावल जौ आदि] (रत्नधेयाय) रत्नों के रखने योग्य कोश के लिये (निहितः) अत्यन्त हित है, (दन्तौ) हे ऊपर नीचे के दांतो ! (पितरम्) बालक के पिता (च) और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥ २ ॥

भावार्थ—माता पिता दांत निकलने पर बालक को चावल, जौ आदि

पा० ७।४।४६। इति सस्य तः। अत्तु कर्तितुमिच्छतः (पितरम्) (मातरम्) (च) (तौ) (दन्तौ) अ० ४।३।६। उपरिनीचस्थदन्तगणौ (ब्रह्मणः) अन्नस्य—निघ० २।७। (पते) स्वामिन् (शिवौ) सुखकरौ (कृणु) कुरु (जातवेदः) हे जातानां वेदितो गृहस्थ ॥

२—(व्रीहिम्) इगुपधात् कित्। उ० ४।१२०। इति वृह वृद्धौ—इन्, पृषोदरादिरूपम्। आशुधान्यम् (अत्तम्) खादतम् (यवम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—अप्। अन्न विशेषम् (अथो) पश्चात् (माषम्) मष वधे—घञ्। अन्नविशेषम् (तिलम्) तिल स्नेहने—क। अन्नविशेषम् (एषः) व्रीहियवादिभोगः (वाम्) युवयोः (भागः) सेवनीयोंऽशः (निहितः) अत्यन्तहितः (रत्नधेयाय) रत्न+डुधाञ् यत्। रत्नधारणयोग्याय कोशाय (दन्तौ) उपरिनीचस्थदन्तगणौ

सामान्य अन्न और फिर अधिक पौष्टिक उरद आदि और चिकने तिल आदि चटावें जिससे बालक पुष्ट होकर माता पिता को सुख देवे और उन्नति करे॥२॥

उपहूतौ सयुजौ स्योनौ दन्तौ सुमङ्गलौ । अन्यत्र वां घोरं तन्वः परैतु दन्तौ मा हिंसिष्टं पितरं मातरं च ॥३॥

उप-हूतौ । स-युजौ । स्योनौ । दन्तौ । सु-मङ्गलौ । अन्यत्र । वाम् । घोरम् । तन्वः । परा । एतु । दन्तौ । मा । हिंसिष्टम् । पितरम् । मातरम् । च ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उपहूतौ) आपस में स्पर्धा वाले, (सयुजौ) एक दूसरे से मिले हुये (दन्तौ) दोनों ओर के दांत (स्योनौ) सुख देने वाले और (सुमङ्गलौ) बड़े मङ्गल वाले होवें । (दन्तौ) हे दोनों ओर के दांतो ! (वाम्) तुम्हारा (घोरम्) दुखदायी कर्म [बालक के] (तन्वः) शरीर से (अन्यत्र) अलग (परा एतु) चला जावे (पितरम्) इसके पिता (च) और (मातरम्) माता को (मा हिंसिष्टम्) मत काटो ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता बालक के नवे निकले दांतों को मुलहटी आदि ओषधि से स्वस्थ करें, जिससे वे सब सुख से निकले ॥ ३ ॥

सूक्तम् १४१ ॥

१-३ ॥ आचार्यो मातापितरौ च देवते । अनुष्टुप् छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—वृद्धि करने का उपदेश ॥

वायुरेनाः समाकरत् त्वष्टा पोषाय ध्रियताम् । इन्द्र आभ्यो अधि ब्रवद् रुद्रो भूम्ने चिकित्सतु ॥१॥

(मा हिंसिष्टम्) मा पीडयतम् (पितरम्) पालकंजनकम् (मातरम्) मान्यां जननीम् (च) ॥

३—(उपहूतौ) ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च—क्त । परस्परस्पर्धायुक्तौ (सयुजौ) समानं युञ्जानौ (स्योनौ) सुखकरौ (दन्तौ) उभयतो दन्तगणौ (सुमङ्गलौ) सुमङ्गलकरौ (अन्यत्र) पृथक् स्थाने (वाम्) युवयोः (घोरम्) क्रूरं कर्म (तन्वः) शिशुशरीरात् (परा) (दूरे) (एतु) गच्छतु । अन्यत्पूर्ववत्—म० २ ॥

वायुः । एनाः । सम्-आकरत् । त्वष्टा । पोषाय । ध्रियताम् ।
इन्द्रः । आभ्यः । अधि । ब्रवत् । रुद्रः । भूम्ने । चिकित्सतु ॥१॥

भाषार्थ—(वायुः) शीघ्रगामी आचार्य (एनाः) इन [प्रजाओं] को (समाकरत्) एकत्र करे, (त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी वह (पोषाय) [उनके मानसिक और शारीरिक] पोषण के लिये (ध्रियताम्) स्थिर रहे । (इन्द्र.) बड़े ऐश्वर्य वाला वही (आभ्यः) इन [प्रजाओं] से (अधि) अनुग्रह पूर्वक (ब्रवत्) बोले, (रुद्रः) ज्ञान दाता अध्यापक (भूम्ने) उनकी वृद्धि के लिये (चिकित्सतु) शासन करे ॥ १ ॥

भवार्थ—जितेन्द्रिय दूरदर्शी आचार्य विद्यालय में ब्रह्मचारियों को उत्तम विद्या से समृद्ध करे ॥ १ ॥

लोहितेन स्वधितिना मिथुनं कर्णयोः कृधि ।
अकर्तामश्विना लक्ष्म तदस्तु प्रजया बहु ॥ २ ॥

लोहितेन । स्व-धितिना । मिथुनम् । कर्णयोः । कृधि । अकर्ताम् । अश्विना । लक्ष्म । तत् । अस्तु । प्र-जया । बहु ॥ २ ॥

भाषार्थ--[हे आचार्य !] (लोहितेन) प्रकाश के साथ और (स्वधितिना) और आत्म धारण सामर्थ्य के साथ (कर्णयोः) हमारे दोनों कानों में (मिथुनम्)

१—(वायुः) शीघ्रगाम्याचार्यः (एनाः) प्रजाः। विद्यार्थिगणान् (समाकरत्) करोतेर्लेट्। संयोजयेत् (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे-तृन्। सूक्ष्मदर्शी (पोषाय) मानसिकशारीरिकपोषणाय (ध्रियताम्) धृङ् अवस्थाने । स्थिरो भवतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवानाचार्यः (आभ्यः) प्रजाभ्यः (अधि) अधिकमनुग्रहपूर्वकम् (ब्रवत्) वदेत् (रुद्रः) अ० २ । २७ । ६ । रुत् ज्ञानं राति ददातीति य. ज्ञानदाता (भूम्ने) अ० ५ । २८ । ३ । बहुत्वाय । वर्धनाय (चिकित्सतु) कित् व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च । गुप्तिज्किद्भ्यः सन्। पा० ३ । १ । ५ । इति कितेः सन् । निगृह्णातु । शास्तु ॥

२—(लोहितेन) अ० ६ । १२७ । १ प्रादुर्भावेन प्रकाशेन सह (स्वधितिना) स्व+धि धारणे—क्तिन्। आत्मधारणेन (मिथुनम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित्।

विज्ञान (कृधि) कर । (अश्विना) कामों में व्याप्ति वाले माता पिता ने (लक्ष्म) [इस में] शुभ लक्षण (अकर्ताम्) किया है. (तत्) वह [शुभलक्षण] (प्रजया) सन्तान के साथ (बहु) अधिक समृद्ध (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां गुणी माता पिता और आचार्य बालकों के शिक्षक होते हैं, वहां बालक गुणी धनी और बली होते हैं ॥ २ ॥

यथा चक्रुर्देवासुरा यथा मनुष्या उत ।
एवा सहस्रपोषाय कृणुतं लक्ष्माश्विना ॥ ३ ॥

यथा । चक्रुः । देव-असुराः । यथा । मनुष्याः । उत । एव । सहस्र-पोषाय । कृणुतम् । लक्ष्म । अश्विना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (देवासुराः) व्यवहार जानने वाले बुद्धिमानों ने (उत) और (यथा) जैसे (मनुष्याः) मननशील पुरुषों ने [शुभलक्षण को] (चक्रुः) किया है । (अश्विना) हे कर्तव्यों में व्यापक माता पिता ! (एव) वैसे ही (सहस्रपोषाय) सहस्रों प्रकार के पोषण के लिये [इस में] (लक्ष्म) शुभलक्षण (कृणुतम्) तुम करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता पिता को योग्य है कि पूर्वज महात्माओं के समान अपने सन्तानों को शुभगुणी बनावे ॥ ३ ॥

उ० ३ । ५५ । इति मिथृ वधे मेधायां च—उनन् । विज्ञानम् (कर्णयोः) कृवृजॄ० । उ० ३ । १० इति कॄ विक्षेपे—न । श्रोत्रयोः (कृधि) कुरु (अकर्ताम्) कृतवन्तौ (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । कार्येषु व्यापकौ मातापितरौ (लक्ष्म) सर्व-धातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति लक्ष दर्शनाङ्कनयोः आलोचने च—मनिन । शुभलक्षणम् (तत्) लक्ष्म (अस्तु) (प्रजया) सन्तत्या (बहु) बहुलं समृद्धम् ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (चक्रुः) कृतवन्तः (देवासुराः) असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वम्—निरु० १ । ३४ । व्यवहारिणः प्रज्ञावन्तः (यथा) (मनुष्याः) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलाः (उत) अपि च (एव) एवम् (सहस्रपोषाय) अपरि-मितवृद्धये (कृणुतम्) कुरुतम् (लक्ष्म)—म० २ । शुभलक्षणम् (अश्विना) कर्तव्यव्यापकौ मातापितरौ ॥

सूक्तम् १४२ ॥

१-३ ॥ यवो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अन्नवृद्ध्युपदेशः—अन्न की वृद्धि का उपदेश ॥

उच्छ्रयस्व बहुर्भव स्वेन महसा यव ।
मृणीहि विश्वा पात्राणि मा त्वा दिव्याशनिर्वधीत् ॥१॥

उत् । श्रयस्व । बहुः । भव । स्वेन । महसा । यव । मृणीहि । विश्वा । पात्राणि । मा । त्वा । दिव्या । अशनिः । वधीत् ॥१॥

भाषार्थ—(यव) हे जौ अन्न ! तू (स्वेन) अपने (महसा) बल से (उत् श्रयस्व) ऊंचा आश्रय ले और (बहुः) समृद्ध (भव) हो । (विश्वा) सब (पात्राणि) जिनसे रक्षा की जावे ऐसे राक्षसों [विघ्नों] को (मृणीहि) मार, (दिव्या) आकाशीय (अशनिः) बिजुली आदि उत्पात (त्वा) तुझको (मा वधीत्) नहीं नष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ-किसान लोग खेती विद्या में चतुर होकर प्रयत्न करें कि उत्तम जौ आदि बीजों से नीरोग और पुष्टिकारक अन्न उपजे ॥ १ ॥

आशृण्वन्तं यवं देवं यत्र त्वाच्छावदामसि ।
तदुच्छ्रयस्व द्यौरिव समुद्र इवैध्यक्षितः ॥ २ ॥

आ-शृण्वन्तम् । यवम् । देवम् । यत्र । त्वा । अच्छ-आवदामसि । तत् । उत् । श्रयस्व । द्यौः-इव । समुद्रः-इव । एधि । अक्षितः ॥ २ ॥

१—(उच्छ्रयस्व) उन्नतो भव (बहुः) बहि वृद्धौ-कु । प्रवृद्धः (भव) (स्वेन) आत्मीयेन (महसा) महत्त्वेन । रसादिना (यव) (मृणीहि) मृ वधे । मारय (विश्वा) सर्वाणि (पात्राणि) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । इति पा रक्षणे—अपादाने ष्ट्रन् । पाति यस्मात् । रक्षांसि । विघ्नान् (त्वा) (दिव्या) दिवि आकाशे भवा (अशनि) विद्युदाद्युत्पातः (मा वधीत्) मा हिंसीत् ।

भाषार्थ—(आशृण्वन्तम्) [हमें] अंगीकार करने वाले (त्वा) तुझ (देवम्) दिव्य गुण वाले (यवम्) जौ आदि अन्न को (यत्र) जहां पर (अच्छावदामसि) हम अच्छे प्रकार चाहें, (तत्) वहां पर (द्यौः इव) सूर्य के समान (उत् श्रयस्व) ऊंचा आश्रय ले और (समुद्रः इव) अन्तरिक्ष के समान (अक्षितः) क्षयरहित (एधि) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां पर किसान लोग खेती की अच्छे प्रकार देख भाल करते हैं वहां जौ अन्न के वृक्ष ऊंचे होते और उपज में अच्छी बढ़ती होती है ॥ २ ॥

अक्षितास्त उपसदोऽक्षिताः सन्तु राशयः ।
पृणन्तो अक्षिताः सन्त्वत्तारः सन्त्वक्षिताः ॥ ३ ॥

अक्षिताः । ते । उप-सदः । अक्षिताः । सन्तु । राशयः ।
पृणन्तः । अक्षिताः । सन्तु । अत्तारः । सन्तु । अक्षिताः ॥३॥

भाषार्थ—[हे जौ आदि अन्न !] (ते) तेरे (उपसदः) निकटवर्ती कार्यकर्ता लोग (अक्षिताः) बिना घाटे और तेरी (राशयः) रासें (अक्षिताः) बिना घाटे (सन्तु) होवें । (पृणन्तः) तेरे भरती करने वाले लोग(अक्षिताः) बिना घाटे (सन्तु) होवें और (अत्तारः) तेरे खाने वाले (अक्षिताः) बिना हानि (सन्तु) होवें ॥ ३ ॥

२—(आशृण्वन्तम्) आङ्+श्रु अङ्गीकारे । अङ्गीकुर्वन्तम् (यवम्) (देवम्) दिव्यगुणम् (यत्र) यस्यां भूमौ (त्वा) (अच्छ—आवदामसि) आभिमुख्येन वदामः प्रार्थयामहे (तत्) तत्र भूम्याम् (उच्छ्रयस्व) (द्यौः इव) प्रकाशमानः सूर्यो यथा (समुद्रः इव) अन्तरिक्षं यथा (एधि) भव (अक्षितः) क्षयरहितः ॥

३—(अक्षिताः) अक्षीणाः (ते) तव (उपसदः) उपसत्तारः कर्मकराः (सन्तु) (राशयः) अशिपणाय्योरुडायलुकौ च । उ० ४ । १३२ । अशू व्याप्तौ—इण्, रुट् च । धान्य पुञ्जा (पृणन्तः) अन्नं पूरयन्तः (अत्तारः) भोक्तारः । अन्यत्पूर्ववत् ॥

भावार्थ—चतुर किसानों के उद्योग से अन्न की भारी उपज होती है, लोग अन्न का व्यापार करते और भोजन करते हैं ॥ ३ ॥

इति त्रयोदशोऽनुवाकः ॥

इति षष्ठं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायक-वाड़ाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगत श्रावणमासपरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये षष्ठं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे कृष्णद्वादश्यां तिथौ १९७२ तमे विक्रमीये सम्वत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि

श्री राजराजेश्वर पञ्चम जार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्-आषाढ़ कृष्णा ५ संवत् १९७३ ता० २० जून १९१६ ई० ॥

इति

अथर्ववेद भाष्य की सम्मतियां ।
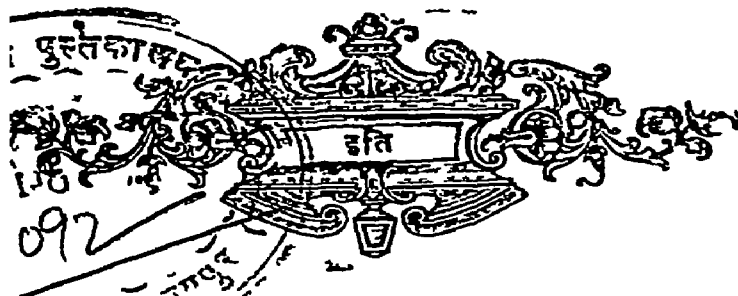
श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय सं० १३ (अ) (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें । इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ॥

श्रीयुत महाशय बाबू नन्दलालसिंहजी, बी० एससी०, एल० एल० बी०, उपमन्त्री श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त आगरा व अवध, स्थान बुलन्दशहर । आर्यमित्र २० जनवरी सन् १९१६ ई० ॥

अथर्ववेद–भाष्य ।

पाठकों को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी, वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास जी त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यतापूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं । आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने की चेष्टा की है । भाष्य कांडा में निकलता है । अब तक ५ कांड निकल चुके हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बडा महत्त्वपूर्ण कार्य होरहा है । त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने अच्छी प्रशंसा की है । परन्तु खेद है कि अभी आर्य्यसमाज में उच्चकोटि के साहित्य पढ़ने की ओर लोगों की कम रुचि है । जिसके कारण त्रिवेदी जी को अर्थहानि भोगनी पड़ रही है । उसके ग्राहक बहुत कम हैं । अतएव वैदिक धर्मी मात्र का कर्तव्य है कि वे श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण कार्य में साहाय्य प्रदान करें । स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें । ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छपाने की अर्थसम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे । आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर अपना ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे । त्रिवेदी जी से ५२, लूकरगंज प्रयाग के पते पर पत्र व्यवहार करना चाहिये ॥

नन्दलाल सिंह
बी० एस सी०, एल० एल० बी०
उपमन्त्री सभा बुलन्दशहर।

चिट्ठी संख्या ७७० तिथि १०—१२—१९१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेदभाष्य का तृतीय कांड मिला । इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है । वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये । ईश्वर आपको उत्तरोत्तर इस महत्त्वपूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करे, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है ।

भवदीय
मदनमोहन सेठ (एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा ।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**-प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश मेरठ—मार्च १९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनुसार भावपूर्ण सक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करनेवाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका देदेने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो छपाई और कागज भी अच्छा है।

श्रीयुत महात्मा **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ९४ तिथि २७—१०—१९६९।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं, आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२—१२—१९६९।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशं-

सनीय है। आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद्गीतादि भाष्यकर्ता, वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में . अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ हैं, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७, हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१८१५॥

श्रीयुत पण्डित जी, नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीरप्रसाद द्विवेदी**—कानपुर सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्यम्—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है. बड़ी विधिसे आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलङ्कृत किया है आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेशप्रसाद शर्मा**—सम्पादक भारतसुदशाप्रवर्तक

फ़तहगढ़ ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बडी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बडी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७—३—१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**—मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत विख्यात **पंडित श्रीधर पाठक जी (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता सुपरिन्टेन्डेट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी०, श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७—९—१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रंथ सर्वथा उपादेय है।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, Letter No.* 624 *date 6th February* 1913.

. It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution Please send them . also add on the address lable ' For Encouragement Fund "

Rai Thakur Datta, Retired District Judge, Dera Ismail Khan.

Letter dated March 25th, 1914

The Atharva Veda Bhashya —It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope the venture will not fail for want of pecuniary support.

The Magistrate of Allaaabad,

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship, The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre—eminent position in Sanskrit literature...The arrangenent is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious , they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition , scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves ... Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest .

N B—The printing and paper are good, the price is moderate

हवनमन्त्राः—सम्मतियां ।

पडित **शिव शंकरशर्मा** काव्यतीर्थ–छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार–पंजाव आर्यप्रतिनिधिसभोपदेशक, इत्यादि सम्पादक आर्य मित्र आगरा ८ फरवरी १९१३ । .आर्य पुरुष हवन कालमें जिन मन्त्रों को पढते हैं उनका सरल भाषा में अर्थ उक्त त्रिवेदीजी ने किया है । प्रत्येक पद का पृथक् पृथक् अर्थ इसमें किया गया है । अर्थ के ज्ञान विना केवल मन्त्र पढ़ने से लाभ नहीं होता । अतः प्रत्येक आर्य को ऐसा ग्रन्थ अवश्य ख़रीदना चाहिये ।

सद्धर्म प्रचारक गुरुकुल कांगड़ी, १७ फाल्गुण सं० १९६८. आजकल लोग हवनमन्त्र उच्चारण करते हैं. परन्तु प्रायः मन्त्रों के अर्थ नहीं जानते । उन्हें यह पुस्तक अवश्य मगवाकर पढनाचाहिये ।

अभ्युदय, प्रयाग—ता० २८ अप्रैल १९१२.. .इस में ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन शान्ति करण और हवन मन्त्र वेद से लेकर सरल हिन्दी भाषा में अनुवादित किये हैं । पुस्तक प्रत्येक आर्य पुरुष के रखने योग्य है ।

वेदप्रकाश मेरठ,—मई १९१२ । .इन सब मन्त्रों का अर्थ भाषामें अब तक नहीं था, इस कमी को इस पुस्तक ने पूर्ण कर दिया है ।

महाशय **खुशीराम जी,**—गवर्नमेन्ट पेन्शनर, देहरादून, २५ फाल्गुण ६८। .आप ने हवन मन्त्रों का भाषानुवाद करके बड़ा उपकार किया है । आप मेरा नाम अथर्ववेद भाष्य के ग्राहकों में लिख लेवें, जब प्रकाशित हो रुद्राध्याय भाषा अङ्गरेजी अनुवाद सहित वी० पी० द्वारा भेज देवें ।

मिलने का पता—**पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी**

२० जून १९१६ । ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

पं० ओंकारनाथ वाजपेयी के प्रवन्ध से ओंकार प्रेस प्रयाग मे मुद्रित हुआ ।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है॥"

आनन्द समाचार॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे पुस्तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५-भावार्थ, ६-आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७-प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७				पृष्ठ १६०० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)				१३।)

काण्ड ८—छप रहा है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

२५ सितम्बर १९१६
ओंकार प्रेस, प्रयाग।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad).

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ७ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	धीती वा ये अनयन्	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप्
२	अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं	अथर्वा वा प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप्
३	अया विष्ठा जनयन्	प्रजापति	ब्रह्म के गुण	त्रिष्टुप्
४	एकया च दशभिश्चा	प्रजापति वा वायु	ब्रह्म के ज्ञान	त्रिष्टुप्
५	यज्ञेन यज्ञमयजन्त	प्रजापति	ब्रह्मविद्या	त्रिष्टुप् आदि
६	अदिति र्द्यौरदिति	अदिति	प्रकृति आदि के गुण	त्रिष्टुप् आदि
७	दितेः पुत्राणामदिते	देवा	विद्वानों के गुण	जगती
८	भद्रादधि श्रेयः प्रेहि	आत्मा	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती
९	प्रपथे पथामजनिष्ट	पूषा	परमेश्वर की उपासना	त्रिष्टुप् आदि
१०	यस्ते स्तनः शशयुर्यो	सरस्वती	सरस्वती के विषय	त्रिष्टुप्
११	यस्ते पृथुस्तनयित्नुर्य	पर्जन्य	अन्न की रक्षा	त्रिष्टुप्
१२	सभा च मा समितिश्चावतां	सभापति	सभापति के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
१३	यथा सूर्यो नक्षत्राणा	आत्मा	शत्रुओं को हराना	अनुष्टुप्
१४	अभित्यं देवं सवितार	सविता	ईश्वर के गुण	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
१५	तां सवितः सत्यसवां	सविता	आचार्य, ब्रह्मचारी	त्रिष्टुप्
१६	बृहस्पते सवितर्वर्धयैनं	विश्वे देवा	राजा के धर्म	त्रिष्टुप्
१७	धाता दधातु नो रयि	धाता	गृहस्थ के कर्म	गायत्री आदि
१८	प्र नभस्व पृथिवि	प्रजापति	दूरदर्शी होना	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
१९	प्रजापतिर्जनयति प्रजा	प्रजापति	वढ़ती करना	जगती
२०	अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं	अनुमति	मनुष्यों के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
२१	समेत विश्वे वचसा पतिं	विश्वे देवा	ईश्वर की आज्ञा	जगती
२२	अयं सहस्रमा नो दृशे	परमेश्वर	विज्ञान की प्राप्ति	अक्षर पंक्ति आदि
२३	दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं	प्रजा	राजा के धर्म	अनुष्टुप्
२४	यन्न इन्द्रो अखनद्	सविता	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
२५	ययो रोजसा स्कभिता	विष्णु, वरुण	राजा, मन्त्री के धर्म	त्रिष्टुप्
२६	विष्णोर्नु कं प्रावोचं	विष्णु	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप् आदि
२७	इडैवास्माँ अनुवस्तां	इडा	विद्या प्राप्ति	त्रिष्टुप्
२८	वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः	विश्वे देवा	यज्ञ करना	त्रिष्टुप्
२९	अग्नाविष्णू महि तद्	अग्नि, विष्णु	बिजुली और सूर्य	त्रिष्टुप्
३०	स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी	विश्वे देवा	शुभ कर्म करना	अनुष्टुप्
३१	इन्द्रोतिभिर्बहुलाभि	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप्
३२	उप प्रियं पनिप्नतं	इन्द्र	राजा और प्रजा	अनुष्टुप्
३३	सं मा सिञ्चन्तु मरुतः	विश्वे देवा	सब सम्पत्तियाँ वढ़ाना	पंक्ति
३४	अग्ने जातान् प्रणुदा	अग्नि	राजा, राजपुरुष	त्रिष्टुप्
३५	प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा	जातवेदा	राजा प्रजा का कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३६	अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे	मित्र	परस्पर मित्रता	अनुष्टुप्
३७	अभि त्वा मनुजातेन	दम्पती	विवाह में प्रतिज्ञा	अनुष्टुप्
३८	इदं खनामि भेषजं	दम्पती	विवाह में प्रतिज्ञा	अनुष्टुप्
३९	दिव्यं सुपर्णं पयसं	सुपर्ण, सूर्य	विद्वानों के गुण	त्रिष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
४०	यस्य व्रतं पशवो	सरस्वान्	ईश्वर की उपासना	त्रिष्टुप्
४१	अति धन्वान्यत्यप	श्येन	ऐश्वर्य पाना	त्रिष्टुप्
४२	सोमारुद्रा वि वृहतं	सोम, रुद्र	राजा और वैद्य	त्रिष्टुप्
४३	शिवास्त एका अशिवास्त	वाक्	कल्याणी वाणी	त्रिष्टुप्
४४	उभा जिग्यथुर्नपरा	इन्द्र, विष्णु	सभा और सेना के स्वामी	त्रिष्टुप्
४५	जनाद् विश्वजनीनात्	भेषज	ईर्ष्या दोष निवारण	अनुष्टुप्
४६	सिनीवाली पृथुष्टुके	सिनीवाली	स्त्रियों के गुण	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
४७	कुहूं देवीं सुकृतं	कुहू	स्त्रियों के गुण	त्रिष्टुप्
४८	राकामहं सुहवा सुष्टुती	राका	स्त्रियों के कर्त्तव्य	जगती
४९	देवानां पत्नी रुशती	देवपत्नी	राजा के समान रानी	जगती, पंक्ति
५०	यथा वृक्षमशनिर्	इन्द्र, आत्मा	मनुष्य के कर्त्तव्य	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप
५१	बृहस्पतिर्नः परिपातु	इन्द्र	पराक्रम करना	त्रिष्टुप्
५२	संज्ञानं नः स्वेभिः	प्रजापति	आपस में एकता	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
५३	अमुत्र भूयादधि यद्	अग्नि इत्यादि	विद्वानों के कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
५४	ऋचं साम यजामहे	शचीपति	वेद विद्या	अनुष्टुप्
५५	येते पन्थानोव दिवो	वसु	वेदमार्ग का ग्रहण	विराडुष्णिक्
५६	तिरश्चि राजेरसितात्	ओषधि	विष नाश	अनुष्टुप् बृहती
५७	यदाशसावदतो मे	सरस्वती	गृहस्थ धर्म	जगती
५८	इन्द्रवरुणा सुतपाविमं	इन्द्र, वरुण	राजा प्रजा कर्तव्य	जगती. त्रिष्टुप्
५९	यो नः शपादशपतः	शपथ	कुवचन के त्याग	अनुष्टुप्
६०	ऊर्जं बिभ्रद्वसुवनिः	गृहपति	गृहस्थ धर्म	पङ्क्ति, अनुष्टुप्
६१	यदग्ने तपसा तप	अग्नि	वेद विद्या प्राप्ति	अनुष्टुप्
६२	अयं अग्निः सत्पति	अग्नि	सेनापति के लक्षण	जगती
६३	पृतनाजितं सहमान	अग्नि	सेनापति का कर्तव्य	अनुष्टुप्
६४	इदं यत् कृष्णः शकुनिः	आप्, अग्नि	शत्रुओं से रक्षा	अनुष्टुप्
६५	प्रतीचीनफलोहि	अपामार्ग	वैद्यका कर्म	अनुष्टुप्
६६	यद्यन्तरिक्षे यदि वात	ब्राह्मण	वेद विज्ञान	त्रिष्टुप्
६७	पुनर्मैत्विन्द्रियं पुन	मन्त्रोक्त	सुकर्म करना	बृहती
६८	सरस्वति व्रतेषु ते	सरस्वती	सरस्वतीकी आराधना	अनुष्टुप् आदि
६९	शंनो वातो वातु	वात आदि	सुख के लिये प्रयत्न	पङ्क्ति
७०	यत् किंचासौ मनसा	इन्द्र, अग्नि	शत्रुका दमन	त्रिष्टुप् अनुष्टुप्
७१	परि त्वाग्ने पुरं वयं	अग्नि	सेनापतिके गुण	अनुष्टुप्
७२	उत तिष्ठताव पश्य	इन्द्र	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप् त्रिष्टुप्
७३	समिद्धो अग्निर्वृषणा	अश्विनौ	मनुष्य का कर्तव्य	जगती आदि
७४	अपचितां लोहिनीनां	वैद्य आदि	द्विविध रोग निवारण	अनुष्टुप् आदि
७५	प्रजावतीः सूयवसे	प्रजा	सामाजिक उन्नति	त्रिष्टुप् आदि
७६	आ सुस्रसः सुस्रसो	वैद्य, इन्द्र	रोगनाशऔरमनुष्यधर्म	अनुष्टुप् आदि
७७	सांतपना इदं हवि	मरुत्	वीरों का कर्तव्य	गायत्री, त्रिष्टुप्
७८	वि ते मुञ्चामि रशनां	अग्नि	आत्मा की उन्नति	गायत्री, त्रिष्टुप्
७९	यत् ते देवा अकृण्वन्	अमावास्या	परमेश्वरके गुण	त्रिष्टुप्, विराट्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
८०	पूर्णापश्चादुत	पौर्णमासी	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप्, अनुष्टुप्
८१	पूर्वापरं चरतो	सोम, अर्क, चन्द्र	सूर्य, चन्द्रमाके लक्षण	जगती आदि
८२	अभ्यर्चत सुष्टुतिं	अग्नि	वेद के विज्ञान	त्रिष्टुप् आदि
८३	अप्सु ते राजन् वरुण	वरुण	ईश्वर के नियम	अनुष्टुप आदि
८४	अनाधृष्यो जातवेदा	अग्नि, इन्द्र	राजा का धर्म	जगती, त्रिष्टुप्
८५	त्यमूषु वाजिनं देव	तार्क्ष्य	राजा प्रजा का धर्म	त्रिष्टुप्
८६	त्रातारमिन्द्रमवितार	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप्
८७	यो अग्नौ रुद्रो यो	रुद्र	ईश्वर की महिमा	त्रिष्टुप्
८८	अपेह्यरिरस्यरिर्वा	विद्वान्	कुसंस्कारका नाश	बृहती
८९	अपो दिव्या अचायिषं	अग्नि, आदि	विद्वानों की संगति	अनुष्टुप्, गायत्री
९०	अपि वृश्च पुराणवद्	इन्द्र	राजा का धर्म	गायत्री आदि
९१	इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ	इन्द्र	राजा का धर्म	त्रिष्टुप्
९२	स सुत्रामा स्ववाँ	इन्द्र	राजा का धर्म	त्रिष्टुप्
९३	इन्द्रेण मन्युनावय	इन्द्र	शूरों के लक्षण	गायत्री
९४	ध्रुवं ध्रुवेण हविषा	इन्द्र	राजा की स्तुति	अनुष्टुप्
९५	उदस्य श्यावौ विथुरौ	गृध्र	काम क्रोध निवारण	अनुष्टुप्
९६	असदन् गाव सदने	प्रजापति	काम क्रोध की शान्ति	अनुष्टुप्
९७	यदद्य त्वा प्रयति	इन्द्र आदि	मनुष्य धर्म	त्रिष्टुप् आदि
९८	सं बर्हिरक्तं हविषा	इन्द्र	ग्राह्य पदार्थ पाने का	विराट् त्रिष्टुप्
९९	परि स्तृणीहि परि	यजमान	विद्या का प्रचार	त्रिष्टुप्
१००	पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात्	ब्रह्म	कुविचार हटाना	अनुष्टुप्
१०१	यत् स्वप्ने अन्नम्	प्रजापति	अविद्या का नाश	अनुष्टुप्
१०२	नमस्कृत्य द्यावापृथिवी	मन्त्रोक्त	ऊंचा पद पाना	विराट्पुरस्ताद्बृहती
१०३	को अस्या नोद्रुहो	आत्मा	द्रोह के त्याग	त्रिष्टुप्
१०४	कः पृश्निं धेनुं	आत्मा	वेद विद्या	त्रिष्टुप्
१०५	अपक्रामन् पौरुषेयाद्	विद्वान्	पवित्र जीवन	अनुष्टुप्
१०६	यदस्मृति चकृम	अग्नि	अमरपन पाना	त्रिष्टुप्
१०७	अव दिवस्तारयन्ति	सूर्य	परस्पर दुःख नाश	अनुष्टुप्
१०८	यो न स्तायद् दिप्सति	अग्नि	शत्रुओं का नाश	त्रिष्टुप्
१०९	इदमुग्राय बभ्रवे	अग्नि वा प्रजापति	व्यवहार सिद्धि	अनुष्टुप्, त्रिष्टुप्
११०	अग्न इन्द्रश्च दाशुषे	इन्द्र, अग्नि	राजा और मन्त्री के कर्त्तव्य	गायत्री आदि
१११	इन्द्रस्य कुक्षिरसि	ईश्वर	ईश्वर के गुण	त्रिष्टुप्
११२	शुम्भनी द्यावापृथिवी	आप्	इन्द्रियों का जय	अनुष्टुप्
११३	तृष्टिके तृष्टवन्दन	तृष्टिका	तृष्णा त्याग	विराड् अनुष्टुप्, उष्णिक्
११४	आ ते ददे वक्षणाभ्यः	अग्नि, सोम	राक्षसों का नाश	अनुष्टुप्
११५	प्र पतेतः पापि लक्ष्मि	सविता, जातवेदा,	दुर्लक्षण का नाश	अनुष्टुप्, आदि
११६	नमो रूरायच्यवनाय	प्रजापति	रोग निवारण	परोष्णिक, आर्च्यनुष्टुप्
११७	आ मन्द्रैरिन्द्रहरिभि	इन्द्र	राजा का धर्म	पथ्या बृहती
११८	मर्माणि ते वर्मणा	कवच, सोम, वरुण	सेनापति का कर्त्तव्य,	त्रिष्टुप्

२–अथर्ववेद, काण्ड ७ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछभेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड ७) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	यज्ञेन यज्ञ मयजन्त	५ । १	१ । १६४ । ५०; १० ९० । १६	३१ । १६	
२	यत् पुरुषेण हविषा	५ । ४	१० । ९६ । ७	३१ । १४	
३	अदितिर्द्यौरदिति	६ । १	१ । ८९ । १०	२५ । २३	
४	महीमू षु मातरं	६ । २		२१ । ५	
५	सुत्रामाणं पृथिवीं	६ । ३	१० । ६३ । १०	२१ । ६	
६	वाजस्य नु प्रसवे	६ । ४		९ । ५; १८।३०	
७	प्रपथे पथामजनिष्ट	९ । १	१० । १७ । ६		
८	पूषेमा आशा अनु	९ । २	१० । १७ । ५		
९	पूषन् तव व्रते वयं	९ । ३	६ । ५४ । ९	३४ । ४१	
१०	परि पूषा परस्तात्	९ । ४	६ । ५४ । १०		
११	यस्ते स्तनः शशयु	१० । १	१ । १६४ । ४९	३८ । ५	
१२, १३	अभि त्यं देवं सविता	१४ । १, २		४ । २५	पू० ५ । ८ । ८
१४	तां सवितुः सत्यसवां	१५ । १		१७ । ७४	
१५	बृहस्पते सवित	१६ । १		२७ । ८	
१६	धाता राति सवितेदं	१७ । ४		८ । १७	
१७	अन्वद्यनोऽनुमति	२० । १		३४ । ९	
१८	अन्विदनुमते त्वं	२० । २		३४ । ८	
१९	ययोरोजसा स्कभिता	२५ । १		८ । ५९	
२०	विष्णोर्नु कं प्रवोचं	२६ । १	१ । १५४ । १	५ । १८	
२१	प्र तद् विष्णु स्तवते	२६ । २	१ । १५४ । २	५ । २०	
२२	यस्योरुषु त्रिषु	२६ । ३	१ । १५४ । २	५ । २०	
	उरु विष्णो विक्रमस्व			५ । ३८, ४१	
२३	इदं विष्णु र्विचक्रमे	२६ । ४	१ । २२ । १७	५ । १५	पू०३।३।९,उ० ८ । २ । ८
२४	त्रीणि पदा विचक्रमे	२६ । ५	१ । २२ । १८	३४ । ४३	उ० ८ । २ । ५
२५	विष्णोः कर्माणि पश्यत	२६ । ६	१ । २२ । १९	६ । ४;१३। ३३	उ० ८ । २ । ५
२६	तद् विष्णोःपरमं पदं	२६ । ७	१ । २२ । २०	६ । ५	उ० ८ । २ । ५
२७	दिवो विष्ण उतवा	२६ । ८		५ । १९	
२८	इन्द्रोतिभिर्बहुलाभि	३१ । १	३ । ५३ । २१		
२९	अग्ने जातान् प्रणुदा	३४ । १		१५ । १	
३०	दिव्यं सुपर्णं पयसं	३९ । १	१ । १६४ । ५२		
३१, ३२	सोमारुद्रा विवृहतं	४२ । १, २	६ । ७४ । २, ३		
३३	उभाजिग्यथुर्नपरा	४४ । १	६ । ६९ । ८		
३४	सिनीवालि पृथुष्टुके	४६ । १	२ । ३२ । ६	३४ । १०	
३५	या सुबाहुः स्वङ्गुरिः	४६ । २	२ । ३२ । ७		
३६, ३७	राकामहं सुहवा	४८ । १,२	२ । ३२ । ४,५		
३८, ३९	देवानां पत्नी रुशती	४९ । १,२	५ । ४६ । ७,८		
४०	ईडे अग्निं स्वावसुं	५० । ३	५ । ६० । १		
४१	वयं जयेम त्वया	५० । ४	१ । १०२ । ४		
४२,४३	उत प्रहामतिदीवा	५० । ६,७	१० । ४२ । ९,१०		
४४	बृहस्पतिर्नः परि पातु	५१ । १	१० । ४२ । ११		
४५	अमुत्रभूयादधि	५३ । १		२७ । ९	

मन्त्र संख्या		अथर्ववेद (काण्ड ७) सूक्त मन्त्र	वेद, मण्डल, सूक्त मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
४६	उद्वयं तमसस्परि	५३ । ७		२०।२१;२७।१० ३५।१४;३८।२४	
४७	ससक्षरन्ति शिशवे	५७ । २	१० । १३ । ५		
४८,४९	इन्द्रावरुणा सुतपा	५८ । १,२	६ । ६८ । १०,११	३ । ४१	
५०	ऊर्जं विभ्रद् वसुवनिः	६० । १		३ । ४२	
५१	येषामध्येति प्रवसन्	६० । ३		३ । ४३	
५२	उपहूता इह गाव	६० । ५			
५३	परित्वाग्ने पुरं वयं	७१ । १	१० । ८७ । २२		
५४,५६	उत् तिष्ठतावपश्यत	७२ । १-३	१० । १७९ । १-३		
५७	उप ह्वये सुदुघां	७३ । ७	१ । १६४ । २६		
५८	हिङ्कृण्वती वसुपत्नी	७३ । ८	१ । १६४ । २७		
५९	जुष्टो दमूना	७३ । ९	५ । ४ । ५	३३ । १२	
६०	अग्ने शर्ध महते	७३ । १०	५ । २८ । ३		
६१	सूयवसाद् भगवती	७३ । ११	१ । १६४ । ४०		
६२	धृपत् पिबक लशे	७६ । ६	६ । ४७ । ६		
६३	सांतपना इदं हवि	७७ । १	७ । ५९ । ९		
६४	यो नो मर्तो मरुतो	७७ । २	७ । ५९ । ८	२३ । ६५	
६५	अमावास्ये नत्वदे	७९ । ४	१० । १२१ । १०		
६६,६७	पूर्वापरंचरतो	८१ । १,२	१० । ८५ । १८,१९		
६८	अभ्यर्चतसुष्टुतिं	८२ । १	४ । ५८ । १०	२० । १८	
६९	धाम्नोधाम्नोराजन्नितो	८३ । २		१२ । १२	
७०	उदुत्तमं वरुण पाश	८३ । ३	१ । २४ । १५	२७ । ७	
७१	अनाधृष्यो जातवेदा	८४ । १			
७२	इन्द्र क्षत्रमभि वाममो	८४ । २	१० । १८० । ३	१८ । ७१	
७३	मृगो न भीमः कुचरो	८४ । ३	१० । १८० । २		
७४	त्यमू षु वाजिनं देव	८५ । १	१० । १७८ । १	२० । ५०	पू० ४ । ५ । १
७५	त्रातारमिन्द्रमवि	८६ । १	६ । ४७ । ११	२० । २२	पू० ४ । २ । २
७६	अपो दिव्या अचायिषं	८९ । १		६ । १७	
७७	इदमापः प्र वहता	८९ । ३		२० । २३	
७८	एधोऽस्येधिषीय	८९ । ४			
७९, ८०	अपि वृश्च पुराणवद्	९० । १, २	८ । ४० । ६	२० । ५१	
८१	इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ	९१ । १	६ । ४७ । १२; १० । १३१ । ६	२० । ५२	
८२	स सुत्रामा स्ववाँ	९२ । १	६।४७।१३;१०।१३१।७	७ । २५	
८३	ध्रुवं ध्रुवेण हविषा	९४ । १	१० । १७३ । ६	८ । २०	
८४	यद्द्य त्वा प्रयति	९७ । १	३ । २९ । १६	८ । १५	
८५	समिन्द्र नो मनसा	९७ । २	५ । ४२ । ४	८ । १९	
८६	यानावह उशतो देव	९७ । ३		८ । १८	
८७	सुगा वो देवाः सदना	९७ । ४		८ । २२	
८८	यज्ञ यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं	९७ । ५		८ । २२	
८९	एष ते यज्ञो यज्ञपते	९७ । ६		८ । २१	
९०	वषड्ढुतेभ्योवषड	९७ । ७		८ । २१	
९१	मनसस्पत इमं नो	९७ । ८		२ । २२	
९२	सं बर्हिरक्तं हविषा	९८ । १		२० । ५३	
९३	आ मन्द्रैरिन्द्रहरिभि	११७ । १	३ । ४५ । १	१७।१९	पू० ३। ६ । ४ उ० ९। ३ । ८
९४	मर्माणि ते वर्मणा	११८ । १	६ । ७५ । १८		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

सप्तमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ॥ १ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ।

धीती वा ये अनयन् वाचो अग्रं मनसा वा येऽवदन्नृतानि । तृतीयेन ब्रह्मणा वावृधानास्तुरीयेणामन्वत नाम धेनोः ॥ १ ॥

धीती । वा । ये । अनयन् । वाचः । अग्रम् । मनसा । वा । ये । अवदन् । ऋतानि । तृतीयेन । ब्रह्मणा । ववृधानाः । तुरीयेण । अमन्वत । नाम । धेनोः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन लोगों ने [एक] (धीती) अपने कर्म से (वाचः) वेदवाणी के (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (वा) निश्चय करके (अनयन्) पाया

१—(धीती) धीङ् आधारे—क्तिन्, यद्वा दधातेः-क्तिन् । घुमास्थागा० । पा० ६ । ४ । ६६ । इति ईत्वम् । सुपां सुलुक्० । इति तृतीयायाः पूर्वसवर्णदीर्घः ।

है, (वा) और (ये) जिन्होंने [दूसरे] (मनसा) विज्ञान से (ऋतानि) सत्य वचन (अवदन्) बोले हैं। और जो (तृतीयेन) तीसरे [हमारे कर्म और विज्ञान से परे] (ब्रह्मणा) प्रवृद्ध ब्रह्म [परमात्मा] के साथ (वनृधानाः) वृद्धि करते रहे हैं, उन लोगों ने (तुरीयेण) चौथे [कर्म विज्ञान और ब्रह्म से अथवा धर्म, अर्थ और काम से प्राप्त मोक्ष पद] के साथ (धेनोः) तृप्त करनेवाली शक्ति, परमात्मा के (नाम) नाम अर्थात् तत्त्व को (अमन्वत) जाना है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो योगी जन वेद के तत्त्व को जानकर कर्म करते, और विज्ञान पूर्वक सत्य का उपदेश करके परमेश्वर की अपार महिमा को खोजते आगे बढ़ते जाते हैं, वेही मोक्ष पद पाकर परमात्मा की आज्ञा में विचरते हुये स्वतन्त्रता से आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

स वे॑द पु॒त्रः पि॒तरं॒ स मा॒तरं॒ स सू॒नुर्भु॑व॒त् स भु॑व॒त् पुन॑र्मघः। स द्याम॑र्णोद॒न्तरि॑क्षं॒ स्व१॒ः स इ॒दं विश्व॑मभव॒त् स आभ॑वत् ॥ २ ॥

सः। वे॒द॒। पु॒त्रः। पि॒तर॑म्। सः। मा॒तर॑म्। सः। सू॒नुः। भु॒व॒त्। सः। भु॒व॒त्। पुनः॑-मघः। सः। द्याम्। औ॒र्णो॒त्।

धीत्या कर्मणा। धीतिभिः=कर्मभिः—निरु ११। १६। (वा) अवधारणे (ये) जिज्ञासवः (अनयन्) प्राप्नुवन् (वाचः) वेदवाण्याः (अग्रम्) प्रधानत्वम् (मनसा) विज्ञानेन (वा) समुच्चये (ये) सूक्ष्मदर्शिनः (अवदन्) उपदिष्टवन्तः (ऋतानि) सत्यवचनानि (तृतीयेन) तृत्वपूरकेण। धीतिमनोभ्यां परेण (ब्रह्मणा) प्रवृद्धेन परमात्मना (वनृधानाः) अ० १। ८। ४। वृद्धिं कुर्वाणाः, आसन् इति शेषः (तुरीयेण) अ० १। ३१। ३। चतुर्—छ। चतुर्थेन धीतिमनोब्रह्मभ्यः प्राप्तेन, यद्वा धर्मार्थकामानां पूरकेण मोक्षेण (अमन्वत) मनु अवबोधने। ज्ञातवन्तः (नाम) अ १। २४। ३। म्ना अभ्यासे-मनिन्। प्रसिद्धं परमात्मतत्त्वम् (धेनोः) अ० ३। १०। १। धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११। ४२। धि धारणे तर्पणे च-नु। धारयित्र्यास्तर्पयित्र्या वा शक्तेः परमात्मनः ॥

अन्तरिक्षम् । स्वः । सः । इदम् । विश्वम् । अभवत् । सः ।
आ । अभवत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (पुत्रः) अनेक प्रकार रक्षा करनेवाला परमेश्वर (पितरम्) पालन के हेतु सूर्य को (सः) वह (मातरम्) निर्माण के कारण भूमि को (वेद) जानता है, (सः) वह (सूनुः) सर्व प्रेरक (भुवत्) है, (सः) वह (पुनर्मघः) वारंवार धनदाता (भुवत्) है। (सः) उसने (अन्तरिक्षम्) आकाश और (द्याम्) प्रकाशमान (स्वः) सूर्यलोक को (और्णोत्) घेरलिया है, (सः) वह (इदम्) इस (विश्वम्) जगत् में (अभवत्) व्याप रहा है, (सः) वही (आ) समीप होकर (अभवत्) वर्तमान हुआ है ॥२॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि ब्रह्माण्ड में व्यापकर सब का धारण कर रहा है, वही हम में भरपूर है। ऐसा समझने वाले पुरुष आत्मबल पाकर पुरुषार्थी होते हैं॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान–अ० २। २८। ४। से भी करो ॥

सूक्तम् ॥ २ ॥

१ ॥ अथर्वा प्रजापतिर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेश—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

अथर्वाणं पितरं देवबन्धुं मातुर्गर्भं पितुरसुं युवानम्।
य इमं यज्ञं मनसा चिकेत प्र णो वोचस्तमिहेह ब्रवः॥१॥

२—(सः) प्रजापतिः (वेद) वेत्ति (पुत्रः) अ० १। ११। ५। पुत्रः पुरु त्रायते—निरु० २। ११। बहुत्राता (पितरम्) अ०२। २८। ४। पालनहेतुं सूर्यम् (मातरम्) अ० २। २८। ४। निर्मात्रीं पृथिवीम् (सूनुः) अ० ६। १। २। सर्वस्य प्रेरकः (भुवत्) भवति (पुनर्मघः) अ० ५। ११। १। वारंवारं धनदाता (द्याम्) अ० १। २। ४। द्योतमानम् (और्णोत्) ऊर्णुञ् आच्छादने—लङ्। आच्छादितवान् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (स्वः) अ० २। ५। २। स्वरादित्यो भवति सु अरणः सु ईरणः–निरु०२। १४। आदित्यम् (सः) (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) जगत् (अभवत्) भू व्याप्तौ। व्याप्नोत् (आ) समीपे (अभवत्) वर्तते स्म ॥

अथर्वाणम् । पितरम् । देव-बन्धुम् । मातुः । गर्भम् । पितुः । असुम् । युवानम् । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस आप ने (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय, (पितरम्) पालनकर्त्ता, (देवबन्धुम्) विद्वानों के हितकारी, (मातुः) निर्माण के कारण पृथिवी के (गर्भम्) गर्भ [गर्भ समान व्यापक], (पितुः] पालन हेतु सूर्य के (असुम्) प्राण, (युवानम्) संयोजक वियोजक (अथर्वाणम्) निश्चल परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तूने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू, (तम्) उस [ब्रह्म] का (इह इह) यहां पर ही (ब्रवः) उपदेश कर ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन महर्षियों ने सर्वनियन्ता परमेश्वर के गुणों को साक्षात् किया है, उनके उपदेशों को श्रवण, मनन और निदिध्यासन से वारंवार विचार द्वारा आनन्द प्राप्त करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ॥ ३ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मगुणोपदेशः—ब्रह्म के गुणों का उपदेश ॥

अया विष्ठा जनयन् कर्वराणि स हि घृणिरुरुर्वराय

१—(अथर्वाणम्) अ०४।१।७। अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११। १८। निश्चलं परमात्मानम् (पितरम्) पालकम् (देवबन्धुम्) अ०४ । १ । ७ । विदुषां हितकरम् (मातुः) निर्मात्र्या भूमेः (गर्भम्) अ०३।१०। १२। गर्भवद् व्यापकम् (पितुः) पालनहेतोः सूर्यस्य (युवानम्) अ० ६ । १ । २ । संयोजकवियोजकं बलवन्तम् (यः) भवान् तत्त्ववेत्ता (इमम्) सर्वव्यापिनम् (यज्ञम्) यजनीयं पूजनीयम् (मनसा) मननेन (चिकेत) कित ज्ञाने—लिट् । जज्ञौ (प्र) प्रकर्षेण (नः) अस्मभ्यम् (वोचः) वच व्यक्तायां वाचि—लुङ्, अडभावः । अवोचः । उपदिष्टवानसि (तम्) अथर्वाणम् (इह इह) वीप्सायां द्विर्वचनम् । अस्माकमेव मध्ये (ब्रवः) लेटि रूपम् । उपदिश ॥

गातुः । स प्रत्युदैद्ध्धरुणं मध्वो अग्रं स्वया तन्वा तन्वमैरयत ॥ १ ॥

अया । वि-स्था । जनयन् । कर्वराणि । सः । हि । घृणिः । उरुः । वराय । गातुः । सः । प्रति-उदैत् । धरुणम् । मध्वः । अग्रम् । स्वया । तन्वा । तन्वम् । ऐरयत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अया विष्ठा) इस रीति से (कर्वराणि) कर्मों को (जनयन्) प्रकट करते हुये (सः) दुःखनाशक, (घृणिः) प्रकाशमान, (उरुः) विस्तीर्ण, (गातुः) पाने योग्य वा गाने योग्य प्रभु ने (हि) ही (वराय) उत्तम फल के लिये (मध्वः) ज्ञान के (धरुणम्) धारण योग्य (अग्रम्) श्रेष्ठपन को (प्रत्युदैत्) प्रत्यक्ष उदय किया है और (स्वया) अपनी (तन्वा) विस्तृत शक्ति से (तन्वम्) विस्तृत सृष्टि को (ऐरयत) प्रकट किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकाश स्वरूप, दयामय परमात्मा ने हमारे सुख के लिये संसार रचा और वेदज्ञान दिया है, उसके उपकारों को विचारते हुये हम सदा सुधार करते रहें ॥ १ ॥

१—(अया) अयेनेत्युपदेशस्य—निरु० ३ । २१ । अनया (विष्ठा) विभक्तेर्लुक् । विष्ठया । विविधस्थित्या रीत्या (जनयन्) उत्पादयन् (कर्वराणि) कृगॄशॄ० । उ० २ । १२१ । इति बाहुलकात् करोतेः ष्वरच् । कर्माणि—निघ० २ । १ (सः) प्रसिद्धः (हि) अवधारणे (घृणिः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । ४ । ५२ । घृ दीप्तौ—नि । दीप्यमानः (उरुः) विस्तीर्णः (वराय) वरणीयाय फलाय (गातुः) कमिमनिजनिगा० । उ० । १ । ७३ । इति गाङ् गतौ यद्वा गै गाने—तु । पदनाम—निघ० ४ । १ । गातु गमनम्—निरु० ४ । २१ । प्राप्तव्यो गानयोग्यो वा परमेश्वरः (सः) षो अन्तकर्मणि—ड । दुःखनाशकः (प्रत्युदैत्) इण गतौ—लुङि छान्दसं रूपम्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रत्यक्षेणोद्गमितवान् (धरुणम्) धारणीयम (मध्वः) मधुनः । ज्ञानस्य (अग्रम्) सारम् (स्वया) स्वकीयया (तन्वा) विस्तृतशक्त्या (तन्वम्) विस्तृतां सृष्टिम (ऐरयत) प्रेरितवान् ।

सूक्तम् ॥ ४ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्वायुर्वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानोपदेश—ब्रह्म के ज्ञान का उपदेश ।

एकया च दशभिश्चा सुहुते द्वाभ्यामिष्टये विंशत्या च ।
तिसृभिश्च वहसे त्रिंशता च वियुग्भिर्वाय इह ता वि मुञ्च ॥ १ ॥

एकया । च । दश-भिः । च । सु-हुते । द्वाभ्याम् । इष्टये । विंशत्या । च । तिसृ-भिः । च । वहसे । त्रिंशता । च । वियुक्-भिः । वायो इति । इह । ताः । वि । मुञ्च ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुहुते) हे बड़े दानी परमात्मन् ! (इष्टये) हमारी इच्छा पूर्ति के लिये (एकया च च दशभिः) एक और दश [ग्यारह], (द्वाभ्यां च विंशत्या) दो और बीस [बाईस], (च) और (तिसृभिः च त्रिंशता) तीन और तीस [तेतीस] (वियुग्भिः) विशेष योजनाओं के साथ [हमें] (वहसे) तू ले चलता है, (वायो) हे सर्व व्यापक ईश्वर (ताः) उन [योजनाओं] को (इह) यहां [हम में] (वि) विशेष करके (मुञ्च) छोड़ दे ॥ १ ॥

भावार्थ—(अ) इस मन्त्र में गणित विद्या के संकलन और गुणन का मूल है, जैसे—

१+१०=११, २+२०=२२, ३+३०=३३, इत्यादि;

तथा ११+११=२२, ११+२२=३३, इत्यादि;

तथा ११×१=११, ११×२=२२, ११×३=३३, इत्यादि ।

१—(एकया च दशभिश्च) एकादशभिः शरीरयोजनाभिः (सुहुते) हु दानादानयोः—क्विन् । हे महादातः परमेश्वर (द्वाभ्यां विंशत्या च) द्वाविंशत्या पञ्चमहाभूतयोजनाभिः (इष्टये) अस्माकमिच्छासिद्धये (तिसृभिश्च त्रिंशता च) त्रयस्त्रिंशता देवतानां योजनाभिः (वहसे) अस्मान्नयसि (वियुग्भिः) युजेः क्विप् । विशेषयोजनाभिः (वायो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (इह) अत्र । अस्माकं मध्ये (ताः) वियुजः (वि) विशेषेण (मुञ्च) मोचय । स्थापय ॥

(आ) ग्यारह योजनायें शरीर की हैं, अर्थात् दो नासिका, दो श्रोत्र, दो नेत्र, एक मुख, एक पायु, एक उपस्थ, एक नाभि और एक ब्रह्मरन्ध्र। इसी से शरीर का नाम एकादशपुर भी है। (इ) बाईस योजनायें यह हैं—५ महाभूत + ५ प्राण + ५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय + १ अन्तःकरण + १ बुद्धि। (ई) तेंतीस योजनायें वा देवता यह हैं—८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र; ११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय, यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा; १२ आदित्य अर्थात् महीने; १ इन्द्र अर्थात् बिजुली; १ प्रजापति—ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६६—६८।

आशय यह है—जिस परमात्मा ने शरीर की ग्यारह योजनाओं, बाईस पंच भूत आदि और तेतीस देवताओं द्वारा हमारा उपकार किया है, हम उसी जगदीश्वर की कृपा से इन सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

सूक्तम् ॥ ५ ॥

१-५ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५ त्रिष्टुप्; ३ पङ्क्तिः; ४ अनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या के लिये उपदेश ॥

यज्ञेन॑ यज्ञम॑यजन्त दे॒वास्तानि॒ धर्मा॑णि प्रथ॒मान्या॑सन्। ते ह॒ नाक॑ महि॒मान॑ः सचन्त॒ यत्र॒ पूर्वे॑ सा॒ध्याः सन्ति॑ दे॒वाः ॥१॥

यज्ञेन॑। य॒ज्ञम्। अ॒य॒ज॒न्त॒। दे॒वाः। तानि॑। धर्मा॑णि। प्र॒थ॒मानि॑। आ॒स॒न्। ते। ह॒। नाक॑म्। म॒हि॒मान॑ः। स॒च॒न्त॒। यत्र॑। पूर्वे॑। सा॒ध्याः। सन्ति॑। दे॒वाः।

भाषार्थ—(देवाः) विद्वानों ने (यज्ञेन) अपने पूजनीय कर्म से (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (अयजन्त) पूजा है, (तानि) वे [उन के]

१—(यज्ञेन) पूजनीयकर्मणा (यज्ञम्) पूजनीयं परमात्मानम् (अयजन्त) पूजितवन्तः (देवाः) विद्वांसः (तानि) (धर्माणि) धारणीयानि ब्रह्मचर्यादीनि

(धर्माणि) धारण योग्य ब्रह्मचर्य आदि धर्म (प्रथमानि) मुख्य, प्रथम कर्तव्य (आसन्) थे। (ते) उन (महिमानः) महापुरुषों ने (ह) ही (नाकम्) दुःख रहित परमेश्वर को (सचन्त) पाया है, (यत्र) जिस परमेश्वर में रहकर (पूर्वे) पहिले, बड़े बड़े (साध्याः) साधनीय, श्रेष्ठ कर्मों के साधनेवाले लोग (देवाः) देवता अर्थात् विजयी (सन्ति) होते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय योगी जनों ने वेदविज्ञान, योगाभ्यास आदि साधनों से उस परमात्मा को पाया है, जिसके आश्रय से पूरे साध्य, साधु, उपकार साधक ही संसार में जय पाते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१। १६४। ५०; १०। ६०। १६। यजुः० ३१। १६ ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठ १२६ और निरुक्त १२। ४१। में भी है ॥

यज्ञो बभूव स आ बभूव स प्र जज्ञे स उ वावृधे पुनः ।
स देवानामधिपतिर्बभूव सो अस्मासु द्रविणमा दधातु ॥२॥

यज्ञः । बभूव । सः । आ । बभूव । सः । प्र । जज्ञे । सः । ऊं इति । ववृधे । पुनः । सः । देवानाम् । अधि-पतिः । बभूव । सः । अस्मासु । द्रविणम् । आ । दधातु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह परमेश्वर (यज्ञः) पूजनीय (बभूव) हुआ और (आ) सब ओर (बभूव) व्यापक हुआ, (सः) वह (प्र) अच्छे प्रकार (जज्ञे) जाना गया, (सः उ) वही (पुनः) निश्चय करके (ववृधे) बढ़ा। (सः)

कर्माणि (प्रथमानि) मुख्यानि कर्तव्यानि (आसन्) अभवन् (ते) (ह) एव (नाकम्) दुःखरहितं परमात्मानम् (महिमानः) अ० ३। १०। ४। महत्त्वयुक्ताः (सचन्त) षच समवाये लङि अडभावः। अलभन्त (यत्र) नाके (पूर्वे) आद्याः। मुख्याः (साध्याः) साध्यं येषामस्तीति, साध्य—अर्श आद्यच्। साधनवन्तः। परोपकारसाधकाः साधवः (सन्ति) भवन्ति (देवाः) विजिगीषवः ॥

२—(यज्ञः) पूजनीयः संगन्तव्यः (बभूव) (सः) परमेश्वरः (आ)सर्वतः (बभूव) भू प्राप्तौ। व्याप (प्र) प्रकर्षेण (जज्ञे) ज्ञा अवबोधने कर्मणि लिट्। ज्ञातः प्रसिद्धो बभूव (उ) एव (ववृधे) वृद्धिं प्राप (पुनः) अवधारणे (सः)

वह (देवानाम्) दिव्य वायु सूर्य आदि लोकों का (अधिपतिः) अधिपति (बभूव) हुआ, (सः) वही (अस्मासु) हमारे बीच (द्रविणम्) प्रापणीय बल (आ) सब ओर से (दधातु) धारण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वपूजनीय, सर्वान्तर्यामी, सर्वज्ञ, सदा प्रवृद्ध परमेश्वरके उपासक लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख पाते हैं ॥ २ ॥

यद् दे॒वा दे॒वान् ह॒विषाय॑जन्ताम॑र्त्या॒न् मन॒साम॑र्त्येन।
मदे॑म॒ तत्र॑ प॒र॒मे व्यो॑म॒न् पश्ये॑म॒ तदुदि॑तौ॒ सूर्य॑स्य ॥ ३ ॥

यत् । दे॒वाः । दे॒वान् । ह॒विषा॑ । अय॑जन्त । अम॑र्त्यान् । मन॑सा । अम॑र्त्येन । मदे॑म । तत्र॑ । प॒र॒मे । वि-ओ॑मन् । पश्ये॑म । तत् । उत्-इ॑तौ । सूर्य॑स्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवाः) जितेन्द्रिय विद्वानों ने (यत्) जिस ब्रह्म के (अमर्त्यान्) न मरे हुये [अविनाशी] (देवान्) उत्तम गुणों का (हविषा) अपने देने और लेने योग्य कर्म से और (अमर्त्येन) न मरे हुये [जीते जागते] (मनसा) मन से (अयजन्त) सत्कार, संगति करण और दान किया है। (तत्र) उस (परमे) सब से बड़े (व्योमन्) विविध रक्षक ब्रह्म में (मदेम) हम आनन्द भोगें और (तत्) उस ब्रह्म को (सूर्यस्य) सूर्य के (उदितौ) उदय में [बिना रोक] (पश्येम) हम देखते रहें ॥ ३ ॥

(देवानाम्) दिव्यानां वायुसूर्यादिलोकानाम् (अधिपतिः) अधिकं पालयिता (अस्मासु) उपासकेषु (द्रविणम्) अ० २ । २९ । ३ । प्रापणीयं बलम्—निघ० २ । ९ (आ) समन्तात् (दधातु) धारयतु ॥

३—(यत्) यस्य ब्रह्मणः (देवाः) विजिगीषवो विद्वांसः (देवान्) दिव्यान् गुणान् (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण कर्मणा (अयजन्त) सत्कृतान् संगतान् दत्तान् च कृतवन्तः (अमर्त्यान्) अमरणशीलान् । अविनाशिनः (मनसा) अन्तःकरणेन (अमर्त्येन) अमरशीलेन । पुरुषार्थिना (मदेम) हृष्येम (तत्र) तस्मिन् (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । विविधरक्षके ब्रह्मणि (पश्येम) आलोचयेम (तत्) ब्रह्म (उदितौ) उदये (सूर्यस्य) रवेः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के नित्य उपकारी गुणों को अपने पूर्ण विश्वास और पुरुषार्थ से साक्षात्कार करते हैं, वे ही जीवित पुरुष आनन्द भोगते हुये, परमात्मा का दर्शन करते हुये, अविद्या को मिटाकर विचरते हैं, जैसे सूर्य निकलने पर अन्धकार मिट कर प्रकाश हो जाता है ॥ ३ ॥

यत् पुरु॑षेण ह॒विषा॑ य॒ज्ञं दे॒वा अत॑न्वत । अस्ति॒ नु तस्मा॒दोजी॑यो॒ यद् वि॒हव्ये॑नेजि॒रे ॥ ४ ॥

य॒त् । पुरु॑षेण । ह॒विषा॑ । य॒ज्ञम् । दे॒वाः । अत॑न्वत । अस्ति॑ । नु॒ । तस्मा॑त् । ओजी॑यः । यत् । वि॒-हव्ये॑न । ई॒जि॒रे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (देवाः) विद्वानों ने (पुरुषेण) अपने अग्रगामी आत्मा के साथ (हविषा) देने और लेने योग्य व्यवहार से (यज्ञम्) पूजनीय ब्रह्म को (अतन्वत) फैलाया । वह ब्रह्म (नु) अब (तस्मात्) उस [आत्मा] से (ओजीयः) अधिक बलवान् (अस्ति=आसीत्) हुआ, (यत्) जिस[ब्रह्म] की उन्होंने (विहव्येन) विशेष देने योग्य व्यवहार से (ईजिरे) पूजा था ॥४॥

भावार्थ—विद्वान् योगी महात्माओं ने यह साक्षात् किया है कि इस जीवात्मा से अधिक ओजस्वी शक्ति विशेष परमेश्वर सब ब्रह्माण्ड को चला रहा है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—म० १० । ९९ । ७ । और—यजु० ३१ । १४ ।

मु॒ग्धा दे॒वा उ॒त शुनाय॑जन्तो॒त गोर॒ङ्गैः पु॑रु॒धाय॑जन्त । य इ॒मं य॒ज्ञं मन॑सा चि॒केत॒ प्र णो॑ वोच॒स्तमि॒हेह ब्र॑वः ॥५॥

४—(यत्) यदा (पुरुषेण) अ० १ । १६ । ४ । पुर अग्रगतौ–कुषन् । अग्रगामिना स्वात्मना (हविषा) दातव्येन ग्राह्येण च कर्मणा (देवाः) विद्वांसः (अतन्वत) विस्तारितवन्तः (अस्ति) आसीत् तद्ब्रह्म (नु) अवधारणे । इदानीम् (तस्मात्) पुरुषात् (ओजीयः) ओजस्वी–ईयसुन्, विनो लुक् । बलवत्तरम् (यत्) ब्रह्म (विहव्येन) विविधं दातव्येन व्यवहारेण (ईजिरे) यजे-र्लिट् । पूजितवन्तः ॥

मुग्धाः । देवाः । उत । शुना । अयजन्त । उत । गोः । अङ्गैः । पुरु-धा । अयजन्त । यः । इमम् । यज्ञम् । मनसा । चिकेत । प्र । नः । वोचः । तम् । इह । इह । ब्रवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग [ईश्वर की सीमा के विषय में] (मुग्धाः) मूढ़ होकर (उत) भी (शुना) ज्ञान से [परमात्मा को] (अयजन्त) मिले हैं, (उत) और (गोः) वेदवाणी के (अङ्गैः) अंगों से [उसे] (पुरुधा) विविध प्रकार से (अयजन्त) पूजा है। (यः) जिस आपने (इमम् यज्ञम्) इस पूजनीय परमेश्वर को (मनसा) विज्ञान के साथ (चिकेत) जाना है, और जिस तू ने (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (वोचः) उपदेश किया है, सो तू (तम्) उस परमेश्वर का (इह इह) यहांपर ही (ब्रवः) उपदेशकर ॥५॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग असीम, अनादि, अनन्त, परमेश्वर को सब से बलिष्ठ जान कर ही विज्ञान पूर्वक आगे बढ़ते और उसका उपदेश करके संसार को आगे बढ़ाते हैं ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० ७ । २ । १ ॥

सूक्तम् ॥ ६ ॥

१-४ ॥ अदितिर्देवता ॥ १—३ त्रिष्टुप्; ४ निचृज्जगती ॥

मन्त्रः १, प्रकृतिलक्षणोपदेशः—मन्त्र १, प्रकृति के लक्षण का उपदेश ॥

अदितिर्द्यौरदितिरन्तरिक्षमदितिर्माता स पिता स पुत्रः । विश्वे देवा अदितिः पञ्च जना अदितिर्जातमदितिर्जनित्वम् ॥ १ ॥

अदितिः । द्यौः । अदितिः । अन्तरिक्षम् । अदितिः । माता ।

५—(मुग्धाः) मोहिताः सन्तः (देवाः) विद्वांसः (उत) अपि (शुना) शुन गतौ-क्विप् । ज्ञानेन । शुनं सुखम्-निघ० ७ । ६ (अयजन्त) संगतवन्तः परमात्मानम् (गोः) वेदवाचः । गौः=वाक्—निघ० १ । ११ (अंगैः) (पुरुधा) बहुधा (अयजन्त) पूजितवन्तः अन्यत्पूर्ववत्—अ० ७ । २ । १ ।

सः । पिता । सः । पुत्रः । विश्वे । देवाः । अदितिः । पञ्च । जनाः । अदितिः । जातम् । अदितिः । जनित्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अदितिः=अदितेः) अदीन वा अखण्डित अदिति अर्थात् प्रकृति से (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य, (अदितिः) अदिति से (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती आकाश, (अदितिः) अदिति से (माता) हमारी माता, (सः पिता) वह हमारा पिता, (सः पुत्रः) वह हमारा पुत्र [सन्तान] है । (अदितिः) अदिति से (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुण वाले पदार्थ, (अदितिः) अदिति से (पञ्च) विस्तृत [वा पञ्चभूत रचित] (जनाः) सब जीव, (अदितिः) अदिति से (जातम्) उत्पन्न जगत् और (जनित्वम्) उत्पन्न होने वाला जगत् है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो संसार उत्पन्न हुआ है और जो आगे उत्पन्न होगा, वह सब ईश्वर नियम के अनुसार अदिति वा प्रकृति अर्थात् जगत् के कारण से रचा जाता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋक्० में है—म० १ । ८९ । १०, यजु० २५ । २३ । और निरु० ४ । २३ । में है । भगवान् यास्क मुनि कहते हैं [इत्यदितेर्विभूतिमाचष्ट एनान्यदीनानीति वा] यह मन्त्र अदिति की महिमा कहता है अथवा यह सब वस्तुयें अदीन हैं—निरु० ४ । २३ ॥

मन्त्रः २, पृथ्वीविषयोपदेशः—मन्त्र २, पृथ्वी के विषय का उपदेश ॥

महीमू षु मातरं सुव्रतानामृतस्य पत्नीमवसे हवामहे ।

१—(अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दीङ् क्षये, दो अवखण्डने, दाप् लवने—क्तिन् । अदितिरदीना देवमाता—निरु० ४ । २२ । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति पञ्चम्याः सुः । अदितेः । प्रकृतेः । जगत्कारणात् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अदितिः) (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्त्याकाशः (माता) अस्माकं जननी (सः) प्रसिद्धः (पिता) जनकः (सः) (पुत्रः) सन्तानः (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (पञ्च) अ० ६ । ७५ । ३ । शप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । इति पचि व्यक्ति करणे—कनिन् । पञ्चानः । विस्तृताः । पञ्चभूत निर्मिता वा (जनाः) प्राणिनः (जातम्) उत्पन्नम् (जनित्वम्) जनिदाच्यु० । उ० ४ । १०४ । इति जनी प्रादुर्भावे—इत्वन् । उत्पत्स्यमानं जगत् ॥

तु॒वि॒क्ष॒त्राम॒जर॑न्तीमुरू॒चीं सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् ॥२॥

म॒हीम् । ऊं॒ इति॑ । सु । मा॒तर॑म् । सु॒ऽव्र॒ताना॑म् । ऋ॒तस्य॑ । पत्नी॑म् । अव॑से । ह॒वा॒म॒हे॒ । तु॒वि॒ऽक्ष॒त्राम् । अ॒जर॑न्तीम् । उ॒रू॒चीम् । सु॒शर्मा॑णम् । अदि॑तिम् । सु॒ऽप्रनी॑तिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(महीम्) पूजनीय, (मातरम्) माता [के समान हितकारिणी], (सुव्रतानाम्) सुकर्मियों के (ऋतस्य) सत्यधर्म की (पत्नीम्) रक्षा करनेवाली, (तुविक्षत्राम्) बहुत बल वा धन वाली, (अजरन्तीम्) न घटने वाली, (उरूचीम्) बहुत फैली हुई, (सुशर्माणम्) उत्तम घर वा सुख वाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीति वाली (अदितिम्) अदिति, अदीन पृथ्वी को (उ) ही (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (सु) अच्छे प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी के गुणों में चतुर होते हैं, वे ही राज्य भोगने, बल और धन बढ़ाने, धार्मिक नीति चलाने और प्रजा पालने आदि शुभगुणों के योग्य होते हैं ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है, २१ । ५ ॥

मन्त्रः ३, वेदवाणीगुणोपदेशः—मन्त्र ३, वेद वाणी के गुणों का उपदेश ॥

सु॒त्रामा॑णं पृथि॒वीं द्याम॑ने॒हसं॑ सु॒शर्मा॑ण॒मदि॑तिं सु॒प्रणी॑तिम् । दैवीं॒ नावं॑ स्वरि॒त्राम॑नागसो॒ अस्र॑वन्ती॒मा रु॑हेमा स्व॒स्तये॑ ॥ ३ ॥

२—(महीम्) महतीम् (उ) अवधारणे (सु) सुष्ठु । सत्कारेण (मातरम्) मातृसमानहिताम् (सुव्रतानाम्) शोभनकर्मवताम् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पत्नीम्) पालयित्रीम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आह्वयामः (तुविक्षत्राम्) बहुबलां बहुधनाम् (अजरन्तीम्) अजराम् (उरूचीम्) अ० ३। २ । १ । बहु विस्तारगताम् (सुशर्माणम्) उत्तमगृहयुक्ताम् । बहुसुखवतीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ । अदीनां पृथिवीम्—निघ०१ । १ । (सुप्रणीतिम्) सुष्ठु प्रकृष्टनीतियुक्ताम् ॥

सु-त्रामाणम् । पृथिवीम् । द्याम् । अनेहसम् । सु-शर्माणम् । अदितिम् । सु-प्रणीतिम् । दैवीम् । नावम् । सु-अरित्राम् । अनागसः । अस्रवन्तीम् । आ । रुहेम । स्वस्तये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामाणम्) अच्छे प्रकार रक्षा करने हारी, (पृथिवीम्) फैली हुई, (द्याम्) प्राप्ति योग्य, (अनेहसम्) अखण्डित, (सुशर्म्माणम्) अत्यन्त सुख देनेवाली, (सुप्रणीतिम्) बहुत सुन्दर नीतिवाली (अदितिम्) अदिति, अदीन वेद विद्यारूप, (दैवीम्) देवताओं, विद्वानों की बनाई हुई, (स्वरित्राम्) सुन्दर बल्लियों वाली, (अस्रवन्तीम्) न चूने वाली (नावम्) नाव पर (स्वस्तये) आनन्द के लिये (अनागसः) निर्दोष हम (आ रुहेम) चढ़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अखण्ड वेद विद्या को प्राप्त होते हैं, वे संसार के विघ्नों से ऐसे पार होते, जैसे विज्ञानी शिल्पी की बनाई नाव से बड़े समुद्र को पार कर जाते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ६३ । १०, और यजु०२१।६॥

मन्त्रः ४, परमेश्वरगुणोपदेशः—मन्त्र ४, परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

वाजस्य नु प्रसवे मातरं मुहीमदितिं नाम वचसा करामहे ।

३—(सुत्रामाणम्) सुरक्षित्रीम् (पृथिवीम्) अ० १ । २ । १ । विस्तृताम् (द्याम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । द्यु अभिगमने—डो । अभिगन्तव्याम् (अनेहसम्) नञि हन एह च । उ० ४ । २२४ । अ+हन—असि । एन पतेः—निरु० ११ । २४ । अहिंसनीयाम् (सुशर्म्माणम्) बहुसुखवतीम् (अदितिम्) अ० २ । २८ । ४ । अदीनां वेदवाचम् । अदितिः=वाक्-निघ० १ । ११ (सुप्रणीतिम्) म० २ (दैवीम्) देव अञ् । विद्वद्भिर्निर्मिताम् (नावम्) नोदनीयां नौकाम् (स्वरित्राम्) अशित्रादिभ्य इत्रोत्रौ । उ० ४ । १७३ । ऋ गतौ—इत्र । शोभननौकाचालनकाष्ठयुक्ताम् (अनागसः) अ० २ । १० । १ । इण आगोऽपराधे च । उ० ४ । ११२ । इण् गतौ असुन्, आगादेशः । अनागस्त्वमनपराधत्वम् । आग आङ् पूर्वाद् गमेः—निरु० ११ । २४ । अनपराधाः (अस्रवन्तीम्) स्रवणरहिताम् (आ रुहेम) आरूढा भूयास्म (स्वस्तये) क्षेमाय ॥

यस्यां उपस्थे उर्वं१न्तरिक्षं सा नः शर्म त्रिवरूथं नि यंच्छात् ॥ २ ॥

वाजस्य । नु । प्र-सवे । मातरम् । महीम् । अदितिम् । नाम । वचसा । करामहे । यस्याः । उप-स्थे । उरु । अन्तरिक्षम् । सा । नः । शर्म । त्रि-वरूथम् । नि । यच्छात् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाजस्य) अन्न वा बल के (प्रसवे) उत्पन्न करने में (नु) अब (मातरम्) निर्माण करने वाली, (महीम्) विशाल, (अदितिम्) अदीन शक्ति, परमेश्वर को (नाम) प्रसिद्ध रूप से (वचसा) वेद वाक्य के साथ (करामहे) हम स्वीकार करें । (यस्याः) जिस [शक्ति] की (उपस्थे) गोद में (उरु) यह बड़ा (अन्तरिक्षम्) आकाश है, (सा) वह (नः) हमें (त्रिवरूथम्) तीन प्रकार के, आध्यात्मिक, आधिदैविक, आधिभौतिक सुखों वाला (शर्म) घर (नि) नियम के साथ (यच्छात्) देवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सब जगत् का निर्माता और नियन्ता है, उसकी उपासना ही से सब मनुष्य अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ९ । ५ और १८ । ३० ॥

४—(वाजस्य) अन्नस्य-निघ० २ । ७ । बलस्य-निघ० २ । ९ (नु) इदानीम् (प्रसवे) उत्पादने (मातरम्) निर्मात्रीम् (महीम्) विशालाम् (अदितिम्) अदीनां शक्तिं परमेश्वरम् (नाम) प्रसिद्ध्या (वचसा) वेदवचनेन (करामहे) छान्दसः शप् । आकुर्महे । स्वीकुर्मः (यस्याः) अदितेः (उपस्थे) उत्संगे (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (सा) अदितिः (नः) अस्मभ्यम् (शर्म) गृहम्—निघ० ३ । ४ (त्रिवरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । इति वृञ् वरणे-ऊथन् । त्रीणि वरूथानि वरणीयान्याध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकानि सुखानि यस्मिन् तत् (नि) नियमेन (यच्छात्) दाण् दाने—लेट् । दद्यात् ॥

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१ ॥ देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

देवगुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दितेः पुत्राणामदितेरकारिषमव देवानां बृहतामनर्मणाम्। तेषां हि धाम गभिषक् समुद्रियं नैनान् नमसा परो अस्ति कश्चन ॥ १ ॥

दितेः। पुत्राणाम्। अदितेः। अकारिषम्। अव। देवानाम्। बृहताम्। अनर्मणाम्। तेषाम्। हि। धाम। गभि-षक्। समुद्रियम्। न। एनान्। नमसा। परः। अस्ति। कः। चन ॥१॥

भाषार्थ—(दितेः) दीनता से (पुत्राणाम्) शुद्ध करने वाले वा बहुत बचाने वाले, (अदितेः) अदीनता के (देवानाम्) देने वाले वा प्रकाश करने वाले, (बृहताम्) बड़े गुण वाले, (अनर्मणाम्) हिंसा न करने वाले वा अजेय (तेषाम्) उन पुरुषों के (धाम) धारण सामर्थ्य को (हि) ही (गभिषक्) गहराई से युक्त, (समुद्रियम्) [पार्थिव और अन्तरिक्ष] समुद्र में रहनेवाला (अव) निश्चय करके (अकारिषम्) मैंने जाना है, (कः चन) कोई भी

१—(दितेः) दीङ् क्षये—क्तिन्। दीनतायाः सकाशात् (पुत्राणाम्) अ० १। ११। ५। पूङ् शोधे—क्त। पुत्रः पुरु त्रायते—निघ० २। ११। पुरु+त्रैङ रक्षणे—ड। पावकानां शोधकानाम्। बहुत्रातॄणाम् (अदितेः) षष्ठीरूपम्। अदीनतायाः (अकारिषम्) कॄ विज्ञाने—लुङ्। इति शब्दकल्पद्रुमः। विज्ञातवानस्मि (अव) निश्चयेन (देवानाम्) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा —निरु० ७। १५। दातॄणां प्रकाशकानां वा (बृहताम्) गुणैर्महताम् (अनर्मणाम्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। ऋ हिंसायाम्—मनिन्। अहिंसकानाम् अहिंसनीयानाम् (तेषाम्) प्रसिद्धानां पुरुषाणाम् (हि) एव (धाम) धारणसामर्थ्यम् (गभिषक्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। इति गम्लृ गतौ—इन् मस्यभः+षञ्ज सङ्गे—क्विप्। गम्भीरतायुक्तम्

(परः) शत्रु (एनान्) इनको (नमसा) [उनके] अन्न वा सत्कार के कारण (न) नहीं (अस्ति) पाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो धर्मात्मा मनुष्य दीनता छोड़ कर संसार में आत्मा और शरीर की अदीनता का दान करते हैं, वे पृथ्वी और आकाश में यान विमान आदि द्वारा अधिकार जमाते और शत्रुओं को जीतते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती छन्दः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

भुद्रादधि॒ श्रेयः॒ प्रेहि॒ बृह॒स्पतिः॑ पुरए॒ता ते॑ अस्तु ।
अथे॒मम॒स्या वर॒ आ पृ॑थि॒व्या आ॒रेश॑त्रुं कृणुहि॒ स॒र्ववी॑रम् ॥ १ ॥

भुद्रात् । अधि । श्रेयः॑ । प्र । इहि॒ । बृह॒स्पतिः॑ । पुरः॒-ए॒ता । ते॒ । अस्तु । अथ॑ । इ॒मम् । अस्याः । वरे॑ । आ । पृ॒थि॒व्याः । आ॒रे-श॑त्रुम् । कृ॒णु॒हि॒ । सर्व॑-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (भद्रात्) एक मङ्गल कर्म से (श्रेयः) अधिक मङ्गलकारी कर्म को (अधि) अधिकारपूर्वक (प्र इहि) अच्छे प्रकार प्राप्त हो, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का पालक परमेश्वर (ते) तेरा (पुरएता) अग्रगामी (अस्तु) होवे । (अथ) फिर तू (इमम्) इस [अपने

(समुद्रियम्) समुद्राभ्राद् घः । पा० । ४ । ४ । ११८ । इति समुद्र-घ । आन्तरिक्षे पार्थिवे वा समुद्रे भवम् । (न) निषेधे (एनान्) पुरुषान् (नमसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ । सत्कारेण (परः) शत्रुः (अस्ति) अस ग्रहणे गतौ च । शपो लुक् छान्दसः । असति गृह्णाति गच्छति प्राप्नोति वा (कश्चन) कोऽपि ॥

१—(भद्रात्) मङ्गलात्कर्मणः (अधि) अधिकृत्य (श्रेयः) प्रशस्य—ईयसुन् । प्रशस्यतरं कर्म (प्र) प्रकर्षेण (इहि) प्राप्नुहि (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (पुरएता) अग्रगामी (ते) तव (अथ) अनन्तरम् (अस्याः) दृश्यमानायाः (वरे) वरणीये फले (आ) समन्तात्

आत्मा] को (अस्याः पृथिव्याः) इस पृथिवी के (वरे) श्रेष्ठ फल में (आरे-शत्रुम्) शत्रुओं से दूर (सर्ववीरम्) सर्वधीर, सबमें वीर (आ) सब ओर से (कृणुहि) बना ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से अधिक अधिक उन्नति करते हुये आगे बढ़े जाते हैं, वेही सर्ववीर निर्विघ्नता से अपना जीवन सुफल करते हैं ॥ १ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४ ॥ पूषा देवता ॥ १, २ त्रिष्टुप्; ३ गायत्री; ४ अनुष्टुप् ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर के उपासना का उपदेश ॥

प्रपथे पथामजनिष्ट पूषा प्रपथे दिवः प्रपथे पृथिव्याः ।
उभे अभि प्रियतमे सधस्थे आ च परा च चरति प्रजानन् ॥ १ ॥

प्र-पथे । पथाम् । अजनिष्ट । पूषा । प्र-पथे । दिवः । प्र-पथे । पृथिव्याः । उभे इति । अभि । प्रियतमे इति प्रिय-तमे । सधस्थे इति सध-स्थे । आ । च । परा । च । चरति । प्र-जानन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (पथाम्) सब मार्गों में से (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (दिवः) सूर्य के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में और (पृथिव्याः) पृथिवी के (प्रपथे) चौड़े मार्ग में (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है। (प्रजानन्) वड़ा विद्वान् वह (उभे) दोनों (प्रियतमे) [परस्पर] अति प्रिय (सधस्थे) एक साथ स्थिति करने वाले [सूर्य और पृथिवी लोक]

(पृथिव्याः) भूलोकस्य (आरेशत्रुम्) आरे दूरे शत्रवो यस्य तम् (कृणुहि) कृवि हिंसाकरणयोः । कुरु । (सर्ववीरम्) सर्वेषु वीरम् । एकवीरम् ॥

१—(प्रपथे) प्रकृष्टे विस्तृते मार्गे (पथाम्) मार्गाणां मध्ये (अजनिष्ट) आदुरभूत (पूषा) अ० १ । ९ । १ । पोषकः परमेश्वरः (दिवः) सूर्यस्य (पृथिव्याः) भूलोकस्य (उभे) द्वे द्यावापृथिव्यौ (अभि) प्रति (प्रियतमे)

(अभि) में (आ) हमारे निकट (च च) और (परा) दूर (चरति) विचरता रहता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य, पृथिवी आदि लोकों को परस्पर आकर्षण से धारण करता है, वही हमारा पालन पोषण करता है चाहे हम अपने घर के निकट या दूर हों ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ६ ॥

पूषेमा आशा अनु वेद सर्वाः सो अस्माँ अभयतमेन नेषत् । स्वस्तिदा आघृणिः सर्ववीरोऽप्रयुच्छन् पुर एतु प्रजानन् ॥ २ ॥

पूषा । इमाः । आशाः । अनु । वेद । सर्वाः । सः । अस्मान् । अभय-तमेन । नेषत् । स्वस्ति-दाः । आघृणिः । सर्व-वीरः । अप्र-युच्छन् । पुरः । एतु । प्र-जानन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमेश्वर (इमाः) इन (सर्वाः) सब (आशाः) दिशाओं को (अनु) लगातार (वेद) जानता है, (सः) वह (अस्मान्) हमें (अभयतमेन) अत्यन्त अभय [मार्ग] से (नेषत्) ले चले । (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता, (आघृणिः) बड़ा प्रकाशमान (सर्ववीरः) सब में वीर, (प्रजानन्) बड़ा विद्वान् वह (अप्रयुच्छन्) विना चूक किये हुये (पुरः) हमारे आगे आगे (एतु) चले ॥ २ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक, मङ्गलप्रद, सर्ववीर, महाबुद्धिमान् परमेश्वर को निरन्तर सहायक जानकर, मनुष्य उत्तम कर्मों में आगे बढ़े ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । १७ । ५ ॥

अतिशयेन प्रीतिमत्यौ (सधस्थे) परस्पराकर्षणेन सहस्थितिशीले (आ) समीपे (च च) (परा) दूरे (चरति) गच्छति (प्रजानन्) प्रकृष्टविद्वान् ॥

२—(पूषा) पोषक ईश्वरः (इमाः) (आशाः) दिशः (अनु) निरन्तरम् (वेद) वेत्ति (सर्वाः) (सः) पूषा (अस्मान्) धार्मिकान् (अभयतमेन) अत्यन्तभयरहितेन पथा (नेषत्) नयतेर्लेट् । नयेत् (स्वस्तिदाः) मङ्गलदाता (आघृणिः) सम्यक् प्रकाशमानः (सर्ववीरः) सर्वेषु वीरः (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् (पुरः) अग्रे (एतु) गच्छतु (प्रजानन्) अतिविद्वान् ॥

पूषन् तव॑ व्र॒ते व॒यं न रि॑ष्येम क॒दा च॒न ।
स्तो॒तार॑स्त इ॒ह स्म॑सि ॥ ३ ॥

पूष॑न् । तव॑ । व्र॒ते । व॒यम् । न । रि॒ष्ये॒म॒ । क॒दा । च॒न ।
स्तो॒तारः॑ । ते॒ । इ॒ह । स्म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे पूषा, पालन करनेवाले परमेश्वर ! (तव) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में [रहकर] (वयम्) हम (कदा चन) कभी भी (न) न (रिष्येम) दुःखी होवें। (इह) यहां पर (ते) तेरे (स्तोतारः) स्तुति करनेवाले (स्मसि) हम लोग हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमेश्वर के गुण और कर्मों के अनुकूल चलकर सदा सुखी रहते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । ९ और यजु० ३४ । ४१ ॥

परि॑ पू॒षा प॒रस्ता॒द्धस्तं॑ दधातु॒ दक्षि॑णम् ।
पुन॑र्नो न॒ष्टमाज॑तु॒ सं न॒ष्टेन॑ गमेमहि ॥ ४ ॥

परि॑ । पू॒षा । प॒रस्ता॑त् । हस्त॑म् । द॒धा॒तु॒ । दक्षि॑णम् । पुनः॑ ।
नः॒ । न॒ष्टम् । आ । अ॒ज॒तु॒ । सम् । न॒ष्टेन॑ । ग॒मे॒म॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पूषा) पूषा, पोषण करनेवाला परमात्मा (दक्षिणम्) अपना दाहिना (हस्तम्) हाथ (परस्तात्) पीछे से [हमारे पुरुषार्थानुकूल] (परि) सब ओर (दधातु) धारण करे। वह (नः) हमें (नष्टम्) नष्ट

३—(पूषन्) पोषक परमात्मन् (तव) (व्रते) वरणीये नियमे (वयम्) उपासकाः (न) निषेधे (रिष्येम) रिष हिंसायाम्, दैवादिकः, अकर्मकः। हिंसिता भवेम (कदा चन) कदापि (स्तोतारः) स्तावकाः (ते) तव (इह) अत्र (स्मसि) स्मः। भवामः ॥

४—(परि) परितः (पूषा) पोषकः परमात्मा (परस्तात्) उत्तरे काले (हस्तम्) कृपाहस्तम् (दधातु) धारयतु (दक्षिणम्) (पुनः) (नः)

बल को (पुनः) फिर (आ अजतु) लावे, [पाये हुये] (नष्टेन) नष्ट बल के साथ (सम् गमेमहि) हम मिले रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य बायें हाथ की अपेक्षा दाहिने हाथ से अधिक उपकार करता है, वैसेही परमात्मा अपनी पूरेण कृपा हम पर रक्खे, जिससे हम प्रयत्न पूर्वक अपने खोये बल [प्रारब्ध फल] को फिर पाकर रख सकें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ । ५४ । १० ॥

सूक्तम् १० ॥

१ ॥ सरस्वती देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सरस्वतीविषयोपदेशः—सरस्वती के विषय का उपदेश ॥

यस्ते॒ स्तनः॑ शश॒युर्यो म॑यो॒भूर्यः सु॑म्न॒युः सु॒हवो॒ यः सु॒दत्रः॑ ।
येन॒ विश्वा॒ पुष्य॑सि॒ वार्या॑णि॒ सर॑स्वति॒ तमि॒ह धात॑वे कः ॥ १ ॥

यः । ते॒ । स्तनः॑ । श॒श॒युः । यः । म॒यः॒ऽभूः । यः । सु॒म्न॒ऽयुः । सु॒ऽहवः॑ । यः । सु॒ऽदत्रः॑ । येन॑ । विश्वा॑ । पुष्य॑सि । वार्या॑णि । सर॑स्वति । तम् । इ॒ह । धात॑वे । क॒: ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती, विज्ञानवती स्त्री ! [वा वेदविद्या] (यः) जो (ते) तेरा (स्तनः) स्तन, दूध का आधार (शशयुः) प्रशंसा पाने वाला, (यः) जो (मयोभूः) सुखदेनेवाला और (यः) जो (सुम्नयुः) उपकार करनेवाला, (सुहवः) अच्छे प्रकार ग्रहणयोग्य और

अस्मभ्यम् (नष्टम्) ध्वस्तं बलम् (आ अजतु) अज गतिक्षेपणयोः । आनयतु (नष्टेन) अदृष्टबलेन प्रारब्धफलेन (सं गमेमहि) संगच्छेमहि ॥

१—(यः) (ते) तव (स्तनः) दुग्धाधारः (शशयुः) शशमानः, अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । शशमानः शंशमानः—निरु० ६ । ८ । इति श्रवणात्, शंसु स्तुतौ—अ प्रत्ययः + या गतौ—कु, मृगय्वादित्वात्—उ० १ । ३७ । अनुस्वारलोपः सकारस्य शकारश्च छान्दसः । शंसं शंसां प्रशंसां याति यः सः (यः) (मयोभूः) सुखस्य भावयिता प्रापयिता (सुम्नयुः) छन्दसि परेच्छायां क्यच् । पा० पा० ३ । १ । ८ । सुम्न—क्यच्, उ प्रत्ययः । सुम्नं सुखं परेषामिच्छतीति

(यः) जो (सुदत्रः) बड़ा दानी है। (येन) जिस स्तन से (विश्वा) सब (वार्याणि) स्वीकरणीय अंगों को (पुष्यसि) तू पुष्ट करती है (तम्) उस स्तन को (इह) यहां (धातवे) पीने के लिये (कः) तू ने ठीक किया है ॥१॥

भावार्थ—जिस प्रकार विदुषी माता का दूध पीकर बालक शरीर से पुष्ट हो कान्तिमान् होता है, वैसेही विद्वान् पुरुष वेद विद्या का अमृत पान करके आत्मबल से पुष्ट होकर कीर्तिमान् होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद में है-म० १। १६४। ४६। और यजुर्वेद, ३८। ५। और श्रीमद्दयानन्दकृत संस्कारविधि, जातकर्म में बालक के स्तन पान करने के विषय में आया है ॥

सूक्तम् ११ ॥

१ ॥ पर्जन्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अन्नरक्षोपदेशः—अन्न के रक्षा का उपदेश ॥

यस्ते॑ पृ॒थु स्त॑नयि॒त्नुर्य ऋ॒ष्वो दैवः॑ के॒तुर्विश्व॑मा॒भूष॑ती॒दम्। मा नो॑ वधीर्वि॒द्युता॑ देव स॒स्यं मोत व॑धी र॒श्मिभि॒ः सूर्य॑स्य ॥ १ ॥

यः। ते॒। पृ॒थुः। स्त॒न॒यि॒त्नुः। यः। ऋ॒ष्वः। दैवः॑। के॒तुः। विश्व॑म्। आ॒ऽभूष॑ति। इ॒दम्। मा। नः॒। व॒धीः। वि॒ऽद्युता॑। दे॒व। स॒स्यम्। मा। उ॒त। व॒धीः। र॒श्मिऽभिः॑। सूर्य॑स्य ॥१॥

यः। उपकारी (सुहवः) शोभनो हवो ग्रहणं यस्य सः (सुदत्रः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन्। उ० ४। १५६। इति ददातेः ष्ट्रन्, ह्रस्वः। सुदत्रः कल्याणदानः-निरु० ६। १४। महादाता (येन) स्तनेन (विश्वा) सर्वाणि (पुष्यसि) पोषयसि (वार्याणि) वरणीयानि स्वीकरणीयानि अंगानि (सरस्वति) सरांसि विज्ञानानि सन्ति यस्यां सा विज्ञानवती स्त्री वेदवाणी वा, तत्सम्बुद्धौ (तम्) स्तनम् (इह) अस्मिन् कर्मणि (धातवे) धेट् पाने—तुमर्थे तवेन् प्रत्ययः। धातुं पानं कर्त्तुम् (कः) करोतेर्लुङि। मन्त्रे घसह्वर०। पा० २। ४। ८०। इति च्लेर्लुकि गुणे। हल्ङ्याब्भ्यो०। पा० ६। १। ६८। इति सिपो लोपः, अडभावे रूपम्। अकः। त्वं योग्यं कृतवती ॥

भाषार्थ—(देव) हे जलदाता मेघ ! (यः) जो (ते) तेरा (पृथुः) विस्तीर्ण और (यः) जो (ऋष्वः) इधर उधर चलनेवाला वा बड़ा, (दैवः) आकाश में रहने वाला, (केतुः) जताने वाला झंडा रूप (स्तनयित्नुः) गर्जन (इदम् विश्वम्) इस सब स्थान में (आभूपति) व्यापता है । (नः) हमारे (सस्यम्) धान्य को (विद्युता) चमचमाती बिजुली से (मा वधीः) मत नाश कर, और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मिभिः) किरणों से (उत) भी (मा वधीः) मत सुखा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अतिवृष्टि, अनावृष्टि आदि दैवी विपत्तियों का विचार रख कर पहिले से अन्न आदि के संचय से रक्षा का उपाय कर लेवें ॥१॥

सूक्तम् १२ ॥

१-४ ॥ सभापतिर्देवता १ त्रिष्टुप्; २-४ अनुष्टुप् ॥

सभापति कर्तव्योपदेशः—सभापति के कर्तव्यों का उपदेश ॥

सभा च मा समितिश्चावतां प्रजापतेर्दुहितरौ संविदाने । येना संगच्छा उप मा स शिक्षाच्चारु वदानि पितरः संगतेषु ॥ १ ॥

सभा । च । मा । सम्ऽइतिः । च । अवताम् । प्रजाऽपतेः । दुहितरौ । संविदाने इति सम्ऽविदाने । येन । सम्ऽगच्छै । उप । मा । सः । शिक्षात् । चारु । वदानि । पितरः । सम्ऽगतेषु ॥ १

१—(यः) (ते) तव (पृथुः) विस्तीर्णः (स्तनयित्नुः) अ० ४ । १५ । ११ । मेघध्वनिः (ऋष्वः) अशूप्रुषिलटि । उ० १ । १५१ । ऋष गतौ दर्शने च—क्वन् । इतस्ततो गन्ता । महान्—निघ० ३ । ३ (दैवः) दिव्—अण् । दिवि आकाशे भवः (केतुः) अ० ६ । १०३ । ३ । ज्ञापकः । ध्वजरूपः (विश्वम्) सर्वं स्थानम् (आभूपति) भूष अलङ्कारे । व्याप्नोति (नः) अस्माकम् (मा वधीः) मा हिंसीः (विद्युता) अशन्या (देव) हे जलप्रद मेघ (सस्यम्) माछासस्भ्यो यः । उ० ४ । १०६ । इति षस स्वप्ने—य । धान्यम् (उत) अपि (मा वधीः) मा शोषय (रश्मिभिः) किरणैः (सूर्यस्य) सवितुः ॥

भाषार्थ—(प्रजापतेः) प्रजापति अर्थात् प्रजारक्षक पुरुषार्थ की (दुहितरौ) पूरण करने वाली [वा दो पुत्रियों के समान हितकारी] (संविदाने) यथावत् मेल वाली (सभा) सभा, विद्वानों की संगति (च च) और (समितिः) एकता (मा) मुझे (अवताम्) तृप्त करें। (येन) जिस पुरुष के साथ (संगच्छै) मैं मिलूं, (सः) वह (मा) मुझे (उप) आदर से (शिक्षात्) समर्थ करे, (पितरः) हे पितरो, पालन करने वाले विद्वानो ! (संगतेषु) सम्मेलनों के बीच मैं (चारु) ठीक ठीक (वदानि) बोलूं ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति ऐसा सुशिक्षित और सुयोग्य पुरुष हो कि संगठन की सफलता के लिये सब सभासद् एकमत हो जावें, और उसके धर्मयुक्त वचन को मानकर उसके सहायक रहें ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० ६। सू० ६४। से करो ॥

विद्म ते सभे नाम नरिष्टा नाम वा असि ।
ये ते के च सभासदस्ते मे सन्तु सवाचसः ॥ २ ॥

विद्म । ते । सभे । नाम । नरिष्टा । नाम । वै । असि । ये । ते । के । च । सभा-सदः । ते । मे । सन्तु । स-वाचसः ॥२॥

भाषार्थ—(सभे) हे सभा ! (ते) तेरा (नाम) नाम (विद्म) हम जानते हैं, तू (नरिष्टा) नरों की इष्ट देवी (वै) ही (नाम) नाम वाली

१—(सभा) अ० ४। २१। ६। विद्वद्भिः प्रकाशमानः समाजः (च) (मा) मां सभापतिम् (समितिः) अ० ६। ६४। २। एकता। एकात्मता (प्रजापतेः) प्रजारक्षकस्य पुरुषार्थस्य (दुहितरौ) अ० ३। १०। १३। दुह प्रपूरणे—तृच्। प्रपूरयित्र्यौ। पुत्रीवत् हितकारिण्यौ (संविदाने) अ० २। २८। २। संगच्छमाने (येन) पुरुषेण सह (संगच्छै) संगतो भवानि (उप) आदरे (मा) माम् (सः) पुरुषः (शिक्षात्) शकेः सन्नन्तात् लेट्। शक्तं समर्थं कुर्य्यात् (चारु) अ० २। ५। १। मनोहरम् (वदानि) कथयानि (पितरः) हे पालका विद्वांसः (संगतेषु) सम्मेलनेषु ॥

२—(विद्म) अ० १। २। १। वयं जानीमः (ते) तव (सभे) (नाम) नामधेयम् (नरिष्टा) नर+इष्टा। शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्। वा० पा० ६। १। ६४। इति पररूपम्। नराणामिष्टा हिता (नाम) नाम्ना (वै) खलु

(अस्ति) है। (च) और (ये के) जो कोई (ते) तेरे (सभासदः) सभासद् हैं, (ते) वे सब (मे) मेरे लिये (सवाचसः) एक वचन (सन्तु) होवें ॥२॥

भावार्थ—उसी सभा में मनुष्यों का इष्ट सिद्ध होता है, जहां पर सभापति और सभासद् एक मत होकर धर्म का प्रचार करते हैं ॥२॥

एषामहं समासीनानां वर्चो विज्ञानमा ददे।
अस्याः सर्वस्याः संसदो मामिन्द्र भगिनं कृणु ॥ ३ ॥

एषाम्। अहम्। सम्ऽआसीनानाम्। वर्चः। विऽज्ञानम्। आ। ददे। अस्याः। सर्वस्याः। सम्ऽसदः। माम्। इन्द्र। भगिनम्। कृणु ॥३॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [सभापति] (एषाम्) इन (समासीनानाम्) यथावत् बैठे हुये पुरुषों का (वर्चः) तेज और (विज्ञानम्) विज्ञान (आ ददे) स्वीकार करता हूं। (इन्द्र) हे परमेश्वर! (माम्) मुझ को (अस्याः) इस (सर्वस्याः संसदः) सब सभा का (भगिनम्) ऐश्वर्यवान् (कृणु) कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां सभापति और सब सभासद् एकमत होकर अपना पराक्रम और विज्ञान अर्थात् सूक्ष्म विचार प्रकाशते हैं, वहां पर सब ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ ३ ॥

यद् वो मनः परागतं यद् बद्धमिह वेह वा।
तद् व आ वर्तयामसि मयि वो रमतां मनः ॥ ४ ॥

यत्। वः। मनः। पराऽगतम्। यत्। बद्धम्। इह। वा। इह। वा। तत्। वः। आ। वर्तयामसि। मयि। वः। रमताम्। मनः ॥ ४ ॥

(अस्ति) वर्तते (ये के) ये केचित् (ते) तव (सभासदः) सभ्याः (ते) सामाजिकाः (मे) मह्यम् (सन्तु) (सवाचसः) समानवाक्याः।, एकवचनाः ॥

३—(एषाम्) पुरोवर्तिनाम् (अहम्) सभापतिः (समासीनानाम्) आस उपवेशने–शानच्। ईदासः। पा० ७।२।८३। आकारस्य ईकारः। यथावदुपविष्टानाम् (वर्चः) तेजः। पराक्रमम् (आ ददे) अङ्गीकरोमि (अस्याः) पुरःस्थितायाः (सर्वस्याः) (संसदः) सभायाः (माम्) (इन्द्र) हे परमेश्वर (भगिनम्) ऐश्वर्यवन्तम् (कृणु) कुरु ॥

भाषार्थ-[हे सभासदो !] (यत्) जो (वः) तुम्हारा (मनः) मन (परागतम्) उचट गया है, (वा) अथवा (यत्) जो (इह वा इह) इधर उधर [प्रतिकूल विषयों में (बद्धम्) बंधा हुआ है। (वर्तयामसि) हम लौटाते हैं [जिससे] (वः मनः) तुम्हारा मन (मयि) मुझ में (रमताम्) ठहर जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सभापति अपनी विशेष विज्ञानता से सभासदों का ध्यान निर्धारित विषय पर खींच कर कार्यसिद्धि करे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१-२ ॥ आत्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुपराजयोपदेशः—शत्रुओं के हराने का उपदेश ॥

यथा सूर्यो नक्षत्राणामुद्यंस्तेजांस्याददे ।

एवा स्त्रीणां च पुंसां च द्विषतां वर्च आ ददे ॥ १ ॥

यथा । सूर्यः । नक्षत्राणाम् । उत्-यन् । तेजांसि । आ-ददे । एव । स्त्रीणाम् । च । पुंसाम् । च । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥१॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (उद्यन्) उदय होते हुये (सूर्यः) सूर्य ने (नक्षत्राणाम्) नक्षत्रों के (तेजांसि) तेजों को (आददे) ले लिया है। (एव)

४—(यत्) (वः) युष्माकम् (मनः) मननम् (परागतम्) धर्मविषयादन्यत्रगतम् (यत्) (बद्धम्) संसक्तम् (इह वा इह) इतस्ततः। अनिश्चितविषये (वा) अथवा (तत्) मनः (वः) युष्माकम् (आ) आकृष्य (वर्तयामसि) अभिमुखं कुर्मः (मयि) प्रधाने (वः) (रमताम्) रमु उपरमे। तिष्ठतु (मनः) ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (सूर्यः) (नक्षत्राणाम्) तारकाणाम् (उद्यन्) उदयं प्राप्नुवन् (तेजांसि) प्रकाशान् (आददे) लिटि रूपम्। स जग्राह (एव) एवम् (स्त्रीणाम्) नारीणाम् (पुंसाम्) पुरुषाणाम् (च च) समुच्चये

वैसे ही (द्विषताम्) द्वेषी (स्त्रीणाम्) स्त्रियों (च च) और (पुंसाम्) पुरुषों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैंने ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधर्मी वैरियों को दबा कर ऐसा निस्तेज कर देवे, जैसे सूर्य के निकलने पर तारे निस्तेज हो जाते हैं ॥ १ ॥

यावन्तो मा सपत्नानामायन्तं प्रतिपश्यथ ।
उद्यन्त्सूर्य इव सुप्तानां द्विषतां वर्च आ ददे ॥ २ ॥

यावन्तः । मा । स-पत्नानाम् । आ-यन्तम् । प्रति-पश्यथ । उत्-यन् । सूर्यः-इव । सुप्तानाम् । द्विषताम् । वर्चः । आ । ददे ॥२॥

भाषार्थ—(सपत्नानाम्) शत्रुओं में से (यावन्तः) जितने लोग तुम (मा आयन्तम्) मुझ आते हुये को (प्रतिपश्यथ) निहारते हो। (द्विषताम्) उन वैरियों का (वर्चः) तेज (आ ददे) मैं लिये लेता हूं (इव) जैसे (उद्यन् सूर्यः) उदय होता हुआ सूर्य (सुप्तानाम्) सोते हुये पुरुषों का ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य के उदय होने पर सोने वाले आलसियों का बल घट जाता है। वैसे ही तेजस्वी पुरुष अपने वैरियों को पराक्रम हीन कर देवे ॥ २ ॥

इतिप्रथमोऽनुवाकः ।

(द्विषताम्) पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इत्येकशेषः । द्विषतीनां स्त्रीणां द्विषतां पुरुषाणां च (वर्चः) तेजः (आददे) अहं जग्राह ॥

२—(यावन्तः) यत्परिमाणाः (मा) माम् (सपत्नानाम्) शत्रूणां मध्ये (आयन्तम्) अभिगच्छन्तम् (प्रतिपश्यथ) निरीक्षध्वे (उद्यन्) उद्गच्छन् (सूर्यः) (इव) यथा (सुप्तानाम्) स्वपतां जनानाम् (द्विषताम्) अप्रियकराणाम् (वर्चः) तेजः (आददे) लटि रूपम् । गृह्णामि ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१-४ ॥ सविता देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्यं देवं सवितारमोण्योः कविक्रतुम् ।
अर्चामि सत्यसवं रत्नधामभि प्रियं मतिम् ॥ १ ॥

अभि । त्यम् । देवम् । सवितारम् । ओण्योः । कवि-क्रतुम् ।
अर्चामि । सत्य-सवम् । रत्न-धाम् । अभि । प्रियम् । मतिम् ॥१॥

भाषार्थ—(त्यम्) उस (देवम्) सुखदाता (ओण्योः) सूर्य और पृथिवी के (सवितारम्) उत्पन्न करने वाले, (कविक्रतुम्) सर्वज्ञ बुद्धि वा कर्म वाले, (सत्यसवम्) सच्चे ऐश्वर्य वाले, (रत्नधाम्) रमणीय विज्ञानों वा हीरा आदिकों वा लोकों के धारण करने वाले, (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (मतिम्) मनन करने वाले, परमेश्वर को (अभि अभि) बहुत भले प्रकार (अर्चामि) मैं पूजता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा, प्रजा और सब विद्वान् लोग उस सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की स्तुति, प्रार्थना, उपासना करके सदा धर्म के अनुकूल वरतें और आनन्द भोगें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से सामवेद में हैं—पू० ५ । ८ । ८ और यजु० ४ । २५ ॥

१—(अभि अभि) सर्वतः सर्वतः (त्यम्) प्रसिद्धम् (देवम्) सुखदातारम् (सवितारम्) उत्पादकम् (ओण्योः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । ओणृ अपनयने-इन् । कृदिकारादक्तिनः । वा० पा० ४ । १ । ४५ । इति ङीप् । द्यावापृथिव्योः—निघ० ३ । ३० (कविक्रतुम्) कविः सर्वज्ञः क्रतुः प्रज्ञा कर्म वा यस्य तम् । कविः क्रान्त दर्शनो भवति कवतेर्वा—निरु० १२ । १३ (अर्चामि) पूजयामि (सत्यसवम्) सत्यैश्वर्ययुक्तम् (रत्नधाम्) रत्नानि रमणीयानि विज्ञानानि हीरकादीनि भवनानि वा दधातीति तम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् । (मतिम्) मनु अवबोधने—क्तिच् । मन्तारम् । मतयो मेधाविनः—निघ० ३ । १५ ॥

ऊ॒र्ध्वा यस्या॒मति॒र्भा अदि॑द्युत॒त् सवी॑मनि ।
हिर॑ण्यपाणिरमिमीत सु॒क्रतु॑: कृ॒पात् स्वः॑ ॥ २ ॥
ऊ॒र्ध्वा । यस्य॑ । अ॒मति॑: । भाः । अदि॑द्युतत् । सवी॑मनि ।
हिर॑ण्य-पाणिः । अ॒मि॒मी॒त॒ । सु॒-क्रतु॑: । कृ॒पात् । स्वः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (ऊर्ध्वा) ऊंची, (अमतिः) व्यापनेवाली (भाः) चमक (सवीमनि) सृष्टि के बीच (अदिद्युतत्) चमकी हुई है । (हिरण्यपाणिः) अन्धकार वा दरिद्रता हरने वाले सूर्य आदि और सुवर्ण आदि तेजों के व्यवहार वाले, (सुक्रतुः) उत्तम बुद्धि वा कर्मवाले उस ईश्वर ने (कृपात्) अपने सामर्थ्य से (स्वः) स्वर्ग अर्थात् मोक्ष सुख (अमिमीत) रचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—उस जगदीश्वर की अनन्तशक्ति का विचार करके मनुष्य मोक्ष आनन्द के लिये सदा प्रयत्न करें ॥ २ ॥

सावी॒र्हि दे॑व प्रथ॒माय॑ पि॒त्रे व॒र्ष्माण॑मस्मै वरि॒माण॑-मस्मै । अथा॒स्मभ्यं॑ सवित॒र्वार्या॑णि दि॒वोदि॑व॒ आ सु॑वा॒ भूरि॑ प॒श्वः ॥ ३ ॥
सावी॑: । हि । दे॒व॒ । प्र॒थ॒माय॑ । पि॒त्रे । व॒र्ष्माण॑म् । अ॒स्मै॒ ।

२—(ऊर्ध्वा) उत्कृष्टा (यस्य) सवितुः । परमेश्वरस्य (अमतिः) अमेरतिः । उ० ४ । ५९ । अम गतौ-अति । व्यापनशीला (भाः) दीप्तिः (अदिद्युतत्) द्युत दीप्तौ स्वार्थे णिजन्ताच् चङि, रूपम् अद्युतत् । अदीपि (सवीमनि) जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४९ । इति षूङ् प्राणिप्रसवे—इमनिन्, वा दीर्घः । सवीमनि प्रसवे-निरु०, ६ । ७ । सृष्टौ (हिरण्यपाणिः) हिरण्यानि अन्धकारस्य दारिद्र्यस्य वा हरणशीलानि सूर्यादीनि सुवर्णादीनि वा पाणौ व्यवहारे यस्य सः (अमिमीत) अ० ५ । १२ । ११ । निर्मितवान् (सुक्रतुः) शोभना क्रतुः प्रज्ञा, कर्म वा यस्य सः (कृपात्) कृपू सामर्थ्ये—क । स्वसामर्थ्यात् (स्वः) स्वर्गं मोक्षसुखम् ॥

वरिमाणम् । अस्मै । अथ । अस्मभ्यम् । सवितः । वार्याणि । दिवःदिवः । आ । सुव । भूरि । पश्वः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! तू ने (हि) ही (प्रथमाय) हम से पहिले वर्तमान (पित्रे) पालन करने वाले (अस्मै) इस [पुरुष] को और (अस्मै) इस [दूसरे पुरुष] को (वर्ष्माणम्) उच्च स्थान और (वरिमाणम्) फैलाव वा उत्तमपन (सावीः) दिया है । (अथ) सो (सवितः) हे सर्वप्रेरक परमेश्वर ! (अस्मभ्यम्) हमें (दिवोदिवः) सब दिनों (वार्याणि) उत्तम विज्ञान और धन और (भूरि) बहुत (पश्वः) मनुष्य, गौ, घोड़ा, हाथी आदि (आ सुव) भेजता रहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परमेश्वर ने हमसे पहिले उपकारी महात्माओं को उच्च पदवी दी है, वैसे ही परमेश्वर की आज्ञा मान कर हम भी सुख के भागी होवें ॥ ३ ॥

दमूना देवः सविता वरेण्यो दधद् रत्नं दक्षं पितृभ्य आयूंषि । पिबात् सोमं ममदंदेनमिष्टे परिज्मा चित् क्रमते अस्य धर्मणि ॥ ४ ॥

दमूनाः । देवः । सविता । वरेण्यः । दधत् । रत्नम् । दक्षम् ।

३—(सावीः) षू प्रेरणे—लुङ्, अडभावः । प्रेरितवानसि (हि) निश्चयेन (देव) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (प्रथमाय) अस्मत्प्रथमभवाय (पित्रे) पालकाय । उपकारिणे पुरुषाय (वर्ष्माणम्) अ० ३ । ४ । २ । उन्नतस्थानम् (अस्मै) एकस्मै पुरुषाय (वरिमाणम्) अ० ४ । ६ । २ । उरु यद्वा वर-इमनिच् । उरुत्वं विस्तारम् । वरत्वं श्रेष्ठत्वम् (अस्मै) अन्यस्मै (अथ) तस्मात् (अस्मभ्यम्) (सवितः) हे सर्वप्रेरक (वार्याणि) वरणीयानि विज्ञानानि धनानि वा (दिवोदिवः) दिवसान् दिवसान् (आसुव) अभिमुखं प्रेरय (भूरि) बहूनि (पश्वः) छान्दसं रूपम् । अ० १ । ३० । ३ । पशून् । मनुष्यादिजीवान् । पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ ॥

पितृ-भ्यः । आयूंषि । पिबात् । सोमम् । ममदत् । एनम् । इष्टे । परि-ज्मा । चित् । क्रमते । अस्य । धर्मणि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(दमूनाः) दमनशील शान्त स्वभाव, (देवः) व्यवहार-कुशल, (वरेण्यः) स्वीकार योग्य (सविता) चलाने वाला पुरुष (पितृभ्यः) पालन करने वाले विद्वानों के हित के लिये (रत्नम्) रमणीय धन, (दक्षम्) बल और (आयूंषि) जीवन साधनों को (दधत्) धारण करता हुआ (सोमम्) अमृत का (पिबात्) पान करे, और (एनम्) इस [परमेश्वर] को (इष्टे) यज्ञ में (ममदत्) प्रसन्न करे, (परिज्मा) सब ओर चलने वाला पुरुष (चित्) ही (अस्य) इस [परमेश्वर] के (धर्मणि) धर्म अर्थात् नियम में (क्रमते) चला जाता है ॥४॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों की सेवा करते हैं, और सर्वत्रगति होते हैं, वे ही आनन्द रस पीते हुये ईश्वर की आज्ञा का पालन करके आनन्द भोगते हैं ॥ ४ ॥

४—(दमूनाः) दमेरुनसि । उ० ४ । २३५ । दमु उपशमे—उनसि, वा दीर्घः । दमिता । शान्तस्वभावः । दमूना दममना वा दानमना वा दान्तमना वा । अथवा दम इति गृहनाम तन्मनाः स्यान्मनो मनोतेः—निरु० ४ । ४ (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) नायकः पुरुषः (वरेण्यः) वृञ्एण्यः । उ० ३ । ९८ । वृञ् वरणे-एण्य । स्वीकरणीयः (दधत्) धारयन् (रत्नम्) रमणीयं धनम् (दक्षम्) बलम् (पितृभ्यः) पालकानां विदुषां हिताय (पिबात्) लेटि रूपम् । पिबेत् (सोमम्) अमृतरसम् (ममदत्) लेडर्थे माद्यतेर्ण्यन्तात्, लुङि, चङि रूपम् । मदयेत् । तर्पयेत् (एनम्) अन्तर्यामिनं जगदीश्वरम् (इष्टे) यज्ञे (परिज्मा) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । अज गतिक्षेपणयोः कनिन्, मुडागमः, अकारलोपः । परितोगन्ता । सर्वत्रगतिः पुरुषः (चित्) एव (क्रमते) वृत्तिसर्गतायनेषु क्रमः पा० ३ । १ । ३८ । इत्यात्मनेपदम् । अप्रतिबद्धो गच्छति (अस्य) परमेश्वरस्य (धर्मणि) धारणीये नियमे ॥

सूक्तम् १५ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः-आचार्य और ब्रह्मचारी के कृत्य का उपदेश॥

तां स॑वितः स॒त्यस॑वां सुचि॒त्रामाहं वृ॑णे सुम॒तिं वि॒श्ववा॑राम्। याम॑स्य॒ कण्वो॒ अदु॑हत् प्रपी॑नां स॒हस्र॑धारां महि॒षो भगा॑य ॥ १ ॥

ताम्। स॒वि॒त॒रिति॑। स॒त्य-स॑वाम्। सु॒-चि॒त्राम्। आ। अ॒हम्। वृ॒णे॒। सु॒-म॒तिम्। वि॒श्व-वा॑राम्। याम्। अ॒स्य॒। कण्वः॑। अदु॑हत्। प्र-पी॑नाम्। स॒हस्र॑-धाराम्। म॒हि॒षः। भगा॑य ॥१॥

भाषार्थ—(सवितः) हे सब ऐश्वर्य वाले आचार्य ! (ताम्) उस (सत्यसवाम्) सत्य ऐश्वर्यवाली, (सुचित्राम्) बड़ी विचित्र, (विश्ववाराम्) सब से स्वीकार करने योग्य (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषयवाली बुद्धि] को (अहम्) मैं (आ) आदरपूर्वक (वृणे) मांगता हूं, (याम्) जिस (प्रपीनाम्) बहुत बढ़ी हुई, (सहस्रधाराम्) सहस्रों विषयों की धारण करनेवाली [सुमति] को (अस्य) इस [जगत्] के (भगाय) ऐश्वर्य के लिये (कण्वः) मेधावी, (महिषः) पूजनीय परमात्मा ने (अदुहत्) परिपूर्ण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—तपस्वी ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी योगी, आप्त विद्वान् पुरुषों से संसार के हित के लिये परमेश्वरदत्त वेद द्वारा अपनी बुद्धि को बढ़ाते रहें॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० १७। ७४ ॥

१—(ताम्) (सवितः) सर्वैश्वर्य आचार्य (सत्यसवाम्) सत्यैश्वर्ययुक्ताम् (सुचित्राम्) अमिचिमि० । उ० ४ । १६४ । चिञ् चयने-क्र । सुचयनीयाम् । महाविचित्रविषयाम् (आ) अङ्गीकारे (अहम्) स्त्री पुरुषो वा (वृणे) याचे (सुमतिम्) शोभनां यथाविषयां प्रज्ञाम् (विश्ववाराम्) सर्वैर्वरणीयाम् (याम्) सुमतिम् (अस्य) प्रसिद्धस्य जगतः (कण्वः) अ० २ । ३२ । ३ । मेधावी निघ० ३ । १५ (अदुहत्) परिपूरितवान् (प्रपीनाम्) प्यायतेः-क्त, पीभावः । प्रवृद्धाम् (सहस्रधाराम्) सहस्रमसंख्यानर्थान् धरति ताम् (महिषः) अ० २ । २५ । ४ । पूजनीयः परमेश्वरः (भगाय) ऐश्वर्याय ॥

सूक्तम् १६ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

बृह॑स्पते॒ सवि॑तर्व॒र्धयै॑नं ज्यो॒तयै॑नं मह॒ते सौभ॑गाय ।
संशि॑तं चित् संत॒रं सं शि॑शाधि॒ विश्वे॑ एन॒मनु॑ मदन्तु
दे॒वाः ॥ १ ॥

बृह॑स्पते । सवि॑तः । व॒र्धय॑ । ए॒न॒म् । ज्यो॒तय॑ । ए॒न॒म् ।
म॒ह॒ते । सौभ॑गाय । सम्-शि॑तम् । चि॒त् । स॒म्-त॒रम् । सम् ।
शि॒शा॒धि॒ । विश्वे॑ । ए॒न॒म् । अनु॑ । म॒द॒न्तु॒ । दे॒वाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बड़े सज्जनों के रक्षक ! (सवितः) विद्या और ऐश्वर्य से युक्त उपदेशक ! (एनम्) इस [राजा] को (महते) बड़े (सौभगाय) उत्तम ऐश्वर्य के लिये (वर्धय) बढ़ा और (ज्योतय) ज्योति वाला कर। (चित्) और (संशितम्) तीक्ष्ण बुद्धिवाले (एनम्) इस [राजा] को (सन्तरम्) अतिशय करके (सम्) यथावत् (शिशाधि) शिक्षा दे, (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् सभ्य लोग (एनम्) इस [राजा] के (अनु मदन्तु) अनुकूल प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजसभा का उपदेशक राजा आदि सज्जनों को उत्तम उत्तम उपदेश द्वारा सुशीलता प्राप्त कराके ऐश्वर्य बढ़ाने में प्रवृत्त करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० २७ । ८ ॥

१—(बृहस्पते) बृहतां सज्जनानां पालक (सवितः) विद्यैश्वर्ययुक्तोपदेशक (वर्धय) समर्धय (एनम्) राजानम् (ज्योतय) ज्योतते, ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६ । ज्योतिर्वन्तं प्रतापिनं कुरु (एनम्) (महते) विशालाय (सौभगाय) उत्तमैश्वर्यभावाय (संशितम्) शो तनूकरणे—क्त । तीक्ष्णबुद्धिम् (चित्) अपि (संतरम्) समस्तरपि प्रत्यये । अमुचच्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १२ इति अम् । अतिशयेन (सम्) सम्यक् (शिशाधि) अ० ४ । ३१ । ४ । शाधि । शिक्षय (विश्वे) सर्वे (एनम्) (अनु) अनुलक्ष्य (मदन्तु) आनन्दन्तु (देवाः) विद्वांसः सभ्याः ॥

सूक्तम् १७ ॥

१-४ ॥ धाता देवता ॥ १ गायत्री;२ अनुष्टुप्; ३,४ त्रिष्टुप् ॥

गृहस्थकृत्योपदेशः—गृहस्थ के कर्म का उपदेश ॥

धाता दधातु नो रयिमीशानो जगतस्पतिः ।
स नः पूर्णेन यच्छतु ॥ १ ॥

धाता । दधातु । नः । रयिम् । ईशानः । जगतः । पतिः । सः ।
नः । पूर्णेन । यच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ईशानः) ऐश्वर्यवान् (जगतः पतिः) जगत् का पालने वाला, (धाता) धाता विधाता [सृष्टि कर्त्ता] (नः) हमें (रयिम्) धन (दधातु) देवे । (सः) वही (नः) हमको (पूर्णेन) पूर्ण बल से (यच्छतु) ऊंचा करे ॥ १ ॥

भावार्थ-गृहस्थ लोग जगत्पति परमात्मा के अनुग्रह से प्रयत्न करके धन और बल बढ़ाकर सुखी रहें ॥

धाता दधातु दाशुषे प्राचीं जीवातुमक्षिताम् ।
वयं देवस्य धीमहि सुमतिं विश्वराधसः ॥ २ ॥

धाता । दधातु । दाशुषे । प्राचीम् । जीवातुम् । अक्षिताम् ।
वयम् । देवस्य । धीमहि । सु-मतिम् । विश्व-राधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(धाता) सब का पोषण करने वाला ईश्वर (दाशुषे) उदारचित पुरुष को (प्राचीम्) अच्छे प्रकार आदर योग्य (अक्षिताम्) अक्षय

१—(धाता) सर्वस्य विधाता—निरु० ११ । १० । सृष्टिकर्ता (दधातु) ददातु (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (ईशानः) ईश्वरः (जगतः) (पतिः) पालकः (सः) धाता (नः) अस्मान् (पूर्णेन) समस्तेन बलेन (यच्छतु) यम-लोट् । उद्यच्छतु । उन्नयतु ॥

२—(धाता) सर्वपोषकः (दधातु) ददातु (दाशुषे) अ० ४ । २४ । १। दानशीलाय (प्राचीम्) प्रकर्षेण पूज्याम् (जीवातुम्) अ० ६ । ५ । २ ।

(जीवातुम्) जीविका (दधातु) देवे । (विश्वराधसः) सर्वधनी (देवस्य) प्रकाश स्वरूप ईश्वर की (सुमतिम्) सुमति [यथावत् विषय वाली बुद्धि] को (वयम्) हम (धीमहि) धारण करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के धारण पोषण आदि गुणों के चिन्तन से बुद्धि बढ़ा कर धनी और बली होवें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामी दयानन्द कृत संस्कारविधि, सीमन्तोन्नयन में और निरुक्त ११ । ११ । में आया है ।

धाता विश्वा वार्या दधातु प्रजाकामाय दाशुषे दुरोणे ।
तस्मै देवा अमृतं सं व्ययन्तु विश्वे देवा अदितिः सजोषाः ॥३॥

धाता । विश्वा । वार्या । दधातु । प्रजा-कामाय । दाशुषे । दुरोणे । तस्मै । देवाः । अमृतम् । सम् । व्ययन्तु । विश्वे । देवाः । अदितिः । स-जोषाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धाता) सब का धारण करने वाला परमेश्वर (विश्वा) सब (वार्या) उत्तम विज्ञान और धन (प्रजाकामाय) प्रजा, उत्तम सन्तान भृत्य आदि चाहने वाले (दाशुषे) दानशील पुरुष को (दुरोणे) उसके घर में (दधातु) देवे । (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग और (देवाः) उत्तम गुण और (सजोषाः) समान प्रीतिवाली (अदितिः) अदीन भूमि (तस्मै)

जीविकाम्—निरु० ११ । ११ (अक्षिताम्) अक्षीणाम् (वयम्) पुरुषार्थिनः (देवस्य) प्रकाशस्वरूपस्य (धीमहि) डुधाञ् धारणपोषणयोः-विधिलिङ् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । आर्धधातुकत्वाच्छप् न । आतो लोप इटि च । पा० ६ । ४ । ६४ । आकारलोपः । दधीमहि । धरेम (सुमतिम्) कल्याणीं मतिम् (विश्वराधसः) सर्वधनिनः ॥

३—(धाता) (विश्वा) सर्वाणि (वार्या) उत्तमानि विज्ञानानि धनानि च (दधातु) प्रयच्छतु (प्रजाकामाय) उत्तमसन्तानभृत्यादीच्छवे (दुरोणे) अ० ५ । २ । ६ । गृहे (तस्मै) पुरुषाय (देवाः) विद्वांसः (अमृतम) अमरणम् । पूर्णसुखम् (सम्) सम्यक् (व्ययन्तु) व्यय गतौ, वित्तसमुत्सर्गे च ।

उस पुरुष को (अमृतम्) अमृत [पूर्ण सुख] (सम) यथावत् (व्ययन्तु) पहुंचावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग परमेश्वर की उपासना, विद्वानों की संगति, उत्तम गुणों की प्राप्ति और भूगोल विद्या की उन्नति से विज्ञानपूर्वक सुख-वृद्धि करें ॥ ३ ॥

धाता रातिः सवितेदं जुषन्तां प्रजापतिर्निधिपतिर्नो अग्निः । त्वष्टा विष्णुः प्रजया संरराणो यजमानाय द्रविणं दधातु ॥ ४ ॥

धाता । रातिः । सविता । इदम् । जुषन्ताम् । प्रजा-पतिः । निधि-पतिः । नः । अग्निः । त्वष्टा । विष्णुः । प्र-जया । सम्-रराणः । यजमानाय । द्रविणम् । दधातु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सविता) सर्वप्रेरक, (धाता) धारण करने वाला, (रातिः) दानाध्यक्ष, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (निधिपतिः) निधिपति [कोशाध्यक्ष] और (अग्निः) अग्नि समान [अविद्या रूपी अन्धकार का नाश करने वाला] विद्वान् पुरुष [यह सब अधिकारी](नः) हमारे (इदम्) इस [गृहस्थ कर्म] को (जुषन्ताम्) सेवन करें । (विष्णुः) सर्व व्यापक, (संरराणः) सम्यक् दाता, (त्वष्टा) निर्माता परमेश्वर (प्रजया) प्रजा के सहित वर्तमान (यजमानाय) पदार्थों के संयोजक वियोजक विज्ञानी को (द्रविणम्) बल वा धन (दधातु) देवे ॥ ४ ॥

गमयन्तु । ददतु (विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः (अदितिः) अदीना पृथिवी (सजोषाः) समानप्रीतिः ॥

४—(धाता) धारकः (रातिः) कर्तरि क्तिच् । दानाध्यक्षः (सविता) नायकः (इदम्) दृश्यमानं गृहस्थकर्म (प्रजापतिः) प्रजापालकः (निधिपतिः) कोशाध्यक्षः (नः) अस्माकम् (अग्निः) अग्नितुल्योऽविद्यान्धकार-दाहको विद्वान् (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । सृष्टिकर्त्ता (विष्णुः) सर्वव्यापकः (प्रजया) (संरराणः) अ० २ । ३४ । ३ । सम्यग् दाता (यजमानाय) पदार्थानां संयोजकवियोजकविज्ञानिने (द्रविणम्) बलं धनं वा (दधातु) ददातु ॥

भावार्थ—जैसे राजा राज्य की उन्नति के लिये अनेक अधिकारी रखता है, वैसे ही गृहस्थ लोग घर का प्रबन्ध करके परमेश्वर के अनुग्रह से बल और धन बढ़ावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ८ । १७ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

दूरदर्शित्वोपदेशः—दूरदर्शी होने का उपदेश ॥

प्र नभस्व पृथिवि भिन्द्धी३ दं दिव्यं नभः ।
उद्नो दिव्यस्य नो धातरीशानो वि ष्या दृतिम् ॥ १ ॥

प्र । नभस्व । पृथिवि । भिन्द्धि । इदम् । दिव्यम् । नभः ।
उद्नः । दिव्यस्य । नः । धातः । ईशानः । वि । स्य । दृतिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे अन्तरिक्ष ! [वायु] (इदम्) इस (दिव्यम्) आकाश में छाये हुये (नभः) जल को (प्र) उत्तम रीति से (नभस्व) गिरा और (भिन्द्धि) छिन्न भिन्न कर दे [फैला दे] । (धातः) हे पोषक, सूर्य ! (ईशानः) समर्थ तू (नः) हमारे लिये (दिव्यस्य) दिव्य [उत्तम गुण वाले] (उद्नः) जलके (दृतिम्) पात्र [मेघ] को (वि ष्य) खोल दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अन्तरिक्षस्थ वायु और सूर्य के संयोग वियोग सामर्थ्य से आकाश से जल बरस कर संसार का उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग विद्या आदि शुभ गुणों की बरसा से उपकार करें ॥ १ ॥

१—(प्र) प्रकर्षेण (नभस्व) नभते, वधकर्मा-निघ० २ । १६ । पातय (पृथिवि) अन्तरिक्ष—निघ० १ । ३ । वायो इत्यर्थः (भिन्द्धि) छिन्नं भिन्नं कुरु (इदम्) (दिव्यम्) दिव्याकाशे भवम् (नभः) उदकम्—निघ० ११ । १२ । (उद्नः) पद्दन्नोमासहृन्निश० । पा० ६ । १ । ६३ । उदकस्य, उदन् । उदकस्य (दिव्यस्य) उत्तमगुणस्य (नः) अस्मभ्यम् (धातः) हे पोषक सूर्य (ईशानः) समर्थः (वि ष्य) षो अन्तकर्मणि । विमुञ्च (दृतिम्) दृणातेर्ह्रस्वः । उ० ४ । १८४ । इति दृ विदारणे—ति । चर्ममयं जलपात्रम् ॥

न घ्रंस्त॑ताप॒ न हि॒मो ज॑घान॒ प्र न॑भतां पृथि॒वी जी॒रदा॑नुः।
आप॑श्चिदस्मै घृ॒तमित् क्ष॑रन्ति॒ यत्र॒ सोमः॒ सद॒मित्
तत्र॑ भ॒द्रम् ॥ २ ॥

न। घ्रन्। त॒ताप। न। हि॒मः। ज॒घान॒। प्र। न॒भ॒ताम्। पृ॒-
थि॒वी। जी॒र-दा॑नुः। आप॑ः। चित्। अ॒स्मै॒। घृ॒तम्। इत्।
क्ष॒र॒न्ति॒। यत्र॑। सोम॑ः। सद॑म्। इत्। तत्र॑। भ॒द्रम्॥ २॥

भाषार्थ—((घ्रन्) चमकता हुआ सूर्य (न तताप) न तपावे (न) न (हिमः) शीत (जघान) मारे, [किन्तु] (जीरदानुः) गति देनेवाला (पृथिवीः) अन्तरिक्ष [जल को] (प्र) अच्छे प्रकार (नभताम्) गिरावे। (आपः) सब प्रजायें (चित्) भी (अस्मै) इस [जगत्] के लिये (घृतम्) सार रस (इत्) ही (क्षरन्ति) बरसती हैं, (यत्र) जहां (सोमः) ऐश्वर्य है (तत्र) वहां (सदम् इत्) सदा ही (भद्रम्) कल्याण है॥ २॥

भावार्थ—जैसे दूरदर्शी ऐश्वर्यवान् पुरुष ठीक ठीक वृष्टि से लाभ उठाकर अनावृष्टि, अतिवृष्टि, अतिशीत के दुःखों से बचे रहते हैं। वैसे ही ज्ञानी पुरुष शान्त स्वभाव परमात्मा के विचार से आत्मिक क्लेशों से अलग रहकर मङ्गल मनाते हैं॥ २॥

२—(न) निषेधे (घ्रन्) घृ भासे—शतृ, अकारलोपः। घरन्। भासमानः सूर्यः (तताप) छन्दसि लुङ्लङ्लिटः। पा० ३। ४। ६। लिङर्थे—लिट्। तापयेत् (न) (हिमः) हन्तेर्हि च। उ० १। १४७। हन्तेर्मक्। शीतलस्पर्शः (जघान) हन्यात् (प्र) प्रकर्षेण (नभताम्)—म० १। हन्तु। पातयतु, नभ इति शेषः—म० १ (पृथिवी) अन्तरिक्षम् (जीरदानुः) जीर-दानुः। जोरी चः। उ० २। २३। जु गतौ—रक्, ईकारादेशः। जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २। १५। दाभाभ्यां नुः। ३। ३२। इति ददातेर्नु। गतिप्रदा (आपः) सर्वाः प्रजाः (चित्) अपि (अस्मै) जगते (घृतम्) तत्त्वरसम् (क्षरन्ति) सिञ्चन्ति (यत्र) (सोमः) ऐश्वर्यम् (सदम्) सर्वदा (तत्र) (भद्रम्) कल्याणम्॥

सूक्तम् १९ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

वृद्धिकरणोपदेशः—बढ़ती करने का उपदेश ॥

प्रजापतिर्जनयति प्रजा इमा धाता दधातु सुमनस्यमानः
संजानानाः संमनसः सयोनयो मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु १

प्रजा-पतिः । जनयति । प्र-जाः । इमाः । धाता । दधातु ।
सु-मनस्यमानः । सम्-जानानाः । सम्-मनसः । स-योनयः ।
मयि । पुष्टम् । पुष्ट-पतिः । दधातु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (इमाः) इन सब (प्रजाः) सृष्टि के जीवों को (जनयति) उत्पन्न करता है, वह (सुमनस्यमानः) शुभचिन्तक (धाता) पोषक परमात्मा [इनका] (दधातु) पोषण करे [जो] (संजानानाः) एक ज्ञान वाली, (संमनसः) एक मन वाली और (सयोनयः) एक कारण वाली हैं, (पुष्टपतिः) वह पोषण का स्वामी [प्रजायें] (मयि) मुझ में (पुष्टम्) पोषण (दधातु) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के प्रजापालकत्व आदि गुणों का विचार कर के प्रीतिपूर्वक अपनी वृद्धि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् २० ॥

१-६ ॥ अनुमतिर्देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३—५ त्रिष्टुप्, ६ जगती ॥

मनुष्यकर्त्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अन्वद्य नोऽनुमतिर्यज्ञं देवेषु मन्यताम् ।

१—(प्रजापतिः) सृष्टिपालकः परमात्मा (जनयति) उत्पादयति (प्रजाः) सर्वाः सृष्टीः (इमाः) परिदृश्यमानाः (धाता) पोषकः (दधातु) पोषयतु (सुमनस्यमानः) अ० १ । ३५ । १ । शुभचिन्तकः (संजानानाः) समानज्ञानाः (संमनसः) संगतमनस्काः (सयोनयः) समानकारणाः प्रजाः (मयि) उपासके (पुष्टम्) पोषम् (पुष्टपतिः) पोषस्य रक्षकः (दधातु) (धारयतु) ॥

अग्निश्च हव्यवाहनो भवतां दाशुषे मम ॥ १ ॥

अनु । अद्य । नः । अनु-मतिः । यज्ञम् । देवेषु । मन्यताम् । अग्निः । च । हव्य-वाहनः । भवताम् । दाशुषे । मम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति, अनुकूल बुद्धि (अद्य) आज (नः) हमारे (यज्ञम्) संगति व्यवहार को (देवेषु) विद्वानों में (अनु मन्यताम्) निरन्तर माने । (च) और (अग्निः) अग्नि [पराक्रम] (मम दाशुषे) मुझ दाता के लिये (हव्यवाहनः) ग्राह्य पदार्थों का पहुंचाने वाला (भवतम्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धार्मिक व्यवहारों में अनुकूल बुद्धिवाले और पराक्रमी होते हैं, वेही उत्तम पदार्थों को पाकर सुखी होते हैं ॥ १ ॥

निरुक्त ११ । २६ के अनुसार (अनुमति) पूर्णमासी का नाम है । अर्थात् हमारा समय पौर्णमासी के समान पुष्टि और हर्ष करनेवाला हो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३४ । ६ ॥

अन्विदनुमते त्वं मंससे शं च नस्कृधि ।
जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ २ ॥

अनु । इत् । अनु-मते । त्वम् । मंससे । शम् । च । नः । कृधि । जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नः ॥ २ ॥

१—(अनु) निरन्तरम् (अद्य) अस्मिन् दिने (नः) अस्माकम् (अनुमतिः) अ० १ । १८ । २ । अनुकूला बुद्धिः । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते । अनुमतिरनुमननात्—निरु० ११ । २६ । (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (देवेषु) विद्वत्सु (मन्यताम्) जानातु । ज्ञापयतु (अग्निः) पराक्रमः (च) (हव्यवाहनः) हव्येऽनन्तः पादम् । पा० । ३ । २ । ६६ । इति हव्य+वह प्रापणे ञ्युट् । ग्राह्यपदार्थस्य प्रापकः (भवताम्) आत्मनेपदं छान्दसम् । भवतात् (दाशुषे) दानशीलाय (मम) चतुर्थ्यां षष्ठी । मह्यम् ॥

भाषार्थ—(अनुमते) हे अनुमति ! [अनुकूल बुद्धिः] (त्वम्) तू (इत्) अवश्य [हमारी प्रार्थना] (अनु मंससे) सदा मानती रहे, (च) और (नः) हमारे लिये (शम्) कल्याण (कृधि) कर। (हव्यम्) ग्रहण योग्य (आहुतम्) यथावत् दिया पदार्थ (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) सन्तान भृत्य आदि (ररास्व) दे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम बुद्धि द्वारा पथ्य कुपथ्य विचार कर युक्त आहार विहार करके उत्तम सन्तान और भृत्य आदि पाकर सुख भोगें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से यजु० में है—३४ । ८ ॥

अनु॑ मन्यतामनु॒मन्य॑मानः प्र॒जाव॑न्तं र॒यिमक्षी॑यमाणम् ।
तस्य॑ व॒यं हेड॑सि॒ मापि॑ भूम सुमृडी॒के अ॑स्य सुम॒तौ स्या॑म ३

अनु॑ । मन्य॒ताम् । अ॒नु॒-मन्य॑मानः । प्र॒जा-व॑न्तम् । र॒यिम् । अक्षी॑यमाणम् । तस्य॑ । व॒यम् । हेड॑सि । मा । अपि॑ । भू॒म । सु॒-मृ॒डी॒के । अ॒स्य । सु॒-म॒तौ । स्या॒म ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अनुमन्यमानः) निरन्तर जानने वाला परमेश्वर (प्रजावन्तम्) उत्तम सन्तान, भृत्य आदि वाला, (अक्षीयमाणम्) न घटने वाला (रयिम्) धन (अनु) अनुग्रह करके (मन्यताम्) जतावे । (वयम्) हम (तस्य) उसके (हेडसि) क्रोध में (अपि) कभी (मा भूम) न होवें, (अस्य)

२—(अनु) निरन्तरम् (इत्) एव (अनुमते)-म० १ । अनुकूलबुद्धे (त्वम्) (मंससे) मन ज्ञाने अवबोधने च—लेट् । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इत्यट् । अवमन्येथाः (शम्) कल्याणम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (जुषस्व) स्वीकुरु (हव्यम्) ग्राह्यम् (आहुतम्) समन्तात् समर्पितम् (प्रजाम्) सन्तानभृत्यादिरूपाम् (देवि) दिव्यगुणे (ररास्व) रातेः शपः श्लुः, आत्मने पदं च । देहि ॥

३—(अनु) सर्वदा (मन्यताम्) ज्ञापयतु (अनुमन्यमानः) निरन्तरं मन्ता ज्ञाता परमेश्वरः (प्रजावन्तम्) प्रशस्तसन्तानभृत्यादियुक्तम् (रयिम्) धनम् (अक्षीयमाणम्) क्षि क्षये—शानच् । अक्षीणम् (तस्य) ईश्वरस्य (वयम्)

इसके (सुमृडीके) उत्तम सुख में और (सुमतौ) सुमति [कल्याणी बुद्धि] में (स्याम) बने रहें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक रीति में प्राप्त किये धन से प्रजा पालन करके ईश्वर की आज्ञा में सुखके साथ सदा वर्तमान रहें ॥ ३ ॥

यत् ते नाम सुहवं सुप्रणीतेऽनुमते अनुमतं सुदानु । तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ ४ ॥

यत् । ते । नाम । सु-हवम् । सु-प्रनीते । अनु-मते । अनु-मतम् । सु-दानु । तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्व-वारे । रयिम् । नः । धेहि । सु-भगे । सु-वीरम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुप्रणीते) हे उत्तम नीतिवाली ! [वा. भले प्रकार चलाने वाली] (अनुमते) अनुमति ! [अनुकूल बुद्धि] (यत्) जो (ते) तेरा (नाम) नाम [यश] (सुहवम्) आदर से आवाहन योग्य, (सुदानु) बड़ा दानी (अनुमतम्) निरन्तर माना गया है । (विश्ववारे) हे वरणीय पदार्थों वाली ! (तेन) उस [अपने यश] से (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरण कर दे, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्य वाली ! (नः) हमें (सुवीरम्) अच्छे वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दे ॥ ४ ॥

(हेडसि) क्रोधे—निघ० २ । १३ । (अपि) कदापि (मा भूम) न स्याम (सुमृडीके) मृडः कीकचकङ्कणौ । उ० ४ । २४ । इति मृड सुखने—कीकच् । शोभने सुखे (अस्य) (सुमतौ) कल्याण्यां बुद्धौ (स्याम) भवेम ॥

४—(यत्) (ते) तव (नाम) यशः (सुहवम्) आदरेण ह्वातव्यम् (सुप्रणीते) शोभननीतियुक्ते । सुष्ठुप्रणेत्रि (अनुमते) (अनुमतम्) निरन्तरं ज्ञातम् (सुदानु) शोभनदानयुक्तम् (तेन) नाम्ना (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (पिपृहि) पूरय (विश्ववारे) हे सर्वैर्वरणीयैः पदार्थैर्युक्ते (रयिम्) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (सुभगे) प्रभूतैश्वर्ययुक्ते (सुवीरम्) महद्भिर्वीरैर्युक्तम् ॥

भावार्थ—सब मनुष्य सर्वमाननीय ज्ञान द्वारा धन आदि पदार्थ प्राप्त करके कीर्तिमान् होवें ॥ ४ ॥

एमं यज्ञमनुमतिर्जगाम सुक्षेत्रतायै सुवीरतायै सुजातम्। भद्रा ह्यस्याः प्रमतिर्बभूव सेमं यज्ञमवतु देवगोपा ॥ ५ ॥

आ। इमम्। यज्ञम्। अनु-मतिः। जगाम। सु-क्षेत्रतायै। सु-वीरतायै। सु-जातम्। भद्रा। हि। अस्याः। प्र-मतिः। बभूव। सा। इमम्। यज्ञम्। अवतु। देव-गोपा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (सुजातम्) बहुत प्रसिद्ध (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [संगति व्यवहार] में (सुक्षेत्रतायै) अच्छी भूमियों और (सुवीरतायै) साहसी वीरों की प्राप्ति के लिये (आ जगाम) आई है। और (अस्याः) इसकी (हि) ही (प्रमतिः) अनुग्रह बुद्धि (भद्रा) कल्याणी (बभूव) हुई है, (सा) वही (देवगोपा) विद्वानों की रक्षिका [अनुमति] (इमम्) इस (यज्ञम्) हमारे यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] की (अवतु) रक्षा करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य वेदद्वारा सत्यज्ञान पाकर चक्रवर्ती राज्य और उत्साही वीरों के पराक्रम से सुखवृद्धि करते रहें, वैसे ही मनुष्य अनूकूल मति से प्रतिकूल बुद्धि छोड़कर सदा सुखी रहें ॥ ५ ॥

५—(इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (अनुमतिः) अनुकूला बुद्धिः (आ जगाम) प्राप (सुक्षेत्रतायै) शोभनानां भूमीनां प्राप्तये (सुवीरतायै) उत्साहिनां वीराणां लाभाय (सुजातम्) सुप्रसिद्धम् (भद्रा) कल्याणी (अस्याः) अनुमतेः (प्रमतिः) अनुग्रहबुद्धिः (बभूव) (सा) अनुमतिः (इमम्) (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (अवतु) रक्षतु (देवगोपा) आयादयः आर्धधातुके वा। पा० ३। १। ३१। इत्यायप्रत्ययस्य वैकल्पिकत्वात् देव + गुपू रक्षणे—अच्, टाप्। विदुषां गोप्त्री रक्षित्री ॥

अनु॑मतिः सर्व॑मिदं ब॑भूव यत् तिष्ठ॑ति चर॑ति यदु॑ च विश्व॑मेज॑ति । तस्या॑स्ते देवि सुमतौ स्या॒मानु॑मते अनु हि मंस॑से नः ॥ ६ ॥

अनु॑-मतिः । सर्व॑म् । इ॒दम् । ब॒भूव॒ । यत् । तिष्ठ॑ति । चर॑ति । यत् । ऊं॒ इति॑ । च॒ । विश्व॑म् । एज॑ति । तस्याः॑ । ते॒ । दे॒वि॒ । सु॒-म॒तौ । स्याम॒ । अनु॑-मते । अनु॑ । हि॒ । मंस॑से । नः॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अनुमतिः) अनुमति [अनुकूल बुद्धि] (इदम्) इस (सर्वम्) सब में (बभूव) व्यापी है, (यत्) जो कुछ (तिष्ठति) खड़ा होता है, (चरति) चलता है, (च) और (विश्वम्) सब (यत् उ) जो कुछ भी (एजति) चेष्टा करता है [हाथ पांव चलाता है] । (देवि) हे देवी ! (तस्याः ते) उस तेरी (सुमतौ) सुमति [अनुग्रहबुद्धि] में (स्याम) हम रहें, (अनुमते) हे अनुमति ! तू (हि) ही (नः) हमें (अनु) अनुग्रह से (मंससे) जानती रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रतिकूलता त्यागकर प्रत्येक कर्तव्य में अनुकूलता देवी का ध्यान रखते हैं । वेही परमेश्वर के कृपापात्र होते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ जगती छन्दः ॥

ईश्वराज्ञापालनोपदेशः—ईश्वर की आज्ञा के पालन का उपदेश ॥

समेत॒ विश्वे॒ वच॑सा पतिं॑ दि॒व एको॑ वि॒भूरति॑थि॒र्जना॑-

६—(अनुमतिः) म० १ । अनुकूला बुद्धिः (सर्वम्) समस्तं जगत् (इदम्) दृश्यमानम् (बभूव) भू प्राप्तौ । प्राप (यत्) जगत् (तिष्ठति) स्थित्या वर्तते (चरति) गच्छति (यत्) (उ) अपि (च) (विश्वम्) सर्वम् (एजति) एज कम्पने । साहसेन चेष्टते (तस्याः) तादृश्याः (ते) तव (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (स्याम) भवेम (अनु) अनुग्रहेण (हि) अवश्यम् (मंससे) म० २ । जानीयः (नः) अस्मान् ॥

नाम् । स पूर्व्यो नूतनमाविवासत् तं वर्तनिरनु वावृत एकमित् पुरु ॥ १ ॥

सम्-एत । विश्वे । वचसा । पतिम् । दिवः । एकः । वि-भूः । अतिथिः । जनानाम् । सः । पूर्व्यः । नूतनम् । आ-विवासत् । तम् । वर्तनिः । अनु । ववृते । एकम् । इत् । पुरु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) हे सब लोगो ! (वचसा) वचन [सत्य वचन] से (दिवः) सूर्य के (पतिम्) स्वामी से (समेत) आकर मिलो, (एकः) वह एक (विभूः) सर्वव्यापक प्रभु (जनानाम्) सब मनुष्यों का (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य] है । (सः) वह (पूर्व्यः) सब का हितकारी ईश्वर (नूतनम्) इस नवीन [जगत्] को (आविवासत्) विविध प्रकार निवास कराता है, (वर्तनिः) प्रत्येक वर्तने योग्य मार्ग (तम् एकम् अनु) उस एक [परमात्मा] की ओर (इत्) ही (पुरु) अनेक प्रकार से (ववृते) घूमा है ॥१॥

भावार्थ—जो परमात्मा प्रत्येक वस्तु को अपने आकर्षण में रखकर इस नूतन जगत् का [जिसमें नित्य नये आविष्कार होते हैं] धारण करता है, विद्वान् लोग उसी की महिमा को खोजते जाते हैं ॥ १ ॥

१—(समेत) आगत्य संगच्छध्वम् (विश्वे) सर्वे जनाः (वचसा) सत्यवचनेन (पतिम्) स्वामिनम् (दिवः) सूर्यलोकस्य (एकः) अद्वितीयः (विभूः) सर्वव्यापकः प्रभुः (अतिथिः) ऋतन्यञ्जिवन्यञ्ज्यर्पिमद्यत्य० । उ० ४ । २ । इति अत सातत्यगमने-इथिन् । अतिथिरभ्यतितो गृहान् भवति । अभ्येति तिथिषु परकुलानीति वा, परगृहाणीति वा । अथमपीतरोऽतिथिरेतस्मादेव—निरु० ४ । ५ । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः । विद्वान् । अभ्यागतः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (सः) विभूः (पूर्व्यः)अ० ४ । १ । ६ । पूर्वाय समस्ताय हितः (नूतनम्) अभिनवं जगत्, नित्यं नवीनाविष्कारपदत्वात् (आविवासत्) आङ्+वि+वस निवासे—णिच्—लट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । शप आर्धधातुकत्वात् णिलोपः, इकारलोपश्च । समन्तात् विविधं निवासयति (तम्) (वर्तनि) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । वृतु वर्तने—अनि । मार्गः (अनु) प्रति (ववृते) वृतु-लिट् । वर्तते स्म (एकम्) परमात्मानम् (इत्) एव (पुरु) पुरुधा । अनेकधा ॥

सूक्तम् २२ ॥

१-२ ॥ परमेश्वरो देवता ॥ १ अक्षरपङ्क्तिः ; २ त्रिपादनुष्टुप् ॥

विज्ञानप्राप्त्युपदेशः-विज्ञान की प्राप्ति का उपदेश ॥

अयं सहस्रमा नो दृशे कवीनां मतिर्ज्योतिर्विधर्मणि ॥१॥

अयम् । सहस्रम् । आ । नः । दृशे । कवीनाम् । मतिः । ज्योतिः । वि-धर्मणि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (नः कवीनाम् सहस्रम्) हम सहस्र बुद्धिमानों में (आ) व्यापकर (दृशे) दर्शन के लिये (विधर्मणि) विरुद्धधर्मी [पञ्चभूत रचित स्थूल जगत्] में (मतिः) ज्ञानस्वरूप और (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप है ॥१॥

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश से बने संसार में परमात्मा की महिमा निहार कर विद्वान् लोग विज्ञान, शिल्प आदि के नये नये आविष्कार करते हैं ॥१॥

ब्रध्नः समीचीरुषसः समैरयन्

अरेपसः सचेतसः स्वसरे मन्युमत्तमाश्चिते गोः ॥ २ ॥

ब्रध्नः । सुमीचीः । उषसः । सम् । ऐरयन् । अरेपसः । स-चेतसः । स्वसरे । मन्युमत्-तमाः । चिते । गोः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ब्रध्नः) नियम में बांधने वाले [सूर्यरूप] परमेश्वर ने (समीचीः) परस्पर मिली हुई, (अरेपसः) निर्मल, (सचेतसः) समान

१—(अयम्) सर्वत्रानुभूयमानः परमेश्वरः (आ) व्याप्य (नः) अस्माकम् (दृशे) दृशे विख्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । इति दृशिर्—के । दर्शनाय (कवीनाम्) मेधाविनाम् (मतिः) चित्स्वरूपः (ज्योतिः) प्रकाशरूपः (विधर्मणि) विरुद्धधर्मवति पञ्चभूतनिर्मिते जगति ॥

२-(ब्रध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ इति बन्ध बन्धने-नक्, ब्रध इत्यादेशः । ब्रध्नः=अश्वः-निघ० १ । १४ । महान्-३ । ३ । बन्धको नियामकः ।

चेताने वाली, (मन्युमत्तमाः) अत्यन्त चमकने वाली (उषसः) उषाओं को (स्वसरे) दिनमें (गोः) पृथिवी के (चिते) ज्ञान के लिये (सम्) यथावत् (ऐरयन्) भेजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर, सूर्य के आकर्षण द्वारा पृथिवी के घुमाव से रात्रि के पश्चात्, प्रकाश करता है। वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान नाश करके ज्ञान के साथ प्रकाशमान होते हैं ॥२॥

इतिद्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २३ ॥

१ ॥ प्रजा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

दौष्वप्न्यं दौर्जीवित्यं रक्षो अभ्वमराय्यः ।
दुर्णाम्नीः सर्वा दुर्वाचस्ता अस्मन्नाशयामसि ॥ १ ॥

दौः-स्वप्न्यम् । दौः-जीवित्यम् । रक्षः । अभ्वम् । अराय्यः । दुः-नाम्नीः । सर्वाः । दुः-वाचः । ताः । अस्मत् । नाशयामसि ॥१॥

सूर्यः । सूर्यादीनामकर्षकः परमात्मा (समीचीः) संगताः (उषसः) प्रभातवेलाः (सम्) सम्यक् (ऐरयन्) बहुवचनं छान्दसम् । ऐरयत् । प्रेरितवान् (अरेपसः) निर्मलाः (सचेतसः) समान चेतनकारिणीः (स्वसरे) दिने-निघ० १ । ९ । (मन्युमत्तमाः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । इति मन दीप्तौ-युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा । मन्यन्त्यस्मादिषवः-निरु० १० । २९ । अतिशयेन दीप्तियुक्ताः (चिते) चिती संज्ञाने-क्विप् । ज्ञानाय (गोः) भूमेः ॥

भावार्थ—(दौष्वप्न्यम्) नींद में बेचैनी, (दौर्जीवित्यम्) जीवन का कष्ट, (अभ्वम्) बड़े (रक्षः) राक्षस, (अराय्यः) अनेक अलक्ष्मियों और (दुर्णाम्नीः) दुष्ट नाम वाली (दुर्वाचः) कुवाणियों, (ताः सर्वाः) इन सब को (अस्मत्) अपने से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा की सुनीति से प्रजा गण बाहिर भीतर से निश्चिन्त होकर सुख की नींद सोवें, उद्यमी होकर आनन्द भोगें, चोर डाकू आदिकों से निर्भय रहें, धन की वृद्धि करें और विद्या बल से कलह छोड़कर परस्पर उन्नति करने में लगे रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । १७ । ५ ।

सूक्तम् २४ ॥

१ ॥ सविता देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

यन्न इन्द्रो अखनद् यदग्निर्विश्वे देवा मरुतो यत् स्वर्काः । तदस्मभ्यं सविता सत्यधर्मा प्रजापतिरनुमतिर्नि यच्छात् ॥ १ ॥

यत् । नः । इन्द्रः । अखनत् । यत् । अग्निः । विश्वे । देवाः । मरुतः । यत् । सु-अर्काः । तत् । अस्मभ्यम् । सविता । सत्य-धर्मा । प्रजा-पतिः । अनु-मतिः । नि । यच्छात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [ऐश्वर्य] (नः) हमारे लिये (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष ने और (यत्) जो (अग्निः) अग्निसमान तेजस्वी पुरुष ने (अखनत्) खोदा है, और (यत्) जो (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहारकुशल,

---

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ४ । १७ । ५ ॥

१—(यत्) ऐश्वर्यम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो मनुष्यः (अखनत्) खननेन प्राप्तवान् (यत्) (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (विश्वे) सर्वे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः (यत्)

(स्वर्काः) बड़े वज्रवाले (मरुतः) शूर लोगों ने [खोदा है] । (तत्) वह [वैसाही ऐश्वर्य] (अस्मभ्यम्) हमें (सत्यधर्म्मा) सत्य धर्मी, (प्रजापतिः) प्रजापालक, (अनुमतिः) अनुकूल बुद्धिवाला (सविता) सृष्टिकर्ता परमेश्वर (नि) नियम पूर्वक (यच्छात्) देता रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ऐश्वर्यवान्, प्रतापी, व्यवहार निपुण, शूरवीर पुरुषों ने ऐश्वर्य पाया है । इसी प्रकार विज्ञानी सत्यपराक्रमी पुरुष परमेश्वर के अनन्त कोश से ऐश्वर्य पाते रहें ॥ १ ॥

(मरुतः) शब्द का विशेष विवरण अ० १ । २० । १ । में देखो ॥

सूक्तम् २५ ॥

१-२ ॥ विष्णुवरुणौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश ॥

ययोरोजसा स्कभिता रजांसि यौ वीर्यैर्वीरतमा शविष्ठा ।
यौ पत्येते अप्रतीतौ सहोभिर्विष्णुमगन्वरुणं पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

ययोः । ओजसा । स्कभिता । रजांसि । यौ । वीर्यैः । वीरतमा । शविष्ठा । यौ । पत्येते इति । अप्रतिइतौ । सहःभिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्वहूतिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ययोः) जिन दोनों के (ओजसा) बल से (रजांसि) लोक लोकान्तर (स्कभिता) थमें हुये हैं, (यौ) जो दोनों (वीर्यैः) अपने

ऐश्वर्यम् (स्वर्काः) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । अर्च पूजायां क, चस्य कः । अर्कः=अन्नम्-निघ० २ । ७ । वज्रः-२ । २० । अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्त्यर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्त्यर्कमन्नं भवत्यर्चति भूतान्यर्को वृक्षो भवति संवृतः कटुकिम्ना०-निरु० ५ । ४ । शोभनाक्षाः । सुवज्रिणः । सुपण्डिताः । सुमन्त्रिणः (तत्) ऐश्वर्यम् (अस्मभ्यम्) (सविता) सर्वस्रष्टा (सत्यधर्मा) सत्यानि धर्माणि धारणसामर्थ्यानि यस्य सः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (अनुमतिः) अनुकूलो मतिर्बुद्धिर्यस्य सः (नि) नियमेन (यच्छात्) दद्यात् ॥

१—(ययोः) विष्णुवरुणयोः (ओजसा) बलेन (स्कभिता) स्कन्भ स्तम्भे—क्त, शेर्लोपः । स्तभितानि । दृढीकृतानि (रजांसि) लोकाः-निरु० ४ ।

पराक्रमों से (वीरतमा) अत्यन्त वीर और (शविष्ठा) महाबली हैं, (यौ) जो दोनों (सहोभिः) अपने बलों से (अप्रतीतौ) न रुकने वाले होकर (पत्येते) ऐश्वर्यवान् हैं, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील [वा सूर्य समान प्रतापी] राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ [वा जल समान उपकारी] मन्त्री को (पूर्वहूतिः) सब लोगों का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जहां पर राजा और मन्त्री बलवान् और धार्मिक होते हैं, वहां प्रजागण उनका सदा सन्मान करते हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में—है अ० ८ । ५६ ।

यस्येदं प्रदिशि यद् विरोचते प्र चानति वि च चष्टे शचीभिः । पुरा देवस्य धर्मणा सहोभिर्विष्णुमगन् वरुणं पूर्वहूतिः ॥ २ ॥

यस्य । इदम् । प्र-दिशि । यत् । वि-रोचते । प्र । च । अनति । वि । च । चष्टे । शचीभिः । पुरा । देवस्य । धर्मणा । सहः-भिः । विष्णुम् । अगन् । वरुणम् । पूर्व-हूतिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिन (देवस्य) व्यवहारकुशल [राजा और मन्त्री] के (प्रदिशि) अच्छे शासन में (धर्म्मणा) उनके धर्म अर्थात् नीति

---

१६ । (यौ) विष्णुवरुणौ (वीर्यैः) पराक्रमैः (वीरतमा) अतिशयेन वीरौ (शविष्ठा) शवः=बलम्—निघ० २ । ६ । शवस्वि—इष्ठन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । विनिलोपः । अतिशयितशविस्विनौ । बलवन्तौ (यौ) (पत्येते) पत ऐश्वर्ये । ईशाते । ऐश्वर्यं प्राप्नुतः (अप्रतीतौ) इण् गतौ—क्त । अप्रतिगतौ । अतिरस्कृतौ (सहोभिः) बलैः (विष्णुम्) अ० ३ । २० । ४ । व्यापनशीलं वा सूर्यवत्प्रतापिनं राजानम् (अगन्) अ० २ । ६ । ३ । अगमत् । प्रापत् (वरुणम्) अ० १ । ३ । ३ । श्रेष्ठं वा जलसमानोपकारिणं मन्त्रिणम् (पूर्वहूतिः) पूर्वाणां समस्तानां जनानां हूतिराह्वानम् ॥

२—(यस्य) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । अत्र द्विवचनस्यैकवचनम् । ययोः (इदम्) राज्यम् (प्रदिशि) अनुशासने (यत्) विश्वम्

और (सहोभिः) पराक्रम से (इदम्) यह [राज्य] है, (यत्) जो कुछ (पुरा) हमारे सन्मुख (शचीभिः) अपने कर्मों से (विरोचते) जगमगाता है, (च) और (प्र अनति) श्वास लेता है (च) और (वि चष्टे) निहारता है, [उन दोनों] (विष्णुम्) व्यापनशील राजा और (वरुणम्) श्रेष्ठ मन्त्री को (पूर्वहूतिः) सब का आवाहन (अगन्) पहुंचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से प्रजा के सब स्थावर और जंगम पदार्थ सुरक्षित रहते हैं, वहां सब लोग प्रसन्न रह कर उस राज्य की प्रशंसा करते हैं ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-८ ॥ विष्णुर्देवता ॥ १, २, ८ त्रिष्टुप्; ३ यस्योरुषु··· द्विपात् त्रिष्टुप्, उरु...अनुष्टुप्; ४-७ गायत्री ॥

व्यापकेश्वरगुणोपदेशः—व्यापक ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

विष्णोर्नु कं प्रा वौचं वीर्याणि यः पार्थिवानि विममे रजांसि । यो अस्कंभायदुत्तरं सधस्थं विचक्रमाणस्त्रेधोरुगायः ॥ १ ॥

विष्णोः । नु । कम् । प्र । वोचम् । वीर्याणि । यः । पार्थिवानि । वि-ममे । रजांसि । यः । अस्कभायत् । उत्-तरम् । सध-स्थम् । वि-चक्रमाणः । त्रेधा । उरु-गायः ॥ १ ॥

भावार्थ—(विष्णोः) विष्णु व्यापक परमेश्वर के (वीर्याणि) पराक्रमों को (नु) शीघ्र (कम्) सुख से (प्र) अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं, (यः)

(विरोचते) विविधं दीप्यते (प्र) प्रकर्षेण (च) (अनति) अनिति । श्वसिति (च) (वि) विविधम् (च) (वि) विविधम् (चष्टे) पश्यति (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० १ । २ (पुरा) अस्माकं निकटे (देवस्य) व्यवहारकुशलयोः (धर्मणा) धारणसामर्थ्येन (सहोभिः) पराक्रमैः । अन्यत्पूर्ववत्–म० १ ॥

१—(विष्णोः) अ० ३ । २० । ४ । सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (नु) शीघ्रम् (कम्) सुखेन (वोचम्) अ० २ । ५ । ५ । उच्यासम् (वीर्याणि) पराक्रमान्

जिसने (पार्थिवानि) भूमिस्थ और अन्तरिक्षस्थ (रजांसि) लोकों को (विममे) अनेक प्रकार रचा है, (यः) जिस (उरुगायः) बड़े उपदेशक प्रभु ने (उत्तरम्) सब अवयवों के अन्त (सधस्थम्) साथ में रहने वाले कारण को (विचक्रमाणः) चलाते हुये (त्रेधा) तीन प्रकार से [उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय रूप से] [उन लोकों को] (अस्कभायत्) थांभा है ॥ १ ॥

भावार्थ--जो परमेश्वर परमाणुओं में संयोग वियोग शक्ति देकर अनेक लोकों को बनाकर उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय रूप से धारण करता है, उसकी भक्ति सब मनुष्य सदा किया करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१ । १५४ । १ । और यजुर्वेद में ५।१८॥

प्र तद् विष्णु॑ स्तवते वी॒र्या॑णि मृ॒गो न भी॒मः कु॑च॒रो गि॑रि॒ष्ठाः । प॒राव॒त आ ज॑गम्यात् पर॑स्याः ॥ २ ॥

प्र । तत् । विष्णुः॑ । स्तव॒ते॒ । वी॒र्या॑णि । मृ॒गः । न । भी॒मः । कु॒च॒रः । गि॒रि॒ऽस्थाः । प॒रा॒ऽवतः॑ । आ । ज॒ग॒म्या॒त् । पर॑स्याः ॥२

भाषार्थ—(भीमः) डरावने, (कुचरः) टेढ़े टेढ़े चलने वाले [ऊंचे नीचे दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) आखेट ढूंढ़ने वाले सिंह आदि के समान, (तत्) वह (विष्णुः) सर्वव्यापी

(यः) विष्णुः (पार्थिवानि) पृथिवी, पृथिवीनाम–निघ० १ । १ । अन्तरिक्षम्–१ । ३ । तत्र विदित इति च । पा० ५ । १ । ४३ । इति पृथिवी–अञ् । भूमिस्थानि अन्तरिक्षस्थानि च (विममे) विविधं निर्मितवान् (रजांसि) लोकान् (यः) विष्णुः (अस्कभायत्) अ० ४ । १ । ४ । अस्कभ्नात् । स्तम्भितवान् (उत्तरम्) उद्गततरम् । सर्वान्तावयवम् (सधस्थम्) यत् सह तिष्ठति तत्कारणम् (विचक्रमाणः) विपूर्वस्य क्रमतेः कानच् । अन्तर्गतण्यर्थः । विशेषेण चालयन् (त्रेधा) त्रिप्रकारेण, उत्पत्तिस्थितिप्रलयरूपेण (उरुगायः) अ० २ । १२ । १ । बहूनर्थान् वेदद्वारा गायत्युपदिशति यः सः । बहूपदेशकः ॥

२—(प्र) प्रकर्षेण (तत्) सः (विष्णुः) व्यापकेश्वरः (स्तवते) छान्दसः शप् । स्तुते । स्तुत्यं करोति (वीर्याणि) पराक्रमान् (मृगः) यो मार्ष्टयन्विच्छति वधाय जीवान् । सिंहादिः (न) इव (भीमः) भयानकः (कुचरः)

विष्णु (वीर्याणि) अपने पराक्रमों को (प्र) अच्छे प्रकार (स्तवते) स्तुति योग्य बनाता है । वह (परावतः) समीप दिशा से और (परस्याः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्) आता रहे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे सिंह का पराक्रम जंगलीय पशुओं में विदित होता है, वैसे ही सर्वव्यापी, पापियों के दण्ड देने वाले परमात्मा का सामर्थ्य निकट और दूर सब लोकों में प्रसिद्ध है ॥२॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग ऋग्वेद में है—म० १ । १५४ । २ । और यजु० अ० ५ । २० । (मृगो न......गिरिष्ठाः) यह पाद निरुक्त १ । २० में व्याख्यात है ॥

यस्योरुषु त्रिषु विक्रमणेष्वधिक्षियन्ति भुवनानि विश्वा ।
उरु विष्णो वि क्रमस्वोरु क्षयाय नस्कृधि ।
घृतं घृतयोने पिब प्रप्र यज्ञपतिं तिर ॥ ३ ॥

यस्य । उरुषु । त्रिषु । वि-क्रमणेषु । अधि-क्षियन्ति । भुवनानि । विश्वा । उरु । विष्णो इति । वि । क्रमस्व । उरु । क्षयाय । नः । कृधि । घृतम् । घृत-योने । पिब । प्र-प्र । यज्ञ-पतिम् । तिर ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (उरुषु) विस्तीर्ण [उत्पत्ति स्थितिप्रलय रूप] (त्रिषु) तीन (विक्रमणेषु) विविध क्रमों [नियमों] में (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक लोकान्तर (अधिक्षियन्ति) भले प्रकार रहते हैं । [वही] (विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु तू (उरु) विस्तार से (वि क्रमस्व) विक्रमी

कुत्सितं चरन् (गिरिष्ठाः) पर्वतस्थायी (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । परा आभिमुख्ये । अभिमुखगताया दिशायाः (आ जगम्यात्) शपः श्लुः, विधिलिङ् । आगच्छेत् (परस्याः) दूरदिशायाः ॥

३—(यस्य) विष्णोः (उरुषु) विस्तृतेषु (त्रिषु) उत्पत्तिस्थितिप्रलय-रूपेषु (विक्रमणेषु) विविधेषु क्रमेषु नियतविधानेषु (अधिक्षियन्ति) अधिकं निवसन्ति (भुवनानि) जगन्ति (विश्वा) सर्वाणि (उरु) यथा तथा । विस्तारेण (विक्रमस्व) विक्रमी पराक्रमी भव (क्षयाय) क्षि निवासगतिहिंसै-

हो, और (नः) हमें (क्षयाय) ज्ञान वा ऐश्वर्य के लिये (उरु) विस्तार के साथ (कृधि) कर। (घृतयोने) हे प्रकाश के घर! (घृतम्) घृत के समान तत्त्वरस (पिब=पायय) [हमें] पान करा और (यज्ञपतिम्) पूजनीय कर्म के रक्षक मनुष्य को (प्र प्र) अच्छे प्रकार (तिर) पार लगा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमेश्वर सब लोक लोकान्तरों का स्वामी है, सब मनुष्य उसकी उपासना से ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥

(यस्य उरुषु ...) यह पाद ऋग्वेद में है–१ । १५४ । २ । और यजु० ५ । २० ॥ (उरु विष्णो...) यह मन्त्र यजुर्वेद में है—५ । ३८, ४१ ॥

इदं विष्णुर्वि चक्रमे त्रेधा नि दधे पदा ।
समूढमस्य पांसुरे ॥ ४ ॥

इदम् । विष्णुः । वि । चक्रमे । त्रेधा । नि । दधे । पदा ।
सम्-ऊढम् । अस्य । पांसुरे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विष्णुः) विष्णु सर्वव्यापी भगवान् ने (समूढम्) आपस में एकत्र किये हुये वा यथावत् विचारने योग्य (इदम्) इस जगत् को (वि चक्रमे) पराक्रमयुक्त [शरीरवाला] किया है, उसने (अस्य) इस जगत् के (पदा) स्थिति और गति के कर्मों को (त्रेधा) तीन प्रकार (पांसुरे) परमा-

---

श्वर्येषु-अच् । विज्ञानस्य ऐश्वर्यस्य चोन्नतये (नः) अस्मान् (कृधि) कुरु (घृतम्) घृतवत्तत्त्वरसम् (घृतयोने) योनिर्गृहम्—निघ० ३ । ४ । हे घृतस्य प्रकाशस्य योने गृह (पिब) अन्तर्गतणिच् । अस्मान् पायय (प्र प्र) अधिकं प्रकर्षेण (यज्ञपतिम्) पूजनीयकर्मणां पातारं पुरुषम् (तिर) तारय । पारय ॥

४—(इदम्) परिदृश्यमानं जगत् (विष्णुः) व्यापकः परमेश्वरः (वि चक्रमे) विक्रान्तं पराक्रमयुक्तं सशरीरं कृतवान् (त्रेधा) त्रिप्रकारम् (निदधे) नियमेन स्थापयामास (पदा) पद स्थैर्ये गतौ च-अच् । स्थितिगतिकर्माणि (समूढम्) सम्+वह प्रापणे, ऊह वितर्के वा-क्त राशीकृतम् । सम्यग् वितर्कणीयमनुमेयं जगत् (अस्य) जगतः (पांसुरे) नगपांसुपाण्डुभ्यश्चेति वक्तव्यम् ।

णुओं वाले अन्तरिक्ष में (नि दधे) स्थिर किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने इस जगत् को परमाणुओं से रचकर उत्पत्ति, स्थिति प्रलय द्वारा पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु लोक, अर्थात् नीचे, मध्यम और ऊंचे स्थानों में धारण किया है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १७; यजु०-५ । १५, और साम० पू० ३ । ३ । ६ । और उ० ८ । २ । ८ । भगवान् यास्क ने निरु० १२ । १८, १९ में भी इस मन्त्र की व्याख्या की है ॥

त्रीणि पदा वि चक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ।

इतो धर्माणि धारयन् ॥ ५ ॥

त्रीणि । पदा । वि । चक्रमे । विष्णुः । गोपाः । अदाभ्यः ।

इतः । धर्माणि । धारयन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गोपाः) सर्वरक्षक (अदाभ्यः) न दबने योग्य (विष्णुः) विष्णु अन्तर्यामी भगवान् ने (त्रीणि) तीनों (पदा) जानने योग्य वा पाने योग्य पदार्थों [कारण, सूक्ष्म और स्थूल जगत् अथवा भूमि, अन्तरिक्ष और द्यु लोक] को (वि चक्रमे) समर्थ [शरीरधारी] किया है । (इतः) इसी से वह (धर्माणि) धर्मों वा धारण करनेवाले [पृथिवी आदि] को (धारयन्) धारण करता हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर नानाविध जगत् को रचकर धारण कर रहा है, उसी की उपासना सब मनुष्य नित्य किया करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १८; यजु०-३४ । ४३; और साम० उ० ८ । २ । ५ ।

वा० पा० ५ । २ । १०७ । इति पांसु-रो मत्वर्थे । पांसुभी रजोभिः परमाणुभिर्युक्तेऽन्तरिक्षे ॥

५—(त्रीणि) (पदा) पदानि ज्ञातव्यानि प्राप्तव्यानि वा कारणस्थूलसूक्ष्मरूपाणि, अथवा भूम्यन्तरिक्षद्युलोकरूपाणि पदार्थजातानि (वि चक्रमे) विक्रान्तवान् । समर्थानि सावयवानि कृतवान् (विष्णुः) अन्तर्यामीश्वरः (गोपाः) अ० ५ । ९ । ८ । गोपयिता । रक्षकः (अदाभ्यः) अ० ३ । २१ । ४ । अहिंस्यः । अजेयः (इतः) अस्मात्कारणात् (धर्माणि) धर्मान् धारकाणि पृथिव्यादीनि वा (धारयन्) पोषयन् । धर्षयन् वर्तत इति शेषः ॥

विष्णोः कर्माणि पश्यत यतो व्रतानि पस्पशे ।
इन्द्रस्य युज्यः सखा ॥ ६ ॥

विष्णोः । कर्माणि । पश्यत । यतः । व्रतानि । पस्पशे ।
इन्द्रस्य । युज्यः । सखा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(विष्णोः) सर्व व्यापक विष्णु के (कर्माणि) कर्मों [जगत् का बनाना, पालन, प्रलय आदि] को (पश्यत) देखो, (यतः) जिससे उसने (व्रतानि) व्रतों [सब के कर्त्तव्य कर्मों] को (पस्पशे) बांधा है । (युज्यः) वह योग्य [अथवा सब से संयोग रखनेवाले दिशा, काल, आकाश आदि में रहने वाला] परमेश्वर (इन्द्रस्य) जीव का (सखा) सखा है ॥ ६ ॥

भावार्थ-जिस परमेश्वर ने संसार रचकर सब को नियम में बांधा है, वही सब में रमकर सब का हितकारी है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २२ । १९; यजु-६ । ४, १३ । ३३; और साम० उ०-८ । २ । ५ ॥

तद् विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः ।
दिवीव चक्षुराततम् ॥ ७ ॥

तत् । विष्णोः । परमम् । पदम् । सदा । पश्यन्ति । सूरयः ।
दिवि-इव । चक्षुः । आ-ततम् ॥ ७॥

भाषार्थ--(सूरयः) बुद्धिमान् पण्डित लोग (विष्णोः) सर्वव्यापक विष्णु के (तत्) उस (परमम्) अति उत्तम (पदम्) पाने योग्य स्वरूप को

६—(विष्णोः) व्यापकस्य (कर्माणि) जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारादीनि (पश्यत) संप्रेक्षध्वम् (यतः) येन (व्रतानि) कर्त्तव्यकर्माणि (पस्पशे) स्पश बन्धनस्पर्शनयोः-लिट् । बद्धवान् । नियमितवान् (इन्द्रस्य) जीवस्य (युज्यः) युज-क्यप्, योग्यः । यद्वा । युज-क्विप्, भवे यत् । युञ्जन्ति व्याप्त्या सर्वान् पदार्थान् ते युजो दिक्कालाकाशादयस्तत्र भवः (सखा) मित्रम् ॥

७—(तत्) प्रसिद्धम् (विष्णोः) व्यापकस्य (परमम्) सर्वोत्कृष्टम् (पदम्) प्राप्तव्यं स्वरूपं मोक्षम् (सदा) सर्वदा (पश्यन्ति) संप्रेक्षन्ते ।

(सदा) सदा (पश्यन्ति) देखते हैं (इव) । जैसे (दिवि) प्रकाश में (आततम्) फैला हुआ (चक्षुः) नेत्र [दृश्य पदार्थों को देखता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे प्राणी सूर्य आदि के प्रकाश में शुद्ध नेत्रों से पदार्थों को देखते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निर्मल विज्ञान से अपने आत्मा में जगदीश्वर के आनन्दस्वरूप मोक्ष पद को साक्षात् करके आनन्द पाते हैं ॥७॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । २२ । २० ; यजु०—६ । ५ ; साम० उ०—८ । २ । ५ ॥

दि॒वो वि॑ष्ण उ॒त वा॑ पृथि॒व्या म॒हो वि॑ष्ण उ॒रोर॒न्तरि॑क्षात् ।
हस्तौ॑ पृणस्व ब॒हुभि॑र्वस॒व्यै॑रा॒प्रय॑च्छ॒ दक्षि॑णा॒दोत स॒व्यात् ॥८॥

दि॒वः । वि॒ष्णो॒ इति॑ । उ॒त । वा॒ । पृ॒थि॒व्याः । म॒हः । वि॒ष्णो॒ इति॑ । उ॒रोः । अ॒न्तरि॑क्षात् । हस्तौ॑ । पृ॒ण॒स्व॒ । ब॒हु-भिः॑ । व॒स॒व्यैः॑ । आ॒-प्रय॑च्छ । दक्षि॑णात् । आ । उ॒त । स॒व्यात् ॥८॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे सर्वव्यापक विष्णु ! (दिवः) सूर्य लोक से (उत) और (पृथिव्याः) पृथिवी लोक से, (वा) अथवा, (विष्णो) हे विष्णु ! (महः) बड़े (उरोः) चौड़े (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष लोक से (बहुभिः) बहुत से (वसव्यैः) धन समूहों से (हस्तौ) दोनों हातों को (पृणस्व) भर; (उत) और (दक्षिणात्) दाहिने (उत) और (सव्यात्) बायें हात से (आप्रयच्छ) अच्छे प्रकार से दान कर ॥ ८ ॥

साक्षात्कुर्वन्ति (सूरयः) अ० २ । ११ । ४ । मेधाविनः पण्डिताः (दिवि) सूर्यादिप्रकाशे (इव) यथा (चक्षुः) नेत्रम् । पश्यति दृश्यानि इति शेषः (आततम्) प्रसृतम् ॥

८—(दिवः) प्रकाशमानात् सूर्यात् (विष्णो) हे सर्वव्यापक (उत) अपि (वा) अथवा (पृथिव्याः) भूलोकात् (महः) मह-क्विप् । विशालात् (उरोः) उरुणः । विस्तीर्णात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (हस्तौ) करौ (पृणस्व) पूरय (बहुभिः) अधिकैः (वसव्यैः) वसोः समूहे च । पा० ४ । ४ । १४० । वसु-यत् । वसूनां धनानां समुहैः (आप्रयच्छ) समन्ताद् देहि (दक्षिणात्) दक्षिणहस्तात् (आ) चार्थे (उत) अपि (सव्यात्) वामहस्तात् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित सूर्य, पृथिवी, अन्तरिक्ष आदि लोक लोकान्तर और सब पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपकार लेकर धन आदि की प्राप्ति से आनन्द भोगें ॥८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० में है—५ । १६ ॥

सूक्तम् २७ ॥

१ ॥ इडा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्राप्त्युपदेशः—विद्या प्राप्ति के लिये उपदेश ॥

इडैवास्माँ अनु वस्तां व्रतेन यस्याः पदे पुनते देवयन्तः।
घृतपदी शक्वरी सोमपृष्ठोप यज्ञमस्थित वैश्वदेवी ॥१॥

इडा । एव । अस्मान् । अनु । वस्ताम् । व्रतेन । यस्याः । पदे । पुनते । देव-यन्तः । घृत-पदी । शक्वरी । सोम-पृष्ठा । उप । यज्ञम् । अस्थित । वैश्व-देवी ॥१॥

भावार्थ—(इडा एव) वही प्रशंसनीय विद्या (अस्मान्) हमें (व्रतेन) उत्तम कर्म से (अनु) अनुग्रह करके (वस्ताम्) ढके [शोभायमान करे], (यस्याः) जिसके (पदे) अधिकार में (देवयन्तः) उत्तमगुण चाहने वाले पुरुष (पुनते) शुद्ध होते हैं । [और जो] (घृतपदी) प्रकाश का अधिकार, रखने वाली, (शक्वरी) समर्थ, (सोमपृष्ठा) ऐश्वर्य सींचने वाली, (वैश्व-

१—(इडा) अ० ३ । १० । ६ । स्तुत्या विद्या । वाक्—निघ० ३ । ११ । (एव) अवधारणे (अस्मान्) सत्यकर्मणः (अनु) अनुग्रहेण (वस्ताम्) वस आच्छादने । आच्छादयतु । अलङ्करोतु (व्रतेन) शुभकर्मणा (यस्याः) इडायाः (पदे) अधिकारे (पुनते) शुद्ध्यन्ति (देवयन्तः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । देव—क्यच्, शतृ । देवान् शुभगुणान् आत्मन इच्छन्तः (घृतपदी) घृतं प्रकाशः पदे अधिकारे यस्याः सा (शक्वरी) अ० ३ । १३ । ७ । शक्ता । समर्था (सोमपृष्ठा) अ० ३ । २१ । ६ । ऐश्वर्यसेचिका (उप अस्थित)

देवी) सब उत्तम पदार्थों से सम्बन्ध वाली होकर (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार में (उप अस्थित) उपस्थित हुई है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा शास्त्रविद्या, शस्त्रविद्या, शिल्पविद्या, वाणिज्य-विद्या आदि प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥१॥

सूक्तम् २८ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

यज्ञकर्मोपदेशः—यज्ञ करने का उपदेश ॥

वेदः स्वस्तिर्द्रुघणः स्वस्तिः परशुर्वेदिः परशुर्नः स्वस्ति । हविष्कृतो यज्ञिया यज्ञकामास्ते देवासो यज्ञमिमं जुषन्ताम् ॥ १ ॥

वेदः । स्वस्तिः । द्रु-घनः । स्वस्तिः । परशुः । वेदिः । परशुः । नः । स्वस्ति । हविः-कृतः । यज्ञियाः । यज्ञ-कामाः । ते । देवासः । यज्ञम् । इमम् । जुषन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वेदः) वेद [ईश्वरीय ज्ञान] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (द्रुघणः) मुद्गर [मोंगरी] (स्वस्तिः) मङ्गलकारी हो, (वेदिः) वेदी [यज्ञभूमि, हवनकुण्ड आदि], (परशुः) फरसा [वा गड़ासी] और (परशुः) कुल्हाड़ी (नः) हमें (स्वस्ति) मङ्गलकारी हो । (हविष्कृतः) देने लेने योग्य

उपस्थिता अभवत् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (वैश्वदेवी) दिव्यपदार्थानां सम्बन्धिनी ॥

१—(वेदः) हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । इति विद ज्ञाने, विद सत्तायाम्, विद्लृ लाभे, विद विचारणे-घञ् । संहितात्मकः परमेश्वरोक्तो ग्रन्थभेदः (स्वस्तिः) अ० १ । ३० । २ । मङ्गलकरः (द्रुघणः) करणेऽयोविद्रुषु । पा० ३ । ३ । ८२ । इति द्रु + हन्-अप्, घनादेशश्च । पूर्वपदात्संज्ञायामगः । पा० ८ । ४ । ३ । इति णत्वम् । द्रुमयः काष्ठमयो घनः । मुद्गरः (स्वस्तिः) (परशुः) अ० ३ । १६ । ४ । तृणादिच्छेदनी (वेदिः) इगुपधात् कित् ... अर्हिविद्रुतिविदि० । उ० ४ ।

व्यवहार करने वाले, (यज्ञियाः) पूजनीय, (यज्ञकामाः) मिलाप चाहने वाले (ते) वे (देवासः) विद्वान् लोग (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय कर्म को] (जुषन्ताम्) स्वीकार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदज्ञान द्वारा सब उचित सामग्री लेकर विद्वानों के सत्संग से अग्नि में हवन तथा शिल्प सम्बन्धी संयोग वियोग आदि क्रिया करके आनन्दित रहें ॥

सूक्तम् २६ ॥

१-२ ॥ अग्नाविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्युत्सूर्यगुणोपदेशः—बिजुली और सूर्य के गुणों का उपदेश ॥

अग्नाविष्णु महि तद् वां महित्वं पाथो घृतस्य गुह्यस्य नाम । दमेदमे सप्त रत्ना दधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमा चरण्यात् ॥ १ ॥

अग्नाविष्णू इति । महि । तत् । वाम् । महि-त्वम् । पाथः । घृतस्य । गुह्यस्य । नाम । दमे-दमे । सप्त । रत्ना । दधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । आ । चरण्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्नाविष्णू) हे बिजुली और सूर्य ! (वाम्) तुम दोनों का (तत्) वह (महि) बड़ा (महित्वम्) महत्त्व है, (गुह्यस्य) रक्षणीय,

---

१६६ । इति विद ज्ञाने—इन् । यज्ञभूमिः । हवनकुण्डादिः । पण्डितः (परशुः) वृक्षच्छेदनसाधनं कुठारः (नः) अस्मभ्यम् (स्वस्ति) सुखकरः (हविष्कृतः) दातव्यग्राह्यव्यवहारकर्तारः (यज्ञियाः) आदरार्हाः (यज्ञकामाः) संगतिं कामयमानाः (ते) प्रसिद्धाः (देवासः) व्यवहारिणो विद्वांसः (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (इमम्) (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

१—(अग्नाविष्णू) देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । पूर्वपदस्यानङ् । हे विद्युत्सूर्यौ (महि) महत् (तत्) प्रसिद्धम् (वाम्) युवयोः (महित्वम्) महत्त्वं प्रभुत्वम् (पाथः) पा रक्षणे—लट् । रक्षथः (घृतस्य) साररसस्य

वा गुप्त (घृतस्य) सार रस के (नाम) झुकाव की (पाथः) तुम दोनों रक्षा करते हो। (दमेदमे) घर घर में [प्रत्येक शरीर वा लोक में] (सप्त) सात (रत्ना) रत्नों [धातुओं अर्थात् रस, रुधिर, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा और वीर्य] को (दधानौ) धारण करने वाले हो, (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जय शक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) भले प्रकार (चरण्यात्) बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जाठर अग्नि वा बिजुली अन्न को पकाकर उसके सार रस से सात धातु, रस, रुधिर आदि बनाकर शरीर को पुष्ट करता है। और सूर्य पार्थिव जल को खींच कर मेघ बनाकर वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥१

अग्नाविष्णू महि धाम प्रियं वां वीथो घृतस्य गुह्या जुषाणौ । दमेदमे सुष्टुत्या वावृधानौ प्रति वां जिह्वा घृतमुच्चरण्यात् ॥ २ ॥

अग्नाविष्णू इति । महि । धाम । प्रियम् । वाम् । वीथः । घृतस्य । गुह्या । जुषाणौ । दमे-दमे । सु-स्तुत्या । ववृधानौ । प्रति । वाम् । जिह्वा । घृतम् । उत् । चरण्यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्नाविष्णू) हे बिजुली और सूर्य (वाम्) तुम दोनों का (महि) बड़ा (प्रियम्) प्रीति करने वाला (धाम) धर्म वा नियम है, तुम

(गुह्यस्य) अ० ३ । ५ । ३ । गोपनीयस्य । गुप्तस्य (नाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । इति नमतेर्मनिन्, मलोपो दीर्घश्च । नमनं प्रापणम् (दमेदमे) गृहे गृहे (सप्तरत्ना) रमणीयान् सप्तधातून् । रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः । इति शब्दकल्पद्रुमः (दधानौ) धारयन्तौ (प्रति) प्रत्यक्षम् (वाम्) युवयोः (जिह्वा) शेवायह्वजिह्वा० । उ० १ । १५४ । इति जि जये—वन्, हुक् च । जयशक्तिः (घृतम्) साररसम् (आचरण्यात्) चरण गतौ कण्ड्वादी—लेट् । आचरेत् । साधयेत् ॥

२—(अग्नाविष्णू) म० १ । विद्युत्सूर्यौ (धाम) धर्मः । नियमः (प्रियम्) प्रीतिकरम् (वीथः) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु ।

दोनों (घृतस्य) सार रस के (गुह्या) सूक्ष्मतत्त्वों को (जुषाणौ) सेवन करते हुये (वीथः) प्राप्त होते हो। (दमेदमे) घर घर में (सुष्टुत्या) बड़ी स्तुति के साथ (ववृधानौ) वृद्धि करते हुये [रहते हो,] (वाम्) तुम दोनों की (जिह्वा) जयशक्ति (घृतम्) सार रस को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (उत्) उत्तमता के साथ (चरण्यात्) प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बिजुली वा शारीरिक अग्नि और सूर्यके नियम बड़े अद्भुत हैं, बिजुली अन्न के रस से शरीर को पुष्टि करती और सूर्य मेघ की जलवृष्टि से संसार को बढ़ाता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शुभकर्मकरणोपदेशः—शुभ कर्म करने का उपदेश ॥

स्वाक्तं मे द्यावापृथिवी स्वाक्तं मित्रो अकरयम्।
स्वाक्तं मे ब्रह्मणस्पतिः स्वाक्तं सविता करत् ॥ १ ॥

सु-आक्तम्। मे। द्यावापृथिवी इति। सु-आक्तम्। मित्रः। अकः। अयम्। सु-आक्तम्। मे। ब्रह्मणः। पतिः। सु-आक्तम्। सविता। करत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी ने (मे) मेरा (स्वाक्तम्) स्वागत [किया है]; (अयम्) इस (मित्रः) मित्र [माता पिता आदि] ने (स्वाक्तम्) स्वागत (अकः) किया है। (ब्रह्मणः) वेद विद्या का (पतिः)

गच्छथः। प्राप्नुथः (घृतस्य) साररसस्य (गुह्या) गुप्तानि। सूक्ष्मतत्त्वानि (सुष्टुत्या) शोभनया स्तुत्या (ववृधानौ) वर्धमानौ (उत्) उत्तमतया। अन्यत्पूर्ववत्—म० १ ॥

१—(स्वाक्तम्) सु+आङ+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त। स्वागतम्। शुभागमनम्, अकार्ष्टाम्, कृतवत्यौ—इति शेषः (मे) मम (द्यावापृथिवी) द्यावापृथिव्यौ (मित्रः) प्रियः मातापित्रादिः (अकः) अ० १।

रक्षक [आचार्य] (मे) मेरा (स्वाक्तम्) स्वागत, और (सविता) प्रजा प्रेरक शूर पुरुष (स्वाक्तम्) स्वागत (करत्) करे ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सदा ऐसे शुभ कर्म करे जिससे संसार के सब पदार्थ और विद्वान् लोग उसके उपकारी होवें ॥१॥

सूक्तम् ३१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रोतिभिर्बहुलाभिर्नो अद्य यावच्छ्रेष्ठाभिर्मघवन्छूर जिन्व । यो नो द्वेष्ट्यधरः सस्पदीष्ट यमु द्विष्मस्तमु प्राणो जहातु ॥ १ ॥

इन्द्र । ऊ॒ति-भिः । बहु॒लाभिः । नः । अद्य । यावत्-श्रे॒ष्ठाभिः । मघ-वन् । शूर॒ । जिन्व॒ । यः । नः । द्वेष्टि । अधरः । सः । प॒-दी॒ष्ट । यम् । ऊं इति । द्विष्मः । तम् । ऊं इति । प्राणः । जहा॒तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े धनी ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्यवाले राजन् ! (नः) हमें (अद्य) आज (बहुलाभिः) अनेक (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथा सम्भव श्रेष्ठ (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाओं से (जिन्व) प्रसन्न कर । (यः) जो (नः) हमसे (द्वेष्टि) वैर करता है, (सः) वह (अधरः)

---

८ । १ । करोतेर्लुङि, इकारलोपे तलोपः । अकार्षीत् (अयम्) समीपवर्ती (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) रक्षकः आचार्यः । (सविता) प्रजाप्रेरकः शूरः (करत्) लेटि रूपम् । कुर्यात् । अन्यद् गतम् ॥

१—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (ऊतिभिः) रक्षाक्रियाभिः (बहुलाभिः) अ० ३ । १४ । ६ । बहुप्रकाराभिः (नः) अस्मान्) (अद्य) अस्मिन् दिने (यावच्छ्रेष्ठाभिः) यथा सम्भवं प्रशस्यतमाभिः (मघवन्) महाधनिन् (शूर) (जिन्व) जिवि प्रीणने । प्रसादय (यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (द्वेष्टि) वैरयति

नीचा हो कर (पदीष्ट) चला जावे, (उ) और (यम्) जिससे (द्विष्मः) हम वैर करते हैं, (तम्) उसको (उ) भी (प्राणः) उसका प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपने शूर वीरों सहित यथाशक्ति सब प्रकार के उपायों से शिष्टों का पालन और दुष्टों का निवारण करे ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—३। ५३। २१ ॥

सूक्तम् ३२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाकर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के कर्म का उपदेश ॥

उप॑ प्रि॒यं पनि॑प्नतं॒ युवा॑नमाहुती॒वृध॑म् ।
अग॑न्म॒ बिभ्र॑तो॒ नमो॑ दी॒र्घमायुः॑ कृणोतु मे ॥ १ ॥

उप॑ । प्रि॒यम् । पनि॑प्नतम् । युवा॑नम् । आ॒हु॒ति॒-वृध॑म् । अग॑न्म । बिभ्र॑तः । नमः॑ । दी॒र्घम् । आयुः॑ । कृ॒णो॒तु॒ । मे॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नमः) वज्र को (बिभ्रतः) धारण करते हुये [पुरुषार्थ करते हुये] हम लोग (प्रियम्) प्रीति करने वाले, (पनिप्नतम्) अत्यन्त व्यवहारकुशल, (युवानम्) पदार्थों के संयोग वियोग करने वाले वा बलवान्, (आहुतिवृधम्) यथावत् देने लेने योग्य क्रिया के बढ़ाने वाले राजा को (उप

(सः) शत्रुः । विसर्गसकारौ सांहितिकौ (पदीष्ट) पद गतौ आशीर्लिङि । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । इति सार्वधातुकत्वात्सलोपः, सुट्तिथोः । पा०३ । ४ । १०७ । इति सुडागमः पत्सीष्ट । गम्यात् (यम्) (उ) चार्थे (द्विष्मः) वैरयामः (तम्) (उ) अपि (प्राणः) जीवनहेतुः (जहातु) ओ हाक् त्यागे । त्यजतु ॥

१—(उप) पूजायाम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् (पनिप्नतम्) पन व्यवहारे स्तुतौ च यङ्लुकि शतृ । दाधर्तिदर्धर्ति० । पा०७ । ४ । ६५ । इति सूत्र इति करणस्य प्रदर्शनादत्राभ्यासस्य निगागम उपधालोपश्च । अत्यन्तं व्यवहारकुशलम् (युवानम्) पदार्थानां संयोजकवियोजकं बलवन्तं वा (आहुतिवृधम्) यथावद्

अगन्म) प्राप्त हुये हैं वह (मे) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नीति कुशल, प्रतापी राजा अनेक विद्याओं के दान से प्रजा की रक्षा करे, उसी प्रकार प्रजा भी उसके उपकारों को सन्मान पूर्वक ग्रहण करे ॥१॥

सूक्तम् ३३ ॥

१ ॥ विश्वे देवा देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सर्वसम्पत्तिवर्धनोपदेशः—सब सम्पतियों के बढ़ानेका उपदेश ॥

सं मा सिञ्चन्तु मरुतः सं पूषा सं बृहस्पतिः । सं मायमग्निः सिञ्चतु प्रजया च धनेन च दीर्घमायुः कृणोतु मे १

सम् । मा । सिञ्चन्तु । मरुतः । सम् । पूषा । सम् । बृहस्पतिः । सम् । मा । अयम् । अग्निः । सिञ्चतु । प्र-जया । च । धनेन । च । दीर्घम् । आयुः । कृणोतु । मे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) वायु के झोके (मा) मुझे (सम्) भले प्रकार (सिञ्चन्तु) सींचे, (पूषा) पृथिवी (सम्) भले प्रकार और (बृहस्पतिः) बड़े बड़ों का रक्षक सूर्य [वा मेघ] (सम्) भले प्रकार [सींचे] । (अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [शारीरिक अग्नि वा बल] (मा) मुझको (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि (च) और (धनेन) धन से (सम्) भले प्रकार (सिञ्चतु) सींचे (च) और (मा) मेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

दातव्यग्राह्यक्रियावर्धकम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (बिभ्रतः) धारयन्तः (नमः) वज्रम्—निघ० २ । २० (दीर्घम्) चिरम् (आयुः) जीवनम् (कृणोतु) करोतु (मे) मम ॥

१—(सम्) सम्यक् (मा) माम् (सिञ्चन्तु) आर्द्रीकुर्वन्तु । वर्धयन्तु (मरुतः) वायुगणाः (पूषा) पृथिवी—निघ० १ । १ (बृहस्पतिः) बृहतां पालकः सूर्यो मेघो वा (मा) (अयम्) (अग्निः) जाठराग्निः (सिञ्चतु) (प्रजया)

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि सब पदार्थों से उपकार लेकर शारीरिक आत्मिक बल, सन्तान भृत्य आदि बढ़ा कर यश प्राप्त करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजराजपुरुषकर्तव्योपदेशः—राजा और राजपुरुष के कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्ने॑ जा॒तान् प्र णु॑दा मे स॒पत्ना॒न् प्रत्यजा॑तान् जात-वे॒दो नु॑दस्व । अ॒ध॒स्प॒दं कृ॑णुष्व॒ ये पृ॑त॒न्यवो॒ऽना॑गस॒स्ते व॒यमदि॑तये स्याम ॥ १ ॥

अग्ने॑ । जा॒तान् । प्र । नु॒द॒ । मे॒ । स॒ऽपत्ना॑न् । प्रति॑ । अजा॑तान् । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ । नु॒द॒स्व॒ । अ॒धः॒ऽप॒दम् । कृ॒णु॒ष्व॒ । ये । पृ॒त॒न्यवः॑ । अना॑गसः । ते । व॒यम् । अदि॑तये । स्या॒म॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे बलवान् राजन् वा सेनापति ! (मे) मेरे (जातान्) प्रसिद्ध (सपत्नान्) वैरियों को (प्रणुद) निकाल दे, (जातवेदः) हे बड़े बुद्धिवाले राजन् ! (अजातान्) अप्रसिद्ध [शत्रुओं] को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे । (ये) जो (पृतन्यवः) संग्राम चाहने वाले [विरोधी] हैं, (उन्हें) (अधस्पदम्) अपने पांव तले (कृणुष्व) करले (ते) वे (वयम्) हम लोग (अदितये) अदीन भूमि के लिये (अनागसः) निर्विघ्न हो कर (स्याम) रहें ॥ १ ॥

सन्तानभृत्यादिना (धनेन) वित्तेन । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१—(अग्ने) बलवन् राजन् सेनापते वा (जातान्) प्रादुर्भूतान् (प्र णुद) अपसार्य (सपत्नान्) वैरिणः (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (नुदस्व) प्रेरय (अधस्पदम्) अ० २ । ७ । २ । पादस्याधस्तात् (कृणुष्व) कुरु (ये) शत्रवः (पृतन्यवः) पृतना—क्यच् , उ प्रत्ययः । कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इत्याकारलोपः । संग्रामेच्छवः (अनागसः) निर्विघ्नाः (ते) तादृशाः (वयम्) धार्मिकाः (अदितये) अदीनायै भूम्यै—निघ० १ । १ । (६

भावार्थ—राजा आदि सब लोग गुप्त दूतों द्वारा प्रकट और गुप्त दुष्टों को वश में करें, जिस से धर्मात्मा लोग निर्विघ्नता से संसार का उपकार करते रहें ॥१॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१५ । १ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१-३ ॥ जातवेदा देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्रान्यान्त्सपत्नान्त्सहसा सहस्व प्रत्यजातान् जातवेदो नुदस्व । इदं राष्ट्रं पिपृहि सौभगाय विश्वं एनमनु मदन्तु देवाः ॥ १ ॥

प्र । अन्यान् । स-पत्नान् । सहसा । सहस्व । प्रति । अजा-तान् । जात-वेदः । नुदस्व । इदम् । राष्ट्रम् । पिपृहि । सौभगाय । विश्वे । एनम् । अनु । मदन्तु । देवाः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनवाले राजन् ! (सहसा) अपने बल से (अन्यान्) दूसरे लोगों [विरोधियों] को (प्र सहस्व) हरा दे और (अजातान्) अप्रकट (सपत्नान्) वैरियों को (प्रति) उलटा (नुदस्व) हटा दे । (इदम्) इस (राष्ट्रम्) राज्य को (सौभगाय) बड़े ऐश्वर्य के लिये (पिपृहि) पूर्ण कर, (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (एनम् अनु) इस आप के साथ साथ (मदन्तु) प्रसन्न हों ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपनी सुनीति से बाहिरी और भीतरी वैरियों का

१—(प्र) प्रकर्षेण (अन्यान्) विरोधिनः (सपत्नान्) शत्रून् (सहसा) स्वबलेन (सहस्व) अभिभव । पराजय (प्रति) प्रतिकूलम् (अजातान्) अप्रकटान् (जातवेदः) हे प्रभूतधन राजन् (नुदस्व) अपसारय (इदम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (पिपृहि) पूरय (सौभगाय) सौभाग्याय (विश्वे) (एनम्) राजानम् (अनु) अनुसृत्य (मदन्तु) हर्षन्तु (देवाः) व्यवहारकुशलाः ॥

नाश करके प्रजापालन करे। और प्रजागण उस राजा के साथ साथ ऐश्वर्य बढ़ा कर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इमा यास्ते शतं हिराः सहस्रं धमनीरुत ।
तासां ते सर्वासामहमश्मना बिलमप्यधाम् ॥ २ ॥

इमाः । याः । ते । शतम् । हिराः । सहस्रम् । धमनीः । उत । तासाम् । ते । सर्वासाम् । अहम् । अश्मना । बिलम् । अपि । अधाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरी (इमाः) यह (याः) जो (शतम्) सौ [बहुत] (हिराः) सूक्ष्म नाड़ियां (उत) और (सहस्रम्) सहस्र [अनेक] (धमनीः) स्थूल नाड़ियां हैं। (ते) तेरी (तासाम्) उन (सर्वासाम्) सब [नाड़ियों] के (बिलम्) छिद्र को (अहम्) मैं [प्रजागण] ने (अश्मना) व्यापक [अथवा पाषाण समान दृढ़] उपाय से (अपि) निश्चय करके (अधाम्) पुष्ट किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा की शारीरिक और आत्मिक शक्ति बढ़ा कर उसे सदा प्रसन्न रक्खें ॥ २ ॥

परं योनेरवरं ते कृणोमि मा त्वा प्रजाभि भून्मोत सूनुः । अस्वं १ त्वाप्रजसं कृणोम्यश्मानं ते अपिधानं कृणोमि ॥ ३ ॥

२—(इमाः) शरीरस्थाः (याः) (ते) त्वदीयाः (शतम्) बहुसंख्याकाः (हिराः) अ० १ । १७ । १ । सूक्ष्मा नाड्यः (सहस्रम्) अनेकाः (धमनीः) अ० १ । १७ । २ । स्थूला नाड्यः (उत) अपि (तासाम्) (ते) त्वदीयानाम् (सर्वासाम्) नाडीनाम् (अहम्) प्रजागणः (अश्मना) अ० १ । २ । २ । व्यापकेनोपायेन । यद्वा पाषाणवद्दृढोपायेन (बिलम्) बिल भेदने–क । बिलं भरं भवति बिभर्त्तेः–निरु० २ । १७ । छिद्रम् (अपि) निश्चयेन (अधाम्) धाञो-लुङ् । पोषितवानस्मि ॥

परम् । योनेः । अवरम् । ते । कृणोमि । मा । त्वा । प्र-जा । अभि । भूत् । मा । उत । सूनुः । अस्वम् । त्वा । अप्रजसम् । कृणोमि । अश्मानम् । ते । अपि-धानम् । कृणोमि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ते) तेरे (योनेः) घर के (परम्) शत्रु को (अवरम्) नीच (कृणोमि) बनाता हूं, (त्वा) तुझको (मा) न तो (प्रजा) प्रजा भृत्य आदि (उत) और (मा) न (सूनुः) पुत्र (अभि भूत्) तिरस्कार करे । (त्वा) तुझको (अस्वम्) बुद्धिमान् और (अप्रजसम) अताड़नीय पुरुष (कृणोमि) मैं करता हूं और (ते) तेरे (अपिधानम्) ओढ़ने [कवच] को (अश्मानम्) पत्थर समान दृढ़ (कृणोमि) मैं बनाता हूं ॥३॥

भावार्थ—बुद्धिमान्, बलवान्, दृढ़स्वभाव राजा ऐसी सुनीति का प्रचार करे कि उससे उसकी प्रजा और सन्तान में फूट न पड़े, किन्तु सब प्रीति पूर्वक रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१ ॥ मित्रे देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परमित्रत्वोपदेशः—परस्पर मित्रता का उपदेश ॥

अक्ष्यौ नौ मधुसंकाशे अनीकं नौ सुमञ्जनम् ।
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति ॥ १ ॥

अक्ष्यौ । नौ । मधुसंकाशे इति मधु-संकाशे । अनीकम् । नौ । सम्-अञ्जनम् । अन्तः । कृणुष्व । माम् । हृदि । मनः ।

३—(परम्) शत्रुम् (योनेः) गृहस्य (अवरम्) अधमम् (ते) तव (कृणोमि) करोमि (मा) निषेधे (त्वा) राजानम् (प्रजा) भृत्यादिः (अभिभूत्) अभिभवेत् । तिरस्कुर्यात् (मा) निषेधे (उत) अपि (सूनुः) पुत्रः (अस्वम्) असु-अर्श आद्यच् । असुः प्रज्ञा—निघ ३ । ९ । प्रज्ञावन्तम् (त्वा) राजानम् (अप्रजसम्) जसु हिंसायां ताडने च—पचाद्यच् । अताडनीयम् बलवन्तम् (कृणोमि) (अश्मानम्) पाषाणवद् दृढम् (ते) तव (अपिधानम्) संवरणम् । कवचम् ॥

इत् । नौ । सह । असति ॥ १ ॥

भाषार्थ--(नौ) हम दोनों की (अक्ष्यौ) दोनों आखें (मधुसंकाशे) ज्ञान की प्रकाश करने वाली और (नौ) हम दोनों का (अनीकम्) मुख (समञ्जनम्) यथावत् विकाश वाला [होवे]। (माम्) मुझको (हृदि अन्तः) अपने हृदय के भीतर (कृणुष्व) कर ले, (नौ) हम दोनों का (मनः) मन (इत्) भी (सह) एकमेल (असति) होवे ॥१॥

भावार्थ--मनुष्य आपस में प्रीतियुक्त रह कर सदा धर्मयुक्त व्यवहार करके प्रसन्न रहें ॥१॥

सूक्तम् ३७ ॥

१ ॥ दम्पती दवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः--विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

अभि त्वा मनुजातेन दधामि मम वाससा ।
यथासो मम केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ १ ॥

अभि । त्वा । मनु-जातेन । दधामि । मम । वाससा । यथा । असः । मम । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ॥१॥

भाषार्थ--[हे स्वामिन् !] (मनुजातेन) मननशील मनुष्यों में प्रसिद्ध (मम वाससा) अपने वस्त्र से (त्वा) तुझे (अभि दधामि) मैं बांधती हूं। (यथा) जिससे तू (केवलः) केवल (मम) मेरा (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्) अन्य स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥१॥

१--(अक्ष्यौ) अ० १ । २७ । १ । अक्षिणी (नौ) आवयोः (मधुसङ्काशे) काश दीप्तौ-अच् । ज्ञानप्रकाशिके (अनीकम्) अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४ । १७ । अन जीवने-ईकन् । मुखप्रदेशः (समञ्जनम्) सम्यग्व्यक्तिकरं विकाशकम् (अन्तः) मध्ये (कृणुष्व) कुरु (माम्) मित्रम् (हृदि) हृदये (मनः) चित्तम् (इत्) एव (नौ) आवयोः (सह) परस्परमिलितम् (असति) भूयात् ॥

१--(त्वा) पतिम् (मनुजातेन) मननशीलेषु मनुष्येषु प्रसिद्धेन (अभि दधामि) अभिपूर्वो दधातिर्बन्धने । बध्नामि (वाससा) वस्त्रेण यथा

भावार्थ—विवाह में विद्वानों के बीच वस्त्र का गठिबन्धन करके वधू और वर दृढ़प्रतिज्ञा करें कि पत्नी पतिव्रता और पति पत्नीव्रत होकर गृहस्थ आश्रम को प्रीति पूर्वक निवाहें ॥१॥

सूक्तम् ३८ ॥

१-५ ॥ दम्पती देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विवाहप्रतिज्ञोपदेशः—विवाह में प्रतिज्ञा का उपदेश ॥

इदं खनामि भेषजं मांपश्यमभिरोरुदम् ।
परायतो निवर्तनमायतः प्रतिनन्दनम् ॥ १ ॥

इदम् । खनामि । भेषजम् । माम्-पश्यम् । अभि-रोरुदम् ।
परा-यतः । नि-वर्तनम् । आ-यतः । प्रति-नन्दनम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे स्वामिन् ! मैं वधू] (मांपश्यम्) लक्ष्मी के देखने वाले [खोजने वाले], (अभिरोरुदम्) परस्पर संगति देने वाले, (परायतः) दूर जाने वाले के (निवर्तनम्) लौटाने वाले, (आयतः) आने वाले के (प्रतिनन्दनम्) स्वागत करने वाले (इदम्) इस [प्रतिज्ञा रूप] (भेषजम्) भयनिवारक औषध को (खनामि) खोदती हूं [प्रकट करती हूं] ॥ १ ॥

येन प्रकारेण (असः) असेर्लेटि, अडागमः । भवेः (मम) (केवलः) असाधारणः (न) निषेधे (अन्यासाम्) अन्यस्त्रीणाम् (कीर्तयाः) कृत संशब्दने, णिचि । उपधायाश्च । पा० ७ । १ । १०१ । इत्वम् उपधायां च । पा० ८ । २ । ७८ । इति दीर्घः, लेटि आडागमः । कीर्तयेः । कीर्तनं ध्यानं कुर्याः (चन) चार्थे ॥

१—(इदम्) प्रतिज्ञारूपम् (खनामि) खननेन अन्वेषणेन प्राप्नोमि (भेषजम्) भयनिवारकमौषधम् (मांपश्यम्) इन्दिरा लोकमाता मा—अमर० १ । २९ । मा=लक्ष्मीः । पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । इति दृशेः शप्रत्ययः । पाघ्राध्मा० । पा० ७ । ३ । ७८ । पश्यादेशः । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इति द्वितीयाया अलुक् । मां लक्ष्मीं पश्यत् विलोकयत् (अभिरोरुदम्) अभि+रोरु+दम् । मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । इति रुङ् गतिरेषणयोः—रु+दा—क । अभिरोरोः, अभिगतेः परस्परसंगतेः प्रदम् (परायतः) परा

भावार्थ—जिस प्रकार वैद्य उत्तम ओषधि को खोद कर उपकार लेता है। इसी प्रकार वधू वर प्रतिज्ञा करके परस्पर सुख बढ़ावें ॥१॥

येना॑ नि॒चक्र॑ आसु॒रीन्द्रं॑ दे॒वेभ्य॒स्परि॑ ।
तेना॒ नि कु॑र्वे॒ त्वाम॒हं यथा॒ तेऽसा॑नि॒ सुप्रि॑या ॥ २ ॥

येन॑ । नि॒-च॒क्रे । आ॒सु॒री । इन्द्र॑म् । दे॒वेभ्यः॑ परि॑ । तेन॑ । नि । कु॒र्वे॒ । त्वाम् । अ॒हम् । यथा॑ । ते॒ । अ॒सा॑नि । सु॒-प्रि॑या ॥२॥

भाषार्थ—(येन) जिस [उपाय] से (आसुरी) बुद्धिमानों वा बलवानों के हित करने वाली बुद्धि ने (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य को (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (परि) सब ओर से (निचक्रे) नियत किया था। (तेन) उसी [उपाय] से (अहम्) मैं (त्वम्) तुझको (नि कुर्वे) नियत करती हूं, (यथा) जिस से मैं (ते) तेरी (सुप्रिया) बड़ी प्रीति करने वाली (असानि) रहूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य पूर्वकाल में बुद्धि और बल द्वारा उत्तम गुण प्राप्त करते रहे हैं, उसी प्रकार दम्पती प्रयत्न करके परस्पर प्रीति के साथ उत्तम गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

प्र॒तीची॒ सोम॑मसि प्र॒तीच्यु॒त सूर्य॑म् ।
प्र॒तीची॒ विश्वा॑न् दे॒वान् तां त्वा॒च्छाव॑दामसि ॥ ३ ॥

+आङ्+इण गतौ—शतृ। दूरगच्छतः पुरुषस्य (निवर्त्तनम्) पुनरागमनकारणम् (आयतः) आगच्छतः पत्युः (प्रतिनन्दनम्) स्वागतकरम् ॥

२—(येन) उपायेन (निचक्रे) नियतं कृतवती (आसुरी) अ० १। २४। १। असुः प्रज्ञा प्राणो वा—रोमत्वर्थीयः—असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा—निरु० १०। ३४। मायायामण्। पा० ४। ४। १२४। असुर—अण्। प्रज्ञावतां बलवतां वा हिता माया प्रज्ञा—निघ० ३। ६। (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं नरम् (देवेभ्यः) उत्तमगुणानां प्राप्तये (परि) सर्वतः (तेन) उपायेन (नि) नियतम् (कुर्वे) करोमि (त्वाम्) वरम् (अहम्) वधूः (यथा) (ते) तव (असानि) भवानि (सुप्रिया) सुप्रीतिकरा ॥

प्रतीची । सोमम् । असि । प्रतीची । उत । सूर्यम् । प्रतीची । विश्वान् । देवान् । ताम् । त्वा । अच्छ-आवदामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली तू (सोमम्) चन्द्रमा को, (उत) और (प्रतीची) प्रतिज्ञापूर्वक मार्गवाली तू (सूर्यम्) सूर्य को, और (प्रतीची) प्रतिष्ठा पूर्वक उपायवाली तू (विश्वान्) सब (देवान्) उत्तम गुणों को। (असि–असति) प्राप्त होती है, (ताम् त्वा) उस तुझको (अच्छावदामसि) हम स्वागत करके बुलाते हैं ॥ ३॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष चन्द्रसमान शान्त स्वभाव, सूर्यसमान तेजस्विनी और सर्वगुणवती वधू का यथावत् आदर करें ॥ ३ ॥

अहं वंदामि नेत् त्वं सभायामह त्वं वद ।
ममेदसुस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयाश्चन ॥ ४ ॥

अहम् । वदामि । न । इत् । त्वम् । सभायाम् । अह । त्वम् । वद । मम । इत् । असः । त्वम् । केवलः । न । अन्यासाम् । कीर्तयाः । चन ॥४

भाषार्थ—(अहम्) मैं (न इत्) अभी (वदामि) बोल रही हूं, (त्वम् त्वम्) तू तू (अह) भी (सभायाम्) सभा में (वद) बोल। (त्वम्) तू (केवलः) केवल (मम इत्) मेरा ही (असः) होवे, (चन) और (अन्यासाम्)

३—(प्रतीची) प्रति+अञ्चु गतौ—क्विन्। अञ्चतेश्चोपसंख्यानम्। वा० पा० ४ । १ । ६ । ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । अकारलोपः । चौ । पा० ६ । ४ । २२२ । पूर्वपदस्य दीर्घः । प्रति निश्चयेन गतिमती ज्ञानवती (सोमम्) चन्द्रम्, चन्द्रतुल्यशान्तस्वभावम् (असि) असति स्थाने असि रूपम् । अस ग्रहणे गतौ च-लट् । गच्छसि । प्राप्नोषि (प्रतीची) प्रतिज्ञया गतिमती मार्गवती (उत) अपि च (सूर्यम्) सूर्यतुल्यप्रतापम् (प्रतीची) प्रति प्रतिष्ठया गतिमती प्रयत्नवती (विश्वान्) सर्वान् (देवान्) दिव्यगुणान् (ताम्) तथाभूताम् (त्वा) त्वां वधूम् (अच्छावदामसि) अ० ६ । ५६ । ३ । अच्छ सत्कारेण आह्वयामः ॥

४—(अहम्) वधूः (वदामि) प्रतिजानामि (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ । (इत्) एव (त्वम् त्वम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् (सभायाम्) विद्वत्समाजे (अह)

दूसरी स्त्रियों का (न कीर्तयाः) तू न ध्यान करे ॥ ४ ॥

भावार्थ--वधू और वर पंचों के सन्मुख दृढ़प्रतिज्ञा करके सदाचारी रह कर धर्म पर चलते रहें ॥४॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध भेद से आचुका है--अ० ७ । ३७ । १ ॥

यदि॒ वासि॑ तिरोज॒नं यदि॑ वा न॒द्य॑स्ति॒रः ।
इ॒यं ह॒ मह्यं॒ त्वामोष॑धिर्ब॒द्ध्वे॒व॒ न्यान॑यत् ॥ ५ ॥

यदि॑ । वा॒ । असि॑ । ति॒रः-ज॒नम् । यदि॑ । वा॒ । न॒द्यः॑ । ति॒रः । इ॒यम् । ह॒ । मह्य॑म् । त्वाम् । ओष॑धिः । ब॒द्ध्वा-इ॑व । नि॒-आन॑यत् ॥५॥

भाषार्थ--[हे पति !] तू (यदि वा) चाहे (तिरोजनम्) मनुष्यों से अदृष्ट स्थान में (असि) है, (यदि वा) चाहे (नद्यः) नदियां (तिरः) बीच में हैं । (इयम्) यह [प्रतिज्ञारूप] (ओषधिः) ओषधि (मह्यम्) मेरे लिये (ह) ही (त्वाम्) तुझको (बध्वा इव) बांध कर जैसे (न्यानयत्) लेआवे ॥५॥

भावार्थ--मनुष्य वाणिज्य, युद्ध आदि के लिये दूर परदेशों में जाकर अपने देश को लौटा करें ॥ ५ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१ ॥ सुपर्णः सूर्यो वा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

एव (वद) प्रतिजानीहि (मम) (इत्) एव । अन्यत्पूर्ववत् अ० ७ । ३७ ॥१॥

५--(यदि वा) अथवा (असि) भवसि (तिरोजनम्) क्रियाविशेषणमेतत् । तिरोऽन्तर्हितो ऽदृष्टो जनो यस्मिन्स्थाने तस्मिन् (यदि वा) (नद्यः) सरितः (तिरः) तिरोभूत्वा व्यवधानेन वर्तन्ते (इयम्) प्रतिज्ञारूपा (ह) एव (मह्यम्) मदर्थम् (त्वाम्) पतिम् (ओषधिः) (बद्ध्वा) निगृह्य (इव) (न्यानयत्) नयतेर्लेटि, अडागमः । नितरामानयेत् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

दिव्यं सुपर्णं पयसं बृहन्तमपां गर्भं वृषभमोषधीनाम् । अभीपतो वृष्ट्या तर्पयन्तमा नो गोष्ठे रयिष्ठां स्थापयाति ॥ १ ॥

दिव्यम् । सु-पर्णम् । पयसम् । बृहन्तम् । अपाम् । गर्भम् । वृषभम् । ओषधीनाम् । अभीपतः । वृष्ट्या । तर्पयन्तम् । आ । नः । गो-स्थे । रयि-स्थाम् । स्थापयाति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिव्यम्) दिव्य गुणवाले, (पयसम्) गतिवाले, (बृहन्तम्) विशाल, (अपाम्) अन्तरिक्ष के (गर्भम्) गर्भसमान बीच में रहने वाले, (ओषधीनाम्) अन्न आदि ओषधियों के (वृषभम्) बरसाने वाले, (अभीपतः) सब ओर जल वाले मेघ से (वृष्ट्या) वृष्टिद्वारा (तर्पयन्तम्) तृप्त करने वाले, (रयिष्ठाम्) धन के बीच ठहरने वाले, (सुपर्णम्) सुन्दर किरणों वाले सूर्य के समान विद्वान् पुरुष को (नः) हमारे (गोष्ठे) गोठ वा वार्तालाप स्थान में (आ) लाकर (स्थापयाति) [यह पुरुष] स्थान देवे ॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य सब लोकों के बीच ठहर कर भूगोल आदि लोकों को प्रकाश, वृष्टि आदि से सुखी करता है, वैसेही जो विद्वान् ज्ञान और उपदेश से सब जनों को आनन्दित करे, उसका सब लोग आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ५२ ॥

१—(दिव्यम्) दिव्यगुणम् (सुपर्णम्) रश्मियुक्तसूर्यतुल्यं विद्वांसम् (पयसम्) पय गतौ—असुन्, अर्श आद्यच् । गतिमन्तम् (बृहन्तम्) महान्तम् (अपाम्) अन्तरिक्षस्य—निघ० १ । ३ । (गर्भम् ।) गर्भ इव मध्ये स्थितम् (वृषभम्) वर्षयितारं वर्धयितारम् (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (अभीपतः) ऋक्पूरब्धूः० । पा०५ । ४ । ७४ । अभि + अप् शब्दात्—अ । द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत् । पा०६।३।६७। अकारस्य ईत्वम् । ततस्तसिल् । अभितः सर्वत आपो यस्मिंस्तस्माद् मेघात् (वृष्ट्या) जलवर्षणेन (तर्पयन्तम्) हर्षयन्तम् (आ) आनीय (नः) अस्माकम् (गोष्ठे) वार्तालापस्थाने विद्वत्समाजे (रयिष्ठाम्) धने तिष्ठन्तम् (स्थापयाति) लेटि रूपम् । स्थापयेत् ॥

सूक्तम् ४० ॥

१—२ ॥ सरस्वान् देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर के उपासना का उपदेश ॥

यस्य॑ व्र॒तं प॒शवो॒ यन्ति॒ सर्वे॒ यस्य॑ व्र॒त उ॑पति॒ष्ठन्त॒ आपः॑ । यस्य॑ व्र॒ते पु॒ष्टप॑ति॒र्निवि॑ष्ट॒स्तं सर॑स्वन्त॒मव॑से हवामहे ॥ १ ॥

यस्य॑ । व्र॒तम् । प॒शवः॑ । यन्ति॑ । सर्वे॑ । यस्य॑ । व्र॒ते । उ॒प॒-ति॒ष्ठन्ते॑ । आपः॑ । यस्य॑ । व्र॒ते । पु॒ष्ट-प॑तिः । नि-वि॑ष्टः । तम् । सर॑स्वन्तम् । अव॑से । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (व्रतम्) सुन्दर नियम पर (सर्वे) सब (पशवः) पशु अर्थात् प्राणी (यन्ति) चलते हैं, (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (आपः) जल (उपतिष्ठन्ते) उपस्थित रहते हैं। (यस्य) जिसके (व्रते) नियम में (पुष्टपतिः) पोषण का स्वामी, पूषा सूर्य (निविष्टः) प्रवेश किये हुये है, (तम्) उस (सरस्वन्तम्) बड़े विज्ञान वाले परमेश्वर को (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से यह सब लोक लोकान्तर परस्पर आकर्षण में रह कर एक दूसरे का सहाय करते हैं, उसी प्रकार मनुष्य परमेश्वर की महिमा विचार कर परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

आ प्र॒त्यञ्चं॑ दा॒शुषे॑ दा॒श्वंसं॒ सर॑स्वन्तं पु॒ष्टप॑तिं र॒यि-

१—(यस्य) सरस्वतः (व्रतम्) वरणीयं नियमम् (पशवः) अ० २ । २६ । १ । पशवः=व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २६ । सर्वे प्राणिनः (यन्ति) गच्छन्ति (व्रते) शासने (उपतिष्ठन्ते) अकर्मकाच्च । पा० १ । ३ । २६ । इत्यात्मनेपदम् । उपस्थिताः सन्ति (आपः) जलानि (पुष्टपतिः) पोषणस्य स्वामी । पूषा सूर्यः (तम्) तादृशम् (सरस्वन्तम्) सरांसि श्रेष्ठानि विज्ञानानि सन्ति यस्मिंस्तं परमेश्वरम् (अवसे) रक्षणाय (हवामहे) आह्वयामः ॥

ष्ठाम् । रायस्पोषं श्रवस्युं वसाना इह हुवेम सदनं रयीणाम् ॥ २ ॥

आ । प्रत्यञ्चम् । दाशुषे । दाश्वंसम् । सरस्वन्तम् । पुष्ट-पतिम् । रयि-स्थाम् । रायः । पोषम् । श्रवस्युम् । वसानाः । इह । हुवेम । सदनम् । रयीणाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षव्यापक, (दाशुषे) आत्मदान करने वाले [भक्त] को (दाश्वंसम्) सुख देने वाले (पुष्टपतिम्) पोषण के स्वामी, (रयिष्ठाम्) धन में स्थिति वाले, (रायः) धन के (पोषम्) बढ़ाने वाले, (श्रवस्युम्) सुनने वाले, (रयीणाम्) अनेक धनों के (सदनम्) भण्डार (सरस्वन्तम्) बड़े ज्ञानवान् परमेश्वर को (वसानाः) स्वीकार करते हुये हम लोग (इह) यहां पर (आ) सब प्रकार (हुवेम) बुलावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक परमेश्वर के अनन्त भण्डार से अनेक प्रकार के धन प्राप्त करके सुखी रहें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

१—२ ॥ श्येनो देवता ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ।

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य पाने का उपदेश ॥

अति धन्वान्यत्यपस्ततर्द श्येनो नृचक्षा अवसानदर्शः ।

२—(आ) समन्तात् (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षव्यापकम् (दाशुषे) अ० ४ । २४ । १ । आत्मानं दत्तवते (दाश्वंसम्) छान्दसो ह्रस्वः । दाश्वांसम् । सुखस्य दातारम् (सरस्वन्तम्)—म० १ । पूर्णविज्ञानवन्तम् (पुष्टपतिम्) पोषणस्य स्वामिनम् (रयिष्ठम्) धने स्थितम् (रायः) धनस्य (पोषम्) पुष पुष्टौ पचाद्यच् । पोषकम् (श्रवस्युम्) अ० ६ । ६८ । २ । श्रवणशीलम् (वसानाः) वस स्वीकारे चुरादिः, शानचि छान्दसं रूपम् । स्वीकुर्वाणाः (इह) अस्मिन् संसारे (हुवेम) लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति ह्वेञ् आह्वाने—अङ् । बहुलं छन्दसि । पा० ६ । १ । ३४ । सम्प्रसारणम् । हूयास्म । आह्वयेम (सदनम्) गृहम् (रयीणाम्) धनानाम् ॥

तरन् विश्वान्यवंरा रजांसीन्द्रेण सख्यां शिव आ जगम्यात् ॥ १ ॥

अति । धन्वानि । अति । अपः । ततर्द । श्येनः । नृ-चक्षाः । अवसान-दर्शः । तरन् । विश्वानि । अवरा । रजांसि । इन्द्रेण । सख्यां । शिवः । आ । जगम्यात् ॥ १ ॥

भाषार्थ–(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाले, (अवसानदर्शः) अन्त के देखने वाले, (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा ने (धन्वानि) निर्जल देशों को (अति) अत्यन्त करके और (अपः) जलों को (अति) अत्यन्त करके (ततर्द) पीड़ित [वशीभूत] किया है । (शिवः) मङ्गलकारी परमेश्वर (अवरा) अत्यन्त श्रेष्ठ (विश्वानि) सब (रजांसि) लोकों को (तरन्) तराता हुआ (सख्या) मित्ररूप (इन्द्रेण) ऐश्वर्य के साथ (आ जगम्यात्) आवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के आधीन वृष्टि, अनावृष्टि, मनुष्यों के कर्मों के फल और श्रेष्ठों को मुक्ति दान आदि हैं। उस परमात्मा की भक्ति करके मनुष्य ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥१॥

श्येनो नृचक्षां दिव्यः सुपर्णः सहस्रपाच्छतयोनिर्वयोधाः । स नो नि यच्छाद् वसु यत् पराभृतमस्माकं-

१—(अति) अत्यन्तम् (धन्वानि) धन्व गतौ—कनिन् । मरुस्थलानि (अति) (अपः) जलानि (ततर्द) तर्द हिंसायाम् । पीडितवान् । वशीकृतवान् (श्येनः) अ० ३ । ३ । ३ । श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४। १३ । ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) अ० ४ । १६ । ७ । मनुष्याणां द्रष्टा (अवसानदर्शः) षो अन्तकर्मणि—ल्युट् + दृशिर् दर्शने–अच् । सीमादर्शकः (तरन्) तारयन् । पारयन् (विश्वानि) (अवरा) नास्ति वरं यस्मात्तद् अवरमत्यन्तश्रेष्ठम् । अवराणि । अत्यन्तश्रेष्ठानि (रजांसि) लोकान् (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (सख्या) मित्रभूतेन (शिवः) मङ्गलकारी (आ जगम्यात्) अ० ७ । २६ । २ । आगच्छेत् ॥

मस्तु पितृषु स्वधावंत् ॥ २ ॥

श्येनः । नृ-चक्षाः । दिव्यः । सु-पर्णः । सहस्र-पात् । शत-योनिः । वयः-धाः । सः । नः । नि । यच्छात् । वसु । यत् । परा-भृतम् । अस्माकम् । अस्तु । पितृषु । स्वधा-वंत् ॥२॥

भाषार्थ-(नृचक्षाः) मनुष्यों को देखने वाला, (दिव्यः) दिव्य स्वरूप, (सुपर्णः) बड़ी पालन शक्ति वाला (सहस्रपात्) सहस्रों. असीम पाद अर्थात् गति शक्ति वाला, [मन से अधिक वेग वाला -यजु० ४०। ४] (शतयोनिः) सैकड़ों [अगणित] लोकों का घर, (वयोधाः) अन्नदाता (श्येनः) ज्ञानवान् परमात्मा है। (सः) वह (नः) हमें (वसु) वह धन (नि) निरन्तर (यच्छात्) देवे, (यत्) जो (पराभृतम्) पराक्रम से धारण किया गया (अस्माकम्) हमारे (पितृषु) पितरों [बड़े बूढ़ों] के बीच (स्वधावत्) आत्मधारण शक्ति वाला (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के अनन्त सामर्थ्यों को विचारकर अनेक उद्योगों के साथ विद्वानों का पालन करके सदा आनन्द भोगें ॥ २ ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१-२ ॥ सोमारुद्रौ देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजवैद्ययोर्गुणोपदेशः—राजा और वैद्य के गुणों का उपदेश ॥

२—(श्येनः) म० १। ज्ञानवान् परमात्मा (नृचक्षाः) नृणां द्रष्टा (दिव्यः) अद्भुतस्वरूपः (सुपर्णः) अ० १। २४। १। शोभनपालनः (सहस्रपात्) पद गतौ—घञ्। संख्यासुपूर्वस्य। पा० ५। ४। १४०। अन्त्यलोपः। सहस्राणि अपरिमिताः पादा गतिशक्तयो यस्य सः। मनसो जवीयः—यजु० ४०। ४। इति श्रुतेः (शतयोनिः) योनिर्गृहम्—निघ० ३। ४। अपरिमितानां लोकानां गृहम् (वयोधाः) अ० ५। ११। ११। अन्नस्य दाता (सः) परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (नि) निरन्तरम् (यच्छात्) दद्यात् (वसु) धनम् (यत्) (पराभृतम्) पराक्रमेण धृतम् (अस्माकम्) (अस्तु) (पितृषु) पित्रादिमान्येषु (स्वधावत्) अ० ३। २९। १। आत्मधारणसामर्थ्ययुक्तम् ॥

सोमारुद्रा वि वृहतं विषूचीममीवा या नो गयमाविवेश। बाधेथां दूरं निर्ऋतिं पराचैः कृतं चिदेनः प्र मुमुक्तमस्मत् ॥ १ ॥

सोमारुद्रा। वि। वृहतम्। विषूचीम्। अमीवा। या। नः। गयम्। आ-विवेश। बाधेथाम्। दूरम्। निः-ऋतिम्। पराचैः। कृतम्। चित्। एनः। प्र। मुमुक्तम्। अस्मत् ॥१॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान सुखदायक राजा और वैद्य !] तुम दोनों (विषूचीम्) विसूचिका, [हुलकी आदि] को (विवृहतम्) छिन्न भिन्न कर दो, (या अमीवा) जो रोग (नः गयम्) हमारे घर वा सन्तान में (आविवेश) प्रवेश कर गया है। (निर्ऋतिम्) दुःखदायिनी कुनीति को (पराचैः) औंधे मुह करके (दूरम्) दूर (बाधेथाम्) हटाओ, और (कृतम्) उसके किये हुये (एनः) दुःख को (चित्) भी (अस्मत्) हम से (प्र मुमुक्तम्) छुड़ा दो ॥१॥

भावार्थ—जो राजा और वैद्य कारणों को समझ कर कुनीति और रोग का प्रतिकार करते हैं, वहां प्रजागण दुःख से छूटकर सुखी रहते हैं ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ७४। २, ३। इनका भाष्य महर्षि दयानन्द के आश्रय पर किया गया है ॥

१—(सोमारुद्रा) सोमः सूर्यः प्रसवनात्—निरु १४। १२। रुद्रो रौतीति सतः—निरु० १०। ५। मध्यस्थानो मेघः। सूर्यमेघवत् सुखप्रदौ राजवैद्यौ (वि वृहतम्) वृहू उद्यमने। छेदयतम् (विषूचीम्) अ० १। २९। १। विषु+अञ्चु गतौ-क्विन्। विषूचिकादिरोगम् (अमीवा) इण्शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इति बाहुलकात् अम रोगे पीडने च-वन, ईडागमः, टाप्। रोगः (या) (नः) अस्माकम् (गयम्) गृहमपत्यं वा (आविवेश) प्रविष्टवती (बाधेथाम्) निवारयतम् (दूरम्) (निर्ऋतिम्) दुःखप्रदां कुनीतिम् (पराचैः) अ० २। १०। ५। पराङ्मुखीं कृत्वा (कृतम्) तया सम्पादितम् (एनः) दोषम् (प्र) प्रकर्षेण (मुमुक्तम्) मोचयतम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

सोमारुद्रा युवमेतान्यस्मद् विश्वा तनूषु भेषजानि धत्तम्।
अव स्यतं मुञ्चतं यन्नो असत् तनूषु बद्धं कृतमेनो अस्मत् १

सोमारुद्रा। युवम्। एतानि। अस्मत्। विश्वा। तनूषु। भेषजानि। धत्तम्। अव। स्यतम्। मुञ्चतम्। यत्। नः। असत्। तनूषु। बद्धम्। कृतम्। एनः। अस्मत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमारुद्रा) हे सूर्य और मेघ [के समान उपकारी राजा और वैद्य!] (युवम्) तुम दोनों (एतानि विश्वा भेषजानि) इन सब औषधों को (अस्मत्) हमारे (तनूषु) शरीरों में (धत्तम्) रक्खो। (यत्) जो (नः) हमारे (तनूषु) शरीरों में (बद्धम्) लगा हुआ और (कृतम्) किया हुआ (एनः) दोष (असत्) होवे, [उसे] (अस्मत्) हमसे (अव स्यतम्) नष्ट करो और (मुञ्चतम्) छुड़ाओ ॥२॥

भावार्थ—राजा और वैद्य वैद्यक विद्या के प्रचार से प्रजा को कुपथ्य आदि दोषों से बचाकर नीरोग और पुरुषार्थी बनाकर सुखी रक्खें ॥१॥

सूक्तम् ४३ ॥

१ ॥ वाचो देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

कल्याण्या वाचः प्रचारोपदेशः—कल्याणी वाणी के प्रचार का उपदेश ॥

शिवास्त एका अशिवास्त एकाः सर्वा बिभर्षि सुमनस्यमानः। तिस्रो वाचो निहिता अन्तरस्मिन् तासामेका वि पपातानु घोषम् ॥ १ ॥

२—(सोमारुद्रा) म० १ (युवम्) युवाम् (एतानि) रोगनिवारकाणि (अस्मत्) षष्ठ्या लुक्। अस्माकम् (विश्वा) सर्वाणि (तनूषु) शरीरेषु (भेषजानि) औषधानि (धत्तम्) धारयतम् (अव स्यतम्) षो अन्तकर्मणि। सर्वथा नाशयतम् (मुञ्चतम्) वियोजयतम् (यत्) दुःखम् (नः) अस्माकम् (असत्) स्यात् (बद्धम्) लग्नम् (कृतम्) (एनः) कुपथ्यादिदोषम् (अस्मत्) अस्मत्तः ॥

शिवाः । ते । एकाः । अशिवाः । ते । एकाः । सर्वाः । बिभर्षि । सु-मनस्यमानः । तिस्रः । वाचः । नि-हिताः । अन्तः । अस्मिन् । तासाम् । एका । वि । पपात । अनु । घोषम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे पुरुष!] (ते) तेरी (एकाः) कोई [वाचायें] (शिवाः) कल्याणी हैं और (ते) तेरी (एकाः) कोई (अशिवाः) अकल्याणी हैं [और कोई माध्यमिका हैं], (सर्वाः) इन सब को (सुमनस्यमानः) अच्छे प्रकार मनन करता हुआ तू (बिभर्षि) धारण करता है। (तिस्रः) यह तीनों (वाचः) वाचायें (अस्मिन् अन्तः) इस [आत्मा] के भीतर (निहिताः) रक्खी रहती हैं, (तासाम्) उनमें से (एकाः) एक [कल्याणी वाणी] (घोषम् अनु) उच्चारण के साथ साथ (वि) विशेष करके (पपात) ऐश्वर्यवती हुई है॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने हृदय में हित, अहित और उदासीनता का विचार करके एक हित ही बोलते हैं, वही ऐश्वर्यवान् पुरुष संसार को ऐश्वर्यवान् करते हैं॥१॥

सूक्तम् ४४ ॥

१ ॥ इन्द्राविष्णू देवते ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सभासेनेशकर्मोपदेशः—सभा और सेना के स्वामी के कर्म का उपदेश॥

उभा जिग्यथुर्न परा जयेथे न परा जिग्ये कतरश्चनैनयोः। इन्द्रश्च विष्णो यदपस्पृधेथां त्रेधा सहस्रं वि

१—(शिवाः) कल्याण्यः। वेदवाचः (ते) तव (एकाः) अन्याः (अशिवाः) अकल्याण्यः। अहिताः (ते) (एकाः) (सर्वाः) शिवा अशिवा माध्यमिका वाचश्च (बिभर्षि) धरसि (सुमनस्यमानः) अ० १।३५।१। शोभनं ध्यायन्। सुमननशीलः (तिस्रः) त्रिसंख्याकाः (वाचः) वाण्यः (निहिताः) अवस्थिताः (अन्तः) मध्ये (अस्मिन्) आत्मनि। मनसि (तासाम्) वाचां मध्ये (एका) शिवा वाक् (वि) विशेषेण (पपात) पत ऐश्वर्ये—लिट्। ईश्वरी बभूव (अनु) अनुसृत्य (घोषम्) उच्चारणध्वनिम्॥

तदैरयेथाम् ॥ १ ॥

उभा । जिग्यथुः । न । परा । जयेथे इति । न । परा । जिग्ये । कतरः । चन । एनयोः । इन्द्रः । च । विष्णो इति । यत् । अपस्पृधेयाम् । त्रेधा । सहस्रम् । वि । तत् । ऐरयेथाम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विष्णो) हे बिजुली [के समान व्याप्त होने वाले सभापति !] (च) और (इन्द्रः) हे वायु [के समान ऐश्वर्यवान् सेनापति !] (उभा) तुम दोनों ने [शत्रुओं को] (जिग्यथुः) जीता है, और तुम दोनों (न) कभी नहीं (परा जयेथे) हारते हो, (एनयोः) इन [तुम] दोनों में से (कतरः चन) कोई भी (न) नहीं (परा जिग्ये) हारा है । (यत्) जब (अपस्पृधेथाम्) तुम दोनों ललकारे हो, (तत्) तब (सहस्रम्) असंख्य [शत्रु सेनादल] को (त्रेधा) तीन विधि पर [ऊंचे, नीचे और मध्य स्थान में] (वि) विविध प्रकार से (ऐरयेथाम्) तुम दोनों ने निकाल दिया है ॥१॥

भावार्थ—जहां पर सभापति और सेनापति पराक्रमी, प्रतापी और नीतिमान् होते हैं, वहां शत्रु लोग नहीं ठहरते ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ६६ । ८ ॥

इसका भाष्य यहां महर्षि दयानन्द के आशय पर किया गया है ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१-२ ॥ भेषजं देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ।

१—(उभा) इन्द्राविष्णू । सभासेनेशौ (जिग्यथुः) लिटि रूपम् । युवां जितयन्तौ शत्रून् (न) निषेधे (परा जयेथे) लटि रूपम् । पराजयं प्राप्नुथः (न) (पराजिग्ये) पराजितो बभूव (कतरः) द्वयोर्मध्ये एकतरः (चन) अपि (एनयोः) अनयोर्मध्ये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वायुवद्वर्तमानः सेनापतिस्त्वम् (विष्णो) विद्युद्वद्व्यापनशील सभापते (यत्) यदा (अपस्पृधेथाम्) अपस्पृधेथामानृचुरा० । पा० ६ । १ । ३६ । स्पर्धतेर्लङि द्विर्वचनं सम्प्रसारणं च । अस्पर्धेथाम् शत्रुभिः सह (त्रेधा) त्रिप्रकारेण, उच्चनीचमध्यस्थानेन (सहस्रम्) असंख्यं शत्रुसैन्यम् (वि) विशेषेण (तत्) तदा (ऐरयेथाम्) ईर—लङ् । बहिष्कृतवन्तौ ॥

ईर्ष्यादोषनिवारणोपदेशः—ईर्ष्या दोष के निवारण का उपदेश ॥

जनाद् विश्वजनीनात् सिन्धुतस्पर्याभृतम् ।
दूरात् त्वा मन्य उद्भृतमीर्ष्याया नाम भेषजम् ॥१॥

जनात् । विश्व-जनीनात् । सिन्धुतः । परि । आ-भृतम् । दूरात् ।
त्वा । मन्ये । उत्-भृतम् । ईर्ष्यायाः । नाम । भेषजम् ॥१॥

भाषार्थ—[हे भयनिवारक ज्ञान !] (सिन्धुतः) समुद्र [के समान गम्भीर स्वभाव वाले (विश्वजनीनात्) सब जनों के हितकारी (जनात्) जन के पास से (दूरात्) दूर देश से (परि) सब प्रकार (आभृतम्) लाये हुये और (उद्भृतम्) उत्तमता से पुष्ट किये हुये (त्वा) तुझको (ईर्ष्यायाः) दाह का (नाम) प्रसिद्ध (भेषजम्) भयनिवारक औषध (मन्ये) मैं मानता हूं ॥१

भावार्थ—जैसे मनुष्य बहुमूल्य उत्तम औषध को दूर देश से लाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग सर्व हितकारी विद्वानों से ज्ञान प्राप्त करके ईर्षा छोड़ कर दूसरों की उन्नति में अपनी उन्नति समझें ॥१॥

अग्नेरिवास्य दहतो दावस्य दहतः पृथक् ।
एतामेतस्येर्ष्यामुद्नाग्निमिव शमय ॥ २ ॥

अग्नेः-इव । अस्य । दहतः । दावस्य । दहतः । पृथक् ।
एताम् । एतस्य । ईर्ष्याम् । उद्ना । अग्निम्-इव । शमय ॥२॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (दहतः) जलती हुई (अग्नेः इव) अग्नि के

१—(जनात्) लोकात् (विश्वजनीनात्) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः । पा० ५ । १ । ६ । इति ख । सर्वजनहितात् (सिन्धुतः) समुद्र इव गम्भीरस्वभावात् (परि) सर्वतः (आभृतम्) हस्य भः । आहृतम् (दूरात्) दूरदेशात् (त्वा) त्वां भेषजम् (मन्ये) जानामि (उद्भृतम्) उत्तमतया पोषितम् (ईर्ष्यायाः) अ० ६ । १८ । १ । परोत्कर्षासहनतायाः (नाम) प्रसिद्धम् (भेषजम्) भयनिवारकमौषधं ज्ञानमित्यर्थः ॥

२—(अग्नेः) पाचकस्य (इव) यथा (अस्य) पुरोवर्तिनः (दहतः)

समान, (पृथक्) अथवा (दहतः) जलती हुई (दावस्य) वन अग्नि के [समान] (एतस्य) इस पुरुष की (एनाम्) इस (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (शमय) शान्त कर दे, (इव) जैसे (उद्ना) जल से (अग्निम्) आग को ॥२॥

भावार्थ—ईर्ष्यालु अर्थात् दूसरे के अभ्युदय को न सहने वाला मनुष्य आग के समान भीतर ही भीतर जल कर राख के समान नाश हो जाता है, इससे वह ईर्ष्या दोष को ऐसा शान्त रक्खे जैसे अग्नि को जल से ॥२॥

सूक्तम् ४६ ॥

१-३ ॥ सिनीवाली देवता ॥ १, २ अनुष्टुप्; ३ त्रिष्टुप् ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुणों का उपदेश ॥

सिनी॑वालि॒ पृथु॑ष्टुके॒ या दे॒वाना॒मसि॒ स्वसा॑ ।
जु॒षस्व॑ ह॒व्यमाहु॑तं प्र॒जां दे॑वि दिदिड्ढि॒ नः ॥ १ ॥

सिनी॑वालि । पृथु॑-स्तुके । या । दे॒वाना॑म् । असि॑ । स्वसा॑ ।
जु॒षस्व॑ । ह॒व्यम् । आ-हु॑तम् । प्र॒-जाम् । दे॒वि॒ । दि॒दि॒ड्ढि॒ । न॒ः॥१

भावार्थ—(पृथुष्टुके) हे बहुत स्तुतिवाली ! (सिनीवालि) अन्न-वाली [वा प्रेमयुक्त बल करने वाली] गृहपत्नी ! (या) जो तू (देवानाम्) दिव्यगुणों की (स्वसा) अच्छे प्रकार प्रकाश करने वाली वा ग्रहण करनेवाली (असि) है। सो तू (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य, (आहुतम्) सब प्रकार

ज्वलतः (दावस्य) टु दु उपतापे—घञ्। वनाग्नेः (दहतः) (पृथक्) भिन्ने। अथवा (एताम्) (एतस्य) ईर्ष्यालोः पुरुषस्य (ईर्ष्याम्) मत्सरबुद्धिम् (उद्ना) अ० ३। १२। ४। उदकेन (अग्निम्) (इव) (शमय) शान्तां कुरु ॥ ३ ॥

१—(सिनीवालि) अ० २। २६। २। षिञ् बन्धने—नक्, ङीप्+वल जीवने दाने च—अण्, ङीप्। हे अन्नवति—निरु० ११। ३१। यद्वा सिनी प्रेम-बद्धा चासौ बलकारिणी च तत्सम्बुद्धौ (पृथुष्टुके) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्। उ० ३। ४१। इति ष्टुञ् स्तुतौ—कक्। बहुस्तुतियुक्ते (या) (देवानाम्) दिव्य-गुणानाम् (असि) भवसि (स्वसा) अ० ५। ५। १। सु+अस दीप्तौ ग्रहणे च-ऋन्। सुष्ठु दीपयित्री ग्रहीत्री वा (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) ग्राह्यम् (आहुतम्)

स्वीकार किये व्यवहार का (जुषस्व) सेवन कर और (देवि) हे कामनायोग्य देवी ! (नः) हमारे लिये (प्रजाम्) सन्तान (दिदिड्ढि) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस घर में अन्नवती, सुशिक्षित, व्यवहार कुशल स्त्रियां होती हैं, वहीं उत्तम सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥१॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२ । ३२ । ६ । और यजुर्वेद—३४ । १० । तथा—निरु० ११ । ३२ । में व्याख्यात है ॥

या सु॒बा॒हुः स्व॑ङ्गु॒रिः सु॒षूमा॑ बहु॒सूव॑री ।
तस्यै॑ वि॒श्पत्न्यै॑ ह॒विः सि॑नीवा॒ल्यै॑ जु॑होतन ॥ २ ॥

या । सु॒ऽबा॒हुः । सु॒ऽअ॒ङ्गु॒रिः । सु॒ऽसूमा॑ । ब॒हु॒ऽसूव॑री ।
तस्यै॑ । वि॒श्पत्न्यै॑ । ह॒विः । सि॒नी॒वा॒ल्यै॑ । जु॒हो॒त॒न ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (सुबाहुः) शुभकर्मों में भुजा रखने वाली, (स्वङ्गुरिः) सुन्दर व्यवहारों में अङ्गुरी रखने वाली, (सुषूमा) भली भांति आगे चलने वाली, और (बहुसूवरी) बहुत प्रकार से वीरों को उत्पन्न करने वाली, [माता है] । (तस्यै) उस (विश्पत्न्यै) प्रजाओं की पालने वाली, (सिनीवाल्यै) बहुत अन्न वाली [गृहपत्नी] को (हविः) देने योग्य पदार्थ का (जुहोतन) दान करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्रियां गृहकार्य में चतुर वीर सन्तान उत्पन्न करने हारी हैं, उनका सत्कार सब मनुष्यों को सदा करना चाहिये ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२ । ३२ । ७ ॥

समन्तात् स्वीकृतं व्यवहारम् (प्रजाम्) सुसन्तानरूपाम् (देवि) कमनीये विदुषि (दिदिड्ढि) दिश दाने-लोटि, शपःश्लु । दिश । देहि (नः) अस्मभ्यम् ॥

२—(या) पत्नी (सुबाहुः) शुभकर्मसु बाहू यस्याः सा (स्वङ्गुरिः) शोभनेषु व्यवहारेषु अङ्गुरयो यस्याः सा (सुषूमा) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । षू प्रेरणे—मक्, टाप् । सुप्रेरयित्री । सुनेत्री (बहुसूवरी) षू प्रसवे—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । बहुविधं वीराणां जनयित्री (तस्यै) (विश्पत्न्यै) प्रजानां पालयित्र्यै (हविः) दातव्यं पदार्थम् (सिनीवाल्यै) म० १ । अन्नवत्यै (जुहोतन) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । इति हु दानादिषु लोटि तस्य तनप् । जुहुत । दत्त ॥

या विश्पत्नीन्द्रमसि प्रतीची सहस्रस्तुकाभियन्ती देवी। विष्णोः पत्नि तुभ्यं राता हवींषि पतिं देवि राधसे चोदयस्व ॥ ३ ॥

या । विश्पत्नी । इन्द्रम् । असि । प्रतीची । सहस्र-स्तुका । अभि-यन्ती । देवी । विष्णोः । पत्नि । तुभ्यम् । राता । हवींषि । पतिम् । देवि । राधसे । चोदयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(या) जो (विश्पत्नी) सन्तानों की पालने वाली, (प्रतीची) निश्चित ज्ञानवाली, (सहस्रस्तुका) सहस्रों स्तुतिवाली, (अभियन्ती) चारों ओर चलती हुई (देवी) देवी तू (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (असि=अससि) ग्रहण करती है। (विष्णोः पत्नि) हे कामों में व्यापक वीर पुरुष की पत्नी! (तुभ्यम्) तेरे लिये (हवींषि) देने योग्य पदार्थ (राता) दिये गये हैं, (देवि) हे देवी! (पतिम्) अपने पति को (राधसे) सम्पत्ति के लिये (चोदयस्व) आगे बढ़ा ॥३॥

भावार्थ—स्त्रियां गृहकार्य में चतुर रह कर अपने पतियों द्वारा धन संचय कराकर सन्तान पालन आदि कार्य करती रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१-२ ॥ कूहूर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

स्त्रीणां गुणोपदेशः—स्त्रियों के गुण का उपदेश ॥

कुहूं देवीं सुकृतं विद्मनापसमस्मिन् यज्ञे सुहवा जोहवीमि। सा नो रयिं विश्ववारं नि यच्छाद् ददातु

३—(या) (विश्पत्नी) प्रजानां पालयित्री (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (असि) अस ग्रहणे। अससि गृह्णासि (प्रतीची) अ० ७। ३८। ३। निश्चितज्ञानयुक्ता। (सहस्रस्तुका) म० १। ष्टुञ्-कक्। असंख्यस्तुतियुक्ता (अभियन्ती) अभितो गच्छन्ती (देवी) व्यवहारकुशला (विष्णोः) कार्येषु व्यापकस्य पत्युः (पत्नि) (तुभ्यम्) (राता) दत्तानि (हवींषि) दातव्यानि वस्तूनि (पतिम्) स्वामिनम् (देवि) (राधसे) धनाय—निघ० २। १० (चोदयस्व) प्रेरयस्व। प्रगमय ॥

वीरं शतदायमुक्थ्यम् ॥ १ ॥

कुहूम् । देवीम् । सु-कृतम् । विद्मना-अपसम् । अस्मिन् । यज्ञे । सु-हवा । जोहवीमि । सा । नः । रयिम् । विश्व-वारम् । नि । यच्छात् । ददातु । वीरम् । शत-दायम् । उक्थ्यम् ॥

भाषार्थ—(सुकृतम्) सुन्दर काम करने वाली, (विद्मनापसम्) कर्तव्यों को जानने वाली, (देवीम्) दिव्यगुणवाली (कुहूम्) कुहू, अर्थात् अद्भुत स्वभाव वाली स्त्री को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ में (सुहवा) विनीत बुलावे के साथ (जोहवीमि) मैं बुलाता हूं। (सा) वह (नः) हमें (विश्ववारम्) सब उत्तम व्यवहार वाले (रयिम्) धन को (नि) नित्य (यच्छात्) देती रहे और (शतदायम्) असंख्य धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—गुणवती, समझदार स्त्री गृहकार्य में परिमितव्यय कर धनवती होकर अपने सन्तानों को उत्तम वीर बनावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से-निरु० ११ । ३३ । में व्याख्यात है ॥

कुहूर्देवानाममृतस्य पत्नी हव्या नो अस्य हविषो जुषेत ।

१—(कुहूम्) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । कुह विस्मापने-कु, ऊङ् । सिनीवाली कुहूरिति देवपत्न्यौ-निरु० ११ । ३१ । कुहूर्गूहतेः क्वाभूदिति वा क्व सती हूयत इति वा । क्वाहुतं हविर्जुहोतीति वा-निरु० ११—३२ । कुहूः पदनाम-निघ० ५ । ५ । विस्मापनशीलाम् । अद्भुतस्वभावां स्त्रियम् (देवीम्) दिव्यगुणाम् (सुकृतम्) सुकर्माणम् (विद्मनापसम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । इति विद ज्ञाने—मक् । विद्मो वेदनम्, तद्वत् विद्मनम्, पामादिलक्षणो न प्रत्ययः, अपः कर्म । विद्मनानि विदितान्यपांसि कर्माणि यस्यास्ताम् । विदितकर्माणम्—निरु० ११ । ३३ (अस्मिन्) (यज्ञे) पूजनीये कर्मणि (सुहवा) विभक्तेराकारः । सुहवेन । शोभनाह्वानेन (जोहवीमि) भृशमाह्वयामि (सा) कुहूः (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (विश्ववारम्) सर्ववरणीयव्यवहारयुक्तम् (नि) नित्यम् (यच्छात्) दद्यात् (ददातु) (वीरम्) वीरसन्तानम् (शतदायम्) ददातेर्घञ् , युक् । बहुधनम् (उक्थ्यम्) प्रशस्यम् ॥

शृणोतु यज्ञमु॑शती नो अद्य रायस्पोषं॑ चिकि॒तुषी॑ दधातु २

कुहूः । दे॒वाना॑म् । अ॒मृत॑स्य । पत्नी॑ । हव्या॑ । नः॒ । अ॒स्य॒ । ह॒विषः॑ । जु॒षे॒त॒ । शृ॒णोतु॑ । य॒ज्ञम् । उ॒श॒ती । नः॒ । अ॒द्य । रा॒यः । पोष॑म् । चि॒कि॒तुषी॑ । द॒धा॒तु॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानोंके बीच (अमृतस्य) अमर [पुरुषार्थी] पुरुष की (पत्नी) पत्नी (हव्या) बुलाने योग्य या स्वीकार करने योग्य; (कुहूः) कुहू अर्थात् विचित्र स्वभाववाली स्त्री (नः) हमारे (अस्य) इस (हविषः) ग्रहण योग्य कर्म का (जुषेत) सेवन करे। (यज्ञम्) सत्संग की (उशती) इच्छा करती हुई (चिकितुषी) विज्ञानवती वह (अद्य) आज (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (दधातु) पुष्ट करे ॥२॥

भावार्थ—जिस घर में यशस्वी पुरुष की पत्नी सब घरवालों की सुधि रखने वाली और परिमित व्ययवाली होती है। वहां वह धन बढ़ाकर सब को आनन्द देती है ॥ २ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२ ॥ राका देवता ॥ जगती छन्दः ॥

स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्यों का उपदेश ॥

रा॒काम॒हं सु॒हवां॑ सुष्टु॒ती हु॑वे शृ॒णोतु॑ नः सु॒भगा॒ बो-धतु॒ त्मना॑ । सीव्य॒त्वपः॑ सू॒च्याच्छि॑द्यमानया॒ ददा॑तु वी॒रं

२—(कुहूः) म० १। विचित्रस्वभावा (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अमृतस्य) अमरस्य। पुरुषार्थिनः पुरुषस्य (पत्नी) भार्या (हव्या) आह्वातव्या। स्वीकरणीया वा (नः) अस्माकम् (अस्य) उपस्थितस्य (हविषः) ग्राह्यकर्मणः (जुषेत) सेवनं कुर्यात् (शृणोतु) आकर्णयतु (यज्ञम्) सत्संगम् (उशती) वश कान्तौ—शतृ। कामयमाना (नः) अस्माकं वचनम् (अद्य) (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (चिकितुषी) अ० ४। ३०। २। विज्ञानवती (दधातु) पोषयतु ॥

श॒तदा॑यमु॒क्थ्य॑म् ॥ १ ॥

रा॒काम् । अ॒हम् । सु॒-हवा॑ । सु॒-स्तु॒ती । हु॒वे॒ । शृ॒णोतु॑ । नः॒ । सु॒-भगा॑ । बोध॑तु । त्मना॑ । सीव्य॑तु । अपः॑ । सू॒च्या । अच्छि॑द्य-मानया । ददा॑तु । वी॒रम् । श॒त-दा॑यम् । उ॒क्थ्य॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राकाम्) राका, अर्थात् सुख देनेवाली वा पूर्णमासी के समान शोभायमान पत्नी को (सुहवा) सुन्दर बुलावे से और (सुष्टुती) बड़ी स्तुति से (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं, (सुभगा) वह सौभाग्यवती [बड़े ऐश्वर्यवाली] (नः) हमें (शृणोतु) सुने और (त्मना) अपने आत्मा से (बोधतु) समझे। और (अच्छिद्यमानया) न टूटती हुई (सूच्या) सुई से (अपः) कर्म [गृहस्थ कर्तव्य] को (सीव्यतु) सीयें, और (शत-दायम्) सैकड़ों धनवाला, (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय (वीरम्) वीर सन्तान (ददातु) देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—पुरुष सुखदायिनी, अनेक शुभगुणों से शोभायमान पूर्णमासी के समान पत्नी को आदर से बुलावे और वह ध्यान देकर पति के सम्मति से गृहस्थ कर्तव्य को लगातार प्रयत्न से करती हुई वीर पुरुषार्थी सन्तान उत्पन्न करे, जैसे अच्छी दृढ़ सुई से सींकर वस्त्र को सुन्दर बनाते हैं ॥ १ ॥

१—(राकाम्) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । रा दाने—क, टाप् । अनुमती राकेति देवपत्न्याविति नैरुक्ताः पौर्णमास्याविति याज्ञिका या पूर्वा पौर्णमासी सानुमतिर्योत्तरा सा राकेति विज्ञायते-निरु० ११ । २६ । राका रातेर्दानकर्मणः—निरु० ११ । ३० । राका पदनाम—निघ० ५ । ५ । सुख-दात्रीम् । पौर्णमासीम् । पौर्णमासीसमानशोभायमानाम् (अहम्) पतिः (सुहवा) अ० ७ । ४७ । १ । शुभाह्वानेन (सुष्टुती) शोभनया स्तुत्या (हुवे) आह्वयामि (शृणोतु) (नः) अस्मान् (सुभगा) शोभनैश्वर्ययुक्ता (बोधतु) जानातु (त्मना) स्वात्मना (सीव्यतु) षिवु तन्तुसन्ताने । सन्तनोतु (अपः) कर्म (सूच्या) सिवेष्टेरू च । उ० ४ । ६३ । इति षिवु तन्तुसन्ताने—चट्, ङीप् । स्वनामख्यातया सीवनसाधनया (अच्छिद्यमानया) छेत्तुमनर्हया । अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ७ । ४७ । १॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं— २ । ३२ । ४, ५ । और महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि, सीमन्तोन्नयन प्रकरण में हैं। और मन्त्र एक—निरु० ११ । ३१ । में व्याख्यात है ॥

यास्ते॑ राके सुम॒तयः॑ सु॒पेश॑सो॒ याभि॒र्ददा॑सि दा॒शुषे॑ वसू॑नि । ताभि॑र्नो अ॒द्य सु॒मना॑ उ॒पाग॑हि सहस्रापो॒षं सु॑भगे॒ ररा॑णा ॥ २ ॥

याः । ते॒ । रा॒के॒ । सु॒-म॒तयः॑ । सु॒-पेश॑सः । याभिः॑ । ददा॑सि । दा॒शुषे॑ । वसू॑नि । ताभिः॑ । नः॒ । अ॒द्य । सु॒-मनाः॑ । उ॒प॒-आग॑हि । स॒ह॒स्र॒-पो॒षम् । सु॒-भ॒गे॒ । ररा॑णा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राके) हे सुखदायिनी ! वा पूर्णमासी समान शोभायमान पत्नी ! (याः) जो (ते) तेरी (सुमतयः) सुमतियें (सुपेशसः) बहुत सुवर्ण वाली हैं, (याभिः) जिनसे तू (दाशुषे) धन देने वाले [मुझ पति] को (वसूनि) अनेक धन (ददासि) देती है। (सुभगे) हे सौभाग्यवती ! (ताभिः) उन [सुमतियों] से (नः) हमें (सहस्रपोषम्) सहस्र प्रकार से पुष्टि को (रराणा) देती हुई, (सुमनाः) प्रसन्न मन होकर (अद्य) आज (उपागहि) समीप आ ॥ २ ॥

भावार्थ—विदुषी, सुलक्षणा, विचारशील, प्रसन्नचित्त पत्नी धन और सम्पत्ति की रक्षा और बढ़ती करती हुई पतिप्रिया होकर घर में सुख बढ़ाती रहे ॥ २

२—(याः) (ते) तव (राके) म० १ । सुखप्रदे । पूर्णमासीसमशोभायमाने (सुमतयः) कल्याणबुद्धयः (सुपेशसः) पिश अवयवे, दीप्तौ च-असुन् । पेशः=हिरण्यम्-निघ० १ । २, रूपम्-निघ० ३ । ७ । बहुहिरण्ययुक्ताः (याभिः) (ददासि) (दाशुषे) धनस्य दात्रे पत्ये (वसूनि) धनानि (ताभिः) सुमतिभिः (अद्य) (सुमनाः) प्रसन्नचित्ता (उपागहि) समीपमागच्छ (सहस्रपोषम्) असंख्यपुष्टिम् (सुभगे) हे सौभाग्ययुक्ते (रराणा) अ० ५ । २७ । ११ । प्रयच्छन्ती ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१-२। देवपत्न्यो देवताः ॥ १ जगती; २ पङ्क्तिः ॥

राजवद्राज्ञीन्यायोपदेशः—राजा के समान रानी को न्याय का उपदेश ॥

दे॒वानां॒ पत्नी॑रुश॒तीर॑वन्तु नः॒ प्राव॑न्तु नस्तु॒जये॒ वाज॑सातये। याः पार्थि॑वासो॒ या अ॒पाम॑पि व्र॒ते ता नो॑ देवीः सु॒हवाः॒ शर्म॑ यच्छन्तु ॥ १ ॥

दे॒वाना॑म्। पत्नीः॑। उ॒श॒तीः। अ॒व॒न्तु॒। नः॒। प्र। अ॒व॒न्तु॒। नः॒। तु॒जये॑। वाज॑-सातये। याः। पार्थि॑वासः। याः। अ॒पाम्। अपि॑। व्र॒ते। ताः। नः॒। दे॒वीः। सु॒-हवाः॑। शर्म॑। य॒च्छ॒न्तु॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (उशतीः) [उपकार की) इच्छा करती हुई (देवानाम्) विद्वानों वा राजाओं की (पत्नीः) पत्नियां (नः) हमें (अवन्तु) तृप्त करें और (तुजये) बल वा स्थान के लिये और (वाजसातये) अन्न देने वाले संग्राम [जीतने] के लिये (नः) हमारी (प्र) अच्छे प्रकार (अवन्तु) रक्षा करें। और (अपि) भी (याः) जो (पार्थिवासः) और जो पृथिवी की रानियां (अपाम्) जलों के (व्रते) स्वभाव में [उपकारवाली] हैं, (ताः) वे सब (सुहवाः) सुन्दर बुलावे योग्य (देवीः) देवियां (नः) हमें (शर्म) घर वा सुख (यच्छन्तु) देवें ॥ १ ॥

१—(देवानाम्) विदुषां राज्ञां वा (पत्नीः) पत्न्यः (उशतीः) उशत्यः उपकारं कामयमानाः (अवन्तु) तर्पयन्तु (नः) अस्मान् (प्र) प्रकर्षेण (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मान् (तुजये) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२० तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु-इन्। बलाय। निवासाय (वाजसातये) ऊतियूतिजूति-साति०। पा० ३। ३। ९७। षणु दाने-क्तिन्। वाजोऽन्नं दीयते येन तस्मै। अन्न-लाभाय संग्रामाय-निघ० २। १७ (याः) पत्न्यः (पार्थिवासः) तस्येश्वरः। पा० ५। १। ४२। पृथिवी-अण्, असुक्। पार्थिव्यः। पृथिवीराज्ञ्यः (याः) (अपाम्) जलानाम् (अपि) (व्रते) स्वभावे (ताः) (नः) अस्मभ्यम् (देवीः) प्रकाशमानाः (सुहवाः) शोभनाह्वानाः (शर्म) सुखं गृहं वा (यच्छन्तु) ददतु ॥

भावार्थ—विद्वान् और राजा लोगों के समान उनकी स्त्रियां भी उपकार करके प्रजा पालन करें ॥१॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—५ । ४६ । ७, ८; और निरुक्त में भी व्याख्यात हैं–१२ । ४५, ४६ ॥

उत ग्ना व्यन्तु देवपत्नीरिन्द्राण्य१ग्नाय्यश्विनी राट् आ रोदसी वरुणानी शृणोतु व्यन्तु देवीर्य ऋतुर्जनीनाम् ॥ २ ॥

उत । ग्नाः । व्यन्तु । देव-पत्नीः । इन्द्राणी । अग्नायी । अश्विनी । राट् । आ । रोदसी । वरुणानी । शृणोतु । व्यन्तु । देवीः । यः । ऋतुः । जनीनाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उत) और भी (देवपत्नीः) विद्वानों वा राजाओं की पत्नियां, [अर्थात्] (राट्) ऐश्वर्यवाली, (इन्द्राणी) बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष की पत्नी, (अग्नायी) अग्नि सदृश तेजस्वी पुरुष की स्त्री, (अश्विनी) शीघ्रगामी पुरुष की स्त्री [प्रजा की] (ग्नाः) वाणियों को (व्यन्तु) व्याप्त हों । (आ) और (रोदसी) रुद्र, ज्ञानवान् पुरुष की स्त्री अथवा (वरुणानी) श्रेष्ठजन की पत्नी [वाणियों को] (शृणोतु) सुने और (यः) जो (जनीनाम्)

२—(उत) अपि च (ग्नाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । इति गमेर्न, टिलोपः, टाप् । मेना ग्ना इति स्त्रीणाम्, ग्ना गच्छन्त्येनाः–निरु० ३ । २१ । ग्ना गमनादपि देवपत्न्यो वा—निरु० १० । ४७ । ग्ना वाक्—निघ० १ । ११ । वाणीः (व्यन्तु) वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु । व्याप्नुवन्तु (देवपत्नीः) विदुषां राज्ञां वा पत्न्यः (इन्द्राणी) इन्द्रस्य परमैश्वर्ययुक्तस्य पत्नी (अग्नायी) वृषाकप्यग्नि० । पा० ४ । १ । ३७ । ऐकारादेशः, ङीप् च । अग्नेः पावकवद् वर्तमानस्य पत्नी (अश्विनी) आशुगामिनः स्त्री (राट्) राजति=ईष्टे–निघ० २ । २१ । राजृ-क्विप् । ऐश्वर्यवती (आ) समुच्चये (रोदसी) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १ । ८९ । रुधिर् आवरणे-असुन्, धस्य दकारः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । ङीप् । रोधनशीला रुद्रस्य पत्नी–निरु० १२ । ४६ । ज्ञानवतः पत्नी (वरु-

स्त्रियों का [न्याय का] (ऋतुः) काल है, (देवीः) यह सब देवियां [उसकी] (व्यन्तु) चाहना करें ॥ २ ॥

भावार्थ—स्त्रियां स्त्रियों को अपनी न्याय सभा के अधिकारी बनाकर घर और बाहिर के झगड़ों को उचित समय पर निर्णय करें, और बालकों को भी वैसी शिक्षा दें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१-८ ॥ इन्द्र आत्मा वा देवता ॥ १, २, ५, ८, ९ अनुष्टुप्; ३, ४, ६, ७ त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यथा वृक्षमशनिर्विश्वाहा हन्त्यप्रति ।
एवाहमद्य कितवानक्षैर्बध्यासमप्रति ॥ १ ॥

यथा । वृक्षम् । अशनिः । विश्वाहा । हन्ति । अप्रति । एव । अहम् । अद्य । कितवान् । अक्षैः । बध्यासम् । अप्रति ॥१॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (अशनिः) बिजुली (विश्वाहा) सब दिनों (अप्रति) बे रोक होकर (वृक्षम्) पेड़ को (हन्ति) गिरा देती है । (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (अद्य) आज (अप्रति) बे रोक होकर (अक्षैः) पाशों से (कितवान्) ज्ञान नाश करने वाले, जुआ खेलने वालों को (बध्यासम्) नाश करूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जुआरी, लुटेरे आदिकों को तुरन्त दण्ड देकर नाश करें ॥ १ ॥

णानी) श्रेष्ठजनस्य पत्नी (शृणोतु) (व्यन्तु) कामयन्ताम् (देवीः) विदुष्यः (ऋतुः) उपकारकालः (जनीनाम्) स्त्रीणाम् ॥

१—(यथा) येन प्रकारेण (वृक्षम्) तरुम् (अशनिः) विद्युत् (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (हन्ति) नाशयति (अप्रति) अप्रतिपक्षम् (एव) एवम् (अहम्) शूरः (अद्य) (कितवान्) कि ज्ञाने—क्त+वा गतिगन्धनयोः—क । कितवः किं तवास्तीति शब्दानुकृतिः कृतवान् वाशीर्नामकः—निरु० ५ । २२ । ज्ञाननाशकान् । वञ्चकान् । द्यूतकारकान् (अक्षैः) द्यूतसाधनैः पाशकादिभिः (बध्यासम्) हन्तेर्लिङि । नाशयेयम् ॥

तुराणामतु॑राणां वि॒शामवर्जुषीणाम् ।
समैतु॑ वि॒श्वतो॒ भगो॑ अन्तर्ह॒स्तं कृ॒तं मम॑ ॥ २ ॥

तु॒राणा॑म् । अतु॑राणाम् । वि॒शाम् । अव॑र्जुषीणाम् । सम्-एतु॑ । वि॒श्वतः॑ । भगः॑ । अ॒न्तः-ह॒स्तम् । कृ॒तम् । मम॑ ॥२॥

भाषार्थ—(तुराणाम्) शीघ्रकारी, (अतुराणाम्) अशीघ्रकारी (अवर्जुषीणाम्) [शत्रुओं को] न रोक सकने वाली (विशाम्) प्रजाओं का (भगः) धन (विश्वतः) सब प्रकार (मम) मेरे (अन्तर्हस्तम्) हाथ में आये हुये (कृतम्) कर्म को (समैतु) यथावत् प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् राजा सब प्रकार प्रजा के धन को अपने वश में रख कर रक्षा करे ॥ २ ॥

ई॒डे अ॒ग्निं स्वाव॑सुं॒ नमो॑भिरि॒ह प्र॑स॒क्तो वि च॑यत् कृ॒तं नः॑ ।
रथै॑रिव॒ प्र भ॑रे वा॒जय॑द्भिः प्रदक्षि॒णं म॒रुतां॒ स्तोम॑मृध्याम् ॥ ३ ॥

ई॒डे । अ॒ग्निम् । स्व-व॑सुम् । नमः॑-भिः । इ॒ह । प्र-स॒क्तः । वि । च॒य॒त् । कृ॒तम् । नः॒ । रथैः॑-इव । प्र । भ॒रे॒ । वा॒जय॑त्-भिः । प्र-द॒क्षि॒णम् । म॒रुता॑म् । स्तोम॑म् । ऋ॒ध्या॒म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्ववसुम्) बन्धुओं को धन देने वाले (अग्निम्) विद्वान् राजा को (नमोभिः) सत्कारों के साथ (ईडे) मैं ढूंढ़ता हूं, (प्रसक्तः) सन्तुष्ट वह (इह) यहां पर (नः) हमारे (कृतम्) कर्म का (वि चयत्)

२—(तुराणाम्) तुर त्वरणे—क । शीघ्रकारिणीनाम् (अतुराणाम्) अशीघ्रकारिणीनाम् (विशाम्) प्रजानाम् (अवर्जुषीणाम्) पॄनहिकलिभ्य उषच् । उ० ४ । ७५ । नञ्+वृजी वर्जने—उषच्, ङीप् । शत्रूणामवर्जनशीलानाम् (समैतु) सम्यक् प्राप्नोतु (विश्वतः) सर्वतः (भगः) धनम् (अन्तर्हस्तम्) हस्तमध्ये गतम् (कृतम्) कर्म (मम) ॥

३—(ईडे) अन्विच्छामि । ईडिरध्येषणकर्मा पूजा कर्मा वा—निरु० ७ । १५ । (अग्निम्) विद्वांसं राजानम् (स्ववसुम्) स्वेभ्यो बन्धुभ्यो धनं यस्य तम् (नमोभिः) सत्कारैः (इह) अत्र (प्रसक्तः) षञ्ज सङ्गे—क्त । सन्तुष्टः (विच-

विवेचन करे। (प्रदक्षिणम्) उसकी प्रदक्षिणा [आदर से पूज्य को दाहिनी ओर रखकर घूमना] (प्र) अच्छे प्रकार (भरे) मैं धारण करता हूं (इव) जैसे (वाजयद्भिः) शीघ्र चलने वाले (रथैः) रथों से, [जिससे] (महताम्) शूरवीरों में (स्तोमम्) स्तुति को (ऋध्याम्) मैं बढ़ाऊं॥ ३॥

भावार्थ—प्रजागण विद्वानों के सत्कार करने वाले विवेकी राजा के अधीन रह कर आदरपूर्वक उसकी आज्ञा मानकर शूरवीरों में अपना यश बढ़ावें॥ ३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५। ६०। १॥

वयं जयेम त्वया युजा वृतमस्माकमंशमुदवा भरेभरे। अस्मभ्यमिन्द्र वरीयः सुगं कृधि प्र शत्रूणां मघवन् वृष्ण्या रुज॥ ४॥

वयम्। जयेम। त्वया। युजा। वृतम्। अस्माकम्। अंशम्। उत्। अव। भरे-भरे। अस्मभ्यम्। इन्द्र। वरीयः। सु-गम्। कृधि। प्र। शत्रूणाम्। मघ-वन्। वृष्ण्या। रुज॥ ४॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे सम्पूर्ण ऐश्वर्ययुक्त इन्द्र राजन्! (त्वया) तुझ (युजा) सहायक वा ध्यानी के साथ (वयम्) हम लोग (वृतम्) घेरने वाले शत्रु को (जयेम) जीत लेवें, (अस्माकम्) हमारे (अंशम्) भाग को (भरेभरे) प्रत्येक संग्राम में (उत्) उत्तमता से (अव) रख। (अस्मभ्यम्) हमारे लिये

यत्) विचिनुयात्। विवेकेन प्राप्नुयात् (कृतम्) कर्म (नः) अस्माकम् (रथैः) (इव) यथा (प्र) प्रकर्षेण (भरे) धरामि (वाजयद्भिः) वाज शब्दात् करोत्यर्थे णिच्। वाजं वेगं कुर्वद्भिः (प्रदक्षिणम्) तिष्ठद्गुप्रभृतीनि च। पा० २। १। १७। इत्यव्ययीभावसमासः। प्रगतं दक्षिणमिति। दक्षिणावर्त्तेन पूज्यमुद्दिश्य भ्रमणम् (मरुताम्) शूराणां मध्ये—अ० १। २०। १ (स्तोमम्) स्तुतिम् (ऋध्याम्) अर्धयेयम्। वर्धयेयम्॥

४—(वयम्) योद्धारः (जयेम) अभिभवेम (त्वया) (युजा) सहायेन ध्यानिना वा (वृतम्) वृणोतेः—क्विप्। आवरकं शत्रुम् (अस्माकम्) (अंशम्) धनजनविभागम् (उत्) उत्कर्षेण (अव) रक्ष (भरेभरे) सर्वस्मिन् संग्रामे

(वरीयः) विस्तीर्ण देश को (सुगम्) सुगम (कृधि) कर दे, (मघवन्) हे बड़े धनी ! (शत्रूणाम्) शत्रुओं के (वृष्ण्या) साहसों को (प्र रुज) तोड़ दे ॥४॥

भावार्थ—सब योधा लोग सेनापति की सहायता लेकर अपने धन जन आदि की रक्षा करके शत्रुओं को जीतें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १०२। ४॥

अजैषं त्वा संलिखितमजैषमुत संरुधम् ।
अविं वृको यथा मथदेवा मंथ्नामि ते कृतम् ॥ ५ ॥

अजैषम् । त्वा । सम्-लिखितम् । अजैषम् । उत । सम्-रुधम् । अविम् । वृकः । यथा । मथत् । एव । मथ्नामि । ते । कृतम् ॥५॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (संलिखितम्) यथावत् लिखे हुये (त्वा) तुझको (अजैषम्) मैंने जीत लिया है, (उत) और (संरुधम्) रोक डालने वाले को (अजैषम्) मैंने जीत लिया है। (यथा) जैसे (वृकः) भेड़िया (अविम्) बकरी को (मथत्) मथ डालता है, (एव) वैसे ही (ते) तेरे (कृतम्) कर्म को (मथ्नामि) मैं मथ डालूं ॥५॥

भावार्थ—जिस दुष्ट जन का नाम राजकीय पुस्तकों में लिखा हो, और बड़ा विघ्नकारी हो उसको यथावत् दण्ड मिलना चाहिये ॥ ५ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (वरीयः) उरु—ईयसुन्, वरादेशः। उरुतरम्। विस्तीर्णतरं देशम् (सुगम्) सुगमम् (कृधि) कुरु (प्र) (शत्रूणाम्) (मघवन्) हे बहुधनवन् (वृष्ण्या) वृष्णि भवानि। सामर्थ्यानि (रुज) रुजो भङ्गे। भङ्ग्धि ॥

५—(अजैषम्) अहं जितवानस्मि (त्वा) त्वां शत्रुम् (संलिखितम्) राजकीय पुस्तकेषु सम्यग् लिखितम् (अजैषम्) (उत) अपि च (संरुधम्) रुधेः—क्विप्। निरोधकम्। विघ्नकारिणम् (अविम्) अजाम् (वृकः) अरण्यश्वा (यथा) (मथत्) मथ्नाति (एव) एवम् (मथ्नामि) नाशयामि (ते) तव (कृतम्) कर्म ॥

काले। यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ॥ ६ ॥

उत। प्र-हाम्। अति-दीवा। जयति। कृतम्-इव। श्व-घ्नी। वि। चिनोति। काले। यः। देव-कामः। न। धनम्। रुणद्धि। सम्। इत्। तम्। रायः। सृजति। स्वधाभिः ॥६॥

भाषार्थ—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहारकुशल पुरुष (प्रहाम्) उपद्रवी शत्रु को (जयति) जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करनेवाला जुआरी (काले) [हार के] समयपर (इव) ही (कृतम्) अपने काम का (वि चिनोति) विवेक करता है। (यः) जो (देवकामः) शुभगुणों का चाहनेवाला (धनम्) धन को [शुभ काम में] (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, (रायः) अनेक धन (तम्) उसको (इत्) ही (स्वधाभिः) आत्म धारण शक्तियों के साथ (सम् सृजति) मिलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय करा देता है, शुभगुण चाहनेवाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्म-बल पाता है ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, ७ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ४२ । ९, १० ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन वा क्षुधं पुरुहूत विश्वे।

६—(उत) अपि च (प्रहाम्) जनसनखन०। पा० ३। २। ६७। इति बाहुलकात् हन्तेर्विट्। विड्वनोरनुनासिकस्यात्। पा० ६। ४। ४१। नस्य आत्वम्। प्रहन्तारम्। उपद्रविणम् (अतिदीवा) कनिन् युवृषितक्षि०। उ० १। १५६। दिवु क्रीडाव्यवहारादिषु—कनिन्, दीर्घश्च। अतिव्यवहारकुशलः (जयति) (कृतम्) कर्म (इव) अवधारणे (श्वघ्नी) अ० ४। १६। ५। धनहन्ता कितवः (वि चिनोति) विवेकेन प्राप्नोति (काले) पराजयकाले (यः) (देवकामः) शुभगुणान् कामयमानः (न) निषेधे (धनम्) (रुणद्धि) वर्जयति (इत्) एव (तम्) देवकामम् (रायः) धनानि (सम् सृजति) बहुवचनस्यैकवचनम्। सं सृजन्ति। संयोजयन्ति (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः ॥

वयं राजसु प्रथमा धनान्यरिष्टासो वृजनीभिर्जयेम ॥७॥

गोभिः। तरेम। अमतिम्। दुः-एवाम्। यवेन। वा। क्षुधम्। पुरु-हूत। विश्वे। वयम्। राज-सु। प्रथमाः। धनानि। अरिष्टासः। वृजनीभिः। जयेम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गये राजन्! (विश्वे) हम सब लोग (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गतिवाली (अमतिम्) कुमति को (तरेम) हटावें, (वा) जैसे (यवेन) जव आदि अन्न से (क्षुधम्) भूख को। (वयम्) हम लोग (राजसु) राजाओं के बीच (प्रथमाः) पहिले और (अरिष्टासः) अजेय होकर (वृजनीभिः) अनेक वर्जन शक्तियों से (धनानि) अनेक धनों को (जयेम) जीतें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशंसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥ ७ ॥

कृतं मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्य आहितः।
गोजिद् भूयासमश्वजिद् धनंजयो हिरण्यजित् ॥ ८ ॥

कृतम्। मे। दक्षिणे। हस्ते। जयः। मे। सव्ये। आ-हितः। गो-जित्। भूयासम्। अश्व-जित्। धनम्-जयः। हिरण्य-जित् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(कृतम्) कर्म (मे) मेरे (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथ

७—(गोभिः) वाग्भिः। विद्याभिः (तरेम) अभिभवेम (अमतिम्) दुर्बुद्धिम् (दुरेवाम्) इण्शीभ्यां वन्। उ० १। १५२। इण् गतौ—वन्। दुर्गतियुक्ताम् (यवेन) यवादिना (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (पुरुहूत) बहाह्वान (विश्वे) सर्वे वयम् (वयम्) (राजसु) नृपेषु (प्रथमाः) मुख्याः (धनानि) (अरिष्टासः) अहिंसिताः। अजेयाः (वृजनीभिः) कृपृवृजि०। उ० २। ८१। वृजी वर्जने—क्युन्। वर्जनशक्तिभिः। सेनाभिः ॥

८—(कृतम्) विहितं कर्म (मे) मम (दक्षिणे) (हस्ते) पाणौ (जयः)

में और (जयः) जीत (मे) मेरे (सव्ये) बायें हाथ में (आहितः) स्थित है। मैं (गोजित्) भूमि जीतनेवाला, (अश्वजित्) घोड़े जीतनेवाला, (धनंजयः) धन जतीनेवाला और (हिरण्यजित्) सुवर्णजीतनेवाला (भूयासम्) रहूं ॥ ८॥

भावार्थ—मनुष्य पराक्रमी होकर सब प्रकार की सम्पत्ति प्राप्त कर सुखी होवें ॥ ८ ॥

अक्षाः फलवतीं द्युवं दत्त गां क्षीरिणीमिव ।
सं मा कृतस्य धारया धनुः स्नाव्नेव नह्यत ॥ ९ ॥

अक्षाः । फल-वतीम् । द्युवम् । दत्त । गाम् । क्षीरिणीम्-इव ।
सम् । मा । कृतस्य । धारया । धनुः । स्नाव्ना-इव । नह्यत ॥ ९

भाषार्थ—(अक्षाः) हे व्यवहारकुशल पुरुषो ! (क्षीरिणीम्) बड़ी दुधैल (गाम् इव) गऊ के समान (फलवतीम्) उत्तम फलवाली (द्युवम्) व्यवहार शक्ति (दत्त) दानकरो। (कृतस्य) कर्म की (धारया) धारा [प्रवाह] से (मा) मुझको (सम् नह्यत) यथावत् बांधो (इव) जैसे (स्नाव्ना) डोरी से (धनुः) धनुष को [बांधते हैं] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से अनेक विद्यायें प्राप्त करके अपना जीवन सुफल करें ॥ ९ ॥

उत्कर्षः (मे) (सव्ये) वामे (आहितः) स्थापितः (गोजित्) भूमिजेता (भूयासम्) (अश्वजित्) अश्वानां जेता (धनञ्जयः) अ० ३ । १४ । २ । धनानां जेता (हिरण्यजित्) सुवर्णस्य जेता ॥

९—(अक्षाः) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारकुशलाः (फलवतीम्) उत्तमफलयुक्ताम् (द्युवम्) दीव्यतेर्भावे—क्विप् । च्छ्वोः शूडनुनासिके च । पा० ६ । ४ । १९ । इत्यूठ् अमि उवङादेशः । व्यवहारशक्तिम् (दत्त) प्रयच्छत (गाम्) धेनुम् (क्षीरिणीम्) बहुदोग्ध्रीम् (इव) यथा (मा) माम् (कृतस्य) विहितस्य कर्मणः (धारया) प्रवाहेण (धनुः) चापम् (स्नाव्ना) स्नामदिपद्यर्ति० उ० ४ । ११३ । स्ना शौचे—वनिप् । वायुवाहिन्या नाड्या । स्नायुनिर्मितया मौर्व्या (इव) यथा (सम् नह्यत) संयोजयत ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

पराक्रमकरणोपदेशः—पराक्रम करने का उपदेश ॥

बृह॒स्पति॑र्नः॒ परि॑ पातु प॒श्चादु॒तोत्त॑रस्मा॒दध॑रादघा॒योः ।
इन्द्रः॑ पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नः॒ सखा॒ सखि॑भ्यो॒ वरी॑यः कृणोतु ॥ १ ॥

बृ॒ह॒स्पतिः॑ । नः॒ । परि॑ । पा॒तु॒ । प॒श्चात् । उ॒त । उत्ऽत॑रस्मात् । अध॑रात् । अ॒घ॒ऽयोः । इन्द्रः॑ । पु॒रस्ता॑त् । उ॒त । म॒ध्य॒तः । नः॒ । सखा॑ । सखि॑ऽभ्यः । वरी॑यः । कृ॒णो॒तु॒ ॥१॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बड़े शूरों का रक्षक सेनापति (नः) हमें (पश्चात्) पीछे, (उत्तरस्मात्) ऊपर (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतनेवाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण स्थान (कृणोतु) करे, (सखा) जैसे मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियोंमें महाप्रतापी होकर दुष्टोंसे प्रजा की सर्वथा रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है ॥ १० । ४२ । ११ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

१—(बृहस्पतिः) बृहतां शूराणां पालकः सेनापतिः (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (पश्चात्) (उत) अपि च (उत्तरस्मात्) ऊर्ध्वाल्लोकात् (अधरात्) अधस्तनाल्लोकात् (अघायोः) अ० १ । २० । २ । पापेच्छुकात् । दुराचारिणः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (पुरस्तात्) अग्रे (उत) (मध्यतः) मध्यात् (नः) अस्मभ्यम् (सखा) सुहृत् (सखिभ्यः) मित्राणां हिताय (वरीयः) उरुतरं स्थानम् (कृणोतु) करोतु ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप् ॥

परस्परैकमत्योपदेशः—आपस में एकता का उपदेश ॥

सं॒ज्ञानं॑ नः॒ स्वेभि॑ः सं॒ज्ञान॒मर॑णेभिः ।

सं॒ज्ञान॑मश्विना यु॒वमि॒हास्मासु॒ नि य॑च्छतम् ॥ १ ॥

सम्-ज्ञान॑म् । नः॒ । स्वेभि॑ः । सम्-ज्ञान॑म् । अर॑णेभिः । सम्-ज्ञान॑म् । अ॒श्विना । यु॒वम् । इ॒ह । अ॒स्मासु॑ । नि । य॒च्छ॒त॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(स्वेभिः) अपनों के साथ (नः) हमारा (संज्ञानम्) एक मत और (अरणेभिः) बाहिर वालों के साथ (संज्ञानम्) एकमत हो। (अश्विना) हे माता पिता ! (युवम्) तुम दोनों (इह) यहां पर (अस्मासु) हम लोगों में (संज्ञानम्) एक मत (नि) निरन्तर (यच्छतम्) दान करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिकों से शिक्षा पाकर वेद द्वारा संसार में एकता फैलावें ॥ १ ॥

सं जा॑नामहै॒ मन॑सा॒ सं चि॑कि॒त्वा मा यु॑ष्महि॒ मन॑सा॒ दैव्ये॑न । मा घोषा॒ उत् स्थु॑र्बहु॒ले वि॒निर्ह॑ते॒ मेषुः॒ पप्त॒दिन्द्र॑स्या॒ह॒न्याग॑ते ॥ २ ॥

सम् । जा॒ना॒म॒है॒ । मन॑सा । सम् । चि॒कि॒त्वा । मा । यु॒ष्म॒हि॒ । मन॑सा । दैव्ये॑न । मा । घोषा॑ः । उत् । स्थुः॒ । ब॒हु॒ले । वि॒-निर्ह॑ते ।

१—(संज्ञानम्) संगतं ज्ञानम् । ऐकमत्यम् (नः) अस्माकम् (स्वेभिः) स्वकीयैः पुरुषैः (अरणेभिः) अ० १ । १६ । ३ । विदेशिभिः (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । हे मातापितरौ (युवम्) युवाम् (इह) अस्मिन् संसारे (अस्मासु) (नि) निरन्तरम् (यच्छतम्) दत्तम् ॥

मा । इषुः । पुप्तत् । इन्द्रस्य । अहनि । आ-गते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मनसा) आत्मबल के साथ (सम् जानामहै) हम मिले रहें, (चिकित्वा) ज्ञान के साथ (सम्) मिले रहें, (दैव्येन) विद्वानों के हितकारी (मनसा) विज्ञान से (मा युष्महि) हम अलग न होवें। (बहुले) बहुत (विनिर्हते) विविध वध के कारण युद्ध होने पर (घोषाः) कोलाहल (मा उत् स्थुः) न उठें, (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्यवान् राजा का (इषुः) बाण (अहनि) दिन [न्याय दिन] (आगते) आने पर [हम पर] (मा पप्तत्) न गिरे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण पुरुषार्थ से एकमत रहने का प्रयत्न करें, और ऐसा काम न करें जिससे आपस में युद्ध होवे और पाप के कारण राजा के दण्डनीय होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ५३ ॥

१-७ ॥ १-३ अग्निः; ४-६ प्राणापानौ; ७ सूर्यो देवता ॥

१-३ त्रिष्टुप्; ४ आस्तारपङ्क्तिः; ५-७ अनुष्टुप् ॥

विदुषां कर्त्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अमुत्रभूयादधि यद् यमस्य बृहस्पतेरभिशस्तेरमुञ्चः । प्रत्यौहतामश्विना मृत्युमस्मद् देवानामग्ने भिषजा शचीभिः ॥ १ ॥

२—(सम् जानामहै) समानज्ञाना भवाम (मनसा) आत्मबलेन (सम्) संजानामहै (चिकित्वा) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कित ज्ञाने-क्वनिप् । छान्दसं द्विर्वचनम्, तृतीयाया डादेशः । चिकित्वना । ज्ञानेन (मा युष्महि) यु मिश्रणामिश्रणयोः, माङि लुङि सिचि रूपम् । मा वियुक्ता भूम (मनसा) विज्ञानेन (दैव्येन) देवहितेन (घोषाः) कोलाहलाः (मा उत् स्थुः) माङि लुङि रूपम् । उत्थिता मा भूवन् (बहुले) प्रचुरे (विनिर्हते) विविधं वधनिमित्ते युद्धे सति (इषुः) बाणः (मा पप्तत्) पत—लुङ् । मा पततु (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो राज्ञः (अहनि) दिने । न्यायदिने (आगते) प्राप्ते ॥

अमुत्र-भूयात् । अधि । यत् । यमस्य । बृहस्पतेः । अभि-शस्तेः । अमुञ्चः । प्रति । औहताम् । अश्विना । मृत्युम् । अस्मत् । देवानाम् । अग्ने । भिषजा । शचीभिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्व व्यापक परमेश्वर ! (यत्) जिस कारण से (अमुत्रभूयात्) परलोक में होनेवाले भय से और (बृहस्पतेः) बड़ों के रक्षक (यमस्य) नियम कर्ता राजा के [सम्बन्धी] (अभिशस्तेः) अपराध से (अधि) अधिकारपूर्वक (अमुञ्चः) तू ने छुड़ाया है । (देवानाम्) विद्वानों में (भिषजा) वैद्यरूप (अश्विना) माता पिता [वा अध्यापक, उपदेशक] ने (मृत्युम्) मृत्यु [मरण के कारण दुःख] को (अस्मत्) हम से (शचीभिः) कर्मों द्वारा (प्रति) प्रतिकूल (औहताम्) हटाया है ॥ १ ॥

भावार्थ-परमेश्वर ने वेदद्वारा बताया है कि मनुष्य गुप्त मानसिक कुविचार छोड़कर परलोक में नरक पतन से, और प्रकट शारीरिक पाप छोड़कर राजा के दण्ड से बचकर आनन्दित रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२७ ६ ॥

सं क्रामतं मा जहीतं शरीरं प्राणापानौ ते सयुजाविह स्ताम् । शतं जीव शरदो वर्धमानोऽग्निष्टे गोपा अधिपा वसिष्ठः ॥ २ ॥

सम् । क्रामतम् । मा । जहीतम् । शरीरम् । प्राणापानौ ।

१—(अमुत्रभूयात्) भुवो भावे । पा० ३ । १ । १०७ । अमुत्र+भू—क्यप् । परजन्मनि भाविनो भयात् । परलोकगमनान्मरणाद् वा (अधि) अधिकृत्य (यत्) यस्मात्कारणात् (यमस्य) नियन्तू राज्ञः (बृहस्पतेः) महतां पालकस्य (अभिशस्तेः) अपराधात् (अमुञ्चः) लङि रूपम् । मोचितवानसि (प्रति) प्रतिकूलम् (औहताम्) उहिर् अर्दने—लङ् । नाशितवन्तौ (अश्विना) मातापितरौ । अध्यापकोपदेशकौ (मृत्युम्) मरणकारणम् (अस्मत्) अस्मत्तः (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (भिषजा) अ० २ । ६ । ३ । भिषजौ वैद्यरूपौ (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० २ । १ ॥

ते । स-युजौ । इह । स्ताम् । शतम् । जीव । शरदः ।
वर्धमानः । अग्निः । ते । गोपाः । अधि-पाः । वसिष्ठः ॥२॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (सं क्रामतम्) मिलकर चलो, (शरीरम्) इसके शरीर को (मा जहीतम्) मत छोड़ो। [हे मनुष्य !] वे दोनों (ते) तेरे लिये (सयुजौ) मिले हुये (इह) यहां पर (स्ताम्) रहें, (शतम् शरदः) सौ बरस तक (वर्धमानः) बढ़ता हुआ (जीव) तू जीता रहे, (अग्निः) सर्व व्यापक परमेश्वर [वा जाठराग्नि] (ते) तेरा (गोपाः) रक्षक, (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला और (वसिष्ठः) अत्यन्त श्रेष्ठ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर प्राण, अपान और जाठराग्नि को सम रख सब प्रकार बलवान् होकर पूर्ण आयु भोगें ॥२॥

आयुर्यत् ते अतिहितं पराचैरपानः प्राणः पुनरा ताविताम्। अग्निष्टदाहार्निर्ऋतेरुपस्थात् तदात्मनि पुनरा वेशयामि ते ॥ ३ ॥

आयुः । यत् । ते । अति-हितम् । पराचैः । अपानः । प्राणः । पुनः । आ । तौ । इताम् । अग्निः । तत् । आ । अहाः । निः-ऋतेः । उप-स्थात् । तत् । आत्मनि । पुनः । आ । वेशयामि । ते ॥३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (आयुः) जीवने

२—(संक्रामतम्) संगतौ भवतम् (मा जहीतम्) ओहाक् त्यागे-लोट् । मा त्यजतम् (शरीरम्) देहम् (प्राणापानौ) प्राणितीति प्राणो नासिका विवराद् बहिर्निर्गच्छन् वायुः, अपानितीति अपानो हृदयस्य अधोभागे संचरन् वायुः, तौ (ते) तुभ्यम् (सयुजौ) संयुक्तौ (इह) अस्मिन् देहे (स्ताम्) भवताम् (शतम्) (जीव) प्राणान् धारय (शरदः) सम्वत्सरान् (वर्धमानः) वृद्धिं कुर्वाणः (अग्निः) परमेश्वरो जाठराग्निर्वा (गोपाः) अ० ५ । ३ । २ । गोपायिता । रक्षकः (अधिपाः) अधिकं पालकः (वसिष्ठः) अ० ४ । २९ । ३ । अतिश्रेष्ठः ॥

३—(आयुः) जीवनबलम् (यत्) (ते) तव (अतिहितम्) धा—क्त ।

सामर्थ्य (पराचैः) पराङ्मुख होकर (अतिहितम्) अट गया है, (तौ) वे दोनों (प्राणः) प्राण और (अपानः) अपान (पुनः) फिर (आ इताम्) आवें। (अग्निः) वैद्य वा शरीराग्नि (तत्) उस [आयु] को (निर्ऋतेः) महा विपत्ति के (उपस्थात्) पास से (आ अहाः) लाया है, (तत्) उसको (ते) तेरे (आत्मनि) शरीर में (पुनः) फिर (आ वेशयामि) प्रविष्ट करता हूं ॥३॥

भावार्थ—जो रोग आदि के कारण शरीरबल में हानि हो जावे, मनुष्य वैद्यों की सम्मति से जाठराग्नि की समता से स्वस्थ रहें ॥ ३ ॥

मेमं प्राणो हासीन्मो अपानो ऽवहाय परा गात्। सप्तर्षिभ्य एनं परि ददामि त एनं स्वस्ति जरसे वहन्तु ॥४॥

मा। इमम्। प्राणः। हासीत्। मो इति। अपानः। अव-हाय। परा। गात्। सप्तर्षि-भ्यः। एनम्। परि। ददामि। ते। एनम्। स्वस्ति। जरसे। वहन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण (इमम्) इस [प्राणी] को (मा हासीत्) न छोड़े, (मो) और न (अपानः) अपान वायु (अवहाय) छोड़ कर (परा गात्) चला जावे। (एनम्) इस पुरुष को (सप्तर्षिभ्यः) सात व्यापनशीलों वा दर्शनशीलों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को

हानिं गतम् (पराचैः) पराङ्मुखम् (अपानः)–म० २ (प्राणः) (पुनः) (तौ) (आ इताम्) इण गतौ—लोट्। आगच्छताम् (अग्निः) वैद्यः शरीराग्निर्वा (तत्) आयुः (आ अहाः) अ० ६। १०३। २। हरतेर्लुङ्। अहार्षीत्। आनीतवान् (निर्ऋतेः) अ० २। १०। १। अलक्ष्म्याः। कृच्छ्रापत्तेः (उपस्थात्) समीपात् (तत्) आयुः (आत्मनि) शरीरे (पुनः) (आवेशयामि) प्रवेशयामि (ते) तव ॥

४—(इमम्) प्राणिनम् (प्राणः) श्वासः (मा हासीत्) ओहाक् त्यागे-लुङ्। मा त्यजतु (मो) नैव (अपानः) प्रश्वासः (अवहाय) ओहाक् त्यागे। प्रत्यज्य (परा गात्) दूरे गच्छेत् (सप्तर्षिभ्यः) अ० ४। ११। ६। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे-यजु०. ३४। ५५। त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिभ्यः

(परि ददामि) मैं समर्पण करता हूं, (ते) वे (एनम्) इसको (स्वस्ति) आनन्द के साथ (जरसे) स्तुति के लिये (वहन्तु) ले चलें ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक इन्द्रियों को प्राणायाम, व्यायाम आदि से स्वस्थ रख कर धर्म में प्रवृत्त रहें ॥४॥

प्र विशतं प्राणापानावनड्वाहाविव व्रजम् ।
अयं जरिम्णः शेवधिररिष्ट इह वर्धताम् ॥ ५ ॥

प्र । विशतम् । प्राणापानौ । अनड्वाहौ-इव । व्रजम् । अयम् । जरिम्णः । शेव-धिः । अरिष्टः । इह । वर्धताम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (प्र विशतम्) प्रवेश करते रहो, (इव) जैसे (अनड्वाही) रथ ले चलने वाले दो बैल (व्रजम्) गोशाला में । (अयम्) यह जीव (जरिम्णः) स्तुति का (शेवधिः) निधि, (अरिष्टः) दुःखरहित होकर (इह) यहां पर (वर्धताम्) बढ़ती करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाकर संसार में उन्नति करें ॥ ५ ॥

आ ते प्राणं सुवामसि परा यक्ष्मं सुवामि ते ।
आयुर्नो विश्वतो दधदयमग्निर्वरेण्यः ॥ ६ ॥

आ । ते । प्राणम् । सुवामसि । परा । यक्ष्मम् । सुवामि । ते ।

(एनम्) जीवम् (परि ददामि) समर्पयामि (ते) सन्तर्पयः (एनम्) (स्वस्ति) क्षेमेण (जरसे) अ० १ । ३० । २ । जॄ स्तुतौ—असुन् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । स्तुतये (वहन्तु) नयन्तु ॥

५—(प्र विशतम्) प्रवेशं कुरुतम् (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासौ (अनड्वाहौ) अ० ४ । ११ । १ । अनस् + वह प्रापणे-क्विप्, अनसोडश्च । शकट—वहनशक्तौ बलीवर्दौ (इव) यथा (व्रजम्) गोष्ठम् (अयम्) जीवः (जरिम्णः) अ० २ । २८ । १ । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जरतेः—इमनिन् । स्तुत्यस्य कर्मणः (शेवधिः) अ० ५ । २२ । १४ । निधिः—निरु० २ । ४ । (अरिष्टः) अहिंसितः (इह) अस्मिँल्लोके (वर्धताम्) समृद्धो भवतु ॥

आयु॑ः । नः॒ । वि॒श्वतः॑ । द॒ध॒त् । अ॒यम् । अ॒ग्निः । वरे॑ण्यः ॥६॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (आ सुवामसि) हम अच्छे प्रकार आगे बढ़ाते हैं, और (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (परा सुवामि) मैं दूर निकालता हूं। (अयम्) यह (वरेण्यः) स्वीकरणीय (अग्निः) जाठराग्नि (नः) हमारे (आयुः) आयु को (विश्वतः) सब प्रकार (दधत्) पुष्ट करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक निर्बलता आदि रोगों को नाश करके अपना जीवन सब प्रकार सुफल करें ॥ ६ ॥

उद् व॒यं तम॑स॒स्परि॒ रोह॑न्तो॒ नाक॑मुत्त॒मम् ।
दे॒वं दे॑व॒त्रा सूर्य॒मग॑न्म॒ ज्योति॑रुत्त॒मम् ॥ ७ ॥

उत् । व॒यम् । तम॑सः । परि॑ । रोह॑न्तः । नाक॑म् । उ॒त्ऽत॒मम् ।
दे॒वम् । दे॒व॒ऽत्रा । सूर्य॑म् । अग॑न्म । ज्योतिः॑ । उ॒त्ऽत॒मम् ॥७॥

भाषार्थ—(तमसः) अन्धकार से (परि) पृथक् होकर (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) सुख में (उद् रोहन्तः) ऊपर चढ़ते हुये (वयम्) हमने (देवत्रा) प्रकाशमानों में (देवम्) प्रकाशमान, (उत्तमम्) उत्तम (ज्योतिः) ज्योतिस्वरूप, (सूर्यम्) सब के प्रेरक सूर्य जगदीश्वर को (अगन्म) पाया है॥७॥

६—(आ) समन्तात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (सुवामसि) षू प्रेरणे। वयं प्रेरयामः (परा) दूरे (यक्ष्मम्) राजरोगम् (सुवामि) प्रेरयामि (ते) तव (आयुः) जीवनम् (नः) अस्माकम् (विश्वतः) सर्वतः (दधत्) दधातेर्लेटि, अडागमः। पोषयेत् (अयम्) (अग्निः) जाठराग्निः (वरेण्यः) अ० ७ । १४ । ४ । स्वीकरणीयः । सम्भजनीयः ॥

७—(उत्) उत्कर्षेण (वयम्) योगिनः (तमसः) अन्धकारात् (परि) पृथग्भूय (रोहन्तः) आरूढाः सन्तः (नाकम्) दुःखरहितं मोक्षसुखम् (उत्तमम्) सर्वोत्कृष्टम् (देवम्) प्रकाशमानम् (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरु० । पा० ५ । ४ । ५६ । सप्तम्यर्थे-त्रा । प्रकाशमानेषु (सूर्यम्) अ० १ । ३ । ५ । लोकप्रेरकं परमात्मानम् (अगन्म) वयं प्राप्तवन्तः (ज्योतिः) ज्योतीरूपं द्योतमानम् (उत्तमम्) ॥

भावार्थ—विद्वान् योगीजन विद्या के प्रकाश से मुक्ति सुख को भोगते हुये ज्योतिस्वरूप परमात्मा में निरन्तर विचरते हैं ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २१; २७। १०; ३५।१४; ३८।२४॥

सूक्तम् ५४ ॥

१-२ ॥ शचीपतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याग्रहणोपदेशः—वेद विद्या के ग्रहण का उपदेश ॥

ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते ।
एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः ॥ १ ॥

ऋचम् । साम । यजामहे । याभ्याम् । कर्माणि । कुर्वते ।
एते इति । सदसि । राजतः । यज्ञम् । देवेषु । यच्छतः ॥१॥

भाषार्थ—(ऋचम्) स्तुति विद्या [ईश्वर से लेकर समस्त पदार्थों के ज्ञान], (साम) दुःख नाशक मोक्ष विद्या का (यजामहे) हम सत्कार करते हैं, (याभ्याम्) जिन दोनों के द्वारा (कर्माणि) कर्मों को (कुर्वते) वे [सब प्राणी] करते हैं। (एते) यह दोनों (सदसि) [संसार रूपी] बैठक में (राजतः) विराजते हैं और (देवेषु) विद्वानों के बीच (यज्ञम्) सङ्गति (यच्छतः) दान करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेद द्वारा विद्या प्राप्त करके संसार में प्रतिष्ठित होवें ॥ १ ॥

१—(ऋचम्) ऋच स्तुतौ—क्विप्। ऋग् वाङ्नाम—निघ० १। ११। ऋग् अर्चनी—निरु० १३। ८। स्तुतिविद्याम्। ईश्वरमारभ्य समस्तपदार्थज्ञानम्। (साम) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ। उ० ४। १५३। षो अन्तकर्मणि—मनिन्। साम सम्मितमृचास्यतेर्वर्चा सम मेन इति नैदानाः—निरु० ७। १२। दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (याभ्याम्) ऋक्सामाभ्याम् (कर्माणि) कर्तव्यानि (कुर्वते) कुर्वन्ति प्राणिनः (एते) ऋक्सामे (सदसि) संसाररूपे समाजे (राजतः) दीप्येते (यज्ञम्) सङ्गतिकरणम् (देवेषु) विद्वत्सु (यच्छतः) दत्तः ॥

ऋचं साम यदप्राक्षं हविरोजो यजुर्बलम्।
एष मा तस्मान्मा हिंसीद् वेदः पृष्टः शचीपते ॥२॥

ऋचम्। साम। यत्। अप्राक्षम्। हविः। ओजः। यजुः। बलम्। एषः। मा। तस्मात्। मा। हिंसीत्। वेदः। पृष्टः। शची-पते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये (ऋचम्) पदार्थों की स्तुतिविद्या, (साम) दुःखनाशक मोक्षविद्या और (यजुः) विद्वानों के सत्कार, विद्यादान और पदार्थों के सङ्गति करण द्वारा (हविः) ग्राह्यकर्म, (ओजः) मानसिक बल और (बलम्) शारीरिक बल को (अप्राक्षम्) मैंने पूंछा है [विचारा है]। (तस्मात्) इसलिये, (शचीपते) हे वाणी वा कर्म वा बुद्धि के रक्षक आचार्य! (एषः) यह (पृष्टः) पूछा हुआ (वेदः) वेद (मा) मुझको (मा हिंसीत्) न दुःख देवे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विचार पूर्वक वेदों का अध्ययन करके उत्तम कर्म से मानसिक और शारीरिक बल बढ़ाकर आनन्दित होवे ॥२॥

सूक्तम् ५५ ॥

१ ॥ वसुर्देवता ॥ विराडुष्णिक् छन्दः ॥

२—(ऋचम्) म० १। पदार्थस्तुतिविद्याम् (साम) म० १। दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (यत्) यस्मात्कारणात् (अप्राक्षम्) प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—लुङ्, द्विकर्मकः। प्रश्नेन विचारितवानस्मि (हविः) ग्राह्यं कर्म (ओजः) मानसं बलम् (यजुः) अर्तिपृवपियजि०। उ० २। ११७। इति यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—उसि। यजुर्यजतेः—निरु० ७। १२। विदुषां सत्कारं विद्यादानं पदार्थसङ्गतिकरणं च (बलम्) शरीरबलम् (एषः) प्रसिद्धः (मा हिंसीत्) मा दुःखयेत् (तस्मात्) कारणात् (मा) माम् (वेदः) अ० ७। २८। १। ईश्वरोक्तज्ञानम् (पृष्टः) विचारितः। अधीतः (शचीपते) शची=वाक्—निघ० १। ११; कर्म २। १; प्रज्ञा ३। ६। हे वाचः कर्मणः प्रज्ञायाः पालक ॥

वेदमार्गग्रहणोपदेशः—वेदमार्ग के ग्रहण का उपदेश ॥

ये ते॒ पन्था॑नोऽव॑ दि॒वो येभि॒र्विश्व॒मैर॑यः ।
तेभिः॑ सुम्न॒या धे॑हि नो वसो ॥ १ ॥

ये । ते॒ । पन्था॑नः । अव॑ । दि॒वः । येभिः॑ । विश्व॑म् । ऐर॑यः ।
तेभिः॑ । सु॒म्न॒ऽया । आ । धे॒हि॒ । नः॒ । व॒सो॒ इति॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! (ये) जो (ते) तेरे (दिवः) प्रकाश के (पन्थानः) मार्ग (अव) निश्चय करके हैं, (येभिः) जिनके द्वारा (विश्वम्) संसार को (ऐरयः) तूने चलाया है । (तेभिः) उनसे ही (सुम्नया) सुख के साथ (नः) हमें (आ धेहि) सब ओर से पुष्टकर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के वेदमार्ग पर चलकर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक पुष्टि करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१-८ ॥ ओषधिर्देवता ॥ १-३,५-८ अनुष्टुप्; ४ बृहती ॥

विषहरणोपदेशः—विष नाश का उपदेश ॥

ति॒रश्चि॑राजेरसि॒तात् पृदा॑कोः॒ परि॒ संभृ॑तम् ।
तत् क॒ङ्कप॑र्वणो वि॒षमि॒यं वी॒रुद॑नीनशत् ॥ १ ॥

तिर॑श्चिऽराजेः । अ॒सि॒तात् । पृदा॑कोः । परि॑ । सम्ऽभृ॑तम् ।
तत् । क॒ङ्कऽप॑र्वणः । वि॒षम् । इ॒यम् । वी॒रुत् । अ॒नी॒न॒श॒त् ॥ १ ॥

१—(ये) (ते) तव (पन्थानः) वेदमार्गाः (अव) निश्चयेन (दिवः) प्रकाशस्य (येभिः) यैः (विश्वम्) जगत् (ऐरयः) ईर गतौ—लङ् । प्रेरित-वानसि (तेभिः) तैः पथिभिः (सुम्नया) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १३६ । इति सु+म्ना अभ्यासे-क । विभक्तेर्याजादेशः । सुम्नं सुखम्—निघ० ३ । ६ । सुम्नेन सुखेन (आ) समन्तात् (धेहि) पोषय (नः) अस्मान् (वसो) हे श्रेष्ठपरमात्मन् ॥

भाषार्थ—(इयम्) इस (वीरुत्) जड़ी-बूटी ने (तिरश्चिराजेः) तिरछी रेखाओं वाले, (असितात्) कृष्णवर्ण वाले, (कङ्कपर्वणः) काक वा चिल्ह पक्षी के समान जोड़ वाले (पृदाकोः) फुसकारते हुये साँप से (सम्भृतम्) पाये हुये (तत्) उस (विषम्) विष को (परि) सब प्रकार (अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य ओषधि द्वारा सर्प आदि के विष को नाश करता है, वैसे ही विद्वान् विद्या द्वारा मानसिक दोषों का नाश करे ॥ १ ॥

इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः ।
सा विह्रुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥ २ ॥

इयम् । वीरुत् । मधु-जाता । मधुश्चुत् । मधुला । मधूः ।
सा । वि-ह्रुतस्य । भेषजी । अथो इति । मशक-जम्भनी ॥२

भाषार्थ—(इयम्) यह [ब्रह्मविद्या] (वीरुत्) जड़ी बूटी (मधुजाता) मधुरपन से उत्पन्न हुई, (मधुश्चुत्) मधुरपन टपकानेवाली (मधुला) मधुरपन देने वाली और (मधूः) मधुर स्वभाव वाली है। (सा) वही (विह्रुतस्य) बड़े कुटिल विष की (भेषजी) ओषधि (अथो) और (मशकजम्भनी) मच्छरों

१—(तिरश्चिराजेः) अ० ३। २७। २। तिर्यग्रेखायुक्तात् (असितात्) अ० ३। २७। १। कृष्णवर्णात् (पृदाकोः) अ० ३। २७। ३। कुत्सितशब्दकारिणः सर्पात् (परि) सर्वतः (सम्भृतम्) प्राप्तम् (तत्) (कङ्कपर्वणः) ककि गतौ—अच् + पॄ पालनपूरणयोः—वनिप्। लोहपृष्ठस्तु कङ्कः स्यात्—अमर० १५। १६। कङ्कपक्षिसदृशपर्वाणि सन्धयो यस्य तस्मात् (विषम्) हलाहलम् (इयम्) (वीरुत्) ओषधिः (अनीनशत्) अ० १। २४। २। नाशितवती ॥

२—(इयम्) ब्रह्मविद्या (वीरुत्) ओषधिः (मधुजाता) माधुर्याद् निष्पन्ना (मधुश्चुत्) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप्। मधुररसस्य क्षरणशीला (मधुला) ला दाने—क। माधुर्यदात्री (मधूः) मधुरस्वभावा (सा) वीरुत् (विह्रुतस्य) विशेषकुटिलस्य विषस्य (भेषजी) ओषधिः (अथो) अपि च (मशकजम्भनी)

[मच्छर के समान गुणों] की नाश करनेवाली है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम ओषधि से बड़े बड़े विष और क्लेश नाश होते हैं, वैसेही मनुष्य ब्रह्म विद्या द्वारा अपने दोषों का नाश करे ॥ २ ॥

यतो॑ दुष्टं यतो॑ धीतं तत॑स्ते॒ निर्ह्व॑यामसि ।
अ॒र्भस्य॑ तृप्रदं॒शिनो॑ म॒शक॑स्यार॒सं वि॒षम् ॥ ३ ॥

यतः॑ । दु॒ष्टम् । यतः॑ । धी॒तम् । ततः॑ । ते॒ । निः । ह्व॒या॒म॒सि॒ ।
अ॒र्भस्य॑ । तृ॒प्र-दं॒शिनः॑ । म॒शक॑स्य । अ॒र॒सम् । वि॒षम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यतः) जहां पर (दष्टम्) काटा गया है और (यतः) जहां पर (धीतम्) [रुधिर] पिया गया है, (ते) तेरे (ततः) उसी [अङ्ग] से (अर्भस्य) छोटे (तृप्रदंशिनः) तीव्र काटनेवाले (मशकस्य) मच्छर के (अरसम्) निर्बल [किये हुये] (विषम्) विष को (निः) निकालकर (ह्वयामसि) हम वचन देते हैं ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य सुपरीक्षित ओषधियों से प्रयत्न पूर्वक विष आदि रोग नाश करें ॥ ३ ॥

अ॒यं यो व॒क्रो विप॑रु॒र्व्य॑ङ्गो मुखा॑नि व॒क्रा वृ॑जि॒ना कृ॒णोषि॑ । तानि॒ त्वं ब्र॑ह्मणस्पत इ॒षीका॑मिव॒ सं न॑मः ॥४

अ॒यम् । यः । व॒क्रः । वि-प॑रुः । वि-अ॑ङ्गः । मुखा॑नि । व॒क्रा । वृ॒जि॒ना । कृ॒णोषि॑ । तानि॑ । त्वम् । ब्र॒ह्म॒णः॒ । प॒ते॒ । इ॒षी-काम्-इ॑व । सम् । न॒मः ॥ ४ ॥

जभि नाशने—ल्युट् । मशकानां मशकस्वभावानां नाशयित्री ॥

३—(यतः) सप्तम्यर्थे तसिः । यस्मिन् देशे (दष्टम्) हिंसितम् (यतः) यस्मिन्नङ्गे (धीतम्) धेट् पाने-क्त । रुधिरं पीतम् (ततः) तस्मादङ्गात् (ते) तव (निः) निःसार्य (ह्वयामसि) कथयामः (अर्भस्य) अल्पस्य (तृप्रदंशिनः) तृप संदीपने प्रीणने च—रक्+दंश दंशने-णिनि । तीव्रदंशनशीलस्य (मशकस्य) मश ध्वनौ कोपे च-वुन् । कीटभेदस्य (अरसम्) निर्बलं कृतम् (विषम्) ॥

भाषार्थ—(अयम् यः) यह जो [विषरोगी] (वक्रः) टेढ़े शरीरवाला (विपरुः) विकृत जोड़ों वाला (व्यङ्गः) ढीले अङ्गों [हाथ पैरों] वाला (मुखानि) अपने मुख के अवयवों [दांत नाक नेत्र आदि] को (वक्रा) टेढ़ा और (वृजिना) ऐंठे मरोड़े (कृणोपि=कृणोति) करता है। (ब्रह्मणः पते) हे बड़े ज्ञान के स्वामी [वैद्यराज !] (त्वम्) तू (तानि) उन[अङ्गों] को (सम् नमः) मिलाकर ठीक करदे (इव) जैसे (इषीकाम्) कांस वा मूंजको [रसरी के लिये] ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग विष रोगी को औषध आदि से शीघ्र स्वस्थ करें॥

अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः ।

विषं ह्या१स्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥ ५ ॥

अरसस्य । शर्कोटस्य । नीचीनस्य । उप-सर्पतः । विषम् । हि । अस्य । आ-अदिषि । अथो इति । एनम् । अजीजभम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ-(अस्य) इस (अरसस्य) निर्बल [तुच्छ वा काटनेवाले], (नीचीनस्य) नीचे पड़े हुये, (उपसर्पतः) रेंगते हुये, (शर्कोटस्य) काटकर टेढ़ा कर देनेवाले [बीछू आदि] के (विषम्) विष को (हि) निश्चय करके (आ-अदिषि)

४—(अयम्) (यः) विषरोगी (वक्रः) कुटिलावयवः (विपरुः) विश्लिष्टपर्वा विकृतसन्धिः (व्यङ्गः) विकृताङ्गः (मुखानि) मुखावयवान् (वक्रा) कुटिलानि (वृजिना) अ० १ । १० । ३ । क्लिष्टानि (कृणोपि) प्रथमस्य मध्यमपुरुषः । कृणोति । करोति (तानि) अङ्गानि (त्वम्) (ब्रह्मणस्पते) प्रवृद्धस्य ज्ञानस्य रक्षक वैद्यराज (इषीकाम्) ईषेः किद् ह्रस्वश्च । उ० ४ । २१ । ईष हिंसने—ईकन्, टाप् । काशं मुञ्जं वा (इव) यथा (सम्) संगत्य (नमः) णम प्रह्वत्वे शब्दे च—लेटि, अडागमः । सं नमय । ऋजूकुरु ॥

५—(अरसस्य) निर्बलस्य तुच्छस्य । यद्वा । अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । ऋ हिंसायाम्—असच् । हिंसकस्य (शर्कोटस्य) अन्येभ्योपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शॄ हिंसायां-विच्+कुट कौटिल्ये—घञ् । शरा हिंसनेन कुटिलीकरस्य (नीचीनस्य) नीच—ख । नीचदेशे भवस्य (उपसर्पतः) समीपं गच्छतः (विषम्) (हि) अवश्यम् (आ—अदिषि) दो खण्डने लुङ्, आत्मने

मैंने खण्डित करदिया है (अथो) और (एनम्) इस [जन्तु] को (अजीजभम्) मैंने कुचिल डाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—बीछू आदि के विष को हटाकर उस विषैले जन्तु को भी मार डालें जिससे वह औरों को न सतावे ॥ ५ ॥

न ते॑ बा॒ह्वोर्बल॑मस्ति॒ न शी॒र्षे नोत म॑ध्य॒तः ।

अथ॒ किं पा॒पया॑मु॒या पुच्छे॑ बिभर्ष्यर्भ॒कम् ॥ ६ ॥

न । ते॒ । बा॒ह्वोः । बल॑म् । अ॒स्ति॒ । न । शी॒र्षे । न । उ॒त । म॒ध्य॒तः ।
अथ॑ । किम् । पा॒पया॑ । अ॒मु॒या । पुच्छे॑ । बि॒भ॒र्षि॒ । अ॒र्भ॒कम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू !] (न) न तो (ते) तेरे (बाह्वोः) दोनों भुजाओं में (बलम्) बल (अस्ति) है, (न) न (शीर्षे) शिर में (उत) और (न) न (मध्यतः) बीच में है । (अथ) फिर (किम्) क्यों (अमुया पापया) उस पाप बुद्धि से (पुच्छे) पूंछ में (अर्भकम्) थोड़ा सा [विष] (बिभर्षि) तू रखता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे बीछू सामने से निर्विष होता है और पीछे से चढ़ डंक मारता है, मनुष्यों को ऐसी कुटिलता छोड़ कर सर्वथा सरल स्वभाव होना चाहिये ॥ ६ ॥

अ॒दन्ति॑ त्वा पि॒पीलि॑का॒ वि वृ॑श्चन्ति मयू॒र्यः॑ ।

सर्वे॑ भल ब्रवाथ॒ शार्को॑टमर॒सं वि॒षम् ॥ ७ ॥

अ॒दन्ति॑ । त्वा॒ । पि॒पीलि॑काः । वि । वृ॒श्च॒न्ति॒ । म॒यू॒र्यः॑ ।

पदं छान्दसम् । सर्वतः खण्डितवानस्मि (अथो) अपि च (एनम्) जन्तुम् (अजीजभम्) जभि हिंसने । अनीनशम् ॥

६—(न) निषेधे (ते) तव (बाह्वोः) हस्तयोः (बलम्) सामर्थ्यम् (अस्ति) (न) (शीर्षे) शिरसि (न) (उत) अपि (मध्यतः) सप्तम्यर्थे तसिः । मध्ये । कटिभागे (अथ) पुनः (किम्) किमर्थम् (पापया) पापिष्ठया बुद्ध्या (अमुया) अनया (पुच्छे) पुछ प्रमादे—अच् । लाङ्गले (बिभर्षि) धरसि (अर्भकम्) अल्पे । पा० ५ । ३ । ८५ अल्पार्थे कन् । अत्यल्पं विषम् ॥

सर्वे । भल । ब्रवाथ । शार्कोटम् । अरसम् । विषम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे बीछू वा सर्प !] (त्वा) तुझको (पिपीलिकाः) चिउंटियें (अदन्ति) खा जाती हैं और (मयूर्यः) मोरनियें (वि वृश्चन्ति) काट डालती हैं। [हे मनुष्यो !] (सर्वे) तुम सब (शार्कोटम्) बीछू वा सर्प के (विषम्) विष के (अरसम्) निर्बल (भल) भली भांति (ब्रवाथ) बतलाओ॥

भावार्थ—जैसे चिउंटी, मोर मोरनी आदि विषैले जीवों का आहार कर जाते हैं, वैसेही मनुष्य ओषधि द्वारा विष को निर्बल करके हटावे ॥ ७ ॥

य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च ।
आस्ये३ न ते विषं किमु ते पुच्छधावसत् ॥ ८ ॥

यः। उभाभ्याम्। प्र-हरसि। पुच्छेन। च। आस्येन। च। आस्ये। न। ते। विषम्। किम्। ऊं इति। ते। पुच्छ-धौ। असत् ॥८॥

भाषार्थ—[हे बीछू !] (यः) जो तू (उभाभ्याम्) दोनों (पुच्छेन) पूंछ से (च च) और (आस्येन) मुख से (प्रहरसि) चोट मारता है। (ते) तेरे (आस्ये) मुख में (विषम्) विष (न) नहीं है, (उ) तौ, (ते) (पुच्छधौ) पूंछ की थैली में (किम्) क्या (असत्) होवे ॥ ८ ॥

७—(अदन्ति) भक्षयन्ति (त्वा) त्वां वृश्चिकं सर्पं वा (पिपीलिकाः) अपि+पील रोधने—एवुल्, अल्लोपः, टापि, अत इत्वम्। पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः—निरु० ७। १३। क्षुद्रजन्तुविशेषाः (वि) विशेषेण (वृश्चन्ति) छिन्दन्ति (मयूर्यः) मीनातेरूरन्। उ० १। ६७। मीञ् हिंसायाम्—ऊरन्, ङीप्। मयूरस्त्रियः (सर्वे) यूयं सर्वे विषनिहारकाः। (भल) भल परिभाषणहिंसादानेषु—पचाद्यच्। साधु (ब्रवाथ) लेटि आडागमः। ब्रूत (शार्कोटम्) शर्कोट—म० ५, अण्। शर्कोटस्य वृश्चिकस्य सर्पस्य वा सम्बन्धि (अरसम्) निर्बलम् (विषम्) ॥

८—(यः) (उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (प्रहरसि) बाधसे (पुच्छेन) म० ६। लाङ्गलेन (आस्येन) मुखेन (च च) समुच्चये (आस्ये) मुखे (न) निषेधे (ते) तव (विषम्) (किम् असत्) किं स्यात्, न भवेदित्यर्थः (ते) तव (पुच्छधौ) पुच्छ+डुधाञ्—कि। पुच्छधान्याम् ॥

भावार्थ—बीछू के मुख में तो विष नहीं होता, उसकी पूंछ के विष को भी विद्वान् लोग ओषधि द्वारा नाश करें ॥ ८ ॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-२ ॥ सरस्वती देवता ॥ जगती छन्दः ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

यदा॒शसा॒ वद॑तो मे विचुक्षु॒भे यद् याच॑मानस्य॒ चर॑तो॒ जनाँ॒ अनु॑ । यदा॒त्मनि॑ त॒न्वो॑ मे॒ विरि॑ष्टं॒ सर॑स्वती॒ तदा पृ॑णद् घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

यत् । आ॒ऽशसा॑ । वद॑तः । मे॒ । वि॒ऽचु॒क्षु॒भे । यत् । याच॑मानस्य । चर॑तः । जना॑न् । अनु॑ । यत् । आ॒त्मनि॑ । त॒न्वः॑ । मे॒ । विऽरि॑ष्टम् । सर॑स्वती । तत् । आ । पृ॒ण॒त् । घृ॒तेन॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वदतः मे) मुझ बोलने वाले का (यत्) जो [मन] (आशसा) किसी हिंसा से (विचुक्षुभे) व्याकुल होगया है, [अथवा] (जनान् अनु) मनुष्यों के पास (चरतः) चलकर (याचमानस्य) मुझ मांगने वाले का (यत्) जो [मन व्याकुल होगया है] । [अथवा] (मे तन्वः) मेरे शरीर के (आत्मनि) आत्मा में (यत् विरिष्टम्) जो कष्ट है, (सरस्वती) विज्ञानयुक्त विद्या (तत्) उसको (घृतेन) प्रकाश वा सारतत्त्व से (आ) भली भांति (पृणत्) भर देवे ॥ १ ॥

१—(यत्) मनः (आशसा) शसु हिंसायाम् क्विप् । आशसनेन । आशा-भङ्गेन (वदतः) भाषमाणस्य (मे) मम (विचुक्षुभे) विशेषेण क्षुभितं व्याकुलं बभूव (यत्) मनः (याचमानस्य) प्रार्थयमानस्य (चरतः) गच्छतः (जनान् अनु) जनान् प्रति (यत्) (आत्मनि) स्वस्मिन् (तन्वः) शरीरस्थ (मे) मम (विरिष्टम्) रिष हिंसायाम्—क्त । विशेषेण क्लिष्टम् (तत्) दुःखम् (सरस्वती) वाक्—निघ० १ । ११ । विज्ञानवती विद्या (तत्) (आ) समन्तात् (पृणत्) पृण प्रीणने—लेटि, अडागमः । पूरयेत् ॥

भावार्थ—मनुष्य अविद्या के कारण से प्राप्त हुये क्लेशों को विद्या द्वारा नाश करें ॥

सप्त क्षरन्ति शिशवे मरुत्वते पित्रे पुत्रासो अप्यवीवृतन्नृतानि । उभे इदस्योभे अस्य राजत उभे यतेते उभे अस्य पुष्यतः ॥ २ ॥

सप्त । क्षरन्ति । शिशवे । मरुत्वते । पित्रे । पुत्रासः । अपि । अवीवृतन् । ऋतानि । उभे इति । इत् । अस्य । उभे इति । अस्य । राजतः । उभे इति । यतेते इति । उभे इति । अस्य । पुष्यतः २

भाषार्थ—(सप्त) सात [इन्द्रियां अर्थात् दो कान, दो नथुने, दो आंख, एक मुख] (मरुत्वते) सुवर्ण वाले (शिशवे) दुःखनाशक बालक [वा प्रशंसनीय वा उदार विद्वान्] के लिये [सुख से] (क्षरन्ति) बरसती हैं, (अपि) और (पुत्रासः) पुत्रों [पुत्र समान हितकारी पुरुषों] ने (पित्रे) उस पिता [पिता तुल्य माननीय] के लिये (ऋतानि) सत्य धर्मों को (अवीवृतन्) प्रवृत्त किया है । (उभे) दोनों [वर्तमान और भविष्यत् जन्म वा अवस्था] (इत्) ही (अस्य) इस [विद्वान्] के होते हैं, (अस्य) इसके (उभे) दोनों

२—(सप्त) सप्त ऋषयः—अ० ४ । ११ । ६ । कः सप्त खानि विततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम् । अ० । १० । २ । ६ । शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (क्षरन्ति) सुखं वर्षन्ति (शिशवे) शः कित् सन्वच । उ० । १ । २० । शो तनूकरणे—उ । शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणः–निरु० १० । ३६ । दुःखस्य अल्पीकर्त्रे नाशयित्रे बालकाय दात्रे विदुषे वा (मरुत्वते) मरुत्=हिरण्यम्—निघ० १ । २ । सुवर्णवते (पित्रे) पितृतुल्यमाननीयाय विदुषे (पुत्रासः) पुत्रवदुपकारिणः पुरुषाः (अपि) च (अवीवृतन्) वर्ततेर्ण्यन्ताल्लुङि चङि रूपम् । प्रवर्तितवन्तः (ऋतानि) सत्यधर्माणि (उभे) उभ पूरणे-क । उभौ समुब्धौ भवतः—निरु० ४।४। उभे निपासि जन्मनी—यजु० ८ । ३ । द्वे वर्तमानभविष्यती जन्मनी अवस्थे वा (इत्) एव (अस्य) शिशोर्विदुषः पुरुषस्य (उभे) (अस्य) (राजतः) राजतिरै=ईष्टे—निघ० २ । २१ । ऐश्वर्य-

(राजतः) ऐश्वर्यवान् होते हैं, (उभे) दोनों (यतेते) प्रयत्नशाली होते हैं, (उभे) दोनों (अस्य) इसका (पुष्यतः) पोषण करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—धनी, परोपकारी, विद्वान् पुरुष इस जन्म और परजन्म और वर्तमान और भविष्यत् काल में पूर्ण सुख भोगते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में कुछ भेद से है—१० । १३ । ५ ।

सूक्तम् ५८ ॥

१-२ ॥ इन्द्रावरुणौ देवते ॥ १ जगती; २ त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाजनकर्त्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा जन के कर्त्तव्य का उपदेश है ॥

इन्द्रावरुणा सुतपाविमं सुतं सोमं पिबतं मद्यं धृतव्रतौ । युवो रथो अध्वरो देववीतये प्रति स्वसरमुप यातु पीतये ॥ १ ॥

इन्द्रावरुणा । सुत-पौ । इमम् । सुतम् । सोमम् । पिबतम् । मद्यम् । धृत-व्रतौ । युवोः । रथः । अध्वरः । देव-वीतये । प्रति । स्वसरम् । उप । यातु । पीतये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुतपौ) हे पुत्रों के रक्षा करने वाले ! (धृतव्रतौ) उत्तम कर्मों के धारण करने वाले ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान वर्त्तमान राजा और प्रजाजन (इमम् सुतम्) इस पुत्र को (मद्यम्) आनन्द-दायक (सोमम्) ऐश्वर्य [वा बड़ी बड़ी ओषधियों का रस] (पिबतम्=पाययतम्) पान कराओ, (युवोः) तुम दोनों का (अध्वरः) मार्ग बताने वाला (रथः) विमान आदि यान (देववीतये) दिव्य पदार्थों की प्राप्ति के

युक्ते भवतः (यतेते) यती प्रयत्ने । प्रयत्नं कुरुतः (पुष्यतः) पोषणं कुरुतः ॥

१—(इन्द्रावरुणा) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ (सुतपौ) पुत्रपालकौ (इमम्) प्रत्यक्षम् (सुतम्) पुत्रम् (सोमम्) ऐश्वर्यम् । महौषधि-रसं वा (पिबतम्) अन्तर्गतण्यर्थः । पाययतम् (मद्यम्) आनन्दकम् (धृतव्रतौ) धृतकर्माणौ (युवोः) युवयोः (रथः) विमानादियानम् (अध्वरः) अध्वन्+रा दाने-क । मार्गप्रदः (देववीतये) दिव्यपदार्थप्राप्तये (प्रति) वीप्सायाम् (स्वसरम्) दिनम्—निघ० १ । ६ । गृहम्—निघ० ३ । ४ (उप) समीपे

लिये और (पीतये) वृद्धि के लिये (प्रति स्वसरम्) प्रतिदिन वा प्रतिघर (उप यातु) आया करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजागणों को चाहिये कि परस्पर रक्षक होकर परस्पर उन्नति करें ॥ १ ॥

म० १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—६ । ६८ । १०,११ ॥

इन्द्रा॑वरुणा॒ मधु॑मत्तमस्य॒ वृष्णः॒ सोम॑स्य वृषणा॒ वृषे॑थाम्। इ॒दं वा॒मन्धः॒ परि॑षिक्तमा॒सद्या॒स्मिन् ब॒र्हिषि॑ मादयेथाम् ॥ २ ॥

इन्द्रा॑वरुणा । मधु॑मत्-तमस्य । वृष्णः॑ । सोम॑स्य । वृ॒षणा॒ । आ । वृ॒षे॒था॒म् । इ॒दम् । वा॒म् । अन्धः॑ । परि॑-सिक्तम् । आ॒-सद्य॑ । अ॒स्मिन् । ब॒र्हिषि॑ । मा॒द॒ये॒था॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृषणा) हे वलिष्ठ ! (इन्द्रावरुणा) बिजुली और वायु के समान राजा और प्रजाजनो तुम (मधुमत्तमस्य) अत्यन्तज्ञानयुक्त, (वृष्णः) बल करने वाले (सोमस्य) ऐश्वर्य की (वृषेथाम्) वरसा करो । (वाम्) तुम दोनों का (इदम्) यह (परिषिक्तम्) सब प्रकार सींचा हुआ (अन्धः) अन्न है, (अस्मिन्) इस (वर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयेथाम्) आनन्दित करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा और प्रजागण सब की उन्नति के लिये पुरुषार्थ करते हैं, वे ही सत्कार योग्य होते हैं ॥ २ ॥

(यातु) गच्छतु (पीतये) ध्याप्योः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । ११५ । इति बाहुलकात् प्यैङ् वृद्धौ—क्तिनि प्रत्यये सम्प्रसारणम् । हलः । पा० ६ । ४ । २ । इति दीर्घः । वृद्धये ॥

२—(इन्द्रावरुणा) विद्युद्वायुवद्वर्त्तमानौ राजप्रजाजनौ (मधुमत्तमस्य) अतिशयेन ज्ञानयुक्तस्य (वृष्णः) बलकरस्य (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (वृषणा) बलिष्ठौ (वृषेथाम्) वर्षणं कुरुतम् (इदम्) (वाम्) युवयोः (अन्धः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । (परिषिक्तम्) सर्वतः सिक्तम् (आसद्य) उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) वृद्धिकर्मणि (मादयेथाम्) आनन्दयतम् ॥

सूक्तम् ५९ ॥

१ ॥ शपयो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुवचनत्यागोपदेशः—कुवचन के त्याग का उपदेश ॥

यो नः शपादशपतः शपतो यश्च नः शपात् ।
वृक्ष इव विद्युता हत आ मूलादनु शुष्यतु ॥ १ ॥

यः । नः । शपात् । अशपतः । शपतः । यः । च । नः । शपात् ।
वृक्षः-इव । वि-द्युता । हतः । आ । मूलात् । अनु । शुष्यतु ॥१॥

भाषार्थ—(यः) जो (अशपतः) न शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे, (च) और (यः) जो (शपतः) शाप देने वाले (नः) हम लोगों को (शपात्) शाप देवे । (विद्युता) बिजुली से (हतः) मारे गये (वृक्षः इव) वृक्ष के समान वह (आ मूलात्) जड़ से लेकर (अनु) निरन्तर (शुष्यतु) सूख जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट धर्मात्माओं में दोष लगावे, राजा उसको यथोचित दण्ड देवे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अ० ६ । ३७ । ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ६० ॥

१-७ ॥ गृहपतिर्देवता ॥ १ पङ्क्तिः; २-७ अनुष्टुप् ॥

१—(यः) दुष्टः (नः) अस्मान् (शपात्) शपेत् । निन्देत् (अशपतः) अशापिनः (शपतः) शापकारिणः (यः) (च) (नः) (शपात्) (वृक्षः) (इव) (विद्युता) अशन्या (हतः) भस्मीकृतः (आ मूलात्) मूलमारभ्य (अनु) निरन्तरम् (शुष्यतु) शुष्को भवतु ॥

गृहस्थधर्मोपदेशः—गृहस्थ धर्म का उपदेश ॥

ऊर्जं बिभ्रद् वसुवनिः सुमेधा अघोरेण चक्षुषा मित्रियेण । गृहानैमि सुमना वन्दमानो रमध्वं मा बिभीत मत् ॥ १ ॥

ऊर्जम् । बिभ्रत् । वसु-वनिः । सु-मेधाः । अघोरेण । चक्षुषा । मित्रियेण । गृहान् । आ । एमि । सु-मनाः । वन्दमानः । रमध्वम् । मा । बिभीत । मत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जम्) पराक्रम (बिभ्रत्) धारण करता हुआ,(वसुवनिः) धन ऊपार्जन करने वाला, (सुमेधाः) उत्तम बुद्धि वाला, (अघोरेण) अभयानक, (मित्रियेण) मित्र के (चक्षुषा) नेत्र से [देखता हुआ] (सुमनाः) सुन्दर मन वाला, (वन्दमानः) [तुम्हारे] गुण बखानता हुआ मैं (गृहान्) घर के लोगों में (आ एमि) आता हूं । (रमध्वम्) तुम प्रसन्न होओ, (मत्) मुझ से (मा बिभीत) भय मत करो ॥१॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष शरीर और आत्मा का बल और धन आदि पदार्थ प्राप्त करके बड़ी प्रीति से प्रसन्नचित्त रह कर गृहस्थाश्रम को सिद्ध करें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—अ० ३ । ४१ ॥

इमे गृहा मयोभुव ऊर्जस्वन्तः पयस्वन्तः । पूर्णा वामेन तिष्ठन्तस्ते नो जानन्त्वायतः ॥ २ ॥

१—(ऊर्जम्) पराक्रमम् (बिभ्रत्) धारयन् (वसुवनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । वसु + वन सम्भक्तौ-इन् । वसुनो धनस्य सम्भक्ता, उपार्जकः (सुमेधाः) अ० ५ । ११ । ११ । सुबुद्धियुक्तः (अघोरेण) अभयानकेन (चक्षुषा) नेत्रेण पश्यन्निति शेषः (मित्रियेण) अ० २ । २८ । १ । मित्र-घ । मित्रसम्बन्धिना (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (एमि) आगच्छामि (सुमनाः) शोभनज्ञानः (वन्दमानः) युष्मान् स्तुवन् (मा बिभीत) भयं मा प्राप्नुत (मत्) मत्तः ॥

इमे । गृहाः । मयः-भुवः । ऊर्जस्वन्तः । पयस्वन्तः । पूर्णाः । वामेन । तिष्ठन्तः । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इमे) यह (गृहाः) घर के लोग (मयोभुवः) आनन्द देने वाले, (ऊर्जस्वन्तः) बड़े पराक्रमी, (पयस्वन्तः) उत्तम जल, दुग्ध आदि वाले, (वामेन) उत्तम धन से (पूर्णाः) भरपूर (तिष्ठन्तः) खड़े हुये हैं। (ते) वे लोग (आयतः) आते हुये (नः) हमको (जानन्तु) जानें ॥ २ ॥

भावार्थ—घर के लोग बाहिर से आये हुये गृहस्थों और अतिथियों का यथावत् सत्कार करें ॥२॥

येषामध्येति प्रवसन् येषु सौमनसो बहुः ।
गृहानुप ह्वयामहे ते नो जानन्त्वायतः ॥ ३ ॥

येषाम् । अधि-एति । प्र-वसन् । येषु । सौमनसः । बहुः । गृहान् । उप । ह्वयामहे । ते । नः । जानन्तु । आ-यतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रवसन्) परदेश बसता हुआ मनुष्य (येषाम्) जिन [गृहस्थों] का (अध्येति) स्मरण करता है, और (येषु) जिन में (बहुः) अधिक (सौमनसः) प्रीतिभाव है, (गृहान्) उन घर वालों को (उप ह्वयामहे) हम प्रीति से बुलाते हैं, (ते) वे लोग (आयतः) आते हुये (नः) हम को (जानन्तु) जानें ॥ ३ ॥

२—(इमे) (गृहाः) गृहस्थाः (मयोभुवः) अ० १ । ५ । १ । सुखस्य भावयितारः (ऊर्जस्वन्तः) अ० ३ । १२ । २ । प्रभूतपराक्रमिणः (पयस्वन्तः) उत्तमजलदुग्धादिसमृद्धाः (पूर्णाः) समृद्धाः (वामेन) प्रशस्येन धनेन । वामः प्रशस्यः—निघ० ३ । ८ (तिष्ठन्तः) (ते) गृहाः (जानन्तु) अवबुध्यन्ताम् (आयतः) इण् गतौ—शतृ । आगच्छतः ॥

३—(येषाम्) गृहस्थानाम् (अध्येति) इक् स्मरणे । अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति कर्मणि षष्ठी । स्मरणं करोति (प्रवसन्) देशान्तरे वसन् पुरुषः (येषु) गृहेषु (सौमनसः) अ० ३ । ३० । ७ । सुप्रीतिभावः (बहुः) अधिकः (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (उप) सत्कारेण (ह्वयामहे) आह्वयामः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परदेश गया हुआ पुरुष प्रीति से घर वालों का स्मरण करता रहता है, वैसे ही घर वाले प्रीति से उसका स्मरण रक्खें ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-३। ४२ और संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

उपहूता भूरिधनाः सखायः स्वादुसंमुदः ।
अक्षुध्या अतृष्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ४ ॥

उप-हूताः । भूरि-धनाः । सखायः । स्वादु-संमुदः । अक्षुध्याः । अतृष्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतन ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(भूरिधनाः) बड़े धनी, (स्वादुसंमुदः) स्वादिष्ट पदार्थों से आनन्द करने वाले (सखायः) मित्र लोग (उपहूताः) स्वागत किये गये हैं। (गृहाः) हे घर के लोगो! (अक्षुध्याः, अतृष्याः, स्त) तुम भूखे प्यासे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतन) मत भय करो ॥४॥

भावार्थ—बाहिर से आये हुये और घर वाले सब पुरुष प्रसन्न हो कर परस्पर आनन्द करें ॥ ४ ॥

उपहूता इह गाव उपहूता अजावयः ।
अथो अन्नस्य कीलाल उपहूतो गृहेषु नः ॥ ५ ॥

उप-हूताः । इह । गावः । उप-हूताः । अज-अवयः । अथो इति । अन्नस्य । कीलालः । उप-हूतः । गृहेषु । नः ॥ ५ ॥

४—(उपहूताः) सत्कारेण प्रार्थिताः (भूरिधनाः) प्रभूतधनाः (सखायः) सुहृदः (स्वादुसंमुदः) स्वादुभी रोचकैः पदार्थैः संमोदमानाः (अक्षुध्याः) तदर्हति। पा० ५। १। ६३। इत्यर्थे। छन्दसि च। पा० ५। १। ६७। क्षुध्-यप्रत्ययः। क्षुधं बुभुक्षामर्हन्तीति क्षुध्याः, न क्षुध्या अक्षुध्याः। क्षुधारहिताः (अतृष्याः) पूर्ववत् तृष्—य प्रत्ययः। तृष्णारहिताः (स्त) भवत (गृहाः) गृहस्थाः (अस्मत्) अस्मत्तः (मा बिभीतन) ञि भी भये लोटि तस्य तनादेशः। भयं मा प्राप्नुत ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (नः) हमारे (गृहेषु) घरों में (गावः) गौयें (उपहूताः) आदर से बुलायी गयीं, और (अजावयः) भेड़ बकरी (उपहूताः) पास में बुलायी गयीं होवें । (अथो) और भी (अन्नस्य) अन्न का (कीलालः) रसीला पदार्थ (उपहूतः) पास लाया गया हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य दूध वाले गौ आदि पशु और भोजन के उत्तम पदार्थ संग्रह करके परस्पर रक्षा करें ॥५॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—३ । ४३ । और संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण में भी आया है ॥

सूनृतावन्तः सुभगा इरावन्तो हसामुदाः ।
अतृष्या अक्षुध्या स्त गृहा मास्मद् बिभीतन ॥ ६ ॥

सूनृता-वन्तः । सु-भगाः । इरा-वन्तः । हसामुदाः । अतृष्याः । अक्षुध्याः । स्त । गृहाः । मा । अस्मत् । बिभीतन ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सूनृतावन्तः) प्रिय सत्य वचन वाले, (सुभगाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (इरावन्तः) उत्तम भोजन वाले, (हसामुदाः) हंस हंस कर प्रसन्न करने वाले, (गृहाः) हे घर के लोगो ! तुम (अतृष्याः, अक्षुध्याः स्त) प्यासे भूखे मत रहो, (अस्मत्) हम से (मा बिभीतन) मत भय करो ॥६॥

भावार्थ—जो मनुष्य परस्पर सत्यभाषी, धर्मात्मा होते हैं, वे ही ऐश्वर्य बढ़ाकर सदा प्रसन्न रहते हैं ॥ ६ ॥

इहैव स्त मानु गात विश्वा रूपाणि पुष्यत ।

५—(उपहूताः) सत्कारेण समीपे वा प्राप्ताः (इह) गृहाश्रमे (गावः) गवादिदुग्धपशवः (उपहूताः) (अजावयः) अजाश्च अवयश्च (अथो) अपि (अन्नस्य) भोजनस्य (कीलालः) अ० ४ । ११ । १० । सारपदार्थः (उपहूतः) (गृहेषु) गेहेषु (नः) अस्माकम् ॥

६—(सूनृतावन्तः) अ० ३ । १२ । २ । सत्यप्रियवागयुक्ताः (सुभगाः) शोभनैश्वर्यवन्तः (इरावन्तः) अन्नवन्तः—निघ० २ । ७ (हसामुदाः) हस हसने—क्विप+मुद मोदे क, अन्तर्गतण्यर्थः । हासेन मोदयमानाः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

ऐष्यामि भद्रेणा सह भूयांसो भवता मया ॥ ७ ॥

इह । एव । स्त । मा । अनु । गात । विश्वा । रूपाणि । पुष्यत । आ । एष्यामि । भद्रेण । सह । भूयांसः । भवत । मया ॥७॥

भाषार्थ—(इह एव) यहां ही (स्त) रहो, (अनु) पीछे पीछे (मा गात) मत चलो, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूप वाली वस्तुओं को (पुष्यत) पुष्ट करो। (भद्रेण सह) कुशल के साथ (आ एष्यामि) मैं आऊंगा, [फिर] (मया) मेरे साथ (भूयांसः) अधिक अधिक होकर (भवत) रहो ॥७॥

भावार्थ—मनुष्य परदेश जाने पर प्रतिज्ञा करके स्वदेशवृद्धि की चिन्ता रक्खे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१-२ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्राप्त्युपदेशः—वेद विद्या प्राप्ति का उपदेश ॥

यदग्ने तपसा तप उपतप्यामहे तपः ।
प्रियाः श्रुतस्य भूयास्मायुष्मन्तः सुमेधसः ॥ १ ॥

यत् । अग्ने । तपसा । तपः । उप-तप्यामहे । तपः । प्रियाः । श्रुतस्य । भूयास्म । आयुष्मन्तः । सु-मेधसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! (यत्) जिस कारण से (तपसा) तप [शीत उष्ण, सुख दुःख आदि द्वन्द्वों के सहन] से (तपः) ऐश्वर्य के हेतु (तपः)

७—(इह) अत्र (एव) (स्त) भवत (अनु) मम पश्चात् (मा गात) इण् गतौ—माङि लुङि रूपम्। मा गच्छत (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) रूपवन्ति निरूप्यमाणानि वा पुत्रादीनि वस्तूनि (पुष्यत) समर्धयत (ऐष्यामि) आगमिष्यामि (भद्रेण) कुशलेन (सह) सहितः (भूयांसः) अतिप्रभूताः (भवत) (मया) पुनरागतेन ॥

१—(यत्) यस्मात् कारणात् (अग्ने) विद्वन्। आचार्य (तपसा) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च—असुन्। श्रमेण। शीतोष्णसुखदुःखादिद्वन्द्वसहनेन (तपः) ऐश्वर्यकारणम् (उपतप्यामहे) यथावदनुतिष्ठामः (तपः) ब्रह्मचर्या-

तप [ब्रह्मचर्य आदि सत्यव्रत] को (उपतप्यामहे) हम ठीक ठीक काम में लाते हैं। [उसीसे] हम (श्रुतस्य) वेदशास्त्र के (प्रियाः) प्रीति करने वाले, (आयुष्मन्तः) प्रशंसनीय आयु वाले और (सुमेधसः) तीव्रबुद्धि (भूयास्म) होजावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य तप अर्थात् द्वन्द्वों का सहन और पूर्ण ब्रह्मचर्य का सेवन से वेद विद्या प्राप्त करके यशस्वी और तीव्रबुद्धि होकर संसार का उपकार करें ॥ १ ॥

अग्ने॒ तप॑स्तप्यामह॒ उप॑ तप्यामहे॒ तपः॑ ।
श्रु॒तानि॑ शृ॒ण्वन्तो॑ व॒यमायु॑ष्मन्तः सु॒मे॒धसः॑ ॥ २ ॥

अग्ने॑ । तपः॑ । त॒प्या॒म॒हे॒ । उप॑ । त॒प्या॒म॒हे॒ । तपः॑ । श्रु॒तानि॑ । शृ॒ण्वन्तः॑ । व॒यम् । आयु॑ष्मन्तः । सु॒ऽमे॒धसः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन् आचार्य ! हम (तपः) तप [द्वन्द्व सहन] (तप्यामहे) करते हैं, और (तपः) ब्रह्मचर्यादि व्रत (उप तप्यामहे) यथावत् साधते हैं। (श्रुतानि) वेदशास्त्रों को (शृण्वन्तः) सुनते हुये (वयम्) हम (आयुष्मन्तः) उत्तम जीवन वाले और (सुमेधसः) तीव्र बुद्धि वाले [हो जावें] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्वन्द्व सहन और ब्रह्मचर्य सेवन से वेदों का श्रवण, मनन और निदिध्यासन करके संसार में कीर्त्तिमान् होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ जगती छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

अ॒यम॒ग्निः सत्प॑तिर्वृ॒द्धवृ॑ष्णो र॒थीव॑ प॒त्तीन॑जयत् पु॒रोहि॑तः । नाभा॑ पृथि॒व्यां निहि॑तो॒ दवि॑द्युतदधस्प॒दं

दिसत्यव्रतम् (प्रियाः) प्रीतिकर्तारः (श्रुतस्य) वेदशास्त्रस्य (भूयास्म) (आयुष्मन्तः) श्रेष्ठजीवनयुक्ताः (सुमेधसः) सुमेधावन्तः ॥

२—(तप्यामहे) साधयामः (श्रुतानि) वेदशास्त्राणि (शृण्वन्तः) श्रवणेन स्वीकुर्वन्तः। अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

कृ॑णु॒तां ये पृ॑त॒न्यव॑: ॥ १ ॥

अ॒यम् । अ॒ग्निः । सत्-प॑तिः । वृ॒द्ध-वृ॑ष्णः । र॒थी-इ॑व । प॒त्तीन् । अ॒जय॒त् । पु॒रः-हि॑तः । ना॒भा । पृ॒थि॒व्याम् । नि-हि॑तः । दवि॑द्यु॒तत् । अ॒धः-प॒दम् । कृ॒णु॒ताम् । ये । पृ॒त॒न्यव॑: ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अयम्) इस (सत्पतिः) श्रेष्ठों के रक्षक, (वृद्धवृष्णः) वड़े वल वाले, (पुरोहितः) सव के अगुआ (अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति ने (रथी इव) रथ वाले योधा के समान (पत्तीन्) [शत्रु की] सेनाओं को (अजयत्) जीत लिया है। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (नाभा) नाभि में (निहितः) स्थापित किया हुआ (दविद्युतत्) अत्यन्त प्रकाशमान वह [उनको] (अधस्पदम्) पांव के तले (कृणुताम्) कर लेवे, (ये) जो (पृतन्यवः) सेना चढ़ाने वाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूरवीर पुरुष सव शत्रुओं को जीत कर सज्जनों की रक्षा करे, वही गोलाकार पृथिवी के वीच में सव ओर से चक्रवर्ती राजा होकर संसार में उपकारी वने ॥ १ ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकर्त्तव्योपदेशः—सेनापति के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

पृ॒त॒ना॒जितं॒ सह॑मानम॒ग्निमु॒क्थैर्ह॑वामहे प॒रमात् स॒ध-

१—(अयम्) प्रसिद्धः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी सेनापतिः (सत्पतिः) सतां सज्जनानां पालकः (वृद्धवृष्णः) इण्सिञ्जि०। उ० ३। २। वृषु सेचने-नक्। वृष्णं वलम्। प्रवृद्धवलः (रथी) रथ—इनि। रथवान् योद्धा (इव) यथा (पत्तीन्) पदिप्रथिभ्यां नित्। उ० ४। १८३। पद गतौ स्थैर्ये च—ति। शत्रुसेनाः (अजयत्) जितवान् (पुरोहितः) अ० ३। १६। १ अग्रगामी (नाभा) नाभौ मध्यदेशे (पृथिव्याम्) भूमौ (निहितः) स्थापितः। अभिषिक्तः (दविद्युतत्) दाधर्त्तिदर्द्धर्त्ति०। पा० ७। ४। ६५ द्युत दीप्तौ यङ्लुकि शतृ। अत्यर्थं द्योतमानः (अधस्पदम्) पादस्याधो देशे (कृणुताम्) करोतु (ये) शत्रवः (पृतन्यवः) अ० ७। ३४। १। संग्रामेच्छवः ॥

स्थात् । स नः पर्षदति दुर्गाणि विश्वा क्षामद् देवोऽति दुरितान्यग्निः ॥ १ ॥

पृतना-जितम् । सहमानम् । अग्निम् । उक्थैः । हवामहे । परमात् । सध-स्थात् । सः । नः । पर्षत् । अति । दुः-गानि । विश्वा । क्षामत् । देवः । अति । दुः-इतानि । अग्निः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पृतनाजितम्) संग्राम जीतने वाले, (सहमानम्) विजयी, (अग्निम्) अग्नि समान तेजस्वी सेनापति को (उक्थैः) स्तुतियों के साथ [उसके] (परमात्) बहुत ऊंचे (सधस्थात्) निवास स्थान से (हवामहे) हम बुलाते हैं । (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल (अग्निः) तेजस्वी सेनापति (विश्वा) सब (दुर्गाणि) दुर्गों को (अति) उलांघ कर और (दुरितानि) विघ्नों को (अति) हटाकर (नः) हमें (पर्षत्) पार लगावे, और (क्षामत्) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति शत्रुओं के गढ़ तोड़ कर विजय पाता है वही प्रजापालन में समर्थ होता है ॥१॥

सूक्तम् ६४ ॥

१-२ ॥ १ आपः; २ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुभ्यो रक्षोपदेशः—शत्रुओं से रक्षा का उपदेश ॥

इदं यद् कृष्णः शकुनिरभिनिष्पतन्नपीपतत् ।
आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥१॥

१—(पृतनाजितम्) संग्रामजेतारम् (सहमानम्) षह अभिभवने नैरुक्तो धातुः । अभिभवन्तम् । विजयिनम् (अग्निम्) अग्निवत्तेजस्विनं सेनापतिम् (उक्थैः) वक्तव्यैः स्तोत्रैः (हवामहे) आह्वयामः (परमात्) उत्कृष्टात् (सधस्थात्) निवासात् (सः) (नः) अस्मान् (पर्षत्) अ० ६ । ३४ । १ । पारयेत् (अति) उल्लंघ्य (दुर्गाणि) दुर्गमनान् शत्रुकोष्ठान् (विश्वा) सर्वाणि (क्षामत्) क्षमूष् सहने णिचि, लेटि, अडागमः । क्षामयेत समर्थयेत् (देवः) व्यवहारकुशलः (अति) अतीत्य (दुरितानि) विघ्नान् (अग्निः) सेनापतिः ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अभि-निष्पतन् । अपीपतत् । आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुः-इतात् । पान्तु । अंहसः ॥१

भाषार्थ—(कृष्णः) कौवे वा (शकुनिः) चिल्ल के समान निन्दित उपद्रव ने (अभिनिष्पतन्) सन्मुख आते हुये (इदम् यत्) यह जो कष्ट (अपीपतत्) गिराया है। (आपः) उत्तम कर्म (मा) मुझको (तस्मात्) उस (सर्वस्मात्) सब (दुरितात्) कठिन (अंहसः) कष्ट से (पान्तु) बचावें ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके सब बाहिरी और भीतरी विपत्तियों से बचें ॥१॥

इदं यत् कृष्णः शकुनिरवामृक्षन्निर्ऋते ते मुखेन ।
अग्निर्मा तस्मादेनसो गार्हपत्यः प्र मुञ्चतु ॥ २ ॥

इदम् । यत् । कृष्णः । शकुनिः । अव-अमृक्षत् । निः-ऋते । ते । मुखेन । अग्निः । मा । तस्मात् । एनसः । गार्ह-पत्यः । प्र । मुञ्चतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निर्ऋते) हे कठिन आपत्ति ! (ते) तेरे (मुखेन) मुख के सहित (कृष्णः) कौवे अथवा (शकुनिः) चिल्ल के समान निन्दित उपद्रव ने (इदम्) यह (यत्) जो कुछ कष्ट (अवामृक्षत्) एकत्र किया है। (गार्हपत्यः)

१—(इदम्) (यत्) कष्टम् (कृष्णः) श्वाकाक इति कुत्सायाम्—निरु० ३। १८। काक इव निन्दित उपद्रवः। शकेरुनोन्तोन्त्युनयः। उ० ३। ४६। शक्लृ शक्तौ—उनि। चिल्ल इव निन्दितः (अभिनिष्पतन्) अभिमुखमागच्छन् (अपीपतत्) पत्लृ अधः पतने—णिचि लुङि रूपम्। पातितवान्। प्रापितवान् (आपः) अ० ६। ६१। ३। उत्तमानि कर्माणि (मा) माम् (तस्मात्) (सर्वस्मात्) (दुरितात्) दुर्गतात्। कठिनात् (पान्तु) रक्षन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(इदम्) (यत्) कष्टम् (कृष्णः) म० १। काक इव निन्दित उपद्रवः (शकुनिः) चिल्ल इव निन्दितः (अवामृक्षत्) मृक्ष संघाते—लङ्। राशीकृतवान् (निर्ऋते) हे कृच्छ्रापत्ते (ते) तव (मुखेन) (अग्निः) व्यापकः

गृहपति [आत्मा] से संयुक्त (अग्निः) पराक्रम (तस्मात्) उस (एनसः) कष्ट से (मा) मुझ को (प्र मुञ्चतु) छुड़ा देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्म पराक्रम करके विघ्नों को हटा कर सुखी रहें॥२॥

सूक्तम् ६५ ॥

१-३ ॥ अपामार्गो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

वैद्यकर्मोपदेशः—वैद्य के कर्म का उपदेश ॥

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ ।

सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः ॥ १ ॥

प्रतीचीन-फलः । हि । त्वम् । अपामार्ग । रुरोहिथ । सर्वान् । मत् । शपथान् । अधि । वरीयः । यवयाः । इतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अपामार्ग) हे सर्व संशोधक वैद्य ! [वा अपामार्ग औषध !] (त्वम्) तू (हि) निश्चय करके (प्रतीचीनफलः) प्रतिकूलगतिवाले रोगों का नाश करने वाला (रुरोहिथ) उत्पन्न हुआ है । (इतः मत्) इस मुझसे (सर्वान्) सब (शपथान्) शापों [दोषों] को (अधि) अधिकार पूर्वक (वरीयः) अति दूर (यवयाः) तू हटाता देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य अपामार्ग आदि औषध से रोगों को दूर करता है, वैसे ही विद्वान् अपने आत्मिक और शारीरिक दोषों को हटावे ॥१॥

अपमार्ग औषध विशेष है जिससे कफ़ बवासीर, खुजिली, उदररोग और विष रोग का नाश होता है—देखो अ० ४ । १७ । ६ ॥

पराक्रमः (मा) माम् (तस्मात्) (एनसः) कष्टात् (गार्हपत्यः) अ० ५ । २१ । ५ । गृहपतिना आत्मना संयुक्तः (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चतु) मोचयतु ॥

१—(प्रतीचीनफलः) अ० ५ । १६ । ७ प्रतिकूलगतिवानां रोगाणां विदारकः (हि) निश्चयेन (त्वम्) (अपामार्ग) अ० ४ । १७ । ६ । हे सर्वथा संशोधक वैद्य । औषधविशेष (रुरोहिथ) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—लिट् उत्पन्नो बभूविथ (सर्वान्) (मत्) मत्तः (शपथान्) शापान् दोषान् (अधि) अधिकृत्य (वरीयः) उरुतरम् । अति दूरम् (यावयाः) यु मिश्रणामिश्रणयोः— लेटि, आडागमः, सांहितिको दीर्घः । पृथक् कुर्याः (इतः) अस्मात् ॥

यद् दु॑ष्कृ॒तं यच्छम॑लं॒ यद् वा॑ चेरि॒म पा॒पया॑ ।
त्वया॒ तद् वि॑श्वतोमु॒खापा॑मा॒र्गाप॑ मृज्महे ॥ २ ॥

यत् । दुः॒ऽकृ॒तम् । यत् । शम॑लम् । यत् । वा॒ । चे॒रि॒म । पा॒पया॑ ।
त्वया॑ । तत् । वि॒श्व॒तः॒ऽमु॒ख॒ । अपा॑मार्ग । अप॑ । मृ॒ज्म॒हे॒ ॥२४

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (दुष्कृतम्) दुष्कर्म (यद् वा) अथवा (यत्) जो कुछ (शमलम्) मलिन कर्म (पापया) पाप बुद्धि से (चेरिम) हमने किया है। (विश्वतोमुख) हे सब ओर मुख रखने वाले ! [अतिदूरदर्शी] (अपामार्ग) हे सर्वथा संशोधक ! (त्वया) तेरे साथ (तत्) उसको (अप मृज्महे) हम शोधते हैं ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य दुष्कर्म और मलिनकर्म से उत्पन्न रोगों को सद्वैद्य की सम्मति से औषध द्वारा निवृत्त करें ॥२॥

श्या॒वद॑ता कुन॒खिना॑ ब॒ण्डेन॒ यत् स॒हासि॒म ।
अपा॑मार्ग॒ त्वया॑ व॒यं सर्वं॒ तदप॑ मृज्महे ॥ ३ ॥

श्या॒व॒ऽद॑ता । कु॒न॒खिना॑ । ब॒ण्डेन॑ । यत् । स॒ह । आ॒सि॒म ।
अपा॑मार्ग । त्वया॑ । व॒यम् । सर्व॑म् । तत् । अप॑ । मृ॒ज्म॒हे॒ ॥३॥

भाषार्थ—(श्यावदता) काले दांत वाले, (कुनखिना) दूषितनख वाले (बण्डेन) बण्डे [टेढ़े मेढ़े अङ्ग वाले रोगी] के (सह) साथ (यत्) जो (आसिम) रहे हैं। (अपामार्ग) हे सर्वथा संशोधक ! [वैद्य वा अपामार्ग

२—(यत्) यत् किञ्चित् (दुष्कृतम्) दुष्कर्म (यत्) (शमलम्) अ० ४। ६। ६ मालिन्यम् (यद् वा) अथवा (चेरिम) चर गतिभक्षणयोः—लिट्। वयं कृतवन्तः (पापया) पापबुद्ध्या (त्वया) (तत्) दुष्कृतं शमलं वा (विश्वतोमुख) सर्वदिङ्मुख। अतिदूरदर्शिन् (अपामार्ग) म० १। सर्वथा संशोधक (अप मृज्महे) सर्वथा शोधयामः ॥

३—(श्यावदता) विभाषा श्यावारोकाभ्यां च पा०। पा० ५। ४। १४४। श्यावपदादुत्तरस्य दन्तस्य दतृ इत्यादेशः। कृष्णदन्तयुक्तेन (कुनखिना) दूषितनखयुक्तेन (बण्डेन) वडि विभाजने, वेष्टने च—अच्। विकलाङ्गेन (यत्)

औषध !] (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (तत् सर्वम्) उस सब को (अप मृज्महे) शोधते हैं ॥३॥

भावार्थ—यदि रोग की व्याकुलता से शरीर अङ्गभङ्ग हो जावे, उसे ओषधि द्वारा स्वस्थ करें ॥३॥

सूक्तम् ६६ ॥

१ ॥ ब्राह्मणं देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविज्ञानव्याप्त्युपदेशः—वेद विज्ञान की व्याप्ति का उपदेश ॥

यद्य॒न्तरि॑क्षे॒ यदि॒ वात॒ आस॒ यदि॑ वृ॒क्षेषु॒ यदि॒ वोल॑पेषु ।
यदश्र॑वन् प॒शव॑ उ॒द्यमा॑नं॒ तद् ब्रा॑ह्म॒णं पुन॑र॒स्मानु॒पैतु॑ ॥१॥

यदि॑ । अ॒न्तरि॑क्षे । यदि॑ । वाते॑ । आस॑ । यदि॑ । वृ॒क्षेषु॑ । यदि॑ । वा॒ । उ॒लपे॑षु । यत् । अश्र॑वन् । प॒शव॑: । उ॒द्यमा॑नम् । तत् । ब्रा॒ह्मण॑म् । पुन॑: । अ॒स्मान् । उ॒प॒ऽऐतु॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यदि=यत्) जो [ब्रह्मज्ञान] (अन्तरिक्षे) आकाश में, (यदि) जो (वाते) वायु में (यदि) जो (वृक्षेषु) वृक्षों में, (वा) और (यदि) जो (उलपेषु) कोमल तृणों [अन्न आदि] में (आस) व्याप्त था। (यत्) जिस (उद्यमानम्) उच्चारण किये हुये को (पशवः) सब प्रा-

---

(सह) (आसिम) अस भुवि-लङ्, इत्वं छान्दसम् । आस्म । अभवाम । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१—(यदि) यत् । ब्राह्मणम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (यदि) (वाते) वायौ (आस) अस गतिदीप्त्यादानेषु—लिट् । व्याप्तं बभूव (यदि) (वृक्षेषु) सेवनीयेषु तरुषु (यदि) (वा) अवधारणे । समुच्चये (उलपेषु) विटपविष्ट-पविशिपोलपाः । उ० ३ । १४५ । वल संवरणे—कपप्रत्ययः, सम्प्रसारणम् । कोमलतृणेषु । अन्नादिषु (यत्) ब्राह्मणम् (अश्रवन्) शृणोतेर्लङि छान्दसः शप् । अशृण्वन् (पशवः) अ० २ । २६ । १ । मनुष्यादिप्राणिनः (उद्यमानम्) वद व्यक्तायां वाचि कर्मणि शानच्, यक्, यजादित्वात् सम्प्रसारणम् । उच्चार्यमाणम् (तत्) (ब्राह्मणम्) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । ब्रह्मन्—अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । नटिलोपः । ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ब्राह्मणस्य

णियों ने (अश्रवन्) सुना है; (तत्) वह (ब्राह्मणम्) वेद विज्ञान (पुनः) बारंबार [अथवा परजन्म में] (अस्मान्) हमें (उपैतु) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञान सब पदार्थों में, और सब पदार्थ ईश्वर ज्ञान में हैं, मनुष्य उस ईश्वर ज्ञान को नित्य और जन्म जन्म में प्राप्त करके मोक्षपद भागी होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् ६७ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्तदेवताः ॥ बृहती छन्दः ॥

सुकर्मकरणायोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

पुनर्मैत्विन्द्रियं पुनरात्मा द्रविणं ब्राह्मणं च ।
पुनरग्नयो धिष्ण्या यथास्थाम कल्पयन्तामिहैव ॥१॥

पुनः । मा । आ । एतु । इन्द्रियम् । पुनः । आत्मा । द्रविणम् । ब्राह्मणम् । च । पुनः । अग्नयः । धिष्ण्याः । यथा-स्थाम । कल्पयन्ताम् । इह । एव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रियम्) इन्द्रत्व [परम ऐश्वर्य] (मा) मुझको (पुनः) अवश्य [वा फिर जन्म में], (आत्मा) आत्मबल, (द्रविणम्) धन (च) और (ब्राह्मणम्) वेदविज्ञान (पुनः) अवश्य [वा परजन्ममें] (आ एतु) प्राप्त होवे (धिष्ण्याः) बोलने में चतुर (अग्नयः) विद्वान् लोग (यथास्थाम) यथास्थान [कर्म अनुसार मुझको] (इह) यहाँ (एव) ही (पुनः) अवश्य

वेदम् । वेदविज्ञानम् (पुनः) वारं वारम् । परजन्मनि वा (अस्मान्) उपासकान् (उपैतु) उप+आ+एतु । प्राप्नोतु ॥

१—(पुनः) अवश्यं परजन्मनि वा (मा) मां प्राणिनम् (ऐतु) आगच्छतु (इन्द्रियम्) अ० १ । ३५ । ३ । इन्द्रलिङ्गम् । परमैश्वर्यम् । धनम्—निघ० २ । १० । (पुनः) (आत्मा) आत्मबलम् (द्रविणम्) धनम् (ब्राह्मणम्) अ० ७ । ६६ । १ । वेदविज्ञानम् (च) (पुनः) (अग्नयः) अ० २ । ३५ । १ । ज्ञानिनः पुरुषाः (धिष्ण्याः) अ० २ । ३५ । १ । धिष शब्दे—ण्य । शब्दकुशलाः (यथास्थाम) आतोमनिन्० । पा० ३ । २ । ७४ । तिष्ठतेर्मनिन् । यथास्थानम् ।

[या पर जन्म में] (कल्पयन्ताम्) समर्थ करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा सुकर्मी होकर इस लोक और परलोक में आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद आदि भाष्य भूमिका, पुनर्जन्म विषय, पृष्ठ ३०३ में में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१-३ ॥ सरस्वती देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्;३ गायत्री ॥

सरस्वत्याराधनोपदेशः—सरस्वती की आराधना का उपदेश ॥

सरस्वति व्रतेषु ते दिव्येषु देवि धामसु ।

जुषस्व हव्यमाहुतं प्रजां देवि ररास्व नः ॥ १ ॥

सरस्वति । व्रतेषु । ते । दिव्येषु । देवि । धाम-सु । जुषस्व । हव्यम् । आ-हुतम् । प्र-जाम् । देवि । ररास्व । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी (सरस्वति) सरस्वती ! [विज्ञानवती वेद विद्या] (ते) अपने (दिव्येषु) दिव्य (व्रतेषु) व्रतों [नियमों] में और (धामसु) धर्मों [धारण शक्तियों] में [हमारे] (आहुतम्) दिये हुये (हव्यम्) ग्राह्य कर्म को (जुषस्व) स्वीकार कर, (देवि) हे देवी ! (नः) हमें (प्रजाम्) [उत्तम] प्रजा (ररास्व) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों से उत्तम विद्या प्राप्त करके सब प्रजा प्राणीमात्र को उत्तम बनावें ॥ १ ॥

इदं ते हव्यं घृतवत् सरस्वतीदं पितृणां हविरास्यं१

यथाकर्मफलम् (कल्पयन्ताम्) समर्थयन्तु (इह) अस्मिन् संसारे (एव) हि ॥

१—(सरस्वति) विज्ञानवति (व्रतेषु) नियमेषु (ते) तव । स्वेषु (दिव्येषु) उत्तमेषु (देवि) दिव्यगुणे (धामसु) धारणसामर्थ्येषु । धर्मसु (जुषस्व) सेवस्व (हव्यम्) हु-यत् ग्राह्यं कर्म (आहुतम्) सम्यग् दत्तम् (प्रजाम्) मनुष्यादिरूपाम् (देवि) (ररास्व) रा दाने, शपः श्लुः । देहि (नः) अस्मभ्यम् ॥

यत्। इमानि त उदिता शंतमानि तेभिर्वयं मधु-
मन्तः स्याम ॥ २ ॥

इदम्। ते। हव्यम्। घृत-वत्। सरस्वति। इदम्। पितृ-
णाम्। हविः। आस्यम्। यत्। इमानि। ते। उदिता।
शम्-तमानि। तेभिः। वयम्। मधु-मन्तः। स्याम ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! (इदम्) यह (यत्) जो (ते) तेरा (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (हव्यम्) ग्राह्य कर्म है, और (इदम्) यह [जो] (पितृणाम्) पिता समान माननीय विद्वानों के (आस्यम्) मुख पर रहनेवाला (हविः) ग्राह्य पदार्थ है। और [जो] (ते) तेरे (इमानि) यह सब (शंतमानि) अत्यन्त शान्ति देनेवाले (उदिता) वचन हैं, (तेभिः) उनसे (वयम्) हम (मधुमन्तः) उत्तम ज्ञानवाले (स्याम) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस वेदविद्या का प्रकाश सारे संसार भर में फैलरहा है, और विद्वान् लोग जिसका अभ्यास करके उपदेश करते हैं, उस विद्या से सब मनुष्य लाभ उठावें ॥ २ ॥

शिवा नः शंतमा भव सुमृडीका सरस्वति।
मा ते युयोम संदृशः ॥ ३ ॥

शिवा। नः। शम्-तमा। भव। सु-मृडीका। सरस्वति।
मा। ते। युयोम। सम्-दृशः ॥ ३ ॥

२—(इदम्) प्रत्यक्षम् (ते) तव (हव्यम्) ग्राह्यं ज्ञानम् (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (सरस्वति) विज्ञानवति विद्ये (इदम् (पितृणाम्) पितृसम-माननीयानां विदुषाम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (आस्यम्) आस्य—यत्, यल्लोपः। आस्ये मुखे भवम्। विधिवदभ्यस्तम् (यत्) (इमानि) (ते) तव (उदिता) वदव्यक्तायां वाचि—क्त, यजादित्वात् संप्रसारणम्। उक्तानि वचनानि (शंतमानि) अत्यर्थं सुखकराणि (तेभिः) (तैः) वचनैः (मधुमन्तः) उत्तमज्ञानयुक्ताः (स्याम) भवेम ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! तू (नः) हमारे लिये (शिवा) कल्याणी, (शंतमा) अत्यन्त शान्ति देनेवाली और (सुमृडीका) अत्यन्त सुख देनेवाली (भव) हो। हम लोग (ते) तेरे (संदृशः) यथावत् दर्शन [यथार्थ स्वरूप के ज्ञान] से (मा युयोम) कभी अलग न होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य नित्य अभ्यास से विद्या का ठीक ठीक स्वरूप जान कर आत्मा को सदा शान्त रक्खें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१ ॥ वातादयो देवताः ॥ पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सुखाय प्रयत्नोपदेशः—सुख के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

शं नो वातो वातु शं नस्तपतु सूर्यः । अहानि शं भवन्तु नः शं रात्री प्रति धीयतां शमुषा नो व्युच्छतु ॥१॥

शम् । नः । वातः । वातु । शम् । नः । तपतु । सूर्यः । अहानि । शम् । भवन्तु । नः । शम् । रात्री । प्रति । धीयताम् । शम् । उषाः । नः । वि । उच्छतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शम्) सुखकारी (वातः) वायु (नः) हमारे लिये (वातु) चले, (शम्) सुखकारी (सूर्यः) सूर्य (नः) हमारे लिये (शम्) (तपतु) तपे। (अहानि) दिन (नः) हमारे लिये (शम्) सुखकारी (भवन्तु) होवें, (रात्री) रात्रि (शम् प्रति) सुख के लिये (धीयताम्) धारण की जावे (शम्)

३—(शिवा) कल्याणी (नः) अस्मभ्यम् (शंतमा) अत्यर्थं रोगनिवारिका (भव) (सुमृडीका) अत्यन्तं सुखदा (सरस्वति) (ते) तव (मा युयोम) यौतेर्लोटि शपः श्लुः । पृथग्भूता मा भवेम (संदृशः) दृशिर्–क्विप् । समीचीनाद् दर्शनात् । यथार्थस्वरूपज्ञानात् ॥

१—(शम्) सुखकरः (नः) अस्मभ्यम् (वातः) वायुः (वातु) संचरतु (शम) (नः) (तपतु) तापं करोतु (सूर्यः) (अहानि) दिनानि (शम्) सुखकराणि (भवन्तु) (नः) (शम्) सुखम् (रात्री) (प्रति) व्याप्य (धीयताम्)

सुखकारी (उषाः) उषा [प्रभात वेला] (नः) हमारे लिये (वि) विविध प्रकार (उच्छतु) चमके ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और आप्त विद्वानों की शिक्षा से ऐसे काम करें जिसमें वायु, सूर्य आदि पदार्थों से प्रतिक्षण सुख मिलता रहे ॥ १ ॥

सूक्तम् ७० ॥

१-५ ॥इन्द्रोऽग्निर्वा देवता ॥ १,२त्रिष्टुप्; ३-५ अनुष्टुप् ॥

शत्रुदमनोपदेशः—शत्रु के दमन का उपदेश ॥

यत् किं चासौ मन॑सा यच्च॑ वा॒चा य॒ज्ञैर्जु॒होति॑ ह॒विषा॒ यजु॑षा । तन्मृ॒त्युना॒ निर्ऋ॑तिः संविदा॒ना पु॒रा स॒त्या-दाहु॑तिं हन्त्वस्य ॥ १ ॥

यत् । किम् । च॒ । अ॒सौ । मन॑सा । यत् । च॒ । वा॒चा । य॒ज्ञैः । जु॒होति॑ । ह॒विषा॑ । यजु॑षा । तत् । मृ॒त्युना॑ । निः-ऋ॑तिः । स॒म्-वि॒दा॒ना । पु॒रा । स॒त्यात् । आ-हु॑तिम् । ह॒न्तु॒ । अ॒स्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—(असौ) वह [शत्रु) (यत् किम्) जो कुछ (मनसा) मन से, (चच) और (यत्) जो कुछ (वाचा) वाणी से, (यज्ञैः) सङ्गति कर्मों से, (हविषा) भोजन से और (यजुषा) दान से (जुहोति) आहुति करता है । (मृत्युना) मृत्यु के साथ (संविदाना) मिली हुई (निर्ऋतिः)

डुधाञ् धारणपोषणयोः—कर्मणि लोट् । ध्रियताम् (शम्) सुखप्रदा (उषाः) प्रभातवेला, (नः) अस्मभ्यम् (वि) विविधम् (उच्छतु) उच्छी विवासे । विवासिता प्रकाशिता भवतु ॥

१—(यत् किम्) यत् किञ्चित् (च) (असौ) शत्रुः (मनसा) अन्तः—करणेन (यत्) (च) (वाचा) वाण्या (यज्ञैः) सङ्गतिकर्मभिः (जुहोति) आहुतिं करोति (हविषा) भोजनेन (यजुषा) दानेन (तत्) ताम् (मृत्युना) (निर्ऋतिः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तिः । दरिद्रतादिः (संविदाना) अ०

निर्ऋति, दरिद्रता आदि अलक्ष्मी (सत्यात् पुरा) सफलता से पहिले (अस्य) इसकी (तत्) उस (आहुतिम्) आहुति को (हन्तु) नाश करे ॥१॥

भावार्थ—जो शत्रु मन, वचन और कर्म से प्रजा को सताने का उपाय करे, निपुण सेनापति शीघ्र ही उसे धनहरण आदि दण्ड देकर रोक देवे ॥ १ ॥

यातुधाना निर्ऋतिरादु रक्षस्ते अस्य घ्नन्त्वनृतेन सत्यम्। इन्द्रेषिता देवा आज्यमस्य मथ्नन्तु मा तत् संपादि यदसौ जुहोति ॥ २ ॥

यातु-धानाः। निः-ऋतिः। आत्। ऊं इति। रक्षः। ते। अस्य। घ्नन्तु। अनृतेन। सत्यम्। इन्द्र-इषिताः। देवाः। आज्यम्। अस्य। मथ्नन्तु। मा। तत्। सम्। पादि। यत्। असौ। जुहोति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(निर्ऋतिः) अलक्ष्मी (आत् उ) और भी (ते) वे सब (यातुधानाः) दुःखदायी (रक्षः) राक्षस (अस्य) इस [शत्रु] की (सत्यम्) सफलता को (अनृतेन) मिथ्या आचरण के कारण (घ्नन्तु) नाश करें (इन्द्रेषिताः) इन्द्र, परम ऐश्वर्य वाले सेनापति के भेजे हुये (देवाः) विजयी शूर (अस्य) इसके (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (मथ्नन्तु) विध्वंस करें, (असौ) वह [शत्रु] (यत्) जो कुछ (जुहोति) आहुति दे, (तत्) वह (मा सम् पादि) सम्पन्न [सफल] न होवे ॥ २ ॥

२। ३८। २। संगच्छमाना (पुरा) पूर्वम् (सत्यात्) कर्मसाफल्यात् (आहुतिम्) होमक्रियाम् (हन्तु) नाशयतु (अस्य) शत्रोः ॥

२—(यातुधानाः) अ० १। ७। १। पीडाप्रदाः (निर्ऋतिः) म० १। कृच्छ्रापत्तिः। दरिद्रतादिः (आत् उ) अपि च (रक्षः) राक्षसः (ते) सर्वे (अस्य) शत्रोः (घ्नन्तु) नाशयन्तु (अनृतेन) मिथ्याचरणेन (सत्यम्) कर्मसाफल्यम् (इन्द्रेषिताः) इन्द्रेण परमैश्वर्यवता सेनापतिना प्रेरिताः (देवाः) विजयिनः शूराः (आज्यम्) घृतम्। तत्त्वपदार्थम् (अस्य) शत्रोः (मथ्नन्तु) नाशयन्तु (तत्) (मा सम् पादि) पद गतौ माङि लुङिरूपम्। सम्पन्नं सफलं मा भवेत् (यत्) यत् किञ्चित् (असौ) शत्रुः (जुहोति) आहुतिं करोति ॥

भावार्थ—सेना पति की नीति निपुणता से शत्रुओं में निर्धनता और परस्पर फूट पड़ जाने से शत्रु लोग निर्बल होकर आधीन हो जावें ॥ २ ॥

अजिराधिराजौ श्येनौ संपातिनाविव । आज्यं पृतन्यतो हतां यो नः कश्चाभ्यघायति ॥ ३ ॥

अजिर-अधिराजौ । श्येनौ । संपातिनौ-इव । आज्यम् । पृतन्यतः । हताम् । यः । नः । कः । च । अभि-अघायति ॥३॥

भाषार्थ—(अजिराधिराजौ) शीघ्रगामी दोनों बड़े राजा [दरिद्रता और मृत्यु—म० १] (सम्पातिनौ) झपट मारने वाले (श्येनौ इव) दो श्येन वा बाज पक्षी के समान (पृतन्यतः) उस चढ़ाई करने वाले शत्रु के (आज्यम्) घृत [तत्त्वपदार्थ] को (हताम्) नाश करें (यः कः च) जो कोई (नः) हम से (अभ्यघायति) दुष्ट आचरण करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—दुःखदायी शत्रुओं के नाश करने में राजा शीघ्रता करे ॥३॥

अपाञ्चौ त उभौ बाहू अपि नह्याम्यास्यम् । अग्नेर्देवस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ४ ॥

अपाञ्चौ । ते । उभौ । बाहूइति । अपि । नह्यामि । आस्यम् । अग्नेः । देवस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ४॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरे (अपाञ्चौ) पीछे को चढ़ाये गये

३—(अजिराधिराजौ) अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । अज-गतिक्षेपणयोः—किरच् । अजिरः शीघ्रगामी । अधिराजः । राजाहः सखिभ्यष्टच् पा० ५ । ४ । ६१ । इति टच् । अधिको राजा । तौ निर्ऋतिमृत्यू (श्येनौ) अ० ३ । ३ । ३ । पक्षिविशेषौ (सम्पातिनौ) निष्पतनशीलौ (इव) यथा (आज्यम्) घृतम् । तत्त्वपदार्थम् (पृतन्यतः) अ० १ । २१ । २ । सङ्ग्रामेच्छोः (हताम्) नाशयताम् (यः) (नः) अस्मान् (कः च) कश्चित् (अभ्यघायति) अ० ५ । ६ । ६ । पापं कर्तुमिच्छति ॥

४—(अपाञ्चौ) अपाञ्चनौ पृष्ठे सम्बद्धौ (ते) तव (उभौ) द्वौ (बाहू)

(उभौ) दोनों (बाहू) भुजाओं को (अपि) और (आस्यम्) मुखको (नह्यामि) मैं बांधता हूं । (देवस्य) विजयी (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजन आदि ग्राह्यपदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को दण्ड देकर कारागार में रखकर प्रजा की रक्षा करे ॥ ४ ॥

अपि नह्यामि ते बाहू अपि नह्याम्यास्यम् ।
अग्नेर्घोरस्य मन्युना तेन तेऽवधिषं हविः ॥ ५ ॥

अपि । नह्यामि । ते । बाहू इति । अपि । नह्यामि । आस्यम् ।
अग्नेः । घोरस्य । मन्युना । तेन । ते । अवधिषम् । हविः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (ते) तेरी (बाहू) दोनों भुजाओं को (अपि) नह्यामि) बांधे देता हूं और (आस्यम्) मुख को (अपि) भी (नह्यामि) बन्द करता हूं । (घोरस्य) भयंकर (अग्नेः) तेजस्वी सेनापति के (तेन मन्युना) उस क्रोध से (ते) तेरे (हविः) भोजनादि ग्राह्य पदार्थ को (अवधिषम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र चार के समान ॥ ५ ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिगुणोपदेशः—सेनापति के गुणों का उपदेश ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ १ ॥

भुजौ (अपि) एव (नह्यामि) बध्नामि (आस्यम्) मुखम् (अग्नेः) तेजस्विनः सेनापतेः (देवस्य) विजयमानस्य (मन्युना) तेजसा । क्रोधेन (ते) तव (अवधिषम्) हन्तेर्लुङ् । नाशितवानस्मि (हविः) होतव्यम् । ग्राह्यं द्रव्यम् ॥

५—(घोरस्य) भयङ्करस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ।
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भङ्गुर-वतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धृपद्वर्णम्) अभयस्वभाव, (भङ्गुरवतः) नाश करने वाले कर्म से युक्त [कपटी] के (हन्तारम्) नाश करने वाले (त्वा) तुझको (दिवे दिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि) परिधी बनाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८७ । २२ ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

पुरुपार्थकरणोपदेशः—पुरुपार्थ करने का उपदेश ॥

उत् तिष्ठतावं पश्यतेन्द्रस्य भागमृत्वियम् ।
यदि श्रातं जुहोतन यद्यश्रातं ममत्तन ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । अव । पश्यत । इन्द्रस्य । भागम् । ऋत्वियम् ।
यदि । श्रातम् । जुहोतन । यदि । अश्रातम् । ममत्तन ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (उत् तिष्ठत) खड़े हो जाओ, (इन्द्रस्य)

१—(परिधीमहि) अ० ७ । १७ । २ । परिधिरूपेण धारयेम (त्वा) त्वाम् (अग्ने) तेजस्विन् सेनापते (पुरम्) दुर्गरूपम् (वयम्) प्रजागणाः (विप्रम्) मेधाविनम् (सहस्य) अ० ४ । ५ । १ । सहसे बलाय हित (धृपद्वर्णम्) धर्षकरूपम् (दिवे दिवे) प्रति दिनम् (हन्तारम्) नाशयितारम् (भङ्गुरवतः) भञ्जभासमिदो घुरच् । पा० ३ । २ । १ ६१ । भञ्जो आमर्दने—घुरच् । चजोः कु घिण्यतोः पा० ७ । ३ । ५२ । कुत्वम् । भञ्जनकर्मयुक्तस्य कपटिनः पुरुपस्य ॥

१—(उत्तिष्ठत) ऊर्ध्वं तिष्ठत । पौरुपं कुरुत (अवपश्यत) निरीक्ष-

बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य के (ऋत्वियम्) सब काल में मिलनेवाले (भागम्) ऐश्वर्य समूह को (अव पश्यत) खो जो। (यदि) जो (श्रातम्) वह परिपक्व [निश्चित] है, (जुहोतन) ग्रहण करो, (यदि) जो (अश्रातम्) अपरिपक्व [अनिश्चित] है, [उसे पका, निश्चित करके] (ममत्तन) तृप्त [भरपूर] करो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े मनुष्यों के समान निश्चित ऐश्वर्य प्राप्त करें, और अनिश्चितकर्म को विवेक पूर्वक निश्चित करके समाप्त करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १७९ । १—३ ॥

श्रातं हविरो ष्विन्द्र प्र याहि जगाम सूरो अध्वनो वि मध्यम् । परि त्वासते निधिभिः सखायः कुलपा न व्राजपतिं चरन्तम् ॥ २ ॥

श्रातम् । हविः । ओ इति । सु । इन्द्र । प्र । याहि । जगाम । सूरः । अध्वनः । वि । मध्यम् । परि । त्वा । आसते । निधिभिः । सखायः । कुल-पाः । न । व्राज-पतिम् । चरन्तम् ॥ २ ॥

भावार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (श्रातम्) परिपक्व [निश्चित] (हविः) ग्राह्यकर्म को (ओ) अवश्य (सु) भले प्रकार से (प्र याहि) प्राप्त हो, [जैसे] (सूरः) सूर्य (अध्वनः) अपने मार्ग के (मध्यम्)

ध्वम् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो मनुष्यस्य (भागम्) भग—अण् समूहे। ऐश्वर्यसमूहम् (ऋत्वियम्) अ० ३ । २० । १ । सर्वेषु ऋतुषु कालेषु भवम् (यदि) सम्भावनायाम् (श्रातम्) श्रीञ् पाके—क्त । अपस्पृधेथामानृचुः० । पा० ६ । १ । ३६ । इति श्राभावः । पक्वम् । निश्चितम् (जुहोतन) हु दानादानादनेषु । लोटि तस्य तनप्, जुहुत । गृह्णीत (यदि) (अश्रातम्) अपक्वम् । अनिश्चितम् (ममत्तन) मद तृप्तियोगे । लोटि शपः श्लु । मदयत । तर्पयत । समाधत्त ॥

२—(श्रातम्) म० १ । पक्वम् । निश्चितम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (ओ) अवश्यम् (सु) सुष्ठु (प्र याहि) प्राप्नुहि (जगाम) प्राप (सूरः) अ० ४ ।

मध्य भाग को (वि) विशेष करके (जगाम) प्राप्त हुआ है। (सखायः) सब मित्र (निधिभिः) अनेक निधियों के साथ (त्वा) तेरे (परि आसते) चारो ओर वैठते हैं, (न) जैसे (कुलपाः) कुल रक्षक लोग (चरन्तम्) चलते फिरते (व्राजपतिम्) घर के स्वामी को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुपहर के सूर्य के समान तेजस्वी होकर अपने कर्तव्य को पूरा करें, पुरुषार्थी मनुष्य के ही अन्य सब लोग सहायक होते हैं ॥२॥

आ॒तं म॑न्य॒ ऊध॑नि आ॒तम॒ग्नौ सुशृ॑तं मन्ये॒ तदृ॒तं नवी॑यः। माध्य॑न्दिनस्य॒ सव॑नस्य द॒ध्नः पिबे॑न्द्र वज्रिन् पुरु॒कृज्जु॑षा॒णः ॥ ३ ॥

आ॒तम्। म॒न्ये॒। ऊध॑नि। आ॒तम्। अ॒ग्नौ। सु-शृ॒तम्। म॒न्ये॒। तत्। ऋ॒तम्। नवी॑यः। माध्य॑न्दिनस्य। सव॑नस्य। द॒ध्नः। पिब॑। इ॒न्द्र॒। व॒ज्रि॒न्। पु॒रु॒-कृ॒त्। जु॒षा॒णः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊधनि) [दूसरों को] चलाने वा सींचने में (आतम्) परिपक्वता [निश्चय पन], (अग्नौ) अग्नि अर्थात् पराक्रम में (आतम्) परिपक्वता (मन्ये) मैं मानता हूं, [जो] (ऋतम्) सत्य धर्म है, (तत्) उसको (नवीयः) अधिक स्तुतियोग्य, (सुश्टतम्) सुपरिपक्व [सुनिश्चित

२। ४। लोकप्रेरकः सूर्यः (अध्वनः) अ० १। ४। १। मार्गस्य (वि) विशेषेण (मध्यम्) मध्याह्नकालम् (परि) व्याप्य (त्वा) इन्द्रम् (आसते) उपविशन्ति (निधिभिः) धनकोषैः (सखायः) सुहृदः (कुलपाः) वंशरक्षकाः (न) इव (व्राजपतिम्) व्रज गतौ—घञ्। गृहस्वामिनं प्रधानम् (चरन्तम्) गच्छन्तम्। उद्योगिनम् ॥

३—(आतम्) —म० १। भावे—क्त। परिपचनम् सुनिश्चयम् (मन्ये) अहं जाने (ऊधनि) अ० ४। ११। ४। श्वेः सम्प्रसारणं च। उ० ४। १९३। वह प्रापणे—असुन्। यद्वा। उन्दी क्लेदने—असुन्, इति ऊधस्, पृषोदरादि रूपम्। छन्दस्यपि दृश्यते। पा० ७। १। ७६। ऊधस् शब्दस्यापि अनङ् आदेशः। यद्वा। ऊधसोऽनङ्। पा० ५। ४। १३१। समासे विधीयमानोऽनङ् छन्दसि केवला-

धर्म] (मन्ये) मैं मानता हूं । (वज्रिन्) हे वज्रधारी । (पुरुकृत्) हे अनेक कर्म करनेवाले (इन्द्र) बड़े ऐश्वर्यवाले मनुष्य! (जुषाणः) प्रसन्न होकर (माध्यन्दिनस्य) मध्य दिन के (सवनस्य) काल वा स्थान की (दध्नः) धारण शक्ति का (पिब) पान कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य वैदिक धर्म में पूर्ण निष्ठा रखकर परोपकार और पराक्रम करके सूर्य के समान तेजस्वी हो ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७३ ॥

१-११ ॥ १-५ अश्विनौ; ६,७ सविता; ८, ११ अघ्न्या; ९, १० अग्निर्देवता ॥ १,४ जगती; २ बृहती; ३, ५-११ त्रिष्टुप्॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

समिद्धो अग्निर्वृषणा रथी दिवस्तप्तो घर्मो दुह्यते वामिषे मधु । वयं हि वां पुरुदमासो अश्विना हवामहे सधमादेषु कारवः ॥ १ ॥

सम्-इद्धः। अग्निः । वृषणा । रथी । दिवः । तप्तः । घर्मः ।

वृषि । ऊधसि । वहने नयने । सेचने (भातम्) (अग्नौ) पराक्रमे (सुशृतम्) शृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । श्रा पाके—क्त । परिपक्वम् । निश्चितम् (मन्ये) (तव) (ऋतम्) सत्यं धर्मं (नवीयः) णु स्तुतौ—अप् + ईयसुन् । स्तुत्यतरम् (माध्यन्दिनस्य) अन्तः पूर्वपदात् ठञ् । पा० ४ । ३ । ६० । मध्यो मध्यं दिनण् चास्मात् । इति वार्तिकम् । मध्य-दिनण्प्रत्ययः । मध्ये भवस्य । यद्वा । उत्सादिभ्योऽञ् । पा० ४ । १ । ८६ । मध्यन्दिन-अञ् । मध्यदिने भवस्य (सवनस्य) षू प्रेरणे—ल्युट् । सवनानि स्थानानि—निरु० ५ । २५ । कालस्य स्थानस्य (दध्नः) भाषायां धाञ्कृसृजनि। वा० पा० ३।२। १७१। डु धाञ् धारणपोषणयोः—कि । यद्वा । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । दध धारणे-इन् । अस्थिदधि० । पा० ७ । १ ।७५ । इत्यनङ् । धारणस्य । आलम्बनस्य (पिब) पानं कुरु । स्वीकुरु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (वज्रिन्) वज्रधारक (पुरुकृत्) हे बहुकर्मन् (जुषाणः) प्रीयमाणः ॥

दुह्यते । वाम् । इषे । मधु । वयम् । हि । वाम् । पुरु-दमासः । अश्विना । हवामहे । सध-मादेषु । कारवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्निः) अग्नि [के समान तेजस्वी], (दिवः) आकाश के [मध्य] (रथी) रथवाला (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है]; (वाम्) तुम दोनों की (इषे) इच्छापूर्ति के लिये (मधु) ज्ञान (दुह्यते) परिपूर्ण किया जाता है। (पुरुदमासः) बड़े दमनशील, (कारवः) काम करने वाले (वयम्) हम लोग (वाम्) तुम दोनों को (हि) ही, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुष ! (सधमादेषु) अपने उत्सवों पर (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष विज्ञानी शिक्षकों से विविध विद्यायें प्राप्त करें। और सब लोग ऐसे विद्वान् स्त्री पुरुषों के सत्संग से लाभ उठावें ॥ १ ॥

समिद्धो अग्निरश्विना तप्तो वां घर्म आ गतम् ।
दुह्यन्ते नूनं वृषणेह धेनवो दस्रा मदन्ति वेधसः ॥२॥

सम्-इद्धः । अग्निः । अश्विना । तप्तः । वाम् । घर्मः । आ । गतम् । दुह्यन्ते । नूनम् । वृषणा । इह । धेनवः । दस्रा । मदन्ति । वेधसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (वाम्) तुम दोनों के लिये (समिद्धः) प्रदीप्त (अग्नि) अग्नि समान तेजस्वी (तप्तः) ऐश्वर्य-

१—(समिद्धः) प्रदीप्तः (अग्निः) अग्निरिव तेजस्वी (वृषणा) पराक्रमिणौ (रथी) रथ-इनि। रथिकः (दिवः) आकाशस्य मध्ये (तप्तः) तप ऐश्वर्ये—क्त। ऐश्वर्ययुक्तः (घर्मः) अ० ४ । १ । २ । प्रकाशमान आचार्यः (दुह्यते) प्रपूर्यते (वाम्) युवयोः (इषे) इच्छापूर्तये (मधु) ज्ञानम् (वयम्) (हि) अवधारणे (वाम्) युवाम् (पुरुदमासः) असुगागमः। बहुदमनशीलाः (अश्विना) अ० २। २९। ६। कर्मसु व्यापकौ स्त्रीपुरुषौ (हवामहे) आह्वयामः (सधमादेषु) उत्सवेषु (कारवः) उ० १ । १ । करोतेः—उण्। कर्मकर्तारः ॥

२—(आ गतम्) आगच्छतम् (दुह्यन्ते) प्रपूर्यन्ते (नूनम्) निश्चयेन (इह) अस्मिन् समाजे (धेनवः) अ० ३। १०। १। धेनुर्वाङ्नाम-निघ०

युक्त, (घर्मः) प्रकाशमान [आचार्य वर्तमान है], (आ गमम्) तुम दोनों आवो। (वृषणा) हे दोनों पराक्रमियो ! और (दस्रा) हे दर्शनीयो वा रोगनाशको ! (धेनवः) वेदवाणियां (नूनम्) अवश्य (इह) यहां पर (दुह्यन्ते) दुही जाती हैं, और (वेधसः) बुद्धिमान् लोग (मदन्ति) आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष वेद विद्या द्वारा विज्ञानी होकर कीर्तिमान् होते हैं, बुद्धिमान् उनसे उपदेश पाकर लाभ उठाते हैं ॥ २ ॥

स्वाहाकृतः शुचिर्देवेषु यज्ञो यो अश्विनोश्चमसो देवपानः। तमु विश्वे अमृतासो जुषाणा गन्धर्वस्य प्रत्यास्ना रिहन्ति ॥ ३ ॥

स्वाहा-कृतः। शुचिः। देवेषु। यज्ञः। यः। अश्विनोः। चमसः। देव-पानः। तम्। ऊं इति। विश्वे। अमृतासः। जुषाणाः। गन्धर्वस्य। प्रति। आस्ना। रिहन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवेषु) उत्तम गुणों में वर्तमान; (अश्विनोः) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों का (यः) जो (स्वाहाकृतः) सुन्दरवाणी से सिद्ध किया गया, (शुचिः) पवित्र (देवपानः) विद्वानों से रक्षा योग्य (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (चमसः) मेघ [के समान उपकारी] है। (तम् उ) उसी [उत्तम व्यवहार को (जुषाणाः] सेवन करते हुये (विश्वे) सब (अमृतासः) अमर [निरा-

---

१। ११। तर्पयित्र्यो वेदवाचः (दस्रा) स्फायीतञ्चिवञ्चि० । उ० २। १३। दसु उपक्षये, दस दर्शने—रक्। रोगनिवारकौ। दर्शनीयौ—निरु० ६। २६ (मदन्ति) हृष्यन्ति (वेधसः) अ० १। ११। १। विध विधाने—असुन्। मेधाविनः—निघ० ३। १५। अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

३—(स्वाहाकृतः) अ० २। १६। १। सुवाचा निष्पन्नः (शुचिः) पवित्रः (देवेषु) दिव्यगुणेषु वर्तमानयोः (यज्ञः) पूजनीयो व्यवहारः (अश्विनोः) उत्तमस्त्रीपुरुषयोः (चमसः) अ० ६। ४७। ३। मेघः—निघ० १। १०। मेघ इवोपकारी (देवपानः) विद्वद्भिः पानं रक्षणं यस्य सः (तम्) यज्ञम् (उ) एव (विश्वे) सर्वे (अमृतासः) अमराः। निरलसाः (जुषाणाः) सेवमानाः। प्रीय-

लसी] लोग (गन्धर्वस्य) पृथिवी रक्षक सूर्य के (आस्ना) मुख से [महा तेजस्वी होकर] (प्रति) प्रत्यक्ष (रिहन्ति) पूजते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुषों के उत्तम व्यवहारों का अनुकरण करके पुरुषार्थी लोग उनको सराहते हैं ॥ ३ ॥

यदुस्रियास्वाहुतं घृतं पयोऽयं स वामश्विना भाग आ गतम्। माध्वी धर्तारा विदथस्य सत्पती तप्तं घर्मं पिबतं रोचने दिवः ॥ ४ ॥

यत्। उस्रियासु। आ-हुतम्। घृतम्। पयः। अयम्। सः। वाम्। अश्विना। भागः। आ। गतम्। माध्वी इति। धर्तारा। विदथस्य। सत्पती इति सत्-पती। तप्तम्। घर्मम्। पिबतम्। रोचने। दिवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (उस्रियासु) गौओं में (घृतम्) घृत और (पयः) दूध (आहुतम्) दिया गया है, (अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो ! (आ गतम्) आवो, (अयम् सः) वही (वाम्) तुम दोनों का (भागः) भाग [सेवनीय व्यवहार] है। (माध्वी) हे मधुविद्या [वेद विद्या] के जानने वाले, (विदथस्य) जानने योग्य कर्म के (धर्तारा) धारण करने वाले, (सत्पती) सत्पुरुषों के रक्षा करने वाले ! तुम दोनों (दिवः) सूर्य के (रोचने)

माणाः (गन्धर्वस्य) अ० २। १। २। भूमिधारकस्य सूर्यस्य (प्रति) प्रत्यक्षम् (आस्ना) मुखेन। प्रकाशेनेत्यर्थः (रिहन्ति) अर्चन्ति—निघ० ३। १४ ॥

४—(यत्) यथा (उस्रियासु) अ० ४। २६। ५। गोषु (आहुतम्) सम्यग् दत्तम् (घृतम्) (पयः) दुग्धम् (अयम्) (सः) (वाम्) युवयोः (अश्विना) उत्तमस्त्रीपुरुषौ (भागः) सेवनीयो व्यवहारः (आ गतम्) आगच्छतम् (माध्वी) मधु+ई गतौ—क्विप्, छान्दसो दीर्घः। सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा०। पा० ७। १। ३९। इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः। मधु मधुविद्यां वेदविद्यामीयेते जानीतो मध्व्यौ मधुविद्यावेदितारौ (धर्तारा) धारकौ (विदथस्य) अ० १। १३। ४। ज्ञातव्यस्य कर्मणः (सत्पती) सज्जनानां पालकौ (तप्तम्)

प्रकाश में (नक्षम्) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मम्) प्रकाशमान [धर्म] का (पिबतम्) पान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे गौ से घृत दुग्ध आदि सार पदार्थ लिया जाता है, वैसे ही विद्वान् स्त्री पुरुष संसार के सब पदार्थों से तत्त्व ज्ञान प्राप्त करें, और जैसे सूर्य के प्रकाश में सब पदार्थ प्रकाशित होते हैं, वैसे ही ब्रह्म विद्या का प्रकाश करके आनन्दित होवें ॥ ४ ॥

तप्तो वां घर्मो नक्षतु स्वहोता प्र वामध्वर्युश्चरतु पयस्वान्। मधोर्दुग्धस्याश्विना तनाया वीतं पातं पयस उस्रियायाः ॥ ५ ॥

तप्तः। वाम्। घर्मः। नक्षतु। स्व-होता। प्र। वाम्। अध्वर्युः। चरतु। पयस्वान्। मधोः। दुग्धस्य। अश्विना। तनायाः। वीतम्। पातम्। पयसः। उस्रियायाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे चतुर स्त्री पुरुषो! (वाम्) तुम दोनों को (स्वहोता) धन देनेवाला, (तप्तः) ऐश्वर्ययुक्त (घर्मः) प्रकाशमान धर्म (नक्षतु) व्याप्त होवे, (पयस्वान्) ज्ञानवान् (अध्वर्युः) अहिंसा कर्म चाहनेवाला [वह धर्म] (वाम्) तुम दोनों के लिये (प्रचरतु) प्रचरित होवे। तुम दोनों (तनायाः) उपकारी विद्या के (दुग्धस्य) परिपूर्ण (मधोः) मधु-

---

ऐश्वर्ययुक्तम् (घर्मम्) प्रकाशमानं धर्मम् (पिबतम्) स्वीकुरुतम् (रोचने) प्रकाशे (दिवः) सूर्यस्य ॥

५—(तप्तः) ऐश्वर्ययुक्तः (वाम्) युवाम् (घर्मः) प्रकाशमानो धर्मः (नक्षतु) व्याप्नोतु—निघ० २। १८। (स्वहोता) धनदाता (वाम्) युवाभ्याम् (अध्वर्युः) मृगय्वादयश्च। उ० १, ३७। अध्वर+या प्रापणे—कु। अथवा सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८ अध्वर-क्यच्। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७० उप्रत्ययः, अलोपः। अहिंसाप्रापकः। अहिंसामिच्छुः। याजकः (प्रचरतु) प्रचरितो भवति (पयस्वान्) ज्ञानवान् (मधोः) मधुनः। मधुविद्यायाः (दुग्धस्य) प्रपूरितस्य (अश्विना) हे उत्तमस्त्रीपुरुषौ (तनायाः) तनु

विद्या [ईश्वरज्ञान] की (वीतम्) प्राप्ति करो और (पातम्) रक्षाकरो, [जैसे] (उस्रियायाः) गऊ के (पयसः) दूध की [प्राप्ति और रक्षा करते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि वे धर्म निष्ठ होकर विद्या प्राप्त करके सर्वहितकारी कामों में सदा प्रवृत्त रहें ॥ ५ ॥

उप॑ द्रव पय॑सा गोधुगोषमा घर्मे सि॑ञ्च पय॑ उस्रिया॑याः । वि नाक॑मख्यत् सवि॒ता वरे॑ण्योऽनुप्रया॒णमु॒षसो॒ वि रा॑जति ॥ ६ ॥

उप॑ । द्रव । पय॑सा । गो-धुक् । ओषम् । आ । घर्मे । सिञ्च । पयः॑ । उस्रिया॑याः । वि । नाक॑म् । अख्यत् । सविता । वरे॑ण्यः । अनु-प्रयान॑म् । उषसः॑ । वि । राजति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गोधुक्) हे विद्या के दोहने वाले विद्वान् ! (पयसा) विज्ञान से (ओषम्) अन्धकार दाहक व्यवहार को (घर्मे) प्रकाशमान यज्ञ के बीच (उप) आदर से (द्रव) प्राप्त हो, और (आ) सब ओर से (सिञ्च) सींच [जैसे] (उस्रियायाः) गऊ के (पयः) दूध को । (वरेण्यः) श्रेष्ठ (सविता) सब के चलानेवाले परमेश्वर ने (नाकम्) मोक्षसुख का (वि अख्यत्) व्याख्यान किया है, वही (उषसः) अन्धकार नाशक उषा के (अनुप्रयाणम्) निरन्तर गमन का (वि) विशेष करके (राजति) राजा होता है ॥ २ ॥

विस्तारे, तन उपकारे—पचाद्यच्, टाप् । उपकारिकाया विद्यायाः (वीतम्) प्राप्तिं कुरुतम् (पातम्) रक्षां कुरुतम् (पयसः) दुग्धस्य (उस्रियायाः) धेनोः ॥

६—(उप) सादरम् (द्रव) गच्छ । प्राप्नुहि (पयसा) ज्ञानेन (गोधुक्) विद्यादोहकः (ओषम्) उष दाहे—घञ् । अन्धकारदाहकं व्यवहारम् (आ) समन्तात् (घर्मे) प्रकाशमाने यज्ञे—निघ० ३ । १७ (सिञ्च) वर्धय (पयः) दुग्धम् (उस्रियायाः) गोः (नाकम्) मोक्षसुखम् (वि अख्यत्) ख्या प्रकथने—लुङ् । अस्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ् । पा० ३ । १ । ५२ । इति च्लेरङ् । व्याख्यातवान् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (वरेण्यः) श्रेष्ठः (अनुप्रयाणम्) निरन्तरप्रगमनम् (उषसः) अन्धकारदाहकस्य प्रभातप्रकाशस्य (वि) विशेषेण (राजति) राजयति । शास्ति ॥

भावार्थ—मनुष्य गऊ के दूध के समान तत्त्वज्ञान को प्राप्त करके सत्कर्मों में प्रकाश करे। जैसे सूर्य का प्रकाश लगातार सब देशों पर चला आता है, उसी प्रकार परमात्मा ने सब के लिये मोक्ष का उपदेश वेद द्वारा किया है ॥ ६ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदेनाम् ।
श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभीद्धो॑ घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ७ ॥

उप॑ । ह्व॒ये॒ । सु॒ऽदुघा॑म् । धे॒नुम् । ए॒ताम् । सु॒ऽहस्तः॑ । गो॒ऽधुक् । उ॒त । दो॒ह॒त् । ए॒ना॒म् । श्रेष्ठ॑म् । स॒वम् । स॒वि॒ता । सा॒वि॒ष॒त् । नः॒ । अ॒भिऽइ॑द्धः । घ॒र्मः । तत् । ऊं॒ इति॑ । सु । प्र । वो॒च॒त् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सुदुघाम्) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करनेवाली (एताम्) इस (धेनुम्) विद्या को (उप ह्वये) मैं स्वीकार करता हूं, (उत) वैसेही (सुहस्तः) हस्तक्रिया में चतुर (गोधुक्) विद्या को दोहने वाला [विद्वान्] (एनाम्) इस [विद्या] को (दोहत्) दुहे। (सविता) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ (सवम्) ऐश्वर्य को (नः) हमारे लिये (साविषत्) उत्पन्न करे। (अभीद्धः) सब ओर प्रकाशमान (घर्मः) प्रतापी परमेश्वर ने (तत् उ) उस सब को (सु) अच्छे प्रकार (प्र वोचत्) उपदेश किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य कल्याणी वेदवाणी का पठन पाठन करके ऐश्वर्य प्राप्त करें। जिस प्रकार परमेश्वर ने उसका उपदेश किया है ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । २६ ।

७—(उप) सादरम् (ह्वये) स्वीकरोमि (सुदुघाम्) दुहः कब्घश्च। पा० ३ । २ । ७० । सु+दुह प्रपूरणे—कप्, हस्य घः। सुष्ठु कामप्रपूरिकाम् (धेनुम्) वाचम्। विद्याम्—म० २ (एताम्) (सुहस्तः) अत्यन्तहस्तक्रियाकुशलः (गोधुक्) विद्यादोहकः (उत) (दोहत्) लेट्रूपम्। दोग्धु (एनाम्) वाचम् (श्रेष्ठम्) (सवम्) ऐश्वर्यम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (साविषत्) अ० ६ । १ । ३। उत्पादयेत् (नः) अस्मभ्यम् (अभीद्धः) सर्वतः दीप्तः (घर्मः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (तत्) पूर्वोक्तं सर्वम् (उ) (सु) (प्र) (वोचत्) ब्रूञः—लुङ्, अडभावश्छान्दसः। उपदिष्टवान् ॥

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒ न्यागन्॑ । दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ८ ॥

हि॒ङ्-कृ॒ण्व॒ती । व॒सु॒-पत्नी॑ । वसू॑नाम् । व॒त्सम् । इ॒च्छन्ती॑ । मन॑सा । नि॒-आ॒गन्॑ । दु॒हाम् । अ॒श्वि-भ्या॑म् । पयः॑ । अ॒घ्न्या । इ॒यम् । सा । व॒र्ध॒ताम् । म॒ह॒ते । सौभ॑गाय ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हिङ्कृण्वती) गति वा वृद्धि करने वाली, (वसुपत्नी) धन की रक्षा करने वाली, (वसूनाम्) श्रेष्ठों के बीच (वत्सम्) उपदेशक पुरुष को (इच्छन्ती) चाहने वाली [वेदवाणी] (मनसा) विज्ञान के साथ (न्यागन्) निश्चय करके प्राप्त हुई है । (इयम्) यह (अघ्न्या) हिंसा न न करने वाली विद्या (अश्विभ्याम्) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों के लिये, (पयः) विज्ञान को (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (सा) वही [विद्या] (महते) अत्यन्त (सौभाग्य) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (वर्धताम्) बढ़े ॥ ८ ॥

भावार्थ—यह जो वेदवाणी संसार का उपकार करती है, उसको सब स्त्री पुरुष प्राप्त होकर यथावत् वृद्धि करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । २७ ॥

जुष्टो॒ दमू॑ना॒ अति॑थिर्दुरो॒ण इ॒मं नो॑ य॒ज्ञमुप॑ याहि

८—(हिङ्कृण्वती) हि गतिवृद्ध्योः—डि । गतिं वृद्धिं वा कुर्वती (वसुपत्नी) धनानां पालिका (वसूनाम्) श्रेष्ठानां मध्ये (वत्सम्) अ० ३ । १२ । ३ । वद कथने—सप्रत्ययः । उपदेशकम् (इच्छन्ती) कामयमाना (मनसा) विज्ञानेन (न्यगन्) गमेर्लुङि रूपम् । निश्चयेनागतवती (दुहाम्) दुहं लोटि, आत्मने पदम्, तलोपः । दुग्धाम् । प्रपूरयेत् (अश्विभ्याम्) स्त्रीपुरुषयोर्हिताय (पयः) विज्ञानम् (अघ्न्या) अ० ३ । ३० । १ । अहिंसिका वेदविद्या (इयम्) प्रसिद्धा (सा) (वर्धताम्) समृद्धा भवतु (महते) प्रभूताय (सौभगाय) शोभनैश्वर्य्याणां भावाय ॥

विद्वान् । विश्वा अग्ने अभियुजो विहत्य शत्रूयतामा भरा भोजनानि ॥ ६ ॥

जुष्टः । दमूनाः । अतिथिः । दुरोणे । इमम् । नः । यज्ञम् । उप । याहि । विद्वान् । विश्वाः । अग्ने । अभि-युजः । वि-हत्य । शत्रु-यताम् । आ । भर । भोजनानि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे बिजुली सदृश उत्तम गुण वाले राजन् ! (जुष्टः) सेवा किया गया वा प्रसन्न किया गया, (दमूनाः) शम दम आदि से युक्त, (अतिथिः) सदा गतिशील [महापुरुषार्थी], (विद्वान्) विद्वान् तू (नः) हमारे (दुरोणे) घर में वर्तमान (इमम्) इस (यज्ञम्) उत्तम दान को (उप याहि) सादर प्राप्त हो। और (शत्रुयताम्) शत्रु समान आचरण करने वालों की (विश्वाः) सब (अभियुजः) चढ़ाई करतीहुई सेनाओं को (विहत्य) अनेक प्रकार से मार कर (भोजनानि) पालन साधनों को (आ) सब ओर से (भर) धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण धर्मात्मा पराक्रमी राजा को सदा प्रसन्न रक्खें, जिससे वह शत्रुओं को जीत कर प्रजापालन करता रहे ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ४ । ५ ॥

अग्ने शर्ध महते सौभगाय तव द्युम्नान्युत्तमानि सन्तु । सं जास्पत्यं सुयममा कृणुष्व शत्रूयतामभि तिष्ठा महांसि ॥ १० ॥

६—(जुष्टः) सेवितः प्रीतो वा (दमूनाः) अ० ७ । १४ । ४ । शमदमादियुक्तः (अतिथिः) अ० ७ । २१ । १ । अतनशीलः । महापुरुषार्थी (दुरोणे) अ० ५ । २ । ६ । गृहे वर्तमानम् (इमम्) प्रत्यक्षम् (नः) अस्माकम् (यज्ञम्) उत्तमपदार्थदानम् (उप) (याहि) (विद्वान्) (विश्वाः) समग्राः (अग्ने) विद्युदिव शुभगुणाढ्य राजन् (अभियुजः) अभियोक्त्रीः परसेनाः (विहत्य) विविधं हत्वा (शत्रुयताम्) अ० ३ । १ । ३ । शत्रुवदाचरताम् (आ) समन्तात् (भर) धर (भोजनानि) पालनसाधनानि ॥

अग्ने॑ । शर्धे॑ । म॒हते॑ । सौभ॑गाय । तव॑ । द्यु॒म्नानि॑ । उ॒त्ऽत॒मानि॑ । स॒न्तु॒ । सम् । जाःऽप॒त्यम् । सु॒ऽयम॑म् । आ । कृ॒णु॒ष्व॒ । श॒त्रु॒ऽय॒ताम् । अ॒भि । ति॒ष्ठ॒ । महां॑सि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(शर्ध) हे बलवान् (अग्ने) विद्वान् राजन् ! (महते) हमारे बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (तव) तेरे (द्युम्नानि) यश वा धन (उत्तमानि) अति ऊंचे (सन्तु) होवें । (जास्पत्यम्) [हमारे] पत्नी-पतिधर्म [गृहस्थ आश्रम] को (सुयमम्) सुन्दर नियम युक्त (सम् आ) बहुत ही भले प्रकार (कृणुष्व) कर, (शत्रुयताम्) शत्रुसमान आचरण करने वालों के (महांसि) बलों को (अभि तिष्ठ) परास्त कर दे ॥ १० ॥

भावार्थ—संयमी पुरुषार्थी स्त्री पुरुष बड़ा ऐश्वर्य, कीर्ति, बल प्राप्त करके शत्रुओं को जीत कर प्रजा पालन करें ॥ १० ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । २८ । ३ । और यजु०—३३ । १२ ॥

सू॒य॒व॒साद् भग॑वती हि भू॒या अधा॑ व॒यं भग॑वन्तः स्याम ।
अ॒द्धि तृण॑मघ्न्ये विश्व॒दानीं॒ पिब॑ शु॒द्धमु॑द॒कमा॒चर॑न्ती ॥ ११ ॥

सु॒य॒व॒स॒ऽअत् । भग॑ऽवती । हि । भू॒याः । अध॑ । व॒यम् । भग॑ऽवन्तः । स्या॒म॒ । अ॒द्धि । तृण॑म् । अ॒घ्न्ये॒ । वि॒श्व॒ऽदानी॑म् । पिब॑ । शु॒द्धम् । उ॒द॒कम् । आ॒ऽचर॑न्ती ॥ ११ ॥

१०—(अग्ने) विद्वन् राजन् (शर्ध) शृधु उन्दे उत्साहे वा—पचाद्यच् । बलवन् । शर्धः=बलम्—निघ० २ । ६ । (महते) प्रभूताय (सौभगाय) शोभनैश्वर्याय (तव) (द्युम्नानि) अ० ६ । ३५ । ३ । धनानि यशांसि वा (उत्तमानि) उद्गततमानि । उन्नततमानि (सन्तु) (सम्) सम्यक् (जास्पत्यम्) पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । पा० ५ । १ । १२८ । जायापति—यक् , छान्दसो याशब्दलोपः सुडागमश्च । जायापत्यम् । पत्नीपतिधर्म (सुयमम्) ईषद्दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । इति खल् । जितेन्द्रियत्वादिनियमयुक्तम् (आ) समन्तात् (कृणुष्व) कुरु (शत्रुयताम्) शत्रुवदाचरताम् (अभि तिष्ठ) आक्रमस्व । अभिभव (महांसि) तेजांसि । बलानि ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा, सब स्त्री पुरुषो !] (सुयवसात्) सुन्दर अन्न आदि भोगने वाली और (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली (हि) ही (भूयाः) हो, (अध) फिर (वयम्) हमलोग (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें। (अघ्न्ये) हे हिंसा न करने वाली प्रजा ! (विश्वदानीम्) समस्त दानों की क्रिया का (आचरन्ती) आचरण करती हुई तू [हिंसा न करने वाली गौ के समान] (तृणम्) घास [अल्प मूल्य पदार्थ] को (अद्धि) खा और (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिब) पी ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अल्प मूल्य घास खाकर और शुद्ध जल पीकर दूध घी आदि देकर उपकार करती है, वैसे ही मनुष्य थोड़े व्यय से शुद्ध आहार विहार करके संसार का सदा उपकार करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ४० ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१-४ ॥ १, २ वैद्यः; ३ त्वष्टा; ४ जातवेदा देवता ॥ १-३ अनुष्टुप्; ४ त्रिष्टुप् ॥

शारीरिकमानसिकरोगनिवारणोपदेशः—शारीरिक और मानसिक रोग हटाने का उपदेश ॥

अपचितां लोहिनीनां कृष्णा मातेति शुश्रुम । मुनेर्दे-

११—(सुयवसात्) अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । सुयवस+अद भक्षणे-विट् । शोभनानि यवसानि अन्नादीनि अदन्ती प्रजा (भगवती) बह्वैश्वर्य-युक्ता (हि) अवधारणे (भूयाः) (अध) अथ । अनन्तरम् (भगवन्तः) बह्वैश्वर्ययुक्ताः (स्याम) भवेम (अद्धि) अशान (तृणम्) घासम् (अघ्न्ये) अहिंसिके (विश्वदानीम्) दानीं च । पा० ५ । ३ । १८ । विश्व—दानीं प्रत्ययः सप्तम्यर्थे । विश्वदानीम्=सर्वदा—निरु० ११ । ४४ । विश्वानि समग्राणि दानानि यस्यास्तां क्रियाम्, यथा दयानन्दभाष्ये ऋक्० १ । १६४ । ४० । (पिब) (शुद्धम्) पवित्रम् (उदकम्) जलम् (आचरन्ती) अनुतिष्ठन्ती ॥

वस्य मूलेन सर्वा विध्यामि ता अहम् ॥ १ ॥

अप-चिताम् । लोहिनीनाम् । कृष्णा । माता । इति । शुश्रुम । मुनेः । देवस्य । मूलेन । सर्वाः । विध्यामि । ताः । अहम् ॥१॥

भाषार्थ—(लोहिनीनाम्) रक्तवर्ण (अपचिताम्) गण्डमाला आदि रोगों की (माता) माता (कृष्णा) काले रंग वाली है, (इति) यह (शुश्रुम) हमने सुना है । (अहम्) मैं (मुनेः) मननशील (देवस्य) विद्वान् वैद्य के (मूलेन) मूल ग्रन्थ से (ताः सर्वाः) उन सब को (विध्यामि) छेदता हूं ॥१॥

भावार्थ—गण्डमाला आदि चर्म रोगों में पहिले काले धब्बे पड़ते, फिर रक्त वर्ण होजाते हैं, सद्वैद्य बड़े बड़े वैद्यों के मूल ग्रन्थों से कारण समझकर उनका छेदन आदि करे, इसी प्रकार मनुष्य आत्म दोषों को हटावे ॥ १ ॥

(मूल) ओषधि विशेष भी है जिसे पीपलामूल कहते हैं ॥

इस सूक्त का मिलान अ० सू० ६ । ८३ से करो ॥

विध्याम्यासां प्रथमां विध्याम्युत मध्यमाम् । इदं जघन्यामासामा च्छिनद्मि स्तुकामिव ॥ २ ॥

विध्यामि । आसाम् । प्रथमाम् । विध्यामि । उत । मध्यमाम् । इदम् । जघन्याम् । आसाम् । आ । छिनद्मि । स्तुकाम्-इव ॥२

भाषार्थ—(आसाम्) इन [गण्डमालाओं] में से (प्रथमाम्) पहिली

१—(अपचिताम्) अ० ६ । ८३ । १ । गण्डमालादिरोगाणाम् (लोहिनीनाम्) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । लोहित-ङीप्, तस्य च नः । रोहिणीनां रक्तवर्णानाम् (कृष्णा) कृष्णवर्णा (माता) जननी । उत्पादयित्री (इति) एवम् (शुश्रुम) लिटि रूपम् । वयं श्रुतवन्तः (मुनेः) मनेरुच्च । उ० ४ । १२३ । मनु अवबोधने—इन् । मननशीलस्य (देवस्य) विदुषो वैद्यस्य (मूलेन) मूलग्रन्थेन । निदानेन (सर्वाः) समस्ताः (विध्यामि) व्यध ताड़ने । विदारयामि (ताः) अपचितः (अहम्) वैद्यः ॥

२—(विध्यामि) छिनद्मि विदारयामि (आसाम्) अपचितां मध्ये (प्रथ-

को (विध्यामि) छेदता हूं, (उत) और (मध्यमाम्) बीचवाली को (विध्यामि) तोड़ता हूं । (आसाम्) इनमें से (जघन्याम्) नीचे वाली को (इदम्) अभी (आ) सब ओर (छिनद्मि) मैं छिन्न भिन्न करता हूं (इव) जैसे (स्तुकाम्) उनके बाल को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य रोगों के नाश करने में बहुत शीघ्रता करें ॥ २ ॥

त्वाष्ट्रेणाहं वच॑सा वि त॑ ई॒र्ष्याम॑मीमदम् । अथो॒ यो म॒न्युष्टे॑ पते॒ तमु॑ ते शमयामसि ॥ ३ ॥

त्वा॒ष्ट्रेण॑ । अ॒हम् । वच॑सा । वि । ते॒ । ई॒र्ष्याम् । अ॒मी॒म॒द॒म् । अथो॒ इति॑ । यः । म॒न्युः । ते॒ । प॒ते॒ । तम् । ऊँ॒ इति॑ । ते॒ । श॒म॒या॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वाष्ट्रेण) सब के बनानेवाले परमेश्वर के (वचसा) वचन से (अहम्) मैंने (ते) तेरी (ईर्ष्याम्) ईर्ष्या को (वि अमीमदम्) मद रहित करदिया है (अथो) और (पते) हे स्वामिन् ! [परमेश्वर !] (यः) जो (ते) तेरा (मन्युः) क्रोध है, (ते) तेरे (तम्) उसको (उ) अवश्य (शमयामसि) हम शान्त करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे वैद्य द्वारा शारीरिक रोगों की चिकित्सा की जाती है, वैसे ही वेदादि शास्त्रों द्वारा मानसिक रोगों की निवृत्ति करनी चाहिये, जिससे परमेश्वर कभी क्रोध न करे ॥ २ ॥

माम्) मुख्याम् (विध्यामि) (उत) (मध्यमाम्) (इदम्) इदानीम् (जघन्याम्) हन यङ् लुक्-अच् । पृषोदरादिरूपम् यद्वा । जघन-यत्, इवाथु । अधमाम् (आसाम्) (आ) समन्तात् (छिनद्मि) भिनद्मि (स्तुकाम्) ष्टुच प्रसादे—क, टाप्, कुत्वम् । ऊर्णस्तुकाम् । रोमस्तोकमात्राम् (इव) यथा ॥

३—(त्वाष्ट्रेण) अ० २ । ५ । ६ । त्वष्टृ—अण् । सर्वनिर्मातुः परमेश्वरस्य सम्बन्धिना (अहम्) जीवः (वचसा) वचनेन (ते) तव (ईर्ष्याम्) अ० ६ । १८ । १ । परसम्पत्त्यसहनम् । मत्सरम् (वि अमीमदम्) विगतमदां कृतवानस्मि (अथो) अपि च (यः) (मन्युः) क्रोधः (ते) तव (पते) स्वामिन् । परमेश्वर (तम्) (उ) अवधारणे (ते) (शमयामसि) शमयामः । शान्तं कुर्मः ॥

व्रतेन॒ त्वं व्र॑तपते॒ सम॑क्तो वि॒श्वाहा॑ सु॒मना॑ दीदिही॒ह ।
तं त्वा॑ व॒यं जा॑तवेदः॒ समि॑द्धं प्र॒जाव॑न्त॒ उप॑ सदेम॒ सर्वे॑ ॥४

व्र॒तेन॑ । त्वम् । व्र॒त॒-प॒ते॒ । सम्-अ॑क्तः । वि॒श्वाहा॑ । सु॒-मनाः॑ । दी॒दि॒हि॒ । इ॒ह । तम् । त्वा॒ । व॒यम् । जा॒त॒-वे॒दः॒ । सम्-इ॑द्धम् । प्र॒जा-व॑न्तः । उप॑ । स॒दे॒म॒ । सर्वे॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(व्रतपते) हे उत्तम नियमों के रक्षक परमेश्वर ! [वा विद्वान् !] (त्वम्) तू (व्रतेन) उत्तम नियम से (समक्तः) संगति करता हुआ (सुमनाः) प्रसन्न चित्त होकर (विश्वाहा) सब दिन (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध बुद्धि वा धन वाले ! (प्रजावन्तः) उत्तम प्रजाओं वाले (सर्वे वयम्) हम सब लोग (समिद्धम्) अच्छी भांति प्रकाशमान (तम् त्वा) उस तुझको (उप सदेम) पूजा करते रहें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के वेदोक्त धर्मों पर चलकर सामाजिक उन्नति करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१-२ ॥ प्रजा देवताः ॥ १ त्रिष्टुप्; २ मध्ये ज्योतिस्त्रिष्टुप् ॥

सामाजिकोन्नत्युपदेशः—सामाकि उन्नति का उपदेश ॥

प्र॒जाव॑तीः सू॒यव॑से रु॒शन्तीः॑ शु॒द्धा अ॒पः सु॑प्रपा॒णे पिब॑-

४—(व्रतेन) अ० २ । ३० । २ । वरणीयेन नियमेन (त्वम्) (व्रतपते) सत्कर्मणां पालक परमेश्वर विद्वन् वा (समक्तः) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—क्त । संगतः (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । इति वलोपः दीप्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (तम्) (त्वा) (वयम्) (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धप्रज्ञ । प्रसिद्धधन (समिद्धम्) सम्यग्दीप्तम् (प्रजावन्तः) प्रशस्तपुत्रपौत्रभृत्यादिसहिताः (उप सदेम) षद्लृ विशरणगत्यादिषु—लिङ्थाशिष्यङ । पा० ३ । १ । ८६ । इत्यङ् । उपसद्यास्म । परिचर्यास्म (सर्वे) ॥

न्तीः । मा व स्तेन ईशत माघशंसः परि वो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु ॥ १ ॥

प्र-जावतीः । सु-यवसे । रुशन्तीः । शुद्धाः । अपः । सु-प्रपाणे । पिबन्तीः । मा । वः । स्तेनः । ईशत । मा । अघ-शंसः । परि । वः । रुद्रस्य । हेतिः । वृणक्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य प्रजाओ !] (प्रजावतीः) उत्तम सन्तान वाली, (सुयवसे) सुन्दर यव आदि अन्न वाले [घर] में [अन्न] (रुशन्तीः) खाती हुई, और (सुप्रपाणे) सुन्दर जलस्थान में (शुद्धाः) शुद्ध (अपः) जलों को (पिबन्तीः) पीती हुई (वः) तुमको (स्तेनः) चोर (मा ईशत) वश में न करे, और (मा) न (अघशंसः) बुरा चीतने वाला, डाकू उचक्का आदि [वश में करे], (रुद्रस्य) पीड़ानाशक परमेश्वर की (हेतिः) हनन शक्ति (वः) तुमको (परि) सब ओर से (वृणक्तु) त्यागे रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यायें उपार्जन करके अपनी सन्तानों को उत्तम शिक्षा देते हुये और अन्न जल आदि का सुप्रबन्ध करते हुये सदा हृष्ट पुष्ट बुद्धिमान् और धर्मिष्ठ रहें, जिससे उन्हें न चोर आदि सता सके और न परमेश्वर दण्ड देवे ॥१॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ४ । २१ । ७ ॥

पदज्ञा स्थ रमतयः संहिता विश्वनाम्नीः । उप मा देवीर्देवेभिरेत । इमं गोष्ठमिदं सदो घृतेनास्मान्त्समुक्षत ॥२

पद-ज्ञाः । स्थ । रमतयः । सम् । हिताः । विश्व-नाम्नीः । उप । मा । देवीः । देवेभिः । आ । इत । इमम् । गो-स्थम् । इदम् । सदः । घृतेन । अस्मान् । सम् । उक्षत ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ ! तुम] (पदज्ञाः) पगडंडी [वा अपने पद] को

१—शब्दार्थो यथा, अ० ४ । २१ । ७ ॥

२—(पदज्ञाः) पदचिह्नस्य स्थानस्य वा ज्ञात्र्यः (स्थ) भवथ (रम-

जानने वाली, (रमतयः) क्रीड़ा करने वाली, (संहिताः) यथावत् हित करने वाली वा परस्पर मिली हुई और (विश्वनाम्नीः) व्याप्तनामवाली (स्थ) हो। (देवीः) हे दिव्य गुण वाली देवियो ! (देवेभिः) उत्तम गुणों के साथ (मा) मुझ को (उप) समीप से (आ इत) प्राप्त होवो। (इमम्) इस (गोष्ठम्) वाचनालय को, (इदम्) इस (सदः) बैठक को और (अस्मान्) हमको (घृतेन) प्रकाश से (सम्) यथावत् (उक्षत) बढ़ाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर और विद्वानों के मार्ग और अपनी स्थिति को जान कर परस्पर हित करके सामाजिक उन्नति करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१-६ ॥ १-५ वैद्यः; ६ इन्द्रो देवता ॥ १,३-५ अनुष्टुप्; २ द्विपदा जगती; ६ त्रिष्टुप् ॥

१-५ रोगनाशस्य, ६ मनुष्यधर्मस्योपदेशः। १-५ रोग नाश और ६ मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

आ सुस्रसः सुस्रसो असतीभ्यो असत्तराः। सेहोररसतरा लवणाद् विक्लेदीयसीः ॥ १ ॥

आ। सु-स्रसः। सु-स्रसः। असतीभ्यः। असत्-तराः। सेहोः। अरस-तराः। लवणात्। वि-क्लेदीयसीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(आ) सब ओर से (सुस्रसः) बहुत बहनेवाले पदार्थ से

तयः) अ० ६ । ७३ । २ । रमयित्र्यः (संहिताः) सम्+धा धारणे वा हि गतौ-क। सम्यक् हितं प्रतिपाद्यं यासां ताः परस्परसंगता वा (विश्वनाम्नीः) वा च्छन्दसि। पा० ६ । १ । १०६ । इति जसः पूर्वसवर्णदीर्घः। व्याप्तनामधेयाः (उप) समीपे (मा) माम् (देवीः) देव्यः। दिव्यगुणाः (देवेभिः) उत्तमगुणैः (आ इत) आगच्छत (इमम्) (गोष्ठम्) वाचस्तिष्ठन्त्यत्र। वाचनालयम् (इदम्) (सदः) सदनम् (घृतेन) प्रकाशेन (अस्मान्) (सम्) सम्यक् (उक्षत) उक्षितः, महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उक्षा उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ६ । वर्धयत ॥

१—(आ) समन्तात् (सुस्रसः) सु+स्रसु पतने—क्विप्। अनिदितां

(सुस्रसः) बहुत बहनेवाली और (असतीभ्यः) बहुत बुरी [पीड़ाओं] से (असत्तराः) अधिक बुरी, (सेहोः) सेहु [नीरस वस्तु विशेष] से (अरसतराः) नीरस [शुष्कस्वभाव] और (लवणात्) लवण से (विक्लेदीयसीः) अधिक गल जानेवाली [गण्डमालाओं] को [नष्ट करदिया है—म० ३] ॥ १ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ तथा २ का सम्बन्ध (निर्हाः) "नष्ट करदिया है" क्रिया मन्त्र ३ के साथ है। जैसे गंडमालायें कभी सूख जातीं, कभी हरी हो जाती हैं, ऐसी ही कुवासनायें कभी निर्बल और कभी सबल हो जाती हैं ॥ १ ॥

या ग्रैव्या॑ अप॒चितोऽथो॒ या उ॑पप॒क्ष्याः॑। वि॒जाम्नि॒ या अ॑प॒चितः॑ स्वयं॒स्रसः॑ ॥ २ ॥

याः। ग्रैव्याः॑। अ॒प॒ऽचितः॑। अथो॒ इति॑। याः। उ॒प॒ऽप॒क्ष्याः॑। वि॒ऽजाम्नि॑। याः। अ॒प॒ऽचितः॑। स्व॒यम्ऽस्रसः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ग्रैव्याः) गले पर (अथो) और (याः) जो (उपपक्ष्याः) पक्खों [कन्धों] के जोड़ों पर (अपचितः) गण्डमालायें [फुड़ियां] हैं। और (याः) जो (स्वयंस्रसः) अपने आप बहने वाली (अपचितः)

हल उपधाया क्ङिति। पा० ६। ४। २४। इति नलोपः। अतिस्रवणशीलात्पदार्थात् (सुस्रसः) अत्यर्थं स्रवणशीलाः (असतीभ्यः) दुष्टाभ्यः (असत्तराः) अधिकदुष्टाः (सेहोः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । षिञ् बन्धने—उ, हुगागमः। सेहुनामनिःसारपदार्थविशेषात् (अरसतराः) अधिकशुष्काः (लवणात्) नन्दिग्रहिपचादि० । पा० ३ । १ । १३४ । लूञ् छेदने—ल्यु । सैन्धवादिक्षाररसभेदात् (विक्लेदीयसीः) क्लिदू आर्द्रीभावे—घञ्। विविधः क्लेदो यासां ता विक्लेदाः । तत ईयसुन्, ङीप्। शसि रूपम्। अधिकस्रवणशीलाः ॥

२—(याः) (ग्रैव्याः) अ० ६ । २५ । २ । ग्रीवासु गलप्रदेशेषु भवा नाड्यः (अपचितः) अ० ६ । ८३ । १ । गंडमालादिपीडाः (याः) (उपपक्ष्याः) उपपक्ष—यत् । उपपक्षे स्कन्धसन्धौ भवाः (विजाम्नि) विविधं जायते विजामा । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । वि+जनी प्रादुर्भावे—मनिन् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । आत्वम् । गुह्यप्रदेशे

फुंसियां (विजाम्नि) गुह्य स्थान पर हैं [उनको नष्ट दिया है—म० ३] ॥ २ ॥

भावार्थ—दुःखदायी रोगों को वैद्य लोग नष्ट करें ॥ २ ॥

यः कीकसाः प्रशृणाति तलीद्यमवतिष्ठति ।

निर्हास्तं सर्वं जायान्यं यः कश्च ककुदि श्रितः ॥ ३ ॥

यः । कीकसाः । प्र-शृणाति । तलीद्यम् । अव-तिष्ठति । निः । हाः । तम् । सर्वम् । जायान्यम् । यः । कः । च । ककुदि । श्रितः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षय रोग] (कीकसाः) हंसली की हड्डियों को (प्रशृणाति) तोड़ देता है और (तलीद्यम्) हथेली और तलवे के चर्म पर (अवतिष्ठति) जम जाता है । (च) और (यः) जो (कः) कोई (ककुदि) शिर में (श्रितः) ठहरा हुआ है, (तम्) उस (सर्वम्) सब (जायान्यम्) क्षय रोग को [उस वैद्य ने] (निः) निरन्तर (हाः) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य रोगों के लक्षण जान कर उचित चिकित्सा करे ॥ ३ ॥

पक्षी जायान्यः पतति स आ विशति पूरुषम् । तदक्षितस्य भेषजमुभयोः सुक्षतस्य च ॥ ४ ॥

पक्षी । जायान्यः । पतति । सः । आ । विशति । पुरुषम् । तत् । अक्षितस्य । भेषजम् । उभयोः । सु-क्षतस्य । च ॥ ४ ॥

(याः) (अपचितः) (स्वयंस्रसः)—म० १ । व्रणरूपेण स्वयं स्रवणशीलाः ॥

३—(यः) जायान्यः (कीकसाः) अ० २ । ३३ । २ । जत्रुवक्षोगतास्थीनि (प्रशृणाति) प्रच्छिनत्ति (तलीद्यम्) हसृरुहि० । उ० १ । ९७ । तल प्रतिष्ठायाम्—इतिप्रत्ययः, दीर्घश्छान्दसः । भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । यत् । तलिति तले करतलपदतले भवं चर्म (अवतिष्ठति) आश्रयति (निः) निरन्तरम् (हाः) अ० ६ । १०३ । २ । हञ् नाशने—लुङ् । अहाः । अहार्षीत् । नाशितवान् स वैद्य इति शेषः (तम्) (सर्वम्) (जायान्यम्) वदेरान्यः । उ० ३ । १०४ । जै क्षये—आन्य । क्षयम् । राजरोगम् (यः) (कः) (च) (ककुदि) अ० ३ । ४ । २ । उत्तमाङ्गे । शिरसि (श्रितः) अवस्थितः ॥

भाषार्थ—(पक्षी) पंख वाला [उड़ाऊ] (जायान्यः) क्षयरोग (पतति) उड़ता है, (सः) वह (पूरुषम्) पुरुष में (आ विशति) प्रवेश कर जाता है। (तत्) यह (अक्षितस्य) भीतर व्यापे हुये (च) और (सुक्षतस्य) बहुत फोड़ों वाले, (उभयोः) दोनों प्रकार के [क्षयरोग] की (भेषजम्) ओषधि है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य भीतरी और बाहिरी लक्षणों से रोग की पहिचान कर निवृत्ति करे ॥ ४ ॥

विद्म वै ते जायान्य जानं यतो जायान्य जायसे ।
कथं ह तत्र त्वं हनो यस्य कृण्मो हविर्गृहे ॥ ५ ॥

विद्म । वै । ते । जायान्य । जानम् । यतः । जायान्य । जायसे ।
कथम् । ह । तत्र । त्वम् । हनः । यस्य । कृण्मः । हविः । गृहे ॥५॥

भाषार्थ—(जायान्य) हे क्षयरोग ! (वै) निश्चय करके (ते) तेरा (जानम्) जन्मस्थान (विद्म) हम जानते हैं, (यतः) जहां से, (जायान्य) हे क्षयरोग ! (जायसे) तू उत्पन्न होता है। (त्वम्) तू (तत्र) वहां पर (कथम् ह) किस प्रकार से ही [मनुष्य को] (हनः) मार सकता है, (यस्य) जिसके (गृहे) घर में (हविः) ग्राह्य कर्म को (कृण्मः) हम करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य रोगों का कारण जान कर पथ्य का सेवन और कुपथ्य का त्याग करते हैं, वे सदा स्वस्थ रहते हैं ॥५॥

४—(पक्षी) पक्षवान्। शीघ्रगतिः (जायान्यः) म० ३ । क्षयरोगः (पतति) शीघ्रं गच्छति (सः) (आविशति) प्रविशति (पूरुषम्) पुरुषम्। शरीरम् (तत्) (अक्षितस्य) अक्षू व्याप्तौ—क्त । अन्तर्व्याप्तस्य क्षयस्य (भेषजम्) औषधम् (उभयोः) अक्षितसुक्षतयोः (सुक्षतस्य) क्षणु हिंसायाम् —क्त । बहुव्रणयुक्तस्य ॥

५—(विद्म) जानीमः (वै) अवश्यम् (ते) तव (जायान्य) म० ३। हे क्षयरोग (जानम्) जन—घञ् । जन्मस्थानम् (यतः) यस्मात् (जायान्य) (जायसे) उत्पद्यसे (कथम्) केन प्रकारेण (ह) अवश्यम् (तत्र) (त्वम्) (हनः) हन्तेर्लेटि अडागमः । हन्याः पुरुषम् (यस्य) पुरुषस्य (कृण्मः) कुर्मः (हविः) ग्राह्यं पथ्यं कर्म (गृहे) ॥

धृषत् पिब कुलशे सोममिन्द्र वृत्रहा शूर समुरे वसूनाम् । माध्यन्दिने सवन आ वृषस्व रयिष्ठानो रयिमस्मासु धेहि ॥ ६ ॥

धृषत् । पिब । कुलशे । सोमम् । इन्द्र । वृत्र-हा । शूर । सम्-अरे । वसूनाम् । माध्यन्दिने । सवने । आ । वृषस्व । रयि-स्थानः । रयिम् । अस्मासु । धेहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(धृषत्) हे निर्भय ! (शूर) हे शूर ! (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवान् मनुष्य ! (वसूनाम्) धनों के निमित्त (समरे) युद्ध में (वृत्रहा) शत्रुनाशक हो कर (कलशे) [संसाररूप] कलस में [वर्तमान] (सोमम्) अमृत रस को (पिब) पी । (माध्यन्दिने) मध्य दिन के (सवने) काल वा स्थान में (आ वृषस्व) सब प्रकार बली हो, (रयिस्थानः) धनों का स्थान तू (रयिम्) धन को (अस्मासु) हम लोगों में (धेहि) धारण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि पथ्य कर्मों से स्वस्थ, बलवान् और मध्याह्न सूर्य के समान तेजस्वी होकर विद्या धन और सुवर्ण आदि धन संचय करके सब को सुखी रक्खे ॥६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६ । ४७ । ६ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१-३ ॥ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

वीराणां कर्तव्योपदेशः—वीरों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

६—(धृषत्) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—शतृ, छान्दसः शः । हे प्रगल्भ (पिब) (कलशे) अ० ३ । १२ । ७ । संसाररूपे घटे वर्तमानम् (सोमम्) अमृतरसम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जीव (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (शूर) वीर (समरे) रणे (वसूनाम्) धनानां निमित्ते (माध्यन्दिने) अ० ७ । ७२ । ३ । मध्याह्ने भवे (सवने) अ० ७ । ७२ । ३ । काले स्थाने वा (आ) सर्वतः (वृषस्व) बली भव (रयिस्थानः) रायो धनानि तिष्ठन्ति यस्मिन्त्सः (रयिम्) धनम् (अस्मासु) (धेहि) धर ॥

सांतपना इदं हविर्मरुतस्तज्जुजुष्टन । अस्माकोती रिशादसः ॥ १ ॥

साम्-तपनाः । इदम् । हविः । मरुतः । तत् । जुजुष्टन । अस्माक । ऊती । रिशादसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सांतपनाः) हे बड़े ऐश्वर्य में रहने वाले ! (रिशादसः) हे हिंसकों के मारने वाले (मरुतः) शूर विद्वान् मनुष्यो ! (अस्माक) हमारी (ऊती) रक्षा के लिये (इदम्) इस और (तत्) उस (हविः) ग्रहणयोग्य योग्य कर्म का (जुजुष्टन) स्वीकार करो ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी विद्वान् मनुष्य प्रजा की पुकार को सब प्रकार सुनकर रक्षा करें ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २० । १ । से करो ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७ । ५६ । ६ ।

यो नो मर्तो मरुतो दुर्हृणायुस्तिरश्चित्तानि वसवो जिघांसति । द्रुहः पाशान् प्रति मुञ्चतां सस्तपिष्ठेन तपसा हन्तना तम् ॥ २ ॥

यः । नः । मर्तः । मरुतः । दुः-हृणायुः । तिरः । चित्तानि । वसवः । जिघांसति । द्रुहः । पाशान् । प्रति । मुञ्चताम् । सः । तपिष्ठेन । तपसा । हन्तन । तम् ॥ २ ॥

१—(सांतपनाः) सम् + तप ऐश्वर्ये—ल्युट् । तत्र भवः । पा० ४ । ३ । ५३ । अण् । संतपने पूर्णैश्वर्ये भवा वर्तमानाः (इदम्) समीपस्थम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूराः । विद्वांसः । ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ (तत्) दूरस्थम् (जुजुष्टन) जुषतेः शपः श्लुः, तस्य तनादेशश्च । स्वीकुरुत (अस्माक) अस्माकम् (ऊती) चतुर्थ्याः पूर्वसवर्णदीर्घः । ऊतये रक्षार्थम् (रिशादसः) अ० २ । २८ । २ । हिंसकानां हिंसकाः ॥

भाषार्थ—(वसवः) हे वसाने वाले (मरुतः) शूरो ! (यः) जो (दुर्हणायुः) अत्यन्त क्रोध को प्राप्त हुआ (मर्तः) मनुष्य (चित्तानि) हमारे चित्तों के (तिरः) आड़े होकर (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है। (सः) वह [हमारे लिये] (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट] के (पाशान्) फन्दों को (प्रति) प्रत्यक्ष (मुञ्चताम्) छोड़ देवे, (तम्) उसे (तपिष्ठेन) अत्यन्त तपाने वाले (तपसा) ऐश्वर्य वा तुपक आदि हथियार से (हन्तन) मारडालो ॥२

भावार्थ—शूर वीर पुरुष दुष्टों का नाश करके श्रेष्ठों का पालन करें ॥२॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७। ५६। ८॥

सं॒व॒त्स॒रीणा॑ म॒रुतः॑ स्व॒र्का उ॑रु॒क्षयाः॒ सग॑णा॒ मानु॑षासः। ते अ॒स्मत् पाशा॒न् प्र मु॑ञ्च॒न्त्वेन॑सः सांतप॒ना म॑त्स॒रा मा॑दयि॒ष्णवः॑ ॥ ३ ॥

स॒म्ऽव॒त्स॒रीणाः॑। म॒रुतः॑। सु॒ऽअ॒र्काः। उ॒रु॒ऽक्षयाः॑। स॒ऽग॑णाः। मानु॑षासः। ते। अ॒स्मत्। पाशा॑न्। प्र। मु॒ञ्च॒न्तु॒। एन॑सः। सा॒म्ऽत॒प॒नाः। म॒त्स॒राः। मा॒द॒यि॒ष्णवः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(संवत्सरीणाः) पूरे निवास काल तक [जीवन भर] प्रार्थना किये गये, (स्वर्काः) बड़े वज्रों वाले (उरुक्षयाः) बड़े घरों वाले, (सगणाः)

२—(यः) (नः) अस्मान् (मर्तः) मनुष्यः (मरुतः) हे शूरगणाः (दुर्हणायुः) हृणीयते क्रुध्यतिकर्मा-निघ० २। १२। हृणीङ् रोषणे लज्जायां च-क। छन्दसीणः। उ० १। २। हृण+इण् गतौ—उण्। दुर्हणं दुष्टं क्रोधं गतः। प्राप्तक्रोधः (तिरः) तिरस्कृत्य। उल्लङ्घ्य (चित्तानि) अन्तःकरणानि (वसवः) हे वासयितारः (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (द्रुहः) द्रोहस्य। अनिष्टस्य (पाशान्) बन्धान् (प्रति) प्रत्यक्षम् (मुञ्चताम्) त्यजतु (सः) शत्रुः (तपिष्ठेन) तापयितृतमेन (तपसा) ऐश्वर्येण तापकेनायुधेन वा (हन्तन) तस्य तनप्। हत ॥

३—(सम्वत्सरीणाः) संपूर्वाच्चित्। उ० ३। ७२। सम्+वस निवासे-सरन्। सः स्यार्धधातुके। पा० ७। ४। ४६। सस्य तत्वम्। संपरिपूर्वात् ख

सेनाओं वाले, (मानुषासः) मनन शील (मरुतः) शूर पुरुष हैं । (ते) वे (सांतपनाः) बड़े ऐश्वर्य वाले, (मत्सराः) प्रसन्न रहने वाले, (मादयिष्णवः) प्रसन्न रखने वाले पुरुष (अस्मत्) हम से (एनसः) पाप के (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्चन्तु) छुड़ा देवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—वे शूर वीर पुरुष धन्य हैं जो प्रसन्नता से पुरुषार्थ करके सब को क्लेशों से छुड़ा कर सुखी करते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-२ अग्निर्देवता ॥ १स्वराड् गायत्री; २ त्रिष्टुप् ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ।

वि ते मुञ्चामि रशनां वि योक्त्रं वि नियोजनम् ।
इहैव त्वमजस्र एध्यग्ने ॥ १ ॥

वि । ते । मुञ्चामि । रशनाम् । वि । योक्त्रम् । वि । नि-योज-नम् । इह । एव । त्वम् । अजस्रः । एधि । अग्ने ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] (ते) तेरी ।(रशनाम्) रसरी को, (योक्त्रम्) जोते वा डोरी को और (नियोजनम्) बन्धन गांठ को (वि) विशेष करके (वि) विविध प्रकार (वि मुञ्चामि) मैं खोलता हूं । (अग्ने) हे अग्नि [स-

---

च । पा० ५ । १ । ६२ । संवतसर—ख, अभीष्टार्थे । सम्वत्सरं सम्यग् निवास-कालमधीष्टाः प्रार्थिताः (मरुतः)-म० १ । शूराः (स्वर्काः) अ० ७ । २४ । १ सुवज्रिणः (उरुक्षयाः) क्षि निवासगत्योरैश्वर्ये च विस्तीर्णगृहाः (सगणाः) सैन्यैः सहिताः (मानुषासः) अ० ४ । १४ । ५ । असुक् । मनुर्मननं येषां ते (ते) मरुतः (अस्मत्) अस्मत्तः (पाशान्) बन्धान् (प्र) (मुञ्चन्तु) मोच-यन्तु (एनसः) पापस्य (सांतपनाः)-म० १ । पूर्णैश्वर्यवन्तः (मत्सराः) अ० ४ । २५ । ६ । मदी हर्षे—सरन् । हृष्टाः । प्रसन्नाः (मादयिष्णवः) णेश्छन्दसि । पा० ३ । २ । १३७ । मादयतेः—इष्णुच् । हर्षकराः ॥

१—(वि मुञ्चामि) वियोजयामि (ते) तव (रशनाम्) आध्यात्मिक-क्लेशरूपां रज्जुम् (वि) विशेषेण (योक्त्रम्) अ० ३ । ३० । ६ । आधिभौतिक-रूपं बन्धनसाधनम् (इह) अस्मिन् संसारे (एव) निश्चयेन (त्वम्) आत्मा

मान बलवान् आत्मा !] (इह) यहां पर (एव) ही (त्वम्) तू (अजस्रः) दुःख रहित होकर (एधि) रह ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी योगी जन तीन गाठों अर्थात् आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशों से छूट जाते हैं, वे संसार में रह कर सब को सुखी रखते हैं ॥ २ ॥

अस्मै क्षत्राणि धारयन्तमग्ने युनज्मि त्वा ब्रह्मणा दैव्येन । दीदिह्य१स्मभ्यं द्रविणेह भद्रं प्रेमं वोचो हविर्दां देवतासु ॥ २ ॥

अस्मै । क्षत्राणि । धारयन्तम् । अग्ने । युनज्मि । त्वा । ब्रह्मणा । दैव्येन । दीदिहि । अस्मभ्यम् । द्रविणा । इह । भद्रम् । प्र । इमम् । वोचः । हविः-दाम् । देवतासु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [तुल्य पराक्रमी आत्मा !] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (क्षत्राणि) अनेक बलों को (धारयन्तम्) धारण करने वाले (त्वा) तुझको (दैव्येन) परमेश्वर से पाये हुये (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से (युनज्मि) मैं नियुक्त करता हूं । (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (इह) यहां पर (द्रविणा) अनेक धन (भद्रम्) आनन्द से (दीदिहि) प्रकाशित कर, (इमम्) इस [मनुष्य] को (देवतासु) विद्वानों के बीच (हविर्दाम्) देने योग्य पदार्थ

(अजस्रः) नमिकम्पिस्म्यजसकमहिंसदीपो रः । पा० ३ । २ । १६७ । नञ् + जसु हिंसायाम्—रप्रत्ययः । अहिंसितः (एधि) भव (अग्ने) अग्निवद् बलवन्नात्मन् ॥

२—(अस्मै) प्राणिने (क्षत्राणि) अ० २ । १५ । ४ । बलानि (धारयन्तम्) धरन्तम् (अग्ने) अग्नितुल्यपराक्रमिन्नात्मन् (युनज्मि) योजयामि (त्वा) त्वाम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (दैव्येन) अ० २ । २ । २ । परमेश्वर सम्बद्धेन (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । अन्तर्गतण्यर्थः । संदीपय (अस्मभ्यम्) (द्रविणा) अ० २ । २८ । ३ । धनानि (इह) अस्मिन् संसारे (भद्रम्) यथा तथा सुखेन (प्र) प्रकर्षेण (वोचः) लुङि रूपम् । अवोचः । सूचितवानसि

का देने वाला (प्र वोचः) तू ने सूचित किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य योगाभ्यास आदि शुभ गुणों से अपने बलों को बढ़ा कर परोपकारी हो कर कीर्त्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

सूक्तम् ७८ ॥

१-४ ॥ अमावास्या देवता ॥ १, ३ ४ त्रिष्टुप्; २ विराट् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यत् ते देवा अकृण्वन् भागधेयममावास्ये संवसन्तो महित्वा । तेना नो यज्ञं पिपृहि विश्ववारे रयिं नो धेहि सुभगे सुवीरम् ॥ १ ॥

यत् । ते । देवाः । अकृण्वन् । भाग-धेयम् । अमा-वास्ये । सम्-वसन्तः । महि-त्वा । तेन । नः । यज्ञम् । पिपृहि । विश्वऽवारे । रयिम् । नः । धेहि । सु-भगे । सु-वीरम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या ! [सब के साथ बसी हुई शक्ति परमेश्वर !] (यत्) जिस कारण से (ते) तेरी (महित्वा) महिमा से (संवसन्तः) यथावत् बसते हुये (देवाः) विद्वानों ने (भागधेयम्)अपना सेवनीय काम (अकृण्वन्) किया है। (तेन) उसी से, (विश्ववारे) हे सब से स्वीकार करने योग्य शक्ति ! (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (पिपृहि) पूरा कर, (सुभगे) हे बड़े ऐश्वर्यवाली ! (नः) हमें (सुवी-

(हविर्दाम्) ददातेः—क्विप् । दातव्यस्य दातारम् (देवतासु) विद्वत्सु ॥

१—(यत्) यस्मात्कारणात् (ते) तव (देवाः) विद्वांसः (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकुर्वन् (भागधेयम्) सेवनीयं व्यवहारम् (अमावास्ये) अमावस्यदन्यतरस्याम् । पा० ३ । १ । १२२ । अमा+वस आच्छादने निवासे च—ण्यत्, टाप् । अमा सर्वैः सह वसति सा अमावास्या तत्सम्बुद्धौ । हे सर्वैःसह निवासशीले शक्ते परमात्मन् (संवसन्तः) वस-शतृ ।

रम्) बड़े वीरों वाला (रयिम्) धन (धेहि) दान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावस्ये, संवसन्तः) पद [वस-रहना, ढांकना] धातु से बने हैं। विद्वान् लोग सर्वान्तर्यामी परमेश्वर में आश्रय लेकर सृष्टि के सब पदार्थों से उपकार करके सब को वीर, पुरुषार्थी और धनी बनावें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका—अ० ७ । २० । ४ ॥

अहमेवास्म्यमावास्या३ मामा वसन्ति सुकृतो मयीमे । मयि देवा उभये साध्याश्चेन्द्रज्येष्ठाः समगच्छन्त सर्वे ॥२॥

अहम् । एव । अस्मि । अमा-वास्या । माम् । आ । वसन्ति । सु-कृतः । मयि । इमे । मयि । देवाः । उभये । साध्याः । च । इन्द्र-ज्येष्ठाः । सम् । अगच्छन्त । सर्वे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (एव) ही (अमावास्या) अमावास्या [सबके साथ वसी हुई शक्ति] (अस्मि) हूं, (मयि) मुझ में [वर्तमान होकर] (इमे) यह सब (सुकृतः) सुकर्मी लोग (माम्) लक्ष्मी में (आ वसन्ति) यथावत् वास करते हैं। (मयि) मुझ में (उभये) दोनों प्रकार के (सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ अर्थात् (साध्याः) साधने योग्य [स्थावर] (च और (इन्द्रज्येष्ठाः) जीव को प्रधान रखने वाले [जंगम] पदार्थ (सम्= समेत्य) मिलकर (आगच्छन्त) प्राप्त हुये हैं ॥ २ ॥

सम्यग् निवसन्तः (महित्वा) अ० ४ । २ । २ । महत्त्वेन । अन्यद् गतम्—अ० ७ । २० । ४ ॥

२—(अहम्) परमेश्वरः (एव)(अस्मि) (अमावास्या) म० १ । सर्वैः सह निवासशीला शक्तिः (माम) इन्दिरा लोकमाता मा—अमरः १ । २६। लक्ष्मीम् (आ वसन्ति) उपान्वध्याङ्वसः । पा० १ । ४ । ४८ । अधिकरणस्य कर्मता । समन्ताद् अवतिष्ठन्ते (सुकृतः) सुकर्माणः (मयि) (देवाः) दिव्यपदार्थाः (उभये) अ० ४ । ३१ । ६ । द्विविधाः, चराचराः (साध्याः) अ० ७ । ५ । १ । साधनीयाः । स्थावराः (इन्द्रज्येष्ठाः) जीवप्रधानाः । जङ्गमाः (सम्) समेत्य (अगच्छन्त) प्राप्तवन्तः (सर्वे) समस्ताः ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावस्या, वसन्ति) पद [वस-रहना, ढांकना] धातु से बने हैं। परमेश्वर सब मनुष्यों को उपदेश करता है कि वह अन्तर्यामी होकर समस्त, चर और अचर संसार को अपने वश में रखता है॥२॥

यजुर्वेद अ० ४० म० १ में ऐसा वचन है।

ई॒शा वा॒स्य॑मि॒दꣳ सर्वं॒ यत् किञ्च॒ जग॑त्यां॒ जग॑त्॥

(इदम् सर्वम्) यह सब, (यत् किंच) जो कुछ (जगत्याम्) सृष्टि में (जगत्) जगत् है, (ईशा) ईश्वर से (वास्यम्) बसा हुआ है॥

आग॑न् रात्री॑ सं॒गम॑नी॒ वसू॑ना॒मूर्जं॑ पु॒ष्टं वस्वा॑वे॒शय॑न्ती। अ॒मा॒वा॒स्या॑यै ह॒विषा॑ विधे॒मोर्जं॒ दुहा॑ना॒ पय॑सा न॒ आग॑न्॥ ३॥

आ। अ॒ग॒न्। रात्री॑। स॒म्-गम॑नी। वसू॑नाम्। ऊर्ज॑म्। पु॒ष्टम्। वसु॑। आ॒-वे॒शय॑न्ती। अ॒मा॒-वा॒स्या॑यै। ह॒विषा॑। वि॒धे॒म॒। ऊर्ज॑म्। दुहा॑ना। पय॑सा। नः॒। आ। अ॒ग॒न्॥ ३॥

भावार्थ—(वसूनाम्) निवास स्थानों [लोकों] का (संगमनी) संयोग करने वाली, (ऊर्जम्) पराक्रम और (पुष्टम्) पोषण और (वसु) धन (आवेशयन्ती) दान करती हुई (रात्री) सुख देने वाली शक्ति (आ अगन्) आई है। (अमावास्यायै) उस अमावास्या [सब के साथ वास करने वाली शक्ति, परमेश्वर] को (हविषा) आत्मदान [पूरण भक्ति] से (विधेम) हम पूजें, (ऊर्जम्) पराक्रम को (पयसा) ज्ञान के साथ (दुहाना) पूरण करती हुई वह (नः) हमें (आ अगन्) प्राप्त हुई है॥ ३॥

३—(आ अगन्) अ० २।६।३। आगता (रात्री) अ० १।१६।१। रा दाने—त्रिप्, ङीप्। सुखदात्री (संगमनी) संयोजयित्री (वसूनाम्) निवासस्थानानां लोकानाम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (पुष्टम्) पोषणम् (वसु) धनम् (आवेशयन्ती) प्रयच्छन्ती (अमावास्यायै)—म० १। सर्वैः सह निवासशीलायै (हविषा) आत्मदानेन (विधेम) परिचरेम (ऊर्जम्) (दुहाना) प्रपूरयन्ती (पयसा) पय गतौ—असुन्। ज्ञानेन (नः) अस्मान् (आ अगन्)॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (अमावास्यायै, वसूनाम्, वसु) पद [वस रहना] धातु से बने हैं। जो मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से पुरुषार्थ और भक्ति के साथ उपकार लेते हैं, वे ही ऐश्वर्यवान् होते हैं॥ ३॥

अमावास्ये न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम्॥ ४॥

अमा-वास्ये। न। त्वत्। एतानि। अन्यः। विश्वा। रूपाणि। परि-भूः। जजान। यत्-कामाः। ते। जुहुमः। तत्। नः। अस्तु। वयम्। स्याम। पतयः। रयीणाम्॥ ४॥

भाषार्थ—(अमावास्ये) हे अमावास्या! [सब के साथ निवास करने वाली शक्ति, परमेश्वर!] (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक होकर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें॥ ४॥

भावार्थ—परमेश्वर ही अनुपम, सर्वशक्तिमान् और सब सृष्टि का कर्ता है, उसी की शरण लेकर विद्या सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होवें॥ ४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १०। १२१। १०। और यजुर्वेद—अ० २३। ६५॥

४—(अमावास्ये)—म० १। सर्वैः सह निवासशीले (न) निषेधे (त्वत्) त्वत्तः (एतानि) दृश्यमानानि (अन्यः) भिन्नः (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) मूर्तानि वस्तूनि (परिभूः) भू प्राप्तौ—क्विप्। व्यापकः (जजान) जन जनने—लिट्। उत्पादयामास (यत्कामाः) यद्वस्तु कामयमानाः (ते) तव (जुहुमः) हु दानादानयोः। स्वीकारं कुर्मः (तत्) कमनीयं वस्तु (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (वयम्) (स्याम) भवेम (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) धनानाम्॥

सूक्तम् ८० ॥

१-४ ॥ पौर्णमासी देवता ॥ १, ३, ४ त्रिष्टुप्; २ अनुष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

पूर्णा पुश्चादुत पूर्णा पुरस्तादुन्मध्यतः पौर्णमासी जिगाय । तस्यां देवैः संवसन्तो महित्वा नाकस्य पृष्ठे समिषा मदेम ॥ १ ॥

पूर्णा । पुश्चात् । उत । पूर्णा । पुरस्तात् । उत् । मध्यतः । पौर्णऽमासी । जिगाय । तस्याम् । देवैः । सम्ऽवसन्तः । महिऽत्वा । नाकस्य । पृष्ठे । सम् । इषा । मदेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पश्चात्) पीछे (पूर्णा) पूर्ण, (पुरस्तात्) पहिले (उत) और (मध्यतः) मध्य में (पूर्णा) पूर्ण (पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय वा आकारवान् पदार्थों की आधारशक्ति, परमेश्वर] (उत् जिगाय) सब से उत्कृष्ट हुई है । (तस्याम्) उस [शक्ति] में (देवैः) उत्तम गुणों और (महित्वा) महीमा के साथ (संवसन्तः) निवास करते हुये हम (नाकस्य) सुख की (पृष्ठे) ऊंचाई पर [वा सिंचाई में] (इषा) पुरुषार्थ से (सम्) यथावत् (मदेम) आनन्द भोगें ॥ १ ॥

१—(पूर्णा) समग्रा (पश्चात्) सृष्टेः पश्चात् (उत) अपि (पूर्णा) (पुरस्तात्) सृष्टेः प्राक् (उत्) उत्तमतया (मध्यतः) इतराभ्योऽपि दृश्यन्ते। पा० ५ । ३ । १४ । इति सप्तम्यर्थे तसिल् । मध्ये । सृष्टिकाले (पौर्णमासी) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । माङ् माने—असुन् । सास्मिन्पौर्णमासीति । पा० ४ । २ । २१ । इति पूर्णमास्-अण् । पूर्णाः सम्पूर्णा मासः परिच्छेद्याः पदार्था यस्मिन् स पौर्णमासः, स्त्रियां ङीप् । सम्पूर्णपरिच्छेद्यपदार्थाधारा शक्तिः परमेश्वरः (जिगाय) उत्कृष्टा बभूव (तस्याम्) पौर्णमास्याम् (देवैः) उत्तमगुणैः (संवसन्तः) सम्यग् निवसन्तः (महित्वा) अ० ४ । २ । २ । महिम्ना (नाकस्य) सुखस्य (पृष्ठे) पृषु सेचने-थक् । उपरिभागे सेचने वा (सम्) सम्यक् (इषा) इष गतौ–क्विप् । उपायेन (मदेम) हृष्येम ॥

भावार्थ—परमेश्वर सृष्टि से पहिले और पीछे और मध्य में वर्तमान और सर्वोत्कृष्ट है, उसी के आश्रय से मनुष्य उत्तम गुणी होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ॥ १ ॥

वृषभं वाजिनं वयं पौर्णमासं यजामहे ।
स नो ददात्वक्षितां रयिमनुपदस्वतीम् ॥ २ ॥

वृषभम् । वाजिनम् । वयम् । पौर्ण-मासम् । यजामहे । सः । नः । ददातु । अक्षिताम् । रयिम् । अनुप-दस्वतीम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (वृषभम्) सर्वश्रेष्ठ, (वाजिनम्) महा-बलवान् (पौर्णमासम्) पौर्णमास [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों के आधार परमेश्वर] को (यजामहे) पूजते हैं । (सः) वह (नः) हमें (अक्षिताम्) विना घटी हुई और (अनुपदस्वतीम्) विना घटने वाली (रयिम्) सम्पत्ति (ददातु) देवे ॥ २

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना करके पुरुषार्थ के साथ ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परिभूर्जजान । यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नो अस्तु वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ३ ॥

प्रजा-पते । न । त्वत् । एतानि । अन्यः । विश्वा । रूपाणि । परि-भूः । जजान । यत्-कामाः । ते । जुहुमः । तत् । नः । अस्तु । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ३ ॥

२—(वृषभम्) अ० ४ । ५ । १ । सर्वश्रेष्ठम् (वाजिनम्) महाबलिनम् (वयम्) (पौर्णमासम्)-म० १ । सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारं परमेश्वरम् (यजामहे) पूजयामः (सः) पौर्णमासः (नः) अस्मभ्यम् (ददातु) (अक्षिताम्) अक्षीणाम् (रयिम्) सम्पत्तिम् (अनुपदस्वतीम्) उपभोगेऽपि क्षयरहिताम् ॥

भावार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक परमेश्वर ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरे किसी ने (परिभूः) व्यापक हो कर (एतानि) इन (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवाले [आकार वाले] पदार्थों को (न) नहीं (जजान) उत्पन्न किया है। (यत्कामाः) जिस वस्तु की कामना वाले हम (ते) तेरा (जुहुमः) स्वीकार करते हैं, (तत्) वह (नः) हमारे लिये (अस्तु) होवे, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) बने रहें ॥३

भावार्थ—यह मन्त्र अ० ७ । ७९ । ४ । में आ चुका है, (अमावास्ये) के स्थान पर यहां (प्रजापते) पद है, भावार्थ समान है ॥ ३ ॥

३—(प्रजापते) हे प्रजापालक । अन्यद्गतम्-अ० ७ । ७९ । ४ ॥

पौर्णमासी प्रथमा यज्ञियासीदह्नां रात्रीणामतिशर्वरेषु । ये त्वां यज्ञैर्यज्ञिये अर्धयन्त्यमी ते नाके सुकृतः प्रविष्टाः ॥ ४ ॥

पौर्ण-मासी । प्रथमा । यज्ञिया । आसीत् । अह्नाम् । रात्रीणाम् । अति-शर्वरेषु । ये । त्वाम् । यज्ञैः । यज्ञिये । अर्धयन्ति । अमी इति । ते । नाके । सु-कृतः । प्र-विष्टाः ॥ ४ ॥

भावार्थ—(पौर्णमासी) पौर्णमासी [सम्पूर्ण परिमेय पदार्थों की आधार शक्ति] (अह्नाम्) दिनों के बीच और (रात्रीणाम्) रात्रियों के (अतिशर्वरेषु) अत्यन्त अन्धकारों में (प्रथमा) पहिली (यज्ञिया) पूजा योग्य (आसीत्) हुई है। (यज्ञिये) हे पूजायोग्य शक्ति ! (ये) जो (त्वाम्) तुझे (यज्ञैः) पूजनीय व्यवहारों से (अर्धयन्ति) पूजते हैं, (अमी) यह सब [वर्तमान] और (ते) वे [आगे और पीछे होने वाले] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (नाके)

४—(पौर्णमासी)-म० १ । सम्पूर्णपरिमेयपदार्थाधारा शक्तिः (प्रथमा) आद्या (यज्ञिया) पूजार्हा (अह्नाम्) दिनानां मध्ये (रात्रीणाम्) (अतिशर्वरेषु) कॄगॄशॄ वृञ्चतिभ्यः ष्वरच् । उ० २ । १२१ । शॄ हिंसायाम्—ष्वरच् । शर्वरं तमः । अत्यन्तान्धकारेषु (ये) मनुष्याः (त्वाम्) पौर्णमासीम् (यज्ञैः) पूजनीयैः कर्मभिः (यज्ञिये) पूजार्हे (अर्धयन्ति) ऋधु वृद्धौ—णिच् । वर्धयन्ति । अर्चन्ति (अमी) इदानीतनाः (ते) दूरस्थाः । भूते भविष्यति च भवाः (नाके)

आनन्द में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सृष्टि और प्रलय से अनादि और अनन्त है, उसकी पूजा करके सब मनुष्य आनन्द पाते हैं ॥ ४ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१-६ ॥ ॥ १ सोमार्कौ; २-६ चन्द्रमा देवता ॥ १ जगती; २, ६ त्रिष्टुप्; ३ अनुष्टुप्, ४ पङ्क्तिः; ५ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

सूर्यचन्द्रलक्षणोपदेशः—सूर्य, चन्द्रमा लक्षणों का उपदेश ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् । विश्वान्यो भुवना विचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥ १ ॥

पूर्वम्-अपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ । परि । यातः । अर्णवम् । विश्वा । अन्यः । भुवना । वि-चष्टे । ऋतून् । अन्यः । वि-दधत् । जायसे । नवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एतौ) यह दोनों [सूर्य, चन्द्रमा] (पूर्वापरम्) आगे पीछे (मायया) बुद्धि से [ईश्वर नियम से] (चरतः) विचरते हैं, (क्रीडन्तौ) खेलते हुये (शिशू) [माता पिता के दुःख हटाने वाले] दो बालक [जैसे] (अर्णवम्) अन्तरिक्ष में (परि) चारो ओर (यातः) चलते हैं। (अन्यः एक [सूर्य] (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (विचष्टे) देखता है,

---

सुखे (सुकृतः) सुकर्माणः (प्रविष्टाः) स्थिता भवन्ति ॥

१—(पूर्वापरम्) यथा तथा, पूर्वापरपर्य्यायेण (चरतः) विचरतः (मायया) ईश्वरप्रज्ञया (एतौ) सूर्य्याचन्द्रमसौ (शिशू) शिशुः शंसनीयो भवति शिशीतेर्वा स्याद् दानकर्मणश्चिरलब्धो गर्भो भवति—निरु० १० । ३९ । शः कित् सन्वच्च । उ० १ । २० । शो तनूकरणे—उ प्रत्ययः, श्यति पित्रोर्दुःखानीति शिशुः । बालकौ यथा (क्रीडन्तौ) विहरन्तौ (परि) सर्वतः (यातः) गच्छतः (अर्णवम्) अ० १ । १० ।४। समुद्रम् । अन्तरिक्षम् (विश्वा)सर्वाणि

(अन्यः) दूसरा तू [चन्द्रमा] (ऋतून्) ऋतुओं को [अपनी गति से] (विदधत्) बनाता हुआ [शुक्ल पक्ष में] (नवः) नवीन (जायसे) प्रगट होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर नियम से आकाश में घूमते हैं और सूर्य, चन्द्र आदि लोकों को प्रकाश पहुंचाता है। चन्द्रमा शुक्ल पक्ष के आरम्भ से एक एक कला बढ़कर वसन्त आदि ऋतुओं को बनाता है ॥ १ ॥

मन्त्र १,२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १० । ८५ । १८,१९ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥ २ ॥

नवः-नवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एषि । अग्रम् । भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आ-यन् । प्र । चन्द्रमः । तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(चन्द्रमः) हे चन्द्रमा ! तू [शुक्लपक्ष में] (नवोनवः) नया नया (जायमानः) प्रकट होता हुआ (भवसि) रहता है, और (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) जताने वाला तू (उषसाम्) उषाओं [प्रभातवेलाओं] के (अग्रम्) आगे (एषि) चलता है। और (आयन्) आता हुआ तू (देवेभ्यः) उत्तम पदार्थों को (भागम्) सेवनीय उत्तम गुण (वि दधासि) विविध प्रकार

(अन्यः) सूर्यः (भुवना) चन्द्रादिलोकान् (विचष्टे) विविधं पश्यति । प्रकाशयति (ऋतून्) वसन्तादिकालान् (अन्यः) चन्द्रमाः (विदधत्) कुर्वन् (जायसे) प्रादुर्भवसि (नवः) नवीनः शुक्लपक्षे ॥

२—(नवोनवः) पुनःपुनरभिनवः शुक्लपक्षप्रतिपदादिषु , एकैककलावृद्ध्या (भवसि) (जायमानः) प्रादुर्भवन् (अह्नाम्) चान्द्रतिथीनाम् (केतुः) केतयिता ज्ञापयिता (उषसाम्) प्रभातवेलानाम् (एषि) प्राप्नोषि (अग्रम्) पुरोगतिम् (भागम्) सेवनीयमुत्तमं गुणम् (देवेभ्यः) दिव्यपदार्थेभ्यः (वि) विविधम् (दधासि) ददासि (आयन्) आगच्छन् प्रादुर्भवन् (प्र) प्रकर्षेण

देता है, और (दीर्घम्) लम्बे (आयुः) जीवन काल को (प्र) अच्छे प्रकार (तिरसे) पार लगाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में एक एक कला बढ़कर नया नया होता है और दिनों, अर्थात् प्रतिप्रदा आदि चान्द्र तिथियों को बनाता है। और पृथिवी के पदार्थों में जीवन शक्ति देकर पुष्टिकारक होता है ॥ २ ॥

भगवान् यास्क का मत है—निरु० ११ । ६ । ' "नया नया प्रकट होता हुआ'—यह शुक्लपक्ष के आरम्भ से अभिप्राय है। दिनों को जताने वाला उषाओं के आगे चलता है, यह कृष्णपक्ष की समाप्ति से अभिप्राय है। कोई कहते हैं कि दूसरा पाद सूर्य देवता का है ॥"

सोम॑स्यांशो युधां पतेऽनू॑नो नाम॒ वा अ॑सि ।

अनू॑नं दर्श मा कृधि प्र॒जया॑ च॒ धने॑न च ॥ ३ ॥

सोम॑स्य । अं॒शो इति॑ । यु॒धाम् । प॒ते॒ । अनू॑नः । नाम॑ । वै । अ॒सि॒ । अनू॑नम् । द॒र्श॒ । मा॒ । कृ॒धि॒ । प्र॒-जया॑ । च॒ । धने॑न । च॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमस्य) हे अमृत के (अंशो) बांटने वाले ! (युधाम्) हे युद्धों के (पते) स्वामी ! (वै) निश्चय करके तू (अनूनः) न्यूनता रहित [सम्पूर्ण] (नाम) प्रसिद्ध (असि) है। (दर्श) हे दर्शनीय ! (मा) मुझको (प्रजया) प्रजा से (च च) और (धनेन) धन से (अनूनम्) सम्पूर्ण (कृधि) कर ॥ ३ ॥

(चन्द्रमः) अ० ५ । २४ । १० । हे चन्द्र (तिरसे) पारयसे (दीर्घम्) अ० १ । ३५ । २ । लम्बमानम् (आयुः) जीवनकालम् ।

३—(सोमस्य) अमृतस्य । जीवनसाधनस्य (अंशो) अंशुः शमष्टमात्रो भवत्यननाय शं भवतीति वा—निरु० २ । ५ । मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अंश विभाजने—कु । अंशुः = सोमो विभागो विभक्ता वा । हे विभाजयितः (युधाम्) युद्धानां पार्थिवजलस्याकर्षणानाम्, यद्वा ग्रहतारागणानामुल्लेखादियुद्धानाम्, सूर्यसिद्धान्ते—अ० ७ । श्लोक १८-२३ (पते) स्वामिन् (अनूनः) ऊन परिहाणे—क । न्यूनतारहितः । सम्पूर्णकलः (नाम) प्रसिद्धो (वै) निश्चयेन (असि) (अनूनम्) सम्पूर्णं समृद्धम् (दर्श) दृश—वञ् । हे दर्शनीय । पूर्ण-

भावार्थ—पूर्ण चन्द्रमा अमृत का बांटने वाला इस लिये है कि उसकी किरणों से पार्थिव पदार्थों और प्राणियों में पोषण शक्ति पहुंचती है। और युद्धों का स्वामी इस कारण है कि पौर्णमासी को पार्थिव समुद्र का जल चन्द्रमा की ओर लहराता है, अथवा उल्लेखादि युद्धों अर्थात् ग्रह और तारा गणों के परस्पर निकट हो जाने वा टकरा जाने का काल चन्द्रमा की गति से निर्णय किया जाता है—देखो सूर्यसिद्धान्त, अध्याय ७। श्लोक १८–२३। मनुष्य पौष्टिक पदार्थों से उपकार लेकर प्रजावान् और धनवान् होवें॥ ३॥

द॒र्शोऽसि द॒र्श॒तोऽसि॒ सम॑ग्रोऽसि॒ सम॑न्तः। सम॑ग्रः॒ सम॑न्तो भूयासं॒ गोभि॒रश्वैः॑ प्र॒जया॑ प॒शुभि॑र्गृ॒हैर्धने॑न ॥ ४ ॥

द॒र्शः। अ॒सि॒। द॒र्श॒तः। अ॒सि॒। सम्ऽअ॑ग्रः। अ॒सि॒। सम्ऽअ॑न्तः। सम्ऽअ॑ग्रः। सम्ऽअ॑न्तः। भू॒या॒स॒म्। गोभिः॑। अश्वैः॑। प्र॒ऽजया॑। प॒ऽशुभिः॑। गृ॒हैः। धने॑न ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[चन्द्र !] तू (दर्शः) दर्शनीय (असि) है, (दर्शतः) देखने का साधन (असि) है, (समग्रः) सम्पूर्ण गुण वाला, और (समन्तः) सम्पूर्ण कला वाला, (असि) है। (गोभिः) गौओं से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि प्रजा से, (गृहैः) घरों से (धनेन) और धन से (समग्रः) सम्पूर्ण और (समन्तः) परिपूर्ण (भूयासम्) मैं रहूं॥ ४॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्ण चन्द्र संसार का उपकार करता है, इसी प्रकार मनुष्य सब विधि से परिपूर्ण होकर परस्पर सहायक रहें॥ ४॥

चन्द्र (मा) माम् (कृधि) कुरु (प्रजया) सन्ततिभृत्यादिना (च-च) समुच्चये (धनेन)॥

४—(दर्शः)—म० ३। दर्शनीयः (असि) भवसि (दर्शतः) अ० ४। १०। ६। पश्यति येन सः। सूर्यः। चन्द्रः (समग्रः) सम्पूर्णगुणः (समन्तः) पूर्णकलः (समग्रः) संपूर्णः (समन्तः) समृद्धः (गोभिः) अश्वैः) (प्रजया) (पशुभिः) हस्तिमहिषीमेषादिभिः (गृहैः) (धनेन)॥

यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मस्तस्य त्वं प्राणेना प्यायस्व। आ वयं प्याशिषीमहि गोभिरश्वैः प्रजया पशुभिर्गृहैर्धनेन ॥ ५ ॥

यः। अस्मान्। द्वेष्टि। यम्। वयम्। द्विष्मः। यस्य। त्वम्। प्राणेन। आ। प्यायस्व। आ। वयम्। प्याशिषीमहि। गोभिः। अश्वैः। प्र-जया। पशु-भिः। गृहैः। धनेन ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है, और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) विरोध करते हैं, (त्वम्) तू [हे चन्द्र !] (तस्य) उसको (प्राणेन) प्राण से (आप्यायस्व) वियुक्त कर। (वयम्) हम लोग (गोभिः) गौओं से, (अश्वैः) घोड़ों से, (पशुभिः) [हाथी भैंस भेड़ आदि] अन्य पशुओं से, (प्रजया) सन्तान भृत्य आदि से, (गृहैः) घरों से, और (धनेन) धन से (आ) सब प्रकार (प्याशिषीमहि) बढ़ें ॥ ५ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा आदि के उत्तम गुण कुव्यवहार से दुःखदायक और सुव्यवहार से सुखदायक होते हैं ॥ ५ ॥

(प्याशिषीमहि) के स्थान पर पं० सेवकलाल के पुस्तक में (प्यायिषीमहि) पाठ है ॥

यं देवा अंशुमाप्याययन्ति यमक्षितमक्षिता भक्षयन्ति। तेनास्मानिन्द्रो वरुणो बृहस्पतिरा प्याययन्तु भुवनस्य

५—(यः) शत्रुः (अस्मान्) धार्मिकान् (द्वेष्टि) विरोधयति (यम्) (वयम्) (द्विष्मः) विरोधयामः (तस्य) तम् (त्वम्) हे चन्द्र (प्राणेन) जीवनेन (आ) वियोगे—यथा आपद् शब्दे (आ प्यायस्व) वियोजय (आ) समन्तात् (वयम्) (प्याशिषीमहि) ओ प्यायी वृद्धौ, आशिषि लिङि यकारस्थाने शकारश्छान्दसः। प्यायिषीमहि—यथा पं० सेवकलालस्य पुस्तके पाठः। वर्धिषीमहि। अन्यत्पूर्ववत्—म० ४ ॥

गोपाः ॥ ६ ॥

यम् । देवाः । अंशुम् । आ-प्यायर्यन्ति । यम् । अक्षितम् । अक्षिताः । भक्षयन्ति । तेन । अस्मान् । इन्द्रः । वरुणः । बृहस्पतिः । आ । प्यायुयन्तु । भुवनस्य । गोपाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (अंशुम्) अमृत [चन्द्रमा के रस] को (देवाः) प्रकाशमान सूर्य की किरणें [शुक्लपक्ष में] (आप्याययन्ति) बढ़ा देती हैं, और (यम्) जिस (अक्षितम्) बिना घटे हुये को (अक्षिताः) वे व्यापक [किरणें] (भक्षयन्ति) [कृष्ण पक्ष में] खा लेती हैं। (तेन) उसी [नियम] से (अस्मान्) हमको (भुवनस्य) संसार के (गोपाः) रक्षा करने वाला (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् राजा, (वरुणः) श्रेष्ठ वैद्य और (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का स्वामी, आचार्य (आ) सब प्रकार (प्याययन्तु) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस नियम से सूर्य की किरणें चन्द्रमा के अनिष्ट रस को खींचकर अमृत उत्पन्न करती हैं, वैसे ही राजा आदि गुरुजन प्रजा के दुखोंका नाश करके सुख प्राप्त करावें ॥ ६ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१-६ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, ४-६ त्रिष्टुप्; २ बृहती; ३ जगती ॥

वेदविज्ञानोपदेशः—वेद के विज्ञान का उपदेश ॥

६—(यम्) (देवाः) देवः=द्युस्थानः—निरु ७ । १५ । प्रकाशमानाः सूर्यरश्मयः (अंशुम्)-म० ३ । सोमम् । चन्द्ररसम् (आ प्याययन्ति) सर्वतो वर्धयन्ति, शुक्लपक्षे (यम्) (अक्षितम्) अक्षीणम् (अक्षिताः) अक्षू व्याप्तौ—क्त । व्याप्ताः किरणाः (भक्षयन्ति) अदन्ति । आकर्षन्ति, कृष्णपक्षे (तेन) नियमेन (अस्मान्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (वरुणः) श्रेष्ठो वैद्यः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः । आचार्यः (आ) समन्तात् (प्याययन्तु) वर्धयन्तु (भुवनस्य) लोकस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे—घञ । गोपयितारः । रक्षकाः ॥

अभ्यर्चत सुष्टुतिं गव्यमाजिमस्मासु भद्रा द्रविणानि धत्त
इमं यज्ञं नयत देवता नो घृतस्य धारा मधुमत् पवन्ताम्

अभि । अर्चत । सु-स्तुतिम् । गव्यम् । आजिम् । अस्मासु ।
भद्रा । द्रविणानि । धत्त । इमम् । यज्ञम् । नयत । देवता ।
नः । घृतस्य । धाराः । मधु-मत् । पवन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सुष्टुतिम्) बड़ी स्तुति वाले, (गव्यम्) पृथिवी वा स्वर्ग के लिये हितकारक, (आजिम्) प्राप्तियोग्य परमेश्वर को (अभि) भले प्रकार (अर्चत) पूजो, और (अस्मासु) हम लोगों में (भद्रा) सुखों और (द्रविणानि) बलों और धनों को (धत्त) धारण करो । (देवता) प्रकाशमान तुम सब (इमम्) इस (यज्ञम्) पूजनीय परमात्मा को (नः) हम में (नयत) पहुंचाओ, (घृतस्य) प्रकाशित ज्ञान की (धाराः) धारायें [धारण शक्तियां वा प्रवाह] (मधुमत्) श्रेष्ठ विज्ञानयुक्त कर्म को (पवन्ताम्) शुद्ध करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके मनुष्यों का उपकार करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ४ । ५८ । १० ॥

मय्यग्रे अग्निं गृह्णामि सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।

१—(अभि) सर्वतः (अर्चत) पूजयत (सुष्टुतिम्) अतिस्तुतियुक्तम (गव्यम्) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । गो—यत् । गवे पृथिव्यै स्वर्गाय वा हितम् (आजिम्) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गतिक्षेपणयोः—इण । प्रापणीयं परमात्मानम् (अस्मासु) (भद्रा) सुखानि (द्रविणानि) बलानि धनानि च (धत्त) धारयत (इमम्) प्रसिद्धम् (यज्ञम्) पूजनीयं परमेश्वरम् (नयत) प्रापयत (देवता) स्वार्थे तल् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक् । देवताः । यूयं प्रकाशमानाः (घृतस्य) प्रकाशितस्य बोधस्य (धाराः) धारणशक्तयः प्रवाहा वा (मधुमत्) प्रशस्तविज्ञानयुक्तं कर्म (पवन्ताम्) शोधयन्तु ॥

मयि प्रजां मय्यायुर्दधामि स्वाहा मय्यग्निम् ॥ २ ॥

मयि । अग्रे । अग्निम् । गृह्णामि । सह । क्षत्रेण । वर्चसा बलेन । मयि । प्र-जाम् । मयि । आयुः । दधामि । स्वाहा । मयि । अग्निम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—मैं (अग्रे) सब से पहिले वर्तमान (अग्निम्) सर्वज्ञ परमेश्वर को (मयि) अपने में (क्षत्रेण) [दुःख से बचाने वाले] राज्य, (वर्चसा) प्रताप और (बलेन सह) बल के साथ (गृह्णामि) ग्रहण करता हूं। मैं (मयि) अपने में (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान भृत्य आदि] को, (मयि) अपने में (आयुः) जीवन को, (मयि) अपने में (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के द्वारा (दधामि) धारण करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि, अनन्त, परमात्मा का भरोसा रखकर शारीरिक, आत्मिक बल बढ़ा कर राज्य आदि की वृद्धि करें ॥ २ ॥

इहैवाग्ने अधि धारया रयिं मा त्वा नि क्रन् पूर्वचित्ता निकारिणः । क्षत्रेणाग्ने सुयममस्तु तुभ्यमुपसत्ता वर्धतां ते अनिष्टृतः ॥ ३ ॥

इह । एव । अग्ने । अधि । धारय । रयिम् । मा । त्वा । नि । क्रन् । पूर्व-चित्ताः । नि-कारिणः । क्षत्रेण । अग्ने । सु-यमम् । अस्तु । तुभ्यम् । उप-सत्ता । वर्धताम् । ते । अनि-स्तृतः ३

२—(मयि) आत्मनि (अग्रे) सर्वप्रथमं वर्तमानम् (अग्निम्) सर्वज्ञं परमात्मानाम् (गृह्णामि) स्वीकरोमि (सह) सहितः (क्षत्रेण) क्षणु हिंसायाम्-क्विप्+त्रैङ् पालने—क । क्षतः क्षतात् त्रायकेण राज्येन (वर्चसा) प्रतापेन (बलेन) (मयि) (प्रजाम्) सन्ततिभृत्यादिरूपाम् (मयि) (आयुः) जीवनम् (दधामि) धारयामि (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाण्या । वेदवाचा (मयि) (अग्निम्) विद्युतं शारीरिकात्मिकबलहेतुम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन्! (इह एव) यहां पर ही (रयिम्) धन को (अधि) अधिकार पूर्वक (धारय) पुष्ट कर, (पूर्वचित्ताः) पहिले से सोचने वाले [घाती], (निकारिणः) अपकारी [दुष्ट] लोग (त्वा) तुझ को (मा नि क्रन्) नीचा न करें। (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (तुभ्यम्) तेरे (क्षत्रेण) [विघ्न से बचाने वाले] राज्य के साथ [हमारा] (सुयमम्) सुन्दर नियम वाला कर्म (अस्तु) होवे, (ते) तेरा (उपसत्ता) उपासक [आश्रित जन] (अनिष्टृतः) अजेय होकर (वर्धताम्) बढ़ता रहे॥ ३॥

भावार्थ—मनुष्य दूरदर्शी नीतिज्ञ हो कर घात लगाने वाले शत्रुओं से बच कर धर्म के साथ अपनी और प्रजा की उन्नति करें ॥ ३ ॥

अन्वग्निरुषसामग्रमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः।
अनु सूर्य उषसो अनु रश्मीननु द्यावापृथिवी आ विवेश॥४॥

अनु। अग्निः। उषसाम्। अग्रम्। अख्यत्। अनु। अहानि। प्रथमः। जात-वेदाः। अनु। सूर्यः। उषसः। अनु। रश्मीन्। अनु। द्यावापृथिवी इति। आ। विवेश॥ ४॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले

३—(इह) अस्माकं मध्ये (एव) (अग्ने) हे सर्वज्ञ (अधि) अधिकृत्य (धारय) पोषय (रयिम्) धनम् (त्वा) परमेश्वरम् (मा नि क्रन्) मन्त्रे घसह्वर०। पा० २।४।८०। करोतेर्लुङि च्लेर्लुक्। नीचैर्मा कार्षुः (पूर्वचित्ताः) प्राग्विचारवन्तः, घातिन इत्यर्थः (निकारिणः) अपकारिणः (क्षत्रेण)—म० २। विघ्नाद् रक्षकेण राज्येन (अग्ने) सर्वव्यापक (सुयमम्) ईषद्दुःसुषु०। पा० ३।३।१२६। सु+यम नियमने—खल्। यथावद् नियमयुक्तं कर्म (अस्तु) (तुभ्यम्) षष्ठ्यर्थे चतुर्थीति वक्तव्या। वा०पा० २।३।६२। तव (उपसत्ता) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—तृच्। उपासकः। आश्रितः (वर्धताम्) (ते) तव (अनिष्टृतः) स्तृञ् आच्छादने—क्त। स्तृणातिर्वधकर्मा—निघ० २।१९। अहिंसितः। अजेयः ॥

४—(अनु) निरन्तरम् (अग्निः) सर्वव्यापक ईश्वरः (उषसाम्) प्रभातवेलानाम् (अग्रम्) प्रादुर्भावम् (अख्यत्) ख्यातेर्लुङ्। अ० ७।७३।६।

वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्नवस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सब को चलाने वाले परमेश्वर] ने (उपसः) उषाओं में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आ विवेश) प्रवेश किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रच कर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्य का उपास्य है ॥ ४ ॥

प्रत्यग्निरुपसामग्रमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः ।
प्रति सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन्प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥

प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि । प्रथमः । जात-वेदाः । प्रति । सूर्यस्य । पुरु-धा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उपसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्त्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान करानेवाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है । (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुधा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है ॥ ५ ॥

प्रख्यातवान् (अनु) (अहानि) दिनानि (प्रथमः) प्रथमानः (जातवेदाः) अ० १ । ७ । २ । जातानि वस्तूनि वेदयति ज्ञापयतीति सः (अनु) (सूर्यः) सर्वव्यापकः । सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (उपसः) प्रभातकालान् (रश्मीन्) अ० २ । ३२ । १ । व्यापकान् किरणान् (अनु) (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (आ विवेश) समन्तात् प्रविष्टवान् ॥

५—(प्रति) प्रत्यक्षरूपेण (सूर्यस्य) आदित्यमण्डलस्य (पुरुधा) अनेकधा (च) (आ) समन्तात् (ततान) विस्तारयामास ॥ अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचारकर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥

घृतं ते अग्ने दिव्ये सुधस्थे घृतेन त्वां मनुरुद्या समिन्धे ।
घृतं ते देवीर्नप्त्य॑ आ वहन्तु घृतं तुभ्यं दुह्रतां गावो अग्ने ६

घृतम् । ते । अग्ने । दिव्ये । सध-स्थे । घृतेन । त्वाम् । मनुः । अद्य । सम् । इन्धे । घृतम् । ते । देवीः । नप्त्यः । आ । वहन्तु । घृतम् । तुभ्यम् । दुह्रताम् । गावः । अग्ने ॥६॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमेश्वर ! (ते) तेरा (घृतम्) प्रकाश (दिव्ये) दिव्य [सूक्ष्म] कारण में और (सधस्थे) मिलकर ठहरने वाले कार्य रूप जगत् में है, (घृतेन) प्रकाश के साथ वर्त्तमान (त्वा) तुझ को (मनुः) मननशील पुरुष (अद्य) अब (सम्) यथावत् (इन्धे) प्रकाशित करता है। (ते) तेरे (घृतम्) प्रकाश को (देवीः) उत्तम गुणवाली, (नप्त्यः) न गिरनेवाले प्रजायें [हमें] (आ वहन्तु) प्राप्त करावें, (अग्ने) हे सर्वव्यापक जगदीश्वर ! (गावः) वेद वाणियां (तुभ्यम्) तेरे (घृतम्) प्रकाश को (दुहृताम्) परिपूर्ण करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की सत्ता और शक्ति को कारण और कार्य रूप जगत् में साक्षात् करके संसार को पुरुषार्थी बनावें ॥ ६ ॥

६—(घृतम्) घृ सेके दीप्तौ च-क्त । दीप्तिः (ते) तव (अग्ने) सर्वज्ञ परमेश्वर (दिव्ये) विचित्रे कारणे (सधस्थे) सहस्थितिशीले कार्यरूपे संसारे (घृतेन) प्रकाशेन (त्वाम्) (मनुः) मननशीलः पुरुषः (अद्य) इदानीम् (सम्) सम्यक् (इन्धे) ञि इन्धी दीप्तौ, एयर्थः । दीपयति । विज्ञापयति (घृतम्) ज्ञानप्रकाशम् (ते) तव (देवीः) उत्तमगुणयुक्ताः (नप्त्यः) नप्तृनेष्टृत्वष्टृ० । उ० २ । ९५ । नञ्+पतॢ गतौ-तृच्, ङीप्, छान्दसं रूपम् । न पततीति नप्त्री । नप्त्र्यः । न पतनशीलाः प्रजाः (आ) अभिमुखम् (वहन्तु) प्रापयन्तु (घृतम्) (तुभ्यम्) म० ३ । तव (दुह्रताम् ।) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । रुडागमः । दुहताम । प्रपूरयन्तु (गावः) वेदवाचः-(अग्ने) हे सर्वव्यापक ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१-४ ॥ वरुणो देवता ॥ १ अनुष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३, ४ त्रिष्टुप् ॥

ईश्वर नियमोपदेशः—ईश्वर के नियम का उपदेश ॥

अप्सु ते राजन् वरुण गृहो हिरण्ययो मिथः ।
ततो धृतव्रतो राजा सर्वा धामानि मुञ्चतु ॥ १ ॥

अप्-सु । ते । राजन् । वरुण । गृहः । हिरण्ययः । मिथः ।
ततः । धृत-व्रतः । राजा । सर्वा । धामानि । मुञ्चतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (ते) तेरा (हिरण्ययः) तेजोमय (ग्रहः) ग्रहण सामर्थ्य (अप्सु) सब प्राणों में (मिथः) एक दूसरे के साथ [वर्तमान है] । (ततः) उसी से (धृत-व्रतः) नियमों के धारण करनेवाले (राजा) राजा आप (सर्वा) सब (धामानि) बन्धनों को (मुञ्चतु) खोल देवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाशस्वरूप, सर्वव्यापक परमेश्वर की उपासना से पापों को छोड़, धर्म में प्रवृत्त होकर क्लेशों से मुक्त होवें ॥

धाम्नोधाम्नो राजन्नितो वरुण मुञ्च नः । यदापो
अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम ततो वरुण मुञ्च नः ॥२॥

धाम्नः-धाम्नः । राजन् । इतः । वरुण । मुञ्च । नः । यत् ।
आपः । अघ्न्याः । इति । वरुण । इति । यत् । ऊचिम । ततः ।

१—(अप्सु) आपः प्राणाः—दयानन्द भाष्ये यजु० २० । १८ । प्राणेषु (ते) तव (राजन्) ऐश्वर्यवन् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर (गृहः) ग्रहण-सामर्थ्यम् (हिरण्ययः) अ० ४ । २ । ८ । तेजोमयः (मिथः) मिथ ज्ञाने—असुन् स च कित् । परस्परम् (ततः) तस्मात् कारणात् (धृतव्रतः) नियम-धारकः (राजा) शासकः (सर्वा) सर्वाणि (धामानि) दधातेर्मनिन् । धीयन्ते बध्यन्ते । बन्धनानि (मुञ्चतु) मोचयतु ॥

वरुण । मुञ्च । नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (वरुण) हे सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर ! (इतः) इस (धाम्नोधाम्नः) प्रत्येक बन्धन से (नः) हमें (मुञ्च) छुड़ा । (यत्) जिस कारण से (आपः) यह प्राण (अघ्न्याः) न मारने योग्य गौ [के तुल्य] हैं, (इति) इस प्रकार से, (वरुण) हे सर्वोत्कृष्ट परमेश्वर ! (इति) इस प्रकार से, (यत्) जो कुछ (ऊचिम) हमने कहा है, [इसी कारण से] (वरुण) हे दुःखनिवारक ! (नः) हमें (ततः) उस [बन्धन] से (मुञ्च) छुड़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जो लोग परमात्मा को बन्धनमोचक जानकर विरुद्ध आचरण से गौके समान अपने और पराये प्राणों की रक्षा करते हैं, वे हृदय की गांठ खुल जाने से सदा आनन्दित रहते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है-२० । १८ ॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।
अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥३॥

उत् । उ॒त्ऽत॒मम् । व॒रु॒ण॒ । पाश॑म् । अ॒स्मत् । अव॑ । अ॒ध॒मम् । वि । म॒ध्य॒मम् । श्र॒थ॒य॒ । अध॑ । व॒यम् । आ॒दि॒त्य॒ । व्र॒ते । तव॑ । अना॑गसः । अदि॑तये । स्या॒म॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम

२—(धाम्नोधाम्नः) म० १ । वीप्सायां द्विर्वचनम् । प्रत्येकबन्धनात् (राजन्) (इतः) अस्मात् (वरुण) सर्वश्रेष्ठ (मुञ्च) (नः) अस्मान् (यत्) यस्मात् कारणात् (आपः) प्राणाः-दयानन्दभाष्ये यजु० २० । १८ (अघ्न्याः) अ० ३ । ३० । १ । अहन्तव्या गावो यथा (इति) अनेन प्रकारेण (वरुण) सर्वोत्कृष्ट (इति) एवम् (यत्) यत् किञ्चित् (ऊचिम) ब्रूञ—लिट् । वयं कथितवन्तः (ततः) तस्मात् क्लेशबन्धनात् (वरुण) दुःखनिवारक (मुञ्च) पृथक् कुरु (नः) अस्मान् ॥

३—(उत्) ऊर्ध्वम् । उत्कृष्य (उत्तमम्) ऊर्ध्वस्थिम् (पाशम्) बन्धनम्

से (उत्तमम्) ऊंचे वाले (पाशम्) पाश को (उत्) ऊपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अव) नीचे से, और (मध्यमम्) बीचवाले को (वि) विविध प्रकार से (श्रथय) खोल दे। (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्डनीय जगदीश्वर ! (अध) फिर (वयम्) हम लोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः) निरपराधी (स्याम) होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन करके धर्माचरण से भूत, भविष्यत् और वर्तमान क्लेशों को अलग करके सदा सुखी रहें ॥३

यह मन्त्र ऋग्वेद में है। १। २४। १५ और यजु० १२। १२। और अथर्ववेद में भी है—१८। ४। ६६ ॥

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मु॒ञ्च सर्वा॒न् य उ॑त्त॒मा अ॑ध॒मा वा॑रु॒णा ये । दु॒ष्वप्न्यं॑ दुरि॒तं नि ष्वा॒स्मद॑थ॒ गच्छेम सु॒कृत॑स्य लो॒कम् ॥ ४ ॥

प्र। अ॒स्मत्। पाशा॑न्। व॒रु॒ण॒। मु॒ञ्च। सर्वा॑न्। ये। उ॒त्ऽत॒माः। अ॒ध॒माः। वा॒रु॒णाः। ये। दुः॒ऽस्वप्न्य॑म्। दुः॒ऽइ॒तम्। निः। स्व॒। अ॒स्मत्। अथ॑। गच्छे॑म। सु॒ऽकृत॑स्य। लो॒कम् ॥४

भाषार्थ—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (ये) जो (उत्तमाः)

(अस्मत्) अस्मत्तः (अव) अधस्तात्। अवकृष्य (अधमम्) नीचस्थम् (वि) विविधम् (मध्यमम्) मध्यस्थम् (श्रथय) श्रथ दौर्बल्ये, चुरादिः, छान्दसो दीर्घः। शिथिलीकुरु। विमोचय (अध) अथ। अनन्तरम् (आदित्य) अ० १। ६। १। आ+दीपी दीप्तौ–यक्। यद्वा। नञ्—दो अव खण्डने–क्तिन्, ततो ण्यप्रत्ययः। सर्वतः प्रकाशमान। अदितिरखण्डनं यस्यास्ति आदित्यः। हे अखण्डनीय (व्रते) वरणीये नियमे (तव) (अनागसः) अ० ७। ७। १ अनपराधिनः (अदितये) अ० २। २८। ४। अदीनायै पृथिव्यै, तद्राज्याय (स्याम) भवेम ॥

४—(प्र) प्रकर्षेण (वरुण) हे दुःखनिवारक परमेश्वर (मुञ्च) मोचय।

ऊंचे और (ये) जो (अधमाः) नीचे [फन्दे] (वारुणाः) दोष निवारक वरुण परमेश्वर से आये हैं। (दुष्स्वप्न्यम्) नींद में उठे कुविचार और (दुरितम्) विघ्न को (अस्मत्) हम से (निः स्व) निकाल दे,(अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ-जो मनुष्य भूत भविष्यत् क्लेशों का विचार करके दुष्कर्मों से बचते हैं, वे धर्मात्माओं में सत्कार पाते हैं ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है। अ० ६। १२१। १॥

सूक्तम् ८४ ॥

१-३ ॥ १ अग्निः;२,३ इन्द्रो देवता ॥१ जगती २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अनाधृष्यो जातवेदा अमर्त्यो विराडग्ने क्षत्रभृद् दीदिहीह। विश्वा अमीवाः प्रमुञ्चन् मानुषीभिः शिवाभिरद्य परि पाहि नो गयम् ॥ १ ॥

अनाधृष्यः। जात-वेदाः। अमर्त्यः। वि-राट्। अग्ने। क्षत्र-भृत्। दीदिहि। इह। विश्वाः। अमीवाः। प्र-मुञ्चन्। मानुषीभिः। शिवाभिः। अद्य। परि। पाहि। नः। गयम् ॥१

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्रतापी राजन् (अनाधृष्यः) सब प्रकार अजेय, (जातवेदाः) बड़ा ज्ञानवान् वा धनवान्,(अमर्त्यः) अमर [यशस्वी], (विराट्) बड़ा ऐश्वर्यवान्, (क्षत्रभृत्) राज्यपोषक होकर तू (इह) यहां पर (दीदिहि) प्रकाशमान हो। (विश्वाः) सब (अमीवाः) पीड़ाओं को (प्रमुञ्चन्)

अन्यद् व्याख्यातम्-अ० ६। १२१। १॥

१—(अनाधृष्यः) ऋदुपधाच्चाकॢपिचृतेः। ३। १। ११०। ञि धृषा प्रागल्भ्ये पराभवे च—क्यप्। धर्षितुमयोग्यः। अजेयः (जातवेदाः) अ० १। ७। २। प्रसिद्धज्ञानः। बहुधनः (अमर्त्यः) अ० ४। ३७। १२। अमरः। यशस्वी (विराट्) राजतिरैश्वर्यकर्मा-निघ० २। २१ क्विप्। विविधैश्वर्यवान् (अग्ने) हे प्रतापिन् राजन् (क्षत्रभृत्) राज्यपोषकः (दीदिहि) अ० ७। ७४। ४।

छुड़ाता हुआ तू (मानुषीभिः) मनुष्यों को हितकारक (शिवाभिः) युक्तियों के साथ (अद्य) अब (नः) हमारे (गयम्) घर की (परि) सब ओर से (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिज्ञ, प्रतापी राजा प्रजाओं को कष्टों से मुक्त करके सदा सन्तुष्ट रख उन्नति करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है-२७ । ७ ॥

इन्द्र॑ क्ष॒त्रम॒भि वा॒ममोजोऽजा॑यथा वृषभ चर्षणी॒नाम्। अपा॑नुदो॒ जन॑ममित्रा॒यन्त॑मु॒रुं दे॒वेभ्यो॑ अकृणोरु लो॒कम् ॥२॥

इन्द्र॑ । क्ष॒त्रम् । अ॒भि । वा॒मम् । ओजः॑ । अजा॑यथाः । वृ॒ष॒भ॒ । च॒र्ष॒णी॒नाम् । अप॑ । अ॒नु॒दः॒ । जन॑म् । अ॒मि॒त्र॒-यन्त॑म् । उ॒रुम् । दे॒वेभ्यः॑ । अ॒कृ॒णोः॒ । ऊं॒ इति॑ । लो॒कम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (चर्षणीनाम् वृषभ) हे मनुष्यों में श्रेष्ठ ! (वामम्) उत्तम (क्षत्रम्) राज्य और (ओजः अभि) पराक्रम के लिये (अजायथाः) तू उत्पन्न हुआ है । तू ने (अमित्रयन्तम्) अमित्र समान आचरण वाले (जनम्) लोगों को (अप अनुदः) हटा दिया है (उ) और (देवेभ्यः) विजय चाहने वालों के लिये (उरुम्) विस्तीर्ण (लोकम्)

दीप्यस्व (इह) अस्माकं मध्ये (विश्वाः) सर्वाः (अमीवाः) अ० ७ । ४२ । १ । पीड़ाः (प्रमुञ्चन्) निवारयन् (मानुषीभिः) अ० ४ । ३२ । २ । मनुर्हिताभिः (शिवाभिः) अ० २ । ६ । ३ । मङ्गलकारिकाभिः क्रियाभिः । युक्तिभिः (अद्य) इदानीम् (परि) (पाहि) (नः) अस्माकम् (गयम्) अ० ६ । ३ । ३ । गृहम् ॥

२—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (क्षत्रम्) क्षतात् त्रायकं राज्यम् (अभि) अभिलक्ष्य (वामम्) प्रशस्यम्—निघ० ३ । ८ (ओजः) पराक्रमम् (अजायथाः) उत्पन्नोऽभवः (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम्—निघ० २ । ३ । (अप अनुदः) अपागमयः (जनम्) लोकम् (अमित्रयन्तम्) उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । अमित्र—क्यच् , शतृ । नच्छन्दस्यपुत्रस्य । पा० ७ । ४ । ३५ । इति ईत्वस्य आत्वस्य च निषेधः । सांहितिको दीर्घः । अमित्रः शत्रुः स इवाचरन्तम् (उरुम्) विस्तीर्णम् (देवेभ्यः) विजिगीषुभ्यः (अकृणोः) अकरोः (उ)

स्थान (अकृणोः) किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा के पराक्रमी होने से सेनापति लोग और प्रजागण भी ओजस्वी होते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । ३ ॥

मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः परावत आ जगम्यात् परस्याः। सृकं संशाय पविमिन्द्र तिग्मं वि शत्रून् ताढि वि मृधो नुदस्व ॥ ३ ॥

मृगः । न । भीमः । कुचरः । गिरि-स्थाः । परा-वतः । आ । जगम्यात् । परस्याः । सृकम् । सम्-शाय । पविम् । इन्द्र । तिग्मम् । वि । शत्रून् । ताढि । वि । मृधः । नुदस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन् ! (भीमः) भयानक (कुचरः) टेढ़े चलने वाले [ऊंचे नीचे, दायें बायें जाने वाले] (गिरिष्ठाः) पहाड़ों पर रहने वाले (मृगः न) [आखेट ढूंढ़ने वाले] सिंह आदि के समान आप (परावतः) समीप देश और (परस्याः) दूर दिशा से (आ जगम्यात्) आते रहें । (तिग्मम्) उत्साह वाले (सृकम्) बाण और (पविम्) वज्र को (संशाय) तीक्ष्ण करके (शत्रून्) शत्रुओं को (वि) विशेष कर (ताढि) ताड़नाकर और (मृधः) हिंसकों को (वि नुदस्व) निकाल दे ॥ ३ ॥

समुच्चये (लोकम्) स्थानम् ॥

३—(सृकम्) सृवृभू० । उ० ३ । ४१ । सृ गतौ—कक् । बाणम् (संशाय) शो तनूकरणे—ल्यप् । तीक्ष्णीकृत्य (पविम्) वज्रम्—निघ० २ । २० । (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (तिग्मम्) अ० ४ । २७ । ७ । तिग्म तेजतेरुत्साहकर्मणः—निघ० १० । ६ । उत्साहवन्तम् (वि) विशेषेण (ताढि) तड आघाते-लोट् । छन्दस्युभयथा । पा० ३ । ४ । ११७ । हेरार्धधातुकत्वाद् णिलोपः । ताडय (वि) विविधम् (मृधः) हिंसकान् (नुदस्व) प्रेरय । अन्यद् गतम्—अ० ७ । २६ । २ ॥

भावार्थ—राजा सिंह के समान पराक्रमी होकर शस्त्र अस्त्रों को तीक्ष्ण करके शत्रुओं को जीत प्रजा को सुखी रक्खे ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८० । २ । और यजु० १८ । ७१ । इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७ । २६ । २ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१ ॥ तार्क्ष्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्यमू षु वाजिनं देवजूतं सहोवानं तरुतारं रथानाम् ।
अरिष्टनेमिं पृतनाजिमाशुं स्वस्तये तार्क्ष्यमिहा हुवेम ॥१॥

त्यम् । ऊं इति । सु । वाजिनम् । देव-जूतम् । सहः-वानम् । तरुतारम् । रथानाम् । अरिष्ट-नेमिम् । पृतना-जिम् । आशुम् । स्वस्तये । तार्क्ष्यम् । इह । आ । हुवेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्यम् उ) उस ही (वाजिनम्) अन्नवाले (देवजूतम्) विद्वानों से प्रेरणा किये गये, (सहोवानम्) महाबली, (रथानाम्) रथों के [जल थल और आकाश में] (तरुतारम्) तिराने [चलाने] वाले, (अरिष्टनेमिम्) अटूट वज्रवाले, (पृतनाजिम्) सेनाओं को जीतने वाले (आशुम्)

१—(त्यम्) तं प्रसिद्धम् (उ) एव (सु) पूजायाम् (वाजिनम्) अन्नवन्तम् (देवजूतम्) जु गतौ—क्त । जूर्गतिः प्रीतिर्वा देवजूतं देवगतं देवप्रीतं वा—निरु० १० । २८ । विद्वद्भिः प्रेरितम् (सहोवानम्) छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । वा० पा० ५ । २ । १०९ । सहस्-वनिप् । सहस्वन्तं बलवन्तम् (तरुतारम्) असितस्कभित० । पा० ७ । २ । ३४ । तरतेस्तृचि उडागमः । तरीतारम् । तारयितारम् (रथानाम्) यानानाम् (अरिष्टनेमिम्) रिष हिंसायाम्—क्त । नियो मिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मि । नेमिर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । अच्छिन्नवज्रम् (पृतनाजिम्) घातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । जि जये—इण, स च डित् । शत्रुसेनानां जेतारम् (आशुम्) अ० २ । १४ । ६ । अशूङ् व्याप्तौ संघाते च । उण । व्यापनशीलम् (स्वस्तये)कल्याणाय (तार्क्ष्यम्) तृक्ष गतौ—घञ्, बाहुल-

व्यापने वाले, (तार्क्ष्यम्) महावेगवान् राजा को (इह) यहां पर (स्वस्तये) अपने कल्याण के लिये (सु) आदर से (आ) भले प्रकार (हुवेम) हम बुलावें॥१॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण उत्तम गुणी राजा को अपनी रक्षा के लिये आवाहन करते रहें॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १७८ । १ । साम० पू० ४ । ५ । १, और निरुक्त १० । २८ । में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजप्रजाधर्म्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

त्रातारमिन्द्रमवितारमिन्द्रं हवेहवे सुहवं शूरमिन्द्रम् ।
हुवे नु शक्रं पुरुहूतमिन्द्रं स्वस्ति न इन्द्रो मघवान् कृणोतु॥१॥

त्रातारम् । इन्द्रम् । अवितारम् । इन्द्रम् । हवे-हवे । सु-हवम् । शूरम् । इन्द्रम् ॥ हुवे । नु । शक्रम् । पुरु-हूतम् । इन्द्रम् । स्वस्ति । नः । इन्द्रः । मघ-वान् । कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रातारम्) पालन करने वाले (इन्द्रम्) बड़े ऐश्वर्य वाले राजा को, (अवितारम्) तृप्त करने वाले (इन्द्रम्) सभाध्यक्ष [राजा] को, (हवेहवे) संग्राम संग्राम में (सुहवम्) यथावत् संग्राम वाले, (शूरम्) शूर (इन्द्रम्) सेनापति [राजा] को, (शक्रम्) शक्तिमान्, (पुरुहूतम्) बहुत [लोगों] से पुकारे गये (इन्द्रम्) प्रतापी राजा को (नु) शीघ्र (हुवे) मैं बुलाता हूं;

कांद् वृद्धिः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । तार्क्ष—यत् । तार्क्ष्ये वेगे साधुम् । वेगवन्तं राजानम् । तार्क्ष्योऽश्वनाम-निघ० १ । १४ । तार्क्ष्यस्त्वष्ट्रा व्याख्यातः, तीर्णेऽन्तरिक्षे क्षियति तूर्णमर्थं रक्षत्यश्नोतेर्वा-निरु० १० । २७ । (इह) अत्र (आ हुवेम) अ० ७ । ४० । २ । आह्वयेम ॥

१—(त्रातारम्) त्रैङ् पालने—तृच् । पालकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (अवितारम्) तर्पयितारम् (इन्द्रम्) सभाध्यक्षम् (हवेहवे) सङ्ग्रामे सङ्ग्रामे (सुहवम्) यथावत् सङ्ग्रामिणम् (शूरम्) पराक्रमिणम्,

(मघवान्) बड़ा धन वाला (इन्द्रः) राजा (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) मङ्गल (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य धर्मात्मा, न्यायकारी, जितेन्द्रिय, शूरवीर राजा का सदा आदर करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ४७। ११; यजु० २०। ५०; और साम० पू० ४। ५। २॥

सूक्तम् ८७ ॥

१ रुद्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरमहिमोपदेशः—ईश्वर की महिमा का उपदेश ॥

यो अ॒ग्नौ रु॒द्रो यो अ॒प्स्व१॒॑न्तर्य ओष॑धीर्वी॒रुध॑ आ॒वि॒वेश॑ । य इ॒मा विश्वा॒ भुव॑नानि चाक्लृ॒पे तस्मै॑ रु॒द्राय॒ नमो॑ अस्त्व॒ग्नये॑ ॥ १ ॥

यः । अ॒ग्नौ । रु॒द्रः । यः । अ॒प्-सु । अ॒न्तः । यः । ओष॑धीः । वी॒रुधः॑ । आ॒-वि॒वेश॑ ॥ यः । इ॒मा । विश्वा॑ । भुव॑नानि । च॒क्लृ॒पे । तस्मै॑ । रु॒द्राय॑ । नमः॑ । अ॒स्तु॒ । अ॒ग्नये॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (रुद्रः) रुद्र, ज्ञानवान् परमेश्वर (अग्नौ) अग्नि में, (यः) जो (अप्सु अन्तः) जल के भीतर है, (यः) जिसने (ओषधीः) उष्णता रखने वाली अन्न आदि ओषधियों में और (वीरुधः) विविध प्रकार

(इन्द्रम्) सेनापतिम् (हुवे) आह्वयामि (नु) शीघ्रम् (शक्रम्) अ० २। ५। ४। शक्तिमन्तम् (पुरुहूतम्) बहुभिःपुरुषैराहूतम् (इन्द्रम्) प्रतापिनम् (स्वस्ति) सुखम् (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यः (मघवान्) अ० ६। ५८। १ धनवान् (कृणोतु) करोतु ॥

१—(यः) (अग्नौ) सूर्यविद्युदादिरूपे (रुद्रः) अ० २। २७। ६। रु गतौ—क्विप्, तुक्, रो मत्वर्थे। ज्ञानवान् परमेश्वरः (यः) (अप्सु) जलेषु (अन्तर्) मध्ये (यः) (ओषधीः) अ० १। २३। १। उष्णत्वधारिका अन्नादिरूपाः (वीरुधः) अ० १। ३२। १। विरोहणशीला लतादिरूपाः (आविवेश)

उगने वाली बेलों वा बूटियों में (आविवेश) प्रवेश किया है। (यः) जिसने (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों [उपस्थित पदार्थों] को (चक्लृपे) रचा है, (तस्मै) उस (अग्नये) सर्वव्यापक (रुद्राय) रुद्र, दुःखनाशक परमेश्वर को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो अद्भुत स्वरूप, सर्वप्रकाशक, सर्वान्तर्यामी परमात्मा है, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ बृहती छन्दः ॥

कुसंस्कारनाशोपदेशः—कुसंस्कार के नाश का उपदेश ॥

अपे॒ह्य॑रिर॒स्यरि॒र्वा अ॑सि । वि॒षे वि॒षम॑पृक्था वि॒षमिद्वा अ॑पृक्थाः । अहि॑मे॒वाभ्यपे॑हि॒ तं ज॑हि ॥ १ ॥

अप॑ । इ॒हि॒ । अरिः॑ । अ॒सि॒ । अरिः॑ । वै । अ॒सि॒ ॥ वि॒षे । वि॒षम् । अ॒पृ॒क्थाः॒ । वि॒षम् । इत् । वै । अ॒पृ॒क्थाः॒ ॥ अहि॑म् । ए॒व । अ॒भि॒-अपे॑हि । तम् । ज॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विष !] (अप इहि) चला जा, (अरिः असिः) तू शत्रु है, (अरिः) तू शत्रु (वै) ही (असि) है। (विषे) विष में (विषम्) विष को (अपृक्थाः) तू ने मिला दिया है, (विषम्) विष को (इत्) ही (वै) हां (अपृक्थाः) तू ने मिला दिया है, (अहिम्) सांप के पास (एव) ही

प्रविष्टवान् (यः) (इमा) दृश्यमानानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) भूतजातानि । लोकान् (चक्लृपे) कृप मिश्रीकरणे चिन्तने च,—लिट् । कृपो रोलः। पा० ८। २। १८। इति लत्वम्, अभ्यासस्य सांहतिको दीर्घः। रचितवान् (तस्मै) (रुद्राय) अ० २। २७। ६। रु वधे-क्विप्, तुक्+रु वधे-ड। दुःखनाशकाय (नमः) नतिः (अस्तु) (अग्नये) सर्वव्यापकाय ॥

१—(अपेहि) अपगच्छ (अरिः) हिंसकः शत्रुः (असि) (वै) खलु (असि) (विषे) (विषम्) (अपृक्थाः) पृची सम्पर्के लुङ्। संयोजितवानसि (इत्) एव (अहिम्) अ० २। ५। ५। आहन्तारं सर्पम् (एव) (अभ्यपेहि)

(अभ्यपेहि) तू चला जा, (तम्) उसको (जहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे विष में विष मिलने से अधिक प्रचण्ड हो जाता है, वैसे ही मनुष्य की इन्द्रियां एक तो आप ही पाप की ओर चलायमान होती हैं, फिर कुसंस्कार वा कुसंगति पाकर अधिक प्रचण्ड विषैली हो जाती हैं। जैसे वैद्य विष को विष से मारता है, वैसे ही विद्वान् जितेन्द्रियता से इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥ १ ॥

सूक्तम् ८९ ॥

१-४ ॥ १, २ अग्निः; ३ आपः; ४ समिद् देवता ॥

१-३ अनुष्टुप्; ४ गायत्री ॥

विद्वत्सङ्गोपदेशः—विद्वानों की संगति का उपदेश॥

अपो दि॒व्या अ॑चायिषं॒ रसे॑न॒ सम॑पृक्ष्महि । पय॑स्वानग्न॒ आग॑मं॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा ॥ १ ॥

अपः॑ । दि॒व्याः । अ॒चा॒यि॒ष॒म् । रसे॑न । सम् । अ॒पृ॒क्ष्म॒हि॒ ॥ पय॑स्वान् । अ॒ग्ने॒ । आ । अ॒ग॒म॒म् । तम् । मा॒ । सम् । सृ॒ज॒ । वर्च॑सा ॥१

भाषार्थ—(दिव्याः) दिव्य गुण स्वभाव वाले (अपः) जलों [के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों] को (अचायिषम्) मैं ने पूजा है (रसेन) पराक्रम से (सम् अपृक्ष्महि) हम संयुक्त हुये हैं। (अग्ने) हे विद्वान्! (पयस्वान्) गति वाला मैं (आ अगमम्) आया हूं, (तम्) उस (मा) मुझको (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर ॥ १॥

अभिलक्ष्य समीपं गच्छ (तम्) अहिम् (जहि) मारय। अन्यद् गतम्॥

१—(अपः) जलानि। जलानीव शोधकान् विदुषः (दिव्याः) दिव्यगुणस्वभावाः (अचायिषम्) चायृ पूजानिशामनयोः—लुङ्। पूजितवानस्मि (रसेन) पराक्रमेण (सम् अपृक्ष्महि) पृची सम्पर्के—लुङ्। संगता अभूम (पयस्वान्) पय गतौ—असुन्। गतिमान्। उद्योगी (अग्ने) हे विद्वन् (आ अगमम्) गमेर्लुङ्। आगतोऽस्मि (तम्) तादृशम् (मा) माम् (संसृज) संयोजय (वर्चसा) ब्रह्मवर्चसेन ॥

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२० । २२ ॥

सं माऽग्ने॒ वर्च॑सा सृज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा । वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ २ ॥

सम् । मा । अ॒ग्ने॒ । वर्च॑सा । सृ॒ज॒ । सम् । प्र॒-जया॑ । सम् । आयु॑षा ॥ वि॒द्युः । मे॒ । अ॒स्य । दे॒वाः । इन्द्रः॑ । वि॒द्यात् । स॒ह । ऋषि॑-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) मुझको (वर्चसा) [ब्रह्म विद्या के] तेज से (सम्) अच्छे प्रकार (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार और (आयुषा) जीवन से (सम् सृज) अच्छी प्रकार संयुक्त कर । (देवाः) विद्वान् लोग (अस्य) इस (मे) मुझको (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋषिभिः सह) ऋषियों के साथ [मुझे] (विद्यात्) जाने ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरु जनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ २ ॥

इ॒दमा॑पः॒ प्र व॑हताव॒द्यं च॒ मलं॑ च॒ यत् । यच्चा॑भिदु॒द्रो॒हानृ॑तं॒ यच्च॑ शे॒पे अ॑भी॒रु॑णम् ॥ ३ ॥

इ॒दम् । आ॒पः॒ । प्र । व॒ह॒त॒ । अ॒व॒द्यम् । च॒ । मल॑म् । च॒ । यत् ॥ यत् । च॒ । अ॒भि-दु॒द्रोह॑ । अनृ॑तम् । यत् । च॒ । शे॒पे । अ॒भी॒रु॑णम् ॥ ३ ॥

२—(सम्) सम्यक् (मा) माम् (अग्ने) विद्वन् (वर्चसा) वेदाध्ययनादितेजसा (सृज) संयोजय (सम्) (प्रजया) (सम्) (आयुषा) जीवनेन (विद्युः) जानीयुः (मे) द्वितीयार्थे षष्ठी । माम् (अस्य) एनम् (देवाः) विद्वांसः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् । आचार्यः (विद्यात्) जानीयात् (ऋषिभिः) अ० २ । ६ । १ । आप्तैः । मुनिभिः ॥

भाषार्थ—(आपः) हे जल [के समान शुद्धि करने वाले विद्वानो !] (इदम्) इस [सब] को (प्रवहत) बहा दो, (यत्) जो कुछ [मुझ में] (अवद्यम्) अकथनीय [निन्दनीय] (च च) और (मलम्) मलिन कर्म है । (च) और (यत्) जो कुछ (अनृतम्) झूंठ मूंठ (अभिदुद्रोह) बुरा चीता है, (च) और (यत्) जो कुछ (अभीरुणम्) निर्भय [निरपराधी] पुरुष को (शेपे) मैंने दुर्वचन कहा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्धाचारी विद्वानों के सत्सङ्ग से अपने आचरण को सुधारें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—६ । १७ ॥

एधो॑ऽस्येधिषी॒य स॒मिद॑सि॒ समे॑धिषीय ।

तेजो॑ऽसि॒ तेजो॒ मयि॑ धेहि ॥ ४ ॥

एधः॑ । अ॒सि॒ । ए॒धि॒षी॒य । स॒म्ऽइत् । अ॒सि॒ । सम् । ए॒धि॒षी॒य॒ । तेजः॑ । अ॒सि॒ । तेजः॑ । मयि॑ । धे॒हि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वन् !] तू (एधः) बढ़ा हुआ (असि) है, (एधिषीय) मैं बढ़ूं, (समित्) तू प्रकाशमान (असि) है, मैं (सम्) ठीक ठीक (एधिषीय) प्रकाशमान होऊं । (तेजः असि) तू तेज है, (तेजः) तेज को

३—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (आपः) जलानीव शुद्धिकरा विद्वांसः (प्रवहत) अपनयत (अवद्यम्) अकथनीयं निन्द्यम् (च च) समुच्चये (मलम्) अ० २ । ७ । १ । मलिनं कर्म (यत्) यत् किञ्चित् (अभिदुद्रोह) द्रुह जिघांसायाम्—लिट् । अनिष्टं चिन्तितवानस्मि (अनृतम्) यथा तथा । असत्यम् (शेपे) शप आक्रोशे—लिट् । दुर्वचनं कथितवानस्मि (अभीरुणम्) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । ञि भी भये—उनन्, स च कित्, रुडागमः । निर्भयम् । अनपराधिनम् ॥

४—(एधः) एध वृद्धौ—पचाद्यच् । प्रवृद्धः (असि) (एधिषीय) एध वृद्धौ—आशीर्लिङ् । अहं वर्धिषीय (समित्) ञि इन्धी दीप्तौ—क्विपि, नकारलोपः । प्रकाशमानः (असि) (सम्) सम्यक् (एधिषीय) ञि इन्धी दीप्तौ आशीर्लिङि छान्दसो नकारलोपो गुणश्च । इन्धिषीय । अहं समिद्धः प्रदीप्तः भूया-

(मयि) मुझ में (धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्यावृद्ध, तपोवृद्ध विद्वानों से सुशिक्षा पाकर उन्नति करते हुये तेजस्वी होवें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२०। २३ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २ अनुष्टुप्; ३ जगती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपि वृश्च पुराणवद् व्रततेरिव गुष्पितम् ।

ओजो दासस्य दम्भय ॥ १ ॥

अपि । वृश्च । पुराण-वत् । व्रततेः-इव । गुष्पितम् ॥

ओजः । दासस्य । दम्भय ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (पुराणवत्) पुराण [पुराने नियम] के अनुसार (दासस्य) दुःखदायी डाकू के (ओजः) बल को (व्रततेः) बेल के (गुष्पितम् इव) गांठ के समान (अपि) निश्चय करके (वृश्च) काट दे और (दम्भय) हटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा चोर आदि दुष्टों का नाश करके प्रजा को सुखी रक्खे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—८। ४०। ६ ॥

वयं तदस्य संभृतं वस्विन्द्रेण वि भजामहै । म्लाप-

सम् (तेजः) प्रकाशस्वरूपः (असि) (तेजः) प्रकाशम् (मयि) ब्रह्मचारिणि (धेहि) धारय ॥

१—(अपि) अवधारणे (वृश्च) छिन्धि (पुराणवत) पुरा नीयते पुराणम् । पुरा + णीञ् प्रापणे-ड । णत्वं च, वतिः सादृश्ये । पुरातननियमवत् (व्रततेः) अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । वृतु वर्तने-अति । व्रततिर्वरणाच्च सयनाच्च ततनाच्च-निरु० ६ । २८ लतायाः (इव) यथा (गुष्पितम्) गुपू रक्षणे—क्त, षकारश्छान्दसः । गुपितम् । लताग्रन्थिम् (ओजः) बलम् (दासस्य) हिंसकस्य (दम्भय) दम्भि प्रेरणे । प्रेरय । निःसारय ॥

यामि भ्रुजः शिभ्रं वरुणस्य व्रतेनं ते ॥ २ ॥

वयम् । तत् । अस्य । सम्-भृतम् । वसु । इन्द्रेण । वि । भजामहे ॥ म्लापयामि । भ्रुजः । शिभ्रम् । वरुणस्य । व्रतेन । ते ॥२॥

भाषार्थ—(वयम्) हम लोग (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्यवाले राजा के साथ (अस्य) इस [शत्रु] के (संभृतम्) एकत्र किये हुये (तत्) उस (वसु) धन को (वि भजामहे) बांट लेवें । [हे शत्रु !] (वरुणस्य) शत्रु निवारक राजा की (व्रतेन) व्यवस्था से (ते) तेरी (भ्रजः) तमक और (शिभ्रम्) ढिठाई को (म्लापयामि) मैं मेटता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा और राजपुरुष यथान्याय शत्रु को धनदण्ड आदि देकर निर्बल करदें ॥ २ ॥

यथा शेपो अपायातै स्त्रीषु चासदनावयाः । अवस्थस्य क्नदीवतः शाङ्कुरस्य नितोदिनः । यदाततमव तत् तनु यदुत्ततं नि तत् तनु ॥ ३ ॥

यथा । शेपः । अप-अयातै । स्त्रीषु । च । असत् । अनावयाः ॥ अवस्थस्य । क्नदि-वतः । शाङ्कुरस्य । नि-तोदिनः ॥ यत् । आ-ततम् । अव । तत् । तनु । यत् । उत्-ततम् । नि । तत् । तनु ॥३॥

भाषार्थ—(अवस्थस्य) हिंसा में रहने वाले, (क्नदिवतः) गाली बकने वाले, (शाङ्कुरस्य) शङ्का उत्पन्न करनेवाले, (नितोदिनः) नित्य सताने

२—(वयम्) धार्मिकाः (तत्) (अस्य) शत्रोः (संभृतम्) संगृहीतम् (वसु) धनम् (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा सह (वि भजामहे) विभक्तं करवामहै (म्लापयामि) म्लै हर्षक्षये, एयन्तात् पुगागमः । नाशयामि (भ्रजः) टु भ्राजृ दीप्तौ—असुन्, ह्रस्वः । दीपनम् (शिभ्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शीभृ कत्थने—रक्, ह्रस्वः । आत्मश्लाघाम् (वरुणस्य) शत्रुनिवारकस्य राज्ञः (व्रतेन) धर्मणा । व्यवस्थया (ते) तव ॥

३—(यथा) येन प्रकारेण (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । पराक्रमः (अपायातै) अय गतौ—लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । आडागमः । वैतोऽन्यत्र । पा०

वाले पुरुष का (शेवः) पराक्रम (यथा) जिस प्रकार (अपायातै) मिट जावे (च) और (स्त्रीषु) स्तुति योग्य स्त्रियों [वा उनके समान सज्जन प्रजाओं]में (अनावयाः) न पहुंचने वाला (असत्) होवे,[उसी प्रकार हे राजन् !](यत्) जो कुछ [उसका बल] (आततम्) फैला हुआ है, (तत्) उसे (अव तनु) संकुचित करदे और (यत्) जो कुछ [सामर्थ्य] (उत्ततम्) ऊंचा फैला है, (तत्) उसे (नि तनु) नीचा कर दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा सज्जनों के सतानेवाले अत्याचारियों को सदा वश में रक्खे ॥ ३ ॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः ॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य

३ । ४ । ८६ । एकारस्य ऐकारः । अपगच्छेत् (स्त्रीषु) अ० १ । ८ । १ । स्तूयते सा स्त्री, ष्टुञ् स्तुतौ—ड्रट्, ङीप् । स्तुत्यासु नारीषु यद्वा ताभिस्तुल्यासु सत्प्रजासु (अनावयाः) अन्+आङ्+वी गतौ—असुन् । अनागमनीयः (अवस्थस्य) अव हिंसायाम्—अव्+तिष्ठतेः—क । हिंसने स्थितिशीलस्य (क्रदिवतः) खनिकष्यज्यसि० । उ० ४ । १४० । क्रद आह्वानरोदनयोः—इ प्रत्ययः, मतुप्, रस्य नकारः, सांहितिको दीर्घः । संज्ञायाम् । पा० ८ । २ । ११ । मस्य वः । दुर्वचनशीलस्य (शाङ्करस्य) मन्दिवाशिमथि० । उ० १ । ३८ । शकि संशये, अन्तर्गतण्यर्थः—उरच्, स्वार्थेऽण् । शङ्कोत्पादकस्य (नितोदिनः) तुद व्यथने-णिनि । नित्यपीडकस्य (यत्) सामर्थ्यम् (आततम्) आयतम् (तत्) (अवतनु) सङ्कोचय (यत्) (उत्ततम्) ऊर्ध्वविस्तृतम् (तत्) सामर्थ्यम् (नितनु) नितनं नीचीनं कुरु ॥

पतंयः स्याम ॥ १ ॥

इन्द्रः । सु-त्रामा । स्व-वान् । अवः-भिः । सु-मृडीकः । भवतु । विश्व-वेदाः ॥ बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सु-वीर्यस्य । पतयः । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बहुत से ज्ञाति पुरुषों वाला, (विश्ववेदाः) बहुत धन वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (अवोभिः) अनेक रक्षाओं से (सुमृडीकः) अत्यन्त सुख देनेवाला (भवतु) होवे। वह (द्वेषः) वैरियों को (बाधताम्) हटावे, (नः) हमारे लिये (अभयम्) निर्भयता (कृणोतु) करे और हम (सुवीर्यस्य) बड़े पराक्रम के (पतयः) पालन करनेवाले (स्याम) होवें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों को नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६। ४७। १२। तथा १०। १३१। ६। और यजु०—२०। ५१ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु । तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ १ ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (सुत्रामा) त्रैङ् पालने-मनिन्। अतिरक्षकः (स्ववान्) स्वा ज्ञातयः। प्रशस्तज्ञातियुक्तः (अवोभिः) रक्षणैः (सुमृडीकः) बहुसुखयिता (विश्ववेदाः) वेदांसि धनानि ज्ञानानि वा। बहुधनः। बहुज्ञानः। (बाधताम्) निवारयतु (द्वेषः) द्विष अप्रीतौ—विच्। द्वेष्टॄन् (अभयम्) निर्भयत्वम् (नः) अस्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु (सुवीर्यस्य) अतिपराक्रमस्य (पतयः) पालकाः (स्याम) भवेम ॥

सः । सु-त्रामा । स्व-वान् । इन्द्रः। अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः। सनुतः। युयोतु ॥ तस्य । वयम् । सु-मतौ। यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बड़ा धनी, (इन्द्रः) महा प्रतापी राजा (अस्मत्) हम से (आरात् चित्) बहुत ही दूर (द्वेषः) शत्रुओं को (सनुतः) निर्णय पूर्वक (युयोतु) हटावे । (वयम्) हम लोग (तस्य) उस (यज्ञियस्य)पूजा योग्य राजा की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करनेवाली (सौमनसे) प्रसन्नता में (स्याम)रहें ॥ १

भावार्थ—सब मनुष्य प्रजारक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रहकर सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-६ । ४७ । १३ । तथा १० । १३१ । ७ । और यजु० २० । ५२ ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

शूरलक्षणोपदेशः—शूरों के लक्षणों का उपदेश ॥

इन्द्रे॑ण मन्यु॒ना॑ व॒यम॒भि ष्या॑म पृतन्य॒तः ।

घ्नन्तो॑ वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ॥ १ ॥

इन्द्रे॑ण । मन्यु॑ना । व॒यम् । अ॒भि । स्या॒म॒ । पृ॒त॒न्य॒तः ॥ घ्नन्तः॑ । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति ॥ १ ॥

१—(सः) प्रसिद्धः (सुत्रामा) सुरक्षकः (स्ववान्) गतमन्त्रे । महाधनः (इन्द्रः) प्रतापी राजा (अस्मत्) अस्मत्तः (आरात्) दूरे (चित्) एव (द्वेषः) गतमन्त्रे । शत्रून् (सनुतः) स्वरादि निपातमव्ययम् । पा० १ । १ । ३७ । अव्यय-संज्ञा । सनुतः-निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३ । २५ । निर्णयपूर्वकम् । निश्चयी-कृतम् (युयोतु) यौतेः शपः श्लुः । निवारयतु (तस्य) (वयम्) (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (यज्ञियस्य) पूजार्हस्य (अपि) (भद्रे) कल्याणकरे (सौमनसे) सुमनसो भावे । प्रसन्नतायाम् (स्याम) ॥

भापार्थ—(इन्द्रेण) प्रतापी सेनापति के साथ और (मन्युना) क्रोध के साथ (वृत्राणि) [घेरनेवाले] सेनादलों को (अप्रति) बेरोक (घ्नन्तः) मारते हुये (वयम्) हम लोग (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वालों को (अभि स्याम्) हरा देवें ॥ १ ॥

भावार्थ-शूर सेनानी के साथ समस्त सेना शूर होकर शत्रुओं को मारे॥१॥

सूक्तम् ९४ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राज्ञःस्तुत्युपदेशः—राजा की स्तुतिका उपदेश ॥

ध्रुवं ध्रुवेण हविषाव सोमं नयामसि ।
यथा न इन्द्रः केवलीर्विशः संमनसस्करत् ॥ १ ॥

ध्रुवम् । ध्रुवेण । हविषा । अव । सोमम् । नयामसि ॥ यथा । नः । इन्द्रः । केवलीः । विशः । सम्-मनसः । करत् ॥ १ ॥

भापार्थ—(ध्रुवम्) दृढ़ स्वभाव (सोमम्) ऐश्वर्यवान् राजा को (ध्रुवेण) दृढ़ (हविषा) आत्मदान वा भक्ति के साथ (अव नयामसि) हम स्वीकार करते हैं। (यथा) जिस से [वह] (इन्द्रः) प्रतापी राजा (नः) हमारे लिये (केवलीः) सेवास्वभाव वाली (विशः) प्रजाओं को (संमनसः) एक मन (करत्) कर देवे ॥ १ ॥

१—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सेनापतिना (मन्युना) क्रोधेन (वयम्) सैनिकाः (अभि स्याम) अभिभवेम (पृतन्यतः) अ० १ । २१ । २ । पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् (घ्नन्तः) मारयन्तः (वृत्राणि)। आवारकाणि सेना-दलानि (अप्रति) अप्रतिपक्षम् ॥

१—(ध्रुवम्) ध्रु स्थैर्ये—अच्। स्थिरम् (ध्रुवेण) दृढेन (हविषा) आत्मदानेन (सोमम्) षु ऐश्वर्ये—मन्। ऐश्वर्यवन्तम् (अव नयामसि) स्वीकुर्मः (यथा) येन प्रकारेण (नः)अस्मभ्यम् (इन्द्रः) प्रतापी (केवलीः) अ०२। १८। २ केवल-ङीप्। सेवास्वभावाः। सेवनीयाः (विशः) प्रजाः (संमनसः) समानमनस्काः (करत्) कुर्यात्

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वान् राजा का अभिषेक करके प्रार्थना करें कि सब प्रजा को परस्पर मिलाकर प्रसन्न रक्खे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७३ । ६ । और यजु० ७ । २५ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१-३ ॥ गृध्रौ देवते ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधनिवारणोपदेशः—काम और क्रोध के निवारण का उपदेश ॥

उदस्य श्यावौ विथुरौ गृध्रौ द्यामिव पेततुः । उच्छोचनप्रशोचनावस्योच्छोचनौ हृदः ॥ १ ॥

उत् । अस्य । श्यावौ । विथुरौ । गृध्रौ । द्याम्-इव । पेततुः ॥ उच्छोचन-प्रशोचनौ । अस्य । उत्-शोचनौ । हृदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [जीव]के (श्यावौ) दोनों गति शील (विथुरौ) व्यथा देने वाले, (गृध्रौ) बड़े लोभी [काम क्रोध] (द्याम् इव) आकाश को जैसे (उत् पेततुः) उड़ गये हैं । (उच्छोचनप्रशोचनौ) अत्यन्त दुखाने वाले और सब ओर से दुखाने वाले दोनों(अस्य) इसके (हृदः)हृदय के(उच्छोचनौ)अत्यन्त दुखानेवाले हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोधके वशीभूत होकर बड़ी बड़ी व्यर्थ कल्पनायें करके सदा दुखी रहते हैं ॥ १ ॥

१—(उत्) ऊर्ध्वम् (अस्य) जीवस्य (श्यावौ) अ० ५ । ५ । ८ । गतिशीलौ । कृष्णपीतवर्णौ वा (विथुरौ) व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च । उ० १ । ३६ । व्यथ ताडने-उरच्, स च कित् । व्यथनशीलौ । चोरौ (गृध्रौ) सुसूधाञ् गृधिभ्यः क्रन् । उ०।२ । २४ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्-क्रन् । अतिलोभिनौ कामक्रोधौ (द्याम्) आकाशम् (इव)यथा (पेततुः) पत्लृ पतने-लिट् । गतवन्तौ (उच्छोचनप्रशोचनौ) शोचयतेर्नन्द्यादित्वाल् ल्युः । उच्छोचयति अत्यन्तं दुःखयतीति उच्छोचनः, प्रकर्षेण शोचयतीति प्रशोचनः, एवंविधौ कामक्रोधौ (अस्य) (प्राणिनः) (उच्छोचनौ) अत्यन्तं शोचयितारौ (हृदः) हृदयस्य ॥

अहमेनावुदतिष्ठिपं गावौ श्रान्तसदाविव ।
कुर्कुराविव कूजन्तावुदवन्तौ वृकाविव ॥ २ ॥

अहम् । एनौ । उत् । अतिष्ठिपम् । गावौ । श्रान्तसदौ-इव ॥
कुर्कुरौ-इव । कूजन्तौ । उत्-अवन्तौ । वृकौ-इव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (एनौ) इन दोनों को (उत् अतिष्ठिपम्) उठा दिया है, (इव) जैसे (श्रान्तसदौ) थक कर बैठे हुये (गावौ) दो बैलों को, (इव) जैसे (कूजन्तौ) घुरघुराते हुये (कुर्कुरौ) [कुर कुर करने वाले] कुत्तों को, और (इव) जैसे (उदवन्तौ) दो घुस आने वाले (वृकौ) भेड़ियों को ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य काम क्रोध रूप शत्रुओं को विचार पूर्वक तुरन्त हटावें ॥ २ ॥

आतोदिनौ नितोदिनावथो संतोदिनावुत ।
अपि नह्याम्यस्य मेढ्रं य इतः स्त्री पुमान् जभार ॥३॥

आ-तोदिनौ । नि-तोदिनौ । अथो इति । सम्-तोदिनौ । उत ॥ अपि । नह्यामि । अस्य । मेढ्रम् । यः । इतः । स्त्री । पुमान् । जभार ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अथो) और भी (आतोदिनौ) दोनों सब ओर से सताने वालों, (नितोदिनौ) नित्य सताने वालों, (उत) और (संतोदिनौ) मिलकर

२—(अहम्) विद्वान् (एनौ) पूर्वोक्तौ गृध्रौ कामक्रोधौ (उदतिष्ठिपम्) तिष्ठतेर्ण्यन्तात् लुङि चङि रूपम् । उत्थापितवानस्मि । अपसारितवानस्मि (गावौ) वृषभौ (श्रान्तसदौ) श्रान्तौ श्रमवन्तौ सीदन्तौ निषीदन्तौ (कुर्कुरौ) कुर शब्दे—क्विप् + कुर शब्दे—क । कुरमिति शब्दं कुर्वन्तौ श्वानौ (इव) (कूजन्तौ) ध्वनिं कुर्वन्तौ (उदवन्तौ) अव प्रवेशे—शतृ । उद्गत्य प्रविशन्तौ (वृकौ) अ० ४ । ३ । १ । अरण्यश्वानौ (इव) ॥

३—(आतोदिनौ) तुद व्यथने-णिनि । सर्वतो व्यथनशीलौ (नितोदिनौ)

सताने वालों को (इतः) यहां पर [हमारे बीच] (यः) जिस किसी (स्त्री) स्त्री [वा] (पुमान्) पुरुष ने (जभार) स्वीकार किया है, (अस्य) उसके (मेढ्रम्) सेचनसामर्थ्य [बुद्धि शक्ति] को (अपि) सर्वथा (नह्यामि) मैं बांधता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष काम क्रोध में फंस जाते हैं, वे अनेक पाप बन्धनों में पड़कर शक्तिहीन और बुद्धिहीन होकर कष्ट भोगते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९६ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कामक्रोधशान्त्युपदेशः—काम और क्रोध की शान्ति का उपदेश ॥

असदन् गावः सदनेऽपप्तद् वसतिं वयः । आस्थाने पर्वता अस्थुः स्थाम्नि वृक्कावतिष्ठिपम् ॥ १ ॥

असदन् । गावः । सदने । अपप्तत् । वसतिम् । वयः ॥ आ-स्थाने । पर्वताः । अस्थुः । स्थाम्नि । वृक्कौ । अतिष्ठिपम् ॥१॥

भाषार्थ—(गावः) गौयें (सदने) बैठक में (असदन्) बैठ गयी हैं, (वयः) पक्षी ने (वसतिम्) घोंसले में (अपप्तत्) बसेरा लिया है । (पर्वताः) पहाड़ (आस्थाने) विश्राम स्थान पर (अस्थुः) ठहर गये हैं, (वृक्कौ) दोनों रोक डालने वाले वा रोकने योग्य [काम क्रोध] को (स्थाम्नि) स्थान पर

नितरां व्यथयन्तौ (अथो) अनन्तरम् (सन्तोदिनौ) सम्भूय व्यथाकारिणौ (उत) अपि (अपि) सर्वथा (नह्यामि) बध्नामि (अस्य) (प्राणिनः) (मेढ्रम) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । मिह सेचने—ष्ट्रन् । सेचनसामर्थ्यम् । बुद्धिशक्तिम् (यः) कश्चित् (इतः) अत्र । अस्मासु (स्त्री) (पुमान्) पुरुषः (जभार) हृञ् स्वीकारे । जहार । स्वीकृतवान् ॥

१—(असदन्) षद्लृ—लुङ् । निषण्णा अभूवन् (गावः) धेनवः (सदने) षद्लृ-ल्युट् । स्थाने (अपप्तत्) अ० ५ । ३० । ९ । अगमत् (वसतिम्) वहिवस्यर्तिभ्यश्चित् । उ० ४ । ६० । वस निवासे—अति । नीडम् (वयः) वी गतौ असुन् । पक्षी (वृक्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । इति वृजी वर्जने-कक् ।

(अतिष्ठिपम्) मैंने ठहरा दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (गृध्रौ) काम क्रोध का अर्थ गत सूक्त से आता है। जैसे गौयें आदि अपने २ स्थान पर विश्राम करते हैं, ऐसे ही मनुष्य काम क्रोध को विद्या आदि से शान्त करके प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है-अ० ६ । ७७ । १ ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१-८ ॥ १,२ इन्द्रः; ४, ७ विश्वे देवाः; ५, ६, ८ यज्ञो देवता ॥ १-४ त्रिष्टुप्; ५ आर्ची भुरिग् गायत्री; ६ प्राजापत्या बृहती; ७ साम्नी भुरिग् जगती; ८ उपरिष्टाद् बृहती छन्दः ॥

मनुष्य धर्मोपदेशः—मनुष्य धर्म का उपदेश ॥

यद॒द्य त्वा॑ प्रय॒ति य॒ज्ञे अ॒स्मिन् होत॑श्चिकित्व॒न्नवृ॑णी-म॒हीह । ध्रु॒वम॑यो ध्रु॒वमु॒ता श॑विष्ठ प्रवि॒द्वान् य॒ज्ञमुप॑ याहि॒ सोम॑म् ॥ १ ॥

यत् । अ॒द्य । त्वा॒ । प्र॒-य॒ति । य॒ज्ञे । अ॒स्मिन् । होत॒रिति॑ । चि॒कि॒त्व॒न् । अवृ॑णीमहि । इ॒ह ॥ ध्रु॒वम् । अ॒यः॒ । ध्रु॒वम् । उ॒त । श॒वि॒ष्ठ॒ । प्र॒-वि॒द्वान् । य॒ज्ञम् । उप॑ । या॒हि॒ । सोम॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस लिये कि (अद्य) आज (त्वा) तुझको (अस्मिन्) इस (प्रयति) प्रयत्नसाध्य (यज्ञे) संगतियोग्य व्यवहार में, (चिकित्वन्) हे ज्ञानवान् ! (होतः) हे दानी पुरुष ! (इह) यहां पर (अवृणीमहि) हमने चुना है [वर्णा किया है] । (शविष्ठ) हे महाबली ! तू (ध्रुवम्) दृढ़ता

वर्जकौ वर्जनीयौ वा कामक्रोधौ गतमन्त्रात् । अन्यद् गतम्-अ०६ ।७७। १॥

१—(यत्) यतः (अद्य) वर्तमाने दिने (त्वा) त्वाम् (प्रयति) यती प्रयत्ने—क्विप्, यद्वा इण् गतौ-शतृ । प्रयत्नसाध्ये । प्रवर्तमाने (यज्ञे) संगन्तव्ये व्यवहारे (अस्मिन्)(होतः) दातः (चिकित्वन्) अ० ५ । १२। १ । हे ज्ञानवन्

से (उत) और भी (ध्रुवम्) दृढ़ता से (अयः) आ, (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (प्रविद्वान्) पहिले से जानने वाला तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप) समीप से (याहि) प्राप्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्नपूर्वक विद्या और बल प्राप्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥१॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में—३ । २६ । १६ । और यजुर्वेद—८ । २० ॥

समि॑न्द्र नो॒ मन॑सा नेष॒ गोभिः॒ सं सू॒रिभि॑र्हरिव॒न्त्सं स्व॒स्त्या । सं ब्रह्म॑णा दे॒वहि॑तं॒ यदस्ति॒ सं दे॒वानां॑ सुम॒तौ य॒ज्ञिया॑नाम् ॥ २ ॥

सम् । इ॒न्द्र॒ । नः॒ । मन॑सा । ने॒ष॒ । गोभिः॑ । सम् । सू॒रि-भिः॑ । ह॒रि॒-व॒न् । सम् । स्व॒स्त्या ॥ सम् । ब्रह्म॑णा । दे॒व-हि॑तम् । यत् । अस्ति॑ । सम् । दे॒वाना॑म् । सु-म॒तौ । य॒ज्ञिया॑नाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले राजन् ! (नः) हमें (मनसा) विज्ञान के साथ और (गोभिः) इन्द्रियों वा वाणियों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (हरिवन्) हे श्रेष्ठमनुष्यों वाले ! (सूरिभिः) विद्वानों के साथ (सम्) ठीक ठीक, (स्वस्त्या) अच्छी सत्ता [क्षेम कुशल] के साथ (सम्) ठीक ठीक (यत्) जो [ब्रह्म] (देवहितम्) विद्वानों का हितकारक (अस्ति) है, [उस] (ब्रह्मणा)

(अवृणीमहि) वृञ् वरणे—लङ् । वयं वृतवन्तः । स्वीकृतवन्तः (ध्रुवम्) दृढत्वेन (अयः) अय गतौ—लेट्, परस्मैपदम् । आगच्छेः (ध्रुवम्) निश्चलं यथा तथा (उत) अपि (शविष्ठ) अ० ७ । २५ । १ । हे बलवत्तम (प्रविद्वान्) अग्रे जानन् (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (उप) समीपम् (याहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् ॥

२—(सम्) सम्यक् । यथावत् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (नः) अस्मान् (मनसा) विज्ञानेन (नेष) णीञ् प्रापणे—लोटि शप् । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । अतो हेः । पा० ६ । ४ । १०५ । इति हेर्लोपः । नय । प्रापय (गोभिः) इन्द्रियैर्वाग्भिर्वा (सूरिभिः) अ० २ । ११ । ४ । विद्वद्भिः (हरिवन्) हरयो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । प्रशस्तमनुष्ययुक्त (सम्) (स्वस्त्या)

ब्रह्म, वेद, धन, वा अन्न के साथ (सम्) ठीक ठीक, (यज्ञियानाम्) पूजा योग्य (देवानाम्) विद्वानों की (सुमतौ) सुमति में (सम्) ठीक ठीक (नेष) तू ले चल ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से मनस्वी, वाग्मी, और कार्यकुशल होकर सब को उन्नति की ओर प्रवृत्त करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ४२ । ४ और यजु० ८ । १५ ॥

यानाव॑ह उश॒तो दे॑व दे॒वांस्तान् प्रेर॑य॒ स्वे अ॑ग्ने स॒धस्थे॑ ।
ज॒क्षि॒वांस॑: पपि॒वांसो॒ मधू॒न्य॒स्मै ध॑त्त वसवो॒ वसू॑नि ॥ ३ ॥

यान् । आ-अव॑हः । उ॒श॒तः । दे॒व॒ । दे॒वान् । तान् । प्र । ई॒र॒य॒ । स्वे । अ॒ग्ने॒ । स॒ध-स्थे॑ ॥ ज॒क्षि॒-वांस॑: । प॒पि॒-वांस॑: । मधू॑नि । अ॒स्मै । ध॒त्त॒ । व॒स॒वः॒ । वसू॑नि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशमान अध्यापक! (यान्) जिन (उशतः) लालसा वाले (देवान्) विद्वानों को (आ अवहः) तू लाया है, (अग्ने) हे विद्वान्! (तान्) उन्हें (स्वे) अपनी (सधस्थे) बैठक में (प्र ईरय) ले चल। (वसवः) हे श्रेष्ठजनो! तुम (मधूनि) मधुर वस्तुओं को (जक्षिवांसः) खा चुककर और (पपिवांसः) पी चुककर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (वसूनि) उत्तम धनों को (धत्त) दान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्कारपूर्वक विद्वानों से शिक्षा लेकर श्रेष्ठ गुण प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है ८ । १९ ॥

अ० १ । ३० । २ । सुलक्षया । क्षेमेण (सम्) (ब्रह्मणा) वेदेन धनेनान्नेन वा (देवहितम्) विद्वद्भ्यो हितम् (यत्) ब्रह्म (अस्ति) (सम्) (देवानाम्) विदुषाम् (सुमतौ) श्रेष्ठायां बुद्धौ (यज्ञियानाम्) पूजार्हाणाम् ॥

३—(यान्) वक्ष्यमाणान् (आ अवहः) वहेर्लङ् प्रापितवानसि (उशतः) वश कान्तौ—शतृ । कामयमानान् (देव) हे प्रकाशमानाध्यापक (देवान्) विदुषः (तान्) (प्रेरय) आनय (स्वे) स्वकीये (अग्ने) विद्वन् (सधस्थे) संगतिस्थाने (जक्षिवांसः) अ० ४ । ७ । ३ । भक्षितवन्तः (पपिवांसः) पिबतेः—क्वसुः । वस्वेकाजाद्घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इडागमः । पीतवन्तः (मधूनि) मधुरवस्तूनि (अस्मै) विद्यार्थिने (धत्त) दत्त (वसवः) हे श्रेष्ठजनाः (वसूनि) श्रेष्ठानि धनानि ॥

सुगा वो देवाः सदना अकर्म य आजग्म सवने मा जुषाणाः । वहमाना भरमाणाः स्वा वसूनि वसुं घर्मं दिवमा रोहतानु ॥ ४ ॥

सु-गा । वः । देवाः । सदना । अकर्म । ये । आ-जग्म ॥ सवने । मा । जुषाणाः ॥ वहमानाः । भरमाणाः । स्वा । वसूनि । वसुम् । घर्मम् । दिवम् । आ । रोहत । अनु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विद्वानो ! (वः) तुम्हारे लिये (सुगा) सुख से पहुंचने योग्य (सदना) आसनों को (अकर्म) हमने बनाया है, (ये) जो तुम [अपने] (सवने) ऐश्वर्य में (मा) मुझे (जुषाणाः) प्रसन्न करते हुये (आजग्म) आये हो (स्वा) अपनी (वसूनि) श्रेष्ठ वस्तुओं को (वहमानाः) पहुंचाते हुये और (भरमाणाः) पुष्ट करते हुये तुम (वसुम्) श्रेष्ठ (घर्मम्) दिन और (दिवम् अनु) व्यवहार के बीच (आ रोहत) चढ़ते जाओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों का आदर मान करके अपनी उन्नति करें ॥४॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—८ । १८ ॥

यज्ञं यज्ञं गच्छ यज्ञपतिं गच्छ । स्वां योनिं गच्छ स्वाहा ॥५

यज्ञ । यज्ञम् । गच्छ । यज्ञ-पतिम् । गच्छ ॥ स्वाम् । योनिम् । गच्छ । स्वाहा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यज्ञ) हे पूजनीय पुरुष ! (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को

४—(सुगा) अ० २ । ३ । ४। सुखेन गन्तव्यानि (वः) युष्मभ्यम् (देवाः) हे विद्वांसः (सदना) आसनानि (अकर्म) वयं कृतवन्तः (ये) यूयम् (आजग्म) आगताः स्थ (सवने) ऐश्वर्ये (मा) माम् (जुषाणाः) प्रीणन्तः (वहमानाः) प्रापयन्तः (भरमाणाः) पोषयन्तः (स्वा) स्वकीयानि (वसूनि) श्रेष्ठानि वस्तूनि (वसुम्) श्रेष्ठम् (घर्मम्) दिनम् (दिवम्) दिवु व्यवहारे-क । व्यवहारम् (आ रोहत) आरूढा भवत (अनु) प्रति ॥

५—(यज्ञ) पूजनीय पुरुष (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (यज्ञपतिम्)

(गच्छ) प्राप्त हो, (यज्ञपतिम्) पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले को (गच्छ) प्राप्त हो। और (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] के साथ (स्वाम्) अपने (योनिम्) स्वभाव को (गच्छ) प्राप्त हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम व्यवहार और उत्तम मनुष्यों के साथसे अपने मनुष्य धर्मका कर्त्तव्य करता रहे ॥ ५ ॥

यहमन्त्र यजुर्वेद में है-८। २२ ॥

एष ते य॒ज्ञो य॑ज्ञपते स॒हसू॑क्तवाकः । सु॒वीर्य॒ः स्वाहा॑ ॥६॥

ए॒षः । ते॒ । य॒ज्ञः । य॒ज्ञ॒-प॒ते॒ । स॒ह-सू॑क्तवाकः ॥ सु॒-वीर्यः॑ । स्वाहा॑ ॥६॥

भाषार्थ—(यज्ञपते) हे पूजनीय व्यवहारके पालनेवाले पुरुष ! (एषः) यह (ते) तेरा (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेदवाणी] द्वारा (सहसूक्तवाकः) सुन्दर वचनोंके उपदेशोंके सहित (सुवीर्यः) बड़े वीरत्ववाला [होवे] ॥ ६ ॥

भावार्थ-मनुष्य वेद मन्त्रोंके मनन और उपदेश से अपना पराक्रम बढावें ६

यह मन्त्र कुछ भेदसे यजुर्वेद में है—८। २२ ॥

वष॑ड्ढु॒तेभ्यो॒ वष॒डहु॑तेभ्यः । देवा॑ गातुविदो॒ गा॒तुं॒ वि॒त्त्वा गा॒तुमि॑त ॥ ७ ॥

वष॑ट् । हु॒तेभ्यः॑ । वष॑ट् । अहु॑तेभ्यः ॥ देवाः॑ । गा॒तु-वि॒दः॒ । गा॒तुम् । वि॒त्त्वा । गा॒तुम् । इ॒त॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हुतेभ्यः) दिये हुये [माता पिता आदि से पाये हुये]

पूजनीयव्यवहारस्य पालकम् (गच्छ) (स्वाम्) स्वकीयाम् (योनिम्) प्रकृतिम्। स्वभावम् (गच्छ) (स्वाहा) अ० २। १६। १। सुवाण्या। वेदवाचा ॥

६—(एषः) (ते) तव (यज्ञः) पूजनीयो व्यवहारः (यज्ञपते) पूजनीयो व्यवहारस्य पालक (सहसूक्तवाकः) सह + सु + उक्त + वच परिभाषणे-घञ्। शोभनानामुक्तानां वचनानां वाकैर्भाषणैः सहितः (सुवीर्यः) उत्तमपराक्रमयुक्तः (स्वाहा) सुवाण्या ॥

७—(वषट्) अ० १। ११। १। वह प्रमाणे-डषटि। आहुतिः। भक्तिः

पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो], (अहुतेभ्यः) न दिये हुये [स्वयं प्राप्त किये हुये] पदार्थों के लिये (वषट्) भक्ति [हो]। (गातुविदः) हे पृथिवी के जाननेवालो ! (देवाः) हे विजय चाहनेवाले वीरो ! (गातुम्) मार्ग को (वित्त्वा) पाकर (गातुम्) पृथिवी को (इत) प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदिसे पाये हुये और अपने पुरुषार्थ से प्राप्त किये हुये पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें । और पृथिवी के गुणों को परीक्षण द्वारा जानकर और उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरभाग यजुर्वेद में है—८ । २१ ॥

मनसस्पत इमं नो दिवि देवेषु यज्ञम् । स्वाहा दिवि स्वाहा पृथिव्यां स्वाहान्तरिक्षे स्वाहा वाते धां स्वाहा ॥८॥

मनसः । पते । इमम् । नः । दिवि । देवेषु । यज्ञम् ॥ स्वाहा । दिवि । स्वाहा । पृथिव्याम् । स्वाहा । अन्तरिक्षे । स्वाहा । वाते । धाम् । स्वाहा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मनसःपते) हे मन के स्वामी [मनुष्य !] (इमम्) इस (नः) अपने [हमारे] (यज्ञम्) संगतिकरण व्यवहार को (दिवि) आकाशमें [वर्तमान] (देवेषु) दिव्य पदार्थों में (स्वाहा) सुन्दरवाणीके साथ, [अर्थात्] (दिवि) सूर्य में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (पृथिव्याम्) पृथिवी में (स्वाहा) सुन्दर वाणीके साथ, (अन्तरिक्षे) मध्यलोक में (स्वाहा) सुन्दर

(हुतेभ्यः) अ० ६ । ७१ । २। मातापित्रादिभिर्दत्तेभ्यः पदार्थेभ्यः(वषट्) (अहुतेभ्यः) अदत्तेभ्यः। स्वपौरुषप्राप्तेभ्यः (देवाः) हे विजिगीषवः (गातुविदः) कमिमनिजनिगा० । उ० १ । ७३ । गाङ् गतौ—तु । गातुः पृथिवीनाम-निघ० १ । १ । मार्गः । विद ज्ञाने—क्विप् । पृथिवीगुणानां ज्ञातारः (गातुम्) मार्गम् (वित्त्वा) विद्लृ लाभे—क्त्वा । लब्ध्वा (गातुम्) भूमिम् । भूमिराज्यम् (इत) प्राप्नुत॥

८—(मनसः) अन्तःकरणस्य (पते) स्वामिन् (इमम्) (नः) अस्माकम् (दिवि) आकाशे वर्तमानेषु (देवेषु) दिव्य पदार्थेषु (यज्ञम्) संगतिकरणव्यवहारम् (स्वाहा) सुवाण्या । वेदवाण्या द्वारा (दिवि) सूर्यलोके (पृ-

वाणी के साथ, (वाते) वायु में (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ, (धाम्) मैं धारण करूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा अपनी मनन शक्ति बढ़ाकर सूर्यविद्या, पृथिवीविद्या, अन्तरिक्षविद्या और वायुविद्यामें निपुण होकर उपकार करें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछभेदसे यजुर्वेद में है —८। २१ ॥

सूक्तम् ९८ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ विराट् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ग्राह्यपदार्थप्राप्त्युपदेशः—ग्राह्य पदार्थ पाने का उपदेश ॥

सं ब॒र्हिर॒क्तं ह॒विषा॑ घृ॒तेन॒ समिन्द्रे॑ण॒ वसु॑ना॒ सं म॒रुद्भिः॑।
सं दे॒वैर्वि॒श्वदे॑वेभिर॒क्तमिन्द्रं॑ गच्छतु ह॒विः स्वाहा॑ ॥१॥

सम् । ब॒र्हिः । अ॒क्तम् । ह॒विषा॑ । घृ॒तेन॑ । सम् । इन्द्रे॑ण । वसु॑ना । सम् । म॒रुत्-भिः॑ ॥ सम् । दे॒वैः । वि॒श्व-दे॑वेभिः । अ॒क्तम् । इन्द्र॑म् । ग॒च्छ॒तु॒ । ह॒विः । स्वाहा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हविषा) ग्रहण से और (घृतेन) सेचन से (सम्) ठीक ठीक, (इन्द्रेण) ऐश्वर्य से और (वसुना) धन से (सम्) ठीक ठीक, (मरुद्भिः) विद्वानों से (सम्) ठीक ठीक, (अक्तम्) सुधारा गया (बर्हिः) वृद्धि कर्म, और (देवैः) प्रकाशमान (विश्वदेवेभिः) सब उत्तम गुणों से (सम्) ठीक ठीक, (अक्तम्) संभाला गया (हविः) ग्राह्य पदार्थ (स्वाहा) सुन्दर वाणी [वेद-

---

थिव्याम्) भूलोके (अन्तरिक्षे) मध्यलोके (वाते) वायुविद्यायाम् (धाम्) दधातेर्विधिलिङि छान्दसं रूपम्। धरेयम्। अन्यद् गतम् ॥

१—(सम्) सम्यक्। यथावत् (बर्हिः) अ० ५। २२। १। बृहि वृद्धौ दीप्तौ च—इसि। वृद्धिकर्म (अक्तम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-क्त। सुधारितम् (हविषा) हु दानादानादनेषु-इसि ग्रहणेन (घृतेन) घृ सेचने—क्त। सेचनेन (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (वसुना) धनेन (मरुद्भिः) अ० १। २०। १। देवैः। विद्वद्भिः (देवैः) प्रकाशमानैः (विश्वदेवेभिः) सर्वदिव्यगुणैः (अक्तम्)

वाणी] के साथ (इन्द्रम्) प्रतापी पुरुष को (गच्छतु) पहुंचे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न के साथ विद्या और धन की रक्षा और वृद्धि करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र भेद से यजुर्वेद में है—२ । २२ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१ ॥ यजमानो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

विद्याप्रचारोपदेशः—विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

परि स्तृणीहि परि धेहि वेदिं मा जामिं मोषीरमुया शयानाम् । होतृषदनं हरितं हिरण्ययं निष्का एते यजमानस्य लोके ॥ १ ॥

परि । स्तृणीहि । परि । धेहि । वेदिम् । मा । जामिम् । मोषीः । अमुया । शयानाम् ॥ होतृ-सदनम् । हरितम् । हिरण्ययम् । निष्काः । एते । यजमानस्य । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (वेदिम्) विद्या [वा यज्ञभूमि] (परि) सब ओर (स्तृणीहि) फैला और (परि) सब ओर (धेहि) पुष्टकर (अमुया) उस [विद्या] के साथ (शयानाम्) वर्तमान (जामिम्) गति को (मा मोषीः) मत लूट । (होतृषदनम्) दाता का घर (हरितम्) हरा भरा [स्वीकार योग्य] और (हिरण्ययम्) सोने से भरा [होता है], (एते) यह सब (निष्काः)

शोधितम् (इन्द्रम्) प्रतापिनं जनम् (गच्छतु) प्राप्नोतु (हविः) ग्राह्यः पदार्थः (स्वाहा) सुवाण्या । वेदविद्यया ॥

१—(परि) सर्वतः (स्तृणीहि) स्तृञ् आच्छादने । छादय । विस्तारय (परि) परितः (धेहि) पोषय (वेदिम्) अ० ५ । २२ । १ । विद ज्ञाने—इन् । विद्यां यज्ञभूमिं वा (जामिम्) नियो मिः । उ० ४ । ४३ । या प्रापणे-मि । यस्य जः । यद्वा वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । जम गतौ-इञ् । जामिरन्येऽस्यां जनयन्ति जामपत्यम् । जमतेर्वास्याद्गतिकर्मणो निर्गमनप्राया भवति—निरु० ३ । ६ । गतिं प्रवृत्तिम् (मा मोषीः) मुष स्तेये-लुङ् । मा चोरय (अमुया) अनया

सुनहले अलङ्कार (यजमानस्य) यजमान [विद्वानों के सत्कार करने वाले] के (लोके) घर में [रहते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उसकी प्रवृत्ति नहीं रोकता, वह महाधनी होकर सुखी रहता है ॥ १ ॥

सूक्तम् १०० ॥

१ ॥ ब्रह्म देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

कुविचारनिवारणोपदेशः—कुविचार के हटाने का उपदेश ॥

पर्यावर्ते दुष्वप्न्यात् पापात् स्वप्न्यादभूत्याः ।
ब्रह्माहमन्तरं कृण्वे परा स्वप्नमुखाः शुचः ॥ १ ॥

परि-आवर्ते । दुः-स्वप्न्यात् । पापात् । स्वप्न्यात् । अभूत्याः ॥
ब्रह्म । अहम् । अन्तरम् । कृण्वे । परा । स्वप्न-मुखाः । शुचः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दुष्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे हुये और (स्वप्न्यात्) स्वप्न में उठे हुये (पापात्) पाप से [प्राप्त] (अभूत्याः) अनैश्वर्यता [निर्धनता] से (पर्यावर्ते) मैं अलग हटता हूं । (अहम्) मैं (ब्रह्म) ब्रह्म [ईश्वर] को [अपने] (अन्तरम्) भीतर, और (स्वप्नमुखाः) स्वप्न के कारण से होने वाले (शुचः) शोकों को (परा) दूर (कृण्वे) करता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में लवलीन होकर मन को ऐसा वश में करे कि स्वप्न में भी कुवासनायें न उठें ॥ १ ॥

वेद्या सह (शयानाम्) शीङ् शयने-शानच् । वर्तमानाम् (हेतृपदनम्) दातृगृहम् (हरितम्) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । हृञ् हरणे, स्वीकारे—इतन् । स्वीकरणीयम् । शोभनम् (हिरण्यम्) हिरण्यमयम् । सुवर्णयुक्तम (निष्काः) नौ लद्देर्डिच्च । उ० ३ । ४५ । नि+षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-कन्, स च डित् । सुवर्णमया अलङ्काराः (एते) दृश्यमानाः (यजमानस्य) देवपूजकस्य (लोके) गृहे ॥

१—(पर्यावर्ते) पृथग् भवामि (दुष्वप्न्यात्) अ० ४ । ९ । ६ । दुर् दुष्टेषु स्वप्नेषु भवात् (पापात्) अ० २ । १२ । ५ । पातकात् (स्वप्न्यात्) स्वप्नप्रभवात् (अभूत्याः) अनैश्वर्यत्वात् । निर्धनत्वात् (ब्रह्म) ईश्वरम् (अहम्) मनुष्यः (अन्तरम्) मध्ये । आत्मनि (कृण्वे) करोमि (परा) दूरे (स्वप्नमुखाः) स्वप्नप्रधानाः (शुचः) शोकान् ॥

सूक्तम् १०१ ॥

१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

अविद्यानाशोपदेशः—अविद्या के नाश का उपदेश ॥

यत् स्वप्ने॒ अन्न॑मश्ना॒मि॒ न प्रा॒तर॑धिग॒म्यते॑ ।
सर्वं॒ तद॑स्तु मे शि॒वं न॒हि तद् दृ॒श्यते॒ दिवा॑ ॥ १ ॥

यत् । स्वप्ने॑ । अन्न॑म् । अ॒श्नामि॑ । न । प्रा॒तः । अ॒धि॒-ग॒म्यते॑ ॥
सर्व॑म् । तत् । अ॒स्तु । मे॒ । शि॒वम् । न॒हि । तत् । दृ॒श्यते॑ । दिवा॑ ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (अन्नम्) अन्न (स्वप्ने) स्वप्न में (अश्नामि) मैं खाता हूं, [वह] (प्रातः) प्रातःकाल (न) नहीं (अधिगम्यते) मिलता है। (तत्) वह (सर्वम्) सब (मे) मेरे लिये (शिवम्) कल्याणकारी (अस्तु) होवे, (तत्) वह (दिवा) दिन में (नहि) नहीं (दृश्यते) दीखता है॥१॥

भावार्थ—जैसे इन्द्रियों की चंचलता से स्वप्न में खाया अन्न शरीर पोषक नहीं होता, वैसेही अविद्याजन्य सुख इष्टसाधक नहीं होता ॥ १ ॥

सूक्तम् १०२ ॥

१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ विराट् पुरस्ताद् बृहती छन्दः ॥

उच्चपदप्राप्त्युपदेशः—ऊंचे पद पाने का उपदेश ॥

न॒म॒स्कृत्य॑ द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म॒न्तरि॑क्षाय मृ॒त्यवे॑ ।
मे॒क्षाम्यू॒र्ध्वस्तिष्ठ॒न् मा मां॑ हिंसिषुरीश्व॒राः ॥ १ ॥

न॒मः-कृत्य॑ । द्यावा॑पृथि॒वीभ्या॑म् । अ॒न्तरि॑क्षाय । मृ॒त्यवे॑ ॥
मे॒क्षा॒मि॒ । ऊ॒र्ध्वः । तिष्ठ॑न् । मा । मा॒ । हिं॒सि॒षुः॒ । ई॒श्व॒राः॥१॥

१—(यत्) यत्किञ्चित् (स्वप्ने) निद्रायाम् (अन्नम्) भोजनम् (अश्नामि) अश भोजने। खादामि (न) निषेधे (प्रातः) प्रभाते (अधिगम्यते) लभ्यते (सर्वम्) (तत्) स्वप्नफलम् (अस्तु) (मे) मह्यम् (शिवम्) मङ्गलकरम् (नहि) नैव (तत्) अन्नम् (दृश्यते) निरीक्ष्यते (दिवा) दिने ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यलोक और पृथिवी लोक को और (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोक को (नमस्कृत्य) नमस्कार करके (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (ऊर्ध्वः) ऊपर (तिष्ठन्) ठहरता हुआ (मेक्षामि) मैं चलता हूं, (ईश्वराः) [कोई] बलवान् (मा) मुझको (मा हिंसिषुः) न हानि करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऊपर, नीचे और मध्य विचार कर और संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर उच्चपद प्राप्त करे ॥ १ ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

अथ दशमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १०३ ॥

१॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

द्रोहत्यागोपदेशः—द्रोह के त्याग का उपदेश ॥

को अस्या नो द्रुहोऽवद्यवत्या उन्नेष्यति क्षत्रियो वस्य इच्छन्। को यज्ञकामः क उ पूर्तिकामः को देवेषु वनुते दीर्घमायुः ॥ १ ॥

कः । अस्याः । नः । द्रुहः । अवद्य-वत्याः । उत् । नेष्यति । क्षत्रियः । वस्यः । इच्छन् ॥ कः । यज्ञ-कामः । कः । ऊं इति । पूर्ति-कामः । कः । देवेषु । वनुते । दीर्घम् । आयुः ॥ १ ॥

१—(नमस्कृत्य) सत्कृत्य । उपकृत्य (द्यावापृथिवीभ्याम्) सूर्यभूलोकाभ्याम् (अन्तरिक्षाय) मध्यलोकाय (मृत्यवे) अ० ५ । ३० । १२ । मृत्युं नाशयितुम् (मेक्षामि) म्यक्षति, मियक्षति, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ छान्दसं रूपम् । मियक्षामि । गच्छामि (ऊर्ध्वः) उच्चः (तिष्ठन्) स्थितिं कुर्वन् (मा) माम् (मा हिंसिषुः) मा नाशयन्तु (ईश्वराः) केऽपि बलवन्तः ॥

भाषार्थ—(वस्यः) उत्तम फल (इच्छन्) चाहता हुआ (कः) प्रजापति [प्रजा पालक प्रकाशमान वा सुखदाता] (क्षत्रियः) क्षत्रिय (नः) हमको (अस्याः) इस (अवद्यवत्याः) धिक्कारयोग्य (द्रुहः) डाह क्रिया से (उत् नेष्यति) उठावेगा । (कः) प्रजापति [मनुष्य] (यज्ञकामः) पूजनीय व्यवहार चाहने वाला और (कः) प्रजापति (उ) ही (पूर्तिकामः) पूर्ति [सिद्धि] चाहने वाला [होता है], (कः) प्रजापति [मनुष्य] (देवेषु) उत्तम गुणों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (वनुते) माँगता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य द्रोह छोड़कर पुरुषार्थ करते हुये उत्तम गुण प्राप्त करके सुख बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०४ ॥

१ ॥ आत्मा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

वेदविद्याप्रचारोपदेशः—वेद विद्या के प्रचार का उपदेश ॥

कः पृश्निं धेनुं वरुणेन दत्तामथर्वणे सुदुघां नित्यवत्साम् ।
बृहस्पतिना सख्यं जुषाणो यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥१॥

कः । पृश्निम् । धेनुम् । वरुणेन । दत्ताम् । अथर्वणे । सु-दुघाम् । नित्य-वत्साम् ॥ बृहस्पतिना । सख्यम् । जुषाणः । यथा-वशम् । तन्वः । कल्पयाति ॥ १ ॥

१—(कः) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । कच दीप्तौ वा कमु कान्तौ वा क्रमु पादविक्षेपे गतौ च-ड प्रत्ययः । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा-निरु० १० । २२ । कमिति सुखनाम-निघ० ३ । ६ । दीप्यमानः । सुखकारकः । प्रजापतिर्मनुष्यः (अस्याः) वर्तमानायाः (नः) अस्मान् (द्रुहः) द्रुह जिघांसायाम्—क्विप् । द्रोहक्रियायाः । दुर्गतेः सकाशात् (अवद्यवत्याः) निन्द्यकर्मयुक्तायाः (उन्नेष्यति) उद्धरिष्यति (क्षत्रियः) अ० ४ । २२ । १ । क्षत्रे राज्ये साधुः (वस्यः) अ० ६ । ४७ । ३ । वसीयः । प्रशस्तं फलम् (इच्छन्) अभिलष्यन् (कः) (यज्ञकामः) पूजनीयव्यवहारं कामयमानः (कः) (उ) एव (पूर्तिकामः) सिद्धिकामः (कः) (देवेषु) उत्तमगुणेषु वर्तमानः (वनुते) वनु याचने । याचते (दीर्घम्) (आयुः) जीवनम् ॥

भाषार्थ—(कः) प्रकाशमान [प्रजापति मनुष्य] (बृहस्पतिना) बड़े बड़े लोकों के स्वामी [परमेश्वर] के साथ (यथावशम्) इच्छानुसार [अपने] (तन्वः) शरीर की (सख्यम्) मित्रता का (जुषाणः) सेवन करता हुआ, (अथर्वणे) निश्चल स्वभाव वाले पुरुष को (वरुणेन) श्रेष्ठ परमात्मा करके (दत्ताम्) दी हुई, (सुदुघाम्) अत्यन्त पूरण करनेवाली, (नित्यवत्साम्) नित्य उपदेश करने वाली, (पृश्निम्) प्रश्न करने योग्य (धेनुम्) वाणी [वेदवाणी] को (कल्पयाति) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की दी हुई कल्याणी वेदवाणी को ईश्वरभक्ति के साथ संसार में फैलावें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०५ ॥

१ ॥ विद्वान् देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पवित्रजीवनोपदेशः—पवित्र जीवन का उपदेश ॥

अपक्रामन् पौरुषेयाद् वृणानो दैव्यं वचः ।
प्रणीतीरभ्यावर्तस्व विश्वेभिः सखिभिः सह ॥ १ ॥

अप-क्रामन् । पौरुषेयात् । वृणानः । दैव्यम् । वचः ॥ प्र-नीतीः । अभि-आवर्तस्व । विश्वेभिः । सखि-भिः । सह ॥१॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (पौरुषेयात्) पुरुषवध से (अपक्रामन्)

१—(कः) गतसूक्ते व्याख्यातः । प्रकाशमानः प्रजापतिः पुरुषः (पृश्निम्) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—नि । प्रष्टव्याम् (धेनुम्) अ० ३ । १० । १ । वाचम्-निघ० १ । ११ । वेदवाणीम् (वरुणेन) श्रेष्ठेन परमेश्वरेण (दत्ताम्) (अथर्वणे) अ० ४ । ३७ । १ । निश्चलस्वभावाय योगिने (सुदुघाम्) अ० ७ । ७३ । ७ । सुष्ठु पूरयित्रीम् (नित्यवत्साम्) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—स प्रत्ययः । नित्योपदेशिकाम् (बृहस्पतिना) बृहतां लोकानां पालकेन । परमात्मना सह (सख्यम्) मित्रभावम् (जुषाणः) सेवमानः (यथावशम्) यथेच्छम् (तन्वः) शरीरस्य (कल्पयाति) कल्पयतेर्लेटि आडागमः । समर्थयेत् ॥

१—(अपक्रामन्) अपगच्छन् (पौरुषेयात्) पुरुषाद् वधविकारसमू-

हटता हुआ, (दैव्यम्) दिव्य [परमेश्वरीय] (वचः) वचन (वृणानः) मानता हुआ तू (विश्वेभिः) सब (सखिभिः सह) सखाओं [साथियों] सहित (प्रणीतीः) उत्तमनीतियों [ब्रह्मचर्य स्वाध्याय आदि मर्य्यादाओं] का (अभ्यावर्तस्व) सब ओर से वर्ताव कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वहितकारी वेद मार्गों पर चलकर और दूसरों को चलाकर पवित्र जीवन करके आनन्दित होवें ॥ १ ॥

सूक्तम् १०६ ॥

१ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

अमृतत्वप्राप्त्युपदेशः—अमरपन पाने का उपदेश ॥

यदस्मृ॑ति चकृ॒म किं चि॑दग्न उपारि॒म चर॑णे जातवेदः।
तत॑: पाहि॒ त्वं न॑: प्रचेतः शु॒भे सखि॑भ्यो अमृत॒त्वम॑स्तु नः॥१॥

यत् । अस्मृ॑ति । चकृ॒म । किम् । चि॒त् । अग्ने॒ । उप॒-आ॒रि॒म । चर॑णे । जा॒त॒-वे॒दः॒ ॥ तत॑: । पा॒हि॒ । त्वम् । नः॒ । प्र॒-चे॒तः॒ । शु॒भे । सखि॑-भ्यः । अ॒मृ॒त॒-त्वम् । अ॒स्तु॒ । नः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर ! (यत् किं चित्) जो कुछ भी [दुष्कर्म] (अस्मृति) विस्मरण [भूल, आगे पीछे के बिना विचार] से (चकृम) हमने किया है, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले ! [अपने] (चरणे) आचरण में (उपारिम) हमने अपराध किया है । (प्रचेतः) हे

हतेनकृतेषु । वा० पा० ५ । १ । १० । इति पुरुष—ढञ् , ढस्य एय् । पुरुषवधात् (वृणानः) स्वीकुर्वन् (दैव्यम्) देव—यञ् । देवात् परमेश्वरादागतम् (वचः) वाक्यं वेदलक्षणम् (प्रणीतीः) प्रकृष्टा नीतीः । ब्रह्मचर्य्यस्वाध्यायादिमर्य्यादाः (अभ्यावर्तस्व) अभितः प्रवर्तय ॥

१—(यत्) दुष्कर्म (अस्मृति) यथा तथा । स्मरणरहितं पूर्वोत्तरकर्मफलानुसन्धानरहितम् (चकृम) वयं कृतवन्तः (किंचित्) किमपि (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (उप-आरिम) ऋ हिंसायाम्—लिट् । वयमपराद्धवन्तः (चरणे) आचरणे (जातवेदः) हे जातानां वेदितः (ततः) तस्मात्

महाविद्वान्! (ततः) उससे (त्वम्) तू (नः) हमें (पाहि) बचा, (नः) हम [तेरे] (सखिभ्यः) सखाओं को (शुभे) कल्याण के लिये (अमृतत्वम्) अमरपन (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों से यदि आगा पीछा बिना विचारे अपराध हो जावे, उसका प्रायश्चित्त करके और आगे को अपराध त्याग कर शुभकर्म करके कीर्त्तिमान् होवे ॥ १ ॥

सूक्तम् १०७ ॥

१ ॥ सूर्यो देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

परस्परदुःखनाशोपदेशः—परस्पर दुःख नाश का उपदेश ॥

अव॑ दि॒वस्ता॑रयन्ति स॒प्त सूर्य॑स्य र॒श्मयः॑ ।

आपः॑ समु॒द्रिया॒ धारा॒स्तास्ते॑ श॒ल्यम॑सिस्रसन् ॥ १ ॥

अव॑ । दि॒वः । ता॒र॒य॒न्ति॒ । स॒प्त । सूर्य॑स्य । र॒श्मयः॑ ॥ आपः॑ । स॒मु॒द्रियाः॑ । धाराः॑ । ताः । ते॒ । श॒ल्यम् । अ॒सि॒स्र॒स॒न् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (सप्त) सात [वा नित्य मिली हुई] (रश्मयः) किरणें (दिवः) आकाश से (समुद्रियाः) अन्तरिक्ष में रहने वाले (धाराः) धारारूप (आपः) जलों को (अव तारयन्ति) उतारती हैं, (ताः) उन्होंने (ते) तेरी (शल्यम्) कील [क्लेश] को (असिस्रसन्) बहादिया है ॥१॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें जल बरसा कर दुर्भिक्ष आदि पीड़ायें दूर करती हैं, वैसे ही मनुष्य परस्पर दुःख नाश करें ॥ १ ॥

(पाहि) रक्ष (त्वम्) (नः) अस्मान् (प्रचेतः) हे प्रकृष्टज्ञान (शुभे) कल्याणाय (सखिभ्यः) तव प्रियभूतेभ्यः (अमृतत्वम्) अमरत्वम् । दुःखराहित्यम् (अस्तु) (नः) अस्मभ्यम् ॥

१—(दिवः) आकाशात् (अवतारयन्ति) अवपातयन्ति (सप्त) अ० ४ । ६ । २ । सप्तसंख्याकाः । समवेताः (सूर्यस्य) आदित्यस्य (रश्मयः) व्यापकाः किरणाः (आपः) द्वितीयार्थे प्रथमा । अपः । जलानि (समुद्रियाः) अ० ७ । ७ । १ । अन्तरिक्षे भवाः (धाराः) प्रवाहरूपाः (ताः) (आपः) (ते) तव (शल्यम्) अ० २ । ३० । ३ । बाणाग्रभागम् । क्लेशमित्यर्थः (असिस्रसन्) स्रंसु गतौ, णयन्ताल्लुङि चङि । अनिदितां हल० पा० ६ । ४ । २४ । उपधानकारलोपः । सन्वल्लघुनि० । पा० ७ । ४ । ९३ । इति सन्वद्भावात् । सन्यतः । पा० ७ । ४ । ७९ । अभ्यासस्य इत्वम् । नियारितमत्यः ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१-२ ॥ अग्निर्देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यो नस्तायद् दिप्सति यो न आविः स्वो विद्वानरणो वा नो अग्ने । प्रतीच्येत्वरणी दत्वती तान् मैषामग्ने वास्तु भून्मो अपत्यम् ॥ १ ॥

यः । नः । तायत् । दिप्सति । यः । नः । आविः । स्वः । विद्वान् । अरणः । वा । नः । अग्ने ॥ प्रतीची । एतु । अरणी । दत्वती । तान् । मा । एषाम् । अग्ने । वास्तु । भूत् । मो इति । अपत्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! (यः) जो कोई (नः) हमें (तायत्) छिपे छिपे, (यः) जो कोई (नः) हमें (आविः) खुले खुले, (दिप्सति) सताना चहता है, (नः) हमें (विद्वान्) जानता हुआ (स्वः) अपना पुरुष, (वा) अथवा (अरणः) बाहिरी पुरुष । (प्रतीची) चढ़ाई करती हुई, (दत्वती) दमनशीला, (अरणी) शीघ्रगामिनी वा मारनेवाली [सेना] (तान्)

१—(यः) कश्चित् (नः) अस्मान् (तायत्) अ० ४ । १६ । १ । तायृ सन्तानपालनयोः—अति । तायुः स्तेनः-निघ० ३ । २४ । तायत्, अन्तर्हितनामैतत्—इति सायणः । अप्रकाशम् । गुप्तम् (दिप्सति) अ० । ४ । ३६ । २ । हिंसितुमिच्छति (यः) (नः) अस्मान् (आविः) अर्चिशुचि० । उ० २ । १०८ । आ + अव रक्षणे—इसि । आविरावेदनात्—निरु० ८ । १५ । प्रकाशम् (स्वः) स्वकीयो बन्धुः (विद्वान्) जानन् (अरणः) अ० १ । १६ । ३ । विदेशीयः (वा) अथवा (नः) अस्मान् (अग्ने) विद्वन् । तेजस्विन् राजन् (प्रतीची) अ० ३ । २७ । ३ । अभिमुखं गच्छन्ती (एतु) गच्छतु (अरणी) अर्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ गतौ हिंसायां च-अनि, ङीप् । शीघ्रगामिनी । शत्रुनाशिनी सेना (दत्वती) अ० ४ । ३ । २ । हसिमृग्रिण्वामिदमि० । उ० ३ । ८६ । दमु उपशमे-तन् । दन्त-मतुप्, ङीप् । पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दत् । दन्तवती । दमनशीला (तान्)

उनपर (एतु) पहुंचे, (अग्ने) हे तेजस्वी राजन् ! (एषाम्) इनका (मा) न तो (वास्तु) घर (मो) और न (अपत्यम्) बालक (भूत्) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और बाहिरी अधर्मियों का नाश करके धर्म्मात्माओं की रक्षा करे ॥ १ ॥

यो नः सुप्तान् जाग्रतो वाभिदासात् तिष्ठतो वा चरतो जातवेदः । वैश्वानरेण सयुजा सजोषास्तान् प्रतीचो निर्दह जातवेदः ॥ २ ॥

यः । नः । सुप्तान् । जाग्रतः । वा । अभि-दासात् । तिष्ठतः । वा । चरतः । जात-वेदः ॥ वैश्वानरेण । स-युजा । स-जोषाः । तान् । प्रतीचः । निः । दह । जात-वेदः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले राजन् ! (यः) जो कोई पुरुष (सुप्तान्) सोते हुये, (वा) वा (जाग्रतः) जागते हुये, (तिष्ठतः) ठहरे हुये, (वा) वा (चरतः) चलते हुये (नः) हम को (अभिदासात्) सतावे । (जातवेदः) हे प्रसिद्ध धन वाले राजन् ! (वैश्वानरेण) सब नरोंके हितकारी (सयुजा) समानमित्र [परमेश्वर] के साथ (सजोषाः) प्रीति वाला तू (प्रतीचः) चढ़ाई करनेवाले (तान्) उनको (निः) निरन्तर (दह) भस्म करदे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर के सहाय से आत्मबल बढ़ाकर सब डाकू उचक्कों का नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ २ ॥

शत्रून् (मा) निषेधे (एषाम्) शत्रूणाम् (अग्ने) राजन् (वास्तु) वसेरगारे णिच्च । उ० १ । ७० । वस निवासे—तुन्, स च णित् । गृहम् (मो भूत्) मैव भूयात् (अपत्यम्) पुत्रादिकम् ॥

२—(यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (सुप्तान्) निद्राणान् (जाग्रतः) अ० १ । ६६ । ३ । प्रबुद्ध्यमानान् (वा) (अभिदासात्) अ० ५ । ६ । १० । अभितो दास्नुयात् । हिंस्यात् (तिष्ठतः) स्थितियुक्तान् (वा) (चरतः) चलनशीलान् (जातवेदः) अ० १ । ७ । २ । हे प्रसिद्धज्ञान (वैश्वानरेण) अ0 १ । १० । ४ सर्वनरहितेन (सयुजा) समानमित्रेण । परमेश्वरेण (सजोषाः) सहप्रीतिः (तान्) शत्रून् (प्रतीचः) अ० १ । २८ । २ । प्रतिकूलगतीन् (निः) निरन्तरम् (दह) भस्मसात् कुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन ॥

सूक्तम् १०९ ॥

१-७ ॥ अग्निः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, ७ अनुष्टुप्; २, ३, ५, ६ त्रिष्टुप् ॥

व्यवहारसिद्ध्युपदेशः—व्यवहार सिद्धि का उपदेश ॥

इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी ।
घृतेन कलिं शिक्षामि स नो मृडातीदृशे ॥ १ ॥

इदम् । उग्राय । बभ्रवे । नमः । यः । अक्षेषु । तनू-वशी ॥
घृतेन । कलिम् । शिक्षामि । सः । नः । मृडाति । ईदृशे ॥१॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) नमस्कार (उग्राय) तेजस्वी (बभ्रवे) पोषक [परमेश्वर] को है, (यः) जो (अक्षेषु) व्यवहारों में (तनूवशी) शरीरों का वश में रखनेवाला है। (घृतेन) प्रकाश के साथ (कलिम्) गिनने वाले [परमेश्वर] को (शिक्षामि) मैं सीखता हूं, (सः) वह (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडाति) सुखी करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वनियन्ता, सर्वज्ञ परमेश्वर की उपासना करके उत्तम कर्मों के साथ सुख भोगें ॥ १ ॥

घृतमप्सराभ्यो वह त्वमग्ने पांसूनक्षेभ्यः सिकता अपश्च । यथाभागं हव्यदातिं जुषाणा मदन्ति देवा उभयानि हव्या ॥ २ ॥

१—(इदम्) (उग्राय) तेजस्विने (बभ्रवे) अ० ४ । २९ । २ । पोषकाय (नमः) नमस्कारः (यः) परमेश्वरः (अक्षेषु) अ० ४ । ३८ । ४ व्यवहारेषु (तनूवशी) अ० १ । ७ । २ । शरीराणां वशयिता (घृतेन) प्रकाशेन (कलिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । कल शब्दसंख्यानयोः-इन् । गणकम् । गणपतिं परमेश्वरम् (शिक्षामि) शिक्ष विद्योपादाने-लट्, परस्मैपदं छान्दसम् । शिक्षे । अभ्यस्यामि (सः) कलिः (नः) अस्मान् (मृडाति) सुखयेत् (ईदृशे) एवं-प्रकारे पुण्यकर्मणि ॥

घृतम् । अप्सराभ्यः । वह । त्वम् । अग्ने । पांसून् । अक्षेभ्यः । सिकताः । अपः । च ॥ यथा-भागम् । हव्य-दातिम् । जुषाणाः । मदन्ति । देवाः । उभयानि । हव्या ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू (अप्सराभ्यः) अप्सराओं [प्राणियों में व्यापक शक्तियों] के लिये और (अक्षेभ्यः) व्यवहारों [की सिद्धि] के लिये (पांसून्) धूलि [भूमिस्थलों] से (च) और (सिकताः) सींचनेवाले (अपः) जलों से (घृतम्) घृत [सार पदार्थ] (वह) पहुंचा । (देवाः) विद्वान् लोग (यथाभागम्) भाग के अनुसार (हव्यदातिम्) ग्राह्य पदार्थों के दान का (जुषाणाः) सेवन करते हुये (उभयानि) पूर्ण (हव्या) ग्राह्य पदार्थों को (मदन्ति) भोगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य भूमिविद्या, जलविद्या आदि में निपुण होकर आत्मपोषण और समाजपोषण का सामर्थ्य अपने पुरुषार्थ के अनुसार बढ़ावें ॥ २ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च । ता मे हस्तौ सं सृजन्तु घृतेन सपत्नं मे कितवं रन्धयन्तु ॥३॥

अप्सरसः । सध-मादम् । मदन्ति । हविः-धानम् । अन्तरा ।

२—(घृतम्) सारपदार्थम् (अप्सराभ्यः) अ० २ । २ । ३ । अप्सु प्रजासु सरणशीलाभ्यो व्यापिकाभ्यः शक्तिभ्यः (वह) द्विकर्मकः । प्रापय (त्वम्) (अग्ने) विद्वन् पुरुष (पांसून्) अर्जिदृशिकम्यमिपंसि० । उ० १ । २७ । इति पसि नाशने—कु, दीर्घश्च । पांसवः पादैः सूयन्त इति वा, पन्ना शेरत इति वा पंसनीया भवन्तीति वा—निरु० १२ । १६ । धूलिकणान् । भूमिस्थलानीत्यर्थः (अक्षेभ्यः) अ० ६ । ७० । १ । व्यवहारान् साधितुम् (सिकताः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । सिक सेचने—अतच्, स च कित् । सेचनसमर्थाः (अपः) जलानि (च) (यथाभागम्) भागमनतिक्रम्य (हव्यदातिम्) हव्यानां ग्राह्यपदार्थानां दानम् (जुषाणाः) सेवमानाः (मदन्ति) आनन्दयन्ति (देवाः) विद्वांसः (उभयानि) ग्रलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ६६ । इति उभ पूरणे—कयन् । पूर्णानि (हव्या) ग्राह्यवस्तूनि ॥

सूर्यम् । च ॥ ताः । मे । हस्तौ । सम् । सृजन्तु । घृतेन । सपत्नम् । मे । कितवम् । रन्धयन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) आकाश में व्यापक शक्तियां [वायु, जल, बिजुली आदि] (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थों के आधार [भूलोक] (च) और (सूर्यम् अन्तरा) सूर्य के बीच (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदन्ति) भोगती हैं (ताः) वे (मे) मेरे (हस्तौ) दोनों हाथ (घृतेन) घृत [सार पदार्थ] से (सं सृजन्तु) संयुक्त करें, और (मे) मेरे (कितवम्) ज्ञान नाशक [ठग, जुआरी] (सपत्नम्) बैरी को (रन्धयन्तु) नाश करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु, जल, बिजुली आदि से यथावत् उपकार लेकर दरिद्रता आदि दुःख नाश करें ॥ ३ ॥

आदिनवं प्रतिदीव्ने घृतेनास्माँ अभि क्षर ।
वृक्षमिवाशन्या जहि यो अस्मान् प्रतिदीव्यति ॥ ४ ॥

आदिनवम् । प्रति-दीव्ने । घृतेन । अस्मान् । अभि । क्षर ॥
वृक्षम्-इव । अशन्या । जहि । यः । अस्मान् । प्रति-दीव्यति ॥४॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (प्रतिदीव्ने) प्रतिकूल व्यवहार करनेवाले के नाश करने को (घृतेन) प्रकाश के साथ (अस्मान् अभि) हमारे ऊपर (आदिनवम्) प्रथम नवीन वा स्तुतिवाले [बोध] को (क्षर) छिड़क । (यः)

३—(अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु आकाशे सरणशीलाः । वायुजलविद्युदादयः (मदन्ति) हर्षयन्ति (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थानामाधारं भूलोकम् (अन्तरा) मध्ये (सूर्यम्) (च) (ताः) अप्सरसः (मे) मम (हस्तौ) (सं सृजन्तु) संयोजयन्तु (घृतेन) सारपदार्थेन (सपत्नम्) शत्रुम् (मे) मम (कितवम्) अ० ७ । ५० । १ । ज्ञाननाशकम् । वञ्चकम् । द्यूतकारम् (रन्धयन्तु) अ० ४ । २२ । १ । नाशयन्तु ॥

४—(आदिनवम्) णु स्तुतौ—अप् । आदौ प्रथमं नवो नूतनो यस्तम्, अथवा नवः स्तवो यस्य तं बोधम् (प्रतिदीव्ने) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्विद्युप्रतिदिवः । उ० १ । १५६ । प्रति + दिवु व्यवहारे—कनिन् । वा दीर्घः । क्रियार्था-

जो (अस्मान्) हम से (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूल व्यवहार करता है, [उसे] (जहि) मार डाल, (वृक्षम् इव) जैसे वृक्ष को (अशन्या) बिजुली से ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैदिक ज्ञान से अपने विरोधी शत्रु वा अज्ञान का सर्वथा नाश करें ॥ ४ ॥

यो नो॑ द्यु॒वे धन॑मि॒दं च॒कार॒ यो अ॒क्षाणां॒ ग्लह॑नं॒ शेष॑णं च ।
स नो॑ दे॒वो ह॒विरि॒दं जु॑षा॒णो ग॑न्ध॒र्वेभिः॑ सध॒मादं॑ मदेम ॥५॥

यः । नः॒ । द्यु॒वे । धन॑म् । इ॒दम् । च॒कार॑ । यः । अ॒क्षाणा॑म् । ग्लह॑नम् । शेष॑णम् । च॒ ॥ सः । नः॒ । दे॒वः । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒षा॒णः । ग॒न्ध॒र्वेभिः॑ । स॒ध॒-माद॑म् । म॒दे॒म ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (नः) हमारे (द्युवे) आनंद के लिये (इदं धनम्) यह धन, और (यः) जिसने (अक्षाणाम्) व्यवहारों का (ग्लहनम्) ग्रहण (च) और (शेषणम्) विशेषपन [ब्राह्मणपन, क्षत्रियपन, वैश्यपन और शूद्रपन] (चकार) बनाया है। (सः) वह (देवः) व्यवहार कुशल [परमेश्वर] (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) दान [भक्तिदान] को (जुषाणः) स्वीकार करनेवाला [हो, कि] (गन्धर्वेभिः) विद्या वा पृथिवी

पपदस्य च० । पा० २ । ३ । १४ । इति चतुर्थी । प्रतिदिवानं प्रतिकूलव्यवहारिणं नाशयितुम् (घृतेन) प्रकाशेन (अस्मान्)धार्मिकान् (अभि) प्रति (क्षर) क्षर संचलने । वर्षय (वृक्षम्) (इव) यथा (अशन्या) विद्युता (जहि) मारय (यः) शत्रुः (अस्मान्) (प्रतिदीव्यति) प्रतिकूलं व्यवहरति ॥

५—(यः) परमेश्वरः (नः) अस्मदीयाय (द्युवे) दिवु मोदे—क्विप् । आनन्दाय (धनम्) (इदम्) (चकार) कृतवान् (यः) (अक्षाणाम्) अ० ६ । ७० । १ । व्यवहाराणाम् (ग्लहनम्) रस्य लः । ग्रहणम् (शेषणम्) शिष्लृ विशेषणे-ल्युट् । विशेषणम् । गुणप्रकाशनं यथा ब्राह्मणत्वं क्षत्रियत्वं वैश्यत्वं शूद्रत्वं च (च) (सः) (नः) अस्माकं (देवः) व्यवहारकुशलः परमेश्वरः (हविः) दानम् । आत्मसमर्पणम् (इदम्) वक्ष्यमाणम् (जुषाणः) सेवमानः । भवतु-

के धारण करने वाले [मनुष्यों] के साथ (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदेम) हम भोगें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य आदि गुरु परमेश्वर के अनुग्रह से सब व्यवहारों में कुशल होकर, विद्वानों के सत्संग से उन्नति करें ॥ ५ ॥

संवसव इति वो नामधेयमुग्रंपश्या राष्ट्रभृतो ह्य१क्षाः।
तेभ्यो व इन्दवो हविषा विधेम वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥६॥

सम्-वसवः । इति । वः । नाम-धेयम् । उग्रम्-पश्याः । राष्ट्र-भृतः । हि । अक्षाः ॥ तेभ्यः । वः । इन्दवः । हविषा । विधेम । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (संवसवः) "सम्यक् धनवाले, वा मिल के रहने वाले" (इति) यह (वः) तुम्हारा (नामधेयम्) नाम है, (हि) क्योंकि [तुम] (उग्रंपश्याः) उग्रदर्शी [बड़े तेजस्वी] (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषक और (अक्षाः) व्यवहार कुशल (हो) । (इन्दवः) हे बड़े ऐश्वर्यवालो ! (तेभ्यः वः) उन तुम को (हविषा) आत्मदान से (विधेम) हम पूजें, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग और सत्कार से अनेक धन प्राप्त करें ॥ ६ ॥

इति शेषः (गन्धर्वेभिः) अ०२ । १ । २ । गोर्विद्यायाः पृथिव्या वा धारकैः पुरुषैः (सधमादम्) परस्परानन्दम् (मदेम) हृष्येम ॥

६—(संवसवः) सम्यग् वसूनि धनानि येषां ते यद्वा, सम्यग् वासयितारः (इति) एवंप्रकारेण (वः) युष्माकम् (नामधेयम्) नाम (उग्रंपश्याः) उग्रंपश्येरंमदपाणिंधमाश्च । पा० ३ । २ । ३७ । उग्र + दृशिर् प्रेक्षणे—खश् । उग्रदर्शिनः । महातेजस्विनः (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषकाः (हि) यस्मात्कारणात् (अक्षाः) अक्ष—अर्श आद्यच् । व्यवहारवन्तः (तेभ्यः) तथाभूतेभ्यः (वः) युष्मभ्यम् (इन्दवः) अ० ६ । २ । २ । हे परमैश्वर्यवन्तः (हविषा) आत्मदानेन (विधेम) परिचरणं कुर्याम (वयम्) (स्याम) (पतयः) (रयीणाम्) विविधधनानाम् ॥

दे॒वान् यन्ना॑थि॒तो हु॒वे ब्र॑ह्म॒चर्यं॒ यदू॑षि॒म ।

अ॒क्षान् यद् ब॒भ्रूना॒लभे॑ ते नो॑ मृडन्त्वी॒दृशे॑ ॥ ७ ॥

दे॒वान् । यत् । ना॒थि॒तः । हु॒वे । ब्र॒ह्म॒ऽचर्य॑म् । यत् । ऊ॒षि॒म ॥

अ॒क्षान् । यत् । ब॒भ्रून् । आ॒ऽलभे॑ । ते । नः॒ । मृ॒ड॒न्तु॒ । ई॒दृशे॑ ॥७॥

भाषार्थ—(यत्) जिस से कि (नाथितः) प्रार्थी मैं (देवान्) विद्वानों को (हुवे) बुलाता हूं, (यत्) जिस से कि (ब्रह्मचर्यम्) ब्रह्मचर्य [आत्मनिग्रह, वेदाध्ययन आदि तप] में (ऊषिम) हमने निवास किया है। (यत्) जिससे कि (बभ्रून्) पालन करनेवाले (अक्षान्) व्यवहारोंको (आ-लभे) मैं यथावत् ग्रहण करता हूं, (ते) वे सब [विद्वान्] (नः) हमें (ईदृशे) ऐसे [कर्म] में (मृडन्तु) सुखी करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की संगति, ब्रह्मचर्य सेवन और उत्तम व्यवहारों से सुखी होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ११० ॥

१-३ ॥ इन्द्राग्नी देवते ॥ १ गायत्री ; २ त्रिष्टुप् ; ३ अनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोः कर्त्तव्योपदेशः—राजा और मन्त्रीके कर्तव्य का उपदेश ॥

अग्न॒ इन्द्र॑श्च दा॒शुषे॑ ह॒तो वृ॒त्राण्य॑प्र॒ति ।

उ॒भा हि वृ॑त्र॒हन्त॑मा ॥ १ ॥

अग्ने॑ । इन्द्रः॑ । च॒ । दा॒शुषे॑ । ह॒तः । वृ॒त्राणि॑ । अ॒प्र॒ति ॥

उ॒भा । हि । वृ॒त्र॒हन्ऽत॑मा ॥ १ ॥

७—(देवान्) विदुषः (यत्) यस्मात्कारणात् (नाथितः) नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीष्षु—क्त । प्रार्थी (हुवे) आह्वयामि (ब्रह्मचर्यम्) गदमदचरयमश्चानुपसर्गे । पा० ३ । १ । १०० । ब्रह्म + चर गतौ—यत् । ब्रह्मणे वेदलाभाय चर्या चरणम् । आत्मनिग्रहवेदाध्ययनादितपः (यत्) यस्मात् (ऊषिम) वस निवासे-लिट् । वयमुषितवन्तः (अक्षान्) व्यवहारान् (यत्) (बभ्रून्) भरणशीलान् (आलभे) समन्तात् गृह्णामि (ते) विद्वांसः (नः) अस्मान् (मृडन्तु) सुखयन्तु (ईदृशे) एवं विधे धार्मिके कर्मणि ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) हे परम ऐश्वर्यवाले राजन् ! (च) और (अग्ने) हे तेजस्वी मन्त्री ! [आप दोनों] (दाशुषे) दानशील [प्रजागण] के लिये (वृत्राणि) रोकावटों को (अप्रति) बे रोक टोक (हतः) नाश करते हैं। (हि) क्योंकि (उभा) दोनों (वृत्रहन्तमा) रोकावटों के अत्यन्त नाश करनेवाले हैं ॥ १॥

भावार्थ—प्रतापी राजा और विद्वान् मन्त्री शत्रुओं से प्रजाकी रक्षा करें॥१॥

याभ्यामजयन्त्स्व᳡१ रग्र एव यावातस्थतुर्भुवनानि विश्वा। प्रचर्षणी वृषणा वज्रबाहू अग्निमिन्द्रं वृत्रहणा हुवे ऽहम् ॥२॥

याभ्याम् । अजयन् । स्वः । अग्रे । एव । यौ । आ-तस्थतुः । भुवनानि । विश्वा ॥ प्रचर्षणी इति प्र-चर्षणी । वृषणा । वज्रबाहू इति वज्र-बाहू । अग्निम् । इन्द्रम् । वृत्र-हना । हुवे । अहम् २

भाषार्थ—(याभ्याम्) जिन दोनोंके द्वारा (एव) ही उन्होंने [महात्माओंने] (स्वः) स्वर्ग [सुख] को (अग्रे) पहिले (अजयन्) जीता था [पाया था], (यौ) जो दोनों (विश्वा) सब (भुवनानि) प्राणियों में (आतस्थतुः) ठहरगये हैं। [उन दोनों] (प्रचर्षणी) शीघ्र गामी वा अच्छे मनुष्यों वाले, (वृषणा) शूर, (वज्रबाहू) वज्र [लोह समान दृढ़] भुजाओं वाले, (वृत्रहणा) रोकावटें नाश करनेवाले (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवाले राजा और (अग्निम्) तेजस्वी मन्त्री को (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण पहिले से राजा और मन्त्री के प्रबन्ध में सुखी रहे हैं, वैसेही सदा रहें ॥ २ ॥

१—(अग्ने) हे तेजस्विन् मन्त्रिन् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवन् राजन्—इत्यर्थः (च) (दाशुषे) दानशीलाय प्रजागणाय (हतः) भवन्तौ नाशयतः (वृत्राणि) आवरकाणि कर्माणि (अप्रति) अप्रतिपक्षम् (उभा) द्वौ (हि) यतः (वृत्रहन्तमा) विघ्नानां नाशयितृतमौ ॥

२—(याभ्याम) राजमन्त्रिभ्याम् (अजयन्) प्राप्तवन्तो महात्मानः (स्वः) अ० २ । ५ । २ । सुखम् (अग्रे) पूर्वकाले (एव) अवश्यम् (यौ) (आतस्थतुः) व्याप्तवन्तौ (भुवनानि) भूतजातानि (विश्वा)सर्वाणि (प्रचर्षणी) अ० ४ । २४ । ३ । शीघ्रगामिनौ । प्रकृष्टमनुष्यवन्तौ (वृषणा) इन्द्रौ । पराक्रमिणौ (वज्रबाहू) वज्रवल्लौहतुल्यौ दृढौ बाहू ययोस्तौ (अग्निम्) तेजस्विनं मन्त्रिणम् (इन्द्रम्) प्रतापिनं राजानम् (वृत्रहणा) विघ्ननाशकौ (हुवे) आह्वयामि (अहम्) प्रजागणः ॥

उप त्वा देवो अग्रभीच्चमसेन बृहस्पतिः ।
इन्द्र गीर्भिर्न आ विश यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

उप । त्वा । देवः । अग्रभीत् । चमसेन । बृहस्पतिः ॥ इन्द्र । गीः-भिः । नः । आ । विश । यजमानाय । सुन्वते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे राजन्! (त्वा) तुझे (देवः) प्रकाशमान, (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों के रक्षक परमेश्वर ने (चमसेन) अन्न के साथ (उप अग्रभीत्) सहारा दिया है। तू (गीर्भिः) वाणियों [स्तुतियों] के साथ (यजमानाय) संयोग वियोग करनेवाले (सुन्वते) तत्त्व मथन करनेवाले पुरुष के लिये (नः) हम में (आ विश) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि परमेश्वर के दिये सामर्थ्य से विवेकी धर्मात्माओं का सहाय करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १११ ॥

१ ॥ ईश्वरो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्रस्य कुक्षिरसि सोमधान आत्मा देवानामुत मानुषाणाम् । इह प्रजा जनय यास्त आसु या अन्यत्रेह तास्ते रमन्ताम् ॥ १ ॥

इन्द्रस्य । कुक्षिः । असि । सोम-धानः । आत्मा । देवानाम् । उत । मानुषाणाम् ॥ इह । प्र-जाः । जनय । याः । ते । आसु ।

३—(उप) समीपे (त्वा) त्वां राजानम् (देवः) प्रकाशमानः (अग्रभीत्) अग्रहीत्। गृहीतवान् (चमसेन) अ० ६। ४७। ३। अन्नेन (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् (गीर्भिः) वाणीभिः। स्तुतिभिः (नः) अस्मान् (आ विश) प्रविश। प्राप्नुहि (यजमानाय) पदार्थानां संयोजकवियोजकाय (सुन्वते) तत्त्वमथनशीलाय ॥

याः । अन्यत्र । इह । ताः । ते । रमन्ताम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर!] तू (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्य का (कुक्षिः) कोख रूप, (सोमधानः) अमृत का आधार, (देवानाम्) दिव्य लोकों [सूर्य, पृथिवी आदि] का (उत) और (मानुषाणाम्) मनुष्यों का (आत्मा) आत्मा [अन्तर्यामी] (असि) है। (इह) यहां पर (प्रजाः) प्रजाओं को (जनय) उत्पन्न कर, (याः) जो (ते) तेरे लिये [तेरी आज्ञाकारी] (आसु) इन [प्रजाओं] में, और (याः) जो (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [हों] (इह) यहां पर (ताः) वे सब (ते) तेरे लिये (रमन्ताम्) विहार करें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रयत्न करें कि सब मनुष्य निकट और दूर स्थान में ईश्वर की आज्ञा मानते रहें ॥ १ ॥

सूक्तम् ११२ ॥

१-२ ॥ आपो देवताः ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

इन्द्रियजयोपदेशः—इन्द्रियों के जय का उपदेश ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्ति-सुम्ने । महिव्रते इति महि-व्रते ॥ आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शुम्भनी) शोभायमान (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यस्य (कुक्षिः) अ० २।५।४। कुक्षिरूपः (सोमधानः) अमृताधारः (आत्मा) अन्तर्यामी (देवानाम्) सूर्यपृथिव्यादिदिव्यलोकानाम् (उत) अपि (मानुषाणाम्) मनुष्याणाम् (इह) (प्रजाः) मनुष्यादिरूपाः (जनय) उत्पादय (याः) प्रजाः (ते) तुभ्यम्। तवाज्ञापालनाय (आसु) प्रजासु (याः) (अन्यत्र) अन्यस्मिन् देशे (इह) अत्र (ताः) प्रजाः (ते) तुभ्यम् (रमन्ताम्) विहरन्तु ॥

१—(शुम्भनी) शुम्भ शोभायाम्—ल्युट्। शुम्भन्यौ शोभायमाने (द्यावा-

लोक (अन्तिसुम्ने) [अपनी] गतियों से सुख देने वाले और (महिव्रते) बड़े व्रत [नियम] वाले हैं। (देवीः) उत्तम गुणवाली (सप्त) सात (आपः) व्यापनशील इन्द्रियां [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] (सुस्रुवुः) [हमें] प्राप्त हुई हैं, (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और पृथिवी लोक ईश्वर नियम से अपनी अपनी गति पर चल कर वृष्टि अन्न आदि से उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रखकर अपराधों से बचें ॥ १ ॥

(सप्त आपः) पदों का मिलान करो (सप्त सिन्धवः) पदों से-अ० ४। ६। २ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या३ दथो वरुण्यादुत ।
अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् २

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अथो इति । वरुण्यात् । उत ॥ अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात् ।२।

भाषार्थ—वे [व्यापनशील इन्द्रियां-म० १] (मा) मुझको (शपथ्यात्) शपथ सम्बन्धी (अथो) और (वरुण्यात्) श्रेष्ठों में हुये [अपराध] से (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) परमेश्वर के प्रति अपराध से (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रमाद छोड़कर इन्द्रियों को जीतकर सब प्रकार के दोषों से बचें ॥ २ ॥

यह मन्त्र आचुका है। अ० ६। ९६। २ ॥

पृथिवी) सूर्यभूलोकौ (अन्तिसुम्ने) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। अम गतौ—ति । सुम्नं सुखम्—निघ० ३। ६। स्वगतिभिः सुखकारिण्यौ (महिव्रते) अत्यन्तनियमयुक्ते (आपः) व्यापनशीलानीन्द्रियाणि । शीर्षण्यानि कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखानि । सिन्धवः—अ० ४। ६। २। (सप्त) अ० ४। ६। २। सप्तसंख्याकाः (सुस्रुवुः) स्रु गतौ—लिट्। अस्मान् प्रापुः (देवीः) दिव्यगुणाः (ताः) आपः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) कष्टात् ॥

२—(मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (ताः) आपः—म० १ (देवकिल्बिषात्) परमेश्वरं प्रति दोषात् । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६। ९६। २ ॥

सूक्तम् ११३ ॥

१-२ ॥ तृष्टिका देवता ॥ १ विराड् अनुष्टुप्; २ उष्णिक् ॥

तृष्णाविमोचनोपदेशः—तृष्णा त्याग का उपदेश ॥

तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके ।
यथा कृतद्विष्टासोऽमुष्मै शेप्यावते ॥ १ ॥

तृष्टिके । तृष्ट-वन्दने । उत् । अमूम् । छिन्धि । तृष्टिके ॥
यथा । कृत-द्विष्टा । असः । अमुष्मै । शेप्या-वते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(तृष्टिके) हे कुत्सित तृष्णा ! (तृष्टवन्दने) हे लोलुपता की लता रूपा ! तू (अमूम्) पीड़ा को (उत् छिन्धि) काट डाल, (तृष्टिके) हे लोभ में टिकने वाली ! तू (यथा) जिससे (अमुष्मै) उस (शेप्यावते) शक्तिमान् पुरुष के लिये (कृतद्विष्टा) द्वेपनाशिनी (असः) होवे [वैसा किया जावे] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पीड़ादायिनी तृष्णा को छोड़कर ईर्षा द्वेष नाश करनेमें समर्थ होवें ॥ १ ॥

तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यसि ।
परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव ॥ २ ॥

तृष्टा । असि । तृष्टिका । विषा । विषातकी । असि ॥
परि-वृक्ता । यथा । अससि । ऋषभस्य । वशा-इव ॥ २ ॥

१—(तृष्टिके) ञि तृषा पिपासायाम् -क । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति कप्रत्ययः । हे कुत्सिततृष्णे (तृष्टवन्दने) वदि अभिवादनस्तुत्योः-युच्, टाप् । तृष्टस्य लोलुपताया लतारूपे (उत्) उत्कर्षेण (अमूम्) कपिचमितनि० उ० १ । ८० । अम रोगे पीडने-ऊ प्रत्ययः स्त्रियाम् । पीडाम् (छिन्धि) भिन्द्धि (तृष्टिके) ञि तृषा-क्विप् + टिक गतौ-क । तृषि लोभे टेकते गच्छति या सा तत्सम्बुद्धौ (यथा) येन प्रकारेण, तथा क्रियतामिति शेषः (कृतद्विष्टा) कृ हिंसायाम्-क्त । कृतं नाशितम् द्विष्टं द्वेषणं यया सा (असः) भवेः (अमुष्मै) प्रसिद्धाय (शेप्यावते) शेपो बलम्, स्वार्थे-यत्, टाप् । शक्तिमते पुरुषाय ॥

भाषार्थ—(तृष्टा) तू तृष्णा (तृष्टिका) लोभ में टिकने वाली (असि) है, (विषा) विषैली (विषातकी) विष से जीवन दुःखित करने वाली (असि) है। (यथा) जिससे तू (परिवृक्ता) परित्यक्ता (असस्सि) हो जावे, (इव) जैसे (ऋषभस्य) श्रेष्ठ पुरुष की (वशा) वशीभूत [प्रजा त्याज्य होती है, वैसा किया जावे] ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष लोलुपता आदि अनिष्ट चिन्ताओं को इस प्रकार त्याग दें, जैसे शूर सेनापति शरणागत शत्रु सेना को छोड़ देता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ११४ ॥

१-२ ॥ अग्निः सोमो वा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

राक्षसनाशोपदेशः—राक्षसों के नाश का उपदेश ॥

आ ते॑ ददे व॒क्षणा॑भ्य॒ आ ते॒ऽहं हृद॑याद् ददे ।
आ ते॒ मुख॑स्य॒ संका॑शा॒त् सर्वं॑ ते॒ वर्च॒ आ द॑दे ॥१॥

आ । ते । ददे । वक्षणाभ्यः । आ । ते । अहम् । हृदयात् । ददे ॥
आ । ते । मुखस्य । सम्-काशात् । सर्वम् । ते । वर्चः । आ । ददे ॥१॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] (अहम्) मैं ने (ते) तेरी (वक्षणाभ्यः) छाती के अवयवों से [बल को] (आ ददे) ले लिया है, (ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से (आ ददे) ले लिया है। (आ) और (ते) तेरे (मुखस्य) मुख के

२—(तृष्टा) म० १ । तृष्णा (असि) भवसि (तृष्टिका) म० १ । लोभे गतिशीला (विषा) अर्श आद्यच् । विषयुक्ता (विषातकी) विष+आ+तकि कृच्छ्रजीवने—अण्, ङीप्, नकारलोपः । विषेण आतङ्कति कृच्छ्रजीवनं करोति या सा (असि) (परिवृक्ता) परिवर्जिता । परित्यक्ता (यथा) येन प्रकारेण (असस्सि) शप् छान्दसः । भवसि (ऋषभस्य) श्रेष्ठस्य (वशा) वशीभूता । आयत्ता (इव) यथा ॥

१—(ते) तव (आ ददे) लिटि रूपम् । गृहीतवानस्मि (वक्षणाभ्यः) अ० २ । ५ । ५ । वक्ष रोषे—युच् । टाप् । वक्षःस्थलेभ्यः (ते) (अहम्)

(संकाशात्) आकार से (ते) तेरे (सर्वम्) सब (वर्चः) ज्योति वा बल को (आ ददे) ले लिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अधार्मिक दोषों और शत्रुओं को नाश करें ॥ १ ॥

प्रेतो यन्तु व्याध्यः प्रानुध्याः प्रो अशस्तयः ।
अग्नी रक्षस्विनीर्हन्तु सोमो हन्तु दुरस्यतीः ॥ २ ॥

प्र । इतः । यन्तु । वि-आध्यः । प्र । अनु-ध्याः । प्रो इति । अशस्तयः ॥ अग्निः । रक्षस्विनीः । हन्तु । सोमः । हन्तु । दुरस्यतीः ॥२॥

भाषार्थ—(इतः) यहां से (व्याध्यः) सब रोग (प्र) बाहिर, (अनुध्याः) सब अनुताप (प्र) बाहिर और (अशस्तयः) सब अपकीर्तियां (प्रो) बाहिर ही (यन्तु) चली जावें । (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) राक्षसों से युक्त [सेनाओं] को (हन्तु) मारे और (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (दुरस्यतीः) अनिष्ट चीतनेवाली [प्रजाओं] को (हन्तु) नाश करे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा में शान्ति रखने के लिये चोर डाकू आदि राक्षसों का नाश करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११५ ॥

१-४ ॥ सविता जातवेदा वा देवता ॥ १, ४ अनुष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ३ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ॥

(हृदयात्) (आ ददे) (आ) चार्थे (ते) (मुखस्य) (संकाशात्) आकारात् (सर्वम्) (ते) तव (वर्चः) तेजो बलं वा (आ ददे) ॥

२—(प्र) बहिर्भावे (इतः) अस्मात् स्थानात् (यन्तु) गच्छन्तु (व्याध्यः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ । वि+आङ्+डुधाञ्—किः । जसि, गुणस्थाने यणादेशः । व्याधयः । रोगाः (प्र) (अनुध्याः) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । ३ । १०६ । अनु+ध्यै चिन्तायाम्—अङ्, टाप् । अनुतापाः (प्रो) बहिरेव (अशस्तयः) अपकीर्तयः (अग्निः) तेजस्वी राजा (रक्षस्विनीः) अ० ६ । २ । २ । राक्षसैर्युक्ताः सेनाः (हन्तु) नाशयतु (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (हन्तु) (दुरस्यतीः) अ० १ । २९ । २ । दुरस्य—शतृ, ङीप् । अनिष्टचिन्तिकाः प्रजाः ॥

दुर्लक्षणनाशोपदेशः—दुर्लक्षण के नाश का उपदेश ॥

प्र पंते॒तः पा॑पि लक्ष्मि॒ नश्ये॒तः प्रामुतः॑ पत ।
अ॒यस्मये॑नाङ्के॑न द्विष॒ते त्वा स॑जामसि ॥ १ ॥

प्र । पत॒ । इ॒तः । पापि॒ । लक्ष्मि॒ । नश्य॑ । इ॒तः । प्र । अ॒मुतः॑ । पत॒ ॥ अ॒यस्मये॑न । अ॒ङ्केन॑ । द्वि॒ष॒ते । त्वा॒ । आ । स॒जा॒म॒सि॒ ॥१॥

भाषार्थ—(पापि) हे पापी ! (लक्ष्मि) लक्षण [लक्ष्मी] ! (इतः) यहां से (प्र पत) चला जा, (इतः) यहां से (नश्य) छिप जा, (अमुतः) वहां से (प्र पत) चला जा । (अयस्मयेन) लोहे के (अङ्केन) कांटे से (त्वा) तुझको (द्विषते) वैरी में (आ सजामसि) हम चिपकाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुर्लक्षणों का सर्वथा त्याग करें। दुर्गुणों से दुष्ट लोग महादुःख पाते हैं ॥ १ ॥

या मा॑ ल॒क्ष्मीः प॑तया॒लूरजु॑ष्टाभि॒चस्क॒न्द॒ वन्द॑नेव वृ॒क्षम् । अ॒न्यत्रा॒स्मत् स॑वितु॒स्तामि॒तो धा॒ हिर॑ण्यहस्तो॒ वसु॒ नो॒ ररा॑णः ॥ २ ॥

या । मा॒ । ल॒क्ष्मीः । प॒त॒या॒लूः । अजु॑ष्टा । अ॒भि॒-च॒स्क॒न्द॑ । वन्द॑ना-इव । वृ॒क्षम् ॥ अ॒न्यत्र॑ । अ॒स्मत् । स॒वि॒तः॒ । ताम् । इ॒तः । धाः॒ । हिर॑ण्य-हस्तः । वसु॑ । नः॒ । ररा॑णः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(या) जो (पतयालूः) गिरानेवाला (अजुष्टा) अप्रिय

१—(प्र पत) बहिर्गच्छ (इतः) अस्मात् स्थानात् (पापि) केवलमामकभागधेयपापा० । पा० ४ । १ । ३० । पाप—ङीप्, हे दुष्टे (लक्ष्मि) लक्षेर्मुट् च । उ० ३ । १६० । लक्ष दर्शनाङ्कनयोः—ई, मुट् च । हे लक्षण (नश्य) अदृष्टा भव (इतः) (प्र) (अमुतः) दूरदेशात् (पत) (अयस्मयेन) लोहमयेन (अङ्केन) कण्टकेन (द्विषते) शत्रवे (त्वा) त्वाम् (आ) समन्तात् (सजामसि) षञ्ज सङ्गे सम्बन्धे च । सजामः । संबध्नीमः ॥

२—(या) (मा) माम् (लक्ष्मीः) म० १ । लक्षणम् (पतयालूः) स्पृहि-

(लक्ष्मीः) लक्षण (मा) मुझपर (अभिचस्कन्द) आ चढ़ा है, (इव) जैसे (वन्दना) बेल (वृक्षम्) वृक्ष पर। (सवितः) हे ऐश्वर्यवान् [परमेश्वर !] (हिरण्यहस्तः) तेज वा सुवर्ण हाथ में रखनेवाला, (नः) हमें (वसु) धन (रराणः) देता हुआ तू (इतः) यहां से, (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरे [दुष्टों में] (ताम्) उसको (धाः) धर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अनुग्रह से अधर्मरूप दुर्लक्षणों और दुष्टों से बचकर शुभ गुण प्राप्त करें ॥ २ ॥

एकंशतं लक्ष्म्यो३ मर्त्यस्य साकं तन्वा जनुषोऽधि जाताः। तासां पापिष्ठा निरितः प्र हिण्मः शिवा अस्मभ्यं जातवेदो नि यच्छ ॥ ३ ॥

एक-शतम्। लक्ष्म्यः। मर्त्यस्य। साकम्। तन्वा। जनुषः। अधि। जाताः॥ तासाम्। पापिष्ठाः। निः। इतः। प्र। हिण्मः। शिवाः। अस्मभ्यम्। जात-वेदः। नि। यच्छ ॥३॥

भाषार्थ—(एकशतम्) एक सौ एक [अपरिमित, पापिष्ठ और माङ्गलिक] (लक्ष्म्यः) लक्षण (मर्त्यस्य) मनुष्य के (तन्वा साकम्) शरीर के साथ (जनुषः) जन्म से (अधि) अधिकार पूर्वक (जाताः) उत्पन्न हुये हैं।

गृहिपतिदयि० । पा० ३ । २ । १५८ । पत गतौ, चुरादिः, अदन्तः—आलुच् । ऊङुतः । पा० ४ । १ । ६६ । ऊङ् स्त्रियाम् । पातयित्री । दुर्गतिकारिणी (अजुष्टा) अप्रिया (अभिचस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—लिट् । अभितःप्राप (वन्दना) सू०११२ म० १ लता (इव) यथा (वृक्षम्) (अन्यत्र) अन्येषु दुष्टेषु (अस्मत्) अस्मत्तः धार्मिकेभ्यः (सवितः) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ताम्) लक्ष्मीम्। लक्षणम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (धाः) दध्याः (हिरण्यहस्तः) हिरण्यं तेजः सुवर्णं वा हस्ते वशे यस्य सः (वसु) धनम् (नः) अस्मभ्यम् (रराणः) अ० ५ । २७ । ११ । ददानः ॥

३—(एकशतम्) एकाधिकशतसंख्याकाः । अपरिमिता इत्यर्थः (लक्ष्म्यः) म० १ । लक्षणानि (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (साकम्) सह (तन्वा) शरीरेण (जनुषः) अ० ४ । १ । २ । जन्मनः सकाशात् (अधि) अधिकारे (जाताः)

(तासाम्) उन में से (पापिष्ठाः) पापिष्ठ [लक्षणों] को (इतः) यहां से (निः) निश्चय करके (प्र हिण्मः) हम निकाले देते हैं, (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले परमेश्वर ! (अस्मभ्यम्) हमें (शिवाः) माङ्गलिक [लक्षण] (नि) नियम से (यच्छ) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पूर्व जन्मों के कर्म फलों से शुभ और अशुभ लक्षणों सहित जन्मता है। जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे क्लेशों को मिटाकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ३ ॥

एता एना व्याकरं खिले गा विष्ठिता इव ।
रमन्तां पुण्या लक्ष्मीर्याः पापीस्ता अनीनशम् ॥ ४ ॥

एताः । एनाः । वि-आकरम् । खिले । गाः । विस्थिताः-इव ॥
रमन्ताम् । पुण्याः । लक्ष्मीः । याः । पापीः । ताः । अनीनशम् ॥४॥

भाषार्थ—(एताः) इन [पुण्य लक्षणों] को और (एनाः) इन [पाप लक्षणों] को (व्याकरम्) मैंने स्पष्ट कर दिया है (इव) जैसे (खिले) विना जुते स्थान [जंगल] में (विष्ठिताः) खड़ी हुई (गाः) गौओं को । (पुण्याः) पुण्य (लक्ष्मीः) लक्षण (रमन्ताम्) ठहरे रहें, और (याः) जो (पापीः)

उत्पन्नाः (तासाम्) लक्ष्मीणां मध्ये (पापिष्ठाः) अतिशयेन पापीः (निः) निश्चयेन (इतः) अस्मात्स्थानात् (प्र हिण्मः) हि गतौ वृद्धौ च । प्रेरयामः । अपसारयामः (शिवाः) मङ्गलकारिणीर्लक्ष्मीः (अस्मभ्यम्) धर्मात्मभ्यः (जातवेदः) उत्पन्नानां पदार्थानां वेदितः (नि) नियमेन (यच्छ) दाण् दाने । देहि ॥

४—(एताः) पुण्याः (एनाः) पापीः (व्याकरम्) वि+आङ्+डु कृञ् करणे—लुङ् । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि । पा० ३ । १ । ५९ । इति च्लेरङ् । ऋदृशोऽङि गुणः । पा० ७ । ४ । १६ । इति गुणः । व्याख्यातवानस्मि (खिले) खिल कणश आदाने-क । अकृष्टदेशे (गाः) धेनूः (विष्ठिताः) विविधंस्थिताः (इव) यथा (रमन्ताम्) तिष्ठन्तु (पुण्याः) कल्याण्यः (लक्ष्मीः) लक्षण्यः ।

पापी [लक्षण] हैं, (ताः) उन्हें (अनीनशम्) मैं ने नष्ट कर दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य भले और बुरे कर्मों के लक्षण समझकर भलों का स्वीकार और बुरों का त्याग करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ११६ ॥

१-२ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ परोष्णिक्; २ आर्च्यनुष्टुप् ॥

रोगनिवारणोपदेशः—रोग निवारण का उपदेश ॥

नमो॑ रूरा॒य॒ च्यव॑नाय॒ नोद॑नाय धृ॒ष्णवे॑ ।

नमः॑ शी॒ताय॑ पूर्वकाम॒कृत्व॑ने ॥ १ ॥

नमः॑ । रू॒राय॑ । च्यव॑नाय । नोद॑नाय । धृ॒ष्णवे॑ ॥

नमः॑ । शी॒ताय॑ । पू॒र्व॒का॒म॒-कृत्व॑ने ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रूराय) घातक (च्यवनाय) पतित, (नोदनाय) ढकेलने वाले, (धृष्णवे) ढीठ [शत्रु] को (नमः) वज्र । (शीताय) शीत [समान] (पूर्वकामकृत्वने) पहिली कामनायें काटने वाले [वैरी] को (नमः) वज्र [होवे] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अति शीत खेती आदि को हानि करता है, वैसे हानि कारक शत्रु को दण्ड देना चाहिये ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अ० १ । २५ । ४ । से करो ॥

लक्षणानि (याः) (पापीः)—म० १ । पापकारिण्यः । दुर्लक्षणानि (अनीनशम्) अ० १ । २३ । ४ । नाशितवानस्मि ॥

१—(नमः) वज्रः-निघ० २ । २० (रूराय) अ० १ । २५ । ४ । घातकाय (च्यवनाय) अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४९ । च्युङ् गतौ-युच् । च्युताय पतिताय (नोदनाय) णुद प्रेरणे—युच् । प्रेरकाय । विक्षेपयित्रे (धृष्णवे) अ० १ । १३ । ४ । प्रगल्भाय शत्रवे (नमः) (शीताय) अ० १। २५। ४ । हिमसदृशाय (पूर्वकामकृत्वने) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कृती छेदने—क्वनिप् । नेड्वशि कृति० । पा० ७ । २ । ८ । इट् प्रतिषेधः । प्रथमाभिलाषाणां कर्तित्रे । छेदकाय वैरिणे ॥

यो अ॒न्ये॒द्युरु॒भय॒द्युर॒भ्येती॒मं म॒ण्डूक॑म॒भ्ये॒त्व॑व्र॒तः ॥ २ ॥

यः । अ॒न्ये॒द्युः । उ॒भय॒द्युः । अ॒भि॒ऽएति॑ । इ॒मम् । म॒ण्डूक॑म् । अ॒भि । ए॒तु॒ । अ॒व्र॒तः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अन्येद्युः) एकान्तरा और (उभयद्युः) दो अन्तरा [ज्वर समान] (अभ्येति) चढ़ता है, (अव्रतः) नियमहीन वह [रोग] (इमम्) इस (मण्डूकम्) मेंडक [समान टर्राने वाले आत्मश्लाघी पुरुष] को (अभि एतु) चढ़े [ऐसे ज्वर समान शत्रु पर वज्र होवे-म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे ज्वर आदि रोग कुनियमियों को सताता है, वैसे धर्मात्माओं के दुखदायी शत्रु लोग दण्डनीय हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ म॒न्द्रैरि॑न्द्र॒ हरि॑भिर्या॒हि म॒यूर॑रोमभिः । मा त्वा॒ के चि॒द्वि य॑म॒न् विं न पा॒शिनोऽति॒ धन्वे॑व॒ ताँ इ॑हि ॥ १ ॥

आ । म॒न्द्रैः । इ॒न्द्र॒ । हरि॑ऽभिः । या॒हि । म॒यूर॑रोमऽभिः ॥ मा । त्वा॒ । के । चि॒त् । वि । य॒म॒न् । विम् । न । पा॒शिनः॑ । अति॑ । धन्व॑ऽइव । तान् । इ॒हि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे प्रतापी राजन् ! (मन्द्रैः) गम्भीरध्वनियों से

२—(यः) ज्वरः (अन्येद्युः) सद्यः परुत् परार्यैषमः०। पा० ५।३।२२। अन्य—एद्युस् प्रत्ययः। अन्यस्मिन्नहनि (उभयद्युः) द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः। वा० पा० ५।३।२२ उभय—द्युस्प्रत्ययः। उभयोर्दिनयोः, अतीतयोरिति शेषः (अभ्येति) अभिगच्छति (इमम्) प्राणिनम् (मण्डूकम्) अ० ४।१५।१२। भेकतुल्यशब्दायमानमात्मश्लाघिनं पुरुषम् (अभ्येतु) अभिगच्छतु (अव्रतः) अ० ६।२०।१। भ्रष्टनियमः॥

१—(आ याहि) आगच्छ (मन्द्रैः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २।१३।

वर्तमान (मयूररोमभिः) मोरोंके रोम [समान चिकने, विचित्र रंग, दृढ़, बिजुली से युक्त रोमवस्त्र] वाले (हरिभिः) मनुष्यों और घोड़ोंके साथ (आ याहि) तू आ। (त्वा) तुझको (के चित्) कोई भी (मा वि यमन्) कभी न रोकें (न) जैसे (पाशिनः) जालवाले [चिड़ीमार] (विम्) पत्ती को; तू (तान् अति) उनके ऊपर होकर (इहि) चल (धन्व इव) जैसे निर्जल देश [के ऊपर से] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा के लिये चतुर विज्ञानियों के बनाये हुये कवच आदि से सजे हुये सेना, अश्व, रथ आदि के साथ शत्रुओं पर चढ़ाई करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ३ । १ । ४५; यजुः०-२० । ५३; साम० पू० ३ । ६ । ४ ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१ ॥ कवचसोमवरुणा देवताः ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सेनापतिकृत्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

मर्माणि ते वर्मणा छादयामि सोमस्त्वा राजामृतेनानु वस्ताम् । उरोर्वरीयो वरुणस्ते कृणोतु जयन्तं त्वानु देवा मदन्तु ॥ १ ॥

मर्माणि । ते । वर्मणा । छादयामि । सोमः । त्वा । राजा । अमृतेन । अनु । वस्ताम् ॥ उरोः । वरीयः । वरुणः । ते । कृणोतु । जयन्तम् । त्वा । अनु । देवाः । मदन्तु ॥ १ ॥

मदि स्तुतौ—रक्। गम्भीरध्वनिभिर्वर्तमानैः (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् (हरिभिः) मनुष्यैरश्वैश्च (मयूररोमभिः) मीनातेरूरन्। उ० १ । ६७। मीञ् हिंसायाम्—ऊरन्। नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्० । उ० ४। १५१। रु शब्दे—मनिन्। मयूररोमसदृशरोमाणि कवचवस्त्राणि येषां तैः (मा) निषेधे (त्वा) त्वां राजानम् (के चित्) केऽपि शत्रवः (वि) विविधम् (यमन्) यमु उपरमे लेट्यडागमः। नियच्छन्तु। प्रतिबध्नन्तु (विम्) वातेर्डिच्च। उ० ४। १३४। वा गतिगन्धनयोः—इण्, डित्। पक्षिणम् (न) उपमार्थे (पाशिनः) जालवन्तो व्याधाः (अति) अतीत्य (धन्व) अ० ४। ४। ७। निर्जलं मरुदेशम् (इव) यथा (तान्) शत्रून् (इहि) गच्छ ॥

भाषार्थ—[हे शूरवीर !] (ते) तेरे (मर्माणि) मर्मों को (वर्मणा) कवच से (छादयामि) मैं [सेनापति] ढांकता हूं, (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) राजा [कोशाध्यक्ष] (त्वा) तुझको (अमृतेन) अमृत [मृत्यु निवारक, शस्त्र, अस्त्र, वस्त्र, अन्न, औषध आदि] से (अनु) निरन्तर (वस्ताम्) ढके। (वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष [चतुर मार्गदर्शक] (ते) तेरे लिये (उरोः) चौड़े से (वरीयः) अधिक चौड़ा [स्थान] (कृणोतु) करे, (जयन्तम्) विजयी (त्वा अनु) तेरे पीछे (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (मदन्तु) आनन्द पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वाधीश मुख्य सेनापति अधिकारियों द्वारा योद्धाओं को समस्त आवश्यक सामग्री देकर उत्साहित करे, जिससे सब वीर आनन्दध्वनि करते हुये विजयी होवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० ६ । ७५ । १८; यजुः०—१७ । ४६ ; साम० उ० ६ । ३ । ८ ॥

इति दशमोऽनुवाकः ॥

इति सप्तमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगत श्रावणमास परीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये सप्तमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे श्रावणमासे शुक्लपञ्चम्यां तिथौ विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि

श्रीराजराजेश्वरपञ्चमजार्जमहोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—आश्विनकृष्णा १३ संवत् १६७३ ता० २५ सितम्बर १६१६ ॥

१—(मर्माणि) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । मृङ् प्राणत्यागे—मनिन् । शरीरसन्धिस्थानानि (ते) तव (वर्मणा) कवचेन (छादयामि) संवृणोमि (सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शासकः कोशाध्यक्षः (अमृतेन) मृत्युनिवारकेण शस्त्रास्त्रवस्त्रान्नौषधादिना वस्तुना (अनु) निरन्तरम् (वस्ताम्) आच्छादयतु (उरोः) उरुणः । विस्तृतात् (वरीयः) उरुतरं (स्थानम्) (वरुणः) श्रेष्ठो मार्गदर्शकः (कृणोतु) करोतु (जयन्तम्) अ० ६ । ६७ । ३ विजयिनम् (त्वा) (अनु) अनुलक्ष्य (देवाः) विजिगीषवो वीराः (मदन्तु) हृष्यन्तु ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७६ प्राप्त २० जुलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदीजी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करे। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुतही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्रव्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—
नन्दलाल सिंह,
B. Sc., L L. B. उप मन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २९ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्दजी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्य समाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्य समाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदानकरें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महाशय **मुन्शीरामजी**-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत **पं० शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फरवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनिवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यंत आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक वहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**-कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनयता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रंथ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६— लेखक श्रीयुत पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते— स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पण्डित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पण्डित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्व वेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्व वेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।.........इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पण्डित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोच कर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पण्डित क्षेमकरण दास जी जैसे विद्वान पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, Letter No. 624 date 6th February 1913.*

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE; Dera Ismail Khan.

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya :—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

—:o:—

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18. 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship, The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature...The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works...The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public atention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

* ओ३म् *

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"

आनन्द समाचार ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भावार्थ, ५—भावार्थ ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भाष्यपूर्णसंक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छप २ ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ साहूकार, विद्वान् और सब साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के परमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्म विद्या, वैद्यक विद्या शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक विद्याओं का तत्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्त्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८			पृष्ठ २११० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥=)	३)	२।)	२)			१५।)

काण्ड ९—छप रहा है। काण्ड १०—शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवन मन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संग्रहीत मन्त्र ईश्वरस्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान, सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंगरेजी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूल मात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

१५ दिसम्बर १९१६

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२ लूकरगंज प्रयाग (Allahabad.

१–सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ८ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथमपद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अन्तकाय मृत्यवे नमः	प्रजापति	मनुष्य कर्त्तव्य	पुरोबृहती आदि
२	आरभस्वेमाममृतस्य	प्रजापति आदि	कल्याण की प्राप्ति	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
३	रक्षोहणं वाजिनमा	अग्नि रक्षोहा	राजा का धर्म	त्रिष्टुप् आदि
३।१५	यः पौरुषेयेण क्रविषा	अग्नि रक्षोहा	मांस भक्षक का शिर काटना	भुरिक् त्रिष्टुप्
४	इन्द्रासोमा तपतं रक्ष	इन्द्रासोम आदि	राजा और मन्त्री का धर्म्म	जगती आदि
४।४,५	इन्द्रासोमा वर्तयतं	इन्द्रासोमौ	हथियार बनाना	जगती
५	अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो	कृत्यादूषण आदि	हिंसा का नाश	उपरिष्टाद् बृहती आदि
६	यौ ते मातोन्ममार्ज	प्रजापति	गर्भ की रक्षा	अनुष्टुप् आदि
७	या बभ्रवो याश्च शुक्रा	ओषधि	रोग का विनाश	अनुष्टुप् आदि
८	इन्द्रो मन्थतु मन्थिता	इन्द्र आदि	शत्रु का नाश	निचृदनुष्टुप् आदि
९	कुतस्तौ जातौ कतमः	प्रजापति आदि	ब्रह्म विद्या	त्रिष्टुप् आदि
१०(१)	विराड् वा इदमग्र आसीत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	आर्चीपङ्क्ति आदि
(२)	सोदक्रामत् सान्तरिक्षे	विराट्	ब्रह्म विद्या	साम्न्यनुष्टुप् आदि
(३)	सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	आर्ची पङ्क्ति आदि
(४)	सोदक्रामत्सासुराना-गच्छत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	साम्नी जगती आदि
(५)	सोदक्रामत् सा देवाना-गच्छत्	विराट्	ब्रह्म विद्या	आर्च्युष्णिक् आदि
(६)	तद्‌यस्मा एवं विदुषे	विराट्	ब्रह्म विद्या	साम्नी बृहती आदि

२–अथर्ववेद, काण्ड ८ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड ८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
१	आहार्षमविदं त्वा	१ । २०	१० । १६१ । ५		
२–२४	रक्षोहणं वाजिनमा	३ । १–२३	१० । ८७ । १–२३		
२५	वि ज्योतिषा बृहता	३ । २४	५ । २ । ९		
२६	अग्नी रक्षांसि सेधति	३ । २६	७ । १५ । १०		
२७-५१	इन्द्रासोमा तपतं	४ । १–२५	७ । १०४ । १–२५		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः

अष्टमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—२१ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ पुरोबृहती त्रिष्टुप्; २, ३, १७—२१ अनुष्टुप्; ४, ६, १५, १६ प्रस्तारपङ्क्तिः; ५, ६, १०, ११ त्रिष्टुप्; ७ भुरिक् त्रिपदा त्रिष्टुप्; ८ विराट् पथ्या बृहती, १२ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती; १३ त्रिपदा भुरिज् महाबृहती; १४ एकावसाना द्विपदा साम्नी भुरिग् बृहती ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अन्तकाय मृत्यवे नमः प्राणा अपाना इह ते रमन्ताम्
इहायमस्तु पुरुषः सहासुना सूर्यस्य भागे अमृतस्य लोके ॥१॥

अन्तकाय । मृत्यवे । नमः । प्राणाः । अपानाः । इह । ते । रमन्ताम् ॥ इह । अयम् । अस्तु । पुरुषः । सह । असुना । सूर्यस्य । भागे । अमृतस्य । लोके ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अन्तकाय) मनोहर करनेवाले [परमेश्वर] को (मृत्यवे) मृत्यु नाश करने के लिये (नमः) नमस्कार है, [हे मनुष्य !] (ते) तेरे

१—(अन्तकाय) हसिमृग्रिण्वामिदमि० । उ० ३ । ८६ । अम गत्यादिषु—तन् । अन्तो मनोहरः । तत्करोतीत्युपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । १ । २६ ।

(प्राणाः) प्राण और (अपानाः) अपान (इह) इस [परमेश्वर] में (रमन्ताम्) रमे रहें। (इह) इस [जगत्] में (अयम्) यह (पुरुषः) पुरुष (असुना सह) बुद्धि के साथ (सूर्यस्य) सब के चलाने वाले सूर्य [अर्थात् परमेश्वर] के (भागे) ऐश्वर्य समूह के बीच (अमृतस्य लोके) अमर लोक [मोक्षपद] में (अस्तु) रहे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने आत्मा को परमात्मा के गुणों में निरन्तर लगाते हैं, वे सर्वथा उन्नति करते हैं ॥ १ ॥

सूर्य परमेश्वर का नाम है—यजु० ७। ४२। (सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च) सूर्य चेतन और जड़ का आत्मा है ॥

उदे॑नं॒ भगो॑ अग्रभी॒दुदे॑नं॒ सोमो॑ अंशु॒मान् ।
उदे॑नं म॒रुतो॑ दे॒वा उदि॑न्द्रा॒ग्नी स्व॒स्तये॑ ॥ २ ॥

उत् । ए॒न॒म् । भगः॑ । अ॒ग्र॒भी॒त् । उत् । ए॒न॒म् । सोमः॑ । अं॒शु॒ऽमान् ॥
उत् । ए॒न॒म् । म॒रुतः॑ । दे॒वाः । उत् । इ॒न्द्रा॒ग्नी इति॑ । स्व॒स्तये॑ ॥२॥

भाषार्थ—(भगः) सेवनीय सूर्य ने (एनम्) इसे (उत्) ऊपर को, (अंशुमान्) अच्छी किरणों वाले (सोमः) चन्द्रमा ने (एनम्) इसे (उत्)

इति अन्त—णिच्—ण्वुल्। अन्तं करोति, अन्तयतीति अन्तकः। तस्मै मनोहरकर्त्रे परमेश्वराय (मृत्यवे) अ० ५। ३०। १२। मृत्युं नाशयितुम् (प्राणाः) वहिर्मुखसंचारिणो वायवः (अपानाः) अवाङ्मुखसंचारिणो वायवः (इह) अस्मिन् परमात्मनि (ते) तव (रमन्ताम्) क्रीडन्तु (इह) अस्मिन् जगति (अयम्) निर्दिष्टः (अस्तु) भवतु (पुरुषः) मनुष्यः (सह) (असुना) प्रज्ञया—निघ० ३। ६। (सूर्यस्य) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य। सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च—यजु० ७। ४२। इति प्रमाणम् (भागे) भग—अण्। ऐश्वर्याणां समूहे (अमृतस्य) मोक्षस्य (लोके) स्थाने ॥

२—(उत्) ऊर्ध्वम् (एनम्) पुरुषम् (भगः) सेवनीयः सूर्यः (अग्रभीत्) अग्रहीत्। धृतवान् (उत्) (एनम्) (सोमः) चन्द्रः (अंशुमान्) प्रशस्तकिरणयुक्तः (उत्) (एनम्) (मरुतः) अ० १। २०। १। वायुगणाः

ऊपर को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है। (देवाः) दिव्य (मरुतः) वायु गणों ने (एनम्) इसे (उत्) ऊपर को, (इन्द्राग्नी) बिजुली और [भौतिक] अग्नि ने (स्वस्तये) अच्छी सत्ता के लिये (उत्) ऊपर को [ग्रहण किया है] ॥ २ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानी पुरुष सूर्य आदि संसार के सब पदार्थों से उपकार लेते हैं, वे कल्याण भोगते हैं ॥ २ ॥

इह तेऽसु॑रिह प्राण इहायु॑रिह ते॒ मनः॑ ।
उत् त्वा॒ निर्ऋ॑त्याः॒ पाशे॑भ्यो॒ दैव्या॑ वा॒चा भ॑रामसि ॥३॥

इह । ते॒ । असुः॑ । इ॒ह । प्रा॒णः । इ॒ह । आयुः॑ । इ॒ह । ते॒ । मनः॑ ॥ उत् । त्वा॒ । निः॒-ऋ॑त्याः । पाशे॑भ्यः । दैव्या॑ । वा॒चा । भ॒रा॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) इस [परमेश्वर] में (ते) तेरी (असुः) बुद्धि, (इह) इस में (प्राणः) प्राण, (इह) इसमें (आयुः) जीवन, (इह) इसमें (ते) तेरा (मनः) मन [हो] । (त्वा) तुझको (निर्ऋत्याः) महा विपत्ति [अविद्या] के (पाशेभ्यः) जालों से (दैव्या) दैवी (वाचा) वाणी [वेद विद्या] के साथ (उत्) ऊपर (भरामसि) हम धरते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा पालन में सब इन्द्रियों सहित आत्मसमर्पण करें, यही विपत्तियों से बचने के लिये वेद का उपदेश है ॥ ३ ॥

उत् क्रा॒मातः॒ पुरु॑ष॒ माव॑ पत्था मृ॒त्योः पड्वी॑शमवमु॒ञ्चमा॑नः ।
मा च्छि॑त्था अ॒स्माल्लो॒काद॒ग्नेः सूर्य॑स्य सं॒दृशः॑ ॥ ४ ॥

(देवाः) प्रशस्तगुणाः (उत्) (इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (स्वस्तये) अ० १ । ३० । २ । सु+अस सत्तायाम्—ति । सुसत्तायै ॥

३—(इह) अस्मिन् परमेश्वरे (ते) तव (असुः) प्रज्ञा–निघ० ३ । ६ (इह) (प्राणः) जीवनसाधनं वायुः (इह) (आयुः) जीवनम् (इह) (ते) (मनः) अन्तःकरणम् (उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (निर्ऋत्याः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तेः । अविद्यायाः (पाशेभ्यः) जालेभ्यः (दैव्या) देव–यञ्, ङीप् । देवात् परमेश्वरात् प्राप्तया (वाचा) वाण्या (भरामसि) धरामः ॥

उत् । क्राम । अतः । पुरुष । मा । अव । पत्थाः । मृत्योः । पड्वीशम् । अव-मुञ्चमानः ॥ मा । छित्थाः । अस्मात् । लोकात् । अग्नेः । सूर्यस्य । सम्-दृशः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुष) हे पुरुष ! (अतः) इस [वर्तमान दशा] से (उत् क्राम) आगे डग बढ़ा, (मृत्योः) मृत्यु [अज्ञान, निर्धनता आदि] की (पड्वीशम्) बेड़ी को (अवमुञ्चमानः) छोड़ता हुआ (मा अव पत्थाः) मत नीचे गिर । (अस्मात् लोकात्) इस लोक [वर्तमान अवस्था] से, (अग्नेः) अग्नि [शरीर और आत्मबल] से, और (सूर्यस्य) सूर्य के (संदृशः) दर्शन [नियम] से (मा च्छित्थाः) मत अलग हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी वर्तमान दशा से आगे बढ़ने के लिये नित्य पुरुषार्थ करे ॥ ४ ॥

तुभ्यं वातः पवतां मातरिश्वा तुभ्यं वर्षन्त्वमृतान्यापः।
सूर्यस्ते तन्वे३ शं तपाति त्वां मृत्युर्दयतां मा प्र मेष्ठाः ५

तुभ्यम् । वातः । पवताम् । मातरिश्वा । तुभ्यम् । वर्षन्तु । अमृतानि । आपः ॥ सूर्यः । ते । तन्वे । शम् । तपाति । त्वाम् । मृत्युः । दयताम् । मा । प्र । मेष्ठाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तुभ्यम्) तेरे लिये (मातरिश्वा) अन्तरिक्ष में चलने वाला

४—(उत्) ऊर्ध्वम् (क्राम) क्रमु पादविक्षेपे । पादं विक्षिप (अतः) वर्तमानाया दशायाः (पुरुष) मनुष्य (मा अव पत्थाः) पद गतौ-लुङ् । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इट्प्रतिषेधः । झलो झलि । पा० ८ । २ । २६ । सिचो लोपः । अवपतनं मा कार्षीः (मृत्योः) अज्ञाननिर्धनतादि-दुःखस्य (पड्वीशम्) अ० ६ । ९६ । २ । पाशप्रवेशम् (अवमुञ्चमानः) विमोचयन् (मा च्छित्थाः) छिदिर् लुङि पूर्ववद् इट्प्रतिषेधः । छिन्नो मा भूः (अस्मात्) (लोकात्) अवस्थायाः (अग्नेः) शरीरात्मबलादित्यर्थः (सूर्यस्य) आदित्यस्य (संदृशः) दृशेः क्विप् । संदर्शनात् ॥

५—(तुभ्यम्) त्वदर्थम् (वातः) वायुः (पवताम्) शुद्धयतु (मातरिश्वा)

(वातः) वायु (पवताम्) शुद्ध हो, (तुभ्यम्) तेरे लिये (आपः) जल धारायें (अमृतानि) अमृतवस्तुयें (वर्षन्तु) वरसावें । (सूर्यः) सूर्य (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शम्) शान्ति से (तपाति) तपे, (मृत्युः) मृत्यु (त्वाम्) तुझ पर (दयताम्) दया करे, (मा प्र मेष्ठाः) तू मत दुःखी होवे ॥५॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य को वायु आदि पदार्थ सुखदायी होते हैं, और वह क्लेशों में नहीं पड़ता ॥ ५ ॥

उद्यानं ते पुरुष नावयानं जीवातुं ते दक्षतातिं कृणोमि ।
आ हि रोहेममृतं सुखं रथमथ जिर्विर्विदथमा वदासि ॥६॥

उत्-यानम् । ते । पुरुष । न । अव-यानम् । जीवातुम् । ते । दक्ष-तातिम् । कृणोमि ॥ आ । हि । रोह । इमम् । अमृतम् । सु-खम् । रथम् । अथ । जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पुरुष) हे पुरुष ! (ते) तेरा (उद्यानम्) चढ़ाव [होवे], (न) न (अवयानम्) गिराव, (ते) तेरे लिये (जीवातुम्) जीविका और (दक्षतातिम्) बल [योग्यता] (कृणोमि) मैं करता हूं । (हि) अवश्य (इमम्) इस

अ० ५ । १० । ८ । अन्तरिक्षसंचारी (तुभ्यम्) (वर्षन्तु) सिञ्चन्तु (अमृतानि) मृत्युनिवारकाणि वस्तूनि (आपः) जलधाराः (सूर्यः) (ते) तव (तन्वे) शरीराय (शम्) सुखम् (तपाति) लेटि, आडागमः (त्वाम्) (मृत्युः) (दयताम्) दय रक्षणे । पालयतु (मा प्र मेष्ठाः) मीङ् हिंसायाम्—लुङ् । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इट्प्रतिषेधः । हिंसितो दुःखितो मा भूः ॥

६—(उद्यानम्) ऊर्ध्वगमनम् (ते) तव (पुरुषः) (न) निषेधे (अवयानम्) अधः पतनम् (जीवातुम्) अ० ६ । ५ । २ । जीविकम्—निरु० ११ । ११ । (ते) तव (दक्षतातिम्) सर्वदेवात्तातिल् । पा० ४ । ४ । १४२ बाहुलकात्, दक्षादपि तातिल् स्वार्थे । दक्षं बलं योग्यताम् (कृणोमि) करोमि (आ रोह) अधितिष्ठ (हि) अवश्यम् (इमम्) पूर्वोक्तम् (अमृतम्) सनातनम् (सुखम्) सुखप्रदम्

(अमृतम्) अमर [सनातन], (सुखम्) सुखदायक (रथम्) रथ पर (आरोह) चढ़ जा [उपदेश मान], (अथ) फिर (जिर्विः) स्तुति योग्य [होकर] तू (विदथम्) विचार समाज में (आ वदासि) भाषण कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वराज्ञा और गुरु शिक्षा से विघ्नों को हटाकर आगे बढ़ते हैं, वे संसार में स्तुति पाकर सभाओं के अधिष्ठाता होते हैं ॥ ६ ॥

मा ते मनस्तत्र गान्मा तिरो भून्मा जीवेभ्यः प्र मदो मानु गाः पितॄन्। विश्वे देवा अभि रक्षन्तु त्वेह ॥७॥

मा । ते । मनः । तत्र । गात् । मा । तिरः । भूत् । मा । जीवेभ्यः । प्र । मदः । मो । अनु । गाः । पितॄन् ॥ विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । त्वा । इह ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरा (मनः) मन (तत्र) वहां [अधर्म में] (मा गात्) न जावे, और (मा तिरो भूत्) लुप्त न होवे, (जीवेभ्यः) जीवों के लिये (मा प्र मदः) भूल मत कर, (पितॄन् अनु) पितरों [माननीय माता पिता आदि विद्वानों] से न्यून होकर (मा गाः) मत चल । (विश्वे) सब (देवाः) इन्द्रियां (इह) इस [शरीर] में (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षन्तु) रक्षा करें ॥ ७ ॥

(रथम्) यानम् । उपदेशमित्यर्थः (अथ) अनन्तरम् (जिर्विः) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् । उ० ४ । ५४ । जॄ स्तुतौ—क्विन्, छान्दसो ह्रस्वः । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जीर्विः । स्तुत्यः (विदथम्) अ० १ । १३ । ४ । विद विचारणे—अथ, ङित् । विचारसमाजम् । यज्ञम्—निघ० ३ । १७ (आ वदासि) लेटि रूपम् । व्यक्तं भाषय ॥

७—(ते) तव (मनः) (तत्र) तस्मिन् कुकर्मणि (मा गात्) मा गच्छेत् (मा तिरो भूत्) अन्तर्हितं विलीनं न भवेत् (जीवेभ्यः) प्राणिनामर्थाय (मा प्र मदः) प्रपूर्वो मदिरनवधाने—लुङ्, पुषादित्वादङ् । प्रमादं मा कुरु (पितॄन् अनु) हीने च । पा० १ । ४ । ८६ । इत्यनुर्हीने कर्मप्रवचनीयः । पितृभ्यो मातापित्रादि-विद्वद्भ्यो न्यूनः सन् (मा गाः) गमनं मा कुरु (विश्वे) सर्वे (देवाः) इन्द्रियाणि (अभि) सर्वतः (रक्षन्तु) (त्वा) त्वाम् (इह) अस्मिन् शरीरे ॥

भावार्थ—मनुष्य अधर्म छोड़ कर सावधानी से सब प्राणियों पर उपकार करें, और माननीय पुरुषों से हेटे न रहकर जितेन्द्रिय और प्रबलेन्द्रिय रहें ॥ ७ ॥

मा गतानामा दीधीथा ये नयन्ति परावतम् ।
आ रोह तमसो ज्योतिरेह्या ते हस्तौ रभामहे ॥ ८ ॥

मा । गतानाम् । आ । दीधीथाः । ये । नयन्ति । परा-वतम् ॥
आ । रोह । तमसः । ज्योतिः । आ । इहि । आ । ते । हस्तौ । रभामहे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(गतानाम्) [उन] गये हुये [कुमार्गियों] का (आ) कुछ भी (मा दीधीथाः) मत प्रकाश कर, (ये) जो [मनुष्य को धर्म से] (परावतम्) दूर (नयति) ले जाते हैं। (तमसः) अन्धकार में से (आ रोह) ऊपर चढ़, (ज्योतिः) प्रकाश में (आ इहि) आ, (ते) तेरे (हस्तौ) दोनों हाथों को (आ रभामहे) हम पकड़ते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ-मनुष्य कुमार्गियों के मत में न फंस कर परस्पर ज्ञान बढ़ाकर उन्नति करें ॥ ८ ॥

श्यामश्च त्वा मा शबलश्च प्रेषितौ यमस्य यौ पथिरक्षी श्वानौ । अर्वाङेहि मा वि दीध्यो मात्र तिष्ठः पराङ्मनाः ॥ ९ ॥

श्यामः । च । त्वा । मा । शबलः । च । प्र-इषितौ । यमस्य । यौ । पथिरक्षी इति पथि-रक्षी । श्वानौ ॥ अर्वाङ् । आ ।

८—(गतानाम्) कुमार्गं प्राप्तानाम् (आ) ईषदर्थे (मा दीधीथाः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—लुङ्, छान्दसः सिचो लुक्। प्रकाशं मा कुरु (ये) कुमार्गिणः (नयन्ति) गमयन्ति । मनुष्यं सत्यादितिशेषः (परावतम्) दूरदेशम् (आ रोह) अधितिष्ठ (तमसः) अन्धकारमध्यात् (ज्योतिः) प्रकाशम् (एहि) आगच्छ (ते) तव (हस्तौ) (आ रभामहे) लस्य रः । आलभामहे। गृह्णीमः ॥

इ॒हि । मा । वि । दी॒ध्यः॒ । मा । अ॒त्र । ति॒ष्ठः॒ । परा॑क्-मनाः॥९॥

भाषार्थ—(श्यामः) चलने वाला [प्राणवायु] (च च) और (शबलः) जाने वाला [अपान वायु] (त्वा) तुझको (मा) न [छोड़ें], (यौ) जो दोनों [प्राण और अपान] (यमस्य) नियन्ता मनुष्य के (प्रेषितौ) भेजे हुये, (पथिरक्षी) मार्गरक्षक (श्वानौ) दो कुत्तों [के समान हैं]। (अर्वाङ्) समीप (आ इहि) आ, (मा वि दीध्यः) विरुद्ध मत क्रीड़ा कर, (इह) यहां पर (पराङ्मनाः) उदास मन होकर (मा तिष्ठः) मत ठहर ॥९॥

भावार्थ—मन्त्र के प्रथम पाद में [छोड़ें] पद अध्याहार है। मनुष्य प्राण, और अपान द्वारा बल पराक्रम स्थिर रखकर कभी दीन न होवें। प्राण और अपान शरीर की इस प्रकार रक्षा करते हैं जैसे कुत्ते मार्ग में अपने स्वामी की॥

यजुर्वेद ३४। ५५ में वर्णन है—" तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ) वहां पर दो न सोने वाले और बैठक [शरीर] में बैठने वाले, चलने फिरने वाले [प्राण और अपान] जागते हैं" ॥

मैतं पन्थामनु॑ गा भी॒म ए॒ष येन॒ पूर्वं॒ नेय॑थ॒ तं ब्र॑वीमि।
तम॑ ए॒तत् पु॑रुष॒ मा प्र प॑त्था भ॒यं प॒रस्ता॒दभ॑यं ते अ॒र्वाक् ॥ १० ॥ (१)

९—(श्यामः) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५। श्यैङ् गतौ–मक्। गमनशीलः प्राणवायुः (च) (त्वा) (मा) निषेधे। त्यजतामिति शेषः (शबलः) शपेर्वश्च। उ० १। १०५। शव गतौ–कल, वस्य वः। गतिमान्। अपानवायुः (च) (प्रेषितौ) प्रेरितौ। नियोजितौ (यमस्य) नियामकमनुष्यस्य (यौ) प्राणापानौ (पथिरक्षी) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। पथिन्+रक्ष पालने—इन्। मार्गरक्षकौ (श्वानौ) श्वन्नुक्षन्पूषन्०। उ० १। १५६। टुओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्। कुकुरौ यथा (अर्वाङ्) अ० ३। २। ३। अभिमुखः। समीपस्थः (एहि) आगच्छ (वि) विरुद्धम् (मा दीध्यः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—लेट्, अडागमः, परस्मैपदं छान्दसम्। देवनं क्रीडनं मा कार्षीः (अत्र) संसारे (मा तिष्ठः) गतिं निवृत्य मा वर्तस्व (पराङ्मनाः) उन्मनाः॥

मा । एतम् । पन्थाम् । अनु । गाः । भीमः । एषः । येन । पूर्वम् । न । इयथ । तम् । ब्रवीमि ॥ तमः । एतत् । पुरुष । मा । प्र । पत्थाः । भयम् । परस्तात् । अभयम् । ते । अर्वाक् १०(१)

भाषार्थ—(एतम्) इस (पन्थाम्) पथ [अधर्मपथ] पर (मा अनु गाः) मत कभी चल, (एषः) यह (भीमः) भयानक है, (येन) जिस [मार्ग] से (पूर्वम्) पहिले (न इयथ) तू नहीं गया है, (तम्) उसी [मार्ग] को (ब्रवीमि) मैं कहता हूं । (पुरुष) हे पुरुष ! (एतत्) इस (तमः) अन्धकार में (प्र) आगे (मा पत्थाः) मत पद रख (परस्तात्) दूरस्थान [कुपथ] में (भयम्) भय है, (अर्वाक्) इस ओर [धर्मपथ में] (ते) तेरे लिये (अभयम्) अभय है ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वानों के निश्चय से मनुष्यों को अधर्म छोड़कर धर्म पर चलना आनन्द दायक है ॥ १० ॥

रक्षन्तु त्वाग्नयो ये अप्स्व१न्ता रक्षतु त्वा मनुष्या३ यमिन्धते । वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा दिव्यस्त्वा मा प्र धाग् विद्युता सह ॥ ११ ॥

रक्षन्तु । त्वा । अग्नयः । ये । अप्-सु । अन्तः । रक्षतु । त्वा । मनुष्याः । यम् । इन्धते ॥ वैश्वानरः । रक्षतु । जात-वेदाः । दिव्यः । त्वा । मा । प्र । धाक् । वि-द्युता । सह ॥ ११ ॥

१०—(एतम्) प्रसिद्धम् (पन्थाम्) पन्थानम् । कुमार्गमित्यर्थः (अनु) निरन्तरम् (मा गाः) मा याहि (भीमः) भयानकः (एषः) कुमार्गः (येन) (पूर्वम्) अग्रे (न) निषेधे (इयथ) इण् गतौ-लिट्, छान्दसं रूपम् । इयेथ । गतवानसि (तम्) कुमार्गम् (ब्रवीमि) कथयामि (तमः) अन्धकारम् (एतत्) (पुरुष) (प्र) अग्रे (मा पत्थाः)-म० ४ । पदनं गमनं मा कार्षीः (भयम्) (परस्तात्) परस्मिन् दूरदेशे, कुमार्गे इत्यर्थः (अभयम्) कुशलम् (ते) तुभ्यम् (अर्वाक्) अभिमुखम् । समीपम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अप्सु अन्तः) जलों के भीतर (ये) जो (अग्नयः) अग्नियां हैं, वे (त्वा) तेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें, (यम्) जिसको (मनुष्याः) मनुष्य [यज्ञ आदि में] (इन्धते) जलाते हैं, वह [अग्नि] (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे । (वैश्वानरः) सब नरों में वर्तमान, (जातवेदाः) धन वा ज्ञान उत्पन्न करने वाला [जाठराग्नि तेरी] (रक्षतु) रक्षा करे, (दिव्यः) आकाश में रहने वाला [सूर्य] (विद्युता सह) बिजुली के साथ (त्वा) तुझ को (मा प्र धाक्) न जला डाले ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार के अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेकर शरीर रक्षा करें ॥ ११ ॥

मा त्वा क्रव्यादभि मंस्तारात् संकसुकाच्चर । रक्षतु त्वा द्यौ रक्षतु पृथिवी सूर्यश्च त्वा रक्षतां चन्द्रमाश्च । अन्तरिक्षं रक्षतु देवहेत्याः ॥ १२ ॥

मा । त्वा । क्रव्य-अत् । अभि । मंस्त । आरात् । सम्-कसुकात् । चर ॥ रक्षतु । त्वा । द्यौः । रक्षतु । पृथिवी । सूर्यः । च । त्वा । रक्षताम् । चन्द्रमाः । च ॥ अन्तरिक्षम् । रक्षतु । देव-हेत्याः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (क्रव्यात्) मांस भक्षक

११—(रक्षन्तु) (त्वा) (अग्नयः) (ये) (अप्सु) उदकेषु (अन्तः) मध्ये (रक्षतु) पालयतु (अन्ता रक्षतु) ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । पा० ६ । ३ । १११ । इति दीर्घः (त्वा) (मनुष्याः) (यम्) अग्निम् (इन्धते) अन्तर्गत-ण्यर्थः । दीपयन्ति यज्ञादिषु (वैश्वानरः) सर्वनरेषु वर्तमानो जाठराग्निः (रक्षतु) (जातवेदाः) जातधनः । जातज्ञानः (दिव्यः) दिवि आकाशे भवः सूर्यः (त्वा) (प्र) प्रकर्षेण (मा धाक्) दह भस्मीकरणे-लुङ् । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । मा दहतु ॥

१२—(त्वा) त्वाम् (क्रव्यात्) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षकः पशुरोगादिः

[पशु, रोग, आदि] (मा अभि मंस्त) न किसी प्रकार मारे (संकसुकात्) नाश करने वाले [विघ्न] से (आरात्) दूर दूर (चर) चल । (द्यौः) प्रकाशमान ईश्वर (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे, (पृथिवी) पृथिवी (रक्षतु) रक्षा करे, (सूर्यः) सूर्य (च च) और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा दोनों (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें । (अन्तरिक्षम्) मध्य लोक [तुझको] (देवहेत्याः) इन्द्रियों की चोट से (रक्षतु) बचावे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विघ्नों से बचकर सब पदार्थों का यथावत् उपयोग करते और इन्द्रियों को वश में रखते हैं, वे सुखी रहते हैं ॥ १२ ॥

बोधश्च॑ त्वा प्रतीबोधश्च॑ रक्षतामस्वप्नश्च॑ त्वानवद्राणश्च॑ रक्षताम् । गोपायंश्च॑ त्वा जागृ॑विश्च रक्षताम् ॥१३॥

बोधः । च । त्वा । प्रति-बोधः । च । रक्षताम् । अस्वप्नः । च । त्वा । अनव-द्राणः । च । रक्षताम् ॥ गोपायन् । च । त्वा । जागृ॑विः । च । रक्षताम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(बोधः) बोध [विवेक] (च) और (प्रतीबोधः) प्रतिबोध [चेतनता] (च) निश्चय करके (त्वा) तेरी (रक्षताम्) रक्षा करें, (अस्वप्नः) न सोने वाले (च) और (अनवद्राणः) न भागने वाले [दोनों] (त्वा) तेरी (च) निश्चय करके (रक्षताम्) रक्षा करें । (गोपायन्) चौ-

(अभि) सर्वतः (मा मंस्त) मन ज्ञाने वधे च-लुङ् । मा वधीत् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । (आरात्) दूरम् (संकसुकात्) अ० ५ । ३१ । ९ । कस नाशने-ऊक, ह्रस्वः । नाशकात् । विघ्नात् (चर) गच्छ (द्यौः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (देवहेत्याः) ऊतियूतिजूति० । पा० ३ । ३ । ९७ । हन गतौ वधे च-क्तिन् । इन्द्रियाणां हननात् । अन्यत् सुगमम् ॥

१३—(बोधः) विवेकः (च) समुच्चये (त्वा) त्वाम् (प्रतीबोधः) चेतना (च) निश्चयेन (रक्षताम्) पालयताम् (अस्वप्नः) अनिद्रः (च) (त्वा) (अनवद्राणः) द्रा स्वप्ने पलायने च—क्त । संयोगादेर्धातोर्यण्वतः ।

कसी करने वाले (च) और (जागृविः) जागने वाले [दोनों] (च) अवश्य (त्वा) तुझको (रक्षताम्) बचावें ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विवेक और चेतना पूर्वक सावधान रहकर रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो–अ० ५ । ३० । १० ॥

ते त्वा रक्षन्तु ते त्वा गोपायन्तु तेभ्यो नमस्तेभ्यः स्वाहा॥१४॥

ते । त्वा । रक्षन्तु । ते । त्वा । गोपायन्तु । तेभ्यः । नमः । तेभ्यः । स्वाहा ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ते) वे सब (त्वा) तेरी (रक्षन्तु) रक्षा करें, (ते) वे सब (त्वा) तेरी (गोपायन्तु)चौकसी करें, (तेभ्यः) उनके लिये (नमः) नमस्कार है, (तेभ्यः) उनके लिये (स्वाहा) सुन्दरवाणी है ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा से अग्नि, पृथिवी, आदि पदार्थों से [मन्त्र ११,—१३] यथावत् उपकार लेकर रक्षा में प्रवृत्त रहें ॥१४॥

जीवेभ्यस्त्वा समुदे वायुरिन्द्रो धाता दधातु सविता त्रायमाणः । मा त्वा प्राणो बलं हासीदसुं तेऽनु ह्वयामसि ॥१५॥

जीवेभ्यः । त्वा । सम्-उदे । वायुः । इन्द्रः । धाता । दधातु । सविता । त्रायमाणः ॥ मा । त्वा । प्राणः । बलम् । हासीत् । असुम् । ते । अनु । ह्वयामसि ॥ १५ ॥

पा० ८ । २ । ४३ । तस्य न । पलायमानः (गोपायन्) गोपायिता (जागृविः) अ० ५ । ३० । १० । जागरूकः । अन्यत्सुगमम् ॥

१४-(ते)-म० ११-१३ । अग्निपृथिव्यादिपदार्थाः (रक्षन्तु) पालयन्तु (त्वा) त्वाम् (गोपायन्तु) सर्वतो रक्षन्तु (नमः) सत्कारः (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । स्तुतिः । अन्यत्सुगमम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझको (जीवेभ्यः) जीवों के लिये (समुदे) पूरा उत्तमपन [करने] के लिये (वायुः) वायु, (इन्द्रः) मेघ और (धाता) पोषण करने वाला, (त्रायमाणः) पालन करने वाला (सविता) चलाने वाला सूर्य (दधातु) पुष्ट करे । (त्वा) तुझको (प्राणः) प्राण और (बलम्) बल (मा हासीत्) न छोड़े, (ते) तेरे लिये (असुम्) बुद्धि को (अनु) सदा (ह्वयामसि) हम बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु आदि पदार्थों के यथावत् प्रयोगसे निरन्तर बुद्धि बढ़ावें ॥ १५ ॥

मा त्वा जम्भः संहनुर्मा तमो विदन्मा जिह्वा बर्हिः प्रमयुः कथा स्याः । उत् त्वादित्या वसवो भरन्तूदिन्द्राग्नी स्वस्तये ॥ १६ ॥

मा । त्वा । जम्भः । सम्-हनुः । मा । तमः । विदत् । मा । जिह्वा । आ । बर्हिः । प्र-मयुः । कथा । स्याः ॥ उत् । त्वा । आदित्याः । वसवः । भरन्तु । उत् । इन्द्राग्नी इति । स्वस्तये ॥१६॥

भाषार्थ—(मा) न तो (जम्भः) नाश करने वाला (संहनुः) विघ्न, (मा) न (तमः) अन्धकार, (आ) और (मा) न (बर्हिः) सताने वाली (जिह्वा) जीभ (त्वा) तुझको (विदत्) पावे, (कथा) किस प्रकार से

१५—(जीवेभ्यः) जीवानां हिताय (त्वा) (समुदे) उङ् शब्दे-क्विप, तुक् च, पृषोदरादित्वाद् दत्वम् । सम्यगुत्कर्षाय (वायुः) (इन्द्रः) मेघः (धाता) पोषकः (दधातु) पोषयतु (त्वा) (प्राणः) आत्मबलम् (बलम्) शरीरबलम् (मा हासीत्) ओ हाक् त्यागे—लुङ् । मा त्याक्षीत् (असुम्) प्रज्ञाम् (ते) तुभ्यम् (अनु) निरन्तरम् (ह्वयामसि) आह्वयामः ॥

१६—(मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (जम्भः) जभि नाशने—अच् । नाशकः (संहनुः) शॄस्वृस्निहित्रप्यसिवसिहनि० । उ० १ । १० । हन हिंसागत्योः—उ । विघ्नः । मृत्युः (मा) (तमः) अन्धकारः (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ् । लभताम् (मा) (जिह्वा) रसना (आ) समुच्चये (बर्हिः) बृंहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०९ ।

(प्रमयुः) तू गिर जाने वाला (स्याः) होवे । (त्वा) तुझको (आदित्याः) प्रकाशमान विद्वान् लोग और (वसवः) श्रेष्ठ पदार्थ (उत्) ऊपर (भरन्तु) ले चलें और (इन्द्राग्नी) मेघ और अग्नि (स्वस्तये) सुन्दर सत्ता के लिये (उत्) ऊपर [ले चलें] ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब विघ्नों और अपवादों से बचकर विद्वानों और उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से उन्नति करते हैं, वे अपने जीवन में सुख भोगते हैं ॥ १६ ॥

उत् त्वा द्यौरुत् पृ॑थि॒व्युत् प्र॒जाप॑तिरग्रभीत् ।
उत् त्वा मृ॒त्योरोष॑धयः॒ सोम॑राज्ञीरपीपरन् ॥ १७ ॥

उत् । त्वा॒ । द्यौः । उत् । पृ॒थि॒वी । उत् । प्र॒जा-प॑तिः । अ॒ग्र॒भी॒त् ॥ उत् । त्वा॒ । मृ॒त्योः । ओष॑धयः । सोम॑-राज्ञीः । अ॒पी॒प॒र॒न् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझको (द्यौः) सूर्य ने (उत्) ऊपर को, (पृथिवी) पृथिवी ने (उत्) ऊपर को और (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर ने (उत्) ऊपर को (अग्रभीत्) ग्रहण किया है । (त्वा) तुझको (सोमराज्ञीः) सोम [अमृत वा चन्द्रमा] को राजा रखनेवाली (ओषधयः) ओषधियों ने (मृत्योः) मृत्यु से [अलगा कर] (उत्) भली भांति (अपीपरन्) पाला है ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर, सूर्य और पृथिवी के नियमों को विचार कर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके प्रसन्न रहें ॥ १७ ॥

मृङ् हिंसायाम्—इसि । हिंसास्वभावा (प्रमयुः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । डुमिञ् प्रक्षेपणे—उ । प्रक्षिप्तः (कथा) केन प्रकारेण (स्याः) त्वं भवेः (उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (आदित्याः) अ० १ । ६ । १ । प्रकाशमाना विद्वांसः (वसवः) श्रेष्ठपदार्थाः (भरन्तु) धारयन्तु (उत्) (इन्द्राग्नी) मेघपावकौ (स्वस्तये) सुसत्तायै ॥

१७–(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) त्वाम् (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (पृथिवी) (प्रजापतिः) प्रजापालको जगदीश्वरः (अग्रभीत्) गृहीतवान् (मृत्योः) मृत्युरूपदुःखात् (ओषधयः) अन्नादिपदार्थाः (सोमराज्ञीः) सोमोऽमृतं चन्द्रो वा राजा यासां ताः (अपीपरन्) पॄ पालनपूरणयोः—लुङ् । अपालयन् ॥

अयं देवा इहैवास्त्वयं मामुत्र गादितः ।
इमं सहस्रवीर्येण मृत्योरुत् पारयामसि ॥ १८ ॥

अयम् । देवाः । इह । एव । अस्तु । अयम् । मा । अमुत्र । गात् । इतः ॥ इमम् । सहस्र-वीर्येण । मृत्योः । उत् । पारयामसि ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे विजय चाहने वाले पुरुषो ! (अयम्) यह [शूर पुरुष] (इह) यहां [धर्म्मात्माओं में] (एव) ही (अस्तु) रहे, (अयम्) यह (अमुत्र) वहां [दुष्टों में] (इतः) यहां से [सत्समाज से] (मा गात्) न जावे । (इमम्) इस [पुरुष] को (सहस्रवीर्येण) सहस्रों प्रकार के सामर्थ्य के साथ (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले प्रकार (पारयामसि) हम पार लगाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य एक दूसरे को दुष्कर्मों से बचाकर धर्म में प्रवृत्त कर विज्ञान शिल्प आदि द्वारा अनेक प्रकार बल बढ़ाकर मृत्यु अर्थात् दरिद्रता आदि दुःखों से सुरक्षित रहें ॥ १८ ॥

उत् त्वा मृत्योरपीपरं सं धमन्तु वयोधसः ।
मा त्वा व्यस्तकेश्यो मा त्वाघरुदो रुदन् ॥ १९ ॥

उत् । त्वा । मृत्योः । अपीपरम् । सम् । धमन्तु । वयः-धसः ॥ मा । त्वा । व्यस्त-केश्यः । मा । त्वा । अघ-रुदः । रुदन् ॥१९॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले

१८—(अयम्) शूरपुरुषः (देवाः) हे विजिगीषवः (इह) धर्मात्मसु (एव) निश्चयेन (अस्तु) भवतु (मा गात्) न गच्छेत् (अमुत्र) तत्र । दुष्टेषु (इतः) अमरलोकात् । सत्समाजात् (इमम्) सत्पुरुषम् (सहस्रवीर्येण) अपरिमितसामर्थ्येन (मृत्योः) दरिद्रतादिदुःखात् (उत्) उत्कर्षेण (पारयामसि) पार कर्मसमाप्तौ । यद्वा, पॄ पालनपूरणयोः । पारयामः । तारयामः । पालयामः ॥

१९—(उत्) उत्कर्षेण (त्वा) त्वाम् (मृत्योः) दरिद्रतादिक्लेशात् (अपी-

प्रकार (अपीपरम्) मैं ने बचाया है। (वयोधसः) जीवन धारण करने वाले पदार्थ (सम्) ठीक ठीक (धमन्तु) मिलें। (त्वा) तुझको (मा) न तो (व्यस्तकेश्यः) प्रकाश गिरा देने वाली [विपत्तियां], और (मा) न (त्वा) तुझे (अघरुदः) पाप की पीड़ायें (रुदन्) रुलावें ॥ १९ ॥

भवार्थ—मनुष्य विद्वानों द्वारा अज्ञान से बचकर पुरुषार्थ करके विपत्तियों से छूट कर कभी दुःख न उठावें ॥ १९ ॥

आहा॑र्षमवि॑दं त्वा॒ पुन॒रागाः॒ पुन॑र्णवः ।

सर्वा॑ङ्ग॒ सर्वं॑ ते॒ चक्षुः॒ सर्व॒मायु॑श्च ते॒ऽवि॑दम् ॥ २० ॥

आ । अ॒हा॒र्ष॒म् । अवि॑दम् । त्वा॒ । पुन॑ः । आ । अ॒गाः॒ । पुन॑ः-नवः ॥ सर्व॑-अ॒ङ्ग॒ । सर्व॑म् । ते॒ । चक्षु॑ः । सर्व॑म् । आयु॑ः । च॒ । ते॒ । अ॒वि॒द॒म् ॥ २० ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझको (आ अहार्षम्) मैंने ग्रहण किया है और (अविदम्) पाया है, तू (पुनर्णवः) नवीन होकर (पुनः) फिर (आ अगाः) आया है। (सर्वाङ्ग) हे सम्पूर्ण [विद्या के] अङ्ग वाले (ते) तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (चक्षुः) दर्शन सामर्थ्य (च) और (ते)

परम्) पॄ पालनपूरणयोः—लुङ्। रक्षितवानस्मि (सम्) सम्यक् (धमन्तु) गच्छन्तु—निघ० २। १४। प्राप्नुवन्तु (वयोधसः) जीवनधारकाः पदार्थाः (मा) निषेधे (त्वा) (व्यस्तकेश्यः) वि+असु क्षेपणे—क्त+काशृ दीप्तौ—घञ्। आकारस्य एकारः। स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात्। पा० ४। १। ५४। इति ङीप्। केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा—निरु० १२। २५। व्यस्तः केशः प्रकाशो याभिस्ताः। नाशितप्रकाशाः (त्वा) (अघरुदः) रुदेः क्विप्। अघस्य रुदः। पापपीडाः (मा रुदन्) रुदिर् अश्रु-विमोचने—लुङ्। अन्तर्गतण्यर्थः। मा रूरुदन्। मा रोदयन्तु ॥

२०—(आ) समन्तात् (अहार्षम्) स्वीकृतवानस्मि (अविदम्) लब्धवानस्मि। (त्वा) ब्रह्मचारिणम् (पुनः) विद्याप्राप्त्यनन्तरम् (आ अगाः) आगतवानसि (पुनर्णवः) विद्यया नवीनजीवनः सन् (सर्वाङ्ग) प्राप्त—

तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (अविदम्) मैंने पायी है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिस पुरुष को आचार्य स्वीकार करके विद्यादान देकर द्विजन्मा बनाता है, वह सब प्रकार विद्या से प्रकाशित होकर उत्तम जीवनयुक्त होता है ॥ २० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६१ । ५ ॥

व्यवात् ते ज्योतिरभूदप त्वत् तमो अक्रमीत् ।

अप त्वन्मृत्युं निर्ऋतिमप यक्ष्मं नि दध्मसि ॥ २१ ॥

वि । अवात् । ते । ज्योतिः । अभूत् । अप । त्वत् । तमः । अक्रमीत् ॥ अप । त्वत् । मृत्युम् । निःऽऋतिम् । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (ज्योतिः) जोति (वि) विविध प्रकार (अवात्) आई है और (अभूत्) उपस्थित हुई है,(त्वत्) तुझ से (तमः) अन्धकार (अप अक्रमीत्) चलदिया है । (त्वत्) तुझसे (मृत्युम्) मृत्यु को और (निर्ऋतिम्) अलक्ष्मी को (अप) अलग और (यक्ष्मम्) राजरोग को (अप) अलग (नि दध्मसि) हम धरते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदद्वारा अज्ञान का नाश करके दुःखों और क्लेशों से छूट कर नीरोग होकर आनन्द भोगे ॥ २१ ॥

सूक्तम् २ ॥

१-२८ ॥ १-६, ११-१३, १५, १६, १६-२८ प्रजापतिः ; ७ भवाशर्वौ ; ८, १० मृत्युः ; ६ विश्वे देवाः ; १४ द्यावापृथिव्यादयः ; १७ वसा ; १८ व्रीहियवौ देवते ॥

विद्यासम्पूर्णाङ्ग (सर्वम्) सम्पूर्णम् (ते) तुभ्यम् (चक्षुः) दर्शनसामर्थ्यम् (आयुः) जीवनम् । अन्यद् गतम् ॥

२१—(वि) विविधम् (अवात्) वा गतिगन्धनयोः—लङ् । अगच्छत् (ते) तुभ्यम् (ज्योतिः) प्रकाशः (अभूत्) उपस्थितमभूत् (त्वत्) त्वत्तः (तमः) अन्धकारः । अबोधः (अप अक्रमीत्) अपक्रान्तमभूत् (अप) पृथक्-करणे (त्वत्) (मृत्युम्) प्राणनाशकं दुःखम् (निर्ऋतिम्) कृच्छ्रापत्तिम् (अप) (यक्ष्मम्) राजरोगम् (नि दध्मसि) निदध्मः । नीचैः स्थापयामः ॥

१, २, ७ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ३, २६ आस्तारपङ्क्तिः ; ४ प्रस्तारपङ्क्तिः ; ५, १०, १६–१८, २०, २३–२५, २७ अनुष्टुप् ; ६, १५ पथ्या पङ्क्तिः ; ८, १३ त्रिष्टुप् ज्योतिष्मती ; ९ पञ्चपदा जगती ; ११ विष्टारपङ्क्तिः ; १२, २२, २८ पुरस्ताद् बृहती ; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; १९ उपरिष्टाद् बृहती ; २१ बृहती छन्दः ॥

कल्याणप्राप्त्युपदेशः—कल्याण की प्राप्ति का उपदेश ॥

आ रभस्वेमाममृतस्य श्नुष्टिमच्छिद्यमाना जरदष्टिरस्तु ते । असुं त आयुः पुनरा भरामि रजस्तमो मोप गा मा प्र मेष्ठाः ॥ १ ॥

आ । रभस्व । इमाम् । अमृतस्य । श्नुष्टिम् । अच्छिद्यमाना । जरत्-अष्टिः । अस्तु । ते ॥ असुम् । ते । आयुः । पुनः । आ । भरामि । रजः । तमः । मा । उप । गाः । मा । प्र । मेष्ठाः ॥१॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अमृतस्य) अमृत की (इमाम्) इस (श्नुष्टिम्) प्राप्ति को (आ) भलीभांति (रभस्व) ग्रहण कर, (अच्छिद्यमाना) बिना कटती हुई (जरदष्टिः) स्तुति की व्याप्ति [फैलाव] (ते) तेरे लिये (अस्तु) होवे। (ते) तेरे (असुम्) बुद्धि और (आयुः) जीवन को (पुनः) वार वार (आ) अच्छे प्रकार (भरामि) मैं पुष्ट करता हूं, (रजः) रजोगुण और (तमः) तमोगुण को (मा उप गाः) मत प्राप्त हो और (मा प्र मेष्ठाः) मत पीड़ित हो ॥ १ ॥

१—(आ) समन्तात् (रभस्व) उपक्रमस्व । गृहाण (इमाम्) वक्ष्यमाणाम् (अमृतस्य) अमरणस्य । पुरुषार्थस्य (श्नुष्टिम् (अ० ३ । १७ । २ । ष्णुसु आदाने—क्तिन्, छान्दसं रूपम् । प्राप्तिम् (अच्छिद्यमाना) अच्छेदनीया (जरदष्टिः) अ० २ । २८ । ५ । जॄ स्तुतौ—अतृन् + अशु व्याप्तौ–क्तिन् । स्तुतिव्याप्तिः (अस्तु) (ते) तुभ्यम् (असुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ९ (ते) तव (आयुः) जीवनम् (पुनः) वारं वारम् (आ) (भरामि) पोषयामि (रजः) सत्त्वगुणप्रतिबन्धकं रजोगुणम् (तमः) हिताहितविवेकबाधकं तमोगुणम् (मा उप गाः) इण् गतौ–लुङ् मा प्राप्नुहि (मा प्र मेष्ठाः) मीञ् हिंसायाम् लुङ् । हिंसां पीडां मा प्राप्नुहि ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक सत्त्वगुण के प्रतिबन्धक रजोगुण और हित अहित ज्ञान के बाधक तमोगुण को छोड़कर सात्विक होकर जीवन को सफल करें ॥ १ ॥

जीवतां ज्योतिरभ्येह्यर्वाङा त्वा हरामि शतशारदाय। अवमुञ्चन्मृत्युपाशानशस्तिं द्राघीय आयुः प्रतरं ते दधामि ॥२॥

जीवताम्। ज्योतिः। अभि-एहि। अर्वाङ्। आ। त्वा। हरामि। शत-शारदाय॥ अव-मुञ्चन्। मृत्यु-पाशान्। अशस्तिम्। द्राघीयः। आयुः। प्र-तरम्। ते। दधामि॥ २॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (जीवताम्) जीते हुये मनुष्यों की (ज्योतिः) ज्योति (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (अभ्येहि) सब ओर से प्राप्त कर, (त्वा) तुझ को (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (आ) सब प्रकार (हरामि) स्वीकार करता हूं। (मृत्युपाशान्) मृत्यु के फन्दों और (अशस्तिम्) अपकीर्त्ति को (अवमुञ्चन्) छोड़ता हुआ मैं (द्राघीयः) अधिक दीर्घ और (प्रतरम्) अधिक उत्तम (आयुः) जीवन को (ते) तेरे लिये (दधामि) पुष्ट करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य जीते हुये अर्थात् पुरुषार्थी जनों का अनुकरण करके मानसिक और शारीरिक रोगों और निन्दित कर्मों से अलग रहकर कीर्ति बढ़ावें ॥ २ ॥

वातात् ते प्राणमविदं सूर्याच्चक्षुरहं तव। यत् ते

२—(जीवताम्) जीव प्राणधारणे—शतृ। प्राणिनां पुरुषार्थिनाम् (ज्योतिः) अनुकरणरूपं प्रकाशम् (अभ्येहि) सर्वतः प्राप्नुहि (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (आ) समन्तात् (त्वा) त्वां पुरुषम् (हरामि) स्वीकरोमि (शतशारदाय) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्ताय जीवनाय (अवमुञ्चन्) उत्सृजन् (मृत्युपाशान्) दुःखबन्धान् (अशस्तिम्) अपकीर्तिम् (द्राघीयः) प्रियस्थिर० । पा० ६। ४। १५७। दीर्घ—ईयसुन्, द्राघादेशः। दीर्घतरम् (आयुः) जीवनम् (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (ते) तुभ्यम् (दधामि) पोषयामि ॥

मनस्त्वयि तद् धारयामि सं वित्स्वाङ्गैर्वद जिह्वयालपन् ३

वातात् । ते । प्राणम् । अविदम् । सूर्यात् । चक्षुः । अहम् । तव ॥ यत् । ते । मनः । त्वयि । तत् । धारयामि । सम् । वित्स्व । अङ्गैः । वद । जिह्वया । अलपन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (वातात्) वायु से (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को और (सूर्यात्) सूर्य से (तव) तेरी (चक्षुः) दृष्टि (अहम्) मैं ने (अविदम्) पाया है । (यत्) जो (ते) तेरा (मनः) मन है, (तत्) उस को (त्वयि) तुझ में (धारयामि) स्थापित करता हूं, (अङ्गैः) [शास्त्र के] सब अङ्गों से (सम् वित्स्व) यथावत् जान, (जिह्वया) जीभ से (अलपन्) बकवाद न करता हुआ (वद) बोल ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे वायु से प्राण और सूर्य से दृष्टि स्थिर रहती है, वैसेही मनुष्य आत्मा में मन को निश्चल करके पदार्थों के तत्त्व को साक्षात् करके सारांश का उपदेश करे ॥ ३ ॥

प्राणेन त्वा द्विपदां चतुष्पदामग्निमिव जातमभि सं धमामि । नमस्ते मृत्यो चक्षुषे नमः प्राणाय तेऽकरम् ४

प्राणेन । त्वा । द्वि-पदाम् । चतुः-पदाम् । अग्निम्-इव । जातम् । अभि । सम् । धमामि ॥ नमः । ते । मृत्यो इति । चक्षुषे । नमः प्राणाय । ते । अकरम् ॥ ४ ॥

३—(वातात्) वायुसकाशात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनम् (अविदम्) लब्धवानस्मि (सूर्यात्) आदित्यात् (चक्षुः) दृष्टिम् (अहम्) प्राणी (तव) (यत्) (ते) तव (मनः) अन्तः करणम् (त्वयि) तवात्मनि (तत्) मनः (धारयामि) स्थापयामि (सम् वित्स्व) समो गमृच्छिप्रच्छिस्वरत्यर्तिश्रुविदिभ्यः । पा० १ । ३ । २६ । सं पूर्वाद् विद ज्ञाने आत्मनेपदम् । सम्यग् ज्ञानं प्राप्नुहि (अङ्गैः) शास्त्राङ्गैः (वद) उदीरय (जिह्वया) रसनया (अलपन्) लपनं प्रलापमनर्थकथनमकुर्वन् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (द्विपदाम्) दो पायों और (चतुष्पदाम्) चौपायों के (प्राणेन) प्राण से (अभि) सब ओर से (सम् धमामि) मैं फूंकता हूं, (इव) जैसे (जातम्) उत्पन्न हुये (अग्निम्) अग्नि को। (मृत्यो) हे मृत्यु ! (ते) तेरी (चक्षुषे) दृष्टि को (नमः) नमस्कार और (ते) तेरे (प्राणाय) प्राण [प्रबलता] को (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं ने किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु की दृष्टि और प्रबलता विचार कर दोपाये और चौपाये आदि प्राणियों से पुरुषार्थ सीखकर अपने पराक्रम से प्रज्वलित अग्नि के समान तेजस्वी होवें ॥ ४ ॥

अ॒यं जी॑वतु॒ मा मृ॑ते॒मं समी॑रयामसि ।
कृ॒णोम्य॑स्मै भेष॒जं मृत्यो॒ मा पुरु॑षं वधीः ॥ ५ ॥

अ॒यम् । जी॒वतु॒ । मा । मृ॒त । इ॒मम् । सम् । ई॒र॒या॒म॒सि॒ ॥
कृ॒णोमि॑ । अ॒स्मै॒ । भे॒ष॒जम् । मृत्यो॒ इति॑ । मा । पुरु॑षम् । व॒धीः॥ ५

भाषार्थ—(अयम्) यह [जीव] (जीवतु) जीता रहे (मा मृत) न मरे, (इमम्) इस [जीव] को (सम् ईरयामसि) हम वायु समान [शीघ्र] चलाते हैं। (अस्मै) इस के लिये मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं (मृत्यो) हे मृत्यु ! (पुरुषम्) [इस] पुरुष को (मा वधीः) मत मार ॥ ५ ॥

४—(प्राणेन) जीवनेन (त्वा) (द्विपदाम्) मनुष्यादीनाम् (चतुष्पदाम्) गवाश्वादीनाम् (अग्निम्) भौतिकपावकम् (इव) यथा (जातम्) नवोत्पन्नम् (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् (धमामि) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः। दीर्घश्वासेन संयोजयामि (नमः) नमस्कारः (ते) तव (मृत्यो) (चक्षुषे) दृष्ट्ये (नमः) प्राणाय) प्रकृष्टाय बलाय (ते) तव (अकरम्) कृतवानस्मि ॥

५—(अयम्) जीवः (जीवतु) प्राणान् धरतु (मा मृत) मृङ् प्राणत्यागे-लुङ्। प्राणान् मा त्यजतु (इमम्) आत्मानम् (समीरयामसि) वायुवच्छीघ्रं प्रेरयामः (कृणोमि) करोमि (अस्मै) जीवाय (भेषजम्) औषधम् (मृत्यो) (पुरुषम्) जीवम् (मा वधीः) मा जहि ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी निरालसी होकर धर्म में वायु समान शीघ्र चलते हैं, वे अमर मनुष्य दुःख में नहीं फंसते ॥ ५ ॥

जी॒व॒लां न॑घारि॒षां जी॒व॒न्तीमोष॑धीम॒हम्। त्रा॒य॒मा॒णां सह॑माना॒ सह॑स्वतीमि॒ह हु॑वे॒ऽस्मा अ॑रि॒ष्टता॑तये ॥ ६ ॥

जी॒व॒लाम्। न॒घ॒-रि॒षाम्। जी॒व॒न्तीम्। ओष॑धीम्। अ॒हम्॥ त्रा॒य॒मा॒णाम्। सह॑मानाम्। सह॑स्वतीम्। इ॒ह। हु॒वे॒। अ॒स्मै। अ॒रि॒ष्ट-ता॑तये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जीवलाम्) जीवन देनेवाली, (नघरिषाम्) न कभी हानि करनेवाली, (जीवन्तीम्) जीव रखनेवाली, (त्रायमाणाम्) रक्षा करनेवाली, (सहमानाम्) [रोग] दबा लेनेवाली, (सहस्वतीम्) बल वाली (ओषधीम्) ओषधि [समान वेद विद्या] को (इह) यहां [आत्मा में] (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) शुभ करने के लिये (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ओषधि समान वेद विद्या का सेवन करते हैं; वे शुभ भोगते हैं ॥ ६ ॥

(जीवला, जीवन्ती, और त्रायमाणा) ओषधि विशेष भी हैं ॥

अधि॑ ब्रू॒हि मा र॑भथाः सृ॒जेमं॒ तवै॒व सन्त्सर्व॑हाया इ॒हास्तु॑। भवा॑शर्वौ मृ॒डतं॒ शर्म॑ यच्छतमप॒सिध्य॑ दुरि॒तं धत्त॒माय॑ुः ॥ ७ ॥

६—(जीवलाम्) जीव+ला दाने-क, टाप्। जीवप्रदाम् (नघरिषाम्) स घा वीरो न रिष्यति-ऋक्० १।१८।४। पदमत्र (न) निषेधे (घ) अवधारणे, सांहितिको दीर्घः, रिष हिंसायाम्-क, टाप्। नैव हिंसाशीलाम् (जीवन्तीम्) ऋहिनन्दिजीविप्राणिभ्यः षिदाशिषि। उ० ३। १२७। जीव प्राणधारणे—झच्, षित्वात् ङीप्। प्राणधारिकाम्। अशुष्काम् (ओषधीम्) भेषजम् (त्रायमाणाम्) रक्षन्तीम् (सहमानाम्) रोगस्याभिभवित्रीम् (सहस्वतीम्) बलवतीम् (इह) आत्मनि (हुवे) आह्वयामि (अस्मै) जीवहिताय (अरिष्टतातये) अ० ३। ५। ५। शुभकरणाय ॥

अधि । ब्रूहि । मा । आ । रभथाः । सृज । इमम् । तव । एव । सन् । सर्व-हायाः । इह । अस्तु ॥ भवाशर्वौ । मृडतम् । शर्म । यच्छतम् । अप-सिध्य । दुः-इतम् । धत्तम् । आयुः ॥७॥

भाषार्थ—[हे मृत्यु-म० ५] (अधि ब्रूहि) ढाढ़स दे, (मा आ रभथाः) मत पकड़, (इमम्) इस [पुरुष] को (सृज) छोड़, यह (तव एव सन्) तेरा ही होकर (सर्वहायाः) सब गति वाला (इह) यहां (अस्तु) रहे। (भवाशर्वौ) भव, [सुख देने वाले प्राण] और शर्व [क्लेश वा मलः नाश करने वाले अपान वायु] तुम दोनों (मृडतम्) प्रसन्न हो, (शर्म) सुख (यच्छतम्) दान करो और (दुरितम्) दुर्गति (अपसिध्य) हटा कर (आयुः) जीवन (धत्तम्) पुष्ट करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य मृत्यु अर्थात् विपत्ति को सम्पत्ति का कारण समझकर पूर्ण साहसी होकर आत्मिक और शारीरिक बल से विघ्न हटाकर कीर्तिमान् होवें ॥ ७ ॥

अस्मै मृत्योअधिब्रूहीमं दयस्वोदितो३'यमेतु । अरिष्टः सर्वाङ्गः सुश्रुज्जरसा शतहायन आत्मना भुजमश्नुताम् ॥ ८ ॥

अस्मै । मृत्यो इति । अधि । ब्रूहि । इमम् । दयस्व । उत् । इतः । अयम् । एतु ॥ अरिष्टः । सर्व-अङ्गः । सु-श्रुत् । जरसा । शत-हायनः । आत्मना । भुजम् । अश्नुताम् ॥ ८ ॥

७—(अधि ब्रूहि) अनुग्रहेण वद (मा आ रभथाः) मा गृहाण (सृज) त्यज (इमम्) जीवम् (तव) (एव) (सन्) (सर्वहायाः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। ओहाङ् गतौ-असुन्, युगागमः। सर्वगतिः (इह) अस्मिन् संसारे (अस्तु) (भवाशर्वौ) अ० ४।२८।१। सुखस्य भावयिता कर्ता भवः प्राणः, दुःखस्य शरिता नाशकः शर्वोऽपानवायुश्च तौ (मृडतम्) सुखिनौ भवतम् (शर्म) सुखम् (यच्छतम्) दत्तम् (अपसिध्य) निराकृत्य (दुरितम्) दुर्गतिम् (धत्तम्) पोषयतम् (आयुः) जीवनम् ॥

भाषार्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु (अस्मै) इस [मनुष्य] को (अधि ब्रूहि) ढाढ़स दे, (इमम्) इस पर (दयस्व) दया कर, (अयम्) यह [मनुष्य] (उत् इतः=उदितः) उदय होता हुआ (एतु) चले। (अरिष्टः) निर्हानि, (सर्वाङ्गः) पूरे अङ्गों वाला, (सुश्रुत्) भली भांति सुनने वाला, (जरसा) स्तुति के साथ (शतहायनः) सौ वर्षों वाला होकर (आत्मना) आत्मबल से (भुजम्) पालन सामर्थ्य (अश्नुताम्) प्राप्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विपत्तियों में ढाढ़स बांधकर आगे बढ़ते जाते हैं वे आत्मावलम्बी [सूर्य के समान अन्धकार से] उदय होकर पूरा सुख भोगते हैं ॥ ८ ॥

देवानां हेतिः परि त्वा वृणक्तु पारयामि त्वा रजस उत् त्वा मृत्योरपीपरम्। आरादग्निं क्रव्यादं निरूहं जीवातवे ते परिधिं दधामि ॥ ९ ॥

देवानाम्। हेतिः। परि। त्वा। वृणक्तु। पारयामि। त्वा। रजसः। उत्। त्वा। मृत्योः। अपीपरम् ॥ आरात्। अग्निम्। क्रव्य-अदम्। निः-ऊहन्। जीवातवे। ते। परि-धिम्। दधामि

भाषार्थ—(देवानाम्) इन्द्रियों की (हेतिः) चोट (त्वा) तुझे (परि) सर्वथा (वृणक्तु) त्यागे, मैं (त्वा) तुझे (रजसः) राग से (पारयामि) पार करता हूं, (त्वा) तुझे (मृत्योः) मृत्यु से (उत्) भले प्रकार

८—(अस्मै) मनुष्याय (मृत्यो) (अधि) अनुग्रहेण (ब्रूहि) वद (इमम्) मनुष्यम् (दयस्व) दय पालने। दयां कुरु (उदितः) उद्गतः। उन्नतः (अयम्) मनुष्यः (एतु) गच्छतु (अरिष्टः) निर्हानिः (सर्वाङ्गः) पूर्णशरीरावयवः (सुश्रुत्) सुष्ठु श्रोता (जरसा) अ० १। ३०। २। स्तुत्या (शतहायनः) शतसंवत्सरायुर्युक्तः (आत्मनः) स्वावलम्बनेन (भुजम्) भुज पालने-क। पालनसामर्थ्यम् (अश्नुताम्) प्राप्नोतु ॥

९—(देवानाम्) इन्द्रियाणाम् (हेतिः) हननम् (परि) सर्वतः (त्वा) (वृणक्तु) वर्जयतु (पारयामि) तारयामि (त्वा) (रजसः) रागात् (उत्)

(अपीपरम्) मैं ने बचाया है। (क्रव्यादम्) मांसभक्षक [रोगोत्पादक] (अग्निम्) अग्नि को (आरात्) दूर (निरूहन्) हटाता हुआ मैं (ते) तेरे (जीवातवे) जीवन के लिये (परिधिम्) परिकोटा (दधामि) स्थापित करता हूं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों के विकार और विघ्नों को हटा कर अपना जीवन स्थिर करें ॥ ९ ॥

यत् ते नियानं रजसं मृत्यो अनवधर्ष्यम्। पथ इमं तस्माद् रक्षन्तो ब्रह्मास्मै वर्म कृण्मसि ॥ १० ॥ (३)

यत्। ते। नि-यानम्। रजसम्। मृत्यो इति। अनव-धर्ष्यम्। पथः। इमम्। तस्मात्। रक्षन्तः। ब्रह्म। अस्मै। वर्म। कृण्मसि ॥ १० ॥ (३)

भाषार्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु! (यत्) जो (ते) तेरा (रजसम्) संसार सम्बन्धी (नियानम्) मार्ग (अनवधर्ष्यम्) अजेय है। (तस्मात्) उस (पथः) मार्ग से (इमम्) इस [पुरुष] को (रक्षन्तः) बचाते हुये हम (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (ब्रह्म) ब्रह्म [वेद विद्या वा परमेश्वर] को (वर्म) कवच (कृण्मसि) बनाते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस कठिनाई को सामान्य पुरुष नहीं रोक सकते, उसको ब्रह्मवादी जन पार करके मोक्ष सुख पाते हैं ॥ १० ॥

कृणोमि ते प्राणापानौ जरां मृत्युं दीर्घमायुः स्वस्ति।

उत्कर्षेण (मृत्योः) मरणात् (अपीपरम्) अ० ८। १। १७। अपालयम् (आरात्) दूरे (अग्निम्) (क्रव्यादम्) मांसभक्षकम्। रोगोत्पादकम् (निरूहन्) निर्+वह प्रापणे शतृ, वस्य ऊकारश्छान्दसः। निर्गमयन् (जीवातवे) अ० ६। ५। २। जीवनाय (ते) तव (परिधिम्) प्राकारम् (दधामि) स्थापयामि ॥

१०—(यत्) (ते) तव (नियानम्) निरन्तरगमनम्। मार्गः (रजसम्) अर्श आद्यच्। लोकसंबद्धम् (मृत्यो) (अनवधर्ष्यम्) ऋहलोर्ण्यत्। पा० ३। १। १२४। ञिधृषा प्रागल्भ्ये—ण्यत्। धर्षितुं जेतुमशक्यम्। अजेयम् (पथः) मार्गात् (इमम्) पुरुषम् (तस्मात्) प्रसिद्धात् (रक्षन्तः) पालयन्तः (ब्रह्म) परिवृढं वेदं परमेश्वरं वा (अस्मै) पुरुषाय (वर्म) कवचम् (कृण्मसि) कृणमः। कुर्मः ॥

वैवस्वतेन प्रहितान् यमदूतांश्चरतोऽप सेधामि सर्वान् ॥ ११ ॥

कृणोमि । ते । प्राणापानौ । जराम् । मृत्युम् । दीर्घम् । आयुः । स्वस्ति ॥ वैवस्वतेन । प्र-हितान् । यम-दूतान् । चरतः । अप । सेधामि । सर्वान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (प्राणापानौ) प्राण और अपान, (जराम्=जरया) स्तुति के साथ (मृत्युम्) मृत्यु [प्राणत्याग], (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन और (स्वस्ति) कल्याण [अच्छी सत्ता] को (कृणोमि) मैं करता हूं । (वैवस्वतेन) मनुष्य सम्बन्धी [कर्म] द्वारा (प्रहितान्) भेजे हुये, (चरतः) घूमते हुये (सर्वान्) सब (यमदूतान्) मृत्यु के दूतों को (अप सेधामि) मैं हटाता हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—ब्रह्मवादी लोग अपनी शारीरिक और आत्मिक दशा सुधार-कर सब दरिद्रता, रोग आदि दुःखों को हटाते हैं ॥ ११ ॥

आरादरातिं निर्ऋतिं परो ग्राहिं क्रव्यादः पिशाचान् ।
रक्षो यत् सर्वं दुर्भूतं तत् तम इवाप हन्मसि ॥ १२ ॥

आरात् । अरातिम् । निः-ऋतिम् । परः । ग्राहिम् । क्रव्य-अदः । पिशाचान् ॥ रक्षः । यत् । सर्वम् । दुः-भूतम् । तत् । तमः-इव । अप । हन्मसि ॥ १२ ॥

११—(कृणोमि) करोमि (ते) तव (प्राणापानौ) शरीरे ऊर्ध्वाधः संचारिणौ वायू (जराम्) अ० ३ । ११ । ७ । तृतीयार्थे द्वितीया । जरया स्तुत्या (मृत्युम्) मरणम् (दीर्घम्) लम्बमानम् (आयुः) जीवनम् (स्वस्ति) सुसत्ताम् । क्षेमम् (वैवस्वतेन) अ० ६ । ११६ । १ । विवस्वत्-अण् । विवस्वन्तो मनुष्याः-निघ० २ । ३ । मनुष्य सम्बन्धिना कर्मणा (प्रहितान्) प्रेरितान् (यमदूतान्) मृत्युसंदेशहरान् । निर्धनत्वरोगादीन् (चरतः) परिभ्रमतः (अप सेधामि) दूरं गमयामि (सर्वान्) निःशेषान् ॥

भाषार्थ—(अरातिम्) निर्दानता, (निर्ऋतिम्) महामारी [दरिद्रता आदि महाविपत्ति] को (आरात्) दूर, (ग्राहिम्) जकड़ने वाली पीड़ा, (क्रव्यादः) मांस खाने वाले [रोगों] और (पिशाचान्) मांस भखने वाले [जीवों] को (परः) परे। और (यत्) जो कुछ (दुर्भूतम्) कुशील (रक्षः) राक्षस [दुष्ट प्राणी है], (तत्) उस (सर्वम्) सब को (तमःइव) अन्धकार के समान (अप हन्मसि) हम मार हटाते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य हिंसक रोगों, जीवों और दोषों से चौकस रह कर सुखी रहें ॥ १२ ॥

अ॒ग्नेष्टे॑ प्रा॒णम॒मृता॒दायु॑ष्मतो वन्वे जा॒तवे॑दसः। यथा॒ न रि॒ष्या अ॒मृतः॑स॒जूरस॒स्तत्ते॑ कृणोमि॒ तदु॑ ते॒ सम॑ृध्यताम्

अ॒ग्नेः। ते॒। प्रा॒णम्। अ॒मृता॑त्। आयु॑ष्मतः। व॒न्वे॒। जा॒तऽवे॑दसः॥ यथा॑। न। रि॒ष्याः॥ अ॒मृतः॑। स॒ऽजूः। अस॑ः। तत्। ते। कृ॒णो॒मि॒। तत्। ऊं॒ इति॑। ते॒। सम्। ऋ॒ध्य॒ता॒म् ॥१३॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे (प्राणम्) प्राण को (अमृतात्) अमर, (आयुष्मतः) बड़ी आयु वाले, (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले (अग्नेः) अग्नि [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (वन्वे) मैं मांगता हूं। (यथा) जिससे (न रिष्याः) तू न मरे, (सजूः) [उसके साथ] प्रीति वाला

१२—(आरात्) दूरम् (अरातिम्) रा दाने-क्तिन्। निर्दानताम् (निर्ऋतिम्) अ० ३। ११। २। कृच्छ्रापत्तिम् (परः) परस्तात्। दूरे (ग्राहिम्) अ० २। ६। १। ग्रहणशीलां पीडाम् (क्रव्यादः) मांसभक्षकान् रोगान् (पिशाचान्) अ० १। १६। ३। मांसाशनान् जीवान् (रक्षः) राक्षसः। दुष्टस्वभावः (यत्) (सर्वम्) (दुर्भूतम्) अनुचितम् (तत्) (तमः) अन्धकारम् (इव) यथा (अप हन्मसि) विनाशयामः॥

१३—(अग्नेः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (ते) तव (प्राणम्) जीवनम्) (अमृतात्) अमरात् (आयुष्मतः) दीर्घायुयुक्तात् (वन्वे) अहं याचे (जातवेदसः) उत्पन्नपदार्थज्ञात् (यथा) येन प्रकारेण (न रिष्याः) मा मृथाः (अमृतः) अमरः (सजूः) परमेश्वरेण सप्रीतिः (तत्) कर्म (ते) तुभ्यम्

तू (अमृतः) अमर (असः) रहे, मैं (तत्) वह [कर्म] (ते) तेरे लिये (कृणोमि) करता हूं, (तत् उ) वही (ते) तेरे लिये (सम्) यथावत् (ऋध्यताम्) सिद्ध होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा और गुरु जनों की शिक्षा में चलते हैं, वे बलवान् होकर सुख भोगते हैं ॥ १३ ॥

शिवे ते स्तां द्यावापृथिवी असंतापे अभिश्रियौ ।
शं ते सूर्य आ तपतु शं वातो वातु ते हृदे ।
शिवा अभि क्षरन्तु त्वापो दिव्याः पयस्वतीः ॥ १४ ॥

शिवे इति । ते । स्ताम् । द्यावापृथिवी इति । असंतापे इत्यसम्-तापे । अभि-श्रियौ ॥ शम् । ते । सूर्यः । आ । तपतु । शम् । वातः । वातु । ते । हृदे ॥ शिवाः । अभि । क्षरन्तु । त्वा । आपः । दिव्याः । पयस्वतीः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी (शिवे) मङ्गलकारी, (असन्तापे) सन्ताप रहित और (अभिश्रियौ) सब ओर से ऐश्वर्यप्रद (स्ताम्) होवें। (सूर्यः) सूर्य (ते) तेरे लिये (शम्) शान्ति से (आ तपतु) तपता रहे, और (वातः) पवन (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति से (वातु) चले। (शिवाः) मङ्गलकारी, (दिव्याः) दिव्य गुणवाले, (पयस्वतीः) दूध [उत्तम रस] वाले (आपः) जल (त्वा अभि) तेरे लिये (क्षरन्तु) बहें ॥ १४ ॥

(कृणोमि) करोमि (तत्) (उ) अवधारणे (ते) तुभ्यम् (सम्) सम्यक् (ऋध्यताम्) सिध्यतु ॥

१४—(शिवे) कल्याणकारिण्यौ (ते) तुभ्यम् (स्ताम्) भवताम् (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी (असन्तापे) सन्तापरहिते (अभिश्रियौ) अभितः सर्वतः श्रीर्लक्ष्मीर्याभ्यां ते। अभिश्रीप्रदे (शम्) यथा तथा सुखम् (ते) त्वदर्थम् (सूर्यः) आदित्यः (आ तपतु) प्रकाशयतु (शम्) सुखम् (वातः) वायुः (वातु) वहतु (ते) तव (हृदे) हृदयाय (शिवाः) मङ्गलकारिण्यः (अभि)

भावार्थ—मनुष्य आकाश पृथिवी आदि पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १४ ॥

शिवास्ते सन्त्वोषधय उत् त्वाहार्षमधरस्या उत्तरां पृथिवीमभि। तत्र त्वादित्यौ रक्षतां सूर्याचन्द्रमसावुभा॥१५

शिवाः। ते। सन्तु। ओषधयः। उत्। त्वा। अहार्षम्। अधरस्याः। उत्तराम्। पृथिवीम्। अभि॥ तत्र। त्वा। आ-दित्यौ। रक्षताम्। सूर्याचन्द्रमसौ। उभा॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (ओषधयः) ओषधें [अन्न-आदि] (शिवाः) मङ्गलकारी (सन्तु) होवें, मैंने (त्वा) तुझको (अधरस्याः) नीची [पृथिवी] से (उत्तराम्) ऊंची (पृथिवीम् अभि) पृथिवी पर (उत् अहार्षम्) उठाया है। (तत्र) वहां [ऊंचे स्थान पर] (त्वा) तुझको (उभा) दोनों (आदित्यौ) प्रकाशमान (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा [के समान नियम] (रक्षताम्) बचावें ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि पदार्थों के सुन्दर उपयोग से दिन दिन अधिक उन्नति करके प्रत्यक्ष सूर्य चन्द्रमा के समान परस्पर पालन करें ॥ १५ ॥

यत् ते वासः परिधानं यां नीविं कृणुषे त्वम्।
शिवं ते तन्वे३ तत् कृण्मः संस्पर्शेऽद्रूक्ष्णमस्तु ते ॥१६॥

यत्। ते। वासः। परि-धानम्। याम्। नीविम्। कृणुषे।

प्रति (क्षरन्तु) स्रवन्तु (त्वा) त्वाम् (आपः) जलानि (दिव्याः) उत्तमगुणाः (पयस्वतीः) पयसा दुग्धेन श्रेष्ठरसेन युक्ताः ॥

१५—(शिवाः) सुखकराः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (ओषधयः) व्रीह्यादयः (उत् अहार्षम्) उद्धृतवानस्मि (त्वा) त्वाम् (अधरस्याः) नीचायाः पृथिव्याः (उत्तराम्) उत्कृष्टाम् (पृथिवीम्) भूमिम् (अभि) प्रति (तत्र) उत्तरस्यां पृथिव्याम् (आदित्यौ) अ० १। ६। १। आदीप्यमानौ (रक्षताम्) पालयताम् (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्यचन्द्रौ यथा (उभा) उभौ ॥

त्वम् ॥ शिवम् । ते । तन्वे । तत् । कृण्मः । सम्-स्पर्शे । अद्रूक्ष्णम् । अस्तु । ते ॥ १६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जिस (वासः) वस्त्र को (परिधानम्) ओढ़ना और (याम्) जिस (नीविम्) पेटी [फेंटा] को (ते) अपने लिये (त्वम्) तू (कृणुषे) बनाता है। (तत्) उसे (ते) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (शिवम्) सुख देने वाला (कृण्मः) हम बनाते हैं, वह (ते) तेरे लिये (संस्पर्शे) छूने में (अद्रूक्ष्णम्) अनखुरखुरा (अस्तु) होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य कवच, अङ्गरक्षा आदि वस्त्र शरीर के लिये, सुखदायक बनावें ॥ १६ ॥

यत् क्षुरेण मर्चयता सुतेजसा वप्ता वपसि केशश्मश्रु ।
शुभं मुखं मा न आयुः प्र मोषीः ॥ १७ ॥

यत् । क्षुरेण । मर्चयता । सु-तेजसा । वप्ता । वपसि । केश-श्मश्रु ॥ शुभम् । मुखम् । मा । नः । आयुः । प्र । मोषीः ॥१७॥

भाषार्थ—(वप्ता) नापित तू (मर्चयता) [केशों का] पकड़ने वाले (सुतेजसा) बड़े तेज (यत्) जिस (क्षुरेण) छुरा से (केशश्मश्रु) केश और और डाढ़ी मूंछ को (वपसि) बनाता है। [उससे] (नः) हमारे (शुभम्) सुन्दर (मुखम्) मुख और (आयुः) जीवन को (मा प्र मोषीः) मत घटा ॥१७॥

१६—(यत्) (ते) त्वदर्थम्। स्वस्मै (वासः) वस्त्रम् (परिधानम्) उपर्य्याच्छादनम् (याम्) (नीविम्) नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः। उ० ४। १३६। नि+व्येञ् संवरणे-इण, स च डित्, यलोपश्च। कटिबन्धनम् (कृणुषे) करोषि (त्वम्) (शिवम्) सुखकरम् (ते) तव (तन्वे) शरीराय (तत्) वस्त्रम् (कृण्मः) कुर्मः (संस्पर्शे) स्पर्शकरणे (अद्रूक्ष्णम्) इण् सिञ्जि०। उ० ३। २। रूक्ष पारुष्ये—नक्, दकारश्छान्दसः। अरूक्षणम्। अकोठरम् (अस्तु) (ते) तुभ्यम् ॥

१७—(यत्) येन (क्षुरेण) क्षौरास्त्रेण (मर्चयता) मर्च शब्दे ग्रहणे च—शतृ। केशानां ग्रहीत्रा (सुतेजसा) सुतीक्ष्णेन (वप्ता) टुवप बीजसन्ताने मुण्डने च—तृन्। केशच्छेत्ता। नापितः (वपसि) मुण्डयसि। छिनत्सि

भावार्थ—मनुष्य केश छेदन करा के मुख और जीवन की शोभा बढ़ावें ॥ १७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि चूड़ाकर्म प्रकरण में आया है ॥

शि॒वौ ते॑ स्तां व्रीहियवाव॑बला॒साव॑दोम॒धौ ।
ए॒तौ यक्ष्मं॒ वि बा॑धेते ए॒तौ मु॑ञ्चतो॒ अंह॑सः ॥ १८ ॥

शि॒वौ । ते॒ । स्ता॒म् । व्री॒हि॒-य॒वौ । अ॒ब॒ला॒सौ । अ॒दो॒म॒धौ ॥
ए॒तौ । यक्ष्म॑म् । वि । बा॒धे॒ते॒ इति॑ । ए॒तौ । मु॒ञ्च॒तः॒ । अंह॑सः ॥१८॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (व्रीहियवौ) चावल और जौ (शिवौ) मङ्गल करनेवाले, (अबलासौ) बल के न गिराने वाले और (अदोमधौ) भोजन में हर्ष करनेवाले (स्ताम्) हों । (एतौ) यह दोनों (यक्ष्मम्) राज रोग को (वि) विशेष करके (बाधेते) हटाते हैं, (एतौ) यह दोनों (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चतः) छुड़ाते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चावल और जौ आदि सात्त्विक अन्न का भोजन प्रसन्न होकर करना चाहिये, जिससे वह पुष्टिकारक हो ॥ १८ ॥

यद॒श्नासि॒ यत् पिब॑सि धा॒न्यं॑ कृ॒ष्याः पयः॑ ।
यदा॒द्यं१॒ यद॑ना॒द्यं सर्वं॑ ते॒ अन्न॑मवि॒षं कृ॑णोमि ॥१९॥

(केशश्मश्रु) क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५, ३३ । क्लिश उपतापे, क्लिशू विबाधने-अन्, लस्य लोपः । इति केशाः कचाः । श्मश्रु यथा-अ० ५, १९ । २ । शिरोरोमाणि मुखरोमाणि च (शुभम्) शोभनम् (मुखम्) (नः) अस्माकम् (आयुः) जीवनम् (मा प्र मोषीः) मा प्रहिंसीः ॥

१८—(शिवौ) सुखकरौ (ते) तुभ्यम् (स्ताम्) (व्रीहियवौ) अन्नविशेषौ (अबलासौ) अ० ६ । ६३ । १ । अ + बल + असु क्षेपणे—क्विप् । शरीरबलस्य अक्षेप्तारौ (अदोमधौ) अद भक्षणे-असुन् + मद हर्षे—अच्, दस्य धः । भोजने हर्षकरौ (एतौ) व्रीहियवौ (यक्ष्मम्) राजरोगम् (वि) विशेषेण (बाधेते) अपनयतः (एतौ) (मुञ्चतः) मोचयतः (अंहसः) कष्टात् ॥

यत् । अ॒श्नासि॑ । यत् । पिब॑सि । धा॒न्य॑म् । कृ॒ष्याः । पयः॑ ॥
यत् । आ॒द्य॑म् । यत् । अ॒ना॒द्यम् । सर्व॑म् । ते॒ । अन्न॑म् ।
अ॒वि॒षम् । कृ॒णो॒मि॒ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो तू (कृष्याः) खेती का [उपजा] (धान्यम्) धान्य (अश्नासि) खाता है, और (यत्) जो तू (पयः) दूध वा जल (पिबसि) पीता है। (यत्) चाहे (आद्यम्) पुराना [धरा हुआ], (यत्) चाहे (अनाद्यम्) नवीन [पुराने से भिन्न] हो, (सर्वम्) वह सब (अन्नम्) अन्न (ते) तेरे लिये (अविषम्) निर्विष (कृणोमि) करता हूं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य खान पान विचार पूर्वक करते हैं, वे नीरोग रहते हैं ॥ १९ ॥

सायणाचार्य ने अर्थ किया है—(आद्यम्) खाने योग्य, सुख से भक्षणीय और (अनाद्यम्) न खाने योग्य, कठिन वा अत्यन्त कटु तिक्त द्रव्य ॥

अह्ने॑ च त्वा॒ रात्र॑ये चो॒भाभ्यां॒ परि॑ दद्मसि ।
अ॒राये॑भ्यो जिघ॒त्सुभ्य॑ इ॒मं मे॒ परि॑ रक्षत ॥ २० ॥ (४)

अह्ने॑ । च॒ । त्वा॒ । रात्र॑ये । च॒ । उ॒भाभ्या॑म् । परि॑ । द॒द्म॒सि॒ ॥
अ॒राये॑भ्यः । जि॒घ॒त्सु-भ्यः॑ । इ॒मम् । मे॒ । परि॑ । र॒क्ष॒त॒ ॥२०॥ (४)

भाषार्थ—(त्वा) तुझे (उभाभ्याम्) दोनों (अह्ने) दिन (च च)

१९—(यत्) यत्किञ्चित् (अश्नासि) खादसि (यत्) (पिबसि) (धान्यम्) अन्नम् (कृष्याः) कृषिकर्मणः प्राप्तम् (पयः) दुग्धं जलं वा (यत्) यदि वा (आद्यम्) दिगादिभ्यो यत्। पा० ४। ३। ५४। आदि–यत्। आदौ भवम्। प्रथमम्। पुराणम्। यद्वा अद भक्षणे–ण्यत्। अदनीयम्। सुखेन भक्षणीयम्–यथा सायणः (यत्) अनाद्यम्–आद्येन प्रथमेन भिन्नम्। नवीनम्। यद्वा अदनानर्हं कठिनद्रव्यम्, अत्यन्तकटुतिक्तत्वाद् वा अनाद्यम्–इति सायणः (सर्वम्) (ते) तुभ्यम् (अन्नम्) जीवनसाधनं भक्षणीयं वा द्रव्यम् (अविषम्) निर्विषम्। नीरोगम् (कृणोमि) करोमि ॥

२०—(अह्ने) दिनाय। प्रकाशकालाय (त्वा) त्वाम् (रात्रये) अन्धकार-

और (रात्रये) रात्रि को (परि दद्मसि) हम सौंपते हैं। (अरायेभ्यः) निर्दानी और (जिघत्सुभ्यः) खाना चाहने वाले लोगों से (इमम्) इस [पुरुष] को (मे) मेरे लिये (परि) सब प्रकार (रक्षत) तुम बचाओ ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाश अन्धकार और समय कुसमय का विचार करके शत्रुओं से परस्पर रक्षा करें ॥ २० ॥

शतं तेऽयुतं हायनान् द्वे युगे त्रीणि चत्वारि कृण्मः ।
इन्द्राग्नी विश्वे देवास्तेनु मन्यन्तामहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

शतम् । ते । अयुतम् । हायनान् । द्वे इति । युगे इति । त्रीणि । चत्वारि । कृण्मः ॥ इन्द्राग्नी इति । विश्वे । देवाः । ते । अनु । मन्यन्ताम् । अहृणीयमानाः ॥ २१ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (शतम्) सौ और (अयुतम्) दश सहस्र (हायनान्) वर्षों को [क्रम से] (द्वे युगे) दो युग, (त्रीणि) तीन [युग] और (चत्वारि) चार [युग] (कृण्मः) हम करते हैं। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि और (ते) वे [प्रसिद्ध] (विश्वे देवाः) सब दिव्य पदार्थ [सूर्य, पृथिवी आदि] (अहृणीयमानाः) संकोच न करते हुये (अनु मन्यन्ताम्) अनकूल रहें ॥ २१ ॥

कालाय (च च) समुच्चये (उभाभ्याम्) द्वाभ्याम् (परि दद्मसि) समर्पयामः (अरायेभ्यः) रा दाने—घञ्। आतो युक् चिण्कृतोः। पा० ७। ३। ३३। इति युक्। अदातृभ्यः (जिघत्सुभ्यः) अद भक्षणे—सन्—उप्रत्ययः। लुङ्सनोर्घस्लृ। पा० २। ४। ३७। अदेर्घस्लादेशे। एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्। पा० ७। २। १०। इट्प्रतिषेधः। सः स्यार्धधातुके। पा० ७। ४। ४९। इति तत्वम्। भक्षणेच्छुकेभ्यः पुरुषेभ्यः (इमम्) पुरुषम् (मे) मह्यम् (परि) सर्वतः (रक्षत) पालयत ॥

२१—(शतम्) कलिसन्धेः शतदैवदर्षाणि (ते) तुभ्यम् (अयुतम्) कलियुगस्य दशसहस्रदैववर्षाणि (हायनान्) अ० ३। १०। ६। संवत्सरान् (द्वे युगे) द्विगुणितं शतंचायुतंच द्वापरस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि (त्रीणि) त्रिगुणितं शतं चायुतं च त्रेतायुगस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि (चत्वारि) चतु-

भावार्थ—परमेश्वर ने यह सृष्टि और काल चक्र मनुष्य के उपकार के लिये बनाये हैं। विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की अपार महिमा में अपना पराक्रम बढ़ाकर नये नये आविष्कार करके अमर नाम करते हैं ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० १। ३५। ४ ॥

मन्त्र के पूर्वार्द्ध में सृष्टि का समय क्रम कलियुग, द्वापर, त्रेता और सत्ययुग और वर्षों का अर्थ दैववर्ष जान पड़ता है, सो इस प्रकार है ॥

सन्धिकाल	युगकाल
१००×१=१००	१०,०००×१=१०,०००
१००×२=२००	१०,०००×२=२०,०००
१००×३=३००	१०,०००×३=३०,०००
१००×४=४००	१०,०००×४=४०,०००
योगसन्धि १,००० वर्ष	योगयुग १,००,०००

योगसन्धि और युग १,०१,०००

गुणितं शतं चायुतं च कृतयुगस्य सन्धियुगयोर्दैववर्षाणि (क्रमशः) क्रमशः। अन्यद् यथा-अ० १। ३५। ४ (इन्द्राग्नी) वाय्वग्नी (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (ते) प्रसिद्धाः (अनुमन्यन्ताम्) अनुकूला भवन्तु (अहृणीयमानाः) असंकुचन्तः ॥

१—अथर्ववेद काण्ड ८ सूक्त २ मन्त्र २१ के अनुसार युगवर्ष गणना ॥

सूचना—मन्त्र में केवल [सौ, दश सहस्र, वर्षे, दो युग, तीन और चार] पद हैं, कलि आदि पदों की कल्पना की गयी है। एक दैववर्ष में ३६० [तीन सौ साठ] मानुष वा सौर वर्ष होते हैं ॥

सन्धि और युग	कलि		द्वापर		त्रेता		कृतयुग		चतुर्युगी	
	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष
सन्धि	१००	३६,०००	२००	७२,०००	३००	१,०८,०००	४००	१,४४,०००	१,०००	३,६०,०००
युग	१०,०००	३६,००,०००	२०,०००	७२,००,०००	३०,०००	१,०८,००,०००	४०,०००	१,४४,००,०००	१,००,०००	३,६०,००,०००
योग	१०,१००	३६,३६,०००	२०,२००	७२,७२,०००	३०,३००	१,०९,०८,०००	४०,४००	१,४५,४४,०००	१,०१,०००	३,६३,६०,०००

२—मनु अध्याय १ श्लोक ६९—७० और सूर्य सिद्धान्त अध्याय १ श्लोक १५-१७ के अनुसार युग वर्ष गणना ॥

सन्धि और युग	कृतयुग		त्रेतायुग		द्वापरयुग		कलियुग		चतुर्युगी	
	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष	दैव वर्ष	मानुष वा सौर वर्ष
सन्ध्या वर्ष	४००	१,४४,०००	३००	१,०८,०००	२००	७२,०००	१००	३६,०००	१,०००	३,६०,०००
युग वर्ष	४,०००	१४,४०,०००	३,०००	१०,८०,०००	२,०००	७,२०,०००	१,०००	३,६०,०००	१०,०००	३६,००,०००
संध्यांशवर्ष	४००	१,४४,०००	३००	१,०८,०००	२००	७२,०००	१००	३६,०००	१,०००	३,६०,०००
योग ...	४,८००	१७,२८,०००	३,६००	१२,९६,०००	२४,०००	८,६४,०००	१,२००	४,३२,०००	१२,०००	४३,२०,०००

[आगे मनु श्लोक ७१, ७२ के अनुसार बारह सहस्र चतुर्युगी का एक दैव युग और एक सहस्र दैव युग का ब्रह्मा का एक दिन, और इतनी ही रात्री। अर्थात् १२,००० दैव वर्ष × १००० युग × ३६० मानुष वर्ष=४,३२,००,००,००० [चार अरब बत्तीस करोड़] मानुष वर्ष का एक दिन और इतनी वर्षों की ब्रह्मा की रात्री है, परन्तु मन्त्र का संबन्ध इससे नहीं है] ॥

शरदे त्वा हेमन्ताय वसन्ताय ग्रीष्माय परि दद्मसि ।
वर्षाणि तुभ्यं स्योनानि येषु वर्धन्त ओषधीः ॥ २२ ॥

शरदे । त्वा । हेमन्ताय । वसन्ताय । ग्रीष्माय । परि । दद्मसि ॥
वर्षाणि । तुभ्यम् । स्योनानि । येषु । वर्धन्ते । ओषधीः ॥२२॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझे (शरदे) शरद्, (हेमन्ताय) हेमन्त [और शिशिर], (वसन्ताय) वसन्त और (ग्रीष्माय) ग्रीष्म [ऋतु] को (परि दद्मसि) हम सौंपते हैं। (वर्षाणि) वर्षायें (तुभ्यम्) तेरे लिये (स्योनानि) मनभावनी [होवें], (येषु) जिनमें (ओषधीः) ओषधें [अन्न आदि वस्तुयें] (वर्द्धन्ते) बढ़ती हैं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब ऋतुओं से यथावत् उपयोग लेकर सुखी रहें ॥ २॥
" इस मन्त्र का मिलान अ० ६ । ५५ । २ । से करो जहां छह ऋतुयें वर्णित हैं ॥

मृत्युरीशे द्विपदां मृत्युरीशे चतुष्पदाम् ।
तस्मात् त्वां मृत्योर्गोपतेरुद्भरामि स मा बिभेः ॥ २३ ॥

मृत्युः । ईशे । द्वि-पदाम् । मृत्युः । ईशे । चतुः-पदाम् ॥ तस्मात् ।
त्वाम् । मृत्योः । गो-पतेः । उत् । भरामि । सः । मा । बिभेः ॥२३॥

भाषार्थ—(मृत्युः) मृत्यु (द्विपदाम्) दोपायों का (ईशे) शासक है, (मृत्युः) मृत्यु (चतुष्पदाम्) चौपायों का (ईशे) शासक है। (तस्मात्)

२२—(परि दद्मसि) समर्पयामः (वर्षाणि) श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः (तुभ्यम्) (स्योनानि) सुखकराणि (येषु) (वर्द्धन्ते) उत्पद्यन्ते (ओषधीः) व्रीहियवादयः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६ । ५५ । २ । (शरदे) आश्विन-कार्तिकात्मकाय कालाय (त्वा) त्वाम् (हेमन्ताय) अग्रहायणपौषात्मकाय कालाय । शिशिरसहिताय माघफाल्गुनसहिताय (ग्रीष्माय) ज्येष्ठाषाढात्म-काय कालाय ॥

२३—(मृत्युः) (ईशे) ईष्टे । शासको भवति (द्विपदाम्) पदद्वयो-पेतानां मनुष्यपक्ष्यादीनाम् (मृत्युः) (ईशे) (चतुष्पदाम्) पदचतुष्टययुक्तानां

उस (गोपतेः) पृथिवी के स्वामी (मृत्योः) मृत्यु से (त्वाम्) तुझे (उत् भरामि) ऊपर उठाता हूं (सः) सो तू (मा विभेः) मत भय कर ॥ २३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष प्रबल मृत्यु से निर्भय होकर विचरते रहते हैं।२३।

सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः ।
न वै तत्र म्रियन्ते नो यन्त्यधमं तमः ॥ २४ ॥

सः । अरिष्ट । न । मरिष्यसि । न । मरिष्यसि । मा । बिभेः ॥
न । वै । तत्र । म्रियन्ते । नो इति । यन्ति । अधमम् । तमः ॥२४॥

भाषार्थ—(अरिष्ट) हे निर्हानि ! (सः) सो तू (न) नहीं (मरिष्यसि) मरेगा, तू (न) नहीं (मरिष्यसि) मरेगा, (मा विभेः) मत भय कर। (तत्र) वहां पर [कोई] (वै) भी (न) नहीं (म्रियन्ते) मरते हैं, (नो) और नहीं (अधमम्) नीचे (तमः) अन्धकार में (यन्ति) जाते हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—जहां पर मनुष्य ब्रह्म का विचार करते रहते हैं [देखो मन्त्र २५], वहां मृत्यु का भय नहीं होता ॥ २४ ॥

सर्वो वै तत्र जीवति गौरश्वः पुरुषः पशुः ।
यत्रेदं ब्रह्म क्रियते परिधिर्जीवनाय कम् ॥ २५ ॥

सर्वः । वै । तत्र । जीवति । गौः । अश्वः । पुरुषः । पशुः ॥
यत्र । इदम् । ब्रह्म । क्रियते । परि-धिः । जीवनाय । कम् ॥२५॥

गवाश्वादीनाम् (तस्मात्) प्रसिद्धात् (त्वाम्) मनुष्यम् (मृत्योः) मरणात् (गोपतेः) भूमिशासकात् (उत् भरामि) उद्धारयामि (सः) स त्वम् (मा विभेः) भयं मा कुरु ॥

२४—(सः) स त्वम् (अरिष्ट) हे निर्हाने (न) निषेधे (मरिष्यसि) प्राणान् त्यक्ष्यसि (न) (मरिष्यसि) (मा विभेः) भीतिं मा कुरु (न) (वै) अवश्यम्) (तत्र) ब्रह्मणि—मन्त्र २५ (म्रियन्ते) प्राणान् त्यजन्ति (नो) नैव (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (अधमम्) नीचीनम् (तमः) अन्धकारम् ॥

भाषार्थ—(सर्वः) (सब (वै) ही (तत्र) वहां (जीवति) जीता रहता है, (गौः) गौ, (अश्वः) घोड़ा, (पुरुषः) पुरुष, और (पशुः) पशु [हाथी ऊंट आदि]। (यत्र) जहां पर (इदम्) यह [प्रसिद्ध] (ब्रह्म) ब्रह्म [परमेश्वर] (जीवनाय) जीवन के लिये (कम्) सुख से (परिधिः) कोट [समान रक्षा साधन] (क्रियते) बनाया जाता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्म के आश्रित रहते हैं, व जीवन्मुक्त होकर सब सुख भोगते हैं ॥ २५ ॥

इस मन्त्र का सम्बन्ध मन्त्र २३, २४ से है ॥

परि त्वा पातु समानेभ्योऽभिचारात् सबन्धुभ्यः ।
अमम्रिर्भवामृतोतिजीवो मा ते हासिषुरसवः शरीरम् ॥२६॥

परि । त्वा । पातु । समानेभ्यः । अभि-चारात् । सबन्धु-भ्यः ॥
अमम्रिः । भव । अमृतः । अति-जीवः । मा । ते । हासिषुः ।
असवः । शरीरम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—वह [ब्रह्म—म० २५] (त्वा) तुझ को (अभिचारात्) दुष्कर्म से (सबन्धुभ्यः) बन्धुओं सहित (समानेभ्यः) साथियों के [हित के] लिये (परि) सब प्रकार (पातु) बचावे। (अमम्रिः) बिना मृत्युवाला,

२५—(सर्वः) निःशेषः (वै) एव (तत्र) ब्रह्माश्रये (जीवति) प्राणान् धारयति (गौः) धेनुः (अश्वः) घोटकः (पुरुषः) मनुष्यः (पशुः) गजोष्ट्रादिः (तत्र) (इदम्) प्रसिद्धम् (ब्रह्म) परिवृढः परमात्मा (परिधिः) प्राकारो यथा रक्षासाधनम् (जीवनाय) प्राणधारणाय (कम्) सुखेन ॥

२—(परि) सर्वतः (त्वा) त्वाम् (पातु) रक्षतु (समानेभ्यः) समानानां सदृशगुणस्वभावानां हिताय (अभिचारात्) विरुद्धाचरणात्। उपद्रवात् (सबन्धुभ्यः) बन्धुसहितेभ्यः (अमम्रिः) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च। पा० । ३ । २ । १७१ । मृङ् प्राणत्यागे—कि, नञ् समासः । अमरणशीलः (भव) (अमृतः) अमरः । पुरुषार्थी (अतिजीवः) उत्तरजीवी (ते) तव (मा हासिषुः) ओ हाक् त्यागे-लुङ् । मा त्यजन्तु (असवः) प्राणाः (शरीरम्) देहम् ॥

(अमृतः) अमर, (अतिजीवः) उत्तर जीवी (भव) हो, (ते) तेरे (असवः) प्राण [तेरे] (शरीरम्) शरीर को (मा हासिषुः) न छोड़ें ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर का सहारा लेकर परोपकार करते हैं, वे ब्रह्मचारी अधिक जीकर अधिक उपकारी होते हैं ॥ २६ ॥

ये मृत्यव एकशतं या नाष्ट्रा अतितार्याः ।
मुञ्चन्तु तस्मात् त्वां देवा अग्नेर्वैश्वानरादधि ॥ २७ ॥

ये । मृत्यवः । एक-शतम् । याः । नाष्ट्राः । अति-तार्याः ॥
मुञ्चन्तु । तस्मात् । त्वाम् । देवाः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ये) जो (एकशतम्) एक सौ एक (मृत्यवः) मृत्युयें और (याः) जो (नाष्ट्राः) नाश करने वाली [पीड़ायें] (अतितार्याः) पार करने योग्य हैं । (तस्मात्) उस [क्लेश] से (त्वाम्) तुझ को (देवाः) [तेरे] उत्तम गुण (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) अग्नि [सर्व व्यापक परमेश्वर] का आश्रय लेकर (अधि) अधिकार पूर्वक (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ २७ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी योगीजन सर्वगुरु परमेश्वर के आश्रय से उत्तम कर्म करके शारीरिक और आत्मिक पीड़ायें छोड़कर आनन्द पाते हैं ॥ २७ ॥

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा ।
अथो अमीवचातनः पूतुद्रुर्नाम भेषजम् ॥ २८ ॥ (५)

अग्नेः । शरीरम् । असि । पारयिष्णु । रक्षः-हा । असि । सपत्न-हा ॥ अथो इति । अमीव-चातनः । पूतुद्रुः । नाम । भेषजम् २८(५)

२७—(ये) (मृत्यवः) मृत्युहेतवो रोगादयः (एकशतम्) एकाधिकं शतम् । बहुसंख्याका इत्यर्थः (याः) (नाष्ट्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६ । नाशयतेः—त्रन् । नाशयित्र्यः पीडाः (अतितार्याः) अतितरीतव्याः । लङ्घनीयाः (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (तस्मात्) क्लेशात् (त्वाम्) मनुष्यम्(देवाः) उत्तमगुणाः (अग्नेः) पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । अग्निं सर्वव्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (वैश्वानरात्) सर्वनरहितमित्यर्थः (अधि) अधिकृत्य ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अग्नेः) अग्नि [तेज] का (शरीरम्) शरीर, (पारयिष्णु) पार लगाने वाला (असि) है, और (रक्षोहा) राक्षसों का नाश करने वाला, और (सपत्नहा) प्रतियोगियों का मारडालने वाला (असि) है। (अथो) और भी (अमीवचातनः) पीड़ा मिटाने वाला (पूतुद्रुः) शुद्धि पहुंचाने वाला (नाम) नाम का (भेषजम्) औषध है ॥ २८ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र इस सूक्त का उपसंहार है। मनुष्य तेजः स्वरूप परमात्मा की उपासना से अपने क्लेशों का नाश करें ॥ २८ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥

१-२६ ॥ अग्निरक्षोहा देवता ॥ १-६, ८-१०, ११, १६, १८, २१, त्रिष्टुप् ; ७, १२-१५, १७, भुरिक् त्रिष्टुप् ; १६, २४ निचृत् त्रिष्टुप्, २० विराट् त्रिष्टुप् २२, २३, अनुष्टुप् ; २५ पंचपदा बृहती गर्भा जगती ; २६ गायत्री ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

रक्षोहणं वाजिनमा जिघर्मि मित्रं प्रथिष्ठमुप यामि शर्म। शिशानो अग्निः क्रतुभिः समिद्धः स नो दिवा स रिषः पातु नक्तम् ॥ १ ॥

रक्षःहनम्। वाजिनम्। आ। जिघर्मि। मित्रम्। प्रथिष्ठम्। उप। यामि। शर्म॥ शिशानः। अग्निः। क्रतु-भिः। सम्-इद्धः।

२८—(अग्नेः) तेजसः (शरीरम्) स्वरूपम् (असि) (पारयिष्णु) अ० ५। २८। १४। पारप्रापकं ब्रह्म (रक्षोहा) रक्षसां हन्ता परमेश्वरः (सपत्नहा) प्रतियोगिनां नाशकः (अथो) अपि च (अमीवचातनः) अ० १। २८। १। रोगनाशकः (पूतुद्रुः) अर्तेश्च तु। उ० १। ७२। पूङ् शोधने-तु, स च कित्। हरिमितयोर्द्रुवः। उ० १। ३४। पूतु+द्रु गतौ-कु, स च डित्। शुद्धिप्रापकः परमेश्वरः (नाम) प्रसिद्धौ (भेषजम्) औषधम् ॥

सः । नः । दिवा । सः । रिषः । पातु । नक्तम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रक्षोहणम्) राक्षसों के मारने वाले, (वाजिनम्) महाबली, पुरुष को (आ) भली भांति (जिघर्मि) प्रकाशित [प्रख्यात] करता हूं, (प्रथिष्ठम्) अति प्रसिद्ध (मित्रम्) मित्र के पास (शर्म) शरण के लिये (उप यामि) मैं पहुंचता हूं। (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा अपने] (क्रतुभिः) कर्मों से (शिशानः) तीक्ष्ण किया हुआ और (समिद्धः) प्रकाशमान है, (सः) वह (नः) हमें (दिवा) दिन में, (सः) वह (नक्तम्) रात्रि में (रिषः) कष्ट से (पातु) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी, पराक्रमी, प्रजापालक राजा की कीर्त्ति को प्रजागण गाते रहते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १-२३ कुछ पद भेद और मन्त्र क्रम भेद से ऋग्वेद में है-१०।८७।१-२३॥

अयोदंष्ट्रो अर्चिषा यातुधानानुप स्पृश जातवेदः समिद्धः।
आ जिह्वया मूरदेवान् रभस्व क्रव्यादो वृष्ट्वापि धत्स्वासन् ॥२॥

अयः-दंष्ट्रः । अर्चिषा । यातु-धानान् । उप । स्पृश । जात-वेदः । सम्-इद्धः ॥ आ । जिह्वया । मूर-देवान् । रभस्व । क्रव्य-अदः । वृष्ट्वा । अपि । धत्स्व । आसन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) प्रसिद्ध ज्ञानवाले [राजन् !] (अयोदंष्ट्रः)

१—(रक्षोहणम्) रक्षसां हन्तारम् (वाजिनम्) महाबलवन्तम् (आ) समन्तात् (जिघर्मि) घृ दीप्तौ। दीपयामि। प्रख्यापयामि (मित्रम्) सखायम् (प्रथिष्ठम्) पृथु-इष्ठन्। र ऋतो हलादेर्लघोः। पा० ६।४।१६१। इति ऋकारस्य रः। टेः। ६।४।१५५। टेर्लोपः। पृथुतमम्। अतिप्रसिद्धम् (उपयामि) उपगच्छामि (शर्म) शर्मणे। शरणाय (शिशानः) शो तनूकरणे—शानच्, शपः श्लुः, अभ्यासस्य इत्वम्, आत्वम्। तीक्ष्णीकृतः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी राजा (क्रतुभिः) कर्मभिः—निघ० १।२ (समिद्धः) सम्यग् दीप्तः (सः) शूरः (नः) अस्मान् (दिवा) दिवसे (सः) (रिषः) रिष हिंसायाम्-क्विप्। कष्टात् (पातु) रक्षतु (नक्तम्) रात्रौ ॥

लोहसमान दांतवाला [पुष्टाङ्ग], (समिद्धः) प्रकाशमान तू (अर्चिषा) [अपने] तेज से (यातुधानान्) दुःखदायी जीवों को (उप स्पृश) पांवों से कुचल। (जिह्वया) [अपनी] जय शक्ति से (मूरदेवान्) मूढ़ [बुद्धिहीन] व्यवहार वालों को (आ रभस्व) पकड़ले, और (वृष्ट्वा) पराक्रमी होकर तू (क्रव्यादः) मास खानेवालों को (आसन्) [फेंकने के स्थान] कारागार में (अपि धत्स्व) बन्द करदे ॥ १ ॥

भावार्थ—नीतिमान्, बलवान् राजा दुष्टों को दण्ड देकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

उभोभयाविन्नुप धेहि दंष्ट्रौ हिंस्रः शिशानोऽवरं परं च।
उतान्तरिक्षे परि याह्यग्ने जम्भैः सं धेह्यभि यातुधानान् ३॥

उभा। उभयाविन्। उप। धेहि। दंष्ट्रौ। हिंस्रः। शिशानः। अवरम्। परम्। च ॥ उत। अन्तरिक्षे। परि। याहि। अग्ने। जम्भैः। सम्। धेहि। अभि। यातु-धानान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उभयाविन्) हे पूर्ति की रक्षा करने वाले ! तू [शत्रुओं] [के (हिंस्रः) नाश करनेवाला और (शिशानः) तीक्ष्ण होकर (अवरम्)

२—(अयोदंष्ट्रः) लोहवद्दन्तोपेतः (अर्चिषा) स्वतेजसा (यातुधानान्) पीडाप्रदान् पुरुषान् (उप स्पृश) उपपूर्वकः स्पृश पादैर्मर्दने। पादैश्चूर्णीकुरु (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (समिद्धः) प्रकाशितः (जिह्वया) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १। १५४। जि जये—वन्, धोतोहुक्। जयशक्त्या (मूरदेवान्) रस्य ढः। दिवु व्यवहारे-अच्। मूरा अमूर न वयम्...मूढा वयं स्मऽमूढस्त्वमसि—निरु० ६। ८। मूढव्यवहारान्। मन्दबुद्धिव्यवहारयुक्तान् (आ रभस्व) सम्यग् गृहाण (क्रव्यादः) मांसभक्षकान् (वृष्ट्वा) वृष शक्तिबन्धने पराक्रमे च। पराक्रमी भूत्वा (अपि धत्स्व) बधान (आसन्) अस्यते क्षिप्यतेऽत्र आस्यम्। असु क्षेपणे—ण्यत्। पद्दन्नोमास्० पा० ६। १। ६३। आसन् आदेशः। आस्नि। क्षेपणस्थाने। कारागारे॥

३—(उभा) द्वौ (उभयाविन्) वलिमलितनिभ्यः कयन्। उ० ४। ९९। उभ पूर्तौ—कयन्। सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये। पा० ३। २। ७८। उभय+अव

नीचे के (च) और (परम्) ऊपर के (उभा) दोनों (दंष्ट्रौ) दांतों को (उप धेहि) काम में ला। (उत) और (अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (अन्तरिक्षे) आकाश में [विमान से हमारे] (परि) आस पास (याहि) विचर, (यातुधानान् अभि) दुःखदायी दुर्जनों पर (जम्भैः) दांतों [दंतीले तेज हथियारों] से (सम् धेहि) लक्ष्य कर [वेधले] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दुर्जनों को इस प्रकार दवाकर रक्खे जैसे दांतों के बीच वस्तु को दवा लेते हैं और आकाश मार्ग से सावधानी रखकर दुष्टों का नाश करे ॥ ३ ॥

अग्ने त्वचं यातुधानस्य भिन्धि हिंस्राशनिर्हरसा हन्त्वेनम्। प्र पर्वाणि जातवेदः शृणीहि क्रव्यात् क्रविष्णुर्वि चिनोत्वेनम् ॥ ४ ॥

अग्ने। त्वचम्। यातु-धानस्य। भिन्धि। हिंस्रा। अशनिः। हरसा। हन्तु। एनम् ॥ प्र। पर्वाणि। जात-वेदः। शृणीहि। क्रव्य-अत्। क्रविष्णुः। वि। चिनोतु। एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यातुधानस्य) दुःखदायी दुष्ट की (त्वचम्) खाल (भिन्धि) उजाड़ दे; [तेरी] (हिंस्रा) वध करनेवाली (अशनिः) बिजुली [बिजुली का वज्र] (हरसा)

रक्षणे—णिनि। हे पूर्निरक्षक (उप धेहि) उपयोगय (दंष्ट्रौ) दन्तौ (हिंस्रः) शत्रुनाशकः (शिशानः) म० १। तीक्ष्णीकृतः (अवरम्) अधोवर्तमानं दंष्ट्रम् (परम्) उपरि वर्तमानम् (च) (उत) अपि (अन्तरिक्षे) आकाशे विमानेन (परि) सर्वतः (याहि) संचर (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (जम्भैः) जभि नाशने—घञ्। नाशकर्मभिः। दन्तयुक्तायुधैः (सं धेहि) लक्ष्यीकुरु (अभि) अभिलक्ष्य (यातुधानान्) पीड़ादायकान् ॥

४—(अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (त्वचम्) अ० १। २३। ४। चर्म (यातुधानस्य) पीडाप्रदस्य (हिंस्रा) हिंसिका (अशनिः) विद्युत्। वज्रः (हरसा) तेजसा-निरु० ५। १२ (हन्तु) नाशयतु (प्र) प्रकर्षेण (पर्वाणि)

अपने तेज से (एनम्) इस [अत्याचारी] को (हन्तु) मारे। (जातवेदः) हे महाधनी राजन्! [उसके] (पर्वाणि) जोड़ों को (प्र शृणीहि) कुचल डाल, (क्रव्यात्) मांस खानेवाला, (क्रविष्णुः) भयंकर [सिंह, गीदड़, गिद्ध आदि जीव] (एनम्) इसको (वि चिनोतु) चींथ डाले ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को बिजुली वा अग्नि के हथियारों से कठिन दण्ड देकर विनाश करदे ॥ ४ ॥

यत्रे॒दानीं॒ पश्य॑सि जातवेद॒स्तिष्ठ॑न्तमग्न उ॒त वा॒ चर॑न्तम्।
उ॒तान्तरि॑क्षे॒ पत॑न्तं यातु॒धानं॒ तमस्ता॒ विध्य॒ शर्वा॒ शिशा॑नः ॥५॥

यत्र॑। इ॒दानी॑म्। पश्य॑सि। जा॒त॒ऽवे॒दः॒। तिष्ठ॑न्तम्। अ॒ग्ने॒। उ॒त। वा॒। चर॑न्तम् ॥ उ॒त। अ॒न्तरि॑क्षे। पत॑न्तम्। या॒तु॒ऽधान॑म्। तम्। अस्ता॑। वि॒ध्य॒। शर्वा॑। शिशा॑नः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले! (अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन्!] (यत्र) जहां कहीं (इदानीम्) अब (तिष्ठन्तम्) खड़े हुये, (उत) और (वा) अथवा (चरन्तम्) घूमते हुये (उत) और (अन्तरिक्षे) आकाश में [विमान आदि से] (पतन्तम्) उड़ते हुये (यातुधानम्) दुःखदायी जन को (पश्यसि) तू देखता है, (शिशानः) तीक्ष्ण-स्वभाव, (अस्ता) बाण चलाने वाला तू (शर्वा) बाण वा वज्र से (तम्) उसे (विध्य) वेध ले ॥ ५ ॥

शरीरग्रन्थीन् (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन (श्र शृणीहि) मर्दय (क्रव्यात्) मांस-भक्षकः (क्रविष्णुः) ग्सेश्छन्दसि। पा० ३। २। १३७। क्नुव भये, णिच्—इष्णुच्, लस्य रः, णिलोपश्छान्दसः। क्नावयिष्णुः। भयङ्करो जन्तुः (वि चिनोतु) आकृष्य विप्रकीर्णं करोतु (एनम्) दुष्टम् ॥

५—(यत्र) (इदानीम्) (पश्यसि) निरीक्षसे (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (तिष्ठन्तम्) स्थितिं कुर्वन्तम् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (उत) अपि (वा) अथवा (चरन्तम्) गच्छन्तम् (उत) (अन्तरिक्षे) आकाशे (पतन्तम्) उड्डीयमानम् (यातुधानम्) दुःखप्रदं जनम् (तम्) (अस्ता) बाणानां क्षेप्ता (विध्य) ताडय (शर्वा) शरुणा। बाणेन वज्रेण वा। (शिशानः)-म० १। तीक्ष्णस्वभावः ॥

भावार्थ—राजा पृथिवी, समुद्र और आकाश के उपद्रवियों का नाश करके प्रजा को पाले ॥ ५ ॥

य॒ज्ञैरिषूः॑ सं॒नम॑मानो अग्ने वा॒चा श॒ल्याँ अ॒शनि॑भि-र्दि॒हानः॑। ताभि॑र्विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् प्र॒तीचो॑ बा॒हून् प्रति॑ भङ्ग्ध्येषाम् ॥ ६ ॥

य॒ज्ञैः। इषूः॑। स॒म्-नम॑मानः। अग्ने॑। वा॒चा। श॒ल्यान्। अ॒शनि॑-भिः। दि॒हानः॑ ॥ ताभिः॑। वि॒ध्य॒। हृद॑ये। या॒तु-धाना॑न्। प्र॒तीचः॑। बा॒हून्। प्रति॑। भ॒ङ्ग्धि॒। ए॒षा॒म् ॥ ६ ॥

भावार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (वाचा) वाणी [विद्या] द्वारा (यज्ञैः) संयोग वियोग व्यवहारों से (इषूः) बाणों को (संनममानः) सीधा करता हुआ, और (अशनिभिः) विजुलियों से (शल्यान्) [उनके] शिरों को (दिहानः) पोतता हुआ [तीक्ष्ण करता हुआ] तू (ताभिः) उन [बाणों] से (यातुधानान्) दुःखदायी जनों को (हृदये) हृदय में (विध्य) वेधले और (एषाम्) उनकी (बाहून्) भुजाओं को (प्रतीचः) उलटा करके (प्रति भङ्ग्धि) तोड़ दे ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा अपने शस्त्र अस्त्रों को विजुली आदि के प्रयोग से तीक्ष्ण रखकर शत्रुओं को मारे ॥ ६ ॥

उ॒तार॑ब्धान्स्पृणुहि जातवेद उ॒तारे॑भा॒णाँ ऋ॒ष्टिभि॑-र्यातु॒धाना॑न्। अग्ने॒ पूर्वो॒ नि ज॑हि॒ शोशु॑चान आ-

६—(यज्ञैः) संयोगवियोगव्यवहारैः (इषूः) बाणान् (संनममानः) ऋजूकुर्वन् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् (वाचा) वाण्या। विद्यया (शल्यान्) बाणाग्राणि (अशनिभिः) विद्युत्प्रयोगैः (दिहानः) दिग्धान् कुर्वन् (ताभिः) इषुभिः (विध्य) ताडय (यातुधानान्) पीडाप्रदान् (प्रतीचः) प्रतिमुखान् कृत्वा (बाहून्) भुजान् (प्रति) प्रतिकूलम् (भङ्ग्धि) भञ्जो आमर्दने। आमर्दय (एषाम्) यातुधानानाम् ॥ ७ ॥

मादः श्विङ्क्वास्तमदन्त्वेनीः ॥ ७ ॥

उत । आ-रब्धान् । स्पृणुहि । जात-वेदः । उत । आ-रे-भाणान् । ऋष्टिभिः । यातु-धानान् ॥ अग्ने । पूर्वः । नि । जहि । शोशुचानः । आम-अदः । क्ष्विङ्काः । तम् । अदन्तु । एनीः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(उत) और (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन वाले राजन् ! (आरब्धान्) [शत्रुओं करके] पकड़े हुओं को (स्पृणुहि) पाल (उत) और (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (पूर्वः) सब से पहिले और (शोशुचानः) अति प्रकाशमान तू (आरेभाणान्) [हमें] पकड़ने वाले (यातुधानान्) दुःखदायियों को (ऋष्टिभिः) दो धारा तरवारों से (नि जहि) मार डाल, (आमादः) मांस खानेवाली (एनीः) चितकबरी, (क्ष्विङ्काः) अव्यक्त शब्द बोलने वालीं [चील आदि पक्षी] (तम्) हिंसक चोर को (अदन्तु) खा जावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के पालने और वैरियों के मारने में सदा उद्यत रहे ॥ ७ ॥

७—(उत) अपि च (आरब्धान्) रभ उपक्रमे—क्त । शत्रुभिर्गृहीतान् (स्पृणुहि) स्पृ पालने । पालय (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन राजन् (उत) (आरेभाणान्) रभ उपक्रमे—कानच् । अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि । पा० ६ । ४ । १२० । अकारस्य एत्वम्, अभ्यासलोपश्च । ग्रहणशीलान् (ऋष्टिभिः) ऋषी गतौ—क्तिन् । उभयतो धारयुक्तैः खड्गैः (यातुधानान्) पीडाप्रदान् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (पूर्वः) अग्रगामी (नि) निरन्तरम् (जहि) मारय (शोशुचानः) अ० ४ । ११ । ३ । भृशं दीप्यमानः (आमादः) मांसाशनाः (क्ष्विङ्काः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । ञि क्ष्विदा स्नेहनमोचनयोः, अव्यक्तशब्दे च—इण, स च डित् । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । क्ष्वि + कै शब्दे—क । तत्पुरुषे कृति बहुलम् । पा० ६ । ३ । १४ । इत्यलुक् । चिल्लादिपक्षिणः (तम्) तर्द हिंसने—ड । हिंसकं चोरम् (अदन्तु) भक्षयन्तु (एनीः) अ० ६ । ८३ । २ । कर्बुरवर्णाः ॥

इह प्र ब्रूहि यतमः सो अग्ने यातुधानो य इदं कृणोति।
तमा रभस्व समिधा यविष्ठ नृचक्षसश्चक्षुषे रन्धयैनम् ॥८॥

इह। प्र। ब्रूहि। यतमः। सः। अग्ने। यातु-धानः। यः। इदम्। कृणोति॥ तम्। आ। रभस्व। सम्-इधा। यविष्ठ। नृ-चक्षसः। चक्षुषे। रन्धय। एनम्॥ ८॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (इह) यहां पर (प्र ब्रूहि) बतला दे, (यतमः) जो कोई (सः) वह (यातुधानः) दुःख-दायी, [है] (यः) जो (इदम्) यह [दुष्कर्म] (कृणोति) करता है। (यविष्ठ) हे बलिष्ठ ! (तम्) उसे (समिधा) [अपने] तेज से (आ रभस्व) पकड़ ले, और (निर्चक्षसः) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले की [अर्थात् अपनी] (चक्षुषे) दृष्टि के लिये (एनम्) उसे (रन्धय) आधीन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा प्रसिद्ध दुराचारियों को पकड़ कर दृष्टिगोचर रखकर उनका वृत्तान्त जानता रहे ॥ ८ ॥

तीक्ष्णेनाग्ने चक्षुषा रक्ष यज्ञं प्राञ्चं वसुभ्यः प्र णय प्रचेतः। हिंस्रं रक्षांस्यभि शोशुचानं मा त्वा दभन् यातुधाना नृचक्षः ॥ ९ ॥

तीक्ष्णेन। अग्ने। चक्षुषा। रक्ष। यज्ञम्। प्राञ्चम्। वसु-भ्यः। प्र। नय। प्र-चेतः॥ हिंस्रम्। रक्षांसि। अभि। शोशुचानम्। मा। त्वा। दभन्। यातु-धानाः। नृ-चक्षः॥ ९॥

८—(इह) अस्मिन् समाजे (प्र ब्रूहि) विज्ञापय (यतमः) तेषां मध्ये यः कश्चित् (सः) (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (यातुधानः) (यः) (इदम्) दुष्कर्म (कृणोति) करोति (तम्) पापिनम् (आ रभस्व) निगृहाण (समिधा) स्वतेजसा (यविष्ठ) हे युवतम बलिष्ठ (नृचक्षसः) मनुष्याणां द्रष्टुः (चक्षुषे) दर्शनाय (रन्धय) अ० ४।२२।१। वशीकुरु (एनम्) दुष्टम् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (तीक्ष्णेन चक्षुषा) तीक्ष्ण दृष्टि से (प्राञ्चम्) श्रेष्ठ (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार की (रक्ष) रक्षा कर, (प्रचेतः) हे दूरदर्शी [राजन् !] (वसुभ्यः) धनों के लिये [हमें] (प्र णय) आगे बढ़ा। (नृचक्षः) हे मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाले ! (रक्षांसि अभि) राक्षसों पर (हिंस्रम्) हिंसा करने वाले और (शोशुचानम्) अति प्रकाशमान (त्वा) तुझ को (यातुधानाः) दुःखदायी लोग (मा दभन्) न सतावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो प्रतापी दूरदर्शी राजा उत्तम व्यवहारों की रक्षा करके अपना और प्रजा का धन बढ़ाता है, उसे शत्रु नहीं सता सकते ॥ ९ ॥

नृचक्षा रक्षः परि पश्य विक्षु तस्य त्रीणि प्रति शृणीह्यग्रा। तस्याग्ने पृष्टीर्हरसा शृणीहि त्रेधा मूलं यातुधानस्य वृश्च ॥ १० ॥ (६)

नृ-चक्षाः। रक्षः। परि। पश्य। विक्षु। तस्य। त्रीणि। प्रति। शृणीहि। अग्रा॥ तस्य। अग्ने। पृष्टीः। हरसा। शृणीहि। त्रेधा। मूलम्। यातु-धानस्य। वृश्च ॥ १० ॥ (६)

भाषार्थ—(नृचक्षाः) मनुष्यों पर दृष्टि रखने वाला तू (रक्षः) राक्षस को (विक्षु) मनुष्यों के बीच (परि पश्य) जांच कर देख, (तस्य) उसके (त्रीणि) तीन (अग्रा) अग्रभाग [मस्तक और दो कंधे] (प्रति शृणीहि)

९—(तीक्ष्णेन) क्रूरेण (अग्ने) (चक्षुषा) दृष्ट्या (रक्ष) पालय (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (प्राञ्चम्) प्रगतम्। श्रेष्ठम् (वसुभ्यः) धनानां लाभाय (प्र णय) प्रगमय (प्रचेतः) दूरदर्शिन् राजन् (हिंस्रम्) हिंसकम् (रक्षांसि) राक्षसान् (अभि) प्रति (शोशुचानम्) भृशं दीपयन्तम् (मा दभन्) मा लिलिप्सुः (त्वा) त्वाम् (यातुधानाः) राक्षसाः (नृचक्षः) हे मनुष्याणां द्रष्टः ॥

१०—(नृचक्षाः) नृणां द्रष्टा (रक्षः) दुष्टम् (परि) सर्वतः (पश्य) अवलोकय (विक्षु) मनुष्येषु। विशो मनुष्याः—निघ० २। ३। (तस्य) (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (प्रति) प्रत्यक्षम् (शृणीहि) नाशय (अग्रा) अग्राणि। शिरः

तोड़ दे। (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तस्य) उसकी (पृष्टीः) पसलियों (हरसा) बल से (शृणीहि) कुचल डाल, (यातुधानस्य) दुःखदायी की (मूलम्) जड़ को (त्रेधा) तीन प्रकार से [दोनों जंघा और कटिभाग से] (वृश्च) काट दे ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवियों को दण्ड देने में सदा कठोर हृदय रहे ॥१०

त्रिर्यातुधानः प्रसितिं त एत्वृतं यो अग्ने अनृतेन हन्ति।
तमर्चिषा स्फूर्जयन्जातवेदः समक्षमेनं गृणते नि युङ्ग्धि ११

त्रिः। यातु-धानः। प्र-सितिम्। ते। एतु। ऋतम्। यः। अग्ने। अनृतेन। हन्ति॥ तम्। अर्चिषा। स्फूर्जयन्। जात-वेदः। सम्-अक्षम्। एनम्। गृणते। नि। युङ्ग्धि ॥११॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (यातुधानः) वह दुःखदायी पुरुष (त्रिः) तीन बार (ते) तेरी (प्रसितिम्) बेड़ी को (एतु) प्राप्त हो, (यः) जो (ऋतम्) सत्य को (अनृतेन) असत्य से (हन्ति) तोड़ता है। (जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले [राजन् !] (अर्चिषा) अपने तेज से (तम् स्फूर्जयन्) उस पर गरजता हुआ तू (समक्षम्) सब के सन्मुख (एनम्) इस [शत्रु] को (गृणते) स्तुति करने वाले के [हित के] लिये (नि युङ्ग्धि) बांध ले ॥ ११ ॥

स्कन्धद्वयं च (तस्य) (अग्ने) (पृष्टीः) पार्श्वास्थीनि (शृणीहि) (त्रेधा) त्रिप्रकारेण। जङ्घाद्वयं कटिभागं च (मूलम्) शरीरस्य नीचभागम् (यातुधानस्य) (वृश्च) छिन्धि ॥

११—(त्रिः) त्रिवारम् (यातुधानः) पीडाप्रदः (प्रसितिम्) प्र+षिञ् बन्धने—क्तिन्। प्रसितिः प्रसयनात्तन्तुर्वा जालं वा—निरु० ६। १२। बन्धनम् (ते) तव (एतु) प्राप्नोतु (ऋतम्) सत्यनियमम् (यः) (अग्ने) तेजस्विन् राजन् (अनृतेन) मिथ्याकथनेन (हन्ति) नाशयति (तम्) दुष्टम् (अर्चिषा) तेजसा (स्फूर्जयन्) स्फुर्ज वज्रशब्दे—शतृ। गर्जयन् (जातवेदः) हे प्रसिद्ध-

भावार्थ—राजा चोर डाकू आदि दुष्टों को प्रजा के हित के लिये यथावत् दण्ड देवे ॥ ११ ॥

"(त्रिः) तीन बार" से प्रयोजन ऊपर, नीचे और मध्य पाश है, देखो अ० ७। ८३। ३॥

यद॑ग्ने अ॒द्य मि॑थु॒ना शपा॑तो॒ यद्वा॒चस्तृ॒ष्टं ज॒नय॑न्त रे॒भाः। म॒न्योर्मन॑सः शर॒व्या॒३॒॑ जाय॑ते॒ या तया॑ विध्य॒ हृद॑ये यातु॒धाना॑न् ॥ १२ ॥

यत्। अग्ने॑। अ॒द्य। मि॒थु॒ना। शपा॑तः। यत्। वा॒चः। तृ॒ष्टम्। ज॒नय॑न्त। रे॒भाः॥ म॒न्योः। मन॑सः। श॒र॒व्या॑। जाय॑ते। या। तया॑। वि॒ध्य॒। हृद॑ये। या॒तु॒-धाना॑न् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यत्) जो (अद्य) आज (मिथुना) दो हिंसक मनुष्य [सत्पुरुषों से] (शपातः) कुवचन बोलते हैं, और (यत्) जो (रेभाः) शब्द करने वाले [शत्रु लोग] (वाचः) वाणी की (तृष्टम्) कठोरता (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं (मन्योः) क्रोध से (मनसः) मन की (या) जो (शरव्या) वाणों की झड़ी। (जायते) उत्पन्न होती है, (तया) उससे (यातुधानान्) दुःखदायियों को (हृदये) हृदय में (विध्य) वेधले ॥ १२ ॥

भावार्थ—राजा दुर्वचन भाषियों को विचार पूर्वक दण्ड देता रहे ॥ १२

ज्ञान (समक्षम्) प्रत्यक्षम् (एनम्) शत्रुम् (गृणते) स्तोत्रं कुर्वते (नियुङ्ग्धि) युज संयमने, चुरादिः, रुधादित्वं छान्दसम्। नियोजय। बधान॥

१२—(यत्) (अग्ने) (अद्य) अस्मिन् दिने (मिथुना) अ० ६। १४१। २। मिथृ वधे—उनन्। हिंसकौ (शपातः) शपतः (यत्) (वाचः) वाण्याः (तृष्टम्) ञि तृषा पिपासायाम्—भावे क्त। तृष्णाम्। कटुत्वमित्यर्थः (जनयन्त) जनयन्ति। उत्पादयन्ति (रेभाः) रेभृ शब्दे—अच्। शब्दायमानाः शत्रवः (मन्योः) क्रोधात् (मनसः) अन्तःकरणस्य (शरव्या) अ० १। १६। १। शरु-यत्। वाणसंहतिः (जायते) उत्पद्यते (या) (तया) (विध्य) ताडय (हृदये) (यातुधानान्) पीडाप्रदान्॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि । परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ॥ १३ ॥

परा । शृणीहि । तपसा । यातु-धानान् । परा । अग्ने । रक्षः । हरसा । शृणीहि ॥ परा । अर्चिषा । मूर-देवान् । शृणीहि । परा । असु-तृपः । शोशुचतः । शृणीहि ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तपसा) अपने तप [ऐश्वर्य वा प्रताप] से (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (परा शृणीहि) कुचल डाल, (रक्षः) राक्षसों [दुराचारियों वा रोगों] को (हरसा) अपने बल से (परा शृणीहि) मिटा दे । (अर्चिषा) अपने तेज से (मूरदेवान्) मूढ़ [निर्बुद्धि] व्यवहार वालों को (परा शृणीहि) नाश करदे, (शोशुचतः) अत्यन्त दमकते हुये, (असुतृपः) [दूसरों के] प्राणों से तृप्त होने वालों को (परा शृणीहि) चूर चूर कर दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा अत्यन्त क्लेशदायक प्राणियों के नाश करने में सदा उद्यत रहे ॥ १३ ॥

पराद्य देवा वृजिनं शृणन्तु प्रत्यगेनं शपथा यन्तु सृष्टाः । वाचास्तेनं शरव ऋच्छन्तु मर्मन् विश्वस्यैतु प्रसितिं यातुधानः ॥ १४ ॥

१३—(परा शृणीहि) सर्वथा विनाशय (तपसा) तापकेन तेजसा । ऐश्वर्येण । प्रतापेन (यातुधानान्) दुःखदायकान् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (रक्षः) बहुवचनस्यैकवचनम् । रक्षांसि । रोगान् दुष्टप्राणिनो वा (हरसा) बलेन (परा शृणीहि) विमर्दय (अर्चिषा) तेजसा (मूरदेवान्) मंत्र २ । निर्बुद्धिव्यवहारयुक्तान् (असुतृपः) असुभिः परप्राणैरात्मानं तर्पयन्तः प्राणिनः (शोशुचतः) शुच दीप्तौ यङ्लुकि—छान्दसः शतृ । शोशुचानान् भृशं देदीप्यमानान् (परा शृणीहि) चूर्णीकुरु ॥

परा । अद्य । देवाः । वृजिनम् । शृणन्तु । प्रत्यक् । एनम् । शपथाः । यन्तु । सृष्टाः ॥ वाचा-स्तेनम् । शरवः । ऋच्छन्तु । मर्मन् । विश्वस्य । एतु । प्र-सितिम् यातु-धानः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले शूर (अद्य) आज (वृजिनम्) पापी को (परा शृणन्तु) कुचल डालें, (सृष्टाः) [उसके] छोड़े हुये [कहे हुये] (शपथाः) कुवचन (एनम्) उसको (प्रत्यक्) प्रतिकूल गति से (यन्तु) पहुंचें। (शरवः) [हमारे] तीर (वाचास्तेनम्) वतचोर [झूठे] पुरुष को (मर्मन्) मर्मस्थान में (ऋच्छन्तु) प्राप्त होवें, (विश्वस्य) सब में प्रवेश करने वाले राजा की (प्रसितिम्) बेड़ी को (यातुधानः) दुःखदायी (एतु) पावे ॥ १४ ॥

भावार्थ—वीर राजा मिथ्यावादी, चोर, डाकुओं को दण्ड देकर नाश कर दे ॥ १४ ॥

मांसभक्षकस्य शिरश्छेदनोपदेशः—मांस भक्षक के शिर काटने का उपदेश ॥

यः पौरुषेयेण क्रविषा समुङ्क्ते यो अश्व्येन पशुना यातुधानः । यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ॥ १५ ॥

यः । पौरुषेयेण । क्रविषा । सम्-अङ्क्ते । यः । अश्व्येन ।

१४—(अद्य) अस्मिन् दिने (देवाः) विजिगीषवः शूराः (वृजिनम्) अ० १।१०।३। पापिनम्। वक्रस्वभावम् (पराशृणन्तु) दूरे नाशयन्तु (प्रत्यक्) प्रतिकूलगत्या (एनम्) वृजिनम् (शपथाः) कुवचनानि (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (सृष्टाः) त्यक्ताः। उच्चारिताः (वाचास्तेनम्) मृषावचनेन हर्तारम् (शरवः) बाणाः (ऋच्छन्तु) ऋच्छ गतीन्द्रियप्रलयमूर्तिभावेषु। प्राप्नुवन्तु (मर्मन्) अ० ५।८।६। जीवमरणस्थाने (विश्वस्य) अशूप्रुषिलटि०। उ० १।१५१। विश प्रवेशने—क्वन्। सर्वत्र प्रवेशकस्य राज्ञः (एतु) गच्छतु (प्रसितिम्) म० ११। निगडम्। शृङ्खलाम् (यातुधानः) दुःखदायकः ॥

पशुना । यातु-धानः ॥ यः । अघ्न्यायाः । भरति । क्षीरम् । अग्ने । तेषाम् । शीर्षाणि । हरसा । अपि । वृश्च ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (यातुधानः) दुःखदायी जीव (पौरुषेयेण) पुरुष वध से [प्राप्त] (क्रविषा) माँस से, (यः) जो (अश्व्येन) घोड़े के [माँस से] और (पशुना) [दूसरे] पशु से (समङ्क्ते) [अपने को] पुष्ट करता है। और (यः) जो (अघ्न्यायाः) [नहीं मारने योग्य] गौ के (क्षीरम्) दूध को (भरति=हरति) नष्ट करता है, (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन्!] (तेषाम्) उनके (शीर्षाणि) शिरों को (हरसा) अपने बल से (अपि वृश्च) काट डाल॥ १५॥

भावार्थ—जो कोई पुरुष, मनुष्य वा घोड़े वा अन्य पशु का माँस खावे वा गौ को मारकर दूध को घटावे, राजा उसका शिर कटवा दे ॥ १५ ॥

विषं गवां यातुधाना भरन्तामा वृश्चन्तामदितये दुरेवाः । परैणान् देवः सविता ददातु परा भागमोषधीनां जयन्ताम् ॥ १६ ॥

विषम् । गवाम् । यातु-धानाः । भरन्ताम् । आ । वृश्चन्ताम् । अदितये । दुः-एवाः ॥ परा । एनान् । देवः । सविता । ददातु । परा । भागम् । ओषधीनाम् । जयन्ताम् ॥ १६ ॥

१५—(यः) राक्षसः (पौरुषेयेण) अ० ७ । १०५ । १ । पुरुषवधेन प्राप्तेन (क्रविषा) अर्चिशुचिहु० । उ० २ । १०८ । क्रव वधे-इसि । मांसेन (समङ्क्ते) सम्पूर्वकः अञ्जू भरणे भक्षणे च । आत्मानं पोषयति (यः) (अश्व्येन) भवे छन्दसि । पा० ४ । ४ । ११० । अश्व-यत् । अश्वसम्बन्धिना क्रविषा (पशुना) अजादिप्राणिना (यातुधानः) दुःखदायकः (यः) (अघ्न्यायाः) अ० ३ । ३० । १ । अहन्तव्याया गोः (भरति) हस्य भः । हरति नाशयति (क्षीरम्) दुग्धम् (अग्ने) (तेषाम्) यातुधानानाम् (शीर्षाणि) शिरांसि (हरसा) बलेन (अपि वृश्च) सर्वथा छिन्धि ॥

भाषार्थ—(यातुधानाः) दुःखदायी जन [जो] (गवाम्) गौओं का (विषम्) जल (भरन्ताम्=हरन्ताम्) बिगाड़ें, [तो वे] (दुरेवाः) दुराचारी लोग (अदितये) अखण्ड नीति के लिये (आ) सर्वथा (वृश्चन्ताम्) काट दिये जावें। (देवः) व्यवहार जानने वाला (सविता) सर्व प्रेरक राजा (एनान्) उनको (परा ददातु) दूर हटावे, और वे [राजपुरुष] उनके (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न आदि वस्तुओं] के (भागम्) भाग को (परा जयन्ताम्) जीत लेवें ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो दुराचारी लोग गौ घाट आदि स्थानों को नष्ट करें, राजा उनको नीति अनुसार दण्ड देवे ॥ १६ ॥

सं॒व॒त्स॒रीणं॒ पय॑ उ॒स्रिया॑या॒स्तस्य॒ माशी॑द् यातु॒धानो॑ नृचक्षः। पी॒यूष॑मग्ने य॒तम॒स्तितृ॑प्सा॒त् तं प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑ विध्य॒ मर्म॑णि ॥ १७ ॥

स॒म्ऽव॒त्स॒रीण॑म्। पयः॑। उ॒स्रिया॑याः। तस्य॑। मा। आ॒शी॒त्। या॒तु॒ऽधानः॑। नृ॒ऽच॒क्षः॒॥ पी॒यूष॑म्। अग्ने॑। य॒त॒मः। तितृ॑प्सात्। तम्। प्र॒त्यञ्च॑म्। अ॒र्चिषा॑। वि॒ध्य॒। मर्म॑णि ॥ १७ ॥

१६—(विषम्) विष्लृ व्याप्तौ—क। यद्वा। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। वि+ष्णा शौचे—ड। णलोपः, यद्वा, षच सेवने-ड। विषमित्युदकनाम विष्णातेर्विपूर्वस्य स्नातेः शुद्ध्यर्थस्य, विपूर्वस्य वा सचतेः—निरु० १२। २६। जलम् (गवाम्) धेनूनाम् (यातुधानाः) दुःखदायिनः (भरन्ताम्) हरन्ताम्। नाशयन्तु (आ) समन्तात् (वृश्चन्ताम्) यकारलोपः। वृश्च्यन्ताम्। छिन्ना भवन्तु (अदितये) अ० २। २८। ४। अदितिः=वाक्—निघ० १। ११। अखण्डायै नीतये (दुरेवाः) अ० ७। ५०। ७। दुष्टगतियुक्ताः (परा ददातु) निरस्यतु (एनान्) दुष्टान् (देवः) व्यवहारकुशलः (सविता) सर्वप्रेरको राजा (भागम्) अंशम् (ओषधीनाम्) व्रीहियवादीनाम् (परा जयन्ताम्) जयेन गृह्णन्तु राजपुरुषाः ॥

भाषार्थ—(उस्रियायाः) गौ का [हमारे] (संवत्सरीणम्) निवास-स्थान में उपस्थित [जो] (पयः) दूध है, (नृचक्षः) हे मनुष्यों पर दृष्टि रखनेवाले राजन् ! (यातुधानः) दुःखदायी जन (तस्य) उसका (मा आशीत्) न भोजन करे। (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यतमः) जो कोई [उनमें से हमारे] (अमृतम्) अमृत [अन्न दुग्ध आदि से] (तितृप्सात्) पेट भरना चाहे, (तम् प्रत्यञ्चम्) उस प्रतिकूलवर्ती को (अर्चिषा) अपने तेज से (मर्मणि) मर्मस्थान में (विध्य) छेद ले ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा सावधानी रक्खे कि कोई दुष्ट जन प्रजा के पदार्थों को न हड़प जावे ॥ १७ ॥

सनादग्ने मृणसि यातुधानान् न त्वा रक्षांसि पृतनासु जिग्युः । सहमूरानन् दह क्रव्यादो मा ते हेत्या मुक्षत दैव्यायाः ॥ १८ ॥

सनात् । अग्ने । मृणसि । यातु-धानान् । न । त्वा । रक्षांसि । पृतनासु । जिग्युः ॥ सह-मूरान् । अनु । दह । क्रव्य-अदः । मा । ते । हेत्याः । मुक्षत । दैव्यायाः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् राजन् ! तू (यातुधानान्) पीड़ा देने वाले [प्राणियों वा रोगों] को (सनात्) नित्य (मृणसि) नष्ट करता है,

---

१७—(संवत्सरीणम्) अ० ७ । ७७ । ३ । सम्+वस निवासे-सरन्, ख-प्रत्ययो भवे । सम्यग् निवासे गृहे भवम् (पयः) दुग्धम् (उस्रियायाः) अ० ४ । २६ । ५ । गोः (तस्य) पयसः (मा आशीत्) अश भोजने-लुङ्, अड्भावश्छान्दसः । मा अशीत्-यथा ऋग्वेदपदपाठे । न भोजनं कुर्यात् (यातुधानः) (नृचक्षः) हे नृणां द्रष्टः (पीयूषम्) पीयेरूषन् । उ० ४ । ७६ । पीय प्रीणने-ऊषन् । अमृतम् । दुग्धम (अग्ने) (यतमः) तेषां यः कश्चित् (तितृप्सात्) तृप्यतेः सनि । एकाच उपदेशेऽनुदात्तात् । पा० ७ । २ । १० । इणनिषेधः, लेटि आडागमः । तर्पयितुमिच्छेत्, आत्मानम् (तम्) दुष्टम् (प्रत्यञ्चम्) प्रतिकूलगतिमन्तम् (अर्चिषा) तेजसा (विध्य) ताडय (मर्मणि) जीवमरणस्थाने ॥

१८—(सहमूरान्) मूलेन कारणेन सहितान् । यद्वा मूढमनुष्यैः सहि-

(रक्षांसि) राक्षसों ने (त्वा) तुझे (पृतनासु) संग्रामों में (न) नहीं (जिग्युः) जीता है। (क्रव्यादः) मांस भक्षकों को (सहमूरान्) [उनके] मूल [अथवा मूढ़ मनुष्यों] सहित (अनु दह) भस्म कर दे, (ते) तेरे (दैव्यायाः) दिव्य गुण वाले (हेत्याः) वज्र से (मा मुक्षत) वे न छूटें ॥ १८ ॥

भावार्थ—राजा दुःखदायी मनुष्यों को उनके मूल और साथियों सहित नाश करने में उत्साही रहे ॥ १८ ॥

यह मन्त्र आचुका है–अथर्व० ५। २९। ११ ॥

त्वं नो॑ अग्ने अध॒राद् उ॑द॒क्तस्त्वं प॒श्चादु॒त र॑क्षा पु॒रस्ता॑त्।
प्रति॒ त्ये ते॑ अ॒जरा॑स॒स्तपि॑ष्ठा अ॒घशं॑सं॒ शोशु॑चतो दहन्तु ॥ १९ ॥

त्वम् । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । अ॒ध॒रात् । उ॒द॒क्तः । त्वम् । प॒श्चात् । उ॒त । र॒क्ष॒ । पु॒रस्तात् ॥ प्रति । त्ये । ते॒ । अ॒जरा॑सः । तपि॑ष्ठाः । अ॒घ-शं॑सम् । शोशु॑चतः । द॒ह॒न्तु॒ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (त्वम्) तू (नः) हमें (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से, (त्वम्) तू (पश्चात्) पीछे से (उत) और (पुरस्तात्) आगे से (रक्ष) बचा। (ते) तेरे (त्ये) वे (अजरासः) अजर (तपिष्ठाः) अत्यन्त तपाने वाले, (शोशुचतः) अत्यन्त चमकते हुये [वज्र] (अघशंसम्) बुरा चीतने वाले को (प्रति दहन्तु) जला डालें ॥ १९ ॥

भावार्थ—राजा समुद्र, आकाश, पहाड़, पृथिवी आदि के डाकुओं से विजुली और अग्नि के शस्त्र अस्त्रों द्वारा प्रजा की रक्षा करे ॥ १९ ॥

तान्। अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ५। २९। ११ ॥

१९—(त्वम्) (नः) अस्मान् (अग्ने) अग्निवत् तेजस्विन् राजन् (अधरात्) अधोदेशात् (उदक्तः) उदक्-तसिल्। उदग्देशात्। उपरिस्थानात् (त्वम्) (पश्चात्) (उत) अपि च (रक्ष) (पुरस्तात्) अग्रदेशात् (प्रति) प्रतिकूलम् (त्ये) ते प्रसिद्धाः (ते) तव (अजरासः) अजराः। सुदृढाः (तपिष्ठाः) तापयितृतमाः (अघशंसम्) अ० ४। २१। ७। अनिष्टचिन्तकम् (शोशुचतः) म० १३। नाभ्यस्ताच्छतुः। पा० ७। १। ७८। नुम् निषेधः। भृशं दीप्यमाना वज्राः (दहन्तु) भस्मसात् कुर्वन्तु ॥

पश्चात् पुरस्तादधरादुतोत्तरात् कविः काव्येन परि पाह्यग्ने । सखा सखायमजरो जरिम्णे अग्ने मर्ताँ अमर्त्यस्त्वं नः ॥ २० ॥ (७)

पश्चात् । पुरस्तात् । अधरात् । उत । उत्तरात् । कविः । काव्येन । परि । पाहि । अग्ने ॥ सखा । सखायम् । अजरः । जरिम्णे । अग्ने । मर्तान् । अमर्त्यः । त्वम् । नः ॥ २० ॥ (७)

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान प्रतापी राजन् !] (कविः) बुद्धिमान् तू (काव्येन) अपनी बुद्धिमत्ता के साथ (पश्चात्) पीछे से, (पुरस्तात्) आगे से, (अधरात्) नीचे से (उत) और (उत्तरात्) ऊपर से, (अग्ने) हे राजन् ! (अजरः) अजर (सखा) मित्र [के समान] (सखायम्) मित्र को (जरिम्णे) स्तुति के लिये, (अमर्त्यः) अमर (त्वम्) तू (नः) हम (मर्तान्) मनुष्यों को (परि) सब ओर से (पाहि) बचा ॥ २० ॥

भावार्थ—नीतिमान् राजा अपनी नीति कुशलता से दृढ़ चित्त होकर प्रजा की रक्षा करके संसार में स्तुति पावे ॥ २० ॥

तदग्ने चक्षुः प्रति धेहि रेभे शफारुजो येन पश्यसि यातुधानान् । अथर्ववज्ज्योतिषा दैव्येन सत्यं धूर्वन्तमचितं न्योष ॥ २१ ॥

तत् । अग्ने । चक्षुः । प्रति । धेहि । रेभे । शफ-आरुजः । येन । पश्यसि । यातु-धानान् ॥ अथर्व-वत् । ज्योतिषा । दैव्येन । सत्यम् । धूर्वन्तम् । अचितम् । नि । ओष ॥ २१ ॥

२०—(उत्तरात्) उपरिदेशात् (कविः) मेधावी—निघ० ३ । १५ । (काव्येन) कविकर्मणा । बुद्धिमत्तया (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (सखा) सुहृत् (सखायम्) सुहृदं यथा (अजरः) अजीर्णः (जरिम्णे) अ० २ । २९ । १ । जॄ स्तुतौ—भावे—इमनिन् । स्तुतये (मर्तान्) मनुष्यान् (अमर्त्यः) अमरः (त्वम्) (नः) अस्मान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तत्) वह [क्रोधभरी] (चक्षुः) आंख (रेभे) कोलाहल मचाने वाले [शत्रु] पर (परि धेहि) डाल, (येन) जिससे (शफारुजः) शान्ति तोड़ने वाले (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (पश्यसि) तू देखता है। (अथर्ववत्) निश्चल स्वभाव वाले ऋषि के समान तू (दैव्येन) देवताओं [विद्वानों] से पाये हुये (ज्योतिषा) तेज से (सत्यम्) सत्य (धूर्वन्तम्) नाश करने वाले (अचितम्) अचेत को (नि ओष) जला दे ॥ २१ ॥

भावार्थ—नीतिमान् राजा विद्वानों की सम्मति से प्रजा की शान्ति में विघ्नकारी, मिथ्यावादी दुष्टों को नाश करे ॥ २१ ॥

परि त्वाग्ने पुरं वयं विप्रं सहस्य धीमहि ।
धृषद्वर्णं दिवेदिवे हन्तारं भङ्गुरावतः ॥ २२ ॥

परि । त्वा । अग्ने । पुरम् । वयम् । विप्रम् । सहस्य । धीमहि ॥
धृषत्-वर्णम् । दिवे-दिवे । हन्तारम् । भङ्गुर-वतः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सहस्य) हे बल के हितकारी ! (अग्ने) तेजस्वी सेनापति ! (पुरम्) दुर्गरूप, (विप्रम्) बुद्धिमान्, (धृषद्वर्णम्) अभयस्वभाव, (भङ्गुरवतः) नाश कर्म वाले [कपटी] के (हन्तारम्) नाश करने वाले (त्वा) तुझ को (दिवेदिवे) प्रति दिन (वयम्) हम (परि धीमहि) परिधि बनाते हैं ॥२२॥

भावार्थ—प्रजागण शूर वीर सेनापति पर विश्वास करके शत्रुओं के नाश करने में उससे सहायता लेवें ॥ २२ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७। ७१। १ ॥

२१—(तत्) क्रूरम् (अग्ने) (चक्षुः) दृष्टिम् (प्रति) प्रतिकूलम् (धेहि) स्थापय (रेभे)—म० १२। शब्दायमाने। कोलाहलं कुर्वाणे दुष्टे (शफारुजः) शम शान्तौ—अच् मस्य फः पृषोदरादित्वात्—इति शब्दस्तोममहानिधिः। शफ+आ+रुजो भङ्गे—क्विप्। शान्तिसम्भञ्जकान् (येन) चक्षुषा (पश्यसि) अवलोकयसि (यातुधानान्) पीडाप्रदान् (अथर्ववत्) अ० ४। १। ७। निश्चलस्वभावो मुनिर्यथा (ज्योतिषा) तेजसा (दैव्येन) देवाद्यञञौ। वा० पा० ४। १। ८५। देव—यञ्। देवेभ्यो विद्वद्भ्यः प्राप्तेन (सत्यम्) यथार्थम् (धूर्वन्तम्) धुर्वी हिंसायाम्—शतृ। हिंसन्तम् (अचितम्) अचेत्तारम् निर्बुद्धिम् (नि) नितराम् (ओष) उष दाहे—लोट्। दह ॥

२२—अयंमन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७। ७१। १ ॥

विषेण भङ्गुरावतः प्रति स्म रक्षसो जहि ।

अग्ने तिग्मेन शोचिषा तपुरग्राभिरर्चिभिः ॥ २३ ॥

विषेण । भङ्गुर-वतः । प्रति । स्म । रक्षसः । जहि ॥ अग्ने ॥ तिग्मेन । शोचिषा । तपुः-अग्राभिः । अर्चि-भिः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (विषेण) विष से [वा अपनी व्याप्ति से] (भङ्गुरवतः) नाश कर्म वाले (रक्षसः) राक्षसों को (स्म) अवश्य (तिग्मेन) तीव्र (शोचिषा) तेज से और (तपुरग्राभिः) तापयुक्त शिखाओं वाली (अर्चिभिः) ज्वालाओं से (प्रति जहि) नाश कर दे ॥ २३ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवियों को तीव्र दण्ड देता रहे ॥ २३ ॥

वि ज्योतिषा बृहता भात्यग्निराविर्विश्वानि कृणुते महित्वा । प्रादेवीर्मायाः सहते दुरेवाः शिशीते शृङ्गे रक्षोभ्यो विनिक्ष्वे ॥ २४ ॥

वि । ज्योतिषा । बृहता । भाति । अग्निः । आविः । विश्वानि । कृणुते । महि-त्वा ॥ प्र । अदेवीः । मायाः । सहते । दुः-एवाः । शिशीते । शृङ्गे इति । रक्षः-भ्यः । वि-निक्ष्वे ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] (बृहता) बड़ी (ज्योतिषा) तेज के साथ (वि भाति) चमकता है, और (विश्वानि) सब

२३—(विषेण) गरलेन स्वव्यापनेन वा (भङ्गुरवतः) अ० ७ । ७१ । १। नाशकर्मयुक्तान् (प्रति) प्रतिकूलम् (स्म) अवश्यम् (रक्षसः) पुंल्लिङ्गत्वं छान्दसम् । रक्षांसि (जहि) नाशय (अग्ने) (तिग्मेन) तीक्ष्णेन (शोचिषा) तेजसा (तपुरग्राभिः) अर्तिपृकपि० । उ० २ । ११७ । तप दाहे—उसि । तापकशिखायुक्ताभिः (अर्चिभिः) ज्वालाभिः ॥

२४—(वि) विविधम् (ज्योतिषा) तेजसा (बृहता) महता (भाति) प्रकाशते (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी राजा (आविः) अर्चिशुचिहु० । उ० २ ।

वस्तुओं को (महित्वा) अपनी महिमा से (आविः कृणुते) प्रकट करता है। (अदेवीः) अशुद्ध, (दुरेवाः) दुर्गति वाली (मायाः) बुद्धियों को (प्रसहते) जीत लेता है, और (शृङ्गे) दो प्रधान सामर्थ्य [प्रजापालन और शत्रुनाशन] को (रक्षोभ्यः) दुष्टों के (विनिक्ष्वे) विनाशके लिये (शिशीते) तेज करता है ।२४।

भावार्थ—जैसे सूर्य अग्नि आदि प्रकाश करके सब पदार्थों को दिखाता और अन्धकार मिटाता है, वैसे ही प्रतापी राजा अपनी प्रधानता से प्रजा का पालन शत्रुओं का नाश करता है ॥ २४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । २ । ९ ।

ये ते॒ शृङ्गे॑ अ॒जरे॑ जातवेदस्ति॒ग्महे॑ती॒ ब्रह्म॑संशिते ।
ताभ्यां॑ दु॒र्हार्द॑मभि॒दास॑न्तं किमी॒दिनं॑ प्र॒त्यञ्च॑म॒र्चिषा॑
जातवेदो॒ वि नि॑क्ष्व ॥ २५ ॥

ये इति॑ । ते॒ । शृङ्गे॒ इति॑ । अ॒जरे॒ इति॑ । जात॑-वे॒दः॒ । ति॒ग्म-हे॑ती॒ इति॑ ति॒ग्म-हे॑ती । ब्रह्म॑संशिते॒ इति॒ ब्रह्म॑-संशिते ॥ ताभ्या॑म् । दुः॒-हार्द॑म् । अ॒भि॒-दास॑न्तम् । कि॒मी॒दिन॑म् । प्र॒त्य॒ञ्च॑म् । अ॒र्चिषा॑ । जा॒त॒-वे॒दः॒ । वि । नि॒क्ष्व॒ ॥ २५ ॥

१०८। आङ् + अव रक्षणादिषु—इवि । प्राकट्ये (विश्वानि) सर्वाणि वस्तूनि (कृणुते) करोति (महित्वा) महिम्ना (प्र) प्रकर्षेण (अदेवीः) अशुद्धाः (मायाः) बुद्धीः (सहते) अभिभवति । जयति (दुरेवाः) अ० ७ । ५० । ७ । दुर्गतियुक्ताः (शिशीते) तेजते (शृङ्गे) शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, स च कित्, नुट् च । शृङ्गं श्रयतेर्वा शृणातेर्वा शरणायोद्गतमिति वा शिरसो निर्गतमिति वा—निरु० २ । ७ । शृङ्गं प्राधान्यसान्वोश्च—इत्यमरः २३ । २६ । द्विप्रकारे प्राधान्ये प्रजापालनं शत्रुनाशनं च (रक्षोभ्यः) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । वा० पा० २ । ३ । ६२ । रक्षसाम् । दुष्टानाम् (विनिक्ष्वे) भ्रमृशीङ्० । १ । ७ । णिक्ष चुम्बने, विपूर्वको नाशने—उप्रत्ययः, यणादेशः । विनिक्ष्वे । विनाशाय ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े ज्ञान वाले राजन् ! (ये) जो (ते) तेरे (अजरे) अजर [अनश्वर] (शृङ्गे) दो प्रधान सामर्थ्य [प्रजापालन और शत्रुनाशन] (तिग्महेती) तेज हथियारों वाले, (ब्रह्मसंशिते) वेद से तीक्ष्ण किये गये हैं। (ताभ्याम्) उन दोनों से (दुर्हार्दम्) दुष्ट हृदय वाले, (अभिदासन्तम्) अति दुःख देने वाले, (प्रत्यञ्चम्) प्रतिकूल चलने वाले, (किमीदिनम्) [अब क्या हो रहा है, यह क्या हो रहा है, ऐसे] खोजी शत्रु को (अर्चिषा) अपने तेज से, (जातवेदः) हे बड़े धन वाले ! (वि निक्ष्व) तू नाश कर दे ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो वेदानुगामी राजा अपनी राज्यशक्ति को प्रजापालन और शत्रुनाशन में लगाता है, वह कीर्तिमान् होता है ॥ २५ ॥

अ॒ग्नी रक्षां॑सि सेधति शु॒क्रशो॑चि॒रम॑र्त्यः ।
शुचि॑: पाव॒क ईड्य॑: ॥ २६ ॥ (८)

अ॒ग्निः । रक्षां॑सि । से॒ध॒ति॒ । शु॒क्र-शो॑चिः अम॑र्त्यः ॥
शुचि॑: । पा॒व॒कः । ईड्य॑: ॥ २६ ॥ (८)

भाषार्थ—(शुक्रशोचिः) शुद्धतेज वाला, (अमर्त्यः) अमर, (शुचिः) पवित्र, (पावकः) शुद्ध करने वाला, (ईड्यः) स्तुति योग्य वा खोजने योग्य (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी सेनापति] (रक्षांसि) दुष्टों को (सेधति) शासन में रखता है ॥ २६ ॥

२५—(ये) (ते) तव (शृङ्गे) म० २४ । द्वे प्राधान्ये प्रजापालनं शात्रुनाशनं च (अजरे) अजीर्णे । अनश्वरे (जातवेदः) हे प्रभूतधन (तिग्महेती) सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा० । पा० ७ । १ । ३९ । पूर्वसवर्णदीर्घः । तिग्महेतिनी । तीक्ष्णायुधे (ब्रह्मसंशिते) वेदद्वारा तीक्ष्णीकृते (ताभ्याम्) प्राधान्याभ्याम (दुर्हार्दम्) अ० २ । ७ । ५ । दुष्टहृदयम् (अभिदासन्तम्) सर्वतो हिंसन्तम् (किमीदिनम्) अ० १ । ७ । १ । पिशुनं शत्रुम् (प्रत्यञ्चम्) प्रतिकूलगन्तारम् (अर्चिषा) तेजसा (जातवेदः) हे बहुधन (वि निक्ष्व)—म० २४ । विनाशय ॥

२६—(अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी सेनाधीशः (रक्षांसि) दुष्टान् (सेधति) षिधू शासने । शास्ति (शुक्रशोचिः) शुद्धतेजाः (अमर्त्यः) अमरणधर्मा । महापुरुषार्थी (शुचिः) पवित्रः (पावकः) संशोधकः (ईड्यः) स्तुत्यः । आन्वेषणीयः ॥

भावार्थ—प्रतापी, अमर अर्थात् शूर वीर पराक्रमी शुद्धाचरणी राजा दुष्टों को जीतकर कीर्ति पावे ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । १५ । १० ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२५ ॥ १-७, १५, २५ इन्द्रासोमौ रक्षोहणौ; ८, १६, १९-२२, २४ इन्द्रः; ९, १२, १३ सोमः; १०, १४ अग्निः; ११ देवाः; १७ ग्रावाणः; १८ मरुतः; २३ पृथिव्यन्तरिक्षे देवते ॥ १—३. ५, ६, १८, २१ जगती; ४ विराड्जगती; ७ निचृज्जगती; ८, १२, २४ निचृत् त्रिष्टुप्; ९, ११, १३, १४, १६, १७, १९, २२ त्रिष्टुप्; १० विराट् त्रिष्टुप्; १५, स्वराट् त्रिष्टुप्; २०, २३ भुरिक् त्रिष्टुप्; २५ पादनिचृदनुष्टुप् ॥

राजमन्त्रिणोर्धर्मोपदेशः—राजा और मन्त्री के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रा॑सोमा॒ तप॑तं॒ रक्ष॑ उ॒ब्जतं॒ न्य॑र्पयतं वृषणा तमो॒वृधः॑ ।
परा॑ शृणीतम॒चितो॒ न्यो॑षतं ह॒तं नु॒देथां॒ नि शि॑शीतम॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

इन्द्रा॑सोमा । तप॑तम् । रक्षः॑ । उ॒ब्जत॑म् । नि । अ॒र्प॒य॒त॒म् । वृ॒ष॒णा॒ । त॒मः॒ऽवृधः॑ ॥ परा॑ । शृ॒णी॒त॒म् । अ॒चितः॑ । नि । ओ॒ष॒त॒म् । ह॒तम् । नु॒देथा॑म् । नि । शि॒शी॒त॒म् । अ॒त्त्रिणः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] तुम दोनों (रक्षः) राक्षसों को (तपतम्) तपाओ, (उब्जतम्) दबाओ, (वृषणा) हे बलिष्ठ ! तुम दोनों (तमोवृधः) अन्धकार बढ़ाने वालों को (नि अर्पयतम्) नीचे डालो। (अचितः) अचेतों [मूर्खों] को (परा शृणीतम्) कुचल डालो, (नि ओषतम्) जला दो, (अत्त्रिणः) खाऊ जनों को

१—(इन्द्रासोमा) देवता द्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इत्यानङ् । इन्द्रः सूर्यश्च सोमश्चन्द्रश्चतौ । तादृशौ राजमन्त्रिणौ (तपतम्) तापयतम् (रक्षः) जातावेकवचनम् । रक्षांसि (उब्जतम्) उब्ज आर्जवे हिंसने च । हिंस्तम् (नि अर्पयतम्) ऋ गतौ, णिचि, पुगागमः । नीचैः प्रापयतम् (वृषणा) वृषणौ । बलिष्ठौ (तमोवृधः) अन्धकारवर्धकान् (परा शृणीतम्) विमर्दयतम्

(हतम्) मारो, (नुदेथाम्) ढकेलो, (नि शिशीतम्) छील डालो [दुर्बल कर दो] ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री उपद्रवियों को कठिन दण्ड देते रहें ॥ १ ॥

यह सूक्त म० १—२५ । कुछ भेद से ऋग्वेद में है । ७ । १०४ । १–२५ ॥

इन्द्रासोमा समघशंसमभ्य १ घं तपुर्ययस्तु चरुरग्निमाँ इव । ब्रह्मद्विषे क्रव्यादे घोरचक्षसे द्वेषो धत्तमनवायं किमीदिने ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा । सम् । अघ-शंसम् । अभि । अघम् । तपुः । ययस्तु । चरुः । अग्निमान्-इव ॥ ब्रह्म-द्विषे । क्रव्य-अदे । घोर-चक्षसे । द्वेषः । धत्तम् । अनवायम् । किमीदिने ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] (अघशंसम् अभि) बुरा चीतने वाले को (तपुः) तपन करने वाला (अघम्) दुःख (सम् ययस्तु) क्लेश देता रहे, (इव) जैसे (अग्निमान्) अग्निवाला (चरुः) चरु [पात्र] क्लेश देता है] । (ब्रह्मद्विषे) वेद के द्वेषी, (क्रव्यादे) मांस खाने वाले, (किमीदिने) लुतरे के लिये (अनवायम्) निरन्तर (द्वेषः) द्वेष (धत्तम्) तुम दोनों धारण करो ॥ २ ॥

(अचितः) अचित्तान् । मूढान् (नि ओषतम्) नितरां दहतम् (हतम्) मारयतम् (नुदेथाम्) प्रेरयेथाम् (नि शिशीतम्) शोःतनूकरणे । नितरां तनूकुरुतम् । निर्बलान् कुरुतम् (अत्त्रिणः) अ० १ ।७। ३। अदनशीलान् । भक्षकान् ॥

२—(इन्द्रासोमा) म० १ । (सम्) सम्यक् (अघशंसम्) अ० ४ । २१ । ७ । अनिष्टं चिन्तकम् (अभि) प्रति (अघम्) दुःखम् (तपुः) अर्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । तप दाहे—उसि । तापकम् (ययस्तु) यसु प्रयत्ने । आयासयुक्तं क्लेशप्रदं भवतु (चरुः) पात्रम् (अग्निमान्) अग्नियुक्तः (इव) यथा (ब्रह्मद्विषे) वेदद्वेष्ट्रे, (क्रव्यादे) मांसभक्षकाय (घोरचक्षसे) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—असुन् । क्रूररूपाय । परुषवचनाय (द्वेषः) अप्रीतिम् (धत्तम्) धारयतम् (अनवायम्) अन + अव परिभवे + इण गतौ—अच् ।

भावार्थ—राजा और मन्त्री घोर पापियों को निरन्तर दण्ड देकर प्रजापालन करें ॥ २ ॥

इन्द्रासोमा दुष्कृतो वव्रे अन्तरनारम्भणे तमसि प्र विध्यतम्। यतो नैषां पुनरेकश्चनोदयत् तद् वामस्तु सहसे मन्युमच्छवः ॥ ३ ॥

इन्द्रासोमा। दुः-कृतः। वव्रे। अन्तः। अनारम्भणे। तमसि। प्र। विध्यतम् ॥ यतः। न। एषाम्। पुनः। एकः। चन। उत्-अयत्। तत्। वाम्। अस्तु। सहसे। मन्यु-मत्। शवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] तुम दोनों (दुष्कृतः) दुष्कर्मियों को (वव्रे अन्तः) [ढकने वाले] गढ़े के बीच (अनारम्भणे) अथाह (तमसि) अन्धकार में (प्र विध्यतम्) छेद डालो। (यतः) जिस [गढ़े] से (एषाम्) उनमें से (पुनः) फिर (एकः चन) कोई भी (न) न (उदयत्) ऊपर आवे, (तत्) सो (वाम्) तुम दोनों का (मन्युमत्) क्रोधभरा (शवः) बल [उनके] (सहसे) हराने के लिये (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रयत्नशाली राजा और मन्त्री सब अत्याचारियों को घेर कर नाश कर दें ॥ ३ ॥

अव्यवहितम्। निरन्तरम् (किमीदिने) अ० १।७।१। पिशुनाय ॥

३—(इन्द्रासोमा) म० १। तेजस्विनौ राजमन्त्रिणौ (दुष्कृतः) दुष्कर्मिणः पुरुषान् (वव्रे) घञर्थे कविधानम्। वा० पा० ३।२।५८। वृञ् संवरणे-क। कृञादीनां के द्वे भवतः। वा पा० ३।२।५८। आवरके स्थाने। कूपे—निघ० ३।२३। (अन्तः) मध्ये (अनारम्भणे) रभि औत्सुक्ये—ल्युट्। अनारभ्यमाणे। अगम्यमाने (प्र) प्रकर्षेण (विध्यतम्) ताडयतम् (यतः) यस्मात् स्थानात् (न) निषेधे (एषाम्) उपद्रविणाम् (पुनः) (एकश्चन) एकोऽपि (उदयत्) इण् गतौ—लेट्, अडागमः उद्गच्छेत् (तत्) तस्मात्कारणात् (वाम्) युवयोः (अस्तु) (सहसे) अभिभवाय (मन्युमत्) क्रोधयुक्तम् (शवः) अ० ५।२।२। बलम् ॥

म० ४, ५ आयुधनिर्माणोपदेशः—म० ४, ५ हथियार बनाने का उपदेश ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवो वधं सं पृथिव्या अघशंसाय तर्हणम्। उत् तक्षतं स्वर्यं१ पर्वतेभ्यो येन रक्षो वावृधानं निजूर्वथः ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा। वर्तयतम्। दिवः। वधम्। सम्। पृथिव्याः। अघ-शंसाय। तर्हणम् ॥ उत्। तक्षतम्। स्वर्यम्। पर्वतेभ्यः। येन। रक्षः। ववृधानम्। नि-जूर्वथः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री!] तुम दोनों (दिवः) आकाश से और (पृथिव्याः) पृथिवी से (वधम्) मारू हथियार (सम् वर्तयतम्) लुढ़कवाओ, [जिससे] (अघशंसाय) बुरा चीतने वाले के लिये (तर्हणम्) मरण [होवे]। (स्वर्यम्) धड़ाके वाला था तपा देने वाला [हथियार] (पर्वतेभ्यः) पहाड़ों से (उत् तक्षतम्) ढलवाओ, (येन) जिस से (ववृधानम्) बढ़ते हुये (रक्षः) राक्षस को (निजूर्वथः) तुम दोनों मार गिराओ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री ऐसे ऐसे हथियार बनवायें जिनके द्वारा शत्रुओं को आकाश, भूमि, पहाड़ों और गढ़ की भीतों आदि से मार सकें ॥ ४ ॥

इन्द्रासोमा वर्तयतं दिवस्पर्यग्नितप्तेभिर्युवमश्महन्मभिः। तपुर्वधेभिरजरेभिरत्त्रिणो नि पर्शाने विध्यतं यन्तु निस्वरम् ॥ ५ ॥

४—(इन्द्रासोमा) म० १। (वर्तयतम्) वर्तनेन प्रेरयतम् (दिवः) आकाशात् (वधम्) हननसाधनमायुधम् (सम्) सम्यक् (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (अघशंसाय) अनिष्टचिन्तकाय (तर्हणम्) तृह हिंसायाम्—ल्युट्। मरणम् (उत्) उत्कर्षेण (तक्षतम्) तनूकुरुतम् (स्वर्यम्) अ० २।५।६। स्वृ शब्दोपतापयोः। शब्दकारकं प्रतापकं वा आयुधम् (पर्वतेभ्यः) शैलेभ्यः। दुर्गशिखरेभ्यः (येन) वधेन (रक्षः) राक्षसजातिम् (ववृधानम्) वर्धमानम् (निजूर्वथः) जुर्वी हिंसायाम्। निहथः ॥

इन्द्रासोमा । वर्तयतम् । दिवः । परि । अग्नि-तप्तेभिः । युवम् । अश्महन्म-भिः ॥ तपुः-वधेभिः । अजरेभिः । अत्त्रिणः । नि । पर्शाने । विध्यतम् । यन्तु । नि-स्वरम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री!] (युवम्) तुम दोनों (दिवः) आकाश से (अग्नितप्तेभिः) अग्नि से तपाये हुये, (अश्महन्मभिः) मेघ के समान चलने वाले [अथवा फैलने वाले पदार्थों पत्थर, लोहे आदि से मार करने वाले] (अजरेभिः) अजर [अटूट] (तपुर्वधेभिः) तपा देने वाले हथियारों से (अत्त्रिणः) खाऊ लोगों को (परि वर्तयतम्) लुढ़कवा दो, (पर्शाने) गढ़े के बीच (नि विध्यतम्) छेद डालो, वे लोग (निस्वरम्) चुप्पी (यन्तु) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—सेनापति लोग वायुयानों में चढ़ कर आकाश से आग्नेय हथियारों द्वारा शत्रुओं को मार गिरावें ॥ ५ ॥

इन्द्रासोमा परि वां भूतु विश्वत इयं मतिः कक्ष्याश्वेव वाजिना । यां वां होत्रां परिहिनोमि मेधयेमा ब्रह्माणि नृपती इव जिन्वतम् ॥ ६ ॥

इन्द्रासोमा । परि । वाम् । भूतु । विश्वतः । इयम् । मतिः ।

५—(इन्द्रासोमा) म० १ । (परिवर्तयतम्) वर्तनेन प्रेरयतम् (दिवः) आकाशात् (अग्नितप्तेभिः) अग्निना संतप्तैः (युवम्) युवाम् (अश्महन्मभिः) अशिशकिभ्यां छन्दसि । उ० ४ । १४७ । अश्‌ व्याप्तौ संघाते च—मनिन् । अश्मा मेघः—निघ० १ । १० । हन हिंसागत्योः—मनिन् । मेघवद् गमनशीलैः । यद्वा व्यापनशीलैः पदार्थैः पाषाणलोहादिभिर्मारयद्भिः (तपुर्वधेभिः) तापकैरायुधैः (अजरेभिः) अजीर्णैः । दृढैः (नि) नितराम् (पर्शाने) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८६ । स्पृश स्पर्शने—आनच् । यद्वा, पर+शॄ हिंसायाम्—आनन्, स च डित् । पृषोदरादिरूपम् । पर्शानो मेघः—टिप्पणी, निघ० १ । १० । गुहायाम् । गर्ते (विध्यतम्) ताडयतम् (यन्तु) प्राप्नुवन्तु ते शत्रवः (निस्वरम्) शब्दराहित्यम् ॥

कुक्ष्या । अश्वा-इव । वाजिना ॥ याम् । वाम् । होत्राम् । परि-हिनोमि । मेधया । इमा । ब्रह्माणि । नृपती इवेति नृपती-इव । जिन्वतम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रासोमा) हे सूर्य और चन्द्र [समान राजा और मन्त्री !] (इयम्) यह (मतिः) मति [बुद्धि] (वाम्) तुम दोनों को (विश्वतः) सब ओर से (परि भूतु) सर्वथा व्यापे, (इव) जैसे (कक्ष्या) पेटी (वाजिना) बलवान् (अश्वा) घोड़े को। (याम्) जिस (होत्राम्) वाणी को (वाम्) तुम दोनों के लिये (मेधया) बुद्धि के साथ (परि हिनोमि) मैं सन्मुख करता हूं, (नृपती इव) दो नरपतियों के समान तुम दोनों (इमा) इन (ब्रह्माणि) ब्रह्म ज्ञानों से (जिन्वतम्) तृप्त हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री वेदोक्त उत्तम शिक्षाओं को ग्रहण करके धर्म कर्म में प्रवृत्त रहें ॥ ६ ॥

प्रति स्मरेथां तुजयद्भिरेवैर्हतं द्रुहो रक्षसो भङ्गुरावतः इन्द्रासोमा दुष्कृते मा सुगं भूद् यो मा कदा चिदभिदासति द्रुहः ॥ ७ ॥

प्रति । स्मरेथाम् । तुजयत्-भिः । एवैः । हतम् । द्रुहः । रक्षसः । भङ्गुर-वतः ॥ इन्द्रासोमा । दुः-कृते । मा । सु-गम् । भूत् । यः । मा । कदा । चित् । अभि-दासति । द्रुहः ॥ ७ ॥

६—(इन्द्रासोमा) म० १। (परि) सर्वथा (वाम्) युवाम् (भूतु) भवतु। व्याप्नोतु (विश्वतः) सर्वतः (इयम्) (मतिः) बुद्धिः (कक्ष्या) फलसम्बन्धिनी रज्जुः (अश्वा) सुपां सुलुक् पूर्वसवर्णाच्छे० । पा० ७।१।३९। द्वितीयाया आकारः। अश्वम् (इव) यथा (वाजिना) विभक्तेराकारः। वाजिनम्। बलवन्तम् (याम्) (वाम्) युवाभ्याम् (होत्राम्) वाणीम्—निघ० १। ११। (परिहिनोमि) हि गतिवृद्ध्योः। प्रेरयामि। सम्मुखयामि (मेधया) प्रज्ञया (इमा) इमानि (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (नृपती) राजानौ (इव) (जिन्वतम्) प्रीणयतम्। तर्पयतम् ॥

पुरुष] को (प्र ददातु) दे देवे, (वा) अथवा (निर्ऋतेः) अलक्ष्मी की (उपस्थे) गोद में (आ दधातु) रख देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कोई पाखण्डी उपकारी सज्जनों के कामों में बाधा डालें, राजा उनको वधक आदि से मरवा डाले अथवा निर्धन कर देवे ॥ ६ ॥

यो नो रसं दिप्सति पित्वो अग्ने अश्वानां गवां यस्तनूनाम् । रिपु स्तेन स्तेयकृद् दभ्रमेतु नि ष हीयतां तन्वा३ तना च ॥ १० ॥ (६)

यः । नः । रसम् । दिप्सति । पित्वः । अग्ने । अश्वानाम् । गवाम् । यः । तनूनाम् ॥ रिपुः । स्तेनः । स्तेय-कृत् । दभ्रम् । एतु । नि । सः । हीयताम् । तन्वा । तना । च ॥ १० ॥ (६)

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यः) जो [दुष्ट] (नः) हमारे (पित्वः) रक्षा साधन अन्न आदि के और (यः) जो (अश्वानाम्) घोड़ों के और (गवाम्) गौओं के (तनूनाम्) शरीरों के (रसम्) रस [तत्त्व] को (दिप्सति) मिटाना चाहे । (स्तेनः) वह तस्कर, (स्तेयकृत्) चोरी करने वाला (रिपुः) शत्रु (दभ्रम्) कष्ट को (एतु) प्राप्त हो

ऐश्वर्यवान् प्रेरको वा राजा (आ) समन्तात् (दधातु) स्थापयतु (निर्ऋतेः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तेः । अलक्ष्म्याः (उपस्थे) उत्सङ्गे ॥

१०—(यः) (नः) अस्माकम् (रसम्) सारम् (दिप्सति) अ० ४ । ३६ । १ । दम्भितुं हिंसितुमिच्छति (पित्वः) अ० ४ । ६ । ३ । पा रक्षणे—तु, यणादेशः । पितोः । रक्षासाधनस्यान्नादेः (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (अश्वानाम्) (गवाम्) (यः) (तनूनाम्) शरीराणाम् (रिपुः) रपेरिच्चोपधायाः । उ० १ । २६ । रप व्यक्तायां वाचि—कु, यद्वा रिफ कत्थनयुद्धनिन्दाहिंसादानेषु—कु, फस्य पः । शत्रुः (स्तेनः) चोरः (स्तेयकृत्) मोषकर्ता (दभ्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० । २ । १३ । दभि हिंसायाम्—रक् । हिंसाम् (एतु) प्राप्नोतु (नि) निश्चयेन (सः) (हीयताम्) हीनो भवतु (तन्वा) शरीरेण (तना) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो० । पा० ३ । १ । १३४ । तनु विस्तारे—अच । सुपां

और (सः) वह (तन्वा) अपने शरीर से (च) और (नात) धन से (नि) सर्वथा (हीयताम्) हीन हो जावे ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की सम्पति हरने वाले डाकू चोर आदिकों को दण्ड देकर स्वाधीन रक्खे ॥ १० ॥

परः सो अस्तु तन्वा३ तना च तिस्रः पृथिवीरधो अस्तु विश्वाः । प्रति शुष्यतु यशो अस्य देवा यो मा दिवा दिप्सति यश्च नक्तम् ॥ ११ ॥

परः । सः । अस्तु । तन्वा । तना । च । तिस्रः । पृथिवीः । अधः । अस्तु । विश्वाः ॥ प्रति । शुष्यतु । यशः । अस्य । देवाः । यः । मा । दिवा । दिप्सति । यः । च । नक्तम् ॥११॥

भाषार्थ—(सः) वह [दुष्ट] (तन्वा) अपने शरीर से (च) और (तना) धन से (परः) परे (अस्तु) हो जावे और (विश्वाः) सब (तिस्रः) तीनों (पृथिवीः अधः) भूमियों [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक व्यवस्थाओं] से नीचे नीचे (अस्तु) हो जावे । (देवाः) हे विद्वानो ! (अस्य) उसका (यशः) यश (प्रति शुष्यतु) सूख जावे, (यः) जो (मा) मुझे (दिवा) दिन में (च) और (यः) जो (नक्तम्) रात्रि में (दिप्सति) सताना चाहे ॥ ११

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा को दिन वा रात्रि में सतावे उसको विद्वान् लोग सब प्रकार दण्ड देवें ॥ ११ ॥

तुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेराकारः । तनेन धनेन—निघ० २ । १० (च) ॥

११—(परः) परस्तात् । दूरे (सः) शत्रुः (अस्तु) (तन्वा) (तना) म० १० । धनेन (च) (तिस्रः) त्रिप्रकाराः (पृथिवीः) भूमीः । शारीरिकात्मिकसामाजिकव्यवस्थाः (अधः) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽम्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते । वा० पा० २ । ३ । २ । इत्यधसो योगे द्वितीया । अधोऽधः (अस्तु) (विश्वाः) व्याप्ताः सर्वाः (प्रति) प्रातिकूल्ये (शुष्यतु) शुष्कं भवतु (यशः) कीर्त्तिः (अस्य) पापिनः (देवाः) हे विद्वांसः । शूराः (यः) (मा) माम् । धार्मिकम् (दिवा) अहनि (दिप्सति म० १० । हिंसितुमिच्छति (यः) (च) (नक्तम्) रात्रौ ॥

सुविज्ञानं चिकित्तुषे जनाय सच्चासच्च वचसी पस्पृधाते। तयोर्यत् सत्यं यतरदृजीयस्तदित् सोमोऽवति हन्त्यासत् ॥ १२

सु-विज्ञानम्। चिकित्तुषे। जनाय। सत्। च। असत्। च। वचसी इति। पस्पृधाते इति ॥ तयोः। यत्। सत्यम्। यतरत्। ऋजीयः। तत्। इत्। सोमः। अवति। हन्ति। असत् ॥१२॥

भाषार्थ—(चिकित्तुषे) ज्ञानी (जनाय) पुरुष के लिये (सुविज्ञानम्) सुगम विज्ञान है, [कि] (सत्) सत्य (च च) और (असत्) असत्य (वचसी) वचन (पस्पृधाते) दोनों परस्पर विरोधी होते हैं। (तयोः) उन दोनों में से (यत्) जो (सत्यम्) सत्य और (यतरत्) जो कुछ (ऋजीयः) अधिक सीधा है, (तत्) उसको (इत्) ही (सोमः) सर्वप्रेरक राजा (अवति) मानता है और (असत्) असत्य को (हन्ति) नष्ट करता है ॥ १२॥

भावार्थ—विवेकी मर्मज्ञ राजा सत्य और असत्य का निर्णय करके सत्य को मानता और असत्य को छोड़ता है ॥ १२ ॥

न वा उ सोमो वृजिनं हिनोति न क्षत्रियं मिथुया धारयन्तम्। हन्ति रक्षो हन्त्यासद्वदन्तमुभाविन्द्रस्य प्रसितौ शयाते ॥ १३ ॥

१२—(सुविज्ञानम्) विज्ञातुं सुशकं भवति (चिकित्तुषे) अ० ४। ३०। २। विदुषे (जनाय) मनुष्याय (सत्) सत्यम् (च च) (असत्) असत्यम् (वचसी) वचने (पस्पृधाते) स्पर्ध संघर्षे—लटि शपः श्लुः, छान्दसं रूपम्। स्पर्धेते। परस्परं विरोधयतः (तयोः) सदसतोर्मध्ये (यत्) (सत्यम्) यथार्थम् (यतरत्) यत् किंचित् (ऋजीयः) ऋजु-ईयसुन्। सरलतरम् (तत्) (इत्) एव (सोमः) सर्वप्रेरको राजा (अवति) गृह्णाति (हन्ति) नाशयति (असत्) असत्यम् (हन्त्यासत्) छान्दसो दीर्घः ॥

न । वै । ऊँ इति । सोमः । वृजिनम् । हिनोति । न । क्षत्रियम् । मिथुया । धारयन्तम् ॥ हन्ति । रक्षः । हन्ति । असत् । वदन्तम् । उभौ । इन्द्रस्य । प्र-सितौ । शयाते इति १३

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (वृजिनम्) पापी को (न वै उ) न कभी भी (हिनोति) बढ़ाता है, और (न) न (मिथुया) [प्रजा की] हिंसा (धारयन्तम्) धारण करनेवाले (क्षत्रियम्) क्षत्रिय [बलवान्] को । वह (रक्षः) राक्षस को (हन्ति) मारता है, और (असत्) झूंठ (वदन्तम्) बोलनेवाले को (हन्ति) मारता है, (उभौ) वे दोनों (इन्द्रस्य) राजा की (प्रसितौ) बेड़ी में (शयाते) सोते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का अपमान करके कारागार में रक्खे और नाश करे ॥ १३ ॥

यदि वाहमनृतदेवो अस्मि मोघं वा देवाँ अप्यूहे अग्ने । किमस्मभ्यं जातवेदो हृणीषे द्रोघवाचस्ते निर्ऋथं सचन्ताम् ॥ १४ ॥

यदि । वा । अहम् । अनृत-देवः । अस्मि । मोघम् । वा । देवान् । अपि-ऊहे । अग्ने ॥ किम् । अस्मभ्यम् । जात-वेदः । हृणीषे । द्रोघ-वाचः । ते । निः-ऋथम् । सचन्ताम् ।१४।

भाषार्थ—(यदि वा) क्या (अहम्) मैं (अनृतदेवः) झूंठे व्यवहार

१३—(न) निषेधे (वै) अवधारणे (उ) निश्चये (सोमः) ऐश्वर्यवान् राजा (वृजिनम्) अ० १ । १० । ३ । पापिनम् (हिनोति) वर्धयति (न) (क्षत्रियम्) क्षत्रं बलम् तद्वन्तम् । बलिनम् (मिथुया) अ० ४ । २६ । ७ । मिथु— विभक्तेर्याच्—पा० ७ । १ ३९ । मिथु प्रजाहिंसनम् (धारयन्तम्) आचरन्तम् (हन्ति) (रक्षः) राक्षसम् (असत्) अनृतम् (वदन्तम्) कथयन्तम् (उभौ) (इन्द्रस्य) राज्ञः (प्रसितौ) अ० ८ । ३ । ११ । शृङ्खलायाम् (शयाते) वर्तेते ॥

१४—(यदि वा) प्रश्ने (अहम्) सत्यवादी (अनृतदेवः) असत्यव्यवहारी

वाला (अस्मि) हूं, (वा) अथवा, (अग्ने) हे विज्ञानी राजन् ! (देवान्) स्तुति योग्य पुरुषों को (मोघम्) व्यर्थ (अप्यूहे) निन्दित जानता हूं। (जातवेदः) हे बड़े ज्ञानवाले राजन् ! तू (किम्) किस लिये (अस्मभ्यम्) हम पर (हृणीषे) क्रोध करता है, (द्रोघवाचः) अनिष्ट बोलने वाले पुरुष (ते) तेरे (निर्ऋथम्) क्लेश को (सचन्ताम्) भोगें ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा सत्यवादी और असत्यवादियों का निर्णय करके यथोचित व्यवहार करे ॥ १४ ॥

अ॒द्या मु॑रीय॒ यदि॑ यातु॒धानो॒ अस्मि॒ यदि॒ वायु॑स्त॒तप॒ पूरु॑षस्य । अधा॒ स वी॒रैर्द॒शभि॒र्वि यू॑या॒ यो मा॒ मोघं॒ यातु॑धा॒नेत्याह॑ ॥ १५ ॥

अ॒द्य । मु॒री॒य॒ । यदि॑ । या॒तु॒ऽधानः॑ । अस्मि॑ । यदि॑ । वा॒ । आयुः॑ । त॒तप॑ । पुरु॑षस्य ॥ अध॑ । सः । वी॒रैः । द॒श॒ऽभिः॑ । वि । यू॒याः॒ । यः । मा॒ । मोघ॑म् । यातु॑ऽधान । इति॑ । आह॑ ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अद्य) आज (मुरीय) मैं मर जाऊं, (यदि) जो मैं (यातुधानः) पीड़ा देनेवाला (अस्मि) हूं, (यदि वा) अथवा (पुरुषस्य) किसी पुरुष के (आयुः) जीवन को (ततप) मैं ने सताया है। (अध) सो (सः) वह तू (दशभिः) दश (वीरैः) वीरों से (वि यूयाः) अलग हो जा,

---

(अस्मि) (मोघम्) व्यर्थम् (वा) अथवा (देवान्) स्तुत्यान् पुरुषान् (अप्यूहे) अपि निन्दायाम् + ऊह वितर्के—लट् । निन्दितान् विचारयामि (किम्) कथम् (अस्मभ्यम्) क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः । पा० १ । ४ । ३७ । इति चतुर्थी । अस्मान् प्रति (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (हृणीषे) कुध्यसि (द्रोघवाचः) अनिष्टवादिनः (ते) तव (निर्ऋथम्) अ० ६ । ६३ । १ । क्लेशम् (सचन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

१५—(अद्य) वर्तमाने दिने (मुरीय) मृङ् प्राणत्यागे—विधि लिङ् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । तुदादेरदादित्वम् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १०३ । ऋकारस्य उकारः । अहं म्रियेय (यदि) (यातुधानः) पीडाप्रदः (अस्मि) (यदि वा) (आयुः) जीवनम् (ततप) अहं सन्तापितवान्

(यः) जो आप (मा) मुझ से (मोघम्) व्यर्थ (इति) यह (आह) कहे (यातुधान) "तू दुःखदायी है" ॥ १५ ॥

भावार्थ—सत्पुरुषों के दुःखदायी होने से मनुष्य का मर जाना अच्छा है, और मिथ्या अपवादियों का भी नाश होना चाहिये ॥ १५ ॥

यो मायातुं यातुधानेत्याह यो वा रक्षाः शुचिरस्मीत्याह ।
इन्द्रस्तं हन्तु महता वधेन विश्वस्य जन्तोरधमस्पदीष्ट १६

यः । मा । अयातुम् । यातु-धान । इति । आह । यः । वा । रक्षाः । शुचिः । अस्मि । इति । आह ॥ इन्द्रः । तम् । हन्तु । महता । वधेन । विश्वस्य । जन्तोः । अधमः । पदीष्ट ॥१६॥

भाषार्थ—(यः) जो (मा अयातुम्) मुझ अनदुःखदायी को (इति) यह (आह) कहे, (यातुधान) " तू दुःखदायी है," (वा) अथवा (यः) जो (रक्षाः) राक्षस होकर (इति) यह (आह) कहे, (शुचिः अस्मि) "मैं पवित्र हूं"। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् राजा (तम्) उस को (महता) विशाल (वधेन) मारू हथियार से (हन्तु) मारे और वह (विश्वस्य) प्रत्येक (जन्तोः) जीव के (अधमः) नीचे होकर (पदीष्ट) चले ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो छली पुरुष धर्मात्माओं को अधर्मी बतावे और आप अधर्मी होकर धर्मात्मा बने, ऐसे पाखण्डियों को राजा सर्वथा दण्ड देवे ॥ १६ ॥

(पुरुषस्य) मनुष्यस्य (अद्य) अथ (सः) स त्वम् (वीरैः) शूरैः (दशभिः) (वियूयाः) वियुक्तो भवेः (यः) यो भवान् (मा) माम् (मोघम्) व्यर्थम् (यातुधान) त्वं यातुधानोऽसि (इति) अनेन प्रकारेण (आह) ब्रूते ॥

१६—(यः) दुराचारी (मा) माम् (अयातुम्) कृवापा० । उ० १ । १ । यत ताडने—उण् । अपीडकम् (यातुधान) हे यातनाप्रद (इति) एवम् (आह) ब्रूते (यः) (वा) (रक्षाः) पु० लि० । राक्षसाः (शुचिः) पवित्रः (इति) (आह) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (तम्) (हन्तु) मारयतु (महता) अतिप्रभाववता (वधेन) मारकेणायुधेन (विश्वस्य) सर्वस्य । प्रत्येकस्य (जन्तोः) जीवस्य (अधमः) निकृष्टः (पदीष्ट) अ० ७ । ३१ । १ । पत्सीष्ट । गम्यात् ॥

प्र या जिगा॑ति खर्ग॒लेव॒ नक्त॒मप॑ द्रु॒हुस्त॒न्वं१॒ गूह॑माना।
व॒व्रम॑न॒न्तमव॒ सा प॑दीष्ट॒ ग्रावा॑णो घ्नन्तु र॒क्षस॑ उप॒ब्दैः॥१७॥

प्र। या। जिगा॑ति। ख॒र्गला॑ऽइव। नक्त॑म्। अप॑। द्रु॒हुः। त॒न्व॑म्। गूह॑माना॥ व॒व्रम्। अ॒न॒न्तम्। अव॑। सा। प॒दी॒ष्ट॒। ग्रावा॑णः। घ्न॒न्तु। र॒क्षसः॑। उ॒प॒ब्दैः॥ १७॥

भाषार्थ—(या) जो (द्रुहुः) बुरा चीतने वाली स्त्री (तन्वम्) शरीर [स्वरूप] को (अप गूहमाना) छिपाती हुई (खर्गला इव) खड्ग लिये हुये जैसे [अथवा व्यथा देने वाली उलूकी आदि के समान] (नक्तम्) रात्रि में (प्र जिगाति) निकलती है। (सा) वह (अनन्तम्) अथाह (वव्रम्) गढ़े को (अव) अधोमुख होकर (पदीष्ट) प्राप्त हो, (ग्रावाणः) सूक्ष्मदर्शी लोग (उपब्दैः) शब्दों के साथ (रक्षसः) राक्षसों को (घ्नन्तु) मारें॥ १७॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपराधी स्त्री पुरुषों को उनका दोष प्रकट करके दण्ड देवें॥ १७॥

वि ति॑ष्ठध्वं मरुतो वि॒क्ष्वि१॒च्छत॑ गृभा॒यत॑ र॒क्षसः॒ सं पि॑नष्टन। वयो॒ ये भू॒त्वा प॒तय॑न्ति न॒क्तभि॒र्ये वा॒ रिपो॑ दधि॒रे दे॒वे अ॑ध्व॒रे॥ १८॥

१७—(प्र) प्रकर्षे। बहिर्भावे (या) (जिगाति) गाङ् गतौ। परस्मैपदत्वं जुहोत्यादित्वं च छान्दसम्, जिगाति गतिकर्मा—निघ० २। १४। गच्छति (खर्गला) खड्ग+ला आदाने—क, डस्य रः। खड्गं गृह्णाना। यद्वा पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण। पा० ३। ३। ११८। खर्ज पूजने व्यथने च—घप्रत्ययः। चजोः कु घिण्ण्यतोः। पा० ७। ३। ५२। इति कुत्वम्+ला दाने—क। व्यथादात्री। उलूक्यादिः (इव) यथा (नक्तम्) रात्रौ (अपगूहमाना) संवृण्वती। अप्रकाशयन्ती (द्रुहुः) म० ७। द्रोग्ध्री (तन्वम्) शरीरम्। स्वरूपम् (वव्रम्) म० ३। कूपम् (अनन्तम्) अनवधिकम् (अव) अवेत्य। अधोमुखी भूत्वा (सा) दुष्टा (पदीष्ट) म० १६। गम्यात् (ग्रावाणः) अ० ३। १०। ५। गॄ विज्ञापे—क्वनिप्। सूक्ष्मदर्शिनः (घ्नन्तु) मारयन्तु (रक्षसः) राक्षसान् (उपब्दैः) अ० २। २४। ६। वाग्भिः—निघ० १। ११॥

वि । तिष्ठध्वम् । मरुतः । विक्षु । इच्छत । गृभायत । रक्षसः । सम् । पिनष्टन ॥ वयः । ये । भूत्वा । पतयन्ति । नक्त-भिः । ये । वा । रिपः । दधिरे । देवे । अध्वरे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुमारक वीरो ! (विक्षु) मनुष्यों के बीच (वि तिष्ठध्वम्) फैल जाओ, (रक्षसः) उन राक्षसों को (इच्छत) ढूंढ़ो, (गृभायत) पकड़ो, (सम् पिनष्टन) पीस डालो (ये) जो (वयः) पक्षी [समान] (भूत्वा) होकर (नक्तभिः) रातों में [विमान आदि से] (पतयन्ति) उड़ते हैं, (वा) अथवा (ये) जिन्हों ने (देवे) दिव्य गुण युक्त (अध्वरे) हिंसा रहित व्यवहार [यज्ञ] में (रिपः) हिंसायें (दधिरे) धरी हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—शूरवीर पुरुष चोर उचक्के आदि शुभ कर्मों में विघ्न डालने वाले दुष्टों को छान बीन करके नष्ट करे ॥ १८ ॥

प्र वर्तय दिवोऽश्मानमिन्द्र सोमशितं मघवन्त्सं शिशाधि ।
प्राक्तो अपाक्तो अधरादुदक्तो३ऽभि जहि रक्षसः पर्वतेन १९

प्र । वर्तय । दिवः । अश्मानम् । इन्द्र । सोम-शितम् । मघ-वन् । सम् । शिशाधि ॥ प्राक्तः । अपाक्तः । अधरात् । उदक्तः । अभि । जहि । रक्षसः । पर्वतेन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले

१८—(वि) विविधम् (तिष्ठध्वम्) तिष्ठत (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शत्रुमारकाः शूराः (विक्षु) मनुष्येषु—निघ० २ । ३ (इच्छत) अन्विच्छत । अनुसंधत्त (गृभायत) अ० २ । ३० । ४ । गृह्णीत (रक्षसः) राक्षसान् (सम्) सम्यक् (पिनष्टन) चूर्णीकुरुत (वयः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः—इण्, स च डित् । पक्षिणो यथा (ये) राक्षसाः (भूत्वा) (पतयन्ति) उड्डीयन्ते (नक्तभिः) रात्रिभिः (ये) (वा) (रिपः) हिंसाः । विघ्नान् (दधिरे) धृतवन्तः (देवे) दिव्यगुणयुक्ते (अध्वरे) अ० १ । ४ । २ । हिंसारहितव्यवहारे । यज्ञे—निघ० ३ । १७ ॥

१९—(प्रवर्तय) प्रेरय (दिवः) आकाशात् (अश्मानम्) अशिशक्तिभ्य

राजन् ! (सोमशितम्) ऐश्वर्यवान् शिल्पी द्वारा तेज किये गये (अश्मानम्) व्यापने वाले पदार्थ पत्थर लोह आदि [अथवा पत्थर समान दृढ़ हथियार] को (सम्) सर्वथा (शिशाधि) तीक्ष्ण कर और (दिवः) आकाश से (प्र वर्तय) लुढ़का दे। (प्राक्तः) सामने से (अपाक्तः) दूर से, (अधरात्) नीचे से, (उदक्तः) ऊपर से (रक्षसः) राक्षसों को (पर्वतेन) पहाड़ [बड़े हथियार] से (अभि) सब ओर से (जहि) मार ॥ १६ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा गुणी शिल्पियों द्वारा आकाश से चलने वाले शस्त्र बनवाकर शत्रुओं को सब दिशाओं से नाश करे ॥ १६ ॥

एत उ त्ये पतयन्ति श्वयातव इन्द्रं दिप्सन्ति दिप्सवोऽदाभ्यम्। शिशीते शक्रः पिशुनेभ्यो वधं नूनं सृजदशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २० ॥ (१०)

एते। ऊं इति। त्ये। पतयन्ति। श्व-यातवः। इन्द्रम्। दिप्सन्ति। दिप्सवः। अदाभ्यम् ॥ शिशीते। शक्रः। पिशुनेभ्यः। वधम्। नूनम्। सृजत्। अशनिम्। यातुमत्-भ्यः ॥२०॥(१०)

भाषार्थ—(एते) यह [देशीय] (उ) और (त्ये) वे [विदेशीय] (श्वयातवः) कुत्ते समान पीड़ा देने वाले (पतयन्ति) उड़ते हैं और (दिप्सवः) दुःख देने वाले लोग (अदाभ्यम्) न दबने वाले (इन्द्रम्) प्रतापी

छन्दसि। उ० ४। १४। ७। अशू व्याप्तौ संघाते च—मनिन्। अश्मा मेघः—निघ० १। १०। व्यापनशीलं पाषाणलोहादिपदार्थम्, यद्वा पाषाणवद् दृढायुधम्, (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमशितम्) ऐश्वर्यवता महाशिल्पिना तीक्ष्णीकृतम् (मघवन्) महाधनिन् (सम्) सम्यक् (शिशाधि) अ० ४। ३१। ४। श्य। तीक्ष्णीकुरु (प्राक्तः) प्राक्-तसिल्। सम्मुखदेशात् (अपाक्तः) दूरदेशात् (अधरात्) अधः स्थानात् (उदक्तः) उपरिस्थानात् (अभि) सर्वतः (जहि) (रक्षसः) राक्षसान् (पर्वतेन) अ० ४। ६। १। शैलेन। महाशस्त्रेणेत्यर्थः ॥

२०—(एते) स्वदेशवर्तिनः (उ) च (त्ये) ते विदेशिनः (पतयन्ति) उड्डीयन्ते (श्वयातवः) कुक्कुरसमानयातनावन्तः (इन्द्रम्) प्रतापिनं राजानम् (दिप्सन्ति) अ० ४। ३६। १। जिघांसन्ति (दिप्सवः) दम्भ हिंसायाम्—

राजा को (दिप्सन्ति) हानि करना चाहते हैं। (शक्रः) शक्तिमान् राजा (पिशुनेभ्यः) छली लोगों के लिये (वधम्) मारू हथियार (शिशीते) तेज करता है, वह (नूनम्) निश्चय करके (अशनिम्) वज्र को (यातुमद्भ्यः) पीड़ा देने वालों पर (सृजत्) छोड़ देवे ॥ २० ॥

भावार्थ—राजा भीतरी और बाहिरी हानिकारक शत्रुओं को शस्त्र आदिकों से नष्ट करे ॥ २० ॥

इन्द्रो यातूनामभवत् पराशरो हविर्मथीनामभ्या३ विवासताम्। अभीदु शक्रः परशुर्यथा वनं पात्रेव भिन्दन्त्सत एतु रक्षसः ॥ २१ ॥

इन्द्रः। यातूनाम्। अभवत्। पराऽशरः। हविःऽमथीनाम्। अभि। आऽविवासताम् ॥ अभि। इत्। ऊं इति। शक्रः। परशुः। यथा। वनम्। पात्राऽइव। भिन्दन्। सतः। एतु। रक्षसः॥२१

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला राजा (हविर्मथीनाम्) ग्राह्य अन्न आदि पदार्थों के मथने वाले [हलचल करने वाले], (आविवासताम्) समीप निवासी (यातूनाम्) पीड़ा देने वालों का (पराशरः) कुचलने वाला (अभि) सब ओर से (अभवत्) हुआ है। (शक्रः) शक्तिमान् राजा (इत् उ) अवश्य ही, (परशुः) कुल्हाड़ा (यथा) जैसे (वनम्) वन को, (पात्रा इव)

सन्—उप्रत्ययः। जिघांसवः (अदाभ्यम्) अ० ३। २१। ४। अजेयम् (शिशीते) अ० ५। १४। ६। श्यति। निशितं करोति (शक्रः) शक्तिमान् राजा (पिशुनेभ्यः) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित्। उ० ३। ५५। पिश अवयवे—उनन्। खलेभ्यः। सूचकेभ्यः (वधम्) मारकमायुधम् (नूनम्) निश्चयेन (सृजत्) उत् क्षिपेत् (अशनिम्) वज्रम् (यातुमद्भ्यः) हिंसावद्भ्यः ॥

२१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यातूनाम्) पीडकानाम् (अभवत्) (पराशरः) अ० ६। ६५। १। विनाशकः (हविर्मथीनाम्) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम्। पा० ३। २। २७। हविः+मन्थ विलोडने—इन्। हविषां ग्राह्यान्नादीनां विलोडकानाम् (अभिः) सर्वतः (आविवासताम्) आङ्+वि+वस निवासे—शतृ। छन्दस्युभयथा। पा० ३। ४। ११७। आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः।

पात्रों के समान (भिन्दन्) तोड़ता हुआ, (सतः) विद्यमान (रक्षसः) राक्षसों पर (अभि एतु) चढ़ाई करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—पूर्वज पराक्रमी राजाओं के समान तेजस्वी राजा शत्रुओं का नाश करे, जैसे कुल्हाड़े से वन को काटते हैं अथवा मिट्टी के बासन को लाठी से तोड़ते हैं ॥ २१ ॥

उलू॑कयातुं शुशुलू॒कया॑तुं ज॒हि श्वया॑तुमु॒त कोक॑यातुम् । सु॒प॒र्णया॑तुमु॒त गृध्र॑यातुं दृ॒षदे॑व॒ प्र मृ॑ण॒ रक्ष॑ इन्द्र ॥ २२ ॥

उलू॑क-यातुम् । शु॒शु॒लूक॑-यातुम् । ज॒हि । श्व-या॑तुम् । उ॒त । कोक॑-यातुम् ॥ सु॒प॒र्ण-या॑तुम् । उ॒त । गृध्र॑-यातुम् । दृ॒षदा॑-इव । प्र । मृ॒ण॒ । रक्षः॑ । इ॒न्द्र॒ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे प्रतापी राजन् ! (उलूकयातुम्) उल्लू के समान झपटने वाले, (शुशुलूकयातुम्) बड़े अचेत के समान दुःखदायी, (श्वयातुम्) कुत्ते समान पीड़ा देने वाले (उत) और (कोकयातुम्) भेड़िया समान हिंसा करने वाले, (सुपर्णयातुम्) श्येन पक्षी समान शीघ्र चलने वाले (उत) और (गृध्रयातुम्) गिद्ध समान दूर पहुंचने वाले [उपद्रवी] को (जहि) मार

समीपनिवासिनाम् (अभि एतु) अभिगच्छतु (इत्) अवश्यम् (उ) एव (शक्रः) शक्तो राजा (परशुः) अ० ३ । १६ । ४ । कुठारः (यथा) (वनम्) वृक्षसमूहम् (पात्रा) मृण्मयानि पात्राणि (इव) यथा (भिन्दन्) विदारयन् (सतः) उपस्थितान् (रक्षसः) राक्षसान् ॥

२२—(उलूकयातुम्) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । वल संवरणे—ऊक । कमिमनिजनि० । उ० १ । ७३ । या प्रापणे गतौ च—तु । उलूकवद् गन्तारम् (शुशुलूकयातुम्) उलूकादयश्च । उ० ४ । ४१ । शु+शुर मारणे स्तम्भे च-ऊक । सस्य शः, रस्य लः । यत ताडने—उण् । अचैतन्यपुरुषवत्पीडकम् (जहि) मारय (श्वयातुम्) म० २० । कुक्कुरसमानपीडकम् (उत) अपि च (कोकयातुम्) कुक आदाने—अच् । वृकवत्पीडकम् (सुपर्णयातुम्) श्येनव-

और (दृषदा इव) जैसे शिला से (रक्षः) राक्षस को (प्र मृण) नाश कर दे ॥२२॥

भावार्थ—नीतिकुशल राजा विविध प्रकार के उपद्रवियों को नाश करता रहे ॥ २२ ॥

मा नो रक्षो अभि नंड् यातुमावदपोच्छन्तु मिथुना ये किमीदिनः । पृथिवी नः पार्थिवात् पात्वंहसोऽन्तरिक्षं दिव्यात् पात्वस्मान् ॥ २३ ॥

मा । नः । रक्षः । अभि । नट् । यातु-मावत् । अप । उच्छन्तु । मिथुनाः । ये । किमीदिनः ॥ पृथिवी । नः । पार्थिवात् । पातु । अंहसः । अन्तरिक्षम् । दिव्यात् । पातु । अस्मान् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यातुमावत्) पीड़ा रूप सम्पत्ति वाला (रक्षः) राक्षस (नः) हम तक (मा अभि नट्) कभी न पहुंचे, (मिथुनाः) हिंसक लोग, (ये) जो (किमीदिनः) लुतरे हैं, (अप उच्छन्तु) दूर जावें । (पृथिवी) पृथिवी (नः) हम को (पार्थिवात्) पार्थिव (अंहसः) कष्ट से (पातु) बचावे, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (दिव्यात्) आकाशीय [कष्ट] से (अस्मान्) हमें (पातु) बचावे ॥ २३ ॥

च्छीघ्रगामिनम् (उत) (गृध्रयातुम्) गृध्रवद्दूरगन्तारम् (प्र) प्रकर्षेण (मृण) नाशय (रक्षः) राक्षसम् (इन्द्र) प्रतापिन् राजन् ॥

२३—(नः) अस्मान् (रक्षः) राक्षसः (अभि) अभितः (मा नट्) नशत् व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । नशतेर्लुङि । मन्त्रे घसह्वरणश० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । न माङ्योगे । पा० ६ । ४ । ७४ । अडभावः । मा प्राप्नोतु (यातु-मावत्) इन्दिरा लोकमाता मा । इत्यमरः १ । २६ । मा लक्ष्मीः । पीडारूप-सम्पत्तियुक्तम् (अप उच्छन्तु) उच्छी विवासने । अप गच्छन्तु (मिथुनाः) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथृ वधे मेधायां च—उनन् । हिंसकाः (ये) (किमीदिनः) अ० १ । ७ । १ । पिशुनाः (पृथिवी) (नः) अस्मान् (पार्थिवात्) पृथिवीसम्बन्धिनः (पातु) (अंहसः) पीडनात् (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्षपदार्थजातम् (दिव्यात्) अन्तरिक्षे भवात् (पातु) (अस्मान्) ॥

भावार्थ—शत्रुनाशक राजा के शासन में प्रजागण सब उपद्रवों को हटाकर पार्थिव और आकाशीय पदार्थों के उपयोग से प्रसन्न रहें ॥ २३ ॥

इन्द्र जहि पुमांसं यातुधानमुत स्त्रियं मायया शाशदानाम् । विग्रीवासो मूरदेवा ऋदन्तु मा ते दृशन्त्सूर्यमुच्चरन्तम् ॥ २४ ॥

इन्द्र । जहि । पुमांसम् । यातु-धानम् । उत । स्त्रियम् । मायया । शाशदानाम् ॥ वि-ग्रीवासः । मूर-देवाः । ऋदन्तु । मा । ते । दृशन् । सूर्यम् । उत्-चरन्तम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजा ! (यातुधानम्) दुःखदायी (पुमांसम्) पुरुष को (उत) और (मायया) कपट से (शाशदानाम्) अति तीक्ष्ण स्वभाव वाली (स्त्रियम्) स्त्री को (जहि) नष्ट कर दे । (मूरदेवाः) मूढ़ [निर्बुद्धि] व्यवहार वाले (विग्रीवासः) ग्रीवा रहित होकर (ऋदन्तु) नष्ट हो जावें, (ते) वे (उच्चरन्तम्) उदय होते हुये (सूर्यम्) सूर्य को (मा दृशन्) न देखें ॥ २४ ॥

भावार्थ – राजा उपद्रवी स्त्री पुरुषों को कठिन दण्ड देकर नष्ट कर दे, जिससे वे उदय होते हुये सूर्य के समान फिर न उभरें ॥ २४ ॥

प्रति चक्ष्व वि चक्ष्वेन्द्रश्च सोम जागृतम् ।
रक्षोभ्यो वधमस्यतमशनिं यातुमद्भ्यः ॥ २५ ॥

प्रति । चक्ष्व । वि । चक्ष्व । इन्द्रः । च । सोम । जागृतम् ॥

२४—(इन्द्र) (जहि) (पुमांसम्) पुरुषम् (यातुधानम्) पीडाप्रदम् (उत) अपि (स्त्रियम्) (मायया) कपटेन (शाशदानाम्) अ० १ । १० । १ । अत्यर्थं तीक्ष्णस्वभावाम् (विग्रीवासः) असुगागमः । विच्छिन्नग्रीवाः (मूरदेवाः) अ० ८ । ३ । २ । मूढव्यवहारयुक्ताः (ऋदन्तु) वैदिकधातुः । नश्यन्तु (ते) पूर्वोक्ताः (मा दृशन्) मा द्राक्षुः (सूर्यम्) (उच्चरन्तम्) उद्यन्तम् ॥

रक्षः-भ्यः। वधम्। अस्यतम्। अशनिम्। यातुमत्-भ्यः। २५।

भाषार्थ—(प्रति चक्ष्व) प्रत्येक को देख, (वि चक्ष्व) विविध प्रकार देख, (इन्द्रः) हे सूर्य [समान राजन्!] (च) और (सोम) हे चन्द्र [समान मन्त्री!] (जागृतम्) तुम दोनों जागो। (रक्षोभ्यः) राक्षसों पर (वधम्) मारू हथियार और (यातुमद्भ्यः) पीड़ा स्वभाव वालों पर (अशनिम्) वज्र (अस्यतम्) चलाओ ॥ २५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार राजा और मन्त्री सुनीति से शत्रुओं का नाश करके प्रजापालन करते हैं, वैसे ही आचार्य-शिष्य, पति-पत्नी, पिता-पुत्र आदि सुविद्या से आत्मदोष नाश करके आनन्दित हों ॥ २५ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-२२ ॥ १-९, १५ कृत्यादूषणाः ; १०, २०, २१ विश्वे देवाः ; ११, १३, १६ प्रजापतिः ; १४, १७, २२ इन्द्रः ; १८ मन्त्रोक्ताः ; १९ वर्म देवता ॥ १ उपरिष्टाद्बृहती ; २ त्रिपदा त्रिष्टुप् ; ३ भुरिज्जगती ; ४, ७, ८ विराडनुष्टुप् ; ५ संस्तारपङ्क्तिर्भुरिक् ; ६ उपरिष्टाद्बृहती ; ९ जगती ; १०, २१ विराट् त्रिष्टुप् ११ पथ्यापङ्क्तिः ; १२, १३, १६-१८ अनुष्टुप् ; १४ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; १५ विराट् पुरस्ताद्बृहती ; १९ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २० आस्तारपंङ्क्तिः ; २२ त्र्यवसाना सप्तपदा भुरिक् शक्वरी छन्दः ॥

हिंसाविनाशोपदेशः—हिंसा के नाश का उपदेश ॥

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।

२५—(प्रति) प्रत्येकम् (चक्ष्व) पश्य (वि) विविधम् (चक्ष्व) (इन्द्रः) हे सूर्यवत्तेजस्विन् राजन् (च) (सोम) हे चन्द्रवच्छान्तिस्वभाव मन्त्रिन् (जागृतम्) अनिद्रौ भवतम् (रक्षोभ्यः) दुष्टेभ्यः (वधम्) मारकमायुधम् (अस्यतम्) प्रक्षिपतम् (अशनिम्) वज्रम् (यातुमद्भ्यः) पीडास्वभावेभ्यः ॥

वीर्यवान्त्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः ॥१॥

अयम् । प्रति-सरः । मणिः । वीरः । वीराय । वध्यते ॥ वीर्य-वान् । सपत्न-हा । शूर-वीरः । परि-पानः । सु-मङ्गलः ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्रसिद्ध वेदरूप] (वीरः) पराक्रमी, (वीर्य-वान्) सामर्थ्य वाला, (सपत्नहा) प्रतियोगियों का नाश करने वाला, (शूर-वीरः) शूर वीर, (परिपाणः) सब ओर से रक्षा करने वाला, (सुमङ्गलः) बड़ा मङ्गल कारी, (प्रतिसरः) अग्रगामी, (मणिः) मणि [उत्तम नियम] (वीराय) वीर पुरुष में (वध्यते) बांधा जाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष मणिरूप सर्व श्रेष्ठ वेद नियम पर चलते हैं, वे सुरक्षित रह कर सदा आनन्द भोगते हैं ॥ १ ॥

अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान् वाजी सहमान उग्रः । प्रत्यक् कृत्या दूषयन्नेति वीरः ॥ २ ॥

अयम् । मणिः । सपत्न-हा । सु-वीरः । सहस्वान् । वाजी । सहमानः । उग्रः ॥ प्रत्यक् । कृत्याः । दूषयन् । एति । वीरः ।२।

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्रसिद्ध वेद रूप] (मणिः) मणि [उत्तम नियम], (सपत्नहा) प्रतियोगियों का नाश करने वाला, (सुवीरः) बड़े

१—(अयम्) सुप्रसिद्धो वेदरूपः (प्रतिसरः) अ० २ । ११ । २ । अग्रगामी (मणिः) अ० १-। २९ । १ । नियमरत्नम् । प्रशंसनीयो नियमः (वीराय) पराक्रमिणे पुरुषाय (वध्यते) संयुज्यते (वीर्यवान्) सामर्थ्यवान् (सपत्नहा) प्रतियोगिनाशकः (शूरवीरः) शूराणां मध्ये वीरः (परिपाणः) अ० २ । १७ । ७ । सर्वतो रक्षकः (सुमङ्गलः) अतिमङ्गलकारी ॥

२—(सुवीरः) शोभनैर्वीरैर्युक्तः (सहस्वान्) बलवान् (वाजी) पराक्रमी (सहमानः) शत्रूणामभिभविता (उग्रः) प्रचण्डः (प्रत्यक्) अभिमुखम् । सम्मुखम् (कृत्याः) अ० ४ । ९ । ५ । हिंसाः । विघ्नान् (दूषयन्) खण्डयन् (एति) गच्छति । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

वीरों वाला, (सहस्वान्) महा बली (वाजी) पराक्रमी, (सहमानः) [शत्रुओं का] हराने वाला, (उग्रः) तेजस्वी (वीरः) वीर होकर (कृत्याः) हिंसाओं को (दूषयन्) नाश करता हुआ (प्रत्यक्) सन्मुख (एति) चलता है ॥ २ ॥

भावार्थ—पराक्रमी वीर पुरुष वैदिक नियमों को धारण करके विघ्नों को हटाते हुये आगे बढ़ते हैं ॥ २ ॥

अ॒नेनेन्द्रो॑ म॒णिना॑ वृ॒त्रम॑हन्न॒नेनासु॑रा॒न् परा॑भावयन्मनी॒षी । अ॒नेना॑जय॒द् द्यावा॑पृथि॒वी उ॒भे इ॒मे अ॒नेना॑जय॒त् प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ ३ ॥

अ॒नेन॑ । इन्द्रः॑ । म॒णिना॑ । वृ॒त्रम् । अ॒ह॒न् । अ॒नेन॑ । असु॑रान् । परा॑ । अ॒भा॒व॒य॒त् । म॒नी॒षी ॥ अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । उ॒भे इति॑ । इ॒मे इति॑ । अ॒नेन॑ । अ॒ज॒य॒त् । प्र॒-दिशः॑ । चत॑स्रः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मनीषी) महा बुद्धिमान् (इन्द्रः) बड़े प्रतापी पुरुष ने (अनेन) इस [प्रसिद्ध वेद रूप] (मणिना) मणि [उत्तम नियम] के द्वारा (वृत्रम्) अन्धकार (अहन्) मिटाया और (अनेन) इसी के द्वारा (असुरान्) असुरों को (परा अभावयत्) हराया (अनेन) इसी के द्वारा (उभे) दोनों (इमे) इन (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक को (अजयत्) जीता और (अनेन) इसी के द्वारा (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) दिशाओं को (अजयत्) जीता ॥ ३ ॥

३—(अनेन) प्रसिद्धेन वेदरूपेण (इन्द्रः) प्रतापी सेनापतिः (वृत्रम्) अ० २ । ५ । ३ । अन्धकारम् (अहन्) हतवान् (अनेन) (असुरान्) सुरविरोधिनो दैत्यान् (पराभावयत्) पराभूतान् विनष्टानकरोत् (मनीषी) अ० ३ । ५ । ६ । मनीषया मनस ईषया स्तुत्या प्रज्ञया वा—निरु० ६ । १० । मेधावी (अनेन) (अजयत्) जितवान् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) द्वे (इमे) प्रत्यक्षे (अनेन) (अजयत्) (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशःप्राच्याद्याः (चतस्रः) चतुः संख्याकाः ॥

भावार्थ—वेदानुगामी बुद्धिमान् पराक्रमी पुरुष सब वैरियों को मिटाकर सूर्य और पृथिवी आदि लोकों पर प्रभाव जमाकर चक्रवर्ती राजा हुये हैं, वैसा ही सब मनुष्यों को होना चाहिये ॥ ३ ॥

अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः । ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥ ४ ॥

अयम् । स्राक्त्यः । मणिः । प्रति-वर्तः । प्रति-सरः ॥ ओजस्वान् । वि-मृधः । वशी । सः । अस्मान् । पातु । सर्वतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [प्रसिद्ध वेद रूप] (मणिः) मणि [श्रेष्ठ नियम] (स्राक्त्यः) उद्यमशील, (प्रतीवर्त्तः) सब ओर घूमने वाला और (प्रतिसरः) अग्रगामी है । (सः) वह (ओजस्वान्) महाबली, (विमृधः) बड़े हिंसकों को (वशी) वश में करने वाला (अस्मान्) हमको (सर्वतः) सब ओर से (पातु) बचावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदानुगामी पुरुष बड़े ओजस्वी होकर शत्रुओं को वश में करके सब की रक्षा करते हैं ॥ ४ ॥

तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः । ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ५ ॥

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह । बृहस्पतिः । सविता । तत् । इन्द्रः ॥ ते । मे । देवाः । पुरः-

४—(अयम्) म० १ (स्राक्त्यः) स्रक गतौ—क्तिन्, यत् । प्रति + वृतेर्घञ् । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ । इति दीर्घः । प्रज्ञादिभ्यश्च । पा० ५ । ४ । ३८ । स्वार्थेऽण । स्राक्त्यः–अ० २ । ११ । २ । उद्यमशीलः (मणिः) म० १ (प्रतीवर्तः) सर्वतोवर्तनः (प्रतिसरः) म० १ (ओजस्वान्) बलयुक्तः (विमृधः) अ० १ । २१ । १ । विशेषेण हिंसकान् (वशी) वश—इनि । अकेनोर्भविष्यदाधमर्ण्ययोः । पा० २ । ३ । ७० । इति सकर्मकत्वम् । वशयिता (सः) (अस्मान्) धार्मिकान् (पातु) (सर्वतः) ॥

हिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रति-सरैः । अजन्तु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तत्) यह [पूर्वोक्त] (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष (आह) कहता है, (तत् उ) वही (सोमः) चन्द्र [समान पोषक] (आह) कहता है, (तत्) वही (बृहस्पतिः) बड़ी विद्याओं का स्वामी, (सविता) सब का प्रेरक (इन्द्रः) प्रतापी पुरुष । (ते) वे (देवाः) व्यवहार कुशल (पुरोहिताः) पुरोहित [अग्रगामी पुरुष] (प्रतिसरैः) अग्रगामी पुरुषों सहित (मे) मेरे लिये (कृत्याः) हिंसाओं को (प्रतीचीः) प्रतिकूल गति वाली करके (अजन्तु) हटावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष वेद विद्या का मान करते हैं और विद्वान् ही मनुष्यों को विघ्न से बचाते हैं ॥ ५ ॥

अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम् । ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु ॥ ६ ॥

अन्तः । दधे । द्यावापृथिवी इति । उत । अहः । उत । सूर्यम् ॥ ते । मे । देवाः । पुरः-हिताः । प्रतीचीः । कृत्याः । प्रति-सरैः । अजन्तु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी को (उत) और (अहः) दिन (उत) और (सूर्यम्) सूर्य को (अन्तः) मध्य में [हृदय में] (दधे) मैं धारण करता हूं । (ते) वे (देवाः) व्यवहार कुशल (पुरोहिताः)

५—(तत्) पूर्वोक्तम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (आह) ब्रवीति (तदु) तदेव (सोमः) चन्द्रवत् पोषकः (आह) (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां स्वामी (सविता) सर्वप्रेरकः (तत्) (इन्द्रः) प्रतापी जनः (ते) प्रसिद्धाः (मे) मह्यम् (देवाः) व्यवहारिणः (पुरोहिताः) अ० ३ । १९ । १ । अग्रगामिनः पुरुषाः (प्रतीचीः) प्रतिकूलगतीः कृत्वा (कृत्याः) म० २ । हिंसाः (प्रतिसरैः) अग्रेसरैः सह (अजन्तु) क्षिपन्तु ॥

६—(अन्तः) मध्ये (दधे) धरामि (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी । तत्रत्यान् पदार्थान् (उत) अपि च (अहः) दिनम् (उत) (सूर्यम्) आदि-

पुरोहित [अग्र गामी पुरुष] (प्रतिसरैः) अग्र गामी पुरुषों सहित (मे) मेरे लिये (कृत्याः) हिंसाओं को (प्रतीचीः) प्रतिकूल गति वाली करके (अजन्तु) हटावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अवकाश, पृथिवी आदि पदार्थों से विज्ञान पूर्वक उपयोग लेते हैं, वे विघ्न नाश करके आनन्दित रहते हैं ॥ ६ ॥

ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते।
सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी ॥ ७ ॥

ये। स्राक्त्यम्। मणिम्। जनाः। वर्माणि। कृण्वते ॥ सूर्यः-इव। दिवम्। आ-रुह्य। वि। कृत्याः। बाधते। वशी ॥७॥

भाषार्थ—(ये) जो (जनाः) जन (स्राक्त्यम्) उद्योग शील (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम्] को (वर्माणि) कवच (कृण्वते) बनाते हैं। [उनके समान] (वशी) वश में करने वाला पुरुष, (सूर्य इव) सूर्य के समान (दिवम्) आकाश में (आरुह्य) चढ़कर, (कृत्याः) हिंसाओं को (वि बाधते) हटा देता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो पुरुष संयमी पुरुषों के समान जितेन्द्रिय होते हैं, वे बड़े यशस्वी होकर निर्विघ्न रहते हैं ॥ ७ ॥

स्राक्त्येन मणिन ऋषिणेव मनीषिणा।
अजैषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः ॥ ८ ॥

स्राक्त्येन। मणिना। ऋषिणा-इव। मनीषिणा ॥ अजैषम्। सर्वाः। पृतनाः। वि। मृधः। हन्मि। रक्षसः ॥ ८ ॥

त्यम्। शिष्टं पूर्ववत्—म० ५ ॥

७—(ये) (स्राक्त्यम्) म० ४। उद्योगिनम् (मणिम्) म० १। श्रेष्ठ-नियमम् (जनाः) लोकाः (कृण्वते) कुर्वते (सूर्य इव) (दिवम्) आकाशम् (आरुह्य) अधिष्ठाय (वि) विशेषेण (कृत्याः) हिंसाः (बाधते) निवारयति) (वशी) वशयिता पुरुषः ॥

भाषार्थ—(स्राक्त्येन) उद्योगशील (मणिना) मणि [श्रेष्ठ नियम] द्वारा (मनीषिणा) महाबुद्धिमान् (ऋषिणा इव) ऋषि के साथ होकर जैसे मैं ने (सर्वाः) सब (पृतनाः) सेनाओं को (अजैषम्) जीत लिया है, मैं (मृधः) हिंसक (रक्षसः) राक्षसों को (वि हन्मि) नाश करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऋषियों के समान पहिले से नियम धारण करके सब उपद्रवों को हटावें ॥ ८ ॥

याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः । उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्या३ अति ॥ ९ ॥

याः । कृत्याः । आङ्गिरसीः । याः । कृत्याः । आसुरीः । याः । कृत्याः । स्वयम्-कृताः । याः । ऊं इति । च । अन्येभिः । आ-भृताः ॥ उभयीः । ताः । परा । यन्तु । परा-वतः । नवतिम् । नाव्याः । अति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (कृत्याः) हिंसायें (आङ्गिरसीः) ऋषियों कर के कही गई हैं, (याः) जो (कृत्याः) हिंसायें (आसुरीः) असुरों करके की गई हैं, (याः) जो (कृत्याः) हिंसायें (स्वयंकृताः) अपने से की गई हैं, (च उ) और भी (याः) जो (अन्येभिः) दूसरे पुरुषों करके (आभृताः)

८—(स्राक्त्येन) म० ४ । उद्योगशीलेन (मणिना) म० १ । श्रेष्ठनियमेन (सणिन ऋषिणा) ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । प्रकृतिभावत्वं ह्रस्वत्वं च (ऋषिणा) अ० २ । ६ । १ । अतीन्द्रियार्थद्रष्ट्रा (इव) यथा (मनीषिणा) म० ३ । विपश्चिता (अजैषम्) जितवानस्मि (सर्वाः) (पृतनाः) अ० ३ । २१ । ३ । शत्रुसेनाः (वि) विशेषेण (मृधः) हिंसकान् (हन्मि) घातयामि (रक्षसः) राक्षसान् ॥

९—(याः) (कृत्याः) हिंसाः । उपद्रवाः (अङ्गिरसीः) तेन प्रोक्तम् । पा० ४ । ३ । १०१ । अङ्गिरस्—अण्, ङीप् । आङ्गिरस्यः । अङ्गिरोभिर्ज्ञानवद्भिः प्रोक्ताः (याः) (कृत्याः) (आसुरीः) तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । असुर—अण् । आसुर्यः । असुरैरुपद्रविभिर्निर्मिताः (याः) (कृत्याः) (स्वयंकृताः)

पहुंचाई गई हैं। (उभयीः) सम्पूर्ण (ताः) वे (नवतिम्) नव्वे (नाव्याः) नाव से उतरने योग्य नदियों को (अति) पार करके (परावतः) बहुत दूर देशों को (परा यन्तु) चली जावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिन हिंसाओं का विधान ऋषियों ने किया है और जिनको मनुष्य अपने आप बुद्धि विकार से करते हैं, अथवा जिन हिंसाओं को दूसरे उपद्रवी करते हैं उन सब को मनुष्य ज्ञान द्वारा सर्वथा अति दूर हटावें ॥ ९ ॥

अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः। प्रजापतिः परमेष्ठी विराड् वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे ॥ १० ॥(१२)

अस्मै। मणिम्। वर्म। बध्नन्तु। देवाः। इन्द्रः। विष्णुः। सविता। रुद्रः। अग्निः॥ प्रजा-पतिः। परमे-स्थी। वि-राट्। वैश्वानरः। ऋषयः। च। सर्वे ॥ १० ॥(१२)

भाषार्थ—(देवाः) स्तुति योग्य पुरुष, [अर्थात्] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला (विष्णुः) कामों में व्याप्ति वाला [मन्त्री] (सविता) प्रेरणा करनेवाला [सेनापति], (रुद्रः) ज्ञानदाता (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी आचार्य] (प्रजापतिः) प्रजापालक, (परमेष्ठी) अति श्रेष्ठ [मोक्ष] पद में रहने वाला, (विराट्) अति प्रकाशमान, (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी परमेश्वर

आत्मना कृताः स्वबुद्धिविकारेण (उ) अपि (च) (अन्येभिः) अन्यैः (आभृताः) आहृताः। प्रापिताः (उभयीः) अ० ७। १०९। २। उभ पूर्तौ—कयन्, ङीप्। उभय्यः। सम्पूर्णाः (ताः) कृत्याः (परा) दूरे (यन्तु) गच्छन्तु (परावतः) दूरदेशान् (नवतिम्) बह्वीरित्यर्थः (नाव्याः) नौवयोधर्मविष०। पा० ४। ४। ९१। नौ-यत्। नावा तार्याः नदीः (अति) अतीत्य ॥

१०—(अस्मै) पुरुषार्थिने शूराय (मणिम्) श्रेष्ठ नियमरूपम् (वर्म) कवचम् (बध्नन्तु) धारयन्तु (देवाः) स्तुत्याः पुरुषाः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (विष्णुः) कर्मसु व्यापको मन्त्री (सविता) प्रेरकः सेनापतिः (रुद्रः) अ० २। २७। ६। ज्ञानदाता (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी आचार्यः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (परमेष्ठी) अ० १। ७। २। अतिश्रेष्ठे मोक्षपदे स्थितः (विराट्)

(च) और (सर्वे) सब (ऋषयः) ऋषि लोग (अस्मै) इस [शूर पुरुष] के (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियमरूप] (वर्म) कवच (बध्नन्तु) बांधे ॥ १० ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य विद्वानों की सम्मति और परमात्मा के श्रेष्ठ नियमों में चलकर आनन्द पावें ॥ १० ॥

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव । यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥११॥

उत्-तमः । असि । ओषधीनाम् । अनड्वान् । जगताम्-इव । व्याघ्रः । श्वपदाम्-इव ॥ यम् । ऐच्छाम । अविदाम । तम् । प्रति-स्पाशनम् । अन्तितम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(हे मनुष्य !) तू (ओषधीनाम्) तापनाशकों में (उत्तमः) उत्तम (असि) है, (इव) जैसे (जगताम्) गतिशीलों [गौ आदि पशुओं] में (अनड्वान्) [रथ ले चलने वाला] बैल और (इव) जैसे (श्वपदाम्) हिंसक पशुओं में (व्याघ्रः) बाघ [है] । (यम्) जिसको (ऐच्छाम) हमने चाहा था, (तम्) उस (प्रतिस्पाशनम्) प्रत्येक को छूने वाले, (अन्तितम्) प्रबन्ध करने वाले [मणिरूप श्रेष्ठ नियम को (अविदाम) हमने पाया है ॥११॥

भावार्थ—उत्साही आत्मावलम्बी पुरुष भय छोड़ कर परमात्मा के नियमों को अङ्गीकार करके सुखी होते हैं ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का पूर्व भाग (उत्तमो......श्वपदामिव) अ० १९ । ३९ । ४ । में है ॥

अ० ४ । ११ । ७ । विविधं प्रकाशमानः (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितः परमेश्वरः (ऋषयः) अ० २ । ६ । १ । सन्मार्गदर्शकाः (सर्वे) समस्ताः ॥

११—(उत्तमः) (असि) (ओषधीनाम्) अ० १ । २३ । १ । तापनाशकानां मध्ये (अनड्वान्) अ० ४ । ११ । १ । शकटवाहको बलीवर्दः (जगताम्) अ० १ । ३१ । ४ । गतिशीलानां गवादीनां मध्ये (इव) यथा (व्याघ्रः) अ० ४ । ३ । १ । हिंस्रपशुविशेषः (श्वपदाम्) शुन इव पादो येषाम् । हिंस्रपशूनां मध्ये (इव) (यम्) (ऐच्छाम) वयमिष्टवन्तः (अविदाम) विन्दतेर्लुङि च्लेरङ् । वयं लब्धवन्तः (तम्) (प्रतिस्पाशनम्) स्पश बाधनस्पर्शनयोः, णिच्-ल्युट् । प्रत्येकस्पर्शकम् (अन्तितम्) अ० ६ । ४ । २ । प्रबन्धकम् ॥

स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा । अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १२ ॥

सः । इत् । व्याघ्रः । भवति । अथो इति । सिंहः । अथो इति । वृषा ॥ अथो इति । सपत्न-कर्शनः । यः । बिभर्ति । इमम् । मणिम् ॥ १२

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (इत्) ही (व्याघ्रः) बाघ, (अथो) और भी (सिंहः) सिंह, (अथो) और भी (वृषा) बलीवर्द [समान बलवान्] (अथो) और भी (सपत्नकर्शनः) शत्रुओं का दुर्बल करने वाला (भवति) होता है, (यः) जो (इमम्) इस [वेदरूप] (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] को (बिभर्ति) रखता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—वेदानुगामी पुरुष सब प्रकार शक्तिमान् होकर शत्रुओं का नाश करते हैं ॥ १२ ॥

नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः । सर्वा दिशो वि राजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥ १३ ॥

न । एनम् । घ्नन्ति । अप्सरसः । न । गन्धर्वाः । न । मर्त्याः ॥ सर्वाः । दिशः । वि । राजति । यः । बिभर्ति । इमम् । मणिम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस पुरुष को (न) न तो (अप्सरसः) अप्सरायें [आकाश में चलने वाली -बिजुलियां], (न) न (गन्धर्वाः) गन्धर्व [पृथिवी धारण करने वाले मेघ] और (न) न (मर्त्याः) मनुष्य (घ्नन्ति)

१२—(सः) पुरुषः (इत्) एव (व्याघ्रः) व्याघ्र इव शक्तिमान् (भवति) (अथो) अपि च (सिंहः) सिंह इव (वृषा) बलीवर्द इव (अथो) (सपत्नकर्शनः) कृश तनूकरणे—ल्युट्। शत्रूणां दुर्बलकरः (यः) (बिभर्ति) धरति (इमम्) प्रसिद्धं वेदरूपम् (मणिम्) म० १ । श्रेष्ठनियमम् ॥

१३—(न) निषेधे (एनम्) आत्मज्ञानिनम् (घ्नन्ति) मारयन्ति (अप्सरसः) अ० ४ । ७ । २ । आकाशे सरणशीला विद्युतः (न) (गन्धर्वाः) अ०

मारते हैं। वह (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं पर (वि राजति) शासन करता है, (यः) जो (इमम्) इस [वेद रूप] (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] को (बिभर्ति) रखता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—आत्मज्ञानी पुरुषार्थी पुरुष विज्ञान द्वारा सर्वत्र राज्य करता है १३

कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत् ।
अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत् संश्रेषिणेऽजयत् ।
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥ १४ ॥

कश्यपः । त्वाम् । असृजत । कश्यपः । त्वा । सम् । ऐरयत् ।
अबिभः । त्वा । इन्द्रः । मानुषे । बिभ्रत् । सम्-श्रेषिणे । अजयत् ।
मणिम् । सहस्र-वीर्यम् । वर्म । देवाः । अकृण्वत ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे मणि, नियम !] (कश्यपः) सब देखने वाले परमेश्वर ने (त्वाम्) तुझे (असृजत) उत्पन्न किया है, (कश्यपः) सर्वदर्शी ईश्वर ने (त्वा) तुझे (सम्) यथावत् (ऐरयत्) भेजा है। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान् मनुष्य ने (त्वा) तुझको (मानुषे) मनुष्य [लोक] में (अबिभः) धारण किया है और उसने [तुझे] (बिभ्रत्) धारण करते हुये (संश्रेषिणे) संग्राम में (अजयत्) जय पाई है। [इसी से] (देवाः) विजय चाहने वाले वीरों ने (सहस्रवीर्यम्) सहस्रों सामर्थ्य वाले (मणिम्) मणि [श्रेष्ठनियम] को (वर्म) कवच (अकृण्वत) बनाया है ॥ १४ ॥

२ । १ । २ । पृथिवीधारका मेघाः (न) (मर्त्याः) मनुष्याः (सर्वाः) (दिशः) (वि राजति) विविधं शास्ति । अन्यत् पूर्ववत्—म० १२ ॥

१४—(कश्यपः) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः सर्वद्रष्टा (त्वाम्) मणिम् (असृजत्) उत्पादितवान् (कश्यपः) (त्वा) (सम्) सम्यक् (ऐरयत्) प्रेरितवान् (अबिभः) अ० ६ । ८१ । ३ । धृतवान् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (मानुषे) अ० ४ । १४ । ५ । मनुष्यसम्बन्धिनि लोके (बिभ्रत्) धारयन् (संश्रेषिणे) श्यास्त्या० । उ० २ । ४६ । सम्+श्लिष संसर्गे—इनच्, लस्य रः । परस्परश्लेषणसाधने संग्रामे (अजयत्) जयं प्राप्तवान् (मणिम्) म० १ । श्रेष्ठनियमम् (सहस्रवीर्यम्) बहुसामर्थ्यम् (वर्म) भयनिवारकं कवचम् (देवाः) विजिगीषवः । शूराः (अकृण्वत) अकुर्वन् ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि जो मनुष्य परमेश्वरकृत नियमों पर श्रद्धा रखता है, वह विजयी होता है ॥ १४ ॥

यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक् त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥ १५ ॥

यः। त्वा। कृत्याभिः। यः। त्वा। दीक्षाभिः। यज्ञैः। यः। त्वा। जिघांसति ॥ प्रत्यक्। त्वम्। इन्द्र। तम्। जहि। वज्रेण। शत-पर्वणा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (त्वा) तुझे (कृत्याभिः) हिंसा क्रियाओं से, (यः) जो (त्वा) तुझे (दीक्षाभिः) आत्मनिग्रह व्यवहारों से, (यः) जो (त्वा) तुझे (यज्ञैः) संयोगों से (जिघांसति) मारना चाहता है। (त्वम्) तू (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष! (तम्) उस को (शतपर्वणा) सैकड़ों पालन सामर्थ्य वाले (वज्रेण) वज्र से (प्रत्यक्) प्रत्यक्ष (जहि) नाश कर। १५।

भावार्थ—जो पाखण्डी मनुष्य उपद्रव करके अथवा कपट से आत्मनिग्रह और मित्रता आदि करके मारना चाहे, राजा उसको नाश करके प्रजा पालन करे ॥ १५ ॥

अयमिद् वै प्रतीवर्त ओजस्वान् संजयो मणिः।
प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥ १६ ॥

अयम्। इत्। वै। प्रति-वर्तः। ओजस्वान्। सम्-जयः। मणिः ॥ प्रजाम्। धनम्। च। रक्षतु। परि-पानः। सु-मङ्गलः ॥ १६ ॥

१५—(यः) (त्वा) इन्द्रम् (कृत्याभिः) अ० ४। ६। ५। हिंसाक्रियाभिः (त्वा) (दीक्षाभिः) दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु—अप्रत्ययः, टाप्। आत्मनिग्रहैः (यज्ञैः) संयोगव्यवहारैः (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (प्रत्यक्) प्रत्यक्षम् (त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (तम्) उपद्रविणम् (जहि) नाशय (वज्रेण) (शतपर्वणा) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। पॄ पालने पूर्तौ च—वनिप्। बहुपालनयुक्तेन ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (इत् वै) अवश्य ही (प्रतिवर्तः) प्रत्यक्ष घूमने वाला, (ओजस्वान्) बलवान्, (संजयः) विजयी, (परिपाणः) परिरक्षक, (सुमङ्गलः) बड़ा मङ्गलकारी (मणिः) मणि [श्रेष्ठ नियम] (प्रजाम्) प्रजा (च) और (धनम्) धन की (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—नियमवान् मनुष्य ही प्रजा और धन की रक्षा करते हैं ॥१६॥

असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात् ।

इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥ १७ ॥

असपत्नम् । नः । अधरात् । असपत्नम् । नः । उत्तरात् ॥ इन्द्र ।

असपत्नम् । नः । पश्चात् । ज्योतिः । शूर । पुरः । कृधि ॥१७॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् ! (ज्योतिः) ज्योति को (नः) हमारे लिये (अधरात्) नीचे से (असपत्नम्) शत्रु रहित, (नः) हमारे लिये (उत्तरात्) ऊपर से (असपत्नम्) शत्रु रहित, (नः) हमारे लिये (पश्चात्) पीछे से (असपत्नम्) शत्रुरहित (पुरः) सन्मुख (कृधि) कर ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा सब ओरसे शत्रुओं को नाश करके प्रजाकी रक्षाकरे ॥१७

वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः ।

वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥ १८ ॥

वर्म । मे । द्यावापृथिवी इति । वर्म । अहः । वर्म । सूर्यः ॥

वर्म । मे । इन्द्रः । च । अग्निः । च । वर्म । धाता । दधातु । मे ॥१८

१६—(अयम्) (इत्) अवश्यम् (वै) एव (प्रतिवर्तः) म० ४ । प्रत्यक्षवर्तनशीलः (ओजस्वान्) बलवान् (संजयः) सम्यग् जेता (मणिः) म० १ । श्रेष्ठनियमः (प्रजाम्) (धनम्) (च) (रक्षतु) (परिपाणः) म० १ । परिरक्षकः (सुमङ्गलः) बहुश्रेयस्करः ॥

१७—(असपत्नम्) शत्रुरहितम् (नः) अस्मभ्यम् (अधरात्) अधोदेशात् (उत्तरात्) उपरिदेशात् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (पश्चात्) पृष्ठतः ज्योतिः) प्रकाशम् (शूर) (पुरः) पुरस्तात् (कृधि) कुरु । अन्यत्पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे लिये (द्यावापृथिवी) आकाश और भूमि (वर्म) कवच, (अहः) दिन (वर्म) कवच, (सूर्यः) सूर्य (वर्म) कवच, (मे) मेरे लिये (इन्द्रः) वायु (च) और (अग्निः) अग्नि [जाठर अग्नि] (च) भी (वर्म) कवच [होवे], (धाता) पोषण करने वाला परमेश्वर (मे) मेरे लिये (वर्म) कवच (दधातु) धारण करे ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा को विचार कर संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सदा उन्नति करे ॥ १८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—अ० १६ । २० । ४ । में भी है ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नं वर्म॑ बहु॒लं यदु॒ग्रं विश्वे॑ दे॒वा नाति॒विध्य॑न्ति॒ सर्वे॑ । तन्मे॑ त॒न्वं॑ त्रायतां स॒र्वतो॑ बृ॒हदायु॑ष्मां ज॒रद॑ष्टि॒र्यथासा॑नि ॥ १९ ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नम् । वर्म॑ । ब॒हु॒लम् । यत् । उ॒ग्रम् । विश्वे॑ । दे॒वाः । न । अ॒ति॒-विध्य॑न्ति । सर्वे॑ ॥ तत् । मे॒ । त॒न्व॑म् । त्रा॒य॒ता॒म् । स॒र्वतः॑ । बृ॒हत् । आयु॑ष्मान् । ज॒रत्-अ॑ष्टिः । यथा॑ । असा॑नि १९

भाषार्थ—(ऐन्द्राग्नम्) वायु और अग्नि का (वर्म) कवच (बहुलम्) बहुत अधिक और (उग्रम्) प्रचण्ड है, (यत्) जिसको (विश्वे सर्वे) सब की सब (देवाः) इन्द्रियां (न) नहीं (अतिविध्यन्ति) आरपार छेद सकती हैं। (तत्) वह (बृहत्) बड़ा [कवच] (मे) मेरे (तन्वम्) शरीरको

१८—(वर्म) कवचम् । रक्षासाधनं भवतु (मे) मह्यम् (द्यावापृथिवी) आकाशभूमी (अहः) दिनम् (सूर्यः) आदित्यः (इन्द्रः) वायुः (च) (अग्निः) जाठराग्निः (च) अपि (धाता) पोषकः परमेश्वर (दधातु) धारयतु । अन्यद्गतम् ॥

१९—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्रश्च अग्निश्च इन्द्राग्नी । सास्य देवता । पा० ४ । २ । २४ । इत्यण् । इन्द्राग्निदेवताकम् । वायुपावकसम्बद्धम् (वर्म) कवचम् (बहुलम्) अ० ३ । १४ । ६ । अत्यधिकम् (यत्) (उग्रम्) प्रचण्डम् (विश्वे सर्वे) सर्व एव (देवाः) इन्द्रियाणि (न) निषेध अतिविध्यन्ति) अत्यन्तं छिन्दन्ति

(सर्वतः) सब ओर से (त्रायताम्) पाले, (यथा) जिससे (आयुष्मान्) बड़ी आयु वाला (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असानि) मैं रहूं ॥ १६॥

भावार्थ—परमेश्वर की सृष्टि में वायु अग्नि आदि पदार्थ अपरिमित हैं, उनसे मनुष्य यथावत् उपकार लेकर अपना जीवन और यश बढ़ावें ॥ १६ ॥

आ मा॑रुक्षद् देवम॒णिर्म॒ह्या अ॑रिष्टता॑तये ।
इ॒मं मे॒थिम॑भि॒संवि॑शध्वं तनू॒पानं॑ त्रि॒वरू॑थ॒मोज॑से ॥२०॥

आ । मा॒ । अ॒रु॒क्ष॒त् । दे॒व॒-म॒णिः । म॒ह्यै । अ॒रि॒ष्ट॒-ता॑तये ॥
इ॒मम् । मे॒थिम् । अ॒भि॒-संवि॑शध्वम् । त॒नू॒-पान॑म् । त्रि॒-वरू॑थम् ।
ओज॑से ॥ २० ॥

भाषार्थ—(देवमणिः) दिव्य मणि [श्रेष्ठ नियम] (मह्यै) बड़ी (अरिष्टतातये) कुशलता के लिये (मा) मुझ पर (आ अरुक्षत्) आरूढ़ [अधिकारवान्] हुआ है। [हे विद्वानो !] (इमम्) इस (तनूपानम्) शरीरपालक, (त्रिवरूथम्) तीन [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] रक्षा वाले (मेथिम्) दान में (ओजसे) बल के लिये (अभिसंविशध्वम्) सब ओर से मिलकर प्रवेश करो ॥ २० ॥

(तन्) वर्म (मे) मम (तन्वम्) तनूम्। शरीरम् (त्रायताम्) पालयतु (सर्वतः) सर्वप्रकारेण (बृहत्) महत् (आयुष्मान्) दीर्घजीवनः (जरदष्टिः) अ० २। २८। ५। जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्य्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः (यथा यस्मात् कारणात् (असानि) भवानि ॥

२०—(मा) माम् (आ अरुक्षत्) अ० ३। ५। ५। आरूढवान्। अधिष्ठितवान् (देवमणिः) दिव्यगुणो मणिः श्रेष्ठनियमः (मह्यै) महत्यै (अरिष्टतातये) अ० ३। ५। ५। कुशलकरणाय (इमम्) सुप्रसिद्धम् (मेथिम्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। मेथृ वधे मेधायां च—इन्। बोधम् (अभिसंविशध्वम्) सर्वतो मिलित्वा प्रविशत, आश्रयध्वम् (तनूपानम्) शरीरपालकम् (त्रिवरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन्। उ० २। ६। वृञ् स्वीकरणे संवरणे वा—ऊथन्। त्रीणि वरूथानि आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानि रक्षणानि यस्मिंस्तम् (ओजसे) बलाय ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ने प्रत्येक प्राणी के कुशल के लिये उत्तम नियम उत्पन्न किये हैं, सब विद्वान् लोग उनका आश्रय लेकर अपना बल बढ़ावें ॥ २० ॥

इस मन्त्र का पूर्वभाग कुछ भेद से आ चुका है—अ० ३ । ५ । ५ ॥

अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्। दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्मान् जरदष्टिर्यथासत् २१

अस्मिन्। इन्द्रः। नि। दधातु। नृम्णम्। इमम्। देवासः। अभि-संविशध्वम् ॥ दीर्घायु-त्वाय। शत-शारदाय। आयुष्मान्। जरत्-अष्टिः। यथा। असत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (नृम्णम्) बल वा धन (शतशारदाय) सौ शरद् ऋतु वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (नि दधातु) नियम से स्थापित करे, (देवासः) हे विद्वानो! (इमम्) इस [ज्ञान—म० २०] में (अभिसंविशध्वम्) सब ओर से मिलकर प्रवेश करो, (यथा) जिससे वह (आयुष्मान्) बड़े जीवन वाला और (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (असत्) होवे ॥ २१ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपदेश करें जिससे सब मनुष्य ईश्वर महिमा जानकर बल धन और यश बढ़ावें ॥ २१ ॥

स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी। इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा। स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

२१—(अस्मिन्) मनुष्ये (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (नि) नियमेन (दधातु) स्थापयतु (नृम्णम्) अ० ४ । २४ । ३ । बलं धनं वा (इमम्) म० २० । मेथिम् । बोधम् (अभिसंविशध्वम्) म० २१ (दीर्घायुत्वाय) चिरजीवनाय (शतशारदाय) अ० १ । ३५ । १ । शतसंवत्सरयुक्ताय (आयुष्मान् । जरदष्टिः । यथा) म० १६ (असत्) भवेत् ॥

स्वस्ति-दाः । विशाम् । पतिः । वृत्र-हा । वि-मृधः । वशी ॥
इन्द्रः । बध्नातु । ते । मणिम् । जिगीवान् । अपरा-जितः ।
सोम-पाः । अभयम्-करः । वृषा ॥ सः । त्वा । रक्षतु । सर्वतः ।
दिवा । नक्तम् । च । विश्वतः ॥ २२ ॥ (१३)

भाषार्थ—(स्वस्तिदाः) मङ्गल का देने हारा, (विशाम्) प्रजाओं का (पतिः) पालने हारा, (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने हारा, (विमृधः) शत्रुओं को (वशी) वश में करने हारा, (जिगीवान्) विजयी, (अपराजितः) कभी न हराया गया, (सोमपाः) ऐश्वर्य की रक्षा करने हारा, (अभयङ्करः) अभय करने हारा, (वृषा) महाबली (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (ते) तुझको [हे मनुष्य !] (मणिम्) मणि [श्रेष्ठ नियम] (बध्नातु) बांधे । (सः) वह (सर्वतः) सब प्रकार (दिवा नक्तं च) दिन और रात (विश्वतः) सब ओर से (त्वा) तेरी (रक्षतु) रक्षा करे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना करके उत्तम नियमों का पालन कर सदा सुरक्षित रहें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का प्रथम भाग और कुछ अन्यपद आ चुके हैं—अ० १ । २१ । १ ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—२६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३, ४-९, १३, १८, २०—२६ अनुष्टुप् ; २ बृहती ; १०, १७ त्र्यवसाना षट्पदा जगती ; ११, १२, १४, १६ पथ्या पङ्क्तिः; १५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी ; १९ भुरिगनुष्टुप् ॥

२२—अस्य मन्त्रस्य बहवः पदार्थाः साधिताः—अ० १ । २१ । १ । अत्र तेषां पर्य्यायवाचिनो दीयन्ते (स्वस्तिदाः) क्षेमप्रदः (विशां पतिः) प्रजानां पालकः (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (विमृधः) शत्रून् (वशी) वशयिता (इन्द्रः) परमेश्वरः (बध्नातु) धारयतु (ते) तुभ्यम् (मणिम्) म० १ । श्रेष्ठनियमम् (जिगीवान्) अ० ४ । २२ । ६ । जयशीलः (अपराजितः) अनभिभूतः (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षकः (अभयङ्करः) अभयप्रदः (वृषा) महाबली (सः) इन्द्रः (त्वा) त्वाम् (रक्षतु) (सर्वतः) सर्वप्रकारेण (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ (च) (विश्वतः) सर्वासु दिक्षु ॥

गर्भरक्षोपदेशः—गर्भ की रक्षा का उपदेश ॥

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ ।
दुर्णामा तत्र मा गृधदलिंश उत वत्सपः ॥ १ ॥

यौ । ते । माता । उत्-ममार्ज । जातायाः । पति-वेदनौ ॥
दुः-नामा । तत्र । मा । गृधत् । अलिंशः । उत । वत्स-पः ॥१॥

पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम् ।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम् ॥ २ ॥

पलाल-अनुपलालौ । शर्कुम् । कोकम् । मलिम्लुचम् । पली-जकम् ॥ आ-श्रेषम् । वव्रि-वाससम् । ऋक्ष-ग्रीवम् । प्र-मी-लिनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (ते जातायाः) तुझ उत्पन्न हुई की (माता) माता ने [तेरे] (यौ) जिन दोनों (पतिवेदनौ) ऐश्वर्य प्राप्त करने वालों [अर्थात् स्तनों) को (उन्ममार्ज) यथावत् धोया था। (तत्र) उन दोनों में [हो जाने वाला] (अलिंशः) शक्ति घटाने वाला (उत) और (वत्सपः) बच्चे नाश करने वाला (दुर्णामा) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाला थनेला आदि रोग का कीड़ा], (पलालानुपलालौ) मांस [का बढ़ाव] रोकने वाले और लगातार पुष्टि रोकने वाले, (शर्कुम्) क्लेश करने वाले, (कोकम्) भेड़िया [समान

१, २—(यौ) (ते) तव (माता) जननी (उन्ममार्ज)उत्कर्षेण शोधितवती (जातायाः) उत्पन्नायाः (पतिवेदनौ) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। पत ऐश्वर्ये—इन्+विद्लृ लाभे-ल्युट्। ऐश्वर्यप्रापकौ, स्तनावित्यर्थः (दुर्णामा) दुर् दुष्टं नाम यस्य। दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा—निरु० ६। १२। पापनामा पापप्रदेशे नतः परिणतः उत्पन्नः। इति देवराजयज्वा निरुक्तटीकाकारः। नामन्सीमन्व्योमन्०। उ० ४। १५१। म्ना अभ्यासे—मनिन्, यद्वा नमतेर्वा नमयतेर्वा-मनिन्। अथवा, नञ्पूर्वःअम रोगे—मनिन्, सर्वत्र निपातनात् सिद्धिः। उत्तरव्युत्पत्तौ (दुर्णामा) इति पदे द्वौ प्रतिषेधकौ एकं निश्चयं द्योतयेते, रोग-

बल छीनने वाले], (मलिम्लुचम्) मलिन चाल वाले, (पलीजकम्) चेष्टा में दोष लगाने वाले, (आश्रेषम्) अत्यन्त दाह वा कफ़ करने वाले, (वव्रिवाससम्) रूप हरलेने वाले, (ऋक्षग्रीवम्) गला दुखाने वाले, (प्रमीलिनम्) आखें मूंद देने वाले, [क्लेश] को (मा गृधत्) न चाहे ॥ १, २ ॥

भावार्थ—स्त्री सावधान रहे कि जिन स्तन आदि अङ्गों को उसकी माता ने जन्म दिन पर धोकर नीरोग बनाया था, उनमें रोग के कीड़े हो जाने के कारण बल हीन होकर बच्चे के दुःखदायी क्लेश न उत्पन्न हों ॥ १, २ ॥

कारकः—इत्यर्थः । नाम=उदकम्—निघ० १ । १२ । अतिक्रूररोगः । दुर्नाम अर्शो रोग इति शब्दकल्पद्रुमः (तत्र) स्तनद्वये वर्तमानः (मा गृधत्) गृधु अभिकांक्षायाम्. माङि लुङि पुषादित्वादङ् । मा लिप्सेत (अलिंशः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अज्ञभूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु—इन् । खच्च डिद्वा वक्तव्यः । वा० पा० ३ । २ । ३८ । अलि+शंसु हिंसायाम्—खच्, स च डित्, मुम् च । शक्तिहिंसकः (उत) अपि च (वत्सपः) वत्स—पा पाने—क । वत्सपिबः । शिशुनाशकः (पलालानुपलालौ) पल गतौ रक्षणे च+अल वारणे—क । पलस्य मांसस्य वर्जकं निरन्तरगतिनिवारकं च तौ क्लेशौ (शर्कुम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । शॄ हिंसायाम्—विच् । आङ्परयोः खनिशॄभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । शर्+डुकृञ् करणे—कु, स च डित् । क्लेशकरम् (कोकम्) कुक आदाने—पचाद्यच् । वृकं यथा बलस्य संहर्तारम् (मलिम्लुचम्) ज्योत्स्नातमिस्रा० । पा० ५ । २ । ११४ । मल—इनच् मत्वर्थे निपात्यते । इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । म्लुच्च स्तेयकरणे-क, पृषोदरादित्वान् नलोपः । मलिम्लुचः स्तेनः—निघ० ३ । २४ । मलिनगतियुक्तम् (पलीजकम्) पल गतौ—विच्+ईज गतौ—ण्वुल् । चेष्टादूषकम् (आश्रेषम्) आ+श्लिष दाहे संसर्गे च—घञ् । लस्य रः । समन्तात् दाहकरं कफकरं वा (वव्रिवाससम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । वृञ् वरणे—कि द्विर्वचनम्, कित्वात् गुणाभावः, यणादेशः । वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः- निरु० २ । ९ । वसेर्णित् । उ० ४ । ४१८ । वस अपहरणे—असुन् । रूपनाशकम् (ऋक्षग्रीवम्) ऋक्ष वधे-अच् । ऋक्षः क्लेशो ग्रीवायां यस्य तम् । वाहिताग्न्यादिषु । पा० २ । २ । ३७ । इति सप्तमी परा(प्रमीलिनम्) मील संकोचे—णिनि । प्रतिक्षणं संकुचन्नेत्रम् ॥

मन्त्र १ तथा २ युग्मक हैं ॥ (दुर्णामा) का अर्थ "कीड़े पापनामा अर्थात् बुरे स्थान में झुके वा उत्पन्न" किया है—देखो निरुक्त ६ । १२ और देवराज यज्वा की टीका ॥

मा सं वृ॑तो मोप॑ सृ॒प ऊ॒रू माव॑ सृ॒पोऽन्त॒रा ।
कृ॒णोम्य॑स्यै भे॒षजं॑ ब॒जं दु॑र्णाम॒चात॑नम् ॥ ३ ॥

मा । सम् । वृ॒तः॒ । मा । उप॑ । सृ॒पः॒ । ऊ॒रू इति॑ । मा । अव॑ । सृ॒पः॒ । अ॒न्त॒रा ॥ कृ॒णोमि॑ । अ॒स्यै॒ । भे॒ष॒जम् । ब॒जम् । दुः॒-ना॒म॒-चात॑नम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे रोग !] (मा सम् वृतः) तू मत घूमता रह, (मा उप सृपः) मत रींगता आ, (ऊरू अन्तरा) दोनों जांघों के बीच (मा अव सृपः) मत सरकता जा। (अस्यै) इस [स्त्री] के लिये (दुर्णामचातनम्) दुर्नाम-नाशक [दुष्ट नाम रोग मिटाने वाले] (बजम्) बलवान् (भेषजम्) औषध को (कृणोमि) बनाता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वैद्य गर्भिणी स्त्री के लिये उत्तम ओषधि बनावे जिस से उसको कोई कठिन रोग न होवे ॥

दु॒र्णामा॑ च सु॒नामा॑ चो॒भा सं॒वृत॑मिच्छतः ।
अ॒राया॒नप॑ हन्मः सु॒नामा॒ स्त्रैण॑मिच्छताम् ॥ ४ ॥

दुः॒-नामा॑ । च॒ । सु॒-नामा॑ । च॒ । उ॒भा । स॒म्-वृत॑म् । इ॒च्छ॒तः॒ ॥ अ॒राया॑न् । अप॑ । ह॒न्म॒ः । सु॒-नामा॑ । स्त्रैण॑म् । इ॒च्छ॒ता॒म् ॥ ४ ॥

३—(मा सम् वृतः) द्युद्भ्यो लुङि । पा० १ । ३ । ९१ । इति वृतु वर्तने परस्मैपदम्, द्युतादित्वाद् अङ् । संवर्तनं मा कुरु (मोप सृपः) उपसर्पणं मा कार्षीः (ऊरू अन्तरा) अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया । जानूपरिभागयोर्मध्ये (माव सृपः) अवाक् सर्पणं मा कुरु (कृणोमि) करोमि (अस्यै) गर्भिण्यै (भेषजम्) औषधम् (बजम्) वज गतौ—अच्, वस्य बः । बलकरम् (दुर्णामचातनम्) चातयतिर्नाशने—निरु० ६ । ३० । अतिकठिन-रोगस्य विनाशकम् ॥

भाषार्थ—(दुर्णामा) दुर्नाम [कठिन रोग] (च) और (सुनामा) सुनाम [स्वस्थपन] (च) भी (उभा) दोनों (संवृतम्) समीप रहना (इच्छतः) चाहते हैं। (अरायान्) अलक्ष्मी वाले [रोगों] को (अप हन्मः) हम मिटाते हैं, (सुनामा) सुनाम [स्वस्थपन] (स्त्रैणम्) स्त्री सम्बन्धी [शरीर] को (इच्छताम्) चाहे ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य समीपवर्ती रोग के कारणों को रोककर गर्भिणी का स्वास्थ्य बढ़ाते रहें ॥ ४ ॥

यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः ।
अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोऽप हन्मसि ॥ ५ ॥

यः । कृष्णः । केशी । असुरः । स्तम्ब-जः । उत । तुण्डिकः ॥
अरायान् । अस्याः । मुष्काभ्याम् । भंससः । अप । हन्मसि ५

भाषार्थ—(यः) जो [रोग] (कृष्णः) काला, (केशी) बहुत क्लेश वा बहुत केश वाला (असुरः) गिरानेवाला, (स्तम्बजः) बैठने के अङ्ग में उत्पन्न होनेवाला (उत) और (तुण्डिकः) कुरूप थूथन वा कुरूप नाभि वाला [है]। (अरायान्) अलक्ष्मीवाले [उन रोगों] को (अस्याः) इस [स्त्री]

४—(दुर्णामा) म० १। दुष्टरोगः (च) (सुनामा) सुभगः। स्वस्थभावः (च) (उभा) द्वौ (संवृतम्) वृतु वर्तने-क्विप्। समीपवर्तनम् (इच्छतः) (अरायान्) अ० २। २५। ३। अलक्ष्मीकान् रोगान् (अप हन्मः) विनाशयामः (सुनामा) (स्त्रैणम्) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्। पा० ४। १। ८७। स्त्री—नञ्। स्त्रीसम्बन्धि शरीरम् (इच्छताम्) आत्मने पदं छान्दसम्। इच्छतु ॥

५—(यः) रोग (कृष्णः) कालवर्णः (केशी) केश—इनि। क्लिशेरन् लो लोपश्च। उ० ५। ३३। क्लिश उपतापे अन्। क्लेशी। यद्वा के मस्तके शेते, शीङ् शयने—अच्, अलुक्समासः। बहुबालयुक्तः (असुरः) असेरुरन्। उ० १। ४२। असु क्षेपणे—उरन्। क्षेप्ता (स्तम्बजः) स्थः स्तोऽम्बजवकौ। उ० ४। ९६। तिष्ठतेः—अम्बच्, स्तादेशः। स्तम्बे स्थित्यङ्गे जातः (उत) अपि च

के (मुष्काभ्याम्) दोनों अण्ड कोशों से और (भंससः) गुप्त स्थान से (अप हन्मसि) हम मिटाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग गर्भिणी स्त्री के मर्म स्थानों के कुरोगों की चिकित्सा करते रहें, जिससे बालक बलवान् और नीरोग हो ॥ ५ ॥

अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम् ।
अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥ ६ ॥

अनु-जिघ्रम् । प्र-मृशन्तम् । क्रव्य-अदम् । उत । रेरिहम् ॥
अरायान् । श्व-किष्किणः । बजः । पिङ्गः । अनीनशत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अनुजिघ्रम्) लगातार सुड़कनेवाले, (प्रमृशन्तम्) छुजाने वाले (क्रव्यादम्) मांस खानेवाले (उत) और (रेरिहम्) अति चोट करने वाले [ऐसे] (अरायान्) अलक्ष्मी वाले और (श्वकिष्किणः) कुत्ते समान सताने वाले [रोगों] को (बजः) बली और (पिङ्गः) पराक्रमी [पुरुष] ने (अनीनशत्) नाश करदिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—बलवान् और पराक्रमी स्त्री पुरुषों को शरीर का मांस और बल घटानेवाले रोग नहीं सताते हैं ॥ ६ ॥

(तुण्डिकः) सर्वधातुभ्य इन्—उ० ४ । ११८ । तुडि तोडने—इन् । कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । इति-क । कुरूपमुखः । कुत्सितनाभः (अरायान्) अलक्ष्मीकान् रोगान् (अस्याः) गर्भिण्याः (मुष्काभ्याम्) अण्डकोशाभ्याम् (भंससः) अ० २ । ३३ । ५ । गुह्यस्थानात् (अपहन्मसि) विनाशयामः ॥

६—(अनुजिघ्रम्) पाघ्राध्माधेट्दृशः शः । पा० ३ । १ । १३७ । अनु + घ्रा गन्धोपादाने—शः । पाघ्राध्मास्था० । पा० ७ । ३ । ७८ । जिघ्रादेशः । निरन्तरं घ्राणशीलम् (प्रमृशन्तम्) मृश स्पर्शने—शतृ । प्रकर्षेण स्पर्शशीलम् (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं रोगम् (उत) अपि च (रेरिहम्) रिह हिंसादिषु, यङि लुकि—पचाद्यच् । अतिहिंसकम् (अरायान्) अलक्ष्मीकान् (श्वकिष्किणः) किष्क हिंसायाम्—णिनि । कुक्कुरसदृशपीडकान् (बजः) म० ३ । बली (पिङ्गः) पिजि बले दीप्तौ च—अच्, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । पा० ७ । ३ । ५३ । पराक्रमी पुरुषः (अनीनशत्) अ० १ । १२७ । २ । नाशितवान् ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च ।
व्रजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥ ७ ॥

यः । त्वा । स्वप्ने । नि-पद्यते । भ्राता । भूत्वा । पिता-इव । च ॥ व्रजः । तान् । सहताम् । इतः । क्लीब-रूपान् । तिरीटिनः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो कोई (त्वा) तेरे पास (स्वप्ने) सोते में (भ्राता) भाई [समान] (च) और (पिता इव) पिता के समान (भूत्वा) होकर (निपद्यते) आ जावे । (व्रजः) बली [पुरुष) (तान्) उन सब (क्लीबरूपान्) हिजड़े [समान] रूपवाले (तिरीटिनः) घातकों को (इतः) यहां से (सहताम्) हरा देवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—पति आदि सावधान रहें कि कोई छली पुरुष गर्भिणी को सोते में न सतावे ॥ ७ ॥

यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम् ।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥ ८ ॥

यः । त्वा । स्वपन्तीम् । त्सरति । यः । त्वा । दिप्सति । जाग्रतीम् ॥ छायाम्-इव । प्र । तान् । सूर्यः । परि-क्रामन् । अनीनशत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (त्वा) तुझ (स्वपन्तीम्) सोती हुई को

७—(यः) पुरुषः (त्वा) गर्भिणीम् (स्वप्ने) निद्रायाम् (निपद्यते) अभिगच्छति । प्राप्नोति (भ्राता) सहोदर इव (भूत्वा) विश्वासं जनयन् (पिता इव) जनक इव, तद्रूपधारी (च) (व्रजः) मं० ३ । बली पुरुषः (तान्) (सहताम्) अभिभवतु (इतः) अत्र (क्लीबरूपान्) षण्ढरूपधारिणः (तिरीटिनः) कृतॄकृपिभ्यः कीटन् । उ० ४ । १८५ । तॄ अभिभवे—कीटन् , मत्वर्थे इनि । अभिभवशीलान् । घातकान् ॥

८—(यः) (त्वा) त्वाम् (स्वपन्तीम्) निद्रावतीम् (त्सरति) त्सर

(त्सरति) छलता है, (यः) जो (त्वा) तुझ (जाग्रतीम्) जागती हुई को (दिप्सति) मारना चाहता है। (परिक्रामन्) घूमते हुये (सूर्यः) सूर्य [समान पुरुष] ने (तान्) उन सब को (छायाम् इव) छाया के समान (प्र अनीनशत्) नाश कर दिया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सावधान पति आदि सोती और जागती गर्भिणी के पास से दुष्टों को ऐसे हटावें जैसे परिक्रमा करता हुआ सूर्य अन्धकार को ॥ ८ ॥

मन्त्र ७ तथा ८ का मिलान करो—ऋग्वेद १० । १६२ । ५, ६ ॥

यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।

तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥ ९ ॥

यः । कृणोति । मृत-वत्साम् । अव-तोकाम् । इमाम् । स्त्रियम् ॥

तम् । ओषधे । त्वम् । नाशय । अस्याः । कमलम् । अञ्जिवम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [रोग] (इमाम्) इस (स्त्रियम्) स्त्री को (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली और (अवतोकाम्) पतितगर्भ वाली (कृणोति) करता है। (ओषधे) हे ओषधि ! [अन्न आदि पदार्थ] (त्वम्) तू (अस्याः) इस [स्त्री] के (तम्) उस (कमलम्) कामना रोकनेवाले और (अञ्जिवम्) कान्ति [शोभा] हरनेवाले [रोग] को (नाशय) नाश कर ॥ ९ ॥

छद्मगतौ। कपटेन प्राप्नोति (यः) (त्वा) (दिप्सति) अ० ४ । ३६ । १ । हन्तुमिच्छति (जाग्रतीम्) प्रबुद्धाम् (छायाम्) अन्धकारम् (इव) यथा (तान्) सर्वान् (सूर्यः) (परिक्रामन्) आकाशे परिभ्रमन् (अनीनशत्) नाशितवान् ॥

९—(यः) रोगः (कृणोति) करोति (मृतवत्साम्) मृतबालकाम् (अवतोकाम्) अवपन्नगर्भाम् (इमाम्) गर्भिणीम् (स्त्रियम्) (तम्) रोगम् (ओषधे) अ० १ । ३० । ३ । अन्नादिपदार्थ (त्वम्) (नाशय) निवारय (अस्याः) गर्भिण्याः (कमलम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । कमु कान्तौ—णिच् + अल वारणे—अच्। कामनावारकम् (अञ्जिवम्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४ । ११८ । अञ्ज व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—इन्। आतोऽनुपसर्गे कः। पा० ३ । २ । ३ । अञ्जि + वा गतिगन्धनयोः—क । कान्तिनाशकम् । शोभाहर्तारम् ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि स्त्री उत्तम अन्न ओषधि आदि के सेवन से नीरोग रहकर बालक की पालना और फिर भी गर्भ की रक्षा करके कामना पूरी करती हुई शोभा बढ़ावे ॥ ९ ॥

ये शालाः परिनृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः ।
कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः ।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान् वि नाशय १० (१४)

ये । शालाः । परि-नृत्यन्ति । सायम् । गर्दभ-नादिनः ॥ कुसूलाः । ये । च । कुक्षिलाः । ककुभाः । करुमाः । स्रिमाः ॥ तान् । ओषधे । त्वम् । गन्धेन । विषूचीनान् । वि । नाशय १०(१४)

भावार्थ—(ये) जो (गर्दभनादिनः) गधे समान नाद करनेवाले [कीड़े] (सायम्) सायंकाल में (शालाः) घरों के (परिनृत्यन्ति) आस पास नाचते हैं। (च) और (ये) जो (कुसूलाः) चिपट जानेवाले [अथवा अन्न के कोठे के समान आकार वाले], (कुक्षिलाः) बड़े पेटवाले, (ककुभाः) शरीर में टेढ़े दिखाई देने वाले, (करुमाः) मन को पीड़ा देने वाले, (स्रिमाः) चलने फिरने वाले [वा सुखाने वाले] हैं। (ओषधे) हे ओषधि ! [वैद्य] (त्वम्) तू (गन्धेन) गन्ध से (तान्) उन (विषूचीनान्) फैले हुये [कीड़ों] को (वि नाशय) विनष्ट कर दे ॥ १० ॥

१०—(ये) मशकादयः क्रमयः (शालाः) गृहाणि (परिनृत्यन्ति) परितो नृत्यन्ति (सायम्) दिनान्ते (गर्दभनादिनः) गर्दभसमानघोषयुक्ताः (कुसूलाः) खर्जिपिञ्जादिभ्य ऊरोलचौ। उ० ४। ९०। कुस श्लेषे-ऊल। श्लेषणशीलाः। यद्वा, कुशूलाकृतयः, अन्नकोष्ठकाकाराः (ये) (च) (कुक्षिलाः) प्लुषिकुषि शुषिभ्यः क्सिः। उ० ३। १५५। कुष निष्कर्षे-क्सि। प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्। पा० ५। २। ९६। बाहुलकात् लच् मत्वर्थे। बृहत्कुक्षयः। महोदराः (ककुभाः) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम्। वा० पा० ३। २। ५। क+कु+भा दीप्तौ-क। के देहे कु कुत्सितं भान्ति ये ते (करुमाः) रुच दीप्तौ-ड। अविसिवि-शुषिभ्यः कित्। उ० १। १४४। रुङ् वधे-मन्, कित्। कं मनो रुवन्ते ये। मनः-पीडकाः (स्रिमाः) अविसिवि०। उ० १। १४४। स्रिवु गतिशोषणयोः—मन्,

भावार्थ—मनुष्य कस्तूरी, केशर, कपूर, अगर, तगर, आदि द्रव्य पदार्थों का अग्नि में होम करके रोगजनक क्रिमियों को घर से नाश करें ॥१०॥

ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति । क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने ये कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥११॥

ये । कुकुन्धाः । कुकूरभाः । कृत्तीः । दूर्शानि । बिभ्रति ॥ क्लीबाः-इव । प्र-नृत्यन्तः । वने । ये । कुर्वते । घोषम् । तान् । इतः । नाशयामसि ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (कुकुन्धाः) कुत्सित ध्वनि रखने वाले [भिन-भिनाने वाले], (कुकूरभाः) भूले के अग्नि समान चमकने वाले [कीड़े] (कृत्तीः) कतरनियों [छेदन शक्तियों] और (दूर्शानि) दुष्ट हिंसाकर्मों को (बिभ्रति) रखते हैं । (ये) जो (क्लीबाः इव) हीजड़ों के समान ।(प्रनृत्यन्तः) नाचते हुये [कीड़े] (वने) घर में (घोषम्) कूक (कुर्वते) करते हैं, (तान्) उन को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ ११ ॥

किद् । लोपो व्योर्वलि । पा० ६ । १ । ६६ । वलोपः । गतिशीलाः । शोषकाः (तान्) क्रिमीन् (ओषधे) (त्वम्) (गन्धेन) हव्यद्रव्यगन्धेन (विषूचीनान्) अ० । ३ । ७ । १ । विषु + अञ्चतेः—क्विन्, खप्रत्ययः । सर्वतोगतीन् (विनाशय) ॥

११—(ये) कृमयः (कुकुन्धाः) कु कुत्सितम् । डुप्रकरणे मितद्र्वादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । १८० । कु शब्दे—डु । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । कु + कु + दधातेः-क । अलुक्समासः । कुत्सितध्वनिधारकाः (कुकूरभाः) कोः भूमेः कूलं कुत्सितं वा कूलम्, कु शब्दे—ऊलच्, धातोः कुगागमश्च । भा दीप्तौ—क, लस्य रः । कुकूल इव तुषानलो यथा भान्ति ये (कृत्तीः) कृती छेदने—क्तिन् । छेदनशक्तीः (दूर्शानि) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । दुर् + शॄ हिंसायाम्—ड, दीर्घश्छान्दसः । दुर् दुष्टानि शानि हिंसाकर्माणि (बिभ्रति) धारयन्ति (क्लीबाः) क्लीबृ अप्रागल्भ्ये—अच् । नपुंसकाः (इव) यथा (प्रनृत्यन्तः) गात्रविक्षेपणं कुर्वन्तः (वने) वन सेवने—अच् । निवासे (ये) (कुर्वते) कुर्वन्ति (घोषम्) नादम् (तान्) कृमीन् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) घातयामः ॥

भावार्थ—मनुष्य रोग जनक छोटे छोटे कीड़ों को सुगन्धित द्रव्यों के धूम आदि से नाश करते रहें ॥ ११ ॥

ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः। अरायान् वस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान् मक्कान् नाशयामसि ॥ १२ ॥

ये। सूर्यम्। न। तितिक्षन्ते। आ-तपन्तम्। अमुम्। दिवः॥ अरायान्। वस्त-वासिनः। दुः-गन्धीन्। लोहित-आस्यान्। मक्कान्। नाशयामसि ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [उल्लू आदि] (दिवः) आकाश से (आतपन्तम्) चमकते हुये (अमुम्) उस (सूर्यम्) सूर्य को (न) नहीं (तितिक्षन्ते) सहते हैं। (अरायान्) [उन] अलक्ष्मी वालों, (वस्तवासिनः) बकरे समान वस्त्र वालों, (दुर्गन्धीन्) दुर्गन्ध वालों, (लोहितास्यान्) रुधिर मुख वालों, (मक्कान्) टेढ़ी गति वालों को (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य उल्लू, चिमगादड़ आदि जन्तुओं को, जिन से दुर्गन्ध फैलती है, हटावें ॥ १२ ॥

य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥ १३ ॥

ये। आत्मानम्। अति-मात्रम्। अंसे। आ-धाय। बिभ्रति॥

१२—(ये) उलूकादयो जन्तवः (सूर्यम्) (न) निषेधे (तितिक्षन्ते) तिज क्षमायां स्वार्थे सन्। सहन्ते (आतपन्तम्) सर्वतो दीप्यमानम् (अमुम्) प्रसिद्धम् (दिवः) आकाशात् (अरायान्) अश्रीकान् (वस्तवासिनः) वस्त गतिहिंसायाचनेषु—घञ्, वस आच्छादने—घञ्, इनि। छाग इव वस्त्रोपेतान् (दुर्गन्धीन्) गन्धस्येदुत्पूतिसुसुरभिभ्यः। पा० ५। ४। १३५। बाहुलकाद् गन्धस्य इकारादेशः। दुष्टगन्धोपेतान् (लोहितास्यान्) रुधिरोपेतमुखान् (मक्कान्) मकि भूषे गतौ च—अच्, नुमभावः। कुत्सिते। पा० ५। ३। ७४। क प्रत्ययः। कुत्सितगतीन् (नाशयामसि)॥

स्त्रीणाम् । श्रोणि-प्रतोदिनः । इन्द्र । रक्षांसि । नाशय ॥१३॥

भाषार्थ—(ये) जो [कीड़े अपने] (आत्मानम्) आत्मा को (अंसे) पीड़ा देने में (अतिमात्रम्) अत्यन्त (आधाय) लगाकर (बिभ्रति) रखते हैं। और (स्त्रीणाम्) स्त्रियों के (श्रोणिप्रतोदिनः) कटिभाग में व्यथा करने वाले हैं, [इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ! [उन] [रक्षांसि] राक्षसों को (नाशय) नष्ट करदे ॥ १३ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग गर्भिणी स्त्रियों के दुःखदायी कीड़ों और रोगों को नाश करें ॥ १३ ॥

ये पूर्वे वध्वो३ यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः । आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

ये । पूर्वे । वध्वः । यन्ति । हस्ते । शृङ्गाणि । बिभ्रतः ॥ आपाके-स्थाः । प्र-हासिनः । स्तम्बे । ये । कुर्वते । ज्योतिः । तान् । इतः । नाशयामसि ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [कीड़े] (हस्ते) हाथ में (शृङ्गाणि) हिंसा-कर्मों को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (वध्वः) वधू के (पूर्वे) सन्मुख (यन्ति) चलते हैं। (ये) जो [कीड़े] (आपाकेष्ठाः) पाकशाला वा कुम्हार के आवां

१३—(ये) कृमयो रोगा वा (आत्मानम्) मनः (अतिमात्रम्) यथा तथा। अत्यर्थम् (अंसे) अमेः सन्। उ० ५। २१। अम पीडने—सन्। पीडने (आधाय) समन्ताद्धृत्वा (बिभ्रति) धरन्ति (स्त्रीणाम्) गर्भिणीनाम् (श्रोणिप्रतोदिनः) वहिश्रिश्रुयुद्रु०। उ० ४। ५१। श्रु गतौ भ्वा०—नि+प्रतुद व्यथने-णिनि। कटिभागपीडकान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् वैद्य (रक्षांसि) तान् दुःख-दायिनः (नाशय) घातय ॥

१४—(ये) कृमयः (पूर्वे) अग्रे (वध्वः) आडभावः। वध्वाः। स्त्रियाः (यन्ति) गच्छन्ति (हस्ते) करे (शृङ्गाणि) शृणातेर्ह्रस्वश्च। उ० १। १२६। शॄ हिंसायाम्—गन् नुट् च। हिंसाकर्माणि (बिभ्रतः)धारयन्तः (आपाकेष्ठाः)

में बैठने वाले, (प्रहासिनः) ठट्ठा मारते हुये [जैसे] (स्तम्बे) बैठने के स्थान में (ज्योतिः) ज्वाला [जलन, चमक वा पीड़ा] (कुर्वते) करते हैं, (तान्) उन [कीड़ों] को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नष्ट करते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—घरों, पाकशालाओं और आवाओं में कूड़ा कर्कट एकत्र हो कर उष्णता के कारण रोग जनक कीड़े उत्पन्न होते हैं, मनुष्य ऐसे स्थानों को शुद्ध रक्खें ॥ १४ ॥

येषां॑ पश्चात् प्रप॑दानि पुरः पार्ष्णीः॑ पुरो मुखा॑ । खलजाः शंकधूमजा उरु॑ण्डा ये च॑ मट्मटाः कुम्भमु॑ष्का अया॒शवः॑ । तानुस्या ब्र॑ह्मणस्पते प्रतीबोधेन॑ नाशय ॥१५॥

येषा॑म् । पश्चात् । प्र-प॑दानि । पुरः । पार्ष्णीः॑ । पुरः । मुखा॑ ॥ खल-जाः । शक-धूम-जाः । उरु॑ण्डाः । ये । च । मट्मटाः । कुम्भ-मु॑ष्काः । अयाशवः॑ ॥ तान् । अस्याः । ब्रह्मणः । पते । प्रति-बोधेन॑ । नाशय ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(येषाम्) जिन [कीड़ों] के (पश्चात्) पीछे को (प्रपदानि) पांव के अगले भाग, (पुरः) आगे को (पार्ष्णीः) एड़ियां और (पुरः) आगे (मुखा) मुख हैं। (च) और (ये) जो [कीड़े] (खलजाः) खलियान में उत्पन्न होने वाले, (शकधूमजाः) गोवर वा लीद के धुयें से उत्पन्न होने वाले,

---

पाकशालायां कुम्भकारस्य मृत्पात्रपाकस्थाने वा स्थिताः (प्रहासिनः) अट्टहासं कुर्वन्त इव (स्तम्बे) अ० ८ । ६ । ५ । स्थितिस्थाने (ये) (कुर्वते) उत्पादयन्ति (ज्योतिः) अ० १ । ९ । १ । ज्वालाम् । ज्वलनम् । पीडनम् (तान्) क्रमीन् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) ॥

१५—(येषाम्) क्रमीणाम् (पश्चात्) पश्चाद् भागे (प्रपदानि) पादाग्रभागाः (पुरः) पुरस्तात् (पार्ष्णीः) अ० २ । ३३ । ५ । पार्ष्णयः । गुल्फस्याधोभागाः (पुरः) (मुखा) मुखानि (खलजाः) खल चलने—अच् । धान्यमर्दनस्थाने जाताः (शकधूमजाः) गवाश्वादिपुरीषोत्पन्नाः (उरुण्डाः) उरु बहुनाम—निघ० ३ । १ । खच्च डित्वा वाच्यः । वा० पा० ३ । २ । ३८ । गमेर्निर्दिष्टोऽपि

(उरुण्डाः) बहुत इकट्ठे किये गये, (मट्मटाः) अत्यन्त पीड़ा देने वाले, (कुम्भमुष्काः) घड़े समान अण्डकोश वाले और (अयाशवः) रेंगकर खाने वाले हैं। (ब्रह्मणः पते) हे वेद रक्षक ! [वैद्य] (प्रतिबोधेन) अपने प्रत्यक्ष बोध से (तान्) उन [कीड़ों] को (अस्याः) इस [स्त्री के पास] से (नाशय) नाश करदे ॥ १५ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग कुरूप, क्लेशदायक कीड़ों को जो कूड़े कर्कट के कारण उत्पन्न होते हैं, घर से नष्ट करदें ॥ १५ ॥

पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाःसन्तु पण्डगा । अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिःस्वपतिं स्त्रियम् ॥१६॥

पर्यस्त-अक्षाः । अप्र-चङ्कशाः । अस्त्रैणाः । सन्तु । पण्डगाः । अव । भेषज । पादय । यः । इमाम् । सम्-विवृत्सति । अपतिः । स्वपतिम् । स्त्रियम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(पण्डगाः) पण्डाओं [तत्त्वविवेकियों] के निन्दक, (पर्यस्ताक्षाः) व्यवहार से गिरे हुये पुरुष (अप्रचङ्कशाः) न कदापि शासन कर्ता और (अस्त्रैणाः) न [हमारी] स्त्रियों में मिलनेवाले (सन्तु) होवें। (भेषज) हे भय निवारक पुरुष ! [उसको] (अव पादय) गिरा दे, (यः)

बाहुलकात्, डप राशीकरणे—खच्, डित्। बहुराशीकृताः (ये) क्रमयः (च) (मट्मटाः) मट अवसादने-सौत्रधातुः—विच् + मट-अच्। मटश्च ते मटाश्च ते। अत्यन्तपीडकाः (कुम्भमुष्काः) घटसमानाण्डकोशयुक्ताः (अयाशवः) एरच्। पा० ३। ३। ५६। इण् गतौ-अच्। कृवापा०। उ० १। १। अश भोजने-उण्। अयेन गमनेन। सर्पणेन आशवो भक्षकाः (तान्) क्रमीन् (अस्याः) स्त्रियाः सकाशात् (ब्रह्मणस्पते) बृहतो वेदस्य रक्षक पुरुष (प्रतिबोधेन) स्वप्रत्यक्षज्ञानेन (नाशय) ॥

१६—(पर्यस्ताक्षाः) प्रच्युतव्यवहाराः (अप्रचङ्कशाः) अ + प्र + कश गतिशासनयोः हिंसने च यङ्लुकि, अच्। जपजभदह०। पा० ७। ४। ८६। बाहुलकात् नुक। न कदापि शासकाः (अस्त्रैणाः) स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ। पा० ४। १। ८७। स्त्री-नञ्। न स्त्रीषु युक्ताः (सन्तु) (पण्डगाः) पण्डा तत्त्वगा

जो (अपतिः) पति न होकर (इमाम्) इस (स्वपतिम्) अपने पति वाली (स्त्रियम्) स्त्री के पास (संविवृत्सति) आना चाहता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा कुबुद्धि, व्यभिचारी, पतिव्रताओं के ठगने वाले पुरुषों को यथावत् दण्ड देवे ॥ १६ ॥

उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम् ।
उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ।
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थालीं गौरिव स्पन्दना ॥ १७ ॥

उत्-हर्षिणम् । मुनि-केशम् । जम्भयन्तम् । मरीमृशम् ॥ उप-एषन्तम् । उदुम्बलम् । तुण्डेलम् । उत । शालुडम् ॥ पदा । प्र । विध्य । पार्ष्ण्या । स्थालीम् । गौः-इव । स्पन्दना ॥१७॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (उद्धर्षिणम्) अति झूठ बोलने वाले, (मुनिकेशम्) मुनियों के क्लेश देनेवाले, (जम्भयन्तम्) नाश करनेवाले, (मरीमृशम्) वरवस हाथ डालने वाले, (उपेषन्तम्) अधिक आने जाने वाले, (उदुम्बलम्) मार पीट का सेवन करनेवाले, (तुण्डेलम्) तोड़ फोर के करने वाले, (उत) और (शालुडम्) घमंडी को (प्र विध्य) छेद डाल, (इव) जैसे

बुद्धिर्यस्य स पण्डः । पण्डा—अर्श आद्यच्+गर्ह विनिन्दने—ड । पण्डगर्हकाः तत्त्वविवेकिनिन्दकाः (भेषज) हे भयनिवारक पुरुष (अव पादय) नीचैर्गमय (यः) खलः (इमाम्) (संविवृत्सति) वर्ततेः सनि । वृद्भ्यः स्यसनोः । पा० १ । ३ । ९२ । इति परस्मैपदम् । संवर्तितुं संगन्तुमिच्छति (अपतिः) पतिभिन्नः सन् (स्वपतिम्) स्वपतिना युक्ताम् । पतिव्रताम् (स्त्रियम्) ॥

१७—(उद्धर्षिणम्) उत् + हृषु अलीके मिथ्याकरणे—णिनि । अतिमिथ्यावादिनम् (मुनिकेशम्) मनेरुच्च । उ० ४ । १२३ । मन ज्ञाने-इन्, अस्य उकारः । क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । क्लिशू विबाधने—अन्, ललोपः । मुनीनां मननशीलानां विदुषां क्लेशकम् (जम्भयन्तम्) जभि नाशने-शतृ । नाशयन्तम् (मरीमृशम्) मृश स्पर्शे यङ्लुकि—अच् । रीगृदुपधस्य च । पा० ७ । ४ । ९० । इति रीक् । अत्यन्तस्पर्शकम् (उपेषन्तम्) जॄविशिभ्यां झच् । उ०

(स्पन्दना) कूदने वाली (गौः) गाय (पदा) लात से और (पाष्णर्या) एड़ी से (स्थालीम्) हांड़ी को ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा शिष्टों की रक्षा करके दुष्टों को सर्वथा दण्ड देता रहे ॥१७

यस्ते॒ गर्भं॑ प्रति॒मृशा॒ज्जा॒तं वा॑ मा॒रया॑ति ते ।

पि॒ङ्गस्तमु॒ग्रध॑न्वा कृ॒णोतु॑ हृदया॒विध॑म् ॥ १८ ॥

यः । ते॒ । गर्भ॑म् । प्र॒ति॒-मृ॒शात् । जा॒तम् । वा॒ । मा॒रया॑ति ।

ते॒ ॥ पि॒ङ्गः । तम् । उ॒ग्र-ध॑न्वा । कृ॒णोतु॑ । हृ॒द॒या॒वि॒ध॑म् १८

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ को (प्रतिमृशात्) दबा देवे, (वा) अथवा (ते) तेरे (जातम्) उत्पन्न [बालक] को (मारयाति) मारडाले । (उग्रधन्वा) प्रचण्ड धनुष् वाला (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (तम्) उसको (हृदयाविधम्) हृदय में बरमे [से छेद] वाला (कृणोतु) करे ॥ १८ ॥

---

१२६ । उप अधिके+इय गतौ—क्विप् । एङि पररूपम् । पा० ६ । १ । ९४ । अधिकमेपन्तं गतिशीलम् (उदुम्बलम्) पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । उड संहतौ संहनने, सौत्रो धातुः—कु । संज्ञायां भृतॄवृ० । पा० ३ । २ । ४६ । वृञ् वरणे—खच्, मुम् च । डस्य दः, वस्य बः, रस्य लः । उदुंबरम् । संहननस्वीकर्तारम् (तुण्डेलम्) तुडि दारणे हिंसने च—अच्+इल प्रेरणे—क । हिंसाप्रेरकम् (उत) अपि च (शालुडम्) असेरुरन् । उ० १ । ४२ । शाल कत्थने—उरन्, रस्य डः । आत्मश्लाघिनम् (पदा) पादेन (प्र) प्रकर्षेण (विध्य) ताडय (पाष्णर्या) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागेन (स्थालीम्) स्थाचतिमृजे-रालज्० । उ० १ । ११६ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—आलच्, गौरादित्वाद् ङीष् । पात्रम् (गौः) (इव) यथा (स्पन्दना) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ७८ । स्पदि किञ्चिच्चलने—युच्, टाप् । चलनशीला ॥

१८—(यः) घातकः (ते) तव (गर्भम्) भ्रूणम् (प्रतिमृशात्) प्रतिकूलं मृशेत् । स्पृशेत् । पीडयेत् (जातम्) उत्पन्नं बालकम् (वा) अथवा (मारयाति) मारयेत् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी राजा (उग्रधन्वा) प्रचण्डचापः (कृणोतु) करोतु (हृदयाविधम्) आङ्+व्यध ताडने—घञर्थे क । हृदये

भावार्थ—राजा भ्रूण हत्यारे और बाल हत्यारे की छाती में वर्मा चला कर नष्ट कर देवे ॥ १८ ॥

ये अम्नो जातान् मारयन्ति सूतिका अनुशेरते ।
स्त्रीभागान् पिङ्गो गन्धर्वान् वातो अभ्रमिवाजतु ॥१९॥

ये । अम्नः । जातान् । मारयन्ति । सूतिकाः । अनु-शेरते ॥
स्त्री-भागान् । पिङ्गः । गन्धर्वान् । वातः । अभ्रम्-इव ।
अजतु ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अम्नः) पीड़ा देने वाले (जातान्) उत्पन्न बालकों को (मारयन्ति) मार डालते हैं और (सूतिकाः) सोहर वाली स्त्रियों को (अनुशेरते) अप्रिय करते हैं। (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (स्त्रीभागान्) स्त्रियों के सेवन करने वाले, (गन्धर्वान्) [उन] दुःखदायी पीड़ा देने वालों को (अजतु) हटा देवे, (इव) जैसे (वातः) वायु (अभ्रम्) अभ्र [मेघ] को ॥१९॥

भावार्थ—जिन रोगों से बच्चे मर जाते हैं और स्त्रियों को प्रसूति रोग हो जाते हैं, वैद्य उनको सर्वथा हटावे ॥ १९ ॥

परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत् ।
गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

आविधः काष्ठादिवेधनसाधनं सूच्याकाराग्रमस्त्रं यस्य तम् । आविधेन हृदये छिन्नम् ॥

१९—(ये) (अम्नः) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । अम—पीडने—न प्रत्ययः, जसः सुः । अम्नाः पीडका रोगाः (जातान्) उत्पन्नान् बालकान् (मारयन्ति) विनाशयन्ति (सूतिकाः) षूङ् प्राणिप्रसवे—क्त, कन्, अत इत्वम् । नवप्रसूताः स्त्रीः (अनुशेरते) अनुपूर्वः शीङ् अनुशये, अत्यन्तद्वेषे । अत्यन्तं द्विषन्ति (स्त्री-भागान्) स्त्रीसेवनान् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी पुरुषः (गन्धर्वान्) अ० २ । १ । २ । गन्ध अर्दने—अच् + अर्व हिंसायाम्—अच् । शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । दुःखदायिनश्च ते पीडकाश्च ते तान् दुःखदायिपीडकान् (वातः) वायुः (अभ्रम्) अप् + भृ— क, यद्वा अभ्र गतौ— क । मेघम् (इव) (अजतु) क्षिपतु ॥

परि-सृष्टम् । धारयतु । यत् । हितम् । मा । अव । पादि । तत् ॥ गर्भम् । ते । उग्रौ । रक्षताम् । भेषजौ । नीवि-भार्यौ ॥ २० ॥ (१५)

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (परिसृष्टम्) सब प्रकार युक्त [कर्म] [तुझे] (धारयतु) धारण करे, (यत्) जो (हितम्) हित है, (तत्) वह (मा अव पादि) न गिर जावे। (उग्रौ) दोनों नित्य सम्बन्ध वाले, (नीविभार्यौ) नीति [नियम] से धारण करने योग्य, (भेषजौ) भय जीतने वाले [बल और पराक्रम, अर्थात् शारीरिक और आत्मिक सामर्थ्य] (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भ की (रक्षताम्) रक्षा करें ॥ २० ॥

भावार्थ—गर्भिणी समुचित कर्म से शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ा कर गर्भ रक्षा करे ॥ २० ॥

पवीनसात् तङ्गल्वा३च्छायकादुत नग्नकात् ।
प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥ २१ ॥

पवि-नसात् । तङ्गल्वात् । छायकात् । उत । नग्नकात् ॥ प्र-जायै । पत्ये । त्वा । पिङ्गः । परि । पातु । किमीदिनः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(पवीनसात्) वज्र समान टेढ़े से, (तङ्गल्वात्) गति रोकने वाले से, (छायकात्) काटने वाले से (उत) और (नग्नकात्) नंगे करने वाले (किमीदिनः) लुतरे पुरुष से (प्रजायै) प्रजा के लिये और (पत्ये) पति के

२०—(परिसृष्टम्) सृज विसर्गे—क्त । सर्वतो युक्तं कर्म (धारयतु) दधातु—त्वामिति शेषः (यत्) गर्भरूपं वस्तु (हितम्) अभिमतम् (मा अव पादि) अवपन्नं विस्रस्तं मा भूत् (तत्) (गर्भम्) (ते) तव (उग्रौ) ऋज्रेन्द्राग्रवज्र० । उ० २ । २८ । उच समवाये—रन्प्रत्ययो निपातः । समवेतौ (रक्षताम्) (भेषजौ) भयजेतारौ । बलपराक्रमौ (नीविभार्यौ) अ० ८ । २ । १६ । वृदृभ्यां विन् । उ० ४ । ५३ । णीञ् प्रापणे—विन्+भृञ् धारणे—ण्यत् । नीव्या नीत्या नियमेन धारणीयौ ॥

२१—(पवीनसात्) पविर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । सांहितिको दीर्घः । णस कौटिल्ये—अच् । वज्रवत्कुटिलात् (तङ्गल्वात्) अन्येष्वपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । तगि गतौ—विच् । कृगृशृवृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । अल वारणे—

लिये (त्वा) तुझको (पिङ्गः) पराक्रमी पुरुष (परि पातु) सब ओर से बचावे ॥ २१ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा कुकर्मी दुष्टों से स्त्रियों की रक्षा करे ॥ २१ ॥

द्व्यास्याच्चतुरक्षात् पञ्चपादादनङ्गुरेः ।

वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥ २२ ॥

द्वि-आस्यात् । चतुः-अक्षात् । पञ्च-पादात् । अनङ्गुरेः ॥ वृन्तात् । अभि । प्र-सर्पतः । परि । पाहि । वरीवृतात् ॥२२॥

भाषार्थ—(द्व्यास्यात्) दुमुहे से, (चतुरक्षात्) चार आंखों वाले से, (पञ्चपादात्) पांच पैर वाले से, (अनङ्गुरेः) विना चेष्टा वाले से। (वृन्तात्) फल पत्र आदि के डंठल से (अभि) चारों ओर को (प्रसर्पतः) रेंगने वाले (वरीवृतात्) टेढ़े टेढ़े घूमनेवाले [कीड़े] से (परि) सब ओर से (पाहि) बचा ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखदायी कुरूप दुष्ट कीड़ों से सदा रक्षा करे ॥ २२॥

य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः ।

च । गतिनिवारकात् (छायकात्) छो छेदने—ण्वुल् । छेदकात् (उत) अपि च (नग्नकात्) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । नग्न + करोतेर्ड । नग्नकारकात् (प्रजायै) प्रजार्थम् (पत्ये) पतिरक्षार्थम् (त्वा) स्त्रियम् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी पुरुषः (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (किमीदिनः) अ० १ । ७ । १ । पिशुनात् ॥

२२—(द्व्यास्यात्) मुखद्वययुक्तात् (चतुरक्षात्) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः० । पा० ५ । ४ । ११३ । अक्षि—षच् । चतुर्नेत्रोपेतात् (पञ्चपादात्) पादपञ्चकयुक्तात् (अनङ्गुरेः) ऋतन्यञ्जिवन्य० । उ० ४ । २ । अगि गतौ—उलि, लस्य रः । चेष्टारहितात् (वृन्तात्) वृ वरणे—क्त, नुम् च । फलपत्रादिबन्धनात् (अभि) अभितः (प्रसर्पतः) प्रसर्पकात् (परि) (पाहि) (वरीवृतात्) वृतु वर्तने यङ्लुकि—पचाद्यच् । रीगृदुपधस्य च । पा० ७ । ४ । ९० । रीगागमः । कुटिलं वर्तनशीलात् क्रमेः ॥

गर्भान् खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥ २३ ॥

ये । आमम् । मांसम् । अदन्ति । पौरुषेयम् । च । ये । क्रविः ॥
गर्भान् । खादन्ति । केश-वाः । तान् । इतः । नाशयामसि ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [कीड़े] (आमम्) कच्चे (मांसम्) मांस को (च) और (ये) जो (पौरुषेयम्) पुरुष के (क्रविः) मांस को (अदन्ति) खाते हैं। (केशवाः) और क्लेश पहुंचानेवाले [रोग वा कीड़े] (गर्भान्) गर्भों को (खादन्ति) खाते हैं। (तान्) उन सब को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग रोग जनक कीड़ों और रोगों को गर्भिणी स्त्री से अलग करें ॥ २३ ॥

ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि ।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥ २४ ॥

ये । सूर्यात् । परि-सर्पन्ति । स्नुषा-इव । श्वशुरात् । अधि ॥
बजः । च । तेषाम् । पिङ्गः । च । हृदये । अधि । नि । विध्यताम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो [उल्लू चोर आदि] (सूर्यात्) सूर्य से (अधि) अधिकार पूर्वक (परिसर्पन्ति) खिसक जाते हैं, (इव) जैसे (स्नुषा)

२३—(ये) क्रमयः (आमम्) अपक्वम् (मांसम्) आमिषम् (अदन्ति) (पौरुषेयम्) अ० ७ । १२५ । १ । पुरुषस्य सम्बन्धि (च) (ये) (क्रविः) अ० ८ । ३ । १५ । मांसम् (गर्भान्) उदरस्थबालकान् (खादन्ति) भक्षयन्ति । नाशयन्ति (केशवाः) क्लिशेरन् लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । क्लिशू विबाधने अन्, ललोपः + वह प्रापणे-ड । क्लेशस्य वाहकाः प्रापकाः क्रमयो रोगा वा (तान्) सर्वान् (इतः) अस्मात् (नाशयामसि) ॥

२४—(ये) चोरादयो हिंस्रजन्तवो वा (परिसर्पन्ति) पृथग् गच्छन्ति (स्नुषा) स्नुव्रश्चिकृत्यृषिभ्यः कित् । उ० । ३ । ६६ । ष्णु प्रस्रवणे—सप्रत्ययः, टाप ।

पतोह (श्वशुरात्) ससुर से । (वजः) वली (च) और (पिङ्गः) पराक्रमी [पुरुष] (च) भी (तेषाम्) उनके (हृदये) हृदय में (अधि) अधिकार पूर्वक (नि) निरन्तर (विध्यताम्) छेद डालें ॥ २४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् बलवान् पुरुष डरपोक चोर आदि और हिंसक जन्तुओं का नाश करें ॥ २४ ॥

पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन् ।
आण्डादो गर्भान्मा दंभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥२५॥

पिङ्ग । रक्ष । जायमानम् । मा । पुमांसम् । स्त्रियम् । क्रन् ॥ आण्ड-अदः । गर्भान् । मा । दभन् । बाधस्व । इतः । किमीदिनः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(पिङ्ग) हे पराक्रमी पुरुष ! (जायमानम्) उत्पन्न होते हुये [सन्तान] को (रक्ष) बचा, (आण्डादः) अण्डे [गर्भ] खाने वाले [रोग वा कीड़े] (पुमांसम्) पुरुष [वा] (स्त्रियम्) स्त्री [बालक] को (मा क्रन्) न मारें और (गर्भान्) गर्भों को (मा दभन्) नष्ट न करें, (इतः) यहां से (किमीदिनः) लुतरों को (बाधस्व) हटा दे ॥ २५ ॥

स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुलानिनीति वा स्वपत्यं तत्सनोतीति वा—निरु० १२ । ६ । पुत्रवधूः (इव) यथा (श्वशुरात्) शावसेराप्तौ । उ० १ । ४४ । शु + अशू व्याप्तौ—उरन् । आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः—निरु० ६ । १ । शीघ्रव्याप्तव्यात् पतिजनकात् (अधि) अधिकृत्य (वजः) म० ३ । वली पुरुषः (च) (तेषाम्) पूर्वोक्तानाम् (पिङ्गः) म० ६ । पराक्रमी (च) अपि (हृदये) (अधि) अधिकृत्य (नि) निश्चयेन (विध्यताम्) ताडयताम् ॥

२५—(पिङ्ग) म० ६ । हे पराक्रमिन् (रक्ष) (जायमानम्) उत्पद्यमानम् (पुमांसम्) पुरुषसन्तानम् (स्त्रियम्) स्त्रीबालकम् (मा क्रन्) कृञ् हिंसायाम्-लुङ् । मन्त्रे घसह्वर० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । मा हिंसन्तु (आण्डादः) अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । अम गत्यादिषु—ड । डस्य इत्वं न । प्रज्ञादित्वात् स्वार्थे—अण् । अदोऽनन्ने । पा० ३ । २ । ६८ । अद भक्षणे—विट् अण्डानां गर्भस्थसन्तानानां भक्षकाः (गर्भान्) (मा दभन्) मा हिंसन्तु (बाधस्व) पीडय (इतः) (किमीदिनः) म० २१ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी बलवान् पुरुष स्त्रियों की रक्षा करें जिससे सन्तान और गर्भ नष्ट न होवें ॥ २५ ॥

अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद् रोदमघमावयम्।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रति मुञ्च तत् ॥२६॥ (१६)

अप्रजाः-त्वम्। मार्त-वत्सम्। आत्। रोदम्। अघम्। आ-वयम् ॥ वृक्षात्-इव। स्रजम्। कृत्वा। अप्रिये। प्रति। मुञ्च। तत् ॥ २६ ॥ (१६)

भाषार्थ—(अप्रजास्त्वम्) बिना सन्तान होना, (मार्तवत्सम्) बच्चों का मर जाना (आत्) और (रोदम्) रोदन करना (अघम्) पाप और (आवयम्) सब ओर से दुःख के योग को। (तत्) उसे (अप्रिये) अप्रिय पर (प्रति मुञ्च) छोड़ दे (इव) जैसे (वृक्षात्) वृक्ष से (स्रजम्) फूलों की माला को (कृत्वा) बनाकर [छोड़ते हैं] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि उनके सन्तान उत्पन्न होकर क्लेशों से बचकर दीर्घ आयु प्राप्त करें ॥ २६ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१—२८ ॥ ओषधयो देवताः ॥ १, ७, ८, ११, १३, १४, १६—२३, २६—२८,

२६—(अप्रजास्त्वम्) नित्यमसिच् प्रजामेधयोः। पा० ५। ४। १२२। अप्रजा-असिच्, भावे त्व, छान्दसो दीर्घः। अप्रजस्त्वम्। सन्तानराहित्यम् (मार्तवत्सम्) भावे अण्। मृतबालत्वम् (आत्) अपि च (रोदम्) रुदिर् अश्रुविमोचने—घञ्। रोदनम् (अघम्) पापम् (आवयम्) आ+व+यम्। वा गतिगन्धनयोः—ड, युजिर् योगे—ड। आ समन्ताद् वस्य गन्धनस्य हिंसनस्य यं योगम् (वृक्षात्) द्रुमात् (इव) यथा (स्रजम्) अ० १। १४। १। पुष्पमालाम् (कृत्वा) निर्माय (अप्रिये) द्वेष्ये (प्रति मुञ्च) प्रत्यक्षं मोचय (तत्) पूर्वोक्तं कर्म ॥

अनुष्टुप्; २ भुरिगुपरिष्टाद्बृहती; ३ विराट्पुर उष्णिक्; ४ अतिजगती; ५, ६, १०, २५ पथ्यापङ्क्तिः; ९ आर्च्यनुष्टुप्; १२ निचृदतिशक्वरी; १५ त्रिष्टुप्; २४ ऽयवसाना षट्पदा जगती ॥

रोगविनाशोपदेशः—रोग के विनाश का उपदेश ॥

या ब॒भ्रवो॒ याश्च॑ शु॒क्रा रोहि॑णीरु॒त पृश्न॑यः।
असि॑क्नीः कृ॒ष्णा ओष॑धीः॒ सर्वा॑ अ॒च्छाव॑दामसि ॥१॥

याः। ब॒भ्रवः॑। याः। च॒। शु॒क्राः। रोहि॑णीः। उ॒त। पृश्न॑यः ॥ असि॑क्नीः। कृ॒ष्णाः। ओष॑धीः। सर्वाः॑। अ॒च्छ॒-आव॑दामसि १

भाषार्थ—(याः) जो (बभ्रवः) पुष्ट करनेवाली [वा भूरे रङ्ग वाली (च) और (याः) जो (शुक्राः) वीर्यवाली [वा चमकीली] (रोहिणीः) स्वास्थ्य उत्पन्न करने वाली [वा रक्त वर्ण] (उत) और (पृश्नयः) स्पर्श करने वाली [वा अति सूक्ष्म] । (असिक्नीः) निर्बन्ध [वा श्याम वर्ण], (कृष्णाः) आकर्षण करने वाली [वा काले रंग वाली] (ओषधीः) (ओषधियां) हैं, (सर्वाः) उन सब को (अच्छावदामसि) हम अच्छे प्रकार चाहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पौष्टिक उत्तम अन्न आदि ओषधियों का सेवन करके उन्नति करें ॥ १ ॥

त्राय॑न्तामि॒मं पुरु॑षं॒ यक्ष्मा॑द् दे॒वेषि॑ता॒दधि॑। यासां॒ द्यौष्पि॒ता पृ॑थि॒वी मा॒ता स॑मु॒द्रो मूलं॑ वी॒रुधां॑ ब॒भूव॑ २

१—(याः) (बभ्रवः) अ० ४ । २९ । २ । पौष्टिकाः । पिङ्गलवर्णाः (शुक्राः) अ० २ । ११ । ५ । वीर्यवत्यः । कान्तिवत्यः (रोहिणीः) अ० १ । २२ । ३ । स्वास्थ्योत्पादयित्र्यः । रक्तवर्णाः (उत) अपि च (पृश्नयः) अ० २ । १ । १ । स्पर्शनशीलाः । स्वल्पाः (असिक्नीः) अ० १ । २३ । १ । अबद्धशक्तयः । श्यामवर्णाः (कृष्णाः) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । कृष आकर्षणे विलेखने च—नक् । आकर्षणशीलाः । नीलवर्णाः (ओषधीः) अ० १ । ३० । ३ । ओषधयः । धान्यादयः (अच्छावदामसि) अ० ६ । ५९ । ३ । सुष्ठु आवदामः । प्रार्थयामहे ॥

त्रायन्ताम् । इमम् । पुरुषम् । यक्ष्मात् । देव-इषितात् । अधि ॥
यासाम् । द्यौः । पिता । पृथिवी । माता । समुद्रः । मूलम् ।
वीरुधाम् । बभूव ॥ २ ॥

भाषार्थ—वे [ओषधियां] (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (देवेषितात्) उन्माद से प्राप्त हुये (यक्ष्मात्) राज रोग से (अधि) अधिकार पूर्वक (त्रायन्ताम्) रक्षा करें । (यासाम् वीरुधाम्) जिन उगने वाली [अन्न आदि ओषधियों] का (द्यौः) सूर्य (पिता) पालने वाला, (पृथिवी) पृथिवी (माता) उत्पन्न करने वाली और (समुद्रः) समुद्र [जल] (मूलम्) जड़ (बभूव) हुआ था ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि अनेक ओषधियों की उत्पत्ति और गुण जान करके उनके सेवन से यथावत् रक्षा करें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आचुका है—अ० ३ । २३ । ६ ॥

आपो अग्रं दिव्या ओषधयः ।
तास्ते यक्ष्ममेनस्यं१मङ्गादङ्गादनीनशन् ॥ ३ ॥

आपः । अग्रम् । दिव्याः । ओषधयः ॥ ताः । ते । यक्ष्मम् । एनस्यम् । अङ्गात्-अङ्गात् । अनीनशन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्रम्) पहिले (दिव्याः) दिव्य गुण वाले (आपः) जल और (ओषधयः) ओषधियां [अन्न आदि पदार्थ] [थीं] (ताः) उन्हों ने

२—(त्रायन्ताम्) रक्षन्तु (इमम्) प्रसिद्धम् (पुरुषम्) प्राणिनम् (यक्ष्मात्) अ० २ । १० । ५ । राजरोगात् (देवेषितात्) दिवु मदे—अच्+इष गतौ—क्त । उन्मादात् प्राप्तात् (अधि) अधिकृत्य (द्यौष्पिता) छन्दसि वाऽम्रेडितयोः । पा० ८ । ३ । ४९ । विसर्जनीयस्य वा सकारः । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ३ । २३ । ६ ॥

३—(आपः) जलानि (अग्रम्) सृष्ट्यादौ (दिव्याः) उत्तमगुणाः (ओषधयः) अन्नादयः (ताः) (ते) तव (यक्ष्मम्) राजरोगम् (एनस्यम्)

(एनस्यम्) पाप से उत्पन्न हुये (यक्ष्मम्) राजरोग को (ते) तेरे (अङ्गादङ्गात्) अङ्ग अङ्ग से (अनीनशन्) नष्ट कर दिया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में जल अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके प्राणियों की रक्षा की है ॥ ३ ॥

प्रस्तृणती स्तम्बिनीरेकशुङ्गाः प्रतन्वतीरोषधीरा वदामि । अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः ॥ ४ ॥

प्र-स्तृणतीः । स्तम्बिनीः । एक-शुङ्गाः । प्र-तन्वतीः । ओषधीः । आ । वदामि ॥ अंशु-मतीः । काण्डिनीः । याः । वि-शाखाः । ह्वयामि । ते । वीरुधः । वैश्व-देवीः । उग्राः । पुरुष-जीवनीः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्रस्तृणतीः) बहुत ढकने वाली [पत्तों वाली], (स्तम्बिनीः) बहुत गुच्छों वाली, (एकशुङ्गाः) एक कोंपल वाली, (प्रतन्वतीः) बहुत फैली हुई (ओषधीः) ओषधियों को (आ वदामि) मैं भले प्रकार बुलाता हूं। (अंशुमतीः) बहुत कोंप वाली, (काण्डिनीः) बड़े गुद्दों वाली, (विशाखाः) बहुत टहनियों वाली, (वैश्वदेवीः) सब दिव्य गुणवाली, (उग्राः) बल वाली

तत्र जातः । पा० ४ । ३ । २५ । यप्रत्ययः । पापोद्भवम् (अङ्गादङ्गात्) सर्वावयवात् (अनीनशन्) अ० १ । २४ । २ । नाशितवत्यः ॥

४—(प्रस्तृणतीः) स्तृञ् आच्छादने—शतृ, ङीप् । बह्वाच्छादयतीः । बहुपत्रवती (स्तम्बिनीः) स्थः स्तोऽम्बजवकौ । उ० ४ । ९६ । तिष्ठतेः—अम्बच्, स्तादेशः, स्तम्ब—इनि । बहुगुच्छयुक्ताः (एकशुङ्गाः) शम शान्तौ—ग, तस्य नेत्वं निपातनादत उक्तं च—इति शब्दस्तोममहानिधिः । एकशुङ्गाः । एक—वीक्षणायुक्ताः (प्रतन्वतीः) बहुविस्तारवतीः (ओषधीः) (आ) समन्तात् (वदामि) ह्वयामि (अंशुमतीः) कोमलपल्लवोपेताः (काण्डिनीः) स्कन्धवतीः (याः) (विशाखाः) विविधशाखावतीः (ह्वयामि) (ते) तुभ्यम् (वीरुधः)

(पुरुषजीवनीः) मनुष्यों का जीवन करने वालियों को (ते) तेरे लिये (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं, (याः) जो (वीरुधः) विविध प्रकार उगने वाली बेल बूटी हैं ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य विविध प्रकार अन्न, वृक्ष और औषधों को भले प्रकार निरीक्षण करके उपयोग करें ॥ ४ ॥

यद् वः सहः सहमाना वीर्यं१ यच्च वो बलम् । तेनेममस्माद् यक्ष्माद् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम् ॥ ५ ॥

यत् । वः । सहः । सहमानाः । वीर्यम् । यत् । च । वः । बलम् ॥ तेन । इमम् । अस्मात् । यक्ष्मात् । पुरुषम् । मुञ्चत । ओषधीः । अथो इति । कृणोमि । भेषजम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सहमानाः) हे बल वालियों ! (यत्) जो (वः) तुम्हारा (सहः) पराक्रम और (वीर्यम्) वीरत्व (च) और (यत्) जो (वः) तुम्हारा (बलम्) बल है। (ओषधीः) हे ताप नाशक ओषधियो ! (तेन) उस से (इमम्) इस (पुरुषम्) पुरुष को (अस्मात्) इस (यक्ष्मात्) राजरोग से (मुञ्चत) छुड़ाओ, (अथो) अब, मैं (भेषजम्) औषध (कृणोमि) करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पदार्थों के गुणों का परीक्षण करके विघ्नों को हटावें ॥५॥

अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला लतादयः (वैश्वदेवीः) सर्वदिव्यगुणयुक्ताः (उग्राः) प्रचण्डा बलवतीः (पुरुषजीवनीः) मनुष्याणां प्राणाधाराः ॥

५—(यत्) (वः) युष्माकम् (सहः) पराक्रमः (सहमानाः) हे अभिभवशीलाः (वीर्यम्) वीरत्वम् (यत्) (च) (वः) (बलम्) (तेन) (इमम्) समीपस्थम् (अस्मात्) (यक्ष्मात्) राजरोगात् (पुरुषम्) मनुष्यम् (मुञ्चत) मोचयत (ओषधीः) अ० १ । २३ । १ । हे ओषधयः । तापनाशयित्र्यः (अथो) आरम्भे । इदानीम् (कृणोमि) करोमि (भेषजम्) औषधम् ॥

जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम् । अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवे स्मा अरिष्टतातये ॥६॥

जीवलाम् । नघ-रिषाम् । जीवन्तीम् । ओषधीम् । अहम् ॥ अरुन्धतीम् । उत्-नयन्तीम् । पुष्पाम् । मधु-मतीम् । इह । हुवे । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जीवलाम्) जीवन देने वाली, (नघरिषाम्) न कभी हानि करने वाली, (जीवन्तीम्) जीव रखने वाली, (अरुन्धतीम्) रोक न डालने वाली, (उन्नयन्तीम्) उन्नति करने वाली, (पुष्पाम्) बहुत पुष्प वाली, (मधुमतीम्) मधुर रस वाली (ओषधीम्) ताप नाशक [अन्न आदि ओषधि] को (इह) यहां (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) शुभ करने के लिये (अहम्) मैं (हुवे) बुलाता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परीक्षण पूर्वक उत्तम उत्तम पदार्थों का सेवन करना चाहिये ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ८ । २ । ६ ॥

इहा यन्तु प्रचेतसो मेदिनीर्वचसो मम ।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ ७ ॥

इह । आ । यन्तु । प्र-चेतसः । मेदिनीः । वचसः । मम ॥ यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुः-इतात् । अधि ॥७॥

भाषार्थ—(प्रचेतसः मम) मुझ बड़े ज्ञानी के (वचसः) वचन की (मेदिनीः) प्रीति करने वाली [ओषधियां] (इह) यहां (आ यन्तु) आवें ।

६—(अरुन्धतीम्) अ० ४ । १२ । १ । अधारयित्रीम् (उन्नयन्तीम्) उन्नतिकरीम् (पुष्पाम्) अर्श आद्यच्, टाप् । बहुपुष्पवतीम् (मधुमतीम्) माधुर्योपेताम् । अन्यत्पूर्ववत्—अ० ८ । २ । ६ ॥

७—(इह) अत्र (आ यन्तु) आगच्छन्तु (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानयुक्तस्य (मेदिनीः) ञिमिदा स्नेहने—अच्, मेद—इनि, ङीप् । स्नेहवत्यः । ओषधयः

(यथा) जिससे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरितात्) कष्ट से (अधि) यथावत् (पारयामसि) हम पार लगावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्वदर्शी वैद्य यथावत् वार्तालाप करके युक्त ओषधियों द्वारा क्लेश मिटावें ॥ ७ ॥

अ॒ग्नेर्घा॒सो अ॒पां गर्भो॒ या रोह॑न्ति॒ पुन॑र्णवाः ।

ध्रु॒वाः स॒हस्र॑नाम्नीर्भेष॒जीः स॒न्त्वाभृ॑ताः ॥ ८ ॥

अ॒ग्नेः । घा॒सः । अ॒पाम् । गर्भः । याः । रोह॑न्ति । पुनः॑-नवाः ॥

ध्रु॒वाः । स॒हस्र॑-नाम्नीः । भे॒ष॒जीः । स॒न्तु॒ । आ-भृ॑ता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्नेः) अग्नि का (घासः) भोजन [अग्नि बढ़ाने वाली] और (अपाम्) जलों का (गर्भः) गर्भ [जल से युक्त], (याः) जो (पुनर्णवाः) वारंवार नवीन [ओषधियां] (रोहन्ति) उत्पन्न होती हैं । [वे] (ध्रुवाः) दृढ़ गुण वाली, (सहस्रनाम्नीः) सहस्रों नाम वाली (आभृताः) यथावत् भरी हुई, (भेषजीः) भय जीतने वाली [ओषधियां] (सन्तु) होवें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि अर्थात् शरीरबल बढ़ाने वाली, रसीली, हरी उत्तम ओषधियों का उपयोग करें ॥ ८ ॥

अ॒व॒कोल्वा उ॒दका॑त्मान॒ ओष॑धयः ।

व्यृ॑षन्तु दुरि॒तं ती॑क्ष्णशृ॒ङ्ग्यः॑ ॥ ९ ॥

अ॒वका-उल्बाः । उ॒दक॑-आत्मानः । ओष॑धयः ॥

वि । ऋ॒ष॒न्तु॒ । दुः-इ॒तम् । ती॒क्ष्ण-शृ॒ङ्ग्यः॑ ॥ ९ ॥

(वचसः) वचनस्य (मम) (यथा) (इमम्) (पारयामसि) तारयामः (पुरुषम्) (दुरितात्) कष्टात् (अधि) अधिकृत्य ॥

८—(अग्नेः) तापस्य । शरीरबलस्य (घासः) अ० ४ । ३८ । ७ । भोजनम् (अपाम्) जलानाम् (गर्भः) आधारः (याः) ओषधयः (रोहन्ति) उद्भवन्ति (पुनर्णवाः) वारंवारं नवीनोत्पन्नाः (ध्रुवाः) दृढगुणाः (सहस्रनाम्नीः) बहुनामवत्यः (भेषजीः) भयजेत्र्यः । ओषधयः (सन्तु) (आभृताः) यथावत्पोषिताः ॥

भाषार्थ—(अवकोल्वाः) पीड़ा को जलाने वाली, (उदकात्मानः) जल को जीवन रखने वाली, (तीक्ष्णशृङ्ग्यः) [रोग को] तीक्ष्ण काट करने वाली (ओषधयः) ओषधियां (दुरितम्) कष्ट को (वि) वाहिर (ऋषन्तु) निकलें ॥ ९ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग परीक्षित उत्तम ओषधियों से रोग की चिकित्सा करें ॥ ९ ॥

उन्मुञ्चन्तीर्विवरुणा उग्रा या विषदूषणीः । अथो बलासनाशनीः कृत्यादूषणीश्च यास्ता इहा यन्त्वोषधीः॥१०॥१७

उत्-मुञ्चन्तीः । वि-वरुणाः । उग्राः । याः । विष-दूषणीः ॥ अथो इति । बलास-नाशनीः । कृत्या-दूषणीः । च । याः । ताः । इह । आ । यन्तु । ओषधीः ॥ १० ॥ (१७)

भाषार्थ—(याः) जो (उन्मुञ्चन्तीः) [रोग से] मुक्त करने वाली, (विवरुणाः) विशेष करके स्वीकार करने योग्य, (उग्राः) बड़े बल वाली, (विषदूषणीः) विष हरने वाली । (अथो) और भी (याः) जो (बलासनाशनीः) बल गिराने वाले [सन्निपात, कफादि] को नाश करने वाली (च)

९—(अवकोल्वाः) अवका-उल्वाः कृञादिभ्यः० । उ० ५ । ३५ । अव हिंसायाम्—वुन्, टाप् । उल्वादयश्च । उ० ४ । ९५ । उल दाहे, सौ० धा०—वन्, वस्य वः । हिंसादाहिकाः (उदकात्मानः) जलप्रधानाः (ओषधयः) (वि) बहिर्भावे (ऋषन्तु) ऋषी गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः । गमयन्तु (दुरितम्) कष्टम् (तीक्ष्णशृङ्ग्यः) तिजेर्दीर्घश्च । उ० ३ । १८ । तिज निशाने—क्स्नः । शृणातेर्ह्रस्वश्च उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, नुट् च । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । ङीष् । रोगस्य तीक्ष्णकर्तनाः ॥

१०—(उन्मुञ्चन्तीः) रोगात् मोचयित्र्यः (विवरुणाः) विशेषेण वरणीयाः स्वीकरणीयाः (उग्राः) प्रबलाः (याः) ओषधयः (विषदूषणीः) अ० ६ । १०० । १ । विषनिवारयित्र्यः (अथो) अपि च (बलासनाशनीः) बलासो बलस्य असिता—अ० ४ । ९ । ८ । श्लेष्मादिरोगनाशयित्र्यः (कृत्यादूषणीः)

और (कृत्यादूषणीः) पीड़ा मिटाने वाली हैं, (ताः) वे सब (ओषधीः) ओषधियां (इह) यहां (आ यन्तु) आवें ॥ १० ॥

भावार्थ—वैद्य लोग परीक्षित उत्तम ओषधियों का उपयोग करके रोग शान्ति करें ॥ १० ॥

अपक्रीताः सहीयसीर्वीरुधो या अभिष्टुताः ।
त्रायन्तामस्मिन् ग्रामे गामश्वं पुरुषं पशुम् ॥ ११ ॥

अप-क्रीताः। सहीयसीः । वीरुधः । याः । अभि-स्तुताः । त्रायन्ताम् । अस्मिन् । ग्रामे । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । पशुम् ११

भाषार्थ—(याः) जो (अपक्रीताः) यथावत् मोल ली गई, (सहीयसीः) अधिक बल वाली, (अभिष्टुताः) उत्तम गुण वाली (वीरुधः) ओषधियां हैं। वे (अस्मिन् ग्रामे) इस ग्राम में (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़े, (पुरुषम्) पुरुष और (पशुम्) पशु [भैंस बकरी आदि] को (त्रायन्ताम्) पालें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम वस्तुओं द्वारा उपकारी प्राणियों की यथावत् रक्षा करें ॥ १ ॥

मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव । मधुमत् पर्णं मधुमत् पुष्पमासां मधोः संभक्ता अमृतस्य भक्षो घृतमन्नं दुह्रतां गोपुरोगवम् ॥ १२ ॥

मधु-मत् । मूलम् । मधु-मत् । अग्रम् । आसाम् । मधु-मत् ।

कृत्या हिंसाक्रिया—अ० ४ । ६ । ५ । पीडाखण्डयित्र्यः (च) (याः) (ताः) (इह) (आयन्तु) आगच्छन्तु (ओषधीः) तापनाशकाः पदार्थाः ॥

११—(अपक्रीताः) यथाविधि मूल्येन प्राप्ताः (सहीयसीः) सोढृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः बलवत्तराः (वीरुधः) ओषधयः (याः) (अभिष्टुताः) सर्वतः प्रशंसिताः (त्रायन्ताम्) पालयन्तु (अस्मिन्) (ग्रामे) अ० ४ । ७ । ५ । गृहसमूहे (गाम्) (अश्वम्) (पुरुषम्) (पशुम्) महिष्यजादिकम् ॥

मध्यम् । वीरुधाम् । बभूव ॥ मधु-मत् । पर्णम् । मधु-मत् । पुष्पम् । आसाम् । मधोः । सम्-भक्ताः । अमृतस्य । भक्षः । घृतम् । अन्नम् । दुहताम् । गो-पुरोगवम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आसाम् वीरुधाम्) इन ओषधियों का (मूलम्) मूल (मधुमत्) मधुर, (अग्रम्) सिरा (मधुमत्) मधुर, (मध्यम्) मध्य (मधुमत्) मधुर, (पर्णम्) पत्र (मधुमत्) मधुर, (पुष्पम्) फूल (मधुमत्) मधुर (बभूव) हुआ था, (आसाम्) इनका (अमृतस्य) अमृत का (भक्षः) भोजन [है], (मधोः) मधुरता में (संभक्ताः) पूरी तत्पर वे [ओषधें] (गोपुरोगवम्) गौ को अग्र-गामी [प्रधान] रखने वाले (घृतम्) घी, और (अन्नम्) अन्न को (दुहताम्) भरपूर करें ॥१२॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न, तृण आदि ओषधियों के भागों के गुणों से यथावत् उपकार लेकर गौ आदि जीवों की रक्षा करके घृत अन्न आदि परिपूर्ण करें ॥१२

यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः ।
ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १३ ॥

यावतीः । कियतीः । च । इमाः । पृथिव्याम् । अधि । ओषधीः । ताः । मा । सहस्र-पर्ण्यः । मृत्योः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यावतीः) जितनी (च) और (कियतीः) कितनी [विविध परिमाण और गुणवाली] (इमाः) ये (ओषधीः) ओषधियां (पृथि-

१२—(मधुमत्) माधुर्योपेतम् (मूलम्) (अग्रम्) उपरिभागः (पर्णम्) पत्रम् (पुष्पम्) पुष्प विकासे—अच् । कुसुमः (मधोः) मधुनः । माधुर्यस्य (संभक्ताः) भज सेवायाम्—क्त । सम्यक्तत्पराः (अमृतस्य) अमरणस्य (भक्षः) भक्ष अदने—घञ् । भोजनम् (घृतम्) आज्यम् (अन्नम्) (दुहताम्) अ० ७ । ८२ । ६ । प्रपूरयन्तु (गोपुरोगवम्) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ—डो । गच्छतीति गौः । गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ६२ । पुरोगो—टच् । पुरोगच्छतीति पुरोगवः । गावो धेनवः पुरोगव्यः प्रधाना यस्य तत् । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१३—(यावतीः) यत्परिमाणयुक्ताः (कियतीः) बहुगुणोपेता इत्यर्थः

व्याम् अधि) पृथिवी के ऊपर [हैं] । (सहस्रपर्ण्यः) सहस्रों पोषण वाली (ताः) वे सब (मा) मुझको (मृत्योः) मरण [आलस्य] से और (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि ओषधियों द्वारा बल बढ़ाकर सुखी होवें १३

वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः ।
अमीवाः सर्वा रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत् ॥ १४ ॥

वैयाघ्रः । मणिः । वीरुधाम् । त्रायमाणः । अभिशस्ति-पाः ।
अमीवाः । सर्वा । रक्षांसि । अप । हन्तु । अधि । दूरम् । अस्मत् १४

भाषार्थ—(वीरुधाम्) ओषधियों का (वैयाघ्रः) व्याघ्र सम्बन्धी [महाबली] (त्रायमाणः) रक्षा करता हुआ, (अभिशस्तिपाः) पीड़ा से रक्षा करने वाला (मणिः) मणि [उत्तम गुण] (अमीवाः) रोगों को और (सर्वा) सब (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (अस्मत्) हम से (दूरम्) दूर (अधि) अधिकार पूर्वक (अप हन्तु) हटा देवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम पदार्थों के सेवन से नीरोग और पुष्टाङ्ग होवें १

सिंहस्येव स्तनथोः सं विजन्तेऽग्नेरिव विजन्त आभृताभ्यः । गवां यक्ष्मः पुरुषाणां वीरुद्भिरतिनुत्तो नाव्या एतु स्रोत्याः ॥ १५ ॥

(इमाः) (पृथिव्याम्) भूमौ (अधि) उपरि (ओषधीः) (ताः) (मा) माम् (सहस्रपर्ण्यः) धापॄवस्य० । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः—न प्रत्ययः । बहुपालनोपेताः (मृत्योः) मरणात् । आलस्यात् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (अंहसः) आहननात् कष्टात् ॥

१४—(वैयाघ्रः) व्याघ्र—अण् । व्याघ्रसम्बन्धी । महाबली (मणिः) प्रशस्तगुणः (वीरुधाम्) ओषधीनाम् (त्रायमाणः) पालयन् (अभिशस्तिपाः) अ० २ । १३ । ३ । पीडायाः सकाशाद् रक्षकः (अमीवाः) अ० ७ । ४२ । १ । रोगान् (सर्वा) शेश्छ्न्दसि०—शेर्लुक् । सर्वाणि (रक्षांसि) राक्षसान् । विघ्नान् (अप हन्तु) विनाशयतु (अधि) अधिकम् (दूरम्) (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् ॥

सिंहस्य-इव । स्तनथोः । सम् । विजन्ते । अग्नेः-इव । विजन्ते । आ-भृताभ्यः । गवाम् । यक्ष्मः । पुरुषाणाम् । वीरुत्-भिः । अति-नुत्तः । नाव्याः । एतु । स्रोत्याः ॥ १५ ॥

भावार्थ—वे [रोग] (आभृताभ्यः) सब प्रकार पुष्ट की हुई [ओषधियों] से (विजन्ते) डरते हैं, (इव) जैसे (सिंहस्य) सिंह की (स्तनथोः) गर्जन से और (इव) जैसे (अग्नेः) अग्नि से (सम् विजन्ते) [प्राणी] डरकर भागते हैं । (गवाम्) गौओं का और (पुरुषाणाम्) पुरुषों का (यक्ष्मः) राज रोग (वीरुद्भिः) ओषधियों करके (नाव्याः) नौका से उतरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों के (अतिनुत्तः) पार प्रेरणा किया गया (एतु) चला जावे ॥१५॥

भावार्थ—जहां पर मनुष्य अन्न आदि ओषधियों का उचित प्रयोग करते हैं, वहां रोग नदी रूप इन्द्रियों से दूर चले जाते हैं ॥ १५ ॥

मुमुचाना ओषधयोऽग्नेर्वैश्वानरादधि ।
भूमिं संतन्वतीरित यासां राजा वनस्पतिः ॥ १६ ॥

मुमुचानाः । ओषधयः । अग्नेः । वैश्वानरात् । अधि ॥ भूमिम् । सम्-तन्वतीः । इत । यासाम् । राजा । वनस्पतिः ॥१६॥

भाषार्थ—(मुमुचानाः) [रोग से] छुड़ाने वाली (ओषधयः) ओषधियां (वैश्वानरात्) सब नरों के हितकारक (अग्नेः) अग्नि [सर्वव्यापक

१५—(सिंहस्य) अ० ४ । ८ । ७ । हिंस्रजन्तुविशेषस्य (इव) यथा (स्तनथोः) अ० ५ । २१ । ६ । गर्जनात् (सम् विजन्ते) अ० ५ । २१ । ६ । भयेन चलन्ति प्राणिन इति शेषः (अग्नेः) पावकात् (इव) (विजन्ते) बिभ्यति रोगा इति शेषः (आभृताभ्यः) समन्तात् पोषिताभ्यो वीरुद्भ्यः (गवाम्) धेनूनाम् (यक्ष्मः) राजरोगः (वीरुद्भिः) ओषधीभिः (अतिनुत्तः) णुद प्रेरणे—क्त । अतीत्य प्रेरितः (नाव्याः) अ० ८ । ५ । ६ । नावा पार्याः (एतु) गच्छतु (स्रोत्याः) अ० १ । १२२ । ३ । नदीः ॥

१६—(मुमुचानाः) रोगात्मोचयित्र्यः (ओषधयः) (अग्नेः) अ० ८ । २ । २७ । अग्निं सर्वव्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (वैश्वानरात्) सर्वनरहित-

परमेश्वर] का आश्रय लेकर (अधि) अधिकार पूर्वक (भूमिम्) भूमि को (संतन्वतीः) ढांकती हुयी तुम (इत) चलो, (यासाम्) जिनका (राजा) राजा (वनस्पतिः) सेवनीय पदार्थों का स्वामी [सोम रस है] ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के उत्पन्न किये पदार्थों से यथावत् उपयोग लेवें ॥ १६ ॥

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च ।
ता नः पयस्वतीः शिवा ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥१७॥

याः । रोहन्ति । आङ्गिरसीः । पर्वतेषु । समेषु । च ॥ ताः । नः । पयस्वतीः । शिवाः । ओषधीः । सन्तु । शम् । हृदे ॥१७॥

भाषार्थ—(याः) जो (आङ्गिरसीः) ऋषियों करके बतलाई गई (पर्वतेषु) पर्वतों पर (च) और (समेषु) चौरस ठौरों में (रोहन्ति) उगती हैं। (ताः) वे (पयस्वतीः) दूधवाली, (शिवाः) कल्याणी (ओषधीः) ओषधियां (नः) हमारे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) होवें ॥ १७ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग शास्त्रोक्त ओषधियों को दूर और समीप स्थानों से लाकर संसार में नीरोगता करें ॥ १७ ॥

याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा ।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च संभृतम् ॥१८॥

याः । च । अहम् । वेद । वीरुधः । याः । च । पश्यामि । चक्षुषा ॥ अज्ञाताः । जानीमः । च । याः । यासु । विद्म । च । सम्-भृतम् १८

मित्यर्थः (अधि) अधिकृत्य (भूमिम्) (संतन्वतीः) आच्छादयन्त्यः (यासाम्) ओषधीनाम् (राजा) (वनस्पतिः) अ० १ । १२ । ३ । वननीयानां सेवनीयानां पदार्थानां स्वामी । सोमः सोमरसः ॥

१७—(याः) (रोहन्ति) उद्भवन्ति (आङ्गिरसीः) अ० ८ । ५ । ६ । ऋषिभिः प्रोक्ताः (पर्वतेषु) (शैलेषु) (समेषु) साधुस्थानेषु (च) (ताः) (नः) अस्माकम् (पयस्वतीः) दुग्धवत्यः (शिवाः) कल्याण्यः (ओषधीः) तापनाशका अन्नादिपदार्थाः (सन्तु) (शम्) शान्ताः (हृदे) हृदयाय ॥

सर्वाः सुमुग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम ।
यथे॒मं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥ १९ ॥

सर्वाः । सम्-अग्राः । ओषधीः । बोधन्तु । वचसः । मम ॥
यथा । इमम् । पारयामसि । पुरुषम् । दुः-इतात् । अधि ॥१९॥

भाषार्थ—(च) और (याः) जिन (वीरुधः) ओषधियों को (अहम्) मैं (वेद) जानता हूं, (च) और (याः) जिनको (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यामि) देखता हूं । (च) और (याः) जिन (अज्ञाताः) अनजानी हुई [ओषधियों को] (जानीमः) हम जानें (च) और (यासु) जिनमें (संभृतम्) पोषण सामर्थ्य (विद्म) हम जानें । [वे] (सर्वाः समग्राः) सब की सब (ओषधीः) ओषधियां (मम वचसः) मेरे वचन का (बोधन्तु) बोध करें । (यथा) जिससे (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (दुरितात्) कष्ट से (अधि) यथावत् (पारयामसि) हम पार लगावें ॥ १८,१९ ॥

भावार्थ—विद्वान् वैद्य शास्त्रोक्त ओषधियों का और अपनी आविष्कृत ओषधियों का प्रचार संसार में नीरोगता बढ़ने के लिये करें ॥ १८, १९ ॥

मन्त्र १८,१९ युग्मक हैं । मन्त्र १९ का उत्तर भाग मन्त्र सात में आ चुका है ॥

अश्वत्थो दुर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हुविः ।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥ २० ॥ (१८)

अश्वत्थः । दर्भः । वीरुधाम् । सोमः । राजा । अमृतम् । हविः ॥
व्रीहिः । यवः । च । भेषजौ । दिवः । पुत्रौ । अमर्त्यौ २०(१८)

१८,१९—(याः) (च) (अहम्) (वेद) जानामि (वीरुधः) ओषधीः (याः) (च) (पश्यामि) अवलोकयामि (चक्षुषा) नेत्रेण (अज्ञाताः) अपरीक्षिताः (जानीमः) आविष्कुर्मः (याः) (विद्म) जानीमः (च) (संभृतम्) सम्यक् पोषणम् (सर्वाः समग्राः) समस्ता एव (ओषधीः) (बोधन्तु) बोधं कुर्वन्तु (वचसः) वचनस्य (मम) । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

भाषार्थ—[अश्वत्थः] वीरों के ठहरने का स्थान, पीपल का वृक्ष, (दर्भः) दुःख विदारक, कुश वा कांस का बिरवा, (वीरुधाम्) ओषधियों का (राजा) राजा (सोमः) सोम लता (अमृतम्) अमृत [बलकर] (हविः) ग्राह्य द्रव्य है। (भेषजौ) भयनिवारक (व्रीहिः) चावल (च) और (यवः) जौ दोनों (दिवः) उन्माद वा पीड़ा के (पुत्रौ) शोधने वाले (अमर्त्यौ) अमर [पुष्टिकारक] हैं॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य पीपल, दर्भ, सोमलता, चावल, जौ आदि पदार्थों के गुणों को यथावत् जानें ॥ २० ॥

उज्जिहीध्वे स्तनयत्यभिक्रन्दत्योषधीः ।
यदा वः पृश्निमातरः पर्जन्यो रेतसावति ॥ २१ ॥

उत् । जिहीध्वे । स्तनयति । अभि-क्रन्दति । ओषधीः ।
यदा । वः । पृश्नि-मातरः । पर्जन्यः । रेतसा । अवति ॥२१॥

भाषार्थ—(ओषधीः) हे ओषधियो ! (पृश्निमातरः) हे पृथिवी को माता रखने वालियो ! (उद् जिहीध्वे) तुम खड़ी होजाती हो, (यदा) जब

२०—(अश्वत्थः) अ० ३ । ६ । १ । अश्वा वीरास्तिष्ठन्ति यत्र स अश्वत्थः पिप्पलवृक्षः (दर्भः) अ० ६ । ४३ । १ । दुःखविदारकः कुशः काशो वा (वीरुधाम्) ओषधीनाम् (सोमः) सोमलता (राजा) (अमृतम्) सर्वगुणोपेतम् (हविः) ग्राह्य द्रव्यम् (व्रीहिः) अ० ६ । १४० । २ । आशुधान्यम् (यवः) धान्यविशेषः (च) (भेषजौ) भयनिवारकौ (दिवः) दिवु क्रीडामदादिषु यद्वा दिव अर्दे—क्विप् डिवि वा । उन्मादस्य । पीडनस्य (पुत्रौ) अ० १ । ११ । ५ । पुनातीति पुत्रः । शोधकौ (अमर्त्यौ) अमरणधर्माणौ । नित्यबलकरौ ॥

२१—(उज्जिहीध्वे) ओ हाङ् गतौ-लट् । उद्गच्छथ (स्तनयति) गर्जति (अभिक्रन्दति) अभितो ध्वनति (ओषधीः) हे ओषधयः (यदा) (वः) युष्मान् (पृश्निमातरः) अ० ४ । २७ । २ । घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । स्पृश संस्पर्शे—नि, धातोः सलोपः । पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः, संस्प्रष्टा रसान्, संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा-

(पर्जन्यः) मेघ (स्तनयति) गरजता है और (अभिक्रन्दति) कड़कड़ाता है और (वः) तुमको (रेतसा) जल से (अवति) तृप्त करता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सूर्य द्वारा वृष्टि होने से पृथिवी पर सब ओषधियां और अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं ॥ २१ ॥

तस्यामृतस्येमं बलं पुरुषं पाययामसि ।
अथो कृणोमि भेषजं यथासच्छतहायनः ॥ २२ ॥

तस्य । अमृतस्य । इमम् । बलम् । पुरुषम् । पाययामसि ॥ अथो इति । कृणोमि । भेषजम् । यथा । असत् । शत-हायनः ॥२२॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (अमृतस्य) अमर [पुष्टिकारक मेघ] का (बलम्) बल [सार] (इमम् पुरुषम्) इस पुरुष को (पाययामसि) हम पिलाते हैं । (अथो) और (भेषजम्) चिकित्सा (कृणोमि) करता हूं (यथा) जिससे वह (शतहायनः) सौ वर्ष वाला (असत्) होवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य मेघ से उत्पन्न हुये पदार्थ अन्न आदि का सेवन करके पूरा जीवन भोगें ॥ २२ ॥

वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम् ।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे ॥ २३ ॥

वराहः । वेद । वीरुधम् । नकुलः । वेद । भेषजीम् ॥ सर्पाः । गन्धर्वाः । याः । विदुः । ताः । अस्मै । अवसे । हुवे ॥ २३ ॥

निरु० २ । १४ । पृश्निः पृथिवी इति रामजसनकोशः । पृथिवी माता उत्पादयित्री यासां तास्तत्सम्बुद्धौ (पर्जन्यः) अ० १ । २ । १ । मेघः (रेतसा) अ० २ । २८ । ५ । उदकेन—निघ० १ । १२ । (अवति) तर्पयति ॥

२२—(तस्य) पूर्वोक्तस्य (अमृतस्य) अमरणस्य । पुष्टिकरस्य पर्जन्यस्य (इमम्) (बलम्) सारम् (पुरुषम्) प्राणिनम् (पाययामसि) पानेन पोषयामः (अथो) अपिच (कृणोमि) करोमि (भेषजम्) चिकित्साम् (यथा) येन प्रकारेण (असत्) भवेत् (शतहायनः) अ० ८ । २ । ८ । शतसंवत्सरायुर्युक्तः ॥

भाषार्थ—(वराहः) सूअर (वीरुधम्) ओषधि (वेद) जानता है, (नकुलः) नेवला (भेषजीम्) रोग जीतने वाली वस्तु (वेद) जानता है। (सर्पाः) सर्प और (गन्धर्वाः) गन्धर्व [दुःखदायी पीड़ा देने वाले जीव] (याः) जिनको (विदुः) जानते हैं, (ताः) उनको (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (अवसे) रक्षा के हित (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जिन ओषधियों को अन्य प्राणी काम में लाते हैं, उनकी यथावत् परीक्षा करके प्रयोग करें ॥ २३ ॥

याः सु॒प॒र्णा आ॑ङ्गिर॒सीर्दि॒व्या या र॒घटो॑ वि॒दुः ।
वयां॑सि ह॒ंसा या वि॒दुर्याश्च॒ सर्वे॑ पत॒त्रिणः॑ ।
मृ॒गा या वि॒दुरोष॑धीस्ता अ॒स्मा अव॑से हुवे ॥ २४ ॥

याः । सु॒-प॒र्णाः । आ॒ङ्गि॒र॒सीः । दि॒व्याः । याः । र॒घटः॑ । वि॒दुः ॥ वयां॑सि । ह॒ंसाः । याः । वि॒दुः । याः । च॒ । सर्वे॑ । प॒त॒त्रिणः॑ ॥ मृ॒गाः । याः । वि॒दुः । ओष॑धीः । ताः । अ॒स्मै । अव॑से । हु॒वे॒ २४

भाषार्थ—(याः) जिन (आङ्गिरसीः) ऋषियों करके बताई हुई [ओषधियों] को (सुपर्णाः) गरुड़, गिद्ध आदि, (याः) जिन (दिव्याः) दिव्य

२३—(वराहः) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । वर+आङ्+हन् वा हृञ् हरणे—ड । वराय अभीष्टाय मुस्तादिलाभाय आहन्ति खनति भूमिम्, वा वरान् आहरतीति । वराहो मेघो भवति वराहारः,...अयमपीतरो वराह एतस्मादेव, वृहति मूलानि, वरंवरं मूलं वृहतीति वा....अङ्गिरसोऽपिवराहा उच्यन्ते—निरु० ५ । ४ । शूकरः (वेद) जानाति (वीरुधम्) ओषधिम् (नकुलः) अ० ६ । १३९ । ५ । जन्तुविशेषः (भेषजीम्) भयनिवारिकां चिकित्साम् (सर्पाः) (गन्धर्वाः) अ० ८ । ६ । १९ । दुःखदायिनश्च ते पीडकाश्च ते (याः) ओषधीः (विदुः) जानन्ति (ताः) (अस्मै) पुरुषाय (अवसे) रक्षणाय (हुवे) आह्वयामि ॥

२४—(याः) ओषधीः (सुपर्णाः) अ० २ । ३० । ३ । सुपतनाः—निरु० ३ । १२ । गरुडगृध्रादयः (आङ्गिरसीः) म० १७ । अङ्गिरोभिः प्रोक्ताः (दिव्याः)

[ओषधियों] को (रघट:) आकाश में फिरने वाले [जीव] (विदुः) जानते हैं। (याः) जिनको (वयांसि) पक्षी (हंसाः) हंस, (च) और (याः) जिन को (सर्वे) सब (पतत्रिणः) पंख वाले जीव (विदुः) जानते हैं। (याः ओषधीः) जिन ओषधियों को (मृगाः) बनैले पशु (विदुः) जानते हैं। (ताः) उन सब को (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (अवसे) रक्षा के हित (हुवे) मैं बुलाता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—मन्त्र २३ के समान ॥ २४ ॥

याव॑तीनामोष॑धीनां गाव॑: प्राश्नन्त्यघ्न्या याव॑तीनामजावय॑: । ताव॑तीस्तुभ्य॒मोष॑धीः शर्म॑ यच्छन्त्वाभृ॑ताः॥२५

याव॑तीनाम् । ओष॑धीनाम् । गाव॑: । प्र-अश्नन्ति । अघ्न्याः । याव॑तीनाम् । अज-अवय॑: ॥ ताव॑तीः । तुभ्य॑म् । ओष॑धीः । शर्म॑ । यच्छन्तु । आ-भृ॑ताः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(यावतीनाम्) जितनी (ओषधीनाम्) ओषधियों का (अघ्न्याः) न मारने योग्य (गावः) गौवें और (यावतीनाम्) जितनी [ओषधियों] का (अजावयः) भेड़ बकरी (प्राश्नन्ति) चारा करती हैं। (तावतीः) उतनी सब (आभृताः) यथावत् पुष्ट की हुई (ओषधीः) ओषधियां (तुभ्यम्) तुझ को (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें ॥ २५ ॥

भावार्थ—मन्त्र २३ के समान ॥ २५ ॥

श्रेष्ठाः (याः) (रघटः) रघि गतौ-अच्, नुम् लोपः + अट गतौ क्विप्, शकन्ध्वादिरूपम्। रघे गन्तव्ये आकाशे अटनशीलाः (विदुः) जानन्ति (वयांसि) अ० २। ३०। ३। पक्षिणः (हंसाः) अ० ६। १२। १। पक्षिविशेषाः (पतत्रिणः) पक्षयुक्ता जन्तवः (मृगाः) अ० ३। १५। १। अरण्यपशवः। अन्यत्पूर्ववत् ॥

२५—(यावतीनाम्) यत्परिमाणानाम् (गावः) धेनवः (प्राश्नन्ति) प्राशनं कुर्वन्ति (अघ्न्याः) अ० ३। ३०। १। अहन्तव्याः (अजावयः) अजाश्च अवयश्च ते। छागमेषादयः (तावतीः) तत्परिमाणाः (शर्म) सुखम् (यच्छन्तु दददु (आभृताः) सम्यक् पोषिताः। अन्यद् गतम् ॥

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः ।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥ २६ ॥
यावतीषु । मनुष्याः । भेषजम् । भिषजः । विदुः ॥
तावतीः । विश्व-भेषजीः । आ । भरामि । त्वाम् । अभि ॥२६॥

भाषार्थ—(भिषजः) वैद्य (मनुष्याः) लोग (यावतीषु) जितनी [ओषधियों] में (भेषजम्) चिकित्सा (विदुः) जानते हैं ।(तावतीः) उतनी (विश्वभेषजीः) सब रोगों की जीतनेवाली [ओषधियों] को (त्वाम् अभि) तेरे लिये (आभरामि) मैं लाता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग विद्वानों से विद्या प्राप्त करके चिकित्सा करें ॥२६॥

पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत ।
सं मातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये ॥ २७ ॥
पुष्प-वतीः । प्रसू-मतीः । फलिनीः । अफलाः । उत ॥
सं मातरः-इव । दुह्राम् । अस्मै । अरिष्ट-तातये ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(पुष्पवतीः) पुष्प रखने वाली, (प्रसूमतीः) सुन्दर कोंपल वाली, (फलिनीः) फलवाली (उत) और (अफलाः) फल रहित [ओषधियां] (संमातरः इव) संमिलित माताओं के समान (अस्मै) इस [पुरुष] को (अरिष्टतातये) कुशल करने के लिये (दुह्राम्) दूध देवें ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब प्रकार की ओषधियों से उपकार लेकर स्वस्थ रहें ॥ २७ ॥

२६—(यवतीषु) (मनुष्याः) मानवाः (भेषजम्) चिकित्साम् (भिषजः) अ० २ । ६ । ३ । यद्वा भिषज् चिकित्सायाम्—क्विप् । वैद्याः (विदुः) जानन्ति (तावतीः) (विश्वभेषजीः) सर्वरोगजेत्रीः (आभरामि) आहरामि (त्वाम्) (अभि) प्रति ॥

२७—(पुष्पवतीः) प्रशस्तपुष्पयुक्ताः (प्रसूमतीः) कोमलपल्लववत्यः (फलिनीः) उत्तमफलवत्यः (उत) अपि च (संमातरः इव) सम्मिलितजनन्यो यथा (दुह्राम्) दुहन्तु । दुग्धं ददतु (अस्मै) मनुष्याय (अरिष्टतातये) अ० ३ । ५ । ५ । क्षेमकरणाय ॥

उत् त्वाहार्षं पञ्चशलादथो दशशलादुत । अथो यमस्य पड्वीशाद् विश्वस्माद् देवकिल्बिषात् ॥ २८ ॥ (१९)

उत् । त्वा । अहार्षम् । पञ्च-शलात् । अथो इति । दश-शलात् । उत ॥ अथो इति । यमस्य । पड्वीशात् । विश्वस्मात् । देव-किल्बिषात् ॥ २८ ॥ (१९)

भाषार्थ—(अथो) अब (त्वा) तुझको (पञ्चशलात्) पञ्चभूतों में व्यापक (उत) और (दशशलात्) दश दिशाओं में व्यापक परमेश्वर का आश्रय लेकर (अथो) और (यमस्य) न्यायकारी राजा के (पड्वीशात्) बेड़ी डालने से (उत) और (विश्वस्मात्) सब (देवकिल्बिषात्) परमेश्वर के प्रति अपराध से [पृथक्] करके (उत् अहार्षम्) मैंने ऊंचा पहुंचाया है ॥२८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वव्यापक परमेश्वर का आश्रय लेकर सब दुराचार को छोड़कर उन्नति करें ॥ २८ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है–अ० ६ । ९६ । २ तथा ७ । ११२ । २॥

सूक्तम् ८ ॥

१—२४ ॥ इन्द्रो मन्त्रोक्ताश्च देवताः ॥ १ निचृदनुष्टुप्, २, १२, भुरिगनुष्टुप्; ३ निचृद् बृहती; ४ भुरिग् बृहती; ५, ६, १३–१८ अनुष्टुप्; ६ आस्तारपङ्क्तिः; ७, २२ अतिजगती; ८, १९ विराड् बृहती; १०, ११, २३ उपरिष्टाद् बृहती; २० बृहती, २१ त्रिष्टुप्; २४ त्र्यवसाना पञ्चपदा जगती ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रु के नाश का उपदेश ॥

इन्द्रो मन्थतु मन्थिता शक्रः शूरः पुरंदरः ।
यथा हनाम सेना अमित्राणां सहस्रशः ॥ १ ॥

२८—(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) त्वाम् (अहार्षम्) प्रापितवानस्मि (पञ्चशलात्) शल गतौ—अच् । पञ्चमीविधाने ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० २ । ३ । २८ । पञ्चसु भूतेषु व्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (अथो) इदानीम् (दशशलात्) पूर्ववत् पञ्चमी । दशदिक्षु व्यापकं परमेश्वरमाश्रित्य (उत) अपि च । अन्यत् पूर्ववत्–अ० ६ । ९६ । २ । तथा ७ । ११२ । २ ॥

इन्द्रः । मन्थतु । मन्थिता । शक्रः । शूरः । पुरम्-दुरः ॥
यथा । हनाम । सेनाः । अमित्राणाम् । सहस्र-शः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मन्थिता) मथन करने वाला, (शक्रः) शक्तिमान् (शूरः) शूर, (पुरन्दरः) गढ़ तोड़ने वाला, (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] (मन्थतु) मथन करे । (यथा) जिससे (अमित्राणाम्) वैरियों की (सेनाः) सेनायें (सहस्रशः) सहस्र सहस्र करके (हनाम) हम मारें ॥ १ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् राजा के पुरुषार्थ से उसके सेना दल बहुत शत्रुओं का नाश करें ॥ १ ॥

पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम् ।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधतां भयम् ॥ २ ॥

पूति-रज्जुः । उप-ध्मानी । पूतिम् । सेनाम् । कृणोतु । अमूम् ॥ धूमम् । अग्निम् । परा-दृश्य । अमित्राः । हृत्-सु । आ । दधताम् । भयम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उपध्मानी) सुलगती हुई (पूतिरज्जुः) दुर्गन्ध उत्पन्न करने वाली [शस्त्रों की ज्वाला] (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (पूतिम्) दुर्गन्धित (कृणोतु) करे । (अमित्राः) शत्रु लोग (धूमम्) धुयें और

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (मन्थतु) विलोडयतु (मन्थिता) विलोडयिता (शक्रः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तः (शूरः) (पुरन्दरः) अरीणां पुरो दारयतीति । पूःसर्वयोर्दारिसहोः । पा० ३ । २ । ४१ । पुर्+दॄ विदारणे-णिच्-खच् । वाचंयमपुरन्दरौ च । पा० ६ । ३ । ६९ । पुर् शब्दस्य अदन्तत्वम् । अरुर्द्विषदजन्तस्य मुम् । पा० ६ । ३ । ६७ । इति मुम् । खचि ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९४ । इति दारिशब्दस्य ह्रस्वः । शत्रूणां दुर्गविनाशकः (यथा) (हनाम) मारयाम् (सेनाः) (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (सहस्रशः) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् । पा० ५ । ४ । ४३ । इति शस् । सहस्रं सहस्रम् ॥

२—(पूतिरज्जुः) सृजेरसुम् च । उ० १ । १५ । सृज विसर्जने-उ, धातोरसुमागमः, आदिसकारलोपश्च, ऋकारस्य यणादेशः, आगमसकारस्य जश्त्वं च । आद्यन्तविपर्ययो भवति स्तोका रज्जुः-निरु० २ । १ । दुर्गन्धस्य स्रष्ट्री ।

(अग्निम्) अग्नि को (परादृश्य) अत्यन्त देखकर (हृत्सु) हृदय में (भयम्) भय (आ दधताम्) धारण कर लेवें ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनापति के आग्नेय अस्त्रों की मार से शत्रु लोग श्वास घुट कर भाग जावें ॥ २ ॥

अमूनश्वत्थ निः शृणीहि खादामून् खदिराजिरम् ।
ताजद्भङ्ग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः ॥ ३ ॥

अमून् । अश्वत्थ । निः । शृणीहि । खाद । अमून् । खदिर । अजिरम् ॥ ताजद्भङ्गः-इव । भज्यन्ताम् । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्वत्थ) हे बलवानों में ठहरने वाले ! [अश्वत्थामा] (अमून्) उन को (निः शृणीहि) कुचल डाल, (खदिर) हे दृढ़ स्वभाव वाले [सेनापति !] (अमून्) उनको (अजिरम्) शीघ्र (खाद) खा ले। वे लोग (ताजद्भङ्गः इव) झटपट टूटे हुये सन के समान (भज्यन्ताम्) टूट जावें, (वधकः) मारू सेनापति (वधैः) मारू हथियारों से (एनान्) इनको (हन्तु) मारे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वीरसेनापति दृढ़ स्वभाव होकर शत्रुओं का शीघ्र नाश करे ॥ ३ ॥

शस्त्रज्वाला (उपध्मानी) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः-ल्युट्, ङीप्। प्रज्वलन्तीं (पूतिम्) वसेस्तिः। उ० ४। १८०। पूयी विशरणे दुर्गन्धे च-तिप्रत्ययः, यद्वा क्तिच् प्रत्ययान्तः, यलोपः। दुर्गन्धवतीम् (सेनाम्) (कृणोतु) करोतु (अमूम्) पुरोदृश्यमानाम् (धूमम्) शस्त्रधूमम् (अग्निम्) (परादृश्य) भृशं दृष्ट्वा (अमित्राः) पीडकाः (हृत्सु) हृदयेषु (आ दधताम्) समन्ताद् धरन्तु (भयम्) दरम् ॥

३—(अमून्) शत्रून् (अश्वत्थ) अ० ३। ६। १। अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क। हे अश्वेषु वीरेषु स्थितिस्वभाव। अश्वत्थामन् (निः) निरन्तरम् (शृणीहि) नाशय (अमून्) (खदिर) अ० ३। ६। १। खद स्थैर्यहिंसयोः-किरच्। हे स्थिरस्वभाव सेनापते (अजिरम्) अ० ३। ४। ३। क्षिप्रम्-निघ० २। १५। (ताजद्भङ्गः इव) ताजत् क्षिप्रनाम-निघ० २। १५+भञ्जो आमर्दने-घञ्, कुत्वं च। क्षिप्रभङ्गो भङ्गः शणो यथा (भज्यन्ताम्) भिद्यन्ताम् (हन्तु) मारयतु (एनान्) शत्रून् (वधकः) हनो वध च। उ० २। ३६। हन्तेः—क्वुन्। हनन-कर्ता (वधैः) हननायुधैः ॥

परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः ।
क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः ॥ ४ ॥

परुषान् । अमून् । परुष-आह्वः । कृणोतु । हन्तु । एनान् । वधकः । वधैः ॥ क्षिप्रम् । शरः-इव । भज्यन्ताम् । बृहत्-जालेन । सम्-दिताः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(परुषाह्वः) कठोरों को ललकारने वाला [सेनापति] (अमून्) उन [अपने सैनिकों] को (परुषान्) कठोर स्वभाव वाला (कृणोतु) बनावे, (वधकः) मारू [सेनापति] (वधैः) मारू शस्त्रों से (एनान्) इन [शत्रुओं] को (हन्तु) मारे । (बृहज्जालेन) बड़े जाल से (संदिताः) बंधे हुये वे लोग (शर इव) सरकंडे के समान (क्षिप्रम्) शीघ्र (भज्यन्ताम्) टूट जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति अपने सैनिकों को उत्साह देकर शत्रुओं को पाश में बांधकर नष्ट करे ॥ ४ ॥

अन्तरिक्षं जालमासीज्जालदण्डा दिशो मही: ।
तेनाभिधाय दस्यूनां शक्रः सेनामपावपत् ॥ ५ ॥

अन्तरिक्षम् । जालम् । आसीत् । जाल-दण्डाः । दिशः । मही: ॥ तेन । अभि-धाय । दस्यूनाम् । शक्रः । सेनाम् । अप । अवपत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (जालम्) जाल (आसीत्) था, (जालदण्डाः) जाल के दण्डे (महीः) बड़ी (दिशः) दिशायें [थीं] । (तेन)

४—(परुषान्) पॄनहिकलिभ्य उपच् । उ० ४ । ७५ । पॄ पालनपूरणयोः—उपच् । कठोरस्वभावान् (अमून्) स्वसैनिकान् (परुषाह्वः) परुष+आङ्+ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च—क । कठोराणां स्पर्धकः सेनापतिः (कृणोतु) (हन्तु) (वधकः) म० ३ । मारकः (वधैः) हननायुधैः (क्षिप्रम्) शीघ्रम् (शरः) तृणभेदः (इव) यथा (भज्यन्ताम्) भिद्यन्ताम् (बृहज्जालेन) महापाशेन (संदिताः) सम् पूर्वो दो बन्धने—क्त । बद्धाः ॥

५—(अन्तरिक्षम्) अवकाशः (जालम्) जल संवरणे—घञ् । पाशः । विस्तारः (आसीत्) (जालदण्डाः) (दिशः) प्राच्यादयः (महीः) महत्यः

उस [जाल] से (अभिधाय) घेरकर (शक्रः) शक्तिमान् [सेनापति] ने (दस्यूनाम्) डाकुओं की (सेनाम्) सेना को (अप अवपत्) इतर वितर कर दिया ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो सेनापति अवकाश और सब दिशाओं का ध्यान रखकर व्यूह रचना करता है, वह शत्रुओं पर विजय पाता है ॥ ५ ॥

बृहद्धि जालं बृहतः शक्रस्य वाजिनीवतः। तेन शत्रून्भि सर्वान् न्युब्ज यथा न मुच्यातै कतमश्चनैषाम् ॥६॥

बृहत्। हि। जालम्। बृहतः। शक्रस्य। वाजिनी-वतः ॥ तेन। शत्रून्। अभि। सर्वान्। नि। उब्ज। यथा। न। मुच्यातै। कतमः। चन। एषाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (बृहतः) बड़े (वाजिनीवतः) बलवती क्रियाओं वाले (शक्रस्य) शक्तिमान् [सेनापति] का (जालम्) जाल [फैलाव] (बृहत्) बड़ा [है]। (तेन) उस [जाल] से (सर्वान्) सब (शत्रून् अभि) शत्रुओं पर (नि उब्ज) झुक पड़, (यथा) जिससे (एषाम्) इनमें से (कतमः चन) कोई भी (न मुच्यातै) न छूटे ॥ ६ ॥

भावार्थ—बलवान् सेनापति बहुत सी सेना का फैलाव करके शत्रुओं का नाश करे ॥ ६ ॥

बृहत् ते जालं बृहत इन्द्र शूर सहस्रार्घस्य शतवीर्य-

(तेन) जालेन (अभिधाय) आच्छाद्य (दस्यूनाम्) अ० २। १४। ५। चोरादीनाम् (शक्रः) शक्तः सेनापतिः (सेनाम्) (अप अवपत्) इतस्ततः प्रक्षिप्तवान् ॥

६—(बृहत्) महत् (हि) यस्मात् कारणात् (जालम्) म० ५। विस्तारः (बृहतः) महतः (शक्रस्य) शक्तिमतः सेनापतेः (वाजिनीवतः) वाजो बलम्—निघ० २। ९। बलवती क्रियायुक्तस्य (तेन) जालेन (शत्रून्) (अभि) प्रति (सर्वान्) (न्युब्ज) उब्ज आर्जवे। निगृह्य धाव (यथा) येन प्रकारेण (न मुच्यातै) अ० ४। १६। ४। न मुक्तो भवेत् (कतमश्चन) कोऽपि (एषाम्) शत्रूणां मध्ये ॥

स्य । तेन॑ श॒तं स॒हस्र॑म॒युतं॒ न्य॑र्बुदं ज॒घान॑ श॒क्रो दस्यू॑नामभि॒धाय॒ सेन॑या ॥ ७ ॥

बृ॒हत् । ते॒ । जाल॑म् । बृ॒ह॒तः । इ॒न्द्र॒ । शू॒र॒ । स॒ह॒स्र॒-अ॒र्घस्य॑ । श॒त-वी॑र्यस्य ॥ तेन॑ । श॒तम् । स॒हस्र॑म् । अ॒युत॑म् । नि-अ॑र्बु॒दम् । ज॒घान॑ । श॒क्रः । दस्यू॑नाम् । अ॒भि-धाय॑ । सेन॑या ॥७॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी !] (शूर) हे शूर ! (बृहतः) बड़े, (सहस्रार्घस्य) सहस्रों से पूजा योग्य, (शतवीर्यस्य) सैकड़ों वीरत्व वाले (ते) तेरे का (बृहत्) बड़ा (जालम्) जाल [फैलाव] है । (तेन) उस [जाल] से (शक्रः) शक्तिमान् [सेनापति] ने (सेनया) [अपनी] सेना से (शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अयुतम्) दश सहस्र, (न्यर्बुदम्) अनेक दश कोटि (दस्यूनाम्) डाकुओं को (अभिधाय) घेर कर (जघान) मार डाला ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार से शूरवीर पुरुष शत्रुओं को मारकर प्रजापालन करते आये हैं, उसी प्रकार पराक्रमी लोग रक्षा करते रहें ॥ ७ ॥

अ॒यं लो॒को जाल॑मासीच्छ॒क्रस्य॑ मह॒तो म॒हान् ।
तेना॒हमि॑न्द्रजा॒लेना॒मूंस्तम॑सा॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न् ॥ ८ ॥

अ॒यम् । लो॒कः । जाल॑म् । आ॒सी॒त् । श॒क्रस्य॑ । म॒ह॒तः ।

७—(बृहत्) (ते) तव (जालम्) म० ५ । विस्तारः (बृहतः) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (शूर) पराक्रमिन् (सहस्रार्घस्य) अर्ह पूजायाम्—घञ् कुत्वम् । सहस्रैः पूजितस्य (शतवीर्यस्य) बहुवीर्योपेतस्य (तेन) जालेन (शतम्) (सहस्रम्) (अयुतम्) दशसहस्रम् (न्यर्बुदम्) अर्व गतौ हिंसायम् च—उदच् प्रत्ययः, इति रामजसनकोशः । अर्बुदो मेघो भवत्यरणमम्बु तद्दोऽम्बुदोऽम्बुमद्भातीति वाम्बुमद्भवतीति वा, स यथा महान् बहुर्भवति वर्षंस्तदिवार्बुदम्—निरु० ३ । १० । बहुदशकोटिम् (जघान) ममार (शक्रः) शक्तिमान् (दस्यूनाम्) म० ५ । चोरादीनाम् (अभिधाय) आच्छाद्य (सेनया) स्वसेनया ॥

महान् ॥ तेन॑ । अ॒हम् । इ॒न्द्र॒-जा॒लेन॑ । अ॒मून् । तम॑सा । अ॒भि । द॒धा॒मि॒ । सर्वा॑न् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (महान्) बड़ा (लोकः) लोक (महतः) बड़े (शक्रस्य) शक्तिमान् [सेनापति] का (जालम्) जाल (आसीत्) था। (तेन) उस (इन्द्रजालेन) इन्द्रजाल [बड़े शस्त्र] से (अहम्) मैं (अमून्) उन (सर्वान्) सब को (तमसा) अन्धकार से (अभि दधामि) घेरे लेता हूं ।८।

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनाध्यक्ष के सहाय से अन्य सेनापति शत्रुओं को इन्द्रजाल ब्रह्मास्त्र आदि महाशस्त्रों से अन्धकार में घेरकर मारें ॥ ८ ॥

से॒दिरु॒ग्रा व्यृ॑द्धि॒रार्ति॑श्चानपवाच॒ना ।
श्रम॑स्त॒न्द्रीश्च॒ मोह॑श्च॒ तैर॒मून॒भि द॑धामि॒ सर्वा॑न् ॥ ९ ॥

से॒दिः । उ॒ग्रा । वि-ऋ॑द्धिः । आर्ति॑ः । च॒ । अ॒न॒प॒-वा॒च॒ना ॥ श्रम॑ः । त॒न्द्रीः । च॒ । मोह॑ः । च॒ । तैः । अ॒मून् । अ॒भि । द॒धा॒मि॒ । सर्वा॑न् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सेदिः) महामारी आदि क्लेश, (उग्रा) भारी (व्यृद्धिः) निर्धनता (च) और (अनपवाचना) अकथनीय (आर्तिः) पीड़ा। (श्रमः) परिश्रम, (च) और (तन्द्रीः) आलस्य (च) और (मोहः) मोह [घबड़ाहट] [जो हैं], (तैः) उन सब से (अमून्) उन (सर्वान्) सबों को (अभि दधामि) मैं घेरे लेता हूं ॥ ९ ॥

८—(अयम्) प्रसिद्धः (लोकः) संसारः (जालम्) पाशः (आसीत्) (शक्रस्य) इन्द्रस्य (महतः) (महान्) (तेन) (अहम्) सेनापतिः (इन्द्रजालेन) इन्द्रपाशेन ब्रह्मास्त्रेण (अमून्) शत्रून् (तमसा) अन्धकारेण (अभि दधामि) आच्छादयामि (सर्वान्) समस्तान् ॥

९—(सेदिः) अ० २ । १४ । ३ । निर्ऋतिः । महाविपादः (उग्रा) प्रचण्डा (व्यृद्धिः) वि + ऋधु वृद्धौ—क्तिन् । अलक्ष्मीः (आर्तिः) अ० ३ । ३१ । २ । पीडा (च) (अनपवाचना) वच परिभाषणे—णिच् स्वार्थे—युच् । अकथनीया (श्रमः) परिश्रमः (तन्द्रीः) अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । तद्रि अवसादे सौ० धा०—ईप्रत्ययः । आलस्यम् (च) (मोहः) मूर्छा (च) (तैः) पूर्वोक्तैः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ८ ॥

भावार्थ—दुष्ट उपद्रवी लोगों को बड़ी बड़ी विपत्तियों में फंसाना योग्य है ॥ ९ ॥

मृत्यवे॒ऽमून् प्र य॑च्छामि मृत्युपा॒शैर॒मी सि॒ताः । मृ॒त्योर्ये अ॑घ॒ला दू॒तास्तेभ्य॑ एनान् प्रति॑ नयामि ब॒द्ध्वा ॥१०॥ (२०)

मृत्यवे॑ । अ॒मून् । प्र । य॒च्छा॒मि॒ । मृ॒त्यु॒-पा॒शैः । अ॒मी इति॑ । सि॒ताः ॥ मृ॒त्योः । ये । अ॒घ॒लाः । दू॒ताः । तेभ्यः॑ । ए॒ना॒न् । प्रति॑ । न॒या॒मि॒ । ब॒द्ध्वा ॥ १० ॥ (२०)

भाषार्थ—(अमून्) उन्हें (मृत्यवे) मृत्यु को (प्र यच्छामि) मैं सौंपता हूं, (मृत्युपाशैः) मृत्यु के पाशों से (अमी) वे लोग (सिताः) बंधे हुये हैं। (मृत्योः) मृत्यु के (ये) जो (अघलाः) दुःखदायी (दूताः) दूत हैं, (तेभ्यः) उनके पास (एनान्) इन्हें (बद्ध्वा) बांध कर (प्रति नयामि) मैं लिये जाता हूं ।१०

भावार्थ—राजा दुःखदायी दुष्टों को घातकों द्वारा वध करावे ॥ १० ॥

नय॑ता॒मून् मृ॑त्युदूता॒ यम॑दूता॒ अपो॑म्भत ।
प॒रः॒स॒ह॒स्रा ह॑न्यन्तां तृ॒णेढ्वे॑नान् मत्यं॑ भ॒वस्य॑ ॥ ११ ॥

नय॑त । अ॒मून् । मृ॒त्यु॒-दू॒ताः । यम॑-दूताः । अप॑ उ॒म्भ॒त ॥ प॒रः॒-स॒ह॒स्राः । ह॒न्य॒न्ता॒म् । तृ॒णेढु॑ । ए॒ना॒न् । मत्य॑म् । भ॒वस्य॑ ११

भाषार्थ—(मृत्युदूताः) हे मृत्यु के दूतो ! [घातको !] (अमून्) उनको (नयत) ले जाओ, (यमदूताः) हे यम के दूतो ! [वधक पुरुषो !] (अप

१०—(मृत्यवे) मरणाय (अमून्) दुःखदायिनः (प्र यच्छामि) ददामि (मृत्युपाशैः) मरणसाधनैः (अमी) ते (सिताः) बद्धाः (मृत्योः) मरणस्य (ये) (अघलाः) अघ+ला दाने-क। दुःखदायिनः (दूताः) अ० १ । ७ । ६ । उपतापकः । दूतसदृशा घातकजनाः (तेभ्यः) (एनान्) (प्रति नयामि) प्रतिकूलं प्रापयामि (बद्ध्वा) प्रसित्य ॥

११—(नयत) गमयत (अमून्) दुष्टान् (मृत्युदूताः) हे घातकजनाः (यमदूताः) वधकाः (अप उम्भत) उम्भ पूरणे । बलेन बध्नीत-(परःसहस्राः)

उम्भत) कस कर बांध लो। (परःसहस्राः), सहस्रों से अधिक [वे लोग] (हन्यन्ताम्) मारे जावें, (भवस्य) सुखदायक [राजा] की (मत्यम्) मुट्ठी [घूंसा] (एनान्) इनको (तृणेढु) चूर चूर कर डाले ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों को अनेक प्रकार कष्ट देकर घातकों और वधकों द्वारा नष्ट करादे ॥ ११ ॥

साध्या एकं जालद॒ण्डमु॒द्यत्यं य॒न्त्योज॑सा ।
रु॒द्रा एकं॒ वस॑व॒ एक॑मादि॒त्यैरेक॒ उद्य॑तः ॥ १२ ॥

सा॒ध्याः । एक॑म् । जा॒ल॒-द॒ण्डम् । उ॒त्-यत्य॑ । य॒न्ति॒ । ओज॑सा ॥
रु॒द्राः । एक॑म् । वस॑वः । एक॑म् । आ॒दि॒त्यैः । एकः॑ । उत्-य॑तः १२

भाषार्थ—(साध्याः) साध्य लोग [परोपकार साधक जन] (एकम्) एक (जालदण्डम्) जाल के दण्डे को, (रुद्राः) रुद्र [शत्रुनाशक लोग] (एकम्) एक को, (वसवः) वसु लोग [उत्तम पुरुष] (एकम्) एक को (ओजसा) बल से (उद्यत्य) उठाकर (यन्ति) चलते हैं, (एकः) एक (आदित्यैः) पूर्णविद्या वालों करके (उद्यतः) उठाया गया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस राजा के अधिकार में उत्तम उत्तम अधिकारी होते हैं, वहां विजय होती है ॥ १२ ॥

विश्वे॑ दे॒वा उ॒परि॑ष्टादु॒ब्जन्तो॑ य॒न्त्वोज॑सा ।

सहस्राधिकाः (हन्यन्ताम्) वध्यन्ताम् (तृणेढु) तृह हिंसायाम्—लोट् । चूर्णी-करोतु । पिनष्टु (एनान्) दुष्टान् (मत्यम्) मतजनहलात् करणजल्पकर्षेषु । पा० ४ । ४ । ६७ । मतं ज्ञानं तस्य करणमिति । मुष्टिः—इति शब्दकल्पद्रुमः (भवस्य) भू सत्तायां प्राप्तौ च-अप् । भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः । सुखोत्पादकस्य ॥

१२—(साध्याः) अ० ७ । ५ । १ । साधवः । परोपकारसाधकाः (एकम्) (जालदण्डम्) प्रबन्धरूपं जालसाधनम् (उद्यत्य) उत्+यम यमने—ल्यप् । उद्युज्य (यन्ति) गच्छन्ति (ओजसा) बलेन (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे-क्विप्, तुक्+रु वधे—ड । शत्रुनाशकाः (एकम्) (वसवः) अ० १ । ६ । १ । प्रशस्ता जनाः (एकम्) (आदित्यैः) अ० १ । ६ । १ । आदीप्यमानैः । पूर्णविद्यैः (एकः) जालदण्डः (उद्यतः) यम-क्त । ऊर्ध्वीकृतः ॥

मध्येन घ्नन्तो यन्तु सेनामङ्गिरसो महीम् ॥ १३ ॥

विश्वे । देवाः । उपरिष्टात् । उब्जन्तः । यन्तु । ओजसा ॥
मध्येन । घ्नन्तः । यन्तु । सेनाम् । अङ्गिरसः । महीम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(विश्वे) सब (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (उपरिष्टात्) ऊपर से (ओजसा) बल के साथ (उब्जन्तः) सीधे होकर (यन्तु) चलें। (अङ्गिरसः) बड़े ज्ञानी लोग (मध्येन) मध्य से (महीम्) बड़ी (सेनाम्) सेना को (घ्नन्तः) मारते हुये (यन्तु) चलें ॥ १३ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष व्यूह रचना में उत्तम उत्तम सेनापतियों को उचित स्थानों में नियत करके शत्रुओं को नाश करे ॥ १३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १४ ॥

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ॥ द्वि-पात् । चतुः-पात् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वनस्पतीन्) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वाले पुरुषों, (वानस्पत्यान्) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वालों के सम्बन्धी पदार्थों, (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों (उत) और (वीरुधः) जड़ी बूटियों। (द्विपात्) दोपाये और (चतुष्पात्) चौपाये को (इष्णामि) मैं प्राप्त करता हूं (यथा) जिस

१३—(विश्वे) सर्वे (देवाः) विजिगीषवः (उपरिष्टात्) उपरिस्थानात् (उब्जन्तः) उब्ज आर्जवे—शतृ । ऋजवः सन्तः (यन्तु) गच्छन्तु (ओजसा) (मध्येन) मध्यदेशेन (घ्नन्तः) मारयन्तः (सेनाम्) (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । महाज्ञानिनः (महीम्) विशालाम् ॥

१४—(वनस्पतीन्) अ० ३ । ६ । ६ [वनस्पते] वनस्य सम्भजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—इति दयानन्द भाष्ये, यजु० २७ । २१ । सेवनीयशास्त्राणां पालकान् (वानस्पत्यान्) अ० ३ । ६ । ६ । सेवनीयशास्त्राणां पालकानां सम्बन्धिनः पदार्थान् (ओषधीः) अन्नादीन् (उत) अपिच (वीरुधः) लतादीन् (द्विपात्) विभक्तेः सुः । द्विपादम् । पादद्वयोपेतं मनुष्यादिकम् (चतुष्पात्) गवाश्वहस्त्या-

से वे सब (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हनन्) मारें ॥ १४ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष राजा सब उत्तम पुरुषों और उत्तम पदार्थों को साथ लेकर शत्रुओं को मारे ॥ १४ ॥

गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
दृष्टानदृष्टानिष्णामि यथा सेनाममूं हनन् ॥ १५ ॥

गन्धर्व-अप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्य-जनान् । पितॄन् ॥
दृष्टान् । अदृष्टान् । इष्णामि । यथा । सेनाम् । अमूम् । हनन् १५

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों [पृथिवी के धारण करने वालों] और अप्सरों [आकाश में चलने वालों], (सर्पान्) सर्पों [के समान तीव्र दृष्टि वालों], (देवान्) विजय चाहने वालों, (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा (पितॄन्) पितरों [महाविद्वानों] । (दृष्टान्) देखे हुये और (अदृष्टान्) अनदेखे पदार्थों को (इष्णामि) मैं प्राप्त करता हूं, (यथा) जिससे वे सब (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हनन्) मारें ॥ १५ ॥

भावार्थ—राजा विवेकी, दूरदर्शी, शूर, सत्यवादी पुरुषों और गोचर और अगोचर पदार्थों को एकत्र करके शत्रु नाश करे ॥ १५ ॥

इम उप्ता मृत्युपाशा यानाक्रम्य न मुच्यसे ।
अमुष्या हन्तु सेनाया इदं कूटं सहस्रशः ॥ १६ ॥

इमे । उप्ताः । मृत्यु-पाशाः । यान् । आ-क्रम्य । न । मुच्यसे ॥
अमुष्याः । हन्तु । सेनायाः । इदम् । कूटम् । सहस्र-शः ॥१६॥

दृशम् (इष्णामि) इष गतौ । गच्छामि । प्राप्नोमि (यथा) येन प्रकारेण (सेनाम्) (अमूम्) दृश्यमानाम् (हनन्) लेटि रूपम् । ते घ्नन्तु ॥

१५—(गन्धर्वाप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । पृथिवीधारकान् आकाशे गमनशीलांश्च विवेकिनः (सर्पान्) सर्पवत्तीव्रदृष्टीन् (देवान्) विजिगीषून् (पुण्यजनान्) शुद्धाचारिणः (पितॄन्) महाविदुषः (दृष्टान्) गोचरान् (अदृष्टान्) अगोचरान् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

भाषार्थ—(इमे) ये (मृत्युपाशाः) मृत्यु के जाल (उप्ताः) फैले हैं, (यान्) जिनमें (आक्रम्य) पांव धरकर [हे शत्रु !] (न मुच्यसे) तू नहीं छूटता है। (इदम्) यह (कूटम्) फन्दा (अमुष्याः सेनायाः) उस सेना का (सहस्रशः) सहस्रों प्रकार से (हन्तु) हनन करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा शत्रु लोगों को दृढ़ बन्धनों में रखकर विनष्ट करे ॥१६॥

घर्मः समिद्धो अग्निनायं होमः सहस्रहः ।
भवश्च पृश्निबाहुश्च शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १७ ॥

घर्मः । सम्-इद्धः । अग्निना । अयम् । होमः । सहस्र-हः ॥ भवः । च । पृश्नि-बाहुः । च । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥१७॥

भाषार्थ—(अग्निना) अग्नि करके (समिद्धः) प्रज्वलित (घर्मः) ताप [के समान] (अयम्) यह (होमः) आत्मसमर्पण (सहस्रहः) सहस्र [क्लेश] नाश करने वाला है। (पृश्निबाहुः) भूमि को बाहु पर रखने वाले (भवः) हे सुख उत्पन्न करने वाले [प्राण वायु] (च) और (शर्व) क्लेश नाशक [अपान वायु]! तुम दोनों (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (च) निश्चय करके (हतम्) मारो ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मसमर्पण के साथ प्राण और अपान वायु को स्थिर करके विघ्नों का नाश करें ॥ १७ ॥

१६—(इमे) सर्वत्रव्याप्ताः (उप्ताः) डु वप् बीजसन्ताने-क्त। विस्तृताः (मृत्युपाशाः) मरणबन्धाः (यान्) (आक्रम्य) पादेन प्राप्य (न) निषेधे (मुच्यसे) मुक्तो भवसि (अमुष्याः) तस्याः (हन्तु) हननं करोतु (सेनायाः) (इदम्) (कूटम्) कूट परितापे-अच्। बन्धनयन्त्रम् (सहस्रशः) म० १। बहुप्रकारेण ॥

१७—(घर्मः) ताप इव (समिद्धः) प्रदीप्तः (अग्निना) पावकेन (होमः) अ० ४। ३८। ५। आत्मसमर्पणम् (सहस्रहः) हन-ड। सहस्रक्लेशनाशकः (भवः) अ० ८। २। ७। हे सुखप्रापक प्राणवायो (च) (पृश्निबाहुः) पृश्निः पृथिवी-अ० ८। ७। २१। पृथिवी बाहौ बले यस्य सः (च) निश्चये (शर्व) अ० ८। २। ७। हे क्लेशनाशक अपानवायो (सेनाम् अमूम्) (हतम्) नाशयतम् ॥

मृत्योराषमा पद्यन्तां क्षुधं सेदिं वधं भयम् ।
इन्द्रश्चाक्षुजालाभ्यां शर्व सेनाममूं हतम् ॥ १८ ॥

मृत्योः । आपम् । आ । पद्यन्ताम् । क्षुधम् । सेदिम् । वधम् । भयम् ॥ इन्द्रः । च । अक्षु-जालाभ्याम् । शर्व । सेनाम् । अमूम् । हतम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—[वे लोग] (मृत्योः) मृत्यु के (आपम्) बन्धन, (क्षुधम्) भूख, (सेदिम्) महामारी, (वधम्) वध और (भयम्) भय (आ पद्यन्ताम्) प्राप्त करें । (इन्द्रः) हे प्राण वायु ! (च) और (शर्व) हे अपान वायु ! तुम दोनों (अक्षुजालाभ्याम्) बन्धन और जालों से (अमूम् सेनाम्) उस सेना को (हतम्) मारो ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतापी मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल से शत्रुओं को नाना क्लेश देकर नाश करे ॥ १८ ॥

पराजिताः प्र त्रसतामित्रा नुत्ता धावत ब्रह्मणा ।
बृहस्पतिप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

परा-जिताः । प्र । त्रसत । अमित्राः । नुत्ताः । धावत । ब्रह्मणा ॥ बृहस्पति-प्रनुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अमित्राः) हे पीड़ा देने वालो ! (पराजिताः) हार मान कर (प्र त्रसत) डर जाओ, (ब्रह्मणा) विद्वान् करके (नुत्ताः) ढकेले हुये तुम

१८—(मृत्योः) मरणस्य (आपम्) आप दीप्तौ, ग्रहणे, गतौ च-घञ् । ग्रहणम् । बन्धनम् (आ) समन्तात् (पद्यन्ताम्) प्राप्नुवन्तु (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (सेदिम्) म० ९ । महाविपत्तिम् (वधम्) घातनम् (भयम्) (इन्द्रः) हे प्राणवायो (च) (अक्षुजालाभ्याम्) अक्ष व्याप्तौ-उ । बन्धनपाशाभ्याम् । अन्यत्पूर्ववत्-म० १७ ॥

१९—(पराजिताः) पराभूताः (प्र) (त्रसत) त्रसी उद्वेगे भये च । विभीत (अमित्राः) हे पीडकाः (नुत्ताः) प्रेरिताः (धावत) पलायध्वम् (ब्रह्मणा)

(धावत) दौड़े जाओ। (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) बृहस्पति [वेदों के रक्षक] करके ढकेले हुये (अमीषाम्) उन लोगों में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छूटे ॥ १९ ॥

भावार्थ—विद्वानों की नीति निपुणता से सब शत्रु नाश प्राप्त करें ॥१९॥

अव॑ पद्यन्तामेषामायु॑धानि॒ मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म् ।
अथै॑षां ब॒हु बिभ्य॑तामिष॑वो घ्नन्तु॒ मर्म॑णि ॥ २० ॥

अव॑ । प॒द्य॒न्ता॒म् । ए॒षा॒म् । आयु॑धानि । मा । श॒क॒न् । प्र॒ति॒ऽधाम् । इषु॑म् ॥ अथ॑ । ए॒षा॒म् । ब॒हु । बिभ्य॑ताम् । इष॑वः । घ्न॒न्तु॒ । मर्म॑णि ॥ २० ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन के (आयुधानि) हथियार (अव पद्यन्ताम्) गिर पड़ें, वे लोग (इषुम्) बाण (प्रतिधाम्) रोपने को (मा शकन्) न समर्थ हों। (अथ) और (बहु) बहुत (बिभ्यताम्) डरे हुये (एषाम्) इन लोगों के (इषवः) बाण (मर्मणि) [उनके ही] मर्म स्थान में (घ्नन्तु) घाव करें ॥२०॥

भावार्थ—चतुर सेनापति बड़े बल और शीघ्रता से शत्रुओं पर धावा करे, जिस से वे लोग घबड़ा कर अपने हथियारों से अपने आप को मारें ॥२०॥

सं क्रो॑शतामेनान् द्यावापृथि॒वी सम॒न्तरि॑क्षं स॒ह दे॒वता॑भिः । मा ज्ञा॒तारं॒ मा प्र॑ति॒ष्ठां वि॑दन्त मि॒थो वि॑घ्ना॒ना उप॑ यन्तु मृ॒त्युम् ॥ २१ ॥

विदुषा सेनापतिना (बृहस्पतिप्रणुत्तानाम्) बृहतां वेदानां पालकेन प्रेरितानाम् (अमीषाम्) तेषां शत्रूणाम् (मा मोचि) मा मुक्तो भवतु (कश्चन) कोऽपि ॥

२०—(अव पद्यन्ताम्) अधः पतन्तु (एषाम्) शत्रूणाम् (आयुधानि) शस्त्राणि (मा शकन्) समर्था मा भूवन् (प्रतिधाम्) शकि णमुलकमुलौ। पा० ३। ४। १२। प्रतिधा—णमुल्। प्रतिधातुम्। आरोपितुम्। लक्ष्यीकर्त्तुम् (अथ) अपि च (एषाम्) (बहु) अधिकम् (बिभ्यताम्) शतृ प्रत्ययः। त्रसताम् (इषवः) बाणाः (घ्नन्तु) मारयन्तु (मर्मणि) मर्मस्थाने ॥

सम् । क्रोशताम् । एनान् । द्यावापृथिवी इति । सम् । अन्त-रिक्षम् । सह । देवताभिः ॥ मा । ज्ञातारम् । मा । प्रति-स्थाम् । विदन्त । मिथः । वि-घ्नानाः । उप । यन्तु । मृत्युम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (एनान्) इनको (सम्) बल से (क्रोशताम्) पुकारें, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष लोक (देवताभिः सह) सब लोकों के साथ (सम्) बल से [पुकारे] । वे लोग (मा) न तो (ज्ञातारम्) जानकार पुरुष को और (मा) न (प्रतिष्ठाम्) प्रतिष्ठा [आश्रय वा आदर] (विदन्त) पावें, और (मिथः) आपस में (विघ्नानाः) मारते हुये (मृत्युम्) मृत्यु (उप यन्तु) पावें ॥ २१ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुदल में कोलाहल मचाकर शत्रुओं को सर्वथा निर्बल करदे ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है—अ० ६ । ३२ । ३ ॥

दिशश्चतस्रोऽश्वतर्यो देवरथस्य पुरोडाशाः शफा अन्त-रिक्षमुद्धिः । द्यावापृथिवी पक्षसी ऋतवोऽभीशवोऽन्त-र्देशाः किंकरा वाक् परिरथ्यम् ॥ २२ ॥

दिशः । चतस्रः । अश्वतर्यः । देव-रथस्य । पुरोडाशाः । शफाः । अन्तरिक्षम् । उद्धिः ॥ द्यावापृथिवी इति । पक्षसी इति । ऋतवः । अभीशवः । अन्तः-देशाः । किम्-कराः । वाक् । परि-रथ्यम् ॥ २२ ॥

२१—(सम्) सम्यक् बलात् (क्रोशताम्) आह्वयताम् (एनान्) शत्रून् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (सम्) (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (सह) (देवताभिः) गमनशीलैर्लोकैः (मा) निषेधे (ज्ञातारम्) परिचायकम् (प्रतिष्ठाम्) आश्रयम् । गौरवम् (मा विदन्त) मा प्राप्नुवन्तु (मिथः) परस्परम् (विघ्नानाः) ताच्छी-ल्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । पा० ३ । २ । १२९ । हन्-चानश् । विनाशयन्तः (उप यन्तु) प्राप्नुवन्तु (मृत्युम्) मरणम् ॥

भाषार्थ—(देवरथस्य) विजय चाहने वालों के रथ की (चतस्रः) चारों (दिशः) दिशायें (अश्वतर्यः) खच्चरी [हैं], (पुरोडाशाः) पूरी पूये (शफाः) खुर, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (उद्धिः) शरीर [बैठक]। (द्यावा-पृथिवी) सूर्य और पृथिवी (पक्षसी) दोनों पक्खे, (ऋतवः) ऋतुयें (अभी-शवः) वागडोरें, (अन्तर्देशः) अन्तर्दिशायें (किंकराः) सेवक लोग, (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) चक्र की पुट्ठी [वा हाल] है ॥ २२ ॥

भावार्थ—सब प्रकार से सावधान सेनापति शत्रुओं पर पूरा विजय पाता है ॥ २२ ॥

संवत्सरो रथः परिवत्सरो रथोपस्थो विराडीषाग्नी रथमुखम् । इन्द्रः सव्यष्ठाश्चन्द्रमाः सारथिः ॥ २३ ॥

सम्-वत्सरः । रथः । परि-वत्सरः । रथ-उपस्थः । वि-राट् । ईषा । अग्निः । रथ-मुखम् ॥ इन्द्रः । सव्य-स्थाः । चन्द्रमाः । सारथिः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(संवत्सरः) यथाविधि निवास करनेवाला काल, (रथः)

२२—(दिशः) प्राच्यादयः (चतस्रः) (अश्वतर्यः) वत्सोक्षाश्वर्षभे-भ्यश्च तनुत्वे । पा० ५ । ३ । ९१ । अश्व-ष्टरच्, ङीप् । खचर्यः (देवरथस्य) विजिगीषूणां युद्धयानस्य (पुरोडाशाः) पुरोऽग्रे दाश्यते दीयते । दाश्ट दाने-घञ् । पक्वान्नविशेषाः (शफाः) खुराः (अन्तरिक्षम्) (उद्धिः) भुवः कित् । उ० २ । ११२ । उन्दी क्लेदने—इसिन्, कित्, पृषोदरादिरूपं यथा ऊधः । शरीरम् । स्थितिस्थानम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (पक्षसी) पक्ष परिग्रहे—असुन् । रथ-पार्श्वौ (ऋतवः) वसन्तादयः कालाः (अभीशवः) अ० ६ । १३७ । २ । अश्व-रश्मयः (अन्तर्देशाः) अन्तर्दिशाः (किंकराः) किंयत्तद्बहुषु कृञोऽज् विधानम् । वा० पा० ३ । २ । २१ । किम्+डु कृञ् करणे—अच् । दासाः (वाक्) वाणी (परिरथ्यम्) रथस्येदम् । रथाद्यत् । पा० ४ । ३ । १२१ । रथ-यत् । रथचक्र-परिधिः ॥

२३—(संवत्सरः) अ० ६ । ५५ । ३ । सम्+वस—सरन् । सम्यग्

रथ, (परिवत्सरः) सब ओर से निवास करनेवाला अवकाश (रथोपस्थः) रथ, की बैठक, (विराट्) विराट् [विविध प्रकाशमान सृष्टि] (ईषा) जुये का दण्डा, (अग्निः) अग्नि (रथमुखम्) रथ का मुख [अग्रभाग] । (इन्द्रः) सूर्य (सव्यष्ठाः) बाईं ओर बैठने वाला [सारथी], (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (सारथिः) [दूसरा] सारथी [है] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २२ के समान ॥ २३ ॥

इतो जयेतो वि जय सं जय जय स्वाहा ।
इमे जयन्तु परामी जयन्तां स्वाहैभ्यो दुराहामीभ्यः ।
नीललोहितेनामूनभ्यवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

इतः । जय । इतः । वि । जय । सम् । जय । जय । स्वाहा ॥ इमे । जयन्तु । परा । अमी इति । जयन्ताम् । स्वाहा । एभ्यः । दुराहा । अमीभ्यः ॥ नील-लोहितेन । अमून् । अभि-अवतनोमि ॥ २४ ॥ (२१)

भाषार्थ—(इतः) यहां (जय) जीत, (इतः) यहां (वि जय) विजय कर, (सम् जय) पूरा पूरा जीत, (जय) जीत, (स्वाहा) यह सुवाणी है । (इमे) यह

निवासकः कालः (रथः) यानभेदः (परिवत्सरः) अ० ६ । ५५ । ३ । परि+वस-सरन् परितो निवासकोऽवकाशः (रथोपस्थः) रथे स्थितिस्थानम् (विराट्) वि+राजृ दीप्तौ—क्विप् । विराड् विराजनाद्वा विराधनाद्वा विप्रापणाद्वा—निरु० ७ । १३ । विविधं दीप्यमाना सृष्टिः (ईषा) अ० । २ । ८ । ४ । रथयुगदण्डः (अग्निः) पावकः (रथमुखम्) रथाग्रम् (इन्द्रः) सूर्यः (सव्यष्ठाः) सव्य+ष्ठा-विच् । स्थास्थिन्स्थृणामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । वामस्थः सारथिः (चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । चन्द्रलोकः (सारथिः) सर्तेर्णिच्च । उ० ४ । ८९ । सृ गतौ णिच्—अथिन्, णेर्लोपो णित्वाद् वृद्धिः । रथचालकः ॥ २४ ॥

२४—(इतः) अत्र (जय) जयं प्राप्नुहि (इतः) (वि) विविधम् (जय) (सम्) सम्यक् (जय) (जय) (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी

लोग (जयन्तु) जीतें, (अमी) वे लोग (परा जयन्ताम्) हार जावें, (एभ्यः) इन लोगों के लिये (स्वाहा) सुवाणी, (अमीभ्यः) उन लोगों के लिये (दुराहा) दुर्वाणी [हो] । (नीललोहितेन) नीलों अर्थात् निधियों की उत्पत्ति से (अमून्) उन लोगों को (अभ्यवतनोमि) गिरा कर फैलाता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—प्रतापी पराक्रमी शूर सेनापति शत्रुओं पर विजय पाकर बहुत धन प्राप्त करके अपनी सुकीर्ति और शत्रुओं की अपकीर्ति करे ॥ २४ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८ ॥ [ब्रह्मोद्यम्—ब्रह्म का व्याख्यान]

[यह दूसरा ब्रह्मोद्य सूक्त है, देखो—अथर्व का० ५ सू० १ ॥]

१—२६ ॥ प्रजापतिर्विराड् वा देवता ॥ १, ६, ७, ६–११, १३, १५, १६, १७, १६ त्रिष्टुप्; २, ३, २१ पङ्क्तिः; ४, ५, २३, २५, २६ अनुष्टुप्; ८, २२ जगती; १२, २४ भुरिक् त्रिष्टुप्; १४ अतिजगती; १८ निचृत् त्रिष्टुप्; २० भुरिक् पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

कुत॒स्तौ जा॒तौ क॑त॒मः सो अर्धः॒ कस्मा॑ल्लो॒कात् क॑त॒मस्याः॑ पृथि॒व्याः । व॒त्सौ वि॒राजः॑ सलि॒लादुदै॑तां॒ तौ त्वा॑ पृच्छामि कत॒रेण॑ दु॒ग्धा ॥ १ ॥

(इमे) अस्माकं वीराः (अमी) शत्रवः (पराजयन्ताम्) पराजीयन्ताम् । पराभूता भवन्तु (एभ्यः) शूरेभ्यः (दुराहा) दुर् + आङ् + हञ् आह्वाने, यद्वा डु दानादिषु—डा । कुवाणी । अपकीर्तिः (अमीभ्यः) शत्रुभ्यः (नीललोहितेन) अ० ४ । १७ । ४ । नीलानां निधीनां प्रादुर्भावेन । बहुधनप्राप्त्या (अमून्) शत्रून् (अभ्यवतनोमि) अभितो नीचैर्विस्तारयामि ॥

कुतः । तौ । जातौ । कतमः । सः । अर्धः । कस्मात् । लोकात् । कतमस्याः । पृथिव्याः ॥ वत्सौ । वि-राजः । सलिलात् । उत् । ऐताम् । तौ । त्वा । पृच्छामि । कतरेण । दुग्धा ॥१॥

भाषार्थ—(कुतः) कहां से (तौ) वे दोनों [ईश्वर और जीव] (जातौ) प्रकट हुये हैं, (कतमः) [बहुतों में से] कौन सा (सः) वह (अर्धः) ऋद्धि वाला है, (कस्मात् लोकात्) कौन से लोक से और (कतमस्याः) [बहुतसियों में से] कौन सी (पृथिव्याः) पृथिवी से (विराजः) विविध ऐश्वर्यवाली [ईश्वर शक्ति, सूक्ष्म प्रकृति] के (वत्सौ) बताने वाले (सलिलात्) व्याप्ति वाले [समुद्ररूप अगम्य दशा] से (उत् ऐताम्) वे दोनो उदय हुये हैं, (तौ) उन दोनों को (त्वा) तुझ से (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, वह [विराट्] (कतरेण) [दो के बीच] कौन से करके (दुग्धा) पूर्ण की गई है ॥ १ ॥

भावार्थ—ईश्वर और जीव अपने सामर्थ्य से सब लोकों और सब कालों में व्याप्त हैं, उन्हीं दोनों से प्रकृति के विविध कर्म प्रकट होते हैं, ईश्वर महा ऋद्धिमान् है और वही प्रकृति को संयोग वियोग आदि चेष्टा देता है ॥१॥

१—(कुतः) कस्मात् स्थानात् (तौ) ईश्वरजीवौ (जातौ) प्रादुर्भूतौ (कतमः) वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने डतमच्। पा० ५ । ३ । ९३ । किम्—डतमच्। बहूनां मध्ये कः (सः) ईश्वरः (अर्धः) ऋधु वृद्धौ-घञ्। प्रवृद्धः । ऋद्धिमान् (कस्मात्) (लोकात्) भुवनात् (कतमस्याः) कतम-टाप्। बह्वीनां मध्ये कस्याः (पृथिव्याः) भूलोकात् (वत्सौ) वृतृवदिवचिवसि०। उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि, वा वस निवासे आच्छादने च-सप्रत्ययः । वदितारौ । व्याख्यातारौ (विराजः) सत्सूद्विषद्रुहदुह० । पा० ३ । २ । ६१ । वि+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च-क्विप्। विविधैश्वर्यायाः । ईश्वरशक्तेः । प्रकृतेः (सलिलात्) सलिकल्यनिमहि०। उ० १ । ५४ । षल गतौ-इलच् । व्यापनस्वभावात् । समुद्ररूपात् । अगम्यविधानात् (उदैताम्) इण् गतौ—लङ् । उदगच्छताम् (तौ) ईश्वरजीवौ (त्वा) विद्वांसम् (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (कतरेण) किंयत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरच्। पा० ५ । ३ । ९२ । किम्—डतरच्। ईश्वरजीवयोर्मध्ये केन (दुग्धा) प्रपूरिता सा विराट् ॥

यो अक्रन्दयत् सलिलं महित्वा योनिं कृत्वा त्रिभुजं शयानः। वत्सः कामदुघो विराजः स गुहा चक्रे तन्वः पराचैः ॥ २ ॥

यः। अक्रन्दयत्। सलिलम्। महि-त्वा। योनिम्। कृत्वा। त्रि-भुजम्। शयानः॥ वत्सः। काम-दुघः। वि-राजः। सः। गुहा। चक्रे। तन्वः। पराचैः॥ २॥

भाषार्थ—(त्रिभुजम्) तीन भुजा वाला, [ऊंचे नीचे और मध्यलोकरूप] (योनिम्) घर (कृत्वा) बनाकर (यः शयानः) जिस सोते हुये ने (महित्वा) अपनी महिमा से (सलिलम्) व्याप्ति वाले [अगम्य देश] को (अक्रन्दयत) पुकारा। (सः) उस (कामदुघः) कामना पूरक, (वत्सः) बोलने वाले [परमेश्वर] ने (विराजः) विविध ईश्वरी [प्रकृति] की (गुहा) गुहा में [अपने] (तन्वः) विस्तारों को (पराचैः) दूर दूर तक (चक्रे) किया ॥ २॥

भावार्थ—परमात्मा ने प्रलय, सृष्टि और अवसान में विराजमान होकर अपनी अगम्य शक्तिद्वारा प्रकृति में चेष्टा देकर विविध संसार रचा है ॥ २ ॥

यानि त्रीणि बृहन्ति येषां चतुर्थं वियुनक्ति वाचम्। ब्रह्मैनद् विद्यात् तपसा विपश्चिद् यस्मिन्नेकं युज्यते यस्मिन्नेकम् ॥ ३ ॥

यानि। त्रीणि। बृहन्ति। येषाम्। चतुर्थम्। वि-युनक्ति। वाचम्॥

२—(यः) परमेश्वरः (अक्रन्दयत्) क्रदि आह्वाने रोदने च-लङ्। आहूतवान् (सलिलम्) म० १। व्यापनस्वभावम्। अगम्यदेशम् (महित्वा) महत्त्वेन (योनिम्) गृहम्—निघ० ३।४। (कृत्वा) रचयित्वा (त्रिभुजम्) उच्चनीचमध्यलोकत्रयरूपभुजयुक्तम् (शयानः) शयनं गतः (वत्सः) म० १ वदिता (कामदुघः) दुह प्रपूरणे—कप्। अ० ४।३४।८। अभीष्टपूरकः (विराजः) म० १। विविधेश्वर्याः। प्रकृतेः (सः) ईश्वरः (गुहा) गुहायाम्। हृदये (चक्रे) कृतवान् (तन्वः) तनूः। विस्तृतीः (पराचैः) दूरदूरम्॥

ब्रुह्मा । एनत् । विद्यात् । तपसा । विपः-चित् । यस्मिन् । एकम् । युज्यते । यस्मिन् । एकम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यानि) जो (त्रीणि) तीन [सत्त्व, रज और तम] (बृहन्ति) बड़े बड़े हैं, (येषाम्) जिन में (चतुर्थम्) चौथा [ब्रह्म] (वाचम्) वाणी (वियुनक्ति) विलगाता है। (विपश्चित्) बुद्धिमान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदवेत्ता ब्राह्मण] (एनत्) इस [ब्रह्म] को (तपसा) तप से (विद्यात्) जाने, (यस्मिन्) जिस [तप] में (एकम्) एक [ब्रह्म] (यस्मिन्) जिस [तप] में (एकम्) एक [ब्रह्म] (युज्यते) ध्यान किया जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने तीनों गुणों द्वारा सृष्टि रची है और जिस ने वेद द्वारा सब उपदेश किया है, उस परमात्मा का ज्ञान अनन्यध्यानी योगी को ही तप द्वारा होता है ॥ ३ ॥

बृहुतः परि सामानि षुष्ठात् पञ्चाधि निर्मिता ।
बृहद् बृहुत्या निर्मितुं कुतोऽधि बृहुती मिता ॥ ४ ॥

बृहुतः । परि । सामानि । षुष्ठात् । पञ्च । अधि । निः-मिता ॥ बृहत् । बृहुत्याः । निः-मितम् । कुतः । अधि । बृहुती । मिता ४

भाषार्थ—(षष्ठात्) छठे (बृहतः) बड़े [ब्रह्म] से (पञ्च) पांच (सामानि) कर्म समाप्त करनेवाले [पांच पृथिवी आदि भूत] (परि) सब

३—(यानि) (त्रीणि) सत्त्वरजस्तमांसि (बृहन्ति) प्रवृद्धानि (येषाम्) त्रयाणां मध्ये (चतुर्थम्) तुरीयं शुद्धं ब्रह्म (वियुनक्ति) वियोजयति। प्रकटयति (वाचम्) वाणीम् (ब्रह्मा) अ० २ । ७ । वेदवेत्ता विप्रः । योगिजनः (एनत्) निर्दिष्टं ब्रह्म (विद्यात्) जानीयात् (तपसा) ब्रह्मचर्यादिव्रतेन (विपश्चित्) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधावी—निघ० ३ । १५ । (यस्मिन्) तपसि (एकम्) ब्रह्म (युज्यते) समाधीयते (यस्मिन्) (एकम्) द्विर्वचनं वीप्सायाम् ॥

४—(बृहतः) प्रवृद्धाद् ब्रह्मणः (परि) सर्वतः (सामानि) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ । उ० ४ । १५३ । षो अन्तकर्मणि-मनिन् । कर्म समापकानि पृथि-

और (अधि) अधिकार पूर्वक (निर्मिता) बने हैं। (बृहत्) बड़ा [जगत्] (बृहत्याः) बड़ी [विराट्, प्रकृति] से (निर्मितम्) बना है, (कुतः) कहां से (अधि) फिर (बृहती) बड़ी [प्रकृति] (मिता) बनी है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पृथिवी, जल तेज, वायु और आकाश इन पांच तत्त्वों की अपेक्षा जो छठा ब्रह्म है, उससे वे पञ्चभूत प्रकट हुये हैं और उसी की शक्ति से यह जगत् बना है और उसी शक्तिमान् से वह शक्ति उत्पन्न हुई है ॥ ४ ॥

बृहती परि मात्राया मातुर्मात्राधि निर्मिता ।
माया ह जज्ञे मायाया मायाया मातली परि ॥ ५ ॥

बृहती । परि । मात्रायाः । मातुः । मात्रा । अधि । निःऽमिता ॥
माया । ह । जज्ञे । मायायाः । मायायाः । मातली । परि ॥५॥

भाषार्थ—(बृहती) स्थूल सृष्टि (मात्रायाः) तन्मात्रा से (परि) सब प्रकार और (मातुः) निर्माता [परमेश्वर] से (अधि) ही (मात्रा) तन्मात्रा (निर्मिता) बनी है। (माया) बुद्धि (ह) निश्चय करके (मायायाः) बुद्धि रूप परमेश्वर से और (मायायाः) प्रज्ञारूप परमेश्वर से (मातली) इन्द्र [जीव] का रथवान् [अहंकार वा मन] (परि) सब प्रकार (जज्ञे) उत्पन्न हुआ ॥ ५ ॥

व्यादिभूतानि (षष्ठात्) (पञ्च) पञ्चसंख्याकानि (अधि) अधिकारे (निर्मिता) रचितानि (बृहत्) प्रवृद्धं जगत् (बृहत्याः) प्रवृद्धायाः विराडाख्यायाः प्रकृतेः सकाशात् (निर्मितम्) रचितम् (कुतः) कस्मात् (अधि) (पुनः) (बृहती) महती विराट् (मिता) रचिता ॥

५—(बृहती) स्थूला सृष्टिः (परि) सर्वतः (मात्रायाः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । माङ् माने—त्रन् । मीयन्तेऽनया विषयाः । तस्याः तन्मात्रायाः सकाशात् (मातुः) निर्मातुः परमेश्वरात् (मात्रा) तन्मात्रा (अधि) एव (निर्मिता) रचिता (माया) माछाससिभ्यो यः । उ० ४ । १०८ । मा शब्दे माने च—य, टाप् । प्रज्ञा-निघ० ३ । ६ । (ह) एव (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (मायायाः) बुद्धिरूपात् परमेश्वरात् (मायायाः) (मातली) मतं ज्ञानं लाति गृह्णातीति मतल इन्द्रो जीवः । मत+ला-क । मतलस्यायं पुमान् । अत इञ् । पा० ४ । १ । ९५ । मतल-इञ् । सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णा । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मातलिः । इन्द्रसारथिः । मनः यथा यजु० ३४ । ६ । (परि) सर्वतः ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से स्थूल और सूक्ष्म जगत्, और इन्द्र, अर्थात्, जीव का रथवान् मन भी उत्पन्न हुआ है ॥ ५ ॥

मन को अन्यत्र भी रथवान् सा माना है—यजु० ३४ । ६ ॥

सुषारथिरश्वानिव यन्मनुष्यान्नेनीयतेऽभीशुभिर्वाजिन इव ।
हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु ॥

जो [मन] मनुष्यों को [इन्द्रियों के द्वारा] लगातार लिये लिये फिरता है, जैसे चतुर रथवान् वेगवाले घोड़ों को वागडोर से; जो हृदय में ठहरा हुआ, सब का चलाने हारा, बड़ाही वेगवाला है वह मेरा मन मङ्गल विचार युक्त हो ॥

वैश्वानरस्य प्रतिमोपरि द्यौर्यावद् रोदसी विबबाधे अग्निः । ततः षष्ठादामुतो यन्ति स्तोमा उदितो यन्त्यभि षष्ठमह्नः ॥ ६ ॥

वैश्वानरस्य । प्रति-मा । उपरि । द्यौः । यावत् । रोदसी इति । वि-बबाधे । अग्निः ॥ ततः । षष्ठात् । आ । अमुतः । यन्ति । स्तोमाः । उत् । इतः । यन्ति । अभि । षष्ठम् । अह्नः ॥ ६ ॥

भावार्थ—(उपरि) ऊपर विराजमान (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी [परमेश्वर] की (प्रतिमा) प्रतिमा [आकृति समान] (द्यौः) आकाश है, (यावत्) जितना कि (अग्निः) अग्नि [सर्वव्यापक परमेश्वर] ने (रोदसी) सूर्य और पृथिवी लोक को (विबबाधे) अलग अलग रोका है। (ततः) उसी के कारण (अमुतः) उस (षष्ठात्) छठे [परमेश्वर म० ४] से (अह्नः) दिन [प्रकाश] के (स्तोमाः) स्तुति योग्य गुण [सृष्टि काल में]

६—(वैश्वानरस्य) अ० १ । १० । १४ । सर्वनरहितस्य (प्रतिमा) अ० ३ । १० । ३ । आकृतिवत् (उपरि) सर्वोपरि विराजमानस्य (द्यौः) आकाशः (यावत्) यत्परिमाणम् (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । द्यावापृथिव्यौ (विबबाधे) पृथग् रुरुधे (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (ततः) तस्मात् कारणात् (षष्ठात्) म० ४ । पञ्चभूतापेक्षया षष्ठात्परमेश्वरात् (अमुतः) पूर्वोक्तात् (आ

(आ यन्ति) आते हैं, और (इतः) यहां से (षष्ठम् अभि) छठे [परमेश्वर] की ओर [प्रलय समय] (उत् यन्ति) ऊपर जाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—आकाश समान सर्वव्यापक और पञ्चभूतों की अपेक्षा छठे [म० ४] परमेश्वर ने सूर्य पृथिवी आदि लोकों को प्राणियों के उपकार के लिये अलग अलग किया है, उसकेही सामर्थ्य से प्रकाश आदि प्रकट और लुप्त होते हैं ॥६॥

परमेश्वर आकाश समान व्यापक है जैसा कि यजुर्वेद–४० । १७ । का वचन है [ओ३म् खं ब्रह्म] सब का रक्षक ब्रह्म आकाश [के तुल्य व्यापक है]॥

षट् त्वा पृच्छाम ऋषयः कश्यपे॒मे त्वं हि युक्तं युयु॒क्षे योग्यं॑ च। विराजमाहुर्ब्रह्मणः पितरं॒ तां नो॒ वि धे॑हि यति॒धा सखि॑भ्यः ॥ ७ ॥

षट् । त्वा । पृच्छाम । ऋषयः । कश्यप । इमे । त्वम् । हि । युक्तम् । युयुक्षे । योग्यम् । च ॥ वि-राजम् । आहुः । ब्रह्मणः । पितरम् । ताम् । नः । वि । धेहि । यति-धा । सखि-भ्यः ॥७॥

भाषार्थ—(कश्यप) हे दृष्टिमान् विद्वन् ! (त्वम्) तू ने (हि) ही (युक्तम्) ध्यान किये हुये (च) और (योग्यम्) ध्यान योग्य [पदार्थ] को (युयुक्षे) ध्यान किया है, (त्वा) तुझ से (पृच्छाम) हम पूंछें, (इमे) ये (षट्) छह (ऋषयः) ऋषि अर्थात् इन्द्रियां [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और मन] (ब्रह्मणः) ब्रह्म की (विराजम्) विविधेश्वरी शक्ति को (पितरम्=

यन्ति) आगच्छन्ति (स्तोमाः) स्तुत्यगुणाः (उद्यन्ति) उद्गच्छन्ति (इतः) अस्माल्लोकात् (अभि) प्रति (षष्ठम्) ब्रह्म (अह्नः) दिनस्य । प्रकाशस्य ॥

७—(षट्) षट्संख्याकाः (त्वा) त्वाम् (पृच्छाम) प्रश्नेन निश्चिनवाम (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ६ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । इति वचनात्, त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनांसीन्द्रियाणि (कश्यप) अ० १ । १४ । ४ । पश्यक विद्वन् (त्वम्) (हि) अवश्यम् (युक्तम्) समाहितम् (युयुक्षे) युज समाधौ—लिट् । त्वं समाहितवानसि (योग्यम्) ध्यातव्यम् (च) (विराजम्) म० १ । महेश्वरीं शक्तिम् (आहुः) कथयन्ति (ब्रह्मणः)

अपितरम्) निश्चय करके (आहुः) बताते हैं, (ताम्) उसे (सखिभ्यः नः) हम मित्रों को, (यतिधा) जितने प्रकार हो, (वि धेहि) विधान कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—भूत भविष्यत् के विचारवान् विद्वान् आचार्य और शिष्य इन्द्रिय आदि पदार्थों की रचना देखकर, परब्रह्म की शक्ति विचार कर सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेवें ॥ ७ ॥

यां प्रच्युतामनु यज्ञाः प्रच्यवन्त उपतिष्ठन्त उपतिष्ठमानाम्। यस्या व्रते प्रसवे यक्षमेजति सा विराड्ऋषयः परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

याम्। प्र-च्युताम्। अनु। यज्ञाः। प्र-च्यवन्ते। उप-तिष्ठन्ते। उप-तिष्ठमानाम् ॥ यस्याः। व्रते। प्र-सवे। यक्षम्। एजति। सा। वि-राट्। ऋषयः। परमे। वि-ओमन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(याम् प्रच्युताम् अनु) जिस आगे बढ़ी हुई के पीछे (यज्ञाः) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार, सृष्टि समय में] (प्रच्यवन्ते) आगे बढ़ते हैं, (उपतिष्ठमानाम्) ठहरती हुई के [पीछे, प्रलय में] (उपतिष्ठन्ते) ठहर जाते हैं। (यस्याः) जिस [शक्ति] के (व्रते) नियम और (प्रसवे) बड़े ऐश्वर्य में (यक्षम्) संगति योग्य जगत् (एजति) चेष्टा करता है, (ऋषयः) हे ऋषि लोगो ! (सा) वह (विराट्) विविधेश्वरी (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) विविध रक्षक परमेश्वर में है ॥ ८ ॥

परमेश्वरस्य (पितरम्) अल्लोपः। अपितरम्। निश्चयेन (ताम्) विराजम् (नः) अस्मभ्यम् (वि धेहि) विधानेन कथय (यतिधा) यत्प्रकारेण (सखिभ्यः) मित्रेभ्यः ॥

८—(याम्) विराजम् (प्रच्युताम्) अग्रेगताम् (अनु) अनुसृत्य (यज्ञाः) संयोगवियोगव्यवहाराः (प्रच्यवन्ते) प्रकर्षेण गच्छन्ति (उपतिष्ठन्ते) स्थितिं प्राप्नुवन्ति (उपतिष्ठमानाम्) स्थितिं गच्छन्तीम्, अनु इति-शेषः (यस्याः) विराजः (व्रते) नियमे (प्रसवे) प्रकृष्टैश्वर्ये (यक्षम्) वृतॄवदिवचि०। उ० ३। ६२। यज संगतिकरणे-सप्रत्ययः। संगन्तव्यं जगत् (एजति) चेष्टते (सा) (विराट्) म० १। महेश्वरी (ऋषयः) हे साक्षात्कृत-

भावार्थ—जो परमेश्वरशक्ति जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय का कारण है, उसका ऋषि लोग ध्यान करते हैं ॥ ८ ॥

अप्राणैति प्राणेन प्राणतीनां विराट् स्वराजमभ्येति पश्चात्। विश्वं मृशन्तीमभिरूपां विराजं पश्यन्ति त्वे न त्वे पश्यन्त्येनाम् ॥ ९ ॥

अप्राणा। एति। प्राणेन। प्राणतीनाम्। वि-राट्। स्व-राजम्। अभि। एति। पश्चात् ॥ विश्वम्। मृशन्तीम्। अभि-रूपाम्। वि-राजम्। पश्यन्ति। त्वे इति। न। त्वे इति। पश्यन्ति। एनाम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अप्राणा) न श्वास लेने वाली (विराट्) विराट् [विविधेश्वरी] (प्राणतीनाम्) श्वास लेने वाली [प्रजाओं] के (प्राणेन) श्वास के साथ (एति) चलती है और (पश्चात्) फिर (स्वराजम् अभि) स्वराट् [स्वयं राजा, परमेश्वर] की ओर (एति) जाती है। (विश्वम्) जगत् को (मृशन्तीम्) छूती हुई (अभि रूपाम्) मनोहर (विराजम्) विराट् [महेश्वरी] को (त्वे) कोई कोई (पश्यन्ति) देखते हैं और (त्वे) कोई कोई (एनाम्) इस [महेश्वरी] को (न) नहीं (पश्यन्ति) देखते हैं ॥ ६ ॥

धर्म्माणः (परमे) परमोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५। १७। ६। वि + अव—रक्षणे मनिन्। विविधरक्षके परमात्मनि ॥

६—(अप्राणा) नास्ति प्राणः श्वासग्रहणावकाशो यस्याः सा। निरन्तरं चेष्टायमाना। निरलसा (प्राणेन) श्वासेन (प्राणतीनाम्) प्रश्वसन्तीनां प्रजानाम् (विराट्) म० १। ईश्वरशक्तिः (स्वराजम्) राजृ—क्विप्। स्वयं राजानं परमेश्वरम् (अभि) प्रति (एति) (पश्चात्) पुनः (विश्वम्) जगत् (मृशन्तीम्) स्पृशन्तीम् (अभिरूपाम्) मनोहराम् (विराजम्) महेश्वरीम् (पश्यन्ति) साक्षात्कुर्वन्ति (त्वे) सर्वनिघृष्वरिष्व:० । उ० १। १५३। तनोतेः—वन्, टिलोपो निपात्यते। त्व इति विनिग्रहार्थीयं सर्वनामानुदात्तमर्धनामेत्येके-निरु० १। ७। एके विद्वांसः (न) निषेधे (त्वे) अन्ये मूढाः (पश्यन्ति) (एनाम्) विराजम् ॥

भावार्थ—निरन्तर व्यापिनी ईश्वर शक्ति को सूक्ष्मदर्शी पुरुष साक्षात् करते हैं, अज्ञानी उसको नहीं जानते ॥ ९ ॥

को विराजो मिथुनत्वं प्र वेद क ऋतून् क उ कल्पमस्याः । क्रमान् को अस्याः कतिधा विदुग्धान् को अस्या धाम कतिधा व्युष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

कः । वि-राजः । मिथुन-त्वम् । प्र । वेद । कः । ऋतून् । कः । ऊं इति । कल्पम् । अस्याः ॥ क्रमान् । कः । अस्याः । कति-धा । वि-दुग्धान् । कः । अस्याः । धाम । कति-धा । वि-उष्टीः ॥ १० ॥ (२२)

भाषार्थ—(कः) कौन पुरुष (विराजः) विराट् की [विविधेश्वरी ईश्वर शक्ति की] (मिथुनत्वम्) बुद्धिमत्ता (प्र) भले प्रकार (वेद) जानता है, (कः) कौन (अस्याः) इस [विराट्] के (ऋतून्) ऋतुओं [नियत कालों] को, और (कः) कौन (उ) ही (कल्पम्) सामर्थ्य को । (कः) कौन (अस्याः) इसके (कतिधा) कितने ही प्रकार से (विदुग्धान्) पूर्ण किये हुये (क्रमान्) क्रमों [विधानों] को, (कः) कौन (अस्याः) इसके (धाम) घर को और (कतिधा) कितने ही प्रकार की (व्युष्टीः) समृद्धियों को [जानता है] ॥ १० ॥

भावार्थ—दूरदर्शी, विवेकी जन परमात्मा की शक्ति के विविध स्वभावों को जानते हैं ॥ १० ॥

१०—(कः) (विराजः) म० १ । विविधेश्वर्याः (मिथुनत्वम्) क्षुधि-पिशिमिथिभ्यः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथ वधे मेधायां च—उनन्, भावे त्व । बुद्धिमत्त्वम् (प्र) प्रकर्षेण (वेद) जानाति (ऋतून्) वसन्तादितुल्यनियत-कालान् (कः) (उ) एव (कल्पम्) कृपू सामर्थ्ये—अच् घञ् वा । सामर्थ्यम् (अस्याः) पूर्वोक्तायाः (क्रमान्) विधानानि (कः) (अस्याः) (कतिधा) कतिप्रकारेण । बहुप्रकारेण (विदुग्धान्) विविधपूरितान् (कः) (अस्याः) (धाम) गृहम् (कतिधा) (व्युष्टीः) वि + वस निवासे, आच्छादने प्रीतौ च, उष दाहे, वश कान्तौ वा—क्तिन् । समृद्धीः । प्रकाशान् । स्तुतीः ॥

इयमे॒व सा या प्र॑थ॒मा व्यौच्छ॑द्ास्वित॑रासु चरति॒ प्रवि॑ष्टा । म॒हान्तौ॑ अस्यां मंहि॒मानौ॑ अ॒न्तर्व॒धूर्जि॑गाय नव॒गज्जनि॑त्री ॥ ११ ॥

इ॒यम् । ए॒व । सा । या । प्र॒थ॒मा । वि-औच्छ॑त् । आसु॑ । इत॑रासु । च॒र॒ति॒ । प्र-वि॑ष्टा ॥ म॒हान्त॑ः । अ॒स्याम् । म॒हि॒मान॑ः । अ॒न्तः । व॒धूः । जि॒गा॒य॒ । न॒व॒-गत् । जनि॑त्री ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इयम् एव) यही (सा) वह ईश्वरी, [विराट्, ईश्वर शक्ति] है, (या) जो (प्रथमा) प्रथम (व्यौच्छत्) प्रकाशमान हुई है, और (आसु) इन सब और (इतरासु) दूसरी [सृष्टियों] में (प्रविष्टा) प्रविष्ट होकर (चरति) विचरती है। (अस्याम् अन्तः) इसके भीतर (महान्तः) बड़ी बड़ी (महिमानः) महिमायें हैं, उस (नवगत्) नवीन नवीन गति वाली (वधूः) प्राप्ति योग्य (जनित्री) जननी ने [अनर्थों को] (जिगाय) जीत लिया है। ११

भावार्थ—ईश्वर शक्ति की महिमाओं को अनुभव करके विद्वान् लोग विघ्नों का नाश करते हैं ॥ ११ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ३। १०। ४॥

छन्द॑ः पक्षे उ॒षसा॒ पेपि॑शाने स॒मानं॒ योनि॒मनु॒ सं च॑रेते । सूर्य॑पत्नी॒ सं च॑रतः प्रजान॒ती के॑तु॒मती॑ अ॒जरे॒ भूरि॑रेतसा १२

छन्द॑ःपक्षे॒ इति॒ छन्द॑ः-पक्षे॒ । उ॒षसा॑ । पेपि॑शाने॒ इति॑ । स॒मा॒नम् । योनि॑म् । अनु॑ । सम् । च॒रे॒ते॒ इति॑ ॥ सूर्य॑पत्नी॒ इति॒ सूर्य॑-पत्नी । सम् । च॒र॒तः॒ । प्र॒जा॒न॒ती इति॑ प्र॒-जा॒न॒ती । के॒तु॒मती॑ इति॑ के॒तु॒-मती॑ । अ॒जरे॒ इति॑ । भूरि॑-रेतसा ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(उषसा) उषा [प्रभात वेला] के साथ (पेपिशाने) अत्यन्त

११—(इयम्) परिदृश्यमाना विराट् (एव) (सा) ईश्वरी (या) विराट्। अन्यत् पूर्ववत्—अ० ३। १०। ४॥

१२—(छन्दःपक्षे) छदि संवरणे—असुन्+पक्ष परिग्रहे—अच्। स्वेच्छाया

सुवर्ण वा रूप करती हुई, (छन्दःपक्षे) स्वतन्त्रता का ग्रहण करती हुईं दोनों (समानम्) एक (योनिम् अनु) घर [परमेश्वर] के पीछे पीछे (सम् चरेते) मिलकर चलती हैं। (प्रजानती) [मार्ग] जानती हुई, (केतुमती) झण्डा रखती हुई [जैसे], (अजरे) शीघ्र चलने वाली, (भूरिरेतसा) बड़ी सामर्थ्य वाली, (सूर्यपत्नी) सूर्य की दोनों पत्नियां [रात्रि और प्रभात वेलायें] (सम् चरतः) मिलकर विचरती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—उसी विराट् की महिमा से रात्रि और दिन विविध प्रकार संसार का उपकार करते हैं ॥ १२ ॥

ऋ॒तस्य॒ पन्था॒मनु॑ ति॒स्र आगु॒स्त्रयो॑ घ॒र्मा अनु॒ रेत॒ आगुः॑।
प्र॒जामेका॒ जिन्व॒त्यूर्ज॒मेका॑ रा॒ष्ट्रमेका॑ रक्षति देव॒यूनाम् १३

ऋ॒तस्य॑ । पन्था॑म् । अनु॑ । ति॒स्रः । आ । अ॒गुः॒ । त्रयः॑ । घ॒र्माः । अनु॑ । रेतः॑ । आ । अ॒गुः॒ । प्र॒ऽजाम् । एका॑ । जिन्व॑ति । ऊर्ज॑म् । एका॑ । रा॒ष्ट्रम् । एका॑ । र॒क्ष॒ति॒ । दे॒व॒ऽयू॒नाम्॥१३

भाषार्थ—(तिस्रः) तीन [देवियां अर्थात् १—इडा स्तुतियोग्य भूमि वा नीति, २—सरस्वती प्रशस्त विज्ञान वाली विद्या वा बुद्धि, ३—और भारती पोषण करने वाली शक्ति वा विद्या] (ऋतस्य) सत्य शास्त्र के (पन्थाम् अनु) पथ पर (आ अगुः) चलती आयी हैं और (त्रयः) तीन (घर्माः) सींचने वाले

अदीन्यौ (उषसा) प्रभातवेलया सह (पेपिशाने) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश्। पा० ३। २। १२६। पिश अवयवे प्रकाशे-च, यङ्लुकि-चानश्। पेशो हिरण्यनाम-निघ० १। २, रूपनाम-निघ० ३। ७। अत्यन्तं पेशो हिरण्यं रूपं वा कुर्वाणे (समानम्) सामान्यम् (योनिम्) गृहम्। परमेश्वरम् (अनु) अनुसृत्य (सम् चरेते) समस्तृतीयायुक्तात्। पा० १। ३। ५४। आत्मने पदम्। मिलित्वा चरतः (सूर्यपत्नी) सूर्यस्य पत्न्यौ यथा रात्रिप्रभातवेले (सम्) सम्यक् (चरतः) विचरतः (प्रजानती) मार्गं ज्ञात्र्यौ (केतुमती) पताकावत्यौ तथा (अजरे) अजराः क्षिप्रनाम-निघ० २। १५। क्षिप्रगामिन्यौ (भूरिरेतसा) बहुवीर्यवत्यौ॥

१३—(ऋतस्य) सत्यशास्त्रस्य, वेदस्य (पन्थाम्) पन्थानम् (अनु) अनुसृत्य (तिस्रः) तिस्रो देव्यः, इडासरस्वतीभारत्यः—अ० ५। ३। ७। तथा ५। १२। ८। (आ अगुः) आगतवत्यः (त्रयः) देवपूजासंगतिकरणदानरूपाः

यज्ञ [अर्थात् देवपूजा, संगतिकरण और दान] (रेतः अनु) वीरता के साथ साथ (आ अगुः) चलते आये हैं। (एका) एक [इड़ा] (प्रजाम्) प्रजा को (एका) एक [सरस्वती] (ऊर्जम्) पुरुषार्थ वा अन्न को (जिन्वति) भरपूर करती है; (एका) एक [भारती] (देवयूनाम्) दिव्यगुण प्राप्त करने वाले [धर्म्मात्माओं] के (राष्ट्रम्) राज्य की (रक्षति) रक्षा । करती है ॥ १३ ॥

भावार्थ—धर्म्मात्मा पुरुषार्थी पुरुष वेद मार्ग पर चल कर पुरुषार्थ पूर्वक प्रजा और राज्य की रक्षा करते हैं ॥ १३ ॥

तीन देवियों के विषय में देखो—अ० ५ । ३ । ७ । और ५ । १२ । ८ ॥

अ॒ग्नी॒षोमा॑वदधु॒र्या तु॒रीयासी॑द् य॒ज्ञस्य॑ प॒क्षावृष॑यः क॒ल्पय॑न्तः । गा॒य॒त्रीं त्रि॒ष्टुभं॒ जग॑तीमनु॒ष्टुभं॑ बृ॒हद॒र्कीं यज॑मानाय॒ स्व॒रा॒भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥

अ॒ग्नी॒षोमौ॑ । अ॒द॒धुः॒ । या । तु॒रीया॑ । आसी॑त् । य॒ज्ञस्य॑ । प॒क्षौ । ऋष॑यः । क॒ल्पय॑न्तः ॥ गा॒य॒त्रीम् । त्रि॒-स्तुभ॑म् । जग॑तीम् । अ॒नु॒-स्तुभ॑म् । बृ॒ह॒त्-अ॒र्कीम् । यज॑मानाय । स्वः॑ । आ॒-भर॑न्तीम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यज्ञस्य) यज्ञ [रसों के संयोग वियोग] के (पक्षौ) ग्रहण करने वाले (अग्नीषोमौ) सूर्य और चन्द्रमा [के समान] (ऋषयः) ऋषि लोगों ने, (या) जो [वेद वाणी] (तुरीया) वेगवती वा ब्रह्म की [जो सत्व,

---

(घर्माः) सेचकव्यवहारा यज्ञाः—निघ० ३ । १७ । (अनु) अनुलक्ष्य (रेतः) वीर्यम् । पुरुषार्थम् (आ अगुः) आगतवन्तः (प्रजाम्) सन्तानभृत्यादिरूपाम् (एका) इडा (जिन्वति) तर्पयति (ऊर्जम्) ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । पुरुषार्थम् । अन्नम्—निघ० २ । ७ । (एका) सरस्वती (राष्ट्रम्) राज्यम् (एका) भारती (रक्षति) पाति (देवयूनाम्) अ० ४ । २१ । २ । दिव्यगुणप्रापकानाम् । धर्मात्मनाम् ॥

१४—(अग्नीषोमौ) सूर्यचन्द्रौ यथा (अदधुः) धारितवन्तः (या) अनुष्टुप् वाक् (तुरीया) वच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । तुर—छः, तत्र भव

रज और तम तीन गुणों से परे चौथा है] (आसीत्) थी, (यजमानाय) यजमान के लिये (स्वः) मोक्ष सुख (आभरन्तीम्) भर देने वाली [उस] (गायत्रीम्) गाने योग्य, (त्रिष्टुभम्) [कर्म, उपासना और ज्ञान इन] तीन से पूजी गयी, (जगतीम्) प्राप्ति योग्य, (बृहदर्कीम्) बड़े सत्कार वाली (अनुष्टुभम्) निरन्तर स्तुति योग्य [विराट् वा वेदवाणी] को (कल्पयन्तः) समर्थन करते हुये (अदधुः) धारण किया है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ऋषि महात्माओं ने यथावत् नियम पर चलकर वेदवाणी को ग्रहण किया है, उसी प्रकार सब मनुष्य वेदवाणी को स्वीकार कर के मोक्षपद प्राप्त करें ॥ १४ ॥

पञ्च व्युष्टीरनु पञ्च दोहा गां पञ्चनाम्नीमृतवोनु

इत्यर्थे । तुरे वेगे भवा । वेगवती । यद्वा चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च । वा० पा० ५ । २ । ५१ । चतुर्—छ, चलोपः । सत्त्वरजस्तमोगुणत्रयपरं तुरीयं चतुर्थं ब्रह्म । अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । तुरीय—अच्, टाप् । ब्रह्मसम्बन्धिनी (आसीत्) (यज्ञस्य) रसानां संयोगवियोगस्य (पद्यौ) ग्रहीतारौ (ऋषयः) मुनयः (कल्पयन्तः) कृपू सामर्थ्ये—णिचि—शतृ । समर्थयन्तः (गायत्रीम्) अ० ३ । ३ । २ । अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् । उ० ३ । १०५ । गै गाने-अत्रन्, ङीप् । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । गानयोग्याम् (त्रिष्टुभम्) अ० ६ । ४८ । ३ । त्रि + ष्टुभ पूजायाम्-क्विप् । स्तोभतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । त्रिष्टुप् स्तोभत्युत्तरपदा, का तु त्रिता स्यात् तीर्णतमं छन्दस्त्रिवृद्वज्रस्तस्य स्तोभतीति वा, यत् त्रिरस्तोभत् तत् त्रिष्टुभस्त्रिष्टुप्त्वमिति विज्ञायते—निरु० ७ । १२ । त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता (जगतीम्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । गम्लृ गतौ—अति, ङीप् । जगती गोनाम—निघ० २ । ११ । जगती गततमं छन्दो जलचरगतिर्वा जल्गल्यमानोऽसृजदिति च ब्राह्मणम्—निघ० ७ । १३ । गम्यमानाम् । प्राप्तव्याम् (अनुष्टुभम्) अनु + ष्टुभ्—क्विप् । स्तोभतिरर्चतकर्मा—निघ० ३ । १४ । अनुष्टुबनुष्टोभनात्—निरु० ७ । १२ । वाचम्—निघ० १ । ११ । निरन्तरस्तुत्यां विराजं वेदवाचं वा (बृहदर्कीम्) बहुपूजावतीम् (यजमानाय) याजकाय (स्वः) मोक्षसुखम (आभरन्तीम्) समन्तात् पोषयन्तीम् ॥

पञ्च॑। पञ्च॒ दिशः॑ पञ्च॒दशेन॒ क्लृप्तास्ता एक॑मूर्ध्नीर॒भि लो॒कमेक॑म् ॥ १५ ॥

पञ्च॑ । वि-उ॒ष्टीः । अनु॑ । पञ्च॑ । दोहाः॑ । गाम् । पञ्च॑-नाम्नीम् । ऋ॒तवः॑ । अनु॑ । पञ्च॑ ॥ पञ्च॑ । दिशः॑ । प॒ञ्च॒-द॒शेन॑ । क्लृ॒प्ताः । ताः । एक॑-मूर्ध्नीः । अ॒भि । लो॒कम् । एक॑म् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(पञ्च) पांच (व्युष्टीः) विविध प्रकार वास करने वाली [तन्मात्राओं] के (अनु) साथ साथ (पञ्च) पांच [पृथिवी आदि पांच भूत सम्बन्धी] (दोहाः) पूर्ति वाले पदार्थ हैं, (पञ्चनाम्नीम्) पूर्व आदि पांच नाम वाली, यद्वा पांच ओर झुकने वाली (गाम् अनु) दिशा के साथ साथ (पञ्च) पांच (ऋतवः) ऋतुयें हैं [अर्थात् शरद्, हेमन्त शिशिर सहित, वसन्त, ग्रीष्म और वर्षा] । (पञ्च) पांच [पूर्वादि चार और एक ऊपर वाली] (दिशः) दिशायें (पञ्चदशेन) [पांच प्राण अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान + पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना, और घ्राण + पांच भूत अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन] पन्द्रह पदार्थ वाले जीवात्मा के साथ (क्लृप्ताः) समर्थ की गई हैं, (ताः) वे (एकमूर्ध्नीः) एक [परमेश्वर रूप] मस्तक वाली [दिशायें] (एकम्) एक

१५—(पञ्च) पञ्चसंख्याकाः (व्युष्टीः) म० १० । वि+वस निवासे-क्तिन् । विविधनिवासशीलाः । तन्मात्राः (अनु) अनुसृत्य (पञ्च) पृथिव्यादि-पञ्चभूतसम्बन्धिनः (दोहाः) पूरिताः पदार्थाः (गाम्) दिशाम् (पञ्चनाम्नीम्) पूर्वादिचतस्र उच्चस्था चैका, ताभिः सह नामयुक्ताम् । यद्वा पञ्चदिक्षु नमनशीलाम् (ऋतवः) वसन्तादयः (अनु) अनुलक्ष्य (पञ्च) अ० ८ । २ । २२ । पञ्चर्तवः......हेमन्तशिशिरयोः समासेन-निरु० ४ । २७ (पञ्च) पूर्वादिचतस्र उच्चस्था चैका (दिशः) आशाः (पञ्चदशेन) संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये । पा० २ । २ । २५ । इति पञ्चाधिका दश यत्र स पञ्चदशः । बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । पञ्चदशन्-डच् । पञ्चप्राणेन्द्रियभूतानि यस्मिन् तेन जीवात्मना (क्लृप्ताः) समर्थिताः (एकमूर्ध्नीः) श्वन्नुक्षन्पूषन् । उ० १ । १५९ । मुर्वी बन्धने-कनिन् । एकः परमेश्वरो मूर्धरूपो

(लोकम् अभि) देश की ओर [वर्तमान हैं] ॥ १५ ॥

भावार्थ—उसी परमात्मा की शक्ति से पञ्चभूत, ऋतुयें और दिशायें आदि जीवों के सुख के लिये उत्पन्न हुये हैं ॥ १५ ॥

पांच ऋतुओं के लिये देखो—अ० ८ । २ । २२ और निरु० ४ । २७ ॥

षड् जाता भूता प्रथमजर्तस्य षडु सामानि षडहं वहन्ति । षड्योगं सीरमनु सामसाम षडाहुर्द्यावापृथिवीः षडुर्वीः ॥ १६ ॥

षट् । जाता । भूता । प्रथम-जा । ऋतस्य । षट् । ऊं इति । सामानि । षट्-अहम् । वहन्ति ॥ षट्-योगम् । सीरम् । अनु । साम-साम । षट् । आहुः । द्यावापृथिवीः । षट् । उर्वीः ॥१६॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य स्वरूप परमेश्वर के [सामर्थ्य से] (प्रथमजा) विस्तार के साथ [वा पहिले] उत्पन्न (षट् भूता) छह इन्द्रियां [स्थूल त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक और मन) (जाता) प्रकट हुईं, (षट् उ) छह ही (सामानि) कर्म समाप्त करने वाली [इन्द्रियां] (षडहम्) छह [इन्द्रियों] से व्याप्ति वाले [देह] को (वहन्ति) ले चलती हैं । (षड्योगम्) छह [स्पर्श, दृष्टि, श्रुति, रसना, घ्राण और मनन सूक्ष्म शक्तियों] से संयोग वाले (सीरम् अनु) बन्धन के साथ साथ (सामसाम) प्रत्येक कर्म समाप्त करने वाली [स्थूल इन्द्रिय है], [लोग] (षट् षट्) छह छह [स्थूल इन्द्रियों

यासां ता दिशः (अभि) अभिलक्ष्य (लोकम्) देशम् (एकम्) ॥

१६—(षट्) षट्संख्याकानि (जाता) प्रादुर्भूतानि (भूता) म० ७ । त्वक्-चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनांसि स्थूलेन्द्रियाणि (प्रथमजा) प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । प्रथ प्रख्याने विस्तारे च-अमच् । विस्तारेण, आदौ वा जातानि (ऋतस्य) सत्यस्वरूपस्य परमात्मनः, सामर्थ्यात्, इति शेषः (षट्) षट्संख्याकानीन्द्रियाणि (उ) एव (सामानि) म० ४ । कर्मसमापकानीन्द्रियाणि (षडहम्) अह व्याप्तौ-घञर्थे क । षडिन्द्रियैः सह व्यापकं देहम् (वहन्ति) गमयन्ति (षड्योगम्)षडिन्द्रियाणां सूक्ष्मशक्तियुक्तम् (सीरम्) शुसिचिमीनां दीर्घश्च । उ० २ । २५ । पिञ् बन्धने-क्रन् , बन्धम् (अनु) अनुसृत्य (सामसाम) म० ४ । प्रत्येक-

और उनकी सूक्ष्म शक्तियों से सम्बन्ध वाले] (उर्वीः) विस्तृत (द्यावापृथिवीः) प्रकाशमान और अप्रकाशमान लोकों को (आहुः) बताते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने निश्चय किया है कि परमेश्वर के सामर्थ्य से स्थूल इन्द्रियां और उनकी सूक्ष्म शक्तियां उत्पन्न हुई और उनके ही आश्रित संसार के सब पदार्थ हैं ॥ १६ ॥

षडा॑हुः शी॒तान् षडु॑ मा॒स उ॒ष्णानृ॒तुं नो॑ ब्रूत यत॒मो॑ऽतिरिक्तः। स॒प्त सु॑प॒र्णाः क॒वयो॒ नि षे॑दुः स॒प्त छन्दां॒स्यनु॑ स॒प्त दी॒क्षाः ॥ १७ ॥

षट् । आहुः । शी॒तान् । षट् । ऊं॒ इति॑ । मा॒सः । उ॒ष्णान् । ऋ॒तुम् । नः॒ । ब्रू॒त । य॒त॒मः । अति॑-रिक्तः ॥ स॒प्त । सु॒-प॒र्णाः । क॒वयः॑ । नि । से॒दुः । स॒प्त । छन्दां॑सि । अनु॑ । स॒प्त । दी॒क्षाः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—वे [ईश्वर नियम] (षट्) छह (शीतान्) शीत और (षट् उ) छह ही (उष्णान्) उष्ण (मासः) महीने (आहुः) बताते हैं, (ऋतुम्) [वह] ऋतु (नः) हमें (ब्रूत) बताओ (यतमः) जो कोई (अतिरिक्तः)

कर्मसमापकेन्द्रियम् (षट्) षट्स्थूलेन्द्रियसंबद्धाः (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (द्यावापृथिवीः) प्रकाशमानाप्रकाशमानलोकान् (षट्) षडिन्द्रियाणां सूक्ष्मसामर्थ्ययुक्ताः (उर्वीः) विस्तृताः ॥

१७—(षट्) (आहुः) कथयन्ति परमात्मनियमाः (शीतान्) अ० १ । २५ । ४ । शीतलान् (षट्) (उ) एव (मासः) माङ् माने—असुन । मासान् (उष्णान्) शीतभिन्नान् (ऋतुम्) वसन्तादिकम् (नः) अस्मभ्यम् (ब्रूत) कथयत (यतमः) यः कश्चित् (अतिरिक्तः) भिन्नः (सप्त) शुक्लनीलपीतादिसप्तवर्णयुक्ताः (सुपर्णाः) अ० १ । २४ । १ । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः—निरु० ३ । १२ । आदित्यरश्मयः (कवयः) "कवतेः" धातोः गत्यर्थस्य कविः, कवति गच्छत्यसौ नित्यम्—इति दुर्गाचार्यो निरुक्तटीकायाम्, १२ । १३ । कवीनां कवीयमानानामादित्यरश्मीनाम्, कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४ । १३ । गतिशीलानीन्द्रियाणि । गतिशीला आदित्यरश्मयः (निषेदुः) निषी-

भिन्न है। (सप्त) सात [वा सात वर्ण वाली] (सुपर्णाः) बड़ी पालने वाली (कवयः) गति शील इन्द्रियां [वा सूर्य की किरणें] (सप्त) सात (छन्दांसि अनु) ढकनों [मस्तक के छिद्रों] के साथ (सप्त) सात (दीक्षाः) संस्कारों में (नि षेदुः) बैठी हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—(कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥) अ० १० । २ । ६ ॥

" प्रजापति ने मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख। जिनके विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं॥" मस्तक में सात गोलक होने में यह अथर्ववेद १० । २ । ६ का प्रमाण मन्त्र है, इसका प्रमाण अ० २ । १२ । ७ में आ चुका है।

विराट्, ईश्वर शक्ति, से वर्ष में द्वन्द्वसूचक शीत और उष्ण दो ऋतु हैं, अन्य ऋतुयें इनके अन्तर्गत हैं। यह ऋतुयें सूर्य की किरणों के तिरछे और सीधे पड़ने से होती हैं। किरणों में, शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र यह सात वर्ण हैं। इन किरणों का प्रभाव मस्तक के सात छिद्रों दो दो कानों, नथनों, आंखों और एक मुख पर पड़ता है। उस से सात संस्कार, दो दो प्रकार के श्रवण, गन्ध, दर्शन और एक कथन शक्ति उत्पन्न होकर समस्त शरीर का पालन करते हैं ॥ १७ ॥

सप्त होमाः सुमिधो ह सप्त मधूनि सप्तर्तवो ह सप्त। सप्ताज्यानि परि भूतमायन् ताः सप्तगृध्रा इति शुश्रुमा वयम् ॥ १८ ॥

सप्त । होमाः । सम्-इधः । ह । सप्त । मधूनि । सप्त । ऋत-

दन्ति रम (सप्त) (छन्दांसि) अ० ४ । ३४ । १ । छदि आच्छादने—असुन्। कः सप्त खानि······अ० १० । २ । ६ । इति श्रवणात्। आवरकाणि कर्णादीनि शीर्षण्यानि छिद्राणि (अनु) अनुसृत्य (सप्त) (दीक्षाः) अ० ८ । ५ । १५ । संस्कारान् ॥

वः । हु । सुप्त ॥ सप्त । आज्यानि । परि । भूतम् । आयन् । ताः । सप्त-गृध्राः । इति । शुश्रुम । वयम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(सप्त) सात (होमाः) [विषयों की] ग्रहण करने वाली [इन्द्रियां, त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि], (सप्त) सात (ह) ही (समिधः) विषय प्रकाश करने वाली [इन्द्रियों की सूक्ष्म शक्तियां], (सप्त), सात (मधूनि) ज्ञान [विषय] और (सप्त) सात (ह) ही (ऋतवः) गति [प्रवृत्ति] हैं । [वे ही] (सप्त) सात (आज्यानि) विषयों के प्रकाश साधन (भूतम् परि) प्रत्येक प्राणी के साथ (ताः) उन [प्रसिद्ध] (सप्तगृध्राः) सात इन्द्रियों से उत्पन्न हुई वासनाओं को (आयन्) प्राप्त हुये हैं, (इति) यह (वयम्) हम ने (शुश्रुम) सुना है ॥ १८ ॥

भावार्थ—विद्वानों ने वेदादि शास्त्रों से निश्चय किया है कि सात इन्द्रियों और उनकी सूक्ष्म शक्तियों द्वारा विषय का ज्ञान प्राप्त करके प्राणी कामों में प्रवृत्ति करता है ॥ १८ ॥

सप्त च्छन्दांसि चतुरुत्तराण्यन्यो अन्यस्मिन्नध्यार्पितानि । कथं स्तोमाः प्रति तिष्ठन्ति तेषु तानि स्तोमेषु कथमार्पितानि ॥ १९ ॥

सप्त । छन्दांसि । चतुः-उत्तराणि । अन्यः । अन्यस्मिन् । अ-

१८—(सप्त) (होमाः) हु दानादानादनेषु—मन् । विषयाणां ग्राहिकास्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः (समिधः) ज्ञानादिप्रकाशिकाः समिद्रूपा इन्द्रियशक्तयः (ह) एव (सप्त) (मधूनि) ज्ञाने—उ । ज्ञानानि । इन्द्रियविषयाः सप्त (ऋतवः) अर्त्तेश्च तुः । उ० १ । ७२ । ऋ गतौ—तु । गतयः प्रवृत्तयः (सप्त) (आज्यानि) अ० ५ । ८ । १ । विषयाणां व्यक्तीकराणि साधनानि (परि) परीत्य । प्राप्य (भूतम्) जीवम् (आयन्) प्राप्नुवन् (ताः) प्रसिद्धाः (सप्तगृध्राः) सुसूधागृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । गृधु अभिकाङ्क्षायाम्—क्रन् । गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञानकर्मणः—निरु० १४ । १३ । सप्त गृध्राणीन्द्रियाणि यासां ता वासनाः (इति) एवम् (शुश्रुम) श्रुतवन्तः (वयम्) ज्ञानिनः ॥

धि॑ । आर्पि॑तानि ॥ कथम् । स्तोमाः । प्रति । तिष्ठन्ति । तेषु॑ । तानि॑ । स्तोमेषु । कथम् । आर्पि॑तानि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(चतुरुत्तराणि) [धर्म अर्थ काम मोक्ष] चतुर्वर्ग से अधिक उत्तम किये गये (सप्त) सात (छन्दांसि) ढकने [मस्तक के सात छिद्र] (अन्यः अन्यस्मिन्) एक दूसरे में (अधि) यथायत् (आर्पितानि) यथावत् जड़े हुये हैं। (कथम्) कैसे (स्तोमाः) स्तुति योग्य गुण (तेषु) उन [मस्तक के गोलकों] में (प्रति तिष्ठन्ति) दृढ़ता से स्थित हैं, (तानि) वे [मस्तक के छिद्र] (स्तोमेषु) स्तुति योग्य गुणों में (कथम्) कैसे (आर्पितानि) ठीक ठीक जमे हुये हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—मस्तक के सात गोलक दो कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख के द्वारा धर्म अर्थ काम मोक्ष की प्राप्ति से मनुष्य उत्तम सुख भोगते हैं, यह दृढ़ ईश्वर नियम है ॥ १९ ॥

कथं गा॑यत्री त्रिवृतं व्या॑प कथं त्रिष्टुप् प॑ञ्चद॒शेन॑ कल्पते। त्रयस्त्रिं॒शेन॒ जग॑ती क॒थम॑नु॒ष्टुप् क॒थमे॑कविं॒शः॥२०॥२३

कथम् । गायत्री । त्रि-वृत॑म् । वि । आप॒ । कथम् । त्रि-स्तुप् । प॒ञ्च-द॒शेन॑ । कल्पते ॥ त्रयः-त्रिं॒शेन॑ । जग॑ती । कथम् । अनु॒-स्तुप् । कथम् । एक-विं॒शः ॥ २० ॥ (२३)

भाषार्थ—(गायत्री) गाने योग्य [वह विराट्] (त्रिवृतम्) [सत्त्व, रज और तमोगुण-इन] तीनों के साथ वर्तमान [जीवात्मा] को (कथम्) कैसे

१९—(सप्त) (छन्दांसि) म० १७। शीर्षण्यानि छिद्राणि (चतुरुत्तराणि) उत्—तरप्। चतुर्वर्गेण धर्मार्थकाममोक्षरूपपुरुषार्थेन (अन्योऽन्यस्मिन्) परस्परम् (अधि) अधिकारे (आर्पितानि) सम्यक् निवेशितानि। संलग्नानि (कथम्) केन प्रकारेण (प्रति) निश्चयेन (तिष्ठन्ति) (तेषु) छन्दःसु (तानि) छन्दांसि (स्तोमेषु) स्तुत्यगुणेषु ॥

२०—(कथम्) केन प्रकारेण (गायत्री) म० १४। गानयोग्या विराट् (त्रिवृतम्) वृतु वर्तने—क्विप्। त्रिभिः सत्त्वरजस्तमोगुणैः सह वर्तमानं जीवात्मा-

(वि आप) व्यापी है, (त्रिष्टुप्) [कर्म, उपासना और ज्ञान इन] तीनों द्वारा पूजी गयी [मुक्ति] (पञ्चदशेन) [म० १४। पांच प्राण, पांच इन्द्रिय, और पञ्चभूत-इन] पन्द्रह पदार्थ वाले [जीवात्मा] के साथ (कथम्) कैसे (कल्पते) समर्थ होती है। (त्रयस्त्रिंशेन) [८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, १ इन्द्र और १ प्रजापति-इन] तेतीस [देवताओं] को अपने में रखने वाले [परमात्मा] के साथ (कथम्) कैसे (जगती) प्राप्ति योग्य [प्रकृति, सृष्टि] और (कथम्) कैसे (अनुष्टुप्) निरन्तर स्तुति योग्य [वेदवाणी] और (एकविंशः) [५ महाभूत, ५ प्राण, ५ ज्ञान इन्द्रिय, ५ कर्म इन्द्रिय और १ अन्तः करण—इन] इक्कीस पदार्थों वाला [जीवात्मा] [समर्थ होता है] ॥ २० ॥

भावार्थ—ईश्वर की विविध शक्तियों को साक्षात् करके विज्ञानी योगीजन अपनी शक्तियां बढ़ाकर आनन्द पाते हैं ॥ २० ॥

तेंतीस देवता यह हैं,—८ वसु, अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र,—११ रुद्र, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,—१२ आदित्य अर्थात् महीने,—१ इन्द्र, अर्थात् बिजुली—१ प्रजापति अर्थात् यज्ञ,—अथर्व० ६। १३९। १। तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ ६६। ६८॥

अष्ट जाता भूता प्रथमजा ऋतस्याष्टेन्द्रर्त्विजो दैव्या ये।
अष्टयोनिरदितिरष्टपुत्राष्टमीं रात्रिमभि हव्यमेति ॥२१॥

अष्ट। जाता। भूता। प्रथम-जा। ऋतस्य। अष्ट। इन्द्र।

नम् (व्याप) व्याप्तवती (कथम्) (त्रिष्टुप्) म० १४। कर्मोपासनाज्ञानैः पूजिता (मुक्तिः) (पञ्चदशेन) म० १५। पञ्चप्राणेन्द्रियभूतानि यत्र तेन जीवात्मना (कल्पते) समर्था भवति (त्रयस्त्रिंशेन) त्र्यधिका त्रिंशत् यस्मिन् स त्रयस्त्रिंशः। बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्। पा० ५।४।७३। बहुव्रीहौ डच्। वसुरुद्रादित्येन्द्रप्रजापतयस्त्रयस्त्रिंशद् देवा यस्मिन् तेन परमात्मना (जगती) म० १४। प्राप्तियोग्या। प्रकृतिः। सृष्टिः (कथम्) (अनुष्टुप्) म० १४। निरन्तरस्तुत्या वेदवाणी (कथम्) (एकविंशः) पूर्ववत् डच्। एकाधिका विंशतिर्यस्मिन् सः। पञ्चमहाभूतप्राणज्ञानेन्द्रियकर्मेन्द्रियैरन्तःकरणेन च सह वर्तमानो जीवात्मा॥

ऋ॒त्विजः॑ । दैव्याः॑ । ये ॥ अ॒ष्ट-यो॑निः । अदि॑तिः । अ॒ष्ट-पु॑त्रा । अ॒ष्ट॒मीम् । रात्रि॑म् । अ॒भि । ह॒व्यम् । ए॒ति॒ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अष्ट) आठ [महत्तत्त्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश और मन से सम्बन्ध वाले] (जाता) उत्पन्न (भूता) जीव (प्रथमजा) आदिकारण [प्रकृति] से प्रकट हैं, (ये) जो (अष्ट) आठ [चार दिशा और चार विदिशा में स्थित], (इन्द्र) हे जीव ! (ऋतस्य) सत्य नियम के (ऋत्विजः) सब ऋतुओं में देने वाले (दैव्याः) दिव्य गुणवाले [पदार्थ हैं] । (अष्टयोनिः) [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन] आठ से संयोग वाली, (अष्टपुत्रा) [अणिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, महिमा, ईशित्व, वशित्व और कामावसायिता, इन आठ ऐश्वर्यरूप] आठ पुत्रवाली (अदितिः) अखण्ड [विराट् ईश्वर, शक्ति] (अष्टमीम्) व्याप्त [जगत्] को नापने वाली (रात्रिम् अभि) रात्रि [विश्राम देनेवाली मुक्ति] में (हव्यम्) स्वीकार योग्य [सुख] [मनुष्य को] (एति) पहुंचाती है ॥ २१ ॥

भावार्थ—संसार के बीच पुरुषार्थी योगी जन परमात्मा की ईश्वरता में स्थिर चित्त होकर ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥

२१—(अष्ट) महत्तत्त्वाहंकारपञ्चभूतमनोभिः संबद्धानि (जाता) उत्पन्नानि (भूता) भूतानि । जीवाः (प्रथमजा) प्रथमात् कारणाज्जातानि (ऋतस्य) सत्यनियमस्य (अष्ट) दिग्भिश्चावान्तरदिग्भिश्च सह स्थिताः (इन्द्र) हे जीव (ऋत्विजः) अ० ६ । २ । १ । ये ऋतौ ऋतौ यजन्ति ददति ते (दैव्याः) दिव्यगुणाः पदार्थाः (अष्टयोनिः) अष्ट+यु मिश्रणामिश्रणयोः—नि । यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योग दर्शने २ । २९ । एतैः सह संयुक्ता (अष्टपुत्रा) अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता । इति ऐश्वर्याणि पुत्रसदृशानि यस्याः सा (अष्टमीम्) अशू व्याप्तौ—क्त । अष्टं व्याप्तं जगत् माति, मा—क । व्याप्तस्य जगतः परिमात्रीम् (रात्रिम्) अ० १ । १६ । १ । रात्रिः कस्मात् प्ररमयति भूतानि नक्तं चारीण्युपरमयतीतराणि ध्रुवीकरोति रातेर्वा स्याद् दानकर्मणः प्रदीयन्तेऽस्यामवश्यायाः—निरु० २ । १८ । विश्रामदात्रीं मुक्तिम् (अभि) अभीत्य (हव्यम्) हु आदाने—यत् । ग्राह्यं सुखम् (एति) अन्तर्गतो णिच् । आययति । गमयति ॥

इत्थं श्रेयो मन्यमानेदमागमं युष्माकं सख्ये अहमस्मि शेवा । समानजन्मा क्रतुरस्ति वः शिवः स वः सर्वाः सं चरति प्रजानन् ॥ २२ ॥

इत्थम् । श्रेयः । मन्यमाना । इदम् । आ । अगमम् । युष्माकम् । सख्ये । अहम् । अस्मि । शेवा ॥ समान-जन्मा । क्रतुः । अस्ति । वः । शिवः । सः । वः । सर्वाः । सम् । चरति । प्र-जानन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (इत्थम्) इस प्रकार (श्रेयः) आनन्द (मन्यमाना) मनाती हुई (अहम्) मैं [विराट्] (इदम्) इस [चराचर जगत्] में (आ अगमम्) आयी हूं, और (युष्माकम्) तुम्हारी (सख्ये) मित्रता में (शेवा) सुख देने वाली (अस्मि) हूं । (समानजन्मा) [कर्म फल के साथ] एक जन्मवाला (वः क्रतुः) तुम्हारा बोध (शिवः) मङ्गलकारी (अस्ति) है, (सः) वह [बोध] (वः) तुम्हारी (सर्वाः) सब [आशायें] (प्रजानन्) समझता हुआ (संचरति) संचार करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्यों के कल्याण के लिये ईश्वर शक्ति प्रकट होकर उन्हें संचित कर्म अनुसार बुद्धि देकर आगे के लिये पुरुषार्थ का उपदेश देती है ॥२२

अष्टेन्द्रस्य षड् यमस्य ऋषीणां सप्त सप्तधा ।
अपो मनुष्यानोषधीस्ताँ उ पञ्चानु सेचिरे ॥२३॥

२२—(इत्थम्) एवम् (श्रेयः) प्रशस्य—ईयसुन् । कल्याणम् (मन्यमाना) जानन्ती (इदम्) चराचरं जगत् (आ अगमम्) आगतवती (युष्माकम्) (सख्ये) मित्रभावे (अहम्) विराट् (अस्मि) (शेवा) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । शीङ् शयने—वन् । शेव इति सुखनाम शिष्यतेर्वकारो नामकरणोऽन्तस्थान्तरोपलिङ्गी विभाषितगुणः शिवमित्यप्यस्य भवति—निरु० १० । १७ । सुखदा (समानजन्मा) एकोत्पत्तियुक्तः कर्मफलैः सह (क्रतुः) प्रज्ञा—निघ० ३ । ९ (अस्ति) (वः) युष्माकम् (शिवः) शङ्करः (सः) क्रतुः (वः) युष्माकम् (सर्वाः) अखिला आशा दीर्घाकाङ्क्षाः (संचरति) (प्रजानन्) प्रबोधन् ॥

अष्ट । इन्द्रस्य । षट् । यमस्य । ऋषीणाम् । सप्त । सप्त-धा ॥ अपः । मनुष्यान् । ओषधीः । तान् । ऊं इति । पञ्च । अनु । सेचिरे ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) नियमवान् (इन्द्रस्य) जीव की (अष्ट) आठ [चार दिशा और चार विदिशायें], (षट्) छह [वसन्त, घाम, वर्षा, शरद्, शीत और शिशिर ऋतुयें–अ० ६ । ५५ । २], और (ऋषीणाम्) इन्द्रियों के (सप्त) सात [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि–अ० ४ । ११ । ९] (सप्तधा) [उनकी शक्तियों सहित] सात प्रकार से [हितकारक हैं] । (अपः) कर्म और (ओषधीः) ओषधियों [अन्न आदि वस्तुओं] ने (तान्) उन [विद्वान्] (मनुष्यान्) मनुष्यों को (उ) ही (पञ्च अनु) [पृथिवी आदि] पांच भूतों के पीछे पीछे (सेचिरे) सींचा है ॥ २३ ॥

भावार्थ—नियमवान् पुरुष, सब स्थानों और सब कालों में सब इन्द्रिय और सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर पूर्वजों के समान, उन्नति करता है ।२३

केवलीन्द्राय दुदुहे हि गृष्टिर्वशं पीयूषं प्रथमं दुहाना । अथातर्पयच्चतुरश्चतुर्धा देवान् मनुष्याँ३ असुरानुत ऋषीन् ॥ २४ ॥

केवली । इन्द्राय । दुदुहे । हि । गृष्टिः । वशम् । पीयूषम् । प्रथमम् । दुहाना ॥ अथ । अतर्पयत् । चतुरः । चतुः-धा । देवान् । मनुष्यान् । असुरान् । उत । ऋषीन् ॥ २४ ॥

२३—(अष्ट) पूर्वादिदिशा विदिशाश्च (इन्द्रस्य) जीवस्य (षट्) अ० ६ । ५५ । २ । वसन्ताद्यृतवः (यमस्य) यमो यच्छतीति सतः—निरु० १० । १९ । नियमवतः (ऋषीणाम्) अ० ४ । १९ । ९ । त्वक्चक्षुरादीनाम् (सप्त) षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । (सप्तधा) सप्तप्रकारेण स्वशक्तिभिः सह (अपः) कर्म—निघ० २ । १ । (मनुष्यान्) (ओषधीः) अन्नादिपदार्थाः (तान्) (उ) एव (पञ्च) पृथिव्यादिभूतानि (अनु) अनुसृत्य (सेचिरे) षच समवाये सेके च । सिक्तवत्यः । वर्द्धितवत्यः ॥

भाषार्थ—(प्रथमम्) पहिले से (दुहाना) पूर्ति करती हुई, (केवली) अकेली (गृष्टिः) ग्रहण योग्य [विराट्] ने (हि) ही (इन्द्राय) जीव के लिये (वशम्) प्रभुता और (पीयूषम्) अमृत [अन्न, दुग्ध आदि (दुदुहे) पूर्ण कर दिया है (अथ) तब उस [विराट्] ने (चतुर्धा) चार प्रकार से [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष द्वारा] (चतुरः) चारों (देवान्) विजय चाहने वालों, (मनुष्यान्) मननशीलों, (असुरान्) बुद्धिमानों (उत) और (ऋषीन्) ऋषियों [धर्म के साक्षात् करने वालों] को (अतर्पयत) तृप्त किया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपनी शक्ति से प्राणियों के पालन के लिये उन के कर्म अनुसार सब सामग्री उपस्थित करके उनके पुरुषार्थ द्वारा उन्हें धर्म अर्थ, काम और मोक्ष का भागी बनाया है ॥ २४ ॥

को नु गौः क एकऋषिः किमु धाम का आशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुः कतमो नु सः ॥ २५ ॥

कः । नु । गौः । कः । एक-ऋषिः । किम् । ऊं इति । धाम । काः । आ-शिषः ॥ यक्षम् । पृथिव्याम् । एक-वृत् । एक-ऋतुः । कतमः । नु । सः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(कः नु) कौन सा (गौः) [लोगों का] चलाने वाला, (कः) कौन (एकऋषिः) अकेला ऋषि [सन्मानदर्शक], (उ) और (किम्) कौन

२४—(केवली) एकैव (इन्द्राय) जीवहिताय (दुदुहे) पूरितवती (हि) एव (गृष्टिः) अ० २ । १३ । ३ । ग्रह-क्तिच्, पृषोदरादिरूपम् । ग्राह्या विराट् (वशम्) प्रभुत्वम् (पीयूषम्) अ० ८ । ३ । १७ । अमृतम् । अन्नदुग्धादिकम् (प्रथमम्) अग्रे (दुहाना) प्रपूरयन्ती (अथ) अनन्तरम् (अतर्पयत्) तर्पितवती (चतुरः) (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण धर्मार्थकाममोक्षद्वारा (देवान्) विजिगीषून् (मनुष्यान्) मननशीलान् (असुरान्) अ० १ । १० । १ । प्रज्ञावतः—निरु० १० । ३४ । (उत) अपि (ऋषीन्) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः पुरुषान् ॥

२५—(कः) (नु) प्रश्ने (गौः) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । णिजर्थाद् गमेर्डो । गौरादित्यो भवति, गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे-निरु० २ । १४ ।

(धाम) ज्योतिः स्वरूप है, और (काः) कौनसी (आशिषः) हित प्रार्थनायें हैं। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर [जो] (एकवृत्) अकेला वर्तमान (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म] है, (सः) वह (एकर्तुः) एक ऋतु वाला [एकरस वर्तमान] (कतमः नु) कौन सा [पुरुष है] ॥ २५ ॥

भावार्थ—इन प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ २५ ॥

एको गौरेक एकऋषिरेकं धामैकधाशिषः ।
यक्षं पृथिव्यामेकवृदेकर्तुर्नाति रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

एकः । गौः । एकः । एक-ऋषिः । एकम् । धाम । एक-धा । आ-शिषः ॥ यक्षम् । पृथिव्याम् । एक-वृत् । एक-ऋतुः । न । अति । रिच्यते ॥ २६ ॥ (२४)

भाषार्थ—(एकः) एक [सर्वव्यापक परमेश्वर] (गौः) [लोकों का] चलाने वाला, (एकः) एक (एकऋषिः) अकेला ऋषि [सन्मार्गदर्शक], (एकम्) एक [ब्रह्म] (धाम) ज्योतिः स्वरूप है, (एकधा) एक प्रकार से (आशिषः) हित प्रार्थनायें हैं। (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (एकवृत्) अकेला वर्तमान (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म], (एकर्तुः) एक ऋतु वाला [एकरस वर्तमान परमात्मा] [किसी से] (न अति रिच्यते) नहीं जीता जाता है ॥२६॥

भावार्थ—एक, अद्वितीय, परमेश्वर अपनी अनुपम शक्ति से सर्वशासक है, उसी की आज्ञा पालन सब प्राणियों के लिये हितकारक है ॥ २६ ॥

लोकानां गमयिता (कः) (एकऋषिः) अ० २ । ६ । १ । ऋषिदर्शनात्-निरु० २ । ११ । अद्वितीयसन्मार्गदर्शकः (किम् (उ) (धाम) ज्योतिःस्वरूपम् (काः) (आशिषः) अ० २ । २५ । ७ । हितप्रार्थनाः (यक्षम्) म० ८ । यज पूजायाम्-स । पूजनीयं ब्रह्म (पृथिव्याम्) भूमौ (एकवृत्) अद्वितीयवर्तमानम् (एकर्तुः) एकस्मिन् ऋतौ सदा वर्तमानः कालेनानवच्छेदात् (कतमः) सर्वेषां कः (नु) (सः) ॥

२६—(एकः) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इण् गतौ-कन् । एति प्राप्नोतीत्येकः । सर्वव्यापकः केवलः परमेश्वरः (न) निषेधे (अति रिच्यते) पराभूयते केनापि । अन्यत् पूर्ववत् म० २५ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः १)

[यह छह पर्याय वाला सूक्त तीसरा ब्रह्मोद्य सूक्त है, देखो-अ० ५।१;८।६॥]

१-१३ ॥ विराड् देवता ॥ १ आर्ची पङ्क्तिः; २, ४, ६, ८, १०, १२, याजुषी जगती; ३, ६ साम्न्यनुष्टुप्; ५ साम्नी त्रिष्टुप्; ७, १३ साम्नी पङ्क्तिः; ११ साम्नी बृहती छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

विराड् वा इदमग्र आसीत् तस्या जातायाः सर्वमबिभेदियमेवेदं भविष्यतीति ॥ १ ॥

वि-राट् । वै । इदम् । अग्रे । आसीत् । तस्याः । जातायाः । सर्वम् । अबिभेत् । इयम् । एव । इदम् । भविष्यति । इति ॥१॥

भाषार्थ—(विराट्) विराट् [विविध ईश्वरी, ईश्वरशक्ति] (वै) ही (अग्रे) पहिले ही पहिले (इदम्) यह [जगत्] (आसीत्) थी, (तस्याः जातायाः) उस प्रकट हुई से (सर्वम्) सब का सब (अबिभेत्) डरने लगा, " (इति) बस, (इयम् एव) यही (इदम्) यह [जगत्] (भविष्यति) हो जायगी " ॥१॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले एक ईश्वर शक्ति थी, जिससे ही होनहार सृष्टि उत्पन्न होने के लिये अनुभव होती थी, उसी का वर्णन अगले मन्त्रों में है ॥१॥

सोदक्रामत् सा गार्हपत्ये न्यक्रामत् ॥ २ ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । गार्ह-पत्ये । नि । अक्रामत् ॥२॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट् (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा)

१—(विराट्) अ० ८।९।१। विविधेश्वरी। विविधप्रकाशमाना। ईश्वरशक्तिः (वै) एव (इदम्) जगत् (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (तस्याः) विराजः सकाशात् (जातायाः) प्रादुर्भूतायाः (सर्वम्) सकलं जगत् (अबिभेत्) भयमगच्छत् (इयम्) विराट् (एव) (इदम्) (भविष्यति) प्राकट्यं प्राप्स्यति (इति) समाप्तौ। पर्य्याप्ते। परामर्शे ॥

२—(सा) विराट् (उत्) उपरि (अक्रामत्) पादं स्थापितवती

वह (गार्हपत्ये) गृहपतियों से संयुक्त कर्म में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥२॥

भावार्थ—उस विराट् ने प्रकट होकर जीव सम्बन्धी प्रत्येक व्यवहार में प्रवेश किया है ॥ २ ॥

गृहमेधी गृहपतिर्भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

गृह-मेधी । गृह-पतिः । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (गृहमेधी) घर के काम समझने वाला (गृह-पतिः) गृहपति (भवति) होता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है॥

भावार्थ—मन्त्र १ और २ में वर्णित विराट् की महिमा जान कर मनुष्य संसार के कामों में चतुर होता है॥ ३ ॥

सोदक्रामत् साहवनीये न्यक्रामत् ॥ ४ ॥

०सा । आ-हवनीये । नि । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) (आहवनीये) यज्ञ योग्य व्यवहार में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस विराट् की महिमा प्रत्येक उत्तम कर्ममें प्रकट होती है।४

यन्त्यस्य देवा देवहूतिं प्रियो देवानां भवति य एवं वेद ॥ ५ ॥

यन्ति । अस्य । देवाः । देव-हूतिम् । प्रियः । देवानाम् । भवति । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [पुरुष] के (देवहूतिम्) विद्वानों के लिये

(सा) (गार्हपत्ये) अ० ५ । ३१ । ५ । गृहपतिभिः संयुक्ते कर्मणि (नि) नीचैः ॥

३—(गृहमेधी) सुप्यजातौ० । पा० ३ । २ । ७८ । गृह + मेधृ वधमेधासंगमेषु-णिनि । गृहं गृहकार्यं मेधति जानाति यः सः (गृहपतिः) गृहस्वामी ॥

४—(आहवनीये) आङ् + हु दानादानादनेषु-अनीयर्, यद्वा आहवन—छ प्रत्ययः । यजनीये व्यवहारे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(यन्ति) गच्छन्ति (अस्य) तस्य (देवाः) विद्वांसः (देवहूतिम्)

बुलावे में (देवाः) विद्वान् लोग (यन्ति) जाते हैं, वह (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ।५।

भावार्थ—ईश्वर महिमा को जानने वाला पुरुष विद्वानों का प्रिय होताहै।५

सोदक्रामत् सा दक्षिणाग्नौ न्यक्रामत् ॥ ६ ॥

०सा । दक्षिण-अग्नौ । नि । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) वह [सूर्य वा यज्ञ की] (दक्षिणाग्नौ) बढ़ी हुयी अग्नि में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की महिमा सूर्यादि तेजों और शिल्प आदि व्यवहारों में प्रकट है ॥ ६ ॥

यज्ञर्तो दक्षिणीयो वासतेयो भवति य एवं वेद ॥ ७ ॥

यज्ञ-ऋतः । दक्षिणीयः । वासतेयः । भवति । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (यज्ञर्तः) यज्ञ में पूजा गया, (दक्षिणीयः) दक्षिणा योग्य और (वासतेयः) बसती योग्य (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—ईश्वर महिमा ही जानकर पुरुष सब प्रकार उन्नति करता है ७

सोदक्रामत् सा सभायां न्यक्रामत् ॥ ८ ॥

०सा । सभायाम् । नि । ० ॥ ८ ॥

विद्वद्भ्य आह्वानम् (प्रियः) हितः (देवानाम्) विदुषाम् । अन्यत् सुगमम् ॥

६—(दक्षिणाग्नौ) द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । दक्ष वृद्धौ—इनन् । प्रवृद्धे पावके सूर्यस्य यज्ञस्य वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यज्ञर्तः) यज्ञ ऋ गतौ—क्त । यज्ञे पूजितः (दक्षिणीयः) कडङ्करदक्षिणाच्छ च । पा० ५ । १ । ६९ । दक्षिणा—छ । प्रतिष्ठार्हः (वासतेयः) पथ्यतिथिवसतिस्वपतेर्ढञ् । पा० ४ । ४ । १०४ । वसति—ढञ् । निवासयोग्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) वह (सभायाम्) सभा [विद्वानों के समाज] में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ८

भावार्थ—विद्वान् लोग ही ईश्वर महिमा का विचार करते हैं ॥ ८ ॥

यन्त्यस्य सभां सभ्यो भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

यन्ति । अस्य । सभाम् । सभ्यः । भवति । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उसकी (सभाम्) सभा में (यन्ति) जाते हैं, वह (सभ्यः) सभ्य [सभा में] चतुर (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी, ईश्वर महिमा जानने वाला मनुष्य सभा में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ९ ॥

सोदक्रामत् सा समितौ न्यक्रामत् ॥ १० ॥

०सा । सम्-इतौ । नि । ० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (समितौ) संग्राम में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ १० ॥

भावार्थ—संग्राम में ईश्वर शक्ति का प्रादुर्भाव होता है ॥ १० ॥

यन्त्यस्य समितिं सामित्यो भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

०अस्य । सम्-इतिम् । साम्-इत्यः । भवति । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[लोग] (अस्य) उस के (समितिम्) संग्राम में (यन्ति) जाते हैं, वह (सामित्यः) संग्राम योग्य [शूर] (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का विश्वासी पुरुष संग्राम में विजय पाता है ॥ ११ ॥

८—(सभायाम्) विदुषां समाजे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(सभ्यः) सभाया यः । पा० ४ । ४ । १०५ । सभा—यप्रत्ययः । सभायां साधुः । सभासद् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

१०—(समितौ) संग्रामे—निघ० २ । १७ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(सामित्यः) परिषदो ण्यः । पा० ४ । ४ । १०१ । समिति—ण्य, बाहुलकात् । संग्रामे साधुः । शूरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सामन्त्रणे न्यक्रामत् ॥ १२ ॥

०सा । आ-मन्त्रणे । नि । अक्रामत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (आमन्त्रणे) अभिनन्दन स्थान में (नि अक्रामत्) नीचे उतरी ॥ १२ ॥

भावार्थ—बड़े लोगों की प्रशंसा में ईश्वर शक्ति दिखाई देती है ॥ १२ ॥

यन्त्यस्यामन्त्रणमामन्त्रणीयो भवति य एवं वेद १३(२५)

यन्ति। अस्य। आ-मन्त्रणम्। आ-मन्त्रणीयः। भवति। यः०।१३(२५)

भाषार्थ—[लोग] (अस्य) उसके (आमन्त्रणम्) अभिनन्दन में (यन्ति) जाते हैं, वह (आमन्त्रणीयः) अभिनन्दन योग्य (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—ईश्वर ज्ञानी पुरुष उच्च पद पाकर संसार में अभिनन्दन योग्य होते हैं ॥ १३ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः २)

१—१० ॥ विराड् देवता ॥ १, ८, ९, साम्न्यनुष्टुप् ; २ आर्षी बृहती; ३ याजुषी गायत्री; ४, ५, १० साम्नी बृहती; ६ आर्ची बृहती; ७ साम्नी पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदक्रामत् सान्तरिक्षे चतुर्धा विक्रान्तातिष्ठत् ॥१॥

०सा । अन्तरिक्षे । चतुः-धा । वि-क्रान्ता । अतिष्ठत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [विराट्] (उत् अक्रामत्) ऊपर चढ़ी, (सा) वह (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के बीच (चतुर्धा) चार प्रकार [चारों दिशाओं में] (विक्रान्ता) विक्रम [पराक्रम] करती हुई (अतिष्ठत्) ठहरी ॥ १ ॥

१२—(आमन्त्रणे) आङ्+मन्त्रि गुप्तपरिभाषणे—ल्युट् । सम्बोधने। अभिनन्दने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(आमन्त्रणीयः) आमन्त्रण-छ । अभिनन्दनीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(सा) विराट् (अन्तरिक्षे) आकाशे (चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण। चतसृषु दिक्षु (विक्रान्ता) विक्रमयुक्ता, पराक्रमिणी (अतिष्ठत्) स्थितवती ॥

भावार्थ—उस ईश्वर शक्ति के पुरुषार्थ से आकाश में लोक लोकान्तर उत्पन्न हुये हैं ॥ १ ॥

तां देवमनुष्या अब्रुवन्नियमेव तद् वेद यदुभयं उपजीवेमेमामुप ह्वयामहा इति ॥ २ ॥

ताम् । देव-मनुष्याः । अब्रुवन् । इयम् । एव । तत् । वेद । यत् । उभये । उप-जीवेम । इमाम् । उप । ह्वयामहे । इति ॥२॥

भाषार्थ—(ताम्) उस से (देवमनुष्याः) सब दिव्य लोक और मनुष्य (अब्रुवन्) बोले, "(इयम्) यह [विराट्] (एव) ही (तत्) वह [कर्म] (वेद) जानती है, (उभये) हम दोनों दल (यत् उपजीवेम) जिसके सहारे जीवें, (इति) बस (इमाम्) इसे (उपह्वयामहे) हम पास से पुकारें" ॥२॥

भावार्थ—सब सूर्य चन्द्र आदि लोक और मनुष्य आदि जीव ईश्वर शक्ति का व्याख्यान करते हैं ॥ २ ॥

तामुपाह्वयन्त ॥ ३ ॥ ताम् । उप । अह्वयन्त ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उसे (उप) पास से (अह्वयन्त) उन्हों ने बुलाया ॥३॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति का खोज करते हैं ॥ ३ ॥

ऊर्ज एहि स्वध एहि सूनृत एहीरावत्येहीति ॥ ४ ॥

ऊर्जे । आ । इहि । स्वधे । आ । इहि । सूनृते । आ । इहि । इरावति । आ । इहि । इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—"(ऊर्जे) हे बलवती ! (आ इहि) तू आ, (स्वधे) हे धन

२—(ताम्) विराजम् (देवमनुष्याः) सूर्यचन्द्रादिदिव्यलोका मनुष्यादिप्राणिनश्च (अब्रुवन्) अकथयन् (इयम्) विराट् (एव) (तत्) कर्म (वेद) जानाति (यत्) कर्म (उभये) उभादुदात्तो नित्यम् । पा० । २ । ५ । ४४ । उभ—तयप्स्थाने अयच् । द्विसमुदायिनो वयम् (उपजीवेम) आश्रित्य प्राणान् धारयेम (इमाम्) (उप) उपेत्य (ह्वयामहे) आह्वयाम (इति) ॥

३—(ताम्) (उप) उपेत्य (अह्वयन्त) आहूतवन्तः ॥

४—(ऊर्जे) ऊर्ज्—अर्श आद्यच्, टाप् । हे बलवति (एहि) आगच्छ

रखने वाली ! (आ इहि) तू आ, (सूनृते) हे प्रिय सत्य वाणी वाली ! (आ इहि) तू आ, (इरावति) हे अन्नवाली ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥४॥

भावार्थ—सब लोक लोकान्तर और प्राणी विराट् नाम ईश्वर शक्ति का आश्रय लेकर जीवन करते हैं ॥ ४ ॥

तस्या इन्द्रो वत्स आसीद् गायत्र्यभिधान्यभ्रमूधः ॥५॥

तस्याः । इन्द्रः । वत्सः । आसीत् । गायत्री । अभि-धानी । अभ्रम् । ऊधः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्याः) उस [विराट्] का (इन्द्रः) जीव (वत्सः) उपदेष्टा, (गायत्री) गान योग्य वेद विद्या (अभिधानी) कथन शक्ति (अभ्रम्) मेघ (ऊधः) सेचन सामर्थ्य (आसीत्) हुआ ॥ ५ ॥

भावार्थ—उस ईश्वर शक्ति विराट् के आश्रय सब प्राणी हैं ॥ ५ ॥

बृहच्च रथंतरं च द्वौ स्तनावास्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च द्वौ ॥ ६ ॥

बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । द्वौ । स्तनौ । आस्ताम् । यज्ञायज्ञियम् । च । वाम-देव्यम् । च । द्वौ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(बृहत्) बृहत् बड़ा [आकाश] (च च) और (रथन्तरम्)

(स्वधे) स्वं धनं दधातीति स्वधा, हे धनधारिके (सूनृते) अ० ३ । १२ । २ । सूनृत-अच् । सत्यप्रियवाग्युक्ते (इरावति) इरा, अन्नम्—निघ० २ । ७ । हे अन्नवति (इति) समाप्तौ ॥

५—(तस्याः) विराजः (इन्द्रः) इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्ट० । पा० ५ । २ । ९३ । जीवः (वत्सः) वद कथने—स । उपदेष्टा (आसीत्) (गायत्री) अ० ८ । ९ । १४ । गानयोग्या वेदवाणी (अभिधानी) कथनशक्तिः (अभ्रम्) मेघः (ऊधः) श्वेः संप्रसारणं च । उ० ४ । १९३ । वह प्रापणे—असुन्, यद्वा उन्दी क्लेदने-असुन्, ऊधादेशः । सेचनसामर्थ्यम् ॥

६—(बृहत्) प्रवृद्धमाकाशम् (च च) समुच्चये (रथन्तरम्) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । रमु क्रीडायाम्-क्थन् + संज्ञायां भृतॄवृजि० ।

रथन्तर [रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाला, जगत्] (द्वौ) दो, (च) और (यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों का हितकारी [वेदज्ञान] (च) और (वाम-देव्यम्) वामदेव [मनोहर परमात्मा] से जताया गया [भूतपञ्चक] (द्वौ) दो (स्तनौ) स्तन [थन समान] (आस्ताम्) हुये ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे गौ के चार थन होते हैं, वैसेही ईश्वर शक्तिसे आकाश, जगत्, वेद; और पञ्चभूत प्रकट हुये हैं ॥ ६ ॥

ओषधीरेव रथंतरेण देवा अदुहून् व्यचो बृहता ॥७॥

ओषधीः । एव । रथम्-तरेण । देवाः । अदुहन् । व्यचः । बृहता ॥ ७ ॥

अपो वामदेव्येन यज्ञं यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

अपः । वाम-देव्येन । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियेन ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) गतिमान् लोकों ने (एव) अवश्य (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को (रथन्तरेण) रथन्तर [रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाले जगत्] द्वारा, (व्यचः) विस्तार को (बृहता) बृहत् [बड़े आकाश] द्वारा, (अपः) प्रजाओं को (वामदेव्येन) वामदेव [मनोहर परमात्मा] से जताये गये [भूतपञ्चक] द्वारा और (यज्ञम्) यज्ञ [संयोग वियोग आदि]

पा० ३ । २ । ४६ । तॄ प्लवनतरणयोः—खच्, मुम् च । रथैः रमणीयपदार्थैस्तरति येन तद् जगत् (द्वौ) (स्तनौ) स्तन शब्दे—अच् । कुचरूपौ (आस्ताम्) (यज्ञायज्ञियम्) वीप्सायां द्वित्वम् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ३ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ । पा० ५ । १ । ७१ । यज्ञायज्ञ—घप्रत्ययः । सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो हितं वेदज्ञानम् (वामदेव्यम्) अ० ४ । ३४ । १ । वामदेवेन प्रशस्यपरमात्मना विज्ञापितं भूतपञ्चकम् (च) (द्वौ) ॥

७, ८—(ओषधीः) अन्नादिपदार्थान् (एव) अवश्यम् (रथन्तरेण) म० ।६ । जगद्द्वारा (देवाः) गतिशीला लोकाः (अदुहन्) अदुहन् । प्रपूरितवन्तः (व्यचः) निरु० ८ । १० । विस्तारम् (बृहता) म० ६ । प्रवृद्धेनाकाशेन (अपः) प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । उत्पन्नान् पदार्थान् (वामदेव्येन) म० ६ । मनोहरेण परमात्मना विज्ञापितेन भूतपञ्चकेन (यज्ञम्) संयोगवियोग-

की (यज्ञायज्ञियेन) सब यज्ञों के हितकारी [वेदज्ञान] द्वारा (अदुहन्) दुहा है ॥ ७, ८ ॥

भावार्थ—उसी विराट् ईश्वर शक्ति से सब लोक लोकान्तरों का जीवन और स्थिति है ॥ ७, ८ ॥

ओषधीरेवास्मै रथंतरं दुहे व्यचो बृहत् ॥ ९ ॥

ओषधीः । एव । अस्मै । रथम्-तरम् । दुहे । व्यचः । बृहत् ॥ ९ ॥

अपो वामदेव्यं यज्ञं यज्ञायज्ञियं य एवं वेद ॥ १० ॥ २६

अपः । वाम-देव्यम् । यज्ञम् । यज्ञायज्ञियम् । यः ।०॥ १० ॥ (२६)

भाषार्थ—(रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय पदार्थों से पार लगाने वाला, जगत्] (एव) ही (व्यचः) विस्तृत (बृहत्) बृहत् [बड़े आकाश] से (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों को, और (अपः) सब प्रजाओं और (वामदेव्यम्) वामदेव [मनोहर परमात्मा] से जताये गये [पंचभूत] से (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार और (यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों के हितकारी [वेदज्ञान] को (अस्मै) उस [पुरुष] के लिये (दुहे) दोहता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ९,१० ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष को संसार के सब पदार्थ सुखदायक होते हैं ॥ ९, १० ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ३) ॥

१-८ ॥ विराड् देवता ॥ १ आर्ची पङ्क्तिः, २ आर्च्यनुष्टुप्, ३, ५, ७ प्राजापत्या पङ्क्तिः; ४, ६, ८ प्राजापत्या त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

व्यवहारम् (यज्ञायज्ञियेन) म० ६ । सर्वयज्ञेभ्यो हितेन वेदज्ञानेन ॥

९,१०—(अस्मै) ब्रह्मज्ञानिने (दुहे) द्विकर्मकः । दुग्धे । प्रपूरयति (व्यचः) विस्तृतम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा वनस्पतीनागच्छत् तां वनस्पतयोऽघ्नत सा संवत्सरे समभवत् ॥ १ ॥

०सा । वनस्पतीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । वनस्पतयः । अघ्नत । सा । सम्-वत्सरे । सम् । अभवत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [वृक्ष आदि पदार्थों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (वनस्पतयः) वनस्पतियाँ (अघ्नत) प्राप्त हुईं, (सा) वह (संवत्सरे) संवत्सर [वर्ष काल] में (सम् अभवत्) संयुक्त हुई ॥ १ ॥

भावार्थ—विराट्, ईश्वर शक्ति का प्रादुर्भाव वृक्ष आदि पदार्थों में है।१

तस्माद् वनस्पतीनां संवत्सरे वृक्णमपि रोहति वृश्चते ऽस्याप्रियो भ्रातृव्यो य एवं वेद ॥ २ ॥

तस्मात् । वनस्पतीनाम् । सम्-वत्सरे । वृक्णम् । अपि । रोहति । वृश्चते । अस्य । अप्रियः । भ्रातृव्यः । यः । ०॥२॥

भाषार्थ—(तस्मात्) इसी लिये (संवत्सरे) वर्ष भर में (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (वृक्णम्) खण्डित अंश (अपि रोहति) भर जाता है, (अस्य) उसका (अप्रियः) अप्रिय (भ्रातृव्यः) भ्रातृ भाव से रहित [शत्रु, मनोदोष] (वृश्चते) कट जाता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥२॥

भावार्थ—ब्रह्म ज्ञानी पुरुष अन्न आदि पदार्थों की न्यूनता की पूर्णता वर्ष भर में वृष्टि द्वारा देखकर आत्मिक दोषों के त्याग से ज्ञान की पूर्त्ति द्वारा ईश्वर शक्ति का अनुभव करते हैं ॥ २ ॥

१—(वनस्पतीन्) वृक्षादिपदार्थान् (आ अगच्छत्) आगतवती (ताम्) विराजम् (वनस्पतयः) (अघ्नत) हन हिंसागत्योः । अघ्नन् । अगच्छन् (सा) (संवत्सरे) संवसन्ति ऋतवोऽत्र, सम्+वस-सरन् । द्वादशमासात्मके काले (सम् अभवत्) समगच्छत् । अन्यद् गतम् ॥

२—(तस्मात्) कारणात् (वृक्णम्) ओ व्रश्चू छेदने-क्त । खण्डित-भागः (अपि रोहति) प्रपूर्य्यते (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते (अस्य) ब्रह्मवादिनः । (अप्रियः) अहितः (भ्रातृव्यः) व्यन्सपत्ने पा० ४ । १ । १४५ भ्रातृ-व्यन् । भ्रातृभावरहितः । शत्रुः । मनोदोषः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा पितृनागच्छत् तां पितरोऽघ्नत साम्मासि समभवत् ॥ ३ ॥

०सा । पितृन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । अघ्नत । सा । मासि । सम् । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (पितृन्) ऋतुओं में (आ अगच्छत्) आई, (ताम्) उसको (पितरः) ऋतुयें (अघ्नत) प्राप्त हुये, (सा) वह (मासि) महीने में [वा चन्द्रमा में] (सम् अभवत्) संयुक्त हुई ॥ ३ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति की महिमा ऋतु आदि कालों में प्रकट है ॥ ३ ॥

तस्मात् पितृभ्यो मास्युपमास्यं ददति प्र पितृयाणं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ४ ॥

तस्मात् । पितृ-भ्यः । मासि । उप-मास्यम् । ददति । प्र । पितृ-यानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) इसी कारण (पितृभ्यः) ऋतुओं को [वा ऋतुओं से] (मासि) महीने महीने (उपमास्यम्) चन्द्रमा में रहने वाले अमृत को वे [ईश्वर नियम] (ददति) देते हैं, वह (पितृयाणम्) ऋतुओं के चलने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्र जानाति) जान लेता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ऋतुओं के गुणों को जानकर मनुष्य ऋतुओं की सूक्ष्म अवस्था जान लेता है ॥ ४ ॥

३—(पितृन्) ऋतून्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ८ । ६० । (पितरः) ऋतवः (मासि) मासे मासे । चन्द्रमसि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(पितृभ्यः) ऋतूनामर्थम् । ऋतूनां सकाशात् (मासि) मासे (उपमास्यम्) मासि चन्द्रमसि प्रभवममृतम् (ददति) प्रयच्छन्ति, ईश्वरनियमा इति शेषः (प्र) प्रकर्षेण (पितृयाणम्) ऋतुभिर्गमनीयम् (पन्थाम्) मार्गम् । अन्यत् सुगमम् ॥

सोदक्रामत् सा देवानागच्छत् तां देवा अघ्नत सार्ध-मासे समभवत् ॥ ५ ॥

०सा । देवान् । आ । अगच्छत् । ताम् । देवाः । अघ्नत । सा । अर्ध-मासे । सम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (देवान्) सूर्य की किरणों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (देवाः) किरणें (अघ्नत) प्राप्त हुये, (सा) वह (अर्धमासे) आधे महीने [पखवाड़े] में (सम् अभवत्) संयुक्त हुयी ॥ ५ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति किरणों द्वारा अर्ध मास आदि समय उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

तस्माद् देवेभ्योऽर्धमासे वषट् कुर्वन्ति प्र देवयानं पन्थां जानाति य एवं वेद ॥ ६ ॥

तस्मात् । देवेभ्यः । अर्ध-मासे । वषट् । कुर्वन्ति । प्र । दे-वयानम् । पन्थाम् । जानाति । यः । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) इस लिये (देवेभ्यः) किरणों को [वा किरणों से] (अर्धमासे) आधे महीने में (वषट्) रस पहुंचाना वे [ईश्वर नियम] (कुर्वन्ति) करते हैं, वह (देवयानम्) किरणों के जाने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्र जानाति) जान लेता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष किरणों और अर्धमास आदि के सम्बन्ध को यथावत् जान लेता है ॥ ४ ॥

५—(देवान्) देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा-निरु० ७ । १५ । देवाः रश्मयः, इति दुर्गाचार्यनिरुक्तटीकायाम्-१२ । ३६ । आदित्यरश्मीन् (अर्धमासे) मासपक्षकाले । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(देवेभ्यः) किरणानामर्थं किरणानां सकाशाद्वा (वषट्) अ० १ । ११ । १ । वह प्रापणे-डषटि । रसप्रापणम् (कुर्वन्ति) निष्पादयन्ति (देवयानम्) किरणैर्गन्तव्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याः३ नागच्छत् तां मनुष्या अघ्नत सा सद्यः समभवत् ॥ ७ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । अघ्नत । सा । सद्यः । सम् । अभवत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (मनुष्यान्) मननशील मनुष्यों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (मनुष्याः) मनुष्य (अघ्नत) प्राप्त हुये, (सा) वह (सद्यः) तुरन्त ही (सम् अभवत्) [उनमें] संयुक्त हुयी ॥ ७ ॥

भावार्थ—मननशील पुरुष ईश्वर शक्ति का अनुभव तुरन्त कर लेते हैं ॥ ७ ॥

तस्मान्मनुष्येभ्य उभयद्युरुपं हरन्त्युपास्य गृहे हरन्ति य एवं वेद ॥ ८ ॥ (२७)

तस्मात् । मनुष्ये-भ्यः । उभय-द्युः । उप । हरन्ति । उप । अस्य । गृहे । हरन्ति । यः । ० ॥ ८ ॥ (२७)

भाषार्थ—(तस्मात्) इसी लिये (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों को (उभयद्युः) दोनों दिन [प्रति दिन] वे [ईश्वर नियम] (उप हरन्ति) उपहार देते हैं, (अस्य) उसके (गृहे) घर में वे [ईश्वर नियम] (उप हरन्ति) उपहार देते हैं, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ईश्वर का विचार करने वाले पुरुष सब कुटुम्बियों सहित उत्तम पदार्थों से आनन्द भोगते हैं ॥ ८ ॥

७—(मनुष्यान्) मननशीलान् मनुष्यान् (सद्यः) अ० २ । १ । ४ । तत्क्षणम् । अन्यत् सुगमम् ॥

८—(उभयद्युः) अ० ७ । ११६ । २ । उभयदिनयोः । प्रतिदिनमित्यर्थः । (उप हरन्ति) उपहारेण ददति श्रेष्ठपदार्थान् (गृहे) गेहे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ४) ॥

१—१६ ॥ विराड् देवता ॥ १, ४, ५, ८, ९ साम्नी जगती; २, ६, १०, १५ साम्नी बृहती; ३ याजुषी जगती; ७, ११, १४ साम्न्युष्णिक्; १२ आर्ची त्रिष्टुप्; १३ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; १६ आर्षी जगती ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदक्रामत् सासुरानागच्छत् तामसुरा उपाह्वयन्त माय एहीति ॥ १ ॥

सा । असुरान् । आ । अगच्छत् । ताम् । असुराः । उप । अह्वयन्त । माये । आ । इहि । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (असुरान्) असुरों [बुद्धिमानों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (असुराः) असुरों [बुद्धिमानों] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(माये) हे बुद्धि ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥

भावार्थ—सब बुद्धिमान् लोग विराट्, ईश्वरशक्ति का विचार करते रहते हैं ॥ १ ॥

माया=प्रज्ञा निघ० ३ । ९ । असुर=प्रज्ञावान् वा प्राणवान्—निरु० १० । ३४ ॥

तस्या विरोचनः प्राह्रादिर्वत्स आसीदयस्पात्रं पात्रम् ॥२॥

तस्याः । वि-रोचनः । प्राह्रादिः । वत्सः । आसीत् । अयः-पात्रम् । पात्रम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्राह्रादिः) प्रह्लाद [बड़े आनन्द वाले परमेश्वर] करके बनाया गया (विरोचनः) विरोचन [विविध चमकने वाला संसार] (तस्याः)

१—(सा) पूर्वोक्ता विराट् (असुरान्) असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वा—निरु० १० । ३४ । प्रज्ञावतः पुरुषान् (असुराः) प्रज्ञावन्तः (उप) समीपे (अह्वयन्त) आहूतवन्तः (माये) प्रज्ञे—निघ० ३ । ९ । (आ इहि) आगच्छ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२—(तस्याः) विराजः (विरोचनः) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ७८ । रुच् दीप्तौ प्रीतौ च—युच् । विविधं दीप्यमानः । सूर्यः । अग्निः । चन्द्रः । संसारः

उस [विराट्] का (वत्सः) निवास और (अयस्पात्रम्) सुवर्ण का पात्र [तेजवाले लोकों का आधार हिरण्यगर्भ, परब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ २ ॥

भावार्थ–विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की शक्ति को विविध प्रकार संसार में देखते हैं ॥ २ ॥

तां द्विमूर्धार्त्व्योऽधोक् तां मायामेवाधोक् ॥ ३ ॥

ताम् । द्वि-मूर्धा । आर्त्व्यः । अधोक् । ताम् । मायाम् । एव । अधोक् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (आर्त्व्यः) गति में चतुर (द्विमूर्धा) दो बन्धन वाले [संचित और क्रियमाण कर्म वाले जीव] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उस (मायाम्) माया [बुद्धि] को (एव) ही (अधोक्) दुहा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—संचित अर्थात् पूर्वजन्म के फल और आचार्य आदि से संगृहीत शिक्षारूप फल और दूसरे क्रियमाण कर्म जो पूर्व संस्कार के अनुसार किये जाते हैं, इन दोनों प्रकार के कर्मों द्वारा मनुष्य परमेश्वर की शक्ति के अभ्यास से आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

(प्राह्लादिः) ह्लादी सुखे शब्दे च-अच् । लस्य रः । अत इञ् । पा० ४ । १ । ६५ । प्रह्लाद-इञ् । तेन निर्वृत्तम् । पा० ४ । २ । ६८ । प्रह्लादेन आह्लादकेन परमात्मना निर्वृत्तः साधितः (वत्सः) वस निवासे-सप्रत्ययः । निवासः (आसीत्) (अयस्पात्रम्) अयो हिरण्यम्-निघ० । १ । २ । सुवर्णपात्रम् । हिरण्यानां तेजसामाधारः । हिरण्यगर्भः । परब्रह्म (पात्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । पा रक्षणे—ष्ट्रन् । रक्षासाधनम् ॥

३—(ताम्) विराजम् (द्विमूर्धा) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्क्लेदन्स्नेहन् मूर्धन्० । उ० । १ । १५६ । मुर्वी बन्धने—कनिन्, उकारस्य दीर्घः, वकारस्य धः । संचितक्रियमाणकर्मभ्यां द्विबन्धनो जीवः (आर्त्व्यः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । ऋत गतौ जुगुप्सायां कृपायां च-उप्रत्ययः । तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ६८ । अर्त्तु-यत् । ऋत्व्यवास्त्व्य० । पा । ६ । ४ । १७५ । उकारस्य यण् निपातनात् । गतौ साधुः (अधोक्) दुह प्रपूरणे—लङ् । दुग्धवान् (ताम्) (मायाम्) बुद्धिम् विराजम् (एव) ॥

तां मायामसुरा उप जीवन्त्युपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ ४ ॥

ताम् । मायाम् । असुराः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । भवति । यः ।०॥ ४ ॥

भाषार्थ—(असुराः) असुर [बुद्धिमान्] (ताम्) उस (मायाम्) माया [बुद्धि] का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं, (उपजीवनीयः) वह [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥४॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष ईश्वर शक्ति को साक्षात् करके अपनी और दूसरों की उन्नति करते हैं ॥ ४ ॥

सोदक्रामत् सा पितॄनागच्छत् तां पितर उपाह्वयन्त स्वध एहीति ॥ ५ ॥

०सा पितॄन् । आ । अगच्छत् । ताम् । पितरः । उप । अह्वयन्त । स्वधे । आ । इहि ।०॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (पितॄन्) पालन करने वाले [सूर्य आदि लोकों] में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (पितरः) पालने वाले [लोकों] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(स्वधे) हे आत्मधारण शक्ति ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥५॥

भावार्थ—सब सूर्य आदि लोक ईश्वर शक्ति से धारण आकर्षण द्वारा पुष्ट होकर स्थित हैं ॥ ५ ॥

तस्या यमो राजा वत्स आसीद् रजतपात्रं पात्रम् ।६।

४—(ताम्) (मायाम्) बुद्धिम् (असुराः) म० १। बुद्धिमन्तः (उप जीवन्ति) आश्रित्य प्राणान् धारयन्ति (उपजीवनीयः) उप+जीव प्राणधारणे-अनीयर्। उपजीव्यः। आश्रयः। अन्येषां जीवनोपायः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(पितॄन्) पालकान् सूर्यादिलोकान् (पितरः) पालका लोकाः (स्वधे) अ० २। २९। ७। हे आत्मधारणशक्ते। अन्यत् पूर्ववत् ॥

तस्याः । य॒मः । राजा॑ । व॒त्सः । आसी॑त् । र॒ज॒त॒-पा॒त्रम् । पात्र॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यमः) नियमवान् (राजा) राजा [यह प्राणी] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा, और (रजतपात्रम्) प्रीति वा ज्ञान वा पूजा का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षासाधन (आसीत्) था ॥ ६ ॥

भावार्थ—न्यायी धार्मिक पुरुष सूर्य आदि लोकों में ईश्वर शक्ति देखकर परब्रह्म में अनुराग करते हैं ॥ ६ ॥

तामन्त॑को मा॒र्त्य॒वो॒ऽधो॑क् तां स्व॒धाम्े॒वाधो॑क् ॥ ७ ॥

ताम् । अन्त॑कः । मा॒र्त्य॒वः । अ॒धो॒क् । ताम् । स्व॒धाम् । ए॒व अ॒धो॒क् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (अन्तकः) मनोहर करने वाले (मार्त्यवः) मृत्यु के स्वभाव जानने वाले [जीव] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उससे (स्वधाम्) आत्मधारण शक्ति को (एव) भी (अधोक्) दुहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मृत्यु के तत्त्ववेत्ता पुरुष ईश्वर महिमा से अमृत [पुरुषार्थ] प्राप्त करके अमर होते हैं ॥ ७ ॥

तां स्व॒धां पि॒तर॒ उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ८ ॥

६—(यमः) नियमवान् प्राणी (राजा) ऐश्वर्यवान् (वत्सः) वद व्यक्तायां वाचि-स । उपदेष्टा (रजतपात्रम्) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । रञ्ज रागे-अतच् । अथवा रजति गतिकर्मा—निघ० २ । १४, रजयति रञ्जयति अर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । पूर्ववत्—अतच् । प्रीतिपात्रम् । ज्ञानाधारः । पूजाधारः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(अन्तकः) अ० ८ । १ । १ । मनोहरकरो जीवः (मार्त्यवः) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ ५९ । मृत्युस्वभाववेत्ता (ताम्) तस्याः सकाशात् इत्यर्थः (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (अधोक्) द्विकर्मकः । दुग्धवान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ताम् । स्वधाम् । पितरः । उप । जीवन्ति । उप-जीवनीयः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पितरः) पालने वाले [सूर्य आदि लोक] (ताम्) उस (स्वधाम्) आत्मधारण शक्ति [विराट्] का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते, हैं (उपजीवनीयः) वह [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष सूर्य आदि लोकों में ईश्वर शक्ति देखकर उस के आश्रित रह कर सब की उन्नति करते हैं ॥ ८ ॥

सोदक्रामत् सा मनुष्याँ३ नागच्छत् तां मनुष्या३ उपाह्वयन्तेरावत्येहीति ॥ ९ ॥

०सा । मनुष्यान् । आ । अगच्छत् । ताम् । मनुष्याः । उप । अह्वयन्त । इरा-वति । आ । इहि । ०॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (मनुष्यान्) मनुष्यों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (मनुष्याः) मनुष्यों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(इरावति) हे अन्नवती ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ ९ ॥

भावार्थ—मननशील पुरुष ईश्वर शक्ति विराट् का विचार बड़े प्रेम से करते हैं ॥ ९ ॥

तस्या मनुर्वैवस्वतो वत्स आसीत् पृथिवी पात्रम् ॥१०॥

तस्याः । मनुः । वैवस्वतः । वत्सः । आसीत् । पृथिवी । पात्रम् ॥१०॥

भाषार्थ—(वैवस्वतः) मनुष्यों का [स्वभाव] जानने वाला (मनुः)

८—(स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (पितरः) पालका सूर्यादिलोकाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(मनुष्यान्) मननशीलान् (इरावति) इण् गतौ—रन् । इरा=अन्नम्-निघ० २ । ७ । हे अन्नवति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(मनुः) मनुर्मननात्—निरु० १२ । ३३ । मननशीलः पुरुषः (वैव-

मननशील मनुष्य (तस्याः) उसका (वत्सः) उपदेष्टा और (पृथिवी) विस्तार करने वाला [परमेश्वर] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥१०॥

भावार्थ—विचारवान् पुरुष परमेश्वर की महिमा जान कर उसका उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

तां पृथी वैन्योऽधोक् तां कृषिं च सस्यं चाधोक् ॥११

ताम् । पृथी । वैन्यः । अधोक् । ताम् । कृषिम् । च । सस्यम् । च । अधोक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उसको (वैन्यः) बुद्धिमानों के पास रहने वाले (पृथी) विस्तारवान् पुरुष ने (अधोक्) दुहा है और (ताम्) उससे (कृषिम्) खेती (च च) और (सस्यम्) धान्य को (अधोक्) दुहा है ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वान् आचार्य्यों से शिक्षा पाकर परमेश्वर की शक्ति द्वारा अनेक लाभ उठाते हैं ॥ ११ ॥

ते कृषिं च सस्यं च मनुष्या३ उप जीवन्ति कृष्टराधिरुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ते । कृषिम् । च । सस्यम् । च । मनुष्याः । उप । जीवन्ति । कृष्ट-राधिः । उपजी-वनीयः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(मनुष्याः) मनुष्य (ते) उन दोनों (कृषिम्) खेती (च

स्वतः) विवस्वन्तो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । मनुष्यस्वभाववेत्ता (वत्सः) म० ६ । उपदेष्टा (पृथिवी) अ० १ । २ । १ । प्रथ विस्तारे—पिवन् , ङीप् । सर्वजगद्विस्तारकः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(पृथी) प्रथ विस्तारे । घञर्थे कविधानं सम्प्रसारणं च । मत्वर्थे—इनि । विस्तारवान् (वैन्यः) अ० २ । १ । १ । वेनो मेधावी—निघ० २ । १५ । अदूरभवश्च । पा० ४ । २ । ७० । इति ण्य । मेधाविनां समीपस्थः (कृषिम्) अ० ३ । १२ । ४ । भूमिकर्षणम् (सस्यम्) अ० ७ । ११ । १ । धान्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२— (कृष्टराधिः) कृष विलेखने—क। सर्वधातुभ्य-इन् । उ० ४ । ११८ ।

च.) और (सस्यम्) धान्य का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, (कृष्टराधिः) वह खेती में सिद्धि वाला (उपजीवनीयः) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी ज्ञानी पुरुष उत्तम कर्म से उत्तम फल पाकर किसानों के समान उपकारी होते हैं ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा संप्तऋषीनागच्छत् तां संप्तऋषय उपाह्वयन्त ब्रह्मण्वत्येहीति ॥ १३ ॥

०सा । सप्त-ऋषीन् । आ । अगच्छत् । ताम् । सप्त-ऋषयः । उप । अह्वयन्त । ब्रह्मण्-वति । आ । इहि । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (सप्तऋषीन्) सात ऋषियों में [व्यापन शील वा दर्शन शील अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि में–अ० ४ । ११ । ९] (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उस को (सप्तऋषयः) सात ऋषियों [त्वचा आदि] ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, " (ब्रह्मण्वति) हे वेदवती ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस " ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों द्वारा ईश्वर शक्ति का अनुभव करके ब्रह्मविद्या प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

तस्याः सोमो राजा वत्स आसीच्छन्दः पात्रम् ॥ १४ ॥

तस्याः । सोमः । राजा । वत्सः । आसीत् । छन्दः । पात्रम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(राजा) राजा (सोमः) सुख उत्पन्न करने द्वारा [जीवा-

राध संसिद्धौ–इन् । भूमिकर्षणसाधकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(सप्तऋषीन्) अ० ४ । ११ । ९ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी–निरु० १२ । ३७ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीः (सप्तऋषयः) पूर्वोक्ताः त्वक्चक्षुरादयः (ब्रह्मण्वति) अ० ६ । १०८ । २ । हे वेदवति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात् ; सोम आत्माप्येतस्मादेव–निरु०

त्मा] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (छन्दः) स्वतन्त्रता [रूप ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह जीवात्मा परमेश्वर की स्वतन्त्रता में अनन्त शक्ति साक्षात् करके आनन्द पाता है ॥ १४ ॥

तां बृहस्पतिराङ्गिरसो॑ऽधोक् तां ब्रह्म॑ च तप॑श्चाधोक् ॥१५॥

ताम् । बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । अधोक् । ताम् । ब्रह्म॑ । च । तप॑ः । च । अधोक् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) महाज्ञानी परमेश्वर के जानने वाले (बृहस्पतिः) बड़े बड़े गुणों के रक्षक पुरुष ने (ताम्) उस [विराट्] को (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उसी से (ब्रह्म) वेद (च च) और (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि व्रत वा ऐश्वर्य] को (अधोक्) दुहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष ईश्वर शक्ति से वेद और सामर्थ्य प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

तद् ब्रह्म॑ च तप॑श्च सप्तऋ॒षय॒ उप॑ जीवन्ति ब्रह्मवर्च॒स्यु॑पजीवनीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १६ ॥ (२८)

तत् । ब्रह्म॑ । च । तप॑ः । च । सप्त-ऋ॒षय॑ः । उप॑ । जीवन्ति । ब्रह्म-वर्च॒सी । उप-जीवनीय॑ः । ० ॥ १६ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सप्तऋषयः) सात ऋषि [त्वचा आदि—म० ४] (तत्) उस (ब्रह्म) वेद (च च) और (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि व्रत वा

---

१४ । १२ । सुखोत्पादको जीवात्मा (राजा) ऐश्वर्यवान् (छन्दः) स्वातन्त्र्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहतां गुणानां रक्षकः (आङ्गिरसः) अ० ५ । १६ । २ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । अङ्गिरस्-अण् । आङ्गिरसः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य वेत्ता (ब्रह्म) वेदम् (तपः) ब्रह्मचर्यादिव्रतम् । ऐश्वर्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६ (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । पा० ५ । ४ । ७८ . अच्

ऐश्वर्य] का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, (ब्रह्मवर्चसी) वेद विद्या से प्रकाशवाला (उपजीवनीयः) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष वेदविद्या और तपश्चरण से तेजस्वी होकर आनन्द भोगते हैं ॥ १६ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ५) ॥

१—१६ ॥ विराड् देवता ॥ १, ६ आर्च्युष्णिक्, २, ३ साम्न्युष्णिक्; ४, १३, १६ प्राजापत्या पङ्क्तिः; ५, ८ आर्ची त्रिष्टुप्; ७, १०, १४ प्राजापत्या बृहती; ६ आर्ची पङ्क्तिः; ११ आर्ची गायत्री १२ आर्ची जगती; १५ साम्न्यनुष्टुप् ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः—ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

सोदंक्रामत् सा दे॒वानाग॑च्छ॒त् तां दे॒वा उपा॑ह्वयन्तोर्ज॒ एह्ीति ॥ १ ॥

०सा । दे॒वान् । आ । अ॒ग॒च्छ॒त् । ताम् । दे॒वाः । उप॑ । अ॒ह्व॒य॒न्त॒ । ऊर्जे॑ । आ । इ॒हि॒ । ० ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (देवान्) विजय चाहने वाले पुरुषों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (देवाः) विजय चाहने वालों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(ऊर्जे) हे बलवती ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस " ॥ १ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय विजयी पुरुष ईश्वर महिमा में आनन्द पाते हैं ॥ १ ॥

तस्या॒ इन्द्रो॑ व॒त्स आसी॑च्चम॒सः पात्र॑म् ॥ २ ॥

तस्याः॑ । इन्द्रः॑ । व॒त्सः । आसी॑त् । च॒म॒सः । पात्र॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् जीव (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा, और (चमसः) अन्न का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ २ ॥

समासान्तः, तत इति । वेदविद्याप्रदीप्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(देवान्) विजिगीषून् (देवाः) विजिगीषवः (ऊर्जे) पर्यायः २ म० ४ । हे बलवति । शिष्टं पूर्ववत् ॥

२-(चमसः) अ० ६ । ४७ । ३ । अन्नाधारः परमेश्वरः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष परमेश्वर शक्ति का सदा उपदेश करते हैं॥२

तां दे॒वः स॑वि॒ताधो॑क् तामू॒र्जामे॒वाधो॑क् ॥ ३ ॥

ताम् । दे॒वः । स॒वि॒ता । अ॒धो॒क् । ताम् । ऊ॒र्जाम् । ए॒व । अ॒धो॒क् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (देवः) ज्ञानी (सविता) सर्व प्रेरक पुरुष ने (अधोक्) दुहा है, (ताम् ऊर्जाम्) उस बलवती को (एव) अवश्य (अधोक्) दुहा है ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषार्थी पुरुष ईश्वर शक्ति से उपकार लेते हैं ॥ ३ ॥

तामू॒र्जां दे॒वा उप॑ जीवन्त्युपजीव॒नीयो॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ४ ॥

ताम् । ऊ॒र्जाम् । दे॒वाः । उप॑ । जी॒व॒न्ति॒ । उ॒प॒ऽजी॒व॒नीयः॑ ।०॥४॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (ताम् ऊर्जाम्) उस बलवती का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, (उपजीवनीयः) वह [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ईश्वर महिमा से मनुष्य विजय पाते हैं, ऐसा जानने वाला पुरुष सदा उपकारी होता है ॥ ४ ॥

सोद॑क्रामत् सा ग॑न्धर्वाप्स॒रस॒ आग॑च्छ॒त् तां ग॑न्धर्वा-प्स॒रस॒ उपा॑ह्वयन्त॒ पुण्य॑गन्ध॒ एहीति॑ ॥ ५ ॥

०सा । ग॒न्ध॒र्व॒ऽअ॒प्स॒रसः॑ । आ । अ॒ग॒च्छ॒त् । ताम् । ग॒न्ध॒र्व॒ऽअ॒प्स॒रसः॑ । उप॑ । अ॒ह्व॒य॒न्त॒ । पुण्य॑ऽगन्धे । आ । इ॒हि॒ ।०॥५॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा)

३-(देवः) गतिमान् । ज्ञानवान् (सविता) सर्वप्रेरकः पुरुषः (ऊर्जाम्) बलवतीम् (एव) अवश्यम् । अन्यद् गतम् ॥

४—(उपजीवनीयः) अन्येषामाश्रयणीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५-([illegible]) अ० ८ । ८ । १५ । गा इन्द्रियाणि धरन्ति ये ते

वह (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सरों में [इन्द्रिय रखने वालों और प्राणों द्वारा चलने वाले जीवों में] (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (गन्धर्वाप्सरसः) इन्द्रिय रखने वालों और प्राणों द्वारा चलने वाले जीवों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(पुण्यगन्धे) हे पवित्र ज्ञानवाली (आ इहि) तू आ, (इति) वसे " ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति के आधार रहते हैं ॥ ५ ॥

तस्याश्चित्ररथः सौर्यवर्चसो वत्स आसीत् पुष्करपर्णं पात्रम् ॥ ६ ॥

तस्याः । चित्र-रथः । सौर्य-वर्चसः । वत्सः । आसीत् । पुष्कर-पर्णम् । पात्रम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सौर्यवर्चसः) सूर्य का प्रकाश जानने वाला (चित्ररथः) विचित्र रमणीय गुणों वाला [जीव] (तस्याः) उसका (वत्सः) उपदेष्टा और (पुष्करपर्णम्) पुष्टि का पूर्ण करने वाला ब्रह्म (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य आदि लोकों की विद्या जानने वाला पुरुष परमेश्वर शक्ति का व्याख्यान करता है ॥ ६ ॥

तां वसुरुचिः सौर्यवर्चसोऽधोक् तां पुण्यमेव गन्धमधोक् ॥ ७ ॥

ताम् । वसु-रुचिः । सौर्य-वर्चसः । अधोक् । ताम् । पुण्यम् । एव । गन्धम् । अधोक् ॥ ७ ॥

गन्धर्वा, अद्भिः प्राणैः सह सरन्ति ये ते अप्सरसः, तान् जीवान् (पुण्यगन्धे) अ० ४ । ५ । ३ । हे पवित्रगते शुद्धज्ञाने । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(चित्ररथः) विचित्ररमणीयगुणो जीवः (सौर्यवर्चसः) तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । सूर्यवर्चस्-अण् । सूर्यस्य प्रकाशवेत्ता (पुष्करपर्णम्) पुषः कित् । उ० ४ । ४ । पुष पोषणे-करन् । धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः-न । पुष्टिपूरकं ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (सौर्यवर्चसः) सूर्य के प्रकाश जानने वाला (वसुरुचिः) वसु [सब के निवास परमेश्वर] में रुचि वाले [जीव] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम् एव) उससे ही (पुण्यम्) पवित्र (गन्धम्) ज्ञान को (अधोक्) दुहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष ईश्वर शक्ति से अनेक ज्ञान प्राप्त करता है ।७।

तं पुण्यं गन्धं गन्धर्वाप्सुरस उपं जीवन्ति पुण्यंगन्धि-रुपजीवनीयो भवति य एवं वेदं ॥ ८ ॥

तम् । पुण्यम् । गन्धम् । गुन्धर्व-श्रुप्सरसः । उपं । जीवन्ति । पुण्यं-गन्धिः । उप-जीवनीयः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व और अप्सर लोग [इन्द्रिय रखने वाले और प्राण द्वारा चलने वाले जीव] (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (गन्धम्) ज्ञान का (उप जीवन्ति) सहारा लेकर जीते हैं, वह (पुण्यगन्धिः) पवित्र ज्ञान वाला [पुरुष] [दूसरों का] (उप जीवनीयः) आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब प्राणी ईश्वर शक्ति से ही जीते हैं, ऐसा ज्ञानी पुरुष परोपकारी होता है ॥ ८ ॥

सोदंक्रामत् सेतंरजुनानागंच्छत् तामितरजुना उपांह्वयन्त तिरोध एहीति ॥ ९ ॥

०सा । इतर-जनान् । आ । अगुच्छत् । ताम् । इतर-जनाः ।

७—(ताम्) विराजम् (वसुरुचिः) वसौ सर्वनिवासे जगदीश्वरे रुचिः प्रीतिर्यस्य स जीवः (गन्धम्) गन्ध गतिहिंसायाचनेषु-अच् । बोधम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(तम्) पूर्वोक्तम् (गन्धर्वाप्सरसः) म० ५ । इन्द्रियधारकाः प्राणैः सह च सरणशीला जीवाः (पुण्यगन्धिः) अ० ४ । ५ । २ । पवित्रज्ञानयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

उप । अह्वयन्त । तिरः-धे । आ । इहि ॥ ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (इतरजनान्) दूसरे [पामर] जनों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (इतरजनाः) दूसरे जनों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(तिरोधे) हे अन्तर्धान [गुप्त रूप] शक्ति ! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ ६ ॥

भावार्थ—संसार में देखते हुये भी अज्ञानी पुरुष ईश्वरशक्ति को विशेष रूप से नहीं जानते ॥ ६ ॥

तस्याः कुबेरो वैश्रवणो वत्स आसीदामपात्रं पात्रम् ॥१०॥

तस्याः । कुबेरः । वैश्रवणः । वत्सः । आसीत् । आम-पात्रम् । पात्रम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(वैश्रवणः) विशेष श्रवण [ज्ञान] वाला (कुबेरः) कुबेर [विद्वान् पुरुष] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (आमपात्रम्) सब गतियों का आधार [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १० ॥

भावार्थ—विशेष श्रवण मनन करने वाले पुरुष उस परमात्मा की शक्ति का यथावत् उपदेश करते हैं ॥ १० ॥

तां रजतनाभिः काबेरकोऽधोक् तां तिरोधामेवाधोक् ॥११॥

ताम् । रजत-नाभिः । काबेरकः । अधोक् । ताम् । तिरः-धाम् । एव । अधोक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [विराट्] को (काबेरकः) प्रशंसनीय गुणों के

६—(इतरजनान्) अन्यलोकान् । पामरान् । अज्ञानिनः (तिरोधे) तिरस् + दधातेः—अङ्, टाप् । हे अन्तर्धे । गुप्तरूपशक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(तस्याः) विराजः (कुबेरः) कुम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ५६ । कुबि आच्छादने—एरक् । धनाध्यक्षः । विद्वान् (वैश्रवणः) विश्रवण—अण् । विश्रवणेन विशेषज्ञानेन युक्तः (आमपात्रम्) अम गतौ भोजने च—घञ् । सर्वगतीनामाधारो ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(ताम्) विराजम् (रजतनाभिः) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ ।

निवास (रजतनाभिः) ज्ञान के प्रबन्धक [वा क्षत्रिय] ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उस (तिरोधाम्) अन्तर्धान शक्ति को (एव) ही (अधोक्) दुहा है।११

भावार्थ—ज्ञानी शूर पुरुष ईश्वर शक्ति से उपकार लेते हैं ॥ ११ ॥

तां तिरोधामितरजना उप जीवन्ति तिरो धत्ते सर्वं पाप्मानमुपजीवनीयो भवति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ताम् । तिरः-धाम् । इतर-जनाः । उप । जीवन्ति । तिरः । धत्ते । सर्वम् । पाप्मानम् । उप-जीवनीयः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(इतरजनाः) दूसरे लोग (ताम्) उस (तिरोधाम्) अन्तर्धान शक्ति का (उप-जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं, वह पुरुष (सर्वम्) सब (पाप्मानम्) पाप को (तिरो धत्ते) तिरस्कार करता है, और [दूसरों का] (उपजीवनीयः) आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—अज्ञानी लोग भी ईश्वर शक्ति को मानते हैं, ऐसा श्रद्धावान् पुरुष अपने पाप नाश करके सर्व माननीय होता है ॥ १२ ॥

सोदक्रामत् सा सर्पानागच्छत् तां सर्पा उपाह्वयन्त विषवत्येहीति ॥ १३ ॥

---

१११ । रजति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अतच् । नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने-इञ्, हस्य भः । नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुरे-तस्मादेव ज्ञातीन् सनाभय इत्याचक्षते सबन्धव इति च-निरु० ४ । २१ । गतेर्ज्ञानस्य प्रबन्धकः क्षत्रियो वा (कावेरकः) पतिकठिकुठि० । उ० १ । ५८ । कवृ स्तुतौ वर्णे च-एरक्, यद्वा कवते गतिकर्मा—निघ० २ । ४ ।—एरक् । वुञ्छण्-कठ० । पा० ४ । २ । ८० । कवेर-वुञ् । तस्य निवासः । पा० ४ । २ । ६८ । इत्यर्थे । कवेराणां स्तुत्यगुणानां निवासः (तिरोधाम्) म० ९ । अन्तर्धानशक्तिम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(ताम्) विराजम् (इतरजनाः) म० ९ । अन्ये । पामराः (तिरोधत्ते) तिरस्कृत्य धरति (पाप्मानम्) अ० ३ । ३१ । १ । पापम् । अन्यत्पूर्ववत् ॥

सा । उत् । अक्रामत् । सा । सर्पान् । आ । अगच्छत् । ताम् । सर्पाः । उप । अह्वयन्त । विष-वति । आ । इहि । इति ॥१३॥

भाषार्थ—(सा उत् अक्रामत्) वह [विराट्] ऊपर चढ़ी, (सा) वह (सर्पान्) सर्पों में (आ अगच्छत्) आयी, (ताम्) उसको (सर्पाः) सांपों ने (उप अह्वयन्त) पास बुलाया, "(विषवति) हे विषैली! (आ इहि) तू आ, (इति) बस" ॥ १३ ॥

भावार्थ—उस विराट् ईश्वर शक्ति के प्रभाव से सर्प आदि जीव अपने कर्म फल द्वारा विषधारी होते हैं ॥ १३ ॥

तस्यास्तक्षको वैशालेयो वत्स आसीदलाबुपात्रं पात्रम् ॥ १४ ॥

तस्याः । तक्षकः । वैशालेयः । वत्सः । आसीत् । अलाबु-पात्रम् । पात्रम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वैशालेयः) विशाला [प्रवेश शक्ति ब्रह्मविद्या] का जानने वाला (तक्षकः) सूक्ष्मदर्शी [वा विश्वकर्मा पुरुष] (तस्याः) उस [विराट्] का (वत्सः) उपदेष्टा और (अलाबुपात्रम्) न डूबने वाला रक्षक [ब्रह्म] (पात्रम्) रक्षा साधन (आसीत्) था ॥ १४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी सूक्ष्मदर्शी पुरुष ईश्वर शक्ति का प्रभाव जानते हैं ॥ १४ ॥

तां धृतराष्ट्र ऐरावतोऽधोक् तां विषमेवाधोक् ॥ १५ ॥

ताम् । धृत-राष्ट्रः । ऐरा-वतः । अधोक् । ताम् । विषम् । एव । अधोक् ॥ १५ ॥

१३—(सर्पान्) भुजङ्गमान् (विषवति) हे विषयुक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(तस्याः) विराजः (तक्षकः) ण्वुल् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि । उ० २ । ३२ । तक्ष तनूकरणे—ण्वुन् । तनूकर्ता । सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा पुरुषः (वैशालेयः) तमिविशिविडि० । उ० १ । ११८ । विश प्रवेशने—कालन्, टाप् । स्त्रीभ्यो ढक् । पा० ४ । १ । १२० । विशाला—ढक् । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इत्यर्थे । प्रवेशशक्तेर्विशालाया ब्रह्मविद्याया वेत्ता (अलाबुपात्रम्) कृवापा० । उ० १ । १ । न+लबि अवस्रंसने—उण्, नलोपः । नञिलम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । अत्र तु ऊप्रत्ययः स्त्रियाम् । अनधःपतनशीलरक्षकं ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(ताम्) उसको (ऐरावतः) भूमिवालों के स्वभाव जानने वाले (धृतराष्ट्रः) राज्य रखने वाले पुरुष ने (अधोक्) दुहा है, (ताम्) उस से (एव) ही (विषम्) विष को (अधोक्) दुहा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—नीति कुशल लोग ईश्वर शक्ति से ही विष की विवेचना करते हैं ॥ १५ ॥

तद् विषं सुर्पा उप॑ जीवन्त्युपजीवनीयो॑ भवति य एवं वेद॑ ॥ १६ ॥ (२९)

तत् । विषम् । सुर्पाः । उप॑ । जीवन्ति । उप-जीवनीयः॑ । भवति । यः । ० ॥ १६ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सर्पाः) सर्प (तद् विषम्) उस विष का (उप जीवन्ति) आश्रय लेकर जीते हैं, वह पुरुष (उपजीवनीयः) [दूसरों का] आश्रय (भवति) होता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—दुष्टों की दुष्टता जानने वाला पुरुष शिष्टों का आश्रयणीय होता है ॥ १६ ॥

सूक्तम् १० (पर्यायः ६) ॥

१-४ ॥ विराड् देवता ॥ १ साम्नी बृहती; २ साम्नी पङ्क्तिः; ३ साम्न्युष्णिक्; ४ आर्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः-ब्रह्म विद्या का उपदेश ॥

तद् यस्मा॑ एवं विदुषे॑ऽलाबु॑नाभिषि॒ञ्चेत्प्रत्याह॑न्यात् १

तत् । यस्मै॑ । एवम् । विदुषे॑ । अलाबु॑ना । अभि-सिञ्चेत् । प्रति-आह॑न्यात् ॥ १ ॥

१५—(ताम्) विराजम् (धृतराष्ट्रः) धृतं राष्ट्रं येन । राज्यधारकः (ऐरावतः) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० । २ । २८ । इण् गतौ—रन् निपात्यते । इरा मतुप् । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५६ । इरावत्-अण् । इरावतां भूमिवतां स्वभाववेत्ता (विषम्) अ० ४ । ६ । १ । शरीरनाशकं द्रव्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(सर्पाः) भुजङ्गाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(तत्) विस्तार करने वाला [ब्रह्म] (एवम्) इस प्रकार (यस्मै विदुषे) जिस विद्वान् को (अलाबुना) न डूबने वाले कर्म से (अभिषिञ्चेत्) सब प्रकार सींचें, वह [विद्वान्] [विष को] (प्रत्याहन्यात्) हटा देवे ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य ब्रह्म को जानकर दोषों का नाश करे। इस मंत्र में [विष] पद का अनुकर्षण मन्त्र ३ में से है ॥ १ ॥

न च॒ प्रत्याह॒न्यान्मन॑सा त्वा॒ प्रत्याह॒न्मीति॒ प्रत्याह॑न्यात् २

न । च॒ । प्र॒ति॒-आ॒ह॒न्यात् । मन॑सा । त्वा॒ । प्र॒ति॒-आ॒ह॑न्मि । इति॑ । प्र॒ति॒-आ॒ह॑न्यात् ॥ २ ॥

यत् प्र॑त्या॒हन्ति॑ वि॒षमे॒व तत् प्र॒त्याह॑न्ति ॥ ३ ॥

यत् । प्र॒ति॒-आ॒हन्ति॑ । वि॒षम् । ए॒व । तत् । प्र॒ति॒-आ॒ह॑न्ति ॥३॥

भाषार्थ—(च) और (न) अब वह [विद्वान्] [विष को म० ३] (प्रत्याहन्यात्) हटा देवे, "[हे विष] ! (मनसा) मनन के साथ (त्वा) तुझ को (प्रत्याहन्मि) मैं निकाले देता हूं," (इति) इस प्रकार वह [उसे] (प्रत्याहन्यात्) हटा देवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[तब] (यत्) नियन्ता [ब्रह्म] (विषम्) विष को (एव) [इस प्रकार (प्रत्याहन्ति) हटा देता है, (तत्) विस्तार करने वाला [ब्रह्म] (प्रत्याहन्ति) हटा देता है ॥ ३ ॥

१—(तत्) तनोतीति तत्। तनु विस्तारे—क्विप्। गमः क्वौ। पा० ६।४।४०। गमादीनामिति वक्तव्यम्, वार्तिकम्। मलोपः, तुक्। विस्तारकं ब्रह्म (एवम्) अनेन प्रकारेण (यस्मै विदुषे) सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम्। वा० पा० ७। १। ३९। द्वितीयार्थे चतुर्थी। यं विद्वांसम् (अलाबुना) पर्यायः ५ म० १४। न+लवि अवस्रंसने—उण्। अनधःपतनशीलेन कर्मणा (अभिषिञ्चेत्) अभितः सिञ्चेत् वर्धयेत् (प्रत्याहन्यात्) प्रतिरुन्ध्यात्—विषमिति शेषः म० ३॥

२, ३—(न) सम्प्रति—निरु० ७। ३१ (च) (मनसा) मननेन (त्वा) त्वां विषम् (प्रत्याहन्मि) प्रतिकूलं नाशयामि (इति) (यत्) यमयतीति। यत्। यम—क्विप्। गमादीनामिति वक्तव्यम्। वा० पा० ६। ४। ४०। मलोपः, नियन्तृ ब्रह्म (विषम्) दोषम् (एव) एवम् (तत्) म० १। विस्तारकं ब्रह्म अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विचार पूर्वक दोष हटाने का प्रयत्न करता है, ब्रह्म की कृपा से उसके सब दोष क्षीण होजाते हैं ॥ २, ३ ॥

विषमेवास्याप्रियं भ्रातृव्यमनुविषिच्यते य एवं वेद ॥४(३०)

विषम् । एव । अस्य । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । अनु-विषिच्यते । यः । एवम् । वेद ॥ ४ ॥ (३०)

भाषार्थ-(विषम्) विष [दोष] (एव) इस प्रकार (अस्य) उस [पुरुष] के (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम्) भ्रातृभाव रहित [ब्रह्म निन्दक] को (अनुविषिच्यते) व्याप कर नष्ट कर देता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् का विरोधी ब्रह्मनिन्दक दोषभागी होकर नष्ट हो जाता है, ऐसा मनुष्य को जानना चाहिये ॥ ४ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इत्यष्टमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजीराव गायकवाडाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्येऽष्टमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे मार्गशीर्षमासे शुक्लदशम्यां तिथौ १९७३ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि श्रीराजराजेश्वर पञ्चम-जार्ज महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्-पौषकृष्णा ६ संवत् १९७३ ता० १५ दिसम्बर १९१६ ॥

४—(विषम्) दोषः, इत्यर्थः (एव) एवम् (अस्य) ब्रह्मवादिनः (अप्रियम्) अप्रीतिकरम् (भ्रातृव्यम्) अ० २ । १८ । १ । भ्रातृभावशून्यं ब्रह्मनिन्दकं शत्रुम् (अनुविषिच्यते) कर्तरि कर्मवाच्यम् । व्याप्य विशेषेण सिञ्चति, नाशयती-त्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) (व) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(व) सभा सम्पति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७६ प्राप्त २० जूलाई १९१६ ई०)।

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है, अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्ममात्र श्री त्रिवेदीजी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुतही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेजी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्रव्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—
नन्दलाल सिंह,
B, Sc,, L, L. B. उप मन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय काण्ड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ,

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १९१३।

यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें। निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महाशय **मुन्शीरामजी**-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७—१०—१६६६।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत **पं० शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढङ्ग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ है। आपने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तय्यार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवममन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है छपाकर भेज दीजिये, मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत परिडत **महावीर प्रसाद द्विवेदी**-कानपुर सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है।" आप का भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेद भाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत परिडत **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रेल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को क़म से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपे मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिम्बर १६१३।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेदभाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डारे के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता-सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७—६—१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पांडित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्री पाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पण्डित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पण्डित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी है। इस सम्बन्ध में यह अथर्व वेद के पांच कांड छपवाकर निस्सन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्व वेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायणभाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई......इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पण्डित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द···विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा; परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरण दास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है......त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें॥

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State letter No.* 624 *dated* 6*th February* 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.'

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAAAPAD,

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥
अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १॥

प्रिय मोहि करो देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेद भाष्यम् ।

नवमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sûdra and to Aryan man.

Griffith's Trans. Atharva 19 : 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ } संवत् १९७४ वि० } मूल्यम् २)
१००० पुस्तकानि } सन् १९१७ ई०

पता— पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

॥ ओ३म् ॥

"वेद सत्य विद्याओं का पुस्तक है. वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"

आनन्द समाचार ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेद भाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महा त्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र, ३—सस्वर पदपाठ, मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पाठशालाओं के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्प विद्या, राज विद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दामपर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९			पृष्ठ २२०० लगभग
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥॥=)	३)	२।)	२)	२।)			१३॥)

काण्ड १० छप रहा है। कांड ११ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १९८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—५२, लूकरगंज, प्रयाग Allahabad.

१५ मई १९१७॥

पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड ९ ॥

क	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
	दिवस्पृथिव्या अन्तरिक्षात्	मधुकशा आदि	ब्रह्म की प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
	सपत्नहनमृषभं घृतेन	काम	ऐश्वर्य की प्राप्ति	त्रिष्टुप् आदि
	उपमितां प्रतिमितामथो	शाला	शाला बनाने की विधि	अनुष्टुप् आदि
	साहस्रस्त्वेष ऋषभः	ऋषभ	आत्मा की उन्नति	त्रिष्टुप् आदि
	आ नयैतमा रभस्व	मन्त्रोक्त आदि	ब्रह्म ज्ञान से सुख	त्रिष्टुप् आदि
(१)	यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं	अतिथि, अतिथिपति	संन्यासी और गृहस्थ के धर्म	गायत्री आदि
(२)	यजमानब्राह्मणं वा एतद्	तथा	अतिथिकासत्कार	विराट् आदि
(३)	इष्टं च वा एषपूर्तं च	तथा	तथा	गायत्री आदि
(४)	स य एवं विद्वान् क्षीर	तथा	तथा	प्राजापत्याऽनुष्टुप् आदि
(५)	तस्मा उषा हिङ् कृणोति	तथा	तथा	साम्न्युष्णिक् आदि
(६)	यत् क्षत्तारं ह्वयत्या	तथा	तथा	आसुरी गायत्री आदि
	प्रजापतिश्च परमेष्ठी च	प्रजापति आदि	सृष्टि धारणविद्या	निचृदार्ची बृहती आदि
	शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्ण	वैद्य	शरीर के रोगनाश	अनुष्टुप् आदि
	अस्य वामस्य पलितस्य	आत्मा	जीवात्मा परमात्मा का ज्ञान	त्रिष्टुप् आदि
ɔ	यद् गायत्रे अधि गायत्रं	आत्मा	जीवात्मा परमात्मा के लक्षण	जगती आदि

—अथर्ववेद, काण्ड ९ के मन्त्र अन्यवेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

न्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड ९) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	हिङ्कृण्वती बृहती	१ । ८	१ । १६४ । २८		
२	सं माग्ने वर्चसा	१ । १५	१ । २३ । २४		
३	उपेहोपपर्चनास्मिन्	४ । २३	६ । २८ । ८		
४	अजोऽस्यज स्वर्गोसि	५ । १६		२० । २५	
५	येनासहस्रं वहसि	५ । १७		१५ । ५५	
६—२७	अस्य वामस्यपलितस्य	९ । १–२२	१ । १६४ । १-२२		
२८—३५	यद् गायत्रअधिगाय	१० । १–८	१ । १६४ । २३-३०		
३६	विधुं दद्राणं सलिलस्य	१० । ९	१० । ५५ । ५		पू० ४।४।३ उ० ९।१।७
३७	य ईं चकार न सो	१० । १०	१ । १६४ । ३२		
३८	अपश्यं गोपामनि	१० । ११	१ । १६४ । ३१ १० । १७७ । ३	३७ । १७	
३९	द्यौर्नःपिता जनिता	१० । १२	१ । १६४ । ३३		
४०,४१	पृच्छामि त्वा परम	१० । १३ । १४	१ । १६४ । ३४,३५	२३ । ६१,६२	
४२,४३	न वि जानामि यदि	१० । १५,१६	१ । १६४ । ३७,३८		
४४	सप्तार्धगर्भा	१० । १७	१ । १६४ । ३६		
४५	ऋचो अक्षरे परमे	१० । १८	१ । १६४ । ३९		
४६	ऋचः पदं मात्रया	१० । १९	१ । १६४ । ४२		
४७,४८	सूयवसाद् भगवती	१० । २०,२१	१ । १६४ । ४०-४२		
४९	कृष्णं नियानं हरयः	१० । २२	१ । १६४ । ४७		
५०	अपादेति प्रथमा	१० । २३	१ । १५२ । ३		
५१	शकमयं धूममाराद्	१० । २५	१ । १६४ । ४३		
५२-५४	त्रयः केशिन ऋतुथा	१० । २६-२८	१ । १६४ । ४४-४६		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

नवमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥ [मधुसूक्तम्]

१-२४ ॥ १-१०, २१—२४ मधुकशा; ११-२० अश्विनौ देवते ॥ १, ४, ५ त्रिष्टुप्; २, २० भुरिक् पङ्क्तिः; ३ परानुष्टुप् पङ्क्तिः; ६ अतिशक्वरीगर्भा बृहती; ७ अतिजगतीगर्भा बृहती; ८ पङ्क्तिः; ९ भुरिग् बृहती; १० परोष्णिक् पङ्क्तिः; ११-१३, १५, १६, १८, १९ अनुष्टुप्; १४ पुर उष्णिक्; १७ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २१ आर्च्यनुष्टुप्; २२ ब्राह्म्युष्णिक्; २३ आर्ची पङ्क्तिः; २४ त्र्यवसानाष्टिः ॥

ब्रह्मप्राप्त्युपदेशः—ब्रह्म की प्राप्ति का उपदेश ॥

दिवस्पृ॑थि॒व्या अ॒न्तरि॑क्षात् समु॒द्राद॒ग्नेर्वाता॑न्मधुक॒शा हि ज॒ज्ञे । तां चा॑यि॒त्वामृतं॒ वसा॑नां हृ॒द्भिः प्र॒जाः प्रति॑ नन्दन्ति॒ सर्वाः॑ ॥ १

दि॒वः । पृ॒थि॒व्याः । अ॒न्तरि॑क्षात् । स॒मु॒द्रात् । अ॒ग्नेः । वाता॑त् । म॒धु॒-क॒शा । हि । ज॒ज्ञे ॥ ताम् । चा॒यि॒त्वा । अ॒मृत॑म् । वसा॑नाम् । हृ॒त्-भिः । प्र॒-जाः । प्रति॑ । न॒न्द॒न्ति॒ । सर्वाः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दिवः) सूर्य से, (पृथिव्याः) पृथिवी से, (अन्तरिक्षात्)

१—(दिवः) सूर्यात् (पृथिव्याः) भूमेः (अन्तरिक्षात्) मध्यलोकात्

अन्तरिक्ष [मध्यलोक] से, (समुद्रात्) समुद्र [जल समूह] से, (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वायु से (मधुकशा) मधुकशा [मधुविद्या अर्थात् वेदवाणी] (हि) निश्चय करके [जज्ञे) प्रकट हुई है। (अमृतम्) अमरण [पुरुषार्थ] की (वसानाम्) पहरने वाली (ताम्) उस को (चायित्वा) पूजकर (सर्वाः) सब (प्रजाः) प्रजायें [जीव जन्तु] (हृद्भिः) [अपने] हृदयों से (प्रति) प्रत्यक्ष (नन्दन्ति) आनन्द करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सूर्य, पृथिवी आदि कार्य पदार्थों से आदिकारण परमेश्वर की परम विद्वत्ता विचारकर आनन्दित होते हैं ॥ १ ॥

मधु, उणादि १ । १८ । मन ज्ञाने-उ, न=ध । ज्ञान । कशा=वाक्—निघण्टु १ । ११ ॥

ऋग्वेद १ । २२ । ३ । में [मधुमती कशा] का वर्णन इस प्रकार है।

या वां कशा मधुमत्यश्विना सूनृतावती । तया यज्ञं मिमिक्षतम् ॥

(अश्विना) हे शिक्षक और शिष्य ! (वाम्) तुम दोनों की (या) जो (मधुमती) मधुर गुण वाली, (सूनृतावती) प्रिय सत्य बुद्धि वाली (कशा) वाणी है, (तया) उससे (यज्ञम्) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] को (मिमिक्षतम्) तुम दोनों सींचने की इच्छा करो ॥

महत् पयो विश्वरूपमस्याः समुद्रस्य त्वोत रेत आहुः ।
यत ऐति मधुकशा रराणा तत् प्राणस्तदमृतं निविष्टम् ॥२॥

महत् । पयः । विश्व-रूपम् । अस्याः । समुद्रस्य । त्वा । उत ।

(समुद्रात्) जलौघात् (अग्नेः) पावकात् (वातात्) वायोः (मधुकशा) फलिपाटिनमिमनि० । उ० १ । १८ । मन ज्ञाने—उ; नस्य धः + कश गतिशासनयोः—पचाद्यच, टाप् । कशा = वाक्—निघ० १ । ११ । ज्ञानवाणी । मधुविद्या वेदवाणी (हि) अवधारणे (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (ताम्) मधुकशाम् (चायित्वा) पूजयित्वा (अमृतम्) अमरणम् । पुरुषार्थम् (वसानाम्) आच्छादयन्तीम् । धारयन्तीम् (हृद्भिः) हृदयैः (प्रजाः) जीवजन्तवः (प्रति) प्रत्यक्षम् (नन्दन्ति) हर्षन्ति (सर्वाः) समस्ताः ॥

रेतः । आहुः ॥ यतः । आ-एति । मधु-कशा । रराणा । तत् । प्राणः । तत् । अमृतम् । नि-विष्टम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मधुकशा !] (त्वा) तुझ को (अस्याः) इस [पृथिवी] का (विश्वरूपम्) सब प्रकार रूप वाला (महत्) बड़ा (पयः) बल [वा अन्न] (उत) और (समुद्रस्य) सूर्य का (रेतः) बीज (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं । (यतः) जिस [ब्रह्म] से (रराणा) दान शील (मधुकशा) मधुकशा [वेदवाणी] (एति) आती है, (तत्) उस [ब्रह्म] में (प्राणः) प्राण [जीवन], (तत्) उस में (अमृतम्) अमृत [मोक्षसुख] (निविष्टम्) निरन्तर भरा है ॥ २ ॥

भावार्थ—ईश्वर के ज्ञान से पृथिवी, सूर्य आदि लोक उत्पन्न होकर स्थित हैं और उसी के द्वारा सब प्राणी प्रयत्न पूर्वक जीवन करके आनन्द पाते हैं ॥ २ ॥

पश्यन्त्यस्याश्चरितं पृथिव्यां पृथङ् नरो बहुधा मीमांसमानाः । अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥३॥

पश्यन्ति । अस्याः । चरितम् । पृथिव्याम् । पृथक् । नरः । बहु-धा । मीमांसमानाः ॥ अग्नेः । वातात् । मधु-कशा । हि । जज्ञे । मरुताम् । उग्रा । नप्तिः ॥ ३ ॥

२—(महत्) बृहत् (पयः) पय गतौ-असुन् । पयः पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० २ । ५ । बलम् । अन्नम्—निघ० २ । ७ (विश्वरूपम्) सर्वविधरूपयुक्तम् (अस्याः)पृथिव्याः(समुद्रस्य) अ० १ । १३ । ३ । समुद्र आदित्यः, समुद्र आत्मा—निरु० १४ । १६ । सूर्यलोकस्य (त्वा) त्वां मधुकशाम् (उत) अपि च (रेतः) बीजम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (यतः) यस्माद् ब्रह्मणः (एति) आगच्छति (मधुकशा) म० १ । मधुविद्या (रराणा) अ० ५ । २७ । ११ । दान-शीला(तत्) तस्मिन् ब्रह्मणि (प्राणः) जीवनसामर्थ्यम् (तत्) तत्र (अमृतम्) मोक्षसुखम् (निविष्टम्) निरन्तरप्रविष्टम् ॥

भाषार्थ—(बहुधा) अनेक प्रकार (मीमांसमानाः) मीमांसा [विचार पूर्वक तत्त्वनिर्णय] करते हुये (नरः) नेतालोग (अस्याः) इस [मधुकशा] के (चरितम्) चरित्र को (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (पृथक्) अलग अलग (पश्यन्ति) देखते हैं। (मरुताम्) शूर पुरुषों की (उग्रा) प्रबल, (नप्तिः) न गिरने वाली शक्ति, (मधुकशा) मधुकशा [ब्रह्मविद्या] (हि) ही (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वायु से (जज्ञे) प्रकट हुई है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ईश्वर ज्ञान को जगत् के सब पदार्थों में साक्षात् करके बल बढ़ाते हैं ॥ ३

माता॑दि॒त्यानां॑ दुहि॒ता वसू॑नां प्रा॒णः प्र॒जाना॑म॒मृत॑स्य॒ नाभिः॑ । हिर॑ण्यवर्णा मधु॒क॒शा घृ॒ताची॑ म॒हान् भर्ग॑श्चरति॒ मर्त्ये॑षु ॥ ४ ॥

मा॒ता । आ॒दि॒त्याना॑म् । दु॒हि॒ता । वसू॑नाम् । प्रा॒णः । प्र॒जाना॑म् । अ॒मृत॑स्य । नाभिः॑ ॥ हिर॑ण्य-वर्णा । मधु॒-क॒शा । घृ॒ताची॑ । म॒हान् । भर्गः॑ । च॒र॒ति॒ । मर्त्ये॑षु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(आदित्यानाम्) सूर्यलोकों की (माता) माता [बनानेवाली] (वसूनाम) धनों की (दुहिता) पूर्ण करने हारी, (प्रजानाम्) प्रजाओं [जीव जन्तुओं] की (प्राणः) प्राण [जीवन] और (अमृतस्य) अमरपन [महा-

३—(पश्यन्ति) अवलोकयन्ति (अस्याः) मधुकशायाः (चरितम्) चेष्टितम् (पृथिव्याम्) भूलोके (पृथक्) भिन्नभिन्नप्रकारेण (नरः) नयतेर्डिच्च उ० २ । १०० । णीञ् प्रापणे—ऋ । नेतारः । नराः (बहुधा) विविधम् (मीमांसमानाः) मान जिज्ञासायाम् स्वार्थे सन्-शानच् । विचारपूर्वकतत्त्व-निर्णयं कुर्वन्तः (मरुताम्) अ० १ । २० । १ । शूराणाम् (अस्याः) मधुकशायाः (उग्रा) प्रबला (नप्तिः) नञ् + पत्लृ अधः पतने—क्तिन्, टलोपः । नपत्तिः । अपतनशक्तिः । स्थितिः ॥

४—(माता) निर्मात्री (आदित्यानाम) सूर्यादिलोकानाम् (दुहिता) अ० ३ । १० । १३ । प्रपूरयित्री (वसूनाम्) धनानाम् (प्राणः) जीवनम् (प्रजानाम्) जीवजन्तूनाम (अमृतस्य) अमरणस्य । महापुरुषार्थस्य (नाभिः)

पुरुषार्थ] की (नाभिः) नाभी [मध्य], (हिरण्यवर्णा) तेज रूप वाली, (घृताची) सेचन सामर्थ्य पहुंचाने वाली (मधुकशा) मधुकशा [वेदवाणी], (महान्) बड़े (भर्गः) प्रकाश [रूप होकर] (मर्त्येषु) मनुष्यों के बीच (चरति) विचरती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वेदवाणी द्वारा सब लोक लोकान्तर और समस्त मनुष्य आदि प्राणी भीतरी और बाहिरी शक्ति प्राप्त करके ठहरे हुये हैं ॥ ४ ॥

मधोः कशामजनयन्त देवास्तस्या गर्भो अभवद् विश्वरूपः । तं जातं तरुणं पिपर्ति माता स जातो विश्वा भुवना वि चष्टे ॥ ५ ॥

मधोः । कशाम् । अजनयन्त । देवाः । तस्याः । गर्भः । अभवत् । विश्व-रूपः ॥ तम् । जातम् । तरुणम् । पिपर्ति । माता । सः । जातः । विश्वा । भुवना । वि । चष्टे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(देवाः) पुरुषार्थियों ने (मधोः) ज्ञान की (कशाम्) वाणी को (अजनयन्त) प्रकट किया है, । "(तस्याः) उस [वाणी] का (गर्भः) गर्भ [आधार] (विश्वरूपः) सब रूपों का करने वाला [परमेश्वर] (अभ-

मध्यदेशः (हिरण्यवर्णा) तेजोरूपा (मधुकशा) म० १ । वेदवाणी (घृताची) अञ्चिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । घृ सेचने दीप्तौ च-क्त । ऋत्विग्दधृक्स्र-ग्० । पा० ३ । २ । ५९ । अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति । पा० ६ । ४ । २४ । नलोपः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । अकारलोपः । चौ । पा० । ६ । ३ । १३८ । दीर्घः । अञ्चतेश्चोपसंख्यानम् । वा० पा० ४ । १ । ६ । ङीप् । घृताची रात्रीनाम—निघ० १ । ७ । सेचनसामर्थ्यप्रापयित्री (महान्) प्रवृद्धः (भर्गः) भ्रस्ज पाके—घञ् । प्रकाशः (चरति) विचरति (मर्त्येषु) मनुष्येषु ॥

५—(मधोः) म० १ । मधुनः । ज्ञानस्य (कशाम्) कश गतिशासनयोः-शब्दे च—पचाद्यच्, टाप् । कशा = वाक्-निघ० १ । ११ । अश्वाजनीं कशेत्याहुः, कशा प्रकाशयति भयमश्वाय, कृष्यतेर्वाणूभावा 'द्वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान्

वत्) हुआ है। (माता) बनाने वाली [वेदवाणी] (तम्) उस (जातम्) प्रसिद्ध (तरुणम्) तारने वाले [बलिष्ठ परमेश्वर] में (पिपर्ति) भरपूर है, (सः) वह (जातः) प्रसिद्ध [परमेश्वर] (विश्वा भुवना) सब भुवनों को (वि चष्टे) देखता रहता है" ॥ ५ ॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञानी पुरुषार्थी लोग जानते हैं कि वेदवाणी परमेश्वर में और वेद वाणी में परमेश्वर है ॥ ५ ॥

कस्तं प्र वे॑द॒ क उ॒ तं चि॑केत॒ यो अ॑स्या हृ॒दः क॒लशः॑ सो॑मधा॒नो अक्षि॑तः। ब्र॒ह्मा सु॑मे॒धाः सो अ॑स्मिन् म॑देत ६

कः। तम्। प्र। वे॒द॒। कः। ऊँ इति॑। तम्। चि॒के॒त॒। यः। अ॒स्याः। हृ॒दः। क॒लशः॑। सो॒म॒-धानः॑। अक्षि॑तः ॥ ब्र॒ह्मा। सु॒-मे॒धाः। सः। अ॒स्मिन्। म॒दे॒त ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन पुरुष (तम्) उस [परमेश्वर] को (प्र वेद) अच्छे प्रकार जानता है, (कः उ) किस ने ही (तम्) उसको (चिकेत) समझा है, (यः) जो [परमेश्वर] (अस्याः) इस [वेदवाणी] के (हृदः) हृदय का (कलशः) कलश (अक्षितः) अक्षय (सोमधानः) अमृत का पात्र है।

खशया क्रोशतेर्वा—निरु० ६ । १६ । वाणीम् (अजनयन्त) प्रकटीकृतवन्तः (देवाः) गतिमन्तः । विद्वांसः (तस्याः) मधुकशायाः (गर्भः) अ० ३ । १० । १२ । आधारः (तम्) (जातम्) प्रसिद्धम् (तरुणम्) अ० ३ । १२ । ७ । तारकम् । बलिष्ठं परमेश्वरम् (पिपर्ति) पूरयति (माता) निर्मात्री मधुकशा (सः) (जातः) प्रादुर्भूतः परमेश्वरः (विश्वा) सर्वाणि (भुवना) लोकान् (वि) विविधम् (चष्टे) पश्यति ॥

६—(कः) विद्वान् (तम्) परमेश्वरम् (वेद) वेत्ति (उ) एव (तम्) (चिकेत) कित ज्ञाने—लिट् । ज्ञातवान् (यः) परमेश्वरः (अस्याः) मधुकशायाः (हृदः) हृदयस्य (कलशः) अ० ३ । १२ । ७ । घटः (सोमधानः) अमृताधारः (अक्षितः) अक्षीणः (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञः (सुमेधाः) अ० ५ । ११ । ११ । सुबुद्धिः (सः) (अस्मिन्) परमेश्वरे (मदेत) हर्षेत् ॥

(सः) वह (सुमेधाः) सुबुद्धि (ब्रह्मा) ब्रह्मा [ब्रह्मज्ञानी, वेदवेत्ता] (अस्मिन्) इस [परमेश्वर] में (मदेत) आनन्द पावे ॥ ६ ॥

भावार्थ—चतुर ब्रह्मज्ञानी पुरुष परमेश्वर और उसकी वेदवाणी का तत्त्व जानकर प्रसन्न होते हैं ॥ ६ ॥

स तौ प्र वे॑द॒ स उ॒ तौ चि॑केत॒ याव॑स्याः॒ स्तनौ॑ स॒हस्र॑धारा॒वक्षि॑तौ । ऊर्जं॑ दुहाते॒ अन॑पस्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

सः । तौ । प्र । वे॒द॒ । सः । ऊं॒ इति॑ । तौ । चि॒के॒त॒ । यौ । अ॒स्याः॒ । स्तनौ॑ । स॒हस्र॑-धारौ । अक्षि॑तौ ॥ ऊर्ज॑म् । दु॒हा॒ते॒ इति॑ । अन॑प-स्फुरन्तौ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान्] (तौ) उन दोनों को (प्र वेद) अच्छे प्रकार जानता है, (सः उ) उसने ही (तौ) उन दोनों को (चिकेत) समझा है, (यौ) जो दोनों (अस्याः) इस [मधुकशा] के (स्तनौ) स्तनरूप [धारण आकर्षण गुण] (सहस्रधारौ) सहस्रों धारण शक्ति वाले, (अक्षितौ) अक्षय और (अनपस्फुरन्तौ) निश्चल होकर (ऊर्जम्) बल को (दुहाते) परिपूर्ण करते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष वेद द्वारा धारण आकर्षण गुण प्राप्त करके बल बढ़ाते हैं ॥ ७ ॥

हि॒ङ्क॒रिक्र॑ती बृह॒ती व॑यो॒धा उ॒च्चैर्घो॑षा॒भ्येति॒ या व्र॒तम् । त्रीन् घ॒र्मान॒भि वा॑वशा॒ना मिमा॑ति मा॒युं पय॑ते॒ पयो॑भिः ॥ ८ ॥

हि॒ङ्-क॒रिक्र॑ती । बृ॒ह॒ती । व॒यः॒-धाः । उ॒च्चैः-घो॑षा । अ॒भि॒-एति॑ । या । व्र॒तम् ॥ त्रीन् । घ॒र्मान् । अ॒भि । वा॒व॒शा॒ना । मि॒माति॑ । मा॒युम् । पय॑ते । पयः॑-भिः ॥ ८ ॥

७—(सः) ब्रह्मा (तौ) स्तनौ (अस्याः) मधुकशायाः (स्तनौ) स्तनरूपौ धारणाकर्षणगुणौ (सहस्रधारौ) बहुधारणसामर्थ्ययुक्तौ (अक्षितौ) अक्षीणौ (ऊर्जम्) बलम् (दुहाते) प्रपूरयतः (अनपस्फुरन्तौ) स्फुर संचलने-शतृ । निश्चलन्तौ ॥

भाषार्थ—(हिङ्क्रिकृती) अत्यन्त वृद्धि करती हुई, (वयोधाः) बल वा अन्न देने वाली, (उच्चैर्घोषा) ऊंचा शब्द रखने वाली (या) जो (बृहती) बहुत बड़ी [ब्रह्म विद्या] (व्रतम्) अपने नियम पर (अभ्येति) चली चलती है। वह (त्रीन्) तीन [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक] (घर्मान्) यज्ञों की (अभि) सब ओर से (वावशाना) अति कामना करती हुयी (मायुम्) शब्द (मिमाति) करती है और (पयोभिः) बलों के साथ (पयते) चलती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—वेदवाणी जानने वाले पुरुष संसार में सब प्रकार उन्नति करते हैं ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग भेद से ऋग्वेद में है–१ । १६४ । २८ ॥

यामापीनामुपसीदन्त्यापः शाक्वरा वृषभा ये स्वराजः। ते वर्षन्ति ते वर्षयन्ति तद्विदे काममूर्जमापः ॥ ९ ॥

याम् । आ-पीनाम् । उप-सीदन्ति । आपः । शाक्वराः । वृष-भाः । ये । स्व-राजः ॥ ते । वर्षन्ति । ते । वर्षयन्ति । तत्-विदे । कामम् । ऊर्जम् । आपः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (शाक्वराः) शक्तिमती [वेद वाणी] जानने

८—(हिङ्क्रिकृती) हि गतिवृद्ध्योः—डि । दाधार्त्तिदर्द्धर्त्तिदर्द्धर्षि० । पा ७ । ४ । ६५ । करोतेर्यङ्लुकि—शतृ, चुत्वाभावः । हिङ्कुरवती । अ० ७ । ७३ । ८ । गतिं वृद्धिं वा कुर्वती (बृहती) विशाला । वेदवाणी (वयो-धाः) बलस्यान्नस्य वा दात्री (उच्चैर्घोषा) प्रसिद्धनादा (अभ्येति) प्राप्नोति (या) मधुकशा (व्रतम्) स्वकीयं कर्म (त्रीन्) शारीरिकात्मिकसामाजि-कान् (घर्मान्) यज्ञान्–निघ० ३ । ७ । (अभि) सर्वतः (वावशाना) भृशं कामयमाना (मिमाति) मा माने जुहोत्यादित्वम् । निर्माति । करोति (मायुम्) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । माङ् माने शब्दे च-उण्, युक् च । शब्दम् वाचम्–निघ० १ । ११ । (पयते) गच्छति (पयोभिः) बलैः सह ॥

९—(याम्) मधुकशाम् (आपीनाम्) प्रवृद्धाम् (उपसीदन्ति) सत्का-

वाले, (वृषभाः) पराक्रमी, (स्वराजः) स्वराजा, (आपः) सर्वविद्याव्यापक विद्वान् लोग (याम्) जिस (आपीनाम्) सब प्रकार बढ़ी हुई [ब्रह्म विद्या] को (उपसीदन्ति) आदर से प्राप्त होते हैं। (ते) वे (वर्षन्ति) समर्थ होते हैं, (ते) वे (आपः) महाविद्वान् (तद्विदे) उस [ब्रह्म विद्या] के जानने वाले के लिये (कामम्) अभीष्ट विषय और (ऊर्जम्) पराक्रम को (वर्षयन्ति) बरसाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो पुरुष वेदवाणी जानकर ईश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे दूसरों को वेदज्ञ बनाकर समर्थ करते हैं ॥ ९ ॥

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यामधि। अग्नेर्वातान्मधुकशा हि जज्ञे मरुतामुग्रा नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

स्तनयित्नुः। ते। वाक्। प्रजा-पते। वृषा। शुष्मम्। क्षिपसि। भूम्याम्। अधि ॥ अग्नेः। वातात्। मधु-कशा। हि। जज्ञे। मरुताम्। उग्रा। नप्तिः ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक ! [परमेश्वर !] (ते) तेरी (वाक्) वाणी (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जन [समान] है, (वृषा) तू ऐश्वर्य-

---

रेण प्राप्नुवन्ति (आपः) अत्र पुंल्लिङ्गः। सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः-दयानन्द-भाष्ये—यजु० ६। १७ (शाकराः) स्नामदिपद्यर्तिपृशकिभ्यो वनिप्। उ० ४। ११३। शक्लृ शक्तौ-वनिप्। वनो र च। पा० ४। १। ७। ङीप्, नस्य रः। शक्वर्य ऋचः शक्नोतेः—निरु० १। ८। तदधीते तद्वेद। पा० ४। २। ५९। शक्वरी-अण्। शक्वरीं शक्तिमतीं वेदवाणीं जानन्ति ये ते (वृषभाः) पराक्रमिणः (ये) (स्वराजः) स्वराजन्—टच्। स्वयं शासकाः (ते) विद्वांसः (वर्षन्ति) वृषु सेचने ऐश्वर्ये च। ईशते (ते) (वर्षयन्ति) सिञ्चन्ति। वर्द्धयन्ति (तद्विदे) यस्तां वेदवाणीं वेत्ति तस्मै (कामम्) अभीष्टविषयम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (आपः) विद्वांसः ॥

१०—(स्तनयित्नुः) अ० १। १३। १। मेघशब्द इव (ते) तव (वाक्) मधुकशा (प्रजापते) हे प्रजारक्षक परमात्मन् (वृषा) अ० १।

वान् होकर (शुष्मम्) बल को (भूम्याम्) भूमि पर (अधि) अधिकार पूर्वक (क्षिपसि) फैलाता है। (मरुताम्) शूर पुरुषों की (उग्रा) प्रबल (नप्तिः) न गिरनेवाली शक्ति, (मधुकशा) मधुकशा [ब्रह्म विद्या] (हि) ही (अग्नेः) अग्नि से और (वातात्) वायु से (जज्ञे) प्रकट हुयी है ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा की वेदवाणी स्पष्ट रूप से संसार का हित करती है ॥ १० ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग मन्त्र ३ में ऊपर आया है ॥

यथा सोमः प्रातःसवने अश्विनोर्भवति प्रियः ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ ११ ॥

यथा । सोमः । प्रातः-सवने । अश्विनोः । भवति । प्रियः ॥
एव । मे । अश्विना । वर्चः । आत्मनि । ध्रियताम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सोमः) ऐश्वर्यवान् आत्मा [बालक] (प्रातः सवने) प्रातःकाल के यज्ञ [बालकपन] में (अश्विनोः) [कार्यकुशल] माता पिता का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है। (एव) वैसेही, (अश्विना) हे [कार्यकुशल] माता पिता ! (मे) मेरे (आत्मनि) आत्मा में [विद्या का] (वर्चः) प्रकाश (ध्रियताम्) धरा जावे ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार चतुर माता पिता अपने होनहार बालक का हित करते हैं, उसी प्रकार सब निपुण माता पिता और आचार्य बालकों को शिक्षा देकर उत्तम बनावें ॥ ११ ॥

---

१२ । १ । ऐश्वर्यवान् (शुष्मम्) बलम्—निघ० २ । ९ (क्षिपसि) प्रसारयसि (भूम्याम्) (अधि) अधिकृत्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

११—(सोमः) ऐश्वर्यवान् बालकः । आत्मा—निरु० १४ । १२ (प्रातः सवने) अ० ६ । ४७ । १ । प्रातःकालस्य यज्ञे । शैशव इत्यर्थः (अश्विनोः) अ० २ । २९ । ६ । अश्विनौ...राजानौ पुण्यकृतौ—निरु० १२ । १ । कार्येषु व्याप्तिमतोर्जननीजनकयोः (भवति) (प्रियः) प्रीतिपात्रम् (एव) तथा (मे) मम (अश्विना) हे चतुरमातापितरौ (वर्चः) विद्याप्रकाशः (आत्मनि) अन्तःकरणे (ध्रियताम्) स्थाप्यताम् ॥

यथा सोमो द्वितीये सवन इन्द्राग्न्योर्भवति प्रियः ।
एवा म इन्द्राग्नी वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १२ ॥
०सोमः । द्वितीये । सवने । इन्द्राग्न्योः । भवति । ० ॥
०मे । इन्द्राग्नी इति । वर्चः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सोमः) ऐश्वर्यवान् [युवा मनुष्य] (द्वितीये सवने) दूसरे यज्ञ [युवा अवस्था] में (इन्द्राग्न्योः) सूर्य और बिजुली [के समान माता पिता] का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है । (एव) वैसे ही, (इन्द्राग्नी) हे सूर्य और बिजुली [के समान माता पिता !] (मे आत्मनि) मेरे आत्मा में (वर्चः) प्रकाश (ध्रियताम्) धरा जावे ॥ १२ ॥

भावार्थ— मनुष्यों को उत्तम शिक्षा प्राप्त करके युवावस्था में ऐश्वर्यवान् होना चाहिये ॥ १२ ॥

यथा सोमस्तृतीये सवन ऋभूणां भवति प्रियः ।
एवा म ऋभवो वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १३ ॥
यथा । सोमः । तृतीये । सवने । ऋभूणाम् । भवति । प्रियः ॥
एव । मे । ऋभवः । वर्चः । आत्मनि । ध्रियताम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सोमः) ऐश्वर्यवान् [वृद्ध पुरुष] (तृतीये सवने) तीसरे यज्ञ [वृद्ध अवस्था] में (ऋभूणाम्) बुद्धिमानों का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है । (एव) वैसे ही (ऋभवः) हे बुद्धिमानो ! (मे आत्मनि) मेरे आत्मा में (वर्चः) प्रकाश (ध्रियताम्) धरा जावे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि उत्तम शिक्षण और परीक्षण से वे वृद्धपन में माननीय होवें ॥ १३ ॥

१२—(सोमः) ऐश्वर्यवान् । युवा पुरुषः (द्वितीये) बाल्ययौवनयोः पूरके (सवने) यज्ञे यौवन इत्यर्थः (इन्द्राग्न्योः) सूर्यविद्युत्तुल्ययोर्मातापित्रोः (इन्द्राग्नी) हे सूर्यविद्युत्तुल्यौ मातापितरौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(सोमः) ऐश्वर्यवान् । वृद्धपुरुषः (तृतीये) शैशवयौवनवार्धकानां पूरके (सवने) यज्ञे । वृद्धभाव इत्यर्थं (ऋभूणाम्) अ० १ । २ । ३ । मेधाविनाम्—निघ० ३ । १५ (ऋभवः) हे मेधाविनः । शिष्टं पूर्ववत् ॥

मधु॑ जनिषीय॒ मधु॑ वंशिषीय ।

पय॑स्वानग्न॒ आग॑मं॒ तं मा॒ सं सृ॑ज॒ वर्च॑सा ॥ १४ ॥

मधु॑ । ज॒नि॒षी॒य॒ । मधु॑ । वं॒शि॒षी॒य॒ ॥ पय॑स्वान् । अ॒ग्ने॒ ।

आ । अ॒ग॒म॒म् । तम् । मा॒ । सम् । सृ॒ज॒ । वर्च॑सा ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(मधु) ज्ञान को (जनिषीय) मैं उत्पन्न करूं, (मधु) ज्ञान की (वंशिषीय) याचना करूं । (अग्ने) हे विद्वान् ! (पयस्वान्) गति वाला मैं (आ अगमम्) आया हूं, (तम्) उस (मा) मुझको (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] प्रकाश से (सम् सृज) संयुक्त कर ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य ज्ञान का प्रचार और जिज्ञासा करके संसार में कीर्ति प्राप्त करें ॥ १४ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है—अ० ७ । ८९ । १ ॥

सं मा॑ग्ने॒ वर्च॑सा सृ॒ज॒ सं प्र॒जया॒ समायु॑षा ।

वि॒द्युर्मे॑ अ॒स्य दे॒वा इन्द्रो॑ वि॒द्यात् स॒ह ऋषि॑भिः ॥ १५

सम् । मा॒ । अ॒ग्ने॒ । वर्च॑सा । सृ॒ज॒ । सम् । प्र॒ऽजया॑ । सम् । आयु॑षा ॥ वि॒द्युः । मे॒ । अ॒स्य । दे॒वाः । इन्द्रः॑ । वि॒द्यात् । स॒ह । ऋषि॑ऽभिः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) मुझ को (वर्चसा) [ब्रह्मविद्या के] प्रकाश से (सम्) अच्छे प्रकार (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार और (आयुषा) जीवन से (सं सृज) अच्छे प्रकार संयुक्त कर । (देवाः) विद्वान् लोग (अस्य) इस (मे) मुझ को (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋषिभिः सह) ऋषियों के साथ [मुझे] (विद्यात्) जाने ॥ १५ ॥

१४—(मधु) म० १ । ज्ञानम् (जनिषीय) जनी प्रादुर्भावे, छन्दसि प्रादुष्करणे—आशीर्लिङ् । प्रादुष्क्रियासम् (वंशिषीय) वनु याचने—आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । अहं वनिषीय । याचिषीय । अन्यत् पूर्ववत्—अ० ७ । ८९ । १ ॥

१५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८९ । २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरु जनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । २३ । २४ । और पहिले आचुका है-म० ७ । म६ । २ ॥

यथा मधु मधुकृतः संभरन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्च आत्मनि ध्रियताम् ॥ १६ ॥

यथा । मधु । मधु-कृतः । सम्-भरन्ति । मधौ । अधि ॥
एव । मे । अश्विना । वर्चः । आत्मनि । ध्रियताम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (मधुकृतः) ज्ञान करने वाले [आचार्य लोग] (मधु) [एक] ज्ञान को (मधौ) [दूसरे] ज्ञान पर (अधि) यथावत् (संभरन्ति) भरते जाते हैं । (एव) वैसे ही, (अश्विना) हे [कार्यकुशल] माता पिता ! (मे आत्मनि) मेरे आत्मा में [विद्या का] (वर्चः) प्रकाश (ध्रियताम्) धरा जावे ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम आचार्यों के समान एक के ऊपर एक अनेक विद्याओं का उपदेश करके शिष्यों को श्रेष्ठ बनावें ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है—म० ११ ॥

यथा मक्षा इदं मधु न्यञ्जन्ति मधावधि ।
एवा मे अश्विना वर्चस्तेजो बलमोजश्च ध्रियताम् १७

यथा । मक्षाः । इदम् । मधु । नि-अञ्जन्ति । मधौ । अधि ॥
एव । मे । अश्विना । वर्चः । तेजः । बलम् । ओजः । च । ध्रियताम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (मक्षाः) संग्रह करने वाले पुरुष [अथवा

१६—(मधु) ज्ञानम् (मधुकृतः) बोधकर्तारः । आचार्याः (संभरन्ति) संगृह्य धरन्ति (मधौ) ज्ञाने (अधि) यथावत् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ११ ॥

१७—(मक्षाः) मक्ष संघाते रोषे च-अच् । संग्रहीतारः पुरुषा भ्रमरादयः

भ्रमर आदि जन्तु] (इदम्) ऐश्वर्य देने वाले (मधु) ज्ञान [रस] को (मधौ) ज्ञान [वा मधु] के ऊपर (अधि) ठीक ठीक (न्यञ्जन्ति) मिलाते जाते हैं। (एव) वैसे ही, (अश्विना) हे चतुर माता पिता ! (मे) मेरे लिये (वर्चः) प्रकाश, (तेजः) तीक्ष्णता, (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (ध्रियताम्) धरा जावे ॥ १७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार बुद्धिमान् पुरुष अनेक बुद्धिमानों से निरन्तर शिक्षा पाते हैं, अथवा जैसे भ्रमर आदि कीट पुष्प फल आदि से रस लेकर मधु एकत्र करते जाते हैं, वैसे ही माता पिता अपने सन्तानों को उचित शिक्षा देकर बली और पराक्रमी बनावें ॥ १७ ॥

यद् गिरिषु पर्वतेषु गोष्वश्वेषु यन्मधु । सुरायां सिच्यमानायां यत् तत्र मधु तन्मयि ॥ १८ ॥

यत् । गिरिषु । पर्वतेषु । गोषु । अश्वेषु । यत् । मधु ॥ सुरायाम् । सिच्यमानायाम् । यत् । तत्र । मधु । तत् । मयि ।१८

भाषार्थ—(यत्) जो [ज्ञान] (गिरिषु) स्तुति योग्य सन्न्यासियों में, (पर्वतेषु) मेघों में, (गोषु) गौओं में और (अश्वेषु) घोड़ों में (यत्) जो (मधु) ज्ञान है । (तत्र) उस (सिच्यमानायाम् सुरायाम्) बहते हुये जल [अथवा बढ़ते हुये ऐश्वर्य] में (यत् मधु) जो ज्ञान है, (तत्) वह (मयि) मुझ में [होवे] ॥ १८ ॥

कीटा वा (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इदि परमैश्वर्ये-कमिन्, नलोपः । परमैश्वर्यकारणम् (मधु) ज्ञानम् (न्यञ्जन्ति) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । नितरां मिश्रयन्ति (तेजः) तीक्ष्णत्वम् (बलम्) (ओजः) पराक्रमः । अन्यत् पूर्ववत् ॥ १७ ॥

१८—(गिरिषु) अ० ५ । ४ । १ । स्तूयमानेषु संन्यासिषु (पर्वतेषु) अ० । ४ । ६ । १ । मेघेषु—निघ० १ । १० (सुरायाम्) अ० ६ । ६६ । १ । षुञ् अभिषवे, वा षु ऐश्वर्ये क्रन् यद्वा, षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः-क, टाप् । जले । ऐश्वर्ये (सिच्यमानायाम्) प्रवहन्त्याम् । प्रवर्धमानायाम् (यत्) (तत्र) तस्याम् । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—विवेकी जन संसार के सब विद्वानों, सब प्राणियों और सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके कीर्तिमान् होवें ॥ १८ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग वेद से आ चुका है—अ० ६ । ६९ । १ ॥

अश्विना सारघेण मा मधुनाङ्क्तं शुभस्पती ।
यथा वर्चस्वतीं वाचमावदानि जनाँ अनु ॥ १९ ॥

अश्विना । सारघेण । मा । मधुना । अङ्क्तम् । शुभः । पती इति ॥ यथा । वर्चस्वतीम् । वाचम् । आ-वदानि । जनान् । अनु ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(शुभः) शुभ कर्म के (पती) पालन करने वाले (अश्विना) हे चतुर माता पिता ! (सारघेण) सार अर्थात् बल वा धन के पहुंचाने वाले (मधुना) ज्ञान से (मा) मुझ को (अङ्क्तम्) प्रकाशित करो । (यथा) जिससे (जनान् अनु) मनुष्यों के बीच (वर्चस्वतीम्) तेजोमयी (वाचम्) वाणी को (आवदानि) मैं बोला करूं ॥ १९ ॥

भावार्थ—मनुष्य माता पिता आदि सज्जनों से सुशिक्षा प्राप्त करके सत्य सार वचन बोलें ॥ १९ ॥

यह मन्त्र वेद से आ चुका है—अ० ६ । ६९ । २ ॥

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि । तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति ॥ २० ॥

स्तनयित्नुः । ते । वाक् । प्रजा-पते । वृषा । शुष्मम् । क्षिपसि । भूम्याम् । दिवि ॥ ताम् । पशवः । उप । जीवन्ति । सर्वे । तेनो इति । सा । इषम् । ऊर्जम् । पिपर्ति ॥ २० ॥

१९—(सारघेण) अ० ६ । ६९ । २ । सारं घाटयति संग्राहयतीति सारघः । सारस्य बलस्य धनस्य वा संग्राहकेण । (मधुना) ज्ञानेन (अङ्क्तम्) प्रकाशयतम् (वर्चस्वतीम्) तेजोमयीम् । अन्यद् व्याख्यातम् अ० ६ । ६९ । २ ॥

भाषार्थ—(प्रजापते) हे प्रजापालक ! [परमेश्वर !] (ते) तेरी (वाक्) वाणी (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जन [समान] है, (वृषा) तू ऐश्वर्यवान् होकर (शुष्मम्) बल को (भूम्याम्) भूमि पर और (दिवि) आकाश में (क्षिपसि) फैलाता है। (सर्वे) सब (पशवः) देखने वाले [जीव] (ताम्) उस [वाणी] का (उप) सहारा लेकर (जीवन्ति) जीते हैं, (तेनो) उसी ही [कारण] से (सा) वह (इषम्) अन्न और (ऊर्जम्) पराक्रम (पिपर्ति) भरती है ॥ २० ॥

भावार्थ—सर्वव्यापिनी वेदवाणी द्वारा ही सब प्राणी अपनी जीविका प्राप्त करके जीते हैं ॥ २० ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध मन्त्र १० में आ चुका है, केवल (अधि) के स्थान पर (दिवि) है ॥

पृथिवी दण्डो३ऽन्तरिक्षं गर्भो द्यौः कशा विद्युत् प्रकशो हिरण्ययो बिन्दुः ॥ २१ ॥

पृथिवी । दण्डः । अन्तरिक्षम् । गर्भः । द्यौः । कशा । वि-द्युत् । प्र-कशः । हिरण्ययः । बिन्दुः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(पृथिवी) पृथिवी [उस परमेश्वर का] (दण्डः) दण्ड [दमन स्थान, न्यायालय समान], (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक (गर्भः) गर्भ [आधार समान], (द्यौः) आकाश (कशा) वाणी [समान], (विद्युत्)

२०—(दिवि) आकाशे (ताम्) वाचम् (पशवः) अ० २ । २६ । १ । द्रष्टारः प्राणिनः (उप) उपेत्य (जीवन्ति) (सर्वे) (तेनो) तेनैव कारणेन (सा) वाक् (इषम्) अ० ३ । १० । ७ । अन्नम् (ऊर्जम्) बलम् (पिपर्ति) पूरयति । अन्यत् पूर्ववत्-म० १० ॥

२१—(दण्डः) अमन्ताड्डः । उ० १ । ११४ । दमु उपशमे-ड । दमनस्थानम् । न्यायालयो यथा (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (गर्भः) आधारः । मध्यदेशः (द्यौः) आकाशः (कशा) म० ५ । वाणी (विद्युत्) अशनिः (प्रकशः) कश गतिशासनयोः शब्दे च-पचाद्यच् । प्रकृष्टा गतिः (हिरण्ययः) अ० ४ । २ । ८ ।

बिजुली (प्रकशः) प्रकृष्ट गति [समान] और (हिरण्ययः) तेजोमय [सूर्य] (बिन्दुः) बिन्दु [छोटे चिह्न समान] है ॥ २१ ॥

भावार्थ—पृथिवी के सब प्राणियों की व्यवस्था और अनेक लोक लोकान्तरों की रचना और परस्पर संबन्ध देखकर परमेश्वर की अनन्त महिमा प्रतीत होती है ॥ २१ ॥

यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति । ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च व्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥ २२ ॥

यः । वै । कशायाः । सप्त । मधूनि । वेद । मधु-मान् । भवति ॥ ब्राह्मणः । च । राजा । च । धेनुः । च । अनड्वान् । च । व्रीहिः । च । यवः । च । मधु । सप्तमम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (वै) निश्चय करके (कशायाः) वेद वाणी के (सप्त) सात (मधूनि) ज्ञानों को (वेद) जानता है, वह (मधु-मान्) ज्ञानवान् (भवति) होता है । [जो] (ब्राह्मणः) वेदवेत्ता (च) और (राजा) राजा (च) और (धेनुः) तृप्त करने वाली गौ (च) और (अन-ड्वान्) अन्न पहुंचने वाला, बैल (च) और (व्रीहिः) चावल (च) और (यवः) जौ (च) और (सप्तमम्) सातवां (मधु) ज्ञान है ॥ २२ ॥

भावार्थ—सूक्ष्मदर्शी, नीतिज्ञ पुरुष उपकारी जीवों और पदार्थों से वेदज्ञान द्वारा ज्ञानवान् होता है ॥ २२ ॥

तेजोमयः सूर्यः (बिन्दुः) शृस्वृस्निहि० । उ० १ । १० । विदि अवयवे-उ-प्रत्ययः । अल्पांशः ॥

२२—(यः) (वै) अवधारणे (कशायाः) म० ५ । वेदवाचः (सप्त) (मधूनि) ज्ञानानि (वेद) वेत्ति (मधुमान्) ज्ञानवान् (भवति) (ब्राह्मणः) अ० २ । ६ । ३ । वेदवेत्ता (राजा) (च) (धेनुः) अ० ३ । १० । १ । तर्पयित्री गौः (अनड्वान्) अ० ४ । ११ । १ । अनसोऽन्नस्य वाहकः प्रापकः (व्रीहिः) अ० ६ । १४० । २ । अन्नविशेषः (यवः) (मधु) ज्ञानम् (सप्तमम्) ॥

मधुमान् भवति मधुमदस्याहार्यं भवति ।
मधुमतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ २३ ॥

मधु-मान् । भवति । मधु-मत् । अस्य । आ-हार्यम् । भवति ॥
मधु-मतः । लोकान् । जयति । यः । एवम् । वेद ॥ २३ ॥

भाषार्थ—[वह पुरुष] (मधुमान्) ज्ञानवान् (भवति) होता है, (अस्य) उसका (आहार्यम्) ग्राह्य कर्म (मधुमत्) ज्ञान युक्त (भवति) होता है, [वह] (मधुमतः) ज्ञान वाले (लोकान्) लोकों [स्थानों] को (जयति) जीत लेता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मनिष्ठ पुरुष ब्रह्म को सब में साक्षात् करके आनन्दित होता है॥ २३ ॥

यद् वीध्रे स्तनयति प्रजापतिरेव तत् प्रजाभ्यः प्रादुर्भवति । तस्मात् प्राचीनोपवीतस्तिष्ठे प्रजापतेऽनु मा बुध्यस्वेति । अन्वेनं प्रजा अनु प्रजापतिर्बुध्यते य एवं वेद ॥ २४ (२)

यत् । वीध्रे । स्तनयति । प्रजा-पतिः । एव । तत् । प्र-जाभ्यः । प्रादुः । भवति ॥ तस्मात् । प्राचीन-उपवीतः । तिष्ठे । प्रजा-पते । अनु । मा । बुध्यस्व । इति ॥ अनु । एनम् । प्र-जाः । अनु । प्रजा-पतिः । बुध्यते । यः । एवम् । वेद २४(२)

भाषार्थ—(यत्) जैसे (वीध्रे) [चमकीले लोकों वाले] आकाश [वा वायु] में (स्तनयति) गर्जना होती है, (तत्) वैसे ही (प्रजापतिः)

२३—(मधुमान्) ज्ञानवान् (मधुमत्) ज्ञानमयम् (अस्य) ज्ञानिनः (आहार्यम्) आ+हृञ् स्वीकारे—ण्यत् । ग्राह्यं कर्म (मधुमतः) ज्ञानवतः (लोकान्) समाजान् (जयति) उत्कर्षेण प्राप्नोति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(यत्) यथा (वीध्रे) अ० ४ । २० । ७ । वि+इन्धी दीप्तौ—क्रन्, नलोपः । प्रकाशितलोकयुक्ते । नभसि । वायौ (स्तनयति) मेघः शब्दयति (प्रजा-

प्रजापति [सृष्टिपालक परमेश्वर] (एव) ही (प्रजाभ्यः) जीवों को (प्रादुर्भवति) प्रकट होता है । (तस्मात्) इसी [कारण] से (प्राचीनोपवीतः) प्राचीन [सब से पुराने परमेश्वर] में बड़ी प्रीति वाला मैं (तिष्ठे) विनती करता हूं, "(प्रजापते) हे प्रजापति [परमेश्वर !] (मा) मुझ पर (अनु बुध्यस्व) अनुग्रह कर, (इति) बस ।" (एनम्) उस [पुरुष] पर (प्रजाः) सब प्रजागण (अनु) अनुग्रह [करते हैं] और (प्रजापतिः) प्रजापति [जगदीश्वर] (अनु बुध्यते) अनुग्रह करता है, (यः एवम् वेद) जो ऐसा जानता है २४

भावार्थ—जैसे बोला हुआ शब्द आकाश और वायु में लहरा लहरा कर सब ओर फैलता है और विवेकी जन बिजुली आदि से उस शब्द को जहां चाहे वहां ग्रहण कर लेता है, वैसे ही परमात्मा सब काल और सब स्थान में निरन्तर फैल रहा है, ऐसा अनुभवी, श्रद्धालु, पुरुषार्थी योगी जन सब प्राणियों और परमेश्वर का प्रिय होता है ॥ २४ ॥

सूक्तम् २ ॥

१-२५ ॥ कामो देवता ॥ १, २, ३, ६, ६, १०, २४, २५, त्रिष्टुप् ; ४ विराट् त्रिष्टुप् ; ५, १६, अतिजगती ; ७, १५, २०-२३ जगती ; ८ भुरिगार्ची पङ्क्तिः ; ११, १४ भुरिक् त्रिष्टुप् ; १२ अनुष्टुप् ; १३ द्विपदा जगती ; १७, १८ स्वराट् त्रिष्टुप् ; १९ ब्राह्मी उष्णिक् ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

स॒प॒त्न॒हन॑मृष॒भं घृ॒तेन॒ काम॑ शिक्षामि ह॒विषाज्ये॑न ।
नी॒चैः स॒पत्ना॒न् मम॑ पादय॒ त्वम॒भिष्टु॑तो मह॒ता वी॒र्ये॑ण ॥ १ ॥

पतिः) जगदीश्वरः (एव) (तत्) तथा (प्रजाभ्यः) जीवेभ्यः (प्रादुः) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । ११७ । प्र + अद भक्षणे, अवने च—उसि । प्रकाशे (भवति) (तस्मात्) कारणात् (प्राचीनोपवीतः) प्राचीन—अ० ४ । ११ । ८ + उप + वी गतिव्याप्तिकान्त्यादिषु—क्त । प्राचीने सर्वपुरातने परमेश्वरे बहुप्रीतः (तिष्ठे) प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च । पा० १ । ३ । २३ । इत्यात्मनेपदम् । आशयं प्रकाशयामि । निवेदयामि (प्रजापते) (अनु बुध्यस्व) अनुजानीहि । अनुगृहाण (मा) माम् (अनु) अनुबुध्यन्ते (एनम्) ब्रह्मवादिनम् (प्रजाः) प्राणिनः (प्रजापतिः) (अनुबुध्यते) अनुगृह्णाति । अन्यत् पूर्ववत् ॥ २४ ॥

सपत्न-हनम् । ऋषभम् । घृतेन । कामम् । शिक्षामि । हविषा । आज्येन ॥ नीचैः । स-पत्नान् । मम । पादय । त्वम् । अभि-स्तुतः । महता । वीर्येण ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सपत्नहनम्) शत्रुनाशक, (ऋषभम्) बलवान् (कामम्) कामना योग्य [परमेश्वर] को (घृतेन) प्रकाश, (हविषा) भक्ति और (आज्येन) पूर्ण गति के साथ (शिक्षामि) मैं सीखता हूं। (अभिष्टुतः) सब ओर से स्तुति किया गया (त्वम्) तू (महता) बड़ी (वीर्येण) वीरता से (मम) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (नीचैः) नीचे (पादय) पहुंचा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण भक्ति से परमेश्वर का आश्रय लेकर अभिमान आदि शत्रुओं का नाश करे ॥ १ ॥

यन्मे मनसो न प्रियं न चक्षुषो यन्मे बभस्ति नाभिनन्दति । तद् दुष्वप्न्यं प्रति मुञ्चामि सपत्ने कामं स्तुत्वोदहं भिदेयम् ॥ २ ॥

यत् । मे । मनसः । न । प्रियम् । न । चक्षुषः । यत् । मे । बभस्ति । न । अभि-नन्दति ॥ तत् । दुः-स्वप्न्यम् । प्रति । मुञ्चामि । स-पत्ने । कामम् । स्तुत्वा । उत् । अहम् । भिदेयम् २

भाषार्थ—(यत्) जो [दुष्टकर्म] (मे) मेरे (मनसः) मन का (न प्रियम्) प्रिय नहीं है और (न चक्षुषः) न नेत्र का, और (यत्) जो (मे)

१—(सपत्नहनम्) शत्रुनाशकम् (ऋषभम्) अ० ३ । ६ । ४ । बलिनम् (घृतेन) प्रकाशेन (कामम्) अ० ३ । २१ । ४ । कमनीयं कामयितारं वा परमेश्वरम् (शिक्षामि) अ० ७ । १०९ । १ । शिक्षे । अभ्यस्यामि) (हविषा) आत्मदानेन (आज्येन) अ० ५ । ८ । १ । आङ्+अञ्जू गतौ—क्यप् । समन्ताद् गत्या । सर्वोपायेन (नीचैः) (सपत्नान्) शत्रून् (मम) (पादय) गमय (त्वम्) । अभिष्टुतः) प्रशंसितः (महता) विशालेन (वीर्येण) वीर्यकर्मणा ॥

२—(यत्) दुष्टकर्म (मे) मम (मनसः) अन्तः करणस्य (न) निषेधे (प्रियम्) हितकरम् (न) (चक्षुषः) नेत्रस्य । बहिरङ्गस्य (यत्) (मे)

मेरा (बभस्ति) तिरस्कार करता है और (न) न (अभिनन्दति) कुछ आनन्द देता है। (तत्) उस (दुःष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न को (सपत्ने) शत्रु नाश के लिये (प्रति मुञ्चामि) मैं छोड़ता हूं, (कामम्) कमनीय परमेश्वर की (स्तुत्वा) स्तुति करके (अहम्) मैं (उत् भिदेयम्) ऊपर निकल आऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मा और समाज के विरुद्ध दुष्टकर्मों को छोड़कर परमेश्वर आज्ञा का पालन करके उन्नति करे ॥ २ ॥

दुःष्वप्न्यं काम दुरितं च कामाप्रजस्तामस्वगतामवर्तिम्। उग्र ईशानः प्रति मुञ्च तस्मिन् यो अस्मभ्यमंहूरणा चिकित्सात् ॥ ३ ॥

दुः-स्वप्न्यम्। काम। दुः-इतम्। च। काम। अप्रजस्ताम्। अस्वगताम्। अवर्तिम् ॥ उग्रः। ईशानः। प्रति। मुञ्च। तस्मिन्। यः। अस्मभ्यम्। अंहूरणा। चिकित्सात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर !] (दुष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न को, (च) और (काम) हे कामना योग्य [परमात्मन् !] (दुरितम्) विघ्न, (अस्वगताम्) निर्धनता से प्राप्त (अप्रजस्ताम्) प्रजा के अभाव और (अवर्तिम्) निर्जीविका को, (उग्रः) प्रबल और (ईशानः) ईश्वर होकर तू

(बभस्ति) भस भर्त्सनदीप्त्योः। निन्दां करोति (न) (अभिनन्दति) सर्वतः सुखयति (तत्) (दुःष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नम् (प्रति मुञ्चामि) सर्वतो मोचयामि (सपत्ने) निमित्तात् कर्मयोगे सप्तमी वक्तव्या। वा० पा० २। ३। ३६। शत्रुहननाय (कामम्) कमनीयं परमेश्वरम् (स्तुत्वा) प्रशस्य (अहम्) उपासकः (उद्भिदेयम्) छान्दसो विधिलिङ्। उद् भिन्द्याम्। उन्नतो भवेयम् ॥

३—(दुष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नम्। कुविचारम् (काम) हे कमनीय परमात्मन् (दुरितम्) दुर्गतिम्। विघ्नम् (च) (काम) (अप्रजस्ताम्), नित्यमसिच् प्रजामेधयोः। पा० ५। ४। १२२। अप्रजा-असिच्। प्रजाराहित्यम् (अस्वगताम्) अस्वेन निर्धनेन प्राप्ताम् (अवर्तिम्) अ० ४। ३४। ३। निर्जीविकाम् (उग्रः) प्रबलः (ईशानः) ईश्वरः (प्रति मुञ्च) सर्वतो मोचय (तस्मिन्) शत्रौ (यः) शत्रुः (अस्मभ्यम्) धर्मात्मभ्यः (अंहूरणा) अ० ६। ६९। १

(तस्मिन्) उस पुरुष पर (प्रति मुञ्च) छोड़ दे, (यः) जो (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अंहूरणा) पाप कर्मों को (चिकित्सात्) चाहे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मात्माओं को दुःख देते हैं, वे ईश्वर नियम से बुद्धि हानि, विघ्न आदि कष्ट भोगते हैं ॥ ३ ॥

नुदस्व काम प्र णुदस्व कामावर्तिं यन्तु मम ये सपत्नाः।
तेषां नुत्तानामधमा तमांस्यग्ने वास्तूनि निर्दह त्वम् ॥४॥

नुदस्व । काम । प्र । नुदस्व । काम । अवर्तिम् । यन्तु । मम । ये । सु-पत्नाः ॥ तेषाम् । नुत्तानाम् । अधमा । तमांसि । अग्ने । वास्तूनि । निः । दह । त्वम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर !] [हमें] (नुदस्व) बढ़ा, (काम) हे कमनीय ! (प्र णुदस्व) आगे बढ़ा, वे लोग (अवर्तिम्) निर्जीविका को (यन्तु) प्राप्त हों, (ये) जो (मम) मेरे (सपत्नाः) वैरी हैं । (अग्ने) हे तेजस्वी परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अधमा) अति नीचे (तमांसि) अन्धकारों में (नुत्तानाम्) पड़े हुये (तेषाम्) उन [शत्रुओं] के (वास्तूनि) घरों को (निःदह) भस्म कर दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक उन्नति करके दुष्ट जनों और दुष्ट स्वभावों का नाश करें ॥ ४ ॥

सा ते काम दुहिता धेनुरुच्यते यामाहुर्वाचं कवयो विराजम्। तया सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ ५ ॥

पापयुक्तानि कर्माणि (चिकित्सात्) कित इच्छायाम्—लेट्, सन् छान्दसः । केतयतु । इच्छतु ॥

४—(नुदस्व) प्रेरय (काम) म० १ । हे कमनीय (प्र) प्रकर्षेण (नुदस्व) (काम) (अवर्तिम्) निर्जीविकाम् (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (मम) (ये) (सपत्नाः) शत्रवः (तेषाम्) शत्रूणाम् (नुत्तानाम्) प्रेरितानाम् (अधमा) नीचानि (तमांसि) अन्धकारान् । अज्ञानानि (अग्ने) हे तेजस्विन् परमात्मन् (वास्तूनि) म० ३ । १०८ । १ ... णि (निर्दह) भस्मीकुरु (त्वम्) ॥

सा । ते । काम । दुहिता । धेनुः । उच्यते । याम् । आहुः । वाचम् । कवयः । वि-राजम् ॥ तया । स-पत्नान् । परि । वृङ्ग्धि । ये । मम । परि । एनान् । प्राणः । पशवः । जीवनम् । वृणक्तु ।५।

भाषार्थ—(काम) हे कमनीय परमात्मन् (सा) वह [हमारी कामनायें] (दुहिता) पूरण करनेवाली (ते) तेरी (धेनुः) वाणी (उच्यते) कही जाती है, (याम्) जिस (वाचम्) वाणी को (कवयः) बुद्धिमान् लोग (विराजम्) विविध ऐश्वर्यवाली (आहुः) कहते हैं । (तया) उस [वाणी] से (सपत्नान्) उन वैरियों को (परि वृङ्ग्धि) हटा दे, (ये) जो (मम) मेरे [शत्रु हैं,] (एनान्) उन [शत्रुओं] को (प्राणः) प्राण, (पशवः) सब जीव और (जीवनम्) जीवनवृत्ति (परि वृणक्तु) त्याग देवे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सर्वश्रेष्ठ वेद वाणी का आश्रय लेते हैं, वे अपने शत्रुओं को निर्बल करने में समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

कामस्येन्द्रस्य वरुणस्य राज्ञो विष्णोर्बलेन सवितुः सवेन । अग्नेर्होत्रेण प्र णुदे सपत्नाञ्छम्बीव नावमुदकेषु धीरः ॥ ६ ॥

कामस्य । इन्द्रस्य । वरुणस्य । राज्ञः । विष्णोः । बलेन । सवितुः । सवेन ॥ अग्नेः । होत्रेण । प्र । नुदे । स-पत्नान् । शम्बी-इव । नावम् । उदकेषु । धीरः ॥ ६ ॥

५—(सा) प्रसिद्धा (ते) तव (काम) कमनीय (दुहिता) अ० ३ । १० । १३ । कामानां प्रपूरयित्री (धेनुः) अ० ३ । १० । १ । तर्पयित्री वाक्—निघ० १ । ११ । (उच्यते) (याम्) (आहुः) कथयन्ति (वाचम्) वेदवाणीम् (कवयः) मेधाविनः (विराजम्) अ० ८ । ९ । १ । विविधेश्वरीम् (तया) वाचा (सपत्नान्) शत्रून् (परिवृङ्ग्धि) सर्वतो वर्जय (ये) शत्रवः (मम) (परि) (एनान्) सपत्नान् (प्राणः) आत्मोत्कर्षः (पशवः) प्राणिनः (जीवनम्) जीवनसाधनम् (वृणक्तु) अ० १ । ३० । ३ । वर्जयतु ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्य वाले, (वरुणस्य) श्रेष्ठ, (राज्ञः) राजा, (विष्णोः) सर्व व्यापक, (सवितुः) सर्व प्रेरक, (अग्नेः) सर्वज्ञ, (कामस्य) कामना योग्य [परमेश्वर] के (बलेन) बल से, (सवेन) ऐश्वर्य से और (होत्रेण) दान से (सपत्नान्) बैरियों को (प्र णुदे) मैं भगाता हूं, (इव) जैसे (धीरः) धीर (शम्बी) कर्णधार [नाव चलानेवाला] (नावम्) नाव को (उदकेषु) जलों के भीतर [चलाता है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर की महिमा को प्राप्त होकर अपने बाहिरी और भीतरी बैरियों को ऐसा वश में रखता है जैसे चतुर नाविक गहरे जल में नाव को चलाता है ॥ ६ ॥

अध्यक्षो वाजी मम काम उग्रः कृणोतु मह्यमसपत्नमेव । विश्वे देवा मम नाथं भवन्तु सर्वे देवा हवमा यन्तु म इमम् ॥ ७ ॥

अधि-अक्षः । वाजी । मम । कामः । उग्रः । कृणोतु । मह्यम् । असपत्नम् । एव ॥ विश्वे । देवाः । मम । नाथम् । भवन्तु । सर्वे । देवाः । हवम् । आ । यन्तु । मे । इमम् ॥७॥

भाषार्थ—"(मम) मेरा (अध्यक्षः) अध्यक्ष, (वाजी) पराक्रमी, (उग्रः) तेजस्वी, (कामः) कामना योग्य [परमेश्वर] (मह्यम्) मुझको

६—(कामस्य) कमनीयस्य परमेश्वरस्य (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य (राज्ञः) शासकस्य (विष्णोः) सर्वव्यापकस्य (बलेन) (सवितुः) सर्वप्रेरकस्य (सवेन) ऐश्वर्येण (अग्नेः) सर्वज्ञस्य (होत्रेण) दानेन (प्र णुदे) प्रेरयामि । वशीकरोमि (सपत्नान्) शत्रून् (शम्बी) शम्ब सम्बन्धने गतौ च—अच् । यद्वा, शमेर्वन् । उ० ४ । ६४ । शमु उपशमे-वन् । यद्वा, शातयतेर्वन् । शम्ब इति वज्र नाम शमयतेर्वा शातयतेर्वा-निरु० ५ । २४ । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । शम्ब—इनि । वज्रवान् । कर्णधारः (इव) यथा (नावम्) पोतम् (उदकेषु) गम्भीरजलेषु (धीरः) धीमान् । प्रवीणः । पण्डितः ॥

७—(अध्यक्षः) अधिगतोऽक्षं व्यवहारं यः । अधिष्ठाता (वाजी) पराक्रमी

(एव) अवश्य (असपत्नम्) विना शत्रु (कृणोतु) करे। (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य गुण (मम) मेरे (नाथम्) ऐश्वर्य (भवन्तु) होवें," (सर्वे) सब (देवाः) दिव्य गुणवाले लोग (मम) मेरी (इमम्) इस (हवम्) पुकार को (आ यन्तु) आकर प्राप्त हों ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वस्वामी परमेश्वर का शरण लेकर और विद्वानों का सत्संग करके अपने दोषों का नाश करके ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ ७ ॥

इदमाज्यं घृतवज्जुषाणाः कामज्येष्ठा इह मादयध्वम्।
कृण्वन्तो मह्यमसपत्नमेव ॥ ८ ॥

इदम्। आज्यम्। घृत-वत्। जुषाणाः। काम-ज्येष्ठाः। इह। मादयध्वम् ॥ कृण्वन्तः। मह्यम्। असपत्नम्। एव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (इदम्) इस (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (आज्यम्) पूर्ण गति को (जुषाणाः) सेवन करते हुये, (कामज्येष्ठाः) कामना योग्य परमेश्वर को सब से बड़ा मानते हुये, (मह्यम्) मुझको (एव) अवश्य (असपत्नम्) विना शत्रु (कृण्वन्तः) करते हुये तुम (इह) यहां [हमें] (मादयध्वम्) तृप्त करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब उपाय से ब्रह्मनिष्ठ पुरुषों के सत्संग से आत्मदोष त्याग कर प्रसन्न होते हैं ॥

(मम) उपासकस्य (कामः) कमनीयः परमेश्वरः (उग्रः) तेजस्वी (कृणोतु) करोतु (मह्यम्) द्वितीयार्थे चतुर्थी। माम् (असपत्नम्) अशत्रुम् (एव) अवश्यम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यगुणाः (मम) (नाथम्) नाथृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—अच्। ऐश्वर्यम् (भवन्तु) सन्तु (सर्वे) (देवाः) दिव्यगुणाः पुरुषाः (हवम्) आह्वानम् (आ यन्तु) आगत्य प्राप्नुवन्तु (मे) मम (इमम्) पूर्वोक्तम् ॥

८—(इदम्) पूर्वोक्तम् (आज्यम्) म० १। समन्ताद् गतिम्। सर्वोपायम् (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (जुषाणाः) सेवमानाः (कामज्येष्ठाः) कमनीयः परमेश्वरः सर्ववृद्धो येषां ते (इह) अस्मिन् जीवने (मादयध्वम्) अस्मान् तर्पयत (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः। अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

इन्द्राग्नी काम सुरथं हि भूत्वा नीचैः सपत्नान् मर्म पादयाथः । तेषां पन्नानामधमा तमांस्यग्ने वास्तून्यनुनिर्दह त्वम् ॥ ९ ॥

इन्द्राग्नी इति । काम । स-रथम् । हि । भूत्वा । नीचैः । स-पत्नान् । मर्म । पादयाथः ॥ तेषाम् । पन्नानाम् । अधमा । तमांसि । अग्ने । वास्तूनि । अनु-निर्दह । त्वम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(काम) हे कमनीय [परमेश्वर !] [मेरे] (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [प्राण वायु और शारीरिक बल] के साथ (सरथम्) एक रथ पर (हि) ही (भूत्वा) होकर (मम) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (नीचैः) नीचे (पादयाथः) पहुंचा । (अग्ने) हे तेजस्वी परमेश्वर ! (त्वम्) तू (अधमा) अति नीच (तमांसि) अन्धकारों में (पन्नानाम्) पहुंचे हुये (तेषाम्) उन [शत्रुओं] के (वास्तूनि) घरों को (अनुनिर्दह) निरन्तर जला दे ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्व शक्तिमान् परमेश्वर की महाशक्ति को विचारकर शारीरिक और आत्मिक बल के साथ काम क्रोध आदि शत्रुओं को उनके कारण सहित नाश करके आनन्द पावें ॥ ९ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर मन्त्र ४ में कुछ भेद से आ चुका है ॥

जहि त्वं काम मम ये सपत्ना अन्धा तमांस्यव पादयैनान् । निरिन्द्रिया अरसाः सन्तु सर्वे मा ते जीविषुः कतमच्चनाहः ॥ १० ॥ (३)

९-(इन्द्राग्नी) विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । इन्द्राग्निभ्याम् । इन्द्रेण प्राणवायुना अग्निना शारीरिकबलेन च सह (काम) हे कमनीय परमेश्वर (सरथम्) अ० ४ । ३१ । १। समाने रथे (पादयाथः) तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । पादयतेर्लेटि, एकवचने द्विवचनम् । पादय । गमय (पन्नानाम्) पद गतौ—क्त । प्राप्तानाम् (अनुनिर्दह) निरन्तरं भस्मीकुरु । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ इत्यादौ ॥

जहि । त्वम् । काम । मम । ये । सु-पत्नाः । अन्धा । तमांसि । अव । पादय । एनान् ॥ निः-इन्द्रियाः । अरसाः । सन्तु । सर्वे । मा । ते । जीविषुः । कतमत् । चन । अहः ॥ १० ॥(३)

भाषार्थ—(काम) हे कमनीय [परमेश्वर !] (त्वम्) तू (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं, (एनान्) उनको (जहि) नाश करदे और (अन्धा) बड़े भारी (तमांसि) अन्धकारों में (अव पादय) गिरा दे । (सर्वे ते) वे सब (निरिन्द्रियाः) निर्धन और (अरसाः) निर्वीर्य (सन्तु) हो जावें, और (कतमत् चन) कुछ भी (अहः) दिन (मा जीविषुः) न जीवें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना उपासना से आत्मिक बल बढ़ाकर शत्रुओं का सर्वथा नाश करें ॥ १० ॥

अवधीत् कामो मम ये सपत्ना उरुं लोकमकरन्मह्यमेधतुम् । मह्यं नमन्तां प्रदिशश्चतस्रो मह्यं षडुर्वीर्घृतमा वहन्तु ॥ ११ ॥

अवधीत् । कामः । मम । ये । सु-पत्नाः । उरुम् । लोकम् । अकरत् । मह्यम् । एधतुम् ॥ मह्यम् । नमन्ताम् । प्र-दिशः । चतस्रः । मह्यम् । षट् । उर्वीः । घृतम् । आ । वहन्तु ११

भाषार्थ—(कामः) कामना योग्य [परमेश्वर] ने [उनको] (अवधीत्) नष्ट कर दिया है (ये) जो (मम) मेरे (सपत्नाः) शत्रु हैं और (मह्यम्) मेरे लिये (उरुम्) चौड़ा, (एधतुम्) वृद्धि करने वाला (लोकम्) स्थान

१०—(जहि) नाशय (अन्धा) अन्ध दृष्टिनाशे—अच् । निबिडानि (तमांसि) अन्धकारान् (अव पादय) अधो गमय (एनान्) शत्रून् (निरिन्द्रियाः) इन्द्रियं धनम्—निघ० २ । १० । निर्धनाः (अरसाः) निर्वीर्याः (ते) सपत्नाः (मा जीविषुः) मा प्राणान् धारयन्तु (कतमत् चन) किमपि (अहः) दिनम् । अन्यद् गतम् ॥

११—(अवधीत्) नाशितवान् (उरुम्) विस्तीर्णम् (लोकम्) स्थानम् (अकरत्) कृतवान् (मह्यम्) मदर्थम् (एधतुम्) एधिवह्योश्चतुः । उ० १ । ७७ ।

(अकरत्) किया है। (मह्यम्) मेरे लिये (चतस्रः) चारों [पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर] (प्रदिशः) प्रधान दिशायें (नमन्ताम्) झुकें, (मह्यम्) मेरे लिये (षट्) छह [आग्नेयी, नैर्ऋती, वायवी, ऐशानी, चारों मध्य दिशा और ऊपर नीचे की दोनों] (उर्वीः) फैली हुई [दिशायें] (घृतम्) घृत [प्रकाश वा सार पदार्थ] (आ वहन्तु) लावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के अनुग्रह से अपने विघ्नों का नाश करते हैं, वे विज्ञान पूर्वक उन्नति करके सब स्थानों और सब कालों में आनन्द भोगते हैं ॥

तेऽध॒राञ्चः॒ प्र प्ल॑वन्तां छि॒न्ना नौरि॑व॒ बन्ध॑नात् ।

न सा॑य॒कप्र॑णुत्तानां॒ पुन॑रस्ति नि॒वर्त॑नम् ॥ १२ ॥

ते । अ॒ध॒राञ्चः॑ । प्र । प्ल॒व॒न्ता॒म् । छि॒न्ना । नौः॑-इ॑व । बन्ध॑नात् ॥
न । सा॒य॑क-प्र॑नुत्तानाम् । पुनः॑ । अ॒स्ति॒ । नि॒-वर्त॑नम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (अधराञ्चः) अधोगति वाले लोग (बन्धनात्) बन्धन से (छिन्ना) छूटी हुई (नौः इव) नाव के समान (प्र प्लवन्ताम्) बहते चले जावें। (सायकप्रणुत्तानाम्) तीर से ढकेले गये पदार्थों का (निवर्तनम्) लौटना (पुनः) फिर (न) नहीं (अस्ति) होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दृढ़ उपायों से विघ्नों को हटाते हैं, वे सहज में सदा निर्विघ्न रहते हैं ॥ १२ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है-अ० ३ । ६ । ७ ॥

अ॒ग्निर्यव॒ इन्द्रो॒ यवः॒ सोमो॒ यवः॑ ।

य॒व॒याव्या॑नो दे॒वा या॑वयन्त्वेनम् ॥ १३ ॥

एध वृद्धौ-चतु । वृद्धिकरम् (नमन्ताम्) प्रह्वीभवन्तु (प्रदिशः) पूर्वादयः प्रकृष्टा दिशः (चतस्रः) (षट्) षट्संख्याकाः (उर्वीः) विस्तीर्णाः । आग्नेय्यादयश्चतस्रो मध्यदिशो नीचोच्चदिशौ च (घृतम्) प्रकाशम् । सारपदार्थम् (आ वहन्तु) आनयन्तु । अन्यद् गतम् ॥

१२—(सायकप्रणुत्तानाम्) वाणैः प्रेरितानाम् । अन्यद् व्याख्यातम् अ० ३ । ६ । ७ ॥

अग्निः । यवः । इन्द्रः । यवः । सोमः । यवः ॥

यव-यावानः । देवाः । यवयन्तु । एनम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (यवः) [अधर्म का] हटाने वाला, (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (यवः) [दुष्कर्म] मिटाने वाला, (सोमः) सुख उत्पन्न करने वाला ईश्वर (यवः) [सुख का] मिलाने वाला है। (यवयावानः) यवनों [धर्मनिन्दकों] के निन्दा करनेवाले (देवाः) विद्वान् लोग (एनम्) इस [परमात्मा] को (यवयन्तु) मिलें ॥ १३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ईश्वरोक्त धर्म्मानुसार दुष्कर्मियों को दण्ड देकर परमेश्वर की आज्ञा में प्रवृत्त रहते हैं ॥ १३ ॥

असर्ववीरश्चरतु प्रणुत्तो द्वेष्यो मित्राणां परिवर्ग्यः स्वानाम् । उत पृथिव्यामव स्यन्ति विद्युत उग्रो वो देवः प्र मृणत् सपत्नान् ॥ १४ ॥

असर्व-वीरः । चरतु । प्र-नुत्तः । द्वेष्यः । मित्राणाम् । परि-वर्ग्यः । स्वानाम् ॥ उत । पृथिव्याम् । अव । स्यन्ति । वि-द्युतः । उग्रः । वः । देवः । प्र । मृणत् । स-पत्नान् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(असर्ववीरः) सब वीरों से रहित, (प्रणुत्तः) बाहर निकाला गया, (मित्राणाम्) मित्रों और (स्वानाम) जातियों का (परिवर्ग्यः) त्यागा हुआ (द्वेष्यः) शत्रु, (चरतु) फिरता रहे। (उत) और [जैसे]

१३—(अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (यवः) यु मिश्रणामिश्रणयोः-अप् । अधर्मस्य पृथक्कर्ता (इन्द्रः) परमेश्वरः (यवः) दुष्कर्मनाशकः (सोमः) सुखोत्पादकः (यवः) सुखसंयोजकः (यवयावानः) कनिन् युवृषितक्षिराजि० । उ० १ । १५६ । यव+यु निन्दने चुरादिः—कनिन् । यवानां यवनानां धर्मनिन्दकानां निन्दकः (देवाः) विद्वांसः (यवयन्तु) सांहितिको दीर्घः । मिश्रयन्तु । प्राप्नुवन्तु ॥

१४—(असर्ववीरः) सर्ववीररहितः (चरतु) गच्छतु (प्रणुत्तः) बहिष्प्रेरितः (द्वेष्यः) शत्रुः (मित्राणाम्) (परिवर्ग्यः) परिवर्जनीयः । त्याज-

(पृथिव्याम्) पृथिवी पर (विद्युतः) बिजुलियां (अव स्यन्ति) गिरती हैं। [वैसे ही] (उग्रः) प्रबल (देवः) विजयी परमेश्वर (वः) तुम (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्र मृणत्) नाश कर डाले ॥ १४ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा विद्वान् लोग दुराचारियों को उनके मित्र आदिकों से पृथक् करके नष्ट कर देवें जैसे बिजुली गिर कर पृथिवी पर पदार्थों को नष्ट कर देती है, यह परमेश्वर का नियम है ॥ १४ ॥

च्युता चेयं बृ॑हृत्यच्यु॑ता च विद्युद् बिभर्ति स्तनयित्नूँश्च सर्वान्। उद्यन्नादित्यो द्रविणेन तेजसा नीचैः सपत्नान् नुदतां मे सहस्वान् ॥ १५ ॥

च्युता। च। इयम्। बृहती। अच्यु॑ता। च। वि-द्युत्। बिभर्ति। स्तनयित्नून्। च। सर्वान् ॥ उत्-यन्। आदित्यः। द्रविणेन। तेजसा। नीचैः। सु-पत्नान्। नुदताम्। मे। सह॑-स्वान् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (बृहती) बड़ी (विद्युत्) प्रकाशमान् शक्ति [परमेश्वर] (च्युता) गिरे हुये [निर्बल] (च च) और (अच्युता) न गिरे हुये [प्रबल द्रव्यों] को (च) और (सर्वान्) सब (स्तनयित्नून्) शब्द करने वालों को (बिभर्त्ति) धारण करता है। (उद्यन्) उदय होता हुआ (सहस्वान्) बलवान् (आदित्यः) प्रकाशमान् जगदीश्वर (द्रविणेन) बल से

नीचः (स्वानाम्) ज्ञातीनाम् (उत) अपि च (पृथिव्याम्) (अव स्यन्ति) अधः पतन्ति (विद्युतः) अशनयः (उग्रः) प्रबलाः (वः) युष्मान् (देवः) विजिगीषुः परमेश्वरः (प्रमृणत्) सर्वथा मारयतु (सपत्नान्) शत्रून् ॥

१५—(च्युता) च्युङ् गतौ—क्त। शेर्लोपः। च्युतानि अधोगतानि। निर्बलानि वस्तूनि (च) (इयम्) प्रत्यक्षा (बृहती) महती (अच्युता) अनधोगतानि। प्रबलानि द्रव्याणि (च) (विद्युत्) विविधं द्योतमाना शक्तिः। परमेश्वरः (बिभर्त्ति) धरति (स्तनयित्नून्) अ० १। १३। १। गर्जनशीलान् (च) (सर्वान्) (उद्यन्) उदयं गच्छन् (आदित्यः) अ० १। ६। १। आदीप्यमानः

और (तेजसा) तेज से (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (नीचैः) नीचे (नुदताम्) ढकेल देवे ॥ १५ ॥

भावार्थ—सर्वपोषक, सर्वशक्तिमान्, परमेश्वर के नियम से पुरुषार्थी जन बल और प्रताप बढ़ाकर वैरियों का नाश करते हैं ॥ १५ ॥

यत् ते काम शर्म त्रिवरूथमुद्भु ब्रह्म वर्म विततमनतिव्याध्यं कृतम्। तेन सपत्नान् परि वृङ्ग्धि ये मम पर्येनान् प्राणः पशवो जीवनं वृणक्तु ॥ १६ ॥

यत्। ते। काम। शर्म। त्रि-वरूथम्। उत्-भु। ब्रह्म। वर्म। वि-ततम्। अनति-व्याध्यम्। कृतम् ॥ तेन। स-पत्नान्। परि। वृङ्ग्धि। ये। मम। परि। एनान्। प्राणः। पशवः। जीवनम्। वृणक्तु ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(काम) हे कामना योग्य [जगदीश्वर !] (यत्) जो (ते) तेरा (शर्म) सुखप्रद, (त्रिवरूथम्) तीन [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक] रक्षा वाला, (उद्भु) बलवान्, (ब्रह्म) वेद (विततम्) फैला हुआ, (अनतिव्याध्यम्) न कभी छेदने योग्य (वर्म) कवच (कृतम्) बना है। (तेन) उस [वेद] से (सपत्नान्) उन वैरियों को (परि वृङ्ग्धि) हटा दे। (ये) जो (मम) मेरे [शत्रु हैं], (एनान्) उन [शत्रुओं] को (प्राणः) प्राण, (पशवः) सब जीव और (जीवनम्) जीवनवृत्ति (परिवृणक्तु) छोड़ देवे ॥ १६

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा मानकर शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करके सब शत्रुओं को निर्बल करें ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद में म० ५ में आ चुका है ॥

परमेश्वरः (द्रविणेन) बलेन—निघ० । २ । ९ (तेजसा) प्रतापेन (नीचैः) (सपत्नान्) (नुदताम्) प्रेरयतु (मे) मम (सहस्वान्) बलवान् ॥

१६—(यत्) (ते) तव (काम) (शर्म) सुखम्-निघ० ३ । ६ । सुखकरम् (त्रिवरूथम्) अ० ८ । ५ । १० । त्रीणि शारीरिकात्मिकसामाजिकानि वरूथानि रक्षणानि यस्मिन् तत् । (उद्भु) भू-डु । प्रभु । समर्थम् (ब्रह्म) वेदः (वर्म) कवचम् (विततम्) विस्तृतम् (अनतिव्याध्यम्) व्यध ताडने-ण्यत् । नैव छेदनीयम् (कृतम्) सम्पादितम् (तेन) ब्रह्मणा । अन्यत् पूर्ववत्-म० ५ ॥

येन॑ दे॒वा असु॑रा॒न् प्राणु॑दन्त॒ येनेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ नि॒नाय॑ । तेन॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्ताना॒स्मा-ल्लो॒कात् प्र णु॑दस्व दू॒रम् ॥ १७ ॥

येन॑ । दे॒वाः । असु॑रान् । प्र-अनु॑दन्त । येन॑ । इन्द्रः॑ । दस्यू॑न् । अ॒ध॒मम् । तमः॑ । नि॒नाय॑ ॥ तेन॑ । त्वम् । का॒म॒ । मम॑ । ये । स॒-पत्नाः॑ । तान् । अ॒स्मात् । लो॒कात् । प्र । नु॒द॒स्व॒ । दू॒रम् ॥१७॥

भाषार्थ—(येन) जिस [उपाय] से (देवाः) विजयी लोगों ने (असुरान्) असुरों [विद्वानों के विरोधियों] को (प्राणुदन्त) निकाल दिया है, (येन) जिस [यत्न] से (इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुष ने (दस्यून्) डाकुओं को (अधमम् तमः) नीचे अन्धकार में (निनाय) पहुंचाया था । (काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर] (त्वम्) तू (मम) मेरे (ये) जो (सपत्नाः) शत्रु हैं, (तेन) उसी [उपाय] से (तान्) उनको (अस्मात् लोकात्) इस स्थान से (दूरम्) दूर (प्र णुदस्व) निकाल दे ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर के ज्ञान रखनेवाले पूर्वज विद्वानों और वीरों के समान उपाय करके दुराचारियों का नाश करें ॥ १७ ॥

यथा॑ दे॒वा असु॑रा॒न् प्राणु॑दन्त॒ यथेन्द्रो॒ दस्यू॑नध॒मं तमो॑ बबा॒धे । तथा॒ त्वं का॑म॒ मम॒ ये स॒पत्ना॒स्ताना॒स्मा-ल्लो॒कात् प्र णु॑दस्व दू॒रम् ॥ १८ ॥

यथा॑ । दे॒वाः । असु॑रान् । प्र-अनु॑दन्त । यथा॑ । इन्द्रः॑ । द-स्यू॑न् । अ॒ध॒मम् । तमः॑ । ब॒बा॒धे ॥ तथा॑ । त्वम् । का॒म॒ । मम॑ । ये ।

१७—(येन) प्रयत्नेन (देवाः) विजिगीषवः (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् (प्राणुदन्तः) प्रेरितवन्तः (येन) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (दस्यून्) अ० २ । १४ । ५ । चोरादीन् (अधमम) कुत्सितम् (तमः) अन्धकारम् (निनाय) प्रापितवान् (तेन) उपायेन (अस्मात्) दृश्यमानात् (लोकात्) स्थानात् (प्रणुदस्व) बहिष्कुरु । अन्यद् गतम् ॥

सु-पत्नाः। तान्। अस्मात्। लोकात्। प्र। नुदस्व। दूरम्॥१८

भाषार्थ—(यथा) जैसे (देवाः) व्यवहार कुशल लोगों ने (असुरान्) असुरों [विद्वानों के विरोधियों] को (प्राणुदन्त) निकाल दिया है, (यथा) जैसे (इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुष ने (दस्यून्) डाकुओं को (अधमम् तमः) नीचे अन्धकार में (बबाधे) रोका था। (काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर !] (त्वम्) तू (मम ये सपत्नाः) मेरे जो शत्रु हैं, (तथा) वैसे ही (तान्) उनको (अस्मात् लोकात्) इस स्थान से (दूरम्) दूर (प्र णुदस्व) निकाल दे ॥१८॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वदा परमेश्वर का आश्रय लेकर यथावत् व्यवहारों को समझ कर दुष्कर्मियों का नाश करें ॥ १८ ॥

कामो॑ जज्ञे प्रथ॒मो नैनं॑ दे॒वा आ॑पुः पि॒तरो॒ न मर्त्याः॑।
तत॒स्त्वम॑सि॒ ज्याया॑न् वि॒श्वहा॑ म॒हांस्तस्मै॑ ते काम॒
नम॒ इत् कृ॑णोमि ॥ १९ ॥

कामः॑। ज॒ज्ञे॒। प्र॒थ॒मः। न। ए॒न॒म्। दे॒वाः। आ॒पुः॒। पि॒तरः॑। न। मर्त्याः॑॥ ततः॑। त्वम्। अ॒सि॒। ज्याया॑न्। वि॒श्वहा॑। म॒हान्। तस्मै॑। ते॒। का॒म॒। नमः॑। इत्। कृ॒णो॒मि॒। १९।

भाषार्थ—(कामः) कामना योग्य [परमेश्वर] (प्रथमः) पहिले ही पहिले [होकर] (जज्ञे) प्रकट हुआ, (एनम्) इसको (न) न तो (पितरः) पालन शील (देवाः) चलने वाले लोकों [पृथिवी, सूर्य आदि] और (न) न (मर्त्याः) मनुष्यों ने (आपुः) पाया। (ततः) उससे (त्वम्) तू (ज्यायान्) अधिक बड़ा, (विश्वहा) सब प्रकार (महान्) महान् [पूजनीय] (असि)

१८—(यथा) येन प्रकारेण (देवाः) व्यवहारकुशलाः (बबाधे) बाधितवान्। निरुद्धवान् (तथा) तेन प्रकारेण। अन्यत् पूर्ववत्—म० ॥ १७ ॥ १८ ॥

१९—(कामः) कमनीयः परमेश्वरः (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (प्रथमः) सृष्टेः प्राग् वर्तमानः (न) निषेधे (एनम्) परमेश्वरम् (देवाः) गतिमन्तो लोकाः पृथिवीसूर्यादयः (आपुः) प्राप्तवन्तः (पितरः) रक्षितारः (न) (मर्त्याः) मनुष्याः (ततः) तस्मात् कारणात् (त्वम्) (असि) (ज्यायान्) वृद्ध—ईयसुन्।

है, (तस्मै ते) उस तुझको (इत्) ही, (काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर!] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर अनादि, अनुपम, सर्वशक्तिमान् है, उसी की प्रार्थना उपासना सब मनुष्य करें ॥ १९ ॥

यावती द्यावापृथिवी वरिम्णा यावदापः सिष्यदुः यावदग्निः । ततस्त्वम्० ॥ २० ॥ (४)

यावती इति । द्यावापृथिवी इति । वरिम्णा । यावत् । आपः । सिस्यदुः । यावत् । अग्निः ॥ ० ॥ २० ॥ (४)

भाषार्थ—(यावती) जितने कुछ (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूलोक (वरिम्णा) अपने फैलाव से हैं, (यावत्) जहां तक (आपः) जल धारायें (सिस्यदुः) बही हैं और (यावत्) जितना कुछ (अग्निः) अग्नि वा बिजुली है । (ततः) उससे (त्वम्) तू......म० १९ ॥ २० ॥

भावार्थ—सूर्य, पृथिवी आदि पदार्थों का उत्पन्न करने वाला और जानने वाला परमेश्वर ही है ॥ २० ॥

यावतीर्दिशः प्रदिशो विषूचीर्यावतीराशा अभिचक्षणा दिवः । ततस्त्वम्० ॥ २१ ॥

यावतीः । दिशः । प्र-दिशः । विषूचीः । यावतीः । आशाः । अभि-चक्षणाः । दिवः ॥ ० ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(यावतीः) जितनी बड़ी (विषूचीः) फैली हुई (दिशः)

वृद्धतरः (विश्वहा) विश्वधा । सर्वथा (महान्) पूजनीयः (तस्मै) तथाविधाय (ते) तुभ्यम् (काम) (नमः) सत्कारम् (इत्) एव (कृणोमि) करोमि ॥

२०—(यावती) यावत्यौ । यत्प्रमाणे (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (वरिम्णा) अ० ४ । ६ । २ । विस्तारेण (यावत्) यत्प्रमाणम् (आपः) जलधाराः (सिस्यदुः) स्यन्दू प्रस्रवणे—लिटि छान्दसं रूपम् । सस्यन्दिरे (यावत्) (अग्निः) पावकः । विद्युत् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१—(यावतीः) यत्प्रमाणाः (दिशः) पूर्वादयः (प्रदिशः) अन्तर्दिशाः

दिशायें और (प्रदिशः) मध्य दिशायें, और (यावतीः) जितनी बड़ी (आशाः) सब भूमि और (दिवः) आकाश के (अभिचक्षणाः) दृश्य हैं। (ततः) उस से (त्वम्) तू......म० १९ ॥ २१ ॥

भावार्थ-परमेश्वर सब दिशाओं और सब दृश्योंकी सीमा से बाहिर है ॥ २१

यावतीर्भृङ्गा जत्वः कुरूरवो यावतीर्वघा वृक्षसर्प्यो बभूवुः । ततस्त्वम् ० ॥ २२ ॥

यावतीः । भृङ्गाः । जत्वः । कुरूरवः । यावतीः । वघाः । वृक्ष-सर्प्यः । बभूवुः । ० ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यावतीः) जितनी (कुरूरवः) कुत्सित ध्वनि वाली (भृङ्गाः) भ्रमरी आदि और (जत्वः) चिमगादर आदि और (यावतीः) जितनी (वघाः) टिड्डी आदि और (वृक्षसर्प्यः) वृक्षों पर रेंगने वाली [कीटादि पङ्क्तियां] (बभूवुः) हुई हैं (ततः) उस से (त्वम्) तू...म० १९॥२२

भावार्थ—वह परमात्मा छोटे छोटे जीवों की पहुंच से भी बाहर है ॥ २२ ॥

ज्यायान् निमिषतोऽसि तिष्ठतो ज्यायान्त्समुद्रादसि

(विषूचीः) अ० १ । १९ । १ । सर्वत्रव्यापिकाः (आशाः) आ + अशू व्याप्तौ-अच् । दिशाः । तत्रत्या देशाः (अभिचक्षणाः) चक्षिङ् दर्शने-ल्युट् । दृश्यानि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२२—(भृङ्गाः) भृञः किन्नुट् च । उ० १ । १२५ । डु भृञ् भरणे-गन्, कित् नुट् च । भ्रमर्यः (जत्वः) कलिपाटिनमि० । उ० १ । १८ । जनी प्रादुर्भावे-उ, नस्य तः । जतुकाः । निशाचरपक्षिविशेषाः (कुरूरवः) रुशातिभ्यां क्रुन् । उ० ४ । १०३ । कु + रु शब्दे—क्रुन्, छान्दसो दीर्घः । कुत्सितध्वनयः (वघाः) अ० ६ । ५०। ३ । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । अव + हन-हिंसागत्योः-ड, टाप् । वष्टि भागुरिरल्लोपम्-अवशब्दस्य अलोपः । अवहननशीलाः कीटादयः (वृक्षसर्प्यः) वृक्षेषु सर्पणशीला जन्तुपङ्क्तयः (बभूवुः) अन्यत् पूर्ववत् ॥

काम मन्यो । ततस्त्वम्० ॥ २३ ॥

ज्यायान् । नि-मिषतः । असि । तिष्ठतः । ज्यायान् । सुमुद्रात् । असि । काम । मन्यो इति ॥ ० ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(काम) हे कामना योग्य ! (मन्यो) हे पूजनीय [परमेश्वर !] तू (निमिषतः) पलक मारने वाले [मनुष्य, पशु, पक्षी आदि] से और (तिष्ठतः) खड़े रहने वाले [वृक्ष पर्वत आदि] से (ज्यायान्) अधिक बड़ा (असि) है और (समुद्रात्) समुद्र [आकाश वा जलनिधि] से (ज्यायान्) अधिक बड़ा (असि) है । (ततः) उससे (त्वम्) तू...१६ ॥२३ ॥

भावार्थ—वह जगदीश्वर मनुष्य, पर्वत, आकाश आदि की भी सीमा में नहीं आता है ॥ २३ ॥

न वै वातश्चन काममाप्नोति नाग्निः सूर्यो नोत चन्द्रमाः । ततस्त्वमसि ज्यायान् विश्वहा महांस्तस्मै ते काम नम इत् कृणोमि ॥ २४ ॥

न । वै । वातः । चन । कामम् । आप्नोति । न । अग्निः । सूर्यः । न । उत । चन्द्रमाः ॥ ततः । त्वम् । असि । ज्यायान् । विश्वहा । महान् । तस्मै । ते । काम । नमः । इत् । कृणोमि २४

भाषार्थ—(न वै चन) न तो कोई (वातः) पवन (कामम्) कामना योग्य [परमेश्वर] को (आप्नोति) पाता है, (न) न (अग्निः) अग्नि और (सूर्य्यः) सूर्य (उत) और (न) (चद्रमाः) चन्द्रमा । (ततः) उस से (त्वम्) तू

२३-(निमिषतः) मिष स्पर्धायाम्—शतृ । चक्षुर्मुद्रणशीलात् । मनुष्यपशुपक्षिसकाशात् (असि) (तिष्ठतः) स्थितिशीलात् । वृक्षपर्वतादिसंकाशात् (समुद्रात्) अन्तरिक्षात्-निघ० १ । ३ । जलनिधेर्वा (असि) (काम) (मन्यो) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । मन पूजायाम्, ज्ञाने गर्वे च—युच्, अनादेशो न । हे पूजनीय परमेश्वर । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२४—(न) निषेध (वै) एव (वातः) पवनः (चन) कश्चिदपि

(ज्यायान्) अधिक बड़ा (विश्वहा) सब प्रकार (महान्) महान् [पूजनीय] (असि) है, (तस्मै ते) उस तुझ को (इत्) ही, (काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर !] (नमः) नमस्कार (कृणोमि) करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—उस परमात्मा को वायु, अग्नि, सूर्य आदि नहीं पहुंच सकते हैं, वह सब से बड़ा है ॥ २४ ॥

यास्ते शिवास्तन्वः काम भद्रा याभिः सत्यं भवति यद् वृणीषे । ताभिष्ट्वमस्माँ अभिसंविशस्वान्यत्र पापीरप वेशया धियः ॥ २५ ॥ (५)

याः । ते । शिवाः । तन्वः । काम । भद्राः । याभिः । सत्यम् । भवति । यत् । वृणीषे ॥ ताभिः । त्वम् । अस्मान् । अभिऽसंविशस्व । अन्यत्र । पापीः । अप । वेशय । धियः ॥२५॥ (५)

भाषार्थ—(काम) हे कामना योग्य [परमेश्वर !] (ते) तेरी (याः) जो (शिवाः) मङ्गलवती और (भद्राः) कल्याणी (तन्वः) उपकार शक्तियां हैं, (याभिः) जिनसे (सत्यम्) वह सत्य (भवति) होता है (यत्) जो कुछ (वृणीषे) तू चाहता है। (ताभिः) उन [उपकार शक्तियों] से (त्वम्) तू (अस्मान्) हम लोगों में (अभिसंविशस्व) प्रवेश करता रहे, (अन्यत्र) दूसरों [पापियों] में (पापीः धियः) पाप बुद्धियों को (अप वेशय) प्रवेश करदे ॥ २५ ॥

(कामम्) कमनीयं परमेश्वरम् (आप्नोति) प्राप्नोति (न) (अग्निः) (सूर्यः) (न) (उत) अपि (चन्द्रमाः) चन्द्रः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२५—(याः) (ते) तव (शिवाः) मङ्गलवत्यः (तन्वः) भृमृशीङ्० । उण० १ । ७ । तनु श्रद्धोपकरणयोः, विस्तारे च—उप्रत्ययः, स्त्रियाम्-ऊङ् । उपकारशक्तयः (काम) हे कमनीयपरमेश्वर (भद्राः) कल्याण्यः (याभिः) उपकारशक्तिभिः (सत्यम्) यथार्थम् (भवति) (यत्) यत्किञ्चित् (वृणीषे) इच्छसि (ताभिः) तनूभिः (त्वम्) (अस्मान्) धार्मिकान् (अभिसंविशस्व) सर्वतः प्रविश (अन्यत्र) धर्मात्मभिर्भिन्नेषु (पापीः) नरकहेतुकाः (अपवेशय) प्रवेशय (धियः) बुद्धीः ॥

भावार्थ—परम उपकारी परमेश्वर अपने न्याय सामर्थ्य से धर्म्मात्माओं को पुरुषार्थ देता और दुष्टों को उनकी कुबुद्धि के कारण दण्ड देता है॥ २५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—३१॥ शाला देवता ॥ १—५, ८—१४, १६, १८—२०, २२—२४ अनुष्टुप्; ६ पथ्या पङ्क्तिः ७ परोष्णिक्; १५ भुरिक् शक्वरी; १७ निचृत् प्रस्तारपङ्क्तिः; २१ आस्तारपङ्क्तिः; २५, ३१ प्राजापत्या बृहती; २६ साम्नीत्रिष्टुप्; २७—३० प्रतिष्ठा गायत्री ॥

शालानिर्माणविध्युपदेशः—शाला बनाने की विधि का उपदेश ॥

[इस सूक्त का मिलान अथर्व काण्ड ३ सूक्त १२ से करो]

उपमितां प्रतिमितामथो परिमितामुत ।
शालाया विश्ववाराया नद्धानि वि चृतामसि ॥ १ ॥

उप-मिताम् । प्रति-मिताम् । अथो इति । परि-मिताम् । उत ॥
शालायाः । विश्व-वारायाः । नद्धानि । वि । चृतामसि ॥१॥

भाषार्थ—(विश्ववारायाः) सब ओर द्वारों वाली वा सब श्रेष्ठ पदार्थों वाली (शालायाः) शाला की (उपमिताम्) उपमायुक्त [देखने में सराहने योग्य], (प्रतिमिताम्) प्रतिमान युक्त [जिसके आमने सामने की भीतें, द्वार, खिड़की आदि एक नाप में हों] (अथो) और भी (परिमिताम्) परिमाणयुक्त [चारों ओर से नाप कर सम चौरस की हुई] [बनावट] को [उत)

१—(उपमिताम्) माङ् माने—क्त । द्यतिस्यतिमास्थामित्ति किति । पा० ७ । ४ । ४० । आकारस्य इकारः । उपमायुक्ताम् प्रशंसायुक्ताम् (प्रतिमिताम्) माङ्—क्त । प्रतिमानयुक्ताम् । मानप्रतिमानेन सदृशीकृताम् (अथो) अपि च (परिमिताम्) माङ्—क्त । कृतपरिमाणाम् । सर्वतो मानेन समीकृताम् । रचनामिति शेषः (उत) अपि च (शालायाः) अ० । ३ । १२ । १ । गृहस्य (विश्व-

और (नद्धानि) बन्धनों [चिनाई, काष्ठ आदि के मेलों] को (वि चृतामसि) हम अच्छे प्रकार ग्रन्थित [बन्धन युक्त] करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विचार पूर्वक प्रतिकृति अर्थात् चित्र बना कर घरों को उत्तम सामग्रीसे भले प्रकार सुथरे, सुडौल, सुदृश्य, दिखनौत, और चित्तविनोदक बनावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि-गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

इस सूक्त के संस्कार विधि में आये सब मन्त्रों का अर्थ प्रशंसित महात्मा के आधार पर किया गया है ॥

यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः ।
बृहस्पतिरिवाहं बलं वाचा वि स्रंसयामि तत् ॥ २ ॥

यत् । ते । नद्धम् । विश्व-वारे । पाशः । ग्रन्थिः । च । यः । कृतः ॥ बृहस्पतिः-इव । अहम् । बलम् । वाचा । वि । स्रंसयामि । तत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विश्ववारे) हे सब उत्तम पदार्थों वाली ! (यत्) जिस कारण से (ते) तेरा (नद्धम्) बन्धन, (पाशः) जाल (च) और (ग्रन्थिः) गांठ (यः) जो (कृतः) बनाई गई है । (तत्) उसी कारण से (बृहस्पतिः इव) बड़े विद्वान् के समान (अहम्) मैं (बलम्) अन्नराशि को (वाचा) वाणी [विद्या] के साथ (वि) विशेष करके (स्रंसयामि) पहुंचाता हूं ॥ २ ॥

वारायाः) अ० ७ । २० । ४ । वृञ् वरणे—घञ् । विश्वतो वारा द्वाराणि यस्यां तस्याः । सर्वे वाराः श्रेष्ठपदार्थाः यस्यां तस्याः । (नद्धानि) णह बन्धने—क्त । बन्धनानि (वि) विशेषेण (चृतामसि) चृती हिंसाग्रन्थनयोः । ग्रन्थयामः । बध्नीमः । दृढीकुर्मः ॥

२—(यत्) यस्मात् कारणात् (ते) तव (नद्धम्) बन्धनम् (विश्ववारे) सर्ववरणीयपदार्थयुक्ते (पाशः) जालः (ग्रन्थिः) ग्रन्थ सन्दर्भे—इन् । सन्धि-साधनम् (च) (यः) (कृतः) निष्पादितः (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाचः पालकः (इव) यथा (अहम्) गृहस्थः (बलम्) बल प्राणने धान्यावरोधने च-अच् । धान्यराशिम् (वाचा) वाण्या । विद्यया सह (वि) विशेषेण (स्रंसयामि) स्रंसु अधः पतने-णिच् । प्रवेशयामि (तत्) तस्मात् कारणात् ॥

भावार्थ—मनुष्य शाला के सब अङ्गों को ठीक ठीक बना के अन्न आदि से भरपूर करें ॥ २ ॥

आ य॑याम॒ सं ब॑बर्ह॒ ग्रन्थीं॑श्च॒कार ते दृ॒ढान् ।
परू॑षि वि॒द्वाञ्छस्ते॒वेन्द्रे॑ण॒ वि चृ॑तामसि ॥ ३ ॥

आ । य॒या॒म॒ । सम् । ब॒ब॒र्ह॒ । ग्रन्थीन् । च॒का॒र॒ । ते॒ । दृ॒ढान् ॥
परूं॑षि । वि॒द्वान् । श॒स्ता-इ॑व । इन्द्रे॑ण । वि । चृ॒ता॒म॒सि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—उस [शिल्पी] ने (ते) तेरी (ग्रन्थीन्) गाठों को (आ ययाम) फैलाया है, (सम् बबर्ह) मिलाया है और (दृढान्) दृढ़ (चकार) किया है। (परूंषि) जोड़ों को (विद्वान्) विद्वान् (शस्ता इव) चीड़ फाड़ करनेवाले [वैद्य] के समान हम लोग (इन्द्रेण) ऐश्वर्य के साथ (वि) विशेष करके (चृतामसि) बांधते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—शिल्पी लोग सब आवश्यक सामग्री एकत्र करके घरों को दृढ़ बनावें जिस प्रकार वैद्य टूटे अवयवों को जोड़ कर दृढ़ बनाता है ॥ ३ ॥

वं॒शानां॑ ते॒ नह॑नानां प्राणा॒हस्य॒ तृण॑स्य च ।
प॒क्षाणां॑ विश्ववारे ते न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ४ ॥

वं॒शाना॑म् । ते॒ । नह॑नानाम् । प्रा॒णा॒हस्य॑ । तृण॑स्य । च॒ ॥
प॒क्षाणा॑म् । वि॒श्व॒-वा॒रे॒ । ते॒ । न॒द्धानि॑ । वि । चृ॒ता॒म॒सि॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विश्ववारे) हे सब उत्तम पदार्थों वाली ! (ते) तेरे (वंशानाम्) बांसों, (नहनानाम्) गांठों (च) और (प्राणाहस्य) बन्धन की

३—(आ ययाम) यमु उपरमे। विस्तारितवान् (सम् बबर्ह) वृह वृद्धौ संवर्द्धितवान्। संयोजितवान् (ग्रन्थीन्) सन्धीन् (चकार) कृतवान्) (ते) तव (दृढान्) कठिनान् (परूंषि) अवयवान् (विद्वान्) पण्डितः (शस्ता) शसु हिंसायाम्-तृन्। रुग्णाङ्गानां छेत्ता वैद्यः (इव) यथा (इन्द्रेण) ऐश्वर्येण (वि) विशेषेण (चृतामसि) दृढीकुर्मः ॥

४—(वंशानाम्) वश कान्तौ—अच् घञ् वा, नुम् च। वेणूनाम् (ते) तव (नहनानाम्) ग्रन्थीनाम् (प्राणाहस्य) प्र+आङ्+णह बन्धने—घञ्।

(तृणस्य) घास के और (ते) तेरे (पक्षाणाम्) पक्खों [भीति आदि] के (नद्धानि) बन्धनों को (वि) अच्छे प्रकार (चृतामसि) हम गूथते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य घर बनाने में सब अङ्गों के जोड़ों को यथावत् दृढ़ करें ॥४॥

सं॒दं॒शानां॑ प॒ल॒दानां॒ परि॑ष्वञ्ज॒ल्य॑स्य च ।

इ॒दं मान॑स्य॒ पत्न्या॑ न॒द्धानि॒ वि चृ॑तामसि ॥ ५ ॥

सम्-दं॒शाना॑म् । प॒ल॒दाना॑म् । परि॑-स्वञ्ज॒ल्य॑स्य । च॒ ॥

इ॒दम् । मान॑स्य । पत्न्याः॑ । न॒द्धानि॑ । वि । चृ॒ता॒म॒सि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) अब (मानस्य) मान [सम्मान] की (पत्न्याः) रक्षा करनेवाली [शाला] के (संदंशानाम्) संडासियों [वा आंकड़ों] को (च) और (पलदानाम्) पल [अर्थात सुवर्ण आदि की तोल और विघटिका मुहूर्त आदि] देने वाले [यन्त्रों] के (परिष्वञ्जल्यस्य) जोड़ के (नद्धानि) बन्धनों को (वि चृतामसि) हम भली भांति बांधते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पदार्थ पकड़ने के साधनों और वैज्ञानिक तोल और समय जानने के यन्त्रों को अपने घरों में यथावत् बनावें ॥ ५ ॥

यानि॑ ते॒ऽन्तः शि॒क्या॑न्याबे॒धू र॒ण्या॑य॒ कम् । प्र ते॒ तानि॑ चृ॑तामसि शि॒वा मान॑स्य॒ पत्नी॑ न॒ उद्धि॑ता त॒न्वे॑ भव ॥६॥

यानि॑ । ते॒ । अ॒न्तः । शि॒क्या॑नि । आ॒-बे॒धुः । र॒ण्याय॑ । कम् ॥

बन्धनसाधनस्य (तृणस्य) (च) (पक्षाणाम्) पक्ष परिग्रहे—अच् । गृह-पार्श्वानाम् (विश्ववारे) हे सर्ववरणीयपदार्थयुक्ते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(संदंशानाम्) सम्+दंश दंशने—अच् । ग्रहणसाधनानां यन्त्रविशेषाणाम् (पलदानाम्) पल गतौ रक्षणे च—अप्+दा दाने-क । पलस्य सुवर्णादितोलनस्य विघटिकादिकालस्य च दातॄणां ज्ञापकानां यन्त्राणाम् (परिष्वञ्जल्यस्य) मङ्गेरलच् । उ० ५ । ७० । परि+ष्वञ्ज परिष्वङ्गे—अलच् । सख्युर्यः । पा० ५ । १ । १२६ । भावे यः । परिष्वञ्जनस्य । संयोगस्य (च) (इदम्) इदानीम् (मानस्य) मान पूजायाम्—अच् । सम्मानस्य (पत्न्याः) रक्षित्र्याः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

प्र । ते । तानि । चृतामसि । शिवा । मानस्य । पत्नी । नः । उद्धिता । तन्वे । भव ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ते अन्तः) तेरे भीतर (यानि) जिन (शिक्यानि) छींकों को (कम्) सुख से (रणाय) रमणीय वा सांग्रामिक कर्म के लिये (आवेधुः) उन [शिल्पियों] ने भली भांति बांधा है। (ते) तेरे लिये (तानि) उन सब को (प्र चृतामसि) हम भली भांति दृढ़ करते हैं, (मानस्य) सन्मान की (पत्नी) रक्षा करने वाली तू (नः) हमारे (तन्वे) उपकार के लिये (शिवा) कल्याणी और (उद्धिता) ऊंची उठी हुई (भव) हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञानवृद्धि, मन बहलाव और युद्ध आदि के लिये कला यन्त्र आदिकों के लटकाने के लिये सुखदायक ऊंचे घर बनावें ॥ ६ ॥

हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः ।
सदो देवानामसि देवि शाले ॥ ७ ॥

हविः-धानम् । अग्नि-शालम् । पत्नीनाम् । सदनम् । सदः ॥ सदः । देवानाम् । असि । देवि । शाले ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे दिव्य कमनीय (शाले) शाला ! तू (हविर्धानम्) देने लेने योग्य पदार्थों [वा अन्न और हवन सामग्री] का घर, (अग्नि-

---

६—(यानि) (ते) तव (अन्तः) मध्ये (शिक्यानि) स्रंसेः शिः कुट् किच्च । उ० ५ । १६ । स्रंसु अधःपतने—यत्, कित्, कुट् च, धातोः शिः । द्रव्यरक्षार्थरज्जुमयाधारविशेषान् । काचान् (आवेधुः) वध बन्धने । समन्तात् संयोजितवन्तः (रणाय) रमु उपरमे—यत्, मस्य णः, यद्वा, रण शब्दे-यत् रण्या...रण्यौ रमणीयौ सांग्राम्यौ वा—निरु० ६ । ३३ । रमणीयाय साङ्ग्रामिकाय वा कर्मणे (प्र) प्रकर्षेण (ते) तुभ्यम् (तानि) शिक्यानि (चृतामसि) बध्नीमः (शिवा) कल्याणी (मानस्य) सत्कारस्य (पत्नी) रक्षिका (नः) अस्माकम् (उद्धिता) धि धारणे—क्त । उद्धृता । उच्छ्रिता (तन्वे) उपकृतये (भव) ॥

७—(हविर्धानम्) हविषां दातव्यादातव्यपदार्थानामन्नहवनवस्तूनां

शालम्) अग्नि [वा बिजुली आदि] का स्थान, (पत्नीनाम्) रक्षा करने वाली स्त्रियों का (सद्नम्) घर और (सदः) सभास्थान और (देवानाम्) विद्वान् पुरुषों का (सदः) सभास्थान (असि) है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को ऐसे घर बनाने चाहिये जो कला कौशल आदि कर्मों, कुटुम्बियों के रहने, स्त्री सम्मेलन और पुरुष सभा करने में सुखदायी हों ॥ ७

अक्षुमोपुशं वितंतं सहस्राक्षं विषूवति ।
अवनद्धमुभिहितं ब्रह्मणा वि चृतामसि ॥ ८ ॥

अक्षुम् । औपुशम् । वि-तंतम् । सहस्र-अक्षम् । विषु-वति ॥ अव-नद्धम् । अभि-हितम् । ब्रह्मणा । वि । चृतामसि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(विषुवति) व्याप्ति वाले [ऊंचे] स्थान पर (विततम्) फैले हुये, (सहस्राक्षम्) सहस्रों व्यवहार वा झरोखे वाले (औपशम्) उपयोगी, (ब्रह्मणा) वेदज्ञ विद्वान् करके (अवनद्धम्) अच्छे प्रकार छाये गये और (अभिहितम्) बताये गये (अक्षुम्) व्याप्ति वाले [सर्वदर्शक स्तम्भगृह] को (विचृतामसि) हम अच्छे प्रकार ग्रन्थित करते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वान् शिल्पियों की सम्मति से ऊंचे स्थान पर सर्वदर्शक स्तम्भ, अर्थात् ज्योतिष चक्र, प्रकाश लाट, घटिकाधान आदि सर्वोपयोगी स्थान बनावें ॥ ८ ॥

यस्त्वा शाले प्रतिगृह्णाति येन चासि मिता त्वम् ।

च स्थानम् (अग्निशालम्) पावकस्य विद्युतो वा गृहम् (पत्नीनाम्) रक्षणस्वभावानां स्त्रीणाम् (सदनम्) गृहम् (सदः) सभास्थानम् (देवानाम्) विदुषां पुरुषाणाम् (असि) (देवि) हे दिव्ये । कमनीये (शाले) गृह ॥

८—(अक्षुम्) अक्षू व्याप्तौ संघाते च—उ । व्याप्तं सर्वदर्शकं स्तम्भगृहम् (औपशम्) आ+उप+शीङ् स्वप्ने—ड । अर्श आद्यच् । बहूपशयम् । सर्वोपयोगिनम् (विततम्) विस्तृतम् (सहस्राक्षम्) सहस्राणि व्यवहारा गवाक्षा वा यस्मिन् तम् (विषुवति) विष्लृ व्याप्तौ—कु, मतुप् । व्याप्तिमति । उच्चस्थाने (अवनद्धम्) आच्छादितम् (अभिहितम्) कथितम् । विज्ञापितम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञेन विप्रेण शिल्पिना (वि चृतामसि) विशेषेण ग्रन्थयामः ॥

उभौ मानस्य पत्नि तौ जीवतां जरदष्टी ॥ ९ ॥

यः । त्वा । शाले । प्रति-गृह्णाति । येन । च । असि । मिता । त्वम् ॥ उभौ । मानस्य । पत्नि । तौ । जीवताम् । जरदष्टी इति जरत्-अष्टी ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! (यः) जो (त्वा) तुझको (प्रतिगृह्णाति) अङ्गीकार करता है (च) और (येन) जिस करके (त्वम्) तू (मिता असि) बनाई गयी है। (मानस्य पत्नि) हे सन्मान की रक्षा करने वाली ! (तौ उभौ) वे दोनों (जरदष्टी) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाले [होकर] (जीवताम्) जीते रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ—शाला बनाने में ध्यान रहे कि बनाने वाले गृहस्वामी आदि और रहने वाले सुख से निर्वाह करें ॥ ९ ॥

अमुत्रैनमा गच्छताद् दृढा नद्धा परिष्कृता ।
यस्यास्ते विचृतामस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः ॥ १० ॥ (६)

अमुत्र । एनम् । आ । गच्छतात् । दृढा । नद्धा । परिष्कृता । यस्याः । ते । वि-चृतामसि । अङ्गम्-अङ्गम् । परुः-परुः १० । (६)

भाषार्थ—(दृढा) दृढ़ बनी हुयी, (नद्धा) छायी हुयी और (परिष्कृता) सजी हुई तू (अमुत्र) वहां पर (एनम्) इस [पुरुष] को (आ गच्छतात्) प्राप्त हो। (यस्याः ते) जिस तेरे (अङ्गमङ्गम्) अङ्ग अङ्ग और (परुष्परुः) पोरुये

९—(प्रतिगृह्णाति) स्वीकरोति (मिता) निर्मिता । रचिता (उभौ) द्वौ (मानस्य) सम्मानस्य (पत्नि) हे रक्षिके (तौ) (जीवताम्) प्राणान् धारयताम् (जरदष्टी) अ० २ । २८ । ५ । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा ययोस्तौ । अन्यद् गतम् ॥

१०—(अमुत्र) तत्र निर्दिष्टे स्थाने (एनम्) गृहिणम् (आगच्छतात्) आगच्छ । प्राप्नुहि (दृढा) (नद्धा) अवनद्धा । आच्छादिता (परिष्कृता) परि+कृ—क्त । संपर्युपेभ्यः करोतौ भूषणे । पा० ६ । १ । १३७ । इति सुट् । परिनिविभ्यः० । पा० ८ । ३ । ७० इति षत्वम् । अलङ्कृता (यस्याः) (ते)

पोहये को (विचृतामसि) हम अच्छे प्रकार ग्रन्थित करते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य शाला को दृढ़ बना कर सुसज्जित करें ॥ १० ॥

यस्त्वा शाले निमिमाय संजभार वनस्पतीन् ।
प्रजायै चक्रे त्वा शाले परमेष्ठी प्रजापतिः ॥ ११ ॥

यः । त्वा । शाले । नि-मिमाय । सम्-जभार । वनस्पतीन् ॥
प्र-जायै । चक्रे । त्वा । शाले । परमे-स्थी । प्रजा-पतिः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! (यः) जिस [गृहस्थ] ने (त्वा) तुझे (निमिमाय) जमाया है और (वनस्पतीन्) सेवन करने वालों के रक्षक पदार्थों को (संजभार) एकत्र किया है । (शाले) हे शाला ! (परमेष्ठी) सब से उच्च पद पर रहने वाले (प्रजापतिः) उस प्रजा पालक [गृहस्थ] ने (प्रजायै) प्रजा के सुखके लिये (त्वा) तुझे (चक्रे) बनाया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसी शाला बनावें जिसमें आप और सन्तान आदि सब सुखी रहें ॥ ११ ॥

नमस्तस्मै नमो दात्रे शालापतये च कृण्मः ।
नमोग्नये प्रचरते पुरुषाय च ते नमः ॥ १२ ॥

नमः । तस्मै । नमः । दात्रे । शाला-पतये । च । कृण्मः ॥
नमः । अग्नये । प्र-चरते । पुरुषाय । च । ते । नमः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस (नमो दात्रे) अन्न देने वाले (च) और (शालापतये) शाला के स्वामी को (नमः) सत्कार (कृण्मः) हम करते हैं ।

तव (विचृतामसि) (अङ्गमङ्गम्) प्रत्यङ्गम् (परुष्परुः) प्रतिपर्व ॥

११—(यः) (त्वा) (शाले) (निमिमाय) डु मिञ् प्रक्षेपणे-लिट् । मूलेन दृढीकृतवान् (संजभार) संजहार । संगृहीतवान् (वनस्पतीन्) अ० १ । ३५ । ३ । सेवनशीलानां मनुष्याणां रक्षकपदार्थान् (प्रजायै) सन्तानादिहिताय (चक्रे) कृतवान् (परमेष्ठी) अ० १ । ७ । २ । उच्चपदस्थः (प्रजापतिः) प्रजापालको गृहस्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(नमः) सत्कारम् (तस्मै) (नमः) अन्नम्—निघ० २ । ७ ।

(अग्नये) अग्नि [की सिद्धि] को (नमः) अन्न (च) और (प्रचरते) सेवा करने वाले (पुरुषाय) पुरुष के लिये (ते) तेरे हित के लिये (नमः) अन्न होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्न आदि के दाता गृहस्थों का आदर करते रहें और यज्ञ आदि के करने और पुरुषों के पोषण के लिये घर में अन्न आदि पदार्थ उपस्थित रहें ॥ १२ ॥

गोभ्यो अश्वेभ्यो नमो यच्छालायां विजायते ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १३ ॥

गोभ्यः । अश्वेभ्यः । नमः । यत् । शालायाम् । वि-जायते ॥
विजा-वति । प्रजा-वति । वि । ते । पाशान् । चृतामसि ॥१३॥

भाषार्थ—(गोभ्यः) गौओं के लिये, (अश्वेभ्यः) घोड़ों के लिये और (यत्) जो कुछ (शालायाम्) शाला में (विजायते) उत्पन्न होवे, [उसके लिये] (नमः) अन्न [होवे] । (विजावति) हे विविध उत्पन्न पदार्थों वाली ! और (प्रजावति) हे उत्तम प्रजाओं वाली ! (ते) तेरे (पाशान्) बन्धनों को (विचृतामसि) हम अच्छे प्रकार ग्रन्थित करते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विविध पोषण सामग्री सुदृढ़ घरों में रखनी उचित है ॥ १३ ॥

अग्निमन्तश्छादयसि पुरुषान् पशुभिः सह ।
विजावति प्रजावति वि ते पाशांश्चृतामसि ॥ १४ ॥

(दात्रे) ददातेस्तृन् । दत्तवते (शालापतये) गृहस्वामिने (च) (कृणमः) कुर्मः (नमः) अन्नम् (अग्नये) यज्ञादिष्वग्निसिद्धये (प्रचरते) सेवमानाय (च) (ते) तुभ्यम् ॥

१३—(गोभ्यः) गवां रक्षणाय (अश्वेभ्यः) अश्वानां पोषणाय (नमः) अन्नम् (यत्) अन्यजातम् (शालायाम्) गृहे (विजायते) विविधमुत्पद्यते (विजावति) हे विविधोत्पन्नपदार्थयुक्ते (प्रजावति) हे श्रेष्ठप्रजाविशिष्टे (ते) तव (पाशान्) निर्माणबन्धान् (विचृतामसि) ॥

अग्निम् । अन्तः । छादयसि । पुरुषान् । पशु-भिः । सह । विजा-वति । प्रजा-वति । वि । ते । पाशान् । चृता-मसि ॥१४

भाषार्थ—[हे शाला !] (अग्निम्) अग्नि को और (पुरुषान्) पुरुषों को (पशुभिः सह) पशुओं सहित (अन्तः) अपने भीतर (छादयसि) तू ढक लेती है। (विजावति) हे विविध उत्पन्न पदार्थों वाली ! और (प्रजावति) हे उत्तम प्रजाओं वाली ! (ते) तेरे (पाशान्) बन्धनों को (वि चृतामसि) हम अच्छे प्रकार ग्रन्थित करते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य यज्ञ आदि की सिद्धि और मनुष्य और पशुओं के लिये सुखदायी घर बनावें ॥ १४ ॥

अन्तरा द्यां च पृथिवीं च यद् व्यचस्तेन शालां प्रति गृह्णामि त इमाम् । यदन्तरिक्षं रजसो विमानं तत् कृण्वेऽहमुदरं शेवधिभ्यः । तेन शालां प्रति गृह्णामि तस्मै ॥ १५ ॥

अन्तरा । द्याम् । च । पृथिवीम् । च । यत् । व्यचः । तेन । शालाम् । प्रति । गृह्णामि । ते । इमाम् ॥ यत् । अन्तरिक्षम् । रजसः । वि-मानम् । तत् । कृण्वे । अहम् । उदरम् । शेवधि-भ्यः ॥ तेन । शालाम् । प्रति । गृह्णामि । तस्मै ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(द्याम्) सूर्य [के प्रकाश] (च च) और (पृथिवीम् अन्तरा) पृथिवी के बीच (यत्) जो (व्यचः) खुला स्थान है, (तेन) उस [विस्तार] से (इमाम् शालाम्) इस शाला को [हे मनुष्य !] (ते) तेरे

१४—(अग्निम्) यज्ञस्य पाकस्य वा पावकम् (अन्तः) मध्ये (छादयसि) संवृणोषि (पुरुषान्) मनुष्यान् (पशुभिः) गवादिभिः (सह) अन्यत् पूर्ववत् म०१३

१५—(अन्तरा) मध्ये (द्याम्) सूर्यप्रकाशम् (च) (पृथिवीम्) (च) (यत्) (व्यचः) विस्तारः (तेन) विस्तारेण (शालाम्) गृहम् (प्रति गृह्णामि) स्वीकरोमि (ते) तुभ्यम् (इमाम्) (यत्) (अन्तरिक्षम्) अवकाशः (रजसः) लोकस्य । गृहस्य । लोका रजांस्युच्यन्ते—निरु० ४ । १९

लिये (प्रति गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूं। (यत्) जो (रजसः) घर का (अन्तरिक्षम्) अवकाश (विमानम्) विशेष मान परिमाण युक्त है, (तत्) उस [अवकाश] को (अहम्) मैं (शेवधिभ्यः) अनेक निधियों (उदरम्) पेट (कृण्वे) बनाता हूं। (तेन) उसी [कारण] से (तस्मै) [प्रयोजन] के लिये (शालाम्) शाला को (प्रति गृह्णामि) मैं ग्रहण करता हूं ॥१५॥

भावार्थ—मनुष्यों को विचार और परिमाण करके शाला ऐसी बनानी चाहिये जिसमें प्रकाश और वायु का गमन आगमन रहे और जिस के भीतर कोष आदि रखने के लिये गुप्तघर, तल घर आदि हों ॥ १५ ॥

१५—यह और अगला मन्त्र स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि, गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं।

ऊर्जस्वती पयस्वती पृथिव्यां निमिता मिता।
विश्वान्नं बिभ्रती शाले मा हिंसीः प्रतिगृह्णतः ॥१६॥

ऊर्जस्वती। पयस्वती। पृथिव्याम्। नि-मिता। मिता ॥ विश्व-अन्नम्। बिभ्रती। शाले। मा। हिंसीः। प्रति-गृह्णतः ॥१६॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला! (पृथिव्याम्) उचित भूमि पर (मिता) परिमाण युक्त (निमिता) जमाई गई, (ऊर्जस्वती) बल पराक्रम बढ़ाने वाली, (पयस्वती) जल और दुग्ध आदि से पूर्ण, (विश्वान्नम्) सम्पूर्ण अन्न को (बिभ्रती) धारण करती हुई तू (प्रतिगृह्णतः) ग्रहण करने हारों को (मा हिंसीः) मत पीड़ा दे ॥ १६ ॥

(विमानम्) विशेषेण मानपरिमाणयुक्तम् (तत्) अन्तरिक्षम् (कृण्वे) करोमि (अहम्) गृहस्वामी (उदरम्) अ० २। ३३। ४। जठरमिव रक्षाधारम् (शेवधिभ्यः) अ० ६। १२३। १। निधिभ्यः। कोषेभ्यः (तेन) कारणेन (शालाम्) (प्रति गृह्णामि) (तस्मै) प्रयोजनाय ॥

१६—(ऊर्जस्वती) बलपराक्रमवर्धयित्री (पयस्वती) जलदुग्धादियुक्ता (पृथिव्याम्) उचितभूम्याम् (निमिता) प्रतिष्ठापिता (मिता) परिमाणयुक्ता (विश्वान्नम्) सर्वान्नम् (बिभ्रती) धारयन्ती (शाले) (मा हिंसीः) मा पीडय (प्रतिगृह्णतः) स्वीकर्तॄन् पुरुषान् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उचित भूमि पर सोच विचार कर घर बनाते हैं, वे बल पराक्रम बढ़ाकर दुग्ध, अन्न आदि पदार्थ संग्रह करके स्वस्थता के साथ सदा सुखी रहते हैं ॥ १६ ॥

तृणै॒राव॑ता पल॒दान् वसा॑ना॒ रात्री॑व॒ शाला॒ जग॑तो नि॒वेश॑नी । मि॒ता पृ॑थि॒व्यां तिष्ठसि ह॒स्तिनी॑व प॒द्वती॑ ॥१७॥

तृणैः । आ-वृता । प॒ल॒दान् । वसा॑ना । रात्री-इव । शाला॑ । जग॑तः । नि॒-वेश॑नी ॥ मि॒ता । पृ॒थि॒व्याम् । तिष्ठ॒सि॒ । ह॒स्तिनी-इव । प॒त्-वती॑ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(तृणैः) तृण आदि से (आवृता) छाई हुयी, (पलदान्) पल [अर्थात् सुवर्ण आदि की तोल और विघटिका मुहूर्त आदि] देने वाले [यन्त्रों] को (वसाना) पहिने हुये (शाला) शाला तू (जगतः) संसार की (निवेशनी) सुख प्रवेश करने वाली (रात्री इव) रात्रि के समान [होकर] (पद्वती) पैरों वाली [चारों पैरों पर दृढ़ खड़ी हुयी] (हस्तिनी इव) हथिनी के समान (पृथिव्याम्) उचितभूमि पर (मिता) बनाई हुयी (तिष्ठसि) (स्थित) है ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य शाला को सुदृढ़ बनाकर अनेक कला कौशल आदि के यन्त्रों से उपयोगी करे ॥ १७ ॥

इट॑स्य ते॒ वि चृ॑ता॒म्यपि॑नद्धमपोर्णु॒वन् ।
वरु॑णेन॒ समु॑ब्जितां मि॒त्रः प्रा॒तर्व्यु॑ब्जतु ॥ १८ ॥

इट॑स्य । ते॒ । वि । चृ॒ता॒मि॒ । अपि॑-नद्धम् । अ॒प॒-ऊ॒र्णु॒वन् ॥

१७—(तृणैः) तृणादिपदार्थैः (आवृता) आच्छादिता (पलदान्) म० ५ । पलस्य सुवर्णादितोलनस्य विघटिकादिकालस्य च दातॄन् ज्ञापकान् पदार्थान् (वसाना) अ० ३ । १२ । ५ । आच्छादयन्ती (रात्री) सुखदात्री निशा (इव) यथा (शाला) (जगतः) चराचरस्य (निवेशनी) सुखस्य प्रवेशयित्री (मिता) निर्मिता (पृथिव्याम्) उचितभूमौ (तिष्ठसि) स्थिता भवसि (हस्तिनी) गजस्त्री (इव) यथा (पद्वती) पादैर्युक्ता । पादचतुष्टयेन दृढं स्थिता ॥

वरुणेन । सम्-उब्जिताम् । मित्रः । प्रातः । वि । उब्जतु ॥१८॥

भाषार्थ—[हे शाला !] (ते) तेरे (इटस्य) द्वार के (अपिनद्धम्) बन्धन को (अपोर्णुवन्) खोलता हुआ मैं (वि चृतामि) अच्छे प्रकार ग्रन्थित करता हूं। (वरुणेन) ढकने वाले अन्धकार से (समुब्जिताम्) दबाई हुई [तुझ] को (मित्रः) सर्वप्रेरक सूर्य (प्रातः) प्रातः काल (वि उब्जतु) खोल देवे ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य घर के द्वारों में श्रृङ्खला चटकनी आदि ऐसी लगावें, जिससे अन्धकार के समय बन्द करने और प्रकाशके समय खोलने में सुभीता हो ॥ १८ ॥

ब्रह्मणा शालां निमितां कविभिर्निमितां मिताम् ।
इन्द्राग्नी रक्षतां शालाममृतौ सोम्यं सदः ॥ १९ ॥

ब्रह्मणा । शालाम् । नि-मिताम् । कवि-भिः । नि-मिताम् । मिताम् ॥ इन्द्राग्नी इति । रक्षताम् । शालाम् । अमृतौ । सोम्यम् । सदः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अमृतौ) मरण रहित [सुखप्रद] (इन्द्राग्नी) पवन और अग्नि (ब्रह्मणा) चारो वेद जानने हारे विद्वान् करके (निमिताम्) जमाई हुई [नेव डाली गयी] (शालाम्) शाला की, (कविभिः) विद्वानों [शिल्पियों] करके (मिताम्) मापी गई और (निमिताम्) दृढ़ बनायी गयी (शालाम्) शाला, (सोम्यम्) ऐश्वर्य युक्त (सदः) घर की (रक्षताम्) रक्षा करें ॥ १९ ॥

१८—(इटस्य) इट् गतौ-क । गमनागमनस्थानस्य द्वारस्य (ते) तव (वि चृतामि) विशेषेण ग्रन्थयामि (अपिनद्धम्) बन्धनम् (अपोर्णुवन्) विवृण्वन् (वरुणेन) आवरकेण तमसा (समुब्जिताम्) संवृतां त्वाम् (मित्रः) सर्वप्रेरकः सूर्यः (प्रातः) प्रभाते (वि उब्जतु) विवृणोतु ॥

१९—(ब्रह्मणा) चतुर्वेदज्ञेन ब्राह्मणेन (शालाम्) गृहम् (निमिताम्) प्रतिष्ठापिताम् (कविभिः) मेधाविभिः । शिल्पिभिः (निमिताम्) सुदृढं निर्मिताम् (मिताम्) परिमाणयुक्ताम् (इन्द्राग्नी) वायुपावकौ (रक्षताम्) (शालाम्) (अमृतौ) मरणरहितौ । सुखकरौ (सोम्यम्) अ० ३ । १४ । ३ । ऐश्वर्यमयम् (सदः) गृहम् ॥

भावार्थ—बड़े विद्वानों और शिल्पी विश्वकर्माओं की सम्मति से बनाये हुये घर वायुयन्त्र और अग्नियन्त्र आदि लगाने के योग्य हों ॥ १९ ॥

यह मन्त्र स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि, गृहआश्रम प्रकरण में व्याख्यात है।

कुलायेऽधि कुलायं कोशे कोशः समुब्जितः । तत्र मर्तो वि जायते यस्माद् विश्वं प्रजायते ॥ २० ॥ (७)

कुलाये । अधि । कुलायम् । कोशे । कोशः । सम्-उब्जितः ॥ तत्र । मर्तः । वि । जायते । यस्मात् । विश्वम् । प्र-जायते ॥२०॥(७)

भाषार्थ—[जैसे] (कुलाये अधि) घोंसले पर (कुलायम्) घोंसला और (कोशे) कोश [निधि] पर (कोशः) कोश [धन संचय] (समुब्जितः) यथावत् दबा होता है । [वैसे ही] (तत्र) वहां [शाला में] (मर्तः) मनुष्य (वि जायते) विविध प्रकार प्रकट होता है, (यस्मात्) जिस [कारण] से (विश्वम्) सब [सन्तान समूह] (प्रजायते) उत्तमता से उत्पन्न होता है ॥ २० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पत्ती अपने घोंसलों में और अनेक धन धनों के द्वारा बढ़ते हैं, वैसे ही मनुष्य सुखप्रद घर में नीरोग रहकर उत्तम सन्तानों से उन्नति करते हैं ॥ २० ॥

या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते । अष्टापक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निर्गर्भइवा शये ॥२१

या । द्वि-पक्षा । चतुःपक्षा । षट्-पक्षा । या । नि-मीयते ॥ अष्टा-पक्षाम् । दश-पक्षाम् । शालाम् । मानस्य । पत्नीम् । अग्निः । गर्भःइव । आ । शये ॥ २१ ॥

२०—(कुलाये) नीडे (अधि) (कुलायम्) कुलानां पक्षिसमूहानामयो वासस्थानम् (कोशे) धनसंचये (कोशः) निधिः (समुब्जितः) संवृतः (तत्र) शालायाम् (मर्तः) मनुष्यः (वि) विविधम् (जायते) प्रादुर्भवति (यस्मात्) कारणात् (विश्वम्) सर्वमपत्यजातम् (प्रजायते) प्रकर्षेणोत्पद्यते॥

भाषार्थ—(या) जो (द्विपक्षा) दो पक्ष वाली [अर्थात् जिसके मध्य में एक, और पूर्व पश्चिम में एक एक शाला हो], (चतुष्पक्षा) चार पक्ष वाली [जिसके मध्य में एक और पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर में एक एक शाला हो], (या) जो (षट्पक्षा) छह पक्ष वाली [जिसके बीच में बड़ी शाला और दो दो पूर्व पश्चिम और एक एक उत्तर दक्षिण में शाला हों] (निमीयते) बनाई जाती है। [उसको और] (अष्टापक्षाम्) आठ पक्ष वाली [जिसके बीच में एक और चारों ओर दो दो शाला हों] और (दशपक्षाम्) दश पक्ष वाली [जिसके मध्य में दो शाला और चारों दिशाओं में दो दो शाला हों], [उस] (मानस्य) सम्मान की (पत्नीम्) रक्षा करने हारी (शालाम्) शाला में (अग्निः) जाठराग्नि और (गर्भः इव) गर्भस्थ बालक के समान (आ शये) मैं ठहरता हूं ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे जाठराग्नि शरीर में और गर्भस्थ बालक गर्भाशय में सुरक्षित रहता है, इसी प्रकार मनुष्य अस्त्र, शस्त्र, शिल्प, कला, कौशल आदि के योग्य छोटे बड़े स्थानों को अनेक मान परिमाण युक्त बनाकर सुरक्षित रहें ॥ २१ ॥

यह और अगला मन्त्र स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि गृहाश्रमप्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

यहां पर द्विपदा आदि शालाओं के कुछ चित्र दिये जाते हैं, और भी इनके अनेक चित्र हो सकते हैं। चतुर बृहस्पति, विश्वकर्मा शिल्पाधिकारियों की सम्मति से सब लोग, वायु धूप आदि आने जाने योग्य स्तम्भ, द्वार, खिड़की, छत आदि विचार पूर्वक लगाकर शालाओं के सुदृढ़ रुचिर और सुखदायी बनावें ॥

२१—(या) शाला (द्विपक्षा) गृहपक्षद्वययुक्ता (चतुष्पक्षा) पक्षचतुष्टयोपेता (षट्पक्षा) षट्पक्षयुक्ता (या) (निमीयते) निर्मिता भवति (अष्टापक्षाम्) छन्दसि च। पा० ६। ३। १२६। अष्टन आत्वम्। अष्टपक्षयुक्ताम् (दशपक्षाम्) दशपक्षवतीम् (शालाम्) (मानस्य) गौरवस्य (पत्नीम्) रक्षित्रीम् (अग्निः) जाठराग्निः (गर्भः) भ्रूणः (इव) यथा (आ शये) अधितिष्ठामि ॥

उत्तर ॥

द्विपत्ता १
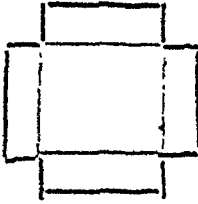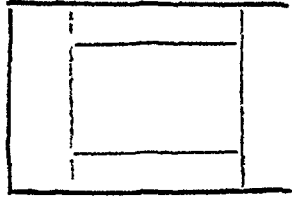
चतुष्पत्ता १

चतुष्पत्ता २

चतुष्पत्ता ३

षट्पत्ता १

षट्पत्ता २

अष्टपत्ता १

अष्टपत्ता २

अष्टपत्ता ३

दशपत्ता १

दशपत्ता २

दशपत्ता ३
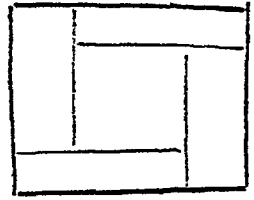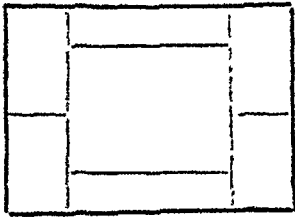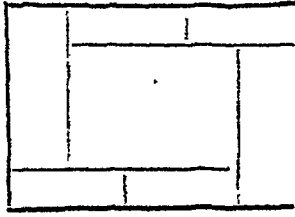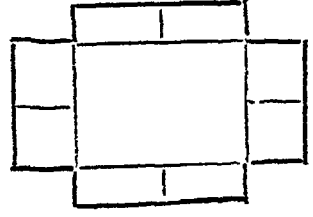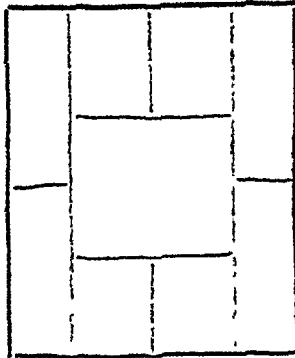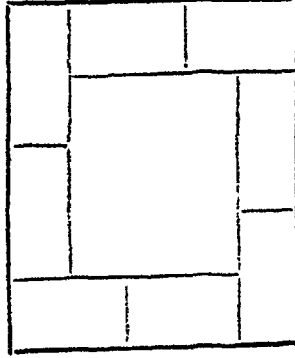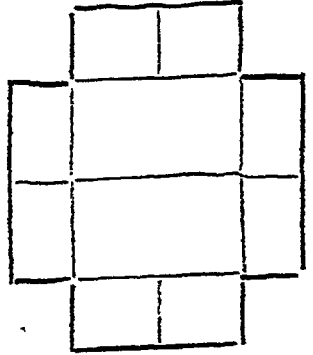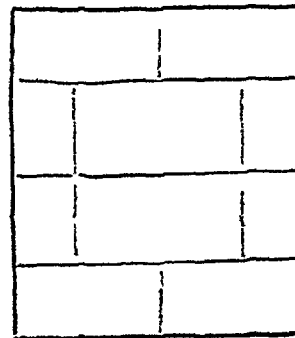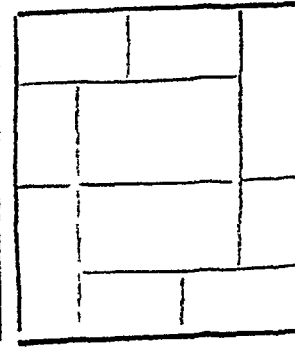
दशपत्ता ४
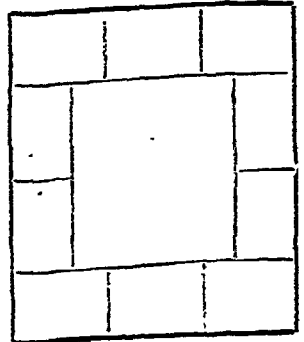
प्रतीचीं त्वा प्रतीचीनः शाले प्रैम्यहिंसतीम् ।

अग्निर्ह्यन्तरापश्चर्तस्य प्रथमा द्वाः ॥ २२ ॥

प्रतीचीम् । त्वा । प्रतीचीनः । शाले । प्र । एमि । अहिंसतीम् ॥

अग्निः । हि । अन्तः । आपः । च । ऋतस्य । प्रथमा । द्वाः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! (प्रतीचीनः) [तेरे] सन्मुख चलता हुआ मैं (प्रतीचीम्) [मेरे] सन्मुख होती हुयी, (अहिंसतीम्) न पीड़ा देती हुयी (त्वा) तुझको (प्र एमि) अच्छे प्रकार प्राप्त होता हूं । (हि) निश्चय करके (अन्तः) [तेरे] भीतर (अग्निः) अग्नि [का घर] और (आपः) जल [का स्थान] (च) और (ऋतस्य) सत्य [के ध्यान] का (प्रथमा) पहिला (द्वाः) द्वार है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जिस शाला में शिल्प आदि यज्ञों के लिये कार्यालय और सत्य असत्य विचारने के लिये वेद पठन स्थान होता है, वहां मनुष्य प्रसन्नता पूर्वक आते जाते हैं ॥ २२ ॥

इमा आपः प्र भराम्ययक्ष्मा यक्ष्मनाशनीः ।

गृहानुप प्र सीदाम्यमृतेन सहाग्निना ॥ २३ ॥

इमाः । आपः [= आ । अपः] । प्र । भरामि । अयक्ष्माः । यक्ष्म-नाशनीः ॥ गृहान् । उप । प्र । सीदामि । अमृतेन । सह । अग्निना ॥ २३ ॥

२२—(प्रतीचीम्) अ० १ । २८ । २ । प्रत्यक्षं गच्छन्तीम् (त्वा) शालाम् (प्रतीचीनः) अ० ४ । ३२ । ६ । प्रत्यक्षं गच्छन् (अहिंसतीम्) अपीडयन्तीम् (अग्निः) अग्निस्थानम् (हि) निश्चयेन (अन्तः) मध्ये (आपः) जलस्थानम् (च) (ऋतस्य) सत्यस्य । वेदस्य (प्रथमा) मुख्या (द्वाः) द्व संवरणे-णिच्—विच् । द्वारम् ॥

भाषार्थ—(इमाः) इस (अयक्ष्माः) रोगरहित (यक्ष्मनाशनीः) रोग नाशक (अपः) जल को (प्र) अच्छे प्रकार (आ भरामि) मैं लाता हूं । (अमृतेन) मृत्यु से बचाने वाले अन्न, घृत, दुग्धादि सामग्री और (अग्निना सह) अग्नि के सहित (गृहान्) घरों में (उप=उपेत्य) आकर (प्र) अच्छे प्रकार (सीदामि) मैं बैठता हूं ॥ २३ ॥

भावार्थ—गृहपति रोगों से बचने और स्वास्थ्य बढ़ाने के लिये अपने घरों में शुद्ध, जल, अग्नि आदि पदार्थों का सदा उचित प्रयोग करें ॥ २३ ॥

यह मन्त्र पहिले आ चुका है—अ० ३ । १२ । ९ ॥

मा नः पाशं प्रति मुचो गुरुर्भारो लघुर्भव ।
वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि ॥ २४ ॥

मा । नः । पाशम् । प्रति । मुचः । गुरुः । भारः । लघुः । भव ॥
वधूम्-इव । त्वा । शाले । यत्र-कामम् । भरामसि ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(शाले) हे शाला ! तू (नः) हमारे लिये [अपने] (पाशम्) बन्धन को (मा प्रति मुचः) मत कभी छोड़, (गुरुः) भारी (भारः) बोझ तू (लघुः) हलका (भव) हो जा, (वधूम् इव) वधू के समान (त्वा) तुझको (यत्रकामम्) जहां कामना हो वहां (भरामसि) हम पुष्ट करते हैं ॥२४ ॥

भावार्थ—शिल्पी लोग शाला के जोड़ों को सुदृढ़ मिलावें, और अच्छे प्रकार लम्बी चौड़ी बनाकर सुखदायिनी करें, और कुलवधू के समान आवश्यकीय पदार्थों से उसको परिपूर्ण करें ॥ २४ ॥

यह मन्त्र स्वामी दयानन्दकृतसंस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

प्राच्या दिशः शालाया नमो महिम्ने स्वाहा देवेभ्यः

२३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ३ । १२ । ९ ॥

२४—(नः) अस्मभ्यम् (पाशम्) शालाबन्धनम् (मा प्रति मुचः) मा कदापि त्यज (गुरुः) गॄ शब्दे विज्ञापने-उ, उच्च । गुरुत्ववान् (भारः) गुरुत्वान् पदार्थः (लघुः) लाघवगुणान्वितः । मनोहरः (भव) (वधूम्) नवोढां भार्याम् (इव) यथा (त्वा) (शाले) (यत्रकामम्) यत्र कामना भवेत् तत्र (भरामसि) पोषयामः । दृढीकुर्मः ॥

स्वा॒हये॑भ्यः ॥ २५ ॥

प्राच्याः॑ । दि॒शः । शाला॑याः । नमः॑। म॒हि॒म्ने । स्वाहा॑ । दे॒-वेभ्यः॑ । स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से (शालायाः) शाला की (महिम्ने) महिमा के लिये (नमः) अन्न हो, (स्वाह्येभ्यः) सुवाणी के योग्य (देवेभ्यः) कमनीय विद्वानों के लिये (स्वाहा) सुवाणी [वेदवाणी] हो ॥२५॥

मन्त्र २५ से ३१ तक स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में आये हैं ॥

दक्षि॑णाया दि॒शः० ॥ २६ ॥ दक्षि॑णायाः । दि॒शः । ० ॥२६॥

भाषार्थ—(दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से......म० २५ ॥२६॥

प्र॒तीच्या॑ दि॒शः० ॥ २७ ॥ प्रतीच्याः॑ । दि॒शः । ० ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा से......म०॥ २५ ॥ २७ ॥

उदी॑च्या दि॒शः० ॥ २८ ॥ उदी॑च्याः । दि॒शः । ० ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा से......म० २५ ॥ २८ ॥

ध्रु॒वाया॑ दि॒शः० ॥ २९ ॥ ध्रु॒वायाः॑ । दि॒शः । ० ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवायाः दिशः) नीचे वाली दिशा से......म० २५ ॥ २९ ॥

ऊ॒र्ध्वाया॑ दि॒शः० ॥ ३० ॥ ऊ॒र्ध्वायाः॑ । दि॒शः । ०॥ ३० ॥

२५—(प्राच्याः) अ० ३ । २६ । १ । पूर्वीया सकाशात् (दिशः) दिशायाः (शालायाः) गृहस्य (नमः) अन्नम्—निघ० २ । ७ । (महिम्ने) महत्त्वाय (स्वाहा) अ० २ । १६ । १ । सुवाणी । वेदवाणी (देवेभ्यः) कमनीयेभ्यो विद्वद्भ्यः (स्वाह्येभ्यः) तदर्हति । पा० ५ । १ । ६३ । स्वाहा—यत् । सुवाणी-योग्येभ्यः ॥

२६—(दक्षिणायाः) अ० ३ । २६ । २ । दक्षिणदिशासकाशात् ॥

२७—(प्रतीच्याः) अ० ३ । २६ । ३ । पश्चिमायाः सकाशात् ॥

२८—(उदीच्याः) अ० ३ । २६ । ४ । उत्तरस्याः सकाशात् ॥

२९—(ध्रुवायाः) अ० ३ । २६ । ५ । नीचस्थायाः सकाशात् ॥

भावार्थ—(ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊपर वाली दिशा से......म० २५ ॥३०॥

दि॒शोदि॑शः शाला॑या॒ नमो॑ महि॒म्ने स्वाहा॑ दे॒वेभ्यः॑ स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ ३१ ॥ (८)

दि॒शः-दि॑शः । शाला॑याः । नमः॑ । म॒हि॒म्ने । स्वाहा॑ । दे॒वेभ्यः॑ । स्वा॒ह्ये॑भ्यः ॥ ३१ ॥ (८)

भाषार्थ—(दिशोदिशः) प्रत्येक विदिशा से (शालायाः) शाला की (महिम्ने) महिमा के लिये (नमः) अन्न हो, (स्वाह्येभ्यः) सुवाणी के योग्य (देवेभ्यः) कमनीय विद्वानों के लिये (स्वाहा) सुवाणी [वेदवाणी] हो ॥३१॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पूर्वादि सब दिशाओं से पुष्कल अन्न आदि पदार्थ संग्रह करके शाला में रक्खें जिस में विद्वान् लोग वेदों का विचार करते रहें ॥ २५—३१ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२४ ॥ ऋषभो देवता ॥ १—५, ७, ६, १०, २२ त्रिष्टुप्; ६, २४ निचृज्जगती; ८ भुरिक् त्रिष्टुप्; ११, १३, १४, १६, १७, १६, २०, २३ अनुष्टुप्; १२, १५ भुरिगनुष्टुप्; १८ उपरिष्टाद् बृहती; २१ आस्तारपङ्क्तिः ॥

आत्मोन्नत्युपदेशः—आत्मा की उन्नति का उपदेश ॥

सा॒ह॒स्रस्त्वे॒ष ऋ॑ष॒भः पय॑स्वा॒न् विश्वा॑ रू॒पाणि॑ व॒क्षणा॑सु॒ बिभ्र॑त् । भ॒द्रं दा॒त्रे यज॑मानाय॒ शिक्ष॑न् बार्हस्प॒त्य उ॒स्रिय॒स्तन्तु॒मातान् ॥ १ ॥

सा॒ह॒स्रः । त्वे॒षः । ऋ॒ष॒भः । पय॑स्वान् । विश्वा॑ । रू॒पाणि॑ । व॒क्षणा॑सु । बिभ्र॑त् ॥ भ॒द्रम् । दा॒त्रे । यज॑मानाय । शिक्ष॑न् । बा॒र्ह॒स्प॒त्यः । उ॒स्रियः॑ । तन्तु॑म् । आ । अ॒ता॒न् ॥ १ ॥

३०—(ऊर्ध्वायाः) अ० ३ । २६ । ६ । उपरिवर्तमानायाः सकाशात्......॥

३१—(दिशोदिशः) सर्वमध्यदिशासकाशात् । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

भाषार्थ—(साहस्रः) सहस्रों पराक्रम वाले, (त्वेषः) प्रकाशमान, (पयस्वान्) अन्नवान्, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपवान् द्रव्यों को (वक्षणासु) अपनी छाती के अवयवों में (बिभ्रत्) धारण करते हुये, (दात्रे) दानशील (यजमानाय) यजमान [देवपूजा, संयोग, वियोग व्यवहार में चतुर] के लिये (भद्रम्) कल्याण (शिक्षन्) करने की इच्छा करते हुये, (बार्हस्पत्यः) बृहस्पतियों [वेद रक्षक विद्वानों] से व्याख्या किये गये। (उस्रियः) सब के निवास, (ऋषभः) सर्वव्यापक वा सर्वदर्शक [परमेश्वर] ने (तन्तुम्) विस्तृत [जगत् रूप तन्तु] को (आ अतान्) सब ओर फैलाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रकाशस्वरूप, सर्वरचक, सर्वरक्षक, आदि गुणयुक्त परमेश्वर की उपासना करके आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

अपां यो अग्रे प्रतिमा बभूव प्रभूः सर्वस्मै पृथिवीव देवी। पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानां साहस्रे पोषे अपि नः कृणोतु ॥ २ ॥

अपाम् । यः । अग्रे । प्रति-मा । बभूव । प्र-भूः । सर्वस्मै । पृथिवी-इव । देवी ॥ पिता । वत्सानाम् । पतिः । अघ्न्यानाम् । साहस्रे । पोषे । अपि । नः । कृणोतु ॥ २ ॥

१—(साहस्रः) अण् च। पा० ५। २। १०३। अण् मतुबर्थे। सहस्री। महापराक्रमवान् (त्वेषः) अ० ४। १५। ५। दीप्यमानः (ऋषभः) अ० ३। ६। ४। ऋष गतौ दर्शने च अभक्। ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २। ११। सर्वव्यापकः। सर्वदर्शकः परमेश्वरः (पयस्वान्) अन्नवान्–निघ० २। ७ (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) अ० १। १। १। रूपवन्ति द्रव्याणि (बिभ्रत्) धारयन् (भद्रम्) कल्याणम् (दात्रे) दानशीलाय (यजमानाय) देवपूजकसंयोजकवियोजकाय (शिक्षन्) अ० ६। ११४। २। शक्लृ शक्तौ—सनि, शतृ। शक्तुं निष्पादयितुमिच्छन् (बार्हस्पत्यः) दित्यदित्यादित्यपत्युत्तरपदाण्ण्यः। पा० ४। १। ८५। बृहस्पति-ण्य। तेन प्रोक्तम्। पा० ४। ३। १०१। इत्यर्थे। बृहस्पतिभिर्वेदरक्षकैर्विद्वद्भिः प्रकर्षेणोक्तो व्याख्यातः (उस्रियः) अ० ४। २६। ५। वस निवासे-रक्, स्वार्थे घ। सर्वेषां निवासः (तन्तुम्) विस्तृतं जगद्रूपं सूत्रम् (आ) समन्तात् (अतान्) लुङि छान्दसं रूपम्। अतानीत्। विस्तारितवान् ॥

भावार्थ—(यः) जो [ईश्वर] (अग्रे) पहिले ही पहिले (अपाम्) व्याप्त प्रजाओं की (प्रतिमा) प्रत्यक्ष मान करने वाली [सब जानने वाली] शक्ति और (सर्वस्मै) सब [जगत्] के लिये (देवी) दिव्य गुणवाली (पृथिवी इव) पृथिवी के समान (प्रभूः) समर्थ (बभूव) हुआ है, वह (वत्सानाम्) निवास करने वालों का (पिता) पालनकर्ता और (अघ्न्यानाम्) अहिंसकों [प्रजापतियों] का (पतिः) स्वामी [परमेश्वर] (साहस्रे) सहस्रों पराक्रम युक्त (पोषे) पोषण में (नः) हमें (अपि) अवश्य (कृणोतु) करे ॥२॥

भावार्थ—अनादि, अनन्त, सर्वपालक परमात्मा के उपासक पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक सब प्रकार वृद्धि करते हैं ॥ २ ॥

पुमा॑नुन्तर्वा॑न्त्स्थवि॒रः पय॑स्वान् वसोः॒ कब॑न्धमृष॒भो बि॑भर्ति । तमिन्द्रा॑य प॒थिभि॑र्दे॒वया॑नैर्हु॒तम॒ग्निर्व॑हतु जा॒तवे॑दाः ३

पुमा॑न् । अ॒न्तः॒ऽवा॑न् । स्थवि॑रः । पय॑स्वान् । वसोः॑ । कब॑न्धम् । ऋ॒ष॒भः । बि॒भ॒र्ति॒ ॥ तम् । इन्द्रा॑य । प॒थिऽभिः॑ । दे॒व॒ऽयानैः॑ । हु॒तम् । अ॒ग्निः । व॒ह॒तु॒ । जा॒तऽवे॑दाः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पुमान्) रक्षा करनेवाला, (अन्तर्वान्) [सब को अपने]

२—(अपाम्) आपः, आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये यजु० ६ । २७ । व्याप्तानां प्रजानाम् (यः) ऋषभः परमेश्वरः (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (प्रतिमा) प्रतिमीयतेऽनया, प्रति + माङ् माने—अ । प्रत्यक्षं मानकर्त्री सर्वज्ञात्री शक्तिः । परमेश्वरः (बभूव) (प्रभूः) अन्येभ्योऽपि दृश्यते । पा० ३ । २ । ७८ । भू सत्तायाम्—क्विप् । समर्थः । (सर्वस्मै) सर्वजगद्धिताय (पृथिवी) (इव) (देवी) दिव्यगुणयुक्ता (पिता) पालकः (वत्सानाम्) वृतृवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वस निवासे—स । निवासशीलानाम् (पतिः) स्वामी (अघ्न्यानाम्) अ० ३ । ३० । १ । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । नञ् + हन हिंसागत्योः—यक् । अहन्तॄणां प्रजापतीनाम् (साहस्रे) म० १ । महापराक्रमयुक्ते (पोषे) पोषणे । अभ्युदये (अपि) अवधारणे (नः) अस्मान् (कृणोतु) करोतु ॥

३—(पुमान्) अ० १ । ८ । १ । पा रक्षणे—डुमसुन् । रक्षकः (अन्तर्वान्)

भीतर रखने वाला, (स्थविरः) स्थिर स्वभाव [ब्रह्मा] (पयस्वान्) अन्नवान् (ऋषभः) सर्वव्यापक परमेश्वर (वसोः) निवास करने वाले [संसार] के (कबन्धम्) उदर को (बिभर्ति) भरता है। (तम् हुतम्) उस दाता) को (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य के लिये (देवयानैः) विद्वानों के जाने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (जातवेदाः) बड़े ज्ञान वाला (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] (वहतु) प्राप्त करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब संसार में भीतर और बाहिर व्यापक होकर सबका पालन करता है, ज्ञानी पुरुष उसी की उपासना से ऐश्वर्य प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

पिता वत्सानां पतिरघ्न्यानामथो पिता महतां गर्गराणाम् । वत्सो जरायु प्रतिधुक् पीयूष आमिक्षा घृतं तद्वस्य रेतः ॥ ४ ॥

पिता । वत्सानाम् । पतिः । अघ्न्यानाम् । अथो इति । पिता । महताम् । गर्गराणाम् ॥ वत्सः । जरायु । प्रति-धुक् । पीयूषः । आमिक्षा । घृतम् । तत् । ऊं इति । अस्य । रेतः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वत्सानाम्) निवास करने वालों का (पिता) पालनकर्ता और (अघ्न्यानाम्) अहिंसकों [प्रजापतियों] का (पतिः) स्वामी (अथो)

अन्तर्—मतुप् । अन्तर्मध्ये सर्वं विद्यतेऽस्य सः (स्थविरः) अजिरशिशिरशिथिल० । उ० १ । ५३ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—किरच्, धातोर्वुक्, ह्रस्वत्वं च। स्थिरः (पयस्वान्) अन्नवान् (वसोः) निवासशीलस्य संसारस्य (कबन्धम्) केन वायुना बध्यते, क+बन्ध बन्धने—घञ् । उदरम् (ऋषभः) म० १ । सर्वव्यापकः (बिभर्ति) भरति (तम्) ऋषभम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्तये (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) विद्वद्भिर्गमनीयैः (हुतम्) हु दानादानादनेषु—क्विप्, तुक् च। दातारम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (वहतु) प्राप्नोतु (जातवेदाः) जातानि विद्यमानानि वेदांसि ज्ञानानि यस्य सः ॥

४—(अथो) अपि च (पिता) पालकः (महताम्) पूजनीयानाम् (गर्गराणाम्) अ० ४ । १५ । १२ । गॄ शब्दे-यङ्लुक्—अच् +रा दाने—क । गर्गस्य

और भी (महताम्) बड़े (गर्गराणाम्) उपदेश देनेवाले पुरुषों का (पिता) पिता [पालक परमेश्वर] है । (वत्सः) निवास, (जरायु) जेर [गर्भ की झिल्ली], (प्रतिधुक्) तुरन्त दुहा हुआ (पीयूषः) रुचिर दूध, (आमिक्षा) आमिक्षा [पकाये उष्ण दूध में दही मिलाने से उत्पन्न वस्तु], (घृतम्) घी (तत्) वह [पदार्थ समूह] (अस्य) इस [परमेश्वर] का (उ) ही (रेतः) वीर्य [सामर्थ्य] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—संसार के भीतर संयोग वियोग से उत्पन्न सब पदार्थों का आदि कारण सर्वनियन्ता जगदीश्वर है ॥ ४ ॥

दे॒वानां॑ भा॒ग उ॑पना॒ह ए॒षो॒३॒॑ऽपां रस॒ ओष॑धीनां घृ॒तस्य॑ ।
सोम॑स्य भ॒क्षम॑वृणीत श॒क्रो बृ॒हन्नद्रि॑रभव॒द् यच्छरी॑रम् ॥५॥

दे॒वाना॑म् । भा॒गः । उ॒प॒ऽना॒हः । ए॒षः । अ॒पाम् । रसः॑ । ओष॑धीनाम् । घृ॒तस्य॑ ॥ सोम॑स्य । भ॒क्षम् । अ॒वृ॒णी॒त॒ । श॒क्रः । बृ॒हन् । अद्रिः॑ । अ॒भ॒व॒त् । यत् । शरी॑रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(एषः) यह [परमेश्वर] (देवानाम्) दिव्य गुणों का (भागः) ऐश्वर्यवान् (उपनाहः) नित्य सम्बन्धी, और (अपाम्) जलों का (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न आदि पदार्थों] का और (घृतस्य) घृत का (रसः) रसरूप है । (शक्रः) उसी शक्तिमान् ने (सोमस्य) अमृत के (भक्षम्)

शब्दस्योपदेशस्य दातॄणां पुरुषाणाम् (वत्सः) निवासः (जरायु) अ० १ । ११ । ४ । उल्वम् (प्रतिधुक्) प्रति + दुह प्रपूरणे-क्विप् । प्रत्यग्रं सद्यो दुग्धः (पीयूषः) अ० ८ । ३ । १७ । पीय प्रीणने—ऊषन् । रुचिरं क्षीरम् (आमिक्षा) आ—मिष सेचने—सक् । आमिक्षा सा शृतोष्णे या क्षीरे स्याद् दधियोगतः । इत्यमरः १७ । २३ । दधिकूर्चिका (घृतम्) पक्वनवनीतम् (तत्) समूहजातम् (उ) एव (अस्य) ऋषभस्य । परमेश्वरस्य (रेतः) वीर्यम् । सामर्थ्यम् । अन्यद् यथा म० २ ॥

५—(देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (भागः) भग-मतुबर्थे-अण् । भगवान् । ऐश्वर्यवान् (उपनाहः) नित्यसम्बन्धी (एषः) ऋषभः (अपाम्) जलानाम् (रसः) रसरूपः (ओषधीनाम्) अन्नादीनाम् (सोमस्य) अमृतस्य (भक्षम्) भोगम् (अवृणीत) स्वीकृतवान् (बृहन्) महान् (अद्रिः) अ० ५ । २० । १० ।

भोग को [हमारे लिये] (अवृणीत) स्वीकार किया है और (यत्) जो [उसका] (शरीरम्) शरीर [अस्तित्व] है, वह (बृहन्) बड़ा (अद्रिः) कोठार (अभवत्) हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्व व्यापी परमेश्वर ने अपनी सत्ता से उपयोगी पदार्थों को उत्पन्न करके सब प्राणियों को अन्न आदि पदार्थ देकर पुष्ट किया है ॥ ५ ॥

सोमे॑न पू॒र्णं क॒लशं॑ बिभर्षि॒ त्वष्टा॑ रू॒पाणां॑ जनि॒ता प॑शू॒नाम् । शि॒वास्ते॑ सन्तु प्रज॒न्व॑ इ॒ह या इ॒मा न्य१॒॑स्मभ्यं॑ स्वधिते यच्छ॒ या अ॒मूः ॥ ६ ॥

सोमे॑न । पू॒र्णम् । क॒लश॑म् । बि॒भ॒र्षि॒ । त्वष्टा॑ । रू॒पाणा॑म् । ज॒नि॒ता । प॒शू॒नाम् ॥ शि॒वाः । ते॒ । स॒न्तु॒ । प्र॒-ज॒न्वः॑ । इ॒ह । याः । इ॒माः । नि । अ॒स्मभ्य॑म् । स्व॒-धि॒ते॒ । य॒च्छ॒ । याः । अ॒मूः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(रूपाणाम्) सब रूपों का (त्वष्टा) बनाने वाला और (पशूनाम्) सब जीवों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला तू (सोमेन) अमृत से (पूर्णम्) पूर्ण (कलशम्) कलस (बिभर्षि) धारण करता है। (स्वधिते) हे स्वयं धारण करने वाले! (ते) तेरी (प्रजन्वः) प्रजनन शक्तियां (इह) यहां पर (शिवाः) कल्याणी (सन्तु) होवें, (याः) जो प्रजननं शक्तियां (इमाः)

अद भक्षणे क्तिन्। भक्षणीयपदार्थानां राशिः (अभवत्) (यत्) (शरीरम्) अस्तित्वम् ॥

६—(सोमेन) अमृतेन (पूर्णम्) पूरितम् (कलशम्) अ० ३। १२। ७। पात्रम् (विभर्षि) धरसि (त्वष्टा) अ० २। ५। ६। विश्वकर्मा (रूपाणाम्) रूपवताम् (जनिता) जनयिता (पशूनाम्) अ० ३। २८। १। पशवोव्यक्तवाच-श्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११। २९। जीवानाम् (शिवाः) कल्याण्यः (ते) तव (सन्तु) (प्रजन्वः) कृषिचमितनि०। उ० १। ८०। जन जनने-ऊः स्त्रियाम्। प्रजननशक्तयः (इह) अत्र संसारे (याः) प्रजननशक्तयः (इमाः) समीप-

यह हैं और (याः) जो (अमूः) वे हैं [उन सब को] (अस्मभ्यम्) हमें (नि) नियम पूर्वक (यच्छ) दान कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के महान् उपकारों को विचार कर पुरुषार्थ पूर्वक संसार के समीपस्थ और दूरस्थ पदार्थों को उपयोगी बनावें ॥ ६ ॥

आज्यं॑ बिभर्ति घृतम॑स्य रेतः॑ साह॒स्रः पोष॒स्तमु॑ य॒ज्ञमा॑हुः । इन्द्र॑स्य रू॒पमृ॑ष॒भो वसा॑नः सो अ॒स्मान् दे॑वाः शि॒व ऐतु॑ द॒त्तः ॥ ७ ॥

आज्य॑म् । बि॒भ॒र्ति॒ । घृ॒तम् । अ॒स्य॒ । रेतः॑ । सा॒ह॒स्रः । पोषः॑ । तम् । ऊं॒ इति॑ । य॒ज्ञम् । आ॒हुः॒ ॥ इन्द्र॑स्य । रू॒पम् । ऋ॒ष॒भः । वसा॑नः । सः । अ॒स्मान् । दे॒वाः॒ । शि॒वः । आ-ए॒तु॒ । द॒त्तः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] का (घृतम्) प्रकाश युक्त (रेतः) सामर्थ्य (आज्यम्) सब उपाय (विभर्ति) धारण करता है, (साहस्रः) वह सहस्रों पराक्रम युक्त (पोषः) पोषक है, (तम् उ) उसको ही (यज्ञम्) यज्ञ [संयोजक वियोजक] (आहुः) कहते हैं । (देवाः) हे विद्वान् लोगो ! (इन्द्रस्य) ऐश्वर्य का (रूपम्) रूप (वसानः) धारण करता हुआ (शिवः) मङ्गलकारी, (दत्तः) दिया हुआ [हृदय में रक्खा गया] (सः) वह (ऋषभः)

वर्तिन्यः (नि) नियमेन (अस्मभ्यम्) पुरुषार्थिभ्यः (स्वधिते) स्व+धि धारणे, यद्वा डु धाञ् धारणे-क्तिच् । स्वधितिः...स्वयं कर्माण्यात्मनि धत्ते—निरु० १४ । १३ । स्वधितिर्वज्रनाम—निघ० २ । २० । हे स्वयं धारक परमेश्वर (यच्छ) देहि (याः) (अमूः) दूरवर्तिन्यः ॥

७—(आज्यम्) अ० ६ । २ । १ । सर्वोपायम् (विभर्ति) धरति (घृतम्) दीप्तम् (अस्य) ऋषभस्य (रेतः) सामर्थ्यम् (साहस्रः) म० १ । सहस्रपराक्रमयुक्तः (पोषः) पोषकः (तम्) (उ) निश्चयेन (यज्ञम्) संयोजकवियोजकम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यस्य (रूपम्) स्वरूपम् (ऋषभः) म० १ । सर्वदर्शकः (वसानः) धारयन् (सः) अस्मान्) पुरुषार्थिनः (देवाः) हे विद्वांसः (शिवः) मङ्गलकारी (आ एतु) सम्यक् प्राप्नोतु (दत्तः) आत्मनि रक्षिता ॥

सर्वदर्शक परमेश्वर (अस्मान्) हम लोगों को (आ एतु) अच्छे प्रकार प्राप्त हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वपोषक परमेश्वर का आश्रय लेकर सर्वदा पुरुषार्थ करें ॥ ७ ॥

इन्द्रस्यौजो वरुणस्य बाहू अश्विनोरंसौ मरुतामियं ककुत्। बृहस्पतिं संभृतमेतमाहुर्ये धीरासः कवयो ये मनीषिणः ॥ ८ ॥

इन्द्रस्य । ओजः । वरुणस्य । बाहू इति । अश्विनोः । अंसौ । मरुताम् । इयम् । ककुत् ॥ बृहस्पतिम् । सम्-भृतम् । एतम् । आहुः । ये । धीरासः । कवयः । ये । मनीषिणः ॥८॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) सूर्य का (ओजः) बल, (वरुणस्य) जल का (बाहू) दो भुजा [समान], (अश्विनोः) दिन और रात का (अंसौ) दो कन्धों [समान) और (मरुताम्) प्राण अपान आदि पवनों की (इयम्) यह (ककुत्) सुखका शब्द करने वाली शक्ति [वह परमेश्वर है]। (एतम्) इसी को (बृहस्पतिम्) बड़े बड़े लोकों का स्वामी (संभृतम्) यथावत् पोषणकर्ता (आहुः) वे बताते हैं, (ये) जो (धीरासः) धीर (कवयः) बुद्धिमान् और (ये) जो (मनीषिणः) मन की गति वाले हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—वह परमेश्वर सब जगत् का आश्रय दाता है, उसको तत्त्वदर्शी लोग पहिचान कर आनन्द पाते हैं ॥ ८ ॥

८—(इन्द्रस्य) सूर्यस्य (ओजः) बलम् (वरुणस्य) जलस्य (बाहू) भुजौ यथा (अश्विनोः) अ० २ । २६ । ६ । अहोरात्रयोः—निरु० १२ । १ । (अंसौ) अम गतौ—स । स्कन्धौ यथा (मरुताम्) अ० १ । २० । १ । प्राणापानादिवायूनाम् (इयम्) (ककुत्) कं सुखं कौति, क+कु शब्दे—क्विप्, तुक्। सुखस्य शब्दयित्री शक्तिः (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां स्वामिनम् (संभृतम्) क्विन्तः । संभर्तारम् (एतम्) ऋषभम् (आहुः) कथयन्ति (ये) (धीरासः) धीमन्तः (कवयः) मेधाविनः (ये) (मनीषिणः) अ० ३ । ५ । ६ । मनस्+षा—इनि । मनसो गतियुक्ताः ॥

दैवीर्विशः पर्यस्वाना तनोषि त्वामिन्द्रं त्वां सरस्वन्तमाहुः । सहस्रं स एकमुखा ददाति यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ ९ ॥

दैवीः । विशः । पयस्वान् । आ । तनोषि । त्वाम् । इन्द्रम् । त्वाम् । सरस्वन्तम् । आहुः ॥ सहस्रम् । सः । एक-मुखाः । ददाति । यः । ब्राह्मणे । ऋषभम् । आ-जुहोति ॥ ९ ॥

भाषार्थ–(पयस्वान्) अन्नवान् तू (दैवीः) दिव्यगुण वाली (विशः) प्रजाओं को (आ) सब ओर (तनोषि) फैलाता है, (त्वाम्) तुझको (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्यवान्, (त्वाम्) तुझको (सरस्वन्तम्) महाज्ञानवान् (आहुः) वे कहते हैं । (सः) वह [ब्राह्मण] (सहस्रम्) सहस्र (एकमुखाः) एक [परमेश्वर] में मुख [मुख्यता] रखनेवाली [विद्याओं] को (ददाति) देता है, (यः) जो (ब्राह्मणे) वेदज्ञान में (ऋषभम्) सर्वदर्शक परमेश्वर को (आजुहोति) सब ओर से ग्रहण करता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सर्वपोषक सर्वज्ञ परमात्मा के ज्ञान से ब्राह्मण वेदद्वारा अनेक विज्ञानों का उपदेश करता है ॥ ९ ॥

बृहस्पतिः सविता ते वयो दधौ त्वष्टुर्वायोः पर्यात्मा त आभृतः । अन्तरिक्षे मनसा त्वा जुहोमि बर्हिष्टे द्यावापृथिवी उभे स्ताम् ॥ १० ॥ (९)

बृहस्पतिः । सविता । ते । वयः । दधौ । त्वष्टुः । वायोः ।

९—(दैवीः) दिव्यगुणयुक्ताः (विशः) प्रजाः (पयस्वान्) अन्नवान् (आ) समन्तात् (तनोषि) विस्तारयसि (त्वाम्) (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तम् (त्वाम्) (सरस्वन्तम्) सरांसि विज्ञानानि यस्य तम् (आहुः) (सहस्रम्) बहुप्रकारम् (एकमुखाः) एकस्मिन् परमेश्वरे मुखं प्रधानत्वं यासां ता विद्याः (ददाति) यः (ब्राह्मणे) ब्रह्मन्—अण् । ब्रह्मणो वेदस्य ज्ञाने (ऋषभम्) म० १ । सर्वदर्शकं परमेश्वरम् (आजुहोति) समन्तादादत्ते । स्वीकरोति ॥

परि । आत्मा । ते । आ-भृतः ॥ अन्तरिक्षे । मनसा । त्वा । जुहोमि । बर्हिः । ते । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । स्ताम् ॥ १० ॥ (८)

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (बृहस्पतिः) सब लोकों के स्वामी (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर ने (ते) तेरे लिये (वयः) अन्न [वा बल] (दधौ) दिया है, (त्वष्टुः) उसी विश्वकर्मा (वायोः) सर्वव्यापक परमेश्वर से (ते) तेरा (आत्मा) आत्मा (परि) सब ओर (आभृतः) पुष्ट किया गया है। (अन्तरिक्षे) सब में दीखते हुये परमेश्वर के बीच (त्वा) तुझ को (मनसा) विज्ञान से (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं, (उभे) दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि (ते) तेरे लिये (बर्हिः) वृद्धि (स्ताम्) होवें ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सर्वनियन्ता परमेश्वर को सब स्थानों में साक्षात् करते हैं, वे सर्वदा वृद्धि करते रहते हैं ॥ १० ॥

य इन्द्र इव देवेषु गोष्वेति विवावदत् ।
तस्य ऋषभस्याङ्गानि ब्रह्मा सं स्तौतु भद्रया ॥ ११ ॥

यः । इन्द्रः-इव । देवेषु । गोषु । एति । वि-वावदत् ॥ तस्य । ऋषभस्य । अङ्गानि । ब्रह्मा । सम् । स्तौतु । भद्रया ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र इव) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष के समान (देवेषु)

१०—(बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (ते) तुभ्यं मनुष्याय (वयः) अन्नम् । बलम् (दधौ) ददौ (त्वष्टुः) विश्वकर्मणः सकाशात् (वायोः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (परि) सर्वतः (आत्मा) आत्मबलम् (ते) तव (आभृतः) सम्यक् पोषितः (अन्तरिक्षे) अ० १ । ३० । ३ । सर्वमध्ये दृश्यमाने परमेश्वरे (मनसा) विज्ञानेन (त्वा) मनुष्यम् (जुहोमि) गृह्णामि (बर्हिः) अ० ५ । २२ । १ । वृद्धिः । वृद्धिकारणम् (ते) तुभ्यम् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) द्वे (स्ताम्) भवताम् ॥

११—(यः) ऋषभः । परमेश्वरः (इन्द्रः) प्रतापी मनुष्यः (देवेषु)

विद्वानों के बीच, (यः) जो [परमेश्वर] (विवावदत्) अनेक प्रकार बोलता हुआ (गोषु) भूमि आदि लोकों में (एति) चलता है। (तस्य) उस (ऋषभस्य) सर्वव्यापक के (अङ्गानि) अङ्गों को (ब्रह्मा) ब्रह्मा [चारो वेद जानने वाला विद्वान्] (भद्रया) कल्याणी रीति से (सम्) भले प्रकार (स्तौतु) सत्कार से वर्णन करे ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर वेद द्वारा अनेक नियमों का उपदेश करता हुआ सर्वलोक नियन्ता है, विद्वान् पुरुष उसके गुणों की महिमा को यथावत् जाने ॥११॥

पा॒र्श्वे आ॑स्ता॒मनु॑मत्या॒ भग॑स्यास्तामनू॒वृजौ॑ ।

अ॒ष्ठी॒वन्ता॑वब्रवीन्मि॒त्रो मम॒ तौ केव॑ला॒विति॑ ॥ १२ ॥

पा॒र्श्वे इति॑ । आ॒स्ता॒म् । अनु॑-मत्याः । भग॑स्य । आ॒स्ता॒म् । अ॒नु॒-वृजौ॑ ॥ अ॒ष्ठी॒वन्तौ॑ । अ॒ब्र॒वी॒त् । मि॒त्रः । मम॑ । ए॒तौ । केव॑लौ । इति॑ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[परमेश्वर की] (पार्श्वे) दोनों कांखें [कक्षायें] (अनुमत्याः) अनुकूल बुद्धि की (आस्ताम्) थीं, (अनुवृजौ) [उसकी] दोनों कोखें (भगस्य) ऐश्वर्य की (आस्ताम्) थीं। (अष्ठीवन्तौ) [उसके] दोनों घुटनों को (मित्रः) प्राण ने (अब्रवीत्) बतलाया, " (एतौ) यह दोनों (केवलौ) केवल (मम) मेरे हैं, (इति) बस" ॥ १२ ॥

विद्वत्सु (गोषु) गौः पृथिवी—निघ० १ । १ । पृथिव्यादिलोकेषु (एति) गच्छति। व्याप्नोति (विवावदत्) वि+वद व्यक्तायां वाचि यङ्लुकि—शतृ। अनेकप्रकारेण प्रवदन् सन् (तस्य) (ऋषभस्य) म० १। सर्वव्यापकस्य (अङ्गानि) गुणावयवान् (ब्रह्मा) चतुर्वेदज्ञो विद्वान् (सम्) सम्यक् (स्तौतु) अर्चतु—निघ० ३ । १४ (भद्रया) कल्याण्या रीत्या ॥

१२—(पार्श्वे) अ० २ । ३३ । ३ । कक्षयोरधोभागौ (आस्ताम्) अभवताम् (अनुमत्याः) अ० २ । २६ । २ । अनुकूलबुद्धेः (भगस्य) ऐश्वर्यस्य (आस्ताम्) (अनुवृजौ) वृजी वर्जने आच्छादने च—क्विप् । कुक्षिवाम—दक्षिणभागौ (अष्ठीवन्तौ) अ० २ । ३३ । ५ । जानुभागौ (अब्रवीत्) अकथयत् (मित्रः) प्रेरकःप्राणः (मम) (एतौ) केवलौ) निश्चितौ । (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

भावार्थ—अलङ्कार से निराकार परमेश्वर में मनुष्य आदि के आकार की कल्पना करके उसके गुणों का वर्णन है। वह जगदीश्वर सर्वथा अनुकूल बुद्धि वाला परम ऐश्वर्यवान् और प्राण आदि का चलाने वाला है ॥ १२ ॥

भसदा॑सीदादि॒त्याना॑ं श्रोणी॑ आस्तां बृह॒स्पतेः॑ ।
पुच्छं॒ वात॑स्य दे॒वस्य॒ तेन॑ धूनो॒त्योष॑धीः ॥ १३ ॥

भसत् । आ॒सी॒त् । आ॒दि॒त्याना॑म् । श्रोणी॒ इति॑ । आ॒स्ता॒म् । बृ॒ह॒स्पतेः॑ ॥ पुच्छ॑म् । वात॑स्य । दे॒वस्य॑ । तेन॑ । धू॒नो॒ति॒ । ओष॑धीः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(भसत्) [परमेश्वर की] पेड़ू (आदित्यानाम्) अनेक सूर्यलोकों की (आसीत्) थी, [उसके] (श्रोणी) दोनों कूल्हे (बृहस्पतेः) बृहस्पति लोक के (आस्ताम्) थे। [उसकी] (पुच्छम्) पूंछ (देवस्य) गतिमान् (वातस्य) वायु की [थी], (तेन) उससे (ओषधीः) ओषधियों को (धूनोति) वह हिलाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में परमेश्वर को पूंछ वाले पक्षी पशु आदि के समान माना है। उस परमेश्वर में अनन्त सूर्य और बृहस्पति आदि लोक और वायु मण्डल रह कर उसी की शक्ति से चलते हैं ॥ १३ ॥

गुदा॑ आसन्त्सिनीवा॒ल्याः सू॒र्याया॒स्त्वच॑मब्रुवन् ।
उ॒त्थातु॑रब्रुवन् प॒द ऋ॑ष॒भं यदक॑ल्पयन् ॥ १४ ॥

गु॒दाः॑ । आ॒स॒न् । सि॒नी॒वा॒ल्याः । सू॒र्यायाः॑ । त्वच॑म् । अ॒ब्रु॒व॒न् ॥ उ॒त्था॒तुः । अ॒ब्रु॒व॒न् । प॒दः । ऋ॒ष॒भम् । यत् । अक॑ल्पयन् ॥ १४ ॥

१३—(भसत्) अ० ४ । १४ । ८ । नाभितलभागः (आसीत्) (आदित्यानाम्) सूर्याणाम् (श्रोणी) अ० २ । ३३ । ५ । नितम्बौ (आस्ताम्) (बृहस्पतेः) बृहस्पतिलोकस्य (पुच्छम्) अ० ७ । ५६ । ६ । लाङ्गूलम् (वातस्य) पवनस्य (देवस्य) गतिमतः (तेन) (पुच्छेन) (धूनोति) कम्पयति (ओषधीः) अन्नादिपदार्थान् ॥

भाषार्थ—[परमेश्वर की] (गुदाः) गुदा की नाड़ियां (सिनीवाल्याः) चौदस के साथ मिली हुई अमावस की (आसन्) थीं, [उसकी] (त्वचम्) त्वचा को (सूर्यायाः) सूर्य की धूप का (अब्रुवन्) उन्होंने बतलाया। (पदः) [उसके] पैरों को (उत्थातुः) उठने वाले [उत्साही पुरुष] का (अब्रुवन्) उन्होंने बतलाया, (यत्) जब (ऋषभम्) सर्वव्यापक परमेश्वर को (अकल्पयन्) उन्होंने कल्पना से माना ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अन्धकार और प्रकाश का जतानेवाला और पुरुषार्थियों को चलाने वाला है, ऐसा विद्वान् लोग समझते हैं [चौदस के साथ मिली अमावस में प्रकाश थोड़ा और अन्धकार अधिक होता है] ॥ १४ ॥

क्रोड आसीज्जामिशंसस्य सोमस्य कलशो धृतः ।
देवाः संगत्य यत् सर्व ऋषभं व्यकल्पयन् ॥ १५ ॥

क्रोडः। आसीत्। जामि-शंसस्य। सोमस्य। कलशः। धृतः॥ देवाः। सम्-गत्य। यत्। सर्वे। ऋषभम्। वि-अकल्पयन् १५

भाषार्थ—[परमेश्वर की] (क्रोडः) गोद (जामिशंसस्य) ज्ञानियों

१४—(गुदाः) अ० २। ३३। ४। मलत्यागनाड्यः (आसन्) (सिनीवाल्याः) अ० २। २६। २। सिन्या शुक्लया चन्द्रकलया वल्यते मिश्र्यते या सा सिनीवाली। सिनी+वल मिश्रणे—घञ्, ङीष्। चतुर्दशीयुक्ताया अमावास्यायाः। सिनीवाली कुहुरिति देवपत्न्याविति नैरुक्ता अमावास्ये इति याज्ञिका या पूर्वामावस्या सा सिनीवाली योत्तरा सा कुहूरिति विज्ञायते—निरु० ११। ३१। सा दृष्टेन्दुः सिनीवाली सा नष्टेन्दुकला कुहूः—इत्यमरः ४। ६ (सूर्यायाः) राजसूयसूर्य०। पा० ३। १। ११४। सृ गतौ यद्वा षू प्रेरणे निपातनात् क्यपि रूपसिद्धिः, टाप्। सूर्या वाङ्नाम—निघ०। १। ११। पदनाम—निघ० ५। ६। सूर्या सूर्यस्य पत्नी—निरु० १२। ७। सूर्यदीप्तेः (अब्रुवन्) अकथयन् (उत्थातुः) उत्थानशीलस्य। उत्साहिनः पुरुषस्य (पदः) पद गतौ—क्विप्। पादान् (ऋषभम्) म० १। सर्वव्यापकं परमेश्वरम् (यत्) यदा (अकल्पयन्) अ० ६। १०६। १। कल्पितवन्तः। कल्पनया ज्ञातवन्तः ॥

१५—(क्रोडः) क्रुड बाल्ये—घञ्। अङ्कः। वक्षः (आसीत्) (जामिशं-

में प्रशंसा वाले पुरुष की (आसीत्) थी, [उसका] (कलशः) कलस [जल-पात्र] (सोमस्य) अमृत का (धृतः) धरा हुआ [था] । (यत्) जब (सर्वे) सब (देवाः) विद्वानों ने (संगत्य) मिलकर (ऋषभम्) सर्वदर्शक परमेश्वर को (व्यकल्पयन्) विविध प्रकार कल्पना से माना ॥ १५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निश्चय करके मानते हैं कि परमेश्वर विद्वानों का आश्रय और अमृतस्वरूप है ॥ १५ ॥

ते कुष्ठिकाः सुरमायै कूर्मेभ्यो अदधुः शफान् ।
ऊबध्यमस्य कीटेभ्यः श्ववर्तेभ्यो अधारयन् ॥ १६ ॥

ते । कुष्ठिकाः । सुरमायै । कूर्मेभ्यः । अदधुः । शफान् ॥ ऊबध्यम् । अस्य । कीटेभ्यः । श्व-वर्तेभ्यः । अधारयन् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(ते) उन्हों ने [ऋषियों ने] (कुष्ठिकाः) [पदार्थों को] बाहिर निकालने [चुराने] की प्रकृतियां (सरमायै) सरक सरक कर चलने वाली कुतिया को, और (शफान्) हिंसक स्वभाव (कूर्मेभ्यः) हिंसा करने

सस्य) नियो मिः । उ० ४ । ४३ । या गतौ यद्वा ज्ञा ज्ञाने—मि, आदेजत्वम् । शंसु हिंसागत्योः—अप्रत्ययः, टाप् । ज्ञातृषु विद्वत्सु शंसा प्रशंसा यस्य तस्य (सोमस्य) अमृतस्य (कलशः) जलपात्रम् (धृतः) स्थापितः (देवाः) विद्वांसः (संगत्य) मिलित्वा (यत्) यदा (सर्वे) (ऋषभम्) (व्यकल्पयन्) विविधं कल्पितवन्तः ॥

१६—(ते) ऋषयः (कुष्ठिकाः) कुष्ठ-कन् स्वर्थे, टाप् । प्रत्ययस्थात् कात पूर्वस्यात इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । अत इत्त्वम् । निष्कर्षणस्य बहिष्करणस्य प्रकृतीः (सरमायै) कलिकर्योरमः । उ० ४ । ८४ । सृ गतौ-अमप्रत्ययः, टाप् । सरमा पदनाम्-निघ० ५ । ५ । सरमा सरणात्-निरु० ११ । २४ । श्वा काक इति कुत्सायाम्-निरु० ३ । १८ । सरणशीलायै कुक्कुर्यै (कूर्मेभ्यः) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । डु कृञ् करणे कृञ् हिंसायां वा—मक्, ऊत्त्वं च । यद्वा । अर्त्तेरूच्च । उ० ४४ । ४ । ऋ गतौ-मि, ऊत् । के देहे जले वा ऊर्मिर्वेगो यस्य स कूर्मः । शरीरस्थो वायुः । कच्छपः । सृष्टिकर्त्ता "परमेश्वरो यथा, परमेश्वरेणेदं सकलं जगत् क्रियते तस्मात् तस्य कूर्म इति संज्ञा"-दयानन्दकृता ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, पृष्ठे २६१ । हिंसकेभ्यः कच्छपेभ्यः (अदधुः) दत्तवन्तः (शफान्) शम शान्तौ हिंसायां च—

वाले वा जल में धसजाने वाले कछुओं को (अद्धुः) दीये । (अस्य) उसका (ऊबध्यम्) कुपचा अन्न (श्ववर्तेभ्यः) कुत्तों [वा मृतक देहों में] रहने वाले (कीटेभ्यः) कीड़ों को (अधारयन्) उन्होंने रक्खा ॥ १६ ॥

भावार्थ—ऋषियों ने निश्चय किया है कि कुतिये, कुत्ते, कछुये, कीट आदि जो हिंसक योनियां हैं, वे ईश्वर नियमसे परपदार्थ हरने वाले प्राणियों के दुष्कर्मों के फल हैं ॥ १६ ॥

शृङ्गाभ्यां रक्ष ऋषत्यवर्तिं हन्ति चक्षुषा ।
शृणोति भद्रं कर्णाभ्यां गवां यः पतिरघ्न्यः ॥ १७

शृङ्गाभ्याम् । रक्षः । ऋषति । अवर्तिम् । हन्ति । चक्षुषा ॥
शृणोति । भद्रम् । कर्णाभ्याम् । गवाम् । यः । पतिः । अघ्न्यः ॥ १७

भाषार्थ—[वह परमेश्वर] (शृङ्गाभ्याम्) दो प्रधानताओं [प्रजापालन और शत्रुनाशन] से (रक्षः) राक्षस [विघ्न] को (ऋषति) हटाता है, (चक्षुषा) नेत्र से (अवर्तिम्) निर्जीविका (हन्ति) नाश करता है । (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से (भद्रम्) कल्याण (शृणोति) सुनता है, (यः) जो (अघ्न्यः) अहिंसक प्रजापति (गवाम्) सब लोकों का (पतिः) स्वामी है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सर्वद्रष्टा, सर्वश्रोता परमेश्वर सब क्लेशों का नाश करके अपने भक्तों को आनन्द देता है ॥ १७ ॥

अच्, मस्य फः पृषोदरादित्वात् । शम्नातिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । हिंसकस्वभावान् (ऊवध्यम्) दुर्+वध संयमने=बन्धने-यत्, पृषोदरादित्वाद्दकारलोपे ऊत्वम् । दुर्वध्यं दुर्बन्धनीयं दुःखेन पचनीयम् । अजीर्णमन्नम् (अस्य) ऋषभस्य (कीटेभ्यः) कीट बन्धे वर्णे च—अच् । कृमिजातिभ्यः (श्ववर्तेभ्यः) श्वन् शव वा+वृतु वर्तने—घञ् । श्वसु कुक्कुरेषु शवेषु मृत देहेषु वा वर्त्तमानेभ्यः (अधारयन्) धारितवन्तः ॥

१७—(शृङ्गाभ्याम्) अ० ८ । ३ । २४ । प्रधान्याभ्यां प्रजापालनशत्रुनाशनाभ्याम् (रक्षः) राक्षसम् । विघ्नम् (ऋषति) रिषति । हिनस्ति । निर्गमयति (अवर्तिम्) निर्जीविकाम् (हन्ति) नाशयति (चक्षुषा) दृष्ट्या (शृणोति) (भद्रम्) कल्याणम् (कर्णाभ्याम्) श्रोत्राभ्याम् (गवाम्) पृथिव्यादिलोकानाम् (यः) परमेश्वरः (पतिः) स्वामी (अघ्न्यः) अहिंसकः । प्रजापतिः ॥

शतयाजं स यजते नैनं दुन्वन्त्यग्नयः। जिन्वन्ति विश्वे तं देवा यो ब्राह्मण ऋषभमाजुहोति ॥ १८ ॥

शत-याजम्। सः। यजते। न। एनम्। दुन्वन्ति। अग्नयः॥ जिन्वन्ति। विश्वे। तम्। देवाः। यः। ब्राह्मणे। ऋषभम्। आ-जुहोति ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ब्राह्मणः) ब्राह्मण [परमेश्वर और वेद जानने वाला] (ऋषभम्) श्रेष्ठ परमात्मा को (आजुहोति) अच्छे प्रकार प्रसन्न करता है, (सः) वह (शतयाजम्) शीघ्र सैकड़ों प्रकार से यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] करके (यजते) मिलता है, (एनम्) उसको (अग्नयः) तापें [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] (न) नहीं (दुन्वन्ति) तपाते हैं, (तम्) उसको (विश्वे) सब (देवाः) दिव्यगुण (जिन्वन्ति) तृप्त करते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर का भक्त विद्वान् पुरुष संसार की भलाई में तत्पर होकर तीनों तापों से छूटकर आनन्द भोगता है ॥ १८ ॥

ब्राह्मणेभ्य ऋषभं दत्त्वा वरीयः कृणुते मनः।
पुष्टिं सो अघ्न्यानां स्वे गोष्ठेव पश्यते ॥ १९ ॥

ब्राह्मणेभ्यः। ऋषभम्। दत्त्वा। वरीयः। कृणुते। मनः॥ पुष्टिम्। सः। अघ्न्यानाम्। स्वे। गो-स्थे। अव। पश्यते ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[जो आचार्य] (ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों [ब्रह्म जिज्ञासुओं]

१८—(शतयाजम्) द्वितीयायां च । पा० ३ । ४ । ५३ । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—परीप्सायां णमुल् । त्वरया शतानि इष्ट्वा श्रेष्ठव्यवहारान् कृत्वा (सः) ब्राह्मणः (यजते) सङ्गच्छते (न) निषेधे (एनम्) ब्राह्मणम् (दुन्वन्ति) उपतापयन्ति (अग्नयः) त्रितापाः (जिन्वन्ति) जिन्वतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । प्रीतिकर्मा—निरु० ६ । २२ । तर्पयन्ति (विश्वे) सर्वे (तम्) (देवाः) दिव्या गुणाः (यः) (ब्राह्मणः) अ० २ । ६ । ३ । ब्रह्मज्ञः (ऋषभम्) श्रेष्ठं परमात्मानम् (आजुहोति) हु प्रीणने । समन्तात् प्रीणाति ॥

१९—(ब्राह्मणेभ्यः) अ० २ । ६ । ३ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ ।

को (ऋषभम्) श्रेष्ठ परमेश्वर [के बोध] को (दत्त्वा) देकर (मनः) मन (वरीयः) अधिक विस्तृत (कृणुते) करता है। (सः) वह पुरुष (स्वे) अपने (गोष्ठे) वाचनालय में (अघ्न्यानाम्) हिंसा न करने वालों की (पुष्टिम्) पुष्टि (अव पश्यते) देखता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—आचार्य को योग्य है कि ब्रह्म जिज्ञासुओं को यथावत् रीति से ब्रह्म ज्ञान कराके उनके लिये सुख वृद्धि करे ॥ १९ ॥

गावः सन्तु प्रजाः सन्त्वथो अस्तु तनूबलम् ।

तत् सर्वमनु मन्यन्तां देवा ऋषभदायिने ॥ २० ॥

गावः । सन्तु । प्र-जाः । सन्तु । अथो इति । अस्तु । तनू-बलम् ॥ तत् । सर्वम् । अनु । मन्यन्ताम् । देवाः । ऋषभ-दायिने ॥ २० ॥

भाषार्थ—(गावः) विद्यायें (सन्तु) होवें, (प्रजाः) प्रजायें (सन्तु) होवें, (अथो) और भी (तनूबलम्) शरीर बल (अस्तु) होवे । (देवाः) विद्वान् लोग (ऋषभदायिने) सर्वदर्शक परमेश्वर के [ज्ञान] देने वाले के लिये (तत् सर्वम्) वह सब (अनु मन्यन्ताम्) स्वीकार करें ॥ २० ॥

भावार्थ—ब्रह्मवेत्ता, ब्रह्मोपदेशक जन को सब सुख प्राप्त होते हैं ॥२०॥

अयं पिपान इन्द्र इद् रयिं दधातु चेतनीम् । अयं धेनुं

ब्रह्मणः परमेश्वरस्याध्येतृभ्यो जिज्ञासुभ्यः (ऋषभस्य) श्रेष्ठस्य परमात्मनो बोधमित्यर्थः (दत्त्वा) (वरीयः) उरुतरम् (कृणुते) करोति (मनः) अन्तःकरणम् (पुष्टिम्) वृद्धिम् (सः) आचार्यः (अघ्न्यानाम्) म० १७ । अहिंसकानां प्रजापतीनाम् (स्वे) स्वकीये (गोष्ठे) अ० २ । १४ । २ । वाचनालये (अव पश्यते) अवलोकते ॥

२०—(गावः) वाचः । विद्याः (सन्तु) (प्रजाः) पुत्रपौत्रादयः (अथो) अपि च (अस्तु) (तनूबलम्) शरीरसामर्थ्यम् (तत्) (सर्वम्) (अनुमन्यन्ताम्) स्वीकुर्वन्तु (देवाः) विद्वांसः (ऋषभदायिने) परमेश्वरस्य बोधदात्रे-इत्यर्थः ॥

सुदुघां नित्यवत्सां वशां दुहां विपश्चितं परो दिवः ॥२१॥

अयम् । पिपानः । इन्द्रः । इत् । रयिम् । दधातु । चेतनीम् ॥
अयम् । धेनुम् । सु-दुघाम् । नित्य-वत्साम् । वशम् । दुहाम् ।
विपः-चितम् । परः । दिवः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (पिपानः) प्रवृद्ध, बली (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (इत्) ही (चेतनीम्) चेताने वाली (रयिम्) लक्ष्मी (दधातु) देवे । (अयम्) यही [परमेश्वर] (सुदुघाम्) अच्छे प्रकार पूर्ण करने हारी, (नित्यवत्साम्) नित्य निवास देने वाली (धेनुम्) वाणी और (वशम्) प्रभुत्व को (दिवः) हिंसा वा मद से (परः) परे [रहने वाले] (विपश्चितम्) बुद्धिमान् पुरुष के लिये (दुहाम्) परिपूर्ण करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—अहिंसक, निरभिमानी विद्वान् पुरुष परमेश्वर की वेदवाणी द्वारा उन्नति करके आनन्द भोगते हैं ॥ २१ ॥

पिशङ्गरूपो नभसो वयोधा ऐन्द्रः शुष्मो विश्वरूपो न आगन् । आयुरस्मभ्यं दधत् प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचताम् ॥ २२ ॥

पिशङ्ग-रूपः । नभसः । वयः-धाः । ऐन्द्रः । शुष्मः । विश्व-रूपः । नः । आ । अगन् ॥ आयुः । अस्मभ्यम् । दधत् । प्र-

२—(अयम्) व्यापकः (पिपानः) ओप्यायी वृद्धौ—कानच्, यलोपः । पिप्यानः । प्रवृद्धः । बली (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः । ऋषभः (इत्) एव (रयिम्) अ० १ । १५ । २ । धनम् (दधातु) ददातु (चेतनीम्) चित संचेतने—ल्युट्, ङीप् । चेतयन्तीम् (अयम्) (धेनुम्) वाचम् (सुदुघाम्) अ० ७ । ७३ । ७ । यथावत् कामपूरयित्रीम् (नित्यवत्साम्) वस निवासे—स, उ० ३ । ६२ । सदानिवासयित्रीम् (वशम्) प्रभुत्वम् (दुहाम्) अ० ३ । १० । १, द्विकर्मकः । दुग्धाम् । प्रपूरयतु (विपश्चितम्) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधाविनम्—निघ० ३ । १५ । (परः) परस्तात् (दिवः) दिवु अर्दे मर्दने वा मदे च—द्विवि । हिंसनात् । मदात् ॥

जाम् । च । रायः । च । पोषैः । अभि । नः । सचताम् ॥२२॥

भाषार्थ—(पिशङ्गरूपः) अवयवों का रूप करने वाला, (नभसः) सूर्य वा मेघ वा आकाश का (वयोधाः) जीवन धारण करने वाला, (ऐन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वालों का स्वामी, (शुष्मः) बलवान् और (विश्वरूपः) सब जगत् का रूप करने वाला [परमेश्वर] (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है। (च) और (अस्मभ्यम्) हम को (आयुः) आयु (च) और (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] (दधत्) देता हुआ वह (रायः) धन की (पोषैः) वृद्धियों से (नः) हमें (अभि) सब ओर से (सचताम्) सींचे ॥ २२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर व्यष्टि रूप और समष्टि रूप जगत् और सब लोकों का धारण करने वाला है, उस सर्वशक्तिमान् सर्वान्तर्यामी की उपासना से मनुष्य अपनी वृद्धि करें ॥ २२ ॥

उपे॒होप॑पर्च॒नास्मिन् गो॒ष्ठ उप॑ पृञ्च नः ।

उप॑ ऋ॒ष॒भस्य॒ यद्रेत॒ उपे॑न्द्र॒ तव॑ वी॒र्य॑म् ॥ २३ ॥

उप॑ । इ॒ह । उ॒प॒-प॒र्च॒न॒ । अ॒स्मिन् । गो॒-स्थे । उप॑ । पृ॒ञ्च॒ । नः॒ ॥
उप॑ । ऋ॒ष॒भस्य॑ । यत् । रेतः॑ । उप॑ । इ॒न्द्र॒ । तव॑ । वी॒र्य॑म् ॥२३॥

भाषार्थ—(उपपर्चन) हे समीप सम्बन्ध वाले [परमेश्वर !] (इह) यहां पर (अस्मिन्) इस (गोष्ठे) वाणियों के स्थान में (नः) हमें (उप उप)

२२—(पिशङ्गरूपः) विडादिभ्यः कित्। उ० १। १२१। पिश अवयवे—अङ्गच्, कित्। खष्पशिल्पशष्प०। उ० ३। २८। रु शब्दे—पप्रत्ययः, दीर्घः। यद्वा, रूप रूपस्य दर्शने करणे वा—अच्। अवयवानां रूपं दर्शनं यस्मात् सः (नभसः) अ० २। ७९। २। सूर्यस्य मेघस्याकाशस्य वा (वयोधाः) जीवनधारकः (ऐन्द्रः) इन्द्राणामैश्वर्यवतां स्वामी (शुष्मः) बलवान् (विश्वरूपः) सर्वस्य जगतो रूपकर्ता (नः) अस्मान् (आ अगन्) प्राप्तवान् (आयुः) जीवनम् (अस्मभ्यम्) (दधत्) धारयन् (प्रजाम्) (च) (रायः) धनस्य (पोषैः) वृद्धिभिः (अभि) सर्वतः (नः) अस्मान् (सचताम्) षच सेचने। सिञ्चतु ॥

२३—(उप उप) अति समीपम् (इह) अत्र (उपपर्चन) पृची संपर्के-

अत्यन्त समीप से (पृञ्च) मिल। (इन्द्र) हे परमैश्वर्य वाले परमात्मा ! (ऋषभस्य तव) तुझ श्रेष्ठ का (यत्) जो (रेतः) पराक्रम और (वीर्यम्) वीरत्व है, [उसके साथ] (उप उप) अति समीप से [मिल] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से घनिष्ट सम्बन्ध करके अपना बल पराक्रम बढ़ावे ॥ २३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ६ सू० २८ म० ८ ॥

एतं वो युवानं प्रति दध्मो अत्र तेन क्रीडन्तीश्चरत वशाँ अनु। मा नो हासिष्ट जनुषा सुभागा रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ २४ ॥ (१०)

एतम्। वः। युवानम्। प्रति। दध्मः। अत्र। तेन। क्रीडन्तीः। चरत। वशान्। अनु ॥ मा। नः। हासिष्ट। जनुषा। सुभागाः। रायः। च। पोषैः। अभि। नः। सचध्वम् ॥२४॥ (१०)

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) तुम को (एतम्) इस (युवानम् प्रति) बलवान् [परमेश्वर] के प्रति (दध्मः) हम रखते हैं, (अत्र) यहां पर (तेन) उस [परमेश्वर] के साथ (क्रीडन्तीः) मन बहलाती हुई [तुम प्रजाओ !] (वशान् अनु) अनेक प्रभुताओं के साथ साथ (चरत) विचरो। (सुभागाः) हे बड़े ऐश्वर्य वाले ! (नः) हमें (जनुषा) जनता [मनुष्यों] से (मा हासिष्ट) मत पृथक् करो, (च) और (रायः) धन की (पोषैः) वृद्धियों

ल्यु। हे समीपसम्बन्धिन् (अस्मिन्) (गोष्ठे) वाचां स्थाने (पृञ्च) संयोजय (नः) अस्मान् (उप) (ऋषभस्य) श्रेष्ठस्य (यत्) (रेतः) पराक्रमः (उप) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (तव) (वीर्यम्) वीरत्वं बलम् ॥

२४—(एतम्) समीपवर्तिनम् (वः) युष्मान् (युवानम्) बलिनं परमेश्वरम् (प्रति) अभिलक्ष्य (दध्मः) स्थापयामः (अत्र) (तेन) यूना। परमेश्वरेण (क्रीडन्तीः) खेलनं कुर्वन्त्यः (चरत) चलत (वशान्) प्रभुत्वानि (अनु) अनुसृत्य (नः) अस्मान् (मा हासिष्ट) ओहाक् त्यागे-लुङ्। मा त्यजत (जनुषा) जनेरुसिः। उ० २। ११५। जनी प्रादुर्भावे-उसि। जनतया। जन-

से (नः) हमें (अभि) सब ओर से (सचध्वम्) सींचो ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों के उपदेश से परमात्मा की आज्ञा में चलते हैं, वे मनुष्यों के बीच उत्तम सन्तान आदि और धन प्राप्त करके अनेक प्रकार प्रभुता करते हैं ॥ २४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥

१-३८ ॥ मन्त्रोक्तोऽजः पञ्चौदनो देवता । १, २, ५, ६, ८, ९, ११, १२, १३, १५, १९, त्रिष्टुप् ; ३ आर्षी जगती; ४ जगती, ७, १०, भुरिक् त्रिष्टुप् ; १४, १७ २७-३० अनुष्टुप् ; १६ त्रिपदा बृहती; १८, ३७ त्रिपदा त्रिष्टुप् ; २०-२२ भुरिग् बृहती; २३ पुर उष्णिक्; २४ स्वराड् ज्योतिर्जगती; २५ पङ्क्तिः; २६ भुरिग् जगती ज्योतिष्मती; ३१ सप्तपदाष्टिः; ३२-३५ दशपदा प्रकृतिः; ३६ दशपदाऽऽकृतिः; ३८ साम्नी त्रिष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानेन सुखोपदेशः—ब्रह्मज्ञान से सुख का उपदेश ॥

आ न॑यै॒तमा र॑भस्व सु॒कृतां॑ लो॒कमपि॑ गच्छतु प्रजा॒नन् । ती॒र्त्वा तमां॑सि बहु॒धा म॒हान्त्य॒जो नाक॒मा क्र॑मतां तृ॒तीय॑म् ॥ १ ॥

आ । न॒य॒ । ए॒तम् । आ । र॒भ॒स्व॒ । सु॒-कृता॑म् । लो॒कम् । अपि॑ । ग॒च्छ॒तु॒ । प्र॒-जा॒नन् ॥ ती॒र्त्वा । तमां॑सि । ब॒हु॒-धा । म॒हान्ति॑ । अ॒जः । नाक॑म् । आ । क्र॒म॒ता॒म् । तृ॒तीय॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (एतम्) इस [जीवात्मा] को (आ नय) ला और (आ) भले प्रकार (रभस्व) उत्सुक [उत्साही] बन, (प्रजानन्)

समूहेन (सुभागाः) भग-अण् । शोभनं भगमैश्वर्यसमूहो येषां ते (सचध्वम्) सिञ्चत । वर्धयत । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(आ नय) प्रापय (एनम्) अजं जीवात्मानम् (आ) समन्तात्

भले प्रकार जानता हुआ वह (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) दर्शनीय लोक को (अपि) ही (गच्छतु) प्राप्त हो। (बहुधा) अनेक प्रकार से (महान्ति) बड़े बड़े (तमांसि) अन्धकारों [अज्ञानों] को (तीर्त्वा) तरके (अजः) अजन्मा वा गतिशील अज अर्थात् जीवात्मा (तृतीयम्) तीसरे [जीव और प्रकृति से भिन्न] (नाकम्) सुख स्वरूप परमात्मा को (आ क्रमताम्) यथावत् प्राप्त करे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ करके अपने आत्मा को अज्ञानों से हटाकर सच्चिदानन्द स्वरूप परमेश्वर को पाकर आनन्द भोगे ॥ १ ॥

इस सूक्त का मिलान अथर्ववेद काण्ड ४ सूक्त १४ से करो ॥

यह मन्त्र स्वामिदयानन्दकृतसंस्कारविधि वानप्रस्थप्रकरण में व्याख्यात है उन्होंने (नाकम्) का अर्थ "दुःख रहित वानप्रस्थ" किया है, जो ब्रह्मचर्य और गृहाश्रम से तीसरा है ॥

इन्द्राय भागं परि त्वा नयाम्यस्मिन् यज्ञे यजमानाय सूरिम् । ये नो द्विषन्त्यनु तान् रभस्वानागसो यजमानस्य वीराः ॥ २ ॥

इन्द्राय । भागम् । परि । त्वा । नयामि । अस्मिन् । यज्ञे । यजमानाय । सूरिम् ॥ ये । नः । द्विषन्ति । अनु । तान् । रभस्व । अनागसः । यजमानस्य । वीराः ॥ २ ॥

(रभस्व) उत्सुको भव । उत्साहं कुरु (सुकृताम्) सुकर्मिणाम् (लोकम्) दर्शनीयं पदम् (अपि) अवधारणे (गच्छतु) प्राप्नोतु (प्रजानन्) प्रकर्षेण विद्वान् (तीर्त्वा) पारयित्वा (तमांसि) अन्धकारान्। अबोधान् (बहुधा) अनेकप्रकारेण (महान्ति) बृहन्ति (अजः) न जायते यः, नञ्+जन—ड । यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः—अच् । अजा अजनाः—निरु० ४ । २५ । अजन्मा । गतिशीलः । परमेश्वरः । जीवात्मा (नाकम्) अ० १ । ६ । २ । सुखस्वरूपं परमात्मानम् (आ) समन्तात् (क्रमताम्) प्राप्नोतु (तृतीयम्) जीवप्रकृतिभ्यां भिन्नम् ॥

भाषार्थ—[हे अज, आत्मा !] (अस्मिन्) इस (यज्ञे) संगतिकरण व्यवहार में (यजमानाय) यजमान [संगतिकर्ता] को (इन्द्राय) परम ऐश्वर्य के लिये (त्वा) तुझे (सूरिम्) विद्वान् (भागम् परि) सेवनीय [परमात्मा] की ओर (नयामि) मैं लाता हूं। (ये) जो [दोष] (नः) हमें (द्विषन्ति] सताते हैं. (तान्) उनको (अनु रभस्व) निरन्तर पकड़ [वश में कर], (यजमानस्य) श्रेष्ठ व्यवहार वाले के (वीराः) वीर पुरुष (अनागसः) निर्दोष [होवें] ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा में श्रद्धा करके अपने दोषों को मिटाते हैं, वे अपनी और संसार की उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

प्र पुदोऽव नेनिग्धि दुश्चरितं यच्चचार शुद्धैः शुफैरा क्रमतां प्रजानन्। तीर्त्वा तमांसि बहुधा विपश्यन्नजो नाकुमा क्रमतां तृतीयम् ॥ ३ ॥

प्र । पुदः । अव । नेनिग्धि । दुःऽचरितम् । यत् । चुचार । शुद्धैः । शुफैः । आ । क्रमताम् । प्रऽजानन् ॥ तीर्त्वा । तमांसि । बहुऽधा । विऽपश्यन् । अजः । नाकम् । आ । क्रमताम् । तृतीयम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] [इसके] (पदः) पद [अधिकार] से (दुश्चरितम्) उस दुष्ट कर्म को (प्र) अच्छे प्रकार (अव नेनिग्धि) शुद्ध करदे, (यत्) जो कुछ (चचार) उस [जीव] ने किया है, (प्रजानन्)

२—(इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्तये (भागम्) भज सेवायाम्—घञ्। सेवनीयम् (परि) प्रति। अनुलक्ष्य (त्वा) जीवात्मानम् (नयामि) गमयामि (अस्मिन्) (यज्ञे) संगतिकरणे (यजमानाय) संगतिकरणशीलाय (सूरिम्) अ० २। ११। ४। विद्वांसम् (ये) दोषाः (नः) अस्मान् (द्विषन्ति) दूषयन्ति (अनु) निरन्तरम् (तान्) (रभस्व) लभस्व। निगृहाण (अनागसः) अ० ७। ६। ३। अनपराधाः (यजमानस्य) श्रेष्ठव्यवहारिणः (वीराः) शूराः ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण (पदः) पद स्थैर्ये गतौ च—क्विप्। पदात्। अधिकारात् (अव) सर्वथा (नेनिग्धि) णिजिर् शौचपोषणयोः—लोट्। शोधय

बड़ा ज्ञानवान् वह (शुद्धैः) शुद्ध (शफैः) सूक्ष्म विचारों से (आ क्रमताम्) ऊपर चढ़ जावे। (तमांसि) अन्धकारों को (तीर्त्वा) पार करके, (बहुधा) अनेक प्रकार से (विपश्यन्) दूर दूर देखता हुआ (अजः) अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा (तृतीयम्) तीसरे [जीव और प्रकृति से अलग] (नाकम्) सुखस्वरूप परमात्मा को (आ क्रमताम्) यथावत् प्राप्त करे॥ ३॥

भावार्थ—योगी जन ज्ञान द्वारा अविद्या आदि अन्धकारों से छूटकर शुद्ध मुक्त स्वरूप परमात्मा की शरण लेकर बड़ा दूरदर्शी होकर आनन्द भोगता है॥ ३॥

अनु॑ च्छ्य श्यामेन॒ त्वच॑मे॒तां वि॑शस्तर्यथाप॒र्व॑१॒ सि-ना माभि मं॑स्थाः। माभि द्रु॑हः परु॒शः क॑ल्पयैनं तृ॒तीये॒ नाके॒ अधि॒ वि श्र॑यैनम्॥ ४॥

अनु॑। छ्य॒। श्या॒मेन॑। त्वच॑म्। ए॒ताम्। वि॒-श॒स्तः॒। य॒था॒-प॒रु। अ॒सिना॑। मा। अ॒भि। मं॒स्थाः॒॥ मा। अ॒भि। द्रु॒हः॒। प॒रु॒-शः। क॒ल्प॒य॒। ए॒न॒म्। तृ॒तीये॑। नाके॑। अधि॑। वि। श्र॒य॒। ए॒न॒म्॥ ४॥

भाषार्थ—(विशस्तः) हे अविद्या नाशक! तू (एताम्) इस [हृदयस्थ] (त्वचम्) ढकने वाली [अविद्या] को (यथापरु) पूर्णता के साथ (श्यामेन) ज्ञान से और (असिना) गति अर्थात् उपाय से (अनु छ्य) काट

(दुश्चरितम्) दुष्कर्म (यत्) (चचार) कृतवान् (शुद्धैः) निर्मलैः (शफैः) शम शान्तिकरणे आलोचने च—अच्, मस्य फः। सूक्ष्मविचारैः (विपश्यन्) परितोऽवलोकयन्। अन्यत्पूर्ववत्—म० १॥

४—(अनु) निरन्तरम् (छ्य) तनूकुरु (श्यामेन) इषियुधीन्धिदसिश्या धूसूभ्यो मक्। उ० १। १४५। श्यैङ् गतौ—मक्। श्याम श्यायतेः—निरु० ४। ३। ज्ञानेन (त्वचम्) त्वच आवरणे—क्विप्। आवरणशीलाम्। अविद्याम् (एताम्) हृदयस्थाम् (विशस्तः) प्रसितस्कभितस्तभितो०। पा० ७। २। ३४। शसु हिंसायाम्—तृच्, इडभावः हे अविद्यानाशक (यथापरु)

डाल, और (मा अभि मंस्थाः) मत अभिमान कर। (परुशः) पालन का विचार करने वाला तू (मा अभि द्रुहः) मत द्रोह कर, (एनम्) इस [जीव] को (कल्पय) समर्थ कर और (तृतीये) तीसरे [जीव और प्रकृति से अलग] (नाके) सुखस्वरूप परमेश्वर में (एनम्) इसको (अधि) अधिकार पूर्वक (वि श्रय) फैलकर आश्रय दे ॥ ४ ॥

भावार्थ—आत्मदर्शी विवेक पूर्वक मिथ्या ज्ञान का नाश करके निरभिमानी, सर्वोपकारी और पराक्रमी होकर परमात्मा का आश्रय लेकर आनन्दित होता है ॥ ४ ॥

ऋ॒चा कु॒म्भीमध्य॒ग्नौ श्र॑या॒म्या सि॑ञ्चो॒द॒कमव॑ धेह्ये॒नम्। प॒र्याध॑त्ता॒ग्निना॑ शमि॒तारः॑ शृ॒तो ग॑च्छतु सु॒कृतां॒ यत्र॑ लो॒कः ॥ ५ ॥

ऋ॒चा। कु॒म्भीम्। अधि॑। अ॒ग्नौ। श्र॒या॒मि॒। आ। सि॒ञ्च॒। उ॒द॒कम्। अव॑। धे॒हि॒। ए॒न॒म् ॥ प॒रि॒-आध॑त्त। अ॒ग्निना॑। श॒मि॒तारः॑। शृ॒तः। ग॒च्छ॒तु॒। सु॒-कृता॑म्। यत्र॑। लो॒कः ॥ ५ ॥

भाषार्थ-[हे जीवात्मा !](ऋचा) वेदवाणी से (कुम्भीम्) बटलोही को (अग्नौ अधि) अग्नि पर (श्रयामि) मैं रखता हूं, तू (उदकम्) जल (आ सिञ्च) सींच दे, (एनम्) इस [अन्न जैसे जीवात्मा] को (अव धेहि)

भृमृशीङ्तॄ० । उ० १ । ७ । पॄ पालनपूरणयोः-उप्रत्ययः । पूर्णतामनतिक्रम्य (असिना) खनिकष्यज्यसिवसि० । उ० ४ । १४० । अस गतौ दीप्तौ च—इ प्रत्ययः । गत्या प्रयत्नेन (मा अभि मंस्थाः) मन ज्ञाने-लुङ् । अभिमानं मा कुरु (मा अभि द्रुहः) अनिष्टं मा चिन्तय (परुशः) पॄ पालनपूरणयोः—उप्रत्ययः + शम आलोचने—ड प्रत्ययः । परुं पालनं शमयति विचारयति यः (कल्पय) समर्थय (एनम्) जीवात्मानम् (तृतीये) म० १ (नाके) सुखस्वरूपे परमात्मनि (अधि) अधिकृत्य (वि) विस्तारेण (श्रय) स्थापय (एनम्) ॥

५—(ऋचा) ऋच स्तुतौ—क्विप् । ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाण्या (कुम्भीम्) उखाम् (अधि) उपरि (अग्नौ) वह्नौ (श्रयामि)

तू धर दे। (शमितारः) हे विचारवानो ! (अग्निना) अग्नि से [अन्न जैसे उसको] (पर्याधत्त) तुम ढक दो, (शृतः) परिपक्व [दृढ़ बुद्धि वाला] वह [वहां] (गच्छतु) जावे (यत्र) जहां (सुकृताम्) सुकर्मियों का (लोकः) दर्शनीय स्थान है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर सूपकार आग पर बटलोही धर जल डालकर अन्न को आग द्वारा पकाकर उपकारी बनाता है, वैसे ही योगी जन आचार्य्य की शिक्षा से ब्रह्मचर्य आदि तप करके वेद द्वारा शान्त और परिपक्व बुद्धि वाला होकर धर्म्मात्माओं के बीच धर्म्मात्मा होता है ॥ ५ ॥

उत्क्रा॑मा॒तः परि॑ चे॒दत॑प्तस्त॒प्ताच्च॒रोरधि॒ नाकं॑ तृ॒तीय॑म्। अ॒ग्नेर॒ग्निरधि॒ सं ब॑भूविथ॒ ज्योति॑ष्मन्तम॒भि लो॒कं ज॑यै॒तम् ॥ ६ ॥

उत् । क्राम॒ । अ॒तः । परि॑ । च॒ । इत् । अत॑प्तः । त॒प्तात् । च॒रोः । अधि॑ । नाक॑म् । तृ॒तीय॑म् ॥ अ॒ग्नेः । अ॒ग्निः । अधि॑ । सम् । ब॒भू॒वि॒थ॒ । ज्योति॑ष्मन्तम् । अ॒भि । लो॒कम् । ज॒य॒ । ए॒तम् ॥ ६॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (च) और (इत्) भी (अतप्तः) असन्तप्त [विना थका हुआ] तू (परि) सब ओर से (तप्तात्) तपाये हुये (अतः) इस (चरोः) चरु [बटलोही] से (तृतीयम्) तीसरे [जीव और प्रकृति से भिन्न] (नाकम् अधि) सुखस्वरूप जगदीश्वर की ओर (उत् क्राम) ऊपर चढ़। (अग्निः) ज्ञानवान् (अग्नेः) ज्ञानवान् परमेश्वर से (अधि) अधिकार

स्थापयामि (आ) समान्तात् (सिञ्च) (उदकम्) (अवधेहि) अधस्ताद्धर (एनम्) जीवात्मानम् (पर्याधत्त) आच्छादयत (अग्निना) (शमितारः) शम अलोचने—तृच्। हे विचारवन्तः (शृतः) अ० ४। १४। ६। परिपक्वज्ञानः (गच्छतु) (सुकृताम्) पुण्यात्मनाम् (यत्र) (लोकः) दर्शनीयं स्थानम् ॥

६—(उत् क्राम) उद्गच्छ (अतः) एतस्मात् (परि) सर्वतः (च) (इत्) एव (अतप्तः) तप—क्त। असन्तप्तः। अपरिश्रान्तः (तप्तात्) (चरोः) पात्रात् (अधि) अधिलक्ष्य (नाकम्) सुखस्वरूपं परमात्मानम् (तृतीयम्) जीवप्रकृतिभ्यां भिन्नम् (अग्नेः) ज्ञानवतः परमेश्वरात् (अग्निः) ज्ञानवान्

पूर्वक (सम् बभूविथ) पराक्रमी हुआ है, (एतम्) इस (ज्योतिष्मन्तम्) प्रकाशयुक्त (लोकम् अभि) लोक की ओर (जय) जय कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—समर्थ विद्वान् मनुष्य परिपक्व बुद्धि से परिपक्व अन्न के समान उपकारी होता हुआ परमात्मा में ध्यान लगाकर विज्ञानमय प्रकाश को प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

अजो अग्निरजमु ज्योतिराहुरजं जीवता ब्रह्मणे देयमाहुः । अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ७ ॥

अजः । अग्निः । अजम् । ऊं इति । ज्योतिः । आहुः । अजम् । जीवता । ब्रह्मणे । देयम् । आहुः ॥ अजः । तमांसि । अप । हन्ति । दूरम् । अस्मिन् । लोके । श्रत्-दधानेन । दत्तः ॥७॥

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा वा गति शील जीवात्मा (अग्निः) अग्नि [समान शरीर में] है, (अजम्) जीवात्मा को (उ) ही [शरीर के भीतर] (ज्योतिः) ज्योति (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं, और (अजम्) जीवात्मा को (जीवता) जीते हुये पुरुष करके (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमेश्वर] के लिये (देयम्) देने योग्य (आहुः) कहते हैं। (श्रद्धानेन) श्रद्धा रखने वाले पुरुष करके (दत्तः) दिया हुआ (अजः) जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अन्धकारों को (दूरम्) दूर (अप हन्ति) फैंक देता है ॥ ७ ॥

जीवात्मा (अधि) अधिकृत्य (संबभूविथ) समर्थो बभूविथ (ज्योतिष्मन्तम्) प्रकाशवन्तम् (अभि) अभिलक्ष्य (लोकम्) (जय) प्राप्नुहि (एनम्) ॥

७—(अजः) म० १ । जीवात्मा (अग्निः) शरीरेऽग्निवद् व्यापकः (अजम्) जीवात्मानम् (उ) एव (ज्योतिः) प्रकाशम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (अजम्) (जीवता) प्राणं पुरुषार्थं धारयता पुरुषेण (ब्रह्मणे) परमात्मने (देयम्) समर्पणीयम् (अजः) (तमांसि) अविद्यान्धकारान् (अप हन्ति) विनाशयति (दूरम्) विप्रकृष्टदेशम् (अस्मिन्) (लोके) (श्रद्दधानेन) परमेश्वरे विश्वासधारकेण (दत्तः) समर्पितः ॥

भावार्थ—जीता हुआ अर्थात् पुरुषार्थी योगी विद्या की प्राप्ति से परमात्मा में श्रद्धा करता हुआ अविद्यारूपी अन्धकारों को मिटा कर देदीप्यमान होता है ॥ ७ ॥

पञ्चौदनः पञ्चधा वि क्रमतामाक्रंस्यमानस्त्रीणि ज्योतींषि । ईजानानां सुकृतां प्रेहि मध्यं तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ८ ॥

पञ्च-ओदनः । पञ्च-धा । वि । क्रमताम् । आ-क्रंस्यमानः । त्रीणि । ज्योतींषि ॥ ईजानानाम् । सु-कृताम् । प्र । इहि । मध्यम् । तृतीये । नाके । अधि । वि । श्रयस्व ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पञ्चौदनः) पांच भूतों [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] से सींचा हुआ [जीवात्मा] (पञ्चधा) पांच प्रकार [गन्ध, रस, रूप, स्पर्श शब्द से] (त्रीणि) तीन [शरीर इन्द्रिय और विषय] (ज्योतींषि) ज्योतियों [दर्शन साधनों] को (आक्रंस्यमानः) पाने की इच्छा करता हुआ (वि क्रमताम्) विक्रम [पराक्रम करे । (ईजानानाम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण, दान] कर चुकने वाले (सुकृताम्) सुकर्मियों के (मध्यम्) मध्य में (प्र) आगे बढ़कर (इहि) पहुंच, और (तृतीये) तीसरे [जीव प्रकृति से भिन्न] (नाके)

८—(पञ्चौदनः) अ० ४ । १४ । ७ । पृथिव्यादि पञ्चभिर्भूतैः ओदनः सेचनं यस्य स जीवात्मा (पञ्चधा) गन्धरसरूपस्पर्शशब्दैः पञ्चप्रकारेण (विक्रमताम्) विक्रमं पराक्रमं करोतु (आक्रंस्यमानः) लृटः सद्वा । पा० ३ । ३ । १४ । आङ्+क्रमु पादविक्षेपे-लृटः शानच् । प्राप्तुमिच्छन् (त्रीणि) शरीरेन्द्रियविषयरूपाणि (ज्योतींषि) द्योतमानानि । दर्शनसाधनानि (ईजानानाम्) लिटः कानज्वा । पा० ३ । २ । १०६ । यजतेः कानच् । वचिस्वपियजादीनां किति । पा० ६ । १ । १५ । इति सम्प्रसारणम् । लिट्त्वाद्द्विर्वचने दीर्घः । इष्टवताम् । देवपूजासंगतिकरणदानानि कुर्वताम् (सुकृताम्) सुकर्मिणाम् (प्र) प्रकर्षेण (इहि) प्राप्नुहि (मध्यम्) अन्तर्देशम् (तृतीये) जीवप्रकृतिभ्यां भिन्ने

सुखस्वरूप परमात्मा में (अधि) अधिकार पूर्वक (वि श्रयस्व) फैलकर विश्राम ले ॥ ८ ॥

भावार्थ—विवेकी पुरुष पृथिवी आदि पञ्च भूतों और उनके गन्ध आदि गुणों द्वारा संसार के शरीर, इन्द्रिय और विषय का ज्ञान प्राप्त करके धर्मात्माओं में महाधर्मात्मा होकर परमात्मा की शरण लेता है ॥ ८ ॥

अजा रोह सुकृतां यत्र लोकः शरभो न चत्तोऽति दुर्गाण्येषः । पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानः स दातारं तृप्त्या तर्पयाति ॥ ९ ॥

अज । आ । रोह । सु-कृताम् । यत्र । लोकः । शरभः । न । चत्तः । अति । दुः-गानि । एषः ॥ पञ्च-ओदनः । ब्रह्मणे । दीयमानः । सः । दातारम् । तृप्त्या । तर्पयाति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अज) हे अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा ! [वहां] (आ रोह) चढ़कर जा (यत्र) जहां (सुकृताम्) सुकर्मियों का (लोकः) लोक [स्थान] है, और (शरभः न) शत्रुनाशक [शूर] के समान (चत्तः) प्रार्थना किया गया तू (दुर्गाणि) संकटों को (अति) पार करके (एषः) चल । (सः) वह (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमेश्वर] को (दीयमानः) दिया जाता हुआ (पञ्चौदनः) पांच भूतों [पृथिव्यादि—म० ८] से सींचा हुआ [जीवात्मा] (दातारम्) दाता [अपने आप] को (तृप्त्या) तृप्ति [सुख की परिपूर्णता से] (तर्पयाति) तृप्त करे ॥ ९ ॥

(नाके) सुखस्वरूपे परमात्मनि (अधि) अधिकृत्य (वि) विस्तारेण (श्रयस्व) आश्रितो भव ॥

९—(अज) हे अजन्मन् गतिशील वा (आ रोह) उद्गच्छ (सुकृताम्) (यत्र) (लोकः) (शरभः) कृशृशलि० । उ० ३ । १२२ । शृ हिंसायाम्—अभच् । शत्रुनाशकः शूरः (न) इव (चत्तः) असितस्कभितस्तभितोत्तभितचत्त० । पा० ७ । २ । ३४ । चते याचने—क्त, इडभावः । याचितः (अति) अतीत्य (दुर्गाणि) दुरितानि (एषः) इण् गतौ अथवा इष गतौ—लेट् । गच्छेः (पञ्चौदनः) म० ८ । पञ्चभूतैः सिक्तो जीवात्मा (ब्रह्मणे) परमात्मने (दीयमानः) समर्प्यमाणः (सः) (दातारम्) समर्पयितारं स्वात्मानम् (तृप्त्या) मुक्त्या (तर्पयाति) हर्षयेत् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पुरुषार्थ करके विघ्नों को हटाकर परमेश्वर की भक्ति में लवलीन होता है, वह मोक्ष सुख से तृप्त रहता है ॥ ६ ॥

अजस्त्रिनाके त्रिदिवे त्रिपृष्ठे नाकस्य पृष्ठे ददिवांसं दधाति । पञ्चौदनो ब्रह्मणे दीयमानो विश्वरूपा धेनुः कामदुघास्येका ॥ १० ॥ (११)

अजः । त्रि-नाके । त्रि-दिवे । त्रि-पृष्ठे । नाकस्य । पृष्ठे । ददिवांसम् । दधाति ॥ पञ्च-ओदनः । ब्रह्मणे । दीयमानः । विश्व-रूपा । धेनुः । काम-दुघा । असि । एका ॥ १० ॥ (११)

भाषार्थ—"(ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमेश्वर] को (दीयमानः) दिया जाता हुआ, (पञ्चौदनः) पांच भूतों [पृथिव्यादि—म० ८] से सींचा हुआ (अजः) अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा (त्रिनाके) तीन [शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक] सुखों वाली, (त्रिदिवे) तीन [आय, व्यय और वृद्धि] व्यवहारों वाली, (त्रिपृष्ठे) तीन [धर्म, अर्थ और काम] से सींची हुई (नाकस्य पृष्ठे) सुख की सिंचाई [वृद्धि] में (ददिवांसम्) दे चुकने वाले [अपने आत्मा] को (दधाति) धरता है"—यह (एका) एक (विश्वरूपा) संसार को रूप देने वाली (कामदुघा) कामनायें पूरी करने वाली (धेनुः) तृप्त करने वाली वेदवाणी (असि=अस्ति) है ॥ १० ॥

भावार्थ—वेद पुकार पुकार कहता है कि परोपकारी आत्मदानी मनुष्य सब प्रकार परमेश्वर की आज्ञा पालन में मोक्ष सुख पाता है ॥ १० ॥

१०—(अजः) जीवात्मा (त्रिनाके) त्रीणि शारीरिकात्मिकसामाजिकसुखानि यस्मिन् तस्मिन् (त्रिदिवे) इगुपधज्ञेति दिवु व्यवहारे—क । त्रयो दिवा आयव्ययवृद्धिव्यवहारा यस्मिन् तस्मिन् (त्रिपृष्ठे) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । पृषु सेचने—थक् । त्रयाणां धर्म्मार्थकामानां सेचनं वर्धनं यस्मिन् तस्मिन् (नाकस्य) अ० १ । ६ । २ । सुखस्य (पृष्ठे) सेचने वर्धने (ददिवांसम्) ददातेः क्वसु । दत्तवन्तम् (दधाति) स्थापयति (विश्वरूपा) जगतो रूपदात्री (धेनुः) अ० ३ । १० । १ । वाक्—निघ० १ । ११ । तर्पयित्री वेदवाणी (कामदुघा) अ० ४ । ३४ । ८ । कामानां प्रपूरयित्री (एका) अद्वितीया ॥

एतद् वो ज्योतिः पितरस्तृतीयं पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति । अजस्तमांस्यप हन्ति दूरमस्मिंल्लोके श्रद्दधानेन दत्तः ॥ ११ ॥

एतत् । वः । ज्योतिः । पितरः । तृतीयम् । पञ्च-ओदनम् । ब्रह्मणे । अजम् । ददाति ॥ अजः । तमांसि । अप । हन्ति । दूरम् । अस्मिन् । लोके । श्रत्-दधानेन । दत्तः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पालन करने वालो विद्वानो ! (वः) तुम्हारे लिये (एतद्) यह (तृतीयम्) तीसरी (ज्योतिः) ज्योति [परमेश्वर] (ब्रह्मणे) वेद ज्ञान के लिये (पञ्चौदनम) पांच भूतों [पृथिवी आदि-म० ८] से सींचे हुये (अजम्) अजन्मे वा गति शील जीवात्मा का (ददाति) दान करती है । (श्रद्धानेन) श्रद्धा रखने वाले पुरुष करके (दत्तः) दिया हुआ (अजः) जीवात्मा (अस्मिन् लोके) इस लोक में (तमांसि) अन्धकारों को (दूरम्) दूर (अप हन्ति) फेंक देता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने विद्वानों को वेद द्वारा उपकार के लिये उत्पन्न किया है । इस से वे ईश्वर की आज्ञा का पालन करके अविद्या का नाश करें ॥११॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर म० ७ । में आ चुका है ॥

ईजानानां सुकृतां लोकमीप्सन् पञ्चौदनं ब्रह्मणेऽजं ददाति । स व्याप्तिमभि लोकं जयैतं शिवो३ऽस्मभ्यं प्रतिगृहीतो अस्तु ॥ १२ ॥

ईजानानाम् । सु-कृताम् । लोकम् । ईप्सन् । पञ्च-ओदनम् ।

११—(एतत्) सर्वत्र वर्तमानम् (वः) युष्मदर्थम् (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं ब्रह्म (पितरः) हे पालका विद्वांसः (तृतीयम्) जीवप्रकृतिभ्यां भिन्नम् (पञ्चौदनम्) म० ८ । पञ्चभिर्भूतैः सिक्तम् (ब्रह्मणे) वेदज्ञानाय (अजम्) म० १ । जीवात्मानम् (ददाति) प्रयच्छति । अन्ये व्याख्यातम्—म० ७ ॥

ब्रह्मणे । अजम् । ददाति ॥ सः । वि-आप्तिम् । अभि । लोकम् । जय । एतम् । शिवः । अस्मभ्यम् । प्रति-गृहीतः । अस्तु ॥१२॥

भाषार्थ—(ईजानानाम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण, दान] कर चुकनेवाले (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) लोक को (ईप्सन्) चाहता हुआ पुरुष (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमेश्वर] के लिये (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] से सींचे हुये (अजम्) अजन्मे वा गतिशील जीवात्मा का (ददाति) दान करता है। [इसलिये] (सः) वह तू (व्याप्तिम् अभि) [सुख की] पूर्ण प्राप्ति के लिये (एतम् लोकम्) इस लोक को (जय) जीत, [जिस से, परमेश्वर करके] (प्रतिगृहीतः) स्वीकार किया हुआ [जीवात्मा] (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (शिवः) मङ्गलकारी (अस्तु) होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अग्रज आप्त विद्वानों के समान परमेश्वर की आज्ञा पालन में आत्मसमर्पण करके पुरुषार्थ करता है, वह सब के लिये मङ्गलकारी होता है ॥ १२ ॥

अजो ह्य१ग्नेरजनिष्ट शोकाद् विप्रो विप्रस्य सहसो विपश्चित् । इष्टं पूर्तमभिपूर्तं वषट्कृतं तद् देवा ऋतुशः कल्पयन्तु ॥ १३ ॥

अजः । हि । अग्नेः । अजनिष्ट । शोकात् । विप्रः । विप्रस्य । सहसः । विपः-चित् ॥ इष्टम् । पूर्तम् । अभि-पूर्तम् । वषट्-कृतम् । तत् । देवाः । ऋतु-शः । कल्पयन्तु ॥ १३ ॥

१२—(ईजानानाम्) म० ८ । यज्ञं कुर्वताम् (सुकृताम्) सुकर्मिणाम् (लोकम्) दर्शनीयं पदम् (ईप्सन्) प्राप्तुमिच्छन् (पञ्चौदनम्) म० ८ । पञ्चभूतैः सिक्तम् (ब्रह्मणे) परमेश्वराय (अजम्) जीवात्मानम् (ददाति) (सः) स त्वम् (व्याप्तिम्) विविधां सुखप्राप्तिम् (अभि) प्रति (लोकम्) (जय) उत्कर्षेण प्राप्नुहि (एतम्) (शिवः) मङ्गलकारी (अस्मभ्यम्) (प्रतिगृहीतः) ब्रह्मणा स्वीकृतः (अस्तु)॥

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा (शोकात्) दीप्यमान (अग्नेः सर्व व्यापक परमेश्वर से (हि) ही (अजनिष्ट) प्रकट हुआ है, [वह] (विप्रः) बुद्धिमान् [जीव] (विप्रस्य) बुद्धिमान् [परमेश्वर] के (सहसः) बल का (विपश्चित्) भले प्रकार विचारने वाला है। (तत्) इस लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अभिपूर्तम्) सम्पूर्ण (वषट्कृतम्) भक्ति से सिद्ध किये हुये (इष्टम्) यज्ञ, वेदाध्ययन आदि और (पूर्तम्) अन्नदानादि पुण्यकर्म को (ऋतुशः) प्रत्येक ऋतु में (कल्पयन्तु) समर्थ करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा को जानकर अपने सब उत्तम कर्मों को सब काल में सिद्ध करें ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आ चुका है—अ० ४ । १४ । १ ॥

अमोतं वासो दद्याद्धिरण्यमपि दक्षिणाम् ।
तथा लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः ॥१४

अमा-उतम् । वासः । दद्यात् । हिरण्यम् । अपि । दक्षिणाम् ॥ तथा । लोकान् । सम् । आप्नोति । ये । दिव्याः । ये । च । पार्थिवाः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—वह (अमोतम्) ज्ञान के साथ बुना हुआ (वासः) वस्त्र

१३—(अजः) म० १ । जीवात्मा (हि) निश्चयेन (अग्नेः) सर्व व्यापकात् परमेश्वरात् (अजनिष्ट) प्रादुरभूत् (शोकात्) अ० ४ । १४ । १ । दीप्यमानात् (विप्रः) अ० ३ । ३ । २ । मेधावी जीवात्मा (विप्रस्य) मेधाविनः परमेश्वरस्य (सहसः) बलस्य (विपश्चित्) अ० ६ । ५२ । ३ । विविधं प्रकर्षेण चेतिता ज्ञाता (इष्टम्) अ० २ । १२ । ४ । यज्ञवेदाध्ययनादि कर्म (पूर्तम्) अन्नदानादि पुण्यकर्म (अभिपूर्तम्) सम्पूर्णम् (वषट्कृतम्) अ० १ । ११ । १ । वह प्रापणे—डषटि+करोतेः क्त । भक्त्या निष्पादितम् (तत्) तस्मात् (देवाः) विद्वांसः (ऋतुशः) संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम् । पा० ५ । ४ । ४३ । ऋतु—शस् । ऋतावृतौ । काले काले (कल्पयन्तु) समर्थयन्तु ॥

१४—(अमोतम्) पुंसि संज्ञायां घः प्रायेण । पा० ३ । ३ । ११८ । अम

और (हिरण्यम्) सुवर्ण (अपि) भी (दक्षिणाम्) दक्षिणा (दद्यात्) देवे। (तथा) उससे वह [उन] (लोकान्) लोकों को (सम्) पूरा पूरा (आप्नोति) पाता है (ये) जो (दिव्याः) अन्तरिक्ष के (च) और (ये) जो (पार्थिवाः) पृथिवी के हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुपात्रों का यथावत् उत्तम पदार्थों से सत्कार करके संसार में प्रतिष्ठा बढ़ावें ॥ १४ ॥

एतास्त्वाजोपं यन्तु धाराः सोम्या देवीर्घृतपृष्ठा मधुश्चुतः। स्तभान पृथिवीमुत द्यां नाकस्य पृष्ठेऽधि सप्तरश्मौ ॥ १५ ॥

एताः। त्वा। अज। उप। यन्तु। धाराः। सोम्याः। देवीः घृत-पृष्ठाः। मधु-श्चुतः॥ स्तभान। पृथिवीम्। उत। द्याम्। नाकस्य। पृष्ठे। अधि। सप्त-रश्मौ ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अज) हे जीवात्मा ! (त्वा) तुझको (एताः) ये सब (सोम्याः) अमृतमय, (देवीः) उत्तम गुण वाली, (घृतपृष्ठाः) प्रकाश [वा सार तत्त्व] से सींचने वाली, (मधुश्चुतः) मधुरपन बरसाने वाली (धाराः) धारण शक्तियां (उप) आदर से (यन्तु) प्राप्त हों। (सप्तरश्मौ) व्याप्त किरणों

गतौ+घप्रत्ययः, टाप्—वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त, सम्प्रसारणं च। ज्ञानेन स्यूतम् (वासः) वस्त्रम् (दद्यात्) (हिरण्यम्) सुवर्णम् (अपि) (दक्षिणाम्) दानम् (तथा) तेन प्रकारेण (लोकान्) प्रतिष्ठास्थानानि (सम्) सम्यक् (आप्नोति) प्राप्नोति (ये) लोकाः (दिव्याः) दिवि अन्तरिक्षे भवाः (ये) (च) (पार्थिवाः) पृथिव्यां भवाः ॥

१५—(एताः) (त्वा) त्वाम् (अज) हे जीवात्मन् (उप) आदरेण (यन्तु) प्राप्नुवन्तु (धाराः) धारणशक्तयः (सोम्याः) अ० ३। १४। ३। अमृतमय्यः (देवीः) दिव्यगुणयुक्ताः (घृतपृष्ठाः) अ० २। १३। १। प्रकाशेन सेचयित्र्यः (मधुश्चुतः) अ० ७। ५६। २। माधुर्य्यस्य क्षरणशीलाः (स्तभान) दृढीकुरु (पृथिवीम्) पृथिवीस्थपदार्थानित्यर्थः। (उत) अपि च (द्याम्) अन्तरिक्षस्थान् पदार्थानित्यर्थः (नाकस्य) सुखस्य (पृष्ठे) आश्रये (अधि)

वाले, यद्वा, सात प्रकार की [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र] किरणों वाले सूर्य [पूर्ण प्रकाश] में (नाकस्य) सुख के (पृष्ठे) पीठ [आश्रय] में (अधि) अधिकार पूर्वक (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) अन्तरिक्ष लोक को (स्तभान) सहारा दे ॥ १५ ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुष अनेक प्रकार से धारण शक्तियां प्राप्त करके सूर्य के समान ज्ञान में प्रकाशित होकर आनन्द पूर्वक संसार भर का उपकार करते हैं ॥ १५ ॥

निरुक्त ४ । २६ में कहा है—"सात फैली हुई संख्या है, सात सूर्य की किरणें हैं", और निरुक्त ४ । २७ । में वर्णन है—"सप्त नामा सूर्य है सात किरणें इसकी ओर रसों को झुकाती हैं, अथवा सात ऋषि [इन्द्रियां] इसकी स्तुति करते हैं ॥"

अजो३ स्यज स्वर्गोऽसि त्वया लोकमङ्गिरसः प्राजानन् । तं लोकं पुण्यं प्र ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

अजः । असि । अज । स्वः-गः । असि । त्वया । लोकम् । अङ्गिरसः । प्र । अजानन् ॥ तम् । लोकम् । पुण्यम् । प्र । ज्ञेषम् ॥ १६ ॥

भावार्थ—(अज) हे अजन्मे जीवात्मा ! (अजः असि) तू गतिशील है, (स्वर्गः असि) तू सुख प्राप्त करने वाला है, (त्वया) तेरे साथ (अङ्गिरसः) बुद्धिमानों ने (लोकम्) देखने योग्य परमात्मा को (प्र) अच्छे प्रकार (अजानन्)

अधिकृत्य (सप्तरश्मौ) सप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । षप समवाये-कनिन्, तुट् च, यद्वा, क्तप्रत्ययः । सप्त सृता संख्या, सप्तादित्यरश्मयः—निरु० ४ । २६ । सप्तनामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीति वा—निरु० ४ । २७ । व्याप्तकिरणे, यद्वा शुक्लनीलपीतादिवर्णाः सप्तकिरणाः सन्ति यस्मिन् तस्मिन् सूर्यलोके ॥

१६—(अजः) गतिशीलः (असि) (अज) हे अजन्मन् जीवात्मन् (स्वर्गः) सुखप्रापकः (असि) (त्वया) (लोकम्) द्रष्टव्यं परमात्मानम् (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । ज्ञानिनः (प्र) (अजानन्) ज्ञातवन्तः (तम्) प्रसिद्धम (लोकम) दर्शनीयमीश्वरम (पुण्यम्) पवित्रम् (प्र) (ज्ञेषम्)

जाना है। (तम्) उस (पुण्यम्) पवित्र (लोकम्) देखने योग्य परमात्मा को (प्र ज्ञेषम्) मैं अच्छे प्रकार जानूं ॥ १६ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुषों ने जीवात्मा को ज्ञानी बनाकर परमात्मा को पाया है, इसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य ज्ञानवान् होकर सर्वव्यापक परमेश्वर के दर्शन से आनन्दित होवे ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद—यजु० २० । २५ । में है ॥

येना॑ सह॒स्रं॒ वह॑सि॒ येना॑ग्ने सर्ववेद॒सम् ।

तेने॒मं य॒ज्ञं नो॑ वह॒ स्व॑र्दे॒वेषु॒ गन्त॑वे ॥ १७ ॥

येन॑ । स॒हस्र॑म् । वह॑सि । येन॑ । अ॒ग्ने॒ । स॒र्व॒ऽवे॒द॒सम् ॥

तेन॑ । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । नः॒ । व॒ह॒ । स्वः॑ । दे॒वेषु॑ । गन्त॑वे ॥१७॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वन्! (येन) जिस (येन) नियम से (सहस्रम्) बलवान् पुरुषों को (सर्ववेदसम्) सब प्रकार के ज्ञानों वा धनों से युक्त [यज्ञ] में (वहसि) तू ले जाता है। (तेन) उसी [नियम] से (नः) हमें (इमम्) इस (यज्ञम्) प्राप्त होने योग्य यज्ञ में (देवेषु) विद्वानों के बीच (स्वः) सुख (गन्तवे) पाने के लिये (वह) ले चल ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के बीच सुख प्राप्त करने के लिये सदा प्रयत्न करते रहें ॥ १७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजु० १५ । ५५ है तथा स्वामिदयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में भी व्याख्यात है ॥

लिङ् बहुलं लेटि। पा० ३ । १ । ३४ । जानातेर्लेटि सिपीटि च रूपम् । जानीयाम् ॥

१७—(येन) प्रयत्नेन (सहस्रम्) सहो बलम्—निघ० २ । ६ । रो मत्वर्थे । बलवन्तं पुरुषम् (वहसि) प्रापयसि (येन) यम—ड । नियमेन (अग्ने) हे विद्वन् (सर्ववेदसम्) सर्वाणि वेदांसि ज्ञानानि धनानि वा यस्मिन् तं यज्ञम् (तेन) (इमम्) क्रियमाणम् (यज्ञम्) संगन्तव्यं व्यवहारं प्रति (नः) अस्मान् (वह) नय (स्वः) सुखम् (देवेषु) विद्वत्सु (गन्तवे) तुमर्थे तवेप्रत्ययः । प्राप्तुम् ॥

अ॒जः प॒क्वः स्व॒र्गे लो॒के द॑धाति॒ पञ्चौ॑दनो॒ निर्ऋ॑तिं॒ बाध॑मानः । तेन॑ लो॒कान्त्सूर्य॑वतो जयेम ॥ १८ ॥

अ॒जः । प॒क्वः । स्वः॒-गे । लो॒के । द॒धा॒ति॒ । पञ्च॑-ओ॒दनः । निः-ऋ॑तिम् । बाध॑मानः ॥ तेन॑ । लो॒कान् । सूर्य॑-वतः । ज॒ये॒म॒ १८

भाषार्थ—(पक्वः) पक्का [दृढ़ स्वभाव], (पञ्चौदनः) पांच भूतों [पृथिवी आदि] से सींचा हुआ (निर्ऋतिम्) महाविपत्ति को (बाधमानः) हटाता हुआ (अजः) अजन्मा वा गतिशील जीवात्मा (स्वर्गे) सुख प्राप्त कराने वाले (लोके) लोक में [आत्मा को] (दधाति) रखता है । (तेन) उसी [उपाय] से (सूर्यवतः) सूर्य [प्रकाश] वाले (लोकान्) लोकों को (जयेम) हम जीतें ॥ १८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार निश्चल बुद्धि वाला मनुष्य महाविघ्नों को हटाकर सुख भोगता है, वैसे ही सब मनुष्य विद्या द्वारा पुरुषार्थ करके सुखी होवें ॥ १८ ॥

यं ब्रा॑ह्म॒णे नि॑द॒धे यं च॑ वि॒क्षु या वि॒प्रुष॑ ओद॒नाना॑म॒जस्य॑ । सर्वं॒ तद॑ग्ने सुकृ॒तस्य॑ लो॒के जा॑नी॒तान्नः॑ सं॒गम॑ने पथी॒नाम् ॥ १९ ॥

यम् । ब्रा॒ह्म॒णे । नि॒-द॒धे । यम् । च॒ । वि॒क्षु॒ । याः । वि॒-प्रुषः॑ । ओ॒द॒नाना॑म् । अ॒जस्य॑ ॥ सर्व॑म् । तत् । अ॒ग्ने॒ । सु॒-कृ॒तस्य॑ । लो॒के । जा॒नी॒तात् । नः॒ । स॒म्-गम॑ने । प॒थी॒नाम् ॥ १९ ॥

१८—(अजः) म० १ । अजन्मा गतिशीलो वा जीवात्मा (पक्वः) दृढस्वभावः (स्वर्गे) सुख प्रापके (लोके) दर्शनीये स्थाने (दधाति) स्थापयति, जीवमितिशेषः (पञ्चौदनः) म० ८ । पृथिव्यादिपञ्चभूतैः सिक्तः (निर्ऋतिम्) अ० २ । १० । २ । कृच्छ्रापत्तिम् (बाधमानः) निवारयन् (तेन) उपायेन (लोकान्) (सूर्यवतः) विद्याप्रकाशयुक्तान् (जयेम) उत्कर्षेण प्राप्नुयाम ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (यम्) नियम को (ब्राह्मणे) ब्रह्म ज्ञानी में (च) और (अजस्य) [प्रत्येक] जीवात्मा के (ओदनानाम्) सेचन धर्मों की (याः) जिन (विप्रुषः) विविध पूर्तियों को (विक्षु) प्रजाओं के बीच (निदधे) उस [परमेश्वर] ने रक्खा है। (अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (नः) हमारे (तत् सर्वम्) उस सब को (सुकृतस्य लोके) सुकर्मी के लोक में (पथीनाम्) मार्गों के (संगमने) संगम पर (जानीतात्) तू जान ॥ १९ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी अपने में और सब सृष्टि में वृद्धियों के ईश्वर नियमों को विविध प्रकार विचार कर पुण्यात्माओं के मार्ग पर चलकर सुखी होवे ॥ १९ ॥

अजो वा इदमग्रे व्यक्रमत तस्योर इयमभवद्द्यौः पृष्ठम् । अन्तरिक्षं मध्यं दिशः पार्श्वे समुद्रौ कुक्षी ॥२०(१२)

अजः । वै । इदम् । अग्रे । वि । अक्रमत । तस्य । उरः । इयम् । अभवत् । द्यौः । पृष्ठम् ॥ अन्तरिक्षम् । मध्यम् । दिशः । पार्श्वे इति । समुद्रौ । कुक्षी इति ॥ २० ॥(१२)

भाषार्थ—(अजः) अजन्मा वा गतिशील परमात्मा (वै) ही (अग्रे) पहिले ही पहिले (इदम्) इस [जगत्] में (वि अक्रमत) विचरता था,

१९—(यम्) (ब्राह्मणे) ब्रह्मज्ञे (निदधे) स्थापितवान् सः परमेश्वरः (यम्) यम—ड । नियमम् (च) (विक्षु) प्रजासु (विप्रुषः) प्रुष स्नेहन-सेवनपूरणेषु—क्विप् । विविधपूर्तीः (ओदनानाम्) उन्देर्नलोपश्च । उ० २ । ७६ । उन्दी क्लेदने—युच् । ओदनो मेघः—निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्—निरु० ६ । ३४ । सेचनानाम् (अजस्य) जीवात्मनः (सर्वम्) (तत्) (अग्ने) हे विद्वन् (सुकृतस्य) पुण्यात्मनः (लोके) स्थाने (जानीतात्) जानीहि (नः) अस्माकम् (संगमने) संयोगे (पथीनाम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । पथे गतौ—इन् । पथाम् । मार्गाणाम् ॥

२०—(अजः) म० १ । अजन्मा गतिशीलो वा परमात्मा (वै) अवश्यम् (इदम्) दृश्यमानं जगत् (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (व्यक्रमत) व्यचरत् (तस्य)

(तस्य) उसकी (उरः) छाती (इयम्) यह [भूमि] और (पृष्ठम्) पीठ (द्यौः) आकाश (अभवत्) हुआ। (मध्यम्) कटिभाग (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (दिशः) दिशायें (पार्श्वे) दोनों कांखें [कक्षायें] और (समुद्रौ) दोनों [अन्तरिक्ष और भूमि के] समुद्र (कुक्षी) दोनों कोखें [हुई]॥ २० ॥

भावार्थ—अनादि, अनन्त, परमेश्वर सृष्टि का कर्ता, सर्व नियन्ता और सर्वव्यापक है ॥ २० ॥

स॒त्यं च॒र्तं च॒ चक्षु॑षी॒ विश्वं॑ स॒त्यं श्र॒द्धा प्रा॒णो वि॒राट् शिरः॑। ए॒ष वा अप॑रिमितो य॒ज्ञो यद॒जः पञ्चौ॑दनः॥२१॥

स॒त्यम्। च॒। ऋ॒तम्। च॒। चक्षु॑षी॒ इति॑। विश्व॑म्। स॒त्यम्। श्र॒द्धा। प्रा॒णः। वि॒-राट्। शिरः॑॥ ए॒षः। वै। अप॑रि-मितः। य॒ज्ञः। यत्। अ॒जः। पञ्च॑-ओदनः॥ २१ ॥

भाषार्थ—(सत्यम्) सत्य [यथार्थस्वरूप वा अस्तित्व] (च च) और (ऋतम्) ऋत [वेद आदि यथार्थ शास्त्र] (चक्षुषी) [उसकी] दोनों आंखें, (विश्वम्) सब (सत्यम्) सत्य और (श्रद्धा) श्रद्धा (प्राणः) उसका प्राण, और (विराट्) विविध प्रकाशमान प्रकृति (शिरः) [उसका] शिर [हुआ]। (यत्) क्योंकि (एषः वै) यही (अपरिमितः) परिमाण रहित, (यज्ञः)

(उरः) अर्तेरुच्च। उ० ४। १९५। ऋ गतौ—असुन् उत्वं रपरत्वं च। वक्षः (इयम्) भूमिः (अभवत्) (द्यौः) आकाशः (पृष्ठम्) देहपश्चाद्भागः (अन्तरिक्षम्) (मध्यम्) कटिभागः (दिशः) पूर्वादयः (पार्श्वे) अ० ४। १४। ७। कक्षयोरधो भागौ (समुद्रौ) अन्तरिक्षभूमिस्थ जलौघौ (कुक्षी) अ० २। ५। ४। दक्षिणोत्तरकुक्षिद्वयम् ॥

२१–(सत्यम्) अस सत्तायाम्–शतृ। सते हितम्–यत्। यथार्थस्वरूपम्। अस्तित्वम् (च) (ऋतम्) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः। उ० ३। ८९। ऋ गतौ–क्त। वेदादि यथार्थशास्त्रम् (च) (चक्षुषी) नेत्रे (विश्वम्) सर्वम् (सत्यम्) (श्रद्धा) अ० ६। १३३। ४। वेदेषु विश्वासः (प्राणः) (विराट्) विविध-प्रकाशमाना प्रकृतिः (शिरः) (एषः) (वै) एव (अपरिमितः) परिमाण-

पूजनीय (अजः) अजन्मा वा गतिशील परमात्मा (पञ्चौदनः) पांच भूतों [पृथिवी आदि] का सींचने वाला है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सत्यस्वरूप, अनन्त, सब सृष्टि का स्वामी परमेश्वर सब का उपास्य देव है ॥ २१ ॥

अपरिमितमेव यज्ञमाप्नोत्यपरिमितं लोकमवं रुन्द्धे ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २२ ॥

अपरि-मितम् । एव । यज्ञम् । आप्नोति । अपरि-मितम् । लोकम् । अव । रुन्द्धे ॥ यः । अजम् । पञ्च-ओदनम् । दक्षिणा-ज्योतिषम् । ददाति ॥ २२ ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (अपरिमितम्) परिमाण रहित (यज्ञम्) पूजनीय परमेश्वर को (एव) ही (आप्नोति) पाता है, और (अपरिमितम्) तोल नाप रहित (लोकम्) दर्शनीय परमात्मा को (अव रुन्द्धे) ध्यान में रखता है, (यः) जो पुरुष (पञ्चौदनम्) पांचभूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणाज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—आत्मसमर्पक पुरुष पूर्ण भक्ति से उस अनन्त जगदीश्वर को पाता है ॥ २२ ॥

रहितः (यज्ञः) पूजनीयः (यत्) यस्मात् (अजः) परमेश्वरः (पञ्चौदनः) अ० ४ । १४ । ७ । पञ्चसु पृथिव्यादिभूतेषु ओदनः सेचनं यस्य सः ॥

२२—(अपरिमितम्) अनन्तम् (एव) अवश्यम् (यज्ञम्) यष्टव्यम् (आप्नोति) प्राप्नोति (अपरिमितम्) (लोकम्) दर्शनीयं जगदीश्वरम् (अव रुन्द्धे) दृढतया धारयति (यः) (अजम्) जगदीश्वरम् (पञ्चौदनम्) पञ्चभूतसेचकम् (दक्षिणाज्योतिषम्) दक्षिणा दानं ज्योतिः प्रकाशो यस्य तम् (ददाति) समर्पयति स्वहृदये ॥

नास्यास्थीनि भिन्द्यान्न मज्ज्ञो निर्धयेत् ।
सर्वमेनं समादायेदमिदं प्र वेशयेत् ॥ २३ ॥

न । अस्य । अस्थीनि । भिन्द्यात् । न । मज्ज्ञः । निः । धयेत् ॥
सर्वम् । एनम् । सम्-आदाय । इदम्-इदम् । प्र । वेशयेत् ॥२३

भाषार्थ—वह [रोग] (अस्य) इस [प्राणी] की (अस्थीनि) हड्डियों को (न भिन्द्यात्) नहीं तोड़ सकता और (न) न (मज्ज्ञः) मज्जाओं [हाड़ के भीतरी रसों] को (निर्धयेत्) निरन्तर पी सकता है। [जो] (एनम्) इस [ईश्वर] को (समादाय) ठीक ठीक ग्रहण करके (सर्वम्) सब प्रकार से (इदमिदम्) इस इस [प्रत्येक वस्तु] में (प्रवेशयेत्) प्रवेश करें ॥२३॥

भावार्थ—वह मनुष्य सब विपत्तियों से निर्भय रहता है जो परमात्मा को प्रत्येक वस्तु में साक्षात् करता है ॥ २३ ॥

इदमिदमेवास्य रूपं भवति तेनैनं सं गमयति ।
इषं मह ऊर्जमस्मै दुहे यो३ऽजं पञ्चौदनं दक्षिणा-
ज्योतिषं ददाति ॥ २४ ॥

इदम्-इदम् । एव । अस्य । रूपम् । भवति । तेन । एनम् । सम् । गमयति ॥ इषम् । महः । ऊर्जम् । अस्मै । दुहे । यः । अजम् । पञ्च-ओदनम् । दक्षिणा-ज्योतिषम् । ददाति ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] का (रूपम्) रूप [सौन्दर्य]

२३—(न) निषेधे (अस्य) पुरुषस्य (अस्थीनि) असिसञ्जिभ्यां क्थिन्। उ० ३ । १५४ । असु क्षेपे-क्थिन् । शरीरस्थधातुविशेषान् (भिन्द्यात्) विदारयेत् (मज्ज्ञः) श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५६ । टु मस्जो शुद्धौ-कनिन्, निपातनात् सिद्धिः । अस्थिसारान् (निर्धयेत्) धेट् पाने । नितरां पिबेत् (सर्वम्) सर्वथा (एनम्) परमेश्वरम् (समादाय) सम्यग् गृहीत्वा (इदमिदम्) दृश्यमानं प्रत्येकं वस्तु (प्रवेशयेत्) प्रविशेत् ॥

२४—(इदमिदम्) प्रतिद्रव्यम् (एव) निश्चयेन (अस्य) परमात्मनः

(इदमिदम्) इस इस [प्रत्येक वस्तु] में (एव) ही (भवति) पहुंचता है, [तभी वह सर्वव्यापक रूप] (तेन) उस [परमात्मा] के साथ (एनम्) इस जीवात्मा को (सम् गमयति) मिला देता है। वह [पुरुष] (इषम्) अन्न, (महः) बड़ाई (ऊर्जम्) और पराक्रम (अस्मै) इस के लिये [अपने लिये] (दुहे) दोहता है (यः) जो पुरुष (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणाज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्ण भक्ति से परमात्मा के नियमों पर चलकर सब प्रकार के आनन्द और पराक्रम को प्राप्त होता है ॥ २४ ॥

पञ्च॑ रु॒क्मा पञ्च॒ नवा॑नि॒ वस्त्रा॒ पञ्चा॑स्मै धे॒नवः॑ काम॒दुघा॑ भवन्ति । यो॒३॒॑ऽजं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्यो-तिषं॒ ददा॑ति ॥ २५ ॥

पञ्च॑ । रु॒क्मा । पञ्च॑ । नवा॑नि । वस्त्रा॑ । पञ्च॑ । अ॒स्मै॒ । धे॒नवः॑ । का॒म॒-दुघाः॑ । भ॒व॒न्ति॒ ॥ यः । अ॒जम् । ० ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(पञ्च) विस्तृत (रुक्मा) रोचक वस्तुयें [सुवर्ण आदि], (पञ्च) विस्तृत (नवानि) नवीन (वस्त्रा) वस्त्र, और (पञ्च) विस्तृत (धेनवः) तृप्त करने वाली वेद वाचायें [विद्यायें] (अस्मै) उस [पुरुष] के लिये (कामदुघाः) कामनायें पूरी करने वाली (भवन्ति) होती हैं। (यः)

(रूपम्) सौन्दर्य्यम् (भवति) भू प्राप्तौ । प्राप्नोति (तेन) ईश्वरेण सह (एनम्) जीवात्मानम् (संगमयति) संयोजयति तद्रूपम् (इषम्) अन्नम् (महः) महत्त्वम् (ऊर्जम्) पराक्रमम् (अस्मै) समीपवर्तिने । स्वस्मै (दुहे) दुग्धे । प्रपूरयति । अन्यद् गतम्—म० २२ ॥

२५—(पञ्च) शप्युक्षूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । पचि विस्तारे—कनिन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । जसः सुः । विस्तृतानि (रुक्मा) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—मक् कुत्वं च । रोचकानि वस्तूनि सुवर्णादीनि (पञ्च) (नवानि) नूतनानि (वस्त्रा) वासांसि

जो पुरुष (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणाज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—आत्मत्यागी मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सब प्रकार के सुख प्राप्त करता है ॥ २५ ॥

पञ्च॑ रु॒क्मा ज्योति॑रस्मै भवन्ति॒ वर्म॑ वासा॑सि त॒न्वे॑ भवन्ति । स्व॒र्गं लो॒कम॑श्नुते॒ यो॒३॑ऽजं पञ्चौ॑दनं॒ दक्षि॑णाज्योतिषं॒ ददा॑ति ॥ २६ ॥

पञ्च॑ । रु॒क्मा । ज्योतिः॑ । अ॒स्मै॒ । भ॒वन्ति॒ । वर्म॑ । वासां॑सि । त॒न्वे॑ । भ॒वन्ति॒ ॥ स्वः॒-गम् । लो॒कम् । अ॒श्नु॒ते॒ । यः । अ॒जम् । पञ्च॑-ओदनम् । दक्षि॑णा-ज्योतिषम् । ददा॑ति ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(पञ्च) विस्तृत (रुक्मा) रोचक वा चमकीले वस्तु [सुवर्ण आदि] (अस्मै) उस [पुरुष] के लिये (ज्योतिः) ज्योति (भवन्ति) होते हैं, (वासांसि) वस्त्र [उसके] (तन्वे) शरीर के लिये (वर्म) कवच (भवन्ति) होते हैं । वह (स्वर्गम्) स्वर्ग [सुख देने वाला] (लोकम्) लोक (अश्नुते) पाता है, (यः) जो पुरुष (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणाज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ २६ ॥

(पञ्च) विस्तृताः (अस्मै) पुरुषाय (धेनवः) अ० ७ । ७३ । २ । तर्पयित्र्यो वेदवाचः (कामदुघाः) अ० ४ । ३४ । ८ । कामानां पूरयित्र्यः (भवन्ति) सन्ति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२६—(पञ्च) म० २५ । विस्तृतानि (रुक्मा) रोचकानि वस्तूनि (ज्योतिः) प्रकाशः (अस्मै) मनुष्याय (भवन्ति) (वर्म) कवचम् (वासांसि) वस्त्राणि (तन्वे) शरीराय (स्वर्गम्) स्वः सुखं गच्छति प्राप्नोति यत्र (लोकम्) दर्शनीयं स्थानम् (अश्नुते) प्राप्नोति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा में विश्वास रखता है, वह ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त करके स्वस्थ, दृढ़ और धनी होकर आनन्दित रहता है ॥ २६ ॥

या पूर्वं पतिं वित्त्वाथान्यं विन्दतेऽपरम् ।
पञ्चौदनं च तावजं ददातो न वि योषतः ॥ २७ ॥

या । पूर्वम् । पतिम् । वित्त्वा । अथ । अन्यम् । विन्दते । अपरम् ॥ पञ्च-ओदनम् । च । तौ । अजम् । ददातः । न । वि । योषतः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(या) जो स्त्री (पूर्वम्) पहिले (पतिम्) पति को (वित्त्वा) पाकर (अथ) उसके पीछे [मृत्यु आदि विपत्ति काल में] (अन्यम्) दूसरे (अपरम्) पिछले [पति] को (विन्दते) पाती है [उसी प्रकार जो पति मृत्यु आदि विपत्ति में दूसरी स्त्री को पाता है] । (तौ) वे दोनों (च) निश्चय करके (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले (अजम्) अजन्मे वा गति शील परमेश्वर को [अपने आत्मा में] (ददातः) समर्पित करें (न वि योषतः) वे दोनों अलग न होवें ॥ २७ ॥

भावार्थ—जैसे विपत्ति काल में स्त्री दूसरे पति को और पुरुष दूसरी स्त्री को प्राप्त होकर सुख पाते हैं, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को पाकर दुःखों से छूटकर सुखी होते हैं ॥ २७ ॥

समानलोको भवति पुनर्भुवापरः पतिः ।
योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ २८ ॥

समान-लोकः । भवति । पुनः-भुवा । अपरः । पतिः ॥ यः ।

२७—(या) स्त्री (पूर्वम्) विवाहितम् (पतिम्) स्वामिनम् (वित्त्वा) विद्लृ लाभे—क्त्वा । लब्ध्वा (अन्यम्) द्वितीयं पतिम् (विन्दते) लभते (अपरम्) नियोजितं पतिम् (पञ्चौदनम्) पञ्चभूतसेचकम् (च) अवश्यम् (तौ) स्त्रीपुरुषौ (अजम्) अजन्मानं गतिशीलं वा परमात्मानम् (ददातः) घो र्लोपो लेटि वा । पा० ७ । ३ । ७० । इति रूपसिद्धिः । दद्याताम् (न) निषेधे (वि योषतः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—लेट् । वियुक्तौ भवेताम् ॥

अजम् । पञ्च-ओदनम् । दक्षिणा-ज्योतिषम् । ददाति ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(अपरः) दूसरा (पतिः) पति (पुनर्भुवा) दूसरी बार विवाहित [वा नियोजित] स्त्री के साथ (समानलोकः) एक स्थान वाला (भवति) होता है । (यः) जो पुरुष (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणाज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जैसे आत्मत्यागी परमेश्वर भक्त अपत्नीक पुरुष और धर्मात्मा विधवा स्त्री यथावत् विधि के साथ विपत्ति से छूटकर कर्तव्य पालन करते हैं, वैसे ही ब्रह्मज्ञानी पुरुष अविद्या से छूट कर परमात्मा से मिलकर आनन्द पाता है ॥ २८ ॥

अनुपूर्ववत्सां धेनुमनड्वाहमुपबर्हणम् ।
वासो हिरण्यं दत्त्वा ते यन्ति दिवमुत्तमाम् ॥ २९ ॥

अनुपूर्व-वत्साम् । धेनुम् । अनड्वाहम् । उप-बर्हणम् ॥ वासः । हिरण्यम् । दत्त्वा । ते । यन्ति । दिवम् । उत्-तमाम् ।२९

भाषार्थ—(अनुपूर्ववत्साम्) यथाक्रम [एक के पीछे एक] बच्चे वाली (धेनुम्) गौ, (अनड्वाहम्) अन्न पहुंचाने वाला बैल, (उपबर्हणम्) बालिश [सिराहने का वस्त्र आदि], (वासः) वस्त्र, (हिरण्यम्) सुवर्ण (दत्त्वा)

२८—(समानलोकः) एकस्थानः (भवति) (पुनर्भुवा) पुनः + भू सत्तायाम्—क्विप् । पुनर्भूर्दिधिषूरूढा द्विस्तस्या दिधिषुः पतिः। स तु द्विजोऽग्रेदिधिषूः सैव यस्य कुटुम्बिनी । इत्यमरः १६ । २३ । द्विरूढया नियोजितया वा स्त्रिया सह (अपरः) द्वितीयः । देवरः (पतिः) अन्यत् पूर्ववत् ॥

२९—(अनुपूर्ववत्साम्) यथाक्रमशिशुमतीम् (धेनुम्) तर्पयित्रीं गाम् (अनड्वाहम्) अ० ४ । ११ । १ । अनस् + वह प्रापणे—क्विप् । अन्नप्रापकं वृषभम् (उपबर्हणम्) उप + बृह बृद्धौ उद्यमे च—ल्युट् । शिरोधानम् । बालिशम् (वासः) वस्त्रम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (दत्त्वा) (ते) धार्मिकाः (यन्ति)

दान करके (ते) वे [धर्म्मात्मा लोग] (उत्तमाम्) उत्तम (दिवम्) गति (यन्ति) पाते हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ—धर्म्मात्मा मनुष्य सुपात्रों को विविध प्रकार दान करके उनकी उन्नति से अपनी उन्नति करते हैं ॥ २९ ॥

आत्मानं पितरं पुत्रं पौत्रं पितामहम् ।
जायां जनित्रीं मातरं ये प्रियास्तानुप ह्वये ॥३०॥ (१३)

आत्मानम् । पितरम् । पुत्रम् । पौत्रम् । पितामहम् ॥ जायाम् । जनित्रीम् । मातरम् । ये । प्रियाः । तान् । उप । ह्वये ॥ ३० (१३)

भाषार्थ—(आत्मानम्) आत्मबल, (पितरम्) पिता, (पुत्रम्) पुत्र, (पौत्रम्) पौत्र, (पितामहम्) दादा, (जायाम्) पत्नी, (जनित्रीम्) उत्पन्न करने वाली (मातरम्) माता को और (ये) जो (प्रियाः) प्रिय हैं, (तान्) उन सब को (उप ह्वये) मैं आदर से बुलाता हूं ॥ ३० ॥

भावार्थ—मनुष्य सब आत्मसम्बन्धियों के साथ यथावत् उपकार करके सदा सुखी रहें ॥ ३० ॥

यो वै नैदाघं नामर्तुं वेद ।
एष वै नैदाघो नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः ।
निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना
यो३ऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३१ ॥

यः । वै । नैदाघम् । नाम । ऋतुम् । वेद ॥ एषः । वै । नैदाघः ।

प्राप्नुवन्ति । दिवम्) दिवु गतौ—डिवि । गतिम् (उत्तमाम्) श्रेष्ठाम् ॥

३०—(आत्मानम्) आत्मबलम् (पितरम्) पातारं जनकम् (पुत्रम्) अ० १ । ११ । ५ । कुलशोधकं सुतम् (पौत्रम्) पुत्र—अण् । नप्तारम् (पितामहम्) पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः । पा० ४ । २ । ३ । ६ । पितृ–डामहच् । पितुः पितरम् (जायाम्) पत्नीम् (जनित्रीम्) जनयित्रीं जननीम् (मातरम्) (ये) (प्रियाः) प्रीतिकराः (तान्) (उप) आदरेण (ह्वये) आह्वयामि ॥

नाम॑ । ऋ॒तुः । यत् । अ॒जः । पञ्च॑-ओदनः ॥ निः । ए॒व । अ॒प्रिय॑स्य । भ्रातृ॑व्यस्य । श्रिय॑म् । द॒ह॒ति॒ । भव॑ति । आ॒त्मना॑ ॥ यः । अ॒जम् । पञ्च॑-ओदनम् । दक्षिणा-ज्योतिषम् । ददा॑ति ३१

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (वै) निश्चय करके (नैदाघम्) अतिताप वाले (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुम्) ऋतु को (वेद) जानता है। (एषः वै) वही (नैदाघः) अतिताप वाले (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुः) ऋतु [के समान] (यत्) पूजनीय ब्रह्म (अजः) अजन्मा (पञ्चौदनः) पांच भूतों [पृथिवी आदि] का सींचने वाला [परमेश्वर] है। वह [मनुष्य अपने] (एव) निश्चय करके (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (श्रियम्) श्री को (निर् दहति) जला देता है, और (आत्मना) अपने आत्मबल के साथ (भवति) रहता है। (यः) जो [पुरुष] (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणाज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी का घुमाव उष्ण, शीत आदि ऋतुओं का कारण है, उन सूर्य आदि लोकों का आदि कारण परमेश्वर है, ऐसा साक्षात् करने वाला पुरुष निर्विघ्न होकर आनन्द भोगता है ॥ ३१ ॥

यो वै कु॒र्वन्तं॒ नाम॒र्तुं वेद॑ ।
कु॒र्व॒तीं॒कु॑र्वतीमे॒वाप्रिय॑स्य॒ भ्रातृ॑व्यस्य॒ श्रिय॒मा द॑त्ते ।

३१—(यः) परमेश्वरः (वै) निश्चयेन (नैदाघः) तस्येदम्। पा० ४। ३। १२०। निदाघस्य महातापस्य सम्बन्धिनम् (नाम) प्रसिद्धौ (ऋतुम्) कालविशेषम् (वेद) जानाति (एषः) परमेश्वरः (नैदाघः) महातापसम्बन्धी (नाम) (ऋतुः) कालविशेषः (यत्) त्यजितनियजिभ्यो डित्। उ० १। १३२। यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—अदि. डित्। पूजनीयं ब्रह्म (अजः) म० १। अजन्मा (पञ्चौदनः) पञ्चभूतानां सेचनं यस्मात् सः (निः) नितराम् (एव) (अप्रियस्य) अहितस्य (भ्रातृव्यस्य) भ्रातृभावरहितस्य (श्रियम्) लक्ष्मीम् (दहति) भस्मीकरोति (भवति) वर्तते (आत्मना) आत्मबलेन सह। अन्यत् पूर्ववत् ॥

एष वै कुर्वन्नामर्तुर्वेद य एवं वेद ॥ ०। ०। ० ॥ ३२ ॥

०। वै। कुर्वन्तम्। नाम। ०॥ कुर्वतीम्-कुर्वतीम्। एव। अप्रियस्य। भ्रातृव्यस्य। श्रियम्। आ। दत्ते। ०। वै। कुर्वन्। नाम। ०।३२

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (वै) निश्चय करके (कुर्वन्तम्) बनाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुम्) ऋतु को (वेद) जानता है। और [जो] (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (कुर्वतीं कुर्वतीम्) अच्छे प्रकार बनाने वाली (श्रियम्) श्री को (एव) निश्चय करके (आ दत्ते) ले लेता है। (एषः वै) वही (कुर्वन्) बनाने वाला (नाम) प्रसिद्ध......म० ३१ ॥३२॥

भावार्थ—वर्षा आदि ऋतु अन्न आदि उत्पन्न करके बुभुक्षा आदि कष्ट मिटाते हैं, उन ऋतुओं का आदि कारण परमेश्वर है ऐसा जानने वाला पुरुष निर्विघ्न रहता है ॥ ३२ ॥

यो वै संयन्तं नामर्तुं वेद।

संयतींसंयतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते।

एष वै संयन्नाम ०। ०। ० ॥ ३३ ॥

०। वै। सम्-यन्तम्। नाम। ०॥ संयतीम्-संयतीम्। एव। ०॥ ०। वै। सम्-यन्। नाम। ० ॥३३॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (वै) निश्चय करके (संयन्तम्) [अन्न आदि] मिलाने वाले (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुम्) ऋतु को (वेद) जानता है और [जो] (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (संयतीं संयतीम्) अत्यन्त एकत्र करने वाली (श्रियम्) लक्ष्मी को (एव) निश्चय करके (आ दत्ते) ले लेता है। (एषः वै) वही परमेश्वर (संयन्) एकत्र

३२—(कुर्वन्तम्) करोतेः शतृ रचयन्तम् (कुर्वतींकुर्वतीम्) रचन्तीं रचन्तीम् (श्रियम्) लक्ष्मीम् (आ दत्ते) गृह्णाति (कुर्वन्) निष्पादयन्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३३—(संयन्तम्) इण् गतौ—शतृ, अन्तर्गतण्यर्थः। अन्नादि संगमयन्तम्

करने वाला (नाम) प्रसिद्ध......म० ३१ ॥ ३३ ॥

भावार्थ—अन्न आदि वस्तुओं के पकाने वाले ऋतुओं का नियन्ता परमेश्वर है, शेष पूर्ववत् ॥ ३३ ॥

यो वै पिन्वन्तं नामर्तुं वेद । पिन्वतींपिन्वतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वै पिन्वन्नाम ० । ० । ० ॥ ३४ ॥

० । वै । पिन्वन्तम् । नाम । ० ॥ पिन्वतीम् ·पिन्वतीम् । एव । ० ॥ ० । वै । पिन्वन् । नाम । ० ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (वै) निश्चय करके (पिन्वन्तम्) सींचने वाले (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुम्) ऋतु को (वेद) जानता है और [जो] (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (पिन्वतीं पिन्वतीम्) अत्यन्त सींचने वाली (श्रियम्) श्री को (एव) अवश्य (आ दत्ते) लेलेता है। (एषः वै) वही [परमेश्वर] (पिन्वन्) सींचने वाला (नाम) प्रसिद्ध ......म० ३१ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—अन्न आदि पुष्ट करने का नियम जानने वाला परमेश्वर है-अन्यत् पूर्ववत् ॥ ३४ ॥

यो वा उद्यन्तं नामर्तुं वेद । उद्यतीमुद्यतीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते । एष वा उद्यन्नाम ० । ० । ० ॥ ३५

० । वै । उत्-यन्तम् । नाम । ० ॥ उद्यतीम् उद्यतीम् । एव । ० ॥ ० । वै । उत्-यन् । नाम । ० ॥ ३५ ॥

(संयतीं संयतीम्) संगमयन्तीं संगमयन्तीम् (संयन्) संगमयन् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३४—(पिन्वन्तम्) पिवि सेचने सेवने च—शतृ । सिञ्चन्तम् । पोषयन्तम् (पिन्वतीं पिन्वतीम् अतिशयेन पोषयन्तीम् (पिन्वन्) पोषयन् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (वै) निश्चय करके (उद्यन्तम्) उदय होते हुये (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुम्) ऋतु [वसन्त] को (वेद) जानता है। और [जो] (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (उद्यतीमुद्यतीम्) अत्यन्त उदय होती हुई (श्रियम्) श्री को (एव) अवश्य (आ दत्ते) लेलेता है। (एषः वै) वही परमेश्वर (उद्यन्) उदय होता हुआ (नाम) प्रसिद्ध......मं० ३१ ॥ ३५ ॥

भावार्थ—वसन्त आदि ऋतुओं का नियामक परमेश्वर है...इत्यादि॥३५

यो वा अभिभुवं नामर्तुं वेद। अभिभवन्तीमभिभवन्तीमेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियमा दत्ते। एष वा अभिभूर्नामर्तुर्यदजः पञ्चौदनः। निरेवाप्रियस्य भ्रातृव्यस्य श्रियं दहति भवत्यात्मना। योऽजं पञ्चौदनं दक्षिणाज्योतिषं ददाति ॥ ३६ ॥

यः। वै। अभि-भुवम्। नाम। ऋतुम्। वेद॥ अभिभवन्तीम्-अभिवन्तीम्। एव। अप्रियस्य। भ्रातृव्यस्य। श्रियम्। आ। दत्ते॥ एषः। वै। अभि-भूः। नाम। ऋतुः। यत्। अजः। पञ्च-ओदनः॥ निः। एव। अप्रियस्य। भ्रातृव्यस्य। श्रियम्। दहति। भवति। आत्मना॥ यः। अजम्। पञ्च-ओदनम्। दक्षिणा-ज्योतिषम्। ददाति ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (वै) निश्चय करके (अभिभुवम्) [दुःखों के] हराने वाले (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुम्) ऋतु को (वेद) जानता है और [जो] (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (अभिभवन्तीम-

३५—(उद्यन्तम्) इण्—शतृ। उद्गच्छन्तम् (उद्यतीमुद्यतीम्) अतिशयेनोदयं प्राप्नुवतीम् (उद्यन्) उद्गच्छन्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३६—(अभिभुवम्) अभिभवितारम्। दुःखनाशकम् (अभिभवन्तीम-

भिवन्तीम्) अत्यन्त हरा देने वाली (श्रियम्) श्री को (एव) निश्चय करके (आ दत्ते) लेलेता है। (एषः वै) वही (अभि भूः) [शत्रुओं का] हरा देने वाला (नाम) प्रसिद्ध (ऋतुः) ऋतु [के समान] (यत्) पूजनीय ब्रह्म (अजः) अजन्मा (पञ्चौदनः) पञ्चभूतों [पृथिवी आदि] का सींचने वाला [परमेश्वर] है। वह [मनुष्य अपने] (एव) निश्चय करके (अप्रियस्य) अप्रिय (भ्रातृव्यस्य) शत्रु की (श्रियम्) श्री को (निर् दहति) जला देता है और (आत्मना) अपने आत्मबल के साथ (भवति) रहता है। (यः) जो [पुरुष] (पञ्चौदनम्) पांच भूतों [पृथिवी आदि] के सींचने वाले, (दक्षिणा-ज्योतिषम्) दानक्रिया की ज्योति रखने वाले (अजम्) अजन्मे वा गतिशील परमात्मा को [अपने आत्मा में] (ददाति) समर्पित करता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ-जो मनुष्य दुःखहर्ता परमेश्वर की उपासना करते हैं वे दुःखों से छूटकर आनन्दयुक्त होते हैं ॥ ३६ ॥

अजं च पचत पञ्च चौदनान्। सर्वा दिशः संमनसः सध्रीचीः सान्तर्देशाः प्रति गृह्णन्तु त एतम् ॥ ३७ ॥

अजम्। च। पचत। पञ्च। च। ओदनान् ॥ सर्वाः। दिशः। सम्-मनसः। सध्रीचीः। स-अन्तर्देशाः। प्रति। गृह्णन्तु। ते। एतम् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (च) निश्चय करके (अजम्) अजन्मे वा गतिशील जीवात्मा को (च) और (पञ्च) पांच [भूतों से युक्त] (ओदनान्) सेचक पदार्थों को (पचत) पक्का [दृढ़] करो। (सान्तर्देशाः) अन्तर्देशों के सहित (सध्रीचीः) साथ साथ रहने वाली, (सर्वाः) सब

भिभवन्तीम्) अतिशयेन पराजयन्तीम् (अभिभूः) भू सत्तायाम्—क्विप्। अभिभविता। कष्टहर्ता। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३७—(अजम्) म० १। अजन्मानं गतिशीलं वा जीवात्मानम् (च) अवधारणे (पचत) परिपक्वं सुदृढ़स्वभावं कुरुत (पञ्च) पञ्चभूतयुक्तान् (च) समुच्चये (ओदनान्) म० १८। सेचकान्। प्रवर्धकान् पदार्थान् (सर्वाः) प्राच्यादयः (दिशः) दिशाः (संमनसः) समानमनस्काः (सध्रीचीः) अ० ६। ८८। ३॥

(दिशः) दिशायें (संमनसः) एक मन होके (ते) तेरे लिये, (एतम्) इस [जीवात्मा] को (प्रति गृह्णन्तु) स्वीकार करें ॥३७॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर में परिपक्वबुद्धि होकर पदार्थों से उपकार लेते हैं, उनके लिये संसार के सब पदार्थ सुखदायी होते हैं ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद आ चुका है—अ० ६ । ८८ । ३ ॥

तास्ते॑ रक्षन्तु तव॒ तुभ्य॑मे॒तं ताभ्य॒ आज्यं॑ ह॒विरि॒दं जु॑होमि ॥ ३८ ॥ (१४)

ताः । ते॒ । र॒क्ष॒न्तु॒ । तव॑ । तुभ्य॑म् । ए॒तम् । ताभ्यः॑ । आज्य॑म् । ह॒विः । इ॒दम् । जु॒हो॒मि॒ ॥ ३८ ॥ (१५)

भाषार्थ—(ताः) वे सब [दिशायें] (ते) तेरे लिये, (तुभ्यम्) तेरे लिये (तव) तेरे (एतम्) इस [जीवात्मा] की (रक्षन्तु) रक्षा करें, (ताभ्यः) उन सब से (इदम्) इस (आज्यम्) प्रकाश करने योग्य (हविः) ग्राह्यकर्म को (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं ॥ ३८ ॥

भावार्थ-मनुष्य सब पदार्थों से गुण ग्रहण करके संसार में विख्यात करें ३८

सूक्तम् ६ (पर्यायः १) ॥

१—१७ ॥ अतिथिरतिथिपातश्च देवते ॥ १,२ गायत्री; ३, ७, ६ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्; ४ आर्च्यनुष्टुप्; ५ आसुरी गायत्री; ६ साम्नी जगती; ८ याजुषी त्रिष्टुप्; १० साम्नी भुरिग् बृहती; ११, १४, १५, १६ साम्न्यनुष्टुप्; १२ साम्नी पङ्क्तिः; १३ साम्नी निचृत् पङ्क्तिः; १७ आर्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

सध्रीचीः । सहवर्तमानाः (सान्त देशाः) अन्तर्दिग्भिः सहिताः (प्रति गृह्णन्तु) स्वीकुर्वन्तु (ते) तुभ्यम् (एतम्) जीवात्मानम् ॥

३८—(ताः) पूर्वोक्ता दिशाः (ते) तुभ्यम् (रक्षन्तु) पान्तु (तव) (तुभ्यम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् (एतम्) जीवात्मानम् (ताभ्यः) दिशानां सकाशात् (आज्यम्) अ० ५ । ८ । १ । आङ्+अञ्जू व्यक्तिकरणे—क्यप् । व्यक्तीकरणीयम् । व्याख्यातव्यम् (हविः) ग्राह्यं कर्म (इदम्) (जुहोमि) आददे । गृह्णामि ॥

संन्यासिगृहस्थयोर्धर्मोपदेशः—संन्यासी और गृहस्थ के धर्म का उपदेश ॥

यो विद्याद् ब्रह्म प्रत्यक्षं परूंषि यस्य संभारा ऋचो यस्यानूक्यम् ॥ १ ॥

यः । विद्यात् । ब्रह्म । प्रति-अक्षम् । परूंषि । यस्य । सम्-भाराः । ऋचः । यस्य । अनूक्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) संयमी पुरुष [अथवा जो कोई विद्वान् हो वह] (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष करके (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] को (विद्यात्) जाने (यस्य) जिस [ब्रह्म] के (परूंषि) पालन सामर्थ्य (संभाराः) विविध संग्रह और (यस्य) जिसका (अनूक्यम्) अनुकूल वाक्य (ऋचः) ऋचायें [स्तुति योग्य वेद मन्त्र] हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् संयमी पुरुष सर्वपोषक, सर्वोपदेशक परमात्मा को साक्षात् कर सकते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—४ और ६ स्वामिदयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

सामानि यस्य लोमानि यजुर्हृदयमुच्यते परिस्तरणमिद्धविः ॥ २ ॥

सामानि । यस्य । लोमानि । यजुः । हृदयम् । उच्यते । परि-स्तरणम् । इत् । हविः ॥ २ ॥

१—(यः) यम नियमने—ड । संयमी । संन्यासी । अथवा यो विद्वान् भवतु सः (विद्यात्) जानीयात् (ब्रह्म) अ० १ । ८ । ४ । सर्वेभ्यो बृहन्तं परमेश्वरम् (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारेण (परूंषि) अर्तिपॄवपि० । उ० २ । ११७ । पॄ पालनपूरणयोः—उसि । पालनसामर्थ्यानि (यस्य) ब्रह्मणः (संभाराः) विविधाः संग्रहाः (ऋचः) ऋच स्तुतौ—क्विप् । ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । स्तुत्या वेदवाचः (यस्य) (अनूक्यम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । अनु+वच परिभाषणे-ण्यत्, छान्दसं सम्प्रसारणम्, चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अनुकूलवाक्यम् ॥

भाषार्थ—(सामानि) दुःखनाशक [मोक्ष विज्ञान] (यस्य) जिस [ब्रह्म] के (लोमानि) रोम [सदृश हैं], (यजुः) विद्वानों का सत्कार, विद्यादान और पदार्थों का संगतिकरण [जिसके] (हृदयम्) हृदय [के समान] और (परिस्तरणम्) सब ओर फैलाव (इत्) ही (हविः) ग्राह्यकर्म (उच्यते) कहा जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् ही कर्म, उपासना और ज्ञान से परमेश्वर के उपकारों को साक्षात् करके आनन्दित होते हैं ॥ २ ॥

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् प्रतिपश्यति देवयजनं प्रेक्षते ॥ ३ ॥

यत् । वै । अतिथि-पतिः । अतिथीन् । प्रति-पश्यति । देव-यजनम् । प्र । ईक्षते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत् वै) जब ही (अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करने हारा (अतिथीन्) अतिथियों [नित्य मिलने योग्य विद्वानों] को (प्रतिपश्यति) प्रतीक्षा से देखता है, वह (देवयजनम्) उत्तम गुणों का संगति करण (प्र ईक्षते) अच्छे प्रकार देखता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग प्रीति से महामान्य विद्वानों का सत्कार करके उत्तम गुण प्राप्त करते हैं ॥ ३ ॥

२—(सामानि) अ० ७ । ५४ । १ । षो अन्तकर्मणि—मनिन् । दुःखनाशकानि मोक्षज्ञानानि (यस्य) ब्रह्मणः (लोमानि) लोमतुल्यानि (यजुः) अ० ७ । ५४ । २ । विदुषां सत्कारो विद्यादानं पदार्थसंगतिकरणं च (हृदयम्) हृदयसमानम् (उच्यते) (परिस्तरणम्) सर्वतो विस्तारः (इत्) एव (हविः) ग्राह्यं कर्म ॥

३—(यत्) यदा (वै) निश्चयेन (अतिथिपतिः) अतिथीनां पालकः (अतिथीन्) अ० ७ । २१ । १ । अत सातत्यगमने—इथिन् । नित्यप्रापणीयान् महामान्यान् । विदुषः पुरुषान् (प्रतिपश्यति) प्रतीक्षया पश्यति (देवयजनम्) उत्तमगुणानां संगतिकरणम् (प्र) प्रकर्षेण (ईक्षते) अवलोकयति ॥

यदभि वदति दीक्षामुपैति यदुदकं याचत्यपः प्र णयति ॥ ४ ॥

यत् । अभि-वदति । दीक्षाम् । उप । एति । यत् । उदकम् । याचति । अपः । प्र । नयति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वह [गृहस्थ] (अभिवदति) अभिवादन करता है, वह (दीक्षाम्) दीक्षा [व्रत का उपदेश] (उप एति) आदर पूर्वक पाता है, (यत्) जब (उदकम्) जल को वह [गृहस्थ] (याचति) विनय करके देता है, वह [गृहस्थ] (अपः) जल (प्र णयति) [प्रणीता पात्र में] सन्मुख लाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग आदर पूर्वक अभिवादन आदि करके और पाद्य, अर्घ्य और पानीय जल आदि समर्पण करके अतिथियों से उत्तम शिक्षा ग्रहण करें ॥ ४ ॥

या एव यज्ञ आपः प्रणीयन्ते ता एव ताः ॥ ५ ॥

याः । एव । यज्ञे । आपः । प्र-नीयन्ते । ताः । एव । ताः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (एव) ही (आपः) जल (यज्ञे) यज्ञ में (प्रणीयन्ते) आदर से लाये जाते हैं, (ताः) वे (एव) ही (ताः) वे [अतिथि के लिये उपकारी होते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—संन्यासी लोग उपकार दृष्टि से ही जल पान आदि करते हैं ॥ ५ ॥

यत् तर्पणमाहरन्ति य एवाग्नीषोमीयः पशुर्बध्यते स एव सः ॥ ६ ॥

४—(यत्) यदा (अभिवदति) संवदति प्रणमति वा (दीक्षाम्) अ० ८ । ५ । १५ । व्रतोपदेशम् (उपैति) आदरेण प्राप्नोति (यत्) यदा (याचति) याचृ आत्मने दानार्थं प्रेरणे, ग्रहणार्थं प्रेरणेऽपि—शब्दकल्पद्रुमः । विनयेन ददाति । (अपः) जलानि (प्र णयति) प्रणीतापात्रेण समर्पयति गृहस्थः ॥

५—(याः) (एव) (यज्ञे) सत्करणीये व्यवहारे (आपः) जलानि (प्रणीयन्ते) आदरेण दीयन्ते (ताः) जलानि (एव) (ताः) उपकारिण्य इत्यर्थः ॥

यत् । तर्पणम् । आ-हरन्ति । यः । एव । अग्नीषोमीयः । पशुः । बध्यते । सः । एव । सः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वे [घर के लोग (तर्पणम्) तृप्ति कारक द्रव्य (आहरन्ति) लाते हैं, [तब] (यः) जो (एव) ही (अग्नीषोमीयः) ज्ञान और ऐश्वर्य के लिये हितकारी (पशुः) समदर्शी [अतिथि] (बध्यते) [प्रेम डोरी से] बांधा जाता है (सः एव सः) वही वह [अतिथि होता है] ॥६॥

भावार्थ—अतिथि संन्यासी गृहस्थ की सेवा इस प्रयोजन से स्वीकार करते हैं कि वे विद्वान् प्रेम पूर्वक संसार के लिये ज्ञान और ऐश्वर्य बढ़ावें ॥६॥

यदावसथान् कल्पयन्ति सदोहविर्धानान्येव तत् कल्पयन्ति ॥ ७ ॥

यत् । आ-वसथान् । कल्पयन्ति । सदः-हविर्धानानि । एव । तत् । कल्पयन्ति ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वे (गृहस्थ लोग] (आवसथान्) निवास स्थानों को (कल्पयन्ति) बनाते हैं, (तत्) तब वे [अतिथि लोग] (सदोहविर्धानानि) यज्ञशाला और हवि [लेने देने योग्य कर्मों] के स्थानों को (एव) ही (कल्पयन्ति) विचारते हैं ॥ ७ ॥

६—(यत्) यदा (तर्पणम्) तृप्तिकरं द्रव्यम् (आहरन्ति) आनयन्ति गृहस्थाः (यः) अतिथिः (एव) (अग्नीषोमीयः) अङ्गेर्नलोपश्च । उ० ४ । ५० । अगि गतौ—नि । अर्त्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । षु ऐश्वर्ये—मन् । तस्मैहितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति छप्रत्ययः । अग्नीषोमाभ्यां ज्ञानैश्वर्याभ्यां हितः (पशुः) अ० ३ । २८ । १ । समदर्शी देवः । संन्यासी (बध्यते) बध संयमने वा बन्ध बन्धने—कर्मणि यक् । प्रेमबन्धने क्रियते (सः) (एव) (सः) अतिथिः ॥

७—(यत्) यदा (आवसथान्) उपसर्गे वसेः । उ० ३ । ११६ । आ+वस निवासे—अथ । निवासान् (कल्पयन्ति) रचयन्ति (सदोहविर्धानानि) यज्ञगृहग्राह्यदातव्यकर्मस्थानानि (एव) (तत्) तदा (कल्पयन्ति) विचारयन्ति । समर्थयन्ति ॥

भावार्थ—गृहस्थों के बनाये स्थानों में संन्यासी महात्मा विद्यालय, अद्भुतालय, बिजुली, तार आदि स्थानों का विचार करते हैं ॥ ७ ॥

यदु॑पस्तृ॒णन्ति॑ ब॒र्हिरे॒व तत् ॥ ८ ॥

यत् । उ॒प॒ऽस्तृ॒णन्ति॑ । ब॒र्हिः । ए॒व । तत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ वे [गृहस्थ] (उपस्तृणन्ति) बिछौना करते हैं, (तत्) वह [संन्यासी के लिये] (बर्हिः) कुशासन (एव) ही होता है॥८

भावार्थ—संन्यासी लोग अल्पमूल्य वस्तुओं में निर्वाह करके यज्ञ सामग्री का ध्यान रखते हैं ॥ ८ ॥

यदु॑परिशय॒नमा॒हर॑न्ति स्व॒र्गमे॒व तेन॑ लो॒कमव॑ रुन्द्धे ९

यत् । उ॒परि॒ऽश॒य॒नम् । आ॒ऽहर॑न्ति । स्वः॒ऽगम् । ए॒व । तेन॑ । लो॒कम् । अव॑ । रु॒न्द्धे॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे वे [गृहस्थ लोग] (उपरिशयनम्) ऊंचे शयन स्थान को (आहरन्ति) यथावत् प्राप्त होते हैं, (तेन) वैसे ही वह [संन्यासी](स्वर्गम्) सुख देने वाले (लोकम्) दर्शनीय परमेश्वर को (एव) निश्चय करके (अव रुन्द्धे) प्राप्त होता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग तो शय्या आदि में विश्राम पाते हैं, किन्तु संन्यासी एक परमात्मा के आश्रय में सुखी रहता है ॥ ९ ॥

यत् क॑शिपूपब॒र्हणमा॒हर॑न्ति परि॒धय॑ ए॒व ते ॥ १० ॥

यत् । क॒शि॒पु॒ऽउ॒प॒ब॒र्हण॑म् । आ॒ऽहर॑न्ति । प॒रि॒ऽधय॑ः । ए॒व । ते १०

८—(यत्) यत् किंचित् (उपस्तृणन्ति) आच्छादनानि कुर्वन्ति (बर्हिः) अ० ५ । २२ । १ । कुशासनम् । यज्ञसामग्री ॥

९—(यत्) येन प्रकारेण (उपरिशयनम्) उच्चशय्यास्थानम् (आहरन्ति) समन्तात् प्राप्नुवन्ति गृहस्थाः (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (एव) निश्चयेन (तेन) प्रकारेण (लोकम्) दर्शनीयं परमात्मानम् (अव रुन्द्धे) प्राप्नोति ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (कशिपूपवर्हणम्) बिछौना और बालिश को वे [गृहस्थ लोग] (आहरन्ति) प्राप्त होते हैं, [संन्यासी के लिये] (ते) वे [प्रसिद्ध ईश्वर की] (एव) ही (परिधयः) सब ओर से धारण शक्तियां हैं १०

भावार्थ—संन्यासी शारीरिक सुख की उपेक्षा करके परमेश्वर का अवलम्बन करता है ॥ १० ॥

यदा॑ञ्जनाभ्यञ्ज॒नमा॒हर॒न्त्याज्य॑मे॒व तत् ॥ ११ ॥

यत् । आ॒ऽञ्जन॒ऽअ॒भ्य॒ञ्जनम् । आ॒ऽहर॑न्ति । आज्य॑म् । ए॒व । तत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आञ्जनाभ्यञ्जनम्) चन्दन और तेल आदि के मर्दन को (आहरन्ति) वे [गृहस्थ लोग] प्राप्त होते हैं,(तत्) सब [संन्यासी के लिये] (आज्यम्) [संसार का] व्यक्त करने वाला ब्रह्म (एव) ही है ॥११॥

भावार्थ—संन्यासी पुरुष परमात्मा के चिन्तन में अपनी शरीर शोभा समझता है ॥ ११ ॥

यत् पु॒रा प॑रिवे॒षात् खा॒दमा॒हर॑न्ति पुरो॒डाशा॑वे॒व तौ १२

यत् । पु॒रा । प॒रि॒ऽवे॒षात् । खा॒दम् । आ॒ऽहर॑न्ति । पु॒रो॒डाशौ॑ । ए॒व । तौ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वे [गृहस्थ लोग] (पुरा) पहिले (परि-

१०—(यत्) यदा (कशिपूपवर्हणम्) कशिपुर्व्याख्यातः—अ० ६ । १३८ । ५ । उपवर्हणं व्याख्यातम्—अ० ६ । ५ । २६ । परिस्तरणं वालिशं च (आहरन्ति) (परिधयः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ६२ परि+दधातेः-कि । ईश्वरस्य परितोधारणशक्तयः (एव) (ते) प्रसिद्धाः ॥

११—(यत्) यदा (आञ्जनाभ्यञ्जनम्) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—ल्युट् । सम्यक् चन्दनादिलेपनं तैलादिमर्दनं च (आहरन्ति) (आज्यम्) अ० ५ । ८ । १ । आङ्+अञ्जू व्यक्तौ—क्यप् । संसारस्य व्यक्तिकरं ब्रह्म (एव) (तत्) तदा ॥

१२—(यत्) यदा (पुरा) आदौ (परिवेषात्) परि+विष्लृ व्याप्तौ—

वेषात्) परोसकर (खादम्) भोजन को (आहरन्ति) खाते हैं। [तब संन्यासी के लिये] (तौ) वे (पुरोडाशौ) दो पुरोडाश [मुनि अन्न की दो रोटियां] (एव) ही हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—संन्यासी लोग बहुमूल्य आहारों को छोड़कर थोड़े मुनि अन्न, नीवार, कन्द आदि का भोजन करते हैं ॥ १२ ॥

पुरोडाश का वर्णन मनु० अ० ६। श्लो० ११ में इस प्रकार है ॥

वासन्तशारदैर्मेध्यैर्मुन्यन्नैः स्वयमाहृतैः।
पुरोडाशांश्चरूंश्चैव विधिवन्निर्वपेत्पृथक् ॥ १ ॥

अपने हाथ से लाये हुये वसन्त और शरद् में उत्पन्न हुये पवित्र मुनियों के अन्नों से पुरोडाश और चरु को विधि के अनुसार अलग अलग फैलावे [परोसे]॥

यद॑श॒नकृ॒तं॒ ह्वय॑न्ति हवि॒ष्कृत॑मे॒व तद्ध्व॑यन्ति ॥ १३ ॥

यत् । अ॒श॒न॒-कृ॒तम् । ह्वय॑न्ति । ह॒विः॒-कृ॒तम् । ए॒व । तत् । ह्व॒-य॒न्ति॒ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वे [गृहस्थ लोग] (अशनकृतम्) भोजन बनाने वाले को (ह्वयन्ति) बुलाते हैं, (तत्) तब वे [संन्यासी लोग] (हविष्कृतम्) देने और लेने योग्य व्यवहार करने हारे [परमेश्वर] को (एव) ही (ह्वयन्ति) बुलाते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—संन्यासी लोग गृहस्थों के समान सूपकार आदि की अपेक्षा न करके ईश्वर का ध्यान करते हुये आत्मावलम्बी होते हैं ॥ १३ ॥

ये व्री॒हयो॒ यवा॑ निरु॒प्यन्ते॒ऽशव॑ ए॒व ते ॥ १४ ॥

घञ्। पञ्चमी विधानेल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम्। वा० पा० २। ३। २८। ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी। परिवेषं भोजनार्थं पात्रे अन्नादेर्दानं समाप्य (खादम्) भोजनम् (आहरन्ति) खादन्ति (पुरोडाशौ) अ० ८। ८। २२। मुन्यन्नरोटिका-विशेषौ —मनुः ६। ११ (तौ) ॥

१३—(यत्) यदा (अशनकृतम्) सूपकारम् (ह्वयन्ति) आह्वयन्ति (हविष्कृतम्) दातव्यादातव्यव्यवहाराणां कर्तारं परमेश्वरम् (एव) (तत्) तदा (ह्वयन्ति) ॥

ये । व्रीहर्यः । यवाः । निः-उप्यन्ते । अंशवः । एव । ते ॥१४॥

भाषार्थ—(ये) जो (व्रीहयः) चावल और (यवाः) जौ [गृहस्थों करके] (निरुप्यन्ते) फैलाये [परोसे] जाते हैं, (ते) वे (एव) ही [संन्यासी को] (अंशवः) सूक्ष्म विचार [होते हैं] ॥ १४ ॥

भावार्थ—जब गृहस्थ लोग चावल जौ आदि बोकर भोजन करते हैं, संन्यासी लोग स्वयंसिद्ध मुनि अन्नों से निर्वाह करके सूक्ष्म विचार करते हैं॥ १४

यान्युलूखलमुसलानि ग्रावाण एव ते ॥ १५ ॥

यानि । उलूखल-मुसलानि । ग्रावाणः । एव । ते ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यानि) जो [गृहस्थों के] (उलूखलमुसलानि) ओखली मूसल हैं, (ते) वे [वैसे] (एव) ही [संन्यासियों के] (ग्रावाणः) शास्त्र उपदेश हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार गृहस्थ लोग ओखली मूसल से कूटकर अन्न का सार निकालते हैं, उसी प्रकार संन्यासी लोग तपश्चरण करके सत्यशास्त्रों का उपदेश करते हैं ॥ १५ ॥

शूर्पं पवित्रं तुषा ऋजीषाभिषवणीरापः ॥ १६ ॥

शूर्पम् । पवित्रम् । तुषाः । ऋजीषा । अभि-सवनीः । आपः ॥१६

स्रुग् दर्विर्नेक्षणमायवनं द्रोणकलशाः कुम्भ्यो वायव्या-

१४—(ये) (व्रीहयः) अ० ६ । १४० । २ धान्यविशेषाः (यवाः) (निरुप्यन्ते) डु वप बीजसन्ताने मुण्डने च । प्रक्षिप्यन्ते (अंशवः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अंश विभाजने—कु । सूक्ष्मांशाः । सोमलतावयवाः ॥

१५—(यानि) (उलूखलमुसलानि) उरु+खल चलने—अच् । उरु विस्तीर्णं खलं धान्यमर्दनस्थानं यस्य तद् उलूखलं पृषोदरादिरूपम् । उलूखलमुरुकरं वोर्करं वोर्ध्वखं वा-निरु० ६ । २० । वृषादिभ्यश्चित् । उ० १ । १०६ । मुस खण्डने—कल, चित् । मुसलं मुहुः सरम्—निरु० ६ । ३५ । धान्यादिकण्डनसाधनानि (ग्रावाणः) अ० ३ । १० । ५ । गॄ विज्ञापे शब्दे च-कनिप् । शास्त्रोपदेशाः (एव) (ते) ॥

नि पात्र॑ाणी॒यमे॒व कृ॑ष्णाजि॒नम् ॥ १७ ॥ (१५)

स्रुक् । दर्विः॑ । नेक्ष॑णम् । आ॒-यव॑नम् । द्रोण॒-कल॒शाः । कु॒म्भ्यः॑ । वा॒य॒व्या॑नि । पात्रा॑णि । इ॒यम् । ए॒व । कृ॒ष्ण॒-अ॒जि॒नम् ॥ १७ ॥ (१५)

भाषार्थ—(शूर्पम्) सूप [छाज], (पवित्रम्) चालनी, (तुषाः) भुसी (ऋजीषा) सोम का फोक [नीरस वस्तु], (अभिसवनीः) मार्जन वा स्नान के पात्र, (आपः) [यज्ञ का] जल । (स्रुक्) स्रुचा [घी चढ़ाने का पात्र], (दर्विः) चमचा, (नेक्षणम्) शूल, शलाका आदि, (आयवनम्) कढ़ाही, (द्रोणकलशाः) द्रोणकलश [यज्ञ के कलश], (कुम्भ्यः) कुम्भी [गगरी], (वायव्यानि) पचन करने के (पात्राणि) पात्र [गृहस्थों के हैं], (इयम्) यह [पृथिवी] (एव) ही [संन्यासियों को] (कृष्णाजिनम्) कृष्णसार हरिन की मृग छाला [के समान है] ॥ १६, १७ ॥

१६,१७—(शूर्पम्) सुशॄभ्यां निच्च । उ० ३ । २६ । शॄ हिंसायाम्—पप्रत्ययः, नित् किच्च च, यद्वा शूर्प माने—घञ् । शूर्पमशनपवनं शृणाते र्वा—निरु० ६ । ९ । धान्यस्फोटनयन्त्रम् (पवित्रम्) पुवः संज्ञायाम् । पा० । ३ । २ । १८५ । पूञ् शोधने—इत्र । चालनी (तुषाः) तुष प्रीतौ—क, टाप् । धान्यत्वचः (ऋजीषा) अर्जेर्ऋज् च । उ० । २८ । अर्ज अर्जने—ईषन्, कित्, ऋजादेशः, टाप् । यत्सोमस्य पूयमानस्यातिरिच्यते तदृजीषमपार्जितं भवति—निरु० ५ । १२ । नीरसं सोमचूर्णम् (अभिसवनीः) अभि+षुञ् स्नपने स्नाने च—ल्युट्, ङीप् । मार्जन्यः । प्रोक्षण्यः (आपः) यज्ञजलानि (स्रुक्) चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ चिक् । वटपत्राकृतिर्यज्ञपात्रभेदः (दर्विः) अ० ४ । १४ । १ । काष्ठादिचमसः (नेक्षणम्) णिक्ष चुम्बने-ल्युट् । शूलशलाकादिद्रव्यम् (आयवनम्) यु मिश्रणामिश्रणयोः—ल्युट् । पाकसाधनपात्रम् । कटाहः (द्रोणकलशाः) यज्ञघटाः (कुम्भ्यः) उखाः (वायव्यानि) वाय्वृतुपित्रुषसो यत् । पा० ४ । २ । ३१ । वायु—यत् । वायुदेवताकानि । वायुसाधकानि (पात्राणि) पा रक्षणे ष्ट्रन् । भाजनानि । यन्त्राणि (इयम्) प्रसिद्धा भूमिः (एव) (कृष्णाजिनम्) कृष्णसारमृगचर्मवत् ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग अनेक प्रकार की सामग्री से यज्ञ आदि काम करते हैं, संन्यासी पुरुष जितेन्द्रिय होकर समस्त पृथिवी को अपना सर्वस्व और विस्तर आदि समझ प्रसन्न रहते हैं ॥ १६, १७ ॥

मनुस्मृति—अ० ६ । श्लो० ४३ में इस प्रकार वर्णन है ॥

अनग्निरनिकेतः स्याद् ग्राममन्नार्थमाश्रयेत् ।
उपेक्षकोऽशङ्कुसुको मुनिर्भावसमाहितः ॥ १ ॥

(उपेक्षकः) [बुरे कर्मों की] उपेक्षा करने वाला, (अशङ्कुसुकः) स्थिर बुद्धि, (भावसमाहितः) परमेश्वर की भावना में ध्यान लगाये हुये (मुनिः) मुनि अर्थात् संन्यासी (अनग्निः) आहवनीय आदि अग्नियों से रहित और (अनिकेतः) विना घर वाला (स्यात्) रहे और (अन्नार्थम्) अन्न के लिये (ग्रामम् आश्रयेत्) ग्राम का आश्रम ले ॥

सूक्तम् ६ (पर्यायः २) ॥

१—१३ ॥ अतिथिरतिथिपतिश्च देवते ॥ १ विराट् पुरस्ताद् बृहती; २,१२ साम्नी त्रिष्टुप् ३ याजुषी जगती, ४ साम्न्युष्णिक्; ५ साम्नी बृहती; ६ आर्च्यनुष्टुप्; ७,१० आर्ची त्रिष्टुप्; ८,९ आसुरी गायत्री; ११ भुरिक् साम्नी बृहती; १३ आर्षी पङ्क्तिश्छन्दः ॥

अतिथिसत्कारोपदेशः—अतिथि के सत्कार का उपदेश ॥

यजमानब्राह्मणं वा एतदतिथिपतिः कुरुते यदाहार्याणि प्रेक्षत इदं भूया३ इदा३मिति ॥ १ ॥

यजमान-ब्राह्मणम् । वै । एतत् । अतिथि-पतिः । कुरुते । यत् । आ-हार्याणि । प्र-ईक्षते । इदम् । भूया३ः । इदा३म् । इति ॥१॥

भाषार्थ—(अतिथिपतिः) अतिथियों का पालन करने हारा [गृहपति] (यजमानब्राह्मणम्) यजमान के लिये [अपने लिये] ब्राह्मण [वेदवेत्ता संन्यासी] को (वै) निश्चय करके (एतत्) इस प्रकार (कुरुते) अपने लिये बनाता है, (यत्) जब वह [गृहस्थ] (आहार्याणि) स्वीकार करने

१—(यजमानब्राह्मणम्) यजमानाय ब्रह्मज्ञानिनम् (वै) निश्चयेन (एतत्) एवम् (अतिथिपतिः) अतिथीनां पालकः (कुरुते) स्वहिताय स्वीकुरुते (यत्) यदा (आहार्याणि) स्वीकरणीयानि कर्माणि (इदम्) सर्व-

योग्य कर्मों को (प्रेक्षते) निहारता है, "(इदम्) यह [ब्रह्म] (भूया३ः) और अधिक है [वा] (इदा३म्) यही, (इति) बस" ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जिज्ञासु ब्रह्मज्ञानी संन्यासी से प्रश्नोत्तर करके ब्रह्म ज्ञान प्राप्त करे ॥ १ ॥

यदाह भूय उद्धरेति प्राणमेव तेन वर्षीयांसं कुरुते ॥२॥

यत् । आह । भूयः । उत् । हर । इति । प्राणम् । एव । तेन । वर्षीयांसम् । कुरुते ॥ २ ॥

भाषार्थ- (यत्) जब वह [अतिथि] (आह) कहे "-[इस ब्रह्म को] (भूयः) और अधिक (उत् हर इति) उत्तमता से ग्रहण कर"-(तेन) उस से वह [गृहस्थ] (प्राणम्) अपने प्राण [जीवन] को (एव) निश्चय करके (वर्षीयांसम्) अधिक बड़ा (कुरुते) बनाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—गृहस्थ अतिथि संन्यासी से सर्वोत्तम परमात्मा का उपदेश लेकर अपने जीवन को अधिक उन्नत करे ॥२ ॥

उप हरति हवींष्या सादयति ॥ ३ ॥

उप । हरति । हवींषि । आ । सादयति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—वह [गृहस्थ] (हवींषि) हवन द्रव्यों को (उप हरति) भेंट करता है और (आ सादयति) समीप लाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ हवन द्रव्यों को लाकर संन्यासी से हवन का लाभ पूछता है ॥ ३ ॥

व्यापकं ब्रह्म (भूया ३ः) प्लुतप्रयोगः । बहु—ईयसुन् । बहुतरम् (इदा३म्) इदं ब्रह्म (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

२—(यत्) यदा (आह) ब्रूते (भूयः) अधिकतरम् (उद्धर) उत्तमतया गृहाण (इति) (प्राणम्) जीवनम् (एव) निश्चयेन (तेन) कारणेन (वर्षीयांसम्) वृद्धतरम् ॥

३—(उप हरति) समर्पयति (हवींषि) हवनद्रव्याणि (आ सादयति) समीपं प्रापयति ॥

तेषामासन्नानामतिथिरात्मन् जुहोति ॥ ४ ॥

तेषाम् । आ-सन्नानाम् । अतिथिः । आत्मन् । जुहोति ॥ ४ ॥

स्रुचा हस्तेन प्राणे यूपे स्रुक्कारेण वषट्कारेण ॥ ५ ॥

स्रुचा । हस्तेन । प्राणे । यूपे । स्रुक्-कारेण । वषट्-कारेण ५

भाषार्थ—(अतिथिः) अतिथि [संन्यासी] (स्रुचा) स्रुचा [चमचा रूप] (हस्तेन) हाथ से (यूपे) जयस्तम्भरूप (प्राणे) प्राण पर स्रुक्कारेण) स्रुचा की क्रिया से और (वषट्कारेण) आहुति की क्रिया से [जैसे हो वैसे] (आत्मन्) परमात्मा में (तेषाम्) उन (आसन्नानाम्) समीप रक्खी हुयी [हवन द्रव्यों] की (जुहोति) [मानो] आहुतियां देता है ॥ ४,५ ॥

भावार्थ—संन्यासी उपदेश करता है कि जिस प्रकार हवन करके वायु आदि की शुद्धि से उपकार किया जाता है, वैसे ही मनुष्य परमात्मा की आज्ञा में आत्मदान से आत्मा की उन्नति करके अधिक अधिक उपकार करें ॥ ४, ५ ॥

म० ४, ५ और ६ स्वामिदयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

एते वै प्रियाश्चाप्रियाश्चर्त्विजः स्वर्गं लोकं गमयन्ति यदतिथयः ॥ ६ ॥

एते । वै । प्रियाः । च । अप्रियाः । च । ऋत्विजः । स्वः-गम् । लोकम् । गमयन्ति । यत् । अतिथयः ॥ ६ ॥

४, ५—(तेषाम्) हविषाम्—म० ३ (आसन्नानाम्) समीपस्थानाम् (अतिथिः) अभ्यागतः । संन्यासी (आत्मन्) परमात्मनि (जुहोति) आहुतीः करोति (स्रुचा) यज्ञपात्रभेदेन यथा (हस्तेन) (प्राणे) जीवने (यूपे) कुयुभ्यां च । उ० ३।२७। यु मिश्रणामिश्रणयोः–प प्रत्ययः कित् दीर्घश्च । यज्ञस्तम्भे जयस्तम्भे (स्रुक्कारेण) करोतेर्घञ् । स्रुचाक्रियया (वषट्कारेण) अ० १ । ११ । १। आहुतिक्रियया ॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि (एते) यह (एव) ही (प्रियाः) प्रियमाने गये (च) और (अप्रियाः) अप्रिय माने गये (च) भी (ऋत्विजः) सब ऋतुओं में यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान] करने वाले (अतिथयः) अतिथि [संन्यासी] जन (स्वर्गम्) सुख देने वाले (लोकम्) दर्शनीय लोक में [मनुष्य को] (गमयन्ति) पहुंचाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—संन्यासी लोग चाहे उनको कोई प्रिय माने वा अप्रिय माने, वे निर्भय होकर संसार का उपकार करते हैं ॥ ६ ॥

स य एवं विद्वान् न द्विषन्नश्नीयान्न द्विषतोऽन्नमश्नीया-न्न मीमांसितस्य न मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

सः । यः । एवम् । विद्वान् । न । द्विषन् । अश्नीयात् । न । द्विषतः । अन्नम् । अश्नीयात् । न । मीमांसितस्य । न । मीमांसमानस्य ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (एवम्) इस प्रकार प्रकार [पूर्वोक्त विधि से] (विद्वान्) ज्ञानवान् है, (सः) वह (द्विषन्) आप द्वेष करता हुआ (न) न (अश्नीयात्) खावे [नाश करे] और (न) न (द्विषतः) द्वेष करते हुये पुरुष का, और (न) न (मीमांसितस्य) संशय वाले का और (न)

६—(एते) (वै) निश्चयेन (प्रियाः) प्रीताः (च) (अप्रियाः) अप्रीताः (ऋत्विजः) अ० ६ । २ । १ । सर्वर्तुयाजकाः (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (लोकम्) दर्शनीयं पदम् (गमयन्ति) प्रापयन्ति (यत्) यस्मात् कारणात् (अतिथयः) संन्यासिनः ॥

७—(सः) अतिथिः (यः) (एवम्) पूर्वोक्त विधिना (न) निषेधे (द्विषन्) अप्रीणन् (अश्नीयात्) भुञ्जीत । नाशयेत् (न) (द्विषतः) अप्रीणतः पुरुषस्य (अन्नम्) अन प्राणने—नन् । यद्वा अद भक्षणे—क्त । भोजनम् (अश्नीयात्) (न) (मीमांसितस्य) आशङ्कायामुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । १ । ७ । मान पूजायाम्, आशङ्कायाम्—सन् आशङ्कायाम्, ततः क्त । संशययुक्तस्य (न) (मीमांसमानस्य) अ० ६ । १ । ३ । विचारेण तत्त्वनिर्णयं कुर्वतः ॥

न (मीमांसमानस्य) विचार से तत्त्व निर्णय करते हुये का (अन्नम्) अन्न (अश्नीयात्) खावे [बिगाड़े] ॥ ७ ॥

भावार्थ—अतिथि संन्यासी राग द्वेष छोड़कर निष्पक्ष और निर्भय होकर पूर्वोक्त विधि से सब का उपकार करता हुआ भोजन करे, और विना उपकार किये कभी किसी का अन्न वृथा न खावे ॥ ७ ॥

सर्वो वा एष जग्धपाप्मा यस्यान्नमश्नन्ति ॥ ८ ॥

सर्वः । वै । एषः । जग्ध-पाप्मा । यस्य । अन्नम् । अश्नन्ति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सर्वः) प्रत्येक (एषः वै) वही गृहस्थ (जग्धपाप्मा) भक्षण [नाश] किये हुये पाप वाला [होता है] (यस्य अन्नम्) जिसका अन्न (अश्नन्ति) वे [महात्मा] खाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—अतिथि संन्यासी भोजन करके गृहस्थ को उत्तम उपदेश देकर दुःखों से छुड़ाते हैं। इस से गृहस्थ भोजन दान करके संन्यासियो से शिक्षा लेकर सुखी होवें ॥ ८ ॥

सर्वो वा एषोऽजग्धपाप्मा यस्यान्नं नाश्नन्ति ॥ ९ ॥

सर्वः । वै । एषः । अजग्ध-पाप्मा । यस्य । अन्नम् । न । अश्नन्ति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सर्वः) प्रत्येक (एषः वै) वही [गृहस्थ] (अजग्धपाप्मा) विना भक्षण [नाश] किये हुये पाप वाला [होता है], (यस्य अन्नम्) जिस का अन्न (न अश्नन्ति) वे [अतिथि] नहीं खाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो गृहस्थ अतिथियों को अन्न नहीं देते, वे उत्तम शिक्षा न पाने से दुःखी रहते हैं ॥ ९ ॥

सर्वदा वा एष युक्तग्रावार्द्रपवित्रो वितताध्वर आहृतयज्ञक्रतुर्य उपहरति ॥ १० ॥

८—(सर्वः) प्रत्येकः (वै) एव (एषः) गृहस्थः (जग्धपाप्मा) अद भक्षणे—क्त । अदो जग्धिर्ल्यप्ति किति । पा० २ । ४ । ३६ । जग्धादेशः । नामन्सीमन् व्योमन् । उ० ४ । १५१ । पा रक्षणे, पा पाने वा—मनिन् धातोः पुक् । भक्षितं नाशितं पापं येन (यस्य) गृहस्थस्य (अन्नम्) (अश्नन्ति) खादन्ति ॥

९—(अजग्धपाप्मा) अनाशितपापः । अन्यत् सुगमम् ॥

सर्व॒दा । वै । ए॒षः । यु॒क्त-ग्रा॑वा । आ॒र्द्र-प॑वित्रः । वित॑त-अध्वरः । आहृ॑त-यज्ञक्रतुः । यः । उ॒प॒-हर॑ति ॥ १० ॥

भाषार्थ—(एषः वै) वही मनुष्य (सर्वदा) सर्वदा (युक्तग्रावा) सिल बट्टे ठीक किये हुये, (आर्द्रपवित्रः) [दूध घी छानने से] भीगे छन्नेवाला, (विततध्वरः) विस्तृत यज्ञ वाला और (आहृतयज्ञक्रतुः) स्वीकार किये हुये यज्ञ कर्म वाला [होता है], (यः) जो [अन्न] (उपहरति) भेट करता है ॥१०॥

भावार्थ—अतिथियों को भोजन देने और उनसे शिक्षा ग्रहण करने से गृहस्थों का भण्डार आवश्यक पदार्थों से सदा भरा रहता है ॥ १० ॥

प्रा॒जा॒प॒त्यो वा ए॒तस्य॑ य॒ज्ञो वित॑तो॒ य उ॑प॒हर॑ति ॥११॥

प्रा॒जा॒-प॒त्यः । वै । ए॒तस्य॑ । य॒ज्ञः । वि-त॑तः । यः । उ॒प॒-हर॑ति ११

भाषार्थ—(एतस्य) उस [गृहस्थ] का (एव) ही (प्राजापत्यः) प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति कराने वाला [और प्रजापालक गृहस्थ का हितकारी] (यज्ञः) यज्ञ (विततः) विस्तृत [होता है], (यः) जो [अन्न] (उपहरति) दान करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—अतिथियों का सत्कारी गृहस्थ संसार में कीर्तिमान् होता है ॥ ११ ॥

यह और आगे के दोनों मन्त्र स्वामी दयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

प्र॒जाप॑ते॒र्वा ए॒ष वि॑क्र॒मान॑नु॒विक्र॑मते॒ य उ॑प॒हर॑ति १२

१०—(सर्वदा) नित्यम् (एषः) गृहस्थः (युक्तग्रावा) संगृहीतपेषणपाषाणः (आर्द्रपवित्रः) क्लिन्नशोधनपात्रः (विततध्वरः) विस्तृतयज्ञः (आहृतयज्ञक्रतुः) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । स्वीकृतयज्ञकर्मा (उपहरति) उपहारेण भोजनं ददाति ॥

११—(प्राजापत्यः) अ० ३ । २३ । ५ । प्रजापति-ण्य । प्रजापतेः परमात्मनः प्राप्ति कारको यद्वा गृहस्थस्य हितकारकः (वै) (एतस्य) गृहस्थस्य (यज्ञः) शुभव्यवहारः (विततः) विस्तृतः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

प्रजा-पतेः । वै । एषः । वि-क्रमान् । अनु-विक्रमते । यः । उप-हरति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एषः वै) वही [गृहस्थ] (प्रजापतेः) प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर वा मनुष्य] के (विक्रमान्) विक्रमों [पराक्रमों] का (अनुविक्रमते) अनुकरण करके विक्रम करता है, (यः) जो [अन्न] (उपहरति) भेट करता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—अतिथि विद्वानों की सेवा करने वाला मनुष्य पुरुषार्थी होकर महापराक्रमी होता है ॥ १२ ॥

योऽतिथीनां स आहवनीयो यो वेश्मनि स गार्हपत्यो यस्मिन् पचन्ति स दक्षिणाग्निः ॥ १३ ॥ (१६)

यः । अतिथीनाम् । सः । आ-हवनीयः । यः । वेश्मनि । सः । गार्ह-पत्यः । यस्मिन् । पचन्ति । सः । दक्षिण-अग्निः १३ (१६)

भाषार्थ—(यः) जो (अतिथीनाम्) अतिथियों, [उत्तम संन्यासियों] का [संग है], (सः) वह [संन्यासियों के लिये] (आहवनीयः) आहवनीय [ग्राह्य अग्नि है, जिसमें ब्रह्मचर्य आश्रम में ब्रह्मचारी होम करते हैं], और (यः) जो (वेश्मनि) घर में [अर्थात् अपने आश्रम में निवास है], (सः) वह [उसके लिये] (गार्हपत्यः) गार्हपत्य [गृहसम्बन्धी अग्नि है] और (यस्मिन्) जिसमें [अर्थात् जिस जाठराग्नि में अन्न आदि] (पचन्ति)

१२—(प्रजापतेः) प्रजापालकस्य परमेश्वरस्य मनुष्यस्य वा (वै) (एषः) गृहस्थः (विक्रमान्) पराक्रमान् (अनुविक्रमते) अनुसृत्य पराक्रमान् करोति। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(यः) सङ्गः (अतिथीनाम्) विदुषां संन्यासिनाम् (सः) सङ्गः (आहवनीयः) अ० ८ । १० (१) । ४ । ब्रह्मचारिभिर्ग्राह्यो होमाग्निः (यः) निवासः (वेश्मनि) गृहे (सः) (गार्हपत्यः) अ० ५ । ३१ । ५ । गृहपतिभिः संयुक्तः (यस्मिन्) जाठराग्नौ (पचन्ति) (सः) (दक्षिणाग्निः) अ० ८ । १० । (१) । ६ । दक्षिणोऽनुकूलोऽग्निः । वानप्रस्थानां होमाग्निः ॥

पचाते हैं, (सः) वह [संन्यासियों के लिये] (दक्षिणाग्निः) दक्षिणाग्नि [अनुकूल अग्नि वानप्रस्थ सम्बन्धी है] ॥ १३ ॥

भावार्थ—संन्यासी अपने आत्मा में सब अग्नियों का आरोपण करके सब आश्रमों का हित करता है ॥ १३ ॥

सूक्तम् ६ (पर्यायः ३) ॥

१—९ ॥ अतिथिरतिथिपतिश्च देवते ॥ १-६, ९ पिपीलिकामध्या गायत्री; ७ साम्नी बृहती; ८ आर्च्युष्णिक् छन्दः ॥

अतिथिसत्कारोपदेशः—अतिथि के सत्कार का उपदेश ॥

इ॒ष्टं च॒ वा ए॒ष पू॒र्तं च॑ गृ॒हाणा॑मश्नाति॒ यः पूर्वोऽतिथे॑-र॒श्नाति॑ ॥ १ ॥

इ॒ष्टम् । च॒ । वै । ए॒षः । पू॒र्तम् । च॒ । गृ॒हाणा॑म् । अ॒श्नाति॑ । यः । पूर्वः॑ । अति॑थेः । अ॒श्नाति॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एषः) वह [गृहस्थ] (वै) निश्चय करके (इष्टम्) इष्ट सुख [यज्ञ, वेदाध्ययन आदि] (च च) और (पूर्तम्) अन्न दान आदि को (गृहाणाम्) घरों के बीच (अश्नाति) भक्षण [अर्थात् नाश] करता है, (यः) जो (अतिथेः पूर्वः) अतिथि से पहिले (अश्नाति) खाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—गृहस्थों को उचित है कि अपने सुख वृद्धि के लिये उपस्थित अतिथियों को जिमाकर आप जीमें ॥ १ ॥

यह मन्त्र स्वामिदयानन्दकृत संस्कारविधि संन्यासाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

पय॑श्च॒ वा ए॒ष रसं॑ च० ॥ २ ॥

पयः॑ । च॒ । वै । ए॒षः । रस॑म् । च॒ । ० ॥ २ ॥

१—(इष्टम्) अ० २ । १२ । ४ । अभीष्टं सुखं यज्ञवेदाध्ययनादिकम् (च) (वै) (एषः) गृहस्थः (पूर्तम्) अ० २ । १२ । ४ । अन्नदानादिकम् (च) (गृहाणाम्) तेषां मध्ये (अश्नाति) भक्षयति । नाशयति (यः) गृहस्थः (पूर्वः) प्रथमः सन् (अतिथेः) महामान्यात् (अश्नाति) खादति ॥

भावार्थ—(एषः) वह [गृहस्थ] (एव) निश्चय करके (पयः) दूध [वा अन्न] (च च) और (रसम्) रस [स्वादिष्ठ पदार्थ]को......म० १॥२॥

ऊर्जां च वा एष स्फातिं च० ॥ ३ ॥

ऊर्जाम् । च । वै । एषः । स्फातिम् । च । ० ॥ ३ ॥

भावार्थ—(एषः) वह [गृहस्थ] (वै) निश्चय करके (ऊर्जाम्) पराक्रम (च च) और (स्फातिम्) वृद्धि को......म० १ ॥ ३ ॥

प्रजां च वा एष पशूंश्च० ॥ ४ ॥

प्र-जाम् । च । वै । एषः । पशून् । च । ० ॥ ४ ॥

भावार्थ—(एषः) वह [गृहस्थ] (वै) निश्चय करके (प्रजाम्) प्रजा (च च) और (पशून्) पशुओं को......म० १ ॥ ४ ॥

कीर्तिं च वा एष यशश्च ० ॥ ५ ॥

कीर्तिम् । च । वै । एषः । यशः । च । ० ॥ ५ ॥

भावार्थ—(एषः) वह [गृहस्थ] (वै) निश्चय करके (कीर्तिम्) कीर्ति (च च) और (यशः) यश [अर्थात् प्रताप) को......म० १ ॥ ५ ॥

श्रियं च वा एष संविदं च गृहाणामश्नाति यः पूर्वोऽतिथेरश्नाति ॥ ६ ॥

श्रियम् । च । वै । एषः । सम्-विदम् । च । गृहाणाम् । अश्नाति । यः । पूर्वः । अतिथेः । अश्नाति ॥ ६ ॥

२—(पयः) दुग्धमन्नं वा (च) (वै) (एषः) (रसम्) स्वादिष्ठं पदार्थम् ॥

३—(ऊर्जाम्) पराक्रमम् (स्फातिम्) वृद्धिम् ॥

४—सुगमम् ॥

५—(कीर्तिम्) प्रसिद्धिम् (यशः) प्रतापम् ॥

भाषार्थ—(एषः) यह पुरुष (वै) निश्चय करके (श्रियम्) सेवनीय ऐश्वर्य (च च) और (संविदम्) और यथावत् बुद्धि को (गृहाणाम्) घरों के बीच (अश्नाति) भक्षण [अर्थात् नाश] करता है, (यः) जो (अतिथेः पूर्वः) अतिथि से पहिले (अश्नाति) खाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग अतिथि का तिरस्कार करने से महाविपत्तियों में फंसते हैं ॥ २—६ ॥

एष वा अतिथिर्यच्छ्रोत्रियस्तस्मात् पूर्वो नाश्नीयात् ॥ ७ ॥

एषः । वै । अतिथिः । यत् । श्रोत्रियः । तस्मात् । पूर्वः । न । अश्नीयात् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि (एषः वै) यही (अतिथिः) अतिथि (श्रोत्रियः) श्रोत्रिय [वेद जानने वाला पुरुष है], (तस्मात्) उस [अतिथि] से (पूर्वः) पहिले [गृहस्थ] (न) न (अश्नीयात्) जीमें ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ का धर्म है कि अतिथि को भोजन कराके आप भोजन करे ॥ ७ ॥

अशितावत्यतिथावश्नीयाद् यज्ञस्य सात्मत्वाय यज्ञस्याविच्छेदाय तद् व्रतम् ॥ ८ ॥

अशित-वति । अतिथौ । अश्नीयात् । यज्ञस्य । सात्म-त्वाय । यज्ञस्य । अवि-छेदाय । तत् । व्रतम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अतिथौ अशितवति) अतिथि के भोजन कर लेने पर

६—(श्रियम्) सेवनीयां सम्पत्तिम् (संविदम्) अ० ३ । ५ । ५ । यथार्थबुद्धिम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

७—(यत्) यस्मात् कारणात् (श्रोत्रियः) श्रोत्रियंश्छन्दोऽधीते । पा० ५ । २ । ८४ । छन्दस्—घन् । वेदाध्येतृपुरुषः (तस्मात्) अतिथेः सकाशात् (न) निषेधे (अश्नीयात्) जेमेत् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(अशितवति) सांहितिको दीर्घः । भुक्तवति (अतिथौ) संज्ञायामिति

(अश्नीयात्) वह [गृहस्थ] खावे, (यज्ञस्य) यज्ञ [देव पूजा, सङ्गतिकरण और दान] की (सात्मत्वाय) चैतन्यता के लिये और (यज्ञस्य) यज्ञ की (अविच्छेदाय) निरन्तर प्रवृत्ति के लिये (तत्) वह (व्रतम्) नियम है ॥ ८ ॥

भावार्थ—अतिथि का सत्कार करने से गृहस्थ के शुभकर्म निर्विघ्न होकर सदा चलते रहते हैं ॥ ८ ॥

एतद् वा उ स्वादीयो यदधिगवं क्षीरं वा मांसं वा तदेव नाश्नीयात् ॥ ९ ॥ (१०)

एतत् । वै । ऊं इति । स्वादीयः । यत् । अधि-गवम् । क्षीरम् । वा । मांसम् । वा । तत् । एव । न । अश्नीयात् ९ (१०)

भाषार्थ—(एतद् वै) यहीं (उ) निश्चय करके (स्वादीयः) अधिक स्वादु है, (यत्) कि (तत् एव) उसी ही (अधिगवम्) अधिकृत जल, (वा) और (क्षीरम्) दूध (वा) और (मांसम्) मनन साधक [बुद्धिवर्धक] वस्तु को (न) अब [अतिथि के जीमने पर-म० ८] (अश्नीयात्) वह [गृहस्थ] खावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—गृहस्थ को यही सुखदायी है कि अतिथि को अच्छे अच्छे रोचक बुद्धिवर्धक पदार्थ फल, बादाम, अखरोट आदि जिमाकर आप जीमे, जिस से वह सत्कृत विद्वान् यथावत् उपदेश करे ॥ ९ ॥

(अश्नीयात्) जेमेत् (यज्ञस्य) शुभव्यवहारस्य (सात्मत्वाय) सजीवनत्वाय । वृद्धिकरणाय (अविच्छेदाय) निरन्तरत्वाय । अविरामाय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(एतद्) वक्ष्यमाणम् [वै) एव (उ) निश्चयेन (स्वादीयः) स्वादु—ईयसुन् । रोचकतरम् (यत्) वाक्यारम्भे (अधिगवम्) गौर्जलम् । गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ९२ । अधि+गो—टच्, तत्पुरुषात् । अधिकृतश्चासौ गौश्चेति अधिगवः तम् । अधिकृतं जलम् (क्षीरम्) दुग्धम् (वा) समुच्चये (मांसम्) अ० ६ । ७० । १ । मनेर्दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ । मन ज्ञाने सप्रत्ययो दीर्घश्च । मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा—निरु० ४ । ३ । मननसाधकं बुद्धिवर्धकं वस्तु (तत्) (एव) (न) सम्प्रति-निरु० ७ । ३१ । न शब्दः सम्प्रत्यर्थे—इति सायणः, ऋग्० ७ । १०३ । ७ । इदानीम् ॥ अतिथेर्भोजनपश्चादित्यर्थः (अश्नीयात्) खादयेत् ॥

सूक्तम् ६ (पर्यायः ४) ॥

१—१० ॥ अतिथिरतिथिपतिश्च देवते ॥ १, ३, ५, ७ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; २, ४, ६, ८ त्रिपदा गायत्री; ९ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्; १० निचृत् प्रस्तार-पङ्क्तिश्छन्दः ॥

अतिथिसत्कारोपदेशः—अतिथि के सत्कार का उपदेश ॥

स य एवं विद्वान् क्षीरमुपसिच्योपहरति ॥ १ ॥

सः। यः। एवम्। विद्वान्। क्षीरम्। उप-सिच्य। उप-हरति १

यावदग्निष्टोमेनेष्ट्वा सुसंमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे २

यावत्। अग्नि-स्तोमेन। इष्ट्वा। सु-संमृद्धेन। अव-रुन्द्धे। तावत्। एनेन। अव। रुन्द्धे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) ऐसा (विद्वान्) विद्वान् है, (सः) वह (क्षीरम्) दूध को (उपसिच्य) सिद्ध करके (उपहरति) भेंट करता है। (यावत्) जितना [फल] (सुसमृद्धेन) बड़ी सम्पत्ति वाले (अग्निष्टोमेन) अग्निष्टोम से [जो वसन्तकाल में सोम याग किया जाता है] (इष्ट्वा) यज्ञ करके (अवरुन्द्धे) [मनुष्य] पाता है, (तावत्) उतना [फल] (एनेन) इस [कर्म] से (अव रुन्द्धे) वह [विद्वान्] पाता है ॥१,२॥

भावार्थ—जैसे विज्ञानी पुरुषों के यज्ञ और संगति करने से वसन्त काल आदि ऋतु में पुष्ट अन्न उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार विद्वान् संन्यासियों की सेवा से उपदेश पाकर गृहस्थ सदा समृद्ध रहते हैं ॥ १, २ ॥

१, २—(सः) गृहस्थः (यः) (एवम्) पूर्वोक्तप्रकारेण (विद्वान्) (क्षीरम्) दुग्धम् (उपसिच्य) संसाध्य (उपहरति) समर्पयति (यावत्) यत्परिमाणं फलम् (अग्निष्टोमेन) अर्त्तिस्तुसु०। उ० १। १४०। ष्टुञ् स्तुतौ-मन्। अग्नेः स्तुत्स्तोमसोमाः। पा० ८। ३। ८२। इति षः। वसन्तकाले सोमयाग-विशेषेण (इष्ट्वा) यज्ञं कृत्वा (सुसमृद्धेन अतिसम्पत्तियुक्तेन (अवरुन्द्धे) प्राप्नोति (तावत्) (एनेन) पूर्वोक्तकर्मणा (अव रुन्द्धे) प्राप्नोति ॥

स य एवं विद्वान्त्सर्पिरुपसिच्योपहरति ॥ ३ ॥

०। विद्वान्। सर्पिः। उप-सिच्य। ० ॥ ३ ॥

यावदतिरात्रेणेष्ट्वा ० ॥ ४ ॥

यावत्। अति-रात्रेण। इष्ट्वा। ० ॥ ४ ॥

भावार्थ—(यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) ऐसा (विद्वान्) विद्वान् है, (सः) वह (सर्पिः) घृत (उपसिच्य) सिद्ध करके (उपहरति) भेंट करता है। (यावत्) जितना [फल] (सुसमृद्धेन) बड़ी सम्पत्ति वाले (अतिरात्रेण) अतिरात्र से (इष्ट्वा) यज्ञ करके......म० १, २ ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ—"अतिरात्र" जो रात्रि बिताकर सोमयाग वा अन्नेष्टि किया जाता है, जैसे होलिका, दीपावली। आगे ऊपर के समान है-म० १, २ ॥ ३,४ ॥

स य एवं विद्वान् मधूपसिच्योपहरति ॥ ५ ॥

०। विद्वान्। मधु। उप-सिच्य। ० ॥ ५ ॥

यावत् सत्त्रसद्येनेष्ट्वा ० ॥ ६ ॥

यावत्। सत्त्र-सद्येन। इष्ट्वा। ० ॥ ६ ॥

भावार्थ—(यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) ऐसा (विद्वान्) विद्वान् है, (सः) वह (मधु) मधु [मक्षिका रस] (उपसिच्य) सिद्ध करके (उपहरति) भेंट करता है। (यावत्) जितना [फल] (सुसमृद्धेन) बड़ी सम्पति वाले (सत्त्रसद्येन) सत्र सद्य से [सोम याग विशेष से] (इष्ट्वा) यज्ञ करके......म० १,२ ॥ ५,६ ॥

भावार्थ—ऊपर के समान है—म० १,२ ॥ ५,६ ॥

३, ४—(सर्पिः) अ० १। १५। ४। घृतम् (अतिरात्रेण) अहः सर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः। पा० ५। ४। ८७। अच् प्रत्ययः। रात्रिमतीत्य वर्तते स अतिरात्रः। तेन सोमयागविशेषेण। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५,६—(मधु) क्षौद्रम् (सत्त्रसद्येन) गुधृवीपचि० । उ०। ४। १६७। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-त्र प्रत्ययः, यद्वा सत्र विस्तारे-घञ् + षद्लृ-क्विप्। तदर्हति। पा० ५०। १। ६३। इति यत्। सत्रसदां सभ्यानां योग्येन सोमयागविशेषेण। अन्यत् पूर्ववत् ॥

स य एवं विद्वान् मांसमुपसिच्योपहरति ॥ ७ ॥

० विद्वान् । मांसम् । उप-सिच्य । ० ॥ ७ ॥

यावद् द्वादशाहेनेष्ट्वा सुसमृद्धेनावरुन्द्धे तावदेनेनाव रुन्द्धे ८

यावत् । द्वादश-अहेन । इष्ट्वा । सु-समृद्धेन । अव-रुन्द्धे । तावत् । एनेन । अव । रुन्द्धे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) ऐसा (विद्वान्) विद्वान् है, (सः) वह (मांसम्) मननसाधक [बुद्धिवर्धक वस्तु] को (उपसिच्य) सिद्ध करके (उपहरति) भेट करता है। (यावत्) जितना [फल] (सुसमृद्धेन) बड़ी सम्पत्ति वाले (द्वादशाहेन) बारह दिन वाले [सोम याग] से (इष्ट्वा) यज्ञ करके (अवरुन्द्धे) [मनुष्य] पाता है, (तावत्) उतना [फल] (एनेन) इस [कर्म] से (अव रुन्द्धे) वह [विद्वान्] पाता है ॥ ७,८ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य बड़े बड़े यज्ञों के करने से संसार का उपकार करके सुख पाता है, वैसे ही विद्वान् गृहस्थ विद्वान् अतिथियों के सत्संग से लाभ उठाकर आनन्द भोगता है ॥ ७,८ ॥

स य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ॥ ९ ॥

सः । यः । एवम् । विद्वान् । उदकम् । उप-सिच्य । उप-हरति ९

प्रजानां प्रजननाय गच्छति प्रतिष्ठां प्रियः प्रजानां भवति य एवं विद्वानुदकमुपसिच्योपहरति ।१०।(१८)

प्र-जानाम् । प्र-जननाय । गच्छति । प्रति-स्थाम् । प्रियः । प्र-जानाम् । भवति । यः । एवम् । विद्वान् । उदकम् । उप-सिच्य । उप-हरति ॥ १० ॥ (१८)

७,८—(मांसम्) अ० ९ । ६ (३) । ९ । मननसाधकं ज्ञानवर्धकं वस्तु (द्वादशाहेन) राजाहःसखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ९१ । द्वादशानामह्नां समाहारो यस्मिन् क्रतौ स क्रतुर्द्वादशाहः । द्वादशदिनसिद्धसोमयज्ञेन । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यः) जो [गृहस्थ] (एवम् विद्वान्) ऐसा विद्वान् है, (सः) वह (उदकम्) जल को (उपसिच्य) सिद्ध करके (उपहरति) भेट करता है। वह (प्रजानाम्) सन्तानों के (प्रजननाय) उत्पन्न करने के लिये (प्रतिष्ठाम्) दृढ़ स्थिति (गच्छति) पाता है और (प्रजानाम्) सन्तानों का (प्रियः) प्रिय (भवति) होता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (विद्वान्) विद्वान् [गृहस्थ] (उदकम्) जल को (उपसिच्य) सिद्ध करके (उपहरति) भेट करता है ॥ ९, १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् अतिथियों की सेवा से बलवान् और गुणवान् सन्तान प्राप्त करके सुख पाता है ॥ ९,१० ॥

सूक्तम् ६ [पर्यायः ५] ॥

१—१० ॥ अतिथिरतिथिपतिश्च देवते ॥ १ साम्न्युष्णिक्; २ पुर उष्णिक्; ३, ५ उत्तरभागः, ७ उत्तरभागः, १० भुरिक् साम्नी बृहती; ४, ६, ९ साम्न्यनुष्टुप्; ५ पूर्वभाग, ७ पूर्वभागः साम्नी त्रिष्टुप्; ८ विराडार्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

अतिथिसत्कारोपदेशः—अतिथि के सत्कार का उपदेश ॥

तस्मा उषा हिङ् कृणोति सविता प्र स्तौति ॥ १ ॥

तस्मै। उषाः। हिङ्। कृणोति। सविता। प्र। स्तौति ॥ १ ॥

बृहस्पतिरूर्जयोद्गायति त्वष्टा पुष्ट्या प्रति हरति विश्वे देवा निधनम् ॥ २ ॥

बृहस्पतिः। ऊर्जया। उत्। गायति। त्वष्टा। पुष्ट्या। प्रति। हरति। विश्वे। देवाः। नि-धनम् ॥ २ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद ३

९,१०—(उदकम्) अ० ३। १३। ४। जलम् (प्रजानाम्) सन्तानानाम् (प्रजननाय) उत्पादनाय (गच्छति) प्राप्नोति (प्रतिष्ठाम्) प्रकृष्टां दृढां स्थितिम् (प्रियः) प्रीतिपात्रम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

नि-धनम् । भूत्याः । प्र-जायाः । पशूनाम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [गृहस्थ] के लिये (उषाः) उषा [प्रभात वेला] (हिङ्) तृप्ति कर्म (कृणोति) करती है, (सविता) प्रेरणा करने वाला सूर्य (प्र) अच्छी भांति (स्तौति) स्तुति करता है । [उसके लिये] (बृहस्पतिः) बड़े सोम [अमृत रस] का रक्षक, वायु (ऊर्जया) प्राण शक्ति के साथ (उत् गायति) उद्गीथ [वेद गान] करता है, (त्वष्टा) [अन्न आदि] उत्पन्न करने वाला, मेघ (पुष्ट्या) पुष्टि के साथ (निधनम्) निधि (प्रति) प्रत्यक्ष (हरति) प्राप्त कराता है और (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण वाले पदार्थ [निधि प्रत्यक्ष प्राप्त कराते हैं]। [उस गृहस्थ के लिये] (भूत्याः) वैभव का, (प्रजायाः) प्रजा [सन्तान भृत्य आदि] का और (पशूनाम्) पशुओं [गौ, घोड़े, हाथी आदि] का (निधनम्) निधि (भवति) होता है, (यः) जो गृहस्थ (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥ १, २, ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वोक्त विधि से विद्वानों का सत्कार करता है, उसको सब कालों में सब पदार्थों से आनन्द मिलता है ॥ १, २, ३ ॥

१, २, ३—(तस्मै) गृहस्थाय (उषाः) प्रभातवेला (हिङ्) ऋत्विक्-दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । इति बाहुलकात् । हिवि प्रीणने-क्विन्, इति हिन्व् । स्वमोर्नपुंसकात् । पा० ७ । १ । २३ । अमो लुक् । संयोगान्तस्य लोपः । पा० ८ । २ । २३ । वलोपः । क्विन्प्रत्ययस्य कुः । पा० ८ । २ । ६२ । इति सानुनासिकं कुत्वम् । हिन्वति प्रीणातीति हिङ् । प्रीणनम् । तृप्तिकर्म (कृणोति) करोति (सविता) प्रेरकः सूर्यः (प्र) प्रकर्षेण (स्तौति) प्रशंसति (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । मध्यस्थानदेवतात्वात्—निरु० १० । ११ । बृहतः सोमरसस्य पाता रक्षिता वायुः (ऊर्जया) प्राणशक्त्या (उत् गायति) उद्गीथं वेदगानं करोति (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । त्वक्षतेः करोति कर्मणः—तृन् । मध्यस्थानदेवतात्वात्—निरु० १० । ३४ । अन्नादीनां कर्ता मेघः (पुष्ट्या) पोषणेन (प्रति) प्रत्यक्षम् (हरति) प्रापयति (विश्वे) सर्वे (देवाः) उत्तमगुणाः पदार्थाः (निधनम्) कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । निदधातेः-क्यु । नितरां धारणम् । निधिम् (भूत्याः) वैभवस्य (प्रजायाः) सन्तानभृत्यादेः (पशूनाम्) गवाश्वगजादीनाम् (भवति) वर्तते (यः) (एवम्) पूर्वोक्तप्रकारेण (वेद) जानाति ॥

तस्मा उ॒द्यन्त्सूर्यो॒ हिङ्कृ॑णोति संग॒वः प्र स्तौ॑ति ॥ ४ ॥

तस्मै॑ । उ॒त्-यन् । सूर्यः॑ । हिङ् । कृ॒णोति॒ । स॒म्-ग॒वः । प्र । ०।४

म॒ध्यन्दि॑न॒ उद्गा॑यत्यपरा॒ह्णः प्रति॑ ह॒रत्यस्तं॒ यन्नि॒धनं॑म् ।

नि॒धनं॒० ॥ ५ ॥

म॒ध्यन्दि॑नः । उत् । गा॒य॒ति॒ । अ॒प॒र॒-अ॒ह्णः । प्रति॑ । ह॒र॒ति॒ ।

अ॒स्त॒म्-यन् । नि॒-धनं॑म् ॥ नि॒-धनं॑म् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [गृहस्थ] के लिये (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (हिङ्) तृप्ति कर्म (कृणोति) करता है, (संगवः) किरणों से संगति वाला [दोपहर से पहिले सूर्य] (प्र) अच्छी भांति (स्तौति) स्तुति करता है। (मध्यन्दिनः) मध्याह्न काल (उत् गायति) उद्गीथ [वेद गान] करता है, (अपराह्णः) तीसरा पहर (निधनम्) निधि (प्रति) प्रत्यक्ष (हरति) प्राप्त कराता है और (अस्तंयन्) डूबता हुआ [सूर्य, निधि प्रत्यक्ष प्राप्त कराता है]। [उसके लिये] (भूत्याः) वैभव का, (प्रजायाः) प्रजा......मं० १-३ ॥ ४, ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् अतिथियों के सत्संग से पुरुषार्थ करके सब काल में आनन्द करता है ॥ ४,५ ॥

तस्मा अ॒भ्रो भव॒न् हिङ्कृ॑णोति स्त॒नय॒न् प्र स्तौ॑ति ६

तस्मै॑ । अ॒भ्रः । भव॑न् । हिङ् । कृ॒णोति॒ । स्त॒नय॑न् । प्र । स्तौ॒ति॒ ६

४,५—(तस्मै) गृहस्थाय (उद्यन्) उद्गच्छन् (सूर्यः) (संगवः) गोरद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ६२ । सम्+गो—टच् । गोभिः किरणैः सङ्गतो मध्याह्नपूर्वः सूर्यः (मध्यन्दिनः) अ० ४ । ११ । १२ । मध्याह्नः (अपराह्णः) पूर्वापराधरो० । पा० २ । २ । १ । इति समासः । राजाहःसखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ६१ । टच् । अह्नोऽह्न एतेभ्यः । पा० ५ । ४ । ८८ । अह्नादेशः । अह्नोऽदन्तात् । पा० ८ । ४ । ७ । णत्वम् । रात्राह्नाहाः पुंसि । पा० । २ । ४ । २९ । इति पुंस्त्वम् । दिनस्य तृतीयभागः (अस्तंयन्) अदर्शनं प्राप्नुवन् सूर्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

विद्योतमानः प्रति हरति वर्षन्नुद्गायत्युद्गृह्णन् निधनंम्। निधनं० ॥ ७ ॥

वि-द्योतमानः । प्रति । हरति । वर्षन् । उत् । गायति । उत्-गृह्णन् । नि-धनंम् । नि-धनंम् । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [गृहस्थ] के लिये (भवन्) घिरा हुआ (अभ्रः) मेघ (हिङ्) तृप्ति कर्म (कृणोति) करता है. (स्तनयन्) गरजता हुआ (प्र) अच्छी भांति (स्तौति) स्तुति करता है। और (विद्योतमानः) [बिजुली से] चमचमाता हुआ (निधनम्) निधि (प्रति) प्रत्यक्ष (हरति) प्राप्त कराता है, और (वर्षन्) बरसता हुआ [मेघ, निधि को] (उद्गृह्णन्) थांभता हुआ (उत् गायति) उद्गीथ [वेदगान] करता है। [उसके लिये] (भूत्याः) वैभव का, (प्रजायाः) प्रजा......म० १-३ ॥ ६, ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य तत्त्वदर्शी अतिथियों के ज्ञान से वर्षा का तत्त्वज्ञान प्राप्त करके सुखी होता है ॥ ६, ७ ॥

अतिथीन् प्रति पश्यति हिङ्कृणोत्यभि वंदति प्र स्तौत्युदकं याचत्युद्गायति ॥ ८ ॥

अतिथीन् । प्रति । पश्यति । हिङ् । कृणोति । अभि । वदति । प्र । स्तौति । उदकम् । याचति । उत् । गायति ॥ ८ ॥

उप हरति प्रति हरत्युच्छिष्टं निधनंम् ॥ ९ ॥

उप । हरति । प्रति । हरति । उत्-शिष्टम् । नि-धनंम् ॥ ९ ॥

निधनं भूत्याः प्रजायाः पशूनां भवति य एवं वेद १०(१९)

नि-धनंम् । भूत्याः । प्र-जायाः । पशूनाम् । भवति । यः।०।१०(१९)

६, ७—(अभ्रः) अ० ४ । १५ । १ । मेघः (भवन्) व्याप्नुवन् (स्तनयन्) गर्जन् सन् (विद्योतमानः) विद्युता विविधं दीप्यमानः (वर्षन्) वृष्टिं कुर्वन् (उद्गृह्णन्) उत्कर्षेण धारयन् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[जब] वह [गृहस्थ] (अतिथीन् प्रति) अतिथियों की ओर (पश्यति) देखता है, वह [अतिथि] (हिङ्) तृप्ति कर्म (कृणोति) करता है, [जब] वह [गृहस्थ] (अभि वदति) अभिवादनकरता है, वह [अपने भाग्य की] (प्र स्तौति) अच्छी भांति स्तुति करता है, [जब] वह [गृहस्थ] (उदकम्) जल (याचति) विनय करके देता है, (उत् गायति) वह उद्गीथ [वेद गान] करता है। [जब] वह [गृहस्थ, भोजन] (उप हरति) भेट करता है, (उच्छिष्टम्) अतिशिष्ट [उत्तम] (निधनम्) निधि (प्रति हरति) [अतिथि] प्रत्यक्ष प्राप्त कराता है। [उस गृहस्थ के लिये] (भूत्याः) वैभव का, (प्रजायाः) प्रजा [सन्तान भृत्य आदि] का और (पशूनाम्) पशुओं [गौ, घोड़े, हाथी आदि] का (निधनम्) निधि (भवति) होना है, (यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥ ८, ९, १० ॥

भावार्थ—"अतिथियों" शब्द आदरार्थ बहुवचन है। जो गृहस्थ विद्वान् अतिथि का यथावत् सत्कार करता है, वह उसके आशीर्वाद से सब प्रकार उन्नति कर आनन्द भोगता है ॥ ८, ९, १० ॥

सूक्तम् ६ [पर्यायः ६] ॥

१—१४ ॥ अतिथिरतिथिपतिश्च देवते ॥ १ आसुरी गायत्री ; २ साम्न्यनुष्टुप् ३, ५ आर्चीपङ्क्तिः; ४ प्राजापत्या गायत्री; ६–८ आर्ची बृहती; ९ प्राजापत्या पङ्क्तिः; १०, ११ स्वराट् साम्नी जगती; १२ आसुरी जगती; १३ याजुषी त्रिष्टुप् ; १४ आसुर्युष्णिक् छन्दः ॥

अतिथिसत्कारोपदेशः—अतिथि के सत्कार का उपदेश ॥

८, ९, १०—(अतिथीन्) आदरार्थं बहुवचनम् । अभ्यागतान् । महामान्यान् (प्रति) प्रतीत्य (पश्यति) अवलोकयति (अभि वदति) नमस्करोति (प्र) प्रकर्षेण (स्तौति) आत्मानं प्रशंसति (उदकम्) जलम् (याचति) अ० ९ । ६ (१) । ४ । ग्रहणार्थं प्रेरयति । विनयेन ददाति (उच्छिष्टम्) उत्+शासु अनुशिष्टौ—क्त । शास इदङ्हलोः । पा० ६ । ४ । ३४ । इकारः । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ । ३ । ६० । सस्य षः । अतिशयेन शिष्टं श्रेष्ठम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यत् क्ष॒त्तारं॒ ह्वय॒त्या श्रा॒वय॒त्ये॒व तत् ॥ १ ॥

यत् । क्ष॒त्तार॑म् । ह्वय॑ति । आ । श्रा॒वय॑ति । ए॒व । तत् ॥१॥

भाषार्थ—(यत्) जब वह [अतिथि] (क्षत्तारम्) कष्ट से तारने वाले [धर्मात्मा गृहस्थ] को (ह्वयति) बुलाता है, (तत्) तब वह [अतिथि] (एव) निश्चय करके (आ श्रावयति) आदेश सुनाता है ॥ १ ॥

भावार्थ—अतिथि लोग गृहस्थों के पास परोपकार में सहायता के लिये आते हैं ॥ १ ॥

यत् प्र॑तिशृ॒णोति॑ प्र॒त्याश्रा॒वय॒त्ये॒व तत् ॥ २ ॥

यत् । प्र॒ति॒ऽशृ॒णोति॑ । प्र॒ति॒ऽआ॒श्रा॒वय॑ति । ए॒व । तत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वह [गृहस्थ] (प्रतिशृणोति) ध्यान से सुनता है, (तत्) तब (एव) ही वह [अतिथि] (प्रत्याश्रावयति) ध्यान से [उपदेश] सुनाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग अतिथि से सावधानी के साथ उपदेश सुनें ॥२॥

यत् प॑रिवे॒ष्टार॒: पात्र॑हस्ता॒: पूर्वे॒ चाप॑रे च प्र॒पद्य॑न्ते चम॒साध्व॒र्यव॑ ए॒व ते ॥ ३ ॥

यत् । प॒रि॒ऽवे॒ष्टार॑: । पात्र॑ऽहस्ताः । पूर्वे॑ । च॒ । अप॑रे । च॒ । प्र॒ऽपद्य॑न्ते । च॒म॒स॒ऽअ॒ध्व॒र्यव॑: । ए॒व । ते ॥ ३ ॥

तेषां॒ न कश्च॒नाहो॑ता ॥ ४ ॥

तेषा॑म् । न । कः । च॒न । अहो॑ता ॥ ४ ॥

१—(यत्) यदा (क्षत्तारम्) अ० ३ । २४ । ७ । क्षतः, क्षतात् तारकं धर्मात्मानं गृहस्थम् (ह्वयति) आह्वयति (आ श्रावयति) आदिशति स्वप्रयोजनम् (एव) (तत्) तदा ॥

२—(प्रतिशृणोति) प्रतीत्य श्रद्धया शृणोति (प्रत्याश्रावयति) श्रद्धयोपदिशति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (पात्रहस्ताः) पात्र हाथ में लिये हुये (पूर्वे) अगले (च) और (अपरे) पिछले (च) भी (परिवेष्टारः) परोसने वाले पुरुष (प्रपद्यन्ते) आगे बढ़ते हैं, (ते) वे (एव) निश्चय करके (चमसाध्वर्यवः) अन्न के लिये हिंसा रहित व्यवहार चाहने वाले [होते हैं] [क्योंकि] (तेषाम्) उनमें से (कश्चन) कोई भी (अहोता) अदानी (न) नहीं [होता है] ॥ ३, ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् अन्नदाताओं के समान सब लोग अन्नदान करके वृद्धि प्राप्त करें ॥ ३, ४ ॥

यद् वा अतिथिपतिरतिथीन् परिविष्य गृहानुपोदैत्यवभृथमेव तदुपावैति ॥ ५ ॥

यत् । वै । अतिथि-पतिः । अतिथीन् । परि-विष्य । गृहान् । उप-उदैति । अव-भृथम् । एव । तत् । उप-अवैति ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (वै) ही (अतिथिपतिः) अतिथियों की रक्षा करने वाला (अतिथीन्) अतिथियों को (परिविष्य) भोजन परसकर (गृहान्) घरों [घर वालों] में (उपोदैति) पहुंचता है, (तत्) तब वह (अवभृथम्) यज्ञ समाप्ति स्नान (एव) ही (उपावैति) प्राप्त करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—गृहस्थ अतिथियों का सत्कार करके और अपने घर वालों को तृप्त करके प्रसन्न होवे ॥ ५ ॥

३, ४—(परिवेष्टारः) भोजनाय पात्रे भोजनसमर्पकाः (पात्रहस्ताः) पाणिषु भोजनपात्रयुक्ताः (पूर्वे) पूर्वगामिनः (च च) समुच्चये (अपरे) पश्चाद् गामिनः (प्रपद्यन्ते) प्रकर्षेण गच्छन्ति (चमसाध्वर्यवः) अध्वर्युर्व्याख्यातः । अ० ७ । ७३ । ५ । चमस + अध्वर-क्यच्, उप्रत्ययः । चमसाय अन्नाय अध्वरस्य हिंसारहितव्यवहारस्य इच्छुकाः (एव) (ते) पुरुषाः (तेषाम्) परिवेषकाणां मध्ये (न) निषेधे (कश्चन) कोऽपि (अहोता) अदानी ॥

५—(यत्) यदा (वै) एव (अतिथिपतिः) गृहस्थः (अतिथीन्) अभ्यागतान् (परिविष्य) भोजनं समर्प्य (गृहान्) गृहस्थान् पुरुषान् (उपोदैति) उप+उत्+आ+एति । यथावत् प्राप्नोति (अवभृथम्) अवे भृञः । उ० २ । ३ । अव+डु भृञ् धारणपोषणयोः—क्थन् । यज्ञान्तस्नानम् (एव) (तत्) (उपावैति) उप+अव+एति । प्राप्नोति ॥

यत् संभागयति दक्षिणाः सभागयति यदनुतिष्ठत उद्-
वस्यत्ये व तत् ॥ ६ ॥

यत् । सभागयति । दक्षिणाः । सभागयति । यत् । अनु-ति-
ष्ठते । उत्-अवस्यति । एव । तत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब वह [गृहस्थ अन्न आदि] (सभागयति) बांटता है, वह [अतिथि] (दक्षिणाः) वृद्धि क्रियाओं को (सभागयति) बांटता है, [इस लिये] वह [गृहस्थ] (यत्) जब (अनुतिष्ठते) [शास्त्रोक्त कर्म] करता है, (तत्) तब वह [उसको] (एव) निश्चय करके (उद्वस्यति) पूरा कर डालता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वानों से उपदेश लेकर शास्त्रोक्त कर्म पूरे करें ॥

स उप हूतःपृथिव्यां भक्षयत्युपहूतस्तस्मिन् यत् पृथि-
व्यां विश्वरूपम् ॥ ७ ॥

सः । उप-हूतः । पृथिव्याम् । भक्षयति । उप-हूतः । तस्मिन् ।
यत् । पृथिव्याम् । विश्व-रूपम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि जब] (उपहूतः) बुलाया गया (पृथिव्याम्) पृथिवी पर [वर्तमान अन्न आदि] (भक्षयति) भोगता है, (तस्मिन्) उस [अतिथि] के [भोग करने के] उपरान्त (उपहूतः) बुलाया गया वह

६—(यत्) यदा (सभागयति) समानश्चासौ भागश्च । तत्करोतीत्युपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । १ । २६ । सभाग—णिच् । भागशो ददाति (दक्षिणाः) अ० ५ । ७ । १ । दक्ष वृद्धौ—इनन् । वृद्धिक्रियाः (सभागयति) (यत्) (अनुतिष्ठते) विहितकर्म करोति (उद्वस्यति) षो अन्तकर्मणि—लट् । समापयति (एव) (तत्) ॥

७—(सः) अतिथिः (उपहूतः) कृतावाहनः (पृथिव्याम्) भूमौ वर्तमानं पदार्थजातम् (भक्षयति) भोगयति । परीक्षणेन निश्चिनोति (उपहूतः) कृतावाहनो गृहस्थः (तस्मिन्) अतिथावशितवति (यत्) यत् किंचित् (पृथिव्याम्) (विश्वरूपम्) विविधं द्रव्यम्—तद् भक्षयति,इति शेषः ॥

[गृहस्थ] (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (यत्) जो कुछ (विश्वरूपम्) विविध रूप [वस्तु है, उसे भोगता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—अतिथि के सत्कार, सत्संग, उपदेश और आशीर्वाद से गृहस्थ पृथिवी के सब उत्तम गुणों के ज्ञान से लाभ उठाता है ॥ ७ ॥

स उप॑हूतो॒ऽन्तरि॑क्षे भक्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यद॒न्तरि॑क्षे विश्वरू॑पम् ॥ ८ ॥

सः । उप॑-हूतः । अ॒न्तरि॑क्षे । भ॒क्षय॒ति॒ । उप॑-हूतः । तस्मि॑न् । यत् । अ॒न्तरि॑क्षे । वि॒श्व-रू॑पम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि जब] (उपहूतः) बुलाया गया (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में [वर्तमान वायु आदि] (भक्षयति) भोगता है, (तस्मिन्) उसके [भोग करने के] उपरान्त (उपहूतः) बुलाया गया वह [गृहस्थ] (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (यत्) जो कुछ (विश्वरूपम्) विविध रूप [वस्तु है, उसे भोगता है] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो अतिथि अन्तरिक्ष के वायु, मेघमण्डल आदि के धर्मों को साक्षात् कर चुका है, उसके शिष्टाचार से गृहस्थ अन्तरिक्ष के पदार्थों से उपकार लेता है ॥ ८ ॥

स उप॑हूतो दि॒वि भ॑क्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यद् दि॒वि वि॒श्वरू॑पम् ॥ ९ ॥

सः । उप-हूतः । दि॒वि । भ॒क्षय॒ति॒ । उप॑-हूतः । तस्मि॑न् । यत् । दि॒वि । वि॒श्व-रू॑पम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि जब] (उपहूतः) बुलाया गया (दिवि) सूर्य में [वर्तमान प्रकाश, धारण, आकर्षण आदि गुण] (भक्षयति) भोगता

८—(अन्तरिक्षे) अ० १ । ३० । ३ । मध्यलोके वर्तमानं वाय्वादिपदार्थजातम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(दिवि) सूर्यमण्डले वर्तमानं प्रकाशधारणाकर्षणादिगुणम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

है, (तस्मिन्) उसके [भोग करने के] उपरान्त (उपहूतः) बुलाया गया वह [गृहस्थ] (दिवि) सूर्य लोक में (यत्) जो कुछ (विश्वरूपम्) विविध रूप [वस्तु है, उसे भोगता है] ॥ ९ ॥

भावार्थ—गृहस्थ तत्त्वज्ञानी ऋषियों से सूर्य मण्डल, तारागण आदि का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करे ॥ ९ ॥

स उप॑हूतो दे॒वेषु॑ भक्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यद् दे॒वेषु॑ वि॒श्वरू॑पम् ॥ १० ॥

० । उप॑-हूतः । दे॒वेषु॑ । भ॒क्षय॑ति । उप॑-हूतः । तस्मि॑न् । यत् । दे॒वेषु॑ । वि॒श्व-रू॑पम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि जब] (उपहूतः) बुलाया गया (देवेषु) विद्वानों में [वर्तमान ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययन, ईश्वर प्रणिधान आदि शुभ गुण] (भक्षयति) भोगता है, (तस्मिन्) उसके [भोग करने के] उपरान्त (उपहूतः) बुलाया गया वह [गृहस्थ] (देवेषु) विद्वानों में (यत्) जो कुछ (विश्वरूपम्) विविध रूप [वस्तु है, उसे भोगता है] ॥ १० ॥

भावार्थ—गृहस्थ ब्रह्मचारी ब्राह्मण से दीक्षा प्राप्त करके पूर्ण ब्रह्मचर्य से धर्मवृद्धि करके आनन्दित होवे ॥ १० ॥

स उप॑हूतो लोकेषु॑ भक्षय॒त्युप॑हूत॒स्तस्मि॒न् यल्लोकेषु॑ वि॒श्वरू॑पम् ॥ ११ ॥

० । उप॑-हूतः । लोकेषु॑ । भ॒क्षय॑ति । उप॑-हूतः । तस्मि॑न् । यत् । लोकेषु॑ । वि॒श्व-रू॑पम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि जब] (उपहूतः) बुलाया गया (लोकेषु) [दीखते हुये] लोकों में [वर्तमान परस्पर सम्बन्ध को] (भक्षयति)

१० —(देवेषु) विद्वत्सु वर्तमानं ब्रह्मचर्यस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानादिशुभगुणम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(लोकेषु) दृश्यमानेषु भुवनेषु सूर्यचन्द्रपृथिवीमङ्गलबुधबृहस्पत्यादिलोकेषु वर्तमानं परस्परसम्बन्धम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भोगता है, (तस्मिन्) उसके [भोग करने के] उपरान्त (उपहूतः) बुलाया गया वह [गृहस्थ] (लोकेषु) लोकों में (यत्) जो कुछ (विश्वरूपम्) विविध रूप [वस्तु है, उसे भोगता है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—गृहस्थ उत्तम विद्वानों द्वारा सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, मङ्गल, बुध, बृहस्पति आदि लोकों के परस्पर सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करके आत्मोन्नति से महा उपकारी होवे ॥ ११ ॥

स उपहूत उपहूतः ॥ १२ ॥

सः । उप-हूतः । उप-हूतः ॥ १२ ॥

आप्नोतीमं लोकमाप्नोत्यमुम् ॥ १३ ॥

आप्नोति । इमम् । लोकम् । आप्नोति । अमुम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि जब] (उपहूतः) बुलाया गया है, [तब वह गृहस्थ] (उपहूतः) बुलाया गया, (इमम्) इस (लोकम्) लोक को (आप्नोति) पाता है और (अमुम्) उस [लोक] को (आप्नोति) पाता है ॥ १२, १३ ॥

भावार्थ—सन्तुष्ट अतिथियों के आशीर्वाद अर्थात् ज्ञान दान से गृहस्थ दूरदर्शी और सर्वोपकारी होकर इस लोक और परलोक में सुख भोगता है १२,१३॥

ज्योतिष्मतो लोकान् जयति य एवं वेद ॥ १४ ॥ (२०)

ज्योतिष्मतः । लोकान् । जयति । यः । ० ॥ १४ ॥ (२०)

भाषार्थ—वह [गृहस्थ] (ज्योतिष्मतः) प्रकाशमय (लोकान्) लोकों को (जयति) जीतता है, (यः) जो (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकार से अतिथिसेवा और विद्याप्राप्ति करके गृहस्थ ज्ञान प्रकाश के कारण सर्वत्रगति हो जाता है ॥ १४ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

१२, १३—(आप्नोति) प्राप्नोति (इमम्) वर्तमानम् (लोकम्) जन्म (अमुम्) आगामिनम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(ज्योतिष्मतः) ज्ञानप्रकाशमयान् (लोकान्) ज्ञानदशाविशेषान् (जयति) उत्कर्षेण प्राप्नोति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ ॥

१-२६ ॥ प्रजापतिः परमेष्ठी देवता ॥ १ निचृदार्ची बृहती; २ आर्च्युष्णिक्; ३, ५ आर्च्यनुष्टुप्; ४, १४-१६ साम्नी बृहती; ६, ८ आसुरी गायत्री; ७ पिपीलिकामध्या गायत्री; ९, १३ साम्नी गायत्री; १० निचृत् पुर उष्णिक्; ११, १२, १७, २५ साम्न्युष्णिक्; १८, २२ आसुरी जगती; १९ आसुरी पङ्क्तिः; २०, २१ याजुषी जगती; २३ आसुरी बृहती; २४ भुरिक् साम्नी बृहती; २६ साम्नी त्रिष्टुप् ॥

सृष्टिधारणविद्योपदेशः—सृष्टि की धारणविद्या का उपदेश ॥

प्र॒जाप॑तिश्च पर॒मे॒ष्ठी च॒ शृङ्गे॒ इन्द्रः॒ शिरो॑ अ॒ग्नि-र्ल॒लाटं॒ य॒मः कृ॑का॒टम् ॥ १ ॥

प्र॒जा-प॑तिः । च॒ । प॒र॒मे॒-स्थी । च॒ । शृङ्गे॒ इति॑ । इन्द्रः॑ । शिरः॑ । अ॒ग्निः । ल॒लाट॑म् । य॒मः । कृ॒काट॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक] (च) और (परमेष्ठी) परमेष्ठी [सब से उच्च पद वाला परमेश्वर] (च) निश्चय करके (शृङ्गे) दो प्रधान सामर्थ्य [स्वरूप है], [इसी कारण से सृष्टि में] (इन्द्रः) सूर्य (शिरः) शिर, (अग्निः) [पार्थिव] अग्नि (ललाटम्) माथा, (यमः) वायु (कृकाटम्) कण्ठ की सन्धि [के समान है] ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में दो प्रधान शक्तियां हैं, एक प्रजा अर्थात् सृष्टि की रक्षा और दूसरी परमेष्ठिता अर्थात् सर्वशक्तिमत्ता। इसी से दूरदर्शी जगदीश्वर ने सृष्टि में सूर्य, अग्नि, वायु आदि पदार्थ ऐसे उपयोगी बनाये हैं जैसे उसने हमारे शरीर में शिर, माथा, गला आदि उपयोगी अङ्ग रचे हैं ॥ १ ॥

१—(प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (च) समुच्चये (परमेष्ठी) अ० १ । ७ । २ । सर्वोत्तमपदस्थः सर्वशक्तिमान् परमात्मा (च) अवधारणे (शृङ्गे) अ० ८ । ३ । २४ । द्वे प्राधान्ये (इन्द्रः) सूर्यः (शिरः) मस्तकरूपः (अग्निः) पार्थिवाग्निः (ललाटम्) लल ईप्सायाम्—अच्+अट गतौ—अण्, ललमीप्सामटति ज्ञापयतीति । कपालः (यमः) मध्यस्थानदेवता यमोयच्छतीति-सतः—निरु० १० । १९ । वायुः (कृकाटम्) कृक+अट गतौ—अण् । कृकं गलमटतीति । कण्ठसन्धिः । कृकाटिका ॥

सोमो राजा मस्तिष्को द्यौरुत्तरहनुः पृथिव्यधरहनुः॥२॥

सोमः । राजा । मस्तिष्कः । द्यौः । उत्तर-हनुः । पृथिवी । अधर-हनुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (राजा) शासक (सोमः) ऐश्वर्य [अथवा अमृत जल वा चन्द्रमा] (मस्तिष्कः) भेजा [कपाल की चिकनाई], (द्यौः) आकाश (उत्तरहनुः) ऊपर का जवाड़ा, (पृथिवी) पृथिवी (अधरहनुः) नीचे का जबाड़ा [के तुल्य है] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे भेजे की शक्ति का प्रभाव मनुष्य के शरीर और विचारों पर रहता है, अथवा जैसे जल और चन्द्रमा अन्न आदि के लिये उपयोगी हैं वैसे ही चक्राकार सृष्टि के प्रत्येक पदार्थ में ईश्वरत्व प्रधान गुण है, ॥ २ ॥

विद्युज्जिह्वा मरुतो दन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा घर्मो वहः ॥ ३ ॥

वि-द्युत् । जिह्वा । मरुतः । दन्ताः । रेवतीः । ग्रीवाः । कृत्तिकाः । स्कन्धाः । घर्मः । वहः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (विद्युत्) [लपक लेने वाली] बिजुली(जिह्वा) जीभ, (मरुतः) [दोषों के मारने वाले] पवन (दन्ताः) [दमन शील] दांत, (रेवतीः) रेवती आदि [चलने वाले नक्षत्र] (ग्रीवाः) गला, (कृत्तिकाः)

२—(सोमः) अ० १ । ६ । २ । षु ऐश्वर्ये—मन् । ऐश्वर्यम् (राजा) शासकः (मस्तिष्कः) मस्त+इष गतौ—क, पृषोदरादित्वात् साधुः । मस्तं मस्तकमिष्यति प्राप्नोतीति । मस्तकभवघृताकारस्नेहः (द्यौः) आकाशः (उत्तर-हनुः) उपरिस्थकपोलप्रदेशः (पृथिवी) (अधरहनुः) नीचस्थकपोलभागः ॥

३—(विद्युत्) अभिसर्पणी तडित् (जिह्वा) अ० १ । १० । ३ । जि जये—वन् हुक् च । रसना (मरुतः) अ० १ । २० । १ । दोषनाशकाः पवनाः (दन्ताः) अ० ४ । ३ । ६ । दशनाः (रेवतीः) भृमृदृशियजि० । उ० ३ । ११० । रेवृ गतौ—अतच्, ङीष् । रेवत्यादीनि नक्षत्राणि (ग्रीवाः) (कृत्तिकाः) कृतिभिदिलतिभ्यः कित् । उ० ३ । १४७ । कृती छेदने वेष्टने च—तिकन्, टाप् । कृत्तिकादीनि

कृत्तिका आदि [छेदन शील नक्षत्र] (स्कन्धाः) कन्धे, (घर्मः) ताप [प्रकाश] (वहः) ले चलने वाले सामर्थ्य [के समान है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—सृष्टि को एक शरीर विशेष और अवयवी और अवयव का सम्बन्ध समझ कर मन्त्र का भावार्थ पूर्ववत् लगालो ॥ ३ ॥

विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवेष्यः ॥४॥

वि-श्वम् । वायुः । स्वः-गः । लोकः । कृष्ण-द्रम् । वि-धरणी । नि-वेष्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (विश्वम्) व्यापनसामर्थ्य (वायुः) वायु, (कृष्णद्रम्) आकर्षण का वेग (स्वर्गः) सुखदायक (लोकः) घर, (विधरणी) विविध धारणशक्ति (निवेष्यः) सेना ठहरने के स्थान [के समान है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के समान है ॥ ४ ॥

श्येनः क्रोडो३ न्तरिक्षं पाजस्यं१ बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः ॥ ५ ॥

श्येनः । क्रोडः । अन्तरिक्षम् । पाजस्यम् । बृहस्पतिः । ककुत् । बृहतीः । कीकसाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (श्येनः) [चलने वाला] सूर्य (क्रोडः) गोद (अन्तरिक्षम्) मध्य अवकाश (पाजस्यम्) [बल के लिये हितकारी]

नक्षत्राणि (स्कन्धाः) (घर्मः) सूर्यप्रकाशः (वहः) वह प्रापणे—अच् । वहनसामर्थ्यम् ॥

४—(विश्वम्) व्यापनसामर्थ्यम् (वायुः) (स्वर्गः) सुखप्रापकः (लोकः) गृहम् (कृष्णद्रम्) कृषेर्वर्णे । उ० ३ । ४ । कृष विलेखने—नक् + द्रु गतौ—डप्रत्ययः । आकर्षणस्य प्रावो वेगः (विधरणी) विविधधारणशक्तिः (निवेष्यः) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । नि + विष्लृ व्याप्तौ—ण्यत् । सेनानिवासः । निवेशः ॥

५—(श्येनः) अ० ३ । ३ । ३ । श्येन आदित्यो भवति श्यायतेर्गतिकर्मणः—निरु० १४ । १३ । सूर्यः (क्रोडः) अ० ६ । ४ । १५ । अङ्कः (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकः (पाजस्यम्) अ० ४ । १४ । ८ । पाजसे बलाय हितम् । जठरम्

पेट (बृहस्पतिः) बृहस्पति [लोकविशेष] (ककुत्) शिखा, (बृहतीः) बड़ी दिशायें (कीकसाः) हंसली [गले] की हड्डियों [के समान है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के समान है ॥ ५ ॥

दे॒वानां॒ पत्नीः॑ पृ॒ष्टय॑ उप॒सदः॒ पर्श॑वः ॥ ६ ॥

दे॒वाना॑म् । पत्नीः॑ । पृ॒ष्टयः॑ । उ॒प॒ऽसदः॑ । पर्श॑वः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (देवानाम्) दिव्यगुण वाले [अग्नि, वायु आदि] पदार्थों की (पत्नीः) पालन शक्तियां (पृष्टयः) पसलियों की हड्डियां, (उपसदः) सङ्ग रहने वाली [अग्नि वायु आदि की तन्मात्रायें] (पर्शवः) पसलियों [के समान हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर की मोटी हड्डियों में पसलियां लगी हैं, वैसे ही अग्नि आदि की स्थूल और सूक्ष्म अवस्था का सम्बन्ध सृष्टि के साथ है ॥ ६ ॥

मि॒त्रश्च॒ वरु॑णश्चांसौ॒ त्वष्टा॒ चार्य॒मा च॑ दो॒षणी॑ महादे॒वो बा॒हू ॥ ७ ॥

मि॒त्रः । च॒ । वरु॑णः । च॒ । अंसौ॑ । त्वष्टा॑ । च॒ । अ॒र्य॒मा । च॒ । दो॒षणी॒ इति॑ । म॒हा॒ऽदे॒वः । बा॒हू इति॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (मित्रः) प्राण वायु (च) और (वरुणः) अपान वायु (च) ही (अंसौ) दोनों कन्धे, (त्वष्टा) [अन्न जल आदि उत्पन्न करने वाला] मेघ (च) और (अर्यमा) सूर्य (च) ही (दोषणी)

(बृहस्पतिः) लोकविशेषः (ककुत्) अ० ६ । ८६ । ३ । शिखा (बृहतीः) महत्यो दिशाः (कीकसाः) अ० २ । ३३ । २ । जत्रुवक्षोगतास्थीनि ॥

६—(देवानाम्) दिव्यगुणवतामग्निवाय्वादीनाम् (पत्नीः) अ० २ १२ । १ । पालनशक्तयः (पृष्टयः) अ० ४ । ३ । ६ । पार्श्वास्थीनि (उपसदः) संगताः सूक्ष्मतन्मात्राः (पर्शवः) स्पृशेः श्वण्शुनौ पृ च । उ० ५ । २७ । स्पृश स्पर्शने—शुन्, धातोश्च पृ इत्यादेशः । पार्श्वाधःस्थास्थीनि ॥

७—(मित्रः) प्राणः (च) (वरुणः) अपानः (च) एव (अंसौ) स्कन्धौ (त्वष्टा) अ० ६ । ६ (५) । २ । अन्नादीनामुत्पादको मेघः (च) (अर्यमा) अ०३ । १४ । २ । आदित्यः (दोषणी) दमेर्डोसिः । उ०२ । ६९ । दमु उपशमे-डोसि ।

दो भुजदण्ड और (महादेवः=०—वौ) अधिक जीतने की इच्छा और स्तुति गुण (बाहू) दो भुजाओं [के तुल्य हैं] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसा शरीर और उसके अवयवों का परस्पर सम्बन्ध है, वैसा ही प्राण आदि का सम्बन्ध सृष्टि से है ॥ ७ ॥

इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः ॥ ८ ॥

इन्द्राणी । भसत् । वायुः । पुच्छम् । पवमानः । बालाः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (इन्द्राणी) इन्द्राणी [इन्द्र की पत्नी, सूर्य की धूप] (भसत्) कटिभाग, (वायुः) वायु (पुच्छम्) प्रसन्नता का साधन [वा पीछे का भाग], (पवमानः) शोधक पदार्थ [अग्नि जल आदि] (बालाः) [बालों अर्थात् केशों के समान आकार वाली] झाड़ुओं [कूर्चियों के समान हैं] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ८ ॥

ब्रह्म च क्षत्रं च श्रोणी बलमूरू ॥ ९ ॥

ब्रह्म । च । क्षत्रम् । च । श्रोणी इति । बलम् । ऊरू इति ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (ब्रह्म) ब्राह्मणत्व (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रियत्व (च) ही (श्रोणी) दोनों कूल्हों और (बलम्) बल (ऊरू) दोनों जंघाओं [के समान है] ॥ ९ ॥

पद्दन्नोमास्० । पा० ६ । १ । ६३ । इति दोषन् आदेशः । नपुंसकाच्च । पा० ७ । १ । १९ । इत्यौङः शी । भुजदण्डौ (महादेवः) दिवु विजिगीषायां स्तुतौ च—अच् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । द्विवचनस्य सुविभक्तिः । महाविजिगीषास्तुतिगुणौ (बाहू) भुजौ ॥

८—(इन्द्राणी) अ० १ । २७ । ४ । इन्द्रस्य पत्नी । सूर्यदीप्तिः (भसत्) अ० ४ । १४ । ८ । कटिभागः (पुच्छम्) पुच्छ प्रसादे—अच्, इति शब्दकल्पद्रुमः । प्रसन्नताकारणम् । पश्चाद्भागः (पवमानः) अ० ३ । ३१ । २ । संशोधकपदार्थः (बालाः) बाल—अर्श आद्यच्, टाप् । बालाः केशाकाराः अवयवाः सन्ति यासां ताः । कूर्च्यः ॥

९—(ब्रह्म) ब्राह्मणत्वम् (च) (क्षत्रम्) अ० २ । १५ । ४ । क्षत्रियत्वम् (च) एव (श्रोणी) अ० २ । ३३ । ५ । कटिभागौ (बलम्) (ऊरू) अ० २ । ३३ । ५ । जानूपरिभागौ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ९ ॥

धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जङ्घा गन्धर्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः ॥ १० ॥

धाता । च । सविता । च । अष्ठीवन्तौ । जङ्घाः । गन्धर्वाः । अप्सरसः । कुष्ठिकाः । अदितिः । शफाः ॥ १० ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (धाता) धारण करने वाला गुण (च) और (सविता) ऐश्वर्य करने वाला गुण (च) ही (अष्ठीवन्तौ) दोनों घुटने, (गन्धर्वाः) पृथिवी धारण करने वाले गुण (जङ्घाः) जङ्घायें (अप्सरसः) प्राणियों में व्यापक गुण (कुष्ठिकाः) [नख अङ्गुली आदि] बाहिरी अङ्गों [के समान] और (अदितिः) [अदीन वा अखण्डित] वेदवाणी (शफाः) शान्ति व्यवहार [हैं] ॥ १० ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १० ॥

चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत् ॥ ११ ॥

चेतः । हृदयम् । यकृत् । मेधा । व्रतम् । पुरि-तत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (चेतः) विचार (हृदयम्) हृदय (मेधा)

१०—(धाता) धारको गुणः (च) (सविता) ऐश्वर्यप्रापको गुणः (अष्ठीवन्तौ) अ० २ । ३३ । ५ । जानुनी (जङ्घाः) गत्यर्थकस्य हन्तेः—कौटिल्ये यङ्, अच्, टाप् । गुल्फजान्वोरन्तराले अवयवाः (गन्धर्वाः) अ० ४ । ३७ । १२ पृथिवीधारका गुणाः (अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्सु प्राणेषु व्यापका गुणाः (कुष्ठिकाः) अ० ९ । ४ । १६ । बहिर्भूता अवयवाः (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । अदीना अखण्डिता वा वेदवाणी (शफाः) शम शान्तौ—अच्, मस्य फः पृषोदरादित्वात् । इति शब्दस्तोममहानिधिः । शान्तिव्यवहाराः ॥

११—(चेतः) ज्ञानम् (हृदयम्) हृदयं चेतनास्थानमोजसश्चाश्रयम् । शार्ङ्गधरः, अ० ५ । ४२ । (यकृत्) शकेर्ऋतिन् । उ० ४ । ५८ । यज सङ्गतिकरणे—ऋतिन्, जस्य कः । संगच्छमानम् । कालखण्डम् । यकृद्रञ्जकपित्तस्य स्थानं रक्तस्य संश्रयम् । शार्ङ्गधरः, अ० ५ । ३९ (मेधा) बुद्धिः (व्रतम्) वरणीयो व्यवहारः ।

बुद्धि (यक्नत्) [सङ्गति करने वाला] कलेजा (व्रतम्) व्रत [नियम] (पुरितत्) पुरीतत् [शरीर को फैलाने वाली सूक्ष्म आंत के समान हैं] ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ११ ॥

क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः ॥ १२ ॥

क्षुत् । कुक्षिः । इरा । वनिष्ठुः । पर्वताः । प्लाशयः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (क्षुत्) भूख (कुक्षिः) कोख, (इरा) अन्न (वनिष्ठुः) वनिष्ठु [अन्न रक्त आदि बांटने वाली आंत], (पर्वताः) मेघ (प्लाशयः) प्लाशियें [अन्न के आधार आंतों के समान हैं] ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १२ ॥

क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः ॥ १३ ॥

क्रोधः । वृक्कौ । मन्युः । आण्डौ । प्र-जा । शेपः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (क्रोधः) क्रोध (वृक्कौ) दोनों वृक [दो कुक्षि गोलक,] (मन्युः) तेज (आण्डौ) दोनों अण्डकोष, और (प्रजा) प्रजा [वंशावली] (शेपः) प्रजनन सामर्थ्य [के समान है] ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे देह में दोनों वृक ["गुरदे"], दोनों अण्डकोष और सन्तानोत्पादन नाड़ी शरीरबल के सूचक हैं, वैसे ही क्रोध आदि सृष्टि में हैं ॥१३॥

नियमः (पुरितत्) कृगॄशॄपॄकुटि० । उ० ४ । १४३ । पॄ पालनपूरणयोः—इ + तनु विस्तारे—क्विप् । पुरिं शरीरं तनोतीति । सूक्ष्मान्त्रम् ॥

१२—(क्षुत्) बुभुक्षा (कुक्षिः) उदरपार्श्वः (इरा) अन्नम् (वनिष्ठुः) अ० २ । ३३ । ४ । अन्नरक्तादिसंभाजकं स्थूलान्त्रम् (पर्वताः) मेघाः—निघ० १ । १० । (प्लाशयः) अ० २ । ३३ । ४ । प्र + अश भोजने—इञ् । रस्य लः । अन्नाधारा अन्त्रविशेषाः ॥

१३—(क्रोधः) कोपः (वृक्कौ) अ० ७ । ६६ । १ । स्वृवृभू० । उ० ३ । ४१ । वृजी वर्जने वृक आदाने वा—कक् । कुक्षिगोलकौ (मन्युः) अ० १ । १० । १ । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः—निरु० १० । २६ । दीप्तिः । प्रतापः (आण्डौ) अण्ड—अण् । अण्डकोषौ । वृषणौ (प्रजा) वंशावली (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । प्रजननसामर्थ्यम् ॥

इन नाड़ियों के लक्षण इस प्रकार हैं ।

वृक्कौ पुष्टिकरौ प्रोक्तौ जठरस्थस्य मेदसः ॥ १ ॥
वीर्यवाहिशिराधारौ वृषणौ पौरुषावहौ ।
गर्भाधानकरं लिङ्गमयनं वीर्यमूत्रयोः ॥ २ ॥

यह शार्ङ्गधर के वचन हैं—खण्ड १ अ० ५ श्लोक ४० व ४१ ॥

(वृक्कौ) दोनों वृक्क अर्थात् कुक्षिगोलक [गुरदे] पेटमें रहने वाले मेद पुष्ट करने वाले कहे जाते हैं ॥ १ ॥

दोनों वृषण अर्थात् आण्ड वीर्यवाही नाड़ियों के आधार, पुरुषार्थ के देने वाले हैं, लिङ्ग गर्भाधान करने वाला, वीर्य और मूत्र का मार्ग है ॥ २ ॥

नदी सूत्री वर्षस्य पतयः स्तना स्तनयित्नुरूधः ॥ १४ ॥

नदी । सूत्री । वर्षस्य । पतयः । स्तनाः । स्तनयित्नुः । ऊधः ॥ १४

भाषार्थ—[सृष्टि में] (नदी) नदी (सूत्री) जन्मदात्री [नाड़ी], (वर्षस्य पतयः) वर्षा के रक्षक [मेघ] (स्तनः) स्तन [दूध के आधार], (स्तनयित्नुः) गर्जन (ऊधः) मेड़ [दूध के छिद्र स्थान के समान है] ॥ १४ ॥

भावार्थ—सृष्टि और शरीर के अवयवों का परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट है १४

विश्वव्यचाश्चर्मौषधयो लोमानि नक्षत्राणि रूपम् १५

विश्व-व्यचाः । चर्म । ओषधयः । लोमानि । नक्षत्राणि । रूपम् १५

भाषार्थ—[सृष्टि में] (विश्वव्यचाः) सर्वव्याप्ति (चर्म) चर्म, (ओषधयः) ओषधें [अन्न आदि] (लोमानि) रोम, (नक्षत्राणि) नक्षत्र (रूपम्) रूप [के समान हैं] ॥ १५ ॥

१४—(नदी) सरित् (सूत्री) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—क्त्र, ङीप् । उत्पादयित्री नाडी (वर्षस्य पतयः) वृष्टिरक्षका मेघाः (स्तनाः) दुग्धाधाराः (स्तनयित्नुः) अ० ४ । १५ । ११ । गर्जनम् (ऊधः) अ० ४ । ११ । ४ । आपीनम् ॥

१५—(विश्वव्यचाः) व्यच छले सम्बन्धे च—असुन् सर्वव्याप्तिः (चर्म) त्वचा (ओषधयः) अन्नादिपदार्थाः (लोमानि) रोमाणि (नक्षत्राणि) अ० ३ । ७ । ७ । तारागणाः (रूपम्) सौन्दर्यम् ॥

भावार्थ—मन्त्र १४ के समान है ॥ १५ ॥

देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम् ॥ १६ ॥

देव-जनाः । गुदाः । मनुष्याः । आन्त्राणि । अत्राः । उदरम् ॥ १६

भाषार्थ—[सृष्टि में] (देवजनाः) उन्मत्त लोग (गुदाः) गुदा [मल त्याग नाड़ियां], (मनुष्याः) मननशील मनुष्य (आन्त्राणि) आंतें, (अत्राः) [अतनशील] विज्ञानी पुरुष (उदरम्) पेट [के समान हैं] ॥१६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १४ के समान है ॥ १६ ॥

रक्षांसि लोहितमितरजना ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

रक्षांसि । लोहितम् । इतर-जनाः ऊबध्यम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(रक्षांसि) राक्षस [दुष्ट जीव] (लोहितम्) रुधिर रोग, (इतरजनाः) पामर लोग (ऊबध्यम्) कुपचे अन्न [के समान हैं] ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १४ के समान है ॥ १७ ॥

अभ्रं पीबो मज्जा निधनम् ॥ १८ ॥

अभ्रम् । पीबः । मज्जा । नि-धनम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में] (अभ्रम्) मेघ (पीबः) मेद [शरीर के भीतर

१६—(देवजनाः) दिवु मदे—अच् । उन्मत्तजनाः (गुदाः) अ० २ । ३३ । ४ । मलत्यागनाड्यः (मनुष्याः) अ० ३ । ४ । ६ । मननशीलाः (आन्त्राणि) अ० २ । ३३ । ४ । उदरनाडीविशेषाः (अत्राः) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । अत सातत्यगमने—क्त्र, तलोपः । अतनशीलाः । अतिथयः । विज्ञानिनः (उदरम्) अ० २ । ३३ । ४ । जठरम् ॥

१७—(रक्षांसि) दुष्टजीवाः (लोहितम्) अ० ६ । १२७ । १ । रुधिर-विकारः (इतरजनाः) अ० ८ । १० (५) । ६ । पामराः (ऊबध्यम्) अ० ६ । ४ । १६ । अजीर्णमन्नम् ॥

१८—(अभ्रम्) मेघः (पीबः) अ० १ । ११ । ४ । पीव स्थौल्ये—असुन्,

चिकनाई], (निधनम्) राशीकरण (मज्जा) मज्जा [हड्डियों की चिकनाई के समान है] ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १४ के समान है ॥ १८ ॥

अ॒ग्निरासी॑न॒ उत्थि॑तो॒ऽश्विना॑ ॥ १९ ॥

अ॒ग्निः । आसी॑नः । उत्ऽस्थि॑तः । अ॒श्विना॑ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[सृष्टि में वह प्रजापति] (आसीनः) बैठा हुआ (अग्निः) [पार्थिव वा जाठर] अग्नि, (उत्थितः) उठा हुआ वह (अश्विना) सूर्य और चन्द्रमा [के समान है] ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि और सूर्य और चन्द्रमा अपने अपने लोकों के लिये उपकारी हैं, वैसे ही परमेश्वर समस्त ब्रह्माण्ड का हितकारी है ॥ १९ ॥

इन्द्रः॒ प्राङ् तिष्ठ॑न् दक्षि॒णा तिष्ठ॑न् य॒मः ॥ २० ॥

इन्द्रः॑ । प्राङ् । तिष्ठ॑न् । द॒क्षि॒णा । तिष्ठ॑न् । य॒मः ॥ २० ॥

प्र॒त्यङ् तिष्ठ॑न् धा॒तोदङ् तिष्ठ॑न्त्सवि॒ता ॥ २१ ॥

प्र॒त्यङ् । तिष्ठ॑न् । धा॒ता । उद॑ङ् । तिष्ठ॑न् । स॒वि॒ता ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[वह परमेश्वर] (प्राङ्) पूर्व वा सन्मुख (तिष्ठन्) ठहरा हुआ (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान्, (दक्षिणा) दक्षिण वा दाहिनी ओर (तिष्ठन्) ठहरा हुआ (यमः) न्यायकारी (प्रत्यङ्) पश्चिम वा पीछे की ओर (तिष्ठन्) ठहरा हुआ (धाता) धारण करने वाला और (उदङ्) उत्तर वा बाईं ओर (तिष्ठन्)

अस्य वः । शरीरस्नेहः (मज्जा) अ० १ । ११ । ४ । अस्थिस्नेहः (निधनम्) अ० ६ । ६ (५) । २ । राशीकरणम् ॥

१९—(अग्निः) पार्थिवो जाठरोऽग्निर्वा (आसीनः) उपविष्टः (उत्थितः) (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । सूर्याचन्द्रमसौ यथा ॥

२०,२१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (प्राङ्) प्र + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । पूर्वस्यां स्वाभिमुखीभूतायां वा दिशि (तिष्ठन्) प्रादुर्भवन् (दक्षिणा) दक्षिणस्यां दक्षिणहस्तस्थितायां वा दिशि (यमः) नियामकः (प्रत्यङ्) पश्चिमायां पश्चाद् भागे स्थितायां वा दिशि (धाता) सर्वधारकः

ठहरा हुआ (सविता) सब का चलाने वाला [है] ॥ २०,२१ ॥

भावार्थ—वह प्रजापति परमेष्ठी परमेश्वर ही सर्वशक्तिमान्, सर्व-नियन्ता और सर्वव्यापक है ॥ २०,२१ ॥

तृणानि प्राप्तः सोमो राजा ॥ २२ ॥

तृणानि । प्र-आप्तः । सोमः । राजा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[वह] (तृणानि) तृणों [सृष्टि के पदार्थों] में (प्राप्तः) प्राप्त होकर (राजा) सर्वशासक (सोमः) जन्म दाता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही सृष्टिकर्ता और सर्वनियन्ता है ॥ २२ ॥

मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः ॥ २३ ॥

मित्रः । ईक्षमाणः । आ-वृत्तः । आ-नन्दः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—[वह] (ईक्षमाणः) देखता हुआ (मित्रः) मित्र [हित-कारी], (आवृत्तः) सन्मुख वर्तमान (आनन्दः) आनन्द [स्वरूप है] ॥ २३ ॥

भावार्थ—सर्वदर्शी सर्वव्यापक परमेश्वर सब का हितकारी है ॥ २३ ॥

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् २४

युज्यमानः । वैश्व-देवः । युक्तः । प्रजा-पतिः । वि-मुक्तः । सर्वम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[वह] (युज्यमानः) ध्यान किया जाता हुआ (वैश्वदेवः) सब विद्वानों का हितकारी, (युक्तः) समाधि किया गया वह (विमुक्तः) वि-विध मुक्तस्वभाव (प्रजापतिः) प्रजापालक परमेश्वर (सर्वम्) व्यापक

(उदङ्) उत्तरस्यां वामहस्तस्थितायां वा दिशि (सविता) सर्वप्रेरकः ॥

२२—(तृणानि) अ० २ । ३० । १ । तृणवत् सृष्टिवस्तूनि (प्राप्तः) व्याप्तः सन् (सोमः) उत्पादकः (राजा) सर्वशासकः ॥

२३—(मित्रः) हितः (ईक्षमाणः) पश्यन् सन् (आवृत्तः) समन्ताद् वर्तमानः (आनन्दः) सुखस्वरूपः ॥

२४—(युज्यमानः) ध्यायमानः (वैश्वदेवः) सर्वविदुषां हितः (युक्तः)

ब्रह्म [है] ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना से मनुष्य सुख लाभ करते हैं ॥ २४ ॥

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ॥ २५ ॥

एतत् । वै । विश्व-रूपम् । सर्व-रूपम् । गो-रूपम् । ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(एतद्) व्यापक ब्रह्म (वै) ही (विश्वरूपम्) जगत् का रूप देने वाला, (सर्वरूपम्) सब का रूप देन वाला और (गोरूपम्) [प्राप्ति योग्य] स्वर्ग [सुख विशेष] का रूप देने वाला [है] ॥ २५ ॥

भावार्थ—सर्वस्रष्टा परमेश्वर प्राणियों को उनके कर्मानुसार सुख देता है ॥ २५ ॥

उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ॥ २६ ॥ (२१)

उप । एनम् । विश्व-रूपाः । सर्व-रूपाः । पशवः । तिष्ठन्ति । यः । एवम् । वेद ॥ २६ ॥ (२१)

भाषार्थ—(एनम्) उस [पुरुष] को (विश्वरूपाः) सब रूप [वर्ण] वाले और (सर्वरूपाः) सब आकार वाले (पशवः) [व्यक्त वाणी और अव्यक्त वाणी वाले] जीव (उप तिष्ठन्ति) पूजते हैं, (यः) जो (एवम्) इस प्रकार (वेद) जानता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की महिमा विचारकर पूर्वोक्त प्रकार से उपासना करके अपनी उन्नति करता है, वह सब प्राणियों का शासक होता है २६

समाहितः (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (विमुक्तः) विविधमुक्तस्वभावः (सर्वम्) व्यापकं ब्रह्म ॥

२५—(एतद्) एतेस्तुट् च । उ० १ । १३३ । इण् गतौ—अदि, तुट् च । व्यापकं ब्रह्म (वै) हि (विश्वरूपम्) जगतो रूपं यस्मात् तत् (सर्वरूपम्) सर्वरूपकरम् (गोरूपम्) गौः स्वर्गः । स्वर्गस्य रूपकरम् ॥

२६—(उप तिष्ठन्ति) पूजयन्ति (एनम्) ब्रह्मवादिनम् (विश्वरूपाः) सर्ववर्णाः (सर्वरूपाः) सर्वाकाराः (पशवः) पशवो व्यक्त वाचश्चाव्यक्तवाचश्च-निरु० ११ । २६ । प्राणिनः (यः) (एवम्) (वेद) जानाति ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-२२ ॥ वैद्यो देवता ॥ १-११, १३, १४, १६, १७, १९, २० अनुष्टुप् ; १२ विराडनुष्टुप् ; १५, १८ निचृदनुष्टुप् ; २१ विराट् पथ्या बृहती; २२ पथ्यापङ्क्तिः ॥

सर्वशरीररोगनाशोपदेशः—समस्त शरीर के रोग नाश का उपदेश ॥

इस सूक्त का मिलान अ० का० २ सूक्त ३३ से करो ॥

शीर्षक्तिं शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितम् ।
सर्वं शीर्षण्यं ते रोगं बहिर्निर्मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

शीर्षक्तिम् । शीर्ष-आमयम् । कर्ण-शूलम् । वि-लोहितम् ।
सर्वम् । शीर्षण्यम् । ते । रोगम् । बहिः । निः । मन्त्रयामहे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शीर्षक्तिम्) शिर की पीड़ा, (शीर्षामयम्) शिर की व्यथा, (कर्णशूलम्) कर्णशूल [कान की सूजन वा टीस] और (विलोहितम्) बिगड़े लोहू [सूजन आदि] को । (सर्वम्) सब (ते) तेरे (शीर्षण्यम्) शिर के (रोगम्) रोग को (बहिः) बाहिर (निः मन्त्रयामहे) हम विचार पूर्वक निकालते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम वैद्य निदान पूर्वक बाहिरी और भीतरी रोगों का नाश करके मनुष्यों को हृष्ट पुष्ट बनाता है, वैसे ही विद्वान् लोग विचार पूर्वक अविद्या को मिटा कर आनन्दित होते हैं ॥ १ ॥

यही भावार्थ २ से २२ तक अगले मन्त्रों में जानो ॥

कर्णाभ्यां ते कङ्कूषेभ्यः कर्णशूलं विसल्पकम् । सर्वं० ॥ २ ॥

कर्णाभ्याम् । ते । कङ्कूषेभ्यः । कर्ण-शूलम् । वि-सल्पकम् । ० ॥ २ ॥

१—(शीर्षक्तिम्) अ० १ । १२ । ३ । शिरः पीडाम् (शीर्षामयम्) शिरोरोगम् (कर्णशूलम्) शूल रोगे-अच् । श्रोत्ररोगम् । (विलोहितम्) विकृतरक्तम् (सर्वम्) समस्तम् (शीर्षण्यम्) अ० २ । ३१ । ४ । शिरसि भवम् (ते) तव (रोगम्) व्याधिम् (बहिः) बहिर्भावे (निः मन्त्रयामहे) मन्त्रा मननात्—निरु० ७ । १२ । सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । मन ज्ञाने—ष्ट्रन् । मन्त्रो मननम् । ततो नामधातुरूपम् । मननेन निः सारयामः ॥

भावार्थ—(ते) तेरे (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से और (कङ्कूषेभ्यः कङ्कूषों [फैली हुई कान की भीतरी नाड़ियों] से (कर्णशूलम्) कर्णशूल [कान की सूजन वा टीस] और (विसल्पकम्) विसल्प [विसर्प रोग, फूटन] को। (सर्वम्) सब (ते) तेरे......म० १ ॥ २ ॥

यस्य॑ हे॒तोः प्र॒च्यव॑ते॒ यक्ष्मः॑ कर्ण॒त आ॒स्य॒तः । सर्वं॑०॥३॥

यस्य॑ । हे॒तोः । प्र॒ऽच्यव॑ते । यक्ष्मः॑ । क॒र्ण॒तः । आ॒स्य॒तः ।०।३।

भावार्थ—(यस्य) जिस [रोग] के (हेतोः) कारण से (यक्ष्मः) राजरोग [क्षयी आदि] (कर्णतः) कान से और (आस्यतः) मुख से (प्रच्यवते) फैलता है। (सर्वम्) सब (ते) तेरे......म० १ ॥ ३ ॥

यः कृ॒णोति॑ प्र॒मोत॑म॒न्धं कृ॒णोति॒ पूरु॑षम् । सर्वं॑०॥ ४ ॥

यः । कृ॒णोति॑ । प्र॒ऽमोत॑म् । अ॒न्धम् । कृ॒णोति॑ । पुरु॑षम् ।०।४।

भावार्थ—(यः) जो [रोग] (पुरुषम्) पुरुष को (प्रमोतम्) गूंगा [वा बहिरा] (कृणोति) करता है, [वा] (अन्धम्) अन्धा (कृणोति) करता है। (सर्वम्) सब (ते) तेरे......म० १ ॥ ४ ॥

अ॒ङ्ग॒भे॒दम॑ङ्गज्व॒रं वि॒श्वा॒ङ्ग्यं॑ वि॒सल्प॑कम् ।
सर्वं॑ शीर्ष॒ण्यं॑ ते॒ रोगं॑ ब॒हिर्निर्म॑न्त्रयामहे ॥ ५ ॥

अ॒ङ्ग॒ऽभे॒दम् । अ॒ङ्ग॒ऽज्व॒रम् । वि॒श्व॒ऽअ॒ङ्ग्य॑म् । वि॒ऽस॒ल्प॑कम् ॥

२—(कर्णाभ्याम्) अ० २ । ३३ । १ । श्रोत्राभ्याम् (कङ्कूषेभ्यः) पीयेरूषन् । उ० ४ । ७६ । ककि गतौ-ऊषन् । व्यापकेभ्यः कर्णनाडीविशेषेभ्यः (विसल्पकम्) अ० ७ । १२७ । १ । विसर्परोगम् । अन्यद् गतम् ॥

३—(यस्य) रोगस्य (हेतोः) कमिमनिजनि० । उ० १ । ७३ । हि गतिवृद्ध्योः—तु । कारणात् (प्रच्यवते) विस्तीर्यते (यक्ष्मः) अ० २ । १० । ५ । राजरोगः । अन्यत् सुगमम् ॥

४—(यः) रोगः (प्रमोतम्) मुट आक्षेपमर्दनयोः-घञ्, टस्य तः । प्रमोटं कुटिलीकृतं मूकं बधिरं वा (अन्धम्) अन्ध दृष्टिनाशे-अच्, चक्षुर्हीनम् । अन्यत् सुगमम् ॥

सर्वम् । शीर्षण्यम् । ते । रोगम् । बहिः । ० ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अङ्गभेदम्) अङ्ग अङ्ग की फूटन, (अङ्गज्वरम) अङ्ग अङ्ग के ज्वर और (विश्वाङ्ग्यम्) सर्वाङ्गव्यापी (विसल्पकम्) विसर्प रोग को (सर्वम्) सब (ते) तेरे (शीर्षण्यम) शिर के (रोगम्) रोग को (बहिः) बाहिर (निः मन्त्रयामहे) हम विचार पूर्वक निकालते हैं ॥ ५ ॥

यस्य भीमः प्रतीकाश उद्वेपयति पूरुषम् ।
तक्मानं विश्वशारदं बहि० ॥ ६ ॥

यस्य । भीमः । प्रति-काशः । उत्-वेपयति । पुरुषम् ॥ तक्मानम् । विश्व-शारदम् । बहिः । ० ॥ ६ ॥

भावार्थ—(यस्य) जिस [ज्वर] का (भीमः) भयानक (प्रतिकाशः) स्वरूप (पुरुषम्) पुरुष को (उद्वेपयति) कंपा देता है । [उस] (विश्वशारदम्) सब शरीर में चकत्ते करने वाले (तक्मानम्) ज्वर को (बहिः) बाहिर······म० ५ ॥ ६ ॥

य ऊरू अनुसर्पत्यथो एति गवीनिके ।
यक्ष्मं ते अन्तरङ्गेभ्यो बहि० ॥ ७ ॥

यः । ऊरू इति । अनु-सर्पति । अथो इति । एति । गवीनिके इति ॥ यक्ष्मम् । ते । अन्तः । अङ्गेभ्यः । बहिः । ० ॥ ७ ॥

५—(अङ्गभेदम्) अ० ५ । ३० । ९ । शरीरावयवविदारम् (अङ्गज्वरम्) प्रत्यङ्गतापम् (विश्वाङ्ग्यम्) सर्वाङ्गभवम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(यस्य) तक्मनः (भीमः) भयानकः (प्रतिकाशः) काशृ दीप्तौ—घञ् । दर्शनम् । स्वरूपम् (उद्वेपयति) कम्पायते (पुरुषम्) (तक्मानम्) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकारकं ज्वरम् (विश्वशारदम्) शार दौर्बल्ये—अच्, यद्वा शॄ हिंसायाम्—घञ् । सर्वस्मिन् शरीरे शारं कर्बुरवर्णं ददातीति तम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—(यः) जो [राजरोग] (ऊरू) दोनों जंघाओं में (अनुसर्पति) रेंगता जाता है, (अथो) और भी (गवीनिके) पार्श्वस्थ दोनों नाड़ियों में (एति) पहुंचता है। [उस] (यक्ष्मम्) राज रोग को (ते) तेरे (अन्तः) भीतरी (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से (बहिः) बाहिर......म० ५ ॥ ७ ॥

यदि॒ कामा॑दपका॒माद्धृद॑या॒ज्जाय॑ते॒ परि॑ ।

हृ॒दो ब॒लास॒मङ्गे॑भ्यो ब॒हिः ॥ ८ ॥

यदि॑ । कामा॑त् । अ॒प॒ऽका॒मात् । हृद॑यात् । जाय॑ते । परि॑ ॥

हृ॒दः । ब॒लास॑म् । अङ्गे॑भ्यः । ब॒हिः । ० ॥ ८ ॥

भावार्थ—(यदि) यदि वह [बलास रोग] (कामात्) इच्छा से [अथवा] (अपकामात्) द्वेष के कारण (हृदयात्) हृदय से (परि) सब ओर (जायते) उत्पन्न होता है। (हृदः) हृदय के (बलासम्) बलास [बल के गिराने वाले, संनिपात, कफादि रोग] को (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से (बहिः) बाहिर .....म० ५ ॥ ८ ॥

ह॒रि॒माणं॑ ते॒ अङ्गे॑भ्यो॒ऽप्वाम॑न्त॒रोद॑रात् ।

य॒क्ष्मो॒धाम॒न्तरा॒त्मनो॑ ब॒हिर्निर्म॑न्त्रयामहे ॥ ९ ॥

ह॒रि॒माण॑म् । ते॒ । अङ्गे॑भ्यः । अ॒प्वाम् । अ॒न्त॒रा । उ॒दरा॑त् ।

य॒क्ष्मः॒ऽधाम् । अ॒न्तः । आ॒त्मनः॑ । ब॒हिः । निः । म॒न्त्र॒याम॒हे॒ ९

भावार्थ—(हरिमाणम्) पीलिया [वा कामला रोग] को (ते) तेरे (अङ्गेभ्यः) अङ्गों से, और (अप्वाम्) वायु गोला को (अन्तरा) भीतर (उद-

७—(यः) यक्ष्मः (ऊरू) जानूपरिभागौ (अनुसर्पति) अनुक्रमेण गच्छति (अथो) अपि च (एति) प्राप्नोति (गवीनिके) अ० १। ११। ५। पार्श्वस्थनाड्यौ (अन्तः) मध्येभ्यः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(यदि) सम्भावनायाम् (कामात्) अभिलाषात् (अपकामात्) द्वेषात् (हृदयात्) (जायते) उत्पद्यते (परि) सर्वतः (हृदः) हृदयस्य (बलासम्) अ० ४। ९। ८। बलमस्यतीति। श्लेष्मविकारम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(हरिमाणम्) अ० १। २२। १। कामिलादिरोगम् (ते) तव (अङ्गेभ्यः) (अप्वाम्) अ० ३। २। ५। अपवातीति हिनस्तीति। अप्वा पर्दनया

शात्) पेट से । (यक्ष्मोधाम्) राज रोग करने वाली [व्यथा] को (अन्तः) भीतर (आत्मनः) देह से (बहिः) बाहिर (निः मन्त्रयामहे) हम विचार पूर्वक निकालते हैं ॥ ९ ॥

आसो॑ बलासो॒ भव॑तु मूत्रं॑ भवत्वा॒मय॑त् ।
यक्ष्मा॑णां सर्वे॑षां वि॒षं निर॑वोचम॒हं त्वत् ॥१०॥ (२२)

आसः । बलासः । भवतु । मूत्रम् । भवतु । आमयत् ॥ यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् १०(२२)

भाषार्थ—[यदि] (बलासः) बलास [बलका गिराने वाला सन्निपात, कफ़ादि] (आसः) धनुष [अङ्ग को धनुष समान टेढ़ा करने वाला] (भवतु) हो जावे, [और उससे] (मूत्रम्) मूत्र (आमयत्) पीड़ा देनेवाला (भवतु) होजावे । (सर्वेषाम्) सब (यक्ष्माणाम्) क्षय रोगों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (अहम्) मैंने (निः) निकालकर (अवोचम्) बता दिया है ॥ १० ॥

ब॒हिर्बिलं॒ निर्द्र॑वतु काहा॑बा॒हं तवो॒दरा॑त् । यक्ष्मा॑णां०११

बहिः । बिलम् । निः । द्रवतु । काहाबाहम् । तव । उदरात् ।०११

भाषार्थ—(काहाबाहम्) खांसी लाने वाला (बिलम्) बिल [फूटन रोग (तव उदरात्) तेरे पेट से (बहिः) बाहिर (निःद्रवतु) निकल जावे ।

विद्धाऽपवीयते । व्याधिर्वा भयं वा-निरु० ६ । १२ । वायुशूलम् (अन्तरा) मध्ये (यक्ष्मोधाम्) यक्ष्म+दधातेः—क, सकारोपस र्जनम् । क्षयधारिणीं व्यथाम् (अन्तः) मध्ये (आत्मनः) देहस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१०—(आसः) असु क्षेपणे—घञ् । धनुः (बलासः) म० ८ । श्लेष्मविकारः (भवतु) (मूत्रम्) अ० १ । ३ । ६ । प्रस्रावः (आमयत्) अम पीडने, चुरादेः—शतृ । पीडयत् (यक्ष्माणाम्) राजरोगाणाम् (सर्वेषाम्) (विषम्) कष्टकरं प्रभावम् (निः) निःसार्य (अवोचम्) कथितवानस्मि (अहम्) वैद्यः (त्वत्) त्वत्सकाशात् ॥

११—(बहिः) बहिर्भावे (बिलम्) बिल भेदने-क । भेदनरोगः (निः) (द्रवतु) गच्छतु (काहाबाहम्) कास+आङ्+वह प्रापणे—अण्, सस्य हः,

(सर्वेषाम् यक्ष्माणाम्) सब क्षय रोगों के......म० १० ॥ ११ ॥

उदरात् ते क्लोम्नो नाभ्या हृदयादधि ।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ १२ ॥

उदरात् । ते । क्लोम्नः । नाभ्याः । हृदयात् । अधि ॥ यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् ॥१२॥

भावार्थ—(ते) तेरे (उदरात्) उदर से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (नाभ्याः) नाभी से और (हृदयात् अधि) हृदय से भी । (सर्वेषाम्) सब (यक्ष्माणाम्) क्षय रोगों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (अहम्) मैं ने (निः) निकाल कर (अवोचम्) बता दिया है ॥ १२ ॥

याः सीमानं विरुजन्ति मूर्धानं प्रत्यर्षणीः ।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १३ ॥

याः । सीमानम् । वि-रुजन्ति । मूर्धानम् । प्रति । अर्षणीः ॥ अहिंसन्तीः । अनामयाः । निः । द्रवन्तु । बहिः । बिलम् ॥१३॥

भावार्थ—(याः) जो (अर्षणीः) दौड़ने वाली [महापीड़ायें] (मूर्धानम् प्रति) मस्तक की ओर [चलकर] (सीमानम्) चांद [खोपड़ी] को (विरुजन्ति) फोड़ डालती हैं । वे (अहिंसन्तीः) न सताती हुई, (अनामयाः) रोगरहित होकर (बहिः) बाहिर (निः द्रवन्तु) निकल जावें, और (विलम्) विल [फूटन रोग भी, निकल जावे] ॥ १३ ॥

यस्य वः । कासावाहम् । कासरोगोत्पादकम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(क्लोम्नः) अ० २ । ३३ । ३ । फुप्फुसात् । पिपासास्थानात् (अधि) अपि । अन्यत् सुगमम् ॥

१३—(याः) (सीमानम्) नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । षिञ् बन्धने—मनिन् । मस्तकभागम् । कपालम् (विरुजन्ति) विदारयन्ति (मूर्धानम्) मस्तकम् (प्रति) प्रतिगत्य (अर्षणीः) सुयुरुवृञो युच् । उ०२ । ७४ । ऋष गतौ—युच्, ङीप् । धावन्त्यः । महापीडाः (अहिंसन्तीः) अनाशयन्त्यः (अनामयाः) रोगरहिताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

या हृदंयमुपर्षन्त्यंनुतन्वन्ति कीकंसाः । अहिं० ॥ १४ ॥

याः । हृदंयम् । उप-ऋषन्ति । अनु-तन्वन्ति । कीकंसाः ।०॥१४

भाषार्थ—(याः) जो [महापीड़ायें] (हृदयम्) हृदय में (उपर्षन्ति) घुस जाती हैं और (कीकसाः) हंसली की हड्डियों में (अनुतन्वन्ति) फैलती जाती हैं । वे (अहिंसन्तीः) न सताती हुई ......१३ ॥ १४ ॥

याः पार्श्वे उपर्षन्त्यंनुनिक्षंन्ति पृष्टीः । अहिं० ॥ १५ ॥

याः । पार्श्वे इति । उप-ऋषन्ति । अनु-निक्षंन्ति । पृष्टीः ।०॥१५

भाषार्थ—(याः) जो [महापीड़ायें] (पार्श्वे) दोनों कांखों में (उपर्षन्ति) घुस जाती हैं और (पृष्टीः) पसलियों को (अनुनिक्षन्ति) चुबा डालती हैं । वे (अहिंसन्तीः) न सताती हुई ...... १३ ॥ १५ ॥

यास्तिरश्चीरुपर्षन्त्यर्षणीर्वक्षणासु ते । अहिं० ॥ १६

याः । तिरश्चीः । उप-ऋषन्ति । अर्षणीः । वक्षणासु । ते ।०। १६

भाषार्थ—(याः) जो (अर्षणीः) महापीड़ायें (तिरश्चीः) तिरछी होकर (ते) तेरी (वक्षणासु) छाती के अवयवों में (उपर्षन्ति) घुस जाती हैं । वे (अहिंसन्तीः) न सताती हुई ......१३ ॥ १६ ॥

या गुदां अनुसर्पन्त्यान्त्राणि मोहयंन्ति च । अहिं० ॥१७॥

याः । गुदाः । अनु-सर्पन्ति । आन्त्राणि । मोहयंन्ति । च ।०।१७

१४—(याः) अर्षण्यः (उपर्षन्ति) ऋषी गतौ । प्रविशन्ति (अनुतन्वन्ति) अनुलक्ष्य विस्तीर्यन्ते (कीकसाः) अ० २ । ३३ । २ । जत्रुवक्षोगतास्थीनि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(पार्श्वे) अ० २ । ३३ । ३ । कक्षयोरधोभागौ (अनुनिक्षन्ति) णिक्ष चुम्बने । निरन्तरं पीडयन्ति (पृष्टीः) अ०२ । ७ । ५ । पार्श्वास्थीनि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(याः) (तिरश्चीः) वक्रगामिन्यः (अर्षणीः) म० १३ । महापीडाः (वक्षणासु) अ० ७ । ११४ । १ । वक्षःस्थलेषु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(याः) जो [महापीड़ायें] (गुदाः) गुदा की नाड़ियों में (अनुसर्पन्ति) रेंगती जाती हैं (च) और (आन्त्राणि) आंतों को (मोहयन्ति) गड़बड़ कर देती हैं। वे (अहिंसन्तीः) न सताती हुई ......१३॥ १७॥

या मुज्ज्ञो निर्धयन्ति परूंषि विरुजन्ति च।

अहिंसन्तीरनामया निर्द्रवन्तु बहिर्बिलम् ॥ १८ ॥

याः। मुज्ज्ञः। निः-धयन्ति। परूंषि। वि-रुजन्ति। च॥

अहिंसन्तीः। अनामयाः। निः। द्रवन्तु। बहिः। बिलम् ॥१८

भाषार्थ—(याः) जो [महापीड़ायें] (मजज्ञः) मज्जाओं [हड्डी की मींगों] को (निर्धयन्ति) चूस लेती हैं (च) और (परूंषि) जोड़ों को (विरुजन्तिः) फोड़ डालती हैं। वे (अहिंसन्तीः) न सताती हुई (अनामयाः) रोग रहित होकर (बहिः) बाहिर (निः द्रवन्तु) निकल जावें, और (बिलम्) बिल [फूटन रोग भी, निकल जावे] ॥ १८ ॥

ये अङ्गानि मुदयन्ति यक्ष्मासो रोपणास्तव।

यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमुहं त्वत् ॥ १९ ॥

ये। अङ्गानि। मुदयन्ति। यक्ष्मासः। रोपणाः। तव॥ यक्ष्माणाम्। सर्वेषाम्। विषम्। निः। अवोचम्। अहम्। त्वत् ॥१९॥

भाषार्थ—(ये) जो (रोपणाः) व्याकुल करने वाले (यक्ष्मासः) क्षयरोग

१७—(याः) अर्शरयः (गुदाः) अ० २। ३३। ४। मलत्यागनाडीः (अनुसर्पन्ति) अनुक्रमेण प्राप्नुवन्ति (आन्त्राणि) अ० ६। ७। १६। नाडीविशेषान् (मोहयन्ति) व्याकुलीकुर्वन्ति। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(याः) अर्शरयः (मजज्ञः) अ० १। ११। ४। अस्थिमध्यस्थस्नेहान् (निर्धयन्ति) धेट् पाने। नितरां पिबन्ति (परूंषि) ग्रन्थीन्। अन्यत् पूर्ववत्—म० १३ ॥

१९—(ये) (अङ्गानि) शरीरावयवान् (मदयन्ति) उन्मत्तानि कुर्वन्ति (यक्ष्मासः) असुगागमः। यक्ष्माः। क्षयरोगाः (रोपणाः) रुपुरुलृजो गुच्।

(तव) तेरे (अङ्गानि) अङ्गों को (मदयन्ति) उन्मत्त कर देते हैं । (सर्वेषाम्) [इन] सब (यक्ष्माणाम्) क्षय रोगों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (अहम्) मैं ने (निः) निकालकर (अवोचम्) बता दिया है ॥ १९ ॥

विसल्पस्य विद्रधस्य वातीकारस्य वालजेः ।
यक्ष्माणां सर्वेषां विषं निरवोचमहं त्वत् ॥ २० ॥

वि-सल्पस्य । वि-द्रधस्य । वाती-कारस्य । वा । अलजेः ॥
यक्ष्माणाम् । सर्वेषाम् । विषम् । निः । अवोचम् । अहम् । त्वत् २०

भाषार्थ—(विसल्पस्य) [विसर्प रोग, हड़फूटन] के, (विद्रधस्य) हृदय के फोड़े के, (वातीकारस्य) गठिया रोग के, (वा) और (अलजेः) अलजि [नेत्र रोग] के । (सर्वेषाम्) [इन] सब (यक्ष्माणाम्) क्षय रोगों के (विषम्) विष को (त्वत्) तुझ से (अहम्) मैं ने (निः) निकालकर (अवोचम्) बता दिया है ॥ २० ॥

पादाभ्यां ते जानुभ्यां श्रोणिभ्यां परि भंससः ।
अनूकादर्षणीरुष्णिहाभ्यः शीर्ष्णो रोगमनीनशम् ॥ २१

पादाभ्याम् । ते । जानु-भ्याम् । श्रोणि-भ्याम् । परि । भंससः ॥
अनूकात् । अर्षणीः । उष्णिहाभ्यः । शीर्ष्णः । रोगम् । अनीनशम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (पादाभ्याम्) दोनों पैरों से, (जानुभ्याम्) दोनों जानुओं से, (श्रोणिभ्याम्) दोनों कूल्हों से और (भंससः परि) गुह्य स्थान के

उ० २ । ७४ । रुप विमोहने—युच् । व्याकुलीकराः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १० ॥

२०—(विसल्पस्य) म० २ । विसर्परोगस्य (विद्रधस्य) अ० ६ । १२७ । १ । हृदयव्रणस्य (वातीकारस्य) वातरोगस्य (वा) च (अलजेः) अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु—क्विप् । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अज गतिक्षेपणयोः—इन् । शक्तिनाशकस्य नेत्ररोगविशेषस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१—(ते) तव (पादाभ्याम्) पद्भ्याम् (जानुभ्याम्) दृसनिजनि० । उ० १ । ३ । जन जनने; जनी प्रादुर्भावे—ञुण् । जङ्घोपरिभागाभ्याम् (श्रोणि-

चारों ओर से। (अनूकात्) रीढ़ से और (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से (अर्षणीः) महापीड़ाओं को और (शीर्ष्णः) शिर के (रोगम्) रोग को (अनीनशम्) मैं ने नाश कर दिया है ॥ २१ ॥

सं ते शीर्ष्णः कपालानि हृदयस्य च यो विधुः। उद्यन्नादित्य रश्मिभिः शीर्ष्णो रोगमनीनशोऽङ्गभेदमशीशमः ॥ २२ ॥ (२३)

सम्। ते। शीर्ष्णः। कपालानि। हृदयस्य। च। यः। विधुः॥ उत्-यन्। आदित्य। रश्मिभिः। शीर्ष्णः। रोगम्। अनीनशः। अङ्ग-भेदम्। अशीशमः॥ २२ ॥ (२३)

भाषार्थ—[हे रोगी!] (ते) तेरे (शीर्ष्णः) शिर के (कपालानि) कपाल की हड्डियां (सम्) स्वास्थ [होवें], (च) और (हृदयस्य) हृदय की (यः) जो (विधुः) धड़क [है वह भी ठीक होवे]।

(आदित्य) हे सूर्य [समान तेजस्वी वैद्य!] (उद्यन्) उदय होते हुये तू ने (रश्मिभिः) [जैसे सूर्य अपनी] किरणों से (शीर्ष्णः) शिर के (रोगम्) रोग को (अनीनशः) नाश कर दिया है, और (अङ्गभेदम्) अङ्गों की फूटन को (अशीशमः) तू ने शान्त कर दिया है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्यके उदय होने से अन्धकार का नाश होता है, वैसे ही

भ्याम्) अ० २। ३३। ५। नितम्बाभ्याम् (परि) सर्वतः (संससः) अ० २। ३३। ५। गुह्यस्थानात् (अनूकात्) अ० ४। १४। ८। पृष्ठवंशात् (अर्षणीः) म० १३। महापीड़ाः (उष्णिहाभ्यः) अ० २। ३३। २। ग्रीवानाड़ीभ्यः (शीर्ष्णः) शिरसः (रोगम्) (अनीनशम्) अ० १। २३। ४। नाशितवानस्मि ॥

२२—(सम्) सम्यक्। स्वस्थानि (शीर्ष्णः) मस्तकस्य (कपालानि) तमिविशिबिडि०। उ० १। ११८। कपि चलने—कालन्, नलोपः। शिरोऽस्थीनि (हृदयस्य) (च) (यः) (विधुः) पृभिदिव्यधि०। उ० १। २३। व्यध ताडने-कु। ग्रहिज्यावयिव्यधि०। पा० ६। १। १६। इति सम्प्रसारणम्। ताडनम् (उद्यन्) उद्गच्छन् (आदित्य) हे सूर्यवत्तेजस्विन् वैद्य (रश्मिभिः) किरणैर्यथा (शीर्ष्णः) मस्तकस्य (रोगम्) (अनीनशः) नाशितवानसि (अङ्गभेदम्) अङ्गानां विदारणम् (अशीशमः) शान्तीकृतवानसि ॥

उत्तम वैद्यों की चिकित्सा से रोगों का निवारण होता है, और इसी प्रकार विद्वान् पुरुष आत्मदोष की निवृत्ति करके आत्मोन्नति करता है ॥ २२ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ९ ॥

१-२२ ॥ आत्मा देवता ॥ १-११, १३,१५, १९-२२ त्रिष्टुप्; १२, १६ जगती; १४, १८ निचृत् जगती; १७ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

जीवात्मपरमात्मज्ञानोपदेशः—जीवात्मा और परमात्मा के ज्ञान का उपदेश ॥

अस्य वामस्य पलितस्य होतुस्तस्य भ्राता मध्यमो अस्त्यश्नः। तृतीयो भ्राता घृतपृष्ठो अस्यात्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम् ॥ १ ॥

अस्य। वामस्य। पलितस्य। होतुः। तस्य। भ्राता। मध्यमः॥ अस्ति। अश्नः। तृतीयः। भ्राता। घृत-पृष्ठः। अस्य। अत्र। अपश्यम्। विश्पतिम्। सप्त-पुत्रम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [जगत्] के (वामस्य) प्रशंसनीय, (पलितस्य) पालनकर्ता, (होतुः) तृप्ति करने वाले (तस्य) उस [सूर्य] का (मध्यमः) मध्यवर्ती (भ्राता) भ्राता [भाई समान हितकारी] (अश्नः) [व्यापक] विजुली (अस्ति) है। (अस्य) इस [सूर्य] का (तृतीयः) तीसरा (भ्राता) भ्राता (घृतपृष्ठः) घृतों [प्रकाश करने वाले घी, काष्ठ आदि] से स्पर्श किया

१—(अस्य) दृश्यमानस्य जगतः (वामस्य) प्रशस्यस्य-निघ० ३। ८। (पलितस्य) फलेरितजादेश्च पः। उ० ५। ३४। फल निष्पत्तौ यद्वा ञि फला विशरणे-इतच्, फस्य पः। यद्वा पल गतौ पालने च—इतच्। पालयितुः—निरु० ४। २६ (होतुः) तर्पकस्य। दातुः (तस्य) आदित्यस्य (भ्राता) अ०

हुआ [पार्थिव अग्नि है], (अत्र) इस [सूर्य] में (सप्तपुत्रम्) सात [इन्द्रियों–त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को शुद्ध करने वाले (विश्पतिम्) प्रजाओं के पालनकर्ता [जगदीश्वर] को (अपश्यम्) मैं ने देखा है ॥१॥

भावार्थ—संसार में सूर्य के तेजोरूप अंश बिजुली और अग्नि हैं और तीनों भाई के समान परस्पर भरण करते हैं, जिससे अनेक लोकों की स्थिति है। विज्ञानी पुरुष साक्षात् करते हैं वह परमात्मा अन्तर्यामी रूप से विराजकर उस सूर्य को भी अपनी शक्ति में रखता है ॥ १ ॥

१—यह मन्त्र निरुक्त ४ । २६ । में व्याख्यात है ॥

२—मन्त्र १–२२ ऋग्वेद मण्डल १ सूक्त १६४ के मन्त्र १–२२ कहीं कहीं आगे पीछे और कुछ पाठ भेद से हैं ॥ मन्त्र १–४ ऋग्वेद में १–४ हैं ॥

सप्त युञ्जन्ति रथमेकचक्रमेको अश्वो वहति सप्तनामा।
त्रिनाभि चक्रमजरमनर्वं यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः ॥२॥

सप्त । युञ्जन्ति । रथम् । एक-चक्रम् । एकः । अश्वः । वहति । सप्त-नामा ॥ त्रि-नाभि । चक्रम् । अजरम् । अनर्वम् । यत्र । इमा । विश्वा । भुवना । अधि । तस्थुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सप्त) सात [इन्द्रियां त्वचा आदि—म० १] (एकचक्रम्) एक चक्रवाले [अकेले पहिये के समान काम करने वाले जीवात्मा से युक्त]

---

४ । ४ । ५ । भ्रातेव हितकारी (मध्यमः) मध्यवर्ती (अश्नः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । अशू व्याप्तौ अश भोजने वा-नप्रत्ययः । अशनः । व्यापनः । अशनिः । विद्युत् । (तृतीयः) (भ्राता) (घृतपृष्ठः) पृष्ठं स्पृशतेः संस्पृष्टमङ्गैः—निरु० ४ । ३ । घृतैः प्रकाशसाधनैः स्पृष्टः । (अस्य) सूर्यस्य (अत्र) सूर्ये (अपश्यम्) अद्राक्षम् (विश्पतिम्) विशां प्रजानां पालकम् (सप्तपुत्रम्) पुनातीति पुत्रः । सप्तानां त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीनां शोधकम् ॥

२—(सप्त) त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः (युञ्जन्ति) योजयन्ति (रथम्) रथो रंहतेर्गतिकर्मणः स्थिरतेर्वा स्याद्विपरीतस्य रममाणोऽस्मिंस्तिष्ठतीति वा रपतेर्वा रसतेर्वा—निरु० ९ । ११ । रंहणशीलं रथरूपं वा शरीरम् । (एकचक्रम्) एकचारिणम्—निरु० ४ । २६ । एकचक्रवद् भ्रमणशीलेनात्मना युक्तम् ।

(रथम्) रथ [वेगशील वा रथ समान, शरीर] को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं; (एकः) अकेला (सप्तनामा) सात [त्वचा आदि इन्द्रियों] से झुकने वाला [प्रवृत्ति करने वाला] (अश्वः) अश्व [अश्वरूप व्यापक जीवात्मा] (त्रिनाभि) [सत्त्व, रज और तमोगुण रूप] तीन बन्धन वाले (अजरम्) चलने वाले [वा जीर्णता रहित], (अनर्वम्) न टूटे हुये (चक्रम्) चक्र [चक्र समान काम करने वाले अपने जीवात्मा] को [उस परमात्मा में] (वहति) ले जाता है (यत्र) जिस [परमात्मा] में (इमा) यह (विश्वा) सब (भुवना) लोक (अधि) यथावत् (तस्थुः) ठहरे हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—अकेला अपने पुरुषार्थ का भोगने वाला जो निश्चल ब्रह्मचारी त्वचा आदि सात इन्द्रियों से सम्पन्न होकर सत्त्वादि तीनों गुणों को साक्षात् कर लेता है, वह जगदीश्वर परमात्मा में पहुंच कर आनन्द पाता है ॥ २ ॥

यह मन्त्र आगे आया है—अ० १३ । ३ । १८ ॥

२—भगवान् यास्कमुनि के अनुसार अर्थ—निरु० ४ । २७ ॥

(सप्त) सात [किरण] (एकचक्रम्) अकेले चलने वाले (रथम्) रथ [रंहणशील सूर्य] को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं, (एकः) अकेला (सप्त-

---

(एकः) असहायः (अश्वः) अ० १ । १६ । ४ । अश्वरूपो व्यापकः जीवात्मा सूर्यो वा (वहति) प्रापयति (सप्तनामा) नामन्सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । म्ना अभ्यासे—मनिन् । यद्वा नमतेर्नमयतेर्वा—मनिन् । सप्तभिरिन्द्रियैस्त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिभिर्नमतीति यः सः । सप्तनामादित्यः सप्तास्मै रश्मयो रसानभिसन्नामयन्ति सप्तैनमृषयः स्तुवन्तीतिवा—निरु० ४ । २७ । (त्रिनाभि) सत्त्वरजस्तमांसि बन्धनानि यस्य तत् । त्रिनाभि चक्रं त्र्यृतुः संवत्सरो ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति—निरु० ४ । २७ । (चक्रम्) स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । चक तृप्तौ प्रतिघातेच-रक् । यद्वा क्रियतेऽनेन । कृ-घञर्थे क, द्वित्वम् । चक्रं चकतेवा चरतेर्वा क्रामतेर्वा—निरु० ४ । २७ । रथाङ्गम् (अजरम्) ऋच्छेररः । उ० ४ । १३१ । इति अज गतिक्षेपणयोः-अरप्रत्ययः । गतिशीलम् । अजरणधर्माणम्—निरु० ४ । २७ । (अनर्वम्) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः । उ० १ । १५५ । नञ्+ऋ गतौ हिंसायां च—वप्रत्ययः । अहिंसितम् । अक्षीणम् । अप्रत्यृतमन्यस्मिन्—निरु० ४ । २७ । (यत्र) यस्मिन् परमात्मनि तस्मिन् (इमा) इमानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवना) लोकाः (अधि) यथावत् (तस्थुः) लडर्थे लिट् । तिष्ठन्ति । वर्तन्ते ॥

नामा) सप्तनामा [जिसके लिये सात किरणें रसों को झुकाती हैं] (अश्वः) अश्व [व्यापक सूर्य] (अजरम्) न जीर्ण होने वाले, (अनर्वम्) विना सहारे वाले (त्रिनाभि) तीन नाभियों [तीन ऋतुओं, ग्रीष्म, वर्षा, और हेमन्त] वाले (चक्रम्) चक्र [संवत्सर] को (वहति) ले जाता है, (यत्र) जिसमें [अर्थात् संवत्सर में] (इमा विश्वा भुवना) यह सब भूत [प्राणी] (अभितस्थुः) यथावत् ठहरते हैं ॥

इमं रथमधि ये सप्त तस्थुः सप्तचक्रं सप्त वहन्त्यश्वाः। सप्तस्वसारो अभि सं नवन्त यत्र गवां निहिता सप्त नामा॥ ३ ॥

इमम् । रथम् । अधि । ये । सप्त । तस्थुः । सप्त-चक्रम् । सप्त । वहन्ति । अश्वाः ॥ सप्त । स्वसारः । अभि । सम् । नवन्त । यत्र । गवाम् । नि-हिता । सप्त । नाम ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सप्त) सात [इन्द्रियां त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (इमम्) इस (रथम्) रथ [वेगशील वा रथ समान शरीर] में (अधि तस्थुः) ठहरे हैं, [वेही] (सप्त) सात (अश्वाः) अश्व [व्यापनशील वा घोड़ों समान त्वचा, नेत्र आदि] [उस] (सप्तचक्रम्) सात चक्रवाले [चक्र समान काम करने वाले त्वचा, नेत्र आदि से युक्त रथ अर्थात् शरीर] को (वहन्ति) ले चलते हैं । [वही] (सप्त) सात (स्वसारः) अच्छे प्रकार चलने वाली, [वा शरीर को चलाने वाली वा बहिनों के समान

३—(इमम्) दृश्यमानम् (रथम्) म० २ । रंहणशीलं विमानादितुल्यं वा देहम् (अधि तस्थुः) लटः स्थाने लिट् । आरोहन्ति (सप्त) त्वचानेत्रादीन्द्रियाणि (सप्तचक्रम्) चक्रं व्याख्यातम्-म० २ । चक्रवत् त्वचानेत्रादिसप्तेन्द्रियाणि यस्मिन् तच्छरीरम् (सप्त) (वहन्ति) चालयन्ति (अश्वाः) व्यापनशीलानि त्वचानेत्रादीन्द्रियाणि । (सप्त) (स्वसारः) अ० ६ । १०० । ३ । स्वसा सु असा स्वेषु सीदतीति वा-निरु० १० । १३ । सावसेर्ऋन् । उ० २ । ९६ । सु+असु क्षेपणे, यद्वा, अस गतिदीप्त्यादानेषु-ऋन् । सुष्ठु गन्त्र्यः । यद्वा, स्व+सारयतेः-क्विप् । स्वस्य शरीरस्य सारयित्र्यश्चालयित्र्यः । परस्परं भगिनीभूता वा

हितकारी त्वचा, नेत्र आदि] (अभि) सब ओर से [जहां] (सम् नवन्ते=०-न्ते) मिलती हैं (यत्र) जहां [हृदयाकाश में] (गवाम्) इन्द्रियों के (सप्त) सात (नाम=नामानि) झुकाव [स्पर्श, रूप, शब्द, रस, गन्ध, मनन और ज्ञान, सात आकर्षण] (निहिता) धरे गये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने शरीर में त्वचा, नेत्र आदि सात इन्द्रियां [म० १] और स्पर्श, रूप आदि इनके सात गुण कैसे दिव्य बनाये हैं, जिनके द्वारा मनुष्य महाज्ञानी होकर मोक्ष सुख पाता है ॥ ३ ॥

(नवन्त) के स्थान पर ऋग्वेद में [नवन्ते] है ॥

को द॑दर्श प्रथ॒मं जाय॑मानमस्थ॒न्वन्तं॒ यद॑न॒स्था बिभ॑र्ति । भूम्या॒ असु॒रसृ॑गा॒त्मा क्व॑ स्वि॒त् को वि॒द्वांस॒मुप॑ गा॒त् प्रष्टु॑मे॒तत् ॥ ४ ॥

कः । द॒द॒र्श॒ । प्र॒थ॒मम् । जाय॑मानम् । अ॒स्थ॒न्-वन्त॑म् । यत् । अ॒न॒स्था । बिभ॑र्ति ॥ भूम्याः॑ । असुः॑ । असृ॑क् । आ॒त्मा । क्व॑ । स्वि॒त् । कः । वि॒द्वांस॑म् । उप॑ । गा॒त् । प्रष्टु॑म् । ए॒तत् ॥४॥

भाषार्थ—(कः) किस ने (प्रथमम्) पहिले ही पहिले (जायमानम्) उत्पन्न होते हुये (अस्थन्वन्तम्) हड्डियों वाले [देह] को (ददर्श) देखा था, (यत्) जिस [देह] को (अनस्था) बिना हड्डियों वाला [बिना शरीर वाला जीवात्मा अथवा बिना शरीर वाली प्रकृति] (बिभर्ति) धारण करती है । (क्व

त्वचानेत्रादयः (अभि) सर्वतः (सम् नवन्त) अ० ५ । ५ । २ । संनवन्ते । संगच्छन्ते (यत्र) यस्मिन् हृदयाकाशे (गवाम्) इन्द्रियाणाम् (निहिता) धृतानि (सप्त) (नाम) नामन्सीमन्० । उ० ४ । १५१ । णम प्रह्वत्वे शब्दे च—मनिन्, धातोर्मलोपो दीर्घश्च । नामानि । नमनानि । स्पर्शरूपशब्दरसगन्धमनन-ज्ञानरूपाणि आकर्षणानि ॥

४—(कः) पुरुषः (ददर्श) दृष्टवान् (प्रथमम्) आदौ (जायमानम्) उत्पद्यमानम् (अस्थन्वन्तम्) छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । अस्थिशब्दस्य अनङ् । अनो नुट् । पा० ८ । २ । १६ । मतोर्नुडागमः । अस्थियुक्तं देहम्—द० (यत्) देहम् (अनस्था) छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । अस्थिशब्दस्य अनङ् ।

स्वित्) कहां पर ही (भूम्याः) भूमि [संसार] का (असुः) प्राण, (असृक्) रक्त और (आत्मा) जीवात्मा [था], (कः) कौन सा पुरुष (एतत्) यह (प्रष्टुम्) पूंछने को (विद्वांसम्) विद्वान् के (उप गात्) समीप जावे ॥ ४ ॥

भावार्थ—इस बात को बड़े विद्वान् ही साक्षात् करते हैं कि सृष्टि की आदि में छोटे बड़े शरीर कैसे उत्पन्न हुये, और उन शरीरों पर विभु जीवात्मा अथवा संयोजक वियोजक प्रकृति का शासन किस प्रकार है और जगत् के रचने की प्राण वायु आदि सामग्री कहां से आई ॥ ४ ॥

इह ब्रवीतु य ईमङ्ग वेदास्य वामस्य निहितं पदं वेः।
शीर्ष्णः क्षीरं दुह्रते गावो अस्य वव्रिं वसाना उदकं पदापुः ॥ ५ ॥

इह । ब्रवीतु । यः । ईम् । अङ्ग । वेद । अस्य । वामस्य । नि-हितम् । पदम् । वेः ॥ शीर्ष्णः । क्षीरम् । दुह्रते । गावः । अस्य । वव्रिम् । वसानाः । उदकम् । पदा । अपुः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे प्यारे ! (इह) इस [ब्रह्म विषय] में (ब्रवीतु) वह बोले, (यः) जो [पुरुष] (अस्य) इस (वामस्य) मनोहर (वेः) चलने वाले [वा पक्षी रूप सूर्य] के (निहितम्) ठहराये हुये (पदम्) मार्ग को (ईम्) सब प्रकार (वेद) जानता है। (गावः) किरणें (अस्य) इस [सूर्य]

सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ। पा० ६। ४। ८। उपधादीर्घः, सुलोपो नलोपश्च। अस्थिरहितः शरीररहितो जीवात्मा यद्वा, शरीररहिता प्रकृतिः। (विभर्ति) धरति (भूम्याः) भूमेः (असुः) प्राणः (असृक्) रुधिरम् (आत्मा) जीवः (क्व) कुत्र (स्वित्) अपि (कः) (विद्वांसम्) (उप) समीपे (गात्) गम्यात् (प्रष्टुम्) जिज्ञासितुम् (एतत्) ॥

५—(इह) अस्मिन् ब्रह्मविषये (ब्रवीतु) वदतु (यः) विद्वान् (ईम्) सर्वतः (अङ्ग) सम्बोधने (वेद) जानाति (अस्य) दृश्यमानस्य (वामस्य) म० १। मनोहरस्य (निहितम्) ब्रह्मणा स्थापितम् (पदम्) गन्तव्यं मार्गम् (वेः) वातेर्डिच्च। उ० ४। १३४। वा गतिगन्धनयोः—इण्, डित्। गन्तुः

के (शीर्ष्णः) मस्तक से (क्षीरम्) जल को (दुह्रते) दुहती [देती] हैं, [जिस] (उदकम्) जल को (वव्रिम्) रूप [सूर्य के प्रकाश] को (वसानाः) ओढ़ती हुई [उन किरणों] ने (पदा) [अपने] पैर [नीचे भाग] से (अपुः) पिया था ॥ ५ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष जानते हैं कि ईश्वरीय नियम से किरणों द्वारा जल सूर्य मण्डल में पहुंच कर फिर भूमि पर बरसता है, जिस से सब प्राणी अन्न आदि पाकर जीवन करते हैं ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ७ ॥

पाकः पृच्छामि मनसाविजानन् देवानामेना निहिता पदानि । वत्से बष्कयेऽधि सप्त तन्तून् वि तत्निरे कवय ओतवा उ ॥ ६ ॥

पाकः । पृच्छामि । मनसा । अवि-जानन् । देवानाम् । एना । नि-हिता । पदानि ॥ वत्से । बष्कये । अधि । सप्त । तन्तून् । वि । तत्निरे । कवयः । ओतवै । ऊं इति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अविजानन्) अविज्ञानी (पाकः) रक्षा के योग्य [बालक] मैं (देवानाम्) विद्वानों के (मनसा) मनन के साथ (निहिता) रक्खे हुये (एना) इन (पदानि) पदों [पद चिह्नों] को (पृच्छामि) पूंछता हूं।

सूर्यस्य (शीर्ष्णः) मस्तकात् (क्षीरम्) जलम् (दुह्रते) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । रुडागमः । दुहते । पूरयन्ति (गावः) किरणाः (अस्य) (वव्रिम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । वृञ् वरणे-कि, द्विर्वचनम्, कित्वाद् गुणाभावः, यणादेशः । वव्रिरिति रूपनाम वृणोतीति सतः-निरु० २ । ६ । वरणीयं रूपं प्रकाशम् । (वसानाः) अ० ३ । १२ । ५ । आच्छादयन्तः (उदकम्) जलम् (पदा) पादेन । मूलेन (अपुः) पा पाने—लुङ् । पीतवन्तः ॥

६—(पाकः) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । पा रक्षणे पा पाने वा-कन् । यद्वा, डु पचष् पाके-घञ् । रक्षणीयो बालकः । ब्रह्मचर्यादितपसा परिपचनीयोऽहम्-दयानन्दः (पृच्छामि) जिज्ञासे (मनसा) मननेन सह (अवि-

(कवयः) बुद्धिमानों ने (वष्कये) चलने योग्य (वत्से) निवास स्थान [संसार] के बीच (सप्त) [अपने] सात (तन्तून्) तन्तुओं [फैले हुये तन्तु रूप इन्द्रियों, त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] को (अधि) अधिक अधिक (ओतवै) बुनने के लिये (उ) ही (वि) विविध प्रकार (तत्निरे) फैलाया था ॥ ६ ॥

भावार्थ—विनीत ब्रह्मचारी जन आचार्यों से उन वेदविहित मार्गों को खोजें, जिन पर महात्माओं ने चल कर उन्नति की और उत्तराधिकारियों के लिये आगे बढ़ने का उदाहरण छोड़ा है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में ५ वां है, (तत्निरे) के स्थान पर वहां [तत्निरे] है ॥

अचिकित्वाँश्चिकितुषश्चिदत्र कवीन् पृच्छामि विद्मनो न विद्वान्। वि यस्तस्तम्भ षडिमा रजांस्यजस्य रूपे किमपि स्विदेकम् ॥ ७ ॥

अचिकित्वान्। चिकितुषः। चित्। अत्र। कवीन्। पृच्छामि। विद्मनः। न। विद्वान् ॥ वि। यः। तस्तम्भ। षट्। इमा। रजांसि। अजस्य। रूपे। किम्। अपि। स्वित्। एकम् ॥७॥

भाषार्थ—(अचिकित्वान्) अज्ञानी मैं (चिकितुषः) ज्ञानवान् (कवीन्)

जानन्)न विजानन् (देवानाम्) दिव्यानां विदुषाम् (एना) एनानि (निहिता) स्थापितानि (पदानि) पदचिह्नानि । पत्तुं प्राप्तुं ज्ञातुं योग्यानि–द० (वत्से) वृतृवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वस निवासे–सप्रत्ययः निवासे संसारे । अपत्ये–द० (वष्कये) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ९९ । वष्क गतौ दर्शने च—कयन् । गन्तव्ये । द्रष्टव्ये–द० (अधि) अधिकम् (सप्त) (तन्तून्) तन्तुरूपाणि त्वचादिसप्तेन्द्रियाणि (वि) विविधम्) (तत्निरे,) लिटि छान्दसं रूपम् । तेनिरे । विस्तारितवन्तः (कवयः) मेधाविनः (ओतवै) तुमर्थे से-सेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । वेञ् तन्तुसन्ताने—तवै । वातुम् । विस्ताराय–द० (उ) वितर्के ॥

७—(अचिकित्वान्) कित निवासे रोगापनयने ज्ञाने च—क्वसु । अचि-

बुद्धिमानों को (चित्) ही (अत्र) इस (ब्रह्म विषय) में (पृच्छामि) पूंछता हूं, (विद्वान्) विद्वान् (विद्मनः) विद्वानों को (न) जैसे [पूंछता है] "(यः) जिस [परमेश्वर] ने (इमा) इन (षट्) छह [पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर और ऊपर नीचे] (रजांसि) लोकों को (वि) अनेक प्रकार (तस्तम्भ) थांभा था, (अजस्य) [उस] जन्म रहित [परमेश्वर] के (रूपे) स्वरूप में (किम् स्वित्) कौन सा (अपि) निश्चय करके (एकम्) एक [सर्वव्यापक ब्रह्म था" ।

अथवा "जिस [सूर्य] ने इन छह लोकों को थांभा था, (अजस्य)[उस] चलने वाले [सूर्य] के (रूपे) रूप [मण्डल] के भीतर कौन सा निश्चय करके एक [सर्वव्यापक ब्रह्म था]" ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् विद्वानों से पूंछते हैं वैसे ही श्रद्धा पूर्वक ब्रह्म जिज्ञासु ब्रह्मज्ञानियों से निश्चय करे कि क्या वह अकेला परब्रह्म है जिस ने इन सब लोकों को रचकर नियम में रक्खा है, अथवा वह अकेला परमात्मा इस सूर्य में भी शक्ति दे रहा है जो सूर्य अपने आकर्षण धारण में अनेक लोकों को थांभ रहा है, और वैसे ही जिस सूर्य को अनेक लोक थांभ रहे हैं ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में १ । १६४ । ६ है (विद्मनः) के स्थान पर वहां [विद्मने] है

माता पितरमृत आ बभाज धीत्यग्रे मनसा सं हि जग्मे । सा बीभत्सुर्गर्भरसा निविद्धा नमस्वन्त इदुपवाकमीयुः ॥ ८ ॥

ब्रान् (चिकितुषः) कित-क्वसु । विदुषः पुरुषान् (चित्) एव (अत्र) ब्रह्मविषये (कवीन्) मेधाविनः (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (विद्मनः) शीङ्क्रुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । विद ज्ञाने—कनिप् । विदुषः पुरुषान् (न) इव (वि) विविधम् (यः) अजः (तस्तम्भ) स्तम्भितवान् । नियमितवान् । (षट्) पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरोर्ध्वनीचानि (इमा) इमानि (रजांसि) लोकान्—निरु० ४ । १९ । (अजस्य) अजः=अजनः—निरु० १२ । २९ । अ० ९ । ५ । १ । जन्मरहितस्य परमेश्वरस्य । गतिशीलस्य सूर्यस्य । प्रकृतेर्जनिस्य वा-इति दयानन्दः (रूपे) स्वरूपे । मण्डले (किम्) अपि (स्वित्) (एकम्) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । इण् गतौ—कन् । अद्वितीयं सर्वव्यापकं ब्रह्म ॥

माता । पितरम् । ऋते । आ । बभाज । धीती । अग्रे । मनसा । सम् । हि । जग्मे ॥ सा । बीभत्सुः । गर्भ-रसा । नि-विद्धा । नमस्वन्तः । इत् । उप-वाकम् । ईयुः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(माता) निर्मात्री [पृथिवी] ने (ऋते) जल में [वर्तमान] (पितरम्) रक्षक [सूर्य] को (आ) मर्यादा पूर्वक (बभाज) पृथक् किया, (हि) क्योंकि वह [पृथिवी] (अग्रे) पहिले [ईश्वरीय] (धीती) आधार और (मनसा) विज्ञान के साथ [सूर्य से] (सम् जग्मे) मिली हुई थी। [फिर] (सा) वह [पृथिवी, सूर्य] (बीभत्सुः) बन्धन की इच्छा करने वाली (गर्भरसा) रस [जलादि, उत्पादन सामर्थ्य] को गर्भ में रखने वाली और (निविद्धा) नियम अनुसार ताड़ी गयी [दूर हटाई गयी थी] [इसी प्रकार] (नमस्वन्तः) झुकाव रखने वाले [सूर्य का आकर्षण रखने वाले दूसरे लोक] (इत्) भी (उपवाकम्) वाक्य अवस्था [पिण्ड बनने से नाम, स्थान आदि] को (ईयुः) प्राप्त हुये ॥ ८ ॥

८—(माता) सर्वनिर्मात्री पृथिवी (पितरम्) पालकं सूर्यम् (ऋते) ऋतमुदकम्—निघ० १ । १२ । जले वर्त्तमानम् (आ) सीमायाम् (बभाज) भज भागसेवयोः—लिट् । विभक्तं कृतवती (धीती) धीङ् आधारे दधातेर्वा-क्तिन् । सुपां सुलुक् । पा० ७ । १ । ३९ । पूर्णसवर्णदीर्घः । धीत्या । आधारेण । धारणेन (अग्रे) सृष्टेः प्राक् (मनसा) विज्ञानेन (हि) किल । यस्मात् (सम् जग्मे) संश्लिष्टा बभूव । (बीभत्सुः) मानवधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्या-सस्य। पा० ३ । १ । ६ । वध बन्धने निन्दायाम् च—सन्, अभ्यासस्य चेकारस्य दीर्घः । बन्धनेच्छुका (गर्भरसा) रसः=उदकम्—निघ० १ । १२ जलमुत्पादान-सामर्थ्यं गर्भे यस्याः सा (निविद्धा) व्यध ताडने—क्त । नियमेन ताडिता दूरी-कृता सूर्येण । नितरां विद्युदादिभिस्ताडिता–इति दयानन्दः (नमस्वन्तः) णम महत्वे शब्दे च—असुन् । नमनवन्तः । सूर्याकर्षणे वर्तमाना लोकाः (इत्) एव (उपवाकम्) वच परिभाषणे-घञ्, कुत्वम् । वाक्यावस्थां नामस्थानादि-रूपाम् । (ईयुः) इण् गतौ—लिट् । प्रापुः ॥

भावार्थ—प्रलय में सब पदार्थ परमाणु रूप से प्रकृति में लीन रहते हैं। सृष्टि में पहिले जल होता है, सूर्य और पृथिवी एक पिण्ड में मिले रहते हैं, फिर दोनों अलग अलग हो जाते हैं। पृथिवी और सूर्य की पृथकता और आकर्षण से वर्षा, शीत और ग्रीष्म ऋतुयें संसार को सुख पहुंचाते रहते हैं। यही नियम सूर्य लोक सम्बन्धी दूसरे लोकों का है ॥ ८ ॥

मनु भगवान् कहते हैं—अध्याय १। श्लोक ८, ९ ॥
सोऽभिध्याय शरीरात् स्वात् सिसृक्षुर्विविधाः प्रजाः।
अप एव ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत् ॥ १ ॥
तदण्डमभवद्धैमं सहस्रांशुसमप्रभम्।
तस्मिञ्जज्ञे स्वयं ब्रह्मा सर्वलोक पितामहः ॥ २ ॥

उस [परमात्मा] ने अपने शरीर [सत्ता] से नाना प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा करके ध्यानमात्र से पहिले जल उत्पन्न किया, उसमें बीज को छोड़ दिया ॥ १ ॥

वह [बीज] चमकीला सहस्रों किरणों से पूर्ण प्रकाश वाला अण्डा हुआ, उस [अण्डे] में ब्रह्मा [परमात्मा] सब लोकों का पितामह अपने आप प्रकट हुआ [सब सृष्टि का आदि कारण परमात्मा ही जान पड़ा] ॥ २ ॥

युक्ता मातासीद्धुरि दक्षिणाया अतिष्ठद्गर्भो वृजनीष्वन्तः। अमीमेद्वत्सो अनु गामपश्यद्विश्वरूप्यं त्रिषु योजनेषु ॥ ९ ॥

युक्ता। माता। आसीत्। धुरि। दक्षिणायाः। अतिष्ठत्। गर्भः। वृजनीषु। अन्तः ॥ अमीमेत्। वत्सः। अनु। गाम्। अपश्यत्। विश्व-रूप्यम्। त्रिषु। योजनेषु ॥ ९ ॥

भावार्थ—(माता) निर्माण करने वाली [पृथिवी] (दक्षिणायाः) [अपनी] शीघ्र गति के (धुरि) कष्ट में (युक्ता) युक्त (आसीत्) हुयी, (गर्भः) गर्भ [के समान सूर्य] (वृजनीषु अन्तः) रोकने की शक्तियों [आक-

९—(युक्ता) संयुक्ता (माता) निर्मात्री भूमिः। पृथिवी-दयानन्दः। (आसीत्) (धुरि) धुर्वी हिंसायाम्-क्विप्। हिंसने। कष्टे। या धरति तस्याम् (दक्षिणायाः) अ० ५।७।१। दक्ष वृद्धौ शैघ्र्ये च—इनन्, टाप्। शीघ्र-

वर्णों] के भीतर (अतिष्ठत्) स्थिर हुआ। (वत्सः) निवास दाता [सूर्य] ने (विश्वरूप्यम्) सब रूपों [श्वेत, नील, पीत आदि सात वर्णों] में रहने वाली (गाम्) किरण को (त्रिषु) तीनों [ऊंचे, नीचे और मध्य] (योजनेषु) लोकों में (अनु) अनुकूलता से (अमीमेत्) फैलाया और [उन लोकों को] (अपश्यत्) बांधा [आकर्षित किया] ॥ ६ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी परमेश्वर ने पृथिवी की गति विचल न होने के लिये सूर्य को ऐसा बनाया कि जैसे गर्भ का बालक माता के उदर को पकड़े रहता है वैसेही सूर्य भूमि आदि लोकों को अपनी श्वेत, नील पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र किरणों द्वारा अपने आकर्षण में रखता है ॥

तिस्रो मातॄस्त्रीन् पितॄन् बिभ्रदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेमव ग्लापयन्त । मन्त्रयन्ते दिवो अमुष्य पृष्ठे विश्वविदो वाचमविश्वविन्नाम् ॥ १० ॥ (२४)

तिस्रः । मातॄः । त्रीन् । पितॄन् । बिभ्रत् । एकः । ऊर्ध्वः । तस्थौ । न । ईम् । अव । ग्लपयन्त ॥ मन्त्रयन्ते । दिवः । अमुष्य । पृष्ठे । विश्व-विदः । वाचम् । अविश्व-विन्नाम् १० (२४)

भाषार्थ—(एकः) एक [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तिस्रः) तीन [सत्त्व, रज और तमोगुण रूप] (मातॄः) निर्माण शक्तियों और (त्रीन्) तीन [ऊंचे,

---

गतेः (अतिष्ठत्) (गर्भः) गर्भरूपः सूर्यः (वृजनीषु) अ० । ७ । ५० । ७ । कॄपॄ वृजि० । उ० २ । ८१ । वृजी वर्जने—क्यु, ङीप् । वर्जनशक्तिषु । आकर्षणेषु । वर्जनीयासु कक्षासु—दयानन्दः (अन्तः) मध्ये (अमीमेत्) डु मिञ् प्रक्षेपणे—लङ् ; दीर्घः श्लुश्च छान्दसः । अमिमेत् । अमिनोत् प्रक्षिप्तवान् । विस्तारितवान् (वत्सः) वस निवासे—स । निवासयिता सूर्यः (अनु) अनुकूलतया (गाम्) किरणम् (अपश्यत्) पश बन्धनग्रन्थनयोः—श्यन् छान्दसः । अपीपशत् । बद्धवान् । आकर्षितवान् (विश्वरूप्यम्) सर्वरूपेषु श्वेतनीलपीतादिषु भवम् (त्रिषु) उच्चनीचमध्येषु(योजनेषु) लोकेषु । बन्धनेषु—द० ॥

१०—(तिस्रः) सत्त्वरजस्तमोगुणरूपाः (मातॄः) निर्माणशक्तीः । (त्रीन्) उच्चनीचमध्यमान् भूतभविष्यद्वर्तमानान् वा । (पितॄन्) पालकान्

नीचे और मध्य, अथवा भूत, भविष्यत् और वर्तमान] (पितॄन्) पालन करने वाले [लोकों वा कालों] को (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (ऊर्ध्वः) ऊपर (तस्थौ) स्थित हुआ, (ईम्) इस [परमेश्वर] को वे [ऊपर कहे हुये] (न अव ग्लपयन्त=०—न्ति) कभी नहीं ग्लानि पहुंचाते हैं। (विश्वविदः) जगत् के जानने वाले लोग (अमुष्य) उस (दिवः) प्रकाशमान [सूर्य] के (पृष्ठे) पीठ [पीठ समान सहारा देने वाले ब्रह्म] के विषय में (अविश्वविन्नाम्) सब को न मिलने वाली (वाचम्) वाणी को (मन्त्रयन्ते) मनन करते हैं ॥१०॥

भावार्थ—एक परमात्मा ही संसार के सब कालों और सब लोकों का स्वामी, सूर्य आदि का रचने वाला है, उस परब्रह्म को सृष्टिविद्या जानने वाले विज्ञानी जानते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं ॥ १० ॥

(ग्लापयन्त, विश्वविदः, अविश्वविन्नाम्) के स्थान पर [ग्लापयन्ति, विश्वविदम्, अविश्वमिन्वाम्] पद हैं-ऋ० १ । १६४ । १० ॥

पञ्चा॑रे च॒क्रे प॑रि॒वर्त॑माने॒ यस्मि॒न्नात॒स्थुर्भुव॑नानि॒ विश्वा॑ तस्य॒ नाक्ष॑स्तप्यते॒ भूरि॑भारः स॒नादे॒व न च्छि॑द्यते॒ सना॑भिः ॥ ११ ॥

पञ्च॑-अ॒रे । च॒क्रे । प॒रि॒-वर्त॑माने । यस्मि॑न् । आ॒-त॒स्थुः । भुव॑नानि । विश्वा॑ ॥ तस्य॑ । न । अक्षः॑ । त॒प्य॒ते॒ । भूरि॑-भारः । स॒नात् । ए॒व । न । छि॒द्य॒ते॒ । स-ना॑भिः ॥ ११ ॥

लोकान् कालान् वा (बिभ्रत्) धरन् सन् (एकः) अद्वितीयः सर्वव्यापकः परमेश्वरः । सूत्रात्मा वायुः-द० (ऊर्ध्वः) उच्चः (तस्थौ) स्थितवान् (न) निषेधे (ईम्) एनम् (अव) निश्चये । अनादरे (ग्लपयन्त) ग्लै हर्षक्षये—णिच्, लङ् । ग्लपयन्ति । ग्लानिं प्रापयन्ति (मन्त्रयन्ते) अ० ६ । ८ । १ । मन्त्र मननं कुर्वन्ति (दिवः) दीप्यमानस्य सूर्यस्य (अमुष्य) दूरे स्थितस्य सूर्यस्य—द० (पृष्ठे) पृष्ठरूपाधारे परमेश्वरविषये (विश्वविदः) जगद्वेत्तारः (वाचम्) वाणीम् (अविश्वविन्नाम्) विद्लृ लाभे—क । असर्वैः प्राप्ताम् ॥

भावार्थ—(पञ्चारे) [पृथिवी आदि पांच तत्त्व रूप] पांच अरा वाले (परिवर्तमाने) सब ओर घूमते हुये (यस्मिन्) जिस (चक्रे) पहिये पर [पहिये समान जगत् में] (विश्वा भुवनानि) सब लोक (आतस्थुः) ठहरे हुये हैं। (तस्य) उस [चक्ररूप जगत्] का (भूरिभारः) बड़े बोझ वाला (सनाभिः) नाभि में लगा हुआ (अक्षः) धुरा [धुरा रूप परमेश्वर] (सनात् एव) सदा से ही (न तप्यते) न तो तपता है और (न छिद्यते) न टूटता है ॥११॥

भावार्थ—पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच भूतों से निर्मित जगत् में सब लोक स्थित हैं, उस जगत् का स्वामी अजर अमर परमात्मा है। और जैसे रथ में अधिक बोझ लादने से धुरा तपकर टूट जाता है, वैसे परमेश्वर इस सृष्टि का इतना बोझ अनादि से उठाने पर क्लेश नहीं पाता ॥ ११ ॥

(यस्मिन्, छिद्यते) के स्थान पर [तस्मिन्, शीर्यते] हैं—ऋ० १।१६४।१३॥

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उपरे विचक्षणे सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितम् ॥ १२ ॥

पञ्च-पादम्। पितरम्। द्वादश-आकृतिम्। दिवः। आहुः। परे। अर्धे। पुरीषिणम् ॥ अथ। इमे। अन्ये। उपरे। विचक्षणे। सप्त-चक्रे। षट्-अरे। आहुः। अर्पितम् ॥ १२ ॥

भावार्थ—(पञ्चपादम्) पांच [पृथिवी आदि पांच तत्त्वों] में गति वाले, (पितरम्) पालन करने वाले, (द्वादशाकृतिम्) बारह [पांच ज्ञानेन्द्रिय-

११—(पञ्चारे) पृथिव्यादिपञ्चभूतरूपैररैर्युक्ते (चक्रे) चक्रवत्परिवर्तिनि संसारे। चक्रवद्भ्राम्यमाणे—द० (परिवर्तमाने) परिभ्राम्यति सति (यस्मिन्) (आतस्थुः) अधितिष्ठन्ति (भुवनानि) लोकाः (विश्वा) सर्वाणि (तस्य) (न) निषेधे (अक्षः) अक्षू व्याप्तौ—अच्। चक्रावयवः (तप्यते) तप्तो भवति। पीड्यते (भूरिभारः) सकलभुवनवहनेन प्रभूतभारः (सनात्) सदा (एव) (छिद्यते) भिद्यते (सनाभिः) नाभौ चक्रमध्ये स्थितः ॥

१२—(पञ्चपादम्) पञ्चसु पृथिव्यादितत्त्वेषु गतिमन्तम् (पितरम्) पालकम्। (द्वादशाकृतिम्) पञ्चज्ञानकर्मेन्द्रियमनोबुद्धीनामाकृती रूपं यस्मात्

कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका और पांच कर्मेन्द्रिय—वाक्, हाथ, पाँव, पायु और उपस्थ और दो मन और बुद्धि] को आकार देने वाले, (पुरीषिणम्) पूर्ति वाले [परमेश्वर] को (दिवः) प्रत्येक व्यवहार की (परे) परम (अर्धे) ऋद्धि [वृद्धि] के बीच (आहुः) वे [ऋषि लोग] बताते हैं। (अथ) और (इमे) यह (अन्ये) दूसरे [विवेकी] (उपरे) उपरति [निवृत्ति, विषयों से वैराग्य] वाले, (सप्तचक्रे) सात [दो कान, दो नथने, दो आंखे और एक मुख-अ० १० । २ । ६] के द्वारा तृप्त होने वाले, (षडरे) छह [पूर्वादि चार ऊपर और नीचे की दिशाओं] में गति वाले (विचक्षणे) विविध देखने वाले [पंडित योगी] के भीतर [परमात्मा को] (अर्पितम्) जड़ा हुआ (आहुः) बताते हैं ॥१२॥

भावार्थ—योगी विद्वान् जन परमात्मा को अपने बाहिर और भीतर साक्षात् करके परम आनन्द पाते हैं ॥ १२ ॥

(विचक्षणे) के स्थान पर ऋग्वेद में [विचक्षणम्] पद है ॥

द्वादशारं नहि तज्जराय वर्वर्ति चक्रं परि द्यामृतस्य । आ पुत्रा अग्ने मिथुनासो अत्र सप्त शतानि विंशतिश्च तस्थुः ॥ १३ ॥

द्वादश-अरम् । नहि । तत् । जराय । वर्वर्ति । चक्रम् । परि । द्याम् । ऋतस्य ॥ आ । पुत्राः । अग्ने । मिथुनासः । अत्र । सप्त । शतानि । विंशतिः । च । तस्थुः ॥ १३ ॥

तम् (दिवः) दिवु व्यवहारे द्युतौ च—डिवि । प्रत्येकव्यवहारस्य (परे) उत्कृष्टे (अर्धे) ऋधु वृद्धौ—घञ् । ऋद्धौ । वृद्धौ (पुरीषिणम्) शॄपॄभ्यां किच्च । उ० ४ । २७ । पॄ पालनपूरणयोः—ईषन्, इनि । पूर्तिमन्तं परमेश्वरम् (अथ) (इमे) (अन्ये) विवेकिनः (उपरे) उपरमतेर्डप्रत्ययः । उपरतिर्निवृत्तिर्विषयवैराग्यं यस्य तस्मिन् (विचक्षणे) अनुदात्तेतश्च हलादेः । पा० ३ । २ । १४९ । वि+चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—युच् । विविधं द्रष्टरि पण्डिते । (सप्तचक्रे) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । चक तृप्तौ—रक् । सप्तभिः शीर्षण्यच्छिद्रैर्द्वारा तृप्तियुक्ते । (षडरे) ऋ गतौ—अच् । उच्चनीचसहितासु पूर्वादिचतसृषु दिक्षु अरो गतिर्यस्य तस्मिन् (आहुः) (अर्पितम्) स्थापितम् ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य [सत्य स्वरूप ब्रह्म] की (जराय) जरा [पुरानापन] करने के लिये (द्याम् परि) आकाश के सब ओर वर्तमान (द्वादशारम्) बारह [महीने रूप] अरे वाला (तत्) वह (चक्रम्) चक्र [संवत्सर अर्थात् काल] (नहि) नहीं (वर्वर्ति) कतरा कतरा कर घूमता है। (अग्ने) हे विद्वान्! (अत्र) इस [संवत्सर] में (सप्त शतानि) सात सौ (च) और (विंशतिः) बीस (मिथुनासः) जोड़े जोड़े (पुत्राः) पुत्र [संवत्सर के पुत्र रूप दिन और रात के जोड़] (आ तस्थुः) भले प्रकार खड़े हुये हैं॥१३

भावार्थ—अनादि अनन्त परमेश्वर को आकाश में सब ओर घूमता हुआ काल वश में नहीं कर सकता जैसे वह संसार के अन्य पदार्थों को घात लगा लगाकर पकड़ लेता है॥ १३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में ११ वां है॥ इस मन्त्र का कुछ भाग-निरु० ४। २७। में व्याख्यात है॥

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति। सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा॥ १४॥

स-नेमि। चक्रम्। अजरम्। वि। ववृते। उत्तानायाम्। दश। युक्ताः। वहन्ति॥ सूर्यस्य। चक्षुः। रजसा। एति। आ-वृतम्। यस्मिन्। आ-तस्थुः। भुवनानि। विश्वा॥१४॥

भाषार्थ—[उस ब्रह्म में] (सनेमि) एकसी पुट्ठी वाला [पहिये का

१३—(द्वादशारम्) द्वादश अरा मासा अवयवा यस्य तं संवत्सरम्-दयानन्दभाष्यम् (नहि) (तत्) (जराय) हानये (वर्वर्ति) नित्यं कौटिल्ये गतौ। पा० ३। १। २३। वृतु वर्तने—यङ्लुकि। कुटिलं भ्राम्यति (चक्रम्) चक्रवद् वर्तमानः संवत्सरः (परि) सर्वतः (द्याम्) आकाशम् (ऋतस्य) सत्यस्वरूपस्य ब्रह्मणः। सत्यस्य कारणस्य—द० (आ) समन्तात् (पुत्राः) तनया इव—द० (अग्ने) विद्वान् (मिथुनासः) युग्मरूपा रात्रिदिवसाः (अत्र) संवत्सरे (सप्त) (शतानि) (विंशतिः) (च) (तस्थुः) तिष्ठन्ति॥ १३॥

१४—(सनेमि) नियो मिः। उ० ४। ४३। णीञ् प्रापणे-मि। समान-

बाहिरी भाग वा चलाने का बल एक सा रखनेवाला], (अजरम्) शीघ्रगामी (चक्रम्) चक्र [चक्र समान संवत्सर वा काल] (वि) खुला हुआ (वबृते= वर्तते) घूमता है, [उसी ब्रह्म में] (उत्तानायाम्) उत्तमता से फैली हुई [सृष्टि] के भीतर (दश) दस (युक्ताः) जुड़ी हुई [दिशायें] (वहन्ति) बहती हैं। [और उसी ब्रह्म में] (सूर्यस्य) सूर्य का (चक्षुः) नेत्र (रजसा) अन्तरिक्ष के साथ (आवृतम्) फैला हुआ (याति) चलता है, (यस्मिन्) जिस [ब्रह्म] के भीतर (विश्वा भुवनानि) सब लोक (आतस्थुः) यथावत् ठहरे हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा में सब लोक समष्टि रूप से स्थित हैं उसी में काल, दिशायें और सूर्य आदि व्यष्टि रूप से वर्तमान हैं ॥१४॥

(यस्मिन् , आतस्थुः) के स्थान पर ऋग्वेद में म०१४ [तस्मिन् आर्पिता] पद हैं ॥

स्त्रियः सतीस्ताँ उ मे पुंस आहुः पश्यदक्षण्वान्न वि चेतदन्धः। कविर्यः पुत्रः स ईमा चिकेत यस्ता विजानात् स पितुष्पितासत् ॥ १५ ॥

स्त्रियः। सतीः। तान्। उं इति। मे। पुंसः। आहुः। पश्यत्। अक्षण्-वान्। न। वि। चेतत्। अन्धः॥ कविः। यः। पुत्रः। सः। ईम्। आ। चिकेत। यः। ता। वि-जानात्। सः। पितुः। पिता। असत् ॥ १५ ॥

चालनसामर्थ्ययुक्तम्। एकप्रकारबहिर्वलयम् (चक्रम्) म० २। रथाङ्गवत् संवत्सराख्यं कालाख्यं वा (अजरम्) अ० २। २९। ७। ऋच्छेररः। उ० ३। १३१। अज गतिक्षेपणयोः—अरप्रत्ययः। शीघ्रगामि (वि) व्याप्य (वबृते) लटि लिट्। वर्तते (उत्तानायाम्) उत्+तनु विस्तारे—घञ्, टाप्। उत्कृष्टतया विस्तृतायां जगत्याम् (दश) उच्चनीचान्तर्दिक् सहिताः पूर्वादिदिशाः। (युक्ताः) संयुक्ताः (वहन्ति) गच्छन्ति (सूर्यस्य) (चक्षुः) नेत्रस्थानीयं मण्डलम्। चक्षुः ख्यातेर्वा चष्टेर्वा—निरु० ४। ३, (रजसा), अन्तरिक्षेण—निरु० १२। ७। लोकैः सह—द० (एति) गच्छति (आवृतम्) वृणोतेः—क्त। व्याप्तम् (यस्मिन्) ब्रह्मणि (आतस्थुः) समन्तात् तिष्ठन्ति (भुवनानि) लोकाः (विश्वा) सर्वाणि ॥

भाषार्थ—(तान् उ) उनहीं [जीवात्माओं] को (पुंसः) पुरुष और (स्त्रियः सतीः) स्त्रियां होते हुये (मे) मुझसे (आहुः) वे [तत्त्वदर्शी] कहते हैं, (अक्षण्वान्) आंखों वाला [यह बात] (पश्यत् =०-ति) देखता है, (अन्धः) अन्धा (न) नहीं (वि चेतत्-०-ति) जानता है। (यः) जो (पुत्रः) पुत्र (कविः) बुद्धिमान् है; (सः) उस ने (ईम्) इस [अर्थ वा जीवात्मा को (आ) भली भांति (चिकेत) जान लिया है, (यः) जो [पुरुष] (ता=तानि उन [तत्त्वों] को (विजानात्) जान लेता है, (सः) वह (पितुः) पिता का (पिता) पिता [उपदेशक] (असत्) होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—प्राणियों के आत्माओं में स्त्रीपन, पुरुषपन और नपुंसकपन नहीं है. जैसा शरीर होता है वैसा ही आत्मा भान होने लगता है। इसी प्रकार जगत्पिता परमात्मा में भी स्त्री पुरुष और नपुंसक का चिन्ह नहीं है। इस गूढ़ मर्म को तत्त्वदर्शी साक्षात् करते हैं ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में १६ वां है और निरुक्त १४। २०। में भी व्याख्यात है। इस मन्त्र के उत्तर भाग का मिलान अ० २। १। २। में करो ॥

इस मन्त्र पर श्री सायणाचार्य ने यह श्लोक उद्धृत किया है ॥

नैव स्त्री न पुमानेष नैव चायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स चोद्यते ॥१ ॥

यह न तो स्त्री है न पुरुष है और न यह नपुंसक ही है। जिस जिस शरीर को पाता है उस उसके साथ वही कहा जाता है ॥ १ ॥

साकंजानां सप्तथमाहुरेकजं षडिद्यमा ऋषयो देवजा

१५—(स्त्रियः) स्त्रीत्वं प्राप्ताः (सतीः) वर्तमानाः (तान्) जीवात्मनः (उ) अवधारणे (मे) मह्यम् (पुंसः) पुरुषान् (आहुः) कथयन्ति (पश्यत्) पश्यति (अक्षण्वान्) दृष्टिमान्। विज्ञानी-द० (न) निषेधे (वि) विशेषेण (चेतत्) चेतति जानाति। (अन्धः) नेत्रविहीनः (कविः) मेधावी (यः) (पुत्रः) पवित्रोपचितः-दयानन्दभाष्ये (सः) (ईम्) एनमर्थं जीवात्मानं वा (आ) समन्तात् (चिकेत) कित ज्ञाने-लिट्। ज्ञातवान् (यः) (ता) तानि तत्त्वानि (विजानात्) विजानीयात् (सः) (पितुः) अल्पज्ञानस्य पुरुषस्य-सर्वः (पिता) पितृवत्पूज्यः (असत्) भवेत् ॥

इति । तेषामिष्टानि विहितानि धामश स्थात्रे रेजन्ते विकृतानि रूपशः ॥ १६ ॥

साकम्-जानाम् । सप्तथम् । आहुः । एक-जम् । षट् । इत् । यमाः । ऋषयः । देव-जाः । इति ॥ तेषाम् । इष्टानि । वि-हितानि । धाम-शः । स्थात्रे । रेजन्ते । वि-कृतानि । रूप-शः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(साकंजानाम्) एक साथ उत्पन्न हुओं में से (सप्तथम्) सातवें [जीवात्मा] को (एकजम्) अकेला उत्पन्न हुआ (आहुः) वे [तत्त्वदर्शी] बताते हैं, [और कि] (षट्) छह [कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका पांच ज्ञानेन्द्रिय और मन] (इत्) ही (यमाः) नियम में चलाने वाले (ऋषयः) अपने विषयों को देखने वाली] इन्द्रिय (देवजाः) देव [गतिशील जीवात्मा] के साथ उत्पन्न होने वाले हैं, (इति) यह [वे बताते हैं] । (तेषाम्) उन, [इन्द्रियों] के (विहितानि) विहित [ईश्वर के ठहराये] (विकृतानि) विविध प्रकार वाले (इष्टानि) इष्ट कर्म (स्थात्रे) अधिष्ठाता [जीवात्मा] के लिये (धामशः) स्थान स्थान में और (रूपशः) प्रत्येक रूप में (रेजन्ते) चमकते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—कर्म फल के अनुसार अकेले जीवात्मा के साथ सब इन्द्रियां उत्पन्न होकर उसके वश में रहकर अनेक विषयों को प्रकाशित करती हैं । इसी से जितेन्द्रिय पुरुष परम आनन्द प्राप्त करते हैं ॥ १६ ॥

१६—(साकंजानाम्) सहोत्पन्नानां सप्तानां मध्ये (सप्तथम्) थट् च छन्दसि । पा० ५ । २ । ५० । इति थट् । सप्तमं जीवात्मानम । सहजातानां षण्णामिन्द्रियाणामात्मा सप्तमः—निरु० १४ । १९ (आहुः) कथयन्ति (एकजम्) एकोत्पन्नम् (षट्) पञ्चज्ञानेन्द्रियमनांसि (इत्) एव (यमाः) नियन्तारः—(ऋषयः) ऋ० २ । ६ । १ । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि—निरु० १२ । ३७ (देवजाः) देवाज्जीवात्मनो जाताः (इति) प्रकारार्थे (तेषाम्) इन्द्रियाणाम् (इष्टानि) अभिमतकर्माणि (विहितानि) विदधातेः—क्त । ईश्वरस्थापितानि (धामशः) धामानि धामानि (स्थात्रे) अधिष्ठात्रे जीवात्मने (रेजन्ते) रेजृ दीप्तौ । दीप्यन्ते । रेजत इति भयवेपनयोः—निरु० ३ । २१ (विकृतानि) विविधप्रकाराणि (रूपशः) प्रत्येकरूपे ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में ... है और निरु० १४ । १९ । में व्याख्यात है— "एक साथ उत्पन्न हुये छह इन्द्रियों में आत्मा सातवां है" ॥ और निरु० १२ । ३७ में वर्णन है-"सात ऋषि शरीर में रक्खे हुये छह इन्द्रियां और सातवीं विद्या आत्मा में" ॥

अ॒वः परे॑ण प॒र ए॒नाव॑रेण प॒दा व॒त्सं बिभ्र॑ती गौरुद॑स्थात् । सा क॒द्रीची॒ कं स्वि॒दर्धं॒ परा॑गा॒त् क्व॑ स्वित् सूते न॒हि यू॒थे अ॒स्मिन् ॥ १७ ॥

अ॒वः । परे॑ण । प॒रः । ए॒ना । अव॑रेण । प॒दा । व॒त्सम् । बिभ्र॑ती । गौः । उत् । अ॒स्था॒त् ॥ सा । क॒द्रीची॑ । कम् । स्वि॒त् । अर्ध॑म् । परा॑ । अ॒गा॒त् । क्व॑ । स्वि॒त् । सू॒ते॒ । न॒हि । यू॒थे । अ॒स्मिन् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(वत्सम्) [निवास स्थान] देह को (बिभ्रती) धारण करती हुयी (गौः) गौ [गतिशील जीवरूप शक्ति] (परेण) ऊंचे (पदा) पद [अधिकार वा मार्ग] से (अवः) नीचे को, और (एना) इस (अवरेण) नीचे [पद] से (परः) ऊपर को (उत् अस्थात्) उठी है । (सा) वह [जीवरूप शक्ति] (कद्रीची) किस ओर चलती हुई, (कं स्वित्) कौन से (अर्धम्) ऋद्धि वाले [अर्थात् परमेश्वर] को (परा) पराक्रम से (अगात्)

१७—(अवः) अवस्तात् । अधोदेशे (परेण) श्रेष्ठेन (परः) परस्तात् उपरिदेशे (एना) एनेन । अनेन (अवरेण) अधमेन (पदा) पदेन, अधिकारेण, मार्गेण (वत्सम्) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वस निवासे-स । निवासस्थानं देहम् (बिभ्रती) धरन्ती (गौः) गाव इन्द्रियाणि-निरु० १४ । १५ । गतिशीला जीवरूपा शक्तिः (उत्) उत्कर्षेण (अस्थात्) स्थितवती (सा) गौः (कद्रीची) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । किम् + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । छन्दसि स्त्रियां बहुलम् । वा० पा० ६ । ३ । ९२ । किं शब्दस्य द्रेरद्र्यादेशः । उगितश्च । पा० ४ । १ । ६ । ङीप् । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । अकारलोपः । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । क्व गता सती (कं स्वित्) (अर्धम्) ऋधु वृद्धौ—घञ् । ऋद्धिशालिनं परमेश्वरम् (परा) पराक्रमेण

पहुंची है, (क स्वित्) कहां पर (सूते) उत्पन्न होती है, (अस्मिन्) इस [देहधारी] (यूथे) समूह में तो (नहि) नहीं [उत्पन्न होती] ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य को सदा विचारना चाहिये कि हमारे पूर्वज कैसे उच्च गति से नीच गति को और नीच गति से उच्च गति को पहुंचे । आत्मा किस उत्तम मार्ग पर चलकर सद्बुद्धिशाली परमात्मा को पहुंचता है, यह सूक्ष्म आत्मा देह से नहीं उत्पन्न होता, फिर कहां से आता है ॥ १७ ॥

(अस्मिन्) के स्थान पर ऋग्वेद मन्त्र १७ में [अन्तः] पद है ॥

अवः परेण पितरं यो अस्य वेदावः परेण पर एनावरेण । कवीयमानः क इह प्र वोचद् देवं मनः कुतो अधि प्रजातम् ॥ १८ ॥

अवः । परेण । पितरम् । यः । अस्य । वेद । अवः । परेण । परः । एना । अवरेण ॥ कवि-यमानः । कः । इह । प्र । वोचत् । देवम् । मनः । कुतः । अधि । प्र-जातम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [पुरुष] (एना) इस (अवरेण) नीचे [मार्ग] से (परः) ऊपर [वर्तमान], (अस्य) इस [देह] के (पितरम्) पालक [आत्मा] को (परेण) ऊंचे [मार्ग] से (अवः) नीचे, (परेण) ऊंचे [मार्ग] से (अवः) नीचे (वेद) जानता है। (कवीयमानः) बुद्धिमान् का सा आचरण करने वाला (कः) कौन [पुरुष] (इह) इस [विषय] में (प्र वोचत्) बोले ? और (कुतः) कहां से [उस का] (देवम्) दिव्य गुण वाला (मनः)

(अगात्) अगमत् । गच्छति—द० (क्व) कुत्र (स्वित्) (सूते) सूयते, उत्पद्यते (नहि) निषेधे (यूथे) समूहे (अस्मिन्) ॥

१८—(अवः) अवस्तात् (परेण) उच्चमार्गेण (पितरम) पालकमात्मानम् (यः) (अस्य) देहस्य (वेद) जानाति (अवः) (परेण) (परः) परस्तात् (एना) एनेन (अवरेण) अधमेन (कवीयमानः) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ । १ । ११ । कवि—क्यङ । अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः । पा० ७ । ४ । २५ । इति दीर्घः, कवीय-शानच् मुक्, पदच्छेदे कविशब्दस्य ह्रस्वत्वं प्रकृतिसूचकम् । कविवदाचरन् । अतीव विद्वान्-द० (कः) (इह) अस्मिन्

मन [मनन सामर्थ्य] (अधि) अधिकार पूर्वक (प्रजातम्) अच्छे प्रकार उत्पन्न [होवे ?] ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने आत्मा को अत्यन्त गिरा मानता है वह अपुरुषार्थी उन्नति का उपाय नहीं पा सकता ॥ १८ ॥

(वेद, अवः, परेण) के स्थान पर ऋग्वेद मन्त्र १८ में [अनुवेद] पद है ॥

ये अर्वाञ्चस्ताँ उ पराच आहुर्ये पराञ्चस्ताँ उ अर्वाच आहुः । इन्द्रश्च या चक्रथुः सोम तानि धुरा न युक्ता रजसो वहन्ति ॥ १९ ॥

ये । अर्वाञ्चः । तान् । ऊँ इति । पराचः । आहुः । ये । पराञ्चः । तान् । ऊँ इति । अर्वाचः । आहुः ॥ इन्द्रः । च । या । चक्रथुः । सोम । तानि । धुरा । न । युक्ताः । रजसः । वहन्ति ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[इस चक्र रूप संसार में] (ये) जो [लोक] (अर्वाञ्चः) नीचे जाने वाले हैं, (तान् उ) उन्हीं को (पराचः) ऊपर जाने वाले (आहुः) कहते हैं, और (ये) जो (पराञ्चः) ऊपर जाने वाले हैं (तान् उ) उन्हीं को (अर्वाचः) नीचे जाने वाले (आहुः) कहते हैं । (इन्द्रः) हे परमेश्वर ! (च) और (सोम) हे जीवात्मा ! (या) जिन [व्रतों] को (चक्रथुः) तुम दोनों ने बनाया था, (तानि) वे [व्रत] (रजसः) संसार को (वहन्ति) ले चलते हैं,

---

विषये (प्र वोचत्) प्रवदेत् (देवम्) दिव्यगुणसम्पन्नम् (मनः) मननसामर्थ्यम् (कुतः) कस्माद्देशात् (अधि) अधिकृत्य (प्रजातम्) प्रकर्षेणोत्पन्नम् ॥

१९—(ये) लोकाः (अर्वाञ्चः) अवर+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन्, अर्वादेशः । अधोगामिनः (तान्) (उ) एव (पराचः) पर+अञ्चु-क्विन् । उपरिगामिनः (आहुः) कथयन्ति (ये) (पराञ्चः) उपरिगताः (तान्) (उ) एव । वितर्के-द० (अर्वाचः) अधोगतान् (आहुः) (इन्द्रः) सम्बुद्धौ सुः । हे परमेश्वर (या) व्रतानि (चक्रथुः) युवां कृतवन्तौ (सोम) अ० १ । ६ । २ सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव-निरु० १४ । १२ । हे जीवात्मन् (तानि) व्रतानि (धुरा) धुर्वी हिंसायाम्-क्विप्, यद्वा, धारयतेः-क्विप्, आकार

(न) जैसे (धुरा) धुर [जूये] से (युक्ताः) जुतें हुये [घोड़े आदि, रथ को ले चलते हैं] ॥ १६ ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के आकर्षण और धारण विशेष से सूर्य, चन्द्र, पृथिवी, नक्षत्र आदि एक दूसरे से ऊंचे वा नीचे दिखाई देते हैं, वैसे ही जीव भी अपने कर्मों के अनुसार ईश्वर नियम से एक दूसरे की अपेक्षा ऊंचे नीचे होते हैं। यह संसार इसी नियम पर चल रहा है, जैसे जूये में जुते घोड़े आदि से रथ चलता है ॥ १६ ॥

द्वा सु॑प॒र्णा स॒युजा॒ सखा॑या समा॒नं वृ॒क्षं परि॑ षस्वजाते ।
तयो॑र॒न्यः पिप्प॑लं स्वा॒द्वत्त्यन॑श्नन्न॒न्यो अ॒भि चा॑कशीति ॥२०॥

द्वा । सु॒ऽप॒र्णा । स॒ऽयुजा॑ । सखा॑या । स॒मा॒नम् । वृ॒क्षम् । परि॑ । स॒स्व॒जा॒ते॒ इति॑ ॥ तयोः॑ । अ॒न्यः । पिप्प॑लम् । स्वा॒दु । अत्ति॑ । अन॑श्नन् । अ॒न्यः । अ॒भि । चा॒क॒शी॒ति॒ ॥ २० ॥

भाषार्थ—(द्वा) दोनों [ब्रह्म और जीव] (सुपर्णा) सुन्दर पालन वा पूर्ति वाले [अथवा सुन्दर पद्मों वाले पक्षी रूप], (सयुजा) एक साथ मिले हुये और (सखाया) [समान ख्याति वाले] मित्र होकर (समानम्) एक ही (वृक्षम्) स्वीकरणीय [कार्य कारण रूप वा पेड़ रूप संसार] में (परि) सब प्रकार (सस्वजाते) चिपटे रहते हैं। (तयोः) उन दोनों में से (अन्यः) एक [जीव] (स्वादु) चखने योग्य (पिप्पलम्) [पालन वा पूर्ति करने वाले]

रस्य उकारः। यानमुखेन, भारेण सह (न) इव (युक्ताः) सम्बद्धा अश्वादयः (रजसः) द्वितीयार्थे षष्ठी। रजः। लोकम् (वहन्ति) चालयन्ति ॥

२०—(द्वा) ब्रह्मजीवात्मानौ। द्वौ, अत्र सर्वत्र सुपां सुलुगित्याकारादेशः (सुपर्णा) अ० १। २४। १। सु+पॄ पालनपूरणयोः—न, यद्वा पत्लृ गतौ—न, तस्य रः। सुपतनौ—निरु० ३। १२। शोभनपालनौ, शोभनपूरणौ, शोभनगमनौ, सुपक्षिणौ (सयुजा) सह युज्यमानौ (सखाया) समानख्यानौ (समानम्) एकमेव (वृक्षम्) अ० ३। ६। ८। वृक्ष वरणे—क, यद्वा, स्नुव्रश्चि०। उ० ३। ६६। ओ व्रश्चू छेदने—सप्रत्ययः, कित्। वृक्षो—व्रश्चनात्—निरु० १२। २६। कार्यकारणरूपं यद्वा द्रुमवत्स्वीकरणीयं क्लेशच्छेदकं वा संसारम्। (परि) सर्वतः (सस्व-

फल को (अत्ति) खाता है, (अनश्नन्) न खाता हुआ (अन्यः) दूसरा [परमात्मा] (अभि) सब ओर [सृष्टि और प्रलय में] (चाकशीति) चमकता रहता है ॥ २० ॥

भावार्थ—तीनों ब्रह्म और जीव और जगत् का कारण अनादि सनातन हैं। ब्रह्म और जीव व्यापक और व्याप्य भाव से संसार के बीच मित्र समान चले आते हैं। जीव कार्यरूप जगत् में शरीर धरकर पुण्य पाप का फल भोगता है। सर्वशासक परमेश्वर सृष्टि और प्रलय में एक रस बना रहता है ॥ २० ॥

यह मन्त्र निरुक्त १४ । ३० । और मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक ३ खण्ड १। मन्त्र १ में भी व्याख्यात है ॥

यस्मि॑न् वृ॒क्षे म॑ध्व॒दः सु॑प॒र्णा नि॑वि॒शन्ते॒ सुव॑ते॒ चाधि॒ विश्वे॑ । तस्य॒ यदा॒हुः पिप्प॑लं स्वा॒द्वग्रे॒ तन्नोन्न॑शद्यः पि॒तरं॒ न वेद॑ ॥ २१ ॥

यस्मि॑न् । वृ॒क्षे । म॒धु॒-अदः॑ । सु॒-प॒र्णाः । नि॒-वि॒शन्ते॑ । सुव॑ते । च॒ । अधि॑ । विश्वे॑ ॥ तस्य॑ । यत् । आ॒हुः॒ । पिप्प॑लम् । स्वा॒दु । अग्रे॑ । तत् । न । उत् । न॒श॒त् । यः॒ । पि॒तर॑म् । न । वेद॑ ॥२१॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस (वृक्षे) स्वीकरणीय [परमात्मा] में (मध्वदः) मधु [वेद ज्ञान] चखने वाले (विश्वे) सब (सुपर्णाः) सुन्दर पालने वाले [प्राण वा इन्द्रियां] (निविशन्ते) भीतर पैठ जाते हैं (च) और

जाते) ष्वञ्ज आलिङ्गने-लट्, श्लुत्वम् । स्वजेते । आश्रयतः (तयोः) जीवब्रह्मणोरनाद्यो.-न्० (अन्यः) जीवः (पिप्पलम्) फलस्तृपश्च । उ० १ । १०४ । पा पालने, वा पॄ पालनपूरणयोः-कल । पृषोदरादित्वम् । पिप्पलमुदकम्-निघ० १ । १२ । पालकं पूरकं वा फलम् (स्वादु) आस्वादनीयम् (अत्ति) भुङ्क्ते (अनश्नन्) अभुञ्जानः (अन्यः) परमेश्वरः-न्० (अभि) सर्वतः (चाकशीति) काशृ दीप्तौ, यद्वा कश शब्दे यङ्लुकि-लट् । अवचाकशत् पश्यतिकर्मा-निघ० ३ । ११। भृशं दीप्यते ॥

२१—(यस्मिन्) (वृक्षे) म० २० । स्वीकरणीये परमेश्वरे (मध्वदः) मधुनो ज्ञानस्य अत्तारः (सुपर्णाः) म० २० । सुपर्णाः सुपतना आदित्यरश्मयः, सुपर्णाः सुपतनानीन्द्रियाणि-निरु० ३ । १२ । सुपालकाः प्राणाः । शोभनपर्णाः इ : ड

(अधि) ऐश्वर्य के साथ (सुवते) उत्पन्न [उदय] होते हैं। (तस्य) उस [परमात्मा] के (यत्) जिस (पिप्पलम्) पालन करने वाले [मोक्षपद] को (अग्रे) सब से आगे [बढ़िया] (स्वादु) स्वादु [चखने योग्य] (आहुः) वे [तत्वज्ञानी] बताते हैं, (तत्) उस [मोक्षपद] को वह मनुष्य (न उत्) कभी नहीं (नशत्) पाता, (यः) जो (पितरम्) पिता [पालनकर्ता परमेश्वर] को (न) नहीं (वेद) जानता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—सबके आश्रय दाता स्वीकरणीय परमात्मा को जब मनुष्य अपने श्वास प्रश्वास में भीतर बाहिर साक्षात् करता है तब मोक्ष पद पाता है, उसको अज्ञानी पाखण्डी नहीं पा सकता ॥ २१ ॥

(यत्) के स्थान पर [इत्] है, ऋग्वेद म० २२ ॥

यत्रा सु॒प॒र्णा अ॒मृत॑स्य भ॒क्षमनि॑मेषं वि॒दथा॑भि॒स्वर॑न्ति । ए॒ना विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य गो॒पाः स मा॒ धीरः॒ पाक॒मत्रा वि॑वेश ॥ २२ ॥ (२५)

यत्र॑ । सु॒-प॒र्णाः । अ॒मृत॑स्य । भ॒क्षम् । अनि॑-मेषम् वि॒दथा॑ । अ॒भि॒-स्वर॑न्ति ॥ ए॒ना । विश्व॑स्य । भुव॑नस्य । गो॒पाः । सः । मा॒ । धीरः॑ । पाक॑म् । अत्र॑ । आ । वि॒वे॒श ॥ २२ ॥ (२५)

भाषार्थ—(यत्र) जिस (विदथा) ज्ञान के भीतर (सुपर्णाः) सुन्दर पालन करने वाले [वा सुन्दर गति वाले, प्राणी] (अमृतस्य) अमृतपन

पालनकर्माणः-द० (निविशन्ते) अन्तः प्रवशन्ति, आलीयन्ते (सुवते) पूङ् प्राणिगर्भविमोचने, आदादिकः। उत्पद्यन्ते,उद्यन्ति । जायन्ते-द० (च) (अधि) ऐश्वर्येण (विश्वे) सर्वे (तस्य) परमात्मनः (यत) (आहुः) (पिप्पलम्) म० २०। पालकं मोक्षपदम् (स्वादु) आस्वादनीयम् (अग्रे) प्राधान्ये (तत्) पिप्पलम् (न) निषेधे (उत्) एव (नशत्) नशत्, व्याप्तिकर्मा-निघ० २। १२। नशति प्राप्नोति। (पितरम्) पालकं परमेश्वरम्। परमात्मानम्-द० (न) (वेद) जानाति ॥

२२—(यत्र) यस्मिन् ज्ञाने (सुपर्णाः) म० २१। सुपालकाः प्राणिनः। शोभनकर्माणोजीवाः—द० (अमृतस्य) मोक्षस्य—द० (भक्षम्) भोगम्

[मोक्षसुख] के (भक्षम्) भोग को (अनिमेषम्) लगातार (अभिस्वरन्ति) सब ओर से पाते हैं। (एना) इसी विज्ञान के साथ (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) संसार का (गोपाः) रक्षक (सः) वह (धीरः) धीर [बुद्धिमान् परमेश्वर] (पाकम्) पक्के मन वाले (मा) मुझ में (अत्र) इस [देह] के भीतर (आ) यथावत् (विवेश) पैठा है २२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार योगी जन परमात्मा के विज्ञान से मोक्षसुख भोगते हैं, वैसे ही प्रत्येक उपासक दृढ़ बुद्धि हो मोक्ष सुख प्राप्त करे ॥ २२ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ३। १२। में भी व्याख्यात है ॥

(भक्षम्, एना) के स्थान पर [भागम्, इनः] पद हैं, ऋग्वेद मन्त्र २१॥

सूक्तम् १० ॥

१-२८ ॥ आत्मा देवता ॥ १,७,१७ जगती; २-७, १०-१२, १५, १६, १६, २०, २२, २३, २५, २८, त्रिष्टुप्; ८ निचृत् त्रिष्टुप्; ६ पादनिचृत् त्रिष्टुप्; १४ स्वराट् त्रिष्टुप्; १८ निचृज्जगती, २१ अतिशक्वरी; २४ भुरिगतिजगती; २६,२७ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

जीवात्मपरमात्मलक्षणोपदेशः—जीवात्मा और परमात्मा के लक्षणों का उपदेश ॥

यद्गा॒य॒त्रे अधि॑ गाय॒त्रमाहि॑तं॒ त्रैष्टु॑भं वा॒ त्रैष्टु॑भा॒न्निरत॑क्षत। यद्वा॒ जग॒ज्जग॒त्याहि॑तं प॒दं य इत्तद्वि॒दुस्ते अ॑मृत॒त्वमा॑नशुः ॥ १ ॥

यत्। गा॒य॒त्रे। अधि॑। गा॒य॒त्रम्। आ-हि॑तम्। त्रैस्तु॑भम्।

(अनिमेषम्) निरन्तरम् (विदथा) रुविदिभ्यां ङित्। उ० ३। ११५। विद ज्ञाने—अथ। वेदेन ज्ञानेन (अभिस्वरन्ति) स्वरतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। अभिप्रयन्ति—निरु० ३। १२। सर्वतः प्राप्नुवन्ति (एना) एनेन विद्येन (विश्वस्य) समग्रस्य (भुवनस्य) संसारस्य (गोपाः) गोपायिता रक्षिता (सः) (मा) माम् (धीरः) धीमान्—निरु० ३। १२। ध्यानवान्—द० (पाकम्) पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मा—निरु० ३। १२। परिपक्वमनस्कम् (अत्र) अस्मिन् देहे (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविशति ॥

वा । त्रैस्तुभात् । निः-अतक्षत ॥ यत् । वा । जगत् । जगति । आऽहितम् । पदम् । ये । इत् । तत् । विदुः । ते । अमृत-त्वम् । आनशुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि (गायत्रम्) स्तुति करने वालों का रक्षक [ब्रह्म] (गायत्रे) स्तुति योग्य गुण में (अधि) ऐश्वर्य के साथ (आहितम्) स्थापित है, (वा) और (त्रैष्टुभम्) तीन [सत्त्व, रज और तम] के बन्धन वाले [जगत्] को (त्रैष्टुभात्) तीन [कर्म, उपासना और ज्ञान] से पूजित [ब्रह्म] से (निरतक्षत्) उन्होंने [ऋषियों ने] पृथक् किया है। (वा) और (यत्) क्योंकि (जगत्) जानने योग्य (पदम्) प्रापणीय [मोक्षपद] (जगति) संसार के भीतर (आहितम्) स्थापित है, (ये इत्) जो ही [पुरुष] (तत्) उस [ब्रह्म] को (विदुः) जानते हैं, (ते) उन्होंने (अमृतत्वम्) अमरपन (आनशुः) पाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—संसार के भीतर परमात्मा अपने गुणों से सर्वव्यापक है, जो योगी जन उसे साक्षात् करते हैं वे मोक्ष के भागी होते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—८ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—म० १ । १६४ । २३—३० ॥

१—(यत्) यस्मात् कारणात् (गायत्रे) अमिनक्षियजि० उ० ३ । १०५। गै गाने—अत्रन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति-युक् । गायत्रं गायतेः स्तुतिकर्मणः, निरु० १ । ८ । स्तुत्ये गुणे (अधि) ऐश्वर्ये (गायत्रम्) गै गाने-शतृ + त्रैङ् पालने-क, तलोपः। गायतां रक्षकं ब्रह्म (आहितम्) धृतम् (त्रैष्टुभम्) त्रि + ष्टुभ निरोधे-क्विप् सम्पदादिः, ततोऽण् । त्रयाणां सत्त्वरजस्तमसां स्तोभनं बन्धनं यस्मिन् तज् जगत् (वा) समुच्चये (त्रैष्टुभात्) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । त्रि + ष्टुभ पूजायाम्—क्विप्, ततः प्रज्ञाद्यण् । त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजितात् परब्रह्मणः (निरतक्षत) तक्षतिः करोतिकर्मा—निरु० ४ । १९ । प्रथमपुरुषस्य मध्यमः । निरतक्षन् । पृथक् कृतवन्तः (यत्) यस्मात् (वा) समुच्चये (जगत्) गन्तव्यं ज्ञातव्यम् (जगति) संसारे (आहितम्) (पदम्) प्रापणीयं मोक्षपदम् (ये) विद्वांसः (इत्) एव (तत्) ब्रह्म (विदुः) जानन्ति (ते) (अमृतत्वम) अमरत्वं मोक्षसुखम् (आनशुः) प्राप्तवन्तः ।

गायत्रेण प्रति मिमीते अर्कमर्केण साम त्रैष्टुभेन वाकम्। वाकेन वाकं द्विपदा चतुष्पदाक्षरेण मिमते सप्त वाणीः ॥ २ ॥

गायत्रेण । प्रति । मिमीते । अर्कम् । अर्केण । साम । त्रैस्तु-भेन । वाकम् ॥ वाकेन । वाकम् । द्वि-पदा । चतुः-पदा । अक्षरेण । मिमते । सप्त । वाणीः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(गायत्रेण) स्तुति योग्य गुण से वह [योगी] (अर्कम्) पूजनीय [परमेश्वर] को (प्रति) प्रतीत के साथ (मिमीते) बोलता है, (अर्केण) पूजनीय ब्रह्म के साथ (साम) मोक्षविद्या को, (त्रैष्टुभेन) तीन [कर्म उपासना, ज्ञान] से स्तुति किये गये [ब्रह्म] के साथ (वाकम्) वेद वाक्य को [बोलता है] । (सप्त) सात [दो कान, दो नथने, दो नेत्र और एक मुख] से सम्बन्ध वाली [उसी की] (वाणीः) वाणियां (द्विपदा) दोपाये [मनुष्य आदि] और (चतुष्पदा) चौपाये [गौ आदि प्राणी] के साथ [वर्तमान] (वाकम्) वेद वाणी के स्वामी [परमेश्वर] को (अक्षरेण) सर्व व्यापक (वाकेन) वेद वाक्य के साथ (मिमते) उच्चारती हैं ॥ २ ॥

२—(गायत्रेण) म० १ । स्तुत्येन गुणेन (प्रति) प्रतीत्या (मिमीते) अ० ४ । ११ । २ । माङ् माने शब्दे च । तोलयति । उच्चारयति (अर्कम्) अ० ३ । ३ । २ । अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति—निरु० ५ । ४ । पूजनीयं परमेश्वरम् (अर्केण) पूजनीयेन ब्रह्मणा (साम) अ० ७ । ५४ १ । षो अन्तकर्मणि-मनिन् । दुःखनाशिकां मोक्षविद्याम् (त्रैष्टुभेन) म० १ । त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः पूजितेन ब्रह्मणा (वाकम्) वच—घञ्, कुत्वम् । वेदवचनम् (वाकेन) वेदवचनेन (वाकम्) अर्श आदिभ्योऽच् । पा० ५ । २ । १२७ । वाक्—अच् । वेदवाक्यस्वामिनं परमेश्वरम् (द्विपदा) पादद्वयोपेतेन मनुष्यादिना सह वर्तमानम् (चतुष्पदा) पादचतुष्टयोपेतेन गवादिना सह वर्तमानम् (अक्षरेण) अशेः सरः । उ० ३ । ७० । अशू व्याप्तौ-सर, यद्वा, नञ्+क्षर संचलने—पचाद्यच् । अक्षरं वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । अक्षर उदकम्-निघ० १ । १२ । सर्वव्यापकेन । अविनाशिना । मोक्षेण । ब्रह्मणा (मिमते) माङ् माने शब्दे च । तोलन्ति । वदन्ति (सप्त) शीर्षण्यैः सप्तभिः श्रोत्रादिभिः सम्बद्धाः (वाणीः) वाण्यः ॥

भावार्थ—जिज्ञासु तत्त्वदर्शी ब्रह्मचारी उत्तम उत्तम गुणों के द्वारा ब्रह्म से विद्या और विद्या से ब्रह्म को साक्षात् करके मोक्ष को प्राप्त होकर संसार में वेद द्वारा परमात्मा का उपदेश करता है ॥ २ ॥

जगता सिन्धुं दिव्यस्कभायद्र रथंतरे सूर्यं पर्यपश्यत् । गायत्रस्य समिधस्तिस्र आहुस्ततो मह्ना प्र रिरिचे महित्वा ॥ ३ ॥

जगता । सिन्धुम् । दिवि । अस्कभायत् । रथम्-तरे । सूर्यम् । परि । अपश्यत् ॥ गायत्रस्य । सम्-इधः । तिस्रः । आहुः । ततः । मह्ना । प्र । रिरिचे । महि-त्वा ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस [प्रजापति] ने (जगता) संसार के साथ (रथन्तरे) रमणीय पदार्थों के तराने वाले (दिवि) आकाश में (सिन्धुम्) नदी [जल] और (सूर्यम्) सूर्य को (अस्कभायत्) थांभा और (परि) सब ओर से (अपश्यत्) देखा । (गायत्रस्य) स्तुति योग्य ब्रह्म की (तिस्रः) तीनों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान सम्बन्धी] (समिधः) प्रकाश शक्तियों को (आहुः) वे [ब्रह्मज्ञानी] बताते हैं, (ततः) उसी से उस [ब्रह्म] ने (मह्ना) अपनी महिमा और (महित्वा) सामर्थ्य से [सब लोकों को] (प्र) अच्छे प्रकार (रिरिचे) संयुक्त किया ॥ ३ ॥

३—(जगता) संसारेण सह (सिन्धुम्) अ० ४ । ३ । १ । नदीम् (दिवि) आकाशे (अस्कभायत्) स्तम्भितवान् (रथन्तरे) अ० ८ । १० (२) । ६ । रमणीयानां लोकानां तारके (सूर्यम्) आदित्यमण्डलम् (परि) सर्वतः (अपश्यत्) दृष्टवान् (गायत्रस्य) म० १ । स्तुत्यस्य ब्रह्मणः (समिधः) सम्यग् दीप्तीः प्रकाशशक्तीः (तिस्रः) भूतभविष्यद्वर्तमानैः सह सम्बद्धाः (आहुः) कथयन्ति (ततः) तस्मात् कारणात् (मह्ना) वर्णलोपश्छान्दसः । महिम्ना (प्र) प्रकर्षेण (रिरिचे) रिच वियोजनसम्पर्चनयोः—लिट् । लोकान् संयोजितवान् (महित्वा) अ० ४ । २ । २ । महत्त्वेन सामर्थ्येन ॥

भावार्थ—त्रिकालज्ञ परमेश्वर ने मेघ, सूर्य और सब लोकों को अपने सामर्थ्य से रचा है ॥ ३ ॥

(अस्कभायत्) के स्थान पर [अस्थभायत्] है—ऋ० १ । १६४ । २५ ॥

उप॑ ह्वये सु॒दुघां॑ धे॒नुमे॒तां सु॒हस्तो॑ गो॒धुगु॒त दो॑हदे॒नाम् । श्रेष्ठं॑ स॒वं स॑वि॒ता सा॑विषन्नो॒ऽभी॑द्धो घ॒र्मस्तदु॒ षु प्र वो॑चत् ॥ ४ ॥

उप॑ । ह्व॒ये॒ । सु॒-दुघा॑म् । धे॒नुम् । ए॒ताम् । सु॒-हस्तः॑ । गो॒-धुक् । उ॒त । दो॒ह॒त् । ए॒नाम् ॥ श्रेष्ठ॑म् । स॒वम् । स॒वि॒ता । सा॒वि॒ष॒त् । नः॒ । अ॒भि-इ॑द्धः । घ॒र्मः । तत् । ऊं॒ इति॑ । सु । प्र । वो॒च॒त् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुदुघाम्) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करने वाली (एताम्) इस (धेनुम्) विद्या को (उप ह्वये) मैं स्वीकार करता हूं, (उत) वैसे ही (सुहस्तः) हस्तक्रिया में चतुर (गोधुक्) विद्या को दोहने वाला [विद्वान्] (एनाम्) इस [विद्या] को (दोहत्) दुहे । (सविता) ऐश्वर्यवान् परमेश्वर (श्रेष्ठम्) श्रेष्ठ (सवम्) ऐश्वर्य को (नः) हमारे लिये (साविषत्) उत्पन्न करे । (अभीद्धः) सब ओर प्रकाशमान (घर्मः) प्रतापी परमेश्वर ने (तत् उ) उस सब को (सु) अच्छे प्रकार (प्र वोचत्) उपदेश किया है ॥४॥

भावार्थ—सब मनुष्य कल्याणी वेदवाणी का पठन पाठन करके ऐश्वर्य प्राप्त करें । जिस प्रकार परमेश्वर ने उसका उपदेश किया है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७ । ७३ । ७ (वोचत्) के स्थान पर [वोचम्] है, ऋग्वेद १ । १६४ । २६ । तथा निरुक्त ११ । ४३ ॥

हि॒ङ्कृ॒ण्व॒ती व॑सु॒पत्नी॒ वसू॑नां व॒त्समि॒च्छन्ती॒ मन॑सा॒भ्यागा॑त् । दु॒हाम॒श्विभ्यां॒ पयो॑ अ॒घ्न्येयं सा व॑र्धतां मह॒ते सौभ॑गाय ॥ ५ ॥

४—अयं मन्त्रः पूर्वं व्याख्यातः—अ० ७ । ७३ । ७ । तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

हिङ्-कृण्वती । वसु-पत्नी । वसूनाम् । वत्सम् । इच्छन्ती । मनसा । अभि-आगात् ॥ दुहाम् । अश्वि-भ्याम् । पयः । अघ्न्या । इयम् । सा । वर्धताम् । महते । सौभगाय ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हिङ्कृण्वती) गति वा वृद्धि करने वाली, (वसुपत्नी) धन की रक्षा करने वाली, (वसूनाम्) श्रेष्ठों के बीच (वत्सम्) उपदेशक पुरुष को (इच्छन्ती) चाहने वाली [वेदवाणी] (मनसा) विज्ञान के साथ (अभ्यागात्) सब ओर से प्राप्त हुई है । (इयम्) यह (अघ्न्या) हिंसा न करनेवाली विद्या (अश्विभ्याम्) दोनों चतुर स्त्री पुरुषों के लिये (पयः) विज्ञान को (दुहाम्) परिपूर्ण करे, (सा] वही [विद्या] (महते) अत्यन्त (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (वर्धताम्) बढ़े ॥ ५ ॥

भावार्थ—यह जो वेदवाणी संसार का उपकार करती है, उसको सब स्त्री पुरुष प्राप्त होकर यथावत् वृद्धि करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र आ चुका है–अ० ७ । ७३ । ८ । (अभ्यागात्) के स्थान पर वहां [न्यागन्] पद है । पदपाठ में (अभि-आगात्) के स्थान पर [अभि । आ । अगात्] है—ऋग्वेद १ । १६४ । २७ । तथा निरु० ११ । ४५ ॥

गौरमीमेदभि वत्सं मिषन्तं मूर्धानं हिङ्ङकृणोन्मातवा उ । सृक्वाणं घर्ममभि वावशाना मिमाति मायुं पयते पयोभिः ॥ ६ ॥

गौः । अमीमेत् । अभि । वत्सम् । मिषन्तम् । मूर्धानम् । हिङ् । अकृणोत् । मातवै । ऊं इति ॥ सृक्वाणम् । घर्मम् । अभि । वावशाना । मिमाति । मायुम् । पयते । पयः-भिः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गौः) ब्रह्मवाणी ने (मिषन्तम्) आंखें मींचे हुये (वत्सम्)

५—(अभ्यागात्) आभिमुख्येन आगतवती, प्राप्तवती । अन्यद् व्याख्यातम्–अ० ७ । ७३ । ८ ॥

६—(गौः) गौर्वाक्–निघ० १ । ११ । ब्रह्मवाणी (अमीमेत्) मा ० ८ ।

निवास स्थान [संसार] को (अभि) सब ओर (अमीमेत्) फैलाया और (मूर्धानम्) [लोकों से] बन्धन रखने वाले [मस्तक रूप सूर्य] को (मातवै) बनाने के लिये (उ) निश्चय करके (हिङ्) तृप्ति कर्म (अकृणोत्) बनाया। वह [ब्रह्मवाणी] (सृक्वाणम्) सृष्टिकर्ता (घर्मम्) प्रकाशमान [परमात्मा] की (अभि) सब ओर से (वावशाना) अति कामना करती हुई (मायुम्) शब्द (मिमाति) करती है और (पयोभिः) अनेक बलों के साथ (पयते) चलती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रलय में लीन संसार को रचकर सूर्य आदि लोकों को परस्पर आकर्षण में ऐसा बनाया जैसे मस्तक और धड़ होते हैं और उसी ब्रह्म शक्ति द्वारा प्राणियों को सब प्रकार का बल मिलता है ॥ ६ ॥

इस मन्त्र के उत्तर भाग का मिलान करो—अ० ६ । १ । ८ (अभि) के स्थान पर [अनु] है—ऋ० १ । १६४ । २८ । तथा निरु० ११ । ४२ ॥

अयं स शिङ्क्ते येन गौरभीवृता मिमाति मायुं ध्वसनावधि श्रिता । सा चित्तिभिर्नि हि चकार मर्त्यान् विद्युद्भवन्ती प्रति वव्रिमौहत ॥ ७ ॥

अयम् । सः । शिङ्क्ते । येन । गौः । अभि-वृता । मिमाति । मायुम् । ध्वसनौ । अधि । श्रिता ॥ सा । चित्ति-भिः । नि ।

---

६ । ६ । डु मिञ् प्रक्षेपणे-लङ् । अमिनोत् । विस्तारितवती (अभि) सर्वतः (वत्सम्) वस निवासे-स । निवासस्थानं संसारम् (मिषन्तम्) मिष स्पर्धायाम्—शतृ । चक्षुर्मीलनं कुर्वन्तम् । प्रलये वर्तमानम् (मूर्धानम्) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । मुर्वी बन्धने—कनिन्, उकारस्य दीर्घः, वस्य धः । लोकानां बन्धकमाकर्षकं मस्तकरूपं सूर्यम् (हिङ्) अ० ६ । ६ (५) । १ । हिवि प्रीणने—क्विन् । तृप्तिकर्म (अकृणोत्) कृतवती (मातवै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । माङ् माने शब्दे च—तवै । निर्मातुम् (उ) एव (सृक्वाणम्) शीङ्क्रुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । सृज विसर्गे—क्वनिप् । चोः कुः । पा० ८ । २ । ३० । कुत्वम् । स्रष्टारम् (घर्मम्) अ० ४ । १ । २ । घृ सेचनदीप्त्योः-मक् । प्रकाशमानं परमात्मानम् । अन्यद् व्याख्यातम्—अ० ६ । १ । ८ ॥

हि । चकार । मर्त्यान् । वि-द्युत् । भवन्ती । प्रति । वव्रिम् । औहत ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [समीपस्थ] (सः) वही [दूरस्थ परमेश्वर] (शिङ्क्ते) गरजता सा है, (येन) जिस [परमेश्वर] करके (अभिवृता) सब ओर से घेरी हुई, (ध्वसनौ) अपनी परिधि में (अधि) ठीक ठीक (श्रिता) ठहरी हुई (गौः) भूमि (मायुम्) मार्ग को (मिमाति) बनाती है। और (सा) उस (भवन्ती) व्यापक (विद्युत्) बिजुली ने (मर्त्यान्) मनुष्यों को (हि) निश्चय करके (चित्तिभिः) चेतनाओं के साथ (नि) निरन्तर (चकार) किया है और (वव्रिम्) प्रत्येक रूप को (प्रति) प्रत्यक्ष (औहत) विचार योग्य बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की शक्ति से यह पृथिवी अपनी परिधि में घूमती है और उसी की महिमा से बिजुली मनुष्यादि प्राणियों में व्यापकर कर्म करने के लिये शरीर के भीतर चेष्टा देती है ॥ ७ ॥

(मर्त्यान्) के स्थान पर [मर्त्यम्] है—ऋ० १ । १६४ । २९ । तथा निरु० २ । ९ ॥

अनच्छये तुरगातु जीवमेजद् ध्रुवं मध्य आ पस्त्यानाम्।

७—(अयम्) समीपस्थः परमेश्वरः (सः) दूरस्थः (शिङ्क्ते) शिजि अव्यक्ते शब्दे । गर्जनं यथा शब्दं करोति (येन) परमेश्वरेण (गौः) पृथिवी—निघ० १ । १ (अभिवृता) वृञ् वरणे—क्त । सर्वतो वेष्टिता (मिमाति) अ० ६ । १ । ८ । निर्माति । करोति (मायुम्) अ० ६ । १ । ८ । माङ् माने—उण्, युक् च । परिमितं मार्गम्—दयानन्दभाष्ये (ध्वसनौ), अर्त्तिसृधृ० । उ० । २ । १०२ । ध्वंसु अवस्रंसने गतौ च—अनि, अनुनासिकलोपः । अधऊर्ध्वमध्यपतनार्थे परिधौ—दयानन्दभाष्ये (अधि) उपरि (श्रिता) स्थिता (सा) प्रत्यक्षा (चित्तिभिः) चिती संज्ञाने वा चित संचेतने—क्तिन् । संचेतनैः संज्ञानैः सह (नि) निरन्तरम् (हि) एव (चकार) कृतवती (मर्त्यान्) मनुष्यान् (विद्युत्) विद्योतमाना तडित् (भवन्ती) व्याप्नुवती (प्रति) प्रत्यक्षम् (वव्रिम्) अ० ४ । ९ । ५ । वरणीयं रूपम् (औहत) ऊह वितर्के—लङ् । विचारणीयं कृतवती ॥

नाम् । जीवो मृतस्य चरति स्वधाभिरमर्त्यो मर्त्येना सयोनिः ॥ ८ ॥

अनत् । शये । तुर-गातु । जीवम् । एजत् । ध्रुवम् । मध्ये । आ । पस्त्या-नाम् ॥ जीवः । मृतस्य । चरति । स्वधाभिः । अमर्त्यः । मर्त्येन । स-योनिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जीवम्) जीव को (अनत्) प्राण देता हुआ और (एजत्) चेष्टा कराता हुआ, (तुरगातु) शीघ्रगामी, (ध्रुवम्) निश्चल [ब्रह्म] (पस्त्यानाम्) घरों के (मध्ये) मध्य में (आ) सब ओर से (शये) सोता है [वर्तमान है] । (मृतस्य) मरण स्वभाव वाले [शरीर] का (अमर्त्यः) अमरण स्वभाव वाला (जीवः) जीव [आत्मा] (मर्त्येन) मरण धर्म वाले [जगत्] के साथ (सयोनिः) एकस्थानी होकर (स्वधाभिः) अपनी धारण शक्तियों से (चरति) चलता रहता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन से अधिक वेग वाला [यजु० ४० । ४] सर्वव्यापक ब्रह्म सब में वर्तमान रहकर जीवात्मा को उसके कर्मानुसार संसार के भीतर शरीर धारण करा के पुण्य पाप का फल देता है ॥ ८ ॥

विधुं दद्राणं सलिलस्य पृष्ठे युवानं सन्तं पलितो जगार । देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान ॥ ९ ॥

८—(अनत्) अन्तर्गतण्यर्थः । प्राणयत् (शये) तलोपः । शेते । वर्तते (तुरगातु) कमिमनिजनिगा० । उ० । १ । ७३ । गाङ् गतौ गै शब्दे वा—तु । शीघ्रगामि ब्रह्म । मनसो जवीयः—यजु० ४० । ४ (जीवम्) जीवात्मानम् (एजत्) एजयत् । कम्पयत् (ध्रुवम्) निश्चलम् (मध्ये) (आ) समन्तात् (पस्त्यानाम्) जनेर्यक् । उ० ४ । १११ । पस बाधे ग्रन्थे च—यक्, तुगागमः, यद्वा पस्त्ट गतौ—यक्, सकार उपजनः । गृहाणाम्—निघ० ३ । ४ (जीवः) जीवात्मा (मृतस्य) मरणस्वभावस्य शरीरस्य (चरति) गच्छति (स्वधाभिः) अ० २ । २९ । ७ । स्व+डु धाञ् धारणपोषणदानेषु—क्विप् । आत्मधारणशक्तिभिः (अमर्त्यः) अमरणस्वभावः (मर्त्येन) मरणधर्मेण संसारेण सह (सयोनिः) समानस्थानः ॥

वि-धुम् । दुद्राणम् । सलिलस्य । पृष्ठे । युवानम् । सन्तम् । पलितः । जगार ॥ देवस्य । पश्य । काव्यम् । महि-त्वा । अद्य । ममार । सः । ह्यः । सम् । आन ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सलिलस्य) समुद्र की (पृष्ठे) पीठ पर (सन्तम्) वर्तमान, (विधुम्) काम करने वाले, (दुद्राणम्) टेढ़े चलने वाले (युवानम्) बलवान् पुरुष को (पलितः) पालनकर्ता [परमेश्वर] (जगार) निगल गया। (देवस्य) दिव्य गुण वाले [परमेश्वर] की (काव्यम्) चतुराई को (महित्वा) महत्त्व के साथ (पश्य) देख, (सः) वह [प्राणी (अद्य) आज (ममार) मर गया [जो] (ह्यः) कल्य (सम् आन) जी रहा था ॥ ९ ॥

भावार्थ—संसार सागर में दुराचारी बलवान् पुरुष को जगत्पालक परमेश्वर इस प्रकार नष्ट कर देता है जैसे समुद्र में बुदबुदा, सो परमात्मा की न्यायकारिता और अपने शरीर की अनित्यता विचार कर मनुष्य धर्म में सदा प्रवृत्त रहे ॥ ९ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ५५ । ५ । साम० पू० प्र० ४ द० ४ म० ३। तथा उ० प्र० ९ । १ । ७ । और निरुक्त १४ । १८ । (सलिलस्य पृष्ठे) के स्थान पर सब में [समने बहूनाम्] है ॥

य ईं चकार न सो अस्य वेद य ईं ददर्श हिरुगिन्नु

९—(विधुम्) पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । करोत्यर्थे विपूर्वाद् दधातेः कु । विधारकं कर्मकर्तारम् (दुद्राणम्) द्रा कुत्सायां गतौ—कानच् । कुटिलं गतवन्तम् (सलिलस्य) अ० ४ । १५ । ११ । षल गतौ—इलच् । सलिलमुदकम्—निघ० १ । १२ । समुद्रस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (युवानम्) अ० ६ । १ । २ । बलवन्तं पुरुषम् (सन्तम्) वर्तमानम् (पलितः) अ० ९ । ९ । १ । पालयिता—निरु० ४ । २६ । परमेश्वरः (जगार) गॄ निगरणे—लिट् । निगीर्णवान् (देवस्य) दिव्यगुणविशिष्टस्य परमेश्वरस्य (पश्य) (काव्यम्) मेधावित्वम् । चातुर्यम् (महित्वा) अ० ४ । २ । २ । महत्त्वेन (अद्य) अ० १ । १ । १ । अस्मिन् दिने (ममार) मृतवान् (सः) पुरुषः (ह्यः) अतीतेऽहि (सम्) सम्यक् (आन) अन प्राणने—लिट् । जीवितवान् ॥

तस्मात् । स मातुर्योना परिवीतो अन्तर्बहुप्रजा निर्ऋतिरा विवेश ॥ १० ॥ (२६)

यः । ईम् । चकार । न । सः । अस्य । वेद । यः । ईम् । ददर्श । हिरुक् । इत् । नु । तस्मात् ॥ सः । मातुः । योना । परिवीतः । अन्तः । बहु-प्रजाः । निः-ऋतिः । आ । विवेश ॥१० (२६)

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (ईम्) इस [प्राणी] को (चकार) बनाया है, (सः) वह [प्राणी] (अस्य) इस [परमेश्वर] को [यथावत्] (न) नहीं (वेद) जानता है, (यः) जिस [प्राणी] ने (ईम्) इस [परमेश्वर] को (ददर्श) देखा है, वह [परमेश्वर] (तस्मात्) उस [प्राणी] से (हिरुक्) गुप्त (इत् नु) अवश्य ही है । (मातुः) माता के (योना अन्तः) गर्भाशय के भीतर (परिवीतः) लपेटा हुआ [बालक जैसे] (सः) उस (बहुप्रजाः) अनेक प्रजाओं वाले [परमेश्वर] ने (निर्ऋतिः=०-तिम्) भूमि में (आ) सब प्रकार (विवेश) प्रवेश किया है ॥ १० ॥

भावार्थ—कोई विवेकी प्राणी अनन्त सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की सीमा नहीं पा सकता है यद्यपि वह ईश्वर प्रत्येक वस्तु के भीतर ऐसा स्थित है जैसे माता के गर्भ में बालक होता है ॥ १० ॥

(निर्ऋतिः) के स्थान पर [निर्ऋतिम्] है–ऋ० १ । १६४ । ३२ ॥

१०—(यः) परमेश्वरः (ईम्) एनं प्राणिनम् (चकार) ससर्ज (न) निषेधे (सः) प्राणी (अस्य) इमं परमेश्वरम् (वेद) जानाति (यः) प्राणी (ईम्) एनं परमेश्वरम् (ददर्श) दृष्टवान् (हिरुक्) अ० ४ । ३ । १ । अन्तर्हितम्–निघ० ३ । २५ (इत्) अवश्य (नु) एव (तस्मात्) मनुष्यात् (सः) परमेश्वरः (मातुः) जनन्याः (योना) गर्भाशये (परिवीतः) परिवेष्टितः (अन्तः) मध्ये (बहुप्रजाः) बहुप्रजाश्छन्दसि । पा० ५ । ४ । १२३ । बहुप्रजा–असिच्, बहुव्रीहौ । बहुप्रजावान् (निर्ऋतिः) अ० ६ । २६ । २ । निः+ऋ गतौ–क्तिन् । द्वितीयार्थे–सुः । नितरां गमनशीलां पृथिवीम्—निघ० १ । १ । (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान् ॥

अप॑श्यं गोपामनि॑पद्य॑मान॒मा च॒ परा॑ च प॒थिभि॒श्चर॑न्तम् । स स॒ध्रीचीः॒ स विषू॑चीर्वसा॑न॒ आ व॑री॒वर्ति॒ भुव॑नेष्व॒न्तः ॥ ११ ॥

अप॑श्यम् । गो॒पाम् । अनि॑-पद्य॑मानम् । आ । च॒ । परा॑ । च॒ । प॒थि-भिः॑ । चर॑न्तम् ॥ सः । स॒ध्रीचीः॑ । सः । विषू॑चीः । वसा॑नः । आ । व॒री॒व॒र्ति॒ । भुव॑नेषु । अ॒न्तः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(गोपाम्) भूमि वा वाणी के रक्षक, (अनिपद्यमानम्) न गिरने वाले [अचल], (पथिभिः) ज्ञान मार्गों से (आ चरन्तम्) समीप प्राप्त होते हुये (च) और (परा) दूर प्राप्त होते हुये (च) भी [परमेश्वर] को (अपश्यम्) मैंने देखा है। (सः) वह [परमेश्वर] (सध्रीचीः) साथ मिली हुई [दिशाओं] को और (सः) वही (विषूचीः) नाना प्रकार से वर्तमान [प्रजाओं] को (वसानः) ढकता हुआ (भुवनेषु अन्तः) लोकों के भीतर (आ) अच्छे प्रकार (वरीवर्ति) निरन्तर वर्तमान है ॥ ११ ॥

भावार्थ—योगी जन सर्वव्यापी अन्तर्यामी परमेश्वर को सब स्थानों में बाहिर और भीतर साक्षात् करके सदा धर्म में लगे रहते हैं ॥ ११ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । १६४ । ३१ । और १० । १७७ । ३ । तथा यजु० ३७ । १७ । तथा निरुक्त १४ । ३ ॥

११—(अपश्यम्) अहं दृष्टवान् (गोपाम्) अ० ३ । ८ । ४ । गां भूमिं वाचं वा पातीति तं परमेश्वरम् (अनिपद्यमानम्) पद गतौ-शानच् । नाधः पतन्तम् । अचलम् (आ चरन्तम्) समीपे प्राप्नुवन्तम् (च) (परा) पराचरन्तम् । दूरे प्राप्नुवन्तम् (च) (पथिभिः) ज्ञानमार्गैः (सः) परमेश्वरः (सध्रीचीः) अ० ६ । ८८ । ३ । सहाञ्चनाः सह वर्तमाना दिशः (सः) (विषूचीः) अ० १ । १९ । १ । विष्वञ्चनाः । नाना वर्तमानाः प्रजाः (वसानः) अ० ४ । ८ । ३ । आच्छादयन् (आ) समन्तात् (वरीवर्ति) रीगृदुपधस्य च । पा० ७ । ४ । ९० । वृतु वर्तने—यङ्लुकि, रीक् । निरन्तरं वर्तते (भुवनेषु) लोकेषु (अन्तः) मध्ये ॥

द्यौर्नः पिता जनिता नाभिरत्र बन्धुर्नो माता पृथिवी महीयम् । उत्तानयोश्चम्वो३र्योनिरन्तरत्रा पिता दुहितुर्गर्भमाधात् ॥ १२ ॥

द्यौः । नः । पिता । जनिता । नाभिः । अत्र । बन्धुः । नः । माता । पृथिवी । मही । इयम् ॥ उत्तानयोः । चम्वोः । योनिः । अन्तः । अत्र । पिता । दुहितुः । गर्भम् । आ । अधात् ॥१२॥

भाषार्थ—(द्यौः) प्रकाशमान सूर्य (नः) हमारा (पिता) पालने वाला और (जनिता) उत्पन्न करने वाला है, (अत्र) इस [सूर्य] में (नः) हमारी (नाभिः) नाभि [प्रकाश वा जलरूप उत्पत्ति का मूल] है, (इयम्) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी (माता) और (बन्धुः) बन्धु [के तुल्य] है। (उत्तानयोः) उत्तमता से फैले हुये (चम्वोः) [दो सेनाओं के समान स्थित] सूर्य और पृथिवी के (अन्तः) बीच (योनिः) [जो] घर [अवकाश] है, (अत्र) इस [अवकाश] में (पिता) पालने वाले [सूर्य वा मेघ] ने

१२—(द्यौः) अ० २ । १२ । ६ । प्रकाशमानः सूर्यः (नः) अस्माकम् (पिता) पाता पालयिता वा—निरु० ४ । २१ (जनिता) जनयिता (नाभिः) अ० १ । १३ । ३ । नाभिः सन्नहनान्नाभ्या सन्नद्धा गर्भा जायन्त इत्याहुः—निरु० ४ । २१ । तुन्दकूपीचक्रं यथा (अत्र) सूर्ये (बन्धुः) सम्बन्धी (नः) (माता) जननी यथा (मही) अ० १ । १७ । २ । महती (इयम्)(उत्तानयोः) अ० ६ । ६ । १४ । उत्तमतया विस्तृतयोः (चम्वोः) कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० । चमु अदने—ऊ । चम्वौ द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० । चमन्त्यनयोः । द्यावापृथिव्योः । सेनयोरिव—दयानन्दभाष्ये (योनिः) गृहम्—निघ० ३ । ४ । अवकाशः (अन्तः) मध्ये (अत्र) योनौ (पिता) पालकः सूर्यः पर्जन्यो वा (दुहितुः) अ० ३ । १० । १३ । दुह प्रपूरणे—तृच् । दुहिता दुर्हिता दूरे हिता दोग्धेर्वा—निरु० ३ । ४ । दोग्धि प्रपूरयतीति दुहिता । रसानां प्रपूरयित्र्याः । पृथिव्याः—निरु० ४ । २१ । दूरे निहिताया भूम्याः—इति सायणः (गर्भम्) सर्वोत्पादनसमर्थं वृष्ट्युदकलक्षणम्—इति सायणः । सर्वभूतगर्भोत्पत्तिहेतुभूतोद-

(दुहितुः [रसों को खींचने वाली] पृथिवी के (गर्भम्) उत्पत्ति सामर्थ्य [जल] को (आ) यथाविधि (अधात्) धारण किया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा की महिमा से सूर्य और भूमि सब प्राणियों के पिता माता और बन्धु के समान हैं, उन दोनों के वीच अन्तरिक्ष में पृथिवी से किरणों द्वारा जल खिंच कर मेघ मण्डल में रहता है, फिर वही जल पृथिवी पर बरस कर नाना पदार्थ उत्पन्न करता और प्राणियों को जीवन साधन देता है, उस जगदीश्वर की उपासना सब मनुष्यों को सदा करनी चाहिये ॥ १२ ॥

(नः, नः) के स्थान में [मे, मे] है—ऋग्वेद १ । १६४ । ३३ । तथा निरु० ४ । २१ ॥

पृच्छामि॑ त्वा॒ पर॒मन्तं॑ पृथि॒व्याः पृ॒च्छामि॒ वृष्णो॒ अश्व॑स्य॒ रेतः॑ । पृ॒च्छामि॒ विश्व॑स्य॒ भुव॑नस्य॒ नाभिं॑ पृ॒च्छामि॑ वा॒चः प॑र॒मं व्यो॑म ॥ १३ ॥

पृ॒च्छामि॑ । त्वा॒ । पर॑म् । अन्त॑म् । पृ॒थि॒व्याः । पृ॒च्छामि॑ । वृष्णः॑ । अश्व॑स्य । रेतः॑ ॥ पृ॒च्छामि॑ । विश्व॑स्य । भुव॑नस्य । नाभि॑म् । पृ॒च्छामि॑ । वा॒चः । प॒र॒मम् । वि-ओ॑म ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (त्वा) तुझ से (पृथिव्याः) पृथिवी के (परम्) परले (अन्तम्) अन्त को (पृच्छामि) पूंछता हूं, (वृष्णः) पराक्रमी (अश्वस्य) बलवान् पुरुष के (रेतः) पराक्रम को (पृच्छामि) पूंछता हूं । (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) संसार के (नाभिम्) नाभि [बन्धन कर्ता] को

कम्-इति दुर्गाचार्यः-निरुक्त टीकायाम्-४ । २१ । वीर्यरूपं जलम् (आ) समन्तात् (अधात्) धृतवान् ॥

१३—(पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (त्वा) विद्वांसम् (परम्) सीमापरिच्छिन्नम् (अन्तम्) सीमाम् (पृथिव्याः) (पृच्छामि) (वृष्णः) अ० १ । १२ । १ । वृषु सेचनप्रजननैश्वर्येषु—कनिन् । ऐश्वर्यवतः । पराक्रमिणः (अश्वस्य) बलवतः पुरुषस्य (रेतः) वीर्यम् (पृच्छामि) (विश्वस्य) सर्वस्य (भुवनस्य) लोकस्य (नाभिम्) अ० १ । १३ । ३ । णह बन्धने—इञ् । मध्याकर्षणेन बन्धकम्-इया-

(पृच्छामि) पूंछता हूं, (वाचः) वाणी [विद्या] के (परमम्) परम (व्योम) [विविध रक्षा स्थान] अवकाश को (पृच्छामि) पूंछता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिज्ञासु लोग इस प्रकार के विद्या सम्बन्धी प्रश्न किया करें १-पृथिवी की सीमा का आदि अन्त क्या है, २-पराक्रमी जन का वल क्या है, ३—जगत् का आकर्षण क्या है और ४-वाणी का पारगन्ता कौन है। इन चार प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ १३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ३४ । तथा यजु० २३ । ६१॥

इयं वेदिः परो अन्तः पृथिव्या अयं सोमो वृष्णो अश्वस्य रेतः । अयं यज्ञो विश्वस्य भुवनस्य नाभिर्ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम ॥ १४ ॥

इयम् । वेदिः । परः । अन्तः । पृथिव्याः । अयम् । सोमः । वृष्णः । अश्वस्य । रेतः ॥ अयम् । यज्ञः । विश्वस्य । भुवनस्य । नाभिः । ब्रह्मा । अयम् । वाचः । परमम् । वि-ओम १४

भाषार्थ—(इयम्) यह [प्रत्यक्ष] (वेदिः) वेदि [विद्यमानता का विन्दु वा यज्ञभूमि] (पृथिव्याः) पृथिवी का (परः) परला (अन्तः) अन्त है, (अयम्) यह [प्रत्यक्ष] (सोमः) ऐश्वर्यवान् रस [सोम औषध वा अन्न आदि का अमृत रस] (वृष्णः) पराक्रमी (अश्वस्य) वलवान् पुरुष का (रेतः)

नन्दभाष्ये, यजु० २३ । ६१ (पृच्छामि) (वाचः) वाण्याः विद्यायाः (परमम्) प्रकृष्टम् (व्योम) अ० ५ । १७ । ६ । वि + अव रक्षणे — मनिन् । विविधं रक्षास्थानम् । अवकाशम् ॥

१४—(इयम्) प्रत्यक्षा (वेदिः) इपिपिरुहिवृतिविदि० । उ० ४ । ११६ । विद सत्तायाम्, विद ज्ञाने, विद्लृ लाभे-इन् । विद्यमानताविन्दुः । यज्ञभूमिः (परः) सीमापरिच्छिन्नः (अन्तः) सीमा (पृथिव्याः) (अयम्) (सोमः) ऐश्वर्यवान् रसः । सोमस्यान्नादेर्वा अमृतरसः (वृष्णः) म० १३ । पराक्रमिणः (अश्वस्य) वलवतः पुरुषस्य (रेतः) वीर्यम् (अयम्) प्रत्यक्षः (यज्ञः) अ० १ । ६ । ४ । यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—नङ् । परमाणूनां संयोगवियोगव्यव-

वीर्य [पराक्रम] है। (अयम्) यह [प्रत्यक्ष] (यज्ञः) यज्ञ [परमाणुओं का संयोग वियोग व्यवहार] (विश्वस्य) सब (भुवनस्य) संसार की (नाभिः) नाभि [नियम में बांधने वाली शक्ति] है, (अयम्) यह [प्रत्यक्ष] (ब्रह्मा) ब्रह्मा [चारों वेदों का प्रकाशक परमेश्वर] (वाचः) वाणी [विद्या] का (परमम्) उत्तम (व्योम) [विविध रक्षा स्थान] अवकाश है ॥ १४ ॥

भावार्थ—१-पृथिवी गोल है, यदि मनुष्य किसी स्थान से सीधा बिना मुड़े किसी ओर चलता जावे, तो वह चलते चलते फिर वहीं आ पहुंचेगा जहां से चला था। २—सब प्राणी सोम अर्थात् अन्न आदि के रस से बलवान् होते हैं। ३—परमाणुओं के संयोग वियोग अर्थात् आकर्षण अपकर्षण में सब संसार की नाभि अर्थात् स्थिति है। ४—परमेश्वर ही सब वाणियों अर्थात् विद्याओं का भण्डार है ॥ १४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१। १६४। ३५। तथा यजु० २३। ६२। तथा महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठ १४७ में भी व्याख्यात है ॥

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि। यदा मागन् प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः ॥ १५ ॥

न। वि। जानामि। यत्-इव। इदम्। अस्मि। निण्यः। सम्-नद्धः। मनसा। चरामि ॥ यदा। मा। आ-अगन्। प्रथम-जाः। ऋतस्य। आत्। इत्। वाचः। अश्नुवे। भागम्। अस्याः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यत्-इव) जो कुछ ही (इदम्) यह [कार्य रूप शरीर

हारः (विश्वस्य) सर्वस्य (भुवनस्य) संसारस्य (नाभिः) म० १३। तुन्द-कूपीवद् बन्धनशक्तिः (ब्रह्मा) बृहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। बृहि वृद्धौ-मनिन्, नस्य अकारः, रत्वम्। चतुर्णां वेदानां प्रकाशकः परमेश्वरः (अयम्) प्रत्यक्षः (वाचः) वाण्याः। विद्यायाः (परमम्) प्रकृष्टम् (व्योम) वि+अव रक्षणे-मनिन्। रक्षास्थानम्। अवकाशम् ॥

१५—(न) निषेधे (वि) विशेषेण (जानामि) वेद्मि (यत्-इव) यत्

है, वही] (अस्मि) मैं हूं, (न वि जानामि) मैं कुछ नहीं जानता, (निण्यः) गुप्त और (मनसा) मन से (सन्नद्धः) जिकड़ा हुआ मैं (चरामि) विचरता हूं। (यदा) जब (ऋतस्य) सत्य [स्वरूप परमात्मा] का (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न [बोध] (मा) मुझको (आ-अगन्) आया है, (आत् इत्) तभी (अस्याः) इस (वाचः) वाणी के (भागम्) सेवनीय परब्रह्म को (अश्नुवे) मैं पाता हूं ॥ १५ ॥

भावार्थ—अज्ञानी पुरुष मूढ़बुद्धि होकर शरीर आत्मा को अलग २ नहीं जानता। जब वह वेद द्वारा विद्या प्राप्त करता है तब शरीर, आत्मा और परमात्मा को जान लेता है ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । १६४ । ३७ । और निरुक्त-७ । ३ । और १४ । २२ । में भी है ॥

अपाङ् प्राङे॑ति स्वधया॑ गृभीतोऽम॑र्त्यो॒ मर्त्ये॑ना सयो॑निः। ता शश्व॑न्ता विषू॒चीना॑ वि॒यन्ता॒ न्य॑१॒॑न्यं चि॒क्युर्न नि चि॑क्युर॒न्यम् ॥ १६ ॥

अपा॑ङ् । प्राङ् । ए॒ति॒ । स्व॒धया॑ । गृ॒भी॒तः। अम॑र्त्यः । मर्त्ये॑न । स-यो॑निः॥ ता । शश्व॑न्ता । वि॒षू॒चीना॑ । वि॒-यन्ता॑ । नि । अ॒न्यम् । चि॒क्युः । न । नि । चि॒क्युः । अ॒न्यम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (गृभीतः) ग्रहण किया

किञ्चिदेव (इदम्) दृश्यमानं शरीरम् (अस्मि) अविवेकी जनोऽहम् (निण्यः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । निर्+णीञ् प्रापणे-यक्, टिलोपो रेफलोपश्च । निण्यं निर्णीतान्तर्हितनाम-निघ० ३ । २५ । अन्तर्हितः । मूढचित्तः (सन्नद्धः) सम्यग् बद्धो वेष्टितः (मनसा) अन्तःकरणेन (चरामि) गच्छामि (यदा) यस्मिन् काले (मा) माम् (आ-अगन्) अ० ६ । ११६ । २ । गमेर्लुङ् । आगमत (प्रथमजाः) अ० ६ । १२२ । १ । जनेर्विट् । प्रथमोत्पन्नो बोधः (ऋतस्य) सत्यस्वरूपस्य परमात्मनः (आत्) अनन्तरम् । अव्यवधानेन (इत्) एव (वाचः) वाण्याः (अश्नुवे) प्राप्नोमि (भागम्) भजनीयं पदं परब्रह्म (अस्याः) वेदविख्यातायाः ॥

१६—(अपाङ्) अ० ३ । ३ । ६ । अपगतः । अधोगतः (प्राङ्) अ० ३ ।

हुआ (अमर्त्यः) अमरण स्वभाव वाला [जीव] (मर्त्येन) मरण स्वभाव वाले [शरीर] के साथ (सयोनिः) एक स्थानी होकर (अपाङ्) नीचे को जाता हुआ [वा] (प्राङ्) ऊपर को जाता हुआ (एति) चलता है। (ता) वे दोनों (शश्वन्ता) नित्य चलने वाले, (विषूचीना) सब ओर चलने वाले और (वियन्ता) दूर दूर चलने वाले हैं, [उन दोनों में से] (अन्यम् अन्यम्) एक एक को (नि चिक्युः) [विवेकियों ने] निश्चय करके जाना है [और मूर्खों ने] (न) नहीं (नि चिक्युः) निश्चय किया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जीवात्मा अपने कर्मानुसार शरीर पाता और अधोगति वा ऊर्ध्वगति को प्राप्त होता है। जीवात्मा और शरीर के भेद को विद्वान् जानते हैं और मूर्ख नहीं जानते ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का मिलान ऊपर मन्त्र ८ से करो। यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१।१६४।३८। तथा निरुक्त-१४।२३॥

स॒प्तार्ध॑ग॒र्भा भुव॑नस्य॒ रेतो॒ विष्णो॑स्तिष्ठन्ति प्र॒दिशा॒ विध॑र्मणि। ते धी॒तिभि॒र्मन॑सा॒ ते वि॑प॒श्चितः॑ परि॒भुवः॒ परि॑ भवन्ति वि॒श्वतः॑ ॥ १७ ॥

स॒प्त। अ॒र्ध॒-ग॒र्भाः। भुव॑नस्य। रेतः॑। विष्णोः॑। ति॒ष्ठ॒न्ति॒। प्र॒-दिशा॑। वि-ध॑र्मणि॥ ते। धी॒ति-भिः॑। मन॑सा। ते। वि॒पः॒-चितः॑। प॒रि॒-भुवः॑। परि॑। भ॒व॒न्ति॒। वि॒श्वतः॑ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(सप्त) सात (अर्धगर्भाः) समृद्ध गर्भ वाले [पूरे उत्पा-

---

४।१। ऊर्ध्वगतः (एति) गच्छति (स्वधया) म० ८। स्वधारणशक्त्या (गृभीतः) गृहीतः (अमर्त्यः) अमरणस्वभावो जीवः (मर्त्येन) छान्दसो दीर्घः। मरणधर्मणा देहेन (सयोनिः) समानस्थानः (ता) तौ मर्त्यामर्त्यौ शरीरजीवौ (शश्वन्ता) संश्चत्तृपद्वेहत्। उ० २।८५। टु ओ श्वि गति-वृद्ध्योः—अति, द्विर्वचनम्, निपातनाद् रूपसिद्धिः। शश्वद्गामिनौ (विषूचीना) अ० ३।७।१। नानागामिनौ (वियन्ता) एतेः—शतृ। विप्रकृष्ट-देशगामिनौ (नि) निश्चयेन (अन्यम्) जीवम् (चिक्युः) कि ज्ञाने-लिट्। ज्ञातवन्तः (न) निषेधे (नि चिक्युः) विभाषा चेः। पा० ७।३।५८। चिनोतेः लिटि अभ्यासादुत्तरस्य कुत्वम्। निश्चितवन्तः (अन्यम्) देहम् ॥

१७—(सप्त) (अर्धगर्भाः) ऋधु वृद्धौ—घञ्। ऋद्धः प्रवृद्धो गर्भ

दन सामर्थ्य वाले, महत्तत्त्व, अहंकार, पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश के परमाणु] (भुवनस्य) संसार के (रेतः) बीज होकर (विष्णोः) व्यापक परमात्मा की (प्रदिशा) आज्ञा से (विधर्मणि) विविध धारण सामर्थ्य में (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं। (ते ते) वेही [सातों] (विपश्चितः) बुद्धिमान् [परमेश्वर] की (धीतिभिः) धारण शक्तियों और (मनसा) विचार के साथ (परिभुवः) घेरने वाले [शरीरों और लोकों] को (विश्वतः) सब ओर से (परि भवन्ति) घेरते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—महत्तत्त्व, अहंकार आदि सात पदार्थ जगत् के कारण हैं, वे ईश्वरीय नियम से सृष्टि के सब शरीरधारी प्राणियों और लोकों में परिपूर्ण हैं ॥ १७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ३९ । तथा निरुक्त १४ । २१ ॥

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः । यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्ते अमी समासते ॥ १८ ॥

ऋचः । अक्षरे । परमे । वि-ओमन् । यस्मिन् । देवाः । अधि । विश्वे । नि-सेदुः ॥ यः । तत् । न । वेद । किम् । ऋचा । करिष्यति । ये । इत् । तत् । विदुः । ते । अमी इति । सम् । आसते ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस (अक्षरे) व्यापक [वा अविनाशी]

उत्पादनसामर्थ्यं येषां ते महत्तत्त्वाहंकारपञ्चभूतपरमाणवः (भुवनस्य) संसारस्य (रेतः) वीर्यम् (विष्णोः) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (तिष्ठन्ति) वर्तन्ते (प्रदिशा) आज्ञया (विधर्मणि) विविधधारणव्यापारे (ते) महत्तत्त्वादयः (धीतिभिः) धारणशक्तिभिः (मनसा) विचारेण (ते) वीप्सायां द्विर्वचनम् (विपश्चितः) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधाविनः परमेश्वरस्य (परिभुवः) परिभावकान् । आच्छादकान् शरीरादिलोकान् (विश्वतः) सर्वतः (परि भवन्ति) परितः प्राप्नुवन्ति । आच्छादयन्ति ॥

१८—(ऋचः) ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदविद्याः (अक्षरे)

(परमे) सर्वोत्तम (व्योमन्) विविध रक्षक [वा आकाशवत् व्यापक] ब्रह्म में (ऋचः) वेदविद्यायें और (विश्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी सूर्य आदि लोक] (अधि) ठीक ठीक (निषेदुः) ठहरे थे। (यः) जो [मनुष्य] (तत्) उस [ब्रह्म] को (न वेद) नहीं जानता, वह (ऋचा) वेदविद्या से (किम्) क्या [लाभ] (करिष्यति) करेगा, (ये) जो [पुरुष] (इत्) ही (तत्) उस [ब्रह्म] को (विदुः) जानते हैं (ते अमी) वे यही [पुरुष] (सम्) शोभा के साथ (आसते) रहते हैं ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब सत्य विद्याओं और लोकों का आधार है, विद्वान् लोग वेद द्वारा उसका ज्ञान प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं और मूर्ख लोग उस आनन्द को नहीं पाते ॥ १८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१ । १६४ । ३९ । तथा निरुक्त १३ । १० ॥

ऋ॒चः प॒दं मात्र॑या क॒ल्पय॑न्तोऽर्धर्चेन॑ चाक्लृपु॒र्विश्व॑मेज॑त् । त्रिपा॑द् ब्रह्म॑ पु॒रुरू॑पं॒ वि त॑ष्ठे॒ तेन॑ जीवन्ति प्र॒दिश॒श्चत॑स्रः ॥ १९ ॥

ऋ॒चः । प॒दम् । मात्र॑या । क॒ल्पय॑न्तः । अ॒र्ध॒-ऋ॒चेन॑ । च॒क्लृ॒पुः । विश्व॑म् । एज॑त् ॥ त्रि-पात् । ब्रह्म॑ । पु॒रु॒-रूप॑म् । वि । त॒स्थे॒ । तेन॑ । जी॒व॒न्ति॒ । प्र॒-दिशः॑ । चत॑स्रः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ऋचः) वेद वाणी से (पदम्) प्रापणीय ब्रह्म को (मात्रया) सूक्ष्मता के साथ (कल्पयन्तः) विचारते हुये [ऋषियों] ने (अर्धर्चेन)

अ० ६ । १० । २ । सर्वव्यापके । अविनाशिनि (परमे) उत्तमे (व्योमन्) म० १४ । विविधं रक्षके आकाशवद् व्यापके वा ब्रह्मणि (यस्मिन्) (देवाः) दिव्यपदार्थाः पृथिवीसूर्यादिलोकाः (अधि) यथाविधि (विश्वे) सर्वे (निषेदुः) तस्थुः (यः) पुरुषः (तत्) ब्रह्म (न) नहि (वेद) जानाति (किम्) कं लाभम् (ऋचा) वेदवाण्या (करिष्यति) प्राप्स्यति (ये) (इत्) एव (तत्) (विदुः) (ते) (अमी) (सम्) सम्यक् । शोभया (आसते) विद्यन्ते ॥

१९—(ऋचः) वेदवाण्याः सकाशात् (पदम्) प्रापणीयं ब्रह्म (मात्रया) अ० ३ । २४ । ६ । माङ् माने शब्दे च-त्रन्, टाप् । सूक्ष्मरूपेण (कल्पयन्तः)

समृद्ध वेद ज्ञान से (विश्वम्) संसार को (एजत्) चेष्टा कराते हुये [ब्रह्म] को (चकॢपुः) विचारा। (त्रिपात्) तीन [भूत, भविष्यत्, वर्तमान काल वा ऊंचे नीचे और मध्यलोक] में गति वाला,(पुरुरूपम्) बहुत सौन्दर्य वाला (ब्रह्म) ब्रह्म (वि) विविध प्रकार से (तस्थे) ठहरा था (तेन) उस [ब्रह्म] के साथ (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (जीवन्ति) जीवन करती हैं ॥१६

भावार्थ—सूक्ष्मदर्शी ऋषि लोग वेद द्वारा ईश्वर की शक्तियों का अनुभव करते हैं कि वह तीनों काल तीनों लोकों में विराज कर सब सृष्टि का प्राण दाता है ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का केवल चौथा पाद ऋग्वेद—१ । १६४ । ४२ । में है ॥

सूयवसाद् भगवती हि भूया अधा वयं भगवन्तः स्याम। अद्धि तृणमघ्न्ये विश्वदानीं पिब शुद्धमुदकमाचरन्ती ॥ २० ॥ (२७)

सुयवस-अत् । भग-वती । हि । भूयाः । अध । वयम् । भग-वन्तः । स्याम ॥ अद्धि । तृणम् । अघ्न्ये । विश्व-दानीम् । पिब । शुद्धम् । उदकम् । आ-चरन्ती ॥ २० ॥ (२७)

भाषार्थ—[हे प्रजा, सब स्त्री पुरुषो !] (सुयवसात्) सुन्दर अन्न आदि भोगने वाली और (भगवती) बहुत ऐश्वर्य वाली (हि) ही (भूयाः) हो, (अध) फिर (वयम्) हम लोग (भगवन्तः) बड़े ऐश्वर्य वाले (स्याम) होवें। (अघ्न्ये) हे हिंसा न करने वाली प्रजा ! (विश्वदानीम्) समस्त-दानों की क्रिया का (आचरन्ती) आचरण करती हुयी तू [हिंसा न करने

विचारयन्तः (अर्धचैन) ऋधु वृद्धौ—घञ् + ऋच् स्तुतौ-क्विप्। ऋक्पूरब्०। पा० ५।४।७४। अप्रत्ययः। अर्धया समृद्धया वेदविद्यया (चकॢपुः) विचारितवन्तः (विश्वम्) जगत् (एजत्) एजयत् कम्पयत् (त्रिपात्) त्रिषु कालेषु त्रिलोक्यां वा पादो यस्य तत् (ब्रह्म) प्रवृद्धः परमात्मा (पुरुरूपम्) बहुसौन्दर्ययुक्तम् (वि) विविधम् (तस्थे) तस्थौ (तेन) ब्रह्मणा (जीवन्ति) प्राणान् धारयन्ति (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (चतस्रः) ॥

२०—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ७३ । ११ ॥

वाली गौ के समान] (तृणम्) घास [अल्प मूल्य पदार्थ] को (अद्धि) खा और (शुद्धम्) शुद्ध (उदकम्) जल को (पिब) पी ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे गौ अल्प मूल्य घास खाकर और शुद्ध जल पीकर दूध घी आदि देकर उपकार करती है, वैसे ही मनुष्य थोड़े व्यय से शुद्ध आहार विहार करके संसार का सदा उपकार करें ॥ २० ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है है—अ० ७ । ७३ । ११ । और (अध) के स्थान पर ऋग्वेद में [अथो] है—१ । १६४ । ४० । तथा नि० ११ । ४४ ॥

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी । अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥२१॥

गौः । इत् । मिमाय । सलिलानि । तक्षती । एक-पदी । द्वि-पदी । सा । चतुः-पदी ॥ अष्टा-पदी । नव-पदी । बभूवुषी । सहस्र-अक्षरा । भुवनस्य । पङ्क्तिः । तस्याः । समुद्राः । अधि । वि । क्षरन्ति ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(सलिलानि) बहुत ज्ञानों [अथवा समुद्र समान अथाह कर्मों] को (तक्षती) करती हुई (गौः) ब्रह्मवाणी ने (इत्) ही (मिमाय) शब्द किया है, (सा) वह (एकपदी) एक [ब्रह्म] के साथ व्याप्ति वाली, (द्विपदी) दो [भूत भविष्यत्] में गति वाली, (चतुष्पदी) चार [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] में अधिकार वाली, (अष्टापदी) [छोटाई, हलकाई, प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता, और सत्य सङ्कल्प, आठ ऐश्वर्य] आठ

२१—(गौः) ब्रह्मवाणी (इत्) एव (मिमाय) शब्दं कृतवती (सलिलानि) सलिलं बहुनाम—निघ० ३ । १ । उदकनाम—निघ० १ । १२ । बहूनि ज्ञानानि समुद्रवद्गम्भीरकर्माणि वा (तक्षती) कुर्वती (एकपदी) संख्यासुपूर्वस्य । पा० ५ । ४ । १४० । पादस्यान्तलोपः । पादोऽन्यतरस्याम् । पा० ४।१।८। ङीप् । पादः पत् । पा० ६ । ४ । १३० । पदादेशः । एकेन ब्रह्मणा पदं व्याप्तिर्यस्याः सा (द्विपदी) भूतभविष्यतोर्गतिर्यस्याः सा (सा) गौः (चतुष्पदी)

पद प्राप्त कराने वाली (नवपदी) नौ [मन बुद्धिसहित दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] से प्राप्ति योग्य, (सहस्राक्षरा) सहस्रों [असंख्यात] पदार्थों में व्याप्ति वाली (बभूवुषी) होकर के (भुवनस्य) संसार की (पंक्तिः) फैलाव शक्ति है। (तस्याः) उस [ब्रह्मवाणी] से (समुद्राः) समुद्र [समुद्र-रूप सब लोक (अधि) अधिक अधिक (वि) विविध प्रकार से (क्षरन्ति) बहते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस ब्रह्मवाणी, वेद विद्या से संसार के सब पदार्थ सिद्ध होते हैं और जिस की आराधना से योगी जन मुक्ति पाते हैं, वह वेद वाणी मनुष्यों को सदा सेवनीय है ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० ५। १८। ७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १६४। ४१,४२ तथा निरुक्त-११। ४०,४१॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत्पतन्ति। त आववृत्रन्त्सदनादृतस्यादिद् घृतेन पृथिवीं व्यूदुः ॥ २२ ॥

कृष्णम्। नि-यानम्। हरयः। सु-पर्णाः। अपः। वसानाः। दिवम्। उत्। पतन्ति ॥ ते। आ। अववृत्रन्। सदनात्। ऋतस्य। आत्। इत्। घृतेन। पृथिवीम्। वि। ऊदुः ॥२२॥

चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषार्थेषु पदमधिकारो यस्याः सा (अष्टापदी) अ० ५। १८। ७। अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा। ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ १ ॥ इति अष्टैश्वर्याणि पदानि प्राप्तव्यानि यया सा (नवपदी) मनोबुद्धिसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैः प्राप्या (बभूवुषी) भवतेः-क्वसु, ङीपि वसोः सम्प्रसारणम्। भूतवती (सहस्राक्षरा) अशेः सरः। उ० ३। ७०। अशू व्याप्तौ-सर, टाप्। सहस्रेषु असंख्यातेषु पदार्थेषु व्यापनशीला (भुवनस्य) संसारस्य (पङ्क्तिः) पचि व्यक्तिकरणे-क्तिन्। विस्तारशक्तिः (तस्याः) गोः सकाशात् (समुद्राः) समुद्ररूपलोकाः (अधि) अधिकम् (वि) विविधम् (क्षरन्ति) संचलन्ति ॥

भाषार्थ—(हरयः) रस खींचने वाली, (सुपर्णाः) अच्छा उड़ने वाली किरणें (अपः) जल को (वसानाः) ओढ़कर (कृष्णम्) खींचने वाले, (नियानम्) नित्य गमन स्थान अन्तरिक्ष में होकर (दिवम्) प्रकाशमय सूर्यमण्डल को (उत् पतन्ति) चढ़ जाती हैं। (ते) वे (इत्) ही (आत्) फिर (ऋतस्य) जल के (सदनात्) घर [सूर्य] से (आ अववृत्रन्) लौट आती हैं, और उन्होंने (घृतेन) जल से (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि) विविध प्रकार से (ऊदुः) सींच दिया है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें पवन द्वारा भूमि से जल खींचकर और फिर बरसा कर उपकार करती हैं, वैसे ही मनुष्य विद्या प्राप्त करके संसार का उपकार करें ॥ २२ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है-अ० ६। २२। १॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १। १६४। ४७। और निरुक्त ७। २४। में भी ॥

अपादेति प्रथमा पद्वतीनां कस्तद् वां मित्रावरुणा चिकेत। गर्भो भारं भरत्या चिदस्या ऋतं पिपर्त्यनृतं नि पाति ॥ २३ ॥

अपात्। एति। प्रथमा। पत्-वतीनाम्। कः। तत्। वाम्। मित्रावरुणा। आ। चिकेत॥ गर्भः। भारम्। भरति। आ। चित्। अस्याः। ऋतम्। पिपर्ति। अनृतम्। नि। पाति २३

भाषार्थ—(पद्वतीनाम्) प्रशंसित विभागों वाली क्रियाओं में (प्रथमा) पहिली (अपात्) विना विभाग वाली [सब के लिये एक रस, वेदविद्या] (एति) चली आती है, (मित्रावरुणा) दोनों मित्रवरो ! [अध्यापक और शिष्य] (वाम्) तुम दोनों में (कः) किसने (तत्) उस [ज्ञान] को (आ)

२२—अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० ६। २२। १॥

२३—(अपात्) अविद्यमानाः पादा विभागा यस्याः सा वेदविद्या (एति) प्राप्नोति (प्रथमा) आदिमा (पद्वतीनाम्) प्रशस्ताः पादा विभागा विद्यन्ते यासां तासाम् (कः) (तत्) ज्ञानम् (वाम्) युवयोर्मध्ये (मित्रावरुणा)

भले प्रकार (चिकेत) जाना है। (गर्भः) ग्रहण करने वाला पुरुष (चित्) ही (अस्याः) इस [वेदविद्या] के (भारम्) पोषण गुण को (आ) अच्छे प्रकार (भरति) धारण करता है, (सत्यम्) सत्य व्यवहार को (पिपर्ति) पूर्ण करता है और (अनृतम्) मिथ्या कर्म को (नि) नीचे (पाति) रखता है ॥२३

भावार्थ—आचार्य और ब्रह्मचारी वेदविद्या को यथावत् समझकर सत्य का ग्रहण और असत्य का त्याग करके संसार में उन्नति करें ॥ २३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१। १५२। ३। मन्त्र का अर्थ सहर्ष महर्षि दयानन्द भाष्य के आधार पर किया है ॥

वि॒राड् वाग् वि॒राट् पृ॑थि॒वी वि॒राड॒न्तरि॑क्षं वि॒राट् प्र॒जाप॑तिः। वि॒राण्मृ॒त्युः सा॒ध्याना॑मधिरा॒जो ब॑भूव तस्य॑ भू॒तं भव्यं॒ वशे॒ स मे॑ भू॒तं भव्यं॒ वशे॑ कृणोतु २४

वि-राट्। वाक्। वि-राट्। पृ॒थि॒वी। वि-राट्। अ॒न्तरि॑क्षम्। वि-राट्। प्र॒जा-प॑तिः॥ वि-राट्। मृ॒त्युः। सा॒ध्याना॑म्। अ॒धि-रा॒जः। ब॒भू॒व। तस्य॑। भू॒तम्। भव्य॑म्। वशे॑। सः। मे॒। भू॒तम्। भव्य॑म्। वशे॑। कृ॒णो॒तु॒ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(विराट्) विराट् [विविध ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (वाक्) वाक् [विद्या स्वरूप], (विराट्) विराट् (पृथिवी) पृथिवी [पृथिवी समान फैला हुआ], (विराट्) विराट् (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [आकाश

मित्रवरौ। अध्यापकाध्याप्यौ (चिकेत) कित ज्ञाने-लिट्। ज्ञातवान् (गर्भः) यो गृह्णाति सः। विद्याग्राहकः (भारम्) पोषणगुणम् (भरति) धरति (आ) समन्तात् (चित्) अपि (अस्याः) विद्यायाः (ऋतम्) सत्यम् (पिपर्ति) पूरयति (अनृतम्) मिथ्याकर्म (नि) नीचैः (पाति) रक्षति ॥

२४—(विराट्) अ० ८। ६। १। राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च-क्विप्। विविधैश्वर्यवान् परमात्मा (वाक्) विद्यारूपः (विराट्) (पृथिवी) पृथिवीवद् विस्तृतः (विराट्) (अन्तरिक्षम्) आकाशवद् व्यापकः (विराट्) (प्रजापतिः)

तुल्य व्यापक], (विराट्) विराट् (प्रजापतिः) प्रजापालक [सूर्य समान है]; (विराट्) विराट् [परमेश्वर], (मृत्युः) दुष्टों का मृत्यु और (साध्यानाम्) परोपकार साधने वाले [साधु पुरुषों] का (अधिराजः) राजाधिराज (बभूव) हुआ है, (तस्य) उस [परमेश्वर] के (वशे) वश में (भूतम्) अतीतकाल और (भविष्यम्) भविष्यत् काल है (सः) वह (भूतम्) अतीतकाल और (भव्यम्) भविष्यत् काल को (मे) मेरे (वशे) वश में (कृणोतु) करे ॥२४॥

भावार्थ—सर्वशासक परमात्मा के ज्ञान पूर्वक सब मनुष्य भूत काल के ज्ञान से दूरदर्शी होकर भविष्यत् का सुधार करें ॥ २४ ॥

(विराट्) के लिये मिलान करें-अथर्व काण्ड ८ सूक्त १० ॥

शकमयं धूममारादपश्यं विषूवता पर एनावरेण। उक्षाणं पृश्निमपचन्त वीरास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् २५

शक-मयम् । धूमम् । आरात् । अपश्यम् । विषु-वता । परः । एना । अवरेण ॥ उक्षाणम् । पृश्निम् । अपचन्त । वीराः । तानि । धर्माणि । प्रथमानि । आसन् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(शकमयम्) शक्ति वाले (धूमम्) कंपाने वाले [परमेश्वर] को (आरात्) समीप से (एना) इस (विषुवता) व्याप्ति वाले (अवरेण) नीचे [जीव] से (परः) परे [उत्तम] (अपश्यम्) मैं ने देखा है। (वीराः) वीर लोगों ने [इसी कारण से] (उक्षाणम्) वृद्धि करने वाले (पृश्निम्)

सूर्यवत् प्रजापालकः (विराट्) (मृत्युः) दुष्टानां मारकः (साध्यानाम्) अ० ७।५।१। परोपकारसाधकानां साधूनाम् (अधिराजः) अधिपतिः (बभूव) (तस्य) परमेश्वरस्य (भूतम्) अतीतकालः (भव्यम्) भविष्यत्कालः (वशे) अधीनत्वे (सः) (मे) मम (भूतम्) (भव्यम्) (वशे) (कृणोतु) करोतु ॥

२५—(शकमयम्) शक्लृ सामर्थ्ये—अच्। शक्तिमयम् (धूमम्) अ० ६।७६।२। इषियुधीन्धि०। उ० १।१४५। धूञ् कम्पने—मक्; अन्तर्गतण्यर्थो वा। कम्पयितारं परमात्मानम्। कम्पकं जीवम् (आरात्) समीपात् (अपश्यम्) अहं दृष्टवान् (विषुवता) व्याप्तिमता (परः) परस्तात् (एना) एनेन (अवरेण) निकृष्टेन जीवेन (उक्षाणम्) अ० ३।११।८। उक्ष सेचने

स्पर्श करने वाले [आत्मा] को (अपचन्त) परिपक्व [दृढ़] किया है, (तानि) वे (धर्माणि) धारण योग्य [ब्रह्मचर्य आदि धर्म] (प्रथमानि) मुख्य [प्रथम कर्तव्य] (आसन्) थे ॥ २५ ॥

भावार्थ—योगीजन सर्वशक्तिमान् सब को चेष्टा देने वाले परमेश्वर को अल्पशक्ति जीव से अलग देखते हैं और उन्नति करते हैं जैसे वीर लोग परमात्मा के ज्ञान से अपने आत्मा को परिपक्व करके धर्म में प्रवृत्त रहते हैं ॥ २५ ॥

इस मन्त्र का चतुर्थ पाद आ चुका है-अ० ७ । ५ । १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । १६४ । ४३ ॥

त्रयः के॒शिन॑ ऋतु॒था वि च॑क्षते संवत्स॒रे व॑पत॒ एक॑ एषाम्। विश्व॑म॒न्यो अ॑भि॒चष्टे॒ शची॑भि॒र्ध्राजि॒रेक॑स्य ददृशे॒ न रू॒पम् ॥ २६ ॥

त्रयः॑ । के॒शिनः॑ । ऋ॒तु॒-था । वि । च॒क्ष॒ते॒ । स॒म्-व॒त्स॒रे । व॒प॒ते॒ । एकः॑ । ए॒षा॒म् ॥ विश्व॑म् । अ॒न्यः । अ॒भि॒-च॒ष्टे॒ । शची॑भिः । ध्राजिः॑ । एक॑स्य । द॒दृ॒शे॒ । न । रू॒पम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीन (केशिनः) प्रकाश वाले [अपने गुण जताने वाले, अग्नि, सूर्य और वायु] (ऋतुथा) ऋतु के अनुसार (संवत्सरे) संवत्सर [वर्ष] में (वि) विविध प्रकार (चक्षते) दीखते हैं, (एषाम्) इन में से (एकः) एक (अग्नि, ओषधियों को] (वपते) उपजाता है । (अन्यः)

वृद्धौ च—कनिन्। वृद्धिकर्तारम् (पृश्निम्) अ० २ । १ । १ । स्पृश-स्पर्शे-निप्रत्ययः, सलोपः । स्पर्शशीलमात्मानम् (अपचन्त) परिपक्वं दृढं कृतवन्तः (वीराः) शूराः (तानि) (धर्माणि) धारणीयानि ब्रह्मचर्यादीनि कर्माणि (प्रथमानि) मुख्यानि कर्तव्यानि (आसन्) अभवन् ॥

२६—(त्रयः) अग्निसूर्यवायवः (केशिनः) काश्ट दीप्तौ—अच् घञ् वा ततः-इनि, काशी सन् केशी । केशी केशारश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा-निरु० १२ । २५ । प्रकाशवन्तः । स्वगुणज्ञापकाः (ऋतुथा) ऋतुप्रकारेण । काले काले (वि) विविधम् (चक्षते) कर्मण्यर्थे । दृश्यन्ते

दूसरा [सूर्य] (शचीभिः) अपने कर्मों [प्रकाश, वृष्टि आदि] से (विश्वम्) संसार को (अभिचष्टे) देखता रहता है, (एकस्य) एक [वायु] की (ध्राजिः) गति (ददृशे) देखी गई है और (रूपम्) रूप (न) नहीं ॥ २६ ॥

भावार्थ—पार्थिवाग्नि, सूर्य और वायु आदि पदार्थों के गुण और उपकारों से परमेश्वर की अद्भुत महिमा का अनुभव करके सब मनुष्य उसकी उपासना में तत्पर रहें ॥ २६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । १६४ । ४४ । तथा निरुक्त—१२ । २७ ॥

च॒त्वारि॒ वाक् परि॑मिता प॒दानि॒ तानि॑ विदुर्ब्राह्म॒णा ये म॑नी॒षिणः॑ । गुहा॒ त्रीणि॒ निहि॑ता॒ नेङ्ग॑यन्ति तु॒रीयं॒ वा॒चो म॑नु॒ष्या॑ वदन्ति ॥ २७ ॥

च॒त्वारि॑ । वाक् । परि॑-मिता । प॒दानि॑ । तानि॑ । वि॒दुः॒ । ब्रा॒ह्म॒णाः । ये । म॒नी॒षिणः॑ ॥ गुहा॑ । त्रीणि॑ । नि-हि॑ता । न । ई॒ङ्ग॒य॒न्ति॒ । तु॒रीय॑म् । वा॒चः । म॒नु॒ष्याः॑ । व॒द॒न्ति॒ ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(वाक्=वाचः) वाणी के (चत्वारि) चार [परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी रूप] (परिमिता) परिमाण युक्त (पदानि) जानने योग्य पद हैं, (तानि) उनको (ब्राह्मणाः) वे ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] (विदुः) जानते हैं (ये) जो (मनीषिणः) मननशील हैं । (गुहा) गुहा [गुप्त स्थान] में

(संवत्सरे) वर्षे (वपते) उत्पादयति ओषधीः (एकः) पार्थिवाग्निः (एषाम्) त्रयाणां मध्ये (विश्वम्) जगत् (अन्यः) सूर्यः (अभिचष्टे) सर्वतः पश्यति (शचीभिः) अ० ५ । ११ । ८ । शची कर्मनाम-निघ० २ । १ । स्वकीयैः प्रकाशवृष्ट्यादिकर्मभिः (ध्राजिः) गतिः (एकस्य) वायोः (ददृशे) दृष्टा (न) निषेधे (रूपम्) वर्णम् ॥

२७—(चत्वारि) चतुर्विधानि परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरीति । एकैव नादात्मिका वाक् मूलाधारनाभिप्रदेशाद् उदिता सती परेत्युच्यते, सैव हृदयगामिनी पश्यन्तीत्युच्यते; सैव बुद्धिं गता विवक्षां प्राप्ता मध्यमेत्युच्यते, यदा सैव मुखे-

(निहिता) रक्खे हुये (त्रीणि) तीन [परा, पश्यन्ती और मध्यमा रूप पद] (न) नहीं (ईङ्गयन्ति) चलते [निकलते] हैं, (मनुष्याः) मनुष्य [साधारण लोग] (वाचः) वाणी के (तुरीयम्) चौथे [वैखरी रूप पद] को (वदन्ति) बोलते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—वाणी की चार अवस्थायें हैं-परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी । १—नादरूपा मूल आधार नाभि से निकलती हुई परा वाक् है, २-वही हृदय में पहुंचती हुयी पश्यन्ती वाक् है, ३—वही बुद्धि में पहुंचकर उच्चारण से पहिले मध्यमा वाक् है, इन तीनों को योगी ही समझते हैं, और ४-मुख में ठहर-कर तालु, ओष्ठ आदि के व्यापार से बाहिर निकली हुयी वैखरी वाक् है, जिस को सब साधारण मनुष्य समझते हैं । विद्वान् लोग अवधारण शक्ति बढ़ाकर प्राणियों के भीतरी भावों को जानकर आनन्द पावें ॥ २७ ॥

पद पाठ में (ईङ्गयन्ति) के स्थान पर [इङ्गयन्ति] है—ऋक्० १ । १६४ । ४५ । तथा निरुक्त-१३ । ६ ॥

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् । एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥ २८ ॥ (२८)

इन्द्रम् । मित्रम् । वरुणम् । अग्निम् । आहुः । अथो इति । दिव्यः । सः । सु-पर्णः । गरुत्मान् ॥ एकम् । सत् । विप्राः । बहु-धा । वदन्ति । अग्निम् । यमम् । मातरिश्वानम् । आहुः । २८(२८

भाषार्थ-(अग्निम्) अग्नि [सर्वव्यापक परमेश्वर] को (इन्द्रम्) इन्द्र

स्थिता ताल्वोष्ठादिव्यापारेण बहिर्निर्गच्छति तदा वैखरीत्युच्यते (वाक्) वाचः (परिमिता) परिमाणयुक्तानि (पदानि) वेदितुं योग्यानि प्रयोजनानि (तानि) (विदुः) जानन्ति (ब्राह्मणाः) अ० २ । ६ । ३ । ब्रह्मज्ञानिनः (ये) (मनीषिणः) अ० ३ । ५ । ६ । मननशीलाः । मेधाविनः-निघ० ३ । १५ (गुहा) गुहायाम् । गुप्तदेशे (त्रीणि) परापश्यन्तीमध्यमारूपाणि (निहिता) स्थापितानि (न) निषेधे (ईङ्गयन्ति) इङ्गयन्ति । चेष्टन्ते। प्रकाशन्ते (तुरीयम्) चतुर्थं पदम् । वैखरीरूपम् (वाचः) वाण्याः (मनुष्याः) साधारणजनाः (वदन्ति) उच्चारयन्ति ॥

२८—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (मित्रम्) स्नेहशालिनम्

[बड़े ऐश्वर्य वाला] (मित्रम्) मित्र, (वरुणम्) वरुण [श्रेष्ठ] (आहुः) वे [तत्त्वज्ञानी] कहते हैं, (अथो) और (सः) वह (दिव्यः) प्रकाशमय (सुपर्णः) सुन्दर पालन सामर्थ्यवाला (गरुत्मान्) स्तुति वाला [गुरु आत्मा महान् आत्मा] है (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (एकम्) एक (सत्) सत्ता वाले [ब्रह्म] को (बहुधा) बहुत प्रकारों से (वदन्ति) कहते हैं, (अग्निम्) उसी अग्नि [सर्वव्यापक परमात्मा] को (यमम्) नियन्ता और (मातरिश्वानम्) आकाश में श्वास लेता हुआ [अर्थात् आकाश में व्यापक] (आहुः) वे बताते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमात्मा के अनेक नामों से उसके गुण कर्म स्वभाव को जानकर और उसकी उपासना करके संसार में उन्नति करें ॥ २८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१ । १६४ । ४६ । और निरुक्त ७ । १८ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इति नवमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित** बड़ोदेपुरीगतश्रावण मासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित **क्षेमकरणदास त्रिवेदिना** कृते अथर्ववेदभाष्ये नवमं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे वैशाखमासे अमावास्यायां तिथौ १९७४ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि **श्री राजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य** सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—ज्येष्ठ कृष्णा ९ संवत् १९७४ ता० १५ मई १९१७ ॥

(वरुणम्) श्रेष्ठम् (अग्निम्) सर्वव्यापकम् (आहुः) कथयन्ति तत्त्वज्ञाः (अथो) अपि च (दिव्यः) दिवि प्रकाशे भवः (सः) (सुपर्णः) अ० १ । २४ । १ । शोभनपालनः (गरुत्मान्) मृग्रोरुतिः । उ० १ । ९४ । गॄ शब्दे स्तुतौ च-उति, मतुप् । गृणातिरर्चतिकर्मा -निघ० ३ । १४ । गृत्स इति मेधाविनाम गृणातेः स्तुतिकर्मणः-निरु० ९ । ५ । गरुत्मान् गरणवान् गुर्वात्मा महात्मेति वा-निरु०७ १८ । स्तुतिमान् । महात्मा (एकम्) अद्वितीयम् (सत्) सत्ताविशिष्टम् । विद्यमानं ब्रह्म (विप्राः) मेधाविनः (बहुधा) अनेकप्रकारेण (वदन्ति) (अग्निम्) सर्वव्यापकं परमात्मानम् (यमम्) नियन्तारम् (मातरिश्वानम्) अ० ५ । १० । ८ । मातरि अन्तरिक्षे श्वसन्तं चेष्टमानम् (आहुः) कथयन्ति ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १८१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ काण्ड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने ख़ूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक काण्ड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्रव्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह

B. Sc., L L. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४ । कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर ।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय काण्ड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् परिडत **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—मार्च १६१३।

यजुर्वेद का भाष्य श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १६१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] काण्ड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है।...

श्रीयुत महाशय मुन्शीरामजी—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार-पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।...

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।—

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्म्मा काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता, वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहाँ से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उन में उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुतभीमसेन शर्म्मा इटावा—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है, आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः** की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपा कर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है ।

श्रीयुत पण्डित **महाबीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३ ।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत प० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३ ।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्त्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७-३-१३ ।

आपका भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करें कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा** मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१२ ।

वास्तव में आपका किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१२ ।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकनकर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तकें प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।.........इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State*, *letter No. 624 dated 6th February* 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan.

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya!—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD,

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standarrd ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥ 61326

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेद भाष्यम् ।

दशमं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharv 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि } संवत् १९७४ वि० सन् १९१७ ई० { मूल्यम् २ ।)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ॥

॥ ओ३म् ॥

“[illegible] विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना [illegible] सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।”

आनन्द समाचार ॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशीय विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र ३—सस्वर पदपाठ, ४-मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७-प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं. एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत् पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०		पृष्ठ २,६०० लगभग
मूल्य	१)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)		२०)

काण्ड ११ छप रहा है। कांड १२ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक-चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर-स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य ~)॥

१५ सितम्बर १९१७।

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग।

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद, काण्ड १० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	यां कल्पयन्ति वहतौ	कृत्यादूषण	राजा का कर्त्तव्य, दण्ड	निचृद् महाबृहती आदि
२	केन पार्ष्णी आभृते	प्रजापति वा ब्रह्म	मनुष्य शरीर की महिमा	त्रिष्टुप् आदि
३	अयं मे वरणो मणिः	वरण	सब सम्पत्ति पाना	अनुष्टुप् आदि
४	इन्द्रस्य प्रथमो रथो	इन्द्र, वा प्रजापति	दोषों का नाश	पथ्या पङ्क्ति आदि
५ (१)	इन्द्रस्यौज स्थेन्द्र १-२४	आपः	विद्वानों का कर्त्तव्य	आर्षी पङ्क्ति आदि
(२)	विष्णोः क्रमोऽसि २५-३६	विष्णु	विद्वानों का कर्त्तव्य	शक्वरी आदि
(३)	सूर्यस्यावृत ३७-४१	मन्त्रोक्त	विद्वानों का कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
(४)	यं वयं मृगयामहे ४२-५०	प्रजापति	शत्रुओं का नाश	अनुष्टुप् आदि
६	अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य	बृहस्पति आदि	सब कामनाओं की सिद्धि	गायत्री आदि
७	कस्मिन्नङ्गे तपो	स्कम्भ ब्रह्म	ब्रह्म के स्वरूप का विचार	जगती आदि
८	यो भूतं च भव्यं च	आत्मा	परमात्मा और जीवात्मा	उपरिष्टाद् विराड् बृहती आदि
९	अघायतामपि नह्या	शतौदना	वेदवाणी की महिमा	भुरिक्त्रिष्टुप् आदि
१०	नमस्ते जायमानायै	वशा	ईश्वर शक्ति की महिमा	अनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद काण्ड १० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १०) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	द्वादश प्रधयश्चक्र	८ । ४	१ । १६४ । ४८		
२	प्रजापतिश्चरति गर्भे	८ । १३		३१ । १९	
३	निवेशनः संगमनो	८ । ४२	१० । १३९ । ३	१२ । ६६	

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

दशमं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१–३२ ॥ कृत्यादूषणं देवता ॥ १ निचृद् महाबृहती; २ त्रिपाद् विराड् गायत्री; ३, ५—८, १०, ११, १४, २१, २६, २७, ३०, ३१ अनुष्टुप ; ४ निचृदनुष्टुप् ; ९ पथ्या पङ्क्तिः; १२ अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप् ; १३, २५ उरोबृहती; १५, १९ जगती; १६, १८ त्रिष्टुप् ; १७ भूरिक् प्रस्तारपङ्क्तिः ; २०, २४ प्रस्तारपङ्क्तिः ; २२ साम्नी त्रिष्टुप् ; २३ स्वराड् गायत्री, २८ गायत्री, २९ ज्योतिष्मती जगती, ३२ अतिजगती ॥

राजकर्त्तव्यदण्डोपदेशः—राजा के कर्तव्य दण्ड का उपदेश ॥

यां कुल्पयन्ति वहुतौ वधूमिव विश्वरूपां हस्तकृतां चिकित्सवः । साराद् त्वप नुदाम एनाम् ॥ १ ॥

याम् । कुल्पयन्ति । वहुतौ । वधूम्-इव । विश्व-रूपाम् । हस्त-कृताम् । चिकित्सवः ॥ सा । आरात् । एतु । अप । नुदामः । एनाम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (विश्वरूपाम्) अनेक रूप वाली, (हस्तकृताम्) हाथों से की हुई [हिंसा क्रिया] को (चिकित्सवः) संशय करने वाले

१—(याम्) कृत्याम् । हिंसाक्रियाम (कल्पयन्ति) रचयन्ति । संस्कुर्वन्ति (वहतौ) अ० ३ । ३१ । ५ । वह—अतु । विवाहे (वधूम) अ० १ । १ । २ ।

लोग (कल्पयन्ति) बनाते हैं, (इव) जैसे (वधूम्) वधू को (वहतौ) विवाह में। (सा) वह (आरात्) दूर (एतु) चली जावे, (एनाम्) इसको (अप-नुदामः) हम हटाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य छल करके देखने में सुखद और भीतर से दुःख-दायी काम करें, राजा उसका यथावत् प्रतीकार करे ॥ १ ॥

**शीर्षण्वती नस्वती कर्णिनी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सारादेत्वप नुदाम एनाम् ॥ २ ॥**

शीर्षण्-वती । नस्वती । कर्णिनी । कृत्या-कृता । सम्-भृता । विश्व-रूपा ॥ सा । आरात् । एतु । अप । नुदामः । एनाम् ॥२॥

भाषार्थ—(शीर्षण्वती) शिर सम्बन्धी, (नस्वती) नाक सम्बन्धी, (कर्णिनी) कान सम्बन्धी [जो हिंसा क्रिया] (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले पुरुष द्वारा (संभृता) साधी गई (विश्वरूपा) अनेक रूप वाली है। (सा) वह (आरात्) दूर (एतु) चली जावे, (एनाम्) इसको (अप नुदामः) हम हटाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजा के शरीरों को कष्ट देनेवाले उत्पातियों को यथावत् दण्ड दिया जावे ॥ २ ॥

नवोढां जायाम् (इव) यथा (विश्वरूपाम्) अनेकविधाम् (हस्तकृताम्) हस्तेन निष्पादिताम् (चिकित्सवः) कित संशये रोगापनयने च—स्वार्थे सन्, उप्रत्ययः। संशयशीलाः (सा) हिंसाक्रिया (आरात्) दूरे (एतु) गच्छतु (अप नुदामः) दूरे प्रेरयामः (एनाम्) हिंसाक्रियाम् ॥

२—(शीर्षण्वती) तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप् । पा० ५ । २ । ९४ । शिरः सम्बन्धिनी (नस्वती) नासासम्बन्धिनी (कर्णिनी) श्रोत्रसंबन्धिनी हिंसा (कृत्याकृता) अ० ४ । ६ । ५ । कृञ् हिंसायाम्—क्यप्, तुक्+डुकृञ् करणे—क्विप्, तुक्। हिंसाकारकेण (संभृता) निष्पादिता (विश्वरूपा) अनेकविधा। इतरत् पूर्ववत्—म० १ ॥

शूद्रकृता राजकृता स्त्रीकृता ब्रह्मभिः कृता । जाया पत्या नुत्तेव कर्तारं बन्ध्वृच्छतु ॥ ३ ॥

शूद्र-कृता । राज-कृता । स्त्री-कृता । ब्रह्म-भिः । कृता ॥ जाया । पत्या । नुत्ता-इव । कर्तारम् । बन्धु । ऋच्छतु ॥३॥

भाषार्थ—(शूद्रकृता) शूद्रों के लिये की हुई, (राजकृता) राजाओं के लिये की हुई, (स्त्रीकृता) स्त्रियों के लिये की हुई, (ब्रह्मभिः=ब्रह्मभ्यः) ब्राह्मणों के लिये (कृता) की हुई [हिंसा क्रिया] (कर्तारम्) हिंसक पुरुष को (बन्धु) बन्धन समान (ऋच्छतु) चली जावे, (इव) जैसे (पत्या) पति करके (नुत्ता) दूर की गई (जाया) पत्नी ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो दुष्कर्मी शूद्र, क्षत्रिय, स्त्री और विद्वानों पर अत्याचार करें, राजा उनको इस प्रकार बन्धन में करे,जैसे पति से निकाली गयी व्यभिचारिणी स्त्री बन्धन में की जाती है ॥ ३ ॥

अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम् । यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु ॥ ४ ॥

अनया । अहम् । ओषध्या । सर्वाः । कृत्याः । अदूदुषम् ॥ याम् । क्षेत्रे । चक्रुः । याम् । गोषु । याम् । वा । ते । पुरुषेषु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैंने (अनया ओषध्या) इस ओषधि रूप [तापनाशक तुझ राजा] के साथ (सर्वाः कृत्याः) सब हिंसाओं को (अदूदुषम्)

३-(शूद्रकृता)शूद्राय कृता (राजकृता) राजभ्यो निष्पादिता (स्त्रीकृता) स्त्रीभ्यः साधिता (ब्रह्मभिः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । चतुर्थ्यर्थे तृतीया । ब्रह्मभ्यः वेदज्ञानिभ्यः (कृता) (जाया) दुष्टा भार्या (पत्या) स्वामिना (नुत्ता) दूरीकृता (इव) यथा (कर्तारम्) कृञ् हिंसायाम्—तृच् । हिंसकम् (बन्धु) बन्धनं यथा (ऋच्छतु) गच्छतु ॥

४—(कृत्याः) कृञ् हिंसायाम्-क्यप् तुक् च । हिंसाः । अन्यद् व्याख्यातम् अ० ४ । १८ । ५ ॥

खण्डित कर दिया है, (याम्) जिस [हिंसा] को (क्षेत्रे) खेत में, अथवा (याम्) जिसको (गोषु) गौओं में (वा) अथवा (याम्) जिसको (ते) तेरे (पुरुषेषु) पुरुषों में (चक्रुः) उन लोगों ने किया था ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट लोग प्रजा को किसी प्रकार से सतावें, प्रजा गण और राजपुरुष मिलकर दुष्टों का नाश करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ४ । १८ । ५ ॥

अघमस्त्वघकृते शपथः शपथीयते । प्रत्यक् प्रतिप्रहिण्मो यथा कृत्याकृतं हनत् ॥ ५ ॥

अघम् । अस्तु । अघ-कृते । शपथः । शपथि-यते ॥ प्रत्यक् । प्रति-प्रहिण्मः । यथा । कृत्या-कृतम् । हनत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अघम्) बुराई (अघकृते) बुराई करने वाले को और (शपथः) शाप (शपथीयते) शाप करने वाले को (अस्तु) होवे । [उस दुष्ट कर्म को] (प्रत्यक्) पीछे की ओर (प्रतिप्रहिण्मः) हम हटा देते हैं (यथा) जिस से [वह दुष्ट कर्म] (कृत्याकृतम्) हिंसा करने वाले को (हनत्) मारे ॥ ५ ॥

भावार्थ—दुष्कर्मी कटुभाषी दुष्ट को यथानीति दण्ड दिया जावे ॥ ५ ॥

प्रतीचीन आङ्गिरसोऽध्यक्षो नः पुरोहितः । प्रतीचीः कृत्या आकृत्यामून् कृत्याकृतो जहि ॥ ६ ॥

प्रतीचीनः । आङ्गिरसः । अधि-अक्षः । नः । पुरः-हितः ॥ प्रतीचीः । कृत्याः । आ-कृत्य । अमून् । कृत्या-कृतः । जहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्रतीचीनः) प्रत्यक्ष चलने वाला, (आङ्गिरसः) वेदों का जानने वाला (नः) हमारा (अध्यक्षः) अध्यक्ष और (पुरोहितः) पुरोहित

५—(अघम्) पापम् (अस्तु) (अघकृते) पापकारिणे (शपथः) शापः । दुर्वचनम् (शपथीयते) शपथ—क्यच्, शतृ । शापकारिणे (प्रत्यक्) प्रतिकूलंगमनम् (प्रतिप्रहिण्मः) हि गतिवृद्ध्योः । प्रतिकूलं गमयामः (यथा) येनप्रकारेण (कृत्याकृतम्) हिंसाकारिणम् (हनत्) हन्यात् ॥

६—(प्रतीचीनः) अ० ४ । ३२ । ६ । प्रत्यक्षं गच्छन् (आङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । तदधीते तद्वेद । पा० ४ । २ । ५९ । इत्यण् । अङ्गिरसां वेदानां ज्ञाता

[अग्रगामी] तू (कृत्याः) हिंसाओं को (प्रतीचीः) प्रतिकूलगति (आकृत्य) सर्वथा करके (अमून्) उन (कृत्याकृतः) हिंसाकारियों को (जहि) मार डाल ॥६॥

भावार्थ—वेद ज्ञाता नीतिनिपुण पुरुष दुराचारियों को यथावत् अनुसन्धान करके दण्ड देवे ॥ ६ ॥

यस्त्वोवाच परेहीति प्रतिकूलमुदाय्यम्। तं कृत्येऽभिनिवर्तस्व मास्मानिच्छो अनागसः ॥ ७ ॥

यः। त्वा। उवाच। परा। इहि। इति। प्रति-कूलम्। उत्-आय्यम् ॥ तम्। कृत्ये। अभि-निवर्तस्व। मा। अस्मान्। इच्छः। अनागसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [दुष्ट] ने (त्वा) तुझसे (उवाच) कहा-"(उदाय्यम्) उदय को प्राप्त हुये (प्रतिकूलम्) विरुद्ध पक्षवाले शत्रु को (परा इहि इति) जाकर प्राप्त हो "। (कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (तम्) उसकी ओर (अभिनिवर्तस्व) लौटकर जा, (अस्मान्) हम (अनागसः) निर्दोषियों को (मा इच्छः) मत चाह ॥ ७ ॥

भावार्थ--जो दुष्ट जन धर्मात्माओं को शत्रु जान कर सतावें, उन्हें पूरा पूरा दण्ड मिले ॥ ७ ॥

यस्ते परूंषि संदधौ रथस्येवर्भुर्धिया। तं गच्छ तत्र तेऽयनमज्ञातस्तेऽयं जनः ॥ ८ ॥

(अध्यक्षः) अधिपतिः (नः) अस्माकम् (पुरोहितः) अ० ३ । १९ । १ । अग्रेसरः (प्रतीचीः) प्रतिकूलगतीः (कृत्याः) म० ४ । हिंसाः (आकृत्य) निष्पाद्य (अमून्) (कृत्याकृतः) म० २ । हिंसाकर्तॄन् (जहि) मारय ॥

७—(यः) शत्रुः (त्वा) त्वाम् (उवाच) कथितवान् (परा) दूरे (इहि) प्राप्नुहि (इति) वाक्यसमाप्तौ (प्रतिकूलम्) विरुद्धपक्षवन्तं शत्रुम् (उदाय्यम्) उत्+आय-यत्। उदयं गच्छन्तम् (तम) शत्रुम् (कृत्ये) म० ४ । हे हिंसाक्रिये (अभिनिवर्तस्व) अभितो निवर्त्य प्राप्नुहि (मा इच्छः) मा वाञ्छ (अनागसः) निर्दोषान् ॥

यः । ते । परूंषि । सम्-दुधौ । रथस्य-इव । ऋभुः । धिया ॥ तम् । गच्छ । तत्र । ते । अयनम् । अज्ञातः । ते । अयम् । जनः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे हिंसा क्रिया !] (यः) जिस [शत्रु] ने (ते) तेरे (परूंषि) जोड़ों को (सन्दधौ) जोड़ा था, (इव) जैसे (ऋभुः) बुद्धिमान् [शिल्पी] (रथस्य) रथ के [जोड़ों को] (धिया) अपनी बुद्धि से। (तम्) उसको (गच्छ) पहुंच, (तत्र) वहां पर (ते) तेरा (अयनम्) घर है, (अयम्) यह (जनः) पुरुष (ते) तेरा (अज्ञातः) अनजान [होवे] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रपंच रचकर प्रजा जनों को गुप्त रीति से सतावें उन्हें दण्ड दिया जावे ॥ ८ ॥

ये त्वा कृत्वालेभिरे विद्वला अभिचारिणः । शंभ्वी३दं कृत्यादूषणं प्रतिवर्त्म पुनःसरं तेन त्वा स्नपयामसि ॥ ९ ॥

ये । त्वा । कृत्वा । आ-लेभिरे । विद्वलाः । अभि-चारिणः ॥ शम्-भु । इदम् । कृत्या-दूषणम् । प्रति-वर्त्म । पुनः-सरम् । तेन । त्वा । स्नपयामसि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे हिंसा !] (ये) जिन (विद्वलाः) दुःखदायी, (अभिचारिणः) विरुद्ध आचारण वालों ने (त्वा) तुझे (कृत्वा) बनाकर (आलेभिरे) ग्रहण किया था। (इदम्) यह (शंभु) सुखदायी (कृत्यादूषणम्) हिंसा का

८—(यः) शत्रुः (ते) तव (परूंषि) अवयवान् (संदधौ) संयोजितवान् (रथस्य) (इव) (ऋभुः) अ० १ । २ । ३ । मेधावी-निघ० ३ । १५ । शिल्पी (धिया) बुद्ध्या (तम्) शत्रुम् (गच्छ) प्राप्नुहि (तत्र) (ते) तव (अयनम्) गृहम् (अज्ञातः) अपरिचितः (अयम्) (जनः) ॥

९—(ये) (त्वा) त्वां कृत्याम् (आलेभिरे) गृहीतवन्तः (विद्वलाः) सानसिवर्णसि० । उ० ४ । १०७ । विद ज्ञाने वेदनायां च—वलच्, गुणाभावः । वेदनाशीलाः । दुःखदायिनः (अभिचारिणः) विरुद्धाचाराः (शम्भु) शान्तिकरम्

खण्डन [उनके लिये] (पुनः सरम्) अवश्य ज्ञान कराने वाला (प्रतिवर्त्म) प्रत्यक्ष मार्ग है। (तेन) उसी [कारण] से (त्वा) तुझे (स्नपयामसि) हम शुद्ध करते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—राजा दुराचारियों को ऐसी उत्तम नीति से सुधारे कि उन के आचार विचार फिर धार्मिक हो जावें ॥ ९ ॥

यद् दुर्भगां प्रस्नपितां मृतवत्सामुपेयिम।
अपैतु सर्वं मत् पापं द्रविणं मोप तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

यत्। दुः-भगाम्। प्र-स्नपिताम्। मृत-वत्साम्। उप-एयिम ॥
अप। एतु। सर्वम्। मत्। पापम्। द्रविणम्। मा। उप। तिष्ठतु ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(यत्) यदि (दुर्भगाम्) दुर्भाग्य वाली, [अथवा] (स्नपिताम्) शुद्ध आचरण वाली, [अथवा] (मृतवत्साम्) मरे बच्चे वाली [शोकातुर स्त्री] के (उपेयिम) हम पास गये हैं। (सर्वम्) सब (पापम्) पाप (मत्) मुझ से (अप एतु) हट जावे, (द्रविणम्) बल (मा) मुझको (उप तिष्ठतु) प्राप्त हो ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य से दुष्कर्म हो जावे वह यथावत् दण्ड भोगकर धर्म में प्रवृत्त होकर सुखी होवे ॥ १० ॥

यत् ते पितृभ्यो ददतो यज्ञे वा नाम जगृहुः।
संदेश्या३त् सर्वस्मात् पापादिमा मुञ्चन्तु त्वौषधीः ॥ ११ ॥

(इदम्) (कृत्यादूषणम्) हिंसाखण्डनम् (प्रतिवर्त्म) प्रत्यक्षमार्गः (पुनःसरम्) पुनः अवधारणे + सृ गतौ—अच्। निश्चयेन सरो ज्ञानं यस्मात् तत् (तेन) कारणेन (त्वा) त्वां कृत्याम् (स्नपयामसि) स्नपयामः। शोधयामः ॥

१०—(यत्) यदि (दुर्भगाम्) दुर्भाग्यवतीम् (स्नपिताम्) शोधिताम् शुद्धाचाराम् (मृतवत्साम्) मृतबालकाम्। शोकग्रस्तामित्यर्थः (उपेयिम) उप + आङ्—ईयिम। वयं प्राप्तवन्तः (अपैतु) दूरे गच्छतु (सर्वम्) (मत्) मत्तः (पापम्) अनिष्टं दुःखम् (द्रविणम्) बलम् (मा) माम् (उप तिष्ठतु) प्राप्नोतु ॥

यत् । ते । पितृ-भ्यः । ददतः । यज्ञे । वा । नाम । जगृहुः ॥ सम्-देश्यात् । सर्वस्मात् । पापात् । इमाः । मुञ्चन्तु । त्वा । ओषधीः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (यज्ञे) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म करने] में (पितृभ्यः) पितरों [माता पिता आचार्य आदि] को (ददतः) दान करते हुये (ते) तेरा (नाम वा) नाम (जगृहुः) उन्होंने लिया है । (सर्वस्मात्) [उनके] प्रत्येक (संदेश्यात्) अभीष्ट (पापात्) पाप से (इमाः) यह (ओषधीः) ओषधियां [ओषधि रूप दुःख नाशक विद्वान् पुरुष] (त्वा) तुझको (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ ११ ॥

भावार्थ—यदि कोई पुरुष किसी सत्पुरुष को दान आदि शुभकर्म में मिथ्या दोष लगावें, विद्वान् लोग यथायोग्य अनुसन्धान करके उस दोष से उसे मुक्त करें ॥ ११ ॥

देवैनसात् पित्र्यान्नामग्राहात् संदेश्यादभिनिष्कृतात् । मुञ्चन्तु त्वा वीरुधो वीर्येण ब्रह्मण ऋग्भिः पयस ऋषीणाम् १२

देव-एनसात् । पित्र्यात् । नाम-ग्राहात् । सम्-देश्यात् । अभि-निष्कृतात् ॥ मुञ्चन्तु । त्वा । वीरुधः । वीर्येण । ब्रह्मणा । ऋक्-भिः । पयसा । ऋषीणाम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(देवैनसात्) विजयी पुरुषों के लिये पाप से, (पित्र्यात्) पितरों [माता पिता गुरु आदि] के लिये पाप से, (संदेश्यात्) अभीष्ट और

११—(यत्) यदि (ते) तव (पितृभ्यः) मातापितृगुर्वादिभ्यः (ददतः) दानशीलस्य (यज्ञे) धर्मकर्मणि (वा) पादपूरणे (नाम) मिथ्यापवादम् (जगृहुः) गृहीतवन्तः । आरोपितवन्तः (सन्देश्यात्) दिश दाने-ण्यत् । अभिलषितात् । अभीष्टात् (सर्वस्मात्) (पापात्) (इमाः) (मुञ्चन्तु) वियोजयन्तु (त्वा) (ओषधीः) ओषधयः । ओषधिवत् तापनाशका विद्वांसः ॥

१२-(देवैनसात्) विजिगीषून् प्रति पापात् (पित्र्यात्) अ० ६ । १२० । २ । पितॄन् प्रति पापात् (नामग्राहात्) मिथ्यापवादात् (संदेश्यात्) म० ११ । अभी-

(अभिनिष्कृतात्) प्रतिकूल सिद्ध किये हुये (नामग्राहात्) नामग्रहण से (वीरुधः) ओषधें [ओषधिसमान उपकारी लोग] (त्वा) तुझ को (वीर्येण) अपने सामर्थ्य द्वारा, (ब्रह्मणा) तप द्वारा, (ऋग्भिः) वेदवाणियों द्वारा और (ऋषीणाम्) ऋषियों के (पयसा) ज्ञान द्वारा (मुञ्चन्तु) मुक्त करें ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग दुष्कर्मियों को धर्मानुसार दण्ड देकर और यथावत् वेदादि शास्त्रों के उपदेश से उनको उनके दुष्ट स्वभावों से छोड़ावें ॥१२॥

यथा वातश्च्यावयति भूम्या रेणुमन्तरिक्षाच्चाभ्रम् ।
एवा मत् सर्वं दुर्भूतं ब्रह्मनुत्तमपायति ॥ १३ ॥

यथा । वातः । च्यवयति । भूम्याः । रेणुम् । अन्तरिक्षात् । च । अभ्रम् ॥ एव । मत् । सर्वम् । दुःऽभूतम् । ब्रह्मऽनुत्तम् । अप । अयति ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (भूम्याः) भूमि से (रेणुम्) रेणु [धूलि] को (च) और (अन्तरिक्षात्) आकाश से (अभ्रम्) मेघ को (च्यावयति) सरका देता है । (एव) वैसे ही (मत्) मुझ से (सर्वम्) सब (ब्रह्मनुत्तम्) ब्राह्मणों द्वारा हटाया गया (दुर्भूतम्) पाप (अप अयति) दूर चला जावे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदुपदेश पाकर पाप कर्म छोड़ने में शीघ्रता करे ॥१३॥

अप क्राम नानदती विनद्धा गर्दभीव ।
कर्तॄन् नक्षस्वेतो नुत्ता ब्रह्मणा वीर्यावता ॥ १४ ॥

ष्टात् (अभिनिष्कृतात्) प्रतिकूलं साधितात् (मुञ्चन्तु) (त्वा) (वीरुधः) ओषधिवदुपकारिणः (वीर्येण) स्वसामर्थ्येन (ब्रह्मणा) तपसा (ऋग्भिः) वेदवाग्भिः (पयसा) पय गतौ—असुन् । ज्ञानेन (ऋषीणाम्) कृतसाक्षात्धर्मणाम् ॥

१३—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) वायुः (च्यावयति) अपगमयति (भूम्याः) (रेणुम्) अजिवृरीभ्यो निच्च । उ० ३ । ३८ । री गतिरेषणयोः—णु । धूलिम् (अन्तरिक्षात्) अकाशात् (च) (अभ्रम्) मेघम् (एव) एवम् (मत्) मत्तः (सर्वम्) (दुर्भूतम्) पापम् । दुःखम् (ब्रह्मनुत्तम्) ब्रह्मभिर्वेदविद्भिः प्रेरितम् (अप अयति) नश्यतु ॥

अप । क्राम । नानदती । वि-नद्धा । गर्दभी-इव ॥
कर्तॄन् । नक्षस्व । इतः । नुत्ता । ब्रह्मणा । वीर्य-वता ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(विनद्धा) खुली हुई, (गर्दभी इव) गदही के समान (नानदती) अति रेंकती हुई तू (अप क्राम) भाग जा । (वीर्यवता) पराक्रमी (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानी करके (इतः) यहां से (नुत्ता) निकाली हुई तू (कर्तॄन्) हिंसकों में (नक्षस्व) पहुंच ॥ १४ ॥

भावार्थ—नीति निपुण लोगों के उपाय से हिंसक लोग आपस में विरोध करके निर्बल होजावें ॥ १४ ॥

अयं पन्थाः कृत्येति त्वा नयामोऽभिप्रहितां प्रति त्वा प्र हिण्मः । तेनाभि याहि भञ्जत्यनस्वतीव वाहिनी विश्वरूपा कुरूटिनी ॥ १५ ॥

अयम् । पन्थाः । कृत्ये । इति । त्वा । नयामः । अभि-प्रहिताम् । प्रति । त्वा । प्र । हिण्मः । तेन । अभि । याहि । भञ्जती । अनस्वती-इव । वाहिनी । विश्व-रूपा । कुरूटिनी १५

भाषार्थ—"(कृत्ये) हे हिंसा ! [अर्थात् हिंसक] (अयम् पन्थाः इति) यह मार्ग है"—(त्वा) तुझे (नयामः) हम ले चलते हैं, (अभिप्रहिताम्) [हमारे] प्रतिकूल भेजी हुई (त्वा) तुझ को (प्रति) उलटा (प्र हिण्मः) हम हटाते हैं । (तेन) उसी [मार्ग] से (भञ्जती) टूटती हुई तू [उन पर]

१४—(अप क्राम) दूरं गच्छ (नानदती) णद अव्यक्ते शब्दे यङ्लुकि-शतृ । भृशं ध्वनिं कुर्वती (विनद्धा) वियुक्ता (गर्दभी) गर्द रवे-अभच् । रासभी (इव) यथा (कर्तॄन्) म० ३ । हिंसकान् (नक्षस्व) गच्छ (इतः) अस्मात् स्थानात् (नुत्ता) बहिष्कृता (ब्रह्मणा) चतुर्वेदिना (वीर्यवता) पराक्रमिणा ॥

१५—(अयम्) (पन्थाः) मार्गः (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (इति) वाक्य-समाप्तौ (त्वा) त्वाम् (नयामः) प्रापयामः (अभिप्रहिताम्) अस्मान् प्रति प्रेषिताम् (प्रति) प्रतिकूलम् (त्वा) (प्र) (हिण्मः) प्रेरयामः (तेन) (अभि याहि) तान् प्रति गच्छ (भञ्जती) भञ्जनं कुर्वती (अनस्वती) रथैर्युक्ता (इव)

(अभि याहि) चढ़ाई कर, (इव) जैसे (अनस्वती) बहुत रथों वाली, (विश्वरूपा) सब अङ्गों [हाथी, घोड़ों आदि] वाली (कुरूटिनी) बांकेपन से रोकनेवाली (वाहिनी) सेना [चढ़ाई करती है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—नीतिमान् सेनापति अपने पराक्रम से शत्रुसेना में शीघ्र हलचल मचा देवे कि वे आपस में लड़ने लगें ॥ १५ ॥

परा॑क् ते॒ ज्योति॑रप॒थं ते॑ अ॒र्वाग॒न्यत्रा॒स्मदय॑ना कृणुष्व ।
परे॒णेहि नव॒तिं ना॒व्या॒३॑ अति॑ दु॒र्गाः स्रो॒त्या मा क्ष॑णिष्ठाः॒ परे॑हि ॥ १६ ॥

परा॑क् । ते॒ । ज्योति॑ः । अ॒प॒थम् । ते॒ । अ॒र्वाक् । अ॒न्यत्र॑ । अ॒स्मत् । अय॑ना । कृ॒णु॒ष्व॒ ॥ परे॑ण । इ॒हि॒ । न॒व॒तिम् । ना॒व्या॑ः । अति॑ । दुः॒-गाः । स्रो॒त्या॑ः । मा । क्ष॒णि॒ष्ठाः॒ । परा॑ । इ॒हि॒ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(पराक्) आगे की ओर (ते) तेरे लिये (ज्योतिः) ज्योति [अग्नि आदि प्रकाश] है, (अर्वाक्) इस ओर (ते) तेरे लिये (अपथम्) मार्ग नहीं है, (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरे स्थान में [अपने] (अयना) मार्गों को (कृणुष्व) कर। (परेण) दूसरे [मार्ग] से (नवतिम्) नव्वे [अर्थात् अनेक] (दुर्गाः) बड़ी कठिन, (नाव्याः) नावों से उतरने योग्य (स्रोत्याः) नदियों को (अति) पार करके (इहि) जा, [हमको] (मा क्षणिष्ठाः) मत घायल कर, (परा इहि) हट जा ॥ १६ ॥

यथा (वाहिनी) सेना (विश्वरूपा) सर्वाङ्गोपेता (कुरूटिनी) कु + रुट प्रतिघाते भावार्थ च-क, इनि, ङीप्, छान्दसो दीर्घः। कु कुटिलं प्रतिघातिनी, अवरोधिका ॥

१६—(पराक्) अभिमुखम् (ते) तुभ्यम् (ज्योतिः) प्रकाशः (अपथम्) पथो विभाषा। पा० ५।४।७२। नञ्+पथिन्-अप्रत्ययः। अपथं नपुंसकम्। पा० २।४।३०। इति नपुंसकम्। मार्गाभावः। कुमार्गः (ते) तुभ्यम् (अर्वाक्) अवरदेशे (अन्यत्र) (अस्मत्) (अयना) मार्गान् (कृणुष्व) कुरु (परेण)

भावार्थ—चतुर सेनापति उचित व्यूह रचना से शत्रु सेना को आग्नेय आदि अस्त्र शस्त्रों द्वारा आगे पीछे से रोक दे और अपने बचाने के लिये पार्श्व मार्ग से उसे निकल जाने दे ॥ १६ ॥

वातं इव वृक्षान् नि मृणीहि पादय मा गामश्वं पुरुषमुच्छिष एषाम् । कर्तॄन् निवृत्येतः कृत्येऽप्रजास्त्वाय बोधय ॥ १७ ॥

वातः-इव । वृक्षान् । नि । मृणीहि । पादय । मा । गाम् । अश्वम् । पुरुषम् । उत् । शिषः । एषाम् ॥ कर्तॄन् । नि-वृत्य । इतः । कृत्ये । अप्रजाः-त्वाय । बोधय ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कर्तॄन्) हिंसकों को (नि मृणीहि) मार डाल और (पादय=पातय) गिरा दे, (वातः इव) जैसे वायु (वृक्षान्) वृक्षों को, (एषाम्) इनकी (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़ा और (पुरुषम्) पुरुष को (मा उत् शिषः) मत छोड़ । (कृत्ये) हे हिंसा शील ! (इतः) यहां से (निवृत्य) लौट कर (अप्रजास्त्वाय) [उनकी] प्रजा [पुत्र, पौत्र, सेवक आदि] की हानि के लिये [उन्हें] (बोधय) जगा दे ॥ १७ ॥

भावार्थ—सेनापति शत्रुओं को ऐसा हरा देवे कि वे सर्वथा उपायहीन और राज्यहीन हो जावें ॥ १७ ॥

यां ते बर्हिषि यां श्मशाने क्षेत्रे कृत्यां वलगं वा निचख्नुः ।

यथा (इहि) गच्छ (नवतिम्) वह्वीः—इत्यर्थः (नाव्याः) अ० ८ । ५ । ६ । नौभिर्तार्याः (अति) अतीत्य (दुर्गाः) दुर्गमनीयाः (स्रोत्याः) अ० १ । ३२ । ३ । जलप्रवाहाः (मा क्षणिष्ठाः) क्षणु हिंसायाम्-लुङ् । मा हिंसीः (परा इहि) दूरं गच्छ ॥

१७-(वातः) (इव) (वृक्षान्) (नि) नितराम् (मृणीहि) मारय (पादय) तस्य दः । पातय (मा उत् शिषः) । अ० ६ । १२७ । १ । मोच्छेषय (गाम्) (अश्वम्) (पुरुषम्) (एषाम्) हिंसकानाम् (कर्तॄन्) म० ३ । हिंसकान् (निवृत्य) परागत्य (इतः) अस्मात् स्थानात् (कृत्ये) हे हिंसा-क्रिये (अप्रजास्त्वाय) अ० ८ । ६ । २६ । पुत्रपौत्रसेवकादिराहित्याय (बोधय) विज्ञापय ॥

अ॒ग्नौ वा॑ त्वा॒ गार्ह॑पत्येऽभिचे॒रुः पाकं॒ सन्तं॒ धीर॑तरा अ॒नाग॑सम् ॥ १८ ॥

याम् । ते॒ । ब॒र्हिषि॑ । याम् । श्म॒शाने॑ । क्षेत्रे॑ । कृ॒त्याम् । व॒ल॒गम् । वा॒ । नि॒-च॒ख्नुः ॥ अ॒ग्नौ । वा॒ । त्वा॒ । गार्ह॑-पत्ये । अ॒भि॒-चे॒रुः । पाक॑म् । सन्त॑म् । धीर॑-तराः । अ॒नाग॑सम् ॥ १८ ॥

उपा॑हृतमनु॑बुद्धं॒ निखा॑तं॒ वैरं॑ त्सा॒र्यन्व॑विदाम॒ कर्त्र॑म् । तदे॑तु॒ यत॒ आभृ॑तं॒ तत्रा॑श्व॑ इव॒ वि व॑र्त॒तां हन्तु॑ कृत्या॒कृत॑: प्र॒जाम् १९

उप॒-आहृ॑तम् । अनु॑-बुद्धम् । नि-खा॑तम् । वैर॑म् । त्सारि॑ । अनु॑ । अ॒वि॒दा॒म॒ । कर्त्र॑म् ॥ तत् । ए॒तु॒ । यत॑: । आ-भृ॑तम् । तत्र॑ । अश्व॑:-इव । वि॑ । व॒र्त॒ता॒म् । हन्तु॑ । कृ॒त्या-कृत॑: । प्र॒-जाम् ॥ १९ ॥

भावार्थ—[हे मनुष्य !] (याम् याम्) जिस जिस (कृत्याम्) हिंसा क्रिया को (वा) अथवा (वलगम्) गुप्त कर्म को (ते) तेरे (बर्हिषि) जल में, (श्मशाने) मरघट में [अथवा] (क्षेत्रे) खेत में (धीरतराः) धीरों के दबाने वालों ने (निचख्नुः) दबा दिया है। (वा) अथवा (गार्हपत्ये) गृहपतियों करके संयुक्त (अग्नौ) अग्नि में (पाकम्) परिपक्व स्वभाव वाले, (सन्तम्) सन्त [सदाचारी] और (अनागसम्) निर्दोषी (त्वा) तेरे (अभिचेरुः) उन्होंने विरुद्ध आचरण किया है ॥ १८ ॥

१८—(याम्) (ते) तव (बर्हिषि) अ० ५ । २२ । १ । जले—निघ० १ । १२ (याम्) (श्मशाने) अ० ५ । ३१ । ८ । शवदाहस्थाने (क्षेत्रे) शस्योत्पत्तिस्थाने (कृत्याम्) हिंसाम् (वलगम्) अ० ५ । ३१ । ४ । आच्छादनम् । गुप्तकर्म (वा) (निचख्नुः) अ० ५ । ३१ । ८ । निखातवन्तः (अग्नौ) (वा) (त्वा) (गार्हपत्ये) अ० ६ । १२० । १ । गृहपतिभिः संयुक्ते (अभिचेरुः) अ० ५ । ३० । २ । दुष्कृतवन्तः (पाकम्) अ० ६ । ६ । २२ । परिपक्वमनस्कम् (सन्तम्) सदाचारिणम् (धीरतराः) धीर + तॄ प्लवने अभिभवे च—अच् । धीराणां बुद्धिमतामभिभवितारः (अनागसम्) अ० ७ । ६ । ३ । अनपराधिनम् ॥

[उस] (अनुबुद्धम्) ताक लगाये गये, (उपाहृतम्) प्रयोग किये गये, (निखातम्) दबाये गये [सुरंग, गढ़े आदि में छिपाये गये] (वैरम्) वैर रूप (त्सारि) टेढ़े (कर्त्रम्) कटार को (अनु अविदाम) हमने ढूंढ़ लिया है। (तत्) वह (एतु) चला जावे, (यतः) जहां से (आभृतम्) लाया गया है, (तत्र) वहां पर (अश्वः इव) घोड़े के समान (वि वर्तताम्) लोट जावे, (कृत्याकृतः) हिंसा करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, भृत्य आदि] को (हन्तु) मारे ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो शत्रु लोग जल आदि के उपयोगी स्थानमें प्रकट वा गुप्त खाई, सुरंग आदि बनाकर हानिकारक क्रिया करें, चतुर सेनापति उन का खोज लगाकर उनको वैसी ही क्रियाओंसे विध्वंस करे ॥ १८, १९ ॥

इन मन्त्रों का मिलान करो—अथर्व० ५ । ३१ । ८, ९ ॥

स्वायसा असयः सन्ति नो गृहे विद्मा ते कृत्ये यतिधा परूंषि ।
उत्तिष्ठैव परेहीतोऽज्ञाते किमिहेच्छसि ॥ २० ॥ (२)

सु-आयसाः । असयः । सन्ति । नः । गृहे । विद्म । ते । कृत्ये । यति-धा । परूंषि ॥ उत् । तिष्ठ । एव । परा । इहि । इतः । अज्ञाते । किम् । इह । इच्छसि ॥ २० ॥ (२)

भाषार्थ-(स्वायसाः) सुन्दर रीतिसे लोहे की बनी (असयः) तलवारें (नः गृहे) हमारे घर में (सन्ति) हैं, (कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (ते)

१९—(उपाहृतम्) प्रयुक्तम् (अनुबुद्धम्) अनुक्रमेण विचारितम् (निखातम्) खनित्वा स्थापितम् (वैरम्) द्वेषम् (त्सारि) त्सर छद्मगतौ—णिनि । वक्रम् (अनु) अनुसन्धानेन (अविदाम) विद्लृ लाभे—लुङ् । वयंप्राप्तवन्तः (कर्त्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । कृती छेदने—ष्ट्रन्, तलोपः । यद्वा, कृञ् हिंसायाम्—ष्ट्रन् । कर्तनायुधम् । कृपाणम् (तत्) (एतु) (यतः) यस्मात् (आभृतम्) आहृतम् (तत्र) (अश्वः इव) (वि वर्तताम्) विविधं वर्तनं करोतु (हन्तु) (कृत्याकृतः) म० २ । हिंसाकारकस्य (प्रजाम्) पुत्र-पौत्रभृत्यादिरूपाम् ॥

२०-(स्वायसाः) अयम्—अण् । सु सुष्ठु अयसा लोहेन निर्मिताः (असयः) तरवारयः (सन्ति) (नः) अस्माकम् (गृहे) (विद्म) जानीमः

तेरे (परूंषि) जोड़ों को, (यतिधा) जितने प्रकार के हैं, (विद्म) हम जानते हैं। (एव) बस (उत् तिष्ठ) खड़ी होजा, (इतः) यहां से (परा इहि) चली जा, (अज्ञाते) हे अपरिचित ! तू (इह) यहां (किम्) क्या (इच्छसि) चाहती है ॥ २० ॥

भावार्थ—सेनापति अच्छे २ अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं के अस्त्र शस्त्र और सेना का नाश करे, और अनजान पुरुष को न आने दे ॥ २० ॥

ग्रीवास्ते कृत्ये पादौ चापि कर्त्स्यामि निर्द्रव ।
इन्द्राग्नी अस्मान् रक्षतां यौ प्रजानां प्रजावती ॥ २१ ॥

ग्रीवाः । ते । कृत्ये । पादौ । च । अपि । कर्त्स्यामि । निः । द्रव ॥ इन्द्राग्नी इति । अस्मान् । रक्षताम् । यौ । प्र-जानाम् । प्रजावती इति प्रजा-वती ॥ २१ ॥

भाषार्थ-(कृत्ये) हे हिंसा क्रिया ! (ते) तेरी (ग्रीवाः) ग्रीवा की नाड़ियों (च) और (पादौ) दोनों पैरों को (अपि) भी (कर्त्स्यामि) मैं काटूंगा, (निः द्रव) निकल जा। (इन्द्राग्नी) वायु और अग्नि [के समान राजा और मन्त्री] (अस्मान्) हमारी (रक्षताम्) रक्षा करें, (यौ) जो दोनों (प्रजानाम्) प्रजाओं के बीच (प्रजावती) श्रेष्ठ प्रजा वाली [माता के तुल्य हैं] ॥ २१ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री दुराचारियों के गले और पदादि अङ्ग कटवा कर प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ २१ ॥

(ते) तव (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (यतिधा) यत्प्रकाराणि (परूंषि) ग्रन्थीन् (उत्तिष्ठ) (एव) अवश्यम् (परेहि) (इतः) (अज्ञाते) हे अपरिचिते हिंसे (किम्) (इह) (इच्छसि) आकाङ्क्षसि ॥

२१—(ग्रीवाः) कण्ठनाडीः (ते) तव (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (पादौ, च, अपि) (कर्त्स्यामि) छेत्स्यामि (निर्द्रव) निर्गच्छ (इन्द्राग्नी) वाय्वग्नितुल्यौ राजमन्त्रिणौ (अस्मान्) प्रजागणान् (रक्षताम्) (यौ) (प्रजानाम्) प्रजानां मध्ये (प्रजावती) श्रेष्ठप्रजायुक्ता माता यथा ॥

सोमो राजाधिपा मृडिता च भूतस्य नः पतयो मृडयन्तु ।२२।

सोमः । राजा । अधि-पाः । मृडिता । च । भूतस्य । नः । पतयः । मृडयन्तु ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) राजा (अधिपाः) अधिक पालन करने वाला (च) और (मृडिता) सुख देने वाला है, (भूतस्य) संसार के (पतयः) पालन करने वाले [राजपुरुष] (नः) हमें (मृडयन्तु) सुख देते रहें ॥ २२ ॥

भावार्थ—राजा और राजपुरुष प्रजा को सुख पहुंचाने में सदा तत्पर रहें ॥ २२ ॥

भवाशर्वावस्यतां पापकृते कृत्याकृते ।
दुष्कृते विद्युतं देवहेतिम् ॥ २३ ॥

भवाशर्वौ । अस्यताम् । पाप-कृते । कृत्या-कृते ॥
दुः-कृते । वि-द्युतम् । देव-हेतिम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(भवाशर्वौ) सुख देने वाले और दुःख नाश करने वाले [राजा और मन्त्री दोनों] (पापकृते) पाप करने वाले (कृत्याकृते) हिंसा करने वाले और (दुष्कृते) दुष्कर्मी पुरुष के लिये (देवहेतिम्) विद्वानों के वज्र (विद्युतम्) बिजुली [के शस्त्र] को (अस्यताम्) गिरावें ॥ २३ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री दुष्टों को यथावत् दंड देकर प्रजा में शांति रक्खें ॥ २३ ॥

२२—(सोमः) ऐश्वर्यवान् (राजा) शासकः (अधिपाः) अधिकपालकः (मृडिता) सुखयिता (च) (भूतस्य पतयः) संसारस्य पालका राजपुरुषाः (नः) अस्मान् (मृडयन्तु) सुखयन्तु ॥

२३—(भवाशर्वौ) अ० ८ । २ । ७ । सुखस्य भावयिता कर्ता भवो राजा, दुःखस्य शरिता नाशकः शर्वो मन्त्री च तौ (अस्यताम्) प्रेरयताम् (पापकृते) पापकारिणे (कृत्याकृते) म० २ । हिंसाकारिणे (दुष्कृते) दुष्कर्मिणे (विद्युतम्) अशनिरूपं शस्त्रम् (देवहेतिम्) विदुषां वज्रम् ॥

यद्येयथ द्विपदी चतुष्पदी कृत्याकृता संभृता विश्वरूपा ।
सेतो३ऽष्टापदी भूत्वा पुनः परेहि दुच्छुने ॥ २४ ॥

यदि । आ-इयथ । द्वि-पदी । चतुः-पदी । कृत्या-कृता । सम्-भृता विश्व-रूपा ॥ सा । इतः । अष्टा-पदी । भूत्वा । पुनः । परा । इहि । दुच्छुने ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले पुरुष द्वारा (संभृता) साधी गयी, (विश्वरूपा) अनेक रूप वाली [हिंसा] (द्विपदी) दोनों [स्त्री पुरुष समूह] में गति वाली, (चतुष्पदी) चारों [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ, सन्यासाश्रम] में पद वाली और (अष्टापदी) आठों [चार पूर्व आदि और चार आग्नेय आदि मध्य दिशाओं] में व्याप्ति वाली (भूत्वा) होकर (एयथ) तू आयी है । (सा) सो (दुच्छुने) हे दुष्टगति वाली ! तू (इतः) यहां से (पुनः) लौटकर (परा इहि) चली जा ॥ २४ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों में हिंसा कर्म बढ़ने से आश्रम व्यवस्था टूटकर संसार में दुःख फैलता है, इससे बुद्धिमान् राजा हिंसा को सदा नष्ट करे ॥२४

अभ्य१क्ताक्ता स्वरंकृता सर्वं भरन्ती दुरितं परेहि ।
जानीहि कृत्ये कर्तारं दुहितेव पितरं स्वम् ॥ २५ ॥

अभि-अक्ता । आ-अक्ता । सु-अरंकृता । सर्वम् । भरन्ती । दुः-इतम् । परा । इहि ॥ जानीहि । कृत्ये । कर्तारम् । दुहिता-इव । पितरम् । स्वम् ॥ २५ ॥

२४—(यदि) सम्भावनायाम् (एयथ) आ + इण् गतौ–लिट् । एयेथ । त्वमागतवती (द्विपदी) द्वयोः स्त्रीपुरुषसमूहयोर्मध्ये पदं गमनं यस्याः सा (चतुष्पदी) चतुर्षु ब्रह्मचर्याद्याश्रमेषु पदं स्थितिर्यस्याः सा (कृत्याकृता) म० २ । हिंसाकारकेण (संभृता) निष्पादिता (विश्वरूपा) अनेकविधा (सा) सा त्वम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (अष्टापदी) अष्टसु चतसृषु पूर्वादिदिक्षु आग्नेयादिमध्यदिक्षु च पदं व्याप्तिर्यस्याः सा (भूत्वा) (पुनः) पश्चात् (परेहि) निर्गच्छ (दुच्छुने) अ० ५ । १७ । ४ । हे दुष्टगते।

भाषार्थ--(अभ्यक्ता) मली गयी, (आक्ता) चिकनी की गयी, (स्वरङ्कृता) भले प्रकार सजाई गयी, (सर्वम्) प्रत्येक (दुरितम्) सङ्कट को (भरन्ती) धारण करती हुयी तू (परा इहि) चली जा। (कृत्ये) हे हिंसा ! तू (कर्तारम्) अपने बनाने वाले को (जानीहि) जान, (इव) जैसे (दुहिता) पुत्री (स्वम् पितरम्) अपने पिता को [जानती है] ॥ २५ ॥

भावार्थ--जो शत्रु लोग छल करके दुःख देने वाली क्रिया को सुखदायी दिखावें, विद्वान् उस भेद को जानकर दुष्टों को दंड देवें ॥ २५ ॥

परेहि कृत्ये मा तिष्ठो विद्धस्येव पदं नय ।

मृगः स मृगयुस्त्वं न त्वा निकर्तुमर्हति ॥ २६ ॥

परा । इहि । कृत्ये । मा । तिष्ठः । विद्धस्य-इव । पदम् । नय ॥

मृगः । सः । मृग-युः । त्वम् । न । त्वा । नि-कर्तुम् । अर्हति २६

भाषार्थ--(कृत्ये) हे हिंसा ! (परा इहि) चली जा, (मा तिष्ठः) मत खड़ी हो, (विद्धस्य) घायल के [पद से] (इव) जैसे (पदम्) ठिकाने को (नय) पाले।

[हे शूर !] (सः) वह [शत्रु] (मृगः) मृग [समान है], और (त्वम्) तू (मृगयुः) व्याध [समान है], वह (त्वा) तुझ को (न) नहीं (निकर्तुम् अर्हति) गिरा सकता है ॥ २६ ॥

भावार्थ--राजा प्रयत्न पूर्वक अन्वेषण करके दुराचारियों का खोज लगावे, जैसे व्याध घायल आखेट के रुधिर चिन्ह से उसे ढूंढ़ लेता है ॥२६॥ मनु महाराज कहते हैं--अध्याय ८ श्लोक ४४ ॥

२५--(अभ्यक्ता) अञ्जू-क्त। अभितो मर्दिता (आक्ता) आङ् अञ्जू-क्त। समन्तात् स्निग्धा (स्वरङ्कृता) सुभूषिता (सर्वम्) (भरन्ती) धरन्ती (दुरितम्) कष्टम् (परेहि) (जानीहि) (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (कर्तारम्) रचयितारम् (दुहिता इव) पुत्री यथा (पितरम्, स्वम्) ॥

२६--(परेहि) निर्गच्छ (कृत्ये) हे हिंसे (मा तिष्ठः) (विद्धस्य) व्यध ताडने-क्त। प्रहृतस्य (इव) (पदम्) स्थानम् (नय) प्राप्नुहि (मृगः) (सः) शत्रुः (मृगयुः) मृगय्वादयश्च। उ० १। ३७। मृग+या प्रापणे-कु। व्याधः (त्वम्) (न) निषेधे (त्वा) (निकर्तुम्) अभिभवितुम् (अर्हति) युज्यते ॥

यथा नयत्यसृक्पातैर्मृगस्य मृगयुः पदम् ।
नयेत्तथानुमानेन धर्मस्य नृपतिः पदम् ॥ १ ॥

जैसे व्याध रुधिर के गिरने से मृग का ठिकाना पालेता है, वैसे ही राजा अनुमान से धर्म का ठिकाना पावे ॥ १ ॥

उत हन्ति पूर्वासिनं प्रत्यादायापर इष्वा ।
उत पूर्वस्य निघ्नतो नि हन्त्यपरः प्रति ॥ २७ ॥

उत । हन्ति । पूर्व-आसिनम् । प्रति-आदाय । अपरः । इष्वा ॥
उत । पूर्वस्य । नि-घ्नतः । नि । हन्ति । अपरः । प्रति ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अपरः) अति श्रेष्ठ [बड़ा सावधान पुरुष] (उत) ही (पूर्वासिनम्) पहिले [चोट] चलाने वाले को (प्रत्यादाय) उलटा पकड़कर (इष्वा) तीर से (हन्ति) मारता है । (अपरः) अति श्रेष्ठ (उत) ही (पूर्वस्य निघ्नतः) पहिले चोट मारने वाले का (प्रति) बदले में (नि) निरन्तर (हन्ति) हनन करता है ॥ २७ ॥

भावार्थ—सावधान दूरदर्शी पुरुष शत्रु की चोट लगने से पहिले ही उसे मारता है, और वीर मनुष्य ही वैरी की चोट से बचकर उसका ही हनन करता है ॥ २७ ॥

एतद्धि शृणु मे वचोऽथेहि यत एयथ ।
यस्त्वा चकार तं प्रति ॥ २८

एतत् । हि । शृणु । मे । वचः । अथ । इहि । यतः । आ-इयथ ॥ यः । त्वा । चकार । तम् । प्रति ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरे (एतत्) इस [निर्णय सूचक] (वचः) वचन

२७—(उत) एव (हन्ति) (पूर्वासिनम्) पूर्व + असु क्षेपणे—णिनि । पूर्वशस्त्रक्षेप्तारम् (प्रत्यादाय) प्रतिकूलं गृहीत्वा (अपरः) नास्ति परः श्रेष्ठो यस्मात् सः । अनुत्तमः । अतिसावधानः (इष्वा) बाणेन (उत) (पूर्वस्य) अग्रवर्त्तिनः (निघ्नतः) नितरां हननं कुर्वतः (नि) निरन्तरम् (हन्ति) (अपरः) अतिसावधानः (प्रति) प्रतिकूलत्वेन ॥

२८—(एतत्) इदं निर्णयसूचकम् (हि) अवश्यम् (शृणु) (मे) मम

को (हि) अवश्य (शृणु) सुन, (अथ) फिर (इहि) जा, (यतः) जहां से (पयथ) तू आयी है। (यः) जिसने (त्वा) तुझे (चकार) बनाया है (तम् प्रति) उसके पास [जा] ॥ २८ ॥

भावार्थ—राजा निर्णय पूर्वक अपराधी को दोष बताकर दोष के अनुसार दण्ड देवे ॥ २८ ॥

अनागोहत्या वै भीमा कृत्ये मा नो गामश्वं पुरुषं वधीः।
यत्रयत्रासि निहिता ततस्त्वोत्थापयामसि पर्णाल्लघीयसी भव २९

अनागः-हत्या। वै। भीमा। कृत्ये। मा। नः। गाम्। अश्वम्। पुरुषम्। वधीः॥ यत्र-यत्र। असि। नि-हिता। ततः। त्वा। उत्। स्थापयामसि। पर्णात्। लघीयसी। भव २९

भाषार्थ—(कृत्ये) हे हिंसा क्रिया! (अनागोहत्या) निर्दोषी की हत्या (वै) अवश्य (भीमा) भयानक है, (नः) हमारी (गाम्) गौ, (अश्वम्) घोड़े और (पुरुषम्) पुरुष को (मा वधीः) मत मार। (यत्रयत्र) जहां जहां पर तू (निहिता) गुप्त रक्खी गयी (असि) है, (ततः) वहां से (त्वा) तुझ को (उत् स्थापयामसि) हम उठाये देते हैं, तू (पर्णात्) पत्ते से (लघीयसी) अधिक हलकी (भव) होजा ॥ २९ ॥

भावार्थ—राजा विचार पूर्वक अनपराधियों के गुप्तरीति से सताने वाले दुराचारियों को उचित दण्ड देकर अपने वश में रक्खे ॥ २९ ॥

यदि स्थ तमसावृता जालेनाभिहिता इव।
सर्वाः संलुप्येतः कृत्याः पुनः कर्त्रे प्र हिण्मसि ॥ ३० ॥

(वचः) वचनम् (अथ) तदा (इहि) गच्छ (यतः) यस्मात् स्थानात् (पयथ) आङ्+इण् गतौ—लिट्। पयेथ। आगतवती त्वम् (यः त्वा, चकार, तम् प्रति) ॥

२९—(अनागोहत्या) अनपराधिनो घातः (वै) अवश्यम् (भीमा) भयावहा (कृत्ये) हे हिंसाक्रिये (नः) अस्माकम् (गाम्, अश्वम्, पुरुषम्) (मा वधीः) मा हिंसीः (यत्रयत्र) यस्मिंश्चित् स्थाने (असि) (निहिता) गुप्तं स्थापिता (ततः) (त्वा) (उत् स्थापयामसि) उत्थापयामः (पर्णात्) तरुपत्रात् (लघीयसी) लघुतरा (भव) ॥

यदि । स्थ । तमसा । आ-वृता । जालेन । अभिहिताः-इव ॥ सर्वाः । सम्-लुप्य । इतः । कृत्याः । पुनः । कर्त्रे । प्र । हिण्मसि ३०

भाषार्थ—(यदि) जो तुम (तमसा) अन्धकार से (आवृता) ढक-लेने वाले (जालेन) जाल से (अभिहिताः इव) बन्धी हुई के समान (स्थ) हो । (इतः) यहां से (सर्वाः) सब (कृत्याः) हिंसा क्रियाओं को (संलुप्य) काट डालकर (पुनः) फिर (कर्त्रे) बनाने के पास (प्र हिण्मसि) हम भेजे देते हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो छली मनुष्य दीन अज्ञानियों को फांसकर उनसे अपराध करावें, राजा खोज करके उन बहकाने वालों को उचित दण्ड देवे ॥ ३० ॥

कृत्याकृतो वलगिनोऽभिनिष्कारिणः प्रजाम् ।
मृणीहि कृत्ये मोच्छिषोऽमून् कृत्याकृतो जहि ॥ ३१ ॥

कृत्या-कृतः । वलगिनः । अभि-निष्कारिणः । प्र-जाम् ॥ मृणीहि । कृत्ये । मा । उत् । शिषः । अमून् । कृत्या-कृतः । जहि ३१

भाषार्थ—(कृत्ये) हे कर्तव्य कुशल [सेना !] (कृत्याकृतः) हिंसा करने वाले (वलगिनः) गुप्त कर्म करने वाले और (अभिनिष्कारिणः) विरुद्ध यत्न करने वाले की (प्रजाम्) प्रजा [सेवक आदि] को (मृणीहि) मार डाल, (मा उत् शिषः) मत छोड़, (अमून्) उन (कृत्याकृतः) हिंसा करने वालों को (जहि) नाश कर ॥ ३१ ॥

३०—(यदि, स्थ) (तमसा) अन्धकारेण (आवृता) वृणोतेः—क्विप् तुक् च । आवरकेण (जालेन) पाशेन (अभिहिताः) बद्धाः (इव) (सर्वाः) (संलुप्य) सम्यक् छित्वा (कृत्याः) दोषक्रियाः (इतः) अस्मात् स्थानात् (पुनः) पश्चात् (कर्त्रे) रचयित्रे पुरुषाय (प्र हिण्मसि) प्रेरयामः ॥

३१—(कृत्याकृतः) मं० २ । हिंसाकारकस्य (वलगिनः) अ० ५ । ३१ । १२ । गुप्तकर्मकारिणः (अभिनिष्कारिणः) प्रतिकूलयत्नसाधकस्य (प्रजाम्) भृत्यादिरूपाम् (मृणीहि) मारय (कृत्ये) करोतेः क्यप् तुक् च, ततः अर्श-आद्यच्, टाप्, तत्सम्बुद्धौ । हे कृत्ये कर्तव्ये कुशले सेने प्रजे वा (अमून्) (कृत्या-कृतः) हिंसाकारकान् (जहि) नाशय ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति अपनी सुशिक्षित सेना द्वारा शत्रुओं को दल बल सहित नाश करदे ॥ ३१ ॥

यथा सूर्यो मुच्यते तमसस्परि रात्रिं जहात्युषसश्च केतून् । एवाहं सर्वं दुर्भूतं कर्त्रं कृत्याकृता कृतं हस्तीव रजो दुरितं जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

यथा । सूर्यः । मुच्यते । तमसः । परि । रात्रिम् । जहाति । उषसः । च । केतून् ॥ एव । अहम् । सर्वम् । दुः-भूतम् । कर्त्रम् । कृत्या-कृता । कृतम् । हस्ती-इव । रजः । दुः-इतम् । जहामि ॥ ३२ ॥ (३)

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (तमसः परि) अन्धकार में से (मुच्यते) छुटता है और (रात्रिम्) (च) और (उषसः) उषा [प्रभात समय] के (केतून्) चिह्नों को (जहाति) त्यागता है। (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (कृत्याकृता) हिंसा करने वाले करके (कृतम्) किये हुये (सर्वम्) सब (दुर्भूतम्) दुष्ट (कर्त्रम्) कर्म को (जहामि) त्यागता हूं; (इव) जैसे (हस्ती) हाथी (दुरितम्) कठिन (रजः) देश को [पार कर जाता है] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि अपनी तीव्र बुद्धि द्वारा दुष्टों की दुष्टता से पार होकर प्रकाशमान और प्रसन्न होवे, जैसे सूर्य अन्धकार को हटाकर प्रकाशमान होता है, अथवा जैसे हाथी कठिन स्थानों को पार कर जाता है ॥ ३२ ॥

३२—(यथा, सूर्यः) (मुच्यते) त्यज्यते (तमसः) अन्धकारात् (परि) पृथक् (रात्रिम्) (जहाति) त्यजति (उषसः) प्रभातवेलायाः (च) (केतून्) चिह्नानि (एव) तथा (अहम्) (सर्वम्) (दुर्भूतम्) दुष्टम् (कर्त्रम्) करोतेः ष्ट्रन्। कर्म (कृत्याकृता) म० २। हिंसाकारिणा (कृतम्) निष्पादितम् (हस्ती, इव) (रजः) लोकम्-निरु० ४। १९। देशम् (दुरितम्) दुर्गमनीयम् (जहामि) त्यजामि ॥

सूक्तम् २ ॥

१—३३ ॥ प्रजापतिर्ब्रह्म वा देवता ॥ १-३, ७, ८ त्रिष्टुप्, ४ निचृत् त्रिष्टुप्; ५, ६, १०, १२—२७, २६—३२ अनुष्टुप्; ६ निचृज् जगती; ११ जगती; २८ बृहती; ३३ निचृदनुष्टुप् ॥

मनुष्यशरीरमहिमोपदेशः—मनुष्य शरीर की महिमा का उपदेश ॥

केन॒ पार्ष्णी॒ आभृ॑ते॒ पूरु॑षस्य॒ केन॑ मां॒सं संभृ॑तं॒ केन॑ गु॒ल्फौ । केना॒ङ्गुली॒: पेश॑नी॒: केन॒ खानि॒ केनो॑च्छ्ल॒ङ्खौ म॑ध्य॒तः कः प्र॑ति॒ष्ठाम् ॥ १ ॥

केन॑ । पार्ष्णी॒ इति॑ । आभृ॑ते । पुरु॑षस्य । केन॑ । मां॒सम् । सम्-भृ॑तम् । केन॑ । गु॒ल्फौ । केन॑ । अ॒ङ्गुली॑: । पेश॑नीः । केन॑ । खानि॑ । केन॑ । उ॒त्-श्ल॒ङ्खौ । म॒ध्य॒तः । कः । प्र॒ति॒-स्थाम् ॥१॥

भाषार्थ—(केन) किस करके (पुरुषस्य) मनुष्य की (पार्ष्णी) दोनों एड़ियां (आभृते) पुष्ट की गयीं; (केन) किस करके (मांसम्) मांस (संभृतम्) जोड़ा गया, (केन) किस करके (गुल्फौ) दोनों टकने। (केन) किस करके (पेशनीः) सुन्दर अवयवों वाली (अङ्गुलीः) अङ्गुलियां, (केन) किस करके (खानि) इन्द्रियां, (केन) किस करके (उच्छ्लङ्खौ) दोनों उच्छ्लङ्ख [पांव के तलवे, जोड़े गये], (कः) किस ने [भूगोल के] (मध्यतः) बीचो बीच (प्रतिष्ठाम्) ठिकाना [पांव रखने को, बनाया] ॥ १ ॥

१—(केन) प्रश्ने (पार्ष्णी) अ० २ । ३३ । ५ । गुल्फस्याधोभागौ (आभृते) सम्यक् पोषिते (पुरुषस्य) अ० १ । १६ । ४ । मनुष्यस्य (केन) (मांसम्) शरीरधातुविशेषः (संभृतम्) संयोजितम् (केन) (गुल्फौ) कलिगलिभ्यां फगस्योच्च । उ० ५ । २६ । गल अदने—फक्, अकारस्य उत्वम् । पादग्रन्थी (केन) (अङ्गुलीः) अङ्गुलयः (पेशनीः) पिश अवयवे-ल्युट्, ङीप् । पेशन्यः । उत्तमावयवयुक्ताः (केन) (खानि) खन विदारे-ड । छिद्राणि । इन्द्रियाणि (केन) (उच्छ्लङ्खौ) उत्+श्लकि गतौ-अच् । कस्य खः । द्वे पादतले (मध्यतः) भूगोलमध्य इत्यर्थः (कः) (प्रतिष्ठाम्) (पादाश्रयम्, चकारेतिशेषः ॥

भावार्थ—मन्त्र १-४ प्रश्न हैं। जिज्ञासु सदा खोजता रहे कि मनुष्य का अद्भुत शरीर, अद्भुत अंग, और स्थान आदि किस अद्भुत स्वरूप ने बनाये हैं ॥ १ ॥

कस्मान्नु गुल्फावधरावकृण्वन्नष्ठीवन्तावुत्तरौ पूरुषस्य। जङ्घे निर्ऋत्य न्यदधुः क्व स्विज्जानुनोः संधी क उ तच्चिकेत ॥२॥

कस्मात्। नु। गुल्फौ। अधरौ। अकृण्वन्। अष्ठीवन्तौ। उत्-तरौ। पुरुषस्य ॥ जङ्घे इति। निः-ऋत्य। नि। अदधुः। क्व। स्वित्। जानुनोः। संधी इति सम्-धी। कः। ऊं इति। तत्। चिकेत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कस्मात) किस [पदार्थ] से (नु) अब (पुरुषस्य) मनुष्य के (अधरौ) नीचे के (गुल्फौ) दोनों टकने और (उत्तरौ) ऊपर के (अष्ठीवन्तौ) दोनों घुटने (अकृण्वन्) उन [ईश्वर गुणों] ने बनाये हैं। (जङ्घे) दोनों टांगों को (निर्ऋत्य) अलग अलग करके (क स्वित्) किसके भीतर (जानुनोः) दोनों घुटनों के (संधी) दोनों जोड़ों को (नि अदधुः) उन्हों ने जमाया, (कः उ) किस ने ही (तत्) उसे (चिकेत) जाना है ॥ २ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि किस वस्तु से, किस बुद्धिमत्ता से, किस ने मनुष्य देह के अद्भुत अंगों को एक दूसरे में जोड़ा है ॥ २ ॥

२—(कस्मात्) पदार्थात् (नु) इदानीम् (गुल्फौ) म० १। पाद—ग्रन्थी (अधरौ) निम्नौ (अकृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः। ते परमेश्वरगुणाः कृतवन्तः (अष्ठीवन्तौ) अ० २। ३३। ५। जान्वोः सन्धिस्थाने (उत्तरौ) उपरिभवौ (पुरुषस्य) म०१ (जङ्घे) अ० । ४। ११। १०। गुल्फजान्वोरन्तरालौ अवयवौ (निर्ऋत्य) निर् + ऋ गतौ—ल्यप्। निर्गम्य (नि) दृढम् (अदधुः) धृतवन्तः (क स्वित्) कुत्रचित् (जानुनोः) अ०६। ८। २१। जङ्घोपरिभागयोः (सन्धी) ग्रन्थी (कः) कश्चित् (उ) एव (तत्) प्रयोजनम् (चिकेत) ज्ञानवान् ॥

चतुष्टयं युज्यते संहितान्तं जानुभ्यामूर्ध्वं शिथिरं कबन्धम् ।
श्रोणी यदूरू क उ तज्जजान याभ्यां कुसिन्धं सुदृढं बभूव ॥३॥

चतुष्टयम् । युज्यते । संहित-अन्तम् । जानु-भ्याम् । ऊर्ध्वम् । शिथिरम् । कबन्धम् ॥ श्रोणी इति । यत् । ऊरू इति । कः । ऊं इति । तत् । जजान । याभ्याम् । कुसिन्धम् । सु-दृढम् । बभूव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(चतुष्टयम्) चार प्रकार से (संहितान्तम्) सटे हुये सिरों वाला, (जानुभ्याम् ऊर्ध्वम्) दोनों घुटनों से ऊपर, (शिथिरम्) शिथिर [ढीला] (कबन्धम्) धड़ (युज्यते) जुड़ता है । (यत्) जो (श्रोणी) दोनों कूल्हे और (ऊरू) दोनों जांघें हैं, (कः उ) किसने ही (तत्) उनको (जजान) उत्पन्न किया, (याभ्याम्) जिन दोनों के साथ (कुसिन्धम्) [चिपचिपा] धड़ (सुदृढम्) बड़ा दृढ़ (बभूव) हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि चार अर्थात् दोनों कूल्हे और दोनों जांघों पर जमे हुये जल वा रुधिर आदि रसों से संयुक्त इस ढीले ढीले शरीर को अनेक नाडियों में कसकर किसने ऐसा दृढ़ बनाया है ॥ ३ ॥

कति देवाः कतमे त आसन् य उरो ग्रीवाश्चिक्युः पूरुषस्य ।

३—(चतुष्टयम) संख्याया अवयवे तयप् । पा० ५ । २ । ४२ । चतुर्—तयप्, रेफस्य विसर्गे सत्वे च कृते। ह्रस्वात्तादौ तद्धिते । पा० ८ । ३ । १०१ । इति षत्वम् । चतुरवयवयुक्तम् (युज्यते) (संहितान्तम्) संधृतप्रान्तम् (जानुभ्याम्) जङ्घोपरिभागाभ्यां सह (ऊर्ध्वम्) (शिथिरम्) अजिरशिशिरशिथिल०। उ०१।५३। श्रथ मोचने—किरच्, उपधाया इत्वम्, रेफस्य लोपः । अदृढम् (कबन्धम्) अ० ६ । ४ । ३ । उदरं शरीरम् (श्रोणी) अ० २ । ३३ । ५ । कटिप्रदेशौ (यत्) ये द्वे (ऊरू) अ० २ । ३३ । ५ । जङ्घे (कः) प्रश्ने (उ) एव (तत्) ते द्वे (जजान) उत्पादयामास (याभ्याम्) (कुसिन्धम्) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । कुस श्लेषणे—इन्, कित्+दधातेः—क, अलुक् समासः । श्लेषधारकं देहम् (सुदृढम्) (बभूव) ॥

कति स्तनौ व्यदधुः कः कफोडौ कति स्कन्धान् कति पृष्टी-रचिन्वन् ॥ ४ ॥

कति । देवाः । कतमे । ते । आसन् । ये । उरः । ग्रीवाः । चिक्युः । पुरुषस्य ॥ कति । स्तनौ । वि । अदधुः । कः । कफोडौ । कति । स्कन्धान् । कति । पृष्टीः । अचिन्वन् ॥ ४ ॥

भाषार्थ (ते) वे (कति) कितने और (कतमे) कौन से (देवाः)दिव्य गुण (आसन्) थे, (ये) जिन्होंने (पुरुषस्य) मनुष्य के (उरः) छाती और (ग्रीवाः) गले को (चिक्युः) एकत्र किया। (कति) कितनों ने (स्तनौ) दोनों स्तनों को (वि अदधुः) बनाया, (कः) किसने (कफोडौ) दोनों कपोलों [गालों] को [बनाया], (कति) कितनों ने (स्कन्धान्) कन्धों को और (कति) कितनों ने (पृष्टीः) पसलियों को (अचिन्वन्) एकत्र किया ॥ ४ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि कितने और किन गुणों के कारण से छाती ग्रीवा आदि अवयवों में अद्भुत गुण रक्खे गये हैं ॥ ४ ॥

को अस्य बाहू समभरद् वीर्यं करवादिति ।
अंसौ को अस्य तद् देवः कुसिन्धे अध्या दधौ ॥ ५ ॥

कः । अस्य । बाहू इति । सम् । अभरत् । वीर्यम् । करवात् । इति ॥ अंसौ । कः । अस्य । तत् । देवः । कुसिन्धे । अधि । आ । दधौ ॥ ५ ॥

४—(कति) कियन्तः । किंपरिमाणाः (देवाः) दिव्यगुणाः (कतमे) बहूनां मध्ये के (ते) (आसन्) (ये) (उरः) हृदयम् (ग्रीवाः) गलावयवान् (चिक्युः) संचितवन्तः (पुरुषस्य) (कति) (स्तनौ) (व्यदधुः) अकार्षुः (कः) प्रश्ने (कफोडौ) कपिगडिगण्डि० । उ० १ । ६६ । कपि चलने—ओलच् । पस्य फः, लस्य डः । कपोलौ । गल्लौ (कति) (स्कन्धान्) अंसान् (कति) (पृष्टीः) अ० ४ । ३ । ६ । पार्श्वास्थीनि (अचिन्वन्) संचितवन्तः ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [परमेश्वर] ने (अस्य) इस [मनुष्य] के (बाहू) दोनों भुजाओं को [इस लिये] (सम् अभरत्) यथावत् पुष्ट किया है—कि वह (वीर्यम्) वीर कर्म (करवात् इति) करता रहे। (तत्) इसी लिये (देवः) प्रकाशमान (कः) प्रजापति ने (अस्य) इस [मनुष्य] के (अंसौ) दोनों कन्धों को (कुसिन्धे) धड़ में (अधि) ऐश्वर्य से (आ) यथावत् (दधौ) धारण कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—यहां से गत मन्त्रों का उत्तर है—सृष्टि कर्ता परमेश्वर ने इस मनुष्य को भुजा आदि अमूल्य अंग पुरुषार्थ करने के लिये दिये हैं ॥ ५ ॥

कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम् ॥ ६ ॥

कः। सप्त। खानि। वि। ततर्द। शीर्षणि। कर्णौ। इमौ। नासिके इति। चक्षणी इति। मुखम् ॥ येषाम्। पुरु-त्रा। वि-जयस्य। मह्मनि। चतुः-पादः। द्वि-पदः। यन्ति। यामम् ६

भाषार्थ—(कः) कर्त्ता [परमेश्वर] ने [मनुष्य के] (शीर्षणि) मस्तक में (सप्त) सात (खानि) गोलक (वि ततर्द) खोदे, (इमौ कर्णौ)

५—(कः) अ० ७। १०३। १। अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। डु कृञ् करणे—ड। मारुते वेधसि ब्रध्ने पुंसि कः कं शिरोऽम्बुनोः—इत्यमरः, व० २३। ५। कर्ता। विधाता। प्रजापतिः (अस्य) मनुष्यस्य (बाहू) भुजौ (सम्) सम्यक् (अभरत्) अपोषयत् (वीर्यम्) वीरकर्म। पराक्रमम् (करवात्) कुर्यात् (इति) वाक्यसमाप्तौ (अंसौ) स्कन्धौ (कः) (अस्य) (तत्) तस्मात् (देवः) प्रकाशमानः (कुसिन्धे) म० ३। देहे (अधि) ऐश्वर्येण (आ) समन्तात् (दधौ) धारितवान् ॥

६—(कः) म० ५। कर्ता। जगदीश्वरः (सप्त) (खानि) म० १। छिद्राणि (वि ततर्द) तर्द हिंसायाम्। विदारितवान् (शीर्षणि) शिरसि (कर्णौ) (इमौ) (नासिके) नासाछिद्रे (चक्षणी) अर्तिसृधृ०। उ० २।

यह दोनों कान, (नासिके) दोनों नथने, (चक्षणी) दोनों आंखें और (मुखम्) एक मुख। (येषाम्) जिनके (विजयस्य) विजय की (मह्नानि) महिमा में (चतुष्पादः) चौपाये और (द्विपदः) दोपाये जीव (पुरुत्रा) अनेक प्रकार से (यामम्) मार्ग (यन्ति) चलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—कर्ता जगदीश्वर ने मस्तक के सातो गोलक अमूल्य पदार्थ बनाये हैं। जो प्राणी जितेन्द्रिय होकर इनको वेद विहित कर्मों में लगाते हैं वे सुखी होते हैं ॥ ६ ॥

हन्वोर्हि जिह्वामदधात् पुरूचीमधा महीमधि शिश्राय वाचम्।
स आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तरपो वसानः क उ तच्चिकेत ॥ ७ ॥

हन्वोः। हि। जिह्वाम्। अदधात्। पुरूचीम्। अध। महीम्। अधि। शिश्राय। वाचम् ॥ सः। आ। वरीवर्ति। भुवनेषु। अन्तः। अपः। वसानः। कः। ऊं इति। तत्। चिकेत ॥७॥

भावार्थ—उसने (हि) ही [मनुष्य के](हन्वोः) दोनों जावड़ों में (पुरूचीम्) बहुत चलने वाली (जिह्वाम्) जीभ को (अदधात्) धारण किया है, (अध) और [जीभ में] (महीम्) बड़ी [प्रभावशाली] (वाचम्) वाणी को (अधि शिश्राय) उपयुक्त किया है। (सः) वह (लोकेषु अन्तः) लोकों के

१०२। चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—अनि। चक्षुषी (मुखम्) (येषाम्) (पुरुत्रा) बहुविधम् (विजयस्य) (मह्नानि) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। मह पूजायाम्—मनिन्। महत्त्वे (चतुष्पादः) गवाश्वादयः पशवः (द्विपदः) पक्षिमनुष्यादयः (यन्ति) गच्छन्ति (यामम्) अर्तिस्तुसुहुसृधृ०। उ० १। १४०। या प्रापणे—मन्। मार्गम् ॥

७—(हन्वोः) कपोलावयवविशेषयोर्मध्ये (हि) एव (जिह्वाम्) रसनाम् (अदधात्) (पुरूचीम्) अ० २। १३। ३। बहुगमनाम् (महीम्) प्रभावशीलाम् (अधि शिश्राय) उपयुक्तवान् (वाचम्) वाणीम् (सः) परमेश्वरः (आ) समन्तात् (वरीवर्ति) वर्ततेर्यङ्लुकि। भृशं भ्रमति (भुवनेषु) लोकेषु

भीतर (आ) सब ओर (वरीवर्ति) घूमता रहता है और (अपः) आकाश को (वसानः) ढकते हुये (कः उ) कर्ता परमेश्वर ने ही (तत्) उसे (चिकेत) जाना है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस सृष्टिकर्ता ने मनुष्य को वेद आदि शास्त्रों के सूक्ष्म विचार जानने और प्रकाश करने के लिये जीभ दी है, वह परमात्मा सब स्थानों में व्यापक है ॥७॥

मस्तिष्कमस्य यतमो ललाटं ककाटिकां प्रथमो यः कपालम् ॥ चित्वा चित्यं हन्वोः पूरुषस्य दिवं रुरोह कतमः स देवः ॥८॥

मस्तिष्कम् । अस्य । यतमः । ललाटम् । ककाटिकाम् । प्रथमः । यः । कपालम् ॥ चित्वा । चित्यम् । हन्वोः । पुरुषस्य । दिवम् । रुरोह । कतमः । सः । देवः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यतमः) जौनसा (प्रथमः) सब से पहिला (यः) नियन्ता (अस्य) इस (पुरुषस्य) मनुष्य के (मस्तिष्कम्) भेजे को, (ललाटम्) ललाट [माथे] को, (ककाटिकाम्) ककाटिका [शिर के पिछले भाग] को, (कपालम्) कपाल [खोपड़ी] को और (हन्वोः) दोनों जावड़ों के (चित्यम्) संचय को (चित्वा) संचय करके [वर्तमान है], (सः) वह (कतमः) कौन सा (देवः) देव [स्तुति योग्य] (दिवम्) प्रकाश को (रुरोह) चढ़ा है ॥ ८ ॥

(अन्तः) मध्ये (अपः) आपः = अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ । आकाशम् (वसानः) आच्छादयन् (कः) म० ५ । कर्ता (उ) एव (तत्) (चिकेत) जज्ञौ ॥

८—(मस्तिष्कम्) अ० २ । ३३ । १ । मस्तकस्नेहम् (अस्य) मनुष्यस्य (यतमः) बहूनां मध्ये यः (ललाटम्) अ० ६ । ७ । १ । भ्रुवोरूर्ध्वभागम् । भालम् (ककाटिकाम्) क+कट गतौ—घञ् , स्वार्थे कप्रत्ययः, टाप्, अकारस्य इत्वम् । के शिरसि काटो गतिर्यस्याः ककाटिका ताम् । शिरःपश्चाद्भागम् (प्रथमः) (यः) यम्-ड । नियन्ता (कपालम्) अ० ६ । ८ । २२ । शरोऽस्थि (चित्वा) चयनं कृत्वा (चित्यम्) चिञ् चयने—क्यप् , तुक् । चयनम् (हन्वोः) म० ७ । (पुरुषस्य) मनुष्यस्य (दिवम्) प्रकाशम् (रुरोह) आरूढवान् (कतमः) बहूनां मध्ये कः (सः) (देवः) स्तुत्यः ॥

भावार्थ—प्रश्न है कि जिसने मनुष्य देह के अति सुखदायी अंग बनाये हैं, वह सब में कौन सा प्रकाशमान देव है ॥ ८ ॥

प्रियाप्रियाणि बहुला स्वप्नं संबाधतन्द्र्यः ।
आनन्दानुग्रो नन्दांश्च कस्माद् वहति पूरुषः ॥ ९ ॥

प्रिय-अप्रियाणि । बहुला । स्वप्नम् । संबाध-तन्द्र्यः ॥ आ-नन्दान् । उग्रः । नन्दान् । च । कस्मात् । वहति । पुरुषः ॥९॥

भाषार्थ—(बहुला) बहुत से (प्रियाप्रियाणि) प्रिय और अप्रिय कर्मों, (स्वप्नम्) सोने, (संबाधतन्द्र्यः) बाधाओं और थकावटों, (आनन्दान्) आनन्दों, (च) और (नन्दान्) हर्षों को (उग्रः) प्रचण्ड (पुरुषः) मनुष्य (कस्मात्) किस [कारण] से (वहति) पाता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—अब प्रश्न है कि भलाई बुराई, सुख दुःख आदि मनुष्य किस कारण से पाता है ॥ ९ ॥

आर्तिरवर्तिर्निर्ऋतिः कुतो नु पुरुषेऽमतिः ।
राद्धिः समृद्धिरव्यृद्धिर्मतिरुदितयः कुतः ॥ १० ॥ (४)

आर्तिः । अवर्तिः । निः-ऋतिः । कुतः । नु । पुरुषे । अमतिः ॥ राद्धिः । सम्-ऋद्धिः । अवि-ऋद्धिः । मतिः । उत्-इतयः । कुतः ।१०(४)

भाषार्थ—(पुरुषे) मनुष्य में (नु) अब (आर्तिः) पीड़ा, (अवर्तिः)

९—(प्रियाप्रियाणि) हिताहितानि कर्माणि (बहुला) बहूनि (स्वप्नम्) निद्राम् (संबाधतन्द्र्यः) बाधृ प्रतिघाते-घञ् । वङ्क्यादयश्च । उ० ४ । ६६ । तदि मोहे—क्रिन्, ङीप्, यद्वा, तद्रि अवसादे मोहे च—इन्, ङीष् । द्वितीयास्थाने प्रथमा । प्रतिरोधान् आलस्यान् च (आनन्दान्) प्रमोदान् (उग्रः) प्रचण्डः (नन्दान्) हर्षान् (च) (कस्मात्) कारणात् (वहति) प्राप्नोति (पुरुषः) मनुष्यः ॥

१०—(आर्तिः) अ० ३ । ३१ । २ । पीडा (अवर्तिः) अ० ४ । ३४ । ३ । दरिद्रता (निर्ऋतिः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ (कुतः)

दरिद्रता, (निर्ऋतिः) महामारी और (अमतिः) कुमति (कुतः) कहां से [हैं] । (राद्धिः) पूर्णता, (समृद्धिः) सम्पत्ति, (अव्यृद्धिः) अन्यूनता, (मतिः) बुद्धि और (उदितयः) उदय क्रियायें (कुतः) कहां से [हैं] ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य अपने दुःख सुख, हानि लाभ, कुमति सुमति आदि के कारणों को विचारता रहे ॥ १० ॥

को अस्मिन्नापो व्यदधाद् विषूवृतः पुरूवृतः सिन्धुसृत्याय जाताः । तीव्रा अरुणा लोहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः ॥ ११ ॥

कः । अस्मिन् । आपः । वि । अदधात् । विषु-वृतः । पुरु-वृतः । सिन्धु-सृत्याय । जाताः ॥ तीव्राः । अरुणाः । लोहिनीः । ताम्रधूम्राः । ऊर्ध्वाः । अवाचीः । पुरुषे । तिरश्चीः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(कः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (अस्मिन् पुरुषे) इस मनुष्य में (विषुवृतः) नाना प्रकार घूमने वाले, (पुरुवृतः) बहुत घूमने वाले, (सिन्धुसृत्याय) समुद्र समान बहने के लिये (जाताः) उत्पन्न हुये, (तीव्राः) तीव्र [शीघ्रगामी], (अरुणाः) बैंगनी, (लोहिनीः) लाल वर्णवाले (ताम्रधूम्राः) तांबे समान धूयें के वर्ण वाले, (ऊर्ध्वाः) ऊपर जानेवाले, (अवाचीः)

कस्मात् स्थानात् (नु) सम्प्रति (पुरुषे) मनुष्ये (अमतिः) दुर्मतिः (राद्धिः) राध संसिद्धौ—क्तिन् । संसिद्धिः । पूर्णता (समृद्धिः) सम्पत्तिः (अव्यृद्धिः) ऋद्धिर्वृद्धिः, विगता ऋद्धिर्व्यृद्धिर्न्यूनता, न व्यृद्धिः अन्यूनता (मतिः) बुद्धि (उदितयः) उत्+इण् गतौ—क्तिन् । उदयक्रियाः (कुतः) ॥

११—(कः) म० ५ । कर्ता प्रजापतिः (अस्मिन्) (आपः) अपः । जलानि रुधिररूपाणि (व्यदधात्) कृतवान् (विषुवृतः) नानारूपेण वर्तमानाः (पुरुवृतः) बहुवर्तनशीलाः (सिन्धुसृत्याय) सृ गतौ—क्यप्, तुक् । समुद्रवद् गमनाय (जाताः) उत्पन्नाः (तीव्राः) शीघ्रगतीः (अरुणाः) कृष्णमिश्रितरक्तवर्णाः (लोहिनीः) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । लोहित–

नीचे की ओर चलने वाले और (तिरश्चीः) तिरछे बहने वाले (आपः=अपः) जलों [रुधिर धाराओं] को (वि अदधात्) बनाया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य शरीर में रुधिर के सञ्चार के लिये नाना वर्ण अनेक स्थूल सूक्ष्म नाड़ियां बनाई हैं जिसके कारण से मनुष्य अनेक चेष्टायें करके अपने मनोरथ सिद्ध करता है ॥ ११ ॥

को अ॒स्मिन् रू॒पम॑दधा॒त् को म॒ह्मानं॑ च॒ नाम॑ च ।
गा॒तुं को अ॒स्मिन् कः के॒तुं कश्च॒रित्रा॑णि॒ पूरु॑षे ॥ १२ ॥

कः । अ॒स्मिन् । रू॒पम् । अ॒द॒धा॒त् । कः । म॒ह्मान॑म् । च॒ । नाम॑ । च॒ ॥ गा॒तुम् । कः । अ॒स्मिन् । कः । के॒तुम् । कः । च॒रित्रा॑णि । पुरु॑षे ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [परमेश्वर] ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (रूपम्) रूप, (कः) कर्ता ने (मह्मानम्) महत्त्व (च) और (नाम) नाम (च) भी (अदधात्) रक्खा है, (कः) कर्ता ने (अस्मिन्) इस (पुरुषे) मनुष्य में (गातुम्) गति [प्रवृत्ति], (कः) कर्ता ने (केतुम्) विज्ञान (च) और (चरित्राणि) अनेक आचरणों को [रक्खा है] ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी न्याय व्यवस्था से मनुष्य में पराक्रम करने के लिये अनेक शक्तियां दी हैं ॥ १२ ॥

को अ॒स्मिन् प्रा॒णम॑वयत् को अ॒पा॒नं व्या॒नमु॑ ।
स॒मा॒नम॒स्मिन् को दे॒वोऽधि॑ शिश्राय॒ पूरु॑षे ॥ १३ ॥

ङीप्, तस्य नश्च । रक्तवर्णाः (ताम्रधूम्राः) ताम्रधूम्रवर्णाः (ऊर्ध्वाः) उपरिगतीः (अवाचीः) अधोगतिशीलाः (पुरुषे) मनुष्ये (तिरश्चीः) तिर्यग्गतियुक्ताः ॥

१२—(कः) म० ५ । कर्ता वेधाः (मह्मानम्) म० ६ । महत्त्वम् (गातुम्) गतिम् । प्रवृत्तिम् (केतुम्) विज्ञानम् (चरित्राणि) आचरणानि (पुरुषे) मनुष्ये । अन्यत् सरलम् ॥

कः । अस्मिन् । प्राणम् । अवयत् । कः । अपानम् । वि-आ-नम् । ऊं इति ॥ सम्-आनम् । अस्मिन् । कः । देवः । अधि । शिश्राय । पुरुषे ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [प्रजापति] ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (प्राणम्) प्राण [भीतर जाने वाले श्वास] को, (कः) प्रजापति ने (अपानम्) अपान [बाहिर आने वाले श्वास] को (उ) और (व्यानम्) व्यान [सब शरीर में घूमने वाले वायु] को (अवयत्) बुना है। (देवः) देव [स्तुति योग्य] (कः) प्रजापति ने (अस्मिन्) इस (पुरुषे) मनुष्य में (समानम्) समान [हृदयस्थ वायु] को (अधि शिश्राय) ठहराया है ॥ १३॥

भावार्थ—परमेश्वर ने शरीर में प्राण आदि वायु का ताना तानकर मनुष्य को प्रबल बनाया है ॥ १३ ॥

को अस्मिन् यज्ञमदधादेको देवोऽधि पूरुषे ।
को अस्मिन्त्सत्यं कोऽनृतं कुतो मृत्युः कुतोऽमृतम् ॥ १४ ॥

कः । अस्मिन् । यज्ञम् । अदधात् । एकः । देवः । अधि । पुरुषे ॥ कः । अस्मिन् । सत्यम् । कः । अनृतम् । कुतः । मृत्युः । कुतः । अमृतम् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(कः) किस (एकः) एक (देवः) देव [स्तुति योग्य] ने (अस्मिन् पुरुषे) इस मनुष्य में (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और

१३—(कः) म० ५। कर्ता। प्रजापतिः (अस्मिन्) मनुष्ये (प्राणम्) अ० २। १६। १। प्र+अन जीवने-घञ्। अन्तर्मुखश्वासम् (अवयत) वेञ् तन्तुसन्ताने-लङ्। तन्तुवत् प्रसारितवान् (कः) (अपानम्) वहिर्मुखश्वासम् (व्यानम्) वि+अन-घञ्। सर्वशरीरव्यापकं वायुम् (उ) अपि (समानम्) हृदयस्थवायुम् (अस्मिन्) (कः) (देवः) स्तुत्यः (अधि शिश्राय) आश्रितवान्। स्थापितवान् (पुरुषे) मनुष्ये ॥

१४—(कः) प्रश्ने (अस्मिन्) (यज्ञम्) देवपूजासङ्गतिकरणदानसामर्थ्यम् (अदधात्) धृतवान् (एकः) (देवः) स्तुत्यः (अधि) (पुरुषे) मनुष्ये

दान सामर्थ्य] को, (कः) किस ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (सत्यम्) सत्य [विधि] को, (कः) किस ने (अनृतम्) असत्य [निषेध] को (अधि अदधात्) रख दिया है। (कुतः) कहां से (मृत्युः) मृत्यु और (कुतः) कहां से (अमृतम्) अमरपन [आता है] ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विधि और निषेध के मर्म को समझकर शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाने में प्रयत्न करे ॥ १४ ॥

को अ॒स्मै॒ वासः॒ पर्य॑दधा॒त् को अ॒स्यायु॑रकल्पयत् ।
बलं॒ को अ॒स्मै॒ प्राय॑च्छ॒त् को अ॒स्याक॑ल्पयज्ज॒वम् ॥ १५ ॥

कः । अ॒स्मै॒ । वासः॑ । परि॑ । अ॒द॒धा॒त् । कः । अ॒स्य॒ । आयुः॑ । अ॒क॒ल्प॒य॒त् ॥ बल॑म् । कः । अ॒स्मै॒ । प्र । अ॒य॒च्छ॒त् । कः । अ॒स्य॒ । अ॒क॒ल्प॒य॒त् । ज॒वम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(कः) विधाता [परमेश्वर] ने (अस्मै) इस [मनुष्य] को (वासः) निवास स्थान (परि) सब ओर से (अदधात्) दिया है, (कः) विधाता ने (अस्य) इस [मनुष्य] का (आयुः) आयु [जीवन काल] (अकल्पयत्) बनाया है । (कः) विधाता ने (अस्मै) इस [मनुष्य] को (बलम्) बल (प्र अयच्छत्) दिया है, (कः) विधाता ने (अस्य) इस [मनुष्य] के (जवम्) वेग को (अकल्पयत्) रचा है ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य के पुरुषार्थ अनुसार उसे उन्नति के अनेक साधन दिये हैं ॥ १५ ॥

(कः) (अस्मिन्) (सत्यम्) वेदविहितं कर्म (कः) (अनृतम्) वेदनिषिद्धं कर्म (कुतः) कस्मात् स्थानात् (मृत्युः) मरणम् (कुतः) (अमृतम्) अमरणम् ॥

१५—(कः) म० ५ । विधाता (अस्मै) मनुष्याय (वासः) वसेर्णित् । उ० ४ । ११८ । वस निवासे आच्छादने च-असुन्, णित् । निवासस्थानम् । वस्त्रम् (परि) सर्वतः (अदधात्) धृतवान् (कः) (अस्य) मनुष्यस्य (आयुः) जीवन कालम् (अकल्पयत्) रचितवान् (बलम्) सामर्थ्यम् (कः) परमेश्वरः (प्रायच्छत्) दत्तवान् (कः) (अस्य) (अकल्पयत्) (जवम्) वेगम् ॥

केनापो अन्वतनुत केनाहरकरोद् रुचे ।
उषसं केनान्वैन्द्ध केन सायंभवं ददे ॥ १६ ॥

केन । आपः । अनु । अतनुत । केन । अहः । अकरोत् । रुचे ॥
उषसम् । केन । अनु । ऐन्द्ध । केन । सायम्-भवम् । ददे ॥१६॥

भाषार्थ—(केन) किस [सामर्थ्य] से उस [परमेश्वर] ने (आपः) जल को (अनु) लगातार (अतनुत) फैलाया है, (केन) किस [सामर्थ्य] से (अहः) दिन (रुचे) चमकने के लिये (अकरोत्) बनाया है। (केन) किस [सामर्थ्य] से उसने (उषसम्) प्रभात को (अनु) लगातार (ऐन्द्ध) चमकाया है, (केन) किस [सामर्थ्य] से उसने (सायंभवम्) सायंकाल की सत्ता को (ददे) दिया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को जानना चाहिये कि परमेश्वर ने किस सामर्थ्य से यह सृष्टि रची है ॥ १६ ॥

को अस्मिन् रेतो न्यदधात् तन्तुरा तायतामिति ।
मेधां को अस्मिन्नध्यौहत् को बाणं को नृतो दधौ ॥ १७ ॥

कः । अस्मिन् । रेतः । नि । अदधात् । तन्तुः । आ । तायताम् । इति ॥ मेधाम् । कः । अस्मिन् । अधि । औहत् । कः । बाणम् । कः । नृतः । दधौ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (रेतः) पराक्रम [इस लिये] (नि) निरन्तर (अदधात्) रख दिया है

१६ (केन) सामर्थ्येन (आपः) अपः । जलानि (अनु) निरन्तरम् (अतनुत) विस्तारितवान् (केन) (अहः) दिनम् (अकरोत्) अरचयत् (रुचे) दीप्तये (उषसम्) प्रभातवेलाम् (केन) (अनु) अनुक्रमेण (ऐन्द्ध) ञि-इन्धी दीप्तौ-लङ्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रदीपितवान् (केन) (सायंभवम्) सायंकालसत्ताम् (ददे) दत्तवान् ॥

१७—(कः) म० ५ । प्रजापतिः (अस्मिन्) मनुष्ये (रेतः) पराक्रमम् (नि) निरन्तरम् (अदधात्) दत्तवान् (तन्तुः) सूत्रवद् विस्तारः (आ) समन्तात्

[कि उस का] (तन्तुः) तन्तु [तांता] (आ) चारों ओर (तायताम् इति) फैले। (कः) प्रजापति ने (मेधाम्) बुद्धि (अस्मिन्) इस [मनुष्य] में (अधि औहत्) लाकर दी है, (कः) प्रजापति ने (वाणम्) बोलना और (कः) प्रजापति ने (नृतः) नृत [शरीर चलाना] (दधौ) दिया है ॥१७॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य को परक्रम, बुद्धि आदि इस लिये दिये हैं कि मनुष्य सब से यथावत् उपकार लेकर आगे बढ़े ॥ १७ ॥

केनेमां भूमिमौर्णोत् केन पर्यभवद् दिवम् ।

केनाभि मह्ना पर्वतान् केन कर्माणि पूरुषः ॥ १८ ॥

केन । इमाम् । भूमिम् । और्णोत् । केन । परि । अभवत् । दिवम् ॥ केन । अभि । मह्ना । पर्वतान् । केन । कर्माणि । पुरुषः ॥१८॥

भाषार्थ—(पुरुषः) मनुष्य ने (केन) प्रजापति [परमेश्वर] द्वारा (इमाम् भूमिम्) इस भूमि को (और्णोत्) ढका है, (केन) प्रजापति द्वारा (दिवम्) आकाश को (परि अभवत्) घेरा है। (केन) प्रजापति द्वारा (मह्ना) [अपनी] महिमा से (पर्वतान्) पर्वतों और (केन) प्रजापति द्वारा (कर्माणि) रचे हुये वस्तुओं को (अभि=अभि अभवत्) वश में किया है॥ १८॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना से विवेक और आत्मिक बल द्वारा सृष्टि के सब पदार्थों को वश में करे॥ १८॥

(तायताम्) तनोतेर्यकि। पा० ६। ४। ४४। आकारोऽन्तादेशो वा। तन्यताम्। विस्तीर्यताम् (इति) वाक्यसमाप्तौ (मेधाम्) प्रज्ञाम् (कः) (अस्मिन्) (अधि) उपरि (औहत्) वह प्रापणे लङि छान्दसं रूपम्। अवहत्। प्रापितवान् (कः) (वाणम्) वण शब्दे—घञ्। वाणीम् (कः) (नृतः) अयतेः स्वाङ्गे शिरः किच्च। उ० ४। १९४। नृती गात्रविक्षेपे—असुन्, कित्। देहचालनम् (दधौ) ददौ॥

१८—(केन) म० ५। कर्त्रा प्रजापतिना सह (इमाम्) (भूमिम्) (और्णोत्) आच्छादितवान् (केन) परमेश्वरेण (परि अभवत्) सर्वतो व्याप्तवान् (दिवम्) आकाशम् (केन) (अभि) अभ्यभवत्। व्याप्तवान् (मह्ना) महिम्ना (पर्वतान्) शैलान् (केन) (कर्माणि) कृतानि रचितानि वस्तूनि (पुरुषः) मनुष्यः॥

केन॑ प॒र्जन्य॒मन्वे॑ति॒ केन॒ सोमं॑ विच॒क्षणम् ।
केन॑ य॒ज्ञं च॑ श्र॒द्धां च॒ केना॑स्मि॒न् निहि॑तं॒ मन॑: ॥ १९ ॥
केन॑ । प॒र्जन्य॑म् । अनु॑ । ए॒ति॒ । केन॑ । सोम॑म् । वि॒-च॒क्ष॒णम् ॥
केन॑ । य॒ज्ञम् । च॒ । श्र॒द्धाम् । च॒ । केन॑ । अ॒स्मि॒न् । नि-हि॑-
तम् । मन॑: ॥ १९ ॥

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (केन) प्रजापति [परमेश्वर] द्वारा (पर्जन्यम्) सींचने वाले [मेघ] को, (केन) प्रजापति द्वारा (विचक्षणम्) दर्शनीय (सोमम्) अमृत रस को, (केन) प्रजापति द्वारा (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा संगतिकरण और दान] (च) और (श्रद्धाम्) श्रद्धा [सत्य धारण सामर्थ्य] को (च) भी, और (केन) प्रजापति द्वारा (अस्मिन्) इस [शरीर] में (निहितम्) रक्खे हुये (मनः) मन को (अनु) लगातार (एति) पाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आराधना से अनेक सामर्थ्य प्राप्त करके अपने और दूसरों के मन को वश में करता है ॥ १६ ॥

केन॒ श्रोत्रि॑यमाप्नोति॒ केने॒मं प॑रमे॒ष्ठिन॑म् ॥
केने॒मम॒ग्निं पूरु॑षः॒ केन॑ संवत्स॒रं म॑मे ॥ २० ॥ (५)
केन॑ । श्रोत्रि॑यम् । आ॒प्नो॒ति॒ । केन॑ । इ॒मम् । प॒र॒मे-स्थिन॑म् ॥
केन॑ । इ॒मम् । अ॒ग्निम् । पुरु॑षः । केन॑ । स॒म्-व॒त्स॒रम् । म॒मे॒ २० (५

भाषार्थ—(पुरुषः) मनुष्य (केन) किसके द्वारा (श्रोत्रियम्) वेदज्ञानी [आचार्य] को, (केन) किसके द्वारा (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) सब

१६—(केन) प्रजापतिना (पर्जन्यम्) सेचकं मेघम् (अनु) निरन्तरम् (एति) प्राप्नोति (केन) (सोमम्) अमृतरसम् (विचक्षणं) दर्शनीयं (केन) (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानसामर्थ्यम् (च) (श्रद्धाम्) सत्यधारणशक्तिम् (च) (केन) (अस्मिन्) दृश्यमाने शरीरे (निहितम्) धृतम् (मनः) अन्तःकरणम् ॥

२०—(केन) द्वारा (श्रोत्रियम्) अ० ६ । ६ (३) । ७ । वेदज्ञमाचार्य्यम्

से ऊंचे ठहरने वाले [परमेश्वर] को (आप्नोति) पाता है। उसने (केन) किसके द्वारा (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि [सूर्य, विजुली और पार्थिव अग्नि] को, (केन) किसके द्वारा (संवत्सरम्) संवत्सर [अर्थात् काल] को (ममे) मापा है ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य विचारता रहे कि वह किस प्रकार से आचार्य और परमेश्वर की आज्ञा पूरण कर सकता है और सूर्य आदि पदार्थों से कैसे उपकार ले सकता है। इसका उत्तर आगामी मन्त्र में है ॥ २० ॥

ब्रह्म श्रोत्रियमाप्नोति ब्रह्मेमं परमेष्ठिनम्।
ब्रह्मेममग्निं पूरुषो ब्रह्म संवत्सरं ममे ॥ २१ ॥

ब्रह्म । श्रोत्रियम् । आप्नोति । ब्रह्म । इमम् । परमे-स्थिनम् ॥
ब्रह्म । इमम् । अग्निम् । पुरुषः । ब्रह्म । सम्-वत्सरम् । ममे ॥२१॥

भाषार्थ—(पुरुषः) मनुष्य (ब्रह्म=ब्रह्मणा) ब्रह्म [वेद] द्वारा (श्रोत्रियम्) वेदज्ञानी [आचार्य] को और (ब्रह्म) वेद द्वारा (इमम्) इस (परमेष्ठिनम्) सबसे ऊपर ठहरने वाले [परमात्मा] को (आप्नोति) पाता है। उस [मनुष्य] ने (ब्रह्म) वेद द्वारा (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि [सूर्य, विजुली और पार्थिव अग्नि] को, (ब्रह्म) वेद द्वारा (संवत्सरम्) संवत्सर [अर्थात् काल] को (ममे) मापा है ॥ २१ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है। मनुष्य वेद द्वारा आचार्य और परमेश्वर की आज्ञा पालन करे और सूर्य और काल आदिसे उपकार लेवे ॥ २१ ॥

केन देवाँ अनु क्षियति केन दैवजनीर्विशः।
केनेदमन्यन्नक्षत्रं केन सत् क्षत्रमुच्यते ॥ २२ ॥

(आप्नोति) प्राप्नोति (केन) (परमेष्ठिनम्) अ० १ । ७ । २ । उत्तमपदस्थं परमात्मानम् (केन) (इमम्) (अग्निम्) सूर्यविद्युत्पार्थिवाग्निरूपम् (पुरुषः) मनुष्यः (केन) (संवत्सरम्) कालमित्यर्थः (ममे) माङ् माने-लिट्। मापितवान्। वशीकृतवान् ॥

२१—(ब्रह्म) सुपां सुलुक्। पा० ७ । १ । ३९ । तृतीयार्थे सुः। ब्रह्मणा। वेदज्ञानेन। परमेश्वरेण। अन्यत् पूर्ववत्—म० २० ॥

केन॑ । दे॒वान् । अनु॑ । क्षि॒य॒ति॒ । केन॑ । दैव॑-जनीः । विशः॑ ॥

केन॑ । इ॒दम् । अ॒न्यत् । नक्ष॑त्रम् । केन॑ । सत् । क्ष॒त्रम् । उ॒च्य॒ते॒ २२

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (केन) किस के द्वारा (देवान्) स्तुति योग्य गुणों, और (केन) किस के द्वारा (दैवजनीः) दैव [पूर्वजन्मके अर्जित कर्म] से उत्पन्न (विशः अनु) मनुष्यों में (क्षियति) रहता है। (केन) किस के द्वारा (इदम्) यह (सत्) सत्य (क्षत्रम्) राज्य, और (केन) किसके द्वारा (अन्यत्) दूसरा [भिन्न] (नक्षत्रम्) अराज्य (उच्यते) बताया जाता है २२

भावार्थ—विचारशील मनुष्य उत्तम गुणों और उत्तम लोगों से मिलने, धर्मयुक्त राज्य की विधि और अधर्म युक्त कुराज्य के निषेध पर विचार करे। इस का उत्तर आगामी मन्त्र में है ॥ २२ ॥

ब्रह्म॑ दे॒वाँ अनु॑ क्षियति॒ ब्रह्म॒ दैव॑जनी॒र्विशः॑ ।

ब्रह्मे॒दम॒न्यन्नक्ष॑त्रं॒ ब्रह्म॒ सत् क्ष॒त्रमु॑च्यते ॥ २३ ॥

ब्रह्म॑ । दे॒वान् । अनु॑ । क्षि॒य॒ति॒ । ब्रह्म॑ । दैव॑-जनीः । विशः॑ ॥

ब्रह्म॑ । इ॒दम् । अ॒न्यत् । नक्ष॑त्रम् ब्रह्म॑ । सत् । क्ष॒त्रम् । उ॒च्य॒ते॒ ॥ २३

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (ब्रह्म=ब्रह्मणा) ब्रह्म [परमेश्वर] द्वारा (देवान्) स्तुति योग्य गुणों, और (ब्रह्म) ब्रह्म द्वारा (दैवजनीः) दैव [पूर्वजन्म के अर्जित कर्म] से उत्पन्न (विशः अनु) मनुष्यों में (क्षियति) रहता है। (ब्रह्म) ब्रह्म द्वारा (इदम्) यह (सत्) सत्य (क्षत्रम्) राज्य और (ब्रह्म) ब्रह्म द्वारा (अन्यत्) दूसरा [भिन्न] (नक्षत्रम्) अराज्य (उच्यते) बताया जाता है ॥ २३ ॥

२२—(केन) केन द्वारा (देवान्) दिव्यगुणान् (अनु) अनुलक्ष्य (क्षियति) निवसति (केन) (दैवजनीः) देवाद् यञञौ। वा० पा० ४। १। ८५। दैव—अञ्। दैवात् पूर्वजन्मार्जितकर्मणो जाताः (विशः) प्रजाः। मनुष्यान्-निघ० २। ३ (केन) (इदम्) प्रत्यक्षम् (अन्यत्) भिन्नम् (नक्षत्रम्) नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या०। पा० ६। ३। ७५। इति नञः प्रकृतिभावः नक्षत्रम् अक्षत्रम् अराज्यं कुराज्यम् (केन) (सत्) सत्यम्। धर्म्यम् (क्षत्रम्) राज्यम् (उच्यते) कथ्यते ॥

२३—(ब्रह्म) सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। विभक्तेः सुः। ब्रह्मणा। परमेश्वरद्वारा। अन्यत् पूर्ववत्—मन्त्र २२ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है। मनुष्य परमेश्वर से वेदद्वारा उत्तम गुणों उत्तम लोगों को पावे और वेद द्वारा ही धर्म्म राज्य की विधि और अधर्म्म कुराज्य का निषेध सीखे ॥ २३ ॥

केनेयं भूमिर्विहिता केन द्यौरुत्तरा हिता ।
केनेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २४ ॥

केन । इयम् । भूमिः । वि-हिता । केन । द्यौः । उत्-तरा । हिता ॥ केन । इदम् । ऊर्ध्वम् । तिर्यक् । च । अन्तरिक्षम् । व्यचः । हितम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(केन) किस करके (इयम् भूमिः) यह भूमि (विहिता) सुधारी गई है, (केन) किस करके (द्यौः) सूर्य (उत्तरा) ऊंचा (हिता) धरा गया है। (च) और (इदम्) यह (ऊर्ध्वम्) ऊंचा, (तिर्यक्) तिरछा, चलने वाला (व्यचः) फैला हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [आकाश] (हितम्) धरा गया है ॥ २४ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जिज्ञासु के लिये इन प्रश्नों का उत्तर अगले मन्त्रों में है ॥२४

ब्रह्मणा भूमिर्विहिता ब्रह्म द्यौरुत्तरा हिता ।
ब्रह्मेदमूर्ध्वं तिर्यक् चान्तरिक्षं व्यचो हितम् ॥ २५ ॥

ब्रह्मणा । भूमिः । वि-हिता । ब्रह्म । द्यौः । उत्-तरा । हिता ॥ ब्रह्म । इदम् । ऊर्ध्वम् । तिर्यक् । च । अन्तरिक्षम् । व्यचः । हितम् ॥ २५ ॥

२४—(केन) प्रश्ने (इयम्) (भूमिः) (विहिता) विशेषेण धारिता (केन) (द्यौः) सूर्यः (उत्तरा) उपरिभवा (हिता) धृतः (केन) (इदम्) (ऊर्ध्वम्) उपरिस्थम् (तिर्यक्) वक्रगामि (च) (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (व्यचः) विस्तृतम् (हितम्) धृतम् ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) ब्रह्म [परमेश्वर] करके (भूमिः) भूमि (विहिता) सुधारी गयी है, (ब्रह्म) ब्रह्म करके (द्यौः) सूर्य (उत्तरा) ऊंचा (हिता) धरा गया है। (च) और (ब्रह्म) ब्रह्म करके (इदम्) यह (ऊर्ध्वम्) ऊंचा, (तिर्यक्) तिरछा चलने वाला, (व्यचः) फैला हुआ (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [आकाश] (हितम्) धरा गया है ॥ २५ ॥

भावार्थ—ब्रह्म परमेश्वर ने सब ऊंचे, नीचे और मध्यलोक बनाये हैं २५

मूर्धानमस्य संसीव्याथर्वा हृदयं च यत् ।
मस्तिष्कादूर्ध्वः प्रैरयत् पवमानोऽधि शीर्षतः ॥ २६ ॥

मूर्धानम् । अस्य । सम्-सीव्य । अथर्वा । हृदयम् । च । यत् ॥ मस्तिष्कात् । ऊर्ध्वः । प्र । ऐरयत् । पवमानः । अधि । शीर्षतः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(पवमानः) शुद्ध स्वभाव (अथर्वा) निश्चल परमात्मा (अस्य) इस [मनुष्य] के (मूर्धानम्) शिर (च) और (यत्) जो कुछ (हृदयम्) हृदय है [उसको भी] (संसीव्य) आपस में सींकर, (मस्तिष्कात्) भेजे [मस्तक बल] से (ऊर्ध्वः) ऊपर होकर (शीर्षतः अधि) शिर से ऊपर (प्र ऐरयत्) वाहिर निकल गया ॥ २६ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य के शिर और हृदय को नाड़ियों द्वारा आपस में मिलाकर विवेक सामर्थ्य दिया है। परन्तु वह आप अनन्त अनादि सर्व शक्तिमान् होकर मनुष्य की समझ से वाहिर है ॥ २६ ॥

२५—(ब्रह्मणा) परमेश्वरेण (ब्रह्म) म०२३। ब्रह्मणा। अन्यत् पूर्ववत्मन्त्रे २४

२६—(मूर्धानम्) अ० ३। ६। ६। मस्तकम् (अस्य) मनुष्यस्य (संसीव्य) सम्+षिवु तन्तुसन्ताने-ल्यप्। संवाय। तन्तुभिर्नाडिभिर्यथा संगतं कृत्वा (अथर्वा) अ० ४। १। ७। अ+थर्व चरणे=गतौ-वनिप्। अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः-निरु० ११। १८। निश्चलः परमात्मा (हृदयम्) (च) (यत्) (मस्तिष्कात्) अ० २। ३३। १। मस्तकस्नेहात्। मस्तकबलात् (ऊर्ध्वः) (प्र) बहिः (ऐरयत्) आगच्छत् (पवमानः) अ० ३। ३१। २। शुद्धस्वभावः (अधि) उपरि (शीर्षतः) मस्तकात् ॥

तद् वा अथर्वणः शिरो देवकोशः समुब्जितः ।
तत् प्राणो अभि रक्षति शिरो अन्नमथो मनः ॥ २७ ॥

तत् । वै । अथर्वणः । शिरः । देव-कोशः । सम्-उब्जितः ॥
तत् । प्राणः । अभि । रक्षति । शिरः । अन्नम् । अथो इति । मनः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(तत् वै) वही (शिरः) शिर (अथर्वणः) निश्चल परमात्मा के (देवकोशः) उत्तम गुणों का भण्डार [भाण्डागार] (समुब्जितः) ठीक ठीक बना है । (तत्) उस (शिरः) शिर की (प्राणः) प्राण [जीवन वायु] (अभि) सब ओर से (रक्षति) रक्षा करता है, (अन्नम्) अन्न (अथो) और (मनः) मन [रक्षा करता है] ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य शिर के भीतर ब्रह्मरन्ध्र में ध्यान लगाकर परमात्मा की सत्ता का सूक्ष्म विचार करता है । वह शिर प्राण, अन्न और मन द्वारा रक्षित रहता है ॥ २७ ॥

ऊर्ध्वो नु सृष्टा३स्तिर्यङ् नु सृष्टा३ः सर्वा दिशः पुरुष आ बभूवाँ३ । पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ २८ ॥

ऊर्ध्वः । नु । सृष्टा३ः । तिर्यङ् । नु । सृष्टा३ः । सर्वाः । दिशः । पुरुषः । आ । बभूवाँ३ ॥ पुरम् । यः । ब्रह्मणः । वेद । यस्याः । पुरुषः । उच्यते ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(नु) क्या (ऊर्ध्वः) ऊंचा (सृष्टा३ः) उत्पन्न होता हुआ और (नु) क्या (तिर्यङ्) तिरछा (सृष्टा३ः) उत्पन्न होता हुआ (पुरुषः)

२७—(तत्) (वै) एव (अथर्वणः) म० २६ । निश्चलपरमेश्वरस्य (शिरः) मस्तकम् (देवकोशः) कुश श्लेषे-घञ् । दिव्यगुणानां भाण्डागारः (समुब्जितः) सम्यक् सरलीकृतः (तत्) प्राणः जीवनवायुः (अभि) सर्वतः (रक्षति) पाति (शिरः) (अन्नम्) (अथो) अपि च (मनः) ॥

२८—(ऊर्ध्वः) उच्चस्थः (नु) प्रश्ने । किम् (सृष्टा ३ः) विचार्य-

वह मनुष्य (सर्वाः दिशः) सब दिशाओं में (आ) यथावत् (बभूवा ३) व्यापा है ? (यः) जो [मनुष्य] (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा] की (पुरम्) [उस] पूर्ति को (वेद) जानता है, (यस्याः) जिस [पूर्ति] से [वह परमेश्वर] (पुरुषः) पुरुष [परिपूर्ण] (उच्यते) कहा जाता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—अब यह प्रश्न है कि जो योगी परमात्मा को साक्षात् कर लेता है, क्या उसके भीतर सब संसार में व्यापने की शक्ति हो जाती है ? इसका उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ २८ ॥

यो वै तां ब्रह्मणो वेदामृतेनावृतां पुरम् ।
तस्मै ब्रह्म च ब्राह्माश्च चक्षुः प्राणं प्रजां ददुः ॥ २९ ॥

यः । वै । ताम् । ब्रह्मणः । वेद । अमृतेन । आऽवृताम् । पुरम् ॥ तस्मै । ब्रह्म । च । ब्राह्माः । च । चक्षुः । प्राणम् । प्रऽजाम् । ददुः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [मनुष्य] (वै) निश्चय करके (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा] की (अमृतेन) अमरपन [मोक्षसुख] से (आवृताम्) छायी

माणानाम् । पा० ८ । २ । ९७ । इति टेः प्लुतः । सम्यक् स्पष्टः (तिर्यङ्) वक्रगामी (नु) (स्पष्टा ३ः) (सर्वाः) (दिशः) (आ) समन्तात् (बभूवाँ ३) विचार्यमाणनाम् । पा० ८ । २ । ९७ । टेः प्लुतः । अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः । पा० ८ । ४ । ५७ । इत्यनुनासिकः । बभूव । व्याप (पुरम्) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । उकारादेशः । पूर्तिम् । नगरीम् (यः) योगी (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (वेद) जानाति (यस्याः) पुरः सकाशात् । पूर्तिकारणात् (पुरुषः) पुरः कुषन् । उ० ४ । ७४ । पुर अग्रगमने—कुषन् । यद्वा, पॄ पालनपूरणयोः—कुषन् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । उकारः । यद्वा पुर्+षद्लृ गतौ, यद्वा, शीङ् स्वप्ने वस स्वप्ने वा—ड, पृषोदरादिरूपम् । पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा—निरु० २ । ३ । अग्रगामी । पूरयिता । परिपूर्णः । परमेश्वरः । मनुष्यः (उच्यते) कथ्यते ॥

२९—(यः) मनुष्यः (वै) निश्चयेन (ताम्) (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (वेद) जानाति (अमृतेन) अमरणेन । मोक्षसुखेन (आवृताम्) आच्छादिताम्

हुई (ताम्) उस (पुरम्) पूर्णता को (वेद) जानता है, (तस्मै) उस [मनुष्य] को (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] (च च) और (ब्राह्माः) ब्रह्म सम्बन्धी बोधों ने (चक्षुः) दृष्टि, (प्राणम्) प्राण [जीवन सामर्थ्य] और (प्रजाम्) प्रजा [मनुष्य आदि] (ददुः) दिये हैं ॥ २९ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है । ब्रह्मज्ञानी पुरुष दिव्य दृष्टि वाला और महाबली होकर सब प्रकार से परिपूर्ण होता हुआ आनन्द भोगता है ॥ २९ ॥

न वै तं चक्षुर्जहाति न प्राणो जरसः पुरा ।
पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते ॥ ३० ॥

न । वै । तम् । चक्षुः । जहाति । न । प्राणः । जरसः । पुरा ॥
पुरम् । यः । ब्रह्मणः । वेद । यस्याः । पुरुषः । उच्यते ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(तम्) उस [मनुष्य] को (न वै) न कभी (चक्षुः) दृष्टि और (न) न (प्राणः) प्राण [जीवनसामर्थ्य (जरसः पुरा) [पुरुषार्थ के] घटाव से पहिले (जहाति) तजता है । (यः) जो मनुष्य (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमात्मा] की (पुरम्) [उस] पूर्ति को (वेद) जानता है, (यस्याः) जिस [पूर्ति] से वह [परमेश्वर] (पुरुषः) पुरुष [परिपूर्ण] (उच्यते) कहा जाता है ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्ण परमात्मा को जानता है, उस मनुष्य में दिव्यदृष्टि और आत्मबल सदा बना रहता है, जब तक वह पुरुषार्थ करता रहता है ॥ ३० ॥

(पुरम्) म० २८ । पूर्तिम् (तस्मै) मनुष्याय (ब्रह्म) परमेश्वरः (च) (ब्राह्माः) सास्य देवता । पा० ७ । २ । २४ । ब्रह्मन्-अण्, टिलोपः । ब्रह्मसम्बधिनो बोधाः (च) (चक्षुः) दृष्टिम् (प्राणम्) जीवनसामर्थ्यम् (प्रजाम्) मनुष्यादि-रूपाम् (ददुः) दत्तवन्तः ॥

३०—(न) निषेधे (वै) एव (तम्) मनुष्यम् (चक्षुः) दृष्टिः (जहाति) त्यजति (न) (प्राणः) (जरसः) जरायाः । पुरुषार्थहानेः सकाशात् (पुरा) पूर्वम् । अन्यत्-पूर्ववत्-मन्त्रे २८ ॥

अ॒ष्टाच॑क्रा॒ नव॑द्वारा दे॒वानां॒ पूर॑यो॒ध्या ।
तस्यां॑ हिर॒ण्ययः॒ कोशः॑ स्व॒र्गो ज्योति॒षावृ॑तः ॥ ३१ ॥

अ॒ष्टा-च॑क्रा । नव॑-द्वारा । दे॒वाना॑म् । पूः । अ॒यो॒ध्या ॥ तस्या॑म् ।
हि॒र॒ण्यय॑ः । कोश॑ः । स्व॒ः-गः । ज्योति॑षा । आ-वृ॑तः ॥ ३१ ॥

तस्मि॑न् हिर॒ण्यये॒ कोशे॒ त्र्य॑रे॒ त्रिप्र॑तिष्ठिते ।
तस्मि॑न् यद् य॒क्षमा॒त्म॒न्वत् तद् वै ब्र॑ह्म॒विदो॑ विदुः ॥ ३२ ॥

तस्मि॑न् । हि॒र॒ण्यये॑ । कोशे॑ । त्रि-अ॑रे । त्रि-प्र॑तिस्थिते ॥
तस्मि॑न् । यत् । य॒क्षम् । आ॒त्म॒न्-वत् । तत् । वै । ब्र॒ह्म॒-विद॑ः ।
वि॒दुः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(अष्टाचक्रा) [योग के अङ्ग अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, समाधि, इन] आठों का कर्म [वा चक्र] रखनेवाली, (नवद्वारा) [सात मस्तक के छिद्र और मन और बुद्धिरूप] नवद्वार वाली (पूः) पूर्ति [पुरी देह] (देवानाम्) उन्मत्तों के लिये (अयोध्या) अजेय है। (तस्याम्) उस [पूर्ति] में (हिरण्ययः) अनेक बलों से युक्त (कोशः) कोश [भण्डार अर्थात् चेतन जीवात्मा] (स्वर्गः) सुख [सुखस्वरूप परमात्मा] की ओर चलने वाला (ज्योतिषा) ज्योति [प्रकाश स्वरूप ब्रह्म] से (आवृतः) छाया हुआ है ॥ ३१ ॥

३१—(अष्टाचक्रा) करोतेर्घञर्थे—क, द्वित्वम्। चक्रं कर्म रथाङ्गं वा। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योगदर्शने। २। २६। इत्यष्टावङ्गानि कर्माणि यस्याः सा (नवद्वारा) मनोबुद्धिसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैर्युक्ता (देवानाम्) दिवु मदे—अच्। उन्मत्तानां मूर्खाणाम् (पूः) म० २८। पूर्तिपुरी (अयोध्या) अजेया (तस्याम्) पुरि (हिरण्ययः) ऋत्व्यवास्त्व्यवास्त्वमाध्वीहिरण्ययानि छन्दसि। पा० ६। ४। १७५। मयटो मलोपः। हिरण्यमयः। हिरण्यानि रेतांसि बलानि यस्मिन् सः (कोशः) कुश श्लेषे—घञ्। भाण्डागारः (स्वर्गः) स्वः सुखं गच्छति प्राप्नोतीति यः (ज्योतिषा) प्रकाशस्वरूपेण परमात्मना (आवृतः) आच्छादितः ॥

(तस्मिन् तस्मिन्) उसी ही (हिरण्यये) अनेक बलों से युक्त, (त्र्यरे) [स्थान, नाम, जन्म इन] तीनों में गति वाले, (त्रिप्रतिष्ठिते) [कर्म, उपासना ज्ञान इन] तीनों में प्रतिष्ठा वाले (कोशे) कोश (भण्डार रूप जीवात्मा] में (यत्) जो (यक्षम्) पूजनीय (आत्मन्वद्) आत्मा वाला [महापराक्रमी परब्रह्म] है, (तत् वै) उसको ही (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) जानते हैं ३२

भावार्थ—शरीर की गति को अज्ञानी दुर्बलेन्द्रिय लोग नहीं समझते। शरीर के भीतर चेतन जीवात्मा है। जीवात्मा के बाहिर और भीतर ज्योतिः स्वरूप परब्रह्म है। उस परब्रह्म को वेदवेत्ता योगीजन साक्षात् करते हैं ॥३१।३२॥

प्रभ्राजमानां हरिणीं यशसा संपरीवृताम्।
पुरं हिरण्ययीं ब्रह्मा विवेशापराजिताम् ॥ ३३ ॥ (६)

प्र-भ्राजमानाम्। हरिणीम्। यशसा। सम्-परिवृताम् ॥ पुरम्। हिरण्ययीम्। ब्रह्म। आ। विवेश। अपरा-जिताम् ॥३३॥(६)

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] ने (भ्राजमानाम्) बड़ी प्रकाशमान (हरिणीम्) दुःख हरने वाली (यशसा) यश से (संपरिवृतात्) सर्वथा छायी हुई, (हिरण्ययीम्) अनेक बलों वाली, (अपराजिताम्) कभी न जीती गई (पुरम्) पूर्ति में (आ) सब ओर से (विवेश) प्रवेश किया है ॥३३॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष सर्वथा अक्षय परिपूर्ण परमात्मा की उपासना से सदा आनन्द में मग्न रहते हैं ॥ ३३ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

३२—(तस्मिन्) हिरण्यये। बलयुक्ते (कोशे) (त्र्यरे) त्रयाणां स्थाननामजन्मनाम् अरो गतिर्यस्मिन् तस्मिन् (त्रिप्रतिष्ठिते) त्रयाणां कर्मोपासना ज्ञानानां प्रतिष्ठायुक्ते (तस्मिन्) (यत्) (यक्षम्) पूजनीयम् (आत्मन्वत्) अ० ४।१०।७। आत्मबलवत्। महापराक्रमयुक्तं परब्रह्म (तत्) ब्रह्म (वै) (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (विदुः) जानन्ति ॥

३३—(प्रभ्राजमानाम्) प्रदीप्यमानाम् (हरिणीम्) हृञ्—इनन्, ङीप्। दुःख हरणशीलाम् (यशसा) कीर्त्या (संपरिवृताम्) समन्तादाच्छादिताम् (पुरम्) म०२८। पूर्तिम् (हिरण्ययीम्) म०३१। हिरण्यय-ङीप्। बलैर्युक्ताम् (ब्रह्म) परमेश्वरः (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान् (अपराजिताम्) अपराभूताम् ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—२५ ॥ वरणो देवता ॥ १, ४, ७, ९, १०, १२ अनुष्टुप्; २, ३, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५ निचृदनुष्टुप्; ८, १३, १४ पथ्या पङ्क्तिः; ११, १६ भुरिगनुष्टुप्; १५, १७—२५ षट्पदा जगती ॥

सर्वसम्पत्तिप्राप्त्युपदेशः—सब सम्पत्तियों के पाने का उपदेश ॥

अ॒यं मे॑ व॒र॒णो म॒णिः स॑पत्न॒क्षय॑णो॒ वृषा॑ ।
तेना र॑भस्व॒ त्वं शत्रू॒न् प्र मृ॑णीहि॒ दुर॑स्यतः ॥ १ ॥

अ॒यम् । मे॒ । व॒र॒णः । म॒णिः । स॒प॒त्न॒-क्षय॑णः । वृषा॑ ॥ तेन॑ । आ । र॒भ॒स्व॒ । त्वम् । शत्रू॑न् । प्र । मृ॒णी॒हि॒ । दु॒र॒स्य॒तः ॥१॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध, अथवा वरना वा वरुण औषध] (मे) मेरे (सपत्नक्षयणः) वैरियों का नाश करने वाला (वृषा) वीर्यवान् है । [हे प्राणी!] (तेन) उस से (त्वम्) तू (शत्रून्) शत्रुओं को (आ रभस्व) पकड़ ले, और (दुरस्यतः) दुराचारियों को (प्र मृणीहि) मार डाल ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सद्वैद्य वरण आदि औषध द्वारा शरीर के रोगों का नाश करता है, वैसे ही विद्वान् वेदविद्या द्वारा आत्मिक दोष मिटावे ॥ १ ॥

१—(अयम्) प्रसिद्धः (मे) मम (वरणः) अ० ६ । ८५ । १ । वृञ् वरणे स्वीकरणे—युच् । स्वीकरणीयः । वेदबोधः । वरुणौषधिर्वा (मणिः) अ० १ । २९ । १ । मण कूजे—इन् । प्रशंसनीयः (सपत्नक्षयणः) शत्रुनाशकः (वृषा) वीर्यवान् (तेन) (आरभस्व) निगृहाण (त्वम्) (शत्रून्) (प्रमृणीहि) सर्वथा मारय (दुरस्यतः) अ० १ । २९ । २ । दुरस्य-शतृ । दुष्टीयतः । अनिष्टं कर्तुमिच्छून् ।

(वरणः) वरण ओषधिविशेष है, उसका वर्णन इस प्रकार है-देखो भाव-प्रकाश, पूर्वखण्ड, वटादिवर्ग, श्लोक ५६ । ५७ ॥

वरुण [के नाम] वरण, सेतु, तिक्तशाक, कुमारक हैं । वरना पित्तकारक, मल भेदक, और कफ़, मूत्रकृच्छ्, पथरी, वात, गुल्म, वात से उत्पन्न रक्तविकार, और कृमि को मिटाता है,वह उष्ण, अग्निको दीपन करने वाला, कसैला, मधुर कड़वा, चर्परा, रूखा और हलका होता है ॥ १, २ ॥

प्रैणान्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुरएता पुरस्तात् ।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वः श्वः ॥ २ ॥

प्र । एनान् । शृणीहि । प्र । मृण । आ । रभस्व । मणिः । ते । अस्तु । पुरः-एता । पुरस्तात् ॥ अवारयन्त । वरणेन । देवाः । अभि-आचारम् । असुराणाम् । श्वः-श्वः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(एनान्) इनको (प्रशृणीहि) कुचलडाल, (प्रमृण) मार डाल, (आ रभस्व) पकड़ले, (मणिः) प्रशंसनीय [वैदिक बोध] (ते) तेरा (पुर एता) अगुआ (पुरस्तात्) साम्हने (अस्तु) होवे । (देवाः) देवताओं [विजयी लोगों] ने (वरणेन) वरण [श्रेष्ठ वैदिक बोध वा वरना औषध) से (असुराणम्) सुर विरोधी [दुष्टों] के (अभ्याचारम्) विरुद्ध आचरण को (श्वः श्वः) एक आगामी कल्यसे दूसरी कल्य को (अर्थात् पहिले से ही] (अवारयन्त) रोका था ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे दूरदर्शी पूर्वज महात्माओं ने उत्तम ज्ञानों और उत्तम औषधों द्वारा आत्मिक और शारीरिक रोग मिटाये हैं, वैसे ही सब मनुष्य उत्तम गुणों और उत्तम ओषधियों के सेवन से उन्नति करें ॥ २ ॥

२—(प्र) प्रकर्षेण (एनान्) शत्रून् (शृणीहि) नाशय (प्र) (मृण) (आरभस्व) (मणिः) (ते) तव (अस्तु) (पुर एता) अग्रगामी (पुरस्तात्) अग्रे (अवारयन्त) निवारितवन्तः (वरणेन) म० १ । स्वीकरणीयेन । वैदिकबोधेन । वरुणौषधेन (देवाः) विजिगीषवः (अभ्याचारम्) विरुद्धाचरणम् (असुराणम्) सुरविरोधिनाम् (श्वः श्वः) आगामिन्यागामिनि दिवसे । पूर्वविचारेणेत्यर्थः ॥

अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः। स ते शत्रूनधरान् पादयाति पूर्वस्तान् दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति ॥३॥

अयम्। मणिः। वरणः। विश्व-भेषजः। सहस्र-अक्षः। हरितः। हिरण्ययः॥ सः। ते। शत्रून्। अधरान्। पादयाति। पूर्वः। तान्। दभ्नुहि। ये। त्वा। द्विषन्ति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [वरणीय, मानने योग्य, वैदिक बोध वा वरना औषध] (विश्वभेषजः) समस्त भय जीतने वाला, (सहस्राक्षः) सहस्रों व्यवहार वाला, (हरितः) सिंह [समान] (हिरण्ययः) तेजोमय है। (सः) वह (ते) तेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (पादयाति) गिरावे, (पूर्वः) पहिले होकर तू (तान्) उन्हें (दभ्नुहि) दवा ले, (ये) जो (त्वा) तुझसे (द्विषन्ति) वैर करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी मनुष्य आत्मिक और शारीरिक रोग मिटाकर स्वस्थ होकर आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्।
अयं त्वा सर्वस्मात् पापाद् वरणो वारयिष्यते ॥ ४ ॥

अयम्। ते। कृत्याम्। वि-तताम्। पौरुषेयात्। अयम्। भयात् ॥ अयम्। त्वा। सर्वस्मात्। पापात्। वरणः। वारयिष्यते ॥४॥

भाषार्थ—(अयम् अयम्) यही [वरण] (ते) तेरे लिये (विततम्) फैली हुयी (कृत्याम्) हिंसा को (पौरुषेयात्) मनुष्य से किये हुये (भयात्)

३—(अयम्) (मणिः) प्रशंसनीयः (वरणः) म० १ (विश्वभेषजः) सर्वभयजेता (सहस्राक्षः) अ० । ४ । १६ । ४ । बहुव्यवहारोपेतः (हरितः) सिंहरूपः (हिरण्ययः) तेजोमयः (सः) वरणः (ते) तव (शत्रून्) (अधरान्) नीचान् (पादयाति) पातयेत् (पूर्वः) प्रथमः सन् (तान्) (दभ्नुहि) वशीकुरु (ये) (त्वा) (द्विषन्ति) वैरायन्ते ॥

४—(अयम्) (ते) तुभ्यम् (कृत्याम्) अ० ४ । ६ । ५ । हिंसाम् (विततम्) विस्तृताम् (पौरुषेयात्) अ० ७ । १०५ । १ । पुरुषेण कृतात् (भयात्)

भय से, और (अयम्) यह (वरणः) वरण [वैदिक बोध वा वरना औषध हो] (त्वा) तुझ को (सर्वस्मात्) सब (पापात्) पापसे (वारयिष्यते) रोकेगा ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वैदिकज्ञान और पथ्य खान पान से बलवान् होवें ॥४॥

वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः ।
यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन् ॥ ५ ॥

वरणः । वारयातै । अयम् । देवः । वनस्पतिः ॥ यक्ष्मः । यः ।
अस्मिन् । आ-विष्टः । तम् । ऊं इति । देवाः । अवीवरन् ॥५॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवनीय गुणोंका रक्षक (वरणः) वरण [वैदिक बोध वा वरना औषध] [उस राजरोग को] (वारयातै) हटावे (यः) जो (यक्ष्मः) राजरोग (अस्मिन्) इस [पुरुष] में (आविष्टः) प्रवेश कर गया है, (तम्) उस को (उ) निश्चय करके (देवाः) व्यवहार जानने वाले विद्वानों ने (अवीवरन्) हटाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज विद्वानों के समान प्रयत्न करके आत्मिक और शारीरिक रोगों का नाश करे ॥ ५ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अथर्व० ६ । ८५ । १ ॥

स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यति धावादजुष्टाम् । परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते ॥ ६ ॥

स्वप्नम् । सुप्त्वा । यदि । पश्यासि । पापम् । मृगः । सृतिम् । यति । धावात् । अजुष्टाम् ॥ परि-क्षवात् । शकुनेः । पापवादात् । अयम् । मणिः । वरणः । वारयिष्यते ॥ ६ ॥

दरात् (अयम् (त्वा) सर्वस्मात्) (पापात्) दुःखात् (वरणः) म० १ । वैदिकबोधो वरुणौषधं वा (वारयिष्यते) वृञ् आवरणे—लृट् । प्रतिरोत्स्यति ॥

५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अथर्व० ६ । ८५ । १ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो तू (सुप्त्वा) सोकर (पापम्) बुरे (स्वप्नम्) स्वप्न को (पश्यासि) देखे, (यति=यदि) जो (मृगः) वनैला पशु (अजुष्टाम्) अप्रिय (सृतिम्) मार्ग में (धावात्) दौड़े। (शकुनेः) पक्षी [गिद्ध वा चील्ह] के (परिक्षवात्) नाक के फुरफुराहट से और (पापवादात्) [मुखके] कठोर शब्दसे (अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (वारयिष्यते) रोकेगा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाकर कुस्वप्न आदि रोगों और हिंसक पशुओं और पक्षियों की दुष्टता से निर्भय रहें ॥ ६ ॥

अरा॑त्यास्त्वा॒ निर्ऋ॑त्या अभि॒चारा॒दथो॑ भ॒यात् ।
मृ॒त्योरोजी॑यसो व॒धाद् वर॒णो वा॑रयिष्यते ॥ ७ ॥

अरा॑त्याः । त्वा॒ । निः॒-ऋ॑त्याः । अ॒भि॒-चारा॑त् । अथो॒ इति॑ । भ॒यात् ॥ मृ॒त्योः । ओजी॑यसः । व॒धात् । व॒र॒णः । वा॒र॒यि॒ष्य॒ते ॥ ७

भाषार्थ—(वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वा) तुझ को (अरात्याः) कंजूसी से, (निर्ऋत्याः) महामारी से, (अभिचारात्) विरुद्ध आचरण से, (भयात्) भय से, (मृत्योः) मृत्यु [आलस्य आदि] से (अथो) और (ओजीयसः) अधिक बलवान् के (वधात्) वज्र से (वारयिष्यते) रोकेगा ॥ ७ ॥

६—(स्वप्नम्) सुप्तस्य मानसिकवृत्तिभेदम् (सुप्त्वा) शयित्वा) (यदि) सम्भावनायाम् (पश्यासि) अवलोकेथाः (पापम्) दुःखप्रदम् (मृगः) अरण्यपशुः (सृतिम्) मार्गम् (यति) दस्य तः । यदि (धावात्) शीघ्रं गच्छेत् (अजुष्टाम्) अप्रियाम् (परिक्षवात्) टु क्षु, नासाशब्दे—अप् । नासातो वायुनिःसरणजन्यशब्दात् (शकुनेः) पक्षिणः । गृध्रचिल्हादेः (पापवादात्) दुष्टशब्दात् । अन्यद् व्याख्यातम् ॥

७—(अरात्याः) अ० १ । २ । २ । रा दाने- क्तिन् । अदानात् । कृपणत्वात् (त्वा) (निर्ऋत्याः) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् (अभिचारात्) विरुद्धाचरणात् (अथो) अपि च (भयात्) (मृत्योः) मरणात् । आलस्यात् (ओजीयसः) अ० ५ । २ । ४ । बलवत्तरस्य (वधात्) वज्रात्—निघ० २ । २० । (वरणः) म० १ (वारयिष्यते) ॥

भावार्थ—मनुष्य विवेकी और बलवान् होकर सब विपत्तियों से बचे ७

यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम्। ततो नो वारयिष्यतेऽयं देवो वनस्पतिः ॥ ८ ॥

यत्। मे। माता। यत्। मे। पिता। भ्रातरः। यत्। च। मे। स्वाः। यत्। एनः। चकृम। वयम् ॥ ततः। नः। वारयिष्यते। अयम्। देवः। वनस्पतिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (एनः) पाप (मे माता) मेरी माता ने, (यत्) जो कुछ (मे पिता) मेरे पिता ने, (यत्) जो कुछ (मे भ्रातरः) मेरे भाइयों ने (च) और (स्वाः) ज्ञाति वालों ने और (यत्) जो कुछ (वयम्) हमने (चकृम) किया है (ततः) उस से (नः) हमको (अयम्) यह (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक [पदार्थ] (वारयिष्यते) बचावेगा ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे अपने बन्धुओं सहित सदा विवेकी और बलवान् रह कर पाप कर्म से बचें ॥ ८ ॥

वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः।
असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥ ९ ॥

वरणेन। प्र-व्यथिताः। भ्रातृव्याः। मे। स-बन्धवः ॥ असूर्तम्। रजः। अपि। अगुः। ते। यन्तु। अधमम्। तमः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वरणेन) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] द्वारा (प्रव्यथिताः) पीड़ित किये गये (मे) मेरे (भ्रातृव्याः)

८—(यत्) यत् किञ्चित् (मे) मम (भ्रातरः) सहोदराः (स्वाः) ज्ञातयः (एनः) पापम् (चकृम) कृतवन्तः (ततः) पापात् (नः) अस्मान् (वारयिष्यते) प्रतिरोत्स्यते (अयम्) (देवः) दिव्यगुणः (वनस्पतिः) अ० ६। ८५। १। वननीयानां सेवनीयानां गुणानां पालकः। अन्यत् सुगमम् ॥

९—(वरणेन) म० १। श्रेष्ठेन (प्रव्यथिताः) अतिपीडिताः (भ्रातृव्याः) शत्रवः (मे) मम (सबन्धवः) बान्धवैः सहिताः (असूर्तम्) नक्षत्रनियता-

वैरी लोग (सबन्धवः) अपने बन्धुओं सहित (असूर्तम्) न जाने योग्य (रजः) लोक [देश] में (अपि) ही (अगुः) गये हैं। (ते) वे लोग (अधमम्) अति नीचे (तमः) अन्धकार में (यन्तु) जावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वनियन्ता परमेश्वर द्वारा और बलवान् राजा की नीति से दुष्ट लोग सदा बन्धीगृह आदि भोगते रहे हैं और सदा भोगते रहें ॥ ६ ॥

अरिष्टोऽहमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुषः ।
तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥ १० ॥ (७)

अरिष्टः । अहम् । अरिष्ट-गुः । आयुष्मान् । सर्व-पुरुषः ॥ तम् । मा । अयम् । वरणः । मणिः । परि । पातु । दिशः-दिशः १०॥ (७)

भाषार्थ—(अहम्) मैं (अरिष्टः) न हारा हुआ, (अरिष्टगुः) न हारी हुयी विद्या वाला, (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला और (सर्वपुरुषः) सब पुरुषों वाला हूं। (तम्) उस (मा) मुझ को (अयम्) यह (मणिः) प्रशंसनीय (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (दिशोदिशः) दिशा दिशा से (परि पातु) सब प्रकार बचावे ॥१०॥

भावार्थ—दृढ़ स्वभाव विद्वान् मनुष्य शरीर से बलवान् होकर परमेश्वर में विश्वास करके परस्पर रक्षा करें ॥ १० ॥

अयं मे वरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः ।
स मे शत्रून् वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥ ११ ॥

अयम् । मे । वरणः । उरसि । राजा । देवः । वनस्पतिः ॥

नुत्त० । पा० ८ । २ । ६१ । नञ्+सृ गतौ-क्त, ऋकारस्य उत्वम् । असरणीयमगन्तव्यम् (रजः) लोकम् (अपि) एव (अगुः) प्रापुः (ते) शत्रवः (यन्तु) गच्छन्तु (अधमम्) अतिनीचम् (तमः) अन्धकारम् ॥

१०—(अरिष्टः) अहिंसितः (अहम्) (अरिष्टगुः) गौर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १।२। ४८। गोर्ह्रस्वः । अहिंसितविद्यः (आयुष्मान्) उत्तमजीवनोपेतः (सर्वपुरुषः) सर्वपुरुषयुक्तः (तम्) तादृशम् (मा) माम् (दिशोदिशः) सर्वस्या दिशायाः सकाशात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सः । मे । शत्रू॑न् । वि । बा॒ध॒ता॒म् । इन्द्रः॑ । दस्यू॑न्-इव । असु॑रान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (राजा) राजा, (देवः) दिव्य गुण वाला (वनस्पतिः) सेवनीय गुणों का रक्षक (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (मे) मेरे (उरसि) हृदय में है। (सः) वह (मे) मेरे (शत्रून्) शत्रुओं को (वि बाधताम्) हटा देवे, (इव) जैसे (इन्द्रः) इन्द्र [बड़ा ऐश्वर्यवान् पुरुष] (असुरान्) सज्जनों के विरोधी (दस्यून्) डाकुओं को [हटाता है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य परमात्मा में श्रद्धा करके आत्मा और शरीर की उन्नति करता हुआ प्रतापी शूरों के समान शत्रुओं का नाश करे ॥ ११ ॥

इमं बिभर्मि वरणमायुष्मान्छतशारदः ।
स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥ १२ ॥

इ॒मम् । बि॒भ॒र्मि॒ । व॒र॒णम् । आयु॑ष्मान् । श॒त-शा॑रदः ॥ सः । मे॒ । रा॒ष्ट्रम् । च॒ । क्ष॒त्रम् । च॒ । प॒शून् । ओजः॑ । च॒ । मे॒ । द॒ध॒त् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला, (शतशारदः) सौ वर्ष जीवन वाला (इमम्) (वरणम्) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] को (बिभर्मि) धारण करता हूं। (सः) वह (मे) मेरे (राष्ट्रम्) राज्य (च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय धर्म को (च) और (पशून्) पशुओं (च) और (मे) मेरे (ओजः) बल को (दधत्) पुष्ट करे ॥ १२ ॥

११—(उरसि) हृदये (राजा) ऐश्वर्यवान् (शत्रून्) अरीन् (वि) विशेषेण (बाधताम्) निवारयतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (दस्यून्) चौरान् महासाहसिकान् (इव) यथा (असुरान्) सज्जनविरोधकान् ॥

१२—(इमम्) पूर्वोक्तम् (बिभर्मि) धरामि (वरणम्) म० १। श्रेष्ठम् (आयुष्मान्) (शतशारदः) अ० १।३५।१। शतसंवत्सरयुक्तः (सः) वरणः (मे) मम (राष्ट्रम्) राज्यम् (च) (क्षत्रम्) क्षत्रियधर्मम् (च) (पशून्) (ओजः) बलम् (च) (मे) (दधत्) पोषयेत् ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि आत्मिक और शारीरिक बल द्वारा संसार की रक्षा करें ॥ १२ ॥

यथा वातो वनस्पतीन् वृक्षान् भनक्त्योजसा । एवा सपत्नान् मे भङ्ग्धि पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥१३॥

यथा । वातः । वनस्पतीन् । वृक्षान् । भनक्ति । ओजसा ॥ एव । स-पत्नान् । मे । भङ्ग्धि । पूर्वान् । जातान् । उत । अपरान् । वरणः । त्वा । अभि । रक्षतु ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [विना फूल फल देने वाले पीपल आदि] और (वृक्षान्) वृक्षों को (ओजसा) बल से (भनक्ति) तोड़ता है । (एव) वैसे ही (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (भङ्ग्धि) तोड़ डाल, (पूर्वान्) पहिले (जातान्) उत्पन्नों (उत) और (अपरान्) पिछलों को । (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥१३॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मिक और शारीरिक बल से वायु समान शीघ्रगामी होकर दोषों और शत्रुओं का नाश करे ॥ १३ ॥

यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान् प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान् मे प्साहि पूर्वान्० ॥ १४ ॥

यथा । वातः । च । अग्निः । च । वृक्षान् । प्सातः । वनस्पतीन् ॥ एव । स-पत्नान् मे । प्साहि । पूर्वान् ।० ॥ १४ ॥

१३—(यथा) येन प्रकारेण (वातः) वायुः (वनस्पतीन्) पुष्पं विना जायमानफलान् अश्वत्थादीन् वृक्षान् (वृक्षान्) स्थावरयोनिविशेषान् विटपान् (भनक्ति) छिनत्ति (ओजसा) बलेन (एव) तथा (सपत्नान्) शत्रून् (मे) मम (भङ्ग्धि) भिन्धि (पूर्वान्) प्रथमान् (जातान्) उत्पन्नान् (उत) अपि (अपरान्) अर्वाचीनान् (वरणः) म० १ । स्वीकरणीयः (त्वा) (अभि) सर्वतः (रक्षतु) पातु ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातः) वायु (च च) और (अग्निः) अग्नि (वृक्षान्) वृक्षों और (वनस्पतीन्) वनस्पतियों को (प्सातः) खाते हैं। (एव) वैसे ही (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (प्साहि) खा ले, (पूर्वान्) पहिले......म० १३ ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १४ ॥

यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्य॑र्पिताः। एवा सपत्नां-स्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्य॑र्पय पूर्वान् जाताँ उतापरान् वरुण-स्त्वाभि रक्षतु ॥ १५ ॥

यथा। वातेन। प्र-क्षीणाः। वृक्षाः। शेरे। नि-अर्पिताः॥ एव। स-पत्नान्। त्वम्। मम। प्र। क्षिणीहि। नि। अर्पय। पूर्वान्। जातान्। उत। अपरान्। वरुणः। त्वा। अभि। रक्षतु ॥१५॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वातेन) वायु से (प्रक्षीणाः) नष्टकर दिये गये और (न्यर्पिताः) झुकाये हुये (वृक्षाः) वृक्ष (शेरे=शेरते) सो जाते हैं। (एव) वैसे ही (मम) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (त्वम्) तू (प्र क्षिणीहि) नाश कर दे और (नि अर्पय) झुका दे, (पूर्वान्) पहिले (जातान्) उत्पन्नों (उत) और (अपरान्) पिछलों को। (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वा) तेरी (अभि) सब ओर से (रक्षतु) रक्षा करे ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को शत्रुओं के नाश करने में सदा उद्योग करना चाहिये ॥ १५ ॥

तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात् पुरायुषः।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥ १६ ॥

१४—(प्सातः) भक्षतः (प्साहि) भक्ष। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(यथा) (वातेन) वायुना (प्रक्षीणाः) विनाशिताः (वृक्षाः) (शेरे) छान्दसं रूपम्। शेरते। वर्तन्ते (न्यर्पिताः) नीचीकृताः (प्र क्षिणीहि) विनाशय (न्यर्पय) नीचय। अन्यत् पूर्ववत् ॥

तान् । त्वम् । प्र । छिन्धि । वरण । पुरा । दिष्टात् । पुरा । आयुषः ॥ ये । एनम् । पशुषु । दिप्सन्ति । ये । च । अस्य । राष्ट्र-दिप्सवः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(वरण) हे वरण ! [स्वीकार करने योग्य वैदिक बोध वा वरना औषध] (त्वम्) तू (तान्) उन [शत्रुओं] को (दिष्टात्) नियुक्त [मरण] से (पुरा) पहिले और (आयुषः) आयु [के अन्त] से (पुरा) पहिले (प्र छिन्धि) काट डाले । (ये) जो (एनम्) इस [पुरुष] को (पशुषु) पशुओं के निमित्त (दिप्सन्ति) मार डालना चाहते हैं (च) और (ये) जो (अस्य) इसके (राष्ट्रदिप्सवः) राज्य के हानि कारक हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी बुद्धि और बाहुबल से प्रजा और राज्य के हानिकारक शत्रुओं का नाश करे ॥ १६ ॥

यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन् तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु
तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ १७ ॥

यथा । सूर्यः । अति-भाति । यथा । अस्मिन् । तेजः । आ-हितम् ॥ एव । मे । वरणः । मणिः । कीर्तिम् । भूतिम् । नि । यच्छतु ॥ तेजसा । मा । सम् । उक्षतु । यशसा । सम् । अनक्तु । मा ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (सूर्यः) सूर्य (अतिभाति) बड़े प्रताप से चम-

---

१६—(तान्) शत्रून् (त्वम्) (प्र) (छिन्धि) भिन्धि (वरण) म० १ । हे स्वीकरणीय (पुरा) पूर्वम् (दिष्टात्) नियुक्तात् प्रणयात् (पुरा) (आयुषः) जीवनान्तात् (ये) शत्रवः (एनम्) प्राणिनम् (पशुषु) पशूनां निमित्ते (दिप्सन्ति) दम्भितुं हन्तुमिच्छन्ति (ये) (च) (अस्य) (राष्ट्रदिप्सवः) राज्यं विनाशयितुमिच्छवः ॥

१७—(यथा) (सूर्यः) (अतिभाति) बहुप्रतापेन दीप्यते (यथा)

कता है और (यथा) जैसे (अस्मिन्) इस [सूर्य] में (तेजः) तेज (आहितम्) स्थापित है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये (मणिः) श्रेष्ठ (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग्य, वैदिक बोध वा वरना औषध] (कीर्तिम्) कीर्ति और (भूतिम्) विभूति [ऐश्वर्य, सम्पत्ति] को (नि यच्छतु) दृढ़ करे, (तेजसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (उक्षतु) बढ़ावे और (यशसा) यश के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) प्रकाशित करे ॥ १७ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रताप से जगत् में विख्यात है, वैसे ही मनुष्य ईश्वर ज्ञान और शरीर बल से प्रतापी होकर संसार में अपनी कीर्ति बढ़ावे ॥ १७ ॥

यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि । एवा मे० ॥ १८ ॥

यथा । यशः । चन्द्रमसि । आदित्ये । च । नृ-चक्षसि ॥०॥१८॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में (च) और (नृचक्षसि) मनुष्यों को देखने वाले (आदित्ये) सूर्य में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये......मन्त्र १७ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १७ के समान है ॥ १८ ॥

यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिन् जातवेदसि । एवा० ॥ १९ ॥

यथा । यशः । पृथिव्याम् । यथा । अस्मिन् । जात-वेदसि ॥०॥१९

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (पृथिव्याम्) पृथिवी में और (यथा) जैसा (अस्मिन्) इस (जातवेदसि) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान

(अस्मिन्) सूर्ये (तेजः) प्रतापः (आहितम्) स्थापितम् (एव) तथा (मे) मह्यम् (वरणः) म० १ । स्वीकरणीयः (मणिः) श्रेष्ठः (कीर्तिम्) विख्यातिम् (भूतिम्) विभूतिम् । सम्पत्तिम् (नि यच्छतु) दृढीकरोतु । नियोजयतु (तेजसा) (मा) माम् (सम्) सम्यक् (उक्षतु) उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः-निरु० १२ । ६ । वर्धयतु (यशसा) (सम्) (अनक्तु) अञ्जू कान्तौ । प्रदीपयतु (मा) माम् ॥

१८—(यथा) (यशः) (चन्द्रमसि) चन्द्रमण्डले (आदित्ये) अ० १ । ६ । १ । आदीप्यमाने सूर्ये (च) (नृचक्षसि) मनुष्याणां दर्शके । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१९—(पृथिव्याम्) भूमौ (जातवेदसि) अ० १ । ७ । २ । जातेषु वेदो

[अग्नि] में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये ······मन्त्र १७॥ १९॥

भावार्थ—मन्त्र १७ के समान है ॥ १९ ॥

यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे । एवा० ॥ २० ॥ (८)

यथा । यशः । कन्यायाम् । यथा । अस्मिन् । सम्-भृते । रथे ।०।२०(८)

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (कन्यायाम्) कामना योग्य [कन्या] में और (यथा) जैसा (अस्मिन्) इस (संभृते) सुन्दर बने (रथे) रथ में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये······म० १७ ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे सुशीला गुणवती कन्या से माता पिता आदि कीर्ति पाते हैं और जैसे सुन्दर यान विमान आदि से बनाने वाले की शिल्पविद्या पूख्यात होती है वैसे ही सब मनुष्य अपनी कीर्ति बढ़ावें ॥ २० ॥

यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः । एवा० ॥ २१ ॥

यथा । यशः । सोम-पीथे । मधु-पर्के । यथा । यशः ॥ ०॥ २१ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (सोमपीथे) सोमरस पीने में और (यथा) जैसा (यशः) यश (मधुपर्के) मधुपर्क [मधु, दही, घी, जल और शर्करा के पञ्चमेल वा पञ्चामृत] में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये ······म० १७ ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे सोमरस और मधुपर्क बल बढ़ाने में पूसिद्ध हैं, वैसेही मनुष्य अपनी कीर्ति फैलावे ॥ २१ ॥

यथा यशोऽग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः । एवा० ॥ २२ ॥

यथा । यशः । अग्नि-होत्रे । वषट्-कारे । यथा । यशः ०॥२२॥

विद्यमानता यस्य तस्मिन् । अग्नौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०—(कन्यायाम्) अ० १ । १४ । २ । कन दीप्तौ द्युतौ गतौ च-यक्, टाप् । कमनीयायां पुत्र्याम् (संभृते) सम्यक् पोषिते रचिते (रथे) यानविमानादौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१—(सोमपीथे) पातृतुदिवचि० । उ० २ । ७ । पा पाने पा रक्षणे वा—थक् । सोमरसपाने (मधुपर्के) पृची संपर्चने—घञ् । मधुनः पर्को योगोऽत्र । दधि सर्पिर्जलं क्षौद्रं सिता चैतैः पञ्चभिः संयुक्ते पदार्थे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र [अग्नि में सुगन्धित द्रव्य चढ़ाने वा अग्नि का शिल्प विद्या में प्रयोग करने] में और (यथा) जैसा (यशः) यश (वषट्कारे) दान कर्म में है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये......म० १७ ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे अग्निहोत्र से वायु शुद्धि और शिल्पविद्या की उन्नति होती है और जैसे सुपात्रों को दान देने से कीर्ति बढ़ती है वैसेही मनुष्य अपना यश बढ़ावें ॥ २२ ॥

यथा यशो यजमाने यथास्मिन् यज्ञ आहितम्। एवा० ॥२३॥

यथा। यशः। यजमाने। यथा। अस्मिन्। यज्ञे। आ-हितम् ।०।२३

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (यजमाने) यजमान [देवपूजक, सङ्गतिकारक और दानी] में और (यथा) जैसा [यश] (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ [देव पूजा, संगतिकरण और दान] में (आहितम्) स्थापित है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये......म० १७ । २३ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ २३ ॥

यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन् परमेष्ठिनि। एवा० ॥ २४ ॥

यथा। यशः। प्रजा-पतौ। यथा। अस्मिन्। परमे-स्थिनि॥०॥२४

भाषार्थ—(यथा) जैसा (यशः) यश (प्रजापतौ) प्रजापालक [राजा] में और (यथा) जैसा [यश] (अस्मिन्) इस (परमेष्ठिनि) सब से ऊंची स्थिति वाले [परमात्मा] में है। (एव) वैसेही (मे) मेरे लिये...म०१७ ॥२४॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥ २४ ॥

२२—(अग्निहोत्रे) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्। उ० ४। १६८। हु दानादानादनेषु-त्रन्। अग्नौ सुगन्धितद्रव्यदाने, अथवा अग्नेः शिल्पविद्यायां प्रयोगे (वषट्कारे) अ० ५। २६। १२। वह प्रापणे डषटि। दानकर्मणि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२३—(यजमाने) देवपूजकसंगतिकारकदानशीले (यज्ञे) देवपूजासंगतिकारकदानकर्मणि (आहितम्) स्थापितम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२४—(प्रजापतौ) प्रजापालके नृपतौ (परमेष्ठिनि) सर्वोपरिस्थिते परमात्मनि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम्। एवा मे वरणो मणिः॥ कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥ २५ ॥ (८)

यथा। देवेषु। अमृतम्। यथा। एषु। सत्यम्। आ-हितम्॥ एव। मे। वरणः। मणिः। कीर्तिम्। भूतिम्। नि। यच्छतु॥ तेजसा। मा। सम्। उक्षतु। यशसा। सम्। अनक्तु। मा २५(८)

भाषार्थ—(यथा) जैसे (देवेषु) विजय चाहने वालों में (अमृतम्) अमरपन [पुरुषार्थ] और (यथा) जैसा (एषु) इनमें (सत्यम्) सत्य (आहितम्) स्थापित है। (एव) वैसे ही (मे) मेरे लिये (मणिः) श्रेष्ठ (वरणः) वरण [स्वीकार करने योग वैदिक बोध वा वरना औषध] (कीर्तिम्) कीर्ति और (भूतिम्) विभूति [ऐश्वर्य, सम्पत्ति] को (नि यच्छतु) दृढ़ करे, (तेजसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (उक्षतु) बढ़ावे और (यशसा) यश के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) प्रकाशित करे२५॥

भावार्थ—जैसे विजयी शूरों में पुरुषार्थ और सत्य व्रत धारण होता है वैसे ही मनुष्य ईश्वर ज्ञान और शरीर बल से प्रतापी हो कर संसार में अपनी कीर्ति बढ़ावे ॥ २५ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२६ ॥ इन्द्रः प्रजापतिर्वा देवता॥ १ पथ्यापङ्क्तिः; २ भुरिग्मध्या गायत्री; ३, ४ निचृत् पथ्या बृहती; ५, ६, ७, ६-११, १३—१५, १७-२०, २२, २४, २५ अनुष्टुप्; ८ आर्ष्यनुष्टुप्; १२ भुरिग् गायत्री; १६ प्रतिष्ठा गायत्री; २१ विराडनुष्टुप्; २३ त्रिष्टुप्; २६ आर्षी त्रिष्टुप्॥

सर्परूपदोषनाशोपदेशः—सर्प रूप दोषों के नाश का उपदेश॥

इन्द्रस्य प्रथमो रथो देवानामपरो रथो वरुणस्य तृतीय इत्। अहीनामपमा रथ स्थाणुमारदथार्षत्॥ १॥

२५—(देवेषु) विजिगीषुषु शूरेषु (अमृतम्) अमरणम्। पौरुषम् (सत्यम्) सत्यव्रतम्। अन्यत् पूर्ववत् म० १७॥

इन्द्रस्य। प्रथमः। रथः। देवानाम्। अपरः रथः। वरुणस्य। तृतीयः। इत्॥ अहीनाम्। अप-मा। रथः। स्थाणुम्। आरत्। अथ। अर्षत्॥ १॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (प्रथमः) पहिला (रथः) रथ है, (देवानाम्) विजयी [शूर मन्त्रियों] का (अपरः) दूसरा (रथः) रथ, और (वरुणस्य) वरुण [श्रेष्ठ वैद्य] का (तृतीयः) तीसरा (इत्) ही है (अहीनाम्) महाहिंसक [सर्पों] का (अपमा) खोटा (रथः) रथ (स्थाणुम्) ठूंठ [सूखे पेड़] पर (आरत्) पहुंचा है, (अथ) अब (अर्षत्) वह चला जावे॥ १॥

भावार्थ—राजा, मन्त्री और वैद्य के प्रयत्न से सर्परूप कुठौर में वर्तमान दुष्ट लोग और दुष्ट रोग प्रजा में से नष्ट हो जावें॥ १॥

दर्भः शोचिस्तरूणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः।
रथस्य बन्धुरम्॥ २॥

दर्भः। शोचिः। तरूणकम्। अश्वस्य। वारः। परुषस्य। वारः॥ रथस्य। बन्धुरम्॥ २॥

१—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (प्रथमः) अग्रगामी (रथः) यानम् (देवानाम्) विजिगीषूणां मन्त्रिणाम् (अपरः) द्वितीयः (रथः) (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य वैद्यस्य (तृतीयः) (इत्) एव (अहीनाम्) अ० २।५।५। आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ० ४।१३८। आङ्+हन हिंसागत्योः—इण् डित्, आङो ह्रस्वत्वम्। अहिरयनादेति अन्तरिक्षे, अयमपीतरोऽहिरेतस्मादेव, निर्ह्रसित उपसर्ग आहन्तीति—निरु० २।१७। आहन्तॄणाम्। महाहिंसकानाम्। सर्पाणाम् (अपमा) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। अप+माङ् माने—ड। सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। विभक्तेराकारः। अपमः। अवमः। कुत्सितः। नीचः (रथः) (स्थाणुम्) स्थो णुः। उ० ३।३७। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—णु। निश्चलः। शुष्कवृक्षः (आरत्) ऋ गतौ—लुङ्। अगमत् (अथ) इदानीम् (अर्षत्) ऋषी गतौ—लेट्। लेटोऽडाटौ। पा० ३।४।९४। इत्यटि गुणश्च। गच्छेत् स रथः॥

भाषार्थ—(दर्भः) दाभ घास [सर्पों का] (शोचिः) प्रकाश, (तरूणकम्) छोटी नवीन [दाभ] [उनके] (अश्वस्य) घोड़े की (वारः) पूंछ (परुषस्य) कड़े [दाभ] की (वारः) पूंछ [सिरा] [उनके] (रथस्य) रथ की (बन्धुरम्) बैठक है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे साँप आदि छिपकर रहते हैं वैसेही चोर आदि दुष्कर्मी छिपे रहते हैं ॥ २ ॥

अव॑ श्वेत प॒दा ज॑हि पू॒र्वे॑ण॒ चाप॑रेण च ।

उ॒द॒प्लु॒तमि॑व॒ दार्व॒हीना॑मर॒सं वि॒षं वारु॒ग्रम् ॥ ३ ॥

अव॑ । श्वे॒त॒ । प॒दा । ज॒हि॒ । पू॒र्वे॑ण । च॒ । अप॑रेण । च॒ ॥

उ॒द॒प्लु॒तम्-इ॑व । दारु॑ । अ॒हीना॑म् । अ॒र॒सम् । वि॒षम् । वाः । उ॒ग्रम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(श्वेत) हे प्रवृद्ध [मनुष्य !] तू (पूर्वेण) अगले (च च) और (अपरेण) पिछले (पदा) पाद [पैर की चोट] से (अव जहि) मार डाल । (उदप्लुतम्) जल में बही हुई (दारु इव) लकड़ी के समान (अहीनाम्) सर्पों का (उग्रम्) क्रूर (वाः) जल [अर्थात्] (विषम्) विष (अरसम्) नीरस होवे ॥ ३ ॥

२—(दर्भः) तृणविशेषः । कुशः । काशः (शोचिः)प्रकाशः (तरूणकम्) ह्रस्वे च । पा० ५ । ३ । ८६ । इति कप्रत्ययः । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । क्षुद्रनवीनदर्भः (अश्वस्य) घोटकस्य (वारः) बालः । पुच्छः (परुषस्य) कठोरदर्भस्य (वारः) (रथस्य) (बन्धुरम्) अ० ३ । ६ । २ । स्थितिस्थानम् ॥

३—(श्वेत) हसिमृग्रिण्० उ० ३ । ८६ । टु ओश्वि गतिवृद्ध्योः—तन् । हे प्रवृद्ध । मनुष्य (पदा) पादेन (अव जहि) विनाशय (पूर्वेण) अग्रभागेन (च) (अपरेण) पश्चाद् भागेन (उदप्लुतम्) जले सृमम् (इव) (दारु) काष्ठम् (अहीनाम्) म० १ । सर्पाणाम् (अरसम्) सारहीनम् (विषम्) गरलम् (वाः) जलम् (उग्रम्) क्रूरम् ॥

भावार्थ—राजा के प्रबन्ध से दुष्ट लोग ऐसे निर्बल हो जावें जैसे उत्तम वैद्य के प्रयत्न से विष निकम्मा हो जाता है, जैसे लकड़ी जल में बहती बहती गलकर सार हीन हो जाती है ॥ ३ ॥

अरंघुषो निमज्योन्मज्य पुनरब्रवीत् ।
उदप्लुतमिव दार्वहीनामरसं विषं वारुग्रम् ॥ ४ ॥

अरम्-घुषः । नि-मज्य । उत्-मज्य । पुनः । अब्रवीत् ॥ उद-प्लुतम्-इव । दारु । अहीनाम् । अरसम् । विषम् । वाः । उग्रम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अरंघुषः) पूरी घोषणा करने वाले [पुरुष] ने (निमज्य) डुबकी लगाकर और (उन्मज्य) उछल कर (पुनः) फिर (अब्रवीत्) कहा । "(उदप्लुतम्) जल में बही हुई (दारु इव) लकड़ी के समान (अहीनाम्) सर्पों का (उग्रम्) क्रूर (वाः) जल [अर्थात्] (विषम्) विष (अरसम्) नीरस [होवे]" ॥ ४ ॥

भावार्थ—विवेकी जन घोषणा देकर विचार पूर्वक शत्रुओं को ऐसा निर्बल करे, जैसे वैद्य द्वारा विष जल में बही लकड़ी के समान निकम्मा हो जाता है ॥ ४ ॥

पैद्वो हन्ति कसर्णीलं पैद्वः श्वित्रमुतासितम् ।
पैद्वो रथर्व्याः शिरः सं बिभेद पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

पैद्वः । हन्ति । कसर्णीलम् । पैद्वः । श्वित्रम् । उत । असितम् ॥ पैद्वः । रथर्व्याः । शिरः । सम् । बिभेद । पृदाक्वाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पैद्वः) शीघ्रगामी [पुरुष] (कसर्णीलम्) बुरे मार्ग में छिपे हुये और (पैद्वः) शीघ्रगामी हो (श्वित्रम्) श्वेत (उत) और (असितम्)

४—(अरंघुषः) अलम्+घुषिर् अविशब्दने—क, लस्य रः । पर्याप्त-घोषणाकारी (निमज्य) जले प्रविश्य यथा (उन्मज्य) जलादुद्गत्य यथा (पुनः) (अब्रवीत्) । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

५—(पैद्वः) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः । उ० १ । १५५ । पद गतौ-वप्रत्ययः, अस्यैकारः पैद्वः=अश्वः-निघ० १ । १४ । शीघ्रगामी पुरुषः (हन्ति) नाशयति (कसर्णी-

फ़ाले [सांप] को (हन्ति) मारता है। (पैद्वः) शीघ्रगामी ने (रथर्व्याः) दौड़ती हुई (पृदाक्वाः) फुंसकारती हुई [सांपिन] का (शिरः) सिर (सम् बिभेद) तोड़ डाला था ॥ ५ ॥

भावार्थ—फुरतीला वीर पुरुष पूर्वज शूरों के समान सांप और सांपिन रूप शत्रुओं और शत्रुसेना का नाश करे ॥ ५ ॥

पैद्व प्रेहि प्रथमोऽनु त्वा वयमेमसि ।

अहीन् व्यस्यतात् पथो येन स्मा वयमेमसि ॥ ६ ॥

पैद्व । प्र । इहि । प्रथमः । अनु । त्वा । वयम् । आ । ईमसि ॥ अहीन् । वि । अस्यतात् । पथः । येन । स्म । वयम् । आ-ईमसि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पैद्व) हे शीघ्रगामी [पुरुष !] (प्रथमः) आगे होकर (प्र इहि) बढ़ा चल, (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (वयम्) हम (आ ईमसि) आते हैं। (अहीन्) महाहिंसक [सांपों] को (पथः) उस मार्ग से (वि अस्यतात्) मार गिरा (येन) जिस से (वयम्) हम (स्म) ही (आ—ईमसि) आते हैं ॥ ६ ॥

लम्) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३। २। १०१। कं+सरणी+लीङ् श्लेषणे—ड, अकारलोपः। कोः कादेशः। कु कुत्सितायां सरण्यां मार्गे लीनं श्लिष्टम् (पैद्वः) (श्वित्रम्) अ० ३। २७। ६। श्वेतम् (उत) अपिच (असितम्) अ० ३। २७। १। कृष्णसर्पम् (रथर्व्याः) रथर्यतिर्गतिकर्मा-निघ० २। १४। कृगृशृदृभ्यो वः। उ० १। १५५ रथर् गतौ—व। जातेरस्त्री०। पा० ४। १। ६३। ङीष्। शीघ्रगामिन्याः सर्पिण्याः (शिरः) (सम्) सम्यक् (विभेद) चिच्छेद (पृदाकाः) अ० १। २७। १। पर्द कुत्सिते शब्दे—काकु, ऊङ्। कुत्सितशब्दकारिण्याः सर्पिण्याः ॥

६—(पैद्व) मं० ५। हे शीघ्रगामिन् (प्र इहि) अग्रे गच्छ (प्रथमः) प्रधानः (अनु) अनुसृत्य (त्वा) (वयम्) (आ—ईमसि) ई गतौ—लट्, मसो मसि। ईमः। आगच्छामः (अहीन्) म० १। महाहिंसकान्। सर्पान् (वि) विशेषेण (अस्यतात्) अस्य। क्षिप (पथः) मार्गात् (येन) यथा (स्म) अवधारणे (वयम्, आ ईमसि) ॥

भावार्थ—अग्रगामी शूर को शत्रुओं के नाश करने में सब लोग सहाय करें ॥ ६ ॥

इदं पैद्वो अजायतेदमस्य परायणम् ।
इमान्यर्वतः पदाहिघ्न्यो वाजिनीवतः ॥ ७ ॥

इदम् । पैद्वः । अजायत । इदम् । अस्य । परा-अयनम् ॥
इमानि । अर्वतः । पदा । अहि-घ्न्यः । वाजिनी-वतः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) अब (पैद्वः) शीघ्रगामी पुरुष (अजायत) प्रकट हुआ है, (इदम्) यह (अस्य) इसका (परायणम्) पराक्रम का मार्ग है। (अर्वतः) शीघ्र गामी (अहिघ्न्यः) महाहिंसक [सांपों] के मारनेवाले (वाजिनीवतः) अन्न युक्त क्रिया वाले [पुरुष] के (इमानि) यह (पदा) पद-चिह्न हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—पूर्वज महात्माओं के चरित्रों पर चलकर मनुष्य आगे बढ़े ७॥

संयतं न वि ष्परद् व्यात्तं न सं यमत् ।
अस्मिन् क्षेत्रे द्वावही स्त्री च पुमांश्च तावुभावरसा ॥ ८ ॥

सम्-यतम् । न । वि । स्परत् । वि-आत्तम् । न । सम् । यमत् ॥
अस्मिन् । क्षेत्रे । द्वौ । अही इति । स्त्री । च । पुमान् । च । तौ । उभौ । अरसा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—वह [सांप] (संयतम्) मुंदे हुये मुख को (न) न (विस्प-

७—(इदम्) इदानीम् (पैद्वः) म० ५ । शीघ्रगामी (अजायत) प्रादुरभवत् (इदम्) (अस्य) पुरुषस्य (परायणम्) परा पराक्रमयुक्तम् अयनं मार्गः (इमानि) (अर्वतः) अ० ६ । ६२ । २ । ऋ गतौ—वनिप् । शीघ्रगामिनः । विज्ञानिनः (पदा) पदचिह्नानि (अहिघ्न्यः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । अहि+हन हिंसागत्योः—यक् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । षष्ठ्याः सुः । अहिघ्न्यस्य महाहिंसकस्य सर्पस्य नाशकस्य (वाजिनीवतः) अ० ४ । ३८ । ६ । अन्नवतीक्रियायुक्तस्य ॥

८—(संयतम्) संकुचितंमुखम् (न) निषेधे (वि) विवृत्य (स्परत्)

रत्) खोले और (व्यात्तम्) खुले मुख को (न) न (सम् यमत्) मूंदे। (अस्मिन्) इस (क्षेत्रे) खेत [संसार] में (द्वौ) दो (अही) महाहिंसक [सांप] (स्त्री) स्त्री (च च) और (पुमान्) नर हैं, (तौ) वे (उभौ) दोनों (अरसा) नीरस [हो जावें] ॥ ८॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष ऐसा प्रयत्न करें कि सर्पिणी सर्प समान स्त्री और पुरुष रूप दोनों प्रकार की प्रजायें उपद्रव न मचावें ॥ ८॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—अ० ६। ५६। १। के उत्तर भाग में आचुका है ॥

अरसास इहाहयो ये अन्ति ये च दूरके।
घनेन हन्मि वृश्चिकमहिं दण्डेनागतम् ॥ ९ ॥

अरसासः। इह। अहयः। ये। अन्ति। ये। च। दूरके ॥
घनेन। हन्मि। वृश्चिकम्। अहिम्। दण्डेन। आ-गतम् ॥९॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (अहयः) महाहिंसक [सांप] (अरसासः) नीरस हों, (ये) जो (अन्ति) पास (च) और (ये) जो (दूरके) दूर हैं। (आगतम्) आये हुये (वृश्चिकम्) डंक मारने वाले बिच्छू और (अहिम्) महाहिंसक [सांप] को (घनेन) सोंटे वा मोंगरे से और (दण्डेन) दण्डे से (हन्मि) मैं मारता हूं ॥ ९॥

भावार्थ—मनुष्य सांप रूप दुःखदायियों को यथावत् दण्ड देवें ॥ ९॥

रपृ प्रीतिचालनयोः—लेट्। चालयेत् (व्यात्तम्) अ० ६। ५६। १। विवृतं मुखम् (संयमत्) संश्लिष्येत् (अस्मिन्) प्रत्यक्षे (क्षेत्रे) क्षेत्ररूपे संसारे (द्वौ) (अही) म० १। महाहिंसकौ सर्पौ (स्त्री) (च) (पुमान्) अ० १। ८। १। नरः (च) (तौ) (उभौ) (अरसा) सारहीनौ ॥

९—(अरसासः) अरसाः। सारहीनाः (इह) अत्र (अहयः) म० १। महाहिंसकाः। सर्पाः (ये) (अन्ति) पार्श्वे (ये) (च) (दूरके) दूरे (घनेन) काष्ठस्य लोहस्य वा मुद्गरेण (हन्मि) (वृश्चिकम्) वृश्चिकृष्योः किकन्। उ० २। ४०। ओ व्रश्चू छेदने-किकन्। छेदनशीलम्। कीटभेदम् (अहिम्) (दण्डेन) अमन्ताड्डः। उ० १। ११४। दमु उपशमे-ड, यद्वा दण्ड दण्डपातने-अच्। दमनसाधनेन लगुडेन (आगतम्) ॥

अघाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च ।
इन्द्रो मेऽहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥ १० ॥ (१०)

अघ-अश्वस्य । इदम् । भेषजम् । उभयोः । स्वजस्य । च ॥
इन्द्रः । मे । अहिम् । अघ-यन्तम् । अहिम् । पैद्वः । अर-न्धयत् ॥ १० ॥ (१०)

भाषार्थ—(उभयोः) दोनों, (अघाश्वस्य) अघाश्व [कष्ट फैलाने वाले सर्प विशेष] का (च) और (स्वज्यस्य) स्वज [लिपट जाने वाले सर्प विशेष] का (इदम्) यह (भेषजम्) औषध है । (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाले (पैद्वः) शीघ्रगामी [पुरुष] ने (मे) मेरे लिये (अघायन्तम्) बुरा चीतने वाले (अहिम्) महाहिंसक (अहिम्) सांप को (अरन्धयत्) मारा है ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे वैद्यराज बड़े बड़े विषैले सांपों को वश में करता है वैसे ही राजा दुष्टों को वश में करे ॥ १० ॥

पैद्वस्य मन्महे वयं स्थिरस्य स्थिरधाम्नः ।
इमे पश्चा पृदाकवः प्रदीध्यत आसते ॥ ११ ॥

पैद्वस्य । मन्महे । वयम् । स्थिरस्य । स्थिर-धाम्नः ॥
इमे । पश्चा । पृदाकवः । प्र-दीध्यतः । आसते ॥ ११ ॥

१०—(अघाश्वस्य) अघमश्नुते । अघ पापकरणे—अच् + अशू व्याप्तौ—क्वन् । कष्टप्रस्तारकस्य सर्पविशेषस्य (इदम्) (भेषजम्) औषधम् (उभयोः) (स्वजस्य) ष्वञ्ज आलिङ्गने—क । आलिङ्गनशीलस्य । सर्पविशेषस्य (च) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (मे) मह्यम् (अहिम्) म० १ । महाहिंसकम् (अघायन्तम्) छन्दसि परेच्छायामपि वक्तव्यम् । वा० पा० ३ । १ । ८ । अघ—क्यच्—शतृ । अश्वाघस्यात् । पा० ७ । ४ । ३७ । आत्वं सांहितिकम् । अघमिच्छन्तम् (अहिम्) सर्पम् (पैद्वः) म० ५ । शीघ्रगामी (अरन्धयत्) रध हिंसासंराद्ध्योः—णिच्—लङ् । रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते—निरु० १० । ४० । मारितवान् । वशीकृतवान् ॥

भाषार्थ—(स्थिरस्य) स्थिर स्वभाव वाले (स्थिरधाम्नः) स्थिर तेज वाले (पैद्वस्य) शीघ्रगामी [पुरुष] का (वयम्) हम (मन्महे) चिन्तन करते हैं। (इमे) यह (प्रदीध्यतः) क्रीड़ा करते हुये (पृदाकवः) फुसकारने वाले [सांप] (पश्चा) पीछे (आसते) बैठते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कुटिल सांप के समान छिपे उपद्रवियों का खोज लगाते हैं; वे संसार में स्मरणीय होते हैं ॥ ११ ॥

नष्टासवो नष्टविषा हता इन्द्रेण वज्रिणा ।
जघानेन्द्रो जघ्निमा वयम् ॥ १२ ॥

नष्ट-असवः । नष्ट-विषाः । हताः । इन्द्रेण । वज्रिणा ॥
जघान । इन्द्रः । जघ्निम । वयम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणा) वज्रधारी (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] करके (हताः) मारे गये [सांप] (नष्टासवः) प्राणों से नष्ट और (नष्टविषाः) विष से नष्ट [होवें]। (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने [सांपों को] (जघान) मारा था, और (वयम्) हम ने (जघ्निम) मारा था ॥ १२ ॥

भावार्थ—दुष्टों के मारने में पूर्वजों के समान सब लोग शूर का साथ देवें ॥ १२ ॥

हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ।
दर्विं करिक्रतं श्वित्रं दर्भेष्वसितं जहि ॥ १३ ॥

११—(पैद्वस्य) म० ५। शीघ्रगामिनः पुरुषस्य। अधीगर्थदयेशां कर्मणि। पा० २। ३। ५२। इति षष्ठी। (मन्महे) चिन्तयामः। स्मरामः (वयम्) (स्थिरस्य) दृढस्वभावस्य (स्थिरधाम्नः) दृढतेजस्कस्य (इमे) (पश्चा)तलोपः। पश्चात् (पृदाकवः) कुत्सितशब्दकारकाः। सर्पाः (प्रदीध्यतः) वर्तमाने पृषद्बृहन्०। उ० २। ८४। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—अति। क्रीडन्तः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

१२—(नष्टासवः) विगतप्राणाः (नष्टविषाः) विगतगरलाः(हताः)मारिताः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता पुरुषेण (वज्रिणा) वज्रधारिणा (जघान) नाशितवान् (जघ्निम) नाशितवन्तः(वयम्) ॥

हृताः । तिरश्चि-राजयः । नि-पिष्टासः । पृदाकवः ॥
दर्विम् । करिक्रतम् । श्वित्रम् । दर्भेषु । असितम् । जहि ॥१३॥

भाषार्थ—(तिरश्चिराजयः) तिरछी धारी वाले (पृदाकवः) फुंस-कारने वाले [सांप] (हृताः) मार डाले गये और (निपिष्टासः) कुचिल डाले गये [हों] । (दर्भेषु) दाभों में (दर्विम्) फन को (करिक्रतम्) बड़ा करने वाले, (श्वित्रम्) श्वेत और (असितम्) काले [सांप] को (जहि) मार डाल ॥१३॥

भावार्थ—मनुष्य महाउपद्रवियों को सांपों के समान मारें ॥ १३ ॥

कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥ १४ ॥

कैरातिका । कुमारिका । सका । खनति । भेषजम् ॥
हिरण्ययीभिः । अभ्रि-भिः । गिरीणाम् । उप । सानुषु ॥१४॥

भाषार्थ—(सका) वह [प्रसिद्ध] (कैरातिका) चिरायता और (कुमारिका) कुवारपाठा, (औषधम्) ओषधि (हिरण्ययीभिः) तजोमयी [चमकीली, उजली] (अभ्रिभिः) खुरपियों से (गिरीणाम्) पहाड़ों की (सा-

१३—(हृताः) नाशिताः (तिरश्चिराजयः) अ० ३ । २७ । २ । तिर्यगवस्थितरेखाः (निपिष्टासः) अत्यन्तचूर्णिताः (पृदाकवः) कुत्सितशब्दाः । सर्पाः (दर्विम्) अ० ४ । १४ । ७ । दॄ विदारणे-विन् । सूपचालनपात्रवद्विदारकं फणम् (करिक्रतम्) दाधर्ति दर्धर्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । करोतेर्यङ्लुकि शतृ । भृशं कुर्वन्तम् (श्वित्रम्) म० ५ । श्वेतम् (दर्भेषु) काशेषु (असितम्) म० ५ । कृष्णम् (जहि) नाशय ॥

१४—(कैरातिका) किरात-स्वार्थे कन्, अण् टाप् च । भूनिम्बः, ओषधिविशेषः (कुमारिका) कुमारी-स्वार्थे कन्, टाप् च । घृतकुमारिका, ओषधिविशेषः (सका) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० । ५ । ३ । ७१ । सा-अकच् । सा प्रसिद्धा (खनति) कर्मणि कर्तृप्रयोगः । खन्यते (भेषजम्) औषधम् (हिरण्ययीभिः) तेजोमयीभिः । उज्ज्वलाभिः (अभ्रिभिः) सर्वधातुभ्य

नुषु उप) समभूमियों के ऊपर (खनति=खन्यते) खोदी जाती है ॥ १४ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग दूर दूर से मंगाकर उपकारी ओषधियों का प्रयोग करते हैं. वैसे ही विद्वान् लोग विद्या प्राप्त करके मूर्खता का नाश करें ॥ १४ ॥

यह (कैरातिका) शब्द कैरात वा किरातक अर्थात् चिरायते के लिये और (कुमारिका) शब्द कुमारी अर्थात् गुआरपाठे [घी गुआर] के लिये आया है ॥

चिरायते के संक्षिप्त नाम और गुण इस प्रकार हैं—भावप्रकाश, हरीतक्यादिवर्ग, श्लोक १४४, १४६ ॥ किराततिक्त, कैरात, कटुतिक्त और किरातक चिरायते के नाम हैं ॥ वह सन्निपातज्वर, श्वास, कफ, पित्त, रुधिर विकार और दाहनाशक तथा खांसी, सूजन, प्यास, कुष्ठ, ज्वर, व्रण और कृमिरोग नाशक है ॥

गुआरपाठे के संक्षिप्त नाम और गुण—भावप्रकाश, गुडूच्यादिवर्ग, श्लोक २१३, २१४ ॥ कुमारी, गृहकन्या, कन्या, घृतकुमारिका घी कुवार के नाम हैं. घीकुवार रेचक, शीतल, कड़वी, नेत्रों को हितकारी, रसायनरूप, मधुर, पुष्टिकारक, बलकारक, वीर्यवर्धक और वात, विष नाशक है ॥

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भन उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥ १५ ॥

आ । अयम् । अगन् । युवा । भिषक् । पृश्नि-हा । अपराजितः ॥ सः । वै । स्वजस्य । जम्भनः । उभयोः । वृश्चिकस्य । च ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (युवा) युवा (पृश्निहा) स्पर्श करने वाले [सर्प] का नाश करने वाला, (अपराजितः) न हारा हुआ (भिषक्) वैद्य (आ अगन्) आया है । (सः) वह (वै) निश्चय करके (उभयोः) दोनों (स्वजस्य)

इन् । उ० ४ । ११८ । अभ्र गतौ—इन् तीक्ष्णाग्रैर्लोहदण्डैः (गिरीणाम्) शैलानाम् (उप) उपरि (सानुषु) समभूमिदेशेषु ॥

१५—(आ अगन्) आगतवान् (अयम्) प्रसिद्धः (भिषक्) चिकित्सकः (पृश्निहा) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । स्पृश स्पर्शे—नि, सलोपः + हन

स्वज [लिपट जाने वाले सर्प विशेष] (च) और (वृश्चिकस्य) डंक मारने वाले बिच्छू का (जम्भनः) नाश करने वाला है ॥ १५ ॥

भावार्थ–बलवान् चतुर वैद्य सब प्रकार के विषैले जीवों का नाश करे १५

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयन्मित्रश्च वरुणश्च ।

वातापर्जन्योभा ॥ १६ ॥

इन्द्रः । मे । अहिम् । अरन्धयत् । मित्रः । च । वरुणः । च ॥ वातापर्जन्या । उभा ॥ १६ ॥

भाषार्थ–(मित्रः) सूर्य [के समान] (च च) और (वरुणः) जल [के समान] और (उभा) दोनों (वातापर्जन्या) वायु और मेघ [के समान गुण वाले] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष ने (मे) मेरे लिये (अहिम्) महाहिंसक [सर्प] को (अरन्धयत्) मारा है ॥ १६ ॥

भावार्थ–परोपकारी विद्वान् वैद्य संसार के उपकार के लिये विषैले जीवों को वश में करे ॥ १६ ॥

इन्द्रो मेऽहिमरन्धयत् पृदाकुं च पृदाक्वम् ।

स्वजं तिरश्चिराजिं कसर्णीलं दशोनसिम् ॥ १७ ॥

इन्द्रः । मे । अहिम् । अरन्धयत् । पृदाकुम् । च । पृदाक्वम् ॥ स्वजम् । तिरश्चि-राजिम् । कसर्णीलम् । दशोनसिम् ॥१७॥

भाषार्थ–(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान पुरुष ने (मे) मेरे लिये (पृदाकुम्)

हिंसागत्योः–क्विप् । स्पर्शनशीलानां सर्पाणां नाशकः (अपराजितः) अनभिभूतः (सः) भिषक् (वै) निश्चयेन (स्वजस्य) म० १० । आलिङ्गनशीलस्य सर्पस्य (जम्भनः) नाशकः (वृश्चिकस्य) छेदनशीलस्य कीटस्य (च) ॥

१६–(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् वैद्यः (मे) मह्यम (अहिम्) म० १ । महाहिंसकं सर्पम् (अरन्धयत्) म० १० । मारितवान् (मित्रः) प्रेरकः सूर्यो यथा (च) (वरुणः) जलवद् गुणकारी (वातापर्जन्या) वायुमेघौ यथा (उभा) द्वौ ॥

१७–(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (मे) मह्यम् (अहिम्) महाहिंसकम्

फुंसकारने वाले (अहिम्) सांप (च) और (पृदाकम्) फुंस कारती हुई सांपिन को, (स्वजम्) स्वज [लिपट जाने वाले], (तिरश्चिराजिम्) तिरछी धारा वाले, (कसर्णीलम्) बुरे मार्ग में छिपे हुये और (दशोनसिम्) काटकर हानि पहुंचाने वाले [सांप] को (अरन्धयत्) नाश किया है ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १७ ॥

इन्द्रो॑ जघान प्रथ॒मं ज॑नि॒तार॑महे॒ तव॑ ।

तेषा॑मु तृ॒ह्यमा॑णानां॒ कः स्वि॒त् तेषा॑मस॒द् रसः॑ ॥ १८ ॥

इन्द्रः॑ । ज॒घान॑ । प्र॒थ॒मम् । ज॒नि॒तार॑म् । अ॒हे॒ । तव॑ ॥

तेषा॑म् । ऊं॒ इति॑ । तृ॒ह्यमा॑णानाम् । कः । स्वि॒त् । तेषा॑म् । अ॒स॒त् । रसः॑ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अहे) हे महाहिंसक [सांप !] (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष ने (तव) तेरे (जनितारम्) जन्म दाता को (प्रथमम्) पहिले (जघान) मारा था। (तेषाम् तेषाम्) उनहीं (तृह्यमाणानाम्) छिदे हुओं का (उ) ही (कः स्वित्) कौनसा (रसः) रस [पराक्रम] (असत्) होवे ॥ १८ ॥

भावार्थ—बलवान् प्रतापी पुरुष हिंसक जीवों के बड़े और छोटों को नाश करे ॥ १८ ॥

सं हि शी॒र्षाण्यग्र॑भं पौञ्जि॒ष्ठ इ॑व॒ कर्व॑रम् ।

(अरन्धयत्) म० १० मारितवान् (पृदाकुम्) कुत्सितशब्दकारिणम् (च) (पृदाकम्) कुत्सितशब्दकरीं सर्पिणीम् (स्वजम्) आलिङ्गनशीलम् (तिरश्चिराजिम्) म० १३। तिर्यगवस्थितरेखम् (कसर्णीलम्) म० ५। कुत्सितमार्गे लीनं श्लिष्टम् (दशोनसिम्) दंश दंशने—घञर्थे क। सानसिवर्णसि०। उ० ४। १०७। ऊन परिहाणे-असि। दशेन दंशनेन ऊनसिर्हानिर्यस्मात् तं सर्पम् ॥

१८—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (जघान) नाशितवान् (प्रथमम्) आदौ (जनितारम्) जनयितारं जनकम् (अहे) हे महाहिंसक (तव) (तेषाम् तेषाम्) तेषामेव (उ) निश्चयेन (तृह्यमाणानाम्) हिंस्यमानानाम् (कः स्वित्) (असत्) भवेत् (रसः) पराक्रमः ॥

सिन्धोर्मध्यं परेत्य व्यनिजमहेर्विषम् ॥ १९ ॥

सम् । हि । शीर्षाणि । अग्रभम् । पौञ्जिष्ठः-इव । कर्वरम् ॥
सिन्धोः । मध्यम् । परा-इत्य । वि । अनिजम् । अहेः । विषम् १९

भाषार्थ—(हि) क्योंकि [सांपों के] (शीर्षाणि) शिरों को (सम् अग्रभम्) मैं ने पकड़ लिया है, (पौञ्जिष्ठः इव) जैसे महा ओजस्वी पुरुष (कर्वरम्) व्याघ्र को [पकड़ लेता है]। (सिन्धोः) नदी के (मध्यम्) मध्य में (परेत्य) दूर जाकर (अहेः) महाहिंसक [सांप] के (विषम्) विषको (वि अनिजम्) मैं ने धो डाला है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे पराक्रमी मनुष्य व्याघ्र आदि को पकड़ लेता है, वैसे ही बलवान् गुणवान् पुरुष उपद्रवियों की दुष्टता को इस प्रकार नष्ट कर दे, जैसे मल आदि को नदी में बहा देते हैं ॥ १९ ॥

अहीनां सर्वेषां विषं परा वहन्तु सिन्धवः ।
हतास्तिरश्चिराजयो निपिष्टासः पृदाकवः ॥ २० ॥ (११)

अहीनाम् । सर्वेषाम् । विषम् । परा । वहन्तु । सिन्धवः ॥
हताः । तिरश्चि-राजयः । नि-पिष्टासः । पृदाकवः ॥ २० ॥ (११)

भाषार्थ—(सिन्धवः) नदियां (सर्वेषाम्) सब (अहीनाम्) महाहिंसक [सांपों] के (विषम्) विष को (परा वहन्तु) दूर बहा ले जावें

१९-(सम्) सम्यक् (हि) यस्मात् कारणात् (शीर्षाणि) मस्तकानि (अग्रभम्) अग्रहम् । अग्रहीषम् (पौञ्जिष्ठः) प्र-ओजिष्ठः प्र-ओजस्वी-इष्ठन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५ । ३ । ६५ । विनो लुक्, छान्दसं रूपम् । प्रौजिष्ठः । पराक्रमितमः (इव) यथा (कर्वरम्) कृगॄशॄवृञ्चतिभ्यः ष्वरच् । उ० २ । १२१ । कृ क्षेपे हिंसायां च यद्वा कृञ् हिंसायाम्-ष्वरच् । हिंसकम् । व्याघ्रम् । राक्षसम् (सिन्धोः) नद्याः (मध्यम्) (परेत्य) दूरं गत्वा (वि) विविधम् (अनिजम्) णिजिर् शौचपोषणयोः-लुङ् (अहेः) म० १ । सर्पस्य (विषम्) ॥

२०-(अहीनाम्) म० १ । सर्पाणाम् (सर्वेषाम्) (विषम्) (परा) दूरे (वहन्तु) नयन्तु (सिन्धवः) नद्यः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १३ ॥

(तिरश्चिराजयः) तिरछी धारी वाले, (पृदाकवः) फुंसकरने वाले सांप (हताः) मार डाले गये और (निपिष्टासः) कुचिल डाले गये [हों] ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्प समान दुःखदायी दुर्गुणों को ऐसा नष्ट करे जैसे मल आदि को पानी में बहा देते है ॥ २० ॥

ओषधीनामहं वृण उर्वरीरिव साधुया ।
नयाम्यर्वतीरिवाहे निरैतु ते विषम् ॥ २१ ॥

ओषधीनाम् । अहम् । वृणे । उर्वरीः-इव । साधु-या ॥
नयामि । अर्वतीः-इव । अहे । निः-ऐतु । ते । विषम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(ओषधीनाम्) ओषधियों मेंसे (उर्वरीःइव) बड़ोंको मिलने योग्य [ओषधियों] को (साधुया) योग्यता से (अहम्) मैं (वृणे) अङ्गीकार करता हूं । और (अर्वतीः इव) बड़ी बुद्धिमती [स्त्रियों] के समान (नयामि) मैं लाता हूं. (अहे) हे महाहिंसक [सांप !] (ते विषम्) तेरा विष (निरैतु) निकल आवे ॥ २१ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग रोग निवृत्ति के लिये उत्तम ओषधियों को ऐसे आदर से ग्रहण करें, जैसे विद्वान् गुणवती बुद्धिमती स्त्रियों का मान करते हैं २१॥

यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् ।
कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥ २२ ॥

यत् । अग्नौ । सूर्ये । विषम् । पृथिव्याम् । ओषधीषु । यत् ॥

२१—(ओषधीनाम्) (अहम्) (वृणे) अङ्गीकरोमि (उर्वरीः) उरु + ऋ गतिप्रापणयोः—अच्, ङीप् । उरुभिर्महद्भिः प्रापणीया ओषधीः (इव) पादपूरणः (साधुया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्याजादेशः । साधुना धर्मेण सह (नयामि) प्रापयामि (अर्वतीः) अ० ६ । ९२ । २ । ऋ गति प्रापणयोः—वनिप् । अर्वणस्त्रसावनञः । पा० ६ । ४ । १२७ । इति तृ, उगित्वाद् ङीप् बुद्धिमतीः स्त्रीः । अर्वतीः प्रशस्तबुद्धिमत्यः कन्याः—दयानन्दभाष्ये, ऋ० १।४८।३ (इव) यथा (अहे) हे सर्प (निरैतु) बहिरागच्छतु (ते) तव (

क्वान्दा-विषम् । कुनक्नकम् । निः-ऐतु । आ । एतु । ते । विषम् २२

भाषार्थ—[हे सर्प !] (यत् विषम्) जो विष (अग्नौ) अग्नि में, (सूर्ये) सूर्य में, (पृथिव्याम्) पृथिवी में, और (यत्) जो (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न आदि पदार्थों] में है। (कान्दाविषम्) मेघ से उत्पन्न [ओषधियों] में व्यापक, (कनक्नम्) गति [उद्योग] नाशक (ते विषम्) तेरा विष (निरैतु) निकल आवे, (आ एतु) [निकल] आवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों में अति वृद्धि वा अति न्यूनता के कारण सर्प के विष के समान रोगकारक क्रिया को त्याग कर विचार पूर्वक समता ग्रहण करके स्वस्थ रहें ॥ २२ ॥

ये अ॑ग्नि॒जा ओ॑षधि॒जा अही॑नां॒ ये अ॑प्सु॒जा वि॒द्युत॑ आब॒भूवुः॑।
येषां॑ जा॒तानि॑ बहु॒धा म॒हान्ति॒ तेभ्यः॑ स॒र्पेभ्यो॒ नम॑सा विधेम २३

ये । अ॒ग्नि॒-जाः । ओ॒ष॒धि॒-जाः । अही॑नाम् । ये । अ॒प्सु॒-जाः । वि॒-द्युतः॑ । आ॒-ब॒भू॒वुः ॥ येषा॑म् । जा॒तानि॑ । ब॒हु॒-धा । म॒हा॒न्ति॑ । तेभ्यः॑ । स॒र्पेभ्यः॑ । नम॑सा । वि॒धे॒म ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अहीनाम्) सर्पों में से (ये) जो (अग्निजाः) अग्नि में उत्पन्न, (ओषधिजाः) ओषधियों [अन्न आदि में उत्पन्न, (ये) जो (अप्सुजाः) जल में उत्पन्न होकर (विद्युतः) बिजुलियों [समान] (आवभूवुः) सब ओर हुये हैं। (येषाम्) जिनके (जातानि) समूह (बहुधा) बहुधा [नाना

२२—(कान्दाविषम्) अब्दादयश्च । उ० ४ । ९८ । कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—दप्रत्ययः । कन्दो मेघः । तस्यापत्यम् । पा० ४ । १ । ९२ । अण्, टाप् कन्दात् मेघात् जातासु ओषधीषु विषं प्रवेशो यस्य तत् (कनक्नकम्) कनी दीप्त्यादिषु अच्+क्नथ वधे—ड, स्वार्थे—कन् । गतिनाशकम् । उद्योगवर्जकम् (ऐतु) आगच्छतु । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

२३—(ये) अहयः (अग्निजाः) अग्नौ जाताः (ओषधिजाः) ओषधिषु जाताः (अहीनाम्) सर्पाणां मध्ये (ये) (अप्सुजाः) जलजाताः (विद्युतः) तडितो यथा (आवभूवुः) समन्तात्प्रादुर्बभूवुः (येषाम्) (जातानि) वृन्दानि

प्रकार से] (महान्ति) बड़े बड़े हैं, (तेभ्यः सर्पेभ्यः) उन सर्पों के [नाश के] लिये (नमसा) वज्र से (विधेम) हम शासन करें ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि आदि पदार्थों में से सर्प रूप हानिकारक अवगुणों का नाश करके स्वास्थ्य बढ़ावें ॥ २३ ॥

तौदी नामासि कुन्या घृताची नाम वा असि ।
अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम् ॥ २४ ॥

तौदी । नाम । असि । कुन्या । घृताची । नाम । वै । असि ॥
अधः-पदेन । ते । पदम् । आ । ददे । विष-दूषणम् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(तौदी) वृद्धि [बलवृद्धि] वाली (कन्या) कामना योग्य [कन्या अर्थात् गुआरपाठा] (नाम) नाम वाली (असि) तू है, (घृताची) घृत [समान रस] पहुंचाने वाली (नाम) नाम वाली (वै) ही (असि) तू है। (अधस्पदेन) [शत्रु के] नीचे पद के कारण (ते) तेरे (विषदूषणम्) विष खण्डक (पदम्) पद को (आ ददे) मैं ग्रहण करता हूं ॥ २४ ॥

भावार्थ—गुआरपाठा ओषधि पुष्टिकारक और विषनाशक है, टिप्पणी मन्त्र १४ देखो। मनुष्य गुआर पाठे आदि ओषधियों द्वारा रोगों का नाश करके स्वस्थ रहें ॥ २४ ॥

अङ्गादङ्गात् प्र च्यावय हृदयं परि वर्जय ।
अधा विषस्य यत् तेजोऽवाचीनं तदेतु ते ॥ २५ ॥

(बहुधा) नानाप्रकारेण (महान्ति) विशालानि (तेभ्यः) (सर्पेभ्यः) सर्पान् नाशयितुम् (नमसा) वज्रेण (विधेम) विध विधाने=शासने-लिङ्। शासनं कुर्याम ॥

२४—(तौदी) अब्दादयश्च । उ० ४ । ९८ । तु गतिवृद्ध्योः-दप्रत्ययः । तोदो वृद्धिः, अण्, ङीप् । तोदेन बलवृद्ध्या युक्ता (नाम) नाम्ना (असि) (कन्या) अ० १ । १४ । २ । कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यक् । कमनीया । कुमारिका । ओषधिविशेषः (घृताची) घृतं रसमञ्चयति प्रापयति सा (नाम) (वै) एव (अधस्पदेन) शत्रूणां नीचपदेन (ते) तव (पदम्) प्रापणीयं गुणम् (आ ददे) गृह्णामि (विषदूषणम्) विषनाशकम् ॥

अङ्गात्-अङ्गात् । प्र । च्यवय । हृदयम् । परि । वर्जय ॥
अध । विषस्य । यत् । तेजः । अवाचीनम् । तत् । एतु । ते ॥ २५

भाषार्थ—[हे ओषधि !] (अङ्गादङ्गात्) अङ्ग अङ्ग से [विष को] (प्र च्यवय) सरका दे और (हृदयम्) हृदय को [उस से] (परि वर्जय) त्याग करा दे। (अध) फिर (विषस्य) विष का (यत् तेजः) जो तेज [प्रचण्डता] है, (तत्) वह (ते) तेरे लिये (अवाचीनम्) नीचे (एतु) जावे ॥२५

भावार्थ-मनुष्य सब रोगों को ओषधि द्वारा शान्त करके प्रसन्न रहें ॥२५॥

आरे अभूद् विषमरौद् विषे विषमप्रागपि ।
अग्निर्विषमहेर्निरधात् सोमो निरणयीत् ।
दंष्टारमन्वगाद् विषमहिरमृत ॥ २६ ॥ (१२)

आरे । अभूत् । विषम् । अरौत् । विषे । विषम् । अप्राक् । अपि ॥ अग्निः । विषम् । अहेः । निः । अधात् । सोमः । निः । अनयीत् ॥ दंष्टारम् । अनु । अगात् । विषम् । अहिः । अमृत ॥ २६ ॥ (१२)

भाषार्थ—वह [विष] (आरे) दूर (अभूत्) हुआ है, [क्योंकि] उस [वैद्य] ने (विषम्) विष को (अरौत्) रोक दिया है, और (विषे) विष में (विषम्) विष को (अपि) भी (अप्राक्) मिला दिया है। (सोमः) ऐश्वर्यवान् (अग्निः) ज्ञानी [पुरुष] ने (अहेः) महाहिंसक [सांप के] (विषम्)

२५—(अङ्गादङ्गात्) (प्र च्यवय) बहिर्गमय (हृदयम्) (परि) सर्वतः (वर्जय) रोधय (अध) अथ (विषस्य) (यत्) (तेजः) तीक्ष्णता (अवाचीनम्) अधोमुखं गतम् (तत्) (एतु) गच्छतु (ते) तुभ्यम् ॥

२६—(आरे) दूरे-निघ० ३। २६ (अभूत्) (विषम्) (अरौत्) रुधिर् आवरणे-छान्दसो लुङ्। अरुधत्। अरौत्सीत् (विषे) (विषम्) (अप्राक्) पृची सम्पर्के लुङ्। अपर्चीत् (अपि) एव (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (विषम्) (अहेः) सर्पस्य (निरधात्) बहिर्धृतवान् (निर् अनयीत्) णीञ् प्रापणे। कृनै-

विष को (निः अधात्) निकाल लिया है और (निः अनयीत्) बाहिर पहुंचा दिया है। (विषम्) विष (दंष्टारम् अनु) काटने वाले के साथ (अगात्) गया है और (अहिः) सांप (अमृत) मर गया है ॥ २५ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र का मिलान अ० ७। ८८। १। से भी करो। जैसे सद्वैद्य विष ओषधि द्वारा विष रोग को हटाता है, वैसे ही विद्वान् एक इन्द्रिय को वश में करके दूसरे इन्द्रिय दोष को मिटावे ॥ २६ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥ मन्त्राः १-५० ॥

विभागः १। मन्त्राः १-२४ ॥ आपो देवताः ॥ १-५, ११, १४ आर्षी पङ्क्तिः; ६ आर्षी जगती; ७-१०, १२, १३ आर्षी बृहती; १५-१८, २१ अतिधृतिः; १६, २० कृतिः; २२, २३ अनुष्टुप्; २४ त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्यं॑१॒ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑। जि॒ष्णवे॒ योगा॑य ब्रह्मयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥१॥

इन्द्र॑स्य। ओजः॑। स्थ॒। इन्द्र॑स्य। सहः॑। स्थ॒। इन्द्र॑स्य। बल॑म्। स्थ॒। इन्द्र॑स्य। वी॒र्य॑म्। स्थ॒। इन्द्र॑स्य। नृ॒म्णम्। स्थ॒ ॥ जि॒ष्णवे॑। योगा॑य। ब्र॒ह्म॒ऽयो॒गैः। वः॒। यु॒न॒ज्मि॒ ॥१॥

भावार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (सहः) पुरुषार्थ (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (बलम्) बल (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा की (वीर्यम्) वीरता

पीत्। प्रापितवान् (दंष्टारम्) दंशकं सर्पम् (अनु) अनुसृत्य (अगात्) अगच्छत् (विषम्) (अहिः) (अमृत) मृङ् प्राणत्यागे-लुङ्। मृतवान् ॥

१—(इन्द्रस्य) आत्मनः (ओजः) पराक्रमः (स्थ) भवथ (सहः) पुरुषार्थः (बलम्) सामर्थ्यम् (वीर्यम्) वीरता (नृम्णम्) अ० ४। २४। ३।

(स्थ) हो। (इन्द्रस्य) आत्मा की (नृम्णम्) शूरता (स्थ) हो। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (ब्रह्मयोगैः) ब्रह्मयोगों [परमात्मा के ध्यानों] से (वः) तुम को (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के गुणों में चित्त लगाते हैं, वे सब प्रकार आत्मोन्नति करके अनेक प्रकार से ऐश्वर्यवान् होते हैं ॥ १ ॥

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगाय क्षत्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ २ ॥

० योगाय। क्षत्र-योगैः। वः। ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम……म० १। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (क्षत्रयोगैः) राज्य के ध्यानों से (वः) तुमको (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगायेन्द्रयोगैर्वो युनज्मि ॥ ३ ॥

० योगाय। इन्द्र-योगैः। वः। ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम……म० १। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (इन्द्रयोगैः) आत्मा के ध्यानों से (वः) तुम को (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥३॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

इन्द्रस्यौज०। जिष्णवे योगाय सोमयोगैर्वो युनज्मि ॥ ४ ॥

० योगाय। सोम-योगैः। वः। ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम……म० १। (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (सोमयोगैः) ऐश्वर्य के ध्यानों से (वः) तुमको (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ समान है ॥ ४ ॥

शूरत्वम् (जिष्णवे) अ० ३। १९। १। विजयिने (योगाय) संयोगाय। अवसराय (ब्रह्मयोगैः) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ध्यानैः (वः) युष्मान् (युनज्मि) संयोजयामि ॥

२—(क्षत्रयोगैः) राज्यध्यानैः। अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

३—(इन्द्रयोगैः) आत्मनो जीवस्य ध्यानैः। अन्यत् पूर्वत्-म० १ ॥

४—(सोमयोगैः) षु ऐश्वर्ये-मन्। ऐश्वर्यचिन्तनैः। अन्यत् पूर्ववत्-म० १॥

इन्द्रस्यौज॒० । जि॒ष्णवे॑ योगा॑याप्सुयो॒गैर्वो॑ युनज्मि ॥ ५ ॥

० योगा॑य । अ॒प्सु-यो॒गैः । व॒ः । यु॒न॒ज्मि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम ......म० १ । (जिष्णवे) विजयी (योगाय) संयोग के लिये (अप्सुयोगैः) प्राणों में ध्यान के साथ (वः) तुमको (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ५ ॥

इन्द्र॒स्यौज॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ सह॒ स्थेन्द्र॑स्य॒ बलं॒ स्थेन्द्र॑स्य वी॒र्य॑ १ स्थेन्द्र॑स्य नृ॒म्णं स्थ॑ । जि॒ष्णवे॑ योगा॑य॒ विश्वा॑नि मा भू॒ता न्युप॑ तिष्ठन्तु यु॒क्ता म॑ आप स्थ ॥ ६ ॥

इन्द्र॑स्य । ओज॑ः । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । सह॑ः । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । बल॑म् । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । वी॒र्य॑म् । स्थ॒ । इन्द्र॑स्य । नृ॒म्णम् । स्थ॒ ॥ जि॒ष्णवे॑ । योगा॑य । विश्वा॑नि । मा॒ । भू॒तानि॑ । उप॑ । ति॒ष्ठ॒न्तु॒ । यु॒क्ताः । मे॒ । आ॒प॒ः । स्थ॒ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) आत्मा के (ओजः) पराक्रम (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (सहः) पुरुषार्थ (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा के (बलम्) बल (स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा की (वीर्यम्) वीरता(स्थ) हो, (इन्द्रस्य) आत्मा की(नृम्णम्)शूरता (स्थ) हो । (जिष्णवे) विजयी(योगाय) संयोग के लिये (विश्वानि) सब (भूतानि) उत्पन्न वस्तुयें (मा) मुझे (उप तिष्ठन्तु) सेवें, (आपः) हे सब विद्याओं में व्यापक विद्वानो ! तुम (मे) मेरे लिये (युक्ताः) योगाभ्यासी [पुरुष] (स्थ) हो ॥ ६ ॥

५—(अप्सुयोगैः) अप्सु प्राणेषु-दयानन्दभाष्ये यजु० ८ । २५ । प्राणेषु ध्यानैः सह । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

६—(विश्वानि) सर्वाणि (मा) माम् (भूतानि) उत्पन्नवस्तूनि (उप-तिष्ठन्तु) सेवन्ताम् (युक्ताः) अभ्यस्तयोगाः (मे) मह्यम् (आपः) हे सर्वविद्या-व्यापिनो विपश्चितः-यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । १७ । अन्यत् पूर्ववत्-म० १॥

भावार्थ—मनुष्य यती विद्वानों के सत्सङ्ग द्वारा संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर कार्य सिद्ध करें ॥ ६ ॥

अ॒ग्नेर्भा॒ग स्थ॑। अ॒पां शु॒क्रमा॑पो देवी॒र्वर्चो॑ अ॒स्मासु॑ धत्त। प्र॒जाप॑तेर्वो॒ धाम्ना॒स्मै लो॒काय॑ सादये ॥ ७ ॥

अ॒ग्नेः। भा॒गः। स्थ॒ ॥ अ॒पाम्। शु॒क्रम्। आ॒पः। दे॒वीः। वर्चः॑। अ॒स्मासु॑। ध॒त्त॒ ॥ प्र॒जा-प॑तेः। वः॒। धाम्ना॑। अ॒स्मै। लो॒काय॑। सा॒द॒ये॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (अग्नेः) अग्नि का (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् तेजस्वी हो]। (देवीः) हे उत्तम गुण वाली (आपः) विदुषी प्रजाओ ! (अपाम्) विद्वानों के बीच (अस्मासु) हम में (शुक्रम्) वीरता और (वर्चः) तेज (धत्त) धारण करो। (वः) तुमको (प्रजापतेः) प्रजापति [परमेश्वर] के (धाम्ना) धर्म [नियम] से (अस्मै) इस (लोकाय) लोक [के हित] के लिये (सादये) मैं बैठाता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि आदि के समान तेजस्वी आदि गुणवान् होकर ईश्वर नियम पर चल कर संसार का उपकार करें ॥ ७ ॥

इन्द्र॑स्य भा॒ग स्थ॑। ०। ० ॥ ८ ॥

इन्द्र॑स्य। भा॒गः। ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (इन्द्रस्य) सूर्य के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् प्रतापी हो]......म० ७ ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ८ ॥

७—(अग्नेः) पावकस्य (भागः) अंशः। तेजः (स्थ) (अपाम्) म० ६। विदुषां मध्ये (शुक्रम्) वीर्यम्। पराक्रमम् (आपः) हे आप्ताः प्रजाः—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। २७ (देवीः) दिव्याः (वर्चः) तेजः (अस्मासु) (धत्त) धरत (प्रजापतेः) प्रजापालकस्य परमेश्वरस्य (वः) युष्मान् (धाम्ना) धर्मणा। नियमेन (अस्मै) पुरोवर्तमानाय (लोकाय) संसारहिताय (सादये) स्थापयामि ॥

८—(इन्द्रस्य) सूर्यस्य। अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

सोमस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ ९ ॥

सोमस्य । भागः । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (सोमस्य) चन्द्रमा के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् शान्त स्वभाव हो]......म० ७ ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ९ ॥

वरुणस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ १० ॥ (१३)

वरुणस्य । भागः । ० ॥ १० ॥ (१३)

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (वरुणस्य) जल के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् गम्भीर स्वभाव हो] ......म० ७ ॥ १० ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १० ॥

मित्रावरुणयोर्भाग स्थ । ० । ० ॥ ११ ॥

मित्रावरुणयोः । भागः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (मित्रावरुणयोः) प्राण और अपान के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् महाबली हो]......म० ७ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ ११ ॥

यमस्य भाग स्थ । ० । ० ॥ १२ ॥

यमस्य । भागः । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (यमस्य) न्याय के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् महान्यायकारी हो]......म० ७ ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १२ ॥

पितृणां भाग स्थ । ० । ० ॥ १३ ॥

९—(सोमस्य) चन्द्रस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

१०—(वरुणस्य) जलस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

११—(मित्रावरुणयोः) प्राणापानयोः । अन्यत् पूर्ववत् म० ७ ॥

१२—(यमस्य) नियमस्य । न्यायस्य । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

पितृणाम् । भागः । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (पितृणाम्) पालन करने वाले गुणों के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् महापालक हो]······म० ७ ॥ १३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १३ ॥

देवस्य सवितुर्भाग स्थ । अपां शुक्रमापो देवीर्वर्चो अस्मासु धत्त । प्रजापतेर्वो धाम्नास्मै लोकाय सादये ॥ १४ ॥

देवस्य । सवितुः । भागः । स्थ ॥ अपाम् । शुक्रम् । आपः । देवीः । वर्चः । अस्मासु । धत्त ॥ प्रजा-पतेः । वः । धाम्ना । अस्मै । लोकाय । सादये ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] तुम (देवस्य) प्रकाशमान (सवितुः) परमेश्वर के (भागः) अंश (स्थ) हो [अर्थात् परमेश्वर में व्याप्त हो]। (देवीः) हे उत्तम गुण वाली (आपः) विदुषी प्रजाओ ! (अपाम्) विद्वानों के बीच (अस्मासु) हम में (शुक्रम्) वीरता और (वर्चः) तेज (धत्त) धारण करो। (वः) तुमको (प्रजापतेः) प्रजापति [परमेश्वर] के (धाम्ना) धर्म [नियम] से (अस्मै) इस (लोकाय) लोक [के हित] के लिये (सादये) मैं बैठाता हूं ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ७ के समान है ॥ १४ ॥

यो व आपोऽपां भागो३ऽप्स्व१न्तर्यजुष्यो देवयजनः । इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि । तेन तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ १५ ॥

यः । वः । आपः । अपाम् । भागः । अप्-सु । अन्तः । यजुष्यः ।

१३—(पितृणाम्) पालकगुणानाम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ७ ॥

१४-(देवस्य) प्रकाशमानस्य (सवितुः) परमेश्वरस्य । अन्यत् पूर्ववत्-म०७ ॥

देव-यजनः ॥ इदम् । तम् । अति । सृजामि । तम् । मा । अभि-अवनिक्षि ॥ तेन । तम् । अभि-अतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ तम् । वधेयम् । तम् । स्तृषीय । अनेन । ब्रह्मणा । अनेन । कर्मणा । अनया । मेन्या १५

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (भागः) अंश (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच (यजुष्यः) पूजा योग्य और (देवयजनः) विद्वानों करके संगति योग्य है । (इदम्) अब (तम्) इस [तुम्हारे पूजनीय अंश] को (अति) आदर पूर्वक (सृजामि) मैं सिद्ध करता हूं, (तम्) उस [अंश] को (मा अभ्यवनिक्षि) मैं न धो डालूं [न नष्ट करूं] । (तेन) उस [पूजनीय अंश] से (तम्) उस [शत्रु] को (अभ्यतिसृजामः) हम हराकर छोड़ते हैं, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) कुप्रीति करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) कुप्रीति करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा) इस वेद ज्ञान से, (अनेन कर्मणा) इस कर्म से और (अनया मेन्या) इस वज्र से (तम्) उस [दुष्ट] को (वधेयम्) मैं मारूं और (तम्) उसको (स्तृषीय) मैं ढक लूं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि दृढ़ता पूर्वक विद्वानों से उत्तम शिक्षा ग्रहण करके और उनके उपकारों पर पानी न फेर कर वेद विद्या द्वारा बाहिरी और भीतरी शत्रुओं का नाश करें ॥ १५ ॥

१५-(यः) (वः) युष्माकम् (आपः) म० ६ । हे विद्वांसः (अपाम्) म० ६ । विदुषाम् (भागः) अंशः (अप्सु) विद्वत्सु (अन्तः) मध्ये (यजुष्यः) यजुष्-यत् । पूजार्हः (देवयजनः) विद्वद्भिः संगन्तव्यः (इदम्) इदानीम् (तम्) भागम् (अति) पूजायाम् (सृजामि) निष्पादयामि (मा अभ्यवनिक्षि) णिजिर् शौचपोषणयोः-लुङ् । मा अभितोऽवशोधयामि । न विनाशयामि (तेन) भागेन (तम्) शत्रुम् (अभ्यतिसृजामः) अभिभूय सर्वतो त्यजामः । वशीकुर्मः (यः) (अस्मान्) (द्वेष्टि) वैरायते (यम्) शत्रुम् (वयम्) धार्मिकाः (द्विष्मः) अप्रीतिं कुर्मः (तम्) (वधेयम्) वध हिंसायाम्-लिङ् । अहं हन्याम् (तम्) (स्तृषीय) स्तृञ् आच्छादने-आ० लिङ् । आच्छादितं क्रियासम् (अनेन) (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (अनेन) (कर्मणा) (अनया) (मेन्या) अ० २ । ११ । १ । वज्रेण ॥

यो वं आपोपामूर्मिरप्स्व् ० । ० । ० । ० ॥ १६ ॥

० अपाम् । ऊर्मिः । अप्-सु । ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (ऊर्मिः) वेग (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच……मन्त्र १५ ॥ १६ ॥

भावार्थ-मन्त्र १५ के समान है ॥ १६ ॥

यो वं आपोऽपां वत्सो३ऽप्स्व् ० । ० । ० । ० ॥ १७ ॥

० अपाम् । वत्सः । अप्-सु । ० ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (वत्सः) निवास (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच…म० १५ ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ १७ ॥

यो वं आपोऽपां वृषभो३ऽप्स्व् ० । ० । ० । ० ॥ १८ ॥

० अपाम् । वृषभः । अप्-सु । ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (वृषभः) महापराक्रमी स्वभाव (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच…… … म० १५ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ १८ ॥

यो वं आपोऽपां हिरण्यगर्भो३ऽप्स्व् ० । ० । ० । ० ॥ १९ ॥

० अपाम् । हिरण्य-गर्भः । अप्-सु । ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों

१६-(ऊर्मिः) अर्तेरूच्च । उ० ४ । ४४ । ऋ गतौ-मि, ऊत्वम् । तरङ्गः । प्रकाशः । वेगः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १५ ॥

१७-(वत्सः) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वस निवासे-सप्रत्ययः । निवासः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १५ ॥

१८-(वृषभः) अ० ४ । ५ । १ । वृष प्रजननैश्वर्ययोः-अभच्, कित् । महापराक्रमी स्वभावः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १५ ॥

१९-(हिरण्यगर्भः) अ० ४ । २ । ७ । हर्यतेः कन्यन् हिरच् । उ० ४ । ४४ ।

का (हिरण्यगर्भः) कामना योग्य [तेजों] का आधार (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच······म० १५ ॥ १९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ १९ ॥

यो वं आपोऽपामश्मा पृश्निर्दिव्यो३ ऽप्सु० । ०।० । ० ॥ २० ॥ (१४)

यः । वः । आपः । अपाम् । अश्मा । पृश्निः । दिव्यः । अप्-सु ॥ २० ॥ (१४)

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (यः) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों का (दिव्यः) दिव्य (अश्मा) व्यापक गुण (पृश्निः) सूर्य [समान] (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच······म० १५ । २० ॥

भावार्थ—मन्त्र १५ के समान है ॥ २० ॥

ये वं आपोऽपामग्नयोऽप्स्व१न्तर्यजुष्या देवयजनाः ।
इदं तानति सृजामि तान् माभ्यवनिक्षि ।
तैस्तमभ्यतिसृजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः ।
तं वधेयं तं स्तृषीयानेन ब्रह्मणानेन कर्मणानया मेन्या ॥ २१॥

ये । वः । आपः । अपाम् । अग्नयः । अप्-सु । अन्तः । यजुष्याः । देव-यजनाः ॥ इदम् । तान् । अति । सृजामि । तान् । मा । अभि-अवनिक्षि ॥ तैः । तम् । अभि-अतिसृजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ तम् । वधेयम् । तम् ।

हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन्, हिरादेशः । कमनीयानां तेजसामाधारः । अन्यत् पूर्ववत्···म० १५ ॥

२०—(अश्मा) अशू व्याप्तौ अश भोजने वा—मनिन् । व्यापकस्वभावः (पृश्निः) अ० १ । ११ । ४ । पृश्निरादित्यो भवति-प्राश्नुत एनं वर्ण इति नैरुक्ताः संस्प्रष्टा रसान् संस्प्रष्टा भासं ज्योतिषां, संस्पृष्टो भासेति वा–निरु० २ । १४ । सूर्यो यथा (दिव्यः) उत्तमः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १५ ॥

स्तृषीय । अनेन । ब्रह्मणा । अनेन । कर्मणा । अनया । मेन्या ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (ये) जो (वः अपाम्) तुम विद्वानों के (अग्नयः) ज्ञान प्रकाश (अप्सु अन्तः) विद्वानों के बीच (यजुष्यः) पूजा योग्य और (देवयजनाः) विद्वानों करके सङ्गति योग्य हैं । (इदम्) अब (तान्) उन [तुम्हारे ज्ञान प्रकाशों] को (अति) आदर पूर्वक (सृजामि) मैं सिद्ध करता हूं, (तान्) उन [ज्ञान प्रकाशों] को (मा अभ्यवनिक्षि) मैं न धो डालूं [न नष्ट करूं] । (तैः) उन [ज्ञान प्रकाशों] से (तम्) उस [शत्रु] को (अभ्यतिसृजामः) हम हराकर छोड़ते हैं (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) कुप्रीति करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) कुप्रीति करते हैं । (अनेन ब्रह्मणा) इस वेद ज्ञान से, (अनेन कर्मणा) इस कर्म से और (अनया मेन्या) इस वज्र से (तम्) उस [दुष्ट] को (वधेयम्) मैं मारूं और (तम्) उसको (स्तृषीय) ढक लूं ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर दृढ़ चित्त रहते और उनके उपकारों पर पानी नहीं फेरते, वे दुष्ट शत्रु को जीतने में समर्थ होते हैं ॥ २१ ॥

यदर्वाचीनं त्रैहायणादनृतं किं चोदिम । आपो मा तस्मात् सर्वस्माद् दुरितात् पान्त्वंहसः ॥ २२ ॥

यत् । अर्वाचीनम् । त्रैहायनात् । अनृतम् । किम् । च । ऊदिम ॥ आपः । मा । तस्मात् । सर्वस्मात् । दुः-इतात् । पान्तु । अंहसः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(त्रैहायनात्) तीन उद्योगों [परमेश्वर के कर्म, उपासना और ज्ञान] से [अलग होकर] (यत् किम् च) जो कुछ भी (अर्वाचीनम्)

२१—(अग्नयः) ज्ञानप्रकाशाः । अन्यत् पूर्वगतमन्त्रात् १५ यथाविधि संयोजनीयम् ॥

२२—(यत्) (अर्वाचीनम्) अवर + अञ्चु गतौ—क्विन्, अवरांशः, अर्वाच्-खप्रत्ययः । अर्वाचि अवरे अधमे कर्मणि भवम् (त्रैहायनात्) हश्च व्रीहिका-

नीच कर्म में होने वाले (अनृतम्) झूंठ को (ऊदिम) हम बोले हैं। (आपः) विद्वान् लोग (मा) मुझ को (तस्मात् सर्वस्मात्) उस सब (दुरितात्) कठिन (अंहसः) अपराध से (पान्तु) बचावें ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग द्वारा परमेश्वर के कर्म, उपासना और ज्ञान की प्राप्ति से मिथ्या कथन आदि दुराचारों को छोड़कर धर्मात्मा होवें ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आचुका है—अ० ७ । ६४ । १ ॥

समुद्रं वः प्र हिणोमि स्वां योनिमपीतन ।
अरिष्टाः सर्वहायसो मा च नः किं चनाममत् ॥ २३ ॥

समुद्रम् । वः । प्र । हिणोमि । स्वाम् । योनिम् । अपि । इतन ॥ अरिष्टाः । सर्व-हायसः । मा । च । नः । किम् । चन । आम-मत् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) तुम्हें (समुद्रम्) प्राणियों के यथावत् उदय करने हारे [परमात्मा] की ओर (प्र हिणोमि) मैं आगे बढ़ाता हूं,

---

लयोः । पा० ३ । १ । १८४ । ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च—ल्युट् बाहुलकात् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । युक् । तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । अण् । त्रयाणां हायनानां गतीनां परमेश्वरस्य कर्मोपासनाज्ञानरूपाणामुद्योगानां समूहस्त्रैहायनं तस्मात् पृथक् भूत्वा (अनृतम्) असत्यम् (किम् च) किंचन (ऊदिम) वयं कथितवन्तः (आपः) म० ६ । विद्वांसः (मा) माम् (तस्मात्) (सर्वस्मात्) (दुरितात) कठिनात् (पान्तु) अंहसः) अपराधात् ॥

२३—(समुद्रम्) अ० १ । १३ । ३ । सम्+उत्+द्रु गतौ—डप्रत्ययः, यद्वा, सम्+मुद हर्षे—रक् , यद्वा, सम्+उन्दी क्लेदने-रक् । समुद्रः कस्मात्समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति, समुनत्तीति वा—निरु० २ । १० । समुद्र आदित्यः, समुद्र आत्मा—निरु० १४ । १६ । समुद्रः समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्सः-दयानन्दभाष्ये , यजु० ५ । ३३ । सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्ति यत्रेति समुद्रः—महीधरभाष्ये, यजु० ५ । ३३ ।

(अरिप्राः) बिना हारे हुये (सर्वहायसः) सब ओर गति वाले तुम (स्वाम्) अपने (योनिम्) कारण को (अपि) ही (इतन) प्राप्त हो, (च) और (नः) हमें (किम् चन) कोई भी [दुःख] (मा आममत्) न पीड़ा देवे ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब के आदि कारण जगदीश्वर की यथावत् भक्ति करके सब दुःखों से छूटें ॥ २३ ॥

इस मन्त्र का पिछला पाद आ चुका है-अ० ६ । ५७ । ३ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् । प्रास्मदेनो दुरितं सुप्रतीकाः प्र दुष्वप्न्यं प्र मलं वहन्तु ॥ २४ ॥

अरिप्राः । आपः । अप । रिप्रम् । अस्मत् ॥ प्र । अस्मत् । एनः । दुः-इतम् । सु-प्रतीकाः । प्र । दुः-स्वप्न्यम् । प्र । मलम् । वहन्तु ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अरिप्राः) निर्दोष (आपः) विद्वान् लोग (रिप्रम्) पाप को (अस्मत्) हम से (अप) दूर [पहुंचावें] (सुप्रतीकाः) बड़ी प्रतीति वाले वा सुन्दर रूप वाले लोग (अस्मत्) हम से (दुरितम्) कठिन (एनः) पाप को (प्र) दूर (दुस्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न को (प्र) दूर और (मलम्) मलिनता को (प्र) दूर (वहन्तु) पहुंचावें ॥ २४ ॥

भूतानां समुदयकारणं परमात्मानम् (वः) युष्मान् (प्र) अग्रे (हिणोमि) हि गतिवृद्ध्योः—अन्तर्गतणिच् । हाययामि । गमयामि (स्वाम्) आत्मीयाम् (योनिम्) कारणम् (अपि) एव (इतन) लोटि तनादेशः । इत । प्राप्नुत (अरिप्राः) अहिंसिताः (सर्वहायसः) अ० ८ । २ । ७ । सर्व+ओ हाङ् गतौ-असुन् , युक् । सर्वगतयः (च) (नः) अस्मान् (किं चन) किमपि दुःखम् (मा आममत्) अ० ६ । ५७ । ३ । अम पीडने लुङि चङि रूपम् । न पीडयेत् ॥

२४—(अरिप्राः) निर्दोषाः (आपः) म० ६ । विद्वांसः (अप) दूरे (रिप्रम्) अ० ६ । ५१ । २ । पापम् (अस्मत्) (प्र) दूरे (अस्मत्) (एनः) पापम् (दुरितम्) कठिनम (सुप्रतीकाः) अ० ४ । २१ । ६ । सु+प्र+इण् गतौ-ईकन् तुट् च । शोभनप्रतीतिमन्तः । शोभनरूपाः (प्र) (दुःस्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नभावम् (प्र) (मलम्) मालिन्यम् (वहन्तु) गमयन्तु ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग घोर पापों से बचकर दूसरों को पापों से छुड़ा कर सुखी करते हैं ॥ २४ ॥

विभागः २ । मन्त्राः २५-३६ ॥ विष्णुर्देवता ॥ २५, २७-३५ शक्वरी; २६ अति-शक्वरी, ३६ अष्टिः ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा पृथिवीसंशितोऽग्नितेजाः। पृथिवीमनु वि क्रमेऽहं पृथिव्यास्तं निर्भजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः । स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ २५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्न-हा । पृथिवी-संशितः । अग्नि-तेजाः ॥ पृथिवीम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । पृथिव्याः । तम् । निः । भजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ २५ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (पृथिवीसंशितः) पृथिवी से तीक्ष्ण किया गया, (अग्नितेजाः) अग्नि से तेज पाया हुआ (असि) है । (पृथिवीम् अनु) पृथिवी के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (पृथिव्याः) पृथिवी से (तम्) उस [शत्रु] को (निः भजामः) हम भाग रहित करते हैं, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । (सः) वह (मा जीवीत्) न जीता रहे, (तम्) उसको (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥ २५ ॥

२५—(विष्णोः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (क्रमः) क्रम—अर्श आद्यच् । पराक्रमयुक्तः (असि) (सपत्नहा) शत्रुनाशकः (पृथिवीसंशितः) पृथिवीसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (अग्नितेजाः) अग्नेः प्राप्ततेजाः (पृथिवीम्) (अनु) अनुसृत्य (वि क्रमे) पराक्रमं करोमि (अहम्) (पृथिव्याः) भूमिसकाशात् (तम्) शत्रुम् (निर्भजामः) भागहीनं कुर्मः (मा जीवीत्) लुङिरूपम् । न जीवेत् । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—परमेश्वर की दी हुई अद्भुत शक्तियों से मनुष्य पृथिवी और अग्नि के उपकारों को विचार कर अपने दोषों और शत्रुओं का नाश करके आनन्दित होवे ॥ २५ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहान्तरिक्षसंशितो वायुतेजाः। अन्तरिक्षमनु वि क्रमेऽहमन्तरिक्षात् तं निर्भजामो ० । ० ॥ २६ ॥

०सपत्न-हा । अन्तरिक्ष-संशितः । वायु-तेजाः ॥ अन्तरिक्षम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । अन्तरिक्षात् । तम् । ० ॥ २६ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (अन्तरिक्षसंशितः) अन्तरिक्ष [मध्य लोक] से तीक्ष्ण किया गया, (वायुतेजाः) प्राण आदि वायु से तेज पाया हुआ (असि) है। (अन्तरिक्षम् अनु) अन्तरिक्ष के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से (तम्) उस [शत्रु] को (निः भजामः) हम भाग रहित करते हैं......म० २५ ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्तरिक्ष और वायु के उपकारों को विचारकर संसार में उपकारी बने ॥ २६ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा द्यौसंशितः सूर्यतेजाः।
दिवमनु वि क्रमेऽहं दिवस्तं ० । ० ॥ २७ ॥

० सपत्न-हा । द्यौ-संशितः । सूर्य-तेजाः ॥ दिवम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । दिवः । तम् । ० ॥ २७ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा (द्यौसंशितः) आकाश से तीक्ष्ण किया गया, (सूर्यतेजाः) सूर्य से तेज पाया हुआ (असि) है। (दिवम्

२६—(अन्तरिक्षसंशितः) अन्तरिक्षात् तीक्ष्णीकृतः (वायुतेजाः) वायुसकाशात् प्राप्ततेजाः । अन्यत् पूर्ववत् सुगमं च ॥

२७—(द्यौसंशितः) छान्दसो वृद्धिः । द्युसंशितः। आकाशात् तीक्ष्णीकृतः (सूर्यतेजाः) सूर्यात् प्राप्ततेजाः (दिवम्) आकाशम् (दिवः) आकाशात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अनु) आकाश के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (दिवः) आकाश से (तम्) उस [शत्रु] को ...... म० २५ ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के आधार आकाश और वृष्टिआदि के कारण सूर्य के उपकारों को विचार कर संसार में उपकार करें ॥ २७ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा दिक्संशितो मनस्तेजाः ।
दिशोऽनु वि क्रमेऽहं दिग्भ्यस्तं ० । ० ॥ २८ ॥

० सपत्न-हा । दिक्-संशितः । मनः-तेजाः । दिशः । अनु ।
वि । क्रमे । अहम् । दिक्-भ्यः । तम् । ० ॥ २८ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से, (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा (दिक्संशितः) दिशाओं से तीक्ष्ण किया गया, (मनस्तेजाः) मन से तेज पाया हुआ (असि) है। (दिशः अनु) दिशाओं के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (दिग्भ्यः) दिशाओं से (तम्) उस [शत्रु] को ...... म० २५ ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिशाओं के और मन के ज्ञान से उपकार लेकर उपकारी होवें ॥ २८ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाशासंशितो वाततेजाः ।
आशा अनु वि क्रमेऽहमाशाभ्यस्तं ० । ० ॥ २९ ॥

० सपत्न-हा । आशा-संशितः । वात-तेजाः ॥ आशाः । अनु ।
वि । क्रमे । अहम् । आशाभ्यः । तम् । ० ॥ २९ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रमयुक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (आशासंशितः) मध्य दिशाओं से तीक्ष्ण किया गया, (वाततेजाः) पवन से तेज पाया हुआ (असि)

२८—(दिक्संशितः) दिक्सकाशात् तीक्ष्णीकृतः (मनस्तेजाः) मनसः प्राप्ततेजाः । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

२९—(आशासंशितः) मध्यदिशासकाशात् तीक्ष्णीकृतः (वाततेजाः) पवनात् प्राप्ततेजाः ......अन्यत् सुगमं गतं च ॥

है। (आशाः अनु) मध्यदिशाओं के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (आशाभ्यः) मध्यदिशाओं से (तम्) उस शत्रु को......म० २५ ॥ २६॥

भावार्थ—मन्त्र २८ के समान है ॥ २६ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा ऋक्संशितः सामतेजाः ।
ऋचोऽनु वि क्रमेऽहमृग्भ्यस्तं ० । ० ॥ ३० ॥ (१५)

० सपत्न-हा । ऋक्-संशितः । साम-तेजाः ॥ ऋचः । अनु । वि । क्रमे । अहम् । ऋक्-भ्यः । तम् । ० ॥ ३० ॥ (१५)

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (ऋक्संशितः) वेद वाणियों से तीक्ष्ण किया गया, (सामतेजाः) दुःखनाशक मोक्ष ज्ञान से तेज पाया हुआ (असि) है। (ऋचः अनु) वेद वाणियों के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (ऋग्भ्यः) वेद वाणियों से (तम्) उस शत्रु को...म० २५॥३०॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्याओं और मोक्षविद्याओं द्वारा दुःख से छूट कर सुख प्राप्त करें ॥ ३० ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा यज्ञसंशितो ब्रह्मतेजाः ।
यज्ञमनु वि क्रमेऽहं यज्ञात् तं ० । ० ॥ ३१ ॥

० सपत्न-हा । यज्ञ-संशितः । ब्रह्म-तेजाः ॥ यज्ञम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । यज्ञात् । तम् । ० ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रमयुक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (यज्ञसंशितः) शुभ कर्म

३०—(ऋक्संशितः) ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणीसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (सामतेजाः) साम व्याख्यातम्—अ० ७ । ५४ । १ । षो अन्तकर्मणि— । दुःखनाशकमोक्षज्ञानात् प्राप्ततेजाः (ऋचः) वेदवाणीः । अन्यत् सुगमं च ॥

३१—(यज्ञसंशितः) शुभकर्मसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (ब्रह्मतेजाः) परप्राप्ततेजाः । अन्यत सुगमं गतं च ॥

से तीक्ष्ण किया गया और (ब्रह्मतेजाः) ब्रह्म [परमेश्वर] से तेज पाया हुआ (असि) है। (यज्ञम् अनु) शुभ कर्म के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (यज्ञात्) शुभकर्म से (तम्) उस [शत्रु] को......म० २५ ॥ ३१ ॥

भावार्थ-मनुष्य शुभ कर्म द्वारा ईश्वर से तेज प्राप्त करके सुखी होवे ३१

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहौषधीसंशितः सोमतेजाः।
ओषधीरनु वि क्रमेऽहमोषधीभ्यस्तं ०।० ॥ ३२ ॥

० सपत्न-हा। ओषधी-संशितः सोम-तेजाः॥ ओषधीः। अनु। वि। क्रमे। अहम्। ओषधीभ्यः। तम्।०॥ ३२ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा (ओषधीसंशितः) ओषधियों से तीक्ष्ण किया गया, (सोमतेजाः) सोम [अमृतरस] से तेज पाया हुआ (असि) है। (ओषधीः अनु) ओषधियों के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (ओषधीभ्यः) ओषधियों से (तम्) उस [शत्रु] को...... म० २५ ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ओषधियों और सोम आदि के रस के प्रयोग से बलवान् होकर प्रसन्न रहें ॥ ३२ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहाप्सुसंशितो वरुणतेजाः।
अपोऽनु वि क्रमेऽहमद्भ्यस्तं ०।० ॥ ३३ ॥

०सपत्न-हा। अप्सु-संशितः। वरुण-तेजाः॥ अपः। अनु। वि। क्रमे। अहम्। अत्-भ्यः। तम्।०॥ ३३॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्व व्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (अप्सुसंशितः) जलों

३२—(ओषधीसंशितः) ओषधिसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (सोमतेजाः) सोमरसात्प्राप्ततेजाः। अन्यत् सुगमं गतं च ॥

३३—(अप्सुसंशितः) जलसकाशात् तीक्ष्णीकृतः (वरुणतेजाः) मेघात् प्राप्ततेजाः (अपः) जलानि। अन्यत् सुगमं गतं च ॥

से तीक्ष्ण किया गया, (वरुणतेजाः) मेघ से तेज पाया हुआ (असि) है। (अपः अनु) जलों के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (अद्भ्यः) जलों से (तम्) उस (शत्रु) को......म० २५ ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मनुष्य जल विद्याओं में निपुण होकर मेघ समान उपकारी होवे ॥ ३३ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा कृषिसंशितोऽन्नतेजाः ।
कृषिमनु वि क्रमेऽहं कृष्यास्तं ० । ० ॥ ३४ ॥

० सपत्न-हा । कृषि-संशितः । अन्न-तेजाः ॥ कृषिम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । कृष्याः । तम् । ० ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) वैरियों का नाश करने हारा, (कृषिसंशितः) खेती से तीक्ष्ण किया गया और (अन्नतेजाः) अन्न से तेज पाया हुआ (असि) है। (कृषिम् अनु) खेती के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (कृष्याः) खेती से (तम्) उस [शत्रु] को......म० २५ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य खेती और अन्नके प्रयोग से ऐश्वर्यवान् होवे ॥ ३४ ॥

विष्णोः क्रमोऽसि सपत्नहा प्राणसंशितः पुरुषतेजाः । प्राणमनु वि क्रमेऽहं प्राणात् तं निर्भजामो यो३ऽस्मान् द्वेष्टि यं वयं द्विष्मः। स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ ३५ ॥

विष्णोः । क्रमः । असि । सपत्न-हा । प्राण-संशितः । पुरुष-तेजाः ॥ प्राणम् । अनु । वि । क्रमे । अहम् । प्राणात् । तम् । निः । भजामः । यः । अस्मान् । द्वेष्टि । यम् । वयम् । द्विष्मः ॥ सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ ३५ ॥

३४—(कृषिसंशितः) भूमिकर्षणात् तीक्ष्णीकृतः (अन्नतेजाः) अदनीयपदार्थान् प्राप्ततेजाः । अन्यत् सुगमं गतं च ॥

भाषार्थ—तू (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमेश्वर] से (क्रमः) पराक्रम युक्त, (सपत्नहा) शत्रुओं का नाश करने हारा, (प्राणसंशितः) प्राण से तीक्ष्ण किया गया और (पुरुषतेजाः) पुरुष [आत्मा] से तेज पाया हुआ (असि) है। (प्राणम् अनु) प्राण के पीछे (अहम्) मैं (वि क्रमे) पराक्रम करता हूं, (प्राणात्) प्राण से (तम्) उस [शत्रु] को (निः भजामः) हम भागरहित करते हैं, (यः) जो (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यम्) जिससे (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं । (सः) वह (मा-जीवीत्) न जीता रहे, (तम्) उसको (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ देवे॥३५॥

भावार्थ—मनुष्य प्राण [जीवन साधन वायु] और आत्मा [परमात्मा और जीवात्मा] के बोध से संसार में उन्नति करे ॥ ३५ ॥

जितम॒स्माक॒मुद्भि॑न्नम॒स्माक॑म॒भ्य॑ष्ठां॒ विश्वाः॒ पृत॑ना॒ अरा॑तीः ।
इ॒दम॒हमा॑मुष्याय॒णस्या॒मुष्याः॑ पु॒त्रस्य॑ वर्च॑स्तेजः॑ प्रा॒णमायु॒र्नि
वे॑ष्टयामी॒दमे॑नमध॒राञ्चं॑ पादयामि ॥ ३६ ॥

जि॒तम् । अ॒स्माक॑म् । उत्-भि॑न्नम् । अ॒स्माक॑म् । अ॒भि । अ॒स्था॒म् । विश्वाः॑ । पृत॑नाः । अरा॑तीः ॥ इ॒दम् । अ॒हम् । आ॒मु॒ष्या॒य॒णस्य॑ । अ॒मु॒ष्याः॑ । पु॒त्रस्य॑ । वर्चः॑ । तेजः॑ । प्रा॒णम् । आयुः॑ । नि । वे॒ष्ट॒या॒मि॒ । इ॒दम् । ए॒न॒म् । अ॒ध॒राञ्च॑म् । पा॒द॒या॒मि॒ ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया गया (अस्माकम्) हमारा [हो], (उद्भिन्नम्) निकासी किया हुआ (अस्माकम्) हमारा [हो], (विश्वाः) सब (पृतनाः) [शत्रुओं की] सेनाओं और (अरातीः) कञ्जूसियों को

३५—(प्राणसंशितः) प्राणात् तीक्ष्णीकृतः (पुरुषतेजाः) पुरुषात् परमात्मनो जीवात्मनश्च प्राप्ततेजाः (प्राणम्) प्राणसाधनं वायुम् (अनु) अनुसृत्य-(प्राणात्) जीवनसाधनाद् वायुविशेषात् । अन्यत् पूर्ववत्-म० २५ ॥

३६—(जितम्) जयेन प्राप्तम् (अस्माकम्) धर्मात्मनाम् (उद्भिन्नम्) उद्भेदनं स्फुरणम् । आयधनम् (अस्माकम्) (अभि अस्थाम्) अभिभूतवानस्मि (विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः)अ० ३ । २१ । ३ । शत्रुसेनाः (अरातीः) अदानशक्तीः । अनुदारताः (इदम्) इदानीम् (अहम्) शूरः (आमुष्यायणस्य)

(अभि अस्थाम्) मैं ने रोक दिया है। (इदम्) अब (अहम्) मैं (आमुष्यायणस्य) अमुक पुरुष के और (अमुष्याः) अमुक स्त्री के (पुत्रस्य) पुत्र का (वर्चः) प्रताप, (तेजः) तेज (प्राणम्) प्राण और (आयुः) जीवन को (नि वेष्टयामि) लपेटे लेता हूं, (इदम्) अब (एनम्) इसको (अधराञ्चम्) नीचे (पादयामि) गिराता हूं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—प्रजापालक शूर वीर पुरुष एक शत्रु को जीतकर उसकी आय से सुप्रबन्ध करे और दूसरे प्रसिद्ध प्रसिद्ध वैरियों को इसी प्रकार अधीन करे ॥३६

विभागः ३। मन्त्राः ३७—४१ ॥ मन्त्रोक्ता देवताः ॥ ३७ अनुष्टुप्; ३८ पुरउष्णिक्; ३९, ४१ गायत्री; ४० विराड् गायत्री छन्दः ॥

विदुषां कर्तव्योपदेशः-विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

सूर्यस्यावृत॒मन्वाव॑र्ते॒ दक्षि॑णा॒मन्वा॒वृत॑म् ।
सा मे॒ द्रवि॑णं यच्छतु॒ सा मे॑ ब्राह्मणवर्च॒सम् ॥ ३७ ॥

सूर्य॑स्य । आ॒ऽवृत॑म् । अ॒नु॒ऽआव॑र्ते । दक्षि॑णाम् । अनु॑ । आ॒ऽवृत॑म् ॥ सा । मे॒ । द्रवि॑णम् । य॒च्छ॒तु॒ । सा । मे॒ । ब्रा॒ह्म॒ण॒ऽव॒र्च॒सम् ३७

भाषार्थ—(सूर्यस्य) सूर्य की (आवृतम्) परिपाटी [रीति पर] (अन्वावर्ते) मैं चला चलता हूं, [उसकी] (दक्षिणाम्) वृद्धियुक्त (आवृतम् अनु) परिपाटी पर। (सा) वह [परिपाटी] (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और

अ० ४। १६। ६। नडादिभ्यः फक्। पा० ४। १। ९९। अमुष्य—फक्। आमुष्यायणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च। वा० पा० ६। ३। २१। षष्ठ्या अलुक्। अमुष्य पुरुषस्य पुत्रस्य (अमुष्याः) अमुकजनन्याः (पुत्रस्य) सुतस्य (वर्चः) प्रतापम् (तेजः) प्रकाशम् (प्राणम्) (आयुः) जीवनम् (नि) नितराम् (वेष्टयामि) आच्छादयामि (इदम्) (एनम्) शत्रुम् (अधराञ्चम्) अधोगतम् (पादयामि) पातयामि ॥

३७—(सूर्यस्य) (आवृतम्) वृञ् वरणे-क्विप्, तुक्। परिपाटीम्। रीतिम् (अन्वावर्ते) निरन्तरं गच्छामि (दक्षिणाम्) दक्ष वृद्धौ शैघ्र्ये च-इनन्, टाप्। प्रवृद्धाम् (अनु) क्रियायोगे। अन्वावर्ते (आवृतम्) (सा) आवृत् (मे) मह्यम् (द्रविणम्) बलम्-निघ० २। ९ (यच्छतु) दाण् दाने। ददातु (सा)

(सा) वह (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छतु) देवे ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य के समान ईश्वरकृत नियम पर चलकर बल और ब्रह्मविद्या प्राप्त करे ॥ ३७ ॥

दिशो ज्योतिष्मतीरभ्यावर्ते । ता मे द्रविणं यच्छन्तु ता मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३८ ॥

दिशः । ज्योतिष्मतीः । अभि-आवर्ते ॥ ताः । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ताः । मे । ० ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(ज्योतिष्मतीः) प्रकाशमयी (दिशः) दिशाओं की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं । (ताः) वे [दिशायें] (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (ताः) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छन्तु) देवें ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब दिशाओं से विज्ञान द्वारा बल प्राप्त करके ईश्वर आज्ञा का पालन करें ॥ ३८ ॥

सप्तऋषीनभ्यावर्ते । ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ३९ ॥

सप्त-ऋषीन् । अभि-आवर्ते ॥ ते । मे । द्रविणम् । यच्छन्तु । ते । मे । ० ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(सप्तऋषीन्) सात व्यापन शीलों वा दर्शन शीलों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख और मुख इन सात छिद्रों] की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं । (ते)

(मे) (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । पा० ५ । ४ । ७८ । अच् बाहुलकात् । ब्राह्मणस्य ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषस्य प्रतापम् ॥

३८—(दिशः) प्राच्यादीः (ज्योतिष्मतीः) प्रकाशवतीः (अभ्यावर्ते) अभीत्य वर्तनं करोमि (ताः) दिशः (यच्छन्तु) ददतु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३९—(सप्तऋषीन्) अ० ४ । ११ । ९ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राण-

वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छन्तु) देवें ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मनुष्य इन्द्रियों से यथावत् उपकार लेकर बली और ब्रह्मवर्चसी होवें ॥ ३९ ॥

ब्रह्माभ्यावर्ते। तन्मे द्रविणं यच्छतु तन्मे ब्राह्मणवर्चसम् ।४०।(१६)

ब्रह्म। अभि-आवर्ते ॥ तत्। मे। द्रविणम्। यच्छतु। तत्। मे।०॥ ४० ॥ (१६)

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्म [परमेश्वर] की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं। (तत्) वह [ब्रह्म] (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (तत्) वह (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छतु) देवे ॥ ४० ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मज्ञान से ब्राह्मण समान बलवान् और प्रतापी होवें ॥ ४० ॥

ब्राह्मणाँ अभ्यावर्ते। ते मे द्रविणं यच्छन्तु ते मे ब्राह्मणवर्चसम् ॥ ४१ ॥

ब्राह्मणान्। अभि-आवर्ते ॥ ते। मे। द्रविणम्। यच्छन्तु। ते। मे। ब्राह्मण-वर्चसम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणान्) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] की ओर (अभ्यावर्ते) मैं घूमता हूं। (ते) वे (मे) मुझे (द्रविणम्) बल और (ते) वे (मे) मुझे (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी] का प्रताप (यच्छन्तु) देवें ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मज्ञानियों के सत्संग से ऐश्वर्य और ब्रह्मज्ञान प्राप्त करे ॥ ४१ ॥

विभागः ४ । मन्त्राः ४२-५० ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ ४२, ४३, ४६, ४७, अनुष्टुप्; ४४ आर्चीपङ्क्तिः; ४५ भुरिगनुष्टुप् ४८, ४९ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५० निचृत् त्रिष्टुप् ॥

नोबुद्धीः। अथवा। शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४०—(ब्रह्म) प्रवृद्धं परमेश्वरम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४१—(ब्राह्मणान्) ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषान्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

शत्रुनाशोपदेशः—शत्रुओं के नाश का उपदेश ॥

यं व॒यं मृ॒गया॑मह॒े तं व॒धैः स्तृ॑णवामहै ।
व्या॑त्ते परमे॒ष्ठिनो॒ ब्रह्म॒णापी॑पदाम॒ तम् ॥ ४२ ॥

यम् । व॒यम् । मृ॒गया॑महे । तम् । व॒धैः । स्तृ॒ण॒वा॒म॒है॒ । वि-आ॑त्ते । प॒र॒मे-स्थिनः॑ । ब्रह्म॑णा । आ । अ॒पी॒प॒दा॒म॒ । तम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस [शत्रु] को (वयम्) हम (मृगयामहे) ढूंढ़ते हैं, (तम्) उसको (वधैः) वज्रों से (स्तृणवामहै) हम विनाशें । (परमेष्ठिनः) सब से ऊंचे पद वाले [राजा] के (व्यात्ते) खुले मुख [वश] में (ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञान से (तम्) उसको (आ=आनीय) लाकर (अपीपदाम) हमने गिरा दिया है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—सब शूरवीर शुभचिन्तक मनुष्य दुष्टों को पकड़ कर राजा के वशीभूत करें ॥ ४२ ॥

वै॒श्वा॒न॒रस्य॒ दंष्ट्रा॑भ्यां हे॒तिस्तं सम॑धाद॒भि ।
इ॒यं तं प्सा॒त्वाहु॑तिः स॒मिद् दे॒वी सही॑यसी ॥ ४३ ॥

वै॒श्वा॒न॒रस्य॑ । दंष्ट्रा॑भ्याम् । हे॒तिः । तम् । सम् । अ॒धा॒त् । अ॒भि ॥ इ॒यम् । तम् । प्सा॒तु॒ । आ-हु॑तिः । स॒म्-इत् । दे॒वी । सही॑यसी ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरस्य) सब नरों का हित करने हारे [राजा] के (दंष्ट्राभ्याम्) [प्रजा रक्षण और शत्रुनाशन रूप] दोनों डाढ़ों से (हेतिः) वज्र ने

४२—(यम्) शत्रुम् (वयम्) राजप्रजागणाः (मृगयामहे) अन्विच्छामः (तम्) (वधैः) वज्रैः (स्तृणवामहै) स्तृणातिर्वधकर्मा-निघ० २ । १९। विनाशयाम । (व्यात्ते) प्रसारिते मुखे । वशे (परमेष्ठिनः) अत्युच्चपदस्थितस्य राज्ञः (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (आ) आनीय (अपीपदाम) पातयतेर्लुङ्, तस्य दः । वयं पातितवन्तः (तम्) शत्रुम् ॥

४३-(वैश्वानरस्य) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितस्य राज्ञः (दंष्ट्राभ्याम्) प्रजारक्षणशत्रुनाशनरूपाभ्यां दन्तविशेषाभ्याम् (हेतिः) वज्रः (तम्) शत्रुम्

(तम्) उस [शत्रु] को (सम् अभि अधात्) दबोच लिया है। (इयम्) यह (आहुतिः) आहुति [होम का चढ़ावा], (देवी) उत्तम गुण वाली (सहीयसी) अधिक बल वाली (समित्) समिधा [काष्ठ घृत आदि] (तम्) उसको (प्सातु) खा जावे ॥ ४३ ॥

भावार्थ—प्रजापालक राजा उपद्रवियों को सदा वश में रक्खे और उन को ऐसा नष्ट कर देवे जैसे हवन में उत्तम सामग्री और काष्ठ आदि से रोग-कारक दुर्गन्ध आदि नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥

राज्ञो वरुणस्य बन्धोऽसि । सोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमन्ने प्राणे बधान ॥ ४४ ॥

राज्ञः । वरुणस्य । बन्धः । असि ॥ सः । अमुम् । आमुष्यायणम् । अमुष्याः । पुत्रम् । अन्ने । प्राणे । बधान ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे सेनापति !] तू (वरुणस्य) श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा का [शत्रुओं के लिये] (बन्धः) बन्धन (असि) है। (सः) सो तू (अमुम्) अमुक पुरुष, (आमुष्यायणम्) अमुक पिता के पुत्र और (अमुष्याः) अमुक माता के (पुत्रम्) पुत्र को (अन्ने) अन्न में और (प्राणे) श्वास में (बधान) बांध ले ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मन्त्री, सेनापति आदि राजपुरुषों को योग्य है कि माता पिता आदि के नाम से पता लगाकर दुराचारी को अन्न और वायु की रोक के साथ कारागार में बन्ध कर दें ॥ ४४ ॥

यत् ते अन्नं भुवस्पत आक्षियति पृथिवीमनु ।

(सम् अधात्) निगृहीतवती (अभि) अभितः (इयम्) (तम्) (प्सातु) भक्षयतु (आहुतिः) मन्त्रेणाग्नौ हविःक्षेपः (समित्) समिधा (देवी) उत्तमगुणा (सहीयसी) बलवत्तरा ॥

४४—(राज्ञः) प्रजाशासकस्य (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य (बन्धः) पाशरूपः (असि) (सः) स त्वम् (अमुम्) अमुकनामानम् (आमुष्यायणम्) म० २६। अमुष्य पुरुषस्य पुत्रम् (अमुष्याः) अमुकजनन्याः (पुत्रम्) (अन्ने) अन्नसंयमने (प्राणे) वायुसंयमने (बधान) निगृहाण ॥

तस्यं नुस्त्वं भुंवस्पते संप्रयंच्छ प्रजापते ॥ ४५ ॥

यत् । ते । अन्नंम् । भुवः । पते । आ-क्षियति । पृथिवीम् । अनु ॥ तस्यं । नः । त्वम् । भुवः । पते । सम्-प्रयंच्छ । प्रजा-पते ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(भुवः पते) हे भूपति [राजन् !] (यत्) जो (ते) तेरा (अन्नम्) अन्न (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर (आक्षियति) रहा करता है। (भुवः पते) हे भूपति! (प्रजापते) हे प्रजापति [राजन्!] (त्वम्) तू (नः) हमें (तस्य) उस [अन्न] का (संप्रयच्छ) दान करता रहे ॥ ४५ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुप्रबन्ध से अन्न आदि पदार्थों को खेत और भाण्डागार में सुरक्षित रखकर प्रजा पालन करे ॥ ४५ ॥

अपो दिव्या अंचायिषुं रसेंन समंपृक्ष्महि ।
पयंस्वानग्न आगंमुं तं मा सं सृंज वर्चसा ॥ ४६ ॥

अपः । दिव्याः । अचायिषम् । रसेंन । सम् । अपृक्ष्महि ॥ पयंस्वान् । अग्ने । आ । अगमम् । तम् । मा । सम् । सृज । वर्चसा ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(दिव्याः) दिव्य गुण स्वभाव वाले (अपः) जलों [के समान शुद्ध करने वाले विद्वानों] को (अचायिषम्) मैं ने पूजा है (रसेन) पराक्रम से (सम् अपृक्ष्महि) हम संयुक्त हुये हैं। (अग्ने) हे विद्वान्! (पयस्वान्) गतिवाला मैं (आ अगमम्) आया हूं (तम्) उस (मा) मुझ को (वर्चसा) [वेदाध्ययन आदि के] तेज से (सम् सृज) संयुक्त कर ॥ ४६ ॥

४५—(यत्) (ते) तव (अन्नम्) भोज्यं वस्तु (भुवः) भूमेः (पते) स्वामिन् (आ क्षियति) समन्तात् निवसति। वर्तते (पृथिवीम्) (अनु) प्रति (तस्य) अन्नस्य (नः) अस्मभ्यम् (भुवः पते) (संप्रयच्छ) सम्यग् दानं कुरु (प्रजापते) हे प्रजापालक ॥

४६—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८९ । १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करके विद्वानों से और वेद आदि शास्त्रों से विद्या प्राप्त करके यशस्वी होवें ॥ ४६ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ७ । ८९ । १ ॥

सं माग्ने वर्चसा सृज सं प्रजया समायुषा ।
विद्युर्मे अस्य देवा इन्द्रो विद्यात् सह ऋषिभिः ॥ ४७ ॥

सम् । मा । अग्ने । वर्चसा । सृज । सम् । प्र-जया । सम् । आयुषा ॥ विद्युः । मे । अस्य । देवाः । इन्द्रः । विद्यात् । सह । ऋषि-भिः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (मा) मुझ को (वर्चसा) [ब्रह्म विद्या के] तेजसे (सम्) अच्छे प्रकार, (प्रजया) प्रजा से (सम्) अच्छे प्रकार, और (आयुषा) जीवन से (सम् सृज) अच्छी प्रकार संयुक्त कर । (देवाः) विद्वान् लोग (अस्य) इस (मे) मुझ को (विद्युः) जानें, (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान् आचार्य (ऋषिभिः सह) ऋषियों के साथ [मुझे] (विद्यात्) जाने ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम विद्या पाकर संसार के सुधार से अपना जीवन सफल करके विद्वानों और गुरुजनों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ४७ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७ । ८९ । २ ॥

यदग्ने अद्य मिथुना शपातो यद्वाचस्तृष्टं जनयन्त रेभाः ।
मन्योर्मनसः शरव्या३ जायते या तया विध्य हृदये यातुधानान् ॥ ४८ ॥

यत् । अग्ने । अद्य । मिथुना । शपातः । यत् । वाचः । तृष्टम् । जनयन्त । रेभाः ॥ मन्योः । मनसः । शरव्या । जायते । या । तया । विध्य । हृदये । यातु-धानान् ॥ ४८ ॥

४७—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८९ । २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (यत्) जो (अद्य) आज (मिथुना) दो हिंसक मनुष्य [सत्पुरुषों से] (शपातः) कुवचन बोलते हैं, और (यत्) जो (रेभाः) शब्द करने वाले [शत्रु लोग] (वाचः) वाणी की (तृष्टम्) कठोरता (जनयन्त) उत्पन्न करते हैं, (मन्योः) क्रोध से (मनसः) मन को (या) जो (शरव्याः) बाणों की झड़ी (जायते) उत्पन्न होती है, (तया) उस से (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (हृदये) हृदय में (विध्य) तू वेध ले ॥ ४८ ॥

भावार्थ—राजा दुर्वचनभाषियों को विचार पूर्वक दण्ड देता रहे ॥४८॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ८ । ३ । १२ ॥

परा शृणीहि तपसा यातुधानान् पराग्ने रक्षो हरसा शृणीहि ।
परार्चिषा मूरदेवाञ्छृणीहि परासुतृपः शोशुचतः शृणीहि ४९ ॥

परा । शृणीहि । तपसा । यातु-धानान् । परा । अग्ने । रक्षः । हरसा । शृणीहि ॥ परा । अर्चिषा । मूर-देवान् । शृणीहि । परा । असु-तृपः । शोशुचतः । शृणीहि ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (तपसा) अपने तप [ऐश्वर्य वा प्रताप] से (यातुधानान्) दुःखदायिओं को (परा शृणीहि) कुचल डाल, (रक्षः) राक्षसों [दुराचारियों वा रोगों] को (हरसा) अपने बल से (परा शृणीहि) मिटा दे । (अर्चिषा) अपने तेज से (मूरदेवान्) मूढ़ [निर्बुद्धि] व्यवहार वालों को (परा शृणीहि) नाश कर दे, (शोशुचतः) अत्यन्त दमकते हुये, (असुतृपः) [दूसरों के] प्राणों से तृप्त होने वालों को (परा शृणीहि) चूर चूर कर दे ॥ ४९ ॥

भावार्थ—राजा अत्यन्त क्लेशदायक प्राणियों के नाश करने में सदा उद्यत रहे ॥ ४९ ॥

यह मन्त्र आ चुका है-अ० ८ । ३ । १३ ॥

४८—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ८ । ३ । १२ ॥

४९—अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० ८ । ३ । १३ ॥

अपामस्मै वज्रं प्र हरामि चतुर्भृष्टिं शीर्षभिद्याय विद्वान्। सो अस्याङ्गानि प्र शृणातु सर्वा तन्मे देवा अनु जानन्तु विश्वे ॥ ५० ॥ (१७)

अपाम्। अस्मै। वज्रम्। प्र। हरामि। चतुःभृष्टिम्। शीर्षु-भिद्याय। विद्वान् ॥ सः। अस्य। अङ्गानि। प्र। शृणातु। सर्वा। तत्। मे। देवाः। अनु। जानन्तु। विश्वे ॥५०॥ (१७)

भाषार्थ—(विद्वान्) विद्वान् मैं (अस्मै) इस [शत्रु पर] (शीर्षभिद्याय) शिर तोड़ने के लिये (अपाम्) जलों का (चतुर्भृष्टिम्) चौफाले (वज्रम्) वज्र [अस्त्र] को (प्र हरामि) चलाता हूं। (सः) वह [वज्र] (अस्य) उस के (सर्वा) सब (अङ्गानि) अङ्गों को (प्र शृणातु) चूर चूर कर डाले, (मे) मेरे (तत्) उस [कर्म] को (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (अनु जानन्तु) मान लेवें ॥ ५० ॥

भावार्थ—राजा चारो ओर चोट करने वाले वारुणेय [जल में छुटने वाले] अस्त्र [इसी प्रकार आग्नेय, वायव्य अस्त्र] से शत्रु का नाश करके विद्वानों में कीर्ति पावे ॥ ५० ॥

सूक्तम् ६ ॥

१-३५ ॥ बृहस्पतिः प्रजापतिर्वा देवता ॥ १, ४, २१ गायत्री; २, ३, १८, १९, २२, २८, २९, ३०, ३३, ३४ अनुष्टुप्; ५, ३५ आर्षी जगती; ६, १२-१७ शक्करी; ७, ८, ९ अष्टिः; १० धृतिः; ११, २०, २३-२७ पथ्या पङ्क्तिः; ३१ भुरिग्जगती; ३२ भुरिगनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वकामसिद्ध्युपदेशः—सब कामनाओं की सिद्धि का उपदेश ॥

अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चा-

५०—(अपाम्) जलानाम् (अस्मै) शत्रवे (वज्रम्) आयुधम् (प्र हरामि) प्रक्षिपामि (चतुर्भृष्टिम्) भ्रस्ज अधःपतने भ्रस्ज पाके वा-क्तिन्। चतस्रो भृष्टयोऽधःफालानि यस्मिन् तं वज्रम् (शीर्षभिद्याय) भिदिर् विदारणे-क्यप्। शिरोभेदनाय (सः) वज्रः (अस्य) शत्रोः (अङ्गानि) (प्र शृणातु) चूर्णीकरोतु (तत्) कर्म (मे) मम (देवाः) विद्वांसः (अनु जानन्तु) स्वीकुर्वन्तु (विश्वे) सर्वे ॥

म्योजसा ॥ १ ॥

अरातिऽयोः । भ्रातृव्यस्य । दुःऽहार्दः । द्विषतः । शिरः ॥ अपि । वृश्चामि । ओजसा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अरातीयोः) कंजूसी करने वाले, (भ्रातृव्यस्य) भ्रातृभाव से रहित, (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाले (द्विषतः) द्वेषी के (शिरः) शिर को (ओजसा) बल के साथ (अपि वृश्चामि) मैं काटे देता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी मनुष्य शत्रुओं के मारने में सदा समर्थ होवे ॥ १ ॥

वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति ।
पूर्णो मन्थेन मागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २ ॥

वर्म । मह्यम् । अयम् । मणिः । फालात् । जातः । करिष्यति ॥ पूर्णः । मन्थेन । मा । आ । अगमत् । रसेन । सह । वर्चसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(फालात्) फल के [देने में] ईश्वर [परमात्मा] से (जातः) उत्पन्न हुआ (अयम्) यह (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मह्यम्) मेरे लिये (वर्म) कवच (करिष्यति) बनावेगा। (मन्थेन) मथन [सूक्ष्म विचार] से (पूर्णः) पूर्ण [वह वैदिक नियम] (मा) मुझ को (रसेन) बल और (वर्चसा सह) प्रताप के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर प्रणीत वेद के सूक्ष्म विचार से बली और प्रतापी होवे ॥ २ ॥

१—(अरातीयोः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अराति+या गतिप्रापणयोः-कु । अदानशीलस्य । अनुदारस्य (भ्रातृव्यस्य) अ० २ । १८ । १ । भ्रातृभावरहितस्य (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । दुष्टहृदयस्य (द्विषतः) शत्रोः (शिरः) (अपि वृश्चामि) अवच्छिनद्मि (ओजसा) बलेन ॥

२—(वर्म) कवचम् (मह्यम्) (अयम्) (मणिः) अ० ८ । ५ । १ । स्तुत्यो वैदिकनियमः (फालात्) तस्येश्वरः । पा० ५ । १ । ४२ । फल-अण् । फलस्येश्वरात् । परमेश्वरात् (जातः) प्रादुर्भूतः (करिष्यति) (पूर्णः) पूरितः (मन्थेन) मथनेन । सूक्ष्मविचारेण (मा) माम् (आ अगमत्) प्राप्तवान् (रसेन) बलेन (सह) (वर्चसा) प्रतापेन ॥

यत् त्वा शिक्वः प॒रावधी॑त् तक्षा हस्तेन॒ वास्या ।
आप॑स्त्वा तस्मा॑ज्जीव॒लाः पु॑नन्तु॒ शुच॑यः शुचिम् ॥ ३ ॥

यत् । त्वा । शिक्वः । प॒रा-अवधी॑त् । तक्षा । हस्तेन । वास्या ॥
आपः । त्वा । तस्मात् । जी॒व॒लाः । पु॒नन्तु । शुच॑यः । शुचिम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (शिक्वः) छीलने वाले, (तक्षा) दुर्बल करने वाले [शत्रु] ने (हस्तेन) अपने हाथ से (वास्या) कुल्हाड़ी द्वारा (त्वा) तुझ को (परा-अवधीत्) मार गिराया है। (जीवलाः) जीवन दाता, (शुचयः) शुद्ध स्वभाव वाले (आपः) विद्वान् लोग (शुचिम् त्वा) तुझ पवित्र को (तस्मात्) उस [कष्ट] से (पुनन्तु) शुद्ध करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—परोपकारी धर्मात्मा विद्वान् लोग उत्पातियों से निर्बलों की रक्षा करें ॥ ३ ॥

हिर॑ण्यस्रग॒यं म॒णिः श्र॒द्धां य॒ज्ञं महो॒ दध॑त् । गृ॒हे व॑सतु॒ नोऽ-तिथिः ॥ ४ ॥

हिर॑ण्य-स्रक् । अ॒यम् । म॒णिः । श्र॒द्धाम् । य॒ज्ञम् । महः॑ । दध॑त् ॥
गृ॒हे । व॒सतु॒ । नः॒ । अति॑थिः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यस्रक्) कामना योग्य [तेजों] का उत्पन्न करने वाला (अतिथिः) सदा मिलने योग्य (अयम्) यह (मणिः) मणि [प्रशंसनीय

३—(यत्) यदि (त्वा) (शिक्वः) अशूप्रुषिलटिकणि० । उ० १ । १५१ । शिञ् निशाने—क्विन् कुगागमश्च । छेत्ता (परा) दूरे (अवधीत्) अहिंसीत् (तक्षा) तनूकर्ता (हस्तेन) (वास्या) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । वस स्नेहच्छेदापहरणेषु—इञ् । कुठारेण (आपः) अ० १० । ५ । ६ । विद्वांसः (त्वा) (तस्मात्) कष्टात् (जीवलाः) ला आदाने-क । जीवनदातारः (पुनन्तु) शोधयन्तु (शुचयः) पवित्रस्वभावाः (शुचिम्) पवित्रम् ॥

४—(हिरण्यस्रक्) अ० १० । ४ । २ । हर्य गतिकान्त्योः-कन्यन् , हिरादेशः। ऋत्विग्दधृक्स्रग्० । पा० ३ । २ । ५६ । सृज उत्पादने-क्विन् , अमागमः । कमनीयानां तेजसां स्रष्टा (अयम्) प्रसिद्धः (मणिः) म० २ । प्रशंसनीयो वेदबोधः

वैदिक नियम] (श्रद्धाम्) श्रद्धा [सत्य धारण], (यज्ञम्) श्रेष्ठ कर्म, (महः) बड़प्पन (दधत्) देता हुआ (नः) हमारे (गृहे) घर में (वसतु) बसे ॥४॥

भावार्थ—मनुष्य वेदों के नित्य विचार से श्रद्धावान्, यशस्वी और परोपकारी होवें ॥ ४ ॥

तस्मै॑ घृ॒तं सुरां॒ मध्वन्न॑मन्नं॒ क्षदामहे । स नः॑ पि॒तेव॑ पु॒त्रेभ्यः॒ श्रेयः॑श्रेयश्चिकित्सतु॒ भूयो॑भूयः॒ श्वः॑श्वो दे॒वेभ्यो॑ म॒णिरेत्य॑ ॥५॥

तस्मै॑ । घृ॒तम् । सुरा॑म् । मधु॑ । अन्न॑म्-अन्नम् । क्ष॒दा॒म॒हे॒ ॥ सः॑ । नः॒ । पि॒ता-इ॑व । पु॒त्रेभ्यः॑ । श्रेयः॑-श्रेयः । चि॒कि॒त्स॒तु॒ । भूयः॑-भूयः । श्वः॑-श्वः । दे॒वेभ्यः॑ । म॒णिः । आ-इत्य॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [वैदिक नियम की प्राप्ति] के लिये (मधु) मधुविद्या [यथार्थज्ञान], (सुराम्) ऐश्वर्य, (घृतम्) तेज और (अन्नमन्नम्) अन्न पर अन्न को (क्षदामहे) हम बांटते हैं । (सः) वह (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (देवेभ्यः) विद्वानों से (एत्य) आकर (नः) हमें, (पिता इव) पिता के समान (पुत्रेभ्यः) पुत्रों के लिये, (श्रेयःश्रेयः) कल्याण के पीछे

(श्रद्धाम्) सत्यधारणम् । विश्वासम् (यज्ञम्) श्रेष्ठव्यवहारम् (महः) महत्त्वम् (दधत्) प्रयच्छन् (गृहे) (वसतु) तिष्ठतु (नः) अस्माकम् (अतिथिः) अ० ७ । २१ । १ । अत सातत्यगमने—इथिन् । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः ॥

५—(तस्मै) तस्य प्राप्तये (घृतम्) तेजः (सुराम्) अ० ६ । ६९ । १ । षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः-क, टाप् । ऐश्वर्यम् (मधु) मधुविद्याम् । यथार्थज्ञानम् (अन्नमन्नम्) अन्नस्य पश्चादन्नम् (क्षदामहे) क्षद संवेषणे भक्षणे विभागे च, सौत्रः । वण्टयामः (सः) वैदिकनियमः (नः) अस्मभ्यम् (पिता इव) (पुत्रेभ्यः) (श्रेयःश्रेयः) कल्याणस्या परिकल्याणम् (चिकित्सतु) कित रोगापनयने । वैद्यवत् प्रज्ञापयतु (भूयोभूयो) बहुतरं बहुतरम् (श्वः श्वः) नित्यमागामिनि दिने (देवेभ्यः) विदुषां सकाशात् (मणिः) प्रशंसनीयो वैदिकनियमः (एत्य) आगत्य ॥]

कल्याण को (भूयोभूयः) बहुत बहुत, (श्वः श्वः) कल्य के पीछे कल्य [नित्य आगामी कालमें] (चिकित्सतु) वैद्यरूप से बतावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेद विद्या की प्राप्ति के लिये अपनी शरीर रक्षा कर के दूसरों को विद्यादान आदि करते हैं, वे संसार में नित्य नये आनन्द भोगते हैं ५

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे । तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वःश्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ ६ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । मणिम् । फालम् । घृत-श्चुतम् । उग्रम् । खदिरम् । ओजसे ॥ तम् । अग्निः । प्रति । अमुञ्चत । सः । अस्मै । दुहे । आज्यम् । भूयः-भूयः । श्वः-श्वः । तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] ने (यम्) जिस (फालम्) फल के ईश्वर, (घृतश्चुतम्) प्रकाश की वरसा करने वाले, (उग्रम्) बलवान्, (खदिरम्) स्थिर गुण वाले (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (ओजसे) बल के लिये (अबध्नात्) बांधा है [बनाया है] । (तम्) उस [नियम] को (अग्निः) अग्नि [अग्नि समान तेजस्वी पुरुष] ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है, (सः) वह [नियम] (अस्मै) इस [तेजस्वी] के लिये (आज्यम्) पाने योग्य पदार्थ को (भूयोभूयः) बहुत, बहुत, (श्वःश्वः) कल्य के पीछे कल्य [नित्य आगामी काल में] (दुहे)

६—(यम्) (अबध्नात्) नियतवान् । कृतवान् (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहत्+पति, सुट्, तलोपः । बृहतां ब्रह्माण्डानां पालकः परमेश्वरः (मणिम्) म० २ प्रशंसनीयं वैदिकनियमम् (फालम्) म० २ । फलस्येश्वरम् (घृतश्चुतम्) प्रकाशवर्षकम् (उग्रम्) तेजस्विनम् (खदिरम्) अ० ३ । ६ । १ खद स्थैर्यहिंसयोः—किरच् । स्थिरगुणम् (ओजसे) बलाय (तम्) मणिम् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (प्रति अमुञ्चत) स्वीकृतवान् (सः) वैदिकनियमः (अस्मै) तेजस्विने पुरुषाय (दुहे) दुग्धे । प्रपूरयति (आज्यम्) अ० ५ । ८ । १ । आङ्+अञ्जू गतौ—क्यप् । गम्यं प्राप्यं पदार्थम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

पूरा करना है, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि) मार ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस ईश्वर नियम से अग्नि पदार्थों में व्यापकर बल बढ़ाता है उस वैदिक नियम को विद्वान् लोग परम्परा मान कर अपना कर्तव्य करते आये हैं, उसी नियम को प्रत्येक मनुष्य ग्रहण करके सब शत्रुओं को नाश करे ६

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्म॒णिं० । तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वी॒र्याय॒ कम् । सो अ॑स्मै॒ बल॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑भूयः० ॥ ७ ॥

० तम् । इन्द्रः । प्रति । अमुञ्चत । ओजसे । वीर्याय । कम् ॥ सः । अस्मै । बलम् । इत् । दुहे । भूयः-भूयः । ० ॥ ७ ॥

भावार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (यम्) जिस·····म० ६ । (तम्) उस [वैदिक नियम] को (इन्द्रः) इन्द्र [मेघ समान उपकारी पुरुष] ने (ओजसे) बल के लिये और (वीर्याय) पराक्रम के लिये (कम्) सुख से (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है । (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [उपकारी] के लिये (इत्) ही (बलम्) बल को (भूयोभूयः) बहुत बहुत ·····म० ६ ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर की आज्ञा से मेघ वृष्टि द्वारा अन्न आदि उत्पन्न करके संसार में पुष्टि करता है, उसी परमात्मा की उपासना से बल प्राप्त करके विद्वान् लोग सदा उपकार करते रहे हैं और करते रहें ॥ ७ ॥

यमब०। तं सोमः प्रत्यमुञ्चत म॒हे श्रोत्राय॒ चक्ष॑से । सो अ॑स्मै॒ वर्च॒ इद् दु॑हे॒ भूयो॑भूयः० ॥ ८ ॥

० तम् । सोमः । प्रति । अमुञ्चत । महे । श्रोत्राय । चक्षसे ॥ ० अस्मै । वर्चः । इत् । ० ॥ ८ ॥

भावार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर

७—(इन्द्रः) मेघ इवोपकारी पुरुषः (ओजसे) बलाय (वीर्याय) वीरकर्मणे । पराक्रमाय (कम्) सुखेन (बलम्) सामर्थ्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८—(सोमः) सोमरसः । अन्नाद्यमृतपदार्थः (महे) मह पूजायाम्-क्विप्

ने (यम्) जिस······म० ६ । (तम्) उस [वैदिक नियम] को (सोमः) सोम [सोमरस, अन्न आदि अमृत समान सुख उत्पन्न करने वाले पुरूप] ने (महे) महत्त्व के लिये, (श्रोत्राय) श्रवण सामर्थ्य के लिये और (चक्षसे) दर्शन सामर्थ्य के लिये (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है । (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (इत्) ही (वर्चः) तेज (भूयोभूयः) बहुत बहुत······म० ६ ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के नियम से अन्न आदि अमृत पदार्थ शरीर को पुष्ट कर इन्द्रियों को स्वस्थ रखते हैं, उसी परमात्मा के ज्ञान से पूर्वजों के समान दूरदर्शी होकर सब लोग सुख वृद्धि करें ॥ ८ ॥

यमबं० । तं सूर्यः प्रत्यमुञ्चत् तेने॒मा अ॑जय॒द् दिशः॑ ।
सो अ॒स्मै॒ भूति॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑भूयः० ॥ ९ ॥

० तम् । सूर्यः॑ । प्रति॑ । अमु॒ञ्चत॒ । तेन॑ । इ॒माः । अ॒जय॒त् । दिशः॑ ॥ ० अ॒स्मै॑ । भूति॑म् । इत् । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (यम्) जिस······म० ६ (तम्) उस [वैदिक नियम] को (सूर्यः) सूर्य [सूर्य समान राज्य चलाने वाले वीर] ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (इमाः दिशः) इन दिशाओं को (अजयत्) जीता है । (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [वीर पुरुष) के लिये (इत्) ही (भूतिम्) विभूति [सम्पत्ति] (भूयोभूयः) बहुत बहुत···म० ६ ॥९॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने परिधि के लोकों को आकर्षण द्वारा मर्यादा में चलाता है, उसी प्रकार नीति निपुण राजा परमेश्वरनियम से प्रजा का सुख बढ़ा कर अपना अभ्युदय करे ॥ ९ ॥

महत्त्वाय (श्रोत्राय) श्रवणसामर्थ्याय (चक्षसे) दर्शनसामर्थ्याय (वर्चः) तेजः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(सूर्यः) सूर्यवत्सविता राज्यप्रेरको वीरः (इमाः) दृश्यमानाः (अजयत्) वशीकृतवान् (दिशः) पूर्वादयः (भूतिम्) विभूतिम् । सम्पतिम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे ।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद् दानवानां हिरण्ययीः
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ १० ॥ (१८)

० बृहस्पतिः । मणिम् । फालम् । घृत-श्चुतम् । उग्रम् । खदिरम् । ओजसे ॥ तम् । बिभ्रत् । चन्द्रमाः । मणिम् । असुराणाम् । पुरः । अजयत् । दानवानाम् । हिरण्ययीः ॥ ० अस्मै । श्रियम् । इत् । दुहे । ० ॥ १० ॥ (१८)

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] ने (यम्) जिस (फालम) फल के ईश्वर, (घृतश्चुतम्) प्रकाश की वरसा करने वाले, (उग्रम्) बलवान्, (खदिरम्) स्थिर गुण वाले (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (ओजसे) बल के लिये (अबध्नात्) बांधा है [बनाया है] । (तम्) उस (मणिम्) मणि [वैदिक नियम] को (बिभ्रत्) धारण करने वाले (चन्द्रमाः) चन्द्रमा [चन्द्रमा समान आनन्दकारी पुरुष] ने (असुराणाम्) असुरों [देवताओं के विरोधियों] और (दानवानाम्) दानवों [छेदनस्वभाव वाले दुष्टों] की (हिरण्ययीः) सुवर्णमयी (पुरः) नगरियों को (अजयत्) जीता है, (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [आनन्दकारी पुरुष] के लिये (इत्) ही (श्रियम्) श्री [सेवनीय सम्पत्ति] (भूयोभूयः) बहुत बहुत ...... म० ८ ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे चन्द्रमा अपने शीतलता आदि गुण से प्राणियों को पुष्ट करता है, उसी प्रकार पूर्व महात्माओं के समान परमेश्वर की महिमा को साक्षात् करके दूरदर्शी विवेकी पुरुष संसार में सुख वृद्धि करे ॥ १० ॥

१०—(चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । चन्द्र इवाह्लादकः पुरुषः (असुराणाम्) देवविरोधिनाम् (पुरः) नगरीः (अजयत्) जितवान् (दानवानाम्) अ० ४ । २४ । २ । दा छेदने —ल्युट्, मत्वर्थे व । छेदनशीलानाम् । दुष्टानाम् (हिरण्ययीः) सुवर्णमयीः (श्रियम्) सेवनीयां सम्पत्तिम् । अन्यत् पूर्ववत् म० ६ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे ।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयो-भूयः ० ॥ ११ ॥

० बृहस्पतिः । वाताय । मणिम् । आशवे ॥ सः । अस्मै । वाजिनम् । दुहे । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (वाताय) गमन शील (आशवे) भोक्ता [प्राणी] के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (वाजिनम्) बल (भूयोभूयः) बहुत बहुत......म० ६ ॥ ११ ॥

भावार्थ—अनुभवी विद्वानों के समान पुरुषार्थी मनुष्य वैदिक नियम से यथावत् बल बढ़ा कर विघ्नों को हटावे ॥ ११ ॥

यमब० । तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः ।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयो-भूयः ० ॥ १२ ॥

० तेन । इमाम् । मणिना । कृषिम् । अश्विनौ । अभि । रक्षतः ॥ सः । भिषक्-भ्याम् । महः । दुहे । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को......म० ११ (अबध्नात्) बांधा है। (तेन) उस (मणिना) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] से (इमाम् कृषिम्) इस खेती को (अश्विनौ) कामों में व्याप्ति वाले दोनों [स्त्री पुरुष] (अभि रक्षतः) रक्षा करते रहते हैं (सः) वह

११—(वाताय) अ० १ । ११ । ६ । वा गतौ-तन् । गमनशीलाय । उद्योगिने (आशवे) कृवापा० । उ० १ । १ । अश भोजने-उण् । भोक्त्रे प्राणिने (वाजिनम्) महेरिनण च । उ० २ । ५६ । वज गतौ-इनण् । बलम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(तेन) (इमाम्) (मणिना) प्रशंसनीयेन वैदिकनियमेन (कृषिम्) कृषिरूपं संसारम (अश्विनौ) अ० २ । २९ । ६ । कार्येषु व्यापिनौ स्त्रीपुरुषौ

[वैदिक नियम] (भिषग्भ्याम्) उन दोनों वैद्यों के लिये (महः) बड़ाई (भूयोभूयः) बहुत बहुत......म० ६ ॥ १२ ॥

भावार्थ—वैदिक विज्ञान द्वारा स्त्री पुरुष खेती रूप इस संसार के व्यवहार को सिद्ध कर के सुख भोगें ॥ १२ ॥

यमब॑०। तं बिभ्र॑त् सवि॒ता म॒णिं तेने॒दम॑जयत् स्वः᳡। सो अ॑स्मै सू॒नृतां॑ दुहे भू॒योभूयः० ॥ १३ ॥

० तम् । बिभ्र॑त् । स॒वि॒ता । म॒णिम् । तेन॑ । इ॒दम् । अ॒ज॒यत् । स्वः᳡ ॥ सः । अ॒स्मै । सू॒नृता॑म् । दु॒हे । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिकनियम] को......म० ११ (अबध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (बिभ्रत्) धारण करके (सविता) सब के चलाने वाले [मनुष्य] ने (तेन) उस [वैदिक नियम] द्वारा (इदम् स्वः) यह सुख (अजयत्) जीता है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [प्राणी] के लिये (सूनृताम्) प्रिय सत्य वाणी को (भूयोभूयः) बहुत बहुत...म०६ ॥१३

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा सुशिक्षा प्राप्त करके सत्य और हित वचन बोलकर आनन्दित होवे ॥ १३ ॥

यमब॑०। तमापो॒ बिभ्र॑तीर्म॒णिं सदा॑ धाव॒न्त्यक्षि॑ताः। स आ॒भ्योऽमृ॑त॒मिद् दु॑हे भूयोभूयः० ॥ १४ ॥

० तम् । आपः॑ । बिभ्र॑तीः । म॒णिम् । सदा॑ । धा॒व॒न्ति॒ । अक्षि॑ताः ॥ सः । आ॒भ्यः । अ॒मृत॑म् । इत् । दु॒हे । ० ॥ १४ ॥

(अभि रक्षतः) (सः) (भिषग्भ्याम्) वैद्याभ्यां स्त्रीपुरुषाभ्याम्। अन्यत् पूर्ववत्-म० ६ ॥

१३—(बिभ्रत्) धारयन् (सविता) सर्वप्रेरकः पुरुषः (स्वः) सुखम्। स्वर्गम् (अस्मै) प्राणिने (सूनृताम्) अ० ३। १२। २। प्रियसत्यात्मिकां वाणीम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को......म० ११ (अवध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (मणिम्) [प्रशंसनीय वैदिय नियम] को (बिभ्रतीः) धारण करती हुई (आपः) प्रजायें (अक्षिताः) अक्षीण होकर (सदा) सदा (धावन्ति) दौड़ती हैं। (सः) वह [वैदिक नियम] (आभ्यः) इन [प्रजाओं] के लिये (इत्) ही (अमृतम्) अमृत [पुरुषार्थ] को (भूयोभूयः) बहुत बहुत......म० ६ ॥ १४ ॥

भावार्थ—सब प्राणी वैदिक ज्ञान से निरालसी और स्वस्थ रहकर सदा प्रयत्न करते रहें ॥ १४ ॥

यमबं०। तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम्। सो अस्मै सत्यमिद् दुहे भूयोभूयः० ॥ १५ ॥

० तम्। राजा। वरुणः। मणिम्। प्रति। अमुञ्चत। शम्-भुवम् ॥ सः। अस्मै। सत्यम्। इत्। ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को......म० ११ (अवध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (शंभुवम्) शान्तिकारक (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (वरुणः) श्रेष्ठ (राजा) राजा ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है। (सः) वह [वैदिक नियम] (अस्मै) इस [राजा] के लिये (इत्) ही (सत्यम्) सत्य को (भूयोभूयः) बहुत बहुत......म० ६ ॥ १५ ॥

भावार्थ—राजा प्राचीन इतिहासों को विचार कर वैदिक शिक्षा स्वीकार करके सत्य के प्रचार में सदा प्रवृत्त रहे ॥ १५ ॥

१४—(आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। २७ (बिभ्रतीः) धारयन्त्यः (सदा) (धावन्ति) वेगेन गच्छन्ति (अक्षिताः) अक्षीणाः (आभ्यः) प्रजाभ्यः (अमृतम्) मरणराहित्यम्। पुरुषार्थम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(राजा) शासकः (वरुणः) वरणीयः। श्रेष्ठः (प्रत्यमुञ्चत) स्वीकृतवान् (शंभुवम्) शम्+भू-क्विप्। शान्तिकारकम् (अस्मै) राज्ञे (सत्यम्) यथार्थम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

यमब०। तं दे॒वा बिभ्र॑तो म॒णिं सर्वा॑ल्लो॒कान् यु॒धाज॑यन् ।
स ए॒भ्यो जिति॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑भूयः० ॥ १६ ॥

०तम् । दे॒वाः । बिभ्र॑तः । म॒णिम् । सर्वा॑न् । लो॒कान् । यु॒धा । अ॒जय॒न् ॥ सः । ए॒भ्यः । जिति॑म् । इत् । ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को..... म० ११ (अबध्नात्) बांधा है। (तम्) उस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (बिभ्रतः) धारण करते हुये (देवाः) विजयी लोगों ने (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (युधा) युद्ध से (अजयन्) जीता है। (सः) वह [वैदिक नियम] (एभ्यः) इन [विजयी लोगों] के लिये (इत्) ही (जितिम्) जीत (भूयोभूयः) बहुत बहुत .....म० ॥ १६ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पुरुषार्थी लोगों ने ईश्वर नियम पर चलकर विजय पाया है, वैसेही सब मनुष्य वेद विद्या द्वारा निरालसी होकर दुःखों से अलग होवें ॥ १६ ॥

यमब॑ध्ना॒द् बृह॒स्पति॒र्वाता॑य म॒णिमा॒शवे॑। तमि॒मं दे॒वता॑ म॒णिं प्रत्य॑मुञ्चन्त श॒म्भुव॑म् । स आ॒भ्यो विश्व॒मिद् दु॑हे॒ भूयो॑भूयः श्वः॑श्व॒स्तेन॒ त्वं द्वि॑ष॒तो ज॑हि ॥ १७ ॥

यम् । अब॑ध्नात् । बृह॒स्पति॑ः । वाता॑य । म॒णिम् । आ॒शवे॑ ॥ तम् । इ॒मम् । दे॒वता॑ः । म॒णिम् । प्रति॑ । अ॒मु॒ञ्च॒न्त॒ । श॒म्-भुव॑म् ॥ सः । आ॒भ्यः । विश्व॑म् । इत् । दु॒हे॒ । भूयः॑-भूयः । श्वः॑-श्वः । तेन॑ । त्वम् । द्वि॒ष॒तः । ज॒हि॒ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम]

१६—(देवाः) विजिगीषवः पुरुषाः (बिभ्रतः) धारयन्तः (सर्वान् लोकान्) (युधा) युद्धेन (अजयन्) जितवन्तः (एभ्यः) देवेभ्यः (जितिम्) जयम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (वाताय) गमनशील (आशवे) भोक्ता [प्राणी] के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (तम् इमम्) उस ही (शंभुवम्) शान्तिकारक (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (देवताः) देवताओं [विद्वानों] ने (प्रति अमुञ्चन्त) स्वीकार किया है। (सः) वह [वैदिक नियम] (आभ्यः) इन [देवताओं] के लिये (इत्) ही (विश्वम्) प्रत्येक वस्तु (भूयोभूयः) बहुत बहुत, (श्वः श्वः) कल्य के पीछे कल्य [अर्थात् नित्य आगामी समय में] (दुहे) पूरा करता है, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि)मार ॥१७॥

भावार्थ—ईश्वर विहित वैदिक नियम को विद्वान् मानकर सदा आनन्द पाते रहे हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य वेदमार्ग पर चलकर आनन्द भोगें ॥१७॥

ऋ॒तव॒स्तम॑बध्नतार्त॒वास्तम॑बध्नत ।

सं॒व॒त्स॒रस्तं ब॒द्ध्वा सर्वं॑ भू॒तं वि र॑क्षति ॥ १८ ॥

ऋ॒तवः॑ । तम् । अ॒ब॒ध्न॒त॒ । आ॒र्त॒वाः । तम् । अ॒ब॒ध्न॒त॒ ॥

स॒म्ऽव॒त्स॒रः । तम् । ब॒द्ध्वा । सर्व॑म् । भू॒तम् । वि । र॒क्ष॒ति॒ १८

भाषार्थ—(ऋतवः) ऋतुओं ने (तम्) उस [मणि, वैदिक नियम] को (अबध्नत) बांधा है, (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयवों ने (तम्) उस को (अबध्नत) बांधा [माना] है, (संवत्सरः) संवत्सर [वर्ष वा काल] (तम्) उसको (बद्ध्वा) बांधकर (सर्वम्) सब (भूतम्) जगत् को (वि) विविध प्रकार (रक्षति) पालता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—कारण और कार्य रूप काल परमात्मा के नियम से संसार का उपकार करता है ॥ १८ ॥

अ॒न्तर्दे॒शा अ॑बध्नत प्र॒दिश॒स्तम॑बध्नत ।

१७—(देवताः) विद्वांसः (प्रति अमुञ्चन्त) स्वीकृतवन्तः (आभ्यः) देवताभ्यः (विश्वम्) प्रत्येकं वस्तु । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(ऋतवः) वसन्तादयः कालविशेषाः (तम्) नियमम् (अबध्नत) गृहीतवन्तः (आर्तवाः) ऋतु—अण् । ऋतूनामवयवाः (संवत्सरः) वर्षकालः (बद्ध्वा) गृहीत्वा (सर्वम् (भूतम्) जगत् (वि) विविधम् (रक्षति) पाति ॥

प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥ १८ ॥

अन्तः-देशाः। अबध्नत। प्र-दिशः। तम्। अबध्नत ॥ प्रजा-पति-सृष्टः। मणिः। द्विषतः। मे। अधरान्। अकः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अन्तर्देशाः) अन्तर्देशों ने (अबध्नत) [वैदिक नियम को] बांधा है, (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं ने (तम्) उस [वैदिक नियक] को (अबध्नत) बांधा है। (प्रजापतिसृष्टः) प्रजापति [परमात्मा] के उत्पन्न किये हुये (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] ने (मे) मेरे (द्विषतः) वैरियों को (अधरान्) नीचे (अकः) किया है ॥ १८ ॥

भावार्थ—सब स्थानों के पदार्थ ईश्वर नियम अनुसार मनुष्य का उपकार करते हैं ॥ १८ ॥

अथर्वाणो अबध्नताथर्वणा अबध्नत। तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २० ॥ (१८)

अथर्वाणः। अबध्नत। आथर्वणाः। अबध्नत ॥ तैः। मेदिनः। अङ्गिरसः। दस्यूनाम्। बिभिदुः। पुरः। तेन। त्वम्। द्विषतः। जहि ॥ २० ॥ (१८)

भाषार्थ—(अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले [ऋषियों] ने [वैदिक नियम] (अबध्नत) बांधा [माना] है, (आथर्वणाः) निश्चल परमात्मा के जानने वाले [विवेकियों] ने [उसे] (अबध्नत) बांधा है। (तैः) उन [विवेकियों] के साथ (मेदिनः) स्नेही वा बुद्धिमान् (अङ्गिरसः) ऋषियों ने (दस्यू-

---

१८—(अन्तर्देशाः) अन्तराला दिशाः (प्रदिशः) पूर्वादयो दिशाः (प्रजापतिसृष्टः) प्रजापालकेन परमेश्वरेणोत्पन्नः (मणिः) प्रशस्तो वैदिकनियमः (द्विषतः) शत्रून् (मे) मम (अधरान्) नीचान् (अकः) अकार्षीत्। कृतवान्। अन्यद्‌गतम् ॥

२०—(अथर्वाणः) अ० ४। १। ७। अ + थर्व चरणे-वनिप्। निश्चलस्वभावा मुनयः (अबध्नत) आथर्वाणः) अ० ६। १। १। अथर्वन्-अण्, ज्ञाने। अथर्वाणं निश्चलस्वभावं परमात्मानं ये जानन्ति ते महर्षयः (तैः)

नाम्) डाकुओं की (पुरः) नगरियों को (विभिद्रुः) तोड़ा था, (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि) मार ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर नियम पर चल कर विद्वानों की सहायता से दूसरे विद्वानों ने संसार में जीत पाई है, उसी प्रकार सब मनुष्य परस्पर सहायक होकर विघ्नों का नाश करें ॥ २० ॥

तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत् ।
तेन त्वं द्विषतो जहि ॥ २१ ॥

तम् । धाता । प्रति । अमुञ्चत । सः । भूतम् । वि । अकल्पयत् ॥ तेन । त्वम् । द्विषतः । जहि ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस [वैदिक नियम] को (धाता) धारण कर्त्ता [राजा] ने (प्रति अमुञ्चत) स्वीकार किया है, और (सः) उसने (भूतम्) जगत् को (वि अकल्पयत्) संभाला है। (तेन) उस [वैदिक नियम] से (त्वम्) तू (द्विषतः) वैरियों को (जहि) मार ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे राजा वेद द्वारा राज्य का प्रबन्ध करता है वैसे ही प्रत्येक मनुष्य करे ॥ २१ ॥

यमबध्नाद् बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम् ।
स मायं मणिरागमद् रसेन सह वर्चसा ॥ २२ ॥

यम् । अबध्नात् । बृहस्पतिः । देवेभ्यः । असुर-क्षितिम् ॥ सः । मा । अयम् । मणिः । आ । अगमत् । रसेन । सह । वर्चसा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक [वैदिकनियम]

आथर्वणैः सह (मेदिनः) ञि मिदा स्नेहने, यद्वा, मिद मेदृ मेधाहिंसनयोः—णिनि। स्नेहिनः। मेधाविनः (अङ्गिरसः) अ० २। १२। ४। ज्ञानिनो महर्षयः (दस्यूनाम्) चौराणाम् (विभिद्रुः) चिच्छिदुः (पुरः) नगरीः। अन्यद् गतम् ॥

२१—(तम्) (धाता) प्रजापालको राजा (भूतम्) जगत् (वि) विविधम् (अकल्पयत्) संस्कृतवान्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२२—(यम्) (अबध्नात्) बद्धवान्। नियोजितवान्। (बृहस्पतिः)

को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (देवेभ्यः) विजयी लोगों के लिये (अबध्नात्) बांधा है। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (रसेन) पराक्रम और (वर्चसा सह) प्रताप के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ ॥ २२ ॥

भावार्थ—परमात्मा के बांधे नियम पर चल कर सब मनुष्य बल और कीर्ति बढ़ावें ॥ २२ ॥

यमबं० । स मायं मुणिरागमत् सुह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजयां सुह ॥ २३ ॥

० अगमत् । सुह । गोभिः । अजावि-भिः । अन्नेन । प्र-जया । सुह ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक ......म० २२। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (गोभिः) गौओं और (अजाविभिः सह) बकरी और भेड़ों के साथ, (अन्नेन) अन्न और (प्रजया सह) प्रजा [सन्तान] के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम पर चलकर गौ आदि प्राणियों से उपकार लेकर सुखी रहे ॥ २३ ॥

यमबं० । स मायं मुणिरागमत् सुह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सुह ॥ २४ ॥

० अगमत् । सुह । व्रीहि-यवाभ्याम् । महसा । भूत्या । सुह २४

बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामी (देवेभ्यः) विजयिभ्यः (असुरक्षितिम्) दुष्टनाशकम् (सः) (मा) माम् (अयम्) एव (मणिः) (आगमत्) प्राप्तवान् (रसेन) पराक्रमेण (सह) (वर्चसा) प्रतापेन ॥

२३—(अजाविभिः) अजाश्च अवयश्च ताभिः (प्रजया) सन्तानेन सह । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक...... म० २२। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (व्रीहियवाभ्याम् सह) चावल और जव के साथ और (महसा) बड़ाई और (भूत्या सह) विभूति [सम्पत्ति] के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है॥ २४

भावार्थ—मनुष्य धर्म से अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके यश और ऐश्वर्य बढ़ावें॥ २४॥

यमब०। स मा॒यं म॒णिरा॑ग॒मन्मधो॑र्घृ॒तस्य॒ धार॑या की॒ला॑लेन म॒णिः स॒ह ॥ २५ ॥

०अ॒ग॒म॒त्। मधो॑ः। घृ॒तस्य॑। धार॑या। की॒ला॑लेन। म॒णिः। स॒ह २५

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक......म० २२। (सः अयम्) वह (मणिः) प्रशंसनीय (मणिः) मणि [वैदिक नियम] (मा) मुझे (मधोः) मधुर रस की और (घृतस्य) घृत की (धारया) धारा से (कीलालेन सह) अच्छे पके अन्न के सहित (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है॥ २५॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म से अन्न आदि पदार्थ लाकर निर्वाह करें॥ २५॥

यमब०। स मा॒यं म॒णिरा॑ग॒मदू॒र्जया॒ पय॑सा स॒ह द्रवि॑णेन श्रि॒या स॒ह ॥ २६ ॥

०अ॒ग॒म॒त्। ऊ॒र्जया॑। पय॑सा। स॒ह। द्रवि॑णेन। श्रि॒या। स॒ह २६

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक......म० २२। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (ऊर्जया) पराक्रम और (पयसा सह) ज्ञान के साथ [तथा] (द्रविणेन)

२४—(महसा) महत्त्वेन (भूत्या) सम्पत्या। अन्यत् सुगमम्॥

२५—(मधोः) मधुररसस्य (घृतस्य) सर्पिषः (धारया) प्रवाहेण (कीलालेन) अ० ४। ११। १०। कीलालमन्ननाम–निघ० २। ७। सुसंस्कृतेनान्नेन। अन्यद् गतम्॥

२६—(ऊर्जया) पराक्रमेण (पयसा) ज्ञानेन (द्रविणेन) धनेन (श्रिया) सेवनीयया संपत्त्या। अन्यत् पूर्ववत्॥

धन और (श्रिया सह) श्री [सेवनीय सम्पत्ति] के सहित (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म्मानुसार पराक्रमी, ज्ञानी, धनी और ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २६ ॥

यमबं० । स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् तेज॑सा त्विष्या॒ स॒ह यश॑सा की॒र्त्या स॒ह ॥ २७ ॥

० अ॒ग॒म॒त् । तेज॑सा । त्विष्या॑ । स॒ह । यश॑सा । की॒र्त्या॑ । स॒ह ।२७।

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुरनाशक......म० २२ । (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (तेजसा) तेज और (त्विष्या सह) शोभा के साथ [तथा] (यशसा) यश और (कीर्त्या सह) कीर्त्ति के साथ (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर नियम से पुरुषार्थी होकर प्रतापी और यशस्वी होवें ॥ २७ ॥

यमब॑ध्नाद् बृह॒स्पति॑र्दे॒वेभ्यो॒ असु॑रक्षितिम् ।
स मा॒यं म॒णिराग॑म॒त् सर्वा॑भि॒र्भूति॑भिः स॒ह ॥ २८ ॥

यम् । अब॑ध्नात् । बृ॒ह॒स्पति॑ः । दे॒वेभ्य॑ः । असु॑र-क्षितिम् ॥ सः । मा॒ । अ॒यम् । म॒णिः । आ । अ॒ग॒म॒त् । सर्वा॑भिः । भूति॑-भिः । स॒ह ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (असुरक्षितिम्) असुर नाशक [वैदिक नियम] को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (देवेभ्यः) विजयी लोगों के लिये (अबध्नात्) बांधा है । (यः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझे (सर्वाभिः) सब प्रकार की (भूतिभिः सह) सम्पत्तियों सहित (आ अगमत्) प्राप्त हुआ है ॥ २८ ॥

२७—(त्विष्या) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । त्विष दीप्तौ-इन्, कित् । दीप्त्या । शोभया । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२८—(भूतिभिः) विभूतिभिः । सम्पत्तिभिः । सिद्धिभिः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के नियम पर चलकर सब प्रकार की सम्पत्तियां प्राप्त करें ॥ २८ ॥

तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये ।
अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम् ॥ २९ ॥

तम् । इमम् । देवताः । मणिम् । मह्यम् । ददतु । पुष्टये ॥
अभि-भुम् । क्षत्र-वर्धनम् । सपत्न-दम्भनम् । मणिम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(देवताः) देवता [विद्वान् जन] (मह्यम्) मुझे (पुष्टये) पुष्टि [वृद्धि] के लिये (तम् इमम्) उस ही (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम], (अभिभुम्) [शत्रुओं को] हराने वाले, (क्षत्रवर्धनम्) राज्य बढ़ाने वाले, (सपत्नदम्भनम्) वैरियों के दबाने वाले (मणिम्) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] को (ददतु) दान करें ॥ २९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वैदिक मार्ग पर चल कर सब के पालन पोषण के लिये राज्य आदि व्यवहार सिद्ध करें ॥ २९ ॥

ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम् ।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान् मेऽधराँ अकः ॥ ३० ॥ (२०)

ब्रह्मणा । तेजसा । सह । प्रति । मुञ्चामि । मे । शिवम् ॥
असपत्नः । सपत्न-हा । स-पत्नान् । मे । अधरान् । अकः ॥ ३० (२०)

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) वेद द्वारा (तेजसा सह) प्रकाश के साथ (मे) अपने लिये (शिवम्) शिव [मङ्गलकारी परमात्मा] को (प्रति मुञ्चामि) मैं स्वीकार करता हूं । (असपत्नः) शत्रु रहित, (सपत्नहा) शत्रुनाशक [परमे-

२९—(देवताः) विद्वज्जनाः (ददतु) प्रयच्छन्तु (पुष्टये) पालनाय (अभिभुम्) शत्रूणामभिभवितारं पराजेतारम् (क्षत्रवर्धनम्) राज्यवर्धकम् (सपत्नदम्भनम्) शत्रुनाशकम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३०—(ब्रह्मणा) वेदद्वारा (तेजसा) प्रकाशेन सह (प्रति मुञ्चामि) स्वीकरोमि (मे) मह्यम् । आत्मने (शिवम्) मङ्गलप्रदं परमात्मानम् (असपत्नः) शत्रुनाशकः (सपत्नान्) शत्रून् (मे) मम (अधरान्) नीचान् (अकः)

श्वर] ने (मे) मेरे (सपत्नान्) शत्रुओं को (अधरान्) नीचे (अकः) कर दिया है ॥ ३० ॥

भावार्थ—वेद द्वारा परमात्मा के विचार से जिनकी बुद्धि प्रकाशमयी हो जाती है वे अपने शत्रुओं को नाश करके सुख पाते हैं ॥ ३० ॥

उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः ।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते ।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः ॥ ३१ ॥

उत्-तरम् । द्विषतः । माम् । अयम् । मणिः । कृणोतु । देव-जाः ॥ यस्य । लोकाः । इमे । त्रयः । पयः । दुग्धम् । उप-आसते ॥ सः । मा । अयम् । अधि । रोहतु । मणिः । श्रैष्ठ्याय । मूर्धतः ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (देवजाः) देव [परमेश्वर] से उत्पन्न (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझ को (द्विषतः) वैरी से (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (कृणोतु) करे । (इमे) यह (त्रयः) तीनों [सृष्टि, स्थिति और प्रलय] (लोकाः) लोक (यस्य) जिस [वैदिक नियम] के (दुग्धम्) पूर्ण (पयः) ज्ञान को (उपासते) भजते हैं । (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझ को (मूर्धतः) शिर पर से (श्रैष्ठ्याय) प्रधान पद के लिये (अधि) ऊपर (रोहतु) चढ़ावे ॥३१॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर प्रणीत सत्य नियम को मानकर संसार में प्रधान पद प्राप्त करे ॥ ३१ ॥

अ० १ । ८ । १ । अकार्षीत् । कृतवान् ॥

३१—(उत्तरम्) उच्चतरम् (द्विषतः) शत्रुसकाशात् (मा) माम् (अयम्) (मणिः) प्रशस्तो वैदिकनियमः (कृणोतु) करोतु (देवजाः) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । देव+जनी प्रादुर्भावे-विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नस्य आत्वम् । देवात् परमेश्वराज् जातः (यस्य) (लोकाः) (इमे) (त्रयः) सृष्टिस्थितिप्रलयरूपाः (पयः) पय गतौ-असुन् । ज्ञानम् (दुग्धम्) प्रपूर्णम् (उपासते) पूजयन्ति (सः) (मा) माम् (अयम्) (अधि) उपरि (रोहतु) रोहयतु (मणिः) (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठपदाय (मूर्धतः) मस्तकात् ॥

यं दे॒वाः पि॒तरो॑ मनु॒ष्या᳚ उप॒जीव॑न्ति स॒र्व॒दा ।
स मा॒यमधि॑ रोहतु म॒णिः श्रैष्ठ्या॑य मू॒र्ध॒तः ॥ ३२॥

यम् । दे॒वाः । पि॒तरः॑ । म॒नु॒ष्याः᳚ । उ॒प॒-जीव॑न्ति । स॒र्व॒दा ॥
सः । मा॒ । अ॒यम् । अधि॑ । रो॒ह॒तु॒ । म॒णिः । श्रैष्ठ्या॑य । मू॒र्ध॒तः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(देवाः) व्यवहार जानने वाले, (पितरः) पालन करनेवाले और (मनुष्याः) मनन करने वाले लोग (यम्) जिस [वैदिक नियम] के (सर्वदा) सर्वदा (उपजीवन्ति) आश्रय में रहते हैं। (सः अयम्) वही (मणिः) मणि [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (मा) मुझ को (मूर्धतः) शिर पर से (श्रैष्ठ्याय) प्रधान पद के लिये (अधि) ऊपर (रोहतु) चढ़ावे ॥ ३२॥

भावार्थ—सब उत्तम पुरुष परमेश्वर के आश्रय से संसार में उच्चपद प्राप्त करें ॥ ३२ ॥

यथा॒ बीज॑मु॒र्वरा॑यां कृ॒ष्टे फाले॑न॒ रोह॑ति ।
ए॒वा मयि॑ प्र॒जा प॒शवो॑ऽन्न॑मन्नं॒ वि रो॑हतु ॥ ३३ ॥

यथा॑ । बीज॑म् । उ॒र्वरा॑याम् । कृ॒ष्टे । फाले॑न । रोह॑ति ॥ ए॒व ।
मयि॑ । प्र॒-जा । प॒शवः॑ । अन्न॑म्-अन्नम् । वि । रो॒ह॒तु॒ ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वीजम्) वीज (उर्वरायाम्) उपजाऊ धरती में (फालेन) फाल [हल की कील] से (कृष्टे) जोते हुये [खेत] में (रोहति) उपजता है। (एव) वैसे ही (मयि) मुझ में (प्रजा) प्रजा [सन्तान आदि], (पशवः) पशु [गौ घोड़ा आदि] और (अन्नमन्नम्) अन्न के ऊपर अन्न

३२—(यम्) वैदिकनियमम् (देवाः) व्यवहारकुशलाः (पितरः) पालकाः (मनुष्याः) अ० ३। ४। ६। मननशीलाः (उपजीवन्ति) आश्रयन्ति। अन्यत् पूर्ववत्—म० ३१ ॥

३३—(यथा) येन प्रकारेण (वीजम्) अ० ३। १७। २। उत्पत्तिकारणम् (उर्वरायाम्) उरु—ऋ गतौ—अच्, टाप्। शस्याढ्यायां भूमौ (कृष्टे) विलिखिते क्षेत्रे (फालेन) फल विदारणे—घञ्। लाङ्गलमुखस्थेन लौहेन (रोहति) उत्पद्यते (एव) तथा (मयि) (प्रजा) सन्तानः (पशवः) गवा-

(वि) विविध प्रकार (रोहतु) उत्पन्न होवे ॥ ३३ ॥

भावार्थ—यह बात प्रसिद्ध है कि उत्तम अन्न उपजाऊ धरती में क्रिया विशेष द्वारा बोये बीज से उत्तम अन्न आदि उत्पन्न होते हैं, वैसे ही सुशिक्षित गुणी पुरुषों के सुविचारित कर्म से बड़े बड़े उपकारी लाभ होते हैं ॥ ३३ ॥

यस्मै॑ त्वा यज्ञवर्धन॒ मणे॑ प्र॒त्यमु॑चं शि॒वम् । तं त्वं श॒तदक्षिण॒ मणे॑ श्रैष्ठ्याय जिन्वतात् ॥ ३४ ॥

यस्मै॑ । त्वा॒ । य॒ज्ञ-व॒र्ध॒न॒ । मणे॑ । प्र॒ति-अ॒मु॑चम् । शि॒वम् ॥ तम् । त्वम् । श॒त-द॒क्षि॒ण॒ । मणे॑ । श्रैष्ठ्याय । जि॒न्व॒ता॒त् ॥३४॥

भाषार्थ—(यज्ञवर्धन) हे श्रेष्ठ व्यवहार बढ़ाने वाले (मणे) मणि ! [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (यस्मै) जिस [पुरुष] के लिये (शिवम् त्वा) तुझ मङ्गलकारी को (प्रत्यमुचम्) मैं ने स्वीकार किया है । (शतदक्षिण) हे सैकड़ों वृद्धि वाले (मणे) मणि ! [प्रशंसनीय वैदिक नियम] (त्वम्) तू (तम्) उस [पुरुष] को (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठपद के लिये (जिन्वतात्) तृप्त कर ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद ज्ञान से अनेक प्रकार वृद्धि करके योग्यता पूर्वक श्रेष्ठ पद प्राप्त करे ॥ ३४ ॥

ए॒तमि॒ध्मं स॒मा॑हितं जुषा॒णो अग्ने॒ प्रति॑ हर्य॒ होमैः॑ । तस्मि॑न् विदेम सुम॒तिं स्व॒स्ति प्र॒जां चक्षुः॑ प॒शून्त्समि॑द्धे जा॒तवे॑दसि॒ ब्रह्म॑णा ॥ ३५ ॥ (२१)

ए॒तम् । इ॒ध्मम् । स॒म्-आ॑हितम् । जु॒षा॒णः । अग्ने॑ । प्रति॑ । ह॒र्य॒ । होमैः॑ ॥ तस्मि॑न् । वि॒दे॒म॒ । सु॒-म॒तिम् । स्व॒स्ति । प्र-

---

स्वाद्यः (अन्नमन्नम्) बहुपरिमाणमन्नम् (वि) विविधम् (रोहतु) जायताम् ॥

३४—(यस्मै) पुरुषहिताय (त्वा) (यज्ञवर्धन) हे श्रेष्ठव्यवहारवर्धक (मणे) (प्रत्यमुचम्) अहं स्वीकृतवान् (शिवम्) (मङ्गलकारकम्) (तम्) पुरुषम् (त्वम्) (शतदक्षिण) बहुप्रकारवृद्धियुक्त (मणे) (श्रैष्ठ्याय) श्रेष्ठपदाय (जिन्वतात्) तर्पय ॥

जाम् । चक्षुः । पुशून् । सम्-इद्धे । जात-वेदसि । ब्रह्मणा ३५(२१)

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! [अग्नि समान तेजस्वी मनुष्य] (एतम्) इस (समाहितम्) ध्यान किये गये (इध्मम्) प्रकाशस्वरूप [परमेश्वर] को, (जुषाणः) प्रसन्न होकर तू (होमैः) दानों [आत्मसमर्पणों] से (प्रति हर्य) प्रत्यक्ष प्रीतिकर। (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (समिद्धे) प्रकाशित (तस्मिन्) उस (जातवेदसि) उत्पन्न पदार्थों के जानने वाले [परमात्मा] में (सुमतिम्) सुमति, (स्वस्ति) सुसत्ता [कुशल], (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] (चक्षुः) दृष्टि और (पशून्) पशुओं को (विदेम) हम पावें ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रीतिपूर्वक परमात्मा का ध्यान रखकर सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द भोगें ॥ ३५ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७ [स्कम्भसूक्तम्] ॥

१—४४ ॥ स्कम्भो ज्येष्ठं ब्रह्म देवता ॥ १, १७, ३५ जगती; २, ४, ५, ६, ८, ९, भुरिक् त्रिष्टुप्; ३, ३८, ४२, ४३, त्रिष्टुप्; ७, १३, परोष्णिक्; १०, १४, १६, १८, १९ उपरिष्टाद् बृहती; ११, १२, १५, २०, २२ उपरिष्टाद् ज्योतिर्जगती; २१ भुरिगनुष्टुप्; २३—३०, ३७, ४०, अनुष्टुप्; ३१ आर्षी जगती; ३२—३४, ३६ विराडुपरिष्टाद्बृहती; ३९ भुरिगुपरिष्टाज् ज्योतिर्जगती; ४१ गायत्री; ४४ आर्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मस्वरूपनिरूपणोपदेशः—ब्रह्मके स्वरूप के विचारका उपदेश ॥

कस्मिन्नङ्गे तपो अस्याधि तिष्ठति कस्मिन्नङ्ग ऋतमस्याध्या-

३५—(एतम्) प्रसिद्धम् (इध्मम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (समाहितम्) सम्यग् ध्यातम् (जुषाणः) प्रीतः सन् (अग्ने) अग्निवत्तेजस्विन् विद्वन् (प्रति) प्रत्यक्षम् (हर्य) कामयस्व (होमैः) दानैः। आत्मसमर्पणैः (तस्मिन्) (विदेम) प्राप्नुयाम (सुमतिम्) कल्याणबुद्धिम् (स्वस्ति) सुसत्ताम्। शुभम् (प्रजाम्) (चक्षुः) दृष्टिम् (पशून्) (समिद्धे) प्रकाशिते (जातवेदसि) अ० १।७।२। उत्पन्नपदार्थानां ज्ञातरि (ब्रह्मणा) वेदद्वारा ॥

हितम् । क्वं व्रतं क्वं श्रद्धास्यं तिष्ठति कस्मिन्नङ्गे सत्यमस्य प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

कस्मिन् । अङ्गे । तपः । अस्य । अधि । तिष्ठति । कस्मिन् । अङ्गे । ऋतम् । अस्य । अधि । आ-हितम् ॥ क्वं । व्रतम् । क्वं । श्रद्धा । अस्य । तिष्ठति । कस्मिन् । अङ्गे । सत्यम् । अस्य । प्रति-स्थितम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सर्वव्यापक ब्रह्म] के (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि तपश्चरण वा ऐश्वर्य] (अधि तिष्ठति) जमकर ठहरता है, (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (ऋतम्) सत्यशास्त्र [वेद] (अधि) दृढ़ (आहितम्) स्थापित है। (अस्य) इस के (क्व) कहां पर (व्रतम्) व्रत [नियम], (क्व) कहां पर (श्रद्धा) श्रद्धा [सत्य में दृढ़ विश्वास] (तिष्ठति) स्थित है, (अस्य) इसके (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (सत्यम्) सत्य [यथार्थ कर्म] (प्रतिष्ठितम्) ठहरा हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जिज्ञासु के प्रश्नों का उत्तर आगे मन्त्र ४ में है । अर्थात् सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान्, निराकार परमात्मा की सत्ता मात्र में सब तप, वेद आदि और अग्नि, वायु आदि ठहरे हैं ॥ १ ॥

कस्मादङ्गाद् दीप्यते अग्निरस्य कस्मादङ्गात् पवते मातरिश्वा । कस्मादङ्गाद् वि मिमीतेऽधि चन्द्रमा मह स्कम्भस्य मिमानो अङ्गम् ॥ २ ॥

कस्मात् । अङ्गात् । दीप्यते । अग्निः । अस्य । कस्मात् । अङ्गात् ।

१—(कस्मिन्) (अङ्गे) अवयवे (तपः) ब्रह्मचर्यादि तपश्चरणम् । ऐश्वर्यम् । सामर्थ्यम् (अस्य) ब्रह्मणः (अधि) दृढम् (तिष्ठति) वर्तते (कस्मिन् अङ्गे) (ऋतम्) सत्यशास्त्रम् । वेदज्ञानम् (अस्य) (अधि) (आहितम्) स्थापितम् (क्व) कुत्र । कस्मिन्नङ्गे (व्रतम्) वरणीयो नियमः (क्व) (श्रद्धा) सत्ये दृढविश्वासः (अस्य) (तिष्ठति) (कस्मिन् अङ्गे) (सत्यम्) यथार्थं कर्म (अस्य) (प्रतिष्ठितम्) दृढतया स्थितम् ॥

पवते । मातरिश्वा ॥ कस्मात् । अङ्गात् । वि । मिमीते । अधि । चन्द्रमाः । महः । स्कम्भस्य । मिमानः । अङ्गम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सर्वव्यापक ब्रह्म] के (कस्मात् अङ्गात्) कौन से अङ्ग से (अग्निः) अग्नि (दीप्यते) चमकता है, (कस्मात् अङ्गात्) कौन से अङ्ग से (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [वायु] (पवते) झोके लेता है । (कस्मात् अङ्गात्) कौन से अङ्ग से (महः) विशाल (स्कम्भस्य) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] के (अङ्गम्) अङ्ग [स्वरूप] को (मिमानः) मापता हुआ (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (वि) विविध प्रकार (अधि मिमीते) [अपना मार्ग] मापता रहता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ २ ॥

कस्मिन्नङ्गे तिष्ठति भूमिरस्य कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्यन्तरिक्षम् ।
कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्याहिता द्यौः कस्मिन्नङ्गे तिष्ठत्युत्तरं दिवः ॥३॥

कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । भूमिः । अस्य । कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । अन्तरिक्षम् ॥ कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । आहिता । द्यौः । कस्मिन् । अङ्गे । तिष्ठति । उत्-तरम् । दिवः ॥३

भाषार्थ—(अस्य) इस (सर्वव्यापक ब्रह्म) के (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (भूमिः) भूमि (तिष्ठति) ठहरती है, (कस्मिन् अङ्गे) कौन से अङ्ग में (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (तिष्ठति) ठहरता है । (कस्मिन् अङ्गे) कौन से

२—(कस्मात् अङ्गात्) (दीप्यते) प्रकाशते (अग्निः) प्रसिद्धो वह्निः (अस्य) परमेश्वरस्य (पवते) पवते गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । गच्छति (मातरिश्वा) अ० ५ । १० । ८ । आकाशे गन्ता वायुः (वि) विविधम् (मिमीते) मानं करोति स्वमार्गस्य (अधि) उपरि (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (महः) महतः (स्कम्भस्य) स्कभि प्रतिबन्धे-अच् । स्तम्भस्य । सर्वधारकस्य परमेश्वरस्य (मिमानः) मानं कुर्वाणः (अङ्गम्) स्वरूपम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(कस्मिन् अङ्गे) (तिष्ठति) वर्तते (भूमिः) पृथिवी (अस्य) ब्रह्मणः (अन्तरिक्षम्) अ० १ । ३० । ३ । मध्यवर्ती लोकः (आहिता) स्थापिता

अङ्ग में (आहिता) ठहराया हुआ (द्यौः) सूर्य (तिष्ठति) ठहरता है, (कस्मिन् अङ्गे) किस अङ्ग में (दिवः) सूर्य से (उत्तरम्) ऊंचा स्थान (तिष्ठति) ठहरता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

क्वं१ प्रेप्संन् दीप्यत ऊर्ध्वो अग्निः क्वं१ प्रेप्संन् पवते मातरिश्वा । यत्र प्रेप्संन्तीरभियन्त्यावृतः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ४ ॥

क्वं । प्र-ईप्संन् । दीप्यते । ऊर्ध्वः । अग्निः । क्वं । प्र-ईप्संन् । पवते । मातरिश्वा ॥ यत्रं । प्र-ईप्संन्तीः । अभि-यन्ति । आ-वृतः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ ४

भाषार्थ—(क) कहां को (प्रेप्सन्) पाने की इच्छा करता हुआ, (ऊर्ध्वः) ऊंचा होता हुआ (अग्निः) अग्नि (दीप्यते) चमकता है, (क) कहां को (प्रेप्सन्) पाने की इच्छा करता हुआ (मातरिश्वा) आकाश में गति वाले [वायु] (पवते) झोके लेता है । (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) पाने की इच्छा करती हुयी (आवृतः) अनेक घूमें (अभियन्ति) सब ओर से मिलती हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [इसका उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ४ ॥

भावार्थ—अग्नि, वायु और अन्य प्राकृतिक पदार्थ कार्य और कारण रूप से परमात्मा में ही आश्रित होकर रहते हैं ॥ ४ ॥

(द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (उत्तरम्) उच्चतरं स्थानम् (दिवः) सूर्यात् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(क्व) कुत्र (प्रेप्सन्) प्र+आप्लृ व्याप्तौ—सन्, शतृ । प्राप्तुमिच्छन् (ऊर्ध्वः) उच्चगतिः सन् (अग्निः) (पवते) म० २ । गच्छति (मातरिश्वा) म० २ । आकाशे गन्ता वायुः (यत्र) यस्मिन् (प्रेप्सन्तीः) प्राप्तुं कामयमानाः (अभियन्ति) सर्वतः प्राप्नुवन्ति (आवृतः) समान्ताद् वर्तनशीला मार्गाः (स्कम्भम्) म० २ । स्तम्भम् । सर्वधारकं परमेश्वरम् (तम्) निर्दिष्टम् (ब्रूहि) कथय (कतमः) सर्वेषां मध्ये कः (स्वित्) अवधारणे (एव) निश्चयेन (सः) । अन्यत् पूर्ववत् ॥

क्वा॑र्धमा॒साः क्व॑ यन्ति॒ मासाः॑ संवत्स॒रेण॑ स॒ह सं॑वि॒दा॒नाः ।
यत्र॒ यन्त्यृ॒तवो॒ यत्रा॑र्त॒वाः स्क॒म्भं तं० ॥ ५ ॥

क्व॑ । अ॒र्ध॒-मा॒साः । क्व॑ । य॒न्ति॒ । मासाः॑ । स॒म्-व॒त्स॒रेण॑ । स॒ह । स॒म्-वि॒दा॒नाः ॥ यत्र॑ । यन्ति॑ । ऋ॒तवः॑ । यत्र॑ । आ॒र्त॒-वाः । स्क॒म्भम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(क) कहां (अर्धमासाः) आधे महीने [पखवाड़े] और (क) कहां (मासाः) महीने (संवत्सरेण सह) वर्ष के साथ (संविदानाः) मिलते हुये (यन्ति) जाते हैं ? (यत्र) जहां (ऋतवः) ऋतुयें और (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयव (यन्ति) जाते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही आज्ञा में यह काल अपने अवयवों सहित वर्तमान है ॥ ५ ॥

क्व॑ १ प्रेप्स॑न्ती युव॒ती विरू॑पे अहोरा॒त्रे द्र॑वतः संवि॒दा॒ने ।
यत्र॒ प्रेप्स॑न्तीरभि॒यन्त्याप॑ः स्क॒म्भं तं० ॥ ६ ॥

क्व॑ । प्रेप्स॑न्ती॒ इति॑ प्र॒-ई॒प्स॑न्ती । यु॒व॒ती इति॑ । विरू॑पे॒ इति॒ वि-रू॑पे । अ॒हो॒रा॒त्रे इति॑ । द्र॒व॒तः॒ । सं॒वि॒दा॒ने इति॒ स॒म्-वि॒दा॒ने ॥ यत्र॑ । प्र॒-ई॒प्स॑न्तीः । अ॒भि॒-यन्ति॑ । आप॑ः । स्क॒म्भम् । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(क) कहां (प्रेप्सन्तो) पाने की इच्छा करती हुयी (युवती) दो मिलने वाली और अलग होजाने वाली शक्तियां, (विरूपे) विरुद्ध रूपवाले,

५—(क) कस्मिन् देवे (अर्धमासाः) पक्षाः (यन्ति) गच्छन्ति (मासाः) (संवत्सरेण) वर्षेण (सह) (संविदानाः) अ० २ । २८ । २ । संगच्छमानाः (ऋतवः) वसन्तादयः कालाः (आर्तवाः) ऋतूनामवयवाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(क) प्रेप्सन्ती) प्राप्तुमिच्छन्त्यौ (युवती) यु मिश्रणामिश्रणयोः-कनिन्, ति, ङीप् । मिश्रणामिश्रणशीले शक्ती यौवनवत्यौ स्त्रियौ यथा (विरूपे)

(सं विदाने) आपस में मिले हुये (अहोरात्रे) दिन और रात (द्रवतः) दौड़ते हैं ? (यत्र) जहां (प्रेप्सन्तीः) मिलनेकी इच्छा करती हुई (आपः) सब प्रजायें (अभियन्ति) चारो ओर से आती हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह दिन रात और सब प्राणी परमेश्वर के ही नियम बद्ध रहते हैं ॥ ६ ॥

यस्मिन्त्स्तब्ध्वा प्रजापतिर्लोकान्त्सर्वाँ अधारयत् ।
स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ ७ ॥

यस्मिन् । स्तब्ध्वा । प्रजा-पतिः । लोकान् । सर्वान् । अधारयत् ॥
स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस में (प्रजापतिः) प्रजापति [सूर्य वा आकाश] ने (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (स्तब्ध्वा) रोककर (अधारयत्) धारण किया है । (सः) वह (कमतः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ७ ॥

भावार्थ—उस परमेश्वर की अनन्त शक्ति से सूर्य वा आकाश सब लोकों को अपने आकर्षण में रखता है ॥ ७ ॥

यत् परममवमं यच्च मध्यमं प्रजापतिः ससृजे विश्वरूपम् ।
कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र यन्न प्राविशत् कियत् तद् बभूव ८

यत् । परमम् । अवमम् । यत् । च । मध्यमम् । प्रजा-पतिः ।

विरुद्धस्वरूपे (अहोरात्रे) (द्रवतः) धावतः (सं विदाने) संगच्छमाने (यत्र) (प्रेप्सन्तीः) प्राप्तुमिच्छन्त्यः (अभियन्ति) सर्वतो गच्छन्ति (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ सर्वे प्राणिनः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(यस्मिन्) (स्तब्ध्वा) अवरुध्य (प्रजापतिः) प्रजापालकः सूर्य आकाशो वा (लोकान्) ब्रह्माण्डान् (सर्वान्) (अधारयत्) धारितवान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ससृजे । विश्व-रूपम् ॥ कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । तत्र । यत् । न । प्र-अविशत् । कियत् । तत् । बभूव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (परमम्) अति ऊंचा, (अवमम्) अति नीचा (च) और (यत्) जो कुछ (मध्यमम्) अति मध्यम (विश्वरूपम्) नाना रूप [जगत्] (प्रजापतिः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (ससृजे) रचा था। (कियता) कहां तक (स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (तत्र) उस [जगत्] में (प्र विवेश) प्रवेश किया था, (यत्) जितने में उस [परमेश्वर] ने (न) नहीं (प्राविशत्) प्रवेश किया है, (तत्) वह (कियत्) कितना (बभूव) था ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने उत्तम, मध्यम और नीच स्वभाव वाला इतना बड़ा ब्रह्माण्ड प्राणियों के कर्मानुसार रचा है, और वह जगदीश्वर इतना बड़ा है कि सारे ब्रह्माण्ड के अङ्ग अङ्ग में निरन्तर रम रहा है ॥ ८ ॥

यह मन्त्र ऋषि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० १३५ में व्याख्यात है ॥

कियता स्कम्भः प्र विवेश भूतं कियद् भविष्यदन्वाशयेऽस्य। एकं यदङ्गमकृणोत् सहस्रधा कियता स्कम्भः प्र विवेश तत्र ॥९॥

कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । भूतम् । कियत् । भविष्यत् अनु-आशये । अस्य ॥ एकम् । यत् । अङ्गम् । अकृणोत् । सहस्र-धा । कियता । स्कम्भः । प्र । विवेश । तत्र ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(कियता) कहां तक (भूतम्) भूत काल में (स्कम्भः)

८—(यत्) यत् किञ्चित् (परमम्) उच्चतमम् (अवमम्) नीचतमम् (यत् च) (मध्यमम्) मध्यतमम् (प्रजापतिः) परमेश्वरः (ससृजे) उत्पादयामास (विश्वरूपम) नानाविधं जगत् (कियता) किं परिमाणेन (स्कम्भः) सर्वधारकः परमात्मा (प्रविवेश) प्रविष्टवान् (तत्र) जगति (यत्) यत्परिमाणं जगत् (न) निषेधे) (प्राविशत्) प्रविष्टवान् परमेश्वरः (कियत्) किं परिमाणम् (तत्) जगत् (बभूव) वर्तते ॥

९—(भूतम्) अतीतकालम् (भविष्यत्) अनागतकालम् (अन्वाशये)

स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (प्र विवेश) प्रवेश किया था; (कियत्) कितना (भविष्यत्) भविष्यत् काल (अस्य) इस [परमेश्वर] के (अन्वाशये) निरन्तर आशय [आधार] में है। (यत) जो कुछ (एकम्) एक (अङ्गम्) अङ्ग [अर्थात् थोडा सा जगत्] (सहस्रधा) सहस्रों प्रकार से (अकृणोत्) उस [परमेश्वर] ने रचा है, (कियता) कहां तक (तत्र) उसमें (स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (प्र विवेश) प्रवेश किया था ॥ ९

भावार्थ—परमेश्वर का न तो कोई आदि और न कोई अन्त जानता है, और जितनी कुछ ईश्वर की रचना है, उस सब में वह परमात्मा परिपूर्ण हो रहा है ॥ ९ ॥

यत्र॑ लो॒का᳡श्च॒ कोशां॒श्चापो॒ ब्रह्म॒ जना॑ वि॒दुः। अस॑च्च॒ यत्र॒ सच्चान्त स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ १० ॥ (२२)

यत्र॑। लो॒कान्। च॒। कोशा॑न्। च॒। आपः॑। ब्रह्म॑। जनाः॑। वि॒दुः ॥ अस॑त्। च॒। यत्र॑। सत्। च॒। अ॒न्तः। स्क॒म्भम्। तम्। ब्रू॒हि॒। क॒त॒मः। स्वि॒त्। ए॒व। सः ॥ १० ॥ (२२)

भाषार्थ—(यत्र ब्रह्म) जिस ब्रह्म में (आपः) विद्वान् (जनाः) जन (लोकान्) सब लोकों को (च च) और (कोशान्) सब कोशों [निधियों वा आधारों] को (विदुः) जानते हैं। (यत्र अन्तः) जिस के भीतर (असत्) असत् [अनित्य कार्यरूप जगत्] (च च) और (सत्) सत् [नित्य अर्थात्

अनु + आङ् + शीङ् शयने—अच्। निरन्तर आशये, आधारे (अस्य) परमेश्वरस्य (एकम्) अत्यल्पमित्यर्थः (यत्) (अङ्गम्) जगतो विभागम् (अकृणोत्) रचितवान् (सहस्रधा) बहुप्रकारेण (तत्र) तस्मिन् जगतो भागे। अन्यत् पूर्ववत्—म० ८ ॥

१०—(यत्र) यस्मिन् (लोकान्) भुवनानि (कोशान्) निधीन् । आधारान् (च च) (आपः) आपः सकलविद्याधर्मव्यापिनः—दयानन्दभाष्ये, यजु० १०। ४। विद्वांसः (ब्रह्म) ब्रह्मणि (जनाः) मनुष्याः (विदुः) जानन्ति(असत्) अनित्यं कार्यं जगत् (च) (यत्र) परमात्मनि (सत्) नित्यं जगतः कारणम्

जगत् का कारण] है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करनेवाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस के सामर्थ्य में सब लोक और उन के धारण और आकर्षण और सब कार्य और कारण रूप जगत् है, वही परमात्मा है ॥ १० ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० ३०८ में व्याख्यात है ॥

यत्र तपः पराक्रम्य व्रतं धारयत्युत्तरम् । ऋतं च यत्र श्रद्धा चापो ब्रह्म समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ ११ ॥

यत्र । तपः । परा-क्रम्य । व्रतम् । धारयति । उत्-तरम् ॥ ऋतम् । च । यत्र । श्रद्धा । च । आपः । ब्रह्म । सम्-आहिताः । स्कम्भम् ॥ ० ११ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [ब्रह्म] में (तपः) तप [ऐश्वर्य वा सामर्थ्य] (पराक्रम्य) पराक्रम करके (उत्तरम्) उत्तम (व्रतम्) व्रत [वरणीय कर्म) को (धारयति) धारण करता है । (यत्र ब्रह्म) जिस ब्रह्म में (ऋतम्) सत्य शास्त्र, (च) और (श्रद्धा) श्रद्धा [सत्य धारण विश्वास] (च) और (आपः) सब प्रजायें (समाहिताः) मिलकर स्थापित हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उस को (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से नियम धारण, वेद, शास्त्र आदि सब पदार्थ स्थित हैं ॥ ११ ॥

(च) (अन्तः) मध्ये । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(यत्र) यस्मिन् ब्रह्मणि (तपः) ऐश्वर्यं सामर्थ्यम् (पराक्रम्य) पराक्रमं कृत्वा (व्रतम्) व्रतमिति कर्मनाम वृणोतीति सतः—निरु० २ । १३ । वरणीयं कर्म (धारयति) दधाति (उत्तरम्) उत्कृष्टम् (ऋतम्) सत्यशास्त्रम् (च) (यत्र) (श्रद्धा) सत्यधारणविश्वासः (च) (आपः) आप्ताः. प्रजाः—दयानन्दभाष्ये यजु० ६ । २७ (ब्रह्म) ब्रह्मणि (समाहिताः) सम्यक् स्थापिताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यस्मिन् भूमिरन्तरिक्षं द्यौर्यस्मिन्नध्याहिता। यत्राग्निश्चन्द्रमाः सूर्यो वातस्तिष्ठन्त्यार्पिताः स्कम्भं तं० ॥ १२ ॥

यस्मिन्। भूमिः। अन्तरिक्षम्। द्यौः। यस्मिन्। अधि। आ-हिता ॥ यत्र। अग्निः। चन्द्रमाः। सूर्यः। वातः। तिष्ठन्ति। आर्पिताः। स्कम्भम्। ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिसमें (भूमिः) भूमि, (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (यस्मिन्) जिस में (द्यौः) आकाश (अधि आहिता) दृढ स्थापित है। (यत्र) जिसमें (अग्निः) अग्नि, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा, (सूर्यः) सूर्य और (वातः) वायु (आर्पिताः) भली भांति जमे हुये (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उस को (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा (ब्रूहि) तू कह ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में ही सब भूमि आदि लोक और पदार्थ स्थित हैं।१२।

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे सर्वे समाहिताः। स्कम्भं तं०॥१३॥

यस्य। त्रयः-त्रिंशत्। देवाः। अङ्गे। सर्वे। सम्-आहिताः ॥ स्कम्भम्। तम्। ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसके (अङ्गे) अङ्ग में (सर्वे) सब (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देवता [दिव्य पदार्थ] (समाहिताः) मिलकर स्थापित हैं। (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से ही वसु आदि पदार्थ संसार का

१२—(यस्मिन्) ब्रह्मणि (द्यौः) आकाशः (अधि) दृढम्) (आहिता) स्थापिता (तिष्ठन्ति) वर्तन्ते (आर्पिताः) आ + अर्पिताः । समन्तात् स्थापिताः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

१३—(यस्य) परमेश्वरस्य (त्रयस्त्रिंशत्) वस्वादयः—ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ठानि ६६—६८ (देवाः) वस्वादयो दिव्यपदार्थाः (अङ्गे) (सर्वे) समाहिताः) सम्यक् स्थापिताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

धारण करते हैं। तेतीस देवता यह हैं,-८ वसु अर्थात् अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्यौः वा प्रकाश, चन्द्रमा और नक्षत्र;-११ रुद्र अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान, नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनञ्जय यह दश प्राण और ग्यारहवां जीवात्मा,-१२ आदित्य अर्थात् महीने; १ इन्द्र अर्थात् बिजुली,—प्रजापति अर्थात् यज्ञ-महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिकापृष्ठ ६६-६८ ॥ १३ ॥

यत्र ऋषयः प्रथमजा ऋचः साम यजुर्मही। एकर्षिर्यस्मिन्नार्पितः स्कम्भं तं० ॥ १४ ॥

यत्र। ऋषयः। प्रथम-जाः। ऋचः। साम। यजुः। मही॥ एक-ऋषिः। यस्मिन्। आर्पितः। स्कम्भम्। ०॥ १४॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [परमेश्वर] में (प्रथमजाः) प्रथम उत्पन्न (ऋषयः) ऋषि [मन्त्रों के अर्थ जानने वाले महात्मा], (ऋचः) स्तुति विद्यायें [ऋग्वेद], (साम) मोक्ष विद्या [सामवेद], (यजुः) सत्सङ्ग विद्या [यजुर्वेद] और (मही) पूजनीय वाणी [ब्रह्मविद्या अर्थात् अथर्ववेद] वर्तमान है। (यस्मिन्) जिसमें (एकर्षिः) एकदर्शी [समदर्शी स्वभाव] (आर्पितः) भली भांति जमा हुआ है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की सत्ता में सृष्टि की आदि में उत्पन्न वेदार्थ द्रष्टा ऋषि और समस्त वेद विद्यायें और समदर्शी स्वभाव स्थित हैं। सृष्टि की आदि में जिनको वेदों का प्रकाश हुआ था वे चार ऋषि ये हैं अग्नि, वायु,

१४—(यत्र) यस्मिन् परमेश्वरे (ऋषयः) अ० २। ६। १। साक्षात्कृतधर्माणः (प्रथमजाः) सृष्ट्यादौ सृष्टाः (ऋचः) स्तुतिविद्याः। ऋग्वेदः (साम) अ० ७। ५४। १। षो अन्तकर्मणि-मनिन्। दुःखनाशिका मोक्षविद्या। सामवेदः (यजुः) अ० ७। ५४। २। सङ्गतिकरणविद्या। यजुर्वेदः (मही) वाणी-निघ० १। ११। पूजनीया ब्रह्मविद्या। अथर्ववेदः (एकर्षिः) ऋषिर्दर्शनात्-निरु०

आदित्य और अङ्गिरा महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृ० १६ ॥१४॥

यत्रामृतं च मृत्युश्च पुरुषेऽधि समाहिते । समुद्रो यस्य नाड्यः पुरुषेऽधि समाहिताः स्कम्भं तं० ॥ १५ ॥

यत्र । अमृतम् । च । मृत्युः । च । पुरुषे । अधि । समाहिते इति सम्-आहिते ॥ समुद्रः । यस्य । नाड्यः । पुरुषे । अधि । सम्-आहिताः । स्कम्भम् । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जिस [परमेश्वर] में (पुरुषे अधि) मनुष्य के निमित्त (मृत्युः) मृत्यु [आलस्य आदि] (च च) और (अमृतम्) अमरपन आदि [पुरुषार्थ] (समाहिते) दोनों यथावत् स्थापित हैं । (समुद्रः) समुद्र [अन्तरिक्ष, अवकाश] (यस्य) जिसकी (समाहिताः) यथावत् स्थापित (नाड्यः) नाड़ियों [के समान] (पुरुषे अधि) मनुष्य के लिये है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौनसा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य के लिये मृत्यु के कारण आलस्य आदि का निषेध और अमरपन अर्थात् पुरुषार्थ आदि की विधि, और कार्य करने को अन्तरिक्ष वा अवकाश स्थापित किया है ॥ १५ ॥

यस्य चतस्रः प्रदिशो नाड्यस्तिष्ठन्ति प्रथमाः । यज्ञो यत्र पराक्रान्तः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १६ ॥

यस्य । चतस्रः । प्र-दिशः । नाड्यः । तिष्ठन्ति । प्रथमाः ॥ यज्ञः ।

२ । १ ॥ एकदर्शी । समदर्शी स्वभावः (यस्मिन्) परमात्मनि (आर्पितः) म० २१ । समन्तात् स्थापितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(यत्र) यस्मिन् परमात्मनि (अमृतम्) अमरत्वं पौरुषादिकम् (च च) (मृत्युः) मरणकारणमालस्यादिकम् (पुरुषे) मनुष्यनिमित्ते (अधि) सप्तम्यर्थानुवादी (समाहिते) सम्यक् स्थापिते (समुद्रः) अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ (यस्य) (नाड्यः) नाड्यो यथा (पुरुषे) (अधि) अन्यत् पूर्ववत् ॥

यत्र । परा-क्रान्तः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(चतस्रः) चारों (प्रदिशः) दिशायें (यस्य) जिस [परमेश्वर] की (प्रथमाः) मुख्य (नाड्यः) नाड़ियां [समान] (तिष्ठन्ति) हैं। (यत्र) जिस में (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (पराक्रान्तः) पराक्रमयुक्त है, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करनेवाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥१६॥

भावार्थ—परमात्मा सब दिशाओं में व्यापकर श्रेष्ठ व्यवहार करनेवाले पुरुष को पराक्रमी बनाता है ॥ १६ ॥

ये पुरुषे ब्रह्म विदुस्ते विदुः परमेष्ठिनम् । यो वेद परमेष्ठिनं यश्च वेद प्रजापतिम् । ज्येष्ठं ये ब्राह्मणं विदुस्ते स्कम्भमनुसंविदुः ॥ १७ ॥

ये । पुरुषे । ब्रह्म । विदुः । ते । विदुः । परमे-स्थिनम् ॥ यः । वेद । परमे-स्थिनम् । यः । च । वेद । प्रजा-पतिम् ॥ ज्येष्ठम् । ये । ब्राह्मणम् । विदुः । ते । स्कम्भम् । अनु-संविदुः ॥१७

भाषार्थ—(ये) जो लोग (पुरुषे) मनुष्य में (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] को (विदुः) जानते हैं, (ते) वे (परमेष्ठिनम्) परमेष्ठी [सब से ऊपर स्थित परमात्मा] को (विदुः) जानते हैं। (यः) जो [उस को] (परमेष्ठिनम्) परमेष्ठी (वेद) जानता है, (च) और (यः) जो [उस को] (प्रजापतिम्) प्रजापति [प्राणियों का रक्षक] (वेद) जानता है। और (ये) जो लोग

१६—(यस्य) (चतस्रः) प्रदिशः) पूर्वादयः (नाड्यः) (तिष्ठन्ति) सन्ति (प्रथमाः) मुख्याः (यज्ञः) श्रेष्ठव्यवहारः (यत्र) परमात्मनि (पराक्रान्तः) पराक्रमयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१७—(ये) ब्रह्मज्ञानिनः (पुरुषे) मनुष्ये (ब्रह्म) परमात्मानम् (विदुः) जानन्ति (ते) विद्वांसः (विदुः) (परमेष्ठिनम्) अ० १ । ७ । २ । सर्वोपरि-

[उसको] (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़ा वा सबसे श्रेष्ठ] (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [वेदज्ञाता] (विदुः) जानते हैं, (ते) वे सब (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] को (अनुसंविदुः) पूर्ण रूप से पहिचानते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा को अपने भीतर और बाहिर उसके अचल उच्च गुणों से साक्षात् करते हैं, वे अपने आत्मा को उच्च बनाते हैं ॥१७॥

यस्य शिरो वैश्वानरश्चक्षुरङ्गिरसोऽभवन् । अङ्गानि यस्य यातवः स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥ १८ ॥

यस्य । शिरः । वैश्वानरः । चक्षुः । अङ्गिरसः । अभवन् ॥ अङ्गानि । यस्य । यातवः । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [परमेश्वर] के (शिरः) शिर [के तुल्य] (वैश्वानरः) सब नरों का हितकारी गुण [है], (चक्षुः) नेत्र [के तुल्य] (अङ्गिरसः) अनेक ज्ञान (अभवन्) हुये हैं । (यस्य) जिसके (अङ्गानि) अङ्गों [के समान] (यातवः) प्रयत्न हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को सर्व हितकारी, सर्वज्ञ और परम पुरुषार्थयुक्त जानकर उन्नति करे ॥ १८ ॥

विराजमानम् (यः) पुरुषः (वेद) जानाति (प्रजापतिम्) सर्वप्राणिरक्षकम् (ज्येष्ठम्) वृद्ध वा प्रशस्य—इष्ठन् । वृद्धस्य च । पा० ५ । ३ । ६२ । ज्यादेशः । वृद्धतमम् । प्रशस्यतमम् (ये) (ब्राह्मणम्) अ० २ । ६ । ३ । वेदज्ञातारम् (अनुसंविदुः) पूर्णरीत्या जानन्ति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(यस्य) (शिरः) मस्तकं यथा (वैश्वानरः) अ० १ । १० । ४ । सर्वनरहितो गुणः (चक्षुः) (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । अगि गतौ—असि, इरुडागमः । बोधाः । ज्ञानानि (अभवन्) (अङ्गानि) (यातवः) कृवापाजि० । उ० १ । १ । यती प्रयत्ने—उण् । प्रयत्नाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यस्य ब्रह्म मुखमाहुर्जिह्वां मधुकशामुत। विराजमूधो यस्याहुः स्कम्भं तं० ॥ १९ ॥

यस्य । ब्रह्म । मुखम् । आहुः। जिह्वाम्। मधु-कशाम् । उत ॥ वि-राजम् । ऊधः । यस्य । आहुः । स्कम्भम् । ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्माण्ड को (यस्य) जिस [परमेश्वर] का (मुखम्) मुख [समान] (उत) और (मधुकशाम्) मधुविद्या [वेद वाणी] को (जिह्वाम्) जिह्वा [समान] (आहुः) वे [ऋषि लोग] कहते हैं। (विराजम्) विराट् [विविध शक्ति वाली प्रकृति] को (यस्य) जिसका (ऊधः) सेचन साधन [वा दूध का आधार] (आहुः) बताते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय कर के है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ १९ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग जानते हैं कि यह सब ब्रह्माण्ड, वेदविद्या और जगत् की सामग्री परमात्मा के सामर्थ्य में वर्तमान हैं ॥ १९ ॥

यस्मादृचो अपातक्षन् यजुर्यस्मादपाकषन्। सामानि यस्य लोमान्यथर्वाङ्गिरसो मुखं स्कम्भं तं ब्रूहि कतमः स्विदेव सः ॥२०॥(२३)

यस्मात् । ऋचः । अप-अतक्षन् । यजुः । यस्मात् । अप-अकषन् ॥ सामानि । यस्य । लोमानि । अथर्व-अङ्गिरसः । मुखम् । स्कम्भम् । तम् । ब्रूहि । कतमः । स्वित् । एव । सः ॥२०॥(२३)

भाषार्थ—(यस्मात्) जिस से [प्राप्त करके] (ऋचः) ऋग् मन्त्रों [स्तुति विद्याओं] को (अप-अतक्षन्) उन्होंने [ऋषियों ने] सूक्ष्म किया

१९—(यस्य) परमात्मनः (ब्रह्म) ब्रह्माण्डम् (मुखम्) मुखतुल्यम् (आहुः) ब्रुवन्ति (जिह्वाम्) (मधुकशाम्) अ० ९ । १ । १ । मधुविद्याम् । वेदवाणीम् (उत) अपि च (विराजम्) अ० ९ । ८ । १। विविधेश्वरीं प्रकृतिम् (ऊधः) उन्दनसाधनम् । दुग्धाधारम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०—(यस्मात्) परमेश्वरात् प्राप्य (ऋचः) ऋग् वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । ऋग्वेदमन्त्राः [अपातक्षन्] तक्षू तनूकरणे—लङ् । सूक्ष्मीकृत-

[भले प्रकार विचारा], (यस्मात्) जिससे [प्राप्त करके] (यजुः) यजुः ज्ञान [सत्कर्मों के बोध] को (अप-अकषन्) उन्होंने कस अर्थात् कसौटी पर रक्खा। (सामानि) मोक्ष विद्यायें (यस्य) जिस के (लोमानि) रोम [समान व्यापक] हैं और (अथर्व-अङ्गिरसः) अथर्व मन्त्र [निश्चल ब्रह्म के ज्ञान] (मुखम्) मुख [तुल्य हैं], (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ २० ॥

भावार्थ—ऋषियों ने निश्चय किया है कि ऋग्वेद यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ईश्वरकृत और समस्त संसार के कल्याण कारक हैं ॥ २० ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ६। में व्याख्यात है ॥

असच्छाखां प्रतिष्ठन्तीं परममिव जना विदुः ।
उतो सन्मन्यन्तेऽवरे ये ते शाखामुपासते ॥ २१ ॥

असत्-शाखाम् । प्र-तिष्ठन्तीम् । परमम्-इव । जनाः । विदुः ॥
उतो इति । सत् । मन्यन्ते । अवरे । ये । ते । शाखाम् । उप-आसते ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(जनाः) पामर जन (प्रतिष्ठन्तीम्) फैलती हुई (असच्छा-

वन्तः। यथावद् विचारितवन्तः (यजुः) अ० ७। ५४। २। यजुर्वेदम्। सत्कर्मज्ञानम् (यस्मात्) (अपाकषन्) कष हिंसायाम्—लङ्। कषपाषाणेन सुवर्णघर्षणप्रस्तरेण यथा साक्षात्कृतवन्तः (सामानि) अ० ७। ५४। १। षो अन्तकर्मणि-मनिन्। सामज्ञानानि। मोक्षज्ञानानि (यस्य) (लोमानि) रोमतुल्यानि (अथर्वाङ्गिरसः) स्नामदिपद्यर्ति०। उ० ४। ११३। अ+थर्व चरणे = गतौ—वनिप्, वलोपो विकल्पेन। अथर्वाणोऽयनवन्तस्थर्वतिश्चरतिकर्मा तत्प्रतिषेधः— निरु० ११। १८। अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च। उ० ४। २३६। अगि गतौ-असि, इरुडागमश्च। अथर्वणो निश्चलस्वभावस्य परमेश्वरस्य अङ्गिरसो बोधाः। अथर्ववेदमन्त्राः (मुखम्)। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१-(असच्छाखाम्) अनित्यस्य कार्यरूपजगतो व्याप्तिम् (प्रतिष्ठ-

खाम्) असत् [अनित्य कार्य रूप जगत्] की व्याप्ति को (परमम् इव) परम उत्कृष्ट पदार्थ के समान (विदुः) जानते हैं। (उतो) और (ये) जो (अवरे) पीछे होने वाले, [कार्य रूप जगत्] में (सत) सत् [नित्य कारण] को (मन्यन्ते) मानते हैं, वे [लोग] (ते) तेरी (शाखाम्) व्याप्ति को (उपासते) भजते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—अज्ञानी मनुष्य कार्य रूप संसार को परम अवधि मानते हैं, परन्तु ज्ञानी मनुष्य कार्य रूप जगत् में कारण को खोजकर आदि कारण परमात्मा की व्याप्ति को साक्षात्कार करते हैं ॥ २१ ॥

यत्रा॑दि॒त्याश्च॑ रु॒द्राश्च॒ वस॑वश्च स॒माहि॑ताः । भू॒तं च॒ यत्र॒ भव्यं॑ च॒ सर्वे॑ लो॒काः प्रति॑ष्ठिताः स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ २२ ॥

यत्र॑ । आ॒दि॒त्याः । च॒ । रु॒द्राः । च॒ । वस॑वः । च॒ । स॒म्-आहि॑ताः । भू॒तम् । च॒ । यत्र॑ । भव्य॑म् । च॒ । सर्वे॑ । लो॒काः । प्रति॑-स्थिताः । स्क॒म्भम् । तम् । ब्रू॒हि॒ । क॒त॒मः । स्वि॒त् । ए॒व । सः ॥ २२

भाषार्थ—(यत्र) जिस [परमेश्वर] में (आदित्याः) प्रकाशमान [सूर्य आदि लोक] (च च) और (रुद्राः) गति देने वाले पवन (च) और (वसवः) निवास करने वाले [प्राणी] (समाहिताः) परस्पर ठहराये गये हैं। (यत्र) जिसमें (भुतम्) भूतकाल (च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल

न्तीम्। प्रकर्षेण विस्तारेण वर्तमानाम् (परमम्) उत्कृष्टमवधिम् (इव) यथा (जनाः) पामरलोकाः (विदुः) जानन्ति (उतो) अपि च (सत्) नित्यं कारणम् (मन्यन्ते) जानन्ति (अवरे) पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा। पा० ७।१।१६। स्मिन् इत्यस्याभावः। पश्चाद् वर्तिनि काले कार्यरूपजगति (ये) विद्वांसः (ते) तव, परमेश्वरस्य (शाखाम्) शाखृ व्याप्तौ—अच्, टाप्। व्याप्तिम् (उपासते) भजन्ते ॥

२२—(यत्र) यस्मिन् परमेश्वरे (आदित्याः) अ० १।९।१। आदीप्यमानाः सूर्यादिलोकाः (च च) (रुद्राः) रुङ् गतिरेषणयोः—क्विप्, तुक्+रा दाने—क। गतिदातारः पवनाः (वसवः) निवासिनः प्राणिनः (समाहिताः)

(च) और (सर्वे) सब (लोकाः) लोक (प्रतिष्ठिताः) ठहरे हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ २२ ॥

भावार्थ—ये सब सूर्य, वायु, प्राणी आदि जगत् परमात्मा की महिमा से परस्पर आकर्षण द्वारा स्थित हैं ॥ २२ ॥

यस्य॒ त्रय॑स्त्रिंशद् दे॒वा नि॒धिं रक्ष॑न्ति सर्व॒दा ।
नि॒धिं तम॒द्य को वे॑द॒ यं दे॑वा अ॒भिरक्ष॑थ ॥ २३ ॥

यस्य॑ । त्रयः॑-त्रिंशत् । दे॒वाः । नि॒-धिम् । रक्ष॑न्ति । स॒र्व॒दा ॥ नि॒-धिम् । तम् । अ॒द्य । कः । वे॒द॒ । यम् । दे॒वाः । अ॒भि-रक्ष॑थ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [परमेश्वर] के (निधिम्) कोष [संसार] को (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देव [दिव्य पदार्थ] (सर्वदा) सर्वदा (रक्षन्ति) रखाते हैं । (तम्) उस (निधिम्) कोष को (अद्य) आज (कः) कौन (वेद) जानता है, (यम्) जिस को, (देवाः) हे देवो ! [दिव्यपदार्थो] (अभिरक्षथ) तुम सर्वदा रखवाली करते हो ॥ २३ ॥

भावार्थ—आठ वसु, ग्यारह रुद्र बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति [मन्त्र १३ देखो] परमेश्वर के नियम से संसार के व्यवहार सदा सिद्ध करते हैं ॥ २३ ॥

यत्र॑ दे॒वा ब्र॑ह्म॒विदो॒ ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठमु॒पास॑ते । यो वै तान् वि॒द्यात्
प्र॒त्यक्षं॒ स ब्र॒ह्मा वेदि॑ता स्यात् ॥ २४ ॥

यत्र॑ । दे॒वाः । ब्र॒ह्म-विदः॑ । ब्रह्म॑ । ज्येष्ठम् । उ॒प॒-आस॑ते ॥

सम्यक् स्थापिताः (भूतम्) गतकालः (च च) (यत्र) (भव्यम्) अनागतकालः (लोकाः) भुवनानि (प्रतिष्ठिताः) दृढं स्थिताः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२३—(यस्य) परमेश्वरस्य (त्रयस्त्रिंशत्) म० १३ (देवाः) वस्वादयो दिव्यपदार्थाः (निधिम्) कोषम् । संसारम् (रक्षन्ति) पालयन्ति (सर्वदा) (वेद) जानाति । अन्यत् सुगमम् ॥

यः । वै । तान् । विद्यात् । प्रति-अक्षम् । सः । ब्रह्मा । वेदि-
ता । स्यात् ॥ २४ ॥

भाषार्थ--(यत्र) जहां पर (देवाः) विजयी (ब्रह्मविदः) ब्रह्म ज्ञानी पुरुष(ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्म) ब्रह्म को(उपासते) भजते हैं । [वहां] (यः) जो (वै) ही (तान्) उन [ब्रह्मज्ञानियों] को (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष करके (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह (ब्रह्मा) ब्रह्मा [महापण्डित] (वेदिता) ज्ञाता [जानकार] (स्यात्) होवे ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् ब्रह्मज्ञानियों से ईश्वर ज्ञान प्राप्त करते हैं, वेही संसार में तत्त्वदर्शी विद्वान् होते हैं ॥ २४ ॥

बृहन्तो नाम ते देवा येऽसतः परि जज्ञिरे । एकं तदङ्गं स्कम्भस्यासदाहुः परो जनाः ॥ २५ ॥

बृहन्तः । नाम । ते । देवाः । ये । असतः । परि । जज्ञिरे ॥
एकम् । तत् । अङ्गम् । स्कम्भस्य । असत् । आहुः । परः ।
जनाः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [कारण रूप] (देवाः) दिव्य पदार्थ (नाम) अवश्य (बृहन्तः) बड़े हैं, (ये) जो (असतः) असत् [अनित्य कार्य रूप जगत्] से (परि जज्ञिरे) सब ओर प्रकट हुये हैं । (जनाः) लोग (परः) परे [कारण से परे] (तत्) उस (असत्) असत् [अनित्य कार्य रूप जगत्] को (स्कम्भस्य)

२४—(यत्र) यस्मिन् देशे (देवाः) विजयिनः (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (ज्येष्ठम्) म० १७ । वृद्धतमम् । उत्कृष्टतमम् (उपासते) पूजयन्ति (यः) (वै) एव (तान्) (ब्रह्मविदः) (विद्यात्) जानीयात् (प्रत्यक्षम्) समक्षम् (सः) जिज्ञासुः (ब्रह्मा) महापण्डितः (वेदिता) ज्ञाता (स्यात्) ॥

२५—(बृहन्तः) महान्तः (नाम) अवश्यम् (ते) प्रसिद्धाः (देवाः) कारणरूपदिव्यपदार्थाः (ये) (असतः) अनित्यात् कार्यरूपजगतः (परि) सर्वतः (जज्ञिरे) प्रादुर्बभूवुः (एकम्) अल्पमित्यर्थः (तत्) (अङ्गम्) (स्कम्भस्य)

स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] का (एकम्) एक (अङ्गम्) अङ्ग (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी लोग जानते हैं कि कार्य रूप जगत् से कारण रूप जगत् अति अधिक है और परमेश्वर उससे भी अधिक है ॥ २५ ॥

यत्र स्कम्भः प्रजनयन् पुराणं व्यवर्तयत्। एकं तदङ्गं स्कम्भस्य पुराणमनुसंविदुः ॥ २६ ॥

यत्र। स्कम्भः। प्र-जनयन्। पुराणम्। वि-अवर्तयत् ॥ एकम्। तत्। अङ्गम्। स्कम्भस्य। पुराणम्। अनु-संविदुः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां [जिस काल में] [कार्यरूप जगत् को] (प्रजनयन्) उत्पन्न करते हुये (स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] ने (पुराणम्) पुराने [कारण] को (व्यवर्तयत्) चक्राकार घुमाया, (तत्) उस (पुराणम्) पुराने [कारण] को (स्कम्भस्य) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] का (एकम् अङ्गम्) एक अङ्ग वे [तत्त्ववेत्ता] (अनुसंविदुः) पूर्ण रीति से जानते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—कारण रूप पदार्थ कार्यरूप जगत् से पुरातन है। उस कारण-रूप पदार्थ को विविध प्रकार चेष्टा देकर उसके जिस अङ्ग से सब जगत् रचा गया है, वह परमात्मा के सामर्थ्य का छोटा अंश है ॥ २६ ॥

यस्य त्रयस्त्रिंशद् देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान् वै त्रयस्त्रिंशद् देवानेके ब्रह्मविदो विदुः ॥ २७ ॥

परमेश्वरस्य (असत्) अनित्यं कार्यं जगत् (आहुः) कथयन्ति (परः) परस्तात् (जनाः) विद्वांसः ॥

२६—(यत्र) यस्मिन् काले (स्कम्भः) सर्वधारकः परमेश्वरः (प्रजनयन्) संसारमुत्पादयन् (पुराणम्) सायंचिरंप्राह्णेप्रगे०। पा० ४। ३। २३। पुरा-ट्यु। तुडभावः। यद्वा, पुरा+णीञ् प्रापणे-ड, णत्वम्। पुरातनं कारणम् (व्यवर्तयत्) चक्राकारेण वर्तनमकारयत् (अनुसंविदुः) अनुसन्धानेन यथावत् जानन्ति ॥

यस्य॑ । त्रयः॑-त्रिंशत् । दे॒वाः । अङ्गे॑ । गात्रा॑ । वि-भे॒जि॒रे ॥ तान् । वै । त्रयः॑-त्रिंशत् । दे॒वान् । एके॑ । ब्र॒ह्म-विदः॑ । वि॒दुः ॥२७॥

भाषार्थ—(यस्य) यजनीय [पूजनीय परमेश्वर] के (अङ्गे) अङ्ग में [वर्तमान] (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवाः) देवों [दिव्य पदार्थों]ने (गात्रा) अपने गातों को (विभेजिरे) अलग अलग बांटा था । (तान् वै) उन्हीं (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस (देवान्) देवों को (एके) कोई कोई (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—आठ वसु, ग्यारह रुद्र, बारह आदित्य, एक इन्द्र और एक प्रजापति [भावार्थ मन्त्र १३ तथा २३ देखो] परमात्मा में वर्तमान रहकर जगत् के सब प्राणियों का पालन पोषण और धारण विविध प्रकार करते हैं; इस मर्म को विरले तत्त्ववेत्ता जानते हैं ॥ २७ ॥

हि॒र॒ण्य॒ग॒र्भं प॑र॒मम॑न॒त्यु॒द्यं जना॑ विदुः । स्क॒म्भस्तदग्रे॒ प्रासि॑ञ्च॒द्धिर॑ण्यं लो॒के अ॑न्त॒रा ॥ २८ ॥

हि॒र॒ण्य-ग॒र्भम् । प॒र॒मम् । अ॒न॒ति-उ॒द्यम् । जनाः॑ । वि॒दुः ॥ स्क॒म्भः । तत् । अग्रे॑ । प्र । अ॒सि॒ञ्च॒त् । हिर॑ण्यम् । लो॒के । अ॒न्त॒रा ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(जनाः) लोग (हिरण्यगर्भम्) तेज के गर्भ [आधार परमेश्वर] को (परमम्) सर्वोत्कृष्ट [प्रणव वा ओ३म्] और (अनत्युद्यम्) सर्वथा अकथनीय [ईश्वर] (विदुः) जानते हैं । (स्कम्भः) उस स्कम्भ

२७—(यस्य) यज पूजने—ड । यजनीयस्य पूजनीयस्य परमेश्वरस्य (त्रयस्त्रिंशत्) म० १३ (देवाः) दिव्यपदार्थाः (अङ्गे) अवयवे (गात्रा) अवयवान् (विभेजिरे) विभक्तवन्तः (तान्) (वै) एव (त्रयस्त्रिंशत्) (देवान्) (एके) केचित् (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (विदुः) जानन्ति ॥

२८—(हिरण्यगर्भम्) अ० ४ । २ । ७ । तेजसो गर्भमाधारम् (परमम्) सर्वोत्कृष्टं प्रणवम् (अनत्युद्यम्) वद व्यक्तायां वाचि—क्यप् । सर्वतोऽकथनीयं परमात्मानम् (जनाः) विद्वांसः (स्कम्भः) स्तम्भः । सर्वधारकः परमेश्वरः

[धारण करने वाले परमात्मा] ने (अग्रे) पहिले ही पहिले (तत्) उस (हिरण्यम्) तेज को (लोके अन्तरा) संसार के भीतर (प्र असिञ्चत्) सींच दिया है ॥ २८ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के गुण और सामर्थ्य मनुष्य की कथन शक्ति से बाहिर हैं। सृष्टि के प्रादुर्भाव में केवल परमेश्वर का ही तेज अर्थात् सामर्थ्य दीख पड़ता है ॥ २८ ॥

स्कम्भे लोकाः स्कम्भे तपः स्कम्भेऽध्यृतमाहितम्। स्कम्भ त्वा वेद प्रत्यक्षमिन्द्रे सर्वं समाहितम् ॥ २९ ॥

स्कम्भे। लोकाः। स्कम्भे। तपः। स्कम्भे। अधि। ऋतम्। आ-हितम् ॥ स्कम्भ। त्वा। वेद। प्रति-अक्षम्। इन्द्रे। सर्वम्। सम्-आहितम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(स्कम्भे) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] में (लोकाः) सब लोक (स्कम्भे) स्कम्भ में (तपः) तप [ऐश्वर्य वा सामर्थ्य], (स्कम्भे अधि) स्कम्भ में ही (ऋतम्) सत्यशास्त्र (आहितम्) यथावत् स्थापित है। (स्कम्भ) हे स्कम्भ ! [धारण करने वाले परमात्मन् !] (त्वा) तुझ को (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (वेद) मैं जानता हूं, (इन्द्रे) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् तुझ] में (सर्वम्) सब [जगत्] (समाहितम्) परस्पर धरा हुआ है ॥ २९ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के नाम स्कम्भ और इन्द्र हैं, उसके सामर्थ्य में सब लोक आदि ठहरे हैं ॥ २९ ॥

(तत्) पूर्वोक्तम् (अग्रे) सृष्ट्यादौ (प्र) प्रकर्षेण (असिञ्चत्) सिक्तवान् (हिरण्यम्) प्रकाशम् (लोके) (अन्तरा) मध्ये ॥

२९—(स्कम्भे) सर्वधारके परमेश्वरे (लोकाः) भुवनानि (तपः) ऐश्वर्यम्। सामर्थ्यम् (अधि) आधिक्ये (ऋतम्) सत्यं वेदशास्त्रम् (आहितम्) समन्तात् स्थापितम् (स्कम्भ) हे सर्वधारक (त्वा) त्वाम् (वेद) जानामि (प्रत्यक्षम्) साक्षात् (इन्द्रे) परमैश्वर्यवति त्वयि (सर्वम्) समस्तं जगत् (समाहितम्) परस्परं धृतम् ॥

इन्द्रे लोका इन्द्रे तप इन्द्रेऽध्यृतमाहितम् ।
इन्द्रं त्वा वेद प्रत्यक्षं स्कम्भे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ ३० ॥ (२४)

इन्द्रे । लोकाः । इन्द्रे । तपः । इन्द्रे । अधि । ऋतम् । आ-हितम् ॥ इन्द्रम् । त्वा । वेद । प्रति-अक्षम् । स्कम्भे । सर्वम् प्रति-स्थितम् ॥ ३० ॥ (२४)

भाषार्थ—(इन्द्रे) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] में (लोकाः) सब लोक, (इन्द्रे) इन्द्र में (तपः) तप [ऐश्वर्य वा सामर्थ्य] (इन्द्रे अधि) इन्द्र में ही (ऋतम्) सत्य शास्त्र (आहितम्) सब प्रकार ठहरा है। (त्वा) तुझ को (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान्] (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (वेद) जानता हूं, (स्कम्भे) स्कम्भ [धारण करने वाले, तुझ] में (सर्वम्) सब [जगत्] (प्रतिष्ठितम्) परस्पर ठहरा है ॥ ३० ॥

भावार्थ—इन्द्र अर्थात् परमेश्वर में सब सूर्य आदि लोक और सब पदार्थ वर्तमान हैं, उसी को मनुष्य स्कम्भ कहते हैं ॥ ३० ॥

नाम नाम्ना जोहवीति पुरा सूर्यात् पुरोषसः । यदजः प्रथमं संबभूव स ह तत् स्वराज्यमियाय यस्मान्नान्यत् परमस्ति भूतम् ३१

नाम । नाम्ना । जोहवीति । पुरा । सूर्यात् । पुरा । उषसः ॥ यत् । अजः । प्रथमम् । सम्-बभूव । सः । ह । तत् । स्व-राज्यम् । इयाय । यस्मात् । न । अन्यत् । परम् । अस्ति । भूतम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (सूर्यात्) सूर्य से (पुरा) पहिले और (उषसः) उषा [प्रभात] से (पुरा) पहिले [वर्तमान] (नाम) एक नाम

३०—(इन्द्रे) परमैश्वर्यवति जगदीश्वरे (स्कम्भे) सर्वधारके (प्रतिष्ठितम्) परस्परं स्थितम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३१—(नाम) एकं नाम परमेश्वरम् (नाम्ना) अन्येन बहुनाम्ना (जोहवीति) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयति (पुरा) पूर्वम् (सूर्यात्) (पुरा)

[परमेश्वर] को (नाम्ना) दूसरे नाम [इन्द्र, स्कम्भ, अज आदि] से (आ हवीति) पुकारता रहता है। (यत्) क्योंकि (अजः) अजन्मा [परमेश्वर] (प्रथमम्) पहिले ही पहिले (संबभूव) शक्तिमान् हुआ, (सः) उस ने (ह) ही (तत्) वह (स्वराज्यम्) स्वराज्य [स्वतन्त्र राज्य] (इयाय) पाया, (यस्मात्) जिस [स्वराज्य] से (परम्) बढ़कर (अन्यत्) दूसरा (भूतम्) द्रव्य (न अस्ति) नहीं है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कार्य रूप काल और उस के अवयवों के पहिले सृष्टि के आदि में प्रलय में भी वर्तमान था। गुण कर्म स्वभाव के अनुसार उसके अनन्त नाम हैं। वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता से अनन्यजित स्वराज्य करता है। उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ ३१ ॥

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम्। दिवं यश्चक्रे मूर्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३२ ॥

यस्य। भूमिः। प्र-मा। अन्तरिक्षम्। उत। उदरम् ॥ दिवम्। यः। चक्रे। मूर्धानम्। तस्मै। ज्येष्ठाय। ब्रह्मणे। नमः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(भूमिः) भूमि (यस्य) जिस [परमेश्वर] के (प्रमा) पादमूल [के समान] (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [पृथिवी और सूर्य के बीच का आकाश] (उदरम्) उदर [समान] है। (दिवम्) सूर्य को (यः) जिसने (मूर्धानम्) मस्तक [समान] (चक्रे) रचा, (तस्मै)

(उषसः) प्रभातकालात् (यत्) यस्मात् कारणात् (अजः) अजन्मा (प्रथमम्) सृष्ट्यादौ (संबभूव) शक्तिमान् बभूव (सः) अजः (ह) एव (तत्) (स्वराज्यम्) स्वतन्त्राधिपत्यम् (इयाय) प्राप (यस्मात्) स्वराज्यात् (न) निषेधे (अन्यत्) (परम्) उत्कृष्टम् (अस्ति) (भूतम्) द्रव्यम् ॥

३२—(यस्य) परमात्मनः (भूमिः) (प्रमा) पादमूलं यथा (अन्तरिक्षम्) (उत) अपि (उदरम्) उदरतुल्यम् (दिवम्) प्रकाशमयं सूर्यम् (यः) (चक्रे) रचितवान् (मूर्धानम्) शिरोवत् (तस्मै) (ज्येष्ठाय) म० १७। वृद्धतमाय। सर्वोत्कृष्टाय (ब्रह्मणे) बृंहेर्नोऽच्च। उ० ४। १४६। बृंहि वृद्धौ—मनिन्,

उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जैसे जीवात्मा शरीर के सब अङ्गों में व्यापक है, वैसेही परमात्मा जगत् के सब लोकों में निरन्तर व्यापक है, उसको हम सदा मस्तक झुकाते हैं ॥ ३२ ॥

मन्त्र ३२–३४ महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृ० ४ में व्याख्यात हैं ॥

यस्य सूर्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः। अग्निं यश्चक्र आस्यं१ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३३ ॥

यस्य । सूर्यः । चक्षुः । चन्द्रमाः । च । पुनः-नवः । अग्निम् । यः । चक्रे । आस्यम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥३३

भाषार्थ—(पुनर्णवः) [सृष्टि के आदि में] वारंवार नवीन होने वाला (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (यस्य) जिसके (चक्षुः) नेत्र [समान] हैं। (यः) जिसने (अग्निम्) अग्नि को (आस्यम्) मुख [समान] (चक्रे) रचा है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्म [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सूर्य चन्द्र आदि पदार्थों को सृष्टि के आदि में रचकर सब में व्यापक है ॥ ३३ ॥

ऋग्वेद—म० १० । सू० १९० । मन्त्र ३ में वर्णन है–(सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्) सूर्य और चन्द्रमा को धाता ने पहिले के समान रचा ॥

यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसोऽभवन्। दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥३४॥

नस्य प्रकारः. त्वम् । वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः–इत्यमरः २३ । ११४ । बृंहति वर्धते इति ब्रह्म ब्रह्मा वा । सर्वमहते परमेश्वराय (नमः) सत्कारः ॥

३३—(यस्य) (सूर्यः) (चक्षुः) नेत्रतुल्यः (चन्द्रमाः) (च) (पुनर्णवः) पुनः पुनः सर्गादौ नवीनः सृष्टः (अग्निम्) (यः) (चक्रे) कृतवान् (आस्यम्) मुखतुल्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यस्यं । वार्तः । प्राणापानौ । चक्षुः । अङ्गिरसः । अभवन् ॥ दिशः । यः । चक्रे । प्र-ज्ञानीः । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(वातः) वायु (यस्य) जिसके (प्राणापानौ) प्राण और अपान [के समान] और (अङ्गिरसः) प्रकाश करने वाली किरणें (चक्षुः) नेत्र [समान] (अभवन्) हुये । (दिशः) दिशाओं को (यः) जिस ने (प्रज्ञानीः) व्यवहार जताने वाली (चक्रे) बनाया, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर वायु, किरणों और दिशाओं में व्यापक है उसको सब नमस्कार करें ॥ ३४ ॥

स्कम्भो दाधार द्यावापृथिवी उभे इमे स्कम्भो दाधारोर्व१न्तरिक्षम् । स्कम्भो दाधार प्रदिशः षडुर्वीः स्कम्भ इदं विश्वं भुवनमा विवेश ॥ ३५ ॥

स्कम्भः । दाधार । द्यावापृथिवी इति । उभे इति । इमे इति । स्कम्भः । दाधार । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ स्कम्भः । दाधार । प्र-दिशः । षट् । उर्वीः । स्कम्भे । इदम् । विश्वम् भुवनम् । आ । विवेश ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(स्कम्भः) स्कम्भ [धारण करने वाले परमेश्वर] ने (इमे उभे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (दाधार) धारण किया

३४—(यस्य) (वातः) वायुः (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासतुल्यः (चक्षुः) (अङ्गिरसः) अङ्गिरा अङ्गरा अङ्कना अञ्चनाः—निरु० ३। १७। प्रकाशकाः किरणाः (अभवन्) (दिशः) (यः) (चक्रे) (प्रज्ञानीः) प्रज्ञापिनीर्व्यवहारप्रज्ञापयित्रीः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३५—(स्कम्भः) सर्वधारकः परमेश्वरः (दाधार) धृतवान् (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (उभे) (इमे) (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) मध्यलोकम्

था, (स्कम्भः) स्कम्भ ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (दाधार) धारण किया। (स्कम्भः) स्कम्भ ने (षट्) छह [पूर्वादि चार और एक ऊपर और एक नीचे की] (उर्वीः) विस्तृत (प्रदिशः) दिशाओं को (दाधार) धारण किया, (स्कम्भे) स्कम्भ में (इदम्) यह (विश्वम्) सब (भुवनम्) सत्ता मात्र [जगत्] (आ) सब ओर से (विवेश) प्रविष्ट हुआ है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—इस सूर्य, पृथिवी, आदि जगत् को परमेश्वर रचकर धारण करता है और यह सब संसार उसके बीच व्याप्त है ॥ ३५ ॥

यः श्रमात् तपसो जातो लोकान्त्सर्वान्त्समानशे । सोमं यश्चक्रे केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ ३६ ॥

यः । श्रमात् । तपसः । जातः । लोकान् । सर्वान् । सम्-आनशे ॥ सोमम् । यः । चक्रे । केवलम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (श्रमात्) [अपने] श्रम [प्रयत्न] से और (तपसः) तप [सामर्थ्य] से (जातः) प्रसिद्ध होकर (सर्वान् लोकान्) सब लोकों में (समानशे) पूरा पूरा व्यापा। (यः) जिस ने (सोमम्) ऐश्वर्य को (केवलम्) केवल [अपना ही] (चक्रे) बनाया, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [परमात्मा] को (नमः) नमस्कार है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा परम पुरुषार्थी, परम पराक्रमी और परम ऐश्वर्यवान् होकर सब जगत् का अधिष्ठाता है, उस को हम सब का नमस्कार है ॥३६॥

(प्रदिशः) पूर्वादिचतस्रो दिशा उच्चनीचे च द्वे (षट्) (उर्वीः) विस्तृताः (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) अस्तित्वम्। जगत् (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३६—(यः) परमेश्वरः (श्रमात्) परिश्रमात्। प्रयत्नात् (तपसः) सामर्थ्यात् (जातः) प्रादुर्भूतः सन् (लोकान्) (सर्वान्) (समानशे) सम्यग् व्याप (सोमम्) ऐश्वर्यम् (यः) (चक्रे) रचितवान् (केवलम्) सेवनीयम्। आत्मीयम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

कथं वातो नेलयति कथं न रमते मनः। किमापः सत्यं प्रेप्सन्तीर्नेलयन्ति कदा चन ॥ ३७ ॥

कथम्। वातः। न। इलयति। कथम्। न। रमते। मनः॥ किम्। आपः। सत्यम्। प्र-ईप्सन्तीः। न। इलयन्ति। कदा। चन ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(कथम्) कैसे (वातः) वायु (न) नहीं (इलयति) सोता है, (कथम्) कैसे (मनः) मन (न) नहीं (रमते) ठहरता है। (किम्) क्यों (आपः) प्रजायें वा जल (सत्यम्) सत्य [ईश्वर नियम] को (प्रेप्सन्तीः) पाने की इच्छा करते हुये (कदा चन) कभी भी (न) नहीं (इलयन्ति) सोते हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यह वायु, मन, सब प्राणी वा जल आदि क्यों अपना कर्तव्य करते रहते हैं, इसलिये कि एक परब्रह्म संसार में व्याप कर सब को चला रहा है—अगला मन्त्र देखो ॥ ३७ ॥

महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे। तस्मिन् छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥ ३८ ॥

महत्। यक्षम्। भुवनस्य। मध्ये। तपसि। क्रान्तम्। सलिलस्य। पृष्ठे॥ तस्मिन्। श्रयन्ते। ये। ऊँ इति। के। च। देवाः। वृक्षस्य। स्कन्धः। परितः-इव। शाखाः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(महत्) बड़ा (यक्षम्) यक्ष [पूजनीय ब्रह्म] (भुवनस्य

३७—(कथम्) केन प्रकारेण (वातः) वायुः (न) निषेधे (इलयति) इल स्वप्नक्षेपणयोः। स्वपिति (कथम्) (न) (रमते) उपरमति। तिष्ठति (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकमन्तःकरणम् (किम्) (आपः) प्रजाः। जलानि (सत्यम्) परमात्मनियमम् (प्रेप्सन्तीः) प्राप्तुमिच्छन्त्यः (न) (इलयन्ति) शेरते (कदा चन) कस्मिन्नपि काले ॥

३८—(महत्) बृहत् (यक्षम्) यक्ष पूजायाम्—घञ्। पूजनीयं ब्रह्म

मध्ये) जगत् के बीच (तपसि) [अपने] सामर्थ्य में (क्रान्तम्) पराक्रम युक्त हो कर (सलिलस्य) अन्तरिक्ष की (पृष्ठे) पीठ पर [वर्तमान है] । (तस्मिन्) उस [ब्रह्म] में, (ये उ के च देवाः) जो कोई भी दिव्य लोक हैं, वे (श्रयन्ते) ठहरते हैं (इव) जैसे (वृक्षस्य शाखाः) वृक्ष की शाखायें (स्कन्धः परितः) [धड़ वा पीड़] के चारो ओर ॥ ३८ ॥

भावार्थ—अनन्त आकाश के बीच परमेश्वर की महिमा में पृथ्वी आदि लोक ठहरे हैं, जैसे पेड़ की टहनियां पीड़ में लगी होती हैं– गत मन्त्र देखो ॥३८॥

यस्मै॒ हस्ता॑भ्यां॒ पादा॑भ्यां॒ वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ चक्षु॑षा । यस्मै॑ दे॒वाः सदा॑ ब॒लिं प्र॒यच्छ॑न्ति विमि॑तेऽमितं स्क॒म्भं तं ब्रू॑हि कत॒मः स्वि॑दे॒व सः ॥ ३९ ॥

यस्मै॑ । हस्ता॑भ्याम् । पादा॑भ्याम् । वा॒चा । श्रोत्रे॑ण । चक्षु॑षा ॥ यस्मै॑ । दे॒वाः । सदा॑ । ब॒लिम् । प्र॒-यच्छ॑न्ति । वि-मि॑ते । अमि॑तम् । स्क॒म्भम् । तम् । ब्रू॒हि॒ । क॒त॒मः । स्वि॒त् । ए॒व । सः ३९

भाषार्थ—(यस्मै) जिस [परमेश्वर] को, (यस्मै) जिस [परमेश्वर] को (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से, (पादाभ्याम) दोनों पैरों से, (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) श्रोत्र से और (चक्षुषा) दृष्टि से (देवाः) विद्वान् लोग (विमिते) विविध प्रकार मापे गये [जगत्] में (अमितम्) अपरिमित

(भुवनस्य) ब्रह्माण्डस्य (मध्ये) (तपसि) सामर्थ्ये (क्रान्तम्) पराक्रमयुक्तम् (सलिलस्य) षल गतौ—इलच् । अन्तरिक्षस्य—दयानन्दभाष्ये, ऋक्० ७ । ४९ । १ । (पृष्ठे) उपरिभागे (तस्मिन्) ब्रह्मणि (श्रयन्ते) तिष्ठन्ति (ये) (उ) एव (के) (च) अपि (देवाः) दिव्यलोकाः (वृक्षस्य) (स्कन्धः) सप्तम्याः सुः । स्कन्धे । वृक्षकाण्डे (परितः) सर्वतः (इव) यथा (शाखाः) शाखृ व्याप्तौ—अच् । वृक्षावयवभेदाः ॥

३९—(यस्मै यस्मै) परमात्मने नित्यम् (हस्ताभ्याम्) (पादाभ्याम्) (वाचा) वाण्या (श्रोत्रेण) श्रवणेन (चक्षुषा) दृष्ट्या (देवाः) विद्वांसः (सदा) (बलिम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । बल प्राणने धान्यावरोधने च-इन् । यद्वा, वर्णेर्बलिश्चाहिरण्ये । उ० ४ । १२४ । वर्ण स्तुतौ, विस्तारे

(यलिम्) सन्मान (सदा) (प्रयच्छन्ति) देते हैं, (सः) वह (कतमः स्वित्) कौन सा (एव) निश्चय करके है ? [उत्तर] (तम्) उसको (स्कम्भम्) स्कम्भ [धारण करने वाला परमात्मा] (ब्रूहि) तू कह ॥ ॥ ३६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग हाथ पांव आदि अमूल्य उपकारी अङ्गों को पाकर संसार में उपकार करके परमात्मा का अत्यन्त आदर करते हैं ॥ ३६ ॥

अप तस्य हुतं तमो व्यावृत्तः स पाप्मना। सर्वाणि तस्मिन् ज्योतींषि यानि त्रीणि प्रजापतौ ॥ ४० ॥

अप । तस्य । हुतम् । तमः । वि-आवृत्तः । सः । पाप्मना ॥ सर्वाणि । तस्मिन् । ज्योतींषि । यानि । त्रीणि । प्रजा-पतौ ४०

भाषार्थ—(तस्य) उस [परमेश्वर] से (तमः) अन्धकार (अप हतम्) सर्वथा नष्ट है, (सः) वह (पाप्मना) पापसे (व्यावृत्तः) विमुक्त है। (तस्मिन् प्रजापतौ) उस प्रजा पालक [परमेश्वर] में (सर्वाणि) सब (ज्योतींषि) ज्योति हैं, (यानि) जो (त्रीणि) तीन [संयोग, वियोग और स्थिति रूप, यद्वा सत्त्व रज और तम रूप हैं] ॥ ४० ॥

भावार्थ—प्रकाशस्वरूप, निष्पाप, परमात्मा की महिमा से परमाणुओं के संयोग वियोग और स्थिति द्वारा, यद्वा, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणों द्वारा यह संसार स्थित है ॥ ४० ॥

यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद। स वै गुह्यः प्रजापतिः ॥ ४१ ॥

दीपनादिषु-इन्, धातोर्बल इत्यादेशः। राजकरम्। सत्कारम् (प्रयच्छन्ति) ददति (विमिते) विविधपरिमिते जगति (अमितम्) अपरिमितम्। अन्यत् पूर्ववत्-म० २२ ॥

४०—(अप हतम्) विनष्टम् (तस्य) तस्मात् परमेश्वरात् (तमः) अन्धकारः (व्यावृत्तः) निवृत्तः। विमुक्तः (पाप्मना) पापेन (सर्वाणि) (तस्मिन्) (ज्योतींषि) परमाणूनां संयोगवियोगस्थितिरूपाणि, सत्त्वरजस्तमोगुणरूपाणि वा तेजांसि (यानि) (त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (प्रजापतौ) प्रजापालके जगदीश्वरे ॥

यः । वे॒त॒सम् । हि॒र॒ण्ययम् । तिष्ठ॑न्तम् । स॒लि॒ले । वेद॑ ॥
सः । वै । गुह्यः॑ । प्र॒जा-प॑तिः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (सलिले) अन्तरिक्ष में (तिष्ठन्तम्) ठहरे हुये (हिरण्ययम्) तेजोमय (वेतसम्) परस्पर बुने हुये [संसार] को (वेद) जानता है। (सः वै) वह ही (गुह्यः) गुप्त (प्रजापतिः) प्रजा-पालक है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा समस्त संसार का पालन करता है वह सर्वज्ञ और सर्वान्तर्यामी है ॥ ४१ ॥

त॒न्त्रमेके॑ यु॒व॒ती विरू॑पे अ॒भ्या॒क्रामं॑ वयतः॒ षण्म॑यूखम् । प्रान्या तन्तूँ॑स्ति॒रते॑ ध॒त्ते अ॒न्या नाप॑ वृ॒ञ्जाते॒ न ग॑माता॒ो अन्त॑म् ॥४२॥

त॒न्त्रम् । एके॒ इति॑ । यु॒व॒ती इति॑ । विरू॑पे॒ इति॒ वि-रू॑पे । अ॒भि॒-आ॒क्राम॑म् । व॒य॒तः॒ । षट्-म॑यूखम् ॥ प्र । अ॒न्या । तन्तू॑न् । ति॒रते॑ । ध॒त्ते । अ॒न्या । न । अप॑ । वृ॒ञ्जाते॒ इति॑ । न । ग॒मा॒तः॒ । अन्त॑म् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(एके) अकेली अकेली दो (युवती) युवा स्त्रियां [वा संयोग वियोग स्वभाव वाली] (विरूपे) विरुद्ध स्वरूप वाली [दिन और रात्रि की वेलायें] (अभ्याक्रामम्) परस्पर चढ़ाई करके (षण्मयू-

४१—(यः) परमेश्वरः (वेतसम्) वेञस्तुट् च । उ० ३ । ११८ । वेञ् तन्तु-सन्ताने यद्वा वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु—असच् तुट् च । ऊतं परस्परं स्यूतं संसारम् (हिरण्ययम्) तेजोमयम् (तिष्ठन्तम्) वर्तमानम् (सलिले) म० ३८ । अन्तरिक्षे (वेद) जानाति (सः) (वै) एव (गुह्यः) गुह संवरणे—क्यप् । गुहायां स्थितः । गुप्तः (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः ॥

४२ (तन्त्रम्) तनु विस्तारे—ष्ट्रन् । विस्तारम् । कालरूपजालम् (एके) एकैके (युवती) तरुणस्त्रियौ यथा । संयोगवियोगस्वभावे (विरूपे) विरुद्ध-स्वरूपे (अभ्याक्रामम्) आभीक्ष्ण्ये णमुल् च । पा० ३ । ४ । २२ । अभि + आङ् +

खम्) छह [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे की दो दिशाओं] में परिमाण वा गति वाले (तन्त्रम्) तन्त्र [जाल अर्थात् काल] को (वयतः) बुनती हैं। (अन्या) कोई एक (तन्तून्) तन्तुओं [तागों अर्थात् प्रकाश वा अन्धकार] को (प्र तिरते) फैलाती है, (अन्या) दूसरी [उन्हें] (धत्ते) समेट धरती है। वे दोनों [उन्हें] (न आप वृञ्जाते) न छोड़ बैठती हैं (न) न (अन्तम्) अन्त तक (गमातः) पहुंचती हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जैसे दिन और रात्रि की वेलायें परस्पर विरुद्ध अर्थात् श्वेत और काली होकर भी प्रीति पूर्वक परमेश्वर की आज्ञा में चलकर संसार में परिगणनीय काल बनाती हैं, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर मित्र होकर ईश्वर की आज्ञापालन में सदा तत्पर रहें ॥ ४२ ॥

तयो॑र॒हं प॑रि॒नृत्य॑न्त्योरिव॒ न वि जा॑नामि य॒त॒रा प॒रस्ता॑त् ।
पुमा॑नेनद् वय॒त्युद्गृ॑णत्ति॒ पुमा॑नेनद् वि ज॑भा॒राधि॒ नाके॑ ॥ ४३ ॥

तयोः॑ । अ॒हम् । प॒रि॒नृत्य॑न्त्योः-इव । न । वि । जा॒ना॒मि॒ । य॒त॒रा । प॒रस्ता॑त् ॥ पुमा॑न् । ए॒न॒त् । व॒य॒ति॒ । उत् । गृ॒ण॒त्ति॒ । पुमा॑न् । ए॒न॒त् । वि । ज॒भा॒र॒ । अधि॑ । नाके॑ ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (न वि जानामि) कुछ नहीं जानता हूं-(परिनृत्यन्त्योः इव) इधर उधर नाचती हुई जैसे, (तयोः) उन दोनों [स्त्रियों] में से (यतरा) कौन सी (परस्तात्) [दूसरी से] परे है। (पुमान्) पुरुष

क्रमु पादविक्षेपे—णमुल्। परस्परमतिक्रम्य (वयतः) तन्तुरूपेण विस्तारयतः (षण्मयूखम्) माङ ऊखो मय च। उ० ५। २५। माङ् माने ऊख, धातोर्मयादेशः यद्वा मय गतौ—ऊख। षट्सु दिक्षु मयूखो मानं गतिर्वा यस्य तत् (अन्या) एका (तन्तून्) प्रकाशान्धकाररूपाणि सूत्राणि (प्र तिरते) वर्धयति। विस्तारयति (धत्ते) धरति (अन्या) (न) निषेधे (आ वृञ्जाते) अपत्यजतः (न) (गमातः) लङर्थे लेट्। गच्छतः। प्राप्नुतः (अन्तम्) सीमाम् ॥

४३—(तयोः) युवत्योर्मध्ये (अहम्) (परिनृत्यन्त्योः) परितश्चेष्टायमानयोः (इव) यथा (न) निषेधे (वि) विशेषेण (जानामि) (यतरा) कतरा (परस्तात्) अग्रे वर्तमाना (पुमान्) अ० १। ८। १। पा रक्षणे-डुमसुन्।

[रक्षक परमेश्वर] (एनत्) इस [तन्त्र] को (वयति) बुनता है और (उत् गृणत्ति) निगल लेता है, (पुमान्) पुरुष ने (एनत्) इसको (नाके अधि) आकाश के भीतर (वि जभार) फैलाया था ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को यह नहीं जान पड़ता कि काल चक्र में दिन और राति में से कौन सा पहिले है। परमेश्वर ही इनको बनाता बिगाड़ता है और उसी ने सृष्टि की आदि में इन्हें प्रकट किया था ॥ ४३ ॥

इमे मयूखा उप॑ तस्तभुर्दिवं॒ सामा॑नि चक्रुस्तस॑राणि॒ वात॑वे ४४(२५)

इमे । म॒यूखाः॑ । उप॑ । त॒स्त॒भुः॒ । दिव॑म् । सामा॑नि । च॒क्रुः॒ । तस॑राणि । वात॑वे ॥ ४४ ॥ (२५)

भाषार्थ—(इमे) इन (मयूखाः) ज्ञानप्रकाशों ने (दिवम्) आकाश [ब्रह्माण्ड] को (उप तस्तभुः) धारण किया था और (तसराणि) विस्तारों को (वातवे) पाने के लिये (सामानि) मोक्ष ज्ञानों को (चक्रुः) बनाया था ॥४४

भावार्थ—सूक्तोक्त ईश्वरीय ज्ञानों द्वारा यह सब संसार स्थित है, और इन्हीं की पूर्ण प्राप्ति से मनुष्य मोक्ष सुख द्वारा अपना विस्तार करते हैं ॥ ४४ ॥

रक्षकः । पुरुषः । आदिपुरुषः (एनत्) (तन्त्रम्) (वयति) तन्तुवत् संतनोति (उत्) बन्धने (गृणत्ति) गॄ निगरणे, छान्दसं रूपम् । गिरति । निगरति । भक्षयति (पुमान्) (एनत्) (वि जभार) विहृतवान् । विस्तारितवान् (अधि) (नाके) अ० १ । ९ । २ । पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । णीञ् प्रापणे आकप्रत्ययः, टि-लोपः । नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः,अथ द्यौः निरु० २ । १४ । आकाशे ॥

४४—(इमे) सूक्तोक्ताः (मयूखाः) माङ ऊखो मय च । उ० ५ । २५ । माङ् माने ऊख, धातोर्मयादेशः, यद्वा, मय गतौ ऊख । मयूखाः, रश्मिनाम—निघ० १ । ५ । ज्ञानप्रकाशाः (उप) (तस्तभुः) नलोपः । तस्तम्भुः । दधुः (दिवम्) आकाशम् । तत्रत्यब्रह्माण्डम् (सामानि) म० २० । मोक्षज्ञानानि (चक्रुः) कृतवन्तः (तसराणि) तन्यृषिभ्यां क्सरन् । उ० ३ । ७५ । तनु विस्तारे क्सरन् , कित्त्वादनुनासिकलोपः । विस्तारान् (वातवे) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । वा गतिगन्धनयोः—तवेन् । प्राप्तुम् ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-४४ ॥ आत्मा देवता ॥ १ उपरिष्टाद् विराड् बृहती; २, ५ भुरिगनुष्टुप्; ३, ३५, ३६ निचृत् त्रिष्टुप्; ४, १३, ३० भुरिक् त्रिष्टुप्; ६, १४, १६, १९-२१, २३, २५, २६, ३१-३४, ३७, ३८, ४१, ४३ अनुष्टुप्; ७ विराट् त्रिष्टुप्; ८, ९, १८, २४, २८, ४०, ४४, त्रिष्टुप्; १० अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्; ११ निचृज्जगती; १२ आर्षी पङ्क्तिः; १५ भुरिग् बृहती; १७, ३९ स्वराट् त्रिष्टुप्; २२ पुरउष्णिक्; २६ निचृदनुष्टुप्; २७ भुरिगार्षी बृहती; ४२ त्रिपदा त्रिष्टुप् ॥

परमात्म जीवात्मस्वरूपोपदेशः—परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप का उपदेश ॥

यो भूतं च भव्यं च सर्वं यश्चाधितिष्ठति । स्व१र्यस्य च केवलं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥ १ ॥

यः । भूतम् । च । भव्यम् । च । सर्वम् । यः । च । अधितिष्ठति ॥ स्वः । यस्य । च । केवलम् । तस्मै । ज्येष्ठाय । ब्रह्मणे । नमः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (भूतम्) भूतकाल (च च) और (भव्यम्) भविष्यत् काल का (च) और (यः) जो (सर्वम्) सब [जगत्] का (अधितिष्ठति) अधिष्ठाता है । (च) और (स्वः) सुख (यस्य) जिसका (केवलम्) केवल स्वरूप है, (तस्मै) उस (ज्येष्ठाय) ज्येष्ठ [सब से बड़े वा सब से श्रेष्ठ] (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [महान् परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार है ॥१॥

भावार्थ—तीनों कालों और सब जगत् के स्वामी सुखस्वरूप परमात्मा को हम सब का नमस्कार है ॥ १ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ४ में व्याख्यात है ॥

१—(यः) परमेश्वरः (भूतम्) अतीतकालम् (च च) समुच्चये (भव्यम्) अनागतकालम् (सर्वम्) समस्तं जगत् (यः) (च) (अधितिष्ठति) शास्ति (स्वः) सुखम् (यस्य) ईश्वरस्य (च) (केवलम्) सेवनीयं स्वरूपम् (तस्मै) पूर्वोक्ताय (ज्येष्ठाय) अ० १० । ७ । १७ । वृद्धतमाय । प्रशस्यतमाय (ब्रह्मणे) अ०१० । ७ । ३२ । महते प्रजापतये परमेश्वराय (नमः) नमस्कारः ॥

स्कम्भेने॒मे विष्टभिते॒ द्यौश्च॒ भूमि॑श्च तिष्ठतः । स्कम्भ इ॒दं सर्व॑मात्म॒न्वद्यत् प्रा॒णन्नि॑मि॒षच्च॒ यत् ॥ २ ॥

स्कम्भेन॑ । इ॒मे इति॑ । विस्त॑भिते॒ इति॒ वि-स्त॑भिते । द्यौः । च॒ । भूमि॑ः । च॒ । ति॒ष्ठ॒तः॒ । स्कम्भे॑ । इ॒दम् । सर्व॑म् । आ॒त्म॒न्-व॒त् । यत् । प्रा॒णत् । नि॒-मि॒षत् । च॒ । यत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(स्कम्भेन) स्कम्भ [धारण करने वाले परमात्मा] करके (विष्टभिते) विविध प्रकार थांभे गये (इमे) यह दोनों (द्यौः) सूर्य (च च) और (भूमिः) भूमि (तिष्ठतः) स्थित हैं । (स्कम्भे) स्कम्भ [परमेश्वर] में (इदम्) यह (सर्वम्) सब (आत्मन्वत्) आत्मा वाला [जगत्] वर्तमान है, (यत्) जो कुछ (प्राणत्) श्वास लेता हुआ [चैतन्य] (च) और (यत्) जो (निमिषत्) आंखें मूंदे हुये [जड़] है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से आकर्षण द्वारा सूर्य, पृथिवी आदि लोक अपने अपने स्थान पर और आत्मा वाला जङ्गम और स्थावर जगत् वर्तमान है ॥ २ ॥

ति॒स्रो ह॑ प्र॒जा अ॒त्या॒यमा॑य॒न् न्य॑१॒न्या अ॒र्कम॒भितो॑ऽविशन्त । बृ॒हन् ह॑ तस्थौ॒ रज॑सो वि॒मानो॒ हरि॑तो॒ हरि॑णी॒रा वि॑वेश ॥३॥

ति॒स्रः । ह॒ । प्र॒-जाः । अ॒ति॒-आ॒यम् । आ॒य॒न् । नि । अ॒न्याः । अ॒र्कम् । अ॒भितः॑ । अ॒वि॒श॒न्त॒ ॥ बृ॒हन् । ह॒ । त॒स्थौ॒ । रज॑सः । वि॒-मानः॑ । हरि॑तः । हरि॑णीः । आ । वि॒वे॒श ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तिस्रः) तीनों [ऊंची, नीची और मध्यम] (ह) ही (प्रजाः)

२—(स्कम्भेन) अ० १० । ७ । २ । सर्वधारकेण परमेश्वरेण (इमे) दृश्यमाने (विष्टभिते) विविधं धारिते (द्यौः) सूर्यः (च च) (भूमिः) (तिष्ठतः) वर्तेते (स्कम्भे) (इदम्) (सर्वम्) (आत्मन्वत्) अ० ४ । १० । ७ । आत्मना जीवेन युक्तं जगत् (यद्) (प्राणत्) श्वसत् (निमिषत्) निमेषणं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वत् (च) (यत्) ॥

३—(तिस्रः) उच्चनीचमध्यप्रकारेण त्रिसंख्याकाः (ह) एव (प्रजाः)

प्रजा [कार्यरूप उत्पन्न पदार्थ] (अत्यायम्) नित्यगमन आगमन को (आयन्) प्राप्त हुये, (अन्याः) दूसरे [कारण रूप पदार्थ] (अर्कम् अभि) पूजनीय [परमात्मा] के आस पास (नि अविशन्त) ठहरे। (रजसः) संसार का (बृहन् ह) बड़ा ही (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला [वा विमान रूप आधार, परमेश्वर] (तस्थौ) खड़ा हुआ और (हरितः) दुःख हरने वाले [हरि, परमात्मा] ने (हरिणीः) दिशाओं में (आ विवेश) सब ओर प्रवेश किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से पदार्थ कार्यदशा प्राप्त करके आगमन गमन करते हैं, और दूसरे नित्य कारण रूप पदार्थ परमात्माके सामर्थ्य में रहते हैं। इन सब पदार्थों की इयत्ता वही परमात्मा सब दिशाओं में व्याप कर जानता है ॥ ३ ॥

द्वादश प्रधयश्चक्रमेकं त्रीणि नभ्यानि क उ तच्चिकेत । तत्राहतास्त्रीणि शतानि शङ्कवः षष्टिश्च खीला अविचाचला ये ॥४॥

द्वादश । प्र-धयः । चक्रम् । एकम् । त्रीणि । नभ्यानि । कः । ऊं इति । तत् । चिकेत ॥ तत्र । आ-हताः । त्रीणि । शतानि । शङ्कवः । षष्टिः । च । खीलाः । अवि-चाचलाः । ये ॥४॥

भाषार्थ—(द्वादश) बारह (प्रधयः) प्रधि [पुट्ठी अर्थात् महीने],

उत्पन्नपदार्थाः (अत्यायम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अत सातत्यगमने-इन्+आङ्+या गतौ-ड । अतिश्च आयश्च । स नपुंसकम् । पा० २ । ४ । १७ । इति समाहारे नपुंसकम् । नित्यगमनागमने (आयन्) इण् गतौ-लङ् । प्राप्नुवन् (अन्याः) कारणरूपाः पदार्थाः (अर्कम्) अर्चनीयं परमात्मानम् (अभि) अभितः (नि अविशन्त) तस्थुः (बृहन्) महान् (ह) एव (तस्थौ) (रजसः) लोकस्य (विमानः) विविधं मानकर्ता । विमानतुल्याधारः (हरितः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ६३ । हृञ् नाशने-इतन् । दुःखहरः । हरिः परमेश्वरः (हरिणीः) वर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । पा० ४ । १ । ३९ । इति बाहुलकाद् ङीब्नत्वे । हरितो दिङ्नाम—निघ० १ । ६ । दिशाः (आ) समन्तात् (विवेश) प्रविष्टवान् ॥

४—(द्वादश) (प्रधयः) प्रधितुल्यमासाः (चक्रम्) रथचक्रवद्वर्ष-

(एकम् चक्रम्) एक पहिया [वर्ष], (त्रीणि) तीन (नभ्यानि) नाभि के अङ्ग [ग्रीष्म, वर्षा और शीत] हैं, (कः उ) किसने ही (तत्) इस [मर्म] को (चिकेत) जाना है। (तत्र) उस [पहिये, वर्ष] में (त्रीणि) तीन (शतानि) सौ (च) और (षष्टिः) साठ (शङ्कवः) शङ्कु [कांटे] और (खीलाः) खीले [बड़े छोटे दिन] (आहताः) लगे हुये हैं, (ये) जो (अविचाचलाः) टेढ़े होकर विचल नहीं होते ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने अपने अपने प्रयोजन के लिये वर्ष के महीने, ऋतुयें और दिन आदि बनाये हैं, वैसे ही मनुष्य यान, विमान नौका आदि में कलायन्त्र आदि लगाकर जाना आना आदि व्यवहार किया करें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद में है-म० १। सू० १६४। म० ४८, और निरुक्त ४। २७ में भी व्याख्यात है ॥

इदं सवितर्वि जानीहि षड् यमा एकं एकजः। तस्मिन् हापित्वमिच्छन्ते य एषामेकं एकजः ॥ ५ ॥

इदम्। सवितः। वि। जानीहि। षट्। यमाः। एकः। एकजः॥ तस्मिन्। ह। अपि-त्वम्। इच्छन्ते। ये। एषाम्। एकः। एक-जः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सवितः) हे ऐश्वर्यवान् [विद्वान् !] (इदम्) इस [बात] को (वि जानीहि) विज्ञान पूर्वक जान [कि] (षट्) छह (यमाः) यम

कालः (एकम्) (त्रीणि) नभ्यानि) रथनाभिभवानि अङ्गानि। ग्रीष्मवर्षाशीतरूपाणि (कः) विद्वान् (उ) एव (तत्) (चिकेत) ज्ञातवान् (तत्र) चक्रे वर्षे (आहताः) हन हिंसागत्योः—क्त। आगताः। स्थापिताः (त्रीणि) (शतानि) (शङ्कवः) खरुशङ्कुपीयु०। उ० १। ३६। शकि त्रासे शङ्कायां च—कु। कीलाः (षष्टिः) (च) (खीलाः) कील बन्धने—क, कस्य खः। अल्पशङ्कवः (अविचाचलाः) नित्यं कौटिल्ये गतौ। पा० ३। १। २३। अ + वि + चल गतौ—यङ्, अच्। अकुटिलगतयः (ये) ॥

५—(इदम्) वाक्यम् (सवितः) ऐश्वर्यवन् विद्वन् (वि) विशेषेण (जानीहि) (षट्) (यमाः) पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि षष्ठं मनः (एकः) जीवात्मा (एकजः)

[नियम से चलने चलाने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय और एक मन] और (एकः) एक [जीवात्मा] (एकजः) [अपने कर्मानुसार] अकेला उत्पन्न होने वाला है। (तस्मिन्) उस [जीवात्मा] में (ह) ही (आपित्वम्) बन्धुपन को (इच्छन्ते) वे [छह इन्द्रिय] प्राप्त करते हैं, (यः) जो [जीवात्मा] (एषाम्) इन [छह] के बीच (एकः) एक (एकजः) अकेला उत्पन्न होने वाला है ॥५॥

भावार्थ—मनुष्य को खोजना चाहिये कि इस शरीर में कौन से शुभ और अशुभ संस्कारों के कारण जीवात्मा के साथ पांच ज्ञानेन्द्रिय अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र जिह्वा नासिका और छठे मनका संबन्ध है ॥ ५ ॥

आविः सन्निहितं गुहा जरन्नाम महत् पदम् । तत्रेदं सर्वमार्पितमेजत् प्राणत् प्रतिष्ठितम् ॥ ६ ॥

आविः । सत् । नि-हितम् । गुहा । जरत् । नाम । महत् । पदम् ॥ तत्र । इदम् । सर्वम् । आर्पितम् । एजत् । प्राणत् । प्रति-स्थितम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आविः) प्रकट, (जरत्) स्तुति योग्य, (नाम) प्रसिद्ध (महत्) पूजनीय, (पदम्) पाने योग्य (सत्) अविनाशी ब्रह्म (गुहा) हृदय में (निहितम्) दृढ़ स्थापित है। (तत्र) उसी [ब्रह्म] में (अर्पितम्) जमा हुआ (इदम् सर्वम्) यह सब (एजत्) चेष्टा करता हुआ और (प्राणत्)

एक एव जातः (तस्मिन्) जीवात्मनि (ह) एव (आपित्वम्) इणजादिभ्यः। वा० पा० ३। ३। १०८। आप्लृ व्याप्तौ-इण्। छान्दसो ह्रस्वः। आपित्वम्। बन्धुत्वम् (इच्छन्ते) कामयन्ते (यः) जीवात्मा (एषाम्) यमानां मध्ये। अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(आविः) अ० ८। ३। २४। आङ्+अव रक्षणादिषु-इसि। प्रकटम् (सत्) अविनाशि ब्रह्म (निहितम्) दृढं स्थापितम् (गुहा) गुहायाम्। हृदये (जरत्) जीर्यतेरतृन्। पा० ३। २।१०४। इति जॄ स्तुतौ—अतृन्, बाहुलकात्। जरा स्तुति जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १०। ८। स्तुत्यम् (नाम) प्रसिद्धम् (महत्) पूजनीयम् (पदम्) प्रापणीयम् (तत्र) ब्रह्मणि (इदम्) दृश्यमानम्

श्वास लेता हुआ (प्रतिष्ठितम्) प्रत्यक्ष स्थित है ॥ ६ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म सब सृष्टि के भीतर और बाहिर व्यापकर सबको नियम में चलाता है ॥ ६ ॥

एकचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं क्व१ तद् बभूव ॥ ७ ॥

एक-चक्रम् । वर्तते । एक-नेमि । सहस्र-अक्षरम् । प्र । पुरः । नि । पश्चा ॥ अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । क्व । तत् । बभूव ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(एकचक्रम्) एक चक्र वाला और (एकनेमि) एक नेमी [नियम] वाला (सहस्राक्षरम्) सहस्रों प्रकार से व्याप्ति वाला [ब्रह्म] (प्र) भली भांति (पुरः) आगे और (नि) निश्चय करके (पश्चा) पीछे (वर्तते) वर्तमान है। उस ने (अर्धेन) आधे [खण्ड] से (विश्वम्) सब (भुवनम्) अस्तित्व [जगत्] को (जजान) उत्पन्न किया और (यत्) जो (अस्य) इस [ब्रह्म] का (अर्धम्) [दूसरा कारण रूप] आधा है, (तत्) वह (क्व) कहां (बभूव) रहा ॥ ७ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म अपने अटूट नियम से सब जगत् में व्यापकर सब से पहिले और पीछे निरन्तर वर्तमान है। उसने अपने थोड़े से सामर्थ्य से यह बहुत बड़ा ब्रह्माण्ड रचा है और जिस कारण से वह रचता चला जाता है उसका परिमाण मनुष्य नहीं कर सकता ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० ११ । ४ । २२ ॥

(सर्वम्) जगत् (आर्पितम्) समन्तात् स्थापितम् (एजत्) चेष्टायमानम् (प्राणत्) श्वसत् (प्रतिष्ठितम्) प्रत्यक्षं स्थितम् ॥

७—(एकचक्रम्) एकं चक्रं यस्य तत् (वर्तते) (एकनेमि) नियो-मिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मि । एको नेमिर्नयनं चालनं यस्य तत् (सहस्राक्षरम्) अशेः सरः । उ० ३ । ७० । अशू व्याप्तौ—सरप्रत्ययः । बहुविधव्यापकम् (प्र) प्रकर्षेण (पुरः) पुरस्तात् । अग्रे (नि)(निश्चयेन) (पश्चा) पश्चात् (अर्धेन) अल्पखण्डेन (विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) अस्तित्वम् (जजान) उत्पादयामास (यत्) (अस्य) ब्रह्मणः (अर्धम्) (क्व) कुत्र (तत्) (बभूव) वबृते ॥

पञ्चवाही वहत्यग्रमेषां प्रष्टयो युक्ता अनुसंवहन्ति । अयातमस्य ददृशे न यातं परं नेदीयोऽवरं दवीयः ॥ ८ ॥

पञ्च-वाही । वहति । अग्रम् । एषाम् । प्रष्टयः । युक्ताः । अनु-संवहन्ति ॥ अयातम् । अस्य । ददृशे । न । यातम् । परम् । नेदीयः । अवरम् । दवीयः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(पञ्चवाही) पांच [पृथिवी आदि तत्त्व] को ले चलने वाला [परमेश्वर] (एषाम्) इन [सब लोकों] के (अग्रम्) आगे आगे (वहति) चलता है, (प्रष्टयः) प्रश्न करने योग्य पदार्थ (युक्ताः) संयुक्त होकर (अनुसंवहन्ति) [उसके] पीछे चले चलते हैं । (अस्य) इस परमेश्वर] का (अयातम्) न जाना [निकट रहना, विद्वानों करके] (ददृशे) देखा गया है और (यातम्) जाना [दूर होना] (न) नहीं, (अवरम्) सर्वोत्तम (परम्) परब्रह्म [विद्वानों से] (नेदीयः) अधिक निकट और [अविद्वानों से] (दवीयः) अधिक दूर है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश पांच तत्त्वों को रचकर नियम में चलाता है । विद्वान् लोग उसको अपने भीतर जानकर प्रबल, और मूर्ख उसे दूर समझकर निर्बल रहते हैं ॥ ८ ॥

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नस्तस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम् । तदासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः ॥ ९ ॥

तिर्यक्-बिलः । चमसः । ऊर्ध्व-बुध्नः । तस्मिन् । यशः । नि-

८—(पञ्चवाही) वह प्रापणे-णिनि । पञ्चानां पृथिव्यादिपदार्थानां वाहको नायकः परमेश्वरः (वहति) गच्छति (अग्रम्) अग्रे (एषाम्) लोकानाम् (प्रष्टयः) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—ति । प्रष्टव्याः पदार्थाः (युक्ताः) संयुक्ताः सन्तः (अनुसंवहन्ति) ईश्वरमनुसृत्य मिलित्वा गच्छन्ति (अयातम्) अगमनम् (अस्य) ईश्वरस्य (ददृशे) दृष्टं बभूव (न) निषेधे (यातम्) गमनम् (परम्) परब्रह्म (नेदीयः) अन्तिकतरम् (अवरम्) नास्ति वरं यस्मात् तत् । अनुत्तमम् । सर्वश्रेष्ठम् (दवीयः) दूरतरम् ॥

हितम् । विश्व-रूपम् ॥ तत् । आसते । ऋषयः । सप्त । साकम् । ये । अस्य । गोपाः । महतः । बभूवुः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तिर्यग्बिलः) तिरछे बिल [छिद्र] वाला, (ऊर्ध्वबुध्नः) ऊपर को बन्धन वाला (चमसः) पात्र [अर्थात् मस्तक] है, (तस्मिन्) उस [पात्र] में (विश्वरूपम्) सम्पूर्ण (यशः) यश [व्याप्ति वाला ज्ञान सामर्थ्य] (निहितम्) स्थापित है । (तत्) उस [पात्र] में (सप्त) सात (ऋषयः) ऋषि [ज्ञान कारक वा मार्गदर्शक इन्द्रियां] (साकम्) मिलकर (आसते) बैठते हैं, (ये) जो (अस्य) इस (महतः) बड़े [शरीर] के (गोपाः) रक्षक (बभूवुः) हुये हैं ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मस्तक की विचित्र रचना की है, उसमें अद्भुत रचना वाले कान आदि गोलक तिरछे और केश ऊपर को हैं, उस में दो कान, दो नेत्र, दो नथने और एक मुख, इन सातों के द्वारा प्राणी ज्ञान प्राप्त करके शरीर की रक्षा करता है ॥ ९ ॥

या पुरस्ताद् युज्यते या च पश्चाद् या विश्वतो युज्यते या च सर्वतः । यया यज्ञः प्राङ् तायते तां त्वा पृच्छामि कतमा सर्चाम् ॥ १० ॥ (२६)

या । पुरस्तात् । युज्यते । या । च । पश्चात् । या । विश्वतः । युज्यते । या । च । सर्वतः । यया । यज्ञः । प्राङ् । तायते । ताम् । त्वा । पृच्छामि । कतमा । सा । ऋचाम् ॥ १० ॥ (२६)

९—(तिर्यग्बिलः) वक्रगतिच्छिद्रयुक्तः (चमसः) पात्रम् । मस्तकम् (ऊर्ध्वबुध्नः) बन्धेर्ब्रधिबुधी च । उ० ३ । ५ । उपरिबन्धनः (तस्मिन्) चमसे (यशः) अशेर्देवने युट् च । उ० ४ । १९१ । व्याप्तौ—असुन् युडागमः । व्याप्तिमद् ज्ञानसामर्थ्यम् (निहितम्) स्थापितम् (विश्वरूपम्) समस्तम् (तत्) तत्र (आसते) उपविशन्ति (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ९ । ऋष गतौ दर्शने च-इन् । ज्ञानकराणि मार्गदर्शकानि वा शीर्षण्यानि सप्तच्छिद्राणि (सप्त) (साकम्) परस्परम् (ये) (अस्य) दृश्यमानस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे—अच् । रक्षकाः (महतः) विशालस्य शरीरस्य (बभूवुः) ॥

भाषार्थ—(या) जो [वाणी] (पुरस्तात्) पहिले से (च) और (या) जो (पश्चात्) पीछे से (युज्यते) संयुक्त है, (या) जो (विश्वतः) सब ओर से (च) और (या) जो (सर्वतः) सब काल से (युज्यते) संयुक्त है। (यया) जिस [वाणी] करके (यज्ञः) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] (प्राङ्) आगे (तायते) फैलता है, (ताम्) उस [वाणी] को (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) पूंछता हूं—"(ऋचाम्) वाणियों में से (सा) वह (कतमा) कौन सी [वाणी] है" ॥ १० ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सृष्टि के पहिले, पीछे और वर्तमान में है, और जो सब जगत् का कर्ता है, वह ओ३म् वा ब्रह्म है जिसका वर्णन अगले मन्त्रों में है। गोपथ ब्राह्मण, पूर्वभाग, प्रथम प्रपाठक, खण्ड २२ में इस मन्त्र की प्रतीक देकर ओङ्कार का विशेष वर्णन है ॥ १० ॥

यदेज॑ति॒ पत॑ति॒ यच्च॒ तिष्ठ॑ति प्रा॒णदप्रा॑णन्नि॒मि॒षच्च॒ यद्भुव॑त्। तद्दा॑धार पृथि॒वीं वि॒श्वरू॑पं॒ तत् सं॒भूय॑ भव॒त्येक॑मे॒व ॥११॥

यत्। एज॑ति। पत॑ति। यत्। च॒। तिष्ठ॑ति। प्रा॒णत्। अप्रा॑णत्। नि॒-मि॒षत्। च॒। यत्। भुव॑त्॥ तत्। दा॒धा॒र॒। पृ॒थि॒वीम्। वि॒श्व-रू॑पम्। तत्। स॒म्-भूय॑। भ॒व॒ति॒। एक॑म्। ए॒व ॥११॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ [जगत्] (एजति) चेष्टा करता है, (पतति) उड़ता है, (च) और (यत्) जो कुछ (तिष्ठति) ठहरता है, (प्राणत्) श्वास लेता हुआ, (अप्राणत्) न श्वास लेता हुआ (च) और (यत्) जो कुछ

१०—(या) ऋक्। वाणी (पुरस्तात्) अग्रे (युज्यते) संयुक्ता भवति (च) (पश्चात्) (विश्वतः) सर्वदेशात् (सर्वतः) सर्वकालात् (यया) ऋचा। वाचा (यज्ञः) पूजनीयव्यवहारः (प्राङ्) अग्रगामी (तायते) विस्तीर्यते (ताम्) (त्वा) विद्वांसम् (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (कतमा) बह्वीनां मध्ये का (सा) (ऋचाम्) ऋग्वाङ्नाम—निघ० १। ११। वाचां मध्ये ॥

११—(यत्) यत्पदार्थमात्रम् (एजति) चेष्टते (पतति) उड्डीयते (यत्) (च) (तिष्ठति) (प्राणत्) प्रश्वसत् (अप्राणत्) अप्रश्वसत् (निमिषत्) चक्षुर्निमीलनं कुर्वत् (च) (यत् (भुवत्) भूसृ भसेोऽद्भिः। उ० १। १३० । भू

(निमिषत्) आंख मूंदे हुये (भुवत्) विद्यमान है । (विश्वरूपम्) सबको रूप देने वाले (तत्) विस्तृत [ब्रह्म] ने [उस सबको और] (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया था, (तत्) वह [ब्रह्म] (संभूय) शक्तिमान् होकर (एकम् एव) एकही (भवति) रहता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—एक अद्वितीय ब्रह्म विविध प्रकार जगत् को रचकर सबका धारण पोषण करता है ॥ ११ ॥

अनन्तं विततं पुरुत्रानन्तमन्तवच्चा समन्ते । ते नाकपालश्चरति विचिन्वन् विद्वान् भूतमुत भव्यमस्य ॥ १२ ॥

अनन्तम् । वि-ततम् । पुरु-त्रा । अनन्तम् । अन्त-वत् । च । समन्ते इति सम्-अन्ते ॥ ते इति । नाक-पालः । चरति । वि-चिन्वन् । विद्वान् । भूतम् । उत । भव्यम् । अस्य ॥१२॥

भाषार्थ—(अनन्तम्) अन्त रहित (पुरुत्रा) बहुत प्रकार (विततम्) फैला हुआ [ब्रह्म अर्थात्] (नाकपालः) मोक्ष सुख का स्वामी [परमात्मा] (समन्ते) परस्पर सीमा युक्त (ते) उन [दोनों अर्थात्] (अनन्तम्) अन्तरहित [कारण] (च) और (अन्तवत्) अन्त वाले [कार्य जगत्] को (विचिन्वन्) अलग अलग करता हुआ और (अस्य) इस [ब्रह्माण्ड] का (भूतम्) भूतकाल (उत) और (भव्यम्) भविष्यत् काल को (विद्वान्) जानता हुआ (चरति) विचरता है ॥ १२ ॥

सत्तायाम्-अदि, कित् । वर्तमानम् (तत्) त्यजितनि० । उ० १ ।१३२ । तनु विस्तारे-अदि, डित् । विस्तृतं ब्रह्म (दाधार) पुपोष (पृथिवीम्) (विश्वरूपम्) सर्वेषां रूपकरम् (तत्) (संभूय) शक्तिमद् भूत्वा (भवति) वर्तते (एकम्) अद्वितीयम् (एव) ॥

१२—(अनन्तम्) अन्तरहितम् (विततम्) विस्तृतं ब्रह्म (पुरुत्रा) बहुविधम् (अनन्तम्) अन्तरहितं कारणम् (अन्तवत्) सान्तं कार्यम् (च) (समन्ते) परस्परसीमायुक्ते (ते) द्वे (नाकपालः) मोक्षसुखस्य स्वामी (चरति) गच्छति (विचिन्वन्) पृथक् पृथक् कुर्वन् (विद्वान्) जानन् (भूतम्) गतकालम् (उत) अपि (भव्यम्) अनागतकालम् (अस्य) जगतः ॥

भावार्थ—अनन्त मोक्षस्वरूप परमात्मा कारण कार्य रूप जगत् तथा भूत भविष्यत् और वर्तमान कालको जानता हुआ सदा वर्तमान है ॥ १२ ॥

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरदृश्यमानो बहुधा वि जायते । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥१३॥

प्रजा-पतिः । चरति । गर्भे । अन्तः । अदृश्यमानः । बहु-धा । वि । जायते ॥ अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । कतमः । सः । केतुः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजा [सब जगत्] का पालने वाला (गर्भे) गर्भ [गर्भ रूप आतमा] के (अन्तः) भीतर (चरति) विचरता है और (अदृश्यमानः) न दीखता हुआ वह(बहुधा) बहुत प्रकार (वि जायते) विशेष कर के प्रकट होता है। उसने (अर्धेन) आधे खण्ड से (विश्वम्) सब (भुवनम्) अस्तित्व [जगत्] को (जजान) उत्पन्न किया, और(यत्) जो (अस्य) इस [ब्रह्म] का (अर्धम्) [दूसरा कारणरूप]आधा है, (सः) वह (कतमः) कौन सा (केतुः) चिह्न है॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा अज्ञानियों को नहीं दीखता, उसको विवेकी जन सूक्ष्मदृष्टि से सब के भीतर व्यापक पाते हैं। उसी ईश्वर की सामर्थ्य से यह जगत् उत्पन्न हुआ है और उसी की शक्ति में अनन्त कारणरूप पदार्थ वर्तमान हैं ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध यजुर्वेद में है—अ० ३१ । म० १६ । और तीसरा पाद ऊपर मन्त्र ७ में आ चुका है ॥

ऊर्ध्वं भरन्तमुदकं कुम्भेनेवोदहार्यम् । पश्यन्ति सर्वे चक्षुषा न सर्वे मनसा विदुः ॥ १४ ॥

१३—(प्रजापतिः) जगत्पालकः परमेश्वरः (चरति) विचरति (गर्भे) गर्भरूपे जीवात्मनि (अन्तः) मध्ये (अदृश्यमानः) अनीक्ष्यमाणः (बहुधा) अनेकविधम् (वि) विशेषेण (जायते) प्रादुर्भवति) (कतमः) बहूनां मध्ये कः (सः) (केतुः) ज्ञापकः । बोधः । अन्यद् गतम्—म० ७ ॥

ऊर्ध्वम् । भरन्तम् । उदकम् । कुम्भेन-इव । उद-हार्यम् ॥
पश्यन्ति । सर्वे । चक्षुषा । न । सर्वे । मनसा । विदुः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(कुम्भेन) घड़े से (उदकम्) जल को (ऊर्ध्वम्) ऊपर (भरन्तम्) भरते हुये (उदहार्यम्) जल लाने वाले को (इव) जैसे, [उस परमेश्वर को] (सर्वे) सब लोग (चक्षुषा) आंख से (पश्यन्ति) देखते हैं, (सर्वे) (मनसा) मन से (न) नहीं (विदुः) जानते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—प्रायः मनुष्य परमेश्वर को उसकी स्थूल रचनाओं से देखते हैं जैसे कूप में से घड़े द्वारा जल खींचने वाले को। परन्तु विवेकी पुरुष उस उन्नति कर्ता ईश्वर को उसकी सूक्ष्म रचनाओं से अनुभव करते हैं ॥ १४ ॥

दूरे पूर्णेन वसति दूर ऊनेन हीयते। महद् यक्षं भुवनस्य मध्ये तस्मै बलिं राष्ट्रभृतो भरन्ति ॥ १५ ॥

दूरे । पूर्णेन । वसति । दूरे । ऊनेन । हीयते ॥ महत् । यक्षम् । भुवनस्य । मध्ये । तस्मै । बलिम् । राष्ट्र-भृतः । भरन्ति ॥१५॥

भाषार्थ—(महत्) बड़ा (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म] (भुवनस्य मध्ये) संसार के बीच (दूरे) दूर में [वर्तमान होकर] (पूर्णेन) पूर्ण [पूरे विद्वान्] के साथ (वसति) बसता है, और (ऊनेन) हीन [अधूरे पुरुष] के साथ (दूरे) दूर देश में (हीयते) त्यागा जाता है, (तस्मै) उस [ब्रह्म] को

१४—(ऊर्ध्वम्) (भरन्तम्) हरन्तम् । प्रापयन्तम् (उदकम्) जलम् (कुम्भेन) घटेन (इव) यथा (उदहार्यम्) हृञ् प्रापणे-एयत् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति कर्तरि प्रत्ययः । जलहारम् । कहारम् (पश्यन्ति) सर्वे (चक्षुषा) नेत्रेण (न) निषेधे (सर्वे) (मनसा) मननेन (विदुः) जानन्ति ॥

१५—(दूरे) दूरे वर्तमानः सन् अतिसूक्ष्मत्वात् (पूर्णेन) महाविदुषा सह (वसति) वर्तते (दूरे) (ऊनेन) विद्याहीनेन सह (हीयते) त्यज्यते (महत्) बृहत् (यक्षम्) पूजनीयं ब्रह्म (भुवनस्य) जगतः (मध्ये) (तस्मै)

(राष्ट्रभृतः) राज्य धारण करने वाले लोग (बलिम्) सन्मान (भरन्ति) धारण करते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमात्मा को विद्वान् लोग सब स्थान में पाकर बली होकर आनन्द भोगते हैं, और मूर्ख जन उसे न जान कर सदा दुःखी रहते हैं। उसी महाराजाओं के महाराजा की सब उपासना करें ॥ १५ ॥

यतः सूर्य उदेत्यस्तं यत्र च गच्छति। तदेव मन्येऽहं ज्येष्ठं तदु नात्येति किं चन ॥ १६ ॥

यतः। सूर्यः। उत्-एति। अस्तम्। यत्र। च। गच्छति ॥ तत्। एव। मन्ये। अहम्। ज्येष्ठम्। तत्। ऊं इति। न। अति। एति। किम्। चन ॥ १६ ॥

भाषार्थ-(यतः) जिस से (सूर्यः) सूर्य (उदेति) उदय होता है, (च) और (यत्र) जिस में (अस्तम्) अस्त को (गच्छति) प्राप्त होता है। (तत् एव) उसे ही (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़ा] (अहम्) मैं (मन्ये) मानता हूं, (तत् उ) उस से (किं चन) कोई भी (न अति एति) बढ़कर नहीं है ॥१६॥

भावार्थ जिस परमात्मा से सृष्टि समय में सूर्य आदि उत्पन्न होते और प्रलय काल में वे सब जिसमें लय हो जाते हैं, उस महान् की उपासना सब लोग करें ॥ १६ ॥

ये अर्वाङ् मध्य उत वा पुराणं वेदं विद्वांसमभितो वदन्ति। आदित्यमेव ते परि वदन्ति सर्वे अग्निं द्वितीयं त्रिवृतं च हंसम् ॥ १७ ॥

ब्रह्मणे (बलिम्) सत्कारम् (राष्ट्रभृतः) राज्यधारकाः। महाराजाः (भरन्ति) कुर्वन्ति ॥

१६—(यतः) यस्मात् परमेश्वरात् (सूर्यः) (उदेति) उद्गच्छति (अस्तम्) अदर्शनम् (यत्र) यस्मिन् ब्रह्मणि (च) (गच्छति) प्राप्नोति (तत्) ब्रह्म (एव) (मन्ये) जानामि (अहम्) (ज्येष्ठम्) महत्तमम् (तत) ब्रह्म (उ) पादपूरणे (न) निषेधे (अत्येति) अतिक्रामति (किम् चन) किमपि ॥

ये । अर्वाङ् । मध्ये । उत । वा । पुराणम् । वेदम् । विद्वांसम् । अभितः । वदन्ति ॥ आदित्यम् । एव । ते । परि । वदन्ति । सर्वे । अग्निम् । द्वितीयम् । त्रि-वृतम् । च । हंसम् १७

भाषार्थ—(ये) जो [विद्वान्] (अर्वाङ्) अवर [इस काल वा लोक] में, (मध्ये) मध्य में (उत वा) अथवा (पुराणम्) पुराने काल में [वर्तमान] (वेदम्) वेद के (विद्वांसम्) जानने वाले [परमात्मा] को (अभितः) सब ओर से (वदन्ति) बखानते हैं। (ते सर्वे) वे सब [विद्वान्, उस] (आदित्यम्) खण्डन रहित [परमात्मा] को (एव) ही (अग्निम्) अग्नि [प्रकाश स्वरूप] (च) और (द्वितीयम्) दूसरा [दूसरे नाम वाला] (त्रिवृतम्) तीनों [कर्म, उपासना और ज्ञान] को स्वीकार करने वाला (हंसम्) हंस [सर्व व्यापक वा सर्वज्ञानी] (परि) निरन्तर (वदन्ति) बताते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा तीनों काल तीनों लोक में वर्तमान और सत्यज्ञानी है, उसको विवेकी जन वेदविहित कर्म, उपासना और ज्ञान से प्राप्त हो कर मुक्तिसुख भोगते हैं ॥ १७ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ॥१८

१७—(ये) विद्वांसः (अर्वाङ्) अवरे देशे काले वा (मध्ये) (उत वा) अथवा (पुराणम्) अ० १० । ७ । २६ । पुरातनकाले (वेदम्) अ० ७ । २८ । १। परमेश्वरज्ञानम् (विद्वांसम्) विदेः शतुर्वसुः। पा० ७ । १ । ३ । वेत्तेः शतुर्वसुरादेशो वा । विदन्तं जानन्तं परमेश्वरम् (अभितः) सर्वतः (वदन्ति) कथयन्ति (आदित्यम्) अ० १ । ६ । १ । दो अवखण्डने-क्तिन् । दितिः खण्डः, अदितिः अखण्डः । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । अदिति-ण्यप्रत्ययो भवार्थे । खण्डरहितं परमेश्वरम् (एव) (ते) (विद्वांसः) (परि) सर्वतः (वदन्ति) (सर्वे) (अग्निम्) प्रकाशस्वरूपम् (द्वितीयम्) द्वितीयनाम्ना प्रसिद्धम् (त्रिवृतम्) त्रि + वृञ् वरणे-क्विप् तुक् च। त्रीणि कर्मोपासनाज्ञानानि वृणोति स्वीकरोतीति तम् (च) (हंसम्) अ० ६ । १२ । १ । हन हिंसागत्योः-स । हन्ति गच्छतीति हंसः। सर्वव्यापकं परमात्मानम् ॥

सहस्र-अह्न्यम् । वि-यतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वः-गम् ॥ सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उप-दद्य । सम्-पश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(स्वर्गम्) मोक्षसुख को (पततः) प्राप्त हुये (अस्य) इस [सर्वत्र वर्तमान] (हरेः) हरि [दुःख हरनेवाले] (हंसस्य) हंस [सर्वव्यापक परमेश्वर] के (पक्षौ) दोनों पक्ष [ग्रहण करने योग्य कार्य कारण रूप व्यवहार] (सहस्राह्न्यम्) सहस्रों दिनों वाले [अनन्त देश काल] में (वियतौ) फैले हुये हैं। (सः) वह [परमेश्वर] (सर्वान्)सब (देवान्) दिव्यगुणों को [अपने] (उरसि) हृदय में (उपदद्य) लेकर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (संपश्यन्) निरन्तर देखता हुआ (याति) चलता रहता है ॥१८॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से अनन्तकार्य कारण रूप जगत् की निरन्तर सुधि रखता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर का विचार करता हुआ सब कामों में सदा सावधान रहे ॥ १८ ॥

सत्येनोर्ध्वस्तपति ब्रह्मणार्वाङ् वि पश्यति । प्राणेन तिर्यङ् प्राणति यस्मिन् ज्येष्ठमधि श्रितम् ॥ १९ ॥

सत्येन । ऊर्ध्वः । तपति । ब्रह्मणा । अर्वाङ् । वि । पश्यति ॥ प्राणेन । तिर्यङ् । प्र । अनति । यस्मिन् । ज्येष्ठम् । अधि । श्रितम् ॥ १९ ॥

१८—(सहस्राह्न्यम्) मये च । पा० ४ । ४ । १३८ । बाहुलकाद् यप्रत्ययः । कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । सहस्रदिनयुक्तम् । अनन्तं देशं कालं वा (वियतौ) यम—क्त । विस्तृतौ (अस्य) (पक्षौ) पक्षपरिग्रहे—अच् । परिग्रहौ कार्यकारणरूपौ—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० १८ । ५२ (हरेः) दुःखहरस्य (हंसस्य) म० १७ (पततः) गच्छतः । प्राप्नुवतः (स्वर्गम्) मोक्षसुखम् (सः) (देवान्) दिव्यगुणान् (सर्वान्) (उरसि) हृदये (उपदद्य) उप+दद दाने-ल्यप् । आदाय (संपश्यन्) निरीक्षमाणः (याति) गच्छति (भुवनानि) लोकान् (विश्वा) सर्वाणि ॥

भाषार्थ—वह [पुरुष] (सत्येन) सत्य [मनकी सचाई] से (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (तपति) प्रतापी होता है, (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान से (अर्वाङ्) अवर [इस ओर] होकर (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखता है। (प्राणेन) प्राण [आत्मबल] के साथ (तिर्यङ्) आड़ा तिरछा होकर (प्र) अच्छी रीति से (अनति) जीता है, (यस्मिन्) जिस [पुरुष] के भीतर (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़ा ब्रह्म] (अधि श्रितम्) निरन्तर ठहरा हुआ है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने में परमात्मा को देखता है, वह सत्यव्रत धारण करके ज्ञान द्वारा आत्मबल प्राप्त करके उपकारी होकर जीवन सुफल करता है ॥ १६ ॥

यो वै ते वि॒द्याद॒रणी॒ याभ्यां॑ निर्म॒थ्यते॒ वसु॑ । स वि॒द्वान् ज्ये॒ष्ठं म॑न्येत॒ स वि॑द्याद् ब्राह्म॑णं म॒हत् ॥ २० ॥ (२७)

यः । वै । ते इति॑ । वि॒द्यात् । अ॒रणी॒ इति॑ । याभ्या॑म् । निः॒ऽम॒थ्यते॑ । वसु॑ ॥ सः । वि॒द्वान् । ज्ये॒ष्ठम् । म॒न्ये॒त॒ । सः । वि॒द्यात् । ब्राह्म॑णम् । म॒हत् ॥ २० ॥ (२७)

भाषार्थ—(यः) जो [पुरुष] (वै) निश्चय करके (ते) उन दोनों (अरणी) अरणियों [रगड़ कर अग्नि निकालने की दो लकड़ियों] को (विद्यात्) जान लेवे, (याभ्याम्) जिन दोनों से (वसु) अग्नि (निर्मथ्यते) मथकर

१६—(सत्येन) सद्भ्यो हितम्. सत्-यत् । यथार्थ कथनं यच्च सर्वलोकसुखप्रदम् । तत् सत्यमिति विज्ञेयमसत्यं तद्विपर्ययम् ॥ १ ॥ यथार्थकर्मणा (ऊर्ध्वः) उपरिस्थः (तपति) ईष्टे । प्रतापी भवति (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (अर्वाङ्) अवरदेशे भवन् (वि) विविधम् (पश्यति) (प्राणेन) आत्मबलेन (तिर्यङ्) इतस्ततो देशे भवन् (प्र) प्रकर्षेण (अनति) अनिति । जीवति (यस्मिन्) पुरुषे (ज्येष्ठम्) महत्तमम् ब्रह्म (अधि श्रितम्) प्रतिष्ठितम् ॥

२०—(यः) विद्वान् (वै) निश्चयेन (ते) उभे (विद्यात्) जानीयात् (अरणी) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । ऋ गतौ—अनि । अरणी प्रत्यृत एने अग्निः समरणाज्जायत इति वा—निरु० ५ । १० । अग्न्युत्पत्तये मथनी द्वे दारुणी (याभ्याम्) अरणिभ्याम् (निर्मथ्यते) मथनेन निःसार्यते (वसु) विभक्ते-

निकाला जाता है। (सः) वह (विद्वान्) विद्वान् (ज्येष्ठम्) ज्येष्ठ [सब से बड़े ब्रह्म] को (मन्येत) समझ लेगा, और (सः) वह (महत्) बड़े (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञान] को (विद्यात्) जानेगा ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे दो लकड़ियों को रगड़ कर आग निकालते हैं, वैसे ही विद्वान् कार्य कारण की सूक्ष्मता को समझ कर परब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करते हैं २०

अपादग्रे समभवत् सो अग्रे स्वराभरत्। चतुष्पाद् भूत्वा भोग्यः सर्वमादत्त भोजनम् ॥ २१ ॥

अपात्। अग्रे। सम्। अभवत्। सः। अग्रे। स्वः। आ। अभरत् ॥ चतुः-पात्। भूत्वा। भोग्यः। सर्वम्। आ। अदत्त। भोजनम् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अपात्) विभाग रहित [परमात्मा] (अग्रे) पहिले (सम् अभवत्) समर्थ हुआ, (सः) उस ने (अग्रे) पहिले (स्वः) मोक्ष सुख (आ) सब ओर से (अभरत्) धारण किया। (चतुष्पात्) चारों दिशाओं में स्थिति वा गति वाले [उस परमेश्वर] ने (भोग्यः) [सुखों से] भोगने [अनुभव करने] योग्य (भूत्वा) होकर (सर्वम्) सब (भोजनम्) सुख वा ऐश्वर्य को (आ अदत्त) ग्रहण किया ॥ २१ ॥

भावार्थ—परमात्मा सृष्टि के आदि से सब संसार में व्याप कर सब सुखों का भण्डार है ॥ २१ ॥

लुक्। वसुः। अग्निः (सः) (विद्वान्) प्राज्ञः (ज्येष्ठम्) महत्तमं ब्रह्म [मन्येत] जानीयात् (सः) (विद्यात्) [ब्राह्मणम्] ब्रह्मणः परमेश्वराज् जातं विज्ञानम् (महत्) पूजनीयम् ॥

२१—(अपात्) अ० ६। १०। २३। पादेन विभागेन रहितः परमेश्वरतः (अग्रे) सृष्ट्यादौ (सम् अभवत्) समर्थोऽभवत् (सः) (अग्रे) (स्वः) मोक्षसुखम् (आ) समन्तात् (अभरत्) धृतवान् (चतुष्पात्) अ० ४। ११। ५। पद स्थैर्ये गतौ च—घञ्, अन्तलोपः। चतसृषु दिक्षु पादः स्थितिर्गतिर्वा यस्य सः परमेश्वरः (भूत्वा) (भोग्यः) भुज पालनाभ्यवहारयोः—ण्यत्। सुखैरनुभवीयः (सर्वम्) (आ अदत्त) गृहीतवान् (भोजनम्) भुज—ल्युट्। सुखम्। ऐश्वर्यम्। धनम्—निघ० २। १०॥

भोग्यो भवदथो अन्नमदद् बहु । यो देवमुत्तरावन्तमुपासातै सनातनम् ॥ २२ ॥

भोग्यः । भवत् । अथो इति । अन्नम् । अदत् । बहु ॥ यः । देवम् । उत्तर-वन्तम् । उप-आसातै । सनातनम् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—वह (भोग्यः) [सुखों से] अनुभव योग्य (भवत्) होगा (अथो) और भी (बहु) बहुत (अन्नम्) अन्न [जीवन साधन] (अदत्) भोगेगा । (यः) जो [मनुष्य] (उत्तरवन्तम्) अति उत्तम गुण वाले (सनातनम्) सनातन [नित्य स्थायी] (देवम्) देव [स्तुति योग्य परमेश्वर] को (उपासातै) पूजेगा ॥ २२ ॥

भावार्थ—वह मनुष्य अनेक सुखों से युक्त होकर बहुत अन्नवान् होगा, जो जगत्पिता परमेश्वर की उपासना करेगा ॥ २२ ॥

सनातनमेनमाहुरुताद्य स्यात् पुनर्णवः । अहोरात्रे प्र जायेते अन्यो अन्यस्य रूपयोः ॥ २३ ॥

सनातनम् । एनम् । आहुः । उत । अद्य । स्यात् । पुनः-नवः ॥ अहोरात्रे इति । प्र । जायेते इति । अन्यः । अन्यस्य । रूपयोः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस [सर्वव्यापक] को (सनातनम्) सनातन [नित्य स्थायी परमात्मा] (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं, (उत) और वह

२२—(भोग्यः) सुखैरनुभवनीयः (भवत्) लेट् । भूयात् (अथो) अपि च (अन्नम्) जीवनसाधनम् (अदत्) लेट् । अद्यात् (बहु) (यः) पुरुषः (देवम्) स्तुत्यं परमात्मानम् (उत्तरवन्तम्) अ० ४ । २२ । ५ । अतिश्रेष्ठगुणयुक्तम् (उपासातै) आस उपवेशने—लेट् । पूजयेत् (सनातनम्) सायंचिरंप्राह्णेप्रगे० । पा० ४ । ३ । २३ । इति सना—ट्युल् तुट् च । सदाभवम् । नित्यं परमेश्वरम् ॥

२३—(सनातनम्) म० २२ । सदावर्तमानम् (एनम्) सर्वव्यापकं परमात्मानम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (उत) अपि (अद्य) वर्तमाने दिने ।

(अद्य) आज [प्रतिदिन] (पुनर्णवः) नित्य नवा (स्यात्) होता जावे। (अहोरात्रे) दिन और रात्रि दोनों (अन्यो अन्यस्य) एक दूसरे के (रूपयोः) दो रूपों में से (प्र जायेते) उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—नित्यस्थायी परमात्मा के गुण जिज्ञासुओं को नित्य नवीन विदित होते जाते हैं, जैसे दिन रात्रि से और रात्रि दिन से नित्य नवीन उत्पन्न होते हैं ॥ २३ ॥

शतं सहस्रमयुतं न्यर्बुदमसंख्येयं स्वमस्मिन् निविष्टम्। तदस्य घ्नन्त्यभिपश्यत एव तस्माद् देवो रोचत एष एतत् ॥२४

शतम्। सहस्रम्। अयुतम्। नि-अर्बुदम्। असम्-ख्येयम्। स्वम्। अस्मिन्। नि-विष्टम्॥ तत्। अस्य। घ्नन्ति। अभि-पश्यतः। एव। तस्मात्। देवः। रोचते। एषः। एतत् ॥२४॥

भाषार्थ—(शतम्) सौ, (सहस्रम्) सहस्र, (अयुतम्) दस सहस्र, (न्यर्बुदम्) दस करोड़, (असंख्येयम्) बे गिनती (स्वम्) धन (अस्मिन्) इस [परमात्मा] में (निविष्टम्) रक्खा हुआ है। (अस्य) इस (अभिपश्यतः) सब ओर देखते हुये [परमात्मा] के (तत्) उस [धन] को (एव) निश्चय करके वे [सब प्राणी] (घ्नन्ति) पाते हैं, (तस्मात्) उस [कारण] से (एषः) यह (देवः) देव [स्तुतियोग्य परमात्मा] (एतत्) अब (रोचते)

प्रतिदिनम् (स्यात्) (पुनर्णवः) वारं वारं नवीनः (अहोरात्रे) रात्रिदिने (प्र जायेते) उत्पद्येते (अन्योऽन्यस्य) कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्। इति द्वित्वम्। असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः। वा० पा० ८। १। १२। इति पूर्वपदात् सुपः सुः। परस्परस्य (रूपयोः) स्वरूपयोः सकाशात् ॥

२४—(शतम्) (सहस्रम्) (अयुतम्) दशसहस्रम् (न्यर्बुदम्) दशकोटिसंख्याकम् (असंख्येयम्) अपरिमेयम् (स्वम्) धनम् (अस्मिन्) परमात्मनि (निविष्टम्) स्थापितम् (तत्) धनम् (अस्य) ईश्वरस्य (घ्नन्ति) हन हिंसागत्योः। गच्छन्ति। प्राप्नुवन्ति (अभिपश्यतः) अवलोकमानस्य (एव) अवश्यम् (तस्मात्) कारणात् (देवः) स्तुत्यः परमात्मा (रोचते) प्रियो भ-

रुचता है [प्रिय लगता है] ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमात्मा के अनन्त कोश से अनन्त प्राणी अपने पुरुषार्थ के अनुसार धन आदि पाकर बलवान् होते हैं, इसी से वह जगदीश्वर सब को सदा प्रिय लगता है ॥ २४ ॥

बालादेकमणीयस्कमुतैकं नेव दृश्यते । ततः परिष्वजीयसी देवता सा मम प्रिया ॥ २५ ॥

बालात् । एकम् । अणीयः-कम् । उत । एकम् । न-इव । दृश्यते ॥ ततः । परि स्वजीयसी । देवता । सा । मम । प्रिया ।२५

भाषार्थ—(एकम्) एक वस्तु (बालात्) बाल [केश] से (अणीयस्कम्) अधिक सूक्ष्म है, (उत) और (एकम्) एक वस्तु (नेव) नहीं भी (दृश्यते) दीखती है। (ततः) उस [बड़ी सूक्ष्म वस्तु] से (परिष्वजीयसी) अधिक चिपटने वाला (सा) वह (देवता) देवता [परमेश्वर] (मम प्रिया) मेरा प्रिय है ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा सूक्ष्म से भी सूक्ष्म हो कर प्राणियों के भीतर रम कर उनको बल देता है, इसी से वह सब प्राणियों का प्रिय है ॥ २५ ॥

इयं कल्याण्य१जरा मर्त्यस्यामृता गृहे । यस्मै कृता शये स यश्चकार जजार सः ॥ २६ ॥

इयम् । कल्याणी । अजरा । मर्त्यस्य । अमृता । गृहे ॥ यस्मै । कृता । शये । सः । यः । चकार । जजार । सः ॥ २६ ॥

वति (एषः) दृश्यमानः (एतत्) इदानीम् ॥

२५—(बालात्) केशात् (एकम्) वस्तुमात्रम् (अणीयस्कम्) अणुतरम् (उत) अपि (एकम्) (नेव) इव अवधारणे। नैव (दृश्यते) अवलोक्यते (ततः) तस्मात् सूक्ष्मवस्तुसकाशात् (परिष्वजीयसी) परि+ष्वञ्ज आलिङ्गने—तृच्, ईयसुन्, ङीप्। तुरिष्ठेमेयःसु। पा० ६। ४। १५४। तृचो लोपः। अधिकतरा परिष्वङ्क्त्री। आलिङ्गनशीला (देवता) देवः परमात्मा (सा) (मम) (प्रिया) हिता ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह ।(कल्याणी) कल्याणी [आनन्दकारिणी, प्रकृति जगत् की सामग्री] (अजरा) अजर, (अमृता) अमर होकर (मर्त्यस्य) मरण धर्मी [मनुष्य] के (गृहे) घर में है। (यस्मै) जिस के लिये [जिस ईश्वर की आज्ञा मानने के लिये] (कृता) वह सिद्ध की गई है, (सः) वह [परमेश्वर, उस प्रकृति में] (शये) सोता है, (यः) जिस ने [उस प्रकृति को] (चकार) सिद्ध किया था, (सः) वह [परमेश्वर] (जजार) स्तुति योग्य हुआ ॥ २६ ॥

भावार्थ—प्रकृति जगत् का कारण प्रत्येक मनुष्य आदि प्राणी के शरीर में है। परमेश्वर ने प्रकृति को अनेक उपकारों के लिये कार्यरूप जगत् में परिणत किया है, वह परामात्मा सब का उपास्य देव है ॥ २६ ॥

त्वं स्त्री त्वं पुमा॑नसि॒ त्वं कु॑मा॒र उ॒त वा॑ कु॒मारी ।
त्वं जी॒र्णो द॒ण्डेन॑ वञ्चसि॒ त्वं जा॒तो भ॑वसि वि॒श्वतो॑मुखः २७

त्वम् । स्त्री । त्वम् । पुमा॑न् । अ॒सि॒ । त्वम् । कु॒मा॒रः । उ॒त । वा॒ । कु॒मा॒री ॥ त्वम् । जी॒र्णः । द॒ण्डेन॑ । व॒ञ्च॒सि॒ । त्वम् । जा॒तः । भ॒व॒सि॒ । वि॒श्वतः॑-मुखः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—[हे जीवात्मा !] (त्वम्) तू (स्त्री) स्त्री, (त्वम्) तू (पुमान्) पुरुष, (त्वम्) तू (कुमारः) कुमार [लड़का], (उत वा) अथवा (कुमारी) कुमारी [लड़की] (असि) है। (त्वम्) तू (जीर्णः) स्तुति किया

२६—(इयम्) दृश्यमाना प्रकृतिः (कल्याणी) माङ्गलिका (अजरा) जराशून्या । अनिर्बला (मर्त्यस्य) मरणधर्मणो मनुष्यस्य (अमृता) मरणरहिता । पुरुषार्थशीला (गृहे) शरीर इत्यर्थः (यस्मै) परमेश्वराय । तदाज्ञापालनाय (कृता) निष्पादिता (शये) शेते । वर्तते प्रकृतौ (सः) परमेश्वरः (यः) (चकार) कृतवान् प्रकृतिं कार्यरूपेण (जजार) जॄ स्तुतौ—लिट् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जजरे । स्तुत्यो बभूव (सः) ईश्वरः॥

२७—(त्वम्) हे जीवात्मन् (स्त्री) (त्वम्) (पुमान्) पुरुषः (असि) (त्वम्) (कुमारः) बालकः (उत वा) अथवा (कुमारी) बालिका (त्वम्) (जीर्णः) जॄ स्तुतौ—क्त । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः-निरु० १० । ८ । स्तुतः

गया [होकर] (दण्डेन) दण्ड [दमन सामर्थ्य] से (वञ्चसि) चलता है, (त्वम्) तू (विश्वतो मुखः) सब ओर मुखवाला [बड़ा चतुर होकर] (जातः) प्रसिद्ध (भवसि) होता है ॥ २७ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा में कोई लिङ्ग विशेष नहीं है, वैसे ही जीवात्मा में विशेष चिन्ह नहीं है। वह शरीर के सम्बन्ध से स्त्री पुरुष लड़का लड़की आदि होता है. और शत्रुओं का दमन करके सब ओर दृष्टि करता हुआ धर्मात्मा होकर स्तुति और कीर्ति पाता है ॥ २७ ॥

उतैषां पितोत वा पुत्र एषामुतैषां ज्येष्ठ उत वा कनिष्ठः ।
एको ह देवो मनसि प्रविष्टः प्रथमो जातः स उ गर्भे अन्तः॥२८

उत । एषाम् । पिता । उत । वा । पुत्रः । एषाम् । उत । एषाम् । ज्येष्ठः । उत । वा । कनिष्ठः ॥ एकः । ह । देवः । मनसि । प्र-विष्टः । प्रथमः । जातः । स । ऊं इति । गर्भे । अन्तः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—यह [जीवात्मा] (एषाम्) इन [प्राणियों] का (उत) अथवा (पिता) पिता, (उत वा) अथवा (एषाम्) इनका (पुत्रः) पुत्र है, (उत) अथवा (एषाम्) इनका (ज्येष्ठः) ज्येष्ठ भ्राता [सब से बड़ा भाई] (उत वा) अथवा (कनिष्ठः) कनिष्ठ भ्राता [सबसे छोटा भाई है] । (एकः ह) एक ही (देवः) देव [सर्वव्यापक परमात्मा] (मनसि) ज्ञान में (प्रविष्टः)

(दण्डेन) अमन्ताड् डः । उ० १ । ११४ । दमु उपशमे-ड, यद्वा, दण्ड दण्डनिपातने-अच् । दमनसामर्थ्येन । दण्डदानेन (वञ्चसि) वञ्चु गतौ प्रतरणे च । गच्छसि (त्वम्) (जातः) प्रसिद्धः (विश्वतोमुखः) विश्वेषु कर्मसु मुखं यस्य सः । महाविचक्षणः ।

२८—(उत) अथवा (एषाम्) समीपवर्तिनाम् (पिता) जनकः (पुत्रः) तनयः (एषाम्) (उत) (एषाम्) (ज्येष्ठः) वृद्ध-इष्ठन् । अग्रजो भ्राता (उत वा) (कनिष्ठः) युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम् । पा० ५ । ३ । ६४ । युवन् अल्प वा-इष्ठनि कनादेशः । अनुजो भ्राता (एकः) अद्वितीयः (ह) एव (देवः)

प्रविष्ट होकर (प्रथमः) सब से पहिले (जातः) प्रसिद्ध हुआ, (सः उ) वही (गर्भे अन्तः) गर्भ के भीतर [प्राणियों के अन्तःकरण में] है ॥ २८ ॥

भावार्थ—नित्य जीवात्मा शरीर के सम्बन्ध से पिता पुत्रादि कहाता है। इस जीवात्मा से भी सूक्ष्म ज्ञानस्वरूप परमात्मा सब में व्यापक है ॥ २८ ॥

पूर्णात् पूर्णमुदचति पूर्णं पूर्णेन सिच्यते। उतो तदद्य विद्याम यतस्तत् परिषिच्यते ॥ २९ ॥

पूर्णात्। पूर्णम्। उत्। अचति। पूर्णम्। पूर्णेन। सिच्यते॥ उतो इति। तत्। अद्य। विद्याम। यतः। तत्। परिसिच्यते ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(पूर्णात्) पूर्ण [ब्रह्म] से (पूर्णम्) सम्पूर्ण [जगत्] (उत् अचति) उदय होता है। (पूर्णेन) पूर्ण [ब्रह्म] करके (पूर्णम्) संपूर्ण [जगत्] (सिच्यते) सींचा जाता है। (उतो) और भी (तत्) उस [कारण] को (अद्य) आज (विद्याम) हम जानें, (यतः) जिस कारण से (तत्) वह [सम्पूर्ण जगत्] (परिषिच्यते) सब प्रकार सींचा जाता है ॥२९॥

भावार्थ—यह सम्पूर्ण जगत् परमात्मा से उत्पन्न होकर वृद्धि को प्राप्त होता है। उसी परब्रह्म की उपासना सब लोग करें ॥ २९ ॥

एषा सनत्नी सनमेव जातैषा पुराणी परि सर्वं बभूव। मही देव्यु१षसो विभाती सैकेनैकेन मिषता वि चष्टे ॥ ३०॥ (२८)

सर्वव्यापकः परमात्मा (मनसि) ज्ञाने (प्रविष्टः) (प्रथमः) आदिमः (जातः) प्रसिद्धः (सः) (उ) एव (गर्भे) अन्तःकरणरूपे गर्भाशये (अन्तः) मध्ये ॥

२९—(पूर्णात्) सर्वश्रेष्ठगुणपूरितात् परमात्मनः (पूर्णम्) समग्रं जगत् (उदचति) उदेति (पूर्णम्) समग्रम् (पूर्णेन) परमात्मना (सिच्यते) आर्द्रीक्रियते। वर्ध्यते (उतो) अपि च (तत्) कारणम् (अद्य) अस्मिन् दिने (विद्याम) जानीम (यतः) यस्मात् कारणात् (तत्) पूर्णं जगत् (परिषिच्यते) सर्वतो वर्ध्यते ॥

एषा । सुनत्नी । सनम् । एव । जाता । एषा । पुराणी । परि । सर्वम् । बभूव ॥ मही । देवी । उषसः । वि-भाती । सा । एकेन-एकेन । मिषता । वि । चष्टे ॥ ३० ॥ (२८)

भाषार्थ—(एषा) यह [शक्ति अर्थात् परमेश्वर] (सनम् एव) सदा से ही (सनत्नी) भक्तों की नेत्री [आगे बढ़ाने वाली] (जाता) प्रसिद्ध है, (एषा) इस (पुराणी) पुरानी ने (सर्वम्) सब [जगत्] को (परिबभूव) घेर लिया है। (उषसः) प्रभात वेलाओं को (विभाती) प्रकाशित करने वाली (सा) वह (मही) बड़ी (देवी) देवी [दिव्यशक्ति] (एकेनैकेन) एक एक (मिषता) पलक मारने से [सब को] (वि चष्टे) देखती रहती है॥ ३० ॥

भावार्थ—महान् शक्ति परमात्मा सर्वव्यापक और सर्वप्रकाशक होकर अपने भक्तों की बढ़ती करता और समस्त संसार की सुधि रखता है ॥ ३० ॥

अविर्वै नाम देवतर्तेनास्ते परीवृता । तस्या रूपेणेमे वृक्षा हरिता हरितस्रजः ॥ ३१ ॥

अविः । वै । नाम । देवता । ऋतेन । आस्ते । परि-वृता ॥ तस्याः । रूपेण । इमे । वृक्षाः । हरिताः । हरित-स्रजः ॥३१॥

भाषार्थ—(अविः) रक्षक (वै) ही (नाम) नाम (देवता) देवता [दिव्य शक्ति, परमात्मा] (ऋतेन) सत्यज्ञान से (परिवृता) घिरा हुआ

३०—(एषा) प्रसिद्धा (सनत्नी) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज० । उ० २ । ८४ । षण संभक्तौ—अति+णीञ् प्रापणे ड, ङीप् । सनतां भक्तानां नेत्री (सनम्) सदा (एव) (जाता) प्रसिद्धा (एषा) (पुराणी) अ० १० । ७ । २६ । पुराण ङीप् । पुरातनी (सर्वम्) जगत् (परि बभूव) व्याप (मही) महती (देवी) दिव्यगुणा (उषसः) प्रभातवेलाः (विभाती) अन्तर्गतण्यर्थः । विभापयन्ती । प्रकाशयन्ती (सा) शक्तिः (एकेनैकेन) प्रत्येकेन (मिषता) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज० । उ० २ । ८४ । मिष स्पर्धायाम्—अति । निमिषेण । चक्षुर्भुद्रणेन (वि चष्टे) विशेषेण पश्यति ॥

३१—(अविः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । अव रक्षणादिषु—इन् ।

(आस्ते) स्थित है। (तस्याः) उस [देवता] के (रूपेण) रूप [स्वभाव] से (इमे) यह (हरिताः) हरे (वृक्षाः) वृक्ष (हरितस्रजः) दाख [समान फलों] की माला वाले हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—ज्ञानस्वरूप परमात्मा सर्वरक्षक प्रसिद्ध है उसी की दया से यह हरे हरे वृक्ष आदि प्राणियों को फल आदि से सुखदायक होते हैं ॥३१॥

अन्ति सन्तं न जहात्यन्ति सन्तं न पश्यति । देवस्य पश्य काव्यं न ममार न जीर्यति ॥ ३२ ॥

अन्ति । सन्तम् । न । जहाति । अन्ति । सन्तम् । न । पश्यति ॥ देवस्य । पश्य । काव्यम् । न । ममार । न । जीर्यति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—[जो विद्वान्] (अन्ति) समीप में (सन्तम्) वर्तमान [देव परमात्मा] को (न) नहीं (जहाति) छोड़ता है और (अन्ति) समीप में (सन्तम्) वर्तमान (न) जैसे [उसको] (पश्यति) देखता है। (देवस्य) देव [दिव्यगुण वाले परमात्मा] की (काव्यम्) बुद्धिमत्ता (पश्य) देख—वह [विद्वान्] (न ममार) न तो मरा और (न जीर्यति) न जीर्ण [निर्बल] होता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् दृढ़ चित्तसे परमात्मा को प्रत्यक्ष जानता है, वह कभी दुःखी नहीं होता, उसका आत्मबल सदा बढ़ता रहता है—यह ईश्वर नियम है ॥ ३२ ॥

रक्षिका (वै) एव (नाम) संज्ञा (देवता) दिव्यगुणा शक्तिः परमेश्वरः (ऋतेन) सत्यज्ञानेन (आस्ते) तिष्ठति (परिवृता) आच्छादिता (तस्याः) देवतायाः (रूपेण) स्वभावेन (इमे) दृश्यमानाः (वृक्षाः) तरवः (हरिताः) हरितवर्णाः (हरितस्रजः) हरिता कपिलद्राक्षा-इति शब्दकल्पद्रुमः, हरित एव हरिता। द्राक्षावत् फलानां स्रजो मालाः सन्ति येषां ते ॥

३२—(अन्ति) अन्तिके। समीपे (सन्तम्) वर्तमानम् (न) निषेधे (जहाति) त्यजति यो विद्वान् (अन्ति) (सन्तम्) (न) इव (पश्यति) अवलोकते (देवस्य) परमेश्वरस्य (पश्य) (काव्यम्) कवि-ष्यञ्। कविकर्म। मेधावित्वम् (न) निषेधे (ममार) मृत्युं प्राप (न) निषेधे (जीर्यति) जॄ वयोहानौ। जीर्णो निर्बलो भवति ॥

अपूर्वेणेषिता वाचस्ता वदन्ति यथायथम्। वदन्तीर्यत्र गच्छन्ति तदाहुर्ब्राह्मणं महत् ॥ ३३ ॥

अपूर्वेण। इषिताः। वाचः। ताः। वदन्ति। यथा-यथम् ॥ वदन्तीः। यत्र। गच्छन्ति। तत्। आहुः। ब्राह्मणम्। महत् ३३

भाषार्थ—(अपूर्वेण) अपूर्व [कारण रहित परमात्मा करके] (इषिताः) भेजी हुई (ताः) वे (वाचः) वाचायें (यथायथम्) जैसे का तैसा (वदन्ति) बोलती हैं। (वदन्तीः) बोलती हुई वे [वाचायें] (यत्र) जहां (गच्छन्ति) पहुंचती हैं। (तत्) उसको (महत्) बड़ा (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं ॥ ३३ ॥

भावार्थ—कारणशून्य परमात्मा ने वेद द्वारा सत्य धर्म का उपदेश किया है, और वे वेदवाणी परमात्मा का ही यथावत् ज्ञान जनाती हैं ॥ ३३ ॥

यत्र देवाश्च मनुष्याश्चारा नाभाविव श्रिताः। अपां त्वा पुष्पं पृच्छामि यत्र तन्मायया हितम् ॥ ३४ ॥

यत्र। देवाः। च। मनुष्याः। च। अराः। नाभौ-इव। श्रिताः ॥ अपाम्। त्वा। पुष्पम्। पृच्छामि। यत्र। तत्। मायया। हितम् ॥ ३४ ॥

भावार्थ—(यत्र) जिस [तन्मात्राओं के विकाश] में (देवाः) दिव्य लोक वा पदार्थ (च) और (मनुष्याः) मनुष्य (च) भी (श्रिताः) आश्रित हैं, (इव) जैसे (नाभौ) [पहिये की] नाभि में (अराः) अरे [लगे होते हैं]।

३३—(अपूर्वेण) कारणशून्येन परमात्मना (इषिताः) प्रेरिताः (वाचः) वेदवाण्यः (ताः) प्रसिद्धाः (वदन्ति) कथयन्ति (यथायथम्) यथार्थम् (वदन्तीः) ज्ञापयन्तीः (यत्र) (गच्छन्ति) प्राप्नुवन्ति (तत्) (आहुः) ब्रुवन्ति (ब्राह्मणम्) म० २० । ब्रह्मज्ञानम् (महत्) बहु ॥

३४—(यत्र) यस्मिन् पुष्पे (देवाः) दिव्यलोकाः पदार्था वा (च) (मनुष्याः) (च) (अराः) चक्रस्य नाभिनेम्योर्मध्यस्थानि काष्ठानि (नाभौ) चक्रमध्ये (इव) यथा (श्रिताः) स्थिताः (अपाम्) आपः=व्यापिकास्त-

[हे विद्वान् !] (त्वा) तुझ से (अपाम्) व्यापक तन्मात्राओं के (पुष्पम्) पुष्प [फूल, विकाश] को (पृच्छामि) पूछता हूं, (यत्र) जिस [विकाश] में (तत्) वह ब्रह्म (मायया) बुद्धि के साथ (हितम्) स्थित है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस ब्रह्म का निश्चय करे जो अन्तर्यामी होकर व्यापक सूक्ष्म तन्मात्राओं में चेष्टा देकर संयोग द्वारा स्थूल लोक और मनुष्य आदि के शरीर रचता है ॥ ३४ ॥

येभिर्वात॑ इषि॒तः प्र॒वाति॒ ये द॒दन्ते॒ पञ्च॒ दिशः॑ स॒ध्रीचीः॑ । य आहु॑तिम॒त्यम॑न्यन्त दे॒वा अ॒पां ने॒तारः॑ कत॒मे त आ॑सन् ॥३५॥

येभिः॑ । वातः॑ । इ॒षि॒तः । प्र॒-वाति॑ । ये । द॒दन्ते॑ । पञ्च॑ । दिशः॑ । स॒ध्रीचीः॑ ॥ ये । आ-हु॑तिम् । अ॒ति॒-अम॑न्यन्त । दे॒वाः । अ॒पाम् । ने॒तारः॑ । क॒त॒मे । ते । आ॒स॒न् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(येभिः) जिन [संयोग वियोग आदि दिव्य गुणों] करके (इषितः) प्रेरा गया (वातः) वायु (प्रवाति) चलता रहता है, (ये) जो दिव्य गुण (सध्रीचीः) आपस में मिली हुई, (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश तत्त्वों से सम्बन्ध वाली] (दिशः) दिशाओं का (ददन्ते) दान करते हैं । (ये) जिन (देवाः) देवों [संयोग, वियोग आदि दिव्यगुणों] ने (आहुतिम्) आहुति [दान क्रिया, उपकार] को (अत्यमन्यन्त)

न्मात्राः—दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ । व्यापिकानां तन्मात्राणाम् । (त्वा) विद्वांसम् (पुष्पम्) पुष्प विकाशे—अच् । विकाशम् । प्रादुर्भावम् (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (यत्र) यस्मिन् पुष्पे (तत्) प्रसिद्धं ब्रह्म (मायया) प्रज्ञया—निघ० ३ । ६ (हितम्) धृतम् ॥

३५—(येभिः) यैः संयोगवियोगादिदिव्यगुणैः (वातः) वायुः (इषितः) प्रेरितः (प्रवाति) प्रगच्छति (ये) देवाः (ददन्ते) दद दाने । ददति (पञ्च) पृथिव्यादिपञ्चभूतैः संबद्धाः (दिशः) पूर्वादयः (सध्रीचीः) अ० ६ । ८८ । ३ । सह वर्तमानाः (ये) (आहुतिम्) दानक्रियाम् (अत्यमन्यन्त) अतिशयेन स्वीकृतवन्तः (देवाः) संयोगवियोगादयो दिव्यगुणाः (अपाम्) प्रजानाम् । सृष्टपदार्थानाम् । आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ (नेतारः) संचा-

अतिशय करके माना [स्वीकार किया] था, (ते) वे (अपाम्) प्रजाओं के (नेतारः) नेता [संचालक दिव्य गुण] (कतमे) कौनसे (आसन्) थे ॥३५॥

भावार्थ—विवेकी को विचारना चाहिये कि किन गुणों से वायु ऊपर नीचे चलता है, सब दिशाओं में पृथिवी आदि तत्त्व कैसे स्थित हैं, किस गुण से क्या उपकार होता है जिससे यह पृथिवी ठहरी है ॥ ३५ ॥

इमामेषां पृथिवीं वस्त एकोऽन्तरिक्षं पर्येको बभूव। दिवमेषां ददते यो विधर्ता विश्वा आशाः प्रति रक्षन्त्येके ॥ ३६ ॥

इमाम्। एषाम्। पृथिवीम्। वस्ते। एकः। अन्तरिक्षम्। परि। एकः। बभूव॥ दिवम्। एषाम्। ददते। यः। वि-धर्ता। विश्वाः। आशाः। प्रति। रक्षन्ति। एके ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [दिव्य पदार्थों] में से (एकः) एक [जैसे अग्नि] (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथिवी को (वस्ते) ढकता है, (एकः) एक [जैसे वायु] ने (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [मध्यलोक] को (परि बभूव) घेर लिया है। (येषाम्) इन में (यः) जो (विधर्ता) विविध प्रकार धारण करने वाला है [जैसे वायु], वह (दिवम्) प्रकाश को (ददते) देता है, (एकः) कोई एक [दिव्य पदार्थ] (विश्वाः) सब (आशाः प्रति) दिशाओं में (रक्षन्ति) रक्षा करते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—यह गत मन्त्र का उत्तर है। यद्यपि विशेष करके अग्नि पृथिवी का, वायु अन्तरिक्ष का और सूर्य प्रकाश का रक्षक है। तथापि यह अन्य सब चन्द्र नक्षत्र आदि लोकों के परस्पर रक्षक हैं ॥ ३६ ॥

भगवान् यास्कमुनि ने निरु० ७। ५। में लिखा है—"निरुक्त ज्ञाता मानते हैं

लकाः (कतमे) बहूनां मध्ये के (ते) (आसन्) ॥

३६—(इमाम्) दृश्यमानाम् (एषाम्) दिव्यपदार्थानां मध्ये (वस्ते) आच्छादयति (एकः) अग्निर्यथा (अन्तरिक्षम् (एकः) वायुर्यथा (परि बभूव) आच्छादितवान् (दिवम्) प्रकाशम् (एषाम्) (ददते) दद दाने। ददाति (यः) (विधर्ता) विविधं धारकः सूर्यो यथा (आशाः) पूर्वादयो दिशाः (प्रति) लक्ष्यीकृत्य (रक्षन्ति) (एके) अन्ये। चन्द्रनक्षत्रादयः ॥

कि तीन ही देव गा हैं, अग्नि पृथिवी स्थानी, वायु वा इन्द्र अन्तरिक्ष स्थानी, सूर्य द्युस्थानी। उनकी बड़ी महिमा के कारण एक एक के बहुत नाम होते हैं। अथवा कर्म के अलग अलग होने से जैसे होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा, उद्गाता यह एक के होने से [एक ही के बहुत नाम हैं] अथवा वे अलग अलग होवें, "क्यों कि [उनकी] अलग अलग स्तुतियां हैं, वैसे ही [अलग अलग] नाम हैं" ॥

यो विद्यात् सूत्रं वितंतं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्य यो विद्यात् स विद्याद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३७ ॥

यः। विद्यात्। सूत्रम्। वि-तंतम्। यस्मिन्। आ-उंताः। प्र-जाः। इमाः॥ सूत्रम्। सूत्रस्य। यः। विद्यात्। सः। विद्यात्॥ ब्राह्मणम्। महत्॥ ३७॥

भाषार्थ—(यः) जो [विवेकी] (विततम्) फैलेहुये (सूत्रम्) सूत्र [तागे समान कारण] को (विद्यात्) जान लेवे, (यस्मिन्) जिस सूत वा कारण में (इमाः) यह (प्रजाः) प्रजायें [कार्य रूप] (ओताः) ओत प्रोत हैं। (यः) जो [विवेकी] (सूत्रस्य) सूत्र [कारण] के (सूत्रम्) सूत्र [कारण] को (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह (महत्) बड़े (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [ब्रह्म-ज्ञान] को (विद्यात्) जान लेवे ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्य कार्यरूप जगत् के कारण प्रकृति आदि को, और कारण के आदि कारण परमात्मा को जानकर ब्रह्मज्ञानी होता है ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद मन्त्र २० में आया है ॥

वेदाहं सूत्रं विततं यस्मिन्नोताः प्रजा इमाः। सूत्रं सूत्रस्याहं वेदाथो यद् ब्राह्मणं महत् ॥ ३८ ॥

३७—(यः) विवेकी (विद्यात्) जानीयात् (सूत्रम्) सिविमुच्योष्टेरू च। उ० ४। १६३। षिवु तन्तुसन्ताने-ष्ट्रन् टेः ऊ च, यद्वा, सूत्र वेष्टने—अच्। कारणरूपं तन्तुम् (विततम्) विस्तृतम् (यस्मिन्) सूत्रे (ओताः) आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त। परस्परस्यूताः (प्रजाः) सृष्टाः पदार्थाः (इमाः) दृश्यमानाः (सूत्रम्) तन्तुरूपं कारणम् (सूत्रस्य) तन्तुरूपस्य कारणस्य (यः) (विद्यात्) (सः) (विद्यात्) (ब्राह्मणम्) म० २० । ब्रह्मज्ञानम् (महत्) महत् ॥

वेद॑ । अ॒हम् । सू॒त्रम् । वि-त॑तम् । यस्मि॑न् । आ-उ॑ताः । प्र॒-जाः॑ । इ॒माः ॥ सू॒त्रम् । सू॒त्रस्य॑ । अ॒हम् । वे॒द॒ । अथो॒ इति॑ । यत् । ब्रा॒ह्म॑णम् । म॒हत् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (विततम्) फैले हुये (सूत्रम्) सूत्र [तागे समान कारण] को (वेद) जानता हूं, (यस्मिन्) जिस [सूत वा कारण] में (इमाः) ये (प्रजाः) प्रजायें (ओताः) ओत प्रोत हैं। (अथो) और भी (अहम्) मैं (सूत्रस्य) सूत्र [कारण] के (सूत्रम्) सूत्र [कारण] को (वेद) जानता हूं, (यत्) जो (महत्) बड़ा (ब्राह्मणम्) ब्रह्मण [ब्रह्मज्ञान] है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य कार्य, कारण, और आदि कारण ब्रह्म को साक्षात् करके ब्रह्मज्ञान का उपदेश करे ॥ ३८ ॥

यद॑न्त॒रा द्यावा॑पृथि॒वी अ॒ग्निरैत् प्र॒दह॑न् वि॒श्वदा॒व्यः॑ । यत्राति॑ष्ठ॒न्नेक॑पत्नीः प॒रस्ता॒त् क्वे॑वासी॒न्मात॒रिश्वा॑ त॒दानी॑म् ॥ ३९ ॥

यत् । अ॒न्त॒रा । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अ॒ग्निः । ऐत् । प्र॒-दह॑न् । वि॒श्व-दा॒व्यः॑ ॥ यत्र॑ । अति॑ष्ठन् । एक॑-पत्नीः । प॒रस्ता॑त् । क्व॑-इ॒व । आ॒सी॒त् । मा॒त॒रिश्वा॑ । त॒दानी॑म् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (द्यावापृथिवी अन्तरा) सूर्य और पृथिवी के बीच (प्रदहन्) दहकता हुआ (विश्वदाव्यः) सब का जलाने वाला (अग्निः) अग्नि (ऐत्) प्राप्त हुआ। (यत्र) जहां [सूर्य और पृथिवी के बीच] (एकपत्नीः) एक [सूर्य] को पति [रक्षक वा स्वामी] रखने वाली [दिशायें]

३८—(वेद) जानामि (अहम्) विवेकी (अथो) अपिच। अन्यत् पूर्ववत्—म० ३७ ॥

३९—(यत्) यदा (अन्तरा) मध्ये (द्यावा पृथिवी) सूर्यभूलोकौ (अग्निः) अग्नितत्त्वम् (ऐत्) अगच्छत् (प्रदहन्) दहनं कुर्वन् (विश्वदाव्यः) विश्व+टु दु उपतापे-ण्यत् कर्तरि। सर्वदाहकः (यत्र) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (अतिष्ठन्) (एकपत्नीः) नित्यं सपत्न्यादिषु। पा० ४। १। ३५। एकपति-ङीप् नुक् च। एकः सूर्यः पतिः पालकः स्वामी वा यासां ताः पूर्वादिदिशाः (पर-

(परस्तात्) दूर तक (अतिष्ठन्) ठहरी थीं, (तदानीम्) तब (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [वायु वा सूत्रात्मा] (क) कहां (इव) निश्चय कर के (आसीत्) था ॥ ३९ ॥

भावार्थ—विद्वान् विचार करे कि संसार के बीच प्रलय समय में अग्नि तत्त्व के साथ वायुतत्त्व वा सूत्रात्मा कहां था ॥ ३९ ॥

अप्स्वासीन्मातरिश्वा प्रविष्टः प्रविष्टा देवाः सलिलान्यासन् । बृहन् ह तस्थौ रजसो विमानः पवमानो हरित आ विवेश ॥ ४० ॥

अप्-सु । आसीत् । मातरिश्वा । प्र-विष्टः । प्र-विष्टाः । देवाः । सलिलानि । आसन् ॥ बृहन् । ह । तस्थौ । रजसः । वि-मानः । पवमानः । हरितः । आ । विवेश ॥ ४० ॥

भाषार्थ—(मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [वायु वा सूत्रात्मा] (अप्सु) अन्तरिक्ष [वा तन्मात्राओं] में (प्रविष्टः) प्रवेश किये हुये (आसीत्) था, (देवाः) [अन्य] दिव्य पदार्थ (सलिलानि) समुद्रों में [अगम्य कारणों में] (प्रविष्टाः) प्रवेश किये हुये (आसन्) थे । (रजसः) संसार का (बृहन् ह) बड़ा ही (विमानः) विविध प्रकार नापने वाला [वा विमान रूप आधार, परमेश्वर] (तस्थौ) खड़ा था और (पवमानः) शुद्धि करने वाले [परमेश्वर] ने (हरितः) सब दिशाओं में (आ विवेश) प्रवेश किया था ॥ ४० ॥

भावार्थ—प्रलय में वायु और अन्य सब पदार्थ अपने अपने कारणों में लीन थे, उस समय एक ही परमेश्वर का अनुभव होता था ॥ ४० ॥

मन्त्र का तीसरा पाद ऊपर मन्त्र ३ में आया है ॥

स्तात्) दूरदेशे (क) कुत्र (इव) एव (आसीत्) (मातरिश्वा) अ० ५ । १० । ८ । मातरि मानकर्तरि आकाशे गमनशीलो वायुः सूत्रात्मा वा (तदानीम्)॥

४०—(अप्सु) म० ३५ । अन्तरिक्षे तन्मात्रासु वा (आसीत्) (मातरिश्वा) म० ३९ । वायुः सूत्रात्मा वा (प्रविष्टः) (प्रविष्टाः) (देवाः) अन्ये दिव्यपदार्थाः (सलिलानि) समुद्रान् । अगम्यकारणानि (आसन्) (बृहन्) महान् (ह) एव (तस्थौ) स्थितवान् (रजसः) लोकस्य (विमानः) विशेषेण मानकर्ता । विमानतुल्याधारः परमेश्वरः (पवमानः) संशोधकः परमात्मा (हरितः) पूर्वादिदिशाः-निघ० १ । ६ (आ विवेश) प्रविष्टवान् ॥

उत्तरेणेव गायत्रीममृतेऽधि वि चक्रमे । साम्ना ये साम संविदुरजस्तद् ददृशे क्व ॥ ४१ ॥

उत्तरेण-इव । गायत्रीम् । अमृते । अधि । वि । चक्रमे ॥ साम्ना । ये । साम । सम्-विदुः । अजः । तत् । ददृशे । क्व ॥४१॥

भाषार्थ—(उत्तरेण) उत्तम गुण से (इव=एव) ही (अमृते) अमृत [मोक्ष सुख] में (अधि) अधिकार करके वह परमेश्वर (गायत्रीम्) गायत्री [स्तुति] की ओर (वि) विविध प्रकार (चक्रमे) आगे बढ़ा । (ये) जो [विद्वान्] (साम्ना) मोक्षज्ञान [के अभ्यास] से (साम) मोक्षज्ञान को (संविदुः) यथावत् जानते हैं [वे मानते हैं कि] (अजः) अजन्मा [परमेश्वर] (तत्) तब [मोक्ष सुख पाता हुआ](क्व) कहां (ददृशे) देखा गया ॥ ४१॥

भावार्थ—मोक्षस्वरूप परमात्मा ही अपने अनुपम श्रेष्ठ गुणों से स्तुति योग्य है। उस मोक्ष दशा का अनुभव ब्रह्मज्ञानी ही कर सकते हैं ॥ ४१ ॥

निवेशनः संगमनो वसूनां देव इव सविता सत्यधर्मा । इन्द्रो न तस्थौ समरे धनानाम् ॥ ४२ ॥

नि-वेशनः । सम्-गमनः । वसूनाम् । देवः-इव । सविता । सत्य-धर्मा ॥ इन्द्रः । न । तस्थौ । सम्-अरे । धनानाम् ॥४२॥

भाषार्थ—(वसूनाम्) निवासों [पृथिवी आदि लोकों] का (निवेशनः) ठहराने वाला और (संगमनः) चलाने वाला, (सत्यधर्मा) सत्य धर्म

४१—(उत्तरेण) उत्कृष्टेन गुणेन (इव) एव (गायत्रीम्) अ० ६ । १० । १ । गै गाने-अत्रन् णित्, युक् ङीप् च । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । स्तुतिम् (अमृते) मोक्षसुखे (अधि) अधिकृत्य (वि) विशेषेण (चक्रमे) प्रजगाम । प्राप (साम्ना) अ० ७ । ५४ । १ । मोक्षज्ञानाभ्यासेन (ये) विद्वांसः (साम) मोक्षज्ञानम् (संविदुः) सम्यग् जानन्ति । त एव विदुः—इति शेषः (अजः) अजन्मा (तत्) तदा (ददृशे) दृष्टः (क्व) कुत्र ॥

४२—(निवेशनः) निवेशयिता । स्थापयिता (संगमनः) संगमयिता । संचालकः (वसूनाम्) निवासानां पृथिव्यादिलोकानाम् (देवः) देदीप्यमानः

वाला [परमेश्वर] (धनानाम्) धनों के लिये [हमारे] (समरे) संग्राम में (देवः) प्रकाशमान (सविता इव) चलाने वाले सूर्य के समान और (इन्द्रः न) वायु के समान (तस्थौ) स्थित हुआ ॥ ४२ ॥

भावार्थ—हम लोग सङ्ग्राम अर्थात् कठिनाई के समय सत्यस्वभाव, सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर का ध्यान करते हुये सूर्य समान प्रतापी और वायु समान शीघ्रगामी होकर यथावत् प्रयत्न करें ॥ ४२ ॥

यह मन्त्र भेद से ऋग्वेद १० । १३६ । ३ और यजु० १२ । ६६ में है ॥

पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम् । तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ ४३ ॥

पुण्डरीकम् । नव-द्वारम् । त्रि-भिः । गुणेभिः । आ-वृतम् ॥ तस्मिन् । यत् । यक्षम् । आत्मन्-वत् । तत् । वै । ब्रह्म-विदः । विदुः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(नवद्वारम्) [सात शिर के और दो नीचे के छिद्र] नव द्वार वाला (पुण्डरीकम्) पुण्य का साधन [यह शरीर] (त्रिभिः) तीन [रज, तम और सत्त्व] (गुणेभिः) गुणों से (आवृतम्) ढका हुआ है । (तस्मिन्) उस [शरीर] में (आत्मन्वत्) जीवात्मा का स्वामी (यत्) जो (यक्षम्) पूजनीय [ब्रह्म] है, (तत्) उसको (वै) ही (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानी (विदुः) जानते हैं ॥ ४३ ॥

(इव) यथा (सविता) लोकप्रेरकः सूर्यः (सत्यधर्मा) यथार्थन्यायः । अवितथाचारः । अविकृतस्वभावः (इन्द्रः) वायुः (न) इव (तस्थौ) स्थितवान् (समरे) सङ्ग्रामे (धनानाम्) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ६२ । इति षष्ठी । धनानां प्राप्तये ॥

४३—(पुण्डरीकम्) फर्फरीकादयश्च । उ० ४ । २० । पुण धर्मकर्मणि शुद्धौ च—ईकन्, निपातनात् साधुः । पुण्यसाधनं शरीरम् । कमलपुष्पम् (नवद्वारम्) अ० १० । २ । ३१ । पायूपस्थसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैर्युक्तम् (त्रिभिः) (गुणेभिः) सत्त्वरजस्तमोगुणैः (आवृतम्) आच्छादितम् (तस्मिन्) शरीरे (यत्) (यक्षम्) पूजनीयं ब्रह्म (आत्मन्वत्) जीवात्माधिष्ठातृ (तत्) ब्रह्म (वै) एव (ब्रह्मविदः) ब्रह्मज्ञानिनः (विदुः) जानन्ति ॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर, कान, नाक आदि इन्द्रियों, तीनों गुणों, जीवात्मा और परमात्मा के यथावत् ज्ञान से ब्रह्मज्ञानी होते हैं ॥ ४३ ॥

अकामो धीरो अमृतः स्वयंभू रसेन तृप्तो न कुतश्चनोनः । तमेव विद्वान् न बिभाय मृत्योरात्मानं धीरमजरं युवानम् ॥ ४४ ॥ (२८)

अकामः । धीरः । अमृतः । स्वयम्-भूः । रसेन । तृप्तः । न । कुतः । चन । ऊनः ॥ तम् । एव । विद्वान् । न । बिभाय । मृत्योः । आत्मानम् । धीरम् । अजरम् । युवानम् ॥४४॥ (२८)

भाषार्थ—(अकामः) निष्काम, (धीरः) धीर [धैर्यवान्] (अमृतः) अमर, (स्वयंभूः) अपने आप वर्तमान वा उत्पन्न, (रसेन) रस [वीर्य वा पराक्रम] से (तृप्तः) तृप्त अर्थात् परिपूर्ण [परमात्मा] (कुतः चन) कहीं से भी (ऊनः) न्यून (न) नहीं है । (तम् एव) उस ही (धीरम्) धीर [बुद्धिमान्], (अजरम्) अजर [अक्षय], (युवानम्) युवा [महाबली] (आत्मानम्) आत्मा [परमात्मा] को (विद्वान्) जानता हुआ पुरुष (मृत्योः) मृत्यु [मरण वा दुःख] से (न) नहीं (विभाय) डरा है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निष्काम, बुद्धिमान्, धैर्यवान् आदि गुण विशिष्ट परमात्मा को जान लेते हैं, वे परोपकारी धीर वीर पुरुष मृत्यु वा विपत्ति से निर्भय होकर आनन्द भोगते हैं ॥ ४४ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

४४—(अकामः) निष्कामः । स्वप्रयोजनत्यागी (धीरः) अ० २ । ३५ । ३ । धीरो धीमान्—निरु० ३ । १२ । धीराः प्रज्ञावन्तो ध्यानवन्तः—निरु० ४ । १० । धैर्यवान् । मेधावी (अमृतः) अमरः (स्वयम्भूः) स्वयम्+भू-क्विप् । स्वयं वर्तमानः । स्वयमुत्पन्नः (रसेन) वीर्येण । पराक्रमेण (तृप्तः) सन्तुष्टः । परिपूर्णः (न) निषेधे (कुतः) (चन) अपि (ऊनः) हीनः (तम्) (एव) (विद्वान्) जानन् पुरुषः (न) निषेधे (बिभाय) भयं प्राप (मृत्योः) मरणात् (आत्मानम्) परमात्मानम् (धीरम्) धीमन्तम् (अजरम्) अक्षयम् (युवानम्) महाबलिनम् ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८ ॥

१-२७ ॥ शतौदना देवता ॥ १ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २—११, १३—१७, १६, २१-२५ अनुष्टुप् ; १२ निचृत् पथ्यापङ्क्तिः ; १८, २० निचृदनुष्टुप् ; २६ आर्षी जगती, २७ शाक्वरी छन्दः ॥

वेदवाणीमहिमोपदेशः—वेदवाणी की महिमा का उपदेश ॥

अघायतामपि नह्या मुखानि सपत्नेषु वज्रमर्पयैतम् । इन्द्रेण दत्ता प्रथमा शतौदना भ्रातृव्यघ्नी यजमानस्य गातुः ॥ १ ॥

अघ-यताम् । अपि । नह्य । मुखानि । स-पत्नेषु । वज्रम् । अर्पय । एतम् ॥ इन्द्रेण । दत्ता । प्रथमा । शत-ओदना । भ्रातृव्य-घ्नी । यजमानस्य । गातुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] (अघायताम्) बुरा चीतने वालों के (मुखानि) मुखों को (अपि नह्य) बांध दे, (सपत्नेषु) वैरियों पर (एतम् वज्रम्) इस वज्र को (अर्पय) छोड़ । [तू] (इन्द्रेण) परमेश्वर करके (दत्ता) दी हुई, (प्रथमा) पहिली (शतौदना) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] (भ्रातृव्यघ्नी) शत्रु को नाश करने वाली (यजमानस्य) यजमान [श्रेष्ठकर्म करने वाले] का (गातुः) मार्ग [है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जिस सर्वहितकारिणी वेदवाणी को परमेश्वर ने सृष्टि की आदि में दिया है, उस के द्वारा सुशिक्षित होकर अपने व्यवहारों को सुधारें ॥ १ ॥

१—(अघायताम्) अ० १० । ४ । १० । अघमिच्छताम् (अपि) सर्वथा (नह्य) सांहितिको दीर्घः । बधान (मुखानि) (सपत्नेषु) शत्रुषु (वज्रम्) (अर्पय) क्षिप (एतम्) (इन्द्रेण) परमेश्वरेण (दत्ता) आविष्कृता (प्रथमा) सृष्ट्यादौ जाता (शतौदना) उन्देर्नलोपश्च । उ० २ । ७६ । शत + उन्दी क्लेदने युच्, टाप् । ओदनो मेघः—निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्—निरु० ६ । ३४ । शतप्रकारेण ओदनः सेचनं यस्याः सा वेदवाणी (भ्रातृव्यघ्नी) शत्रुनाशनी (यजमानस्य) श्रेष्ठकर्मकर्तुः (गातुः) अ० २ । ३४ । २ । गा ङ् गतौ—तु । मार्गः ॥

वेदिष्टे चर्म भवतु बर्हिर्लोमानि यानि ते । एषा त्वा रशनाग्रभीद् ग्रावा त्वैषोऽधि नृत्यतु ॥ २ ॥

वेदिः । ते । चर्म । भवतु । बर्हिः । लोमानि । यानि । ते ॥ एषा । त्वा । रशना । अग्रभीत् । ग्रावा । त्वा । एषः । अधि । नृत्यतु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] (चर्म) [मेरा] चर्म (ते) तेरे लिये (वेदिः) वेदि [यज्ञभूमि] (भवतु) होवे, [मेरे] (यानि लोमानि) जो लोम हैं [वे] (ते) तेरे लिये (बर्हिः) यज्ञासन [होवें] । (एषा) [मेरी] इस (रशना) जीभ ने (त्वा) तुझे (अग्रभीत्) ग्रहण किया है, (एषः) यह (ग्रावा) शास्त्रों का उपदेशक [विद्वान्] (त्वा) तुझ को (अधि) अधिकारी करके (नृत्यतु) अङ्गों को हिलावे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदविद्या के लिये अपने चर्म अर्थात् शरीर को वेदि समान और अपने रोमों को कम्बल आदि आसन तुल्य बनावे अर्थात् अपने अङ्ग अङ्ग में और रोम रोम में वेदवाणी को व्यापक जाने और जिह्वा से अभ्यास करके संसार में विविध चेष्टा करे ॥ २ ॥

बालास्ते प्रोक्षणीः सन्तु जिह्वा सं मार्ष्ट्वघ्न्ये । शुद्धा त्वं यज्ञिया भूत्वा दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ३ ॥

बालाः । ते । प्र-उक्षणीः । सन्तु । जिह्वा । सम् । मार्ष्टु ।

२—(वेदिः) परिस्कृता यज्ञभूमिः (ते) तुभ्यम् (चर्म) मम शरीरम् (भवतु) (बर्हिः) कम्बलकुशाद्यासनम् (लोमानि) रोमाणि (यानि) (ते) तुभ्यम् , तानीतिशेषः (एषा) दृश्यमाना (त्वा) त्वाम् (रशना) अशेरश्च् । उ० २ । ७५ । अशू व्याप्तौ-युच् , टाप् । रशादेशश्च धातोः । जिह्वा-इति शब्दकल्पद्रुमः । रशनाः, अङ्गुलिनाम-निघ० २ । ५ (अग्रभीत्) गृहीतवती (ग्रावा) अ० ३ । १० । ५ । गॄ विज्ञापे-कनिप् । शास्त्रविज्ञापकः । पण्डितः । ग्रावाणः पदनाम-निघ० ५ । ३ (त्वा) (एषः) (अधि) अधिकृत्य (नृत्यतु) अङ्गानि विक्षिपतु ॥

अघ्न्ये ॥ शुद्धा । त्वम् । यज्ञिया । भूत्वा । दिवम् । प्र । इहि । शत-ओदने ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे न मारने वाली शक्ति ! [वेदवाणी] (ते) तेरी (प्रोक्षणीः) शोधन शक्तियां [मेरे लिये] (बालाः) बाल [कूची समान] (सन्तु) होवें, [मेरी] (जिह्वा) जीभ (सम्) यथावत् (मार्ष्टु) शुद्ध होवे। (शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली ! [वेदवाणी] (त्वम्) तू (शुद्धा) शुद्ध और (यज्ञिया) यज्ञ योग्य (भूत्वा) होकर (दिवम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा रक्षा और वृद्धि करने हारी वेदवाणी द्वारा सत्य भाषण आदि से शुद्ध हो कर वेदविद्या का प्रकाश करे ॥ ३ ॥

यः शतौदनां पचति कामप्रेण स कल्पते । प्रीता ह्यस्यर्त्विजः सर्वे यन्ति यथायथम् ॥ ४ ॥

यः । शत-ओदनाम् । पचति । काम-प्रेण । सः । कल्पते ॥ प्रीताः । हि । अस्य । ऋत्विजः । सर्वे । यन्ति । यथा-यथम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [मनुष्य] (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] को (पचति) पक्का [दृढ़] करता है, (सः) वह (कामप्रेण) कामनायें पूर्ण करने हारे व्यवहार से (कल्पते) समर्थ होता है। (हि)

३—(बालाः) केशाः । कूर्चिका यथा (ते) तव (प्रोक्षणीः) शोधनशक्तयः (सन्तु) (जिह्वा) (सम्) सम्यक् (मार्ष्टु) शुध्यतु (अघ्न्ये) अ० ७ । ३ । ८ । अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । नञ्+हन हिंसागत्योः—यक्, उपधालोपः, टाप् । अघ्न्यः प्रजापतिः । हे अहिंसिके रक्षिके वेदविद्ये (शुद्धा) पवित्रा (त्वम्) (यज्ञिया) यज्ञार्हा (भूत्वा) (दिवम्) प्रकाशम् (प्र) प्रकर्षेण (इहि) प्राप्नुहि (शतौदने) म० १ । शतप्रकारेण सेचिके ॥

४—(यः) (शतौदनाम्) बहुप्रकारसेचिकां वेदवाणीम् (पचति) पक्वां दृढां करोति (कामप्रेण) काम+प्रा पूरणे—क । शुभमनोरथपूरकेण व्यवहारेण (सः) (कल्पते) समर्थो भवति (प्रीताः) सन्तुष्टाः (हि) यस्मात् कारणात् (अस्य) पुरुषस्य (ऋत्विजः) अ० ६ । २ । १ । ऋतु+यजेः

क्योंकि (अस्य) इस [मनुष्य] के (सर्वे) सब (ऋत्विजः) ऋत्विक् लोग [ऋतु ऋतु में यज्ञ करने वाले] (प्रीताः) सन्तुष्ट हो कर (यथायथम्) जैसे का तैसा (यन्ति) पाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदविद्या को हृदय में दृढ़ करके व्यवहार करता है, वह अपनी शुभ कामनायें सिद्ध करके सब यज्ञ कर्ताओं को प्रसन्न रखता है ॥४॥

स स्वर्गमा रोहति यत्रादस्त्रिदिवं दिवः । अपूपनाभिं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ५ ॥

सः । स्वः-गम् । आ । रोहति । यत्र । अदः । त्रि-दिवम् । दिवः ॥ अपूप-नाभिम् । कृत्वा । यः । ददाति । शत-ओदनाम् ॥५

भाषार्थ—(सः) वह [पुरुष] (स्वर्गम्) स्वर्ग [सुख विशेष] को (आ रोहति) ऊंचा होकर पाता है, (यत्र) जहां पर (दिवः) विजय के (अदः) उस (त्रिदिवम्) तीन [आय, व्यय, वृद्धि] के व्यवहार का स्थान है। (यः) जो (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] को (अपूपनाभिम्) अक्षीणबन्धु (कृत्वा) बनाकर (ददाति) दान करता है ॥५॥

भावार्थ—जहां पर विद्या के लाभ, दान और वृद्धि का व्यवहार है, और जो मनुष्य पूर्ण हितकारिणी वेदवाणी का प्रचार करते हैं, वे उन्नति करके सुख विशेष पाते हैं ॥ ५ ॥

क्विन्। ऋतौ ऋतौ याजकाः (सर्वे) (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (यथायथम्) यथायोग्यम् ॥

५—(सः) पुरुषः (स्वर्गम्) सुखविशेषम् (आरोहति) उन्नत्या प्राप्नोति (यत्र) यस्मिन् स्वर्गे (अदः) तत् । प्रसिद्धम् (त्रिदिवम्) अ० ६ । ५ । १० । त्रि + दिवु व्यवहारे-क । त्रयाणां दिवानामायव्ययवृद्धिव्यवहाराणां स्थानम् (दिवः) दिवु विजिगीषायाम्-डिवि । विजयस्य (अपूपनाभिम्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ् पूयी विशरणे दुर्गन्धे च-पप्रत्ययः, यलोपः तहोभश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने-इञ्, नस्य भः । अपूपमविशीर्णम् अक्षीणं नाभिं बन्धुम (कृत्वा) मत्वा (यः) (ददाति) प्रयच्छति (शतौदनाम्) म० १ । बहुप्रकारसेचिकां वेदवाणीम् ॥

स तांल्लोकान्त्समाप्नोति ये दिव्या ये च पार्थिवाः । हिरण्यज्योतिषं कृत्वा यो ददाति शतौदनाम् ॥ ६ ॥

सः । तान् । लोकान् । सम् । आप्नोति । ये । दिव्याः । ये । च । पार्थिवाः ॥ हिरण्य-ज्योतिषम् । कृत्वा । यः । ददाति । शत-ओदनाम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [मनुष्य] (तान्) उन (लोकान्) दर्शनीय लोगों [जनों] को (सम्) यथावत् (आप्नोति) पाता है, (ये) जो [लोग] (दिव्याः) व्यवहार जानने वाले (च) और (ये) जो (पार्थिवाः) चक्रवर्ती राजा हैं । (यः) जो (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] को (हिरण्यज्योतिषम्) सुवर्ण [वा वीर्य अर्थात् पराक्रम] को प्रकाश करने वाली (कृत्वा) करके (ददाति) दान करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदद्वारा धनी और पराक्रमी होते हैं, वे व्यवहार कुशल और सार्वभौम राजा बनते हैं ॥ ६ ॥

ये ते देवि शमितारः पक्तारो ये च ते जनाः । ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति मैभ्यो भैषीः शतौदने ॥ ७ ॥

ये । ते । देवि । शमितारः । पक्तारः । ये । च । ते । जनाः ॥ ते । त्वा । सर्वे । गोप्स्यन्ति । मा । एभ्यः । भैषीः । शत-ओदने ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी ! [विजयिनी वेदवाणी] (ये) जो (ते)

६—(सः) (तान्) प्रसिद्धान् (लोकान्) दर्शनीयान् जनान् (सम्) सम्यक् (आप्नोति) प्राप्नोति (ये) जनाः (दिव्याः) दिवु व्यवहारे—यप् । व्यवहारकुशलाः (ये) (च) (पार्थिवाः) सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ । पा० ५ । १ । ४१ । पृथिवी—अञ् । सार्वभौमाः । चक्रवर्तिनः (हिरण्यज्योतिषम्) हिरण्यस्य सुवर्णस्य वीर्यस्य पराक्रमस्य वा ज्योतिः प्रकाशो यया ताम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(ये) (ते) तव (देवि) हे विजयिनि वेदवाणि (शमितारः) श०

तेरे (शमितारः) विचारने वाले (च) और (ये जनाः) जो जन (ते) तेरे (पक्तारः) पक्के [निश्चय] करने वाले हैं। (ते सर्वे) वे सब (त्वा) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे, (शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली वेदवाणी (एभ्यः) इन [शत्रुओं] से (मा भैषीः) मत भय कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—विचारवान् और दृढ़ विश्वासी पुरुष वेदविद्या की रक्षा करके शत्रुओं से निर्भय रहते हैं ॥ ७ ॥

वसवस्त्वा दक्षिणत उत्तरान्मरुतस्त्वा। आदित्याः पश्चाद् गोप्स्यन्ति साग्निष्टोममति द्रव ॥ ८ ॥

वसवः। त्वा। दक्षिणतः। उत्तरात्। मरुतः। त्वा ॥ आ-दित्याः। पश्चात्। गोप्स्यन्ति। सा। अग्नि-स्तोमम्। अति। द्रव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वसवः) श्रेष्ठ पुरुष (त्वा) तुझ को (दक्षिणतः) दाहिनी ओर से, (मरुतः) शूर पुरुष (त्वा) तुझ को (उत्तरात्) ऊंचे वा बायें स्थान से, (आदित्याः) आदित्य [अखण्ड ब्रह्मचारी लोग] (पश्चात्) पीछे से (गोप्स्यन्ति) बचावेंगे, (सा) सो तू (अग्निष्टोमम्) सर्वव्यापक परमात्मा की स्तुति को (अति) अत्यन्त करके (द्रव) शीघ्र प्राप्त हो [ग्रहणकर] ॥ ८ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् शूरवीर पुरुष वेद की रक्षा करें जिससे ईश्वर के गुणों का अत्यन्त प्रकाश हो ॥ ८ ॥

६।५।५। शम आलोचने-तृच्। विचारवन्तः (पक्तारः) पक्वकारकाः। निश्चयकारकाः (ये) (च) (ते) (जनाः) मनुष्याः (ते) (त्वा) (सर्वे) (गोप्स्यन्ति) रक्षिष्यन्ति (एभ्यः) शत्रुभ्यः (मा भैषीः) भयं मा प्राप्नुहि (शतौदने) अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

८—(वसवः) श्रेष्ठाः पुरुषाः (त्वा) (दक्षिणतः) दक्षिणहस्तस्थितदेशात् (उत्तरात्) उच्चस्थानात्। वामदेशात् (मरुतः) अ० १।२०।१। शूरवीराः (त्वा) (आदित्याः) अ० १।९।१। अ+दिति-ण्य। अखण्डव्रता ब्रह्मचारिणः (पश्चात्) (गोप्स्यन्ति) (सा) सा त्वम् (अग्निष्टोमम्) अग्नेः सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य स्तुतिम् (अति) अत्यन्तम् (द्रव) शीघ्रं प्राप्नुहि ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
ते त्वा सर्वे गोप्स्यन्ति सातिरात्रमति द्रव ॥ ९ ॥

देवाः । पितरः । मनुष्याः । गन्धर्व-अप्सरसः । च । ये ॥ ते । त्वा । सर्वे । गोप्स्यन्ति । सा । अति-रात्रम् । अति । द्रव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले, (पितरः) पालन करने वाले (मनुष्याः) मनन करने वाले (च) और (ये) जो (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व [पृथिवी धारण करनेवाले] और अप्सर लोग [आकाश में विमान आदि से चलने वाले, विवेकी लोग] हैं । (ते सर्वे) वे सब (त्वा) तेरी (गोप्स्यन्ति) रक्षा करेंगे, (सा) सो तू (अतिरात्रम्) उत्कृष्ट दान क्रिया को (अति) उत्तमरीति से (द्रव) शीघ्र प्राप्त हो [ग्रहण कर] ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् सर्वोपकारी विवेकी जन वेद की रक्षा करके अत्यन्त दानशील होते हैं ॥ ९ ॥

अन्तरिक्षं दिवं भूमिमादित्यान् मरुतो दिशः । लोकान्त्स सर्वानाप्नोति यो ददाति शतौदनाम् ॥ १० ॥ (३०)

अन्तरिक्षम् । दिवम् । भूमिम् । आदित्यान् । मरुतः । दिशः ॥ लोकान् । सः । सर्वान् । आप्नोति । यः । ददाति । शत-ओदनाम् ॥ १० ॥ (३०)

भाषार्थ—(सः) वह [मनुष्य] (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष, (दिवम्)

९—(देवाः) विजिगीषवः (पितरः) पालकाः (मनुष्याः) मननशीलाः (गन्धर्वाप्सरसः) अ० २ । १ । २ ; ४ । ३७ । २ । गो+धृञ् धारणे-वप्रत्ययः, गमादेशः+अप्+सृ गतौ-असि । गां पृथिवीं धरन्तीति गन्धर्वास्ते, अप्सु आकाशे विमानादिना सरन्तीति अप्सरसः ते च पुरुषाः (च) (ये) (सा) सा त्वम् (अतिरात्रम्) राशदिभ्यां त्रिप् । उ० ४ । ६७ । रा दाने-त्रिप् । अहःसर्वैकदेश० । पा० ५ । ४ । ८७ । अच् । अति उत्कृष्टां रात्रिं दानक्रियाम् (अति) उत्कर्षेण (द्रव) शीघ्रं प्राप्नुहि ॥

१०—(अन्तरिक्षम्) (दिवम्) सूर्यलोकम् (भूमिम्) (आदित्यान्)

सूर्य लोक, (भूमिम्) भूमि, (आदित्यान्) अखण्डब्रह्मचारियों, (मरुतः) शूरों, (दिशः) आदेष्टाओं [शासकों], [अर्थात्] (सर्वान्) सब (लोकान्) दर्शनीय जनों को (आप्नोति) पाता है, (यः) जो (शतौदनाम्) सैकड़ों प्रकार सींचने वाली [वेदवाणी] का (ददाति) दान करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—सर्वहितकारिणी वेदविद्या के प्रचार से मनुष्य ज्ञान और यान विमान आदि द्वारा नीचे, ऊपर और मध्य लोक में गति करके उत्तम उत्तम पुरुषों के सङ्ग से अति आनन्द पाता है ॥ १० ॥

घृतं प्रोक्षन्ती सुभगा देवी देवान् गमिष्यति। पक्तारमघ्न्ये मा हिंसीर्दिवं प्रेहि शतौदने ॥ ११ ॥

घृतम्। प्र-उक्षन्ती। सु-भगा। देवी। देवान्। गमिष्यति॥ पक्तारम्। अघ्न्ये। मा। हिंसीः। दिवम्। प्र। इहि। शत-ओदने ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(घृतम्) घृत [तत्त्व पदार्थ] (प्रोक्षन्ती) सींचती हुयी, (सुभगा) बड़े ऐश्वर्य वाली (देवी) देवी [विजयिनी वेदवाणी] (देवान्) विद्वानों को (गमिष्यति) पहुंचेगी। (अघ्न्ये) हे न मारनेवाली ! [वेदवाणी] (पक्तारम्) [अपने] पक्के [दृढ़] करने वाले को (मा हिंसीः) मत मार, (शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली ! (दिवम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (इहि) प्राप्त हो ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेद विद्या के तत्त्व को जानकर पुरुषार्थी होकर शुभ मनोरथ सिद्ध करें ॥ ११ ॥

म० ८। अखण्डव्रतान् ब्रह्मचारिणः (मरुतः) म० ८। शूरान्। देवान् (दिशः) दिश दाने आज्ञापने च-क्विप्। आदेष्टॄन्। शासकान् (लोकान्) जनान् (सर्वान्) (आप्नोति) आप्नोति। अन्यत् पूर्ववत्—म० ५ ॥

११—(घृतम्) सारपदार्थम् (प्रोक्षन्ती) प्रकर्षेण सिञ्चन्ती (सुभगा) परमैश्वर्यवती (देवी) विजयिनी वेदविद्या) देवान्) विदुषः पुरुषान् (गमिष्यति) प्राप्स्यति (पक्तारम्) दृढकारकम् (अघ्न्ये) म० ३। हे अहिंसिके (मा हिंसीः) मा नाशय। अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

ये देवा दिविषदो अन्तरिक्षसदश्च ये ये चेमे भूम्यामधि ।
तेभ्यस्त्वं धुक्ष्व सर्वदा क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १२ ॥

ये । देवाः । दिवि-सदः । अन्तरिक्ष-सदः । च । ये । ये । च । इमे । भूम्याम् । अधि ॥ तेभ्यः । त्वम् । धुक्ष्व । सर्वदा । क्षीरम् । सर्पिः । अथो इति । मधु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) दिव्य गुण (दिविषदः) सूर्य में वर्तमान (च) और (ये) जो (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्ष में व्याप्ति वाले (च] और (ये) जो (इमे) यह (भूम्याम् अधि) भूमि पर हैं। (त्वम्) तू (तेभ्यः) उन सब से (सर्वदा) सर्वदा (क्षीरम्) दूध (सर्पिः) घी (अथो) और भी (मधु) मधुविद्या [ब्रह्मज्ञान] (धुक्ष्व) भरपूर कर ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा संसार के सब पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर दुग्ध, घृत आदि पदार्थ शरीर पुष्टि के लिये और ब्रह्मज्ञान, आत्मतुष्टि के लिये सदा प्राप्त करें ॥ १२ ॥

यत् ते शिरो यत् ते मुखं यौ कर्णौ ये च ते हनू ।
आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ १३ ॥

यत् । ते । शिरः । यत् । ते । मुखम् । यौ । कर्णौ । ये इति । च । ते । हनू इति ॥ आमिक्षाम् । दुह्रताम् । दात्रे । क्षीरम् । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (शिरः) शिर, (यत्) जो (ते)

१२—(ये) (देवाः) दिव्यगुणाः (दिविषदः) सूर्ये स्थिताः (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्षे वर्तमानाः (च) (ये) (ये) (च) (इमे) (भूम्याम्) (अधि) उपरि (तेभ्यः) देवेभ्यः सकाशात् (त्वम्) (धुक्ष्व) दुग्धि । प्रपूरय (सर्वदा) (क्षीरम्) दुग्धम (सर्पिः) घृतम् (अथो) अपि च (मधु) मधुज्ञानम् । ब्रह्मविद्याम् ॥

१३—(हनू) अ० १ । २१ । ३ । कपोलद्वयोपरिमुखभागौ (आमिक्षाम्)

तेरा (मुखम्) मुख, (यौ) जो (कर्णौ) दो कान, (च) और (ये) जो (ते) तेरे (हनू) दो जावड़े हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा [पकाये उष्ण दूध में दही मिलाने से उत्पन्न वस्तु], (क्षीरम्) दूध, (सर्पिः) घी (अथो) और भी (मधु) मधु ज्ञान [ब्रह्मविद्या] (दात्रे) दाता को (दुहताम्) भरपूर करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—यहां से मन्त्र २४ तक वेद वाणी को गौ आदि के समान आकार वाली मानकर वर्णन है। तात्पर्य्य यह है कि जैसे शरीर के अङ्ग प्राणियों के लिये अनेक प्रकार उपकारी बने हैं, वैसेही वेदवाणी से अनेक उपकार लेकर मनुष्य शारीरिक और आत्मिक पुष्टि करें ॥ १३ ॥

यौ त॒ ओष्ठौ॒ ये नासि॑के॒ ये शृङ्गे॒ ये च॒ तेऽक्षि॑णी । आमिक्षां०॥१४

यौ । ते॒ । ओष्ठौ॑ । ये इति॑ । नासि॑के॒ इति॑ । ये इति॑ । शृङ्गे॒ इति॑ । ये इति॑ । च॒ । ते॒ । अक्षि॑णी इति॑ ॥० ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (ते) तेरे (ओष्ठौ) दो ओठ, (ये) जो (नासिके) दो नथने, (ये) जो (शृङ्गे) दो सींग (च) और (ये) जो (ते) तेरे तेरी (अक्षिणी) दो आंखें हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा''' म० १३ ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १४ ॥

यत् ते॑ क्लो॒मा यद्धृद॑यं पुरी॒तत् स॒हक॑ण्ठिका । आमिक्षां० ॥१५॥

यत् । ते॒ । क्लो॒मा । यत् । हृद॑यम् । पु॒रि॒-तत् । स॒ह-क॑ण्ठिका ॥०१५

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (क्लोमा) फेफड़ा, (यत्) जो (हृदयम्) हृदय और (सहकण्ठिका) कण्ठ के सहित (पुरीतत्) पुरीतत् [शरीर को फैलाने वाली सूक्ष्म आंत] है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा······ म० १३ ॥ १५ ॥

अ० ६ । ४ । ४ । आङ्+मिष सेचने-सक् । पक्वोष्णक्षीरे दध्ना कृतं द्रव्यम् (दुहताम्) अ० ७ । ८२ । ६ । दुहताम् । प्रपूरयन्तु (दात्रे) दानशीलाय । अन्यत् स्पष्टं गतं च-म० १२ ॥

१४—(अक्षिणी) नेत्रे । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१५—(क्लोमा) अ० २ । ३३ । ३ । फुप्फुसम् (पुरीतत्) अ० ६ । ७ । ११ । पुरिं शरीरं तनोतीति । सूक्ष्मान्तरम् (सहकण्ठिका) कण्ठेन सहिता । अन्यत् स्पष्टं गतं च ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १५ ॥

यत् ते यकृद् ये मतस्ने यदान्त्रं याश्च ते गुदाः। आमिक्षां०१६

यत्। ते। यकृत्। ये इति। मतस्ने इति। यत्। आन्त्रम्।
याः। च। ते। गुदाः ॥ ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरा (यकृत्) कलेजा, (ये) जो (मतस्ने) दो मतस्ने [गुर्दे], (यत्) जो (आन्त्रम्) आंत (च) और (याः) जो (ते) तेरी (गुदाः) गुदा [मल त्याग नाड़ियां] हैं। ये सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा ......म० १३ ॥ १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १६ ॥

यस्ते प्लाशिर्यो वनिष्ठुर्यौ कुक्षी यच्च चर्म ते। आमिक्षां०॥१७॥

यः। ते। प्लाशिः। यः। वनिष्ठुः। यौ। कुक्षी इति। यत्।
च। चर्म। ते ॥ ० ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ते) तेरी (प्लाशिः) प्लाशि [अन्न की आधार आंत], (यः) जो (वनिष्ठुः) वनिष्ठु [अन्न, रक्त आदि बांटने वाली आंत], (यौ) जो (कुक्षी) दो कोखें (च) और (यत्) जो (ते) तेरा (चर्म) चर्म है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......म० १३ ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १७ ॥

यत् ते मज्जा यदस्थि यन्मांसं यच्च लोहितम्। आमिक्षां०।१८

१६—(यकृत्) अ० ९। ७। ११। कालखण्डम् (मतस्ने) अ० २। ३३। ३। ग्रीवाधस्ताद्भागस्थितहृदयोभयपार्श्वस्थे अस्थिनी (आन्त्रम्) अ० २। ३३। ४। उदरनाडीविशेषः (गुदाः) अ० २। ३३। ४। मलत्यागनाड्यः। अन्यत् स्पष्टम् ॥

१७—(प्लाशिः) अ० ९। ७। १२। अन्नाधार आन्त्रविशेषः (वनिष्ठुः) अ० ९। ७। १२। अन्नरक्तादिसंभाजकं स्थूलान्त्रम् (कुक्षी) उदरपार्श्वौ। अन्यत् स्पष्टम् ॥

यत् । ते । मज्जा । यत् । अस्थि । यत् । मांसम् । यत् । च । लोहितम् । ॥ ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरी (मज्जा) मज्जा [हड्डी की मींग] (यत्) जो (अस्थि) हड्डी, (यत्) जो (मांसम्) मांस (च) और (यत्) जो (लोहितम्) रक्त है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......मन्त्र १३ ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १८ ॥

यौ ते बाहू ये दोषणी यावंसौ या च ते ककुत् । आमिक्षां०॥१९

यौ । ते । बाहू इति । ये इति । दोषणी इति । यौ । अंसौ । या । च । ते । ककुत् ॥ ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (ते) तेरी (बाहू) दो भुजायें (ये), जो (दोषणी) दो भुजदण्ड, (यौ) जो (अंसौ) दो कन्धे (च) और (या) जो (ते) तेरा (ककुत्) कूबर [कुब्ब] है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......मन्त्र १३ ॥ १९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ १९ ॥

यास्ते ग्रीवा ये स्कन्धा याः पृष्टीर्याश्च पर्शवः । आमिक्षां०।२०।(३१)

याः । ते । ग्रीवाः । ये । स्कन्धाः । याः । पृष्टीः । याः । च । पर्शवः ॥ ० ॥ २० ॥ (३१)

भाषार्थ—(याः) जो (ते) तेरी (ग्रीवाः) गले की नाड़ियां, (ये) जो (स्कन्धाः) कन्धे की हड्डियां, (याः) जो (पृष्टीः) छोटी पसलियां (च)

१८—(मज्जा) अ० १ । ११ । ४ । छान्दसो दीर्घः । अस्थिमध्यस्थस्नेहः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

१९—(दोषणी) अ० ६ । ७ । ७ । भुजदण्डौ (ककुत्) अ० ३ । ४ । २ । वृषादिस्कन्धपृष्ठस्थ मांसपिण्डः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

२०—(ग्रीवाः) कण्ठस्थनाड्यः (स्कन्धाः) स्कन्धास्थीनि (पृष्टीः) अ०

और (याः) जो (पर्शवः) बड़ी पसलियां हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा ......म० १३ ॥ २० ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २० ॥

यौ ते ऊरू अष्ठीवन्तौ ये श्रोणी या च ते भसत्। आमिक्षां०॥२१॥

यौ। ते। ऊरू इति। अष्ठीवन्तौ। ये इति। श्रोणी इति। या। च। ते। भसत् ॥ ० ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(यौ) जो (ते) तेरे (ऊरू) दो घुटने और (अष्ठीवन्तौ) घुटनों के दो जोड़, (ये) जो (श्रोणी) दो कूल्हे (च) और (या) जो (ते) तेरा (भसत्) पेडू है। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा.. ...म० १३ ॥ २१ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २१ ॥

यत् ते पुच्छं ये ते बाला यदूधो ये च ते स्तनाः। आमिक्षां०॥२२॥

यत्। ते। पुच्छम्। ये। ते। बालाः। यत्। ऊधः। ये। च। ते। स्तनाः ॥ ० ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (ते) तेरी (पुच्छम्) पूंछ, (ये) जो (ते) तेरे (बालाः) बाल, (यत्) जो (ऊधः) मेड़ [दूध का छिद्रस्थान] (च) और (ये) जो (ते) तेरे (स्तनाः) स्तन [दूध के आधार] हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा.........म० १३ ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २२ ॥

यास्ते जङ्घा याः कुष्ठिका ऋच्छरा ये च ते शफाः। आमिक्षां०२३

२०—(याः) । पार्श्वास्थीनि (पर्शवः) अ० ६। ७। ६। पार्श्वाधःस्थास्थीनि। अन्यत् स्पष्टम् ॥

२१—(ऊरू) जानुनी (अष्ठीवन्तौ) अ० २। ३३। ५। जानुसंयोगास्थिनी (श्रोणी) कटिदेशौ (भसत्) नाभितलभागः। अन्यत् स्पष्टम् ॥

२२—(पुच्छम्) लाङ्गूलम् (बालाः केशाः (ऊधः) दुग्धच्छिद्रस्थानम् (स्तनाः) दुग्धाधाराः। अन्यत् स्पष्टम् ॥

याः । ते । जङ्घाः । याः । कुष्ठिकाः । ऋच्छराः । ये । च । ते । शफाः ॥ ० ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ते) तेरी (जङ्घाः) जङ्घायें, (याः) जो (कुष्ठिकाः) कुष्ठिकायें [नख अङ्गुली आदि बाहिरी अङ्ग] और (ऋच्छराः) ऋच्छरायें [खुरों के ऊपर के भाग] (च) और (ये) जो (ते) तेरे (शफाः) खुर हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा......म० १३ ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २३ ॥

यत् ते चर्म शतौदने यानि लोमान्यघ्न्ये । आमिक्षां दुह्रतां दात्रे क्षीरं सर्पिरथो मधु ॥ २४ ॥

यत् । ते । चर्म । शत-ओदने । यानि । लोमानि । अघ्न्ये । आमिक्षाम् । दुह्रताम् । दात्रे । क्षीरम् । सर्पिः । अथो इति । मधु ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(शतौदने) हे सैकड़ों प्रकार सींचने वाली ! और (अघ्न्ये) हे न मारनेवाली ! [वेदवाणी] (यत्) जो (ते) तेरा (चर्म) चर्म और (यानि) जो (लोमानि) लोम हैं। वे सब (आमिक्षाम्) आमिक्षा [पकाये उष्ण दूध में दही मिलाने से उत्पन्न वस्तु], (क्षीरम्) दूध, (सर्पिः) घी (अथो) और भी (मधु) मधुज्ञान [ब्रह्मविद्या] (दात्रे) दाता को (दुह्रताम्) भरपूर करें ॥ २४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १३ के समान है ॥ २४ ॥

क्रोडौ ते स्तां पुरोडाशावाज्येनाभिघारितौ । तौ पक्षौ देवि

२३—(जङ्घाः) अ० ६ । ७ । १० । गुल्फजान्वोरन्तराले अवयवाः (कुष्ठिकाः) अ० ६ । ४ । १६ । नखाङ्गुल्यादिवहिर्भूता अवयवाः (ऋच्छराः) ऋच्छेररः । उ० ३ । १३१ । ऋच्छ गतौ—अर । खुरोपरिस्थभागाः (शफाः) खुराः । अन्यत् स्पष्टम् ॥

२४—(शतौदने) म० १ । हे बहुप्रकारसेचनशीले (अघ्न्ये) म० ३ । हे अहिंसिके वेदवाणि । अन्यद् गतम्—म० १३ स्पष्टं च ॥

कृत्वा सा पक्तारं दिवं वह ॥ २५ ॥

क्रोडौ । ते । स्ताम् । पुरोडाशौ । आज्येन । अभि-घारितौ ॥ तौ । पक्षौ । देवि । कृत्वा । सा । पक्तारम् । दिवम् । वह ॥२५

भाषार्थ—(ते) तेरी (क्रोडौ) दो गोदें (आज्येन) घी से (अभिघारितौ) चुपड़ी हुई (पुरोडाशौ) दो रोटियां [मुनि अन्न की पवित्र रोटियां] (स्ताम्) होवें । (देवि) हे देवी ! [विजयिनी वेदविद्या] (सा) सो तू (तौ) उन दोनों [गोदों] को (पक्षौ) दो पंख (कृत्वा) बनाकर (पक्तारम्) अपने पक्के [दृढ़] करने वाले को (दिवम्) प्रकाश में (वह) पहुंचा दे ॥ २५॥

भावार्थ—मनुष्य वेदवाणी के एक विद्यादायक और दूसरे पुरुषार्थ वर्धक गुणों को शीघ्र प्राप्त करके आत्मा को प्रकाश युक्त करे, जैसे बालक माता की दोनों गोदों में रहकर दुग्ध आदि से शीघ्र पुष्ट होता हुआ उत्तम मार्ग पर चलता है ॥ २५ ॥

उलूखले मुसले यश्च चर्मणि यो वा शूर्पे तण्डुलः कणः । यं वा वातो मातरिश्वा पवमानो ममाथाग्निष्टद्धोता सुहुतं कृणोतु २६

उलूखले । मुसले । यः । च । चर्मणि । यः । वा । शूर्पे । तण्डुलः । कणः । यम् । वा । वातः । मातरिश्वा । पवमानः । ममाथ । अग्निः । तत् । होता । सु-हुतम् । कृणोतु ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (तण्डुलः) चावल [वा] (कणः) कनी [चावल का टुकड़ा] (उलूखले) ओखली में; (मुसले) मूसल में (च) और

२५—(क्रोडौ) क्रुड बाल्ये, निमज्जने भक्षणे च—घञ् । अङ्कौ (ते) तव (स्ताम्) भवताम् (पुरोडाशौ) अ० ६ । ६ । (१) । १२ । मुन्यन्नरोटिकाविशेषौ (आज्येन) घृतेन (अभिघारितौ) घृ क्षरणे—णिच्—क्त । सर्वतः स्निग्धौ (तौ) क्रोडौ (पक्षौ) पक्षिणां पतत्रौ (देवि) हे विजयिनि (कृत्वा) (सा) सा त्वम् (पक्तारम्) पक्ककारकं दृढकारकम् (दिवम्) प्रकाशं प्रति (वह) नय ॥

२६—(उलूखले) अ० ६ । ६ (१) । १५ । धान्यादिकण्डनसाधने (मुसले) अ० ६ (१) । १५ । धान्यादिखण्डनसाधने (चर्मणि) भाजने

(चर्मणि) चर्म [मृग छाला वा बाघम्बर] में (वा) अथवा (यः) जो (शूर्पे) सूप में है। (वा) अथवा (यम्) जिसको (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाले (पवमानः) शोधने वाले (वातः) वायु ने (ममाथ) मथा था, (होता) दाता (अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर (तत्) उस को (सुहुतम्) धार्मिक रीति से स्वीकार किया हुआ (कृणोतु) करे ॥ २६ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अन्न को एक एक बीज करके अनेक प्रकार कूट फटककर उपयोगी बनाते हैं, वैसे ही मनुष्य वेदवाणी को ब्रह्मचर्य आदि अनेक तप से प्राप्त करके परमेश्वर के आश्रय से संसार में उपकारी बनें ॥ २६ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद अथर्व० ६ । ७१ । २ । में आचुका है ॥

अपो देवीर्मधुमतीर्घृतश्चुतो ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि । यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहं तन्मे सर्वं सं पद्यतां वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ २७ ॥ (३२)

अपः । देवीः । मधु-मतीः । घृत-श्चुतः । ब्रह्मणाम् । हस्तेषु । प्र-पृथक् । सादयामि ॥ यत्-कामः । इदम् । अभिसिञ्चामि । वः । अहम् । तत् । मे । सर्वम् । सम् । पद्यताम् । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ २७ ॥ (३२)

भाषार्थ—(देवीः) देवी [विजयिनी] (मधुमतीः) श्रेष्ठ मधुविद्या

चर्म कृतिः स्त्री—इत्यमरः १७ । ४७ । अजिने । मृगचर्मणि । व्याघ्रचर्मणि (शूर्पे) अ० ९ । ६ (१) । १६ । धान्यस्फोटकयन्त्रे (तण्डुलः) सानसिवर्णसिपर्णसितण्डुला० । उ० ४ । १७ । तडि आघाते—उलच् । यद्वा, वृञ्लुटितनिताडिभ्य उलच् तस्डश्च । उ० ५ । ६ । वृञादिभ्यः—उलच्, सर्वेषां तण्डादेशश्च । तुषरहितो व्रीहिः (कणः) धान्यादेरतिसूक्ष्मांशः (यम्) (वा) (वातः) वायुः (मातरिश्वा) अ० ५ । १० । ८ । आकाशगमनः (पवमानः) संशोधकः (ममाथ) मथितवान् (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (तत्) (होता) दाता (सुहुतम्) सुष्ठु स्वीकृतम् (कृणोतु) करोतु ॥

२७—(अपः) व्यापनशीला वेदविद्याः (देवीः) विजयिनीः (मधुमतीः)

[ब्रह्मज्ञान] वाली, (घृतश्चुतः) घृत [सारतत्त्व] बरसाने वाली (अपः) व्यापनशील [वेदवाणियों] को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्माओं [वेदवेत्ताओं] के (हस्तेषु) हाथों में (प्रपृथक्) नाना प्रकार से (सादयामि) मैं रखता हूं। [हे विद्वानो !] (यत्कामः) जिस उत्तम कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हारा (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, (तत् सर्वम्) वह सब (मे) मेरे लिये (सम् पद्यताम्) सम्पन्न हो, (वयम्) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सर्वगुणसम्पन्न वेदविद्या को विद्वानों के साथ विचार कर उत्तम शिक्षा प्राप्त करें, जिस से सब लोग विद्याधन और सुवर्ण आदि धन पाकर आनन्द भोगें ॥ २७ ॥

इस मन्त्र के पाद दो और तीन अथर्व ६ । १२२ , ५ । में आये हैं ॥

सूक्तम् १० ॥

१—३४ ॥ वशा देवता ॥ १, २, ३, ६, ७, ८, ११-२२, २५, २८, ३०, ३१, ३३ अनुष्टुप् ; ४, ९ निचृदनुष्टुप् ; ५, २३ आर्षी बृहती; १०, २७ विराडनुष्टुप् ; २४, ३२ स्वराडनुष्टुप् , २६ विराट् पङ्क्तिः; २९ त्रिपदा विराड् गायत्री ३४ भुरिगनुष्टुप् ॥

ईश्वरशक्तिमहिमोपदेशः—ईश्वर शक्ति की महिमा का उपदेश ॥

नम॑स्ते॒ जाय॑मानायै जा॒ताया॑ उ॒त ते॒ नमः॑ । बाले॑भ्यः श॒फेभ्यो॑ रू॒पाया॑घ्न्ये ते॒ नमः॑ ॥ १ ॥

नमः॑ । ते॒ । जाय॑मानायै । जा॒तायै॑ । उ॒त । ते॒ । नमः॑ ॥ बाले॑भ्यः । श॒फेभ्यः॑ । रू॒पाय॑ । अ॒घ्न्ये॒ । ते॒ । नमः॑ ॥ १ ॥

ब्रह्मज्ञानेन युक्ताः (घृतश्चुतः) अ० ३ । ३३ । ४ । सारतत्त्वस्राविणीः (ब्रह्मणाम्) वेदज्ञानाम् (हस्तेषु) (प्रपृथक्) अ० ६ । १२२ । ५ । नानाप्रकारेण (सादयामि) स्थापयामि (यत्कामः) यत्पदार्थं कामयमानः (इदम्) इदानीम् (अभिषिञ्चामि) अभिषिक्तान् करोमि (वः) युष्मान् (अहम्) (तत्) (मे) मह्यम् (सर्वम्) (सम् पद्यताम्) सम्पन्नं साधितं भवतु (वयम्) (स्याम) (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) नानाधनानाम् ॥

भाषार्थ—(ते जायमानायै) तुझ प्रकट होती हुई को (नमः) नमस्कार (उत) और (ते जातायै) तुझ प्रकट हो चुकी को (नमः) नमस्कार है। (अघ्न्ये) हे न मारने वाली [परमेश्वर शक्ति !] (वालेभ्यः) बलों के लिये और (शफेभ्यः) शान्ति व्यवहारों के लिये (ते) तेरे (रूपाय) स्वरूप [फैलाव] को (नमः) नमस्कार है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के जिन गुणों को बुद्धिमान् लोग जानते जाते हैं और जिनको जान चुके हैं, विवेकी जन उन अद्भुत गुणों को साक्षात् करके बल वृद्धि और शान्ति प्रचार के लिये परमेश्वर को सदा नमस्कार करें ॥ १० ॥

यो विद्यात् सप्त प्रवतः सप्त विद्यात् परावतः। शिरो यज्ञस्य यो विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात् ॥ २ ॥

यः। विद्यात्। सप्त। प्र-वतः। सप्त। विद्यात्। परा-वतः॥ शिरः। यज्ञस्य। यः। विद्यात्। सः। वशाम्। प्रति। गृह्णीयात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [विद्वान्] (सप्त) सात [२ हाथ, २ पांव, १ पायु, १ उपस्थ और १ उदर] (प्रवतः) उत्तम गति वाले [लोकों] को (विद्यात्) जाने, और (सप्त) सात [२ कान, २ नथने, २ आंखें और १ मुख] (परावतः) दूर गति वाले [लोकों] को (विद्यात्) जान जावे। (यः) जो

१—(नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (जायमानायै) उत्पद्यमानायै (जातायै) पूर्वकालात् प्रसिद्धायै (उत) अपि (वालेभ्यः) बल प्राणने धान्यावरोधने च-घञ्। नानाबलेभ्यः (शफेभ्यः) अ० ६। ७। १०। शमे शान्तौ—अच्, मस्य फः। शान्तिव्यवहाराणां सिद्धये (रूपाय) स्वरूपाय। विस्ताराय (अघ्न्ये) अ० १०। ६। ३। नञ्+हन हिंसागत्योः—यक्, टाप्। हे अहिंसिके रक्षिके। परमेश्वरशक्ते। अन्यद् गतम् ॥

२—(यः) विद्वान् (विद्यात्) जानीयात् (सप्त) हस्तपादद्वयपायूपस्थोदररूपान् (प्रवतः) अ० ३। १। ४। प्र-वति धात्वर्थे साधने। प्रकृष्टगतीन् लोकान् (सप्त) कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखरूपान् (परावतः) अ० ३। ४। ५। परा-वति धात्वर्थे साधने। दूरगतीन् देशान् (शिरः) प्रधानः स्यात्मेत्यर्थः (य-

(यज्ञस्य) यज्ञ [श्रेष्ठकर्म] के (शिरः) शिर [प्रधान अपने आत्मा] को (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह [पुरुष] (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (प्रति) प्रतीति से (गृह्णीयात्) ग्रहण करे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने शरीर के सात नीचे और सात ऊंचे, चौदह लोकों अर्थात् इन्द्रियों की अद्भुत शक्तियों को अपने आत्मा के सम्बन्ध के सहित जान लेवे, वही पुरुष सबके निर्माता परमेश्वर की शक्ति को साक्षात् करके अपनी शक्ति बढ़ावे ॥ २ ॥

वेदाहं सप्त प्रवतः सप्त वेद परावतः । शिरो यज्ञस्याहं वेद सोमं चास्यां विचक्षणम् ॥ ३ ॥

वेद । अहम् । सप्त । प्र-वतः । सप्त । वेद । परा-वतः ॥ शिरः । यज्ञस्य । अहम् । वेद । सोमम् । च । अस्याम् । वि-चक्षणम् ॥३

भाषार्थ—(अहम्) मैं (सप्त) सात [मन्त्र २] (प्रवतः) उत्तम गति वाले [लोकों] को (वेद) जानता हूं, (सप्त) सात [मन्त्र २] (परावतः) दूर गति वाले [लोकों] को (वेद) जानता हूं । (अहम्) मैं (यज्ञस्य) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म] के (शिरः) शिर [प्रधान अपने आत्मा] को (च) और (अस्याम्) इस [कमनीय शक्ति मन्त्र २] में वर्तमान (विचक्षणम्) विविध द्रष्टा [महापण्डित] (सोमम्) सर्वप्रेरक [परमात्मा] को (वेद) जानता हूं ॥३॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने शरीर के चौदह भुवन और अपने आत्मा की विचित्र गति को जान लेता है, वह परमेश्वर को और उसकी शक्ति को जानने में समर्थ होता है—मन्त्र २ देखो ॥ ३ ॥

ज्ञस्य) श्रेष्ठव्यवहारस्य (सः) पुरुषः (वशाम्) न्वशिरएयोरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश कान्तौ—अप् । वशा स्वाधीना-महीधरभाष्ये—यजु० २ । १६ । वशा कमनीयानि-दयानन्दभाष्ये, ऋक्० २ । २४ । १३ । कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (प्रति) प्रतीत्या (गृह्णीयात्) स्वीकुर्यात् ॥

३-(वेद) जानामि (अहम्) उपासकः (सोमम्) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव-निरु० १४ । १२ । सर्वोत्पादकं सर्वप्रेरकं वा परमात्मानम् (च) (अस्याम्) वशायाम् । कमनीयायां शक्तौ वर्तमानम् (विचक्षणम्) विविधद्रष्टारम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० २ ॥

यथा द्यौर्यया पृथिवी ययापो गुपिता इमाः । वशां सहस्र- धारां ब्रह्मणाच्छावदामसि ॥ ४ ॥

यया । द्यौः । यया । पृथिवी । यया । आपः । गुपिताः । इमाः ॥ वशाम् । सहस्र-धाराम् । ब्रह्मणा । अच्छ-आवदामसि ॥४॥

भाषार्थ—(यया) जिस [शक्ति] करके (द्यौः) सूर्य, (यया) जिस करके (पृथिवी) पृथिवी और (यया) जिस करके (इमाः) यह (आपः) प्रजायें (गुपिताः) रक्षित हैं। (सहस्रधाराम्) सहस्रों पदार्थों को धारण करने वाली (वशाम्) [उस] वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अच्छावदामसि) हम आदर से बुलाते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—हम लोग वेद द्वारा परमेश्वर की सर्वरक्षक शक्ति को यथावत् जानकर अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

शतं कंसाः शतं दोग्धारः शतं गोप्तारो अधि पृष्ठे अस्याः । ये देवास्तस्यां प्राणन्ति ते वशां विदुरेकधा ॥ ५ ॥

शतम् । कंसाः । शतम् । दोग्धारः । शतम् । गोप्तारः । अधि । पृष्ठे । अस्याः ॥ ये । देवाः । तस्याम् । प्राणन्ति । ते । वशाम् । विदुः । एक-धा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शतम्) सौ [बहुत से] (कंसाः) कामना करने वाले, (शतम्) सौ (दोग्धारः) दोहने वाले, (शतम्) सौ (गोप्तारः) रक्षा करने वाले [पुरुष] (अस्याः) इस [शक्ति] की (पृष्ठे) पीठ पर [सहारे में]

४—(यया) शक्त्या (द्यौः) सूर्यः (पृथिवी) (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ (गुपिताः) रक्षिताः (इमाः) दृश्यमानाः (वशाम्) म० २। कमनीयां परमात्मशक्तिम् (सहस्रधाराम्) अ० ७ । १५ । १ । असंख्यपदार्थानां धरित्रीम् (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (अच्छावदामसि) अ० ७ । ३८ । ३ । सत्कारेणाह्वयामः । अन्यद् गतम् ॥

५—(शतम्) शतं बहुनाम—निघ० ३ । १ (कंसाः) वृतृवदिवचिवसिहनिकमिकषिभ्यः सः । उ० ३ । ६२ । कमु कान्तौ—सप्रत्ययः । कामयमानाः

(अधि) अधिकार पूर्वक हैं। और (ये) जो (देवाः) विद्वान् लोग (तस्याम्) उस [शक्ति] में (प्राणन्ति) जीवन करते हैं, (ते) वे लोग (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (एकधा) एक प्रकार से [सत्य रीति से] (विदुः) जानते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो जो पुरुष कामना करके खोज लगाते हुये परमेश्वर की शक्ति का आश्रय लेकर पुरुषार्थ से जीवन करते हैं, वेही उस के सत्य ज्ञान को प्राप्त होते हैं ॥ ५ ॥

य॒ज्ञप॑दीरा॑क्षीरा स्व॒धाप्रा॑णा म॒हीलु॑का । व॒शा प॒र्जन्य॑पत्नी दे॒वाँ अप्ये॑ति॒ ब्रह्म॑णा ॥ ६ ॥

य॒ज्ञ-प॑दी । इरा॑-क्षीरा । स्व॒धा-प्रा॑णा । म॒ही॒लु॑का ॥ व॒शा । प॒र्जन्य॑-पत्नी । दे॒वान् । अपि॑ । ए॒ति॒ । ब्रह्म॑णा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यज्ञपदी) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] में स्थिति वाली, (इराक्षीरा) अन्न और जल वाली, (स्वधाप्राणा) अपनी धारण शक्ति से जीने वाली, (महीलुका) बड़ी दीप्ति वाली, (पर्जन्यपत्नी) मेघ की पालने वाली (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (देवान्) विद्वानों को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अपि एति) पहुंच जाती है ॥ ६ ॥

(दोग्धारः) प्रपूरयितारः। अन्वेष्टारः (गोप्तारः) रक्षितारः (अधि) अधिकारपूर्वकं (पृष्ठे) आश्रये (अस्याः) वशायाः (ये) देवाः विद्वांसः (तस्याम्), वशायाम् (प्राणन्ति) प्रकर्षेण जीवन्ति (ते) (वशाम्) म० २। कमनीयां परमात्मशक्तिम् (विदुः) जानन्ति (एकधा) एकप्रकारेण। सत्यरीत्या ॥

६—(यज्ञपदी) पद स्थैर्ये गतौ च-अच्, ङीप्। यज्ञे श्रेष्ठव्यवहारे पदं स्थानं यस्याः सा (इराक्षीरा) इरा अन्नम्-निघ० २। ७। क्षीरमुदकम्-निघ० १। १२। इरा च क्षीरं च इराक्षीरम्, ततो मत्वर्थे अर्शआद्यच्, टाप्। अन्नजलवती (स्वधाप्राणा) स्वधया स्वधारणशक्त्या प्राणिति जीवतीति सा तथाभूता (महीलुका) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च-क्विप्, टाप्। महती रुचा दीप्तिर्यस्याः सा (वशा) म० २। कमनीया परमेश्वरशक्तिः (पर्जन्यपत्नी) देवपत्न्यो देवानां पत्न्यः-निरु० १२। ४४। मेघस्य पालयित्री (देवान्) विदुषः पुरुषान् (अपि) एव (एति) प्राप्नोति (ब्रह्मणा) वेदद्वारा ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग श्रेष्ठ कामों से वेद द्वारा ईश्वर शक्ति का ज्ञान प्राप्त करते हैं ॥ ६ ॥

अनु त्वाग्निः प्राविशदनु सोमो वशे त्वा । ऊधस्ते भद्रे पर्जन्यो विद्युतस्ते स्तना वशे ॥ ७ ॥

अनु । त्वा । अग्निः । प्र । अविशत् । अनु । सोमः । वशे । त्वा ॥ ऊधः । ते । भद्रे । पर्जन्यः । वि-द्युतः । ते । स्तनाः । वशे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (अग्निः) अग्नि ने [पदार्थों में], (त्वा अनु) तेरे पीछे पीछे (सोमः) प्रेरणा करने वाले [जीवात्मा] ने [शरीर में] (प्र अविशत्) प्रवेश किया है । (भद्रे) हे कल्याणी ! (वशे) वशा ! (पर्जन्यः) मेघ (ते) तेरा (ऊधः) मेड़ [दुग्ध के छिद्र स्थान के समान] और (विद्युतः) बिजुलियें (ते) तेरे (स्तनाः) स्तन [दुग्ध के आधारों के समान] हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही शक्ति से अग्नि, जीवात्मा, मेघ, बिजुली आदि अपना अपना काम करते हैं ॥ ७ ॥

अपस्त्वं धुक्षे प्रथमा उर्वरा अपरा वशे । तृतीयं राष्ट्रं धुक्षेऽन्नं क्षीरं वशे त्वम् ॥ ८ ॥

अपः । त्वम् । धुक्षे । प्रथमाः । उर्वराः । अपराः । वशे ॥ तृतीयम् । राष्ट्रम् । धुक्षे । अन्नम् । क्षीरम् । वशे । त्वम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (त्वम्)

७—(अनु) अनुसृत्य (त्वा) त्वाम् (अग्निः) पावकः (प्र अविशत्) प्रविष्टवान् (अनु) (सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माप्येतस्मादेव—निरु० १४ । १२ । शरीरस्य प्रेरको जीवात्मा (वशे) म० २ । कमनीये परमात्मशक्ते (त्वा) (ऊधः) आपीनम् (ते) तव (भद्रे) हे कल्याणि (पर्जन्यः) मेघः (विद्युतः) तडितः (स्तनाः) दुग्धाधाराः ॥

८—(अपः) म० ४ । प्रजाः । सप्टपदार्थाः (त्वम्) (धुक्षे) दुह

तू (प्रथमाः) प्रधान और (अपराः) अप्रधान (अपः) प्रजाओं को (उर्वराः) उपजाऊ भूमियों से (धुक्षे) भरपूर करती है। (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य शक्ति] (त्वम्) तू (अन्नम्) अन्न, (क्षीरम्) जल और (तृतीयम्) तीसरे (राष्ट्रम्) राज्य से [संसार] को (धुक्षे) भरपूर करती है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की शक्ति से ही बड़े छोटे तथा मध्यम जीवों के लिये भोजन उत्पन्न होते हैं, और संसार में अन्न, जल और राज्यव्यवस्था चलती है ॥ ८ ॥

यदादित्यैर्हूयमानोपातिष्ठ ऋतावरि । इन्द्रः सहस्रं पात्रान्त्सोमं त्वापाययद् वशे ॥ ९ ॥

यत् । आदित्यैः । हूयमाना । उप-अतिष्ठः । ऋत-वरि ॥ इन्द्रः । सहस्रम् । पात्रान् । सोमम् । त्वा । अपाययत् । वशे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ऋतावरि) हे सत्यशीला ! (यत्) जब (आदित्यैः) आदित्यों [अखण्ड ब्रह्मचारियों] करके (हूयमाना) पुकारी गई तू (उपातिष्ठः) पास पहुंची। (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (इन्द्रः) इन्द्र [परमेश्वर] ने (सहस्रम्) सहस्र [अनेक] (पात्रान्) रक्षणीय दान योग्य पुरुषों को (सोमम्) मोक्षरूपी अमृत (त्वा=त्वया) तुझ से (अपाययत्) पान कराया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ईश्वर शक्ति को पहिचानते हैं और वे सब पुरुष परमेश्वर के नियम अनुसार दुःखों से छूटकर आनन्द भोगते हैं ॥ ९ ॥

प्रपूरणे—लट्, द्विकर्मकः। प्रपूरयसि (प्रथमाः) प्रधानाः (उर्वराः) सर्वशस्ययुक्तभूमिभ्यः सकाशात् (अपराः) अप्रधानाः (वशे) म० २ (तृतीयम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (धुक्षे) प्रपूरयसि संसारमितिशेषः (अन्नम्) भोजनम् (क्षीरम्) अ० १। १५। ४। जलम्—निघ० १। १२। अन्यद् गतम् ॥

९—(यत्) यदा (आदित्यैः) अखण्डब्रह्मचारिभिः (हूयमाना) कृताह्वाना (उपातिष्ठः) समीपं स्थितवती (ऋतावरि) अ० ३। १३। ७। हे सत्यशीले (इन्द्रः) परमेश्वरः (सहस्रम्) बहून् (पात्रान्) रक्षणीयान् दानयोग्यान् पुरुषान् (सोमम्) मोक्षरूपममृतम् (त्वा) त्वया—इत्यर्थः (अपाययत्) पानं कारितवान् (वशे) म० २ ॥

यद॑नूचीन्द्रमैरा॒त् त्वं॑ ऋषभोऽह्वयत् । तस्मा॑त् ते वृत्रहा पयः॒ क्षीरं॑ क्रुद्धोऽहरद् वशे ॥ १० ॥ (३३)

यत् । अनूची । इन्द्रम् । ऐः । आत् । त्वा । ऋषभः । अह्व॑यत् ॥ तस्मा॑त् । ते । वृत्र-हा । पयः॑ । क्षीरम् । क्रुद्धः । अह॑रत् । वशे ॥ १० ॥ (३३)

भाषार्थ—(यत्) जब (इन्द्रम् अनूची) जीवात्मा के पीछे चलती हुई तू (ऐः) गई है, (आत्) तब (ऋषभः) सूक्ष्मदर्शी परमेश्वर ने (त्वा) तुझे (अह्वयत्) बुलाया । (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (तस्मात्) उस [पुरुष] से (ते) तेरे लिये (क्रुद्धः) क्रुद्ध (वृत्रहा) अन्धकार नाशक [परमेश्वर] ने (पयः) अन्न और (क्षीरम्) जल को (अहरत्) ले लिया ॥ १० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की सर्वव्यापक शक्ति में झगड़ा करके हाथ बढ़ाना चाहता है, वह मनुष्य मतिभ्रष्ट होकर दुःख भोगता है ॥ १० ॥

यत् ते क्रुद्धो धनपतिरा क्षीरमहरद् वशे । इदं तदद्य नाकस्त्रिषु पात्रेषु रक्षति ॥ ११ ॥

यत् । ते । क्रुद्धः । धन-पतिः । आ । क्षीरम् । अहरत् । वशे ॥ इदम् । तत् । अद्य । नाकः । त्रिषु । पात्रेषु । रक्षति ॥ ११ ॥

भाषार्थ-(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति (यत्)

१०—(यत्) यदा (अनूची) अ० ३ । १ । ४ । अनु + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप् । पश्चाद् गच्छन्ती (इन्द्रम्) जीवात्मनम् (ऐः) अगच्छः (आत्) तदा (त्वा) त्वाम् (ऋषभः) अ० ३ । ४ । ६ । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २ । ११ । सूक्ष्मदर्शी परमेश्वरः (अह्वयत्) आहूतवान् (तस्मात्) जीवात्मनः (ते) तुभ्यम् (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः परमात्मा (पयः) अन्नम्—निघ० २ । ७ (क्षीरम्) जलम्—निघ० १ । १२ (क्रुद्धः) कुपितः (अहरत्) हृतवान् (वशे) म० २ ॥

११—(यत्) यदा (ते) तुभ्यम् (क्रुद्धः) कुपितः (धनपतिः)

जब (क्रुद्धः) क्रुद्ध (धनपतिः) धनों के स्वामी [परमेश्वर] ने (ते) तेरे लिये (क्षीरम्) जल [उत्पत्ति साधन] को (आ अहरत्) [दुष्ट जन से] ले लिया। (तत्) तब (इदम्) जल को (अद्य) आज (नाकः) क्लेश शून्य [आनन्दस्वरूप परमात्मा] (त्रिषु) तीन [ऊंचे, नीचे और मध्य] (पात्रेषु) रक्षा के आधार [लोकों] में (रक्षति) रक्षित रखता है ॥ ११॥

भावार्थ—परमात्मा की महिमा को न मानने वाले पुरुष को [मन्त्र १० देखो] वह क्रुद्ध जगदीश्वर निर्बल करके उत्पत्ति साधन आदि द्रव्य को यथानियम ऊपर नीचे और मध्य लोकों में विभाग करके देता है ॥ ११ ॥

त्रिषु पात्रेषु तं सोम॒मा दे॒व्य॑हरद् व॒शा । अथ॑र्वा यत्र॒ दीक्षि॑तो ब॒र्हिष्यास्त॑ हिर॒ण्यये॑ ॥ १२ ॥

त्रिषु । पात्रे॑षु । तम् । सोम॑म् । आ । दे॒वी । अ॒हर॒त् । व॒शा ॥ अथ॑र्वा । यत्र॑ । दीक्षि॑तः । ब॒र्हिषि॑ । आस्त॑ । हि॒र॒ण्यये॑ ॥१२॥

भावार्थ—(त्रिषु) तीन [ऊंचे, नीचे और मध्य] (पात्रेषु) रक्षा के आधार [लोकों] में वर्तमान (तम्) उस (सोमम्) सर्व प्रेरक [परमेश्वर] को (देवी) विजयिनी (वशा) [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] ने (आ) सब प्रकार (अहरत्) स्वीकार किया। (यत्र) जहां [तीनों लोकों] में

धनानां स्वामी परमेश्वरः (आ) समन्तात् (क्षीरम्) जलम् (अहरत्) गृहीतवान् (वशे) म० २। हे कमनीये (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च। उ० ४। १५७। इदि परमैश्वर्ये-कमिन्, नलोपः। उदकम्-निघ० १। १२। (तत्) तदा (अद्य) अस्मिन् दिने (नाकः) क्लेशशून्यः। सुखस्वरूपः परमेश्वरः (त्रिषु) उच्चनीचमध्येषु (पात्रेषु) रक्षाधारेषु लोकेषु (रक्षति) पाति ॥

१२—(त्रिषु) उच्चनीचमध्येषु (पात्रेषु) रक्षाधारेषु लोकेषु (सोमम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (आ) समन्तात् (देवी) विजयिनी (अहरत्) स्वीकृतवती (वशा) म० २। कमनीया परमात्मशक्तिः (अथर्वा) अ० ४। १। ७। अ+थर्व चरणे-वनिप्। निश्चलः परमेश्वरः (यत्र) त्रिषु लोकेषु (दीक्षितः) तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्। पा० ५। २। ३६। दीक्षा-इतच्।

(दीक्षितः) नियमवान् (अथर्वा) निश्चल परमात्मा (हिरण्यये) तेजोमय (बर्हिषि) वृद्धि के बीच (आस्त) बैठा है ॥ १२ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग ईश्वर शक्ति को त्रिलोकवर्त्ती परमेश्वर के आधीन जानते हैं, जो तेजोमय सदा प्रवृद्ध स्वतन्त्र परमात्मा सब का स्वामी है। तात्पर्य यह है कि ईश्वर और ईश्वर शक्ति में नित्य सम्बन्ध है ॥ १२ ॥

सं हि सोमे॑नाग॑त॒ समु॒ सर्वे॑ण प॒द्वता॑। व॒शा स॑मु॒द्रमध्य॑ष्ठाद् ग॑न्ध॒र्वैः क॒लिभिः स॒ह ॥ १३ ॥

सम् । हि । सोमे॑न । अग॑त । सम् । ऊं॒ इति॑ । सर्वे॑ण । प॒त्ऽवता॑ । व॒शा । स॒मु॒द्रम् । अधि॑ । अ॒स्था॒त् । ग॒न्ध॒र्वैः । क॒लिऽभिः । स॒ह ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (हि) ही (सोमेन) ऐश्वर्य के साथ (उ) और (सर्वेण) प्रत्येक (पद्वता) पांव वाले [चलते फिरते पुरुषार्थी] के साथ (सम् सम् अगत) निरन्तर संयुक्त हुई है, और (गन्धर्वैः) पृथिवी धारण करने वाले और (कलिभिः सह) गणना करने वाले [गुणों] के साथ (समुद्रम्) अन्तरिक्ष की (अधि अस्थात्) अधिष्ठात्री हुई है ॥ १३ ॥

नियमवान् (बर्हिषि) वृद्धौ (आस्त) आस-लङ्। उपविष्टवान् (हिरण्यये) तेजोमये ॥

१३—(हि) निश्चयेन (सोमेन) ऐश्वर्येण (सम् सम् अगत) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२। समो गमृच्छिप्रच्छि० । पा० १ । ३ । २९ । आत्मने पदम् । मन्त्रे घसह्वरणश० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । अनुदात्तोपदेशवनतितनोत्यादीनाम० । पा० ६ । ४ । ३७ । अनुनासिकलोपः । निरन्तरं संगतवती (उ) च (सर्वेण) प्रत्येकेन (पद्वता) पदयुक्तेन । गतिशीलेन (वशा) म० २ (समुद्रम्) अन्तरिक्षम् (अध्यष्ठात्) अधिकृतवती (गन्धर्वैः) अ० २ । १ । २ । पृथिवीधारकैर्गुणैः (कलिभिः) सर्वधातुभ्यः इन् । उ० ४ । ११८ । कल गतौ संख्याने च । गणकैर्गुणैः (सह)॥

भावार्थ—प्रत्येक पुरुषार्थी जीव अपने पुरुषार्थ के अनुसार ईश्वरशक्ति से फल पाता है ॥ १३ ॥

सं हि वाते॒नाग॑त॒ समु॒ सर्वैः॑ पत॒त्रिभिः॑ ।
व॒शा स॑मु॒द्रे प्रानृ॑त्य॒दृच॒ः सामा॑नि॒ बिभ्र॑ती ॥ १४ ॥

सम् । हि । वातेन । अगत । सम् । ऊं इति । सर्वैः । पतत्रि-भिः ॥ वशा । समुद्रे । प्र । अनृत्यत् । ऋचः । सामानि । बिभ्रती ॥ १४ ॥

भावार्थ—(ऋचः) स्तुति योग्य [वेद वाणियों] और (सामानि) मोक्ष ज्ञानों को (बिभ्रती) रखती हुई (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (हि) ही (वातेन) वायु से (उ) और (सर्वैः) सब (पतत्रिभिः) पक्षियों से (सम् सम् अगत) निरन्तर मिली है, और उसने (समुद्रे) अन्तरिक्ष में (प्र) अच्छे प्रकार (अनृत्यत्) अङ्ग फड़काये हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति ईश्वर वाणी को मानती हुईवायु,पक्षियों और सब लोकों को अन्तरिक्ष में चलाती हुई विराजमान है ॥ १४ ॥

सं हि सूर्ये॒णाग॑त॒ समु॒ सर्वे॑ण॒ चक्षु॑षा । व॒शा स॑मु॒द्रमत्य॑ख्यद्
भ॒द्रा ज्योती॑षि॒ बिभ्र॑ती ॥ १५ ॥

सम् । हि । सूर्येण । अगत । सम् । ऊं इति । सर्वेण । चक्षुषा ॥ वशा । समुद्रम् । अति । अख्यत् । भद्रा । ज्योतींषि । बिभ्रती १५

भावार्थ—(भद्रा) उत्तम (ज्योतींषि) ज्योतियों को (बिभ्रती) रखती हुई (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वरशक्ति] (हि) ही (सूर्येण)

१४—(वातेन) वायुना (सम् सम् अगत) म० १३ । निरन्तरं संगतवती (सर्वैः) समस्तैः (पतत्रिभिः) पक्षिभिः (समुद्रे) अन्तरिक्षे (प्र) प्रकर्षेण (अनृत्यत्) अङ्गानि विक्षिप्तवती (ऋचः) स्तुत्या वेदवाणीः (सामानि) अ० ७ । ५४ । १ । मोक्षज्ञानानि (बिभ्रती) धारयन्ती । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(सूर्येण) सूर्यमण्डलेन (चक्षुषा) दर्शनशक्त्या (अति) अत्यन्तम्

सूर्य के साथ (उ) और (सर्वेण) प्रत्येक (चक्षुषा) दृष्टि के साथ (सम् सम् अगत) निरन्तर मिली है और उसने (समुद्रम्) अन्तरिक्ष को (अति) अत्यन्त करके (अख्यत्) प्रकाशित किया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—ईश्वर की शक्ति से ही सूर्य में, और सूर्य द्वारा आंख में और अन्तरिक्ष के सब लोकों को प्रकाश पहुंचता है ॥ १५ ॥

अभीवृता हिरण्येन यदतिष्ठ ऋतावरि । अश्वः समुद्रो भूत्वाध्यस्कन्दद्वशे त्वा ॥ १६ ॥

अभि-वृता । हिरण्येन । यत् । अतिष्ठः। ऋत-वरि ॥ अश्वः । समुद्रः । भूत्वा । अधि । अस्कन्दत् । वशे । त्वा ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(ऋतावरि) हे सत्यशील ! (यत्) जब (हिरण्येन) तेज वा पराक्रम से (अभिवृता) घिरी हुई तू (अतिष्ठः) खड़ी हुई । (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (समुद्रः) [प्राणियोंके अच्छे प्रकार चलने का आधार] परमेश्वर (अश्वः) व्यापक (भूत्वा) होकर (त्वा) तुझ को (अधि) अधिकार पूर्वक (अस्कन्दत्) प्राप्त हुआ ॥ १६ ॥

भावार्थ - परमेश्वर अपनी शक्ति को अपने वश में रखकर यथा समय उसका प्रकाश करता है ॥ १६ ॥

तद्भद्राः समगच्छन्त वशा देष्ट्र्यथो स्वधा । अथर्वा यत्र दीक्षितो बर्हिष्यास्त हिरण्यये ॥ १७ ॥

(अख्यत्) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च । प्रकाशितवती (भद्रा) श्रेष्ठानि (ज्योतींषि) प्रकाशान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(अभिवृता) वेष्टिता (हिरण्येन) तेजसा वीर्येण वा (यत्) यदा (अतिष्ठः) स्थितवती (ऋतावरि) म० ८। सत्यशीले (अश्वः) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । अशू व्याप्तौ—क्वन् । व्यापकः (समुद्रः) समभिद्रवन्त्येनं भूतानि । समुद्र आदित्यः समुद्र आत्मा—निरु० १४ । १६ । सर्वभूतगमनाधारः परमात्मा (भूत्वा) (अधि) अधिकारपूर्वकम् (अस्कन्दत्) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः । प्राप्तवान् (वशे) (त्वा) ॥

तत् । भद्राः । सम् । अगच्छन्त । वशा । देष्ट्री । अथो इति । स्वधा ॥ अथर्वा । यत्र । दीक्षितः । बर्हिषि । आस्त । हिरण्यये ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(तत्) वहां (भद्राः) श्रेष्ठ गुण (सम् अगच्छन्त) मिले हैं, और (देष्ट्री) शासन करने वाली (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (अथो) और (स्वधा) अन्न [मिले हैं] । (यत्र) जहां (दीक्षितः) नियमवान् (अथर्वा) निश्चल परमात्मा (हिरण्यये) तेजोमय (बर्हिषि) वृद्धि के बीच (आस्त) बैठा है ॥ १७ ॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष अनन्त श्रेष्ठ गुणों और अन्न आदि को परमेश्वर की शक्ति के साथ पाकर परमात्मा की महिमा को ध्यान में रखते हैं ॥ १७॥

इस मन्त्र का दूसरा भाग—म० १२ में आचुका है ॥

वशा माता राजन्यस्य वशा माता स्वधे तव । वशाया यज्ञ आयुधं ततश्चित्तमजायत ॥ १८ ॥

वशा । माता । राजन्यस्य । वशा । माता । स्वधे । तव ॥ वशायाः । यज्ञे । आयुधम् । ततः । चित्तम् । अजायत ॥१८॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (राजन्यस्य) शासन कर्ता की (माता) माता [निर्मात्री], और (स्वधे) हे अन्न ! (वशा) वशा (तव) तेरी (माता) माता [जननी] है । (यज्ञे) यज्ञ [श्रेष्ठ कर्म] में (वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (आयुधम्) जीवन धारक कर्म है । (ततः) उससे (चित्तम्) चित्त [विचार सामर्थ्य] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ १८ ॥

१७—(तत्) तत्र (भद्राः) शुभगुणाः (सम् अगच्छन्त) संगतवन्तः (देष्ट्री) आदेष्ट्री । शासिका (अथो) अपि च (स्वधा) अन्नम्–निघ० २ । ७ । अन्यत् पूर्ववत्–म० १२ ॥

१८—(वशा) कमनीया परमेश्वरशक्तिः (माता) निर्मात्री (राजन्यस्य) अ० ५ । १७ । ६ । ऐश्वर्यवतः । शासकस्य (स्वधे) हे अन्न (वशायाः) परमेश्वरशक्तेः (यज्ञे) श्रेष्ठकर्मणि (आयुधम्) आयु+डु धाञ् धारणपोषणयोः—क । जीवनधारकं कर्म (ततः) तस्याः । वशायाः सकाशात् (चित्तम्) ज्ञानम् (अजायत) अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति के ज्ञान से मनुष्य को शासन शक्ति, अन्न प्राप्ति, जीवन धारण और विचार सामर्थ्य होता है ॥ १८ ॥

ऊर्ध्वो बिन्दुरुदचरद् ब्रह्मणः ककुदादधि । ततस्त्वं जज्ञिषे वशे ततो होताजायत ॥ १९ ॥

ऊर्ध्वः। बिन्दुः। उत् । अचरत् । ब्रह्मणः। ककुदात् । अधि ॥ ततः । त्वम् । जज्ञिषे । वशे । ततः । होता । अजायत ॥१९॥

भाषार्थ—(ऊर्ध्वः) ऊंचा (बिन्दुः) बिन्दु [थोड़ा अंश] (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमेश्वर] की (ककुदात्) प्रधानता से (अधि) अधिकार पूर्वक (उत् अचरत्) ऊंचा गया। (ततः) उससे (वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (त्वम्) तू (जज्ञिषे) उत्पन्न हुई थी, (ततः) और उसी से (होता) पुकारने वाला [यह जीवात्मा] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ १९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के बिन्दु अर्थात् थोड़े सामर्थ्य से संसार में यह दृश्यमान शक्ति और सब प्राणी प्रकट हैं ॥१९॥

आस्नस्ते गाथा अभवन्नुष्णिहाभ्यो बलं वशे । पाजस्याज्जज्ञे यज्ञ स्तनेभ्यो रश्मयस्तव ॥ २० ॥ (३४)

आस्नः । ते । गाथाः । अभवन् । उष्णिहाभ्यः। बलम् । वशे ॥ पाजस्यात् । जज्ञे । यज्ञः । स्तनेभ्यः । रश्मयः । तव २०(३४)

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (ते) तेरे (आस्नः) मुख से (गाथाः) गाथायें [गाने योग्य वेदवाणियां] (अभवन्)

१९—(ऊर्ध्वः) उच्चस्थः (बिन्दुः) बिदि अवयवे-उ । अल्पांशः (उदचरत्) उदगच्छत् (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (ककुदात्) कस्य सुखस्य कुं भूमिं ददातीति, क+कु+दा-क । प्राधान्ये राजलिङ्गे च वृषाङ्गे ककुदोऽस्त्रियाम् । इत्यमरः २३ । ९२ । प्राधान्यात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (ततः) बिन्दुसकाशात् (त्वम्) (जज्ञिषे) प्रादुर्बभूविथ (वशे) (ततः) तस्माद् बिन्दोः (होता) आह्वाता जीवः (अजायत) ॥

२०—(आस्नः) मुखात् (ते) तव (गाथाः) उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २।४। गै गाने-थन् । गाथा वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । गानयोग्या वेदवाण्यः

हुई हैं और (उष्णिहाभ्यः) उष्णियों [गले की हड्डियों] से (बलम्) बल [हुआ है]। (तव) तेरे (पाजस्यात्) उदर से (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (जज्ञे) उत्पन्न हुआ था, (स्तनेभ्यः) स्तनों [दूध के आधारों] से (रश्मयः) किरणें ॥ २० ॥

भावार्थ—परमेश्वर की शक्ति से ही वेदविद्यायें, बल, यज्ञ और प्रकाश उत्पन्न हुये हैं ॥ २० ॥

ई॒र्माभ्या॒मय॑नं जा॒तं सक्थि॑भ्यां च वशे॒ तव॑ । आ॒न्त्रेभ्यो॑ जज्ञिरे अ॒त्रा उ॒दरा॒दधि॑ वी॒रुधः॑ ॥ २१ ॥

ई॒र्माभ्या॑म् । अय॑नम् । जा॒तम् । सक्थि॑-भ्याम् । च॒ । व॒शे॒ । तव॑ ॥ आ॒न्त्रेभ्यः॑। ज॒ज्ञि॒रे॒। अ॒त्राः। उ॒दरा॑त्। अधि॑ । वी॒रुधः॑॥२१

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (तव) तेरी (ईर्माभ्याम्) दोनों ईर्म [टांगों वा गोड़ों] से (च) और (सक्थिभ्याम्) दोनो जंघाओं से (अयनम्) सूर्य का दक्षिण और उत्तर मार्ग (जातम्) उत्पन्न हुआ है । (आन्त्रेभ्यः) आंतों से (अत्राः) भोजन पदार्थ और (उदरात्) पेट से (वीरुधः) विविध उगने वाली ओषधियां (अधि जज्ञिरे) उत्पन्न हुई थीं २१

भावार्थ—ईश्वर शक्ति से सूर्य के दक्षिणायन और उत्तरायण मार्ग, जिनसे तीन तीन ऋतुयें बनती हैं, सब भोजन पदार्थ और रोग नाशक पदार्थ उत्पन्न हुये हैं ॥ २१ ॥

यदु॒दरं॒ वरु॑णस्यानु॒प्रावि॑शथा वशे । तत॑स्त्वा ब्र॒ह्मोद॑ह्वयत् स हि ने॒त्रमवे॒त् तव॑ ॥ २२ ॥

यत् । उ॒दर॑म् । वरु॑णस्य । अ॒नु॒-प्रावि॑शथाः । व॒शे॒ ॥ तत॑ः । त्वा॒ । ब्र॒ह्मा । उत् । अ॒ह्व॒य॒त् । सः। हि। ने॒त्रम्। अवे॑त् । तव॑२२

अभवन् (उष्णिहाभ्यः) अ० २ । ३३ । २ । ग्रीवानाडीभ्यः (बलम्) सामर्थ्यम् (पाजस्यात्) अ० ४ । १४ । ८ । उदरात् । अन्यत् सुगमम् ॥

२१—(ईर्माभ्याम्) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । ईर गतिकम्पनयोः-मक् । जङ्घाधोभागाभ्याम् (अयनम्) अय गतौ-ल्युट् । गतिः । दक्षिणत उत्तरस्याम्, उत्तरतश्च दक्षिणस्यां दिशि सूर्यस्य गतिः (सक्थिभ्याम्) अ० ६ । ६ । १ । जङ्घाभ्याम् (च) (वशे) (तव) (अत्राः) अ० ६ । ७ । १६ । अद भक्षणे-क्त्र । भोजनपदार्थाः । अन्यद् गतम्-अ० ६ । ७ । १६ ॥

भाषार्थ—(वशे) हे वशा ! [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (यत्) जब [प्रलय में] (वरुणस्य) वरुण [सब के ढकने वाले परमेश्वर] के (उदरम्) पेट में (अनुप्रविशथाः) तू ने प्रवेश किया । (ततः) फिर [सृष्टिकाल में] (त्वा) तुझे (ब्रह्मा) ब्रह्मा [महाविद्वान् परमेश्वर] ने (उत् अह्वयत्) ऊपर बुलाया, (हि) क्योंकि (सः) उस ने (ते) तेरा (नेत्रम्) नायकपन (अवेत्) जान था है ॥ २२ ॥

भावार्थ—सर्वनेता परमेश्वर अपनी शक्ति को प्रलय समय में अपने भीतर लय और सृष्टि समय में संसार के भीतर प्रकट करता है ॥ २२ ॥

सर्वे गर्भादवेपन्त जायमानादसूस्वः । ससूव हि तामाहुर्वशेति ब्रह्मभिः क्लृप्तः स ह्यस्या बन्धुः ॥ २३ ॥

सर्वे । गर्भात् । अवेपन्त । जायमानात् । असूस्वः ॥ ससूव । हि । ताम् । आहुः । वशा । इति । ब्रह्म-भिः । क्लृप्तः । सः । हि । अस्याः । बन्धुः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) सब [ऋषि] (असूस्वः) सत्ता की उत्पन्न करने वाली [परमेश्वर शक्ति] के (जायमानात्) उत्पन्न होते हुये (गर्भात्) गर्भ [संसार] से (अवेपन्त) थरथराये । (हि) क्योंकि (ताम्) उस [शक्ति] को (आहुः) वे [ब्रह्मज्ञानी] बताते हैं कि—"(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] ने (ससूव इति) उत्पन्न किया था," (हि) क्योंकि (ब्रह्मभिः)

२२—(यत्) यदा । प्रलये (उदरम्) जठरम् । स्वरूपम् (वरुणस्य) सर्वस्य वारकस्याच्छादकस्य परमेश्वरस्य (अनुप्रविशथाः) अनुक्रमेण प्रविष्टवती त्वम् (वशे) म० २ । हे कमनीये परमेश्वरशक्ते (ततः) तदुपरान्ते । सृष्टिकाले (ब्रह्मा) प्रवृद्धो महापण्डितः परमेश्वरः (उदह्वयत्) उत्कर्षेणाहूतवान् । प्रकटीकृतवान् (सः) ब्रह्मा (हि) यस्मात् (नेत्रम्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । णीञ् प्रापणे-ष्ट्रन् । नयनम् । नेतृत्वम् (अवेत्) विद ज्ञाने-लङ् । अजानात् (तव) ॥

२३—(सर्वे) ऋषयः (गर्भात्) गर्भरूपात् संसारात् (अवेपन्त) कम्पितवन्तः (जायमानात्) उत्पद्यमानात् (असूस्वः) असु-स्वः । कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० । अस सत्तायाम्-उ+षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-क्विप् । आडभावो यणादेशश्च । असुं सत्तां सृष्टिं सूयते सा असूसूस्तस्याः असूस्वाः । सत्तायाः सृष्टेः जनयित्र्याः परमेश्वरशक्तेः (ससूव) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने-लिट् ।

वेदज्ञानों से (क्लृप्तः) समर्थ (सः) वह [परमेश्वर] (अस्याः) इस [शक्ति] का (बन्धुः) बन्धु [संबन्ध वाला] है ॥ २३ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग बड़ा आश्चर्य मानते हैं कि महाबली परमेश्वर की महाबलवती शक्ति है जिसने यह महान् संसार रचा है ॥ २३ ॥

युध एकः सं सृजति यो अस्या एक इद् वशी । तरांसि यज्ञा अभवन् तरसां चक्षुरभवद् वशा ॥ २४ ॥

युधः । एकः । सम् । सृजति । यः । अस्याः । एकः । इत् । वशी ॥ तरांसि । यज्ञाः । अभवन् । तरसाम् । चक्षुः । अभवत् । वशा ॥ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(एकः) एक [परमेश्वर] (युधः) लड़ाकों [परस्पर विरोधी, सुख दुःख, अग्नि जल, सिंह बकरी, आदि] को (सम्) यथावत् (सृजति) उत्पन्न करता है, (यः) जो [परमेश्वर] (एकः इत्) एक ही (अस्याः) इस [शक्ति] का (वशी) वश करने वाला है । [परमेश्वर के] (तरांसि) पराक्रम (यज्ञाः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (अभवन्) हुये हैं, और (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (तरसाम्) [उन] पराक्रमों की (चक्षुः) नेत्र (अभवत्) हुई है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी शक्ति और पराक्रम से समस्त संसार को रचकर सब की यथावत् सुधि रखता है ॥ २४ ॥

वशा यज्ञं प्रत्यगृह्णाद् वशा सूर्यमधारयत् । वशायामन्तर्विशदोदनो ब्रह्मणा सह ॥ २५ ॥

ससूवेति निगमे । पा० ७ । ४ । ७४ । इति परस्मैपदे रूपम् । सुषुवे । जनयामास (हि) यस्मात् (ताम्) परमेश्वरशक्तिं प्रति (आहुः) कथयन्ति मनीषिणः (वशा) कमनीया परमेश्वरशक्तिः (ब्रह्मभिः) वेदज्ञानैः (क्लृप्तः) समर्थः (सः) परमेश्वरः (हि) यस्मात् (अस्याः) वशायाः (बन्धुः) सम्बन्धी ॥

२४—(युधः) योद्धारः । परस्परविरोधिनः (एकः) अद्वितीयः (सम्) सम्यक् (सृजति) जनयति (यः) परमेश्वरः (अस्याः) वशायाः (एकः) (इत्) एव (वशी) वशयिता । शासकः (तरांसि) बलानि—निघ० २ । ९ । पराक्रमाः (यज्ञाः) श्रेष्ठव्यवहाराः (अभवन्) (तरसाम्) बलानाम् (चक्षुः) दृष्टिः (अभवत्) (वशा) ॥

वशा । युज्ञम् । प्रति । अगृह्णात् । वशा । सूर्यम् । अधारयत् ॥
वशायाम् । अन्तः । अविशत् । ओदनः । ब्रह्मणा । सह ॥२५॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] ने (यज्ञम्) यज्ञ [संगति योग्य संसार] को (प्रति अगृह्णात्) ग्रहण कर लिया है, (वशा) वशा ने (सूर्यम्) सूर्य को (अधारयत्) धारण किया है। (वशायाम् अन्तः) वशा के भीतर (ओदनः) सींचने वाले [मेघ] ने (ब्रह्मणा सह) अन्न के साथ (अविशत्) प्रवेश किया है ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की ही शक्ति में यह सब संसार सूर्य आदि लोकों और सब पालन साधनों सहित वर्तमान है ॥ २५ ॥

वशामेवामृतमाहुर्वशां मृत्युमुपासते । वशेदं सर्वमभवद् देवा मनुष्या ३ असुराः पितर ऋषयः ॥ २६ ॥

वशाम् । एव । अमृतम् । आहुः । वशाम् । मृत्युम् । उप । आसते ॥ वशा । इदम् । सर्वम् । अभवत् । देवाः । मनुष्याः । असुराः । पितरः । ऋषयः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (एव) ही (अमृतम्) अमृत [अमरपन] (आहुः) वे [ऋषि] बताते हैं, (वशाम्) वशा को (मृत्युम्) मृत्यु [समान] (उप आसते) वे मानते हैं। (वशा) वशा (इदम् सर्वम्) इस सब में (अभवत्) व्यापक हुई है, और

२५—(वशा) कमनीया परमेश्वरशक्तिः (यज्ञम्) संगन्तव्यं संसारम् (प्रत्यगृह्णात्) प्रत्यक्षं स्वीकृतवती (वशा) (सूर्यम्) (अधारयत्) धृतवती (वशायाम्) परमेश्वरशक्तौ (अन्तः) मध्ये (अविशत्) प्रविष्टवान् (ओदनः) अ० ६ । ५ । १६ । सेचकः । मेघः—निघ० १ । १० । (ब्रह्मणा) अन्नेन—निघ० २ । ७ (सह) ॥

२६—(वशाम्) कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (एव) (अमृतम्) अमरणम् । मोक्षम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (वशाम्) (मृत्युम्) मरणम् । दुःखभोगम् (उपासते) मन्यन्ते । पूजयन्ति (वशा) (इदम्) दृश्यमानम् (सर्वम्) जगत् (अभवत्) भू प्राप्तौ । व्याप्नोत् (देवाः) विजयिनः (मनु-

(देवाः) देव [विजयी], (मनुष्यः) मनुष्य [मननशील], (असुराः) असुर [बुद्धिमान्], (पितरः) पितर [पालन करने वाले] और (ऋषयः) ऋषि [सूक्ष्म दर्शी लोग] [जो हैं उन सब में वह व्यापक हुई है] ॥ २६ ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति से प्राणी अपने कर्मानुसार अमृत अर्थात् मोक्ष और मृत्यु अर्थात् बन्धन पाते हैं। वही ईश्वर शक्ति समस्त जगत् में व्यापक है, जितेन्द्रिय विचारशील पुरुष उस शक्ति का अनुभव करते हैं ॥ २६ ॥

य एवं विद्यात् स वशां प्रति गृह्णीयात्। तथा हि यज्ञः सर्वपाद् दुहे दात्रेऽनपस्फुरन् ॥ २७ ॥

यः। एवम्। विद्यात्। सः। वशाम्। प्रति। गृह्णीयात् ॥ तथा। हि। यज्ञः। सर्व-पात्। दुहे। दात्रे। अनप-स्फुरन् २७

भाषार्थ—(यः) जो [मनुष्य] (एवम्) ऐसा (विद्यात्) जाने, (सः) वह (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] को (प्रति) प्रतीति से (गृह्णीयात्) ग्रहण करे। (हि) क्योंकि (तथा) उसी प्रकार से (सर्वपात्) पूर्ण स्थिति वाला (अनपस्फुरन्) निश्चल रहता हुआ (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (दात्रे) दाता को (दुहे) भरपूर रहता है ॥ २७॥

भावार्थ—जो मनुष्य दृढ़ निश्चय से ईश्वर शक्ति को साक्षात् करता है, उसको उत्तम कर्मों के अभ्यास से उत्तम फल मिलता रहता है ॥ २७ ॥

तिस्रो जिह्वा वरुणस्यान्तर्दीद्यत्यासनि। तासां या मध्ये राजति सा वशा दुष्प्रतिग्रहा ॥ २८ ॥

तिस्रः। जिह्वाः। वरुणस्य। अन्तः। दीद्यति। आसनि ॥

ष्याः) मननशीलाः (असुराः) अ० १। १०। १। असुरत्वंप्रज्ञावत्त्वम्—निरु० १०। ३४। प्रज्ञावन्तः (पितरः) पालकाः (ऋषयः) सूक्ष्मदर्शिनः। ये तान् अभवत् व्याप्नोत्—इति शेषः ॥

२७—(यः) पुरुषः (एवम्) पूर्वोक्त यथा (विद्यात्) जानीयात् (सः) (वशाम्) (प्रति) प्रत्यक्षम् (गृह्णीयात्) स्वीकुर्यात् (तथा) तेन प्रकारेण (हि) यस्मात् कारणात् (यज्ञः) श्रेष्ठव्यवहारः (सर्वपात्) पूर्णस्थितिः (दुहे) दुग्धे। दुह्यते। प्रपूर्यते (दात्रे) सुखदानशीलाय (अनपस्फुरन्) अ० ६। १। ७। स्फुर संचलने-शतृ। निश्चलन् ॥

तासा॑म् । या । मध्ये॑ । राज॑ति । सा । वशा । दुः-प्रतिग्रहा॑ ॥ २८

भाषार्थ—(वरुणस्य) वरुण [श्रेष्ठ परमेश्वर] के (आसनि अन्तः) मुखके भीतर (तिस्रः) तीन [सत्त्व, रज और तम रूप] (जिह्वाः) जीभें (दीद्यति = ०-न्ति) चमकती हैं। (तासाम्) उन [जीभों] के (मध्ये) बीच में (या) जो (राजति) राज करती है' (सा) वह (दुष्प्रतिग्रहा) पाने में कठिन (वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] है ॥ २८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के मुखरूप सृष्टि में सत्त्व गुण, रजोगुण और तमोगुण रूप तीन जिह्वा हैं। इन तीनों की अधिष्ठात्री विशाल परमेश्वर शक्ति है, जिस का प्रभाव समझना मनुष्य को बड़ा कठिन है ॥ २८ ॥

चतुर्धा रेतो॑ अभवद् व॒शायाः॑ । आप॒स्तुरीय॑म॒मृतं॒ तुरीयं॑ य॒ज्ञ-स्तुरीयं॑ प॒शव॒स्तुरीय॑म् ॥ २९ ॥

चतुः-धा । रेतः॑ । अभ॒वत् । व॒शायाः॑ ॥ आपः॑ । तुरीय॑म् । अ॒मृत॑म् । तुरीय॑म् । य॒ज्ञः । तुरीय॑म् । प॒शवः॑ । तुरीय॑म् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (रेतः) वीर्य [वा सामर्थ्य] (चतुर्धा) चार प्रकार पर (अभवत्) हुआ है। (आपः) व्यापक तन्मात्रायें (तुरीयम्) एक चौथाई, (अमृतम्) अमृत [अमरपन] (तुरीयम्) एक चौथाई, (यज्ञः) यज्ञ [संगति किया हुआ संसार] (तुरीयम्) एक चौथाई और (पशवः) दृष्टि वाले [सब प्राणी] (तुरीयम्) एक चौथाई खण्ड हैं ॥ २९ ॥

२८—(तिस्रः) सत्त्वरजस्तमोरूपाः (जिह्वाः) (वरुणस्य) वरणीयस्य श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (अन्तः) मध्ये (दीद्यति) दीद्यतिर्ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६ । नैरुक्तो धातुः, दिवादित्वम् एक वचनं च छान्दसम् । दीद्यन्ति । दीप्यन्ते (आसनि) मुखे (तासाम्) जिह्वानाम् (या) (मध्ये) (राजति) ईष्टे । दीप्यते (सा) (वशा) म० २ (दुष्प्रतिग्रहा) दुःखेन ग्राह्या प्राप्तव्या ॥

२९—(चतुर्धा) चतुष्प्रकारेण (रेतः) वीर्यम् । सामर्थ्यम् (अभवत्) आसीत् (वशायाः) कमनीयायाः परमेश्वरशक्तेः (आपः) व्यापिकास्तन्मात्राः—दयानन्दभाष्ये, यजुः २७ । २५ (तुरीयम्) चतुर्थं खण्डम् (अमृतम्) अमरणम् अविनाशः (यज्ञः) संगतिकरणव्यवहारः संसारः (पशवः) दृष्टिमन्तः प्राणिनः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—ईश्वर शक्ति चार प्रकार से प्रकट है—एक सूक्ष्म तन्मात्राओं में, दूसरे उनके अमृत अर्थात् अविनाश में, तीसरे संगतिकरण व्यवहार अर्थात् पृथिवी सूर्य आदि की रचना में, और चौथे चराचर प्राणियों की पालन पोषण क्रिया में ॥ २६ ॥

व॒शा द्यौर्व॒शा पृ॑थि॒वी व॒शा विष्णु॑: प्र॒जाप॑तिः । व॒शाया॑ दु॒ग्धम॑पिबन्त्सा॒ध्या वस॑वश्च॒ ये ॥ ३० ॥

व॒शा । द्यौः । व॒शा । पृ॒थि॒वी । व॒शा । विष्णु॑ः । प्र॒जा-प॑तिः ॥ व॒शायाः॑ । दु॒ग्धम् । अ॒पि॒ब॒न् । सा॒ध्याः । वस॑वः । च॒ । ये ॥३०॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] (द्यौः) आकाश में, (वशा) वशा (पृथिवी) पृथिवी में, (वशा) वशा (प्रजापतिः) प्रजापालक (विष्णुः) व्यापक सूर्य में है। (वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] की (दुग्धम्) पूर्णता को (अपिबन्) उन्होंने पान किया है, (ये) जो (साध्याः) परोपकार साधने वाले [साधु] (च) और (वसवः) श्रेष्ठ स्वभाव वाले हैं ॥३०॥

भावार्थ—सर्वव्यापिनी परमेश्वरशक्ति के सुख दान का अनुभव करके परोपकारी ऋषि महात्मा लोग आनन्द पाते हैं ॥३०॥

व॒शाया॑ दु॒ग्धं पी॒त्वा सा॒ध्या वस॑वश्च॒ ये । ते वै ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपि॒ पयो॑ अ॒स्या उपा॑सते ॥ ३१ ॥

व॒शायाः॑ । दु॒ग्धम् । पी॒त्वा । सा॒ध्याः । वस॑वः । च॒ । ये ॥ ते । वै । ब्र॒ध्नस्य॑ । वि॒ष्टपि॑ । पयः॑ । अ॒स्याः । उप॑ । आ॒स॒ते॒ ॥३१॥

३०—(वशा) म० २१ कमनीया परमेश्वरशक्तिः (द्यौः) सुपां सुलुक्० । पा० ।७।१।३६। विभक्तेः सुः । दिवि । आकाशे (पृथिवी) पृथिव्याम् (विष्णुः) विष्णौ व्यापके सूर्ये । शिपिविष्टो विष्णुरिति विष्णोर्द्वे नामनी भवतः निरु० ५।७ (प्रजापतिः) प्रजापालके (वशायाः) परमेश्वरशक्तेः (दुग्धम्) पूर्णत्वम् (अपिबन्) ते पीतवन्तः (साध्याः) अ० ७।५।१। परोपकारसाधकाः साधवः (वसवः) श्रेष्ठस्वभावयुक्ताः (च) (ये) ॥

भाषार्थ—(ये) जो लोग (साध्याः) परोपकार साधने वाले [साधु] (च) और (वसवः) श्रेष्ठ स्वभाव वाले हैं। (ते वै) वे ही (वशायाः) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] की (दुग्धम्) पूर्णता को (पीत्वा) पान करके (ब्रध्नस्य) नियन्ता [महान् परमेश्वर] के (विष्टपि) सहारे में (अस्याः) इस [परमेश्वर शक्ति] के (पयः) ज्ञान का (उप आसते) सेवन करते हैं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—परोपकारी साधु महात्मा परमेश्वर की सूक्ष्म शक्तियों के ध्यानसे अपना ज्ञान और बल बढ़ाकर सुखी होते हैं ॥ ३१ ॥

सोमम॑ेना॒मेके॑ दुह्रे घृ॒तमेक॒ उपा॑सते । य ए॒वं वि॒दुषे॑ व॒शां द॒दुस्ते ग॒तास्त्रि॒दिवं॑ दि॒वः ॥ ३२ ॥

सोम॑म् । ए॒नाम् । एके॑ । दु॒ह्रे॒ । घृ॒तम् । एके॑ । उप॑ । आ॒स॒ते॒ ॥ ये । ए॒वम् । वि॒दुषे॑ । व॒शाम् । द॒दुः । ते । ग॒ताः । त्रि॒ऽदिव॑म् । दि॒वः ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(एके) कोई कोई [महात्मा] (एनाम्) इससे (सोमम्) ऐश्वर्य को (दुह्रे) दुहते हैं, (एके) कोई कोई [इस के] (घृतम्) तत्त्वका (उप आसते) सेवन करते हैं। (ये) जिन्हों ने (एवम्) ऐसे (विदुषे) वि-

---

३१—(पीत्वा) अनुभूय (ते) (वै) एव (ब्रध्नस्य) अ० ७ । २२ । २ । बन्ध बन्धने-नक्, ब्रधादेशः । ब्रध्नो महन्नाम-निघ० ३।३। बन्धकस्य नियामकस्य महतः परमेश्वरस्य (विष्टपि) वि+ष्टभि प्रतिबन्धे-क्विप् भस्य पः । यद्वा, विटपविष्टपविशिपोलपाः । उ० ३ । १४५ । विश प्रवेशने-कपप्रत्ययः, तुडागमः, अन्त्याऽकारलोपः । विष्टपं साधारणनाम-निघ० १ । ४ । विष्टवादित्यो भवत्याविष्टो रसानाविष्टो भासं ज्योतिषामाविष्टो भासेति वाथ द्यौराविष्टा ज्योतिर्भिः पुण्यकृद्भिश्च—निरु० २ । १४ । विष्टम्भने । प्रवेशे । आश्रये (पयः) पय गतौ—असुन् । ज्ञानम् (अस्याः) वशायाः (उपासते) सेवन्ते । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३० ॥

३२—(सोमम्) ऐश्वर्यम् (एनाम्) वशाम् (एके) महात्मानः (दुह्रे) दुह प्रपूरणे-लट् । बहुलं छन्दसि । पा० ७।१।८। रुडागमः । लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ । १ । ४१ । तलोपः । दुहते । प्रपूरयन्ति (घृतम्) तत्त्वम् (एके) (उपा-

द्वान् को (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (ददुः) दान किया है, (ते) वे (दिवः) विजय के (त्रिदिवम्) तीन [आय, व्यय, वृद्धि] के व्यवहार स्थान में (गताः) पहुंचे हैं ॥ ३२ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग ईश्वर शक्ति के विचार से अपना ऐश्वर्य और और ज्ञान बढ़ाते और अन्य विद्वानों को उपदेश करके संसार में विजय सीमा तक पहुंचते हैं ॥ ३२ ॥

ब्राह्मणेभ्यो वशां दत्त्वा सर्वाँल्लोकान्त्समश्नुते । ऋतं ह्यस्यामार्पितमपि ब्रह्माथो तपः ॥ ३३ ॥

ब्राह्मणेभ्यः । वशाम् । दत्त्वा । सर्वान् । लोकान् । सम् । अश्नुते ॥ ऋतम् । हि । अस्याम् । आर्पितम् । अपि । ब्रह्म । अथो इति । तपः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] को (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] का (दत्त्वा) दान करके (सर्वान् लोकान्) सब लोकों [दर्शनीय पदों] को [यह प्राणी] (सम्) ठीक ठीक (अश्नुते) पाता है । (हि) क्योंकि (अस्याम्) इस [परमेश्वर शक्ति] में (ऋतम्) सत्य व्यवहार (अपि) और (ब्रह्म) वेदज्ञान (अथो) और (तपः) तप [ऐश्वर्य] (आर्पितम्) स्थापित है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ईश्वर की सत्य ज्ञान से दूसरे विद्वानों की उन्नति करके अनेक प्रकार अपनी उन्नति करते हैं ॥ ३३ ॥

सते) सेवन्ते (ये) विद्वांसः (एवम्) अनेन प्रकारेण (विदुषे) विदते-जानते पुरुषाय (वशाम्) म० २ । कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (ददुः) दत्तवन्तः (ते) विद्वांसः (गताः) प्राप्ताः (त्रिदिवम्) अ० १० । ६ । ५ । त्रयाणां दिवानामायव्ययवृद्धिव्यवहाराणां स्थानम् (दिवः) अ० १० । ६ । ५ । विजयस्य ॥

३३—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्रह्मज्ञानिभ्यः (वशाम्) म० २ (दत्त्वा) (सर्वान्) (लोकान्) दर्शनीयान् व्यवहारान् (सम्) सम्यक् (अश्नुते) प्राप्नोति मनुष्यः (ऋतम्) सत्यव्यवहारः (हि) यस्मात् कारणात् (अस्याम्) वशायाम् (आर्पितम्) स्थापितम् (अपि) समुच्चये (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (अथो) अपि च (तपः) ऐश्वर्यम् ॥

वृशां दे॒वा उप॑ जीवन्ति वृशां म॑नु॒ष्या॑ उ॒त । वृ॒शेदं सर्व॑मभव॒द् याव॒त् सूर्यो॑ वि॒पश्य॑ति ॥ ३४ ॥ (३५)

वृ॒शाम् । दे॒वाः । उप॑ । जी॒व॒न्ति॒ । वृ॒शाम् । म॒नु॒ष्याः॑ । उ॒त ॥ वृ॒शा । इ॒दम् । सर्व॑म् । अ॒भ॒व॒त् । याव॑त् । सूर्यः॑ । वि॒-पश्य॑ति ॥ ३४ ॥ (३५)

भाषार्थ—(देवाः) देव [विजयी जन] (वशाम्) वशा [कामना योग्य परमेश्वर शक्ति] के, (उत) और (मनुष्याः) मनुष्य [मननशील लोग] (वशाम्) वशा के (उप जीवन्ति) आश्रय से जीते हैं । (वशा) वशा (इदम् सर्वम्) इस सब में (अभवत्) व्यापक हुई है, (यावत्) जितना कुछ (सूर्यः) सूर्य [सर्व प्रेरक परमात्मा] (विपश्यति) विविध प्रकार देखता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—परमात्मा की समस्त सृष्टि में उसकी शक्ति से सब पुरुषार्थी और विवेकी लोग बल प्राप्त करके आनन्दित रहते हैं ॥ ३४ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इति दशमं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीराव गायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमास परीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये दशमं काण्डं समाप्तम् ॥

काश्यां प्रयागनगरे श्रावणमासे अमावस्यायां तिथौ १९७४ तमे विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिरप्रतापिमहायशस्वि-श्री राजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्-द्वितीय भाद्रपदकृष्णा १४ संवत् १९७४ ता० १५ सितम्बर १९१७ ॥

३४—(वशाम्) मन्त्र २ । कमनीयां परमेश्वरशक्तिम् (देवाः) विजयिनो जनाः (उप जीवन्ति) उपेत्य प्राणान् धारयन्ति (वशाम्) (मनुष्याः) मननशीलाः (उत) अपि (वशा) (इदम्) दृश्यमानम् (सर्वम्) जगत् (अभवत्) व्याप्नोत् (यावत्) यत्प्रमाणम् (सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (वि पश्यति) विविधमवलोकते ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जूलाई १८१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—
नन्दलाल सिंह,
B.Sc., LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद हैं। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तौ चारो वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं; मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया; फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९५६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत प० **शिव शंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में·····अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १२७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्रा: की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१२।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता०२७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा**, मु० एकडका पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१२।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पन्नता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज़, पत्र ता० १७-९—१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६— लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में इन्होंने अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।............इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State*, *letter No.* 624 *dated 6th February* 1913.

......It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA, RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAAABAD,

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good; the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition ; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्यें ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ॥

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

एकादशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमश्रीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharv 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकार यन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि | संवत् १६७४ वि० सन् १६१७ ई० | मूल्यम् २)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)॥

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परमधर्म है।"

आनन्द समाचार॥

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, और यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्व वेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६ आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेद प्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगतपिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखानेवाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११	पृष्ठ २,८५० लगभग
मूल्य	१)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)	२२।)

काण्ड १२ छप रहा है। कांड १३ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र, ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य।)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण व्यापार, गृहस्थ, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्र

२० दिसम्बर १९१७।

१–सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड ११॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अग्ने जायस्वादिति	ब्रह्मौदन	ब्रह्मज्ञान से उन्नति	विराट् त्रिष्टुप् आदि
२	भवाशर्वौ मृडतंमाभि	भव, शर्व, रुद्र	शांति के लिये पुरुषार्थ	स्वराट् त्रिष्टुप् आदि
३(१)	तस्यौदनस्य बृहस्पतिः	ओदन	सृष्टि के पदार्थों का ज्ञान	आसुरी गायत्री आदि
(२)	ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा	तथा	बलविद्या	साम्नी त्रिष्टुप् आदि
(३)	एतद्वै ब्रध्नस्य विष्टपं	तथा	ब्रह्मज्ञान से मोक्ष	आसुर्यनुष्टुप् आदि
४	प्राणाय नमो यस्य	प्राण	प्राण की महिमा	शङ्कुमती आदि
५	ब्रह्मचारीष्णंश्चरति	ब्रह्मचारी	ब्रह्मचर्य के महत्त्व	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
६	अग्निं ब्रूमो वनस्पती	अग्नि आदि	कष्ट हटाना	अनुष्टुप् आदि
७	उच्छिष्टे नाम रूपं	उच्छिष्ट	सब जगत के कारण परमात्मा	अनुष्टुप् आदि
८	यन्मन्युर्जायामावहत्	मन्यु	शरीर की रचना	अनुष्टुप् आदि
९	ये बाहवो या इषवो	अर्बुदि	राजा प्रजा के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
१०	उत्तिष्ठत संनह्यध्वमु	त्रिषन्धिआदि	राजा प्रजा के कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि

२–अथर्ववेद काण्ड ११ के मन्त्र अन्यवेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	(काण्ड ११) सूक्तमन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	कृणुत धूमं वृषणः	१ । २	३ । २९ । ९		
२	मा नो महान्तमुत	२ । २९	१ । ११४ । ७	१६ । १५	
३	अभिक्रन्दन् स्तनयन्न	५ । १२	१ । १६४ । ४२		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

एकादशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१-३७ ॥ ब्रह्मौदनो देवता ॥ १,२,५, विराट् त्रिष्टुप् ; ३ शक्वरी गर्भा त्रिष्टुप् ; ४, ६, १३, १४, १६, २१, २३, २६-३१, ३६, भुरिक् त्रिष्टुप् ; ७, १२, १६, २२, २६, २८, ३२-३४ त्रिष्टुप् ; ८ विराड् गायत्री ; ६, ११ जगती ; १०, १५ स्वराट् त्रिष्टुप् ; १७, ३७ विराड् जगती; १८, २५ भुरिग् जगती ; २० स्वराड् जगती ; २४ निचृदार्षी जगती ; २७ आर्षी जगती; ३५ निचृदुष्णिक् ॥

ब्रह्मज्ञानेनोन्नत्युपदेशः-ब्रह्मज्ञान से उन्नति का उपदेश ॥

अग्ने जायस्वादितिर्नाथितेयं ब्रह्मौदनं पचति पुत्रकामा ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वा मन्थन्तु प्रजया सहेह ॥ १ ॥

अग्ने । जायस्व । अदितिः । नाथिता । इयम् । ब्रह्म-ओदनम् । पचति । पुत्र-कामा ॥ सप्त-ऋषयः । भूत-कृतः । ते । त्वा । मथन्तु । प्र-जया । सह । इह ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी विद्वान् पुरुष ! (जायस्व) प्रसिद्ध हो, [जैसे] (इयम्) यह (नाथिता) पति वाली, (पुत्रकामा) पुत्रों की कामना वाली (अदितिः) अदिति [अखण्ड व्रत वाली वा अदीन स्त्री] (ब्रह्मौदनम्)

१—(अग्ने) हे तेजस्विन् विद्वन् (जायस्व) प्रसिद्धो भव (अदितिः) अ० २ । २८ । ४ । दो अवखण्डने दीङ् क्षये वा-क्तिन्, नञ्समासः । अदितिरदीना देवमाता-निरु० ४ । २२ । अखण्डव्रताऽदीना स्त्री (नाथिता) अ० ४ । २३ । ७ ।

ब्रह्म-ओदन [वेदज्ञान, अन्न वा धन के बरसाने वाले परमात्मा] को (पचति) पक्का [मनमें दृढ़] करती है। [वैसे ही] (ते) वे (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले (सप्तऋषयः) सात ऋषि [व्यापन शील वा दर्शन शील अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (इह) यहां पर (प्रजया सह) प्रजा के साथ [मनुष्यों के सहित] (त्वा) तुझ [विद्वान्] को (मन्थन्तु) मथें [प्रवृत्त करें] ॥ १ ॥

भावार्थ—हे मनुष्य जैसे माता वेद आदि शास्त्रोंमें प्रवीण होकर सन्तान से प्रीति करती हुयी परमेश्वर की आज्ञा पालन में तत्पर होती है, वैसे ही तू अपनी इन्द्रियों मन और बुद्धि से उपकार लेकर सन्तान सहित पुरुषार्थ कर ॥१॥

कृणुत धूमं वृषणः सखायोऽद्रोघाविता वाचमच्छ । अयमग्निः पृतनाषाट् सुवीरो येन देवा असहन्त दस्यून् ॥ २ ॥

कृणुत । धूमम् । वृषणः । सखायः । अद्रोघ-अविता । वाचम् । अच्छ ॥ अयम् । अग्निः । पृतनाषाट् । सु-वीरः । येन । देवाः । असहन्त । दस्यून् ॥ २ ॥

नाथ-इतच्, टाप्। नाथवती सभर्तृका (इयम्) प्रसिद्धा (ब्रह्मौदनम्) अ० ४ । ३५ । ७ । बृंहेर्नोऽच्च । उ० ४ । १४६ । बृहि वृद्धौ-मनिन्, नकारस्य अकार, रत्वं च । ब्रह्म, अन्नम् निघ० २ । ७ । ब्रह्म धनम्-निघ० २ । १० + उन्देर्नलोपश्च उ० २ । ७६ । उन्दी क्लेदने-युच् । ओदनो मेघः-निघ० १ । १० । ओदनमुदकदानं मेघम्-निरु० ६ । ३४ । ब्रह्मणो वेदज्ञानस्यान्नस्य धनस्य वा सेचकं वर्धकं परमात्मानम् (पचति) पक्वं मनसि दृढं करोति (पुत्रकामा) शीलिकामिभक्ष्याचरिभ्यो णः । वा० पा० ३ । २ । १ । कामेर्णप्रत्ययः । पुत्रादीन् कामयमाना (सप्तऋषयः) अ० ४ । ११ । ६ । ऋष गतौ दर्शने च-इन् । ऋत्यकः । पा० ६ । १ । १२८ । इति प्रकृतिभावः । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे-यजु० ३४ । ५५ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी-निरु० १२ । ३७ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः (भूतकृतः) अ० ६ । १०८ । ४ । भूतमुचितं कर्म कुर्वन्ति ते (ते) प्रसिद्धाः (त्वा) त्वां विद्वांसम् (मन्थन्तु) विलोडयन्तु । प्रवर्तयन्तु (प्रजया) प्रजागणेन (सह) साकम् (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे ॥

भाषार्थ—(वृषणः) हे ऐश्वर्य वाले (सखायः) सखाओ ! (धूमम्) कम्पन [चेष्टा] (कृणुत) करो, (वाचम् अच्छ) [अपने] वचन का लक्ष्य करके (अद्रोघाविता) निर्द्रोहियों [शुभाचारियों] का रक्षक (पृतनाषाट्) संग्रामों का जीतने वाला, (सुवीरः) उत्तम वीरों वाला (अयम्) यह (अग्निः) तेजस्वी वीर है, (येन) जिस [वीर] के साथ (देवाः) देवों [विजयी जनों] ने (दस्यून्) डाकुओं को (असहन्त) जीता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य मित्रभाव से रहकर सुपरीक्षित शूरवीर विद्वान् पुरुष को सेनापति बनाकर शत्रुओं का नाश करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ३ । सू० २९ । म० ९ ॥

अग्नेऽजनिष्ठा महते वीर्याय ब्रह्मौदनाय पक्तवे जातवेदः ।
सप्तऋषयो भूतकृतस्ते त्वाजीजनन्नस्यै रयिं सर्ववीरं नि यच्छ ॥३॥

अग्ने । अजनिष्ठाः । महते । वीर्याय । ब्रह्म-ओदनाय ।
पक्तवे । जात-वेदः ॥ सप्त-ऋषयः । भूत-कृतः । ते । त्वा ।
अजीजनन् । अस्यै । रयिम् । सर्व-वीरम् । नि । यच्छ ॥३॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले (अग्ने) तेजस्वी वीर !

२—(कृणुत) कुरुत (धूमम्) इषियुधीन्धिदसिश्याधूसूभ्यो मक् । उ० १ । १४५ । धूञ् कम्पने-मक् । कम्पनं चेष्टनम् । (वृषणः) अ० १ । १२ । १ । वृषु सेचने प्रजनैश्ययोः-कनिन् । वा षपूर्वस्य निगमे । पा० ६ । ४ । ९ । दीर्घाभावः । वृषाणः । ऐश्वर्यवन्तः । इन्द्राः (सखायः) सर्वमित्रभूताः (अद्रोघाविता) अद्रोहकारिणां सुचरित्राणामविता रक्षिता (वाचम्) वचनम् (अच्छ) अभिलक्ष्य (अयम्) (अग्निः) तेजस्वी विद्वान् (पृतनाषाट्) अ० ५ । १४ । ८ । संग्रामजेता (सुवीरः) नञ्सुभ्याम् । पा० ६ । २ । १७२ इत्युत्तरपदेऽन्तोदात्ते प्राप्ते । वीरवीर्यौ च । पा० ६ । २ । १२० । उत्तरपदाद्युदात्तः । शोभनवीरोपेतः (येन) शूरेण (देवाः) विजयिनः (असहन्त) अभ्यभवन् (दस्यून्) चौरान् । महासाहसिकान् ॥

(अग्ने) हे तेजस्विन् (अजनिष्ठाः) त्वमुत्पन्नोऽसि (महते) प्रभूताय

(महते) बड़े (वीर्याय) वीरत्व [पाने] के लिये (ब्रह्मौदनाय पक्तवे) ब्रह्म-ओदन [वेदज्ञान, अन्न वा धन बरसाने वाले परमात्मा] के पक्का [मन में दृढ़] करने को (अजनिष्ठाः) तू उत्पन्न हुआ है। (ते) उन (भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले (सप्तऋषयः) सात ऋषियों [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा नाक, मन और बुद्धि] ने (त्वा) तुझ [शूर] को (अजीजनन्) प्रसिद्ध किया है, (अस्यै) इस [प्रजा म० १] को (सर्ववीरम्) सब वीरों से युक्त (रयिम्) धन (नि) नियम से (यच्छ) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य पराक्रम के साथ परमेश्वर की आज्ञा का पालन करे और मन बुद्धि द्वारा श्रेष्ठ कर्मों से प्रसिद्ध होकर प्रजा पालन में तत्पर रहे ॥ ३ ॥

समिद्धो अग्ने समिधा समिध्यस्व विद्वान् देवान् यज्ञियाँ एह वक्षः। तेभ्यो हविः श्रपयं जातवेद उत्तमं नाकमधि रोहयेमम् ॥ ४ ॥

सम्-इद्धः। अग्ने। सम्-इधा। सम्। इध्यस्व। विद्वान्। देवान्। यज्ञियान्। आ। इह। वक्षः॥ तेभ्यः। हविः। श्रपयन्। जात-वेदः। उत्-तमम्। नाकम्। अधि। रोहय। इमम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी पुरुष ! (समिधा) काष्ठ आदि से (समिद्धः) प्रकाशित [अग्नि के समान] (सम् इध्यस्व) प्रकाश कर, (यज्ञियान्) पूजा योग्य (देवान्) देवों [विजयी जनों] को (विद्वान्) जानता-

(वीर्याय) वीरकर्मणे (ब्रह्मौदनाय) म० १। ब्रह्मणो वेदज्ञानस्य, अन्नस्य धनस्य वा सेचकाय वर्षकाय। परमेश्वराय (पक्तवे) डुपचष् पाके-तवेन्। पक्तुम्। मनसि दृढीकर्तुम् (जातवेदः) अ० १। ७। २। हे प्रसिद्धज्ञानयुक्त (अजीजनन्) जनेर्ण्यन्तात्लुङि चङि रूपम्। प्रसिद्धं कृतवन्तः (अस्यै) प्रजायै-म०१। (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) सर्वैर्वीरैर्युक्तम् (नि) नियमेन (यच्छ) दाण् दाने-लोट्। देहि। अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

४—॥ (समिद्धः) प्रदीप्तोऽग्निर्यथा (अग्ने) हे तेजस्विन् पुरुष (समिधा) काष्ठादिप्रज्वलनसाधनेन (सम्) सम्यक् (इध्यस्व) ञि इन्धी दीप्तौ, रुधादिः, दिवादित्वं छान्दसम्। इन्त्स्व। दीप्यस्व (विद्वान्) विदन्। जानन् (देवान्)

हुआ तू (इह) यहां [उत्तम पद पर] (आ वक्षः) लाता रहे। (जातवेदः) हे प्रसिद्ध धन वाले (तेभ्यः) उनके लिये (हविः) दातव्य वस्तु को (श्रपयन्) पक्का [दृढ़] करता हुआ तू (इमम्) इस [प्राणी वा प्रजा गण] को (उत्तमम्) श्रेष्ठ (नाकम्) आनन्द में (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या और पराक्रम से तेजस्वी होकर पूजनीय विद्वानों का यथावत् आदर करके अपने और प्रजागण के लिये उत्तम सुख बढ़ावे ॥ ४ ॥

त्रे॒धा भा॒गो निहि॑तो॒ यः पु॒रा वो॑ दे॒वानां॑ पि॒तॄ॒णां मर्त्या॑नाम् ।
अंशा॑न् जानीध्वं॒ वि भ॑जामि॒ तान् वो॒ यो दे॒वानां॒ स इ॒मां पा॑रयाति ॥ ५ ॥

त्रे॒धा । भा॒गः । नि-हि॑तः । यः । पु॒रा । वः॒ । दे॒वाना॑म् । पि॒तॄ॒णाम् । मर्त्या॑नाम् ॥ अंशा॑न् । जा॒नी॒ध्व॒म् । वि । भ॒जा॒मि॒ । तान् । वः॒ । यः । दे॒वाना॑म् । सः । इ॒माम् । पा॒र॒या॒ति॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (त्रेधा) तीन प्रकार से, (देवानाम्) देवताओं [विजयी जनों] का, (पितॄणाम्) पितरों [पालक पुरुषों] का और (मर्त्यानाम्) मर्त्यों [मरणधर्मियों] का, (यः) जो (वः) तुम्हारे लिये

विजयिनो जनान् (यज्ञियान्) यज्ञ—घ । पूजार्हान् (इह) अस्मिन् पदे (आ वक्षः) वहेर्लेटि, अडागमः । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप्, ढत्वकत्वषत्वानि । आवहेः (तेभ्यः) विद्वद्भ्यः (हविः) देयं वस्तु (श्रपयन्) श्रा पाके णयन्तात् शतृ. आकारान्तलक्षणे पुकि कृते घटादिपाठात् । मितां ह्रस्वः । पा० ६ । ४ । ९२ । उपधाह्रस्वः । पचन् । दृढीकुर्वन् (जातवेदः) हे प्रसिद्धधन (उत्तमम्) उत्कृष्टम् (नाकम्) आनन्दम् (अधि) उपरि (रोहय) प्रापय (इमम्) प्राणिनं प्रजागणं वा ॥

५—(त्रेधा) एधाच्च । पा० ५ । ३ । ४६ । त्रि-एधाच् । त्रिप्रकारेण (भागः) अंशः (निहितः) स्थापितः (यः) (पुरा) पूर्वकाले । सृष्ट्यादौ (वः) युष्मभ्यम् (देवानाम्) विजयिनाम् । श्रेष्ठपुरुषाणाम् (पितॄणाम्) पाल-

(भागः) भाग (पुरा) पहिले से (निहितः) ठहराया हुआ है। (जानीध्वम्) तुम जानो कि (तान् अंशान्) उन भागों को (वः) तुम्हारे लिये (वि भजामि) मैं [परमेश्वर] बांटता हूं, (यः) जो [भाग] (देवानाम्) देवताओं का है, (सः) वह (इमाम्) इस [प्रजा—म० १] को (पारयति) पार लगावे ॥ ५ ॥

भावार्थ—ईश्वर नियम से अनादि काल से कर्मानुसार मनुष्य तीन प्रकार के हैं—एक उत्तम देवसंज्ञक, दूसरे मध्यम पितृसंज्ञक और तीसरे निकृष्ट मर्त्यसंज्ञक। देवसंज्ञक श्रेष्ठ पुरुष ही अपनी प्रजा को यथावत् सुख पहुंचाने में समर्थ होते हैं ॥ ५ ॥

अग्ने सहस्वानभिभूरभीदसि नीचो न्युब्ज द्विषतः सपत्नान् । इयं मात्रा मीयमाना मिता च सजातांस्ते बलिहृतः कृणोतु॥६॥

अग्ने । सहस्वान् । अभि-भूः । अभि । इत् । असि । नीचः । नि । उब्ज । द्विषतः । सु-पत्नान् ॥ इयम् । मात्रा । मीयमाना । मिता । च । स-जातान् । ते । बलि-हृतः । कृणोतु ६

भाषार्थ—(अग्ने) हे तेजस्वी शूर ! (सहस्वान्) बलवान् और (अभिभूः) [वैरियों का] हराने वाला तू (इत्) ही (अभि असि) [शत्रुओं को] हराता है, (नीचः) नीच (द्विषतः) द्वेष करने वाले (सपत्नान्) शत्रुओं का (नि उब्ज) नीचे गिरादे। (इयम्) यह (मीयमाना) नापी जाती हुई (च)

कानां मध्यमजनानाम् (मर्त्यानाम्) मरणधर्मणां निकृष्टजनानाम् (अंशान्) भागान् (जानीध्वम्) अवगच्छत (विभजामि) वण्टयामि परमेश्वरोऽहम् (तान्) (वः) युष्मभ्यम् (यः) भागः (देवानाम्) श्रेष्ठजनानाम् (सः) (इमाम्) प्रजाम्—म० १ (पारयाति) पार कर्मसमाप्तौ—लेट् । पारयेत् । पारं नयेत् ॥

६—(अग्ने) हे तेजस्विन् शूर (सहस्वान्) बलवान् (अभिभूः) अभिभविता । वशयिता (इत्) एव (अभि असि) अभिभवसि (नीचः) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५६ । नि+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । अनिदितां हल उपधायाः क्ङिति । पा० ६ । ४ । २४ । इति नलोपः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ ।

और (मिता) नापी गई (मात्रा) मात्रा [परिमाण] (ते) तेरे (सजातान्) सजातियों [साथियों] को (बलिहृतः) [शत्रुओं से] बलि [उपहार वा कर] लाने वाला (कृणोतु) करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—शूर वीर पुरुष शत्रुओं को वश में करके नियम पूर्वक अपने विश्वास पात्र मित्रों द्वारा शत्रुओंसे कर एकत्र करे ॥ ६ ॥

साकं सजातैः पयसा सहैध्युदुब्जैनां महते वीर्याय । ऊर्ध्वो नाकस्याधि रोह विष्टपं स्वर्गो लोक इति यं वदन्ति ॥ ७ ॥

साकम् । स-जातैः । पयसा । सह । एधि । उत् । उब्ज । एनाम् । महते । वीर्याय ॥ ऊर्ध्वः । नाकस्य । अधि । रोह । विष्टपम् । स्वः-गः । लोकः । इति । यम् । वदन्ति ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (सजातैः साकम्) सजातियों [साथियों] के साथ (पयसा सह) अन्न के सहित (एधि) वर्तमान हो, (एनाम्) इस [प्रजा–म० १] को (महते) बड़े (वीर्याय) वीर कर्म के लिये (उत् उब्ज) ऊंचा उठा । (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर तू (नाकस्य) [उस] आनन्द के (विष्टपम्) स्थानपर (अधि रोह) ऊंचा चढ़, (यम्) जिस [आनन्द] को (वदन्ति) वे [विद्वान्] बताते हैं—"(स्वर्गः लोकः इति) यह स्वर्ग लोक है" ७॥

शसि भसंज्ञायाम् । अकारलोपे । चौ । पा० ६ । ३ । १३८ । इति दीर्घः । नीचगतीन् । अधमान् (न्युब्ज) उब्ज आर्जवे, निपूर्वात् अधोमुखीकरणे । अधोमुखान् कुरु (द्विषतः) अप्रियकारिणः (सपत्नान्) शत्रून् (इयम्) (मात्रा) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १३८ । माङ् माने—त्रन् । मात्रा मानात्—निरु० ४ । २५ । परिमाणम् (मीयमाना) क्रियमाणा (मिता) निर्मिता (च) (सजातान्) समानजन्मनः । बन्धून् (ते) तुभ्यम् (बलिहृतः) बलेरुपायनस्य करस्य वा हारकान् प्रापकान् शत्रुसकाशात् (कृणोतु) करोतु ॥

७—(साकम्) सार्धम् (सजातैः) समानजन्मभिः । बन्धुभिः (पयसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ (सः) (एधि) अस्तेर्लोटि । भव । वर्तस्व (उदुब्ज) उद्गमय । उन्नतां कुरु (एनाम्) प्रजाम्—म० १ (महते) प्रभूताय (वीर्याय) वीर कर्मणे (ऊर्ध्वः) उन्नतः सन् (नाकस्य) सुखस्य (अधि रोह) अधिरूढो भव (विष्टपम्) अ० १० । १० । ३१ । विश प्रवेशने कपप्रत्ययः तुडागमः । प्रवेशम् । आश्रयम् (स्वर्गः) सुखप्रापकः (लोकः) दर्शनीयः प्रदेशः (इति) (यम्) नाकम् (वदन्ति) कथयन्ति विद्वांसः ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् पुरुष अपने भाई बन्धुओं का अन्न आदि से सत्कार करके प्रजा की उन्नति करें और उनकी उन्नति से अपनी उन्नति करके पूर्ण आनन्द भोगे, जिसका नाम स्वर्ग लोक है ॥ ७ ॥

इयं मही प्रति गृह्णातु चर्म पृथिवी देवी सुमनस्यमाना ।
अथ गच्छेम सुकृतस्य लोकम् ॥ ८ ॥

इयम् । मही । प्रति । गृह्णातु । चर्म । पृथिवी । देवी । सु-मनस्यमाना ॥ अथ । गच्छेम । सु-कृतस्य । लोकम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (मही) बड़ी (देवी) श्रेष्ठगुण वाली, (सुमनस्यमाना) प्रसन्न मन वाली [प्रजा] (पृथिवी) पृथिवी पर (चर्म) विज्ञान (प्रति गृह्णातु) ग्रहण करे । (अथ) फिर (सुकृतस्य) धर्म के (लोकम्) समाज में (गच्छेम) हम जावें ॥ ८ ॥

भावार्थ—प्रशस्त विज्ञानी लोग धर्मात्माओं के समाज में प्रतिष्ठा पाकर आनन्दयुक्त होवें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का उत्तरभाग आचुका है—अथर्व० ६ । १२१ । १ । और ७ । ८३ । ४ ॥

एतौ ग्रावाणौ सयुजा युङ्ग्धि चर्मणि निर्भिन्ध्यंशून् यजमानाय साधु । अवघ्नती नि जहि य इमां पृतन्यव ऊर्ध्वं प्रजामुद्भरन्त्युदूह ॥ ९ ॥

एतौ । ग्रावाणौ । स-युजा । युङ्ग्धि । चर्मणि । निः । भिन्धि । अंशून् । यजमानाय । साधु ॥ अव-घ्नती । नि । जहि । ये ।

८—(इयम्) उपस्थिता (मही) महती (प्रतिगृह्णातु) स्वीकरोतु (चर्म) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५। चर गतिभक्षणयोः मनिन् । विज्ञानम्-दयानन्दभाष्ये, यजु० ३० । १५ (पृथिवी) विभक्तेः सु । पृथिव्याम् (देवी) उत्तमगुणा (सुमनस्यमाना) भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः । पा० ३ । १ । १२ । सुमनस्—क्यङ्, शानच् । शुभचिन्तिका (अथ) अनन्तरम् (गच्छेम) प्राप्नुयाम (सुकृतस्य) पुण्यस्य (लोकम्) समाजम् ॥

इमाम् । पृतन्यवः । ऊर्ध्वम् । प्र-जाम् । उत्-भरन्ती । उत् । ऊह ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे सेना !] (एतौ) इन दोनों (संयुजा) आपस में मिले हुये (ग्रावाणौ) सिल बट्टों को (चर्मणि) विज्ञान में [होकर] (युङ्ग्धि) मिला और (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ कर्म करने वाले] के लिये (अंशून्) कणों को (साधु) सावधानी से (निः भिन्द्धि) कूट डाल । (अवघ्नती) मारती हुई तू [उन लोगों को] (नि जहि) मारडाल, (ये) जो (इमाम् प्रजाम्) इस प्रजा पर (पृतन्यवः) सेना चढ़ाने वाले हैं और [प्रजा को] (ऊर्ध्वम्) ऊंची ओर (उद्भरन्ती) उठाती हुई तू (उत् ऊह) ऊंचा विचार कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—सेनापति को योग्य है कि जैसे सिल बट्टे से अन्न आदि कूटकर निःसार वस्तु निकालकर ससार पदार्थ ग्रहण करते हैं, वैसे ही सेना द्वारा शत्रुओं को मारकर श्रेष्ठों की रक्षा करे ॥ ६ ॥

गृहाण ग्रावाणौ सकृतौ वीर हस्त आ ते देवा यज्ञिया यज्ञमगुः । त्रयो वरा यतमांस्त्वं वृणीषे तास्ते समृद्धीरिह राधयामि ॥ १० ॥ (१)

गृहाण । ग्रावाणौ । सु-कृतौ । वीर । हस्ते । आ । ते । देवाः । यज्ञियाः । यज्ञम् । अगुः ॥ त्रयः । वराः । यतमान् । त्वम् ।

६—(एतौ) पुरोवर्तिनौ (ग्रावाणौ) उलूखलमुसलरूपौ धान्याद्यवहननप्रस्तरौ (संयुजा) संयुजौ । सहयुञ्जानौ (युङ्ग्धि) योजय (चर्मणि) विज्ञाने—म० ८ (निर्भिन्द्धि) निरन्तरं छिन्द्धि (अंशून्) अंश विभाजने—कु । अवयवान् (यजमानाय) श्रेष्ठकर्मकारकाय (साधु) यथा तथा । सुन्दरशीला (अवघ्नती) अवहननं कुर्वती (नि जहि) नितरां नाशय तान् शत्रून् (ये) (इमाम्) समीपस्थाम् (पृतन्यवः) अ० ७ । ३४ । १ । सङ्ग्रामेच्छवः (ऊर्ध्वम्) उन्नतं यथा तथा (प्रजाम्) प्रजां प्रति (उद्भरन्ती) उन्नतां धरन्ती (उत्) उत्तमम् (ऊह) ऊह वितर्के । परस्मैपदं छान्दसम् । विचारय ॥

वृणीषे । ताः । ते । सम्-ऋद्धीः । इह । राधयामि ॥१०॥ (१)

भाषार्थ—(वीर) हे वीर ! (सकृतौ) मिलकर काम करने वाले दोनों (ग्रावाणौ) सिलबट्टों को (हस्ते) हाथ में (गृहाण) ले, (यज्ञियाः) पूजा योग्य (देवाः) देवता [विजयी लोग] (ते) तेरे (यज्ञम्) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार में (आ अगुः) आये हैं। (त्रयः) तीन [स्थान नाम और जन्म] (वराः) वरदान हैं, (यतमान्) जिन जिन को (त्वम्) तू (वृणीषे) मांगता है, (ते) तेरे लिये (ताः) उन (समृद्धीः) समृद्धियों को (इह) यहां [संसार में] (राधयामि) मैं सिद्ध करता हूं ॥ १० ॥

भावार्थ—जो पराक्रमी पुरुष सिल बट्टे के समान मिलकर काम करे, सब पुण्यात्मा विजयी पुरुष उसका साथ देवें और वह अपने स्थान वा स्थिति, नाम वा कीर्ति और जन्म वा मनुष्य जन्म को सफल करे ॥ ७ ॥

भगवान् यास्कमुनि का वचन है "धाम तीन होते हैं, स्थान नाम और जन्म"- निरु० ६ । २८ ॥

इ॒यं ते॑ धी॒तिरि॒दमु॑ ते ज॒नित्रं॑ गृ॒ह्णातु॒ त्वामदि॑तिः॒ शूर॑पुत्रा ।
परा॑ पुनीहि॒ य इ॒मां पृ॑त॒न्यवो॒ऽस्यै र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छ ॥११॥

इ॒यम् । ते॒ । धी॒तिः । इ॒दम् । ऊं॒ इति॑ । ते॒ । ज॒नित्र॑म् । गृ॒ह्णातु॑ । त्वाम् । अदि॑तिः । शूर॑-पु॒त्रा ॥ परा॑ । पु॒नी॒हि॒ । ये । इ॒माम् । पृ॒त॒न्यवः॑ । अ॒स्यै । र॒यिम् । सर्व॑-वीरम् । नि । य॒च्छ॒ ११

भाषार्थ—[हे वीर !] (इयम्) यह (ते) तेरी (धीतिः) धारणशक्ति

१०—(गृहाण) स्वीकुरु (ग्रावाणौ) म० ६। अवहननपाषाणौ (सकृतौ) सह कर्मकर्तारौ (वीर) हे शूर (हस्ते) करे (ते) तव (देवाः) विजिगीषवः (यज्ञियाः) पूजार्हाः (यज्ञम्) श्रेष्ठव्यवहारम् (आ अगुः) इण् गतौ-लुङ्। आगमन् (त्रयः) स्थाननामजन्मरूपाः (वराः) वरणीयाः । प्रार्थनीयाः पदार्थाः (यतमान्) बहुषु यान् वरान् (त्वम्) (वृणीषे) याचसे (ताः) (ते) तुभ्यम् (समृद्धीः) सम्पत्तीः (इह) संसारे (राधयामि) संसाधयामि ॥

११—(इयम्) (ते) तव (धीतिः) अ० ७ । १ । १ । धीङ् आधारे-क्तिन्,

[वा कर्म] (उ) और (इदम्) यह (ते) तेरा (जनित्रम्) जन्म [मनुष्य-जन्म] (त्वाम्) तुझे (गृह्णातु) सहारा देवे, [जैसे] (शूरपुत्रा) शूर पुत्रों वाली (अदितिः) अदिति [अखण्ड व्रतवाली माता सन्तान का हित करती है। (परा पुनीहि) [उन्हें] धो डाल [उन पर पानी फेर दे] (ये) जो [शत्रु] (इमाम्) इस [प्रजा] पर (पृतन्यवः) चढ़ाई करने वाले हैं, (अस्यै) इस [प्रजा] को (सर्ववीरम्) सब वीरों से युक्त (रयिम्) धन (नि) नित्य (यच्छ) दे ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य के शुभ कर्म और शुभ विचार सदा उसका सहाय करते हैं, जैसे ब्रह्मचारिणी माता सन्तान का हित करती है। और वह आत्मावलम्बी वीर सन्तान शत्रुओं का नाश करके प्रजा को धनी और बली बनाता है ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का चतुर्थ पाद–म० ३ में आ चुका है ॥

उपश्वसे द्रुवये सीदता यूयं वि विच्यध्वं यज्ञियासस्तुषैः ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥१२

उप-श्वसे । द्रुवये । सीदत । यूयम् । वि । विच्यध्वम् । यज्ञियासः । तुषैः ॥ श्रिया । समानान् । अति । सर्वान् । स्याम । अधः-पदम् । द्विषतः । पादयामि ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यज्ञियासः) हे पूजनीय पुरुषो ! (उपश्वसे) उत्तम जीवन वाले (द्रुवये) उद्योग के लिये (यूयम्) तुम (सीदत) बैठो और (तुषैः)

यद्वा, दध्यातेः–क्तिन् । धीतिभिः–कर्मभिः–निरु० ११ । १६ । धारणशक्तिः । आत्मावलम्बनम् । कर्म (इदम्) (उ) च (ते) तव (जनित्रम्) मनुष्यजन्म (गृह्णातु) धारयतु (त्वाम्) शूरम् (अदितिः) म० १ । अखण्डव्रता माता (शूरपुत्रा) वीरपुत्रयुक्ता (परा पुनीहि) संशोधय (ये) (इमाम्) प्रजाम् (पृतन्यवः) म० ६ । संग्रामेच्छवः । अन्यत् पूर्ववत्–म० ३ ॥

१२—(उपश्वसे) श्वस प्राणने–क्विप् । उत्तमजीवनयुक्ताय (द्रवये) द्रु गतौ, औणादिकः किप्रत्ययः । गतये । उद्योगाय (सीदत) उपविशत (यूयम्

तुष [बुस] से (वि विच्यध्वम्) अलग होजाओ। (सर्वान्) सब (समानान्) समानों [तुल्य गुण वालों] से (श्रिया) लक्ष्मी द्वारा (अति स्याम) हम बढ़ जावें, (द्विषतः) शत्रुओं को (अधस्पदम्) पैरों के तले (पादयामि) मैं गिरा दूं ॥ १२ ॥

भावार्थ—सब वीर पुरुष मिलकर पराक्रम के साथ दोषों का नाश करें और शत्रुओं को मिटाकर अधिक अधिक सम्पत्ति बढ़ावें ॥ १२ ॥

परे॑हि नारि॒ पुन॒रेहि॑ क्षि॒प्रम॒पां त्वा॑ गो॒ष्ठोऽध्य॑रुक्षु॒द् भरा॑य । तासां॑ गृह्णीताद् यत॒मा य॒ज्ञिया॒ अस॑न् वि॒भाज्य॑ धी॒रीत॑रा जहीतात् ॥ १३ ॥

परा॑ । इ॒हि॒ । ना॒रि॒ । पुनः॑ । आ । इ॒हि॒ । क्षि॒प्रम् । अ॒पाम् । त्वा॒ । गो॒ऽस्थः । अधि॑ । अ॒रु॒क्ष॒त् । भरा॑य ॥ तासा॑म् । गृ॒ह्णी॒ता॒त् । य॒त॒माः । य॒ज्ञियाः॑ । अस॑न् । वि॒ऽभाज्य॑ । धी॒री । इत॑राः । ज॒ही॒ता॒त् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(नारि) हे नरों की शक्ति वाली स्त्री ! तू (परा) पराक्रम के साथ (इहि) चल, (पुनः) अवश्य (क्षिप्रम्) शीघ्र (आ इहि) आ (अपाम्) विद्या में व्याप्त स्त्रियों के (गोष्ठः) समाज ने (भराय) पोषण के लिये (त्वा) तुझे (अधि अरुक्षत्) ऊपर चढ़ाया है। (तासाम्) उन [स्त्रियों]

(वि) विविधम् (विच्यध्वम्) विचिर् पृथग्भावे। पृथग् भवत (यज्ञियासः) असुगागमः। हे पूजार्हाः (तुषैः) धान्यत्वग्भिः। बुषैः (श्रिया) संपत्त्या (समानान्) तुल्यगुणयुक्तान् (सर्वान्) (अति) अतीत्य (स्याम) भवेम (अधस्पदम्) अ० २। ७। २। पादयोरधस्तात् (द्विषतः) शत्रून् (पादयामि) पातयामि॥

१३—(परा) पराक्रमेण (इहि) गच्छ (नारि) अ० १। ११। १। नर— अञ्, ङीन्। नराणामियं शक्तिमती स्त्री तत्सम्बुद्धौ—दयानन्दभाष्ये, यजु० ५। २६ (पुनः) अवधारणे (एहि) आगच्छ (क्षिप्रम्) शीघ्रम् (अपाम्) व्याप्तविद्यानां स्त्रीणाम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० १०। ७ (त्वा) त्वाम् (गोष्ठः) गावो

में (यतमाः) जो जो (यज्ञियाः) पूजा योग्य [स्त्रियां] (असन्) होवें, [उन्हें] (गृह्णीतात्) ग्रहण कर और (धीरी) बुद्धिमती तू (इतराः) दूसरी [स्त्रियों] को (विभाज्य) अलग करके (जहीतात्) छोड़दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—सब स्त्रियां विदुषी समाज बनाकर अधिक गुणवती स्त्री को अपनी प्रधानी बनावें, और प्रधानी की सम्मति से विदुषी स्त्रियों को चुनकर कार्य्यकर्त्री सभा स्थापित करें ॥ १३ ॥

एमा अगुर्योषितः शुम्भमाना उत्तिष्ठ नारि तवसं रभस्व । सुपत्नी पत्या प्रजया प्रजावत्या त्वागन् यज्ञः प्रति कुम्भं गृभाय ॥ १४ ॥

आ । इमाः । अगुः । योषितः । शुम्भमानाः । उत् । तिष्ठ । नारि । तवसम् । रभस्व ॥ सु-पत्नी । पत्या । प्र-जया । प्रजा-वती । आ । त्वा । अगन् । यज्ञः । प्रति । कुम्भम् । गृभाय ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(इमाः) ये सब (शुम्भमानाः) शुभगुणों वाली (योषितः) सेवा योग्य स्त्रियां (आ अगुः) आई हैं, (नारि) हे शक्तिमती स्त्री ! (उत् तिष्ठ) खड़ी हो ,(तवसम्) बल युक्त व्यवहार को (रभस्व) आरम्भ कर । (पत्या) [श्रेष्ठ] पति के साथ (सुपत्नी) श्रेष्ठ पत्नी, (प्रजया) [उत्तम] सन्तान के

ऽनेका वाचस्तिष्ठन्त्यत्र । गोष्ठी । समाजः (अधि अरुक्षत्) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च-लुङ् । आरूढवान् (भराय) पोषणाय (तासाम्) स्त्रीणाम् (गृह्णीतात्) गृहाण । स्वीकुरु (यतमाः) बह्वीषु याः (यज्ञियाः) पूजार्हाः (असन्) लेटि रूपम् । भवेयुः (विभाज्य) विविच्य (धीरी) धीमती (इतराः) अन्याः (जहीतात्) ओहाक् त्यागे । जहीहि । परित्यज ॥

१४—(आ अगुः) आगमन् (इमाः) (योषितः) अ० १ । १७ । १ । सेव्याः स्त्रियः (शुम्भमानाः) शोभनगुणवत्यः (उत्तिष्ठ) उत्थिता भव (नारि) म० १३ । हे शक्तिमति स्त्रि (तवसम्] तवस्-अर्श आद्यच् । तवो बलनाम-निघ० २ । ९ । बलयुक्तं व्यवहारम् (रभस्व) आरम्भितं कुरु (सुपत्नी) पत्नीनां

साथ (प्रजावती) उत्तम सन्तान वाली [तू है], (यज्ञः) श्रेष्ठ व्यवहार (त्वा) तुझ को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है, तू (कुम्भम्) भूमिको पूरणकरने वाले [शुभव्यवहार] को (प्रति गृभाय) स्वीकार कर ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस गुणवती स्त्री को गुणवती स्त्रियां प्रधानी बनावें, वह अपने गुणी पति और सन्तानों के साथ आनन्द करती हुई सब को सुखी रक्खे ॥१४॥

ऊर्जो भागो निहितो यः पुरा व ऋषिप्रशिष्टाप आ भरैताः। अयं यज्ञो गातुविन्नाथवित् प्रजाविदुग्रः पशुविद् वीरविद् वो अस्तु ॥ १५ ॥

ऊर्जः। भागः। नि-हितः। यः। पुरा। वः। ऋषि-प्रशिष्टा। अपः। आ। भर। एताः॥ अयम्। यज्ञः। गातु-वित्। नाथ-वित्। प्रजा-वित्। उग्रः। पशु-वित्। वीर-वित्। वः। अस्तु ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे विदुषी स्त्रियो यही] (ऊर्जः) पराक्रम का (भागः) सेवनीय व्यवहार है, (यः) जो (पुरा) पहिले (वः) तुम्हारे लिये (निहितः) ठहराया गया है, [हे प्रधानी !] (ऋषिप्रशिष्टा) ऋषियों [माता, पिता और आचार्य्यो] से शिक्षित तू (एताः) इन (अपः) विद्या में व्याप्तस्त्रियों को (आ) सब ओर से (भर) पुष्टकर। [हे स्त्रियो !] (अयम्) यह (उग्रः) तेजस्वी (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (गातुवित्) मार्ग देनेवाला, (नाथ-

---

श्रेष्ठतमा (पत्या) श्रेष्ठपतिना (प्रजया) श्रेष्ठसन्तानेन सह (प्रजावती) उत्तम-सन्तानयुक्ता (त्वा) त्वाम् (आ अगन्) प्रापत् (यज्ञः) श्रेष्ठव्यवहारः (कुम्भम्) अ० १। ६। ४। कु+उम्भ पूरणे—अच्, शकन्ध्वादिरूपम्। कुं भूमिमुम्भति पूरयति यस्तं श्रेष्ठव्यवहारम् (प्रतिगृभाय) प्रतिगृहाण। स्वीकुरु ॥

१५—(ऊर्जः) पराक्रमस्य (भागः) सेवनीयो व्यवहारः (निहितः) स्थापितः (यः) (पुरा) पूर्वकाले (वः) युष्मभ्यम् (ऋषिप्रशिष्टा) शासु अनुशिष्टौ—क्त। माता पित्राचार्याभिः शिक्षिता (अपः) म० १३। व्याप्तविद्याः स्त्रीः (आ) समन्तात् (भर) पोषय (एताः) स्त्रीः (अयम्) (यज्ञः) श्रेष्ठ-

वित्) ऐश्वर्य पहुंचाने वाला, (प्रजावित्) प्रजायें देनेवाला, (पशुवित्) [गौ घोड़ा आदि] पशुओंका पहुंचाने वाला,(वीरवित्) वीरों का लाने वाला (वः) तुम्हारे लिये (अस्तु) होवे ॥ १५ ॥

भावार्थ—विदुषी सुशिक्षित स्त्रियां ईश्वर नियम से समाज द्वारा सब प्रकार का ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ १५ ॥

अग्ने॑ च॒रुर्य॒ज्ञिय॒स्त्वाध्य॑रुक्षु॒च्छुचि॒स्तपि॑ष्ठ॒स्तप॑सा॒ तपै॑नम् ।
आ॒र्षे॒या दै॒वा अ॑भिसं॒गत्य॑ भा॒गमि॒मं तपि॑ष्ठा ऋ॒तुभि॑स्तपन्तु १६

अग्ने॑ । च॒रुः । य॒ज्ञियः॑ । त्वा॒ । अधि॑ । अ॒रु॒क्षु॒त् । शुचि॑ । तपि॑ष्ठः । तप॑सा । तप॒ । ए॒न॒म् ॥ आ॒र्षे॒याः । दै॒वाः । अ॒भि॒-सं॒गत्य॑ । भा॒गम् । इ॒मम् । तपि॑ष्ठाः । ऋ॒तु-भिः॑ । त॒प॒न्तु॒ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (यज्ञियः) पूजा योग्य (चरुः) ज्ञान ने (त्वा) तुझे (अधि अरुक्षत्) ऊंचा चढ़ाया है, (शुचिः) शुद्ध आचरण वाला, (तपिष्ठः) अतिशय तप वाला तू (तपसा) [ब्रह्मचर्य आदि] तप से (एनम्) इस [ज्ञान] को (तप) तपा [उपकार में ला] । (आर्षेयाः) ऋषियों में विख्यात, (दैवाः) उत्तम गुणवाले (तपिष्ठाः) बड़े तपस्वी लोग

व्यवहारः (गातुवित्) सुमार्गस्य लम्भयिता (नाथवित्) ऐश्वर्यस्य प्रापकः (प्रजावित्) प्रजानां प्रापकः (उग्रः) तेजस्वी (पशुवित्) गवाश्वादीनां लम्भकः (वीरवित्) वीराणां प्रापयिता (वः) युष्मभ्यम् (अस्तु) भवतु ॥

१६—(अग्ने) हे विद्वन् (चरुः) भृमृशीङ्तृचरि० उ० १ । ७ । चर गतिभक्षणयोः—उ । चरुर्मेघनाम—निघ० १ । १० । चरुर्मृच्चयो भवति चरतेर्वा समुचरन्त्यस्मादापः—निरु० ६ । ११ । चरुं ज्ञानलाभं मेघं वा—दयानन्दभाष्ये, ऋक्० १ । ७ । ६ । बोधः (यज्ञियः) पूजार्हः (त्वा) ब्रह्मचारिणम् (अधि अरुक्षत्) उन्नतं कृतवान् (शुचिः) शुद्धस्वभावः (तपिष्ठः) तप्तृ-इष्ठन् । तुरिष्ठेमेयस्सु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृलोपः । तप्तृतमः । अतिशयेन तपस्वी (तपसा) ब्रह्मचर्यादितपश्चरणेन (तप) तप्तमुपकृतं कुरु (एनम्) बोधम् (आर्षेयाः) ढश्छन्दसि । पा० ४ । ४ । १०६ । इति ऋषि-ढग्प्रत्ययो बाहु-

(अभिसंगत्य) सर्वथा मिलकर (इमम्) इस (भागम्) सेवनीय [ज्ञान] को (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (तपन्तु) तपावें [उपकार में लावें] ॥१६॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् ब्रह्मचर्य, जितेन्द्रियता आदि तपश्चरण से प्रख्यात होकर उपकार करके उन्नति करते आये हैं, वैसे ही सब विद्वान् लोग मिलकर संसार में शुभगुणों से उपकार करें ॥ १६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा आपश्चरुमव सर्पन्तु शुभ्राः । अदुः प्रजां बहुलान् पशून् नः पक्तौदनस्य सुकृतामेतु लोकम् ॥ १७ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । आपः । चरुम् । अव । सर्पन्तु । शुभ्राः ॥ अदुः । प्र-जाम् । बहुलान् । पशून् । नः । पक्ता । ओदनस्य । सु-कृताम् । एतु । लोकम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(शुद्धाः) शुद्धस्वभाव वाली, (पूताः) पवित्र आचरण वाली, (यज्ञियाः) पूजनीय (योषितः) सेवा योग्य, (शुभ्राः) शुभ चरित्र वाली (इमाः) यह (आपः) विद्या में व्याप्त स्त्रियां (चरुम्) ज्ञान को (अव) निश्चय करके (सर्पन्तु) प्राप्त हों । इन [शिक्षित स्त्रियों] ने (नः) हमें (प्रजाम्) सन्तान और (बहुलान्) बहुविध (पशून्) [गौ भैंस आदि] पशु (अदुः) दिये हैं, (ओदनस्य) सुख बरसाने वाले [वा मेघ रूप परमेश्वर] का

लकात् । ऋषिषु विख्यात आर्षेयः-महीधरभाष्ये, यजु० ७ । ४६ । आर्षेय, ऋषिषु साधुस्तत्सम्बुद्धौ-दयानन्दभाष्ये, यजु० २१ । ६१ । ऋषिषु विख्याताः साधवो वा (देवाः) दिव्यगुणयुक्ताः (अभिसंगत्य) सर्वतो मिलित्वा (भागम्) सेवनीयं बोधम् (इमम्) (तपिष्ठाः) तप्तृतमाः । तपस्वितमाः (ऋतुभिः) वसन्तादिकालविशेषैः (तपन्तु) तप्तमुपकृतं कुर्वन्तु ॥

१७—(शुद्धाः) निर्मलस्वभावाः (पूताः) पवित्राचाराः (योषितः) अ० १ । १७ । १ । सेव्याः स्त्रियः (यज्ञियाः) पूजार्हाः (आपः) म० १२ । व्याप्तविद्याः स्त्रियः (चरुम्) म० १६ । बोधम् (सर्पन्तु) गच्छन्तु । प्राप्नुवन्तु (शुभ्राः) शुभचरित्राः (अदुः) प्रायच्छन् (प्रजाम्) सन्तानम् (बहुलान्)

(पक्का) पक्का [मन में दृढ़] करने वाला मनुष्य (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) समाज को (एतु) पहुंचे ॥ १७ ॥

भावार्थ—गुणवती स्त्रियों के शुभ प्रबन्ध से उत्तम सन्तान और उत्तम गौ, भैंस, बकरी आदि उपकारी पशु घर में होते हैं और परमेश्वर की आज्ञा पालने वाला पुरुष अवश्य प्रतिष्ठा पाता है ॥ १७ ॥

इस मन्त्र का पहिला पाद आचुका है—अ० ६ । १२२ । ५ ॥

ब्रह्मणा शुद्धा उत पूता घृतेन सोमस्यांशवस्तण्डुला यज्ञिया इमे । अपः प्र विशत प्रति गृह्णातु वश्चरुरिमं पक्त्वा सुकृतामेत लोकम् ॥ १८ ॥

ब्रह्मणा । शुद्धाः । उत । पूताः ॥ घृतेन । सोमस्य । अंशवः । तण्डुलाः । यज्ञियाः । इमे ॥ अपः । प्र । विशत । प्रति । गृह्णातु । वः । चरुः । इमम् । पक्त्वा । सु-कृताम् । एत । लोकम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) वेद द्वारा (शुद्धाः) शुद्ध किये गये (उत) और (घृतेन) ज्ञानप्रकाश से (पूताः) पवित्र किये हुये, (सोमस्य) ऐश्वर्य के (अंशवः) बांटनेवाले (यज्ञियाः) पूजनीय, (तण्डुलाः) दुःख भञ्जक (इमे) यह तुम (अपः) प्रजाओं में (प्र विशत) प्रवेश करो, (चरुः) ज्ञान (वः) तुमको (प्रतिगृह्णातु) ग्रहण करे, (इमम्) इस [ज्ञान] को (पक्त्वा)

(वहून्) (पशून्) गोमहिष्यादीन् (नः) अस्मभ्यम् (पक्ता) दृढकर्त्ता (ओदनस्य) अ० ६ । ५ । १६ । सुखस्य सेचकस्य वर्धकस्य मेघरूपस्य वा परमेश्वरस्य (सुकृताम्) पुण्यकर्मिणाम् (एतु) प्राप्नोतु (लोकम्) दर्शनीयं समाजम् ॥

१८—(ब्रह्मणा) ब्रह्मज्ञानेन (शुद्धाः) शोधिताः (उत) अपि च (पूताः) पवित्राः (घृतेन) ज्ञानप्रकाशेन (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (अंशवः) अंश विभाजने-कु । विभाजकाः (तण्डुलाः) अ० १० । ९ । २६ । तडि आघाते-उलच् । दुःखभञ्जकाः (यज्ञियाः) पूजार्हाः (इमे) समीपस्थाः (अपः) आपः, आप्ताः प्रजाः-दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । प्रजागणान् (प्र विशत) (प्रतिगृह्णातु) स्वीकरोतु (चरुः) म० १६ । बोधः (इमम्) बोधम् (पक्त्वा) पक्वं दृढं

पक्का करके (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोकम्) समाज को (एत) जाओ ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वैदिक ज्ञान से शुद्ध आचरण वाले होकर संसार में प्रवेश करते हैं, वे पुण्यात्माओं के साथ आनन्द पाते हैं ॥ १८ ॥

उरुः प्रथस्व । महता महिम्ना सहस्रपृष्ठः सुकृतस्य लोके । पितामहाः पितरः प्रजोपजाहं पक्ता पञ्चदशस्ते अस्मि ।१९।

उरुः । प्रथस्व । महता । महिम्ना । सहस्र-पृष्ठः । सु-कृतस्य । लोके ॥ पितामहाः । पितरः । प्र-जा । उप-जा । अहम् । पक्ता । पञ्च-दशः । ते । अस्मि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (महता) बड़ी (महिम्ना) महिमा से (उरुः) विस्तृत और (सहस्रपृष्ठः) सहस्रों स्तोत्र वाला तू (सुकृतस्य) सुकर्म के (लोके) समाज में (प्रथस्व) प्रसिद्ध हो । (पितामहाः) पितामह [पिता के पिता] आदि, (पितरः) पिता आदि [सब गुरुजन], (प्रजा) सन्तान, और (उपजा) सन्तान के सन्तान [ये हैं] (पञ्चदशः) [पांच प्राण, अर्थात् प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान + पांच इन्द्रिय अर्थात् श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, रसना और घ्राण + पांच भूत अर्थात् भूमि, जल, अग्नि, वायु, और आकाश

कृत्वा (सुकृताम्) सुकर्मिणाम् (एत) तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७।१।४५। इण् गतौ तस्य स्थाने तप् । इत । गच्छत (लोकम्) समाजम् ॥

१९—(उरुः) विस्तीर्णः (प्रथस्व) प्रख्यातो भव (महता) अधिकेन (महिम्ना) महत्त्वेन (सहस्रपृष्ठः) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । पृषु सेचने—थक् । पृष्ठं शरीरस्य पश्चाद्भागः स्तोत्रं वा । सहस्राणि स्तोत्राणि यस्य सः परमेश्वरः (सुकृतस्य) सुकर्मणः (लोके) समाजे (पितामहाः) अ० ५ । ५ । १ । पितुः पितृतुल्याः पितामहादयः (पितरः) पितृसदृशा माननीयाः (प्रजा) सन्तानः (उपजा) सन्तानस्य सन्तानः (अहम्) प्राणी (पक्ता) मनसि दृढकर्ता (पञ्चदशः) अ० ८ । ९ । १५ । संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये । पा० २ । २ । २५ । इति दश अधिका दश यत्र स पञ्चदशः । बहु-

हन] पन्द्रह पदार्थ वाला जीवात्मा (अहम्) मैं (ते) तेरा (पक्का) पक्का [अपने हृदय में दृढ़] करनेवाला (अस्मि) हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमेश्वर की आज्ञा पालन करके संसार में अपने बड़ों और छोटों के साथ सुकर्मी होकर आनन्द भोगें ॥ १६ ॥

सहस्रपृष्ठः शतधारो अक्षितो ब्रह्मौदनो देवयानः स्वर्गः । अमूंस्त आ दधामि प्रजया रेषयैनान् बलिहाराय मृडतान्मह्यमेव ॥ २० ॥ (२)

सहस्र-पृष्ठः । शत-धारः । अक्षितः । ब्रह्म-ओदनः । देव-यानः । स्वः-गः ॥ अमून् । ते । आ । दधामि । प्र-जया । रेषय । एनान् । बलि-हाराय । मृडतात् । मह्यम् । एव २०(२)

भाषार्थ—(सहस्रपृष्ठः) सहस्रों स्तोत्र वाला, (शतधारः) बहुविध जगत् का धारण करने वाला, (अक्षितः) क्षय रहित, (देवयानः) विद्वानों से पाने योग्य, (स्वर्गः) आनन्द पहुंचाने वाला, (ब्रह्मौदनः) ब्रह्म-ओदन [वेद-ज्ञान, अन्न वा धन का बरसाने वाला, तू परमात्मा है] । (अमून्) उन [वैरियों] को (ते) तुझे (आ दधामि) सौंपता हूं, (एनान्) इन [शत्रुओं] को (प्रजया) [उनकी] प्रजा सहित (रेषय) नाश कर, (मह्यम्) मुझे (बलिहाराय) सेवा विधि स्वीकार करने के लिये (एव) ही (मृडतात्) सुख दे ॥ २० ॥

व्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । पञ्चदशन्–डच् । पञ्चप्राणेन्द्रियभूतानि यस्मिन् सः जीवात्मा (ते) तव (अस्मि) ॥

२०—(सहस्रपृष्ठः) बहुस्तोत्रयुक्तः (शतधारः) शतं बहुविधं जगद् धरतीति यः (अक्षितः) अक्षीणः (ब्रह्मौदनः) म० १ । ब्रह्मणो वेदज्ञानस्यान्नस्य धनस्य वा सेचको वर्षकः परमात्मा (देवयानः) विद्वद्भिः प्राप्यः (स्वर्गः) सुखस्य गमयिता प्रापकः (अमून्) शत्रून् (ते) तुभ्यम् (आ दधामि) समर्पयामि (प्रजया) सन्तानेन सह (रेषय) हिंसय (एनान्) अरीन् (बलिहाराय) हञ् स्वीकरणे—घञ् । बलेः सेवाविधेः स्वीकरणाय (मृडतात्) सुखं देहि (मह्यम्) उपासकाय (एव) निश्चयेन ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के दिव्य गुणों को अनेक प्रकार साक्षात् करके अपने दोषों को उनकी प्रजा सहित, अर्थात्, दोषों से उत्पन्न दोषों सहित, विचार पूर्वक नाश करके संसार की सेवा करे ॥ २० ॥

उदेहि वेदिं प्रजया वर्धयैनां नुदस्व रक्षः प्रतरं धेह्येनाम् ।
श्रिया समानानति सर्वान्त्स्यामाधस्पदं द्विषतस्पादयामि ॥२१॥

उत्-एहि । वेदिम् । प्र-जया । वर्धय । एनाम् । नुदस्व । रक्षः । प्र-तरम् । धेहि । एनाम् ॥ श्रिया । समानान् । अति । सर्वान् । स्याम । अधः-पदम् । द्विषतः । पादयामि ॥ २१ ॥

भावार्थ—[हे परमात्मन् !] (वेदिम्) वेदी पर [यज्ञभूमिरूप हृदय में] (उदेहि) उदय हो (प्रजया) सन्तान के साथ (एनाम्) इस [प्रजा अर्थात् मुझ] को (वर्धय) बढ़ा, (रक्षः) राक्षस [विघ्न] को (नुदस्व) हटा, (एनाम्) इस [प्रजा अर्थात् मुझ] को (प्रतरम्) अधिक उत्तमता से (धेहि) पुष्ट कर । (सर्वान्) सब (समानान्) समानों [तुल्य गुण वालों] से (श्रिया) लक्ष्मी द्वारा (अति स्याम) हम बढ़ जावें, (द्विषतः) शत्रुओं को (अधस्पदम्) पैरों के तले (पादयामि) मैं गिरा दूं ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा को अपने हृदय में विद्यमान जानते हैं, वे अपने सन्तानों सहित उन्नति करके विघ्नों को हटाकर सुख पाते हैं ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध—म० १२ में आचुका है ॥

अभ्यावर्तस्व पशुभिः सहैनां प्रत्यङेनां देवताभिः सहैधि ।
मा त्वा प्रापच्छपथो माभिचारः स्वे क्षेत्रे अनमीवा वि राज २२

अभि-आवर्तस्व । पशु-भिः । सह । एनाम् । प्रत्यङ् । एनाम् । देवताभिः । सह । एधि ॥ मा । त्वा । प्र । आपत् । शपथः ।

२१—(उदेहि) उदागच्छ (वेदिम्) अ० ५ । २२ । १ । यज्ञभूमिम् (प्रजया) सन्तानेन सह (वर्धय) समर्धय (एनाम्) प्रजाम्, मामित्यर्थः (नुदस्व) प्रेरय (रक्षः) यज्ञविघातकं विघ्नम् (धेहि) पोषय (एनाम्) अन्यत् पूर्ववत्—म० १३ ॥

मा । अभि-चारः। स्वे । क्षेत्रे । अनमीवा । वि । राज ॥२२॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (पशुभिः सह) सब दृष्टि वाले प्राणियों के साथ [मिलकर] (एनाम्) इस [प्रजा अर्थात् आत्मा] की ओर (अभ्यावर्तस्व) आकर घूम, (देवताभिः सह) जयकी इच्छाओं के साथ (एनाम्) इस [प्रजा अपने आत्मा] की ओर (प्रत्यङ्) आगे बढ़ता हुआ तू (एधि) वर्तमान हो। [हे प्रजा !] (त्वा) तुझको (मा) न तो (शपथः) शाप (प्र आपत्) प्राप्त होवे और (मा) न (अभिचारः) विरुद्ध आचरण, (स्वे) अपने (क्षेत्रे) खेत [अधिकार] में (अनमीवा) नीरोग होकर (वि) विविध प्रकार (राज) राज्यकर ॥ २२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब प्राणियों को अपने आत्मा से मिलाकर उन्नति करता जाता है, वह विजयी होकर पूरा आधिपत्य पाता है और धर्मात्मा होने के कारण उसको दुष्ट जन वाचिक और कायिक क्लेश नहीं दे सकते ॥ २२ ॥

ऋतेन तष्टा मनसा हितैषा ब्रह्मौदनस्य विहिता वेदिरग्रे।
अंसद्रीं शुद्धामुप धेहि नारि तत्रौदनं सादय दैवानाम् ॥२३॥

ऋतेन । तष्टा । मनसा । हिता । एषा । ब्रह्म-ओदनस्य । वि-हिता । वेदिः । अग्रे ॥ अंसद्रीम् । शुद्धाम् । उप । धेहि । नारि । तत्र । ओदनम् । सादय । दैवानाम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(ऋतेन) सत्य ज्ञान करके (तष्टा) बनाई गई, (मनसा) विज्ञान द्वारा (हिता) धरी गई (ब्रह्मौदनस्य) ब्रह्म-ओदन [वेदज्ञान, अन्न

२२—(अभ्यावर्तस्व) अभिलक्ष्य वर्तनं कुरु (पशुभिः) अ० १। ३०। ३। पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च-निरु० ११। २६। द्रष्टृभिः प्राणिभिः (सह) (एनाम्) प्रजाम् (प्रत्यङ्) प्रत्यञ्चन्, आभिमुख्येन गच्छन् (एनाम्) (देवताभिः) विजिगीषाभिः (सह) (एधि) भव। वर्तस्व (मा प्रापत्) मा प्राप्नोतु (त्वा) (शपथः) शापः (मा) निषेधे (अभिचारः) विरुद्धाचारः (स्वे) स्वकीये (क्षेत्रे) अधिकारे (अनमीवा) रोगरहिता सती (वि) विविधम् (राज) शासनं कुरु ॥

२३—(ऋतेन) सत्येन (तष्टा) तनूकृता। निर्मिता (मनसा) विज्ञानेन (हिता) धृता (एषा) (ब्रह्मौदनस्य) म० १। ब्रह्मणो वेदज्ञानस्यान्नस्य

वा धन के बरसाने वाले परमात्मा] की (एषा) यह (वेदिः) वेदी [यज्ञ-भूमि अर्थात् हृदय] (अग्रे) पहिले से (विहिता) बताई गयी है। (नारि) हे शक्तिमती [प्रजा !] (शुद्धाम्) शुद्ध (असंद्रीम्) असन्दी [कष्टों वा कानों वाली कढ़ाही अर्थात् बुद्धि] को (उप धेहि) चढ़ा दे, (तत्र) उस में (देवानाम्) उत्तम गुणवाले पुरुषों के (ओदनम्) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्न रूप परमेश्वर] को (सादय) बैठा दे ॥ २३ ॥

भावार्थ—योगी मन की वेदी अर्थात् यज्ञकुण्ड पर बुद्धि की कढ़ाही में अन्नरूप परमात्मा को सावधानी से भरे ॥ २३ ॥

अदि॑ते॒र्हस्तां॒ स्रुच॑मे॒तां द्वि॒तीयां॑ सप्तऋ॒षयो॑ भूत॒कृतो॒ याम॑कृ॒ण्वन् । सा गात्रा॑णि वि॒दुष्यो॑द॒नस्य॒ दर्वि॒र्वेद्या॒मध्ये॑नं चिनोतु ॥

अदि॑तेः । हस्ता॑म् । स्रुच॑म् । ए॒ताम् । द्वि॒तीया॑म् । स॒प्त-ऋ॒षयः॑ । भू॒त-कृतः॑ । याम् । अकृ॑ण्वन् ॥ सा । गात्रा॑णि । वि॒दुषी॑ । ओ॒द॒नस्य॑ । दर्विः॑ । वेद्या॑म् । अधि॑ । ए॒न॒म् । चि॒नो॒तु ॥२४॥

भाषार्थ—(भूतकृतः) उचित कर्म करने वाले (सप्तऋषयः) सात ऋषियों [व्यापन शील वा दर्शन शील, अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा नाक, मन और बुद्धि] ने (अदितेः) अदिति [अखण्ड व्रतवाली प्रजा] के (याम्) जिस (हस्ताम्) खिली हुई [मनोहर], (एताम्) इस (द्वितीयाम्) दूसरी

वा सेचकस्य वर्षकस्य परमात्मनः (विहिता) विधिना बोधिता (वेदिः) यज्ञभूमिः, हृदयमित्यर्थः (अग्रे) पूर्वकाले (असंद्रीम्) असेः सन् । उ० ५ । २१ । अस रोगे, पीडने, गतौ भोजने च—सन्+द्रु गतौ-ड, ङीप् । भोजनपाचनपात्रम् । कटाहम् (शुद्धाम्) निर्मलाम् (उप धेहि) उपरि धारय (नारि) म० १३ । हे शक्तिमति प्रजे (तत्र) तस्मिन् पात्रे (ओदनम्) म० १७ । अन्नरूपं परमात्मानम् (सादय) स्थापय (देवानाम्) दिव्यगुणवतां पुरुषाणाम् ॥

२४—(अदितेः) म० १ । अखण्डव्रतायाः प्रजायाः (हस्ताम्) हृड-भावः । हसिताम् । विकसिताम् । मनोहराम् (स्रुचम्) चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ-चिक् । यज्ञपात्रम् । चमसम् । चित्तवृत्तिमित्यर्थः (एताम्) (द्वितीयाम्) शारीरिकभिन्नां मानसीम् (सप्तऋषयः) म० १ । त्वक्चक्षुः श्रवणादयः

[शारीरिक से भिन्न मानसिक] (स्रुचम्) स्रुचा [डोई अर्थात् चित्तवृत्ति] को (अकृण्वन्) बनाया है। (ओदनस्य) ओदन [सुखकी वर्षा करनेवाले अन्नरूप परमात्मा] के (गात्राणि) अङ्गों [गुणों के तत्त्वों] को (विदुषी) जानती हुई (सा) वह (दर्विः) करछी [चित्तवृत्ति] (वेद्याम्) वेदी पर [हृदय में] (एनम्) इस [अन्न रूप परमात्मा] को (अधि) अधिक अधिक (चिनोतु) एकत्र करे ॥ २४ ॥

भावार्थ—इन्द्रियों द्वारा विषयों के ज्ञान से बाहिरी और भीतरी दो वृत्तियां उत्पन्न होती हैं। बाहिरी वृत्ति भीतरी वृत्तिके आधीन है। योगी को उचित है कि भीतरी वृत्तियों को परमात्मा के गुणों में लगाकर उस जगदीश्वर को अपने हृदय में बैठावे, जैसे वेदी पर चढ़ी बटलोही के घृत आदि को करछी से संभाल संभाल कर उपकारी बनाते हैं ॥ २४ ॥

शृतं त्वा हव्यमुप सीदन्तु दैवा निःसृप्याग्नेः पुनरेनान् प्र सीद । सोमेन पूतो जठरे सीद ब्रह्मणामार्षेयास्ते मा रिषन् प्राशितारः ॥ २५ ॥

शृतम् । त्वा । हव्यम् । उप । सीदन्तु । दैवाः । निःऽसृप्य । अग्नेः । पुनः । एनान् । प्र । सीद ॥ सोमेन । पूतः । जठरे । सीद । ब्रह्मणाम् । आर्षेयाः । ते । मा । रिषन् । प्रऽअशितारः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—[हे ओदन] (दैवाः) उत्तम गुण वाले पुरुष (शृतम्) परिपक्व, (हव्यम्) ग्रहण करने योग्य (त्वा उप) तेरे समीप (सीदन्तु) बैठें, (अग्नेः) अग्नि से (निःसृप्य) निकलकर (पुनः) अवश्य (एनान्) इन

(भूतकृतः) म० १। उचितकर्मकर्तारः (याम्) स्रुचम् (अकृण्वन्) अकुर्वन् (सा) (गात्राणि) अङ्गानि। गुणतत्त्वानि (विदुषी) जानती (ओदनस्य) सुखवर्षकस्यान्नरूपस्य परमात्मनः (दर्विः) उल्मुकदर्विहोमनः। उ० ३। ८४। दृ विदारणे-विन्। व्यञ्जनादिहारकं पात्रम् (वेद्याम्) यज्ञभूमौ (अधि) उपरि (एनम्) ब्रह्मौदनम् (चिनोतु) राशीकरोतु ॥

२५—(शृतम्) श्रा पाके-क्त। शृतं पाके। पा० ६। १। २७। इति शृभावः। परिपक्वम् (त्वा) त्वाम्। ओदनम् (हव्यम्) ग्राह्यम् (उप सीदन्तु) समीपे तिष्ठन्तु (दैवाः) दिव्यगुणाः पुरुषाः (निःसृप्य) निर्गत्य (अपि) सम्भावनायाम्

[पुरुषों] को (प्रसीद) प्रसन्न कर। (सोमेन) अमृत रस से (पूतः) शोधा हुआ तू (ब्रह्मणाम्) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] के (जठरे) पेट में (सीद) बैठ, (ते) तेरे (प्राशितारः) भोग करने वाले (आर्षेयाः) ऋषियों में विख्यात पुरुष (मा रिषन्) न दुःखी होवें ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि तप से परमात्मा को अपने हृदय में दृढ़ करके बैठालते हैं, वे क्लेशों से छूटकर आनन्द भोगते हैं, जैसे मनुष्य परिपक्व उत्तम अन्न को अग्नि पर से उतार कर परोसते और भोजन करके भूख से निवृत्त होकर तृप्त होते हैं ॥ २५ ॥

सोम॑ राजन्त्सं॒ज्ञान॒मा व॑पैभ्य॒: सुब्रा॑ह्मणा य॑त॒मे त्वो॑प॒सीदा॑न्। ऋषी॑नार्षे॒यांस्तप॑सो॒ऽधि जा॒ताॅन् ब्र॑ह्मौद॒ने सु॒हवा॑ जोहवीमि ॥ २६ ॥

सोम॑। रा॒ज॒न्। स॒म्ऽज्ञान॑म्। आ। व॒प॒। ए॒भ्य॒:। सु॒ऽब्रा॒ह्म॒णाः। य॒त॒मे। त्वा॒। उ॒प॒ऽसीदा॑न्॥ ऋषी॑न्। आ॒र्षे॒यान्। तप॑सः। अधि॑। जा॒तान्। ब्र॒ह्म॒ऽओ॒द॒ने। सु॒ऽहवा॑। जो॒ह॒वी॒मि॒ ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे सर्वप्रेरक (राजन्) राजन्! [परमात्मन्] (संज्ञानम्) चेतन्यता (एभ्यः) उनके लिये (आ वप) फैला दे, (यतमे) जो जो (सुब्राह्मणाः) अच्छे अच्छे ब्राह्मण [बड़े ब्रह्मज्ञानी] (त्वा) तुझ को (उपसीदान्) प्राप्त होवें। (तपसः) तप से (अधि) अधिकार पूर्वक (जातान्)

(अग्नेः) पावकात् (पुनः) अवश्यम् (एनान्) उपसत्तॄन् (प्र सीद) प्रसन्नान् कुरु। संतोषय (सोमेन) अमृतरसेन (पूतः) शोधितः (जठरे) उदरे (सीद) उपविश (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानिनाम् (आर्षेयाः) म० १६। ऋषिषु विख्याताः (ते) तव (मा रिषन्) मा विनश्यन्तु (प्राशितारः) प्रकर्षेण भोक्तारः ॥

२६—(सोम) हे सर्वप्रेरक (राजन्) परमैश्वर्यवन् (संज्ञानम्) यथार्थज्ञानम् (आ वप) प्रक्षिप (एभ्यः) ब्राह्मणेभ्यः (सुब्राह्मणाः) श्रेष्ठब्रह्मज्ञानिनः (यतमे) बहुषु ये (त्वा) (उप सीदान्) सेदतेर्लेटि, आडागमः। उपसीदन्तु। सेवन्ताम् (ऋषीन्) सूक्ष्मदर्शिनः पुरुषान् (आर्षेयान्) म० १६। ऋषिषु ख्या-

प्रसिद्ध (ऋषीन्) ऋषियों और (आर्षेयान्) ऋषियों में विख्यात पुरुषों को (ब्रह्मौदने) ब्रह्म-ओदन [वेदज्ञान, अन्न वा धन के बरसाने वाले परमेश्वर] के विषय में (सुहवा) सुन्दर बुलावे से (जोहवीमि) मैं पुकार पुकार कर बुलाता हूं ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े ब्रह्मज्ञानी ऋषी महात्माओं से आदर पूर्वक ब्रह्मज्ञान प्राप्त करके आनन्द पावे ॥ २६ ॥

शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमा ब्रह्मणां हस्तेषु प्रपृथक् सादयामि । यत्काम इदमभिषिञ्चामि वोऽहमिन्द्रो मरुत्वान्त्स ददादिदं मे ॥ २७ ॥

शुद्धाः । पूताः । योषितः । यज्ञियाः । इमाः । ब्रह्मणाम् । हस्तेषु । प्र-पृथक् । सादयामि ॥ यत्-कामः । इदम् । अभि-सिञ्चामि । वः । अहम् । इन्द्रः । मरुत्वान् । सः । ददात् । इदम् । मे ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(शुद्धाः) शुद्ध स्वभाव वाली, (पूताः) पवित्र आचरण वाली, (यज्ञियाः) पूजनीय (इमाः) इन (योषितः) सेवा योग्य [प्रजाओं] को (ब्रह्मणाम्) ब्रह्मज्ञानियों के (हस्तेषु) हाथों में [विज्ञान के बलों में] (प्रपृथक्) नाना प्रकार से (सादयामि) मैं बिठलाता हूं। [हे प्रजाओ !] (यत्कामः) जिस उत्तम कामना वाला (अहम्) मैं (इदम्) इस समय (वः) तुम्हारा (अभिषिञ्चामि) अभिषेक करता हूं, (सः) वह (मरुत्वान्) दोष नाशक गुणों वाला (इन्द्रः) संपूर्ण ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर (इदम्) वह वस्तु (मे) मुझे (ददात्) देवे ॥ २७ ॥

ख्यातान् (तपसः) तपश्चरणात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (जातान्) प्रसिद्धान् (ब्रह्मौदने) म० १ । परमेश्वरविषये (सुहवा) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इत्याकारः । सुहवेन । यथाविध्यावाहनेन (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । पुनः पुनराह्वयामि ॥

२७—(योषितः) अ० १ । १७ । १ । सेव्याः प्रजाः (ददात्) लेटि रूपम् । ददातु (इदम्) काम्यमानं फलम् । अन्यत् पूर्ववत्—अ० ६ । १२२ । ५ ॥

भावार्थ—सब प्रजायें अर्थात् स्त्री पुरुष महात्माओं के सत्संग से ईश्वर ज्ञान द्वारा शुद्ध आचरण करके उन्नति करें ॥ २७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आचुका है-अ० ६ । १२२ । ५ । और दूसरा, तीसरा पाद-अ० १० । ६ । २७ ॥

इदं मे॒ ज्योति॑र॒मृतं॒ हिर॑ण्यं प॒क्वं क्षेत्रा॑त् काम॒दुघा॑ म ए॒षा ।
इ॒दं धनं॒ नि द॑धे ब्राह्म॒णेषु॑ कृ॒ण्वे पन्थां॑ पि॒तृषु॒ यः स्व॒र्गः ॥२८॥

इ॒दम् । मे॒ । ज्योतिः॑ । अ॒मृत॑म् । हिर॑ण्यम् । प॒क्वम् । क्षेत्रा॑त् । का॒म॒-दुघा॑ । मे॒ । ए॒षा ॥ इ॒दम् । धन॑म् । नि । द॒धे॒ । ब्रा॒ह्म॒णेषु॑ । कृ॒ण्वे । पन्था॑म् । पि॒तृषु॑ । यः । स्वः॒-गः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (मे) मेरा (ज्योतिः) चमकता हुआ (अमृतम्) मृत्यु से बचाने वाला (हिरण्यम्) सुवर्ण, (क्षेत्रात्) खेत से [लाया गया] (पक्वम्) पका हुआ [अन्न], और (एषा) यह (मे) मेरी (कामदुघा) कामना पूरी करने वाली [कामधेनु गौ] है । (इदम्) इस (धनम्) धन को (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानों में [वेद प्रचार व्यवहारों में] (नि दधे) मैं धरता हूं, और (पन्थाम्) मार्ग को (कृण्वे) मैं बनाता हूं, (यः) जो (पितृषु) पालन करने वाले [विज्ञानियों] के बीच (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपना सर्वस्व परमेश्वर को समर्पण करके सत्यज्ञान द्वारा संसार का उपकार करते हैं, वे विद्वानों के बीच कीर्ति पाते हैं ॥२८॥

अ॒ग्नौ तुषा॒ना व॑प जा॒तवे॑दसि प॒रः क॒म्बूका॒ँ अप॑ मृड्ढि दू॒रम् ।
ए॒तं शु॑श्रुम गृहरा॒जस्य॑ भा॒गमथो॑ वि॒द्म निर्ऋ॑तेर्भाग॒धेय॑म् । २९ ।

२८—(इदम्) उपस्थितम् (मे) मम (ज्योतिः) दीप्यमानम् (अमृतम्) नास्ति मृतं मरणं यस्मात् तत् (हिरण्यम) सुवर्णम् (पक्वम्) परिणतमन्नम् (क्षेत्रात) सस्यप्रदेशात् (कामदुघा) अ० ४ । ३४ । ८ । कामनां दोग्ध्री अपूरयित्री । कामधेनुर्गौः (मे) मम (एषा) (इदम्) (धनम्) (नि दधे) स्थापयामि (ब्राह्मणेषु) ब्रह्मज्ञानप्रचारेषु (कृण्वे) करोमि (पन्थाम्) पन्थानम् । मार्गम (पितृषु) पालकेषु विज्ञानिषु (यः) पन्थाः (स्वर्गः) सुखस्य गमयिता प्रापकः ॥

अग्नौ । तुषान् । आ । वप । जात-वेदसि । परः । कम्बूकान् । अप । मृड्ढि । दूरम् ॥ एतम् । शुश्रुम । गृह-राजस्य । भागम् । अथो इति । विद्म । निः-ऋतेः । भाग-धेयम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (तुषान्) तुष [भुस] को (जातवेदसि) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नौ) अग्नि के बीच (आ वप) फैला दे, (कम्बूकान्) कम्बूकों [छिलकों] को (परः) बहुत) (दूरम्) दूर (अप मृड्ढि) धोकर फेंक दे। (एतम्) इसको (गृहराजस्य) घरके राजा [गार्हपत्य अग्नि] का (भागम्) भाग (शुश्रुम) हमने सुना है, (अथो) और भी (निर्ऋतेः) पृथिवी का (भागधेयम्) भाग (विद्म) हम जानते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—अन्न का जो चोकर भुसी कुछ आग में और कुछ धो धाकर पृथिवी पर दूर फेंक देते हैं, उस सब में अर्थात् तुच्छ पदार्थ में भी विज्ञानी पुरुष परमेश्वर की महिमा देखते हैं ॥ २६ ॥

श्राम्यतः पचतो विद्धि सुन्वतः पन्थां स्वर्गमधि रोहयैनम् ।
येन रोहात् परमापद्य यद् वय उत्तमं नाकं परमं व्योम ३०(३)

श्राम्यतः । पचतः । विद्धि । सुन्वतः । पन्थाम् । स्वः-गम् । अधि । रोहय । एनम् ॥ येन । रोहात् । परम् । आ-पद्य । यत् । वयः । उत्-तमम् । नाकम् । परमम् । वि-ओम ॥ ३० ॥ (३)

२६—(अग्नौ) पावके (तुषान्) धान्यत्वचः (आ वप) प्रक्षिप (जातवेदसि) उत्पन्नपदार्थेषु विद्यमाने (परः) परस्तात (कम्बूकान्) उलूकादयश्च। उ० ४ । ४१ । कमु कान्तौ–ऊक, वुगागमः । वल्कलानि (अप मृड्ढि) मृजू शौचालङ्कारयोः—लोट्, अदादिश्चुरादिश्च । विशेषेण मार्जय शोधय (दूरम्) (एतम्) (शुश्रुम) वयं श्रुतवन्तः (गृहराजस्य) राजाहः सखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ६१ । इति टच् । गार्हपत्यस्याग्नेः (भागम्) अंशम् (अथो) अपि च (विद्म) विदो लटो वा । पा० ३ । ४ । ८३ । मसो मादेशः । विद्मः । जानीमः (निर्ऋतेः) निः + ऋ गतौ—क्तिन् । नितराम् ऋतिर्गतिर्यस्याः सा निर्ऋतिः । तस्याः पृथिव्याः । निर्ऋतिः पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । निर्ऋतिर्निरमणाद् ऋच्छतेः कृच्छ्रापत्तिरितरा—निरु० २ । ७ (भागधेयम्) भागम् ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (आम्यतः) श्रमी [ब्रह्मचारी आदि तपस्वी] का, (पचतः) पक्का करनेवाले [दृढ़ निश्चय करनेवाले], (सुन्वतः) तत्त्व निचोड़ने वाले [विज्ञानी पुरुष] का (विद्धि) तू ज्ञान कर और (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (पन्थाम्) मार्ग में (एनम्) इस [जीव] को (अधि) ऊपर (रोहय) चढ़ा। (येन) जिस [मार्ग] से वह [जीव] (यत्) जो (परम्) बड़ा उच्च (वयः) जीवन है, [उसको] (आपद्य) पाकर (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) सुख स्वरूप (परमम्) सर्वोत्कृष्ट (व्योम) विविध रक्षक [पर-ब्रह्म ओ३म्] को (रोहात्) ऊंचा होकर पावे ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य तपस्वी, दृढ़विश्वासी और विवेकी होकर अपना जीवन सुधारते हैं, वे ही सर्वरक्षक, [ओ३म्] परमात्मा को पाते अर्थात् उस की आज्ञा पालकर संसार का सुधार करते हैं ॥ ३० ॥

बभ्रेरध्वर्यो मुखमेतद् वि मृड्ढ्याज्याय लोकं कृणुहि प्रविद्वान्। घृतेन गात्रानु सर्वा वि मृड्ढि कृण्वे पन्थां पितृषु यः स्वर्गः ॥ ३१ ॥

बभ्रेः। अध्वर्यो इति। मुखम्। एतत्। वि। मृड्ढि। आज्याय। लोकम्। कृणुहि। प्र-विद्वान्॥ घृतेन। गात्रा। अनु। सर्वा। वि। मृड्ढि। कृण्वे। पन्थाम्। पितृषु। यः। स्वः-गः॥ ३१

३०—(श्राम्यतः) श्रमु तपसि खेदे च—शतृ। शमामष्टानां दीर्घः श्यनि। पा० ७। ३। ७४। इति दीर्घः तप्यमानस्य ब्रह्मचारिणः (पचतः) डु पचष् पाके-शतृ। परिपक्कस्य। दृढनिश्चयस्य (विद्धि) ज्ञानं कुरु (सुन्वतः) षुञ् पीडने-शतृ। तत्त्वस्य पीडनं मन्थनं कुर्वतः पुरुषस्य (पन्थाम्) मार्गम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (अधि) उपरि (रोहय) आरोहय। स्थापय (एनम्) जीवम् (येन) पथा (रोहात्) रोहेत्। अधितिष्ठेत् (परम्) उच्चम् (आपद्य) प्राप्य (यत्) (वयः) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, यद्वा वय गतौ -असुन्। वयः=अन्नम्—निघ० २। ७। जीवनम् (उत्तमम्) (नाकम्) सुखस्वरूपम् (परमम्) सर्वोत्कृष्टम् (व्योम) वि+अव—मनिन्। व्योमन् व्यवने—निरु० ११। ४०। विविधं रक्षकम्, ओ३म्, इति संज्ञकं परब्रह्म ॥

भाषार्थ—(अध्वर्यो) हे हिंसा के न करने वाले पुरुष ! (बभ्रेः) पोषण करनेवाले [अन्नरूप परमेश्वर] के (एतत्) इस (मुखम्) मुख [भोजन के ऊपरी भाग] को (वि मृड्ढि) संवार ले, (प्रविद्वान्) बड़ा ज्ञानवान् तू (आज्याय) घी के लिये (लोकम्) स्थान (कृणुहि) बना। (घृतेन) घी से (सर्वा) सब (गात्रा) अङ्गों को (अनु) निरन्तर [देख भाल करके] (वि मृड्ढि) शोध ले, (पन्थाम्) मार्ग (कृण्वे) मैं बनाता हूं (यः) जो [मार्ग] (पितृषु) पालन करने वाले [विज्ञानियों] के बीच (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जैसे थाली में चावल आदि भोजन परोसकर और संवार कर ऊपर घृत आदि छोड़कर स्वादिष्ठ बनाते हैं, वैसे ही योगी भोजन रूप परमात्मा को [थाली रूप] हृदय में धारण करके [घृत रूप] ज्ञान से विचारता हुआ विज्ञानियों में आनन्द पावे ॥ ३१ ॥

बभ्रे॒ रक्षः॑ स॒मद॒मा व॑पै॒भ्योऽब्रा॑ह्मणा॒ यत॒मे त्वो॑प॒सीदा॑न्। पु॒री॒षिणः॑ प्रथ॑मानाः पु॒रस्ता॑दा॒र्षे॒यास्ते॒ मा रि॑षन् प्राशि॒तारः॑ ३२

बभ्रे॑। रक्षः॑। स॒म्ऽमद॑म्। आ। व॒प॒। ए॒भ्यः॒। अब्रा॑ह्मणाः। य॒त॒मे। त्वा॒। उ॒प॒ऽसीदा॑न्॥ पु॒री॒षिणः॑। प्रथ॑मानाः। पु॒रस्ता॑त्। आ॒र्षे॒याः। ते॒। मा। रि॒ष॒न्। प्र॒ऽअ॒शि॒तारः॑ ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(बभ्रे) हे पोषक ! [अन्नरूप परमात्मन्] (रक्षः) विघ्न और (समदम्) लड़ाई (एभ्यः) उनके लिये (आ वप) फैला दे, (यतमे)

३१—(बभ्रेः) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । डु भृञ् धारणपोषणयोः-किप्रत्ययः । पोषकस्य । अन्नरूपस्य परमेश्वरस्य (अध्वर्यो) अ० ७ । ७३ । ५ । न ध्वरति न हिनस्तीति अध्वरः । ध्वृ कौटिल्ये हिंसायां च-अच् । ध्वरति वधकर्मा-निघ० २ । १६ । अध्वर + या प्रापणे-कु । हे अहिंसाप्रापक (मुखम्) उपरिदेशम् (एतत्) (विमृड्ढि) म० २६ । विशेषेण शोधय भूषय (आज्याय) घृतमिश्रणाय (लोकम्) स्थानम् (कृणुहि) कुरु (प्रविद्वान्) प्रकर्षेण जानन् (घृतेन) सर्पिषा (गात्रा) अङ्गानि (अनु) अनुक्रमेण (सर्वा) सर्वाणि (विमृड्ढि) (कृण्वे) करोमि (पन्थाम्) पन्थानम् (पितृषु) पालकेषु । विज्ञानिषु (यः) पन्थाः (स्वर्गः) सुखस्य गमयिता ॥

३२—(बभ्रे) म० ३१ । हे पोषक (रक्षः) रक्ष्यते यस्मात् । विघ्नम् (समदम्) सम् + अद भक्षणे-क्विप् । यद्वा सम् + मदी हर्षे-क्विप्, समो मलोपः

जो (अब्राह्मणाः) अब्राह्मण [अब्रह्मज्ञानी] (त्वा) तुझको (उपसीदान्) प्राप्त होवें। (पुरीषिणः) पूर्ति रखने वाले, (पुरस्तात्) आगे आगे (प्रथमानाः) फैलते हुये, (आर्षेयाः) ऋषियों में विख्यात (ते) तेरे (प्राशितारः) भोग करने वाले पुरुष (मा रिषन्) न दुःखी होवें ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जैसे कुपथ्य भोजी प्राणी रोगी होजाते हैं, वैसे ही, नास्तिक पाखंडी लोग क्लेश पाते हैं। और जैसे सुपथ्य भोजी तृप्त होकर बली होते हैं, वैसे ही ऋषि मुनि परमात्मा की आज्ञा पालने में आनन्द पाते हैं ॥ ३२ ॥

इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का मिलान पूर्वार्द्ध-म० २६ से और उत्तरार्द्ध का उत्तरार्द्ध-म० २५ से करो ॥

आर्षेयेषु नि दध ओदन त्वा नानार्षेयाणामप्यस्त्यत्र । अग्निर्मे गोप्ता मरुतश्च सर्वे विश्वे देवा अभि रक्षन्तु पक्वम् ॥३३॥

आर्षेयेषु । नि । दधे । ओदन । त्वा । न । अनार्षेयाणाम् । अपि । अस्ति । अत्र ॥ अग्निः । मे । गोप्ता । मरुतः । च । सर्वे । विश्वे । देवाः । अभि । रक्षन्तु । पक्वम् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(ओदन) हे ओदन ! [सुख की वरसा करने वाले, अन्न रूप परमेश्वर] (आर्षेयेषु) ऋषियों में विख्यातों के बीच (त्वा) तुझको (निदधे) मैं धरता हूं, (अनार्षेयाणाम्) ऋषियों में विख्यातों से भिन्न लोगों

समत्सु संग्रामनाम-निघ० २ । १७ । समदः समदो वात्तेः सम्मदो वा मदनेः-निरु० ६ । १७ । युद्धम् (आ वप) प्रक्षिप (एभ्यः) वक्ष्यमाणेभ्यः (अब्राह्मणाः) अब्रह्मज्ञानिनः (पुरीषिणः) पॄभ्यां किच्च । उ० ४ । २७ । पॄ पालनपूरणयोः-ईषन्, कित्, णिनि । पुरीषमुदकनाम-निघ० १ । १२ । पुरीषं पृणातेः पूरयतेर्वा-निरु० २ । २२ । पूर्तियुक्ताः (प्रथमानाः) विस्तीर्यमाणाः (पुरस्तात्) अग्रे (आर्षेयाः) म० १६ । ऋषिषु विख्याताः (ते) तव (मा रिषन्) मा हिंसन्ताम् (प्राशितारः) प्रकर्षेण भोक्तारः ॥

३३—(आर्षेयेषु) म० १६ । ऋषिषु विख्यातेषु (नि दधे) स्थापयामि (ओदन) म० १७ । हे सुखस्य वर्षक (त्वा) त्वाम् (न) निषेधे (अनार्षेयाणाम्) ऋषिषु विख्यातेभ्यो भिन्नानां पाखण्डिनाम् भाग,इति शेषः (अपि)

का [भाग] (अत्र) इसमें (अपि) कभी (न) नहीं (अस्ति) है। (मे) मेरा (गोप्ता) रक्षक (अग्निः) अग्नि [शारीरिक अग्नि] (च) और (सर्वे) सब (मरुतः) प्राण वायु [प्राण, अपान, व्यान, समान और उदान] और (विश्वे) सब (देवाः) इन्द्रियां (पक्वम्) पक्के [दृढ़स्वभाव परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (रक्षन्तु) रक्खें ॥ ३३ ॥

भावार्थ—ऋषि महात्मा लोग ही परमात्मा के गुणों को जान सकते हैं, इतर लोग नहीं। मनुष्य अपने शरीरस्थ अग्नि, वायु आदि और इन्द्रियों के सूक्ष्म संगठन और कर्मों के भीतर परमेश्वर की महिमा को विचारें ॥ ३३ ॥

यज्ञं दुहानं सदमित् प्रपीनं पुमांसं धेनुं सदनं रयीणाम्।
प्रजामृतत्वमुत दीर्घमायू रायश्च पोषैरुप त्वा सदेम ॥३४॥

यज्ञम्। दुहानम्। सदम्। इत्। प्र-पीनम्। पुमांसम्। धेनुम्। सदनम्। रयीणाम्॥ प्रजा-अमृतत्वम्। उत। दीर्घम्। आयुः। रायः। च। पोषैः। उप। त्वा। सदेम ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को, (प्रपीनम्) बढ़े हुये [समृद्ध] (पुमांसम्) रक्षक [पुरुषार्थी] को, (धेनुम्) तृप्त करने वाली [वाणी अर्थात् विद्या, वा गौ] को, (रयीणाम्) धनों के (सदनम्) घर को, (प्रजामृतत्वम्) प्रजा [जनता वा सन्तान] के अमरण को, (उत) और (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) जीवन को (च) निश्चय करके

सम्भावनायाम् (अस्ति) (अत्र) ओदनविषये (अग्निः) जाठराग्निः (मे) मम (गोप्ता) गोपायिता रक्षिता (मरुतः) प्राणादयो वायवः (च) (सर्वे) (विश्वे) समस्ताः (देवाः) इन्द्रियाणि (अभि) सर्वतः (रक्षन्तु) धरन्तु (पक्वम्) दृढस्वभावं परमेश्वरम् ॥

३४—(यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (दुहानम्) दुह प्रपूरणे-शानच्। प्रपूरयन्तम् (सदम्) सदा (इत्) एव (प्रपीनम्) ओप्यायी वृद्धौ—क्त। प्रवृद्धं समृद्धम् (पुमांसम्) अ० १।८।१। पा रक्षणे-डुमसुन्। पातारं रक्षकं पुरुषम् (धेनुम्) अ० ३।१०।१। धि धारणतर्पणयोः-नु। धेनुर्वाङ्नाम-निघ० ११।४२। तर्पयित्रीं वाचं विद्यां गां वा (सदनम्) गृहम् (रयीणाम्) धनानाम्

(रायः) धन की (पोषैः) पुष्टियों से (सदम् इत्) सदा ही (दुहानम्) पूर्ण करते हुये (त्वा) तुझ को (उप) आदर से (सदेम) हम प्राप्त होवें ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की उपासना में तत्पर रहते हैं, वे उत्तम व्यवहार, समृद्ध पुरुषों, विद्या, गौ, धन के कोष, प्रजा और सन्तान की वृद्धि और दीर्घ जीवन को प्राप्त होकर आनन्द भोगते हैं ॥ ३४ ॥

वृषभोऽसि स्वर्ग ऋषीनार्षेयान् गच्छ ।
सुकृतां लोके सीद तत्र नौ संस्कृतम् ॥ ३५ ॥

वृषभः । असि । स्वः-गः । ऋषीन् । आर्षेयान् । गच्छ ॥ सु-कृताम् । लोके । सीद । तत्र । नौ । संस्कृतम् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (वृषभः) महाबली और (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला (असि) है, (ऋषीन्) ऋषियों [सूक्ष्मदर्शियों] को और (आर्षेयान्) ऋषियों में विख्यात पुरुषों को (गच्छ) प्राप्त हो । (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (सीद) बैठ, (तत्र) वहां (नौ) हम दोनों का (संस्कृतम्) संस्कार होवे [अर्थात् मैं तेरी उपासना करूं और तू मुझे बल देवे] ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य जगदीश्वर की उपासना करके पुण्यात्माओं के समान व्यवहार करते हैं, वे बली और सुखी होते हैं ॥ ३५ ॥

समाचिनुष्वानुसंप्रयाह्यग्ने पथः कल्पय देवयानान् । एतैः सुकृतैरनु गच्छेम यज्ञं नाके तिष्ठन्तमधि सप्तरश्मौ ॥ ३६ ॥

(प्रजामृतत्वम्) जनतायाः सन्तानस्य वा मृत्युराहित्यम् (उत) अपि (दीर्घम्) प्रवृद्धम् (आयुः) जीवनम् (रायः) धनस्य (च) अवधारणे (पोषैः) समृद्धिभिः सह (उप) आदरेण (त्वा) त्वां परमात्मानम् (सदेम) षद्लृ गतौ-आशीर्लिङ् । लिङ्याशिष्यङ् पा० ३ । १ । ८६ । इत्यङ् । सद्यास्म । गम्यास्म ॥

३५—(वृषभः) अ० ४ । ५ । १ । वृषु प्रजनैश्वर्ययोः—अभच्, कित् । महाबली (असि) (स्वर्गः) सुखस्य गमयिता (ऋषीन्) सूक्ष्मदर्शिनः पुरुषान् (आर्षेयान्) म० १३ । ऋषिषु विख्यातान् (गच्छ)प्राप्नुहि (सुकृताम्) सुकर्मिणाम् (लोके) समाजे (सीद) तिष्ठ (तत्र) समाजे (नौ) आवयोः । मम च तव च (संस्कृतम्) संस्कारः ॥

सम्-आचिनुष्व । अनु-सम्प्रयाहि । अग्ने । पथः । कल्पय । देव-यानान् ॥ एतैः । सु-कृतैः । अनु । गच्छेम । यज्ञम् । नाके । तिष्ठन्तम् । अधि । सप्त-रश्मौ ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (देवयानान्) देवताओं [विजय चाहने वालों] के चलने योग्य (पथः) मार्गों को (समाचिनुष्व) चौरस करके ठीक ठीक सुधार, [उनपर] (अनु संप्रयाहि) निरन्तर यथाविधि आगे बढ़, [और उन्हें दूसरों के लिये] (कल्पय) बना । (एतैः) इन (सुकृतैः) सुन्दर [विचार से] बनाये हुये [मार्गों] द्वारा (सप्तरश्मौ) सात किरणों वाले (नाके) [लोकों वा प्रकाश आदि के चलाने वाले] सूर्य पर (अधि) राजा होकर (तिष्ठन्तम्) ठहरे हुये (यज्ञम्) पूजनीय [परमात्मा] को (अनु) निरन्तर (गच्छेम) पावें ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे वेदद्वारा विचार पूर्वक अपना आचरण ऐसा धार्मिक बनावें, जिसके अनुकरण से सब मनुष्य सूर्य आदि के प्रकाशक परमात्मा को प्राप्त होकर शुभगुणों से प्रकाशमान होवें । सूर्य की किरणों में शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र, ये सात वर्ण हैं ॥३६॥

३६—(समाचिनुष्व) चिञ् चयने-लोट् । समाभावेन समन्तात् रचनं कुरु (अनु संप्रयाहि) निरन्तरं सम्यक् प्रकर्षेण गच्छ (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (पथः) मार्गान् (कल्पय) विरचय (देवयानान्) विजिगीषुभिर्गन्तव्यान् (एतैः) पूर्वोक्तैः (सुकृतैः) सुनिर्मितैःपथिभिः (अनु) निरन्तरम् (गच्छेम) प्राप्नुयाम (यज्ञम्) पूजनीयं परमात्मनम् (नाके) अ० १ । ९ । २ । पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । णीञ् प्रापणे आकप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता रसानां नेता भासां ज्योतिषां प्रणयः—निरु० २ । १४ । लोकानां प्रकाशादीनां वा नेतरि सूर्ये । यस्मादधिकं यस्य चेश्वरवचनं तत्र सप्तमी । पा० २ । ३ । ९ । इति कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी (तिष्ठन्तम्) विद्यमानम् (अधि) अधिरीश्वरे । पा० १ । ४ । ९७ । इति ईश्वरार्थे कर्मप्रवचनीयत्वम् । ईश्वरो भूत्वा (सप्तरश्मौ) अ० ९ । ५ । १५ । शुक्लनीलपीतादिवर्णाः सप्तकिरणाः सन्ति यस्मिन् तस्मिन् ॥

येन॑ दे॒वा ज्योति॑षा द्यामु॒दाय॑न् ब्र॑ह्मौद॒नं प॒क्त्वा सु॑कृ॒तस्य॑ लो॒कम्। तेन॑ गेष्म सुकृ॒तस्य॑ लो॒कं स्व॑रा॒रोह॑न्तो अ॒भि नाक॑मुत्त॒मम् ॥ ३७ ॥ (४)

येन॑। दे॒वाः। ज्योति॑षा। द्याम्। उ॒त्ऽआय॑न्। ब्र॒ह्मऽओ॒द॒नम्। प॒क्त्वा। सु॒ऽकृ॒तस्य॑। लो॒कम् ॥ तेन॑। गे॒ष्म॒। सु॒ऽकृ॒तस्य॑। लो॒कम्। स्वः॑। आ॒ऽरोह॑न्तः। अ॒भि। नाक॑म्। उ॒त्ऽत॒मम् ॥ ३७ ॥ (४)

भाषार्थ—(येन ज्योतिषा) जिस ज्योति द्वारा (देवाः) देवता [विजय चाहने वाले लोग (ब्रह्मौदनम्) ब्रह्म-ओदन [वेदज्ञान, अन्न वा धन के बरसाने वाले परमेश्वर] को (पक्त्वा) पक्का [मन में दृढ़] करके (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (द्याम्) प्रकाशमान (लोकम्) लोक [समाज] को (उदायन्) ऊपर पहुंचे हैं। (तेन) उसी [ज्योति] से (उत्तमम्) उत्तम (नाकम्) दुःख रहित (स्वः) सुख स्वरूप परब्रह्म को (अभि=अभिलक्ष्य) लखकर (आरोहन्तः) चढ़ते हुये हम (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (लोकम्) समाज को (गेष्म) खोजें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जिस वैदिक ज्योति द्वारा विजयी महात्मा लोगों ने चलकर परमात्मा को पाया है, उसी वैदिक ज्योति द्वारा परमात्मा को देखते हुये हम सब पुण्यात्माओं के बीच सुख पावें ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आचुका है—अ० ४। १४। ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१-३१ ॥ भवाशर्वौ रुद्रश्च देवताः। १ स्वराट् त्रिष्टुप्; २ स्वराडार्षी त्रिष्टुप्; ३ भुरिगुष्णिक्; ४, ५, ७, १३, १५, १६, २१ अनुष्टुप्; ६ गायत्री; ८ महाबृहती;

३७—(येन) (देवाः) विजिगीषवः (ज्योतिषा) प्रकाशेन (द्याम्) प्रकाशमानम् (उदायन्)। इण् गतौ—लङ्। उदगच्छन् (ब्रह्मौदनम्) म० १। ब्रह्मणो-वेदज्ञानस्यान्नस्य धनस्य वा सेचकं वर्षकं परमात्मानम् (पक्त्वा) दृढं कृत्वा (सुकृतस्य) सुकर्मणः (लोकम्) समाजम् (गेष्म) गेषृ अन्विच्छायाम्-लोट्। गेषामहै। अन्वेषणेन प्राप्नवामः। अन्यत् पूर्ववत्-अ० ४। १४। ६ ॥

६, २८ त्रिष्टुप् ; १० ब्राह्मय् ष्णिक्; ११ पञ्चपदा शक्वरी; १२ भुरिक् त्रिष्टुप् ; १४, १७, १८, १६, २३, २६, २७ विराड् गायत्री; २० भुरिग् गायत्री ; २२ स्वराड् विराड् गायत्री; २४ भुरिग् जगती, २५ पञ्चपदाऽतिशक्वरी; २६ निचृज् जगती ; ३० उष्णिक् ; ३१ षट्पदा जगती ॥

शान्त्यर्थः पुरुषार्थोपदेशः—शान्ति के लिये पुरुषार्थ का उपदेश ॥

भवाशर्वौ मृडतं माभि यातं भूतपती पशुपती नमो वाम् ।
प्रतिहितामायतां मा वि स्राष्टं मा नो हिंसिष्टं द्विपदो मा चतुष्पदः ॥ १ ॥

भवाशर्वौ । मृडतम् । मा । अभि । यातम् । भूतपती इति भूत-पती । पशुपती इति पशु-पती । नमः । वाम् ॥ प्रति-हिताम् । आ-यताम् । मा । वि । स्राष्टम् । मा । नः । हिंसिष्टम् । द्वि-पदः । मा । चतुः-पदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(भवाशर्वौ) हे भव और शर्व ! [भव, सुख उत्पन्न करने वाले और शर्व, शत्रुनाशक परमेश्वर के तुम [दोनों गुणो] (मृडतम्) प्रसन्न हो, (मा अभियातम्) [हमारे] विरुद्ध मत चलो, (भूतपती) हे सत्ता के पालको ! (पशुपती) हे सब दृष्टि वालों के रक्षको ! (वाम्) तुम दोनों को (नमः) नमस्कार है। (प्रतिहिताम्) लक्ष्य पर लगाई हुई और (आयताम्) तानी हुई [इषु, तीर] को (मा वि स्राष्टम्) तुम दोनों मत छोड़ो, (मा) न

१—(भवाशर्वौ) अ० ४ । २८ । १। भवत्युत्पद्यते सुखमस्मादिति भवः, सुखोत्पादको गुणः । शृणाति शत्रून् इति शर्वः, शॄ हिंसायाम्—व । भवश्च शर्वश्च भवाशर्वौ, ईश्वरगुणौ । देवताद्वन्द्वे च । पा० ६ । ३ । २६ । इति आनङ् । अस्मिन् सूक्ते गुणवर्णनेन गुणिग्रहणम् (मृडतम्) सुखिनौ प्रसन्नौ भवतम् (मा) निषेधे (अभियातम्) अभिमुखं विरुद्धं गच्छतम् (भूतपती) प्राणिनां पालकौ (पशुपती) दृष्टिमतां रक्षकौ (नमः) नमस्कारः (वाम्) युवाभ्याम् (प्रतिहिताम्) लक्ष्यीकृत्य संहितामारोपिताम् (आयताम्) आङ्+यम—क्त । आकृष्टां प्रसारिताम् इषुमिति शेषः (मा वि स्राष्टम्) सृज विसर्गे तुदादिः । माङि लुङि रूपम् । नैव विसृजतम् (नः) अस्माकम् (मा हिंसिष्टम्) मा पीडयतम् (द्विपदः)

(नः) हमारे (द्विपदः) दोपायों और (मा) न (चतुष्पदः) चौपायों को (हिंसिष्टम्) मारो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे एक ही मनुष्य अपने अधिकारों से गुरुकुल में आचार्य और यज्ञ में ब्रह्मा आदि होता है, वैसे ही एक परमेश्वर अपने गुणों से (भव) सुख उत्पन्न करने वाला और (शर्व) शत्रुनाशक कहाता है, अर्थात् गुणों के वर्णन से गुणी परमात्मा का ग्रहण है । कहीं (भवाशर्वौ, भवारुद्रौ) द्विवचनान्त और कहीं (भव, शर्व, रुद्र,) आदि एक वचनान्त पद हैं। मन्त्र का आशय यह है कि मनुष्य परमेश्वर के गुणोंके ज्ञानसे सब उपकारी पदार्थों और प्राणियों की रक्षा करके धर्म में प्रवृत्त रहे, जिससे परमेश्वर उस पर क्रुद्ध न होवे ॥१॥

इस सूक्त का मिलान अ० ४ । २८ से करो ॥

शुने॑ क्रो॒ष्ट्रे मा शरी॑राणि॒ कर्त॑मलि॒क्ल॑वेभ्यो॒ गृध्रे॑भ्यो॒ ये च॑ कृ॒ष्णा अ॑वि॒ष्यवः॑। मक्षि॑कास्ते पशुपते॒ वयां॑सि ते विघ॒से मा वि॑दन्त २

शुने॑ । क्रो॒ष्ट्रे । मा । शरी॑राणि । कर्त॑म् । अ॒लि॒क्ल॑वेभ्यः । गृध्रे॑भ्यः । ये । च॒ । कृ॒ष्णाः । अ॒वि॒ष्यवः॑ ॥ मक्षि॑काः । ते॒ । प॒शु॒ऽप॒ते॒ । वयां॑सि । ते॒ । वि॒ऽघ॒से । मा । वि॒द॒न्त॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शुने) कुत्ते के लिये, (क्रोष्ट्रे) गीदड़ के लिये, (अलिक्लवेभ्यः) अपने बलसे भय देने वाले [श्येन, चील आदियों] के लिये, (गृध्रेभ्यः) खाऊ [गिद्ध आदियों] के लिये (च) और (ये) जो (अविष्यवः) हिंसाकारी (कृष्णाः) कौवे हैं [उनके लिये] (शरीराणि) [हमारे] शरीरों को (मा कर्तम्) तुम दोनों मत करो । (पशुपते) हे दृष्टिवाले [जीवों] के रक्षक ! (ते) तेरी

पादद्वयोपेतान् मनुष्यादीन् (मा) निषेधे (चतुष्पदः) पादचतुष्टययुक्तान् गोमहिष्याश्वादीन् ॥

२—(शुने) कुकुराय (क्रोष्ट्रे) शृगालाय (शरीराणि) अस्माकं देहान् (मा कर्तम्) मा कुरुतम् (अलिक्लवेभ्यः) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४ । ११८ । अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु-इन् + क्लव भये—अच् । अलिना शक्त्या बलेन भयानकाः । श्येनादयस्तेभ्यः (गृध्रेभ्यः) मांसाहारिभ्यः खगविशेषेभ्यः (ये) (च) (कृष्णाः) कृष्णवर्णा वायसाः (अविष्यवः) अ० ३ । २६ । २ । अर्चिशुचि...

[उत्पन्न] (मक्षिकाः) मक्खियां और (ते) तेरे [उत्पन्न] (वयांसि) पक्षी (विघसे) भोजन पर (मा विदन्त) [हमें] न प्राप्त होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य सावधान रहें कि कुत्ते आदि उन्हें न सतावें और न मक्खी आदि भोजन को बिगाड़ें ॥ २ ॥

क्रन्दाय ते प्राणाय याश्च ते भव रोपयः ।
नमस्ते रुद्र कृण्मः सहस्राक्षायामर्त्य ॥ ३ ॥

क्रन्दाय । ते । प्राणाय । याः । च । ते । भव । रोपयः ॥
नमः । ते । रुद्र । कृण्मः । सहस्र-अक्षाय । अमर्त्य ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(भव) हे भव ! [सुख उत्पन्न करनेवाले] (रुद्र) हे रुद्र ! [दुःखनाशक] (अमर्त्य) हे अमर ! [जगदीश्वर] (सहस्राक्षाय) सहस्रों कर्मों में दृष्टि वाले (ते) तुझको (क्रन्दाय) [अपना] रोदन मिटाने के लिये (ते) तुझे (प्राणाय) [अपना] जीवन बढ़ाने के लिये (च) और (ते) तुझे

इसि । उ० २ । १०८ । अव रक्षणहिंसादिषु—इसि । छन्दसि परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । इति क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः । परहिंसेच्छवः (मक्षिकाः) हनिमशिभ्यां सिकन् । उ० ४ । १५४ । मक्ष ध्वनौ कोपे च—सिकन् । कीटभेदाः (ते) तव, उत्पन्ना इति शेषः (पशुपते) हे दृष्टिमतां पालक (वयांसि) पक्षिणः (ते) तव (विघसे) उपसर्गेऽदः । पा० ३ । ३ । ५६ । अद् भक्षणे—अप् । घञपोश्च । पा० २ । ३ । ३८ । घस्लृ आदेशः । अन्ने । भोजने (मा विदन्त) विद्लृ लाभे माङि लुङि रूपम् । न लभन्ताम्, अस्मान् इति शेषः ॥

३—(क्रन्दाय) क्रदि आह्वाने रोदने च—घञ् । क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० ३ । २ । १४ । क्रन्दं रोदनं नाशयितुम् (ते) तुभ्यम् (प्राणाय) प्राणं जीवनं वर्धयितुम् (याः) (च) (ते) तुभ्यम् (भव) भू—अप् । हे सुखोत्पादक (रोपयः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । रुप विमोहने—इन् । विमोहिकाः पीडाः (नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (रुद्र) अ० २ । २७ । ६ । रु वधे—क्विप्, तुक्+रु वधे—ड । हे दुःखनाशक । यद्वा, रु गतौ—क्विप्+रा

(याः) जो (रोपयः) [हमारी) पीड़ायें हैं [उन्हें हटाने के लिये] (नमः कृण्मः) हम नमस्कार, करते है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति से सब ओर दृष्टि करके और भीतरी क्लेश मिटाकर अपना जीवन सुफल करे ॥ ३ ॥

पुरस्तात् ते नमः कृण्म उत्त्राद्धराद्धुत ।
अभीवर्गाद् दिवस्पर्यन्तरिक्षाय ते नमः ॥ ४ ॥

पुरस्तात् । ते । नमः । कृण्मः । उत्तरात् । अधरात् । उत ॥
अभि-वर्गात् । दिवः । परि । अन्तरिक्षाय । ते । नमः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (ते) तुझे (पुरस्तात्) आगे से, (उत्तरात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (नमः) नमस्कार, (ते) तुझे (दिवः) आकाश के (अभिविर्गात् परि) अवकाश से (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्ष लोकको जानने के लिये (नमः कृण्मः) हम नमस्कार करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को सर्वत्र व्यापक जानकर विद्या की प्राप्ति से सब दिशाओं और अन्तरिक्ष के पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके अपनी रक्षा करें ॥ ४ ॥

मुखाय ते पशुपते यानि चक्षूंषि ते भव ।
त्वचे रूपाय संदृशे प्रतीचीनाय ते नमः ॥ ५ ॥

मुखाय । ते । पशु-पते । यानि । चक्षूंषि । ते । भव ॥
त्वचे । रूपाय । सम्-दृशे । प्रतीचीनाय । ते । नमः ॥ ५ ॥

दाने—क । हे ज्ञानदातः (कृण्मः) कुर्मः (सहस्राक्षाय) अ० ३ । ११ । ३ । सहस्रेषु बहुषु कर्मसु अक्षीणिदर्शनशक्तयो यस्य तस्मै (अमर्त्य) हे अमर ॥

४—(पुरस्तात्) अग्रे वर्तमानाद् देशात् (ते) तुभ्यम् (उत्तरात्) उपरिस्थानात् (अधरात्) अधः स्थानात् (उत) अपि च (अभीवर्गात्) अभि+वृजी वर्जने-घञ् । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ । इति दीर्घः । अभितो वृज्यते गृहादिभिः परिच्छिद्यते यः । अवकाशात् (दिवः) आकाशस्य (परि) (अन्तरिक्षाय) अन्तरिक्षं ज्ञातुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(पशुपते) हे दृष्टि वालों के रक्षक ! (ते) तुझे (मुखाय) [हमारे] मुख के हितके लिये, (भव) हे सुख उत्पादक ! (ते) तुझे, (यानि) जो (चक्षूंषि) [हमारे] दर्शन साधन हैं [उनके लिये]। (त्वचे) [हमारी] त्वचा के लिये (रूपाय) सुन्दरता के लिये, (संदृशे) आकार के लिये (प्रतीचीनाय) प्रत्यक्ष व्यापक (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना पूर्वक अपने मुख आदि इन्द्रियों और त्वचा आदिको उपयोगी बनाकर पुरुषार्थी होवें ॥ ५ ॥

अङ्गे॑भ्यस्त उदरा॑य जि॒ह्वायै॑ आ॒स्याय ते ।
द॒द्भ्यो ग॒न्धाय॑ ते॒ नमः॑ ॥ ६ ॥

अङ्गे॑भ्यः । ते॒ । उ॒दरा॑य । जि॒ह्वायै॑ । आ॒स्याय । ते॒ ॥
द॒त्-भ्यः । ग॒न्धाय॑ । ते॒ । नमः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन !] (ते) तुझे (अङ्गेभ्यः) [हमारे] अङ्गों के हित के लिये, (उदराय) उदर के हित के लिये,(ते)तुझे (जिह्वायै) [हमारी] जिह्वा के हित के लिये और (आस्याय) मुख के हित के लिये (ते) तुझे (दद्भ्यः) [हमारे] दाँतों के हित के लिये और (गन्धाय) गन्ध ग्रहण करने के लिये (नमः) नमस्कार है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने अङ्गों को यथावत् उपकारी बनाकर परमेश्वर की भक्ति करें ॥ ६ ॥

अस्त्रा नील॑शिखण्डेन सहस्रा॒क्षेण॑ वा॒जिना॑ ।
रु॒द्रेणा॑र्धकघा॒तिना॒ तेन॒ मा सम॑रामहि ॥ ७ ॥

५—(मुखाय) मुखहिताय (ते) तुभ्यम् (पशुपते) हे दृष्टिमतां रक्षक (यानि) (चक्षूंषि) दर्शनसाधनानि (भव) हे सुखोत्पादक (त्वचे) त्वचाहिताय (रूपाय) सौन्दर्याय (संदृशे) सम्यग् दर्शनीयाय आकाराय (प्रतीचीनाय) अ० ४ । ३२ । ६ । प्रत्यक्षं व्यापकाय (ते) तुभ्यम् (नमः) नमस्कारः ॥

६—(अङ्गेभ्यः) अस्माकं शरीरावयवेभ्यः (ते) तुभ्यम् (उदराय) उदरहिताय (आस्याय) मुखहिताय (ते) तुभ्यम् (दद्भ्यः) दन्तानां हिताय (गन्धाय) गन्धं ग्रहीतुम् (ते) तुभ्यम् (नमः) नमस्कारः ॥

अस्त्रा । नील-शिखण्डेन । सहस्र-अक्षेण । वाजिना ॥ रुद्रेण । अर्धक-घातिना । तेन । मा । सम् । अरामहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अस्त्रा) प्रकाश करने वाले, (नीलशिखण्डेन) नीलों [निधियों] के पहुंचाने वाले, (सहस्राक्षेण) सहस्रों कर्मों में दृष्टिवाले (वाजिना) बलवान्। (अर्धकघातिना) हिंसकों के मारने वाले (तेन) उस (रुद्रेण) रुद्र [दुःख नाशक परमात्मा] के साथ (मा सम् अरामहि) हम समर [युद्ध] न करें ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्वयंप्रकाशमान, सर्वहितकारी, महाबली परमात्मा की आज्ञा में रहकर सदा सुखी रहें ॥ ७ ॥

स नो भवः परि वृणक्तु विश्वत आप इवाग्निः परि वृणक्तु नो भवः । मा नोऽभि मांस्त नमो अस्त्वस्मै ॥ ८ ॥

सः । नः । भवः । परि । वृणक्तु । विश्वतः । आपः-इव । अग्निः । परि । वृणक्तु । नः । भवः ॥ मा । नः । अभि । मांस्त । नमः । अस्तु । अस्मै ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (भवः) भव [सुख उत्पन्न करने वाला पर-

७—(अस्त्रा) अस दीप्तौ–तृन्, इडभाव। प्रकाशमानः (नीलशिखण्डेन) अ० २ । २७ । ६ । णीञ् प्रापणे–रक्, रस्य लः । नीयते प्राप्यते स नीलो निधिः । शिख शिखि गतौ–अण्डन् । निधीनां शिखण्डः प्राप्तिर्यस्मात् तेन । निधीनां प्रापकेण (सहस्राक्षेण) म० ३ । सहस्रेषु कर्मसु दृष्टियुक्तेन (वाजिना) बलवता (रुद्रेण) म० ३ । दुःखनाशकेन परमात्मना (अर्धकघातिना) अर्द हिंसायाम्–ण्वुल्, दस्य धः + हन हिंसागत्योः–णिनि । हनस्तोऽचिण्णलोः पा० ७ । ३ । ३२ । इति तत्वम् । हो हन्तेर्ञ्णिन्नेषु । पा० ७ । ३ । ५४। इति घत्वम् । अर्दकानां हिंसकानां नाशकेन (तेन) प्रसिद्धेन (मा सम् अरामहि) ऋ गतौ–माङि लुङि रूपम् । समो गम्यृच्छिप्रच्छि० । पा० १ । ३ । २९ । इत्यात्मनेपदम् । सर्तिशास्त्यर्तिभ्यश्च । पा० ३ । १ । ५६ । इति च्लेरङादेशः । समरं युद्धं न करवाम ॥

८—(सः) प्रसिद्धः (नः) अस्मान् (भवः) म० ३ । सुखोत्पादकः

मेश्वर] (नः) हमें [दुष्ट कर्मों से] (विश्वतः) सब ओर (परि वृणक्तु) बरजता [रोकता] रहे, (इव) जैसे (आपः) जल और (अग्निः) अग्नि [एक दूसरे को रोकते हैं वैसे ही] (भवः), भव [सुख उत्पन्न करने वाला परमेश्वर] (नः) हमें (परि वृणक्तु) बरजाता रहे। (नः) हमें (मा अभि मांस्त) वह न सतावे, (अस्मै) इस [परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे॥८॥

भावार्थ—जैसे जल अग्नि से और अग्नि जल से पृथक् होते हैं; वैसेही हम दुष्ट कर्मों से पृथक् रहकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करके सुरक्षित रहें॥८॥

चतुर्नमो॑ अष्टकृत्वो॑ भवाय॒ दश॒ कृत्वः॑ पशुपते॒ नम॑स्ते। तवे॒मे पञ्च॑ प॒शवो॒ विभ॑क्ता॒ गावो॒ अश्वाः॒ पुरु॑षा अजा॒वयः॑ ॥ ९ ॥

च॒तुः। नमः॑। अ॒ष्ट॒-कृत्वः॑। भ॒वाय॑। दश॑। कृत्वः॑। प॒शु॒-प॒ते॒। नमः॑। ते॒॥ तव॑। इ॒मे। पञ्च॑। प॒शवः॑। वि-भ॑क्ताः। गावः॑। अश्वाः॑। पुरु॑षाः। अ॒ज॒-अ॒वयः॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(भवाय) भव [सुखोत्पादक परमेश्वर] को (चतुः) चार बार, (अष्टकृत्वः) आठ बार (नमः) नमस्कार है, (पशुपते) हे दृष्टि वाले [जीवों] के रक्षक! (ते) तुझे (दश कृत्वः) दस बार (नमः) नमस्कार है। (तव) तेरेही (विभक्ताः) बांटे हुये (इमे) यह (पञ्च) पांच

(परि वृणक्तु) परितो वर्जयतु, दुष्टकर्मभ्य इति शेषः (विश्वतः) सर्वतः (आपः) जलानि (इव) यथा (अग्निः) (नः) अस्मान् (मा अभि मांस्त) अभिपूर्वो मन्यतिर्हिंसने-माङि लुङि रूपम्। न हिनस्तु (नमः) नमस्कारः (अस्तु) (अस्मै) भवाय। अन्यद् गतम्॥

९—(चतुः) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्। पा० ५। ४। १८। इति सुच्। चतुर्वारम्। ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमान् ध्यात्वा (नमः) नमस्कारः (अष्टकृत्वः) संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्। पा० ५। ४। १७। इति कृत्वसुच्। अष्टवारम्। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योगदर्शने, पा० २ सूत्रे २९—इत्येतानि आश्रित्य (भवाय) म० ३। सुखोत्पादकाय (दश कृत्वः) पूर्ववत् कृत्वसुच, व्यवधानं छान्दसम्।

(पशवः) दृष्टिवाले [जीव] (गावः) गौवें, (अश्वाः) घोड़े, (पुरुषाः) पुरुष और (अजावयः) बकरी और भेड़ें हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को चार वार [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास चार आश्रमों का ध्यान करके], आठवार [यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि, आठ योग के अङ्गों का आश्रय लेकर—योगदर्शन, पाद २ सूत्र २९ [और दस वार [पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय को वश में करके] नमस्कार करे। परमेश्वर ही कर्मानुसार गौ आदि पदार्थों को मनुष्यों के लिये बांटता है ॥ ९ ॥

तव॒ चत॑स्रः प्र॒दिश॒स्तव॒ द्यौस्तव॑ पृथि॒वी तवे॒दमु॑ग्रो॒वे॑१॒न्तरि॑-क्षम् । तवे॒दं सर्व॑मा॒त्मन्व॒द् यत् प्रा॒णत् पृ॑थि॒वीमनु॑ ॥१०॥ (५)

तव॑ । चत॑स्रः । प्र॒-दिशः॑ । तव॑ । द्यौः । तव॑ । पृ॒थि॒वी । तव॑ । इ॒दम् । उ॒ग्र॒ । उ॒रु । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ तव॑ । इ॒दम् । सर्व॑म् । आ॒त्मन्-व॒त् । यत् । प्रा॒णत् । पृ॒थि॒वीम् । अनु॑ ॥ १० ॥ (५)

भाषार्थ—(उग्र) हे तेजस्वी ! [परमेश्वर] (तव) तेरी (चतस्रः) चारो (प्रदिशः) बड़ी दिशायें हैं, (तव) तेरा (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य, (तव) तेरी (पृथिवी) फैली हुई भूमि, (तव) तेरा (इदम्) यह (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) आकाश लोक है। (तव) तेरा ही (इदम्) यह (सर्वम्) सब है, (यत्) जो (आत्मन्वत्) आत्मा वाला और (प्राणत्) प्राण वाला [जगत्] (पृथिवीम् अनु) पृथिवी पर है ॥ १० ॥

दशवारम्। दशेन्द्रियाणि वशीकृत्वेति यावत् (पशुपते) (नमः) (ते) (तव) (इमे) समीपवर्तिनः (पशवः) दृष्टिमन्तो जीवाः (विभक्ताः) विभागं प्राप्ताः (गावः) धेनवः (अश्वाः) तुरङ्गाः (पुरुषाः) मनुष्याः (अजावयः) अजाश्च अवयश्च ते छागमेषाः ॥

१०—(तव) (चतस्रः) चतुः संख्याकाः (प्रदिशः) प्राधानाः प्राच्यद्या महादिशः (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (पृथिवी) विस्तृता भूमिः (इदम्) सर्वत्र व्यापकम् (उग्र) हे तेजीस्विन् (उरु) विस्तृनम् (अन्तरिक्षम्) सर्वमध्ये दृश्यमान आकाशः (इदम्) सर्वम् (आत्मन्वत्) अ० ४ । १० । ७ । सात्मकं जगत् (यत्) (प्राणात्) प्राणव्यापारं कुर्वत् (पृथिवीम् अनु) भूमिं प्रति ॥

भावार्थ—यह सब चराचर जगत् और पृथिवी आदि सब लोक परमेश्वर के आधीन हैं ॥ १० ॥

उरुः कोशो वसुधानस्तवायं यस्मिन्निमा विश्वा भुवनान्यन्तः। स नो मृड पशुपते नमस्ते परः क्रोष्टारो अभिभाः श्वानः परो यन्त्वघरुदो विकेश्यः ॥ ११ ॥

उरुः। कोशः। वसु-धानः। तव। अयम्। यस्मिन्। इमा। विश्वा। भुवनानि। अन्तः ॥ सः। नः। मृड। पशुपते। नमः। ते। परः। क्रोष्टारः। अभिभाः। श्वानः। परः। यन्तु। अघ-रुदः। वि-केश्यः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[परमेश्वर !] (तव) तेरा (अयम्) यह (उरुः) चौड़ा (कोशः) कोश [निधि] (वसुधानः) श्रेष्ठ पदार्थों का आधार है, (यस्मिन् अन्तः) जिसके भीतर (इमा विश्वा) ये सब (भुवनानि) भुवन [सत्तायें] हैं। (पशुपते) हे दृष्टि वाले [जीवों] के रक्षक ! (सः) तू सो (नः) हमें (मृड) सुखी रख, (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार हो, (क्रोष्टारः) चिल्लाने वाले गीदड़, (अभिभाः) सन्मुख चमकती हुई विपत्तियां, (श्वानः) घूमने वाले कुत्ते (परः) दूर और (विकेश्यः) केश फैलाये हुये [भयानक](अघरुदः) पाप की पीड़ायें (परः) दूर (यन्तु) चली जावें ॥ ११ ॥

११—(उरुः) विस्तृतः (कोशः) निधिः। भाण्डागारः (वसुधानः) वसूनां श्रेष्ठपदार्थानामाधारः (तव)(अयम्) (यस्मिन्) कोशे (इमा) इमानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवनानि) अस्तित्वानि। लोकाः (अन्तः) मध्ये (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (मृड) मृडय। सुखय (पशुपते) दृष्टिमतां जीवानां पालक (नमः) नमस्कारः (ते) तुभ्यम् (परः) परस्तात्। दूरम्(क्रोष्टारः) क्रोशनशीलाः शृगालाः (अभिभाः) अ० १। २०। १। अभि+भा दीप्तौ—क्विप्। अभितो दीप्यमाना विपत्तयः(श्वानः) अ० ४। ३६। ६। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्। भ्रमणशीलाः कुक्कुराः (परः) दूरम् (यन्तु) गच्छन्तु (अघरुदः) अ० ८। १। ११। अघ+रुदेः क्विप्। पापस्य पीडाः (विकेश्यः) अ० १। २८। ४। वि+केश—ङीप्। विकीर्णकेशाः। अतिभयकारिण्यः ॥

भावार्थ—परमेश्वर के आश्रय भण्डार से यह सब लोक पलते हैं, उसी के आश्रय से सब मनुष्य पुरुषार्थ के साथ अनेक विपत्तियों और विघ्नों से बचकर आनन्दित होवें॥ ११॥

धनु॑र्बिभर्षि॒ हरि॑तं हिर॒ण्ययं॑ सहस्र॒घ्नि श॒तव॑धं शिखण्डिन्।
रु॒द्रस्येषु॑श्चरति देवहे॒तिस्तस्यै॒ नमो॑ यत॒मस्यां॑ दि॒शी॒३॒॑तः॥१२॥

धनुः॑। बि॒भ॒र्षि॒। हरि॑तम्। हि॒र॒ण्यय॑म्। स॒ह॒स्र॒ऽघ्नि। श॒तऽव॑धम्। शि॒ख॒ण्डि॒न्॥ रु॒द्रस्य॑। इषुः॑। च॒र॒ति॒। दे॒व॒ऽहे॒तिः। तस्यै॑। नमः॑। य॒त॒मस्या॑म्। दि॒शि। इ॒तः॥ १२॥

भाषार्थ—(शिखण्डिन्) हे परम उद्योगी! [रुद्र परमेश्वर] (हरितम्) शत्रुनाशक, (हिरण्ययम्) बलयुक्त, (सहस्रघ्नि) सहस्रों [शत्रुओं] के मारने वाले, (शतवधम्) सैकड़ों हथियारों वाले, (धनुः) धनुष को तू (बिभर्षि) धारण करता है। (रुद्रस्य) रुद्र [दुःख नाशक परमेश्वर] का (इषुः) बाण (देवहेतिः) दिव्य [अद्भुत] वज्र (चरति) चलता रहता है, (तस्यै) उस [बाण] के रोकने के लिये (इतः) यहां से (यतमस्याम् दिशि) चाहे कौन सी दिशा हो उसमें (नमः) नमस्कार है॥ १२॥

भावार्थ—जैसे शूर पुरुष अनेक प्रकार के सहस्रघ्नि, शतघ्नी, शतवध आदि अस्त्र शस्त्र बना के शत्रुओं को मारता है, वैसे ही सर्वशक्तिमान् परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से पापियों का नाश कर देता है। इससे हम लोग उसकी आज्ञा का उल्लंघन न करके उसकी शरण में रहें॥ १२॥

१२—(धनुः) चापम् (बिभर्षि) धारयसि (हरितम्) हृश्याभ्यामितन्। उ० ३। ९३। हृञ् नाशने-इतन्। शत्रुनाशकम् (हिरण्ययम्) हिरण्यं रेतो वीर्यं बलम्, तेन युक्तम् (सहस्रघ्नि) सुपेः क्विप्। उ० ४। १४२। सहस्र + हन हिंसागत्योः—इन्, किच्। सहस्रशत्रुनाशकम् (शतवधम्) वधो वज्रनाम—निघ० २। २०। अनेकायुधोपेतम् (शिखण्डिन्) अ० ३। ७। ६। शिख गतौ—खण्डन् किच्, तत इनि। हे महोद्योगिन् (रुद्रस्य) दुःखनाशकस्य (इषुः) बाणः (चरति) विचरति (देवहेतिः) अद्भुतवज्रः (तस्यै) तां निवारयितुम् (नमः) (यतमस्याम्) यस्यां कस्याम् (दिशि) दिशायाम् (इतः) अस्मात् स्थानात्॥

यो३॑ऽभियातो निलयते त्वां रुद्र निचिकीर्षति ।
पश्चादनुप्रयुङ्क्षे तं विद्धस्य पदनीरिव ॥ १३ ॥

यः । अभि-यातः । नि-लयते । त्वाम् । रुद्र । नि-चिकीर्षति ॥
पश्चात् । अनु-प्रयुङ्क्षे । तम् । विद्धस्य । पदनीः-इव ॥१३॥

भाषार्थ—(यः) जो [दुष्कर्मी] (अभियातः) हारा हुआ (निलयते) छिप जाता है, और (रुद्र) हे रुद्र ! [दुःखनाशक] (त्वा) तुझे (निचिकीर्षति) हराना चाहता है। (पश्चात्) पीछे पीछे (तम्) उसका (अनुप्रयुङ्क्षे) तू अनुप्रयोग करता है [यथा अपराध दण्ड देता है], (इव) जैसे (विद्धस्य) घायल का (पदनीः) पद खोजिया ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट गुप्त रीति से भी परमेश्वर की आज्ञा का भङ्ग करता है, परमेश्वर उसे दण्ड ही देता है, जैसे व्याध घायल आखेट के रुधिर आदि चिन्ह से खोज लगा कर उसे पकड़ लेता है ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो–अ० १० । १ । २६ ॥

भवारुद्रौ सयुजा संविदानावुभावुग्रौ चरतो वीर्याय ।
ताभ्यां नमो यतमस्यां दिशी३॑तः ॥ १४ ॥

भवारुद्रौ । स-युजा । सम्-विदानौ । उभौ । उग्रौ । चरतः ।
वीर्याय ॥ ताभ्याम् । नमः । यतमस्याम् । दिशि । इतः ॥१४॥

भाषार्थ—(सयुजा) समान संयोग वाले, (संविदानौ) समान ज्ञान वाले, (उग्रौ) तेजस्वी (उभौ) दोनों (भवारुद्रौ) भव और रुद्र [सुखोत्पादक

१३—(यः) दुष्कर्मी (अभियातः) अभिगतः । अभिभूतः सन् (निलयते) निलीनो गुप्तो भवति (त्वाम्) (रुद्र) म० ३ । हे दुःखनाशक (निचिकीर्षति) डु कृञ् करणे, यद्वा, कृञ् हिंसायाम् सन् । निराकर्तुं नितरां हिंसितुं वेच्छति (पश्चात्) निरन्तरम् (अनुप्रयुङ्क्ते) अनुप्रयोगं करोषि । यथापराधं दण्डयसि (तम्) दुष्टम् (विद्धस्य) ताडितस्य । क्षतस्य (पदनीः) पद + णीञ् प्रापणे–क्विप् । पदचिह्नानां नेता । पदानुगामी (इव) यथा ॥

१४—(भवारुद्रौ) म० ३ । भवश्च रुद्रश्च तौ । सुखोत्पादकदुःखनाशकौ गुणौ (सयुजा) समानं युञ्जानौ मिश्रभूतौ (संविदानौ) समानं

और दुःख नाशक गुण] (वीर्याय) वीरता देने को (चरतः) विचरते हैं। (इतः) यहां से (यतमस्याम् दिशि) चाहे जौन सी दिशा हो उसमें (ताभ्याम्) उन दोनों को (नमः) नमस्कार है ॥ १४ ॥

भावार्थ—चाहे हम कहीं होवें, परमेश्वर को सर्वज्ञ और सर्वव्यापक जानकर अपना वीरत्व बढ़ावें ॥ १४ ॥

नमस्तेऽस्त्वायते नमो अस्तु परायते ।

नमस्ते रुद्र तिष्ठत आसीनायोत ते नमः ॥ १५ ॥

नमः । ते । अस्तु । आ-यते । नमः । अस्तु । परा-यते ॥

नमः । ते । रुद्र । तिष्ठते । आसीनाय । उत । ते । नमः १५

भाषार्थ—(आयते) आते हुये [पुरुष] के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (अस्तु) होवे, (परायते) दूर जाते हुये के हित के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे। (रुद्र) हे रुद्र ! [दुःखनाशक] (तिष्ठते) खड़े होते हुये के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (उत) और (आसीनाय) बैठे हुये के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है ॥१५॥

भावार्थ—मनुष्य आते, जाते, उठते, बैठते परमेश्वर का स्मरण करके पुरुषार्थ करे ॥ १५ ॥

नमः सायं नमः प्रातर्नमो रात्र्या नमो दिवा ।

भवाय च शर्वाय चोभाभ्यामकरं नमः ॥ १६ ॥

नमः । सायम् । नमः । प्रातः । नमः । रात्र्या । नमः दिवा ॥

भवाय । च । शर्वाय । च । उभाभ्याम् । अकरम् । नमः ॥१६॥

आनन्तौ (उभौ) (उग्रौ) तेजस्विनौ (चरतः) विचरतः(वीर्याय) वीरत्वं दातुम् (ताभ्याम्) भवारुद्राभ्याम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० ॥ १३ ॥

१५—(नमः) (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (आयते) आगच्छतः पुरुषस्य हिताय (परायते) दूरं गच्छते (रुद्र) म० ३ । हे दुःखनाशक (तिष्ठते) उत्तिष्ठतः पुरुषस्य हिताय (आसीनाय) उपविष्टस्य हिताय (उत) अपि च । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(सायम्) सायं काल में (नमः) नमस्कारः (प्रातः) प्रातः काल में (नमः) नमस्कार (रात्र्या) राति में (नमः) नमस्कार, (दिवा) दिन में (नमः) नमस्कार। (भवाय) भव [सुख उत्पन्न करने वाले] (च च) और (शर्वाय) शर्व [दुःख नाश करने वाले] (उभाभ्याम्) दोनों [गुणों] को (नमः अकरम्) मैं ने नमस्कार किया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रत्येक समय महाशक्तिमान् परमेश्वर का ध्यान करके सदा पराक्रम करता रहे ॥ १६ ॥

सहस्राक्षमतिपश्यं पुरस्ताद् रुद्रमस्यन्तं बहुधा विपश्चितम्। मोपाराम जिह्वयेयमानम् ॥ १७ ॥

सहस्र-अक्षम्। अति-पश्यम्। पुरस्तात्। रुद्रम्। अस्यन्तम्। बहु-धा। विपः-चितम् ॥ मा। उप। अराम। जिह्वया। ईयमानम् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षम्) सहस्रों कामों में दृष्टि वाले, (पुरस्तात्) सन्मुख से (अतिपश्यम्) आड़े बेंड़े देखनेवाले, (बहुधा) अनेक प्रकार से [पापों को] (अस्यन्तम्) गिराने वाले, (विपश्चितम्) महाबुद्धिमान्, (जिह्वया) जयशक्ति के साथ (ईयमानम्) चलते हुये (रुद्रम्) रुद्र [दुःखनाशक परमेश्वर] से (मा उप अराम) हम विरोध न करें ॥ १७ ॥

१६—(नमः) नमस्कारः (सायम्) सूर्यास्तसमये (प्रातः) प्रभातसमये (रात्र्या) रात्रिसमये (दिवा) दिनकाले (भवाय) म० ३। सुखोत्पादकाय (च च) समुच्चये (शर्वाय) म० ३। दुःखनाशकाय (उभाभ्याम्) द्वाभ्यां गुणाभ्याम् (अकरम्) अहं कृतवानस्मि। अन्यद् गतम् ॥

१७—(सहस्राक्षम्) सहस्रेषु कर्मसु दृष्टियुक्तम् (अतिपश्यम्) पाघ्राध्माधेट् दृशः शः। पा० ३।१।१३७। दृशिर् प्रेक्षणे—शप्रत्ययः। पाघ्राध्मास्था०। पा० ७।३।७८। पश्यादेशः। सर्वानतिक्रम्य द्रष्टा (पुरस्तात्) अग्रे (रुद्रम्) दुःखनाशकम् (अस्यन्तम्) शत्रुं क्षिपन्तम् (बहुधा) अनेकप्रकारेण (विपश्चितम्) मेधाविनम्। सूक्ष्मदर्शिनम् (मा उप अराम) ऋ गतौ हिंसायां वा माङि लुङि रूपम्। न हिंसेम (जिह्वया) शेवायह्वजिह्वा०। उ० १।१५४। जि जये—वन् हुक् च। जयशक्त्या सह (ईयमानम्) गच्छन्तम्। व्याप्नुवन्तम्।

मा । नः । अभि । स्राः । मत्यम् । देव-हेतिम् । मा । नः । क्रुधः । पशु-पते । नमः । ते ॥ अन्यत्र । अस्मत् । दिव्याम् । शाखाम् । वि । धून ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पशुपते) हे दृष्टि वाले [जीवों] के रक्षक ! (नः) हमारे लिये (देवहेतिम्) दिव्य [अद्भुत] वज्र, (मत्यम्) अपनी मुट्ठी [घूंसा] को (मा अभि स्राः) ताककर मत छोड़, (नः) हम पर (मा क्रुधः) मत क्रोध कर, (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है । (अस्मत्) हमसे (अन्यत्र) दूसरों [दुष्टों] पर (दिव्याम्) दिव्य (शाखाम्) भुजा को (वि धूनु) हिला ॥१९॥

भावार्थ—हम सदा धर्म में प्रवृत्त रहकर परमेश्वर की आज्ञा का पालन करें, जिस से वह हम पर क्रोध न करे और न भय दिखावे ॥ १९ ॥

मा नो हिंसीरधि नो ब्रूहि परि णो वृङ्ग्धि मा क्रुधः ।
मा त्वया समरामहि ॥ २० ॥ (६)

मा । नः । हिंसीः । अधि । नः । ब्रूहि । परि । नः । वृङ्ग्धि । मा । क्रुधः ॥ मा । त्वया । सम् । अरामहि ॥ २० ॥ (६)

१९—(नः) अस्मभ्यम् (अभि) अभितः (मा स्राः) सृज विसर्गे माङि लुङि रूपम् । सृजिदृशोर्झल्यमकिति । पा० ६ । १ । ५८ । अमागमः, वृद्धौ । झलो झलि । पा० ८ । २ । २६ । सिचो लोपः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ३ । ९७ । ईडभावः । हल्ङ्याब्भ्यो दीर्घात्० । पा० ६ । १ । ६८ । सिलोपः,जलोपश्छान्दसः । मा स्राक्षीः । मा त्यज (मत्यम्) अ० ८ । ८ । ११ । मतजनहलात् करण० । पा० ४ । ४ । ९७ । मत-यत् । मतं ज्ञानं तस्य करणमिति । मुष्टिम् (देवहेतिम्) अद्भुतवज्रम् (नः) अस्मभ्यम् (मा क्रुधः) क्रुध कोपे माङि लुङि-पुषादित्वात् च्लेः अङ् आदेशः । क्रोधं मा कुरु (पशुपते) हे दृष्टिमतां जीवानां पालक (नमः) (ते) तुभ्यम् । (अन्यत्र) अन्येषु शत्रुषु (अस्मत्) अस्मत्तः (दिव्याम्) अद्भुताम् (शाखाम्) शाखृ व्याप्तौ-अच्, टाप् । बाहुम्—यथा शब्दकल्पद्रुमकोषे (वि) विविधम् (धूनु) कम्पय ॥

भाषार्थ—[हे रुद्र परमेश्वर !] (नः) हमें (मा हिंसीः) मत कष्ट दे, (नः) हमें (अधि) ईश्वर होकर (ब्रूहि) उपदेश कर, (नः) हमें [पाप से] (परि वृङ्ग्धि) सर्वथा अलग रख, (मा क्रुधः) क्रोध मतकर। (त्वया) तेरे साथ (मा सम् अरामहि) हम समर [युद्ध] न करें ॥ २० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा में चलते हैं, वे पुरुषार्थी पुरुष अपराध से बचकर सदा सुखी रहते हैं ॥ २० ॥

मा नो गोषु पुरुषेषु मा गृधो नो अजाविषु ।
अन्यत्रोग्र वि वर्तय पियारूणां प्रजां जहि ॥ २१ ॥

मा । नः । गोषु । पुरुषेषु । मा । गृधः । नः । अज-अविषु ।
अन्यत्र । उग्र । वि । वर्तय । पियारूणाम् । प्र-जाम् । जहि ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[हे रुद्र परमात्मन् !] (मा) न तौ (नः) हमारी (गोषु) गौओं में और (पुरुषेषु) पुरुषों में, और (मा) न (नः) हमारी (अजाविषु) बकरी और भेड़ों में [मारनेकी] (मा गृधः) अभिलाषा कर । (उग्र) हे बलवान् ! (अन्यत्र) दूसरे [बैरियों] में (विवर्तय) घूम जा, और (पियारूणाम्) हिंसकों की (प्रजाम्) प्रजा [जनता] को (जहि) मार ॥ २१ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य परमेश्वर की शरण लेकर उपकारी दोपाये और चौपायों की रक्षा करके शत्रुओं का नाश करें ॥ २१ ॥

२०—(नः) अस्मान् (मा हिंसीः) मा वधीः (अधि) ईश्वरत्वेन (नः) अस्मान् (परि) सर्वतः (वृङ्ग्धि) वर्जय। वियोजय (मा क्रुधः) म० १९। (त्वया) (मा सम् अरामहि) म० ७। समरं युद्धं न करवाम ॥

२१—(मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (गोषु) गवादिषु (पुरुषेषु) मनुष्येषु (मा गृधः) गृधु अभिकाङ्क्षायां माङि लुङि पुषादित्वात् च्लेः अङादेशः। अभिलाषं मा कुरु, नाशनायेति शेषः (नः)(अजाविषु) अजेषु अविषु च (अन्यत्र) अन्येषु शत्रुषु (उग्र) हे महाबलवन् (वि) विविधम् (वर्तय) वर्तस्व (पियारूणाम्) पीयतिर्हिंसाकर्मा-निघ० ४ । २५ । अञ्जिमदिमन्दिभ्य आरन्। उ० ३ । १३४ । अत्र बाहुलकात् पीयतेः—आरुप्रत्ययो ह्रस्वश्च । यद्वा पि गतौ—आरु। हिंसकानाम् (प्रजाम्) जनताम् (जहि) नाशय ॥

यस्य॑ त॒क्मा कासि॑का हे॒तिरेक॒मश्व॑स्येव॒ वृष॑णः क्रन्द॒ एति॑ ।
अ॒भि॒पू॒र्वं नि॒र्णय॑ते॒ नमो॑ अस्त्वस्मै ॥ २२ ॥

यस्य॑ । त॒क्मा । कासि॑का । हे॒तिः । एक॑म् । अश्व॑स्य-इव । वृष॑णः । क्रन्द॑ः । एति॑ ॥ अ॒भि-पू॒र्वम् । निः-नय॑ते॒ । नम॑ः । अ॒स्तु॒ । अ॒स्मै॒ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [रुद्र] का (हेतिः) वज्र (तक्मा) तुच्छ जीवन करनेवाला [ज्वर] और (कासिका) खांसी (एकम्) एक [उपद्रवी] को (एति) प्राप्त होती है, (इव) जैसे (वृषणः) बलवान् (अश्वस्य) घोड़े के (क्रन्दः) हिनहिनाने का शब्द । (अभिपूर्वम्) एक एक को यथाक्रम (निर्णयते) निर्णय करनेवाले (अस्मै) इस [रुद्र] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—प्रत्येक उपद्रवी मनुष्य परमेश्वर के नियम से ज्वर आदि अनेक पीड़ायें प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

यो॒३॑ न्तरि॑क्षे॒ तिष्ठ॑ति॒ विष्ट॑भि॒तोऽय॑ज्वनः प्रमृ॒णन् दे॑वपी॒यून् ।
तस्मै॒ नमो॑ द॒शभि॒ः शक्व॑रीभिः ॥ २३ ॥

यः । अ॒न्तरि॑क्षे । तिष्ठ॑ति । वि-स्त॑भितः । अय॑ज्वनः । प्र॒-मृ॒णन् । दे॒व-पी॒यून् ॥ तस्मै॑ । नम॑ः । द॒श-भि॑ः । शक्व॑रीभिः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अन्तरिक्षे) आकाश में (विष्टभितः) दृढ़ जमा

२२—(यस्य) रुद्रस्य (तक्मा) अ० १ । २५ । १ । तकि कृच्छ्रजीवने—मनिन् । कृच्छ्रजीवनकरो ज्वरः (कासिका) कासृ शब्द कुत्सायाम्—घञ्, स्वार्थेकन्, अत इत्वम् । कुत्सितशब्दकारी रोगविशेषः । कासः (हेतिः) वज्रः (एकम्) अपकारिणम् (अश्वस्य) (इव) यथा (वृषणः) बलवतः (क्रन्दः) हेषाशब्दः (एति) प्राप्नोति (अभिपूर्वम्) पूर्वं पूर्वमभिलक्ष्य । यथाक्रमम् (निर्णयते) निः + णीञ् प्रापणे—शतृ । निर्णयं निश्चयं कुर्वते । अन्यद् गतम् ॥

२३—(यः) परमेश्वरः (अन्तरिक्षे) आकाशे (तिष्ठति) वर्तते (वि-

हुआ [परमेश्वर] (अयज्वनः) यज्ञ न करने वाले [दुर्जन] (देवपीयून्) विद्वानों के हिंसकों को (प्रमृणन्) मारता हुआ (तिष्ठति) ठहरता है। (दशभिः) दस (शक्वरीभिः) शक्तिवाली [दिशाओं] के साथ [वर्तमान] (तस्मै) उस [परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार है ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा आकाश में और सब दिशा विदिशाओं में और ऊपर नीचे व्यापक है, सब मनुष्य उसका आश्रय लेकर दुष्ट विघ्नों और शत्रुओं का नाश करें ॥ २३ ॥

तुभ्यंमारण्याः पशवो मृगा वने हिता हंसाः सुपर्णाः शकुना वयांसि । तव यक्षं पशुपते अप्स्वन्तस्तुभ्यं क्षरन्ति दिव्या आपो वृधे ॥ २४ ॥

तुभ्यंम् । आरण्याः । पशवः । मृगाः । वने । हिताः । हंसाः । सु-पर्णाः । शकुनाः । वयांसि ॥ तव । यक्षम् । पशु-पते । अप्-सु । अन्तः । तुभ्यंम् । क्षरन्ति । दिव्याः । आपः । वृधे ॥ २४

भाषार्थ—(तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने] के लिये (आरण्याः) बनैले (पशवः) पशु [जीव], (मृगाः) हरिण आदि, (हंसाः) हंस, (सुपर्णाः) बड़े उड़ने वाले [गरुड़ आदि], (शकुनाः) शक्तिवाले [गिद्ध चील्ह आदि] (वयांसि) पक्षी (वने) वन में (हिताः) स्थापित हैं। (पशुपते) हे दृष्टि वाले [जीवों] के रक्षक [परमेश्वर] (तव) तेरा (यक्षम्) पूजनीयस्वरूप

ष्टभितः) विविधं स्तभितो दृढीभूतः सन् (अयज्वनः) अ० ३ । २४ । २ । यज—ङ्वनिप् । देवपूजारहितान् दुर्जनान् (देवपीयून्) अ० ४ । ३५ । ७ । विदुषां हिंसकान् (तस्मै) परमेश्वराय (नमः) प्रणामः (शक्वरीभिः) अ० ३ । १७।७ । शक्लृ शक्तौ—वनिप्, ङीब्रंफौ । उच्चनीचदिग्विदिशाभिःसह वर्तमानायेतिशेषः॥

२४—(तुभ्यम्) तवाज्ञापालनाय (आरण्याः) अरण्ये भवाः (पशवः) जन्तवः (मृगाः) हरिणादयः (वने) अरण्ये (हिताः) स्थापिताः (हंसाः) पक्षिविशेषाः (सुपर्णाः) शोभनपतनाः (शकुनाः) शक्तिमन्तो गृध्रचिल्हादयः (वयांसि) पक्षिणः (तव) (यक्षम्) यक्ष पूजायाम्—घञ् । पूज्यं स्वरूपम् (पशुपते) हे दृष्टिमतां जीवानां रक्षक (अप्सु) आपो व्यापिकास्तन्मात्राः—

(अप्सु अन्तः) तन्मात्राओं के भीतर है, (तुभ्यम्) तेरे [शासन मानने] के लिये (दिव्याः) दिव्य [अद्भुत] (आपः) तन्मात्रायें (वृधे) वृद्धि करने को (क्षरन्ति) चलती हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—संसार के भीतर सब भयानक और शीघ्रगामी प्राणी परमेश्वर के आज्ञा पालक हैं और अणु अणुमें संयोग वियोग उसीकी शक्ति से है॥२४

शिं॒शु॒मारा॑ अजग॒राः पु॑री॒कया॑ ज॒षा मत्स्या॑ रज॒सा येभ्यो॒ अस्य॑सि । न ते॑ दू॒रं न प॑रि॒ष्ठास्ति॑ ते भव स॒द्यः सर्वा॑न् परि॑ पश्यसि॒ भूमिं॒ पूर्व॑स्माद्धं॒स्युत्त॑रस्मिन् समु॒द्रे ॥ २५ ॥

शिं॒शु॒मारा॑ः । अ॒ज॒ग॒राः । पु॒री॒कया॑ः । ज॒षाः । मत्स्या॑ः । र॒ज॒साः । येभ्य॑ः । अस्य॑सि ॥ न । ते॒ । दू॒रम् । न । प॒रि॒ऽस्था । अ॒स्ति॒ । ते॒ । भ॒व॒ । स॒द्यः । सर्वा॑न् । परि॑ । प॒श्य॒सि॒ । भूमि॑म् । पूर्व॑स्मात् । हं॒सि॒ । उत्त॑रस्मिन् । स॒मु॒द्रे ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(अजगराः) अजगर [सर्प विशेष], (शिंशुमाराः) शिशुमार [सूंसमार, जलजन्तु], (पुरीकयाः) पुरीकय [जलचर विशेष], (जषाः) जष [झष, मछली विशेष] और (रजसाः) जलमें रहनेवाले (मत्स्याः) मच्छ हैं, (येभ्यः) जिन से (अस्यसि=असि) तू प्रकाशमान है । (भव) हे भव ! [सुखोत्पादक परमेश्वर] (ते) तेरे लिये (दूरम्) कुछ दूर (न) नहीं है और (न) न (ते) तेरे लिये (परिष्ठा) रोक टोक (अस्ति) है,

---

दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २५ । तन्मात्रासु (तुभ्यम्) (क्षरन्ति) संचरन्ति (दिव्याः) अद्भुताः (आपः) तन्मात्राः (वृधे) वर्धनाय ॥

२५—(शिंशुमाराः) अनुनासिकश्छान्दसः । शिशुमाराः । जलजन्तुविशेषाः (अजगराः) अज + गॄ निगरणे-अच् । अजेन अजनेन श्वासबलेन गिरन्ति ये ते । बृहत्सर्पाः (पुरीकयाः) कपिदूपीभ्यामीकन् । उ० ४ । १६ । पॄ पालनपूरणयोः-ईकन् + या प्रापणे-ड । शॄ पॄभ्यां किच्च । उ० ४ । २७ । पुरीषमुदकनाम-निघ० १ । १२ । पुरीकं पुरीषं जलं यान्ति गच्छन्ति ये ते । जलचरविशेषाः (जषाः) जष झष हिंसायाम्-अ प्रत्ययः । झषाः । मीनभेदाः (मत्स्याः) जनिदाच्युसृवृमदि० । उ० ४ । १०४ । मदी हर्षे-स्यप्रत्ययः । जलजन्तुभेदाः ।

और (सर्वान्) सबों को (सद्यः) तुरन्त ही (परि पश्यासि) तू देख भाल लेता है, और (पूर्वस्मात्) पूर्वी [समुद्रं] से (उत्तरस्मिन् समुद्रे) उत्तरी समुद्र में (भूमिम्) भूमि को (हंसि) तू पहुंचाता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—हे परमेश्वर ! इन सब बड़े बड़े थलचर और जलचर जन्तुओं के देखने से तेरी अनन्त महिमा जान पड़ती है । तू सब स्थानों में विद्यमान रहकर क्षण भर में इधर के जगत् को उधर करदेता है ॥२५॥

मा नो॑ रुद्र त॒क्मना॒ मा वि॒षेण॒ मा नः॒ सं स्रा॑ दि॒व्येना॒ग्निना॑ ।
अ॒न्यत्रा॒स्मद् वि॒द्युतं॑ पातयै॒ताम् ॥ २६ ॥

मा । नः॒ । रु॒द्र॒ । त॒क्मना॑ । मा । वि॒षेण॑ । मा । नः॒ । सम् । स्राः॒ । दि॒व्येन॑ । अ॒ग्निना॑ ॥ अ॒न्यत्र॑ । अ॒स्मत् । वि॒ऽद्युत॑म् । पा॒त॒य॒ । ए॒ताम् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे रुद्र ! [दुःख नाशक परमेश्वर] (मा) न तो (नः) हमें (तक्मना) दुःखी जीवन करने वाले [ज्वर आदि] से, (मा) न (विषेण) विष से, और (मा) न (नः) हमें (दिव्येन) सूर्य के (अग्निना) अग्नि से (सं स्राः) संयुक्त कर । (अस्मत्) हम से (अन्यत्र) दूसरों [अर्थात्

मीनाः (रजसाः) उदकं रज उच्यते-निरु० ४ । १९ । रजस्-अर्श आद्यच् । उदके भवाः । जलचराः । (येभ्यः) येषां सकाशात् (अस्यसि) अस दीप्तौ दिवादित्वं छान्दसम् । असिसि दीप्यसे (न) निषेधे (ते) तव (दूरम्) विप्रकृष्टम् (परिष्ठा) परिवर्जनम् (अस्ति) (ते) (भव) हे सुखोत्पादक परमेश्वर (सद्यः) तत्क्षणम् (सर्वान्) पूर्वोक्तान् , समस्तान् (परि) सर्वतः (पश्यसि) अवलोकयसि (भूमिम्) भूलोकम् (पूर्वस्मात्) पूर्ववर्तिनः समुद्रात् (हंसि) हन हिंसागत्योः अन्तर्गतण्यर्थः । घातयसि । गमयसि (उत्तरस्मिन्) उत्तर-दिग्वर्तिनि (समुद्रे) जलधौ ॥

२६—(मा) निषेधे (नः) अस्मान् (तक्मना) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्र-जीवनकारिणा ज्वरादिना (मा) (विषेण) (मा) (नः) (संस्राः) म० १९ । संसृज ॥ संयोजय (दिव्येन) दिवि सूर्ये भवेन (अग्निना) तापेन (अन्यत्र)

दुराचारियों] पर (पताम्) इस (विद्युतम्) लपलपाती [बिजुली] को (पातय ! गिरा ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक परमेश्वर का ध्यान रखकर कुपथ छोड़ कर रोगों और उत्पातों से सुरक्षित रहें ॥ २६ ॥

भवो दिवो भव ईशे पृथिव्या भव आ पप्र उर्व१न्तरिक्षम् ।
तस्मै नमो यतमस्यां दिशी३तः ॥ २७ ॥

भवः । दिवः । भवः । ईशे । पृथिव्याः । भवः । आ । पप्रे । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ तस्मै । नमः । यतमस्याम् । दिशि । इतः ॥२७॥

भाषार्थ—(भवः) भव [सुख उत्पन्न करने वाला परमेश्वर] (दिवः) सूर्य का, (भवः) भव (पृथिव्याः) पृथिवी का (ईशे) राजा है, (भवः) भव ने (उरु) विस्तृत (अन्तरिक्षम्) आकाश को (आ पप्रे) सब ओर से पूरण किया है । (इतः) यहां से (यतमस्याम् दिशि) चाहे जौनसी दिशा हो उसमें (तस्मै) उस [भव] को (नमः) नमस्कार है ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब सूर्य आदि लोकों का स्वामी है, उसको हम सब स्थानों में नमस्कार करके अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ २७ ॥

भव राजन् यजमानाय मृड पशूनां हि पशुपतिर्बभूथ । यः श्रद्दधाति सन्ति देवा इति चतुष्पदे द्विपदेऽस्य मृड ॥ २८ ॥

भव । राजन् । यजमानाय । मृड । पशूनाम् । हि । पशु-पतिः । बभूथ ॥ यः । श्रत्-दधाति । सन्ति । देवाः । इति । चतुः-पदे । द्वि-पदे । अस्य । मृड ॥ २८ ॥

अन्येषु । दुष्टेषु (अस्मत्) अस्मत्तः (विद्युतम्) विद्योतमानां तडितम् (पातय) प्रक्षिप (पताम्) दृश्यमानाम् ॥

२७—(भवः) म० ३ । सुखोत्पादकःपरमेश्वरः (दिवः) सूर्यस्य (ईशे) तलोपः । ईष्टे । राजति (पृथिव्याः) भूमेः (आ) समन्तात् (पप्रे) प्रा पूरणे-लिट्, आत्मने पदं छान्दसम् । पप्रौ । पूरितवान् (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (तस्मै) (भवाय) परमेश्वराय । अन्यद् गतं पूर्ववच्च-म० १२ । १४ ॥

भाषार्थ—(भव) हे भव ! [सुखोत्पादक] (राजन्) राजन् ! [परमेश्वर] (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ कर्म करने वाले] को (मृड) सुख दे, (हि) क्योंकि (पशूनाम्) दृष्टि वाले जीवों की [रक्षा के लिये] (पशुपतिः) दृष्टि वाले [जीवों] का रक्षक (बभूथ) तू हुआ है। (यः) जो [पुरुष] (श्रद्दधाति) श्रद्धा रखता है कि "(देवाः सन्ति इति) [परमेश्वर के] उत्तम गुण हैं," (अस्य) उसके (द्विपदे) दोपाये और (चतुष्पदे) चौपाये को (मृड) तू सुख दे ॥ २८ ॥

भावार्थ—सर्वरक्षक परमेश्वर श्रद्धालु सत्पुरुष को उत्तम मनुष्य आदि दोपायों और गौ आदि चौपायों की बहुतायत से सुखी रखता है ॥ २८ ॥

मा नो॑ म॒हान्त॑मु॒त मा नो॑ अर्भ॒कं मा नो॒ वह॑न्तमु॒त मा नो॑ वक्ष्य॒तः । मा नो॑ हिंसीः पि॒तरं॑ मा॒तरं॑ च॒ स्वां त॒न्वं॑ रुद्र॒ मा री॑रिषो नः ॥ २९ ॥

मा । नः॒ । म॒हान्त॑म् । उ॒त । मा । नः॒ । अर्भ॑कम् । मा । नः॒ । वह॑न्तम् । उ॒त । मा । नः॒ । व॒क्ष्य॒तः ॥ मा । नः॒ । हिं॒सीः॒ । पि॒तर॑म् । मा॒तर॑म् । च॒ । स्वाम् । त॒न्व॑म् । रु॒द्र॒ । मा । रि॒रि॒षः॒ । नः॒ ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(रुद्र) हे रुद्र ! [ज्ञान दाता परमेश्वर] (मा) न तो (नः) हमारे (महान्तम्) पूजनीय [वयोवृद्ध वा विद्यावृद्ध] को (उत) और

२८—(भव) म० ३। हे सुखोत्पादक (राजन्) हे सर्वशासक (यजमानाय) देवपूजादिकर्त्रे (मृड) सुखं देहि (पशूनाम्) दृष्टिमतां जीवानां रक्षणायेति शेषः (हि) यस्मात् कारणात् (पशुपतिः) दृष्टिमतां पालकः (बभूथ) इडभावः। बभूविथ (यः) पुरुषः (श्रद्दधाति) श्रद्धां धारयति । विश्वसिति (सन्ति) भवन्ति (देवाः) दिव्यगुणाः परमेश्वरस्य (इति) वाक्यसमाप्तौ (चतुष्पदे) पादचतुष्टयोपेताय गवाश्वादिप्राणिने (द्विपदे) पादद्वयोपेताय मनुष्यादये (अस्य) श्रद्धाधारकस्य पुरुषस्य (मृड) ॥

२९—(मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (महान्तम्) पूजनीयम् । वयोवृद्धं विद्यावृद्धं वा (अर्भकम्) अ० १ । २७ । ३ । अर्भकपृथुकपाका वयसि । उ०

(मा) न (नः) हमारे (अर्भकम्) बालक को, (मा) न (नः) हमारे (वहन्तम्) ले चलते हुये [युवा] को (उत) और (मा) न (नः) हमारे (वक्ष्यतः) भावी ले चलने वालों [होनहार सन्तानों] को (मा) न (नः) हमारे (पितरम्) पालने वाले पिता को (च) और (मातरम्) मान करने वाली माता को (हिंसीः) मार, और (मा) न (नः) हमारे (स्वाम्) अपने ही (तन्वम्) शरीर को (रिरिषः) नाशकर ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की प्रार्थना करते हुये शुभ कर्मों का अनुष्ठान करके अपने सब सम्बन्धियों की और अपनी रक्षा करें ॥ २६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१ । ११४ । ७ तथा यजुर्वेद—अ० १६ । मं० १५ ॥

रुद्रस्यैलबकारेभ्योऽसंसूक्तगिलेभ्यः ।
इदं महास्येभ्यः श्वभ्यो अकरं नमः ॥ ३० ॥

रुद्रस्य । ऐलब-कारेभ्यः । असंसूक्त-गिलेभ्यः ॥
इदम् । महा-आस्येभ्यः । श्व-भ्यः । अकरम् । नमः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(ऐलबकारेभ्यः) लगातार भौं भौं ध्वनि करने वाले (असंसूक्तगिलेभ्यः) अमङ्गल शब्द बोलने वाले, (महास्येभ्यः) बड़े बड़े मुंह वाले

---

५ । ५३ । ऋधु वृद्धौ—कुन्, धस्य भः । बालकम् (वहन्तम्) वह प्रापणे-शतृ । वहनशीलं युवानम् (उत) अपि च (वक्ष्यतः) लृटः सद्वा । पा० ३ । ३ । ११४ । वह प्रापणे-लृटः स्य -शतृ । भविष्य तिकाले वहनशीलान् (हिंसीः) माङि लुङि रूपम् । हिन्धि (पितरम्) पालकं जनकम् (मातरम्) मानप्रदां जननीम् (स्वाम्) स्वकीयाम् (तन्वम्) शरीरम् (रुद्र) म० ३ । हे ज्ञानप्रद (रिरिषः) अ० ५ । ३ । ८ । जहि (नः) अस्माकम् । अन्यद्गतम् ॥

३०-(रुद्रस्य) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ६२ । इति षष्ठी । रुद्राय । दुःखनाशकाय (ऐलबकारेभ्यः) आङ्+इल स्वप्नक्षेपणयोः-घञ्+बण, घण शब्दे-ड+करोतेः-अण् । आक्षेपध्वनिकारकेभ्यः (असंसूक्तगिलेभ्यः) सलिकल्यनिमहि० । उ० १ । ५४ । अ+सम्+सूक्त+गॄ शब्दे-इलच् । असंसूक्तस्य अशुभवचनस्य भाषणशीलेभ्यः (इदम्) (महास्येभ्यः) विशालमुखेभ्यः (श्वभ्यः) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति चतुर्थी । शुनः कुक्कुरान्

(श्वभ्यः) कुत्तों के रोकने के लिये (रुद्रस्य) रुद्र [दुःखनाशक परमेश्वर] को (इदम्) यह (नमः) नमस्कार (अकरम्) मैं ने किया है ॥ ३० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि चोर आदि दुर्जन इधर उधर न घूमें, जिनके न होने से चौकसी के कुत्ते भयानक शब्द न करें ॥ ३० ॥

नम॑स्ते घो॒षिणी॑भ्यो॒ नम॑स्ते के॒शिनी॑भ्यः ।

नमो॒ नम॑स्कृताभ्यो॒ नमः॑ संभु॒ञ्ज॒तीभ्यः॑ ।

नम॑स्ते देव॒ सेना॑भ्यः स्व॒स्ति नो॒ अभ॑यं च नः ॥ ३१ ॥ (७)

नमः॑ । ते॒ । घो॒षिणी॑भ्यः । नमः॑ । ते॒ । के॒शिनी॑भ्यः ॥

नमः॑ । नमः॑-कृताभ्यः । नमः॑ । स॒म्-भु॒ञ्ज॒तीभ्यः॑ ॥ नमः॑ । ते॒ । दे॒व॒ । सेना॑भ्यः । स्व॒स्ति । नः॒ । अभ॑यम् । च॒ । नः॒ ॥३१॥ (७)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (घोषिणीभ्यः) बड़े कोलाहल करने वाली [सेनाओं] के पाने को (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (केशिनीभ्यः) प्रकाश करने वाली [सेनाओं] के पाने को (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है । (नमस्कृताभ्यः) नमस्कार की हुई [सेनाओं] के पाने को (नमः) नमस्कार, (संभुञ्जतीभ्यः) मिल कर भोग [आनन्द] करने वाली (सेनाभ्यः) सेनाओं के पाने को (नमः) नमस्कार है । (देव) हे विजयी ! [परमेश्वर] (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है, (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) स्वस्ति [कल्याण] (च) और (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय हो ॥ ३१ ॥

निवारयितुम् (अकरम्) करोतेर्लुङ् । कृमृदृरुहिभ्यश्छन्दसि । पा० ३ । १ । ५६ । । च्लेरङ् । अहं कृतवानस्मि ॥

३१—(नमः) प्रणामः (ते) तुभ्यम् (घोषिणीभ्यः) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति चतुर्थी । प्रभूतघोषयुक्ताः सेनाः प्राप्तुम् (केशिनीभ्यः) केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद्वा प्रकाशनाद्वा-निरु० १२ । २५ । प्रकाशयुक्ताः सेनाः प्राप्तुम् (नमस्कृताभ्यः) सत्कृताः सेनाः प्राप्तुम् (संभुञ्जतीभ्यः) सह भोगं कुर्वतीः सेनाः प्राप्तुम् (देव) हे विजयिन् परमात्मन् (सेनाभ्यः) सेनाः प्राप्तुम् (स्वस्ति) शोभनां सत्ताम् । कल्याणम् (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) भयराहित्यम् (च) (नः) अस्मभ्यम् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की उपासना करके अपना सामर्थ्य बढ़ाते हैं, वे उत्तम, बलवती, सुशिक्षित थलचर, जलचर, नभचर आदि सेनायें रख कर प्रजाकी रक्षा कर सकते हैं ॥ ३१ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ (पर्यायः १) ॥

१—३१ ॥ ओदनो देवता ॥ १, १४ आसुरी गायत्री; २, ११ भुरिगार्षी गायत्री; ३, ६, ८, १० आसुरी पङ्क्तिः; ४, ८ साम्न्यनुष्टुप्; ५, १३, १५, २५ साम्न्युष्णिक्; ७, १९–२२ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; १२, २७ याजुषी जगती; १६, २३ आसुरी बृहती; १७, १८ आसुर्यनुष्टुप्; २४ प्राजापत्या बृहती; २६ आर्च्युष्णिक्; २८, २९ साम्नी बृहती; ३० याजुषी त्रिष्टुप्; ३१ याजुषी पङ्क्तिश्छन्दः ॥

सृष्टिपदार्थज्ञानोपदेशः—सृष्टि के पदार्थों के ज्ञान का उपदेश ॥

तस्यौद॒नस्य॒ बृह॒स्पति॒ः शिरो॒ ब्रह्म॒ मुख॑म् ॥ १ ॥

तस्य॑ । ओ॒द॒नस्य॑ । बृह॒स्पति॑ः । शिर॑ः । ब्रह्म॑ । मुख॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस [प्रसिद्ध] (ओदनस्य) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्नरूप परमेश्वर] का (शिरः) शिर (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े जगत् का रक्षक वायु वा मेघ] और (मुखम्) मुख (ब्रह्म) अन्न है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे शरीर के लिये शिर और मुख आदि उपकारी हैं; वैसे ही परमात्मा ने अपनी सत्ता से वायु, मेघ और अन्न आदि रचकर सब संसार के साथ उपकार किया है ॥ १ ॥

१—(तस्य) प्रसिद्धस्य (ओदनस्य) अ० ११ । १ । १७ । सुखवर्षकस्य परमेश्वरस्य (बृहस्पतिः) अ० १ । ८ । २ । बृहत्-पति, सुडागमः, तलोपश्च । बृहस्पतिर्बृहतः पाता वा पालयिता वा–निरु० १० । ११ । इति मध्यस्थानदेवतासु पाठः । बृहतो महतो जगतो रक्षिता वायुर्मेघो वा (शिरः) मस्तकम् (ब्रह्म) अन्नम्–निघ० २ । ७ (मुखम्) ॥

द्यावापृथिवी श्रोत्रे सूर्याचन्द्रमसावक्षिणी सप्तऋषयः प्राणापानाः ॥ २ ॥

द्यावापृथिवी इति । श्रोत्रे इति । सूर्याचन्द्रमसौ । अक्षिणी इति । सप्त-ऋषयः । प्राणापानाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(द्यावापृथिवी) आकाश और पृथिवी, (श्रोत्रे) [परमेश्वर के] दो कान, (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा (अक्षिणी) [उसकी] दो आखें, और (प्राणापानाः) प्राण और अपान [वायुसंचार, उसके] (सप्त-ऋषयः) सात ऋषि [पांच ज्ञानेन्द्रिय त्वचा, नेत्र, श्रवण, जिह्वा, नासिका, मन और बुद्धि] हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने संसार में आकाश, पृथिवी, सूर्य, चन्द्रमा को शरीर की स्थूल इन्द्रियों के समान और वायु संचार को सूक्ष्म ज्ञानेन्द्रियों मन बुद्धि के समान रचा है ॥ २ ॥

चक्षुर्मुसलं काम उलूखलम् ॥ ३ ॥

चक्षुः । मुसलम् । कामः । उलूखलम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(चक्षुः) [उसकी] दर्शन शक्ति (मुसलम्) मूसल [समान], [उसकी] (कामः) कामना (उलूखलम्) ओखली [समान] है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर संसार में दृष्टि मात्र से कूटने आदि व्यवहार करता और इच्छा मात्र से सूक्ष्म बनाकर यथावत् रखने की क्रिया करता है, अर्थात् स्थूल भूतों से सूक्ष्म समीचीन रचना करना उसी के वश में है ॥ ३ ॥

२—(द्यावापृथिवी) भूमिवियतौ (श्रोत्रे) श्रवणेन्द्रिये (सूर्याचन्द्रमसौ) (अक्षिणी) चक्षुषी (सप्तऋषयः) अ० ४ । ११ । ९ । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी-निरु० १२ । ३७ । त्वक्चक्षुः श्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः ॥

३—(चक्षुः) दृष्टिसामर्थ्यम् (मुसलम्) अ० ९ । ६ (१) । १५ मुस खण्डने-कल, चित् । कुट्टनसाधनम् (कामः) अभिलाषः (उलूखलम् अ० ९ । ६ (१) । १५ । धान्यादिमर्दनसाधनम् ।

दितिः शूर्पमदितिः शूर्पग्राही वातोऽपाविनक् ॥ ४ ॥

दितिः। शूर्पम्। अदितिः। शूर्प-ग्राही। वातः। अप। अविनक् ॥४॥

भाषार्थ—(दितिः) [परमेश्वर की] खण्डन शक्ति (शूर्पम्) सूप [समान] है, (अदितिः) [उसकी] अखण्डन शक्ति ने (शूर्पग्राही) सूप पकड़ने वाले [के समान] (वातः-वातेन) पवन से (अप अविनक्) [शुद्ध और अशुद्ध पदार्थ को] अलग अलग किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे लोग सूप से वायु द्वारा अशुद्ध वस्तु को निकालकर शुद्ध वस्तु को ले लेते हैं, वैसे ही परमेश्वर अपने सामर्थ्य से प्रकृति द्वारा परमाणुओं का संयोग वियोग करके जगत् को रचता है और वैसे ही विवेकी पुरुष विद्या द्वारा अवगुण छोड़कर गुण ग्रहण करता है ॥ ४ ॥

अश्वाः कणा गावस्तण्डुला मशकास्तुषाः ॥ ५ ॥

अश्वाः। कणाः। गावः। तण्डुलाः। मशकाः। तुषाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अश्वाः) घोड़े (कणाः) कण [समान], (गावः) गौवें (तण्डुलाः) चावल [समान] और (मशकाः) माछड़ (तुषाः) भुसी [समान] हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—घोड़े आदि जीव परमेश्वर की महिमा के बहुत छोटे अंश हैं ५॥

कब्रु फलीकरणाः शरोऽभ्रम् ॥ ६ ॥

कब्रु। फली-करणाः। शरः। अभ्रम् ॥ ६ ॥

४—(दितिः) दो अवखण्डने-क्तिन्। खण्डनशक्तिः परमेश्वरस्य (शूर्पम्) सुशृभ्यां निच्च । उ० ३। २६। शॄ हिंसायाम्—पप्रत्ययः। यद्वा, शूर्प माने-घञ्। धान्यस्फोटकपात्रम् (अदितिः) अ० २। २८। ४। नञ्+दो अवखण्डने-क्तिन्। अखण्डनशक्तिः (शूर्पग्राही) ग्रह उपादाने-णिनि। शूर्पग्राहकः पुरुषः (वातः) सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। विभक्तेः सु। वातेन, वायुना (अप अविनक्) विचिर् पृथग्भावे—लङ्। पृथक् पृथक् कृतवान् शुद्धाशुद्धवस्तूनि

५—(अश्वाः) मार्गव्यापिनो घोटकाः (कणाः) क्षुद्रांशाः (गावः) गवादिजन्तवः (तण्डुलाः) अ० १०। ६। २६। तुषरहिता व्रीहयः (मशकाः) अ० ४। ३६। ६। दंशकाः (तुषाः) धान्यत्वचाः ॥

भाषार्थ—(कब्रु) विचित्र रङ्ग वाला [जगत्] (फलीकरणाः) [उसका] फटकन [भुसी आदि] और (अभ्रम्) बादल (शरः) [उसका] घास फूंस [समान] है ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्वेत पीत आदि वर्ण युक्त जगत् और मेघ आदि परमेश्वर की अति छोटी वस्तु हैं ॥ ६ ॥

श्यामम॒योऽस्य मां॒सानि॒ लोहि॑तमस्य॒ लोहि॑तम् ॥ ७ ॥

श्या॒मम् । अयः॑ । अ॒स्य॒ । मां॒सानि॑ । लोहि॑तम् । अ॒स्य॒ । लोहि॑तम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(श्यामम्) श्याम वर्ण (अयः) लोहा (अस्य) इसके (मांसानि) मांस के अवयव [तुल्य] हैं और (लोहितम्) रक्त वर्ण वाला [लोहा अर्थात् तांबा] (अस्य) इसके (लोहितम्) रुधिर [समान] है ॥ ७ ॥

भावार्थ—लोहा तांबा आदि धातु परमेश्वर की सत्ता से उत्पन्न हुये हैं।७।

त्रपु॒ भस्म॒ हरि॑तं॒ वर्णः॒ पुष्क॑रमस्य॒ गन्धः॑ ॥ ८ ॥

त्रपु॑ । भस्म॑ । हरि॑तम् । वर्णः॑ । पुष्क॑रम् । अ॒स्य॒ । गन्धः॑ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(त्रपु) सीसा वा रांगा (भस्म) भस्म [उसकी राख समान], (हरितम्) सुवर्ण (वर्णः) [उसका] रङ्ग [समान] और (पुष्क-

६—(कब्रु) मीपीभ्यां रुः । उ० ४ । १०१ । कबृ स्तुतौ वर्णे च । रुप्रत्ययः । वर्णितम् । विचित्रीकृतं जगत् (फलीकरणाः) ञि फला विदारणे-अच्+डु कृञ् करणे-ल्यु, च्वि च । स्फोटनेन विदारिततुषादयः (शरः) शॄ हिंसायाम्-अप् । तृणम् (अभ्रम्) अभ्रम् । मेघः ॥

७—(श्यामम्) इषियुधीन्धिदसिश्या० उ० १ । १४५ । श्यैङ् गतौ-मक् कृष्णवर्णम् (अयः) इण् गतौ-असुन् । लौहः । धातुभेदः (अस्य) पूर्वोक्तस्य परमेश्वरस्य (मांसानि) मांसावयवाः (लोहितम्) रक्तवर्णम् । अयः । ताम्रमित्यर्थः (अस्य) (लोहितम्) रुधिरम् ॥

८—(त्रपु) शॄस्वृस्निहित्रप्यसि० । उ० १ । १० । त्रप लज्जायाम्-उ । अग्निं प्राप्य यत् त्रपते लज्जितमिव भवतीति तत् त्रपु सीसकं रंगं वा (भस्म)

रम्) कमल का फूल (अस्य) इसका (गन्धः) गन्ध [समान है] ॥ ८ ॥

भावार्थ—सीसा सुवर्ण और कमल आदि वस्तु परमेश्वर से उत्पन्न हैं ॥ ८ ॥

खलः पात्रं स्फ्यावंसावीषे अनूक्यं ॥ ९ ॥

खलः । पात्रम् । स्फ्यौ । अंसौ । ईषे इति । अनूक्ये३ इति । ९ ।

भाषार्थ—(खलः) खलियान [धान्यमर्दन स्थान] (पात्रम्) [उसका] पात्र [बासन समान], (स्फ्यौ) दो फाने [लकड़ी की खपच] (अंसौ) [उसके] दो कन्धे, (ईषे) दोनों मूठ और हरस [हलके अवयव] (अनूक्ये) [उसकी] रीढ़ की दो हड्डियां हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—खलियान आदि स्थान और हल के अवयव आदि परमेश्वर के उपदेश से बनाये जाते हैं ॥ ९ ॥

आन्त्राणि जत्रवो गुदा वरत्राः ॥ १० ॥

आन्त्राणि । जत्रवः । गुदाः । वरत्राः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(जत्रवः) जोते [बैलों की ग्रीवा के रस्से] (आन्त्राणि) [उसकी] आंते और (वरत्राः) वरत्र [वरत, हल के बैलों के बड़े रस्से] (गुदाः) [उसकी] गुदायें [उदर की नाड़ी विशेष] हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—बैल आदि का बांधना और उपयोग ईश्वर से सिखाया गया है ॥ १० ॥

भस दीप्तौ—मनिन् । दग्धगोमयादिविकारः (हरितम्) सुवर्णम् (वर्णः) शुक्लादिरूपम् (पुष्करम्) कमलपुष्पम् (अस्य) ईश्वरस्य (गन्धः) घ्राणग्राह्यो गुणः ॥

९—(खलः) धान्यमर्दनस्थानम् (पात्रम्) अमत्रम् (स्फ्यौ) माछासखिभ्यो यः । उ० ४ । १०९ । स्फायी वृद्धौ—य, स च डित् । प्रवृद्धौ काष्ठकीलकौ (अंसौ) स्कन्धौ (ईषे) अ० २ । ८ । ४ । ईष गतौ—क, टाप् । लाङ्गलदण्डौ (अनूक्ये) अ० २ । ३३ । २ । अनु + उच समवाये—ण्यत्, टाप् । पृष्ठास्थिनी ॥

१०—(आन्त्राणि) अ० १ । ३ । ६ । उदरनाडिविशेषाः (जत्रवः) जत्र्वादयश्च । उ० ४ । १०२ । जनी प्रादुर्भावे—रु नस्य तः । स्कन्धबन्धनानि (गुदाः) अ० २ । ३३ । ४ । गुद खेलने—क, टाप् । अशितपीतान्नरससंचारणार्था उदरनाडिविशेषाः (वरत्राः) अ० ३ । १७ । ६ । वृञ् संवरणे—अत्रन् , टाप् । हले वृषभबन्धनबृहद्रज्जवः ॥

इयमे॒व पृ॑थि॒वी कु॒म्भी भ॑वति॒ राध्य॑मानस्यौद॒नस्य॒ द्यौर॑पि॒धान॑म् ॥ ११ ॥

इ॒यम् । ए॒व । पृ॒थि॒वी । कु॒म्भी । भ॒व॒ति॒ । राध्य॑मानस्य । ओ॒द॒नस्य॑ । द्यौः । अ॒पि॒-धान॑म् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इयम् एव) यही (पृथिवी) फैली हुई भूमि (राध्यमानस्य) पकते हुये (ओदनस्य) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्नरूप परमेश्वर] की (कुम्भी) बटलोही और (द्यौः) प्रकाशमान सूर्य (अपिधानम्) ढकनी [समान] (भवति) है ॥ ११ ॥

भावार्थ—परमेश्वर इतना बड़ा है कि वह इन पृथिवी सूर्य आदि लोकों में निरन्तर व्यापक है ॥ ११ ॥

सीताः॒ पर्श॑वः॒ सिक॑ता॒ ऊब॑ध्यम् ॥ १२ ॥

सीताः॑ । पर्श॑वः । सिक॑ताः । ऊब॑ध्यम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सीताः) जोतने की रेखायें (पर्शवः) [उसकी पसलियां और (सिकताः) बालू (ऊबध्यम्) [उसके] कुपचे अन्न [समान] है ॥ १२ ॥

भावार्थ—ईश्वर प्रत्येक परमाणु में व्यापक है ॥ १२ ॥

ऋ॒तं ह॑स्ताव॒नेज॑नं कु॒ल्योप॒सेच॑नम् ॥ १३ ॥

ऋ॒तम् । ह॒स्त-अ॒व॒नेज॑नम् । कु॒ल्या । उ॒प-सेच॑नम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(ऋतम्) सत्यज्ञान (हस्तावनेजनम्) [उसके] हाथ

११—(इयम्) दृश्यमाना (एव) अवश्यम् (पृथिवी) प्रथिता भूमिः (कुम्भी) पाकस्थाली (भवति) वर्तते (राध्यमानस्य) पच्यमानस्य (ओदनस्य) सुखवर्षकस्यान्नरूपस्य परमेश्वरस्य (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (अपिधानम्) कुम्भीमुखच्छादनपात्रम् ॥

१२—(सीताः) कर्षणोपलक्षा लाङ्गलपद्धतयः (पर्शवः) पार्श्वास्थीनि (सिकताः) वालुकाः (ऊबध्यम्) अ० ९ । ४ । १६ । दुर्+वध बन्धने—यत्, दकारलोपे, ऊत्वम् । अजीर्णमन्नम् ॥

१३—(ऋतम) सत्यज्ञानम् (हस्तावनेजनम्) णिजिर् शौचपोषणयोः—

धोने का जल, और (कुल्या) सब कुलों के लिये हितकारी [नीति] (उपसेचनम्) [उसका] उपसेचन [छिड़काव] है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे जल द्वारा प्राणियों में शुद्धि और वृद्धि होती है, वैसे ही परमेश्वर ने वेद रूप सत्यज्ञान और सत्यनीति द्वारा संसार का उपकार किया है ॥ १३ ॥

श्री सायणाचार्य ने (ऋतम्) का अर्थ "जल अर्थात् संसार में विद्यमान सब जल" और (कुल्या) का अर्थ "छोटी नदी" किया है ॥

ऋचा कुम्भ्यधिहितार्त्विज्येन प्रेषिता ॥ १४ ॥

ऋचा । कुम्भी । अधि-हिता । आर्त्विज्येन । प्र-इषिता ॥१४॥

भाषार्थ—(कुम्भी) कुम्भी [छोटा पात्र] (ऋचा) वेद वाणी के साथ (अधिहिता) ऊपर चढ़ाई गई और (आर्त्विज्येन) ऋत्विजों [सब ऋतुओं में यज्ञ करनेवालों] के कर्म से (प्रेषिता) भेजी गई है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे जल आदि के लिये कुम्भी उपकारी होती है, वैसेही वेदवाणी विद्वानों द्वारा प्रचरित होकर हित करती है ॥ १४ ॥

ब्रह्मणा परिगृहीता साम्ना पर्यूढा ॥ १५ ॥

ब्रह्मणा । परि-गृहीता । साम्ना । परि-ऊढा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) ब्रह्मा [वेदज्ञाता] करके (परिगृहीता) ग्रहण की गई वह [कुम्भी] (साम्ना) दुःखनाशक [मोक्ष ज्ञान] द्वारा (पर्यूढा) सब ओर ले जायी गयी है ॥ १५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी लोग वेद वाणी को ग्रहण करके मोक्ष प्राप्त करते हैं ॥ १५ ॥

बृहदायवनं रथन्तरं दर्विः ॥ १६ ॥

बृहत् । आ-यवनम् । रथम्-तरम् । दर्विः ॥ १६ ॥

ल्युट् । हस्तप्रक्षालनजलम् (कुल्या) कुल-यत्, टाप् । कुलेभ्यो जगत्समूहेभ्यो हिता नीतिः (उपसेचनम्) जलेनार्द्रीकरणं वर्धनम् ॥

१४—(ऋचा) ऋग् वाङ्नाम-निघ० १ । ११ । स्तुत्या वेदवाण्या सह (कुम्भी) जलादिलघुपात्रम् । उखा (अधिहिता) उपरि स्थापिता (आर्त्विज्येन) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । ऋत्विज्-ष्यञ् । ऋत्विजां कर्मणा (प्रेषिता) प्रेरिता ॥

१५—(ब्रह्मणा) ब्रह्मवादिना ब्राह्मणेन (परिगृहीता) स्वीकृता (साम्ना) षो अन्तकर्मणि-मनिन् । दुःखनाशकेन मोक्षज्ञानेन (पर्यूढा) वह प्रापणे-क्त । सर्वतो नीता ॥

भाषार्थ—(बृहत्) बृहत् [बड़ा आकाश) (आयवनम्) [उस परमेश्वर का] सब ओर से मिलाने का चमचा, और (रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय पदार्थों द्वारा पार लगाने वाला जगत्] (दर्विः) [उसकी] डोयी [परोसने की करछी है] ॥ १६ ॥

भावार्थ—यह सब आकाश और सब जगत् परमेश्वर के लिये ऐसे छोटे पदार्थ हैं जैसे गृहस्थ के चमचे आदि पात्र होते हैं ॥ १६ ॥

ऋ॒तवः॑ प॒क्तार॑ आर्त॒वाः समि॑न्धते ॥ १७ ॥

ऋ॒तवः॑ । प॒क्तारः॑ । आ॒र्त॒वाः । सम् । इ॒न्ध॒ते॒ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(ऋतवः) ऋतुयें और (आर्तवाः) ऋतुओं के अवयव [महीने दिन राति आदि] (पक्तारः) पाक कर्ता होकर [अग्नि को] (सम्) यथा नियम (इन्धते) जलाते हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—ऋतुयें और महीने आदि ईश्वर नियम से संसार में पचन क्रिया करते हैं ॥ १७ ॥

च॒रुं पञ्च॑बिलमु॒खं घ॒र्मो॒३॒॑ऽभीन्धे ॥ १८ ॥

च॒रुम् । पञ्च॑-बिलम् । उ॒खम् । घ॒र्मः । अ॒भि । इ॒न्धे॒ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(घर्मः) तपने वाला सूर्य (पञ्चबिलम्) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश रूप] बिल [छिद्र] वाले (चरुम्) पकाने के बर्तन, (उखम् अभि) हांडी के आस पास (इन्धे) जलता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से सूर्य अन्य लोकों को तपाकर आनन्द देता है ॥ १८ ॥

१६—(बृहत्) प्रवृद्धमाकाशम् (आयवनम्) आङ्+यु मिश्रणामिश्रणयोः-ल्युट् । समन्ताद् मिश्रणसाधनं चमसः (रथन्तरम्) अ० ८ । १० (२) । ६ । रमु क्रीडायाम्-क्थन्+तॄ प्लवनतरणयोः-खच् मुम् च । रथैः रमणीयैः पदार्थैस्तरति येन तज् जगत् (दर्विः) अ० ४ । १४ । ७ । दॄ विदारणे-विन् । पाकोद्धारणसाधनम् ॥

१७—(ऋतवः) वसन्तादयः (पक्तारः) पाचकाः (आर्तवाः) ऋतूनामवयवाः (सम्) सम्यक् (इन्धते) दीपयन्ति, अग्निं ज्वलयन्ति ॥

१८—(चरुम्) पाकपात्रम् (पञ्चबिलम्) पञ्च पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशरूपाणि बिलानि छिद्राणि यस्मिन् तम् (उखम्) पुंस्त्वं छान्दसम् । उखां स्थालीम् (घर्मः) घर्मग्रीष्मौ । उ० १ । १४९ । घृ दीप्तौ-मक्, गुणो निपातितः । आतपः । ग्रीष्मः । सूर्यः (अभि) प्रति (इन्धे) दीप्यते ॥

ओ॒द॒नेन॑ यज्ञव॒चः सर्वे॑ लो॒काः स॑मा॒प्याः॑ ॥ १९ ॥

ओ॒द॒नेन॑ । य॒ज्ञ॒ऽव॒चः । सर्वे॑ । लो॒काः । स॒म्ऽआ॒प्याः॑ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ओदनेन) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्नरूप परमेश्वर] द्वारा (यज्ञवचः) यज्ञों [श्रेष्ठकर्मों] से बताये गये (सर्वे) सब (लोकाः) स्थान (समाप्याः) यथावत् पाने योग्य हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की आराधना से मनुष्य सब उत्तम उत्तम अधिकार पा सकता है ॥ १९ ॥

यस्मि॑न्त्समु॒द्रो द्यौर्भूमि॒स्त्रयो॑ऽवरप॒रं श्रि॒ताः ॥ २० ॥

यस्मि॑न् । स॒मु॒द्रः । द्यौः । भूमिः॑ । त्रयः॑ । अ॒व॒र॒ऽप॒रम् । श्रि॒ताः २०

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [ओदन, परमेश्वर] में (द्यौः) सूर्य, (समुद्रः) अन्तरिक्ष और (भूमिः) भूमि, (त्रयः) तीनों [लोक] (अवरपरम्) नीचे ऊपर (श्रिताः) ठहरे हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—मन्त्र २२ के साथ ॥ २० ॥

यस्य॑ दे॒वा अक॑ल्प॒न्तोच्छि॑ष्टे॒ षड॑शी॒तयः॑ ॥ २१ ॥

यस्य॑ । दे॒वाः । अक॑ल्पन्त । उत्ऽशि॑ष्टे । षट् । अ॒शी॒तयः॑ ॥ २१

भषार्थ—(यस्य) जिस [परमेश्वर] के (उच्छिष्टे) सब से बड़े श्रेष्ठ [वा प्रलय में भी बचे] सामर्थ्य में (देवाः) [सूर्य आदि] दिव्य लोक

१९—(ओदनेन) अ० ४ । ५ १९ । सुखवर्षकेण, अन्नरूपेण परमेश्वरेण (यज्ञवचः) वचेः कर्मणि—विच् । यज्ञैः श्रेष्ठकर्मभिः कथ्यमानाः (सर्वे) (लोकाः) भुवनानि (समाप्याः) सम्यक् प्रापणीयाः ॥

२०—(यस्मिन्) ओदने, परमेश्वरे (समुद्रः) अ० १ । १३ । ३ । अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ (द्यौः) प्रकाशमानः सूर्यः (भूमिः) (त्रयः) लोकाः (अवरपरम्) अधरोत्तरम् (श्रिताः) स्थिताः ॥

२१—(यस्य) परमेश्वरस्य (देवाः) सूर्यादयो दिव्यलोकाः (अकल्पन्त) कृपू सामर्थ्ये-लङ् । रचिता अभवन् (उच्छिष्टे) शासु अनुशिष्टौ—क्त । शास इदङ्हलोः । पा० ६ । ४ । ३४ । उपधाया इकारः । शासिवसिघसीनां च । पा० ८ ।

और (षट्) छह [पूर्व आदि चार और नीचे ऊपर की] (अशीतयः) व्यापक दिशायें (अकल्पन्त) रची हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—मन्त्र २२ के साथ ॥ २१ ॥

तं त्वौदनस्य पृच्छामि यो अस्य महिमा महान् ॥ २२ ॥

तम् । त्वा । ओदनस्य । पृच्छामि । यः । अस्य । महिमा । महान् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[हे आचार्य !] (त्वा) तुझसे (ओदनस्य) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्नरूप परमेश्वर] की (तम्) उस [महिमा] को (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, (यः) जो (अस्य) उस की (महान्) बड़ी (महिमा) महिमा है २२

भावार्थ—जिस परमेश्वर के सामर्थ्य में सब लोक और सब दिशायें वर्तमान हैं, मनुष्य उसकी महिमा को खोज कर अपना सामर्थ्य बढ़ावे, म० २०—२२ ॥

स य ओदनस्य महिमानं विद्यात् ॥ २३ ॥

सः । यः । ओदनस्य । महिमानम् । विद्यात् ॥ २३ ॥

नाल्प इति ब्रूयान्नानुपसेचन इति नेदं च किं चेति ॥२४॥

न । अल्पः । इति । ब्रूयात् । न । अनुप-सेचनः । इति । न । इदम् । च । किम् । च । इति ॥ २४ ॥

---

३ । ६० । इति षत्वम् । यद्वा शिष असर्वोपयोगे—क्त । उच्छिष्टात् सर्वस्मादूर्ध्वं शिष्टात् परमेश्वरात् तत्सामर्थ्याच्च—इति दयानन्दकृतायाम् ऋग्वेदादिभाष्य-भूमिकायां पृष्ठे १३६ । सर्वोत्कृष्टे सामर्थ्ये । यद्वा प्रलयेऽप्यवशिष्टे । परिशिष्टे सामर्थ्ये (षट्) प्राच्यादिनीचोच्चषट्संख्याकाः (अशीतयः) अ० २ । १२ । ४ । वसेस्तिः उ० ४ । १८० । अशू व्याप्तौ—ति, छान्दस इडागमो दीर्घश्च । व्यापिका दिशाः ॥

२२—(तम्) महिमानम् (त्वा) त्वामाचार्यम् (ओदनस्य) सुखवर्षक-स्यान्नरूपस्य परमेश्वरस्य (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (यः) (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमा) महत्त्वम् (महान्) अधिकः ॥

भाषार्थ—(यः) जो [योगी जन] (ओदनस्य) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्नरूप परमेश्वर] की (महिमानम्) महिमा को (विद्यात्) जानता हो, (सः) वह (ब्रूयात्) कहे "(न अल्पः इति) वह [परमेश्वर] थोड़ा नहीं है [अर्थात् बड़ा है], (न अनुपसेचनः इति) वह उपसेचन रहित नहीं है [अर्थात् सेचन वा वृद्धि करने वाला है], (च) और (न इदम् किम् च इति) न वह यह कुछ वस्तु है [अर्थात् ब्रह्म में अङ्गुली का निर्देश नहीं हो सकता]" ॥ २३, २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य जैसे जैसे परमेश्वर को खोजता है, उसका सामर्थ्य बढ़ता जाता है, तौ भी उसका परिमाण, आदि सीमा नहीं जानता और न उसका यथावत् वर्णन कर सकता है ॥ २३, २४ ॥

यावद् दाताभिमनस्येत् तन्नाति वदेत् ॥ २५ ॥

यावत् । दाता । अभि-मनस्येत । तत् । न । अति । वदेत् २५

भाषार्थ—(यावत्) जितना [ब्रह्मज्ञान] (दाता) दाता [ज्ञान दाता] (अभिमनस्येत) मन से विचारै, (तत्) उस को (अति) अधिक करके वह [ज्ञान दाता] (न वदेत) न बोले ॥ २५ ॥

भावार्थ—उपदेशक गुरु विचार पूर्वक ब्रह्मज्ञान का सत्य सत्य उपदेश करे, कदापि मिथ्या न बोले ॥ २५ ॥

ब्रह्मवादिनो वदन्ति पराञ्चमोदनं प्राशीः प्रत्यञ्चा३मिति ॥२६॥

ब्रह्म-वादिनः । वदन्ति । पराञ्चम् । ओदनम् । प्र । आशीः३ः । प्रत्यञ्चा३म् । इति ॥ २६ ॥

२३, २४—(सः) योगिजनः (यः) (ओनदस्य) सुखवर्षकस्यान्नरूपस्य परमात्मनः (महिमानम्) महत्त्वम् (विद्यात्) जानीयात् (न) निषेधे (अल्पः) न्यूनः (इति) वाक्यसमाप्तौ (ब्रूयात्) वदेत् (न) न ब्रूयात् (अनुपसेचनः) षिच् सेके—ल्युट्। उपसेचनेन वर्धनेन रहितः (इति) (न) निषेधे (इदम्) निर्दिष्टम् ब्रह्म (च च) (किम् च) किंचन (इति) ॥

२५—(यावत्) यत्प्रमाणं ब्रह्मज्ञानम् (दाता) ज्ञानदाता गुरुः (अभिमनस्येत) भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः। पा० ३।१।१२। अभिमनस्—क्यङ्, न सलोपः। मनसा विचारयेत् (तत्) ब्रह्मज्ञानम् (न) निषेधे (अति) अधिकम् (वदेत्) ब्रूयात् ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादी [ईश्वर वा वेद को विचारनेवाले] (वदन्ति) कहते हैं—"[हे मनुष्य ! क्या] (पराञ्चम्) दूरवर्ती (ओदनम्) ओदन [सुख बरसानेवाले अन्न रूप परमेश्वर] को (प्र आशी३ः) तू ने खाया है, [अथवा] (प्रत्यञ्चा३म् इति) प्रत्यक्ष वर्ती को ?" ॥ २६ ॥

भावार्थ—प्रश्न है कि क्या परमेश्वर किसी दूर वा प्रत्यक्ष स्थान विशेष में मिलता है ? इसका उत्तर आगे मन्त्र २८ तथा २९ में है ॥ २६ ॥

त्वमो॑द॒नं प्राशी॒३स्त्वामो॑द॒ना३ इति॑ ॥ २७ ॥

त्वम् । ओ॒द॒नम् । प्र । आशी३ः । त्वाम् । ओ॒द॒ना ३ः । इति॑ ।२७।

भाषार्थ—[क्या (त्वम्) तू ने (ओदनम्) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्न रूप परमेश्वर] को (प्र आशीः ३) खाया है, [अथवा] (त्वा) तुझ को (ओदना३ः इति) ओदन [सुखवर्षक अन्न रूप परमेश्वर] ने ? ॥२७ ॥

भावार्थ—प्रश्न है कि क्या मनुष्य परमेश्वर को अन्न समान खाता है, वा परमेश्वर मनुष्य को अन्न तुल्य खाता है। इस का उत्तर मन्त्र ३० तथा ३१ में है ॥ २७ ॥

परा॑ञ्चं चैनं॒ प्राशीः॑ प्रा॒णास्त्वा॑ हास्य॒न्तीत्ये॑नमाह ॥२८॥

परा॑ञ्चम् । च॒ । ए॒न॒म् । प्र॒-आशीः॑ । प्रा॒णाः । त्वा॒ । हा॒स्य॒न्ति॒ । इति॑ । ए॒न॒म् । आ॒ह॒ ॥ २८ ॥

२६—(ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य वेदस्य वा विचारका महर्षयः (वदन्तिः) भाषन्ते (पराञ्चम्) परा+ अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । दूरे गच्छन्तम् (ओदनम्) सुखवर्षकमन्नरूपं परमेश्वरम् (प्र) प्रकर्षेण (आशी३ः) अश भोजने-लुङ् । विचार्यमाणानाम् । पा० ८ । २ । ९७ । इति टेः प्लुतः । भक्षितवानसि (प्रत्यञ्चा३म्) प्रति+अञ्चु गतिपूजनयोः–क्विन्, पूर्ववत् प्लुतः । प्रत्यञ्चम् प्रत्यक्षवर्तिनम् (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

२७—(त्वम्) (ओदनम्) सुखवर्षकमन्नरूपं परमात्मानम् (प्र) (आशी ३ः) म० २६ । भक्षितवानसि (ओदना ३ः) विचार्यमाणानाम् । पा० ८ । २ । ९७ । इति प्लुतः । सुखवर्षकोऽन्नतुल्यः परमेश्वरः (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

भाषार्थ—"(च) यदि (पराञ्चम्) दूरवर्ती (एनम्) इस [ओदन] को (प्राशीः) तूने खाया है, (प्राणाः) श्वास के बल (त्वा) तुझे (हास्यन्ति) त्यागेंगे" (इति) ऐसा वह [आचार्य] (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) कहता है ॥ २८ ॥

भवार्थ—मन्त्र २६ के साथ ॥ २८ ॥

प्रत्यञ्चं चैनं प्राशीरपानास्त्वा हास्यन्तीत्यैनमाह ॥ २९ ॥

प्रत्यञ्चम् । च । एनम् । प्र-आशीः । अपानाः । त्वा । हास्यन्ति । इति । एनम् । आह ॥ २९ ॥

भाषार्थ—"(च) यदि (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षवर्ती (एनम्) इस [ओदन] को (प्राशीः) तूने खाया है । (अपानाः) प्रश्वासबल (त्वा) तुझे (हास्यन्ति) त्यागेंगे" (इति) ऐसा वह [आचार्य] (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) कहता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—मन्त्र २६ का उत्तर है । आचार्य उपदेश करता है जो मनुष्य परमेश्वर को दूरवर्ती वा समीप वर्ती अर्थात् एक स्थानी मानता है, वह श्वास और प्रश्वास से हीन होकर निर्बल होजाता है ॥ २८, २९ ॥

नैवाहमोदनं न मामोदनः ॥ ३० ॥

न । एव । अहम् । ओदनम् । न । माम् । ओदनः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(न एव) न तो (अहम्) मैंने (ओदनम्) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्न रूप परमेश्वर] को [खाया है] और (न) न (माम्)

२८—(पराञ्चम्) म० २६ । दूरे गच्छन्तम् (च) चेत् (एनम्) ओदनम् (प्राशीः) म० २६ । प्रकर्षेण भक्षितवानसि (प्राणाः) श्वासबलानि (त्वा) (हास्यन्ति) ओहाक् त्यागे । त्यक्ष्यन्ति (इति) एवम् (एनम्) जिज्ञासुम् (आह) ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि लट् । ब्रवीति ॥

२९—(प्रत्यञ्चम्) म० २६ । प्रत्यक्षवर्तिनम् (अपानाः) प्रश्वासबलानि । अन्यत् पूर्ववत् म० ॥ २८ ॥

३०—(न) निषेधे (एव) निश्चयेन (अहम्) प्राणी प्राशिषमिति शेषः म० २७ (ओदनम्) सुखवर्षकमन्नरूपं परमात्मानम् (न) निषेधे (माम्)

मुझको (ओदनः) ओदन [सुख बरसाने वाले परमेश्वर] ने [खाया] है ॥३०॥

भावार्थ—यह मन्त्र मन्त्र २७ का उत्तर है। जीवात्मा और परमात्मा दोनों अनादि, अन्त रहित और अविनाशी हैं ॥ ३० ॥

ओद॒न ए॒वौद॒नं प्राशी॑त् ॥ ३१ ॥ (८)

ओद॒नः । ए॒व । ओद॒नम् । प्र । आ॒शी॒त् ॥ ३१ ॥ (८)

भाषार्थ—(ओदनः) ओदन [सुख बरसाने वाले अन्नरूप परमेश्वर] ने (एव) हि (ओदनम्) ओदन [सुख वर्षक स्थूल जगत्] को (प्र आशीत्) खाया है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपने सामर्थ्य से सृष्टि के समय स्थूल जगत को को उत्पन्न करता और प्रलय के समय सबको सूक्ष्म कारणमें लीन करदेता है। जीवात्मा के लिये स्थूल जगत् में स्थूल शरीर मुक्ति का साधन है ॥ ३१ ॥

सूक्तम् ३ ॥ (पर्यायः २)

३२—४९ ॥ ओदनो देवता ॥ ततश्चैनं० ३२, सर्वाङ्ग एव० ३२-४९ साम्नी त्रिष्टुप्; ज्येष्ठतस्ते ३२, तं वा अहं० ३२, ४९; ताभ्यामेनं० ३३, ३४, ४४-४८ आसुरी गायत्री; बृहस्पतिना ३२, समुद्रेण ४३, सवितुः ४७ दैवी जगती ; मुखतस्ते ३५, राजयक्ष्मः ३९, उदरदारः ४२, ऊरू ते ४४ बहुचारी ४६, आसुर्युष्णिक् ; एष वा ओदनः ३२-४९, अप्रतिष्ठा नः ४९ भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्; ततश्चैनम० ३३-३६, ३८-४९ आर्च्यनुष्टुप्; ततश्चैनम० ३७ आर्च्युष्णिक; बधिरो भवि० ३३, अन्धोभवि० ३४, जिह्वा ते० ३६, दन्तास्ते० ३७, विद्युत् त्वा० ४०, कृष्या न ४१, अप्सुमरि० ४३, श्यामो भवि० ४५, सर्पस्त्वा० ४७, ब्राह्मणं० ४८ आसुरी पङ्क्तिः; द्यावापृथिवी० ३५, सूर्याचन्द्रम० ३४ याजुषी त्रिष्टुप्; ब्राह्मणं० ३५, सत्येनो० ४२, त्वष्टुर० ४५, अश्विनो० ४६, ऋतस्य० ४८, सत्ये० ४९ याजुषी गायत्री; अग्ने ३६, ऋतुभिः० ३७, दिवा ४०, पृथिव्यो० ४१ दैवी पंक्ति; सप्तऋषिभि० ३८, अन्त-

---

जीवात्मानम् (ओदनः) अन्नरूपःपरमेश्वरः प्राशीदिति शेषः म० ॥ २७ ॥

३१—(ओदनः) सुखवर्षकोऽन्नरूपः परमात्मा (एव) (ओदनम्) सुखवर्षकमन्नरूपं स्थूलं जगत् (प्राशीत्) भक्षितवान् ॥

रिक्षेण० ३६ प्राजापत्या गायत्री; मित्रावरुणयोः० ४४ आसुरी जगती; तेनैनं० ३२, ३५, तयैनं० ३६, ३७, ३८ तेनैनम्० ३६-४३, तयैनं० ४६ आसुर्यनुष्टुप् छन्दः ॥

ब्रह्मविद्योपदेशः–ब्रह्मविद्या का उपदेश ॥

ततश्चैनमन्येन शीर्ष्णा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ज्येष्ठतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्यैनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । बृहस्पतिना शीर्ष्णा । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३२ ॥

ततः । च । एनम् । अन्येन । शीर्ष्णा । प्र-आशीः । येन । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्र-आश्नन् ॥ ज्येष्ठतः । ते । प्र-जा । मरिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ बृहस्पतिना । शीर्ष्णा ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन, अन्न रूप परमेश्वर] को (ततः) उससे (अन्येन) भिन्न (शीर्ष्णा) शिर से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिस [शिर] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ

३२—(ततः) तस्माद् मस्तकात् (च) चेत् (एनम्) ओदनम् (अन्येन) भिन्नेन (शीर्ष्णा) शिरसा । शिरोविचारेण (प्राशीः) म०२६ । भक्षितवानसि । अनुभूतवानसि (येन) शिरसा (च) एव (एतम्) ओदनम् (पूर्वे) पूर्वजाः (ऋषयः) वेदार्थज्ञातारः (प्राश्नन्) भक्षितवन्तः । अनुभूतवन्तः (ज्ये-

जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। (ज्येष्ठतः) अति बड़े से लेकर (ते) तेरे (प्रजा) [राज्य की] प्रजा (मरिष्यति) मरेगी, (इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया है]। (तेन) उसी [ऋषियों के समान] (बृहस्पतिना) बड़े ज्ञानों के रक्षक (शीर्ष्णा) शिर से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (तेन) उसी से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः) यह (वै) ही (ओदनः) ओदन [सुख वर्धक अन्न समान परमेश्वर] (सर्वाङ्गः) सब उपायों वाला, (सर्वपरुः) सब पालनों वाला और सर्वतनूः) सब उपकारों वाला है। वह [मनुष्य] (एव) ही (सर्वाङ्गः) सब उपायों वाला, (सर्वपरुः) सब पालनों वाला और (सर्वतनूः) सब उपकारों वाला (सम् भवति) हो जाता है, (यः) जो [मनुष्य] (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥ ३२ ॥

ष्ठतः) ज्येष्ठमारभ्य (ते) तव (प्रजा) राज्यजनता (मरिष्यति) मरणं प्राप्स्यति (इति) अनेन प्रकारेण (एनम्) जिज्ञासुम् (आह) ब्रवीति योगिजनः (तम्) ओदनम् (वै) निश्चयेन (अहम्) जिज्ञासुः (न) सम्प्रति-निरु० ७।३१ (अर्वाञ्चम्) अवरे पश्चात् काले प्रलये वर्तमानम् (न) सम्प्रति (पराञ्चम्) दूरे गतम् (न) सम्प्रति (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षं प्राप्तम् (बृहस्पतिना) बृहतां ज्ञानानां रक्षकेण (शीर्ष्णा) शिरसा (तेन) (एनम्) ओदनम् (प्राशिषम्) भक्षितवानस्मि। अनुभूतवानस्मि (तेन) (एनम्) (अजीगमम्) गमेः स्वार्थ-ण्यन्ताल्लुङि चङि रूपम्। अगमम्। प्राप्तवानस्मि (एषः) (वै) (ओदनः) सुखवर्धकोऽन्नरूपः परमेश्वरः (सर्वाङ्गः) अङ्ग पदे लक्षणे च—अच्। सर्वोपाययुक्तः (सर्वपरुः) अर्तिपॄवपियजितनि० । उ० २ । ११७ । पॄ पालनपूरणयोः उसि। सर्वपालनयुक्तः (सर्वतनूः) कृषिचमितनिधनि० । उ० १ । ८० । तनु विस्तारे श्रद्धोपकरणयोश्च-ऊ। सर्वोपकारयुक्तः (सर्वाङ्गः) सर्वोपायः (एव) (सर्वपरुः) सर्वपालनः (सर्वतनूः) सर्वोपकारः (सम्) सम्यक् (भवति) (यः) पुरुषः (एवम्) (वेद) वेत्ति परामात्मनम् ॥ ३३ ॥

भावार्थ—आचार्य उपदेश करे–हे शिष्य तू वेदानुगामी ऋषियों के समान परमेश्वर में प्रीति कर, यदि उस से विरुद्ध चलेगा तो शरीर और आत्मा से गिरकर संसार का अपकार करेगा। तब शिष्य परमात्मा में पूर्ण भक्ति से प्रतिज्ञा करके आत्मिक, शारीरिक और सामाजिक बल बढ़ावे ॥ ३२ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां श्रोत्राभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बधिरो भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। द्यावापृथिवीभ्यां श्रोत्राभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३३ ॥

ततः। च। एनम्। अन्याभ्याम्। श्रोत्राभ्याम्। प्र-आशीः। याभ्याम्। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ बधिरः। भविष्यसि। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ द्यावापृथिवी-भ्याम्। श्रोत्राभ्याम् ॥ ताभ्याम्। एनम्। प्र। आशिषम्। ताभ्याम्। एनम्। अजीगमम् ॥ एषः। वै। ओदनः। सर्व-अङ्गः। सर्व-परुः। सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः। एव। सर्व-परुः। सर्व-तनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [कानों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (श्रोत्राभ्याम्) दो कानों से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों से

३३—(ततः) ताभ्यां श्रोत्राभ्याम् (अन्याभ्याम्) भिन्नाभ्याम् (श्रोत्राभ्याम्) श्रवणाभ्याम् (बधिरः) इषिमदिमुदिखिदि०। उ० १। ५१। बन्ध

(च) ही (एनम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। तू (बधिरः) बहिरा (भविष्यसि) हो जावेगा—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (ताभ्याम्) उन (द्यावापृथिवीभ्याम्) आकाश और पृथिवी रूप (श्रोत्राभ्याम्) दोनों कानों से [अर्थात् पदार्थ ज्ञान के श्रवण मनन से] (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (ताभ्याम्) उन दोनों से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यह ही……म० ३२ ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३३ ॥

तत॑श्चैनम॒न्याभ्या॑म॒क्षीभ्यां॒ याभ्यां॑ चै॒तं पूर्व॒ ऋष॑यः॒ प्राश्न॑न् । अ॒न्धो भ॑विष्य॒सीत्ये॑नमाह । तं वा अ॒हं नार्वाञ्चं॒ न परा॑ञ्चं॒ न प्र॒त्यञ्च॑म् । सू॒र्य॒च॒न्द्र॒म॒साभ्या॑म॒क्षीभ्या॑म् । ताभ्या॑मेनं॒ प्राशि॑षं॒ ताभ्या॑मेनमजीगमम् । ए॒ष वा ओ॑द॒नः सर्वा॑ङ्गः सर्व॑परुः सर्व॑तनूः । सर्वा॑ङ्ग ए॒व सर्व॑परुः सर्व॑तनूः सं भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ३४ ॥

तत॒ः । च॒ । ए॒न॒म् । अ॒न्याभ्या॑म् । अ॒क्षीभ्या॑म् । प्र॒-आशीः॑ । याभ्या॑म् । च॒ । ए॒तम् । पूर्वे॑ । ऋष॑यः । प्र॒-आश्न॑न् ॥ अ॒न्धः । भ॒वि॒ष्य॒सि॒ । इति॑ । ए॒न॒म् । आ॒ह॒ ॥ तम् । वै । अ॒हम् । न ।

वन्धने-किरच् । श्रुतिशक्तिशून्यः (भविष्यसि) (द्यावापृथिवीभ्याम्) आकाशभूमिरूपाभ्याम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३२ ॥

अ॒र्वाञ्च॑म् । न । परा॑ञ्चम् । न । प्र॒त्यञ्च॑म् ॥ सू॒र्या॒च॒न्द्र॒म॒साभ्या॑म् । अ॒क्षीभ्या॑म् ॥ ताभ्या॑म् । ए॒न॒म् । प्र । आ॒शि॒ष॒म् । ताभ्या॑म् । ए॒न॒म् । अ॒जी॒ग॒म॒म् ॥ ए॒षः । वै । ओ॒द॒नः । सर्व॑-अङ्गः । सर्व॑-परुः । सर्व॑-तनूः ॥ सर्व॑-अङ्गः । एव । सर्व॑-परुः । सर्व॑-तनूः । सम् । भ॒व॒ति॒ । यः । ए॒वम् । वेद॑ ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [नेत्रों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (अक्षीभ्याम्) दो नेत्रों से (प्राशीः) तूने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। तू (अन्धः) अन्धा (भविष्यसि) हो जावेगा-(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (ताभ्याम्) उन दोनों (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) सूर्य और चन्द्रमा रूप [उन के समान नियम में चलकर] (अक्षीभ्याम्) दो नेत्रों से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (ताभ्याम्) उन दोनों से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यह ही······म० ३२ । ३४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३४ ॥

३४—(ततः) ताभ्याम् (अक्षीभ्याम्) अ० २ । ३३ । १ । नेत्राभ्याम् (अन्धः) अन्ध दृष्टिनाशे—अच् । दृष्टिशक्तिरहितः (सूर्याचन्द्रमसाभ्याम्) अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोम्नः । पा० ५ । ४ । ७५ । अजिति योगविभागात्—अच् प्रत्ययः । सूर्यचन्द्ररूपाभ्याम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३२ ॥

ततश्चैनमन्येन मुखेन प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । मुखतस्ते प्रजा मरिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । ब्रह्मणा मुखेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३५ ॥

ततः । च । एनम् । अन्येन । मुखेन । प्र-आशीः । येन । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्र-आश्नन् ॥ मुखतः । ते । प्र-जा । मरिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ ब्रह्मणा । मुखेन ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [मुख] से (अन्येन) भिन्न (मुखेन) मुख से (प्राशीः) तूने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिस [मुख] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था । (मुखतः) मुख के बल (ते) तेरे (प्रजा) [राज्य की] प्रजा (मरिष्यति) मरेगी—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्)

३५—(ततः) तस्माद् मुखात् (मुखेन) (मुखतः) मुखबलात् (ते) तव (प्रजा) राज्यजनता (मरिष्यति) विनङ्क्ष्यति (ब्रह्मणा) वेदरूपेण । अन्यत् पूर्ववत् ॥

दूर वर्तमान, और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है], (तेन) उस (ब्रह्मणा) वेद रूप (मुखेन) मुख से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (तेन) उस [मुख] से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यही ...... म० ३२ ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३५ ॥

ततश्चैनमन्यया जिह्वया प्राशीर्यया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। जिह्वा ते मरिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अग्नेर्जिह्वया। तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३६ ॥

ततः। च। एनम्। अन्यया। जिह्वया। प्र-आशीः। यया। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ जिह्वा। ते। मरिष्यति। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ अग्नेः। जिह्वया ॥ तया। एनम्। प्र। आशिषम्। तया। एनम्। अजीगमम् ॥ एषः। वै। ओदनः। सर्व-अङ्गः। सर्व-परुः। सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः। एव। सर्व-परुः। सर्व-तनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [जीभ] से (अन्यया) भिन्न (जिह्वया) जीभ

३६—(ततः) तस्या जिह्वायाः सकाशात् (जिह्वया) रसनया (जिह्वा) रसना (ते) तव (मरिष्यति) मृङ् प्राणत्यागे। प्राणांस्त्यक्ष्यति। असमर्था भवि-

से (प्राशीः) तूने खाया [अनुभव किया] है, (यया) जिस [जीभ] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। (ते) तेरी (जिह्वा) जीभ (मरिष्यति) मर जावेगी [असमर्थ हो जावेगी]—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहनेवाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्त्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रयत्न वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (अग्नेः) अग्नि की [अग्नि समान लहराती हुयी] (तया) उस (जिह्वया) जीभ से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (तया) उस [जीभ] से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यही......म० ३२।३६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३६ ॥

ततश्चैनमन्यैर्दन्तैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। दन्तास्ते शत्स्यन्तीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। ऋतुभिर्दन्तैः। तैरेनं प्राशिषं तैरेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३७ ॥

ततः। च। एनम्। अन्यैः। दन्तैः। प्र-आशीः। यैः। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ दन्ताः। ते। शत्स्यन्ति। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ ऋतु-भिः। दन्तैः। तैः। एनम्। प्र। आशिषम्। तैः। एनम्। अजीगमम् ॥

ष्यति (अग्नेः) पावकस्य। पावकवच् चञ्चलशिखया (जिह्वया), अन्यत् पूर्ववत् ॥

एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [दांतों] से (अन्यैः) भिन्न (दन्तैः) दांतों से (प्राशीः) तूने खाया [अनुभव किया] है, (यैः) जिन [दांतों] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जाननेवालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था । (ते) तेरे (दन्ताः) दांत (शत्स्यन्ति) गिर पड़ेंगे—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]-(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहनेवाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (ऋतुभिः) ऋतुओं के तुल्य [आपस में मिले हुये] (तैः) उन (दन्तैः) दांतों से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (तैः) उन से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यही......म० ३२ ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३७ ॥

ततश्चैनमन्यैः प्राणापानैः प्राशीर्यैश्चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । प्राणापानास्त्वा हास्यन्तीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सप्तर्षिभिः प्राणापानैः । तैरेनं प्राशिषं

३७—(ततः) तेभ्यो दन्तेभ्यः (अन्यैः) भिन्नैः (दन्तैः) अ० ४ । ३ । ६ । दमु उपशमे-तन् । दशनैः (दन्ताः) दशनाः (शत्स्यन्ति) शद्लृ शातने= विशीर्णतायाम् । विशीर्णा भविष्यन्ति (ऋतुभिः) वसन्तादिभिः । ऋतुवत् परस्परसम्मिलितैः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

तैरेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ३८ ॥

ततः । च । एनम् । अन्यैः । प्राणापानैः । प्र-आशीः । यैः । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्र-आश्नन् ॥ प्राणापानाः । त्वा । हास्यन्ति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ सप्तर्षि-भिः । प्राणापानैः ॥ तैः । एनम् । प्र । आशिषम् । तैः । एनम् । अजीग-मम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [प्राण और अपानों] से (अन्यैः) भिन्न (प्राणापानैः) प्राण और अपानों से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (यैः) जिनसे (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था । (प्राणापानाः) प्राण और अपान (त्वा) तुझको (हास्यन्ति) छोड़ देंगे-(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]-(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहनेवाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (सप्तऋषिभिः) सात ऋषियों [त्वचा,

३८—(ततः) तेभ्यः प्राणापानेभ्यः (प्राणापानैः) श्वासप्रश्वासैः (प्राणापानाः) (हास्यन्ति) म० २८ । त्यक्ष्यन्ति (सप्तऋषिभिः) अ० ४ । ११ । ९ । सप्तऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु १२ । ३७ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिरूपैः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] रूप (तैः) उन (प्राणापानैः) प्राण और अपानों से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (तैः) उन से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यही .....म० ३२ ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३८ ॥

तत॑श्चैनम॒न्येन॑ व्यच॑सा प्राशी॒र्येन॑ चै॒तं पूर्व॒ ऋष॑यः प्राश्न॑न् । राजयक्ष्मस्त्वा हनिष्यतीत्ये॑नमाह । तं वा अ॒हं नार्वाञ्चं॒ न परा॑ञ्चं॒ न प्र॒त्यञ्च॑म् । अ॒न्तरि॑क्षेण व्यच॑सा । तेनै॑नं॒ प्राशि॑षं॒ तेनै॑नमजीगमम् । ए॒ष वा ओ॒द॒नः सर्वा॑ङ्गः सर्व॑परुः सर्व॑तनूः । सर्वा॑ङ्ग ए॒व सर्व॑परुः सर्व॑तनूः सं भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥३९

तत॑ः । च॒ । ए॒न॒म् । अ॒न्येन॑ । व्यच॑सा । प्र॒-आ॒शीः॑ । येन॑ । च॒ । ए॒तम् । पूर्वे॑ । ऋष॑यः । प्र॒-आ॒श्न॑न् ॥ रा॒ज॒-य॒क्ष्मः । त्वा॒ । ह॒नि॒ष्यति॑ । इति॑ । ए॒न॒म् । आ॒ह॒ ॥ तम् । वै । अ॒हम् । न । अ॒र्वाञ्च॑म् । न । परा॑ञ्चम् । न । प्र॒त्यञ्च॑म् ॥ अ॒न्तरि॑क्षेण । व्यच॑सा ॥ तेन॑ । ए॒न॒म् । प्र । आ॒शि॒ष॒म् । तेन॑ । ए॒न॒म् । अ॒जी॒ग॒म॒म् ॥ ए॒षः । वै । ओ॒द॒नः । सर्व॑-अ॒ङ्गः । सर्व॑-परुः । सर्व॑-तनूः ॥ सर्व॑-अ॒ङ्गः । ए॒व । सर्व॑-परुः । सर्व॑-तनूः । सम् । भ॒व॒ति॒ । यः । ए॒वम् । वेद॑ ॥ ३९ ॥

भावार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [व्यापकपन] से (अन्येन) भिन्न (व्यचसा) व्यापकपन से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिससे

३९—(ततः) तस्माद् व्यचसः (व्यचसा) अ० ४ । १९ । ६ । सम्बन्धेन व्यापकत्वेन (राजयक्ष्मः) अ० ३ । ११ । १ । यक्ष्माणां राजा । क्षयरोगः (हनिष्यति) मारयिष्यति (अन्तरिक्षेण) आकाशरूपेण । अन्यत् पूर्ववत् ॥

(च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। [तब] (राजयक्ष्मः) राजरोग [व्यापक क्षयरोग] (त्वा) तुझे (हनिष्यति) मारेगा- (इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (अन्तरिक्षेण) आकाश रूप (तेन) उस (व्यचसा) व्यापकपन से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (तेन) उससे (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यही .... म० ३२ ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ३६ ॥

ततश्चैनमुन्येन पृष्ठेन प्राशीयेन चैतं पूर्वं ऋषयः प्राश्नन् । विद्युत् त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । दिवा पृष्ठेन । तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४० ॥

ततः । च । एनम् । अन्येन । पृष्ठेन । प्र-आशीः । येन । च । एनम् । पूर्वे । ऋषयः । प्र-आश्नन् ॥ वि-द्युत् । त्वा । हनिष्यति । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ दिवा । पृष्ठेन ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ४० ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [पीठ से] (अन्येन) भिन्न (पृष्ठेन) पीठ से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिस [पीठ] से (च) ही (एनम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। (तब) (विद्युत्) बिजुली (त्वा) तुझे (हनिष्यति) मारेगी—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (दिवा) आकाशरूप (तेन) उस (पृष्ठेन) पीठ से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (तेन) उस से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यही......म० ३२ ॥ ४० ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४० ॥

ततश्चैनमन्येनोरसा प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। कृष्या न रात्स्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। पृथिव्योरसा। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४१ ॥

ततः। च। एनम्। अन्येन। उरसा। प्र-आशीः। येन। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ कृष्या। न। रात्स्यसि। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न।

४०—(ततः) तस्मात् पृष्ठात् (पृष्ठेन) शरीरपश्चाद्भागेन (विद्युत्) विद्योतमाना तडित् (दिवा) आकाशरूपेण। अन्यत् पूर्ववत् ॥

पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ पृथिव्या । उरसा ॥ तेन । एनम् । प्र । आशिषम् । तेन । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥४१॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [छाती] से (अन्येन) भिन्न (उरसा) छाती से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिस [छाती] से (च) ही (एनम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। [तब] (कृष्या) खेती से (न राध्स्यसि) तू न बढ़ेगा—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (पृथिव्या) पृथिवी रूप [पृथिवी समान सहन शील] (तेन) उस (उरसा) छाती से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (तेन) उससे (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यही......म० ३२ ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४१ ॥

ततश्चैनमन्येनोदरेण प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । उदरदारस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सत्येनोदरेण । तेनैनं प्राशिषं

४१—(ततः) तस्मादुरसः (उरसा) वक्षःस्थलेन (कृष्या) कर्षणविद्यया (न) निषेधे (रात्स्यसि) राध संसिद्धौ—लृट् । समृद्धो भविष्यसि (पृथिव्या) पृथिवीरूपेण सहनशीलेन । अन्यत् पूर्ववत् ॥

तेन॑ नमजीगमम्। ए॒ष वा ओ॑द॒नः सर्वा॑ङ्गः सर्व॑परुः सर्व॑तनूः। सर्वा॑ङ्ग ए॒व सर्व॑परुः सर्व॑तनूः सं भ॑वति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ४२ ॥

ततः॑। च॒। ए॒न॒म्। अ॒न्येन॑। उ॒दरे॑ण। प्र-आशीः। येन॑। च॒। ए॒तम्। पूर्वे॑। ऋष॑यः। प्र-आश्न॑न्॥ उ॒द॒र-दा॒रः। त्वा॒। ह॒नि॒ष्य॒ति॒। इति॑। ए॒नम्। आ॒ह॒॥ तम्। वै। अ॒हम्। न। अ॒र्वाञ्च॑म्। न। पराञ्चम्। न। प्र॒त्यञ्च॑म्॥ स॒त्येन॑। उ॒दरे॑ण॥ तेन॑। ए॒न॒म्। प्र। आ॒शि॒ष॒म्। तेन॑। ए॒न॒म्। अ॒जी॒ग॒म॒म्॥ ए॒षः। वै। ओ॒द॒नः। सर्व॑-अङ्गः। सर्व॑-परुः। सर्व॑-तनूः॥ सर्व॑-अङ्गः। ए॒व। सर्व॑-परुः। सर्व॑-तनूः। सम्। भ॒व॒ति॒। यः। ए॒वम्। वेद॑॥ ४२॥

भावार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [पेट] से (अन्येन) भिन्न (उदरेण) पेट से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिस [पेट] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। [तब] (उदरदारः) उदर रोग [अतीसार आदि] (त्वा) तुझे (हनिष्यति) मारेगा-(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूरवर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (सत्येन) सत्य [यथार्थ कथनरूप] (तेन) उस (उदरेण) पेट से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (तेन) उस से (एनम्) इसको

४२—(ततः) तस्मादुदरात् (उदरेण) उद्+ऋ गतौ-अप्। जठरेण (उदरदारः) उदर+दृ विदारणे-णिच्, अच्। उदरविदारकः। अतीसारादि-

(अजीगमम् मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यही......म० ३२ ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४२ ॥

ततश्चैनमन्येन वस्तिना प्राशीर्येन चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। अपस्मरिष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। समुद्रेण वस्तिना। तेनैनं प्राशिषं तेनैनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४३ ॥

ततः। च। एनम्। अन्येन। वस्तिना। प्र-आशीः। येन। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ अप्-सु। मरिष्यसि। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ समुद्रेण। वस्तिना ॥ तेन। एनम्। प्र। आशिषम्। तेन। एनम्। अजीगमम् ॥ एषः। वै। ओदनः। सर्व-अङ्गः। सर्व-परुः। सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः। एव। सर्व-परुः। सर्व-तनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उस [वस्ति] से (अन्येन) भिन्न (वस्तिना) वस्ति [पेडू, नाभि से नीचे भाग] से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (येन) जिस [वस्ति] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव]

रोगः (हनिष्यति) मारयिष्यति (सत्येन) यथार्थकथनरूपेण। अन्यत् पूर्ववत् ॥

४३—(ततः) तस्माद् वस्तेः प्रकाशात् (वस्तिना) वसेस्तिः। उ० ४।

किया] था । [तत्र] (अप्सु) जलके भीतर (मरिष्यसि) तू मरेगा-(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]-(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहनेवाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (समुद्रेण) समुद्ररूप (तेन) उस (बस्तिना) वस्ति [पेडू] से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है । (तेन) उस से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यही ......म० ३२ ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४३ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामूरुभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ऊरू ते मरिष्यत इत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । मित्रावरुणयोरूरुभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ४४

ततः । च । एनम् । अन्याभ्याम् । ऊरु-भ्याम् । प्र-आशीः । याभ्याम् । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्र-आश्नन् ॥ ऊरू इति । ते । मरिष्यतः । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ मित्रावरुणयोः । ऊरु-भ्याम् ॥ ताभ्याम् । एनम् । प्र । आशिषम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः ।

१८० । वस आच्छादने-ति । नाभेरधोभागेन । मूत्राधारेण (अप्सु) जलेषु (मरिष्यसि) प्राणांस्त्यक्ष्यसि (समुद्रेण) जलधिरूपेण । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [दो जांघों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (ऊरुभ्याम्) दो जंघाओं से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] है । [तव] (ते) तेरे (ऊरू) दोनों जंघायें (मरिष्यतः) मरेंगी-(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]-(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (मित्रावरुणयोः) दोनों प्रेरणा करने वाले, और श्रेष्ठ गुण वाले [आचार्य और शिष्य] के (ताभ्याम्) उन (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (ताभ्याम्) उनदोनों से (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैंने पाया है॥

(एषः वै) यही······म० ३२ ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४४ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यामष्ठीवद्भ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । खामो भविष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । त्वष्टुरष्ठीवद्भ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनःसर्वाङ्गः सर्वपरुः

४४—(ततः) ताभ्यामूरुभ्याम् (ऊरुभ्याम्) जङ्घाभ्याम् (ऊरू) जानूपरिभागौ (मरिष्यतः) त्यक्तप्राणौ भविष्यतः (मित्रावरुणयोः) अ० १ । ३ । २, ३ । डु मिञ् प्रक्षेपणे-क्त्र । मित्रः प्रेरकः । वृञ् वरणे-उनन् । वरुणो वरो वरणीयः । प्रेरकश्रेष्ठगुणयोः । आचार्यशिष्ययोः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥४५॥

ततः। च। एनम्। अन्याभ्याम्। अष्ठीवत्-भ्याम्। प्र-आशीः। याभ्याम्। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन्॥ स्रामः। भविष्यसि। इति। एनम्। आह॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम्॥ त्वष्टुः। अष्ठीवत्-भ्याम्॥ ताभ्याम्। एनम्। प्र। आशिषम्। ताभ्याम्। एनम्। अजीगमम्॥ एषः। वै। ओदनः। सर्व-अङ्गः। सर्व-परुः। सर्वतनूः॥ सर्व-अङ्गः। एव। सर्व-परुः। सर्व-तनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद॥ ४५॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [दोनों घुटनों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से (प्राशीः) तूने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों [घुटनों] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] था। [तब] (स्रामः) फोड़े का रोगी (भविष्यसि) तू होगा— (इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (त्वष्टुः) विश्वकर्मा [सब कामों में चतुर मनुष्य] के (ताभ्याम्) उन दोनों (अष्ठीवद्भ्याम्) घुटनों से (एनम्) इस

४५—(ततः) ताभ्यां जानुभ्याम् (अष्ठीवद्भ्याम्) अ० २। ३३। ५। जानुभ्याम् (स्रामः) इषियुधीन्धिदसिश्या०। उ० १। १४५। स्रै, श्रै पाके—मक्। आदेच उपदेशेऽशिति। पा० ६। १। ४५। ऐकारस्य आकारः। ततोऽर्श— आद्यच्। स्रामेण पाकेन व्रणादिना युक्तः (त्वष्टुः) अ० २। ५। ६। विश्वकर्मणः सर्वकर्मसु प्रवीणस्य मनुष्यस्य। अन्यत् पूर्ववत्॥

[परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (ताभ्याम्) उन दोनों से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यही……म० ३२ ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४५ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां पादाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। बहुचारी भविष्यसीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। अश्विनोः पादाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४६ ॥

ततः। च। एनम्। अन्याभ्याम्। पादाभ्याम्। प्र-आशीः। याभ्याम्। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ बहु-चारी। भविष्यसि। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ अश्विनोः। पादाभ्याम् ॥ ताभ्याम्। एनम्। प्र। आशिषम्। ताभ्याम्। एनम्। अजीगमम् ॥ एषः। वै। ओदनः। सर्व-अङ्गः। सर्व-परुः। सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः। एव। सर्व-परुः। सर्व-तनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [दो पैरों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (पादाभ्याम्) दोनों पैरों से (प्राशीः) तूने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषि-

४६—(ततः) ताभ्यां पदाभ्याम् (पादाभ्याम्) (बहुचारी) बहु + चर गतौ-णिनि। बहुभ्रमणशीलः (भविष्यसि) (अश्विनोः) अ० २। २९। ६।

यों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] है। [तब] (बहुचारी) बहुत घूमने वाला (भविष्यसि) तू होगा—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर)-(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (अश्विनोः) दोनों चतुर माता पिता के (ताभ्याम्) उन (पादाभ्याम्) दोनों पैरों से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (ताभ्याम्) उन दोनों से (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

(एषः वै) यही म० ३२। ४६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४६ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां प्रपदाभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन्। सर्पस्त्वा हनिष्यतीत्येनमाह। तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम्। सवितुः प्रपदाभ्याम्। ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम्। एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४७ ॥

ततः। च। एनम्। अन्याभ्याम्। प्र-पदाभ्याम्। प्र-आशीः। याभ्याम्। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन् ॥ सर्पः। त्वा। हनिष्यति। इति। एनम्। आह ॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम् ॥ सवितुः। प्र-पदाभ्याम् ॥ ताभ्याम्। एनम्। प्र। आशि-

अशू व्याप्तौ—क्वन्, इनि। कार्येषु अश्वो व्याप्तिर्ययोस्तयोः। जननी जनकयोः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

षम् । ताभ्याम् । एनम् । अजीगमम् ॥ एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद । ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [दोनों पैर के पञ्जों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (प्रपदाभ्याम्) दोनों पैरों के पञ्जों से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] है । [तब] (सर्पः) सर्प (त्वा) तुझको (हनिष्यति) मारेगा—(इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चं) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (सवितुः) ऐश्वर्यवान् पुरुष के (ताभ्याम्) उन (प्रपदाभ्याम्) दोनों पैरों के पंजों से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैंने खाया [अनुभव किया] है, (ताभ्याम्) उन दोनों से (एनम्) इसको (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः वै) यही......मं० ३२ ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४७ ॥

ततश्चैनमन्याभ्यां हस्ताभ्यां प्राशीर्याभ्यां चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । ब्राह्मणं हनिष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । ऋतस्य हस्ताभ्याम् । ताभ्यामेनं प्राशिषं ताभ्यामेनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गःसर्व-

४७—(ततः) ताभ्याम् (प्रपदाभ्याम्) पादाग्राभ्याम् (सर्पः) उरगः (हनिष्यति) मारयिष्यति (सवितुः) षु प्रसवैश्वर्ययोः—तृच् । ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

परुः सर्वतनूः। सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४८ ॥

ततः। च। एनम्। अन्याभ्याम्। हस्ताभ्याम्। प्र-आशीः। याभ्याम्। च। एतम्। पूर्वे। ऋषयः। प्र-आश्नन्॥ ब्राह्मणम्। हनिष्यसि। इति। एनम्। आह॥ तम्। वै। अहम्। न। अर्वाञ्चम्। न। पराञ्चम्। न। प्रत्यञ्चम्॥ ऋतस्य। हस्ताभ्याम्॥ ताभ्याम्। एनम्। प्र। आशिषम्। ताभ्याम्। एनम्। अजीगमम्॥ एषः। वै। ओदनः। सर्व-अङ्गः। सर्व-परुः। सर्वतनूः॥ सर्व-अङ्गः। एव। सर्व-परुः। सर्व-तनूः। सम्। भवति। यः। एवम्। वेद॥ ४८॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम परमेश्वर] को (ततः) उन [दोनों हाथों] से (अन्याभ्याम्) भिन्न (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (याभ्याम्) जिन दोनों से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] है। [तब] (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [वेद ज्ञाता पुरुष] को (हनिष्यसि) तू मारेगा— (इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैंने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है]। (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (ताभ्याम्) उन (हस्ताभ्याम्) दोनों हाथों से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है (ताभ्याम्) उन दोनों से (एनम्) इस को (अजीगमम्) मैं ने पाया है ॥

४८—(ततः) ताभ्याम् (हस्ताभ्याम्) कराभ्याम् (ब्राह्मणम्) अ० २। ६। ३। वेदविदम् (हनिष्यसि) (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

(एषः वै) यही......म० ३२ ॥ ४८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४८ ॥

ततश्चैनमुन्यया प्रतिष्ठया प्राशीर्येया चैतं पूर्व ऋषयः प्राश्नन् । अप्रतिष्ठानोऽनायतनो मरिष्यसीत्येनमाह । तं वा अहं नार्वाञ्चं न पराञ्चं न प्रत्यञ्चम् । सत्ये प्रतिष्ठाय । तयैनं प्राशिषं तयैनमजीगमम् । एष वा ओदनः सर्वाङ्गः सर्वपरुः सर्वतनूः । सर्वाङ्ग एव सर्वपरुः सर्वतनूः सं भवति य एवं वेद ॥ ४९ ॥ (६)

ततः । च । एनम् । अन्यया । प्रति-स्थया । प्र-आशीः । यया । च । एतम् । पूर्वे । ऋषयः । प्र-आश्नन् ॥ अप्रति-स्थानः । अनायतनः । मरिष्यसि । इति । एनम् । आह ॥ तम् । वै । अहम् । न । अर्वाञ्चम् । न । पराञ्चम् । न । प्रत्यञ्चम् ॥ सत्ये । प्रति-स्थाय ॥ तया । एनम् । प्र । आशिषम् । तया । एनम् । अजीगमम् । एषः । वै । ओदनः । सर्व-अङ्गः । सर्व-परुः । सर्व-तनूः ॥ सर्व-अङ्गः । एव । सर्व-परुः । सर्व-तनूः । सम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥४९ ॥

भाषार्थ-[हे जिज्ञासु !] (च) यदि (एनम्) इस [ओदन नाम] परमेश्वर को (ततः) उस [प्रतिष्ठा] से (अन्यया) भिन्न (प्रतिष्ठया) प्रतिष्ठा [कीर्ति] से (प्राशीः) तू ने खाया [अनुभव किया] है, (यया) जिस [प्रतिष्ठा] से (च) ही (एतम्) इस [परमेश्वर] को (पूर्वे) पहिले (ऋषयः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] ने (प्राश्नन्) खाया [अनुभव किया] है । [तब] (अप्रतिष्ठानः)

४९—(ततः) तया (प्रतिष्ठया) कीर्त्या । गौरवेण (अप्रतिष्ठानः) कीर्तिरहितः (अनायतनः) यती प्रयत्ने—आधारे ल्युट् । गृहरहितः (मरिष्यसि)

कीर्ति रहित और (अनायतनः) और विना घर होकर (मरिष्यसि) तू मरेगा- (इति) ऐसा (एनम्) इस [जिज्ञासु] से (आह) वह [आचार्य] कहे ॥

[जिज्ञासु का उत्तर]—(अहम्) मैं ने (वै) निश्चय करके (न) अब (तम्) उस (अर्वाञ्चम्) पीछे वर्तमान रहने वाले, (न) अब (पराञ्चम्) दूर वर्तमान और (न) अब (प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष वर्तमान [परमेश्वर] को [खाया अर्थात् अनुभव किया है] । (सत्ये) सत्य [सत्य स्वरूप परमात्मा] में (प्रतिष्ठाय) प्रतिष्ठा [आदर] पाकर (तया) उसी [ऋषियों के समान प्रतिष्ठा] से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (प्र आशिषम्) मैं ने खाया [अनुभव किया] है, (तया) उसी [प्रतिष्ठा] से (एनम्) इस परमेश्वर को (अजीगमम्) मैंने पाया है ॥

(एषः) यह (वै) ही (ओदनः) ओदन [सुख वर्षक अन्न समान परमेश्वर] (सर्वाङ्गः) सब उपायों वाला, (सर्वपरुः) सब पालनों वाला और (सर्वतनूः) सब उपकारों वाला है । वह [मनुष्य] (एव) ही (सर्वाङ्गः) सब उपायों वाला, (सर्वपरुः) सब पालनों वाला और (सर्वतनूः) सब उपकारों वाला (सम् भवति) हो जाता है, (यः) जो [मनुष्य] (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३२ के समान ॥ ४९ ॥

सूक्तम् ३ (पर्यायः ३ ॥)

५०—५६ ॥ ओदनो देवता ॥ ५० आसुर्यनुष्टुप्; ५१ आर्च्युष्णिक्; ५२ भुरिक साम्नी त्रिष्टुप्; ५३ आसुरी बृहती; ५४ भुरिक् साम्नी बृहती; ५५ साम्न्युष्णिक्; ५६ प्राजापत्या बृहती छन्दः ॥

ब्रह्मज्ञानेन मोक्षोपदेशः—ब्रह्मज्ञान से मोक्ष का उपदेश ॥

ए॒तद्वै ब्र॒ध्नस्य॑ वि॒ष्टपं॒ यदो॑द॒नः ॥ ५० ॥

ए॒तत् । वै । ब्र॒ध्नस्य॑ । वि॒ष्टप॑म् । यत् । ओ॒द॒नः ॥ ५० ॥

भाषार्थ—(एतत्) यह (वै) ही (ब्रध्नस्य) महान् [पृथिवी आदि

(सत्ये) अविनाशिस्वरूपे परमात्मनि (प्रतिष्ठाय) प्रतिष्ठितः सगौरवो भूत्वा । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५०—(एतत्) सर्वत्र दृश्यमानम् (वै) एव (ब्रध्नस्य) अ० ७ । २२ । २ ।

के आकर्षक सूर्य] का (विष्टपम्) आश्रय (यत्) यजनीय [पूजनीय ब्रह्म], (ओदनः) ओदन [सुख बरसाने वाला अन्नरूप परमेश्वर] है ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा के ही आश्रय अर्थात् धारण आकर्षण सामर्थ्य से सूर्य आदि लोक स्थित हैं ॥ ५० ॥

ब्रध्नलोको भवति ब्रध्नस्य विष्टपि श्रयते य एवं वेद ॥ ५१

ब्रध्न-लोकः । भवति । ब्रध्नस्य । विष्टपि । श्रयते । यः । एवम् । वेद ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (ब्रध्नलोकः) महान् [सब के नियामक परमेश्वर] में निवास वाला (भवति) होता है और [उसी] (ब्रध्नस्य) महान् [सर्व नियामक परमेश्वर] के (विष्टपि) सहारे में (श्रयते) आश्रय लेता है, (यः) जो [मनुष्य] (एवम्) ऐसा (वेद) जानता है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जो ज्ञानी पुरुष परमात्मा का आश्रय लेता है, वह पुरुषार्थी आनन्द पाता है ॥ ५१ ॥

एतस्माद् वा ओदनात् त्रयस्त्रिंशतं लोकान् निरमिमीत प्रजापतिः ॥ ५२ ॥

एतस्मात् । वै । ओदनात् । त्रयः-त्रिंशतम् । लोकान् । निः । अमिमीत । प्रजा-पतिः ॥ ५२ ॥

बन्ध बन्धने-नक् ब्रधादेशश्च । ब्रध्नो महन्नाम्-निघ० । ३ । ३ । महतो बन्धकस्य पृथिव्यादिलोकानामाकर्षकस्य सूर्यस्य (विष्टपम्) अ० १० । १० । ३१ । वि+ष्टभि प्रतिबन्धे-क्विप्, भस्य पः । यद्वा, विश प्रवेशने-कप तुडागमश्च । आश्रयः (यत्) त्यजितनियजिभ्यो डित् । उ० १ । १३२ । यजेः—अदि, डित् । यजनीयं पूजनीयं ब्रह्म (ओदनः) अ० ६ । ५ । १६ । सुखवर्षकोऽन्नरूपः परमेश्वरः ॥

५१—(ब्रध्नलोकः) ब्रध्ने सर्वनियामके परमेश्वरे लोको निवासो यस्य सः (भवति) (ब्रध्नस्य) म० ५० । महतः सर्वनियामकस्य परमेश्वरस्य (विष्टपि) म० ५० । आश्रये (श्रयते) तिष्ठति (यः) मनुष्यः (एवम्) उक्तप्रकारेण (वेद) जानाति परमात्मानम् ॥

भाषार्थ—(एतस्मात्) इस (वै) ही (ओदनात्) [अपने] ओदन [सुख बरसाने वाले अन्न रूप सामर्थ्य] से (त्रयस्त्रिंशतम्) तेतीस (लोकान्) लोकों [दर्शनीय देवताओं] को (प्रजापतिः) प्रजापति [सृष्टिपालक परमेश्वर] ने (निः अमिमीत) निर्माण किया है ॥ ५२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने सर्वपोषक सामर्थ्य से जगदुपकारक तेतीस देवताओं को रचा है। वे तेतीस देवता ये हैं—८ वसु, ११ रुद्र, १२ महीने, १ बिजुली, १ यज्ञ—देखो अथर्व० ६। १३९। १॥ ५२॥

तेषां प्रज्ञानाय यज्ञमसृजत ॥ ५३ ॥

तेषाम् । प्र-ज्ञानाय । यज्ञम् । असृजत ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—उस [परमेश्वर] ने (तेषाम्) उन [तेतीस देवताओं के सामर्थ्य] के (प्रज्ञानाय) प्रकृष्ट ज्ञान के लिये (यज्ञम्) यज्ञ [परस्पर संगत संसार] को (असृजत) सृजा ॥ ५३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने उन वसु आदि देवताओं से यह संसार इसलिये रचा है कि मनुष्य परमात्मा के संगठन सामर्थ्य को जानकर परस्पर बल बढ़ावें ॥ ५३ ॥

स य एवं विदुष उपद्रष्टा भवति प्राणं रुणद्धि ॥ ५४ ॥

सः । यः । एवम् । विदुषः । उप-द्रष्टा । भवति । प्राणम् । रुणद्धि ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [मनुष्य] (एवम्) ऐसे [बड़े] (विदुषः) विद्वान् [सर्वज्ञ परमेश्वर] का (उपद्रष्टा) उपद्रष्टा [सूक्ष्मदर्शी वा साक्षात् कर्ता]

५२—(एतस्मात्) (वै) एव (ओदनात्) स्वस्मात् सुखवर्षकात् सामर्थ्यात् (त्रयस्त्रिंशतम्) वसुरुद्रादीन्—अ० ६। १३९। १ (लोकान्) दर्शनीयान् देवान् (निरमिमीत) अ० ५। १२। ११। निर्मितवान् (प्रजापतिः) सृष्टिपालकः परमेश्वरः ॥

५३—(तेषाम्) त्रयस्त्रिंशतो लोकानाम् (प्रज्ञानाय) प्रकृष्टबोधाय (यज्ञम्) परस्परसंगतसंसारम् (असृजत) सृष्टवान् ॥

५४—(सः) पुरुषः (यः) (एवम्) अनेन प्रकारेण (विदुषः) जानतः सर्वज्ञस्य परमेश्वरस्य (उपद्रष्टा) उपेत्य दर्शकः सूक्ष्मदर्शी। साक्षात्कर्ता

(भवति) होता है, (सः) वह (प्राणम्) [अपने] प्राण [जीवन] को (रुणद्धि) रोकता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के गुण, कर्म, स्वभाव को सूक्ष्म बुद्धि से साक्षात् करता है, वह जितेन्द्रिय होकर अपना जीवन और यश बढ़ाता है ॥५४॥

न च॑ प्राणं रु॒णद्धि॑ सर्वज्या॒निं जी॑यते ॥ ५५ ॥

न । च॒ । प्रा॒णम् । रु॒णद्धि॑ । स॒र्व॒-ज्या॒निम् । जी॒य॒ते॒ ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(च) यदि वह (प्राणम्) [अपने] प्राण को (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, वह (सर्वज्यानिम्) सब हानि से (जीयते) निर्बल हो जाता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के सामर्थ्य को देखते हुये भी जितेन्द्रिय नहीं होता, वह मनुष्यपन से गिरकर बलहीन होजाता है ॥ ५५ ॥

न च॑ सर्व॒ज्या॒निं जी॑यते पु॒रैनं॑ ज॒रसः॑ प्रा॒णो ज॑हाति ॥५६॥(१०)

न । च॒ । स॒र्व॒-ज्या॒निम् । जी॒य॒ते॒ । पु॒रा । ए॒न॒म् । ज॒रसः॑ । प्रा॒णः । ज॒हा॒ति॒ ॥ ५६ ॥ (१०)

भाषार्थ—वह (सर्वज्यानिम्) सब हानि से (च) ही (न) नहीं (जीयते) हीन होता है, [किन्तु] (एनम्) इस [मनुष्य] को (जरसः) जरा [स्तुति वा बुढ़ापा पाने] से (पुरा) पहिले (प्राणः) [जीवन व्यापार] (जहाति) छोड़ देता है ॥ ५६ ॥

(भवति) (प्राणम्) जीवनम् (रुणद्धि) आवृणोति। वर्धयतीत्यर्थः॥

५५—(न) निषेधे (च) यदि) (प्राणम्) श्वासप्रश्वासव्यापारम् (रुणद्धि) वशं करोति (सर्वज्यानिम्) ज्या वयोहानौ—क्तिन्, सुपां सुलुक् भवन्ति। वा०पा० ७।१।३९। तृतीयास्थाने द्वितीया। सर्वज्यान्या। सर्वहान्या (जीयते) ज्या वयोहानौ कर्मणि-लट्। हीयते॥

५६—(न) निषेधे (च) अवधारणे (सर्वज्यानिम्) म० ५५। सर्वहान्या (जीयते) हीयते (पुरा) पुरस्तात् (एनम्) पुरुषम् (जरसः) अ० १। ३०।२। जॄ स्तुतौ, यद्वा जॄष् वयोहानौ-असुन्। जरायाः स्तुतेर्वयोहानेर्वा सकाशात (प्राणः) श्वासप्रश्वासव्यापारः (जहाति) त्यजति॥

भावार्थ—परमेश्वर का विरोधी मनुष्य निर्बल, अपकीर्ति वाला, अल्पजीवी और दुर्बलेन्द्रिय होता है ॥ ५६ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—२६ ॥ प्राणो देवता ॥ १ शङ्कुमती; २—७, १०-१३, १६—१६, २३, २५ अनुष्टुप्; ८ पथ्या पङ्क्तिः; ६, १४, २४ निचृदनुष्टुप; १५, २६ भुरिगनुष्टुप्; २० निचृत् त्रिष्टुप्; २१ मध्ये ज्योतिर्जगती; २२ त्रिष्टुप् ॥

प्राणमहिमोपदेशः—प्राण की महिमा का उपदेश ॥

प्राणाय नमो यस्य सर्वमिदं वशे।
यो भूतः सर्वस्येश्वरो यस्मिन्त्सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १ ॥

प्राणाय । नमः । यस्य । सर्वम् । इदम् । वशे ॥ यः । भूतः । सर्वस्य । ईश्वरः । यस्मिन् । सर्वम् । प्रति-स्थितम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(प्राणाय) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर) को (नमः) नमस्कार है, (यस्य) जिसके (वशे) वश में (सर्वम्) सब (इदम्) यह [जगत्] है। (भूतः) सदा वर्तमान (यः) जो (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) ईश्वर है और (यस्मिन्) जिसके भीतर (सर्वम्) सब (प्रतिष्ठितम्) अटल ठहरा है ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वपोषक, सर्वशक्तिमान् प्राण नाम जगदीश्वर की उपासना करके मनुष्य अपने प्राणों के बल को सदा बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

परमेश्वर का प्राण नाम है देखो प्रश्नोपनिषद् खण्ड २ श्लोक ६ ॥

१—(प्राणाय) प्र+अन प्राणने-घञ्। प्राणित्यनेनेति प्राणस्तस्मै जीवनदात्रे परमेश्वराय (नमः) सत्कारः (यस्य) (सर्वम्) समस्तम् (इदम्) दृश्यमानं जगत् (वशे) प्रभुत्वे (यः) (भूतः) सर्वदा लब्धसत्ताकः (सर्वस्य) (ईश्वरः) अश्नोतेराशुकर्मणि वरट् च । उ० ५ । ५७ । अशू व्याप्तौ—वरट्, उपधाया ईत्वम्। शीघ्रकारी। यद्वा, स्थेशभासपिसकसो वरच् । पा० ३ । २ । १७५ । ईश ऐश्वर्ये—वरच्। ईशिता स्वामी (यस्मिन्) (सर्वम्) (प्रतिष्ठितम्) दृढं स्थितम् ॥

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम्।

ऋचो यजूंषि सामानि यज्ञः क्षत्रं ब्रह्म च ॥ १ ॥

अरों के समान रथ की नाभि में, प्राण के बीच सब जड़ा हुआ है,—ऋचायें [स्तुति विद्यायें], यजुर्मन्त्र [ईश्वर पूजा के मन्त्र] और साम मन्त्र [मोक्ष विद्यायें—अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञान], यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] राज्य और धन ॥

और देखो मनु अध्याय १२ श्लोक १२३ ।

एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम् ।

इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्मशाश्वतम् ॥ १ ॥

इस [परमेश्वर] को कोई अग्नि, कोई मनु और प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई नित्य ब्रह्म कहते हैं ॥ १ ॥

नमस्ते प्राण क्रन्दाय नमस्ते स्तनयित्नवे ।

नमस्ते प्राण विद्युते नमस्ते प्राण वर्षते ॥ २ ॥

नमः । ते । प्राण । क्रन्दाय । नमः । ते । स्तनयित्नवे ॥

नमः । ते । प्राण । वि-द्युते । नमः । ते । प्राण । वर्षते ॥२॥

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] (क्रन्दाय) दहाड़ने के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (स्तनयित्नवे) बादल की गर्जन के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है । (प्राण) हे प्राण ! [परमेश्वर](विद्युते) बिजुली के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (प्राण)हे प्राण ! [परमेश्वर] (वर्षते) वर्षा के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की दया को विचारकर ऐसा प्रयत्न करें कि वर्षा सम्बन्धी सब क्रियायें सर्वथा उपकारी होवें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व०का० १ सू० १३ म० १ से करो ॥

२—(नमः) (ते) तुभ्यम् (प्राण) म० १। हे जीवनप्रद (क्रन्दाय) क्रदि आह्वाने रोदने च-पचाद्यच् । ध्वनिहिताय (स्तनयित्नवे) अ० १ । १३ । १ । मेघगर्जनहिताय (विद्युते) अ० १ । १३ । १ । विद्युद्धिताय (वर्षते) वृष्टिहिताय । अन्यद् पूर्ववत् ॥

यत् प्राण स्तनयित्नुनाभिक्रन्दत्योषधीः । प्र वीयन्ते गर्भान् दधतेऽथो बह्वीर्वि जायन्ते ॥ ३ ॥

यत् । प्राणः । स्तनयित्नुना । अभि-क्रन्दति । ओषधीः ॥ प्र । वीयन्ते । गर्भान् । दधते । अथो इति । बह्वीः । वि । जायन्ते ३

भाषार्थ—(यत्) जब (प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] (स्तनयित्नुना) बादल की गर्जन द्वारा (ओषधीः) ओषधियों [अन्न आदि] को (अभिक्रन्दति) बल से पुकारता है । [तब] वे (प्र) अच्छे प्रकार (वीयन्ते) गर्भवती होती हैं और (गर्भान्) गर्भों को (दधते) पुष्ट करती हैं; (अथो) फिर ही (बह्वीः) बहुत सी होकर (वि जायन्ते) उत्पन्न हो जाती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से सूर्य द्वारा मेघ से वर्षा और गर्जन होकर ग्रामों और वनों में अनेक ओषधें उगती हैं ॥ ३ ॥

यत् प्राण ऋतावागतेऽभिक्रन्दत्योषधीः ।
सर्वं तदा प्र मोदते यत् किं च भूम्यामधि ॥ ४ ॥

यत् । प्राणः । ऋतौ । आ-गते । अभि-क्रन्दति । ओषधीः ॥ सर्वम् । तदा । प्र । मोदते । यत् । किम् । च । भूम्याम् । अधि ४

भाषार्थ—(यत्) जब (प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] (ऋतौ-आगते) ऋतु काल आने पर (ओषधीः) ओषधियों [अन्न आदि] को (अभिक्रन्दति) बल से पुकारता है । (तदा) तब (सर्वम्) सब [जगत्]

३—(यत्) यदा (प्राणः) म० १ । जीवनदाता परमेश्वरः (स्तनयित्नुना) मेघध्वनिना (अभिक्रन्दति) सर्वत आह्वयति (ओषधीः) व्रीहियवाद्या वीरुधः (प्र) प्रकर्षेण (वीयन्ते) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु । गर्भं गृह्णन्ति (गर्भान्) उदरस्थपदार्थान् (दधते) पोषयन्ति (अथो) अनन्तरमेव (बह्वीः) बह्व्यो बहुप्रकाराः (वि जायन्ते) विविधमुत्पद्यन्ते ॥

४—(यत्) यदा (प्राणः) म० १ (ऋतौ) ऋतुकाले वर्षतौ (आगते) प्राप्ते (अभिक्रन्दति) (ओषधीः) म० ३ (सर्वम्) चराचरं जगत् (तदा)

(प्र मोदते) बड़ा आनन्द मानता है, (यत् किम् च) जो कुछ भी (भूम्याम् अधि) पर है ॥ ४ ॥

भावार्थ—उचित समय पर वर्षा होने से सब चर और अचर जगत् बल प्राप्त करके प्रसन्न होता है ॥ ४ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।
पशवस्तत् प्र मोदन्ते महो वै नो भविष्यति ॥ ५ ॥

यदा । प्राणः। अभि-अवर्षीत् । वर्षेण । पृथिवीम् । महीम् ॥
पशवः । तत् । प्र । मोदन्ते । महः । वै । नः । भविष्यति ।५

भाषार्थ—(यदा) जब (प्राणः) [जीवनदाता परमेश्वर] ने (वर्षेण) वर्षा द्वारा (महीम्) विशाल (पृथिवीम्) पृथिवी को (अभ्यवर्षीत्) सींच दिया । (तत्) तब (पशवः) जीव जन्तु (प्र मोदन्ते) बड़ा हर्ष मनाते हैं- "(नः) हमारी (महः) बढ़ती (वै) अवश्य (भविष्यति) होगी" ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की शक्ति से वृष्टि होने पर सब प्राणी बल वृद्धि कर के उत्सव मनाते हैं ॥ ५ ॥

अभिवृष्टा ओषधयः प्राणेन समवादिरन् ।
आयुर्वै नः प्रातीतरः सर्वा नः सुरभीरकः ॥ ६ ॥

अभि-वृष्टाः। ओषधयः। प्राणेन । सम्। अवादिरन् ॥ आयुः। वै । नः । प्र । अतीतरः । सर्वाः । नः । सुरभीः । अकः ॥६॥

भाषार्थ—(अभिवृष्टाः) सींची हुई (ओषधयः) ओषधें [अन्न आदि]

(प्र मोदते) अत्यतं हृष्यति (यत्) (किम् च) किमपि (भूम्याम्) (अधि) उपरि ॥

५—(यदा) यस्मिन् काले (प्राणः) म० १ । जीवनदाता परमेश्वरः (अभ्यवर्षीत्) अभिषिक्तवान् (पृथिवीम्) भूमिम् । (महीम्) विशालाम् (पशवः) सर्वे जीवजन्तवः (तत्) तदा (प्रमोदन्ते) (प्रहृष्यन्ति (महः) वर्धनम् (वै) खलु (नः) अस्माकम् (भविष्यति) ॥

६—(अभिवृष्टाः) अभिषिक्ताः (ओषधयः) अन्नादि पदार्थाः (प्राणेन)

(प्राणेन) प्राण [जीवन दाता परमेश्वर] से (सम्) मिलकर (अवादिरन्) बोलीं–"(नः) हमारी (आयुः) आयु को (वै) निश्चय करके (प्र अतीतरः) तू ने बढ़ाया है, (नः सर्वाः) हम सबको (सुरभीः) सुगन्धित (अकः) तू ने बनाया है" ॥ ६ ॥

भावार्थ—वृष्टि से सब अन्न घृत आदि पदार्थ उत्पन्न और पुष्ट होकर संसार का उपकार करते हुये परमेश्वर को धन्यवाद देते हैं ॥ ६ ॥

नम॑स्ते अस्त्वाय॒ते नमो॑ अस्तु पराय॒ते ।
नम॑स्ते प्राण॒ तिष्ठ॑त॒ आसी॑नायो॒त ते॒ नमः॑ ॥ ७ ॥

नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । आ॒ऽय॒ते । नमः॑ । अ॒स्तु॒ । प॒रा॒ऽय॒ते ॥ नमः॑ । ते॒ । प्रा॒ण॒ । तिष्ठ॑ते । आसी॑नाय । उ॒त । ते॒ । नमः॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(आयते) आते हुये [पुरुष] के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो, (परायते) जाते हुये के हित के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो । (प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] (तिष्ठते) खड़े होते हुये के हित के लिये (नमः) नमस्कार, (उत) और (आसीनाय) बैठे हुये के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार (अस्तु) हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी चेष्टाओं से उपकार लेता हुआ परमेश्वर का धन्यवाद करे ॥ ७ ॥

नम॑स्ते प्राण प्राण॒ते नमो॑ अस्त्वपान॒ते । परा॒चीनाय ते॒

६—(सम्) जीवनप्रदेन परमेश्वरेण (सम्) मिलित्वा (अवादिरन्) भासनोपसंभाषाज्ञानयत्नविमत्युपमन्त्रणेषु वदः । पा० १ । ३ । ४७ । आत्मनेपदम् । भाषणं कृतवत्यः (आयुः) जीवनम् (वै) अवश्यम् (नः) अस्माकम् (प्रातीतरः) त्वं वर्धितवानसि (सर्वाः) (नः) अस्मान् (सुरभीः) सु+रभ-राभस्ये- इन् । सुगन्धयुक्ताः (अकः) कृतवानसि ॥

७—(नमः) नमस्कारः (ते) तुभ्यम् (अस्तु) भवतु (आयते) आगच्छते पुरुषाय (परायते) बहिर्गच्छते (प्राण) हे जीवनप्रद परमेश्वर (तिष्ठते) स्थितिं कुर्वते (आसीनाय) उपविष्टपुरुषहिताय (उत) अपिच । अन्यद् गतम् ॥

नमः प्रतीचीनाय ते नमः सर्वस्मै त इदं नमः ॥ ८ ॥

नमः । ते । प्राण । प्राणते । नमः । अस्तु । अपानते ॥ पराचीनाय । ते । नमः । प्रतीचीनाय । ते । नमः । सर्वस्मै । ते । इदम् । नमः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [जीवन दाता परमेश्वर] (प्राणते) श्वास लेते हुये [पुरुष] के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (अपानते) प्रश्वास लेते हुये के हित के लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे। (पराचीनाय) बाहिर जाते हुये [पुरुष] के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार,(प्रतीचीनाय) सन्मुख जाते हुये के हित के लिये (ते) तुझे (नमः) नमस्कार, (सर्वस्मै) सब के हितके लिये (ते) तुझ (इदम्) यह (नमः) नमस्कार हो ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रत्येक श्वास प्रश्वास आदि चेष्टा करते हुये संसार का हित करके परमेश्वर को धन्यवाद देवे ॥ ८ ॥

या ते प्राण प्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रेयसी ।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥ ९ ॥

या । ते । प्राण । प्रिया । तनूः । यो इति । ते । प्राण । प्रेयसी ॥ अथो इति । यत् । भेषजम् । तव । तस्य । नः । धेहि । जीवसे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] (ते) तेरी

८—(नमः) (ते) तुभ्यम् (प्राण) म० १ । हे परमेश्वर (प्राणते) श्वसते पुरुषाय (अपानते) प्रश्वासं कुर्वते (पराचीनाय) विभाषाञ्चेरदिक्स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । इति स्वार्थिकः खः । पराञ्चनाय । बहिर्गच्छते पुरुषाय (प्रतीचीनाय) प्रतिमुखं सम्मुखं गच्छते पुरुषाय (सर्वस्मै) सर्वहिताय (इदम्) क्रियमाणम् (नमः) नमस्कारः । अन्यद् गतम् ॥

९—(या) (ते) तव (प्राण) (प्रिया) प्रीतिकरी (तनूः) तन उपकारे-

(या) जो (प्रिया) प्रीति करने वाली (यो) और जो, (प्राण) हे प्राण ! (ते) तेरी (प्रेयसी) अधिक प्रीति करने वाली (तनूः) उपकार क्रिया है। (अथो) और भी (यत्) जो (तव) तेरा (भेषजम्) भय निवारक कर्म है, (तस्य) उसका (नः) हमारे (जीवसे) जीवन के लिये (धेहि) दान कर ॥९॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के उपकारों को ध्यान में रखकर कार्य करते हैं, वह अपना जीवन बढ़ाते हैं ॥ ९ ॥

प्राणः प्रजा अनु वस्ते पिता पुत्रमिव प्रियम् ।
प्राणो ह सर्वस्येश्वरो यच्च प्राणति यच्च न ॥ १० ॥ (११)

प्राणः । प्र-जाः । अनु । वस्ते । पिता । पुत्रम्-इव । प्रियम् ॥
प्राणः । ह । सर्वस्य । ईश्वरः । यत् । च । प्राणति । यत् । च । न ॥ १० ॥ (११)

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] (प्रजाः) सब उत्पन्न प्राणियों को (अनु) निरन्तर (वस्ते) ढक लेता है, (इव) जैसे (पिता) पिता (प्रियम्) प्रिय (पुत्रम्) पुत्र को [वस्त्र आदि से] । (प्राणः) प्राण [परमेश्वर] (ह) ही (सर्वस्य) सब का (ईश्वरः) ईश्वर है, (यत् च) जो कुछ भी (प्राणति) श्वास लेता है, (यत् च) और जो (न) नहीं श्वास लेता है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जगत् स्वामी परमेश्वर को सब चर और अचर सृष्टि में व्यापक जानकर अपना ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ १० ॥

ऊ । उपकारक्रिया (यो) या-उ । या च (प्रेयसी) प्रिय-ईयसुन्, प्रादेशः । प्रियतरा (अथो) अपित्र (भेषजम्) भयनिवारकं कर्म (तस्य) (नः) अस्माकम् (धेहि) डु धाञ् दाने । दानं कुरु (जीवसे) जीवनवर्धनाय । अन्यद् गतम् ॥

१०—(प्राणः) जीवनप्रदः परमेश्वरः (प्रजाः) उत्पद्यमाना मनुष्याद्याः (अनु) अनुक्रमेण (वस्ते) आच्छादयति (पिता) जनकः (पुत्रम्) दुःखात् त्रातारं सुतम् (इव) यथा (प्रियम्) स्निग्धम् (ह) एव (सर्वस्य) चराचरस्य (ईश्वरः) म० १ । स्वामी (यत्) यत् किंचिज् जङ्गमात्मकं वस्तु (प्राणति) प्राणिति । प्राणव्यापारं करोति (यत् च) स्थावरात्मकम् (न) निषेधे ॥

प्राणो मृत्युः प्राणस्तक्मा प्राणं देवा उपासते ।
प्राणो ह सत्यवादिनमुत्तमे लोक आ दधत् ॥ ११ ॥

प्राणः । मृत्युः । प्राणः । तक्मा । प्राणम् । देवाः । उप । आसते ॥ प्राणः । ह । सत्य-वादिनम् । उत्-तमे । लोके । आ । दधत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] (मृत्युः) मृत्यु और (प्राणः) प्राण (तक्मा) जीवन को कष्ट देने वाला [ज्वर आदि रोग] है, (प्राणम्) प्राण की (देवाः) विद्वान् लोग (उप आसते) उपासना करते हैं । (प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] (ह) ही (सत्यवादिनम्) सत्यवादी को (उत्तमे लोके) उत्तम लोक पर (आ दधत्) स्थापित कर सकता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—ईश्वरीय नियम से विरुद्ध चलने पर मनुष्य मृत्यु और रोग को पाते हैं । विद्वान् लोग इस लिये परमात्मा की उपासना करते और जितेन्द्रिय होकर अपने श्वास प्रश्वास को वश में करते हैं कि वे सत्यवादी होकर श्रेष्ठ पद पावें ॥ ११ ॥

प्राणो विराट् प्राणो देष्ट्री प्राणं सर्व उपासते ।
प्राणो ह सूर्यश्चन्द्रमाः प्राणमाहुः प्रजापतिम् ॥ १२ ॥

प्राणः । वि-राट् । प्राणः । देष्ट्री । प्राणम् । सर्वे । उप । आसते ॥ प्राणः । ह । सूर्यः । चन्द्रमाः । प्राणम् । आहुः । प्रजा-पतिम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(प्राणः) प्राण [जीवन दाता परमेश्वर] (विराट्) विराट्

११—(प्राणः) जीवनप्रदः परमेश्वरः (मृत्युः) मरणस्य कर्त्ता (तक्मा) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकरो ज्वरादिरोगः (देवाः) विद्वांसः (उपासते) सेवन्ते (ह) एव (सत्यवादिनम्) यथार्थवक्तारम् (उत्तमे) उत्कृष्टे (लोके) दर्शनीये स्थाने (आ दधत्) लेटि रूपम् । स्थापयेत् ॥

१२—(प्राणः) म० १ (विराट्) वि विधेश्वरः (देष्ट्री) दिश दाने आज्ञा-

[विविध प्रकार ईश्वर] और (प्राणः) प्राण [परमेश्वर] (देष्ट्री) मार्ग दर्शिका शक्ति है, (प्राणम्) प्राण [परमेश्वर] की (सर्वे) सब (उप आसते) उपासना करते हैं (प्राणः) प्राण [परमेश्वर] (ह) ही (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला और (चन्द्रमाः) आनन्द दाता है, (प्राणम्) प्राण [परमेश्वर] को (प्रजापतिम्) प्रजापति [सृष्टि पालक] (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं ॥१२॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमात्मा की उपासना करके विविध प्रकार समर्थ होकर आनन्द पाते हैं ॥ १२ ॥

प्राणापानौ व्रीहियवावनड्वान् प्राण उच्यते ।
यवे ह प्राण आहितोऽपानो व्रीहिरुच्यते ॥ १३ ॥

प्राणापानौ । व्रीहि-यवौ । अनड्वान् । प्राणः । उच्यते ॥ यवे । ह । प्राणः । आ-हितः । अपानः । व्रीहिः । उच्यते ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान [श्वास और प्रश्वास] (व्रीहियवौ) चावल और जौ [के समान पुष्टिकारक] हैं, (प्राणः) प्राण [जीवन दाता परमेश्वर] (अनड्वान्) जीवन का चलाने वाला (उच्यते) कहा जाता है । (यवे) जौ में (ह) भी (प्राणः) प्राण [श्वासवायु] (आहितः) रक्खा हुआ है, (अपानः) अपान [प्रश्वास वायु] (व्रीहि) चावल (उच्यते) कहा जाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्राणियों के भीतर श्वास प्रश्वास को चावल जौ अन्न आदि के समान पुष्टिकारक बनाया है ॥ १३ ॥

पने च—तृच्, ङीप्, । मार्गदर्शिका शक्तिः (प्राणम्) परमात्मानम् (सर्वे) जनाः (उपासते) सेवन्ते (ह) एव (सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (चन्द्रमाः) आह्लादकरः (प्राणम्) (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (प्रजापतिम्) सृष्टिपालकम् ॥

१३—(प्राणापानौ) प्राणस्य वृत्तिविशेषौ । श्वासप्रश्वासौ (व्रीहियवौ) अ० ६ । १४० । २ । अन्नविशेषौ (अनड्वान्) अ० ४ । ११ । १ । अनः+वह प्रापणे—क्विप् । अनसो जीवनस्य वाहकः संचालकः (प्राणः) (उच्यते) (यवे) (ह) एव (आहितः) स्थापितः (अपानः) प्रश्वासः (व्रीहिः) (उच्यते) ॥

अपानति प्राणति पुरुषो गर्भे अन्तरा ।

यदा त्वं प्राण जिन्वस्यथ स जायते पुनः ॥ १४ ॥

अप । अनति । प्र । अनति । पुरुषः । गर्भे । अन्तरा ॥ यदा । त्वम् । प्राण । जिन्वसि । अथ । सः । जायते । पुनः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(पुरुषः) पुरुष (गर्भे अन्तरा) गर्भ के भीतर (प्र अनति) श्वास लेता है और (अप अनति) प्रश्वास [बाहिर को श्वास] लेता है। (यदा) जब (त्वम्) तू, (प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] (जिन्वसि) तृप्त करता है, (अथ) तब (सः) वह [पुरुष] (पुनः) फिर (जायते) उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से प्राणी गर्भ के भीतर श्वास प्रश्वास लेता और पूरे दिन होने पर उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥

प्राणमाहुर्मातरिश्वानं वातो ह प्राण उच्यते ।

प्राणे ह भूतं भव्यं च प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

प्राणम् । आहुः । मातरिश्वानम् । वातः । ह । प्राणः । उच्यते ॥ प्राणे । ह । भूतम् । भव्यम् । च । प्राणे । सर्वम् । प्रति-स्थितम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(प्राणम्) प्राण [जीवन दाता परमेश्वर] को (मातरिश्वानम्) आकाश में व्यापक [सूत्रात्मा वायु के समान] (आहुः) वे बताते हैं, (वातः) वायु (ह) भी (प्राणः) [जीवन दाता परमेश्वर] (उच्यते)

१४—(अपानति) प्रश्वसिति (प्राणति) प्राणनव्यापारं करोति (पुरुषः) प्राणी (गर्भे) गर्भाशये (अन्तरा) मध्ये (यदा) यस्मिन् काले (त्वम्) (प्राण) हे जीवनप्रद परमेश्वर (जिन्वसि) जिवि प्रीणने । प्रीणयसि । सन्तोषयसि । तर्पयसि (अथ) तदा (सः) पुरुषः (जायते) उत्पद्यते (पुनः) पश्चात् ॥

१५—(प्राणम्) जीवनप्रदं परमेश्वरम् (आहुः) कथयन्ति (मातरिश्वानम्) अ० ५ । १० । ८ । मातरि मानकर्तरि अन्तरिक्षे व्यापकं सूत्रात्मरूपम् (वातः) गमनशीलो वायुः (ह) अपि (प्राणः) सुपां सुलुक० । पा० ७ । १ । ३९ ।

कहा जाता है। (प्राणे) प्राण [परमेश्वर] में (ह) ही (भूतम्) बीता हुआ (च) और (भव्यम्) होनहार [वस्तु] और (प्राणे) प्राण [परमेश्वर] में (सर्वम्) सब [जगत्] (प्रतिष्ठितम्) टिका हुआ है ॥ १५ ॥

भावार्थ—महात्मा लोग अनुभव करते हैं कि परमात्मा ही सर्वशक्तिमान्, सर्वेश्वर और सर्वव्यापक है ॥ १५ ॥

आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवीर्मनुष्यजा उत ।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥ १६ ॥

आथर्वणीः । आङ्गिरसीः । दैवीः । मनुष्य-जाः । उत ॥
ओषधयः । प्र । जायन्ते । यदा । त्वम् । प्राण । जिन्वसि । १६

भाषार्थ—(आथर्वणीः) निश्चल स्वभाव वाले महर्षियों की प्रकाशित की हुई और (आङ्गिरसीः) विज्ञानियों की बताई हुई (दैवीः) देव [मेघ] से उत्पन्न (उत) और (मनुष्यजाः) मनुष्यों से उत्पन्न (ओषधयः) ओषधें (प्र जायन्ते) उत्पन्न हो जाती हैं, (यदा) जब (त्वम्) तू, (प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] [उन को] (जिन्वसि) तृप्त करता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मेघ द्वारा स्वयं उत्पन्न और मनुष्य द्वारा खेती आदि से उत्पन्न अन्न और ओषधें परमेश्वर के सामर्थ्य से वृष्टि होने पर उत्पन्न होती हैं, जिनका प्रचार अनुभवी महात्मा लोग संसार में करते हैं ॥ १६ ॥

विभक्तेः सुः। प्राणे। जीवनप्रदे परमेश्वरे (उच्यते) कथ्यते (प्राणे) परमात्मनि (ह) एव (भूतम्) व्यतीतं पदार्थजातम् (भव्यम्) भविष्यत्। उत्पत्स्यमानं वस्तु (च) (प्राणे) (सर्वम्) समस्तं जगत् (प्रतिष्ठितम्) आश्रितम् ॥

१६—(आथर्वणीः) अथर्वा व्याख्यातः—अ० ४।१।७। तेन प्रोक्तम्। पा० ४।३।१०१। इत्यण्, ङीप्, जसि पूर्वसवर्णदीर्घः। अथर्वभिर्निश्चलबुद्धिभिः प्रकाशिताः (आङ्गिरसीः) अङ्गिरा व्याख्यातः—अ० २।१२।४। पुनः पूर्ववत् सिद्धिः। अङ्गिरोभिर्विज्ञानिभिः प्रोक्ताः (दैवीः) अ० १।१६।२। देव-अञ्, अन्यत् पूर्ववत् साधु। देवाद् मेघादागता ब्युत्पन्नाः (मनुष्यजाः) क्षेत्राद् मनुष्येभ्य उत्पन्नाः (ओषधयः) नाना विधा अन्नाद्याः (प्रजायन्ते) प्रकर्षेणोत्पद्यन्ते। अन्यद् गतम्—म० १४ ॥

यदा प्राणो अभ्यवर्षीद् वर्षेण पृथिवीं महीम् ।

ओषधयः प्र जायन्तेऽथो याः काश्च वीरुधः ॥ १७ ॥

यदा । प्राणः । अभि-अवर्षीत् । वर्षेण । पृथिवीम् । महीम् ॥ ओषधयः । प्र । जायन्ते । अथो इति । याः । काः । च । वीरुधः ॥ १७

भाषार्थ—(यदा) जब (प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] ने (वर्षेण) वर्षा द्वारा (महीम्) विशाल (पृथिवीम्) पृथिवी को (अभ्यवर्षीत्) सींच दिया । (अथो) तब ही (ओषधयः) अन्न आदिपदार्थ (च) और (याः काः) जो कोई (वीरुधः) जड़ी बूटी हैं, वे भी (प्र जायन्ते) बहुत उत्पन्न होतीं हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से वृष्टि होने पर ग्राम्य और आरण्य पदार्थ उत्पन्न होकर संसार का उपकार करते हैं ॥ १७ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध ऊपर मन्त्र ५ में आया है ॥

यस्ते प्राणेदं वेद यस्मिंश्चासि प्रतिष्ठितः ।

सर्वे तस्मै बलिं हरानमुष्मिंल्लोक उत्तमे ॥ १८ ॥

यः । ते । प्राण । इदम् । वेद । यस्मिन् । च । असि । प्रति-स्थितः ॥ सर्वे । तस्मै । बलिम् । हरान् । अमुष्मिन् । लोके । उत्-तमे ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [जीवन दाता परमेश्वर] (यः) जो [पुरुष] (ते) तेरे (इदम्) इस [महत्त्व] को (वेद) जानता है, (च) और (यस्मिन्) जिस [पुरुष] में तू (प्रतिष्ठितः) दृढ़ ठहरा हुआ (असि) है ।

१७—पूर्वार्धर्चो व्याख्यातः—म० ५ (ओषधयः) अन्नादिपदार्थाः (प्र जायन्ते) (अथो) अनन्तरमेव (याः) (काः) (च) (वीरुधः) अ० १ । ३२ । १ । विरोहणशीला लतादयः ॥

१८—(यः) पुरुषः (ते) तव (प्राण) (इदम्) महत्त्वम् (वेद) जानाति (यस्मिन्) पुरुषे (च) (असि) (प्रतिष्ठितः) दृढं स्थितः (सर्वे) प्राणिनः (तस्मै) पुरुषाय (बलिम्) उपहारम् (हरान्) हरतेर्लेटि आडागमः ।

(सर्वे) सब [प्राणी] (अमुष्मिन्) उस (उत्तमे) उत्तम (लोके) लोक [स्थान] पर [वर्तमान] (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (बलिम्) बलि [उपहार] (हरान्) लावें ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के महत्त्व को साक्षात् करके उसे अपने हृदय में दृढ़ करता है, वह पुरुष संसार में सब से उच्च स्थान पाता है ॥१८॥

यथा प्राण बलिहृतस्तुभ्यं सर्वाः प्रजा इमाः ।
एवा तस्मै बलिं हरान् यस्त्वा शृणवत् सुश्रवः ॥ १९ ॥

यथा । प्राण । बलि-हृतः । तुभ्यम् । सर्वाः । प्र-जाः । इमाः ॥ एव । तस्मै । बलिम् । हरान् । यः । त्वा । शृणवत् । सु-श्रवः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [परमेश्वर] (यथा) जैसे (तुभ्यम्) तेरे लिये (इमाः) यह (सर्वाः) सब (प्रजाः) प्रजायें (बलिहृतः) भक्ति रूप उपहार देने वाली हैं । (एव) वैसे ही (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (बलिम्) बलि [उपहार] (हरान्) वे लावें, (यः) जो पुरुष, (सुश्रवः) हे बड़ी कीर्ति वाले [परमेश्वर] (त्वा) तुझ को (शृणवत्) सुने ॥ १९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की आज्ञा मानने वाला पुरुष सब प्राणियों को अपने वश में कर लेता है ॥ १९ ॥

अन्तर्गर्भश्चरति देवतास्वाभूतो भूतः स उ जायते पुनः । स

इतश्चलोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इकारलोपः, संयोगान्तलोपः । हरन्तु प्रापयन्तु (अमुष्मिन्) तस्मिन् प्रसिद्धे (लोके) स्थाने वर्तमानाय (उत्तमे) श्रेष्ठे ॥

१९—(यथा) येन प्रकारेण (प्राण) (बलिहृतः)बलेर्भक्तिरूपस्योपहारस्य हर्त्र्यः प्रापिकाः (तुभ्यम) (सर्वाः) (प्रजाः) उत्पन्नाः प्राणिनः (इमाः) दृश्यमानाः (एव) तथैव (तस्मै) पुरुषाय (बलिम्) उपहारम् (हरान्) म० १८ (यः) पुरुषः (त्वा) त्वाम् (शृणवत्) लेटि, अडागमः । शृणुयात् (सुश्रवः) श्रु श्रवणे—असुन् । हे बहुकीर्त्ते ॥

भूतो भव्यं भविष्यत् पिता पुत्रं प्र विवेशा शचीभिः ॥२०॥ (१२)

अन्तः । गर्भः । चरति । देवतासु । आ-भूतः । भूतः । सः । ऊं इति । जायते । पुनः ॥ सः । भूतः । भव्यम् । भविष्यत् । पिता । पुत्रम् । प्र । विवेश । शचीभिः ॥ २० ॥ (१२)

भाषार्थ—(सः उ) वही [परमेश्वर] (आभूतः) सब ओर से व्याप्त और (भूतः) वर्तमान होकर (देवतासु अन्तः) सब दिव्य पदार्थों के भीतर (गर्भः) गर्भ [के समान] (चरति) विचरता है और (पुनः) फिर (जायते) प्रकट होता है । (सः) उस (भूतः) वर्तमान [परमेश्वर] ने (भव्यम्) होनहार (भविष्यत्) आगामी जगत् में (शचीभिः) अपने कर्मों से (प्र विवेश) प्रवेश किया है, [जैसे] (पिता) पिता (पुत्रम्) पुत्र में [उत्तम शिक्षा दान से प्रवेश करता है] ॥ २० ॥

भावार्थ—नित्य अनादि परमेश्वर सब पदार्थों के भीतर और बाहिर परिपूर्ण होकर भूत भविष्यत् और वर्तमान में सब का उपकार करता है, जैसे पिता पुत्र को शिक्षा दान करता है ॥ २० ॥

एकं पादं नोत्खिदति सलिलाद्धंस उच्चरन् । यदङ्ग स तमुत्खिदेन्नैवाद्य न श्वः स्यान्न रात्री नाहः स्यान्न व्युच्छेत् कदा चन ॥ २१ ॥

एकम् । पादम् । न । उत् । खिदति । सलिलात् । हंसः । उत्-चरन् ॥ यत् । अङ्ग । सः । तम् । उत्-खिदेत् । न । एव ।

२०—(अन्तः) मध्ये (गर्भः) गर्भो यथा (चरति) गच्छति । व्याप्नोति (देवतासु) देवेषु । दिव्यपदार्थेषु (आभूतः) समन्तात् व्याप्तः (भूतः) वर्तमानः । नित्यः (सः) प्राणः परमेश्वरः (उ) एव) (जायते) प्रादुर्भवति (पुनः) पश्चात् (सः) प्राणः (भूतः) नित्यः (भव्यम्) भावि (भविष्यत्) उत्पत्स्यमानं जगत् (पिता) रक्षको जनकः (पुत्रम्) (प्र विवेश) प्रविष्टवान् (शचीभिः) कर्मभिः—निघ० २ । १ । प्रज्ञाभिः—निघ० ३ । ६ ॥

अद्य । न । श्वः । स्यात् । न । रात्री । न । अहः । स्यात् । न । वि । उच्छेत् । कदा । चन ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(हंसः) हंस [सर्वव्यापक वा सर्वज्ञानी परमात्मा] (सलिलात्) समुद्र [समुद्र समान अपने अगम्य सामर्थ्य] से (उच्चरन्) उदय होता हुआ (एकम्) एक [सत्य वा मुख्य] (पादम्) पाद [स्थिति नियम] को (न) नहीं (उत् खिदति) उखाड़ता है। (अङ्ग) हे विद्वान्! (यत्) जो (सः) वह [परमात्मा] (तम्) उस [नियम] को (उत्खिदेत्) उखाड़ देवे, (न एव) न तो (अद्य) आज, (न) न (श्वः) कल्य (स्यात्) होवे, (न) न (रात्री) रात्री, (न) न (अहः) दिन (स्यात्) होवे, (न) न (कदा चन) कभी भी (वि उच्छेत्) प्रभात होवे ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे हंस परमात्मा अपने अचल नियम से विचल न होकर सूर्य आदि को अपने केन्द्र पर ठहरा कर सब संसार का उपकार करता है, वैसे ही परमहंस, जितेन्द्रिय, विज्ञानी पुरुष सब प्राणियों का हित करता है ॥ २१ ॥

(हंस) शब्द का मिलान—अथर्व० १० । ८ । १७ तथा १८ में करो ॥

अष्टाचक्रं वर्तत एकनेमि सहस्राक्षरं प्र पुरो नि पश्चा । अर्धेन विश्वं भुवनं जजान यदस्यार्धं कतमः स केतुः ॥ २२ ॥

अष्टा-चक्रम् । वर्तते । एक-नेमि । सहस्र-अक्षरम् । प्र । पुरः ।

२१—(एकम्) इणभीकापा० । उ० ३ । ४३ । इण् गतौ-कन् । व्यापकम् । सत्यम् । मुख्यम् (पादम्) पद गतौ स्थैर्ये च-घञ् । स्थितिनियमम् (न) निषेधे (उत् खिदति) उद्धरति । उत्क्षिपति (सलिलात्) अ० ६ । १० । ६ । समुद्रादिवाऽगम्यसामर्थ्यात् (हंसः) अ० १० । ८ । १७ । वृतॄवदि० । उ० ३ । ६२ । हन हिंसागत्योः-स । पक्षिविशेषः । सूर्यः । परमात्मा । योगिभेदः । शरीरस्थवायुविशेषः । एवमादयः-शब्दकल्पद्रुमे (उच्चरन्) उद्गच्छन् (अङ्ग) संबोधने (सः) हंसः । परमात्मा (तम्) पादम् । स्थितिनियमम् (उत्खिदेत्) उत्क्षिपेत् (नैव) न कदापि (अद्य) वर्तमानं दिनम् (न) (श्वः) आगामिदिनम् (स्यात्) (न) (न) (रात्री) (न) (अहः) दिनम् (न) (वि उच्छेत्) व्युच्छनम् , उषसः प्रादुर्भावो भवेत् (कदाचन) कदापि ॥

नि । पश्चा ॥ अर्धेन । विश्वम् । भुवनम् । जजान । यत् । अस्य । अर्धम् । कतमः । सः । केतुः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(अष्टाचक्रम्) आठ [दिशाओं] में चक्र वाला, (एकनेमि) एक नेमि [नियम वाला] और (सहस्राक्षरम्) सहस्र प्रकार से व्याप्ति वाला [ब्रह्म] (प्र) भली भांति (पुरः) आगे और (नि) निश्चय करके (पश्चा) पीछे (वर्तते) वर्तमान है, । उसने (अर्धेन) आधे खण्ड से (विश्वम्) सब (भुवनम्) अस्तित्व [जगत्] को (जजान) उत्पन्न किया, और (यत्) जो (अस्य) इस [ब्रह्म] का (अर्धम्) [दूसरा कारण रूप] आधा है, (सः) वह (कतमः) कौन सा (केतुः) चिन्ह है ॥ २२ ॥

भावार्थ—वह परब्रह्म अपने अटूट नियम से सब जगत् में व्यापकर सबसे पहिले और पीछे निरन्तर वर्तमान है, उसी की सामर्थ्य से यह सब जगत उत्पन्न हुआ है और उसी की शक्तिमें अनन्त कारण रूप पदार्थ वर्तमान है ॥२२

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है, देखो—अथर्व० १० । ८ । ७ तथा १३ ॥

यो अस्य विश्वजन्मन ईशे विश्वस्य चेष्टतः ।
अन्येषु क्षिप्रधन्वने तस्मै प्राण नमोऽस्तु ते ॥ २३ ॥

यः । अस्य । विश्व-जन्मनः । ईशे । विश्वस्य । चेष्टतः ॥ अन्येषु । क्षिप्र-धन्वने । तस्मै । प्राण । नमः । अस्तु । ते ।२

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (अस्य) इस (विश्वजन्मनः) विविध जन्म वाले और (विश्वस्य) सब (चेष्टतः) चेष्टा करने वाले [कार्य-रूप] जगत् का (ईशे) ईश्वर है । [इनसे] (अन्येषु) भिन्न [परमाणुरूप

२२—(अष्टाचक्रम्) अष्टसु दिक्षु चक्रं यस्य तद् ब्रह्म । अन्यद् व्याख्यातम्-अथर्व० १० । ८ । ७ तथा १३ ॥

२३—(यः) प्राणः परमेश्वरः (अस्य) दृश्यमानस्य (विश्वजन्मनः) विविधजन्मोपेतस्य (ईशे) तलोपः । ईष्टे । ईश्वरो भवति (विश्वस्य) सर्वस्य (चेष्टतः) व्याप्रियमाणस्य (अन्येषु) भिन्नेषु । कारणरूपेषु (क्षिप्रधन्वने) कनिन् युवृषितक्षिराजिधन्वि० । उ० १ । १५६ । धवि गतौ-कनिन्, इदित्वान्नुम् ।

पदार्थों] पर (क्षिप्रधन्वने) शीघ्र व्यापक होने वाले (तस्मै) उस (ते) तुझ को, (प्राण) हे प्राण! [जीवनदाता परमेश्वर] (नमः अस्तु) नमस्कार हो ॥ २३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब कार्यरूप और कारण रूप जगत् का स्वामी है उस जगदीश्वर को हमारा नमस्कार है ॥ २३ ॥

यो अस्य सर्वजन्मन ईशे सर्वस्य चेष्टतः ।

अतन्द्रो ब्रह्मणा धीरः प्राणो मानु तिष्ठतु ॥ २४ ॥

यः । अस्य । सर्व-जन्मनः । ईशे । सर्वस्य । चेष्टतः ॥

अतन्द्रः। ब्रह्मणा । धीरः । प्राणः । मा । अनु । तिष्ठतु ।२४।

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (अस्य) इस (सर्वजन्मनः) विविध जन्म वाले और (सर्वस्य) सब (चेष्टतः) चेष्टा करने वाले [कार्य-रूप जगत्] का (ईशे) ईश्वर है । [वह] (अतन्द्रः) आलस रहित, (धीरः) धीर [बुद्धिमान्] (प्राणः) प्राण [जीवनदाता परमेश्वर] (ब्रह्मणा) वेद-ज्ञान द्वारा (मा अनु) मेरे साथ साथ (तिष्ठतु) ठहरा रहे ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता परमेश्वर की महिमा जानकर निरालसी, धीर, वीर होकर पुरुषार्थ करे ॥ २४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से ऊपर मन्त्र २२ में आया है ॥

ऊर्ध्वः सुप्तेषु जागार ननु तिर्यङ् नि पद्यते ।

न सुप्तमस्य सुप्तेष्वनु शुश्राव कश्चन ॥ २५ ॥

ऊर्ध्वः । सुप्तेषु । जागार । ननु । तिर्यङ् । नि । पद्यते ॥

न । सुप्तम् । अस्य । सुप्तेषु । अनु । शुश्राव । कः । चन ।२५।

शीघ्रं गच्छते व्याप्नुवते (तस्मै) तथाविधाय (प्राण) (नमः) (अस्तु) (ते) तुभ्यम् ॥

२४—पूर्वार्धर्चो व्याख्यातः, म० २२ । विश्वशब्दस्य स्थाने सर्वशब्दो विशेषः । (अतन्द्रः) निरलसः (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (धीरः) धीमान् । बुद्धिमान् (प्राणः) जीवनदाता परमेश्वरः (मा) माम् (अनु) अनुलक्ष्य (तिष्ठतु) वर्तताम् ॥

भाषार्थ—(सुप्तेषु) सोते हुये [प्राणियों] पर वह [प्राण, परमात्मा] (ऊर्ध्वः) ऊपर रहकर (जागार) जागता है, और (ननु) कभी नहीं (तिर्यङ्) तिरछा [होकर] (नि पद्यते) गिरता है। (कः चन) किसी ने भी (सुप्तेषु) सोते हुओं में (अस्य) इस [प्राण परमात्मा] का (सुप्तम्) सोना (न अनु शुश्राव) कभी [परम्परा से] नहीं सुना ॥ २५ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा चेतन्य रह कर सर्वदा सब प्राणियों की सुधि रखता है, वैसे ही मनुष्यों को निरालस होकर पुरुषार्थ करना चाहिये ॥ २५ ॥

प्राण मा मत् पर्यावृतो न मदन्यो भविष्यसि ।
अपां गर्भमिव जीवसे प्राण बध्नामि त्वा मयि ॥ २६ ॥ (१३)

प्राण । मा । मत् । परि-आवृतः । न । मत् । अन्यः । भविष्यसि ॥ अपाम् । गर्भम्-इव । जीवसे । प्राण । बध्नामि । त्वा । मयि ॥ २६ ॥ (१३)

भाषार्थ—(प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] (मत्) मुझ से (पर्यावृतः) पृथक् वर्तमान (मा) मत [हो] तू, (मत्) मुझ से (अन्यः) अन्य (न भविष्यसि) न होगा। (प्राण) हे प्राण ! [जीवनदाता परमेश्वर] (अपाम्) प्राणियों [वा जल] के (गर्भम् इव) गर्भ के समान (त्वा) तुझको (जीवसे) [अपने] जीवन के लिये (मयि) अपने में (बध्नामि) बांधता हूं ॥ २६ ॥

२५—(ऊर्ध्वः) उपरिस्थितः सन् (सुप्तेषु) निद्रागतेषु (जागार) लडर्थे लिट्। जागर्ति (ननु) नैव (तिर्यङ्) तिर्यगवस्थितः सन् (निपद्यते) नि पतति (न) निषेधे (सुप्तम्) सुप्तिः (अस्य) प्राणस्य परमेश्वरस्य (सुप्तेषु) (अनु) अनुक्रमेण। परम्परया (शुश्राव) श्रुतवान् (कश्चन) कोऽपि पुरुषः ॥

२६—(प्राण) हे प्राणप्रद परमेश्वर (मा) निषेधे (मत्) मत्तः (पर्यावृतः) वृञ् वरणे-क्त। पृथग् वेष्टितः (न) निषेधे (मत्) (अन्यः) पृथग्भूतः (भविष्यसि) (अपाम्) प्राणिनाम्। जलानां वा (गर्भम्) उदरस्थं सन्तानम्, गर्भवद् वर्तमानं जलं वा (इव) यथा (जीवसे) जीवनाय (प्राण) (बध्नामि) धरामि (त्वा) त्वाम् (मयि) आत्मीये ॥

भावार्थ—जैसे गर्भ प्राणियों में और अग्नि, जल के भीतर चेष्टा करता है, वैसे ही मनुष्य परमात्मा को हृदय में धारण करके उन्नति करे ॥ २६ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—२६ ॥ ब्रह्मचारी देवता ॥ १, ६, २३ आर्षीत्रिष्टुप् ; २ भुरिगतिजगती; ३ भुरिगार्षी त्रिष्टुप् ; ४, ५, २४ त्रिष्टुप् ; ६ स्वराड् जगती ; ७ विराड् जगती; ८ स्वराट् त्रिष्टुप् ; १० भुरिक् त्रिष्टुप् ; ११, १३ जगती ; १२ भुरिगार्षी जगती; १४, १६—२२ अनुष्टुप् ; १५ पुरस्ताज् ज्योतिस्त्रिष्टुप् ; २५ आर्च्युष्णिक् ; २६ भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः ॥

ब्रह्मचर्यमाहात्म्योपदेशः—ब्रह्मचर्य के महत्त्व का उपदेश ॥

ब्रह्मचारीष्णंश्चरति रोदसी उभे तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति । स दाधार पृथिवीं दिवं च स आचार्यं᳡ तपसा पिपर्ति ॥१॥

ब्रह्म-चारी । इष्णन् । चरति । रोदसी इति । उभे इति । तस्मिन् । देवाः । सम्-मनसः । भवन्ति ॥ सः । दाधार । पृथिवीम् । दिवम् । च । सः । आ-चार्यम् । तपसा । पिपर्ति १

भाषार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [वेदपाठी और वीर्यनिग्राहक पुरुष] (उभे) दोनों (रोदसी) सूर्य और पृथिवी को (इष्णन्) लगातार खोजता हुआ (चरति) विचरता है, (तस्मिन्) उस [ब्रह्मचारी] में (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (संमनसः) एक मन (भवन्ति) होते हैं । (सः) उस ने

१-(ब्रह्मचारी) अ० ५ । १७ । ५ । ब्रह्म+चर गतिभक्षणयोः- आवश्यके णिनि । ब्रह्मणे वेदाय वीर्यनिग्रहाय च चरणशीलः पुरुषः (इष्णन्) इष आभीक्ष्ण्ये-शतृ । पुनः पुनरन्विच्छन् (चरति) विचरति । प्रवर्त्तते (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । द्यावापृथिव्यौ (उभे) (तस्मिन्) ब्रह्मचारिणि (देवाः)

(पृथिवीम्) पृथिवी (च) और (दिवम्) सूर्य लोक को (दाधार) धारण किया है [उपयोगी बनाया है], (सः) वह (आचार्यम्) आचार्य [साङ्गोपाङ्ग वेदों के पढ़ाने वाले पुरुष] को (तपसा) अपने तप से (पिपर्ति) परिपूर्ण करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी वेदाध्ययन और इन्द्रिय दमन रूप तपोबल से सब सूर्य, पृथिवी आदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान पाकर और सब से उपकार लेकर विद्वानों को प्रसन्न करता हुआ वेद विद्या के प्रचार से आचार्य का इष्ट सिद्ध करता है ॥ १ ॥

१—भगवान् पतञ्जलि मुनि ने इस सूक्त का सारांश लेकर कहा है—[ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः—योगदर्शन, पाद २ सूत्र ३८] (ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायाम्) ब्रह्मचर्य [वेदों के विचार और जितेन्द्रियता] के अभ्यास में (वीर्यलाभः) वीर्य [वीरता अर्थात् धैर्य, शरीर, इन्द्रिय और मनके निरतिशय सामर्थ्य] का लाभ होता है ॥

२—भगवान् मनु ने आचार्य का लक्षण इस प्रकार किया है । [उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद्द्विजः । सकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रचक्षते—मनुस्मृति, अध्याय २ श्लोक १४०] ॥

जो द्विज [ब्राह्मण, क्षत्रिय वैश्य] शिष्य का उपनयन करके कल्प [यज्ञ आदि संस्कार विधि] और रहस्य [उपनिषद् आदि ब्रह्मविद्या] के साथ वेद पढ़ावे, उसको "आचार्य" कहते हैं ॥

ब्रह्मचारिणं पितरो देवजनाः पृथग् देवा अनुसंयन्ति सर्वे । गन्धर्वा एनमन्वायन् त्रयस्त्रिंशत् त्रिशताः षट्सहस्राः सर्वान्त्स देवांस्तपसा पिपर्ति ॥ २ ॥

विजिगीषवः (संमनसः) समानमनस्काः (भवन्ति) (सः) ब्रह्मचारी (दाधार) धृतवान् (पृथिवीम्) (दिवम्) सूर्यलोकम् (च) (सः) (आचार्यम्) चरेराङि चागुरौ । वा० पा० ३ । १ । १०० । इति प्राप्ते । ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । आङ्+चर गतिभक्षणयोः—ण्यत् । आचार्यः कस्मादाचार्य आचारं ग्राहयत्याचिनोत्यर्थानाचिनोति बुद्धिमिति वा०—निरु १ । ४ । साङ्गोपाङ्गवेदाध्यापकं द्विजम् (तपसा) इन्द्रियनिग्रहेण (पिपर्ति) पॄ पालनपूरणयोः । पूरयति ॥

ब्रह्म-चारिणम् । पितरः । देव-जनाः । पृथक् । देवाः । अनु-संयन्ति । सर्वे ॥ गन्धर्वाः । एनम् । अनु । आयन् । त्रयः-त्रिंशत् । त्रि-शताः । षट्-सहस्राः । सर्वान् । सः । देवान् । तपसा । पिपर्ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) सब (देवाः) व्यवहार कुशल, (पितरः) पालन करने वाले, (देवजनाः) विजय चाहने वाले पुरुष (पृथक्) नाना प्रकार से (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी [मन्त्र १] के (अनुसंयन्ति) पीछे पीछे चलते हैं। (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस, (त्रिशताः) तीन सौ और (षट्सहस्राः) छह सहस्र [६, ३३३ अर्थात् बहुत से] (गन्धर्वाः) पृथिवी के धारण करने वाले [पुरुषार्थी पुरुष] (एनम् अनु) इस [ब्रह्मचारी] के साथ साथ (आयन्) चले हैं, (सः) वह (सर्वान्) सब (देवान्) विजय चाहने वालों को (तपसा) [अपने] तप से (पिपर्ति) भर पूर करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् पुरुषार्थी जन पूर्वकाल से जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी के अनुशासन में चलकर आनन्द पाते आये हैं और पाते हैं ॥ २ ॥

आचार्य उपनयमानो ब्रह्मचारिणं कृणुते गर्भमन्तः । तं रात्रीस्तिस्र उदरे बिभर्ति तं जातं द्रष्टुमभिसंयन्ति देवाः ॥ ३ ॥

आ-चार्यः । उप-नयमानः । ब्रह्म-चारिणम् । कृणुते । गर्भम् । अन्तः ॥ तम् । रात्रीः । तिस्रः । उदरे । बिभर्ति । तम् ।

२—(ब्रह्मचारिणम्) म० १ । ब्रह्मचर्यं चरन्तं पुरुषम् (पितरः) पालकाः (देवजनाः) विजिगीषवः (पृथक्) नानाप्रकारेण (देवाः) व्यवहारकुशलाः (अनुसंयन्ति) अनुसृत्य गच्छन्ति (सर्वे) समस्ताः (गन्धर्वाः) अ० २ । १ । २ । गो+धृञ् धारणपोषणयोः—वप्रत्ययः, गोशब्दस्य गमादेशः । गां पृथिवीं धरन्तीति ये ते (एनम्) ब्रह्मचारिणम् (अनु) अनुगत्य (आयन्) इण गतौ—लङ् । अगच्छन् (त्रयस्त्रिंशत्) (त्रिशताः) त्रीणि शतानि येषु ते (षट्सहस्राः) षट्सहस्रसंख्याकाः । अपरिमिताः (सर्वान्) (सः) ब्रह्मचारी (देवान्) विजिगीषून् (तपसा) ब्रह्मचर्यरूपेण तपश्चरणेन (पिपर्ति) पूरयति ॥

जातम् । द्रष्टुम् । अभि-संयन्ति । देवाः ॥ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी [वेदपाठी और जितेन्द्रिय पुरुष] को (उपनयमानः) समीप लाता हुआ [उपनयन पूर्वक वेद पढ़ाता हुआ] (आचार्यः) आचार्य (अन्तः) भीतर [अपने आश्रम में उसको] (गर्भम्) गर्भ [के समान] (कृणुते) बनाता है। (तम्) उस [ब्रह्मचारी] को (तिस्रः रात्रीः) तीन राति (उदरे) उदर में [अपने शरण में] (बिभर्ति) रखता है, (जातम्) प्रसिद्ध हुये (तम्) उस [ब्रह्मचारी] को (द्रष्टुम्) देखने के लिये (देवाः) विद्वान् लोग (अभिसंयन्ति) मिलकर जाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उपनयन संस्कार कराता हुआ आचार्य ब्रह्मचारी को, उसके उत्तम गुणों की परीक्षा लेने और उत्तम शिक्षा देने के लिये, तीन दिन राति अपने समीप रखता है और ब्रह्मचर्य और विद्या पूर्ण होने पर विद्वान् लोग ब्रह्मचारी का आदर मान करते हैं ॥ ३ ॥

मन्त्र ३-७ महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका, वर्णाश्रम विषय पृ० २३५-२३७ में, और मन्त्र ३, ४, ६, संस्कारविधि वेदारंभ प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

इयं समित् पृथिवी द्यौर्द्वितीयोतान्तरिक्षं समिधा पृणाति । ब्रह्मचारी समिधा मेखलया श्रमेण लोकांस्तपसा पिपर्ति ॥ ४ ॥

इयम् । सम्-इत् । पृथिवी । द्यौः । द्वितीया । उत । अन्तरिक्षम् । सम्-इधा । पृणाति ॥ ब्रह्म-चारी । सम्-इधा । मेखलया । श्रमेण । लोकान् । तपसा । पिपर्ति ॥ ४ ॥

३—(आचार्यः) म० १ । साङ्गोपाङ्गवेदाध्यापकः (उपनयमानः) संमाननोत्सञ्जनाचार्यकरण० । पा० १ । ३ । ३६ । इत्यात्मनेपदम् । स्वसमीपं गमयन् । उपनयनपूर्वकेण वेदाध्यापनेन प्रापयन् (ब्रह्मचारिणम्) म० १ । वेदपाठिनं वीर्यनिग्राहकम् (कृणुते) करोति (गर्भम्) गर्भरूपम् (अन्तः) मध्ये । स्वाश्रमे (तम्) ब्रह्मचारिणम् (तिस्रः रात्रीः) त्रिदिनपर्यन्तम् (उदरे) स्वशरणे (बिभर्ति) धारयति (तम्) (जातम्) प्रसिद्धम् (द्रष्टुम्) अवलोकयितुम् (अभिसंयन्ति) अभिमुखं संभूय गच्छन्ति (देवाः) विद्वांसः ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह [पहिली] (समित्) समिधा (पृथिवी) पृथिवी, (द्वितीया) दूसरी [समिधा] (द्यौः) सूर्य [समान है], (उत) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को [तीसरी] (समिधा) समिधा से (पृणाति) वह पूर्ण करता है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) समिधा से [यज्ञानुष्ठान से], (मेखलया) मेखला से [कटिबद्ध होने के चिन्ह से] (श्रमेण) परिश्रम से और (तपसा) तप से [ब्रह्मचर्यानुष्ठान से] (लोकान्) सब लोकों को (पिपर्ति) पालता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी हवन में तीन समिधायें छोड़ कर और कटिबन्धन आदि से उद्योग का अभ्यास प्रकट करके व्रत करता है कि वह ब्रह्मचर्य के साथ पृथिवी, सूर्य और अन्तरिक्ष विद्या को जानकर संसार का उपकार करेगा ॥ ४ ॥

पूर्वो जातो ब्रह्मणो ब्रह्मचारी घर्मं वसानस्तपसोदतिष्ठत्। तस्माज्जातं ब्राह्मणं ब्रह्म ज्येष्ठं देवाश्च सर्वे अमृतेन साकम् ॥ ५ ॥

पूर्वः। जातः। ब्रह्मणः। ब्रह्म-चारी। घर्मम्। वसानः। तपसा। उत्। अतिष्ठत् ॥ तस्मात्। जातम्। ब्राह्मणम्। ब्रह्म। ज्येष्ठम्। देवाः। च। सर्वे। अमृतेन। साकम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [मन्त्र १] (ब्रह्मणः) वेदाभ्यास [के कारण] से (पूर्वः) प्रथम [गणना में पहिला] (जातः) प्रसिद्ध होकर (घर्मम्) प्रताप (वसानः) धारण करता हुआ (तपसा) [अपने ब्रह्मचर्य

४—(इयम्) दृश्यमाना प्रथमा (समित्) होमीयकाष्ठम् (पृथिवी) भूमिविद्यारूपा (द्यौः) सूर्यविद्या (द्वितीया) समित् (उत) अपि च (अन्तरिक्षम्) समिधा (तृतीयेन) होमीयकाष्ठेन (पृणाति) पूरयति (ब्रह्मचारी) (समिधा) (मेखलया) अ० ६। १३३। १। कटिबन्धनेन (श्रमेण) परिश्रमेण (लोकान्) जनान् (तपसा) तपश्चरणेन (पिपर्ति) पालयति ॥

५—(पूर्वः) प्रथमः। प्रधानः (जातः) प्रसिद्धः सन् (ब्रह्मणः) वेदाभ्यासात् (ब्रह्मचारी) म० १। वेदपाठी वीर्यनिग्राहकश्च (घर्मम्) घृ दीप्तौ—मक्। प्रतापम् (वसानः) आच्छादयन्। धारयन् (तपसा) ब्रह्मचर्यरूपेण

रूप] तपस्या से (उत् अतिष्ठत्) ऊंचा ठहरा है। (तस्मात्) उस [ब्रह्मचारी] से (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान और (ब्रह्म) वृद्धिकारक धन (जातम्) प्रकट [होता है], (च) और (सर्वे देवाः) सब विद्वान् लोग (अमृतेन साकम्) अमरपन [मोक्ष सुख] के साथ [होते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी वेदों के अभ्यास और जितेन्द्रियता आदि तपोबल के कारण बड़ा सत्कार पाकर सब को धर्म और सम्पत्ति का मार्ग दिखाकर विद्वानों को परमानन्द पहुंचाता है ॥ ५ ॥

ब्रह्मचार्येति स॒मिधा॒ समि॑द्धः॒ कार्ष्णं॒ वसा॑नो दीक्षि॒तो दी॒र्घश्म॑श्रुः। स स॒द्य ए॑ति॒ पूर्व॑स्मा॒दुत्त॑रं समु॒द्रं लो॒कान्त्सं॒गृभ्य॒ मुहु॑रा॒चरि॑क्रत् ॥ ६ ॥

ब्र॒ह्म॒ऽचा॒री। ए॒ति॒। स॒म्ऽइधा॑। सम्ऽइ॑द्धः। कार्ष्णम्। वसा॑नः। दी॒क्षि॒तः। दी॒र्घऽश्म॑श्रुः। सः। स॒द्यः। ए॒ति॒। पूर्व॑स्मात्। उत्त॑रम्। स॒मु॒द्रम्। लो॒कान्। स॒म्ऽगृभ्य॑। मुहुः॑। आ॒ऽचरि॑क्रत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (समिधा) [विद्या के] प्रकाश से (समिद्धः) प्रकाशित, (कार्ष्णम्) कृष्ण मृग का चर्म (वसानः) धारण किये हुये (दीक्षितः) दीक्षित होकर [व्रत धारण करके] (दीर्घश्मश्रुः) बड़े बड़े दाढ़ी मूंछ रखाये हुये (एति) चलता है। (सः) वह (सद्यः) अभी (पूर्वस्मात्)

तपश्चरणेन (उत्) ऊर्ध्वः (अतिष्ठत्) स्थितवान् (तस्मात्) ब्रह्मचारिणः सकाशात् (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञानम् (ब्रह्म) ब्रह्म धननाम—निघ० २। १०। वृद्धिकरं धनम् (ज्येष्ठम्) प्रशस्यतमम् (देवाः) विद्वांसः (च) (सर्वे) समस्ताः (अमृतेन) मरणस्य दुःखस्य राहित्येन। मोक्षसुखेन (साकम्) सह ॥

६—(ब्रह्मचारी) म० १। ब्रह्मचर्येण युक्तः (एति) गच्छति (समिधा) ञि इन्धी दीप्तौ—क्विप्। विद्याप्रकाशेन (समिद्धः) प्रदीप्तः (कार्ष्णम्) कृष्णमृगचर्म (वसानः) धारयन् (दीक्षितः) प्राप्तदीक्षः। धृतनियमः (दीर्घश्मश्रुः) लम्बमानमुखस्थलोमा (सः) ब्रह्मचारी (सद्यः) तत्क्षणम् (एति) आप्नोति (पूर्वस्मात्) प्रथमसमुद्ररूपाद् ब्रह्मचर्याश्रमात् (उत्तरम्) अनन्तरम् (समुद्रम्) गृहाश्रमरूपं समुद्रम् (लोकान्)

पहिले [समुद्र] से [अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम से] (उत्तरम् समुद्रम्) पिछले समुद्र [गृहाश्रम] को (एति) प्राप्त होता है और (लोकान्) लोगों को (संगृभ्य) संग्रह करके (मुहुः) बारम्बार (आचरिक्रत्) अतिशय करके पुकारता रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी वस्त्र और केश आदि शारीरिक बाहिरी बनाव की उपेक्षा करके सत्य धर्म और ब्रह्मचर्य से विद्या ग्रहण करके गृहाश्रम में प्रवेश करता हुआ लोगों में सत्य का प्रचार करे ॥ ६ ॥

ब्रह्मचारी जनयन् ब्रह्मापो लोकं प्रजापतिं परमेष्ठिनं विराजम् । गर्भो भूत्वामृतस्य योनाविन्द्रो ह भूत्वासुरांस्ततर्ह ॥७॥

ब्रह्म-चारी । जनयन् । ब्रह्म । अपः । लोकम् । प्रजा-पतिम् । परमे-स्थिनम् । वि-राजम् ॥ गर्भः । भूत्वा । अमृतस्य । योनौ । इन्द्रः । ह । भूत्वा । असुरान् । ततर्ह ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) वेद विद्या (अपः) प्राणों, (लोकम्) संसार और (प्रजापतिम्) प्रजापालक (परमेष्ठिनम्) सबसे ऊंचे मोक्ष पद में स्थिति वाले (विराजम्) विविध जगत् के प्रकाशक [परमात्मा] को (जनयन्) प्रकट करते हुये (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ने (अमृतस्य) अमरपन [अर्थात् मोक्ष] की (योनौ) योनि [उत्पत्ति स्थान अर्थात् ब्रह्मविद्या] में (गर्भः) गर्भ (भूत्वा) होकर [गर्भ के समान नियम से रहकर] और (ह) निस्सन्देह

जनान् (संगृभ्य) संगृह्य (मुहुः) वारम्वारम् (आचरिक्रत्) आङ्+करोतेः यङ् लुगन्तात् लेटि रूपम् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । इत्यट् । इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । पा० ३ । ४ । ९७ । इकारलोपः । अतिशयेन आकारयेत् आह्वयेत् ॥

७—(ब्रह्मचारी) म० १ (जनयन्) प्रकटयन् (ब्रह्म) वेदविद्याम् (अपः) प्राणान् (लोकम्) संसारम् (प्रजापतिम्) प्रजापालकम् (परमेष्ठिनम्) अ० १ । ७ । २ । उत्तमपदे मोक्षे स्थितिमन्तम् (विराजम्) विविधजगतः प्रकाशकं परमेश्वरम् (गर्भो भूत्वा) गर्भवन्नियमेन स्थित्वा (अमृतस्य) अमरणस्य मोक्षस्य (योनौ) उत्पत्तिस्थाने । वेदज्ञाने (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् ।

(इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला [अथवा सूर्य समान प्रतापी] (भूत्वा) होकर (असुरान्) असुरों [दुष्ट पाखण्डियों] को (ततर्ह) नष्ट किया है ७॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी वेदविद्या, प्राणविद्या, लोकविद्या, और ईश्वर स्वरूप का प्रकाश करके मोक्ष मार्ग में दृढ़ होकर ऐश्वर्य प्राप्त करता और पाखण्डों को नष्ट करता है ॥ ७ ॥

आचार्यस्ततक्ष नभसी उभे इमे उर्वी गम्भीरे पृथिवीं दिवं च।
ते रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तस्मिन् देवाः संमनसो भवन्ति ८

आ-चार्यः। ततक्ष। नभसी इति। उभे इति। इमे इति। उर्वी इति। गम्भीरे इति। पृथिवीम्। दिवम्। च॥ ते इति। रक्षति। तपसा। ब्रह्म-चारी। तस्मिन्। देवाः। सम्-मनसः। भवन्ति॥ ८॥

भाषार्थ—(आचार्यः) आचार्य [साङ्गोपाङ्ग वेद पढ़ाने वाले] ने (उभे) दोनों (इमे) इन (नभसी) परस्पर बंधी हुई, (उर्वी) चौड़ी, (गम्भीरे) गहरी (पृथिवीम्) पृथिवी) (च) और (दिवम्) सूर्य को (ततक्ष) सूक्ष्म बनाया है [उपयोगी किया है]। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) तप से (ते) उन दोनों की (रक्षति) रक्षा करता है, (तस्मिन्) उस [ब्रह्मचारी] में (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (संमनसः) एकमन (भवन्ति) होते हैं ॥८॥

सूर्यवत्तेजस्वी वा (ह) निश्चयेन (भूत्वा) (असुरान्) सुरविरोधिनो दुष्टान् पाखण्डिनः (ततर्ह) तृह हिंसायाम् लिट्। नाशितवान् ॥

८—(आचार्यः) म० १। सङ्गोपाङ्गवेदाध्यापकः (ततक्ष) तक्ष् तनूकरणे-लिट्। सूक्ष्मीकृतवान् (नभसी) अ० ५। १८। ५। णह बन्धने-असुन्, हस्य भः। परस्परबद्धे (उभे) (इमे) (उर्वी) विस्तीर्णे (गम्भीरे) अतलस्पर्शे (पृथिवीम्) भूमिम् (दिवम्) सूर्यम् (च) (ते) द्यावापृथिव्यौ (रक्षति) पालयति (तपसा) स्वब्रह्मचर्यनियमेन (ब्रह्मचारी) म० १। व्रती। अन्यद् व्याख्यातम् म० १॥

भावार्थ—आचार्य और ब्रह्मचारी श्रवण, मनन और निदिध्यासन से विद्या प्राप्त करके संसार के पृथिवी सूर्य आदि सब पदार्थों का तत्त्व जानकर उन्हें उपयोगी बनाते हैं ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद प्रथम मन्त्र के दूसरे पाद में आ चुका है ॥

इमां भूमिं पृथिवीं ब्रह्मचारी भिक्षामा जभार प्रथमो दिवं च।
ते कृत्वा समिधावुपास्ते तयोरार्पिता भुवनानि विश्वा ॥ ९ ॥

इमाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । ब्रह्म-चारी । भिक्षाम् । आ । जभार । प्रथमः । दिवम् । च ॥ ते इति । कृत्वा । सम्-इधौ । उप । आस्ते । तयोः । आर्पिता । भुवनानि । विश्वा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस (पृथिवीम्) चौड़ी (भूमिम्) भूमि (च) और (दिवम्) सूर्य को (प्रथमः) पहिले [प्रधान] (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ने (भिक्षाम्) भिक्षा (आ जभार) लिया था। (ते) उन दोनों को (समिधौ) दो समिधा [के समान] (कृत्वा) बनाकर (उप आस्ते) [ईश्वर की] उपासना करता है, (तयोः) उन दोनों में (विश्वा) सब (भुवनानि) भुवन (आर्पिता) स्थापित हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—महाविद्वान् पुरुष पृथिवी और सूर्य आदि के तत्त्वों को जानकर और उपयोगी बनाकर, होमीय अग्नि में दो काष्ठ छोड़कर उन [भूमि और सूर्य] को लक्ष्य में रखता है कि वह इस प्रकार सब संसार का ज्ञान प्राप्त करने का प्रयत्न करे ॥ ९ ॥

अर्वागन्यः परो अन्यो दिवस्पृष्ठाद् गुहा निधी निहितौ

९—(इमाम्) दृश्यमानाम् (भूमिम्) (पृथिवीम्) प्रथिताम् । विस्तृताम् (ब्रह्मचारी) म० १ (भिक्षाम्) याच्ञाम् (आ जभार) आजहार । समन्ताद् गृहीतवान् (प्रथमः) प्रधानः (दिवम्) सूर्यम् (च) (ते) द्यावापृथिव्यौ (कृत्वा) विधाय (समिधौ) समिद्रूपे (उपास्ते) परमात्मनं परिचरति (तयोः) द्यावापृथिव्योर्मध्ये (आर्पिता) समन्तात् स्थापितानि (भुवनानि) लोकाः (विश्वा) सर्वाणि ॥

ब्राह्मणस्य । तौ रक्षति तपसा ब्रह्मचारी तत् केवलं कृणुते ब्रह्म विद्वान् ॥ १० ॥ (१४)

अर्वाक् । अन्यः । परः । अन्यः । दिवः । पृष्ठात् । गुहा । निधी इति नि-धी । नि-हितौ । ब्राह्मणस्य ॥ तौ । रक्षति । तपसा । ब्रह्म-चारी । तत् । केवलम् । । कृणुते । ब्रह्म । वि-द्वान् ॥ १० ॥ (१४)

भाषार्थ—(ब्राह्मणस्य) ब्रह्मज्ञान के (निधी) दो निधि [कोश] (गुहा) गुहा [गुप्त दशा] में (निहितौ) गढ़े हैं, (अन्यः) एक (अर्वाक्) समीपवर्ती और (अन्यः) दूसरा (दिवः) सूर्य की (पृष्ठात्) पीठ [उपरिभाग] से (परः) परे [दूर] है। (तौ) उन दोनों [निधियों] को (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) अपने तप से (रक्षति) रखता है, (ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] को (विद्वान्) जानता हुआ वह (तत्) उस [ब्रह्म] को (केवलम्) केवल [सेवनीय, निश्चित] (कृणुते) कर लेता है ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर का ज्ञान निकट और दूर अवस्था में रहकर सब स्थानों में वर्तमान है, अनन्यवृत्ति, ब्रह्मचारी योगी तप की महिमा से ब्रह्म का साक्षात् करके और उसकी शरण में रहकर अपनी शक्तियां बढ़ाता है ॥१०

अर्वागन्य इतो अन्यः पृथिव्या अग्नी समेतो नभसी अन्तरेमे । तयोः श्रयन्ते रश्मयोऽधि दृढास्ताना तिष्ठति तपसा ब्रह्मचारी ११

अर्वाक् । अन्यः । इतः । अन्यः । पृथिव्याः । अग्नी इति ।

१०—(अर्वाक्) समीपवर्त्ती (अन्यः) एको निधिः (परः) परस्तात् । दूरम् (अन्यः) अपरः (दिवः) सूर्यस्य (पृष्ठात्) उपरिभागात् (गुहा) गुहायाम् । गुप्तदशायाम् (निधी) धनकोशौ (निहितौ) निक्षिप्तौ (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मसम्बन्धिज्ञानस्य (तौ) निधी (रक्षति) (तपसा) (ब्रह्मचारी) (तत्) ब्रह्म (केवलम्) अ० ३ । १८ । २ । सेवनीयम् । निश्चितम् (कृणुते) करोति (ब्रह्म) परमात्मानम् (विद्वान्) विदन् । जानन् ॥

सम्-एतः । नभसी इति । अन्तरा । इमे इति ॥ तयोः । श्रयन्ते । रश्मयः । अधि । दृढाः । तान् । आ । तिष्ठति । तपसा । ब्रह्म-चारी ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्नी) दो अग्नि (इमे) इन दोनों (नभसी अन्तरा) परस्पर बंधे हुये सूर्य और पृथिवी के बीच (समेतः) मिलती हैं, (अन्यः) एक [अग्नि] (अर्वाक्) समीपवती, और (अन्यः) दूसरी (इतः पृथिव्याः) इस पृथिवी से [दूर] है। (तयोः) उन दोनों की (रश्मयः) किरणें (दृढाः) दृढ़ होकर (अधि) अधिकार पूर्वक [पदार्थों में] (श्रयन्ते) ठहरती हैं, (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तपसा) तप से (तान्) उन [किरणों] में (आतिष्ठति) ऊपर बैठता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—पृथिवी और सूर्य की दोनों अग्नि मिलकर पदार्थों में बल प्रदान करती हैं। ब्रह्मचारी योगी सूक्ष्म दृष्टि [अथवा अणिमा लघिमा सिद्धियों] द्वारा उन किरणों में प्रवेश करता ॥११॥

अभिक्रन्दन् स्तनयन्नरुणः शितिङ्गो बृहच्छेपोऽनु भूमौ जभार । ब्रह्मचारी सिञ्चति सानौ रेतः पृथिव्यां तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ॥ १२ ॥

अभि-क्रन्दन् । स्तनयन् । अरुणः । शितिङ्गः। बृहत् । शेपः। अनु । भूमौ । जभार ॥ ब्रह्म-चारी । सिञ्चति । सानौ । रेतः । पृथिव्याम् । तेन । जीवन्ति । प्र-दिशः। चतस्रः ॥१२॥

११—(अर्वाक्) समीपवर्ती (अन्यः) एकोऽग्निः (इतः) अस्याः (अन्यः) अपरः (पृथिव्याः) पृथिवीलोकात् परस्तात् (अग्नी) तापौ (समेतः) मिलित्वा आगच्छतः (नभसी) म० ८। परस्परबद्धे द्यावापृथिव्यौ (अन्तरा) मध्ये (इमे) दृश्यमाने (तयोः) अग्न्योः (श्रयन्ते) तिष्ठन्ति (रश्मयः) किरणाः (अधि) अधिकारपूर्वकम् (दृढाः) स्थिराः (तान्) रश्मीन् (आ तिष्ठति) अधितिष्ठति (तपसा) तपोबलेन (ब्रह्मचारी) म० १ ॥

भाषार्थ—(अभिक्रन्दन्) सब ओर शब्द करता हुआ, (स्तनयन्) गरजता हुआ, (शितिङ्गः) प्रकाश और अन्धकार में चलनेवाला, (अरुणः) गतिमान् [वा सूर्य के समान प्रतापी पुरुष] (भूमौ) भूमि पर (बृहत्) बड़ा (शेपः) उत्पादन सामर्थ्य (अनु) निरन्तर (जभार) लाया है। (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (पृथिव्याम्) पृथिवी के ऊपर (सानौ) पहाड़ के सम स्थान पर (रेतः) बीज (सिञ्चति) सींचता है, (तेन) उस से (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशायें (जीवन्ति) जीवन करती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुषार्थी ब्रह्मचारी यन्त्र, कला, नौका, यान, विमान आदि वृद्धि के अनेक साधनों से पृथिवी के जल, थल और पहाड़ों को उपजाऊ बनाता है ॥ १२ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद–अथर्व० ६। १० । १६, के पाद ४, तथा ऋग्वेद १ । १६४ । ४२, पाद २ में है ॥

अ॒ग्नौ सूर्यें च॒न्द्रम॑सि मात॒रिश्व॑न् ब्रह्मचा॒र्य॑१प्सु स॒मिध॒मा द॑धाति । तासा॑म॒र्चींषि॒ पृथ॑ग॒भ्रे च॑रन्ति॒ तासा॒माज्यं॒ पुरु॑षो व॒र्षमापः॑ ॥ १३ ॥

अ॒ग्नौ । सूर्यें । च॒न्द्रम॑सि । मात॒रिश्व॑न् । ब्रह्म॒-चा॒री । अ॒प्-सु । स॒म्-इध॑म् । आ । द॒धा॒ति॒ ॥ तासा॑म् । अ॒र्चींषि॑ । पृथ॑क् ।

१२—(अभिक्रन्दन्) अभितः शब्दं कुर्वन् (स्तनयन्) गर्जन् (अरुणः) अर्तेश्च । उ० ३ । ६० । ऋ गतौ–उनन्, स च चित् । गतिमान् । सूर्यः (शितिङ्गः) कमितमिशतिस्तम्भामत इच्च । उ० ४ । १२२ । शत हिंसायाम्–इन्, स च कित्, अत इकारः । खच्प्रकरणे गमेः सुप्युपसंख्यानम् । खच्च डिद् वा वक्तव्यः । वा० पा० ३ । २ । ३८ । शिति + गम–खच्, स च डित् । शितिः शुक्लः कृष्णश्च तयोर्मध्ये गच्छति यः सः । प्रकाशान्धकारयोर्मध्ये समानगमनः । शितिपात्— अ० ३ । २६ । १ । (बृहत्) महत् (शेपः) अ० ४ । ३७ । ७ । उत्पादनसामर्थ्यम् (अनु) निरन्तरम् (भूमौ) पृथिव्याम् (जभार) जहार । प्रापितवान् (सिञ्चति) वर्षति (सानौ) पर्वतस्थे समभूमिदेशे (रेतः) बीजम् (पृथिव्याम्) (तेन) कर्मणा (जीवन्ति) प्राणान् धारयन्ति (प्रदिशः) प्राच्याद्या महादिशः । तत्रत्याः प्राणिनः (चतस्रः) चतुः संख्याकाः ॥

अभ्रे । चरन्ति । तासाम् । आज्यम् । पुरुषः । वर्षम् । आपः ॥१३॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (अग्नौ) अग्नि में, (सूर्ये) सूर्य में, (चन्द्रमसि) चन्द्रमा में, (मातरिश्वन्) आकाश में चलने वाले पवन में और (अप्सु) जल धाराओं में (समिधम्) समिधा [प्रकाशसाधन] को (आ दधाति) सब प्रकार से धरता है। (तासाम्) उन [जलधाराओं] की (अर्चींषि) ज्वालायें (पृथक्) नाना प्रकार से (अभ्रे) मेघ में (चरन्ति) चलती हैं, (तासाम्) उन [जल धाराओं] का (आज्यम्) घृत [सार पदार्थ] (पुरुषः) पुरुष, (वर्षम्) वृष्टि और (आपः) सब प्रजायें हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी अपने विद्यावल से अग्नि, सूर्य आदि के तत्त्वों को जान लेता है और उस जल का भी ज्ञान प्राप्त करता है जो बिजुली के संसर्ग से वृष्टि होकर मनुष्य, जल, और सब प्राणी आदि की सृष्टि का कारण होता है ॥ १३ ॥

आचार्यो मृत्युर्वरुणः सोम ओषधयः पयः ।
जीमूता आसन्त्सत्वानस्तैरिदं स्व१राभृतम् ॥ १४ ॥

आ-चार्यः । मृत्युः । वरुणः । सोमः । ओषधयः । पयः ॥ जीमूताः । आसन् । सत्वानः । तैः । इदम् । स्वः । आ-भृतम् ॥१४॥

भाषार्थ—(आचार्यः) आचार्य (मृत्युः) मृत्यु [रूप] (वरुणः) जल [रूप], (सोमः) चन्द्र [रूप], (ओषधयः) ओषधें [अन्न आदि रूप],

---

१३—(अग्नौ) पार्थिवतापे (सूर्ये) आदित्ये (चन्द्रमसि) चन्द्रलोके (मातरिश्वन्) अ० ५ । १० । ८ । विभक्तेर्लुक् । मातरि मानकर्तरि आकाशे गमनशीले वायौ (ब्रह्मचारी) म० १ (अप्सु) जलधारासु (समिधम्) प्रकाशसाधनम् (आ दधाति) सम्यग् धरति (तासाम्) अपाम् (अर्चींषि) तेजांसि (पृथक्) नानारूपेण (अभ्रे) जलधारके मेघे (चरन्ति) (तासाम्) (आज्यम्) घृतम् । सारपदार्थः (पुरुषः) (वर्षम्) वृष्टिजलम् (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ ॥

१४—(आचार्यः) म० १ । साङ्गोपाङ्गरहस्यवेदाध्यापकः (मृत्युः) मृत्युरूपः (वरुणः) जलरूपः (सोमः) चन्द्ररूपः (पयः) दुग्धरूपः (जी-

और (पयः) दूध [रूप] हुआ है। (जीमूताः) अनावृष्टि जीतने वाले, मेघ [उस के लिये] (सत्वानः) गतिशील वीर [रूप] (आसन्) हुये हैं, (तैः) उन के द्वारा (इदम्) यह (स्वः) मोक्षसुख (आभृतम्) लाया गया है ॥१४॥

भावार्थ—आचार्य, साङ्गोपाङ्ग और सरहस्य वेदों का पढ़ाने वाला पुरुष, दोषों के नाश करने को मृत्यु रूप और सद्गुणों के बढ़ाने को जल, चन्द्र आदि रूप होकर संसार में मेघों के समान सुख बढ़ाता है ॥ १४ ॥

अमा घृतं कृणुते केवलमाचार्यो भूत्वा वरुणो यद्यदैच्छत् प्रजापतौ। तद् ब्रह्मचारी प्रायच्छत् स्वान् मित्रो अध्यात्मनः॥१५॥

अमा। घृतम्। कृणुते। केवलम्। आ-चार्यः। भूत्वा। वरुणः। यत्-यत्। ऐच्छत्। प्रजा-पतौ॥ तत्। ब्रह्म-चारी। प्र। अयच्छत्। स्वान्। मित्रः। अधि। आत्मनः॥ १५॥

भाषार्थ—(वरुणः) श्रेष्ठ पुरुष (आचार्यः) आचार्य (भूत्वा) होकर [उस वस्तु को] (अमा) घर में (घृतम्) प्रकाशित और (केवलम्) केवल [सेवनीय] (कृणुते) करता है, (यद्यत्) जो (प्रजापतौ) प्रजापति [प्रजापालक परमेश्वर] के विषय में (ऐच्छत्) उस ने चाहा है। और (तत्) उसको (मित्रः) स्नेही (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी ने (आत्मनः) अपने से (अधि) अधिकार पूर्वक (स्वान्) ज्ञाति के लोगों को (प्र अयच्छत्) दिया है ॥ १५ ॥

मूताः) जेमूर्द् चोदात्तः। उ० ३। ६१। जि जये-क्त, मूडागमो धातोर्दीर्घश्च। जयन्त्यनावृष्टिं ये। मेघाः (आसन्) (सत्वानः) अ० ५। २०। ८। षद्लृ गतौ-कनिप्। गतिशीलाः। वीररूपाः (तैः) मेघैः (इदम्) उपस्थितम् (स्वः) सुखम् (आहृतम्) आहृतम्। प्राप्तम् ॥

१५—(अमा) गृहनाम—निघ० ३। ४। गृहे (घृतम्) प्रकाशितम् (कृणुते) करोति (केवलम्) सेवनीयम् (आचार्यः) म० १ (भूत्वा) (वरुणः) श्रेष्ठः पुरुषः (यद्यत्) यत्किञ्चित् (ऐच्छत्) इष्टवान् (प्रजापतौ) प्रजापालके परमेश्वरे (तत्) (ब्रह्मचारी) म० १ (प्रायच्छत्) दत्तवान् (स्वान्) सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७। १। ३९। चतुर्थ्या द्वितीया। स्वेभ्यः। ज्ञातिभ्यः (मित्रः) स्नेही (अधि) अधिकारपूर्वकम् (आत्मनः) स्वकीयात् ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी होकर ब्रह्मविद्या का उपार्जन करे और उसको आत्मीय वर्गों में यथावत् फैलावे ॥ १५ ॥

आचार्यो ब्रह्मचारी ब्रह्मचारी प्रजापतिः ।
प्रजापतिर्वि राजति विराडिन्द्रोऽभवद् वशी ॥ १६ ॥

आ-चार्यः । ब्रह्म-चारी । ब्रह्म-चारी । प्रजा-पतिः ॥ प्रजा-पतिः । वि । राजति । वि-राट् । इन्द्रः । अभवत् । वशी ॥१६॥

भावार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (आचार्यः) आचार्य, और (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [ही] (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक मनुष्य, होता है]। और (प्रजापतिः) प्रजापति [प्रजापालक होकर] (वि) विविध प्रकार (राजति) राज्य करता है, (विराट्) विराट् [बड़ा राजा] (वशी) वश में करने वाला, [शासक] (इन्द्रः) इन्द्र, [बड़े ऐश्वर्य वाला] (अभवत्) हुआ है ॥ १६ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी सर्वशिक्षक, और प्रजापलन नीति में चतुर होकर प्रजा का पालन और शासन करके बड़ा प्रतापी होता है, यह नियम पहिले से चला आता है ॥ १६ ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं वि रक्षति ।
आचार्यो ब्रह्मचर्येण ब्रह्मचारिणमिच्छते ॥ १७ ॥

ब्रह्म-चर्येण । तपसा । राजा । राष्ट्रम् । वि । रक्षति ॥ आ-चार्यः । ब्रह्म-चर्येण । ब्रह्म-चारिणम् । इच्छते ॥ १७ ॥

भावार्थ—(ब्रह्मचर्येण) वेद विचार और जितेन्द्रियता रूपी (तपसा) तप से (राजा) राजा (राष्ट्रम्) राज्य को (वि) विशेष करके (रक्षति)

१६—(आचार्यः) म० १ (ब्रह्मचारी) म० १ (प्रजापतिः) प्रजापालकः पुरुषः (वि) विविधम् (राजति) शासको भवति (विराट्) विविधं शासकः अधिराजः (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः (वशी) वशयिता । शासकः । अन्यद् गतम् ॥

१७—(ब्रह्मचर्येण) अ० ७ । १०६ । ७ । ब्रह्म+चर गतौ-यत्। आत्मनिग्रह-वेदाध्ययनादिना (तपसा) तपश्चरणेन (राजा) (राष्ट्रम्) राज्यम् (वि)

पालता है । (आचार्यः) आचार्य [अङ्गो, उपाङ्गों और रहस्य सहित वेदों का अध्यापक] (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य [वेद विद्या और इन्द्रिय दमन] से (ब्रह्मचारिणम्) ब्रह्मचारी [वेद विचारने वाले जितेन्द्रिय पुरुष] को (इच्छते) चाहता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य रूप तपस्या धारण करने वाला राजा प्रजापालन में निपुण होता है और ब्रह्मचर्य के कारण आचार्य, विद्या वृद्धि के लिये ब्रह्मचारी से प्रीति करता है ॥ १७ ॥

मन्त्र १७, १८, १६ स्वामी दयानन्द कृत ऋगवेदादिभाष्यभूमिका वर्णाश्रम विषय पृष्ठ २३७ और मंत्र १७, १८ संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

ब्रह्मचर्येण कन्या३ युवानं विन्दते पतिम् ।
अनड्वान् ब्रह्मचर्येणाश्वो घासं जिगीर्षति ॥ १८ ॥

ब्रह्म-चर्येण । कन्या । युवानम् । विन्दते । पतिम् ॥
अनड्वान् । ब्रह्म-चर्येण । अश्वः । घासम् । जिगीर्षति ॥१८॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य [वेदाध्ययन और इन्द्रियनिग्रह] से (कन्या) कन्या [कामना योग्य पुत्री] (युवानम्) युवा [ब्रह्मचर्य से बलवान्] (पतिम्) पति [पालनकर्ता वा ऐश्वर्यवान् भर्ता] को (विन्दते) पाती है । (अनड्वान्) [रथ ले चलने वाला] बैल और (अश्वः) घोड़ा (ब्रह्मचर्येण)

विशेषेण (रक्षति) पालयति (आचार्यः) (ब्रह्मचर्येण) (ब्रह्मचारिणम्) वेदाध्ययनशीलं शिष्यम् (इच्छते) अभिलष्यति ॥

१८—(ब्रह्मचर्येण) म० १७ । आत्मनिग्रहवेदाध्ययनादिना (कन्या) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । कन प्रीतिद्युतिगतिषु-यक्, टाप् । कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः—निरु० ४ । १५ । कमनीया । पुत्री (युवानम्) अ० ६ । १ । २ । प्राप्तयुवावस्थाकम् । बलवन्तम् (विन्दते) लभते (पतिम्) पातेर्डतिः । उ० ४ । ५७ । पा रक्षणे-डति । यद्वा, सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । पत ऐश्वर्ये-इन् । पालकम् । ऐश्वर्यवन्तम् । भर्तारम् (अनड्वान्) अ० ४ । ११ । १ । अनस्+

ब्रह्मचर्य के साथ [नियम से ऊर्ध्वरेता होकर] (घासम्=घासेन) घास से (जिगीर्षति) सींचना [गर्भाधान करना] चाहता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—कन्या ब्रह्मचर्य से पूर्ण विदुषी और युवती होकर पूर्ण ब्रह्मचारी विद्वान् युवा पुरुष से विवाह करे, और जैसे बैल घोड़े आदि बलवान् और शीघ्रगामी पशु घास तिनके खाकर ब्रह्मचर्य नियम से समय पर बलवान् सन्तान उत्पन्न करते हैं, वैसे ही मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचारी, विद्वान् युवा होकर अपने सदृश कन्या से विवाह करके नियम पूर्वक बलवान्, सुशील सन्तान उत्पन्न करें ॥ १८ ॥

वैदिक यन्त्रालय अजमेर, और गवर्नमेंट बुकडिपो बम्बई के पुस्तकों में (जिगीर्षति) पद है जिसका अर्थ [सींचना चाहता है] है, और सेवकलाल कृष्णदास वाले पुस्तक और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका में (जिगीषति) है जिसका अर्थ [जीतना चाहता है] है ॥

ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमपाघ्नत ।
इन्द्रो ह ब्रह्मचर्येण देवेभ्यः स्व१राभरत् ॥ १९ ॥

ब्रह्म-चर्येण । तपसा । देवाः । मृत्युम् । अप । अघ्नत ।
इन्द्रः । ह । ब्रह्म-चर्येण । देवेभ्यः । स्वः । आ । अभरत् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य [वेदाध्ययन और इन्द्रियदमन], (तपसा) तप से (देवाः) विद्वानों ने (मृत्युम्) मृत्यु [मृत्यु के कारण निरुत्साह, दरिद्रता आदि] को (अप) हटाकर (अघ्नत) नष्ट किया है। (ब्रह्मचर्येण) ब्रह्मचर्य [नियम पालन] से (ह) ही (इन्द्रः) सूर्य ने (देवेभ्यः)

वह प्रापणे-क्विप्, अनसो डश्च । रथवाहको वृषभः (ब्रह्मचर्येण) (अश्वः) शीघ्रगामी घोटकः (घासम्) घस भक्षणे-घञ् । तृतीयार्थे द्वितीया । घासेन । गवां भक्ष्यतृणभेदेन (जिगीर्षति) गॄ सेचने-सन् । गर्तुं सेक्तुं निषेक्तुं गर्भाधानं कर्तुमिच्छति । जिगीषतीति पक्षे, जि जये-सन् । जेतुमिच्छति ॥

१९—(ब्रह्मचर्येण) म० १७ (तपसा) तपश्चरणेन (देवाः) विद्वांसः (मृत्युम्) मरणकारणं निरुत्साहनिर्धनत्वादिकम् (अप) निवार्य (अघ्नत) नाशितवन्तः (इन्द्रः) सूर्यः (ह) एव (ब्रह्मचर्येण) ईश्वरनियमपालनेन

उत्तम पदार्थों के लिये (स्वः) सुख अर्थात् प्रकाश को (आ अभरत्) धारण किया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेदों को पढ़ने और इन्द्रियों को वश में करने से आलस्य, निर्धनता आदि दूर करके मोक्ष सुख प्राप्त करते हैं, और सूर्य, ईश्वर नियम पूरा करके, अपने प्रकाश से संसार में उत्तम उत्तम पदार्थ प्रकट करता है ॥ १६ ॥

ओषधयो भूतभव्यमहोरात्रे वनस्पतिः ।
संवत्सरः सहर्तुभिस्ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २० ॥ (१५)

ओषधयः । भूत-भव्यम् । अहोरात्रे इति । वनस्पतिः ॥ सम्-वत्सरः । सह । ऋतु-भिः । ते । जाताः । ब्रह्म-चारिणः । २० । (१५)

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधें [अन्न आदि पदार्थ] और (वनस्पतिः) वनस्पति [पीपल आदि वृक्ष], (भूतभव्यम्) भूत और भविष्यत् जगत, (अहोरात्रे) दिन और राति । (ऋतुभिः सह) ऋतुओं के सहित (संवत्सरः) वर्ष [जो हैं], (ते) वे सब (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी [वेदपाठी और इन्द्रिय निग्राहक पुरुष] से (जाताः) प्रसिद्ध [होते हैं] ॥ २० ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी पिछले मनुष्यों के उदाहरण से भविष्यत् सुधार कर ओषधि और समय आदि से उपकार लेकर उन्हें प्रसिद्ध करता है ॥ २० ॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या ग्राम्याश्च ये ।

(देवेभ्यः) उत्तमपदार्थानां प्राप्तये (स्वः) सुखं प्रकाशम् (आ) समन्तात् (अभरत्) धारितवान् ॥

२०—(ओषधयः) अ० १ । २३ । १ । ओषध्यः फलपाकान्ता बहुपुष्पफलोपगाः । मनु० १ । ४६ । ओषः पाको धीयते यासु । व्रीहयवाद्याः (भूतभव्यम्) अतीतमुत्पत्स्यमानं च जगत् (अहोरात्रे) दिनं रात्रिश्च (वनस्पतिः) अपुष्पाः फलवन्तो ये ते वनस्पतयः स्मृताः । मनु० १ । ४७ । अश्वत्थादिवृक्षः (संवत्सरः) अ० १ । ३५ । ४ । सम्+वस निवासे—सरन् । वर्षकालः (सह) (ऋतुभिः) वसन्ताद्यैः कालविशेषैः (ते) पूर्वोक्ताः (जाताः) प्रसिद्धाः भवन्ति (ब्रह्मचारिणा) ब्रह्मचारिसकाशात् ॥

अपक्षाः पक्षिणश्च ये ते जाता ब्रह्मचारिणः ॥ २१ ॥

पार्थिवाः। दिव्याः । पशवः। आरण्याः । ग्राम्याः । च । ये ॥

अपक्षाः । पक्षिणः । च । ये । ते । जाताः । ब्रह्म-चारिणः।२१।

भाषार्थ—(पार्थिवाः) पृथिवी के और (दिव्याः) आकाश के पदार्थ और (ये) जो (आरण्याः) वन के (च) और (ग्राम्याः) गांव के (पशवः) पशु हैं। (अपक्षाः) विना पंख वाले (च) और (ये) जो (पक्षिणः) पंख वाले जीव हैं, (ते) वे (ब्रह्मचारिणः) ब्रह्मचारी से (जाताः) प्रसिद्ध [होते हैं] ॥ २१ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी ही पृथिवी आदि के पदार्थों और जीवों के गुणों को प्रकाशित करता है ॥ २१ ॥

पृथक् सर्वे प्राजापत्याः प्राणानात्मसु बिभ्रति ।

तान्त्सर्वान् ब्रह्म रक्षति ब्रह्मचारिण्याभृतम् ॥ २२ ॥

पृथक् । सर्वे । प्राजा-पत्याः। प्राणान् । आत्म-सु । बिभ्रति ॥

तान् । सर्वान् । ब्रह्म । रक्षति । ब्रह्म-चारिणि । आ-भृतम् २२

भाषार्थ—(सर्वे) सब (प्राजापत्याः) प्रजापति [परमात्मा] के उत्पन्न किये प्राणी (प्राणान्) प्राणों को (आत्मसु) अपने में (पृथक्) अलग अलग (बिभ्रति) धारण करते हैं। (तान् सर्वान्) उन सब [प्राणियों] को (ब्रह्मचारिणि) ब्रह्मचारी में (आभृतम्) भर दिया गया (ब्रह्म) वेदज्ञान (रक्षति) पालता है ॥ २२ ॥

२१—(पार्थिवाः) पृथिवीभवाः पदार्थाः (दिव्याः) आकाशभवाः (पशवः) गवाऽश्वसिंहादयः (आरण्याः) वने भवाः (ग्राम्याः) ग्रामे भवाः (अपक्षाः) पक्षरहिताः प्राणिनः (पक्षिणः) पक्षवन्तः (च) । अन्यत् पूर्ववत् म० २० ॥

२२—(पृथक्) भिन्नभिन्नप्रकारेण (सर्वे) (प्राजापत्याः) अ० ३ । २३ । ५ । प्रजापति-ण्य । प्रजापालकेन परमेश्वरेण सृष्टाः प्राणिनः (प्राणान्) (आत्मसु) शरीरेषु (बिभ्रति) धारयन्ति (तान्) सर्वान् प्राणिनः (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (रक्षति) पालयति (ब्रह्मचारिणि) (आभृतम्) समन्ताद् धृतं पोषितं वा ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से सब प्राणी शरीर धारण करके ब्रह्मचर्य के पालन से उन्नति करते हैं ॥ २२ ॥

दे॒वाना॑मे॒तत् प॑रिषू॒तमन॑भ्यारूढं चरति॒ रोच॑मानम् । तस्मा॑-ज्जा॒तं ब्रा॑ह्म॒णं॒ ब्रह्म॑ ज्ये॒ष्ठं दे॒वाश्च॒ सर्वे॑ अ॒मृते॑न सा॒कम् २३

दे॒वाना॑म् । ए॒तत् । प॒रि॒-सू॒तम् । अन॑भि-आरूढम् । च॒र॒ति॒ । रोच॑मानम् ॥ तस्मा॑त् । जा॒तम् । ब्रा॒ह्म॒णम् । ब्रह्म॑ । ज्ये॒ष्ठम् । दे॒वाः । च॒ । सर्वे॑ । अ॒मृते॑न । सा॒कम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) प्रकाशमान लोकों का (परिषूतम्) सर्वथा चलाने वाला, (अनभ्यारूढम्) कभी न हराया गया, (रोचमानम्) प्रकाशमान (एतत्) यह [व्यापक ब्रह्म] (चरति) विचरता है, (तस्मात्) उस [ब्रह्मचारी] से (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्ट (ब्राह्मणम्) ब्रह्मज्ञान और (ब्रह्म) वृद्धिकारक धन (जातम्) प्रकट [होता है], (च) और (सर्वे देवाः) सब विद्वान् (अमृतेन साकम्) अमरपन [मोक्षसुख] के साथ [होते हैं] ॥ २३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी सर्वप्रेरक सर्वशक्तिमान् परमात्मा के गुणों को प्रकट करके संसार में ज्ञान और धन बढ़ाकर सबको मोक्ष सुख का अधिकारी बनाता है ॥ २३ ॥

इस मन्त्र का तीसरा, और चौथा पाद मन्त्र ५ में आचुका है ॥

ब्र॒ह्म॒चा॒री ब्रह्म॒ भ्राज॑द् बिभर्ति॒ तस्मि॑न् दे॒वा अधि॒ विश्वे॑ स॒मोताः॑ । प्रा॒णा॒पा॒नौ ज॒नय॒न्नाद् व्या॒नं वाचं॒ मनो॒ हृद॑यं॒ ब्रह्म॑ मे॒धाम् ॥ २४ ॥

ब्र॒ह्म॒-चा॒री । ब्रह्म॑ । भ्राज॑त् । बि॒भ॒र्ति॒ । तस्मि॑न् । दे॒वाः । अधि॑ । विश्वे॑ । स॒म्-ओताः॑ ॥ प्रा॒णा॒पा॒नौ । ज॒नय॑न् । आत् ।

२३—(देवानाम्) प्रकाशमानानां लोकानाम् (एतत्) एतेस्तुट् च । उ० १ । १३२ । इण् गतौ-अदि तुट् च । व्यापकं ब्रह्म (परिषूतम्) षू प्रेरणे-क । परितः सूतम् । सर्वतः प्रेरकम् (अनभ्यारूढम्) अनाक्रान्तं सर्वोत्कृष्टम् (चरति) व्याप्नोति (रोचमानम्) दीप्यमानम् । अन्यद् व्याख्यातम् म० ५ ॥

वि-ज्ञानम् । वाच॑म् । मनः॑ । हृद॑यम् । ब्रह्म॑ । मे॒धाम् ॥२४॥

भाषार्थ—(भ्राजत्) प्रकाशमान (ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी [वेद पाठक और वीर्य निग्राहक पुरुष] (ब्रह्म) वेदज्ञान को (बिभर्ति) धारण करता है, (तस्मिन्) उस [ब्रह्मचारी] में (विश्वे देवाः) सब उत्तम गुण (अधि) यथावत् (समोताः) ओत प्रोत होते हैं। वह [ब्रह्मचारी] (प्राणापानौ) प्राण और अपान [श्वास प्रश्वास विद्या] को, (आत्) और (व्यानम्) व्यान [सर्वशरीरव्यापक वायु विद्या] को, (वाचम्) वाणी [भाषण विद्या] को, (मनः) मन [मनन विद्या] को, (हृदयम्) हृदय [के ज्ञान] को, (ब्रह्म) ब्रह्म [परमेश्वर ज्ञान] को और (मेधाम्) धारणावती बुद्धि को (जनयन्) प्रकट करता हुआ [वर्तमान होता है] ॥ २४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी वेदों के शब्द, अर्थ और सम्बन्ध जानकर और सम्पूर्ण उत्तम गुणों से सम्पन्न होकर अनेक विद्याओं का प्रकाश करता और बुद्धि का चमत्कार दिखाता है ॥ २४ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि वेदारम्भ प्रकरण में व्याख्यात है ॥

चक्षुः श्रोत्रं॒ यशो॑ अ॒स्मासु॑ धे॒ह्यन्नं॒ रेतो॒ लोहि॑तमु॒दर॑म् ॥ २५ ॥

चक्षुः॑ । श्रोत्र॑म् । यशः॑ । अ॒स्मासु॑ । धे॒हि॒ । अन्न॑म् । रेतः॑ । लोहि॑तम् । उ॒दर॑म् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारी !] (अस्मासु) हम लोगों में (चक्षुः) नेत्र,

२४—(ब्रह्मचारी) म० १ । वेदाध्येता (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (भ्राजत्) शॄद्भसोऽदिः । उ० १ । १३० । भ्राजृ दीप्तौ—अदि । प्रकाशमानः (बिभर्ति) धरति (तस्मिन्) ब्रह्मचारिणि (देवाः) दिव्यगुणाः (अधि) अधिकारपूर्वकम् (विश्वे) सर्वे (समोताः) सम्+आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने—क्त । अन्तर्व्याप्ताः (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासयोर्विद्याम् (जनयन्) प्रकटयन् (आत्) अनन्तरम् (व्यानम्) सर्वशरीरव्यापकवायुविद्याम् (वाचम्) भाषणविद्याम् (मनः) मननविद्याम् (हृदयम्) हृदयविद्याम् । (ब्रह्म) ब्रह्मविद्याम् (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् ॥

२५—(चक्षुः) रूपग्राहकमिन्द्रियम् (श्रोत्रम्) शब्दग्राहकमिन्द्रियम्

(श्रोत्रम्) कान, (यशः) यश, (अन्नम्) अन्न, (रेतः) वीर्य, (लोहितम्) रुधिर और (उदरम्) उदर [की स्वस्थता] (धेहि) धारण कर॥ २५॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वेदवेत्ता विवेकी विद्वान् से नेत्रादि की स्वस्थता की शिक्षा प्राप्त करके आत्मा की शुद्धि से यशस्वी बलवान् होवे॥ २५॥

तानि कल्पद् ब्रह्मचारी सलिलस्य पृष्ठे तपोऽतिष्ठत् तप्यमानः समुद्रे। स स्नातो बभ्रुः पिङ्गलः पृथिव्यां बहु रोचते ॥२६॥ (१६)

तानि। कल्पत्। ब्रह्म-चारी। सलिलस्य। पृष्ठे। तपः। अतिष्ठत्। तप्यमानः। समुद्रे॥ सः। स्नातः। बभ्रुः। पिङ्गलः। पृथिव्याम्। बहु। रोचते॥ २६॥ (१६)

भाषार्थ—(ब्रह्मचारी) ब्रह्मचारी (तानि) उन [कर्मों] को (कल्पत्) करता हुआ (समुद्रे) समुद्र [के समान गम्भीर ब्रह्मचर्य] में (तपः तप्यमानः) तप तपता हुआ [वीर्यनिग्रह आदि तप करता हुआ] (सलिलस्य पृष्ठे) जल के ऊपर [विद्यारूप जल में स्नान करने के लिये] (अतिष्ठत्) स्थित हुआ है। (सः) वह (स्नातः) स्नान किये हुये [स्नातक ब्रह्मचारी] (बभ्रुः) पोषण करने वाला और (पिङ्गलः) बलवान् होकर (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (बहु) बहुत (रोचते) प्रकाशमान होता है॥ २६॥

(यशः) कीर्तिम् (अस्मासु) (धेहि) धारय (अन्नम्) भोजनम् (रेतः) वीर्यम् (लोहितम्) रुधिरस्वास्थ्यम् (उदरम्) जठरस्वास्थ्यम्॥

२६—(तानि) पूर्वोक्तकर्माणि (कल्पत्) कल्पयन् (ब्रह्मचारी) म० १। वेदाध्येता वीर्यनिग्राहकः पुरुषः (सलिलस्य) विद्यारूपजलस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (तपः) इन्द्रियनिग्रहादितपश्चरणम् (अतिष्ठत्) स्थितवान् (तप्यमानः) कुर्वाणः (समुद्रे) समुद्ररूपे गम्भीरे ब्रह्मचर्ये (सः) ब्रह्मचारी (स्नातः) विद्यायां कृतस्नानः। वेदाध्ययनान्तरं कृतसमावर्तनाङ्गस्नानः। स्नातकः (बभ्रुः) कुर्भ्रश्च। उ० १। २२। डु भृञ् धारणपोषणयोः—कु द्वित्वञ्च। पोषकः (पिङ्गलः) कुटिकशिकौतिभ्यो मुट् च। उ०। १। १०९। पिजि वर्णे, दीप्तौ, वासे, बले, हिंसायां दाने च—कल। दीप्यमानः। बलवान् (पृथिव्याम्) भूलोके (बहु) विविधम् (रोचते) दीप्यते॥

भावार्थ—तपस्वी ब्रह्मचारी वेदपठन, वीर्यनिग्रह, और आचार्य की सन्तुष्टि से विद्या में स्नातक होकर और समावर्तन करके अपने उत्तम गुण कर्म से संसार का उपकार करता हुआ यशस्वी होता है ॥ २६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि समावर्तन प्रकरण में व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—२३ ॥ मन्त्रोक्ताग्न्यादयो देवताः ॥ १—५, ७—११, १३, १६, १७, १६-२२ अनुष्टुप् ; ६, १२, १४, १५ निचृदनुष्टुप् ; १८ निचृत्पथ्या पङ्क्तिः ; २३ भुरिगनुष्टुप् ॥

कष्टनिवारणायोपदेशः—कष्ट हटानेके लिये उपदेश ॥

अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः ।
इन्द्रं बृहस्पतिं सूर्यं ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १ ॥

अग्निम् । ब्रूमः । वनस्पतीन् । ओषधीः । उत । वीरुधः ॥
इन्द्रम् । बृहस्पतिम् । सूर्यम् । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१॥

भाषार्थ—(अग्निम्) अग्नि, (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [बड़े वृक्षों] (ओषधीः) ओषधियों [अन्न आदिकों], (उत) और (वीरुधः) [विविध प्रकार उगने वाली] जड़ी बूटियों, (इन्द्रम्) इन्द्र [मेघ] और (बृहस्पतिम्) बड़े बड़े लोकों के पालन करने वाले (सूर्यम्) सूर्य का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वानों को योग्य है कि अग्नि आदि पदार्थों के गुण जानकर, उनसे यथावत् उपकार लेकर दुःखों का नाश करें ॥ १ ॥

ब्रूमो राजानं वरुणं मित्रं विष्णुमथो भगम् ।

१—(अग्निम्) (ब्रूमः) कथयामः । स्तुमः (वनस्पतीन्) पिप्पलादिमहावृक्षान् (ओषधीः) अन्नादिरूपाः (उत) अपि च (वीरुधः) विरोहणशीला लताद्याः (इन्द्रम्) मेघम् (बृहस्पतिम्) बृहतां लोकानां पालकम् (सूर्यम्) आदित्यम् (ते) पूर्वोक्ताः (नः) अस्मान् (मुञ्चन्तु) मोचयन्तु, (अंहसः) अमे हुक् च । उ० ४ । २१३ । अम रोगे पीडने च-असुन् हुकत् च । कष्टात् ॥

अंशं विवस्वन्तं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २ ॥

ब्रूमः । राजानम् । वरुणम् । मित्रम् । विष्णुम् । अथो इति । भगम् ॥ अंशम् । विवस्वन्तम् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वरुणम्) श्रेष्ठ (राजानम्) राजा, (मित्रम्) मित्र, (विष्णुम्) कर्मों में व्यापक विद्वान् (अथो) और (भगम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (अंशम्) विभाग करने वाले और (विवस्वन्तम्) विविध स्थान में निवास करने वाले पुरुष का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—धार्मिक राजा और सब विद्वान् पुरुष मिलकर परस्पर रक्षा करके यश प्राप्त करें ॥ २ ॥

ब्रूमो देवं सवितारं धातारमुत पूषणम् ।
त्वष्टारमग्रियं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ३ ॥

ब्रूमः । देवम् । सवितारम् । धातारम् । उत । पूषणम् ॥ त्वष्टारम् । अग्रियम् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवम्) विजयी, (सवितारम्) प्रेरक, (धातारम्) धारण करने वाले (उत) और (पूषणम्) पोषण करने वाले पुरुष को (ब्रूमः) हम पुकारते हैं। (अग्रियम्) अग्रगामी (त्वष्टारम्) सूक्ष्मदर्शी पुरुष को (ब्रूमः) हम पुकारते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥३॥

२—(राजानम्) ईशितारम्। शासकम् (वरुणम्) श्रेष्ठम् (मित्रम्) स्नेहिनम् (विष्णुम्) कर्मसु व्यापकं पण्डितम् (अथो) अपि च (भगम्) भगवन्तम्। ऐश्वर्यवन्तम् (अंशम्) विभाजकम् (विवस्वन्तम्) वि+वस निवासे क्विप्, मतुप्, मस्य वः। विविधस्थाने निवासशीलम्। अन्यत् पूर्ववत् म० ॥ १ ॥

३—(देवम्) विजयिनम् (सवितारम्) प्रेरकम् (धातारम्) धारकम् (उत) अपि च (पूषणम्) पोषकम् (त्वष्टारम्) त्वक्ष तनूकरणे—तृन्। सूक्ष्मीकर्तारम्। प्रवीणं पुरुषम् (अग्रियम्) अ० ५। २। ८। अग्रेभवम्। अन्यत् पूर्ववत् म० १॥

भावार्थ—जहां पर शूरवीर विद्वान् पुरुष होते हैं, वे परस्पर रक्षा करते हैं ॥ ३ ॥

गुन्धुर्वाप्सुरसो ब्रूमो अश्विना ब्रह्मणुस्पतिम् ।
अर्युमा नाम् यो देवस्ते नो मुञ्चुन्त्वंहसः ॥ ४ ॥

गुन्धुर्व-अप्सुरसः । ब्रूमः । अश्विना । ब्रह्मणः । पतिम् ॥
अर्युमा । नाम । यः । देवः । ते । नः । मुञ्चुन्तु । अंहसः ॥४॥

भाषार्थ—(गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों [पृथिवी के धारण करने वालों और अप्सरों [आकाश में चलने वाले पुरुषों] को और (अश्विना) कामों में व्यापक रहने वाले दोनों [माता पिता के समान हितकारी] (ब्रह्मणः पतिम्) वेद के रक्षक [आचार्य आदि] को (ब्रूमः) हम पुकारते हैं । (यः) जो (अर्यमा) न्यायकारी (नाम) प्रसिद्ध (देवः) विजयी पुरुष है] उसको भी], (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—हम विविध विद्या निपुण पुरुषों से सहाय लेकर परस्पर रक्षा करें ॥ ४ ॥

अहोरात्रे इदं ब्रूमः सूर्याचन्द्रमसावुभा ।
विश्वानादित्यान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चुन्त्वंहसः ॥ ५ ॥

अहोरात्रे इति । इदम् । ब्रूमः । सूर्याचन्द्रमसौ । उभा ॥ विश्वान् । आदित्यान् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चुन्तु । अंहसः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) अब (अहोरात्रे) दिन और राति का और (उभा)

४—(गन्धर्वाप्सरसः) अ० ८ । ८ । १५ । गां पृथिवीं धरन्ति ये ते गन्धर्वाः । अप्सु आकाशे सरन्ति ते अप्सरसः । तान् पुरुषान् (ब्रूमः) (अश्विना) अ० २ । २६ । ६ । कार्येषु व्याप्तिमन्तौ जननीजनकौ यथातथा हितकारिणम् (ब्रह्मणस्पतिम्) वेदस्य रक्षकमाचार्यम् (अर्यमा) अ० ३ । १४ । २ । अरीणां नियामकः । न्यायकारी पुरुषः (नाम) प्रसिद्धो (यः) (देवः) विजयी । अन्यद् गतम्-म० १ ॥

५—(अहोरात्रे) (इदम्) इदानीम् (ब्रूमः) (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य-

दोनों (सूर्याचन्द्रमसौ) सूर्य और चन्द्रमा का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (विश्वान्) सब (आदित्यान्) प्रकाशमान विद्वानों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्सङ्ग से सूर्य और चन्द्रमा की विद्या और नियम जानकर अपने समय का सुप्रबन्ध करें ॥ ५ ॥

वातं ब्रूमः पर्जन्यमन्तरिक्षमथो दिशः ।

आशाश्च सर्वा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ६ ॥

वातम् । ब्रूमः । पर्जन्यम् । अन्तरिक्षम् । अथो इति । दिशः ॥ आशाः । च । सर्वाः । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥६॥

भाषार्थ—(वातम्) वायु, (पर्जन्यम्) मेघ, (अन्तरिक्षम्) आकाश (अथो) और (दिशः) दिशाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (च) और (सर्वाः) सब (आशाः) विदिशाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे [पदार्थ] (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य वायु, मेघ, अन्तरिक्ष और दिशा और विदिशाओं के पदार्थों से उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ६ ॥

मुञ्चन्तु मा शपथ्या॑दहोरात्रे अथो॑ उषाः ।

सोमो॑ मा दे॒वो मुञ्चतु यमा॒हुश्चन्द्रमा॒ इति॑ ॥ ७ ॥

मुञ्चन्तु । मा । शपथ्यात् । अहोरात्रे इति । अथो इति । उषाः ॥ सोमः । मा । देवः । मुञ्चतु । यम् । आहुः । चन्द्रमाः । इति ॥ ७ ॥

चन्द्रविद्यां नियमं च (उभा) उभौ (विश्वान्) सर्वान् (आदित्यान्) अ० १। ६। १। आङ् दीपी दीप्तौ-यक्। आदीप्यमानान्। प्रकाशमानान् विदुषः पुरुषान्। शेषं गतम्-म० १ ॥

६—(वातम्) वायुम् (ब्रूमः) (पर्जन्यम्) अ० ३। १। २। पृषु सेचने-अन्यप्रत्ययः, षस्य जकारः। सेचकं मेघम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (अथो) अपि च (दिशः) पूर्वाद्याः (आशाः) विदिशः (च) (सर्वाः) समस्ताः। अन्यद् गतम्-म० १ ॥

भाषार्थ—(अहोरात्रे) दिन और राति (अथो) और (उषाः) उषा [प्रभात वेला] (मा) मुझे (शपथ्यात्) शपथ में होने वाले दोष से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें। (देवः) उत्तम गुण वाला (सोमः) ऐश्वर्यवान्, (यम्) जिसको, "(चन्द्रमाः इति) यह चन्द्रमा है"–(आहुः) कहते हैं, (मा) मुझे (मुञ्चतु) छुड़ावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिन राति और प्रातः सायं चन्द्रमा के समान शान्त स्वभाव होकर सत्य शपथ आदि वचन करके आनन्द भोगें ॥ ७ ॥

पार्थिवा दिव्याः पशव आरण्या उत ये मृगाः ।
शकुन्तान् पक्षिणो ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ८ ॥

पार्थिवाः । दिव्याः । पशवः । आरण्याः । उत । ये । मृगाः ॥
शकुन्तान् । पक्षिणः । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (पार्थिवाः) पृथिवी के, (दिव्याः) आकाश के (पशवः) प्राणी (उत) और (आरण्याः) जंगल के (मृगाः) जन्तु हैं [उनको]। और (शकुन्तान्) शक्ति वाले (पक्षिणः) पक्षियों को (ब्रूमः) हम पुकारते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करें कि पृथिवी, जङ्गल और आकाश के सब प्राणी सुखदायक होवें ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का मिलान—अथर्व० ११ । ५ । २१ ॥ से करो ॥

७—(मुञ्चन्तु) मोचयन्तु (मा) माम् (शपथ्यात्) शपथे सत्यताकरणाय दिव्यभेदे भवाद् दोषात् (अहोरात्रे) (उषाः) प्रभातवेला (सोमः) ऐश्वर्यवान् (मा) माम् (देवः) उत्तमगुणयुक्तः (मुञ्चतु) वियोजयतु (यम्) (आहुः) कथयन्ति (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

८—(पार्थिवाः) पृथिवीभवाः (दिव्याः) आकाशे भवाः (पशवः) प्राणिनः (आरण्याः) जङ्गलभवाः (उत) (ये) (मृगाः) जन्तवः (शकुन्तान्) शकेरुनोन्तोन्त्युनयः । उ० ३ । ४९ । शक्लृ शक्तौ—उन्तप्रत्ययः । शक्तियुक्तान् (पक्षिणः) वयांसि । अन्यद् गतम्–म० १ ॥

भवाशर्वाविदं ब्रूमो रुद्रं पशुपतिश्च यः ।
इषूर्या एषां संविद्म ता नः सन्तु सदा शिवाः ॥ ६ ॥

भवाशर्वौ । इदम् । ब्रूमः । रुद्रम् । पशु-पतिः । च । यः ॥ इषूः । याः । एषाम् । सम्-विद्म । ताः । नः । सन्तु । सदा । शिवाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इदम्) अब (भवाशर्वौ) भव [सुखोत्पादक] और शर्व [दुःखनाशक दोनों पुरुषों] को (च) और (रुद्रम्) रुद्र [ज्ञान दाता पुरुष] को, (यः) जो (पशुपतिः) प्राणियों का रक्षक है, (ब्रूमः) हम पुकारते हैं । [इसलिये कि] (एषाम्) इन सब के (याः इषूः) जिन तीरों को (संविद्म) हम पहिचानते हैं, (ताः) वे (नः) हमारे लिये (सदा) सदा (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिन पुरुषों के अस्त्रशस्त्रधारी योद्धा पुरुष सहायक होते हैं, वे शत्रुओं का नाश करके सुख पाते हैं ॥ ६ ॥

दिवं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान् ।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १० ॥ (१७)

दिवम् । ब्रूमः । नक्षत्राणि । भूमिम् । यक्षाणि । पर्वतान् ॥ समुद्राः । नद्यः । वेशन्ताः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ १० ॥ (१७)

भाषार्थ—(दिवम्) आकाश, (नक्षत्राणि) नक्षत्रों, (भूमिम्) भूमि, (यक्षाणि) पुण्य स्थानों, और (पर्वतान्) पर्वतों का (ब्रूमः) हम कथन

६—(भवाशर्वौ) अ० ४ । २८ । १ । सुखोत्पादकशत्रुनाशकौ पुरुषौ (इदम्) इदानीम् (ब्रूमः) (रुद्रम्) अ० २ । २७ । ६ । रु गतौ—क्विप्, तुक्+रा दाने-क । ज्ञानदातारम् (पशुपतिः) प्राणिरक्षकः (च) (यः) (इषूः) शरान् (याः) (एषाम्) पूर्वोक्तानाम् (सं विद्म) सम्यग् जानीमः (ताः) इषवः (नः) अस्मभ्यम् (सन्तु) (सदा) (शिवाः) सुखहेतवः ॥

१०—(दिवम्) आकाशम् (ब्रूमः) (नक्षत्राणि) णक्ष गतौ—अत्रन् । तारागणान् (भूमिम्) (यक्षाणि) यक्ष पूजायाम्-घञ् । पूजास्थानानि । पुण्य-

करते हैं। (समुद्राः) सब समुद्र, (नद्यः) नदियां और (वेशन्ताः) सरोवर [जो हैं उनका भी], (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य आकाश, नक्षत्र, भूमि आदि पदार्थों के गुण कर्म जानकर और उनका यथावत् उपयोग करके आनन्दित रहें ॥ १० ॥

सप्तर्षीन् वा इदं ब्रूमोऽपो देवीः प्रजापतिम् ।
पितॄन् यमश्रेष्ठान् ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ११ ॥

सप्त-ऋषीन् । वै । इदम् । ब्रूमः । अपः । देवीः । प्रजा-पतिम् ॥
पितॄन् । यम-श्रेष्ठान् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ११

भाषार्थ—(इदम्) अब (वै) निश्चय करके (सप्तर्षीन्) सात ऋषियों [व्यापनशील वा दर्शनशील अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक मन और बुद्धि] का (देवीः) [उनकी] दिव्य गुणवाली (अपः) व्याप्तियों का और (प्रजापतिम्) प्रजापति [प्रजा पालक आत्मा] का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (यमश्रेष्ठान्) यम नियमों को श्रेष्ठ [प्रधान] रखने वाले (पितॄन्) पालन करने वाले गुणों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब इन्द्रियों, मन बुद्धि, उनकी शक्तियों, आत्मा और यम नियमों से पाने योग्य उत्तम गुणों का यथावत् विचार करके दुःखसे निवृत्ति पावें ॥ ११ ॥

क्षेत्राणि (पर्वतान्) शैलान् (समुद्राः) (नद्यः) सरितः (वेशन्ताः) जॄविशिभ्यां झच् । उ० ३ । १२६ । विश प्रवेशने झच् । अल्पजलाशयाः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

११—(सप्तर्षीन्) अ० ४ । ११ । ६ । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे—यजु० ३४ । ५५ । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धीः (वै) एव (इदम्) इदानीम (ब्रूमः) (अपः) व्यापनशक्तीः (देवीः) दिव्यगुणयुक्ताः (प्रजापतिम्) प्रजापालकमात्मानम् (पितॄन्) पालकान् गुणान् (यमश्रेष्ठान्) यमनियमाः श्रेष्ठाः प्रधाना येषां तान् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥ ११ ॥

ये दे॒वा दि॑वि॒षदो॑ अन्तरिक्ष॒सद॑श्च॒ ये ।

पृ॒थि॒व्यां श॒क्रा ये श्रि॒तास्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १२ ॥

ये । दे॒वाः । दि॒वि॒-सदः॑ । अ॒न्त॒रि॒क्ष॒-सदः॑ । च॒ । ये ॥ पृ॒थि॒व्याम् । श॒क्राः । ये । श्रि॒ताः । ते । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः ॥ १२

भाषार्थ—(ये) जो (देवाः) दिव्य गुण (दिविषदः) सूर्य में वर्तमान (च) और (ये) जो (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्ष में व्याप्त हैं। और (ये) जो (शक्राः) शक्तिवाले गुण (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (श्रिताः) स्थित हैं, (ते) (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सूर्य आदि के गुणों को साक्षात् करके सुख प्राप्त करें ॥ १२ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध—अथर्व० १० । ६ । १२ में आ चुका है ॥

आ॒दि॒त्या रु॒द्रा वस॑वो दि॒वि दे॒वा अथ॑र्वाणः ।

अङ्गि॑रसो मनी॒षिण॒स्ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १३ ॥

आ॒दि॒त्याः । रु॒द्राः । वस॑वः । दि॒वि । दे॒वाः । अथ॑र्वाणः ॥ अङ्गि॑रसः । म॒नी॒षिणः॑ । ते । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः ॥ १३

भाषार्थ—(दिवि) विजय की इच्छा में [वर्तमान] (आदित्याः) प्रकाशमान, (रुद्राः) दुःखनाशक, (वसवः) निवास कराने वाले, (देवाः) व्यवहार कुशल (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव, (अङ्गिरसः) ज्ञानी और (मनीषिणः) बुद्धिमान् लोग [जो हैं], (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १३ ॥

१२—(ये) (देवाः) दिव्यगुणाः (दिविषदः) सूर्ये स्थिताः (अन्तरिक्षसदः) अन्तरिक्षे वर्तमानाः (च) (ये) (पृथिव्याम्) भूमौ (शक्राः) अ० २ । ५ । ४ । शक्तिमन्तः (ये) (श्रिताः) स्थिताः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

१३—(आदित्याः) अ० १ । ६ । १ । आदीप्यमानाः (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । दुःखनाशकाः (वसवः) वासयितारः (दिवि) विजिगीषायाम् (देवाः) व्यवहारकुशलाः (अथर्वाणः) अ० ४ । १ । ७ । निश्चलस्वभावाः (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । ज्ञानिनो महर्षयः (मनीषिणः) अ० ३ । ५ । ६ । मेधाविनः—निघ० ३ । १५ । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

भावार्थ—तेजस्वी, महर्षि महात्मा लोग इन्द्रियदमन आदि से बाहिरी और भीतरी दोषों का नाश करते हैं ॥ १३ ॥

यज्ञं ब्रूमो यजमानमृचः सामानि भेषजा ।
यजूंषि होत्रा ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १४ ॥

यज्ञम् । ब्रूमः । यजमानम् । ऋचः । सामानि । भेषजा ॥
यजूंषि । होत्राः । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१४॥

भाषार्थ—(यज्ञम्) यज्ञ [सङ्गति करण आदि व्यवहार], (यजमानम्) यजमान [सङ्गति करण आदि व्यवहार करने वाले], (ऋचः) ऋचाओं [स्तुति विद्याओं] और (भेषजा) भय निवारक (सामानि) मोक्ष ज्ञानों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (यजूंषि) सत्कर्मों के ज्ञानों और (होत्राः) [दान करने और ग्रहण करने योग्य] वेद विद्याओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे [पदार्थ] (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥१४॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है यज्ञ, यज्ञकर्त्ता और पदार्थों के गुण और मोक्ष विद्याओं आदि के तत्त्वज्ञान से आनन्द प्राप्त करें ॥ १४ ॥

पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः ।
दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १५ ॥

पञ्च । राज्यानि । वीरुधाम् । सोम-श्रेष्ठानि । ब्रूमः ॥
दर्भः । भङ्गः । यवः । सहः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१५

भाषार्थ—(वीरुधाम्) जड़ी बूटियों के (सोमश्रेष्ठानि) सोम [ओषधि

१४—(यज्ञम्) सङ्गतिकरणादिव्यवहारम् (यजमानम्) सङ्गतिकरणादिव्यवहारसाधकम् (ऋचः) अ० ६ । २८ । १ । स्तुतिविद्याः (सामानि) अ० ७ । ५४ । १ । षो अन्तकर्मणि-मनिन् । मोक्षज्ञानानि (भेषजा) भयनिवारकानि (यजूंषि) अ० ७ । ५४ । २ । सत्कर्मज्ञानानि (होत्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । हु दानादानयोः—त्रन् , टाप् । दानादानयोग्या वेदवाचः । होत्रा वाङ्नाम-निघ० १ । ११ (ते) पूर्वोक्ताः पदार्थाः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

१५—(पञ्च) पत्रकाण्डपुष्पफलमूलरूपाणि (राज्यानि) राज्ञा भिषजा

विशेष] को प्रधान रखने वाले (पञ्च) पांच [पत्ता, डंडी, फूल, फल और जड़ रूप] (राज्यानि) राज्यों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। [रोगों का] (दर्भः) चीर फाड़ना, (भङ्गः) नाश करना, (यवः) मिलाना [भरदेना] और (सहः) बल [यह उनके गुण हैं], (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सोम आदि जड़ी बूटियों के पत्ते आदि के गुणों से यथोचित उपकार लेकर रोग निवृत्ति करके हृष्ट पुष्ट रहें ॥ १५ ॥

अरायान् ब्रूमो रक्षांसि सर्पान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
मृत्यूनेकशतं ब्रूमस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १६ ॥

अरायान् । ब्रूमः । रक्षांसि । सर्पान् । पुण्य-जनान् । पितॄन् ॥
मृत्यून् । एक-शतम् । ब्रूमः । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥१६॥

भाषार्थ—(अरायान्) अदाताओं, (रक्षांसि) राक्षसों, (सर्पान्) सर्पों [सर्प समान क्रूर स्वभावों], (पुण्यजनान्) पुण्यात्माओं और (पितॄन्) पालन-कर्ताओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (एकशतम्) एक सौ एक [अपरिमित] (मृत्यून्) मृत्युओं [मृत्यु के कारणों] का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखदायी दुष्टों के त्याग से और पुण्यात्माओं के सत्सङ्ग से मृत्यु के कारणों से बचकर सदा आनन्द भोगें ॥ १६ ॥

नियुज्यमानानि कर्माणि (वीरुधाम्) विरोहणशीलानां लतादीनाम् (सोम-श्रेष्ठानि) सोम ओषधिविशेषः श्रेष्ठः प्रशस्यतमो येषां तथाविधानि (दर्भः) ददलिभ्यां भः । उ० ३ । १५१ । द विदारणे- भप्रत्ययः । रोगविदारणगुणः (भङ्गः) भञ्जो आमर्दने-घञ् । नाशनगुणः (यवः) मिश्रणगुणः (सहः) बलम् । प्रभावः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(अरायान्) अ+रा दानादानयोः-घञ्, युक् । अदातॄन् (रक्षांसि) राक्षसान् (सर्पान्) सर्पवत् क्रूरान् (पुण्यजनान्) पूञो यण्, णुग्घ्रस्वश्च । उ० ५ । १५ । पूञ् शोधने-यत्, णुक् ह्रस्वत्वं च । पवित्रात्मनः (पितॄन्) पालकान् (मृत्यून्) मरणकारणानि (एकशतम्) अ० ३ । ६ । ६ । एकोत्तरशत-संख्याकान् । अपरिमितान् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ऋतून् ब्रूम ऋतुपतीनार्तवानुत हायनान्।
समाः संवत्सरान् मासांस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ १७ ॥

ऋतून्। ब्रूमः। ऋतु-पतीन्। आर्तवान्। उत। हायनान्॥
समाः। सम्-वत्सरान्। मासान्। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः॥१७

भाषार्थ—(ऋतून्) ऋतुओं, (ऋतुपतीन्) ऋतुओं के स्वामियों [सूर्य, वायु आदिकों], (आर्तवान्) ऋतुओं से उत्पन्न होने वाले (हायनान्) पाने योग्य चावल आदि पदार्थों, (संवत्सरान्) बरसों, (मासान्) महीनों (उत) और (समाः) सब अनुकूल क्रियाओं का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष ज्योतिष आदि विद्या से वसन्त आदि ऋतुओं, और उनके कारणों सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथिवी आदि और उनकी अनुकूल क्रियाओं से सब काल में उपकार लेकर आनन्द पावें ॥ १७ ॥

यह मन्त्र बहुत कुछ—अथर्व० ३। १०। ६ से मिलता है ॥

एत देवा दक्षिणतः पश्चात् प्राञ्च उदेत। पुरस्तादुत्तराच्छक्रा विश्वे देवाः समेत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥१८॥

आ। इत। देवाः। दक्षिणतः। पश्चात्। प्राञ्चः। उत्-एत॥ पुरस्तात्। उत्तरात्। शक्राः। विश्वे। देवाः। सम्-एत्य। ते। नः। मुञ्चन्तु। अंहसः॥ १८ ॥

भाषार्थ—(देवाः) हे देवताओ! [वीर पुरुषो] (दक्षिणतः) दक्षिण

१७—(ऋतून्) अ० ३। १०। ६। वसन्तादिकालान् (ऋतुपतीन्) सूर्यचन्द्रपृथिवीवाय्वादीन् देवान् (आर्तवान्) अ० ३। १०। ६। ऋतूद्भवान् (उत) अपि च (हायनान्) अ० ३। १०। ६। ओ हाङ् गतौ—ण्युट्। प्राप्तव्यान् ब्रीह्याद्यान् भोज्यपदार्थान् (समाः) अ० २। ६। १। अनुकूलाः क्रियाः (संवत्सरान्) वर्षकालान् (मासान्) चैत्रादिकालान्। अन्यत् पूर्ववत्॥

१८—(एत) आगच्छत (देवाः) विजिगीषवः (दक्षिणतः) दक्षिण-

से (आ इत) आवो (पश्चात्) पश्चिम से, (पुरस्तात्) पूर्व से (उत्तरात्) उत्तर से, (शक्ताः) शक्तिमान् (विश्वे) सब (देवाः) महात्माओ तुम (समेत्य) मिलकर (प्राञ्चः) आगे बढ़ते हुए (उदेत) ऊपर आओ, (ते) वे [आप] (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) बचावें ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब देशों के वीर विद्वानों से विद्या प्राप्त करके विपत्तियों को हटावें ॥ १८ ॥

विश्वा॑न् दे॒वानि॒दं ब्रू॑मः स॒त्यसं॑धानृता॒वृधः॑ ।
विश्वा॑भिः पत्नी॑भिः स॒ह ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ १९ ॥

विश्वा॑न् । दे॒वान् । इ॒दम् । ब्रू॒मः॒ । स॒त्य-सं॑धान् । ऋ॒त॒-वृधः॑
विश्वा॑भिः । पत्नी॑भिः । स॒ह । ते । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः॥१९

भाषार्थ—(इदम्) अब (विश्वान्) सब (देवान्) विजय चाहने वालों, (सत्यसंधान्) सत्य प्रतिज्ञा वालों और (ऋतवृधः) सत्य ज्ञान के बढ़ाने वालों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। [अपनी] (विश्वाभिः) सब (पत्नीभिः सह) पत्नियों [वा पालन शक्तियों] के साथ (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ १९ ॥

भावार्थ—मनुष्य वीर, सत्यवक्ता, सत्यकर्मी और सत्य विद्याओं के प्रचारक स्त्री पुरुषों के सत्संग और सहाय से सुख बढ़ावें ॥ १९ ॥

सर्वा॑न् दे॒वानि॒दं ब्रू॑मः स॒त्यसं॑धानृता॒वृधः॑ ।
सर्वा॑भिः पत्नी॑भिः स॒ह ते नो॑ मुञ्च॒न्त्वंह॑सः ॥ २० ॥

सर्वा॑न् । दे॒वान् । इ॒दम् । ब्रू॒मः॒ । स॒त्य-सं॑धान् । ऋ॒त॒-वृधः॑ ॥
सर्वा॑भिः । पत्नी॑भिः । स॒ह । ते । नः॒ । मु॒ञ्च॒न्तु॒ । अंह॑सः॥२०

देशात् (पश्चात्) पश्चिमदेशात् (प्राञ्चः) प्रकर्षेण गच्छन्तः (उदेत) उदयं प्राप्नुत (पुरस्तात्) पूर्वदेशात् (उत्तरात्) उत्तरदेशात् (शक्ताः) शक्तिमन्तः (विश्वे) सर्वे (देवाः) महात्मानः (समेत्य) समागत्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१९—(विश्वान्) सर्वान् (देवान्) विजिगीषून् (इदम्) इदानीम् (सत्यसंधान्) सत्यप्रतिज्ञान् (ऋतवृधः) सत्यज्ञानस्य वर्धयितॄन् (पत्नीभिः) अ० २ । १२ । १ । योषिद्भिः । पालनशक्तिभिः (सह) अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(इदम्) अब (सर्वान्) सब (देवान्) व्यवहार जानने वालों, (सत्यसंधान्) सत्य के खोजने वालों, और (ऋतवृधः) सत्य ज्ञान से बढ़ने वालों का (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। [अपनी] (सर्वाभिः) सब (पत्नीभिः सह) पत्नियों [वा पालन शक्तियों] के साथ, (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) बचावें ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य सब व्यवहारकुशल, सत्यशील, धर्म्मात्मा स्त्री पुरुषों से शिक्षा प्राप्त करके आनन्दित होवें ॥ २० ॥

भूतं ब्रूमो भूतपतिं भूतानामुत यो वशी ।
भूतानि सर्वा संगत्य ते नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ २१ ॥

भूतम् । ब्रूमः । भूत-पतिम् । भूतानाम् । उत । यः । वशी ॥
भूतानि । सर्वा । सम्-गत्य । ते । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(भूतम्) ऐश्वर्यवान्, विचारशील [योगीन्द्र] का, (भूतपतिम्) प्राणियों के पालन कर्ता का, (उत) और (भूतानाम्) तत्त्वों [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश द्रव्यों] को (यः) जो (वशी) वश करने वाला पुरुष है [उसका] (ब्रूमः) हम कथन करते हैं। (सर्वा) सब (भूतानि) प्राणियों से (संगत्य) मिलकर (ते) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्य जितेन्द्रिय, सर्वहितैषी, तत्त्ववेत्ता जनों से गुण ग्रहण कर के क्लेश का नाश करें ॥ २१ ॥

२०—(सर्वान्) समस्तान् (देवान्) व्यवहारिणः पुरुषान् (सत्यसंधान्) सत्या संधा, अनुसन्धानमन्वेषणं येषां तान् (ऋतवृधः) सत्यज्ञानेन वृद्धिशीलान्। धार्मिकान्। अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२१—(भूतम्) भू सत्तायाम्, शुद्धिचिन्तनयोः, मिश्रणे, प्राप्तौ च—कर्मणि कर्तरि वा—क्त, भूत-अर्शआद्यच्। भूतं विभूतिरैश्वर्यं यस्य तम्। तत्त्वचिन्तनशीलम्। योगीन्द्रम्। शिवम् (भूतपतिम्) प्राणिनां पालकम् (भूतानाम्) पृथिव्यप्तेजोवाय्वाकाशद्रव्याणाम् (उत) अपि च (यः) (वशी) वशयिता नियन्ता (भूतानि) प्राणिनः। जीवान् (सर्वा) सर्वाणि (संगत्य) मिलित्वा। अन्यत् पूर्ववत् ॥

या दे॒वीः पञ्च॑ प्र॒दिशो॒ ये दे॒वा द्वाद॑श॒र्तवः॑ ।
सं॒व॒त्स॒रस्य॒ ये दंष्ट्रा॒स्ते नः॑ सन्तु॒ सदा॑ शि॒वाः ॥ २२ ॥

याः । दे॒वीः । पञ्च॑ । प्र॒-दिशः॑ । ये । दे॒वाः । द्वाद॑श । ऋ॒तवः॑ ॥
स॒म्-व॒त्स॒रस्य॑ । ये । दंष्ट्राः॑ । ते । नः॒ । स॒न्तु॒ । सदा॑ । शि॒वाः २२

भाषार्थ—(याः) जो (देवीः) उत्तम गुण वाली (पञ्च) पांच [पूर्वादि चार और एक ऊपर-नीचे की] (प्रदिशः) बड़ी दिशायें और (ये) जो (देवाः) उत्तम गुण वाले (द्वादश) बारह [मन, बुद्धि सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय रूप] (ऋतवः) ऋतुयें [चलने वाले पदार्थ] हैं । और (संवत्सरस्य) वर्ष काल के (ये) जो (दंष्ट्राः) डंसने वाले गुण हैं, (ते) वे (नः) हमारे लिये (सदा) सदा (शिवाः) कल्याणकारी (सन्तु) होवें ॥२२॥

भावार्थ—मनुष्य सब स्थानों और सब कालों में मन, बुद्धि और इन्द्रियों द्वारा शुभ काम करके विघ्नों से बचे ॥ २२ ॥

यन्मात॑ली रथक्री॒तम॒मृतं॒ वेद॑ भेष॒जम् ।
तदिन्द्रो॑ अ॒प्सु प्रावे॑शय॒त् तदा॑पो दत्त भेष॒जम् ॥२३॥(१८)

यत् । मात॑ली । र॒थ॒-क्री॒तम् । अ॒मृत॑म् । वेद॑ । भे॒ष॒जम् ॥
तत् । इन्द्रः॑ । अ॒प्-सु । प्र । अ॒वे॒श॒य॒त् । तत् । आपः॑ । द॒त्त॒ । भे॒ष॒जम् ॥ २३ ॥ (१८)

भाषार्थ—(मातली) इन्द्र [जीव] का रथवान् [मन] (रथक्रीतम्) रथ [शरीर] द्वारा पाये हुये (यत्) जिस (भेषजम्) भयनिवारक (अमृ-

---

२२—(याः) (देवीः) दिव्यगुणयुक्ताः (पञ्च) पञ्चसंख्याकाः । ऊर्ध्वनीचदिक सहिताः प्राच्याद्याः (प्रदिशः) प्रधानदिशः (ये) (देवाः) दिव्यगुणयुक्ताः (द्वादश) अ० ४ । ११ । ११ । मनोबुद्धिसहिता दशेन्द्रियरूपाः (ऋतवः) गमनशीलाः पदार्थाः (संवत्सरस्य) वर्षकालस्य (ये) (दंष्ट्राः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । दंश दंशने-ष्ट्रन् । दंशनगुणाः (ते) अन्यद् गतम्-म० ६ ॥

२३—(यत्) (मातली) अ० ८ । ६ । ५ । मतल-इञ्, विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मातलिः । इन्द्रस्य जीवस्य सारथिः । मनः (रथक्रीतम्) रथेन

तम्) अमृत [अमरपन, मोक्षसुख] को (वेद) जानता है। (तत्) उस [अमृत] को (इन्द्रः) इन्द्र [परमेश्वर] ने (अप्सु) सब प्रजाओं में (प्रअवेशयत्) प्रवेश किया है, (आपः) हे प्रजाओ ! (तत्) उस (भेषजम्) भय निवारक वस्तु [मोक्षसुख] का (दत्त) दान करो ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो मोक्षसुख शरीर द्वारा प्राप्त होकर मन से अनुभव किया जाता है, वह मोक्ष सुख ईश्वर नियम से सब प्राणियों को प्राप्य है। उसके पाने का प्रत्येक मनुष्य प्रयत्न करे ॥ २३ ॥

इस मन्त्र का मिलान अथर्व० ८। ६। ५ से करो।

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ।

सूक्तम् ॥ ७ ॥

१—२७ ॥ उच्छिष्टो देवता ॥ १—५, ७—१०, १२—२०, २३—२७ अनुष्टुप् ; ६, २१ भुरिगनुष्टुप्; ११ पथ्या पङ्क्तिः; २२ निचृदनुष्टुप् छन्दः ॥

सर्वजगत्कारणपरमात्मोपदेशः—सब जगत् के कारण परमात्मा का उपदेश ॥

उच्छिष्टे नाम॑ रूपं॒ चोच्छिष्टे लो॒क आहि॑तः ।
उच्छिष्ट इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॒ विश्व॑म॒न्तः समाहि॑तम् ॥१॥

उत्-शिष्टे । नाम॑ । रू॒पम् । च॒ । उत्-शिष्टे । लो॒कः । आ-हि॑तः ॥ उत्-शिष्टे । इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । विश्व॑म् । अ॒न्तः । स॒म्-आहि॑तम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उच्छिष्टे) शेष [उत्पत्ति और प्रलय से बचे हुये अनन्त परमेश्वर] में [संसार के] (नाम) नाम (च) और (रूपम्) रूप हैं,

---

शरीरेण प्राप्तम् (अमृतम्) मोक्षसुखम् (वेद) जानाति (भेषजम्) भयनिवारकम् (तत्) अमृतम् (इन्द्रः) परमेश्वरः (अप्सु) आपः (आप्ताः) प्रजाः—दयानन्दभाष्ये यजु० ६। २७। प्रजासु। प्राणिषु (प्रावेशयत्) प्रविष्टवान् (तत्) (आपः) हे प्रजाः (दत्त) प्रयच्छत (भेषजम्) भयनिवारकं वस्तु। मोक्षसुखम् ॥

१—(उच्छिष्टे) अ० ११। ३। २१। उत्+शिष अवशेषोपयोगे—क्त। यं उत्पत्तिप्रलयाभ्यां स्थूलसूक्ष्मरचनाभ्यां चोत्कर्षेण शिष्यते शेषो भवति स

(उच्छिष्टे) शेष [परमात्मा] में (लोकः) दृश्यमान संसार (आहितः) रक्खा हुआ है। (उच्छिष्टे अन्तः) शेष [जगदीश्वर] के भीतर (इन्द्रः) मेघ (च) और (अग्निः) अग्नि [सूर्य आदि] (च) भी और (विश्वम्) प्रत्येक पदार्थ (समाहितम्) बटोरा हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा के सामर्थ्य में यह सब विविध दृश्यमान संसार वर्तमान है ॥ १ ॥

परमेश्वर का नाम (उच्छिष्ट) अर्थात् शेष इस लिये है कि वह नित्य, अनादि, अनन्त और निर्विकार होकर उत्पत्ति और प्रलय से तथा स्थूल और सूक्ष्म रचना से बचा रहता है ॥

उच्छिष्टे द्यावापृथिवी विश्वं भूतं समाहितम् ।
आपः समुद्र उच्छिष्टे चन्द्रमा वात आहितः ॥ २ ॥

उत्-शिष्टे । द्यावापृथिवी इति । विश्वम् । भूतम् । सम्-आहितम् । आपः । समुद्रः । उत्-शिष्टे । चन्द्रमाः । वातः । आ-हितः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उच्छिष्टे) शेष [अनन्त परमेश्वर] में (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी और (विश्वम्) प्रत्येक (भूतम्) सत्ता वाला (समाहितम्) एकत्र किया गया है। (उच्छिष्टे) शेष [जगदीश्वर] में (आपः) जलधारायें (समुद्रः) समुद्र, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा (वातः) पवन (आहितः) रक्खा गया है ॥ २ ॥

भावार्थ—स्पष्ट है ॥

उच्छिष्टस्तस्मिन् शेषे अनन्ते परमेश्वरे (नाम) सृष्टिपदार्थानां नामधेयम् (रूपम्) निरूपणीयं रचनम् (च) (उच्छिष्टे) (लोकः) दृश्यमानः संसारः (आहितः) आरोपितः । आश्रितः (उच्छिष्टे) (इन्द्रः) मेघः (च) (अग्निः) सूर्यादिरूपः (च) अपि (विश्वम्) (सर्वम् । प्रत्येकं वस्तु (समाहितम्) सम्यग् निहितम् । स्थापितम् । राशीकृतम् ॥

२—(द्यावापृथिवी) द्यावापृथिव्यौ । सूर्यभूमी (विश्वम्) प्रत्येकम् (भूतम्) सत्तान्वितं द्रव्यम् (आपः) व्यापनशीला जलधाराः (समुद्रः) जलौघः (चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (वातः) वायुः । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

सन्नुच्छिष्टे असंश्चोभौ मृत्युर्वाजः प्रजापतिः ।
लौक्या उच्छिष्ट आयत्ता व्रश्च द्रश्चापि श्रीर्मयि ॥ ३ ॥

सन् । उत्-शिष्टे । असन् । च । उभौ । मृत्युः । वाजः । प्रजा-पतिः ॥ लौक्याः । उत्-शिष्टे । आ-यत्ताः । व्रः । च । द्रः । च । अपि । श्रीः । मयि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उच्छिष्टे) शेष [मंत्र १ । परमात्मा] में (उभौ) दोनों (सन्) सत्तावाला [दृश्यमान, स्थूल] और (च) (असन्) असत्तावाला [अदृश्यमान परमाणु रूप संसार], (मृत्युः) मृत्यु (वाजः) पराक्रम और (प्रजापतिः) प्रजापालक गुण [हैं] । (उच्छिष्टे) शेष [परमेश्वर] में (लौक्याः) लौकिक पदार्थ (आयत्ताः) वशीभूत हैं, (च) और (व्रः) समूह [समष्टि रूप संसार] (च) और (द्रः) व्यक्ति [पृथक् पृथक् विशेष पदार्थ] (अपि) भी (मयि) मुझ [प्राणी] में [वर्तमान] (श्रीः) सम्पत्ति [परमात्मा में है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा के सामर्थ्य में ही यह सब स्थूल और परमाणु रूप जगत्, मृत्यु आदि और सब प्राणियों की (श्रीः) उत्तम सेवनीय शक्ति वर्तमान है ॥ ३ ॥

दृढो दृंहस्थिरो न्यो ब्रह्म विश्वसृजो दश ।
नाभिमिव सर्वतश्चक्रमुच्छिष्टे देवताः श्रिताः ॥ ४ ॥

३—(सन्) अस सत्तायाम्—शतृ । सत्तां प्राप्नुवन् दृश्यमानः स्थूलसं-
सारः (उच्छिष्टे) म० १ । शेषे परमात्मनि (असन्) असत्तां प्राप्नुवन् । अदृश्य-
मानः परमाणुरूपःसंसारः (च) (उभौ) सदसतौ (मृत्युः) शरीरत्यागः (वाजः)
पराक्रमः (प्रजापतिः) प्रजापालको गुणः (लौक्याः) तत्र भवः । पा० ४ । ३ । ५३ ।
संसारे विद्यमानाः पदार्थाः (उच्छिष्टे) (आयत्ताः) आङ्+यती प्रयत्ने-क्त ।
अधीनाः (व्रः) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । व्रज गतौ—ड । व्रजः
समूहः । समष्टिरूपः (च) (द्रः) द्रु गतौ-डप्रत्ययः पूर्ववत् । व्यक्तिः । व्यष्टिरूपः
संसारः (च) (अपि) (श्रीः) सेवनीया संपत् (मयि) प्राणिनि वर्तमाना ॥

दृढः । दृं॒ह॒-स्थि॒रः । न्यः । ब्रह्म॑ । वि॒श्व॒-सृजः॑ । दश॑ ॥
नाभि॑म्-इव । स॒र्वतः॑। च॒क्रम् । उत्-शि॑ष्टे । दे॒वताः॑ । श्रि॒ताः ४

भाषार्थ—(दृढः) दृढ़, (दृंहस्थिरः) वृद्धि के साथ स्थिर और (न्यः) नायक [गुण] (ब्रह्म) वेदज्ञान और (दश) दस [आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी यह पांच भूत, और शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ये पांच तन्मात्रायें] (विश्वसृजः) संसार बनाने वाले (देवताः) दिव्य पदार्थ (उच्छिष्टे) शेष [म० १ परमात्मा] में (आश्रिताः) आश्रित हैं, (इव) जैसे (नाभिम् सर्वतः) नाभि के सब ओर (चक्रम्) पहिया [पहिये का प्रत्येक अरा लगा होता है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा की शक्ति में संसार के उत्तम उत्तम अचल नियम और पञ्चभूत और पञ्चतन्मात्रा आदि वर्तमान हैं ॥ ४ ॥

ऋक् साम॒ यजु॑रु॒च्छिष्ट उद्गी॒थः प्रस्तु॑तं स्तु॒तम् ।
हि॒ङ्का॒र उच्छिष्टे॒ स्वरः॒ साम्नो॑ मे॒डिश्च॒ तन्मयि॑ ॥५॥

ऋक् । साम॑ । यजुः॑ । उत्-शि॑ष्टे । उ॒त्-गी॒थः । प्र-स्तु॑तम् । स्तु॒तम् ॥ हि॒ङ्-का॒रः। उत्-शि॑ष्टे । स्वरः॑ । साम्नः॑। मे॒डिः । च॒ । तत् । मयि॑ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(उच्छिष्टे) शेष [म० १ परमात्मा] में [वर्तमान]

४—(दृढः) प्रगाढ़ः । कठिनः (दृंहस्थिरः) दृहि वृद्धौ घञ् + ष्ठा गतिनिवृत्तौ किरच् । वृद्ध्या दृढीकृतः (न्यः) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । । वा० पा० ३ । २ । ५ । णीञ् प्रापणे—क । छन्दसो यणादेशः । नियः । नायको गुणः (ब्रह्म) (वेदज्ञानम्) (विश्वसृजः) जगतः स्रष्टारः (दश) आकाशवायुतेजोजलपृथिव्यः—इति, पञ्चभूतानि शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः—इति पञ्चतन्मात्राणि च दशसंख्याकाः (नाभिम) चक्रावयवभेदम् (इव) यथा (सर्वतः) उभसर्वतसोः कार्या० । वा० पा० २ । ३ । २ इति सर्वतसो योगे द्वितीया । सर्वं व्याप्य (चक्रम्) रथचक्रम् (उच्छिष्टे) म० १ परमात्मनि (देवताः) देवाः दिव्यपदार्थाः (श्रिताः) स्थिताः ॥

५—(ऋक्) वाक्-निघ० १ । ११ । वेदवाणी (साम) अ० ७ । ५४ ।

(ऋक्) वेदवाणी, (साम) मोक्ष-विज्ञान, (यजुः) विद्वानों की पूजा, (उद्गीथः) उत्तम गान [वेदध्वनि आदि], (प्रस्तुतम्) प्रकरण अनुकूल (स्तुतम्) स्तोत्र [गुणों का व्याख्यान] । (उच्छिष्टे) शेष [जगदीश्वर] में [वर्त्तमान] (हिङ्कारः) वृद्धिकारक व्यवहार (स्वरः) स्वर [उदात्त, अनुदात्त और स्वरित भेद] (च) और (साम्नः) सामवेद [मोक्षज्ञान] की (मेडिः) वाणी, (तत्) वह [सब] (मयि) मुझ [उपासक] में [होवे] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद द्वारा मोक्षज्ञान आदि सब उत्तम विद्यायें प्राप्त करके संसार में उपदेश करता हुआ कल्याण पावे ॥ ५ ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नं पा॑वमा॒नं म॒हाना॑म्नीर्महाव्र॒तम् ।
उच्छि॑ष्टे य॒ज्ञस्याङ्गा॑न्य॒न्तर्गर्भ॑ इव मा॒तरि॑ ॥ ६ ॥

ऐ॒न्द्रा॒ग्नम् । पा॒व॒मा॒नम् । म॒हा-ना॑म्नीः । म॒हा॒-व्र॒तम् ॥
उत्-शि॑ष्टे । य॒ज्ञस्य॑ । अङ्गा॑नि । अ॒न्तः । गर्भः॑-इव । मा॒तरि॑ ६

भाषार्थ—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्र [मेघ] और अग्नि [सूर्य, बिजुली आदि] का ज्ञान, (पावमानम्) शुद्धिकारक वायु का ज्ञान, (महानाम्नीः) बड़े नामों वाली [वेद विद्यायें] और (महाव्रतम्) महाव्रत और (यज्ञस्य) यज्ञ [देव पूजा, सङ्गतिकरण और दान व्यवहार] के (अङ्गानि) सब अङ्ग (उच्छिष्टे)

---

१ । दुःखनाशकं मोक्षज्ञानम् (यजुः) अ० ७ । ५४ । २ । देवपूजनम् । विदुषां सत्कारः (उच्छिष्टे) म० १ परमात्मनि (उद्गीथः) गश्चोदि । उ० २ । १० । उद् + गै गाने—थक् । वेदध्वनिः । प्रणवः (प्रस्तुतम्) प्रासङ्गिकम् (स्तुतम्) स्तोत्रम् (हिङ्कारः) अ० ७ । ७३ । ८ । हि गतिवृद्ध्योः—डि + करोतेः—अण्, छान्दसं रूपम् । हिं गतिं वृद्धिं वा करोतीति । वृद्धिकरो व्यवहारः, (उच्छिष्टे) (स्वरः) उदात्तादिभेदः (साम्नः) मोक्षज्ञानस्य (मेडिः) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । मिल संश्लेषणे इञ् । मेलिः, वाङ् नाम-निघ० १ । ११ । वाणी (च) (तत्) तत्सर्वम् (मयि) उपासके भवेदिति शेषः ॥

६—(ऐन्द्राग्नम्) इन्द्राग्नि—अण् । इन्द्रस्य मेघस्य, अग्नेः सूर्यविद्युनादेश्च ज्ञानम् (पावमानम्) पवमानस्य शुद्धिकारकस्य पवनस्य ज्ञानम् (महानाम्नीः) महान्ति नामानि यासु ता महानाम्न्यः । वेदवाण्यः (महाव्रतम्) पूज-

शेष [म० १ । परमात्मा] में हैं, (इव) जैसे (मातरि अन्तः) माता के [उदर के] भीतर (गर्भः) गर्भ [रहता है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर रचित पदार्थों और नियमों के ज्ञान को अपने में धारण करके वृद्धि करे, जैसे माता गर्भ को उदर में रखकर बढ़ाती है ॥ ६ ॥

राज॒सू॒यं वा॑ज॒पे॒यम॑ग्निष्टो॒मस्तद॑ध्व॒रः ।
अ॒र्का॒श्व॒मे॒धावुच्छि॑ष्टे जी॒वब॑र्हिर्म॒दिन्त॑मः ॥ ७ ॥

रा॒ज॒-सू॒यम् । वा॒ज॒-पे॒यम् । अ॒ग्नि॒-स्तो॒मः । तत् । अ॒ध्व॒रः ॥
अ॒र्क॒-अ॒श्व॒मे॒धौ । उत्-शि॑ष्टे । जी॒व-ब॑र्हिः । म॒दिन्-त॑मः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(राजसूयम्) राजसूय [राजतिलक यज्ञ], (वाजपेयम्) वाजपेय [विज्ञान और बल का रक्षक यज्ञ] (अग्निष्टोमः) अग्निष्टोम [आग वा परमेश्वर वा विद्वान् के गुणों की स्तुति], (तत्) तथा (अध्वरः) सन्मार्ग देने वाला वा हिंसा रहित व्यवहार, (अर्काश्वमेधौ) पूजनीय विचार और अश्वमेध [चक्रवर्ती राज्य पालन की मेधा अर्थात् बुद्धि वाला व्यवहार] और

नीयं ब्रह्म (उच्छिष्टे) (यज्ञस्य) देवपूजासङ्गतिकरणदानव्यवहारस्य (अङ्गानि) अवयवाः (अन्तः) मध्ये (गर्भः) (इव) (मातरि ॥

७—(राजसूयम्) अ० ४ । ८ । १ । राजन्+षुञ् अभिषवे—क्यप् । राजाभिषेकयज्ञः (वाजपेयम्) वज गतौ-घञ् । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । पा रक्षणे—यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । आत इत्वम, गुणः । वाजो विज्ञानं बलं च पेयं रक्षणीयं यस्मिन् कर्मणि तत् । विज्ञानस्य बलस्य च रक्षको यज्ञः (अग्निष्टोमः) अ० ९ । ६ (४) । २ । अग्नेः पावकस्य परमेश्वरस्य विदुषो वा स्तुतिव्यवहारः (अध्वरः) अ० ३ । २६ । ६ । सन्मार्गदायको हिंसारहितो वा व्यवहारः (अर्काश्वमेधौ) अर्कः— अ० ३ । ३ । २ । अर्च पूजायाम्—क । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति–निरु० ५ । ४ । अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । अशू व्याप्तौ–कन् । अश्विनौ...राजानौ पुण्यकृतौ–निरु० १२ । १ । इति वचनाद् अश्वो राज्यवाचकः । मिधृ मेधृ सङ्गमे हिंसामेधयोश्च–घञ्, टाप् इति मेधा ।–अर्को मन्त्रः पूजनीयविचारः, अश्वे राज्यव्याप्तौ चक्रवर्तिराज्यपालने मेधा वशी धारणा-

[अन्य] (मदिन्तमः) अत्यन्त हर्षदायक (जीववर्हिः) जीवों की बढ़ती वाला व्यवहार (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमेश्वर] में हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर की आराधना करते हुए राजसूय, वाजपेय, अश्वमेध आदि यज्ञों से समस्त प्राणियों को आनन्द देवें ॥ ७ ॥

अग्न्याधेयमथो दीक्षा कामप्रश्छन्दसा सह ।
उत्सन्ना यज्ञाः सत्राण्युच्छिष्टेऽधि समाहिताः ॥

अग्नि-आधेयम् । अथो इति । दीक्षा । काम-प्रः । छन्दसा । सह ॥ उत्-सन्नाः । यज्ञाः । सत्राणि । उत्-शिष्टे । अधि । सम्-आहिताः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अग्न्याधेयम्) अग्न्याधान [अग्नि की स्थापना] (अथो) और (दीक्षा) दीक्षा [नियम पालन व्रत] (छन्दसा सह) वेद के साथ (कामप्रः) कामना पूरक व्यवहार, (उत्सन्नाः) ऊंचे चढ़े हुये (यज्ञाः) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] और (सत्राणि) बैठकें (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में (अधि) अधिकार पूर्वक (समाहिताः) एकत्र किये गये हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने सामर्थ्य से मनुष्य को यथावत् उन्नति करने के लिये वेद के साथ सत्यव्रत धारण आदि नियमों का उपदेश किया है ॥ ८ ॥

वर्धते वृद्धिर्यस्मिन् व्यवहारे स च तावुभौ (उच्छिष्टे) म० १ । परमात्मनि (जीववर्हिः) बृंहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०९ । जीव + बृहि वृद्धौ-इसि । जीवानां वृद्धिर्व्यवहारः (मदिन्तमः) अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । मद-इनि । मदिन्-तमप् । नाद्घस्य । पा० ८ । २ । १७ । तमपो नुडागमः । अतिशयेन हर्ष करः ॥

८—(अग्न्याधेयम्) अग्नि + आ + दधातेः-यत् । वाजपेयवत् सिद्धिः-म० ७ । अग्न्याधानम् (अथो) अपिच (दीक्षा) अ० ८ । ५ । १५ । नियमपालनव्रतम् (कामप्रः) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । काम + प्रा पूरणे—क । कामनापूरको व्यवहारः (छन्दसा) वेदेन (सह) साकम् (उत्सन्नाः) उत + षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-क्त । ऊर्ध्वं गताः । उन्नताः (यज्ञाः) पूजनीया व्यवहाराः (सत्राणि) गुधृपचिवचियमिसदि० । उ० ४ । १६७ । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—त्र । सदनानि । सभास्थानानि (उच्छिष्टे) (अधि) अधिकारपूर्वकम् (समाश्रिताः) राशीकृताः ॥

अ॒ग्नि॒हो॒त्रं च॑ श्र॒द्धा च॑ वषट्का॒रो व्र॒तं तपः॑ ।
दक्षि॑णे॒ष्टं पू॒र्तं चोच्छि॑ष्टेऽधि स॒माहि॑ताः ॥ ९ ॥

अ॒ग्नि॒-हो॒त्रम् । च॒ । श्र॒द्धा । च॒ । व॒ष॒ट्-का॒रः । व्र॒तम् । तपः॑ ॥ दक्षि॑णा । इ॒ष्टम् । पू॒र्तम् । च॒ । उत्-शि॑ष्टे । अधि॑ । स॒म्-आहि॑ताः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अग्निहोत्रम्) अग्निहोत्र [अग्नि में हवन] (च) और (श्रद्धा) श्रद्धा [भक्ति], (च) और (वषट्कारः) दानकर्म, (व्रतम्) व्रत [नियम] (तपः) तप [चित्त की एकाग्रता], (दक्षिणा) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] (इष्टम्) वेदाध्ययन, आतिथ्य आदि (च) और (पूर्तम्) अन्नदानादि पुण्य कर्म (उच्छिष्टे) शेष [म० १। परमात्मा] में (अधि) अधिकार पूर्वक (समाहिताः) एकत्र किये गये हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—हवन और शिल्प आदि व्यवहारों में अग्नि का प्रयोग ईश्वर और वेद में श्रद्धा आदि कर्म परमेश्वर ने जगत् के हित के लिये नियत किये हैं ९॥

ए॒क॒रा॒त्रो द्वि॑रा॒त्रः स॑द्यः॒क्रीः प्र॒क्रीरु॒क्थ्यः॑ ।
ओतं॒ निहि॑त॒मुच्छि॑ष्टे य॒ज्ञस्या॒णूनि॑ वि॒द्यया॑ ॥ १० ॥ (१९)

ए॒क॒-रा॒त्रः । द्वि॒-रा॒त्रः । स॒द्यः॒-क्रीः । प्र॒-क्रीः । उ॒क्थ्यः॑ ॥ आ-उ॑तम् । नि-हि॑तम् । उत्-शि॑ष्टे । य॒ज्ञस्य॑ । अ॒णूनि॑ । वि॒द्यया॑ ॥ १० ॥ (१९)

भाषार्थ—(एकरात्रः) एक रात्रि वाला, (द्विरात्रः) दो रात्रि वाला, (सद्यःक्रीः) तुरन्त ही मोल लिया गया, (प्रक्रीः) मोल लेने योग्य; (उक्थ्यः)

९—(अग्निहोत्रम्) अग्नौ होमः (च) (श्रद्धा) भक्तिः (च) (वषट्कारः) अ० १। ११। १। वह प्रापणे-डषटि। आहुतिकरणम्। दानक्रिया (व्रतम्) (तपः) चित्तैकाग्र्यम (दक्षिणा) अ० १। ५। १। पतिष्ठा (इष्टम्) अ० २। १२। ४। वेदाध्ययनातिथ्यादि कर्म (पूर्तम्) अ० २। १२। ४। अन्नदानादि पुण्यकर्म। अन्यत् पूर्ववत्-म० ८॥

१०—(एकरात्रः) अहः सर्वैकदेश संख्यातपुण्याच्च रात्रेः। पा० ५। ४। ८७। अच् समासान्तः। एका रात्रिरेकरात्रः। ततो मत्वर्थे। अर्श आदिभ्यो

प्रशंसनीय [व्यवहार वा यज्ञ], [यह सब] (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में (ओतम्) ओत प्रोत [भली भांति बुना हुआ] (निहितम्) रक्खा हुआ है, और (विद्यया) विद्या के साथ (यज्ञस्य) [ईश्वर पूजा आदि] के (अणूनि) सूक्ष्म रूप [रक्खे हैं] ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को सर्व व्यापक जानकर एक दिन वा दो दिन में वा तुरन्त, अथवा क्रय विक्रय आदि से समाप्ति योग्य कर्मों को विचार कर अपना कर्त्तव्य सिद्ध करे ॥ १० ॥

चतूरात्रः पञ्चरात्रः षड्रात्रश्चोभयः सह । षोडशी सप्तरात्रश्चोच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे ये यज्ञा अमृते हिताः ॥ ११ ॥

चतुः-रात्रः । पञ्च-रात्रः । षट्-रात्रः । च । उभयः । सह ॥ षोडशी । सप्त-रात्रः । च । उत्-शिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । ये । यज्ञाः । अमृते । हिताः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(चतूरात्रः) चार रात्रि [तक रहने] वाला, (पञ्चरात्रः) पांच रात्रि वाला, (षड्रात्रः) छह रात्रि वाला, (च) और (सह) मिलकर (उभयः) दूने समय [८+१०+१२=३० रात्रि] वाला । (षोडशी) सोलह [रात्रि] वाला (च) और (सप्तरात्रः) सात रात्रि वाला [यज्ञ वा

ऽच् पा० ५ । २ । १२७ । इत्यच् । एकां रात्रिं व्याप्य वर्तमानो व्यवहारः (द्विरात्रः) द्वे रात्री व्याप्य वर्तमानः (सद्यःक्रीः) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । डु क्रीञ् द्रव्यविनिमये-क्विप् । तत्कालवक्रीतः (प्रक्रीः) प्रकर्षेण क्रेयः (उक्थ्यः) प्रशंसनीयः (ओतम्) व्यूतम् (निहितम्) निक्षिप्तम् (उच्छिष्टे) (यज्ञस्य) (अणूनि) सूक्ष्माणि रूपाणि (विद्यया) तत्त्वज्ञानेन ॥

११—(चतूरात्रः) एकरात्र इति शब्दवत् सिद्धिः—म० १ । चतस्रो रात्रीर्व्याप्य समाप्यमानः (पञ्चरात्रः) पञ्चभी रात्रिभिः समाप्यमानः (षड्रात्रः) षड्भी रात्रिभिः समाप्यमानः (च) (उभयः) द्विगुणितः (सह) साहाय्येन (षोडशी) षोडशरात्रः (सप्तरात्रः) सप्तभी रात्रिभिः समाप्यमानः (उच्छिष्टात्) (जज्ञिरे) उत्पन्ना बभूवुः (सर्वे) (ये) (यज्ञाः) (अमृते) नास्ति मरणं दुःखं यस्मिंस्तस्मिन् पौरुषे मोक्षे वा (हिताः) धृताः ॥

व्यवहार] (उच्छिष्टात्) शेष [म० १। परमेश्वर] से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये हैं, [और वे भी] (ये) जो (सर्वे) सब (यज्ञाः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (अमृते) [अमरपन [पौरुष वा मोक्ष पद] में (हिताः) स्थापित हैं ॥११॥

भावार्थ—परमात्मा ने बताया है कि मनुष्य पहिले से ही चार दिन, पांच दिन आदि काल का विचार करके मोक्ष पर्यन्त अपना कर्तव्य व्यवहार साधे ॥ ११ ॥

प्रतीहारो निधनं विश्वजिच्चाभिजिच्च यः ।
साह्नातिरात्रावुच्छिष्टे द्वादशाहोऽपि तन्मयि ॥ १२ ॥

प्रति-हारः । नि-धनम् । विश्व-जित् । च । अभि-जित् । च । यः ॥ साह्न-अतिरात्रौ । उत्-शिष्टे । द्वादश-अहः । अपि । तत् । मयि ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(प्रतीहारः) प्रत्युपकार, (निधनम्) कुल [कुलवृद्धि] (च) और (विश्वजित्) संसार का जीतने वाला (च) और (यः) जो (अभिजित्) सब ओर से जीतने वाला [यज्ञ वा व्यवहार है, वह] (साह्नातिरात्रौ) उसी दिन पूरा होने वाला और रात्रि विता कर पूरा होने वाला और (द्वादशाहः) बारह दिन में पूरा होने वाला [यज्ञ वा व्यवहार] (अपि) भी (उच्छिष्टे) शेष [म० १। परमात्मा] में हैं, (तत्) वह (मयि) मुझ [उपासक] में [होवे] ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा में आत्मसमर्पण करते हैं, वे संसार में परस्पर उपकार, कुलवृद्धि, जय और विविध समय का उपयोग करके उत्तम सुख भोगते हैं ॥ १२ ॥

१२—(प्रतीहारः) प्रति+हृञ् स्वीकारे—घञ् । उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम् । पा० ६ । ३ । १२२ । इति सांहितिको दीर्घः । प्रत्युपकारः (निधनम्) नि+धा-क्यु । कुलम् । कुलवर्धनम् (विश्वजित्) सर्वजेता (च) (अभिजित्) सर्वतो जेता यज्ञः (च) (यः) (साह्नातिरात्रौ) एकरात्र इति शब्दवत् सिद्धिः—म० १० । समानेन दिनेन समाप्यमानो रात्रिमतीत्य वर्तमानश्चतौ यज्ञौ व्यवहारौ वा (उच्छिष्टे) (द्वादशाहः) अ० ८ । ६ (४) । ८ । द्वादशभिर्दिनैः समाप्यमानो यज्ञः (अपि) एव (तत्) पूर्वोक्तम् (मयि) उपासके ॥

सूनृता संनतिः क्षेमः स्वधोर्जामृतं सहः ।
उच्छिष्टे सर्वे प्रत्यञ्चः कामाः कामेन तातृपुः ॥ १३ ॥

सूनृता । सम्-नतिः । क्षेमः । स्वधा । ऊर्जा । अमृतम् । सहः ॥ उत्-शिष्टे । सर्वे । प्रत्यञ्चः । कामाः । कामेन । ततृपुः १३

भाषार्थ—(सूनृता) प्रिय सत्य वाणी, (संनतिः) यथावत् नम्रता, (क्षेमः) रक्षा, (स्वधा) अन्न, (ऊर्जा) पराक्रम, (सहः) बल और (अमृतम्) अमृत [मृत्यु वा दुःख से बचना अर्थात् पुरुषार्थ] । (सर्वे) [इन] सब (कामाः) कामना योग्य विषयों ने (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में (प्रत्यञ्चः) व्याप कर (कामेन) इष्ट फल के साथ [मनुष्य को] (ततृपुः) तृप्त किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रिय सत्य वचन आदि के साथ आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ाते हैं, वे परमात्मा के अनुग्रह से सब उत्तम कामनायें सिद्ध करते हैं ॥ १३ ॥

नव भूमीः समुद्रा उच्छिष्टेऽधि श्रिता दिवः ।
आ सूर्यो भात्युच्छिष्टेऽहोरात्रे अपि तन्मयि ॥ १४ ॥

नव । भूमीः । समुद्राः । उत्-शिष्टे । अधि । श्रिताः । दिवः ॥ आ । सूर्यः । भाति । उत्-शिष्टे । अहोरात्रे इति । अपि । तत् । मयि ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(नव) नौ [हमारे दो कान, दो आंख, दो नथने, मुख,

१३—(सूनृता) अ० ३ । १२ । २ । प्रियसत्यात्मिका वाक् (संनतिः) सम्यग् नम्रता (क्षेमः) परिरक्षणम् (स्वधा) अ० २ । २९ । ७ अन्नम् (ऊर्जा)ऊर्ज बलप्राणनयोः—पचाद्यच् । पराक्रमः (अमृतम्) मरणराहित्यम् पौरुषम् (सहः) बलम् (उच्छिष्टे) (सर्वे) (प्रत्यञ्चः) अभिमुखमञ्चन्तः प्राप्नुवन्तः (कामाः) काम्यमानाः पदार्थाः (कामेन) इष्टफलेन (ततृपुः) तृप प्रीणने लिट्, सांहितिको दीर्घः । तर्पितवन्तः ॥

१४—(नव) द्वे श्रोत्रे, चक्षुषी, नासिके, मुखम्, द्वे पायूपस्थे नवभिः

पायु और उपस्थ इन नौ अर्थात् सब इन्द्रियों से जाने गये] (भूमीः) भूमि के देश, (समुद्राः) अन्तरिक्ष के लोक और (दिवः) प्रकाशमान लोक (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में (अधि) अधिकार पूर्वक (श्रिताः) ठहरे हैं। (सूर्यः) सूर्य (उच्छिष्टे) शेष [परमेश्वर] में (आ) सब ओर (भाति) चमकता है, और (अहोरात्रे) दिन राति (अपि) भी, (तत्) वह [उनका सुख] (मयि) मुझ [उपासक] में [होवे] ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी इन्द्रियों से विद्या द्वारा परमेश्वर रचित भूमि आदि से यथावत् उपकार लेकर सुखी होवें ॥ १४ ॥

उपहव्यं विषूवन्तं ये च यज्ञा गुहा हिताः ।
बिभर्ति भर्ता विश्वस्योच्छिष्टो जनितुः पिता ॥ १५ ॥

उप-हव्यम् । विषु-वन्तम् । ये । च । यज्ञाः । गुहा । हिताः ॥
बिभर्ति । भर्ता । विश्वस्य । उत्-शिष्टः । जनितुः । पिता १५

भाषार्थ—(उपहव्यम्) प्राप्ति योग्य (विषुवन्तम्) व्याप्ति वाले [बाहिरी उत्तम गुण] को (च) और (ये) जो (यज्ञाः) श्रेष्ठ गुण (गुहा) बुद्धि के भीतर (हिताः) रक्खे हैं, [उनको भी] (विश्वस्य) सब का (भर्त्ता) पोषक. (जनितुः) जनक [हमारे उत्पन्न करने वाले] का (पिता) पिता [पालक] (उच्छिष्टः) शेष [म० १। परमात्मा] (बिभर्ति) धारण करता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि सर्वपोषक परमेश्वर के ज्ञान द्वारा अपने बाहिरी और भीतरी गुणों का ज्ञान प्राप्त करें ॥ १५ ॥

शरीरेच्छिद्रैर्ज्ञायमानाः—इत्यर्थः (भूमीः) भूमयः। भूमिदेशाः (समुद्राः) अन्तरिक्षलोकाः (उच्छिष्टे) म० १। शेषे । परमात्मनि (अधि) अधिकृत्य (श्रिताः) स्थिताः (दिवः) प्रकाशमाना लोकाः (आ) समन्तात् (सूर्यः) भास्करः (भाति) दीप्यते (उच्छिष्टे) अहोरात्रे) रात्रिदिने (अपि) (तत्) सुखम् (मयि) उपासके ॥

१५—(उपहव्यम्) हु दानादानयोः—यत्। ग्राह्यं गुणम् (विषुवन्तम्) व्याप्तिमन्तं विस्तारवन्तं गुणम् (ये) (च) (यज्ञाः) श्रेष्ठगुणाः (गुहा) गुहायाम्। बुद्धौ (हिताः) धृताः (बिभर्ति) भरति (भर्ता) पोषकः (विश्वस्य) सर्वस्य (उच्छिष्टः) म० १। शेषः (जनितुः) जनयितुः। जनकस्य (पिता) पालकः। जनकः ॥

पिता जनितुरुच्छिष्टोऽसोः पौत्रः पितामहः ।
स क्षियति विश्वस्येशानो वृषा भूम्यामतिघ्न्यः ॥ १६ ॥
पिता । जनितुः । उत्-शिष्टः । असोः । पौत्रः । पितामहः ॥
सः । क्षियति । विश्वस्य । ईशानः । वृषा । भूम्याम् । अति-घ्न्यः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(उच्छिष्टः) शेष [म० १ । परमात्मा] (जनितुः) जनक [हमारे उत्पादक] का (पिता) पिता और (असोः) प्राण [हमारे जीवन] का (पौत्रः) पोता [पुत्र के पुत्र समान पीछे वर्तमान] और (पितामहः) दादा [पिता के पिता समान पहिले वर्तमान] है। (सः) वह (विश्वस्य) सबका (ईशानः) ईश्वर, (वृषाः) महापराक्रमी [परमात्मा] (भूम्याम्) भूमि पर (अतिघ्न्यः) विना हराया हुआ (क्षियति) बसता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—सर्वजनक, अनादि, अनन्त परमेश्वर सर्व विजयी है, उसकी उपासना सब मनुष्य करें ॥ १६ ॥

ऋतं सत्यं तपो राष्ट्रं श्रमो धर्मश्च कर्म च ।
भूतं भविष्यदुच्छिष्टे वीर्यं लक्ष्मीर्बलं बले ॥ १७ ॥
ऋतम् । सत्यम् । तपः । राष्ट्रम् । श्रमः । धर्मः । च । कर्म । च ॥
भूतम् । भविष्यत् । उत्-शिष्टे । वीर्यम् । लक्ष्मीः । बलम् । बले ॥ १७ ॥

१६—(पिता) जनकः (जनितुः) जनकस्य (उच्छिष्टः) म० १ । परमात्मा (असोः) असु क्षेपणे-उन् । असुरिति प्राणनामास्तः शरीरे भवति-निरु० ३ । ८ । प्राणस्य जीवनस्य (पौत्रः) पुत्रस्य पुत्रवत् पश्चाद्भावी (पितामहः) अ० ५ । ५ । १ । पितुः पितृसमान प्रथमभवः (सः) (क्षियति) निवसति (विश्वस्य) सर्वस्य (ईशानः) ईश्वरः (वृषा) वृषु सेचने ऐश्वर्ये च—कनिन् । महापराक्रमी । इन्द्रः (भूम्याम्) पृथिव्याम् (अतिघ्न्यः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । अति+हन हिंसागत्योः-यक् । अतिक्रान्तहननः । अहन्तव्यः । अजेयः ॥

भाषार्थ—(ऋतम्) सत्य शास्त्र, (सत्यम्) सत्यवचन, (तपः) तप [इन्द्रियदमन], (राष्ट्रम्) राज्य, (श्रमः) परिश्रमः (च) और (धर्मः) धर्म [पक्षपात रहित न्याय और सत्य आचरण] (च) और (कर्म) कर्म । (भूतम) उत्पन्न हुआ और (भविष्यत्) उत्पन्न होने वाला जगत्, (वीर्यम्) वीरता, (लक्ष्मीः) लक्ष्मी [सर्वसम्पत्ति] और (बले) बले के भीतर [वर्तमानन्] (बलम्) बल (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमेश्वर की उपासना से सत्य व्यवहार वीरता आदि करके लक्ष्मीवान् होवें ॥ १७ ॥

समृद्धिरोज आकूतिः क्षत्रं राष्ट्रं षडुर्व्यः ।
संवत्सरोऽध्युच्छिष्ट इडा प्रैषा ग्रहा हविः ॥ १८ ॥

सम्-ऋद्धिः । ओजः । आ-कूतिः । क्षत्रम् । राष्ट्रम् । षट् । उर्व्यः ॥ सम्-वत्सरः । अधि । उत्-शिष्टे । इडा । प्र-एषाः । ग्रहाः । हविः ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(समृद्धिः) समृद्धि [सर्वथा वृद्धि] (ओजः) पराक्रम (आकूतिः) संकल्प [मनमें विचार] (क्षत्रम्) हानि से रक्षक [क्षत्रियपन] (राष्ट्रम्) राज्य और (षट्) छह (उर्व्यः) फैली [दिशायें] । (संवत्सरः) वर्ष (इडा)

१७—(ऋतम्) सत्यशास्त्रम् । यथार्थसंकल्पनम् (सत्यम्) यथार्थभाषणम् (तपः) इन्द्रियदमनम् (राष्ट्रम्) राज्यम् (श्रमः) परिश्रमः (धर्मः) अर्तिस्तुसुहुसृधृ० । उ० १ । १४० । धृञ् धारणे-मन् । ध्रियते सुखप्राप्तये सेव्यते स धर्मः । पक्षपातरहितो न्यायः । सत्याचारः (कर्म) विहितं कार्यम् (च) (भूतम्) उत्पन्नं जगत् (भविष्यत्) उत्पत्स्यमानम् (उच्छिष्टे) (वीर्यम्) वीरकर्म (लक्ष्मीः) लक्षेर्मुट् च । उ० ३ । १६० । लक्ष दर्शने अङ्कने च । ई प्रत्ययो मुट् च । दर्शनीया सर्व सम्पत्तिः (बलम्) सामर्थ्यम् (बले] सामर्थ्ये ॥

१८—(समृद्धिः) अभिवृद्धिः (ओजः) बलम् (आकूतिः) संकल्पः (क्षत्रम्) अ० २ । १५ । ४ । क्षत्+त्रैङ् पालने-क । क्षतो हाने रक्षकं क्षत्रियधर्मः (राष्ट्रम्) राज्यम् (षट्) (उर्व्यः) विस्तृता दिशः (संवत्सरः) वर्ष-

वाणी, (प्रैषाः) प्रेरणायें, (ग्रहाः) अनेक प्रयत्न और (हविः) ग्राह्य वस्तु (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में (अधि) अधिकार पूर्वक हैं ॥१८॥

भावार्थ—परमेश्वर में पूर्ण विश्वास से मनुष्य दिशाओं अर्थात् देश और संवत्सर अर्थात् काल का विचार करके सदा प्रयत्न के साथ राज्य आदि व्यवहार करें ॥ १८ ॥

चतु॑र्होतार आ॒प्रिय॑श्चातुर्मा॒स्यानि॑ नी॒विदः॑ ।
उच्छिष्टे य॒ज्ञा होत्राः॑ पशुब॒न्धास्तदिष्ट॑यः ॥ १९ ॥

चतुः॑ऽहोतारः । आ॒ऽप्रियः॑ । चा॒तुः॒ऽमा॒स्यानि॑ । नि॒ऽविदः॑ ॥
उत्ऽशि॑ष्टे । य॒ज्ञाः । होत्राः॑ । प॒शु॒ऽब॒न्धाः । तत् । इ॒ष्टयः॑ १९॥

भाषार्थ—(चतुर्होतारः) चार [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, चार वर्णों] से ग्राह्य व्यवहार, (चातुर्मास्यानि) चार महीनों में सिद्ध होने वाले कर्म (आप्रियः) सर्वथा प्रीति उत्पन्न करने वाली क्रियायें और (निविदः) निश्चित विद्यायें, (यज्ञाः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार], (होत्राः) देने लेने योग्य [वेद वाचायें] (पशुबन्धाः) प्राणियों के प्रबन्ध (तत्) तथा (इष्टयः) इष्ट क्रियायें (उच्छिष्टे) शेष [म० १।५ परमात्मा] में हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—सर्वविद्यामय, सर्वाधार परमेश्वर की उपासना से मनुष्य अपने २ योग्य कर्मों में प्रवृत्ति करें ॥ १९ ॥

कालः (अधि) (उच्छिष्टे) (इडा) अ० ३ । १० । ६ । इल गतौ-क, टाप् । वाणी-निघ० ३ । ११ (प्रैषाः) प्र+इष गतौ-घञ् । प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु । वा० पा० ६ । १ । ८९ । इति वृद्धिः । प्रैषणव्यवहाराः । प्रेरणाः (ग्रहाः) ग्राह्याः प्रयत्नाः । उद्यमाः (हविः) ग्राह्यं वस्तु ॥

१९—(चतुर्होतारः) चत्वारो ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रा होत्तारो ग्रहीतारो येषां ते व्यवहाराः (आप्रियः) प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च-क्विप् । सर्वथा प्रीत्युत्पादिकाः क्रियाः (चातुर्मास्यानि) चतुर्मासाण्ण्यो यज्ञे । वा पा० ५ । १ । ९४ । चतुर्षु मासेषु साध्यानि कर्माणि (निविदः) अ० ५ । २६ । ४ । निश्चितविद्याः (उच्छिष्टे) (यज्ञाः) श्रेष्ठव्यवहाराः (होत्राः) अ० ११ : ६ । १४ । दानादानयोग्या वेदवाचः (पशुप्रबन्धाः) पशवो व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च—निरु० ११ । २९ । पशूनां प्राणिनां प्रबन्धाः (तत) तथा (इष्टयः) इष्टक्रियाः ॥

अर्धमासाश्च मासाश्चार्तवा ऋतुभिः सह ।
उच्छिष्टे घोषिणीरापः स्तनयित्नुः श्रुतिर्मही ॥ २० ॥ (२०)

अर्ध-मासाः । च । मासाः । च । आर्तवाः । ऋतु-भिः । सह ॥ उत्-शिष्टे । घोषिणीः । आपः । स्तनयित्नुः । श्रुतिः । मही ॥ २० ॥ (२०)

भाषार्थ—(अर्धमासाः) आधे महीने (च) और (मासाः) महीने (च) और (ऋतुभिः सह) ऋतुओं के साथ (आर्तवाः) ऋतुओं के पदार्थ, (घोषिणीः) शब्द करने वाली (आपः) जल धारायें, (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जन, (श्रुतिः) सुनने योग्य [वेद वाणी] और (मही) भूमि (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य के सुख के लिये पखवाड़े, महीने, ऋतुयें और ऋतुओं की उपज और अन्य सब पदार्थ उत्पन्न किये हैं ॥ २० ॥

शर्कराः सिकता अश्मान ओषधयो वीरुधस्तृणा ।
अभ्राणि विद्युतो वर्षमुच्छिष्टे संश्रिता श्रिता ॥ २१ ॥

शर्कराः । सिकताः । अश्मानः । ओषधयः । वीरुधः । तृणा ॥ अभ्राणि । वि-द्युतः । वर्षम् । उत्-शिष्टे । सम्-श्रिता । श्रिता ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(शर्कराः) कंकड़ आदि (अश्मानः) पत्थर, (सिकताः) बालू, (ओषधयः) ओषधें [अन्नादि], (वीरुधः) जड़ी बूटियां, (तृणा)

२०—(अर्धमासाः) मासपक्षाः (च) (मासाः) चैत्राद्याः (आर्तवाः) ऋतुषु समुत्पन्नाः पदार्थाः (ऋतुभिः) वसन्तादिभिः (सह) (उच्छिष्टे) (घोषिणीः) शब्दवत्यः (आपः) जलधाराः (स्तनयित्नुः) अ० ४ । १५ । ११ । मेघध्वनिः (श्रुतिः) श्रवणीया वेदवाणी (मही) भूमिः ॥

२१—(शर्कराः) शॄ हिंसायाम्-करन्, टाप् । अः करन् । उ० ४ । ३ । उपलखण्डाः (सिकताः) बालुकाः (अश्मानः) प्रस्तराः (ओषधयः) अन्ना-

घासें, (अभ्राणि) बादल, (विद्युतः) बिजुलियां, (वर्षम्) बरसात, (संश्रिता) [ये सब] परस्पर आश्रित द्रव्य (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में] (श्रिता) ठहरे हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की महिमा को विचार कर कंकड़ पत्थर आदि पदार्थों से यथा योग्य कार्य सिद्ध करें ॥ २१ ॥

राद्धिः प्राप्तिः समाप्तिर्व्याप्तिर्मह एधतुः ।
अत्याप्तिरुच्छिष्टे भूतिश्चाहिता निहिता हिता ॥ २२ ॥

राद्धिः । प्र-आप्तिः । सम्-आप्तिः । वि-आप्तिः । महः । एधतुः ॥ अति-आप्तिः । उत्-शिष्टे । भूतिः । च । आ-हिता । नि-हिता । हिता ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(राद्धिः) अर्थ सिद्धि, (प्राप्तिः) प्राप्ति [लाभ], (समाप्तिः) समाप्ति [पूर्त्ति], (व्याप्तिः) व्याप्ति [फैलाव], (महः) बड़ाई, (एधतुः) बढ़ती, (अत्याप्तिः) अत्यन्त प्राप्ति (च) और (आहिता) सब ओर से रक्खी हुई और (निहिता) गहरी रक्खी हुई (भूतिः) विभूति [सम्पत्ति] (उच्छिष्टे) शेष [म० १ । परमात्मा] में (हिता) रक्खी है ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के आश्रय से अर्थ सिद्धि आदि प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २२ ॥

यच्च प्राणति प्राणेन यच्च पश्यति चक्षुषा ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २३ ॥

दयः (वीरुधः) विरोहणशीला लतादयः (तृणा) गवादिभक्षणानि (अभ्राणि) अभ्र गतौ-अच् । गतिमन्तो मेघाः (विद्युतः) तडितः (वर्षम्) वृष्टिः, (उच्छिष्टे) (संश्रिता) परस्परस्थितानि (श्रिता) स्थितानि ॥

२२—(राद्धिः) अर्थसिद्धिः (प्राप्तिः) लाभः (समाप्तिः) पूर्त्तिः (व्याप्तिः) विस्तृतिः (महः) महत्त्वम् (एधतुः) एधिवह्योश्चतुः । उ० १ । ७७ । एध वृद्धौ-चतु । वृद्धिः (अत्याप्तिः) अत्यन्तप्राप्तिः (उच्छिष्टे) (आहिता) समन्ताद् धृता (निहिता) निक्षिप्ता (हिता) स्थिता ॥

यत् । च । प्राणति । प्राणेन । यत् । च । पश्यति । चक्षुषा ॥
उत्-शिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिवि-श्रितः ॥२३॥

भाषार्थ—(च) और (यत्) जो कुछ (प्राणेन) प्राण [श्वास प्रश्वास] के साथ (प्राणति) जीता है, (च) और (यत्) जोकुछ (चक्षुषा) नेत्र से (पश्यति) देखता है। [वह सब और] (दिवि) आकाश में [वर्तमान] (दिवि-श्रितः) सूर्य [के आकर्षण] में ठहरे हुये (सर्वे) सब (देवाः) गतिमान् लोक (उच्छिष्टात्) शेष [म० १। परमात्मा] से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सब प्राण वाले जगत् और सब लोकों को सूर्य के आकर्षण में रखकर मनुष्य के सुख के लिये उत्पन्न किया है ॥ २३ ॥

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २४ ॥

ऋचः। सामानि । छन्दांसि । पुराणम् । यजुषा । सह ॥ उत्-शिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिवि-श्रितः॥२४॥

भाषार्थ—(ऋचः) स्तुति विद्यायें [वा ऋग्वेद मन्त्र] (सामानि) मोक्ष ज्ञान [वा साम वेद मन्त्र] और (यजुषा सह) विद्वानों के सत्कार सहित [वा यजुर्वेद सहित] (छन्दांसि) आनन्द प्रद कर्म [वा अथर्ववेद मन्त्र] और (पुराणम्) पुराण [पुरातन वृत्तान्त]। [यह सब और] (दिवि) आकाश में [वर्तमान] (दिविश्रितः) सूर्य [के आकर्षण] में ठहरे हुये (सर्वे)

२३—(यत्) यत् किञ्चिज् जगत् (च) (प्राणति) प्रकर्षेण जीवति (प्राणेन) श्वासप्रश्वासव्यापारेण (यत् च) (पश्यति) अवलोकयति (चक्षुषा) नेत्रेण (उच्छिष्टात्) म० १। शेषात्परमेश्वरात् (जज्ञिरे) उत्पन्ना बभूवुः (सर्वे) (दिवि) आकाशे वर्तमानाः (देवाः) दिवु गतौ-पचाद्यच्। गतिमन्तो लोकाः (दिविश्रितः) दिवि सूर्ये सूर्याकर्षणे स्थिताः ॥

२४—(ऋचः) अ० ११। ६। १४। स्तुतिविद्याः । ऋग्वेदमन्त्राः (सामानि) अ० ११। ६। १४। मोक्षज्ञानानि ।साममन्त्राः (छन्दांसि) अ० ४। ३४। १। चदि आह्लादने-असुन, चस्य छः। आह्लादकर्माणि । अथर्ववेदमन्त्राः (पुराणम्) अ० १०। ७। २६। पुरातनवृत्तान्तः (यजुषा) अ० ७। ५४। २।

सब (देवाः) गतिमान् लोक (उच्छिष्टात्) शेष [म० १ । परमात्मा] से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये हैं ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सब उत्तम कर्म और वेद आदि शास्त्र और सब पदार्थ मनुष्य के सुख के लिये प्रकट किये हैं ॥ २४ ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २५ ॥

प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या ॥
उत्-शिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिवि-श्रितः ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान [भीतर और बाहिर जाने वाले श्वास], (चक्षुः) नेत्र, (श्रोत्रम्) कान (च) और (या) जो (अक्षितिः) [तत्त्वों की] निर्हानि [बढ़ती] (च) और (क्षितिः) [तत्त्वों की] हानि । [यह सब और] (दिवि) आकाश में [वर्तमान] (दिविश्रितः) सूर्य [के आकर्षण] में ठहरे हुये (सर्वे) सब (देवाः) गतिमान् लोक (उच्छिष्टात्) शेष [म० १ । परमात्मा] से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने शरीर में पृथिवी आदि तत्त्वों के बढ़ाव घटाव से मनुष्य को जीवधारण, देखने और सुनने आदि के साधन देकर और सृष्टि के पदार्थों का साक्षात् कराकर सुख बढ़ाने का उपदेश किया है ॥ २५ ॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २६ ॥

आ-नन्दाः । मोदाः । प्र-मुदः । अभिमोद-मुदः । च । ये ॥
उत्-शिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिवि-श्रितः ॥ २६ ॥

विदुषां सत्कारेण । यजुर्मन्त्रेण (सह) शेषं पूर्ववत् ॥

२५—(प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासौ (चक्षुः) नेत्रम् (श्रोत्रम्) कर्णम् (अक्षितिः) तत्त्वानां निर्हानिः (च) (क्षितिः) तत्त्वानां हानिः (च) (या) ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(आनन्दाः) आनन्द, (मोदाः) हर्ष, (प्रमुदः) बड़े आनन्द (च) और (ये) जो (अभिमोदमुदः) बड़े उत्सवों से हर्ष देने वाले पदार्थ हैं। [यह सब और] (दिवि) आकाश में [वर्तमान] (दिविश्रितः) सूर्य [के आकर्षण] में ठहरे हुये (सर्वे) सब (देवाः) गतिमान् लोक (उच्छिष्टात्) शेष [म० १ परमात्मा] से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य को अनेक प्रकार से आनन्द पाने के लिये अनेक आनन्द साधन प्रदान किये हैं ॥ २६ ॥

देवाः पितरो मनुष्या गन्धर्वाप्सरसश्च ये ।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः ॥ २७ ॥ (२१)

देवाः । पितरः । मनुष्याः । गन्धर्व-अप्सरसः । च । ये ॥
उत्-शिष्टात् । जज्ञिरे । सर्वे । दिवि । देवाः । दिवि-श्रितः २७

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग, (पितरः) ज्ञानी लोग, (मनुष्याः) मनन शील लोग (च) और (ये) जो (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व [पृथिवी के धारण करने वाले] और अप्सर [आकाश में चलने वाले पुरुष] हैं। [यह सब और] (दिवि) आकाश में [वर्तमान] (दिविश्रितः) सूर्य [के आकर्षण] में ठहरे हुये (सर्वे) सब (देवाः) गतिमान् लोक (उच्छिष्टात्) शेष [म० १ । परमात्मा] से (जज्ञिरे) उत्पन्न हुये हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—परमात्मा के सामर्थ्य से अनेक विद्वान् लोग और अनेक पदार्थ संसार में सुख बढ़ाने के लिये उत्पन्न हुये हैं ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका पृष्ट १३५, १३६ में व्याख्यात है ॥

२६—(आनन्दाः) सुखविशेषाः (मोदाः) हर्षाः (प्रमुदः) प्रकृष्टहर्षाः (अभिमोदमुदः) अभिमोदैर्महोत्सवैर्हर्षयितारः पदार्थाः (च) (ये) अन्यत् पूर्ववत् ॥

२७—(देवाः) विद्वांसः (पितरः) ज्ञानिनः (मनुष्याः) मननशीलाः (गन्धर्वाप्सरसः) अ० ८ । ८ । १५ । गां पृथिवीं धरन्ति ये ते गन्धर्वाः । अप्सु आकाशे सरन्ति ते अप्सरसः । तथाभूताः पुरुषाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ॥ ८ ॥

१—३४ ॥ मन्युर्देवता ॥ १—२८, ३०-३२, ३४ अनुष्टुप्; २९ विराडनुष्टुप्; ३३ पथ्या पङ्क्तिः ॥

शरीररचनोपदेशः—शरीर की रचना का उपदेश।

यन्म॒न्युर्जा॒याम॒वह॑त् संक॒ल्पस्य॑ गृ॒हादधि॑ ।
क आ॑सं॒ जन्याः॒ के व॒राः क उ॑ ज्ये॒ष्ठव॒रो॑ऽभवत् ॥ १ ॥

यत् । म॒न्युः । जा॒याम् । आ॒-अव॑हत् । स॒म्-क॒ल्पस्य॑ । गृ॒हात् । अधि॑ ॥ के । आस॒न् । जन्याः॑ । के । व॒राः । कः । ऊँ॒ इति॑ । ज्ये॒ष्ठ-व॒रः । अ॒भ॒व॒त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (मन्युः) सर्वज्ञ [परमेश्वर] (जायाम्) सृष्टि की क्रिया को (संकल्पस्य) सङ्कल्प [मनोविचार] के (गृहात्) ग्रहण [स्वीकार करने] से (अधि) अधिकार पूर्वक (आवहत्) सब ओर लाया [प्रकट किया] । (के) कौन (जन्याः) उत्पत्ति में साधक [योग्य] पदार्थ और (के) कौन (वराः) वर [वरणीय, इष्टफल] (आसन्) थे, (कः उ) कौन ही (ज्येष्ठवरः) सर्वोत्तम वरों [इष्टफलों] का देने वाला (अभवत्) हुआ ॥ १ ॥

भावार्थ—जब ईश्वर ने सृष्टि की रचना चाहा, तब यह प्रश्न उत्पन्न हुये-किन पदार्थों से सृष्टि की जावे, किस प्रयोजन के लिये वह होवे, और कौन उसका स्वामी हो। इस का उत्तर आगे है ॥ १ ॥

१—(यत्) यदा (मन्युः) अ० १ । १० । १ । यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । मन ज्ञाने—युच् । सर्वज्ञः परमेश्वरः (जायाम्) जनेर्यक् । उ० ४ । १११ । जन जनने—यक् । जायतेऽस्यां सर्वं जगदिति जाया तां सृष्टिक्रियाम् (आवहत्) समन्तात् प्रापयत् । प्रकटीकृतवान् (सङ्कल्पस्य) मनोविचारस्य (गृहात्) गृह ग्रहणे क । ग्रहणात् । स्वीकरणात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (आसन्) अभवन् (जन्याः) तत्र साधुः । पा० ४ । ४ । ९८ । जन—यत् । जने जनने, उत्पादने, साधका योग्याः पदार्थाः (के) (वराः) वरणीया इष्टपदार्थाः (कः) (उ) एव (ज्येष्ठवरः) ज्येष्ठाः सर्वोत्कृष्टा वरा वरणीयपदार्था यस्मात् सः ॥

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।
त आसं जन्यास्ते वरा ब्रह्म ज्येष्ठवरो ऽभवत् ॥ २ ॥

तपः । च । एव । आस्ताम् । कर्म । च । अन्तः । महति । अर्णवे ॥ ते । आसन् । जन्याः । ते । वराः । ब्रह्म । ज्येष्ठ-वरः । अभवत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तपः) तप [ईश्वर का सामर्थ्य] (च च) और (कर्म) कर्म [प्राणियों के कर्म का फल] (एव) ही (महति अर्णवे अन्तः) बड़े समुद्र [परमेश्वर के गम्भीर सामर्थ्य] के भीतर (आस्ताम्) दोनों थे। [तप और कर्म ही] (ते) वे प्रसिद्ध] (जन्याः) उत्पत्ति में साधन [योग्य] पदार्थ और (ते) वे ही (वराः) वर [वरणीय इष्टफल] (आसन्) थे, (ब्रह्म) ब्रह्म [सब से बड़ा परमात्मा] (ज्येष्ठवरः) सर्वोत्तम वरों [इष्ट फलों] का दाता (अभवत्) हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ—अनादि चक्र रूप संसार में परमात्मा अपने सामर्थ्य से प्राणियों के कर्मानुसार सृष्टि रचकर आप ही सर्वनियन्ता हुआ। यह गत मन्त्र के तीनों प्रश्नों का उत्तर है। मन्त्र ३ तथा ४ में इसी का विवरण है ॥२॥

दश साकमजायन्त देवा देवेभ्यः पुरा ।
यो वै तान् विद्यात् प्रत्यक्षं स वा अद्य महद् वदेत् ॥ ३ ॥

दश । साकम् । अजायन्त । देवाः । देवेभ्यः । पुरा ॥ यः । वै । तान् । विद्यात् । प्रति-अक्षम् । सः । वै । अद्य । महत् । वदेत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दश देवाः) दस दिव्य पदार्थ [पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय] (पुरा) पूर्व काल में [वर्तमान] (देवेभ्यः) दिव्य पदार्थों [कर्म

२—(तपः) तप ऐश्वर्ये—असुन्। ईश्वरसामर्थ्यम् (च) (एव) (आस्ताम्) अभवताम् (कर्म) प्राणिनां पुण्यपापकर्मफलम् (च) (अन्तः) मध्ये (महति) प्रभूते (अर्णवे) अ० १।१०।४। समुद्रे। परमेश्वरस्य गम्भीर-सामर्थ्ये (ते) प्रसिद्धाः (ब्रह्म) प्रवृद्धः परमात्मा। अन्यत् पूर्ववत्—म० १॥

३—(दश) दशसंख्याकाः (साकम्) सह (अजायन्त) प्रादुरभवन् (देवाः) स्वस्वविषयप्रकाशनशीलानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि (देवेभ्यः)

फलों] से (साकम्) परस्पर मिले हुये (अजायन्त) उत्पन्न हुये । (यः) जो पुरुष (वै) निश्चय करके (तान्) उनको (प्रत्यक्षम्) प्रत्यक्ष (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह (वै) ही (अद्य) आज (महत्) महान् [ब्रह्म] को (वदेत्) बतलावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—फिर उस ब्रह्म के सामर्थ्य से प्राणियों के पूर्वसंचित कर्म अनुसार पांच ज्ञानेन्द्रिय, कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका और पांच कर्मेन्द्रिय वाक्, हाथ, पांव, पायु, उपस्थ, कर्मों के जानने और करने के लिये उत्पन्न हुये । सूक्ष्म दर्शी पुरुष ही इसको जानकर परमात्मा का उपदेश करते हैं ॥ ३ ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ् मनस्ते वा आकूतिमावहन् ॥ ४ ॥

प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या ॥ व्यान-उदानौ । वाक् । मनः । ते । वै । आ-कूतिम् । आ । अवहन् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान [भीतर और बाहिर जाने वाला श्वास], (चक्षुः) नेत्र, (श्रोत्रम्) कान, (च) और (या) जो (अक्षितिः) [सुख की] निर्हानि (च) और (क्षितिः) [दुःख की] हानि । (व्यानोदानौ) व्यान [सब नाड़ियों में रस पहुंचाने वाला वायु] और (वाक्) वाणी और (मनः) मन, (ते) इन सब ने (वै) निश्चय करके (आकूतिम्)

पञ्चमी विभक्तिः । दिव्यपदार्थेभ्यः । पूर्वकर्मफलानां सकाशात् (पुरा) पुरातनकाले वर्तमानेभ्यः (यः) विवेकी (वै) (तान्) (विद्यात्) जानीयात् (प्रत्यक्षम्) साक्षात्कारेण (सः) (वै) (अद्य) अस्मिन् दिने (महत्) पूजनीयं ब्रह्म (वदेत्) उपदिशेत् ॥

४—(व्यानोदानौ) सर्वासु नाडिषु रसमनिति प्रेरयतीति व्यानः । उत् ऊर्ध्वमनिति चेष्टतइत्युदानः । तौ वायुव्यापारौ (वाक्) वचनसाधनमिन्द्रियम् (मनः) सङ्कल्पविकल्पात्मकवृत्तिमदन्तःकरणम् (ते) पूर्वोक्ताः पदार्थाः (वै)

सङ्कल्प [प्राणी के मनोविचार] को (आ) सब ओर से (अवहन्) प्राप्त कराया ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्राणियों के विहित कर्मों की सिद्धि के लिये परमेश्वर ने प्राण, अपान आदि बनाये । मन्त्र १ का उत्तर समाप्त हुआ ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आ चुका है—अ० ११ । ७ । २५ ॥

अजाता आसन्नृतवोऽथो धाता बृहस्पतिः ।

इन्द्राग्नी अश्विना तर्हि कं ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ५ ॥

अजाताः । आसन् । ऋतवः । अथो इति । धाता । बृहस्पतिः ॥ इन्द्राग्नी इति । अश्विना । तर्हि । कम् । ते । ज्येष्ठम् । उप । आसत ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(ऋतवः) ऋतुयें (अजाताः) अनुत्पन्न (आसन्) थे, (अथो) और भी (धाता) धाता [धारण करने वाला आकाश], (बृहस्पतिः) [बड़े पदार्थों का रक्षक वायु], (इन्द्राग्नी) इन्द्र [मेघ] और अग्नि [सूर्य आदि] और (अश्विना) दिन और राति [अनुत्पन्न थे], (तर्हि) तब (ते) उन्होंने [ऋतु आदिकों ने] (कम् ज्येष्ठम्) कौन से सर्वश्रेष्ठ को (उप आसत) पूजा है ५

भावार्थ—जब वसन्त आदि ऋतुयें और आकाश वायु आदि पदार्थ स्थूल दशा में नहीं थे, तब उनका अधिष्ठाता कौन था । इस प्रश्न का उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ ५ ॥

(आकूतिम्) संकल्पम् (आ अवहन्) समन्तात् प्रापितवन्तः प्रकटी कृतवन्तः । अन्यद् व्याख्यातम्–अ० ११ । ७ । २५ ॥

५—(अजाताः) अनुत्पन्नाः । अप्रादुर्भूताः (आसन्) अभवन् (ऋतवः) वसन्ताद्याः कालाः (अथो) अपि च (धाता) सर्वस्य विधाता–निरु० ११ । १० । इति मध्यस्थानदेवतासु पाठात् । लोकानां धारक आकाशः (बृहस्पतिः) बृहस्पतिः बृहतः पाता वा पालयिता वा–निरु० १० । ११ । इति मध्यस्थानदेवतासु पाठात् । बृहतां प्राणिनां रक्षको वायुः (इन्द्राग्नी) मेघतापौ (अश्विना) अहोरात्रौ निरु० १२ । १ (तर्हि) तदा (कम्) अधिष्ठातारम् (ते) पूर्वोक्ताः (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्टम् (उपासत) पूजितवन्तः ॥

तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे ।

तपो ह जज्ञे कर्मणस्तत् ते ज्येष्ठमुपासत ॥ ६ ॥

तपः । च । एव । आस्ताम् । कर्म । च । अन्तः । महति । अर्णवे ॥ तपः । ह । जज्ञे । कर्मणः । तत् । ते । ज्येष्ठम् । उप । आसत ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तपः) तप [ईश्वर का सामर्थ्य] (च च) और (कर्म) कर्म [प्राणियों के कर्म का फल] (एव) ही (महति अर्णवे अन्तः) बड़े समुद्र [परमेश्वर के गम्भीर सामर्थ्य] के भीतर (आस्ताम्) दोनों थे। (तपः) तप [ईश्वर का सामर्थ्य (ह) निश्चय करके (कर्मणः) कर्म [कर्म के फल अनुसार शरीर, स्वभाव आदि रचना] से (जज्ञे) प्रकट हुआ है, (तत्) सो (ते) उन्हों ने [ऋतु आदिकों ने–म० ५] (ज्येष्ठम्) सर्वश्रेष्ठ परमात्मा को (उप-आसत) पूजा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रलय में प्राणियों के कर्म फल और ईश्वर सामर्थ्य भी ईश्वर सामर्थ्य में रक्षित थे। फिर सृष्टि काल में कर्म फलों के अनुसार प्राणियों के विविध प्रकार शरीर और स्वभाव प्रकट हुये। उस से परमात्मा ही सर्व नियन्ता प्रतीत हुआ ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऊपर म० २ में आ चुका है ॥

येत आसीद् भूमिः पूर्वा यामद्धातय इद् विदुः ।

यो वै तां विद्यान्नामथा स मन्येत पुराणवित् ॥ ७ ॥

या । इतः । आसीत् । भूमिः । पूर्वा । याम् । अद्धातयः । इत् । विदुः ॥ यः । वै । ताम् । विद्यात् । नाम-था । सः । मन्येत । पुराण-वित् ॥ ७ ॥

६—(तपः) ईश्वरसामर्थ्यम् (ह) एव (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (कर्मणः) कर्मफलानुसारेण शरीरस्वभावादिरचनारूपात् कर्मसकाशात् (तत्) तदा (ते) ऋतुधात्रादयः–म० ५ (ज्येष्ठम्) सर्वोत्कृष्टं परमात्मानम् (उपासत) पूजितवन्तः। अन्यत् पूर्ववत्–म० २ ॥

भाषार्थ—(इतः) इस [दीखती हुई भूमि] से (पूर्वा) पहिली [पहिले कल्प वाली] (या भूमिः) जो भूमि (आसीत्) थी और (याम्) जिस [भूमि] को (अद्धातयः) सत्य ज्ञानी पुरुष (इत्) ही (विदुः) जानते हैं। (यः) जो (वै) निश्चय करके (ताम्) उस [पहिले कल्प वाली भूमि] को (नामथा) नाम द्वारा [तत्त्वतः] (विद्यात्) जान लेवे, (सः) वह (पुराणवित्) पुराणवेत्ता [पिछले वृत्तान्त जानने वाला] (मन्येत) माना जावे ॥७॥

भावार्थ—वर्तमान सृष्टि में एक से साधन उपस्थित हो जाने पर भी किसी को ज्ञानी, किसी को अज्ञानी, किसी को धनी, किसी को निर्धनी, आदि विचित्रता देखकर बुद्धिमान् लोग पूर्व सृष्टि का अनुभव करते और उसके मर्म को साक्षात् करते हैं ॥ ७ ॥

कुत इन्द्रः कुतः सोमः कुतो अग्निरजायत ।
कुतस्त्वष्टा समभवत् कुतो धाताजायत ॥ ८ ॥

कुतः । इन्द्रः । कुतः । सोमः । कुतः । अग्निः । अजायत ॥
कुतः । त्वष्टा । सम् । अभवत् । कुतः । धाता । अजायत ॥८॥

भाषार्थ—(कुतः) कहां से [किस कारण से] (इन्द्रः) इन्द्र [मेघ], (कुतः) कहां से (सोमः) सोम [प्रेरक वायु], (कुतः) कहां से (अग्निः) अग्नि [सूर्य आदि तेज] (अजायत) उत्पन्न हुआ है। (कुतः) कहां से (त्वष्टा)

७—(या) भूमिः (इतः) दृश्यमानाया भूमेः (आसीत्) अभवत् (भूमिः) (पूर्वा) पूर्वकल्पस्था (याम्) पूर्वां भूमिम् (अद्धातयः) अ० ६ । ७६ । २ । अद्धा+अत सातत्यगमने—इन् । अद्धा सत्यमतन्ति जानन्ति ते । सत्यज्ञातारः । मेधाविनः—निघ० ३ । १५ (इत्) एव (विदुः) जानन्ति (यः) विद्वान् (वै) खलु (ताम्) पूर्वां भूमिम् (नामथा) नामप्रकारेण । यथार्थज्ञानेन (सः) (मन्येत) कर्मणि यक् । ज्ञायेत । बुध्येत (पुराणवित्) पूर्ववृत्तान्तवेत्ता ॥

८—(कुतः) कस्मात् कारणात् (इन्द्रः) मेघः (सोमः) इत्यस्य मध्यस्थानदेवतासु पाठात्-निरु० ११ । २५ प्रेरको वायुः (अग्निः) सूर्यादितापः (अजायत) उदपद्यत (त्वष्टा) त्वष्टा तूर्णमश्नुत इति नैरुक्तास्त्विषेर्वा स्याद्

त्वष्टा [शरीर आदि का कारण पृथिवी तत्त्व] (सम् अभवत्) उत्पन्न हुआ है, (कुतः) कहां से (धाता) धाता [धारण करने वाला आकाश] (अजायत) प्रकट हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मेघ आदि पदार्थ किस कारण से उत्पन्न हुये हैं। इन प्रश्नों का उत्तर अगले मंत्र में है ॥ ८ ॥

इन्द्रादिन्द्रः सोमात् सोमो अग्नेरग्निरजायत ।
त्वष्टा ह जज्ञे त्वष्टुर्धातुर्धाताजायत ॥ ९ ॥

इन्द्रात् । इन्द्रः । सोमात् । सोमः । अग्नेः । अग्निः । अजायत ॥ त्वष्टा । ह । जज्ञे । त्वष्टुः । धातुः । धाता । अजायत ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रात्) इन्द्र [पूर्वकल्पवर्ती मेघ] से (इन्द्रः) इन्द्र [मेघ], (सोमात्) सोम [प्रेरक वायु] से (सोमः) सोम [प्रेरक वायु], (अग्नेः) अग्नि [सूर्य आदि तेज] से (अग्निः) अग्नि [सूर्य आदि तेज] (अजायत) उत्पन्न हुआ है। (त्वष्टा) त्वष्टा [शरीर आदि का कारण पृथिवी तत्त्व] (ह) निश्चय करके (त्वष्टुः) त्वष्टा [शरीर आदि के कारण पृथिवी तत्त्व] से (जज्ञे) प्रकट हुआ है और (धातुः) धाता [धारण करनेवाले आकाश] से (धाता) धाता [धारण करने वाला आकाश] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ प्रलय में परमाणु रूप थे, वे पूर्व कल्प के समान इस कल्प में भी ईश्वर सामर्थ्य से उत्पन्न हुये हैं ॥ ९ ॥

ऋग्वेद १० । १९० । ३ । में ऐसा वर्णन है—(सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्) सूर्य और चन्द्रमा को धाता [सर्वधारक परमेश्वर] ने पूर्वकल्प के समान रचा है ॥

दीप्तिकर्मणस्त्वक्षतेर्वास्यात्करोतिकर्मणः—निरु० ८ । १३ । इति भूस्थानदेवतासु पाठात् । शरीराणां कारणं पृथिवीतत्त्वम् (धाता) म० ५ । लोकानां धारक आकाशः । अन्यद् गतम् ॥

९—इन्द्रादिशब्दा व्याख्याताः—म० ८ (इन्द्रात्) मेघात् (इन्द्रः) मेघः (सोमात्) वायोः (सोमः) वायुः (अग्नेः) सूर्यादितापात् (अग्निः) (अजायत) (त्वष्टा) शरीरादिकारणं भूमितत्त्वम् (ह) एव (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (त्वष्टुः) (धातुः) (धाता) आकाशः (अजायत) ॥

ये त आसन् दश जाता देवा देवेभ्यः पुरा ।
पुत्रेभ्यो लोकं दत्त्वा कस्मिंस्ते लोक आसते ॥ १० ॥ (२२)

ये । ते । आसन् । दश । जाताः । देवाः । देवेभ्यः । पुरा ॥
पुत्रेभ्यः। लोकम् । दत्त्वा । कस्मिन् । ते । लोके । आसते १०(२२

भाषार्थ—(ये ते) वे जो (दश देवाः) दस दिव्य गुण [दस इन्द्रियों के विषय ग्राहक गुण] (पुरा) पूर्वकाल में [वर्तमान] (देवेभ्यः) दिव्य पदार्थों [कर्म फलों] से (जाताः) उत्पन्न हुये (आसन्) थे । (ते) वे (पुत्रेभ्यः) पुत्रों [पुत्र रूप इन्द्रियों के गोलकों] को (लोकम्) स्थान [दर्शन वा विषय ग्रहण सामर्थ्य (दत्त्वा) देकर (कस्मिन् लोके) कौन से स्थान में (आसते) बैठते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्व कल्प के अनुसार आंख, कान आदि अपने अपने गोलकों में दर्शन, श्रवण आदि गुणों के प्रवेश करने से विषयों का ग्रहण सामर्थ्य होता है। फिर वे दर्शन आदि गुण कहां रहते हैं। इसका उत्तर अन्य प्रश्नों के साथ आगे मन्त्र १३ में है ॥ १० ॥

इस मन्त्र का मिलान-मन्त्र ३ से करो ॥

यदा केशानस्थि स्नावं मांसं मज्जानमाभरत् ।
शरीरं कृत्वा पादवत् कं लोकमनु प्राविशत् ॥ ११ ॥

यदा । केशान् । अस्थि । स्नाव । मांसम् । मज्जानम् । आ-अभरत् ॥ शरीरम् । कृत्वा । पाद-वत् । कम् । लोकम् । अनु । प्र । अविशत् ॥ ११ ॥

१०—(ये) (ते) (आसन्) अभवन् (दश) दशसंख्याकाः (जाताः) प्रादुर्भूताः (देवाः) म० ३ । ज्ञानकर्मेन्द्रियाणां विषयग्राहकगुणाः (देवेभ्यः) दिव्यपदार्थानां कर्मफलानां सकाशात् (पुरा) पूर्वकल्पे वर्तमानेभ्यः (पुत्रेभ्यः) पुत्ररूपेभ्य इन्द्रियगोलकेभ्यः (लोकम्) स्थानम् । दर्शनस्य विषयस्य वा ग्रहणसामर्थ्यम् (दत्त्वा) (कस्मिन्) (लोके) स्थाने (आसते) उपविशन्ति ॥

भाषार्थ—(यदा) जब [प्राणी के] (केशान्) केशों, (अस्थि) हड्डी, (स्नाव) सूक्ष्म नाड़ी [वायु ले चलने वाली नस], (मांसम्) मांस (मज्जानम्) मज्जा [हड्डियों के भीतर के रस] को (आभरत्) उस [कर्ता परमेश्वर] ने लाकर धरा। और (पादवत्) पैरों वाला [हाथ पांव आदि अङ्गों वाला] (शरीरम्) शरीर (कृत्वा) बनाकर (कम् लोकम्) कौन से स्थान में उस [परमेश्वर] ने (अनु) पीछे (प्र अविशत्) प्रवेश किया ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्राणी के केश आदि धातु उपधातुओं और हाथ पैर आदि अङ्गों वाले शरीर को रच कर वह परमेश्वर कहां रहता है। इस दूसरे प्रश्न का भी उत्तर मन्त्र १३ में है ॥ ११ ॥

कुतः केशान् कुतः स्नाव कुतो अस्थीन्याभरत्।
अङ्गा पर्वाणि मज्जानं को मांसं कुत आभरत् ॥ १२ ॥

कुतः। केशान्। कुतः। स्नाव। कुतः। अस्थीनि। आ। अभरत् ॥ अङ्गा। पर्वाणि। मज्जानम्। कः। मांसम्। कुतः। आ। अभरत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(कुतः) किससे [किस उपादेय कारण से प्राणियों के] (केशान्) केशों को, (कुतः) कहां से (स्नाव) सूक्ष्मनाड़ी [वायु ले चलने वाली नस], (कुतः) कहां से (अस्थीनि) हड्डियों को (आ अभरत्) उस

११—(यदा) यस्मिन् सृष्टिकाले (अस्थि) (स्नाव) अ० २। ३३। ६। वायुवाहिनी सूक्ष्मा नाडी (मांसम्) प्राणिदेहस्थशोणितपरिपाकजं धातुभेदम् (मज्जानम्) अ० १। ११। ४। अस्थिमध्यस्थस्नेहम् (आभरत्) आनीय धृतवान् स परमेश्वरः (शरीरम्) कलेवरम् (कृत्वा) निर्माय (पादवत्) हस्तपादाद्यङ्गोपाङ्गसहितम् (कम्) प्रश्ने (लोकम्) स्थानम् (अनु) पश्चात् (प्राविशत्) प्रविष्टवान् ॥

१२—(कुतः) पञ्चम्यास्तसिल्। पा० ५। ३। ७। कु तिहोः। पा० ७। २। १०४। किमस्तसिल् कु च। कस्मादुपादेयकारणात् (अङ्गा) शरीराङ्गानि (पर्वाणि) शरीरसन्धीन् (मज्जानम्)।अस्थ्यन्तर्गतं रसम् (कः) करोतेः-ड।

[कर्त्ता परमेश्वर] ने लाकर धरा। (अङ्गा) अङ्गों, (पर्वाणि) जोड़ों, (मज्जानम्) मज्जा [हड्डी के भीतर के रस], और (मांसम्) मांस को (कः) कर्त्ता [प्रजापति परमेश्वर] ने (कुतः) कहां से (आ अभरत्) ला कर धरा ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर प्राणियों के शरीर के बड़े और छोटे अवयव किस सामग्री से बनाता है। इस का भी उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ १२ ॥ -

यह मन्त्र १०, ११ तथा १२ का उत्तर है ॥

संसिचो नाम ते देवा ये संभारान्त्समभरन् ।
सर्वं संसिच्य मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १३ ॥

सम्-सिचः । नाम । ते । देवाः । ये । सम्-भारान् । सम्-अभरन् ॥ सर्वम् । सम्-सिच्य । मर्त्यम् । देवाः । पुरुषम् । आ । अविशन् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(संसिचः) परस्पर सींचने वाले (नाम) प्रसिद्ध (ते) वे (देवाः) दिव्य पदार्थ [पृथिवी आदि पंचभूत] हैं, (ये) जिन्हों ने (संभारान्) [उन] संग्रहों [उपकरण द्रव्यों को (समभरन्) मिलाकर भरा है। (देवाः) [उन] दिव्य पदार्थों ने (सर्वम्) सब (मर्त्यम्) मरण धर्मी [शरीर] को (संसिच्य) परस्पर सींचकर (पुरुषम्) पुरुष में [आत्मा सहित शरीर में] (आ अविशन्) प्रवेश किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से पूर्व कल्प के समान पृथिवी, जल आदि पांचों तत्त्व आपस में मिलकर शरीर के इन्द्रिय आदि अवयवों को बना कर स्वयम् भी प्राणियों के शरीर में प्रवेश कर रहे हैं ॥ १३ ॥

कर्ता प्रजापतिः। कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा—निरु० १०। २२। अन्यद् व्याख्यातम्—म० ११।

१३—(संसिचः) परस्परसेचकाः सन्धायकाः (नाम) प्रसिद्धौ (ते) पूर्वोक्ताः (देवाः) दिव्यपदार्थाः पृथिव्यादिपञ्चभूतरूपाः (ये) (संभारान्) सम्+डुभृञ् धारणपोषणयोः—घञ्। संग्राहान्। उपकरणद्रव्यानि (समभरन्) एकीकृत्य धृतवन्तः (सर्वम्) (संसिच्य) परस्परमार्द्रीकृत्य (मर्त्यम्) मरणधर्माणं देहम् (देवाः) (पुरुषम्) अ० १। १६। ४। सात्मकं शरीरम् (आ अविशन्) प्रविष्टवन्तः॥

ऊ॒रू पादा॑वष्ठी॒वन्तौ॒ शिरो॒ हस्ता॒वथो॒ मुख॑म् ।
पृ॒ष्टीर्ब॑र्ज॒ह्ये॒ पा॒र्श्वे कस्तत् सम॑दधा॒दृषि॑: ॥ १४ ॥

ऊ॒रू इति॑ । पादौ॑ । अ॒ष्ठी॒वन्तौ॑ । शिर॑: । हस्तौ॑ । अथो॒ इति॑ । मुख॑म् ॥ पृ॒ष्टीः । ब॒र्ज॒ह्ये॒३॒ इति॑ । पा॒र्श्वे॒ इति॑ । क: । तत् । सम् । अ॒द॒धा॒त् । ऋषि॑: ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ऊरू) दोनों जंघाओं, (अष्ठीवन्तौ) दोनों घुटनों, (पादौ) दोनों पैरों, (हस्तौ) दोनों हाथों, (अथो) और भी (शिरः) शिर, (मुखम्) मुख, (पृष्टीः) पसलियों, (बर्जह्ये) दोनों कुच की टीपनी, (पार्श्वे) दोनों कोखों को (तत्) तब (कः) किस (ऋषिः) ऋषि [ज्ञानवान्] ने (सम् अदधात्) मिला दिया ॥ १४ ॥

भावार्थ—शरीर के भीतर जंघा आदि को किस चतुर ज्ञानी ने आपस में जोड़कर जमा दिया है । इसका उत्तर अगले मन्त्र में है ॥ १४ ॥

शिरो॒ हस्ता॒वथो॒ मुखं॑ जि॒ह्वां ग्री॒वाश्च॒ कीक॑सा: ।
त्व॒चा प्रा॒वृत्य॒ सर्वं॒ तत् सं॒धा सम॑दधा॒न्मही ॥ १५ ॥

शिर॑: । हस्तौ॑ । अथो॒ इति॑ । मुख॑म् । जि॒ह्वाम् । ग्री॒वाः । च॒ । कीक॑साः । त्व॒चा । प्र॒-आ॒वृत्य॑ । सर्व॑म् । तत् । स॒म्-धा । सम् । अ॒द॒धा॒त् । म॒ही ॥ १५ ॥

१४—(ऊरू) जानोरुपरिभागौ (पादौ) (अष्ठीवन्तौ) अ० २ । २३ । ५ । ऊरुपादयोर्मध्यस्थे जानुनी (शिरः) मस्तकम् (हस्तौ) (अथो) अपि च (मुखम्) (पृष्टीः) अ० २ । ७ । ५ । पर्श्वस्थीनि (बर्जह्ये) बल जीवने-विच्, लस्य रः+जनेर्यक् । उ० ४ । १११ । ओ हाक् त्यागे—यक् । जहातेर्द्वे च । उ० २ । ४ । इति श्रवणाद् द्वित्वम् । कुचाग्रभागौ (पार्श्वे) अ० २ । ३३ । ३ । कक्षयोरधोभागौ (कः) प्रश्ने (समधात) संहितवान् संश्लिष्टवान् (ऋषिः) अ० २ । ६ । १ । ज्ञानवान् ॥

भाषार्थ—(हस्तौ) दोनों हाथों, (शिरः) शिर, (अथो) और भी (मुखम्) मुख, (जिह्वाम्) जीभ, (ग्रीवाः) गले की नाड़ियों, (च) और (कीकसाः) हंसली की हड्डियों। (तत् सर्वम्) इस सबको (त्वचा) खाल से (प्रावृत्य) ढक कर (मही) बड़ी (संधा) जोड़ने वाली [शक्ति, परमेश्वर] ने (सम् अधात्) मिला दिया ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने तत्त्वों के संयोग वियोग से प्राणियों के अङ्गों को बनाकर और ऊपर से खाल में लपेट कर एक दूसरे में मिला दिया है। यह गत मन्त्र का उत्तर है ॥ १५ ॥

यत्तच्छरीरमशयत् सं॒धया॒ संहितं म॒हत् ।
येने॒दम॒द्य रोच॑ते॒ को अ॒स्मिन् वर्ण॒माभ॑रत् ॥ १६ ॥

यत् । तत् । शरीरम् । अशयत् । सम्ऽधया । सम्ऽहितम् । म॒हत् ॥ येन॑ । इ॒दम् । अ॒द्य । रोच॑ते । कः । अ॒स्मिन् । वर्णम् । आ । अ॒भ॒र॒त् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (संधया) जोड़ने वाली [शक्ति, परमेश्वर] करके (संहितम्) जोड़ा हुआ (तत्) वह (महत्) महान् [समर्थ] (शरीरम्) शरीर (अशयत्) पड़ा हुआ था। [तब] (येन) जिस [रंग] से (इदम्) यह [शरीर] (अद्य) आज (रोचते) रुचता है, (कः) किसने (अस्मिन्) इस [शरीर]

१५—(जिह्वाम्) रसनाम् (ग्रीवाः) अ० २ । ३३ । २ । कन्धरावयवान् (च) (कीकसाः) अ० २ । ३३ । २ । जत्रुवक्षोगतास्थीनि (त्वचा) चर्मणा (प्रावृत्य) आच्छाद्य (सर्वम्) (तत्) पूर्वोक्तम् (सन्धा) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १३६ । इति संदधातेः कर्तरि-कप्रत्ययः । सन्धानकर्त्री शक्तिः परमेश्वरः (मही) महती । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

१६—(यत्) यदा (तत्) उक्तप्रकारम् (शरीरम्) (अशयत्) शीङ् स्वप्ने-लुङि छान्दसं रूपम् । अशयिष्ट । वर्तते स्म (संधया) म० १५ । सन्धात्र्या शक्त्या (संहितम्) संश्लिष्टम् (महत्) समर्थम् (येन) वर्णेन (इदम्) शरीरम् (अद्य) (रोचते) रुचिरं दृश्यते । दीप्यते (कः) (अस्मिन्) शरीरे

में (वर्णम्) वर्ण [रंग] (आ अभरत्) सब ओर से भर दिया ॥ १६ ॥

भावार्थ—जब शरीर अवयवों सहित चर्म में लपेटकर रख दिया गया, फिर उस पर गोरा, काला, पीला आदि रंग किसने चढ़ाया। इस मन्त्र का उत्तर अगले मंत्र में है ॥ १६ ॥

सर्वे॑ दे॒वा उपा॑शिक्षन् तद॑जानाद् व॒धूः स॒ती ।
ई॒शा वश॑स्य॒ या जा॒या सास्मि॒न् वर्ण॒माभ॑रत् ॥ १७ ॥

सर्वे॑ । दे॒वाः । उप॑ । अ॒शि॒क्ष॒न् । तत् । अ॒जा॒ना॒त् । व॒धूः । स॒ती ॥ ई॒शा । वश॑स्य । या । जा॒या । सा । अ॒स्मि॒न् । वर्ण॑म् । आ । अ॒भ॒र॒त् ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) सब (देवाः) दिव्य पदार्थों [तत्त्वों के गुणों] ने (उप) उपकारीपन से (अशिक्षन्) समर्थ [सहायक] होना चाहा, (तत्) उस [कर्म] को (सती) सत्यव्रता (वधूः) चलाने वाली [परमेश्वर शक्ति] (अजानात्) जानती थी। (वशस्य) वश करने वाले [परमेश्वर] की (या) जो (ईशा) ईश्वरी (जाया) उत्पन्न करने वाली शक्ति है, (सा) उसने (अस्मिन्) इस [शरीर] में (वर्णम्) रङ्ग (आ) सब ओर से (अभरत्) भर दिया ॥ १७ ॥

भावार्थ—तत्त्वों के संयोग वियोग क्रिया जानने वाले महारासायनिक, सर्वनियन्ता, सत्यव्रती, परमेश्वर ने अपनी शक्ति से व्यक्ति व्यक्ति को विशेष करके जानने के लिये शरीर पर गोरा, काला, पीला आदि रंग चढ़ा दिया ॥ १७ ॥

(वर्णम्) शुक्लादिरूपम् (आ) समन्तात् (अभरत्) धृतवान् ॥

१७—(सर्वे) (देवाः) दिव्यपदार्थाः । तत्त्वगुणाः (उप) उपकारकत्वेन (अशिक्षन्) शक्लृ शक्तौ-सन्, लङ् । शक्ताः सहायका भवितुमैच्छन् (तत्) वर्णकर्म (अजानात्) ज्ञातवती (वधूः) वहेर्धश्च । उ० १ । ८३ । वह प्रापणे-ऊ, हस्य धः । वहनशक्तिः परमेश्वरः (सती) सत्यव्रता (ईशा) ईश ऐश्वर्ये-क, टाप् । ईश्वरी नियन्त्री (वशस्य) वश कान्तौ-कर्तरि अच् । वशयितुः परमेश्वरस्य (या) (जाया) म० १ । उत्पादनशक्तिः (सा) नियन्त्री शक्तिः ॥

यदा त्वष्टा व्यतृणत् पिता त्वष्टुर्य उत्तरः ।

गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषमाविशन् ॥ १८ ॥

यदा । त्वष्टा । वि-अतृणत् । पिता । त्वष्टुः । यः । उत्तरः ॥

गृहम् । कृत्वा । मर्त्यम् । देवाः । पुरुषम् । आ । अविशन् १८

भाषार्थ—(यः) जो (त्वष्टुः) कर्मकर्ता [जीव] का (उत्तरः) अधिक उत्तम (पिता) पिता [पालक] है, (यदा) जब (त्वष्टा) विश्वकर्ता [उस सृष्टि कर्ता परमेश्वर] ने [जीव के शरीर में] (व्यतृणत्) विविध छेद किये। [तब] (देवाः) दिव्य पदार्थों [इन्द्रिय की शक्तियों] ने (मर्त्यम्) मरणधर्मी [नश्वर शरीर] को (गृहम्) घर (कृत्वा) बनाकर (पुरुषम्) पुरुष [पुरुष शरीर] में (आ अविशन्) प्रवेश किया ॥ १८ ॥

भावार्थ—जब जगत् पिता परमेश्वर ने शरीर में नेत्र, कान आदि गोलक बनाये, तब उसने उनमें उन की शक्तियों को प्रवेश कर दिया ॥ १८ ॥

स्वप्नो वै तन्द्रीर्निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः ।

जरा खालत्यं पालित्यं शरीरमनु प्राविशन् ॥ १९ ॥

स्वप्नः । वै । तन्द्रीः । निः-ऋतिः । पाप्मानः । नाम । दे-वताः ॥ जरा । खालत्यम् । पालित्यम् । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(स्वप्नः) नींद (वै) और भी (तन्द्रीः) थकावटें, (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि], (नाम), अर्थात् (पाप्मानः) पाप

१८—(यदा) यस्मिन् सृष्टिकाले (त्वष्टा) विश्वकर्मा। सृष्टिकर्त्ता परमेश्वरः (व्यतृणत्) उ तृदिर् हिंसानादरयोः। विविधं छिद्राणि कृतवान् पुरुषशरीरे (पिता) पालकः (त्वष्टुः) कर्मकर्तुः प्राणिनः (यः) (उत्तरः) उत्कृष्टतरः (गृहम्) आवासस्थानम् (कृत्वा) निर्माय (मर्त्यम्) मरणधर्मकं नश्वरं शरीरम् (देवाः) दिव्यपदार्थाः। इन्द्रियशक्तयः (पुरुषम्) पुरुषशरीरम् (आ अविशन्) प्रविष्टवन्तः ॥

१९—(स्वप्नः) निद्रा (वै) अपि (तन्द्रीः) तन्द्रयः आलस्यानि (निर्ऋतिः) अ० २। १०। १। कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २। ७ (पाप्मानः) अ० ३। ३१। १।

व्यवहार, (देवताः) दुःख दायी इच्छायें, (जरा) बुढ़ापा (खालत्यम्) गंजापन, (पालित्यम्) केशों के भूरेपन ने (शरीरम्) शरीर में (अनु) धीरे धीरे (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ १९ ॥

भावार्थ—प्राणियों के दुष्टकर्मों के फल से उन के शरीर में निर्बलता के कारण निद्रा आदि दोष घुस पड़ते हैं ॥ १९ ॥

स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत् ।
बलं च क्षत्रमोजश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २० ॥ (२३)

स्तेयम् । दुः-कृतम् । वृजिनम् । सत्यम् । यज्ञः । यशः । बृहत् ॥
बलम् । च । क्षत्रम् । ओजः । च । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् ॥ २० ॥ (२३)

भाषार्थ—(स्तेयम्) चोरी, (दुष्कृतम्) दुष्टकर्म, (वृजिनम्) पाप, (सत्यम्) सत्य [यथार्थ कथन कर्म आदि], (यज्ञः) यज्ञ [देव पूजा आदि] और (बृहत्) वृद्धिकारक (यशः) यश, (बलम्) बल (च) और (ओजः) पराक्रम (च) और (क्षत्रम्) हानि से रक्षक गुण [क्षत्रियपन] ने (शरीरम्) शरीर में (अनु) धीरे धीरे (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य के दुष्ट विचारों से चोरी आदि दुष्ट कर्म और उनके नरक आदि बुरे फल और शुभ विचारों से सत्य कर्म आदि उत्तम कर्म और उनके मोक्ष आदि उत्तम फल शरीर द्वारा प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥

पापव्यवहाराः (नाम) प्रसिद्धौ (देवताः) दिवु मर्दने—अच्, टाप् । हिंसकेच्छाः (जरा) वृद्धावस्था (खालत्यम्) खलतिः । उ० ३ । ११२ । स्खल संचलने—अतच्, सलोपः, अत इत्वं च । खलतिर्निष्केशशिराः पुरुषः । ततो भावे ष्यञ् । इन्द्रलुप्तरोगः । केशनाशकरोगः (पालित्यम्) पलित—ष्यञ् । केशेषु जरया श्वेतत्वम् (शरीरम्) (अनु) अनुक्रमेण (प्र अविशन्) प्रविष्टवन्तः ॥

२०—(स्तेयम्) चौर्यम् (दुष्कृतम्) दुष्टकर्म (वृजिनम्) अ० १ । १० । ३ । पापम् (सत्यम्) यथार्थकथनादिकर्म (यज्ञः) देवपूजादिव्यवहारः (यशः) कीर्त्तिः (बृहत्) सुखवृद्धिकरम् (बलम्) (च) (क्षत्रम्) अ० २ । १५ । ४ । क्षत्+त्रैङ् पालने—क । क्षतः क्षतात्, हानेः रक्षकं क्षत्रियत्वम् (ओजः) पराक्रमः (च) अन्यत् पूर्ववत् ॥

भूतिश्च वा अभूतिश्च रातयोऽरातयश्च याः ।
क्षुधश्च सर्वास्तृष्णाश्च शरीरमनु प्राविशन् ॥ २१ ॥

भूतिः । च । वै । अभूतिः । च । रातयः । अरातयः । च । याः ॥ क्षुधः । च । सर्वाः । तृष्णाः । च । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(भूतिः) सम्पत्ति, (च वै) और भी (अभूतिः) निर्धनता (च) और (रातयः) दानशक्तियां, (च) और (याः) जो (अरातयः) कंजूसी की बातें [हैं, उन्हों ने] (च) और (क्षुधः) भूखा (च) और (सर्वाः) सब (तृष्णाः) तृष्णाओं ने (शरीरम्) शरीर में (अनु) धीरे धीरे (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ २१ ॥

भावार्थ—मन की स्थिरता से सम्पत्ति आदि सुख, और उसकी चञ्चलता से निर्धनता आदि कष्ट प्राणी को शरीर द्वारा प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥

निन्दाश्च वा अनिन्दाश्च यच्च हन्तेति नेति च ।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणाश्रद्धा चानु प्राविशन् ॥ २२ ॥

निन्दाः । च । वै । अनिन्दाः । च । यत् । च । हन्त । इति । न । इति । च ॥ शरीरम् । श्रद्धा । दक्षिणा । अश्रद्धा । च । अनु । प्र । अविशन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(निन्दाः) निन्दायें [गुणों में दोष लगाने] (च च वै) और भी (अनिन्दाः) अनिन्दायें [स्तुति, गुणों के कथन] (च) और (यत्)

२१—(भूतिः) सम्पत्तिः (च) (वै) एव (अभूतिः) निर्धनता (च) (रातयः) दानशक्तयः (अरातयः) कार्पण्यानि (च) (याः) (क्षुधः) बुभुक्षाः (च) (सर्वाः) (तृष्णाः) पिपासाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२२—(निन्दाः) गुरोश्च हलः । पा० ३ । ३ । १०३ । णिदि कुत्सायाम्-अप्रत्ययः । गुणेषु दोषारोपाः (च च) समुच्चये (वै) एव (अनिन्दाः)

जो कुछ (हन्त) "हां"—(इति) ऐसा, (च) और (न) "ना"-(इति) ऐसा है और (दक्षिणा) दक्षिणा [प्रतिष्ठा],(श्रद्धा) श्रद्धा [सत्य ईश्वर और वेद में विश्वास] (च) और (अश्रद्धा) अश्रद्धा [ईश्वर और वेद में भक्ति न होना] [इन सब ने] (शरीरम्) शरीर में (अनु) धीरे धीरे (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य विहित कर्मों के करने और निषिद्ध कर्मों को छोड़ने से सुसंस्कार के कारण शरीर द्वारा सुख प्राप्त करता है ॥ २२ ॥

विद्याश्च वा अविद्याश्च यच्चान्यदुपदेश्यम् ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशदृचः सामाथो यजुः ॥ २३ ॥

विद्याः । च । वै । अविद्याः । च । यत् । च । अन्यत् । उप-देश्यम् । शरीरम् । ब्रह्म । प्र । अविशत् । ऋचः । साम । अथो इति । यजुः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(विद्याः) विद्यायें [तत्त्वज्ञान] (च च वै) और भी (अविद्याः) अविद्यायें [मिथ्या कल्पनायें] (च) और (यत्) जो कुछ (अन्यत्) दूसरा (उपदेश्यम्) उपदेश योग्य कर्म [विद्या और अविद्या से सम्बन्धवाला विषय है, वह] और (ब्रह्म) ब्रह्म [ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय संयम आदि तप] (ऋचः) ऋचायें [पदार्थों की गुण प्रकाशक विद्यायें] (साम=सामानि) साम ज्ञान [मोक्ष विद्यायें] (अथो) और भी (यजुः=यजूंषि) यजुर्ज्ञान

स्तुतयः । गुणकथनानि (च) (यत्) (च) (हन्त) हन हिंसागत्योः-त प्रत्ययः । हर्षे । स्वीकारे कर्मणां विधिसूचकः शब्दः (इति) वाक्यसमाप्तौ (न) निषेधे । कर्मणां निषेधसूचकः शब्दः (इति) (च) (शरीरम्) (श्रद्धा) सत्ये परमेश्वरे वेदे च विश्वासः (दक्षिणा) प्रतिष्ठा (अश्रद्धा) नास्तिकबुद्धिः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२३—(विद्याः) तत्त्वज्ञानानि (च) (वै) (अविद्याः) मिथ्याकल्पनाः (च) (यत्) (च) (अन्यत्) कर्म (उपदेश्यम्) हितकथनेन गम्यम् । विद्याविद्ययोराश्रयभूतम् (शरीरम्) (ब्रह्म) ब्रह्मचर्यम् । इन्द्रिय-

[ब्रह्म निरूपक विद्यावें], [इन सब ने] (शरीरम्) शरीर में (प्र अविशत्) प्रवेश किया ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य आचार्य द्वारा विद्या और अविद्या के ज्ञान और ब्रह्मचर्य के धारण करने से चारों वेदों में वर्णित कर्म, उपासना, ज्ञान-त्रयीविद्या में निष्ठा करके आनन्द पाता है ॥ २३ ॥

आनन्दा मोदाः प्रमुदोऽभीमोदमुदश्च ये ।
हसो नरिष्टा नृत्तानि शरीरमनु प्राविशन् ॥ २४ ॥

आ-नन्दाः । मोदाः । प्र-मुदः । अभिमोद-मुदः । च । ये ॥
हसः । नरिष्टा । नृत्तानि । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् ॥२४॥

भाषार्थ—(आनन्दाः) आनन्द, (मोदाः) हर्ष, (प्रमुदः) बड़े आनन्द (च) और (ये) (अभिमोदमुदः) बड़े उत्सवों से हर्ष देने वाले पदार्थ हैं [वे सब और] । (हसः) हंसी, (नृत्तानि) नाचों और (नरिष्टा) मङ्गल कामों [खेल कूद आदि] [इन सब ने] (शरीरम्) शरीर में (अनु) धीरे धीरे (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर द्वारा अनेक शुभ कर्म करके अनेक मङ्गल मनावें ॥ २४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अ० ११ । ७ । २६ ॥

आलापाश्च प्रलापाश्चाभीलापलपश्च ये ।
शरीरं सर्वं प्राविशन्नायुजः प्रयुजो युजः ॥ २५ ॥

संयमरूपं तपः (प्राविशत्) प्रविष्टमभवत् (ऋचः) पदार्थानां गुणप्रकाशिका विद्याः (साम) सामानि । मोक्षज्ञानानि (अथो) अपि च (यजुः) यजूंषि । ब्रह्मनिरूपकज्ञानानि ॥

२४—पूर्वार्धर्चो व्याख्यातः—अ० ११ । ७ । २६ (हसः) स्वनहसोर्वा । पा० ३ । ३ । ६२ । हसे हसने—अप् । हासः (नरिष्टा) न + रिष हिंसायाम्—कर्तरि-क्त । शेर्लोपः । अरिष्टानि । अहिंसकानि । मङ्गलकर्माणि (नृत्तानि) नृती गात्रविक्षेपे-क्त । तालमानयुक्तान्यङ्गविक्षेपरूपाणि नर्तनानि । अन्यत् पूर्ववत्—म० १२ ॥

आ-लापाः । च । प्र-लापाः । च । अभिलाप-लपः । च । ये ॥
शरीरम् । सर्वे । प्र । अविशन् । आ-युजः । प्र-युजः । युजः ॥२५॥

भाषार्थ--(आलापाः) आलाप [सार्थक बातें] (च) और (प्रलापाः) प्रलाप [अनर्थक बातें, बकवाद] (च च) और (ये) जो (अभिलापलपः) व्याख्यानों के कथन व्यवहार हैं, [उन सब ने और] (आयुजः) उद्योगों, (प्रयुजः) प्रयोजनों और (युजः) योगों [समाधि क्रियाओं], (सर्वे) इन सब ने (शरीरम्) शरीर में (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ २५ ॥

भावार्थ—उत्साह के बढ़ाने वाले आलाप आदि व्यवहार शरीर के साथ मनुष्य को सुखदायक होते हैं ॥ २५ ॥

प्राणापानौ चक्षुः श्रोत्रमक्षितिश्च क्षितिश्च या ।
व्यानोदानौ वाङ्मनः शरीरेण त ईयन्ते ॥ २६ ॥

प्राणापानौ । चक्षुः । श्रोत्रम् । अक्षितिः । च । क्षितिः । च । या ॥ व्यान-उदानौ । वाक् । मनः । शरीरेण । ते । ईयन्ते ॥२६॥

भाषार्थ—(प्राणापानौ) प्राण और अपान [भीतर और बाहिर जाने वाला श्वास], (चक्षुः) नेत्र, (श्रोत्रम्) कान, (च) और (या) जो (अक्षितिः) [सुख की] निर्हानि (च) और (क्षितिः) [दुःख की] हानि । (व्यानोदानौ) व्यान [सब नाड़ियों में रस पहुंचाने वाला वायु] और उदान [ऊपर को चढ़ने वाला वायु], (वाक्) वाणी और (मनः) मन, (ते) ये सब (शरीरेण) शरीर के साथ (ईयन्ते) चलते हैं ॥ २६ ॥

भावार्थ—जीवों में प्राण अपान आदि सब व्यापार शरीर के साथ होते हैं ॥ २६ ॥

इस मन्त्र के पहिले तीन पाद ऊपर मन्त्र ४ में आ चुके हैं ॥

२५—(आलापाः) आङ्+लप व्यक्तायां वाचि-घञ् । सार्थकानि वचनानि (प्रलापाः) निरर्थकानि वचनानि (च) (अभिलापलपः) लपेः क्विप् । अभिलापानां व्याख्यानां कथनव्यवहाराः (च) (ये) (सर्वे) (आयुजः) आङ्+युजिर् योगे, युज संयमने—क्विप् । आयोजनानि । उद्योगाः (प्रयुजः) प्रयोजनानि । कारणानि (युजः) युज समाधौ—क्विप् । ध्यानक्रियाः ॥

२६—त्रयः पादाः पूर्ववत्—म० ४ (शरीरेण) देहेन (ते) पूर्वोक्ताः पदार्थाः (ईयन्ते) ईङ् गतौ—श्यन् । गच्छन्ति । प्रवर्तन्ते ॥

आशिषश्च प्रशिषश्च संशिषो विशिषश्च याः ।
चित्तानि सर्वे संकल्पाः शरीरमनु प्राविशन् ॥ २७ ॥

आ-शिषः । च । प्र-शिषः । च । सम्-शिषः । वि-शिषः । च । याः ॥ चित्तानि । सर्वे । सम्-कल्पाः । शरीरम् । अनु । प्र । अविशन् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(आशिषः) आशीर्वादों [हित प्रार्थनाओं], (च) और (प्रशिषः) उत्तम शासनों (च) और (संशिषः) यथावत् प्रबन्धों (च) और (याः) जो (विशिषः) विशेष परामर्श हैं [उन्होंने], (चित्तानि) अनेक विचारों और (सर्वे) सब (सङ्कल्पाः) सङ्कल्पों [मनोरथों] ने (शरीरम्) शरीर में (अनु) धीरे धीरे (प्र अविशन्) प्रवेश किया ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर के सम्बन्ध से ज्ञान प्राप्त करके हित प्रार्थनाओं और शासन आदि क्रियाओं को दृढ़ सङ्कल्पी होकर सिद्ध करे ॥ २७ ॥

आस्तेयीश्च वास्तेयीश्च त्वरणाः कृपणाश्च याः ।
गुह्याः शुक्रा स्थूला अपस्ता बीभत्सावसादयन् ॥ २८ ॥

आस्तेयीः । च । वास्तेयीः । च । त्वरणाः । कृपणाः । च । याः ॥ गुह्याः । शुक्राः । स्थूलाः । अपः । ताः । बीभत्सौ । असादयन् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(आस्तेयीः) अस्ति [रुधिर] में रहने वाले (च) और (वास्तेयीः) वस्ति [पेड़ू वा मूत्राशय] में रहने वाले (च) और (त्वरणाः)

२७—(आशिषः) आङः शासु इच्छायाम्-क्विप् । उपधाया इत्वम् । आशीर्वादाः । हितप्रार्थनाः (प्रशिषः) शासु अनुशिष्टौ-क्विप् । उत्तमानि शासनानि (संशिषः) सम्यक् शासनानि । प्रबन्धकर्माणि (विशिषः) विशेषपरामर्शाः (च) (याः) (चित्तानि) विचाराः (सर्वे) (सङ्कल्पाः) दृढमनोरथाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२८—(आस्तेयीः) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । असु क्षेपणे-ति । अस्यते क्षिप्यते या नाडीषु सा अस्तिः, असृग् रक्तम् । दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ् ।

शीघ्र चलने वाले (च) और (कृपणाः) दुर्बल [पतले], (स्थूलाः) गाढ़े (गुह्याः) गुहा [शरीर के गुप्त स्थान] में रहने वाले और (शुक्राः) वीर्य [वा रज] में रहने वाले (याः) जो [जल हैं], (ताः अपः) उन जलों को (बीभत्सौ) परस्पर बंधे हुये [शरीर] में (असादयन्) उन [ईश्वर नियमों] ने पहुंचाया ॥ २८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने नाड़ियों द्वारा वायु की गति से जल को विविध प्रकार पहुंचा कर शरीर को काम करने योग्य बनाया है ॥ २८ ॥

अस्थि कृत्वा स॒मिधं॒ तद॒ष्टापो॑ असादयन् ।
रेतः॑ कृत्वाज्यं॑ दे॒वाः पुरु॑ष॒मावि॑शन् ॥ २९ ॥

अस्थि । कृ॒त्वा । स॒म्-इध॑म् । तत् । अ॒ष्ट । आपः॑ । अ॒सा॒द॒यन् ॥ रेतः॑ । कृ॒त्वा । आज्य॑म् । दे॒वाः । पुरु॑षम् । आ । अ॒वि॒श॒न् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(आपः) व्यापक (देवाः) दिव्य गुणों [ईश्वर नियमों] ने (तत्) फिर (अस्थि) हड्डी को (समिधम्) समिधा [इन्धन समान पाक साधन] (कृत्वा) बनाकर और (रेतः) वीर्य [वा स्त्री रज] को (आज्यम्)

पा० ४ । ३ । ५६ । अस्ति-ढञ् । तत्र भव इत्यर्थे, ङीप्-च । आस्तेय्यः । रक्ते वर्तमानाः (वास्तेयीः) वस्ति-ढञ् पूर्ववत् । मूत्राधारे नाभेरधोभागे भवाः (च) (त्वरणाः) त्वरया गच्छन्त्यः (कृपणाः) रञ्जेः क्युन् । उ० २ । ७९ । कृप दौर्बल्ये-क्युन् । दुर्बलाः । कृशाः (च) (याः) आपः (गुह्याः) गुहायां गर्ते भवाः (शुक्राः) शुक्रे वीर्ये रजसि वा भवाः (स्थूलाः) घनाः । स्निग्धाः (अपः) जलानि (ताः) पूर्वोक्ताः (बीभत्सौ) मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य । पा० ३ । १ । ६ । बध बन्धने-सन् स्वार्थे । सनाशंसभिक्ष उः । पा० ३ । २ । १६८ ॥ उप्रत्ययः । परस्परसम्बन्धिनि शरीरे (असादयन्) षद्लृ गतौ-णिच्, लङ् । प्रापितवन्तः । प्रेरितवन्तः ॥

२९—(अस्थि) (कृत्वा) निर्माय (समिधम्) समिन्धनसाधनं शरीरपरिपाकस्य निमित्तम् (तत्) तदा (अष्ट) अष्टधा । रसासृङ्मांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्राणि धातवः—इत्येते सप्तधातवो मनश्चेत्येभिः (आपः) आपः—

घृत [घृत समान पुष्टिकारक] (कृत्वा) बनाकर (अष्ट) आठ प्रकार से [रस अर्थात् खाये अन्न का सार, रक्त, मांस, मेदा, अस्थि, मज्जा, वीर्य, वा स्त्री रज इन सात धातुओं और मन के द्वारा] (पुरुषम्) पुरुष [प्राणी के शरीर] को (असादयन्) चलाया, और [उस में] (आ अविशन्) उन्होंने प्रवेश किया ॥ २६ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमेश्वर ने अपनी शक्ति के प्रवेश से प्रधानता से हड्डियों को काष्ठ रूप अन्न आदि के पाक का साधन और पुरुष के वीर्य वा वा स्त्री के रज को घृत समान पुष्टिकारक बनाकर रस, रक्त, मांस आदि सात धातुओं और मन के द्वारा प्राणियों के शरीर को कार्य योग्य किया है ॥ २६ ॥

या आपो याश्च देवता या विराड् ब्रह्मणा सह ।
शरीरं ब्रह्म प्राविशच्छरीरेऽधि प्रजापतिः ॥ ३० ॥

याः । आपः । याः । च । देवताः । या । वि-राट् । ब्रह्मणा । सह ॥ शरीरम् । ब्रह्म । प्र । अविशत् । शरीरे । अधि । प्रजा-पतिः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—(याः) जो (आपः) व्यापक [इन्द्रियों की शक्तियां] (च) और (याः) जो (देवताः) दिव्य गुण वाले [इन्द्रियों के गोलक] हैं, और (या) जो (विराट्) विराट् [विविध प्रकार शोभायमान प्रकृति] (ब्रह्मणा सह) ब्रह्म [परमात्मा] के साथ है। [इस सब ने और] (ब्रह्म) अन्न ने (शरीरम्) शरीर में (प्र अविशत्) प्रवेश किया, और (प्रजापतिः) प्रजापति

आपनाः—निरु० १२ । ३७ । व्यापकाः (असादयन्) म० २८ । प्रेरितवन्तः (रेतः) वीर्यं स्त्रीरजो वा (कृत्वा) (आज्यम्) घृतवत्पुष्टिकरम् (देवाः) दिव्याः परमेश्वरगुणाः (पुरुषम्) प्राणिशरीरम् (आ अविशन्) प्रविष्टवन्तः ॥

३०—(याः) (आपः) आप आपनानि—निरु० १२ । ३७ व्यापकानीन्द्रियसामर्थ्यानि (याः) (च) (देवताः) दिव्यगुणानीन्द्रियच्छिद्राणि (या) (विराट्) विविधराजमाना प्रकृतिः (ब्रह्मणा) परमात्मना (सह) (शरीरम्)

[इन्द्रिय आदि प्रजाओं का स्वामी, जीवात्मा] (शरीरे) शरीर में (अधि) अधिकार पूर्वक [ठहरा] ॥ ३० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने जीव के शरीर में इन्द्रियों को उनकी शक्तियों सहित प्रकृति द्वारा रचा और शरीर पुष्टि के लिये अन्न आदि पदार्थ देकर सब का अधिष्ठाता जीवात्मा को किया ॥ ३० ॥

सूर्यश्चक्षुर्वातः प्राणं पुरुषस्य वि भेजिरे ।
अथास्येतरमात्मानं देवाः प्रायच्छन्नग्नये ॥ ३१ ॥

सूर्यः । चक्षुः । वातः । प्राणम् । पुरुषस्य । वि । भेजिरे ॥ अथ । अस्य । इतरम् । आत्मानम् । देवाः । प्र । अयच्छन् । अग्नये ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य ने (पुरुषस्य) [जीवात्मा] के (चक्षुः) नेत्र को, (वातः) वायु ने (प्राणम्) प्राण [उसके श्वास प्रश्वास] को (वि) विशेष करके (भेजिरे=भेजे) स्वीकार किया । (अथ) फिर (देवाः) दिव्य पदार्थों [दूसरे इन्द्रिय आदि] ने (अस्य) इस [जीवात्मा] का (इतरम्) दूसरा (आत्मानम्) शरीर का अवयव समूह (अग्नये) अग्नि को (प्र अयच्छन्) दान किया ॥ ३१ ॥

भावार्थ—ईश्वर नियम से जैसे शरीर में सूर्य का प्रधानत्व नेत्र पर और वायु का श्वास प्रश्वास पर है, इसी प्रकार अग्नि तत्त्व की विशेषता शरीर के अन्य सब अङ्गों में है ॥ ३१ ॥

(अन्न) अन्नम्-निघ० २ । ७ (प्राविशत्) (शरीरे) अधि) अधिकारपूर्वकम् (प्रजापतिः) इन्द्रियादिप्रजानां पालको जीवात्मा-अतिष्ठत् इतिशेषः ॥

३१—(सूर्यः) प्रकाशप्रेरको लोकविशेषः (चक्षुः) नेत्रम् (वातः) वायुः (प्राणम्) श्वासप्रश्वासरूपम् (पुरुषस्य) जीवात्मनः (वि) विशेषेण (भेजिरे) एकवचनस्य बहुवचनम् । भेजे । स्वीचकार (अथ) अपि च (अस्य) प्राणिनः (इतरम्) अन्यम् (आत्मानम्) शरीरावयवसमूहम् (देवाः) इन्द्रियाद्या दिव्यपदार्थाः (प्र अयच्छन्) दत्तवन्तः (अग्नये) अग्नितत्त्वाय ॥

तस्माद्वै विद्वान् पुरुषमिदं ब्रह्मेति मन्यते ।
सर्वा ह्यस्मिन् देवता गावो गोष्ठ इवासते ॥ ३२ ॥

तस्मात् । वै । विद्वान् । पुरुषम् । इदम् । ब्रह्म । इति । मन्यते ॥ सर्वाः । हि । अस्मिन् । देवताः । गावः । गोस्थे-इव । आसते ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(तस्मात्) उस से [ब्रह्म से उत्पन्न] (वै) निश्चय करके (पुरुषम्) पुरुष [पुरुष शरीर] को (विद्वान्) जानने वाला [मनुष्य] "(ब्रह्म) ब्रह्म [परमात्मा] (इदम्) परम ऐश्वर्य वाला है" (इति) ऐसा) (मन्यते) मानता है। (हि) क्योंकि (अस्मिन्) इस [परमात्मा] में (सर्वाः) सब (देवताः) दिव्यपदार्थ [पृथिवी, सूर्य आदि लोक] (आसते) ठहरते हैं, (इव) जैसे (गावः) गौयें (गोष्ठे) गोशाला में [सुख से रहती] हैं॥ ३२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर में परमात्मा की अद्भुत स्थूल और सूक्ष्म रचना देखकर समस्त ब्रह्माण्ड का कर्ता, धर्ता और आधार उसको जाने ॥ ३२ ॥

प्रथमेन प्रमारेण त्रेधा विष्वङ् वि गच्छति । अद एकेन गच्छत्यद एकेन गच्छतीहैकेन नि षेवते ॥ ३३ ॥

प्रथमेन । प्र-मारेण । त्रेधा । विष्वङ् । वि । गच्छति ॥ अदः । एकेन । गच्छति । अदः । एकेन । गच्छति । इह । एकेन । नि । सेवते ॥ ३३ ॥

३२—(तस्मात्) परमात्मनः सकाशात् (वै) एव (विद्वान्) जानन् (पुरुषम्) पुरुषशरीरम (इदम्) इन्देः कमिन्नलोपश्च । उ० ४ । १५७ । इदि परमैश्वर्ये—कमिन् । परमैश्वर्ययुक्तम् (ब्रह्म) परमात्मा (इति) एवम् (मन्यते) जानाति (सर्वाः) समस्ताः (हि) यस्मात् (अस्मिन्) परमात्मनि (देवताः) दिव्यपदार्थाः पृथिवीसूर्यादिलोकाः (गावः) धेनवः (गोष्ठे) गोशालायाम् (इव) (आसते) तिष्ठन्ति ॥

भाषार्थ—(प्रथमेन) पहिले [मरण समय के पहिले] से और (प्रमारेण) मरण के साथ (त्रेधा) तीन प्रकार पर (विष्वङ्) नाना गति से वह [प्राणी] (वि गच्छति) चला चलता है। वह [प्राणी] (एकेन) एक [शुभ कर्म] से (अदः) उस [मोक्ष सुख] को (गच्छति) पाता है, (एकेन) एक [पाप कर्म] से (अदः) उस [नरक स्थान] को (गच्छति) पाता है, (एकेन) एक [पुण्य पाप के साथ मिले कर्म] से (इह) यहां पर [मध्य अवस्था में] (नि सेवते) नियम से रहता है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मनुष्य जीवनकाल और परलोक में अपने शुभ कर्म से मोक्ष, अशुभ कर्म से नरक, और दोनों पुण्य पाप की मध्य अवस्था में मोक्ष और नरक की मध्य अवस्था भोगता है ॥ ३३ ॥

अप्सु स्तीमासु वृद्धासु शरीरमन्तरा हितम् ।
तस्मिं छवोऽध्यन्तरा तस्माच्छवोऽध्युच्यते ॥ ३४ ॥(२४)

अप्-सु । स्तीमासु । वृद्धासु । शरीरम् । अन्तरा । हितम् ॥ तस्मिन् । शवः । अधि । अन्तरा । तस्मात् । शवः । अधि । उच्यते ॥ ३४ ॥ (२४)

भाषार्थ—(स्तीमासु) भाफ वाले, (वृद्धासु) बढ़े हुये (अप्सु अन्तरा) अन्तरिक्ष के भीतर (शरीरम्) शरीर (हितम्) रक्खा हुआ है। (तस्मिन् अन्तरा) उस [शरीर] के भीतर (शवः) बल [गति कारक वा वृद्धिकारक

३३—(प्रथमेन) मरणात् प्रथमकालेन (प्रमारेण) मरणेन सह (त्रेधा) त्रिप्रकारेण (विष्वङ्) विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन् । नानागत्या (वि गच्छति) व्याप्य चलति (अदः) तत् । मोक्षपदम् (एकेन) पुण्यकर्मणा (गच्छति) प्राप्नोति (अदः) तत् । नरकस्थानम् (एकेन) पापकर्मणा (इह) अत्र । मोक्षनरकयोर्मध्यावस्थायाम् (एकेन) पुण्यपापमिश्रितेन कर्मणा (नि) नितराम् । नियमेन (सेवते) भुनक्ति ॥

३४—(अप्सु) आपः = अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ । अन्तरिक्षे । आकाशे (स्तीमासु) ष्टीम आर्द्रीभावे-पचाद्यच् । आर्द्रं कुर्वतीषु । वाष्पयुक्तासु (वृद्धासु) वृद्धियुक्तासु (शरीरम्) (अन्तरा) मध्ये (हितम्) धृतम् (तस्मिन्) शरीरे

जीवात्मा] (अधि) अधिकारपूर्वक है, (तस्मात्) उस [जीवात्मा] से (अधि) ऊपर (शवः) बल [गतिकारक वा वृद्धिकारक परमात्मा] (उच्यते) कहा जाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—विशाल आकाश के भीतर मेघ, वायु आदि पदार्थ हैं। उस आकाश के भीतर सब शरीर हैं, शरीरों में चेतन्य जीवात्मा अधिष्ठाता है। उस जीवात्मा का भी अधिष्ठाता सर्व नियन्ता परमात्मा है ॥ ३४ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—२६ ॥ अर्बुदिर्देवता ॥ १ त्र्यवसाना सप्तपदा विराट्शक्वरी; २,५-८, १०, १२, १३, १८—२१ अनुष्टुप्; ३ परोष्णिक्; ४ त्र्यवसाना स्वराडार्षी जगती; ६,११,१४,२३ आस्तारपङ्क्तिः; १५ अतिजगती; १६ त्र्यवसाना ब्राह्म्युष्णिक्; १७ गायत्री; २२, २४, २५ त्र्यवसाना सप्तपदा शक्वरी; २६ प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

राजप्रजाकृत्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

ये बाहवो या इषवो धन्वनां वीर्याणि च ।
असीन् परशूनायुधं चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
सर्वं तदर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय ॥ १ ॥

(शवः) अ० ५ । २ । २ । श्वेः सम्प्रसारणं च । उ० ४ । १५३ । टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—असुन् । बलम्—निघ० २ । ९ । गतिकरं वृद्धिकरं वा जीवात्मरूपं बलम् (अधि) उपरि (तस्मात्) जीवात्मनः सकाशात् (शवः) गतिकरं वृद्धिकरं वा परमात्मरूपं बलम् (अधि) उपरि (उच्यते) कथ्यते ॥

ये । बाहवः । याः । इषवः । धन्वनाम् । वीर्याणि । च ॥ असीन् । परशून् । आयुधम् । चित्त-आकूतम् । च । यत् । हृदि ॥ सर्वम् । तत् । अर्बुदे । त्वम् । अमित्रेभ्यः । दृशे । कुरु । उत्-आरान् । च । प्र । दर्शय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (बाहवः) भुजायें, (याः) जो (इषवः) बाण, (च) और (धन्वनाम्) धनुषों के (वीर्याणि) वीर कर्म हैं [उनको] । (असीन्) तरवारों, (परशून्) परसाओं [कुल्हाड़ों], (आयुधम्) अस्त्र शस्त्र को, (च) और (यत्) जो कुछ (हृदि) हृदय में (चित्ताकूतम्) विचार और सङ्कल्प है । (तत् सर्वम्) उस सब [कर्म] को (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः दृशे) अमित्रों के लिये देखने को (कुरु) कर, (च) और (उदारान्) [हमें अपने] बड़े उपायों को (प्र दर्शय) दिखादे ॥ १ ॥

भावार्थ—सेनापति राजा अपने योद्धाओं, अस्त्र शस्त्रों, हृदय के विचारों, और मनोरथों को दृढ़ करके शत्रुओं को रोके और प्रजा की यथावत् रक्षा करे ॥ १ ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् ।
संदृष्टा गुप्ता वः सन्तु या नो मित्राण्यर्बुदे ॥ २ ॥

१—(ये) (बाहवः) भुजदण्डाः (याः) (इषवः) बाणाः (धन्वनाम्) धनुषाम् (वीर्याणि) वीरकर्माणि । शत्रुजयसामर्थ्यानि (असीन्) खड्गान् (परशून्) कुठारविशेषान् (आयुधम्) अस्त्रशस्त्रजातम् (चित्ताकुतम्) द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् । पा० २ । ४ । २ । एकवद्भावादेकवचनम् । चित्तानां विचाराणाम्, आकूतानां संकल्पानां च समाहारः (च) (यत्) (हृदि) हृदये (सर्वम्) (तत्) (अर्बुदे) अर्ब गतौ हिंसायां च—उदिच् प्रत्ययः । हे पुरुषार्थिन् शत्रुनाशक शूर सेनापते (त्वम्) (अमित्रेभ्यः) शत्रुभ्यः (दृशे) अ० १ । ६ । ३ । द्रष्टुम् (कुरु) अनुतिष्ठ (उदारान्) उद + आङ् + दा दाने—क । यद्वा उद् + ऋ गतिप्रापणयोः—घञ् । गम्भीरोपायान् (च) (प्र) प्रकर्षेण (दर्शय) निरीक्षय ॥

उत् । तिष्ठत । सम् । नह्यध्वम् । मित्राः । देव-जनाः । यूयम् ॥
सम्-दृष्टा । गुप्ता । वः । सन्तु । या । नः । मित्राणि । अर्बुदे ॥२॥

भाषार्थ—(मित्राः) हे प्रेरक (देवजनाः) विजयी जनो ! (यूयम्) तुम (उत् तिष्ठत) उठो और (सम् नह्यध्वम्) कवचों को पहिनो । (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति-म० १] (या) जो (नः) हमारे (मित्राणि) मित्र हैं, [वे सब] (वः) तुम लोगों के (संदृष्टा) देखे हुये और (गुप्ता) रक्षित (सन्तु) होवें ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनापति राजा आदि लोग अपने विजयी वीर सैनिकों और सहायक मित्रों को सावधान और अस्त्र शस्त्रों से सजाकर निरीक्षण करें और व्यूह रचना से उन की रक्षा करें ॥ २ ॥

उत्तिष्ठतमा रभेथामादानसंदानाभ्याम् ।
अमित्राणां सेना अभि धत्तमर्बुदे ॥ ३ ॥

उत् । तिष्ठतम् । आ । रभेथाम् । आदान-संदानाभ्याम् ॥
अमित्राणाम् । सेनाः । अभि । धत्तम् । अर्बुदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [हे शूर सेनापति राजन् और प्रजागण] तुम दोनों (उत् तिष्ठतम्) खड़े हो जाओ, (आदानसन्दानाभ्याम्) दोनों पकड़ने और बांधने के यन्त्रों से [युद्ध] (आ रभेथाम्) आरम्भ करो,

---

२—(उत्तिष्ठत) उद्गच्छत (संनह्यध्वम्) संनाहान् कवचान् धारयत (मित्राः) डु मिञ् प्रक्षेपणे-क्त । हे प्रेरकाः (देवजनाः) विजिगीषुलोकाः (यूयम्) (संदृष्टा) सम्यङ् निरीक्षितानि (गुप्ता) रक्षितानि (वः) युष्माकम् (सन्तु) (या) यानि (नः) अस्माकम् (मित्राणि) सुहृद्गणाः (अर्बुदे) म० १ । हे शूर सेनापते ॥

३—(उत्तिष्ठतम्) उच्चलतम् (आरभेथाम्) युद्धमुपक्रमेथाम् (आदानसन्दानाभ्याम्) आदीयते गृह्यते अनेनेति आदानं ग्रहणयन्त्रम्, सन्दीयते बध्यते अनेनेति बन्धनयन्त्रम् । ताभ्यां यन्त्राभ्याम् (अमित्राणाम्) शत्रूणाम्

और (अमित्राणाम्) वैरियों की (सेनाः) सेनाओं को (अभि धत्तम्) तुम दोनों बांध लो ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति राजा और सब प्रजागण मिलकर वीरता के साथ अनेक यन्त्र समूहों से शत्रुओं को घेर लेवें ॥ ३ ॥

अर्बुदिर्नाम यो देव ईशानश्च न्यर्बुदिः ।
याभ्यामन्तरिक्षमावृतमियं च पृथिवी मही ।
ताभ्यामिन्द्रमेदिभ्यामहं जितमन्वेमि सेनया ॥ ४ ॥

अर्बुदिः । नाम । यः । देवः । ईशानः । च । नि-अर्बुदिः ॥ याभ्याम् । अन्तरिक्षम् । आ-वृतम् । इयम् । च । पृथिवी । मही ॥ ताभ्याम् । इन्द्रमेदि-भ्याम् । अहम् । जितम् । अनु । एमि । सेनया ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अर्बुदिः) अर्बुदि [शूर सेनापति राजा], (यः) जो (नाम) प्रसिद्ध (देवः) विजयी पुरुष है, (च) और [जो] (ईशानः) ऐश्वर्यवान् (न्यर्बुदिः) न्यर्बुदि [निरन्तर पुरुषार्थी प्रजागण] है। (याभ्याम्) जिन दोनों से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (आवृतम्) घिरा हुआ है (च) और (इयम्) यह (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी [घिरी है]। (ताभ्याम्) उन दोनों (इन्द्रमेदिभ्याम्) जीवों के स्नेहियों के द्वारा (सेनया) [अपनी] सेना से

(सेनाः) (अभिधत्तम्) युवां बध्नीतम् (अर्बुदे) म० १। हे शूर सेनापते त्वम् हे राजागण त्वं च युवाम् ॥

४—(अर्बुदिः) म० १। शूरसेनापती राजा (नाम) प्रसिद्धौ (यः) (देवः) विजिगीषुः (ईशानः) ईशिता (च) (न्यर्बुदिः) नि+अर्ब गतौ हिंसायां च-इदिच्। निरन्तरपुरुषार्थी प्रजागणः (याभ्याम्) अर्बुदिन्यर्बुदिभ्याम् (अन्तरिक्षम्) (आवृतम्) आच्छादितम् (इयम्) दृश्यमाना (च) (पृथिवी) (मही) महती (ताभ्याम्) (इन्द्रमेदिभ्याम्) ञि मिदा स्नेहने-णिनि ।

(जितम्) जीते हुये [प्रयोजन] को (अहम्) मैं [प्रजागण] (अनु) निरन्तर (एमि) पाऊं ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजाजन पृथिवी, आकाश और जल में भी राज्य बढ़ाकर प्रजागण को जीते हुये देशों में विद्या प्रचार और वाणिज्य आदि से लाभ पहुंचावें ॥ ४ ॥

उत्तिष्ठ त्वं देवजनार्बुदे सेनया सह ।

भञ्जन्नमित्राणां सेनां भोगेभिः परि वारय ॥ ५ ॥

उत् । तिष्ठ । त्वम् । देव-जन । अर्बुदे । सेनया । सह ॥
भञ्जन् । अमित्राणाम् । सेनाम् । भोगेभिः । परि । वारय ॥५॥

भाषार्थ—(देवजन) हे विजयी जन ! (अर्बुदे) अर्बुदि [शूर सेनापति राजन्] (त्वम्) तू (सेनया सह) [अपनी] सेना के साथ (उत् तिष्ठ) खड़ा हो । (अमित्राणाम्) अमित्रों की (सेनाम्) सेना को (भञ्जन्) पीसता हुआ तू (भोगेभिः) भोग व्यूहों [सांप की कुण्डली के समान सेना की रचनाओं] से (परि वारय) घेर ले ॥ ५ ॥

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना को अस्त्र शस्त्रों से सजाकर भोगव्यूह, चक्रव्यूह, दण्डव्यूह, शकटव्यूह, आदि बनाकर शत्रु सेना को चूरचूर करके घेर लेवे ५ ॥

सप्त जातान् न्यर्बुद उदाराणां समीक्षयन् ।

तेभिष्ट्वमाज्ये हुते सर्वैरुत्तिष्ठ सेनया ॥ ६ ॥

जीवानां स्नेहिभ्याम् (अहम्) प्रजागणः (जितम्) जयेन प्राप्तं प्रयोजनम् (अनु) निरन्तरम् (एमि) प्राप्नोमि (सेनया) स्वसेनया ॥

५—(उत्तिष्ठ) उद्गच्छ (त्वम्) (देवजन) हे विजिगीषुजन (अर्बुदे) म० १ । हे शूर सेनापते (सेनया) (सह) (भञ्जन्) आमर्दयन् । चूर्णयन् (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (सेनाम्) (भोगेभिः) भुजो कौटिल्ये-घञ् । भोगैः । सर्पशरीरवत् सेनाव्यूहविशेषैः (परिवारय) सर्वतो वेष्टय ॥

सप्त । जातान् । नि-अर्बुदे । उत्-आराणाम् । सम्-ईक्षयन् ॥
तेभिः । त्वम् । आज्ये । हुते । सर्वैः । उत् । तिष्ठ । सेनया ॥६॥

भाषार्थ—(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि [निरन्तर पुरुषार्थी प्रजागण] (उदाराणाम्)बड़े उपायों में से (सप्त) सात (जातान्) उत्तम [उपायों अर्थात् राज्य के अङ्गों] को (समीक्षयन्) दिखाता हुआ तू (तेभिः सर्वैः) उन सब [शत्रुओं] के साथ [जैसे अग्नि में] (आज्ये हुते) घी चढ़ने पर, (त्वम्) तू (सेनया) [अपनी] सेना सहित (उत् तिष्ठ) खड़ा हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि घी डालने से प्रचण्ड होता है वैसे ही शत्रु से भारी युद्ध ठनने पर सब प्रजा गण राज्य के सात अङ्गों को दृढ़ करके टूट पड़ें ॥ ६ ॥

राज्य के सात अङ्ग शब्दकल्पद्रुम में इस प्रकार हैं [स्वाम्यमात्यश्च राष्ट्रञ्च दुर्गं कोषो बलं सुहृत् । परस्परोपकारीदं सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ १ ॥] १– स्वामी अर्थात् राजा, और २–मन्त्री और ३–राजधानी आदि राज्य, ४–गढ़, ५–सुवर्ण आदि कोष, ६–सैन्य दल, और ७–मित्र, परस्पर उपकारी सात अङ्गों वाला यह राज्य कहा जाता है ॥

प्रतिघ्नानाश्रुमुखी कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
विकेशी पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ ७ ॥

प्रति-घ्नाना । अश्रु-मुखी । कृधु-कर्णी । च । क्रोशतु ॥
वि-केशी । पुरुषे । हते । रदिते । अर्बुदे । तव ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्रतिघ्नाना) [शिर आदि] कुटती हुयी, (अश्रुमुखी) मुख पर आंसु बहाती हुयी, (कृधुकर्णी) मन्द कानों वाली (च) और (विकेशी)

६—(सप्त) सप्तसंख्याकान् स्वाम्यमात्यादीन् राज्योपायान् (जातान्) प्रशस्तान् (न्यर्बुदे) म० ४ । हे निरन्तरपुरुषार्थिन् प्रजागण (उदाराणाम्) म० १ । गम्भीराणामुपायानां मध्ये (समीक्षयन्) ईक्ष दर्शने-णिच्. शतृ । सम्यग् दर्शयन् । प्रकटयन् (तेभिः) तैः शत्रुभिः (त्वम्) (आज्ये) घृते (हुते) अग्नौ प्रक्षिप्ते सति (सर्वैः) समस्तैः (उत्तिष्ठ) (सेनया) ॥

७—(प्रतिघ्नाना) प्रति+हन हिंसागत्योः–शानच् । गमहनजन० । पा० ६ । ४ । ९८ । उपधालोपः । शिरआद्यङ्गं ताडयन्ती (अश्रुमुखी) बाष्पमुखी (कृधु-

केश बिखरे हुये [शत्रु की माता, पत्नी बहिन आदि] (पुरुषे हते) [अपने] पुरुष के मारे जाने में, (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (तव) तेरे (रदिते) तोड़ने फोड़ने पर (क्रोशतु) रोवे ॥ ७ ॥

भावार्थ—शूर सेनापति शत्रुओं को ऐसा मारे कि उनकी स्त्रियां अति व्याकुल होकर विलाप करें ॥ ७ ॥

सं॒क॒र्षन्ती॑ करू॒क॑रं॒ मन॑सा पु॒त्रमि॒च्छन्ती॑ ।
पतिं॒ भ्रात॑र॒मात्स्वान् र॑दि॒ते अ॑र्बुदे॒ तव॑ ॥ ८ ॥

सम्-कर्षन्ती । क॒रू॒क॑रम् । मन॑सा । पु॒त्रम् । इ॒च्छन्ती॑ ॥
पति॑म् । भ्रात॑रम् । आत् । स्वान् । र॒दि॒ते । अ॒र्बु॒दे॒ । तव॑ ॥८॥

भाषार्थ—(करूकम्) कार्य कर्ता (पुत्रम्) पुत्र (पतिम्) पति, (भ्रातरम्) भाई (आत्) और (स्वान्) बन्धुओं को (संकर्षन्ती) समेटती हुई और (मनसा) मन से (इच्छन्ती) चाहती हुई [माता, पत्नी, भगिनी आदि स्त्री] (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति-म० १] (ते) तेरे (रदिते) तोड़ने फोड़ने पर, [रोवे-म० ७] ॥ ८ ॥

भावार्थ—शूर सेनापति से शत्रुओं के मारे जाने पर उनकी स्त्रियां अपने घरों के कार्य कर्ताओं के बिना अत्यन्त दुःखी होवें ॥ ८ ॥

अ॒लिक्ल॑वा जा॒ष्कम॒दा गृध्राः॑ श्ये॒नाः प॑त॒त्रिणः॑ । ध्वाङ्क्षाः॑
श॒कुन॑यस्तृप्य॒न्त्व॒मित्रे॑षु स॒मीक्ष॑यन् र॑दि॒ते अ॑र्बुदे॒ तव॑ ॥९॥

कर्णी) कृधु ह्रस्व नाम-निघ० २ । ३ । अल्पश्रोत्रा । पटहध्वन्यादिना हतश्रवणसामर्थ्या (च) (क्रोशतु) क्रुश आह्वाने रोदने च । रोदितु (विकेशी) अ० १ । २८ । ४ । विकीर्णकेशयुक्ता (पुरुषे) स्वबन्धौ (हते) मारिते सति (रदिते) रद विलेखने-भावे क्त । विदारणे सति (अर्बुदे) म० १ । हे शूर सेनापते (तव) ॥

८—(संकर्षन्ती) सम्यग् गृह्णन्ती (करूकरम्) कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० । करोतेः—ऊप्रत्ययः स्त्रियाम् । कृञो हेतुताच्छील्यानुलोम्येषु । पा० ३ २ । २० । करोतेष्टः । करूं क्रियां करोतीति करूकरस्तं कार्यकर्तारम् (मनसा) हृदयेन (पुत्रम्) सुतम् (इच्छन्ती) कामयमाना (पतिम्) (भ्रातरम्) सहोदरम् (आत्) तथा (स्वान्) ज्ञातीन् । अन्यत् पूर्ववत्-म० ७ ॥

अलिक्लवाः। जाष्कमदाः। गृध्राः। श्येनाः। पतत्रिणः ॥ ध्वाङ्क्षाः। शकुनयः। तृप्यन्तु। अमित्रेषु। सम्-ईक्षयन्। रदिते। अर्बुदे। तव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(अलिक्लवाः) अपने बल से भय देने वाले [चील आदि] (जाष्कमदाः) हिंसा में सुख मनाने वाले [सारस आदि], (गृध्राः) खाऊ [गिद्ध], (श्येनाः) श्येन [बाज], (ध्वाङ्क्षाः) कौवे, (शकुनयः) चीलें, (पतत्रिणः) पक्षीगण (तृप्यन्तु) तृप्त होवें, [जिन पक्षियों को] (अमित्रेषु) अमित्रों पर (समीक्षयन्) दिखाता हुआ, तू (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (तव) अपने (रदिते) तोड़ फोड़ कर्म में [वर्तमान हो] ॥ ९ ॥

भावार्थ—शूर सेनापति शत्रुओं को युद्ध में मारकर गिरा दे और चील आदि मांस भक्षक पक्षी उनकी लोथों को नोच नोच कर खावें ॥ ९ ॥

अथो सर्वं श्वापदं मक्षिका तृप्यतु क्रिमिः ।
पौरुषेयेऽधि कुणपे रदिते अर्बुदे तव ॥ १० ॥ (२५)

अथो इति। सर्वम्। श्वापदम्। मक्षिका। तृप्यतु। क्रिमिः ॥ पौरुषेये। अधि। कुणपे। रदिते। अर्बुदे। तव ॥१०॥ (२५)

भाषार्थ—(अथो) और भी (सर्वम्) सब (श्वापदम्) कुत्तेकेसे

९—(अलिक्लवाः) अ० ११। २। २। अलिना शक्त्या स्वबलेन भयानकाः पक्षिणः (जाष्कमदाः) इणभीकापा० । उ० ३, ४३। जष हिंसायाम्—कन्, छांदसी वृद्धिः+मदी हर्षे—पचाद्यच् । हिंसने हर्षशीलाः । सारसादयः पक्षिणः (गृध्राः)मांसभक्षकाः खगविशेषाः (श्येनाः)-अ० ३ । ३ । ३ । शीघ्रगतयः पक्षिविशेषाः (पतत्रिणः) अ० १। १५। १ । पक्षिणः (ध्वाङ्क्षाः) ध्वाक्षि घोरशब्दे-अच् । काकाः (शकुनयः) अ० ७ । ६४ । १। चिल्लपक्षिणः (तृप्यन्तु) हृप्यन्तु (अमित्रेषु) शत्रुषु (समीक्षयन्) म० ६-त्वं सम्यग् दर्शयन् यान् पक्षिणः (रदिते) विदारणे, त्वं वर्त्तस्वेति शेषः (अर्बुदे) म० १। हे शूर सेनापते राजन् (तव) स्वकीये ॥

१०—(अथो) अपि च (सर्वम्) (श्वापदम्) शुनो दन्तदंष्ट्राकर्णकुन्द-

पैर वाले [सियार आदि हिंसकों का समूह], (मक्षिका) मक्खी और (क्रिमिः) कीड़ा (पौरुषेये) पुरुषों की (कुणपे अधि) लोथों के ऊपर, (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (तव) तेरे (रदिते) तोड़ने फोड़ने पर (तृप्यतु) तृप्त होवे ॥ १० ॥

भावार्थ--शूर सेनापति के विध्वंस करने पर शत्रुओं की लोथों से हिंसक पशु पक्षी पेट भरें ॥ १० ॥

आ गृ॑ह्णीतं॒ सं बृ॑हतं प्राणापा॒नान् न्य॑र्बुदे । नि॒वा॒शा घोषा॒ः सं य॑न्त्व॒मित्रे॑षु स॒मीक्षय॑न् । रदि॒ते अ॑र्बुदे॒ तव॑ ॥ ११ ॥

आ । गृ॒ह्णी॒त॒म् । सम् । बृ॒ह॒त॒म् । प्रा॒ण॒ऽअ॒पा॒नान् । नि॒ऽअ॒र्बु॒दे॒ ॥ नि॒ऽवा॒शाः । घोषाः॑ । सम् । य॒न्तु॒ । अ॒मित्रे॑षु । स॒म्ऽई॒क्षय॑न् । रदि॒ते । अ॒र्बु॒दे॒ । तव॑ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि ! [निरन्तर पुरुषार्थी प्रजागण और शूर सेनापति राजन्] [शत्रुओं को] (आ गृह्णीतम्) तुम दोनों घेर लो, और [उनके] (प्राणापानान्) श्वास प्रश्वासों को (सम् बृहतम्) उखाड़ दो । (निवाशाः) लगातार बोले हुये (घोषाः) घोषणा शब्द (सम् यन्तु) गूंज उठें, [जिन घोषणाओं को] (अमित्रेषु) अमित्रों पर (समीक्षयन्)

वराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः । वा० पा० ६ । ३ । १३७ । दीर्घः । शुन इव पदं यस्य सः श्वापदः, ततः समूहार्थे—अण् । हिंस्रपशूनां शृगालादीनां समूहः (मक्षिका) अ० ११ । २ । २ । कीटभेदः (तृप्यतु) (क्रिमिः) (पौरुषेये) अ० ७ । १०५ । १ । पुरुष-ढञ् । पुरुषसम्बन्धिनि (अधि) उपरि (कुणपे) क्वणेः सम्प्रसारणं च । उ० ३ । १४३ । क्वण शब्दे–कपन्, सम्प्रसारणम्, यद्वा कुण शब्दोपकरणयोः–कपन् । मृतदेहे । शवे । अन्यत् पूर्ववत्–म० ७॥

११—(आ गृह्णीतम्) समन्तात् प्राप्नुतम् (सं बृहतम्) बृह बृहू उद्यमने–लोट् । उत्खिदतं युवाम् (प्राणापानान्) (न्यर्बुदे) म० ४ । हे निरन्तरपुरुषार्थिन् प्रजागण त्वं च, हे शूर सेनापते राजन् त्वं च । (निवाशाः) वाशृ शब्दे—घञ् । निरन्तरभाष्यमाणाः (घोषाः) घोषणाशब्दाः (सं यन्तु)

दिखाता हुआ तू (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (तव) अपने (रदिते) तोड़ फोड़ कर्म में [वर्तमान हो] ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रजाजन राजगणों के सहायक होकर शत्रुओं को घेर कर व्याकुल कर देवें ॥ ११ ॥

उद् वेपय सं विजन्तां भियामित्रान्त्सं सृज ।
उरुग्राहैर्बाह्वङ्कैर्विध्यामित्रान् न्यर्बुदे ॥ १२ ॥

उत् । वेपय । सम् । विजन्ताम् । भिया । अमित्रान् । सम् । सृज ॥ उरु-ग्राहैः। बाहु-अङ्कैः। विध्य । अमित्रान् । नि-अर्बुदे १२

भाषार्थ—[उन्हें] (उद् वेपय) कंपा दे, (संविजन्ताम्) वे घबड़ाकर चले जावें, (अमित्रान्) अमित्रों को (भिया) भय के साथ (सं सृज) संयुक्त कर। (न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि ! [निरन्तर पुरुषार्थी प्रजागण] (उरुग्राहैः) चौड़ी पकड़ वाले (बाह्वङ्कैः) भुज बन्धनों से (अमित्रान्) अमित्रों को (विध्य) बेध ले ॥ १२ ॥

भावार्थ—युद्ध चतुर प्रजागण शत्रुओं को पकड़ने और मारने में उत्साह करें ॥ १२ ॥

मुह्यन्त्वेषां बाहवश्चित्ताकूतं च यद्धृदि ।
मैषामुच्छेषि किं चन रदिते अर्बुदे तव ॥ १३ ॥

मुह्यन्तु । एषाम् । बाहवः । चित्त-आकूतम् । च । यत् । हृदि॥

प्रतिध्वनिना संगच्छन्ताम् (अमित्रेषु) (समीक्षयन्) सम्यग् दर्शयन्, यान् घोषानिति शेषः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ६ ॥

१२—(उद्वेपय) टु वेपृ कम्पने । उत्कम्पय (संविजन्ताम्) ओ विजी भयचलनयोः । व्याकुलीभूय चलन्तु (भिया) भयेन (अमित्रान्) शत्रून् (संसृज) संयोजय (उरुग्राहैः) विस्तृतग्रहणयन्त्रयुक्तैः (बाह्वङ्कैः) अङ्क पदे लक्षणे च—घञ् । भुजबन्धनैः (विध्य) ताडय (अमित्रान्) (न्यर्बुदे) ॥

मा । एषाम् । उत् । शेषि । किम् । चन । रदिते । अर्बुदे । तव ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [शत्रुओं] की (बाहवः) भुजायें (मुह्यन्तु) निकम्मी हो जावें, (च) और (यत्) जो कुछ (हृदि) हृदय में (चित्ताकूतम्) विचार और सङ्कल्प हैं, (एषाम्) इनका (किं चन) वह कुछ भी, (अर्बुदे) हे अर्बुदि [शूर सेनापति राजन्] (तव) तेरे (रदिते) तोड़ने फोड़ने पर (मा उत् शेषि) न बचा रहे १३ ॥

भावार्थ—युद्ध विशारद सेनापति की वीरता प्रकट होने पर शत्रुदल और उनके विचार और मनोरथ निष्फल पड़ जावें ॥ १३ ॥

प्रतिघ्नानाः सं धावन्तूरः पटूरावाघ्नानाः । अघारिणीर्विकेश्यो रुदत्यः पुरुषे हते रदिते अर्बुदे तव ॥ १४ ॥

प्रति-घ्नानाः । सम् । धावन्तु । उरः । पटूरौ । आ-घ्नानाः ॥ अघारिणीः । वि-केश्यः । रुदत्यः । पुरुषे । हते । रदिते । अर्बुदे । तव ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(उरः) छाती और (पटूरौ) दोनों पटूरों [छाती के दोनों ओर के भागों] को (प्रतिघ्नानाः) धुनती हुई और (आघ्नानाः) पीटती हुई, (अघारिणीः) बिना तेल लगाये, (विकेश्यः) केश बिखेरे हुये , (रुदत्यः) रोती हुई [स्त्रियां] (पुरुषे हते) [अपने] पुरुष के मारे जाने में, (अर्बुदे)

१३—(मुह्यन्तु) मूढा निरर्थका भवन्तु (एषाम्) शत्रूणाम् (बाहवः) (चित्ताकूतम्) म० १ । विचाराणां सङ्कल्पानां च समाहारः (च) (यत्) (हृदि) हृदये (एषाम्) (मा उच्छेषि) शिष्लृ विशेषणे-कर्मणि लुङ् । अवशिष्टं मा भूत् (किंचन) तत् किमपि । अन्यद् गतम्—म० ७ ॥

१४—(प्रतिघ्नानाः) म० ७ । ताडयन्त्यः (संधावन्तु) इतस्ततः शीघ्रं गच्छन्तु (उरः) वक्षःस्थलम् (पटूरौ) मीनातेरूरन् । उ० १ । ६७ । पट गतौ दीप्तौ वेष्टने च-ऊरन् । उरः प्रदेशौ । कण्ठाधोभागौ (आघ्नानाः) म० ७ । हन-शानच् । समन्तात् पीडयन्त्यः (अघारिणीः) अ + घृ सेके-घञ्, अघार-इनि,

हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (तव) तेरे (रदिते) तोड़ने फोड़ने पर (सं धावन्तु) दौड़ती फिरें ॥ १४ ॥

भावार्थ—रणक्षेत्र में शत्रुओं के मारे जाने पर उनकी स्त्रियां व्याकुल होकर इधर उधर फिरती फिरें ॥ १४ ॥

इस मन्त्र का मिलान ऊपर मन्त्र ७ से करो ॥

श्वन्व॑तीरप्स॒रसो॒ रूप॑का उ॒तार्बु॑दे ।
अ॒न्तः॒पा॒त्रे रेरि॑हतीं रि॒शां दु॑र्णिहि॒तै॒षिणी॑म् ॥
सर्वा॒स्ता अ॑र्बुदे॒ त्वम॒मित्रे॑भ्यो दृ॒शे कु॑रूदा॒रांश्च॒ प्र द॑र्शय १५

श्वन्ऽवतीः । अ॒प्स॒रसः॑ । रूप॑काः । उ॒त । अ॒र्बु॒दे॒ ॥ अ॒न्तः॒ऽपा॒त्रे । रेरि॑हतीम् । रि॒शाम् । दु॒र्नि॒हि॒त॒ऽए॒षिणी॑म् ॥ सर्वाः॑ । ताः॑ । अ॒र्बु॒दे॒ । त्वम् । अ॒मित्रे॑भ्यः । दृ॒शे । कु॒रु॒ । उ॒त्ऽआ॒रान् । च॒ । प्र । द॒र्श॒य॒ ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (श्वन्वतीः) वृद्धि वाली (उत) और (अप्सरसः) प्रजाओं में व्यापने वाली (रूपकाः) सुन्दरतायें जताने वाली क्रियायों को [मित्रों के लिये], (अन्तःपात्रे) भीतरले पात्र [अन्तःकरण] में (रेरिहतीम्) अत्यन्त युद्ध करने वाली (दुर्णिहितैषिणीम्) दुष्ट प्रयोजन को खोजने वाली (रिशाम्) पीड़ा को, (ताः सर्वाः) उन सब [पीड़ाओं] को, (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (त्वम्) तू

ङीप् । अघारिण्यः । घारेण सेचनद्रव्येण तैलादिना रहिताः (विकेश्यः) अ० १ । २८ । ४ । विकीर्णकेशाः (रुदत्यः) अश्रून् विमोचयन्त्यः । अन्यद् गतम् म० ७ ॥

१५—(श्वन्वतीः) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५६ । टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः-कनिन्, मतुप् । अनोनुट् । पा० ८ । २ । १६ । अन्नन्ताद् मतोर्नुट् । वृद्धिमतीः (अप्सरसः) अ० ४ । ३७ । २ । अप्+सृ गतौ—असि । अप्सु प्रजासु व्यापनशीलाः (रूपकाः) आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । रूप+कै शब्दे-कः । उपपदमतिङ् । पा० २ । २ । १६ । इति समासः । रूपाणि सौन्दर्याणि काययन्ति शब्दयन्ति ज्ञापयन्ति यास्ताः क्रियाः (उत) अपि च (अर्बुदे) म० १ । हे शूर सेनापते राजन् (अन्तःपात्रे) मध्यवर्तिनि पात्रे । अन्तः करणे (रेरिहतीम्) रिह

(अमित्रेभ्यः दृशे) अमित्रों के लिये देखने को (कुरु) कर, (च) और [हमें अपने] (उदारान्) बड़े उपायों को (प्र दर्शय) दिखादे ॥ १५ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि शिष्टों के साथ उनके श्रेष्ठ व्यवहारों के अनुसार श्रेष्ठ व्यवहार करे और दुष्टों को खोजकर उनकी दुष्टता के अनुसार दण्ड देवे, जिससे राजा की उत्तम नीति का प्रभाव सबको विदित होजावे ॥१५॥ मन्त्र के अन्तिम भाग के लिये मन्त्र १ तथा २२ और २४ देखो ॥

खड्डूरेऽधिचङ्क्रमां खर्विकां खर्ववासिनीम् ।
य उदारा अन्तर्हिता गन्धर्वाप्सरसंश्च ये ।
सर्पा इतरजना रक्षांसि ॥ १६ ॥

खड्डूरे । अधि-चङ्क्रमाम् । खर्विकाम् । खर्व-वासिनीम् ॥
ये । उत्-आराः । अन्तः-हिताः । गन्धर्व-अप्सरसः । च ।
ये ॥ सर्पाः । इतर-जनाः । रक्षांसि ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(खड्डूरे) खड्ग [तरवार] पर (अधिचङ्क्रमाम्) निधड़क चढ़ जाने वाली, (खर्विकाम्) अभिमानिनी, (खर्ववासिनीम्) खर्वों [बहुत गिनती मनुष्यों] में रहने वाली [सेना] को और (ये) जो (उदाराः) उदार [दानशील] (च) और (ये) जो (अन्तर्हिताः) अन्तःकरण से हितकारी (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्व [पृथिवी के धारण करने वाले] और अप्सर

कत्थन युद्धनिन्दाहिंसादानेषु-यङ्लुकि शतृ, ङीप् । भृशं युध्यमानाम् (रिशाम्) रिश हिंसायाम्-क, टाप् । पीडाम् (दुर्णिहितैषिणीम्) दुर्+नि+धा—क्त+इष इच्छायाम्—णिनि । दुष्टं स्थापितं प्रयोजनमन्विच्छन्तीम् (सर्वाः) (ताः) पीडाः । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

१६—(खड्डूरे) मीनातेरूरन् उ० १ । ६७ । खड भेदने-ऊरन् । खड्गे । तरवारौ (अधिचङ्क्रमाम्) क्रमु पादविक्षेपे, यङ्लुकि नुक्-पचाद्यच् । यङोऽचि च । पा० २ । ४ । ७२ । यङो लुक् । भृशमधिक्रमणशीलाम् (खर्विकाम्) खर्व दर्पे-ण्वुल् । अभिमानिनीम् (खर्ववासिनीम्) खर्वेषु संख्याविशेषेषु निवसन्तीं सेनाम् (ये) (उदाराः) दानशीलाः (अन्तर्हिताः) अन्तः करणेन हितकारिणः (गन्धर्वाप्सरसः) अ० ११ । ६ । ४ । गां पृथिवीं धरन्ति ये ते

[प्रजाओं वा आकाश में चलने वाले विवेकी लोग हैं, उनको, दिखा—म० १५] और [जो] (सर्पाः) सर्प [के समान हिंसक], (इतरजनाः) पामरजन (रक्षांसि) राक्षस हैं [उनको, कंपा दे–म० १८] ॥ १६ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (दर्शय) [दिखा] मन्त्र १५ से और (उत्-क्षेपय) (कंपा दे) क्रिया पद–मन्त्र १८ से लाया गया है। राजा अपनी सुनीति से सुशिक्षित वीर सेना और हितैषी, भूमिविद्या और आकाशविद्या जानने वाले विज्ञानियों द्वारा दुष्टों को दण्ड देवे, जिससे शत्रु लोग पृथिवी वा आकाश मार्ग से कष्ट न दे सकें ॥१६॥

चतु॑र्दंष्ट्रां॒छ्या॒वद॑तः कु॒म्भ-मु॑ष्काँ॒ असृ॑ङ्मुखान् ।
स्व॒भ्य॒सा ये चो॑द्भ्य॒साः ॥ १७ ॥

चतुः॑-दं॒ष्ट्रान् । श्या॒व-द॑तः। कु॒म्भ-मु॑ष्कान् । असृ॑क्-मुखान् ॥
स्व॒-भ्य॒साः । ये । च॒ । उ॒त्-भ्य॒साः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(चतुर्दंष्ट्रान्) चार डाढ़ें वालों [बड़े हाथियों] और (श्यावदतः) काले दांतों वाले, (कुम्भमुष्कान्) कुम्भसमान [घड़ा समान बड़े] अंडकोश वाले (असृङ्मुखान्) रुधिर मुखों [सिंह आदि जीवों] को (च) और (ये) जो (स्वभ्यसाः) स्वभाव से भयानक [और जो] (उत्भ्यसाः) ऊपरी [आकार से] भयानक हैं [उनको, कंपा दे म० १८] ॥ १७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में (उत्क्षेपय) [कंपा दे] क्रिया पद–मन्त्र १८ से आता है। राजा भयानक हिंसक जीवों और उनके समान दुष्ट मनुष्यों को राज्य से हटाकर प्रजापालन करें ॥ १७ ॥

गन्धर्वाः। अप्सु प्रजासु आकाशे वा सरन्ति ये ते अप्सरसः। ते सर्वे विवेकिनः (च) (ये) (सर्पाः) सर्पवत् क्रूराः (इतरजनाः) पामरलोकाः (रक्षांसि) राक्षसाः ॥

१७—(चतुर्दंष्ट्रान्) चतुर्दन्तान् महागजान् (श्यावदतः) श्यामवर्णदन्तयुक्तान् (कुम्भमुष्कान्) कुम्भाकृतिमुष्कयुक्तान् (असृङ्मुखान्) रुधिरमुखान् सिंहादीन् (स्वभ्यसाः) भ्यस भये–घञर्थे कप्रत्ययः। स्वेन आत्मना स्वभावेन भयानकाः (ये) (च) (उद्भ्यसाः) ऊर्ध्वप्रकारेण भयानकाः ॥

उद् वेपय त्वमर्बुदेऽमित्राणाममूः सिचः ।
जयांश्च जिष्णुश्चामित्राँ जयतामिन्द्रमेदिनौ ॥ १८ ॥

उत् । वेपय । त्वम् । अर्बुदे । अमित्राणाम् । अमूः । सिचः ॥
जयन् । च । जिष्णुः । च । अमित्रान् । जयताम् । इन्द्र-मेदिनौ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (त्वम्) तू (अमित्राणाम्) शत्रुओं की (अमूः) उन (सिचः) सेचनशील [उमड़ती हुई सेनाओं] को (उत् वेपय) कंपा दे । (जयन्) जीतता हुआ [प्रजागण] (च च) और (जिष्णुः) विजयी [राजा], (इन्द्रमेदिनौ) जीवों के स्नेही आप दोनों (अमित्रान्) वैरियों को (जयताम्) जीतें ॥ १८ ॥

भावार्थ—परस्पर प्रसन्न चित्त प्रजागण और राजगण शत्रुओं की सहायक सेनाओं को तुरन्त जीत लेवें ॥ १८ ॥

प्रब्लीनो मृदितः शयां हतोऽमित्रो न्यर्बुदे ।
अग्निजिह्वा धूमशिखा जयन्तीर्यन्तु सेनया ॥ १९ ॥

प्र-ब्लीनः । मृदितः । शयाम् । हतः । अमित्रः । नि-अर्बुदे ॥
अग्नि-जिह्वाः । धूम-शिखाः । जयन्तीः । यन्तु । सेनया ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि ! [निरन्तर पुरुषार्थी प्रजागण (प्रब्लीनः) घिरा हुआ, (मृदितः) कुचला हुआ (हतः) मारा गया (अमित्रः) वैरी

१८—(उत्) उत्कर्षेण (वेपय) म० १२ । कम्पय (त्वम्) (अर्बुदे) म० १ । शूर सेनापते राजन् (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (अमूः) दृश्यमानाः (सिचः) षिच आर्द्रीकरणे-क्विप् । सेचनशीलाः सहायिकाः सेनाः (जयन्) सांहितिको दीर्घः । पराभावयन् प्रजागणः (जिष्णुः) जयशीलः सेनापतिः (च) (अमित्रान्) शत्रून् (जयताम्) पराभावयताम् (इन्द्रमेदिनौ) म० ४ । जीवानां स्नेहिनौ राजप्रजागणौ ॥

१९—(प्रब्लीनः) ब्ली स्वीकरणे वेष्टने गतौ च-क्त, वस्य वः । वेष्टितः । आच्छादितः (मृदितः) संपिष्टगात्रः (शयाम्) लोपस्त आत्मनेपदेषु । पा० ७ ।

(शयाम्) सोजावे। (अग्निजिह्वाः) अग्नि की जीभें [लपटें] और (धूमशिखाः) धुयें की चोटियां [आग्नेय शस्त्रों से] (सेनया) सेना द्वारा (जयन्तीः) जीतती हुईं (यन्तु) चलें ॥ १६ ॥

भावार्थ—धर्मात्माओं के सेना दल आग्नेय आदि शस्त्रों को जल, थल और आकाश से इस प्रकार छोड़ें कि शत्रु लोग रुन्ध खुंद कर मर जावें ॥ १६ ॥

तयार्बुदे प्रणुत्तानामिन्द्रो हन्तु वरंवरम् ।
अमित्राणां शचीपतिर्मामीषां मोचि कश्चन ॥ २० ॥ (२६)

तया । अर्बुदे । प्र-नुत्तानाम् । इन्द्रः । हन्तु । वरम्-वरम् ॥ अमित्राणाम् । शची-पतिः । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ॥ २० ॥ (२६)

भाषार्थ—(अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (शचीपतिः) वाणियों, कर्मों और बुद्धियों के पालने वाले, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले आप] (तया) उस [सेना के द्वारा] (प्रणुत्तानाम्) बाहिर हटाये गये (अमित्राणाम्) वैरियों में से (वरंवरम्) अच्छे अच्छे को (हन्तु) मारे। (अमीषाम्) इनमें से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छुटे ॥ २० ॥

१। ४१। तलोपः। शेताम् (हतः) नाशितः (अमित्रः) पीडकः शत्रुः (न्यर्बुदे) म० ४। हे निरन्तरपुरुषार्थिन् प्रजागण (अग्निजिह्वाः) आग्नेयशस्त्राणामग्नेर्ज्वालाः (धूमशिखाः) धूमस्य शिखररूपाः समुच्चयाः (जयन्तीः) शत्रुबलं जयन्त्यः (यन्तु) गच्छन्तु (सेनया) ॥

२०—(तया) सेनया (अर्बुदे) म० १। हे शूरसेनापते राजन् (प्रणुत्तानम्) बहिष्प्रेरितनाम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (हन्तु) मारयतु (वरंवरम्) अ० ६। ६७। २। श्रेष्ठं श्रेष्ठं नायकम् (अमित्राणाम्) शचीपतिः) अ० ३। १०। १२। शची=वाक्-निघ० १। ११। कर्म २। १। प्रज्ञा - ३। ६। शचीनां वाचां कर्मणां प्रज्ञानां च पालकः। यथार्थवक्ता यथार्थकर्मा यथार्थप्रज्ञश्च (अमीषाम्) शत्रूणाम् (मा मोचि) अ० ३। १६। ८। मा मुच्यताम् (कश्चन) कोऽपि ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल (शचीपति) यथार्थ बोलने वाला, यथार्थ कर्म वाला और यथार्थ बुद्धि वाला सेनापति शत्रुओं के सब नायकों को मार कर परास्त कर देवे ॥ २० ॥

देखो—अथर्व० ६। ६७। २। और-अथर्व० ३। १६। ८॥

उत्कसन्तु हृदयान्यूर्ध्वः प्राण उदीषतु ।
शौष्कास्यमनु वर्ततामुमित्रान् मोत मित्रिणः ॥ २१ ॥

उत् । कसन्तु । हृदयानि । ऊर्ध्वः । प्राणः । उत् । ईषतु ॥ शौष्क-आस्यम् । अनु । वर्तताम् । अमित्रान् । मा । उत । मित्रिणः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[शत्रुओं के] (हृदयानि) हृदय (उत् कसन्तु) उकस जावें [हिलजावें], (प्राणः) प्राण [श्वास प्रश्वास] (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (उत् ईषतु) चढ़ जावे। (शौष्कास्यम्) मुखकी सुखाई (अमित्रान् अनु) शत्रुओं को (वर्तताम्) व्यापे, (उत) और (मित्रिणः) [हमारे लिये] मित्र रखने वाले जनों को (मा) न [व्यापे] ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो लोग अपने मित्रों सहित हमारे सहायक होते हैं, उन वीरों के भय से शत्रुदल व्याकुल होकर कष्ट पावें और धर्मात्मा लोग सुख पावें ॥ २१ ॥

ये च धीरा ये चाधीराः पराञ्चो बधिराश्च ये ।
तमसा ये च तूपरा अथो बस्ताभिवासिनः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय २२

२१—(उत् कसन्तु) कस गतौ। उद्गच्छन्तु (हृदयानि) अन्तः करणानि (ऊर्ध्वः) उच्चगतिः सन् (प्राणः) श्वासप्रश्वासव्यापारः (उदीषतु) ईष गतौ। निर्गच्छतु (शौष्कास्यम्) शुष्कास्यता। मुखस्य निर्द्रवत्वम् (अनु) प्रति (वर्तताम्) व्याप्यताम् (अमित्रान्) पीडकान् (मा) निषेधे (उत) अपि च (मित्रिणः) मित्र—इनि। अस्मभ्यं मित्राणि सन्ति येषां तान् जनान्-अनुवर्ततामिति शेषः ॥

ये । च । धीराः । ये । च । अधीराः । पराञ्चः । बधिराः । च । ये ॥ तमसाः । ये । च । तूपराः । अथो इति । बस्त-अभिवासिनः ॥ सर्वान् । तान् । अर्बुदे । त्वम् । अमित्रेभ्यः । दृशे । कुरु । उत्-आरान् । च । प्र । दर्शय ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (धीराः) धीर [धैर्यवान्] (च च) और (ये) जो (अधीराः) अधीर [चंचल], (पराञ्चः) हट जाने वाले (च) और (ये) जो (बधिराः) बहिरे [शिक्षा न सुनने वाले] हैं । (च) और (ये) जो (तमसाः) अन्धकार युक्त, (तूपराः) हिंसक (अथो) और (बस्ताभिवासिनः) उद्योगों में रहने वाले हैं । (तान् सर्वान्) इन सब [लोगों] को, (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः दृशे) अमित्रों के लिये देखने के लिये (कुरु) कर (च) और [हमें अपने] (उदारान्) बड़े उपायों को (प्र दर्शय) दिखादे ॥ २२ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य हैं कि वह धीर-अधीर, शूर-कातर, उद्योगी-अनुद्योगी आदि पुरुषों की विवेचना करके शत्रुओं को अपनी सुनीति का निश्चय करादे ॥ २२ ॥

मन्त्र के अन्तिम भाग के लिये मन्त्र १ । १५ तथा २४ देखो ॥

अर्बुदिश्च त्रिषंधिश्चामित्रान् नो वि विध्यताम् ।
यथैषामिन्द्र वृत्रहन् हनाम शचीपते ऽमित्राणां सहस्रशः ॥२३॥

अर्बुदिः । च । त्रि-संधिः । च । अमित्रान् । नः । वि ।

२२—(ये) मनुष्याः (च) (धीराः) धैर्यवन्तः । प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः निरु० ४ । १० (ये) (च) (अधीराः) चञ्चलाः (पराञ्चः) पराङ्मुखाः । पलायमानाः (बधिराः) शिक्षायां हतश्रवणसामर्थ्याः (च) (ये) (तमसाः) तमस्-अर्शआद्यच् । अन्धकारेण युक्ताः शठाः (ये) (च) (तूपराः) ऋच्छेररः । उ० ३ । १३१ । तुप हिंसायाम्-अर प्रत्ययः, गुणाभावे दीर्घः । हिंसकाः (अथो) अपि च (बस्ताभिवासिनः) बस्त गतिहिंसायाचनेषु-घञ्, वस्य बः + वस निवासे-णिनि । गतिषु उद्योगेषु निवासशीलाः (सर्वान्) (तान्) अन्यद् गतम्-म० १ ॥

विध्यताम् ॥ यथा । एषाम् । इन्द्र । वृत्र-हन् । हनाम । शची-पते । अमित्राणाम् । सहस्र-शः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अर्बुदिः) अर्बुदि [शूर सेनापति राजा] (च च) और (त्रिषन्धिः) त्रिसन्धि [तीनों कर्म, उपासना और ज्ञान में मेल अर्थात् प्रीति रखने वाला विद्वान् पुरुष, आप दोनों] (नः) हमारे (अमित्रान्) शत्रुओं को (वि विध्यताम्) छेद डालें । (यथा) जिससे (वृत्रहन्) हे अन्धकार नाशक ! (शचीपते) वाणियों, कर्मों और बुद्धियों के पालने वाले (इन्द्र) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एषाम्) इन (अमित्राणाम्) शत्रुओं को (सहस्रशः) सहस्र सहस्र करके (हनाम) हम मारें ॥ २३ ॥

भावार्थ—बलवान् राजगण और त्रयी विद्या में कुशल, अर्थात् कर्म अपने कर्तव्य, उपासना ईश्वर भक्ति और ज्ञान सूक्ष्मदर्शिता वाले विद्वान् जन परस्पर मिलकर शत्रुओं को हराकर प्रजापालन करें ॥ २३ ॥

वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः ।
गन्धर्वाप्सरसः सर्पान् देवान् पुण्यजनान् पितॄन् ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे त्वममित्रेभ्यो दृशे कुरूदारांश्च प्र दर्शय २४

वनस्पतीन् । वानस्पत्यान् । ओषधीः । उत । वीरुधः ॥ गन्धर्व-अप्सरसः । सर्पान् । देवान् । पुण्य-जनान् । पितॄन् ॥ सर्वान् । तान् । अर्बुदे । त्वम् । अमित्रेभ्यः । दृशे । कुरु । उत्-आरान् । च । प्र । दर्शय ॥ २४ ॥

२३—(अर्बुदिः) म० १ । शूरः सेनापती राजा (च) (त्रिषन्धिः) त्रिषु कर्मोपासनाज्ञानेषु सन्धिः संयोगः प्रीतिर्यस्य स त्रयीकुशलो विद्वान् पुरुषः (च) (अमित्रान्) (शत्रून्) (नः) अस्माकम् (वि) विविधम् (विध्यताम्) बहु ताडयताम् (यथा) येन प्रकारेण (एषाम्) कर्मणि षष्ठी । इमान् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (वृत्रहन्) अन्धकारनाशक (हनाम) मारयाम (शचीपते) म० २० । शचीनां वाचां कर्मणां प्रज्ञानां च पालक (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (सहस्रशः) अ० ८ । ८ । १ । सहस्रं सहस्रम् ॥

भाषार्थ—(वनस्पतीन्) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वाले पुरुषों (वानस्पत्यान्) सेवनीय शास्त्रों के पालन करने वालों के सम्बन्धी पदार्थों (ओषधीः) अन्न आदि ओषधियों, (उत) और (वीरुधः) जड़ी बूटियों को, (गन्धर्वाप्सरसः) गन्धर्वों [पृथिवी के धारण करने वालों] और अप्सरों [आकाश में चलने वालों] (सर्पान्) सर्पों [सर्पों के समान तीव्र दृष्टि वालों (देवान्) विजय चाहने वालों, (पुण्यजनान्) पुण्यात्मा (पितॄन्) पितरों [महाविद्वानों] (तान् सर्वान्) इन सब लोगों को (अर्बुदे) हे अर्बुदि [शूरसेनापति राजन्] (त्वम्) तू (अमित्रेभ्यः दृशे) अमित्रों के लिये देखने को (कुरु) कर (च) और [हमें अपने] (उदारान्) बड़े उपायों को (प्र दर्शय) दिखा दे ॥ २४ ॥

भावार्थ—राजा वेद वेत्ताओं, उत्तम अन्न आदि पदार्थों, विश्वकर्मा शिल्पियों और वैज्ञानिक आदि लोगों का संग्रह करके शत्रुओं को अपना वैभव दिखावे ॥ २४ ॥

इस मन्त्र का पहिला और दूसरा भाग अ० ८ । ८ । १४ । तथा १५ में और तीसरा भाग इस सूक्त के मन्त्र २२ में आया है ॥

ई॒शां वो॑ म॒रुतो॑ दे॒व आ॑दि॒त्यो ब्रह्म॑ण॒स्पतिः॑ ।
ई॒शां व॒ इन्द्र॑श्चा॒ग्निश्च॑ धा॒ता मि॒त्रः प्र॒जाप॑तिः ।
ई॒शां व॒ ऋष॑यश्चक्रुर॒मित्रे॑षु समी॒क्षय॑न् रदि॒ते अ॑र्बुदे॒ तव॑ ॥२५॥

ई॒शाम् । वः॒ । म॒रुतः॑ । दे॒वः । आ॒दि॒त्यः । ब्रह्म॑णः । पतिः॑ ॥ ई॒शाम् । वः॒ । इन्द्रः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । धा॒ता । मि॒त्रः । प्र॒जा-प॑तिः ॥ ई॒शाम् । वः॒ । ऋष॑यः । च॒क्रुः॒ । अ॒मित्रे॑षु । स॒म्-ई॒क्षय॑न् । र॒दि॒ते । अर्बु॑दे॒ । तव॑ ॥ २५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (मरुतः) शूर लोग, (देवः) विजयी,

२४—प्रथमद्वितीयभागौ व्याख्यातौ-अ० ८ । ८ । १४, १५ तथा तृतीयो-व्याख्यातोऽस्मिन् सूक्ते-म० २२ ॥

२५-(ईशाम्) प्रत्ययश्रवणसामर्थ्यात्, चक्रुरिति अन्ते श्रूयमाणं सर्वत्र संब-

(आदित्यः) आदित्य [अखण्ड ब्रह्मचारी] और, (ब्रह्मणः पतिः) वेद का रक्षक पुरुष (वः) तुम्हारे (ईशाम्-) शासक [हुये हैं । (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान्, (अग्निः) तेजस्वी, (धाता) धारणकर्ता (च) और (मित्रः) प्रेरक (च) और (प्रजापतिः) प्रजापालक मनुष्य (वः) तुम्हारे (ईशाम्-) शासक [हुये हैं] । (ऋषयः) ऋषि लोग [महाज्ञानी पुरुष] (वः) तुम्हारे (ईशां चक्रुः) शासक हुये हैं, [जिन विद्वानों को] (अमित्रेषु) वैरियों पर (समीक्षयन्) दिखाता हुआ, (अर्बुदे) हे अर्बुदि ! [शूर सेनापति राजन्] (तव) अपने (रदिते) तोड़ फोड़ कर्म में [तू वर्तमान हुआ है] ॥ २५ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वकाल में शूर वीर और महर्षियों के सत्संग से राजा लोग शासन विद्या में चतुर हुये हैं, वैसे ही सब मनुष्य पूर्वजों के अनुकरण से कार्य सिद्धि करें ॥ २५ ॥

अन्तिम भाग का मिलान मन्त्र ६ के अन्तिम भाग से करो ॥

तेषां सर्वेषामीशाना उत्तिष्ठत सं नह्यध्वं मित्रा देवजना यूयम् । इमं संग्रामं संजित्य यथालोकं वि तिष्ठध्वम् ॥२६॥ (२७)

तेषाम् । सर्वेषाम् । ईशानाः । उत् । तिष्ठत । सम् । नह्यध्वम् । मित्राः । देव-जनाः । यूयम् ॥ इमम् । सम्-ग्रामम् । सम्-जित्य । यथा-लोकम् । वि । तिष्ठध्वम् ॥ २६ ॥ (२७)

ध्यते । ईशांचक्रुः (वः) अधीगर्थदयेशां कर्मणि । पा० २ । ३ । ५२ । इति षष्ठी । युष्माकम् (मरुतः) अ० १ । २० । १ । शूरवीराः पुरुषाः (देवः) विजिगीषुः (आदित्यः) अ० १ । ६ । १ । अ+दो अवखण्डने-क्तिन्, अदिति-ण्य । अदितिर्नितखण्डराहित्यं यस्य सः । अखण्डव्रती (ब्रह्मणः) वेदस्य (पतिः) पालकः (ईशाम्) (वः) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (च) (अग्निः) तेजस्वी (च) (धाता) धाता (मित्रः) प्रेरकः (प्रजापतिः) प्रजापालकः (ईशांचक्रुः) ईश ऐश्वर्ये-लिट् । ईजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । पा० ३ । १ । ३६ । आम् प्रत्ययः । आम् प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य । पा० १ । ३ । ६३ । अनुप्रयुज्यमानस्य करोतेरात्मनेपदाभावश्छान्दसः । ईशांचक्रिरे । ईश्वरा नियन्तारो बभूवुः (वः) (ऋषयः) अ० २ । ६ । १ । साक्षात्कृतधर्माणः । अन्यद् गतम् म० ६ ॥

भाषार्थ—(तेषां सर्वेषाम्) उन सबों के (ईशानाः) शासक होकर, (मित्राः) हे प्रेरक (देवजनाः) विजयी जनो ! (यूयम्) तुम (उत् तिष्ठत) उठो और (संनह्यध्वम्) कवचों को पहिनो । (इमं सङ्ग्रामम्) इस संग्राम को (संजित्य) जीतकर (यथालोकम्) अपने अपने लोकों [स्थानों] को (वि तिष्ठध्वम्) फैलकर ठहरो ॥ २६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य कर्म कुशल और पुरुषार्थी होकर अपने अपने कर्तव्य करके अपने अपने पद पर आनन्दित होवें ॥ २६ ॥

सूक्तम् १० ॥

१—२७ ॥ त्रिषन्ध्यादयो मन्त्रोक्ता देवताः ॥ १, २२ स्वराडनुष्टुप्, २ त्र्यवसाना विराडतिजगती; ३ विराडास्तारपङ्क्तिः; ४, १६, २७ निचृदनुष्टुप्; ५-७, १०, ११, १४, १५, १८, २०, २३, २४ अनुष्टुप्; ८ विराट् त्रिष्टुप्; ९ स्वराट् पथ्या पङ्क्तिः; १२, १७ पथ्या पङ्क्तिः; १३ षट्पदा जगती; १९ त्र्यवसाना शक्वरी; २१ गायत्री; २५ ककुबुष्णिक्; २६ प्रस्तारपङ्क्तिः ॥

राजप्रजयोः कर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

उत्तिष्ठत सं नह्यध्वमुदाराः केतुभिः सह ।
सर्पा इतरजना रक्षांस्यमित्राननु धावत ॥ १ ॥

उत् । तिष्ठत । सम् । नह्यध्वम् । उत्-आराः । केतु-भिः । सह ॥ सर्पाः । इतर-जनाः । रक्षांसि । अमित्रान् । अनु । धावत ॥१॥

भाषार्थ—(उदाराः) हे उदार पुरुषो ! [बड़े अनुभवी लोगो] (उत् तिष्ठत) उठो और (केतुभिः सह) झंडों के साथ (संनह्यध्वम्) कवचों को पहिनो [जो] (सर्पाः) सर्प [सर्पों के समान] हिंसक (इतरजनाः)

२६—(तेषाम्) (सर्वेषाम्) शत्रूणाम् (ईशानाः) ईश्वराः । नियामकाः सन्तः (उत्तिष्ठत) इत्यादयो व्याख्याताः-म० २ (इमम्) प्रस्तुतम् (सङ्ग्रामम्) युद्धम् (संजित्य) सम्यग् जित्वा (यथालोकम्) स्वस्वस्थानम् (वि तिष्ठध्वम्) समवप्रविभ्यः स्थः । पा० १ । ३ । २२ । इत्यात्मनेपदम् । विस्तारेण तिष्ठत ॥

१—(उत् तिष्ठत) उद्गच्छत (संनह्यध्वम्) सन्नाहान् धरत (उदाराः) महान्तः । महानुभविनः (केतुभिः) ध्वजैः (सह) (सर्पाः) सर्पतुल्यहिं-

पामर जन (रक्षांसि) राक्षस हैं, (अमित्रान् अनु) [उन] शत्रुओं पर (धावत) धावा करो ॥ १ ॥

भावार्थ—महानुभवी शूर वीर पुरुष कवच आदि पहिन कर और ध्वजा पताका अस्त्र शस्त्र लेकर शत्रुओं पर चढ़ें ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान-अथर्व० ११ । ६ । २ तथा १६ से करो ॥

ईशां वो वेद राज्यं त्रिषंधे अरुणैः केतुभिः सह ।
ये अन्तरिक्षे ये दिवि पृथिव्यां ये च मानवाः ।
त्रिषंधेस्ते चेतसि दुर्णामान उपासताम् ॥ २ ॥

ईशाम् । वः । वेद । राज्यम् । त्रि-संधे । अरुणैः । केतु-भिः । सह ॥ ये । अन्तरिक्षे । ये । दिवि । पृथिव्याम् । ये । च । मानवाः ॥ त्रि-संधेः । ते । चेतसि । दुः-नामानः । उप । आसताम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(त्रिषन्धे) हे त्रिसन्धि ! [तीनों कर्म, उपासना और ज्ञान में मेल रखने वाले, सेनापति] (वः) तुम्हारी (ईशाम्) शासन शक्ति और (राज्यम्) राज्य [राज के विस्तार] को [तुम्हारे] (अरुणैः) रक्त वर्ण [डरावने रूप] वाले (केतुभिः सह) झंडों के साथ (वेद) मैं [प्रजाजन] जानता हूं । (ये) जो (मानवाः) ज्ञानियों के बताये हुये (दुर्णामानः) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाले दोष] (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (ये) जो (दिवि) सूर्य में (च)

सक्ताः (इतरजनाः) पामरपुरुषाः (रक्षांसि) राक्षसाः (अमित्रान्) शत्रून् (अनु) प्रति (धावत) शीघ्रं गच्छत ॥

२—(ईशाम्) ईश ऐश्वर्ये-क, टाप् । शासनशक्तिम् (वः) आदरार्थं बहुवचनम् । युष्माकम् (वेद) अहं प्रजाजनो जानामि (राज्यम्) राज्यविस्तारम् (त्रिषन्धे) अ० ११ । ६ । २३ । त्रिषु कर्मोपासनाज्ञानेषु प्रीतिर्यस्य स त्रिषन्धिः हे अतीकुशल सेनापते (अरुणैः) रक्तवर्णैः । भयावहैरित्यर्थः (केतुभिः) ध्वजैः (सह) (ये) (अन्तरिक्षे) मध्यलोके (ये) दिवि) सूर्ये (ये) (च) (मानवाः) तेन प्रोक्तम् । पा० ४ । ३ । १०१ । मनु-अण् ।

और (ये) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी पर हैं, (ते) वे [सब दोष] (त्रिषन्धेः) [त्रिसन्धि] [त्रयीकुशल विद्वान्] के (चेतसि) चित्त में (उप) हीन होकर (आसताम्) रहें ॥ २ ॥

भावार्थ—(वः) तुम्हारी-आदरार्थ बहुवचन है। प्रजागण त्रिसन्धि अर्थात् अपने कर्तव्य, ईश्वर भक्ति और यथार्थ ज्ञान में प्रीति वाले राजा का आदर सत्कार करें। वह दूरदर्शी पुरुष आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विपत्तियों से आप बचे और सब को बचावे ॥ २ ॥

अयोमुखाः सूचीमुखा अथो विकङ्कतीमुखाः । क्रव्यादो वातरंहस आ सजन्त्वमित्रान् वज्रेण त्रिषन्धिना ॥ ३ ॥

अयः-मुखाः । सूची-मुखाः । अथो इति । विकङ्कती-मुखाः ॥ क्रव्य-अदः । वात-रंहसः । आ । सजन्तु । अमित्रान् । वज्रेण । त्रि-संधिना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अयोमुखाः) लोहे समान [कठोर] मुख वाले, (सूचीमुखाः) सुई के तुल्य [पैने] मुख वाले, (विकङ्कतीमुखाः) शमी वृक्षों के से [कंटीले] मुख वाले, (क्रव्यादः) मांस खाने वाले (अथो) और (वातरंहसः) पवन के से वेग वाले [पशु पक्षी] (त्रिषन्धिना) त्रिसन्धि [म० २ । विद्वान्]करके (वज्रेण) वज्र से [मारे गये] (अमित्रान्) वैरियों को (आ सजन्तु) चिपट जावें ॥ ३ ॥

मनुभिर्ज्ञानिभिः प्रोक्ताः (त्रिषन्धेः) विदुषः पुरुषस्य (ते) पूर्वोक्ताः (चेतसि) अन्तःकरणे। ज्ञाने (दुर्णामानः) अ० ८ । ६ । १ । अतिक्रूरदोषाः (उप) उपोऽधिके च । पा० १ । ४ । ८७ । इति हीनार्थे (आसताम्) तिष्ठन्तु ॥

३—(अयोमुखाः) लोहसदृशकठोरमुखाः (सूचीमुखाः) सूचीतुल्यतीक्ष्णमुखाः (अथो) अपि च (विकङ्कतीमुखाः) भृमृदृशि० । उ० ३ । ११० । वि+ककि गतौ-अतच् । विकङ्कत एव विकङ्कती शमीवृक्षः । तत्तुल्यबहुकण्टकयुक्तमुखाः (क्रव्यादः) अ० २ । २५ । ५ । मांसभक्षकाः (वातरंहसः) वायुतुल्यवेगयुक्ताः पशुपक्षिणः (आ) समन्तात् (सजन्तु) षञ्ज सङ्गे । श्लिष्यन्तु (अमित्रान्) शत्रून् (वज्रेण) वज्रायुधेन, हतान् इति शेषः (त्रिषन्धिना) म० २ । सेनापतिना ॥

भावार्थ—वीर सेनापति सब शत्रुओं को मार कर गिरा देवें कि उनकी लोथों को गीदड़ गिद्ध आदि चौंथ चौंथ कर खा जावें ॥ ३ ॥

अ॒न्तर्धे॑हि जातवेद॒ आदि॑त्य॒ कुण॑पं ब॒हु ।
त्रि॒षं॒धेरि॒यं सेना॒ सुहि॑तास्तु मे॒ वशे॑ ॥ ४ ॥

अ॒न्तः । धे॒हि॒ । जा॒त॒-वे॒दः॒ । आदि॑त्य । कुण॑पम् । ब॒हु ॥
त्रि-सं॒धेः । इ॒यम् । सेना॑ । सु-हि॑ता । अ॒स्तु॒ । मे॒ । वशे॑ ॥४॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे उत्तम ज्ञान वाले ! (आदित्य) हे आदित्य ! [अखण्ड ब्रह्मचारी] (बहु) बहुत (कुणपम्) लोथों को (अन्तः) [रणक्षेत्र के] बीच में (धेहि) रख । (मेरी) (इयम्) यह (सुहिता) अच्छे ढङ्ग से स्थापित (सेना) सेना (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि [म० २ । विद्वान् सेनापति] के (वशे) वश में (अस्तु) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस समय प्रधान सेनापति रण भूमि में शत्रुदलन करे, अन्य वीर सैन्य पुरुष अपनी सुव्यूढ सेना से उसका सहाय करें ॥ ४ ॥

उत्ति॑ष्ठ॒ त्वं दे॑वज॒नार्बु॑दे॒ सेन॑या स॒ह ।
अ॒यं ब॒लिर्व॒ आहु॑तस्त्रि॒षंधे॒राहु॑तिः प्रि॒या ॥ ५ ॥

उत् । ति॒ष्ठ॒ । त्वम् । दे॒व-ज॒न॒ । अर्बु॑दे । सेन॑या । स॒ह ॥ अ॒यम् । ब॒लिः । वः॒ । आ-हु॑तः त्रि-सं॒धेः । आहु॑तिः । प्रि॒या ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(देवजन) हे विजयी जन ! (अर्बुदे) अर्बुदि [शूर सेनापति राजन्] (त्वम्) तू (सेनया सह) [अपनी] सेना के साथ (उत् तिष्ठ)

४—(अन्तर्) रणक्षेत्रमध्ये (धेहि) धर (जातवेदः) जातानि प्रशस्तानि वेदांसि ज्ञानानि यस्य तत्संबुद्धौ (आदित्य) अ० ११ । ६ । २५ । अखंडब्रह्मचारिन् (कुणपम्) अ० ११ । ६ । १० शवशरीरजातम् (बहु) बहुलम् (त्रिषन्धेः) म० २ सेनापतेः (इयम्) दृश्यमाना (सेना) (सुहिता) सुष्ठु धृता । सुव्यूढा (अस्तु) (मे) मम (वशे) प्रभुत्वे ॥

५—(उत्तिष्ठ) उद्गच्छ (त्वम्) (देवजन) हे विजयिजन (अर्बुदे) अ० ११ । ६ । १ । हे पुरुषार्थिन् सेनापते (सेनया) (सह) (अयम्) (बलिः)

खड़ा हो। (अयम्) यह (बलिः) बलि [धर्म युद्ध की भेंट] (वः) तुम्हारे लिये (आहुतः) यथावत् दीगयी है। (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि [मं० २। विद्वान् सेनापति] की यही (प्रिया) पियारी (आहुतिः) आहुति [बलि वा भेट] है ॥ ५ ॥

भावार्थ—धर्मयुद्ध के लिये शूर सेनापति के साथ सब प्रजागण प्रसन्न होकर सन्नद्ध होवें ॥ ५ ॥

शितिपदी सं द्यतु शरव्ये३यं चतुष्पदी ।

कृत्ये ऽमित्रेभ्यो भव त्रिषंधेः सह सेनया ॥ ६ ॥

शितिऽपदी । सम् । द्यतु । शरव्या । इयम् । चतुःऽपदी ॥

कृत्ये । अमित्रेभ्यः । भव । त्रिऽसंधेः । सह । सेनया ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शितिपदी) उजाले और अंधेरे में गतिवाली (चतुष्पदी) चारों [धर्म अर्थ काम मोक्ष] में अधिकार वाली (इयम्) यह (शरव्या) बाण विद्या में चतुर [सेना] (संद्यतु) [शत्रुओं को] काट डाले । (कृत्ये) हे छेदनशील [सेना] ! (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि [मं० २। त्रयी कुशल सेनापति] की (सेनया सह) सेना के साथ (अमित्रेभ्यः) शत्रुओं के मारने को (भव) वर्तमान हो ॥ ६ ॥

बल दाने जीवने च-इन्। उपहारः (वः) युष्मभ्यम् (आहुतः) समन्ताद् दत्तः (त्रिषन्धेः) मं० २। विदुषः सेनापतेः (आहुतिः) दानम् (प्रिया) प्रीता ॥

६—(शितिपदी) अ० ३। २६। १। कुम्भपदीषु च। पा० ५। ४। १३६। पादस्य लोपो ङीप् च। पादःपत्। पा० ६। ३। १३०। पदादेशः। शितिः शुक्लः कृष्णश्च तयोर्मध्ये पादौ गमनं तस्याः सा तथा भूता। प्रकाशान्धकारमध्यगतिशीला सेना (सम्) सम्यक् (द्यतु) दो अव खण्डने। छिनत्तु (शरव्या) अ० ३। १६। ८। तत्र साधुः। पा० ४। ४। ६८। शरु-यत्। शरौ बाणविद्यायां कुशला (इयम्) (चतुष्पदी) अ० ६। १०। २१। चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषार्थेषु पदमधिकारो यस्याः सा (कृत्ये) अ० ४। ६। ५। ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः। पा० ३। १। ११०। कृती छेदने-क्यप्। हे छेदनशीले। (अमित्रेभ्यः) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः। पा० २। ३। १४। इति चतुर्थी। शत्रून् नाशयितुम् (भव) वर्तस्व (त्रिषन्धेः) मं० २। कर्मोपासनाज्ञानेषु कुशलस्य सेनापतेः (सह) (सेनया) ॥

भावार्थ—सब वीर सेनायें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति के लिये प्रधान सेनापति के आधिपत्य में मिलकर शत्रुओं को जीतें ॥ ६ ॥

धूमाक्षी सं पततु कृधुकर्णी च क्रोशतु ।
त्रिषंधेः सेनया जिते अरुणाः सन्तु केतवः ॥ ७ ॥

धूम-अक्षी । सम् । पततु । कृधु-कर्णी । च । क्रोशतु ॥
त्रि-संधेः । सेनया । जिते । अरुणाः । सन्तु । केतवः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(धूमाक्षी) धुयें भरी आंखों वाली, (कृधुकर्णी) मन्द कानों वाली [शत्रु सेना] (सं पततु) गिर जावे (च) और (क्रोशतु) रोवे। (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि [म० २ त्रयीकुशल सेनापति] की (सेनया) सेना द्वारा (जिते) जीतने पर (अरुणाः) रक्तवर्ण [डरावने रूप] वाले (केतवः) झंडे (सन्तु) होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—वीर सेनापति के आग्नेय आदि शस्त्रों से बैरियों की आंखें धुंधला जावें और ढोल आदि की ध्वनि से उनके कान बहरे होजावें, इस प्रकार जीत होने पर अन्य दुष्टों को डराने को सेनापति अपनी जयपताका ऊंची करे ॥ ७ ॥

अवायन्तां पक्षिणो ये वयांस्यन्तरिक्षे दिवि ये चरन्ति । श्वापदो मक्षिकाः सं रभन्तामामादो गृध्राः कुणपे रदन्ताम् ॥८॥

अव । अयन्ताम् । पक्षिणः । ये । वयांसि । अन्तरिक्षे । दिवि । ये । चरन्ति ॥ श्वापदः । मक्षिकाः । सम् । रभन्ताम् । आम-अदः । गृध्राः । कुणपे । रदन्ताम् ॥ ८ ॥

७—(धूमाक्षी) बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच् । पा० ५ । ४ । ११३ । इति षच् । षित्वाद् ङीष् । धूमपूरितनेत्रा (सम्) सम्यक् (पततु) निपद्यताम् (कृधुकर्णी) अ० ११ । ६ । ७ । मन्दश्रवणा (च) (क्रोशतु) रोदितु (त्रिषन्धेः) म० २ । त्रयीकुशलस्य सेनापतेः (सेनया) (जिते) जयकर्मणि (अरुणाः) म० २ । रक्तवर्णाः (सन्तु) (केतवः) ध्वजाः ॥

भाषार्थ—(वयांसि) वे गति वाले [प्राणी] (अव अयन्ताम्) उतरें, (ये) जो (पक्षिणः) पंख वाले हैं और (ये) जो (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष के भीतर (दिवि) प्रकाश में (चरन्ति) चलते हैं। (श्वापदः) कुत्ते के से पैर वाले [सियार आदि], (मक्षिकाः) मक्खियां (सं रभन्ताम्) चढ़ें, (आमादः) मांसाहारी (गृध्राः) गिद्ध (कुणपे) लोथ पर (रदन्ताम्) नोचें खरोचें ॥८॥

भावार्थ—पूरी हार होने से शत्रुओं की लोथों को मांसाहारी पशु पक्षी खैंच खैंच कर खावें ॥ ८ ॥

यामिन्द्रेण सं॒धां स॒मध॑त्था॒ ब्रह्म॑णा च बृहस्पते। तया॒हमि॑न्द्र-सं॒धया॒ सर्वा॑न् दे॒वानि॒ह हु॑व इ॒तो ज॑यत॒ मामुतः॑ ॥ ९ ॥

याम्। इन्द्रे॑ण। स॒म्-धाम्। स॒म्-अध॑त्थाः। ब्रह्म॑णा। च॒। बृह॒स्पते॒ ॥ तया॑। अ॒हम्। इ॒न्द्र॒-सं॒धया॑। सर्वा॑न्। दे॒वान्। इ॒ह। हु॒वे॒। इ॒तः। ज॒य॒त॒। मा। अ॒मुतः॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़े बड़ों के रक्षक राजन्] (यां सन्धाम्) जिस प्रतिज्ञा को (इन्द्रेण) प्रत्येक जीव के साथ (च) और (ब्रह्मणा) ब्रह्म [परमात्मा] के साथ (समधत्थाः) तू ने ठहराया है। (अहम्) मैं [प्रजाजन] (तया) उस (इन्द्रसन्धया) प्राणियों के साथ प्रतिज्ञा से (सर्वान्) सब (देवान्) विजय चाहने वाले लोगों को (इह)

८—(अवायन्ताम्) अय गतौ। निपद्यन्ताम् (पक्षिणः) पक्षवन्तः (ये) (वयांसि) वय गतौ—असुन्। गतिमन्ति सत्त्वानि (अन्तरिक्षे) (दिवि) प्रकाशे (ये) (चरन्ति) (श्वापदः) अ० ११। ६। १०। शृगालादयः पशवः (मक्षिकाः) कीटविशेषाः (संरभन्ताम्) आक्रमन्ताम् (आमादः) मांसाहारिणः (गृध्राः) (कुणपे) शवशरीरे (रदन्ताम्) विलिखन्तु।

९—(याम्) इन्द्रेण) प्रत्येकजीवेन सह (सन्धाम्) प्रतिज्ञाम् (समधत्थाः) सम्यग् धारितवानसि (ब्रह्मणा) परमात्मना सह (च) (बृहस्पते) हे बृहतां रक्षक, राजन् (इन्द्रसन्धया) प्राणिभिः प्रतिज्ञया (सर्वान्) (देवान्)

यहां (हुवे) बुलाता हूं-" (इतः) इस ओर से (जयत) जीतो, (अमुतः) उस ओर से (मा) मत [जीतो]" ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे राजा प्राणियों की रक्षा के लिये परमात्मा को साक्षी करके प्रतिज्ञा करता है, वैसे ही प्रजागण निष्कपट होकर अपने वीरों से उसका सहाय करें और वैरियों से न मिलें ॥ ६ ॥

बृहस्पतिराङ्गिरस ऋषयो ब्रह्मसंशिताः ।
असुरक्षयणं वधं त्रिषंधिं दिव्याश्रयन् ॥ १० ॥ (२८)

बृहस्पतिः । आङ्गिरसः । ऋषयः । ब्रह्म-संशिताः । असुर-क्षयणम् । वधम् । त्रि-संधिम् । दिवि । आ । अश्रयन् ॥१०॥(२८)

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) विद्वानों के शिष्य (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े बड़ों के रक्षक राजा] ने और (ब्रह्मसंशिताः) वेदज्ञान से तीक्ष्ण किये गये (ऋषयः) ऋषियों [धर्मदर्शकों] ने (दिवि) विजय की इच्छा में (असुरक्षयणम्) असुर नाशक (वधम्) शस्त्ररूप (त्रिषन्धिम्) त्रिसन्धि [म० २। त्रयीकुशल सेनापति] का (आ अश्रयन्) आश्रय लिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—सुशिक्षित राजा और विद्वानों को योग्य है कि पूर्वजों के समान धार्मिक, आस्तिक, विज्ञानी, पुरुष का आश्रय लेकर विजय पावें ॥१०॥

येनासौ गुप्त आदित्य उभाविन्द्रश्च तिष्ठतः ।
त्रिषंधिं देवा अभजन्तौजसे च बलाय च ॥ ११ ॥

विजिगीषून् (इह) अत्र (हुवे) आह्वयामि (इतः) अस्मात् स्थानात् (जयत) जयं कुरुत (मा) निषेधे (अमुतः) तस्मात् स्थानात् । शत्रुपक्षात् ॥

१०—(बृहस्पतिः) बृहतां रक्षको राजा (आङ्गिरसः) तस्येदम् । पा० ४। ३। १२०। अङ्गिरस्-अण् । अङ्गिरसां विज्ञानिनां शिष्यः (ऋषयः) अ० २। ६। १। सन्मार्गदर्शकाः (ब्रह्मसंशिताः) अ० ३। १६। ८। शो तनूकरणे-क्त । ब्रह्मणा वेदज्ञानेन सुतीक्ष्णीकृताः (असुरक्षयणम्) दुष्टानां क्षयकरम् (वधम्) शस्त्र-रूपम् (त्रिषन्धिम्) म० २। त्रयीकुशलं सेनापतिम् (दिवि) विजिगीषायाम् (आश्रयन्) श्रिञ् सेवायाम्-लङ् । आश्रितवन्तः ॥

येन॑ । असौ । गुप्तः । आ॒दि॒त्यः । उ॒भौ । इन्द्रः॑ । च॒ । तिष्ठ॑तः ॥
त्रि-सं॑धिम् । दे॒वाः । अ॒भ॒ज॒न्त॒ । ओज॑से । च॒ । बला॑य । च॒ ॥११॥

भाषार्थ—(येन) जिस [सेनापति] करके (गुप्तः) रक्षित (असौ) वह (आदित्यः) आदित्य [अखण्ड ब्रह्मचारी] (च) और (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष], (उभौ) दोनों (तिष्ठतः) ठहरते हैं । [उस] (त्रिषन्धिम्) त्रिसन्धि [म० २ । त्रयीकुशल सेनापति] को (देवाः) विजय चाहने वालों ने (ओजसे) पराक्रम (च च) और (बलाय) बल के लिये (अभजन्त) भजा है ॥ ११ ॥

भावार्थ—पहिले महात्माओं के अनुकरण से अखण्ड ब्रह्मचर्य और परम ऐश्वर्य धारण करके धर्मात्मा सेनापति के आश्रय से आत्मिक और शारीरिक बल बढ़ावें ॥११॥

सर्वां॑ल्लो॒कान्त्सम॑जयन् दे॒वा आहु॑त्यान॒या ।
बृह॒स्पति॑राङ्गिर॒सो वज्रं॒ यमसि॑ञ्चतासुर॒क्षय॑णं व॒धम् ॥ १२ ॥

सर्वा॑न् । लो॒कान् । सम् । अ॒ज॒य॒न् । दे॒वाः । आ-हु॑त्या । अ॒नया॑ ॥ बृह॒स्पतिः॑ । आ॒ङ्गि॒र॒सः । वज्र॑म् । यम् । असि॑ञ्चत । अ॒सु॒र-क्षय॑णम् । व॒धम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सर्वान् लोकान्) सब लोकों [दृश्यमान पदार्थों] को (देवाः) विजय चाहने वालों ने (अनया) इस (आहुत्या) आहुति [बलि वा

११—(येन) त्रिषन्धिना (असौ) प्रसिद्धः (गुप्तः) रक्षितः (आदित्यः) अ० ११ । ६ । २५ । अखण्डव्रती (उभौ) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (च) (तिष्ठतः) वर्तेते (त्रिषन्धिम्) म० २ । त्रयीकुशलं सेनापतिम् (देवाः) विजिगीषवः (अभजन्त) असेवन्त (ओजसे) आत्मिकबलं प्राप्तुम् (च) (बलाय) शारीरिकसामर्थ्यं प्राप्तुम् (च) ॥

१२—(सर्वान्) (लोकान्) दृश्यमानान् पदार्थान् (सम्) सम्यक् (अजयन्) जयेन प्राप्नुवन् (देवाः) विजिगीषवः (आहुत्या) दानक्रियया

भेद] से (सम्) सर्वथा (अजयन्) जीता है। (आङ्गिरसः) विद्वानों के शिष्य (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े बड़ों के रक्षक राजा] ने (यम्) जिस (असुरक्षयणम्) असुरनाशक (वधम्) शस्त्र (वज्रम्) वज्ररूप [सेनापति] को (असिञ्चत) सींचा है [बढ़ाया है] ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिस धर्मात्मा सेनापति का आश्रय लेकर विद्वानों ने शत्रुओं का नाश किया है, उसी से प्रीति करके चतुर मनुष्य सब विघ्नों को हटावें ॥ १२ ॥

बृह॒स्पति॒राङ्गि॑र॒सो वज्रं॒ यमसि॑ञ्चतासुर॒क्षय॑णं व॒धम्। तेना॒हम॒मूं सेनां॒ नि लि॑म्पामि बृहस्पते॒ऽमित्रा॑न् ह॒न्म्योज॑सा ॥१३॥

बृ॒ह॒स्पतिः॑। आ॒ङ्गि॒र॒सः। वज्र॑म्। यम्। असि॑ञ्चत। अ॒सु॒र॒ऽक्षय॑णम्। व॒धम् ॥ तेन॑। अ॒हम्। अ॒मूम्। सेना॑म्। नि। लि॒म्पा॒मि॒। बृ॒ह॒स्प॒ते॒। अ॒मित्रा॑न्। ह॒न्मि॒। ओज॑सा ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) विद्वानों के शिष्य (बृहस्पतिः) [बड़े बड़ों के रक्षक राजा] ने (यम्) जिस (असुरक्षयणम्) असुर नाशक (वधम्) शस्त्र (वज्रम्) वज्ररूप [सेनापति] को (असिञ्चत) सींचा है [बढ़ाया है]। (तेन) उसी [सेनापति] के साथ, (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़े बड़ों के रक्षक राजन्] (अहम्) मैं [वीर पुरुष] (ओजसा) पराक्रम से (अमूम् सेनाम्) उस सेना पर (नि लिम्पामि) पोता फेरता हूं और (अमित्रान्) वैरियों को (हन्मि) मारता हूं ॥ १३ ॥

(अनया) (बृहस्पतिः) बृहतां रक्षको राजा (आङ्गिरसः) म० १०। विदुषां शिष्यः (वज्रम्) वज्ररूपम् (यम्) (असिञ्चत) सिक्तवान्। वर्धितवान् (असुरक्षयणम्) दुष्टनाशकम् (वधम्) आयुधम् ॥

१३—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः-म० १२ (तेन) सेनापतिना (अहम्) वीरपुरुषः (अमूम्) (सेनाम्) (नि) नितराम् (लिम्पामि) लिप उपदेहे, मुचादित्वाद् नुम्। कृतलेपां करोमि। विनाशयामि (बृहस्पते) हे बृहतां रक्षक राजन् (अमित्रान्) शत्रून् (हन्मि) मारयामि (ओजसा) पराक्रमेण ॥

भावार्थ—जैसे माली जल सींच कर वृक्षों को बढ़ाता है, वैसे ही धर्मज्ञ राजा वीरों को बढ़ावे और शत्रुओं का नाश करे ॥ १३ ॥

सर्वे॑ दे॒वा अ॒त्याय॑न्ति॒ ये अ॒श्नन्ति॒ वष॑ट्कृतम्। इ॒मां जु॑षध्वमाहु॑तिमि॒तो ज॑यत॒ मामुतः॑ ॥ १४ ॥

सर्वे॑। दे॒वाः। अ॒ति-आय॑न्ति। ये। अ॒श्नन्ति। वष॑ट्-कृतम् ॥ इ॒माम्। जु॒षध्व॒म्। आ-हु॑तिम्। इ॒तः। ज॒यत॒। मा। अ॒मुतः॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) वे सब (देवाः) विजयी जन (अत्यायन्ति) यहां चले आते हैं, (ये) जो (वषट्कृतम्) (भक्ति से सिद्ध किये हुये [अन्न आदि] को (अश्नन्ति) खाते हैं। [वे तुम]। (इमाम्) इस (आहुतिम्) आहुति [बलि वा भेट] को (जुषध्वम्) सेवन करो—" (इतः) इस ओर से (जयत) जीतो, (अमुतः) (उस ओर से (मा) मत [जीतो]" ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में सब लोग धर्म से अन्न आदि भोगते हों, वहां सब मिलकर शत्रुओं को न आने दें ॥ १४ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद—म० ६ में आया है ॥

सर्वे॑ दे॒वा अ॒त्याय॑न्तु॒ त्रिष॑न्धे॒राहु॑तिः प्रि॒या।
सं॒धां म॑हतीं र॑क्षत॒ ययाग्रे॒ असु॑रा जि॒ताः ॥ १५ ॥

सर्वे॑। दे॒वाः। अ॒ति-आय॑न्तु। त्रि-सं॑धेः। आ-हु॑तिः। प्रि॒या ॥ सम्-धाम्। म॒हतीम्। र॒क्षत॒। यया॑। अग्रे॑। असु॑राः। जि॒ताः ॥ १५ ॥

१४—(सर्वे) (देवाः) विजिगीषवः (अत्यायन्ति) इण् गतौ। मार्गानतिक्रम्यागच्छन्ति (ये) (अश्नन्ति) भुञ्जते (वषट्कृतम्) (अ० ६।५।१३। भक्त्या निष्पादितम् (इमाम्) (जुषध्वम्) सेवध्वम् (आहुतिम्) भक्त्या समर्पणम्। अन्यद् गतम्—म० ६ ॥

भाषार्थ—(सर्वे) सब (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (अत्यायन्तु) यहां चले आवें, (त्रिषन्धेः) त्रिसन्धि [म० २। त्रयीकुशल सेनापति] की (प्रिया) यह पियारी (आहुतिः) आहुति [वलि वा भेट] है। "[हे वीरो!] (महतीम्) उस बड़ी (सन्धाम्) प्रतिज्ञा को (रक्षत) रखलो, (यया) जिस [प्रतिज्ञा] से (अग्रे) पहिले (असुराः) असुर लोग (जिताः) जीते गये हैं" ॥ १५ ॥

भावार्थ—तत्त्वज्ञ पुरुष दृढ़ प्रतिज्ञा करके धर्मात्मा राजा के सहायक होकर अपना कर्तव्य पालन करें ॥ १५ ॥

वायुर॒मित्रा॑णामिष्व॒ग्राण्याञ्च॑तु ।
इन्द्र॑ एषां बा॒हून् प्रति॑ भनक्तु॒ मा श॑कन् प्रति॒धामिषु॑म् ।
आ॒दि॒त्य ए॑षाम॒स्त्रं वि ना॑शयतु च॒न्द्रमा॑ यु॒ताम॑गतस्य॒ पन्था॑म् १६

वा॒युः। अ॒मित्रा॑णाम् । इ॒षु॒-अ॒ग्राणि॑। आ । अ॒ञ्च॒तु ॥ इन्द्रः॑। ए॒षाम् । बा॒हून् । प्रति॑ । भ॒न॒क्तु॒ । मा । श॒क॒न् । प्र॒ति॒-धाम् । इषु॑म् ॥ आ॒दि॒त्यः । ए॒षाम् । अ॒स्त्रम् । वि । ना॒श॒य॒तु॒ । च॒न्द्रमाः॑ । यु॒ताम् । अग॑तस्य । पन्था॑म् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(वायुः) वायु [बलवान् वा वायु समान शीघ्रगामी राजा (अमित्राणाम्) वैरियों के (इष्वग्राणि) बाणों के सिरों को (आ अञ्चतु) झुका देवे। (इन्द्रः) इन्द्र [बड़ा प्रतापी सेनानी] (एषाम्) इन [शत्रुओं] के (बाहून्) भुजाओं को (प्रति भनक्तु) तोड़ डाले, वे [शत्रु] (इषुम्) बाण (प्रतिधाम्) लगाने को (मा शकन्) न समर्थ होवें। (आदित्यः) आदित्य

१५—(सर्वे) (देवाः) व्यवहारिणः पुरुषाः (अत्यायन्तु) इण् गतौ। मार्गानतिक्रम्यागच्छन्तु (त्रिषन्धेः) म० २। त्रयीकुशलस्य सेनापतेः (आहुतिः) भक्तिसमर्पणम् (प्रिया) प्रीतिकरी (सन्धाम्) प्रतिज्ञाम् (महतीम्) दृढाम् (रक्षत) पालयत (यया) प्रतिज्ञया (अग्रे) पूर्वम् (असुराः) दुराचारिणः (जिताः) अभिभूताः ॥

१६—(वायुः) कृवापा० । उ० १ । १ । वा गतिगन्धनयोः—उण्, युगागमः। बलवान् शूरो वायुतुल्यशीघ्रगामी वा राजा (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (इष्वग्राणि) इषूणां शराणामग्राणि (आ अञ्चतु) अञ्चु गतिपूजनयोः, वक्रगतौ च। वक्रगतीनि करोतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनानीः (एषाम्) शत्रूणाम् (बाहून्) (प्रति) प्रतिकूलम् (भनक्तु) भञ्जो आमर्दने। भग्नान् करोतु

[अखण्ड ब्रह्मचारी, वा सूर्य समान तेजस्वी सेनाध्यक्ष] (एषाम्) इनके (अक्षम्) अस्त्रों [भाले बाण तरवार आदि] को (वि नाशयतु) नष्ट कर देवे, (चन्द्रमाः) चन्द्रमा [आनन्द दाता व चन्द्र समान शान्तिप्रद सेनापति] (पन्थाम् अगतस्य) मार्ग पर न चलने वाले [शत्रु] का (युताम्) बन्धन करे ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा आदि सब सेनापति लोग अपने अपने घातों से शत्रुओं के विनाश का प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

यदि॑ प्रे॒युर्दे॑वपु॒रा ब्रह्म॒ वर्मा॑णि चक्रि॒रे ।
त॒नू॒पानं॑ परि॒पाणं॑ कृण्वा॒ना यदु॑पोचि॒रे सर्वं॒ तद॑र॒सं कृ॑धि ॥१७॥

यदि॑ । प्र॒-ई॒युः । दे॒व॒-पु॒राः । ब्रह्म॑ । वर्मा॑णि । च॒क्रि॒रे ॥ त॒नू॒-पान॑म् । प॒रि॒-पान॑म् । कृ॒ण्वा॒नाः । यत् । उ॒प॒-ऊ॒चि॒रे । सर्व॑म् । तत् । अ॒र॒सम् । कृ॒धि॒ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो [शत्रुओं ने] (देवपुराः) राजा के नगरों पर (प्रेयुः) चढ़ाई की है, और (ब्रह्म) हमारे धन को (वर्माणि) अपने रक्षा साधन (चक्रिरे) बनाया है। (तनूपानम्) हमारे शरीर रक्षा साधन को (परिपाणम्) अपना रक्षा साधन (कृण्वानाः) बनाते हुये उन लोगों ने (यत्) जो कुछ (उपोचिरे) डींग मारी है, (तत् सर्वम्) उस सब को (अरसम्) नीरस वा फीका (कृधि) कर दे ॥ १७ ॥

भावार्थ—राजा उपद्रवी शत्रुओं को जीत कर प्रजा की सदा रक्षा करे ॥ १७ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अथर्व० ५ । ८ । ६ ॥

(मा शकन्) ते शक्ता न भवन्तु (प्रतिधाम्) छान्दसं रूपम्। प्रतिधातुम्। आरोपितुम् (इषुम्) बाणम् (आदित्यः) अ० ११ । ४ । २५ । अखण्डव्रती सूर्यतुल्यतेजस्वी वा सेनाध्यक्षः (एषाम्) (अक्षम्) आयुधजातम् (वि नाशयतु) विनष्टं करोतु (चन्द्रमाः) अ० ५ । २४ । १० । आनन्दप्रदः । चन्द्रसमानशान्तिकरो वा सेनापतिः (युताम्) युञ् बन्धने—लोटि छान्दसं रूपम्। युनीताम्। बध्नातु। बन्धनं करोतु (अगतस्य) अप्राप्तस्य (पन्थाम्) पन्थानम्। सन्मार्गम् ॥

१७—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ५ । ८ । ६ ॥

क्रव्यादानुवर्तयन् मृत्युना च पुरोहितम् ।

त्रिषंधे प्रेहि सेनया जयामित्रान् प्र पद्यस्व ॥ १८ ॥

क्रव्य-अदा । अनु-वर्तयन् । मृत्युना । च । पुरः-हितम् ॥ त्रि-संधे । प्र । इहि । सेनया । जय । अमित्रान् । प्र । पद्यस्व १८

भाषार्थ—(त्रिषन्धे) हे त्रिसन्धि ! [म० २ । त्रयीकुशल राजन्] [शत्रुओं के लिये] (क्रव्यादा) मांस भक्षक [कष्ट] (च) और (मृत्युना) मृत्यु के साथ (पुरोहितम्) पुरोहित [अग्रगामी पुरुष] का (अनुवर्तयन्) अनुवर्त्ती होकर तू (सेनया) अपनी सेना के साथ (प्र इहि) चढ़ाई कर, (अमित्रान्) वैरियों को (जय) जीत और (प्र पद्यस्व) आगे बढ़ ॥ १८ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि आप्त सत्य प्रतिज्ञा वाले पुरुषों के समान शत्रुओं के कष्ट देने और मारने के अस्त्र शस्त्र आदि साधन संग्रह करके चढ़ाई करे ॥ १८ ॥

त्रिषंधे तमसा त्वममित्रान् परि वारय ।

पृषदाज्यप्रणुत्तानां मामीषां मोचि कश्चन ॥ १९ ॥

त्रि-संधे । तमसा । त्वम् । अमित्रान् । परि । वारय ॥ पृषत्-आज्य-प्रनुत्तानाम् । मा । अमीषाम् । मोचि । कः । चन ।१९।

भाषार्थ—(त्रिषन्धे) हे त्रिसन्धि ! [म० २ । त्रयीकुशल राजन्] (त्वम्) तू (तमसा) अन्धकार से (अमित्रान्) वैरियों को (परि वारय)

१८—(क्रव्यादा) अ० ३ । २१ । ८ । मांसभक्षकेन कष्टेन (अनुवर्तयन्) अनुगच्छन् (मृत्युना) मृत्युसाधनेन सह (च) (पुरोहितम्) अ० ३ । १९ । १ । अग्रगामिनं पुरुषम् (त्रिषन्धे) म० २ । हे त्रयीकुशल राजन् (प्रेहि) प्रकर्षेण गच्छ (सेनया) (जय) (अमित्रान्) शत्रून् (प्र पद्यस्व) पद गतौ । अग्रे गच्छ ॥

१९—(त्रिषन्धे) म० २ । हे त्रयीकुशल राजन् (तमसा) आयुधानामन्धकारेण (त्वम्) (अमित्रान्) शत्रून् (परि वारय) सर्वतो वेष्टय

घेर ले। (पृषदाज्यप्रणुत्तानाम्) दही घृत [आदि खाद्य वस्तुओं] से हटाये गये (अमीषाम्) इन [शत्रुओं] में से (कश्चन) कोई भी (मा मोचि) न छुटे ॥ १६ ॥

भावार्थ—राजा आग्नेय आदि अस्त्र शस्त्रों से अचेत और खान पान आदि पदार्थों से शून्य करके शत्रुओं को हरा देवे ॥ १६ ॥

अन्तिम पाद आचुका है-अ० ३ । १६ । ८ । तथा ११ । ६ । २० ॥

श्वितिपदी सं पंतत्वमित्राणाममूः सिचंः ।
मुह्यन्त्वद्यामूः सेनां अमित्राणां न्यर्बुदे ॥ २० ॥ (२६)

श्विति-पदी । सम् । पततु । अमित्राणाम् । अमूः । सिचः ॥
मुह्यन्तु । अद्य । अमूः। सेनाः। अमित्राणाम् । नि-अर्बुदे ।२०।

भाषार्थ—(श्वितिपदी) उजाले और अन्धकार में गति वाली [सेना] (अमित्राणाम्) वैरियों की (अमूः) उन (सिचः) सींचने वाली [सहायक सेनाओं] पर (सं पततु) टूट पड़े। (न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि ! [नित्य पुरुषार्थी राजन्] (अद्य) आज (अमित्राणाम्) वैरियों की (अमूः) वे (सेनाः) सेनायें (मुह्यन्तु) अचेत होजावें ॥ २० ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति शत्रुओं की सहायक सेनाओं को तुरन्त रोककर व्याकुल करदेवे ॥ २० ॥

मूढा अमित्रा न्यर्बुदे जह्येषां वरंवरम् ।
अनया जहि सेनया ॥ २१ ॥

(पृषदाज्यप्रणुत्तानाम्) दधिघृतादिखाद्यवस्तूनां सकाशात् प्रक्षिप्तानाम् (अमीषाम्) शत्रूणाम् (मा मोचि) मुक्तो मा भूत् (कश्चन) एकोऽपि ॥

२०-(श्वितिपदी) म० ६ । प्रकाशान्धकारमध्यगतिशीला सेना (सं पततु) झटिति प्राप्नोतु (अमित्राणाम्) शत्रूणाम् (अमूः) दृश्यमानाः (सिचः) अ० ११ । ६ । १८ । सेचनशीलाः । वर्धयित्रीः सेनाः (मुह्यन्तु) मूढा भवन्तु (अद्य) अस्मिन् दिने (अमूः) (सेनाः) (अमित्राणाम्) (न्यर्बुदे) अ० ११ । ६ । ४ । हे नित्यपुरुषार्थिन् राजन् ॥

मूढाः । अमित्राः । नि-अर्बुदे । जहि । एषाम् । वरम्-वरम् ॥
अनया । जहि । सेनया ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(न्यर्बुदे) हे न्यर्बुदि ! [नित्य पुरुषार्थी राजन्] (अमित्राः) वैरी (मूढाः) घबड़ाये हुये हैं, (एषाम्) इनमें से (वरंवरम्) अच्छे को (जहि) मार । (अनया सेनया) इस सेना से [उन्हें] (जहि) मार ॥२१॥

भावार्थ—सेनापति अपनी सेना से शत्रुओं को अचेत करके उन के बड़े बड़े वीरों को मारे ॥ २१ ॥

यश्च॑ क॒वची यश्चा॑कव॒चो॒३॒॑ ऽमित्रो॒ यश्चाज्म॑नि ।
ज्यापा॒शैः क॑वचपा॒शैरज्म॑ना॒भिह॑तः शयाम् ॥ २२ ॥

यः । च । क॒वची । यः । च । अ॒क॒व॒चः । अ॒मित्रः । यः । च । अज्म॑नि ॥ ज्या-पा॒शैः । क॒व॒च-पा॒शैः । अज्म॑ना । अ॒भि-ह॑तः । श॒या॒म् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यः च) जो कोई (कवची) कवच वाला है, (च) और (यः) जो कोई (अकवचः) बिना कवच वाला है, (च) और (यः) जो (अमित्रः) वैरी (अज्मनि) दौड़ झपट में है । (ज्यापाशैः) धनुषों की डोरी के फन्दों से और (कवचपाशैः) कवचों के फन्दों से (अज्मना) दौड़ झपट के साथ (अभिहतः) मार डाला गया वह [शत्रु] (शयाम्) सोवे ॥ २२ ॥

भावार्थ—संग्राम के बीच सेनापति दौड़ झपट करके दौड़ते झपटते शत्रुओं को घेरकर मारे ॥ २२ ॥

२१—(मूढाः) अचेतसः (अमित्राः) शत्रवः (न्यर्बुदे) म० २० । हे नित्यपुरुषार्थिन् राजन् (जहि) मारय (एषाम्) (वरंवरम्) श्रेष्ठं श्रेष्ठं वीरम् (अनया) स्वकीयया (जहि) (सेनया) ॥

२२—(यः) (च) (कवची) कवचधारी (यः) (च) (अकवचः) कवचरहितः (अमित्रः) पीडकः शत्रुः (यः) (च) (अज्मनि) अ० ६ । ६७ । ३ । अज गतिक्षेपणयोः-मनिन् । गमनक्षेपणव्यवहारे । संग्रामे (ज्यापाशैः) मौर्वीपाशैः (कवचपाशैः) वर्मबन्धनपाशैः (अज्मना) गमनक्षेपणव्यापारेण (अभिहतः) विनाशितः (शयाम्) तलोपः । शेताम् ॥

ये वर्मिणो येऽवर्माणो अमित्रा ये च वर्मिणः ।
सर्वांस्ताँ अर्बुदे हुतांछ्वानोऽदन्तु भूम्याम् ॥ २३ ॥

ये । वर्मिणः । ये । अवर्माणः । अमित्राः । ये । च । वर्मिणः ॥
सर्वान् । तान् । अर्बुदे । हुतान् । श्वानः । अदन्तु । भूम्याम् २३

भाषार्थ—(ये) जो (अमित्राः) शत्रु लोग (वर्मिणः) वर्म [कवच विशेष] वाले हैं, (ये) जो (अवर्माणः) विना वर्म वाले हैं, (च) और (ये) जो (वर्मिणः) झिलम वाले हैं। (अर्बुदे) हे अर्बुदि [शूर सेनापति] (तान् सर्वान्) उन सब (हतान्) मारे गयों को (श्वानः) कुत्ते (भूम्याम्) रण भूमि पर (अदन्तु) खावें ॥ २३ ॥

भावार्थ—शूर सेनापति से मारे गये सब शत्रुओं की लोथों को कुत्ते आदि खावें ॥ २३ ॥

ये रथिनो ये अरथा असादा ये च सादिनः ।
सर्वानदन्तु तान् हुतान् गृध्राः श्येनाः पतत्त्रिणः ॥ २४ ॥

ये । रथिनः । ये । अरथाः । असादाः । ये । च । सादिनः ॥
सर्वान् । अदन्तु । तान् । हुतान् । गृध्राः । श्येनाः । पतत्त्रिणः २४

भाषार्थ—(ये) जो [शत्रु] (रथिनः) रथ वाले हैं, (ये) जो (अरथाः) विना रथ वाले हैं, (ये) जो (असादाः) विना वाहन वाले [पैदल]

२३—(ये) (वर्मिणः) शस्त्रमारककवचविशेषेण युक्ताः (ये) (अवर्माणः) वर्मरहिताः (अमित्राः) शत्रवः (ये) (वर्मिणः) कवचवर्मव्यतिरिक्तेण शस्त्रनिवारकेण तनुत्राणेन युक्ताः (सर्वान्) (तान्) (अर्बुदे) अ० ११ । ६ । १ । हे शूरसेनापते (हतान्) मारितान् (श्वानाः) कुक्कुराः (अदन्तु) भक्षयन्तु (भूम्याम्) रणभूमौ ॥

२४—(ये) शत्रवः (रथिनः) रथारूढाः (ये) (अरथाः) रथरहिताः (असादाः) अवाहनाः । पदातयः (ये) (च) (सादिनः) षद्लृ विशरण-

हैं, (च) और जो (सादिनः) वाहन वाले [घुड़चढ़े, हाथी आदि पर चढ़े हुये] हैं। (तान् सर्वान्) उन सब (हतान्) मारे गयों को (गृध्राः) गिद्ध (श्येनाः) श्येन [बाज आदि] (पतत्रिणः) पक्षीगण (अदन्तु) खावें ॥ २४ ॥

भावार्थ—रणक्षेत्र में मर कर पड़े हुये शत्रु के सेनादलों को मांसाहारी पक्षी खावें ॥ २४ ॥

सहस्रंकुणपा शेतामामित्री सेना समरे वधानाम् ।
विविद्धा ककजाकृता ॥ २५ ॥

सहस्र-कुणपा । शेताम् । आमित्री । सेना । सम्-अरे । वधानाम् ॥ वि-विद्धा । ककजा-कृता ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(वधानाम्) हथियारों की (समरे) मारामार में (विविद्धा) छेद डाली गयी, (ककजाकृता) प्यास की उत्पत्ति से सतायी गयी, (सहस्रकुणपा) सहस्रों लोथों वाली (आमित्री) वैरियों की (सेना) सेना (शेताम्) सो जावे ॥२५॥

भावार्थ—वीरों की मार धाड़ से शत्रु सेना अनेक प्रकार से व्याकुल होकर मृत्यु पावे ॥ २५ ॥

मर्माविधं रोरुवतं सुपर्णैरदन्तु दुश्चितं मृदितं शयानम् ।
य इमां प्रतीचीमाहुतिममित्रो नो युयुत्सति ॥ २६ ॥

गत्यवसादनेषु-णिनि । अश्वारूढाः । गजारूढादयः (सर्वान्) (अदन्तु) भक्षयन्तु (तान्) शत्रून् (हतान्) मारिताम् (गृध्राः) मांसाहारिणः पक्षिविशेषाः (श्येनाः) अ० ३ । ३ । ३ । शीघ्रगतयः श्येनादयः (पतत्रिणः) पक्षिणः ॥

२५—(सहस्रकुणपा) असंख्यातशवयुक्ता (शेताम्) (आमित्री) अमित्र-अण् । शात्रवी (सेना) (समरे) युद्धे । प्रहारे (वधानाम्) आयुधानाम् (विविद्धा) विविधं ताडिता (ककजाकृता) कक+जा+कृता । कक गर्वे चापल्ये तृष्णायां च-अच् । जन जनने डप्रत्ययो भावे, टाप् । कृञ् हिंसायाम् क्त, टाप् । ककस्य पिपासाया जया उत्पत्त्या कृता हिंसिता ॥

मर्माविधम् । रोरुवतम् । सु-पर्णैः । अदन्तु । दुः-चितम् । मृदितम् । शयानम् ॥ यः । इमाम् । प्रतीचीम् । आ-हुतिम् । अमित्रः । नः । युयुत्सति ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(सुपर्णैः=सुपर्णाः) शीघ्रगामी पक्षी [गिद्ध आदि] (मर्माविधम्) मर्म स्थानों में छिदे हुये, (रोरुवतम्) चिल्लाते हुये (मृदितम्) कुचले हुये, (शयानम्) पड़े हुये, (दुश्चितम्) उस दुष्ट विचार वाले को (अदन्तु) खावें । (यः) जो (अमित्रः) शत्रु (नः) हमारी (इमाम्) इस (प्रतीचीम्) प्रत्यक्ष प्राप्त हुई (आहुतिम्) आहुति [बलि वा भेट] को (युयुत्सति) झगड़ना चाहता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रत्यक्ष सत्य धर्म के विरुद्ध आचरण करें, वे युद्ध स्थल में वध किये जावें, जिससे अन्य दुष्ट दुराचार न करें ॥ २३ ॥

यां देवा अनुतिष्ठन्ति यस्या नास्ति विराधनम् ।
तयेन्द्रो हन्तु वृत्रहा वज्रेण त्रिषंधिना ॥ २७ ॥ (२७)

याम् । देवाः । अनु-तिष्ठन्ति । तस्याः । न । अस्ति । वि-राधनम् ॥ तया । इन्द्रः । हन्तु । वृत्र-हा । वज्रेण । त्रि-संधिना २७॥

२६ (मर्माविधम्) व्यध ताडने-कर्मणि क्विप् । ग्रहिज्यावयिव्यधि० । पा० । ६ । १ । १६ । इति सम्प्रसारणम् । नहिवृतिवृषिव्यधि० । पा० ६ । ३ । ११६ । पूर्व पदस्य दीर्घः क्विप्रत्यये । मर्मसु विध्यमानम् (रोरुवतम्) रु शब्दे-यङ्लुकि-शतृ । रोरूयमाणम् । अत्यन्तं शब्दायमानम् (सुपर्णैः) सुपां सुपो भवन्ति । वा । पा० ७ । १ । ३९ । प्रथमास्थाने तृतीया । सुपर्णाः । शीघ्रगामिनः पक्षिणः । गृध्रादयः (अदन्तु) (दुश्चितम्) चिती संज्ञाने-क्विप् । दुष्टा चित्, ज्ञानं यस्य तम् । दुष्टविचारयुक्तम् (मृदितम्) चूर्णीकृतम् (शयानम्) भूमौ वर्तमानम् (यः) (इमाम्) (प्रतीचीम्) अ० ३ । २६ । ३ । प्रति+अञ्चु गतिपूजनयोः-क्विन्, ङीप् । प्रत्यक्षमञ्चन्तीं गच्छन्तीम् (आहुतिम्) दानक्रियाम् (अमित्रः) शत्रुः (नः) अस्माकम् (युयुत्सति) योद्धमिच्छति ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस [आहुति—म० २६] को (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (अनुतिष्ठन्ति) अनुष्ठान करते हैं, (यस्याः) जिस [आहुति] की (विराधनम्) निष्फलता (न अस्ति) नहीं है। (तया) उस [आहुति] से (वृत्रहा) अन्धकार नाशक (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवाला पुरुष (त्रिषन्धिना) त्रिसन्धि [म० २। त्रयीकुशल सेनापति] के साथ (वज्रेण) वज्रद्वारा [शत्रुओं को] (हन्तु) मारे॥ २७॥

भावार्थ—जैसे अचूक नीति और प्रतिज्ञारूप आहुति को शूरवीर पुरुष परोपकार में दान करते हैं, उसी प्रकार सब मनुष्य कर्म, उपासना और ज्ञान में कुशल और पुरुषार्थी जन के सहाय से विघ्नों का नाश करें॥ २७॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः॥

इत्येकादशं काण्डम्॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजीराव गायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये एकादशं काण्डं समाप्तम्॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे मार्गशीर्षमासे कृष्णामावास्यायां तिथौ १९७४ तमे [चतुःसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीरवीरचिर प्रतापिमहायशस्वि श्रीराजराजेश्वरपञ्चमजार्जमहोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात्॥

मुद्रितम्—मार्गशीर्षशुक्ला ७ संवत् १९७४ ता० २० दिसंबर १९१७॥

२७—(याम्) आहुतिम् (देवाः) विजिगीषवः (अनुतिष्ठन्ति) आचरन्ति (यस्याः) (न) (अस्ति) (विराधनम्) निष्फलता। असिद्धिः (तया) आहुत्या (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (हन्तु) मारयतु (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (वज्रेण) वज्रद्वारा (त्रिषन्धिना) म० २। त्रयीकुशलेन सेनापतिना सह॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और ब० की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ ता० २० जुलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर नमस्ते !,

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य कांडों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्य समाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्ण कार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्ममात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य को मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B. Sc. LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१७। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध बुलन्दशहर।

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेदभाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिक्षा सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेद प्रकाश मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वतीजीने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करनाआरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१२।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करनेवाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, आरम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम आर्यसमाजका पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करनेका

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो ... छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय—मुन्शीरामजी जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता कुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९०९।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९०९।

अवलोकन करने से उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्म्मा काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१२।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। ...... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीयभाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित—भीमसेन शर्म्मा इटावा उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ...... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है... भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्यसामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवन मन्त्रों की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पंडित—महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रमका यह फल है कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है आपकी राय है कि "वेदों में सार्व भौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पंडित—गणेश प्रसाद शर्मा सम्पादक भारत सुदर्शनवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से, निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थ युक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिका प्रसाद जी—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-२-१३।

आप को भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करे।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी है। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्यलोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई। ....इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्हों ने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आज्ञा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है........ त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda Stat letter No* 624 *dated 6th February* 1913.

....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the drize distribution. Please send them...also add on the address labl "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan

Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAAABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA, LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, persever nce and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature ......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १९ सू० ६२ म० १ ।

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

द्वादशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन
श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना
निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharv 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित ओङ्कारनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ } संवत् १९७५ वि० { मूल्यम् २=)
१००० पुस्तकानि } सन् १९१८ ई०

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad)

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

आनन्दसमाचार

[आप देखिये और अपने मित्रों को दिखाइये]

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, और यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, उपदेश, २—सस्वर मूल मन्त्र ३—सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े कांड हैं, एक एक कांड का भावपूर्ण सचित्र स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी, श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्त्ति पावें। छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)

काण्ड	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	पृष्ठ ३,०५० लगभग
मूल्य	२।)	२=)									२४।=)

काण्ड—१३ छप रहा है। कांड १४ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ १४८ मूल्य ।≈)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ २४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि, सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदासत्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

१० जून १९१८।

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड १२

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	सत्यं बृहदृतमुग्रं	पृथिवी	राज्य की रक्षा	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
२	नडमा रोह न ते अत्र	अग्नि आदि	राजा और प्रजा के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३	पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ	स्त्री पुरुष आदि	परस्पर उन्नति करना	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
४	ददामीत्येव ब्रूयादनु	वशा	वेदवाणी के प्रकाश	अनुष्टुप् आदि
५(१)	श्रमेण तपसा सृष्टा	ब्रह्मगवी	वेदवाणी के रोकने के दोष	प्राजापत्यानुष्टुप् आदि
(२)	ओजश्च तेजश्च सहश्च	तथा	तथा	साम्नी त्रिष्टुप् आदि
(३)	सैषा भीमा ब्रह्मगव्य	तथा	तथा	विराडार्षी गायत्री आदि
(४)	वैरं विकृत्यमाना	तथा	तथा	आसुरी गायत्री आदि
(५)	तस्या आहननं कृत्या	तथा	तथा	साम्नी पङ्क्ति आदि
(६)	क्षिप्रं वै तस्याहनने	तथा	तथा	प्राजापत्यानुष्टुप् आदि
(७)	वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च	तथा	तथा	प्राजापत्यानुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद काण्ड १२ के मन्त्र अन्यवेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड १२) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, इत्यादि
१	पुनस्त्वादित्यारुद्रा	२। ६		१२। ४४	
२	यो अग्निःक्रव्यात्	२। ७	१०। १६। १०		
३	क्रव्यादमग्निं प्र	२। ८	१०। १६। ९	३५। १९	
४	परं मृत्यो अनु	२। २१	१०। १८। १	३५। ७	
५	इमे जीवा वि	२। २२	१०। १८। ३ } १। ११७। २५ }		
६	इमं जीवेभ्यः परि	२। २३	१०। १८। ४	३५। १५	
७	आ रोहतायुर्जरसं	२। २४	१०। १८। ६		
८	यथाहान्यनुपूर्वं	२। २५	१०। १८। ५		
९	अश्मन्वती रीयते	२। २६	१०। ५३। ८	३५। १०	
१०	मृत्योःपदं योपयन्त	२। ३०	१०। १८। २		
११	इमा नारीरविधवाः	२। ३१	१०। १८। ७		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

द्वादशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ [पृथिवीसूक्तम्] ॥

१—६३ ॥ पृथिवी देवता ॥ १, ५५, भुरिक् त्रिष्टुप् ; २, ३, ४, २६, ३१, ६०,६१,६२ त्रिष्टुप् ; ५, ४४,४५ निचृज्जगती ; ६ जगती ; ७ प्रस्तारपङ्क्तिः ; ८ षट्पदा विराडष्टिः ; ९ निचृत् त्रिष्टुप् ; १०, ३८ षट्पदा जगती ; ११ अतिशक्वरी ; १२, १३, १५, २५, ३७ शक्वरी ; १४, १७ महाबृहती ; १६, २१ साम्नी त्रिष्टुप् ; १८ निचृदतिशक्वरी ; १९ उरोबृहती ; २०, २६, २७, २८, ३३, ३५, ३९, ४०, ५०, ५३, ५४, ५६, ५९, ६३ अनुष्टुप् ; २२ स्वराडतिजगती ; २३ विराडतिजगती ; २४ पञ्चपदा भुरिज्जगती ; ३० विराड् गायत्री ; ३२ त्रिष्टुब् ज्योतिष्मती ; ३४, ५२ अतिजगती ; ३६ आर्षी पङ्क्तिः ; ४१, ४६ विराट् शक्वरी ; ४२ भुरिजनुष्टुप् ; ४३ विराडास्तारपङ्क्तिः ; ४७, ५१ स्वराट् शक्वरी ; ४८ ब्राह्म्युष्णिक् ; ४९, ५७ जगती ; ५८ निचृद्बृहती छन्दः ॥

राज्यरक्षोपदेशः—राज्य की रक्षा का उपदेश ॥

सत्यं बृहदृतमुग्रं दीक्षा तपो ब्रह्म यज्ञः पृथिवीं धारयन्ति ।
सा नो भूतस्य भव्यस्य पत्न्युरुं लोकं पृथिवी नः कृणोतु ॥१॥

सत्यम् । बृहत् । ऋतम् । उग्रम् । दीक्षा । तपः । ब्रह्म । यज्ञः । पृथिवीम् । धारयन्ति ॥ सा । नः । भूतस्य । भव्यस्य । पत्नी । उरुम् । लोकम् । पृथिवी । नः । कृणोतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहत्) बढ़ा हुआ (सत्यम्) सत्य कर्म, (उग्रम्) उग्र (ऋतम्) सत्यज्ञान, (दीक्षा) दीक्षा [आत्मनिग्रह], (ब्रह्म) ब्रह्मचर्य [वेदाध्ययन, वीर्यनिग्रह रूप] (तपः) तप [व्रत धारण] और (यज्ञः) यज्ञ [देवपूजा, सत्संग और दान] (पृथिवीम्) पृथिवी को (धारयन्ति) धारण करते हैं। (नः) हमारे (भूतस्य) बीते हुये और (भव्यस्य) होनेवाले [पदार्थ] की (पत्नी) पालन करने वाली (सा पृथिवी) वह पृथिवी (उरुम्) चौड़ा (लोकम्) स्थान (नः) हमारे लिये (कृणोतु) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सत्यकर्मी, सत्यज्ञानी, जितेन्द्रिय, ईश्वर और विद्वानों से प्रीति करने वाले चतुर पुरुष पृथिवी पर उन्नति करते हैं। यह नियम भूत और भविष्यत् के लिये समान है ॥ १ ॥

इस सूक्त का नाम "पृथिवी सूक्त" है। इसमें वर्णित धर्म और नीति के पालने से राजा प्रजा और प्रत्येक गृहस्थ और मनुष्य मात्र का कल्याण होता है ॥

इस सूक्त का संस्कृत और भाषा में सविस्तार भाष्य "वैदिक राष्ट्रगीत" नामक श्रीयुत पं० श्रीपाद् दामोदर सातवलेकर सुखप्रकाश, अनारकली लाहौर का बनाया बड़ा उत्तम है। पाठकवृन्द उसे भी पढ़ें, मैं उनका बहुत धन्यवाद करता हूं ॥

असं॒बा॒धं ब॑ध्य॒तो मा॑न॒वानां॒ यस्या॑ उ॒द्वतः॑ प्र॒वतः॑ स॒मं ब॒हु ।
नाना॑वीर्या॒ ओष॑धी॒र्या बिभ॑र्ति पृथि॒वी नः॑ प्रथतां॒ राध्य॑तां नः २

१—(सत्यम्) यथार्थकर्म (बृहत्) महत् (ऋतम्) यथार्थज्ञानम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (दीक्षा) अ० ८। ५। १५। आत्मनिग्रहः (तपः) तपश्चरणम्। व्रतधारणम् (ब्रह्म) ब्रह्मचर्यम्। वेदाध्ययनवीर्यनिग्रहादिरूपव्रतम् (यज्ञः) देवपूजासत्संगदानानि (पृथिवीम्) अ० १। २। १। प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः सम्प्रसारणं च। उ० १। १५०। प्रथ ख्यातौ विस्तारे च—षिवन् सम्प्रसारणं च। षित्वाङ् ङीष्। यः प्रथति सर्वं जगद्विस्तृणाति स पृथिवी...परमेश्वरः—इति श्री दयानन्दकृते सत्यार्थप्रकाशे। प्रथनात् पृथिवी—निरु० १। १३। भूमिराज्यम् (धारयन्ति) धरन्ति (सा) (नः) अस्माकम् (भूतस्य) अतीतवस्तुनः (भव्यस्य) भविष्यत्पदार्थस्य (पत्नी) पालयित्री (उरुम्) विस्तृतम् (लोकम्) दर्शनीयं स्थानम् (पृथिवी) (नः) अस्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु ॥

असम्-बाधम् । बध्यतः । [मध्यतः]। मानवानाम् । यस्याः । उत्-वतः । प्र-वतः। समम् । बहु ॥ नाना-वीर्याः । ओषधीः । या । बिभर्ति । पृथिवी । नः । प्रथताम् । राध्यताम् । नः॥२॥

भाषार्थ—(मानवानाम्) मान वालों वा मननशीलों के (असंबाधम्) गति रोकने वाले व्यवहार को (बध्यतः) मिटाती हुयी (यस्याः) जिस [पृथिवी] के [मध्य] (उद्वतः) ऊचे और (प्रवतः) नीचे देश और (बहु) बहुत से (समम्) सम स्थान हैं। (या) जो (नानावीर्याः) अनेकवीर्य [बल] वाली (ओषधीः) ओषधियों [अन्न,सोम लता आदि] को (बिभर्ति) रखती है, (पृथिवी) वह पृथिवी (नः) हमारे लिये (प्रथताम्) चौडी होवे और (नः) हमारे लिये (राध्यताम्) सिद्धि करे ॥ २ ॥

भावार्थ—विचारशील मनुष्य पृथिवी पर ऊंचे, नीचे और सम स्थानों में विघ्नों को मिटाकर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके कार्यसिद्धि करते जाते हैं॥२॥

(बध्यतः) शब्द के स्थान पर गवर्नमेन्ट बुक्डिपो बम्बई के पद पाठ में [मध्यतः] शब्द है। हम ने अजमेर वैदिक यन्त्रालय और सेवकलाल कृष्ण-दास के संहिता पाठ के अनुसार (बध्यतः) पद मानकर अर्थ किया है ॥

२—(असंबाधम्) अस गतिदीप्त्यादानेषु— अच् + संज्ञायां भृतॄवृजि. धारि०। पा० ३ । २ । ४६ । बाधृ विलोडने— खच्, खित्वाद् मुम् । असं गतिं बाधते यः सः, असंबाधः । तं गतिनिरोधकं व्यवहारम् (बध्यतः) वर्तमाने पृषद् बृहन्-महज्जगच्छतृवच्च। उ० २ । ८४ । बध हिंसायाम्—अति, शतृवत्, छान्दसो यकारः। हिंसन्त्याः (मानवानाम्) अ० ४ । २२ । ५ मनु—अण्, यद्वा मान—वप्रत्ययो मत्वर्थे । मननशीलानां मानवताम् (यस्याः) पृथिव्याः (उद्वतः) उपसर्गा-च्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । उत्-वतिप्रत्ययः। प्रवत उद्वतो निवत इत्य-वतिर्गतिकर्मा - निरु० १० । २० । उन्नतदेशाः (प्रवतः) पूर्ववत् सिद्धिः। प्रणतदेशाः (समम्) अविषमं स्थानम् (बहु) (नानावीर्याः) अनेकबलाः (ओषधीः) अ० १ । ३० । ३ । अन्नसोमलतादिपदार्थान् (या) (बिभर्ति) धरति (पृथिवी) (नः) अस्मभ्यम् (प्रथताम्) विस्तीर्यताम् (राध्यताम्) सिध्यतु (नः) अस्मभ्यम् ॥

यस्यां समुद्र उत सिन्धुरापो यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
यस्यामिदं जिन्वति प्राणदेजत् सा नो भूमिः पूर्वपेये दधातु ३

यस्याम्। समुद्रः। उत। सिन्धुः। आपः। यस्याम्। अन्नम्।
कृष्टयः। सम्-बभूवुः॥ यस्याम्। इदम्। जिन्वति। प्राणत्।
एजत्। सा। नः। भूमिः। पूर्व-पेये। दधातु॥ ३॥

भाषार्थ—(यस्याम्) जिस [भूमि] पर (समुद्रः) समुद्र (उत) और (सिन्धुः) नदी और (आपः) जलधारायें [झरने कूप आदि] हैं, (यस्याम्) जिस पर (अन्नम्) अन्न और (कृष्टयः) खेतियां (सं बभूवुः) उत्पन्न हुई हैं। (यस्याम्) जिस पर (इदम्) यह (प्राणत्) श्वास लेता हुआ और (एजत्) चेष्टा करता हुआ [जगत्] (जिन्वति) चलता है, (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (पूर्वपेये) श्रेष्ठों से रक्षा योग्य पद पर (दधातु) ठहरावे॥ ३॥

भावार्थ—जो मनुष्य समुद्र, नदी, कूप और वृष्टि के जल तथा अन्य खेती आदि से नौका, यान, कला यन्त्र आदि में अनेक प्रकार उपकार लेते हैं, वे सब जगत् को आनन्द देकर श्रेष्ठ पद पाते हैं॥ ३॥

यस्याश्चतस्रः प्रदिशः पृथिव्या यस्यामन्नं कृष्टयः संबभूवुः।
या बिभर्ति बहुधा प्राणदेजत् सा नो भूमिर्गोष्वप्यन्ने दधातु॥४

यस्याः। चतस्रः। प्र-दिशः। पृथिव्याः। यस्याम्। अन्नम्।
कृष्टयः। सम्-बभूवुः॥ या। बिभर्ति। बहु-धा। प्राणत्।
एजत्। सा। नः। भूमिः। गोषु। अपि। अन्ने। दधातु॥४

३—(यस्याम्) भूम्याम् (समुद्रः) जलौघः (उत) अपि च (सिन्धुः) नदी (आपः) जलधाराः (अन्नम्) भोज्यम् (कृष्टयः) सस्यभूमयः (संबभूवुः) उत्पन्ना बभूवुः (यस्याम्) (इदम्) दृश्यमानम् (जिन्वति) गच्छति–निघ० २। १४ (प्राणत्) श्वासं कुर्वत् (एजत्) चेष्टायमानं जगत् (सा) (नः) अस्मान् (भूमिः) पृथिवी (पूर्वपेये) अचो यत्। पा० ३। १। ९७। पा रक्षणे—यत्। ईद्यति। पा० ६। ४। ६५। आत ईत्वम्। पूर्वैः श्रेष्ठैः रक्षितुं योग्ये पदे (दधातु) स्थापयतु॥

भाषार्थ—(यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी की (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशायें हैं, (यस्याम्) जिस में (अन्नम्) अन्न और (कृष्टयः) खेतियां (संबभूवुः) उत्पन्न हुयी हैं। (या) जो (बहुधा) अनेक प्रकार से (प्राणत्) श्वास लेते हुये और (एजत्) चेष्टा करते हुये [जगत्] को (बिभर्ति) पोषती है. (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमें (गोषु) गौओं में (अपि) और भी (अन्ने) अन्न में (दधातु) रक्खे ॥ ४ ॥

भावार्थ - जो मनुष्य सब ओर दृष्टि फैलाकर अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके सब प्राणियों की रक्षा करते हैं, वे इस भूमि पर गौ, बैल, अश्व आदि और अन्न आदि पदार्थों से परिपूर्ण रहते हैं ॥ ४ ॥

यस्यां पूर्वे पूर्वजना विचक्रिरे यस्यां देवा असुरानभ्यवर्तयन्। गवामश्वानां वयसश्च विष्ठा भगं वर्चः पृथिवी नो दधातु॥५

यस्याम्। पूर्वे। पूर्व-जनाः। वि-चक्रिरे। यस्याम्। देवाः। असुरान्। अभि-अवर्तयन् ॥ गवाम्। अश्वानाम्। वयसः। च। वि-स्था। भगम्। वर्चः। पृथिवी। नः। दधातु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यस्याम्) जिस [पृथिवी] पर (पूर्वे) पूर्वकाल में (पूर्वजनाः) पूर्वजों ने (विचक्रिरे) बढ़कर कर्तव्य किये हैं, (यस्याम्) जिस पर (देवाः) देवताओं [विजयी जनों] ने (असुरान्) असुरों [दुष्टों] को (अभ्यवर्तयन्) हराया है। (गवाम्) गौओं, (अश्वानाम्)

४—(यस्याः) (चतस्रः) (प्रदिशः) महादिशाः (पृथिव्याः) भूमेः (या) (बिभर्ति) पोषयति (बहुधा) अनेकप्रकारेण (प्राणत्) श्वासं कुर्वत् (एजत्) चेष्टायमानं जगत् (सा) (नः) अस्मान् (भूमिः) (गोषु) धेनुषु (अपि) (अन्ने) (दधातु) धरतु। अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

५—(यस्याम्) पृथिव्याम् (पूर्वे) पूर्वस्मिन् काले (पूर्वजनाः) पूर्वजाः पुरुषाः (विचक्रिरे) विशेषेण कर्तव्यानि कृतवन्तः (यस्याम्) (देवाः) विजिगीषवः (असुरान्) दुष्टान् (अभ्यवर्तयन्) अभिभूतवन्तः। पराजितवन्तः (गवाम्) धेनूनाम् (अश्वानाम्) घोटकानाम् (वयसः) अन्नस्य—निघ० २। ७ (च)

अश्वों (च) और (वयसः) अन्न की (विष्ठा) चौकी [ठिकाना], (पृथिवी) वह पृथिवी (नः) हम को (भगम्) ऐश्वर्य और (वर्चः) तेज (दधातु) देवे ॥५॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्वजों ने विघ्नों को हटाकर कर्तव्य करके ऐश्वर्य पाया है, उसी प्रकार मनुष्य पुरुषार्थ करके ऐश्वर्यवान् और प्रतापवान् होवें ॥ ५ ॥

विश्वंभरा वसुधानी प्रतिष्ठा हिरण्यवक्षा जगतो निवेशनी ।
वैश्वानरं बिभ्रती भूमिरग्निमिन्द्रऋषभा द्रविणे नो दधातु ।६।
विश्वम्-भरा । वसु-धानी । प्रति-स्था । हिरण्य-वक्षाः । जगतः । नि-वेशनी ॥ वैश्वानरम् । बिभ्रती । भूमिः । अग्निम् । इन्द्र-ऋषभा । द्रविणे । नः । दधातु ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(विश्वम्भरा) सब को सहारा देने वाली,(वसुधानी) धनों की रखने वाली (प्रतिष्ठा) दृढ़ आधार (हिरण्यवक्षाः) सुवर्ण छाती में रखने वाली, (जगतः) चलने वाले [उद्योगी] की (निवेशनी) सुख देने वाली, (वैश्वानरम्) सब नरों के हितकारी (अग्निम्) अग्नि [समान प्रतापी मनुष्य] की (बिभ्रती) पोषण करनेवाली, (इन्द्रऋषभा) इन्द्र [परमात्मा वा मनुष्य वा सूर्य] को प्रधान मानने वाली (भूमिः) भूमि (द्रविणे) बल [वा धन] के बीच (नः) हम को (दधातु) रक्खे ॥ ६॥

भावार्थ—जो मनुष्य उद्योग करते हैं, वे भूपति होकर इस वसुधा पृथिवी पर सोना चांदी आदि की प्राप्ति से बली और धनी होकर सुख पाते हैं ६

(विष्ठा) विशेषस्थितिस्थानम् (भगम्) ऐश्वर्यम् (वर्चः) तेजः (पृथिवी) (नः) अस्मभ्यम् (दधातु) ददातु ॥

६—(विश्वम्भरा) सञ्ज्ञायां भृतॄवृजि० । पा० । ३ । २ । ४६ । विश्व + डु भृञ् धारणपोषणयोः—खच्, मुम् । सर्वधात्री (वसुधानी) धनानां धर्त्री (प्रतिष्ठा) दृढाधारभूता (हिरण्यवक्षाः) सुवर्णादीनि वक्षसि मध्ये यस्याः सा (जगतः) जङ्गमस्य गतिमतः पुरुषस्य (निवेशनी) सुखस्य प्रवेशयित्री दात्री (वैश्वानरं) सर्वनरहितम् (बिभ्रती) पोषयन्ती (भूमिः) (अग्निम्) अग्नि-वत्प्रतापिनं मनुष्यम् (इन्द्रऋषभा) इन्द्रः परमेश्वरो मनुष्यः सूर्यो वा ऋषभः प्रधानो यस्याः सा (द्रविणे) बले—निघ० २ । ६ । धने—निघ० । २ । १० (नः) अस्मान् (दधातु) धरतु ॥

यां रक्षन्त्यस्वप्ना विश्वदानीं देवा भूमिं पृथिवीमप्रमादम् ।
सा नो मधु प्रियं दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ७ ॥

याम् । रक्षन्ति । अस्वप्नाः । विश्व-दानीम् । देवाः । भूमिम् । पृथिवीम् ।। अप्र-मादम् ॥ सा । नः । मधु । प्रियम् । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस (विश्वदानीम्) सब कुछ देने वाली (भूमिम्) भूमि [आश्रय स्थान], (पृथिवीम्) पृथिवी [फैले हुये धरातल] को (अस्वप्नाः) बिना सोते हुये (देवाः) देवता [विजयी पुरुष] (अप्रमादम्) बिना चूक (रक्षन्ति) बचाते हैं। (सा) वह (नः) हमको (प्रियम्) प्रिय (मधु) मधु [मधुविद्या, पूर्ण विज्ञान] (दुहाम्) दुहा करे, (अथो) और भी (वर्चसा) तेज [बल पराक्रम] के साथ (उक्षतु) बढ़ावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरालसी और अप्रमादी होकर भूमि की रक्षा करते हैं वे इस पृथिवी पर विज्ञानी और तेजस्वी होते हैं ॥ ७ ॥

यार्णवेऽधि सलिलमग्र आसीद् यां मायाभिरन्वचरन् मनीषिणः । यस्या हृदयं परमे व्योमन्त्सत्येनावृतममृतं पृथिव्याः।
सा नो भूमिस्त्विषिं बलं राष्ट्रे दधातूत्तमे ॥ ८ ॥

या । अर्णवे । अधि । सलिलम् । अग्रे । आसीत् । याम् ।

७—(याम्) (रक्षन्ति) पान्ति (अस्वप्नाः) अनिद्राः। जागरूकाः। निरलसाः (विश्वदानीम्) अ० ७। ७३। ११। विश्वानि समग्राणि दानानि यस्यास्ताम् (देवाः) विजिगीषवः (भूमिम्) आधारभूताम् (पृथिवीम्) विस्तृतां वसुधाम् (अप्रमादम्) यथा तथा प्रमादराहित्येन (सा) पृथिवी (नः) अस्मभ्यम् (मधु) मधुविद्याम्। पूर्णविज्ञानम्। (प्रियम्) प्रीतिकरम् (दुहाम्) दुग्धाम्। पूरयतु (उक्षतु) सिञ्चतु। वर्धयतु। उक्षण उक्षतेर्वृद्धि कर्मणः—निरु० १२। ६। (वर्चसा) तेजसा। बलेन। पराक्रमेण ॥

मायाभिः । अनु-अचरन् । मनीषिणः ॥ यस्याः । हृदयम् । परमे । वि-ओमन् । सत्येन । आ-वृतम् । अमृतम् । पृथिव्याः ॥ सा । नः । भूमिः । त्विषिम् । बलम् । राष्ट्रे । दधातु । उत्-तमे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(या) जो [भूमि] (अर्णवे अधि) जल से भरे समुद्र के ऊपर (सलिलम्) जल [भाप] (अग्रे) पहिले (आसीत्) थी,(मनीषिणः) मननशील लोग (मायाभिः) अपनी बुद्धियों से (याम् अन्वचरन्) जिस [भूमि] के पीछे पीछे चले हैं [सेवा करते रहे हैं]। (यस्याः पृथिव्याः) जिस पृथिवी का (हृदयम्) हृदय [भीतरी बल] (परमे) बहुत बड़े (व्योमन्) विविध रक्षक [आकाश] में (सत्येन) सत्य [अविनाशी परमात्मा] से (आवृतम्) ढका हुआ (अमृतम्) बिना मरा [सदा उपजाऊ] है । (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हम को (त्विषिम्) तेज और (बलम्) बल वा सेना (उत्तमे) सब से श्रेष्ठ (राष्ट्रे) राज्य के बीच (दधातु) दान करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—सृष्टि के आदि में जल के मध्य यह पृथिवी बुदबुदे के समान थी, वह आकाश में ईश्वर नियम से दृढ़ हो कर अनेक रत्नों की खानि है पहिले विचारवानों के समान सब मनुष्य पराक्रम से पृथिवी की सेवा करके बड़े राज्य के भीतर तेजस्वी और बली होकर बढ़ती करें ॥ ८ ॥

८—(या) भूमिः (अर्णवे) जलवति समुद्रे (अधि) उपरि (सलिलम्) उदकम्-निघ० १ । १२ । बाष्परूपम् (अग्रे) सृष्ट्यादौ (आसीत्) (मायाभिः) प्रज्ञाभिः-निघ० ३ । ६ (अन्वचरन्) अन्वगच्छन् । सेवितवन्तः (मनीषिणः) मेधाविनः-निघ० ३ । १५ (यस्याः) (हृदयम्) अन्तर्बलम् (परमे) महति (व्योमन्) अ० ६ । १० । १८ । विविधं रक्षके । आकाशे (सत्येन) अविनाशिना परमात्मना (आवृतम्) आच्छादितम् (अमृतम्) मरणरहितम् । उत्पादनसमर्थम् (पृथिव्याः) (सा) (नः) अस्मभ्यम् (भूमिः) (त्विषिम्) तेजः (बलम्) सामर्थ्यम् (राष्ट्रे) राज्ये (दधातु) ददातु (उत्तमे) सर्वोत्कृष्टे ॥

यस्यामापः परिचराः समानीरहोरात्रे अप्रमादं क्षरन्ति ।
सा नो भूमिर्भूरिधारा पयो दुहामथो उक्षतु वर्चसा ॥ ९ ॥

यस्याम् । आपः । परि-चराः । समानीः । अहोरात्रे इति ।
अप्र-मादम् । क्षरन्ति ॥ सा । नः । भूमिः । भूरि-धारा ।
पयः । दुहाम् । अथो इति । उक्षतु । वर्चसा ॥ ९ ॥

भाषार्थ-(यस्याम्) जिस भूमि पर (परिचराः) सेवाशील वाले (समानीः) एक से स्वभाव वाली (आपः) आप्त प्रजायें [सत्य वक्ता लोग] (अहोरात्रे) दिन राति (अप्रमादम्) बिना चूक (क्षरन्ति) बहते हैं। (भूरिधारा) अनेक धारण शक्तियों वाली (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमको (पयः) अन्न (दुहाम्) दुहा करे, (अथो) और भी (वर्चसा) तेज के साथ (उक्षतु) बढ़ावे ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि समदर्शी परोपकारी महात्माओं के समान दृढ़चित्त होकर परस्पर सेवा करते हुये पृथिवी पर अन्न आदि के लाभ से बल वीर्य बढ़ावें ॥ ९ ॥

यामश्विनावमिमातां विष्णुर्यस्यां विचक्रमे । इन्द्रो यां चक्र आत्मनेऽनमित्रां शचीपतिः । सा नो भूमिर्वि सृजतां माता पुत्राय मे पयः ॥ १० ॥ (१)

याम् । अश्विना । अमिमाताम् । विष्णुः । यस्याम् । वि-चक्रमे ॥
इन्द्रः । याम् । चक्रे । आत्मने । अनमित्राम् । शची-पतिः ॥

९—(यस्याम् भूम्याम्) (आपः) आप्ताः प्रजाः-दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ (परिचराः) परिचारकाः । सेवाशीलाः (समानीः) समानचित्ताः (अहोरात्रे) अहर्निशम् (अप्रमादम्) प्रमादराहित्येन (क्षरन्ति) सञ्चलन्ति । वहन्ति (सा) (नः) अस्मभ्यम् (भूमिः) (भूरिधारा) बहुधारायुक्ता (पयः) अन्नम्-निघ० २ । ७ । अन्यत् पूर्ववत्-म० ७ ॥

सा । नः । भूमिः । वि । सृजताम् । माता । पुत्राय । मे । पर्यः ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(याम्) जिस [भूमि] को (अश्विनौ) दिन और राति ने (अमिमाताम्) नापा है, (यस्याम्) जिस [भूमि] पर (विष्णुः) व्यापक सूर्य ने (विचक्रमे) पांव रक्खा । है । (याम्) जिस [भूमि] को (शचीपतिः) वाणियों, कर्मों और बुद्धियों में चतुर (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने (आत्मने) अपने लिये (अनमित्राम्) शत्रु रहित (चक्रे) किया है। (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमारे [हम सब के] हित के लिये (मे) मुझ को (पयः) अन्न [वा दूध] (वि) विविध प्रकार (सृजताम्) देवे, [जैसे] (माता) माता (पुत्राय) पुत्रको [अन्न वा दूध देती है] ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस पृथिवी को दिन और राति अपने गुणों से उपजाऊ बनाते हैं, जिस को सूर्य अपने आकर्षण, प्रकाश और वृष्टि आदि कर्म से स्थिर रखता है, और जिस पर यथार्थवक्ता, यथार्थकर्मा और यथार्थज्ञाता पुरुष विजय पाते हैं, उस पृथिवी को उपयोगी बनाकर प्रत्येक मनुष्य सब का हित करे ॥ १० ॥

गिरयस्ते पर्वता हिमवन्तोऽरण्यं ते पृथिवि स्योनमस्तु । बभ्रुं कृष्णां रोहिणीं विश्वरूपां ध्रुवां भूमिं पृथिवीमिन्द्रगुप्ताम् । अजीतोऽहतो अक्षतोऽध्यष्ठां पृथिवीमहम् ॥ ११ ॥

१०—(याम्) भूमिम् (अश्विनौ) अ० २ । २९ । ६ । अहोरात्रौ-निरु० १२ । १ (अमिमाताम्) माङ् माने शब्दे च—लङ् । परिमितौ कृतवन्तौ (विष्णुः) व्यापकः सूर्यः (यस्याम्) भूम्याम् (विचक्रमे) पादविक्षेपं कृतवान् (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् जीवः (याम्) (चक्रे) कृतवान् (आत्मने) स्वहिताय (अनमित्राम्) शत्रुरहिताम् (शचीपतिः) अ० ३ । १० । १२ । शची=वाक्—निघ० १ । ११, कर्म—२ । १, प्रज्ञा—३ । ९ । शचीनां वाचां कर्मणां प्रज्ञानां वा पालकः (सा) (नः) अस्मभ्यम् । अस्माकं सर्वेषां हिताय (भूमिः) (वि) विविधम् (सृजताम्) ददातु (माता) जननी (पुत्राय) (मे) मह्यम् (पयः) अन्नम् । दुग्धम् ॥

गिरयः । ते । पर्वताः । हिम-वन्तः । अरण्यम् । ते । पृथिवि । स्योनम् । अस्तु ॥ बभ्रुम् । कृष्णाम् । रोहिणीम् । विश्व-रूपाम् । ध्रुवाम् । भूमिम् । पृथिवीम् । इन्द्र-गुप्ताम् ॥ अजीतः । अहतः । अक्षतः । अधि । अस्थाम् । पृथिवीम् । अहम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! [हमारे लिये] (ते) तेरी (गिरयः) पहाड़ियां और (हिमवन्तः) हिम वाले (पर्वताः) पहाड़, और (ते) तेरा (अरण्यम्) बन भी (स्योनम्) मनभावना (अस्तु) होवे । (बभ्रुम्) पोषण करने वाली, (कृष्णाम्) जोतने योग्य, (रोहिणीम्) उपजाऊ, (विश्वरूपाम्) अनेक [सुनैले. रुपैले आदि] रूप वाली, (ध्रुवाम्) दृढ़ स्वभाव वाली, (भूमिम्) आश्रय स्थान, (पृथिवीम्) फैली हुयी, (इन्द्रगुप्ताम्) इन्द्रों [ऐश्वर्य शाली वीर पुरुषों] से रक्षा कियी गई (पृथिवीम्) पृथिवी का (अजीतः) बिना जीर्ण हुये, (अहतः) बिना मारे गये और (अक्षतः) बिना घायल हुये (अहम्) मैं (अधि अस्थाम्) अधिष्ठाता बना हूं ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य कला, यन्त्र, यान, विमान आदि से दुर्गम्य स्थानों में निर्विघ्न पहुंचकर पृथिवी को उपजाऊ बनावें ॥ ११ ॥

यत् ते मध्यं पृथिवि यच्च नभ्यं यास्त ऊर्जस्तन्वः संबभूवुः। तासु नो धेह्यभि नः पवस्व माता भूमिः पुत्रो अहं पृथि-

---

११—(गिरयः) क्षुद्रपर्वताः (ते) तव (पर्वताः) विशालशैलाः (हिमवन्तः) प्रचुरहिमयुक्ताः (अरण्यम्) वनम् (ते) तव (पृथिवि) हे भूमे (स्योनम्) सुखदम् (अस्तु) (बभ्रुम्) भरणशीलाम् । पोषयित्रीम् (कृष्णाम्) कर्षणयोग्याम् (रोहिणीम्) रुहेश्च । उ० । २ । ५५ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इनन्, ङीप् । उत्पादनशीलाम् (विश्वरूपाम्) अनेकरूपयुक्ताम् (ध्रुवाम्) दृढाम् (भूमिम्) आश्रयभूताम् (पृथिवीम्) विस्तृताम् (इन्द्रगुप्ताम्) इन्द्रैः परमैश्वर्यवद्भिः शूरैः पालिताम् (अजीतः) ज्या वयोहानौ—क्त, नत्वादेशाभावः । अजीनः । अजीर्णः । जराहीनः (अहतः) अमारितः (अक्षतः) क्षतरहितः । व्रणादिशून्यः (अध्यष्ठाम्) अधिकृतवानस्मि (पृथिवीम्) वसुधाम् (अहम्) मनुष्यः ॥

च्याः । पुर्जन्यः पिता स उं नः पिपर्तु ॥ १२ ॥

यत् । ते । मध्यंम् । पृथिवि । यत् । च । नभ्यंम् । याः । ते । ऊर्जः । तुन्वः । सम्-बभूवुः ॥ तासु । नः । धेहि । अभि । नः । पवस्व । माता । भूमिः । पुत्रः । अहम् । पृथिव्याः ॥ पर्जन्यः । पिता । सः । ऊं इति । नः । पिपर्तु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (यत्) जो (ते) तेरा (मध्यम्) न्याययुक्त कर्म है, (च) और (यत्) जो (नभ्यम्) क्षत्रियों का हितकारी कर्म है, और (याः) जो (ऊर्जः) बल दायक [अन्न आदि] पदार्थ (ते) तेरे (तन्वः) शरीर से (संबभूवुः) उत्पन्न हुये हैं । (तासु) उन सब [क्रियाओं] के भीतर (नः) हम को (धेहि) तू रख, और (नः) हमें (अभि) सब ओर से (पवस्व) शुद्ध कर, (भूमिः) भूमि (माता) [मेरी] माता [तुल्य है], (अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी के (पुत्रः) पुत्र [नरक, महाकष्ट से बचाने वाला हूं] । (पर्जन्यः) सींचने वाला मेघ (पिता) [मेरे] पिता [तुल्य पालक है], (सः) वह (उ) भी (नः) हमें (पिपर्तु) पूर्ण करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य नीतिविद्या, भूगर्भ विद्या, भूतल विद्या और मेघ विद्या आदि में निपुण होकर पृथिवी को उपकारी और सुखदायक बनावें॥१२॥

१२—(यत्) (ते) तव (मध्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । मन ज्ञाने-यक् । न्यायकर्म (पृथिवि) हे भूमे (यत्) (च) (नभ्यम्) उगवादिभ्यो यत् । पा०५ ।१ । २ । नाभि-यत् । नाभि नभं च, इति नभादेशः। नाभिभ्यःक्षत्रियेभ्यो हितं कर्म । (याः) (ते) तव (ऊर्जः) बलवर्धका अन्नादिपदार्थाः (तन्वः) शरीरात् (संबभूवुः) उत्पन्ना बभूवुः (तासु) सर्वासु क्रियासु (नः) अस्मान् (धेहि) धर (अभि) सर्वतः (नः) अस्मान् (पवस्व) शोधय (माता) जननी यथा (भूमिः) (पुत्रः) अ० १ । ११ । ५ । पुन्नरकं ततस्त्रायते—निरु० २ । ११ । दुःखात्त्रातकः (अहम्) (पृथिव्याः) (पर्जन्यः) सेचको मेघः(पिता) जनको यथा पालकः (सः) (उ) (नः) अस्मान् (पिपर्तु) पॄ पालन-पूरणयोः । पूरयतु ॥

यस्यां वेदिं परिगृह्णन्ति भूम्यां यस्यां यज्ञं तन्वते विश्वकर्माणः । यस्यां मीयन्ते स्वरवः पृथिव्यामूर्ध्वाः शुक्रा आहुत्याः पुरस्तात् । सा नो भूमिर्वर्धयद् वर्धमाना ॥ १३ ॥

यस्याम् । वेदिम् । परि-गृह्णन्ति । भूम्याम् । यस्याम् । यज्ञम् । तन्वते । विश्व-कर्माणः ॥ यस्याम् । मीयन्ते । स्वरवः । पृथिव्याम् । ऊर्ध्वाः । शुक्राः । आ-हुत्याः । पुरस्तात् ॥ सा । नः । भूमिः । वर्धयत् । वर्धमाना ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यस्याम् भूम्याम्) जिस भूमि पर (विश्वकर्माणः) विश्वकर्मा [सब कामों में चतुर] लोग (वेदिम्) वेदी [यज्ञ स्थान] को (परिगृह्णन्ति) घेर लेते हैं, (यस्याम्) जिस [भूमि] पर (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान व्यवहार] को (तन्वते) फैलाते हैं। (यस्याम् पृथिव्याम्) जिस पृथिवी पर (ऊर्ध्वाः) ऊंचे और (शुक्राः) उजले (स्वरवः) विजय स्तम्भ (आहुत्याः) आहुति [पूर्णाहुति, यज्ञपूर्ति] से (पुरस्तात्) पहिले (मीयन्ते) गाड़े जाते हैं। (सा) वह (वर्धमाना) बढ़ती हुयी (भूमिः) भूमि (नः) हमें (वर्धयत्) बढ़ाती रहे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि कर्मकुशल लोगों के समान अपना कर्त्तव्य पूरा करके संसार में दृढ़ कीर्ति स्थापित करें ॥ १३ ॥

यो नो द्वेषत् पृथिवि यः पृतन्याद् योऽभिदासान्मनसा यो वधेन । तं नो भूमे रन्धय पूर्वकृत्वरि ॥ १४ ॥

१३—(यस्याम्) (वेदिम्) परिस्कृतां यज्ञभूमिम् (परिगृह्णन्ति) परितः सीदन्ति (भूम्याम्) (यस्याम्) (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (तन्वते) विस्तारयन्ति (विश्वकर्माणः) सर्वकर्मकुशलाः (यस्याम्) (मीयन्ते) डु मिञ् प्रक्षेपणे। निक्षिप्यन्ते (पृथिव्याम्) (ऊर्ध्वाः) उन्नताः (शुक्राः) शुक्लाः (आहुत्याः) पूर्णयज्ञादित्यर्थः (पुरस्तात्) अग्रे (सा) (नः) अस्मान् (भूमिः) (वर्धयत्) वर्धयेत् (वर्धमाना) वृद्धिं गच्छन्ती ॥

यः । नः । द्वेषत् । पृथिवि । यः । पृतन्यात् । यः । अभि-दासात् । मनसा । यः । वधेन ॥ तम् । नः । भूमे । रन्धय । पूर्व-कृत्वरि ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (यः) जो [दुष्ट] (नः) हम से (द्वेषत्) बैर करे, (यः) जो (पृतन्यात्) सेना चढ़ावे, (यः) जो (मनसा) मन से, (यः) जो (वधेन) मारू हथियार से (अभिदासात्) सतावे । (पूर्वकृत्वरि) हे श्रेष्ठों के लिये काम करने वाली (भूमे) भूमि ! (तम्) उस को (नः) हमारे लिये (रन्धय) नाश कर ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म से सत्कार पूर्वक पृथिवी की रक्षा करते हैं, वे शत्रुओं को नाश कर सकते हैं ॥ १४ ॥

त्वज्जातास्त्वयि चरन्ति मर्त्यास्त्वं बिभर्षि द्विपदस्त्वं चतुष्पदः । तवेमे पृथिवि पञ्च मानवा येभ्यो ज्योतिरमृतं मर्त्येभ्य उद्यन्त्सूर्यो रश्मिभिरातनोति ॥ १५ ॥

त्वत् । जाताः । त्वयि । चरन्ति । मर्त्याः । त्वम् । बिभर्षि । द्वि-पदः । त्वम् । चतुः-पदः ॥ तव । इमे पृथिवि । पञ्च । मानवाः । येभ्यः । ज्योतिः । अमृतम् । मर्त्येभ्यः । उत्-यन् । सूर्यः । रश्मि-भिः । आ-तनोति ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(त्वत्) तुझ से (जाताः) उत्पन्न हुये (मर्त्याः) मनुष्य

१४—(यः) दुष्टः (नः) अस्मान् (द्वेषत्) शत्रून् जानीयात् (पृथिवि) (यः) (पृतन्यात्) अ० ६ । ७५ । १ । सेनामात्मन इच्छेत् (यः) शत्रुः (अभिदासात्) अ० ५ । ६ । १० । दास वधे - लेट् । हिंस्यात् (मनसा) चित्तेन (यः) (वधेन) घातकेनायुधेन (तम्) (नः) अस्मभ्यम् (रन्धय) अ० ४ । २२ । १ । नाशय (पूर्वकृत्वरि) शीङ्कुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । पूर्व + करोतेः—क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । पूर्वेभ्यः श्रेष्ठपुरुषेभ्यः कर्मकुशले ॥

१५—(त्वत्) तव सकाशात् (जाताः) उत्पन्नाः (त्वयि) (चरन्ति)

(त्वयि) तुझ पर (चरन्ति) चलते हैं, (त्वम्) तू (द्विपदः) दो पायों को और (त्वम्) तू (चतुष्पदः) चौपायों को (बिभर्षि) आश्रय देती है। (पृथिवि) हे पृथिवी ! (इमे) यह सब (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्व से] संबन्ध वाले (मानवाः) मनुष्य (तव) तेरे हैं, (येभ्यः मर्त्येभ्यः) जिन मनुष्यों के लिये (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सूर्य (अमृतम्) बिना मरी हुई (ज्योतिः) ज्योति (रश्मिभिः) अपनी किरणों से (आतनोति) सब ओर फैलाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी पर उत्पन्न होकर उद्योग करते हैं, वे सब प्राणियों की रक्षा करके सूर्य की पुष्टिकारक किरणों से वृष्टि आदि द्वारा सदा आनन्द पाते हैं ॥ १५ ॥

ता नः प्रजाः सं दुंह्रतां समग्रा वाचो मधु पृथिवि धेहि मह्यम् ॥ १६ ॥

ताः । नः । प्र-जाः । सम् । दुह्रताम् । सम्-अग्राः । वाचः । मधु । पृथिवि । धेहि । मह्यम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(समग्राः) सब (ताः) वे (प्रजाः) प्रजायें (नः) हमें (सम् दुह्रताम्) मिलकर भरपूर करें, (पृथिवि) हे पृथिवी ! (वाचः) वाणी की (मधु) मधुरता (मह्यम्) मुझ को (धेहि) दे ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वाणी की मधुरता अर्थात् सत्य वचन आदि से सब प्राणियों से उपकार लेते हैं, वे सुख पाते हैं ॥ १६ ॥

गच्छन्ति (मर्त्याः) मनुष्याः (त्वम्) (बिभर्षि) धरसि (द्विपदः) पादद्वयोपेतान् (त्वम्) (चतुष्पदः) पादचतुष्टयोपेतान् (तव) (इमे) (पृथिवि) (पञ्च मानवाः) अ० ३ । २१ । ५ । पञ्चभूतसम्बन्धिनो मनुष्याः (येभ्यः) (ज्योतिः) तेजः (अमृतम्) अनष्टम् (मर्त्येभ्यः) मनुष्येभ्यः (उद्यन्) उद्गच्छन् (सूर्यः) (रश्मिभिः) किरणैः (आतनोति) समन्ताद् विस्तारयति ॥

१६—(ताः) (नः) अस्मान् (प्रजाः) प्राणिनः (सम्) मिलित्वा (दुह्रताम्) प्रपूरयन्तु (समग्राः) समस्ताः (वाचः) वचनस्य (मधु) माधुर्यम् (पृथिवि) (धेहि) देहि (मह्यम्) ॥

विश्वस्वं मातरमोषधीनां ध्रुवां भूमिं पृथिवीं धर्मणा धृताम् ।
शिवां स्योनामनु चरेम विश्वहा ॥ १७ ॥

विश्व-स्वम् । मातरम् । ओषधीनाम् । ध्रुवाम् । भूमिम् ।
पृथिवीम् । धर्मणा । धृताम् ॥ शिवाम् । स्योनाम् । अनु ।
चरेम । विश्वहा ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(विश्वस्वम्) सब उत्पन्न करने वाली, (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न सोमलता आदि] की (मातरम्) माता, (ध्रुवाम्) दृढ़, (भूमिम्) आश्रय स्थान, (धर्मणा) धर्म [धरने योग्य स्वभाव वा कर्म] से (धृताम्) धारण की गयी, (शिवाम्) कल्याणी, (स्योनाम्) मनभावनी (पृथिवीम् अनु) पृथिवी के पीछे (विश्वहा) अनेक प्रकार (चरेम) हम चलें ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म के साथ भूमि का शासन करके समस्त उत्तम गुणों और पदार्थों से सुख प्राप्त करें ॥ १७ ॥

मुहत् सुधस्थं महती बभूविथ मुहान् वेगं एजथुं वेपथुष्टे ।
मुहांस्त्वेन्द्रो रक्षत्यप्रमादम् । सा नो भूमे प्र रोचय हिरण्य-
स्येव संदृशि मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ १८ ॥

मुहत् । सुध-स्थम् । मुहती । बभूविथ । मुहान् । वेगः ।
एजथुः । वेपथुः । ते । मुहान् । त्वा । इन्द्रः । रक्षति । अप्र-

१७—(विश्वस्वम्) षूङ् प्राणिगर्भविमोचने—क्विप् । सर्वस्य प्रसवित्रीम्, उत्पादयित्रीम् (मातरम्) जननीम् (ओषधीनाम्) अन्नसोमलतादीनाम् (ध्रुवाम्) दृढाम् (भूमिम्) निवासस्थानम् (पृथिवीम्) (धर्मणा) धरणीयेन स्वभावेन कर्मणा वा (धृताम्) धारिताम् (शिवाम्) कल्याणीम् (स्योनाम्) सुखदाम् (अनु) अनुसृत्य (चरेम) गच्छेम (विश्वहा) विश्वथा । अनेकप्रकारेण ॥

मादम् ॥ सा । नः । भूमे । प्र । रोचय । हिरण्यस्य-इव । सम्-दृशि । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(महती) बड़ी होकर तू (महत्) बड़ा (सधस्थम्) सहवास (बभूविथ) हुयी है. (ते) तेरा (वेगः) वेग, (एजथुः) चलना और (वेपथुः) हिलना (महान्) बड़ा है। (महान्) बड़ा (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (अप्रमादम्) बिना चूक (त्वा रक्षति) तेरी रक्षा करता है। (सा) सो तू, (भूमे) हे भूमि ! (नः) हमें (हिरण्यस्य इव) सुवर्ण के जैसे (संदृशि) रूप में (प्र रोचय) प्रकाशमान करदे, (कश्चन) कोई भी (नः) हम से (मा द्विक्षत्) न द्वेष करे ॥ १८ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी पुरुष अनेक प्रयत्नों के साथ पृथिवी पर सब से मिलकर विद्या द्वारा सुवर्ण आदि धन प्राप्त करके तेजस्वी होते हैं ॥ १८ ॥

अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु ।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः ॥ १९ ॥

अग्निः । भूम्याम् । ओषधीषु । अग्निम् । आपः । बिभ्रति । अग्निः । अश्म-सु ॥ अग्निः । अन्तः । पुरुषेषु । गोषु । अश्वेषु । अग्नयः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(भूम्याम्) भूमि में [वर्तमान] (अग्निः) अग्नि [ताप] (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न सोमलता आदि] में है, (अग्निम्) अग्नि को

१८—(महत्) बृहत् (सधस्थम्) सहस्थानम् (महती) विशाला (बभूविथ) (महान्) विपुलः (वेगः) जवः (एजथुः) ट्वितोऽथुच् । पा० ३ । ३ । ८९ । एजृ कम्पने-अथुच्, बाहुलकात् । चेष्टाव्यवहारः (वेपथुः) टुवेपृ कम्पने—अथुच् । कम्पः (ते) तव (महान्) पूजनीयः (त्वा) त्वाम् (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (रक्षति) पालयति (अप्रमादम्) सावधानम् (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (भूमे) (प्र) प्रकर्षेण (रोचय) प्रकाशय (हिरण्यस्य इव) सुवर्णस्य यथा (संदृशि) संदर्शने स्वरूपे (नः) अस्मान् (मा द्विक्षत) न द्विष्यात् (कश्चन) कोऽपि ॥

१९—(अग्निः) अग्नितापः (भूम्याम्) पृथिव्याम् (ओषधीषु) अन्नसोमलतादिषु (अग्निम्) तापम् (आपः) जलानि (बिभ्रति) धारयन्ति (अग्निः)

(आपः) जल (बिभ्रति) धारण करते हैं, (अग्निः) अग्नि (अश्मसु) पत्थरों [वा मेघों] में है। (अग्निः) अग्नि (पुरुषेषु अन्तः) पुरुषों के भीतर है, (अग्नयः) अग्नि [के ताप] (गोषु) गौओं में और (अश्वेषु) घोड़ों में हैं १६॥

भावार्थ--ईश्वर नियम से पृथिवी में का अग्निताप अन्न आदि पदार्थों और प्राणियों में प्रवेश करके उन में बढ़ने तथा पुष्ट होने का सामर्थ्य देता है। १६।

यहां पर अथर्व० ३। २१। १,२ भी देखो॥

अग्निर्दिव आ तपत्यग्नेर्देवस्योर्वन्तरिक्षम्।
अग्निं मर्तास इन्धते हव्यवाहं घृतप्रियम् ॥ २० ॥ (२)

अग्निः। दिवः। आ। तपति। अग्नेः। देवस्य। उरु। अन्तरिक्षम् ॥ अग्निम्। मर्तासः। इन्धते। हव्य-वाहम्। घृत-प्रियम् ॥ २० ॥ (२)

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [ताप] (दिवः) सूर्य से (आ तपति) आकर तपता है, (देवस्य) कामना योग्य (अग्नेः) अग्नि का (उरु) चौड़ा (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [अवकाश] है। (हव्यवाहम्) हव्य [आहुति के द्रव्य अथवा नाड़ियों में अन्न के रस] को ले चलने वाले, (घृतप्रियम्) घृत के चाहने वाले (अग्निम्) अग्नि को (मर्तासः) मनुष्य लोग (इन्धते) प्रकाशमान करते हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—वह अग्नि ताप भूमि में [म० १६] सूर्य से आता है, तथा आकाश के पदार्थों में प्रवेश करके उन्हें बल युक्त करता है। उस अग्नि को मनुष्य आदि प्राणी भोजन आदि से शरीर में बढ़ा कर पुष्ट और बलवान् होते हैं। तथा उसी अग्नि को हव्यद्रव्यों से प्रज्वलित करके मनुष्य वायु, जल और अन्न को शुद्ध निर्दोष करते हैं ॥ २० ॥

(अश्मसु) अ० १। २। २। पाषाणेषु । मेघेषु—निघ० १। १० (अग्निः) (अन्तः) मध्ये (पुरुषेषु) (गोषु) (अश्वेषु) (अग्नयः) अग्नितापाः ॥

२०—(अग्निः) तापः (दिवः) सूर्यात् (आ) आगत्य (तपति) दहति (अग्नेः) तापस्य (देवस्य) कमनीयस्य (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) अवकाशः (अग्निम्) (मर्तासः) मनुष्याः (इन्धते) दीपयन्ति (हव्यवाहम्) होमद्रव्यस्य अन्नरसस्य वा वाहकम् (घृतप्रियम्) घृतेच्छकम् ॥

अग्निवासाः पृथिव्यसितज्ञूस्त्विषीमन्तं संशितं मा कृणोतु ।२१

अग्नि-वासाः । पृथिवी । असित-ज्ञूः । त्विषि-मन्तम् । सम्-शितम् । मा । कृणोतु ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अग्निवासाः) अग्नि के साथ निवास करने वाली [अथवा अग्नि के वस्त्र वाली], (असितज्ञूः) बन्धन रहित कर्म को जताने वाली (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझ को (त्विषिमन्तम्) तेजस्वी और (संशितम्) तीक्ष्ण [फुरतीला] (कृणोतु) करे ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे भूमि भीतर और बाहिर सूर्य ताप से बल पाकर अपने मार्ग पर बेरोक चलती रहती है, वैसे ही मनुष्य भीतरी और बाहिरी बल बढ़ा कर सुमार्ग में बढ़ता चले ॥ २१ ॥

भूम्यां देवेभ्यो ददति यज्ञं हव्यमरंकृतम् । भूम्यां मनुष्या जीवन्ति स्वधयान्नेन मर्त्याः । सा नो भूमिः प्राणमायुर्दधातु जरदष्टिं मा पृथिवी कृणोतु ॥ २२ ॥

भूम्याम् । देवेभ्यः । ददति । यज्ञम् । हव्यम् । अरम्-कृतम् ॥ भूम्याम् । मनुष्याः । जीवन्ति । स्वधया । अन्नेन । मर्त्याः ॥ सा । नः । भूमिः । प्राणम् । आयुः । दधातु । जरत्-अष्टिम् । मा । पृथिवी । कृणोतु ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(भूम्याम्) भूमि पर (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (मनुष्याः) मनुष्य (हव्यम्) देने लेने योग्य, (अरंकृतम्) शोभित करने वाले

२१—(अग्निवासाः) वसेर्णित् । उ० ४ । ११८ । वस निवासे आच्छादने च-असुन् । अग्निना तापेन सह निवासो यस्याः सा । यद्वा, तापो वस्त्रं यस्याः सा (पृथिवी) (असितज्ञूः) षिञ् बन्धने-क्त + अन्दूदृम्फूजम्बू० । उ० १ । ९३ । ज्ञा विज्ञापने-कू । अबद्धं कर्म ज्ञापयति बोधयति नियोजयति वा सा (त्विषिमन्तम्) दीप्तिमन्तम् (संशितम्) तीक्ष्णीकृतम् (मा) माम् (कृणोतु) करोतु ॥

२२—(भूम्याम्) (देवेभ्यः) कमनीयगुणानां प्राप्तये (ददति) प्रयच्छन्ति (यज्ञम्) संगतिव्यवहारम् (हव्यम्) दानादानयोग्यम् (अरंकृतम्) अलम् +

वा शक्तिमान् करने वाले (यज्ञम्) संगतिकरण व्यवहार को (ददति) दान करते हैं। (भूम्याम्) भूमि पर (मर्त्याः) मनुष्य (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (अन्नेन) अन्न द्वारा (जीवन्ति) जीवते हैं। (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हम को (प्राणम्) प्राण [आत्मबल] और (आयुः) आयु [जीवन] (दधातु) देवे, और [वही] (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझ को (जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वा भोजन वाला (कृणोतु) करे ॥ २२ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार मनुष्य उत्तम पुरुषों से मिलकर श्रेष्ठ श्रेष्ठ गुण प्राप्त करते और दूसरों के प्राप्त कराते हैं, उसी प्रकार हम उत्तम गुण प्राप्त करके अपना जीवन श्रेष्ठ बनावें ॥ २२ ॥

यस्ते गन्धः पृथिवि संबभूव यं बिभ्रत्योषधयो यमापः । यं गन्धर्वा अप्सरसश्च भेजिरे तेन मा सुरभिं कृणु मा नो द्विक्षत कश्चन ॥ २३ ॥

यः । ते । गन्धः । पृथिवि । सम्-बभूव । यम् । बिभ्रति । ओषधयः । यम् । आपः ॥ यम् । गन्धर्वाः । अप्सरसः । च । भेजिरे । तेन । मा । सुरभिम् । कृणु । मा । नः । द्विक्षत । कः । चन ॥ २३ ॥

भाषार्थ–(पृथिवि) हे पृथिवी ! (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध [अंश] (संबभूव) उत्पन्न हुआ है, (यम्) जिस [अंश] को

करोतेः-क्विप्। शोभितं शक्तिमन्तं वा करोतीति तम् (भूम्याम्) (मनुष्याः) (जीवन्ति) प्राणान् धारयन्ति (स्वधया) स्व+दधातेः-क्विप्। आत्मधारणशक्त्या (अन्नेन) जीवनसाधनेन (मर्त्याः) (सा) (नः) अस्मभ्यम् (प्राणम्) आत्मबलम् (आयुः) जीवनम् (दधातु) ददातु (जरदष्टिम) अ० २। २८। ५। जीर्यतेरतृन् पा० ३।२। १०४। जॄ स्तुतौ-अतृन्। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः- निरु० १०। ८। अशू व्याप्तौ अश भोजने च-क्तिन्। जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य तम् (मा) माम् (पृथिवी) भूमिः (कृणोतु) करोतु ॥

२३-(यः) (ते) तव (गन्धः) घ्राणग्राह्यो गुणभेदः। लेशः (पृथिवि) (संबभूव) उत्पन्नो बभूव (यम्) गन्धम (बिभ्रति) धारयन्ति (ओषधयः)

(ओषधयः) ओषधें [अन्न, सोमलता आदि] और (यम्) जिसको (आपः) जल (बिभ्रति) धारण करते हैं। (यम्) जिसको (गन्धर्वाः) पृथिवी [के अंश] को धारण करने वाले [प्राणियों ने (च) और (अप्सरसः) आकाश में चलने वाले [जीवों और लोकों] ने (भेजिरे) भोगा है, (तेन) उस [गन्ध वा अंश] से (मा) मुझे (सुरभिम्) ऐश्वर्यवान् (कृणु) तू कर, (कश्चन) कोई भी [प्राणी] (नः) हम से (मा द्विक्षत) न बैर करे ॥२३॥

भावार्थ—गन्धवती पृथिवी का आश्रय लेकर अनेक प्रकार से सब प्राणी और सब लोक आकार धारण करके ठहरते हैं। मनुष्य उस पृथिवी के तत्त्व ज्ञान से सब कार्य सिद्ध करके ऐश्वर्यवान् होवें ॥ २३ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पुष्क॑रमावि॒वेश॒ यं सं॑ज॒भ्रुः सू॒र्या॑या वि॒वाहे॑। अम॑र्त्याः पृथिवि ग॒न्धमग्रे॒ तेन॑ मा सु॒र॒भिं कृ॑णु॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २४ ॥

यः। ते॒। ग॒न्धः। पुष्क॑रम्। आ॒ऽवि॒वेश॑। यम्। स॒म्ऽज॒भ्रुः। सू॒र्या॑याः। वि॒ऽवा॒हे॥ अम॑र्त्याः। पृ॒थि॒वि॒। ग॒न्धम्। अग्रे॑। तेन॑। मा॒। सु॒र॒भिम्। कृ॒णु॒। मा। नः॒। द्वि॒क्ष॒त॒। कः। च॒न ।२४

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) [अंश] (पुष्करम्) पोषक पदार्थ [वा कमल] में (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है, (यं गन्धम्) जिस गन्ध को (सूर्यायाः) सूर्य की चमक के (विवाहे)

अन्नसोमलतादयः (यम्) (आपः) जलानि (गन्धर्वाः) अ० ४। ३७। २। कॄगॄशॄदृभ्यो वः। उ० १। १५५। गो+धृञ् धारणे—वप्रत्ययः, गो शब्दस्य गमादेशः। गोभूमेर्धारकाः प्राणिनः (अप्सरसः) अ० ४। ३७। २। अप्+सृ गतौ—असि। अप्सु आकाशे जले वा सरणशीला जीवा लोकाश्च (च) (भेजिरे) सेवितवन्तः (तेन) गन्धेन (मा) माम् (सुरभिम्) सुर ऐश्वर्यदीप्त्योरित्य-स्माद् बाहुलकादौणादिकोऽभिच् प्रत्ययः—इति दयानन्दो यजु० १२। ३५। ऐश्वर्यवन्तम् (कृणु) कुरु। अन्यद् गतम्—म० १८॥

२४-(यः) (ते) तव (गन्धः) म० २३ (पुष्करम्) पुषः कित्। उ० ४। ४। पुष्णातेः—करन्। पोषकं पदार्थम्। कमलम् (आविवेश) प्रविष्टवान् (यम्) (संजभ्रुः) हृञ् हरणे-लिट्, हस्य भः संजह्रुः। संगृहीतवन्तः

ले चलने में (अमर्त्याः) अमर [पुरुषार्थी] लोगों ने (अग्रे) पहिले (संजभ्रुः) समेटा है, (तेन) उसी [अंश] से (मा) मुझको (सुरभिम्) ऐश्वर्यवान् (कृणु) तू कर, (कश्चन) कोई भी [प्राणी] (नः) हम से (मा द्विक्षत) न वैर करे ॥२४॥

भावार्थ—पृथिवी का गन्ध अर्थात् अंश प्रविष्ट होकर पदार्थों को पुष्ट करता और सूर्य के ताप द्वारा देश देशान्तरों में पहुंचता है। उस पृथिवी से तत्त्ववेत्ता लोग उपकार लेकर प्रसन्न होते हैं ॥ २४ ॥

यस्ते॑ ग॒न्धः पुरु॑षेषु स्त्री॒षु पुं॒सु भगो॒ रुचिः॑ । यो अश्वे॑षु वी॒रेषु॒ यो मृ॒गेषू॒त ह॒स्तिषु॑ । क॒न्या॒यां वर्चो॒ यद्भू॑मे॒ तेना॒स्माँ अपि॒ सं सृ॑ज॒ मा नो॑ द्विक्षत॒ कश्च॒न ॥ २५ ॥

यः । ते॒ । ग॒न्धः । पुरु॑षेषु । स्त्री॒षु । पु॒म्ऽसु । भगः॑ । रुचिः॑ ॥ यः । अश्वे॑षु । वी॒रेषु॑ । यः । मृ॒गेषु॑ । उ॒त । ह॒स्तिषु॑ ॥ क॒न्या॒याम् । वर्चः॑ । यत् । भू॒मे॒ । तेन॑ । अ॒स्मान् । अपि॑ । सम् । सृ॒ज॒ । मा । नः॒ । द्वि॒क्ष॒त॒ । कः । च॒न ॥ २५ ॥

भाषार्थ- (यः) जो (ते) तेरा (गन्धः) गन्ध [अंश] (पुरुषेषु) अग्रगामी (पुंसु) रक्षक मनुष्यों में और (स्त्रीषु) स्त्रियों में (भगः) सेवनीय ऐश्वर्य और (रुचिः) कान्ति है। (यः) जो [गन्ध] (वीरेषु) वेगवान् (अश्वेषु) घोड़ों में (उत) और (यः) जो (मृगेषु) हरिणों में और (हस्तिषु) हाथियों में है और (यत्) जो (वर्चः) तेज (कन्यायाम्) चमकती हुयी

(सूर्यायाः) अ० ६। ४। १४। सूर्यदीप्तेः (विषाहे) प्रवाहे। प्रापणे (अमर्त्याः) अमरधर्माणः। पुरुषार्थिनो जनाः (पृथिवी) (गन्धम्) (अग्रे) । अन्यत् पूर्ववत् म० २३ ॥

२५—(यः) (ते) (गन्धः) (पुरुषेषु) पुरः कुषन्। उ० ४। ७४। पुर अग्रगतौ-कुषन्। अग्रगामिषु (स्त्रीषु) (पुंसु) पातेर्डुमसुन्। उ० ४। १७८। पा रक्षणे डुमसुन्। रक्षकेषु मनुष्येषु (भगः) सेवनीयमैश्वर्यम् (रुचिः) कान्तिः (यः) (अश्वेषु) तुरङ्गेषु (वीरेषु) वि+ईर गतौ—अच्। वेगवत्सु (यः) (मृगेषु) हरिणेषु (हस्तिषु) गजेषु (कन्यायाम्) अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२।

कन्या [कन्या आदि राशि ज्योतिश्चक्र] में है, (भूमे) हे भूमि ! (तेन) उस [तेज] के साथ (अस्मान् अपि) हमें भी (सं सृज) मिला, (कश्चन) कोई भी [प्राणी] (मा) मुझ से (मा द्विक्षत) बैर न करे ॥ २५ ॥

भावार्थ—पृथिवी का आश्रय लेकर संसार के देहधारी मनुष्य आदि सब प्राणी और अन्तरिक्ष के तारागण आदि सब लोक स्थित हैं, वैसे ही मनुष्य सब प्रकार उपकारी और तेजस्वी हो कर विघ्नों का नाश करें ॥ २५ ॥

शिला भूमिरश्मा पांसुः सा भूमिः संधृता धृता ।
तस्यै हिरण्यवक्षसे पृथिव्या अकरं नमः ॥ २६ ॥

शिला । भूमिः । अश्मा । पांसुः । सा । भूमिः । सम्-धृता । धृता ॥ तस्यै । हिरण्य-वक्षसे । पृथिव्यै । अकरम् । नमः ॥२६॥

भाषार्थ—(भूमिः) भूमि (शिला) शिला, (अश्मा) पत्थर और (पांसुः) धूलि है, (सा) वह (संधृता) यथावत् धारण की गयी (भूमिः) भूमि (धृता) धरी हुई है। (तस्यै) उस (हिरण्यवक्षसे) सुवर्ण आदि धन छाती में रखने वाली (पृथिव्यै) पृथिवी के लिये (नमः अकरम्) मैंने अन्न किया [खाया] है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जिस भूमि पर अनेक बड़े छोटे पदार्थ हैं और जिस में अनेक रत्न भरे हैं, उस पृथिवी के हित के लिये मनुष्य अन्न जल आदि पदार्थ लावें ॥ २६ ॥

यस्यां वृक्षा वानस्पत्या ध्रुवास्तिष्ठन्ति विश्वहा ।
पृथिवीं विश्वधायसं धृतामच्छावदामसि ॥ २७ ॥

कन प्रीतौ द्युतौ गतौ-यक्, टाप् च । कन्या कमनीया भवति क्वेयं नेतव्येति वा कमनेनानीयत इति वा कनतेर्वा स्यात्कान्तिकर्मणः-निरु० ४ । १५ । मेषादितः षष्ठे राशौ । ज्योतिश्चक्रे (वर्चः) तेजः (यत्) (भूमे) (तेन) वर्चसा (अस्मान्) (अपि) (संसृज) संजनय । संयोजय । अन्यत् पूर्ववत्-म० २४ ॥

२६—(शिला) क्षुद्रपाषाणः (भूमिः) (अश्मा) प्रस्तरः (पांसुः) धूलिः (सा) (भूमिः) (संधृता) सम्यग् धारिता (धृता) स्थिरा (तस्यै) (हिरण्यवक्षसे) हिरण्यानि सुवर्णादीनि रत्नानि वक्षसि मध्ये यस्यास्तस्यै (पृथिव्यै) (अकरम्) कृतवानस्मि (नमः) अन्नम्-निघ० २।

यस्याम् । वृक्षाः । वानस्पत्याः । ध्रुवाः । तिष्ठन्ति । विश्वहा ॥
पृथिवीम् । विश्व-धायसम् । धृताम् । अच्छ-आवदामसि ।२७।

भाषार्थ—(यस्याम्) जिस [पृथिवी] पर (वानस्पत्याः) वनस्पतियों [बड़े बड़े पेड़ों] से उत्पन्न हुये (वृक्षाः) वृक्ष (ध्रुवाः) दृढ़ होकर (विश्वहा) अनेक प्रकार (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं (विश्वधायसम्) [उस] सब की धारण करने वाली, (धृताम) [वीरों से] धारण की गयी (पृथिवीम्) पृथिवी को (अच्छावदामसि) स्वागत करके हम आवाहन करते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—जिस पृथिवी पर हमारे उपकार के लिये फल फूल पत्र आदि वाले वृक्ष उत्पन्न होते हैं, उसकी सावधानी हम सदा करते रहें ॥ २७ ॥

उदीराणा उतासीनास्तिष्ठन्तः प्रक्रामन्तः । पद्भ्यां दक्षिण-सव्याभ्यां मा व्यथिष्महि भूम्याम् ॥ २८ ॥

उत्-ईराणाः । उत । आसीनाः । तिष्ठन्तः । प्र-क्रामन्तः ॥
पत्-भ्याम् । दक्षिण-सव्याभ्याम् । मा । व्यथिष्महि । भूम्याम् ॥२८

भाषार्थ—(उदीराणाः) उठते हुये (उत) और (आसीनाः) बैठे हुये (तिष्ठन्तः) खड़े होते हुये और (प्रक्रामन्तः) चलते फिरते हुये हम (दक्षिण-सव्याभ्याम्) दोनों सीधे औरडेरे (पद्भ्याम्) पावों से (भूम्याम्) भूमि पर (मा व्यथिष्महि) न डगमगावें ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी पर सावधान और स्वस्थ रहकर सदा सब को सुख देवें ॥ २८ ॥

२७—(यस्याम्) पृथिव्याम् (वृक्षाः) वृञ वरणे—अच् । स्वीकरणीयास्तरवः (वानस्पत्याः) अ० ३ । ६ । ६ । वनस्पति-ण्य । वनस्पतिभ्योऽश्वत्थादिभ्य उत्पन्नाः (ध्रुवाः) दृढाः सन्तः (तिष्ठन्ति) (विश्वहा) अनेकधा (पृथिवीम्) (विश्वधायसम्) अ० ३ । २२ । २ । सर्वधारयित्रीम् (धृताम्) वीरपुरुषैर्धारिताम् (अच्छावदामसि) अ० ६ । ५६ । ३ । अच्छ सुष्ठु स्वागतेन आवदामः, आह्वयामः ॥

२८—(उदीराणाः) ईर गतौ—शानच् । उद्गच्छन्तः (उत) अपि च (आसीनाः) उपविष्टाः (तिष्ठन्तः) गतिनिवृत्तिं कुर्वन्तः (प्रक्रामन्तः) प्रकर्षेण पादविक्षेपं कुर्वन्तः(पद्भ्याम्) चरणाभ्याम्(दक्षिणसव्याभ्याम्) दक्षिणवामाभ्याम् (मा व्यथिष्महि) व्यथ भयसंचलनयोः—लुङ् । न संचलेम (भूम्याम्)॥

विमृग्वरीं पृथिवीमा वदामि क्षमां भूमिं ब्रह्मणा वावृधानाम्।
ऊर्जं पुष्टं बिभ्रतीमन्नभागं घृतं त्वाभि नि षीदेम भूमे ॥२८॥

वि-मृग्वरीम्। पृथिवीम्। आ। वदामि। क्षमाम्। भूमिम्। ब्रह्मणा। ववृधानाम् ॥ ऊर्जम्। पुष्टम्। बिभ्रतीम्। अन्न-भागम्। घृतम्। त्वा। अभि। नि। सीदेम। भूमे ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(विमृग्वरीम्) विविध खोजने योग्य, (पृथिवीम्) चौड़ी, (क्षमाम्) सहन शील, (ब्रह्मणा) ब्रह्म [वेदज्ञान, अन्न वा धन] द्वारा (वावृधानाम्) बढ़ी हुयी (भूमिम्) भूमि को (आ वदामि) मैं आवाहन करता हूं। "(भूमे) हे भूमि ! (ऊर्जम्) बलकारक पदार्थ, (पुष्टम्) पोषण, (अन्नभागम्) अन्न के विभाग और (घृतम्) घी को (बिभ्रतीम्) धारण करती हुयी (त्वा अभि) तुझ पर (नि षीदेम) हम बैठें" ॥ २९ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग भूगर्भविद्या, भूतलविद्या आदि द्वारा भूमि को खोजकर अनेक प्रकार के उपकारी पदार्थ प्राप्त करके स्वस्थ पुष्ट होवें ॥२९॥

शुद्धा न आपस्तन्वे क्षरन्तु यो नः सेदुरप्रिये तं नि दध्मः।
पवित्रेण पृथिवि मोत् पुनामि ॥ ३० ॥ (३)

शुद्धाः। नः। आपः। तन्वे। क्षरन्तु। यः। नः। सेदुः। अप्रिये। तम्। नि। दध्मः ॥ पवित्रेण। पृथिवि। मा। उत्। पुनामि ॥ ३० ॥ (३)

२९—(विमृग्वरीम्) शीङ्क्रुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । वि + मृग अन्वेषणे-क्वनिप् । वनो र च पा० । ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । विविधान्वेषणीयाम् (पृथिवीम्) विस्तृताम् (आवदामि) आह्वयामि (क्षमाम्) सहनशीलाम् (भूमिम्) (ब्रह्मणा) अ० १ । ८ । ४ । वेदज्ञानेन । अन्नेन-निघ० २ । ७ । धनेन-निघ० २ । १० (वावृधानाम्) वृधु-कानच्, सांहितिको दीर्घः प्रवृद्धाम् (ऊर्जम्) बलकरं पदार्थम् (पुष्टम्) पोषणम् (बिभ्रतीम्) धारयन्तीम् (अन्नभागम्) भोज्यपदार्थविभागम् (घृतम्) (त्वा) (अभि) प्रति (निषीदेम) अधितिष्ठेम (भूमे) ॥

भाषार्थ—(शुद्धाः) शुद्ध (आपः) जल (नः) हमारे (तन्वे) शरीर के लिये (क्षरन्तु) बहें, (यः) जो (नः) हमारा (सेदुः) नाश करने का व्यवहार है, (तम्) उस [व्यवहार] को (अप्रिये) [अपने] अप्रिय [शत्रु] पर (नि दध्मः) हम डालते हैं। (पृथिवि) हे पृथिवी ! (पवित्रेण) शुद्ध व्यवहार से (मा) अपने को (उत् पुनामि) सर्वथा शुद्ध करता हूं ॥ ३०॥

भावार्थ—जैसे निर्मल जल से शरीर शुद्ध करके मल का नाश करते हैं, वैसे ही मनुष्य अन्तः करण का मल दूर करके पृथिवी पर धार्मिक व्यवहार से आत्मा की शुद्धि करें ॥ ३० ॥

यास्ते प्राचीः प्रदिशो या उदीचीर्यास्ते भूमे अधराद् याश्च पश्चात्। स्योनास्ता मह्यं चरते भवन्तु मा नि पप्तं भुवने शिश्रियाणः ॥ ३१ ॥

याः। ते। प्राचीः। प्र-दिशः। याः। उदीचीः। याः। ते। भूमे। अधरात्। याः। च। पश्चात् ॥ स्योनाः। ताः। मह्यम्। चरते। भवन्तु। मा। नि। पप्तम्। भुवने। शिश्रियाणः॥३१॥

भाषार्थ—(भूमे) हे भूमि ! (याः) जो (ते) तेरी (प्राचीः) सन्मुख वाली (प्रदिशः) बड़ी दिशायें, (याः) जो (उदीचीः) ऊपर वाली, (याः) जो (ते) तेरी (अधरात्) नीचे की ओर (च) और (याः)जो (पश्चात्)

३०—(शुद्धाः) निर्मलाः (नः) अस्माकम् (आपः) जलानि (तन्वे) शरीराय (क्षरन्तु) वहन्तु (यः) (नः) अस्माकम् (सेदुः) कुर्भ्रश्च। उ० १। ८२। षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-कु, अकारस्य एकारः पृषोदरादित्वात्। अवसादनस्य नाशनस्य व्यवहारः (अप्रिये) शत्रौ (तम्) सेदुम् (नि दध्मः) नितरां धारयामः (पवित्रेण) शुद्धकर्मणा (पृथिवि) (मा) माम् (उत्) उत्कर्षेण (पुनामि) शोधयामि ॥

३१—(याः) (ते) तव (प्राचीः) अ० ३। २६। १। प्राच्यः। स्वाभिमुखीभूताः (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशः (याः) (उदीचीः) अ० ३। २६। ४। उदीच्यः। उपरिवर्तमाना दिशाः (याः) (ते) (भूमे) (अधरात्) अधस्तात्

पीछे की ओर हैं। (ताः) वे सब (मह्यम् चरते) मुझ विचरते हुये के लिये (स्योनाः) सुख देने वाली (भवन्तु) होवें, (भुवने) संसार में (शिश्रियाणः) ठहरा हुआ मैं (मा नि पप्तम्) न गिर जाऊं ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य चलते फिरते रहकर पुरुषार्थ करते रहते हैं, वे पृथिवी पर सब दिशाओं में सुख भोगते हैं ॥ ३१ ॥

मा नः पश्चान्मा पुरस्तान्नुदिष्ठा मोत्तरादधरादुत । स्वस्ति भूमे नो भव मा विदन् परिपन्थिनो वरीयो यावया वधम् ॥३२॥

मा । नः । पश्चात् । मा । पुरस्तात् । नुदिष्ठाः । मा । उत्तरात् । अधरात् । उत ॥ स्वस्ति । भूमे । नः भव । मा । विदन् । परि-पन्थिनः । वरीयः । यवय । वधम् ॥३२॥

भाषार्थ—(भूमे) हे भूमि ! (नः) हम को (मा) न तौ (पश्चात्) पीछे से, (मा) न (पुरस्तात्) आगे से, (मा) न (उत्तरात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (नुदिष्ठाः) ढकेल, (नः) हमारे लिये (स्वस्ति) कल्याणी (भव) हो, (परिपन्थिनः) बटमार लोग [हम को] (मा विदन्) न पावें, (वयम्) मारू हथियार को (वरीयः) बहुत दूर (यावय) हटा दे ३२

भावार्थ—मनुष्य सब दिशाओं में सावधान रहकर दुराचारियों के फन्दों से बचें ॥ ३२ ॥

(याः) (च) (पश्चात्) (स्योनाः) सुखदाः (ताः) (मह्यम्) (चरते) विचरणशीलाय (भवन्तु) (मा नि पप्तम्) पत्लृ गतौ लुङ् । अहं न निपतानि (भुवने) संसारे (शिश्रियाणः) अ० १ । १२ । २ । श्रिञ्-कानच् । आश्रयं गृह्णानः ॥

३२—(मा) निषेधे (नः) अस्मान् (पश्चात्) (पुरस्तात्) पुरोभागात् (मा नुदिष्ठाः) णुद प्रेरणे-लुङ् । न प्रेरय (मा) (उत्तरात्) उपरिदेशात् (अधरात्) निम्नस्थानात् (उत) अपि (स्वस्ति) कल्याणी (भूमे) (नः) अस्मभ्यम् (भव) (मा विदन्) अ० १ । १६ । १ । मा लभन्ताम् (परिपन्थिनः) अ० १ । २७ । १ । प्रतिकूलाचारिणः (वरीयः) अ० १ । ५० । ३ । उरुतरम् । दूरतरम् (यावय) वियोजय (वधम्) शस्त्रप्रहारम् ॥

यावत् तेऽभि विपश्यामि भूमे सूर्येण मेदिना ।
तावन्मे चक्षुर्मा मेष्टोत्तरामुत्तरां समाम् ॥ ३३ ॥

यावत् । ते । अभि । वि-पश्यामि । भूमे । सूर्येण । मेदिना ॥
तावत् । मे । चक्षुः । मा । मेष्ट । उत्तराम्-उत्तराम् । समाम् ३३

भाषार्थ—(भूमे) हे भूमि ! (यावत्) जब तक (मेदिना) स्नेही (सूर्येण) सूर्य के साथ (अभि) सब ओर (ते विपश्यामि) तेरा विविध प्रकार दर्शन करूं। (तावत्) तब तक (मे) मेरी (चक्षुः) दृष्टि (उत्तरामुत्तराम्) उत्तम उत्तम (समाम्) अनुकूल क्रिया को (मा मेष्ट) नहीं नाश करे ॥३३॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसा प्रयत्न करें कि विद्या बल पूर्वक ईश्वर की अद्भुत रचनाओं से सदा उत्तम उत्तम क्रियायें करते रहें, जैसे सूर्य प्रकाश आदि से उपकार करता है ॥ ३३ ॥

यच्छयानः पर्यावर्ते दक्षिणं सव्यमभि भूमे पार्श्वम् ।
उत्तानास्त्वा प्रतीचीं यत् पृष्टीभिरधिशेमहे । मा हिंसीस्तत्र नो भूमे सर्वस्य प्रतिशीवरि ॥ ३४ ॥

यत् । शयानः । परि-आवर्ते । दक्षिणम् । सव्यम् । अभि । भूमे । पार्श्वम् ॥ उत्तानाः । त्वा । प्रतीचीम् । यत् । पृष्टीभिः । अधि-शेमहे ॥ मा । हिंसीः । तत्र । नः । भूमे । सर्वस्य । प्रति-शीवरि ॥ ३४ ॥

३३—(यावत्) यत्परिमाणम् (ते) तव (अभि) अभितः (वि पश्यामि) विविधं दर्शनं करोमि (भूमे) (सूर्येण) आदित्येन (मेदिना) स्नेहिना (तावत्) तत्परिमाणम् (मे) मम (चक्षुः) दृष्टिः (मा मेष्ट) मीञ् हिंसायाम्-लुङ्, माङि अडभावः। न हिनस्तु (उत्तरामुत्तराम्) अ० ३। १७। ४। अतिशयेनोत्कृष्टाम् (समाम्) अ० ३। १०। १। सम्क्रियाम्। अनुकूलक्रियाम् ॥

भाषार्थ—(भूमे) हे भूमि ! (यत्) जब (शयानः) सोता हुआ मैं (दक्षिणम्) दाहिने [वा] (सव्यम्) बायें (पार्श्वम् अभि) करवट से (पर्य्यावर्तें) लेटता हूं। (यत्) जब (उत्तानाः) चित होकर हम (प्रतीचीम्) प्रत्यक्ष मिलती हुयी (त्वा) तुझ पर (पृष्टीभिः) [अपनी] पसलियों से (अधिशीमहे) सोते हैं। (सर्वस्य प्रतिशीवरि) हे सब को शयन देने वाली (भूमे) भूमि ! (तत्र) उस [काल] में (नः) हमको (मा हिंसीः) मत कष्ट दे ३४

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी को समचौरस बनाकर रहते हैं, वे सुख पाते हैं ॥ ३४ ॥

यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।

मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥ ३५ ॥

यत् । ते । भूमे । वि-खनामि । क्षिप्रम् । तत् । अपि । रोहतु ॥ मा । ते । मर्म । वि-मृग्वरि । मा । ते । हृदयम् । अर्पिपम् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(भूमे) हे भूमि ! (यत्) जो कुछ (ते) तेरा (विखनामि) मैं खोद डालूं, (तत्) वह (क्षिप्रम् अपि) शीघ्र ही (रोहतु) उगै। (विमृग्वरि) हे खोजने योग्य ! (मा) न तौ (ते) तेरे (मर्म) मर्म स्थल को और (मा)

३४—(यत्) यदा (शयानः) शयनं कुर्वन् (पर्यावर्तें) परिलुण्ठामि (दक्षिणम्) (सव्यम्) वामम् (भूमे) (पार्श्वम्) कक्षाधोभागम् (उत्तानाः) उत्+तनु विस्तारे-घञ्। ऊर्ध्वमुखशयानाः (त्वा) भूमिम् (प्रतीचीम्) प्रत्यक्षमञ्चन्तीं प्राप्नुवतीम् (यत्) यदा (पृष्टीभिः) पार्श्वास्थिभिः (अधिशेमहे) शयनं कुर्मः (मा हिंसीः) मा वधीः (तत्र) तस्मिन् काले (नः) अस्मान् (भूमे) (सर्वस्य) (प्रतिशीवरि) शीङ्-क्रुशिरुहि०। उ० ४। ११४। शीङ् स्वप्ने-क्वनिप्। वनो र च। पा० ४। १। ७। ङीब्रेफौ। प्राणिनः प्रत्यक्षं शेरतेऽस्यां सा प्रतिशीवरी तत्सम्बुद्धौ ॥

३५—(यत्) यत् किञ्चित् (ते) तव (भूमे) (विखनामि) विदारयामि (क्षिप्रम्) शीघ्रम् (तत्) अपि) एव (रोहतु) उत्पद्यताम् (मा) निषेधे (ते) तव (मर्म) सन्धिस्थानम् (विमृग्वरि) म० २६। हे अन्वेषणीये (ते) (हृदयम्)

न (ते) तेरे (हृदयम्) हृदय को (अर्पिपम्) मैं हानि करूं ॥ ३५ ॥

भावार्थ–भूतल विद्या और भूगर्भ विद्या में चतुर लोग भूमि को उचित रीति से खोदकर और हल से जोतकर रत्न और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्धेमन्तः शिशिरो वसन्तः । ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवि नो दुहाताम् ॥ ३६ ॥

ग्रीष्मः । ते । भूमे । वर्षाणि । शरत् । हेमन्तः । शिशिरः । वसन्तः ॥ ऋतवः । ते । वि-हिताः । हायनीः । अहोरात्रे इति । पृथिवि । नः । दुहाताम् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ–(भूमे) हे भूमि ! (ते) तेरे (ग्रीष्मः) घाम ऋतु [ज्येष्ठ-आषाढ़], (वर्षाणि) बरसा [श्रावण-भाद्र], (शरत्) शरद् ऋतु [आश्विन-कार्तिक], (हेमन्तः) शीतकाल [अग्रहायण-पौष], (शिशिरः) उतरता हुआ शीतकाल [माघ-फाल्गुन] और (वसन्त.) वसन्त काल [चैत्र-वैशाख] (ऋतवः) ऋतु हैं, [उनको] (पृथिवि) हे पृथिवी ! (विहिताः) विहित [स्थापित] (हायनीः) वर्षों, तक (ते) तेरे (अहोरात्रे) दिन राति [दोनों] (नः) हमारे लिये (दुहाताम्) पूर्ण करें ॥ ३६ ॥

भावार्थ–मनुष्यों को उचित है कि पृथिवी पर सब ऋतुओं में उचित कर्म करके पूर्ण आयु भागें ॥ ३६ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो–अ० ६ । ५५ । २ ॥

(मा) (अर्पिपम्) ऋ गतौ हिंसायां च–णिचि पुकि लुङि रूपम् । न हिनसानि ॥

३६—ग्रीष्मादयः शब्दा व्याख्याताः अ० ६ । ५५ । २ । (ग्रीष्मः) निदाघः । ज्येष्ठाषाढात्मकः कालः (ते) तव (भूमे) (वर्षाणि) श्रावणभाद्रात्मको मेघकालः (शरत्) आश्विनकार्तिकात्मकः कालः (हेमन्तः) अग्रहायणपौषात्मकः शीतकालः (शिशिरः) माघफाल्गुनात्मकः शीतान्तः कालः (वसन्तः) चैत्रवैशाखात्मकः पुष्पकालः (ऋतवः) कालभेदाः (ते) तव (विहिताः) विधृताः । विधिना बोधिताः (हायनीः) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । संवत्सरान् (अहोरात्रे) रात्रिदिने (पृथिवि) (नः) अस्मभ्यम् (दुहाताम्) पूरयताम् ॥

यार्पं सर्पं विजमाना विमृग्वरी यस्यामासन्नग्नयो ये अप्स्व१न्तः । परा दस्यून् ददती देवपीयूनिन्द्रं वृणाना पृथिवी न वृत्रम् । शक्राय दध्रे वृषभाय वृष्णे ॥ ३७ ॥

या । अर्प । सर्पम् । विजमाना । वि-मृग्वरी । यस्याम् । आसन् । अग्नयः । ये । अप्-सु । अन्तः ॥ परा । दस्यून् । ददती । देव-पीयून् । इन्द्रम् । वृणाना । पृथिवी । न । वृत्रम् ॥ शक्राय । दध्रे । वृषभाय । वृष्णे ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(या) जो (विमृग्वरी) विविध प्रकार खोजने योग्य [पृथिवी] (अप सर्पम्) सरक कर (विजमाना) चलने वाली है, (यस्याम्) जिस [पृथिवी] पर (अग्नयः) वे अग्नि ताप (आसन्) हैं (ये) जो (अप्सु अन्तः) प्राणियों के भीतर हैं । (देवपीयून्) विद्वानों के सताने वाले (दस्यून्) दुष्टों को (परा ददती) दूर छोड़ती हुयी, [इस प्रकार] (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवान् पुरुष को (वृणाना) चाहती हुयी और (वृत्रम्) शत्रु को (न) न [चाहती हुयी] (पृथिवी) पृथिवी (शक्राय) शक्तिमान्, (वृषभाय) बलवान्, (वृष्णे) वीर्यवान् पुरुष के लिये (दध्रे) धारण की गयी है ॥ ३७ ॥

३७—(या) पृथिवी (अप सर्पम्) अपसर्पणेन अपसरणेन तथा यथा (विजमाना) ओ विजी भयचलनयोः—शानच् । चलन्ती (विमृग्वरी) म० २९। विविधमन्वेषणीया (यस्याम्) पृथिव्याम् (आसन्) सन्ति (अग्नयः) अग्नितापाः (ये) (अप्सु) आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । प्रजासु । प्राणिषु (अन्तः) मध्ये (परा) दूरे (दस्यून्) अ० २ । १४ । ५ । परपदार्थनाशकान् (ददती) दद दाने—शतृ छन्दसि । ददमाना । त्यजन्ती (देवपीयून्) अ ४ । ३५ । ७ । विदुषां हिंसकान् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यवन्तं पुरुषम् (वृणाना) स्वीकुर्वाणा (पृथिवी) (न) निषेधे (वृत्रम्) धर्मात्मनां वारकं शत्रुम् (शक्राय) शक्तिमते (दध्रे) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । लिटो रुडागमः । दधे । धृतास्ति (वृषभाय) बलवते (वृष्णे) वीर्यवते पुरुषाय ॥

भावार्थ--जो मनुष्य आगे की चलती हुई पृथिवी को खोजकर अपने भीतर पुरुषार्थ रूप तेज धारण करते हैं, उन विघ्न नाशक वीरों के लिये यह पृथिवी सुख दायिनी और दुराचारी दुष्टों को दुःखदायिनी होती है ॥ ३७ ॥

यस्यां सदोहविर्धाने यूपो यस्यां निमीयते । ब्रह्माणो यस्यामर्चन्त्यृग्भिः साम्ना यजुर्विदः । युज्यन्ते यस्यामृत्विजः सोममिन्द्राय पातवे ॥ ३८ ॥

यस्याम् । सदोहविर्धाने इति सदः-हविर्धाने । यूपः । यस्याम् । नि-मीयते ॥ ब्रह्माणः । यस्याम् । अर्चन्ति । ऋक्-भिः । साम्ना । यजुः-विदः ॥ युज्यन्ते । यस्याम् । ऋत्विजः । सोमम् । इन्द्राय । पातवे ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(यस्याम्) जिस [भूमि] पर (सदोहविर्धाने) सभा और अन्नस्थान हैं, (यस्याम्) जिसपर (यूपः) जयस्तम्भ (निमीयते) गाड़ा जाता है। (यस्याम्) जिसपर (ब्रह्माणः) ब्रह्मा [वेद वेत्ता] लोग (ऋग्भिः) ऋचाओं [वेद वाणियों] से और (यजुर्वेदः) यजुर्वेदी [परमात्मा देव की पूजा जानने वाले] लोग (साम्ना) मोक्ष ज्ञान के साथ [परमात्मा को] (अर्चन्ति) पूजते हैं। (यस्याम्) जिस पर (ऋत्विजः) सब ऋतुओं में यज्ञ [परमात्मा का पूजन] करनेवाले [योगी जन] (इन्द्राय) इन्द्र [ऐश्वर्ययुक्त जीव] के लिये (सोमम्) सोम [अमृत, मोक्षसुख] (पातवे) पान करने को (युज्यन्ते) समाधि लगाते हैं ॥ ३८ ॥

३८—(यस्याम्) भूम्याम् (सदोहविर्धाने) षद्लृ गतौ—असुन्, हु दानादानादनेषु—इसि। सभाऽन्नस्थानं च द्वे (यूपः) जयस्तम्भः (यस्याम्) (निमीयते) निक्षिप्यते (ब्रह्माणः) वेदवेत्तारः (यस्याम्) (अर्चन्ति) पूजयन्ति परमात्मानम् (ऋग्भिः) वेदवाग्भिः (साम्ना) मोक्षज्ञानेन (यजुर्विदः) अर्तिपृवपियजि० उ०२। ११७। यज देवपूजायाम्—उसि + विद ज्ञाने—क्विप्। परमात्मपूजाज्ञातारः (युज्यन्ते) युज समाधौ। समादधति (यस्याम्) (ऋत्विजः) अ० ६। २। १। सर्वेषु ऋतुषु परमात्मपूजनशीलाः (सोमम्) अमृतम्। मोक्षसुखम् (इन्द्राय) ऐश्वर्यवते पुरुषाय (पातवे) पा पाने—तवेन्। पानं कर्तुम् ॥

भावार्थ—जिस भूमि पर जितेन्द्रिय वीर पुरुष शत्रुओं को जीतते हैं, और वेदज्ञानी, योगीन्द्र परमात्मा के तत्त्वज्ञान से मोक्ष आनन्द भोगते हैं, उस भूमि पर हम अपना इष्ट सिद्ध करें ॥ मन्त्र ३८ और ३९ का अन्वय मन्त्र ४० के साथ है ॥ ३८ ॥

यस्यां पूर्वे भूतकृत ऋषयो गा उदानृचुः ।
सप्त सत्त्रेण वेधसो यज्ञेन तपसा सह ॥ ३९ ॥

यस्याम् । पूर्वे । भूत-कृतः । ऋषयः । गाः । उत् । आनृचुः ॥
सप्त । सत्त्रेण । वेधसः । यज्ञेन । तपसा । सह ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(यस्याम्) जिस [भूमि] पर (पूर्वे) निवासस्थान [शरीर] में [वर्तमान] (भूतकृतः) यथार्थ कर्म करने वाले, (वेधसः) ज्ञानवान् (सप्त) सात (ऋषयः) विषय प्राप्त करनेवाले ऋषियों [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] ने (सत्त्रेण) सत्पुरुषों के रक्षक (यज्ञेन) यज्ञ [देव पूजा, संगति करण और दान] और (तपसा सह) [ब्रह्मचर्य आदि] तप के साथ (गाः) वेद वाणियों को (उत्) उत्तमता से (आनृचुः) पूजा है ॥ ३९ ॥

भावार्थ—जिस भूमि पर मनुष्य अपने शरीर की इन्द्रियों द्वारा वेदज्ञान प्राप्त करके आत्मोन्नति करते हैं, उस भूमि पर हम पुरुषार्थ करके सुख प्राप्त करें—मन्त्र ४० देखो ॥ ३९ ॥

३९—(यस्याम्) भूम्याम् (पूर्वे) पूर्व निवासे निमन्त्रणे च—अच् । निवासे शरीरे (भूतकृतः) भूतं यथार्थं कुर्वन्ति ये ते (ऋषयः) अ० ४ । ११ । ९ । विषयप्रापकाः पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि मनो बुद्धिश्च (गाः) वेदवाणीः (उत्) उत्तमतया (आनृचुः) अर्च पूजायाम्—लिट् । अपस्पृधेथामानृचुरानृहु० । पा० ६ । १ । ३६ । धातोर्लिटि उसि सम्प्रसारणमकारलोपश्च । यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६ । इति निघातप्रतिषेधः । आनर्चुः । पूजितवन्तः (सप्त) सप्त संख्याकाः (सत्त्रेण) सत् + त्रैङ् पालने—क । सतां सत्पुरुषाणां त्रायकेण (वेधसः) मेधाविनः ज्ञानवन्तः (यज्ञेन) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारेण (तपसा) ब्रह्मचर्यादितपश्चरणेन (सह) ॥

यजुर्वेद ३४ । ५५ में वर्णन है—(सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) सात ऋषि अर्थात् शब्द आदि विषय को प्राप्त करने वाले पांच ज्ञानेन्द्रिय, मन और बुद्धि शरीर में प्रतीति के साथ ठहरे हुये हैं ॥

सा नो भूमिरा दिशतु यद्धनं कामयामहे ।
भगो अनुप्रयुङ्क्तामिन्द्र एतु पुरोगवः ॥ ४० ॥ (४)

सा । नः । भूमिः । आ । दिशतु । यत् । धनम् । कामयामहे ॥ भगः । अनु-प्रयुङ्क्ताम् । इन्द्रः । एतु । पुरः-गवः ॥४०॥(४)

भाषार्थ—(सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमको (धनम्) वह धन (आ) यथावत् (दिशतु) देवे, (यत्) जिसे (कामयामहे) हम चाहते हैं । (भगः) ऐश्वर्य [हमें] (अनुप्रयुङ्क्ताम्) निरन्तर मिले, (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (पुरोगवः) अग्रगामी होकर (एतु) चले ॥ ४० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र का अन्वय मन्त्र ३८ और ३९ के साथ है। मनुष्य पृथिवी पर वीर, महात्मा ब्राह्मणों योगियों के अनुकरण से वेदविद्या प्राप्त करके ऐश्वर्यवान् होकर अग्रगामी होवें ॥ ४० ॥

यस्यां गायन्ति नृत्यन्ति भूम्यां मर्त्या व्यैलबाः । युध्यन्ते यस्यामाक्रन्दो यस्यां वदति दुन्दुभिः । सा नो भूमिः प्र णुदतां सपत्नानसपत्नं मा पृथिवी कृणोतु ॥ ४१ ॥

यस्याम् । गायन्ति । नृत्यन्ति । भूम्याम् । मर्त्याः । वि-ऐलबाः ॥ युध्यन्ते । यस्याम् । आ-क्रन्दः । यस्याम् । वदति । दुन्दुभिः ॥ सा । नः । भूमिः । प्र । नुदताम् । स-पत्नान् ।

४०—(सा) पूर्वोक्ता-म० ३८, ३९ (नः) अस्मभ्यम् (भूमिः) (आ) समन्तात् (दिशतु) ददातु (यत्) धनम्) (कामयामहे) इच्छामः (भगः) ऐश्वर्यम् (अनुप्रयुङ्क्ताम्) निरन्तरं प्राप्नोतु (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् पुरुषः (एतु) गच्छतु (पुरोगवः) गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ९२ । इति पुरस्+गो समासे टच् । अग्रगामी सन् ॥

असपत्नम् । मा । पृथिवी । कृणोतु ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(यस्यां भूम्याम्) जिस भूमि पर (व्यैलबाः) विविध प्रकार वाणियों के बोलने वाले (मर्त्याः) मनुष्य (गायन्ति) गाते हैं और (नृत्यन्ति) नाचते हैं । (यस्यां भूम्याम्) जिस भूमि पर (आक्रन्दः) कोलाहल करने वाले [योद्धा] (युध्यन्ते) लड़ते हैं, (यस्याम्) जिस पर (दुन्दुभिः) ढोल (वदति) बजता है । (सा भूमिः) वह भूमि (नः) हमारे (सपत्नान्) बैरियों को (प्र णुदताम्) हटा देवे, (पृथिवी) पृथिवी (मा) मुझ को (असपत्नम्) विना शत्रु (कृणोतु) करे ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जिस पृथिवी पर मनुष्य ऊंचे, नीचे और मध्यम स्वर से गाते, नाचते और बाजे बजाकर युद्ध करते हैं, वहां पर धर्मात्मा लोग निर्विघ्न होकर सुख प्राप्त करें ॥ ४१ ॥

यस्यामन्नं व्रीहियवौ यस्या इमाः पञ्च कृष्टयः ।
भूम्यै पर्जन्यपत्न्यै नमोऽस्तु वर्षमेदसे ॥ ४२ ॥

यस्याम् । अन्नम् । व्रीहि-यवौ । यस्याः । इमाः । पञ्च । कृष्टयः ॥ भूम्यै । पर्जन्य-पत्न्यै । नमः । अस्तु । वर्ष-मेदसे ।४२

भाषार्थ—(यस्याम्) जिस [भूमि] पर (अन्नम्) अन्न, (व्रीहियवौ) चावल और जौ हैं, (यस्याः) जिस के [ऊपर] (पञ्च) पांच [पृथिवी,

४१—(यस्याम्) (गायन्ति) गानं कुर्वन्ति (नृत्यन्ति) नृत्यं कुर्वन्ति (भूम्याम्) (मर्त्याः) मनुष्याः (व्यैलबाः) इला=वाक् । वि+इला—अण् समूहार्थे +बण शब्दे-ड । विविधमिलानां वाचां शब्दयितारः (युध्यन्ते) संप्रहरन्ति (यस्याम्) (आक्रन्दः) क्रदि आह्वाने रोदने च-क्विप् । कोलाहलशीलाः (यस्याम्) (वदति) ध्वनति (दुन्दुभिः) बृहड्ढक्का (सा) (नः) अस्माकम् (भूमिः) (प्रणुदताम्) प्रेरयतु (सपत्नान्) शत्रून् (असपत्नम्) अशत्रुम् (मा) माम् (पृथिवी) (कृणोतु) करोतु ॥

४२—(यस्याम्) भूम्याम् (अन्नम्) (व्रीहियवौ) (यस्याः) (इमाः) दृश्यमानाः (पञ्च) पृथिव्यादिपञ्चभूतैः संबद्धाः (कृष्टयः) अ० ३ । २४ । ३ ।

जल, तेज, वायु और आकाश] से सम्बन्ध वाले (इमाः) यह (कृष्टयः) मनुष्य हैं। (वर्षमेदसे) वर्षा से स्नेह रखने वाली, (पर्जन्यपत्न्यै) मेघ से पालन की गयी (भूम्यै) उस भूमि के लिये (नमः अस्तु) [हमारा] अन्न होवे ॥ ४२)

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी के हितके लिये पृथिवी आदि पांच तत्त्वों से उपकार लेकर अन्न आदि प्राप्त करें ॥ ४२ ॥

यस्याः पुरो देवकृताः क्षेत्रे यस्या विकुर्वते। प्रजापतिः पृथिवीं विश्वगर्भामाशामाशां रण्यां नः कृणोतु ॥ ४३ ॥

यस्याः। पुरः। देव-कृताः। क्षेत्रे। यस्याः। वि-कुर्वते ॥ प्रजा-पतिः। पृथिवीम्। विश्व-गर्भाम्। आशाम्-आशाम्। रण्याम्। नः। कृणोतु ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(यस्याः) जिसके (पुरः) नगर [राजभवन, गढ़ आदि] (देवकृताः) विद्वानों के बनाये हैं, (यस्याः) जिसके (क्षेत्रे) खेत में [मनुष्य] (विकुर्वते) विविध कर्म करते हैं। (प्रजापतिः) प्रजापति [परमेश्वर] (विश्वगर्भाम्) सब के गर्भ (पृथिवीम्) पृथिवी को (आशामाशाम्) दिशा दिशा में (नः) हमारे लिये (रण्याम्) रमणीय (कृणोतु) करे ॥ ४३ ॥

भावार्थ—जिस भूमि पर धर्मात्मा पुरुष राजभवन, कार्यालय आदि बनाकर अनेक प्रकार से उन्नति के काम करते हैं और जिस में से अनेक रत्न उत्पन्न होते हैं, उस पर परमात्मा हमें धर्म में स्थिर रखकर सर्वत्र प्रसन्न रक्खे ॥ ४३ ॥

मनुष्याः-निघ० २। ३ (भूम्यै) (पर्जन्यपत्न्यै) मेघेन पालनीयायै (नमः) अन्नम्-निघ० २। ७ (अस्तु) (वर्षमेदसे) ञि मिदा स्नेहने-असुन्। वर्षाभिः स्नेहशीलायै ॥

४३—(यस्याः) (पुरः) नगर्य्यः । राजभवनदुर्गादयः (देवकृताः) विद्वद्भिर्निर्मिताः (क्षेत्रे) प्रदेशे (यस्याः) (विकुर्वते) विविधकर्माणि कुर्वन्ति मनुष्याः (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमेश्वरः (पृथिवीम्) (विश्वगर्भाम्) सर्वस्य गर्भभूताम् (आशामाशाम्) प्रतिदिशम् (रण्याम्) अ० ९। ३। ६। रमणीयाम्-निरु० ६। ३३। (नः) अस्मभ्यम् (कृणोतु) करोतु ॥

निधिं बिभ्रती बहुधा गुहा वसु मणिं हिरण्यं पृथिवी ददातु मे। वसूनि नो वसुदा रासमाना देवी दधातु सुमनस्यमाना ॥४४

नि-धिम् । बिभ्रती । बहु-धा । गुहा । वसु । मणिम् । हिरण्यम् । पृथिवी । ददातु । मे ॥ वसूनि । नः । वसु-दाः । रासमाना । देवी । दधातु । सु-मनस्यमाना ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(गुहा) अपनी गुहा [गढ़े] में (निधिम्) निधि [धन का कोश] (बहुधा) अनेक प्रकार (बिभ्रती) रखती हुयी (पृथिवी) पृथिवी (मे) मुझे (वसु) धन (मणिम्) मणि और (हिरण्यम्) सुवर्ण (ददातु) देवे । (वसुदाः) धन देने वाली, (वसूनि) धनों को (रासमाना) देती हुयी (देवी) वह देवी [उत्तम गुण वाली पृथिवी] (सुमनस्यमाना) प्रसन्न मन होकर (नः दधातु) हमारा पोषण करे ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् मनुष्य पृथिवी को खोजते हैं, वे खानों में से अनेक रत्न और सुवर्ण आदि पाकर प्रसन्नचित्त होते हैं ॥ ४४ ॥

जनं बिभ्रती बहुधा विवाचसं नानाधर्माणं पृथिवी यथौकसम् सहस्रं धारा द्रविणस्य मे दुहां ध्रुवेव धेनुरनपस्फुरन्ती ॥४५॥

जनम् । बिभ्रती । बहु-धा । वि-वाचसम् । नाना-धर्माणम् । पृथिवी । यथा-ओकसम् ॥ सहस्रम् । धाराः । द्रविणस्य । मे । दुहाम् । ध्रुवा-इव । धेनुः । अनप-स्फुरन्ती ॥ ४५ ॥

४४—(निधिम्) धनसञ्चयम् (बिभ्रती) धरन्ती (बहुधा) अनेकप्रकारेण (गुहा) गुहायाम्। गर्ते (वसु) धनम् (मणिम्) (हिरण्यम्) सुवर्णम् (पृथिवी) (ददातु) (मे) मह्यम् (वसूनि) धनानि (नः) अस्मभ्यम् (वसुदाः) धनदात्री (रासमाना) रासतिर्दानकर्मा-निघ० ३ । २० । ददती (देवी) दिव्यगुणा (दधातु) पोषतु (सुमनस्यमाना) अ० १ । ३५ । १ । शोभनमनस्का सती ॥

भाषार्थ -(विवाचसम्) विशेष वचन सामर्थ्य वाले, (नानाधर्माणम्) अनेक गुण वाले (जनम्) जन [मनुष्य समूह] को (यथौकसम्) स्थान के अनुसार (बहुधा) बहुत प्रकार से (बिभ्रती) धारण करती हुयी (पृथिवी) पृथिवी, (ध्रुवा) दृढ़ स्वभाव वाली, (अनपस्फुरन्ती) निश्चल (धेनुः इव) गौ के समान, (मे) मेरे लिये (द्रविणस्य) धन की (सहस्रम्) सहस्र (धाराः) धारायें (दुहाम्) दुहे ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जैसे गौ अल्प मूल्य तृण आदि खाकर गोपाल की चतुराई के अनुसार बहुमूल्य दूध देती है, वैसे ही मनुष्य परिश्रम से अनेक विद्यायें और अनेक गुण प्राप्त करके पृथिवी पर अपनी योग्यता के अनुसार बहुत प्रकार से धनवान् होवें ॥ ४५ ॥

यस्ते॑ स॒र्पो वृश्चि॑कस्तृ॒ष्टदं॑श्मा हेम॒न्तज॑ब्धो भृम॒लो गुहा॒ शये॑। क्रिमि॒र्जिन्व॑त् पृथिवि॒ यद्य॒देज॑ति प्रा॒वृषि॒ तन्नः॒ सर्प॒न्मोप॑ सृप॒द् यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४६ ॥

यः। ते॒। स॒र्पः। वृश्चि॑कः। तृ॒ष्ट-दं॑श्मा। हे॒म॒न्त-ज॑ब्धः। भृ॒म॒लः। गुहा॑। शये॑ ॥ क्रिमिः॑। जिन्व॑त्। पृ॒थि॒वि॒। यत्-य॑त्। एज॑ति। प्रा॒वृषि॑। तत्। नः॒। सर्प॑त्। मा। उप॑। सृ॒प॒त्। यत्। शि॒वम्। तेन॑। नः॒। मृ॒ड ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (तृष्टदंश्मा) डंक मारने से पियास उत्पन्न करने

४५—(जनम्) मनुष्यसमूहम् (बिभ्रती) धरन्ती (बहुधा) (विवाचसम्) वि+वचस्-अण्। विशेषेण वचांसि वचनसामर्थ्यानि यस्य तम् (नानाधर्माणम्) बहुगुणवन्तम् (पृथिवी) (यथौकसम्) अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यश्च। पा० ५।४।१०७। इति बाहुलकात् टच्। यथास्थानम्। योग्यतामनुसृत्य (सहस्रम्) बहु (धाराः) प्रवाहान् (द्रविणस्य) धनस्य (मे) मह्यम् (दुहाम्) दुग्धाम्। प्रपूरयतु (ध्रुवा) दृढस्वभावा (इव) यथा (धेनुः) गौः (अनपस्फुरन्ती) अ० ६।१।७। निश्चलन्ती ॥

४६—(यः) (ते) तव (सर्पः) भुजङ्गः (वृश्चिकः) अ० १०।४।

वाला (सर्पः) सांप [वा] (वृश्चिकः) बिच्छू (हेमन्तजब्धः) ठंड से ठिठरा हुआ, (भृमलः) भ्रमल [घबड़ाता हुआ] (ते) तेरे (गुहा) गढ़े में (शये) सोता है। (क्रिमिः) [जो] कीड़ा और (यद्यत्) जो जो (प्रावृषि) वर्षा ऋतु में (जिन्वत्) प्रसन्न होता हुआ (एजति) रेंगता है, (पृथिवि) हे पृथिवि ! (तत्) वह (सर्पत्) रेंगता हुआ [जन्तु] (नः) हम पर (मा उप सृपत्) आकर न रेंगे, (यत्) जो कुछ (शिवम्) मङ्गल है (तेन) उस से (नः) हमें (मृड) सुखी कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ–मनुष्य सदा सावधान रहें कि सब ऋतुओं में दुष्ट जीव जन्तुओं से उन्हें क्लेश न होवे ॥ ४६ ॥

ये ते॒ पन्था॑नो ब॒हवो॑ ज॒नाय॑ना॒ रथ॑स्य॒ वर्त्मान॑सश्च॒ यात॑वे । यैः सं॒चर॑न्त्यु॒भये॑ भद्रपा॒पास्तं पन्था॑नं जयेमानमि॒त्रम॑तस्क॒रं यच्छि॒वं तेन॑ नो मृड ॥ ४७ ॥

ये । ते॒ । पन्था॑नः । ब॒हवः॑ । ज॒न॒-अय॑नाः । रथ॑स्य । वर्त्म॑ । अन॑सः । च॒ । यात॑वे ॥ यैः । स॒म्-चर॑न्ति । उ॒भये॑ । भ॒द्र॒-पा॒पाः । तम् । पन्था॑नम् । ज॒ये॒म॒ । अ॒न॒मि॒त्रम् । अ॒त॒स्क॒रम् । यत् । शि॒वम् । तेन॑ । न॒ः । मृ॒ड ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–(ये) जो (ते) तेरे (बहवः) बहुत से (पन्थानः) मार्ग

६। कीटभेदः (तृष्टदंशमा) दंश–मनिन्। यस्य दंशनेन तृषा भवति सः (हेमन्तजब्धः) जभ हिंसायाम्–क्त। हेमन्तेन हिंसितः (भृमलः) वृषादिभ्यश्चित्। उ० १। १०६। भ्रमु अनवस्थाने–कलप्रत्ययः संप्रसारणं च। अनवस्थितमनाः (गुहा) गर्ते (शये) तलोपः। शेते (क्रिमिः) क्षुद्रजन्तुः (जिन्वत्) तृप्यत् (पृथिवि) (यद्यत्) (एजति) चेष्टते (प्रावृषि) क्विब् वचिप्रच्छि श्रि०। उ० २। ५७। प्र+वृषु सेचने–क्विप् दीर्घश्च। वर्षाकाले (तत्) सत्त्वम्। जन्तुः (नः) अस्मान् (सर्पत्) सर्पणं कुर्वत् (उप) समीपे (मा सृपत्) न सर्पतु (यत्) (शिवम्) मङ्गलम् (तेन) (नः) अस्मान् (मृड) सुखय ॥

४७–(ये) (ते) तव (पन्थानः) मार्गाः (बहवः) नानाप्रकाराः

(जनायनाः) मनुष्यों के चलने योग्य हैं, [और जो] (रथस्य) रथ के (च) और (अनसः) छकड़े [वा अन्न] के (यातवे) चलने के लिये (वर्त्म) मार्ग है। (यैः) जिनसे (उभये) दोनों (भद्रपापाः) भले और बुरे [प्राणी] (संचरन्ति) चले चलते हैं, (तम्) उस (अनमित्रम्) शत्रु रहित और (अतस्करम्) तस्कर शून्य (पन्थानम्) मार्ग को (जयेम) हम जीतें, (यत्) जो कुछ (शिवम्) मङ्गल है, (तेन) उससे (नः) हमें (मृड) सुखी कर ॥ ४७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पृथिवी पर ऊंचे नीचे,भले बुरे मार्गों का विचार करके सुमार्ग पर चलते हैं, वे कुमार्गियों से बचकर सदा सुखी रहते हैं ॥४७॥

मल्वं बिभ्रती गुरुभृद् भद्रपापस्य निधनं तितिक्षुः । वराहेण पृथिवी संविदाना सूकराय वि जिहीते मृगाय ॥ ४८ ॥

मल्वम् । बिभ्रती । गुरु-भृत् । भद्र-पापस्य । नि-धनम् । तितिक्षुः ॥ वराहेण । पृथिवी । सम्-विदाना । सूकराय । वि । जिहीते । मृगाय ॥ ४८ ॥

भाषार्थ - (मल्वम्) धारण सामर्थ्य को और (गुरुभृत) गुरुत्व [भारीपन] रखने वाले सामर्थ्य को (बिभ्रती) धारण करने वाली, (भद्रपापस्य) भले और बुरे के (निधनम्) कुल [समूह] को (तितिक्षुः) सहनेवाली,

---

(जनायनाः) जन+अयनाः। मनुष्यैर्गन्तुं योग्याः (रथस्य) रमणीययानस्य (वर्त्म) मार्गः (अनसः) अन जीवने-असुन्। शकटस्य। अन्नस्य। (च) (यातवे) यातुम् (यैः) मार्गैः (संचरन्ति) विचरन्ति (उभये) द्वित्वविशिष्टाः (भद्रपापाः) साध्वसाधवः (तम्) पन्थानम् (जयेम) जयेन प्राप्नुयाम (अनमित्रम्) अशत्रुम (अतस्करम्) अचौरम। अन्यत् पूर्ववत्—म० ॥ ४६ ॥

४८—(मल्वम्) कॄगॄशॄदॄभ्यो वः। उ० १। १५५। मल धारणे-व। धारणसामर्थ्यम् (बिभ्रती) धारयन्ती (गुरुभृत्) कृग्रोरुच्च। उ० १। २४। गॄ विज्ञाने-कु, उत्वं च+डुभृञ् धारणपोषणयोः-क्विप्। गुरुत्वस्य धारकं सामर्थ्यम्

(वराहेण) मेघ के साथ (संविदाना) मिली हुयी (पृथिवी) पृथिवी (सूकराय) सुन्दर [सुखद] किरणों वाला, (मृगाय) गमनशील सूर्य के लिये (वि) विविध प्रकार (जिहीते) प्राप्त होती है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—पृथिवी अपने धारण आकर्षण से सब पदार्थों को अपने पर रखती है और सूर्य के सन्मुख चलने से जल आकाश में चढ़ता और बरसता है। उस पृथिवी को उपयोगी बनाने में मनुष्य प्रयत्न करें ॥ ४८ ॥

ये त आरण्याः पशवो मृगा वने हिताः सिंहा व्याघ्राः पुरुषादश्चरन्ति। उलं वृकं पृथिवि दुच्छुनामित ऋक्षीकां रक्षो अप बाधयास्मत् ॥ ४९ ॥

ये। ते। आरण्याः। पशवः। मृगाः। वने। हिताः। सिंहाः। व्याघ्राः। पुरुष-अदः। चरन्ति ॥ उलम्। वृकम्। पृथिवि। दुच्छुनाम्। इतः। ऋक्षीकाम्। रक्षः। अप। बाधय। अस्मत् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(ये ते) वे जो (आरण्याः) वन में उत्पन्न हुये (पशवः) पशु (हिताः) हितकारी (मृगाः) हरिण आदि और (पुरुषादः) मनुष्यों के

(भद्रपापस्य) साध्वसाधुपुरुषस्य (निधनम्) कुलम्। समूहम् (तितिक्षुः) तिज क्षमायाम्-स्वार्थे सन्-उप्रत्ययः। सहमाना (वराहेण) अ० ८। ७। २३। मेघेन-निरु० ५। ४ (पृथिवी) (संविदाना) अ० २। २८। २। संपूर्वाद् वेत्तेरकर्मकाद् आत्मनेपदम्, लटः शानच्। संगच्छमाना (सूकराय) ऋदोरप्। पा० ३। ३। ५७। सु+कॄ विदारणे-अप्। उपसर्गस्य दीर्घः। सुष्ठु सुखदाः कराः किरणा यस्य तस्मै (वि) विविधम् (जिहीते) ओ हाङ् गतौ। गम्यते॥ प्राप्यते (मृगाय) मृग अन्वेषणे गतौ च-क। मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः—निरु० १३। ३। अन्वेषकाय गतिशीलाय वा सूर्याय ॥

४९—(ये) (ते) प्रसिद्धाः (आरण्याः) अरण्याण्णो वक्तव्यः। वा० पा० ४। २। १०४। अरण्य-ण। अरण्ये भवाः (पशवः) (मृगाः) हरिणाः

खाने वाले (सिंहाः) [हिंसक] सिंह और (व्याघ्राः) [सूंघ कर मारने वाले] बाघ आदि (वने) बन के बीच (चरन्ति) चरते फिरते हैं। [उनमें से] (पृथिवि) हे पृथिवी ! (उलम्) [उष्ण स्वभाव वाले] बनबिलाव, (वृकम्) भेड़िये को और (दुच्छुनाम्) दुष्ट गति वाली (ऋक्षीकाम्) [हिंसक] रीछिनी आदि, (रक्षः) राक्षस [दुष्ट जीवों] को (इतः) यहां पर (अस्मत्) हम से (अप बाधय) हटा दे ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि हितकारी पशुओं की रक्षा करके हिंसक प्राणियों का नाश करें ॥ ४९ ॥

इस मन्त्र के प्रथम पाद का मिलान अ० ११।२।२४ के प्रथम पाद से करो ॥

ये ग॒न्ध॒र्वा अ॑प्स॒रसो॒ ये चा॒राया॑: कि॒मी॒दिन॑: । पि॒शा॒चान्त्सर्वा॑ र॒क्षांसि॒ तान॒स्मद्भू॑मे यावय ॥ ५० ॥ (५)

ये । ग॒न्ध॒र्वाः । अ॒प्स॒रस॑: । ये । च॒ । अ॒रायाः॑ । कि॒मी॒दिन॑: ॥ पि॒शा॒चान् । सर्वा॑ । र॒क्षांसि॑ । तान् । अ॒स्मत् । भू॒मे॒ । य॒व॒य॒ ५०(५

भाषार्थ—(ये) जो (गन्धर्वाः) दुखदायी हिंसक (अप्सरसः) विरुद्ध चलने वाले हैं, (च) और (ये) जो (अरायाः) कंजूस (किमीदिनः) लुतरे पुरुष हैं। (भूमे) हे भूमि! (तान्) उन (पिशाचान्) पिशाचों [मांस-

---

(वने) (हिताः) हितकराः (सिंहाः) अ० ४।८।७। हिंसका जन्तुविशेषाः (व्याघ्राः) अ० ४।३।१। विशिष्टाघ्राणमात्रेण प्राणिनां हिंसकजन्तुविशेषाः (पुरुषादः) मनुष्यभक्षकाः (चरन्ति) विचरन्ति (उलम्) उल दाहे सौत्रो-धातुः—क। उष्णस्वभावं वनमार्जारम् (वृकम्) अ० ३।४।१। हिंस्रजन्तु-विशेषम् (पृथिवी) (दुच्छुनाम्) टु दु उपतापे-क्विप् तुक् च, शुन गतौ-क, टाप्। दुष्टगतिम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (ऋक्षीकाम्) कृषिदृषिभ्यामीकन्। उ० ४।१६। ऋक्ष हिंसायाम्-ईकन्। हिंसिकां भल्लूकीम् (रक्षः) राक्षसम् (अपबाधय) अपबाधस्व। दूरीकुरु (अस्मत्) ॥

५०—(ये) (गन्धर्वाः) अ० ८।६।१९। गन्ध अर्दने-अच्+अर्व हिंसायाम्—अच्, शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। दुःखदायिपीडकाः (अप्सरसः) म० २३। सर्तेरप्पूर्वादसिः। उ० ४।२२७। अप+सृ गतौ-असि, उपसर्गान्त्य-

भक्षकों, पीड़ाप्रदों] और (सर्वा) सब (रक्षांसि) राक्षसों को (अस्मत्) हम से (यावय) अलग रख ॥ ५० ॥

भावार्थ—विवेकी मनुष्यों को योग्य है कि पृथिवी पर के दुष्ट प्राणियों और रोगों का नाश करके धर्मात्माओं को सुखी रक्खें ॥ ५० ॥

यां द्वि॒पादः॑ प॒क्षिणः॑ सं॒पत॑न्ति हं॒साः सु॑प॒र्णाः श॑कुना वयां॑सि । यस्यां॒ वातो॑ मात॒रिश्वेय॑ते॒ रजां॑सि कृ॒ण्वंश्च्या॒वयं॑श्च वृ॒क्षान् । वात॑स्य प्र॒वामु॑प॒वामनु॑ वात्य॒र्चिः ॥ ५१ ॥

याम् । द्वि॒-पादः॑ । प॒क्षिणः॑ । स॒म्-पत॑न्ति । हं॒साः । सु॒-प॒र्णाः । श॒कु॒नाः । वयां॑सि ॥ यस्या॑म् । वातः॑ । मा॒त॒रिश्वा॑ । ईय॑ते । रजां॑सि । कृ॒ण्वन् । च्य॒वय॑न् । च॒ । वृ॒क्षान् ॥ वात॑स्य । प्र॒-वाम् । उ॒प-वाम् । अनु॑ । वा॒ति॒ । अ॒र्चिः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(याम्) जिस पर (द्विपादः) दो पांव वाले (पक्षिणः) पक्षी [अर्थात्] (हंसाः) हंस, (सुपर्णाः) बड़े उड़ने वाले, [गरुड़ आदि], (शकुनाः) शक्ति वाले [गिद्ध चील आदि] (वयांसि) पक्षीगण (संपतन्ति) उड़ते रहते हैं। (यस्याम्) जिस पर (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला (वातः) वायु (रजांसि) जल वाले बादलों को (कृण्वन्) बनाता हुआ

लोपः। अपसरणशीलान्। विरुद्धगामिनः (ये) (च) (अरायाः) अ० ११। ६। १६। अदातारः (किमीदिनः) अ० १। ७। १। पिशुनाः (पिशाचान्) अ० १। १६। ३। मांसभक्षकान्। पीडाप्रदान् (सर्वा) सर्वाणि (रक्षांसि) राक्षसान् (तान्) (अस्मत्) (भूमे) (यावय) वियोजय॥

५१—(याम्) पृथिवीम् (द्विपादः) पादद्वयोपेताः (पक्षिणः) (संपतन्ति) उड्डीयन्ते (हंसाः) पक्षिविशेषाः (सुपर्णाः) शोभनपतना गरुडादयः (शकुनाः) शक्तिमन्तो गृध्रचिल्लादयः (वयांसि) पक्षिणः (यस्याम्) (वातः) वायुः (मातरिश्वा) अ० ५। १०। ८। अन्तरिक्षगामी (ईयते) गच्छति (रजांसि) अ० ४। १। ४। उदकं रज उच्यते-निरु० ४। १६। उदकवतो मेघान् (कृण्वन्) कुर्वन् । रचयन् (च्यवयन्) सांहितिको दीर्घः।

(च) और (वृक्षान्) वृक्षों को (च्यावयन्) हिलाता हुआ (ईयते) चलता है। और (अर्चिः) प्रकाश (वातस्य) वायु के (प्रवाम्) फैलाव और (उपवाम् अनु) संकोच के साथ साथ (वाति) चलता है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—मनुष्य पक्षियों, वायु, मेघ, प्रकाश आदि के ज्ञान और गुणों से लाभ उठाकर आनन्दित होवें–इस मन्त्र का अन्वय अगले मन्त्र ५२ के साथ है ॥ ५१ ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद अ० ११ । २ । २४ के दूसरे पाद में आया है ॥

यस्यां कृष्णमरुणं च संहिते अहोरात्रे विहिते भूम्यामधि ।
वर्षेण भूमिः पृथिवी वृतावृता सा नो दधातु भद्रया प्रिये धामनिधामनि ॥ ५२ ॥

यस्याम् । कृष्णम् । अरुणम् । च । संहिते इति सम्-हिते । अहोरात्रे इति । विहिते इति वि-हिते । भूम्याम् । अधि ॥ वर्षेण । भूमिः । पृथिवी । वृता । आ-वृता । सा । नः । दधातु । भद्रया । प्रिये । धामनि-धामनि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(यस्यां भूम्याम् अधि) जिस भूमि के ऊपर (अरुणम्) सूर्य वाले (च) और (कृष्णम्) काले वर्ण वाले (संहिते) आपस में मिले हुये (अहोरात्रे) दिन और राति (विहिते) विधान पूर्वक ठहराये गये हैं । (वर्षेण) मेह से (वृता) लपेटी हुयी और (आवृता) ढकी हुयी (सा) वह (पृथिवी) चौड़ी (भूमिः) भूमि [आश्रय स्थान] (नः) हमको (भद्रया) कल्याणी मति के साथ (प्रिये धामनिधामनि) प्रत्येक रमणीय स्थान में

गमयन् । कम्पयन् (च) (वृक्षान्) (वातस्य) वायोः (प्रवाम्) वा गतौ–क्विप् । प्रकृष्टां गतिम् । प्रसृतिम् (उपवाम्) समीपगतिम् । संकोचम् (अनु) अनुसृत्य (वाति) गच्छति (अर्चिः) प्रकाशः ॥

५२—(यस्याम्) (कृष्णम्) कृष्णवर्णम् (अरुणम्) अरुण–अर्शआद्यच् । सूर्येण युक्तम् (च) (संहिते) परस्परमिलिते (अहोरात्रे) रात्रिदिने (विहिते) विधानेन स्थापिते (भूम्याम्) (अधि) उपरि (वर्षेण) वृष्ट्या (भूमिः) (पृथिवी) विस्तृता (वृता) वेष्टिता (आवृता) आच्छादिता (सा) (नः) अस्मान् (दधातु) धरतु (भद्रया) कल्याण्या मेधया (प्रिये) हितकरे

(वृधातु) रक्खे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—ईश्वर नियम से जिस प्रकार दिन राति मिले हुये हैं और पृथिवी मेघ मण्डल से छायी है, वैसे ही मनुष्य पृथिवी पर उत्तम बुद्धि के साथ रहकर सब स्थानों में आनन्द करें ॥ ५२ ॥

द्यौश्च॑ म इ॒दं पृ॑थि॒वी चा॒न्तरि॑क्षं च मे॒ व्यच॑: ।
अ॒ग्निः सूर्य॒ आपो॑ मे॒धां विश्वे॑ दे॒वाश्च॒ सं द॑दुः ॥ ५३ ॥

द्यौः । च॒ । मे॒ । इ॒दम् । पृ॒थि॒वी । च॒ । अ॒न्तरि॑क्षम् । च॒ । मे॒ । व्यच॑: ॥ अ॒ग्निः । सूर्य॑: । आप॑: । मे॒धाम् । विश्वे॑ । दे॒वाः । च॒ । सम् । द॒दुः ॥ ५३ ॥

भाषार्थ-(मे) मुझ को (द्यौः) प्रकाश (च) और (पृथिवी) पृथिवी (च च) और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष ने (इदम्) यह (व्यचः) विस्तार [दिया है], (मे) मुझ को (अग्निः) अग्नि, (सूर्यः) सूर्य,(आपः) जल (च) और (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम पदार्थों ने (मेधाम्) धारणावती बुद्धि (सम्) ठीक ठीक (ददुः) दी है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य संसार के पदार्थों में विज्ञान पूर्वक फैलते चले जाते हैं, वे ही विज्ञानी बुद्धि बढ़ाकर संसार को सुख देते हैं ॥ ५३ ॥

अ॒हम॑स्मि॒ सह॑मान॒ उत्त॑रो॒ नाम॒ भूम्या॑म् ।
अ॒भी॒षाड॑स्मि विश्वा॒षाडाशा॑माशां विषास॒हिः ॥ ५४ ॥

अ॒हम् । अ॒स्मि॒ । सह॑मानः । उत्त॑रः । नाम॑ । भूम्या॑म् ॥ अ॒भी॒ऽसाट् । अ॒स्मि॒ । वि॒श्व॒ऽसाट् । आशा॑म्ऽआशाम् । वि॒ऽस॒स॒हिः ॥ ५४

(धामनिधामनि) प्रत्येकस्थाने ॥

५३—(द्यौः) प्रकाशः (च) (मे) मह्यम् (इदम्) प्रत्यक्षम् (पृथिवी) (च) (अन्तरिक्षम्) (च) (मे) मह्यम् (व्यचः) विस्तारम् (अग्निः) (सूर्यः) (आपः) जलानि (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) दिव्यपदार्थाः (च) (सम्) सम्यक् (ददुः) दत्तवन्तः ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [मनुष्य] (सहमानः) जीतने वाला और (भूम्याम्) भूमि पर (नाम) नाम के साथ (उत्तरः) अधिक ऊंचा (अस्मि) हूं। मैं (अभीषाट्) विजयी, (विश्वाषाट्) सर्व विजयी और (आशामाशाम्) प्रत्येक दिशा में (विषासहिः) हरा देने वाला (अस्मि) हूं ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य योग्यता प्राप्त करके आगे बढ़ता जाता है, तब संसार में कीर्ति बढ़ाकर सब में उच्च पद पाता है ॥ ५४ ॥

अदो यद् देवि प्रथमाना पुरस्ताद् देवैरुक्ता व्यसर्पो महित्वम् ।
आ त्वा सुभूतमविशत् तदानीमकल्पयथाः प्रदिशश्चतस्रः ॥५५॥

अदः । यत् । देवि । प्रथमाना । पुरस्तात् । देवैः । उक्ता । वि-असर्पः । महि-त्वम् ॥ आ । त्वा । सु-भूतम् । अविशत् । तदानीम् । अकल्पयथाः । प्र-दिशः । चतस्रः ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी ! [उत्तम गुणवाली पृथिवी] (यत्) जब (पुरस्तात्) आगे को (प्रथमाना) फैलती हुयी और (देवैः) व्यवहार कुशलों करके (उक्ता) कही गयी तू ने (अदः) उस (महित्वम्) महिमा को (व्यसर्पः) फैलाया। (तदानीम्) तब (सुभूतम्) सुभूति [सुन्दर ऐश्वर्य] ने (त्वा)

५४—(अहम्) मनुष्यः (अस्मि) (सहमानः) अभिभवनशीलः (उत्तरः) उच्चतरः (नाम) नाम्ना। कीर्त्या (भूम्याम्) (अभीषाट्) छन्दसि सहः। पा० ३। २। ६३। सह मर्षणे-ण्वि। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। पूर्वपदस्य दीर्घः। सहेः साडः सः। पा० ८। ३। ५६। इति षत्वम्। सर्वतो जेता (अस्मि) (विश्वाषाट्) पूर्ववत् सिद्धिः। सर्वजेता (आशामाशाम्) प्रतिदिशम् (विषासहिः) अ० १। २६। ६। विविधजयशीलः ॥

५५—(अदः) तत् (यत्) यदा (देवि) हे दिव्यगुणवति (प्रथमाना) विस्तीर्यमाणा (पुरस्तात्) अग्रे वर्तमाना सती (देवैः) व्यवहारकुशलैः (उक्ता) कथिता (व्यसर्पः) त्वं विस्तारितवती (महित्वम्) महिमानम् (आ) समन्तात् (त्वा) पृथिवीम् (सुभूतम्) सुभूतिम्। महैश्वर्यम् (अविशत्)

तुझ में (आ) सब ओर से (अविशत्) प्रवेश किया, और (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं को (अकल्पयथाः) तू ने समर्थ बनाया ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य पृथिवी की विस्तृत महिमा को खोजते हुये आगे बढ़ते हैं, वे ऐश्वर्यवान् होकर सब दिशाओं से समर्थ होते हैं ॥ ५५ ॥

ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधि भूम्याम् ।

ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते ॥ ५६ ॥

ये । ग्रामाः । यत् । अरण्यम् । याः । सभाः । अधि । भूम्याम् ॥

ये । सम्-ग्रामाः । सम्-इतयः । तेषु । चारु । वदेम । ते ॥५६॥

भाषार्थ—(ये ग्रामाः) जो गांव, (यत् अरण्यम्) जो बन, (याः सभाः) जो सभायें (भूम्याम् अधि) भूमि पर हैं। (ये संग्रामाः) जो संग्राम और (समितयः) समितियें [सम्मेलन] हैं, (तेषु) उन सब में (ते) तेरा (चारु) सुन्दर यश (वदेम) हम कहें ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सब स्थानों, सब अवस्थाओं और राजसभा, न्यायसभा, धर्मसभा आदि में पृथिवी के गुणों की महिमा जानकर और बखानकर देशभक्ति करें ॥ ५६ ॥

अश्वं इव रजो दुधुवे वि तान् जनान् य आक्षियन् पृथिवीं यादजायत । मन्द्राग्रेत्वरी भुवनस्य गोपा वनस्पतीनां गृभिरोषधीनाम् ॥ ५७ ॥

अश्वः-इव । रजः । दुधुवे । वि । तान् । जनान् । ये । आ-

प्रविष्टम् (तदानीम्) (अकल्पयथाः) त्वं समर्थाः कृतवती (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (चतस्रः) ॥

५६—(ये) (ग्रामाः) वासस्थानानि (यत्) (अरण्यम्) वनम् (याः) (सभाः) समाजाः (अधि) उपरि (भूम्याम्) (ये) (संग्रामाः) रणक्षेत्राणि (समितयः) सम्मेलनानि (तेषु) (चारु) सुन्दरं यशः (वदेम) कथयेम (ते) तव ॥

अक्षियन् । पृथिवीम् । यात् । अजायत ॥ मन्द्रा । अग्र-इत्वरी । भुवनस्य । गोपाः । वनस्पतीनाम् । गृभिः । ओषधीनाम् ५७

भाषार्थ—(यात्) जब से (अजायत) वह उत्पन्न हुई है [तब से], (अश्वः इव) जैसे घोड़ा (रजः) धूलि को, [वैसे ही] (मन्द्रा) हर्षदायिनी, (अग्रेत्वरी) अग्रगामिनी, (भुवनस्य) संसार की (गोपाः) रक्षा कारिणी, (वनस्पतीनाम्) बनस्पतियों [पीपल आदि] और (ओषधीनाम्) ओषधियों [सोमलता अन्न आदि] की (गृभिः) ग्रहण स्थान उस [पृथिवी] ने (तान् जनान्) उन मनुष्यों को (वि दुधुवे) हिला दिया है, (ये) जिन्होंने (पृथिवीम्) पृथिवी को (आक्षियन्) सताया है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जिन अभिमानियों ने पृथिवी पर अत्याचार करके मस्तक उठाया है, वे ईश्वर नियम से सदा नष्ट हुये हैं, जैसे घोड़ा थकावट उतारने को पृथिवी पर लोटकर शरीर की मलिन धूलि हिलाकर गिरा देता है ॥ ५७ ॥

यद् वदामि मधुमत् तद् वदामि यदीक्षे तद् वनन्ति मा ।
त्विषीमानस्मि जूतिमानवान्यान् हन्मि दोधतः ॥ ५८ ॥

यत् । वदामि । मधु-मत् । तत् । वदामि । यत् । ईक्षे । तत् । वनन्ति । मा ॥ त्विषि-मान् । अस्मि । जूति-मान् ।

५७—(अश्वः) तुरङ्गः (इव) यथा (रजः) धूलिम् (दुधुवे) धुञ्, धूञ् कम्पने-लिट् । कम्पितवती (वि) विविधम् (तान्) (जनान्) (ये) (आ-अक्षियन्) क्षि क्षये हिंसायां च-लङ्, तुदादित्वं छान्दसम् । अक्षयन् । हिंसितवन्तः (पृथिवीम्) (यात्) यत्कालमारभ्य (अजायत) उत्पन्ना अभूत् (मन्द्राः) स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु-रक् । मोदयित्री (अग्रेत्वरी) शीङ्कुशिरुहिजि० । उ० ४ । ११४ । अग्र+इण् गतौ-क्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । अग्रगामिनी (भुवनस्य) संसारस्य (गोपाः) गोपायतीति गोपाः, गुपू रक्षणे—विच्, अतो लोपः, यलोपः । रक्षिका (वनस्पतीनाम्) अश्वत्थादिवृक्षाणाम् (गृभिः) ग्रमेः सम्प्रसारणंच । उ० ४ । १२१ । ग्रह उपादाने-इन्, स च कित् । ग्रहणस्थानम् (ओषधीनाम्) सोमलताऽन्नादीनाम् ॥

अव॑ । अ॒न्यान् । ह॒न्मि॒ । दोध॑तः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (वदामि) मैं बोलता हूं, (तत्) वह (मधुमत्) उत्तम ज्ञान युक्त (वदामि) बोलता हूं, (यत्) जो कुछ (ईक्षे) मैं देखता हूं, (तत्) उसको (मा) मुझे (वनन्ति) वे [ईश्वर नियम] सेवते हैं। मैं (त्विषिमान्) तेजस्वी, (जूतिमान्) वेगवान् (अस्मि) हूं, (दोधतः) क्रोधी (अन्यान्) दूसरे [शत्रुओं] को (अव हन्मि) मार गिराता हूं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य समझ बूझ कर बोलते, देखते और काम करते हैं, वे ईश्वर नियम से प्रतापी और फुरतीले होकर विघ्नों को मिटाते हैं ॥ ५८ ॥

श॒न्ति॒वा सु॑र॒भिः स्यो॒ना की॒लालो॑ध्नी॒ पय॑स्वती ।
भूमि॒रधि॑ ब्रवीतु मे पृथि॒वी पय॑सा स॒ह ॥ ५९ ॥

श॒न्ति॒-वा । सु॒र॒भिः । स्यो॒ना । की॒लाल॑-ऊध्नी । पय॑स्वती ॥
भूमिः॑ । अधि॑ । ब्र॒वी॒तु॒ । मे॒ । पृ॒थि॒वी । पय॑सा । स॒ह ॥५९॥

भाषार्थ—(शन्तिवा) शान्ति वाली, (सुरभिः) ऐश्वर्य वाली, (स्योना) सुखदा, (कीलालोध्नी) अमृतमय स्तन वाली, (पयस्वती) दुधैल, (भूमिः) सर्वाधार (पृथिवी) पृथिवी (पयसा सह) अन्न के साथ (मे) मेरे लिये

५८—(यत्) यत् किञ्चित् (वदामि) कथयामि (मधुमत्) श्रेष्ठज्ञान-युक्तम् (तत्) वचनम् (वदामि) (यत्) (ईक्षे) पश्यामि (तत्) (वनन्ति) संभजन्ति परमेश्वरनियमाः (मा) माम् (त्विषिमान्) दीप्तिमान् (अस्मि) (जूतिमान्) जु रंहसि-क्तिन् । वेगवान् (अन्यान्) शत्रून् (अव हन्मि) विनाशयामि (दोधतः) दोधतिः क्रुध्यतिकर्मा-निघ० २ । १२, ततः शतृ । क्रुध्यतः ॥

५९—(शन्तिवा) अ० ३ । ३० । २ । शान्तियुक्ता (सुरभिः) म० २३ । ऐश्वर्यवती (स्योना) सुखप्रदा (कीलालोध्नी) ऊधसोऽनङ् । पा० ५ । ४ । १३१ । कीलाल+ऊधस्—अनङ् । बहुव्रीहेरूधसो ङीष् । पा० ४ । १ । २५ । इति ङीष् । अमृतस्तनी (पयस्वती) दुग्धवती (भूमिः) सर्वाधारा (अधि) अधिकृत्य (ब्रवीतु) वदतु (मे) मह्यम् (पृथिवी) विस्तृता भूमिः (पयसा)

(अधि ब्रवीतु) अधिकार पूर्वक बोले ॥ ५९ ॥

भावार्थ—उद्योगी पुरुष परस्पर उपदेश करके पृथिवी से अनेक सुख प्राप्त करते और कराते हैं ॥ ५९ ॥

यामन्वैच्छद्धविषा विश्वकर्मान्तरर्णवे रजसि प्रविष्टाम् । भुजिष्यं१ पात्रं निहितं गुहा यदाविर्भोगे अभवन्मातृमद्भ्यः॥६०

याम् । अनु-ऐच्छत् । हविषा । विश्व-कर्मा । अन्तः । अर्णवे । रजसि । प्र-विष्टाम् ॥ भुजिष्यम् । पात्रम् । नि-हितम् । गुहा यत् । आविः । भोगे । अभवत् । मातृमत्-भ्यः ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(विश्वकर्मा) विश्वकर्मा [सब कर्मों में चतुर मनुष्य] ने (हविषा) देने लेने योग्य गुण के साथ [वर्तमान], (अर्णवे) जल वाले (रजसि अन्तः) अन्तरिक्ष के भीतर (प्रविष्टाम्) प्रवेश की हुयी (याम्) जिस [पृथिवी] को (अन्वैच्छत्) खोजा । (भुजिष्यम्) भोजन योग्य (पात्रम्) पात्र [रक्षा साधन] (गुहा) [पृथिवी के] गढ़े में (यत्) जो (निहितम्) रक्खा था [वह] (मातृमद्भ्यः) माताओं वाले [प्राणियों] के लिये (भोगे) आहार [वा पालन] में (आविः अभवत्) प्रकट हुआ है ॥ ६० ॥

भावार्थ—जैसे जैसे मनुष्य मेघ मण्डल से घिरी पृथिवी को खोजते जाते हैं, उसमें अधिक अधिक पालन शक्तियों को पाते हैं,जैसे माताओं में प्राणियों के पालन के लिये दुग्ध प्रकट होता है ॥ ६० ॥

अमेन—निघ० २ । ७ (सह)॥

६०—(याम्) पृथिवीम् (अन्वैच्छत्) अन्वेषणेन प्राप्तवान् (हविषा) दातव्यग्राह्यगुणेन सह वर्तमानाम् (विश्वकर्मा) सर्वकर्मसु कुशलः पुरुषः (अन्तः) मध्ये (अर्णवे) जलवति (रजसि) अन्तरिक्षे (प्रविष्टाम्) (भुजिष्यम्) भुवः कित् । उ० २ । ११२ । भुज पालनाभ्यवहारयोः–इसिन् कित् । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति यत् । भुजिषे भोजनाय हितम् (पात्रम्) रक्षासाधनम् । अमत्रम् (निहितम्) स्थापितम् (गुहा) गर्ते (यत्) (आविः) प्रकटम् (भोगे) आहारे । पालने (अभवत्) (मातृमद्भ्यः) जननीयुक्तेभ्यः प्राणिभ्यः ॥

त्वमस्यावपनी जनानामदितिः कामदुघा पप्रथाना । यत् त ऊनं तत् त आ पूरयाति प्रजापतिः प्रथमजा ऋतस्य ॥६१॥

त्वम् । असि । आ-वपनी । जनानाम् । अदितिः । काम-दुघा । पप्रथाना ॥ यत् । ते । ऊनम् । तत् । ते । आ । पूरयाति । प्रजा-पतिः । प्रथम-जाः । ऋतस्य ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—[हे पृथिवी !] (त्वम्) तू (आवपनी) बड़ी उपजाऊ होकर (जनानाम्) मनुष्यों की (अदितिः) अखण्डव्रता, (कामदुघा) कामना पूरी करने वाली (पप्रथाना) प्रख्यात (असि) है । (यत्) जो (ते) तेरा (ऊनम्) न्यून है, (ऋतस्य) यथावत् नियम का (प्रथमजाः) पहिले उत्पन्न करने वाला (प्रजापतिः) प्रजापति [जगत् पालक परमेश्वर] (ते) तेरे (तत्) उस [न्यून भाग] को (आ) सब प्रकार (पूरयाति) पूरा करे ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर ने पृथिवी में अन्न आदि से प्राणियों की पालन शक्ति दी है, वैसे ही प्राणी जो कुछ खाते पीते हैं, वह न्यूनता ईश्वर नियम से वृष्टि आदि द्वारा पूर्ण हो जाती है ॥ ६१ ॥

उपस्थास्ते अनमीवा अयक्ष्मा अस्मभ्यं सन्तु पृथिवि प्रसूताः । दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम ॥६२॥

उप-स्थाः । ते । अनमीवाः । अयक्ष्माः । अस्मभ्यम् । सन्तु । पृथिवि । प्र-सूताः । दीर्घम् । नः । आयुः । प्रति-बुध्य-मानाः । वयम् । तुभ्यम् । बलि-हृतः । स्याम ॥ ६२ ॥

६१—(त्वम्) (असि) (आवपनी) समन्ताद् बीजजनयित्री (जनानाम्) मनुष्याणाम् (अदितिः) अखण्डव्रता (कामदुघा) अ० ४ । ३४ । ८ । मनोरथपूरयित्री (पप्रथाना) प्रथ प्रख्याने-कानच् । प्रख्याता (यत्) (ते) तव (ऊनम्) न्यूनम् । हीनम् (तत्) (ते) तव (आ) समन्तात् (पूरयाति) पूरयेत् (प्रजापतिः) जगत्पालकः परमेश्वरः (प्रथमजाः) अ० २ । १ । ४ । जन जनने-विट्, आत्वम् । प्रथमजनयिता (ऋतस्य) सत्यनियमस्य ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (ते) तेरी (उपस्थाः) गोदें (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अनमीवाः) नीरोग और (अयक्ष्माः) राजरोग रहित (प्रसूताः) उत्पन्न (सन्तु) होवें । (नः) अपने (आयुः) आयु [जीवन] को (दीर्घम्) दीर्घकालतक (प्रतिबुध्यमानाः) जगाते हुये (वयम्) हम (तुभ्यम्) तेरे लिये (बलिहृतः) बलि [सेवा धर्म] देने वाले (स्याम) रहें ॥ ६२ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न पूर्वक पृथिवी पर स्वस्थ और चेतन्य रहकर धर्म के साथ परस्पर पालन करें ॥ ६२ ॥

भूमे मातर्नि धेहि मा भद्रया सुप्रतिष्ठितम् ।
संविदाना दिवा कवे श्रियां मा धेहि भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

भूमे । मातः । नि । धेहि । मा । भद्रया । सु-प्रतिस्थितम् ॥
सम्-विदाना । दिवा । कवे । श्रियाम् । मा । धेहि । भूत्याम् ॥ ६३ ॥ (६)

भाषार्थ—(भूमे मातः) हे धरती माता ! (मा) मुझ को (भद्रया) कल्याणी मति के साथ (सुप्रतिष्ठितम्) बड़ी प्रतिष्ठा वाला (नि धेहि) बनाये रख । (कवे) हे गतिशीले ! [जो चलती है वा जिस पर हम चलते हैं] (दिवा) प्रकाश के साथ (संविदाना) मिली हुयी तू (मा) मुझ को

६२—(उपस्थाः) क्रोडाः (ते) तव (अनमीवाः) रोगरहिताः (अयक्ष्माः) राजरोगशून्याः (अस्मभ्यम्) (सन्तु) (पृथिवि) (प्रसूताः) उत्पन्नाः (दीर्घम्) बहुकालपर्यन्तम् (नः) अस्माकम् । स्वकीयम् (आयुः) जीवनम् (प्रतिबुध्यमानाः) जागरणेन चेतयन्तः (वयम्) (तुभ्यम्) (बलिहृतः) बलेरुपायनस्य हारकाः । प्रापकाः (स्याम) भवेम ॥

६३—(भूमे) हे धरित्रि (मातः) हे निर्मात्रि (नि धेहि) स्थापय (भद्रया) कल्याण्या प्रज्ञया (सुप्रतिष्ठितम्) सुप्रतिष्ठायुक्तम् (संविदाना) म० ४८। संगच्छमाना (दिवा) प्रकाशेन (कवे) अ० ४ । १ । ७ । कुङ् गतिशोषणयोः इन् । कवते, गातकर्मा—निघ० २ । १४ । हे गतिशीले (श्रियाम्) सेवनीयायां

(श्रियाम्) श्री [सम्पत्ति] में और (भूत्याम्) विभूति [ऐश्वर्य] में (धेहि) धारण कर ॥ ६३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम भाव से पृथिवी पर अपना कर्तव्य पालते हैं, वे बड़ी प्रतिष्ठा पाकर ऐश्वर्यवान् और श्रीमान् होते हैं ॥ ६३ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २ ॥

१—५५ ॥ अग्निर्मन्त्रोक्ताश्च देवताः ॥ १, ४, ६, ११, २१-३३, ४१, ४८, ५३ त्रिष्टुप्; २, ५, १२–२०, ३४–३६, ३८, ३९, ४३, ५१, ५४ अनुष्टुप्; ३ आस्तारपङ्क्तिः; ६ भुरिग् विराट् [पङ्क्तिर्वा]; ७ निचृज् जगती; ८, ४९ भुरिक्; त्रिष्टुप्; १०, ५५ विराट् त्रिष्टुप्, ३७ पुरस्ताद् बृहती; ४० विराडनुष्टुप्; ४२ आर्ची गायत्री; ४४ आर्ची बृहती; ४५, ४७, स्वराट् त्रिष्टुप्, ४६ साम्नी त्रिष्टुप्; ५० उपरिष्टाद् विराड् बृहती; ५२ विराड् बृहती छन्दः ॥

राजप्रजयोः कर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

नडमा रोह न ते अत्र लोक इदं सीसं भागधेयं त एहि ।
यो गोषु यक्ष्मः पुरुषेषु यक्ष्मस्तेन त्वं साकमधराङ् परेहि ॥१॥

नडम् । आ । रोह । न । ते । अत्र । लोकः । इदम् । सीसम् । भाग-धेयम् । ते । आ । इहि ॥ यः । गोषु । यक्ष्मः । पुरुषेषु । यक्ष्मः । तेन । त्वम् । साकम् । अधराङ् । परा । इहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे दुष्ट !] (नडम्) बन्धन [वा नरकट समान तीक्ष्ण

सम्पत्तौ (मा) माम् (धेहि) धारय (भूत्याम्) प्रापणीयायां विभूतौ । ऐश्वर्ये ॥

१—(नडम्) अ० ४ । १९ । १ । नल बन्धे-पचाद्यच्, लस्य डः । बन्धनम् ।

शस्त्र] पर (आ रोह) चढ़ जा, (ते) तेरे लिये (अत्र) यहां (लोकः) स्थान (न) नहीं है, (इदम्) यह (सीसम्) [हमारा] बन्धन नाशक विधान (ते) तेरा (भागधेयम्) सेवनीय कर्म है, (आ इहि) तू आ। (यः) जो (गोषु) गौओं में (यक्ष्मः) राजरोग और (पुरुषेषु) पुरुषों में (यक्ष्मः) राजरोग है, (तेन साकम्) उस के साथ (त्वम्) तू (अधराङ्) नीचे की ओर (परा इहि) चला जा ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि दुराचारी दुष्टों को तीक्ष्ण शस्त्रों से कठिन दण्ड देकर नाश करे और नीचा दिखावे, जिस से प्रजा के पशुओं और पुरुषों में कोई क्लेश न होवे ॥ १ ॥

अघशंसदुःशंसाभ्यां करेणानुकरेण च ।
यक्ष्मं च सर्वं तेनेतो मृत्युं च निरजामसि ॥ २ ॥

अघशंस-दुःशंसाभ्याम् । करेण । अनु-करेण । च ॥ यक्ष्मम् । च । सर्वम् । तेन । इतः । मृत्युम् । च । निः । अजामसि ॥२॥

भाषार्थ—(अघशंसदुःशंसाभ्याम्) दोनों बुरा चीतने वाले और खोटी करनी वाले पुरुषों के नाश के लिये (तेन) उस (करेण) कर [लेने] से (च) और (अनुकरेण) अनुकूल कर्म से (इतः) यहां से (सर्वम्) सब

तीक्ष्णाग्रतृणविशेषसदृशतीक्ष्णशस्त्रम् (आरोह) आरूढो भव (न) निषेधे (ते) तव (अत्र) प्रजाजने (लोकः) स्थानम् (इदम्) अस्मदीयम् (सीसम्) अ० १ । १६ । २ । षिञ् बन्धने—क्विप्+षो नाशने—क, तुक्लोपे दीर्घः। बन्धननाशकं विधानम् (भागधेयम्) सेवनीयं कर्म (ते) तव (एहि) आगच्छ (गोषु) गवादिषु (यक्ष्मः) अ० २ । १० । ५ । राजरोगः । क्षयः (पुरुषेषु) (यक्ष्मः) (तेन) रोगेण (त्वम्) दुराचारिन् (साकम्) सहितम् (अधराङ्) अ० ५ । २२ । २ । नीचस्थानम् (परा) दूरे (इहि) गच्छ ॥

२—(अघशंसदुःशंसाभ्याम्) अघ पापकरणे—पचाद्यच्+शसि इच्छायाम्—अच्, दुर्+शंसु दुर्गतौ—पचाद्यच्। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः। पा० २ । ३ । १५ । अघशंसदुःशंसौ अनिष्टचिन्तकदुष्कर्मिणौ नाशयितुम् (करेण)

(यक्ष्मम्) राजरोग (च च) और (मृत्युम्) मृत्यु को (निः अजामसि) हम बाहिर निकालते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि दूत आदि द्वारा कुमार्गियों के कुविचारों और कुकर्मों को जानकर उनसे कर लेकर और शिक्षा देकर प्रजा में से कुरोग और कुमृत्यु को हटावे ॥ २ ॥

निरितो मृत्युं निर्ऋतिं निररातिमजामसि । यो नो द्वेष्टि तमद्ध्यग्ने अक्रव्याद् यमु द्विष्मस्तमु ते प्र सुवामसि ॥ ३ ॥

निः । इतः । मृत्युम् । निः-ऋतिम् । निः । अरातिम् । अजामसि ॥ यः । नः । द्वेष्टि । तम् । अद्धि । अग्ने । अक्रव्य-अत् । यम् । ऊं इति । द्विष्मः । तम् । ऊं इति । ते । प्र । सुवामसि ॥३॥

भाषार्थ—(इतः) यहां से (मृत्युम्) मृत्यु और (निर्ऋतिम्) महामारी को (निः) बाहिर और (अरातिम्) अदान को (निः) बाहिर (अजामसि) हम [प्रजागण] निकालते हैं। (यः) जो [दुष्ट] (नः) हम से (द्वेष्टि) बैर करता है, (तम्) उस को, (अक्रव्यात्) हे मांस न खाने वाले! [प्रजारक्षक] (अग्ने) अग्नि [समान तेजस्वी राजन्!] (अद्धि) खा [नाशकर], (उ) और (यम्) जिस से (द्विष्मः) हम बैर करते हैं, (तम् उ) उसको भी (ते) तेरे [सन्मुख] (प्र सुवामसि) हम भेज देते हैं ॥ ३ ॥

राजग्राह्यधनेन (अनुकरेण) अनुकूलकर्मणा (च) (यक्ष्मम्) राजरोगम् (च) (सर्वम्) (तेन) (इतः) अस्मात् स्थानात् (मृत्युम्) मरणम् (च) (निरजामसि) बहिष्कुर्मः ॥

३—(निः) बहिर्भावे (इतः) अस्मात् स्थानात् (मृत्युम्) (निर्ऋतिम्) अ० ३ । ११ । २ । कृच्छ्रापत्तिम्—निरु० ।२ । ७ (निः) (अरातिम्) अदानम् (अजामसि) प्रेरयामः (यः) दुष्टः (नः) अस्मान् (द्वेष्टि) वैरायते (तम्) (अद्धि) खाद । नाशय (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (अक्रव्यात्) हे अमांसभक्षक । प्रजारक्षक (यम्) (उ) एव (द्विष्मः) वैरायामहे (तम्) (उ) (अपि) (ते) तुभ्यम् (प्रसुवामसि) प्रेरयामः ॥

भावार्थ -प्रजागणों को चाहिये कि प्रजापालक राजा से मिलकर दुष्टों को दण्ड दिलाते रहें ॥ ३ ॥

यद्यग्निः क्रव्याद् यदि वा व्याघ्र इमं गोष्ठं प्रविवेशान्योकाः ।
तं माषाज्यं कृत्वा प्र हिणोमि दूरं स गच्छत्वप्सुषदोऽप्यग्नीन् ॥४॥

यदि । अग्निः । क्रव्य-अत् । यदि । वा । व्याघ्रः । इमम् । गो-स्थम् । प्र-विवेश । अन्य-ओकाः ॥ तम् । माष-आज्यम् । कृत्वा । प्र । हिणोमि । दूरम् । सः । गच्छतु । अप्सु-सदः । अपि । अग्नीन् ॥ ४ ॥

भाषार्थ-(यदि) यदि (क्रव्यात्) मांसभक्षक (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापक], (यदि वा) अथवा यदि (अन्योकाः) अपनी मांद से निकले हुये (व्याघ्रः) बाघ [समान दुष्ट पुरुष] ने (इमम्) इस (गोष्ठम्) गोष्ठ [वार्तालाप स्थान] में (प्रविवेश) प्रवेश किया है। (तम्) उस [दुष्ट जन] को (माषाज्यम्) वध के साथ संयुक्त (कृत्वा) कर के (दूरम्) दूर (प्र हिणोमि) भेजता हूं, (सः) वह [दुष्ट] (अप्सुषदः) प्राणों में कष्ट देने वाले (अग्नीन्) अग्नियों [अग्नि के सन्तापों] को (अपि) ही (गच्छतु) पावे ॥ ४ ॥

भावार्थ-जो दुराचारी छल बल करके प्रजा के समाज, विद्यालय आदि उन्नति स्थान में विघ्न डाले, उसको धार्मिक राजा दण्ड द्वारा अनेक सन्ताप देवे ॥ ४ ॥

४—(यदि) सम्भावनायाम् (अग्निः) अग्निवत् सन्तापकः (क्रव्यात्) मांसभक्षकः क्रूरः पुरुषः (यदि) (वा) अथवा (व्याघ्रः) व्याघ्रवत् क्रूरः (इमम्) (गोष्ठम्) वाचनालयम् (प्रविवेश) (अन्योकाः) ओकसः स्वबिलाद् बहिर्भूतः (तम्) (माषाज्यम्) मष वधे-घञ् + आ + अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-क्यप्। वधेन हननेन सर्वतः संयुक्तम् (कृत्वा) विधाय (प्र हिणोमि) प्रेरयामि (दूरम्) (सः) (गच्छतु) प्राप्नोतु (अप्सुषदः) अप्सु + षद्लृ विषादे -क्विप्। प्राणेषु विषादयितॄन्। अप्सु=प्राणेषु - दयानन्दभाष्ये, यजुः० ८। २५ (अपि) एव (अग्नीन्) अग्निसन्तापान् ॥

यत् त्वा क्रुद्धाः प्रचक्रुर्मन्युना पुरुषे मृते ।
सुकल्पमग्ने तत् त्वया पुनस्त्वोद्दीपयामसि ॥ ५ ॥

यत् । त्वा । क्रुद्धाः । प्र-चक्रुः । मन्युना । पुरुषे । मृते ॥ सु-कल्पम् । अग्ने । तत् । त्वया । पुनः । त्वा । उत् । दीपयामसि ५

भाषार्थ—[हे अपराधी !] (यत्) यदि (त्वा) तुझ को (क्रुद्धाः) क्रोधित पुरुषों ने (पुरुषे मृते) पुरुष के मरने पर (मन्युना) कोप से (प्रचक्रुः) निकाल दिया था । (अग्ने) हे अग्नि ! [समान सन्तापकारी पुरुष] (तत्) वह (त्वया) तेरे साथ (सुकल्पम्) सुन्दर विचार युक्त विधान है, (पुनः) फिर (त्वा) तुझ को [सुकर्म के लिये] (उत् दीपयामसि) हम उत्तेजित करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजपुरुषों को उचित है कि यदि अपराधी पुरुष दण्ड भोगने से सुधरे तो उस से अनुकूल व्यवहार करके सुकर्म के लिये उसका उत्साह बढ़ावें ॥ ५ ॥

पुनस्त्वादित्या रुद्रा वसवः पुनर्ब्रह्मा वसुनीतिरग्ने । पुनस्त्वा ब्रह्मणस्पतिराधाद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ६ ॥

पुनः । त्वा । आदित्याः । रुद्राः । वसवः । पुनः । ब्रह्मा । वसु-नीतिः । अग्ने ॥ पुनः । त्वा । ब्रह्मणः । पतिः । आ । अधात् । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन् !] (पुनः)

५—(यत्) यदि (त्वा) अपराधिनम् (क्रुद्धाः) कुपिताः (प्रचक्रुः) बहिष्कृतवन्तः (मन्युना) कोपेन (पुरुषे) (मृते) मरणं गते (सुकल्पम्) सुसंकल्पं विधानम् (अग्ने) हे अग्निवत्सन्तापक (तत्) कर्म (त्वया) अपराधिना सह (पुनः) पश्चात् (त्वा) (उद्दीपयामसि) उत्तेजयामः सुकर्मणे ॥

६—(पुनः) निश्चयेन । विद्वत्ताशूरतादिगुणपरीक्षणेन (त्वा) त्वां

निश्चय करके [विद्वत्ता शूरता आदि गुण देखकर] (त्वा) तुझ को (आदित्याः) अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों, (रुद्राः) ज्ञान वालों और (वसवः) श्रेष्ठ पुरुषों ने, [तथा] (पुनः) निश्चय करके (वसुनीतिः) श्रेष्ठ गुण प्राप्त कराने वाले (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदों के ज्ञाता] ने, और (पुनः) निश्चय करके (त्वा) तुझ को (ब्रह्मणस्पतिः) धनके रक्षक पुरुष ने (शतशारदाय) सौ वर्षों वाले (दीर्घायुत्वाय) चिरकाल जीवन के लिये (आ) भले प्रकार (अधात्) धारण किया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब चतुर विद्वान् लोग सद्गुणों की भली भांति परीक्षा करके महापुरुषार्थी सुयोग्य पुरुष को राजा बनावें, जो प्रजागणों को सुख पहुंचाकर दीर्घ जीवन युक्त करे ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—यजु० १२ । ४४ ॥

यो अ॒ग्निः क्र॒व्यात् प्र॑वि॒वेश॑ नो गृ॒हमि॒मं पश्य॒न्नित॑रं जा॒तवे॑दसम् । तं ह॑रामि पितृय॒ज्ञाय॑ दू॒रं स घ॒र्ममि॑न्धां पर॒मे स॒धस्थे॑ ॥७

यः । अ॒ग्निः । क्र॒व्य॒-अत् । प्र॒-वि॒वेश॑ । नः॒ । गृ॒हम् । इ॒मम् । पश्य॑न् । इत॑रम् । जा॒त-वे॑दसम् ॥ तम् । ह॒रा॒मि॒ । पि॒तृ॒-य॒ज्ञाय॑ । दू॒रम् । सः । घ॒र्मम् । इ॒न्धा॒म् । प॒र॒मे । स॒ध-स्थे॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (क्रव्यात्) मांस भक्षक (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापक पुरुष] ने (नः) हमारे (गृहम्) घर में (प्रविवेश)

राजानम् (आदित्याः) अखण्डव्रतब्रह्मचारिणः (रुद्राः) अ० २ । २७ । ६ । रुत् ज्ञानम्, रो मत्वर्थीयः । ज्ञानवन्तः (वसवः) श्रेष्ठाः (पुनः) निश्चयेन (ब्रह्मा) वेदानां ज्ञाता (वसुनीतिः) श्रेष्ठगुणप्रापकः (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (पुनः) (त्वा) (ब्रह्मणः) अन्नस्य । धनस्य (पतिः) रक्षकः (आ) समन्तात् (अधात्) धारितवान् (दीर्घायुत्वाय) चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) अ० १ । ३५ । १ । शतसंवत्सरयुक्ताय ॥

७—(यः) (अग्निः) अग्निवत्सन्तापको दुष्टः (क्रव्यात्) मांसभक्षकः क्रूरः (प्रविवेश) प्रविष्टवान् (नः) अस्माकम् (गृहम्) निवासम् (इमम्)

प्रवेश किया है, [सो] (इमम्) इस (इतरम्) दूसरे [उससे भिन्न शुभगुणी] (जातवेदसम्) ज्ञानवान् राजा को (पश्यन्) देखता हुआ (पितृयज्ञाय) पितरों [रक्षक विद्वानों] के सत्कार के लिये (तम्) उस [दुष्ट] को (दूरम्) दूर (हरामि) भेजता हूं और (सः) वह [राजा] (परमे) बड़े उत्कृष्ट (सधस्थे) समाज में (घर्मम्) यज्ञ को (इन्धाम्) प्रकाशित करे ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रजागण चतुर नीतिज्ञ राजा के सहाय से क्रूर सन्तापकारी जन को निकाल देवें, जिससे सत् पुरुषों के सद्गुण संसार में फैलें और विजय पाने से राजा की कीर्त्ति बढ़े ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से है—ऋग्वेद १० । १६ । १० ॥

क्रव्याद॑म॒ग्निं प्र हि॑णोमि दू॒रं य॒मरा॑ज्ञो गच्छतु रिप्रवा॒हः ।
इ॒हायमित॑रो जा॒तवे॑दा दे॒वो दे॒वेभ्यो॑ ह॒व्यं व॑हतु प्रजा॒नन् ॥८॥

क्र॒व्य॒-अद॑म् । अ॒ग्निम् । प्र । हि॒णो॒मि॒ । दू॒रम् । य॒म-रा॑ज्ञः । ग॒च्छ॒तु॒ । रि॒प्र॒-वा॒हः ॥ इ॒ह । अ॒यम् । इत॑रः । जा॒त-वे॑दाः । दे॒वः । दे॒वेभ्यः॑ । ह॒व्यम् । व॒ह॒तु॒ । प्र॒-जा॒नन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ— (क्रव्यादम्) मांसभक्षक [क्रूर] (अग्निम्) अग्नि [समान सन्तापक मनुष्य) को (दूरम्) दूर (प्र हिणोमि) बाहिर पहुंचाता हूं, (रिप्रवाहः) वह पाप का ले चलने वाला पुरुष (यमराज्ञः) न्यायाधीश राजा के पुरुषों में (गच्छतु) जावे । (इह) यहां पर (अयम्) यह (इतरः) दूसरा

प्रसिद्धम् (पश्यन्) अवलोकयन् (इतरम्) दुष्टाद् भिन्नम् (जातवेदसम्) प्रसिद्धज्ञानम् (तम्) दुष्टम् (हरामि) नयामि (पितृयज्ञाय) पितॄणां रक्षक विदुषां पूजनाय (सः) जातवेदाः (घर्मम्) यज्ञम्—निघ० ३ । १७ । (इन्धाम्) प्रकाशयतु (परमे) उत्कृष्टे (सधस्थे) सहस्थितिस्थाने ॥

८—(क्रव्यादम्) मांसभक्षकम् (अग्निम्) अग्निवत्परितापकम् (प्र) बहिर्भावे (हिणोमि) गमयामि (दूरम्) (यमराज्ञः) यमो न्यायाधीशो राजा येषां तान् यमराजकान् पुरुषान् (गच्छतु) प्राप्नोतु (रिप्रवाहः) रिप्र+वह प्रापणे—अण् । रिप्रं पापं तस्य वोढा (इह) अस्मिन् संसारे (अयम्) (इतरः)

[पापी से भिन्न धर्मात्मा], (जातवेदाः) वेदों का ज्ञाता, (देवः) विजय चाहने वाला राजा (हव्यम्) देने लेने योग्य पदार्थ को (प्रजानन्) भले प्रकार जानता हुआ (देवेभ्यः) विजय चाहने वाले पुरुषों के लिये (वहतु) पहुंचावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब प्रजागण राजा से मिल कर अत्याचारियों को दण्ड दिलाते हैं, तब वह ज्ञानी राजा धर्मात्माओं के सत्कार करने में समर्थ होता है ॥ ८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ६ और यजुर्वेद ३५ । १६ ॥

क्रव्यादमग्निमिषितो हरामि जनान् दृंहन्तं वज्रेण मृत्युम् । नि तं शास्मि गार्हपत्येन विद्वान् पितृणां लोकेऽपि भागो अस्तु ॥ ९ ॥

क्रव्य-अदम् । अग्निम् । इषितः । हरामि । जनान् । दृंह-न्तम् । वज्रेण । मृत्युम् ॥ नि । तम् । शास्मि । गार्ह-पत्येन । विद्वान् । पितृणाम् । लोके । अपि । भागः । अस्तु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इषितः) [प्रजाओं का] भेजा हुआ मैं [राजा] (जनान्) मनुष्यों में (मृत्युम्) मृत्यु को (दृंहन्तम्) बढ़ाते हुये (क्रव्यादम्) मांस भक्षक (अग्निम्) अग्नि [समान सन्तापक मनुष्य] को (वज्रेण) [अपने] वज्र से (हरामि) नाश करता हूं । (विद्वान्) विद्वान् मैं (तम्) उस [सत्कर्मी पुरुष] को (गार्हपत्येन) घर के स्वामियों से सम्बन्धी कर्म द्वारा (नि) निर-

भिन्नः (जातवेदाः) प्रसिद्धवेदज्ञाता (देवः) विजिगीषुः (देवेभ्यः) विजिगीषुभ्यः (हव्यम्) दातव्यग्राह्यपदार्थम् (वहतु) प्रापयतु (प्रजानन्) प्रकर्षेण विदन् सन् ॥

९—(क्रव्यादम्) मांसभक्षकम् (अग्निम्) अग्निवत्सन्तापकं पुरुषम् (इषितः) प्रजाभिः प्रेषितो नियोजितः (हरामि) नाशयामि (जनान्) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति कर्मसंज्ञा । जनेषु (दृंहन्तम्) वर्धयन्तम् (वज्रेण) शस्त्रेण (मृत्युम्) मरणम् (नि) नितराम् (तम्) सत्कर्माणम् (शास्मि) शिक्षयामि (गार्हपत्येन) अ० ६ । १२० । १ । गृहपति-ञ्य । गृहपतिभिः संयुक्तेन

न्तर (शास्मि) शिक्षा देता हूं, [जिस पुरुष का] (भागः) भाग (पितॄणाम्) पितरों [रक्षक विद्वानों] के (लोके) समाज में (अपि) ही (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस राजा को प्रजागणों ने स्वीकार किया है, वह दुष्टों को नाश करके संसार के शुभचिन्तकों को धर्म कार्य में प्रवृत्त रक्खे ॥ ६ ॥

क्रव्यादम॒ग्निं श॑शमा॒नमु॒क्थ्यं॑ १ प्र हि॑णोमि प॒थिभिः॑ पितृ॒याणैः॑ । मा दे॑व॒यानैः॒ पुन॒रा गा॒ अत्रै॒वैधि॑ पि॒तृषु॑ जागृहि॒ त्वम् ॥ १० ॥ (७)

क्र॒व्य॒-अद॑म् । अ॒ग्निम् । श॒श॒मा॒नम् । उ॒क्थ्य॑म् । प्र । हि॒णो॒मि॒ । प॒थि-भिः॑ । पि॒तृ॒-यानैः॑ । मा । दे॒व॒यानैः॑ । पुनः॑ । आ । गाः॒ । अत्र॑ । ए॒व । ए॒धि॒ । पि॒तृषु॑ । जा॒गृ॒हि॒ । त्वम् ॥ १० ॥ (७)

भाषार्थ—(पितृयाणैः) पितरों [रक्षक विद्वानों] के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से [चलता हुआ] मैं (क्रव्यादम्) मांस भक्षक (अग्निम्) अग्नि [समान सन्तापकारी मनुष्य] को (शशमानम्) उछलकर चलते हुये [उद्योगी] (उक्थ्यम्) प्रशंसनीय पुरुष से (प्र हिणोमि) बाहिर भेजता हूं । [हे दुष्कर्मी !] तू (देवयानैः) विद्वानों के मार्गों से [रोकने को] (पुनः) फिर (मा आ गाः) मत आ, [हे सत्कर्मी !] (त्वम्) तू (अत्र एव) यहां ही (एधि) रह, और (पितृषु) पितरों [रक्षक विद्वानों] के बीच (जागृहि) जागता रहे ॥ १० ॥

संबन्धेन कर्मणा (विद्वान्) (पितॄणाम्) पालकानां विदुषाम् (लोके) समाजे (अपि) एव (भागः) सेवनीयोऽंशः (अस्तु) भवतु ॥

१०—(क्रव्यादम्) मांस भक्षकम् (अग्निम्) अग्निवत् सन्तापकं पुरुषम् (शशमानम्) शश, प्लुतगतौ-चानश् । उत्प्लुत्य गन्तारम् । उद्योगिनम् (उक्थ्यम्) अ० ७ । ४७ । १ । अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । इति कर्मसंज्ञा । प्रशस्यात् (प्र) (हिणोमि) गमयामि (पथिभिः) मार्गैः (पितृयाणैः) पालकैर्गन्तव्यैः (देवयानैः) विदुषां मार्गैः (पुनः) पश्चात् (मा आ गाः) नैवागच्छ (अत्र) (एव) (एधि) भव । वर्तस्व (पितृषु) पालकेषु (जागृहि) सावधानो भव (त्वम्) ॥

भावार्थ—धर्मज्ञ पुरुषार्थी राजा दुष्टों को सत्पुरुषों से पृथक् कर दे, जिस से धर्मात्माओं के कार्य में विघ्न न पड़े और धर्म की उन्नति सदा होती रहे ॥ १० ॥

समिन्धते संकसुकं स्वस्तये शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
जहाति रिप्रमत्येन एति समिद्धो अग्निः सुपुना पुनाति ॥११॥

सम् । इन्धते । सम्-कसुकम् । स्वस्तये । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः ॥ जहाति । रिप्रम् । अति । एनः । एति । सम्-इद्धः । अग्निः । सु-पुना । पुनाति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शुद्धाः) [अन्तः करण से] शुद्ध, (शुचयः) [बाहिरी आचरण से] पवित्र और (पावकाः) [दूसरों के] पवित्र करने वाले (भवन्तः) होते हुये मनुष्य (संकसुकम्) यथावत् शासक पुरुष को (स्वस्तये) अच्छी सत्ता [कल्याण] के लिये (सम्) यथाविधि (इन्धते) प्रकाशमान करते हैं। (समिद्धः) ठीक ठीक प्रकाशित (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] (रिप्रम्) पाप को (जहाति) छोड़ता है, (एनः) दोष को (अति) उल्लंघन कर के (एति) चलता है और (सुपुना) सुन्दर शुद्धि करने वाले कर्म से [दूसरों को] (पुनाति) शुद्ध करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जब धर्मात्मा विद्वान् लोग भीतर और बाहिर से अपना आचरण शुद्ध कर के मनुष्य को विद्या आदि सद्गुणों से तेजस्वी बनाते हैं, तब वे पुरुष पाप से बच कर दूसरों को शुभ मार्ग पर चलाते हैं ॥ ११ ॥

११—(सम्) सम्यक् (इन्धते) प्रकाशयन्ति (संकसुकम्) अ० ५। ३१। ९। सम् + कस गतौ शासने च—ऊक, छान्दसो ह्रस्वः। सम्यक् शासकं पुरुषम् (स्वस्तये) सुसत्तायै। कल्याणाय (शुद्धाः) अन्तः करणेन पवित्राः (भवन्तः) वर्तमानाः सन्तः (शुचयः) बहिराचारेण शुद्धाः (पावकाः) अन्येषां शोधकाः (जहाति) त्यजति (रिप्रम्) पापम् (अति) अतीत्य (एनः) दोषम् (एति) गच्छति (समिद्धः) सम्यग् दीप्तः (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (सुपुना) पूञ् शोधने—क्विप्। ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य। पा० १। २। ४७। इति ह्रस्वः। सम्यक् शोधकेन कर्मणा (पुनाति) शोधयति ॥

दे॒वो अ॒ग्निः संक॑सुको दि॒वस्पृ॒ष्ठान्यारु॑हत् ।
मु॒च्यमा॑नो निरेण॑सोऽमोग॒स्माँ अश॑स्त्याः ॥ १२ ॥

दे॒वः । अ॒ग्निः । सम्-क॑सुकः । दि॒वः । पृ॒ष्ठानि॑ । आ । अ॒रु॒-हत् ॥ मु॒च्यमा॑नः । निः । एन॑सः । अमो॑क् । अ॒स्मान् । अश॑-स्त्याः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(देवः) विजय चाहने वाला, (संकसुकः) ठीक ठीक शासन कर्ता (अग्निः) अग्नि [समान प्रतापी मनुष्य] (दिवः) आनन्द के (पृष्ठानि) पीठों पर (आ अरुहत् चढ़ा है । (एनसः) कष्ट से (निः मुच्यमानः) निरन्तर छुटते हुये उसने (अस्मान्) हम को (अशस्त्याः) अपकीर्ति से (अमोक्) छुड़ाया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी विद्वान् पुरुष बड़े आनन्द के साथ आप कष्टों से छुट कर दूसरों को विपत्ति से छुड़ाते हैं ॥ १२ ॥

अ॒स्मिन् व॒यं संक॑सुके अ॒ग्नौ रि॒प्राणि॑ मृज्महे ।
अभू॑म य॒ज्ञियाः॑ शु॒द्धाः प्र ण॒ आयूं॑षि तारिषत् ॥ १३ ॥

अ॒स्मिन् । व॒यम् । सम्-क॑सुके । अ॒ग्नौ । रि॒प्राणि॑ । मृ॒ज्म॒हे॒ ॥ अभू॑म । य॒ज्ञियाः॑ । शु॒द्धाः । प्र । नः॒ । आयूं॑षि । ता॒रि॒ष॒त् १३

भाषार्थ—(अस्मिन्) इस (संकसुके) यथावत् शासक (अग्नौ) अग्नि [समान प्रतापी राजा] में [अर्थात् उसके आश्रय से] (रिप्राणि) पापों को (वयम्) हम (मृज्महे) धोते हैं । हम (यज्ञियाः) संगति के योग्य,

---

१२—(देवः) विजिगीषुः (अग्निः) अग्निवत् प्रतापी पुरुषः (संकसुकः) म० ११ । सम्यक्शासकः (दिवः) मोदस्य (पृष्ठानि) आधारान् (आ अरुहत्) अध्यतिष्ठत् (मुच्यमानः) त्यज्यमानः सन् (निः) निरन्तरम् (एनसः) कष्टात् (अमोक्) अमुञ्चत् (अस्मान्) धार्मिकान् (अशस्त्याः) अपकीर्त्याः ॥

१३—(अस्मिन्) (वयम्) (संकसुके) म० ११ । सम्यक् शासके (अग्नौ) अग्निवत्प्रतापिनि राजनि (रिप्राणि) पापानि (मृज्महे) शोधयामः (अभूम) (यज्ञियाः) संगतियोग्याः (शुद्धाः) शुद्धाचरणाः (नः) अस्माकम् (आयूंषि)

(शुद्धाः) शुद्ध आचरण वाले (अभूम) हो गये हैं, वह (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ा देवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा शासक के अनुशासन में रह कर विद्या और पुरुषार्थ से परस्पर मेल के साथ अपने जीवनों को सुफल करें। १३।

संकसुको विकसुको निर्ऋथो यश्च निस्वरः ।
ते ते यक्ष्मं सवेदसो दूराद् दूरमनीनशन् ॥ १४ ॥

सम्-कसुकः । वि-कसुकः । निः-ऋथः । यः । च । नि-स्वरः ॥
ते । ते । यक्ष्मम् । स-वेदसः । दूरात् । दूरम् । अनीनशन् ॥१४॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (संकसुकः) यथावत् शासक, [जो] (विकसुकः) विशेष करके शासक, [जो] (निर्ऋथः) निरन्तर ज्ञानवान् (च) और [जो] (निस्वरः) सदा उपदेश करने वाला है। (ते) उन सब (सवेदसः) समान लाभ पहुंचाने वाले पुरुषों ने (ते) तेरे (यक्ष्मम्) राजरोग को (दूरात् दूरम्) दूर से दूर (अनीनशन्) नाश कर दिया है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में अनेक प्रकार के पुरुषार्थी विद्वान् रहते हैं, वहां पर लोग कष्ट में नहीं पड़ते ॥ १४ ॥

यो नो अश्वेषु वीरेषु यो नो गोष्वजाविषु ।
क्रव्यादं निर्णुदामसि यो अग्निर्जनयोपनः ॥ १५ ॥

यः । नः । अश्वेषु । वीरेषु । यः । नः । गोषु । अज-अविषु ॥
क्रव्य-अदम् । निः । नुदामसि । यः । अग्निः । जन-योपनः ॥१५॥

जीवनानि (प्रतारिषत्) अ० २ । ४ । ६ । प्रवर्धयेत् ॥

१४—(संकसुकः) म० ११ । सम्यक् शासकः (विकसुकः) म० ११ । विशेषेण शासकः (निर्ऋथः) अर्तेर्निरि उ० २ । ८ । निर्+ऋ गतौ—थक् । निरन्तर ज्ञानवान (यः) पुरुषः (च (निस्वरः) नित्योपदेशकः (ते) पूर्वोक्ताः (ते) तव (यक्ष्मम्) राजरोगम् (सवेदसः) विद्लृ लाभे—असुन् । समानानि वेदांसि लाभा येभ्यस्ते । समानलाभप्रापकाः (दूरात्) (दूरम्) (अनीनशन्) अ० १ । २४ । २ । नाशितवन्तः ॥

भाषार्थ—(यः) जो [दुष्ट] (नः) हमारे (अश्वेषु) घोड़ों में और (वीरेषु) वीरों में, (यः) जो (नः) हमारी (गोषु) गौओं में और (अजाविषु) भेड़ बकरियों में और (यः) जो (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापकारी दुष्ट] (जनयोपनः) मनुष्यों का व्याकुल करने वाला है. [उस] (क्रव्यादम्) मांसभक्षक [पिशाच] को (निः नुदामसि) हम निकाले देते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—सब धर्मात्मा लोग मिलकर परस्पर सुख वृद्धि के लिये दुराचारी दुःखदायी पुरुष को निकाल देवें ॥ १५ ॥

अन्येभ्यस्त्वा पुरुषेभ्यो गोभ्यो अश्वेभ्यस्त्वा ।

निः क्रव्यादं नुदामसि यो अग्निर्जीवितयोपनः ॥ १६ ॥

अन्येभ्यः । त्वा । पुरुषेभ्यः । गोभ्यः । अश्वेभ्यः । त्वा ॥

निः। क्रव्य-अदम् । नुदामसि । यः। अग्निः। जीवित-योपनः॥१६

भाषार्थ—(यः) जो (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापकारी] (जीवितयोपनः) जीवन को व्याकुल करने वाला पुरुष है, [उस] (क्रव्यादम्) मांस भक्षक (त्वा) तुझ को (अन्येभ्यः) जीते हुये (पुरुषेभ्यः) पुरुषों से और (त्वा) तुझ को (गोभ्यः) गौओं से और (अश्वेभ्यः) घोड़ों से (निः नुदामसि) हम निकाले देते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—सज्जन पुरुष दुःखदायी दुष्टों के निकालने में सदा प्रयत्न करें ॥ १६ ॥

यस्मिन् देवा अमृजत यस्मिन् मनुष्या उत ।

---

*१५—(यः) दुष्टः (नः) अस्माकम् (अश्वेषु) (वीरेषु) (यः) (नः) (गोषु) धेनुषु (अजाविषु) अजेषु छागेषु अविषु मेषेषु च (क्रव्यादम्) मांसभक्षकम् (निर्णुदामसि) निर्गमयामः (यः) (अग्निः) अग्निवत्सन्तापकः (जनयोपनः) जनानां विमोहकः ॥

१६—(अन्येभ्यः) माछासासिभ्यो यः । उ० ४ । १०६ । अन जीवने-यः । जीवद्भ्यः (त्वा) दुष्टम् (पुरुषेभ्यः) (गोभ्यः) (अश्वेभ्यः) (त्वा) (क्रव्यादम्) मांसभक्षकम् (निर्णुदामसि) निर्गमयामः (यः) (अग्निः) अग्निवत्सन्तापकः पुरुषः (जीवितयोपनः) जीवनविमोहकः ॥

तस्मिन् घृतस्तावो मृष्ट्वा त्वमग्ने दिवं रुह ॥ १७ ॥

यस्मिन् । देवाः । अमृजत । यस्मिन् । मनुष्याः । उत ॥ तस्मिन् । घृत-स्तावः । मृष्ट्वा । आ । त्वम् । अग्ने । दिवम् । रुह ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [ज्ञान] में (देवाः) विजय चाहने वाले (उत) और (यस्मिन्) जिस [ज्ञान] में (मनुष्याः) मननशील पुरुष (अमृजत) शुद्ध हुये हैं। (तस्मिन्) उस [ज्ञान] में (मृष्ट्वा) शुद्ध होकर, (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी राजन्!] (घृतस्तावः) ज्ञान प्रकाश की स्तुति करनेवाला (त्वम्) तू (दिवम्) आनन्द में (आ रुह) ऊंचा हो ॥१७॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वज महात्माओं के अनुकरण से आत्मा को शुद्ध करते हैं, वे अत्यन्त आनन्द पाते हैं ॥ १७ ॥

समिद्धो अग्न आहुत स नो माभ्यपक्रमीः ।
अत्रैव दीदिहि द्यवि ज्योक् च सूर्यं दृशे ॥ १८ ॥

सम्-इद्धः । अग्ने । आ-हुत । सः । नः । मा । अभि-अपक्रमीः ॥ अत्र । एव । दीदिहि । द्यवि । ज्योक् । च । सूर्यम् । दृशे ॥ १८ ॥

भाषार्थ (अग्ने) हे अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष !) (सः) सो तू (समिद्धः) यथावत् प्रकाशित और (आहुतः) आहुति दिया गया [भक्ति

१७—(यस्मिन्) ज्ञाने (देवाः) विजिगीषवः (अमृजत) शुद्धा अभवन् (यस्मिन्) (मनुष्याः) मननशीलाः (उत) अपि (तस्मिन्) ज्ञाने (घृतस्तावः) घृतस्य ज्ञानप्रकाशस्य स्तावः स्तुतिर्यस्य सः (मृष्ट्वा) शुद्ध्वा (त्वम्) (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् राजन् (दिवम्) मोदम्। हर्षम् (आ रुह) अधितिष्ठ ॥

१८—(समिद्धः) प्रकाशितः (अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् पुरुष (आहुतः) आहुत्या भक्त्या पूजितः (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (मा अभ्यपक्रमीः)

किया गया] होकर (नः) हमें (मा अभ्यपक्रमीः) छोड़कर मत जा, (अत्र एव) यहां ही [इस जन्म में] (द्यवि) प्रत्येक व्यवहार में [वर्तमान] (सूर्यम्) सूर्य [सब के चलाने वाले परमेश्वर] के (दृशे) देखने के लिये (ज्योक्) बहुत काल तक (च) निश्चय करके (दीदिहि) प्रकाशमान हो॥१८॥

भावार्थ–मनुष्य को उचित है कि परमात्मा के ज्ञानपूर्वक विद्या शूरता आदि गुणों से तेजस्वी होकर कीर्ति प्राप्त करे ॥ १८ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद आचुका है–अ० १ । ६ । ३ ॥

सीसे॑ मृड्ढ्वं न॒डे मृ॑ड्ढ्वम॒ग्नौ सं॑कसु॑के च॒ यत् ।
अथो॒ अव्यां॑ रा॒मायां॑ शी॒र्ष॒क्तिमु॑प॒बर्ह॑णे ॥ १९ ॥

सीसे॑ । मृ॒ड्ढ्वम् । न॒डे । मृ॒ड्ढ्वम् । अ॒ग्नौ । स॒म्-क॑सुके । च॒ । यत् ॥ अथो॒ इति॑ । अव्या॑म् । रा॒माया॑म् । शी॒र्ष॒क्तिम् । उ॒प॒-बर्ह॑णे ॥ १९ ॥

भाषार्थ–[हे मनुष्यो !] (सीसे) बन्धन नाशक विधान में (नडे) बन्धन [वानरकट समान तीक्ष्ण शस्त्र] में (च) और (संकसुके) सम्यक् शासक (अग्नौ) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] में, (यत्) जो कुछ [शिर पीड़ा है उसे] (मृड्ढ्वम्) तुम शुद्ध करो। (अथो) और भी (रामायाम्) रमण कराने वाली [सुख देने वाली] (अव्याम्) रक्षा करने वाली प्रकृति [सृष्टि] के

अपैक्रम्य मा गच्छ (अत्र) अस्मिन् जन्मनि (एव) अवश्यम् (दीदिहि) अ० २ । ६ । १ । दीप्यस्व (द्यवि) दिवु व्यवहारे-डिवि । प्रत्येकव्यवहारे (ज्योक्) अ० १ । ६ । ३ । चिरकालम् (च) निश्चयेन (सूर्यम्) जगतः प्रेरकं परमात्मानम् (दृशे) द्रष्टुम् ॥

१९–(सीसे) म० १ । बन्धननाशके विधाने (मृड्ढ्वम्) शोधयत (नडे) म० २। बन्धने तृणविशेषवत्तीक्ष्णशस्त्रे (मृड्ढ्वम्) (अग्नौ) अग्निवत्तेजस्विन् पुरुषे (संकसुके) म० ११ । सम्यक् शासके (च) (यत्) या शर्षिक्तिस्ताम् (अथो) अपि च (अव्याम्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। अव रक्षणादिषु–इन्। रक्षिकायां प्रकृतौ सृष्टौ । अविः= रक्षिका

भीतर [वर्तमान] (उपबर्हणे) सुन्दर वृद्धि में [आने वाली] (शीर्षक्तिम्) शिर पीड़ा [रोक] को (मृड्ढ्वम्) शुद्ध करो ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो पुरुष शुभ कर्मों और शुभ मनुष्यों में आने वाले विघ्नों को मिटाते हैं, वे अपने कार्य सिद्ध करते हैं ॥ १६ ॥

सीसे मलं सादयित्वा शीर्षक्तिमुपबर्हणे ।

अव्यामसिक्न्यां मृष्ट्वा शुद्धा भवत यज्ञियाः ॥ २० ॥ (८)

सीसे । मलम् । सादयित्वा । शीर्षक्तिम् । उप-बर्हणे ॥ अव्याम् । असिक्न्याम् । मृष्ट्वा । शुद्धाः । भवत । यज्ञियाः॥२०(८

भाषार्थ—(सीसे) बन्धन नाशक विधान में [आने वाले] (मलम्) दोष को (सादयित्वा) मिटाकर और (असिक्न्याम्) बन्धन रहित (अव्याम्) रक्षा करने वाली प्रकृति [सृष्टि] में [वर्त्तमान] (उपबर्हणे) सुन्दर वृद्धि के भीतर [आने वाली] (शीर्षक्तिम्) शिर की पीड़ा [रोक] को (मृष्ट्वा) शोधकर, तुम लोग (शुद्धाः) शुद्ध आचरण वाले, (यज्ञियाः) संगति योग्य (भवत) हो जाओ ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के बीच स्वतन्त्रता और उन्नति में आजाने वाली बाधाओं को हटाकर आनन्दित होवें ॥ २० ॥

प्रकृतिः—दयानन्दभाष्ये, यजु० २३ । ५४ (रामायाम्) रमयतीति रामा, रमु क्रीडायाम्—ण । रमयित्र्याम् । आनन्दयित्र्याम् (शीर्षक्तिम्) अ० १ । १२ । ३ । शीर्ष + अञ्चु गतिपूजनयोः-क्तिन् । शिरःपीडाम् । विघ्नम् (उपबर्हणे) अ० ६ । ७ । २६ । उप + बृह बर्ह वृद्धौ—ल्युट् । सुवर्धने ॥

२०—(सीसे) म० १ । बन्धननाशके विधाने (मलम्) दोषम् (सादयित्वा) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—णिचि—क्त्वा । नाशयित्वा (शीर्षक्तिम्) म०१६ । शिरःपीडाम् (उपबर्हणे) म० १६ । सुवृद्धौ (अव्याम्) म० १६ । रक्षिकायां प्रकृतौ (असिक्न्याम्) अ० १ । २३ । १ । अञ्चिघृसिभ्यः कः । उ० ३ । ८६ । इति षिञ् बन्धने—क्त । छन्दसि क्नमित्येके । वा० पा० ४ । १ । ३६ । इति असित-ङीप्, तकारस्य क्नः । असितायाम् । अबद्धायाम् (मृष्ट्वा) शोधयित्वा (शुद्धाः) पवित्राः (भवत) (यज्ञियाः) संगतियोग्याः ॥

परं मृत्यो अनु परेहि पन्थां यस्ते एष इतरो देवयानात् ।
चक्षुष्मते शृण्वते ते ब्रवीमीहेमे वीरा बहवो भवन्तु ॥२१॥

परम् । मृत्यो इति । अनु । परा । इहि । पन्थाम् । यः ।
ते । एषः । इतरः । देव-यानात् ॥ चक्षुष्मते । शृण्वते । ते ।
ब्रवीमि । इह । इमे । वीराः । बहवः । भवन्तु ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(मृत्यो) हे मृत्यु ! [मृत्युरूप दुर्बलेन्द्रिय पुरुष] (यः) जो (ते) तेरा (एषः) यह (देवयानात्) विद्वानों के मार्ग से (इतरः) भिन्न [बुरा मार्ग है उस बुरे मार्ग से] (परम्) उत्तम (पन्थाम् अनु) मार्ग पर (परा इहि) पराक्रम से चल । (चक्षुष्मते) उत्तम नेत्र वाले (शृण्वते) सुनते हुये (ते) तेरे लिये (ब्रवीमि) मैं उपदेश करता हूं, (इह) यहां (इमे) यह सब (वीराः) वीर लोग (बहवः) बहुत से (भवन्तु) होवें ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो दुर्बलेन्द्रिय आत्मघाती कुमार्गी पुरुष हैं, वे आंखों और कानों को खोलकर उपदेश सुनें और दुराचारों को छोड़ कर विद्वानों के समान वीरों की संख्या बढ़ावें ॥ २१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१० । १८ । १ । तथा यजु० ३५ । ७ ॥

इमे जीवा वि मृतैराववृत्रन्नभूद् भद्रा देवहूतिर्नो अद्य ।
प्राञ्चो अगाम नृतये हसाय सुवीरासो विदथमा वदेम ॥ २२ ॥

इमे । जीवाः । वि । मृतैः । आ । अववृत्रन् । अभूत् । भद्रा ।
देव-हूतिः । नः । अद्य ॥ प्राञ्चः । अगाम । नृतये । हसाय ।

२१—(परम्) उत्तमम् (मृत्यो) हे मृत्युरूप दुर्बलेन्द्रिय पुरुष (अनु) अनुसृत्य (परा) पराक्रमेण (इहि) गच्छ (पन्थाम्) मार्गम् (यः) (ते) तव (एषः) (इतरः) भिन्नः । कुमार्गः (देवयानात्) विदुषां मार्गात् (चक्षुष्मते) प्रशस्तनेत्रयुक्ताय (शृण्वते) श्रवणं कुर्वते (ते) तुभ्यम् (ब्रवीमि) उपदिशामि (इह) संसारे (इमे) वीराः (बहवः) बहुसंख्याकाः (भवन्तु) ॥

सु-वीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(इमे) ये सब (जीवाः) जीवते हुए [पुरुषार्थी जन] (मृतैः) मृतकों [दुर्बलेन्द्रियों] से (वि) पृथक् होकर (आ अववृत्रन्) लौट आये हैं, (देवहूतिः) विद्वानों की वाणी (नः) हमारे लिये (अद्य) आज (भद्रा) कल्याणी (अभूत्) हुयी है। (नृतये) नृत [हाथ पैर चलाने] के लिये और (हसाय) हसने [आनन्द भोगने] के लिये (प्राञ्चः) आगे बढ़ते हुये हम (अगाम) पहुंचे हैं, (सुवीरासः) अच्छे वीरों वाले हम (विदथम्) विज्ञान का (आ वदाम) उपदेश करें ॥ २२ ॥

भावार्थ—जब पुरुषार्थी जन दुर्बलेन्द्रियों के कुमार्गों से हटकर सुमार्ग पर चलते हैं तब विद्वान् लोग अनेक उद्योगों से आनन्द भोगते हुये पुत्र पौत्र सेवक आदि को वीर बनाते हुये विद्या की उन्नति करते हैं ॥ २२ ॥

इस मन्त्र के पहिले तीन पाद ऋग्वेद १० । १८ । ३ । में और चौथा ऋ० १ । ११७ । २५ में है ॥

इमं जीवेभ्यः परिधिं दधामि मैषां नु गादपरो अर्थमेतम् ।
शतं जीवन्तः शरदः पुरूचीस्तिरो मृत्युं दधतां पर्वतेन ॥२३॥

इमम् । जीवेभ्यः । परि-धिम् । दधामि । मा । एषाम् । नु । गात् । अपरः । अर्थम् । एतम् ॥ शतम् । जीवन्तः । शरदः । पुरूचीः । तिरः । मृत्युम् । दधताम् । पर्वतेन ॥२३॥

२२—(इमे) दृश्यमानाः (जीवाः) जीवन्तः पुरुषाः (वि) वियुज्य (मृतैः) मृतकैः। हतपुरुषार्थैः (आ अववृत्रन्) वृतु वर्तने छान्दसो लुङ्। अवृतन्। आवृत्ता अभवन् (अभूत्) (भद्रा) कल्याणी (देवहूतिः) विदुषां वाणी (नः) अस्मभ्यम् (अद्य) अस्मिन् दिने (प्राञ्चः) प्रकर्षेण गच्छन्तः (अगाम) इण् गतौ—लुङ् । अगमाम (नृतये) नर्तनाय । गात्रविक्षेपाय कर्मानुष्ठानाय (हसाय) हसनाय। सहक्रीडनाय (सुवीरासः) शोभनवीरयुक्ताः (विदथम्) अ० १ । १३ । ४ । विज्ञानम् (आ वदेम) उपदिशेम ॥

भाषार्थ—(एषाम्) इन [प्राणियों] के बीच (जीवेभ्यः) जीवते हुये [पुरुषार्थी] लोगों के लिये (इमम्) यह (परिधिम्) मर्यादा (दधामि) मैं [परमेश्वर] ठहराता हूं, (अपरः) दूसरा [मरा हुआ, दुर्बलेन्द्रिय] (एतम्) इस (अर्थम्) पाने योग्य पदार्थ [सुख] को (नु मा गात्) कभी न पावे। (शतम्) सौ और (पुरूचीः) बहुत सी (शरदः) बरसों तक (जीवन्तः) जीवते हुये लोग (मृत्युम्) मृत्यु [मरण वा दुःख] को (पर्वतेन) [विज्ञान की] पूर्णता से (तिरः दधताम्) तिरोहित करें [ढक देवें] ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि परमेश्वर कृत नियमों पर चलते हैं, वे बहुत कालतक जीकर सुख भोगते हैं और दुर्बलेन्द्रिय लोग नरक में पड़कर शीघ्र मर जाते हैं ॥ २३ ॥

यह मन्त्र ऋषि दयानन्दकृत संस्कारविधि जातकर्म प्रकरण में और कुछ भेद से ऋग्वेद १० । १८ । ४ । और यजुर्वेद ३५ । १५ में है ॥

आ रोहतायुर्जरसं वृणाना अनुपूर्वं यतमाना यति स्थ । तान् वस्त्वष्टा सुजनिमा सजोषाः सर्वमायुर्नयतु जीवनाय ॥ २४ ॥

आ । रोहत । आयुः । जरसम् । वृणानाः । अनु-पूर्वम् । यतमानाः । यति । स्थ ॥ तान् । वः । त्वष्टा । सु-जनिमा । स-जोषाः । सर्वम् । आयुः । नयतु । जीवनाय ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यति स्थ) जितने तुम हो, [वे तुम]

२३—(इमम्) प्रत्यक्षम् (जीवेभ्यः) प्राणधारकेभ्यः (परिधिम्) मर्यादाम् (एषाम्) जीवानां मध्ये (नु) सद्यः (मा गात्) न प्राप्नुयात् (अपरः) अन्यः । दुर्बलेन्द्रियः (अर्थम्) उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । ऋ गतौ-थन् । गन्तव्यम् । प्राप्तव्यं पदार्थं सुखम् (एतम्) (शतम्) (जीवन्तः) प्राणान् धारयन्तः (शरदः) संवत्सरान् (पुरूचीः) बहूनि वर्षाण्य-ञ्चन्तीः (तिरो दधताम्) तिरोहितं कुर्वन्तु (मृत्युम्) (पर्वतेन) भृमृदृशि-यजिपर्वि० । उ० ३ । ११० । पर्व पूरणे-अतच् । ज्ञानपूर्त्या । ब्रह्मचर्यादिना ॥

२४—(आ रोहत) अधितिष्ठत (आयुः) जीवनम् (जरसम्) अ० १ ।

(अनुपूर्वम्) लगातार (यतमानाः) यत्न करते हुये, (जरसम्) स्तुतियुक्त (आयुः) जीवन (वृणानाः) चाहते हुये (आ रोहत) ऊंचे चढ़ो। (सुजनिमा) सुन्दर जन्म देने वाला (सजोषाः) समान प्रीति वाला (त्वष्टा) कर्ता [परमेश्वर] (तान् वः) उन तुम को (सर्वम् आयुः) पूर्ण आयु (जीवनाय) उत्तम जीवन के लिये (नयतु) प्राप्त करावे ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निरन्तर उपाय करके परोपकार से संसार में कीर्ति बढ़ाते हैं, वे शूर परमात्मा के नियम से उच्च पद पाते जाते हैं ॥ २४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है १० । १८ । ६ ॥

यथाहान्यनुपूर्वं भवन्ति यथर्तव ऋतुभिर्यन्ति साकम् । यथा न पूर्वमपरो जहात्येवा धातरायूंषि कल्पयैषाम् ॥ २५ ॥

यथा । अहानि । अनु-पूर्वम् । भवन्ति । यथा । ऋतवः । ऋतु-भिः । यन्ति । साकम् ॥ यथा । न । पूर्वम् । अपरः । जहाति । एव । धातः । आयूंषि । कल्पय । एषाम् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (अहानि) दिन (अनुपूर्वम्) एक के पीछे एक (भवन्ति) होते रहते हैं, (यथा) जैसे (ऋतवः) ऋतुयें (ऋतुभिः

---

३० । ३ । जॄ स्तुतौ-असुन्, जरस्—अर्श आद्यच् । जरया स्तुत्या युक्तम् । जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु १० । ८ (वृणानाः) संभजमानाः (अनुपूर्वम्) यथाक्रमम् (यतमानाः) प्रयत्नं कुर्वन्तः (यति) यत्—छान्दसो डतिः । यत्संख्याकाः । यावन्तः (स्थ) भवथ (तान्) तादृशान् (वः) युष्मान् (त्वष्टा) कर्ता परमेश्वरः (सुजनिमा) जनिमृङ्भ्यामिमनिन् । उ० ४ । १४६ । जन जनने प्रादुर्भावे च—इमनिन् । शोभनानि कीर्तनस्मरणादिना सुखहेतुभूतानि जनिमानि जन्मानि यस्मात् तादृशः (सजोषाः) समानप्रीतिः (सर्वम्) सम्पूर्णम् (आयुः) जीवनम् (नयतु) प्रापयतु (जीवनाय) उत्तमजीवनप्राप्तये ॥

२५—(यथा) येन प्रकारेण (अहानि) दिनानि (अनुपूर्वम्) यथाक्रमम् । पूर्वमनुक्रमेण (भवन्ति) वर्तन्ते (यथा) (ऋतवः) वसन्तादयः

साकम्) ऋतुओं के साथ (यन्ति) चलते हैं । [वैसे ही] (यथा) जिस कारण से (अपरः) पिछला [पुत्र आदि] (पूर्वम्) पहिले [पिता आदि] को (न) न (जहाति) छोड़े, (एव) उसी कारण से, (धातः) हे विधाता ! [परमेश्वर] (एषाम्) इन के (आयूंषि) जीवनों को (कल्पय) समर्थ कर ॥ २५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य आदि पदार्थ ईश्वर नियम से परिपक्व होकर दिन राति आदि को यथा नियम बनाते हैं, वैसे ही जो मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि नियमों का यथावत् पालन करते हैं, उन के पुत्र पौत्र आदि पूर्ण आयु भोगते हुये अपने पूर्वजों की सेवा करते रहते हैं ॥ २५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १८ । ५ ॥

अश्मन्वती रीयते सं रभध्वं वीरयध्वं प्र तरता सखायः ।
अत्रा जहीत ये असन् दुरेवा अनमीवानुत्तरेमाभि वाजान् २६

अश्मन्-वती । रीयते । सम् । रभध्वम् । वीरयध्वम् । प्र । तरत । सखायः ॥ अत्र । जहीत । ये । असन् । दुः-एवाः । अनमीवान् । उत् । तरेम । अभि । वाजान् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (अश्मन्वती) बहुत पत्थरों वाली [नदी] (रीयते) चलती है, (सं रभध्वम्) मिलकर उत्साह करो, (वीरयध्वम्) वीर बनो और (प्र तरत) पार हो जाओ, (ये) जो (अत्र) यहां

(ऋतुभिः) (यन्ति) गच्छन्ति (साकम्) सह (यथा) येन कारणेन (न) निषेधे (पूर्वम्) पूर्वकालीनं जनकादिकम् (अपरः) अर्वाक्कालीनः पुत्रादिः (जहाति) त्यजति (एव) तेन कारणेन (धातः) हे विधातः परमेश्वर (आयूंषि) जीवनानि (कल्पय) समर्थय (एषाम्) प्राणिनाम् ॥

२६—(अश्मन्वती) बहुपाषाणवती नदी (रीयते) गच्छति (सं रभध्वम्) मिलित्वा साहसं कुरुत (वीरयध्वम्) वीरकर्म कुरुत (प्र) प्रकर्षेण (तरत) उल्लङ्घयत (सखायः) हे सुहृदः (अत्र) अस्मिन् स्थाने समये वा (जहीत) त्यजत ।

[इस जगह वा समय] (दुरेवाः) दुर्गम मार्ग [वा विघ्न] (असन्) होवें, [उन्हें] (जहीत) छोड़ो,[पार करो], (अनमीवान्) रोग रहित (वाजान् अभि) अन्न आदि भोगों की ओर (उत् तरेम) हम उतरें ॥ २६ ॥

भावार्थ—जैसे बड़ी बड़ी दुस्तर नदी, समुद्र आदि को सेतु नौका आदि से पार करते हैं, वैसे ही वीर विद्वान् पुरुष मिलकर उत्तम प्रयत्नों से संसार के विघ्नों को हटाकर आनन्द पाते हैं ॥ २६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋषि दयानन्दकृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में और ऋग्वेद में १० । ५३ । ८ और यजुर्वेद में ३५ । १० है ॥

उत्तिष्ठता प्र तरता सखायोऽश्मन्वती नदी स्यन्दत इयम् । अत्रा जहीत ये असन्नशिवाः शिवान्त्स्योनानुत्तरेमाभि वाजान् ॥२७

उत् । तिष्ठत । प्र । तरत । सखायः । अश्मन्-वती । नदी । स्यन्दते । इयम् ॥ अत्र । जहीत । ये । असन् । अशिवाः । शिवान् । स्योनान् । उत् । तरेम । अभि । वाजान् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (उत् तिष्ठत) उठो, और (प्र तरत) उतर चलो, (इयम्) यह (अश्मन्वती) [बहुत पत्थरों वाली] [दुस्तर] (नदी) नदी (स्यन्दते) बहती है । (ये) जो [पदार्थ] (अत्र) यहां [इस जगह वा समय] (अशिवाः) अमङ्गलकारी (असन्) होवें, [उन्हें] (जहीत) छोड़ो, (शिवान्) मङ्गलकारी और (स्योनान्) आनन्दकारी (वाजान् अभि) अन्न आदि भोगों की ओर (उत्तरेम) हम उतरें ॥ २७ ॥

पारयत (ये) (असन्) लेटि रूपम् । भवन्तु (दुरेवाः) दुर्गमा मार्गाः । विघ्नाः (अनमीवान्) रोगरहितान् (उत्तरेम) पारयेम (अभि) अभिलक्ष्य (वाजान्) अन्नादिभोगान् ॥

२७—(उत् तिष्ठत) उत्थिता भवत (प्रतरत) पारयत (सखायः) हे सुहृदः (अश्मन्वती) बहुपाषाणवती । दुस्तरा (नदी) (स्यन्दते) स्रवति (इयम्) (अत्र) अस्मिन् स्थाने समये वा (जहीत) त्यजत (ये) पदार्थाः (असन्) भवन्तु (अशिवाः) अमङ्गलाः (शिवान्) मङ्गलकरान् (स्योनान्) सुखप्रदान् (उत्तरेम) पारयेम (अभि) अभिलक्ष्य (वाजान्) अन्नादिभोगान् ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य बड़े दुर्गम्य समुद्र आदि को नौका आदि से पार करते हैं, वैसे ही उद्योगी मनुष्य प्रयत्न करके शुभ आचरणों के साथ दुःख से पार होकर आनन्द पाते हैं ॥ २७ ॥

इस मन्त्र में मन्त्र २६ में वर्णित मन्त्रों के कुछ भाग हैं ॥

वैश्वदेवीं वर्चस आ रभध्वं शुद्धा भवन्तः शुचयः पावकाः ।
अतिक्रामन्तो दुरिता पदानि शतं हिमाः सर्ववीरा मदेम ॥२८॥

वैश्व-देवीम् । वर्चसे । आ । रभध्वम् । शुद्धाः । भवन्तः । शुचयः । पावकाः ॥ अति-क्रामन्तः । दुः-इता । पदानि । शतम् । हिमाः । सर्व-वीराः । मदेम ॥ २८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वैश्वदेवीम्) सब विद्वानों के हित करने वाली [वेदवाणी] को (वर्चसे) तेज पाने के लिये तुम (शुद्धाः) शुद्ध, (शुचयः) पवित्र (पावकाः) शुद्ध करने वाले (भवन्तः) होते हुये (आ रभध्वम्) आरम्भ करो । (दुरिता) कठिन [कष्ट दायक] (पदानि) पग डंडियों को (अतिक्रामन्तः) लांघते हुये, (सर्ववीराः) सब को वीर रखते हुये हम (शतम्) सौ (हिमाः) शीत ऋतुओं वाली [स्थितियों] तक (मदेम) सुख भोगें ॥ २८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वेदवाणी के निरन्तर विचार से बाहिर और भीतर से शुद्ध होकर और दूसरों को शुद्ध करके कुमार्गों को त्याग कर सब को वीर बनाते हुये पूर्ण आयु भोगें ॥ २८ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० ६ । ६२ । ३ ॥

उदीचीभिः पथिभिर्वायुमद्भिरतिक्रामन्तोऽवरान् परेभिः । त्रिः

२८—(वैश्वदेवीम्) तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । विश्वदेव—अण्, ङीप् । सर्वेभ्यो विद्वद्भ्यो हिताम् (वर्चसे) तेजसे (आरभध्वम्) आरम्भं कुरुत (शुद्धाः) (भवन्तः) सन्तः (शुचयः) (पावकाः) संशोधकाः (अतिक्रामन्तः) उल्लङ्घयन्तः (दुरिता) दुर्गतानि । कष्टप्रदानि (पदानि) पदचिह्नानि । क्षुद्रमार्गान् (शतम्) (हिमाः) हिम + अर्श आद्यच्, टाप् । शीतकालयुक्ताः स्थितीः (सर्ववीराः) सर्ववीरोपेताः (मदेम) हृष्येम ॥

सप्त कृत्व ऋषयः परेता मृत्युं प्रत्यौहन् पदयोपनेन ॥ २८ ॥

उदीचीनैः । पथि-भिः । वायुमत्-भिः । अति-क्रामन्तः । अवरान् । परेभिः ॥ त्रिः । सप्त । कृत्वः । ऋषयः । परा-इताः । मृत्युम् । प्रति । औहन् । पद-योपनेन ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(उदीचीनैः) ऊंचे चलते हुये, (वायुमद्भिः) शुद्ध वायु वाले, (परेभिः) उत्तम (पथिभिः) मार्गों से (अवरान्) निकृष्ट [मार्गों] को (अतिक्रामन्तः) लांघते हुये, (परेताः) पराक्रम पाये हुये (ऋषयः) ऋषियों ने (त्रिः) तीन बार [मनसा वाचा कर्मणा] (सप्त कृत्वः) सात बार [दो कान, दो नथने, दो आंख और एक मुख द्वारा] (मृत्युम्) मृत्यु को (पदयोपनेन) पद [चाल] रोक देने से (प्रति औहन्) उलटा मारा है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जैसे ऋषियों ने निकृष्ट कर्म छोड़ कर ब्रह्मचर्य आदि इन्द्रिय-दमन से सत्यसंकल्पी, सत्यवादी और सत्यकर्मी होकर मृत्यु को वश में किया है, वैसाही सब मनुष्य करें ॥ २६ ॥

मृत्योः पदं योपयन्त एत द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः । आसीना मृत्युं नुदता सधस्थेऽथ जीवासो विदथमा वदेम ३० (८)

मृत्योः । पदम् । योपयन्तः । आ । इत । द्राघीयः । आयुः । प्र-तरम् । दधानाः ॥ आसीनाः । मृत्युम् । नुदत । सध-स्थे । अथ । जीवासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ ३० ॥ (८)

२६—(उदीचीनैः) विभाषाञ्चेरदिक् स्त्रियाम् । पा० ५ । ४ । ८ । उदञ्च-खप्रत्ययः स्वार्थे । उच्चैर्गच्छद्भिः (पथिभिः) मार्गैः (वायुमद्भिः) शुद्धवायु-युक्तैः (अतिक्रामन्तः) उल्लङ्घयन्तः (अवरान्) निकृष्टान् मार्गान् (परेभिः) उत्कृष्टैः (त्रिः) त्रिवारम् । मनसा वाचा कर्मणा (सप्त कृत्वः) सप्तवारम् । अ० ४ । ११ । ६ । कर्णनासिकाचक्षुर्द्वयमुखद्वारा (ऋषयः) धर्मदर्शकाः (परेताः) पराक्रमं गताः प्राप्ताः (मृत्युम्) (प्रति) प्रातिकूल्येन (औहन्) उहिर् बधे—लुङ् । हतवन्तः (पदयोपनेन) मार्गनिरोधेन ॥

भाषार्थ—[हे वीरो !] (मृत्योः) मृत्यु के (पदम्) पद [चाल] को (योपयन्तः) रोकते हुये, (द्राघीयः) अधिक दीर्घ और (प्रतरम्) अधिक प्रकृष्ट (आयुः) जीवन को (दधानाः) धारण करते हुये तुम (आ इत) आओ। (सधस्थे) सहस्थान [समाज] में (आसीनाः) बैठे हुये तुम (मृत्युम्) मृत्यु को (नुदत) ढकेलो, (अथ) फिर (जीवासः) जीवते हुये हम (विदथम्) विज्ञान का (आ वदेम) उपदेश करें ॥ ३० ॥

भावार्थ—जब विद्वान् लोग उत्तम कर्म करके अपनी कीर्ति बढ़ाते हैं, उन्हें देखकर अन्य पुरुष भी उत्तम कर्म करने लगते हैं ॥ ३० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १८ । २ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् । अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ३१

इमाः । नारीः । अविधवाः । सु-पत्नीः । आ-अञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । स्पृशन्ताम् ॥ अनश्रवः । अनमीवाः । सु-रत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह [विदुषी] (नारीः) नारियां (अविधवाः) सधवा [मनुष्यों वाली] और (सुपत्नीः) धार्मिक पतियों वाली होकर (आञ्जनेन) यथावत् मेल से और (सर्पिषा) घी आदि [सार पदार्थ] से (सं स्पृशन्ताम्) संयुक्त रहें। (अनश्रवः) बिना आंसुओं वाली, (अनमी-

---

३०—(मृत्योः) (पदम्) गमनम् (योपयन्तः) विमोहयन्तः निरोधयन्तः (एत) आगच्छत (द्राघीयः) दीर्घतरम् (आयुः) जीवनम् (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (दधानाः) धारयन्तः (आसीनाः) उपविशन्तः (मृत्युम्) (नुदत) प्रेरयत (सधस्थे) सहस्थाने । समाजे (अथ) अनन्तरम् (जीवासः) जीवाः । जीवन्तः (विदथम्) ज्ञानम् (आवदेम) उपदिशेम ॥

३१—(इमाः) विदुष्यः (नारीः) नार्यः (अविधवाः) धूञ् धुञ् वा कम्पने-पचाद्यच् यद्वा, धावु गतिशुद्ध्योः—पचाद्यच्, ह्रस्वः पृषोदरादित्वात्। धवाः= मनुष्याः—निघ० २ । ३ । विधवा विधातृका भवति विधवनाद्वा विधावनाद्वेति चर्मशिरा अपि वा धव इति मनुष्यनाम तद्वियोगाद् विधवा—निरु० ३ ।

वाः) बिना रोगों वाली, (सुरत्नाः) सुन्दर सुन्दर रत्नों वाली (जनयः) मातायें (अग्ने) आगे आगे (योनिम्) मिलने के स्थान [घर, सभा आदि] में (आ रोहन्तु) चढ़ें ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो विदुषी स्त्रियां ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुण वाली होती हैं, वे अपने विद्वान् सुयोग्य कुटुम्बियों, पतियों और पुत्र आदि के साथ शरीर और आत्मा से स्वस्थ रहकर बहुत धनवती और सुखवती होकर अग्रगामिनी बनती हैं ॥ ३० ॥

यह मन्त्र आगे है—अ० १८ । ३ । ५७ । और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १८ । ७ ॥

व्याकरोमि हविषाहमेतौ तौ ब्रह्मणा व्य१ हं कल्पयामि । स्वधां पितृभ्यो अजरां कृणोमि दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ३२

वि-आकरोमि । हविषा । अहम् । एतौ । तौ । ब्रह्मणा । वि । अहम् । कल्पयामि ॥ स्वधाम् । पितृ-भ्यः । अजराम् । कृणोमि । दीर्घेण । आयुषा । सम् । इमान् । सृजामि ॥३२॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [परमेश्वर] (हविषा) देने लेने योग्य कर्म के साथ (एतौ) इन दोनों [स्त्री पुरुष समूह] को (व्याकरोमि) व्याख्यात करता हूं, (तौ) उन दोनों को (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान के साथ (अहम्) मैं (वि)

---

१५ । सधवाः । समनुष्याः (सुपत्नीः) धार्मिकपतिकाः (आञ्जनेन) आङ्+अञ्जू म्रक्षणे-ल्युट् । समन्ताद् मेलनेन (सर्पिषा) घृतादिसारपदार्थेन (संस्पृशन्ताम्) संयुक्ता भवन्तु (अनश्रवः) अश्रुवर्जिताः । अरुदत्यः (अनमीवाः) अरोगाः । शारीरिकमानसिकदुःखवर्जिताः (सुरत्नाः) बहुमूल्यधनोपेताः (आ रोहन्तु) अधितिष्ठन्तु (जनयः) जनन्यः मातरः (योनिम्) मिश्रणस्थानम् । गृहम् । समाजम् (अग्रे) प्रधाने स्थाने ॥

३२—(व्याकरोमि) व्याख्यातौ करोमि (हविषा) दातव्यग्राह्यकर्मणा (अहम्) परमेश्वरः (एतौ) दृश्यमानौ स्त्रीपुरुषसमूहौ (तौ) (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (वि) विविधम् (अहम्) (कल्पयामि) समर्थयामि (स्वधाम्)

विविध प्रकार (कल्पयामि) समर्थ करता हूं। (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक विद्वानों] के लिये (अजराम्) अक्षय (स्वधाम्) आत्मधारण शक्ति को (करोमि) करता हूं [देता हूं], (दीर्घेण) दीर्घ (आयुषा) जीवन के साथ (इमान्) इन सब को (सं सृजामि) संयुक्त करता हूं ॥ ३२ ॥

भावार्थ–परमेश्वर सृष्टि के बीच स्त्री पुरुषों को समान अधिकार देकर वेदज्ञान से समर्थ बनाता और परोपकारी विद्वान् जनों को आत्मबल देकर चिरंजीवी करता है ॥ ३२ ॥

यो नो॑ अ॒ग्निः पि॑तरो हृ॒त्स्व॑१॒॑न्तरा॑वि॒वेशा॒मृतो॒ मर्त्ये॑षु । मय्य॒हं तं परि॑ गृह्णामि दे॒वं मा सो अ॒स्मान् द्वि॑क्षत॒ मा व॒यं तम् ॥ ३३ ॥

यः । नः॒ । अ॒ग्निः । पि॒त॒रः॒ । हृ॒त्-सु । अ॒न्तः । आ॒-वि॒वे॑श । अ॒मृतः॑ । मर्त्ये॑षु ॥ मयि॑ । अ॒हम् । तम् । परि॑ । गृ॒ह्णामि॒ । दे॒वम् । मा । सः । अ॒स्मान् । द्वि॒क्षत॒ । मा । व॒यम् । तम् ॥ ३३ ॥

भाषार्थ–(पितरः) हे पितरो ! [रक्षक ज्ञानियो] (यः) जो (अग्निः) प्रकाशस्वरूप [परमेश्वर] (मर्त्येषु) मरण धर्मियों में [मनुष्य आदि विकारवान् पदार्थों] में (अमृतः) अमर [होकर] (नः) हमारे (हृत्सु) हृदयों में (अन्तः) भीतर (आविवेश) प्रविष्ट हुआ है। (अहम्) मैं [मनुष्य] (तम्) उस (देवम्) प्रकाशमान [परमात्मा] को (मयि) अपने में (परि) सब ओर (गृहणामि) ग्रहण करता हूं,(सः)वह (अस्मान्)

आत्मधारणशक्तिम् (पितृभ्यः) रक्षकेभ्यो विद्वद्भ्यः (अजराम्) अक्षीणाम् (कृणोमि) करोमि (दीर्घेण) (आयुषा) जीवनेन (इमान्) पितॄन् (सं सृजामि) संयोजयामि ॥

३३–(यः) (नः) अस्माकम् (अग्निः) प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः (पितरः) हे रक्षका विद्वांसः (हृत्सु) हृदयेषु (अन्तः) मध्ये (आ-विवेश) प्रविष्टवान् (अमृतः) अविनाशी (मर्त्येषु) मरणशीलेषु मनुष्यादिषु (मयि) आत्मनि (अहम्) मनुष्यः (तम्) (परि) सर्वतः (गृह्णामि) धारयामि (देवम्) प्रकाशमानं परमेश्वरम् (सः) परमेश्वरः (अस्मान्) धार्मिकान्

हम से (मा द्विक्षत) द्वेष न करे, और (वयम्)हम (तम्) उससे (मा) न [द्वेष करें] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—जब योगी जन विद्वानों के सत्सङ्ग से उस अविनाशी जगदीश्वर को सब सृष्टि में और अपने में भीतर साक्षात् करता है, तब परमात्मा उस से और वह परमात्मा से प्रीति करता है ॥ ३३ ॥

अपावृत्य गार्हपत्यात् क्रव्यादा प्रेत दक्षिणा ।
प्रियं पितृभ्य आत्मने ब्रह्मभ्यः कृणुता प्रियम् ॥ ३४ ॥

अप-आवृत्य । गार्ह-पत्यात् । क्रव्य-अदा । प्र । इत । दक्षिणा ॥ प्रियम् । पितृ-भ्यः । आत्मने । ब्रह्म-भ्यः । कृणुत । प्रियम् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(गार्हपत्यात्) गृहपति से संयुक्त ज्ञान से [विरुद्ध वर्तमान] (क्रव्यादा) मांस भक्षक [अज्ञान] के साथ [ठहरने से] (अपावृत्य) हटकर (दक्षिणा) सरल [सीधे वा वृद्धिकारक] मार्ग में (प्र इत) चले चलो और (आत्मने) अपने लिये और (पितृभ्यः) पितर [रक्षक] (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्माओं [वेदज्ञानियों] के लिये (प्रियम्) प्रिय और (प्रियम्) प्रीतिकारक कर्म (कृणुत) करो ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर और आत्मा के विरोधी अज्ञान से बचकर वेद मार्ग में चलकर अपना और सब विद्वानों का हित करे ॥ ३४ ॥

द्विभागधनमादाय प्र क्षिणात्यवर्त्या ।
अग्निः पुत्रस्य ज्येष्ठस्य यः क्रव्यादनिराहितः ॥ ३५ ॥

(मा द्विक्षत) न वैरायेत (मा) मा द्विक्षाम (वयम्) (तम्) ॥

३४—(अपावृत्य) पृथग् भूत्वा (गार्हपत्यात्) गृहपतिना संयुक्तात् प्रबोधात् प्रतिकूलवर्तमानेन (क्रव्यादा) मांसभक्षकेण अज्ञानेन (प्रेत) प्रकर्षेण गच्छत (दक्षिणा) दक्षिणादाच्। पा० ५। ३। ३६। दक्षिण-आच्। सरले वृद्धिकारके वा मार्गे (प्रियम्) रुचिरम् (पितृभ्यः) पालकेभ्यः (आत्मने) स्वस्मै (ब्रह्मभ्यः) वेदविद्भ्यः (कृणुत) कुरुत (प्रियम्) तृप्तिकरम् ॥

द्विभाग-धनम् । आ-दाय॑ । प्र । क्षि॒णाति॒ । अव॑र्त्या ॥ अ॒ग्निः । पु॒त्रस्य॑ । ज्ये॒ष्ठस्य॑ । यः । क्र॒व्य॒-अत् । अनिः॑-आहितः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (क्रव्यात्) मांस भक्षक (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापकारी दोष] (अनिराहितः) नहीं निकाला गया है, वह [दोष] (ज्येष्ठस्य) श्रेष्ठ (पुत्रस्य) संशोधक पुरुष के (द्विभागधनम्) दोनों [संचित और क्रियमाण] भाग वाले धन को (आदाय) छीनकर (अवर्त्या) वृत्ति [जीविका] के बिना [उसको] (प्र क्षिणाति) नाश कर डालता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो बड़े बड़े महात्मा अपने दोष को नहीं मिटाते, वे पूर्व जन्म के और इस जन्म के पुण्य को नाश करके अपना मनुष्य जीवन नाश कर देते हैं ॥ ३५ ॥

यत् कृ॒षते॒ यद्व॑नु॒ते यच्च॑ व॒स्नेन॑ वि॒न्दते॑ ।
सर्वं॒ मर्त्य॑स्य॒ तन्नास्ति॑ क्र॒व्याच्चेदनि॑राहितः ॥ ३६ ॥

यत् । कृ॒षते॑ । यत् । व॒नु॒ते । यत् । च॒ । व॒स्नेन॑ । वि॒न्दते॑ ॥ सर्व॑म् । मर्त्य॑स्य । तत् । न । अ॒स्ति॒ । क्र॒व्य॒-अत् । च॒ । इ॒त् । अनिः॑-आहितः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ [मनुष्य] (कृषते) खेती करता है, (यत्) जो कुछ (वनुते) मांगता है, (च) और (यत्) जो कुछ (वस्नेन) मूल्य से (विन्दते) पाता है। (तत् सर्वम्) वह सब (मर्त्यस्य) मनुष्य का (न अस्ति)

३५—(द्विभागधनम्) सञ्चितक्रियमाणपुण्यभागयुक्तं धनम् (आदाय) गृहीत्वा (प्र) सर्वथा (क्षिणाति) क्षि हिंसायाम्—लट् । क्षिणोति । नाशयति (अवर्त्या) वृतु—इन् । वृत्त्या जीविकाया राहित्येन (अग्निः) अग्निवत्सन्तापको दोषः (पुत्रस्य) पुवो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । पूञ् शोधने—क्त । शोधकस्य पुरुषस्य (ज्येष्ठस्य) प्रशस्य—इष्ठन्, ज्य च । प्रशस्यतमस्य । श्रेष्ठस्य (यः) (क्रव्यात्) मांसभक्षकः (अनिराहितः) दधातेः—क्त । अबहिष्कृतः ॥

३६—(यत्) यत् किञ्चित् (कृषते) कृषिकर्मणा उद्योगेन प्राप्नोति (यत्) (वनुते) याचते (यत्) (च) (वस्नेन) मूल्येन (विन्दते) लभते (सर्वम्) (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (तत्) वस्तु (न) निषेधे (अस्ति) (क्रव्यात्)

नहीं है, (च इत्=चेत्) यदि (क्रव्यात्) मांसभक्षक [दोष] (अनिराहितः) नहीं निकाला गया है ॥ ३६

भावार्थ—जब तक मनुष्य अपने आत्मघाती दोषों को नहीं नाश करता, अज्ञान के कारण उसके सब पुण्य कर्म और उद्योग निष्फल हो जाते हैं ॥ ३६ ॥

अयज्ञियो हृतवर्चा भवति नैनेन हविरत्तवे ।
छिनत्ति कृष्या गोर्धनाद् यं क्रव्यादनुवर्तते ॥ ३७ ॥

अयज्ञियः । हृत-वर्चाः । भवति । न । एनेन । हविः । अत्तवे ॥ छिनत्ति । कृष्याः । गोः । धनात् । यम् । क्रव्य-अत् । अनु-वर्तते ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—वह पुरुष (अयज्ञियः) संगति के अयोग्य, (हतवर्चाः) नष्ट तेज वाला (भवति) हो जाता है, (एनेन) इस कारण से [उसे] (हविः) ग्राह्य अन्न (अत्तवे) खाना (न) नहीं [होता] । [उस को] (क्रव्यात्) मांस भक्षक [दोष वा रोग] (कृष्याः) खेती से, (गोः) गौ से और (धनात्) धन से (छिनत्ति) काट देता है, वह [मांसभक्षक] (यम् अनुवर्तते) जिस पुरुष के पीछे पड़ जाता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—खोटे कुकर्मी मनुष्य से न कोई मिलता है और न वह अन्न आदि पदार्थ पा सकता है, तब वह दुराचारी महा दुखी होता है ॥ ३७ ॥

मुहुर्गृध्यैः प्र वदत्यार्तिं मर्त्यो नीत्य ।
क्रव्याद् यानग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥ ३८ ॥

मांसभक्षको दोषः (चेत्) यदि (अनिराहितः) अबहिष्कृतः ॥

३७—(अयज्ञियः) असंगतियोग्यः (हतवर्चाः) नष्टतेजाः (भवति) (न) निषेधे (एनेन) अनेन कारणेन (हविः) ग्राह्यमन्नम् (अत्तवे) खादितुम् (छिनत्ति) कृन्तन्ति तमिति शेषः (कृष्याः) कृषिकर्मसकाशात् (गोः) धेनुसकाशात् (धनात्) (यम्) पुरुषम् (क्रव्यात्) मांसभक्षको दोषः (अनुवर्तते) अनुगच्छति ॥

मुहुः । गृध्यैः । प्र । वदति । आर्तिम् । मर्त्यः । नि-इत्य ॥
क्रव्य-अत् । यान् । अग्निः । अन्तिकात् । अनु-विद्वान् ।
वि-तावति ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(मर्त्यः) [वह] मनुष्य (आर्तिम्) विपत्ति में (नीत्य) नीचे जाकर (गृध्यैः) लोभियों से (मुहुः) बार बार (वदति) बातचीत करता है, (यान्=यम्) जिस [मनुष्य] को (क्रव्यात्) मांसभक्षक (अग्निः) अग्नि [समान सन्ताप कारी दोष आदि] (अन्तिकात्) निकट से (अनुविद्वान्) निरन्तर जानता हुआ (वितावति) सता डालता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—दुराचारी पुरुष अपनी विपत्ति बार बार उन दुष्टों से कहता है जिन के फन्दे में पड़कर यह सब कष्ट पाया है ॥ ३८ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आगे मन्त्र ५२ में है ॥

ग्राह्या गृहाः सं सृज्यन्ते स्त्रिया यन्म्रियते पतिः । ब्रह्मैव
विद्वानेष्यो ३ यः क्रव्यादं निरादधत् ॥ ३९ ॥
ग्राह्या । गृहाः । सम् । सृज्यन्ते । स्त्रियाः । यत् । म्रियते ।
पतिः ॥ ब्रह्मा । एव । विद्वान् । एष्यः । यः । क्रव्य-अदम् ।
निः-आदधत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(गृहाः) घर (ग्राह्या) ग्राही [जकड़ने वाली शृङ्खला आदि बन्धन] से (संसृज्यन्ते) संयुक्त हो जाते हैं, (यत्) जब (स्त्रियाः)

३८—(मुहुः) बारं बारम् (गृध्यैः) ऋदुपधाच्चाक्लृपिचृतेः । पा० ३ । १ । ११० । गृधु लिप्सायाम्—क्यप् । लोभिभिः सह (प्र) (वदति) कथयति (आर्तिम्) आङ्+ऋ गतौ हिंसायां च—क्तिन् । पीडाम् (मर्त्यः) मनुष्यः (नीत्य) नि+इण् गतौ—ल्यप् । नीचैः प्राप्य (क्रव्यात्) मांसभक्षकः (याम्) एकवचनस्य बहुवचनम् । यं मर्त्यम् (अग्निः) अग्निवत्सन्तापको दोषादिः (अन्तिकात्) समीपात् (अनुविद्वान्) निरन्तरेण जानन् (वितावति) तु हिंसायाम्—लट्, शपो अलुक् छान्दसः । वितौति । विशेषेण हिनस्ति ॥

३९—(ग्राह्या) अ० २ । ९ । १ । ग्रह आदाने—इञ् । ग्राहकेण बन्धनेन शृङ्खलादिना (गृहाः) गेहानि (संसृज्यन्ते) संयुज्यन्ते (स्त्रियाः) गृह-

स्त्री का (पतिः) पति (म्रियते) प्राण छोड़ देता है [निरुद्यमी हो जाता है]। [इस लिये] (ब्रह्मा] ब्रह्मा [चारों वेदवेत्ता पुरुष] (एव) ही (विद्वान्) विद्वान् [पति] (एष्यः] खोजना चाहिये, (यः) जो (क्रव्यादम्) मांस भक्षक [दोष] को (निरादधत्) हटा देवे ॥ ३९ ॥

भावार्थ—विदुषी स्त्री के अविद्वान् निरुद्यमी पति होने से घर में विपत्ति आजाती है, इस लिये स्त्री विदुषी होकर पूर्ण विद्वान् से विवाह करके आपत्ति से बच कर सदा सुखी रहे ॥ ३९ ॥

यद् रि॒प्रं शम॑लं च॒कृम यच्च॑ दुष्कृ॒तम् ।
आपो॑ मा॒ तस्मा॑च्छुम्भन्त्व॒ग्नेः सं॑कसुका॒च्च यत् ॥ ४० ॥ (१०)

यत् । रि॒प्रम् । शम॑लम् । च॒कृम । यत् । च॒ । दुः॒-कृ॒तम् ॥ आप॑ः । मा॒ । तस्मा॑त् । शु॒म्भ॒न्तु॒ । अ॒ग्नेः । स॒म्-क॑सुकात् । च॒ । यत् ॥ ४० ॥ (१०)

भाषार्थ—(संकसुकात्) यथावत् शासक (अग्नेः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] से पृथक् होकर (यत्) जो कुछ (रिप्रम्) पाप (च) और (यत्) जो कुछ (शमलम्) भ्रष्ट व्यवहार (च) और (यत्) जो कुछ (दुष्कृतम्) दुष्ट कर्म (चकृम) हमने किया है, (आपः) आप्त प्रजायें [यथार्थ वक्ता लोग] (मा) मुझको (तस्मात्) उस [पापादि]सेपृथक् करके

पत्न्याः (यत्) यदा (म्रियते) प्राणांस्त्यजति। निरुद्यमी भवति (पतिः) स्वामी (ब्रह्मा) चतुर्वेदवेत्ता (एव) निश्चयेन (विद्वान्) (एष्यः) अन्वेषणीयः (यः) (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं दोषम् (निरादधत्) दधातेर्लेट्। निस्सारयेत् ॥

४०—(यत्) यत् किञ्चित् (रिप्रम्) पापम् (शमलम्) अ० ४। ९। ६। शकिशम्योर्नित्। उ०१। ११२। शमु उपशमे—कलप्रत्ययः। अशुद्धव्यवहारम् (चकृम) वयं कृतवन्तः (यत्) (च) (दुष्कृतम्) (आपः) आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। २७। यथार्थवक्तारः पुरुषाः (मा) माम् (तस्मात्) पापादिकर्मणः पृथक् कृत्वा (शुम्भन्तु) शुम्भ दीप्तौ शोभायाम्। शुम्भयन्तु। शोभयन्तु (अग्नेः) अग्निवत्तेजस्विनः पुरुषात् पृथग् भूत्वा (संकसुकात्)

(शुम्भन्तु) शोभायमान करें ॥ ४० ॥

भावार्थ—यदि मनुष्य सुसंगति छोड़ कर पाप कर्म करे, तौ वह विद्वानों यथार्थ उपदेशकों का आश्रय लेकर अपने को फिर शुद्ध पवित्र बनावे ॥ ४० ॥

ता अ॑ध॒रादुदी॑ची॒राव॑वृत्रन् प्रजान॒तीः प॒थिभि॑र्देव॒यानैः॑ ।
पर्व॑तस्य वृष॒भस्याधि॑ पृ॒ष्ठे नवा॑श्चरन्ति स॒रितः॑ पु॒रा॒णीः ४१

ताः । अ॒ध॒रात् । उदी॑चीः । आ । अ॒व॒वृ॒त्र॒न् । प्र॒-जा॒न॒तीः । प॒थि-भिः॑ । दे॒व॒-यानैः॑ ॥ पर्व॑तस्य । वृ॒ष॒भस्य॑ । अधि॑ । पृ॒ष्ठे । नवाः॑ । च॒र॒न्ति॒ । स॒रितः॑ । पु॒रा॒णाः ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(अधरात्) नीचे से (उदीचीः) ऊंची चलती हुयी, (प्रजानतीः) बहुत जानने वाली (ताः) वे [आप्त प्रजायें—म० ४०] (देवयानैः) विद्वानों के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (आ अववृत्रन्) घूम कर आई हैं । (वृषभस्य) बरसते हुये (पर्वतस्य) पहाड़ की (पृष्ठे अधि) पीठ के ऊपर (नवाः) नवीन (सरितः) नदियां (पुराणीः) पुरानी [नदियों] को (चरन्ति) चली जाती हैं ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेद शास्त्रों की मर्यादा पर चलकर, छोटी दशा से बड़े होते हैं, जैसे बरसते हुये पहाड़ से छोटी छोटी नवीन नदियां निकल कर पुरानी बड़ी नदियों में मिलकर बड़ी होती जाती हैं ॥ ४१ ॥

अग्ने॑ अक्र॒व्या॒न्निः क्र॒व्यादं॑ नु॒दा दे॑व॒यज॑नं वह ॥ ४२ ॥

म० ११ । सम्यक् शासकात् (च) (यत्) ॥

४१—(ताः) आपः । आप्ताः प्रजाः—म० ४० (अधरात्) निम्नपदात् (उदीचीः) उपरिगच्छन्त्यः (आ अववृत्रन्) म० २२ । आवृता अभवन् (प्रजानतीः) बहुविदुष्यः (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) विद्वद्भिर्गन्तव्यैः (पर्वतस्य) शैलस्य (वृषभस्य) वृषु सेचने—अभच् कित् । वर्षणशीलस्य (अधि) उपरि (पृष्ठे) उच्चप्रदेशे, (नवाः) नवीनाः (चरन्ति) प्राप्नुवन्ति (सरितः) नद्यः (पुराणीः) पुरातनीर्नदीः ॥

अग्ने॑ । अ॒क्र॒व्य॒-अ॒त् । निः । क्र॒व्य॒-अद॑म् । नु॒द॒ । आ । दे॒व॒-यज॑नम् । व॒ह॒ ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(अक्रव्यात्) हे अमांस भक्षक ! [शान्त स्वभाव] (अग्ने) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष !] (क्रव्यादम्) मांस भक्षक [दोष] को (निः नुद) बाहर ढकेल दे, और (देवयजनम्) विद्वानों के सत्कार योग्य व्यवहार को (आ वह) यहां ला ॥ ४२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग दुष्ट व्यवहारों को छोड़ कर वैदिक व्यवहारों का प्रचार करें ॥ ४२ ॥

इ॒मं क्र॒व्यादा वि॑वे॒शा॒यं क्र॒व्याद॒मन्व॑गात् ।
व्या॒घ्रौ कृ॒त्वा ना॑ना॒नं तं ह॑रामि शि॒वाप॒रम् ॥ ४३ ॥

इ॒मम् । क्र॒व्य॒-अत् । आ । वि॒वे॒श॒ । अ॒यम् । क्र॒व्य॒-अद॑म् । अनु॑ । अ॒गा॒त् ॥ व्या॒घ्रौ । कृ॒त्वा । ना॒ना॒नम् । तम् । ह॒रा॒मि॒ । शि॒व॒-अ॒प॒रम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ-(क्रव्यात्) मांस भक्षक [दोष] ने (इमम्) इस [पुरुष] में (आ विवेश) आकर प्रवेश किया है, [अथवा] (अयम्) यह [पुरुष] (क्रव्यादम् अनु) मांस भक्षक [दोष] के पीछे पीछे (अगात्) चला है। (व्याघ्रौ) इन दोनों व्याघ्रों [दोषों] को (नानानम्) पृथक् पृथक् (कृत्वा) करके (तम्) उस (शिवापरम्) मङ्गल से भिन्न [अमङ्गल कारी दोष] को (हरामि) नाश करता हूं ॥ ४३ ॥

४२—(अग्ने) हे अग्निवत्तेजस्विन् विद्वन् (अक्रव्यात्) हे अमांसभक्षक। शान्तस्वभाव (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं दोषम् (निर्णुद) निःसारय (देवयजनम्) देव+यज—ल्युट्। विद्वद्भिः पूजितव्यवहारम् (आ वह) प्रापय ॥

४३—(इमम्) पुरुषम् (क्रव्यात्) मांसभक्षको दोषः (आ विवेश) प्रविष्टवान् (अयम्) पुरुषः (क्रव्यादम्) मांसभक्षकं दोषम् (अनु) अनुसृत्य (अगात्) (व्याघ्रौ) तौ व्याघ्ररूपौ (कृत्वा) (नानानम्) नाना+णीञ् प्रापणे—ड। पृथक् पृथक् (तम्) दोषम् (हरामि) नाशयामि (शिवापरम्) शिवेन मङ्गलव्यवहारेण अपरं भिन्नम्। अमङ्गलकरं दोषम् ॥

भावार्थ—यदि दुराचारी मनुष्य शिष्टों में जा मिले वा शिष्ट दुराचारियों में जा पड़ें, दोनों दशाओं को विचार कर शिष्ट पुरुष दुष्ट व्यवहार से प्रयत्न पूर्वक छुटे ॥ ४३ ॥

अन्तर्धिर्देवानां परिधिर्मनुष्याणा-
मग्निर्गार्हपत्य उभयानन्तरा श्रितः ॥ ४४ ॥

अन्तः-धिः । देवानाम् । परि-धिः । मनुष्याणाम् ॥ अग्निः । गार्ह-पत्यः । उभयान् । अन्तरा । श्रितः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[जो] (देवानाम्) उत्तम गुणों का और (मनुष्याणाम्) [मननशील] मनुष्यों का (अन्तर्धिः) भीतर से धारण करनेवाला और (परिधिः) सब ओर से धारण करने वाला है, [वह] (गार्हपत्यः) गृहपतियों से संयुक्त (अग्निः) ज्ञान स्वरूप [परमेश्वर] (उभयान् अन्तरा) दोनों पक्षों [उत्तम गुणों और मनुष्यों] के भीतर (श्रितः) ठहरा है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब के भीतर और बाहिर व्यापक होकर सर्वनियन्ता है, उसे गृहपति विद्वान् लोग साक्षात् करके सुख पाते हैं ॥ ४४ ॥

जीवानामायुः प्र तिर त्वमग्ने पितॄणां लोकमपि गच्छन्तु ये मृताः।
सुगार्हपत्यो वितपन्नरातिमुषामुषां श्रेयसीं धेह्यस्मै ॥ ४५ ॥

जीवानाम् । आयुः । प्र । तिर । त्वम् । अग्ने । पितॄणाम् । लोकम् । अपि । गच्छन्तु । ये । मृताः ॥ सु-गार्हपत्यः । वि-तपन् । अरातिम् । उषाम्-उषाम् । श्रेयसीम् । धेहि । अस्मै ॥ ४५ ॥

४४—(अन्तर्धिः) उपसर्गे घोः किः । पा० ३ । ३ । ९२ । अदन्तरोरुपसर्गवद्वृत्तिः । वा० पा० ३ । १०६ । अन्तर्+डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि । मध्ये धारकः (देवानाम्) दिव्यगुणानाम् (परिधिः) सर्वतो धारकः (मनुष्याणाम्) मननशीलानां जनानाम् (अग्निः) ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (गार्हपत्यः) गृहपतिभिः संयुक्तः (उभयान्) देवमनुष्यान् (अन्तरा) मध्ये (श्रितः) स्थितः ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (जीवानाम्) जीवतों [पुरुषार्थियों] का (आयुः) जीवन (प्र तर) बढ़ा (ये) जो (मृताः) प्राण छोड़े हुये [पुरुषार्थ हीन] हैं, वे (अपि) भी (पितॄणाम्) पितरों [रक्षक ज्ञानियों] के (लोकम्) समाज में (गच्छन्तु) पहुंचें । (सुगार्हपत्यः) सुन्दर गृहपतियों से युक्त तू [परमेश्वर] (अरातिम्) बैरी को (वितपन्) तपाता हुआ (श्रेयसीम्) अधिक कल्याणकारी (उषामुषाम्) प्रत्येक उषा [प्रभातवेला] (अस्मै) इस [उपासक] को (धेहि) धारण कर ॥ ४५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से पुरुषार्थी अपना जीवन सुफल करते हैं, इससे पुरुषार्थहीन पुरुष शिष्टों के सत्संग से अपना जीवन सदा सुधार कर नित्य नवीन सुख प्राप्त करें ॥ ४५ ॥

सर्वा॑नग्ने॒ सह॑मानः स॒पत्ना॒नैषा॒मूर्जं॑ र॒यिम॒स्मासु॑ धेहि ॥४४॥

सर्वा॑न् । अग्ने॒ । सह॑मानः । स॒-पत्ना॑न् । आ । ए॒षा॒म् । ऊर्ज॑म् । र॒यिम् । अ॒स्मासु॑ । धे॒हि॒ ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे ज्ञान स्वरूप ! [परमेश्वर] (सर्वान्) सब (सपत्नान्) बैरियों को (सहमानः) हराता हुआ तू (एषाम्) इनके (ऊर्जम्) अन्न और (रयिम्) धन को (अस्मासु) हम [धर्मात्माओं] में (आ धेहि) सब प्रकार धारण कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से धर्मात्मा लोग अधर्मियों को सदा नीचा रखते हैं ॥ ४६ ॥

४५—(जीवानाम्) जीवताम् । पुरुषार्थिनाम् (आयुः) जीवनम् (प्रतर) प्रवर्धय (त्वम्) (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (पितॄणाम्) पालकानाम् । विदुषाम् (लोकम्) समाजम् (अपि) एव (गच्छन्तु) प्राप्नुवन्तु (ये) (मृताः) त्यक्तप्राणाः । पुरुषार्थहीनाः (सुगार्हपत्यः) विद्वद्भिर्गृहपतिभिः संयुक्तः (वितपन्) विविधं दहन् (अरातिम्) शत्रुम् (उषामुषाम्) प्रत्युषम् (श्रेयसीम्) अधिकश्रेयस्करीम् (धेहि) धारय (अस्मै) उपासकाय ॥

४६—(सर्वान्) (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमात्मन् (सहमानः) अभिभवन् (सपत्नान्) शत्रून् (आ) समन्तात् (एषाम्) शत्रूणाम् (ऊर्जम्) अन्नम् (रयिम्) धनम् (अस्मासु) धार्मिकेषु (धेहि) धारय ॥ ४६ ॥

इ॒मम॑न्द्रं॒ वह्नि॑ प॒प्रिम॒न्वार॑भध्वं॒ स वो॒ निर्व॑क्षद् दुरि॒ता-द॑व॒द्यात्। तेनाप॑ ह॒त शरु॑मा॒पत॑न्तं॒ तेन॑ रु॒द्रस्य॒ परि॑ पाता॒-स्ताम् ॥ ४७ ॥

इ॒मम्। इन्द्र॑म्। वह्नि॑म्। प॒प्रिम्। अ॒नु-आ॒र॑भध्वम्। सः। वः॒। निः। व॒क्ष॒त्। दुः॒-इ॒तात्। अ॒व॒द्यात् ॥ तेन॑। अप॑। ह॒त॒। शरु॑म्। आ॒-पत॑न्तम्। तेन॑। रु॒द्रस्य॑। परि॑। पा॒त॒। अ॒स्ताम् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वह्निम्) सब को चलानेवाले, (पप्रिम्) पूर्ण करने वाले (इमम्) इस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] का (अन्वारभध्वम्) निरन्तर सहारा लो, (सः) वह (वः) तुम को (अवद्यात्) निन्दा से और (दुरितात्) कष्ट से (निः वक्षत्) निकालेगा। (तेन) उस [परमेश्वर] के साथ ही, (आपतन्तम्) आ पड़ते हुये (शरुम्) वज्र को (अप हत) नष्ट कर दो, (तेन) उसी के साथ,(रुद्रस्य) ज्ञान नाशक [शत्रु] के (अस्ताम्) चलाये हुये [तीर] को (परि पात) पृथक् रक्खो ॥ ४७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर अपना कर्त्तव्य करते हैं, वे बुराइयों से बचकर दुष्टों के फन्दों में नहीं फंसते ॥ ४७ ॥

४७—[इमम्] पूर्वोक्तम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् (वह्निम्) सर्ववोढारम् (पप्रिम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च। पा० ३। २। १७१। प्रा पूरणे—किन्। पूरकम् (अन्वारभध्वम्) निरन्तरमवलम्बध्वम् (सः) परमेश्वरः (वः) युष्मान् (निर्वक्षत्) वहतेर्लेटि सिप्। निर्वहेत् (दुरितात) कष्टात् (अवद्यात्) निन्द्यव्यवहारात् (तेन) इन्द्रेण सह (अप-हत) नाशयत (शुरुम्) वज्रम् (आपतन्तम्) (तेन) (रुद्रस्य) अ० २। २७। ६। रु गतौ—क्विप्, तुक्+रु वधे—ड। रुत् ज्ञानं रवते नाशयतीति रुद्रः, तस्य ज्ञाननाशकस्य शत्रोः (परि) पृथग्भावे (पात) रक्षत (अस्ताम्) क्षिप्तामिषुम् ॥ ४८ ॥

अनड्वाहं प्लवमन्वारभध्वं स वो निर्वक्षद् दुरितादवद्यात् ।
आ रोहत सवितुर्नावमेतां षड्भिरुर्वीभिरमतिं तरेम ॥ ४८ ॥

अनड्वाहम् । प्लवम् । अनु-आरभध्वम् । सः । वः । निः । वक्षत् । दुः-इतात् । अवद्यात् ॥ आ । रोहत । सवितुः । नावम् । एताम् । षट्-भिः । उर्वीभिः । अमतिम् । तरेम ४८॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (अनड्वाहम्) जीवन के ले चलने वाले (प्लवम्) [डोंगी रूप] [परमेश्वर] का (अन्वारभध्वम्) निरन्तर सहारा लो, (सः) वह (वः) तुमको (अवद्यात्) निन्दा से और (दुरितात्) कष्ट से (निः वक्षत्) निकालेगा। (सवितुः) चलाने वाले [चतुर नाविक वा मांझी] की (एताम् नावम्) इस नाव पर (आ रोहत) चढ़ो, (षड्भिः) छह (उर्वीभिः) चौड़ी [दिशाओं] से (अमतिम्) विपत्ति को (तरेम) हम पार करें ॥ ४८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि दुष्ट निन्दित कर्म छोड़ कर दुःख को पार करें, जैसे चतुर मांझी की नाव द्वारा सब ऊपर नीचे और पूर्व आदि दिशाओं में सुरक्षित रह कर समुद्र पार करते हैं ॥ ४८ ॥

अहोरात्रे अन्वेषि बिभ्रत् क्षेम्यस्तिष्ठन् प्रतरणः सुवीरः ।
अनातुरान्त्सुमनसस्तल्प बिभ्रज्ज्योगेव नः पुरुषगन्धिरेधि ४९॥

अहोरात्रे इति । अनु । एषि । बिभ्रत् । क्षेम्यः । तिष्ठन् ।

४८—(अनड्वाहम्) अ० ४। ११। १। अन प्राणने असुन्+वह प्रापणे—क्विप्। अनसः प्राणस्य जीवनस्य वा वाहकं गमयितारम् (प्लवम्) प्लुङ् गतौ—अप्। उडुपं भेलं तद्रूपं परमात्मानम् (आ रोहत) अधितिष्ठत (सवितुः) प्रेरकस्य नाविकस्य (नावम्) नौकाम् (एताम्) (षड्भिः) ऊर्ध्वाधोभ्यां सह पूर्वादिभिः (उर्वीभिः) विस्तृताभिर्दिग्भिः (अमतिम्) अमेरतिः। उ० ४। ५० अम पडिने-अति। विपत्तिम् (तरेम) पारयेम। अन्यत् पूर्ववत्-म० ४७ ॥

प्र-तरणः । सु-वीरः ॥ अनातुरान् । सु-मनसः । तल्प । बिभ्रत् । ज्योक् । एव । नः । पुरुष-गन्धिः । एधि ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (बिभ्रत्) धारण करता हुआ (क्षेम्यः तिष्ठन्) सकुशल ठहरता हुआ, (प्रतरणः) बढ़ाता हुआ और (सुवीरः) महावीर होकर (अहोरात्रे) दिन राति (अनु) निरन्तर (एषि) चलता है। (तल्प) हे सहारा देने वाले [ईश्वर !] (नः) हमको (ज्योक्) बहुत काल तक (एव) निश्चय कर के (अनातुरान्) नीरोग और (सुमनसः) प्रसन्नचित्त (बिभ्रत्) रखता हुआ तू (पुरुषगन्धिः) पुरुषों को शोभा देने वाला (एधि) हो ॥ ४९ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर को सर्व सुख दाता जान कर प्रयत्न करें कि वे सदा स्वस्थ और प्रसन्न चित्त रह कर मनुष्यों के बीच शोभा बढ़ावें ॥ ४९ ॥

ते देवेभ्य आ वृश्चन्ते पापं जीवन्ति सर्वदा । क्रव्याद्यानग्निरन्तिकादश्व इवानुवपते नडम् ॥ ५० ॥ (११)

ते । देवेभ्यः । आ । वृश्चन्ते । पापम् । जीवन्ति । सर्वदा ॥ क्रव्य-अत् । यान् । अग्निः । अन्तिकात् । अश्वः-इव । अनु-वपते । नडम् ॥ ५० ॥ (११)

भाषार्थ—(ते) वे लोग (देवेभ्यः) विद्वानों के पास से (आ वृश्चन्ते)

४९—(अहोरात्रे) रात्रिदिने (अनु) निरन्तरम् (एषि) गच्छसि । व्याप्नोषि (बिभ्रत्) धारयन् (क्षेम्यः) सकुशलः (तिष्ठन्)वर्तमानः (प्रतरणः) प्रवर्धनः (सुवीरः) महावीरः (अनातुरान्) नीरोगान् (सुमनसः) प्रसन्नचित्तान् (तल्प) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । तल प्रतिष्ठाकरणे—पप्रत्ययः। हे प्रतिष्ठाप्रद परमेश्वर (बिभ्रत्) धारयन् (ज्योक्) चिरकालम् (नः) अस्मान् (पुरुषगन्धिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । पुरुष + गन्ध अर्दने, गतौ, याचने शोभने च—इन् । पुरुषान् गन्धयते शोभयते यः सः परमेश्वरः (एधि) भव ॥

५०—(ते) मनुष्याः (देवेभ्यः) विद्वत्सकाशात् (आ) समन्तात् (वृ-

कट जाते हैं [अलग हो जाते हैं], और (पापम्) पाप के साथ (सर्वदा) सदा (जीवन्ति) जीवते हैं। (यान्) जिन को (क्रव्यात्) मांस भक्षक (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापकारी पाप] (अन्तिकात्) निकट से (अनुवपते) काट गिराता है, (अश्व इव) जैसे घोड़ा (नडम्) नरकट घास को [कुचल डालता है] ॥ ५० ॥

भावार्थ—जो पापी मनुष्य विद्वानों से पृथक् रहते हैं, वे मतिभ्रष्ट हो कर अपने को गिराते हैं ॥ ५० ॥

येऽश्रद्धा धनकाम्या क्रव्यादा समासते।
ते वा अन्येषां कुम्भीं पर्यादधति सर्वदा॥ ५१ ॥

ये । अश्रद्धाः । धन-काम्या । क्रव्य-अदा । सम्-आसते ॥ ते । वै । अन्येषाम् । कुम्भीम् । परि-आदधति । सर्वदा ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अश्रद्धाः) श्रद्धा हीन (धनकाम्या) धन की कामना से (क्रव्यादा) मांस भक्षक [पाप] के साथ (समासते) मिलकर बैठते हैं। (ते) वे लोग (वै) निश्चय कर के (अन्येषाम्) दूसरों की (कुम्भीम्) हांडी को (सर्वदा) सदा (पर्यादधति) चढ़ाते हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जो लोग परमेश्वर में श्रद्धा नहीं रखते और कुकर्मों में फंस कर पाप करते हैं, वे निर्धनी होकर पराधीन होते हैं ॥ ५१ ॥

श्चन्ते) वृश्च्यन्ते। छिद्यन्ते। पृथग् भवन्ति (पापम्) यथा तथा, पापेन (जीवन्ति) (सर्वदा) (क्रव्यात्) मांसभक्षकः (यान्) पुरुषान् (अग्निः) अग्निवत्सन्तापको दोषः (अन्तिकात्) समीपात् (अश्वः) (इव) (अनुवपते) निरन्तरं मुण्डयति छिनत्ति (नडम्) तृणविशेषम् ॥

५१—(ये पुरुषाः (अश्रद्धाः) श्रद्धाहीनाः (धनकाम्या) वसिवपियजि० । उ० ४।१२५। कमु कान्तौ—इञ्। धनस्य कामनया (क्रव्यादा) मांसभक्षकेण पापेन सह (समासते) मिलित्वा तिष्ठन्ति (ते) पुरुषाः (वै) निश्चयेन (अन्येषाम्) (कुम्भीम्) उखाम्। स्थालीम् (पर्य्यादधति) चुल्लिप्रदेशे स्थापयन्ति (सर्वदा) ॥

प्रेवं पिपतिषति मनसा मुहुरा वर्तते पुनः ।
क्रव्याद् यानुग्निरन्तिकादनुविद्वान् वितावति ॥ ५२ ॥

प्र-इव । पिपतिषति । मनसा । मुहुः । आ । वर्तते । पुनः ॥ क्रव्य-अत् । यान् । अग्निः । अन्तिकात् । अनु-विद्वान् । वि-तावति ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—वह [मनुष्य] (मनसा) अपने मन से (प्र इव) आगे बढ़ता हुआ सा (पिपतिषति) ऐश्वर्यवान् होना चाहता है और (मुहुः) बारंबार (पुनः) पीछे को (आ वर्तते) लौट आता है। (यान्=यम्) जिस [मनुष्य] को (क्रव्यात्) मांस भक्षक (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापकारी दोष आदि] (अन्तिकात्) निकट से (अनुविद्वान्) निरन्तर जानता हुआ (वितावति) सता डालता है ॥ ५२ ॥

भावार्थ—पापी मनुष्य यद्यपि अपने को ऐश्वर्यवान् बनाने की चेष्टा करता है, परन्तु सत्य बल न होने से गिरता ही जाता है ॥ ५२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध पीछे—म० ३८ में आ चुका है ॥

अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टा भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व ।५३

अविः । कृष्णा । भाग-धेयम् । पशूनाम् । सीसम् । क्रव्य-अत् । अपि । चन्द्रम् । ते । आहुः ॥ माषाः । पिष्टाः । भाग-धेयम् । ते । हव्यम् । अरण्यान्याः । गह्वरम् । सचस्व ५३

भाषार्थ—(कृष्णा) आकर्षण करने वाली (अविः) रक्षिका प्रकृति

५२—(प्र इव) प्रकर्षेण गच्छन् यथा (पिपतिषति) पत्लृ गतौ ऐश्वर्ये च—सन्। ऐश्वर्यवान् भवितुमिच्छति (मनसा) चित्तेन (मुहुः) वारंवारम् (आ वर्तते) आगत्य वर्तते (पुनः) पश्चात् ॥ अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

५३—(अविः) म० १६। रक्षिका प्रकृतिः। सृष्टिः (कृष्णा) आकर्षण-

[सृष्टि] (पशूनाम्) सब जीवों का (भागधेयम्) सेवनीय पदार्थ है। (क्रव्यात्) हे मांस भक्षक ! [पाप] (ते) तेरे (चन्द्रम्) सुवर्ण को (अपि) भी (सीसम्) सीसा [जस्ता आदि निकृष्ट धातु समान] (आहुः) वे [विद्वान् लोग] बताते हैं। [हे पाप!] (पिष्टाः) चूर्ण किये हुये (माषाः) वध व्यवहार [संग्राम आदि] (ते) तेरा (हव्यम्) ग्राह्य (भागधेयम्) भाग होता है, (अरण्यान्याः) बड़े बन की (गह्वरम्) गुहा का (सचस्व) सेवन कर ॥५३॥

भावार्थ–परमेश्वर ने सृष्टि नियम सब प्राणियों के लिये हितकारी बनाये हैं। उन से विरुद्धगामी पुरुष मृगतृष्णा में फंसकर परस्पर युद्ध में अपना जीवन निष्फल करते हैं। ऐसे दुष्ट पाप से सब मनुष्य पृथक् रहें ॥ ५३ ॥

इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नडम् ।
तमिन्द्र इध्मं कृत्वा यमस्याग्निं निरादधौ ॥ ५४ ॥

इषीकाम् । जरतीम् । इष्ट्वा । तिल्पिञ्जम् । दण्डनम् । नडम् ॥ तम् । इन्द्रः । इध्मम् । कृत्वा । यमस्य । अग्निम् । निः-आदधौ ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] ने (जरतीम्) स्तुति योग्य (इषीकाम्) प्राप्तियोग्य [वेद वाणी] (इष्ट्वा) देकर और

शीला (भागधेयम्) भागः (पशूनाम्) व्यक्तवाचां चाव्यक्तवाचां च जीवानाम्–निरु० ११। २६। (सीसम्) निकृष्टधातुविशेषम् (क्रव्यात्) हे मांसभक्षक पाप (अपि) एव (चन्द्रम्) आह्लादकं सुवर्णम् (ते) तव (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (माषाः) मष वधे–घञ्। वधव्यवहाराः। संग्रामादयः (पिष्टाः) चूर्णिताः (भागधेयम्) भागः (ते) तव (हव्यम्) ग्राह्यम् (अरण्यान्याः) इन्द्रवरुणभवशर्व०। पा० ४। १। ४६। अरण्य–ङीप्, आनुक्। महारण्यस्य (गह्वरम्) गुहाम् (सचस्व) षच सम्बन्धे–संबधान। सेवस्व॥

५४—(इषीकाम्) ईष गतौ हिंसने च—ईकन्, टाप्। प्राप्तव्यां वेदवाणीम् (जरतीम्) जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १०। ८। जीय-

(तिल्पिञ्जम्) गति अर्थात् प्रयत्न के निवास वाले (दण्डनम्) दण्ड व्यवहार और (नडम्) प्रबन्ध व्यवहार को (इध्मम्) प्रकाशमान (कृत्वा) करके (यमस्य) न्यायाधीश के (तम्) उस (अग्निम्) प्रताप को (निरादधौ) निश्चय करके ठहराया है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने वेद द्वारा समस्त विद्याओं और नियमों का प्रकाश करके बताया है कि जो न्यायी मनुष्य ईश्वर नियम पर चलते हैं, वे जगत् में प्रतापी होते हैं ॥ ५४ ॥

प्रत्यञ्चमर्कं प्रत्यर्पयित्वा प्रविद्वान् पन्थां वि ह्याविवेश । परामीषामसून् दिदेश दीर्घेणायुषा समिमान्त्सृजामि ॥५५ (१२)

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । प्रति-अर्पयित्वा । प्र-विद्वान् । पन्थाम् । वि । हि । आ-विवेश ॥ परा । अमीषाम् । असून् । दिदेश । दीर्घेण । आयुषा । सम् । इमान् । सृजामि ॥ ५५ ॥ (१२)

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) सन्मुख चलते हुये (अर्कम्) सूर्य को (प्रत्यर्पयित्वा) प्रत्यक्ष स्थापित करके (प्रविद्वान्) बड़े विद्वान् मैं [परमेश्वर] ने (हि) ही (पन्थाम्) मार्ग में (वि) विविध प्रकार (आविवेश) प्रवेश किया है। (अमीषाम्) इन सब [प्राणियों और लोकों] के (असून्) प्राणों

तेरलृन्। पा० ३। २। १०४। जॄ स्तुतौ—अतृन्=अत्, ङीप्। स्तुत्याम् (इष्ट्वा) यज दाने। दत्त्वा (तिल्पिञ्जम्) तिल गतौ स्निग्धीभावे च—क्विप्+पिजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु—अच्। गतेः प्रयत्नस्य निवासम् (दण्डनम्) दण्डपातव्यवहारम् (नडम्) नल बन्धे—अच्, लस्य डः। प्रबन्धम् (तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (इध्मम्) प्रकाशमानम् (कृत्वा) (यमस्य) न्यायाधीशस्य (अग्निम्) प्रतापम् (निरादधौ) निश्चयेन सम्यक् स्थापितवान् ॥

५५—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षेण गच्छन्तम् (अर्कम्)सूर्यम् (प्रत्यर्पयित्वा) क्त्वापि छन्दसि। पा० ७। १। ३८ अनञ्पूर्वे क्त्वा। प्रत्यर्प्य। प्रत्यक्षं स्थापयित्वा (प्रविद्वान्) प्रकर्षेण जानन् परमेश्वरोऽहम् (पन्थाम्) पन्थानम् (वि) विविधम् (हि) निश्चयेन (आ विवेश) प्रविष्टवानस्मि (परा)

को (परा) पराक्रम से (दिदेश) मैंने आज्ञा में रक्खा है, (दीर्घेण आयुषा) दीर्घ आयु के साथ (इमान्) इन सब [प्राणियों और लोकों] की (सं सृजामि) संयुक्त करता हूं ॥ ५५ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सूर्य आदि लोकों को बनाकर नियमबद्ध करके चिरकाल तक ठहराता है, वैसे ही, हे मनुष्यो ! तुम ब्रह्मचर्य आदि नियमों पर चलकर अपना जीवन बड़ा बनाओ ॥ ५५ ॥

॥ इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥ [स्वर्गसूक्तम्]

१—६० ॥ स्त्रीपुरुषौ दम्पती वा देवते; अग्न्योदनस्वर्गादिमन्त्रोक्ताश्च देवताः ॥ १, ८, ११, १६, २१, ३५, ४३ भुरिक् त्रिष्टुप्; २–७; १३, १४, १५, १७, १८, २०, २३, २६–३४, ३६, ३७, ३८, ४०, ४२, ४४, ४५, ४६, ४८, ५१—५४ त्रिष्टुप्; ९, १०, १९, २५, ४७, ५० निचृत् त्रिष्टुप्; १२, २२ निचृज् जगती; २४ विराड् जगती; ३९, ४१ विराट् त्रिष्टुप्; ४९ त्रिष्टुप्, प्रियमिति, विराट्, धेनुरिति स्वराट्; ५५, ५७, ५८ अतिधृतिः; ५६ कृतिः; ५९ भुरिक् कृतिः; ६० भुरिगतिधृतिश्छन्दः ॥

परस्परोन्नतिकरणोपदेशः—परस्पर उन्नति करने का उपदेश ॥

पुमान् पुंसोऽधि तिष्ठ चर्मेहि तत्र ह्वयस्व यतमा प्रिया ते ।
यावन्तावग्रे प्रथमं समेयथुस्तद् वां वयो यमराज्ये समानम् ॥१॥

पुमान् । पुंसः । अधि । तिष्ठ । चर्म । इहि । तत्र । ह्वयस्व । यतमा । प्रिया । ते ॥ यावन्तौ । अग्रे । प्रथमम् । सम्-एयथुः । तत् । वाम् । वयः । यम-राज्ये । समानम् ॥१॥

प्राधान्येन (अमीषाम्) प्राणिनां लोकानां च (असून्) प्राणान् (दिदेश) आज्ञापितवानस्मि (दीर्घेण) चिरकालेन (आयुषा) जीवनेन (इमान्) जीवान् लोकांश्च (सं सृजामि) संयोजयामि ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] तू (पुमान्) रक्षक [पुरुष होकर] (पुंसः) रक्षक [पुरुषों] पर (अधि तिष्ठ) अधिष्ठाता हो, (चर्म) ज्ञान (इहि) प्राप्त कर, (तत्र) वहां [ज्ञान के भीतर] [उस शक्ति को] (ह्वयस्व) बुला, (यतमा) जौन सी [शक्ति अर्थात् परमेश्वर] (ते) तेरे लिये (प्रिया) प्रिय करने वाली है। (यावन्तौ) जितने [पराक्रमी] तुम दोनों ने (अग्रे) पहिली अवस्था में (प्रथमम्) प्रधान कर्म (समेयथुः) मिलकर पाया है, (तत्) उतना ही (वाम्) तुम दोनों का (वयः) जीवन (यमराज्ये) न्यायाधीश [परमेश्वर] के राज्य में (समानम्) समान है ॥ १ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को योग्य है कि प्रथम अवस्था में ब्रह्मचर्य सेवन से मनुष्यों में उत्तम ज्ञान प्राप्त करके अपने अपने पुरुषार्थ के अनुसार जीवन भर सुखी रहें ॥ १ ॥

तावद् वां चक्षुस्तति वीर्याणि तावत् तेजस्ततिधा वाजिनानि । अग्निः शरीरं सचते यदैधोऽधा पक्वान्मिथुना सं भवाथः ॥ २ ॥

तावत् । वाम् । चक्षुः । तति । वीर्याणि । तावत् । तेजः । तति-धा । वाजिनानि ॥ अग्निः । शरीरम् । सचते । यदा । एधः । अध । पक्वात् । मिथुना । सम् । भवाथः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वाम्) तुम दोनों की (तावत्) उतनी [पूर्व कर्म अनु-

१—(पुमान्) अ० १ । ८ । १ । पातीति पुमान् । रक्षको जीवः (पुंसः) रक्षकान् (अधि) अधिकृत्य (तिष्ठ) वर्तस्व (चर्म) चर गतिभक्षणयोः—मनिन् । ज्ञानम् (इहि) प्राप्नुहि (तत्र) ज्ञाने (ह्वयस्व) आह्वय (यतमा) बह्वीषु या शक्तिस्तामिति शेषः (प्रिया) हिता (ते) तुभ्यम् (यावन्तौ) यत्परिमाणौ पराक्रमिणौ (अग्रे) पूर्वे वयसि (प्रथमम्) प्रधानं कर्म (समेयथुः) सम्+आङ्+ईयथुः । युवां मिलित्वा प्राप्तवन्तौ (तत्) तावत् (वाम्) युवयोः (वयः) जीवनम् (यमराज्ये) न्यायाधीशस्य परमेश्वरस्य न्यायव्यवहारे (समानम्) तुल्यम् ॥

२—(तावत्) तत्परिमाणम् (वाम्) युवयोः स्त्रीपुरुषयोः (चक्षुः)

सार] (चक्षुः) दृष्टि है. (तति) उतने (वीर्याणि) वीर कर्म हैं, (तावत्) उतना (तेजः) तेज और (ततिधा) उतने प्रकार से (वाजिनानि) पराक्रम हैं, (यदा) जिस समय में वह [जीव] (शरीरम्) शरीर को (सचते) मिलता है, [जैसे] (अग्निः) अग्नि (एधः) इन्धन को [मिलता है], (अध) सो, (मिथुना) हे तुम दोनों बुद्धिमानो ! (पक्वात्) परिपक्व [ज्ञान] से (सम् भवाथः) शक्तिमान् हो जाओ ॥ २ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष जन्म समय पर अपने अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार उत्तम उत्तम साधन पाते हैं, जैसे अग्नि इन्धन पाकर प्रज्वलित होता है ॥ २ ॥

सम॑स्मिँल्लो॒के समु॑ देव॒याने॒ सं स्मा॑ स॒मेतं॑ यम॒राज्ये॑षु । पू॒तौ प॒वित्रै॒रुप॒ तद्ध्व॑येथां॒ यद्य॒द् रेतो॒ अधि॑ वां संब॒भूव॑ ॥ ३ ॥

सम् । अ॒स्मिन् । लो॒के । सम् । ऊं॒ इति॑ । दे॒व॒-याने॑ । सम् । स्म॒ । स॒म्-एत॑म् । य॒म॒-राज्ये॑षु ॥ पू॒तौ । प॒वित्रैः॑ । उप॑ । तत् । ह्व॒ये॒था॒म् । यत्-य॑त् । रेतः॑ । अधि॑ । वा॒म् । स॒म्-ब॒भूव॑ ॥

भाषार्थ—(अस्मिन् लोके) इस लोक [संसार वा जन्म) में (सम्) मिलकर, (देवयाने) विद्वानों के मार्ग में (उ) ही (सम्) मिलकर और (यमराज्येषु) न्यायाधीश [परमात्मा] के राज्यों [राज्य नियमों] में (सम् स्म)

दर्शनसामर्थ्यम् (तति) तावन्ति (वीर्याणि) वीरकर्माणि (तावत्) (तेजः) प्रतापः (ततिधा) तावत्प्रकारेण (वाजिनानि) पराक्रमाः (अग्निः) पावको यथा (शरीरम्) देहम् (सचते) संगच्छते प्राणी (यदा) यस्मिन् काले (एधः) इन्धनं यथा (अध)अथ । तदनन्तरम् (पक्वात्) दृढाज् ज्ञानात् (मिथुना) क्षुधिपिशिमिथः कित् । उ० ३ । ५५ । मिथ वधे मेधायां च—उनन् । हे मेधाविनौ (सं भवाथः) लेटि रूपम् । युवां शक्तौ भवतम् ॥

३—(सम्) संगत्य (अस्मिन्) वर्तमाने (लोके) संसारे जन्मनि वा (सम्) (उ) एव (देवयाने) विदुषां मार्गे (सम्) (स्म) अवश्यम् (समेतम्) सम्+आङ्+इतम् । युवां संगतौ भवतम् (यमराज्येषु) न्यायाधीशस्य

अवश्य मिलकर (समेतम्) तुम दोनों साथ साथ चलो। (पवित्रैः) पवित्र कर्मों से (पूतौ) पवित्र तुम दोनों (तत्) उस [बल] को (उप ह्वयेथाम्) आदर से बुलाओ, (यद्यत्) जो जो (रेतः) वीर्य [बल] (वाम् अधि) तुम दोनों में अधिकार पूर्वक (संबभूव) उत्पन्न हुआ है ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि संसार के बीच विद्वानों के मार्ग से परमात्मा के नियमों पर चल कर धार्मिक व्यवहार से दोनों मिलकर उस सामर्थ्य का प्रकाश करें जिस को उन्होंने ब्रह्मचर्य आदि से पाया है ॥ ३ ॥

आपस्पुत्रासो अभि सं विशध्वमिमं जीवं जीवधन्याः समेत्य।
तासां भजध्वममृतं यमाहुर्यमोदनं पचति वां जनित्री ॥ ४ ॥

आपः। पुत्रासः। अभि। सम्। विशध्वम्। इमम्। जीवम्। जीव-धन्याः। सम्-एत्य ॥ तासाम्। भजध्वम्। अमृतम्। यम्। आहुः। यम्। ओदनम्। पचति। वाम्। जनित्री ॥४॥

भावार्थ—(पुत्रासः) हे पुत्रो! [नरक से बचाने वालो!] (जीव-धन्याः) जीवों में धन्य [बड़ाई योग्य] तुम सब! (इमम् जीवम्) इस जीवते [जीवात्मा] से (समेत्य) समागम करके, (आपः=अपः) आप्त प्रजाओं में (अभि) सब ओर (सम्) मिलते हुये (विशध्वम्) प्रवेश करो। (तासाम्) उन [प्रजाओं] के बीच (अमृतम्) उस अमर [परमात्मा] को (भजध्वम्) तुम सब सेवो, (यम्) जिस को (ओदनम्) ओदन [सुख

परमेश्वरस्य राज्यनियमेषु (पूतौ) शुद्धौ (पवित्रैः) शुद्धकर्मभिः (तत्) रेतः (उप ह्वयेथाम्) आह्वयतम् (यद्यत्) (रेतः) वीर्यं सामर्थ्यम् (अधि) अधिकृत्य (वाम्) युवाम् (संबभूव) उत्पन्नो बभूव ॥

४—(आपः) द्वितीयार्थे जस्। अपः। आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६। २७ (पुत्रासः) अ० १। ११। ५। पुन्नाम्नो नरकाद् यस्मात् पितरं त्रायते सुतः। तस्मात् पुत्र इति प्रोक्तः पितॄन् यः पाति सर्वतः ॥ रामायणे, २। १०७। १२। हे पुत्राः। नरकाद् रक्षकाः (अभि) सर्वतः (सम्) संगत्य (विशध्वम्) प्रविशत (इमम्) अन्तर्हितम् (जीवम्) जीवन्तं पुरुषार्थिनं प्राणिनम् (जीवधन्याः) हे जीवेषु श्लाध्याः (समेत्य) समागत्य (तासाम्)

बरसाने वाला वा मेघरूप परमेश्वर] (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं, (यम्) जिस को (वाम्) तुम दोनों की (जनित्री) उत्पन्न करने वाली [जन्म व्यवस्था] (पचति) परिपक्व [दृढ़] करती है ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम अपने जीवित पुरुषार्थी आत्मा को पहिचान कर प्रजाओं को कष्टों से छुड़ाओ, और अविनाशी परमात्मा का सदा ध्यान रक्खो, उसने अपनी न्याय व्यवस्था से तुम को उत्तम स्त्री और पुरुष बनाया है ॥ ४ ॥

यं वां पिता पचति यं च माता रिप्रान्निर्मुक्त्यै शमलाच्च वाचः।
स ओदनः शतधारः स्वर्ग उभे व्याप नभसी महित्वा॥ ५ ॥

यम् । वाम् । पिता । पचति । यम् । च । माता । रिप्रात् । निःऽमुक्त्यै । शमलात् । च । वाचः ॥ सः । ओदनः । शतऽधारः । स्वःऽगः । उभे इति । वि । आप । नभसी इति । महिऽत्वा ५

भाषार्थ—(यम्) जिस [परमेश्वर] को (वाम्) तुम दोनों का (पिता) पिता (च) और (यम्) जिस को (माता) तुम्हारी माता (रिप्रात्) पाप से (च) और (शमलात्) भ्रष्ट व्यवहार से (निर्मुक्त्यै) छुटने के लिये (वाचः) अपनी वाणियों द्वारा (पचति) पक्का [दृढ़] करती है। (सः) वह (शतधारः) सैकड़ों धारण शक्तियों वाला, (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला (ओदनः) ओदन [सुख बरसाने वाला परमेश्वर] (महि-

---

अपाम् । प्रजानां मध्ये (अमृतम्) मरणरहितम् । अविनाशिनम् (यम्) (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (यम्) (ओदनम्) अ० ११ । १ । १७ । सुखस्य वर्षकं मेघरूपं वा परमात्मानम् । ओदनो मेघः—निघ० १ । १० (पचति) दृढंकरोति (वाम्) युवयोः (जनित्री) जनयित्री । जन्मव्यवस्था ॥

५—(यम्) ओदनं परमेश्वरम् (वाम्) युवयोः (पिता) जनकः (पचति) अयं द्विकर्मकः । पक्वं करोति (यम्) (च) (माता) (रिप्रात्) पापात् (निर्मुक्त्यै) वियोजनाय (शमलात्) अ० १२ । २ । ४० । भ्रष्टव्यवहारात् (च) (वाचः) अकथितं च । पा० १ । ४ । ५१ । तृतीयार्थे द्वितीया । वाग्भिः (सः) (ओदनः) सुखवर्षकः परमेश्वरः (शतधारः) बहुधारणसामर्थ्योपेतः (स्वर्गः) सुखप्रापकः (उभे) (व्याप) व्याप्तवान् (नभसी)

त्वा) अपने महत्त्व से (उभे) दोनों (नभसी) सूर्य और पृथिवी [प्रकाशमान और अप्रकाशमान] लोकों में (वि आप) व्यापक हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे स्त्री पुरुषो ! जिस परमात्मा को तुम्हारे विद्वान् माता पिता ने पाप से छुटने के लिये साक्षात् किया है, वैसा ही तुम जानो ॥ ५ ॥

उभे नभसी उभयांश्च लोकान् ये यज्वनामभिजिताः स्वर्गाः। तेषां ज्योतिष्मान् मधुमान् यो अग्रे तस्मिन् पुत्रैर्जरसि सं श्रयेथाम् ॥ ६ ॥

उभे इति । नभसी इति । उभयान् । च । लोकान् । ये । यज्वनाम् । अभि-जिताः। स्वः-गाः॥ तेषाम् । ज्योतिष्मान् । मधु-मान् । यः। अग्रे । तस्मिन् । पुत्रैः। जरसि । सम् । श्रयेथाम् ६

भावार्थ—(ये) जो [लोक] (यज्वनाम्) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] करने वालों के (अभिजिताः) सब ओर से जीते हुये और (स्वर्गाः) सुख पहुंचाने वाले हैं, (तेषाम्) उन [लोकों] के मध्य (यः) जो [परमेश्वर] (अग्रे) पहिले से (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमय और (मधुमान्) ज्ञानमय है, (तस्मिन्) उस [परमेश्वर] में [वर्तमान] (उभे) दोनों (नभसी) सूर्य और पृथिवी [प्रकाशमान और अप्रकाशमान] लोकों को (च) और (उभयान्) दोनों [स्त्री पुरुष] समूह वाले (लोकान्) लोकों [समाजों वा घरों] को (पुत्रैः) अपने पुत्रों [दुःख से बचाने वालों] के साथ (जरसि) स्तुति में रहकर (सं श्रयेथाम्) तुम दोनों [स्त्री पुरुष] मिलकर सेवो ॥ ६ ॥

द्यावापृथिव्यौ । प्रकाशमानाप्रकाशमानौ लोकौ (महित्वा) महत्त्वेन ॥

६—(उभे) द्वे (नभसी) द्यावापृथिव्यौ (उभयान्) स्त्रीपुरुषसमूहद्वययुक्तान् (च) (लोकान्) समाजान् गृहाणि वा (ये) लोकाः (यज्वनाम्) अ० ४ । २१ । २ । यज-ङ्वनिप् । वेदविधानेन कृतधर्मणाम् (अभिजिताः) अभिप्राप्ताः (स्वर्गाः) सुखप्रापकाः (तेषाम्) लोकानां मध्ये (ज्योतिष्मान्) तेजोमयः (मधुमान्) विज्ञानमयः (यः) परमेश्वरः (अग्रे) आदौ (तस्मिन्) परमेश्वरे (पुत्रैः) म० ४ । नरकात् त्रायकैः सह (जरसि) अ० १ । ३० । २ । जॄ स्तुतौ-असुन् । स्तुतौ (संश्रयेथाम्) युवां परस्परं सेवेथाम् ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि विद्वानों के समान परमात्मा के रचे पदार्थों से यथावत् उपकार लेकर अपने विद्वान् धीर सन्तानों के साथ कीर्तिमान् होकर आनन्द पावें ॥ ६ ॥

प्राचींप्राचीं प्रदिशमा रभेथामेतं लोकं श्रद्दधानाः सचन्ते ।
यद् वां पक्वं परिविष्टमग्नौ तस्य गुप्तये दंपती सं श्रयेथाम् ॥७॥

प्राचीम्-प्राचीम् । प्र-दिशम् । आ । रभेथाम् । एतम् । लोकम् । श्रत्-दधानाः । सचन्ते ॥ यत् । वाम् । पक्वम् । परि-विष्टम् । अग्नौ । तस्य । गुप्तये । दंपती इति दम्-पती । सम् । । श्रयेथाम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(प्राचींप्राचीम्) प्रत्येक आगे वाली (प्रदिशम्) बड़ी दिशा को (आ रभेथाम्) तुम दोनों आरम्भ करो, (एतम्) इस [आगे बढ़ाने वाले] (लोकम्) दर्शनीय पद को (श्रद्दधानाः) श्रद्धा रखनेवाले लोग (सचन्ते) सेवते हैं । (यत्) जो कुछ (वाम्) तुम दोनों का (पक्वम्) परिपक्व [दृढ़ ज्ञान] (अग्नौ) प्रकाश स्वरूप [परमात्मा] में (परिविष्टम्) प्रविष्ट है, (तस्य) उस [ज्ञान] की (गुप्तये) रक्षा के लिये, (दम्पती) हे पति पत्नी ! (सं श्रयेथाम्) तुम दोनों मिलकर आश्रय लो ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रमात्मा में श्रद्धा वाले पुरुष शुभकामों में बढ़ते जाते हैं, उसी प्रकार विद्वान् पति पत्नी उस जगदीश्वर में पूर्ण विश्वास करके परस्पर प्रीति से ज्ञान की रक्षा और वृद्धि करें ॥७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आचुका है—अ० ६ । १२२ । ३ ॥

७—(प्राचींप्राचीम्) अ० ३ । २७ । १ । प्रत्येकाभिमुखीभूताम् (प्रदिशम्) प्रकृष्टां दिशाम् (आ रभेथाम्) आरम्भं कुरुतम् (एतम्) (लोकम्) दर्शनीयं पदम् (श्रद्दधानाः) श्रद्धावन्तः (सचन्ते) सेवन्ते (यत्) ज्ञानम् (वाम्) युवयोः (पक्वम्) दृढं ज्ञानम् (परिविष्टम्) प्रविष्टम् (अग्नौ) ज्ञानस्वरूपे परमात्मनि (तस्य) ज्ञानस्य (गुप्तये) रक्षायै (दम्पती) हे भार्यापती (सम्) परस्परम् (श्रयेथाम्) सेवेथाम् ॥

दक्षि॑णां दिश॑म॒भि नक्ष॑माणौ प॒र्याव॑र्तेथाम॒भि पात्र॑मे॒तत् ।
तस्मि॑न् वां य॒मः पि॒तृभि॑: संविदा॒नः प॒क्वाय॒ शर्म॑ बहु॒लं नि य॑च्छात् ॥ ८ ॥

दक्षि॑णाम् । दिश॑म् । अ॒भि । नक्ष॑माणौ । प॒रि॒-आव॑र्तेथाम् ।
अ॒भि । पात्र॑म् । ए॒तत् ॥ तस्मि॑न् । वा॒म् । य॒मः । पि॒तृभि॑: ।
स॒म्-वि॒दा॒नः । प॒क्वाय॑ । शर्म॑ । ब॒हु॒लम् । नि । य॒च्छा॒त् ॥८॥

भाषार्थ—(दक्षिणाम्) दाहिनी (दिशम् अभि) दिशा की ओर (नक्षमाणौ) चलते हुये तुम दोनों (एतत्) इस (पात्रम् अभि) रक्षासाधन [ब्रह्म] की ओर (पर्यावर्तेथाम्) घूमते हुये वर्तमान हो। (तस्मिन्) उस [ब्रह्म] में (वाम्) तुम दोनों का (यमः) नियम (पितृभिः) रक्षक [विद्वानों] के साथ (संविदानः) मिला हुआ (पकाय) परिपक्व [दृढ़ ज्ञान] के लिये (बहुलम्) बहुत (शर्म) आनन्द (नि) निरन्तर (यच्छात्) देवे ॥ ८ ॥

भावार्थ—दाहिनी दिशा को भी चलते हुये स्त्री पुरुष परमात्मा को साक्षात् करके विद्वानों के सत्संग से ब्रह्मचर्य आदि नियम पालते हुये ज्ञान के साथ आनन्द प्राप्त करें ॥ ८ ॥

प्र॒तीची॑ दि॒शामि॒यमिद् वर॒ं यस्यां॒ सोमो॒ अधि॒पा मृ॑डि॒ता च॑ ।
तस्यां॑ श्रयेथां सु॒कृत॑: सचेथा॒मधा॑ प॒क्वान्मि॑थु॒ना सं भ॑वाथ: ९॥

प्र॒तीची॑। दि॒शाम् । इ॒यम् । इत् । वर॑म् । यस्या॑म् । सोम॑: ।
अ॒धि॒-पाः । मृ॒डि॒ता । च॒ ॥ तस्या॑म् । श्र॒ये॒था॒म् । सु॒-कृत॑: ।
स॒चे॒था॒म् । अध॑ । प॒क्वात् । मि॒थु॒ना । सम् । भ॒वा॒थ॒: ॥ ९ ॥

८—(दक्षिणाम्) दक्षिणहस्तगताम् (दिशम्) (अभि) प्रति (नक्षमाणौ) गच्छन्तौ—निघ० २ । १४ । (पर्यावर्तेथाम्) परित आगत्य वर्तेथाम् (अभि) प्रति (पात्रम्) रक्षासाधनं ब्रह्म (एतत्) प्रत्यक्षम् (तस्मिन्) ब्रह्मणि (वाम्) युवयोः (यमः) नियमः (पितृभिः) रक्षकैर्विद्वद्भिः (संविदानः) संगच्छमानः (पक्वाय) दृढ़ज्ञानाय (शर्म) सुखम् (बहुलम्) (नि) नित्यम् (यच्छात्) दद्यात् ॥

भाषार्थ—(दिशाम्) दिशाओं के मध्य (इयम्) यह (प्रतीची) पीछे वाली [दिशा] (इत्) भी (वरम्) श्रेष्ठ है, (यस्याम्) जिस [दिशा] में (सोमः) जगत् का उत्पन्न करनेवाला [परमेश्वर] (अधिपाः) अधिष्ठाता (च) और (मृडिता) सुखदाता है। (तस्याम्) उस [दिशा] में (सुकृतः) सुकर्मी लोगों का (श्रयेथाम्) तुम दोनों आश्रय लो और (सचेथाम्) संसर्ग करो, (अध) सो, (मिथुना) हे तुम दोनों विद्वानों ! (पक्वात्) परिपक्व [ज्ञान] से (सं भवाथः) शक्तिमान् हो जाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—अन्य दिशाओं के समान पीछे की दिशा में भी परमेश्वर को साक्षी जानकर विद्वानों से मिलकर स्त्री पुरुष ज्ञान पूर्वक आनन्दित होवें ६

इस मन्त्र का अन्तिम पाद ऊपर मन्त्र २ में आ चुका है ॥

उत्त॑रं राष्ट्रं प्रजयोत्तरावद् दिशामुदी॑ची कृणवन्नो अग्र॑म् ।
पाङ्क्तं छन्दः पुरु॑षो बभूव विश्वैर्वि॒श्वाङ्गैः सह सं भ॑वेम १०(१३

उत्त॑रम् । राष्ट्रम् । प्र-जया । उत्त॒र-व॑त् । दिशाम् । उदी॑ची । कृणवत् । नः । अग्र॑म् ॥ पाङ्क्तम् । छन्दः । पुरु॑षः । बभूव । विश्वैः । विश्व-अङ्गैः । सह । सम् । भवेम ॥ १० ॥ (१३)

भाषार्थ—(दिशाम्) दिशाओं के बीच (उदीची) बायीं [दिशा] (नः) हमारे (उत्तरम्) अधिक उत्तम (राष्ट्रम्) राज्य को (प्रजया) प्रजा के साथ (उत्तरावत्) अधिक उत्तम व्यवहार वाला और (अग्रम्) अगुआ

६—(प्रतीची) अ० ३ । २७ । ३ । पश्चाद्भागस्था दिक (दिशाम्) दिशानां मध्ये (इयम्) दृश्यमाना (इत्) अपि (वरम्) यथा तथा वरणीया (यस्याम्) दिशि (सोमः) जगदुत्पादकः परमेश्वरः (अधिपाः) अधिपतिः (मृडिता) मृडयिता । सुखयिता (च) (तस्याम्) (श्रयेथाम्) सेवेथाम् (सुकृतः) पुण्यकर्मणः पुरुषान् (सचेथाम्) संगच्छेथाम् । अन्यत् पूर्ववत् म० २ ॥

१०—(उत्तरम्) उत्तमतरम् (राष्ट्रम्) राज्यम् (प्रजया) प्रजासमूहेन सह (उत्तरावत्) मतौ बह्वचोऽनजिरादीनाम् । पा० ६ । ३ । ११९ । इति दीर्घः । अधिकोत्तमव्यवहारयुक्तम् (दिशाम्) दिशानां मध्ये (उदीची) अ० ३ ।२७।४।

(कृणवत्) करे। (पुरुषः) पुरुष ने (पाङ्क्तम्) विस्तार वा गौरव से युक्त (छन्दः) स्वतन्त्रता को (बभूव) पाया है, (विश्वाङ्गैः) सब उपायों वाले (विश्वैः सह) सब [विद्वानों] के साथ (सं भवेम) हम शक्तिमान् होवें ॥ १० ॥

भावार्थ--सब स्त्री पुरुष अन्य दिशाओं के समान बायीं दिशा में धर्म से राज्य बढ़ाकर कीर्ति और स्वतन्त्रता के साथ विद्वानों के समागम से कीर्तिमान् होवें ॥ १० ॥

ध्रुवेयं वि॒राण्नमो॑ अस्त्व॒स्यै शि॒वा पु॒त्रेभ्य॑ उ॒त मह्य॑मस्तु ।
सा नो॑ देव्यदिते विश्ववार॒ इर्य॑ इव गो॒पा अ॒भि र॑क्ष प॒क्वम्॥११

ध्रु॒वा । इ॒यम् । वि॒-राट् । नम॑ः । अ॒स्तु॒ । अ॒स्यै । शि॒वा । पु॒त्रेभ्य॑ः । उ॒त । मह्य॑म् । अ॒स्तु॒ ॥ सा । न॒ः । दे॒वि॒ । अ॒दि॒ते॒ । वि॒श्व॒-वा॒रे॒ । इर्य॑ः-इव । गो॒पाः । अ॒भि । र॒क्ष॒ । प॒क्वम् ११

भाषार्थ--(ध्रुवा=ध्रुवायाम्) नीचे वाली [दिशा] में (इयम्) यह (विराट्) विराट् [विविध ऐश्वर्य वाली शक्ति परमेश्वर] है, (अस्यै) उस [शक्ति परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, वह (पुत्रेभ्यः) पुत्रों [नरक से बचाने वालों] को (उत) और (मह्यम्) मुझ को (शिवा) मङ्गलकारी (अस्तु) होवे। (सा) सो तू, (देवि) हे देवी! [उत्तम गुण वाली], (अदिते) हे अखण्ड व्रत वाली! (विश्ववारे) हे सब श्रेष्ठ गुणों

वामभागवर्तमाना दिशा (कृणवत्) कुर्यात् (नः) अस्माकम् (अग्रम्) प्रधानम् (पाङ्क्तम्) पचि विस्तारे व्यक्तीकरणे च—क्तिन्। पङ्क्ति—अण्। पङ्क्त्या विस्तारेण गौरवेण वा युक्तम् (छन्दः) छदि आवरणे—असुन्। स्वातन्त्र्यम् (पुरुषः) मनुष्यः (बभूव) भू प्राप्तौ। प्राप (विश्वैः) सर्वैर्विद्वद्भिः (विश्वाङ्गैः) सर्वोपाययुक्तैः (सह) (संभवेम) शक्ता भवेम ॥

११—(ध्रुवा) सप्तम्यां सुः। ध्रुवायामधःस्थायां दिशि (इयम्) सर्वत्र वर्तमाना (विराट्) विविधेश्वरी शक्तिःपरमेश्वरः (नमः) सत्कारः (अस्तु) (अस्यै) विराजे (शिवा) कल्याणी (पुत्रेभ्यः) म० ४। नरकात् त्रायकेभ्यः (उत) अपि (मह्यम्) उपासकाय (अस्तु) (सा) सा त्वम् (नः) अस्मान् (देवि) हे दिव्यगुणे (अदिते) हे अखण्डव्रते (विश्ववारे) अ० ७। २०। ४। हे सर्ववरणीयगुणयुक्ते (इर्यः) ईर गतौ—क्यप्, छान्दसो ह्रस्वः।

वाली ! [शक्ति परमेश्वर] (इर्यः) फुरतीले (गोपाः इव) गोप [ग्वाला] के समान (पक्कम् अभि) परि पक्क [दृढ़ ज्ञान] में (नः) हमारी (रक्ष) रक्षा कर ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्य दिशाओं के समान नीची तथा उपलक्षण से ऊंची दिशा में परमेश्वर को व्यापक जान कर ज्ञान सहित सब की रक्षा करें ॥ ११ ॥

पितेवं पुत्रानभि सं स्वंजस्व नः शिवा नो वाता इह वान्तु भूमौ। यमोदनं पचंतो देवते इह तं नस्तपं उत सत्यं चं वेत्तु१२

पिता-इंव । पुत्रान् । अभि । सम् । स्वजस्व । नः । शिवाः। नः । वाताः । इह । वान्तु । भूमौ । यम् । ओदनम् । पचंतः। देवते इति । इह । तम् । नः । तपः । उत । सत्यम् । च । वेत्तु ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे विराट् परमेश्वर !] (नः) हमें (अभि सं स्वजस्व) भले प्रकार गले लगा, (पिता इव) जैसे पिता (पुत्रान्) पुत्रों [नरक से बचाने वालों] को, (नः) हमारे लिये (शिवाः) मङ्गलकारी (वाताः) पवनें (इह) यहां (भूमौ) भूमि पर (वान्तु) चलें। (यम्) जिस (ओदनम्) ओदन [सुख बरसाने वाले परमेश्वर] को (देवते) दो देवता [स्त्री पुरुष] (इह) यहां [हम सब में] (पचतः) परिपक्क [दृढ़] करते हैं, (तम्) उस [परमेश्वर] को (नः) हमारा (तपः) तप [ब्रह्मचर्य आदि व्रत] (उत) और (सत्यम्) सत्य [निष्कपट व्यवहार] (च) निश्चय करके (वेत्तु) जाने ॥ १२ ॥

गमनशीलः। वेगवान् (इव) यथा (गोपाः) गोरक्षकः (अभि) प्रति (रक्ष) (पक्कम्) दृढं ज्ञानम् ॥

१२—(पिता) (इव) (पुत्रान्) म० ४ (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् (स्वजस्व) आलिङ्ग (नः) अस्मान् (शिवाः) मङ्गलकराः (नः) अस्मभ्यम् (वाताः) पवनाः (इह) अत्र (वान्तु) गच्छन्तु (भूमौ) (यम्) (ओदनम्) सुखवर्षकं परमेश्वरम् (पचतः) दृढीकुरुतः (देवते) विद्वांसौ स्त्रीपुरुषौ (इह) (तम्) परमेश्वरम् (तपः) ब्रह्मचर्यादिव्रतम् (उत) अपि (सत्यम्) यथार्थव्यवहारः (च) अवधारणे (वेत्तु) जानातु ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को पिता के समान हितकारी जानकर अपने सब व्यवहारों को स्वस्थ रक्खें और ब्रह्मचर्य आदि तप और सत्य व्यवहार से ईश्वर ज्ञान में तत्पर रहें ॥ १२ ॥

यद्यत् कृष्णः शकुन एह गत्वा त्सरन् विषक्तं बिल आससाद। यद्वा दास्यार्द्रहस्ता समङ्क्त उलूखलं मुसलं शुम्भतापः ॥ १३ ॥

यत्-यत्। कृष्णः। शकुनः। आ। इह। गत्वा। त्सरन्। वि-सक्तम्। बिले। आ-ससाद ॥ यत्। वा। दासी। आर्द्र-हस्ता। सम्-अङ्क्ते। उलूखलम्। मुसलम्। शुम्भत। आपः १३

भाषार्थ—(यद्यत्) जब कभी (कृष्णः) कुरेदने वाला (शकुनः) चिल्ल आदि पक्षी [समान दुष्ट पुरुष] (इह) यहां (आ गत्वा) आकर (विषक्तम्) विरुद्ध मेल से (त्सरन्) टेढ़ा चलता हुआ (बिले) बिल [हमारे घर आदि] में (आससाद) आया है। (वा) अथवा (यत्) यदि (आर्द्रहस्ता) भीगे हाथ वाली (दासी) हिंसक स्त्री (उलूखलम्) ओखली और (मुसलम्) मूसल को (समङ्क्ते) लिथेड़ देती है, (आपः) हे आप्त प्रजाओ ! [उस दोष को] (शुम्भत) नाश करो ॥ १३ ॥

भावार्थ—यदि कोई कपटी दुष्ट पुरुष हमारे व्यवहारों में अथवा कोई कुटिला स्त्री हमारे घर के वस्त्र बासन आदि में बखेड़ा डाले, विद्वान् स्त्री पुरुष उस दोष का प्रतीकार करें ॥ १३ ॥

अयं ग्रावा पृथुबुध्नो वयोधाः पूतः पवित्रैरप हन्तु रक्षः।

१३—(यद्यत्) यस्मिन्नेवकाले (कृष्णः) कृष विलेखने—नक्। विलेखकः (शकुनः) अ० ११। २। २४। चिल्लपक्षिसमानदुष्टः पुरुषः (इह) (आ गत्वा) आगत्य (त्सरन्) कपटेन गच्छन् (विषक्तम्) यथा तथा विरुद्धमेलनेन (बिले) छिद्रे। गृहे (आससाद) आजगाम (यत्) यदि (वा) अथवा (दासी) अ० ५। १३। ८। दास हिंसायाम्—घञ्। ङीष्। हिंसा स्त्री (आर्द्र-हस्ता) क्लिन्नहस्ता। मलिनकरा (समङ्क्ते) लिम्पते (उलूखलम्) (मुसलम्) (शुम्भत) शुम्भ हिंसायाम् नाशयत दोषम् (आपः) हे आप्ताः प्रजाः ॥

आ रोह चर्म महि शर्म यच्छ मा दंपती पौत्रमघं नि गाताम् ॥ १४ ॥

अयम् । ग्रावा । पृथु-बुध्नः । वयः-धाः । पूतः । पवित्रैः । अप । हन्तु । रक्षः॥ आ । रोह । चर्म । महि । शर्म । यच्छ । मा । दंपती इति दम्-पती । पौत्रम् । अघम् । नि । गाताम्१४

भाषार्थ—(अयम्) यह (ग्रावा) शास्त्रों का उपदेशक (पृथुबुध्नः) विस्तृत ज्ञान वाला, (वयोधाः) जीवन धारण करने वाला, (पवित्रैः) शुद्ध व्यवहारों से (पूतः) पवित्र किया हुआ [पुरुष] (रक्षः) राक्षस [विघ्न]को (अप हन्तु) नाश कर दे ।[हे विद्वान् !] (चर्म) ज्ञान में (आ रोह) ऊंचा हो, (महि) बड़ा (शर्म)सुख (यच्छ) दे, (दम्पती) पति पत्नी (पौत्रम्) पुत्र सम्बन्धी (अघम्) दुःख को (मा नि गाताम्) कभी न पावें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जहां पर स्त्री पुरुष विद्वानों से सुशिक्षित होकर अपना कर्तव्य करते हैं, वहां उनके सन्तान धार्मिक होकर माता पिता को सुख देते हैं ॥ १४ ॥

वनस्पतिः सह देवैर्न आगन् रक्षः पिशाचाँ अपबाधमानः । स उच्छ्रयातै प्र वदाति वाचं तेन लोकाँ अभि सर्वान् जयेम १५

वनस्पतिः । सह । देवैः । नः । आ । अगन् । रक्षः। पिशाचान् । अप-बाधमानः ॥ सः । उत् । श्रयातै । प्र । वदाति । वाचम् । तेन । लोकान् । अभि । सर्वान् । जयेम ॥ १५ ॥

१४—(अयम्) (ग्रावा) अ० ३। १० । ५ । गॄ विज्ञापे स्तुतौ च—क्वनिप् । शास्त्रोपदेशकः पण्डितः (पृथुबुध्नः) इण् शिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् । उ० ३। २। बुध ज्ञाने—नक्। विस्तृतबोधयुक्तः (वयोधाः) जीवनधारकः (पूतः) शोधितः (पवित्रैः) शुद्धव्यवहारैः (अप हन्तु) विनाशयतु (रक्षः) राक्षसम् । विघ्नम् (आ रोह) अधितिष्ठ (चर्म) ज्ञानम् (महि) महत् (शर्म) सुखम् (यच्छ) देहि (दम्पती) जायापती (पौत्रम्) पुत्रसम्बन्धि (अघम्) दुःखम् (मा नि गाताम्) इण् गतौ—लुङ्। नैव प्राप्नुताम् ॥

भाषार्थ—(वनस्पतिः) सेवनीय शास्त्र का रक्षक [विद्वान् पुरुष] (रक्षः) राक्षस [विघ्न] और (पिशाचान्) मांस भक्षक [मनुष्य रोग आदिकों] को (अपबाधमानः) हटाता हुआ (देवैः सह) अपने उत्तमगुणों के साथ (नः) हम में (आ अगन्) आया है। (सः) वह (उत् श्रयातै) ऊँचा चढ़े और (वाचम्) वेद वाणी का (प्र वदाति) उपदेश करे; (तेन) उस [विद्वान्] के साथ (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (अभि) सब ओर से (जयेम) हम जीतें ॥ १५ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी विद्वान् लोग अपने अज्ञान आदि दोषों को हटाकर विद्या से उच्च पद पाकर उपदेश करते हैं, तब लोग कष्टों से छूटकर सुखी होते हैं ॥ १५ ॥

सुप्त मेधान् पुशवः पर्यगृह्णुन् य एषां ज्योतिष्माँ उत यश्चुकर्श । त्रयस्त्रिंशद् देवतास्तान्त्सचन्ते स नः स्वर्गमुभि नेष लोकम् ॥ १६ ॥

सुप्त । मेधान् । पुशवः । परि । अुगृह्णुन् । यः । एुषाम् । ज्योतिष्मान् । उुत । यः । चुकर्श ॥ त्रयः-त्रिंशत् । देवताः । तान् । सुचन्ते । सः । नुः । स्वः-गम् । अुभि । नेुषु । लोकम् ॥१६॥

भाषार्थ—(पशवः) सब जीवों ने (सप्त) सात [त्वचा, नेत्र कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (मेधान्) परस्पर मिले हुये [पदार्थों] को

१५—(वनस्पतिः) वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालको विद्वान्—यथा दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ (सह) (देवैः) उत्तमगुणैः (नः) अस्मान् (आ अगन्) अ० २ । ६ । ३ । आ-अगमत् । प्राप्तवान् (रक्षः) राक्षसम् । विघ्नम् (पिशाचान्) मांसभक्षकान् मनुष्यरोगादीन् (अपबाधमानः) निवारयन् (सः) विद्वान् (उच्छ्रयातै) लेटि रूपम् । उच्छ्रितः उन्नतो भूयात् (प्र वदाति) उपदिशेत् (वाचम्) वेदवाणीम् (तेन) विदुषा सह (लोकान्) (अभि) अभितः (सर्वान्) (जयेम) जयेन प्राप्नुयाम ॥

१६—(सप्त) सप्तसंख्याकान् (मेधान्) मिधृ मेधृ संगमे हिंसामेधयोश्च-घञ् । परस्परसंगतान् त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धिरूपान्

(परि अगृह्णन्) ग्रहण किया है, (त्रयस्त्रिंशत्) तेतीस [वसु आदि] (देवता) देवता (तान्) उन [जीवों] को (सचन्ते) सेवते हैं, (यः) जो [पुरुष] (एषाम्) इन [जीवों] में से (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी है, (उत) और (यः) जिसने [विज्ञान को] (चकर्श) सूक्ष्म किया है, (सः) वह तू (नः) हमको (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि) समाज में (नेष) पहुंचा ॥१६॥

भावार्थ—सब मनुष्यों में त्वचा, नेत्र, कान आदि समान हैं और सब पर वसु आदि प्राकृत पदार्थों का समान प्रभाव है, परन्तु विज्ञानी पुरुष ही आप सुखी रहते और सब को सुखी रखते हैं ॥ १६ ॥

सप्त मेधान् के विषय में (सप्तऋषयः) पद देखो—अ० ४ । ११ । ६ । और तेतीस देवता यह हैं—८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य वा महीने, १ इन्द्र वा बिजुली, १ प्रजापति वा यज्ञ—इन की विशेष व्याख्या अ० १० । ७ । १३ । के भावार्थ में देखो ॥

स्वर्गं लोकमभि नो नयासि सं जायया सह पुत्रैः स्याम ।
गृह्णामि हस्तमनु मैत्वत्र मा नस्तारीन्निर्ऋतिर्मो अरातिः १७

स्वः-गम् । लोकम् । अभि । नः । नयासि । सम् । जायया । सह । पुत्रैः । स्याम ॥ गृह्णामि । हस्तम् । अनु । मा । आ । एतु । अत्र । मा । नः । तारीत् । निः-ऋतिः । मो इति । अरातिः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम्

पदार्थान् । यज्ञान्—निघ० ३ । १७ (पशवः) जीवाः (पर्यगृह्णन्) स्वीकृतवन्तः (यः) विद्वान् (एषाम्) पशूनां मध्ये (ज्योतिष्मान्) तेजस्वी (उत) अपि (यः) (चकर्श) कृश तनूकरणे—लिट् । सूक्ष्मीकृतवान् विज्ञानम् (त्रयस्त्रिंशत्) वस्वादयः—अ० १० । ७ । १३ । (देवताः) देवाः (तान्) जीवान् (सचन्ते) सेवन्ते (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (अभि) प्रति (नेष) अ० ७ । ९७ । २ । णीञ् प्रापणे—लेट्, सिप् । नय । प्रापय (लोकम्) समाजम् ॥

१७—(स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (लोकम्) जनसमाजम् (अभि) प्रति

अभि) समाज में (नः) हमको (नयासि) तू पहुंचा, हम (जायया) पत्नी के साथ और (पुत्रैः सह) पुत्रों [दुख से बचाने वालों] के साथ (सं स्याम) मिले रहें । मैं [प्रत्येक मनुष्य] (हस्तम्) [प्रत्येक का] हाथ (गृह्णामि) पकड़ता हूं, वह (अत्र) यहां (मा अनु) मेरे साथ साथ (आ एतु) आवे, (नः) हमको (मा) न तो (निर्ऋतिः) अलक्ष्मी [दरिद्रता] (मो) और न (अरातिः) कंजूसी (तारीत्) दबावे ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से उत्तम स्त्री और सन्तानों में रहकर अपना घर स्वर्गलोक बनावें और परस्पर सहाय करके धनी और दानी होवें ॥ १७ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद भेद से आ चुका है-अथर्व० ६ । १३४ । ३ ॥

ग्राहिं पाप्मानमति ताँ अयाम तमो व्यस्य प्र वदासि वल्गु ।
वानस्पत्य उद्यतो मा जिहिंसीर्मा तण्डुलं वि शरीर्देवयन्तम् १८

ग्राहिम् । पाप्मानम् । अति । तान् । अयाम । तमः । वि । अस्य । प्र । वदासि । वल्गु ॥ वानस्पत्यः । उत्-यतः । मा । जिहिंसीः । मा । तण्डुलम् । वि । शरीः । देव-यन्तम् १८ ॥

भाषार्थ—(ग्राहिम्) जकड़ने वाली [गठिया आदि शारीरिक पीड़ा] और (पाप्मानम्) पाप [मिथ्या कथन आदि मानसिक रोग] को (अति) लांघ कर (तान्) उन [पुत्र आदि] को (अयाम) हम प्राप्त करें, [हे

(नः) अस्मान् (नयासि) प्रापय (सम्) संगत्य (जायया) पत्न्या (सह) (पुत्रैः) म० ४ । नरकात् त्रायकैः (स्याम) (गृह्णामि) आददे (हस्तम्) (अनु) अनुसृत्य (मा) माम् (एतु) आगच्छतु (अत्र) संसारे (नः) अस्मान् (मा तारीत्) अ० २ । ७ । ४ । तॄ अभिभवे—लुङ् । माभिभवतु (निर्ऋतिः) अलक्ष्मीः (मो) मैव (अरातिः) अदानता । कृपणता ॥

१८—(ग्राहिम्) अ० २ । ६ । १ । ग्रहणशीलां शारीरिकपीडाम् (पाप्मानम्) पापं मानसिकदोषम् (अति) अतीत्य (तान्) पुत्रादीन् (अयाम) अय गतौ । प्राप्नुयाम (तमः) अन्धकारम् (वि) विविधम् (अस्य) क्षिप (प्र

विद्वान् !] (तमः) अन्धकार को (वि) अलग (अस्य) फेंक दे और (वल्गु) सुन्दर (प्र वदासि) उपदेश कर। तू (वानस्पत्यः) सेवनीय शास्त्रों के पालने वालों का हितकारी और (उद्यतः) उद्यमी होकर [हमें] (मा जिहिंसीः) मत दुःख दे और (देवयन्तम्) विद्वानों के स्नेही (तण्डुलम्) चावल [अन्न] की राशि को (मा वि शरीः) मत इतर वितर कर ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य शारीरिक और मानसिक रोग मिटाकर हित का उपदेश करें और परस्पर सुख बढ़ाकर अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करें ॥१८॥

विश्वव्यंचा घृतपृंष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुपं याह्येतम् ।
वर्षवृंद्धमुपं यच्छ शूर्पं तुषं पलावानप तद् विनक्तु ॥ १९ ॥

विश्व-व्यंचाः । घृत-पृंष्ठः । भविष्यन् । स-योनिः । लोकम् । उपं । याहि । एतम् ॥ वर्ष-वृंद्धम् । उपं । यच्छ । शूर्पम् । तुषम् । पलावान् । अपं । तत् । विनक्तु ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (विश्वव्यचाः) सब व्यवहारों में फैला हुआ, (घृतपृष्ठः) प्रकाश से सींचता हुआ और (सयोनिः) समान घर वाला (भविष्यन्) भविष्यत् में होता हुआ तू (एतम्) इस (लोकम्) लोक [व्यवहार मण्डल] में (उप याहि) पहुंच। (वर्षवृद्धम्) वरणीय गुणों से

वदासि) उपदिश (वल्गु) बलेगुंक् च। उ० १। १९। बल प्राणने—उप्रत्ययो· गुक् च। शोभनम् (वानस्पत्यः) म० १५। वनस्पति—ण्य। वनस्पतिभ्यः सेवनीयशास्त्रपालकेभ्यो हितः (उद्यतः) उद्यमी (मा जिहिंसीः) मा वधीः (तण्डुलम्) धान्यराशिम् (वि) विविधम् (मा शरीः) शॄ हिंसायाम्—लुङ्। मा शारीः। मा क्षिप (देवयन्तम्) अ० ७। २७। १। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। देव—क्यच्, शतृ। नच्छन्दस्यपुत्रस्य। पा० ७। ४। ३५। ईत्वदीर्घयोर्निषेधः। देवान् श्रेष्ठपुरुषान् आत्मन इच्छन्तम् ॥ १९ ॥

१९—(विश्वव्यचाः) सर्वव्यवहारेषु विस्तारशीलः (घृतपृष्ठः) अ० २। १३। १। पृषु सेके—थक्। घृतेन प्रकाशेन सेचकः (भविष्यन्) भविष्यति भवन् (सयोनिः) योनिर्गृहनाम—निघ० ३। ४। समानगृहः (लोकम्) स· माजम् (उप याहि) प्राप्नुहि (एतम्) (वर्षवृद्धम्) अ० ६। ३०। ३। वृञ

बढ़े हुये (शूर्पम्) सूप को (उप यच्छ) ले, (तत्) तब [आप] (तुषम्) भुसी और (पलावान्) तिनके आदि को (अप विनक्तु) फटक डालें ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जैसे जैसे वे बढ़ते जावें, भली-भांति देख भालकर दोषों का त्याग और गुणों का ग्रहण करें, जिस प्रकार सूप से कूड़ा करकट फटक कर अन्न आदि सार पदार्थ ले लेते हैं ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का पूर्व भाग आगे मंत्र ५३ में है ॥

त्रयो लोकाः संमिता ब्राह्मणेन द्यौरेवासौ पृथिव्य१न्तरि-क्षम् । अंशून् गृभीत्वान्वारभेथामा प्यायन्तां पुनरा यन्तु शूर्पम् ॥ २० ॥ (१४)

त्रयः । लोकाः । सम्-मिताः । ब्राह्मणेन । द्यौः । एव । असौ । पृथिवी । अन्तरिक्षम् ॥ अंशून् । गृभीत्वा । अनु-आरभेथाम् । आ । प्यायन्ताम् । पुनः । आ । यन्तु । शूर्पम् २० ॥ १४

भाषार्थ—(ब्राह्मणेन) ब्राह्मण [ब्रह्म ज्ञानी] करके (त्रयः लोकाः) तीनों लोक [उत्तम निकृष्ट और मध्यम अवस्थायें] (संमिताः) यथावत नापे गये हैं, [जैसे] (असौ) वह (एव) ही (द्यौः) सूर्य लोक, (पृथिवी) पृथिवी लोक और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष [मध्य लोक] हैं । [हे स्त्री पुरुषो !] (अंशून्) सूक्ष्म पदार्थों को (गृभीत्वा) ग्रहण करके [अपना कर्तव्य]

वरणे सप्रत्ययः । वर्षैर्वरणीयगुणैः प्रवृद्धम् (उप यच्छ) यमु उपरमे । गृहाण (शूर्पम्) शूर्प माने—घञ् । धान्यस्फोटकम् (तुषम्) धान्यत्वचम् (पलावान्) पल गतौ रक्षणे च—अप् + अव रक्षणे गतौ च-अण् । पलान् शस्यशून्यधान्य-मालान् अवन्ति प्राप्नुवन्ति ये ते पलावास्तान् तृणादीन् पदार्थान् (तत्) तदा (अपविनक्तु) विजिर् पृथग्भावे । वियोजयतु भवान् ॥

२०—(त्रयः) उत्तम निकृष्टमध्यमाः (लोकाः) अवस्थाभेदाः (संमिताः) सम्यक् परिमाणीकृताः (ब्राह्मणेन) ब्रह्मज्ञानिना (द्यौः) सूर्यलोकः (एव) (असौ) (पृथिवी) (अन्तरिक्षम्) (अंशून्) सूक्ष्मविभागान् (गृभीत्वा) गृहीत्वा । आदाय (अन्वारभेथाम्) निरन्तरमारम्भं कुरुतम् (आ) समन्तात्

(अन्वारभेथाम्) तुम दोनों आरम्भ करते रहो, वे [सूक्ष्म द्रव्य] (आ प्यायन्ताम्) फैलें और (पुनः) फिर फिर (शूर्पम्) सूप में (आ यन्तु) आवें ॥ २० ॥

भावार्थ—जैसे ब्रह्मज्ञानी पुरुष ऊंच, नीच, मध्य तीनों दशाओं को हस्तामलक कर लेता है, वैसे ही सब स्त्री पुरुष परीक्षा करके सार पदार्थ ग्रहण करें, जैसे सूप में द्रव्य को बार बार फैला कर और शुद्ध करके ग्रहण करते हैं ॥ २० ॥

पृथग्रूपाणि बहुधा पशूनामेकरूपो भवसि सं समृद्ध्या । एतां त्वचं लोहिनीं तां नुदस्व ग्रावा शुम्भाति मलग इव वस्त्रा ॥ २१ ॥

पृथक् । रूपाणि । बहु-धा । पशूनाम् । एक-रूपः । भवसि । सम् । सम्-ऋद्ध्या ॥ एताम् । त्वचम् । लोहिनीम् । ताम् । नुदस्व । ग्रावा । शुम्भाति । मलगः-इव । वस्त्रा ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(पृथक्) अलग अलग (रूपाणि) रूप [आकार आदि] (बहुधा) प्रायः (पशूनाम्) जीवों के होते हैं, [हे विद्वान्] (समृद्ध्या) समृद्धि [पूर्ण सिद्धि] के साथ (एकरूपः) एक स्वभाव वाला [दृढ़चित्त] होकर तू (सं भवसि) शक्तिमान् होता है । (एताम्) इस और (ताम्) उस (लोहिनीम्) लोहिनी [लोहे की बनी जैसे कठिन] (त्वचम्) ढकनी [अविद्या] को (नुदस्व) हटा, (ग्रावा) शास्त्रों का उपदेशक [उसको] (शुम्भाति)

(प्यायन्ताम्) वर्धन्ताम् । विस्तीर्यन्ताम् (पुनः) वारंवारम् (आयन्तु) आगच्छन्तु (शूर्पम्) म० १६ ॥

२१—(पृथक्) भिन्नभावेन (रूपाणि) आकाराः । स्वभावाः (बहुधा) प्रायः (पशूनाम्) जीवानाम् (एकरूपः) निश्चतस्वभावः (सं भवसि) शक्तो भवसि (समृद्ध्या) पूर्णसिद्ध्या (एताम्) समीपस्थाम् (त्वचम्) त्वच संवरणे-क्विप् । आवरणम् (लोहिनीम्) लोह-इनि । लोहमयीम् । अतिकठिनाम् (ताम्) दूरस्थाम् (नुदस्व) प्रेरय (ग्रावा) म० १४ । शास्त्रोपदेशकः (शुम्भाति) शोधयेत् (मलगः) मृजेष्टिलोपश्च । उ० १ । ११०। मृजूष् शुद्धौ-कल, धातोष्टिलोपश्च + गल भक्षणे स्रावे क्षारणे च-ड । मलं शोधनीयं

शुद्ध करे, (मलग इव) जैसे धोबी (वस्त्रा) वस्त्रों को ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों में प्रायः पृथक् पृथक् आकार होते हैं, परन्तु वेद ज्ञान की पूर्णता से अविद्या रूप आवरण को हटाकर समान दृढ़चित्त होकर निर्दोष हो जाते हैं, जैसे चतुर धोबी के धोने से वस्त्र उजले होते हैं ॥ २१ ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि तनूः समानी विकृता त एषा। यद्यद् द्युत्तं लिखितमर्पणेन तेन मा सुस्रोर्ब्रह्मणापि तद् वपामि ॥ २२ ॥

पृथिवीम्। त्वा। पृथिव्याम्। आ। वेशयामि। तनूः। समानी। वि-कृता। ते। एषा ॥ यत्-यत्। द्युत्तम्। लिखितम्। अर्पणेन। तेन। मा। सुस्रोः। ब्रह्मणा। अपि। तत्। वपामि ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा ! स्त्री वा पुरुष] (पृथिवीम् त्वा) तुझ प्रख्यात को (पृथिव्याम्) प्रख्यात [विद्या] के भीतर (आ वेशयामि) मैं [परमेश्वर] प्रवेश करता हूं, (एषा) यह (ते) तेरी (विकृता) भिन्न रूप वाली (तनूः) आकृति (समानी) समान [हो जावे]। (यद्यत्) जो जो(अर्पणेन)कुव्यवहार से (द्युत्तम्) जल गया और (लिखितम्) खरोंचा गया है, (तेन) उस [कारण] से (मा सुस्रोः) तू मत बहजा, (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (अपि)

कलङ्कं गलयति क्षारयतीति यः। रजकः। धावकः (इव) यथा (वस्त्रा) वस्त्राणि ॥

२२—(पृथिवीम्) प्रथेः षिवन्षवन्ष्वनः संप्रसारणं च। उ० १। १५०। प्रथ प्रख्याने-षिवन्, ङीष्। प्रख्याताम् (त्वा) त्वां प्रजाम् (पृथिव्याम्) प्रख्यातायां विद्यायाम् (आवेशयामि) प्रविष्टां करोमि (तनूः) आकृतिः (समानी) तुल्यगुणा (विकृता) विकारंगता। भिन्नभावं प्राप्ता (ते) तव (एषा) दृश्यमाना (यद्यत्) यत् किंचित् (द्युत्तम्) अ० ४। १२। २। द्योतते=ज्वलतिकर्मा-निघ० १। १६। द्योतितम्। प्रज्वलितम् (लिखितम्) विलिखितम्। विदारितम् (अर्पणेन) ऋ हिंसायाम्--णिच् पुक्—ल्युट। हिंसनेन। कुव्यवहारेण (तेन) कारणेन (मा सुस्रोः) स्रु गतौ क्षरणे च—लङ्। बहुलं छन्दसि। पा० २। ४।

ही (तत्) उस को (वपामि) मैं [बीज समान] फैलाता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों की आकृति एक दूसरे से भिन्न भिन्न है, परन्तु परमेश्वर ने शक्ति दी है कि वे वेदद्वारा अपनी हानि को पूरा करके समान गुण वाले होवें जैसे बीज के बोने से घटी पूरी हो जाती है ॥ २२ ॥

जनित्रीव प्रति हर्यासि सूनुं सं त्वा दधामि पृथिवीं पृथिव्या । उखा कुम्भी वेद्यां मा व्यथिष्ठा यज्ञायुधैराज्येनातिषक्ता ॥ २३ ॥

जनित्री-इव । प्रति । हर्यासि । सूनुम् । सम् । त्वा । दधामि । पृथिवीम् । पृथिव्या ॥ उखा । कुम्भी । वेद्याम् । मा । व्यथिष्ठाः । यज्ञ-आयुधैः । आज्येन । अति-सक्ता ॥ २३ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा ! स्त्री वा पुरुष] (प्रति) निश्चय करके (हर्यासि) [परस्पर] प्यार कर, (जनित्री इव) जैसे माता (सूनुम्) पुत्र को, (पृथिवीम् त्वा) तुझ प्रख्यात को (पृथिव्या) प्रख्यात [विद्या] के साथ (सं दधामि) मैं [परमेश्वर] संयुक्त करता हूं । (वेद्याम्) वेदी [अंगीठी आदि] के ऊपर (यज्ञायुधैः) यज्ञ के शस्त्रों से (आज्येन) घी के साथ (अतिषक्ता) दृढ़ जमाई हुयी (उखा) हांडी [वा] (कुम्भी) बटलोयी [के समान] (मा व्यथिष्ठाः) तू मत डगमगा ॥ २३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष वेद द्वारा विद्या प्राप्त करके परस्पर प्रीति पूर्वक रहें और कठिनायी पड़ने पर निरन्तर धर्म में जमे रहें, जैसे दृढ़ जमाई हुयी कढ़ाही आदि भट्टे चूल्हे आदि पर निरन्तर ठहरी रहती है ॥ २३ ॥

---

७६ । शपः श्लुः । मा स्रवः । मा सर (ब्रह्मणा) वेदेन (अपि) एव (तत्) (वपामि) डुवप बीजसन्ताने । रूपेण विकिरामि । विस्तारयामि ॥

२३—(जनित्री) जनयित्री । जननी (इव) यथा (प्रति) निश्चयेन (हर्यासि) लेटि रूपम् । हर्य । परस्परं कामयस्व (सूनुम्) पुत्रम् (सम्) संयुज्य (दधामि) धरामि (पृथिवीम्) म० २२ । प्रख्याताम् (पृथिव्या) प्रख्यातया विद्यया सह (उखा) पाकपात्रम् (कुम्भी) स्थाली (वेद्याम्) अग्न्याधारे (मा व्यथिष्ठाः) व्यथां मा प्राप्नुहि (यज्ञायुधैः) यज्ञोपकरणैः (आज्येन) घृतेन सह (अतिषक्ता) षञ्ज सङ्गे—क्त । अतिदृढीकृता ॥

अ॒ग्निः पच॑न् रक्षतु त्वा पु॒रस्ता॒दिन्द्रो॑ रक्षतु दक्षिण॒तो म॒रुत्वा॑न् । वरु॑णस्त्वा दृंहाद्ध॒रुणे॑ प्र॒तीच्या॑ उत्त॒रात् त्वा॒ सोमः॒ सं द॑दातै ॥ २४ ॥

अ॒ग्निः । पच॑न् । र॒क्ष॒तु॒ । त्वा॒ । पु॒रस्ता॑त् । इन्द्रः॑ । र॒क्ष॒तु॒ । द॒क्षि॒ण॒तः । म॒रुत्वा॑न् ॥ वरु॑णः । त्वा॒ । दृं॒हा॒त् । ध॒रुणे॑ । प्र॒तीच्याः॑ । उ॒त्त॒रात् । त्वा॒ । सोमः॑ । सम् । द॒दा॒तै॒ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (त्वा) तुझ को (पचन्) परिपक्व [दृढ़] करता हुआ (पुरस्तात्) पूर्व वा सन्मुख से (रक्षतु) बचावे, (मरुत्वान्) प्रशस्त धनवाला (इन्द्रः) पूर्ण ऐश्वर्य वाला [परमेश्वर] (दक्षिणतः) दक्षिण वा दाहिने से (रक्षतु) बचावे। (वरुणः) सब में उत्तम परमेश्वर (त्वा) तुझको (धरुणे) धारण सामर्थ्य के बीच (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली [दिशा] से (दृंहात्) दृढ़ करे, (सोमः) सब जगत् का उत्पन्न करनेवाला परमेश्वर (त्वा) तुझको (उत्तरात्) उत्तर वा बायें से (सं ददातै) संभाले ॥ २४ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष परमात्मा को सर्वत्र व्यापक जानकर पापों से बचकर धर्म में प्रवृत्त रहें ॥ २४ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथर्व० ३ । २७ । १—४ ॥

पू॒ताः प॒वित्रैः॑ पवन्ते अ॒भ्राद् दिवं॑ च॒ यन्ति पृथि॒वीं च॑ लो॒कान् ।

२४—(अग्निः) ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (पचन्) पक्वं दृढं कुर्वन् (रक्षतु) पालयतु (त्वा) त्वां पुरुषम् (पुरस्तात्) पूर्वदिक्सकाशात् । अग्रतः (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तः परमेश्वरः (दक्षिणतः) दक्षिणदिशायाः । दक्षिणदेशात् (मरुत्वान्) मरुत् , हिरण्यनाम-निघ० १ । २ । प्रशस्तधनवान् । रत्नधातमः (वरुणः) वृञ्—उनन् । सर्वोत्तमः परमेश्वरः (त्वा) (दृंहात्) वर्धयेत् । दृढीकुर्यात् (धरुणे) धृञ् धारणे—उनन् । धारणसामर्थ्ये (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः पश्चाद्भागस्थिताया वा दिशः (उत्तरात्) उत्तरदेशाद् वामदेशाद् वा (त्वा) (सोमः) सर्व जगदुत्पादकः (सं ददातै)लेडिरूपम् । स्वीकरोतु ॥

ता जीवला जीवधन्याः प्रतिष्ठाः पात्र आसिक्ताः पर्यग्निरिन्धाम् ॥ २५ ॥

पूताः । पवित्रैः । पवन्ते । अभ्रात् । दिवम् । च । यन्ति । पृथिवीम् । च । लोकान् ॥ ताः । जीवलाः । जीव-धन्याः । प्रति-स्थाः । पात्रे । आ-सिक्ताः। परि । अग्निः। इन्धाम् २५

भाषार्थ—(पवित्रैः) शुद्ध व्यवहारों से (पूताः) शुद्ध किये गये [प्रजाजन—मन्त्र २७] (अभ्रात्) उपाय से (पवन्ते) [दूसरों को] शुद्ध करते हैं, वे (दिवम्) जय की इच्छा को (च) और (पृथिवीम्) प्रख्यात विद्या को (च) और (लोकान्) दर्शनीय घरों को (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (ताः) उन (जीवलाः) जीवते हुये, (जीवधन्याः) जीवों में धन्य, (प्रतिष्ठाः) दृढ़ जमे हुये, (पात्रे) रक्षा साधन [ब्रह्म] में (आसिक्ताः) भली भांति सींचे हुये [प्रजा जनों] को (अग्निः) प्रकाश स्वरूप परमेश्वर (परि) सब ओर से (इन्धाम्) प्रकाशमान करे ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष अपने शुद्ध आचरणों से जय पाने के लिये उत्तम विद्यायें और उत्तम गुण प्राप्त करते हैं, उन पुरुषार्थी प्रशंसनीय जनों को परमेश्वर अपने नियम से कीर्तिमान् करता है ॥ २५ ॥

आ यन्ति दिवः पृथिवीं सचन्ते भूम्याः सचन्ते अध्यन्त-

२५—(पूताः) शोधिताः—म० २७ (पवित्रैः) शुद्धाचारैः (पवन्ते) शोधयन्ति (अभ्रात्) अभ्र गतौ-अप् । ल्यब्लोपे कर्मण्युपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । २८ । अभ्रमुपायं संसाध्य (दिवम्) विजिगीषाम् (च) (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (पृथिवीम्) प्रख्यातां विद्याम् (च) (लोकान्) दर्शनीयान् निवासान्, (ताः) प्रजाः—मा २७ (जीवलाः) अ० ६ । ५९ । ३ । सिध्मादिभ्यश्च । पा० ५ । २ । ९७ । जीव-लच् मत्वर्थे । जीवनयुक्ताः (जीवधन्याः) जीवेषु प्रशस्ताः (प्रतिष्ठाः) प्रतिष्ठां प्राप्ताः (पात्रे) रक्षासाधने ब्रह्मणि (आसिक्ताः) समन्तात् सेचनयुक्ताः (परि) सर्वतः (अग्निः) प्रकाशस्वरूपः परमेश्वरः (इन्धाम्) दीपयतु ॥

रिक्षम् । शुद्धाः सतीस्ता उ शुम्भन्त एव ता नः स्वर्गमभि लोकं नयन्तु ॥ २६ ॥

आ । यन्ति । दिवः । पृथिवीम् । सचन्ते । भूम्याः । सचन्ते । अधि । अन्तरिक्षम् ॥ शुद्धाः । सतीः । ताः । ऊं इति । शुम्भन्ते । एव । ताः । नः । स्वः-गम् । अभि । लोकम् । नयन्तु ॥ २६ ॥

भाषार्थ—[वे प्रजाजन—मन्त्र २७] (दिवः) विजय की इच्छा से (पृथिवीम्) प्रख्यात [विद्या] को (आ यन्ति) प्राप्त होते हैं और (सचन्ते) सेवते हैं, (भूम्याः) [अन्तःकरण की] शुद्धि से (अधि) अधिकार पूर्वक (अन्तरिक्षम्) भीतर दीखते हुये [परब्रह्म] को (सचन्ते) सेवते हैं। (ताः) वे (शुद्धाः) शुद्ध (सतीः) होकर, (उ) ही [दूसरों को] (एव) भी (शुम्भन्ते) शुद्ध करते हैं, (ताः) वे [प्रजायें] (नः) हमको (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि) दर्शनीय समाज में (नयन्तु) पहुंचावें ॥२६॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुष परमेश्वर को साक्षात् करके आत्म बल बढ़ाते हुये सब को धर्म में प्रवृत्त करके सुखी रक्खें ॥ २६ ॥

उतेव प्रभ्वीरुत संमितास उत शुक्राः शुचयश्चामृतासः । ता ओदनं दंपतिभ्यां प्रशिष्टा आपः शिक्षन्तीः पचता सुनाथाः २७

उत-इव । प्र-भ्वीः । उत । सम्-मितासः । उत । शुक्राः ।

२६—(आ यन्ति) आगच्छन्ति (दिवः) विजिगीषासकाशात् (पृथिवीम्) प्रख्यातां विद्याम् (सचन्ते) सेवन्ते (भूम्याः) भू शुद्धौ—मि । योगिनां चित्तावस्थाभेदात्। अन्तःकरणशुद्धेः (सचन्ते) (अधि) अधिकारपूर्वकम् (अन्तरिक्षम्) मध्ये दृश्यमानं परब्रह्म (शुद्धाः) पवित्राचाराः (सतीः) सत्यः (ताः) म० २७। प्रजाः (उ) एव (शुम्भन्ते) शोधयन्ति (एव) निश्चयेन (ताः) (नः) अस्मान् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम्, (अभि) प्रति (लोकम्) दर्शनीयं समाजम् (नयन्तु) प्रापयन्तु ॥

शुचयः । च । अमृतासः ॥ ताः । ओदनम् । दंपति-भ्याम् । प्र शिष्टाः । आपः । शिक्षन्तीः । पचत । सु-नाथाः ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(उत इव) और जैसी (प्रभ्वीः) प्रबल, (उत) और (संमितासः) सन्मान की गयी, (च) और (शुक्राः) वीर्यवाली, (शुचयः) शुद्ध आचरण वाली, (च) और (अमृतासः) अमर [सदा पुरुषार्थ युक्त], (प्रशिष्टाः) बड़ी शिष्ट [वेद वाक्य में विश्वास करनेवाली वा सुबोध], (शिक्षन्तीः) उपकार करती हुयी (ताः) वे तुम सब, (आपः) हे आप्त प्रजाओ ! (सुनाथाः) हे बड़ी ऐश्वर्य वालियो ! (दम्पतिभ्याम्) दोनों पति पत्नी के लिये (ओदनम्) सुख बरसाने वाले [परमेश्वर] को (पचत) परिपक्क करो, [हृदय में दृढ़ करो] ॥ २७ ॥

भावार्थ—पति पत्नी के हित के लिये अर्थात् गृहाश्रम की सिद्धि के लिये, तुम सब प्रकार से समर्थ और उपकारी होकर परमात्मा पर सदा विश्वास रक्खो ॥ २७ ॥

संख्याता स्तोकाः पृथिवीं सचन्ते प्राणापानैः संमिता ओषधीभिः । असंख्याता ओप्यमानाः सुवर्णाः सर्वं व्यापुः शुचयः शुचित्वम् ॥ २८ ॥

सम्-ख्याताः । स्तोकाः । पृथिवीम् । सचन्ते । प्राणापानैः । सम्-मिताः । ओषधीभिः ॥ असम्-ख्याताः । आ-उप्यमानाः ।

२७—(उत) अपि (इव) यथा (प्रभ्वीः) प्रभ्व्यः । समर्थाः (उत) (संमितासः) असुगागमः । संमानिताः (उत) (शुक्राः) वीर्यवत्यः (शुचयः) शुद्धामचरणाः (च) (अमृतासः) मरणरहिताः । पुरुषार्थयुक्ताः (ताः) तथाविधाः (ओदनम्) सुखवर्षकं परमात्मानम् (दम्पतिभ्याम्) जायापतिभ्याम् (प्रशिष्टाः) शासु अनुशिष्टौ-क्त । प्रकर्षेण शिष्टाः । वेदवाक्ये विश्वासकारिण्यः । सुबोधाः (आपः) हे आप्ताः प्रजाः (शिक्षन्तीः) अ० ६ । ११४ । २ । शक्ल शक्तौ-सन्, शतृ, ङीप् । शक्तुमुपकर्तुमिच्छन्त्यः (पचत) पक्वं दृढं कुरुत (सुनाथाः) नाथृ ऐश्वर्ये-अच्, टाप् । हे बह्वैश्वर्यवत्यः ॥

सु-वर्णाः । सर्वम् । वि । आपुः । शुचयः । शुचि-त्वम् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(संख्याताः) समान ख्याति वाले, (स्तोकाः) प्रसन्न चित्त वाले, (प्राणापानैः) प्राण और अपान व्यवहारों से और (ओषधीभिः) ओषधियों [अन्न सोम लता आदि] से (संमिताः) सम्मान किये गये लोग (पृथिवीम्) प्रख्यात [भूमि अर्थात् राज्यश्री] को (सचन्ते) सेवते हैं। (असंख्याताः) निर्व्याकुलता [दृढ़ स्वभाव] से प्रसिद्ध, (ओप्यमानाः) यथाविधि [बीज समान] फैलते हुये, (सुवर्णाः) सुन्दर [ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य] वर्ण वाले, (शुचयः) शुद्ध आचार वाले पुरुषों ने (सर्वम्) सब में (शुचित्वम्) पवित्रता को (वि आपुः) फैलाया है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रत्येक श्वास प्रश्वास पर शुभ कर्म करके अन्न आदि प्राप्त करते हैं, वे सन्मानित और प्रसन्नचित्त लोग विद्या वा राज श्री को भोगते हैं, जैसे पूर्वज दृढ़ स्वभाव वालों ने बाहिर भीतर शुद्ध होकर संसार को शुद्ध बनाया है ॥ २८ ॥

उद्योधन्त्यभि वल्गन्ति तप्ताः फेनमस्यन्ति बहुलांश्च बिन्दून्।
योषेव दृष्ट्वा पतिमृत्वियायैतैस्तण्डुलैर्भवता समापः ॥ २९ ॥

उत् । योधन्ति । अभि । वल्गन्ति तप्ताः । फेनम् । अस्यन्ति । बहुलान् । च । बिन्दून् ॥ योषा-इव । दृष्ट्वा । पतिम् । ऋत्वियाय । एतैः । तण्डुलैः । भवत । सम् । आपः ॥ २९ ॥

२८—(संख्याताः) समानख्याताः प्रसिद्धाः (स्तोकाः) अ० ४ । ३८ । ६ । ष्टुच प्रसादे दीप्तौ च-घञ् । प्रसन्नचित्ताः पुरुषाः (पृथिवीम्) प्रख्यातां राज्यश्रियम् (सचन्ते) सेवन्ते (संमिताः) सम्मानिताः (ओषधीभिः) सोमलताअन्नादिभिः (असंख्याताः) षम वैकल्ये अवैकल्ये च-क्विप्+ख्या प्रकथने-क । असमि निर्वैकल्ये शान्तौ प्रसिद्धाः (ओप्यमानाः) आङ्+डु वप बीजसन्ताने-कर्मणि शानच् । समन्तात् बीजवत् प्रसार्यमाणाः (सुवर्णाः) ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशोभनवर्णाः (सर्वम्) निखिलं जगत् (व्यापुः) अन्तर्गतण्यर्थः । व्यापितवन्तः । प्रसारयामासुः (शुचयः) शुद्धाचरणाः (शुचित्वम्) अन्तर्बाह्यपवित्रव्यवहारम् ॥

भाषार्थ—वे [जल] (तप्ताः) तप्त होकर (उत् योधन्ति) भिड़ जाते हैं, (अभि) सब ओर को (वल्गन्ति) फुदकते हैं, (फेनम्) फेन को (च) और (बहुलान्) बहुत से (बिन्दून्) बिन्दुओं को (अस्यन्ति) फेंकते हैं। (आपः) हे आप्त प्रजाओ! (एतैः) इन (तण्डुलैः) चावलों [अन्न-आदि] के साथ (सं भवत) तुम शक्तिमान् बनो, (इव) जैसे (योषा) सेवा योग्य पत्नी (ऋत्वियाय) ऋतु [गर्भधारण योग्य काल] पाने के लिये (पतिम्) पति को (दृष्ट्वा) देखकर [शक्ति वाली होती है] ॥ २९ ॥

भावार्थ—जैसे जल अग्नि के संयोग से खौलने लगता है, अथवा जैसे पत्नी ऋतुकाल में पति को प्राप्त होकर अभीष्ट सन्तान उत्पन्न करती है, वैसे ही सब पुरुषों को पुरुषार्थ के साथ अपना अभीष्ट सिद्ध करना चाहिये ॥ २९ ॥

उत्थापय सीदतो बुध्न एनानद्भिरात्मानमभि सं स्पृशन्ताम्। अमासि पात्रैरुदकं यदेतन्मितास्तण्डुलाः प्रदिशो यदीमाः ॥ ३० ॥ (१५)

उत्। स्थापय। सीदतः। बुध्ने। एनान्। अत्-भिः। आत्मानम्। अभि। सम्। स्पृशन्ताम् ॥ अमासि। पात्रैः। उदकम्। यत्। एतत्। मिताः। तण्डुलाः। प्र-दिशः। यदि। इमाः ॥ ३० ॥ (१५)

भाषार्थ—[हे वीर!] (बुध्ने) तले पर (सीदतः) बैठे हुये (एनान्)

२९—(उद्योधन्ति) उत्कर्षेण संप्रहरन्ति (अभि) सर्वतः (वल्गन्ति) उत्प्लुत्य गच्छन्ति (तप्ताः) अग्निसंयुताः सत्यः। आपः—इति शेषः (फेनम्) फेनमीनौ। उ० ३। ३। स्फायी वृद्धौ—नक्। बुद्बुदाकारं पदार्थम् (अस्यन्ति) क्षिपन्ति (बहुलान्) बहून् (च) (बिन्दून्) (योषा) सेवनीया पत्नी (इव) यथा (दृष्ट्वा) निरीक्ष्य (पतिम्) भर्तारम् (ऋत्वियाय) अ० ३। २०। १। छन्दसि घस्। पा० ५। १। १०६ ऋतु—घस्, इयादेशः। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः। पा० २। ३। १४। ऋतुं गर्भाधानयोग्यकालं प्राप्तुम् (एतैः) (तण्डुलैः) (संभवत) शक्तिमत्यो भवत (आपः) हे आप्ताः प्रजाः ॥

३०—(उत्थापय) ऊर्ध्वं धारय (सीदतः) उपविशतः (बुध्ने) मूले

इन [चावलों] को (उत् स्थापय) ऊंचा उठा, वे [चावल] (अद्भिः) जल के साथ (आत्मानम्) अपने को (अभि) सब प्रकार (सं स्पृशन्ताम्) मिला देवें। (पात्रैः) पात्रों [चमचे आदि] से, (यत्) जो कुछ (एतत्) यह (उदकम्) जल है, [उसे] (अमासि) मैं ने नाप लिया है, (यदि) यदि (तण्डुलाः) चावल (इमाः प्रदिशः) इन दिशाओं में [बटलोही के भीतर] (मिताः) नापे गये हैं ॥ ३० ॥

भावार्थ—जैसे रसोइया बटलोही के पैंदे में बैठे हुये चावलों को उठाकर जल से मिलाता है, और बार बार जल और चावलों को नाप कर ठीक ठीक पकाता है, वैसे ही मनुष्य यथावत् उपाय से दूसरों को उन्नत करके योग्य बनावें ॥ ३० ॥

प्र यच्छ पर्शुं त्वरया हरौषमहिंसन्त ओषधीर्दान्तु पर्वन् । यासां सोमः परि राज्यं बभूवामन्युता नो वीरुधो भवन्तु ॥३१॥

प्र । यच्छ । पर्शुम् । त्वरय । आ । हर । ओषम् । अहिंसन्तः। ओषधीः। दान्तु । पर्वन् ॥ यासाम् । सोमः। परि । राज्यम् । बभूव । अमन्युताः । नः । वीरुधः । भवन्तु ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (पर्शुम्) हंसिया [दरांती] को (प्र यच्छ) ले, (त्वरय =०—या) वेग से (आ हर) ले आ, (ओषधीः) ओषधियों [अन्न आदि] को (अहिंसन्तः) हानि न करते हुये वे [लावा लोग] (पर्वन्) गांठ पर (ओषम्) झटपट (दान्तु) काटें। (यासाम्) जिन [अन्न आदि] के (राज्यम्)

(एनान्) तण्डुलान् (अद्भिः) जलैः (आत्मानम्) (अभि) सर्वतः (संस्पृशन्ताम्) संयोजयन्तु (अमासि) माङ् माने-लुङ्। अहं परिमितवानस्मि (पात्रैः) चमसादिभिः (उदकम्) जलम् (यत्) (एतत्) (मिताः) परिमिताः (तण्डुलाः) (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः, प्रतीति शेषः (यदि) (इमाः) उखायां वर्तमानाः ॥

३१—(प्र यच्छ) नियमय। संगृहाण (पर्शुम्) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च। उ० १। ३३। पर+शॄ हिंसायाम्—कु, अकारलोपः। शस्त्रभेदम्। कुठारादिकम् (त्वरय) त्वरया। वेगेन (आहर) आनय (ओषम्) क्षिप्रम्—निघ० २। १५। (अहिंसन्तः) अहानिं कुर्वन्तः (ओषधीः) अन्नादीन् (दान्तु)

राज्य को (सोमः) चन्द्रमा [वा जल] ने (परि बभूव) घेर लिया था, (अमन्युताः) क्रोध को न फैलाती हुयी (वीरुधः) वे ओषधें [अन्न आदि] (नः) हमें (भवन्तु) प्राप्त होवें ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जैसे जब खेती चन्द्रमा और जल के संयोग से पक जाती है, तब किसान चतुर कटवैयों से यथाविधि कटवा कर अन्न आदि पाता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष विद्वानों के संयोग से ईश्वरज्ञान प्राप्त करके सुखी होता है॥३१॥

पदपाठ में (त्वरय) के स्थान पर [त्वरया] सुबन्त मान कर हम ने अर्थ किया है। यदि तिङन्त होता तौ [तिङ्ङतिङः। पा० ८।१।२८।] इस सूत्र से वह सब अनुदात्त होता ॥

नवं बर्हिरोदनाय स्तृणीत प्रियं हृदश्चक्षुषो वल्ग्वस्तु। तस्मिन् देवाः सह दैवीर्विशन्त्विमं प्राश्नन्त्वृतुभिर्निषद्य ॥ ३२ ॥

नवम्। बर्हिः। ओदनाय। स्तृणीत। प्रियम्। हृदः। चक्षुषः। वल्गु। अस्तु ॥ तस्मिन्। देवाः। सह। दैवीः। विशन्तु। इमम्। प्र। अश्नन्तु। ऋतु-भिः। नि-सद्य ॥३२॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (नवम्) नवीन (बर्हिः) आसन (ओदनाय) भात [रंधे चावल जीमने] के लिये (स्तृणीत) बिछाओ, वह [आसन] (हृदः) हृदय का (प्रियम्) प्रिय और (चक्षुषः) नेत्र का (वल्गु) रमणीय (अस्तु) होवे। (तस्मिन्) उस [आसन] पर (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] और (देवीः) देवियां [विदुषी स्त्रियां] (सह) साथ साथ (विशन्तु)

लुनन्तु (पर्वन्) पर्वणि। ग्रन्थौ (यासाम्) ओषधीनाम् (सोमः) चन्द्रः। जलम् (परि) परितः (राज्यम्) राष्ट्रम् (बभूव) प्राप (अमन्युताः) अमन्यु+तनु विस्तारे—ड, टाप्। अमन्योरक्रोधस्य विस्तारिकाः (नः) अस्मान् (वीरुधः) ओषधयः (भवन्तु) प्राप्नुवन्तु ॥

३२—(नवम्) नवीनम् (बर्हिः) आसनम् (ओदनाय) भक्तं जेमितुम् (स्तृणीत) आच्छादयत (प्रियम्) हितकरम् (हृदः) हृदयस्य (चक्षुषः) नेत्रस्य (वल्गु) रमणीयम् (अस्तु) (तस्मिन्) बर्हिषि (देवाः) विद्वांसः (सह) परस्परम् (देवीः) विदुष्यः (विशन्तु) निषीदन्तु (इमम्) ओदनम्

बैठें और (ऋतुभिः) सब ऋतुओं के साथ (निषद्य) बैठकर (इमम्) इस [भात] को (प्र अश्नन्तु) स्वाद से जीमें ॥ ३२ ॥

भावार्थ – जैसे मनुष्य रुचिर भोजन को रमणीक स्थान में ऋतुओं के अनुसार जीमकर प्रसन्न होते हैं, वैसे ही योगी जन शुद्ध अन्तःकरण में परमात्मा के अनुभव से मोक्ष सुख पाते हैं ॥ ३२ ॥

वन॑स्पते स्तीर्णमा सी॑द ब॒र्हिर॑ग्निष्टो॒मैः संमि॑तो दे॒वता॑भिः।
त्वष्ट्रे॑व रू॒पं सुकृ॑तं॒ स्वधि॑त्यै॒ना ए॒हाः परि॒ पात्रे॑ ददृश्राम् ॥३३॥

वन॑स्पते । स्तीर्णम् । आ । सीद॒ । ब॒र्हिः । अ॒ग्नि॒-स्तो॒मैः । सम्-मि॑तः । दे॒वता॑भिः ॥ त्वष्ट्रा॑-इव । रू॒पम् । सु-कृ॑तम् । स्व-धि॑त्या । ए॒ना । ए॒हाः । परि॑ । पात्रे॑ । द॒दृ॒श्राम् ॥३३॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे सेवनीय शास्त्र के रक्षक विद्वान् ! तू (स्तीर्णम्) फैले हुये (बर्हिः) आसन पर (आ सीद) बैठ जा, तू (अग्निष्टोमैः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर की स्तुतियों से और (देवताभिः) व्यवहार कुशल पुरुषों से (संमितः) सन्मान किया गया है। (एना) इस [पुरुष] करके (एहाः) चेष्टायें (पात्रे) पात्र में [चित्त में] (परि) सब ओर से (ददृश्राम्) देखी जावें, (त्वष्ट्रा इव) जैसे शिल्पीकरके (स्वधित्या) बसूले आदि से (सुकृतम्) सुन्दर बनाया गया (रूपम्) वस्तु [देखा जाता है] ॥ ३३ ॥

(प्राश्नन्तु) स्वादु भक्षयन्तु (ऋतुभिः) समुचितकालैः (निषद्य) उपविश्य ॥

३३—(वनस्पते) म० १५। हे सेवनीयस्य शास्त्रस्य रक्षक (स्तीर्णम्) विस्तीर्णम् (आसीद) उपविश (बर्हिः) आसनम् (अग्निष्टोमैः) ज्ञानस्वरूपस्य परमेश्वरस्य स्तुतिभिः (संमितः) सन्मानितः (देवताभिः) व्यवहारकुशलैः (त्वष्ट्रा) शिल्पिना (इव) यथा (रूपम्) द्रव्यम् (सुकृतम्) सुनिर्मितम् (स्वधित्या) कुठारविशेषेण (एना) एनेन पुरुषेण (एहाः) आङ्+ईह चेष्टायाम्—अङ्, टाप्। सम्यक् चेष्टाः (परि) सर्वतः (पात्रे) भाजने। चित्ते (ददृश्राम्) दृशिर् दर्शने—कर्मणि लोट्। बहुलं छन्दसि। पा० २।४।७६। शपः श्लुः, द्वित्वम्। झस्य अत्, तलोपे पररूपे च कृते, एत्वे। आमेतः। पा० ३।४।६०। आम्। बहुलं छन्दसि। पा० ७।१।८। रुट्। दृश्यन्ताम् ॥

भावार्थ—जब मनुष्य ईश्वर के यथार्थ ज्ञान से और विद्वानों के सत्संग से संसार में मान्य और स्वस्थ होकर बैठता है, वह चित्त की वृत्तियों को ऐसा स्पष्ट देखता है, जैसे शिल्पी अपने बनाये पदार्थ को निरखता है ॥ ३३ ॥

षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् स्वः पक्वेनाभ्यश्नवातै ।
उपैनं जीवान् पितरश्च पुत्रा एतं स्वर्गं गमयान्तमग्नेः ॥३४॥

षष्ट्याम् । शरत्-सु । निधि-पाः । अभि । इच्छात् । स्वः । पक्वेन । अभि । अश्नवातै ॥ उप । एनम् । जीवान् । पितरः । च । पुत्राः । एतम् । स्वः-गम् । गमय । अन्तम् । अग्नेः ३४

भाषार्थ—(षष्ट्याम्) साठ [बहुत] (शरत्सु) बरसों में (निधिपाः) निधियों का रक्षक [मनुष्य] (स्वः) सुख को (पक्वेन) परिपक्व [ज्ञान] के साथ (अभि इच्छात्) सब ओर खोजे और (अभि) सब प्रकार (अश्नवातै) प्राप्त करे । (पितरः) पितर [रक्षक ज्ञानी) (च) और (पुत्राः) पुत्र [कष्ट से बचाने वाले लोग] (एनम्) इस [वीर] के (उप जीवान् आश्रय से जीवते रहें, [हे परमेश्वर !] (एतम्) इस [वीर] को (अग्नेः) ज्ञान के (अन्तम्) अन्त [सीमा], (स्वर्गम्) सुख समाज में (गमय) पहुंचा ॥३४॥

भावार्थ—जो मनुष्य बड़े अभ्यास से परिपक्व ज्ञानी होकर मोक्ष सुख पाता है, उस विद्वान् वीर पुरुष का सब विद्वान् लोग आश्रय लेते हैं, और वह परमेश्वर के अनुग्रह से सब का अग्रगामी होकर आनन्दित होता है ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आगे मन्त्र ४१ में है ॥

धर्ता ध्रियस्व धरुणे पृथिव्या अच्युतं त्वा देवताश्च्यावय-

३४—(षष्ट्याम्) षष्टिसंख्यायुक्तासु । अनेकासु-इत्यर्थः (शरत्सु) संवत्सरेषु (निधिपाः) निधिपालकः (अभि इच्छात्) अन्विच्छेत् (स्वः) सुखम् (पक्वेन) दृढज्ञानेन (अभि) (अश्नवातै) प्राप्नुयात् (एनम्) विद्वांसम् (उप जीवान्) लेट् । उपेत्य जीवन्तु (पितरः) पालका विज्ञानिनः (च) (पुत्राः) पुतो नरकात् त्रायकाः पुरुषाः (एतम्) (विद्वांसम्) (स्वर्गम्) सुखप्रापकं लोकम् (गमय) प्रापय (अन्तम्) सीमाम् (अग्नेः) ज्ञानस्य ॥

न्तु । तं त्वा दंपती जीवन्तौ जीवपुत्रावुद्वासयातः पर्यग्निधानात् ॥ ३५ ॥

धर्ता । ध्रियस्व । धरुणे । पृथिव्याः । अच्युतम् । त्वा । देवताः । च्यवयन्तु ॥ तम् । त्वा । दंपती इति दम्-पती । जीवन्तौ । जीव-पुत्रौ । उत् । वासयातः । परि । अग्नि-धानात् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे वीर !] तू (धर्ता) धर्ता [धारण करने वाला] होकर (पृथिव्याः) पृथिवी के (धरुणे) धारण में (ध्रियस्व) दृढ़ रह, (अच्युतम् त्वा) तुझ निश्चल को (देवताः) देवता [विद्वान् लोग] (च्यवयन्तु) सहन करें। (तम् त्वा) उस तुझको (जीवन्तौ) जीवते हुये [पुरुषार्थी] (जीव-पुत्रौ) जीवते [पुरुषार्थी] पुत्रों वाले (दम्पती) दोनों पति पत्नी (परि) सब ओर से (अग्निधानात्) ज्ञान के आधार [होने के कारण] से (उत्) उत्कर्षता से (वासयातः) निवास करावें ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् पराक्रमी दृढ़स्वभाव पुरुष प्रजापालन में चतुर हो, विद्वान् लोग उसका आश्रय लेवें, और ऐसे पुत्र से माता पिता पुत्रवान् होकर उसको उच्च बनावें ॥ ३५ ॥

सर्वान्त्समागा अभिजित्य लोकान् यावन्तः कामाः समतीतृपस्तान् । वि गाहेथामायवनं च दर्विरेकस्मिन् पात्रे अध्युद्धरेनम् ॥ ३६ ॥

३५—(धर्ता) धारकः सन् (ध्रियस्व) धृतः स्थिरो भव (धरुणे) धारणे (पृथिव्याः) भूमिराज्यस्य (अच्युतम्) च्युङ् गतौ—क्त । निश्चलम् (त्वा) वीरम् (देवताः) विद्वांसः (च्यवयन्तु) च्यु हसने सहने च । सहन्ताम् (तम्) तादृशम् (त्वा) (दम्पती) जायापती (जीवन्तौ) प्राणान् धरन्तौ पुरुषार्थं कुर्वन्तौ (जीवपुत्रौ) जीविताः पुरुषार्थयुक्ताः पुत्रा ययोस्तौ (उत्) उत्कर्षेण (वासयातः) लेट् । निवासयताम् (परि) सर्वतः (अग्निधानात्) ज्ञानधारणकारणात् ॥

सर्वान् । सम्-आगाः । अभि-जित्य । लोकान् । यावन्तः । कामाः । सम् । अतीतृपः । तान् ॥ वि । गाहेथाम् । आ-यवनम् । च । दर्विः । एकस्मिन् । पात्रे । अधि । उत् । हर । एनम् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—[हे वीर !] (सर्वान् लोकान्) सब लोकों को (अभि-जित्य) भले प्रकार जीतकर (समागाः) तू आकर मिला है, (यावन्तः) जितनी (कामाः) कामनायें हैं, (तान्) उन सबको (सम्) यथावत् (अतीतृपः) तूने तृप्त किया है। (आयवनम्) मन्थन दण्डी (च) और (दर्विः) चमचा [दोनों] (एकस्मिन् पात्रे) एक पात्र में (वि गाहेथाम्) डूबें [हे वीर !] (एनम्) इस [आत्मा] को (अधि) अधिकार पूर्वक (उत् हर) ऊंचा ले चल ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि सब विघ्नों को पार करके शुभ कामनाओं को पूरा करे और एक परमात्मा में वा जगत् की रक्षा में तत्पर होकर आत्मा की उन्नति करता रहे, जैसे एक बटलोही में शाक आदि को दण्डी से कूटकर सिद्ध करते और चमचे से निकालते हैं ॥ ३६ ॥

उप स्तृणीहि प्रथय पुरस्ताद् घृतेन पात्रमभि घारयैतत् ।
वाश्रेवोस्रा तरुणं स्तनस्युमिमं देवासो अभिहिङ्कृणोत ॥३७॥

उप । स्तृणीहि । प्रथय । पुरस्तात् । घृतेन । पात्रम् । अभि । घारय । एतत् ॥ वाश्रा-इव । उस्रा । तरुणम् । स्तन-

३६—(सर्वान्) (समागाः) सम्+आङ्+इण् गतौ–लुङ्। समागतोऽसि (अभिजित्य) (लोकान्) (यावन्तः) (कामाः) इष्टपदार्थाः (सम्) सम्यक् (अतीतृपः) तर्पितवानसि (तान्) कामान् (वि) विविधम् (गाहेथाम्) थस्य तकारश्छान्दसः । गाहेताम्। निमग्ने भवताम् (आयवनम्) आङ्+यु मिश्रणामिश्रणयोः–ल्युट्। विलोडनदण्डः (च) (दर्विः) चमसः (एकस्मिन्) (पात्रे) भाजने (अधि) अधिकार पूर्वकम् (उत् हर) उच्चं प्राप्नुहि (एनम्) आत्मानम् ॥

नुस्युम् । इमम् । देवासः । अभि- हिङ्कृणोत ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्!] (एतत्) इस (पात्रम्) पात्र [योग्य पुरुष] को (उप स्तृणीहि) फैला, (पुरस्तात्) आगे को (प्रथय) प्रसिद्ध कर, और (घृतेन) सार पदार्थ [तत्त्वज्ञान] से (अभि) भले प्रकार (घारय) प्रकाशमान कर। (देवासः) हे विद्वानो! (इमम्) इस [आत्मा] को (अभिहिङ्कृणोत) बहुत वृद्धि वाला करो, (इव) जैसे (वाश्रा) रंभाती हुयी (उस्रा) गाय (तरुणम्) नवीन (स्तनस्युम्) थन चाहने वाले [बछड़े] को ॥ ३७ ॥

भावार्थ—आचार्य को उचित है कि सुयोग्य ब्रह्मचारियों को उत्तम विद्या देकर बढ़ावे, जैसे गौ नवोत्पन्न बच्चे को दूध से बढ़ाती है ॥ ३७॥

उपास्तरीरकरो लोकमेतमुरुः प्रथतामसमः स्वर्गः । तस्मिञ्छ्रयातै महिषः सुपर्णो देवा एनं देवताभ्यः प्र यच्छान् ॥३८॥

उप । अस्तरीः । अकरः । लोकम् । एतम् । उरुः । प्रथताम् । असमः । स्वः-गः ॥ तस्मिन् । श्रयातै । महिषः । सु-पर्णः । देवाः । एनम् । देवताभ्यः । प्र । यच्छान् ॥ ३८ ॥

३७—(उपस्तृणीहि) स्तृञ् आच्छादने। विस्तारय (प्रथय) प्रख्यातं कुरु (पुरस्तात्) अग्रतः (घृतेन) घृ दीप्तौ—क्त। सारपदार्थेन । तत्त्वज्ञानेन (पात्रम्) पा रक्षणे—ष्ट्रन्। विद्यादियुक्तं दानयोग्यं ब्राह्मणम् (घारय) घृ दीप्तौ—णिच्। प्रकाशय (एतत्) (वाश्रा) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। वाशृ शब्दे—रक्। शब्दायमाना (इव) यथा (उस्रा) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। वस निवासे—रक्, टाप्। गौः (तरुणम्) नूतनम् (स्तनस्युम्) सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। स्तन—क्यच्। सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ। वा० पा० ७। १। ५१। सुगागमः। क्याच्छन्दसि। पा०। ३। २। १७०। उप्रत्ययः। स्तनमिच्छन्तं वत्सम् (इमम्) आत्मानम् (देवासः) हे विद्वांसः (अभिहिङ्कृणोत) अ० ७। ७३। ८। हि गतिवृद्ध्योः—डि। अभिगतवृद्धिं कुरुत ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] तू ने (एतम्) इस [पुरुष] को (उप अस्तरीः) बढ़ाया और (लोकम्) दर्शनीय (अकरः) बनाया है, (उरुः) विस्तृत (असमः) व्याकुलता रहित (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला व्यवहार (प्रथताम्) बढ़े। (तस्मिन्) उस [सुख व्यवहार] में (महिषः) महान् (सुपर्णः) बड़ी पूर्ति वाला [वह पुरुष] (श्रयातै) आश्रय लेवे, (देवाः) विद्वान् लोग (एनम्) इस [सुख व्यवहार] को (देवताभ्यः) आनन्दों के लिये (प्र यच्छान्) देवें ॥ ३८ ॥

भावार्थ—विद्वानों का कर्तव्य है कि संसार में सुख के साधनों को फैलाकर सब को सुखी करके आप भी सुखी होवें ॥ ३८ ॥

यद्यंज्जाया पचंति त्वत् परःपरः पतिर्वा जाये त्वत् तिरः । सं तत् सृजेथां सह वां तदस्तु संपादयन्तौ सह लोकमेकम् ॥३९॥

यत्-यत् । जाया । पचंति । त्वत् । परः-परः । पतिः । वा । जाये । त्वत् । तिरः ॥ सम् । तत् । सृजेथाम् । सह । वाम् । तत् । अस्तु । सम्-पादयन्तौ । सह । लोकम् । एकम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—[हे पति !] (यद्यत्) जो कुछ [वस्तु] (जाया) पत्नी (त्वत्) तुझ से (परः परः) अलग अलग (पचति) पकाती है, (वा) अथवा,

---

३८—(उप अस्तरीः) विस्तारितवानसि (अकरः) कृतवानसि (लोकम्) दर्शनीयम् (एतम्) पुरुषम् (उरुः) विस्तीर्णः (प्रथताम्) प्रख्यातो भवतु (असमः) षम वैकल्ये—अच्। वैकल्यरहितः (स्वर्गः) सुखप्रापको व्यवहारः (तस्मिन्) सुखव्यवहारे (श्रयातै) श्रिञ् सेवायाम्—लेट्। श्रयतु। सेवताम् (महिषः) अविमह्योष्टिषच्। उ० १। ४५। मह पूजायाम्—टिषच्। महान्। पूजनीयः (सुपर्णः) पॄ पालनपूरणयोः—न। बहुपूर्तिमान् (देवाः) विद्वांसः (एनम्) सुखव्यवहारम् (देवताभ्यः) मोदानां प्राप्तये (प्र यच्छान्) लेटि रूपम्। प्रयच्छन्तु। ददतु ॥

३९—(यद्यत्) यत्किंचित् (जाया) पत्नी (पचति) पक्वं करोति (त्वत्) तव सकाशात् (परः परः) पॄ पालनपूरणयोः—असुन्। दूरं दूरम्

(जाये) हे पत्नी ! (पतिः) पति (त्वत्) तुझ से (तिरः) गुप्त गुप्त [कुछ पकाता है] । (एकम्) एक (लोकम्) घर को (सह) मिलकर (सम्पादयन्तौ) बनाते हुये तुम दोनों (तत्) उस [गृह कर्म] को (सं सृजेथाम्) मिलाओ, (तत्) वह [गृहकर्म] (वाम्) तुम दोनों का (सह) मिलकर (अस्तु) होवे ॥ ३९ ॥

भावार्थ—पति पत्नी परस्पर विरोध न करें, सदा एकमत होकर ही प्रसन्नता पूर्वक गृहाश्रम पूरा करें ॥ ३९ ॥

यावन्तो अस्याः पृथिवीं सचन्ते अस्मत् पुत्राः परि ये संबभूवुः । सर्वांस्ताँ उप पात्रे ह्वयेथां नाभिं जानानाः शिशवः समायान् ॥ ४० ॥ (१९)

यावन्तः । अस्याः । पृथिवीम् । सचन्ते । अस्मत् । पुत्राः । परि । ये । सम्-बभूवुः ॥ सर्वान् । तान् । उप । पात्रे । ह्वयेथाम् । नाभिम् । जानानाः । शिशवः । सम्-आयान् ॥ ४० ॥ (१९

भाषार्थ—(अस्याः) इस [पत्नी] के (यावन्तः) जितने (पुत्राः) पुत्र (पृथिवीम्) पृथिवी को (सचन्ते) सेवते हैं, और (ये) जो [पुत्र] (अस्मत् परि) हम से पृथक् (संबभुवुः) उत्पन्न हुये हैं । (तान् सर्वान्) उन सब को (पात्रे) रक्षणीय व्यवहार में (उप ह्वयेथाम्) तुम दोनों निकट बुलाओ, (नाभिम्) बन्धुधर्म (जानानाः) जानते हुये (शिशवः) वे बालक (समायान्) मिलकर चलें ॥ ४० ॥

(पतिः) (वा) (जाये) हे पत्नि (त्वत्) (तिरः) अन्तर्धाने (तत्) गृहस्थ-कर्म (संसृजेथाम्) संयोजयतम् (सह) साहित्ये (वाम्) युवयोः (तत्) (अस्तु) (संपादयन्तौ) संसाधयन्तौ (सह) (लोकम्) गृहम् (एकम्) ॥

४०—(यावन्तः) (अस्याः) जायायाः (पृथिवीम्) (सचन्ते) सेवन्ते (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (पुत्राः) (परि) पृथग् भूय (संबभूवुः) उत्पन्ना-बभूवुः (सर्वान्) (तान्) (उप) समीपम् (पात्रे) रक्षणीये व्यवहारे (ह्वये-थाम्) आह्वयतं युवाम् (नाभिम्) बन्धुत्वम् (जानानाः) ज्ञा अवबोधने-चानश् । जानन्तः (शिशवः) बालकाः (समायान्) सम्+आङ्+या गतौ—लेट् । समागच्छन्ताम् ॥

भावार्थ—चाहे कोई सन्तान विवाह विधि से वा नियोग विधि से उत्पन्न हों, वे सब दाय भाग में यथावत् भाग पावें ॥ ४० ॥

वसोर्या धारा मधुना प्रपीना घृतेन मिश्रा अमृतस्य नाभयः। सर्वास्ता अव रुन्धे स्वर्गः षष्ट्यां शरत्सु निधिपा अभीच्छात् ॥ ४१ ॥

वसोः । याः । धाराः । मधुना । प्र-पीनाः । घृतेन । मिश्राः। अमृतस्य । नाभयः ॥ सर्वाः । ताः । अव । रुन्धे । स्वः-गः। षष्ट्याम् । शरत्-सु । निधि-पाः । अभि । इच्छात् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(वसोः) श्रेष्ठ गुण की (याः धाराः) जो धारायें (मधुना) विज्ञान [मधुविद्या] से (प्रपीनाः) बढ़ी हुयी और (घृतेन) सार [तत्त्वज्ञान] से (मिश्राः) मिली हुयी (अमृतस्य) अमृत [मोक्ष सुख] की (नाभयः) नाभियें [मध्यभाग] हैं। (ताः सर्वाः) उन सब [धाराओं] को (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला [पुरुष] (अव रुन्धे) चौकसी से रख लेता है, और [उन को] (षष्ट्याम्) साठ [अनेक] (शरत्सु) बरसों में (निधिपाः) निधियों का रक्षक [मनुष्य] (अभि इच्छात्) खोजे ॥ ४१ ॥

भावार्थ—श्रेष्ठ गुण संसार में ईश्वर के विज्ञान और सृष्टि के तत्त्व ज्ञान से मनुष्य को बड़े प्रयत्न और बड़े अभ्यास से प्राप्त होते हैं ॥ ४१ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद ऊपर मन्त्र ३४ में आ चुका है ॥

निधिं निधिपा अभ्येनमिच्छादनीश्वरा अभितः सन्तु ये३ऽन्ये । अस्माभिर्दत्तो निहितःस्वर्गस्त्रिभिः काण्डैस्त्रीन्त्स्वर्गानरुक्षत् ॥ ४२ ॥

४१—(वसोः) श्रेष्ठगुणस्य (याः) (धाराः) प्रवाहाः (मधुना) विज्ञानेन । मधुविद्यया (प्रपीनाः) प्रवृद्धाः (घृतेन) घृ सेके दीप्तौ—क्त । सारेण। तत्त्वज्ञानेन (मिश्राः) संयुक्ताः (अमृतस्य) मोक्षसुखस्य (नाभयः) मध्यभागाः (सर्वाः) (ताः) धाराः (अव रुन्धे) सावधानतया रक्षति (स्वर्गः) सुखप्रापकः पुरुषः। अन्यत् पूर्ववत्—म० ३४॥

नि-धिम् । निधि-पाः । अभि । एनम् । इच्छात् । अनीश्वराः । अभितः । सन्तु । ये । अन्ये ॥ अस्माभिः । दत्तः । नि-हितः । स्वः-गः । त्रि-भिः । काण्डैः । त्रीन् । स्वः-गान् । अरुक्षत् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(निधिपाः) निधियों का रक्षक [पुरुष] (एनम्) इस (निधिम्) निधि [अर्थात् मोक्ष] को (अभि इच्छात्) खोजे, (ये) जो (अन्ये) दूसरे (वेदविरोधी] हैं, वे (अभितः) सब ओर से (अनीश्वराः) बिना ऐश्वर्य (सन्तु) होवें । (अस्माभिः) हम [धर्मात्माओं] से (दत्तः) रक्षित, (निहितः) स्थापित (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला [मनुष्य] (त्रिभिः) तीन [मानसिक, वाचिक और शारीरिक](काण्डैः) कामना योग्य कर्मों से (त्रीन्) तीन [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक] (स्वर्गान्) स्वर्गों [सुख पहुंचाने वाले व्यवहारों] को (अरुक्षत्) ऊंचा चढ़ा है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वरनियमों पर चलकर ऐश्वर्य पाते हैं, अधर्मी लोग नहीं पाते, पहिले भी मनुष्यों ने मन, वाणी, और शरीर के उत्तम उपयोगों से आध्यात्मिक आदि सुख पाये हैं ॥ ४२ ॥

अग्नी रक्षस्तपतु यद् विदेवं क्रव्यात् पिशाच इह मा प्र पास्त । नुदाम एनमप रुध्मो अस्मदादित्या एनमङ्गिरसः सचन्ताम् ४३

अग्निः । रक्षः । तपतु । यत् । वि-देवम् । क्रव्य-अत् ।

४२—(निधिम्) कोशम् । मोक्षमित्यर्थः (निधिपाः) कोशपालकः (एनम्) (अभि इच्छात्) अन्वेषणेन प्राप्नुयात् (अनीश्वराः) ईश ऐश्वर्ये —वरच् । अनैश्वर्यवन्तः (अभितः) सर्वतः (ये) (अन्ये) वेदविरोधिनः (अस्माभिः) विद्वद्भिः (दत्तः)—देङ् पालने—क । दाधाघ्वदाप् । पा० १ । १ । २० । इति घुसंज्ञा । दो दद्घोः । पा० ७ । ४ । ४६ । दद् इत्यादेशः । रक्षितः(निहितः) स्थापितः (स्वर्गः) सुखप्रापकः पुरुषः (त्रिभिः) मानसिकवाचिकशारीरिकैः (काण्डैः) कादिभ्यः कित् । उ० १ । ११५ । कमु कान्तौ—ड । यद्वा, कण शब्दे—ड । अनुनासिकस्य क्विझलोःक्ङिति । पा० ६ । ४ । १५ । इति दीर्घः । कमनीयैः कर्मभिः (त्रीन्) आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकान् (स्वर्गान्) सुखप्रापकान् व्यवहारान् (अरुक्षत्) अध्यतिष्ठत् ॥

पिशाचः । इह । मा । प्र । पास्त ॥ नुदामः । एनम् । अप ॥ रुध्मः । अस्मत् । आदित्याः । एनम् । अङ्गिरसः । सचन्ताम् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] (रक्षः) उस राक्षस को (तपतु) जलावे (यत्) जो (विदेवम्) विरुद्ध व्यवहारी (क्रव्यात्) मांस खाने वाला है, (पिशाचः) पिशाच [मांस खाने वाला पुरुष] (इह) यहां पर (मा प्र पास्त) [जलादि] पान न करे। (एनम्) इस [पिशाच] को (अस्मत्) अपने से (नुदामः) हम हटाते हैं और (अप रुध्मः) निकाले देते हैं, (आदित्याः) आदित्य [अखण्ड ब्रह्मचारी] (अङ्गिरसः) ऋषि लोग (एनम्) इस [तेजस्वी पुरुष] को (सचन्ताम्) मिलते रहें ॥ ४३ ॥

भावार्थ—विद्वान् तेजस्वी पुरुष कलहकारी दुराचारियों को निकालें और महात्मा लोग विद्वान् का सहाय करें ॥ ४३ ॥

आदित्येभ्यो अङ्गिरोभ्यो मध्विदं घृतेन मिश्रं प्रति वेदयामि । शुद्धहस्तौ ब्राह्मणस्यानिहत्यैतं स्वर्गं सुकृतावपीतम् ॥ ४४ ॥

आदित्येभ्यः अङ्गिरः-भ्यः । मधु । इदम् । घृतेन । मिश्रम् । प्रति । वेदयामि ॥ शुद्ध-हस्तौ । ब्राह्मणस्य । अनि-हत्य । एतम् । स्वः-गम् । सु-कृतौ । अपि । इतम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(आदित्येभ्यः) अखण्डब्रह्मचारी (अङ्गिरोभ्यः) ऋषियों

४३—(अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (रक्षः) राक्षसम् (तपतु) दहतु (यत्) (विदेवम्) दिवु व्यवहारे—अच् । विरुद्धव्यवहारिणम् (क्रव्यात्) मांसभक्षकम् (पिशाचः) अ० १ । १६ । ३ । मांसभक्षकः (इह) अत्र (मा प्र पास्त) पा पाने—लुङ् । आत्मनेपदं छान्दसम् । जलादिपानं मा कुर्यात् (नुदामः) प्रेरयामः (एनम्) पिशाचम् (अप रुध्मः) बहिष्कुर्मः (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (आदित्याः) अ० १ । ६ । १ । अदिति—एय । अखण्डब्रह्मचारिणः (एनम्) तेजस्विनं विद्वांसम् (अङ्गिरसः) अ० २ । १२ । ४ । ऋषयः (सचन्ताम्) षच समवाये । संगच्छन्तु ॥

४४—(आदित्येभ्यः) म० ४३ । अखण्डब्रह्मचारिभ्यः (अङ्गिरोभ्यः)

के लिये (घृतेन) सार [तत्त्वज्ञान] से (मिश्रम्) मिले हुये (इदम्) इस (मधु) विज्ञान [मधुविद्या] को (प्रति वेदयामि) मैं [ईश्वर] जताये देता हूं [हे पति पत्नी !] तुम दोनों (शुद्धहस्तौ) शुद्ध हाथों वाले और (सुकृतौ) सुकर्मी होकर (ब्राह्मणस्य) वेद वा ब्रह्माण्ड के स्वामी [परमेश्वर] के (एतम्) इस (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले व्यवहार को (अनिहत्य) नष्ट न करके [सदा मानकर] (अपि इतम्) चलते चलो ॥ ४४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर पूर्ण विदुषी स्त्रियों और पूर्ण विद्वान् पुरुषों को आज्ञा देता है कि वे सदा धर्मात्मा रहकर ईश्वर की आज्ञा माने और उन्नति करते जावें ॥ ४४ ॥

इदं प्रापमुत्तमं काण्डमस्य यस्माल्लोकात् परमेष्ठी समाप । आ सिञ्च सर्पिर्घृतवत् समङ्ग्ध्येष भागो अङ्गिरसो नो अत्र ॥४५

इदम् । प्र । आपम् । उत्-तमम् । काण्डम् । अस्य । यस्मात् । लोकात् । परमे-स्थी । सम्-आप ॥ आ । सिञ्च । सर्पिः । घृत-वत् । सम् । अङ्ग्धि । एषः । भागः । अङ्गिरसः । नः । अत्र ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (उत्तमम्) उत्तम (काण्डम्) कामना योग्य पद (अस्य) उस [समाज] का (प्र आपम्) मैं [ब्रह्मचारी] ने पाया है, (यस्मात्) जिस (लोकात्) समाज से (परमेष्ठी) बड़े ऊंचे पद वाले [ब्रह्मचारी] ने [उत्तम पद को] (समाप) पूरा पूरा पाया था । [हे आचार्य !]

म० ४३ । ऋषिभ्यः (मधु) विज्ञानम् (इदम्) (घृतेन) सारेण । तत्त्वज्ञानेन (मिश्रम्) संयुक्तम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (वेदयामि) विज्ञापयामि (शुद्धहस्तौ) पवित्रहस्तकर्माणौ (ब्राह्मणस्य) ब्रह्म—अण् । ब्रह्मणो वेदस्य ब्रह्माण्डस्य वा स्वामिनः परमेश्वरस्य (अनिहत्य) अनाशयित्वा (एतम्) (स्वर्गम्) सुखप्रापकं व्यवहारम् (सुकृतौ) धर्मकर्माणौ (अपि) अवधारणे (इतम्) गच्छतम् ॥

४५—(इदम्) प्रत्यक्षम् (प्रापम्) प्राप्तवानस्मि (उत्तमम्) श्रेष्ठम् (काण्डम्) म० ४२ । कमनीयं पदम् (अस्य) तस्य । समाजस्य (यस्मात्) (लोकात्) समाजात् (परमेष्ठी) उत्कृष्टे पदे वर्तमानो ब्रह्मचारी (सम्) सम्यक् (आप) प्राप्तवान् (आ) समन्तात् (सिञ्च (सर्पिः) अर्चि—

तू (घृतवत्) प्रकाश युक्त (सर्पिः) ज्ञान को (आ सिञ्च) सब ओर सींच और (सम्) ठीक ठीक (अङ्ग्धि) प्रकट कर, (अङ्गिरसः) विद्वान् [आचार्य] का (एषः) यह (भागः) सेवनीय व्यवहार (नः) हमारे लिये (इह) यहां [संसार में] [होवे] ॥ ४५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारिणी और ब्रह्मचारी पूर्व विद्यार्थियों के समान नियम पूर्वक विद्या का अभ्यास करें और आचार्य से विद्या के लिये प्रार्थना किया करें ॥ ४५ ॥

सत्याय च तपसे देवताभ्यो निधिं शेवधिं परि दद्म एतम् । मा नो द्यूतेऽव गान्मा समित्यां मा स्मान्यस्मा उत्सृजता पुरा मत् ॥ ४६ ॥

सत्याय । च । तपसे । देवताभ्यः । नि-धिम् । शेव-धिम् । परि । दद्मः । एतम् ॥ मा । नः । द्यूते । अव । गात् । मा । सम्-इत्याम् । मा । स्म । अन्यस्मै । उत् । सृजत । पुरा । मत् ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(सत्याय) सत्य [यथार्थ कर्म करने] के लिये (च) और (तपसे) तप [ऐश्वर्य बढ़ाने] के लिये (देवताभ्यः) विजय चाहने वाले [ब्रह्मचारियों] को (एतम्) यह (शेवधिम्) सुखदायक (निधिम्) निधि [विद्याकोश] (परिदद्मः) हम [आचार्य लोग] सौंपते हैं । (नः) हमारा

शुचिदुसृपि० । उ० २ । १०८ । सृप गतौ—इसि । ज्ञानम् (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (सम्) सम्यक् (अङ्ग्धि) अञ्जू व्यक्तीकरणे । व्यक्तं प्रकटं कुरु (एषः) (भागः) सेवनीयो व्यवहारः (अङ्गिरसः) विदुषः पुरुषस्य । आचार्यस्य (नः) अस्मभ्यम् (अत्र) संसारे ॥

४६—(सत्याय) यथार्थकर्मकरणाय (च) (तपसे) ऐश्वर्यवर्धनाय (देवताभ्यः) विजिगीषुभ्यो विद्यार्थिभ्यः (निधिम्) विद्याकोशम् (शेवधिम्) शेवं सुखम्—निघ० ३ । ६ । सुखप्रदम् (परिदद्मः) समर्पयामः (एतम्) प्रत्यक्षम् (नः) अस्माकम् (द्यूते) पाशादिक्रीडायाम् । कैतवे (मा अव गात्)

वह [निधि] (द्यूते) जुये में (मा अव गात्) न चला जावे और (मा) न (समित्याम्) संग्राम में और (मा स्म) न कभी वह [निधि] (अन्यस्मै) अन्य [अधर्मी) पुरुष को (मत्) मुझ [धर्मात्मा] से (पुरा) आगे होकर (उत् सृजत) छुट जावे ॥ ४६ ॥

भावार्थ—आचार्य ब्रह्मचारियों को उपदेश करे कि इस विद्याकोश को धर्म की वृद्धि के लिये हम तुम्हें देते हैं, हमारे उपदेश से विरुद्ध इस विद्यारत्न को जुये आदि खोटे कामों में मत बिगाड़ो ॥ ४६ ॥

अहं पचाम्यहं ददामि ममेदु कर्मन् करुणेऽधि जाया। कौमारो लोको अजनिष्ट पुत्रो३ऽन्वारभेथां वय उत्तरावत् ॥ ४७ ॥

अहम् । पचामि । अहम् । ददामि । मम । इत् । ऊं इति । कर्मन् । करुणे । अधि । जाया ॥ कौमारः । लोकः । अजनिष्ट । पुत्रः । अनु-आरभेथाम् । वयः । उत्तर-वत् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं [आचार्य] [विद्याकोश को मन्त्र ४६] (पचामि) पक्का [दृढ़] करता हूं, और (अहम्) मैं (ददामि) देता हूं, (मम) मेरी (जाया) पत्नी (इत्) भी (उ) निश्चय करके (करुणे) करुणायुक्त (कर्मन्) कर्म में (अधि) अधिकृत है। (कौमारः) उत्तम कुमारियों वाला और (पुत्रः) उत्तम पुत्रों वाला (लोकः) यह लोक (अजनिष्ट) हुआ है, [हे कुमारी कुमारो !] तुम दोनों (उत्तरावत्) अधिक उत्तम गुण वाला

मा नश्येत् (मा) निषेधे (समित्याम्) सङ्ग्रामे—निघ० २ । १७ (मा स्म) नैव (अन्यस्मै) विरुद्धस्वभावाय । अधर्मिणे (उत् सृजत) सृज विसर्गे—लङ्, आत्मनेपदं छान्दसम् । स्मोत्तरे लङ् च । पा० ३ । ३ । १७६ । मास्मेत्युपपदे-लङ् । त्यज्यताम् (पुरा) अग्रतः (मत्) मत्सकाशात् ॥

४७—(अहम्) आचार्यः (पचामि) पक्वं दृढं करोमि, निधिम्—म० ४६ (अहम्) (ददामि) (मम) (इत्) एव (उ) निश्चयेन (कर्मन्) विहितकर्मणि (करुणे) करुणा—अर्श आद्यच् । करुणावति । दयावति (अधि) अधिकृता (जाया) पत्नी (कौमारः) कुमारी-अण् । श्रेष्ठकुमारीयुक्तः (लोकः) समाजः (अजनिष्ट) प्रादुरभवत् (पुत्रः) पुत्र—अर्श आद्यच् । श्रेष्ठपुत्रयुक्तः (अन्वारभेथाम्) निरन्तरमारम्भं कुरुतम् (वयः) जीवनम्

(वयः) जीवन (अन्वारभेथाम्) निरन्तर आरम्भ करो ॥ ४७ ॥

भावार्थ—आचार्य और आचार्यानी विद्या का उपदेश दृढ़ता से करें जिससे कुमारी और कुमार संसार में धर्म के उदाहरण बनकर सदा श्रेष्ठ जीवन बितावें ॥ ४७ ॥

न किल्बिषमत्र नाधारो अस्ति न यन्मित्रैः समममान एति ।
अनूनं पात्रं निहितं न एतत् पक्तारं पक्वः पुनरा विशाति ४८

न । किल्बिषम् । अत्र । न । आ-धारः । अस्ति । न । यत् । मित्रैः । सम्-अममानः । एति ॥ अनूनम् । पात्रम् । नि-हितम् । नः । एतत् । पक्तारम् । पक्वः । पुनः । आ । विशाति ४८

भाषार्थ—(अत्र) इस [हमारे समाज] में (न) न तो (किल्बिषम्) कोई दोष, (न) न (आधारः) गिर पड़ने का व्यवहार (अस्ति) है और (न) न [वह कर्म है] (यत्) जिससे (मित्रैः) मित्रों के साथ (सममममानः) बहुत पीड़ा देने वाला व्यवहार (एति) चलता है । (एतत्) यह (नः) हमारा (पात्रम्) पात्र [हृदय] (अनूनम्) बिना रीता [परिपूर्ण] (निहितम्) रक्खा हुआ है, (पक्वः) परिपक्व [दृढ़ बोध] (पक्तारम्) दृढ़ करने वाले पुरुष में (पुनः) निश्चय करके (आ विशाति) प्रवेश करेगा ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने और अपने सम्बन्धियों के दोषों को हटाकर सब को उत्तम गुणी बनाता है, तब उनके हृदयों में परिपक्व ज्ञान प्रवेश करता है ॥ ४८ ॥

(उत्तरावत्) म० १० । अधिकोत्तमगुणयुक्तम् ॥

४८—(न) निषेधे (किल्बिषम्) अ० ५ । १६ । ५ । किल पीडायाम्—टिषच् बुक् च । अपराधः (अत्र) समाजे (न) (आधारः) आङ्+धृङ् अवध्वंसने अवस्थाने च—घञ् । संपतनव्यवहारः (अस्ति) (न) (यत्) यस्मात् (मित्रैः) (सममममानः) सम्+अम गतौ पीडने च—चानश् । संपीडको व्यवहारः (एति) गच्छति । वर्तते (अनूनम्) परिपूर्णम् (पात्रम्) रक्षासाधनम् । हृदयम् (निहितम्) स्थापितम् (नः) अस्माकम् (एतत्) प्रत्यक्षम् (पक्तारम्) दृढीकर्तारम् (पक्वः) दृढो बोधः (पुनः) अवधारणे (आ विशाति) लेट् । प्रविशेत् ॥

प्रियं प्रियाणां कृणवाम तमस्ते यन्तु यतमे द्विषन्ति । धेनु-रनड्वान् वयोवय आयदेव पौरुषेयमप मृत्युं नुदन्तु ॥ ४६ ॥

प्रियम् । प्रियाणाम् । कृणवाम । तमः । ते । यन्तु । यतमे । द्विषन्ति ॥ धेनुः । अनड्वान् । वयः-वयः । आ यत् । एव । पौरुषेयम् । अप । मृत्युम् । नुदन्तु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(प्रियाणाम्) अपने प्यारों का हम (प्रियम्) प्रिय [कर्म] (कृणवाम) करें (ते) वे [दुष्ट] (तमः) अन्धकार [कारागार] में (यन्तु) जावें (यतमे) जो कोई (द्विषन्ति) [हम से] बैर करते हैं। (धेनुः) दुधैल गाय, (अनड्वान्) छकड़ा ले चलने वाला बैल और (आयत्) आता हुआ (वयोवयः) प्रत्येक अन्न (एव) निश्चय करके (पौरुषेयम्) पुरुष की (मृत्युम्) मृत्यु को (अप नुदन्तु) ढकेल देवें ॥ ४६ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा लोग धर्मात्मा हितकारियों से प्रिय व्यवहार करें और दुष्टों को कष्ट देते रहें, जिससे गौ, बैल, अन्न आदि आवश्यक पदार्थ बढ़कर संसार की वृद्धि करें ॥ ४६ ॥

समग्नयो विदुरन्यो अन्यं य ओषधीः सचते यश्च सिन्धून् । यावन्तो देवा दिव्या३तपन्ति हिरण्यं ज्योतिः पचतो बभूव ॥ ५० ॥ (१७)

सम् । अग्नयः । विदुः । अन्यः । अन्यम् । यः । ओषधीः । सचते । यः । च । सिन्धून् ॥ यावन्तः । देवाः । दिवि ।

४६—(प्रियम्) प्रीतिकरं कर्म (प्रियाणाम्) स्वहितकारकाणाम् (कृणवाम) कुर्याम (तमः) अन्धकारम् । कारागारम् (ते) दुष्टाः (यन्तु) गच्छन्तु (यतमे) ये केचित् (द्विषन्ति) वैरायन्ते (धेनुः) दोग्ध्री गौः (अनड्वान्) शकटवाहको बलीबर्दः (वयोवयः) प्रत्येकप्रकारमन्नम् (आयत्) इण् गतौ—शतृ । आगच्छत् (एव) निश्चयेन (पौरुषेयम्) पुरुष-ढञ् । मानुषम् (अप) दूरे (मृत्युम्) मरणम् (नुदन्तु) प्रेरयन्तु ॥

आ-तपन्ति । हिरण्यम् । ज्योतिः । पचतः । बभूव ॥५०॥(१७)

भाषार्थ—(अग्नयः) सब आग [के ताप] (अन्यो अन्यम्) परस्पर (सं विदुः) मिलते हैं, (यः) जो [ताप] (ओषधीः) ओषधियों [अन्न सोमलता आदि] को (च) और (यः) जो (सिन्धून्) [पृथिवी और अन्तरिक्ष के] समुद्रों को (सचते) सेवता है । (यावन्तः) जितने (देवाः) चमकते हुये लोक (दिवि) आकाश में (आतपन्ति) सब ओर तपते हैं, [वैसेही] (पचतः) सब के परिपक्व करने वाले वा विस्तारक [परमेश्वर] के (हिरण्यम्) कमनीय प्रकाश ने (ज्योतिः) [प्रत्येक] ज्योति में (बभूव) मेल किया है ॥ ५० ॥

भावार्थ—जैसे भौतिक अग्नि, बिजुली आदि के रूप से सब पदार्थों और सब लोकों को सहारता और चमकाता है, वैसेही जगत्स्रष्टा परमात्मा प्रत्येक अग्नि आदि को सहारता और चमकाता है ॥ ५० ॥

एषा त्वचां पुरुषे सं बभूवानग्नाः सर्वे पशवो ये अन्ये । क्षत्रेणात्मानं परि धापयाथोमोतं वासो मुखमोदनस्य ॥५१॥

एषा । त्वचाम् । पुरुषे । सम् । बभूव । अनग्नाः । सर्वे । पशवः । ये । अन्ये ॥ क्षत्रेण । आत्मानम् । परि । धापयाथः । अमा-उतम् । वासः । मुखम् । ओदनस्य ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(त्वचाम्) त्वचाओं [शरीर की खालों] में से (एषा)

५०—(अग्नयः) अग्नितापाः (संविदुः) सं गच्छन्ते (अन्यो अन्यम्) परस्परम् (यः) अग्निः (ओषधीः) अन्नसोमलतादीन् (सचते) सेवते (यः) (च) (सिन्धून्) पृथिव्यन्तरिक्षस्थान् समुद्रान् (यावन्तः) (देवाः) प्रकाशमाना लोकाः (दिवि) आकाशे (आतपन्ति) (हिरण्यम्) अ० १ । ६ । २ । हर्यतेः कन्यन् हिर् च । उ० ५ । ४४ । हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन्, हिरादेशः । कमनीयः प्रकाशः (ज्योतिः) तेजः (पचतः) पच पाके व्यक्तीकरणे च-शतृ । पक्वं दृढं कुर्वतो व्यक्तीकुर्वतो वा परमेश्वरस्य (बभूव) भू मिश्रीकरणे-लिट् । मिश्रीकृतवान् ॥

५१—(एषा) दृश्यमाना (त्वचाम्) शरीरचर्मणां मध्ये (पुरुषे)

यह (पुरुषे) पुरुष [शरीर] पर (सम् बभूव) मिली है, और (ये) जो (अन्ये) दूसरे (पशवः) जीव हैं, (सर्वे) वे सब [भी] (अनग्नाः) बिना नंगे [खाल वाले] हैं। [हे स्त्री पुरुषो !]तुम दोनों (त्रत्रेण) हानि से बचाने वाले बल से (आत्मानम्) अपने को (परि धापयाथः) ढंपवाओ, [जैसे] (अमोतम्) ज्ञान से बुना हुआ (वासः) कपड़ा (ओदनस्य) अन्न आदि का (मुखम्) मुख्य [रक्षासाधन] है ॥ ५१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों में मनुष्य शरीर और अन्य जीवों में अन्य प्रकार के शरीर व्यक्ति सूचक हैं, किन्तु मनुष्यही परमात्मा के ज्ञान से मनुष्यत्व पाकर उन्नति करते हैं, जैसे समझ बूझकर बनाया हुआ वस्त्र पदार्थों के रखने में समर्थ होता है ॥ ५१ ॥

यद॒क्षेषु॒ वदा॒ यत् समि॑त्यां॒ यद्वा॒ वदा॒ अनृ॑तं वित्तका॒म्या । स॒मा॒नं तन्तु॑म॒भि सं॒वसा॑नौ॒ तस्मि॒न्त्सर्वं॒ शम॑लं सादयाथः ॥ ५२ ॥

यत् । अ॒क्षेषु॑ । वदाः॑ । यत् । सम्-इ॒त्याम् । यत् । वा॒ । वदाः॑ । अनृ॑तम् । वि॒त्त-का॒म्या ॥ स॒मा॒नम् । तन्तु॑म् । अ॒भि । स॒म्-वसा॑नौ । तस्मि॑न् । सर्व॑म् । शम॑लम् । सा॒द॒या॒थः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री वा पुरुष !] (यत्) जो कुछ [झूठ] (अक्षेषु) अभियोगों [राजगृह के विवादों] में, [अथवा] (यत्) जो कुछ [झूठ] (समित्याम्) संग्राम में (वदाः) तू बोले, (वा) अथवा (यत्) जो कुछ

पुरुषशरीरे (संबभूव) उत्पन्ना बभूव (अनग्नाः) नञ्+ओनजी व्रीडायाम्—क । सवस्त्राः । सचर्माणः (सर्वे) (पशवः) प्राणिनः (ये) (अन्ये) (त्रत्रेण) क्षतः क्षतात् त्रायकेण बलेन (आत्मानम्) (परि धापयाथः) आच्छादयतं युवाम् (अमोतम्) अ० ६ । ५ । १४ । अम गतौ—घप्रत्ययः, टाप्+वेञ् तन्तुसन्ताने-क । ज्ञानेन उतं स्यूतम् (वासः) वस्त्रम् (मुखम्) प्रधानं रक्षासाधनम् (ओदनस्य) अन्नस्य ॥

५२—(यत्) असत्यम् (अक्षेषु) व्यवहारेषु । राजगृहविवादेषु (वदाः) लेट् । कथयेः (यत्) समित्याम्) सङ्ग्रामे (यत्) (वा) अथवा (वदाः) (अनृतम्) असत्यम् (वित्तकाम्या) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । कमु

(अनृतम्) झूठ (वित्तकाम्या) धन की कामना से (वदाः) तू बोले। (समानम्) एक ही (तन्तुम् अभि) तन्तु [वस्त्र] में (संवसानौ) ढके हुये तुम दोनों [स्त्री पुरुषो] (तस्मिन्) उस [झूठ] में (सर्वम्) सब (शमलम्) भ्रष्ट कर्म को (सादयाथः) स्थापित करोगे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुषों को योग्य है कि एक दूसरे को अपने सदृश समझ कर कठिन से कठिन आपत्ति में भी असत्य न बोलें, असत्य ही सब पापों का मूल है ॥ ५२ ॥

वर्षं वनुष्वापि गच्छ देवांस्त्वचो धूमं पर्युत्पातयासि । विश्वव्यचा घृतपृष्ठो भविष्यन्त्सयोनिर्लोकमुप याह्येतम् ॥५३॥

वर्षम् । वनुष्व । अपि । गच्छ । देवान् । त्वचः । धूमम् । परि । उत् । पातयासि ॥ विश्व-व्यचाः । घृत-पृष्ठः । भविष्यन् । स-योनिः । लोकम् । उप । याहि । एतम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] तू (वर्षम्) वरणीय [श्रेष्ठ] कर्म का (वनुष्व) सेवन कर, (देवान्) कामना योग्य गुणों को (अपि) अवश्य (गच्छ) प्राप्त हो, (त्वचः) अपनी खाल [देह] से (धूमम्) धुयें [मैल] को (परि) सब ओर (उत् पातयासि) उड़ा दे। (विश्वव्यचाः) सब व्यवहारों में फैला हुआ, (घृतपृष्ठः) प्रकाश से सींचता हुआ और (सयोनिः) समान घर वाला (भविष्यन्) भविष्यत् में होता हुआ तू (एतम्) इस (लोकम्) लोक [व्यवहार मण्डल] में (उप याहि) पहुंच ॥ ५३ ॥

क्रान्तौ—इञ् । धनकामनया (समानम्) तुल्यम् (तन्तुम्) सूत्रम् । वस्त्रमित्यर्थः (अभि) प्रति (संवसानौ) सम्यग् आच्छादितौ (तस्मिन्) अनृते (सर्वम्) संपूर्णम् (शमलम्) भ्रष्टकर्म (सादयाथः) लेट् । स्थापयिष्यथः ॥

५३—(वर्षम्) वृतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ वृञ् वरणे—सप्रत्ययः । वरणीयं स्वीकरणीयं कर्म (वनुष्व) सेवस्व (अपि) अवश्यम् (गच्छ) प्राप्नुहि (देवान्) कामनीयान् गुणान् (त्वचः) चर्मणः । देहात् (परि) सर्वतः (उत्) ऊर्ध्वम् (पातयासि) लेट् । गमय । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष शुभ कर्म और शुभ गुणों को प्राप्त होकर अज्ञान को दूर फेंकें, जैसे प्रकाश के बल से धुआं इतर बितर हो जाता है। और वे ज्ञानी पुरुष संसार के सब काम साधने में साधु होवें ॥ ५३ ॥

इस मन्त्र का दूसरा भाग ऊपर मन्त्र १६ में आचुका है ॥

तन्वं स्वर्गो बहुधा वि चक्रे यथा विद आत्मन्नन्यवर्णाम्। अपाजैत् कृष्णां रुशतीं पुनानो या लोहिनी तां ते अग्नौ जुहोमि ५४ ॥

तन्वम्। स्वः-गः। बहु-धा। वि। चक्रे। यथा। विदे। आत्मन्। अन्य-वर्णाम् ॥ अप। अजैत्। कृष्णाम्। रुशतीम्। पुनानः। या। लोहिनी। ताम्। ते। अग्नौ। जुहोमि ५४

भाषार्थ—(स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाले [परमेश्वर] ने (तन्वम्) इस फैलावट [सृष्टि] को (बहुधा) बहुत प्रकार से (वि) विशेष करके (चक्रे) बनाया है, (यथा) जैसा (आत्मन्) परमात्मा के भीतर (अन्य-वर्णाम्) भिन्नवर्ण [रूप] वाली [सृष्टि] को (विदे) मैं पाता हूं। (कृष्णाम्) काली [अन्धकार युक्त] (रुशतीम्) कष्ट देने वाली [फैलावट] को (पुनानः) शुद्ध करने वाले [परमेश्वर] ने (अप अजैत्) जीत लिया है, (या) जो (लोहिनी) लोहमयी [कठोर फैलावट] है, (ताम्) उस [फैलावट] को (ते) तेरे (अग्नौ) ज्ञान पर (जुहोमि) मैं छोड़ता हूं ॥ ५४ ॥

५४—(तन्वम्) विस्तृतिम्। सृष्टिम् (स्वर्गः) सुखप्रापकः परमेश्वरः (बहुधा) विविधप्रकारेण (वि) विशेषेण (चक्रे) रचितवान् (यथा) येन प्रकारेण (विदे) नकारलोपः। अहं विन्दे। लभे (आत्मन्) परमात्मनि (अन्यवर्णाम्) भिन्नभिन्नरूपाम् (अप अजैत्) अजयत्। अवश्यं जितवान्। वशीकृतवान् (कृष्णाम्) कालीम्। अन्धकारयुक्ताम् (रुशतीम्) रुश हिंसायाम्-शतृ। हिंसन्तीम्। करालीं विस्तृतिम् (पुनानः) पावकः। शोधकः (या) तनूः (लोहिनी) म० २१। लोहमयी (ताम्) विस्तृतिम् (ते) तव (अग्नौ) ज्ञाने (जुहोमि) ददामि। त्यजामि ॥

भावार्थ—परमात्मा ने विविध सृष्टि को हमारे सुख के लिये रचकर अपने वश में रक्खा है और सब रुकावटों को हटाया है मनुष्यों को जितना जितना ज्ञान होता जाता है, उतना उतना ही वह परमेश्वर पर विश्वास करता है ॥ ५४ ॥

प्राच्यै त्वा दिशे३ऽग्नयेऽधिपतयेऽसिताय रक्षित्र आदित्यायेषुमते । एतं परि दद्मस्तं नो गोपायतास्माकमैतोः । दिष्टं नो अत्र जरसे नि नेषज्जरा मृत्यवे परि णो ददात्वथ पक्वेन सह सं भवेम ॥ ५५ ॥

प्राच्यै । त्वा । दिशे । अग्नये । अधि-पतये । असिताय । रक्षित्रे । आदित्याय । इषु-मते ॥ एतम् । परि । दद्मः । तम् । नः । गोपायत । आ । अस्माकम् । आ-एतोः ॥ दिष्टम् । नः । अत्र । जरसे । नि । नेषत् । जरा । मृत्यवे । परि । नः । ददातु । अथ । पक्वेन । सह । सम् । भवेम ॥५५॥

भाषार्थ—(प्राच्यै दिशे) पूर्व वा सम्मुख वाली दिशा में जाने के निमित्त (अग्नये) ज्ञानस्वरूप, (अधिपतये) अधिष्ठाता, (असिताय) बन्धन रहित, (रक्षित्रे) रक्षक परमेश्वर को (इषुमते) बाण वाले [वा हिंसा वाले] (आदित्याय) सूर्य [के ताप] रोकने के लिये (एतम्) इस (त्वा) तुझे [जीवात्मा को] (परि दद्मः) हम सौंपते हैं । (तम्) उस [जीवात्मा] को (नः) हमारे अर्थ, (अस्माकम्) हमारी (ऐतोः) सब ओर गति के

५५—(प्राच्यै दिशे) अ० ३ । २७ । १ । क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति चतुर्थी । प्राचीं पूर्वामभिमुखीभूतां वा दिशां गन्तुम् (त्वा) त्वां जीवात्मानम् (अग्नये) ज्ञानस्वरूपाय (अधिपतये) अधिष्ठात्रे (असिताय) अबद्धाय (रक्षित्रे) रक्षकाय परमेश्वराय (आदित्याय) अ० १ । ६ । १ । सूर्यतापं निवारयितुम् (इषुमते) ईषेः किच्च । उ० १ । १३ । ईष गतौ हिंसायां च-उ, कित् । इषुरीषतेर्गतिकर्मणो बधकर्मणो वा—निरु ६ ।

लिये (आ) सब ओर से (गोपायत) तुम [विद्वानो] बचाओ। वह [परमेश्वर] (नः) हमें (अत्र) यहां [संसार में] (दिष्टम्) नियत कर्म की ओर (जरसे) स्तुति के लिये (नि नेषत्) ले ही चले। और (जरा) स्तुति [ही] (नः) हमें (मृत्यवे) मृत्यु को (परि ददातु) सौंपे [अर्थात् हम स्तुति के साथ मरें]। (अथ) सो (पक्वेन सह) परिपक्व [दृढ़] स्वभाव वाले परमात्मा के साथ (सं भवेम) हम समर्थ होवें ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि पूर्व वा सन्मुख वाली तथा दूसरी दिशाओं में चलते हुये वे उस सर्वज्ञ, सर्वस्वामी, सर्वरक्षक परमात्मा को ध्यान में रखकर विद्वानों के सत्संग से अपनी गति बढ़ावें और वेदविहित कर्म करके संसार में कीर्तिमान् होवें और प्रयत्न करके कीर्ति के साथ ही वे शरीर को छोड़ें। यही प्रार्थना परमात्मा से सदा करते रहें। यही भावार्थ अगले मन्त्रों में लगा लें ॥ ५५ ॥

मन्त्र ५५-६० के प्रथम भागों का मिलान—अथर्व० का० ३ सू० २७ म० १—६ के प्रथम भागों से यथाक्रम करें (अथ पक्वेन...) अन्तिम भाग अथर्व० ६। ११६। २ के अन्त में आया है ॥

दक्षिणायै त्वा दिश इन्द्रायाधिपतये तिरश्चिराजये रक्षित्रे यमायेषुमते। एतं ०। ०॥ ५६ ॥

५८। बाणवन्तं हिंसावन्तं वा निवारयितुम् (एतम्) आत्मानम् (परिदद्मः) समर्पयामः (तम्) जीवात्मानम् (नः) अस्मभ्यम् (गोपायत) रक्षत हे विद्वांसः (आ) समन्तात् (अस्माकम्) (एतोः) कमिमनिजनि०। उ० १। ७३। आ+इण् गतौ—तु। चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि। पा० २। ३। ६२। चतुर्थ्यर्थे षष्ठी। समन्ताद् गत्यै (दिष्टम्) नियतं विहितं कर्म प्रति (नः) अस्मान् (अत्र) संसारे (जरसे) म० ६। स्तुतिप्राप्तये (नि) निश्चयेन (नेषत्) अ० ७। ६। २। नयेत् स परमेश्वरः (जरा) जॄ स्तुतौ-अङ्। जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १०। ८। स्तुतिः (मृत्यवे) मरणाय (नः) अस्मान् (परि ददातु) समर्पयतु (अथ) अनन्तरम् (पक्वेन) दृढस्वभावेन परमात्मना (सह) (संभवेम) समर्था भवेम ॥

दक्षिणायै । त्वा । दिशे । इन्द्राय । अधि-पतये । तिरश्चि-राजये । रक्षित्रे । यमाय । इषु-मते ॥ ० ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणायै दिशे) दक्षिण वा दाहिनी दिशाओं में जाने के निमित्त (इन्द्राय) पूर्ण ऐश्वर्य वाले, (अधिपतये) अधिष्ठाता, (तिरश्चि—राजये) तिरछे चलने वाले [कीट पतङ्ग बिच्छू आदि] की पंक्ति हटाने के अर्थ (रक्षित्रे) रक्षक परमेश्वर को (इषुमते) बाण वाले [वा हिंसा वाले] (यमाय) मृत्यु के रोकने के लिये (एतम्) इस (त्वा) तुझे [जीवात्मा को]......... [मन्त्र ५५] ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५५ देखो ॥ ५६ ॥

प्रतीच्यै त्वा दिशे वरुणायाधिपतये पृदाकवे रक्षित्रेऽन्नायेषु-मते । एतं ० । ० ॥ ५७ ॥

प्रतीच्यै । त्वा । दिशे । वरुणाय । अधि-पतये । पृदाकवे । रक्षित्रे । अन्नाय । इषु-मते ॥ ० ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(प्रतीच्यै दिशे) पश्चिम वा पीछे वाली दिशा में जाने के निमित्त (वरुणाय) सब में उत्तम, (अधिपतये) अधिष्ठाता, (पृदाकवे) बड़े बड़े अजगर सर्प आदि [विषधारी प्राणियों] के समूह हटाने के अर्थ (रक्षित्रे) रक्षा करने वाले परमेश्वर को (इषुमते) बाण वाले [वा हिंसा वाले] (अन्नाय) अन्न रोकने के लिये (एतम्) इस (त्वा) तुझे [जीवात्मा को]...... [म० ५५] ॥ ५७ ॥

५६—(दक्षिणायै दिशे) म० ५५ । दक्षिणां दक्षिणहस्तस्थां वा दिशां गन्तुम् (त्वा) जीवात्मानम् (इन्द्राय) परमैश्वर्ययुक्ताय (तिरश्चिराजये) अ० ३ । २७ । २ । तिर्यग्गतीनां कीटपतङ्गवृश्चिकादीनां पङ्क्तिं निवारयितुम् (यमाय) अन्तकं मृत्युं निवारयितुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५७—(प्रतीच्यै दिशे) पश्चिमां पश्चाद् भागस्थां वा दिशां गन्तुम् (वरुणाय) सर्वश्रेष्ठाय (पृदाकवे) अजगरसर्पादिमहाविषधारिणां समूहं निवारयितुम् (इषुमते अन्नाय) बाणयुक्तं हिंसायुक्तं वान्नं दूरीकर्तुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मन्त्र ५५ देखो ॥ ५७ ॥

उदीच्यै त्वा दिशे सोमायाधिपतये स्वजायं रक्षित्रेऽशन्या इषुमत्यै । एतं ० । ० ॥ ५८ ॥

उदीच्यै । त्वा । दिशे । सोमाय । अधि-पतये । स्वजायं । रक्षित्रे । अशन्यै । इषु-मत्यै ॥ ० ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(उदीच्यै दिशे) उत्तर वा बाईं दिशा में जाने के निमित्त (सोमाय) सब जगत् के उत्पन्न करने वाले, (अधिपतये) अधिष्ठाता, (स्वजाय) अच्छे प्रकार अजन्मे [अथवा सब में चिपटे हुये] (रक्षित्रे) रक्षक परमेश्वर को (इषुमत्यै) तीरवाली [वा हिंसावाली] (अशन्यै) बिजुली हटाने के लिये (एतम्) इस (त्वा) तुझे [जीवात्मा को]...... [मन्त्र ५५] ॥ ५८ ॥

भावार्थ— मन्त्र ५५ देखो ॥ ५८ ॥

ध्रुवायै त्वा दिशे विष्णवेऽधिपतये कल्माषग्रीवाय रक्षित्र ओषधीभ्य इषुमतीभ्यः । एतं ० । ० ॥ ५९ ॥

ध्रुवायै । त्वा । दिशे । विष्णवे । अधि-पतये । कल्माष-ग्रीवाय । रक्षित्रे । ओषधीभ्यः । इषु-मतीभ्यः ॥ ० ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवायै दिशे) नीचे वाली दिशा में जाने के निमित्त(विष्णवे) सर्वव्यापक, (अधिपतये) अधिष्ठाता, (कल्माषग्रीवाय) हरित रंग वाले [वृक्ष आदि] की ग्रीवा वाले, [रक्षित्रे] रक्षक परमेश्वर को (इषुमतीभ्यः) बाण वाली [विषैली] (ओषधीभ्यः) ओषधियों के हटाने के लिये (एतम्)

५८—(उदीच्यै दिशे) म० ५५ । उत्तरां वामभागस्थां वा दिशां गन्तुम् (सोमाय) सर्वजगदुत्पादकाय (स्वजाय) अ० ३ । २७ । ४ । सुष्ठु अजन्मने । यद्वा, ष्वञ्ज सङ्गे – क । सर्वालिङ्गनशीलाय (इषुमत्यै अशन्यै) बाणवतीं हिंसावतीं वा विद्युतं निवारयितुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५९—(ध्रुवायै दिशे) म० ५५ । अधःस्थां दिशां गन्तुम् (विष्णवे) सर्वव्यापकाय (कल्माषग्रीवाय) कल्माषा हरितवर्णा वृक्षादयो ग्रीवावद् यस्य तस्मै

इस (त्वा) तुझे [जीवात्मा को]......[मन्त्र ५५] ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५५ देखो ॥ ५६ ॥

ऊ॒र्ध्वायै॑ त्वा दि॒शे बृह॒स्पत॒येऽधि॑पतये श्वि॒त्राय॑ रक्षि॒त्रे व॒र्षायेषु॑मते । ए॒तं परि॑ दद्म॒स्तं नो॑ गोपाय॒तास्माक॒मैतोः । दि॒ष्टं नो॒ अत्र॑ ज॒रसे॒ नि नै॑षज्ज॒रा मृ॒त्यवे॒ परि॑ णो ददा॒-त्वथ॑ प॒क्वेन॑ स॒ह सं भ॑वेम ॥ ६० ॥ (१८)

ऊ॒र्ध्वायै॑ । त्वा॒ । दि॒शे । बृह॒स्पत॑ये । अधि॑-पतये । श्वि॒त्राय॑ । र॒क्षि॒त्रे । व॒र्षाय॑ । इषु॑-मते ॥ ए॒तम् । परि॑ । द॒द्मः । तम् । न॒ः । गो॒पा॒य॒त॒ । आ । अ॒स्माक॑म् । आ-ए॑तोः ॥ दि॒ष्टम् । न॒ः । अत्र॑ । ज॒रसे॑ । नि । ने॒ष॒त् । ज॒रा । मृ॒त्यवे॑ । परि॑ । नः । द॒दा॒तु॒ । अथ॑ । प॒क्वेन॑ । स॒ह । सम् । भ॒वे॒म॒ ६०(१८

भाषार्थ—(ऊर्ध्वायै दिशे) ऊपर वाली दिशा में जाने के निमित्त (बृहस्पतये) बड़ी वाणी अर्थात् वेदशास्त्र और बड़े आकाश आदि के स्वामी, (अधिपतये) अधिष्ठाता, (श्वित्राय) ज्ञानमय (रक्षित्रे) रक्षा करने वाले परमेश्वर को (इषुमते) बाण वाली [वा हिंसा वाली] (वर्षाय) बरसा रोकने के लिये (एतम्) इस (त्वा) तुझे [जीवात्मा को] (परि दद्मः) हम सौंपते हैं......[मन्त्र ५५]॥ ६० ॥

भावार्थ—मन्त्र ५५ देखो ॥ ६० ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

(इषुमतीभ्यः ओषधीभ्यः) बाणवतीर्हिंसावतीर्वौषधीर्निवारयितुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६०—(ऊर्ध्वायै दिशे) म० ५५ । उपरिवर्तमानां दिशां गन्तुम् (बृहस्पतये) बृहत्या वाचो बृहतो वेदशास्त्रस्य बृहतामाकाशादीनां च स्वामिने (श्वित्राय) अ० ३ । २७ । ६ । टुओ श्वि गतिवृद्ध्योः—क्त्र । ज्ञानमयाय (इषुमते वर्षाय) बाणयुक्तं हिंसायुक्तं वा वृष्टिजलं निवारयितुम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५५ ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—५३ ॥ वशा देवता ॥ १—६, ८—१३, १७-१९, २१-२३, २६-३१, ३३, ३६-३८, ४०, ४१, ४५, ४८, ५१-५३ अनुष्टुप्; ७, ३२, ३४, ३९, ४२-४४, ४६, ४७ भुरिगनुष्टुप्; १४, १५, २०, २४, ४९; निचृदनुष्टुप्; १६, ५० विराडनुष्टुप्; ३५ निचृदार्च्यनुष्टुप् छन्दः ॥

वेदवाणीप्रकाशनसद्गुणोपदेशः—वेद वाणी के प्रकाश करने के श्रेष्ठ गुणों का उपदेश ॥

द॒दामी॒त्ये॒व ब्रू॑या॒दनु॑ चै॒नामभु॑त्सत ।

व॒शां ब्र॒ह्मभ्यो॒ याच॑द्भ्य॒स्तत् प्र॒जाव॒दप॑त्यवत् ॥ १ ॥

ददा॑मि । इति॑ । ए॒व । ब्रू॒या॒त् । अनु॑ । च॒ । ए॒नाम् । अभु॑-त्सत ॥ व॒शाम् । ब्र॒ह्म-भ्यः॑ । याच॑त्-भ्यः । तत् । प्र॒जा-व॑त् । अप॑त्य-वत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—"(वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (याचद्भ्यः) माँगने वाले (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्माओं [वेद जिज्ञासुओं] को (ददामि) मैं देता हूं, (च) निश्चय करके (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (अनु) ध्यान देकर (अभुत्सत) उन [पूर्व ऋषियों] ने जाना है, (तत्) यह [विद्यादान] (प्रजावत्) श्रेष्ठ प्रजाओं वाला [और] (अपत्यवत्) उत्तम सन्तानों वाला है"।

१—(ददामि) प्रयच्छामि (इति) वाक्यसमाप्तौ (एव) एवम् (ब्रूयात्) उपदिशेत्—आचार्यः (अनु) अनुलक्ष्य (च) अवधारणे (एनाम्) वेदवाणीम् (अभुत्सत) बुध अवगमने—लुङ् । ज्ञातवन्तः-पूर्वे विद्वांसः (वशाम्) अ० १० । १० । २ । वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश कान्तौ प्रभुत्वे च—अप्, टाप् । वशा स्वाधीना-महीधरभाष्ये-यजु० २ । १६ । वशा कमनीयानि-दयानन्दभाष्ये, ऋक्० २ । २४ । १३ । कमनीयां प्रभ्वीं वा वेदवाणीम् (ब्रह्मभ्यः) ब्राह्मणेभ्यः । ब्रह्मजिज्ञासुभ्यः (याचद्भ्यः)

-(इति) बस (एव) ऐसा (ब्रूयात्) वह [आचार्य] कहे ॥ १ ॥

भावार्थ—आचार्य अधिकारी ब्रह्मचारियों को निश्चय करावे कि पूर्व ऋषियों ने वेद को मनन करके माना है कि वेदविद्या के अभ्यास से संसार के सब मनुष्य और सन्तान उत्तम होते हैं, उसी का उपदेश तुम को मैं करता हूं॥१॥

इस वशा सूक्त का मिलान—अथर्व० का० १० सू० १० [वशा सूक्त] से करो ॥

प्रजया स वि क्रीणीते पशुभिश्चोप दस्यति ।

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ॥ २ ॥

प्र-जया । सः । वि । क्रीणीते । पशु-भिः । च । उप । दस्यति ॥ यः । आर्षेयेभ्यः । याचत्-भ्यः । देवानाम् । गाम् । न । दित्सति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (प्रजया) अपने सन्तान [पुत्र पुत्री आदि] के साथ (वि क्रीणीते) बिक जाता है (च) और (पशुभिः) अपने पशुओं [गाय घोड़े आदि] के साथ (उप दस्यति) नष्ट हो जाता है। (यः) जो पुरुष (याचद्भ्यः) मांगते हुये (आर्षेयेभ्यः) ऋषि सन्तानों को (देवानाम्) विजय चाहने वालों के बीच (गाम्) वेदवाणी (न) नहीं (दित्सति) देना चाहता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् विद्वानों के बीच जिज्ञासुओं को वेदविद्या नहीं देता, वह निर्धन होकर अपने आप और उसके सन्तान पराधीन होकर कष्ट सहते हैं ॥ २ ॥

इस मन्त्र का दूसरा आधा भाग आगे मन्त्र १२ में आया है ॥

प्रार्थयमानेभ्यः (तत्) विद्यादानम् (प्रजावत्) प्रशस्यप्रजायुक्तम् (अपत्यवत्) श्रेष्ठसन्तानोपेतं कर्म ॥

२—(प्रजया) स्वसन्तानेन सह (सः) (वि क्रीणीते) परिव्यवेभ्यः क्रियः । पा० १ । ३ । १८ । इत्यात्मनेपदम् । विक्रीयते (पशुभिः) गवाश्वादिभिः सह (च) समुच्चये (उप दस्यति) उपदस्यते । उपक्षीयते (यः) (आर्षेयेभ्यः) अ० ११ । १ । १६ । इतश्चानिञः । पा० ४ । १ । १२२ । ऋषि—ढक् । ऋषिसन्तानेभ्यः (याचद्भ्यः) (देवानाम्) विजिगीषूणां मध्ये (गाम्) वेदवाणीम् । गौर्वाङ्नाम-निघ० १ । ११ (न) (निषेधे) (दित्सति) दातुमिच्छति ॥

कूटयास्य सं शीर्यन्ते श्लोणायां काटमर्दति ।
बण्डया दह्यन्ते गृहाः काणया दीयते स्वम् ॥ ३ ॥

कूटया । अस्य । सम् । शीर्यन्ते । श्लोणया । काटम् । अर्दति ॥
बण्डया । दह्यन्ते । गृहाः । काणया । दीयते । स्वम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कूटया) [वेद वाणी के] नहीं देने से (अस्य) उस पुरुष के (गृहाः) घर (सं शीर्यन्ते) सर्वथा नष्ट किये जाते हैं, और (बण्डया) ढक देने से (दह्यन्ते) जलाये जाते हैं, (श्लोणया) बटोर रखने से (काटम्) अपनी प्रसिद्धता को (अर्दति) वह नष्ट करता है, और (काणया) मूद रखने से (स्वम्) [उसका] सर्वस्व (दीयते) घट जाता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदवाणी के उपदेश और प्रचार के बिना मनुष्य तनक्षीण, मनमलीन और धनहीन होकर महाकष्ट पाते हैं ॥ ३ ॥

विलोहितो अधिष्ठानाच्छक्नो विन्दति गोपतिम् ।
तथा वशायाः संविद्यं दुरदभ्ना ह्युच्यसे ॥ ४ ॥

वि-लोहितः । अधि-स्थानात् । शक्नः । विन्दति । गो-पतिम् ॥
तथा । वशायाः । सम्-विद्यम् । दुरदभ्ना । हि । उच्यसे ॥४॥

भाषार्थ—(अधिष्ठानात्) [ब्रह्मचर्य के] प्रभाव से (विलोहितः) विविध उगा हुआ, (शक्नः) शक्तिमान् पुरुष (गोपतिम्) पृथिवी की पालने वाली

३—(कूटया) कूट दानाभावे-घञ् । टाप् । अदानेन (अस्य) पुरुषस्य (सं शीर्यन्ते) सर्वथा नाश्यन्ते (श्लोणया) श्लोणृ संघाते-घञ् । राशीकरणेन (काटम्) कटी गतौ-घञ् । प्राकट्यम् । प्रसिद्धिम् (अर्दति) नाशयति (बण्डया) बडि विभाजने वेष्टने च-घञ् । वेष्टनेन (दह्यन्ते) भस्मीक्रियन्ते (गृहाः) निवासाः (काणया) कण निमीलने-घञ् । निमीलनेन (दीयते) दीङ् क्षये । नश्यति (स्वम्) सर्वस्वम् ॥

४—(विलोहितः) रुहेश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्य लः । प्रादुर्भूतः पुरुषः (अधिष्ठानात्) प्रभावात्

[वेद वाणी] को (विन्दति) पाता है। (तथा) वैसा ही (वशायाः) वशा [वश में करने वाली वा कामना योग्य वेदवाणी] का (संविद्यम्) जानने योग्य नाम है—"(हि) क्योंकि (दुरदभ्ना) कभी भी न दबने वाली (उच्यसे) तू कही जाती है" ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य उच्च होकर वेदवाणी जानकर पृथिवी की रक्षा कर सकता है, इसी से उसका नाम (वशा) वश में करने वाली है ॥४॥

पदोरस्या अधिष्ठानाद् विक्लिन्दुर्नाम विन्दति ।
अनामनात् सं शीर्यन्ते या मुखेनोपजिघ्रति ॥ ५ ॥

पदोः। अस्याः। अधि-स्थानात्। वि-क्लिन्दुः। नाम। विन्दति॥
अनामनात्। सम्। शीर्यन्ते। याः। मुखेन। उप-जिघ्रति ५

भाषार्थ—(अस्याः) इस [वेदवाणी] के (पदोः) स्थिर वा पाने योग्य (अधिष्ठानात्) प्रभाव से (विक्लिन्दुः) विगत शोक मनुष्य (नाम) नाम [बड़ाई] (विन्दति) पाता है। [वेदवाणी के] (अनामनात्) यथावत् न विचारने से वे [प्रजायें, मनुष्य] (सं शीर्यन्ते) सर्वथा नष्ट किये जाते हैं, (याः) जो [प्रजाजन] (मुखेन) मुख से [उस को] (उपजिघ्रति) तुच्छ-

---

(शक्तः) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः। उ० ३। ६। शक्लृ शक्तौ—नप्रत्ययः। शक्तिमान् (विन्दति) प्राप्नोति (गोपतिम्) पृथिवीपालिकां वशाम् (तथा) तेन प्रकारेण (वशायाः) म० १। वशयित्र्याः कमनीयाया वा वेदवाण्याः (संविद्यम्) विद ज्ञाने-क्यप्। सम्यग् ज्ञातव्यं नाम (दुरदभ्ना) इण्शिञ्जि०। उ० ३। २। दुर+नञ्+दम्भु दम्भने—नक्, टाप्। दभ्नोतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४, वधकर्मा—निघ० २। १६। दुर् दुःखेन कदापि नहि दम्भनीया पराजेया (हि) यतः (उच्यसे) कथ्यसे ॥

५—(पदोः) भृमृशीङ्०। उ० १। ७। पद स्थैर्ये गतौ च—उ। स्थिरात् प्रापणीयात् (अस्याः) वेदवाण्याः (अधिष्ठानात्) प्रभावात् (विक्लिन्दुः) भृमृशीङ्०। उ० १। ७। वि+क्लिदि रोदने शोके च-उ। विगतशोकः (नाम) यशः (विन्दति) प्राप्नोति (अनामनात्) नञ्+आङ्+मन बोधे—अच्। सर्वथा मननराहित्यात् (संशीर्यन्ते) सम्यग् नाश्यन्ते (मुखेन) (उपजिघ्रति)

पन के साथ ग्रहण करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वेदवाणी के विचार से प्रधानता पाकर क्लेशों से छूटकर सुख भोगें। जो वेदवाणी को बिना विचारे दिखावे के लिये रटते हैं वे कष्ट पाते हैं ॥ ५ ॥

यो अस्याः कर्णावास्कुनोत्या स देवेषु वृश्चते।
लक्ष्म कुर्व इति मन्यते कनीयः कृणुते स्वम् ॥ ६ ॥

यः। अस्याः। कर्णौ। आ-स्कुनोति। आ। सः। देवेषु। वृश्चते॥ लक्ष्म। कुर्वे। इति। मन्यते। कनीयः। कृणुते। स्वम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य (अस्याः) इस [वेदवाणी] के (कर्णौ) दो विज्ञानों [अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थात् तत्त्वज्ञान और मोक्षज्ञान] को (आस्कुनोति) ढक देता है, (सः) वह (देवेषु) स्तुति योग्य गुणों में (आ) सब ओर से (वृश्चते) कतर जाता है। "(लक्ष्म) प्रधान कर्म (कुर्वे) मैं करता हूं"—(इति) ऐसा [जो] (मन्यते) मानता है, वह [पुरुष] (स्वम्) अपना सर्वस्व (कनीयः) अधिक थोड़ा (कृणुते) करता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो नास्तिक पाखण्डी मनुष्य वेदवाणी के तत्त्वज्ञान और मोक्षज्ञान को न मानकर आडम्बर रचता है, वह तुच्छ हो जाता है ॥ ६ ॥

यदस्याः कस्मै चिद् भोगाय बालान् कश्चित् प्रकृन्तति।
ततः किशोरा म्रियन्ते वत्सांश्च घातुको वृकः ॥ ७ ॥

ग्रा ग्रहणे भ्वादिः, जुहोत्यादित्वं छान्दसम्। बहुलं छन्दसि। पा० ७। ४। ७८। अभ्यासस्य इत्वम्। उप हीनतया जिघृति गृह्णन्ति ॥

६—(यः) पुरुषः (अस्याः) वेदवाण्याः (कर्णौ) कॄवृजॄ०। उ०। ३। १०। कॄ विक्षेपे हिंसने विज्ञाने च-नप्रत्ययो नित्। अभ्युदयनिःश्रेयसबोधौ (आस्कुनोति) स्कुञ् आप्रवणे आच्छादने। समन्तादाच्छादयति (आ) समन्तात् (सः) (देवेषु) स्तुत्यगुणेषु (वृश्चते) छिद्यते (लक्ष्म) लक्ष दर्शनाङ्कनयोः—मनिन्। प्रधानत्वम् (कुर्वे) करोमि (इति) (मन्यते) जानाति (कनीयः) अल्प-ईयसुन्। अल्पतरम् (कृणुते) करोति (स्वम्) सर्वस्वम् ॥

यत् । अस्याः । कस्मै । चित् । भोगाय । बालान् । कः । चित् । प्र-कृन्तति ॥ ततः । किशोराः । म्रियन्ते । वत्सान् । च । घातुकः । वृकः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (कस्मैचित्) किसी ही (भोगाय) कुटिलता के लिये (अस्याः) इस [वेदवाणी] के (बालान्) बलों को (कश्चित्) कोई पुरुष (प्रकृन्तति) कतर लेता है। (ततः) उस [कुटिलता] से (किशोराः) किशोर [तरुण अवस्था वाले] (म्रियन्ते) मर जाते हैं, (च) और (वृकः) वह भेड़िया [समान हिंसक] (वत्सान् घातुकः) [बोलते हुये] बच्चों का हत्यारा [होता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो कुटिल कुचाली मनुष्य पवित्र वेदवाणी को चोरी, डकैती, व्यभिचार आदि कुनीति में लगाता है, वह अपने प्रिय सम्बन्धियों को भी मारकर नरक में पड़ता है ॥ ७ ॥

यदस्या गोपतौ सत्या लोम ध्वाङ्क्षो अजीहिडत् ।
ततः कुमारा म्रियन्ते यक्ष्मो विन्दत्यनामनात् ॥ ८ ॥

यत् । अस्याः । गो-पतौ । सत्याः । लोम । ध्वाङ्क्षः । अजीहिडत् ॥ ततः । कुमाराः । म्रियन्ते । यक्ष्मः । विन्दति । अनामनात् ॥ ८ ॥

७—(यत्) यदि (अस्याः) वेदवाण्याः (कस्मैचित्) अनिश्चिताय (भोगाय) भुजो कौटिल्ये-घञ् । कौटिल्याय (बालान्) बल प्राणने-घञ् । पराक्रमान् (कश्चित्) दुष्टः (प्रकृन्तति) प्रकर्षेण छिनत्ति (ततः) तस्मात् कारणात् (किशोराः) किशोरादयश्च । उ० १ । ६५ । किम्+शॄ हिंसायाम्—ओरन् । तरुणावस्थाः पुरुषाः (म्रियन्ते) प्राणांस्त्यजन्ति (वत्सान्) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि-सप्रत्ययः । वदनशीलान् बालकान् (च) (घातुकः) लषपतपदस्थाभूवृषहन० । पा० ३ । २ । १५४ । हन हिंसागत्योः—उकञ् । नलोकाव्यय० । पा० २ । ३ । ६९ । इति सकर्मकता । घ्नन् । हन्ता (वृकः) वृक इव हिंसकः ॥

भाषार्थ—(यत्) यदि (गोपतौ) वेदवाणी के रक्षक [ब्रह्मचारी] में (सत्याः) वर्तमान (अस्याः) इस (वेदवाणी] के (लोम) गमन को (ध्वाङ्क्षः) कांव कांव करने वाले [कौवे समान दुष्ट मनुष्य] ने (अजीहिडत्) तुच्छ माना है। (ततः) उस कारण से (कुमाराः) कुमार [शत्रुमारक बालक] (म्रियन्ते) मर जाते हैं, और (अनामनात्) यथावत् न विचारने से [उस कुमार्गी को] (यक्ष्मः) राजरोग (विन्दति) पकड़ लेता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब कुकर्मी मनुष्य सर्वरक्षक वेद आज्ञा से उलटा चलता है, वह आप और उसके बच्चे आदि महा विपत्ति में पड़ते हैं ॥ ८ ॥

यद॒स्याः प॑ल्पू॒लनं॒ शकृ॑द् दा॒सी स॒मस्य॑ति ।
ततो॑ऽपरूपं जायते॒ तस्मा॒दव्ये॑ष्यदेन॑सः ॥ ९ ॥

यत् । अ॒स्याः । प॒ल्पू॒लन॑म् । शकृ॑त् । दा॒सी । स॒म्-अस्य॑ति॥ ततः॑। अप॑-रूपम् । जा॒य॒ते॒। तस्मा॑त् । अवि॑-एष्यत् । एन॑सः॥९

भाषार्थ—(यत्) यदि (अस्याः) इस [वेदवाणी] के (शकृत्) शक्ति वाले (पल्पूलनम्) ज्ञान समूह को (दासी) हिंसक प्रजा [स्त्री वा पुरुष] (समस्यति) फेंक देती है। (ततः) तौ (तस्मात् एनसः) उस पाप

८—(यत्) यदि (अस्याः) वेदवाण्याः (गोपतौ) म० ४। गोर्वेदवाण्या रक्षके ब्रह्मचारिणि (सत्याः) वर्तमानायाः (लोम) नामन्सीमन्व्योमन्रोमन्-लोमन्०। उ० ४। १५१ रु गतौ—मनिन्, रस्य लः, यद्वा लूञ् छेदने—मनिन्। गमनम्। दुःखच्छेदनम् (ध्वाङ्क्षः) ध्वाक्षि घोरशब्दे—अच्। घोरध्वनिः पुरुषः, यद्वा काकतुल्यहिंसकः (अजीहिडत्) हेडृ अनादरे वेष्टने च। तिरस्कृतवान् (ततः) तस्मात् (कुमाराः) कुमार क्रीडायाम्—अच्, यद्वा कुत्सितो मारो यस्मात्, कौ पृथिव्यां मारयति दुष्टान्। क्रीडाशीलाः। पृथिव्यां शत्रुनाशकाः (म्रियन्ते) (यक्ष्मः) राजरोगः (विन्दति) गृह्णाति (अनामनात्) म० ५ सर्वथा मननराहित्यात् ॥

९—(यत्) यदि (अस्याः) वेदवाण्याः (पल्पूलनम्) पल गतौ—क्विप्+पूल संघाते—ल्युट्। ज्ञानसमूहम् (शकृत्) शकेर्ऋतिन्। उ० ४। ५८। शक्ऌ शक्तौ—ऋतिन्। शक्तियुक्तम् (दासी) अ० १२। ३। १३। हिंसिका

से [उस पापी को] (अव्येष्यत्) न दूर होने वाला (अपरूपम्) कुरूप [कलङ्क का टीका] (जायते) हो जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब कोई दुराचारी वेद आज्ञा न मानकर भारी पाप कर बैठता है, तो उसका सारा जीवन कलङ्कित हो जाता है ॥ ६ ॥

जायमानाभि जायते देवान्त्सब्राह्मणान् वशा । तस्माद् ब्रह्मभ्यो देयैषा तदाहुः स्वस्य गोपनम् ॥ १० ॥ (१८)

जायमाना । अभि । जायते । देवान् । स-ब्राह्मणान् । वशा ॥ तस्मात् । ब्रह्म-भ्यः । देया । एषा । तत् । आहुः । स्वस्य । गोपनम् ॥ १० ॥ (१८)

भाषार्थ—(जायमाना) प्रकट होती हुई (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (सब्राह्मणान्) ब्राह्मणों [वेद जिज्ञासुओं] सहित (देवान् प्रति) विजय चाहने वालों को (जायते) प्रकट होती है । (तस्मात्) इस लिये (एषा) यह [वेदवाणी] (ब्रह्मभ्यः) वेद जिज्ञासुओं को (देया) देनी चाहिये, (तत्) उस [कर्म] को (स्वस्य) सर्वस्व का (गोपनम्) रक्षण (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—परोपकारी ब्रह्मजिज्ञासु शूर पराक्रमी वेदवाणी को प्राप्त करके संसार का सुधार करते हैं, वैदिक उपदेश से सब के सर्वस्व की रक्षा होती है ॥ १० ॥

य एनां वनिमायन्ति तेषां देवकृता वशा ।

प्रजा (समस्यति) सर्वथा क्षिपति (ततः) तस्मात् कारणात् (अपरूपम्) कुत्सितरूपम् (जायते) प्रादुर्भवति (तस्मात्) (अव्येष्यत्) नञ्+वि+इण् गतौ—स्यतृ । अपृथग् गमिष्यत् (एनसः) पापात् ॥

१०—(जायमाना) प्रादुर्भवन्ती (अभि) प्रति (जायते) प्रादुर्भवति (देवान्) विजिगीषून् (सब्राह्मणान्) ब्रह्मजिज्ञासुभिः सहितान् (वशा) म० १ । कमनीया वेदवाणी (तस्मात्) (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मजिज्ञासुभ्यः (देया) दातव्या (एषा) वेदवाणी (तत्) (आहुः) कथयन्ति (स्वस्य) सर्वस्वस्य (गोपनम्) रक्षणम् ॥

ब्रह्मज्येयं तदब्रुवन् य एनां निप्रियायते ॥ ११ ॥

ये । एनाम् । वनिम् । आ-यन्ति । तेषाम् । देव-कृता । वशा ॥
ब्रह्म-ज्येयम् । तत् । अब्रुवन् । यः । एनाम् । नि-प्रियायते ॥११॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (वनिम्) सेवनीय (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (आयन्ति) प्राप्त करते हैं, (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (तेषाम्) उनकी (देवकृता) विजय इच्छा सिद्ध करने वाली है। (तत्) यह [वचन] (ब्रह्मज्येयम्) ब्रह्माओं [वेद वेत्ताओं] के हानि करने योग्य [पुरुष] से (अब्रुवन्) उन [विद्वानों] ने कहा है, (यः) जो (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (निप्रियायते) तुच्छपन से प्रिय सा मानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो ब्रह्मचारी श्रम करके वेद विद्या प्राप्त करते हैं, वे विजयी होते हैं, और दम्भी पाखण्डी पण्डित मन्यमानी मनुष्य को विद्वान् लोग त्याग देते हैं, ऐसा निश्चय करना चाहिये ॥ ११ ॥

य आर्षेयेभ्यो याचद्भ्यो देवानां गां न दित्सति ।
आ स देवेषु वृश्चते ब्राह्मणानां च मन्यवे ॥ १२ ॥

यः । आर्षेयेभ्यः । याचत्-भ्यः । देवानाम् । गाम् । न । दित्सति ॥
आ । सः । देवेषु । वृश्चते । ब्राह्मणानाम् । च । मन्यवे ॥१२॥

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (याचद्भ्यः) मांगते हुये (आर्षेयेभ्यः) ऋषि सन्तानों को (देवानाम्) विजय चाहने वालों के बीच (गाम्) वेदवाणी

११—(ये) विद्वांसः (एनाम्) वेदवाणीम् (वनिम्) सेवनीयाम् (आयन्ति) समन्तात् प्राप्नुवन्ति (तेषाम्) विदुषाम् (देवकृता) देवो विजिगीषा कृता साधिता यया सा (वशा) म० १। कमनीया वेदवाणी (ब्रह्मज्येयम्) ब्रह्म+ज्या वयोहानौ-यत्, आकारस्य ईत्वम्। ब्रह्माणो वेदविदो ज्येया हानियोग्या यस्य तं विदुषां हानिकरम् (तत्) वचनम् (अब्रुवन्) अकथयन् विद्वांसः (यः) मूर्खः (एनाम्) वेदवाणीम् (निप्रियायते) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च। पा० ३। १। १०। इति प्रिय-क्यङ्। नि नीचभावेन प्रिय इवाचरति ॥

१२—(आ) समन्तात् (सः) मूर्खः (देवेषु) स्तुत्यगुणेषु (वृश्चते)

(न) नहीं (दित्सति) देना चाहता है। (सः) वह (देवेषु) स्तुति योग्य गुणों में (आ) सब ओर से (वृश्चते) कट जाता है, (च) और (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों [वेद ज्ञानियों] के (मन्यवे) क्रोध के लिये [होता है] ॥१२॥

भावार्थ—जो मनुष्य योग्य ब्रह्मचारियों को वेदवाणी देने में बाधा डालता है, वह अपने शुभ गुणों में हेटा होकर विद्वानों के बीच अनादर पाता है ॥ १२ ॥

इस मन्त्र का प्रथम आधा भाग ऊपर मन्त्र २ में आचुका है ॥

यो अस्य स्याद् वशाभोगो अन्यामिच्छेत तर्हि सः ।
हिंस्ते अदत्ता पुरुषं याचितां च न दित्सति ॥ १३ ॥

यः । अस्य । स्यात् । वशा-भोगः । अन्याम् । इच्छेत । तर्हि । सः ॥ हिंस्ते । अदत्ता । पुरुषम् । याचिताम् । च । न । दित्सति ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य (अस्य) अपनी (वशाभोगः) वेदवाणी का सुख पाने वाला (स्यात्) होना चाहे, (तर्हि) तब (सः) वह (अन्याम्) जीवन देने वाली [वेदवाणी] को (इच्छेत) चाहे। (अदत्ता) न दी हुयी [वेदवाणी] (पुरुषम्) [उस] पुरुष को (च) अवश्य (हिंस्ते) मार डालती है, [जो] (याचिताम्) मांगी हुयी [वेदवाणी] को (न) नहीं (दित्सति) देना चाहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—वेद विज्ञान को प्रीति से खोजता हुआ और प्रकाश करता हुआ मनुष्य सुख भोगता है, और जो उसके प्रवृत्ति को रोकता है, वह आत्मा को संकुचित करने से दुःख पाता है ॥ १३ ॥

वृश्च्यते । छिद्यते । हीयते (ब्राह्मणानाम्) वेदवेतॄणां मध्ये (च) (मन्यवे) क्रोधाय भवतीति शेषः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २ ॥

१३—(यः) पुरुषः (अस्य) स्वकीयस्य (स्यात्) भवेत् (वशाभोगः) वशायाः कमनीयाया वेदवाण्या भोगः सुखानुभवो यस्य सः (अन्याम्) माछ्रासस्भ्यो यः । उ० ४ । १०९ । अन जीवने-यः । जीवयित्रीम् । जीवनदात्रीम् (इच्छेत) प्रीणीयात् (तर्हि) तदा सः (हिंस्ते) नाशयति (अदत्ता) वेदवाणी (पुरुषम्) (याचिताम्) प्रार्थिताम् (च) अवश्यम् (न) निषेधे (दित्सति) दातुमिच्छति ॥

यथा शेवधिर्निहितो ब्राह्मणानां तथा वशा ।
तामेतदच्छायन्ति यस्मिन् कस्मिंश्च जायते ॥ १४ ॥

यथा । शेव-धिः । नि-हितः । ब्राह्मणानाम् । तथा । वशा ॥
ताम् । एतत् । अच्छ-आयन्ति । यस्मिन् । कस्मिन् । च ।
जायते ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (निहितः) नियम से रक्खा हुआ (शेवधिः) निधि [सुखदायक पदार्थ] होता है, (तथा) वैसे ही (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (ब्राह्मणानाम्) ब्राह्मणों [वेद ज्ञानियों] की है। (एतत्) इसी लिये (ताम्) उस [वेदवाणी] को (अच्छ—आयन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त करते हैं, (यस्मिन् कस्मिन् च) चाहे जिस किसी में (जायते) वह होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह वेदवाणी ईश्वर ने वेदवेत्ताओं को संसार के सुख के लिये निधि के समान सौंपी है। मनुष्य उसको वेदद्वारा परमाणु से लेकर ईश्वर पर्यन्त खोजकर प्राप्त करें ॥ १४ ॥

स्वमेतदच्छायन्ति यद् वशां ब्राह्मणा अभि ।
यथैनानन्यस्मिन् जिनीयादेवास्या निरोधनम् ॥ १५ ॥

स्वम् । एतत् । अच्छ-आयन्ति । यत् । वशाम् । ब्राह्मणाः ।
अभि ॥ यथा । एनान् । अन्यस्मिन् । जिनीयात् । एव ।
अस्याः । नि-रोधनम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [ब्रह्मचारी लोग] (वशाम्) वशा

१४—(यथा) येन प्रकारेण (शेवधिः) सुखप्रदः । निधिः—निरु० २। ४ (निहितः) नियमेन स्थापितः (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मज्ञानिनाम् (तथा) (वशा) कमनीया वेदवाणी (ताम्) वेदवाणीम्) (एतत्) एतस्मात् कारणात् (अच्छायन्ति) आभिमुख्येन प्राप्नुवन्ति (यस्मिन्) (कस्मिन्) (च) सम्भावनायाम् (जायते) वर्तते ॥

१५—(स्वम्) धनम् (एतत्) (अच्छायन्ति) म० १४ (यत्) यतः

[कामना योग्य वेदवाणी] को (अभि) सब ओर से (अच्छ—आयन्ति) अच्छे प्रकार प्राप्त करते हैं, (यत्) क्योंकि (एतत्) यह (स्वम्) [उनका] सर्वस्व है, [और] (यथा) क्योंकि (एनान्) इन [ब्रह्मचारियों] को (अन्यस्मिन्) भिन्नकर्म [अधर्म] में (जिनीयात्) मनुष्य हानि करे, [वह] (अस्याः) इस [वेदवाणी] का (निरोधनम्) रोकदेना (एव) ही है ॥१५॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानियों का धर्म है कि वेदवाणी को ही अपना कोश समझकर प्राप्त करें और प्रकाश करें और जो पुरुष अधर्म के कारण उसको रोकते हैं वे आत्मघाती होने से नष्ट भ्रष्ट हो जाते हैं ॥ १५ ॥

चरेदेवा त्रैहायणादविज्ञातगदा सती ।

वशां च विद्यान्नारद ब्राह्मणास्तर्ह्येष्याः ॥ १६ ॥

चरेत् । एव । आ । त्रैहायनात् । अविज्ञात-गदा । सती ॥

वशाम् । च । विद्यात् । नारद । ब्राह्मणाः । तर्हि । एष्याः ॥१६॥

भाषार्थ—(अविज्ञातगदा) नहीं जाना गया है दोष जिसमें ऐसी [निर्दोष], (सती) सद्गुणों वाली [वेदवाणी] (आ त्रैहायणात्) तीन उद्योगों [परमेश्वर के कर्म, उपासना, ज्ञान] तक (एव) अवश्य (चरेत्) विचरती रहे। (नारद) हे नारद ! [नीति, यथार्थ ज्ञान, देने वाले विद्वान्] (वशाम्) वशा [कमना योग्य वेदवाणी] को (च) निश्चय करके (विद्यात्)

(वशाम्) म० १ । कमनीयां वेदवाणीम् (ब्राह्मणाः) ब्रह्मचारिणः (अभि) सर्वतः (यथा) यस्मात् कारणात् (एनान्) ब्रह्मचारिणः (अन्यस्मिन्) धर्मविरुद्धे कर्मणि (जिनीयात्) ज्या वयोहानौ । न्यूनयेत् मनुष्यः (एव) अवश्यम् (अस्याः) वेदवाण्याः (निरोधनम्) प्रतिबन्धनम् ॥

१६—(चरेत्) विचरेत् (एव) निश्चयेन (आ) मर्यादायाम् (आ त्रैहायणात्) अ० १० । ५ । २२ । हश्च व्रीहिकालयोः । पा० ३ । १ । १८४ । ओहाक् त्यागे, ओहाङ् गतौ च—ण्युट् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । युक्, बाहुलकात् । तस्य समूहः । पा० ४ । २ । ३७ । अण् । त्रयाणां हायनानां गतीनां परमेश्वरस्य कर्मोपसनाज्ञानरूपाणामुद्योगानां समूहप्राप्तिपर्यन्तम् (अविज्ञातगदा) गद रोगे—अच् । अविज्ञातो गदो रोगो दोषो यस्यां सा ।

[मनुष्य] जाने, (तर्हि) तब (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [पूरे वेद ज्ञाता लोग] (एष्याः) ढूंढ़ने योग्य हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ- वेदवाणी सर्वथा निर्दोष और श्रेष्ठगुण वाली है, मनुष्य पूर्ण विद्वानों द्वारा उसको प्राप्त करके ईश्वर के कर्म, उपासना और ज्ञान से अपनी उन्नति करे ॥ १६ ॥

य एनामवशामाह देवानां निहितं निधिम् ।
उभौ तस्मै भवाशर्वौ परिक्रम्येषुमस्यतः ॥ १७ ॥

यः । एनाम् । अवशाम् । आह । देवानाम् । नि-हितम् । नि-धिम् ॥ उभौ । तस्मै । भवाशर्वौ । परि-क्र-म्य । इषुम् । अस्यतः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [मूर्ख] (देवानाम्) विजय चाहने वालों के (निहितम्) नियम से रक्खे हुये (निधिम्) निधि, (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (अवशाम्) नहीं कामना योग्य [वा असमर्थ] (आह) बताता है। (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (उभौ) दोनों (भवाशर्वौ) भव [सुख देने वाला प्राण] और शर्व [दोष मिटाने वाला अपान वायु] (परिक्रम्य) घूम घूमकर (इषुम्) तीर [अर्थात् पीड़ा] (अस्यतः) फेंकते हैं ॥ १७ ॥

अविदितदोषा (सती) सद्गुणवती (वशाम्) वेदवाणीम् (च) अवश्यम् (विद्यात्) जानीयात् (नारद) अ० ५ । १६ । ६ । नॄ नये—घञ्, नारं नयं नीतिं ददादीति, दा—क । हे नयप्रद विद्वन् (ब्राह्मणाः) पूर्णवेदज्ञानिनः (तर्हि) तदा (एष्याः) अन्वेषणीयाः ॥

१७—(यः) मूर्खः (एनाम्) वेदवाणीम् (अवशाम्) म० १ । अकमनीयाम् । असमर्थाम् (आह) कथयति (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (निहितम्) नियमेन स्थापितम् (निधिम्) धनकोशम् (उभौ) (तस्मै) मूर्खाय (भवाशर्वौ) अ० ८ । २ । ७ । सुखस्य भावयिता कर्ता भवः प्राणः, दुःखस्य शारिता नाशकः शर्वोऽपानवायुश्च तौ (परिक्रम्य) परितो गत्वा (इषुम्) बाणम् । पीडाम् (अस्यतः) क्षिपतः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदवाणी के गुण न जानकर अपने आत्मा को दूषित करता है, श्वास प्रश्वास की असावधानी से उसकी शारीरिक अवस्था भी बिगड़ जाती है ॥ १७ ॥

यो अस्या ऊधो न वेदाथो अस्या स्तनानुत ।
उभयेनैवास्मै दुहे दातुं चेदशकद् वशाम् ॥ १८ ॥

यः । अस्याः । ऊधः । न । वेद । अथो इति । अस्याः । स्तनान् । उत ॥ उभयेन । एव । अस्मै । दुहे । दातुम् । च । इत् । अशकत् । वशाम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [विद्वान्] (अस्याः) इस [वेदवाणी] के (ऊधः) सींचने को, (अथो उत) और भी (अस्याः) इसके (स्तनान्) गर्जनशब्दों [बड़े उपदेशों] को (न) अब [विद्या प्राप्त करके] (वेद) जानता है। वह [वेदवाणी] (उभयेन) दोनों [इस लोक और परलोक के सुख] से (एव) ही (अस्मै) इस [ब्रह्मज्ञानी] को (दुहे) भर देती है, (च, इत्=चेत्) जो (वशाम्) वशा [कामनायोग्य वेदवाणी] (दातुम् अशकत्) दे सका है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य वेदों के पवित्र लाभों और उपदेशों को समझ लेता है और संसार में प्रकाश करता है, वह इस जन्म और दूसरे जन्म का आनन्द पाता है ॥ १८ ॥

दुरदभ्नैनमा शये याचितां च न दित्सति ।

१८—(यः) विद्वान् (अस्याः) वेदवाण्याः (ऊधः) उन्दी क्लेदने—असुन्, पृषोदरादिरूपम्। सेचनम्। वर्धनम् (न) संप्रति—निरु० ७। ३१। (वेद) जानाति (अथो) अपि च (अस्याः) (स्तनान्) स्तन मेघशब्दे—अच्। मेघशब्दान्। उच्चोपदेशान् (उत) एव (उभयेन) ऐहिकपारमार्थिक-सुखद्वयेन (एव) अवधारणे (अस्मै) विदुषे (दुहे) दुग्धे। प्रपूरयति वशा (दातुम्) (चेत्) यदि (अशकत्) शक्तोऽभूत् (वशाम्) कमनीयां वेद-वाणीम् ॥

नास्मै॒ कामा॑: सम॑ृध्यन्ते॒ यामद॑त्त्वा चिकीर्ष॑ति ॥ १९ ॥

दु॒र॒द॒भ्ना । ए॒न॒म् । आ । श॒ये॒ । या॒चि॒ताम् । च॒ । न । दित्स॑ति ॥ न । अ॒स्मै॒ । कामा॑: । सम् । ऋ॒ध्य॒न्ते॒ । याम् । अद॑त्त्वा । चिकीर्ष॑ति ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(दुरदभ्ना) कभी न दबने वाली [वह वेदवाणी (एनम्) इस [मनुष्य] पर (आ शये) आ पड़ती है, (च) यदि वह (याचिताम्) मांगी हुई [वेदवाणी] को (न) नहीं (दित्सति) देना चाहता है। (अस्मै) इस [मनुष्य] के लिये (कामाः) वे कामनायें (न) नहीं (सम् ऋध्यन्ते) सिद्ध होती हैं, [जिन कामनाओं को] (याम् अदत्त्वा) जिस [वेदवाणी] के न देने पर (चिकीर्षति) पूरा करना चाहता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—वेदवाणी के प्रसिद्ध करने में जो लोग बाधा डालते हैं, उनकी कामनायें कभी पूरी नहीं होती हैं ॥ १९ ॥

दे॒वा व॒शाम॑याच॒न् मुखं॑ कृ॒त्वा ब्राह्म॑णम् ।
तेषां॒ सर्वे॑षा॒मद॑द॒द्धेडं॒ न्ये॑ति॒ मानु॑षः ॥ २० ॥ (२८)

दे॒वाः । व॒शाम् । अ॒या॒च॒न् । मुख॑म् । कृ॒त्वा । ब्राह्म॑णम् ॥ तेषा॑म् । सर्वे॑षाम् । अद॑दत् । हेड॑म् । नि । ए॒ति॒ । मानु॑षः ॥२०(२८

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वालों ने (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [वेदज्ञानी] को (मुखम्) मुख [मुखिया] (कृत्वा) बनाकर (वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] को (अयाचन्) मांगा है। (अददत्) [वेद-

१९—दुरदभ्ना) म० ४। कदापि नहि दम्भनीया पराजेया (एनम्) मनुष्यम् (आ शये) आशेते। प्राप्नोति (याचिताम्) प्रार्थिताम् (च) यदि (न) निषेधे (दित्सति) दातुमिच्छति (न) (अस्मै) (कामाः) अभिलाषाः (समृध्यन्ते) संसिध्यन्ति (याम्) वेदवाणीम् (अदत्त्वा) (चिकीर्षति) कर्तुमिच्छति ॥

२०—(देवाः) विजिगीषवः (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (अयाचन्) याचितवन्तः (मुखम्) मुख्यम्। प्रधानम् (कृत्वा) विधाय (ब्राह्मणम्) वेदज्ञम् (तेषाम्) विजिगीषूणाम् (सर्वेषाम्) (अददत्) ददातेः शतृ।

वाणी] न देता हुआ (मानुषः) मनुष्य (तेषां सर्वेषाम्) उन सब [विद्वानों] के (हेडम्) क्रोध को (नि) निश्चय करके (एति) पाता है ॥ २० ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विजय पाने के लिये निर्भय पूर्ण विद्वान् द्वारा वेदों का उपदेश चाहते हैं, इस लिये उसके बाधक को सब विद्वान् धिक्कारते हैं ॥२०॥

हेडं पशूनां न्येति ब्राह्मणेभ्योऽददद् वशाम् ।
देवानां निहितं भागं मर्त्यश्चेन्निप्रियायते ॥ २१ ॥

हेडम् । पशूनाम् । नि । एति । ब्राह्मणेभ्यः । अददत् । वशाम् ॥ देवानाम् । नि-हितम् । भागम् । मर्त्यः । च । इत् । नि-प्रियायते ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों [ब्रह्मचारियों] को (वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (अददत्) न देता हुआ पुरुष (पशूनाम्) सब प्राणियों का (हेडम्) क्रोध (नि) निश्चय कर के (एति) पाता है। (च इत् = चेत्) यदि (मर्त्यः) मनुष्य (देवानाम्) विजय चाहने वालों के (निहितम्) नियम से रक्खे हुये (भागम्) ऐश्वर्यों के समूह [वेदवाणी] को (निप्रियायते) ओछे पन से प्रिय सा मानता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य संकुचित मन होकर वेदवाणी के प्रकाश करने में विघ्न डालता है, वह सब ही प्राणियों का शत्रु होता है ॥ २१ ॥

यदन्ये शतं याचेयुर्ब्राह्मणा गोपतिं वशाम् ।
अथैनां देवा अब्रुवन्नेवं ह विदुषो वशा ॥ २२ ॥

अप्रयच्छन् (हेडम्) क्रोधम् (नि) निश्चयेन (एति) प्राप्नोति (मानुषः) मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च । पा० ४ । १ । १६१ । मनु-अञ् षुक् च । मनुर्मननं यस्य सः । मनुष्यः ॥

२१—(हेडम्) अनादरम् । क्रोधम् (नि) निश्चयेन (एति) प्राप्नोति (ब्रह्मणेभ्यः) ब्रह्मचारिभ्यः (अददत्) म० २०। अप्रयच्छन् (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (निहितम्) नियमेन स्थापितम् (भागम्) भग-अण् समूहे । भगानामैश्वर्याणां समूहं वेदवाणीम् (मर्त्यः) मनुष्यः (चेत्) यदि (नि प्रियायते) म० ११ । नीचभावेन प्रिय इवाचरति॥

यत् । अन्ये । शतम् । याचेयुः । ब्राह्मणाः । गो-पतिम् । वशाम् ॥ अथ । एनाम् । देवाः । अब्रुवन् । एवम् । ह । विदुषः । वशा ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यत) यदि (ब्राह्मणाः = ब्राह्मणेभ्यः) ब्राह्मणों [ब्रह्मचारियों] से (अन्ये) दूसरे [निर्बलेन्द्रिय] (शतम्) सौ [पुरुष] (गोपतिम्) पृथिवी की पालने वाली (वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] को (याचेयुः) मांगें। (अथ) तौ (देवाः) देवताओं [विद्वानों] ने (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (अब्रुवन्) बताया है—"(एवम्) इस प्रकार [पूरे पूरे] (विदुषः) विद्वान् की (ह) ही (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] है" ॥ २२ ॥

भावार्थ—दुर्बलेन्द्रिय अश्रद्धालु मनुष्य सैकड़ों मिल कर भी वेदवाणी से उपकार नहीं कर सकते, परन्तु पूर्ण विद्वान् जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी अकेला ही संसार भर को लाभ पहुंचाता है ॥ २२ ॥

य एवं विदुषेऽदत्त्वाथान्येभ्यो ददद् वशाम् ।
दुर्गा तस्मा अधिष्ठाने पृथिवी सहदेवता ॥ २३ ॥

यः । एवम् । विदुषे । अदत्त्वा । अथ । अन्येभ्यः । ददत् । वशाम् ॥ दुः-गा । तस्मै । अधि-स्थाने । पृथिवी । सह-देवता २३

भाषार्थ—(यः) जो पुरुष (एवम्) इस प्रकार (विदुषे) विद्वान् को (अदत्वा) न देकर (अथ) फिर (अन्येभ्यः) दूसरों [दुर्बलेन्द्रियों] को

२२—(यत्) यदि (अन्ये) विरोधिनः । अब्राह्मणाः (शतम्) बहुसंख्याकाः (याचेयुः) प्रार्थयेरन् (ब्राह्मणाः) सुपां सुपो भवन्तीति वक्तव्यम् । वा० पा० ७ । १ । ३६ । इति पञ्चमीस्थाने प्रथमा । ब्राह्मणेभ्यः । ब्रह्मचारिभ्यः (गोपतिम्) पृथिवीपालिकाम् (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (अथ) तदा (एनाम्) वेदवाणीम् (देवाः) विद्वांसः (अब्रुवन्) अकथयन् (एवम्) अनेन प्रकारेण (ह) निश्चयेन (विदुषः) जानतः पुरुषस्य (वशा) ॥

२३—(यः) एवम्) ईदृग्विधम् (विदुषे) ज्ञानिने (अदत्वा) (अथ)

(वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (ददत्) देता हुआ है। (तस्मै) उस पुरुष के लिये (अधिष्ठाने) प्रभाव के बीच (सहदेवता) देवताओं विद्वानों सहित (पृथिवी) पृथिवी (दुर्गा) दुर्गम [कठिन] होती है ॥ २३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष अधिकारी ब्रह्मचारियों का अनादर करके दुर्बलेन्द्रिय लम्पटों को वेदविद्या का अधिकार देता है, वह तो न पृथिवी का राज्य कर सकता है और न विद्वानों में आदर पा सकता है ॥ २३ ॥

दे॒वा व॒शाम॑याच॒न् यस्मि॑न्न॒ग्रे अजा॑यत ।

ताम्ए॒तां वि॑द्या॒न्नार॑दः स॒ह दे॒वैरुदा॑जत ॥ २४ ॥

दे॒वाः । व॒शाम् । अ॒या॒च॒न् । यस्मि॑न् । अ॒ग्रे । अजा॑यत । ताम् । ए॒ताम् । वि॒द्या॒त् । नार॑दः । स॒ह । दे॒वैः । उत् । आ॒ज॒त ॥४२॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वालों ने (वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] को [उस परमेश्वर से] (अयाचन्) मांगा है, (यस्मिन्) जिस [परमेश्वर] में (अग्रे) पहिले ही पहिले (अजायत) वह उत्पन्न हुयी। (ताम्) उस [दूर वर्तमान] और (एताम्) इस [समीप वर्तमानवेदवाणी] को (नारदः) नारद [नीति, यथार्थ ज्ञान देने वाला विद्वान्] (विद्यात्) जान लेवे, वह [वेदवाणी] (देवैः सह) दिव्य गुणों के सहित (उत् आजत) उदय हुयी है ॥ २४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर की वाणी वेद को विद्वानों ने भक्तिपूर्वक परमेश्वर से पाया है, उस वेदवाणी को प्रत्येक विद्वान् जानकर उसके दिव्य गुणों का प्रकाश करे ॥ २४ ॥

पुनः (अन्येभ्यः) दुर्बलेन्द्रियेभ्यः (ददत्) प्रयच्छन् (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (दुर्गा) दुष्प्राप्या (तस्मै) अविदुषे (अधिष्ठाने) प्राधान्ये (पृथिवी) (सहदेवता) विद्वद्भिः सहिता ॥

२४—(देवाः) विजिगीषवः (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (अयाचन्) याचितवन्तः परमेश्वरमिति शेषः (यस्मिन्) परमेश्वरे (अग्रे) आदौ (अजायत) प्रादुरभवत् (ताम्) दूरस्थाम् (एताम्) समीपस्थाम् (विद्यात्) जानीयात् (नारदः) म० १६। नीतिप्रदो विद्वान् (सह) (देवैः) दिव्यगुणैः (उत् आजत) अज गतिक्षेपणयोः—लङ्, आत्मनेपदं छान्दसम्। उदाजत् उदयं प्रापत् ॥

अनपत्यमल्पपशुं वशा कृणोति पूरुषम् ।
ब्राह्मणैश्च याचितामथैनां निप्रियायते ॥ २५ ॥

अनपत्यम् । अल्प-पशुम् । वशा । कृणोति । पुरुषम् ॥
ब्राह्मणैः । च । याचिताम् । अथ । एनाम् । नि-प्रियायते ।२५

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (पुरुषम्) पुरुष को (अनपत्यम्) बिन सन्तान और (अल्पपशुम्) थोड़े पशुओं [गौ आदि] वाला (कृणोति) कर देती है। (अथ च) यदि वह [पुरुष] (ब्राह्मणैः) ब्राह्मण [ब्रह्मचारियों] करके (याचिताम्) मांगी हुयी (एनाम्) इस [वेदवाणी] को (निप्रियायते) ओछेपन से प्रिय सा मानता है ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदवाणी को संकुचित करके योग्य ब्रह्मचारियों की उन्नति रोककर अपनी ही उन्नति चाहता है, वह दुर्बलेन्द्रिय पुरुष अपना सर्वस्व नाश कर देता है ॥ ८५ ॥

अग्नीषोमाभ्यां कामाय मित्राय वरुणाय च ।
तेभ्यो याचन्ति ब्राह्मणास्तेष्वा वृश्चतेऽददत् ॥ २६ ॥

अग्नीषोमाभ्याम् । कामाय । मित्राय । वरुणाय । च ॥ तेभ्यः ।
याचन्ति । ब्राह्मणाः । तेषु । आ । वृश्चते । अददत् । २६ ।

भाषार्थ—(कामाय) इष्ट पदार्थ पाने के लिये (अग्नीषोमाभ्याम्) अग्नि और जल, (मित्राय) प्राण (च) और (वरुणाय) अपान वायु, (तेभ्यः) इन सब की सिद्धि के लिये (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [ब्रह्मचारी लोग] (याचन्ति)

२५—(अनपत्यम्) सन्तानरहितम् (अल्पपशुम) पशुभिर्न्यूनम् (वशा) कमनीया वेदवाणी (कृणोति) करोति (पुरुषम्) (ब्राह्मणैः) ब्रह्मचारिभिः (च) (याचिताम्) प्रार्थिताम् (अथ) यदि (एनाम्) वेदवाणीम् (निप्रियायते) म० २१ । नीचभावेन प्रिय इवाचरति ॥

२६—(अग्नीषोमाभ्याम्) अग्निजलविद्यासिद्धये (कामाय) इष्टपदार्थप्राप्तये (मित्राय) प्राणविद्याप्राप्तये (वरुणाय) अपानविद्याप्राप्तये

[वेदवाणी को] मांगते हैं, (अददत्) न देता हुआ पुरुष (तेषु) उन [विद्वानों] में (आ) सब ओर से (वृश्चते] छिन्न हो जाता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी अग्निविद्या, जलविद्या, वायु के उतार चढ़ाव की विद्या और अन्य विद्वानों की सिद्धि के लिये वेदविद्या में परिश्रम करते हैं। ऐसे शुभ कर्म में विघ्नकारी मनुष्य कष्ट में पड़ते हैं ॥ २६ ॥

यावदस्या गोपतिर्नोपशृणुयादृचः स्वयम् ।
चरेदस्य तावद् गोषु नास्य श्रुत्वा गृहे वसेत् ॥ २७ ॥

यावत् । अस्याः । गो-पतिः । न । उप-शृणुयात् । ऋचः । स्वयम् ॥ चरेत् । अस्य । तावत् । गोषु । न । अस्य । श्रुत्वा । गृहे । वसेत् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(गोपतिः) वेदवाणी का रक्षक [ब्रह्मचारी] (यावत्) जब तक (स्वयम्) सुन्दर रीति से (अस्याः) इस (ऋचः) स्तुति योग्य [वेदवाणी] का (न) न (उपशृणुयात्) यथा विधि श्रवण कर लेवे, (तावत्) तब तक (अस्य) इस [परमेश्वर] की (गोषु) वाणियों में (चरेत्) चलता रहे, और (श्रुत्वा) श्रवण करके (अस्य) अपने (गृहे) घर में (न) अब (वसेत्) बसे ॥ २७ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी, पुत्र वा पुत्री, यथा विधि श्रवण, मनन और निदिध्यासन से वेदविद्या प्राप्त कर चुके, तब समावर्तन करके गृहाश्रम में प्रवेश करे ॥ २७ ॥

(च) (तेभ्यः) पूर्वोक्तेभ्यः (याचन्ति) प्रार्थयन्ते (ब्राह्मणाः) वेदाध्येतारः (तेषु) ब्राह्मणेषु (आ) समन्ताम् (वृश्चते) छिद्यते (अददत्) अप्रयच्छन् ॥

२७—(यावत्) (अस्याः) पुरोवर्तिन्याः (गोपतिः) वेदवाणी रक्षको ब्रह्मचारी (न) निषेधे (उपशृणुयात्) गुरुकुले श्रवणं कुर्यात् (ऋचः) स्तुत्याया वेदवाण्याः (स्वयम्) सु+अय गतौ-अमु । सुष्ठु शास्त्ररीत्या यथा तथा (चरेत्) विचरेत् । अभ्यस्येत् (अस्य) व्यापकस्य परमेश्वरस्य (तावत्) (गोषु) वेदवाक्षु (न) संप्रति (अस्य) स्वकीयस्य (श्रुत्वा) श्रवणं कृत्वा (गृहे) गृहाश्रमे (वसेत्) निवसेत् ॥

यो अस्या ऋचं उपश्रुत्याथ गोष्वचीचरत् ।
आयुश्च तस्य भूतिं च देवा वृश्चन्ति हीडिताः ॥ २८ ॥
यः । अस्याः । ऋचः । उप-श्रुत्य । अथ । गोषु । अचीचरत् ॥
आयुः । च । तस्य । भूतिम् । च । देवाः । वृश्चन्ति ।
हीडिताः ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(अथ) यदि (यः) जिस [मनुष्य] ने (अस्याः) इस (ऋचः) स्तुति योग्य वेदवाणी का (उपश्रुत्य) यथाविधि श्रवण करके (गोषु) इन्द्रियों में [इन्द्रियों के कुविषयों में अपने को] (अचीचरत्) चलाया है। (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (हीडिताः) क्रुद्ध होकर (तस्य) उस [पुरुष] का (आयुः) जीवन (च) और (भूतिम्) ऐश्वर्य (च) भी (वृश्चन्ति) काट देते हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् वेदवाणी को जानकर कुविषयों में फंसता है, वह विद्वानों का क्रोधपात्र होकर संसार में उन्नति नहीं करता ॥ २८ ॥

वशा चरन्ती बहुधा देवानां निहितो निधिः ।
आविष्कृणुष्व रूपाणि यदा स्थाम जिघांसति ॥ २९ ॥
वशा । चरन्ती । बहु-धा । देवानाम् । नि-हितः । नि-धिः ॥
आविः । कृणुष्व । रूपाणि । यदा । स्थाम । जिघांसति ।२९।

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों का (निहितः) नियम से रक्खा हुआ

२८—(यः) पुरुषः (अस्याः) (ऋचः) स्तुत्यायाः वेदवाण्याः (उपश्रुत्य) यथाविधि श्रवणं कृत्वा (अथ) यदि (गोषु) इन्द्रियेषु। इन्द्रियाणां कुविषयेषु (अचीचरत्) चर गतिभक्षणयोः—णिच्, लुङ्। आत्मानं चालितवान् (आयुः) जीवनम् (च) (तस्य) पुरुषस्य (भूतिम्) ऐश्वर्यम् (च) अपि (देवाः) विद्वांसः (वृश्चन्ति) छिन्दन्ति (हीडिताः) हेडृ अनादरे क्रोधे च—क्त, ईकारश्छान्दसः। हेडते क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २। १२। क्रुद्धाः सन्तः ॥

२९—(वशा) कमनीया वेदवाणी (चरन्ती) विचरन्ती (बहुधा)

(निधिः) निधि, [अर्थात्] (बहुधा) नाना प्रकार से (चरन्ती) विचरती हुयी (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] तू (रूपाणि) रूपों [तत्त्वज्ञानों] को (आविः कृणुष्व) प्रकट कर, (यदा) जब वह [ब्रह्मचारी] (स्थाम) ठिकाने पर (जिघांसति) जाना चाहता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी कटिबद्ध होकर वेदवाणी का उपार्जन करता है। तब ही वह तत्त्वज्ञानों को जानता चला जाता है ॥ २९ ॥

आविरात्मानं कृणुते यदा स्थाम जिघांसति ।
अथो ह ब्रह्मभ्यो वशा याच्ञ्याय कृणुते मनः ॥ ३० ॥ (२१)

आविः । आत्मानम् । कृणुते । यदा । स्थाम । जिघांसति ॥
अथो इति । ह । ब्रह्म-भ्यः । वशा । याच्ञ्याय । कृणुते ।
मनः ॥ ३० ॥ (२१)

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (आत्मानम्) अपने स्वरूप [तत्त्वज्ञान] को (आविः कृणुते) प्रकट करती है, (यदा) जब वह [ब्रह्मचारी] (स्थाम) ठिकाने पर (जिघांसति) जाना चाहता है। (अथो ह) तब ही (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारियों के पाने को (याच्ञाय) मांगने के लिये (मनः) मनन (कृणुते) करती है ॥३०॥

भावार्थ—जैसे जैसे ब्रह्मचारी प्रयत्न करता है वेदवाणी भी उसको वैसे वैसे ही अधिक अधिक मिलती चली आती है ॥३०॥

मनसा सं कल्पयति तद् देवाँ अपि गच्छति ।
ततो ह ब्रह्माणो वशामुपप्रयन्ति याचितुम् ॥ ३१ ॥

नानाप्रकारेण (देवानाम्) विदुषाम् (निहितः) नियमेन स्थापितः (निधिः) कोशः (आविष्कृणुष्व) प्रकाशय (रूपाणि) तत्त्वज्ञानानि (यदा) (स्थाम) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। ष्ठा गतिनिवृत्तौ—मनिन्। स्थितिस्थानम् (जिघांसति) हन हिंसागत्योः-सन्। गन्तुमिच्छति ॥

३०—(आत्मानम्) तत्त्वबोधम् (आविष्कृणुते) प्रकटयति (अथो ह) तदैव (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारिभ्यः (वशा) कमनीया वेदवाणी (याच्ञाय) याचृ याच्ञायाम्—नङ्। याचनाय (कृणुते) करोति (मनः) मननम्। अन्यत् पूर्ववत्—म० २९ ॥

मनसा । सम् । कल्पयति । तत् । देवान् । अपि । गच्छति ॥
ततः । ह । ब्रह्माणः । वशाम् । उप-प्रयन्ति । याचितुम् ॥३१॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (मनसा) मनन के साथ (देवान्) विजय चाहने वाले [ब्रह्मचारियों] को (सम्) यथावत् (कल्पयति) समर्थ करती है, (तत्) तब [उनको] (अपि गच्छति) अवश्य मिलती है। (तथा ह) इसी कारण से (ब्रह्माणः) ब्रह्मचारी लोग (वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] के (याचितुम्) मांगने के लिये (उपप्रयन्ति) पहुंचते जाते हैं ॥३१॥

भावार्थ—जैसे जैसे ब्रह्मचारी लोग वेदवाणी के लिये प्रयत्न करते हैं, वैसे वैसे ही वेदवाणी उन्हें समर्थ करके मिलती जाती है ॥३१॥

स्वधाकारेण पितृभ्यो यज्ञेन देवताभ्यः ।
दानेन राजन्यो वशाया मातुर्हेडं न गच्छति ॥ ३२ ॥

स्वधा-कारेण । पितृ-भ्यः । यज्ञेन । देवताभ्यः ॥ दानेन । राजन्यः । वशायाः । मातुः । हेडम् । न । गच्छति ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(राजन्यः) ऐश्वर्यवान् [राजा] (पितृभ्यः) पालन करने वाले [विज्ञानियों] और (देवताभ्यः) विजय चाहने वाले [शूरवीरों] को (स्वधाकारेण) स्वधारण सामर्थ्य देने से (यज्ञेन) सत्कार से और (दानेन) दान से (वशायाः) वशा [कामनायोग्य वेदवाणी], (मातुः) माता के

३१—(मनसा) मननेन (सम्) सम्यक् (कल्पयति) समर्थयति वेदवाणी (तत्) तदा (देवान्) विजिगीषून् ब्रह्मचारिणः (अपि) एव (गच्छति) प्राप्नोति (ततः) तस्मात् कारणात् (ह) एव (ब्रह्माणः) ब्रह्मचारिणः (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (उपप्रयन्ति) समीपे गच्छन्ति (याचितुम्) प्रार्थयितुम् ॥

३२—(स्वधाकारेण) स्वधारणसामर्थ्यदानेन (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (यज्ञेन) सत्कारेण (देवताभ्यः) विजिगीषुभ्य शूरेभ्यः (दानेन) पालनेन (राजन्यः) राजेरन्यः । उ० ३ । १०० । राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—अन्य । ऐश्वर्यवान् । राजा (वशायाः) कमनीयाया वेदवाण्याः (मातुः) मानकर्त्र्याः

(हेडम्) क्रोध को (न) नहीं (गच्छति) पाता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—जहां राजा विद्वानों के दान मान से वेदविद्या का प्रकाश करता है, वह राज्य चिरस्थायी होता है ॥ ३२ ॥

व॒शा मा॒ता रा॑ज॒न्य॑स्य॒ तथा॒ संभू॑तमग्र॒शः ।
तस्या॑ आहु॒रन॑र्पणं॒ यद् ब्र॒ह्मभ्यः॑ प्रदी॒यते॑ ॥ ३३ ॥

व॒शा । मा॒ता । रा॒ज॒न्य॑स्य । तथा॑ । सम्-भू॑तम् । अ॒ग्र॒-शः ॥
तस्याः॑ । आ॒हुः॒ । अन॑र्पणम् । यत् । ब्र॒ह्म-भ्यः॑ । प्र॒-दी॒यते॑ ॥३३॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (राजन्यस्य) ऐश्वर्यवान् [राजा] की (माता) माता [मान करने वाली] है, (तथा) वैसा ही (अग्रशः) पहिले से (संभूतम्) ठहरा हुआ [कर्म] है । (तस्याः) उस [वेदवाणी] का (अनर्पणम्) अत्याग (आहुः) वे [विद्वान्] कहते हैं, (यत्) जब कि (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारियों को (प्रदीयते) वह दे दी जाती है ३३

भावार्थ—परमेश्वर का नियम है कि विद्या के दान से राजा का मान बढ़ता है और विद्या भी अधिक अधिक प्रचार से अधिक अधिक बढ़ती है ३३

यथाज्यं॒ प्रगृ॑हीतमालु॒म्पेत् स्रु॒चो अ॒ग्नये॑ ।
ए॒वा ह॑ ब्र॒ह्मभ्यो॑ व॒शाम॒ग्नय॒ आ वृ॑श्च॒तेऽद॑दत् ॥ ३४ ॥

यथा॑ । आज्य॑म् । प्र-गृ॑हीतम् । आ॒-लु॒म्पेत् । स्रु॒चः । अ॒ग्नये॑ ॥
ए॒व । ह॒ । ब्र॒ह्म-भ्यः॑ । व॒शाम् । अ॒ग्नये॑ । आ । वृ॒श्च॒ते॒ । अद॑दत् ॥ ३४ ॥

(हेडम्) कोपम् (न) निषेधे (गच्छति) प्राप्नोति ॥

३३—(वशा) कमनीया वेदवाणी (माता) मानकर्त्री (राजन्यस्य) म० १२ । ऐश्वर्यवतः क्षत्रियस्य (तथा) तेन प्रकारेण (सम्भूतम्) समर्थितं परमेश्वरेण (अग्रशः) आदौ (तस्याः) वेदवाण्याः (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (अनर्पणम्) अत्यागम्) सदावर्धनम् (यत्) यदा (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारिभ्यः (प्रदीयते) प्रकर्षेण दीयते सा ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (प्रगृहीतम्) फैला कर लिया गया (आज्यम् घी (स्रुचः) स्रुचा [चमचा] से (अग्नये) अग्नि को (आलुम्पेत्) छोड़ दिया जावे । (एव ह) वैसे ही (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारियों को (वशाम्) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (अददत्) न देता हुआ पुरुष (अग्नये) अग्नि [सन्ताप] पाने के लिये (आ वृश्चते) छिन्न भिन्न हो जाता है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जैसे प्रज्वलित हवन अग्नि में छोड़ा हुआ घी शीघ्र भस्म हो जाता है, वैसे ही वेदविद्या के रोकने से संसार की हानि करके मनुष्य क्लेश में पड़कर नष्ट हो जाता है ॥ ३४ ॥

पुरोडाशवत्सा सुदुघा लोकेऽस्मा उप तिष्ठति ।
सास्मै सर्वान् कामान् वशा प्रददुषे दुहे ॥ ३५ ॥

पुरोडाश-वत्सा । सु-दुघा । लोके । अस्मै । उप । तिष्ठति ॥
सा । अस्मै । सर्वान् । कामान् । वशा । प्र-ददुषे । दुहे ॥३५॥

भाषार्थ—(पुरोडाशवत्सा) बढ़कर दान करने [वा उत्तम अन्न पाने] के लिये उपदेश करने वाली, (सुदुघा) सुन्दर रीति से पूर्ण करने वाली (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (लोके) संसार में (अस्मै) उस पुरुष के लिये (उप तिष्ठति) उपस्थित होती है । (सा) वह (अस्मै) इस (प्रददुषे) बड़े दानी के लिये (सर्वान्) सब (कामान्) श्रेष्ठ कामनायें (दुहे) पूरी

३४—(यथा) येन प्रकारेण (आज्यम्) घृतम् (प्रगृहीतम्) प्रकर्षेण धृतम् (आलुम्पेत्) लुप्लृ छेदने विनाशने च । समन्ताद् नश्येत् (स्रुचः) चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ—चिक् । यज्ञपात्रविशेषात् । चमसात् (अग्नये) पावकाय (एव) तथा (ह) हि (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारिभ्यः (वशाम्) वेदवाणीम् (अग्नये) सन्तापाय । क्लेशाय (आ) समन्तात् (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते (अददत्) अप्रयच्छन् पुरुषः ॥

३५—(पुरोडाशवत्सा) पुरो अग्रे दाश्यते दीयते, दाशृ दाने-घञ्+वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—स, टाप् । पुरोडाशाय उत्तमदानाय परिपक्वान्नाय वा वदत्युपदिशति या सा (सुदुघा) अ० ७ । ७३ । ७ । यथाविधि पूरयित्री । कामदा (लोके) संसारे (अस्मै) पुरुषाय (उपतिष्ठति) उपस्थिता भवति (सा) (अस्मै) (सर्वान्) (कामान्) श्रेष्ठाभिला-

करती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब गुणों की खानि वेदविद्या के अभ्यास और प्रकाश से धार्मिक होकर अपनी सब कामनायें पूरी करता है ॥ ३५ ॥

सर्वान् कामान् यमराज्ये वशा प्रदुदुषे दुहे ।

अथाहुर्नारकं लोकं निरुन्धानस्य याचिताम् ॥ ३६ ॥

सर्वान् । कामान् । यम-राज्ये । वशा । प्र-दुदुषे । दुहे ॥ अथ । आहुः । नरकम् । लोकम् । नि-रुन्धानस्य । याचिताम् ॥३६॥

भाषार्थ—(वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (यमराज्ये) न्यायकारी [परमेश्वर] के राज्य में (प्रदुदुषे) अपने बड़े दानी के लिये (सर्वान्) सब (कामान्) श्रेष्ठ कामनायें (दुहे) पूरी करती है। (अथ) और (याचिताम्) उस मांगी हुयी को (निरुन्धानस्य) रोकने वाले का (लोकम्) लोक [घर] (नरकम्) नरक [महाकष्टस्थान] (आहुः) वे [विद्वान्] बताते हैं ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की व्यवस्था समझ कर वेदवाणी का प्रकाश करते हैं, वे अपने सब अभीष्ट सुख पाते हैं, और उसके रोकने वाले मूर्ख अज्ञान बढ़ने से क्लेश में पड़ते हैं ॥ ३६ ॥

प्रवीयमाना चरति क्रुद्धा गोपतये वशा ।

वेहतं मा मन्यमानो मृत्योः पाशेषु बध्यताम् ॥ ३७ ॥

प्र-वीयमाना । चरति । क्रुद्धा । गो-पतये । वशा ॥ वेहतम् । मा । मन्यमानः । मृत्योः । पाशेषु । बध्यताम् ३७॥

षान् (वशा) (प्रदुदुषे) प्रकर्षेण दत्तवते (दुहे) दुग्धे । प्रपूरयति ॥

३६—(यमराज्ये) न्यायकारिणः परमेश्वरस्य राज्यनियमे (अथ) पुनः (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (नरकम्) नृणाति क्लेशं प्रापयतीति नरकः। कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन्। उ० ५। ३५। नॄ नये—वुन्। सांहितिको दीर्घः। महाक्लेशस्थानम् (लोकम्) गृहम् (निरुन्धानस्य) प्रतिरोधकस्य (याचिताम्) प्रार्थितां ताम्। अन्यत् पूर्ववत्-म० ३५ ॥

भाषार्थ—(प्रवीयमाना) फेंकी जाती हुयी (वशा) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] (गोपतये) पृथिवी पालक [राजा] के लिये (क्रुद्धा) क्रुद्ध होकर (चरति) विचरती है। "(मा) मुझ को (वेहतम्) गर्भघातिनी स्त्री [के समान रोगिणी] (मन्यमानः) मानता हुआ [वह राजा] (मृत्योः) मृत्यु के (पाशेषु) फन्दों में (बध्यताम्) बांधा जावे" ॥ ३७ ॥

भावार्थ—जिस राजा के राज्य में वेदवाणी प्रचार से रोकी जाती है, वह राजा अपने राज्य सहित अधर्म बढ़ने से नष्ट होजाता है ॥ ३७ ॥

यो वे॒हतं॒ मन्य॑मा॒नोऽमा च॒ पच॑ते व॒शाम् ।
अप्य॑स्य पु॒त्रान् पौत्राँ॑श्च या॒चय॑ते॒ बृह॒स्पति॑: ॥ ३८ ॥

यः । वे॒हत॑म् । मन्य॑मानः । अमा । च॒ । पच॑ते । व॒शाम् ।
अपि॑ । अ॒स्य॒ । पु॒त्रान् । पौत्रा॑न् । च॒ । या॒चय॑ते । बृह॒स्पति॑:॥३८

भाषार्थ—(च) और (वशाम्) वशा [कामनायोग्य वेदवाणी] को (वेहतम्) गर्भघातिनी स्त्री [के समान रोगिणी] (मन्यमानः) मानता हुआ (यः) जो पुरुष (अमा) अपने घर में [उसकी निन्दा] (पचते) विख्यात करता है। (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों का स्वामी [परमेश्वर] (अस्य) उस पुरुष के (पुत्रान्) पुत्रों (च) और (पौत्रान्) पौत्रों को (अपि) भी

३७—(प्रवीयमाना) वी गत्यसनादिषु—कर्मणि शानच्, असनं क्षेपणम्, प्रक्षिप्यमाणा (चरति) विचरति (क्रुद्धा) कुपिता (गोपतये) भूपालाय। राज्ञे (वशा) कमनीया वेदवाणी (वेहतम्) अ० ३। २३। १। संश्चत्तृपद्वेहत्। उ० २। ८५। वि+हन हिंसागत्योः—अति। पृषोदरादिरूपम्। गर्भघातिनीस्त्रीतुल्यरोगिणीम् (मा) माम् (मन्यमानः) जानन् (मृत्योः) मरणस्य (पाशेषु) बन्धेषु (बध्यताम्) गृह्यताम् ॥

३८—(यः) पुरुषः (वेहतम्) म० ३७। गर्भघातिनीस्त्रीतुल्यरोगिणीम् (मन्यमानः) जानन् सन् (अमा) गृहे (च) (पचते) पच व्यक्तीकरणे। व्यक्तीकरोति (वशाम्) कामनीयां वेदवाणीम् (अपि) एव (अस्य) (पुत्रान्) (पौत्रान्) (च) (याचयते) याचृ याच्ञायाम्, णिच्। भिक्षून् करोति।

(याचयते) भिखारी बना देता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वृथा दोष लगाकर वेदवाणी से अपने सन्तानों को रोकता है, वह उन्हें अविवेकी करके निर्धनी और नीच बनाता है ॥३८॥

म॒हदे॒षाव॑ तपति॒ चर॑न्ती गोषु॒ गौरपि॑ ।

अथो॑ ह॒ गोप॑तये व॒शाद॑दुषे वि॒षं दु॑हे ॥ ३८ ॥

म॒हत् । ए॒षा । अव॑ । त॒प॒ति॒ । चर॑न्ती । गोषु॑ । गौः । अपि॑ ॥

अथो॒ इति॑ । ह॒ । गो-प॑तये । व॒शा । अद॑दुषे । वि॒षम् । दु॒हे ३८

भाषार्थ—(एषा) यह (गौः) प्राप्तियोग्य [वेदवाणी] (गोषु) सब भूमि प्रदेशों में (अपि) ही (चरन्ती) विचारती हुयी (महत्) बहुत (अव) निश्चय करके (तपति) प्रताप [ऐश्वर्य] वाली होती है। (अथो ह) और कि (वशा) वशा [वह कामनायोग्य वेदवाणी] (अददुषे) [उसके] न देनेवाले (गोपतये) भूपति [राजा] के लिये (विषम्) विष [महाकष्ट] (दुहे) पूर्ण करती है ॥ ३९ ॥

भावार्थ—वेदवाणी की प्रवृत्ति होने से संसार में ऐश्वर्य बढ़ता है, और जो दुष्ट राजा उसे रोकता है, वह नष्ट हो जाता है ॥ ३९ ॥

प्रि॒यं प॒शूनां॒ भ॑वति॒ यद् ब्र॒ह्मभ्यः॑ प्रदी॒यते॑ ।

अथो॑ व॒शाया॒स्तत् प्रि॒यं यद् दे॑व॒त्रा ह॒विः स्यात् ॥४०॥(२२)

प्रि॒यम् । प॒शू॒नाम् । भ॒व॒ति॒ । यत् । ब्र॒ह्म-भ्यः॑ । प्र॒-दी॒यते॑ ॥

अथो॒ इति॑ । व॒शायाः॑ । तत् । प्रि॒यम् । यत् । दे॒व॒-त्रा ।

ह॒विः । स्यात् ॥ ४० ॥ (२२)

भिक्ष्यते ॥

३९—(महत्) बृहत् (एषा) वर्तमाना (अव) निश्चयेन (तपति) तप ऐश्वर्ये। ईष्टे। प्रतापिनी भवति (चरन्ती) विचरन्ती (गोषु) भूमिप्रदेशेषु (गौः) प्राप्तव्या वेदवाणी (अपि) (अथो ह) पुनश्च (गोपतये) भूपालाय। राज्ञे (वशा) (अददुषे) ददातेः क्वसु। अदत्तवते (विषम्) गरलम् (दुहे) दुग्धे। प्रपूरयति ॥

भाषार्थ—(पशूनाम्) सब प्राणियों का (प्रियम्) प्रिय [हित] (भवति) होता है, (यत्) जब (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारियों को (प्रदीयते) वह दी जाती है। (अथो) और (तत्) यह (वशायाः) वशा [कामना योग्य वेदवाणी] का (प्रियम्) प्रिय [हित] है, (यत्) कि वह [वेदवाणी] (देवत्रा) विद्वानों में (हविः) ग्राह्य वस्तु (स्यात्) होवे ॥ ४० ॥

भावार्थ—ब्रह्मचर्य आदि विधि से वेदविद्या के दान और ग्रहण से सब संसार का हित होता है ॥ ४० ॥

या वशा उदकल्पयन् देवा यज्ञादुदेत्य ।
तासां विलिप्त्यं भीमामुदाकुरुत नारदः ॥ ४१ ॥

याः । वशाः । उत्-अकल्पयन् । देवाः। यज्ञात् । उत्-एत्य ॥
तासाम् । वि-लिप्त्यम् । भीमाम् । उत्-आकुरुत । नारदः॥४१

भाषार्थ—(याः) जिन (वशाः) कामना योग्य [शक्तियों] को (देवाः) विजय चाहने वाले [जिज्ञासुओं] ने (यज्ञात्) यज्ञ [परमेश्वर की पूजा, संगतिकरण और दानव्यवहार] से (उदेत्य) ऊंचे होकर (उदकल्पयन्) उत्तम माना है। (तासाम्) उन [शक्तियों] के बीच (विलिप्त्यम्) विशेष वृद्धि वाली और (भीमाम्) भयानक [वेदवाणी] को (नारदः)

४०—(प्रियम्) हितम् (पशूनाम्) प्राणिनाम् (भवति) (यत्) यदा (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारिभ्यः (प्रदीयते) प्रकर्षेण दीयते वेदवाणी (अथो) अपि च (वशायाः) कमनीयाया वेदवाण्याः (तत्) प्रियम् । हितम् (यत्) (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम् । पा० ५ । ४ । ५६ । इति त्रा । विद्वत्सु (हविः) ग्राह्यं वस्तु (स्यात्) ॥

४१—(याः) (वशाः) कमनीयाः शक्तयः (उदकल्पयन्) उत्तमाः कल्पितवन्तः (देवाः) विजिगीषवः । जिज्ञासवः (यज्ञात्) ईश्वरपूजासंगतिकरणदानव्यवहारात् (उदेत्य) उदयं प्राप्य (तासाम्) वशानां मध्ये (विलिप्त्यम्) वि + लिप उपदेहे-क्तिन्, उपदेहो वृद्धिः । नित्यं छन्दसि । पा० ४ । १ । ४६ । इति ङीष् । अमि यणादेशश्छन्दसः । विशेषा वृद्धिर्यस्यास्ताम् (भीमाम्)

नीति देने वाले [आचार्य] ने (उदाकुरुत) स्वीकार किया है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सदा से विद्वानों ने अनेक शक्तियों की कल्पना करके यही निश्चय किया है कि संसार में शिष्टों की वृद्धि करने वाली और दुष्टों की ताड़ने वाली इस वेदवाणी के तुल्य अन्य कोई शक्ति नहीं है ॥ ४१ ॥

तां दे॒वा अ॑मीमांसन्त व॒शेया३मव॒शेति॑ ।

ताम॑ब्रवीन्नार॒द ए॒षा व॒शानां॑ व॒शत॑मेति॑ ॥ ४२ ॥

ताम् । दे॒वाः । अ॒मी॒मां॒स॒न्त॒ । व॒शा । इ॒या३म् । अव॑शा३ । इति॑ ॥ ताम् । अ॒ब्र॒वी॒त् । ना॒र॒दः । ए॒षा । व॒शाना॑म् । व॒श-त॑मा । इति॑ ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विजय चाहने वाले [जिज्ञासुओं] ने (ताम्) उस [वेदवाणी] को (अमीमांसन्त) विचारा—"(इयम्) यह [वेदवाणी] (वशा) कामना योग्य है, [अथवा] (अवशा इति) कामना योग्य नहीं है"। (ताम्) उसके विषय में (नारदः) नीति बताने वाले [आचार्य] ने (अब्रवीत्) कहा—"(एषा) यह [वेदवाणी] (वशानाम्) सब कामना योग्य [शक्तियों] में (वशतमा इति) अत्यन्त कामना योग्य है" ॥ ४२ ॥

भावार्थ—प्रथम से जिज्ञासु ब्रह्मचारियों ने परस्पर प्रश्नोत्तर और परीक्षा करके निश्चय किया है कि यह वेदवाणी ही संसार भर में ऐसी है कि जिसके अभ्यास से मनुष्य सब इष्ट पदार्थ पा लेता है ॥ ४२ ॥

कति॒ नु व॒शा ना॑रद॒ यास्त्वं वे॒त्थ॑ मनु॒ष्य॒जाः ।

तास्त्वा॑ पृ॒च्छामि वि॒द्वांसं॒ कस्या॒ नाश्नी॑याद॒ब्राह्म॑णः ॥ ४३ ॥

भयङ्कराम् (उदाकुरुत) स्वीकृतवान् (नारदः) म० १६ । नीतिप्रदो विद्वान् ॥

४२—(ताम्) वेदवाणीम् (देवाः) विजिगीषवः (अमीमांसन्त) मान जिज्ञासायाम्—स्वार्थे सन्—लङ् । विचारितवन्तः (वशा) कमनीया (इयम्) वेदवाणी (अवशा) अकमनीया (इति) (ताम्) वेदवाणीम् (अब्रवीत्) कथितवान् (नारदः) म० १६ । नीतिप्रदः (एषा) वेदवाणी (वशानाम्) कमनीयानां शक्तीनां मध्ये (वशतमा) अतिशयेन कमनीया (इति) ॥

कति॑ । नु । व॒शाः । ना॒र॒द॒ । याः । त्वम् । वेत्थ॑ । म॒नु॒ष्य॒-जाः ॥ ताः । त्वा॒ । पृ॒च्छा॒मि॒ । वि॒द्वांस॑म् । कस्याः॑ । न । अ॒श्नी॒या॒त् । अब्रा॑ह्मणः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—"(नारद) हे नीति बताने वाले [आचार्य] ! (कति नु) कितनी ही (वशाः) कामना योग्य [शक्तियां] हैं, (याः) जिनको (मनुष्यजाः) मनन शीलों में उत्पन्न हुआ (त्वम्) तू (वेत्थ) जानता है, (ताः) उन को (विद्वांसम्) जानने वाले (त्वा) तुझसे (पृच्छामि) मैं पूछता हूं, (अब्राह्मणः) अब्रह्मचारी [ब्रह्मचर्य न रखता हुआ पुरुष] (कस्याः) कौनसी [शक्ति] का (न) नहीं (अश्नीयात्) भोग [अनुभव] कर सकता" ॥ ४३ ॥

भावार्थ—जिज्ञासु बहुश्रुत विद्वान् से निश्चय करे कि जितनी शक्तियां आप जानते हैं, उनमें वह कौनसी है जिससे मनुष्य बिना ब्रह्मचर्य धारण किये सुख पा लेवे । इस प्रश्न का उत्तर आगे है ॥ ४३ ॥

वि॒लि॒प्त्या बृ॑हस्पते॒ या च॑ सू॒तव॑शा व॒शा ।
तस्या॒ नाश्नी॑या॒दब्रा॑ह्मणो॒ य आ॒शंसे॑त॒ भूत्या॑म् ॥ ४४ ॥

वि॒-लि॒प्त्याः । बृ॒ह॒स्प॒ते॒ । या । च॒ । सू॒त-व॑शा । व॒शा ॥ तस्याः॑ । न । अ॒श्नी॒या॒त् । अब्रा॑ह्मणः । यः । आ॒-शंसे॑त । भूत्या॑म् ॥४४॥

भाषार्थ—"(बृहस्पते) हे बड़ी वेदवाणियों के रक्षक [जिज्ञासु] ! (या) जो (च) निश्चय करके (सूतवशा) उत्पन्न जगत् को वश में करने वाली (वशा) कामना योग्य [वेदवाणी] है, (तस्याः) उस (विलिप्त्याः)

४३—(कति) किंपरिमाणाः (नु) प्रश्ने (वशाः) कमनीयाः शक्तयः (नारद) म० १६ । हे नीतिप्रद (याः) (त्वम्) (वेत्थ) जानासि (मनुष्यजाः) मनुष्य+जनी प्रादुर्भावे—विट् । मनुष्येषु मननशीलेषूत्पन्नः (ताः) (त्वा) (पृच्छामि) अहं जिज्ञासे (विद्वांसम्) जानन्तम् (कस्याः) (न) निषेधे (अश्नीयात्) भुञ्जीत । अनुभवेत् (अब्राह्मणः) अब्रह्मचारी ॥

४४—(विलिप्त्याः) म० ४१ । विशेषवृद्धियुक्तायाः (बृहस्पते) हे बृहतीनां वेदवाणीनां रक्षक (या) (च) निश्चयेन (सूतवशा) सूतस्योत्पन्नस्य

विशेष वृद्धि वाली का (न अश्नीयात्) वह भोग [अनुभव] नहीं कर सकता, (यः) जो (अब्राह्मणः) अब्रह्मचारी [ब्रह्मचर्य न रखने वाला पुरुष] (भूत्याम्) ऐश्वर्य में (आशंसेत) इच्छा करे" ॥ ४४ ॥

भावार्थ—जिस वेदवाणी के वश में सब संसार है, उसको वही मनुष्य पाकर प्रभुता कर सकता है, जो पूरा ब्रह्मचारी हो, अन्यथा नहीं। यह गत मन्त्र का उत्तर है ॥ ४४ ॥

नम॑स्ते अस्तु नारदानुष्ठु॒ विदु॒षे व॒शा ।

कत॒मासां॑ भीम॑तम॒ा याम॑दत्त्वा परा॒भवे॑त् ॥ ४५ ॥

नमः॑। ते॒। अ॒स्तु॒। ना॒र॒द॒। अ॒नु॒ष्ठु॒। विदु॒षे॑। व॒शा॥ क॒त॒मा। आ॒सा॒म्। भी॒म-त॑मा। याम्। अद॑त्त्वा। प॒रा-भवे॑त् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—" (नारद) हे नीति बताने वाले [ऋषि] ! (अनुष्ठु) अनुष्ठान [कर्मारम्भ] (विदुषे) जानते हुये (ते) तुझ को (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे । (आसाम्) इन [संसार की शक्तियों] में से (कतमा) कौनसी (वशा) कामना योग्य शक्ति (भीमतमा) अत्यन्त भयानक है, (याम्) जिस को (अदत्त्वा) न देकर (पराभवेत्) [मनुष्य] हार पावे" ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जिज्ञासु विद्वान् से प्रश्न करे कि संसार के बीच शक्तियों में से वह कौन सी शक्ति है जिसकी प्रवृत्ति रोकने से मनुष्य गिरकर कष्ट पाता है ॥ ४५ ॥

वि॒लि॒प्ती या बृ॑हस्पते॒ऽथो॑ सु॒तव॑शा व॒शा ।

तस्या॒ नाश्नी॑याद॒ब्राह्म॑णो य आ॒शंसे॑त॒ भूत्या॑म् ॥ ४६ ॥

जगतो वशयित्री (वशा) कमनीया वेदवाणी (तस्याः) (न) निषेधे (अश्नीयात्) भुञ्जीत । अनुभवेत् (यः) (आशंसेत) इच्छेत् (भूत्याम्) ऐश्वर्ये ॥

४५—(नमः) सत्कारः (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (नारद) म० १६ । हे नीतिप्रद (अनुष्ठु) अपदुःसुषु स्थः । उ० १ । २५ । अनु + ष्ठा गतिनिवृत्तौ-कु । अनुष्ठानम् । कर्मारम्भम् (विदुषे) जानते (वशा) कमनीया शक्तिः (कतमा) बह्वीषु का (आसाम्) वशानाम् (भीमतमा) अतिशयेन भयङ्करा (याम्) (अदत्त्वा) (पराभवेत्) पराजयं प्राप्नुयात् पुरुषः ॥

वि-लिप्ती । या । बृहस्पते । अथो इति । सूत-वशा । वशा ॥
तस्याः । न अश्नीयात् । अब्राह्मणः । यः । आ-शंसेत । भूत्याम् ४६

भाषार्थ—"(बृहस्पते) हे बड़ी वेदवाणियों के रक्षक ! (या) जो (विलिप्ती) विशेष वृद्धि वाली (अथो) और भी (सूतवशा) उत्पन्न जगत् की वश में करने वाली (वशा) कामना योग्य [वेदवाणी] है । (तस्याः) उस [वेदवाणी] का (न अश्नीयात्) वह भोग [अनुभव] नहीं कर सकता, (यः) जो (अब्राह्मणः) अब्रह्मचारी [ब्रह्मचर्य न रखने वाला पुरुष] (भूत्याम्) ऐश्वर्य में (आशंसेत) इच्छा करे ॥ ४६ ॥

भावार्थ—संसार का हित करने वाली वेदवाणी को मनुष्य विना ब्रह्मचर्य कभी नहीं पा सकता और न ऐश्वर्यवान् हो सकता है । यह गत मन्त्र का उत्तर है ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का मिलान ऊपर मन्त्र ४४ से करो ॥

त्रीणि वै वशाजातानि विलिप्ती सूतवशा वशा ।
ताः प्र यच्छेद् ब्रह्मभ्यः सोऽनाव्रस्कः प्रजापतौ ॥ ४७ ॥

त्रीणि । वै । वशा-जातानि । वि-लिप्ती । सूत-वशा । वशा ॥ ताः । प्र । यच्छेत् । ब्रह्म-भ्यः । सः । अनाव्रस्कः । प्रजा-पतौ ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(त्रीणि) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] (वै) ही (वशाजातानि) कामना योग्य [वेदवाणी] के प्रसिद्ध कर्म हैं, (विलिप्ती) वह विशेष वृद्धि वाली (सूतवशा) उत्पन्न जगत् की वश में करने वाली (वशा)

४६—(विलिप्ती) म० ४१ विशेषवृद्धियुक्ता (अथो) अपि च । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४४ ॥

४७—(त्रीणि) कर्मोपासनाज्ञानानि (वै) एव (वशाजातानि) वशायाः कमनीयाया वेदवाण्याः प्रसिद्धकर्माणि (विलिप्ती) म० ४१ । विशेषवृद्धियुक्ता (सूतवशा) म० ४४ । उत्पन्नस्य जगतो वशयित्री (वशा) कमनीया वेदवाणी (ताः) एकवचनस्य बहुवचनम् । ताम् (प्र) (यच्छेत्) दद्यात् (ब्रह्मभ्यः)

कामना योग्य [वेदवाणी] है। (सः) वह [विद्वान्] (प्रजापतौ) प्रजापालक [परमेश्वर] में (अनाव्रस्कः) अच्छेद्य [अति दृढ़] होकर (ताः=ताम्) उसे (ब्रह्मभ्यः) ब्रह्मचारियों को (प्र यच्छेत्) दान करे ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वनियन्त्री वेदवाणी द्वारा कर्म, उपासना, ज्ञान प्राप्त करके आस्तिक बुद्धि से ब्रह्मचारियों को विद्या दान करे ॥ ४७ ॥

एतद्वो ब्राह्मणा हविरिति मन्वीत याचितः ।
वशां चेदेनं याचेयुर्या भीमाददुषो गृहे ॥ ४८ ॥

एतत् । वः । ब्राह्मणाः । हविः । इति । मन्वीत । याचितः ॥ वशाम् । च । इत् । एनम् । याचेयुः । या । भीमा । अदद्-दुषः । गृहे ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—"(ब्राह्मणाः) हे ब्रह्मचारियो ! (एतत्) यह (वः) तुम्हारा (हविः) ग्राह्य द्रव्य है"—(इति) ऐसा (याचितः) जिससे [वेदवाणी] मांगी जावे वह [विद्वान्] (मन्वीत) माने । (वशाम्) कामना योग्य [वेदवाणी] को (च इत्) ही (एनाम्) इस [विद्वान्] से (याचेयुः) वे [ब्रह्मचारी] मांगें, (या) जो [वेदवाणी] (अददुषः) दान न करने वाले के (गृहे) घर में (भीमा) डरावनी है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—विद्वान् को चाहिये कि ब्रह्मचारियों को वेदवाणी का दान करके संसार का उपकार करे । विद्या की रोक से अविद्या के कारण विपत्तियां फैलती हैं ॥ ४८ ॥

ब्रह्मचारिभ्यः (अनावृस्कः) नञ्+आङ्+ओव्रश्चू छेदने-घञ् । चजोः कु घिण्ण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वम् । अच्छेद्यः । सुदृढः (प्रजापतौ) जीवानां पालके परमेश्वरे ॥

४८—(एतत्) (वः) युष्माकम् (ब्राह्मणाः) हे ब्रह्मचारिणः (हविः) ग्राह्यं वस्तु (इति) एवम् (मन्वीत) जानीयात् (याचितः) प्रार्थितः पुरुषः (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (च इत्) एव (एनम्) पुरुषम् (याचेयुः) भिक्षेरन् (या) वेदवाणी (भीमा) भयङ्करा (अददुषः) अदत्तवतः पुरुषस्य (गृहे) गेहे ॥

दे॒वा व॒शां पर्य॑वद॒न् न नो॑ऽदा॒दिति॒ ही॑डि॒ताः ।
ए॒ताभि॑र्ऋ॒ग्भिर्भे॒दं तस्मा॒द् वै स परा॑भवत् ॥ ४८ ॥

दे॒वाः । व॒शाम् । परि॑ । अ॒व॒द॒न् । न । नः॒ । अ॒दा॒त् । इति॑ । ही॒डि॒ताः ॥ ए॒ताभिः॑ । ऋ॒क्ऽभिः । भे॒दम् । तस्मा॑त् । वै । सः । परा॑ । अ॒भ॒व॒त् ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(हीडिताः) क्रोधित (देवाः) विद्वान् लोग (एताभिः) इन (ऋग्भिः) स्तुति योग्य वेदवाणियों द्वारा (भेदम्) फूट डालने वाले से (परि) घिर कर (अवदन्) बोले—" (वशाम्) कामना योग्य [वेदवाणी] (नः) हमको (न अदात्) उसने नहीं दी है, (इति) सो (तस्मात् वै) इससे ही (सः) वह (परा अभवत्) हारा है" ॥ ४६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निश्चय कर देते हैं कि वेदवाणी का रोकने वाला पुरुष अज्ञान बढ़ने से क्लेश में पड़ता है ॥ ४६ ॥

उ॒तैनां॑ भे॒दो नाद॑दाद् व॒शामिन्द्रे॑ण याचि॒तः ।
तस्मा॒त् तं दे॒वा आग॒सो॑ऽवृ॑श्चन्नहमु॒त्त॒रे ॥ ५० ॥

उ॒त । ए॒नाम् । भे॒दः । न । अ॒द॒दा॒त् । व॒शाम् । इन्द्रे॑ण । या॒चि॒तः ॥ तस्मा॑त् । तम् । दे॒वाः । आग॑सः । अवृ॑श्चन् । अ॒हम्ऽउ॒त्त॒रे ॥ ५० ॥

भाषार्थ—(उत) और (इन्द्रेण) ऐश्वर्यवान् [ब्रह्मचारी] से (याचितः) याचना किये हुये (भेदः) फूट डालने वाले ने (एनाम्) इस (वशाम्)

४६—(देवाः) विद्वांसः (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (परि) परीत्य (अवदन्) अब्रुवन् (न) निषेधे (नः) अस्मभ्यम् (अदात्) दत्तवान् (इति) एवम् (हीडिताः) म० २८ । क्रुद्धाः (एताभिः) (ऋग्भिः) स्तुत्याभिर्वेदवाणीभिः (भेदम्) भिदिर् विदारणे—अच् । भेदकम् । कुटिलम् (तस्मात) कारणात् (वै) (एव) (सः) भेदकः (पराभवत्) पराजितो ऽभवत् ॥

५०—(उत) अपिच (एनम्) (भेदः) म० ४६ । भेदकः । कुटिलः (न) निषेधे (अददात्) दत्तवान् (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (इन्द्रेण) परमै-

[कामना योग्य वेदवाणी] को (न अददात्) नहीं दिया। (देवाः) विद्वानों ने (तस्मात् आगसः) उस पाप से (अहमुत्तरे) संग्राम में [जहां अपनी अपनी बड़ाई के लिये झगड़ते हैं] (तम्) उस [वेद शत्रु] को (अवृश्चन्) छिन्न भिन्न किया है ॥ ५० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदविद्या के दान को रोकता है, विद्वान् लोग उस जगत् के हानिकारक को नष्ट कर देते हैं ॥ ५० ॥

ये वशाया अदानाय वदन्ति परिरापिणः।
इन्द्रस्य मन्यवे जाल्मा आ वृश्चन्ते अचित्त्या ॥ ५१ ॥

ये। वशायाः। अदानाय। वदन्ति। परि-रापिणः॥
इन्द्रस्य। मन्यवे। जाल्माः। आ। वृश्चन्ते। अचित्त्या ५१

भाषार्थ—(ये) जो (परिरापिणः) बतबने लोग (वशायाः) कामना योग्य [वेदवाणी] के (अदानाय) न दान करने के लिये (वदन्ति) कहते हैं। (जाल्माः) वे क्रूर (अचित्त्या) अज्ञान से (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवान् पुरुष के (मन्यवे) क्रोध के कारण (आ) सब ओर से (वृश्चन्ते) छिन्न भिन्न होते हैं ५१

भावार्थ—जो लोग वेदवाणी के प्रकाश रोकने के लिये दूसरों को बहकाते हैं, उन दुष्टों को प्रतापी मनुष्य नष्ट कर देवे ॥ ५१ ॥

ये गोपतिं पराणीयाथाहुर्मा ददा इति।
रुद्रस्यास्तां ते हेतिं परि यन्त्यचित्त्या ॥ ५२ ॥

श्वर्यवता ब्रह्मचारिणा (याचितः) प्रार्थितः (तम्) (देवाः) विद्वांसः (आगसः) पापात् (अवृश्चन्) छिन्नभिन्नं कृतवन्तः (अहमुत्तरे) अ० ४। २२। १। अहम्+ उत्तरे। अहमुत्तरो भवामि अहमुत्तरो भवामीति कथनं यत्र। परस्परोत्कर्षाय योधानां धावनकर्मणि। महासंग्रामे ॥

५१—(ये) (वशायाः) कमनीयाया वेदवाण्याः (वदन्ति) (परिरापिणः) रप व्यक्तायां वाचि—णिनि। परिलपनशीलाः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य (मन्यवे) क्रोधाय (जाल्माः) जल अपवारणे-णिच्-मप्रत्ययः। पामराः। क्रूराः (आ) समन्तात् (वृश्चन्ते) छिद्यन्ते (अचित्त्या) अज्ञानेन ॥

ये । गो-पतिम् । पुरा-नीय । अथ । आहुः । मा । दुदाः । इति ॥ रुद्रस्य । अस्ताम् । ते । हेतिम् । परि । यन्ति । अचित्त्या ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(अथ) और (ये) जो (गोपतिम्) भूपति [राजा] को (पराणीय) बहका कर (आहुः) कहते हैं—"(मा ददाः इति) मत दे।" (ते) वे लोग (अचित्या) अज्ञान से (रुद्रस्य) दुःख नाशक शूर पुरुष के (अस्ताम्) चलाये हुये (हेतिम्) वज्र को (परि) सब ओर से (यन्ति) पाते हैं ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट दुर्बलेन्द्रिय राजा को कुमार्ग में डाल कर वेदवाणी के प्रचार में रुकावट डाले, उसको शूरवीर पुरुष यथावत् दण्ड देवे ॥ ५२ ॥

यदि हुतां यद्यहुताममा च पचते वशाम् ।
देवान्त्सब्राह्मणानृत्वा जिह्मो लोकान्निर्ऋच्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

यदि । हुताम् । यदि । अहुताम् । अमा । च । पचते । वशाम् ॥ देवान् । स-ब्राह्मणान् । ऋत्वा । जिह्मः । लोकात् । निः । ऋच्छति ॥ ५३ ॥ (२३)

भाषार्थ—(यदि) यदि (हुताम्) दान की हुयी [आचार्य से सीखी हुयी], (यदि) यदि (अहुताम्) न दान की हुयी [बल से ली हुयी] (वशाम्) कामना योग्य [वेदवाणी] को (अमा) अपने घर में (च) ही (पचते) मनुष्य

५२—(ये) दुष्टाः (गोपतिम्) भूपालम् । राजानम् (पराणीय) कुमार्गे नीत्वा (अथ) पुनः (आहुः) कथयन्ति (मा ददाः) मा देहि (इति) (रुद्रस्य) दुःखनाशकस्य (अस्ताम्) क्षिप्ताम् (ते) दुष्टाः (हेतिम्) वज्रम् (परि) सर्वतः (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (अचित्त्या) अज्ञानेन ॥

५३—(यदि) सम्भावनायाम् (हुताम्) दत्ताम् । आचार्येण दत्ताम् (यदि) (अहुताम्) अदत्ताम् । बलात्कारेण गृहीताम् (अमा) गृहे (च) (पचते) व्यक्तीकरोति (वशाम्) कमनीयां वेदवाणीम् (देवान्) विदुषः (स-

विख्यात करता है। (सब्राह्मणान्) ब्रह्मचारियों सहित (देवान्) विद्वानों को (ऋत्वा) दुखाकर (जिह्मः) वह कुटिल (लोकात्) समाज से (निःऋच्छति) निकल जाता है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष वेदविद्या को प्राप्त करके वा छल कपट से लेकर उसके प्रचार से विद्वानों को रोके, उस दुःखदायी को विद्वान् लोग पद से गिरा देवें ॥ ५३ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—७३ ॥ सप्त पर्यायाः ॥ ब्रह्मगवी देवता ॥

वेदवाणी निरोधनदोषोपदेशः—वेदवाणी रोकने के दोषों का उपदेश ॥

पर्यायः १ ॥

१—६ ॥ १, ६ प्राजापत्यानुष्टुप्; २ भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्; ३ स्वराडुष्णिक्; ४ आसुर्यनुष्टुप्; ५ साम्नी पङ्क्तिः ॥

श्रमे॑ण तप॑सा सृ॒ष्टा ब्रह्म॑णा वि॒त्तर्ते॑ श्रि॒ता ॥ १ ॥

श्रमे॑ण । तप॑सा । सृ॒ष्टा । ब्रह्म॑णा । वि॒त्ता । ऋ॒ते । श्रि॒ता ॥१॥

स॒त्येनावृ॑ता श्रि॒या प्रावृ॑ता यश॑सा परीवृ॑ता ॥ २ ॥

स॒त्येन॑ । आ-वृ॑ता । श्रि॒या । प्रावृ॑ता । यश॑सा । परि॑-वृता २

स्व॒धया॒ परि॑हिता श्र॒द्धया॒ पर्यू॑ढा दी॒क्षया॑ गु॒प्ता य॒ज्ञे प्रति॑-ष्ठिता लो॒को नि॒धन॑म् ॥ ३ ॥

ब्राह्मणान्) ब्रह्मचारिभिः सहितान् (ऋत्वा) हिंसित्वा (जिह्मः) जहातेः सन्व-दाकारलोपश्च । उ० १ । १४१ । ओहाक् त्यागे—मन् । कुटिलः । मन्दः (लोकात्) दर्शनीयात् समाजात् (निर्ऋच्छति) बहिर्गच्छति ॥

स्वधयां । परि-हिता । श्रुद्धयां । परि-ऊढा । दीक्षयां । गुप्ता । यज्ञे । प्रति-स्थिता । लोकः । नि-धनम् ॥ ३ ॥

ब्रह्म पदवायं ब्राह्मणोऽधिपतिः ॥ ४ ॥

ब्रह्म । पद-वायम् । ब्राह्मणः । अधि-पतिः ॥ ४ ॥

तामाददानस्य ब्रह्मगवीं जिनतो ब्राह्मणं क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥

ताम् । आ-ददानस्य । ब्रह्म-गवीम् । जिनतः । ब्राह्मणम् । क्षत्रियस्य ॥ ५ ॥

अप क्रामति सूनृता वीर्यं पुण्या लक्ष्मीः ॥ ६ ॥ (२४)

अप । क्रामति । सूनृता । वीर्यम् । पुण्या । लक्ष्मीः ॥६॥ (२४)

भावार्थ—[जो वेदवाणी] (श्रमेण) प्रयत्न के साथ और (तपसा) तप [ब्रह्मचर्य आदि धर्मानुष्ठान] के साथ (सृष्टा) उत्पन्न की गयी, (ब्रह्मणा) ब्रह्मचारी करके (वित्ता) पायी गयी, (ऋते) सत्यज्ञान में (श्रिता) ठहरी हुयी है ॥ १ ॥

भावार्थ—[जो वेदवाणी] (सत्येन) सत्य [यथार्थ नियम] से (आवृता) सब प्रकार स्वीकार की गयी, (श्रिया) श्री [चक्रवर्ती राज्य आदि लक्ष्मी] से (प्रावृता) भले प्रकार अङ्गीकार की गयी और (यशसा) यश [कीर्ति] के साथ (परीवृता) सब ओर से मान की गयी है ॥ २ ॥

• भावार्थ—[जो वेदवाणी] (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से

१—(श्रमेण) प्रयत्नेन । पुरुषार्थेन (तपसा) ब्रह्मचर्यादिधर्मानुष्ठानेन (सृष्टा) उत्पादिता (ब्रह्मणा) ब्राह्मणेन । ब्रह्मचारिणा (वित्ता) लब्धा (ऋते) सत्यज्ञाने (श्रिता) स्थिता ॥

२—(सत्येन) यथार्थनियमेन (आवृता) समन्तात् स्वीकृता (श्रिया) चक्रवर्तिराज्यादिलक्ष्म्या (प्रावृता) प्रकर्षेणाङ्गीकृत (यशसा) कीर्त्या (परीवृता) सर्वतो गृहीता ॥

३—(स्वधया) स्व + दधातेः—अङ्, टाप् । स्वधारणशक्त्या (परिहिता)

(परिहिता) सब ओर धारण की गयी, (श्रद्धया) श्रद्धा [ईश्वर विश्वास] से (पर्यूढा) अति दृढ़ की गयी, (दीक्षया) दीक्षा [नियम, व्रत, संस्कार] से (गुप्ता) रक्षा की गयी, (यज्ञे) यज्ञ [विद्वानों के सत्कार, शिल्प विद्या और शुभ गुणों के दान] में (प्रतिष्ठिता) प्रतिष्ठा [सन्मान] की गयी है, और [जिस वेदवाणी का] (लोकः) यह संसार (निधनम्) स्थिति स्थान है ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) वेद [ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद] [जिस वेदवाणी का] (पदवायम्) प्राप्तियोग्य ज्ञान और (ब्राह्मणः) ब्रह्म [ब्रह्माण्ड का जानने वाला] परमेश्वर [जिसका] (अधिपतिः) अधिपति [परम स्वामी] है ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस (ब्रह्मगवीम्) वेदवाणी को (आददानस्य) छीनने वाले, (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [ब्रह्मचारी] को (जिनतः) सताने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय की ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सूनृता) प्रिय सत्य वाणी [वा सुकीर्ति] (अप क्रामति)

सर्वतो धृता (श्रद्धया) ईश्वरविश्वासेन (पर्यूढा) वह प्रापणे—क्त । सर्वतो दृढीकृता (दीक्षया) नियमेन । व्रतेन । संस्कारेण (गुप्ता) रक्षिता (यज्ञे) विदुषां सत्कारे शिल्पविद्यायां शुभगुणदाने च (प्रतिष्ठिता) प्राप्तसन्माना (लोकः) संसारः (निधनम्) नितरां धीयते यत्र । स्थितिस्थानम् ॥

४—(ब्रह्म) ऋग्यजुःसामाथर्वाख्यो वेदः (पदवायम्) पद गतौ स्थैर्ये च—अच् + वा गतिगन्धनयोः—घञ् युक् च । प्राप्तव्यं ज्ञानम् (ब्राह्मणः) ब्रह्म-अण् । ब्रह्म ब्रह्माण्डं सर्वं जगत् वेत्ति यः । सर्वसंसारज्ञः परमेश्वरः (अधिपतिः) अधिराजः ॥

५—(ताम्) तथाभूताम् (आददानस्य) अपहारकस्य (ब्रह्मगवीम्) गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ९२ । ब्रह्म+गो—टच्, टित्वाद् ङीप् । ब्रह्मणः परमेश्वरस्य गां वाचम् । वेदवाणीम् (जिनतः) ज्या वयोहानौ-शतृ, अन्तर्गतणिजर्थः । अभिभवतः (ब्राह्मणम्) ब्रह्मचारिणम् (क्षत्रियस्य) राजन्यस्य ॥

६—(अपक्रामति) अपगच्छति । विनश्यति (सूनृता) अ० ३ । १२ । २ ।

चली जाती है, (वीर्यम्) वीरता और (पुण्या) मङ्गलमयी (लक्ष्मीः) लक्ष्मी [चक्रवर्त्ति राज्य आदि सामग्री] [भी चली जाती है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस वेदवाणी की प्रवृत्ति से संसार में सब प्राणी आनन्द पाते हैं, उस वेदवाणी को जो कोई अन्यायी राजा प्रचार से रोकता है, उसके राज्य में मूर्खता फैलती है और वह धर्म हीन राजा संसार में निर्बल और निर्धन हो जाता है ॥ १—६ ॥

टिप्पणी १—मन्त्र १, २, ३ महर्षि दयानन्द कृत, ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका वेदोक्त धर्मविषय पृष्ठ १०१—२ में तथा संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

टिप्पणी २—इस सूक्त का सम्बन्ध गत सूक्त ४ से यह है कि सूक्त ४ में वेदवाणी के प्रचार करने से लाभ का वर्णन है और इस सूक्त ५ में वेदवाणी के प्रचार रोकने से हानि का व्याख्यान है ॥

पर्यायः २ ॥

७—११ ॥ ७ साम्नी त्रिष्टुप्; ८ भुरिगार्च्यनुष्टुप्; ९ आर्च्यनुष्टुप्; १० आर्च्युष्णिक्; ११ निचृदार्ची पङ्क्तिः ॥

ओज॑श्च॒ तेज॑श्च॒ सह॑श्च॒ बलं॑ च॒ वाक् चे॑न्द्रि॒यं च॒ श्रीश्च॒ धर्म॑श्च ॥ ७ ॥

ओजः॑। च॒। तेजः॑। च॒। सहः॑। च॒। बल॑म्। च॒। वाक्। च॒। इ॒न्द्रि॒यम्। च॒। श्रीः। च॒। धर्मः॑। च॒ ॥ ७ ॥

ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं च॑ रा॒ष्ट्रं च॒ विश॑श्च॒ त्विषि॑श्च॒ यश॑श्च॒ वर्च॑श्च॒ द्रवि॑णं च ॥ ८ ॥

ब्रह्म॑। च॒। क्ष॒त्रम्। च॒। रा॒ष्ट्रम्। च॒। विशः॑। च॒। त्विषिः॑। च॒। यशः॑। च॒। वर्चः॑। च॒। द्रवि॑णम्। च॒ ॥ ८ ॥

सु+नृत नर्तने—क, यद्वा, सु यथाविधि नॄन् नरान् तनोतीति या। सु+नृ+तनु विस्तारे—ड, टाप् सोर्दीर्घः। सत्यप्रियवाक्। सुकीर्त्तिः (वीर्यम्) वीरत्वम् (पुण्या) मङ्गलमयी (लक्ष्मीः) चक्रवर्तिराज्यादिसम्पत्तिः ॥

आयु॑श्च रू॒पं च॒ नाम॑ च की॒र्तिश्च॑ प्रा॒णश्चा॑पा॒नश्च॒ चक्षु॑श्च॒ श्रोत्रं॑ च ॥ ९ ॥

आयुः॑ । च॒ । रू॒पम् । च॒ । नाम॑ । च॒ । की॒र्तिः । च॒ । प्रा॒णः । च॒ । अ॒पा॒नः । च॒ । चक्षुः॑ । च॒ । श्रोत्र॑म् । च॒ ॥ ९ ॥

पय॑श्च॒ रस॒श्चान्नं॑ चा॒न्नाद्यं॑ च॒र्तं च॑ स॒त्यं चे॒ष्टं च॑ पू॒र्तं च॑ प्र॒जा च॑ प॒शव॑श्च ॥ १० ॥

पयः॑ । च॒ । रसः॑ । च॒ । अन्न॑म् । च॒ । अ॒न्न॒-अद्य॑म् । च॒ । ऋ॒तम् । च॒ । स॒त्यम् । च॒ । इ॒ष्टम् । च॒ । पू॒र्तम् । च॒ । प्र॒-जा । च॒ । प॒शवः॑ । च॒ ॥ १० ॥

तानि॒ सर्वा॒ण्यप॑ क्रामन्ति ब्रह्मग॒वीमा॒ददा॑नस्य जिन॒तो ब्रा॑ह्म॒णं क्ष॒त्रिय॑स्य ॥ ११ ॥ (२५)

तानि॑ । सर्वा॑णि । अप॑ । क्रा॒म॒न्ति॒ । ब्र॒ह्म॒-ग॒वीम् । आ॒-ददा॑नस्य । जि॒न॒तः । ब्रा॒ह्म॒णम् । क्ष॒त्रिय॑स्य ॥ ११ ॥ (२५)

भाषार्थ—(च) और (ओजः) पराक्रम, (च) और (तेजः) तेज [प्रगल्भता, निर्भयता], (च) और (सहः) सहन सामर्थ्य, (च) और (बलम्) बल [शरीर की दृढ़ता] (च) और (वाक्) विद्या, (च) और (इन्द्रियम्) इन्द्रिय [मन सहित पांच ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय], (च) और (श्रीः) श्री [लक्ष्मी, सम्पत्ति, अर्थात् चक्रवर्ति राज्य की सामग्री], (च) और (धर्मः) धर्म [वेदोक्त पक्षपात रहित न्याय का आचरण] ॥ ७ ॥

७—(ओजः) पराक्रमः (च) समुच्चये (तेजः) प्रतापः । प्रगल्भता । निर्भयता (च) (सहः) सुखदुःखादिसहनम् (च) (बलम्) सामर्थ्यम् शरीरस्य दृढत्वम् (च) (वाक्) विद्या (च) (इन्द्रियम्) मनःसहितानि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि च (च) (श्रीः) लक्ष्मीः । सम्पत्तिः । चक्रवर्तिराज्यसामग्री (च) (धर्मः) वेदोक्तं पक्षपातरहितं न्यायाचरणम् (च) ॥

भाषार्थ—(च) और (ब्रह्म) ब्राह्मण [सब में उत्तम विद्वान् और सद्गुण प्रचारक जन], (च) (क्षत्रम्) क्षत्रिय [विद्वान् चतुर शूरवीर पुरुष] (च) (राष्ट्रम्) राज्य [न्याय से प्रजापालन], (च) और (विशः) प्रजा-जन, (च) और (त्विषिः) कान्ति [शरीर की आरोग्यता और आत्मबल], (च) और (यशः) यश [शूरता आदि की प्रख्याति], (च) और (वर्चः) ब्रह्मवर्चस [वेद का विचार और प्रचार], (च) और (द्रविणम्) धन [सम्पत्ति की रक्षा और वृद्धि] ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(च) और (आयुः) जीवन [ब्रह्मचर्य सेवन और वीर्य-रक्षण से जीवन का बढ़ाना], (च) और (रूपम्) रूप [शरीर पुष्टि से सुन्द-रता], (च) और (नाम) नाम [सत्कर्मों से प्रसिद्धि], (च) और (कीर्तिः) कीर्ति [श्रेष्ठ गुणों के ग्रहण के लिये ईश्वर के गुणों का कीर्तन और विद्या दान आदि सत्य आचरणों से प्रशंसा को स्थिर रखना], (च) और (प्राणः) प्राण वायु (च) और (अपानः) अपान वायु (च) और (चक्षुः) दृष्टि [प्रत्यक्ष, अनुमान और उपमान प्रमाण], (च) और (श्रोत्रम्) श्रवण [शब्द, ऐतिह्य, अर्थापत्ति, संभव और अभाव प्रमाण] ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(च) और (पयः) दूध, जल आदि, (च) और (रसः)

८—(ब्रह्म) सर्वोत्तमविद्यायुक्तं सद्गुणप्रचारकं ब्राह्मणोपलक्षणकं कुलम् (च) (क्षत्रम) विद्याचातुर्यशौर्यवीरत्वयुक्तं क्षत्रियोपलक्षणकं कुलम् (च) (राष्ट्रम्) न्यायेन प्रजापालनम् (च) (विशः) प्रजागणाः (च) (त्विषिः) कान्तिः । शरीरनैरोग्यमात्मबलं च (च) (यशः) शौर्यादिप्रभूता-ख्यातिः (च) (वर्चः) ब्रह्मवर्चसम् । वेदस्याध्ययनं प्रचारणं च (च) (द्रवि-णम्) धनम् । सम्पत्तिरक्षणं वर्धनं च (च) ॥

९—(आयुः) ब्रह्मचर्यसेवनेन वीर्यरक्षणेन च जीवनवर्धनम् (च) (रूपम्) शरीरपुष्ट्या सौन्दर्यम् (च) (नाम) सत्कर्मानुष्ठानेन प्रसिद्धिः (च) (कीर्तिः) सद्गुणग्रहणार्थमीश्वरगुणानां कीर्तनं विद्यादानादिसत्या-चरणेन स्वप्रशंसा स्थिरीकरणं च (च) (प्राणः) (च) (अपानः) (च) (चक्षुः) दर्शनम् । प्रत्यक्षानुमानोपमानप्रमाणजातम् (च) (श्रोत्रम्) श्रवणम् । शब्दैतिह्यार्थापत्तिसंभवाभावप्रमाणजातम् (च) ॥

१०—(पयः) दुग्धजलादिकम् (च) (रसः) घृतमधुसोमरसादिः-

रस [घृत, मधु, सोमरस आदि], (च) और (अन्नम्) अन्न [गेहूं, जौ, चावल आदि], (च) और (अन्नाद्यम्) खाने योग्य पदार्थ [दाल, शाक, फल आदि], (च) और (ऋतम्) वेदज्ञान, (च) और (सत्यम्) सत्य [हृदय, वाणी और शरीर से यथार्थ कर्म] (च) और (इष्टम्) यज्ञ [अग्निहोत्र, वेदाध्ययन, अतिथिसत्कार आदि], (च) और (पूर्तम्) पूर्णता [सर्वोपकारी कर्म, कूप, तड़ाग, आराम, वाटिका, आदि], (च) और (प्रजाः) प्रजायें [सन्तान आदि और राज्य जन] (च) और (पशवः) सब पशु [हाथी, घोड़े, गौयें आदि जीव] ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तानि सर्वाणि) ये सब (ब्रह्मगवीम्) वेदवाणी को (आददानस्य) छीनने वाले, (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [ब्रह्मचारी] को (जिनतः) सताने वाले (क्षत्रियस्य) क्षत्रिय के (अप क्रामन्ति) चले जाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो राजा के कुप्रबन्ध से वेदविद्या प्रचार से रुक जाती है, अविद्या के फैलने से वह राजा और उसका राज्य सब नष्ट भ्रष्ट हो जाता है ॥ ७-११ ॥

१—मन्त्र ११ का मिलान ऊपर मन्त्र ५, ६ से करो ॥

२—मन्त्र ७—१० महर्षि दयानन्दकृत, ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका वेदोक्त धर्मविषय पृष्ठ १०२—३ में तथा संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं॥

(च) (अन्नम्) कृवृजृसिद्रु० । उ० ३ । १० । अन जीवने—नप्रत्ययः. नित् । जीवनसाधनम् । गोधूमयवव्रीह्यादिकम् (च) (अन्नाद्यम्) अन्न + अद भक्षणे—यत् । वाहिताग्न्यादिषु । पा० २ । २ । ३७ । इति रूपसिद्धिः । अत्तुं योग्यमद्यं च तदन्नं च सूपशाकफलादिकं भक्ष्यद्रव्यम् (च) (ऋतम्) वेदज्ञानम् (च) (सत्यम्) मानसिकवाचिककायिकयथार्थकर्म (च) (इष्टम्) अ० २ । १२ । ४ । अग्निहोत्रवेदाध्ययनाऽऽतिथ्यादि कर्म (च) (पूर्तम्) अ० २ । १२ । ४ । पॄ पालनपूरणयोः—क्त । सर्वोपकारि कर्म कूपतडागारामवाटिकादिकम् (च) (प्रजाः) सन्तानादयो राज्यजनाश्च (च) (पशवः) हस्तितुरगगवादयः (च) ॥

११—(तानि) पूर्वोक्तानि (सर्वाणि) समस्तानि (अप क्रामन्ति) अपगच्छन्ति । विनश्यन्ति । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५ ॥

पर्यायः ३ ॥

१२—२७ ॥ १२ विराडार्षी गायत्री ; १३ आसुर्यनुष्टुप् ; १४, २६ साम्न्युष्णिक् ; १५ आर्षी गायत्री ; १६, १७, १९, २० प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; १८ याजुषी जगती ; २१, २५ साम्न्यनुष्टुप् ; २२ भुरिक् साम्नी बृहती; २३ याजुषी त्रिष्टुप् ; २४ आसुरी गायत्री; २७ आर्च्युष्णिक् ॥

सैषा भीमा ब्रह्मगव्य१घविषा साक्षात् कृत्या कूल्बजमावृता१२

सा । एषा । भीमा । ब्रह्म-गवी । अघ-विषा । स-अक्षात् । कृत्या । कूल्बजम् । आ-वृता ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सा एषा) वह यही (ब्रह्मगवी) वेदवाणी [वेदनिन्दक को] (भीमा) डरावनी (अघविषा) महाघोर विषैली, (साक्षात्) साक्षात् [प्रत्यक्ष] (कृत्या) हिंसा रूप और (कूल्बजम्) भूमि पर दाह उपजाने वाली वस्तु रूप [हो जाती है, जब वह] (आवृता) रोक दी गयी हो ॥ १२ ॥

भावार्थ—शान्तिकारक वेदविद्या के रोक देने से अधर्म बढ़ने पर संसार में बड़े बड़े उपद्रव फैलते हैं ॥ १२ ॥

इस मन्त्र का मिलान मन्त्र ५३ से करो ॥

सर्वाण्यस्यां घोराणि सर्वे च मृत्यवः ॥ १३ ॥

सर्वाणि । अस्याम् । घोराणि । सर्वे । च । मृत्यवः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अस्याम्) इस [वेदवाणी] में [रोके जाने पर—मन्त्र

१२—(सा एषा) पूर्वोक्तैव (भीमा) भयंकरा (ब्रह्मगवी) म० ५ । वेदवाणी (अघविषा) अघ पापकरणे—अच्+विष विप्रयोगे—क, टाप् । अतिशयेन विषमयी यथा (साक्षात्) प्रत्यक्षम् (कृत्या) अ० ४ । ९ । ५ । कृञ् हिंसायाम्—क्यप्+तुक्, टाप् । हिंसाक्रिया (कूल्बजम्) कु+उल्ब+जम् । उल्वादयश्च । उ० ४ । ९५ । कु+उल दाहे-वन्+अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । जन जनने-ड । कौ भूमौ दाहजनकं वस्तु यथा (आवृता) आच्छादिता । निरुद्धा ॥

१३—(सर्वाणि) समस्तानि (अस्याम्) वेदवाण्याम् (घोराणि) महा-

१२] [वेद निरोधक को] (सर्वाणि) सब (घोराणि) घोर [महाभयानक] कर्म (च) और (सर्वे) सब प्रकार के (मृत्यवः) मृत्यु होते हैं ॥ १३ ॥

सर्वाण्यस्यां क्रूराणि सर्वे पुरुषवधाः ॥ १४ ॥

सर्वाणि । अस्याम् । क्रूराणि । सर्वे । पुरुष-वधाः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अस्याम्) इस [वेदवाणी] में [रोकने वाले को] (सर्वाणि) सब (क्रूराणि) क्रूर [निठुर] कर्म और (सर्वे) सब प्रकार के (पुरुषवधाः) मनुष्य बध होते हैं ॥ १४ ॥

भावार्थ—धर्मनिरूपक वेदवाणी में रोक डालने से संसार में घोर पाप छा जाता है, और सब प्राणी महाकष्ट पाते हैं ॥ १३, १४ ॥

सा ब्रह्मज्यं देवपीयुं ब्रह्मगव्यादीयमाना मृत्योः पड्वीश आ द्यति ॥ १५ ॥

सा । ब्रह्म-ज्यम् । देव-पीयुम् । ब्रह्म-गवी । आ-दीयमाना । मृत्योः । पड्वीशे । आ । द्यति ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(सा) वह (आदीयमाना) छीनी जाती हुयी (ब्रह्मगवी) वेदवाणी (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मचारियों के हानिकारक, (देवपीयुम्) विद्वानों के सताने वाले पुरुष को (मृत्योः) मृत्यु की (पड्वीशे) बेड़ी में (आ द्यति) बांध देती है ॥ १५ ॥

भयानककर्माणि (सर्वे) (च) (मृत्यवः) मरणहेतवः ॥

१४—(सर्वाणि) (अस्याम्) (क्रूराणि) निर्दयकर्माणि (पुरुषवधाः) पुरुषाणां हत्याव्यापाराः ॥

१५—(सा) पूर्वोक्ता (ब्रह्मज्यम्) अ० ५ । १६ । ७ । कविधौ सर्वत्र प्रसारणिभ्यो डः । वा० पा० ३ । २ । ३ । ब्रह्म+ज्या वयोहानौ—ड । ब्रह्मचारिणां हानिकरम् (देवपीयुम्) अ० ४ । ३५ । ७ । विदुषां हिंसकम् (ब्रह्मगवी) म० ५ । वेदवाणी (आदीयमाना) अपह्रियमाणा (मृत्योः) मरणस्य (पड्वीशे) अ० ६ । ६६ । २ । पश बन्धने—अटि, डित्+विश प्रवेशने—क, दीर्घश्च । पाशप्रवेशे । शृङ्खलायाम् (आद्यति) आङ्पूर्वो दो बन्धने । बध्नाति ॥

भावार्थ—आप्त वैदिक विद्वानों को रोकने वाला पुरुष मूर्खता के कारण महा विपत्तियों में पड़ता है ॥ १५ ॥

मे॒निः श॒तव॑धा॒ हि सा ब्र॑ह्म॒ज्यस्य॒ क्षिति॒र्हि सा ॥ १६ ॥

मे॒निः । श॒त-व॑धा । हि । सा । ब्र॒ह्म-ज्यस्य॑ । क्षितिः॑ । हि । सा ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [वेदवाणी] (हि) निश्चय करके (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारियों के हानिकारक की (शतवधा) शतघ्नी [सैकड़ों को मारने वाली] (मेनिः) वज्र, (सा हि) वह ही [उसकी] (क्षितिः) नाश शक्ति है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदप्रचारकों को हानि पहुंचाता है, वह संसार की हानि कर के आप भी अनेक विपत्तियों में पड़ता है ॥ १६ ॥

तस्मा॒द् वै ब्रा॑ह्म॒णानां॒ गौर्दु॑राध॒र्षा वि॑जान॒ता ॥ १७ ॥

तस्मा॑त् । वै । ब्रा॒ह्म॒णाना॑म् । गौः । दुः-आ॒ध॒र्षा । वि॒-जा॒न॒ता १७

भाषार्थ—(तस्मात्) इस लिये (वै) ही (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मचारियों की [हितकारिणी] (गौः) वेदवाणी (विजानता) विरुद्ध जानने वाले करके (दुराधर्षा) कभी न जीतने योग्य है ॥ १७ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय पुरुष ही वेदवाणी से आनन्द पाते हैं और दुरात्मा अत्याचारी उसे कभी नहीं प्राप्त कर सकते ॥ १७ ॥

वज्रो॒ धाव॑न्ती वैश्वान॒र उद्वी॑ता ॥ १८ ॥

वज्रः॑ । धाव॑न्ती । वै॒श्वा॒न॒रः । उ॒त्-वी॑ता ॥ १८ ॥

१६—(मेनिः) अ० २ । ११ । १ । डु मिञ् प्रक्षेपणे-नि । वज्रः-निघ० २ । २० (शतवधा) शतघ्नी । बहुहन्त्री (हि) निश्चयेन (सा) वेदवाणी (ब्रह्मज्यस्य) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकारकस्य (क्षितिः) नाशशक्तिः ॥

१७—(तस्मात्) कारणात् (वै) निश्चयेन (ब्राह्मणानाम्) ब्रह्मचारिणां हितकरी (गौः) वेदवाणी (दुराधर्षा) सर्वथा दुर्जेया (विजानता) विरुद्धं विदुषा पुरुषेण ॥

भाषार्थ—(धावन्ती) दौड़ती हुयी वह [वेदवाणी] [दुष्ट के लिये] (वज्रः) वज्र रूप, और (उद्वीता) ऊंची हुयी वह [सज्जन के लिये] (वैश्वानरः) सर्वनायक पुरुष [के समान हितकारी] है ॥ १८ ॥

भावार्थ—वेदवाणी की प्रवृत्ति से संसार में पापियों का नाश और धर्मात्माओं को आनन्द का प्रकाश होता है ॥ १८ ॥

हेतिः शफानुत्खिदन्ती महादेवोऽपेक्षमाणा ॥ १९ ॥

हेतिः। शफान्। उत्-खिदन्ती। महा-देवः। अप-ईक्षमाणा १९

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] [पापी के] (शफान्) शान्ति व्यवहारों को (उत्खिदन्ती) नाश करती हुयी (हेतिः) वज्ररूप है, और (अपेक्षमाणा) सब ओर दृष्टि फैलाती हुयी वह (महादेवः) बड़े विजय चाहने वाले [शूर पुरुष के समान] है ॥ १९ ॥

भावार्थ—वेदवाणी की प्रवृत्ति में विघ्नकारी पुरुष मूर्खता के कारण सर्वथा नष्ट हो जाता है ॥ १९ ॥

क्षुरपविरीक्षमाणा वाश्यमानाभि स्फूर्जति ॥ २० ॥

क्षुर-पविः। ईक्षमाणा। वाश्यमाना। अभि। स्फूर्जति ॥ २० ॥

भाषार्थ—(ईक्षमाणा) देखती हुयी वह [वेदवाणी] [रोकने वाले

१८—(वज्रः) (धावन्ती) शीघ्रं गच्छन्ती (वैश्वानरः) अ० १। १०। ४। विश्व+नॄ प्रापणे—अच्, स्वार्थे-अण्। वैश्वानरः कस्माद् विश्वान् नरान् नयतीति—निरु० ७। २१। सर्वनायकः पुरुषो यथा (उद्वीता) वी गतौ—क्त। उदयं गता ॥

१९—(हेतिः) हन हिंसागत्योः—क्तिन्। वज्रः—निघ० २। २० (शफान्) शम शान्तौ आलोचने च-अच्, मस्य फः। शान्तिव्यवहारान् (उत्खिदन्ती) खिद परिघाते दैन्ये च-शतृ। सर्वतो नाशयन्ती (महादेवः) दिवु विजिगीषायाम्—अच्। महाविजिगीषुः शूरपुरुषो यथा (अपेक्षमाणा) सर्वतो दृष्टिं कुर्वाणा ॥

२०—(क्षुरपविः) शस्त्रधारा यथा (ईक्षमाणा) पश्यन्ती (वाश्यमाना)

को] (क्षुरपविः) छुरा [कटार आदि] की धार [समान] होती है, (वाश्यमाना) शब्द करती हुयी वह (अभि) सब ओर (स्फूर्जति) गरजती है ॥ २० ॥

भावार्थ—वेदवाणी के शुभ गुण प्रकट होने पर दुष्टों की दुष्टता सर्वथा नष्ट हो जाती है ॥ २० ॥

मृत्युर्हिङ्कृण्वत्यु॒ग्रो दे॒वः पुच्छं॑ प॒र्यस्यन्ती ॥ २१ ॥

मृ॒त्युः । हिङ्-कृ॒ण्वती । उ॒ग्रः । दे॒वः । पुच्छ॑म् । परि॒-अ॒स्य॑न्ती २१

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (हिङ्कृण्वती) [ब्रह्मचारी की] वृद्धि करती हुयी (मृत्युः) [रोकने वाले को] मृत्यु होती है, [उसकी] (पुच्छम्) भूल को (पर्यस्यन्ती) फेंक देती हुयी वह (उग्रः) तेजस्वी (देवः) विजय चाहने वाले [शूर के समान] होती है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे जैसे मनुष्य उग्र तप करके वेद का प्रकाश करते हैं, भूल करने वाले पाखण्डियों का नाश होता जाता है ॥ २१ ॥

स॒र्व॒ज्या॒निः कर्णौ॑ वरीव॒र्जय॑न्ती राजय॒क्ष्मो मेह॑न्ती ॥ २२ ॥

स॒र्व॒-ज्या॒निः । कर्णौ॑ । व॒री॒व॒र्जय॑न्ती । रा॒ज॒-य॒क्ष्मः । मेह॑न्ती २२

भाषार्थ—(मेहन्ती) [विद्वानों को] सींचती हुयी और [वेद निरोधक के] (कर्णौ) दो विज्ञानों [अभ्युदय और निःश्रेयस अर्थात् तत्त्वज्ञान और मोक्षज्ञान] को (वरीवर्जयन्ती) सर्वथा रोकती हुयी [वेदवाणी]

वाश्ट शब्दे—शानच् । शब्दायमाना (अभि) सर्वतः (स्फूर्जति) टु ओ स्फूर्जा वज्रघोषे । गर्जति ॥

२१—(मृत्युः) मरणं यथा (हिङ्कृण्वती) अ० ७ । ७३ । ८ । हिं गतिवृद्ध्योः — डि । गतिं वृद्धिं वा कुर्वती (उग्रः) प्रचण्डः (देवः) विजिगीषुर्यथा (पुच्छम्) पुच्छ प्रमादे प्रसादे च—अच् । प्रमादम् (पर्यस्यन्ती) सर्वतः क्षिपन्ती ॥

२२—(सर्वज्यानिः) अ० ११ । ३ । ५५ । वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । ज्या वयोहानौ—नि । सर्वहानिकरः (कर्णौ) अ० १२ । ४ । ६ । कॄ विज्ञाने—नप्रत्ययो नित् । अभ्युदयनिःश्रेयसबोधौ (वरीवर्जयन्ती) वृजी वर्जने

[उसके लिये] (सर्वज्यानिः) सब हानि करने वाले (राजयक्ष्मः) राजरोग [के समान] होती है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जब संसार में वेदों का विज्ञान बढ़ता है। पाखण्ड मत नष्ट हो जाता है, जैसे उपाय न करने पर राजरोग से रोगी का नाश हो जाता है ॥ २२ ॥

इस मन्त्र का मिलान—अथर्व० १२ । ४ । ६ से करो ॥

मे॒नि॑र्दु॒ह्यमा॑ना शी॒र्ष॒क्तिर्दु॒ग्धा ॥ २३ ॥

मे॒निः । दु॒ह्यमा॑ना । शी॒र्ष॒क्तिः । दु॒ग्धा ॥ २३ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (दुह्यमाना) [विद्वानों कर के] दुही जाती हुयी [वेदनिरोधक को] (मेनिः) वज्ररूप और (दुग्धा) दुही गयी वह (शीर्षक्तिः) [उसको] मस्तक पीड़ा होती है ॥ २३ ॥

भावार्थ—जैसे जैसे लोग अभ्यास करके वेदविद्या का प्रचार करते हैं, वैसे वैसे ही वेदनिरोधक लोग संकट में पड़ते हैं ॥ २३ ॥

से॒दिरु॑प॒तिष्ठ॑न्ती मिथोयो॒धः परा॑मृष्टा ॥ २४ ॥

से॒दिः । उ॒प॒-तिष्ठ॑न्ती । मि॒थः॒-यो॒धः । परा॑-मृष्टा ॥ २४ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (उपतिष्ठन्ती) [विद्वानों के] समीप ठहरती हुयी [वेदनिरोधक को] (सेदिः) महामारी आदि क्लेश, और (परामृष्टा) [विद्वानों से] परामर्श की गयी [विचारी गयी] वह (मिथो-

---

यङ्लुकि शतृ। भृशं वर्जयन्ती (राजयक्ष्मः) राजरोगः (मेहन्ती) सिञ्चती धार्मिकान् ॥

२३—(मेनिः) म० १६। वज्रः (दुह्यमाना) दोहेन गृह्यमाणा (शीर्षक्तिः) अ० १ । १२ । ३ । शीर्ष+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्तिन् । मस्तकपीडा (दुग्धा) दोहेन प्राप्ता ॥

२४—(सेदिः) अ० २ । १४ । ३ । षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-कि । निर्ऋतिः । विषादः (उपतिष्ठन्ती) विदुषां समीपे वर्तमाना (मिथोयोधः) युध संप्रहारे-घञ् । दुष्टानां परस्परयुद्धम् (परामृष्टा) मृश स्पर्शे, परापूर्व-

योधः) [दुष्टों में] परस्पर संग्राम रूप होती है ॥ २४ ॥

भावार्थ—पक्षपात रहित न्यायकारिणी वेदविद्या की प्रवृत्ति से दुराचारी लोग महाक्लेश पाते हैं ॥ २४ ॥

शरव्या३ मुखेऽपिनह्यमान ऋतिर्हन्यमाना ॥ २५ ॥

शरव्या । मुखे । अपि-नह्यमाने । ऋतिः । हन्यमाना ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(मुखे अपिनह्यमाने) मुख बांधे जाने पर वह [वेदवाणी] [वेदनिरोधक के लिये] (शरव्या) बाणविद्या में चतुर सेना [के समान] और (हन्यमाना) ताड़ी जाती हुयी वह (ऋतिः) आपत्ति रूप होती है ॥ २५ ॥

भावार्थ—विद्वानों को वेदवाणी के प्रचार से रोकने वाले पुरुष अज्ञान के कारण विपत्तियां झेलते हैं ॥ २५ ॥

अघविषा निपतन्ती तमो निपतिता ॥ २६ ॥

अघ-विषा । नि-पतन्ती । तमः । नि-पतिता ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(निपतन्ती) नीचे गिरती हुयी वह [वेदवाणी] (अघविषा) [वेदनिरोधक को] महाघोर विषैली और (निपतिता) नीचे गिरी हुयी वह (तमः) [उस को] अन्धकार होती है ॥ २६ ॥

भावार्थ—वेदवाणी के गुणों का अपमान करने वाला मूर्खता के कारण घोर नरक में पड़ता है ॥ २६ ॥

अनुगच्छन्ती प्राणानुप दासयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य २७ (२६)

को विचारे—क्त । विचारिता विद्वद्भिः ॥

२५—(शरव्या) अ० ३ । १९ । ८ । शरु-यत् । शरौ बाणविद्यायां कुशला सेना (मुखे) (अपिनह्यमाने) अपबध्यमाने (ऋतिः) ऋ हिंसायाम्—क्तिन् । निर्ऋतिः । आपत्तिः (हन्यमाना) ताड्यमाना ॥

२६—(अघविषा) म० १२ । महाघोरविषयुक्ता यथा (निपतन्ती) अधोगच्छन्ती (तमः) अन्धकारः (निपतिता) अधोगता ॥

अनु-गच्छन्ती । प्राणान् । उप । दासयति । ब्रह्म-गवी । ब्रह्म-ज्यस्य ॥ २७ ॥ (२६)

भाषार्थ—(अनुगच्छन्ती) निरन्तर चलती हुयी (ब्रह्मगवी) वेदवाणी (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारियों के हानिकारक के (प्राणान्) प्राणों को (उप दासयति) दबोच डालती है ॥ २७ ॥

भावार्थ—वेदों के निरन्तर अभ्यासी पुरुष वेद विरोधियों को अवश्य हराते हैं ॥ २७ ॥

पर्यायः ४ ॥

२८—३८ ॥ २८ आसुरी गायत्री ; २९, ३७ आसुर्यनुष्टुप् ३० साम्न्यनुष्टुप् ; ३१ याजुषी त्रिष्टुप्; ३२ साम्नी गायत्री ; ३३, ३४ साम्नी बृहती ; ३५ भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्; ३६ साम्न्युष्णिक् ; ३८ प्रतिष्ठा गायत्री ॥

वैरं विकृत्यमाना पौत्राद्यं विभाज्यमाना ॥ २८ ॥

वैरम् । वि-कृत्यमाना । पौत्र-आद्यम् । वि-भाज्यमाना ॥२८॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (विकृत्यमाना) कतरी जाती हुयी [वेद निन्दक के लिये] (वैरम्) बैर [शत्रुतारूप], और (विभाज्यमाना) टुकड़े टुकड़े की जाती हुयी [उसके] (पौत्राद्यम्) पुत्र आदि सन्तानों का भक्षण [नाश रूप] होती है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो लोग कुमति के कारण वेदों के उत्तम गुणों को नष्ट भ्रष्ट करते हैं, तत्त्वज्ञानी पुरुष उनके शत्रु बन जाते हैं और उनके सन्तान भी दुराचारी होकर नष्ट हो जाते हैं ॥ २८ ॥

२७—(अनुगच्छन्ती) अनुसरन्ती (प्राणान्) जीवनसाधनानि (उप दासयति) सर्वथा नाशयति (ब्रह्मगवी) म० ५ । वेदवाणी (ब्रह्मज्यस्य) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकरस्य ॥

२८—(वैरम्) वि विरोधे + ईर गतौ–क, वीर–अण् । विरोधः (विकृत्यमाना) विच्छिद्यमाना (पौत्राद्यम्) पौत्र + अद भक्षणे–ण्यत् । पुत्रादिभक्षणम् । सन्ताननाशनम् (विभाज्यमाना) विभागेन गृह्यमाणा ॥

देवहेतिर्ह्रियमाणा व्यृद्धिर्हृता ॥ २९ ॥

देव-हेतिः । ह्रियमाणा । वि-ऋद्धिः । हृता ॥ २९ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (ह्रियमाणा) पकड़ी जाती हुयी [वेद निन्दक के लिये] (देवहेतिः) इन्द्रियों का हनन, और (हृता) पकड़ी गयी (व्यृद्धिः) [उस को] अवृद्धि [हानिरूप] होती है ॥ २९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेदज्ञानियों को पकड़कर कष्ट देते हैं, वे दुर्बलेन्द्रिय अपनी इष्ट कामनायें पूरी नहीं कर सकते ॥ २९ ॥

पाप्माधिधीयमाना पारुष्यमवधीयमाना ॥ ३० ॥

पाप्मा । अधि-धीयमाना । पारुष्यम् । अव-धीयमाना ॥३०॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (अधिधीयमाना) उठायी जाती हुयी [वेद विरोधी के लिये] (पाप्मा) अनर्थ, और (अवधीयमाना) गिरायी जाती हुयी (पारुष्यम्) [उसको] निठुराई [क्रूरता रूप] होती है ॥ ३० ॥

भावार्थ—क्रूर वेदविरोधक लोग अपना अनर्थ करके संसार का भी अनर्थ करते हैं ॥ ३० ॥

विषं प्रयस्यन्ती तक्मा प्रयस्ता ॥ ३१ ॥

विषम् । प्र-यस्यन्ती । तक्मा । प्र-यस्ता ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (प्रयस्यन्ती) क्लेश में पड़ती हुयी [वेद विरोधी को] (विषम्) विष, और (प्रयस्ता) क्लेश में डाली गयी (तक्मा) जीवन के कष्टदायक [ज्वररूप] होती है ॥ ३१ ॥

२९—(देवहेतिः) इन्द्रियाणां हननम् (ह्रियमाणा) गृह्यमाणा (व्यृद्धिः) अवृद्धिः । हानिः (हृता) गृहीता ॥

३०—(पाप्मा) पापम् । अनर्थः (अधिधीयमाना) ऊर्ध्वं ध्रियमाणा (पारुष्यम्) नैष्ठुर्य्यम् (अवधीयमाना) अधोध्रियमाणा ॥

३१—(विषम्) (प्रयस्यन्ती) प्रयासं क्लेशं सहमाना (तक्मा) अ० १ । २५ । १ । कृच्छ्रजीवनकारी ज्वरो यथा (प्रयस्ता) आयासं क्लेशं प्राप्ता ॥

भावार्थ—तपस्वी वेदानुगामियों का दुःखदायी पुरुष अज्ञान बढ़ाकर घोर नरक में पड़ता है ॥ ३१ ॥

अघं पच्यमाना दुष्वप्न्यं पक्वा ॥ ३२ ॥

अघम् । पच्यमाना । दुः-स्वप्न्यम् । पक्वा ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (पच्यमाना) पचायी जाती हुयी [वेद निरोधक को] (अघम्) महा दुःख, और (पक्वा) पचायी गयी (दुष्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न होती है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—वेदविद्या का नाश करने वाला अधर्मी होकर दिन राति व्याकुल रहता है ॥ ३२ ॥

मूलबर्हणी पर्याक्रियमाणा क्षितिः पर्याकृता ॥ ३३ ॥

मूल-बर्हणी । परि-आक्रियमाणा । क्षितिः । परि-आकृता ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (पर्याक्रियमाणा) अनादर से रूपान्तर की जाती हुयी [वेद निरोधक के लिये] (मूलबर्हणी) जड़ उखाड़ देनेवाली शक्ति, और (पर्याकृता) अनादर से रूपान्तर की गयी (क्षितिः) नाश शक्ति है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—वेदनिन्दक पुरुष अनर्थकर्मी होने से आप ही अपना शत्रु होजाता है ॥ ३३ ॥

असंज्ञा गन्धेन शुगुद्ध्रियमाणाशीविष उद्धृता ॥ ३४ ॥

असम्-ज्ञा । गन्धेन । शुक् । उद्ध्रियमाणा । आशीविषः । उद्धृता ॥ ३४ ॥

३२—(अघम्) महादुःखम् (पच्यमाना) पाकं नाशं गम्यमाना (दुष्वप्न्यम्) दुष्टः स्वप्नः (पक्वा) पाकं नाशं गता ॥

३३—(मूलबर्हणी) बर्ह हिंसायाम्—ल्युट्, ङीप् । मूलनाशिका (पर्याक्रियमाणा) आङ् पूर्वकः डुकृञ् वेषान्तरकरणे । परि अनादरेण रूपान्तरं क्रियमाणा (क्षितिः) हानिः (पर्याकृता) अनादरेण रूपान्तरं कृता ॥

भाषार्थ—(गन्धेन) [वेदवाणी के] नाश से (असंज्ञा) असंगति [संसार में फूट] होती है, वह (उद्ध्रियमाणा) उखाड़ी जाती हुई (शुक्) शोक और (उद्धृता) उखाड़ी गयी (आशीविषः) फण में विष वाले [सांप के समान] है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—वेदविद्या के नाश से संसार में फूट पड़कर बड़े बड़े क्लेश होते हैं ॥ ३४ ॥

अभू॑तिरुपह्रि॒यमा॑णा परा॑भूतिरुप॑हृता ॥ ३५ ॥

अभू॑तिः । उ॒प॒ऽह्रि॒यमा॑णा । परा॑ऽभूतिः । उप॑ऽहृता ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (उपह्रियमाणा) छीनी जाती हुई [वेद निरोधक के लिये] (अभूतिः) अनैश्वर्य [असमर्थता], और (उपहृता) छीन ली गयी (पराभूतिः) पराजय [हार] होती है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—अत्याचारी पुरुष वेदविद्या के रोकने से हार ही पाता है ॥ ३५ ॥

श॒र्वः क्रु॒द्धः पि॒श्यमा॑ना शिमि॒दा पि॑शि॒ता ॥ ३६ ॥

श॒र्वः । क्रु॒द्धः । पि॒श्यमा॑ना । शि॒मि॒दा । पि॒शि॒ता ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (पिश्यमाना) खण्ड खण्ड की जाती हुयी [वेद निन्दक के लिये] (क्रुद्धः) क्रोध करते हुये (शर्वः) हिंसक [पुरुष के समान], और (पिशिता) खण्ड खण्ड की गयी (शिमिदा) विहित कर्म नाश करने वाली होती है ॥ ३६ ॥

३४—(असंज्ञा) असङ्गतिः । भेदः (गन्धेन) गन्ध अर्दने—अच् । नाशेन (शुक्) शोकः । (उद्ध्रियमाणा) उत्पाट्यमाना (आशीविषः) आङ्+अश भोजने—अच्, ङीप् । आश्यां फणे विषं यस्य सः । महाविषयुक्तः सर्पः (उद्धृता) उत्पाटिता ॥

३५—(अभूतिः) अनैश्वर्यम् (उपह्रियमाणा) अपहरणं गम्यमाना (पराभूतिः) पराजयः (उपहृता) अपहरणं गता ॥

३६—(शर्वः) शॄ हिंसायाम्—वप्रत्ययः । हिंसकः पुरुषः (क्रुद्धः) कुपितः (पिश्यमाना) पिश अवयवे । अवयवीक्रियमाणा (शिमिदा) शमु उपशमे—इन् वा ङीप्+दाप् लवने—क, टाप् । विहितकर्मनाशिका । शिमीति कर्मनाम शमयतेर्वा शक्नोतेर्वा—निरु० ५ । १२ (पिशिता) अवयवीकृता ॥

भावार्थ—नास्तिक जन वेद का खण्डन करने के कारण आत्म हिंसक और सत्कर्म नाशक होजाता है ॥ ३६ ॥

अवर्तिरश्यमाना निर्ऋतिरशिता ॥ ३७ ॥

अवर्तिः । अश्यमाना । निः-ऋतिः । अशिता ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (अश्यमाना) खायी जाती हुई [वेद निन्दक के लिये] (अवर्तिः) निर्धनता, और (अशिता) खायी गयी (निर्ऋतिः) महामारी होती है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—अन्यायी लोग वेदविद्या के नाश करने से निर्धनी होकर महाकष्ट भोगते हैं ॥ ३७ ॥

अशिता लोकाच्छिनत्ति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यमस्माच्चामुष्माच्च ॥३८॥

अशिता । लोकात् । छिनत्ति । ब्रह्म-गवी । ब्रह्म-ज्यम् । अस्मात् । च । अमुष्मात् । च ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(अशिता) खायी गयी (ब्रह्मगवी) वेदवाणी (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मचारियों के हानिकारक को (अस्मात् लोकात्) इस लोक से (च) और (अमुष्मात्) उस [लोक] से (च) भी (छिनत्ति) काट डालती है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ब्रह्मचारियों पर अत्याचार करके वेदविरुद्ध चलता है, उसके यह लोक और परलोक दोनों बिगड़ जाते हैं ॥ ३८ ॥

३७—(अवर्तिः) अ० ६ । २ । ३ । निर्जीविका (अश्यमाना) भक्ष्यमाणा (निर्ऋतिः अ० ३ । ११ । २ । कृच्छ्रापत्तिः—निरु० २ । ७ (अशिता) भक्षिता ॥

३८—(अशिता) भक्षिता । नाशिता (लोकात्) जन्मनः (छिनत्ति) भिनत्ति । नाशयति (ब्रह्मगवी) म० ५ । वेदवाणी (ब्रह्मज्यम्) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकरम् (अस्मात्) प्रत्यक्षात् (च) (अमुष्मात्) परस्मात् (च) ॥

पर्यायः ५ ॥

३६—४६ ॥ ३६ साम्नी पङ्क्तिः; ४० याजुष्यनुष्टुप् ४१, ४६ भुरिक् साम्न्यनुष्टुप्; ४२ आसुरी बृहती; ४३ साम्नी बृहती; ४४ आर्ष्यनुष्टुप्; ४५ आर्षी बृहती ॥

तस्या आहननं कृत्या मेनिराशसनं वलग ऊबध्यम् ॥ ३८ ॥

तस्याः । आ-हननम् । कृत्या । मेनिः । आ-शसनम् । वलगः । ऊबध्यम् ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(तस्याः) उस [वेदवाणी] का (आहननम्) ताड़ना [वेद निन्दक के लिये] (कृत्या) हिंसा क्रिया, (आशसनम्) [उसको] पीड़ा देना (मेनिः) [उसके लिये] वज्र, और [ऊवध्यम्) [उसका] दुष्ट बन्धन (वलगः) [उसके लिये] दुख है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—वेद निन्दक लोग अपने कुस्वभाव और कुव्यवहार के कारण दुःख भोगते हैं ॥ ३६ ॥

अस्वगता परिह्नुता ॥ ४० ॥ अस्वगता । परि-ह्नुता ॥ ४० ॥

अग्निः क्रव्याद् भूत्वा ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यं प्रविश्यात्ति ॥ ४१ ॥

अग्निः । क्रव्य-अत् । भूत्वा । ब्रह्म-गवी । ब्रह्म-ज्यम् । प्र-विश्य । अत्ति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(परिह्नुता) चुरा ली गयी [वेदवाणी] (अस्वगता) [वेद निरोधक के लिये] निर्धनता रूप है ॥ ४० ॥ (ब्रह्मगवी) वेदवाणी (क्रव्यात्)

३६—(तस्याः) ब्रह्मगव्याः (आहननम्) समन्तात्ताडनम् (कृत्या) म० १२। हिंसाक्रिया (मेनिः) वज्रः (आशसनम्) शसु हिंसायाम्—ल्युट्। सर्वथा हिंसनम् (वलगः) अ० ५ । ३१ । ४ । मुदिग्रोर्गग्गौ । उ० १ ।१२८ । बल वधे—गप्रत्ययः, अकारागमः । बधः (ऊवध्यम्) अ० ६ । ४ । १६ । दुर् + बध संयमने = बन्धने—यत्, दुर् इत्यस्य स्थाने ऊत्वम् । दुर्बन्धनम् ॥

४०, ४१—(अस्वगता) स्वं धनम् । अस्व +गम—ड, भावे तल्, टाप् । अस्वं निर्धनत्वं गच्छतीति अस्वगस्तस्यभावः । निर्धनता (परिह्णुता) ह्नुङ्

मांसभक्षक [मृतकदाहक] (अग्निः) अग्नि [समान] (भूत्वा) होकर (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मचारियों के हानिकारक में (प्रविश्य) प्रवेश करके (अत्ति) खा लेती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जैसे चिता की प्रज्वलित अग्नि प्रवेश करके मृतक शरीर को भस्म कर देती है, वैसेही वेदविरोधी अपने दुष्ट गुणों के कारण निर्धनी होकर अपने आप धूलि में मिल जाता है ॥ ४०, ४१ ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वा मूलानि वृश्चति ॥ ४२ ॥

सर्वा । अस्य । अङ्गा । पर्वा । मूलानि । वृश्चति ॥ ४२ ॥

छिनत्त्यस्य पितृबन्धु परा भावयति मातृबन्धु ॥ ४३ ॥

छिनत्ति । अस्य । पितृ-बन्धु । परा । भावयति । मातृ-बन्धु ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—वह [चुरा ली गयी वेदवाणी—म० ४०] (अस्य) इस [वेदनिन्दक के] (सर्वा) सब (अङ्गा) अङ्गों को, (पर्वा) जोड़ों को और (मूलानि) जड़ों को (वृश्चति) काट देती है ॥ ४२ ॥ वह (अस्य) इसके (पितृबन्धु) पैतृक सम्बन्ध को (छिनत्ति) काट देती है और [इसके] (मातृबन्धु) मातृक सम्बन्ध को (पराभावयति) विध्वंस कर देती है ॥ ४३ ॥

भावार्थ—वेद निन्दक के सब भीतरी और बाहिरी उपयोगी व्यवहार नष्ट हो जाते हैं और वैदिक मर्यादा भङ्ग होने से सब सम्बन्धी लोग उस के बिगड़ बैठते हैं ॥ ४२, ४३ ॥

विवाहां ज्ञातीन्त्सर्वानपि क्षापयति ब्रह्मगवी ब्रह्मज्यस्य क्षत्रियेणापुनर्दीयमाना ॥ ४४ ॥

अपनयने = चौर्ये—क्त । चोरिता (अग्निः) प्रत्यक्षः पावकः (क्रव्यात्) मांसभक्षकः । शवदाहकः (भूत्वा) ब्रह्मगवी) म० ५ । वेदवाणी (ब्रह्मज्यम्) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकरम् (प्रविश्य) (अत्ति) खादति ॥

४२, ४३—(सर्वा) सर्वाणि (अस्य) ब्रह्मज्यस्य (अङ्गा) अङ्गानि (पर्वा) पर्वाणि । ग्रन्थीन् (मूलानि) (वृश्चति) (छिनत्ति) (अस्य) ब्रह्मज्यस्य (पितृबन्धु) पैतृकसम्बन्धनम् (पराभावयति) पराजयति (मातृबन्धु) मातृकसम्बन्धनम् ॥

वि-वाहान् । ज्ञातीन् । सर्वान् । अपि । क्षापयति । ब्रह्म-गवी । ब्रह्मज्यस्य । क्षत्रियेण । अपुनः-दीयमाना ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(क्षत्रियेण) क्षत्रिय करके (अपुनर्दीयमाना) फिर नहीं दी गयी (ब्रह्मगवी) वेदवाणी (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारियों के हानिकारक के (सर्वान्) सब (विवाहान्) विवाहों और (ज्ञातीन्) भाई बन्धुओं को (अपि) भी (क्षापयति) नाश करती है ॥ ४४ ॥

भावार्थ--जो पुरुष वेदविद्या को रोककर विद्वानों की हानि करता है, वह गृहाश्रम से गिरकर अपने भाई बन्धुओं को भी नष्ट कर देता है ॥ ४४ ॥

अवास्तुमेनमस्वगमप्रजसं करोत्यपरापरणो भवति क्षीयते ॥४५॥

अवास्तुम् । एनम् । अस्वगम् । अप्रजसम् । करोति । अपरा-परणः । भवति । क्षीयते ॥ ४५ ॥

य एवं विदुषो ब्राह्मणस्य क्षत्रियो गामादत्ते ॥ ४६ ॥

यः । एवम् । विदुषः । ब्राह्मणस्य । क्षत्रियः । गाम् । आ-दत्ते ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—वह [वेदवाणी] (एनम्) उस [क्षत्रिय] को (अवास्तुम्) बिना घर का, (अस्वगम्) निर्धनी और (अप्रजसम्) निर्वंशी (करोति) करती है, वह [मनुष्य] (अपरापरणः) प्राचीन और अर्वाचीन बिना [पुराने और नवे पुरुष बिना] (भवति) हो जाता है, और (क्षीयते) नाश को प्राप्त

४४—(विवाहान्) विवाहसंस्कारान् (ज्ञातीन्) बान्धवान् (सर्वान्) (अपि) एव (क्षापयति) क्षै क्षये—णिच् । नाशयति (ब्रह्मगवी) म० ५ । वेदवाणी (ब्रह्मज्यस्य) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकरस्य (क्षत्रियेण) राजन्येन (अपुनर्दीयमाना) न पुनर्दीयमाना ॥

४५, ४६,—(अवास्तुम्) अगृहम् (एनम्) क्षत्रियम् (अस्वगम्) म० ४० । निर्धनम् (अप्रजसम्) अ० ६ । २ । ३ । अप्रजा—असिच् । असन्तानम् (करोति) (अपरापरणः) नञ्+पर+अपर—नः । लोमादिपामादि० । पा० ५ । २ । १०० । इति बाहुलकाद् नप्रत्ययो मत्वर्थे । परं चापरं च द्वयोः समाहारः

होता है ॥ ४५ ॥ (यः क्षत्रियः) जो क्षत्रिय (एवम्) ऐसे (विदुषः) जानकार (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मचारी की [हितकारिणी] (गाम्) वेदवाणी को (आदत्ते) छीन लेता है ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो राजा विद्वान् ब्रह्मचारियों को सताकर वेदविद्या को रोकता है, यह अज्ञान बढ़ने से अपना सर्वस्व और वंश नाश करके आप भी नष्ट हो जाता है ॥ ४५, ४६ ॥

(अपरापरणः) के (अपरा-परणः) के पद पाठ के स्थान पर (अ+पर +अपर—नः] मानकर हम ने अर्थ किया है ॥

पर्यायः ६ ॥

४७—६१ ॥ ४७, ४६, ५१—५३, ५७, ५८, ६१ प्राजापत्यानुष्टुप्; ४८ आर्ष्यनुष्टुप्; ५० साम्नी बृहती; ५४, ५५ प्राजापत्योष्णिक्; ५६, ५६ आसुरी गायत्री; ६० आर्षी गायत्री ॥

क्षिप्रं वै तस्याहनने गृध्राः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४७ ॥

क्षिप्रम् । वै । तस्य । आ-हनने । गृध्राः । कुर्वते । ऐलबम् ॥४७॥

भाषार्थ—(क्षिप्रम्) शीघ्र (वै) निश्चय करके (तस्य) उस [वेद निन्दक] के (आहनने) मार डालने पर (गृध्राः) गिद्ध आदि (ऐलबम्) कलकल शब्द (कुर्वते) करते हैं ॥ ४७ ॥

भावार्थ—वेद निन्दक पुरुष ऐसे बे ठिकाने संग्राम आदि में मारे जाते हैं कि उनकी लोथों को गिद्ध आदि चौंथ चौंथ कर खाते हैं ॥ ४७ ॥

क्षिप्रं वै तस्यादहनं परि नृत्यन्ति केशिनीराघ्नानाः पाणिनोरसि कुर्वाणाः पापमैलबम् ॥ ४८ ॥

परापरम्, न तद्यस्यास्तीति अपरापरणः । प्राचीनार्वाचीनपुरुषरहितः (भवति) (क्षीयते) क्षियति । नश्यति (यः) (एवम्) अनेन प्रकारेण (विदुषः) जानतः (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मचारिणः (क्षत्रियः) (गाम्) वेदवाणीम् (आदत्ते) गृह्णाति ॥

४७—(क्षिप्रम्) शीघ्रम् (वै) एव (तस्य) ब्रह्मज्यस्य (आहनने) मारणे (गृध्राः) मांसभक्षकाः पक्षिविशेषाः (कुर्वते) (ऐलबम्) अ० ११ । २ । ३० । इल स्वप्नक्षेपणयोः—घञ् । आङ्+एल+वण शब्दे-ड । आक्षेपध्वनिम् ॥

०तस्य । आ-दहनम् । परि । नृत्यन्ति । केशिनीः ॥
आ-घ्नानाः । पाणिना । उरसि । कुर्वाणाः । पापम् । ऐलबम् ॥४८॥

भाषार्थ—(क्षिप्रम्) शीघ्र (वै) निश्चय करके (तस्य) उस [वेद निन्दक] के (आदहनं परि) दाह स्थान के आस पास (केशिनीः) लम्बे केशों वाली स्त्रियां (पाणिना) हाथ से (उरसि) छाती (आघ्नानाः) पीटती हुयीं और (पापम्) अशुभ (ऐलबम्) विलाप ध्वनि (कुर्वाणाः) करती हुयीं (नृत्यन्ति) डोलती हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जब वेदनिन्दक पुरुष खोटे कर्मों के कारण क्लेश के साथ मृत्यु पाता है, तब स्त्री आदि उसके सब कुटुम्बी क्लेश में पड़ते हैं ॥ ४८ ॥

क्षिप्रं वै तस्य वास्तुषु वृकाः कुर्वत ऐलबम् ॥ ४९ ॥
०तस्य । वास्तुषु । वृकाः । कुर्वते । ऐलबम् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(क्षिप्रम्) शीघ्र (वै) निश्चय करके (तस्य) उस [वेद निन्दक] के (वास्तुषु) घरों में (वृकाः) भेड़िये आदि (ऐलबम्) कलकल शब्द (कुर्वते) करते हैं ॥ ४९ ॥

भावार्थ—कुकर्म के कारण वेद विरोधियों की बस्तियां ऊजड़ हो जाती हैं और वहां जंगली जन्तु बसने लगते हैं ॥ ४९ ॥

क्षिप्रं वै तस्य पृच्छन्ति यत् तदासी३दिदं नु ता३दिति ॥ ५० ॥
क्षिप्रम् । वै । तस्य । पृच्छन्ति । यत् । तत् । आसी३त् । इदम् । नु । ता३त् । इति ॥ ५० ॥

४८—(क्षिप्रम्) (वै) एव (तस्य) वेदनिन्दकस्य (आदहनम्) भस्मीकरणस्थानम् (परि) प्रति (नृत्यन्ति) इतस्ततो विचरन्ति (केशिनीः) दीर्घकेशवत्यः (आघ्नानाः) हन हिंसागत्योः—चानश् । ताडयन्त्यः (पाणिना) हस्तेन (उरसि) वक्षसि (कुर्वाणाः) कुर्वत्यः (पापम्) (अशुभम् (ऐलबम्) म० ४७ । विलापध्वनिम् ॥

४९—(वास्तुषु) निवासेषु (वृकाः) हिंस्राः पशवः (ऐलबम्) म० ४७ । आक्रोशम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४७ ॥

भाषार्थ—(क्षिप्रम्) शीघ्र (वै) निश्चय करके (तस्य) उस [वेद निन्दक] के विषय में (पृच्छन्ति) लोग पूंछते हैं—"(नु) क्या (इदम्) यह [स्थान] (ताऽइत् इति) वही है, (यत्) जो (तत्) वह (आसीऽइत्) [पहिले] था" ॥ ५० ॥

भावार्थ—जब वेदनिन्दक क्षणिक वृद्धि पाकर खोटे कर्मों से नष्ट हो जाता है, जिज्ञासु लोग उसका कारण खोजकर सत्य धर्म में दृढ़ होते हैं ॥ ५० ॥

छिन्ध्या च्छिन्धि प्र च्छिन्ध्यपि क्षापय क्षापय ॥ ५१ ॥

छिन्धि । आ । छिन्धि । प्र । छिन्धि । अपि । क्षापय । क्षापय ॥ ५१ ॥

आददानमाङ्गिरसि ब्रह्मज्यमुप दासय ॥ ५२ ॥

आ-ददानम् । आङ्गिरसि । ब्रह्म-ज्यम् । उप । दासय ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(छिन्धि) तू काट, (आ च्छिन्धि) काटे जा, (प्र च्छिन्धि) काट डाल, (क्षापय) नाश कर, (अपि क्षापय) विनाश कर ॥ ५१ ॥ (आङ्गिरसि) हे अङ्गिरा [परमज्ञानी परमेश्वर] से उपदेश की गयी [वेदवाणी !] (आददानम्) [तुझे] छीनने वाले (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मचारियों के हानिकारक पर (उप सादय) चढ़ाई कर ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जो जितेन्द्रिय वेदज्ञानी पुरुष निरन्तर प्रयत्न करते रहते हैं, वे वेदविरुद्ध दोषों और शत्रुओं को नाश कर सकते हैं ॥ ५१, ५२ ॥

५०—(क्षिप्रम्) (वै) (तस्य) (पृच्छन्ति) जिज्ञासन्ते (यत्) स्थानम् (तत्) (आसीऽइत्) सुतरूपम् । भूतकाले वर्तमानमभवत् (इदम्) प्रत्यक्षम् (नु) प्रश्ने (ताऽइत्) सुतरूपम् । तदेव (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

५१, ५२—(छिन्धि) भिन्धि (आ) समन्तात् (छिन्धि) (प्र) प्रकर्षेण (छिन्धि) (अपि) एव (क्षापय) म० ४४ । नाशय (क्षापय) । (आददानम् । त्वां हरन्तम् (आङ्गिरसि) अ० ८ । ५ । ९ । तेन प्रोक्तम् । पा० ४ । ३ । १०१ । अङ्गिरस्-अण्, ङीप् । हे अङ्गिरसा महाविदुषा परमेश्वरेणोपदिष्टे (ब्रह्मज्यम्) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकरम् (उप दासय) आक्रमेण गृहाण ॥

वैश्वदेवी ह्युच्यसे कृत्या कूल्बजमावृता ॥ ५३ ॥

वैश्व-देवी। हि। उच्यसे। कृत्या। कूल्बजम्। आ-वृता ॥५३॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (वैश्वदेवी) सब विद्वानों की हित करने वाली तू [वेदनिन्दक के लिये] (कृत्या) हिंसा रूप और (कूल्बजम्) भूमि पर दाह उपजाने वाली वस्तु रूप (उच्यसे) कही जाती है [जब कि तू] (आवृता) रोक दी गयी हो ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् वेदवाणी का सहारा लेते हैं, वे पाखण्डी उपद्रवियों के नाश करने में समर्थ होते हैं ॥ ५३ ॥

इस मन्त्र का मिलान ऊपर मन्त्र १२ से करो ॥

ओषन्ती समोषन्ती ब्रह्मणो वज्रः ॥ ५४ ॥

ओषन्ती। सम्-ओषन्ती। ब्रह्मणः। वज्रः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(ओषन्ती) जलाती हुयी, (समोषन्ती) भस्म कर देती हुयी, तू [वेदनिन्दक के लिये] (ब्रह्मणः) ब्रह्म [परमेश्वर] का (वज्रः) वज्र रूप है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—वेदानुयायी सत्यवीर पुरुष नास्तिकों का नाश करें ॥ ५४ ॥

क्षुरपविर्मृत्युर्भूत्वा वि धाव त्वम् ॥ ५५ ॥

क्षुर-पविः। मृत्युः। भूत्वा। वि। धाव। त्वम् ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] (त्वम्) तू [वेद निन्दक के लिये] (क्षुरपविः) छुरा [कटार आदि] की धार [समान], (मृत्युः) मृत्युरूप (भूत्वा) होकर (वि) इधर उधर (धाव) दौड़ ॥ ५५ ॥

५३—(वैश्वदेवी) विश्वदेव-अण्, ङीप्। सर्वविदुषां हितकरी (हि) यस्मात् कारणात् (उच्यसे) कथ्यसे। शेषं गतम्—म० १२ ॥

५४—(ओषन्ती) उष दाहे—शतृ। दहन्ती (समोषन्ती) सम्यग्भस्मीकुर्वती (ब्रह्मणः) परमेश्वरस्य (वज्रः) शस्त्रं यथा ॥

५५—(क्षुरपविः) म० २०। शस्त्रधारा यथा (मृत्युः) (भूत्वा) (वि) विविधम् (धाव) शीघ्रं गच्छ (त्वम्) ॥

भावार्थ—सत्य वैदिक धर्म के स्थापन में विद्वानों को सदा पूरा प्रयत्न करना चाहिये ॥ ५५ ॥

आ द॑त्से जिन॒तां वर्च॑ इ॒ष्टं पू॒र्तं चा॒शिषः॑ ॥ ५६ ॥

आ । द॒त्से॒ । जि॒न॒ताम् । वर्चः॑ । इ॒ष्टम् । पू॒र्तम् । च॒ । आ॒ऽशिषः॑ ५६

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] (जिनताम्) हानिकारकों का (वर्चः) तेज, (इष्टम्) यज्ञ [अग्नि होत्र, वेदाध्ययन, अतिथिसत्कार आदि], (पूर्तम्) पूर्णता [सर्वोपकारी कर्म कूप, तड़ाग, आराम, बाटिका आदि] (च) और (आशिषः) इच्छाओं को (आ दत्से) तू हर लेती है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वैदिक रीति से विरुद्ध चलकर अग्निहोत्र, वेदाध्ययन आदि छल से करना चाहता है, उससे उसकी इष्टसिद्धि नहीं होती ॥५६॥

आ॒दाय॑ जी॒तं जी॒ताय॑ लो॒के३॑ऽमुष्मि॑न् प्र य॑च्छसि ॥ ५७ ॥

आ॒ऽदाय॑ । जी॒तम् । जी॒ताय॑ । लो॒के । अ॒मुष्मि॑न् । प्र । य॒च्छ॒सि ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] (जीतम्) हानिकारक पुरुष को (आदाय) लेकर (जीताय) हानि किये गये पुरुष के वश में (अमुष्मिन् लोके) उस लोक में [आगामी समय वा जन्म में] (प्र यच्छसि) तू देती है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो कोई वेदविरोधी वेदानुयायी को क्लेश देता है, वह परमेश्वर नियम से इस जन्म वा पर जन्म में उस सत्पुरुष के अधीन होता है, अर्थात् सत्य धर्म का सदा विजय होता है ॥ ५७ ॥

५६—(आ दत्से) हरसि (जिनताम्) ज्या वयोहानौ-शतृ । हानिकारकाणाम् (वर्चः) तेजः (इष्टम्) म० १० । अग्निहोत्रवेदाध्ययनातिथ्यादि कर्म (पूर्तम्) म० १० । पूर्णताम् । सर्वोपकारिकूपतडागारामवाटिकादिकर्म (च) (आशिषः) आङः शासु इच्छायाम्-क्विप् । क्विप्प्रत्यये तस्यापि भवतीति वक्तव्यम् । वा० । पा० ६ । ४ । ३४ । इति इत्वम् । हितप्रार्थनाः ॥

५७—(आदाय) गृहीत्वा (जीतम्) ज्या वयोहानौ कर्तरि—क्त, तकारस्य नत्वाभावः । हानिकर्तारम् (जीताय) कर्मणि—क्त । हानिं गताय पुरुषाय (लोके) संसारे जन्मनि वा (अमुष्मिन्) परस्मिन् (प्र यच्छसि) ददासि ॥

अघ्न्ये पदवीर्भव ब्राह्मणस्याभिशस्त्या ॥ ५८ ॥

अघ्न्ये । पद-वीः । भव । ब्राह्मणस्य । अभि-शस्त्या ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे अवध्य ! [न मारने योग्य, प्रबल वेदवाणी] (अभिशस्त्या) सब ओर स्तुति के साथ (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मचारी की (पदवीः) प्रतिष्ठा (भव) हो ॥ ५८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी होकर बलवती वेदवाणी को प्राप्त करके संसार में प्रतिष्ठित होवें ॥ ५८ ॥

मेनिः शरव्या भवाघादघविषा भव ॥ ५९ ॥

मेनिः । शरव्या । भव । अघात् । अघ-विषा । भव ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—[हे वेदवाणी !] तू [वेदनिन्दक के लिये] (मेनिः) वज्र, (शरव्या) बाणविद्या में चतुर सेना (भव) हो और (अघात्) [उसके] पाप के कारण से (अघविषा) महाघोर विषैली (भव) हो ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अज्ञानी होकर वेदविरुद्ध कुकर्म करे, उसको विद्वान् लोग पूरा दण्ड देवें ॥ ५९ ॥

अघ्न्ये प्र शिरो जहि ब्रह्मज्यस्य कृतागसो देवपीयोरराधसः ६०

अघ्न्ये । प्र । शिरः । जहि । ब्रह्म-ज्यस्य । कृत-आगसः । देव-पीयोः । अराधसः ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे अवध्य ! [न मारने योग्य, प्रबल वेद वाणी]

५८—(अघ्न्ये) अ० ३ । ३० । १ । नञ्+हन हिंसागत्योः—यक् । हे अहन्तव्ये प्रबले (पदवीः) पद+वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु—क्विप् । प्रतिष्ठा (भव) (ब्राह्मणस्य) ब्रह्मचारिणः (अभिशस्त्या) अभि+शंसु हिंसायां स्तुतौ कथने च—क्तिन् । सर्वतः स्तुत्या सह ॥

५९—(मेनिः) म० १६ । वज्रः (शरव्या) म० २५ । शरौ बाणविद्यायां कुशला सेना (भव) (अघविषा) म० १२ । अतिशयेन विषमयी (भव) ॥

६०—(अघ्न्ये) म० ५८ (प्र जहि) विनाशय (शिरः) मस्तकम्

(ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारियों के हानिकारक, (कृतागसः) अपराध करने वाले, (देवपीयोः) विद्वानों के सताने वाले, (अराधसः) अदानशील पुरुष के (शिरः) शिर को (प्र जहि) तोड़ डाल ॥ ६० ॥

भावार्थ--जो मनुष्य बलवती वेदवाणी के विरुद्ध आचरण करे, उसको यथावत् दण्ड मिले ॥ ६० ॥

त्वया प्रमूर्णं मृदितमग्निर्दहतु दुश्चितम् ॥ ६१ ॥ (२८)

त्वया । प्र-मूर्णम् । मृदितम् । अग्निः । दहतु । दुः-चितम् ॥ ६१ ॥ (२८)

भाषार्थ--[हे वेदवाणी !] (त्वया) तुझ करके (प्रमूर्णम्) बांध लिये गये, (मृदितम्) कुचले गये (दुश्चितम्) अनिष्ट चिन्तक को (अग्निः) आग (दहतु) जला डाले ॥ ६१ ॥

भावार्थ--वेद विरोधी दुराचारी पुरुष को न्याय व्यवस्था से जला कर भस्म कर डाले ॥ ६१ ॥

पर्यायः ७ ॥

६२--७३ ॥ ६२--६४, ६६, ६८--७० प्रजापत्यानुष्टुप्; ६५ आर्षी गायत्री; ६७ प्राजापात्यागायत्री; ७१ आसुरी पङ्क्तिः; ७२ प्राजापत्यात्रिष्टुप्; ७३ आसुर्युष्णिक् ॥

वृश्च प्र वृश्च सं वृश्च दह प्र दह सं दह ॥ ६२ ॥

वृश्च । प्र । वृश्च । सम् । वृश्च । दह । प्र । दह । सम् । दह ॥६२॥

(ब्रह्मज्यस्य) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकरस्य (कृतागसः) कृतापराधस्य (देवपीयोः) म० १५ । विदुषां हिंसकस्य (अराधसः) अ० ५ । ११ । ७ । नास्ति राधो धनं यस्मात् तस्य । अदानशीलस्य ॥

६१--(त्वया) वेदवाण्या (प्रमूर्णम्) मुर्व बन्धने - क्त । प्रकर्षेण बद्धम् (मृदितम्) मृद क्षोदे - क्त । चूर्णितम् (अग्निः) प्रत्यक्षः (दहतु) (दुश्चितम्) चिती संज्ञाने - क्विप् । अनिष्टचिन्तकम् ॥

भाषार्थ—[वेदवाणी !] तू [वेद निन्दक को] (वृश्च) काट डाल, (प्र वृश्च) चीर डाल, (सं वृश्च) फाड़ डाल, (दह) जला दे, (प्र दह) फूंक दे, (सं दह) भस्म कर दे ॥६२॥

भावार्थ—धर्मात्मा लोग अधर्मियों के नाश करने में सदा उद्यत रहें ॥ ६२ ॥

ब्रह्मज्यं दे॑व्यघ्न्य आ मूला॑दनुसं॒द॑ह ॥ ६३ ॥

ब्रह्म-ज्यम् । दे॒वि॒ । अ॒घ्न्ये॒ । आ । मूला॑त् । अ॒नु॒-सं॒द॑ह ॥६३॥

यथाया॑द् यमसाद॒नात् पा॑पलो॒कान् प॑रा॒वत॑ः ॥ ६४ ॥

यथा॑ । अया॑त् । य॒म॒-स॒द॒नात् । पा॒प॒-लो॒कान् । प॒रा॒-वत॑ः ॥६४॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी ! [उत्तम गुणवाली] (अघ्न्ये) हे अवध्य ! [न मारने योग्य, प्रबल वेदवाणी] (ब्रह्मज्यम्) ब्रह्मचारियों के हानिकारक को (आ मूलात्) जड़ से (अनुसंदह) जलाये जा ॥ ६३ ॥ (यथा) जिस से वह (यमसदनात्) न्यायगृह से (परावतः) दूर देश वाले (पापलोकान्) पापियों के लोकों [कारागार आदि स्थानों] को (अयात्) चला जावे ॥ ६४ ॥

भावार्थ—राजा को उचित है कि वेद व्यवस्था के अनुसार अधर्मी वेद विरोधियों को दूर कारागार में रक्खे ॥ ६३, ६४ ॥

ए॒वा त्वं दे॑व्यघ्न्ये ब्रह्म॒ज्यस्य॑ कृ॒ताग॑सो देव॒पीयो॑र॑रा॒धस॑ः ॥६५॥

ए॒व । त्वम् । दे॒वि॒ । अ॒घ्न्ये॒ । ब्र॒ह्म॒-ज्यस्य॑ । कृ॒त-आ॑गसः । दे॒व-पी॒योः । अ॒रा॒धस॑ः ॥ ६५ ॥

६२—(वृश्च) छिन्धि (प्र) प्रकर्षेण (वृश्च) (सम्) सम्यक् (वृश्च) (दह) भस्मीकुरु (प्र) (दह) (सम्) (दह) ॥

६३, ६४—(ब्रह्मज्यम्) म० १५ । ब्रह्मचारिणां हानिकारकम् (देवि) हे दिव्यगुणवति (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये (आ मूलात्) मूलमभिव्याप्य (अनुसंदह) निरन्तरं भस्मीकुरु (यथा) येन प्रकारेण (अयात्) अय गतौ—लेट् । गच्छेत् (यमसदनात्) सांहितिको दीर्घः । राज्ञो न्यायगृहात् (पापलोकान्) पापिनां देशान् । कारागाराणि (परावतः) अ० ३ । ४ । ५ । दूरगतान् ॥

वज्रेण शतपर्वणा तीक्ष्णेन क्षुरभृष्टिना ॥ ६६ ॥
वज्रेण । शत-पर्वणा । तीक्ष्णेन । क्षुर-भृष्टिना ॥ ६६ ॥
प्र स्कन्धान् प्र शिरो जहि ॥ ६७ ॥
प्र । स्कन्धान् । प्र । शिरः । जहि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(देवि) हे देवी ! [उत्तम गुणवाली], (अघ्न्ये) हे अबध्य ! [न मारने योग्य, प्रबल वेदवाणी] (त्वम्) तू (एव) इसी प्रकार (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारियों के हानिकारक, (कृतागसः) अपराध करने वाले, (देवपीयोः) विद्वानों के सताने वाले, (अराधसः) अदानशील पुरुष के ॥६५॥ (शतपर्वणा) सैकड़ों जोड़ वाले, (तीक्ष्णेन) तीक्ष्ण, (क्षुरभृष्टिना) छुरे कीसी धार वाले (वज्रेण) वज्र से ॥ ६६ ॥, (स्कन्धान्) कन्धों और (शिरः) शिर को (प्र प्र जहि) तोड़ तोड़ दे ॥ ६७ ॥

भावार्थ—वेदानुयायी धर्मात्मा राजा वेदविरोधी दुष्टाचारियों को प्रचण्ड दण्ड देवे ॥ ६५–६७ ॥

मन्त्र ६५ का मिलान मन्त्र ६० से करो ॥

लोमान्यस्य सं छिन्धि त्वचमस्य वि वेष्टय ॥ ६८ ॥
लोमानि । अस्य । सम् । छिन्धि । त्वचम् । अस्य । वि । वेष्टय ॥ ६८ ॥
मांसान्यस्य शातय स्नावान्यस्य सं वृह ॥ ६९ ॥
मांसानि । अस्य । शातय । स्नावानि । अस्य । सम् । वृह ॥ ६९ ॥
अस्थीन्यस्य पीडय मज्जानमस्य निर्जहि ॥ ७० ॥
अस्थीनि । अस्य । पीडय । मज्जानम् । अस्य । निः । जहि ७०

६५,—६७—(एव) अनेन प्रकारेण (त्वम्) (देवि) म० ६३ (अघ्न्ये) म० ६३ । अन्यद् गतम्—म० ६० । (वज्रेण) (शतपर्वणा) बहुग्रन्थिना (तीक्ष्णेन) तीव्रेण (क्षुरभृष्टिना) भ्रस्ज पाके, यद्वा भृशु अधः पतने-क्तिन् । क्षुरवत्तीक्ष्णधारेण (प्र प्र) अतिशयेन (स्कन्धान्) शरीरावयवविशेषान् (शिरः) मस्तकं (जहि) नाशय ॥

सर्वास्याङ्गा पर्वाणि वि श्रथय ॥ ७१ ॥

सर्वा । अस्य । अङ्गा । पर्वाणि । वि । श्रथय ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [वेदविरोधी] के (लोमानि) लोमों को (सं छिन्धि) काट डाल, (अस्य) उसकी (त्वचम्) खाल (वि वेष्टय) उतार ले ॥६८॥ (अस्य) उसके (मांसानि) मांस के टुकड़ों को (शातय) बोटी बोटी कर दे, (अस्य) उसके (स्नावानि) नसों को (सं वृह) ऐंठ दे ॥ ६९ ॥ (अस्य) उसकी (अस्थीनि) हड्डियां (पीडय) मिसल डाल, (अस्य) उसकी (मज्जानम्) मींग (निर्जहि) निकाल दे ॥ ७० ॥ (अस्य) उसके (सर्वा) सब (अङ्गा) अङ्गों और (पर्वाणि) जोड़ों को (वि श्रथय) ढीला कर दे ॥ ७१ ॥

भावार्थ—नीति निपुण धर्मज्ञ राजा वेद मार्ग पर चलकर वेदविमुख अत्याचारी लोगों को विविध प्रकार दण्ड देकर पीड़ा देवे ॥ ६८—७१ ॥

अग्निरेनं क्रव्यात् पृथिव्या नुदतामुदोषतु वायुरन्तरिक्षान्महतो वरिम्णः ॥ ७२ ॥

अग्निः । एनम् । क्रव्य-अत् । पृथिव्याः । नुदताम् । उत् । ओषतु । वायुः । अन्तरिक्षात् । महतः । वरिम्णः ॥ ७२ ॥

सूर्य एनं दिवः प्र णुदतां न्योषतु ॥ ७३ ॥

सूर्यः । एनम् । दिवः । प्र । नुदताम् । नि । ओषतु ॥ ७३ ॥

भाषार्थ—(क्रव्यात्) मांसभक्षक [शवदाहक] (अग्निः) अग्नि

६८—७१—(लोमानि (अस्य) ब्रह्मज्यस्य (सम्) सम्यक् (छिन्धि) भिन्धि (त्वचम्) चर्म (अस्य) (वि) वियुज्य (वेष्टय) आच्छादय (मांसानि) मांसखण्डानि (अस्य) (शातय) शद्लृ शातने-णिच् । शदेरगतौ तः । पा० ७ । ३ । ४२ । दस्य तकारो णौ परतः । खण्डय (स्नावानि) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । ष्णा शौचे—वन् । वायुवाहिनाडिभेदान् (अस्य) (सं वृह) विनाशय (अस्थीनि) (अस्य) (पीडय) मर्दय (मज्जानम्) शरीरस्थधातुविशेषम् (अस्य) (निर्जहि) निर्गमय्य नाशय (सर्वा) सर्वाणि (अस्य) (अङ्गा) अङ्गानि (पर्वाणि) ग्रन्थीन् (वि) वियुज्य (श्रथय) शिथिलानि कुरु ॥

७२, ७३—(अग्निः) प्रत्यक्षः (एनम्) वेदविरोधिनम् । ब्रह्मज्यम्

।(एनम्) इस [वेदनिन्दक] को (पृथिव्याः) पृथिवी से (नुदताम्) निकाल देवे, और (उत् ओषतु) जला डाले, (वायुः) वायु (महतः) बड़े (वरिम्णः) विस्तार, (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्ष से [वैसा ही करे] ॥ ७२ ॥ (सूर्यः) सूर्य (एनम्) इसको (दिवः) प्रकाश से (प्र णुदताम्) ढकेल देवे और (नि ओषतु) गिराकर जला देवे ॥ ७३ ॥

भावार्थ—दुरात्मा वेदविरोधी पुरुष मूर्खता के कारण सब स्थानों में सब प्रकार से कष्ट में डाला जाता है ॥ ७२, ७३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

इति द्वादशं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीराव गायक-वाड़ाधिष्ठित** बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये द्वादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे शुक्लतृतीयायां तिथौ १९७५ [पञ्च सप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—ज्येष्ठ शुक्ला २ संवत् १९७५ ता० १० जून १९१८ ॥

(क्रव्यात्) मांसभक्षकः । शवदाहकः (पृथिव्याः) पृथिवीलोकात् (नुदताम्) प्रेरयतु (उदोषतु) सर्वथा दहतु (वायुः) (अन्तरिक्षात्) मध्यलोकात् (महतः) विशालात् (वरिम्णः) विस्तारात् (सूर्यः) (एनम्) दुष्कारिणम् (दिवः) प्रकाशात् (प्रणुदताम्) प्रक्षिपतु (न्योषतु) नीचैर्दहतु ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की साहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १८१६ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १८१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य का करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्यों को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहाय्य प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये।

जल्दी से भाष्य मंगाइये। भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B.Sc., LL. B. उपमन्त्री ॥

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत औरभाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसादजी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौन सा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ९४ तिथि २७-१०-१९९६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९९६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।..... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है। भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पंडित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपा कर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करें कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करोगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा** मु० एकड़ला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-९-१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६-लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है--इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।............ इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपने सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है............त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, letter No.* 624 *dated 6th February* 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund."

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan. Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.
Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *Bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works.....The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है।"

आनन्दसमाचार

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भावार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यक विद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)

काण्ड	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	पृष्ठ ३,२०० लगभग
मूल्य	२।)	२=)	१।≡)								२५॥-)

काण्ड—१४ छप रहा है। कांड १५ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा की उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

१० अगस्त १९१८। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

Onkar Press, Allahabad.

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, कांड १३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	उदेहि वाजिन् यो	रोहित	परमात्मा और जीवात्मा	त्रिष्टुप् आदि
२	उदस्य केतवो दिवि	सविता रोहित	तथा	अनुष्टुप् आदि
३	य इमे द्यावापृथिवी	रोहितादित्य	तथा	आकृति आदि
४(१)	स एति सविता स्वर्दि	तथा	तथा	प्राजापत्याऽनुष्टुप् आदि
(२)	कीर्तिश्च यशश्चा	तथा	तथा	भुरिक् साम्नीत्रिष्टुप्
(३)	ब्रह्म च तपश्च कीर्ति	तथा	तथा	भुरिक् प्राजापत्यात्रिष्टुप्
(४)	सवा अह्नोऽजायत	तथा	तथा	आसुरी गायत्री आदि
(५)	भूयानिन्द्रो नमुराद्	तथा	तथा	तथा
(६)	उरुः पृथुः सुभूर्भुव	तथा	तथा	प्राजापत्याऽनुष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद कांड १३ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १३) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	यं त्वा पृषती रथे	१ । २१	८ । ७ । २८		
२	अवः परेण पर	१ । ४१	१ । १६४ । १७		
३	एकपदी द्विपदी सा	१ । ४२	१ । १६४ । ४१,४२		
४	मा प्र गाम पथो	१ । ५९	१० । ५७ । १		
५	यो यज्ञस्य प्रसाधन	१ । ६०	१० । ५७ । २		
६	पूर्वापरं चरतो मायया	२ । ११	१० । ८५ । १८		
७	उदुत्यं जातवेदसं	२ । १६	१ । ५० । १	७ । ४१; ८ । ४१; ३३ । ३१	पू० १ । ३ । ५
८	अपत्ये तायवो यथा	२ । १७	१ । ५० । २		पू० ६ । १४ । ७
९	अदृश्रन्नस्य केतवो	२ । १८	१ । ५० । ३	८ । ४०	पू० ६ । १४ । ८
१०	तरणिर्विश्वदर्शतो	२ । १९	१ । ५० । ४	३३ । ३६	पू० ६ । १४ । ९
११	प्रत्यङ् देवानां विशः	२ । २०	१ । ५० । ५		पू० ६ । १४ । १०
१२	येन पावक चक्षसा	२ । २१	१ । ५० । ६	३३ । ३२	पू० ६ । १४ । ११
१३	विद्यामेषि रज	२ । २२	१ । ५० । ७		पू० ६ । १४ । १२
१४	सप्त त्वा हरितो	२ । २३	१ । ५० । ८		पू० ६ । १४ । १४
१५	अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः	२ । २४	१ । ५० । ९		पू० ६ । १४ । १३
१६	यो विश्वचर्षणि	२ । २६	१० । ८१ । ३	१७ । १९	
१७	एकपाद् द्विपदो	२ । २७	१० । ११७ । ८		
१८	बण्महाँ असि सूर्य	२ । २९	८ । ९१ । ११	३३ । ३९	पू० ३ । ९ । ४; उ० ९ । १ । ९
१९	चित्रं देवानामुद	२ । ३५	१ । ११५ । १	७ । ४२; १३ । ४६	पू० ६ । १४ । ३
२०	अबोध्यग्निः समिधा	२ । ४६	५ । १ । १	१५ । २४	पू० १ । ८ । १; उ० ८ । ३ । १३
२१	कृष्णं नियानं हरयः	३ । ९	१ । १६४ । ४७		
२२	सप्त युञ्जन्ति रथमे	३ । १८	१ । १६४ । २		
२३	य आत्मदा बलदा	३ । २४	१० । १२१ । २, ३	२५ । १३,११	
२४	एकपाद् द्विपदो	३ । २५	१० । ११७ । ८		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

त्रयोदशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—६० ॥ रोहितो देवता ॥ १, ६, ७, ८, १०, २०, २२, २३, २४, २५, २७, ३३, त्रिष्टुप्; २, ३४, ३८, निचृत् त्रिष्टुप्; ३, ४, १२, ४२, निचृज् जगती; ५, ११, ४१, भुरिक् त्रिष्टुप्; ६ जगती; १३ अतिशक्वरी; १४ आर्षी पङ्क्तिः; १५ आर्षी जगती; १६ निचृद् बृहती; १७, ३१ आर्षी जगती; १८ भुरिगतिजगती; १९ निचृदतिजगती; २१ गायत्री; २६ विराट् परोष्णिक्; २८ भुरिगनुष्टुप्; २९, ३०, ३२, ३९, ४०, ४५—५१, ५३, ५४, ५६, ५८ अनुष्टुप्; ३५ निचृद् ब्राह्मी गायत्री; ३६, ४३ भुरिगार्ची त्रिष्टुप्; ३७ विराडतिजगती; ४४ निचृत् परोष्णिक्; ५२ पथ्या पङ्क्तिः; ५५ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ५७ विराडनुष्टुप्; ५९, ६० गायत्री ॥

अध्यात्मोपदेशः—जीवात्मा और परमात्मा का उपदेश ॥

उदेहि वाजिन् यो अप्स्व१न्तरिदं राष्ट्रं प्र विश सूनृतावत् ।
यो रोहितो विश्वमिदं जजान स त्वा राष्ट्राय सुभृतं बिभर्तु ॥ १ ॥

उत्-एहि । वाजिन् । यः । अप्-सु । अन्तः । इदम् । राष्ट्रम् । प्र । विश । सूनृता-वत् ॥ यः । रोहितः । विश्वम् । इदम् । जजान । सः । त्वा । राष्ट्राय । सु-भृतम् । बिभर्तु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वाजिन्) हे बलवान् ! [सेनापति] (उदेहि) ऊंचा हो, (सूनृतावत्) सुनीत से युक्त (इदम्) इस (राष्ट्रम्) राज्य में (प्र विश) प्रवेश कर। (यः) जो (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर है, और (यः) जिस [परमेश्वर] ने (इदम्) यह (विश्वम्) विश्व [जगत्] (जजान) उत्पन्न किया है, (सः) वह [परमेश्वर] (सुभृतम्) बड़े पोषण करने वाले (त्वा) तुझको (राष्ट्राय) राज्य करने के लिये (बिभर्तु) धारण करे ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी धर्मात्मा राजा को प्रजागण स्वीकार करें, वह राज्य कार्य्य ग्रहण करके सर्वव्यापक, सर्वजनक, सर्वपोषक परमात्मा के आश्रय से अपना बल बढ़ावे और प्रजा का पालन करे ॥ १ ॥

उद्वाज आ ग॑न् यो अ॒प्स्व॑१॒न्तर्विश॒ आ रो॑ह॒ त्वद्यो॑नयो॒ याः।
सोमं॑ द॒धा॑नो॒प ओष॑धी॒र्गाश्चतु॑ष्पदो द्वि॒पद॒ आ वे॑शये॒ह ॥२॥

उत् । वाजः । आ । गन् । यः । अप्-सु । अन्तः । विशः । आ । रोह । त्वत्-योनयः । याः ॥ सोमम् । दधानः । अपः । ओषधीः । गाः । चतुः-पदः । द्वि-पदः । आ । वेशय । इह २

भाषार्थ—(वाजः) यह बलवान् [परमेश्वर] (उत्) उत्तमता से (आ गन्) प्राप्त हुआ है, (यः) जो (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर है, [हे

१—(उदेहि) उद्गच्छ (वाजिन्) अ० ४ । ४ । २ । हे बलवन् सेनापते (यः) परमेश्वरः (अप्सु) प्रजासु । आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये यजु० ६ । २७ (अन्तः) मध्ये (इदम्) दृश्यमानम् (राष्ट्रम्) राज्यम् (सूनृतावत्) अ० ७ । ६० । ६ । सुनीतियुक्तम् (यः) (रोहितः) रुहेरश्च लो वा । उ० । ३ । ९४ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन् । उद्भावकः । सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (विश्वम्) जगत् (इदम्) दृश्यमानम् (जजान) उत्पादयामास (सः) परमेश्वरः (त्वा) राजानम् (राष्ट्राय) राज्यकरणाय (सुभृतम्) बिभर्तेः क्विप् । यथारीति भर्त्तारं पोषकं (बिभर्तु) धारयतु ॥

२—(उत्) उत्तमतया (वाजः) वाज—अर्श आद्यच् । बलवान् परमेश्वरः (आगन्) अ० ३ । ४ । १ । आगमत् (यः) (अप्सु) म० १ । प्रजासु

राजन् !] (विशः) उन प्रजाओं पर (आ रोह) ऊँचा हो, (याः) जो [प्रजायें] (त्वद्योनयः) तुझ से मेल रखने वाली हैं। (सोमम्) ऐश्वर्य, (अपः) कर्म्म, (ओषधीः) ओषधियों [अन्न, सोमलता आदि] और (गाः) गौ आदि को (दधानः) धारण करता हुआ तू (चतुष्पदः) चौपायों और (द्विपदः) दोपायों को (इह) यहां [प्रजाओं में] (आ वेशय)-प्रवेश करा ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सर्वनियामक परमेश्वर को ध्यान में रख कर अपनी प्रजा का पालन करे और योग्यता और कार्य्यदक्षता से अपनी और प्रजा की आवश्यक सम्पत्ति, जैसे अन्न, गौ, घोड़ा, हाथी मनुष्य आदि को बढ़ावे ॥ २ ॥

यूयमुग्रा मरुतः पृश्निमातर इन्द्रेण युजा प्र मृणीत शत्रून्। आ वो रोहितः शृणवत् सुदानवस्त्रिषप्तासो मरुतः स्वादुसंमुदः ॥३॥

यूयम् । उग्राः । मरुतः । पृश्नि-मातरः । इन्द्रेण । युजा । प्र । मृणीत । शत्रून् ॥ आ । वः । रोहितः । शृणवत् । सु-दानवः । त्रि-सप्तासः । मरुतः । स्वादु-संमुदः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(पृश्निमातरः) हे पूंछने योग्य वेदवाणी को माता समान मान करने वाले, (उग्राः) प्रचंड (मरुतः) शूर लोगो ! (यूयम्) तुम (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति (युजा) मित्र के साथ (शत्रून्) शत्रुओं को

(अन्तः) मध्ये (विशः) प्रजाः (आरोह) अधितिष्ठ (त्वद्योनयः) वहिश्रिश्रुयु० । उ० ४ । ५१ । यु मिश्रणामिश्रणयोः—नि । योनिर्गृहनाम-निघ० ३।४। त्वया सह मिश्रिताः (याः) प्रजाः (सोमम्) ऐश्वर्यम् (दधानः) धारयन् (अपः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ०-४ । २०८ । आप्लृ व्याप्तौ-असुन् ह्रस्वश्च । कर्म—निघ० २ । १ (ओषधीः) अन्नसोमलतादिपदार्थान् (गाः) गवादिपशून् (चतुष्पदः) पादचतुष्टयोपेतान् (द्विपदः) पादद्वयोपेतान् (आवेशयः) आनीय प्रवेशय (इह) अत्र । प्रजासु ॥

३—(यूयम्) (उग्राः) प्रचण्डाः (मरुतः) अ० । १ । २० । १ । हे शूरवीराः (पृश्निमातरः) अ० ५ । २१ । ११ । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्-नि । प्रष्टव्या वेदवाणी मातृवत् सत्करणीया येषां ते (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सेनापतिना (युजा)

(प्र मृणीत) मार डालो। (सुदानवः) हे बड़े दानियो! (त्रिषप्तासः) हे तीन [कर्म, उपासना और ज्ञान] के साथ सात [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नासिका, मन और बुद्धि] को रखने वाले (स्वादुसंमुदः) हे भोजन योग्य अन्न में मिल कर आनन्द पाने वाले! (मरुतः) हे शूर पुरुषो! (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (वः) तुम्हारी [प्रार्थना] (आ) सब प्रकार (शृणवत्) सुने ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो सेना गण शिल्प विद्या द्वारा आकाश आदि में जाते हैं, और जितेन्द्रिय होकर प्रीति के साथ मिल कर रहते हैं, वे परमेश्वर से बल पाकर शूर सेनापति की सहायता से शत्रुओं को मारते हैं ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का पहिला भाग आचुका है—अ० । ५ । २१ । ११ ॥

रुहो॑ रु॒रोह॒ रोहि॑त॒ आ रु॑रोह॒ गर्भो॒ जनी॑नां ज॒नुषा॑मु॒पस्थ॑म् । ताभि॒: संर॑ब्धम॒न्व॑विन्द॒न् षडु॒र्वीर्गा॒तुं प्र॒पश्य॑न्नि॒ह रा॒ष्ट्रमाहा॑: ॥ ४ ॥

रुह॑: । रु॒रोह॒ । रोहि॑तः । आ । रु॒रोह॒ । गर्भ॑: । जनी॑नाम् । ज॒नुषा॑म् । उ॒प-स्थ॑म् ॥ ताभि॑: । सम्-र॑ब्धम् । अनु॑ । अ॒वि॒न्द॒न् । षट् । उ॒र्वीः । गा॒तुम् । प्र॒-पश्य॑न् । इ॒ह । रा॒ष्ट्रम् । आ । अ॒हा॒: ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (रुहः) सृष्टि की सामग्रियों को (रुरोह) उत्पन्न किया, और (जनीनाम्) उत्पन्न करने

मित्रेण (प्र) प्रकर्षेण (मृणीत) मृ हिंसायाम् । मारयत (शत्रून्) अरीन् (आ) समन्तात् (वः) युष्मान् (रोहितः) म० १ । सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (शृणवत्) शृणुयात् (सुदानवः) हे महादातारः (त्रिषप्तासः) बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । इति डच्, असुगागमः । त्रिभिः कर्म्मोपासनाज्ञानैः सह सप्त त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयो येषां ते तथाभूताः (मरुतः) (स्वादुसम्मुदः) कृवापाजिमिस्वदि० । उ० १ । १ ष्वद् आस्वादने—उण्+सम्+मुद हर्षे-क्विप् । भोज्यान्ने परस्परहर्षितारः ॥

४—(रुहः) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—क्विप् । सृष्टिसामग्रीः (रुरोह) उत्पादितवान् (रोहितः) म० १ सर्वस्रष्टा (आ रुरोह) आरूढ-

की शक्तियों का (गर्भः) गर्भ [आधार वह परमेश्वर] (जनुषाम्) उत्पन्न होने वाले पदार्थों की (उपस्थम्) गोद में (आ रुरोह) चढ़ गया। (ताभिः) उन [उत्पन्न करने वाली शक्तियों] से (संरब्धम्) मिले हुये [उस परमेश्वर] को (षट्) छह [ऊपर, नीचे, पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर] (उर्वीः) चौड़ी [दिशाओं] ने (अनु) निरन्तर (अविन्दन्) पाया है, (गातुम्) मार्ग (प्रपश्यन्) आगे देखते हुये उस [परमेश्वर ने] (इह) यहां पर (राष्ट्रम्) अपना राज्य (आ) सब ओर से (अहाः) अङ्गीकार किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब सृष्टि के पदार्थों का उत्पादक और नियन्ता होकर और दूर और समीप सब स्थान में वर्तमान रहकर राज्य करता है ॥ ४ ॥

इस मन्त्र में (रुह) धातु से बने शब्दों में अनुप्रास अलङ्कार है ॥

आ ते राष्ट्रमिह रोहितोऽहार्षीद् व्यास्थन्मृधो अभयं ते अभूत्। तस्मै ते द्यावापृथिवी रेवतीभिः कामं दुहाथामिह शक्करीभिः॥ ५ ॥

आ। ते। राष्ट्रम्। इह। रोहितः। अहार्षीत्। वि। आस्थत्। मृधः। अभयम्। ते। अभूत्॥ तस्मै। ते। द्यावापृथिवी इति। रेवतीभिः। कामम्। दुहाथाम्। इह। शक्करीभिः॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (रोहितः) सबका उत्पन्न करने वाला [पर-

वान् (गर्भः) आधारः (जनीनाम्) उत्पत्तिशक्तीनाम् (जनुषाम्) जनेरुसिः। उ० २। ११५। जन जनने—उसि। जन्मवतां पदार्थानाम् (उपस्थम्) क्रोडम् (ताभिः) शक्तिभिः (संरब्धम्) संबद्धम् (अनु) निरन्तरम् (अविन्दन्) प्राप्तवत्यः (षट्) ऊर्ध्वाधोभ्यां सह पूर्वादयः (उर्वीः) विस्तृता दिशाः (गातुम्) मार्गम् (प्रपश्यन्) अवलोकयन् (इह) अत्र। संसारे (राष्ट्रम्) राज्यम् (आ अहाः) अ० ६। १०३। २। हरतेर्लुङ्। आहृतवान्। समन्तात् स्वीकृतवान् ॥

५—(ते) तव (राष्ट्रम्) राज्यम् (इह) संसारे (रोहितः) मं० १।

मेश्वर] (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (इह) यहां [संसार में] (आ अहार्षीत) लाया है और उसने (मृधः) हिंसक [शत्रुओं] को (वि आस्थत्) गिरा दिया है, (ते) तेरे लिये (अभयम्) अभय (अभूत्) हो गया है। (तस्मै ते) उस तेरे लिये (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और पृथिवी दोनों (रेवतीभिः) धन वाली (शक्करीभिः) शक्तियों के साथ (कामम्) कामना को (इह) यहां [इस राज्य में] (दुहाथाम्=०—ताम्) पूरी करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर की आज्ञा में तत्पर होकर राज्य चलाता है, उसको आध्यात्मिक, आधिभौतिक, और आधदैविक क्लेश नहीं होते ॥ ५ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी जजान तत्र तन्तुं परमेष्ठी ततान ।
तत्र शिश्रियेऽज एकपादोऽदृंहद् द्यावापृथिवी बलेन ॥ ६ ॥

रोहितः । द्यावापृथिवी इति । जजान । तत्र । तन्तुम् । परमे-स्थी । ततान ॥ तत्र । शिश्रिये । अजः । एक-पादः । अदृंहत् । द्यावापृथिवी इति । बलेन ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न किया, (तत्र) उस में (परमेष्ठी) सब से ऊंचे पद वाले [उस परमेश्वर] ने (तन्तुम्) तन्तु [सूत्रात्मा वायु] को (ततान) फैलाया । (तत्र) उसमें (अजः) वह अजन्मा (एकपादः)

सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (आ अहार्षीत्) आनीतवान् (वि) पृथग्भावे (आस्थत्) असु क्षेपणे-लुङ् । क्षिप्तवान् (मृधः) मृधु उन्दने हिंसायां च—क्विप् । हिंसकान् । शत्रून् (अभयम्) भयराहित्यम् (ते) तुभ्यम् (अभूत्) (तस्मै) तथाभूताय (ते) तुभ्यम् (द्यावापृथिवी) सूर्य्यभूमी (रेवतीभिः) अ० ३।४।७। धनवतीभिः (कामम्) कामनाम् (दुहाथाम्) तकारस्य थः । दुहाताम् । पूरयताम् (इह) राज्ये (शक्वरीभिः) अ० ३ । १२ । ७ । शक्लृ शक्तौ—वनिप् । शक्तिभिः ॥

६—(रोहितः) म० १ । सर्वोत्पादकः (द्यावापृथिवी) सूर्य्यभूमी (जजान) जनयामास (तत्र) तस्मिन् (तन्तुम) सूत्रम् । सूत्रात्मानं वायुम् । आकर्षणम् (परमेष्ठी) सर्वोत्कृष्टे पदे स्थितः परमेश्वरः (ततान) विस्तारया-

एक ढंग वाला [सब जगत् में एक रस व्यापक] (शिश्रिये) ठैरा; उसने (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और पृथिवी को (बलेन) अपने बल से (अदृंहत्) दृढ़ किया ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा ने सब सूर्य्य पृथ्वी आदि लोकों को उत्पन्न करके, और उनके भीतर सूत्रात्मा वायु वा आकर्षण रख कर सब को नियम में बांधा है, वैसे ही बलवान् पुरुष अपने इन्द्रियों और सब लोगों को विविध प्रकार अपने वश मे रक्खे ॥ ६ ॥

रोहितो द्यावापृथिवी अदृंहत् तेन स्वः स्तभितं तेन नाकः ।
तेनान्तरिक्षं विमिता रजांसि तेन देवा अमृतमन्वविन्दन् ७

रोहितः । द्यावापृथिवी इति । अदृंहत् । तेन । स्वः । स्तभितम् । तेन । नाकः ॥ तेन । अन्तरिक्षम् । वि-मिता । रजांसि । तेन । देवाः । अमृतम् । अनु । अविन्दन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (द्यावापृथिवी) सूर्य्य और भूमि को (अदृंहत्) दृढ़ किया, (तेन) उसी करके (स्वः) सामान्य सुख [अभ्युदय] (स्तभितम्) थांभा गया है, (तेन) उसी करके (नाकः) विशेष सुख [निः श्रेयस मोक्ष सुख, थांभा गया है] । (तेन) उसी करके (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष और (रजांसि) सब लोक (विमिता) नाप डाले गये हैं, (तेन) उस से ही (देवाः) विद्वानों ने (अमृतम्) अमरपन [उत्साह वर्धक मोक्ष सुख] (अनु) निरन्तर (अविन्दन्) पाया है ॥ ७ ॥

मास (तत्र) (शिश्रिये) तस्थौ (अजः) अजन्मा (एकपादः) सर्वजगति निरन्तरव्यापकः (अदृंहत्) दृढीकृतवान् (द्यावापृथिवी) (बलेन) सामर्थ्येन ॥

७—(रोहितः) म० १ (द्यावापृथिवी) (अदृंहत्) दृढीकृतवान् (तेन) रोहितेन (स्वः) सामान्यसुखम् । अभ्युदयः (स्तभितम्) दृढीकृतम् (तेन) (नाकः) विशेषसुखम् । निः श्रेयसम् । मोक्षसुखम् (तेन) (अन्तरिक्षम्) (विमिता) विविधं परिमितानि (रजांसि) लोकाः (तेन) रोहितेन (देवाः) विद्वांसः (अमृतम्) अमरणम् । पुरुषार्थम् (अनु) निरन्तरम् (अविन्दन्) अलभन्त ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सब सृष्टि रची है और जो सब का नियन्ता है, उसी जगदीश्वर के ज्ञान से मनुष्य उन्नति करके आनन्द पाते हैं॥७॥

वि रोहितो अमृशद् विश्वरूपं समाकुर्वाणः प्ररुहो रुहश्च । दिवं रूढ्वा महता महिम्ना सं ते राष्ट्रमनक्तु पयसा घृतेन॥८

वि । रोहितः । अमृशत् । विश्व-रूपम् । सम्-आकुर्वाणः । प्र-रुहः । रुहः । च ॥ दिवम् । रूढ्वा । महता । महिम्ना । सम् । ते । राष्ट्रम् । अनक्तु । पयसा । घृतेन ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(रुहः) सृष्टि की सामग्रियों (च) और (प्ररुहः) सृष्टि की वस्तुओं को (समाकुर्वाणः) एकत्र करते हुये (रोहितः) सब उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (विश्वरूपम्) जगत् के रूप को (वि अमृशत्) विचारा, वह (परमेश्वर] (महता) अपनी विशाल (महिम्ना) महिमा से (दिवम्) विजय की इच्छा में (रूढ्वा) ऊंचा होकर (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (पयसा) अन्न से और (घृतेन) जल से (सम् अनक्तु) संयुक्त करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सब के कार्य्य और कारण को जानता है, उसी की महिमा के विचार से मनुष्य उन्नति करके अन्न जल आदि पदार्थ प्राप्त करें ॥ ८ ॥

यास्ते रुहः प्ररुहो यास्त आरुहो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् । तासां ब्रह्मणा पयसा वावृधानो विशि राष्ट्रे जागृहि रोहितस्य ॥ ९ ॥

८—(वि) विविधम् (रोहितः) म० १ । सर्वोत्पादकः (अमृशत्) विचारितवान् (विश्वरूपम्) जगतः स्वरूपम् (समाकुर्वाणः) राशीकुर्वन् (प्ररुहः) रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—क्विप् सृष्टिवस्तूनि (रुहः) सृष्टिसामग्रीः (च) (दिवम्) विजिगीषाम् (रूढ्वा) आरुह्य (महता) विशालेन (महिम्ना) महत्त्वेन (ते) तव (राष्ट्रम्) राज्यम् (समनक्तु) संयोजयतु (पयसा) अन्नेन—निघ० २ । ७ (घृतेन) जलेन—निघ० १ । १२ ॥

याः । ते । रुहः । प्र-रुहः । याः । ते । आ-रुहः । याभिः । आ-पृणासि । दिवम् । अन्तरिक्षम् ॥ तासाम् । ब्रह्मणा । पयसा । ववृधानः । विशि । राष्ट्रे । जागृहि । रोहितस्य ९

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (याः) जो (रुहः) सृष्टि की सामग्री और (प्ररुहः) सृष्टि की वस्तुयें हैं और (याः) जो (ते) तेरे लिये (आरुहः) सृष्टि की स्थितियां हैं, (याभिः) जिनसे (दिवम्) आकाश और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आपृणासि=०-ति) सब ओर से वह [ईश्वर] भरता है। (तासाम्) उनके (ब्रह्मणा) अन्न और (पयसा) जल से (ववृधानः) बढ़ता हुआ तू (रोहितस्य) सब के उत्पन्न करनेवाले [परमेश्वर] के (राष्ट्रे) राज्य में (विशि) प्रजा पर (जागृहि) जागता रह ॥ ९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने राज्य में मनुष्य को सब सृष्टि से उत्तम बनाया है। मनुष्य प्रत्येक पदार्थ के कारण, कार्य्य और स्थिति को विचारकर उसे उपयोगी बनावे ॥ ९ ॥

यास्ते विशस्तपसः संबभूवुर्वत्सं गायत्रीमनु ता इहागुः । तास्त्वा विशन्तु मनसा शिवेन संमाता वत्सो अभ्येतु रोहितः ॥ १० ॥ (१)

याः । ते । विशः । तपसः । सम्-बभूवुः । वत्सम् । गायत्रीम् । अनु । ताः । इह । आ । अगुः ॥ ताः । त्वा । आ । विशन्तु । मनसा । शिवेन । सम्-माता । वत्सः । अभि । एतु । रोहितः ॥ १० ॥ (१)

९—(याः) (ते) तुभ्यम् (रुहः) म० ८। सृष्टिसामग्रीः (प्ररुहः) म० ८। सृष्टिवस्तूनि (याः) (ते) तुभ्यम् (आरुहः) सृष्टिस्थितीः (याभिः) (आपृणासि) तस्य सः। आपृणाति। समन्तात् पूरयति रोहितः (दिवम्) आकाशम् (अन्तरिक्षम्) (तासाम्) (ब्रह्मणा) अन्नेन—निघ० २। ७ (पयसा) उदकेन—निघ० १। १२ (ववृधानः) छान्दसो दीर्घः। वृद्धिं कुर्वाणः (विशि) प्रजायाम् (राष्ट्रे) राज्ये (जागृहि) जागृतो भव (रोहितस्य) म० १। सर्वोत्पादकस्य ॥

ऊ॒र्ध्वो रोहि॑तो॒ अधि॒ नाके॒ अस्था॒द् विश्वा॑ रू॒पाणि॑ ज॒नय॑न्
युवा॑ क॒विः । ति॒ग्मेना॒ग्निर्ज्योति॑षा॒ वि भा॑ति तृ॒तीये॑ चक्रे
रज॑सि प्रि॒याणि॑ ॥ ११ ॥

ऊ॒र्ध्वः । रोहि॑तः । अधि॑ । नाके॑ । अ॒स्था॒त् । विश्वा॑ । रू॒पाणि॑ ।
ज॒नय॑न् । युवा॑ । क॒विः ॥ ति॒ग्मेन॑ । अ॒ग्निः । ज्योति॑षा । वि ।
भा॒ति॒ । तृ॒तीये॑ । च॒क्रे॒ । रज॑सि । प्रि॒याणि॑ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (याः) जो (विशः) प्रजायें (ते) तेरे लिये (तपसः) ऐश्वर्यरूप [परमेश्वर] से (संबभूवुः) उत्पन्न हुई हैं, (ताः) वे सब (वत्सम्) बड़े उपदेशक [परमेश्वर] और (गायत्रीम् अनु) पूजा योग्य वेदवाणी के पीछे पीछे (इह) यहां (आ अगुः) आई हैं । (ताः) वे सब (शिवेन) तेरे आनन्दकारी (मनसा) मनन से (त्वा) तुझ में (आ विशन्तु) प्रवेश करें, (संमाता) समान माता [जननी], (वत्सः) बड़ा उपदेशक (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (अभि) सब ओर से (एतु) प्राप्त हो ॥ १० ॥

भावार्थ—सब के माता पिता परमात्मा ने जो जो पदार्थ मनुष्य के लिये उत्पन्न किये हैं, उनसे धर्मात्मा विज्ञानी लोग आनन्द प्राप्त करके परमेश्वर की महिमा जानते हैं ॥ १० ॥

भाषार्थ—(युवा) बली, (कविः) ज्ञानी (रोहितः) सब का उत्पन्न

१०—(याः) (ते) तुभ्यम् (विशः) प्रजाः (तपसः) ऐश्वर्यरूपात् परमेश्वरात् (संबभूवुः) उत्पन्ना बभूवुः (वत्सम्) वृतृवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद कथने—समस्ययः । महोपदेशकम् (गायत्रीम्) अ० १० । ८ । ४१ । गै गाने—अतच्, ङिप्, युक्, लोप् च । गायत्री गायतेःस्तुतिकर्मणः—निरु० ३ । १२ । स्तुत्यां वेदवाचम् (अनु) अनुसृत्य (ताः) प्रजाः (इह) (आगुः) आगमन् (ताः) (त्वा) (आविशन्तु) प्रविशन्तु (मनसा) मननेन (शिवेन) मङ्गलकारकेण (संमाता) सामान्यजननी (वत्सः) महोपदेशकः (अभि) सर्वतः (एतु) प्राप्नोतु (रोहितः) सर्वोत्पादकः ॥

११—(ऊर्ध्वः) उन्नतः (रोहितः) सर्वोत्पादकः (अधि) अधिकृत्य

करने वाला [परमेश्वर] (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों [सृष्टि के पदार्थों] को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (नाके) मोक्ष सुख में (अधि) अधिकार पूर्वक (ऊर्ध्वः) ऊंचा होकर (अस्थात्) ठैरा है । (अग्निः) प्रकाशस्वरूप [परमेश्वर] (तिग्मेन) तीक्ष्ण (ज्योतिषा) ज्योति के साथ (वि) विविध प्रकार (भाति) चमकता है, उसने (तृतीये) तीसरे [रजोगुण और तमोगुण से भिन्न, सत्त्व] (रजसि) लोक में [वर्त्तमान हो कर (प्रियाणि) प्रिय वस्तुओं को (चक्रे) बनाया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञ परमेश्वर ने सब संसार को रचा है, विद्वान् लोग उसकी महिमा को प्रत्येक पदार्थ में देखकर अपनी उन्नति करते हैं ११

सहस्रशृङ्गो वृषभो जातवेदा घृताहुतः सोमपृष्ठः सुवीरः । मा मा हासीन्नाथितो नेत् त्वा जहानि गोपोषं च मे वीरपोषं च धेहि ॥ १२ ॥

सहस्र-शृङ्गः । वृषभः । जात-वेदाः । घृत-आहुतः । सोम-पृष्ठः । सु-वीरः ॥ मा । मा । हासीत् । नाथितः । न । इत् । त्वा । जहानि । गो-पोषम् । च । मे । वीर-पोषम् । च । धेहि ॥ १२

भाषार्थ—(सहस्रशृङ्गः) बड़े तेज वाला, (वृषभः) महाशक्तिमान्, (जातवेदाः) वेदों का उत्पन्न करने वाला, (घृताहुतः) प्रकाश का देने वाला, (सोमपृष्ठः) ऐश्वर्य का सींचने वाला, (सुवीरः) बड़ा वीर (नाथितः) प्रार्थना

(नाके) मोक्षानन्दे (अस्थात्) स्थितवान् (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) सृष्टिवस्तूनि (जनयन्) उत्पादयन् (युवा) बली (कविः) मेधावी (तिग्मेन) तीव्रेण (अग्निः) ज्योतिःस्वरूपः परमेश्वरः (ज्योतिषा) तेजसा (वि) विविधम् (भाति) दीप्यते (तृतीये) रजस्तमोभ्यां भिन्ने सत्त्वगुणे (चक्रे) रचयामास (रजसि) लोके (प्रियाणि) हितकराणि वस्तूनि ॥

१२—(सहस्रशृङ्गः) अ० ४ । ५ । १ । बहुतेजाः (वृषभः) महाशक्तिमान् (जातवेदाः) जातानि उत्पन्नानि वेदांसि वेदा यस्मात् सः (घृताहुतः] प्रकाशप्रदः (सोमपृष्ठः) ऐश्वर्यसेचकः (सुवीरः) महाशूरः (मा) माम् (मा हासीत्)

किया गया [परमेश्वर] (मा) मुझको (मा हासीत्) न छोड़े । (त्वा) तुझको (न इत्) कभी नहीं (जहानि) मैं छोड़ूं, (मे) मुझको (गोपोषम्) विद्याओं की वृद्धि (च च) और (वीरपोषम्) वीरों की पुष्टि (धेहि) दान कर ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस महातेजस्वी, सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की उपासना से अपने ज्ञानों और वीरों की वृद्धि करें ॥ १२ ॥

रोहि॑तो य॒ज्ञस्य॑ जनि॒ता मुखं॑ च॒ रोहि॑ताय वा॒चा श्रोत्रे॑ण॒ मन॑सा जुहोमि । रोहि॑तं दे॒वा य॑न्ति सुमन॒स्यमा॑ना॒ स मा॒ रोहैः॑ सामि॒त्यै रो॑हयतु ॥ १३ ॥

रोहि॑तः । य॒ज्ञस्य॑ । ज॒नि॒ता । मुख॑म् । च॒ । रोहि॑ताय । वा॒चा । श्रोत्रे॑ण । मन॑सा । जु॒हो॒मि॒ ॥ रोहि॑तम् । दे॒वाः । य॒न्ति॒ । सु॒ऽम॒न॒स्यमा॑नाः । सः । मा॒ । रोहैः॑ । सा॒म्ऽइ॒त्यै । रो॒ह॒य॒तु॒ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (यज्ञस्य) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान व्यवहार] का (जनिता) उत्पन्न करने वाला (च) और (मुखम्) मुख [मुखिया] है, (वाचा) वाणी से, (श्रोत्रेण) श्रवण से और (मनसा) मन से (रोहिताय) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर की सेवा] के लिये (जुहोमि) मैं भोजन करता हूं । (सुमनस्यमानाः) शुभचिन्तक (देवाः) विजय चाहने वाले लोग (रोहितम्)

न त्यजतु (नाथितः) प्रार्थितः (नेत्) नैव (त्वा) (जहानि) त्यजानि (गोपोषम्) गवानां विद्यानां वृद्धिम् (च) (मे) मह्यम् (वीरपोषम्) शूराणां पोषणम् (च) (धेहि) देहि ॥

१३—(रोहितः) (यज्ञस्य) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारस्य (जनिता) उत्पादकः (मुखम्) प्रधानः (च) (रोहिताय) परमेश्वरोपासनाय (वाचा) वाण्या (श्रोत्रेण) श्रवणेन (मनसा) चित्तेन (जुहोमि) हु अदने । अन्नं करोमि (रोहितम्) (देवाः) विजिगीषवः (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सुमनस्यमानाः) अ० १ । ३५ । १ । शुभचिन्तकाः (सः) परमेश्वरः (मा) माम् (रोहैः)

सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (यन्ति) प्राप्त होते हैं, (सः) वह [परमेश्वर] (मा) मुझको (रोहैः) ऊंचाइयों के साथ (सामित्यै) समिति [संगति] के लिये (रोहयतु) ऊंचा करे ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब श्रेष्ठ व्यवहारों के उपदेशक परमेश्वर की पूरी भक्ति करते हैं, वे शूर वीरों के समान अनेक प्रकार उन्नति करके श्रेष्ठ सभापति होते हैं ॥ १३ ॥

रोहि॑तो य॒ज्ञं व्य॑दधाद् विश्वक॑र्मणे॒ तस्मा॑त् तेजां॒स्युप॑ मे॒मान्याग॑ुः । वो॒चेयं॑ ते॒ नाभिं॒ भुव॑नस्याधि॑ म॒ज्मनि॑ ॥ १४ ॥

रोहि॑तः । य॒ज्ञम् । वि । अ॒द॒धा॒त् । वि॒श्व-क॑र्मणे । तस्मा॑त् । तेजां॑सि । उप॑ । मा॒ । इ॒मानि॑ । आ । अ॒गुः॒ ॥ वो॒चेय॑म् । ते॒ । नाभि॑म् । भुव॑नस्य । अधि॑ । म॒ज्मनि॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (यज्ञम्) यज्ञ [संगति योग्य व्यवहार] को [विश्वकर्मणे] सब कामों में चतुर [मनुष्य] के लिये (वि अदधात्) उत्पन्न किया है, (तस्मात्) उस [परमेश्वर] से (इमानि) यह सब (तेजांसि) तेज (मा) मुझको (उप) समीप से (आ अगुः) प्राप्त हुये हैं। [हे परमेश्वर ! (ते) तेरे (नाभिम्) सम्बन्ध को (भुवनस्य) संसार के (मज्मनि) बल के भीतर (अधि) अधिकार पूर्वक (वोचेयम्) मैं बतलाऊं ॥ १४ ॥

उन्नतिभिः (सामित्यै) छान्दसो दीर्घः । समित्यै । संगतये (रोहयतु) उन्नयतु ॥

१४—(रोहितः) परमेश्वरः (यज्ञम्) संगतिकरणव्यवहारम् (व्यदधात्) उत्पादितवान् (विश्वकर्मणे) सर्वकर्मप्रवीणाय मनुष्याय (तस्मात्) परमेश्वरात् (तेजांसि) (उप) समीपे (मा) माम् (इमानि) दृश्यमानानि (आ अगुः) प्राप्तानि अभवन् (वोचेयम्) वदेयम् (ते) तव (नाभिम्) सम्बन्धम् (भुवनस्य) संसारस्य (अधि) अधिकृत्य (मज्मनि) टुमस्जो शुद्धौ—मनिन् । मज्मना बलनाम—निघ० २ । ६ । बले ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने मनुष्य के हित के लिये सब श्रेष्ठ कर्म उत्पन्न किये हैं, जो विद्वान् उसकी महिमा के प्रकाश को प्रत्येक पदार्थ में देखते हैं. वे बलवान् होते हैं ॥ १४ ॥

आ त्वा॑ रुरोह बृह॒त्यु॒३॒॑त प॒ङ्क्तिरा क॒कुब् वर्च॑सा जातवेदः । आ त्वा॑ रुरोहोष्णिहाक्ष॒रो व॑षट्का॒र आ त्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रेत॑सा स॒ह ॥ १५ ॥

आ । त्वा॒ । रु॒रो॒ह॒ । बृ॒ह॒ती । उ॒त । प॒ङ्क्तिः । आ । क॒कुप् । वर्च॑सा । जा॒त॒ऽवे॒दः॒ ॥ आ । त्वा॒ । रु॒रो॒ह॒ । उ॒ष्णि॒हा॒ऽअ॒क्ष॒रः । व॒ष॒ट्ऽका॒रः । आ । त्वा॒ । रु॒रो॒ह॒ । रोहि॑तः । रेत॑सा । स॒ह ॥१५

भाषार्थ—(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञानवाले पुरुष ! (त्वा) तुझको (बृहती) विशाल विद्या ने (उत) और (पङ्क्तिः) कीर्त्ति ने (आ) सब ओर से और (ककुप्) सुख फैलाने वाली शोभा ने (वर्चसा) प्रताप के साथ (आ) सब ओर से (रुरोह) ऊंचा किया है। (त्वा) तुझको (उष्णिहाक्षरः) बड़ी प्रीति से फैलने वाले, (वषट्कारः) दान व्यवहार ने (आ) सब ओर से (रुरोह) ऊंचा किया है। और (त्वा) तुझको (रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (रेतसा सह) पराक्रम के साथ (आ) सब प्रकार से (रुरोह) ऊंचा किया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों को धारण करते हैं, परमेश्वर उनको संसार में पराक्रमी करता है ॥ १५ ॥

१५—(आ) समन्तात् (त्वा) (रुरोह) अन्तर्गतण्यर्थः । उन्निनाय (बृहती) विशाला विद्या (उत) अपि (पङ्क्तिः) पचि विस्तारे—क्तिन् । कीर्त्तिः । पृथिवी (ककुप्) कं सुखं स्कुभ्नाति विस्तारयतीति सा । क+स्कुभ विस्तारे—क्विप् । शोभा (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (आ) (त्वा) (रुरोह) (उष्णिहाक्षरः) उत्+ष्णिह प्रीतौ—क्विन्, टाप् । अशेः सरन् । उ० ३ । ७० । अशू व्याप्तौ—सरन् । उत्कृष्टप्रीत्या व्यापकः (वषट्कारः) अ० १ । १० । १ । वह प्रापणे—डषटि । दानव्यवहारः (त्वा) (रुरोह) (रोहितः) (रेतसा) सामर्थ्येन (सह) साकम् ॥

अयं वस्ते गर्भं पृथिव्या दिवं वस्तेऽयमन्तरिक्षम् ।
अयं ब्रध्नस्य विष्टपि स्वर्लोकान् व्यानशे ॥ १६ ॥

अयम् । वस्ते । गर्भम् । पृथिव्याः । दिवम् । वस्ते । अयम् । अन्तरिक्षम् ॥ अयम् । ब्रध्नस्य । विष्टपि । स्वः । लोकान् । वि । आनशे ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [परमेश्वर] (पृथिव्याः) पृथिवी के (गर्भम्) गर्भ [उदर] को (वस्ते) ढकता है, (अयम्) यह (दिवम्) आकाश और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (वस्ते) ढकता है। (अयम्) यह (ब्रध्नस्य) नियम के (विष्टपि) आश्रय पर (स्वः) सुख से (लोकान्) लोकों में (वि आनशे) व्यापा है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर पृथिवी आदि की सीमा के परिमाणसे अधिक बड़ा है, मनुष्य उसकी उपासना से अपनी वृद्धि करके आनन्द पावें ॥ १६ ॥

वाचस्पते पृथिवी नः स्योना स्योना योनिस्तल्पा नः सुशेवा ।
इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यग्निरायुषा वर्चसा दधातु ॥ १७ ॥

वाचः । पते । पृथिवी । नः । स्योना । स्योना । योनिः । तल्पा । नः । सु-शेवा ॥ इह । एव । प्राणः । सख्ये । नः । अस्तु । तम् । त्वा । परमे-स्थिन् । परि । अग्निः । आयुषा । वर्चसा । दधातु ॥ १७ ॥

१६—(अयम्) व्यापकः परमेश्वरः (वस्ते) आच्छादयति (गर्भम्) उदरम् (पृथिव्याः) भूमेः (दिवम्) आकाशम् (वस्ते) (अयम्) (अन्तरिक्षम्) (अयम्) (ब्रध्नस्य) अ० १०।१०।३१। बन्ध बन्धने-नक्, ब्रधादेशः। नियमस्य (विष्टपि) वि+ष्टभिः प्रतिबन्धे-क्विप्, भस्य पः । आश्रये (स्वः) सुखेन (लोकान्) (वि आनशे) अशू व्याप्तौ-लिट्। व्याप्तवान् ॥

लिये (वैश्वकर्मणाः) सब कर्मों के हितकारी (परि) सब ओर से (संबभूवुः) प्राप्त हुये हैं। (इह एव) यहां ही [इसी मनुष्य जन्म में] (प्राणः) प्राण [जीवन वायु] (नः) हमारी (सख्ये) मित्रता में (अस्तु) होवे, (परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पद वाले [परमेश्वर!] (तम् त्वा) उस तुझको (रोहितः) उत्पन्न हुआ [यह मनुष्य] (आयुषा) आयु के साथ और (वर्चसा) प्रताप के साथ (परि) सब ओर से (दधातु) धारण करे ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वसंत आदि छह ऋतुओं को पृथिवी आदि पांच तत्वों के साथ उपयोगी बनाते हैं, वे परमात्मा के गुणों को जान कर अपने जीवन भर स्वस्थ और प्रतापी रह कर उन्नति करते हैं ॥ १८ ॥

वाचस्पते सौमनसं मनश्च गोष्ठे नो गा जनय योनिषु प्रजाः। इहैव प्राणः सख्ये नो अस्तु तं त्वा परमेष्ठिन् पर्यहमायुषा वर्चसा दधामि ॥ १९ ॥

वाचः। पते। सौमनसम्। मनः। च। गो-स्थे। नः। गाः। जनय। योनिषु। प्र-जाः॥ इह। एव। प्राणः। सख्ये। नः। अस्तु। तम्। त्वा। परमे-स्थिन्। परि। अहम्। आयुषा। वर्चसा। दधामि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(वाचः पते) हे वेदवाणी के स्वामी [परमेश्वर!] (सौमनसम्) शुभचिन्तकता, (मनः) मनन, (गाः) वाणियों [नीतों] (च) और (प्रजाः) प्रजाओं [पुत्र, पौत्र, राज्य जनों] को (नः) हमारी (गोष्ठे) गोष्ठ [बातों के स्थान] में और (योनिषु) घरों में (जनय) उत्पन्न कर। (इह एव) यहां ही [इसी मनुष्य जन्म में] (प्राणः) प्राण [जीवन, वायु] (नः)

स्त्रीपुरुषाभ्याम् (वैश्वकर्मणाः) विश्वकर्मन्—अण्। सर्वकर्मभ्यो हिताः। (परि) सर्वतः (सम्बभूवुः) प्राप्ता बभूवुः (रोहितः) म० १। रुह प्रादुर्भावे—इतन्। उत्पन्नो मनुष्यः। अन्यत् पूर्ववत् म० १७ ॥

१९—(सौमनसम्) शुभचिन्तकत्वम् (मनः) मननम् (च) (गोष्ठे) वाचालये (नः) अस्माकम् (गाः) वाणीः। नीतीः। (जनय) उत्पादय (योनिषु)

हमारी (सख्ये) मित्रता में (अस्तु) होवे, (परमेष्ठिन्) हे बड़े ऊंचे पद वाले [परमेश्वर !] (तम् त्वा) उस तुझको (अहम्) मैं [मनुष्य] (आयुषा) आयु के साथ और (वर्चसा) प्रताप के साथ (परि) सब ओर से (दधामि) धारण करता हूं ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर की वेदोक्त आज्ञा पर चल कर अपनी सभा और घर को सुनीतिज्ञ बना कर परस्पर हित करते हैं, वेही संसार में यशस्वी होते हैं ॥ १९ ॥

परि॑ त्वा धात् सवि॒ता दे॒वो अ॒ग्निर्वर्च॑सा मि॒त्रावरु॑णाव॒भि त्वा॑ । सर्वा॒ अरा॑तीरव॒क्राम॒न्नेही॒दं रा॒ष्ट्रम॑करः सू॒नृता॑वत् २०॥(२)

परि॑ । त्वा॒ । धा॒त् । स॒वि॒ता । दे॒वः । अ॒ग्निः । वर्च॑सा । मि॒त्रावरु॑णौ । अ॒भि । त्वा॒ ॥ सर्वाः॑ । अरा॑तीः । अ॒व॒-क्राम॑न् । आ । इ॒हि॒ । इ॒दम् । रा॒ष्ट्रम् । अ॒क॒रः॒ । सू॒नृता॑-वत् ॥२०॥(२)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (सविता) प्रेरक, (देवः) प्रकाशमान (अग्निः) अग्नि [सूर्य्य आदि] ने (वर्चसा) तेज के साथ [वर्त्तमान] (त्वा) तुझको (परि) सब ओर से (धात्) धारण किया है और (मित्रावरुणौ) प्राण और अपान वायु ने (त्वा) तुझको (अभि) सब ओर से [धारण किया है] ।

[हे सेनापते राजन् !] (सर्वाः) सब (अरातीः) वैरी दलों को (अवक्रामन्) लतियाता हुआ तू (आ इहि) आ, (इदम् राष्ट्रम्) इस राज्य को तू ने (सूनृतावत्) सुन्दर नीति युक्त (अकरः) बनाया है ॥ २० ॥

गृहेषु (प्रजाः) पुत्रपौत्रराज्यजनान् (अहम्) मनुष्यः (दधामि) स्थापयामि । अन्यत् पूर्ववत् म० १७ ॥

२०—(परि) (त्वा) परमेश्वरम् (धात्) अदधात् । धारितवान् (सविता) प्रेरकः (देवः) प्रकाशमानः (अग्निः) सूर्य्यादिः (वर्चसा) तेजसा (मित्रावरुणौ) प्राणापानौ (अभि) प्रति (त्वा) (सर्वाः) (अरातीः) अदानशीलाः शत्रवः (अवक्रामन्) पादेन अधोगमयन् (इह) (इदम्) (राष्ट्रम्) राज्यम् (अकरः) कृतवानसि (सूनृतावत्) सुनीतियुक्तम् ॥

भावार्थ—जिस प्रकार परमेश्वर सब अग्नि, सूर्य्य, वायु आदि पदार्थों को वश में करके सृष्टि का राज्य करता है, इसी प्रकार मनुष्य जितेन्द्रिय हो कर विघ्नों को हटा कर आनन्द करे ॥ २० ॥

यं त्वा पृषती रथे प्रष्टिर्वहति रोहित। शुभा यासि रिणन्नपः॥२१

यम् । त्वा । पृषती । रथे । प्रष्टिः । वहति । रोहित ॥ शुभा । यासि । रिणन् । अपः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(रोहित) हे सबके उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर !] (यम् त्वा) जिस तुझको (प्रष्टिः) प्रश्न योग्य (पृषती) सींचने वाली [प्रकृति] (रथे) रमण योग्य [संसार] में (वहति) प्राप्त होती है । वह तू (अपः) प्रजाओं को (शुभा) शोभा के साथ (रिणन्) चलाता हुआ (यासि) चलता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—खोजने से विवेकी लोग निश्चय करते हैं कि सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता परमेश्वर के सामर्थ्य से असीम प्रकृति में संयोग वियोग होने से संसार का प्रादुर्भाव होता है ॥ २१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० ८।७।२८ ॥

अनु॑व्रता रोहि॑णी रोहि॑तस्य सूरिः सुवर्णा बृहती सुवर्चाः। तया वाजान् विश्वरूपां जयेम तया विश्वाः पृतना अभि ष्याम ॥ २२ ॥

अनु॑-व्रता । रोहि॑णी । रोहि॑तस्य । सूरिः । सु-वर्णा । बृहती । सु-वर्चाः ॥ तया । वाजान् । विश्व-रूपान् । जयेम । तया ।

२१—(यम्) (त्वा) परमेश्वरम् (पृषती) वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महद० । उ० २ । ८४ । पृषु सेचने-अति, ङीप् । सेचनशीला प्रकृतिः (रथे) अ० ४ । १२ । ६ । रमणीये संसारे (प्रष्टिः) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्-ति प्रष्टव्या (वहति) प्राप्नोति (रोहित) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर (शुभा) शोभया (यासि) गच्छसि । प्राप्नोषि (रिणन्) रि हिंसायां गतौ च—शतृ । गमयन् (अपः) प्रजाः ॥

तस्य) उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] का (सदः) प्राप्ति योग्य पद है, (असौ) वही (पन्थाः) मार्ग है, (येन) जिस से (पृषती) सींचने वाली [प्रकृति] (याति) चलती है। (ताम्) उस [प्रकृति] को (गन्धर्वाः) पृथिवी वा जल धारण करने वाले [मेघ] और (कश्यपाः) रस पीने वाले [किरण] (उत् नयन्ति) ऊंचा करते हैं, (ताम्) उस [प्रकृति] को (कवयः) बुद्धिमान् लोग (अप्रमादम्) विना चूके (रक्षन्ति) पालते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—प्रकृति की चाल के ज्ञान से मनुष्य परमात्मा की महिमा जानकर अनेक लाभ उठाते हैं, जैसे मेघ जल बरसाकर और किरणें जल खींचकर और प्रकाश करके प्रकृति के उत्तम गुणों को दिखाते हैं। बुद्धिमान् लोग इसी प्रकृति को निरन्तर खोजते हुये नवीन नवीन अविष्कार करते हैं ॥ २३ ॥

सूर्यस्याश्वा हरयः केतुमन्तः सदा वहन्त्यमृताः सुखं रथम् । घृतपावा रोहितो भ्राजमानो दिवं देवः पृषतीमा विवेश ॥२४

सूर्यस्य । अश्वाः । हरयः । केतु-मन्तः । सदा । वहन्ति । अमृताः । सु-खम् । रथम् ॥ घृत-पावा । रोहितः । भ्राजमानः । दिवम् । देवः । पृषतीम् । आ । विवेश ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(सूर्यस्य) सब के चलाने वाले [परमेश्वर] के (अश्वाः) व्यापक (केतुमन्तः) विज्ञानमय (अमृताः) अमर [अविनाशी वा पुरुषार्थी]

उत्पत्तिशक्तिः (रोहितस्य) म० १ । सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य (असौ) (पन्थाः) मार्गः (पृषती) म० २१ । सेचनशीला प्रकृतिः (येन) पथा (याति) गच्छति (ताम्) प्रकृतिम् (गन्धर्वाः) कृगृशृदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । गो + धृञ् धारणे—वप्रत्ययः, गोर्गमादेशः । गोः पृथिव्या जलस्य वा धारकाः । मेघाः (कश्यपाः) अ० १ । १४ । ४ । कश शब्दे—करणे यत् । कशति अनेनेति कश्यं रसः । कश्य+पा पाने—कः । रसस्य पानशीलाः किरणाः (उन्नयन्ति) उन्नतां व्याख्यातां कुर्वन्ति (ताम्) (रक्षन्ति) (कवयः) मेधाविनः (अप्रमादम्) सावधानं यथा तथा ॥

२४—(सूर्यस्य) सर्वप्रेरकस्य परमेश्वरस्य(अश्वाः) अशू व्याप्तौ—क्वन् । व्यापकाः(हरयः) स्वीकरणीया गुणाः (केतुमन्तः) चायः किः । उ०१ । ७४ । चायृ

(हरयः) स्वीकार योग्य गुण (रथम्) रमण योग्य संसार को (सुखम्) सुख से (सदा) सदा (वहन्ति) ले चलते हैं। (घृतपावा) सेचन सामर्थ्य [वृद्धि] की रक्षा करने वाले (भ्राजमानः) प्रकाशमान (देवः) ज्ञानवान् (रोहितः) सब को उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (दिवम्) व्यवहार कुशल (पृषतीम्) सींचने वाली [प्रकृति] में (आ विवेश) प्रवेश किया है॥२४॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियमों से वह संसार चल रहा है, वही परमात्मा प्रकृति में प्रवेश करके उसे चेष्टा देता है ॥ २४ ॥

यो रोहि॑तो वृष॒भस्ति॒ग्मशृ॑ङ्गः॒ पर्य॒ग्निं परि॒ सूर्यं॑ ब॒भूव॑ । यो वि॑ष्टभ्नाति॑ पृ॒थि॒वीं दिवं॑ च॒ तस्मा॑द् दे॒वा अधि॒ सृष्टीः॑ सृजन्ते ॥ २५ ॥

यः । रोहि॑तः । वृ॒ष॒भः । ति॒ग्म-शृ॑ङ्गः । परि॑ । अ॒ग्निम् । परि॑ । सूर्य॑म् । ब॒भूव॑ ॥ यः । वि॒-स्त॒भ्नाति॑ । पृ॒थि॒वीम् । दिव॑म् । च॒ । तस्मा॑त् । दे॒वाः । अधि॑ । सृष्टीः॑ । सृ॒जन्ते॒ ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (वृषभः) महाशक्तिमान् (तिग्मशृङ्गः) तीव्र तेजवाले (रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (अग्निम्) अग्नि को (परि) सब ओर से और (सूर्यम्) सूर्य को (परि) सब ओर से (बभूव) प्राप्त किया है। (यः) जो [परमेश्वर] (पृथिवीम्) पृथिवी (च)

पूजानिशामनयोः—तु । केतुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । विज्ञानमयाः (सदा) (वहन्ति) गमयन्ति (अमृताः) अमरणाः । पुरुषार्थयुक्ताः (सुखम्) सुखेन (रथम्) म० २१ । रमणयोग्यं संसारम् (घृतपावा) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । घृत+पा रक्षणे-वनिप् । सेचनबलस्य रक्षकः (रोहितः) सर्वोत्पादकः (भ्राजमानः) प्रकाशमानः (दिवम्) व्यवहारकुशलाम् (देवः) ज्ञानवान् (पृषतीम्) सेचनकुशलां प्रकृतिम् (आ विवेश) प्रविष्टवान् ॥

२५—(यः) (रोहितः) (वृषभः) महाशक्तिमान् (तिग्मशृङ्गः) तीव्रतेजाः (परि) सर्वतः (अग्निम्) प्रत्यक्षम् (परि) (सूर्यम्) आदित्यमण्डलम् (यः) (विष्टभ्नाति) विशेषेणावलम्बते (पृथिवीम्) (दिवम्) आकाशम् (च

और (-दिवम्) आकाश को (विष्टभ्नाति) विविध प्रकार थांमता है, (तस्मात्) उसी [परमेश्वर] से (देवाः) दिव्य नियम (सृष्टीः) सृष्टियों को (अधि) अधिकार पूर्वक (सृजन्ते) उत्पन्न करते हैं ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रत्यक्ष अग्नि, सूर्य आदि और सब लोकों को अपने नियम से उत्पन्न किया है, उसी की उपासना सब मनुष्य करें ॥ २५ ॥

रोहि॑तो दि॒वमारु॑हन्मह॒तः पर्य॑र्ण॒वात् । सर्वा॑ रुरोह॒ रोहि॑तो॒ रुहः॑ ॥ २६ ॥

रोहि॑तः । दि॒वम् । आ । अ॒रु॒ह॒त् । म॒ह॒तः । परि॑ । अ॒र्ण॒वात् ॥ सर्वाः॑ । रु॒रो॒ह॒ । रोहि॑तः । रुहः॑ ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब के उत्पन्न करनेवाले [परमेश्वर] ने (महतः) विशाल (अर्णवात्) समुद्र [अगम्य सामर्थ्य] में से (दिवम्) व्यवहार को (परि) सब ओर से (आ अरुहत्) प्रकट किया है। (रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (सर्वाः) सब (रुहः) उत्पन्न करने की सामग्रियों को (रुरोह) उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्रत्येक कार्य का आदि कारण होकर सब को उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

वि मि॑मीष्व॒ पय॑स्वतीं घृ॒ताचीं॑ दे॒वानां॑ धे॒नुरन॑पस्पृगे॒षा । इन्द्रः॒ सोमं॑ पिबतु॒ क्षेमो॑ अस्त्व॒ग्निः प्र स्तौ॑तु॒ वि मृधो॑ नुदस्व ॥ २७ ॥

वि । मि॒मी॒ष्व॒ । पय॑स्वतीम् । घृ॒ताची॑म् । दे॒वाना॑म् । धे॒नुः ।

(तस्मात्) परमेश्वरात् (देवाः) दिव्यनियमाः (अधि) अधिकृत्य (सृष्टीः) रचनाः । सृज्यमानान् पदार्थान् (सृजन्ते) रचयन्ति ॥

२६—(रोहितः) सर्वोत्पादकः (दिवम्) प्रत्येकव्यवहारम् (आ अरुहत्) प्रादुष्कृतवान् (महतः) विशालात् (परि) सर्वतः (अर्णवात्) समुद्रात् । अगम्यसामर्थ्यात् (सर्वाः) (रुरोह) जनयामास (रोहितः) (रुहः) सृष्टिसामग्रीः ॥

अनप-स्पृक् । एषा ॥ इन्द्रः । सोमम् । पिबतु । क्षेमः । अस्तु । अग्निः । प्र । स्तौतु । वि । मृधः । नुदस्व ॥ २७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (पयस्वतीम्) उत्तम अन्नवाली और (घृताचीम्) जल पहुंचाने वाली [प्रकृति] को (वि) विविध प्रकार (मिमीष्व) नाप, (एषा) यह (देवानाम्) विद्वानों की (अनपस्पृक्) न रोकने वाली (धेनुः) तृप्ति करनेवाली [गौ के समान] है। (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् [यह मनुष्य] (सोमम्) अमृत (पिबतु) पान करे, (क्षेमः) सकुशल (अस्तु) होवे, और (अग्निः) ज्ञानवान् [यह पुरुष] (प्र स्तौतु) स्तुति करे, तू (मृधः) वैरियों को (वि नुदस्व) निकाल दे ॥ २७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सृष्टि के बीच खोज लगाते चले चलते हैं, वे निर्विघ्न होकर ऐश्वर्य प्राप्त करके सकुशल रहके और परमात्मा के गुण गाते हुये शत्रुओं का नाश करते हैं ॥ २७ ॥

समिद्धो अग्निः संमिधानो घृतवृद्धो घृताहुतः ।
अभीषाड् विश्वाषाडग्निः सपत्नान् हन्तु ये मम ॥ २८ ॥

सम्-इद्धः । अग्निः । सम्-इधानः । घृत-वृद्धः । घृत-आहुतः ॥ अभीषाट् । विश्वाषाट् । अग्निः । स-पत्नान् । हन्तु । ये । मम ॥ २८ ॥

२७—(वि) विविधम् (मिमीष्व) माङ् माने शब्दे च। मानेन प्राप्नुहि (पयस्वतीम्) अन्नवतीम् (घृताचीम्) घृतं जलमञ्चयति प्रापयति या तां प्रकृतिम् (देवानाम्) विदुषाम् (धेनुः) अ० ३। १०। १। धि धारणे तर्पणे च—नु। धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११। ४२। तर्पयित्री (अनपस्पृक्) स्पृश संस्पर्शने—क्विप्। अप्रतिबाधिका (एषा) प्रकृतिः (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्यः (सोमम्) अमृतम्। मोक्षसुखम् (पिबतु) अनुभवतु (क्षेमः) सकुशलः (अस्तु) (अग्निः) विद्वान् पुरुषः (प्र) प्रकर्षेण (स्तौतु) प्रशंसतु (वि) पृथग्भावे (मृधः) हिंसकान् (नुदस्व) प्रेरय ॥

भाषार्थ—[जैसे] (समिद्धः) प्रकाशमान किया गया और (समिधानः) प्रकाशमान होता हुआ (घृताहुतः) घी चढ़ाया गया और (घृतवृद्धः) घी से बढ़ा हुआ (अग्निः) अग्नि हो। [वैसे ही] (अभीषाट्) सब ओर से जीतने वाला, (विश्वाषाट्) सब को हराने वाला (अग्निः) तेजस्वी [शूर पुरुष] (सपत्नान्) वैरियों को (हन्तु) मारे, (ये) जो (मम) मेरे हैं ॥ २८ ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि घृत आदि हव्य पदार्थ से प्रज्वलित होकर रोग कारक दोष को नाश करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और वीरता से प्रतापी होकर शत्रुओं को नाश करे, यह ईश्वर का नियम है ॥ २८ ॥

हन्त्वैनान् प्र दहत्वरिर्यो नः पृतन्यति ।

क्रव्यादाग्निना वयं सपत्नान् प्र दहामसि ॥ २९ ॥

हन्तु । एनान् । प्र । दहतु । अरिः । यः । नः । पृतन्यति ॥

क्रव्य-अदा । अग्निना । वयम् । स-पत्नान् । प्र । दहामसि ॥ २९ ॥

भाषार्थ—वह [शूर पुरुष] (एनान्=एनम्) उसको (हन्तु) मारे, (प्र दहतु) जला देवे, (यः अरिः) जो वैरी (नः) हम पर (पृतन्यति) सेना चढ़ाता है। (क्रव्यादा) मांस भक्षक [मृतक दाहक] (अग्निना) अग्नि से [जैसे, वैसे] (वयम्) हम (सपत्नान्) वैरियों को (प्र दहामसि) जलाये देते हैं ॥ २९ ॥

२८—(समिद्धः) प्रदीप्तः (अग्निः) होमाग्निः (समिधानः) प्रदीप्यमानः (घृतवृद्धः) घृतादिहव्येन प्रवृद्धः (घृताहुतः) घृतं हव्यद्रव्यमाहुतं दत्तं यस्मै सः (अभीषाट्) अ० १२। १। ५४। सर्वतोजेता (विश्वाषाट्) अ० १२। १। ५४। सर्वजेता (अग्निः) तेजस्वी शूरः (सपत्नान्) शत्रून् (हन्तु) मारयतु (ये) (मम) ॥

२९—(हन्तु) (एनान्) एकवचनस्य बहुवचनम्। एनम्। अरिम् (प्र) प्रकर्षेण (दहतु) भस्मीकरोतु (अरिः) शत्रुः (यः) (नः) अस्मान् (पृतन्यति) पृतनया सेनया युध्यते (क्रव्यादा) मांसभक्षकेन। शवदाहकेन (अग्निना) भौतिकेन (वयम्) धार्मिकाः (सपत्नान्) अरीन् (प्र) (दहामसि) दहामः ॥

भावार्थ—ज्ञानवान् शूर पुरुष अपने शत्रु दोषों को इस प्रकार भस्म कर दे, जैसे अग्नि से मृतक शरीर भस्म किया जाता है। यह ईश्वर नियम सब मनुष्यों को मानना चाहिये ॥ २६ ॥

अवाचीनानवं जहीन्द्र वज्रेण बाहुमान् ।

अधा सपत्नान् मामकानग्नेस्तेजोभिरादिषि ॥ ३० ॥ (३)

अवाचीनान् । अव । जहि । इन्द्र । वज्रेण । बाहु-मान् ॥

अध । स-पत्नान् । मामकान् । अग्नेः । तेजः-भिः । आ । अदिषि ॥ ३० ॥ (३)

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष ! (बाहुमान्) बलवान् भुजाओं वाला तू (वज्रेण) वज्र से (अवाचीनान्) नीचों [अधार्मिकों] को (अव जहि) मार गिरा। (अध) फिर (मामकान्) अपने (सपत्नान्) वैरियों को (अग्नेः) अग्नि के (तेजोभिः) तेजों से (आ अदिषि) मैंने पकड़ लिया है ॥ ३० ॥

भावार्थ—प्रजागण बली, पराक्रमी, प्रतापी राजा को स्वीकार करके शत्रुओं के मारने में सहायक होवें। सब मनुष्य इस ईश्वर नियम का पालन करें ॥ ३० ॥

अग्ने सपत्नानधरान् पादयास्मद् व्यथया सजातमुत्पिपानं बृहस्पते । इन्द्राग्नी मित्रावरुणावधरे पद्यन्तामप्रतिमन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

अग्ने । स-पत्नान् । अधरान् । पादय । अस्मत् । व्यथय । स-जातम् । उत्-पिपानम् । बृहस्पते ॥ इन्द्राग्नी इति । मित्रावरुणौ । अधरे । पद्यन्ताम् । अप्रति-मन्यूयमानाः ॥ ३१ ॥

३०—(अवाचीनान्) अधोगतीन्। अधार्मिकान् (अव जहि) विनाशय (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (वज्रेण) शस्त्रेण (बाहुमान्) प्रबलभुजः (अध) अथ (सपत्नान्) (मामकान्) अ० १ । २६ । ५ । मम सम्बन्धिनः (अग्नेः) पावकस्य (तेजोभिः) ज्वालाभिः (आ अदिषि) ददातेर्लुङ्। गृहीतवानस्मि ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्रतापी राजन् ! (सपत्नान्) वैरियों को (अस्मत्) हमसे (अधरान्) नीचे (पादय) गिरा दे, (बृहस्पते) हे बड़ी विद्याओं के स्वामी ! [राजन्] (उत्पिपानम्) टेढ़े चढ़ते हुये (सजातम्) समान जन्म वाले [भाई बन्धु] को (व्यथय) पीड़ा दे। (इन्द्राग्नी) हे सूर्य और बिजुली [के समान प्रताप और स्फूर्ति वाले !] (मित्रावरुणौ) हे प्राण और अपान ! [के समान सुखदायक और दुःखनाशक पुरुष] (अप्रतिमन्यूयमानाः) [हमारे] प्रतिकूल क्रोध न कर सकने योग्य [शत्रु लोग] (अधरे) नीचे होकर (पद्यन्ताम्) गिर जावें ॥ ३१ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रतापी राजा पक्षपात छोड़कर धर्म विरोधी दुराचारी बन्धु आदि को भी अवश्य दण्ड देकर वश में रक्खे ॥ ३१ ॥

उद्यंस्त्वं दे॑व सूर्य सुपत्नानव॑ मे जहि ।
अवै॑नानश्म॑ना जहि ते य॑न्त्वधमं तम॑: ॥ ३२ ॥

उत्-यन् । त्वम् । देव । सूर्य । स-पत्नान् । अव॑ । मे॒ । जहि ॥ अव॑ । एनान् । अश्म॑ना । जहि । ते । यन्तु । अध॒मम् । तम॑: ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(देव) हे विजय चाहने वाले ! (सूर्य) हे सर्वप्रेरक राजन् ! (उद्यन् त्वम्) ऊंचा चढ़ता हुआ तू (मे) मेरे (सपत्नान्) वैरियों को (अव

३१—(अग्ने) हे प्रतापिन् राजन् (सपत्नान्) (अधरान्) नीचान् । पामरान् (पादय) पातय (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (व्यथय) पीडय (सजातम्) समानजन्मानं बन्ध्वादिकम् (उत्पिपानम्) अ० ५ । २० ७। पि गतौ यङि शानचि छान्दसं रूपम्। उत्पेपीयमानम्। कुटिलमुद्गच्छन्तम् (बृहस्पते) बृहतीनां विद्यानां स्वामिन् (इन्द्राग्नी) सूर्यविद्युतौ यथा प्रतापिन् स्फूर्तिमन् (मित्रावरुणौ) प्राणापानवत् सुखप्रद दुःखनाशक (अधरे) पामराः सन्तः (पद्यन्ताम्) अधोगच्छन्तु (अप्रतिमन्यूयमानाः) कण्ड्वादिभ्यो यक्। पा० ३ । १ । २७ । मन्यु-यक् । अस्माकं प्रतिकूलं क्रोधं कर्तुमशक्याः ॥

३२—(उद्यन्) उद्गच्छन् (त्वम्) (देव) विजिगीषो (सूर्य) सर्वप्रेरक राजन् (सपत्नान्) (मे) मम (अव जहि) विनाशय (एनान्) सपत्नान्

जहि) मार गिरा । (एतान्) इन [शत्रुओं] को (अश्मना) पत्थर [आदि गिराने] से (अव जहि) मार गिरा, (ते) वे लोग (अधमम्) बड़े नीचे (तमः) अन्धकार में (यन्तु) जावें ॥ ३२ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि न्याय व्यवहार में प्रकाशमान होकर शत्रुओं को यथापराध दण्ड देकर कारागार में पीड़ा देवें ॥ ३२ ॥

व॒त्सो वि॒राजो॑ वृष॒भो म॑ती॒नामा रु॑रोह शु॒क्रपृ॑ष्ठो॒ऽन्तरि॑क्षम् ।
घृ॒तेना॒र्कम॒भ्य॑र्चन्ति व॒त्सं ब्रह्म॒ सन्तं॒ ब्रह्म॑णा वर्धयन्ति ॥३३॥

व॒त्सः । वि॒ऽराजः॑ । वृ॒ष॒भः । म॒ती॒नाम् । आ । रु॒रो॒ह॒ । शु॒क्रऽपृ॑ष्ठः । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ घृ॒तेन॑ । अ॒र्कम् । अ॒भि । अ॒र्च॒न्ति॒ । व॒त्सम् । ब्रह्म॑ । सन्त॑म् । ब्रह्म॑णा । व॒र्ध॒य॒न्ति॒ ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(वत्सः) उपदेश करने वाला, (विराजः) बड़े ऐश्वर्य वाला, (शुक्रपृष्ठः) वीरता बढ़ाने वाला (वृषभः) बड़ी शक्ति वाला [पुरुष] (मतीनाम्) बुद्धिमानों के (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती दृश्य पर (आ रुरोह) ऊंचा हुआ है । वे [बुद्धिमान् लोग] (घृतेन) प्रकाश के साथ [वर्तमान] (अर्कम्) पूजनीय, (वत्सम्) उपदेश करने वाले [परमेश्वर] को (अभि) सब ओर से (अर्चन्ति) पूजते हैं और (सन्तम्) सेवनीय (ब्रह्म) ब्रह्म [सब से बड़े परमेश्वर] को (ब्रह्मणा) वेद द्वारा (वर्धयन्ति) बढ़ाते हैं [सराहते हैं] ॥ ३३ ॥

(अश्मना) प्रस्तरादिना (अवजहि) (ते) शत्रवः (यन्तु) गच्छन्तु (अधमम्) अतिनिकृष्टम् (तमः) अन्धकारम् ॥

३३—(वत्सः) वद कथने सप्रत्ययः । उपदेशकः (विराजः) राजाहःसखिभ्यष्टच् । पा० ५ । ४ । ९१ । विराजन्—टच्, तत्पुरुषे । विविधैश्वर्यवान् (वृषभः) शक्तिमान् (मतीनाम्) मतयो मेधाविनः—निघ० ३ । १५ । मेधाविनां मध्ये (आरुरोह) आरूढवान् (शुक्रपृष्ठः) शुक्रस्य वीर्यस्य पराक्रमस्य पृष्ठं सेचनं यस्मात् सः (अन्तरिक्षम्) अन्तर् मध्ये ईक्ष्यमाणं दृश्यमानं पदम् (घृतेन) प्रकाशेन सह (अर्कम्) अर्को देवो भवति यदेनमर्चन्ति—निरु० ५ । ४ । अर्चनीयम् (अभि) अभितः (अर्चन्ति) पूजयन्ति (वत्सम्) उपदेशकम् (ब्रह्म) प्रवृद्धं परमात्मानम् (सन्तम्) हसिमृ[illegible] । उ० ३ । ८६ । षण संभक्तौ—तन् । सेवनीयम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (वर्धयन्ति) स्तुवन्ति ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने बड़े बड़े पराक्रमी शूर वीर पुरुष बनाये हैं, उसकी महिमा को ज्ञानी लोग जानकर संसार में प्रकट करते हैं ॥ ३३ ॥

दिवं च रोह पृथिवीं च रोह राष्ट्रं च रोह द्रविणं च रोह ।
प्रजां च रोहामृतं च रोह रोहितेन तन्वं सं स्पृशस्व ॥३४॥

दिवम् । च । रोह । पृथिवीम् । च । रोह । राष्ट्रम् । च । रोह । द्रविणम् । च । रोह ॥ प्र-जाम् । च । रोह । अमृतम् । च । रोह । रोहितेन । तन्वम् । सम् । स्पृशस्व ॥ ३४

भाषार्थ—[हे राजन् !] (दिवम्) व्यवहार को (च) निश्चय करके (रोह) प्रकट कर, (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी [की विद्या] को (रोह) प्रकट कर, (च) और (राष्ट्रम्) राज्य को (रोह) प्रकट कर, (च) और (द्रविणम्] धन को (रोह) प्रकट कर । (च) और (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र पौत्र राज्य जन] को (रोह) प्रकट कर, (च) और (अमृतम्) अमरपन [पुरुषार्थ] के (रोह) प्रकट कर, (रोहितेन) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] के साथ (तन्वम्) अपने विस्तार को (सं स्पृशस्व) संयुक्त कर ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रत्येक व्यवहार और विद्या में कुशल होता है, वह राज्य की सब प्रकार वृद्धि करता हुआ परमेश्वर की महिमा में अपने आत्मा को ऊंचा बनाता है ॥ ३४ ॥

ये देवा राष्ट्रभृतोऽभितो यन्ति सूर्यम् ।
तैष्टे रोहितः संविदानो राष्ट्रं दधातु सुमनस्यमानः ॥ ३५ ॥

ये । देवाः । राष्ट्र-भृतः । अभितः । यन्ति । सूर्यम् ॥ तैः ।

३४—(दिवम्) व्यवहारम् (च) अवधारणे (रोह) रोहय । प्रादुर्भावय (पृथिवीम्) भूमिविद्याम् (च) (रोह) (राष्ट्रम्) राज्यम् (च) (रोह) (द्रविणम्) धनम् (च) (रोह) (प्रजाम्) पुत्रपौत्रराज्यजनरूपाम् (च) (रोह) (अमृतम्) अमरणम् । पौरुषम् (च) (रोह) (रोहितेन) सर्वोत्पादकेन परमेश्वरेण (तन्वम्) विस्तृतिम् (सं स्पृशस्व) संयोजय ।

ते । रोहि॑तः । सम्-वि॒दानः । रा॒ष्ट्रम् । द॒धातु । सु-मन॒स्य-मानः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (ये) जो (राष्ट्रभृतः) राज्य पोषक (देवाः) विजय चाहने वाले पुरुष (सूर्यम्) सब के चलाने वाले [परमेश्वर] को (अभितः) सब ओर से (यन्ति) प्राप्त होते हैं। (तैः) उनसे (संविदानः) मिलता हुआ, (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (ते) तेरे (राष्ट्रम्) राज्य को (दधातु) पुष्ट करे ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में विद्वान् लोग ईश्वर की आज्ञा का पालन करते हैं, वह राज्य सदा बढ़ता रहता है ॥ ३५ ॥

उत् त्वा॑ य॒ज्ञा ब्रह्म॑पूता वहन्त्यध्व॒गतो॒ हर॑यस्त्वा वहन्ति ।
ति॒रः स॑मु॒द्रमति॑ रोचसेऽर्ण॒वम् ॥ ३६ ॥

उत् । त्वा॒ । य॒ज्ञाः । ब्रह्म॑-पूताः । व॒ह॒न्ति॒ । अ॒ध्व॒-गतः॑ । हर॑यः । त्वा॒ । व॒ह॒न्ति॒ ॥ ति॒रः । स॒मु॒द्रम् । अति॑ । रो॒च॒से॒ । अ॒र्ण॒वम् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वा) तुझ को (ब्रह्मपूताः) ब्रह्माओं [वेद वेत्ताओं] द्वारा शुद्ध किये गये (यज्ञाः) यज्ञ [संगतियोग्य व्यवहार] (उत्) उत्तमता से (वहन्ति) प्राप्त होते हैं, (अध्वगतः) [वेद विहित] मार्ग पर चलने वाले (हरयः) मनुष्य (त्वा) तुझ को (वहन्ति) पाते हैं।

३५—(ये) (देवाः) विजिगीषवः (राष्ट्रभृतः) राज्यपोषकाः (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमेश्वरम् (तैः) देवैः (ते) तव (रोहितः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (संविदानः) संगच्छमानः (राष्ट्रम्) राज्यम् (दधातु) पुष्णातु (सुमनस्यमानः) शोभनमनाः ॥

३६—(उत्) उत्तमतया (त्वा) परमात्मानम् (यज्ञाः) संगतियोग्यव्यवहाराः (ब्रह्मपूताः) वेदवेतृभिः शोधिताः (वहन्ति) प्राप्नुवन्ति (अध्वगतः) वेदविहितमार्गगन्तारः (हरयः) मनुष्याः—निघ० २। ३ (त्वा) (वहन्ति)

(अर्णवम्) जल से भरे (समुद्रम्) समुद्र को (तिरः) तिरस्कार (अति) अत्यन्त करके (रोचसे) प्रकाशमान होता है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर में सब पदार्थ व्याप्त हैं, वेदानुयायी पुरुष ...... बहुत खोज कर अगम्य स्थानों में भी पाकर आनन्दित होते हैं ॥ ३६ ॥

रोहि॑ते॒ द्यावा॑पृथि॒वी अधि॑ श्रि॒ते व॑सु॒जिति॒ गो॒जिति॒ सं॑ध॒नाजिति॑ । स॒हस्रं॒ यस्य॒ जनि॑मानि स॒प्त च॑ वो॒चेयं॑ ते॒ नाभिं॒ भुव॑न॒स्याधि॑ म॒ज्मनि॑ ॥ ३७ ॥

रोहि॑ते । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अधि॑ । श्रि॒ते इति॑ । व॒सु॒ऽजिति॑ । गो॒ऽजिति॑ । स॒म्ऽध॒न॒ऽजिति॑ ॥ स॒हस्र॑म् । यस्य॑ । जनि॑ऽमानि । स॒प्त । च॒ । वो॒चेय॑म् । ते॒ । नाभि॑म् । भुव॑नस्य । अधि॑ । म॒ज्मनि॑ ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(वसुजिति) निवास स्थानों के जीतने वाले; (गोजिति) विद्याओं के जीतने वाले,(संधनजिति)संपूर्ण धन के जीतने वाले (रोहिते) सबके उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] में (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी (अधि) अधिकार पूर्वक (श्रिते) ठहरे हुये हैं। (यस्य) जिस [परमेश्वर] के (सहस्रम्) सहस्र [असंख्य] (जनिमानि) उत्पन्न करने के कर्म (च) निश्चय करके (सप्त) सात [त्वचा; नेत्र, कान, जिह्वा नाक, मन और बुद्धि] के साथ हैं, [हे परमेश्वर !] (ते) तेरे (नाभिम्) सम्बन्ध को (भुवनस्य) संसार के (मज्मनि) बल के भीतर (अधि) अधिकार पूर्वक (वोचेयम्) मैं बतलाऊं ॥ ३७ ॥

(तिरः) तिरस्कृत्य (समुद्रम्) समुद्रवदगम्यम् (अति) अत्यन्तम् (रोचसे) दीप्यसे (अर्णवम्) जलपूर्णम् ॥

३७—(रोहिते) म० १ (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमी (अधि) अधिकृत्य (श्रिते) आश्रिते (वसुजिति) निवासानां जेतरि (गोजिति) विद्यानां जेतरि (संधनजिति) सांहितिको दीर्घः । समस्तधनानां प्रापके (सहस्रम्) बहूनि । असंख्यानि (जनिमानि) प्रजननकर्माणि (सप्त) सप्तभिस्त्वक्चक्षुःश्रोत्ररसनाघ्राणमनोबुद्धिभिः सह (च) निश्चयेन । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

भावार्थ—वह सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सब लोकों का स्वामी है, उसने शरीरों को इन्द्रियों सहित बनाया है, उसी को जितेन्द्रिय योगी जन प्राप्त होकर सुखी होते हैं ॥ ३७ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद ऊपर मन्त्र १४ में आया है ॥

यशा यासि प्रदिशो दिशश्च यशाः पशूनामुत चर्षणीनाम् ।
यशाः पृथिव्या अदित्या उपस्थेऽहं भूयासं सवितेव चारुः ॥३८

यशाः । यासि । प्र-दिशः । दिशः । च । यशाः । पशूनाम् । उत । चर्षणीनाम् ॥ यशाः । पृथिव्याः । अदित्याः । उप-स्थे । अहम् । भूयासम् । सविता-इव । चारुः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (यशाः) यशस्वी तू (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं (च) और (दिशः) मध्य दिशाओं में (यासि) चलता है, और तू (पशूनाम्) पशुओं [गौ सिंह आदिकों] (उत) और (चर्षणीनाम्) मनुष्यों में (यशाः) यशस्वी है । (अहम्) मैं (पृथिव्याः) पृथिवी की और (अदित्याः) अखण्ड वेदवाणी की (उपस्थे) गोद में (यशाः) यशस्वी होकर (सविता इव) सब के चलाने वाले शूर [अथवा सूर्य] के समान (चारुः) शोभायमान (भूयासम्) होऊं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अपनी महिमा से समस्त लोकों का राजा है, वैसे ही मनुष्य ईश्वर की उपासना से पृथिवी पर प्रिय होकर अपनी उन्नति करते रहें ॥ ३८ ॥

३८—(यशाः) अ० ६ । ३९ । ३ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । यशस्—क्यच्, ततः क्विप्, अलोपयलोपौ । यशस्कामः । यशस्वी (यासि) गच्छसि (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (दिशः) अन्तर्दिशाः (च) समुच्चये (यशाः) (पशूनाम्) गवादीनाम् (उत) अपि (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम् (यशाः) (पृथिव्याः) (अदित्याः) अदितिर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । अखण्डिताया वेदवाण्याः (उपस्थे) क्रोडे (अहम्) उपासकः (भूयासम्) (सविता इव) सर्वप्रेरकः शूरः सूर्यो वा यथा (चारुः) शोभायमानः ॥

अमुत्र सन्निह वेत्थेतः संस्तानि पश्यसि ।
इतः पश्यन्ति रोचनं दिवि सूर्यं विपश्चितम् ॥ ३८ ॥

अमुत्र । सन् । इह । वेत्थ । इतः । सन् । तानि । पश्यसि ॥
इतः । पश्यन्ति । रोचनम् । दिवि । सूर्यम् । विपःचितम् ३८

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (अमुत्र) वहां पर (सन्) रहता हुआ तू (इह) यहां (वेत्थ) जानता है, (इतः) इधर (सन्) रहता हुआ (तानि) उन [वस्तुओं] को (पश्यसि) देखता है । (इतः) यहां से (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (रोचनम्) चमकने वाले (विपश्चितम्) बुद्धिमान् (सूर्यम्) सब के चलाने वाले [परमेश्वर] को (पश्यन्ति) वे [विद्वान्] देखते हैं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर समीप और दूर से सर्वव्यापी होकर सर्वनियन्ता है, ऐसा विचार कर बुद्धिमान् लोग अपने व्यवहारों में उन्नति करते हैं ॥ ३८ ॥

देवो देवान् मर्चयस्यन्तश्चरस्यर्णवे ।
समानमग्निमिन्धते तं विदुः कवयः परे ॥ ४० ॥ (४)

देवः । देवान् । मर्चयसि । अन्तः । चरसि । अर्णवे ॥ समानम् । अग्निम् । इन्धते । तम् । विदुः । कवयः । परे ४०(४)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (देवः) विद्वान् तू (देवान्) उत्तम गुणों को (मर्चयसि) बतलाता है, (अर्णवे अन्तः) समुद्र [संसार] के बीच

३८—(अमुत्र) तत्र । दूरदेशे (सन्) वर्तमानः सन् (इह) अत्र (वेत्थ) जानासि (इतः) अत्र (सन्) (तानि) दूरस्थानि वस्तूनि (पश्यसि) निरीक्षसे (इतः) (पश्यन्ति) अवलोकयन्ति (रोचनम्) प्रकाशमानम् (दिवि) प्रत्येकव्यवहारे (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमेश्वरम् (विपश्चितम्) मेधाविनम्—निघ० ३ । १५ ॥

४०—(देवः) बुद्धिमान् (देवान्) दिव्यगुणान् (मर्चयसि) मर्च शब्दे । शब्दयसि । उपदिशसि (अन्तः) मध्ये (चरसि) विचरसि (अर्णवे) समुद्रे

(चरसि) तू विचरता है। (समानम्) समान [एकरस] (तम्) उस (अग्निम्) ज्ञानवान् [परमेश्वर] को (परे) बड़े (कवयः) बुद्धिमान् लोग (विदुः) जानते हैं और (इन्धते) प्रकाशित होते हैं ॥ ४० ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर संसार में व्यापक रहकर सदा शुभ गुणों का उपदेश करता है, बुद्धिमान् लोग उसी का उपदेश करके संसार में यश पावें ॥४०॥

अवः परेण पर एनावरेण पदा वत्सं बिभ्रती गौरुदस्थात्। सा कद्रीची कं स्विदर्धं परागात् क्व स्वित् सूते नहि यूथे अस्मिन् ॥ ४१ ॥

अवः। परेण। परः। एना। अवरेण। पदा। वत्सम्। बिभ्रती। गौः। उत्। अस्थात् ॥ सा। कद्रीची। कम्। स्वित्। अर्धम्। परा। अगात्। क्व। स्वित्। सूते। नहि। यूथे। अस्मिन् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(परेण) दूर स्थान से (अवः) इधर और (एना) इस (अवरेण) अवर [समीप स्थान] से (परः) परे [दूर वर्तमान] (वत्सम्) सब के निवास देने वाले वा उपदेश करने वाले [परमेश्वर] को (पदा) पद [अधिकार] के साथ (बिभ्रती) धारण करती हुयी (गौः) वेदवाणी (उत् अस्थात्) ऊंची उठी है। (सा) वह [वेदवाणी] (कद्रीची) किस ओर

(समानम्) सामान्यम् (अग्निम्) ज्ञानवन्तं परमेश्वरम् (इन्धते) दीप्यन्ते (तम्) प्रसिद्धम् (विदुः) जानन्ति (कवयः) मेधाविनः—निघ० ३। १५ (परे) श्रेष्ठाः ॥

४१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ९। ९। १७ (अवः) अवस्तात्। समीपदेशे (परेण) दूरदेशेन (परः) परस्तात्। दूरदेशे (एना) एनेन। अनेन (अवरेण) समीपस्थेन (पदा) पदेन। अधिकारेण (वत्सम्) वस निवासे, वद व्यक्तायां वाचि—सप्रत्ययः। सर्वनिवासकम्। सर्वोपदेशकम् (बिभ्रती) धरन्ती (गौः) वेदवाणी (उत्) उत्कर्षेण (अस्थात्) स्थितवती (सा) वेद-

चलती हुयी, (कं स्वित्) कौन से (अर्धम्) ऋद्धिवाले परमेश्वर को (परा) पराक्रम से (अगात्) पहुंची है, (क स्वित्) कहां पर (सूते) उत्पन्न होती है, (अस्मिन्) इस [देहधारी] (यूथे) समूह में (नहि) नहीं [उत्पन्न होती है] ४१

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर के सर्वव्यापकता आदि गुणों को, विचारते हुये अपौरुषेय वेदवाणी को उसके ज्ञान का आधार समझ कर उसके विषय में जो प्रश्न करें, उसका उत्तर आगे के मन्त्र में है ॥ ४१ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है—अ० ६ । ६ । १७ और ऋग्वेद में भी कुछ भेद से है—म० १ । १६४ । १७ ॥

एकपदी द्विपदी सा चतुष्पद्यष्टापदी नवपदी बभूवुषी । सहस्राक्षरा भुवनस्य पङ्क्तिस्तस्याःसमुद्रा अधि वि क्षरन्ति ४२

एक-पदी । द्वि-पदी । सा । चतुः-पदी । अष्टा-पदी । नव-पदी । बभूवुषी ॥ सहस्र-अक्षरा । भुवनस्य । पङ्क्तिः । तस्याः । समुद्राः । अधि । वि । क्षरन्ति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(सा) वह [वेदवाणी] (एकपदी) एक [ब्रह्म] के साथ व्याप्ति वाली, (द्विपदी) दो [भूत भविष्यत्] में गतिवाली, (चतुष्पदी) चार [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष] में अधिकार वाली, (अष्टापदी)] आठ पद [छोटाई, हलकाई, प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता और सत्य-सङ्कल्प, आठ ऐश्वर्य] प्राप्त कराने वाली, (नवपदी) नौ [मन बुद्धि सहित दो

वाणी (कद्रीची) क गच्छन्ती (कंस्वित्) (अर्धम्) ऋधु वृद्धौ—घञ् । वृद्धिशीलं परमेश्वरम् (परा) पराक्रमेण (अगात्) अगमत् (क) कुत्र (स्वित्) (सूते) सूयते । उत्पद्यते (नहि) निषेधे (यूथे) समूहे (अस्मिन्) ॥

४२—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ६ । १० । २१ (एकपदी) एकेन ब्रह्मणा पदं व्याप्तिर्यस्याः सा (द्विपदी) भूतभविष्यतोर्गतिर्यस्याः सा (सा) गौः । वेदवाणी (चतुष्पदी) चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षेषु पदमधिकारो यस्याः सा (अष्टापदी) अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ १ ॥ इत्यष्टैश्वर्याणि पदानि प्राप्तव्यानि यया सा (नव-

कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] से प्राप्ति योग्य, (सहस्राक्षरा) सहस्रों [असंख्यात] पदार्थों में व्याप्ति वाली (वभूवुषी) होकर के (भुवनस्य) संसार की (पङ्क्तिः) फैलाव शक्ति है, (तस्याः) उस [वेदवाणी] से (समुद्राः) समुद्र [समुद्र रूप सब लोक] (अधि) अधिक अधिक (वि) विविध प्रकार से (क्षरन्ति) बहते हैं ॥ ४२ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र गत मन्त्र का उत्तर है। वेदवाणी परमेश्वर से उत्पन्न होकर संसार में सब उत्तम ज्ञानों का भण्डार है, उसी को विचार कर विद्वान् लोग आनन्द भोगते हैं ॥ ४२ ॥

यह मन्त्र पहिले आ चुका है—अ० ६।१०।२१। और कुछ भेद से ऋग्वेद में भी है —म० १।१६४।४१, ४२ ॥

आरोहन् द्यामृतः प्राव मे वचः। उत् त्वा यज्ञा ब्रह्मपूता वहन्त्यध्वगतो हरयस्त्वा वहन्ति ॥ ४३ ॥

आ-रोहन्। द्याम्। अमृतः। प्र। अव। मे। वचः॥ उत्। त्वा। यज्ञाः। ब्रह्म-पूताः। वहन्ति। अध्व-गतः। हरयः। त्वा। वहन्ति ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(द्याम्) प्रकाश के ऊपर (आरोहन्) चढ़ता हुआ (अमृतः) अमर तू (मे वचः) मेरे वचन को (प्र) भले प्रकार (अव) सुन। [हे परमेश्वर !] (त्वा) तुझ को (ब्रह्मपूताः) ब्रह्माओं [वेदवेत्ताओं] द्वारा शुद्ध

पदी) मनोबुद्धिसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैः प्राप्या, (वभूवुषी) भवतेः क्वसु, ङीप्। भूतवती (सहस्राक्षरा) अशू व्याप्तौ—सर। असंख्यातेषु पदार्थेषु व्यापनशीला (भुवनस्य) संसारस्य (पङ्क्तिः) पचि व्यक्तीकरणे—क्तिन्। विस्तृतिः (तस्याः) वेदवाण्याः सकाशात् (समुद्राः) समुद्ररूपा लोकाः (अधि) अधिकम् (वि) विविधम् (क्षरन्ति) संचलन्ति ॥

४३—(आरोहन्) अधितिष्ठन् (द्याम्) गमेर्डोः। उ० २। ६७। द्युत दीप्तौ, यद्वा द्यु अभिगमने-डोस्। दीप्तिम् (अमृतः) अमरः। अविनाशी परमे-

किये गये (यज्ञाः) यज्ञ [संगति योग्य व्यवहार] (उत्) उत्तमता से (वहन्ति) प्राप्त होते हैं, (अध्वगतः) [वेद विहित] मार्ग पर चलने वाले (हव्यः) मनुष्य (त्वा) तुझ को (वहन्ति) पाते हैं ॥ ४३ ॥

भावार्थ—योगी जन प्रकाशस्वरूप जगदीश्वर का ध्यान करके तपश्चरण के साथ उसे प्राप्त करके आनन्द पाते हैं ॥ ४३ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग ऊपर मन्त्र ३६ में आचुका है ॥

वेद॒ तत् ते॑ अमर्त्य॒ यत् त॑ आ॒क्रम॑णं दि॒वि ।
यत् ते॑ स॒धस्थं॑ प॒र॒मे व्यो॑मन् ॥ ४४ ॥

वेद॑ । तत् । ते॒ । अ॒म॒र्त्य॒ । यत् । ते॒ । आ॒ऽक्रम॑णम् । दि॒वि ॥
यत् । ते॒ । स॒ध॒ऽस्थ॑म् । प॒र॒मे । वि॒ऽओ॑मन् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अमर्त्य) हे अमर ! [अविनाशी परमेश्वर] (ते) तेरे (तत्) उस को (वेद) मैं जानता हूं, (यत्) जो (ते) तेरा (आक्रमणम्) चढ़ाव [व्याप्ति] (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में है और (यत्) जो (ते) तेरा (सधस्थम्) सह स्थान (परमे) सब से बड़े (व्योमन्) विविध रक्षा साधन [मोक्ष पद] में है ॥ ४४ ॥

भावार्थ—योगी को योग्य है कि उस नित्य शुद्ध परमात्मा को प्रत्येक पदार्थ में साक्षात् करके मोक्ष सुख प्राप्त करे ॥ ४४ ॥

सूर्यो॒ द्यां सूर्यः॑ पृथि॒वीं सूर्य॒ आपोऽति॑ पश्यति ।
सूर्यो॑ भू॒तस्यैकं॒ चक्षु॒रा रु॑रोह॒ दिवं॑ म॒हीम् ॥ ४५ ॥

श्रवः (प्र) प्रकर्षेण (अव) अव रक्षणश्रवणादिषु । श्रृणु (मे) मम (वचः) वचनम् । अन्यत् पूर्ववत् म० ३६ ॥

४४—(वेद) जानामि (तत्) प्रसिद्धम् (ते) तव (अमर्त्य) हे अमर । अविनाशिन् (यत्) (ते) (आक्रमणम्) उपरिगमनम् (दिवि) प्रत्येकव्यवहारे (यत्) (ते) (सधस्थम्) सहस्थानम् (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) विविधरक्षासाधने मोक्षपदे ॥

सूर्यः । द्याम् । सूर्यः । पृथिवीम् । सूर्यः । आपः । अति । पश्यति ॥ सूर्यः । भूतस्य । एकम् । चक्षुः । आ । रुरोह । दिवम् । महीम् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सब का चलाने वाला [परमेश्वर] (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को, (सूर्यः) वह सर्वप्रेरक (पृथिवीम्) पृथिवी को, (सूर्यः) वह सर्वनियामक (आपः) प्रत्येक काम को (अति पश्यति) निहारता है। (सूर्यः) वह सर्वनियन्ता (भूतस्य) संसार का (एकम्) एक (चक्षुः) नेत्र [नेत्र रूप जगदीश्वर] (दिवम्) आकाश पर और (महीम्) पृथिवी पर (आ रुरोह) ऊंचा हुआ है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—वह समदर्शी जगदीश्वर सब संसार और सब कामों को देखता हुआ सब को अपने नियम में रखता है ॥ ४५ ॥

उर्वीरासन् परिधयो वेदिर्भूमिरकल्पत ।
तत्रैतावग्नी आधत्त हिमं घ्रंसं च रोहितः ॥ ४६ ॥

उर्वीः । आसन् । परि-धयः । वेदिः । भूमिः । अकल्पत ॥ तत्र । एतौ । अग्नी इति । आ । अधत्त । हिमम् । घ्रंसम् । च । रोहितः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—[संसार में] (उर्वीः) चौड़ी [दिशायें] (परिधयः) परकोटा रूप (आसन्) हुयीं, (भूमिः) भूमि (वेदिः) वेदि [यज्ञ कुण्ड]

४५—(सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (सूर्यः) सर्वनियामकः (पृथिवीम्) (सूर्यः) (आपः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । आप्लृ व्याप्तौ-असुन् । कर्म (अति पश्यति) अत्यर्थं विलोकयति (सूर्यः) (भूतस्य) संसारस्य (एकम्) अद्वितीयम् (चक्षुः) नेत्रं यथा (आ रुरोह) अधिष्ठितवान् (दिवम्) आकाशम् (महीम्) भूमिम् ॥

४६—(उर्वीः) उर्व्यः । विस्तृता दिशाः (आसन्) (परिधयः) प्राकाररूपाः (वेदिः) यज्ञकुण्डरूपा (भूमिः) (अकल्पत) रचिताऽऽसीत् (तत्र) (एतौ)

रूप (अकल्पत) बनायी गयी। (तत्र) उस में (रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर ने (एतौ) इन (अग्नी) दो अग्नियों [सूर्य और चन्द्रमा] को (घ्रंसम्) ताप (च) और (हिमम्) शीत रूप आ अधत्त) स्थापित किया ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि परमेश्वर के बनाये दिशाओं, भूमि, सूर्य, चन्द्र, ताप, शीत आदि से विज्ञान पूर्वक उपकार लेवें ॥ ४६ ॥

हिमं घ्रंसं चाधाय यूपान् कृत्वा पर्वतान् ।

वर्षाज्यावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४७ ॥

हिमम् । घ्रंसम् । च । आ-धाय । यूपान् । कृत्वा । पर्वतान् ॥

वर्ष-आज्यौ । अग्नी इति । ईजाते इति । रोहितस्य । स्वः-विदः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(हिमम्) शीत (च) और (घ्रंसम्) ताप को (आधाय) स्थापित करके, (पर्वतान्) पर्वतों को (यूपान्) जयस्तम्भ रूप (कृत्वा) बनाकर, (वर्षाज्यौ) वृष्टि को घी रूप रखने वाले (अग्नी) दोनों अग्नियों [सूर्य और चन्द्रमा] ने (स्वर्विदः) सुख पहुंचाने वाले (रोहितस्य) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के लिये (ईजाते) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] को किया है ॥ ४७ ॥

प्रसिद्धौ (अग्नी) सूर्याचन्द्रमसौ (आ अधत्त) स्थापितवान् (हिमम्) शीतम् (घ्रंसम्) दिवः कित् । उ० ३ । १२१ । घृ दीप्तौ—असच्, कित्, पृषोदरादित्वाद् नकारः । घ्रंसोऽहर्नाम—निघ० १ । ६ । तापम् (च) (रोहितः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः ॥

४७—(हिमम्) शीतम् (घ्रंसम्) म० ४६ । तापम् (च) (आधाय) स्थापयित्वा (यूपान्) जयस्तम्भान् यथा (कृत्वा) विधाय (पर्वतान्) शैलान् (वर्षाज्यौ) वर्षं वृष्टिर्घृतवद् ययोस्तौ (अग्नी) सूर्याचन्द्रमसौ (ईजाते) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—लिट् । यज्ञं संयोगवियोगव्यवहारं कृतवन्तौ (रोहितस्य) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ६२ । इति षष्ठी । रोहिताय । सर्वोत्पादकाय परमेश्वराय (स्वर्विदः) विद्लृ लाभे—क्विप् । सुखप्रापकाय ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से सूर्य चन्द्र आदि लोक नियमित होकर ताप, शीत, वृष्टि, पर्वत आदि की उत्पत्ति और स्थिति के कारण होते हैं ॥४७॥

स्वर्विदो रोहितस्य ब्रह्मणाग्निः समिध्यते ।
तस्माद् घ्रंसस्तस्माद्धिमस्तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ४८ ॥

स्वः-विदः । रोहितस्य । ब्रह्मणा । अग्निः । सम् । इध्यते ॥
तस्मात् । घ्रंसः । तस्मात् । हिमः । तस्मात् । यज्ञः । अजायत ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(स्वर्विदः) सुख पहुंचाने वाले (रोहितस्य) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के (ब्रह्मणा) वेद ज्ञान द्वारा (अग्नि) अग्नि [सूर्य आदि] (सम् इध्यते) यथावत् प्रकाशित होता है । (तस्मात्) उसी [परमेश्वर] से (घ्रंसः) ताप (तस्मात्) उसी से (हिमः) शीत और (तस्मात्) उसी से (यज्ञः) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के सामर्थ्य से ही सूर्य चन्द्र आदि पदार्थ उत्पन्न होकर ताप शीत, संयोग वियोग द्वारा संसार का उपकार करते हैं ॥ ४८ ॥

ब्रह्मणाग्नी वावृधानौ ब्रह्मवृद्धौ ब्रह्माहुतौ ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ४९ ॥

ब्रह्मणा । अग्नी इति । ववृधानौ । ब्रह्म-वृद्धौ । ब्रह्म-आहुतौ ॥
ब्रह्म-इद्धौ । अग्नी इति । ईजाते इति । रोहितस्य । स्वः-विदः ॥ ४९ ॥

४८—(स्वर्विदः) सुखप्रापकस्य (रोहितस्य) सर्वोत्पादकस्य परमेश्वरस्य (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (अग्निः) सूर्यादिः (समिध्यते) यथाविधि दीप्यते (तस्मात्) परमेश्वरात् (घ्रंसः) तापः (तस्मात्) (हिमः) शीतधर्मः (तस्मात्) (यज्ञः) संयोगवियोगव्यवहारः (अजायत) उदपद्यत ॥

भाषार्थ—(अग्नी) दोनों अग्नि [सूर्य और चन्द्रमा] (ब्रह्मणा) वेदज्ञानद्वारा (ववृधानौ) बढ़ते हुये, (ब्रह्मवृद्धौ) अन्न से बढ़े हुये, (ब्रह्माहुतौ) जलकी आहुति [ग्रहण और दान] वाले हैं। (ब्रह्मेद्धौ) धन के साथ प्रकाश किये गये (अग्नी) उन दोनों अग्नियों ने (स्वर्विदः) सुख पहुंचाने वाले (रोहितस्य) सब के उत्पन्न करने वाले परमेश्वर के लिये (ईजाते) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] को किया है ॥ ४९ ॥

भावार्थ—ईश्वर की शक्ति से यह सूर्य और चन्द्रमा प्राणियों के लिये अन्न, वृष्टि और धन के कारण होते हैं ॥ ४९ ॥

स॒त्ये अ॒न्यः स॒माहि॑तो॒ऽप्स्व॑१॒न्यः समि॑ध्यते ।
ब्रह्मे॑द्धाव॒ग्नी ई॑जाते॒ रोहि॑तस्य स्व॒र्विदः॑ ॥ ५० ॥ (५)

स॒त्ये । अ॒न्यः । स॒म्-आहि॑तः । अ॒प्-सु । अ॒न्यः । सम् । इ॒ध्य॒ते॒ । ० ॥ ५० ॥ (५)

भाषार्थ—(अन्यः) एक [परमाणुरूप पदार्थ] (सत्ये) सत्य [नित्यपन] में (समाहितः) सर्वथा ठहरा हुआ है, (अन्यः) दूसरा [कार्यरूप पदार्थ] (अप्सु) प्रजाओं [जीवधारियों] के बीच (सम् इध्यते) यथावत् प्रकाशित होता है। (ब्रह्मेद्धौ) धन के साथ प्रकाशित किये गये मन्त्र ४९।५०।

भावार्थ—संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं, एक नित्य परमाणु रूप और दूसरे अनित्य कार्य रूप। यह सब ईश्वर की आज्ञा से संसार का उपकार करते हैं ॥ ५० ॥

४९—(ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (अग्नी) सूर्याचन्द्रमसौ (ववृधानौ) वर्धमानौ (ब्रह्मवृद्धौ) ब्रह्माऽन्न नाम—निघ० २ । ७ । अन्नेन प्रवृद्धौ (ब्रह्माहुतौ) ब्रह्मोदकनाम—निघ० १ । १२ । जलस्याहुतंग्रहणदानव्यवहारो ययोस्तौ (ब्रह्मेद्धौ) ब्रह्म धननाम—निघ० २ । १० । धनेन प्रकाशितौ । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४७ ॥

५०—(सत्ये) नित्यत्वे (अन्यः) एकः परमाणुरूपः पदार्थः (समाहितः) यथावत् स्थापितः (अप्सु) प्रजासु (अन्यः) कार्यरूपः पदार्थः (समिध्यते) यथाविधि दीप्यते । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४९ ॥

यं वातः परि शुम्भति यं वेन्द्रो ब्रह्मणस्पतिः ।
ब्रह्मेद्धावग्नी ईजाते रोहितस्य स्वर्विदः ॥ ५१ ॥

यम् । वातः । परि-शुम्भति । यम् । वा । इन्द्रः । ब्रह्मणः । पतिः ॥ ब्रह्म-इद्धौ । अग्नी इति । ई जाते इति । रोहितस्य । स्वः-विदः ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस [परमेश्वर] को (वातः) पवन, और (यम्) जिसको (वा) निश्चय करके (ब्रह्मणः) अन्न का (पतिः) रक्षक (इन्द्रः) मेघ (परि शुम्भति) सब ओर से प्रकाशित करता है। (ब्रह्मेद्धौ) धन के साथ प्रकाशित किये गये······मन्त्र ४६ ॥ ५१ ॥

भावार्थ—आदि कारण परमात्मा के उपकारों को कार्यरूप पवन, मेघ, सूर्य, चन्द्र आदि उपकारी पदार्थों द्वारा साक्षात् करके विद्वान् लोग उन्नति करते हैं ॥ ५१ ॥

वेदिं भूमिं कल्पयित्वा दिवं कृत्वा दक्षिणाम् । घ्रंसं तदग्निं कृत्वा चकार विश्वमात्मन्वद् वर्षेणाज्येन रोहितः ॥ ५२ ॥

वेदिम् । भूमिम् । कल्पयित्वा । दिवम् । कृत्वा । दक्षिणाम् ॥ घ्रंसम् । तत् । अग्निम् । कृत्वा । चकार । विश्वम् । आत्मन्-वत् । वर्षेण । आज्येन । रोहितः ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(भूमिम्) भूमि को (वेदिम्) वेदि [यज्ञकुण्ड] रूप (कल्पयित्वा) रचकर, (दिवम्) आकाश को (दक्षिणाम्) दक्षिणा [प्रतिष्ठा

५१—(यम्) परमात्मानम् (वातः) पवनः (परिशुम्भति) सर्वतो दीपयति (यम्) (वा) अवधारणे (इन्द्रः) मेघः (ब्रह्मणः) अन्नस्य (पतिः) रक्षकः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४६ ॥

५२—(वेदिम्) यज्ञकुण्डं यथा (भूमिम्) (कल्पयित्वा) रचयित्वा (दिवम्) आकाशम् (कृत्वा) विधाय (दक्षिणाम्) प्रतिष्ठादानं यथा (घ्रंसम्)

का दान] रूप (कृत्वा) बनाकर, (तत्) फिर (अग्निम्) अग्नि को (घ्रंसम्) तापरूप (कृत्वा) सिरजकर, (रोहितः) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] ने (वर्षेण) वृष्टि रूप (आज्येन) घी से (आत्मन्वत्) आत्मा वाला (विश्वम्) सब जगत् (चकार) बनाया ॥ ५२ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने भूमि, आकाश आदि आधार और अग्नि आदि पदार्थ बनाकर सब जगत् को आत्म बल देकर पुरुषार्थी बनाया है। उसी सर्वशक्तिमान् की भक्ति से पुरुषार्थी मनुष्य उच्च पद पावें ॥ ५२ ॥

वर्षमाज्यं घ्रंसो अग्निर्वेदिर्भूमिरकल्पत ।

तत्रैतान् पर्वतानग्निर्गीर्भिरूर्ध्वाँ अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

वर्षम् । आज्यम् । घ्रंसः । अग्निः । वेदिः । भूमिः । अकल्पत ॥ तत्र । एतान् । पर्वतान् । अग्निः । गीःभिः । ऊर्ध्वान् । अकल्पयत् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(वर्षम्) वृष्टि (आज्यम्) घीरूप, (घ्रंसः) ताप (अग्निः) अग्निरूप, (भूमिः) भूमि (वेदिः) वेदिरूप (अकल्पत) बनाई गयी। (तत्र) उस [भूमि] पर (एतान् पर्वतान्) इन पर्वतों को (अग्निः) तेजः स्वरूप [परमेश्वर वा पार्थिव ताप] ने (गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (ऊर्ध्वान्) ऊंचा (अकल्पयत्) बनाया ॥ ५३ ॥

म० ४६। तापं यथा (तत्) तदा (अग्निम्) सूर्यादिकम् (कृत्वा) (चकार) रचयामास (विश्वम्) सर्वं जगत् (आत्मन्वत्) अ० ४। १०। ७। सात्मकं स्थावरजङ्गमात्मकम् (वर्षेण) वृष्टिरूपेण (आज्येन) घृतेन (रोहितः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः ॥

५३—(वर्षम्) वृष्टिः (आज्यम्) घृतं यथा (घ्रंसः) म० ४६। तापः (अग्निः) तेजोविशेषः (वेदिः) (भूमिः) (अकल्पत) अरच्यत (तत्र) भूमौ (एतान्) दृश्यमानान् (पर्वतान्) (अग्निः) तेजःस्वरूपः परमेश्वरः पार्थिवतापो वा (गीर्भिः) वेदवाणीभिः (ऊर्ध्वान्) उन्नतान् (अकल्पयत्) अकरोत् ॥

भावार्थ—जैसे यज्ञ के लिये घृत आदि हव्य पदार्थ होते हैं, वैसे ही वृष्टि आदि बनाकर प्राणियों के सुख के लिये पार्थिव ताप द्वारा ईश्वर नियम से पहाड़ बने हैं ॥ ५३ ॥

गीर्भिरूर्ध्वान् कल्पयित्वा रोहितो भूमिमब्रवीत् ।
त्वयीदं सर्वं जायतां यद् भूतं यच्च भाव्यम् ॥ ५४ ॥

गीः-भिः । ऊर्ध्वान् । कल्पयित्वा । रोहितः । भूमिम् । अब्रवीत् ॥ त्वयि । इदम् । सर्वम् । जायताम् । यत् । भूतम् । यत् । च । भाव्यम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(गीर्भिः) वेदवाणियों द्वारा (ऊर्ध्वान्) ऊँचे ऊँचे पहाड़ों को (कल्पयित्वा) रचकर (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (भूमिम्) भूमि से (अब्रवीत्) बोला-"(त्वयि) तुझ पर (इदम् सर्वम्) यह सब (जायताम्) उत्पन्न होवे, (यत्) जो कुछ (भूतम्) उत्पन्न है, (च) और (यत्) जो कुछ (भाव्यम्) उत्पन्न होने वाला है" ॥ ५४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अपने नित्य वेद ज्ञानद्वारा सब पर्वत आदि बनाकर सृष्टि के निवास के लिये भूमि को बनाया ॥ ५४ ॥

स यज्ञः प्रथमो भूतो भव्यो अजायत । तस्माद्ध जज्ञ इदं सर्वं यत् किं चेदं विरोचते रोहितेन ऋषिणाभृतम् ॥ ५५ ॥

सः । यज्ञः । प्रथमः । भूतः । भव्यः । अजायत ॥ तस्मात् । ह । जज्ञे । इदम् । सर्वम् । यत् । किम् । च । इदम् । वि-रोचते । रोहितेन । ऋषिणा । आ-भृतम् ॥ ५५ ॥

५४—(गीर्भिः) वेदवाग्भिः (ऊर्ध्वान्) उन्नतान् पर्वतान् (कल्पयित्वा) सृष्ट्वा (रोहितः) परमेश्वरः (भूमिम्) (अब्रवीत्) अवदत् (त्वयि) भूम्याम् (इदम्) प्रत्यक्षम् (सर्वम्) (जायताम्) उत्पद्यताम् (यत्) (भूतम्) उत्पन्नं वर्तते (यत्) (च) (भाव्यम्) भवतेर्ण्यत् । उत्पत्स्यमानम् ॥

भाषार्थ—(सः) वह (प्रथमः) सब से पहिला (भूतः) वर्तमान हुआ और (भव्यः) आगे वर्तमान रहने वाला (यज्ञः) पूजनीय [परमेश्वर] (अजायत) प्रकट हुआ। (तस्मात् ह) उस से ही (इदं सर्वम्) यह सब (जज्ञे) उत्पन्न हुआ (यत् किं च) जो कुछ भी (इदम्) यह [जगत्] (ऋषिणा) ऋषि [बड़े ज्ञानी] (रोहितेन) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] करके (आभृतम्) सब ओर से पाला गया (विरोचते) झलकता है ।५५

भावार्थ—जो अविनाशी परमात्मा भूत और भविष्यत् में वर्तमान रहता है, उसी ने अपने सामर्थ्य से यह सब जगत् रचा है। बुद्धिमान् लोग ऐसा निश्चय करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ५५ ॥

यश्च गां पदा स्फुरति प्रत्यङ् सूर्यं च मेहति ।
तस्य वृश्चामि ते मूलं न च्छायां करवोऽपरम् ॥ ५६ ॥

यः । च । गाम् । पदा । स्फुरति । प्रत्यङ् । सूर्यम् । च । मेहति ॥ तस्य । वृश्चामि । ते । मूलम् । न । छायाम् । करवः । अपरम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई (प्रत्यङ्) प्रतिकूलगामी पुरुष (गाम्) वेदवाणी को (पदा) पग से [तिरस्कार के साथ] (स्फुरति) ठोकर मारता है, (च च) और (सूर्यम्) सूर्य [समान प्रतापी विद्वान् मनुष्य] को (मेहति =

५५—(सः) प्रसिद्धः (यज्ञः) यजनीयः परमेश्वरः (प्रथमः) आदिमः (भूतः) भूतकाले भवः (भव्यः) भविष्यति भवः (अजायत) प्रादुरभवत् (तस्मात्) परमेश्वरात् (ह) एव (जज्ञे) प्रादुर्बभूव (इदम्) (सर्वम्) जगत् (यत्) (किं च) किमपि (इदम्) (विरोचते) विविधं दीप्यते दृश्यते (रोहितेन) सर्वोत्पादकेन (ऋषिणा) सर्वदर्शिना महाज्ञानिना (आभृतम्) समन्तात् पोषितम् ॥

५६—(यः) दुराचारी (च) (गाम्) वेदवाचम् (पदा) पादेन । तिरस्कारेण (स्फुरति) संचालयति (प्रत्यङ्) प्रतिकूलगामी (सूर्यम्) सूर्यवत्तेजस्विनं विद्वांसम् (च] (मेहति) मिहृ मेधृ मेधाहिंसनयोः, घस्य हः ।

मेथति) सताता है। (तस्य ते) उस तेरी (मूलम्) जड़ को (वृश्चामि) मैं काटता हूं, तू (छायाम्) छाया [अन्धकार वा अविद्या] को (अपरम्) फिर (न) न (करवः) फैलावे ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सत्य वेदवाणी का तिरस्कार करके विद्वानों को कष्ट देवे, उस को लोग दण्ड देकर नाश करें ॥ ५६ ॥

यो मा॒भिच्छा॒यम॒त्येषि॒ मां चा॒ग्निं चा॒न्त॒रा ।
तस्यं वृश्चामि ते॒ मूलं॒ न च्छा॒यां क॑रवोऽप॑रम् ॥ ५७ ॥

यः । मा॒ । अ॒भि॒-छा॒यम् । अ॒ति॒-एषि॑ । माम् । च॒ । अ॒ग्निम् । च॒ । अ॒न्त॒रा ॥ तस्य॑ । वृ॒श्चा॒मि॒ । ते॒ । मूल॑म् । न । छा॒याम् । क॒र॒वः॒ । अप॑रम् ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (माम्) मेरे (च च) और (अग्निम् अन्तरा) अग्नि [अग्नि समान ज्ञान प्रकाश] के बीच [होकर] (अभिच्छायम् मा) मुझ तेज पाये हुये को (अत्येषि) उलांघता है। (तस्य ते) उस तेरी (मूलम) जड़ को (वृश्चामि) मैं काटता हूं, तू (छायाम) छाया [अन्धकार वा अविद्या] को (अपरम्) फिर (न) न (करवः) फैलावे ॥ ५७ ॥

मेथति। हिनस्ति (तस्य) दुष्टस्य (वृश्चामि) छिनद्मि (ते) तव (मूलम्) (न) निषेधे (छायाम्) माछाशसिभ्यो यः। उ० ४। १०९। छो छेदने—य, टाप्। छ्यति प्रकाशमप्रकाशं वा। छाया सूर्यप्रिया कान्तिः प्रतिबिम्बमनातपः—अमर० २३। २५७। अनातपम्। अन्धकारम्। अज्ञानम् (करवः) कृ विक्षेपे-लेट्, छन्दसि तनादित्वादुप्रत्ययः, गुणे च कृते, करु सिप्। लेटोऽडाटौ। पा० ३। ४। ९४। इत्यटि गुणे च कृते सकारस्य विसर्गे च जाते रूपसिद्धिः। विक्षिप। विस्तारय (अपरम्) पुनः ॥

५७—(यः) दुराचारी (मा) मां ब्रह्मचारिणम् (अभिच्छायम्) छाया कान्तिः—म० ५६। अभिगता छाया कान्तिस्तेजो येन तं विद्वांसम् (अत्येषि) उल्लङ्घयसि (माम्) (च) (अग्निम्) अग्निवद् ज्ञानप्रकाशम्, (च) (अन्तरा) मध्ये। अन्यत् पूर्ववत्—म० ५६ ॥

भावार्थ—जैसे जलते हुये अग्नि का प्रकाश किसी वस्तु पर पड़ता है और कोई दोनों के बीच में पड़ कर प्रकाश को रोक दे, ऐसे ही जो दुराचारी वेदविद्या और ब्रह्मचारी के बीच विघ्न डालकर उत्तम व्यवहार के प्रचारों को रोके, उसे लोग दण्ड देकर नाश करें ॥ ५७ ॥

यो अद्य देव सूर्य त्वां च मां चान्तरायति ।
दुःष्वप्न्यं तस्मिञ्छमलं दुरितानि च मृज्महे ॥ ५८ ॥

यः । अद्य । देव । सूर्य । त्वाम् । च । माम् । च । अन्तरा । अयति ॥ दुः-स्वप्न्यम् । तस्मिन् । शमलम् । दुः-इतानि । च । मृज्महे ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(देव) हे प्रकाशमान ! (सूर्य) सूर्य [सूर्य समान तेजस्वी विद्वान् !] (यः) जो कोई [शत्रु] (अद्य) आज (त्वाम्) तेरे (च च) और (माम् अन्तरा) मेरे बीच (अयति) चले । (तस्मिन्) उस विषय में [आये हुये] (दुःष्वप्न्यम्) बुरे स्वप्न, (शमलम्) मलिन व्यवहार (च) और (दुरितानि) दुर्गतियों को (मृज्महे) हम शुद्ध करते हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दुष्टता के कारण शुभ गुणों के प्रकाशों को रोके, विद्वान् लोग उन सब विघ्नों को हटाने के लिये प्रयत्न करें ॥ ५८ ॥

मा प्र गाम पथो वयं मा यज्ञादिन्द्र सोमिनः ।
मान्त स्थुर्नो अरातयः ॥ ५९ ॥

मा । प्र । गाम । पथः । वयम् । मा । यज्ञात् । इन्द्र । सोमिनः । मा । अन्तः । स्थुः । नः । अरातयः ॥ ५९ ॥

५८—(यः) शत्रुः (अद्य) अस्मिन् दिने (देव) हे प्रकाशमान (सूर्य) आदित्यवत्तेजस्विन् विद्वन् (त्वाम्) (च) (माम्) (च) (अन्तरा) मध्ये (अयति) गच्छति (दुःष्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्नम् (तस्मिन्) पूर्वोक्ते विषये (शमलम्) भ्रष्टव्यवहारम् (दुरितानि) कष्टानि (च) (मृज्महे) शोधयामः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर ! (पथः) वैदिक मार्ग से (वयम्) हम (मा प्र गाम) कभी दूर न जावें, और (मा) न (सोमिनः) ऐश्वर्य युक्त (यज्ञात्) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान व्यवहार] से [दूर जावें]। (अरातयः) अदानी लोग (नः अन्तः) हमारे बीच (मा स्थुः) न ठहरें ॥ ५६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमात्मा की उपासना करते हुये सदा वैदिक मार्ग पर चल कर श्रेष्ठ कर्म करें और सुपात्रों को योग्य दान देते रहें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—म० १० । ५७ । १ ॥

योऽयज्ञस्य॑ प्र॒साध॑न॒स्तन्तु॑र्दे॒वेष्वात॑तः ।

तमाहु॑तमशीमहि ॥ ६० ॥ (६)

यः । य॒ज्ञस्य॑ । प्र॒-साध॑नः । तन्तुः॑ । दे॒वेषु॑ । आ-त॑तः ॥

तम् । आ-हु॑तम् । अ॒शी॒म॒हि॒ ॥ ६० ॥ (६)

भाषार्थ—(यः) जो [परमात्मा] (यज्ञस्य) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण, दानव्यवहार] का (प्रसाधनः) बड़ा साधक (तन्तुः) तन्तु [सूत्रात्मा रूप] होकर (देवेषु) देवों [इन्द्रियों, लोकों, और विद्वानों] में (आततः) निरन्तर फैला है। (तम् आहुतम्) उस सब ओर से ग्रहण किये गये [परमेश्वर] को (अशीमहि) हम प्राप्त होवें ॥ ६० ॥

भावार्थ—मनुष्य उस जगत् पिता, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक परमात्मा को ध्यान में रख कर अपनी उन्नति करें ॥ ६० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—म० १० । ५७ । २ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

५६—(मा प्र गाम) नैव दूरे गच्छेम (पथः) वैदिकमार्गात् (वयम्) धार्मिकाः (मा) निषेधे (यज्ञात्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारात् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन्, जगदीश्वर (सोमिनः) ऐश्वर्ययुक्तात् (अन्तः) मध्ये (मा स्थुः) न तिष्ठेयुः (नः) अस्माकम् (अरातयः) अदानशीलाः ॥

६०—(यः) परमात्मा (यज्ञस्य) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारस्य (प्रसाधनः) प्रकर्षेण साधकः (तन्तुः) सूत्रात्मा यथा (देवेषु) इन्द्रियेषु लोकेषु विद्वत्सु च (आततः) समन्ताद्विस्तृतः (तम्) परमात्मानम् (आहुतम्) समन्ताद् गृहीतम् (अशीमहि) प्राप्नुयाम ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ।

सूक्तम् २ ॥

१—४६ ॥ सविता रोहितो देवता ॥ १, १२-१५, २६, ३६ ... २, ८, २७, ४३ निचृज् जगती ; ३ जगती ; ४-७, ६, ३१—३३, ३५, ३६, ३८, ४६ त्रिष्टुप् ; १० निचृदास्तारपङ्क्तिः, ११ विराट् त्रिष्टुप् ; १६—२४ गायत्री; २५ भुरिग् ब्राह्मी गायत्री; २६ भुरिग् जगती ; २८ आर्षी त्रिष्टुप् ; ३० स्वराडार्षी जगती ; ३४ पङ्क्तिः ; ३७ आर्षी जगती ; ४२ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ४४ भुरिगार्षी जगती ; ४५ आर्षी जगती ॥

आध्यात्मोपदेशः—परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

उद॑स्य के॒तवो॑ दि॒वि शु॒क्रा भ्राज॑न्त ईरते ।
आ॒दि॒त्यस्य॑ नृ॒चक्ष॑सो म॒हिव्र॑तस्य मी॒ढुषः॑ ॥ १ ॥

उत् । अ॒स्य॒ । के॒तवः॑ । दि॒वि । शु॒क्राः । भ्राज॑न्तः । ई॒र॒ते॒ ॥
आ॒दि॒त्यस्य॑ । नृ॒-चक्ष॑सः । म॒हि-व्र॑तस्य । मी॒ढुषः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखने वाले (महिव्रतस्य) बड़े नियम वाले, (मीढुषः) सुख बरसाने वाले (आदित्यस्य) अविनाशी परमात्मा के (शुक्राः) पवित्र (भ्राजन्तः) चमकते हुये (केतवः) विज्ञान (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (उत् ईरते) उदय होते हैं ॥१॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! वह सर्वदर्शी, सर्वशक्तिमान् परमेश्वर अपनी महिमा से प्रत्येक व्यवहार में वर्तमान है, तुम उस को खोजकर अपना विज्ञान बढ़ाओ ॥ १ ॥

१—(उदीरते) उद्यन्ति (अस्य) प्रत्यक्षस्य (केतवः) विज्ञानानि । केतुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ (दिवि) प्रत्येकव्यवहारे (शुक्राः) शुचयः । पवित्राः (भ्राजन्तः) प्रकाशमानाः (आदित्यस्य) अविनाशिनः परमेश्वरस्य (महिव्रतस्य) महानियमयुक्तस्य (मीढुषः) दाश्वान् साह्वान् मीढ्वांश्च । पा० ६ । १ । १२ । मिह सेचने-क्वसु, निपात्यते । सुखवर्षकस्य ॥

दिशां प्रज्ञानां स्वरयन्तमर्चिषा सुपक्षमाशुं पतयन्तमर्णवे ।
स्तवाम सूर्यं भुवनस्य गोपां यो रश्मिभिर्दिश आभाति सर्वाः ॥२॥

दिशाम् । प्र-ज्ञानाम् । स्वरयन्तम् । अर्चिषा । सु-पक्षम् । आशुम् । पतयन्तम् । अर्णवे ॥ स्तवाम । सूर्यम् । भुवनस्य । गोपाम् । यः । रश्मि-भिः । दिशः । आ-भाति । सर्वाः ॥२॥

भाषार्थ—(प्रज्ञानाम्) बड़े ज्ञान कराने वाली (दिशाम्) दिशाओं का (अर्चिषा) अपने पूजनीय कर्म से (स्वरयन्तम्) उपदेश करने वाले (सुपक्षम्) सुन्दर रीति से ग्रहण करने वाले, (आशुम्) सर्वव्यापक, (अर्णवे) समुद्ररूप संसार में (पतयन्तम्) ऐश्वर्य करने वाले (भुवनस्य) संसार के (गोपाम्) रक्षक (सूर्यम्) सब के नायक परमेश्वर की (स्तवाम) हम स्तुति करें । (यः) जो [परमेश्वर] (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं में (रश्मिभिः) अपनी व्याप्तियों से (आभाति) निरन्तर चमकता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि सर्वव्यापक, सर्वरक्षक परमेश्वर की उपासना कर के अपनी उन्नति करें ॥ २ ॥

यत् प्राङ् प्रत्यङ् स्वधया यासि शीभं नानारूपे अहनी कर्षि मायया । तदादित्य महि तत् ते महि श्रवो यदेको विश्वं परि भूम जायसे ॥ ३ ॥

यत् । प्राङ् । प्रत्यङ् । स्वधया । यासि । शीभम् । नानारूपे

२—(दिशाम्) दिशानाम् (प्रज्ञानाम्) प्रज्ञापिनीनाम् (स्वरयन्तम्) उपदिशन्तम् (अर्चिषा) स्वपूजाकर्मणा (सुपक्षम्) पक्ष परिग्रहे—अच् । यथावत् परिग्रहीतारम् (आशुम्) अशू व्याप्तौ-उण् । सर्वव्यापकम् (पतयन्तम्) ऐश्वर्यं कुर्वन्तम् (अर्णवे) समुद्ररूपे संसारे (स्तवाम) प्रशंसाम (सूर्यम्) चराचरात्मानं सर्वनायकं परमेश्वरम् (भुवनस्य) संसारस्य (गोपाम्) रक्षकम् (रश्मिभिः) अश्नोतेरश्च । उ० ४ । ४६ । अशू व्याप्तौ-मि, रशादेशः । स्वव्याप्तिभिः (दिशः) दिशाः (आभाति) समन्ताद् दीप्यते (सर्वाः) ॥

इति नाना-रूपे । अहनी इति । कर्षि । मायया ॥ तत् । आदित्य । महि । तत् । ते । महि । श्रवः । यत् । एकः । विश्वम् । परि । भूम । जायसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस कारण से कि तू (प्राङ्) सन्मुख [वा पूर्व में] जाता हुआ और (प्रत्यङ्) पीछे [वा पश्चिम में] जाता हुआ (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (शीभम्) शीघ्र (यासि) चलता है, और (मायया) अपनी बुद्धिमत्ता से (नानारूपे) विरुद्ध रूप वाले (अहनी) दोनों दिन राति को (कर्षि) तू बनाता है। (तत्) उसी कारण से, (आदित्य) हे प्रकाश-स्वरूप परमेश्वर ! (तत्) वह (ते) तेरी (महि महि) बड़ी बड़ी (श्रवः) कीर्ति है, (यत्) कि (एकः) एक ही तू (विश्वम्) सब (भूम परि) बहुतायत [संसार] में सब ओर से (जायसे) प्रकट होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—अद्वितीय परमात्मा सृष्टि के आदि अन्त और स्थिति में वर्तमान रहकर विरुद्ध स्वभाव वाले प्रकाश और अन्धकार युक्त दिन राति को बनाता है, वैसे ही वह जड़ और चैतन्य जगत् को रचकर सब का पोषण करता है, उसी प्रकार मनुष्य विघ्नों को हटा कर आत्म बल बढ़ा कर पुरुषार्थ करें ॥३॥

विपश्चितं तरणिं भ्राजमानं वहन्ति यं हरितः सप्त बह्वीः । स्रुताद् यमत्त्रिर्दिवमुन्निनाय तं त्वा पश्यन्ति परियान्तमाजिम् ॥ ४ ॥

विपः-चितम् । तरणिम् । भ्राजमानम् । वहन्ति । यम् । हरितः । सप्त । बह्वीः ॥ स्रुतात् । यम् । अत्त्रिः । दिवम् ।

३—(यत्) यस्मात् कारणात् (प्राङ्) आभिमुख्येन पूर्वदिशि वा गच्छन् (प्रत्यङ्) पश्चात् पश्चिमदिशि वा गच्छन् (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (यासि) गच्छसि (शीभम्) क्षिप्रम्—निघ० २ । १५ (नानारूपे) विरुद्धरूपे (अहनी) अहोरात्रे (कर्षि) करोषि (मायया) प्रज्ञया (तत्) तस्मात् कारणात् (आदित्य) हे आदीप्यमान परमेश्वर (महि) महत् (तत्) (महि) (श्रवः) कीर्तिः (यत्) (एकः) अद्वितीयः । असहायः (विश्वम्) (सर्वम्) (परि) अभितः (भूम) बहुत्वं संसारम (जायसे) प्रादुर्भवसि ॥

उत्-निनाय । तम् । त्वा । पश्यन्ति । परि-यान्तम् । आजिम् ॥४॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (विपश्चितम्) विविध प्रकार [पार्थिव रस] एकत्र करने वाले, (भ्राजमानम्) प्रकाशमान, (तरणिम्) [अन्धकार से] पार करने वाले सूर्य को (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र वर्ण वाली] (बह्वीः) बहुत [भिन्न भिन्न प्रकार वाली] (हरितः) आकर्षक किरणें (वहन्ति) ले चलती हैं। (यम्) जिस [सूर्य] को (अत्रिः) नित्य ज्ञानी [परमात्मा] ने (स्रुतात्) बहते हुये [प्रकृति-रूप समुद्र] से (दिवम्) आकाश में (उन्निनाय) ऊंचा किया है, (तम् त्वा) उस तुझ [सूर्य] को (आजिम्) मर्यादा पर (परियान्तम्) सर्वथा चलता हुआ (पश्यन्ति) वे [विद्वान्] देखते हैं ॥४॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने प्रलय के पीछे अनेक लोकों के धारक आकर्षक सूर्य को रच कर दृढ़ता से आकाश में चलाया है, विद्वान् लोग परमेश्वर की उस बड़ी महिमा को विचार कर वैदिक मार्ग पर दृढ़ होकर चलते हैं ॥४॥

इस मन्त्र से मन्त्र २४ तक सूर्य का वर्णन करके परमेश्वर की महिमा का वर्णन किया है मन्त्र २४ की टिप्पणी देखो ॥

मा त्वा दभन् परियान्तमाजिं स्वस्ति दुर्गाँ अति याहि शीभम् । दिवं च सूर्य पृथिवीं च देवीमहोरात्रे विमिमानो यदेषि ॥ ५ ॥

४—(विपश्चितम्) वि+प्र+चिञ् चयने—क्विप्, तुक् । पार्थिवरसानां विविधं चयनशीलम् (तरणिम्) अन्धकारात् तारकं सूर्यम् (भ्राजमानम्) प्रकाशमानम् (वहन्ति) गमयन्ति (यम्) (हरितः) हसृरुहियुषिभ्य इतिः । उ० १। ९७ । हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु—इतिप्रत्ययः । हरित आदित्यस्याऽऽदित्योपयोजनानि—निघ० १ । १५ । रसाकर्षकाः किरणाः (सप्त) शुक्लनील-पीतरक्तहरितकपिशचित्ररूपयुक्ताः (बह्वीः) बह्व्यः अनेकविधाः (स्रुतात्) स्रवणशीलात् प्रकृतिरूपसमुद्रात् (यम्) (अत्रिः) अदेस्त्रिनिश्च । उ० ४ । ६८ । अत सातत्यगमने—त्रिप् । सदाज्ञानवान् परमात्मा (दिवम्) आकाशम् (उन्निनाय) उन्नतवान् (तम्) (त्वा) (पश्यन्ति) अवलोकयन्ति विद्वांसः (परियान्तम्) परितो गच्छन्तम् (आजिम्) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गतिक्षेपणयोः—इण् । मर्यादाम् । संग्रामम् ॥

मा । त्वा । दुभन् । परि-यान्तम् । आजिम् । स्वस्ति । दुःगान् । अति । याहि । शीभम् ॥ दिवम् । च । सूर्य । पृथिवीम् । च । देवीम् । अहोरात्रे इति । विमिमानः । यत् । एषि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे सूर्य !] (आजिम्) मर्यादा पर (परियान्तम्) सब ओर से चलते हुये (त्वा) तुझ को वे [विघ्न] (मा दभन्) न दबावें, (दुर्गान्) विघ्नों को (अति) उलांघ कर (स्वस्ति) आनन्द के साथ (शीभम्) शीघ्र (याहि) चल । (यत्) क्योंकि (सूर्य) हे सूर्य ! [लोकों के चलाने वाले पिण्ड-विशेष] (दिवम्) आकाश (च च) और (देवीम्) चलने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (अहोरात्रे) दिन राति (विमिमानः) विविध प्रकार नापता हुआ (एषि) तू चलता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार ईश्वर नियम से सूर्य अन्धकार आदि विघ्नों को मिटाकर जगत् का उपकार करता है, वैसे ही मनुष्य दोषों को त्याग कर सबको सुख पहुंचाने में प्रयत्न करें ॥ ५ ॥

स्वस्ति ते सूर्य चरसे रथाय येनोभावन्तौ परियासि सद्यः ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥६॥

स्वस्ति । ते । सूर्य । चरसे । रथाय । येन । उभौ । अन्तौ । परि-यासि । सद्यः ॥ यम् । ते । वहन्ति । हरितः । वहिष्ठाः । शतम् । अश्वाः । यदि । वा । सप्त । बह्वीः ॥ ६ ॥

५—(मा दभन्) मा हिंसन्तु ते विघ्नाः (त्वा) सूर्यम् (परियान्तम्) परितो गच्छन्तम् (आजिम्) म० ४ । मर्यादाम् (स्वस्ति) मङ्गलेन सह (दुर्गान्) विघ्नान् (अति) उल्लङ्घ्य (याहि) प्राप्नुहि (शीभम्) शीघ्रम् (दिवम्) आकाशम् (च) (सूर्य) हे प्रेरक रवे (पृथिवीम्) (च) (देवीम्) दिवु गतौ—अच् । गतिशीलाम् (अहोरात्रे) (विमिमानः) विविधं मानं कुर्वन् (यत्) यस्मात् कारणात् (एषि) गच्छसि ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [लोकों के चलाने वले पिण्डविशेष] (ते) तेरे (रथाय) रथ [गति विधान] के लिये (चरसे) चलने को (स्वस्ति) कल्याण है, (येन) जिसके कारण से तू (उभौ) दोनों (अन्तौ) अन्तों [आगे पीछे दोनों ओर, अथवा उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग] को (सद्यः) तुरन्त (परियासि) घूमता चलता है। (यम्) जिस [रथ] को (ते) तेरी (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि वर्ण वाली—मन्त्र ४] (बह्वीः) बहुतसी [भिन्न भिन्न वर्ण वाली] (वहिष्ठाः) अत्यन्त वहने वाली [शीघ्रगामी] (हरितः) आकर्षक किरणें (यदि वा) अथवा (शतम्) सौ [असंख्य] (अश्वाः) व्यापक गुण [घोड़े समान] (वहन्ति) ले चलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सूर्य गोल पिण्ड है, उसका प्रकाश आगे पीछे सब ओर होता है और वह उत्तरायण और दक्षिणायन मार्ग पर चलता और किरणों द्वारा आकर्षण और वृष्टि आदि करके लोकों का धारण पोषण करता है, उसी प्रकार मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों से प्रकाशमान होकर आगा पीछा सोचकर संसार में अपना कर्तव्य पूरा करें ॥ ६ ॥

सुखं सूर्य रथमंशुमन्तं स्योनं सुवह्निमधि तिष्ठ वाजिनम् ।
यं ते वहन्ति हरितो वहिष्ठाः शतमश्वा यदि वा सप्त बह्वीः ॥७॥

सु-खम् । सूर्य । रथम् । अंशु-मन्तम् । स्योनम् । सु-वह्निम् । अधि । तिष्ठ । वाजिनम् ॥ यम् । ते । वहन्ति । हरितः । वहिष्ठाः । शतम् । अश्वाः । यदि । वा । सप्त । बह्वीः ॥७॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [लोकों के चलाने वाले पिण्डविशेष] (सुखम्)

६—(स्वस्ति) कल्याणम् (ते) तव (सूर्य) हे रवे (चरसे) गमनाय (रथाय) रथो रंहतेर्गतिकर्मणः—निरु० ९। ११। रंहणसामर्थ्याय। गतिविधानाय (येन) (उभौ) (अन्तौ) परं चापरं च देशौ। उत्तरायणदक्षिणायनमार्गौ (परियासि) परीत्य गच्छसि (सद्यः) तत्क्षणम् (यम्) रथम् (ते) तव (वहन्ति) गमयन्ति (हरितः) म० ४। आकर्षकाः किरणाः (वहिष्ठाः) वहितृतमाः। अतिशयेन वहनशीलाः। गन्तृतमाः (शतम्) असंख्याताः (अश्वाः) व्याप्तिगुणाः। तुरङ्गा यथा (सप्त) म० ४ (बह्वीः) बह्व्यः ॥

७—(सुखम्) सुखेन गच्छन्तम् (सूर्य) रविमण्डल (रथम्) म० ६।

सुख से चलने वाले, (अंशुमन्तम) तेजो मय, (स्योनम्) आनन्द दायक (सुवह्निम्) भले प्रकार ले चलने वाले, (वाजिनम्) बल वाले (रथम्) रथ [गति विधान] पर (अधि तिष्ठ) अधिष्ठाता हो। (यम्) जिस [रथ] को (ते) तेरी (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि वर्ण वाली—मन्त्र ४] (बह्वीः) बहुत सी [भिन्न भिन्न वर्णों वाली], (वहिष्ठाः) अत्यन्त बहने वाली [शीघ्र गामी] (हरितः) आकर्षक किरणें, (यदि वा) अथवा (शतम्) सौ [असंख्य] (अश्वाः) व्यापक गुण [घोड़े समान] (वहन्ति) ले चलते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—सृष्टिकर्ता परमेश्वर ने जैसे प्रत्येक सूर्य मण्डल को अनेक लोकों की स्थिति के लिये रचा है, वैसे ही उसने मनुष्य को अनेक प्राणियों के पालन के लिये बनाया है ॥ ७ ॥

सप्त सूर्यो हुरितो यातवे रथे हिरण्यत्वचसो बृहतीरयुक्त ।
अमोचि शुक्रो रजसः पुरस्ताद् विधूय देवस्तमो दिवमारुहत् ॥८॥

सप्त । सूर्यः । हुरितः । यातवे । रथे । हिरण्य-त्वचसः । बृहतीः । अयुक्त ॥ अमोचि । शुक्रः । रजसः । पुरस्तात् । वि-धूय । देवः । तमः । दिवम् । आ । अरुहत् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य [लोकों के चलाने वाले पिण्ड विशेष] ने (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि वर्ण वाली—म० ४], (हिरण्यत्वचसः) तेज की त्वचा [ढकन] रखने वाली, (बृहतीः) बड़ी [दूर दूर जाने वाली] (हरितः) आकर्षक किरणों को (रथे) अपने रथ [गति विधान] में (यातवे) चलने के लिये (अयुक्त) जोड़ा है। (शुक्रः) तेजस्वी वह (रजसः)

गतिविधानम् (अंशुमन्तम्) तेजोमयम् (स्योनम्) सुखप्रदम् (सुवह्निम्) सुवोढारम् (अधि तिष्ठ) आरोह (वाजिनम्) बलवन्तम्। अन्यत् पूर्ववत्—म० ६ ॥

८—(सप्त) शुक्लनीलपीतादिवर्णयुक्ताः—म० ४ (सूर्यः) लोकानां प्रेरकः पिण्डविशेषः (हरितः) आकर्षकान् किरणान् (यातवे) गन्तुम् (रथे) म० ६। गतिविधाने (हिरण्यत्वचसः) त्वच संवरणे—असुन्। तेजोमयत्वग्युक्ताः (बृहतीः) महतीः। दूरगमनाः (अयुक्त) योजितवान् (अमोचि) अत्या-

धुन्धलेपन से (परस्तात्) दूर (अमोचि) छोड़ा गया है और (देवः) प्रकाशमान [सूर्य] (तमः) अन्धकार को (विधूय) हिला डालकर (दिवम्) आकाश में (आ अरुहत्) ऊंचा हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य दूर पहुंचने वाली किरणों द्वारा अन्धकार को नाश करके अनेक लोकों को आकर्षण में रखकर ऊंचा ठहरा है, वैसे ही मनुष्य अविद्या मिटाकर विद्या का प्रकाश करके प्रतिष्ठा प्राप्त करे ॥ ८ ॥

उत् केतुना बृहता देव आगन्नपावृक् तमोऽभि ज्योतिरश्रैत् ।
दिव्यः सुपर्णः स वीरो व्यख्यददितेः पुत्रो भुवनानि विश्वा ॥९॥

उत् । केतुना । बृहता । देवः । आ । अगन् । अप । अवृक् । तमः । अभि । ज्योतिः । अश्रैत् ॥ दिव्यः । सु-पर्णः । सः । वीरः । वि । अख्यत् । अदितेः । पुत्रः । भुवनानि । विश्वा ॥९॥

भाषार्थ—(देवः) प्रकाशमान सूर्य (बृहता केतुना) बड़ी सजधज से (उत्-आ अगन्) ऊंचा होकर आया है, उसने (तमः) अन्धकार को (अप अवृक्) हटा दिया है । और (ज्योतिः अभि) ज्योति को प्राप्त करके (अश्रैत्) ठहरा है । (दिव्यः) आकाशनिवासी, (सुपर्णः) सुन्दर रीति से पालन करने वाला, (अदितेः) अखण्ड प्रकृति के (पुत्रः) पुत्र [समान], (सः) उस (वीरः) वीर [विविध गति वाले सूर्य] ने (विश्वा) सब (भुवनानि)

जि (शुक्रः) प्रकाशमानः (रजसः) अन्धकारात् । धूम्रवर्णात् (परस्तात्) दूरे (विधूय) पृथक् कम्पयित्वा (देवः) प्रकाशमानः सूर्यः (तमः) अन्धकारम् (दिवम्) आकाशम् (आ अरुहत्) आरूढवान् ॥

९—(उत्) ऊर्ध्वः सन् (केतुना) प्रज्ञानेन (बृहता) महता (देवः) प्रकाशमानः सूर्यः (आ अगन्) आगतवान् (अप अवृक्) अपवर्जितवान् (तमः) अन्धकारम् (अभि) अभिगत्य (ज्योतिः) प्रकाशम् (अश्रैत्) श्रिञ् सेवायाम्—लुङि छान्दसं रूपम् । आश्रितवान् (दिव्यः) दिवि आकाशे भवः (सुपर्णः) शोभनपालनः (सः) प्रसिद्धः (वीरः) वि+ईर गतौ—अच् । विविधगतिः (व्यख्यत्) व्याख्यातानि प्रसिद्धानि कृतवान् (अदितेः) अखण्ड-

लोकों को (वि अख्यत्) प्रसिद्ध किया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जैसे सूर्य ने प्रकृति से उत्पन्न होकर अन्धकार मिटाकर संसार में उजाला फैलाया है, वैसेही तुम ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुणों से तेजस्वी होकर कीर्ति बढ़ाओ ॥ ९ ॥

उद्यन् रश्मीना तनुषे विश्वा रूपाणि पुष्यसि । उभा समुद्रौ क्रतुना वि भासि सर्वांल्लोकान् परिभूर्भ्राजमानः ॥ १० ॥ (७)

उत्-यन् । रश्मीन् । आ । तनुषे । विश्वा । रूपाणि । पुष्यसि ॥ उभा । समुद्रौ । क्रतुना । वि । भासि । सर्वान् । लोकान् । परि-भूः । भ्राजमानः ॥ १० ॥ (७)

भाषार्थ—[हे सूर्य !] (उद्यन्) ऊंचा होता हुआ तू (रश्मीन्) किरणों को (आ) सब ओर से (तनुषे) फैलाता है, और (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों [वस्तुओं] को (पुष्यसि) पुष्ट करता है। (उभौ) दोनों (समुद्रौ) समुद्रों [जड़ चेतन रूप संसार] को, (सर्वान् लोकान्) सब लोकों के (परिभूः) चारों ओर घूमता हुआ और (भ्राजमानः) चमकता हुआ तू (केतुना) अपने कर्म से (वि भासि) प्रकाशित कर देता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य ऊंचा होकर सृष्टि को प्रकाशित करके पुष्ट करता है, वैसे ही सब मनुष्य विद्या से सुभूषित होकर परोपकार करें ॥ १० ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् । विश्वान्यो भुवना विचष्टे हैरण्यैरन्यं हरितो वहन्ति ॥११॥

तायाः प्रकृतेः (पुत्रः) पुत्रो यथा (भुवनानि) लोकान् (विश्वा) सर्वाणि ॥

१०—(उद्यन्) उद्गच्छन् (रश्मीन्) किरणान् (आ) समन्तात् (तनुषे) विस्तारयसि (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) वस्तूनि (पुष्यसि) वर्धयसि (उभा) द्वौ (समुद्रौ) जड़चेतनरूपौ संसारौ (केतुना) कर्मणा (वि) विविधम् (भासि) दीपयसि (सर्वान्) (लोकान्) (परिभूः) परिग्राहकः । परिभ्राम्यन् (भ्राजमानः) प्रकाशमानः ॥

पूर्व-अपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ । परि । यातः । अर्णवम् ॥ विश्वा । अन्यः । भुवना । वि-चष्टे । हैरण्यैः । अन्यम् । हरितः । वहन्ति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एतौ) यह दोनों [सूर्य चन्द्रमा] (पूर्वापरम्) आगे पीछे (मायया) बुद्धि से [ईश्वर नियम से] (चरतः) विचरते हैं, (क्रीडन्तौ) खेलते हुये (शिशू) दो, बालक [जैसे] (अर्णवम्) अन्तरिक्ष में (परि) सब ओर (यातः) चलते हैं। (अन्यः) एक [सूर्य] (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यम्) दूसरे [चन्द्रमा] को (हरितः) [सूर्य की] आकर्षक किरणें (हैरण्यैः) तेजोमय [वा सुनैले] कामों के द्वारा (वहन्ति) ले चलती हैं ॥११॥

भावार्थ—सूर्य और चन्द्रमा ईश्वर नियम से उत्पन्न हुये हैं, तेजस्वी सूर्य प्रकाश रहित चन्द्रमा को अपने आकर्षण में रख कर प्रकाशित और उपकारी करता है, वैसे ही मनुष्य शुभ गुणों से प्रतापी होकर दूसरों को गुणवान करें ॥ ११ ॥

इस मन्त्र के प्रथम तीन पाद कुछ भेद से—ऋ० १० । ८५ । १८ में हैं, और पीछे—अथर्व० ७ । ८१ । १ में आचुके हैं, और आगे—अ० १४ । १ । २३ में हैं ॥

दिवि त्वात्त्रिरधारयत् सूर्या मासाय कर्तवे ।
स एषि सुधृतस्तपन् विश्वा भूतावचाकशत् ॥ १२ ॥

दिवि । त्वा । अत्त्रिः । अधारयत् । सूर्या । मासाय । कर्तवे ॥

११—(पूर्वापरम्) यथा तथा पूर्वापरपर्यायेण (चरतः) विचरतः (मायया) ईश्वरप्रज्ञया (एतौ) दृश्यमानौ सूर्याचन्द्रमसौ (शिशू) अ० ७ । ८१ । १ । बालकौ यथा (क्रीडन्तौ) विहरन्तौ (परि) (सर्वतः) (यातः) गच्छतः (अर्णवम्) समुद्रम् । अन्तरिक्षम् (विश्वा) सर्वाणि (अन्यः) एकः सूर्यः (भुवना) चन्द्रादिलोकान् (विचष्टे) विविधं पश्यति (हैरण्यैः) विकारे अण् । तेजोमयैः सुवर्णमयैर्वा कर्मभिः (अन्यम्) द्वितीयं चन्द्रमसम् (हरितः) आकर्षकाः किरणाः (वहन्ति) गमयन्ति ॥

सः । एषि । सु-धृतः । तपन् । विश्वा । भूता । अव-चाकशत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [लोकों के चलाने वाले रवि मण्डल], (अत्रिः) सदा ज्ञानवान् [परमात्मा] ने (मासाय) महीना [काल विभाग] (कर्तवे) करने के लिये (त्वा) तुझ को (दिवि) आकाश में (अधारयत्) धारण किया है । (सः) वह तू (सुधृतः) अच्छी प्रकार धारण किया गया, (तपन्) तपता हुआ, और (विश्वा भूता) सब प्राणियों को (अवचाकशत्) निहारता हुआ (एषि) चलता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने सूर्य को बहुत से लोकों पर आकर्षण, ताप, वृष्टि आदि पहुंचाने के लिये बनाया है, मनुष्य उसी प्रकार तेजस्वी होकर परस्पर पुरुषार्थ करें ॥ १२ ॥

उभावन्तौ समर्षसि वत्सः संमातराविव ।
नन्वे३तदितः पुरा ब्रह्म देवा अमी विदुः ॥ १३ ॥

उभौ । अन्तौ । सम् । अर्षसि । वत्सः । संमातरौ-इव ॥ ननु । एतत् । इतः । पुरा । ब्रह्म । देवाः । अमी इति । विदुः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे सूर्य !] तू (उभौ) दोनों (अन्तौ) अन्तों [पूर्व पश्चिम अथवा आगे पीछे दोनों ओर] को (सम्) ठीक ठीक (अर्षसि) पहुंचता है, (इव) जैसे (वत्सः) बालक (संमातरौ) दो सामान्य [मिली हुयी] माताओं को । (ननु) निश्चय करके (एतत्) इस (ब्रह्म) ईश्वर ज्ञान

१२—(दिवि) आकाशे (त्वा) सूर्यम् (अत्रिः) म० ४ । सदा ज्ञानवान् परमात्मा (अधारयत्) स्थापितवान् (सूर्य) संहितिको दीर्घः । हे रविमण्डल (मासाय) कालविभागायेत्यर्थः (कर्तवे) कर्तुम् (सः) स त्वम् (एषि) गच्छसि (सुधृतः) सुपुष्टः (तपन्) तापं कुर्वन् (विश्वा) सर्वाणि (भूता) लोकान् (अवचाकशत्) अ० ६ । ८० । १ । भृशं पश्यन् ॥

१३—(उभौ) द्वौ (अन्तौ) पूर्वापरौ पूर्वपश्चिमदेशौ वा (सम्) सम्यक् (अर्षसि) प्राप्नोषि (वत्सः) बालकः (संमातरौ) समानजनन्यौ (इव) यथा (ननु) निश्चयेन (एतत्) प्रत्यक्षम् (इतः) अस्मात् कालात्

को (इतः पुरा) इस [समय] के पहिले से (अमी) यह (देवाः) विद्वान् लोग (विदुः) जानते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सूर्य को ऐसी उचित रीति से बनाया है कि वह निरन्तर घूमकर सृष्टि का उपकार करे, पूर्वज विद्वान् लोग ईश्वर के ऐसे नियमों को जानकर सुधार करते रहे हैं ॥ १३ ॥

यत् स॑मु॒द्रमनु॑ श्रि॒तं तत् सि॑षास॒ति॒ सूर्यः॑ ।
अध्वा॑स्य॒ वित॑तो म॒हान् पूर्व॒श्चाप॑रश्च॒ यः ॥ १४ ॥

यत् । स॒मु॒द्रम् । अनु॑ । श्रि॒तम् । तत् । सि॒षा॒स॒ति॒ । सूर्यः॑ ॥
अध्वा॑ । अ॒स्य॒ । वि-त॑तः । म॒हान् । पूर्वः॑ । च॒ । अप॑रः । च॒ । यः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो कुछ (समुद्रम् अनु) समुद्र [संसार] में (श्रितम्) ठहरा हुआ है, (तत्) उस को (सूर्यः) सूर्य [लोकों का चलाने वाला रवि] (सिषासति) सेवा करना चाहता है । (अस्य) उस [सूर्य] का (अध्वा) मार्ग (विततः) फैला हुआ और (महान्) बड़ा है, (यः) जो [मार्ग] (पूर्वः) आगे (च च) और (अपरः) पीछे [अथवा पूर्व और पश्चिम] है ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह सूर्य अपने घेरे के भीतर सब लोकों को आकर्षण, वृष्टि आदि से सेवता है, उस नियम को निरखकर विद्वान् लोग मर्यादा पर चलें ।१४

तं स॒माप्नो॑ति जू॒तिभि॒स्ततो॒ नाप॑ चिकित्सति ।
तेना॒मृत॑स्य भ॒क्षं दे॒वानां॒ नाव॑ रुन्धते ॥ १५ ॥

(पुरा) पूर्वम् (ब्रह्म) ईश्वरज्ञानम् (देवाः) विद्वांसः (अमी) वर्त्तमानाः (विदुः) जानन्ति ॥

१४—(यत्) वस्तुजातम् (समुद्रम्) संसाररूपम् (अनु) प्रति (श्रितम्) स्थितम् (तत्) (सिषासति) षण संभक्तौ—सन् । सेवितुमिच्छति (सूर्यः) आदित्यलोकः (अध्वा) मार्गः (अस्य) सूर्यस्य (विततः) विस्तृतः (पूर्वः) (च) (अपरः) पश्चाद् भवः । पश्चिमः (च) (यः) मार्गः ॥

तम् । सम् । आप्नोति । जूतिः-भिः । ततः । न । अप । चिकित्सति ॥ तेन । अमृतस्य । भक्षम् । देवानाम् । न । अव । रुन्धते ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस [मार्ग] को (जूतिभिः) अपने वेगों से (सम् आप्नोति) वह [सूर्य] समाप्त करता रहता है; (ततः) उस मार्ग से (न अप चिकित्सति) वह भूल नहीं करता। (तेन) उसी कारण से (देवानाम्) विजय चाहने वालों के (अमृतस्य) अमरपन [जीवन साधन] के (भक्षम्) सेवन को (न अव रुन्धते) वे [विघ्न] नहीं रोकते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—सूर्य निरन्तर घूम कर संसार में प्रकाश करता रहता है, उसी से सब पुरुषार्थी जन जीवन सामग्री पाते हैं ॥ १५ ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः ।
दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥ १६ ॥

उत् । ऊं इति । त्यम् । जात-वेदसम् । देवम् । वहन्ति । केतवः ॥ दृशे । विश्वाय । सूर्यम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(केतवः) किरणें (त्यम्) उस (जातवेदसम्) उत्पन्न पदार्थों को प्राप्त करने वाले, (देवम्) चलते हुये (सूर्यम्) रविमण्डल को (विश्वाय दृशे) सब के देखने के लिये (उ) अवश्य (उत् वहन्ति) ऊपर ले चलती हैं ॥ १६ ॥

१५—(तम्) अध्वानम् (समाप्नोति) सम्यक् प्राप्नोति (जूतिभिः) जवनैः। वेगैः (ततः) तस्मात् मार्गात् (न) निषेधे (अप) (चिकित्सति) कित व्याधिप्रतीकारनिग्रहापनयननाशनसंशयेषु—स्वार्थे सन्। संदेहं प्रमादं करोति (तेन) कारणेन (अमृतस्य) अमरणस्य। जीवनसाधनस्य। (भक्षम्) वृतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । भज सेवायाम्—स । सेवनम् (देवानाम्) विजिगीषूणाम् (न) निषेधे (अव) (रुन्धते) वर्जयन्ति विघ्नाः ॥

१६—(उत्) ऊर्ध्वम् (उ) निश्चये (त्यम्) तम् (जातवेदसम्) यो जातान् पदार्थान् विन्दति तम् (देवम्) गच्छन्तम् (वहन्ति) गमयन्ति (केतवः) किरणाः (दृशे) द्रष्टुम् (विश्वाय) सर्वस्मै जगते (सूर्यम्) रविमण्डलम् ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य किरणों के आकर्षण से ऊंचा होकर सब पदार्थों को प्रकट करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धर्म से उन्नति करके सब का उपकार करें १६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१।५०।१; यजु० ७।४१; ८।४१; ३३।३१ तथा सामवेद पू० १।३।५। तथा निरु० १२।१५ में व्याख्यात है ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः ।
सूराय विश्वचक्षसे ॥ १७ ॥

अप । त्ये । तायवः । यथा । नक्षत्रा । यन्ति । अक्तु-भिः ॥
सूराय । विश्व-चक्षसे ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(विश्वचक्षसे) सब के दिखाने वाले (सूराय) सूर्य के लिये (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (नक्षत्रा) चलने वाले तारागण (अप यन्ति) भाग जाते हैं, (यथा) जैसे (त्ये) वे (तायवः) चोर [भाग जाते हैं] ॥१७॥

भावार्थ—सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार मिट जाता है, मन्द चमकने वाले नक्षत्र छिप जाते हैं और चोर लोग भाग जाते हैं, वैसे ही वेद-विज्ञान फैलने से अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि होती है ॥ १७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१।५०।२, और सामवेद में पू० ६।१४।७ ॥

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु ।
भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १८ ॥

अदृश्रन् । अस्य । केतवः । वि । रश्मयः । जनान् । अनु ॥

१७—(अप) दूरीभावे (त्ये) ते (तायवः) तायृ सन्तानपालनयोः यद्वा तसु उपक्षये-उण् सस्य यः । चोराः । स्तेनाः—निघ० ३।२४ (यथा) (नक्षत्रा) अमिनक्षियजि० । उ० ३।१०५। णक्ष गतौ—अत्रन् । नक्षत्राणि नक्षतेर्गतिकर्मणः—निरु० ३।२० । गतिशीलास्तारकाः (यन्ति) गच्छन्ति (अक्तुभिः) पः किच्च । उ० १।७१। अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—तुन्, कित्, नलोपः । रात्रिभिः सह—निरु० १२।२३ (सूराय) सूर्याय (विश्वचक्षसे) विश्वस्य चक्षो दर्शनं यस्मात् तस्मै । सर्वदर्शकाय ॥

भ्राजन्तः । अग्नयः । यथा ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सूर्य] की (केतवः) जताने वाली (रश्मयः) किरणें (जनान् अनु) प्राणियों में (वि) विविध प्रकार से (अदृश्रन्) देखी गयी हैं । (यथा) जैसे (भ्राजन्तः) दहकते हुये (अग्नयः) अंगारे ॥ १८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें धूप, बिजुली और अग्नि के रूप से संसार में फैलती हैं, वैसे ही सब मनुष्य शुभ गुण कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होकर आत्मा और समाज की उन्नति करें ॥ १८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१ । ५० । ३ । यजु० ८ । ४० । और साम० पू० ६ । १४ । ८ ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य ।
विश्वमा भासि रोचन ॥ १९ ॥

तरणिः । विश्व-दर्शतः । ज्योतिः-कृत् । असि । सूर्य ॥
विश्वम् । आ । भासि । रोचन ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! तू (तरणिः) अन्धकार से पार करने वाला (विश्वदर्शतः) सब का दिखाने वाला और (ज्योतिष्कृत्) [चन्द्र आदि में] प्रकाश करने वाला (असि) है । (रोचन) हे चमकने वाले तू (विश्वम्) सब को (आ) भले प्रकार (भासि) चमकाता है ॥ १९ ॥

भावार्थ--जैसे यह सूर्य अग्नि, बिजुली, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पर अपना प्रकाश डालकर उन्हें चमकीला बनाता है, वैसे ही परमात्मा अपने

१८—(अदृश्रन्) दृष्टा अभूवन् (अस्य) सूर्यस्य (केतवः) ज्ञापकाः (वि) विविधम् (रश्मयः) किरणाः (जनान् अनु) जातान् प्राणिनः प्रति (भ्राजन्तः) प्रकाशमानाः (अग्नयः) पावकाः (यथा) ॥

१९—(तरणिः) अन्धकारात् तारकः (विश्वदर्शतः) सर्वस्य दर्शयिता (ज्योतिष्कृत्) चन्द्रादिलोकेषु प्रकाशस्य कर्ता (असि) (सूर्य) (विश्वम्) सर्वं दृश्यमानम् (आ) समन्तात् (भासि) प्रकाशयसि (रोचन) हे प्रकाशमान ॥

सामर्थ्य से सब सूर्य आदि को रचता है और वैसे ही विद्वान् लोग विद्या के प्रकाश से संसार को आनन्द देते हैं ॥ १९ ॥

इस मन्त्र पर ऋग्वेद में सायणाचार्य का लेख इस प्रकार है—"रात्रि में जलमय चन्द्र आदि बिंबों पर सूर्य की किरणें लौटकर अन्धकार को हटाती हैं, जैसे द्वार पर रक्खे दर्पण पर गिरायी गयीं सूर्य की किरणें घर के भीतर के अन्धकार को हटाती हैं" ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ५० । ४, यजुर्वेद ३३ । ३६, और सामवेद पू० ६ । १४ । ६ ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः ।

प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ २० ॥ (८)

प्रत्यङ् । देवानाम् । विशः । प्रत्यङ् । उत् । एषि । मानुषीः ॥ प्रत्यङ् । विश्वम् । स्वः । दृशे ॥ २० ॥ (८)

भाषार्थ—[हे सूर्य !] (देवानाम्) गतिशील [चन्द्र आदि लोकों] की (विशः) प्रजाओं को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर, (मानुषीः) मानुषी मनुष्य संबन्धी [पार्थिव प्रजाओं] को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर और (विश्वम्) सब जगत् को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर (स्वः) सुख से (दृशे) देखने के लिये (उत्) ऊंचा होकर (एषि) तू प्राप्त होता है ॥ २० ॥

भावार्थ—सूर्य गोल आकार बहुत बड़ा पिण्ड है, इसलिये वह सब लोकों को सन्मुख दीखता है, और सब लोक उसके आकर्षण प्रकाशन आदि से सुख पाते हैं, ऐसे ही परमात्मा के सर्व व्यापी और सर्वशक्तिमान् होने से उसके नियम पर चलकर सब सुखी रहते हैं ॥ २० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ५० । ५, और सामवेद—पू० ६ । १४ । १० ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु ।

२०—(प्रत्यङ्) अभिमुखः सन् (देवानाम्) गतिशीलानां चन्द्रादिलोकानाम् (विशः) प्रजाः (प्रत्यङ्) (उत्) ऊर्ध्वः सन् (एषि) प्राप्नोषि (मानुषीः) मनुष्यसम्बन्धिनीः पार्थिवप्रजाः (प्रत्यङ्) (विश्वम्) सर्वम् (स्वः) सुखेन (दृशे) द्रष्टुम् ॥

त्वं वरुण पश्यसि ॥ २१ ॥

येन । पावक । चक्षसा । भुरण्यन्तम् । जनान् । अनु ॥

त्वम् । वरुण । पश्यसि ॥ २१ ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः ।

पश्यन् जन्मानि सूर्य ॥ २२ ॥

वि । द्याम् । एषि । रजः । पृथु । अहः । मिमानः । अक्तु-भिः ॥

पश्यन् । जन्मानि । सूर्य ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(पावक) हे पवित्र करने वाले ! (वरुण) हे उत्तम गुण वाले ! [सूर्य, रविमण्डल] (येन) जिस (चक्षसा) प्रकाश से (भुरण्यन्तम्) धारण और पोषण करते हुये [पराक्रम] को (जनान् अनु) उत्पन्न प्राणियों में (त्वम्) तू (पश्यसि) दिखाता है ॥ २१ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ५० । ६, यजु० ३३ । ३२, और साम पू० ६ । १४ । ११ ॥

भाषार्थ—[उस प्रकाश से] (सूर्य) हे सूर्य ! [रविमण्डल] (अहः) दिन को (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (मिमानः) बनाता हुआ और (जन्मानि) उत्पन्न वस्तुओं को (पश्यन्) दिखाता हुआ तू (द्याम्) आकाश में (पृथु) फैले हुये (रजः) लोक को (वि) विविध प्रकार (एषि) प्राप्त होता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से वृष्टि आदि द्वारा अपने घेरे के

२१—(येन) (पावक) शोधक (चक्षसा) प्रकाशेन (भुरण्यन्तम्) भुरण धारणपोषणयोः—शतृ । धरन्तं पोषयन्तं च (जनान् अनु) उत्पन्नान् प्राणिनः प्रति (त्वम्) (वरुण) उत्तमगुणविशिष्ट (पश्यसि) दर्शयसि ॥

२२—(वि) विविधम् (द्याम्) कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । पा० २ । ३ । ५ । इति द्वितीया । आकाशे (एषि) प्राप्नोषि (रजः) लोकम् (पृथु) विस्तृतम् (अहः) दिनम् (मिमानः) रचयन् सन् (अक्तुभिः) रात्रिभिः (पश्यन्) दर्शयन् (जन्मानि) उत्पन्नानि वस्तूनि (सूर्य) लोकप्रेरक रविमण्डल ॥

सब प्राणियों और लोकों को धारण पोषण करता है, वैसेही मनुष्य सर्वोपरि विराजमान परमात्मा के ज्ञान से परस्पर सहायक होकर सुखी होवें ॥ २१,२२॥

मन्त्र २२ कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ५० । ७ और साम० पू० ६ । १४ । १२॥

सप्त त्वा हरितो रथे वहन्ति देव सूर्य ।
शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २३ ॥

सप्त । त्वा । हरितः । रथे । वहन्ति । देव । सूर्य ॥
शोचिः-केशम् । वि-चक्षणम् ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(देव) हे चलनेवाले (सूर्य) सूर्य ! [रविमण्डल] (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि—म० ४] (हरितः) आकर्षक किरणें (शोचिष्केशम्) पवित्र प्रकाश वाले (विचक्षणम्) विविध प्रकार दिखाने वाले (त्वाम्) तुझ को (रथे) रथ [गमन विधान] में (वहन्ति) ले चलती हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—यह प्रकाशमान सूर्यलोक शुक्ल, नील, पीत आदि सात किरणों द्वारा अपनी धुरी पर अपने घेरे में घूमता है। इस नियम का बनाने वाला वह परमेश्वर है ॥ २३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है–१ । ५० । ८, और साम० पू० ६ । १४ । १४ ॥

अयुक्त सप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नप्त्यः ।
ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २४ ॥

अयुक्त । सप्त । शुन्ध्युवः । सूरः । रथस्य । नप्त्यः ॥
ताभिः । याति । स्वयुक्ति-भिः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(सूरः) सूर्य [लोकप्रेरक रविमण्डल] ने (रथस्य) रथ

२३—(सप्त) नीलपीतादिसप्तवर्णाः-म० ४ (त्वा) (हरितः) आकर्षकाः किरणाः (रथे) म० ६। गमनविधाने (वहन्ति) गमयन्ति (देव) हे गमनशील (सूर्य) रविमण्डल (शोचिष्केशम्) शोचिषः शुचयः केशाः प्रकाशा यस्य तम् (विचक्षणम्) विविधं दर्शकम् ॥

२४—(अयुक्त) योजितवान् (सप्त) सप्तसंख्याकाः—म० ४ (शुन्ध्युवः)

[अपने चलने के विधान] की (नप्त्यः) न गिराने वाली (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि म० ४] (शुन्ध्युवः) शुद्ध करने वाली किरणों को (अयुक्त) जोड़ा है। (ताभिः) उन (स्वयुक्तिभिः) धन से संयोग वाली [किरणों के साथ] (याति) वह चलता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो सूर्य अपनी परिधि के लोकों को अपने आकर्षण में रख-कर चलाता है और जिसकी किरणें रोगों को हटाकर प्रकाश और वृष्टि आदि से संसार को धनी बनाती हैं, उस सूर्य को जगदीश्वर परमात्मा ने बनाया है॥२४॥

मन्त्र ४ से इस मन्त्र तक सूर्य के गुणों का वर्णन करके परमेश्वर की महिमा का वर्णन किया है। अब फिर वही प्रकरण परमेश्वर विषयक चलता है॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१।५०।९, और सामवेद-पू० ६। १४। १३॥

रोहि॑तो॒ दिव॒मारु॑हु॒त् तप॑सा त॒प॒स्वी। स योनि॒मैति॒ स उ॑ जायते॒ पुनः॒ स दे॒वाना॒मधि॑पतिर्बभूव ॥ २५ ॥

रोहि॑तः। दिव॑म्। आ। अ॒रु॒ह॒त्। तप॑सा। त॒प॒स्वी॥ सः। योनि॑म्। आ। ए॒ति॒। सः। ऊं॒ इति॑। जा॒य॒ते॒। पुनः॑। सः। दे॒वाना॑म्। अधि॑-पतिः। ब॒भू॒व ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(तपस्वी) ऐश्वर्यवान् (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (तपसा) अपने सामर्थ्य से (दिवम्) प्रत्येक व्यवहार में

यजिमनिशुन्धि०। उ० ३। २०। शुन्ध विशुद्धौ—युच्। शोधिकाः (सूरः) षू प्रेरणे—क्रन्। लोकप्रेरकः सूर्यः (रथस्य) गमनविधानस्य (नप्त्यः) इक् कृष्यादिभ्यः। वा० पा० ३। ३। १०८। नञ्+पत्लृ पतने—इक्। तनिपत्योश्छन्दसि। पा० ६। ४। ९९। इत्युपधालोपः, शसो जस्। नप्तीः। अपातनशीलाः। न पातयित्रीः (ताभिः) (याति) गच्छति (स्वयुक्तिभिः) स्वस्य धनस्य योजन-शक्तिभिः॥

२५—(रोहितः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (दिवम्) प्रत्येकव्यवहारम् (आ) समन्तात् (अरुहत्) प्रादुरभवत् (तपसा) स्वसामर्थ्येन (तपस्वी)

(आ) सब ओर से (अरुहत्) प्रकट हुआ है। (सः) वह (योनिम्) प्रत्येक कारण [कारण के कारण] को (आ एति) प्राप्त होता है, (सः उ) वह ही (पुनः) फिर (जायते) बाहिर दीखता है, (सः) वही (देवानाम्) चलने वाले लोकों का (अधिपतिः) बड़ा स्वामी (बभूव) हुआ है ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपने सामर्थ्य से कारणों का आदि कारण होकर और बाहिर से भी सब कार्यरूप जगत् का नियन्ता बनकर सब लोकों का स्वामी है ॥ २५ ॥

यो विश्वचर्षणिरुत विश्वतोमुखो यो विश्वतस्पाणिरुत विश्वतस्पृथः । सं बाहुभ्यां भरति सं पतत्रैर्द्यावापृथिवी जनयन् देव एकः ॥ २६ ॥

यः । विश्व-चर्षणिः । उत । विश्वतः-मुखः । यः । विश्वतः-पाणिः । उत । विश्वतः-पृथः ॥ सम् । बाहु-भ्याम् । भरति । सम् । पतत्रैः । द्यावापृथिवी इति । जनयन् । देवः । एकः २६

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (विश्वचर्षणिः) सब का देखने वाला, (उत) और (विश्वतोमुखः) सब ओर से मुख [मुख्यव्यवहार वा उपाय] वाला, (यः) जो (विश्वतस्पाणिः) सब ओर से हाथ के व्यवहार वाला, (उत) और (विश्वतस्पृथः) सब ओर से पूर्तिवाला है। (एकः) वह अकेला (देवः) प्रकाशस्वरूप [परमात्मा] (बाहुभ्याम्) दोनों [धारण आकर्षण

ऐश्वर्यवान् (योनिम्) कारणम् (आ) समन्तात् (एति) प्राप्नोति (सः) (उ) एव (जायते) प्रादुर्भवति (पुनः) पश्चात् (सः) (देवानाम्) गन्तॄणां लोकानाम् (अधिपतिः) सर्वस्वामी (बभूव) ॥

२६—(यः) परमेश्वरः (विश्वचर्षणिः) सर्वद्रष्टा—निघ० ३ । ११ (उत) अपि (विश्वतोमुखः) सर्वतोमुखं प्रधानं व्यवहार उपायो वा यस्य सः (यः) (विश्वतस्पाणिः) पण व्यवहारे—इण् । सर्वतो हस्तसामर्थ्यं यस्य सः (उत) (विश्वतस्पृथः) पातॄतुदिवचि० । उ० २ । ७ । पॄ पालनपूरणयोः—थक्, टाप् । सर्वतः पृथा पूर्तिर्यस्य सः (सम्) सम्यक् (बाहुभ्याम्) धारणाक-

रूप] भुजाओं से (पतत्रैः सम्) गमनशील परमाणुओं के साथ (द्यावापृथिवी) सूर्य पृथिवी को (जनयन्) उत्पन्न करता हुआ (सम्) यथावत् (भरति) पुष्ट करता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—निराकार सर्वशक्तिमान् अकेले जगदीश्वर ने सब आगा पीछा देख, सब प्रकार के संयोग वियोग आदि उपायों से परमाणुओं में धारण आकर्षण सामर्थ्य देकर कुम्भकार के समान सब जगत् को रचा है, उसकी उपासना सब मनुष्य करें ॥ २६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है १० । ८१ । ३, और यजुर्वेद १७ । १९ ॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात् । द्विपाद्ध षट्पदो भूयो वि चक्रमे त एकपदस्तन्वं समासते ॥ २७ ॥

एक-पात् । द्वि-पदः । भूयः । वि । चक्रमे । द्वि-पात् । त्रि-पादम् । अभि । एति । पश्चात् ॥ द्वि-पात् । ह । षट्-पदः । भूयः । वि । चक्रमे । ते । एक-पदः । तन्वम् । सम् । आसते २७

भाषार्थ—(एकपात्) एक रस व्यापक परमेश्वर (द्विपदः) दो प्रकार की स्थितिवाले [जङ्गम स्थावर जगत्] से (भूयः) अधिक आगे (वि) फैलकर (चक्रमे) चला गया, (द्विपाद्) दो [भूत भविष्यत्] में गति वाला परमात्मा (पश्चात्) फिर (त्रिपादम्) तीन [प्रकाशमान और अप्रकाशमान और मध्य लोकों] में व्याप्ति वाले संसार में (अभि) सब ओर से (एति)

र्षणरूपभुजाभ्याम् (भरति) पुष्णाति (सम्) सह (पतत्रैः) गमनशीलैः परमाणुभिः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमिलोकौ (जनयन्) उत्पादयन् (देवः) प्रकाशस्वरूपः (एकः) अद्वितीयः ॥

२७—(एकपात्) निरन्तरव्यापकः परमेश्वरः (द्विपदः) द्विप्रकारस्थितियुक्ताज् जङ्गमस्थावररूपसंसारात् (भूयः) अधिकतरम् (वि) विस्तीर्य (चक्रमे) जगाम (द्विपात्) द्वयोर्भूतभविष्यतोः पादो गतिर्यस्य सः परमेश्वरः (त्रिपादम्) प्रकाशमानाप्रकाशमानान्तरिक्षलोकेषु व्याप्तिमन्तं संसारम् (अभि) सर्वतः (एति) प्राप्नोति (पश्चात्) पुनः (द्विपाद्) जङ्गमस्थावर-

प्राप्त होता है, (द्विपात्) दो [जङ्गम और स्थावर जगत्] में व्यापक ईश्वर (ह) निश्चय करके (षट्पदः) छह [पूर्व दक्षिण पश्चिम उत्तर ऊंची और नीची दिशाओं] में स्थिति वाले ब्रह्माण्ड से (भूयः) अधिक आगे (विचक्रमे) निकल गया, (ते) वे [योगी जन] (एकपदः) एक रस व्यापक परमेश्वर की (तन्वम्) उपकार क्रिया को (सम्) निरन्तर (आसते) सेवते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—वह अकेला सर्वव्यापक सर्वशक्तिमान् परमात्मा जङ्गम स्थावर, भूत भविष्यत्, प्रकाशमान और अप्रकाशमान और दोनों के मध्यस्थ लोका और पूर्व आदि दिशाओं की सीमा से बहुत बड़ा है। ऐसे परमात्मा की उपासना से महात्मा लोग अपने आत्मा की उन्नति करते हैं ॥ २७ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद–१० । ११७ । ८ का पूर्वार्द्ध है, और पूरा मन्त्र ऋग्वेद का आगे अ० १३ । ३ । २५ में है ॥

अतन्द्रो यास्यन् हरितो यदास्थाद् द्वे रूपे कृणुते रोचमानः। केतुमानुद्यन्त्सहमानो रजांसि विश्वा आदित्य प्रवतो वि भासि ॥ २८ ॥

अतन्द्रः । यास्यन् । हरितः । यत् । आ-अस्थात् । द्वे इति । रूपे इति । कृणुते । रोचमानः ॥ केतु-मान् । उत्-यन् । सहमानः । रजांसि । विश्वाः । आदित्य । प्र-वतः । वि । भासि २८

भाषार्थ—(यत्) जब (अतन्द्रः) निरालसी वह [परमेश्वर] (यास्यन्) चलने की इच्छा करने वाला [होता है], वह (हरितः) आकर्षक दिशाओं में (आ–अस्थात्) आकर ठहरता है, (रोचमानः) प्रकाशमान वह

जगति व्यापकः परमेश्वरः (ह) निश्चयेन (षट्पदः) ऊर्ध्वाधः पूर्वादि षड्दिक्षु गतिवतो ब्रह्माण्डात् (भूयः) अधिकतरम् (विचक्रमे) (ते) योगिनः पुरुषाः (एकपदः) निरन्तरव्यापकस्य परमेश्वरस्य (तन्वम्) उपकारक्रियाम् (सम्) सम्यक् (आसते) सेवन्ते ॥

२८—(अतन्द्रः) निरलसः परमेश्वरः (यास्यन्) यातुं गन्तुमिच्छन् (हरितः) आकर्षिकाः दिशाः (यत्) यदा (आस्थात्) लडर्थे लुङ्। आगत्य तिष्ठति (द्वे रूपे) जडचेतनरूपे जगती (कृणुते) सृजति (रोचमानः) प्रका-

[जगदीश्वर] (द्वे) दो (रूपे) रूप [जड़ और चेतन जगत्] को (कृणुते) बनाता है। (आदित्य) हे अखण्ड ! [परमेश्वर] (केतुमान्) ज्ञानवान् (उद्यन्) चढ़ता हुआ, और (रजांसि) लोकों को (सहमानः) जीतता हुआ तू (विश्वाः) सब (प्रवतः) आगे बढ़ने की क्रियाओं को (वि भासि) चमका देता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग खोज करके परमात्मा को प्रत्येक दिशा में व्यापक और सब सृष्टि का कर्ता साक्षात् करते हैं। मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना करके अपनी उन्नति का प्रयत्न करें ॥ २८ ॥

बण्महाँ असि सूर्य् बडादित्य महाँ असि ।
महांस्ते महतो महिमा त्वमादित्य महाँ असि ॥ २९ ॥

बट् । महान् । असि । सूर्य् । बट् । आदित्य । महान् । असि ॥ महान् । ते । महतः । महिमा । त्वम् । आदित्य । महान् । असि ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे चराचर प्रेरक [परमेश्वर !] तू (बट्) सत्य सत्य (महान्) महान् [बड़ा] (असि) है, (आदित्य) हे अविनाशी ! तू (बट्) ठीक ठीक (महान्) महान् [पूजनीय] (असि) है। (महतः ते) तुझ बड़े की (महिमा) महिमा (महान्) बड़ी है, (आदित्य) हे प्रकाश स्वरूप ! (त्वम्) तू (महान्) बड़ा (असि) है ॥ २९ ॥

शमानः (केतुमान्) प्रज्ञावन् (उद्यन्) ऊर्ध्वो गच्छन् (सहमानः) पराजयन् (रजांसि) लोकान् (विश्वाः) सर्वाः (आदित्य) हे अविनाशिन् परमेश्वर (प्रवतः) प्रकृष्टगतिक्रियाः (वि) विविधम् (भासि) भापयसि। दीपयसि ॥

२९—(बट्) बट बट वेष्टनसामर्थ्यादिषु—क्विप्। सत्यम्—निघ० ३। १० (महान्) विशालः। पूजनीयः (असि) (सूर्य) सर्वप्रेरक परमेश्वर (बट्) (आदित्य) हे अविनाशिन् (महान्) (असि) (महान्) (ते) तव (महतः) पूजनीयस्य (महिमा) महत्त्वम् (त्वम्) (आदित्य) हे आदीप्यमान परमेश्वर (महान्) (असि) ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के बड़े होने को संसार में बड़े से बड़े भी मानते हैं, हे मनुष्यो! उसकी उपासना करके प्रयत्न से अपने को बढ़ाओ ॥ २६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—८।९१।११, यजु० ३३।३९, और साम० पू० ३।६।४ तथा उ० ६।१।६॥

रोचसे दिवि रोचसे अन्तरिक्षे पतङ्ग पृथिव्यां रोचसे रोचसे अप्स्व१न्तः। उभा समुद्रौ रुच्या व्यापिथ देवो देवासि महिषः स्वर्जित् ॥ ३०॥ (९)

रोचसे। दिवि। रोचसे। अन्तरिक्षे। पतङ्ग। पृथिव्याम्। रोचसे। रोचसे। अप्-सु। अन्तः॥ उभा। समुद्रौ। रुच्या। वि। आपिथ। देवः। देव। असि। महिषः। स्वः-जित् ३० (९)

भाषार्थ—(पतङ्ग) हे ऐश्वर्यवान् [जगदीश्वर!] तू (दिवि) प्रकाशमान [सूर्य आदि] लोक में (रोचसे) चमकता है, तू (अन्तरिक्षे) मध्य लोक में (रोचसे) चमकता है, तू (पृथिव्याम्) पृथिवी [अप्रकाशमान] लोक में (रोचसे) चमकता है, तू (अप्सु अन्तः) प्रजाओं [प्राणियों] के भीतर (रोचसे) चमकता है। (उभा) दोनों (समुद्रौ) समुद्रों [जड़ चेतन समूहों] में (रुच्या) अपनी रुचि [प्रीति] से (वि आपिथ) तू व्यापा है, (देव) हे प्रकाश स्वरूप! (देवः) तू व्यवहार जानने वाला, (महिषः) महान् और (स्वर्जित्) सुख का जिताने वाला (असि) है ॥ ३०॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा अपने ऐश्वर्य से प्रत्येक लोक और पदार्थ में प्रकाशमान होकर सब का धारण पोषण करता है, वैसे ही हे मनुष्यो! तुम अपने विद्याबल से व्यवहार कुशल होकर सब को सुख पहुंचाओ ॥ ३०॥

३०—(रोचसे) दीप्यसे (दिवि) प्रकाशमाने सूर्यादिलोके (रोचसे) (अन्तरिक्षे) मध्यलोके (पतङ्ग) अ० ६।३१।३। पत गतौ ऐश्वर्ये च—अङ्गच्। हे ऐश्वर्यवन् परमात्मन् (पृथिव्याम्) अप्रकाशमाने पृथिव्यादिलोके (रोचसे) (रोचसे) (अप्सु) प्रजासु। प्राणिषु (अन्तः) मध्ये (उभा) द्वौ (समुद्रौ) जड़चेतनरूपसमूहौ (रुच्या) प्रीत्या (व्यापिथ) व्याप्तवानसि (देवः) व्यवहारकुशलः (देव) हे प्रकाशमान (असि) (महिषः) महान् (स्वर्जित्) स्वः सुखं जयति जापयति यः स परमेश्वरः॥

अर्वाङ् परस्तात् प्रयतो व्यध्व आशुर्विपश्चित् पतयन् पतङ्गः। विष्णुर्विचित्तः शवसाधितिष्ठन् प्र केतुना सहते विश्वमेजत् ॥ ३१ ॥

अर्वाङ्। परस्तात्। प्र-यतः। वि-अध्वे। आशुः। विपः-चित्। पतयन्। पतङ्गः॥ विष्णुः। वि-चित्तः। शवसा। अधि-तिष्ठन्। प्र। केतुना। सहते। विश्वम्। एजत्॥३१॥

भाषार्थ—(परस्तात्) दूर से लेकर (अर्वाङ्) समीप में वर्तमान, (व्यध्वे) विविध मार्ग में (प्रयतः) फैला हुआ, (आशुः) शीघ्रगामी, (विपश्चित्) बुद्धिमान्, (पतयन्) पराक्रम करता हुआ, (पतङ्गः) ऐश्वर्यवान्, (विष्णुः) सर्वव्यापक (विचित्तः) विविध प्रकार अनुभव किया गया, (शवसा) बल से (अधितिष्ठन्) अधिष्ठाता होता हुआ [परमेश्वर] (केतुना) अपनी बुद्धिमत्ता से (एजत्) चेष्टा करते हुये (विश्वम्) सब [जगत्] को (प्र सहते) जीत लेता है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! उस सर्वत्र वर्तमान महाबलवान् परमात्मा की उपासना से व्यवहारकुशल होकर अपने आत्मा को बली और महान् बनाओ ॥ ३१ ॥

चित्रश्चिकित्वान् महिषः सुपर्ण आरोचयन् रोदसी अन्तरिक्षम्। अहोरात्रे परि सूर्यं वसाने प्रास्य विश्वा तिरतो वीर्याणि ॥ ३२ ॥

चित्रः। चिकित्वान्। महिषः। सु-पर्णः। आ-रोचयन्।

३१—(अर्वाङ्) अवरे समीपे वर्तमानः (परस्तात्) दूरात् (प्रयतः) यमु...क। विस्तृतः (व्यध्वे) उपसर्गादध्वनः। पा० ५। ४। ८५। इत्यच्। विविधे मार्गे (आशुः) शीघ्रगामी (विपश्चित्) मेधावी (पतयन्) पराक्रमं कुर्वन् (पतङ्गः) ऐश्वर्यवान् (विष्णुः) सर्वव्यापकः (विचित्तः) विविधं ज्ञातः (शवसा) बलेन (अधितिष्ठन्) अधिष्ठाता सन् (केतुना) प्रज्ञया (प्र सहते) पराजयते (विश्वम्) सर्वं जगत् (एजत्) चेष्टमानम् ॥

रोदसी इति । अन्तरिक्षम् ॥ अहोरात्रे इति । परि । सूर्यम् । वसाने इति । प्र । अस्य । विश्वा । तिरतः । वीर्याणि ॥३२॥

भाषार्थ—(चित्रः) अद्भुत, (चिकित्वान्) समझ वाला, (महिषः) महान् (सुपर्णः) बड़ा पालन करने वाला [परमेश्वर] (रोदसी) दोनों सूर्य और पृथिवी [प्रकाशमान अप्रकाशमान लोकों] और (अन्तरिक्षम्) [उनके] मध्य लोक को (आरोचयन्) चमका देता हुआ [वर्तमान है]। (सूर्यम्) सूर्य लोक को (परि) सब ओर से (वसाने) ओढ़े हुये (अहोरात्रे) दोनों दिन और रात्रि (अस्य) इस [परमात्मा] के (विश्वा) व्यापक (वीर्याणि) वीर कर्मों को (प्र तिरतः) बढ़ाते हैं [प्रसिद्ध करते हैं] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर बड़ा आश्चर्य स्वरूप सब सृष्टि का कर्ता है। उसी के नियम अनुसार सूर्य और पृथिवी के घुमाव से दिन रात्रि उत्पन्न होकर हमें पुरुषार्थ के योग्य बनाते हैं, हे विद्वानो ! उसी परमेश्वर को पहिचान कर अपने को बढ़ाओ ॥ ३२ ॥

तिग्मो विभ्राजन् तन्वं १ शिशानोऽरंगमासः प्रवतो रराणः । ज्योतिष्मान् पक्षी महिषो वयोधा विश्वा आस्थात् प्रदिशः कल्पमानः ॥ ३३ ॥

तिग्मः । वि-भ्राजन् । तन्वम् । शिशानः । अरम्-गमासः । प्रवतः । रराणः ॥ ज्योतिष्मान् । पक्षी । महिषः । वयः-धाः । विश्वाः । आ । अस्थात् । प्र-दिशः । कल्पमानः ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(तिग्मः) तीव्र स्वभाव, (विभ्राजन्) बड़ा चमकता हुआ,

३२—(चित्रः) अद्भुतः (चिकित्वान्) कित ज्ञाने कि ज्ञाने वा—क्वसु। ज्ञानवान् (महिषः) महान् (सुपर्णः) बहुपालनोपेतः (आरोचयन्) प्रदीपयन् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (अन्तरिक्षम्) (अहोरात्रे) (परि) सर्वतः (सूर्यम्) लोकप्रेरकं रविमण्डलम् (वसाने) आच्छादयन्ती (प्र तिरतः) वर्धयतः। प्रसिद्धानि कुरुतः (अस्य) परमेश्वरस्य (विश्वानि) व्यापकानि (वीर्याणि) वीरकर्माणि ॥

३३—(तिग्मः) तीव्रः (विभ्राजन्) विशेषप्रकाशमानः (तन्वम्) उप-

(तन्वम्) उपकार शक्ति को (शिशानः) सूक्ष्म करता हुआ, (अरंगमासः) पूरी प्राप्तियोग्य (प्रवतः) आगे बढ़ने की क्रियाओं को (रराणः) देता हुआ (ज्योतिष्मान्) प्रकाशमय, (पक्षी) पक्ष [सहारे] वाला (महिषः) महान् (वयोधाः) जीवन धारण करने वाला, (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ [जगदीश्वर] (विश्वाः) सब (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं में (आ) आकर (अस्थात्) ठहरा है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—वह परमेश्वर तेजोमय सर्वकामनासाधक, भक्तपालक है, हे मनुष्यो ! उसी के पक्ष में रहकर अपना पक्ष बढ़ाओ ॥ ३३ ॥

चि॒त्रं दे॒वाना॑ के॒तुरनी॑कं॒ ज्योति॑ष्मान् प्र॒दिशः॒ सूर्य॑ उ॒द्यन् ।
दि॒वा॒क॒रोऽति॑ द्यु॒म्नैस्तमां॑सि॒ विश्वा॑तारीद् दुरि॒तानि॑ शु॒क्रः ॥ ३४ ॥

चि॒त्रम् । दे॒वाना॑म् । के॒तुः । अनी॑कम् । ज्योति॑ष्मान् । प्र॒ऽदिशः॑ । सूर्यः॑ । उ॒त्ऽयन् ॥ दि॒वा॒ऽक॒रः । अति॑ । द्यु॒म्नैः । तमां॑सि । विश्वा॑ । अ॒ता॒रीत् । दुः॒ऽइ॒तानि॑ । शु॒क्रः ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) जीवनदाता [ब्रह्म]; (देवानाम्) गतिमान् लोकों के (केतुः) जताने वाले, (ज्योतिष्मान्) तेजोमय (सूर्यः) सर्वप्रेरक [परमात्मा] (प्रदिशः) सब दिशाओं में (उद्यन्) ऊंचे होते हुये, (दिवाकरः) दिन को रचने वाले [सूर्य रूप], (शुक्रः) वीर्यवान्

कृतिम् (शिशानः) सूक्ष्मीकुर्वाणः (अरंगमासः) अलम्+गम्लृ गतौ—असुन्, छान्दसो दीर्घः । पर्याप्तप्राप्तियोग्याः (प्रवतः) प्रकृष्टगतीः (रराणः) प्रयच्छन् (ज्योतिष्मान्) तेजोमयः (पक्षी) पक्षवान् । आश्रयवान् (महिषः) महान् (वयोधाः) जीवनधारकः (विश्वाः) सर्वाः (आ) आगत्य (अस्थात्) स्थितवान् (प्रदिशः) (कल्पयन्) समर्थः सन् ॥

३४—(चित्रम्) अद्भुतम् (देवानाम्) गतिमतां लोकानाम् (केतुः) ज्ञापकः (अनीकम्) अनिहृषिभ्यां किच्च । उ० ४ । १७ । अन प्राणने—ईकन् । अनयति जीवयति यत् तद् ब्रह्म (ज्योतिष्मान्) तेजोमयः (प्रदिशः) (सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (उद्यन्) उत्कर्षेण प्राप्नुवन् (दिवाकरः) दिवाविभा-

[परमेश्वर] ने (द्युम्नैः) अपने प्रकाशों से (तमांसि) अन्धकारों को (अति) लांघकर (विश्वा) सब (दुरितानि) कठिनाइयों को (अतारीत्) पार किया है ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जैसे यह सूर्य अन्धकार नाश करके दिन बनाकर प्रकाशमान है, वैसेही वह परमेश्वर सूर्य आदि लोकों को रचकर धारण आकर्षण द्वारा सब की रक्षा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या से प्रकाशमान होकर विघ्नों को हटावें ॥ ३४ ॥

यह और अगला मन्त्र आगे हैं—अ० २० । १०७ । १३, १४ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः । आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च ॥ ३५ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः । मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ॥ आ । अप्रात् । द्यावापृथिवी इति । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च ॥ ३५

भाषार्थ—(देवानाम्) गतिमान् लोकों का (चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) जीवनदाता, (मित्रस्य) सूर्य [वा प्राण] का, (वरुणस्य) चन्द्रमा [अथवा जल वा अपान] का और (अग्नेः) बिजुली का (चक्षुः) दिखाने वाला [ब्रह्म] (उत्) सर्वोपरि (अगात्) व्यापा है । (सूर्यः) सर्वप्रेरक, (जगतः) जङ्गम

निशा० । पा० ३ । २ । २१ । दिवा+करोतेः—टप्रत्ययः । दिनकरः । सूर्यो यथा (अति) अतीत्य (द्युम्नैः) द्युतिभिः । दीप्तिभिः (तमांसि) अन्धकारान् (विश्वा) सर्वाणि (अतारीत्) अपारयत् (दुरितानि) कष्टानि (शुक्रः) शुक्र-अर्श आद्यच् । वीर्यवान् ॥

३५—(चित्रम्) अद्भुतस्वरूपम् (देवानाम्) गतिमतां लोकानाम् (उत्) सर्वोपरि (अगात्) व्यापत् (अनीकम्) म० ३४ । जीवनप्रदम् (चक्षुः) दर्शकं ब्रह्म (मित्रस्य) सूर्यस्य प्राणस्य (वरुणस्य) चन्द्रस्य । जलस्य । अपानस्य (अग्नेः) विद्युतः (आ) समन्तात् (अप्रात्) प्रा पूरणे—लङ् ।

(च) और (तस्थुषः) स्थावर संसार के (आत्मा) आत्मा [निरन्तर व्यापक परमात्मा] ने (द्यावापृथिवी) सूर्य भूमि [प्रकाशमान अप्रकाशमान लोकों] और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब प्रकार से (अप्रात्) पूर्ण किया है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—जो अद्भुत स्वरूप परमात्मा सूर्य, चन्द्र, वायु आदि द्वारा सब प्राणियों को सुख देता है, मनुष्य उसको उपासना द्वारा जानकर आत्मोन्नति करें ॥ ३५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ११५ । १' यजुः० ७ । ४२ तथा १३ । ४३ , और साम पू० ६ । १४ । ३ ॥

उच्चा पतन्तमरुणं सुपर्णं मध्ये दिवस्तरणिं भ्राजमानम् ।
पश्याम त्वा सवितारं यमाहुरजस्रं ज्योतिर्यदविन्ददत्त्रिः ३६

उच्चा । पतन्तम् । अरुणम् । सु-पर्णम् । मध्ये । दिवः । तरणिम् । भ्राजमानम् ॥ पश्याम । त्वा । सवितारम् । यम् । आहुः । अजस्रम् । ज्योतिः । यत् । अविन्दत् । अत्त्रिः ॥३६॥

भाषार्थ—(उच्चा) ऊंचे (पतन्तम्) ऐश्वर्यवान् होते हुये, (अरुणम्) सर्वव्यापक, (सुपर्णम्) बड़े पालने वाले, (दिवः) व्यवहार के (मध्ये) मध्य (तरणिम्) पार करने वाले (भ्राजमानम्) प्रकाशमान, (सवितारम्) सर्वप्रेरक (त्वा) तुझ [परमेश्वर] को (पश्याम) हम देखें, (यम्) जिसको (अज-

पूरितवान (द्यावापृथिवी) प्रकाशमानाप्रकाशमानलोकौ (अन्तरिक्षम्) (सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (आत्मा) अतति सततं गच्छति व्याप्नोतीति । अन्तर्यामी परमात्मा (जगतः) जङ्गमस्य (तस्थुषः) ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क्वसु । स्थावरस्य (च) ॥

३६—(उच्चा) उच्चैः (पतन्तम्) ऐश्वर्यं प्राप्नुवन्तम् (अरुणम्) अर्त्तेश्च । उ० ३ । ६० । ऋ गतौ-उनन , चित् । सर्वव्यापकम् (सुपर्णम्) शोभनं पर्णं पालनं यस्मात् तम् (मध्ये) (दिवः) प्रत्येकव्यवहारस्य (तरणिम्) तारकम् (भ्राजमानम्) दीप्यमानम् (पश्याम) अवलोकयाम (त्वा) (सवितारम्) सर्वप्रेरकम्

त्रम्) निरन्तर (ज्योतिः) ज्योति (आहुः) वे [विद्वान् लोग] बताते हैं, (यत्) जिस [ज्योति] को (अचित्तः) निरन्तर ज्ञानी [योगी पुरुष] ने (अविन्दत्) पाया है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जिस सर्वोपरि विराजमान, सर्वान्तर्यामी परमेश्वर का ध्यान करके योगी जन आनन्द पाते हैं, इसी की आराधना करके हम पुरुषार्थ के साथ उन्नति करें ॥ ३६ ॥

दिवस्पृष्ठे धावमानं सुपर्णमदित्याः पुत्रं नाथकाम उप यामि भीतः । स नः सूर्य प्र तिर दीर्घमायुर्मा रिषाम सुमतौ ते स्याम ॥ ३७ ॥

दिवः । पृष्ठे । धावमानम् । सु-पर्णम् । अदित्याः । पुत्रम् । नाथ-कामः । उप । यामि । भीतः ॥ सः । नः । सूर्य । प्र । तिर । दीर्घम् । आयुः । मा । रिषाम । सु-मतौ । ते । स्याम ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(नाथकामः) नाथ [ईश्वर] को चाहने वाला, (भीतः) डरा हुआ मैं (दिवः) आकाश की (पृष्ठे) पीठ पर (धावमानम्) दौड़ते हुये, (सुपर्णम्) बड़े पालने वाले, (अदित्याः) अखण्ड वेदवाणी के (पुत्रम्) शोधने वाले [परमेश्वर] को (उप) आदर से (यामि) पहुंचता हूं । (सः) सो तू, (सूर्य) हे सर्वप्रेरक ! [जगदीश्वर] (नः) हमारे लिये (दीर्घम्)

(यम्) (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (अजस्रम्) निरन्तरम् (ज्योतिः) तेजः (यत्) (अविन्दत्) अलभत (अचित्तः) म० ४ । निरन्तरज्ञानी योगिजनः ॥

३७—(दिवः) आकाशस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (धावमानम्) शीघ्रं गच्छन्तम् (सुपर्णम्) सुपालकम् (अदित्याः) अदितिर्वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । अखण्डिताया वेदवाण्याः (पुत्रम्) पुवो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ । पूञ् शोधने-क्त । शोधकम् (नाथकामः) ईश्वरं कामयमानः (उप) आदरे (यामि) प्राप्नोमि (भीतः) भयं प्राप्तः (सः) स त्वम् (नः) (अस्मभ्यम्) (सूर्य) हे

दीर्घ (आयुः) जीवन समय को (प्र तिर) बढ़ादे, (मा रिषाम) हम दुखी न होवें, (ते) तेरी (सुमतौ) सुमति में (स्याम) हम रहें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि आकाश को भी वश में रखने वाले, सर्वपालक, शुद्धवेदवाणी के देने वाले परमेश्वर की आज्ञा में रहकर अपने जीवन को यशस्वी बनावें और विघ्नों को हटा कर सदा आनन्द से रहें ॥ ३७ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा ३८

सहस्र-अह्नयम् । वि-यतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वः-गम् ॥ सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उप-दद्य । सम्-पश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(स्वर्गम्) मोक्ष सुख को (पततः) प्राप्त हुये (अस्य) इस [सर्वत्र वर्तमान] (हरेः) हरि [दुःख हरने वाले] (हंसस्य) हंस [ज्ञानी वा व्यापक परमेश्वर] के (पक्षौ) दोनों पक्ष [ग्रहण करने योग्य कार्य और कारण रूप व्यवहार] (सहस्राह्ण्यम्) सहस्रों दिनों वाले [अनन्त देश काल] में (वियतौ) फैले हुये हैं । (सः) वह [परमेश्वर] (सर्वान्) सब (देवान्) (दिव्य गुणों को [अपने] (उरसि) हृदय में (उपदद्य) लेकर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (संपश्यन्) निहारता हुआ (याति) चलता रहता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से अनन्त कार्य और कारण रूप जगत् की निरन्तर सुधि रखता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर का विचार करता

सर्वप्रेरक परमेश्वर (प्र तिर) प्रवर्धय (दीर्घम्) (आयुः) जीवनकालम् (मा रिषाम) मा रिष्यामहे । मा हिंस्यामहे (सुमतौ) कल्याण्यां बुद्धौ (ते) तव (स्याम) ॥

३८—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अथर्व० १० । ८ । १८ । तत्रैव द्रष्टव्यः । (हंसस्य) वृतॄवदिवचिवसिहनि० । उ० ३ । ६२ । हन हिंसागत्योः-स । ज्ञानिनो व्यापकस्य परमेश्वरस्य ॥

हुआ सब कामों में सदा सावधान रहे ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अथर्व० १० । ८ । १८, और आगे फिर है-अ० १३ । ३ । १४ ॥

रोहितः कालो अभवद् रोहितोऽग्रे प्रजापतिः ।

रोहितो यज्ञानां मुखं रोहितः स्व१राभरत् ॥ ३९ ॥

रोहितः । कालः । अभवत् । रोहितः । अग्रे । प्रजा-पतिः ॥

रोहितः । यज्ञानाम् । मुखम् । रोहितः । स्वः । आ । अभरत् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (अग्रे) पहिले से [वर्तमान होकर] (कालः) काल वाला [तीनों कालों का स्वामी], और (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमात्मा] (प्रजापतिः) प्रजाओं [उत्पन्न पदार्थों] का पालने वाला (अभवत्) हुआ । (रोहितः) सर्वोत्पादक [ईश्वर] (यज्ञानाम्) संयोग वियोग व्यवहारों का (मुखम्) मुखिया [प्रधान] है, (रोहितः) सर्वजनक [परमात्मा] ने (स्वः) आनन्द को (आ) सब प्रकार (अभरत्) धारण किया है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सर्वोत्पादक अनादि अनन्त परमेश्वर परमाणुओं के संयोग वियोग से सृष्टि बना कर सब का कारण हुआ है, सब लोग उसी की भक्ति कर के पुरुषार्थ पूर्वक सुखी रहें ॥ ३९ ॥

रोहितो लोको अभवद् रोहितोऽत्यतपद् दिवम् ।

रोहितो रश्मिभिर्भूमिं समुद्रमनु सं चरत् ॥ ४० ॥ (१०)

रोहितः । लोकः । अभवत् । रोहितः । अति । अतपत् ।

३९—(रोहितः) अ० १३ । १ । १ । सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (कालः) काल—अर्शआद्यच् । कालवान् । त्रिकालस्वामी (अभवत्) (रोहितः) (अग्रे) सृष्ट्यादौ (प्रजापतिः) प्रजानां सृष्टपदार्थानां पालकः (रोहितः) (यज्ञानाम्) संयोगवियोगव्यवहाराणाम् (मुखम्) मुख्यः । प्रधानः (रोहितः) (स्वः) सुखम् (आ) समन्तात् (अभरत्) धारितवान् ॥

दिवम् ॥ रोहितः । रश्मि-भिः । भूमिम् । समुद्रम् । अनु । सम् । चरत् ॥ ४० ॥ (१०)

भाषार्थ—(रोहितः) सर्वजनक [परमेश्वर] (लोकः) लोकों वाला [सब लोकों का स्वामी] (अभवत्) हुआ, (रोहितः) सर्वोत्पादक [ईश्वर] ने (दिवम्) सूर्य को (अति) अत्यन्त करके (अतपत्) ताप वाला किया। (रोहितः) सर्वस्रष्टा [ईश्वर] ने (रश्मिभिः) [सूर्य की] किरणों से (भूमिम्) भूमि और (समुद्रम्) अन्तरिक्ष [आकाशस्थ चन्द्र तारागण आदि लोक समूह] को (अनु) अनुकूलता से (सं चरत्) संचार वाला किया ॥ ४० ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने सब लोकों का स्वामी होकर सूर्य द्वारा उन में ताप पहुंचाकर उनमें घूमने और चलने की शक्ति दी है ॥ ४० ॥

सर्वा दिशः समचरद् रोहितोऽधिपतिर्दिवः ।
दिवं समुद्रमाद् भूमिं सर्वं भूतं वि रक्षति ॥ ४१ ॥

सर्वाः । दिशः । सम् । अचरत् । रोहितः । अधि-पतिः । दिवः ॥ दिवम् । समुद्रम् । आत् । भूमिम् । सर्वम् । भूतम् । वि । रक्षति ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(दिवः) प्रकाश के (अधिपतिः) अधिपति [बड़े स्वामी], (रोहितः) सर्वजनक [परमेश्वर] ने (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं में (सम् अचरत्) संचार किया है। (दिवम्) सूर्य, (समुद्रम्) अन्तरिक्ष (आत्)

४०—(रोहितः) सर्वोत्पादकः (लोकः) लोक—अर्श आद्यच् । लोकवान् । सर्वलोकस्वामी (अभवत्) (रोहितः) (अति) अत्यन्तम् (अतपत्) तापवन्तं कृतवान् (दिवम्) सूर्यम् (रोहितः) (रश्मिभिः) सूर्यकिरणैः (भूमिम्) (समुद्रम्) अन्तरिक्षम्-निघ० १ । ३ (अनु) आनुकूल्येन (सम्) सम्यक् (चरत्) अडभावः, अन्तर्गतण्यर्थः । अचरत् । अचारयत् । चालितवान् ॥

४१—(सर्वाः) (दिशः) पूर्वादिदिशाः (समचरत्) विचरितवान् (रोहितः) सर्वजनकः परमेश्वरः (अधिपतिः) अध्यक्षः (दिवः) प्रकाशस्य

और (भूमिम्) भूमि और (सर्वम्) सब (भूतम्) सत्ता वाले [जगत्] की (वि) विविध प्रकार (रक्षति) रक्षा करता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सब में व्यापक होकर सब की रक्षा करता है, सब मनुष्य उस की उपासना करें ॥ ४१ ॥

आरोहञ्छुक्रो बृहतीरतन्द्रो द्वे रूपे कृणुते रोचमानः। चित्रश्चिकित्वान् महिषो वातमाया यावतो लोकानभि यद् विभाति ॥ ४२ ॥

आ-रोहन्। शुक्रः। बृहतीः। अतन्द्रः। द्वे इति। रूपे इति। कृणुते। रोचमानः ॥ चित्रः। चिकित्वान्। महिषः। वातम्-आयाः। यावतः। लोकान्। अभि। यत्। वि-भाति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(शुक्रः) वीर्यवान्, (अतन्द्रः) निरालसी, (रोचमानः) प्रकाशमान [परमेश्वर] (बृहतीः) बड़ी [दिशाओं] में (आरोहन्) ऊंचा होता हुआ (द्वे) दो (रूपे) रूपों [जंगम और स्थावर जगत्] को (कृणुते) बनाता है, (यत्) जब (चित्रः) अद्भुत (चिकित्वान्) समझने वाला, (महिषः) महान् (वातमायाः) वायु में व्याप्ति वाला [परमेश्वर] [उन] (लोकान् अभि) लोकों पर [व्यापक है] (यावत्) जिनको (विभाति) वह चमकाता है ॥ ४२ ॥

भावार्थ—वह जगदीश्वर सब दिशाओं में सर्वश्रेष्ठ होकर, पवन आदि में चेष्टा देता हुआ सब का अधिष्ठाता है, सब मनुष्य उसी की आज्ञापर चलें ॥ ४२ ॥

(दिवम्) सूर्यम् (सद्म ( ) अन्तरिक्षम् (आत्) अपि (भूमिम्) (सर्वम्) (भूतम्) सत्तान्वितं जगत् (वि) विविधम् (रक्षति) पाति ॥

४२—(आरोहन्) अधितिष्ठन् (शुक्रः) वीर्यवान् (बृहतीः) महतीर्दिशाः (अतन्द्रः) निरलसः (द्वे रूपे) जङ्गमस्थावररूपे जगती (कृणुते) सृजति (रोचमानः) प्रकाशमानः (चित्रः) अद्भुतः (चिकित्वान्) कित ज्ञाने—क्वसु। ज्ञानवान् (महिषः) महान् (वातमायाः) वात+आ+अव गतौ—असुन्, सुगागमः। वायुव्यापकः (यावतः) यत्संख्याकान् (लोकान्) (अभि) प्रति (यत्) यदा (विभाति) विभापयति। प्रकाशयति ॥

अभ्य१न्यदेति पर्य१न्यदस्यतेऽहोरात्राभ्यां महिषः कल्पमानः ।
सूर्यं वयं रजसि क्षियन्तं गातुविदं हवामहे नाधमानाः ॥४३॥

अभि । अन्यत् । एति । परि । अन्यत् । अस्यते । अहोरात्राभ्याम् । महिषः । कल्पमानः ॥ सूर्यम् । वयम् । रजसि । क्षियन्तम् । गातु-विदम् । हवामहे । नाधमानाः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(अन्यत्) एक कोई [उजाला] (अभि) सन्मुख (एति) चलता है, (अन्यत्) दूसरा [अन्धेरा] (परि) सब ओर (अस्यते) फेंका जाता है, [इस प्रकार] (महिषः) महान् [सूर्य लोक] (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि [बनाने] के लिये (कल्पमानः) समर्थ होता हुआ [वर्तमान है] । (रजसि) सब लोक में (क्षियन्तम्) रहते हुये, (गातुविदम्) मार्ग जानने वाले (सूर्यम्) सर्व प्रेरक [परमेश्वर] को (नाधमानाः) प्रार्थना करते हुये (वयम्) हम लोग (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ४३ ॥

भावार्थ—सूर्य के सर्वथा प्रकाशमान गोले के साथ घूमते हुये पृथिवी आदि लोक एक ही समय दो काम करते हैं—प्रकाश को आगे बढ़ाना और अन्धकार को पीछे की ओर बढ़ाना और आगे को हटाना, अर्थात् सूर्य न कभी अस्त और न कभी उदय होता है, पृथिवी के आधे गोले पर प्रत्येक समय प्रकाश और दूसरे आधे पर अन्धकार रहता है, ध्रुव के समीप भी सूर्य और पृथिवी के घूमाव से दिन और राति अधिक बड़े होते हैं । मनुष्य ऐसी अद्भुत रचना करने वाले परमेश्वर की उपासना सदा करें ॥ ४३ ॥

पृथिवीप्रो महिषो नाधमानस्य गातुरदब्धचक्षुः परि विश्वं

४३—(अभि) अभिमुखम् (अन्यत्) एकम् । प्रकाशद्रव्यम् (एति) गच्छति (परि) सर्वतः (अन्यत्) द्वितीयम् । अन्धारद्रव्यम् (अस्यते) क्षिप्यते (अहोरात्राभ्याम्) अहोरात्रौकर्तुम् (महिषः) महान् । सूर्यलोकः (कल्पमानः) समर्थः सन् वर्तते (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (वयम्) (रजसि) सर्वस्मिन् लोके (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (गातुविदम्) मार्गज्ञातारम् (हवामहे) आह्वयामः (नाधमानाः) प्रार्थयमानाः ॥

बभूव । विश्वं सं पश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४४ ॥

पृथिवी-प्रः । महिषः । नाधमानस्य । गातुः । अदब्ध-चक्षुः । परि । विश्वम् । बभूव ॥ विश्वम् । सम्-पश्यन् । सु-विदत्रः । यजत्रः । इदम् । शृणोतु । यत् । अहम् । ब्रवीमि ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(पृथिवीप्रः) पृथिवी का भरपूर करने वाला, (महिषः) महान्, (नाधमानस्य) प्रार्थना करते हुये पुरुष के (गातुः) मार्ग, (अदब्धचक्षुः) बे चूकदृष्टि वाले [परमेश्वर] ने (विश्वम्) सब को (परिबभूव) घेर लिया है। (विश्वम्) सब को (संपश्यन्) निहारता हुआ, (सुविदत्रः) बड़ा लाभ पहुंचाने वाला (यजत्रः) सर्व पूजनीय [परमेश्वर] (इदम्) इस [वचन] को (शृणोतु) सुने, (यत्) जो (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—सर्वान्तर्यामी, भक्तवत्सल मार्गदर्शक परमात्मा की आराधना से मनुष्य तत्त्वदर्शी, परोपकारी होकर परस्पर सुख बढ़ावें ॥ ४४ ॥

पर्यस्य महिमा पृथिवीं समुद्रं ज्योतिषा विभ्राजन् परि द्यामन्तरिक्षम्। सर्वं सं पश्यन्त्सुविदत्रो यजत्र इदं शृणोतु यदहं ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

परि । अस्य । महिमा । पृथिवीम् । समुद्रम् । ज्योतिषा । वि-भ्राजन् । परि । द्याम् । अन्तरिक्षम् ॥ सर्वम् । सम्-पश्यन् । सु-विदत्रः । यजत्रः । इदम् । शृणोतु । यत् । अहम् । ब्रवीमि ॥ ४५ ॥

४४—(पृथिवीप्रः) भूमिपूरकः (महिषः) महान् (नाधमानस्य) प्रार्थयमानस्य (गातुः) मार्गः (अदब्धचक्षुः) अहिंसितदृष्टिः । सर्वदर्शी (विश्वम्) सर्वम् (परिबभूव) आच्छादितवान् (विश्वम) (सम्पश्यन्) सर्वथावलोकयन् (सुविदत्रः) सुविदेः कत्रन्। उ० ३। १०८। सु+विद्लृ लाभे—कत्रन्। महालाभप्रापकः (यजत्रः) अमिनक्षियजि०। उ० ३। १०५। यजतेः—अत्रन्। सर्वपूजनीयः (इदम्) (शृणोतु) आकर्णयतु (यत्) (अहम्) (ब्रवीमि) कथयामि ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] की (महिमा) महिमा (पृथिवीम्) पृथिवी और (समुद्रम्) [पृथिवी के] समुद्र से (परि) आगे है, (ज्योतिषा) ज्योति से (विभ्राजन्) विविध प्रकार चमकती हुयी [वह महिमा] (द्याम्) सूर्य और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष से (परि) आगे है। (सर्वम्) सब को (संपश्यन्) निहारता हुआ, (सुविदत्रः) बड़ा लाभ पहुंचाने वाला, (यजत्रः) सर्व पूजनीय [परमेश्वर] (इदम्) इस [वचन] को (शृणोतु) सुने, (यत्) जो (अहम्) मैं (ब्रवीमि) कहता हूं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की बड़ाई पृथिवी, समुद्र, सूर्य और अन्तरिक्ष आदि की सीमा से अधिक है, मनुष्य उसी जगदीश्वर के नियमों में चलकर आनन्द पावें ॥ ४५ ॥

अबोध्यग्निः समिधा जनानां प्रति धेनुमिवायतीमुषासम् । यह्वा इव प्र वयामुज्जिहानाः प्र भानवः सिस्रते नाकमच्छ ॥ ४६ ॥ (११)

अबोधि । अग्निः । सम्-इधा । जनानाम् । प्रति । धेनुम्-इव । आ-यतीम् । उषसम् ॥ यह्वाः-इव । प्र । वयाम् । उत्-जिहानाः । प्र । भानवः । सिस्रते । नाकम् । अच्छ ॥ ४६ ॥ (११)

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [जैसे] (जनानाम्) प्राणियों में (समिधा) प्रज्वलित करने के साधन [काष्ठ घृत अन्न आदि] से (अबोधि) जगाया गया है, [अथवा] (इव) जैसे (उषसं प्रति) उषा समय [प्रातः सायं सन्धि-

---

४५—(परि) आधिक्ये (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमा) महत्त्वम् (पृथिवीम्) (समुद्रम्) पार्थिवजलौघम् (ज्योतिषा) तेजसा (विभ्राजन्) प्रकाशमानः (परि , (द्याम्) सूर्यलोकम् (अन्तरिक्षम्) (सर्वम् । अखिलम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४४ ॥

४६—(अबोधि) बुध्यतेस्म (अग्निः) शारीरिकाग्निः (समिधा) काष्ठाऽन्नघृतादिप्रदीपनसाधनेन (जनानाम्) प्राणिनां मध्ये (प्रति) (धेनुम्) दोग्ध्रीं गाम् (इव) यथा (आयतीम्) आगच्छन्तीम् (उषसम्) सांहितिको दीर्घः । प्रातः सायं सन्धिवेलाम् (यह्वाः) शेवायह्वजिह्वा० । उ० १ । १५४ ।

वेला] में (आयतीम्) आती हुयी (धेनुम्) दुधैल गौ को [लोग प्राप्त होते हैं]। [अथवा] (इव) जैसे (उज्जिहानाः) ऊंचे चलते हुये (यह्वाः) बड़े पुरुष (वयाम्) उत्तम नीति को (प्र) अच्छे प्रकार [प्राप्त होते हैं], [वैसे ही] (भानवः) प्रकाशमान लोग (नाकम्) सुख स्वरूप [परमात्मा] को (अच्छ) अच्छे प्रकार (प्र सिस्रते) प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जैसे प्राणियों को भोज्य अन्न आदि से यथाविधि उत्तेजित अग्नि प्रिय होता है, जैसे गौ दूध के लिये प्रिय होती है और जैसे विचारशीलों को उचित नीति अर्थात् वेदवाणी प्रिय होती है, वैसे ही सब मनुष्य समर्थ होकर सुखस्वरूप परमात्मा को पाकर आनन्दित होवें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । १ । १, यजुर्वेद में १५ । २४ और सामवेद में—पू० १ । ८ । १ । और उ० ८ । ३ । १३ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ ॥

१–२६ ॥ रोहितादित्यो देवता ॥ १, १४, १८ चतुरवसानाऽष्टपदाऽऽकृतिः; २ त्र्यवसानाषट्पदा भुरिगष्टिः; ३ त्र्यवसाना षट्पदाऽष्टिः, ४ त्र्यवसाना षट्पदा धृतिः; ५, ६ चतुरवसाना सप्तपदा प्रकृतिः; ७ चतुरवसाना सप्तपदाऽतिधृतिः; ८, २२ त्र्यवसानाषट्पदा विराडत्यष्टिः ; ९—१२ चतुरवसाना सप्तपदा भुरिगतिधृतिः; १३, २३ चतुरवसानाऽष्टपदा विकृतिः; १५ चतुरवसाना सप्तपदा निचृदतिधृतिः; १६, १९ चतुरवसानाऽष्टपदा भुरिगाकृतिः; १७ त्र्यवसाना सप्तपदाकृतिः; २० त्र्यवसाना षट्पदाऽत्यष्टिः; २१ चतुरवसानाऽष्टपदा निचृदाकृतिः; २४ त्र्यवसाना सप्तपदा विराट् कृतिः; २५ चतुरवसानाऽष्टपदा विराड् विकृतिः, २६ अनुष्टुप् ॥

यज देवपूजादिषु—वन्, जस्य हः । यह्वो महन्नामे—निघ० ३ । ३ । महान्तः पुरुषाः (प्र) प्रकर्षेण (वयाम्) वय गतौ—अच्, टाप् । गतिम् । नीतिम् (उज्जिहानाः) ओ हाङ् गतौ—शानच् । ऊर्ध्वं गच्छन्तः (प्र) (भानवः) प्रकाशमानाः प्रभवः पुरुषाः (सिस्रते) सृ गतौ—लट्, शपः श्लुः, आत्मनेपदं छान्दसम् । प्राप्नुवन्ति (नाकम्) सुखस्वरूपं परमात्मानम् (अच्छ) आभिमुख्येन ॥

अध्यात्मोपदेशः—परमात्मा और जीवात्मा का उपदेश ॥

य इमे द्यावापृथिवी जजान यो द्रापिं कृत्वा भुवनानि वस्ते। यस्मिन् क्षियन्ति प्रदिशः षडुर्वीर्याः पतङ्गो अनु विचाकशीति तस्य देवस्य। क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति। उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ १ ॥

यः। इमे इति। द्यावापृथिवी इति। जजान। यः। द्रापिम्। कृत्वा। भुवनानि। वस्ते ॥ यस्मिन्। क्षियन्ति। प्र-दिशः। षट्। उर्वीः। याः। पतङ्गः। अनु। वि-चाकशीति ॥ तस्य। देवस्य ॥ क्रुद्धस्य। एतत्। आगः। यः। एवम्। विद्वांसम्। ब्राह्मणम्। जिनाति ॥ उत्। वेपय। रोहित। प्र। क्षिणीहि। ब्रह्म-ज्यस्य। प्रति। मुञ्च। पाशान् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (इमे) इन दोनों (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (जजान) उत्पन्न किया है, (यः) जो (भुवनानि) सत्ता वाले [लोकों] को (द्रापिम्) वस्त्र [समान] (कृत्वा) बनाकर (वस्ते) ओढ़ता है। (यस्मिन्) जिस [परमेश्वर] में (षट्) छह [पूर्वादि चार और ऊपर नीचे वाली] (उर्वीः) चौड़ी (प्रदिशः) दिशायें (क्षियन्ति) रहती हैं, (याः अनु) जिनकी ओर (पतङ्गः) ऐश्वर्यवान् [परमे-

१—(यः) परमेश्वरः (इमे) दृश्यमाने (द्यावापृथिवी) प्रकाशाप्रकाशमानलोकौ (जजान) जनयामास (यः) (द्रापिम्) द्रा कुत्सायां गतौ—क्विप्+पा रक्षणे-कि। द्रायाः कुत्साया गते रक्षकं वस्त्रादिकम् (कृत्वा) विधाय (भुवनानि) सत्तात्मकानि लोकजातानि (वस्ते) आच्छादयति (यस्मिन्) परमेश्वरे (क्षियन्ति) निवसन्ति (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशः (षट्) ऊर्ध्वाधः सहिताः पूर्वादयः (उर्वीः) (विस्तृताः) (याः) (पतङ्गः) पत ऐश्वर्ये—अङ्गच्। ऐश्वर्यवान्

श्वर] (विचाकशीति) चमकता चला जाता है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये (एतत्) यह (आगः) अपराध है, [कि] (यः) जो मनुष्य (एवम्) ऐसे (विद्वांसम्) विद्वान् (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [वेदज्ञाता] को (जिनाति) सताता है। (रोहित) हे सर्वोत्पादक [परमेश्वर !] [उस शत्रु को] (उद् वेपय) कंपा दे, (प्र क्षिणीहि) नाश कर दे, (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारी के सताने वाले के (पाशान्) फन्दों को (प्रति मुञ्च) बांधदे ॥ १ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सर्वोत्पादक, सर्वव्यापक, सर्वशासक है, वेद का उपदेश रोकने वाला पुरुष ईश्वर व्यवस्था से अविद्या के कारण कष्ट उठाता है। हे मनुष्यो ! तुम उस जगत् पिता को अपना उपास्य देव जानो ॥ १ ॥

यस्माद् वाता॑ ऋतुथा पव॑न्ते यस्मा॑त् समु॒द्रा अधि॑ वि॒क्षर॑न्ति तस्य॑ दे॒वस्य॑ । ० । ० ॥ २ ॥

यस्मा॑त् । वाता॑: । ऋ॒तु-था । पव॑न्ते । यस्मा॑त् । स॒मु॒द्राः । अधि॑ । वि॒-क्षर॑न्ति । तस्य॑ । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्मात्) जिस [परमेश्वर] से (वाताः) पवन (ऋतुथा) ऋतुओं के अनुसार (पवन्ते) शुद्ध करते हैं, (यस्मात्) जिससे (समुद्राः) समुद्र (अधि) मर्यादा से (विक्षरन्ति) बहते रहते हैं। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य)

(अनु) प्रति (विचाकशीति) अ० ६ । ६ । २० । काशृ दीप्तौ यङ्लुकि रूपम्। विविधं भृशं प्रकाशते (तस्य) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ६२ । इति षष्ठी । तस्मै (देवस्य) देवाय (क्रुद्धस्य) क्रुद्धाय (एतत्) वक्ष्यमाणम् (आगः) इण आगोऽपराधे च । उ० ४ । २१२ । इण् गतौ—असुन्, आगादेशः । अपराधः (यः) मनुष्यः (एवम्) तथाभूतम् (विद्वांसम्) जानन्तम् (ब्राह्मणम्) वेदज्ञातारम् (जिनाति) ज्या वयोहानौ । हिनस्ति (उत्) उत्कर्षेण (वेपय) कम्पय (रोहित) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर (प्र) (क्षिणीहि) नाशय (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारिणो हिंसकस्य (प्रतिमुञ्च) बधान (पाशान्) बन्धान् ॥

२—(यस्मात्) परमेश्वरात् (वाताः) पवनाः (ऋतुथा) ऋतूननुसृत्य (पवन्ते) शोधयन्ति (यस्मात्) (समुद्राः) जलौघाः (अधि) अधिकृत्य ।

क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [परमेश्वर] के लिये......[म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

यो मारयति प्राणयति यस्मात् प्राणन्ति भुवनानि विश्वा ।
तस्य० । ० । ० ॥ ३ ॥

यः । मारयति । प्राणयति । यस्मात् । प्राणन्ति । भुवनानि ।
विश्वा ॥ तस्य । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (मारयति) मारता है, और (प्राणयति) जिलाता है, (यस्मात्) जिससे (विश्वा) सब (भुवनानि) सत्ता वाले (प्राणन्ति) जीवते हैं। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [परमेश्वर] के लिये......[म० १] ॥ ३॥

भावार्थ—जो परमेश्वर प्राणियों को कर्मानुसार दुख सुख देता है और सब लोकों की रक्षा करता है, हे मनुष्यो ! तुम उसकी उपासना करो ॥ ३ ॥

यः प्राणेन द्यावापृथिवी तर्पयत्यपानेन समुद्रस्य जठरं यः
पिपर्ति । तस्य० । ० । ० ॥ ४ ॥

यः । प्राणेन । द्यावापृथिवी इति । तर्पयति । अपानेन ।
समुद्रस्य । जठरम् । यः । पिपर्ति ॥ तस्य ॥ ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्राणेन) प्राण से (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि को (तर्पयति) तृप्त करता है और (यः) जो (अपानेन) अपान वायु से (समुद्रस्य) समुद्र के (जठरम्) पेट को (पिपर्ति) भरता है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [परमेश्वर] के लिये...... [म० १] ॥ ४ ॥

मर्यादामनुसृत्य (विक्षरन्ति) विविधं वहन्ति ॥

३—(यः) परमेश्वरः (मारयति) नाशयति (प्राणयति) जीवयति (यस्मात्) (प्राणन्ति) जीवन्ति (भुवनानि) सत्तायुक्तानि सत्त्वानि (विश्वा) सर्वाणि ॥

४—(यः) परमेश्वरः (प्राणेन) श्वासेन (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमिलोकौ (तर्पयति) तोषयति (अपानेन) प्रश्वासेन (समुद्रस्य) (जठरम्) उदरम् (यः) (पिपर्ति) पूरयति ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

यस्मिन् विराट् परमेष्ठी प्रजापतिरग्निर्वैश्वानरः सह पङ्क्त्या श्रितः। यः परस्य प्राणं परमस्य तेज आददे। तस्य ०।०।०॥५॥

यस्मिन्। वि-राट्। परमे-स्थी। प्रजा-पतिः। अग्निः। वैश्वानरः। सह। पङ्क्त्या। श्रितः। यः। परस्य। प्राणम्। परमस्य। तेजः। आ-ददे॥ तस्य। ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमेश्वर] में (विराट्) विविध प्रकाशमान (परमेष्ठी) बड़ी स्थिति वाला [आकाश], (प्रजापतिः) प्रजापालक [सूर्य] और (वैश्वानरः) सब नायकों [रस ले चलने वाली नाड़ी आदिकों] का हितकारी (अग्निः) अग्नि [जाठर अग्नि] (पङ्क्त्या सह) अपनी पङ्क्ति [श्रेणि] के सहित (श्रितः) ठहरा है, (यः) जिस [परमेश्वर] ने (परस्य) दूर पदार्थ के (प्राणम्) प्राण को और (परमस्य) सब से ऊंचे पदार्थ के (तेजः) तेज को (आददे) अपने में ग्रहण किया है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

यस्मिन् षडुर्वीः पञ्च दिशो अधि श्रिताश्चतस्र आपो यज्ञस्य त्रयोऽक्षराः। यो अन्तरा रोदसी क्रुद्धश्चक्षुषैक्षत। तस्य ०।०।०॥ ६ ॥

यस्मिन्। षट्। उर्वीः। पञ्च। दिशः। अधि। श्रिताः।

५—(यस्मिन्) परमेश्वरे (विराट्) विविधं राजमानः (परमेष्ठी) परमस्थितिमान्। आकाशः (प्रजापतिः) प्रजापालकः सूर्यः (अग्निः) जाठराग्निः (वैश्वानरः) सर्वेषां नराणां नायकानां रसवाहकनाड्यादिकानां हितः (सह) (पङ्क्त्या) श्रेण्या (श्रितः) स्थितः (यः) परमेश्वरः (परस्य) दूरस्थपदार्थस्य (प्राणम्) जीवनम् (परमस्य) उच्चतमपदार्थस्य (तेजः) प्रकाशम् (आददे) स्वस्मिन् गृहीतवान् ॥

चतस्रः । आपः । यज्ञस्य । त्रयः । अक्षराः ॥ यः । अन्तरा । रोदसी इति । क्रुद्धः । चक्षुषा । ऐक्षत ॥ तस्य । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमेश्वर] में (षट्) छह [पूर्वादि चार और नीचे ऊपर वाली] (उर्वीः) चौड़ी (दिशः) दिशायें (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु आकाश पांच तत्त्वों] के सहित, (चतस्रः) चार प्रकार की [ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्ररूप] (आपः) प्रजायें और (यज्ञस्य) [संयोग वियोग वाले संसार] के (त्रयः) तीनों [सत्त्व, रज, तम] (अक्षराः) व्यापक गुण (अधि) यथावत् (श्रिताः) ठहरे हैं । (यः) जिस ने (क्रुद्धः) क्रुद्ध होकर (रोदसी अन्तरा) दोनों सूर्य और भूमि [प्रकाशमान और अप्रकाशमान लोकों] के बीच (चक्षुषा) अपने नेत्र से (ऐक्षत) देखा है [वश में किया है] । (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[म० १) ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ६ ॥

इस मन्त्र के गणिताङ्कों में छह से लेकर दो तक एक एक घटता गया है ॥

यो अन्नादो अन्नपतिर्बभूव ब्रह्मणस्पतिरुत यः । भूतो भविष्यद् भुवनस्य यस्पतिः । तस्य ० । ० । ० ॥ ७ ॥

यः । अन्न-अदः । अन्न-पतिः । बभूव । ब्रह्मणः । पतिः । उत । यः ॥ भूतः । भविष्यत् । भुवनस्य । यः । पतिः ॥ तस्य । ० ॥ ७ ॥

६—(यस्मिन्) परमेश्वरे (षट्) ऊर्ध्वाधोभ्यां सह पूर्वादयः (उर्वीः) विस्तृताः (पञ्च) विभक्तिलोपः । पञ्चभिः पृथिव्यादिभूतैः (दिशः) दिशाः (अधि) यथावत् (श्रिताः) स्थिताः (चतस्रः) (आपः) ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्ररूपाः प्रजाः (यज्ञस्य) संयोगवियोगवतः संसारस्य (त्रयः) (अक्षराः) अशेः सरः । उ० ३ । ७० । अशू व्याप्तौ—सर । सत्त्वरजस्तमोरूपा व्यापका गुणाः (अन्तरा) मध्ये (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (क्रुद्धः) कुपितः सन् (चक्षुषा) दृष्ट्या (ऐक्षत) अपश्यत् ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (अन्नादः) अन्न का खिलाने वाला, (अन्नपतिः) अन्न का स्वामी, (उत) और (यः) जो (ब्रह्मणः) वेद ज्ञान का (पतिः) रक्षक (बभूव) हुआ है, (यः) जो (भुवनस्य) संसार का (भूतः) अतीत काल में रहने वाला और (भविष्यन्) आगे रहने वाला (पतिः) स्वामी है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[मन्त्र १] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ७ ॥

अहोरात्रैर्विमितं त्रिंशदङ्गं त्रयोदशं मासं यो निर्मिमीते ।
तस्य० । ०॥ ० ॥ ८ ॥

अहोरात्रैः । वि-मितम् । त्रिंशत्-अङ्गम् । त्रयः-दशम् । मासम् । यः । निः-मिमीते ॥ तस्य । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (अहोरात्रैः) दिन और रातों के साथ (विमितम्) नापे गये, (त्रिंशदङ्गम्) तीस अङ्गों वाले [अर्थात् ऋग्वेद आदि चारो वेद + ब्राह्मण आदि चारों वर्ण + ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रम + अणिमा आदि आठ ऐश्वर्य + पृथिवी आदि पांच भूत + उछालना, गिराना, सकोड़ना, फैलाना और चलना पांच कर्म जिसमें हैं] और (त्रयोदशम्) तेरह पदार्थ वाले [अर्थात् कान, त्वचा, नेत्र, जीभ, नासिका—पांच ज्ञानेन्द्रिय, गुदा, उपस्थ वा मूत्रमार्ग, हाथ, पांव, वाणी—पञ्च कर्मेन्द्रिय; मन बुद्धि और जीव

७—(यः) परमेश्वरः (अन्नादः) अन्नमादयति भक्षयतीति सः (अन्नपतिः) (बभूव) (ब्रह्मणः) वेदज्ञानस्य (पतिः) स्वामी (उत) अपि (यः) (भूतः) अतीतकाले भवः (भविष्यत्) अनागतकाले वर्तमानः (भुवनस्य) सत्तावतो लोकस्य (यः) (पतिः) ॥

८—(अहोरात्रैः) रात्रिदिवसैः (विमितम्) परिमितम् (त्रिंशदङ्गम्) त्रिंशदङ्गानि यस्य तम् । ऋग्वेदादयश्चत्वारो वेदा ब्राह्मणादयश्चत्वारो वर्णा ब्रह्मचर्यादयश्चत्वार आश्रमा अणिमादयोऽष्टविभूतय उत्क्षेपणावक्षेपणाकुञ्चनप्रसारणगमनानीति पञ्चकर्माणि—इति त्रिंशदङ्गानि (त्रयोदशम्) बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात् । पा० ५ । ४ । ७३ । इति त्रयोदशन्-डच् । त्रयोदशपदार्था यस्मिंस्तम् । श्रोत्रत्वक्चक्षुर्जिह्वानासिकापञ्चज्ञानेन्द्रियाणि, गुदोपस्थहस्त—

के स्थान] (मासम्) नापने योग्य [संसार] को (निर्मिमीते) बनाता है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये...... [मन्त्र १] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने खोजने योग्य संसार में मनुष्य के सुख के लिये वेद आदि और इन्द्रिय आदि पदार्थ रचे हैं, हे मनुष्यो ! उसी को इष्टदेव जानकर पुरुषार्थी बनकर उन्नति करो ॥ ८ ॥

कृष्णं नियानं हरयः सुपर्णा अपो वसाना दिवमुत् पतन्ति ।
त आववृत्रन्त्सदनादृतस्य । तस्य० । ० । ० ॥ ९ ॥

कृष्णम् । नि-यानम् । हरयः । सु-पर्णाः । अपः । वसानाः । दिवम् । उत् । पतन्ति ॥ ते । आ । अववृत्रन् । सदनात् । ऋतस्य ॥ तस्य । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(हरयः) जल खींचने वाली (सुपर्णाः) अच्छे प्रकार उड़ने वाली किरणें, (अपः) जल को (वसानाः) ओढ़कर, (कृष्णम्) खींचने वाले (नियानम्) नित्य गमन स्थान अन्तरिक्ष में [होकर] (दिवम्) प्रकाशमय सूर्य मण्डल को (उत् पतन्ति) चढ़ जाती हैं। (ते) वे [किरणें] (ऋतस्य) जल के (सदनात्) स्थान [सूर्य] से (आ अववृत्रन्) [ईश्वर नियम के अनुसार] लौट आती हैं। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[मन्त्र १] ॥ ९ ॥

पादवाणीपञ्च कर्मेन्द्रियाणि मनोबुद्धिजीवाश्चेतित्रयोदशपदार्थाः (मासम्) मसी परिणामे परिमाणे च। घञ्। मस्यते परिमीयते यः स मासस्तं संसारम् (निर्मिमीते) रचयति ॥

९—कृष्णमित्यादि व्याख्यातम्—अ० ६। २२। १। अत्र शब्दार्थो दीयते (कृष्णम्) आकर्षकम् (नियानम्) नित्यगमनस्थानमन्तरिक्षं प्रति (हरयः) रसं हरन्तः (सुपर्णाः) आदित्यरश्मयः—निरु० ७। २४ (अपः) जलानि (वसानाः) आच्छादयन्तः (दिवम्) प्रकाशमयं सूर्यमण्डलम् (उत्) उद्गत्य (पतन्ति) प्राप्नुवन्ति (ते) किरणाः (आ अववृत्रन्) आवर्तन्ते। आगच्छन्ति (सदनात्) गृहात्। सूर्यमण्डलात् (ऋतस्य) उदकस्य ॥

भावार्थ—जिस ईश्वर ने सूर्य की किरणों को सूर्य तक जल खींचने, मेघ द्वारा बरसाने और सृष्टि के लिये उपकारी होने का सामर्थ्य दिया है, सब मनुष्य उसकी उपासना करें ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का (कृष्णं ......ऋतस्य) यह भाग आचुका है-अ० ६ । २२ । १ तथा ६ । १० । २२ और ऋग्० १ । १६४ । ४७ ॥

यत् ते चन्द्रं कश्यप रोचनावद् यत् संहितं पुष्कलं चित्रभानु । यस्मिन्त्सूर्या आर्पिताः सप्त साकम् । तस्यं०।०।०॥१०॥(१२)

यत् । ते । चन्द्रम् । कश्यप । रोचन-वत् । यत् । सम्-हितम् । पुष्कलम् । चित्र-भानु ॥ यस्मिन् । सूर्याः । आर्पिताः । सप्त । साकम् ॥ तस्यं । ० ॥ १० ॥ (१२)

भाषार्थ—(कश्यप) हे सर्वदर्शक ! [परमेश्वर] (यत्) जो (ते) तेरा (चन्द्रम्) आनन्द कर्म (रोचनवत्) बड़ी रुचि वाला है, और (यत्) जो (संहितम्) एकत्र किया हुआ, (चित्रभानु) विचित्र प्रकाश वाला (पुष्कलम्) पोषण कर्म है । (यस्मिन्) जिस [परमेश्वर के नियम] में (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्ररूप वाली] (सूर्याः) सूर्य की किरणें (साकम्) साथ साथ (आर्पिताः) जड़ी हैं । (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[मन्त्र १]॥१०॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सर्वदर्शक आनन्ददाता और पोषणप्रद है, सब लोग उसकी उपासना करें ॥ १० ॥

१०—(यत्) (ते) तव (चन्द्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । चदि आह्लादने दीप्तौ च—रक् । आह्लादकं कर्म (कश्यप) पश्यक (रोचनवत्) रुचियुक्तम् (यत्) (संहितम्) एकीकृतम् (पुष्कलम्) कलश्च । उ० ४ । ५ । पुष पुष्टौ—कलन् । पोषणकर्म, (चित्रभानु) विचित्रदीप्ति (यस्मिन्) परमेश्वरनियमे (सूर्याः) अ० ६ । ४ । १४ । षू प्रेरणे—क्यप्, टाप् । सूर्या सूर्यस्य पत्नी—निरु० १२ । ७ । सूर्यकिरणाः (अर्पिताः) स्थापिताः (सप्त) शुक्लनीलादिसप्तवर्णाः (साकम्) सह ॥

बृहदे॑नमनु॑ वस्ते पुरस्ता॑द् रथंतरं प्रति॑ गृह्णाति पुश्चात् ।
ज्योति॑र्वसा॑ने सदुमप्र॑मादम् । तस्यं ० । ० । ० ॥ ११ ॥

बृहत् । एनम् । अनु॑ । वस्ते । पुरस्ता॑त् । रथम्-तरम् ।
प्रति॑ । गृह्णाति । पुश्चात् ॥ ज्योतिः । वसा॑ने इति॑ । सद॑म् ।
अप्र॑-मादम् ॥ तस्यं । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ-(बृहत्) बृहत् [बड़ा आकाश] (पुरस्तात्) आगे से (एनम्) इस [परमेश्वर] को (अनु) निरन्तर (वस्ते) ओढ़ता है, (रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय पदार्थों द्वारा पार लगाने वाला जगत्] (पश्चात्) पीछे से [परमेश्वर को] (प्रति) प्रत्यक्ष (गृह्णाति) ग्रहण करता है। [दोनों, आकाश और जगत्] (अप्रमादम्) बिना चूक (ज्योतिः) ज्योतिः-स्वरूप [परमात्मा] को (सदम्) सदा (वसाने) ओढ़े हुये [रहते हैं]। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये...... [म० १] ॥ ११ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा इतना बड़ा है कि उसके भीतर यह सब आकाश और सब जगत् समा रहा है, उसकी उपासना तुम करो ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो-अ० ८। १० (२) ६॥

बृहद॒न्यत॑ः पुक्ष आसी॑द् रथंतरमन्यत॑ः सब॑ले सुध्रीची॑ । यद्
रोहि॑तमज॑नयन्त दे॒वाः । तस्यं ० । ० । ० ॥ १२ ॥

बृहत् । अन्यत॑ः । पुक्षः । आसी॑त् । रथम्-तरम् । अन्यत॑ः
सब॑ले इति स-ब॑ले । सुध्रीची इति॑ ॥ यत् । रोहि॑तम् । अज॑-
नयन्त । दे॒वाः ॥ तस्यं । ०॥ १२ ॥

११—(बृहत्) महत्। आकाशम् (एनम्) परमात्मानम् (अनु) निरन्तरम् (वस्ते) आच्छादयति (पुरस्तात्) अग्रे (रथन्तरम्) अ० ८। १० (२) ६। रथैर-मणीयपदार्थैस्तरति येन तज् जगत् (प्रति) प्रत्यक्षम् (गृह्णाति) स्वीकरोति (पश्चात्) (ज्योतिः) तेजः स्वरूपं ब्रह्म (वसाने) आच्छादयमाने (सदम्) सदा (अप्रमादम्) प्रमादरहितम् । सावधानम् ॥

भाषार्थ—(बृहत्) बृहत् [बड़ा आकाश] (अन्यतः) एक ओर से (पक्षः) [उस परमेश्वर का] ग्रहण सामर्थ्य (आसीत्) था, और (रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय पदार्थों द्वारा पार लगाने वाला जगत्] (अन्यतः) दूसरी ओर से—[दोनों] (सबले) तुल्य बल वाले और (सध्रीची) साथ साथ गति वाले [थे], (यत्) जब (रोहितम्) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (देवाः) [उसके] उत्तम गुणों ने (अजनयन्त) प्रकट किया । (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये...... [म० १] ॥ १२ ॥

भावार्थ—परस्पर मिले हुये और बहुत बड़े आकाश और जगत् परमात्मा के सामर्थ्य से वर्तमान हैं, इस बात को उसके गुणों से साक्षात् करके आत्मोन्नति करो ॥ १२ ॥

स वरु॑णः सा॒यम॒ग्निर्भ॑वति॒ स मि॒त्रो भ॑वति प्रा॒तरु॒द्यन् । स स॑वि॒ता भू॒त्वान्तरि॑क्षेण याति॒ स इन्द्रो॑ भू॒त्वा त॑पति मध्य॒तो दिव॑म् । तस्य॑ ० । ० । ० ॥ १३ ॥

सः । वरु॑णः । सा॒यम् । अ॒ग्निः । भ॒व॒ति॒ । सः । मि॒त्रः । भ॒व॒ति॒ । प्रा॒तः । उ॒त्-यन् ॥ सः । स॒वि॒ता । भू॒त्वा । अ॒न्तरि॑क्षेण । या॒ति॒ । सः । इन्द्रः॑ । भू॒त्वा । त॒प॒ति॒ । म॒ध्य॒तः । दिव॑म् ॥ तस्य॑ । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (वरुणः) श्रेष्ठ परमात्मा (सायम्) सायङ्काल में (अग्निः) अग्नि [अग्निसमान तेजस्वी] (भवति) होता है, (सः) वह [पर-

---

१२—(बृहत्) आकाशम् (अन्यतः) एकस्मात् प्रदेशात् (पक्षः) ग्रहणसामर्थ्यम् (आसीत्) (रथन्तरम्) म० ११ । रमणीयैः पदार्थैस्तारकं जगत् (अन्यतः) (सबले) समानबलयुक्ते (सध्रीची) संगच्छमाने (यत्) यदा (रोहितम्) सर्वोत्पादकं परमेश्वरम् (अजनयन्त) प्रादुष्कृतवन्तः (देवाः) श्रेष्ठगुणाः ॥

१३—(सः) (वरुणः) श्रेष्ठः परमेश्वरः (सायम्) सूर्यास्ते (अग्निः) अग्नितुल्यः (भवति) (सः) परमेश्वरः (मित्रः) स्नेहवान् सूर्यो यथा (भवति)

मेश्वर] (प्रातः) प्रातःकाल (उद्यन्) उदय होते हुये (मित्रः) स्नेहवान् सूर्य [के समान] (भवति) होता है । (सः) वह [परमेश्वर] (सविता) प्रेरणा करने वाला सूर्य के समान (भूत्वा) होकर (अन्तरिक्षेण) अन्तरिक्ष के साथ (याति) चलता है, (सः) वह (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (भूत्वा) होकर (मध्यतः) बीच से (दिवम्) सूर्य लोक को (तपति) तपाता है । (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये……[म० १] ॥१३॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सायंकाल के अग्नि, और प्रातःकाल और मध्याह्न के सूर्य समान प्रतापी है, वही इन सब में अन्तर्यामी है । उसके गुणों को जानकर आगे बढ़ो ॥ १३ ॥

सहस्राह्ण्यं वियतावस्य पक्षौ हरेर्हंसस्य पततः स्वर्गम् । स देवान्त्सर्वानुरस्युपदद्य संपश्यन् याति भुवनानि विश्वा । तस्य० । ० । ० ॥ १४ ॥

सहस्र-अह्न्यम् । वि-यतौ । अस्य । पक्षौ । हरेः । हंसस्य । पततः । स्वः-गम् ॥ सः । देवान् । सर्वान् । उरसि । उप-दद्य । सम्-पश्यन् । याति । भुवनानि । विश्वा ॥ तस्य।०॥१४॥

भाषार्थ—(स्वर्गम्) मोक्ष सुख को (पततः) प्राप्त होते हुये (अस्य) इस [सर्वत्र वर्तमान] (हरेः) हरि [दुःख हरने वाले] (हंसस्य) हंस [सर्वव्यापक परमेश्वर] के (पक्षौ) दोनों पक्ष [ग्रहण करने योग्य कार्य और कारण रूप व्यवहार] (सहस्राह्ण्यम्) सहस्रों दिनों वाले [अनन्त देशकाल] में (वियतौ) फैले हुये हैं । (सः) वह [परमेश्वर] (सर्वान्) सब (देवान्) दिव्यगुणों को [अपने] (उरसि) हृदय में (उपदद्य) लेकर (विश्वा) सब (भुवनानि) लोकों को (संपश्यन्) निरन्तर देखता हुआ (याति) चलता रहता है । (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये ……[म० १] ॥ १४ ॥

(प्रातः) प्रभाते (उद्यन्) उद्गच्छन् (सः) (सविता) प्राणिनां प्रेरकः सूर्यो यथा (भूत्वा) (अन्तरिक्षेण) आकाशेन सह (याति) गच्छति (सः) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । जगदीश्वरः (भूत्वा) (तपति) तापयति (मध्यतः) मध्यात् (दिवम्) सूर्यलोकम् ॥

१४—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अथर्व० १० । ८ । १८ । तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर अन्तर्यामी रूप से अनन्त कार्य कारण रूप जगत् की निरन्तर सुधि रखता है, वैसे ही मनुष्य परमेश्वर का विचार करता हुआ सब कामों में सदा सावधान रहे ॥ १४ ॥

आवृत्ति छोड़कर यह मन्त्र आ चुका है—अ० १० । ८ । १८ तथा १३ । २ । ३८ ॥

अ॒यं स दे॒वो अ॒प्स्व१॒॑न्तः स॒हस्र॑मूलः पुरु॒शाको॒ अत्त्रि॑ः । य इ॒दं विश्वं॒ भुव॑नं ज॒जान॑ । तस्य॑० । ० । ० ॥ १५ ॥

अ॒यम् । सः । दे॒वः । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः । स॒हस्र॑ऽमूलः । पु॒रु॒ऽशा॒कः । अत्त्रि॑ः ॥ यः । इ॒दम् । विश्व॑म् । भुव॑नम् । ज॒जान॑ ॥ तस्य॑ । ० ॥ १५ ॥

भषार्थ—(अयम्) यह (सः) वही (देवः) प्रकाशमान, (सहस्रमूलः) सहस्रों [अनगणित] कारणों में रहने वाला, (पुरुशाकः) बहुत शक्तियों वाला (अत्त्रिः) नित्यज्ञानी [परमेश्वर] (अप्सु) प्रजाओं में (अन्तः) भीतर है। (यः) जिस ने (इदम्) इस (विश्वम्) सब (भुवनम्) सत्ता को (जजान) उत्पन्न किया है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[मन्त्र १] ॥ १५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वजनक परमात्मा को प्रत्येक कारण में आदि कारण खोजकर उसकी भक्ति करें ॥ १५ ॥

शु॒क्रं व॑हन्ति॒ हर॑यो र॒घु॒ष्यदो॑ दे॒वं दि॒वि वर्च॑सा॒ भ्राज॑मानम् । यस्यो॒र्ध्वा दिवं॒ त॒न्व१॒॑स्तप॑न्त्यर्वाङ् सु॒वर्णैः॑ पट॒रैर्वि भा॑ति॒ । तस्य॑० । ० । ० ॥ १६ ॥

१५—(अयम्) प्रत्यक्षः (सः) (देवः) प्रकाशमानः (अप्सु) प्रजासु (अन्तः) मध्ये (सहस्रमूलः) सहस्रेष्वसंख्यातेषु मूलेषु कारणेषु विद्यमानः (पुरुशाकः) शक्लृ शक्तौ—घञ् । बहुशक्तियुक्तः (अत्त्रिः) अ० १३ । २ । ४ । नित्यज्ञानी परमेश्वरः (यः) परमेश्वरः (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) सत्ताम् (जजान) उत्पादयामास ॥

शुक्रम् । वहन्ति । हरयः । रघु-स्यदः । देवम् । दिवि । वर्चसा । भ्राजमानम् ॥ यस्य । ऊर्ध्वाः । दिवम् । तन्वः । तपन्ति । अर्वाङ् । सु-वर्णैः । पटरैः । वि । भाति ॥ तस्य०।१६

भाषार्थ—(रघुष्यदः) शीघ्रगामी (हरयः) अज्ञान नाशक मनुष्य (शुक्रम्) वीर्यवान्, (देवम्) ज्ञानवान्, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (वर्चसा) तेज से (भ्राजमानम्) प्रकाशमान [परमेश्वर] को (वहन्ति) पाते हैं। (यस्य) जिस [परमेश्वर] के (ऊर्ध्वाः) ऊंचे (तन्वः) उपकार (दिवम्) सूर्य को (तपन्ति) तपाते हैं, (अर्वाङ्) समीपवर्ती वह (सुवर्णैः) बड़े श्रेष्ठ (पटरैः) प्रकाशों के साथ (वि भाति) चमकता जाता है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये ...... [म० १] १६

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य निरालसी होकर परमेश्वर की उपासना से पराक्रमी और प्रतापी होवें ॥ १६ ॥

येनादित्यान् हरितः संवहन्ति येन यज्ञेन बहवो यन्ति प्रजानन्तः । यदेकं ज्योतिर्बहुधा विभाति । तस्य०।०।० ॥१७॥

येन । आदित्यान् । हरितः । सम्-वहन्ति । येन । यज्ञेन । बहवः । यन्ति । प्र-जानन्तः ॥ यत् । एकम् । ज्योतिः । बहु-धा । वि-भाति ॥ तस्य । ० ॥ १७ ॥

१६—(शुक्रम्) अर्श आद्यच् । वीर्यवन्तम् (वहन्ति) प्राप्नुवन्ति (हरयः) हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । अज्ञाननाशका मनुष्याः (रघुष्यदः) शीघ्रगामिनः (देवम्) ज्ञानिनम् (दिवि) व्यवहारे (वर्चसा) तेजसा (भ्राजमानम्) दीप्यमानम् (यस्य) परमेश्वरस्य (ऊर्ध्वाः) उन्नताः (दिवम्) सूर्यम् (तन्वः) तन उपकारे—ऊप्रत्ययः । उपकृतयः (तपन्ति) तापयन्ति (अर्वाङ्) समीपवर्ती परमेश्वरः (सुवर्णैः) सुवरणीयैः (पटरैः) अर्त्तिकमिभ्रमिचमि० । उ० ३ । १३२ । पट गतौ, दीप्तौ वेष्टने च—अरप्रत्ययः । प्रकाशैः (वि) विविधम् (भाति) दीप्यते ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [परमेश्वर] के साथ (हरितः) दिशायें (आदित्यान्) आदित्य [अखण्ड] ब्रह्मचारियों को (संवहन्ति) मिलकर ले चलती हैं, (येन) जिस [परमेश्वर] के साथ (यज्ञेन) पूजनीय कर्म से (बहवः) बहुत से (प्रजानन्तः) भविष्यज्ञानी लोग (यन्ति) चलते हैं। (यत्) जो (एकम्) एक (ज्योतिः) ज्योतिः स्वरूप परमात्मा (बहुधा) बहु प्रकार से [प्रत्येक वस्तु में] (विभाति) चमकता रहता है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये...... [म० १] ॥ १७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य उस अद्वितीय प्रकाशस्वरूप परमात्मा को प्रत्येक स्थान में पाकर भविष्यवेत्ता होकर सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १७ ॥

स॒प्त यु॑ञ्जन्ति॒ रथ॒मेक॑चक्र॒मेको॒ अश्वो॑ वहति स॒प्तना॑मा।
त्रि॒नाभि॑ च॒क्रम॒जर॑मन॒र्वं यत्रे॒मा विश्वा॒ भुव॒नाधि॑ त॒स्थुः।
तस्यै॑ ०।०।० ॥ १८ ॥

स॒प्त। यु॒ञ्जन्ति॒। रथ॑म्। एक॑-चक्रम्। एकः॑। अश्वः॑। व॒ह॒ति॒। स॒प्त-ना॑मा ॥ त्रि॒-नाभि॑। च॒क्रम्। अ॒जर॑म्। अ॒न॒र्वम्। यत्र॑। इ॒मा। विश्वा॑। भुव॑ना। अधि॑। त॒स्थुः ॥ तस्यै॑। ० ॥१८॥

भाषार्थ—(सप्त) सात [इन्द्रियां- त्वचा, नेत्र, कान, जीभ, नाक, मन और बुद्धि] (एकचक्रम्) एक चक्र वाले [अकेले पहिये के समान काम करने वाले जीवात्मा से युक्त] (रथम्) रथ [वेगशील वा रथ समान, शरीर को (युञ्जन्ति) जोड़ते हैं, (एकः) अकेला (सप्तनामा) सात [त्वचा आदि इन्द्रियों] से झुकने वाला [प्रवृत्ति करने वाला] (अश्वः) अश्व [अश्वरूप व्यापक जीवात्मा] (त्रिनाभि) [सत्त्व रज और तमोगुण-रूप] तीन बन्धन वाले

१७—(येन) परमेश्वरेण सह (आदित्यान्) अखण्डब्रह्मचारिणः पुरुषान् (हरितः) दिशः—निघ० १। ६ (संवहन्ति) संगत्य प्रापयन्ति (येन) (यज्ञेन) पूजनीयेन कर्मणा (बहवः) (यन्ति) गच्छन्ति (प्रजानन्तः) भविष्यज्ञानिनः (यत्) (एकम्) अद्वितीयम् (ज्योतिः) तेजःस्वरूपं ब्रह्म (बहुधा) अनेकप्रकारेण (विभाति) विविधं प्रकाशते ॥

१८—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ६। ६। २। तत्रैव द्रष्टव्यः ॥

(अजरम्) चलने वाले [वा जीर्णता रहित,] (अनर्वम्) न टूटे हुये (चक्रम्) चक्र [चक्र समान काम करनेवाले अपने जीवात्मा] को [उस परमात्मा में] (वहति) ले जाता है, (यत्र) जिस [परमात्मा] में (इमा) यह (विश्वा) सब (भुवना) सत्तायें (अधि) यथावत् (तस्थुः) ठहरी हैं। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[मन्त्र १] ॥ १८ ॥

भावार्थ—यह जीवात्मा इन्द्रियों द्वारा पुरुषार्थ करके संसार के सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों के यथावत् ज्ञान से जगदीश्वर को जानकर आनन्द पावे ॥ १८

आवृत्ति छोड़कर यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० ६। ६। २ और ऋग्वेद में है—१। १६४। २ ॥

अष्टधा युक्तो वहति वह्निरुग्रः पिता देवानां जनिता मतीनाम्। ऋतस्य तन्तुं मनसा मिमानः सर्वा दिशः पवते मातरिश्वा। तस्य०। ०। ० ॥ १९ ॥

अष्टधा। युक्तः। वहति। वह्निः। उग्रः। पिता। देवानाम्। जनिता। मतीनाम् ॥ ऋतस्य। तन्तुम्। मनसा। मिमानः। सर्वाः। दिशः। पवते। मातरिश्वा ॥ तस्य। ० ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अष्टधा) आठ प्रकार से (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—योग के आठ अङ्गों द्वारा] (युक्तः) ध्यान किया गया, (उग्रः) प्रचण्ड (वह्निः) ले चलने वाला, (देवानाम्) गतिमान् [पृथिवी आदि] लोकों का (पिता) पिता [रक्षक] और (मतीनाम्) बुद्धिमानों का (जनिता) उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर, संसार को] (वहति) ले चलता है। (ऋतस्य) सत्यज्ञान के (तन्तुम्) तांते [श्रेणी] को (मनसा)

१९—(अष्टधा) अष्टप्रकारेण। यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि—योगदर्शने २। २९ (युक्तः) ध्यातः (वहति) गमयति लोकान् (वह्निः) वाहकः (उग्रः) प्रचण्डः (पिता) रक्षकः (देवानाम्) गतिमतां पृथिव्यादिलोकानाम् (जनिता) उत्पादकः (मतीनाम्) मेधाविनाम्—निघ० ३। १५ (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (तन्तुम्) श्रेणिम्। विस्तारम्

अपने विज्ञान से (मिमानः) नापता हुआ, (मातरिश्वा) आकाश में गति वाला [परमेश्वर] (सर्वाः) सब (दिशः) दिशाओं में (पवते) चलता है [व्यापता है]। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये ..... [म० १] ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर सर्वस्वामी, सर्वान्तर्यामी, सर्वनियन्ता है, सब मनुष्य योगद्वारा उसकी उपासना करके आनन्द पावें ॥ १९ ॥

स॒म्यञ्चं॒ तन्तुं॑ प्र॒दिशो॒ऽनु॒ सर्वा॑ अ॒न्तर्गा॑य॒त्र्याम॒मृत॑स्य॒ गर्भे॑ ।
तस्य॑० । ० । ० ॥ २० ॥ (१३)

स॒म्यञ्च॑म् । तन्तु॑म् । प्र॒-दिशः॑ । अनु॑ । सर्वाः॑ । अ॒न्तः । गा॒य॒त्र्याम् । अ॒मृत॑स्य । गर्भे॑ ॥ तस्य॑ । ० ॥ २० ॥ (१३)

भाषार्थ—(सम्यञ्चम्) आपस में मिले हुये (तन्तुम् अनु) ताँते के साथ (सर्वाः) सब (प्रदिशः) दिशायें (अमृतस्य) अमर [परमात्मा] के (गर्भे) गर्भ में [वर्तमान] (गायत्र्याम् अन्तः) गाने योग्य वेदवाणी के भीतर [हैं]। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये..... [मन्त्र १ ॥ २० ॥

भावार्थ—जिस सर्वव्यापक परमेश्वर के सामर्थ्य से सब लोक लोकान्तर परस्पर आकर्षण में ठहरे हैं, हे मनुष्यो ! तुम उस की उपासना से उन्नति करो ॥ २० ॥

नि॒म्रुच॑स्ति॒स्रो व्यु॒षो॑ ह ति॒स्रस्त्रीणि॒ रजां॑सि॒ दिवो॑ अ॒ङ्ग

(मनसा) विज्ञानेन (मिमानः) मानं कुर्वाणः (सर्वाः) (दिशः) (पवते) गच्छति—निघ० २ । १४ । व्याप्नोति (मातरिश्वा) मातरि आकाशे श्वयति गच्छति व्याप्नोति यः परमेश्वरः ॥

२०—(सम्यञ्चम्) संगतम् (तन्तुम्) विस्तारम् (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (सर्वाः) (अन्तः) मध्ये (गायत्र्याम्) अमिनक्षियजि० । ३ । १०५ । गै गाने—अत्रन्, स च णित् । आतो युक् चिण्कृतोः । पा० ७ । ३ । ३३ । इति युक् । गायत्री गायतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ७ । १२ । गानयोग्यायां स्तुत्यायां वेदवाचि (अमृतस्य) अविनाशिनः परमेश्वरस्य (गर्भे) अधिकरणे ॥

ति॒स्रः । वि॒द्मा ते॑ अग्ने त्रे॒धा ज॒नित्रं॑ त्रे॒धा दे॒वानां॒ जनि॑मानि विद्म । तस्य॑० । ० । ० ॥ २१ ॥

नि॒-म्रु॒चः॑ । ति॒स्रः । वि॒-उषः॑ । ह । ति॒स्रः । त्रीणि॑ । रजां॑सि । दिवः॑ । अ॒ङ्ग । ति॒स्रः ॥ वि॒द्म । ते॒ । अ॒ग्ने॒ । त्रे॒धा । ज॒नित्र॑म् । त्रे॒धा । दे॒वाना॑म् । जनि॑मानि । वि॒द्म ॥ तस्य॑ । ०॥२१॥

भाषार्थ—(निम्रुचः) नीच गतियां [मानसिक, वाचिक और कायिक भेद से] (तिस्रः) तीन और (व्युषः) उच्च गतियां (ह) भी [मानसिक, वाचिक और कायिक भेद से] (तिस्रः) तीन हैं, (रजांसि) लोक [भूत भविष्यत् और वर्तमान भेद से] (त्रीणि) तीन और (दिवः) व्यवहार क्रियायें (अङ्ग) भी [धर्म, अर्थ और काम-इन पुरुषार्थ भेदों से] (तिस्रः) तीन हैं। (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर! [कर्म, उपासना और ज्ञान द्वारा] (त्रेधा) तीन प्रकार से (ते) तेरे (जनित्रम्) प्रत्यक्षपन को (विद्म) हम जानते हैं, [सत्त्व, रज और तमोगुण के भेद से] (त्रेधा) तीन प्रकार पर (देवानाम्) गति वाले लोकों के (जनिमानि) प्रादुर्भावों को (विद्म) हम जानते हैं। (तस्य) (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये... ..[मन्त्र १] ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि मानसिक, वाचिक और कायिक अवनति अर्थात् नीच गति को छोड़ कर मानसिक वाचिक और कायिक उन्नति

२१—(निम्रुचः) नि+म्रुचु गतौ—क्विप्। अवनतयः। अधोगतयः (तिस्रः) मानसिकवाचिककायिकभेदेन (व्युषः) उष दाहे वधे च—क्विप्। उन्नतयः (ह) एव (तिस्रः) मानसिकादिभेदेन (त्रीणि) भूतभविष्यद् वर्तमानभेदेन (रजांसि) लोकाः(दिवः) व्यवारक्रियाः (अङ्ग) अङ्गेति क्षिप्रनाम—निरु० ५। १७। क्षिप्रम्। अवश्यम् (तिस्रः) धर्मार्थकामभेदेन (विद्म) सांहितिको दीर्घः। जानीमः (ते) तव (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (त्रेधा) त्रिप्रकारेण। कर्मोपासनाज्ञानद्वारा (जनित्रम्) प्रादुर्भावम् (त्रेधा) सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन (देवानाम्) गतिशीलानां लोकानाम् (जनिमानि) प्रादुर्भावान् (विद्म) जानीमः ॥

करके भूत भविष्यत् और वर्तमान का विचार करें और पुरुषार्थ पूर्वक परमात्मा के तत्त्वज्ञान से आनन्द पावें ॥ २१ ॥

वि य और्णोत् पृथिवीं जायमान् आ समुद्रमदधादुन्तरिक्षे ।
तस्य ० । ० । ० ॥ २२ ॥

वि । यः । और्णोत् । पृथिवीम् । जायमानः । आ । समुद्रम् । अदधात् । अन्तरिक्षे ॥ तस्य । ० ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (जायमानः) प्रत्यक्ष होते हुये [परमेश्वर] ने (पृथिवीम्) पृथिवी को (वि और्णोत्) फैलाया, और (समुद्रम्) समुद्र को (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (आ) सब ओर से (अदधात्) ठहराया । (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये ...[मन्त्र १] २२॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमात्मा को पृथिवी आदि लोकों का कर्ता साक्षात् करके धर्म में सदा उन्नति करें ॥ २२ ॥

त्वमग्ने क्रतुभिः केतुभिर्हितोऽर्कः समिद्ध उदरोचथा दिवि ।
किमभ्यार्चन्मरुतः पृश्निमातरो यद् रोहितमजनयन्त देवाः ।
तस्य० । ० । ० ॥ २३ ॥

त्वम् । अग्ने । क्रतु-भिः । केतु-भिः । हितः । अर्कः । सम्-इद्धः । उत् । अरोचथाः । दिवि ॥ किम् । अभि । आर्चन् । मरुतः । पृश्नि-मातरः । यत् । रोहितम् । अजनयन्त । देवाः ॥ तस्य । ० ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर ! (त्वम्) तू (क्रतुभिः) अपने कर्मों से और (केतुभिः) बुद्धियों से (हितः) हितकारी होकर (समिद्धः)

२२—(यः) परमेश्वरः (वि और्णोत्) विस्तारितवान् (पृथिवीम्) (जायमानः) प्रादुर्भवन् (आ) समन्तात् (समुद्रम्) जलौघम् (अदधात्) अस्थापयत् (अन्तरिक्षे) ॥

२३—(त्वम्) (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (क्रतुभिः) कर्मभिः—

प्रकाशित (अर्कः) सूर्य के समान (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (उत्) ऊपर (अरोचथाः) चमका है। (प्रश्निमातरः) पूछने योग्य वेदवाणी को माता समान मान करने वाले (मरुतः) शूर पुरुषों ने (किम्) किसको [अर्थात् ब्रह्म को ही] (अभि) सब ओर से (आर्चन्) पूजा है, (यत्) जब (रोहितम्) सब के उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] को (देवाः) [उसके] उत्तम गुणों ने (अजनयन्त) प्रकट किया है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये .....[मन्त्र १] ॥ २३ ॥

भावार्थ—वेदवेत्ता पराक्रमी लोग सर्वहितकारी परमेश्वर को उसके गुण कर्म स्वभाव से जानकर सदा आनन्द पाते हैं ॥ २३ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद ऊपर मन्त्र १२ में आ चुका है। इस मन्त्र का मिलान करो—अ० १३ । १ । ३ ॥

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः ।
योऽ३ स्येशे द्विपदो यश्चतुष्पदः । तस्य० । ० । ० ॥ २४ ॥

यः । आत्म-दाः । बल-दाः । यस्य । विश्वे । उप-आसते । प्र-शिषम् । यस्य । देवाः ॥ यः । अस्य । ईशे । द्वि-पदः । यः । चतुः-पदः ॥ तस्य । ० ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (आत्मदाः) प्राण दाता और (बलदाः) बल दाता है, (यस्य यस्य) जिसके ही (प्रशिषम्) उत्तम शासन को (विश्वे) सब (देवाः) गतिमान् सूर्य चन्द्र आदि लोक (उपासते) मानते हैं। (यः) जो (अस्य) इस (द्विपदः) दो पाये [समूह] का और (यः) जो (चतुष्पदः)

निघ० २।१ (केतुभिः) प्रज्ञाभिः—निघ० ३।६ (हितः) उपकारी (अर्कः) सूर्यः (समिद्धः) प्रदीप्तः (उत्) उत्तमतया (अरोचथाः) दीप्तवानसि (दिवि) व्यवहारे (किम्) प्रश्ने। ब्रह्मैवेत्यर्थः (आर्चन्) पूजितवन्तः (मरुतः) अ० १।२०।१। शूरपुरुषाः (पृश्निमातरः) अ० १।१३।१३। प्रच्छ ज्ञीप्सायाम्—नि। प्रष्टव्या वेदवाणी मातृवत् सत्करणीया येषां ते। अन्यत् पूर्ववत्—म० १२।

२४—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ४।२।१ (यः) परमेश्वरः (आत्मदाः) प्राणदाता (बलदाः) बलदाता (यस्य) (विश्वे) सर्वे (उपासते) सेवन्ते (प्रशिषम्) अनुशासनम् (यस्य) (देवाः) गतिमन्तः सूर्यादिलोकाः (यः)

चौपाये [समूह] का (ईशे = ईष्टे) ईश्वर है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये......[मन्त्र १ ॥ २४ ॥

भावार्थ—जिस जगदीश्वर के शासन से सब सूर्य, चन्द्र पृथिवी आदि लोक परस्पर धारण आकर्षण द्वारा अपने अपने मार्ग पर चलते हैं, और मनुष्य गौ आदि सब प्राणी मर्यादा में रहते हैं, उस परमात्मा की भक्ति से मनुष्य आत्मबल बढ़ावें ॥ २४ ॥

आवृत्ति छोड़ कर यह मन्त्र आ चुका है। अ० ४। २। १ और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १२१। २, ३॥ और यजु० २५। १३, ११॥

एकपाद् द्विपदो भूयो वि चक्रमे द्विपात् त्रिपादमभ्येति पश्चात्। चतुष्पाच्चक्रे द्विपदामभिस्वरे संपश्यन् पङ्क्तिमुपतिष्ठमानः। तस्य देवस्य क्रुद्धस्यैतदागो य एवं विद्वांसं ब्राह्मणं जिनाति। उद् वेपय रोहित प्र क्षिणीहि ब्रह्मज्यस्य प्रति मुञ्च पाशान् ॥ २५ ॥

एक-पात्। द्वि-पदः। भूयः। वि। चक्रमे। द्वि-पात्। त्रि-पादम्। अभि। एति। पश्चात् ॥ चतुः-पात्। चक्रे। द्वि-पदाम्। अभि-स्वरे। सम्-पश्यन्। पङ्क्तिम्। उप-तिष्ठमानः ॥ तस्य। देवस्य। क्रुद्धस्य। एतत्। आगः। यः। एवम्। विद्वांसम्। ब्राह्मणम्। जिनाति ॥ उत्। वेपय। रोहित। प्र। क्षिणीहि। ब्रह्म-ज्यस्य। प्रति। मुञ्च। पाशान् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(एकपात्) एक रस व्यापक परमेश्वर (द्विपदः) दो प्रकार की स्थिति वाले [जङ्गम स्थावर जगत्] से (भूयः) अधिक आगे (वि) फैल कर (चक्रमे) चला गया, (द्विपात्) दो [भूत भविष्यत्] में गति वाला

(अस्य) (ईशे) तलोपः। ईष्टे। ईश्वरो भवति (द्विपदः) पादद्वयोपेतस्य (यः) (चतुष्पदः) पादचतुष्टययुक्तस्य ॥

२५—(एकपात्)......(पश्चात्) इति व्याख्यातः—अ० १३। २। २७

परमात्मा (पश्चात्) फिर (त्रिपादम्) तीन लोक में [सूर्य, भूमि अर्थात् प्रकाशमान और अप्रकाशमान और मध्य लोक में] (अभि) सब ओर से (एति) प्राप्त होता है। (चतुष्पाद्) चारों [पूर्व आदि चारों दिशाओं] में व्यापक परमेश्वर ने (द्विपदाम्) दो प्रकार की स्थिति वाले [जङ्गम और स्थावरों] के (अभिस्वरे) सब ओर से पुकारने पर (उपतिष्ठमानः) समीप ठहरते हुये और (पङ्क्तिम्) पांति [सृष्टि की श्रेणी] को (संपश्यन्) निहारते हुये (चक्रे) [कर्तव्य को] किया है। (तस्य) उस (क्रुद्धस्य) क्रुद्ध (देवस्य) प्रकाशमान [ईश्वर] के लिये (एतत्) यह (आगः) अपराध है, [कि] (यः) जो मनुष्य (एवम्) ऐसे (विद्वांसम्) विद्वान् (ब्राह्मणम्) ब्राह्मण [वेदज्ञाता] को (जिनाति) सताता है। (रोहित) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर [उस शत्रु को] (उद् वेपय) कंपा दे, (प्र क्षिणीहि) नाश कर दे, (ब्रह्मज्यस्य) ब्रह्मचारी के सताने वाले के (पाशान्) फन्दों को (प्रति मुञ्च) बांध दे ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो सर्वव्यापक परमात्मा सदा वर्तमान रहकर सब संसार का पालन करता है, सब मनुष्य उस की उपासना पूर्वक विघ्नों से बचकर आनन्द पावें ॥ २५ ॥

इस मन्त्र के प्रथम दो पाद आचुके हैं—अ० १३ । २ । २७ और आवृत्ति छोड़ कर शेष मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । ११७ । ८ ॥

कृष्णायाः पुत्रो अर्जुनो रात्र्या वृत्सोऽजायत ।
स ह द्यामधि रोहति रुहो रुरोह रोहितः ॥ २६ ॥ (१४)

कृष्णायाः । पुत्रः । अर्जुनः । रात्र्याः । वृत्सः । अजायत ॥ सः । ह । द्याम् । अधि । रोहति । रुहः । रुरोह । रोहितः ॥ २६ ॥ (१४)

भाषार्थ—(कृष्णायाः) कृष्ण वर्णवाली (रात्र्याः) रात्रि से [प्रलय की

(चतुष्पात्) चतसृषु दिक्षु व्यापकः परमेश्वरः (चक्रे) कर्तव्यं कृतवान् (द्विपदाम्) जङ्गमस्थावररूपेण स्थितिवताम् (अभिस्वरे) सर्वतः शब्दकरणे (सम्पश्यन्) अवलोकयन् (पङ्क्तिम्) विस्तारम् (उपतिष्ठमानः) समीपे वर्तमानः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

२६—(कृष्णायाः) कृष्णवर्णायाः (पुत्रः) पुवो ह्रस्वश्च । उ० ४ । १६५ ।

रात्रि के पीछे] (पुत्रः) शुद्ध करने वाला, (अर्जुनः) रस प्राप्त करने वाला (वत्सः) निवास देने वाला सूर्य [जिस परमेश्वर के नियम से] (अजायत) प्रकट हुआ है। (सः ह) वही (रोहितः) सब का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (द्याम् अधि) उस सूर्य में (रोहति) प्रकट होता है, उस ने (रुहः) सृष्टि की सामग्रियों को (रुरोह) उत्पन्न किया है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जिस सर्वव्यापक परमेश्वर के नियम से प्रलय के पीछे सूर्य आदि लोक उत्पन्न होते हैं, मनुष्य उस की आराधना कर के सदा सुखी रहें २६

इस मन्त्र का चौथा पाद आ चुका है—अ० १३ । १ । ४ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ४ ॥ [षट् पर्यायाः] ॥

१—५६ ॥ रोहितादित्यो देवता ॥

आध्यात्मोपदेशः—परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

पर्यायः १ ॥

१—१३ ॥ १, २,४–११ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ३ निचृत् प्राजापत्याऽनुष्टुप्; १२ साम्नी पङ्क्तिः; १३ आसुर्यनुष्टुप् ॥

स एति सविता स्वर्दिवस्पृष्ठेऽवचाकशत् ॥ १ ॥

सः । एति । सविता । स्वः । दिवः । पृष्ठे । अव-चाकशत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (सविता) सब का प्रेरक [परमेश्वर] (दिवः)

पूञ् शोधने—क्त्र । शोधकः (अर्जुनः) रसानां संग्रहीता (राज्याः) प्रलय—रात्रिपश्चादित्यर्थः (वत्सः) वस निवासे—सप्रत्ययः । निवासहेतुः सूर्यलोकः (अजायत) प्रकटोऽभवत् (सः) (ह) एव (द्याम् अधि) सूर्यं प्रति (रोहति) प्रादुर्भवति (रुहः) अ० १३ । १ । ४ । सृष्टिसामग्रीः (रुरोह) जनयामास (रोहितः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः ॥

१–(सः) प्रसिद्धः (एति) प्राप्नोति (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः

आकाश [वा व्यवहार] की (पृष्ठे) पीठ पर [वर्तमान होकर] (अवचाकशत्) देखता हुआ (स्वः) आनन्द को (एति) प्राप्त होता है ॥ १ ॥

भावार्थ - परमेश्वर अत्यन्त सूक्ष्म और अत्यन्त विशाल आकाश से भी सूक्ष्म और विशाल होकर और प्रत्येक व्यवहार में वर्तमान रहकर सर्वनियन्ता और आनन्दस्वरूप है ॥ १ ॥

रश्मिभिर्नभ आभृतं महेन्द्र एत्यावृतः ॥ २ ॥

रश्मि-भिः। नभः। आ-भृतम्। महा-इन्द्रः। एति। आ-वृतः॥२

भाषार्थ—(महेन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान् (आवृतः) सब ओर से ढका हुआ [अन्तर्यामी परमेश्वर] (रश्मिभिः) किरणों द्वारा (आभृतम्) सब प्रकार पुष्ट किये हुये (नभः) मेघमण्डल में (एति) व्यापक है ॥ २ ॥

भावार्थ—अन्तर्यामी परमात्मा के नियम से जल किरणों द्वारा खिंच कर मेघमण्डल में वृष्टि के लिये वर्तमान होता है ॥ २ ॥

मन्त्र ३, ४, ५, ६ और ७ के पीछे आवृत्ति का चिह्न गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई और वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तकों में दिया है, अर्थात् मन्त्र २ की आवृत्ति मानी है। परन्तु यह चिह्न प० सेवक लाल वाले पुस्तक में नहीं है और न कुछ लेख इसके विषय में ग्रिफ़िथ साहिब और ह्विटनी साहिब के अनुवाद में है ॥

स धाता स विधर्ता स वायुर्नभ उच्छ्रितम् । ० ॥ ३ ॥

सः । धाता । सः । वि-धर्ता । सः । वायुः । नभः । उत्-श्रितम् । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमेश्वर] (धाता) पोषण करने वाला और

(स्वः) सुखम् (दिवः) आकाशस्य । व्यवहारस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (अवचाकशत्) निघ० ३ । ११ । अवलोकयन् ॥

२—(रश्मिभिः) किरणैः (नभः) मेघमण्डलम् (आभृतम्) समन्तात् पोषितम् (महेन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (एति) व्याप्नोति (आवृतः) आच्छादितो ऽन्तर्यामिरूपेण परमात्मा ॥

३—(सः) परमेश्वरः (धाता) सर्वपोषकः (सः) (विधर्ता) विविध-

(सः) वह (विधर्ता) विविध प्रकार धारण करने वाला है, (सः) वह (वायुः) व्यापक [वा महाबली परमात्मा] और (उच्छ्रितम्) ऊंचा वर्तमान (नभः) प्रबन्धकर्ता [वा नायक ब्रह्म] है ॥ ३ ॥

भावार्थ—उस सर्वपोषक सर्वधारक परमात्मा की उपासना से मनुष्य आत्मा की उन्नति करें ॥ ३ ॥

सोऽर्य॒मा स वरु॑णः स रु॒द्रः स म॒हादे॒वः ॥ ० ॥ ४ ॥

सः । अ॒र्य॒मा । सः । वरु॑णः । सः । रु॒द्रः । सः । म॒हा॒-दे॒वः ॥०॥४॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमेश्वर] (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने वाला, (सः) वह (वरुणः) श्रेष्ठ, (सः) वह (रुद्रः) ज्ञानवान् और (सः) वह (महादेवः) महादानी है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३ के समान है ॥ ४ ॥

सो अ॒ग्निः स उ॒ सूर्यः॒ स उ॑ ए॒व म॒हाय॒मः ॥ ० ॥ ५ ॥

सः । अ॒ग्निः । सः । ऊं॒ इति॑ । सूर्यः॑ । सः । ऊं॒ इति॑ । ए॒व । म॒हा॒-य॒मः ॥ ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमेश्वर] (अग्निः) व्यापक (सः उ) वही

धारकः (सः) (वायुः) वा गतिगन्धनयोः—उण् युक् च । व्यापकः । बलिष्ठः (नभः) नहेर्दिवि भश्च । उ० ४ । २११ । णह बन्धने—असुन्, हस्य भः, यद्वा, नयतेः-असुन्, गुणे "नयः" इति स्थिते बाहुलकाद् यकारस्य भकारः । नभ आदित्यो भवति, नेता रसानां, नेता भासां, ज्योतिषां प्रणयः, अपि वा भन एव स्याद् विपरीतः, न न भातीति वा—निरु० २ । १४ । प्रबन्धकं नायकं वा ब्रह्म (उच्छ्रितम्) ऊर्ध्वं श्रितं स्थितम् ॥

४—(सः) (अर्यमा) अर्यः स्वामिवैश्ययोः । पा० ३ । १ । १०३ । ऋ गतिप्रापणयोः—यत् । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० ११५६ । अर्य+माङ् माने—कनिन् । अर्यान् श्रेष्ठान् मिमीते मानयतीति । श्रेष्ठानां मानकर्ता (सः) (वरुणः) (सः) (रुद्रः) रु गतौ—क्विप् तुक् च; रो मत्वर्थीयः । ज्ञानवान् (सः) (महादेवः) देवो दानाद् वा दीपनाद् वा—निरु० ७ । १५ । महादानी ॥

५—(सः) (अग्निः) व्यापकः (सः) (उ) अवधारणे (सूर्यः)

(सूर्यः) प्रेरक, (सः उ) वही (एव) निश्चय करके (महायमः) बड़ा न्यायकारी है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ५ ॥

तं वृत्सा उप तिष्ठन्त्येकशीर्षाणो युता दश । ० ॥ ६ ॥

तम् । वृत्साः । उप । तिष्ठन्ति । एक-शीर्षाणः । युताः । दश । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस [परमात्मा] को (एकशीर्षाणः) एक [परमात्मा] को शिर [प्रधान] मानने वाले (दश) दस [चार दिशाओं, चार मध्य दिशाओं और ऊपर नीचे की दिशाओं से सम्बन्ध वाले] (युताः) मिले हुये (वत्साः) निवास स्थान [सब लोक] (उप तिष्ठन्ति) सेवते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य आदि सब लोकों को धारण आकर्षण द्वारा अपनी आज्ञा में रखता है, उसकी भक्ति सब मनुष्य करें ॥ ६ ॥

पुश्चात् प्राञ्च् आ तन्वन्ति यदुदेति वि भासति । ० ॥ ७ ॥

पुश्चात् । प्राञ्चः । आ । तुन्वन्ति । यत् । उत्-एति । वि । भासति । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—वे [सब लोक] [परमात्मा के] (पश्चात्) पीछे (प्राञ्चः) आगे बढ़ते हुये (आ) सब ओर से (तन्वन्ति) फैलते हैं, (यत्) जब वह (उदेति) उदय होता है और (वि भासति) विविध प्रकार चमकता है ॥ ७ ॥

प्रेरकः (सः) (उ) (एव) निश्चयेन (महायमः) महान्यायाधीशः ॥

६—(तम्) परमात्मानम् (वत्साः) वस निवासे—सप्रत्ययः । निवासस्थानाः सर्वलोकाः (उपतिष्ठन्ति) सेवन्ते (एकशीर्षाणः) एकः परमेश्वरः शिरः प्रधानो येषां ते (युताः) संयुक्ताः (दश) ऊर्ध्वाधोभ्यां सह पूर्वादिचतसृभिः, ईशानादिचतसृभिर्दिग्भिः सम्बद्धाः ॥

७—(पश्चात्) परमात्मनमनुसृत्य (प्राञ्चः) आभिमुख्येन गच्छन्तः (आ) समन्तात् (तन्वन्ति) विस्तीर्यन्ते (यत्) यदा (उदेति) उद्गच्छति (वि) विविधम् (भासति) दृश्यते ॥

भावार्थ—विवेकी योगी जन अनुभव करते हैं कि यह सब लोक परमात्मा के ही धारण आकर्षण नियमों में चलते हैं ॥ ७ ॥

तस्यै॒ष मारु॑तो ग॒णः स ए॑ति शि॒क्याकृ॑तः ॥ ८ ॥

तस्य॑ । ए॒षः । मारु॑तः । ग॒णः । सः । ए॒ति॒ । शि॒क्या-कृ॑तः ॥८॥

भाषार्थ—(तस्य) उस का [परमेश्वर का बनाया हुआ (एषः) यह (मारुतः) मनुष्यों का (गणः) समूह है, [क्यों कि] (सः) वह [परमेश्वर] (शिक्याकृतः) छींके में किये हुये सा (एति) व्यापक है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर मनुष्यों को उन के कर्मानुसार बनाता है, वह सब में ऐसा व्यापक है जैसे कोई पदार्थ छींके के भीतर रक्खा हो ॥

र॒श्मिभि॒र्नभ॒ आभृ॑तं म॒हे॒न्द्र ए॒त्यावृ॑तः ॥ ९ ॥

र॒श्मि-भिः॑ । नभः॑ । आ-भृ॑तम् । म॒हा-इ॒न्द्रः । ए॒ति॒ । आ-वृ॑तः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(महेन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान् (आवृतः) सब ओर से ढका हुआ [अन्तर्यामी परमेश्वर] (रश्मिभिः) किरणों द्वारा (आभृतम्) सब प्रकार पुष्ट किये हुये (नभः) मेघ मण्डल में (एति) व्यापक है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र २ के समान है ॥ ९ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—मन्त्र २ ॥

तस्ये॒मे नव॒ कोशा॑ विष्ट॒म्भा नव॒धा हि॑ताः ॥ १० ॥

तस्य॑ । इ॒मे । नव॑ । कोशाः॑ । वि॒ष्ट॒म्भाः । न॒व॒-धा । हि॒ताः १०

८—(तस्य) परमेश्वरस्य रचितः (एषः) दृश्यमानः (मारुतः) मारुतं मरुतां मनुष्याणामिदम्—दयानन्दभाष्ये, ऋग्० २ । ११ । १४ । मनुष्यसम्बन्धः (गणः) समूहः (सः) (एति) व्याप्नोति (शिक्याकृतः) स्रंसेः शिः कुट् किच्च । उ० ५ । १६ । स्रंसु अधः पतने गतौ—यत्, कित् कुट् च, धातोः शि—इत्यादेशः, टाप् । शिक्यायां काचे कृतो धृतो यथा ॥

९—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—म० २ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस [परमेश्वर] के (हिताः) धरे हुये [शरीर के] (इमे) यह (नव) नौ [दो कान, दो आंख, दो नथने, एक मुख, एक गुदा और एक उपस्थ] (कोशाः) आधार, (विष्टम्भाः) विशेष स्तम्भ [आलम्ब, सहारे] [अपनी, शक्तियों सहित] (नवधा) नव प्रकार से हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने नव द्वार वाले शरीर में श्रोत्रादि अद्भुत गोलक बनाकर उन में श्रवण आदि नव अद्भुत शक्तियां रक्खी हैं ॥ १० ॥

स प्रजाभ्यो वि पश्यति यच्च प्राणति यच्च न ॥ ११ ॥

सः । प्र-जाभ्यः । वि । पश्यति । यत् । च । प्राणति । यत् । च । न ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमेश्वर] (प्रजाभ्यः) उत्पन्न जीवों के हित के लिये [उस सब को] (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखता है, (यत्) जो (प्राणति) श्वास लेता है (च च) और (यत्) जो (न) नहीं [श्वास लेता है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा जङ्गम और स्थावर जगत् की यथावत् सुधि लेकर सब का पालन करता है, उसकी उपासना सब मनुष्य करें ॥ ११ ॥

इसका मिलान आगे मन्त्र १६ से करो ॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥ १२ ॥

तम् । इदम् । नि-गतम् । सहः । सः । एषः । एकः । एक-वृत् । एकः । एव ॥ १२ ॥

१०—(तस्य) परमेश्वरस्य (इमे) दृश्यमानाः (नव) देहे द्वे श्रोत्रे, चक्षुषी, नासिके च मुखं च द्वे पायूपस्थे च (कोशाः) आधाराः (विष्टम्भाः) विशेषस्तम्भाः । आलम्बाः (नवधा) श्रवणादिशक्तिभिः सह नव प्रकारेण (हिताः) धृताः ॥

११—(सः) परमेश्वरः (प्रजाभ्यः) उत्पन्नजीवानां हिताय (वि) विविधम् (पश्यति) विलोकयति (यत्) सृष्टिजातम् (च) (प्राणति) प्रश्वसिति (यत्) (च) (न) निषेधे ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (सहः) सामर्थ्य (तम्) उस [परमात्मा] को (निगतम्) निश्चय करके प्राप्त है, (सः एषः) वह आप (एकः) एक, (एकवृत्) अकेला वर्तमान, (एकः एव) एक ही है ॥ १२ ॥

भावार्थ—उस अद्वितीय परमात्मा में पूर्वोक्त अद्भुत सामर्थ्य है, कोई दूसरा न तो उसके तुल्य है और न उस से अधिक है, वही सब जगत् का स्वामी है ॥ १२ ॥

एते अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥ १३ ॥ (१५)

एते । अस्मिन् । देवाः । एक-वृतः । भवन्ति ॥ १३ ॥ (१५)

भाषार्थ—(अस्मिन्) इस [परमात्मा] में (एते) यह सब (देवाः) चलने वाले [पृथिवी आदि लोक] (एकवृतः) एक [परमात्मा] में वर्तमान (भवन्ति) रहते हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—यह सब जगत् प्रलय में कारण रूप से और सृष्टि में कार्य रूप से उसी परमात्मा के सामर्थ्य के बीच विद्यमान रहता है ॥ १३ ॥

पर्यायः २ ॥

१४—२१ ॥ १४ भुरिक् साम्नी त्रिष्टुप्; १५ आसुरी पङ्क्तिः; १६, १६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; १७, १८ आसुरी गायत्री; २० साम्नी पङ्क्तिः; २१ आसुर्यनुष्टुप् ॥

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च ॥ १४ ॥

कीर्तिः । च । यशः । च । अम्भः । च । नभः । च । ब्राह्मण-वर्चसम् । च । अन्नम् । च । अन्न-अद्यम् । च ॥ १४ ॥

१२—(तम्) परमात्मानम् (इदम्) पूर्वोक्तम् (निगतम्) निश्चयेन प्राप्तम् (सहः) बलम् (सः) (एषः) (एकः) अद्वितीयः (एकवृत्) एको वर्तमानः (एकः) (एव) ॥

१३—(एते) दृश्यमानाः (अस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) गतिशीलाः पृथिव्यादिलोकाः (एकवृतः) एकस्मिन् परमात्मनि वर्तमानाः (भवन्ति) ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ १५ ॥

यः । एतम् । देवम् । एक-वृतम् । वेद ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(कीर्तिः) कीर्ति [ईश्वर गुणों के कीर्तन और विद्या आदि गुणों से बड़ाई] (च) और (यशः) यश [शूरता आदि से नाम] (च) और (अम्भः) पराक्रम (च) और (नभः) प्रबन्ध सामर्थ्य (च) और (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्मज्ञान का तेज (च) और (अन्नम्) अन्न (च च) और (अन्नाद्यम्) अन्न के समान खाने योग्य द्रव्य [उस पुरुषके लिये होते हैं]॥१४॥

(यः) जो (एतम्) इस (देवम्) प्रकाशमय (एकवृतम्) अकेले वर्तमान [परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो पुरुष सर्वशक्तिमान् अद्वितीय परमात्मा के प्रकाशमय स्वरूप को साक्षात् करता है, वह संसार में उन्नति करके सब प्रकार का आनन्द पाता है ॥ १४, १५ ॥

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते । ० ॥ १६ ॥

न । द्वितीयः । न । तृतीयः । चतुर्थः । न । अपि । उच्यते । ० १६

न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते । ० ॥ १७ ॥

न । पञ्चमः । न । षष्ठः । सप्तमः । न । ० ॥ १७ ॥

नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते । ० ॥ १८ ॥

न । अष्टमः । न । नवमः । दशमः । न । अपि । उच्यते । ० १८

१४,—(कीर्त्तिः) हृपिषिरुहि० । उ० ४ । ११९ । कॄत संशब्दने—इन् । ईश्वरगुणकीर्तनविद्यादानादिप्रभवं नाम (च) (यशः) शौरादिप्रभवं नाम (च) (अम्भः) उदके नुम्भौ च । उ० ४ । २१० । आप्लृ व्याप्तौ—असुन् ह्रस्वत्वं च नुमागमो भश्चान्तादेशः, यद्वा, अभि शब्दे—असुन् । पराक्रमः (च) (नभः) म० ३ । प्रबन्धसामर्थ्यम् (च) (ब्रह्मवर्चसम्) अ० १० । ५ । ३७ । ब्राह्मणस्य ब्रह्मज्ञानस्य तेजः (च) (अन्नम) अन जीवने—नप्रत्ययः । जीवनसाधनं भोजनम् (च) (अन्नाद्यम्) अन्नसमानभक्ष्यद्रव्यम् (च) ॥

१५—(यः) पुरुषः (एतम्) प्रसिद्धम् (देवम्) प्रकाशमयम् (एकवृतम्) अद्वितीयवर्तमानम् (वेद) वेत्ति ॥

भाषार्थ– वह [अकेला वर्तमान–म० १५] (न) न (द्वितीयः) दूसरा, (न) न (तृतीयः) तीसरा, (न) न (चतुर्थः) चौथा (अपि) ही (उच्यते) कहा जाता है ॥ १६ ॥

वह (न) न (पञ्चमः) पांचवां, (न) न (षष्ठः) छठा, (न) न (सप्तमः) सातवां (अपि) ही (उच्यते) है ॥ १७ ॥

वह (न) न (अष्टमः) आठवां, (न) न (नवमः) नवां, (न) न (दशमः) दसवां (अपि) ही (उच्यते) कहा जाता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर एक है, उस से भिन्न कोई भी दूसरा, तीसरा आदि ईश्वर नहीं है, सब लोग इसी की उपासना करें। इन मन्त्रों में दो से लेकर दस तक दूसरे ईश्वर होने का निषेध इस लिये किया है कि सब संख्या का मूल एक [१] अङ्क है, इसी एक को दो, तीन, चार, पांच, छह, सात, आठ और नौ बार गणने से २, ३, ४, ५, ६, ७, ८ और ९ अङ्क बनते हैं, और एक पर शून्य देने से १० दस का अङ्क बनता है। इस से वेद ने एक ईश्वर का निश्चय कराके दूसरे ईश्वर होने का सर्वथा निषेध किया है, अर्थात् उस के एकपने में भी भेद नहीं और वह शून्य भी नहीं, किन्तु वह सच्चिदानन्द गुण युक्त एकरस परमात्मा है ॥ १६–१८ ॥

१—यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ब्रह्म विद्या विषय पृ० ९०, ९१ में व्याख्यात हैं, और उन्हीं के म से यहां अर्थ किया गया है॥

२—मन्त्र १६ से लेकर २२ तक मन्त्रों के पीछे आवृत्ति का चिह्न गवर्नमेन्ट बुक डिपो बम्बई और वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तकों में दिया है, अर्थात् मन्त्र १५ की आवृत्ति मानी है। परन्तु यह चिह्न प० सेवक लाल वाले पुस्तक में नहीं है और न कुछ इस के विषय में ग्रिफ़िथ साहिब और ह्विटनी साहिब के अनुवाद में है और न महर्षि दयानन्द कृत उक्त पुस्तक में आवृत्ति का चिह्न है॥

स स॒र्व॑स्मै॒ वि प॑श्यति॒ यच्च॑ प्रा॒णति॒ यच्च॒ न । ० ॥ १९ ॥

सः । स॒र्व॑स्मै । वि । प॒श्य॒ति॒ । यत् । च॒ । प्रा॒णति॑ । यत् । च॒ । न । ० ॥ १९ ॥

१६–१८—(न) निषेधे (अपि) एव (उच्यते) कथ्यते । अन्यत् सुगमम् ॥

भाषार्थ–(सः) वह [परमेश्वर] (सर्वस्मै) सब [जगत्] के हित के लिये [उस सब को] (वि) विविध प्रकार (पश्यति) देखता है, (यत्) जो (प्राणति) श्वास लेता है, (च च) और (यत्) जो (न) नहीं [श्वास लेता है] ॥ १९ ॥

भावार्थ—ऊपर मन्त्र ११ देखो, उसी के समान भावार्थ है ॥ १९ ॥

तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव । ० ॥ २० ॥

तम् । इदम् । नि-गतम् । सहः । सः । एषः । एकः । एक-वृत् । एकः । एव । ० ॥ २० ॥

सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति । ० ॥ २१ ॥ (१९)

सर्वे । अस्मिन् । देवाः । एक-वृतः । भवन्ति । ०॥२१॥ (१९)

भाषार्थ—(इदम्) यह (सहः) सामर्थ्य (तम्) उस [परमात्मा] को (निगतम्) निश्चय करके प्राप्त है, (सः एषः) वह आप (एकः) एक, (एकवृत्) अकेला वर्तमान, (एकः एव) एक ही है ॥ २० ॥

(अस्मिन्) इस [परमात्मा] में (सर्वे) सब (देवाः) चलने वाले [पृथिवी आदि लोक] (एकवृतः) एक [परमात्मा] में वर्त्तमान (भवन्ति) रहते हैं ॥ २१ ॥

भावार्थ–ऊपर मन्त्र १२ और १३ देखो और वही भावार्थ समझो ॥ २०, २१ ॥

यह दोनों मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका ब्रह्मविद्या विषय पृ० ९०, ९१ में व्याख्यात हैं ॥

पर्यायः ३ ॥

२२–२८ ॥ २२ भुरिक् प्राजापत्या त्रिष्टुप ; २३ आर्ची गायत्री ; २४ आसुरी पङ्क्तिः ; २५ आसुरी गायत्री ; २६ आर्च्यनुष्टुप् ; २७, २८ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ॥

१९—(सर्वस्मै) समस्ताय जगते । अन्यत् पूर्ववत्–म० ११ ॥

२०—व्याख्यातः–म० १२ ॥

२१—(सर्वे) समस्ताः । अन्यत् पूर्ववत्–म० १३ ॥

ब्रह्म च तपश्च कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्च नभश्च ब्राह्मणवर्चसं चान्नं चान्नाद्यं च । ० ॥ २२ ॥

ब्रह्म । च । तपः । च । कीर्तिः । च । यशः । च । अम्भः । च । नभः । च । ब्राह्मण-वर्चसम् । च । अन्नम् । च । अन्न-अद्यम् । च । ० ॥ २२ ॥

भूतं च भव्यं च श्रद्धा च रुचिश्च स्वर्गश्च स्वधा च ॥ २३ ॥

भूतम् । च । भव्यम् । च । श्रद्धा । च । रुचिः । च । स्वः-गः । च । स्वधा । च ॥ २३ ॥

य एतं देवमेकवृतं वेद ॥ २४ ॥

यः । एतम् । देवम् । एक-वृतम् । वेद ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्म) वेद (च) और (तपः) ऐश्वर्य (च) और (कीर्तिः) [ईश्वर गुणों के कीर्तन और विद्या आदि गुणों से बड़ाई] (च) और (यशः) यश [शूरता आदि से नाम] (च) और (अम्भः) पराक्रम (च) और (नभः) प्रबन्ध सामर्थ्य (च) और (ब्राह्मणवर्चसम्) ब्रह्मज्ञान का तेज (च) और (अन्नम्) अन्न (च च) और (अन्नाद्यम्) अन्न के समान खाने योग्य द्रव्य ॥२२॥ (भूतम्) अतीत वस्तु (च) और (भव्यम्) होनहार वस्तु (च) और (श्रद्धा) श्रद्धा [विश्वास] (च) और (रुचिः) रुचि [प्रीति] (च) और (स्वर्गः) स्वर्ग [आनन्द] (च च) और (स्वधा) आत्मधारण शक्ति [उस पुरुष के लिये होते हैं]॥२३॥ (यः) जो (एतम) इस (देवम्) प्रकाशमय (एकवृतम्) अकेले वर्तमान [परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ २४ ॥

२२—(ब्रह्म) वेदः (च) (तपः) ऐश्वर्यम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४। २३—(भूतम्) अतीतं वस्तु (च) (भव्यम्) भविष्यद् वस्तु (च) (श्रद्धा) विश्वासः (रुचिः) प्रीतिः (च) (स्वर्गः) सुखप्रापकः । आनन्दः (च) (स्वधा) आत्मधारणशक्तिः (च) ॥ २४—अयं व्याख्यातः—म० १५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के गुणों को साक्षात् करते हैं, वे ही संसार में अनेक प्रकार आत्मोन्नति करके अनेक आनन्द पाते हैं ॥ २२-२४ ॥

मन्त्र २२ के लिये ऊपर मन्त्र १४ और २४ के लिये मन्त्र १५ देखो ॥

स एव मृत्युः सोऽमृतं सोऽभ्वं स रक्षः ॥ २५ ॥

सः । एव । मृत्युः । सः । अमृतम् । सः । अभ्वम् । सः । रक्षः २५

भाषार्थ—(सः एव) वही [परमेश्वर] (मृत्युः) मरण करने वाला (सः) वही (अमृतम्) अमरपन का कारण ,(सः) वही (अभ्वम्) महान् (सः) वही (रक्षः) रक्षा करने वाला [परब्रह्म] है ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा की उपासना करके मनुष्य क्लेशों से बचकर सुख पाते हुये महान् रक्षक बनें ॥ २५ ॥

स रुद्रो वसुवनिर्वसुदेये नमोवाके वषट्कारोऽनु संहितः ॥२६॥

सः । रुद्रः । वसु-वनिः । वसु-देये । नमः-वाके । वषट्-कारः । अनु । सम्-हितः ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (रुद्रः) ज्ञान दाता, (वसुवनिः) श्रेष्ठों का उपकारी [परमेश्वर] (वसुदेये) श्रेष्ठों करके देने योग्य (नमोवाके) नमस्कार वचन में (वषट्कारः) दान करने वाला (अनु) निरन्तर (संहितः) स्थापित है ॥ २६ ॥

२५—(सः) परमेश्वरः (एव) (मृत्युः) मारकः । मरणस्य हेतुः (सः) (अमृतम्) अमरणस्य कारणम् (अभ्वम्) अ० ४ । १७ । ५ । अप्रुषि० । उ० १ । १५१ । अभि शब्दे—क्वन्, छान्दसो नलोपः । अभ्वो महन्नाम-निघ० ३ । ३ । महत् (सः) (रक्षः) सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । रक्ष पालने—असुन् । रक्षकं ब्रह्म ॥

२६—(सः) परमेश्वरः (रुद्रः) रु गतौ-क्विप् तुक् च+रा दाने –क । ज्ञानदाता (वसुवनिः) वसु+वन उपकारे—इन् । वसूनां श्रेष्ठानामुपकारकः (वसुदेये) वसुभिः श्रेष्ठैर्दातव्ये (नमोवाके) नमस्कारवचने (वषट्कारः) वह प्रापणे—डवटि । दानस्य कर्ता (अनु) निरन्तरम् (संहितः) स्थापितः ॥

भावार्थ—वह परमात्मा वेद द्वारा ज्ञान देकर श्रेष्ठों का मान करता है और उपासकों को सदा सुख देता है ॥ २ ॥

तस्ये॒मे सर्वे॑ या॒तव॒ उप॑ प्र॒शिष॑मासते ॥ २७ ॥

तस्य॑ । इ॒मे । सर्वे॑ । या॒तवः॑ । उप॑ । प्र॒ऽशिष॑म् । आ॒स॒ते॒ ॥२७॥

भाषार्थ—(इमे सर्वे) यह सब (यातवः) चलने वाले [पृथिवी आदि लोक और प्राणी] (तस्य) उस [परमेश्वर] के (प्रशिषम्) उत्तम शासन को (उप आसते) मानते हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—परमात्मा के ही नियम में सब लोक और सब प्राणी चलते हैं ॥ २७ ॥

तस्या॒मू सर्वा॒ नक्ष॑त्रा॒ वशे॑ च॒न्द्रम॑सा स॒ह ॥ २८ ॥

तस्य॑ । अ॒मू । सर्वा॑ । नक्ष॑त्रा । वशे॑ । च॒न्द्रम॑सा । स॒ह २८(१७

भाषार्थ—(तस्य) उस [परमात्मा] के (वशे) वश में (अमू) वे (सर्वा) सब (नक्षत्रा) नक्षत्र [चलनेवाले तारा गण] (चन्द्रमसा सह) चन्द्रमा के साथ [वर्तमान हैं] ॥ २८ ॥

भावार्थ—उस परमात्मा के आकर्षण धारण नियम में यह सब तारा गण आदि ठहरे रहकर घूमते हैं ॥ २८ ॥

पर्यायः ४॥

२६—४५ ॥ २६, ३३, ३६, ४०, ४५ आसुरी गायत्री; ३०, ३२, ३५, ३६, ४२ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ३१ साम्नी पङ्क्तिः; ३४, ३७, ३८ साम्न्युष्णिक्; ४१ साम्नी बृहती; ४३ आर्षी गायत्री; ४४ साम्न्यनुष्टुप् ॥

२७—(तस्य) परमेश्वरस्य (इमे) विद्यमानाः (सर्वे) (यातवः) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च । उ० १ । ७३ । या गतिप्रापणयोः—तु । गतिशीलाः पृथिव्यादिलोकाः प्राणिनश्च (प्रशिषम्) शासु अनुशिष्टौ—क्विप् । उत्तमं शासनम् (उपासते) सेवन्ते ॥

२८—(तस्य) परमेश्वरस्य (अमू) अमूनि (सर्वा) सर्वाणि (नक्षत्रा) गतिशीला तारागणाः (वशे) शासने (चन्द्रमसा) चन्द्रेण (सह) साकम् ॥

स वा अह्नोऽजायत तस्मादहरजायत ॥ २९ ॥

सः । वै । अह्नः । अजायत । तस्मात् । अहः । अजायत ॥२९

भाषार्थ—(सः) वह [कारण रूप परमात्मा] (वै) अवश्य (अह्नः) [कार्यरूप] दिन से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारण रूप] से (अहः) [कार्यरूप] दिन (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ २९ ॥

भावार्थ—कार्यरूप जगत को देखकर विद्वान् लोग निश्चय करते हैं कि सब दिन आदि सृष्टि का बनाने वाला सर्वशक्तिमान् अन्तर्यामी परमेश्वर है २९

स वै रात्र्या अजायत तस्माद्रात्रिरजायत ॥ ३० ॥

सः । वै । रात्र्याः । अजायत । तस्मात् । रात्रिः । अजायत ॥३०

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (रात्र्याः) [कार्यरूप] रात्रि से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारण रूप] से (रात्रिः) रात्रि (अजायत) उत्पन्न हुयी है ॥ ३० ॥

भावार्थ—मन्त्र २९ के समान है ॥ ३० ॥

स वा अन्तरिक्षादजायत तस्मादन्तरिक्षमजायत ॥ ३१ ॥

सः । अन्तरिक्षात् । अजायत । तस्मात् । अन्तरिक्षम् । अजायत ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (अन्तरिक्षात्) [कार्य रूप] अन्तरिक्ष से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारण रूप] से (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मन्त्र २९ के समान ॥ ३१ ॥

२९—(सः) कारणरूपः परमेश्वरः (वै) अवश्यम् (अह्नः) कार्यरूपाद् दिनात् (अजायत) प्रादुरभवत् (तस्मात्) कारणरूपात् (अहः) दिनम् (अजायत) उदपद्यत ॥

३०—(रात्र्याः) कार्यरूपाया निशायाः (रात्रिः) निशा । अन्यद् यथा म० ॥ २९ ॥

३१—(अन्तरिक्षात्) कार्यरूपान्मध्यलोकात् (अन्तरिक्षम्) । अन्यद् गतम् ॥

स वै वायोरजायत तस्माद् वायुरजायत ॥ ३२ ॥

सः । वै । वायोः । अजायत । तस्मात् । वायुः । अजायत ॥३२॥

भाषार्थ—(सः) वह [कारण रूप ईश्वर] (वै) अवश्य (वायोः) [कार्यरूप] पवन से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारणरूप] से (वायुः) पवन (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मन्त्र २८ के समान है ॥ ३२ ॥

स वै दिवोऽजायत तस्माद् द्यौरध्यजायत ॥ ३३ ॥

सः । वै । दिवः । अजायत । तस्मात् । द्यौः । अजायत ॥३३॥

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (दिवः) [कार्यरूप] सूर्य से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारणरूप] से (द्यौः) सूर्य (अधि) यथाविधि (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मन्त्र २८ के समान ॥ ३३ ॥

स वै दिग्भ्योऽजायत तस्माद् दिशोऽजायन्त ॥ ३४ ॥

सः । वै । दिक्-भ्यः । अजायत । तस्मात् । दिशः । अजायन्त ॥३४॥

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (दिग्भ्यः) [कार्यरूप] दिशाओं से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारण रूप] से (दिशः) दिशायें (अजायन्त) उत्पन्न हुयी हैं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मन्त्र २८ के समान ॥ ३४ ॥

स वै भूमेरजायत तस्माद् भूमिरजायत ॥ ३५ ॥

सः । भूमेः । अजायत । तस्मात् । भूमिः । अजायत ॥ ३५ ॥

३२—(वायोः) कार्यरूपात् पवनात् (वायुः) पवनः । अन्यद् गतम् ॥

३३—(दिवः) कार्यरूपात् सूर्यात् (द्यौः) सूर्यः (अधि) यथाविधि । अन्यद् गतम् ॥

३४—(दिग्भ्यः) कार्यरूपाभ्यो दिशाभ्यः (दिशः) दिशाः (अजायन्त) उदपद्यन्त । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (भूमेः) [कार्यरूप] भूमि से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारणरूप] से (भूमिः) भूमि (अजायत) उत्पन्न हुई है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मन्त्र २४ के समान ॥ ३५ ॥

स वा अ॒ग्नेर॑जायत॒ तस्मा॑द॒ग्निर॑जायत ॥ ३६ ॥

सः । वै । अ॒ग्नेः । अ॒जा॒य॒त॒ । तस्मा॑त् । अ॒ग्निः । अ॒जा॒य॒त॒ ३६

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (अग्नेः) [कार्यरूप] अग्नि से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारणरूप] से (अग्निः) अग्नि [सूर्य, बिजुली आदि तेज] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥ ३६ ॥

भावार्थ—मन्त्र २४ के समान ॥ ३६ ॥

स वा अ॒द्भ्यो॑ऽजायत॒ तस्मा॒दापो॑ऽजायन्त ॥ ३७ ॥

सः । वै । अ॒त्-भ्यः । अ॒जा॒य॒त॒ । तस्मा॑त् । आपः॑ । अ॒जा॒य॒न्त॒ ३७

भाषार्थ—(सः) वह [कारणरूप ईश्वर] (वै) अवश्य (अद्भ्यः) [कार्यरूप] जल से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [कारणरूप] से (आपः) जल [वृष्टि नदी कूप आदि के] (अजायन्त) उत्पन्न हुये हैं ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मन्त्र २४ के समान ॥ ३७ ॥

स वा ऋ॒ग्भ्यो॑ऽजायत॒ तस्मा॒दृचो॑ऽजायन्त ॥ ३८ ॥

सः । वै । ऋ॒क्-भ्यः । अ॒जा॒य॒त॒ । तस्मा॑त् । ऋचः॑ । अ॒जा॒य॒न्त॒ ३८

३५—(भूमेः) कार्यरूपायाः पृथिव्याः (भूमिः) पृथिवी । अन्यद् गतम् ॥

३६—(अग्नेः) कार्यरूपात् तेजसः (अग्निः) सूर्यविद्युदादि तेजः । अन्यद् गतम् ॥ ३६ ॥

३७—(अद्भ्यः) जलेभ्यः (आपः) वृष्टिनदीकूपादीनां जलानि । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमात्मा] (वै) अवश्य (ऋग्भ्यः) ऋचाओं [स्तुति योग्य वेद वाणियों] से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [परमात्मा] से (ऋचः) ऋचायें (अजायन्त) उत्पन्न हुई हैं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—परमात्मा के सत्यगुण वेदों से जाने जाते हैं, जिनको उसने मनुष्यों के हित के लिये उत्पन्न किया है ॥ ३८ ॥

स वै यज्ञादजायत तस्माद् यज्ञोऽजायत ॥ ३९ ॥

सः । वै । यज्ञात् । अजायत । तस्मात् । यज्ञः । अजायत ३९

भाषार्थ—(सः) [परमात्मा] (वै) अवश्य (यज्ञात्) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] से (अजायत) प्रकट हुआ है, (तस्मात्) उस [परमात्मा] से (यज्ञः) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] (अजायत) उत्पन्न हुआ है ॥३९॥

भावार्थ—परमात्मा ने परमाणुओं के संयोग वियोग से सृष्टि रचकर अपनी महिमा दिखायी है ॥ ३९ ॥

स यज्ञस्तस्य यज्ञः स यज्ञस्य शिरस्कृतम् ॥ ४० ॥

सः । यज्ञः । तस्य । यज्ञः । सः । यज्ञस्य । शिरः । कृतम् ॥४०

भाषार्थ—(सः) वह [परमात्मा] (यज्ञः) संयोग वियोग करने वाला है, (तस्य) उस [परमात्मा] का (यज्ञः) संयोग वियोग व्यवहार है, (सः) वह [परमात्मा) (यज्ञस्य) संयोग वियोग व्यवहार का (शिरः) शिर [प्रधान] (कृतम्) किया गया है ॥ ४० ॥

भावार्थ—परमात्मा संसार में परमाणुओं का संयोग वियोग करने से सृष्टि और प्रलय का आदि कारण है, ऐसा विद्वान् मानते हैं ॥ ४० ॥

३८—(ऋग्भ्यः) स्तुत्याभ्यो वेदवाणीभ्यः (ऋचः) स्तुत्या वेदवाण्यः । अन्यद् गतम् ॥

३९—(यज्ञात्) यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—नङ् । परमाणूनां संयोगवियोगव्यवहारात् (यज्ञः) संयोगवियोगव्यवहारः । अन्यद् गतम् ॥

४०—(सः) परमेश्वरः (यज्ञः) म० ३९ । संयोगवियोगकर्ता (तस्य) परमेश्वरस्य (यज्ञः) संयोगवियोगव्यवहारः (सः) परमेश्वरः (यज्ञस्य) संयोगवियोगव्यवहारस्य (शिरः) प्रधानः (कृतम्) ॥

स स्तनयति स वि द्योतते स उ अश्मानमस्यति ॥ ४१ ॥

सः । स्तनयति । सः । वि । द्योतते । सः । ऊं इति । अश्मानम् । अस्यति ॥ ४१ ॥

पापाय वा भद्राय वा पुरुषायासुराय वा ॥ ४२ ॥

पापाय । वा । भद्राय । वा । पुरुषाय । असुराय । वा ॥४२॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमात्मा] (भद्राय) श्रेष्ठ (पुरुषाय) पुरुष के लिये (वा) अवश्य (वि) विविध प्रकार (द्योतते) प्रकाशमान होता है, (सः) वह (पापाय) पापी के लिये (वा) अवश्य (स्तनयति) मेघ समान [भयानक] गरजता है, (सः उ) वही (असुराय) असुर [विद्वानों के विरोधी] के लिये (वा) अवश्य (अश्मानम्) पत्थर (अस्यति) गिराता है ॥ ४१, ४२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से श्रेष्ठ धर्मात्माओं को आनन्द और दुष्ट छली कपटी लोगों को कष्ट देता है ॥ ४१, ४२ ॥

यद्वा कृणोष्योषधीर्यद्वा वर्षसि भद्रया यद्वा जन्यमवीवृधः ॥४३

यत् । वा । कृणोषि । ओषधीः । यत् । वा । वर्षसि । भद्रया । यत् । वा । जन्यम् । अवीवृधः ॥ ४३ ॥

तावांस्ते मघवन् महिमोपो ते तन्वः शतम् ॥ ४४ ॥

तावान् । ते । मघ-वन् । महिमा । उपो इति । ते । तन्वः । शतम् ॥ ४४ ॥

उपो ते बध्वे बद्धानि यदि वासि न्यर्बुदम् ॥ ४५ ॥ (१८)

उपो इति । ते । बध्वे । बद्धानि । यदि । वा । असि । नि-अर्बुदम् ॥ ४५ ॥ (१८)

४१, ४२—(सः) परमेश्वरः (स्तनयति) मेघ इव गर्जयति (सः) (वि) विविधम् (द्योतते) प्रकाशते (सः) (उ) एव (अश्मानम्) दण्डरूपं प्रस्तरम् (अस्यति) क्षिपति (पापाय) दुष्टाय (वा) अवधारणे (भद्राय) श्रेष्ठाय (वा) (पुरुषाय) मनुष्याय (असुराय) असुराणां विदुषां विरोधिने (वा)॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि [हे परमेश्वर !] तू (वा) अवश्य (ओषधीः) ओषधियों [सोमलता अन्नादिकों] को (कृणोषि) बनाता है, (यत्) क्योंकि तू (वा) अवश्य (भद्रया) उत्तमता से (वर्षसि) मेह बरसाता है, और (यत्) क्योंकि तू ने (वा) अवश्य (जन्यम्) उत्पन्न होते हुये [जगत्] को (अवीवृधः) बढ़ाया है ॥ ४३ ॥ [उसी से,] (मघवन्) हे महाधनी ! [परमेश्वर] (तावान्) उतनी [बड़ी] (ते) तेरी (महिमा) महिमा है, (उपो) और भी (ते) तेरी (तन्वः) उपकार शक्तियां (शतम्) सौ [असंख्य] हैं ॥ ४४ ॥ (उपो) और भी (ते) तेरे (बध्वे) नियम में [सब सत्ता वाले] (बद्धानि) बंधे हुये हैं, (यदि) क्योंकि तू (वा) अवश्य (न्यर्बुदम्) निरन्तर व्यापक [ब्रह्म] (असि) है ॥४५॥

भावार्थ परमेश्वर वृष्टि द्वारा सोमलता अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न करके सब प्राणियों का पालन कर्ता हुआ अगणित उपकार करता है, और वह सर्वव्यापक होकर सब संसार को नियम में रखता है ॥ ४३-४५ ॥

पर्यायः ५ ॥

४६—५१ ॥ ४६ आसुरी गायत्री; ४७ भुरिगार्षीगायत्री; ४८ साम्न्युष्णिक्; ४९ निचृत् साम्नी बृहती ; ५० प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ५१ साम्नी पङ्क्तिः ॥

भूयानिन्द्रो॑ नमुराद् भूयानिन्द्रासि मृत्युभ्यः॑ ॥ ४६ ॥

भूयान् । इन्द्रः॑ । नमुरात् । भूयान् । इन्द्र । असि । मृत्यु-भ्यः॑ ॥४६

४३—(यत्) यतः (वा) अवश्यम् (कृणोषि) जनयसि (ओषधीः) सोमलतान्नादिपदार्थान् (यत्) (वा) (वर्षसि) वृष्टिं करोषि (भद्रया) उत्तमतया (यत्) (वा) (जन्यम्) जनेर्यक् । उ० ४ । ११९ । जन जनने—यक् । उत्पद्यमानं जगत् (अवीवृधः) वर्धितवानसि ॥ ४४—(तावान्) तत्परिमाणः (ते) तव (मघवन्) धनवन् (महिमा) महत्त्वम् (उपो) अपि च (ते) तव (तन्वः) तनु विस्तारे उपकारे च—ऊ । उपकृतयः (शतम्) असंख्यातम् ॥

४५—(उपो) अपि च (ते) तव (बध्वे) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । बध संयमने-वन् । नियमे (बद्धानि) संयतानि सर्वाणि भूतानि (यदि) यतः (वा) अवश्यम् (असि) (न्यर्बुदम्) अ० ८ । ८ । ७ । अर्व गतौ हिंसने च—उदच् । निरन्तरगतिशीलं व्यापकं ब्रह्म ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (इन्द्रः) परमऐश्वर्यवान् तू (नमुरात्) न मरने वाले [नित्य परमारमाणु रूप जगत्] से (भूयान्) अधिक बलवान् है, (इन्द्र) हे परम ऐश्वर्यवाले ! तू (मृत्युभ्यः) मरण वालों से [अनित्य कार्य रूप जगत्] से (भूयान्) अधिक बलवान् (असि) है ॥ ४६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर दोनों प्रकारके नित्य कारण रूप और अनित्यकार्य रूप जगत् को अपने वश में रखता है॥ ४६ ॥

भूयानरा॑त्याः शच्याः पति॒स्त्वमि॑न्द्रासि वि॒भूः प्र॒भूरिति॒ त्वो-पा॑स्महे व॒यम् ॥ ४७ ॥

भूयान् । अरा॑त्याः । शच्याः । पतिः । त्वम् । इन्द्र॑ । असि॑ । वि॒-भूः । प्र॒-भूः । इति॑ । त्वा॒ । उप॑ । आस्म॒हे । व॒यम् ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले [परमात्मन् !] (त्वम्) तू (अरात्याः) शत्रु से (भूयान्) अधिक बलवान्, (शच्याः) वाणी, कर्म वा बुद्धि का (पतिः) पति, (विभूः) व्यापक और (प्रभूः) समर्थ (असि) है, (इति) इस प्रकार से (वयम्) हम (त्वा उप आस्महे) तेरी उपासना करते हैं ॥ ४७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पूर्ण बली सर्वस्वामी जगदीश्वर की

४६—(भूयान्) अधिकतरो बलवान् (इन्द्रः) परमेश्वर्यवांस्त्वम् (नमुरात्) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । मृ हिंसायाम्, वेदे तु मरणे—क । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । उत्वम् । अमरणस्वभावात् (भूयान्) (इन्द्र) (असि) (मृत्युभ्यः) मतुपो लोपः । मृत्युवद्भ्यः ॥

४७—(भूयान्) अधिकतरो बली (अरात्याः) शत्रुसकाशात् (शच्याः) शची वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । कर्मनाम—२ । १ । प्रज्ञानाम—३ । ६ । वाण्याः कर्मणो बुद्धेर्वा (पतिः) पालकः (त्वम्) (इन्द्र) परमेश्वर्यवन् (असि) (विभूः) व्यापकः (प्रभूः) समर्थः (इति) अनेन प्रकारेण (त्वा) त्वाम् (उपास्महे) सेवामहे (वयम्) उपासकाः ॥

उपासना से आत्मबल बढ़ावें ॥ ४७ ॥

मन्त्र ४६-५१ महर्षिदयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना विषय पृ० १६०-१६१ में व्याख्यात हैं ॥

नम॑स्ते अस्तु पश्यत॒ पश्य॑ मा पश्यत ॥ ४८ ॥

नमः॑ । ते॒ । अ॒स्तु॒ । प॒श्य॒त॒ । पश्य॑ । मा॒ । प॒श्य॒त॒ ॥ ४८ ॥

अ॒न्ना॒द्ये॑न॒ यश॑सा॒ तेज॑सा ब्राह्मणवर्च॒सेन॑ ॥ ४९ ॥

अ॒न्न॒-अ॒द्ये॑न । यश॑सा । तेज॑सा । ब्रा॒ह्म॒ण॒-व॒र्च॒सेन॑ ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(पश्यत) हे देखने वाले [जगदीश्वर !] (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (पश्यत) हे देखने वाले ! (मा) मुझको (अन्नाद्येन) भोजन योग्य अन्न आदि के साथ, (यशसा) यश [शूरता आदि से पाये हुये नाम] के साथ, (तेजसा) तेज [निर्भयता, प्रताप] के साथ और (ब्राह्मणवर्चसा) वेदज्ञान के बल के साथ [पश्य) देख ॥ ४८, ४९ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वद्रष्टा परमात्मा की उपासना से पुरुषार्थ और विवेक पूर्वक सब आवश्यक पदार्थ पाकर आनन्द भोगें ॥ ४८, ४९ ॥

अम्भो॒ अमो॒ महः॒ सह॒ इति॒ त्वोपा॑स्महे व॒यम् । ० । ० ॥ ५० ॥

अम्भः॑ । अमः॑ । महः॑ । सहः॑ । इति॑ । ० ॥ ५० ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (अम्भः) व्यापक, (अमः) ज्ञानस्वरूप, (महः) पूज्य और (सहः) सहनस्वभाव [ब्रह्म] है, (इति) इस

४८, ४९—(नमः) प्रणामः (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (पश्यत) भृमृदृशि-यजि० । उ० ३ । ११० । दृशिर् दर्शने-अतच्, छन्दसि अशिति प्रत्ययेऽपि पश्यादेशः । हे दर्शत । सर्वदर्शक (पश्य) अवलोकय (मा) माम् (पश्यत) सर्वदर्शक (अन्नाद्येन) भक्षणीयेनान्नादिना (यशसा) शौर्यादिप्राप्तेन नाम्ना (तेजसा) निर्भयत्वेन प्रतापेन (ब्राह्मणवर्चसेन) वेदज्ञानबलेन ॥

५०—(अम्भः) म० १४ । आप्लृ व्याप्तौ-असुन् । व्यापकं ब्रह्म (अमः) अम गतौ—असुन् । ज्ञानस्वरूपम् (महः) पूजनीयम् (सहः) सहनशीलम् ।

प्रकार से (वयम्) हम (त्वा उप आस्महे) तेरी उपासना करते हैं ॥ ५० ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्तः करण से परमात्मा की उपासना करके उन्नति करें ॥ ५० ॥

इस मन्त्र से लेकर मन्त्र ५३ तक बम्बई गवर्नमेन्ट बुकडिपो और अजमेर वैदिक यन्त्रालय के पुस्तकों में मन्त्र के पीछे आवृत्ति का चिह्न देकर मन्त्र ४८ और ४९ की आवृत्ति मानी है, परन्तु अन्य पुस्तकों में आवृत्ति का चिह्न नहीं है ॥

अम्भो अरुणं रजतं रजः सह इति त्वोपास्महे वयम् ।०।०५१(१८

अम्भः । अरुणम् । रजतम् । रजः । सहः । इति ।०।।५१ (१८)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (अम्भः) व्यापक, (अरुणम्) ज्ञानस्वरूप, (रजतम्) प्रीति का हेतु आनन्द स्वरूप, (रजः) ज्योतिः स्वरूप और (सहः) सहनशील [ब्रह्म] है, (इति) इस प्रकार से (वयम्) हम (त्वा उप आस्महे) तेरी उपासना करते हैं ॥ ५१ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सर्वव्यापक सर्वज्ञ आदि परमेश्वर की उपासना बार बार आदर पूर्वक कर के पुरुषार्थ करें ॥ ५१ ॥

पर्यायः ६ ॥

५२–५६ ॥ ५२, ५३ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ५४ आर्षी गायत्री ; ५५ साम्न्युष्णिक् ; ५६ निचृत्साम्नी बृहती ॥

उरुः पृथुः सुभूर्भुव इति त्वोपास्महे वयम् ॥ ५२ ॥

उरुः । पृथुः । सु-भूः । भुवः । इति । ० ॥ ५२

अन्यत् पूर्ववत्—म० ४७ ॥

५१—(अम्भः) म० ५० । व्यापकम् (अरुणम्) अर्त्तश्च । उ० ३ । ६० । ऋ गतिप्रापणयोः—उनन् , चित् । ज्ञानस्वरूपम् (रजतम्) पृषिरञ्जिभ्यां कित् । उ० ३ । १११ । रञ्ज रागे—अतच् , कित् । रजति प्रियं भवतीति रजतम् । प्रीतिहेतु । आनन्दस्वरूपम् (रजः) रञ्ज रागे-असुन् । रजो रजतेः,ज्योती रज उच्यते-निरु० ४ । १९ । तेजः स्वरूपं ब्रह्म । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर] तू (उरुः) विशाल, (पृथुः) विस्तृत, (सुभूः) अच्छे प्रकार वर्तमान [ईश्वर] और (भुवः) व्यापक वा शुद्ध ब्रह्म है, (इति) इस प्रकार से (वयम्) हम (त्वा उप आस्महे) तेरी उपासना करते हैं ॥ ५२ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब में विशाल सर्वशक्तिमान् आदि गुण युक्त है, ऐसा जान कर मनुष्य उस की उपसना करें और संसार में कीर्ति बढ़ावें ॥५२॥

मन्त्र ५२ और ५३ महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका उपासना विषय पृष्ठ १६१, १६२ में व्याख्यात हैं ॥

प्रथो वरो व्यचो लोक इति त्वोपास्महे वयम् । ० । ० ॥५३॥

प्रथः । वरः । व्यचः । लोकः । इति । ० ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (प्रथः) प्रसिद्ध, (वरः) श्रेष्ठ, (व्यचः) यथावत् मिला हुआ [ब्रह्म] और (लोकः) देखने योग्य [ईश्वर] है, (इति) इस प्रकार से (वयम्) हम (त्वा उप आस्महे) तेरी उपासना करते हैं ॥५३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुप्रसिद्ध आदि जगदीश्वर की उपासना से अपने को सुप्रसिद्ध, श्रेष्ठ, सर्वसम्बन्धी और दर्शनीय बनावें ॥ ५३ ॥

भवद्वसुरिदद्वसुः संयद्वसुरायद्वसुरिति त्वोपास्महे वयम् ॥५४॥

भवत्-वसुः । इदत्-वसुः । संयत्-वसुः । आयत्-वसुः । इति । त्वा । उप । आस्महे । वयम् ॥ ५४ ॥

५२-(उरुः) विशालः (पृथुः) विस्तृतः (सुभूः) सुष्ठु वर्तमानः (भुवः) भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० ४ । २१७ । भू सत्तायां शुद्धौ च-असुन्, कित्, महाव्याहृतिरियम् । व्यापकं शुद्धं वा ब्रह्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५३—(प्रथः) प्रख्यातम् (वरः) वृञ् वरणे-असुन् । श्रेष्ठम् (व्यचः) अ० ४ । १९ । ६ । व्यच छले सम्बन्धे च-असुन् । सर्वसम्बद्धम् (लोकः) दर्शनीयः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (भवद्वसुः) धन प्राप्त कराने वाला, (इदद्वसुः) श्रेष्ठ पुरुषों को ऐश्वर्यवान् करने वाला, (संयद्वसुः) पृथिवी आदि लोकों को नियम में रखने वाला और (आयद्वसुः) निवास साधनों का फैलाने वाला है, (इति) इस प्रकार से (वयम्) हम (त्वा उप आसमहे) तेरी उपासना करते हैं ॥ ५४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! परमेश्वर की उपासना से परस्पर सुधार करो, उसने तुम्हारे लिये सुवर्ण आदि धन, श्रेष्ठ पुरुष, पृथिवी आदि लोक और अनेक सुख के साधन उत्पन्न किये हैं ॥ ५४ ॥

नमस्ते अस्तु पश्यत पश्य मा पश्यत ॥ ५५ ॥

नमः । ते । अस्तु । पश्यत । पश्य । मा । पश्यत ॥ ५५ ॥

अन्नाद्येन यशसा तेजसा ब्राह्मणवर्चसेन ॥ ५६ ॥ (२०)

अन्न-अद्येन । यशसा । तेजसा । ब्राह्मण-वर्चसेन ॥५६॥ (२०)

भाषार्थ—(पश्यत) हे देखने वाले [जगदीश्वर !] (ते) तेरे लिये (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे, (पश्यत) हे देखने वाले ! (मा) मुझ को (अन्नाद्येन) भोजन योग्य अन्न आदि के साथ, (यशसा) यश [शूरता आदि से पाये हुये नाम] के साथ, (तेजसा) तेज [निर्भयता, प्रताप] के साथ और (ब्राह्मणवर्चसा) वेद ज्ञान के साथ (पश्य) देख ॥ ५५, ५६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वद्रष्टा परमात्मा की उपासना से पुरुषार्थ और

५४—(भवद्वसुः) भू सत्तायां प्राप्तौ च-शतृ । भवन्ति प्राप्नुवन्ति वसूनि धनानि यस्मात् सः (इदद्वसुः) इदि परमैश्वर्ये-शतृ, नकारलोपश्छान्दसः । इन्दन्ति परमैश्वर्यवन्तो भवन्ति वसवः श्रेष्ठा यस्मात् सः (संयद्वसुः) यम नियमे—क्विप् । संयमयति वसून् पृथिव्यादिलोकान् यः सः (आयद्वसुः) आङ्+यमु उपरमे-क्विप् । आयच्छते विस्तारयति वसूनि निवाससाधनानि यः सः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५५, ५६—सर्वं पूर्ववत्—म० ४८, ४९ ॥

[विवेक पूर्वक सब आवश्यक पदार्थ पाकर आनन्द भोगें ॥ ५५, ५६ ॥

इति त्रयोदशं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायक-
वाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम्
ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित
क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये त्रयोदशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे आषाढमासे कृष्णषष्ठ्यां तिथौ १९७५
[पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे
धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि
श्री राजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य
सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—श्रावणशुक्ला ४ संवत् १९७५ वि० ता० १० अगस्त १९१८ ई० ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियाँ ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्यसमाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जूलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

B.Sc., LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-

प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धिशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा-सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी नें किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारो वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल बृन्दाबन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य्य पूरा हो...छपाई और कागज़ भी अच्छा है।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिव शंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त से प्रारम्भ में ......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है ..भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवाँ कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है... बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है... आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र, पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिकाप्रसाद जी—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला; मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये; जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटेरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६- लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते— स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी है। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों को बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई। ... .इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है.........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है"॥

आनन्दसमाचार ।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि, और योगी गा आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में हो के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चु है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महात्रुटि को पूरा कर के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नाग (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से ब परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पा पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण ल पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगाय और जगत्पिता परमात के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्या अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पाव छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित		२	३	४	५	६	७	८	९	१०
मूल्य	१।)		१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)
काण्ड	११	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	पृष्ठ ३,४०० लगभग
मूल्य	२।)	२=)	१।≡)	१।)							२७-)

काण्ड—१५ छप रहा है। कांड १६ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्व स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहि संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।≈)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अति सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२५ सितम्बर १९१८। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

Onkar Press, Allahabad.

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड १४ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	सत्येनोत्तभिता भूमिः	सोम इत्यादि	मन्त्राः १—५, प्रकाश करने योग्य और प्रकाशक विषय मन्त्राः ६-६४। विवाह संस्कार	अनुष्टुप् आदि
२	तुभ्यमग्रे पर्यवहन्	दम्पती	गृहाश्रम	अनुष्टुप् आदि

-अथर्ववेद, काण्ड १४ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १४) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र,	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१-३	सत्येनोत्तभिता भूमिः	१ । १—३	१० । ८५ । १-३		
४	यत् त्वा सोम प्रपिबन्ति	१ । ४	१० । ८५ । ५		
५	आच्छद्विधानैर्गुपितो	१ । ५	१० । ८५ । ४		
६	चित्तिरा उपबर्हणं	१ । ६	१० । ८५ । ७		
७	रैभ्यासीदनुदेयी	१ । ७	१० । ८५ । ६		
८-१३	स्तोमा आसन् प्रति	१ । ८—१३	१० । ८५ । ८-१३		
१४	यदाश्विना पृच्छमाना	१ । १४	१० । ८५ । १४,१५		
१५	यदयातं शुभस्पती	१ । १५	१० । ८५ । १४,१५		
१६	द्वे ते चक्रे सूर्ये	१ । १६	१० । ८५ । १६		
१७	अर्यमणं यजामहे	१ । १७	७ । ५६ । १२	३ । ६	
१८, १९	प्रेतोमुञ्चामि नामुतः	१ । १८, १९	१० । ८५ । २५, २४		
२०, २१	भगस्त्वेतो नयतु	१ । २०, २१	१० । ८५ २६, २७		
२२	इहैव स्तं मा वियोष्टं	१ । २२	१० । ८५ । ४२		
२३, २४	पूर्वापरं चरतो	१ । २३, २४	१० । ८५ । १८, १९		
२५	परा देहि शामुल्यं	१ । २५	१० । ८५ । २९		
२६	नीललोहितं भवति	१ । २६	१० । ८५ । २८		
२७	अश्लीला तनूर्भवति	१ । २७	१० । ८५ । ३०		
२८	आशसनं विशसन	१ । २८	१० । ८५ । ३५		
२९	तृष्टमेतत् कटुक	१ । २९	१० । ८५ । ३४		
३०	अनृक्षरा ऋजवः	१ । ३४	१० । ३० । ४		
३१	यो अनिध्मो दीदय	१ । ३७	१० । ३० । ४		
३२	खे रथस्य खेऽनसः	१ । ४१	८ । ८० वा ९१ । ७		
३३	सम्राज्ञ्येधि श्वशुरेषु	१ । ४४	१० । ८५ । ४६		
३४	जीवं रुदन्ति वि	१ । ४६	१० । ४० । १०		
३५	गृह्णामि ते सौभ-	१ । ५०	१० । ८५ । ३६		
३६	सुकिंशुकं वहतुं	१ । ६१	१० । ८५ । २०		
३७	तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सू	२ । १	१० । ८५ । ३८		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्व वेद (काण्ड १४) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
३८	पुनः पत्नीमग्निरदा	२ । २	१० । ८५ । ३९		
३९	सोमस्य जाया प्रथमं	२ । ३	१० । ८५ । ४०		
४०	सोमो ददद् गन्धर्वाय	२ । ४	१० । ८५ । ४१		
४१	आ वामगन्त्सुमति	२ । ५	१० । ४० । १२		
४२	सा मन्दसाना मनसा	२ । ६	१० । ४० । १३		
४३	ये वध्वश्चन्द्रं	२ । १०	१० । ८५ । ३१		
४४	मा विदन्परिपन्थिनो	२ । ११	१० । ८५ । ३२		
४५	उद् व ऊर्मिः शम्या	२ । १६	३ । ३३ । १३		
४६, ४७	अघोरचक्षुरपतिघ्नी	२ । १७, १८	१० । ८५ । ४४		
४८	सुमङ्गलीरियं	२ । २८	१० । ८५ । ३३		
४९	या दुर्हार्दो युवतयः	२ । २९	१० । ८५ । ३५		
५०	उत्तिष्ठेतो विश्वावसो	२ । ३३	१० । ८५ । २१, २२		
५१	राया वयं सुमनसः	२ । ३६	१ । ११३ । १६ ८ । ४८ । ११		
५२	तां पूषं छिवत	२ । ३८	१० । ८५ । ३७		
५३	आ वां प्रजां जनयतु	२ । ४०	१० । ८५ । ४३		
५४	सूर्यायै देवेभ्यो	२ । ४६	१० । ८५ । १७		
५५	य ऋते चिदभिश्रिषः	२ । ४७	८ । १ । १२		पू० २ । ६ । २
५६	जनयन्ति नावग्रवः	२ । ७२	७ । ९६ । ४		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ।

चतुर्दशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—६४ ॥ १—५ सोमो देवता, ६—१६ सूर्या देवता, १७—६४ दम्पती देवते ॥ १—१३, १६, १८, २२, २५—२८, ३०, ४१, ४२, ४४, ५१, ५२, ६३ अनुष्टुप्; १४ विराट् प्रस्तारपङ्क्तिः; १५ निचृदास्तारपङ्क्तिः; १७, ३६ भुरिगनुष्टुप्; १९, २०, २४, ३३, ३७, ३९, ४७, ५०, ५३, ५६, ५७, ६१ त्रिष्टुप्; २१ [अन्त्यपादो निचृत्], ४६ जगती; २३, ३१, ५८ आर्षी त्रिष्टुप्; २९ निचृत् पुरस्ताद् बृहती; ३२, ४०, ४५, ५४, ६४ भुरिक् त्रिष्टुप्; ३४, ६० आर्षी पङ्क्तिः; ३५, ४३, ६२ निचृदनुष्टुप्; ३८ आर्ष्युष्णिक्; ४८ पथ्या पङ्क्तिः; ४९ विराट् त्रिष्टुप्; ५५ विराट् पुरस्ताद् बृहती; ५९ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

मन्त्राः १—५, प्रकाश्यप्रकाशकविषयोपदेशः—मन्त्र १—५, प्रकाश करने योग्य और प्रकाशक के विषय का उपदेश ॥

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः ।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः ॥ १ ॥

सत्येन । उत्तभिता । भूमिः । सूर्येण । उत्तभिता । द्यौः ॥
ऋतेन । आदित्याः । तिष्ठन्ति । दिवि । सोमः । अधि । श्रितः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सत्येन) सत्यस्वरूप परमेश्वर करके (भूमिः) भूमि (उत्तभिता) [आकाश में] उत्तमता से थांभी गयी है, और (सूर्येण) सूर्य

१—(सत्येन) नित्यस्वरूपेण ब्रह्मणा (उत्तभिता) उत्तमतया धारिता (भूमिः) (सूर्येण) आदित्यमण्डलेन (उत्तभिता) (द्यौः) प्रकाशः (ऋतेन)

लोक करके (द्यौः) प्रकाश (उत्तभिता) उत्तम रीति से थांभा गया है। (ऋतेन) सत्य नियम द्वारा (आदित्याः) प्रकाशमान किरणें [वा अखण्ड सूक्ष्म परमाणु] (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं, और (दिवि) [सूर्य के] प्रकाश में (सोमः) चन्द्रमा (अधि) यथावत् (श्रितः) ठहरा हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—लोक दो प्रकार के हैं एक प्रकाश करने वाले जैसे सूर्य आदि और दूसरे अप्रकाशमान जैसे पृथिवी चन्द्र आदि। परमेश्वर के नियम से प्रकाशक सूर्य आदि लोक प्रकाश्य पृथिवी चन्द्र आदि लोकों को अपने प्रकाश से प्रकाशित करते हैं ॥ १ ॥

१—मन्त्र १ तथा २ महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, प्रकाश्य प्रकाशक विषय पृ० १४३, १४४ में व्याख्यात हैं।

२—मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—१० । ८५ । १—३ । मन्त्र ३ भेद से है ॥

सोमे॑नादि॒त्या ब॒लिनः॒ सोमे॑न पृथि॒वी म॒ही ।

अथो॒ नक्ष॑त्राणामे॒षामु॒पस्थे॒ सोम॒ आहि॑तः ॥ २ ॥

सोमे॑न । आ॒दि॒त्याः । ब॒लिनः॑ । सोमे॑न । पृ॒थि॒वी । म॒ही ॥ अथो॒ इति॑ । नक्ष॑त्राणाम् । ए॒षाम् । उ॒प-स्थे॑ । सोमः॑ । आ-हि॑तः ॥ २

भाषार्थ—(सोमेन) चन्द्रमा के साथ (आदित्याः) सूर्य की किरणें (बलिनः) बलवान् [होती हैं] और (सोमेन) चन्द्रमा [के प्रकाश] के साथ (पृथिवी) पृथिवी (मही) बलवती अर्थात् पुष्ट [होती है] । (अथो) और भी (एषाम्) इन (नक्षत्राणाम्) चलने वाले तारागणों के (उपस्थे) समीप में (सोमः) चन्द्रमा (आहितः) ठहराया गया है ॥ २ ॥

सत्यनियमेन (आदित्याः) आदीप्यमानाः किरणाः । अखण्डाः सूक्ष्माः परमाणवः (तिष्ठन्ति) वर्तन्ते (दिवि) सूर्यप्रकाशे (सोमः) चन्द्रमाः (अधि) यथाविधि (श्रितः) स्थितः ॥

२—(सोमेन) चन्द्रेण सह संयुज्य (आदित्याः) आदीप्यमानाः किरणाः (बलिनः) बलं कर्तुं शीला भवन्ति (सोमेन) चन्द्रप्रकाशेन सह (पृथिवी) (मही) बलवती । पुष्टा (अथो) अपि च (नक्षत्राणाम्) गतिशीलानां तारागणानाम् (एषाम्) दृश्यमानानाम् (उपस्थे) समीपे (सोमः) चन्द्रमाः (आहितः) स्थापितः ॥

भावार्थ—चन्द्रमा शीतल स्वभाव है, सूर्य की किरणें उसके ऊपर गिर कर शीतल हो जाती हैं, और जब वे चन्द्रमा से उलटकर वायु से मिलकर पृथिवी पर पड़ती हैं, तब शीतलता के कारण पृथिवी के अन्न आदि पदार्थों को पुष्ट करती हैं। इसी प्रकार सूर्य और चन्द्रमा का प्रभाव नक्षत्रों पर होता है ॥२॥

सोमं मन्यते पपिवान् यत् संपिंषन्त्योषधिम् ।

सोमं यं ब्रह्माणो विदुर्न तस्याश्नाति पार्थिवः ॥ ३ ॥

सोमम् । मन्यते । पपि-वान् । यत् । सम्-पिंषन्ति । ओषधिम् ॥ सोमम् । यम् । ब्रह्माणः । विदुः । न । तस्य । अश्नाति । पार्थिवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सोमम्) चन्द्रमा [के अमृत] को (पपिवान्) मैंने पी लिया, [यह बात मनुष्य] (मन्यते) मानता है, (यत्) जब (ओषधिम्) ओषधि [अन्न, सोमलता आदि] को (संपिंषन्ति) वे [मनुष्य] पीसते हैं। (यम्) जिस (सोमम्) जगत्स्रष्टा परमात्मा को (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (विदुः) जानते हैं, (तस्य) उसका [अनुभव] (पार्थिवः) पृथिवी [के विषय] में आसक्त पुरुष (न) नहीं (अश्नाति) भोगता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा से पुष्ट हुये अन्न सोमलता आदि के सेवन से मनुष्य शरीर पुष्टि करते हैं, परन्तु जो मनुष्य विद्वानों का सत्संग करके ईश्वर ज्ञान से आत्मा को पुष्ट करते हैं, वे शरीर पोषकों की अपेक्षा अधिक आनन्द पाते हैं ॥३॥

यत् त्वा सोम प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः ।

वायुः सोमस्य रक्षिता समानां मास आकृतिः ॥ ४ ॥

३—(सोमम्) चन्द्रामृतम् (मन्यते) जानाति (पपिवान्) पा पाने-क्वसु। अहं पीतवानस्मि (यत्) यदा (संपिंषन्ति) सम्यक् चूर्णीकुर्वन्ति (ओषधिम्) अन्नसोमलतादिकम् (सोमम्) जगत्स्रष्टारं परमात्मानम् (यम्) (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानिनः पुरुषाः (विदुः) जानन्ति। साक्षात्कुर्वन्ति (न) निषेधे (तस्य) ब्रह्मणोऽनुभवम् (अश्नाति) भुनक्ति। अनुभवति (पार्थिवः) पृथिवीविषयाऽऽसक्तः पुरुषः ॥

यत् । त्वा । सोम । प्र-पिबन्ति । ततः । आ । प्यायसे । पुनः ॥ वायुः । सोमस्य । रक्षिता । समानाम् । मासः । आ-कृतिः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे चन्द्रमा ! (यत्) जब (त्वा) तुझ को (प्रपिबन्ति) वे [किरणें] पी जाती हैं, (ततः) तब (पुनः) फिर (आ प्यायसे) तू परिपूर्ण होजाता है । (वायुः) पवन (सोमस्य) चन्द्रमा का (रक्षिता) रक्षक है और (मासः) सब का परिमाण करने वाला [परमेश्वर] (समानाम्) अनुकूल क्रियाओं का (आकृतिः) बनाने वाला है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब चन्द्रमा के रस को सूर्य की किरणें खींच लेती हैं, वह रस पृथिवी पर किरणों द्वारा आता और पदार्थों को पुष्ट करता है, फिर वह पार्थिव रस किरणों से वायु द्वारा खिंचकर चन्द्रमा को पहुंचता है। इस प्रकार चन्द्रमा ईश्वर नियम से प्राणियों को सदा उपकारी होता है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ५ ॥

आच्छद्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः ।
ग्राव्णामिच्छृण्वन् तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः ॥ ५ ॥

आच्छत्-विधानैः । गुपितः । बार्हतैः । सोम । रक्षितः ॥ ग्राव्णाम् । इत् । शृण्वन् । तिष्ठसि । न । ते । अश्नाति । पार्थिवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सोम) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर (आच्छद्विधानैः)

४—(यत्) यदा (त्वा) (सोम) हे चन्द्र (प्रपिबन्ति) आकर्षन्ति रश्मयः (ततः) अनन्तरम् (आ प्यायसे) प्रवर्द्धसे (पुनः) (वायुः) (सोमस्य) चन्द्रस्य (रक्षिता) रक्षकः (समानाम्) सम—टाप् । अनुकूलानां क्रियाणाम् (मासः) मसी परिमाणे परिणामे च—घञ् । परिमाणकर्ता (आकृतिः) अकर्ता । रचयिता ॥

५—(आच्छद्विधानैः) आच्छादनं कुर्वद्भिर्नियमैः (गुपितः) अन्तर्हितः

ढक लेने वाले विधानों से (गुपितः) गुप्त [अन्तर्धान] किया गया और (बार्हतैः) वेदवाणियों द्वारा कहे गये नियमों से (रक्षितः) रक्षा किया गया, (ग्राव्णाम्) विद्वानों की [प्रार्थना] (इत्) अवश्य (शृण्वन्) सुनता हुआ तू (तिष्ठसि) ठहरता है, (पार्थिवः) पृथिवी [के विषयों] में आसक्त पुरुष (ते) तेरे [अनुभव को] (न) नहीं (अश्नाति) भोगता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्मा अपने अनन्त सर्वश्रेष्ठ नियमों से सुरक्षित रह कर बड़े उपकार करता है, उस को विद्वान् ही जानते हैं, सामान्य मनुष्य नहीं जान सकते। इस लिये सब मनुष्य विद्वान् होकर ईश्वर ज्ञान से उन्नति करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ४ ॥

मन्त्राः ६—६४ । विवाहसंस्कारोपदेशः—विवाह संस्कार का उपदेश ॥

चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनम् ।

द्यौर्भूमिः कोश आसीद् यदयात् सूर्या पतिम् ॥ ६ ॥

चित्तिः । आः । उप-बर्हणम् । चक्षुः । आः । अभि-अञ्जनम् ॥

द्यौः । भूमिः । कोशः । आसीत् । यत् । अयात् । सूर्या । पतिम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(चित्तिः) चेतना [कन्या की] (उपबर्हणम्) छोटी ओढ़नी [समान] (आः) होवे, (चक्षुः) दर्शन सामर्थ्य (अभ्यञ्जनम्) उबटन

(बार्हतैः) बृहती-अण् । बृहतीभिर्वेदवाग्भिर्विहितैर्विधानैः (सोम) हे सर्वोत्पादक परमेश्वर (रक्षितः) (ग्राव्णाम्) अ० ३ । १० । ५ । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० २ । ३ । ७५ । गॄ विज्ञापे स्तुतौ च-क्वनिप्, पृषोदरादित्वात् साधुः । गृणातिः स्तुतिकर्मा-निरु० ३ । ५ । विदुषां [प्रार्थनाम्] (इत्) एव (शृण्वन्) आकर्णयन् (तिष्ठसि) वर्तसे (न) निषेधे (ते) तवानुभवम् (अश्नाति) भुनक्ति (पार्थिवः) पृथिवीविषयेष्वासक्तः ॥

६—(चित्तिः) चेतना । बुद्धिः (आः) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ३ । ९७ । अस्तेर्लङि, ईडभावः, तलोपे सकारस्य रुत्वविसर्गौ । आसीत् । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । इति लिङर्थे लङ् । स्यात् । एवमन्यत्रापि ज्ञातव्यम् । (उपबर्हणम्) उपवस्त्रं यथा (चक्षुः) दर्शनसामर्थ्यम् । (आः) स्यात् (अभ्य-

[शरीर मलने के द्रव्य के तुल्य] (आः) होवे। (द्यौः) आकाश और (भूमिः) भूमि (कोशः) निधिमञ्जूषा [पेटी पिटारी समान] (आसीत्) होवे, (यत्) जब (सूर्या) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या (पतिम्) पति को (अयात्) प्राप्त होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब कन्या बाहिरी उपकरणों की उपेक्षा करके भीतरी विद्याबल से चेतन्य स्वभाव, और पदार्थों को दिव्य दृष्टि से देखने वाली, और आकाश और भूमि से सुवर्ण आदि प्राप्त करने-कराने वाली हो, तब सुयोग्य पति से व्याह करे ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ७ ॥

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी ।

सूर्याया भद्रमिद् वासो गाथयैति परिष्कृता ॥ ७ ॥

रैभी । आसीत् । अनु-देयी । नाराशंसी । नि-ओचनी ॥

सूर्यायाः । भद्रम् । इत् । वासः । गाथया । एति । परिष्कृता ॥ ७

भाषार्थ—(रैभी) वेदवाणी (सूर्यायाः) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या की (अनुदेयी) साथिन [समान]

अनम्) शरीरमर्दनद्रव्यं यथा (द्यौः) आकाशः (भूमिः) (कोशः) निधिमञ्जूषा यथा (आसीत्) स्यात् (यत्) यदा (अयात्) या प्रापणे—लङ् । यायात् । प्राप्नुयात् (सूर्या) अ० ६ । ४ । १४ । राजसूयसूर्य० । पा० ३ । १ । ११४ । सृ गतौ यद्वा षू प्रेरणे निपातनात् क्यपि रूपसिद्धिः । सूर्याद् देवतायां चाब् वक्तव्यः । वा० पा० ४ । १ । ४८ । इति चाप् । सूर्या वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । पदनाम—निघ० ५ । ६ । सूर्या सूर्यस्य पत्नी–निरु० १२ । ७ । पत्नी = विभूतिर्दीप्तिः । प्रेरिका । सूर्यदीप्तिवत्तेजस्विनी कन्या (पतिम्) भर्तारम् ॥

७—(रैभी) रेभ-अण्, ङीप् । रेभः स्तोतृनाम–निघ० ३ । १६ । रेभस्य स्तोतुरियम् । वेदवाणी (आसीत्) स्यात् (अनुदेयी) अनुदीयमानावयस्या (नाराशंसी) नर + शंसु स्तुतौ–अण् । अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । ततः प्रज्ञादित्वात् स्वार्थेऽण्, नराशंस एव नाराशंसः । येन नराः

और (नाराशंसी) मनुष्यों के गुणों की स्तुति (न्योचनी) नौची [छोटी सहेली समान] (आसीत्) हो । और (भद्रम्) शुभ कर्म (इत्) ही (वासः) वस्त्र [समान] हो [क्योंकि वह] (गाथया) गाने योग्य वेद विद्या से (परिष्कृता) सजी हुयी (एति) चलती है ॥ ७ ॥

भावार्थ—कन्या वेदों और इतिहासों को पढ़कर विचारकर शुभ कर्म करती हुयी उत्तम विद्या से अपनी शोभा बढ़ावे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है–१० । ८५ । ६ ॥

स्तोमा आसन् प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः ।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत् पुरोगवः ॥ ८ ॥

स्तोमाः । आसन् । प्रति-धयः । कुरीरम् । छन्दः । ओपशः ॥
सूर्यायाः । अश्विना । वरा । अग्निः । आसीत् । पुरः-गवः ॥ ८

भाषार्थ—(स्तोमाः) स्तुति योग्य गुण (सूर्यायाः) प्रेरणा करनेवाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या के (प्रतिधयः) वस्त्रों के अंचल [समान] (आसन्) हों, (कुरीरम्) कर्तव्य कर्म और (छन्दः) आनन्दप्रद वेद (ओपशः) मुकुट [समान हो] और (अग्निः) अग्नि [शारीरिक और बाहिरी अग्नि द्वारा स्वास्थ्य, शिल्प, यज्ञ आदि विधान] (पुरोगवः) अग्र-

---

प्रशस्यन्ते स नराशंसो मन्त्रः—निरु० ९ । ९ । स्त्रियां ङीप् । मनुष्यगुणानां स्तुतिः (न्योचनी) नि+उच समवाये-ल्युट्, ङीप् । लघुसहचरी (सूर्यायाः) म० ६ । प्रेरिकायाः सूर्य्यदीप्तिवत्तेजस्विन्याः कन्यायाः (भद्रम्) शुभकर्म (इत्) एव (वासः) वस्त्रम् (गाथया) उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । गै गाने-थन् । गानयोग्यया वेदविद्यया (एति) गच्छति (परिष्कृता) अलङ्कृता ॥

८—(स्तोमाः) स्तुत्यगुणाः (आसन्) स्युः (प्रतिधयः) प्रतिधीयन्ते ये । वस्त्रान्ताः (कुरीरम्) कृञ उच्च । उ० ४ । ३३ । डुकृञ् करणे—ईरन् । कर्तव्यं कर्म (छन्दः) आह्लादको वेदः (ओपशः) आङ्+उप+शीङ् शयने—ड । शिरोभूषणम् । मुकुटः (सूर्यायाः) म० ६ (अश्विना) अ० २ । २९ । ६ । अश्वी च अश्विनी च अश्विनौ । पुमान् स्त्रिया । पा० १ । २ । ६७ । इत्येकशेषः । अश्विनौ ......राजानौ पुण्यकृतौ—निरु० १२ । १ । प्राप्तविद्यौ वधूवरौ (वरा)

गामी [पुरोहित समान] (आसीत्) हो, [जब कि] (अश्विना) विद्या को प्राप्त दोनों [वधू वर] (वरा) परस्पर चाहने वाले [वा श्रेष्ठ गुण वाले] हों ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब कन्या ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त करके स्वास्थ्य आदि विधान में निपुण हो और जब वैसा ही वर ब्रह्मचारी विद्वान् हो, तब दोनों परस्पर विवाह की कामना करें ॥ ८ ॥

मन्त्र ८—१३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ८५ । ८—१३ ॥

सोमो॑ वधू॒युर॑भवद॒श्विना॑स्तामु॒भा व॒रा ।
सू॒र्यां यत् पत्ये॒ शंस॑न्तीं॒ मन॑सा सवि॒ताद॑दात् ॥ ९ ॥

सोमः॑ । व॒धू॒ऽयुः । अ॒भ॒व॒त् । अ॒श्विना॑ । आ॒स्ता॒म् । उ॒भा । व॒रा ॥ सू॒र्याम् । यत् । पत्ये॑ । शंस॑न्तीम् । मन॑सा । स॒वि॒ता । अ॒द॒दा॒त् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सोमः) शुभगुणयुक्त ब्रह्मचारी (वधूयुः) वधू की कामना करने हारा (अभवत्) हो, (उभा) दोनों (अश्विना) विद्या को प्राप्त [वधू वर] (वरा) परस्पर चाहने वाले [वा श्रेष्ठ गुण वाले] (आस्ताम्) हों, (यत्) जब (पत्ये) पति के लिये (मनसा) मनसे (संशन्तीम्) गुण कीर्तन करती हुयी (सूर्याम्) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेजवाली] कन्या को (सविता) जगत् का उत्पादक परमात्मा (अददात्) देवे ॥ ९ ॥

वृञ् वरणे—अप् । वरश्च च वरा च वरौ । परस्परेच्छुकौ । श्रेष्ठौ (अग्निः) शारीरिको बाह्यो वा अग्निः (आसीत्) स्यात् (पुरोगवः) गोरतद्धितलुकि । पा० ५ । ४ । ९२ । पुरस्+गो—टच् । अग्रगामी । पुरोहितः ॥

९—(सोमः) शुभगुणयुक्तो ब्रह्मचारी (वधूयुः) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । वधू—क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः । वधूकामः (अभवत्) भवेत् (अश्विना) म० ८ । प्राप्तविद्यौ वधूवरौ (आस्ताम्) स्याताम् (उभा) द्वौ (वरा) म० ८ । परस्परेच्छुकौ । श्रेष्ठौ (सूर्याम्) प्रेरयित्रीम् । तेजस्विनीं कन्याम् (यत्) यदा (पत्ये) स्वाम्यर्थम् (संशन्तीम्) गुणकीर्तनं कुर्वतीम् (मनसा) हृदयेन (सविता) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (अददात्) दद्यात् ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी और ब्रह्मचारिणी पूर्ण विद्या प्राप्त करके परस्पर गुणों की परीक्षा करके कराके गृहाश्रम में प्रवेश करें और परमेश्वर को धन्यवाद दें कि बड़े भाग्य से तुल्य गुण कर्म सभाव वाले स्त्री पुरुषों का जोड़ा मिलता है ॥ ९ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कार-विधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

मनो अस्या अन आसीद् द्यौरासीदुत च्छदिः ।
शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात् सूर्या पतिम् ॥ १० ॥ (१)

मनः । अस्याः । अनः । आसीत् । द्यौः । आसीत् । उत । छदिः ॥ शुक्रौ । अनड्वाहौ । आस्ताम् । यत् । अयात् । सूर्या । पतिम् ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(मनः) मन (अस्याः) इस [ब्रह्मचारिणी] का (अनः) रथ [समान] (आसीत्) होवे, (उत) और (द्यौः) सूर्य का प्रकाश (छदिः) छत्तर [समान] (आसीत्) होवे । (शुक्रौ) दोनों वीर्यवान् [वधूवर] (अनड्वाहौ) रथ चलाने वाले दो बैल [के समान] (आस्ताम्) होवें, (यत्) जब (सूर्या) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या (पतिम्) पति को (अयात्) प्राप्त होवे ॥ १०

भावार्थ—जब कन्या वेद आदि शास्त्र पढ़कर मननशील, ताप आदि सहने योग्य हो और जब वैसा ही सुयोग्य पति हो, तब गृहाश्रम के चलाने में समर्थ होकर दोनों प्रीति पूर्वक विवाह करें ॥ १० ॥

ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावैताम् ।
श्रोत्रे ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः ॥ ११ ॥

१०—(मनः) मननम् । अन्तःकरणम् (अस्याः) कन्यायाः (अनः) रथः (आसीत्) स्यात् (द्यौः) सूर्यप्रकाशः (आसीत्) (उत) अपि (छदिः) छत्रम् । आतपत्रम् (शुक्रौ) शुक्र-अर्श आद्यच् । वीर्यवन्तौ दम्पती (अनड्वाहौ) रथवाहकौ वृषभौ यथा (आस्ताम्) स्याताम् । अन्यद् गतम्—म० ८ ॥

ऋक्-सामाभ्याम् । अभि-हितौ । गावौ । ते । सामनौ ।
ऐताम् ॥ श्रोत्रे इति । ते । चक्रे इति । आस्ताम् । दिवि ।
पन्थाः । चराचरः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ऋक्सामाभ्याम्) पदार्थों की स्तुति विद्या और मोक्षज्ञान द्वारा (अभिहितौ) कहे गये [दो प्रकार के बोध] (गावौ) दो बैल [रथ के दो बैलों के समान] (ते) तेरे (सामनौ=समानौ) अनुकूल (ऐताम्) चलें । (ते) तेरे (श्रोत्रे) दोनों कान (चक्रे) दो पहिये [समान] (आस्ताम्) होवें, (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (पन्थाः) मार्ग (चराचरः) चलाचल [रहे] ॥११॥

भावार्थ—कन्या वेद विहित कर्मों में प्रवीण होकर श्रवण मनन द्वारा संसार के पदार्थों से गुण ग्रहण करके गृहाश्रम के व्यवहार चलाने में समर्थ होवे ॥ ११ ॥

शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः ।
अनो मनस्मयं सूर्यारोहत् प्रयती पतिम् ॥ १२ ॥

शुची इति । ते । चक्रे इति । यात्याः । वि-आनः । अक्षः ।
आ-हतः ॥ अनः । मनस्मयम् । सूर्या । आ । अरोहत् ।
प्र-यती । पतिम् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यात्याः ते) तुझ चलती हुयी के (शुची) दो शुद्ध [कान-

११—(ऋक्सामाभ्याम्) पदार्थानां स्तुतिविद्यया मोक्षज्ञानेन च (अभिहितौ) विहितौ बोधौ (गावौ) रथस्य गमयितारौ वृषभौ यथा (ते) तव (सामनौ) समानौ । अनुकूलौ (ऐताम्) गच्छताम् (श्रोत्रे) गुणग्राहकौ कर्णौ (ते) तव (चक्रे) रथाङ्गे यथा (आस्ताम्) स्याताम् (दिवि) प्रत्येकव्यवहारे (पन्थाः) मार्गः (चराचरः) चरिचलिपतिवदीनां द्वित्वमच्याक् चाभ्यासस्य । वा० पा० ६ । १ । १२ । इति रूपसिद्धिः । चलाचलः । अत्यन्त गमनयोग्यः ॥

१२—(शुची) पवित्रे श्रोत्रे (ते) तव (चक्रे) रथाङ्गे यथा (यात्याः)

मन्त्र ११] (चक्रे) दो पहिये [समान हों] और (व्यानः) व्यान [सर्वशरीर व्यापक वायु] (अक्षः) धुरा [समान] (आहतः) [पहियों में] लगा हो। (पतिम्) पति के पास को (प्रयती) चलती हुयी (सूर्या) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या (मनस्मयम्) मनोमय [विचार रूप] (अनः) रथ पर (आ अरोहत्) चढ़े ॥ १२ ॥

भावार्थ—जब कन्या श्रवण मनन द्वारा व्यान वायु अर्थात् इन्द्रियों को दमन कर सके, तब पति के समीप रहकर गृहाश्रम की गाढ़ी को चलावे ॥ १२ ॥

सूर्याया वहतुः प्रागात् सविता यमवासृजत् ।
मघासु हन्यन्ते गावः फल्गुनीषु व्युह्यते ॥ १३ ॥

सूर्यायाः । वहतुः । प्र । अगात् । सविता । यम् । अव-असृजत् ॥ मघासु । हन्यन्ते । गावः । फल्गुनीषु । वि । उह्यते १३

भाषार्थ—(सूर्यायाः) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या का (वहतुः) दाय [यौतुक, कन्या को दिया पदार्थ] (प्र अगात्) सन्मुख चले, (यम्) जिस [पदार्थ] को (सविता) जन्मदाता पिता (अव असृजत्) दान करे। (मघासु) सत्कार क्रियाओं में (गावः) वाचायें (हन्यन्ते) चलें, और वह [वधू] (फलगुनीषु) सफल क्रियाओं के बीच

यान्त्याः । गच्छन्त्याः (व्यानः) सर्वशरीरव्यापको वायुर्यथा । इन्द्रियसमूह इत्यर्थः (अक्षः) चक्रधारणकाष्ठभेदः । धुरा (आहतः) संयोजितः (अनः) रथम् (मनस्मयम्) मनोमयम् । मननेन सिद्धम् (सूर्या) प्रेरयित्री । सूर्यवत् तेजस्विनी कन्या (आ अरोहत्) आरोहेत् (प्रयती) प्रयाणं कुर्वती (पतिम्) भर्तारम् ॥

१३—(सूर्यायाः) प्रेरिकायाः । सूर्यदीप्तिवत्तेजोवत्याः कन्यायाः (वहतुः) वहिवह्योश्चतुः। उ० १ । ७७ । वह प्रापणे—चतुः । विवाहकाले कन्यायै देयपदार्थः । विवाहः । वहनकारणम् (प्र अगात्) प्रकर्षेण गच्छतु (सविता) जनकः । पिता (यम्) पदार्थम् (अवासृजत) दत्तवान् (मघासु) मह पूजायाम्–अच् अर्श आद्यच् । मघं धननाम–निघ० २ । १० । सत्कारवतीषु क्रियासु । धनवतीषु क्रियासु (हन्यन्ते) हन हिंसागत्योः । गम्यन्ते । प्राप्यन्ते (गावः) वाचः (फल्गुनीषु) फलेगुक् च । उ० ३ । ५६ । फल निष्पत्तौ—उनन्, । गुक् च, ङीप्

(वि उह्यते) ले जाई जावे ॥ १३ ॥

भावार्थ—पिता को योग्य है कि विवाह के समय कन्या को स्त्रीधन अर्थात् योग्य वस्त्र, अलंकार, धन दान करे और सब लोग आशीर्वाद बोल कर उस क्रिया को सफल करें ॥ १३ ॥

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः ।
क्वैकं चक्रं वामासीत् क्व देष्ट्राय तस्थथुः ॥ १४ ॥

यत् । अश्विना । पृच्छमानौ । अयातम् । त्रि-चक्रेण । वहतुम् । सूर्यायाः ॥ क्व । एकम् । चक्रम् । वाम् । आसीत् । क्व । देष्ट्राय । तस्थथुः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे विद्या को प्राप्त [दोनों स्त्री पुरुष समूह !] (यत्) जब (सूर्यायाः) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेजवाली] कन्या के (वहतुम्) विवाह को (पृच्छमानौ) पूछते हुये [तुम दोनों] (त्रिचक्रेण) अपने तीन पहिये वाले [कर्म, उपासना, और ज्ञान वाले रथ] से (अयातम्) पहुंचो। (क) कहां पर (वाम्) तुम दोनों का (एकम्) एक [आत्मबोधरूप] (चक्रम्) पहिया (आसीत्) रहे, (क), कहां पर (देष्ट्राय) उपदेश के लिये (तस्थथुः) आप दोनों ठहरें ॥ १४ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष विवाह उत्सव पर एकत्र होकर परस्पर आत्मोन्नति और परस्पर उपकार में स्थिति का विचार करें। आगे मन्त्र १६ देखो ॥ १४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । १४, १५ ॥

सफलक्रियासु (व्युह्यते) विविधं नीयते ॥

१४—(यत्) यदा (अश्विना) प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषसमाजौ (पृच्छमानौ) प्रश्नान् कुर्वन्तौ (अयातम्)) या गतौ—लङ् । अगच्छतम् (त्रिचक्रेण) कर्मोपासनाज्ञानरूपेण चक्रत्रययुक्तेन रथेन (वहतुम्) म० १३ । विवाहोत्सवम् (सूर्यायाः) प्रेरिकायाः । सूर्यदीप्तिवत् तेजस्विन्याः कन्यायाः (क) कुत्र (एकम्) (चक्रम्) आत्मबोधरूपम् (वाम्) युवयोः (आसीत्) अस्तु । भवतु (क) (देष्ट्राय) उपदेशाय (तस्थथुः) तिष्ठतम् ॥

यद॑यातं शुभस्पती वरे॒यं सूर्यामुप॑ ।
विश्वे॑ दे॒वा अनु॒ तद् वा॑मजानन् पु॒त्रः पि॒तर॑मवृणीत पू॒षा १५
यत् । अया॑तम् । शु॒भः॒। पती॒ इति॑ । व॒रे॒ऽयम् । सू॒र्याम् । उप॑ ॥
विश्वे॑ । दे॒वाः । अनु॑ । तत् । वा॒म् । अ॒जा॒न॒न् । पु॒त्रः ।
पि॒तर॑म् । अ॒वृ॒णी॒त । पू॒षा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(शुभः पती) हे शुभ क्रिया के पालन करनेवाले [स्त्री पुरुष समूह !] तुम दोनों (यत्) जब (सूर्याम्=सूर्यायाः) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेजवाली] कन्या के (वरेयम्) श्रेष्ठ कर्म में (उप) आदर से (अयातम्) पहुंचो । (विश्वे देवाः) सब विद्वान् लोग (वाम्) तुम दोनों के (तत्) उस [कर्म] में (अनु अजानन्) सम्मति दें [कि] (पूषा) पोषण करने वाला (पुत्रः) पुत्र (पितरम्) पिता को (अवृणीत) स्वीकार करे ॥१५॥

भावार्थ—शुभचिंतक स्त्रीपुरुष विवाह में आकर प्रयत्न करें कि विद्वान् लोग प्रसन्न होकर आशीर्वाद दें कि उन वधू वर का पुत्र पोषण करनेवाला विद्वान् पराक्रमी होवे ॥ १४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । १४, १५ ॥

द्वे ते॑ च॒क्रे सू॑र्ये ब्र॒ह्माण॑ ऋतु॒था वि॑दुः ।
अथैकं॑ च॒क्रं यद् गुहा॒ तद॑द्धा॒तय॒ इद् वि॑दुः ॥ १६ ॥
द्वे इति॑ । ते॒ । च॒क्रे इति॑ । सू॒र्ये॒ । ब्र॒ह्माणः॑ । ऋ॒तु॒ऽथा । वि॒दुः॒ ॥
अथ॑ । एक॑म् । च॒क्रम् । यत् । गुहा॑ । तत् । अ॒द्धा॒तयः॑ । इत् ।
वि॒दुः॒ ॥ १६ ॥

१५—(यत्) यदा (अयातम्) अगच्छतम् (शुभस्पती) शुभक्रियायाः पालकौ (वरेयम्) णलोपः । वरेण्यम् । श्रेष्ठं कर्म (सूर्याम्) षष्ठ्यर्थे द्वितीया । सूर्यायाः । प्रेरिकायाः कन्यायाः (उप) आदरेण (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अनु अजानन्) अनुकूलं जानन्तु । स्वीकुर्वन्तु (तत्) वक्ष्यमाणं कर्म (वाम्) युवयोः (पुत्रः) सुतः (पितरम्) जनकम् (अवृणीत) स्वीकरोतु (पूषा) पोषकः ॥

भाषार्थ—(सूर्ये) हे प्रेरणा करनेवाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या ! (ते) तेरे (द्वे) दो [कर्म और उपासना रूप] (चक्रे) पहियों को (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानी लोग (ऋतुथा) सब ऋतुओं में (विदुः) जानते हैं। (अथ) और (एकम्) एक [ज्ञानरूप] (चक्रम्) पहिया (यत्) जो (गुहा) हृदय में है, (तत्) उस को (अद्धातयः) सत्य ज्ञान वाले पुरुष (इत्) हि (विदुः) जानते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—वेदवेत्री कन्या और वेदवेत्ता वर के कर्म, उपासना, ज्ञान की योग्यता को विद्वान् लोग विचारें। पीछे मन्त्र १४ देखो ॥ १६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । १६ ॥

अर्यमणं यजामहे सुबन्धुं पतिवेदनम् ।
उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः ॥ १७ ॥

अर्यमणम् । यजामहे । सु-बन्धुम् । पति-वेदनम् ॥ उर्वारुकम्-इव । बन्धनात् । प्र । इतः । मुञ्चामि । न । अमुतः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(सुबन्धुम्) सुन्दर बन्धु, (पतिवेदनम्) रक्षक पति के ज्ञान करानेहारे वा देने हारे (अर्यमणम्) श्रेष्ठों के मान करने हारे परमात्मा को (यजामहे) हम पूजते हैं। (उर्वारुकम् इव) ककड़ी को जैसे (बन्धनात्) लता बन्धन से, [वैसे दोनों वधू वर को] (इतः) इस [वियोग पाश] से (प्र मुञ्चामि) मैं [विद्वान्] छुड़ाता हूं, (अमुतः) उस [प्रेम पाश] से (न)

१६—(द्वे) (ते) तव (चक्रे) कर्मोपासनारूपे रथांगे (सूर्ये) हे प्रेरिके कन्ये (ब्रह्माणः) ब्रह्मज्ञानिनः (ऋतुथा) ऋतुषु (विदुः) जानन्ति (अथ) अनन्तरम् (एकम्) ज्ञानरूपम् (चक्रम्) (यत्) (गुहा) गुहायाम्। हृदये (तत्) (अद्धातयः) अद्धा सत्यनाम निघ० ३ । ११ + अत सातत्यगमने—इन्। सत्यज्ञानिनः। मेधाविनः—निघ० ३ । १६। (इत्) एव (विदुः) ॥

१७—(अर्यमणम्) श्रेष्ठमानकर्तारम् (यजामहे) पूजयामः (सुबन्धुम्) (पतिवेदनम्) पत्युः प्रज्ञापकं प्रापकं वा (उर्वारुकम् इव) उरु+आरु+कम्। कृ वापाजिमि । उ० १ । १ । ऋ गतौ-उण्। कर्कटीफलम् (इव) यथा (बन्धनात्) लतावृन्तात् (प्र) (इतः) अस्मात् । वियोगपाशात् (मुञ्चामि) मोचयामि

नहीं [छुड़ाता] ॥ १७ ॥

भावार्थ—परमात्मा की महती कृपा का ध्यान करके विद्वान् लोग वधू वर को वियोग के कष्ट से छुड़ाकर परस्पर प्रेमास्पद बनावें ॥ १७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेदसे ऋग्वेद में है—७ । ५६ । १२ और यजुर्वेद में—३ । ६ ॥

प्रेतो मु॑ञ्चामि॒ नामुतः॑ सुब॒द्धाम॒मुत॑स्करम् ।
यथे॒यमि॑न्द्र मीढ्वः सुपु॒त्रा सु॒भगास॑ति ॥ १८ ॥

प्र । इ॒तः । मु॒ञ्चा॒मि॒ । न । अ॒मुतः॑ । सु॒-ब॒द्धाम् । अ॒मुतः॑ । क॒रम् ॥ यथा॑ । इ॒यम् । इ॒न्द्र॒ । मीढ्वः॒ । सु॒-पु॒त्रा । सु॒-भगा॑ । अस॑ति ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(इतः) इस [वियोग पाश] से [इस वधू को] (प्र मुञ्चामि) मैं [वर] अच्छे प्रकार छुड़ाता हूं, (अमुतः) उस [प्रेम पाश] से (न) नहीं [छुड़ाता], (अमुतः) उस [प्रेम पाश] में [इस वधू] को (सुबद्धाम्) अच्छे बन्धनयुक्त (करम्) मैं करता हूं । (यथा) जिस से, (मीढ्वः) हे सुख की वर्षा करने वाले (इन्द्र) परम ऐश्वर्य वाले परमात्मन् ! (इयम्) यह [वधू] (सुपुत्रा) सुन्दर पुत्रों वाली और (सुभगा) बड़े ऐश्वर्य वाली (असति) होवे ॥ १८ ॥

भावार्थ—वधू वर को चाहिये कि आपस में बड़े प्रेम का बरताव करें, और परमात्मा की उपासना करके प्रयत्न पूर्वक घर में श्रेष्ठ सन्तान और ऐश्वर्य प्राप्त करके दोनों आनन्दित रहें ॥ १८ ॥

मन्त्र १८, १६ ऋग्वेद में कुछ भेद से हैं—१० । ८५ । २५, २४, और दोनों मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाहप्रकरण में उद्धृत हैं और

(न) निषेधे (अमुतः) तस्मात् । प्रेमपाशात् ।

१८—(प्र) प्रकर्षेण (इतः) अस्मात् । वियोगपाशात् (मुञ्चामि) मोचयामि (नः) निषेधे (अमुतः) तस्मात् । प्रेमपाशात् (सुबद्धाम्) सुष्ठु बन्धनयुक्ताम् (अमुतः) तस्मिन् । प्रेमपाशे (करम्) करोमि (यथा) येन प्रकारेण (इयम्) वधूः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् ! (मीढ्वः) मिह सेचने—क्वसु । हे सुखवर्षक (सुपुत्रा) शोभनपुत्रयुक्ता (सुभगा) सौभाग्य-वती (असति) भवेत् ॥

विनियोग इस प्रकार है कि वर इन दोनों मन्त्रों को बोलकर वधू के बंधे हुये केशों को छोड़े ॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः। ऋतस्य योनौ सुकृतस्य लोके स्योनं ते अस्तु सहसंभलायै ॥ १९ ॥

प्र । त्वा । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । येन । त्वा । अबध्नात् । सविता । सु-शेवाः ॥ ऋतस्य । योनौ । सु-कृतस्य । लोके । स्योनम् । ते । अस्तु । सह-संभलायै ॥ १९ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (त्वा) तुझे (वरुणस्य) रुकावट के (पाशात्) बन्धन से (प्र मुञ्चामि) मैं [वर] अच्छे प्रकार छुड़ाता हूं, (येन) जिसके साथ (त्वा) तुझे (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य (सविता) जन्मदाता पिता ने (अबध्नात्) बांधा है । (ऋतस्य) सत्य नियम के (योनौ) घर में और (सुकृतस्य) सुकृत [पुण्य कर्म] के (लोके) समाज में (सहसम्भलायै) सहेलियों सहित वर्तमान (ते) तेरे लिये (स्योनम्) आनन्द (अस्तु) होवे ॥१९॥

भावार्थ—जिस कन्या को पिता ने योग्य पति मिलने तक रोका था, उस को पिता के घर से प्रसन्नता के साथ लेकर वर बड़े प्रेम से रक्खे और घर के सब धर्मात्मा विद्वान् स्त्री पुरुष श्रेष्ठ व्यवहार करके उसे सुख देते रहें ॥ १९ ॥

मन्त्र १८ की टिप्पणी देखो ॥

१९—(प्र) प्रकर्षेण (त्वा) वधूम् (मुञ्चामि) मोचयामि (वरुणस्य) वृञ् संवरणे—उनन् । आवरणस्य विघ्नस्य (पाशात्) बन्धात् (येन) (त्वा) (अबध्नात्) बन्धे कृतवान् (सविता) जन्मदाता पिता (सुशेवाः) अ० २ । २ । २ । सु + शेवृ सेवने—असुन् । सुष्ठु सेवनीयः (ऋतस्य) सत्यनियमस्य (योनौ) गृहे (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोके) समाजे (स्योनम्) सुखम् (ते) तुभ्यम् (अस्तु) (सहसम्भलायै) सह + सम् + भल परिभाषणहिंसादानेषु—अच्, टाप् । सम्भलीभिः सम्भाषिकाभिः सखिभिः सह वर्तमानायै ॥

भगस्त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि२०॥२

भगः। त्वा। इतः। नयतु। हस्त-गृह्य। अश्विना। त्वा। प्र। वहताम्। रथेन॥ गृहान्। गच्छ। गृह-पत्नी। यथा। असः। वशिनी। त्वम्। विदथम्। आ। वदासि॥ २०॥ (२)

भाषार्थ—[हे वधू !] (भगः) ऐश्वर्यवान् वर (त्वा) तुझे (इतः) यहां से (हस्तगृह्य) हाथ पकड़ कर (नयतु) ले चले, (अश्विना) विद्या को प्राप्त दोनों [स्त्री पुरुष समूह] (त्वा) तुझे (रथेन) रथ द्वारा (प्र वहताम्) अच्छे प्रकार ले चलें। (गृहान्) घरों में (गच्छ) पहुंच, (यथा) जिससे (गृहपत्नी) गृहपत्नी [घर की स्वामिनी] (असः) तू होवे और (वशिनी) वश में करने वाली (त्वम्) तू (विदथम्) सभागृह में (आ वदासि) बातचीत करे ॥ २० ॥

भावार्थ—प्रतापी वर गुणवती वधू को आदर से ले चले, विद्वान् स्त्री पुरुष उसे रथ पर चढ़ावें। सभ्या वधू पतिगृह में पहुंच कर अपनी विद्वत्ता और शुभ गुणों के कारण प्रिय बचन और बरताव से सब को प्रसन्न करे॥ २०॥

मन्त्र २०, २१ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। ८५। २६, २७॥

इह प्रियं प्रजायै ते समृध्यतामस्मिन् गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्या तन्वं१ सं स्पृशस्वाथ जिर्विर्विदथमा वदासि २१

इह। प्रियम्। प्र-जायै। ते। सम्। ऋध्यताम्। अस्मिन्। गृहे। गार्ह-पत्याय। जागृहि॥ एना। पत्या। तन्वम्।

२०—(भगः) ऐश्वर्यवान् वरः (त्वा) वधूम् (इतः) अस्मात् स्थानात्। पितृगृहात् (नयतु) (हस्तगृह्य) अ० ५। १४। ४। हस्तेन गृहीत्वा (अश्विना) प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषसमूहौ (त्वा) (प्र) प्रकर्षेण (वहताम्) नयताम् (रथेन) (गृहान्) पतिगृहान् (गच्छ) प्राप्नुहि (गृहपत्नी) गृहस्वामिनी (यथा) येन प्रकारेण (असः) भवेः (वशिनी) गृहगतानां वशं प्रापयित्री (त्वम्) (विदथम्) सभागृहम् (आ) आभिमुख्येन (वदासि) ब्रूयाः ॥

सम् । स्पृशस्व । अथ । जिर्विः । विदथम् । आ । वदासि २१

भाषार्थ—[हे वधू !] (इह) इस [पति कुल] में (ते) तेरा (प्रियम्) हित (प्रजायै) प्रजा [सन्तान, सेवक आदि] के लिये (सम्) अच्छे प्रकार (ऋध्यताम्) बढ़े, (अस्मिन् गृहे) इस घर में (गार्हपत्याय) गृहपत्नी के कार्य के लिये (जागृहि) तू जागती रह [सावधान रह] । (एना पत्या) इस पति के साथ (तन्वम्) श्रद्धा को (सं स्पृशस्व) संयुक्त कर, (अथ) और (जिर्विः) स्तुति योग्य तू (विदथम्) सभागृह में (आ वदासि) बातचीत कर ॥ २१ ॥

भावार्थ—वधू को योग्य है कि पतिकुल में पहुंचकर प्रसन्नचित्त होकर सन्तान, सेवक आदि का यथावत् पालन करके घर के कामों में सावधान रहे, और पति से भक्ति करके संसार में कीर्ति बढ़ावे ॥ २१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से महर्षि दयानन्द कृत संस्कार विधि विवाह प्रकरण में उद्धृत है—घर पहुंचकर वधू के रथ से उतारना आदि कर्म करके वर इस मन्त्र को बोलकर वधू को सभामण्डप में ले जावे ॥

इहैव स्तं मा वि यौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम् ।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वस्तकौ ॥ २२ ॥

इह । एव । स्तम् । मा । वि । यौष्टम् । विश्वम् । आयुः । वि । अश्नुतम् ॥ क्रीडन्तौ । पुत्रैः । नप्तृ-भिः । मोदमानौ । सु-अस्तकौ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—[हे वधू वर !] (इह एव) यहां [गृहाश्रम के नियम में] ही

२१—(इह) अत्र पतिकुले (प्रियम्) हितम् (प्रजायै) सन्तानसेवकादिपालनाय (ते) तव (सम्) सम्यक् (ऋध्यताम्) वर्धताम् (अस्मिन्) (गृहे) (गार्हपत्याय) गृहपत्नीकर्तव्यसिद्धये (जागृहि) बुध्यस्व । सावधाना भव (एना) अनेन (पत्या) स्वामिना सह (तन्वम्) तनु उपकारे श्रद्धायां च—ऊ । श्रद्धां भक्तिम् (सं स्पृशस्व) संयोजय (अथ) अनन्तरम् (जिर्विः) अ० ८ । १ । ६ । जॄ स्तुतौ—किन् ह्रस्वः, जरा स्तुतिर्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । जीर्विः । स्तुत्या । अन्यद् गतम्—म० ॥ २० ॥

२२—(इह) अस्मिन् गृहाश्रमनियमे (एव) अवश्यम् (स्तम्) भवतम्

(स्तम्) तुम दोनों रहो, (मा वि यौष्टम्) कभी अलग मत होओ, और (पुत्रैः) पुत्रों के साथ तथा (नप्तृभिः) नातियों के साथ (क्रीडन्तौ) क्रीड़ा करते हुये, (मोदमानौ) हर्ष मनाते हुये और (स्वस्तकौ) उत्तम घरवाले तुम दोनों (विश्वम् आयुः) सम्पूर्ण आयु को (वि अश्नुतम्) प्राप्त होओ ॥ २२ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष दोनों दृढ़ प्रतिज्ञा करके प्रसन्नता पूर्वक पुत्र पौत्र आदि के साथ धर्म से रहकर पूर्ण आयु भोगकर यशस्वी होवें ॥ २२ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ४२, और महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण तथा ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका विवाह विषय पृष्ठ २६८ में व्याख्यात है ॥

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीडन्तौ परि यातोऽर्णवम् ।
विश्वान्यो भुवना विचष्टं ऋतूँरन्यो विदधज्जायसे नवः ॥२३॥

पूर्व-अपरम् । चरतः । मायया । एतौ । शिशू इति । क्रीडन्तौ । परि । यातः । अर्णवम् ॥ विश्वा । अन्यः । भुवना । वि-चष्टे । ऋतून् । अन्यः । वि-दधत् । जायसे । नवः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(एतौ) यह दोनों [सूर्य, चन्द्रमा] (पूर्वापरम्) आगे पीछे (मायया) बुद्धि से [ईश्वर नियम से] (चरतः) विचरते हैं, (क्रीडन्तौ) खेलते हुये (शिशू) दो बालक [जैसे] (अर्णवम्) अन्तरिक्ष में (परि) सब ओर (यातः) चलते हैं। (अन्यः) एक [सूर्य] (विश्वा) सब (भुवना) भुवनों को (विचष्टे) देखता है, (अन्यः) दूसरा तू [चन्द्रमा] (ऋतून्) ऋतुओं को [अपनी गति से] (विदधत्) बनाता हुआ [शुक्ल पक्ष में] (नवः) नवीन (जायसे) प्रकट होता है ॥ २३ ॥

(मा वि यौष्टम्) वियुक्तौ मा भवेताम् (विश्वम्) सम्पूर्णम् (आयुः) जीवनम् (वि) विविधम् (अश्नुतम्) प्राप्नुतम् (क्रीडन्तौ) धर्मेण खेलन्तौ (पुत्रैः) (नप्तृभिः) पौत्रैः (मोदमानौ) आनन्दं कुर्वन्तौ (स्वस्तकौ) शोभनगृहयुक्तौ ॥

२३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८१ । १ ॥

(६) भावार्थ—सूर्य और चन्द्रमा आकाश में घूमते हैं। चन्द्र आदि लोकों को सूर्य प्रकाश पहुंचाता है। चन्द्रमा शुक्लपक्ष में एक एक कला बढ़ता और वसन्त आदि ऋतुओं को बनाता है। हे स्त्री पुरुषो! जैसे यह सूर्य चन्द्रमा ईश्वर नियम पर चलकर संसार का उपकार करते हैं, वैसे ही तुम दोनों उपकार करो ॥ २३ ॥

मन्त्र २३, २४ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ८५ । १८, १९ और ऊपर आ चुके हैं—अ० ७ । ८१ । १, २, तथा मन्त्र २३ के तीन पाद फिर आये हैं—अ० १३ । २ । ११ ॥

नवोनवो भवसि जायमानोऽन्हां केतुरुषसामेष्यग्रम् । भागं देवेभ्यो वि दधास्यायन् प्र चन्द्रमस्तिरसे दीर्घमायुः ॥२४॥

नवःऽनवः । भवसि । जायमानः । अह्नाम् । केतुः । उषसाम् । एषि । अग्रम् ॥ भागम् । देवेभ्यः । वि । दधासि । आऽयन् । प्र । चन्द्रमः । तिरसे । दीर्घम् । आयुः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(चन्द्रमः) हे चन्द्रमा ! तू [शुक्ल पक्ष में] (नवोनवः) नया नया (जायमानः) प्रकट होता हुआ (भवसि) रहता है, और (अह्नाम्) दिनों का (केतुः) जताने वाला तू (उषसाम्) उषाओं [प्रभात वेलाओं] के (अग्रम्) आगे (एषि) चलता है और (आयन्) आता हुआ तू (देवेभ्यः) उत्तम पदार्थों को (भागम्) सेवनीय उत्तम गुण (वि दधासि) विविध प्रकार देता है और (दीर्घम्) लम्बे (आयुः) जीवन काल को (प्र) अच्छे प्रकार (तिरसे) पार लगाता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा शुक्ल पक्ष में एक एक कला बढ़कर नया नया होता है, और दिनों अर्थात् प्रतिपदा आदि चान्द्र तिथियों को बनाता, और पृथिवी के पदार्थों में पुष्टि देकर प्राणियों का जीवन बढ़ाता है, इसी प्रकार स्त्री पुरुष संसार में उपकार करके अपना जीवन सुफल करें ॥ २४ ॥

परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भंजा वसु ।

२४—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८१ । २ ॥

कृत्यैषा पद्वती भूत्वा जाया विशते पतिम् ॥ २५ ॥

परा । देहि । शामुल्यम् । ब्रह्म-भ्यः । वि । भज । वसु ॥ कृत्या । एषा । पत्-वती । भूत्वा । आ । जाया । विशते । पतिम् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—[हे वर !] (शामुल्यम्) [हृदय की] मलीनता (परा देहि) दूर कर दे, (ब्रह्मभ्यः) विद्वानों को (वसु) सुन्दर वस्तु (विभज) बांट । (एषा) यह (कृत्या) कर्तव्य कुशल (जाया) पत्नी (पद्वती) ऐश्वर्यवती (भूत्वा) होकर (पतिम्) पति में (आ विशते) आकर प्रवेश करती है ॥ २५ ॥

भावार्थ—गृहपति शुद्ध अन्तःकरण से विदुषी स्त्रियों और विद्वानों का यथावत् आदर सत्कार करे जिन के शिक्षा आदि प्रयत्न से स्त्री रत्न उसको मिली है ॥ २५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । २९ ॥

नीललोहितं भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते ।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते ॥ २६ ॥

नील-लोहितम् । भवति । कृत्या । आसक्तिः । वि । अज्यते ॥ एधन्ते । अस्याः । ज्ञातयः । पतिः । बन्धेषु । बध्यते ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(नीललोहितम्) निधियों का प्रकाश (भवति) होता है,

२५—(परा देहि) दूरं कुरु (शामुल्यम्) सानसिवर्णसिपर्णसितण्डु० । उ० ४ । १०७ । शमु उपशमे—उलच्, शमुलं शमलम् अशुद्धम्, तस्य भावः—ष्यञ् । चित्तमालिन्यम् (ब्रह्मभ्यः) वेदज्ञेभ्यः (वि भज) संहितको दीर्घः । प्रयच्छ (वसु) श्रेष्ठं वस्तु (कृत्या) विभाषा कृवृषोः । पा० ३ । १ । १२० । करोतेः—क्यप् ॥ मत्वर्थे अर्शआद्यच् । टाप् । कृत्यायां क्रियायां कुशला (एषा) (पद्वती) पत ऐश्वर्ये-क्विप्, मतुप् । ऐश्वर्यवती (भूत्वा) (जाया) पत्नी (आ विशेत्) प्रविशेत् (पतिम्) पतिहृदयम् ॥

२६ (नीललोहितम्) नि+इल गतौ—क+रुहेश्च ॥ लो वा । उ० ३ ।

[जब कि] (कृत्या=कृत्यायाः) कर्तव्य कुशल [पत्नी] की (आसक्तिः) प्रीति (वि अज्यते) प्रसिद्ध होती है। (अस्याः) इस [वधू] के (ज्ञातयः) कुटुम्बी लोग (एधन्ते) बढ़ते हैं, और (पतिः) पति (बन्धेषु) [वधू के साथ प्रेम के] बन्धनों में (बध्यते) बंध जाता है ॥ २६ ॥

भावार्थ—जिस कुल में कर्मकुशल बुद्धिमती स्त्री धन का लाभ व्यय आदि विचारकर कर्तव्य करती है, वहां धन सम्पत्ति बढ़ती है। उस की समृद्धि से माता पिता आदि और सब कुटुम्बी वृद्धि करते हैं और पति उस से हार्दिक प्रीति करता है ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । २८ ॥

अ॒श्ली॒ला त॒नूर्भ॑वति॒ रुश॑ती पा॒पया॑मु॒या ।
पति॒र्यद्व॒ध्वो॒३॒॑ वास॑सः॒ स्वमङ्ग॑मभ्यू॒र्णु॒ते ॥ २७ ॥

अ॒श्ली॒ला । त॒नूः । भ॒व॒ति॒ । रुश॑ती । पा॒पया॑ । अ॒मु॒या ॥ पतिः॑ । यत् । व॒ध्वः॑ । वास॑सः । स्वम् । अङ्ग॑म् । अ॒भि॒-ऊ॒र्णु॒ते ॥२७॥

भाषार्थ—(रुशती) चमकता हुआ (तनूः) रूप (अमुया) उस (पापया) पाप क्रिया से (अश्लीला) अश्लील [हतश्री] (भवति) हो जाता है, (यत्) जब कि (पतिः) पति (वध्वः) वधू के (वाससः) वस्त्र से (स्वम् अङ्गम्) अपने अङ्ग को (अभ्यूर्णुते) ढक लेता है ॥ २७ ॥

भावार्थ—जब पति पुरुषार्थ छोड़कर कुकामी होकर बुरी स्त्रियों के समान कुचेष्टा करता है, तब उस दुर्बलेन्द्रिय का रूप बिगड़ जाता है और वह

---

६४ । रुह प्रादुर्भावे—इतन्, रस्य लः । नीलानां निधीनां प्रादुर्भावः (भवति) (कृत्या) म० २५ । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । षष्ठीस्थाने प्रथमा । कृत्यायाः कर्तव्यकुशलायाः पत्न्याः (आसक्तिः) प्रीतिः (व्यज्यते) अञ्जू व्यक्तीकरणे । व्यक्तीक्रियते । प्रसिद्धिं गच्छति (एधन्ते) वर्धन्ते (अस्याः) वध्वाः (ज्ञातयः) सगोत्राः (पतिः) (बन्धेषु) प्रेमपाशेषु (बध्यते) बद्धो भवति ॥

२७—(अश्लीला) श्रीरहिता । कुरूपा (तनूः) रूपम् (भवति) (रुशती) रोचमाना (पापया) पापबुद्ध्या (अमुया) प्रसिद्धया (पतिः) (यत्) यदा (वध्वः) पत्न्याः (वाससः) वस्त्रात् (स्वम्) स्वकीयम् (अङ्गम्) (अभ्यूर्णुते) आच्छादयति ॥

लज्जा को प्राप्त होता है ॥ २७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३०

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम् ।

सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मोत शुम्भति

आ-शसनम् । वि-शसनम् । अथो इति । अधि-विकर्तनम् ।

सूर्यायाः । पश्य । रूपाणि । तानि । ब्रह्म । उत । शुम्भति २८

भाषार्थ—(सूर्यायाः) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या की (आशसनम्) आशंसा [अप्राप्त के पाने की इच्छा], (विशसनम्) विशंसा [प्राप्त का शुभ कर्मों में व्यय] (अथो) और भी (अधि-विकर्तनम्) अधिकार पूर्वक विघ्नों का छेदन, (रूपाणि) इन रूपों [सुन्दर लक्षणों] को (पश्य) तू देख, (तानि) उन [सुन्दर लक्षणों] को (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदवेत्ता पति] (उत) ही (शुम्भति) शोभायमान करता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जब वधू वर परस्पर शुभ गुणों और मर्यादाओं का मान करते हैं, तब उत्तम प्रबन्ध से उस गृहाश्रम की शोभा बढ़ती है ॥ २८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३५ ॥

तृष्टमेतत् कटुकमपाष्ठवद् विषवन्नैतदत्तवे ।

सूर्यां यो ब्रह्मा वेद स इद् वाधूयमर्हति ॥ २९ ॥

तृष्टम् । एतत् । कटुकम् । अपाष्ठ-वत् । विष-वत् । न । एतत् । अत्तवे ॥ सूर्याम् । यः । ब्रह्मा । वेद । सः । इत् । वाधूयम् । अर्हति ॥ २९ ॥

२८—(आशसनम्) आङः शसि इच्छायाम्—ल्युट्, नकारलोपः । आशंसा । अप्राप्तस्य प्राप्तीच्छा (विशसनम्) वि+शसि इच्छायाम्—ल्युट्, नलोपः । प्राप्तस्य शुभकर्मसु व्ययः (अथो) अपि च (अधिविकर्तनम्) कृती छेदने वेष्टने च—ल्युट् । अधिकृत्य विघ्नानां छेदनम् (सूर्यायाः) प्रेरिकायाः कन्यायाः (पश्य) अवलोकय (रूपाणि) लक्षणानि (तानि) लक्षणानि (ब्रह्मा) वेदवेत्ता पतिः (उत) एव (शुम्भति) दीपयति । शोभयति ॥

भाषार्थ—(एतत्) यह [पूर्वोक्त शुभ लक्षण वधू वर के विरोध में] (तृष्टम्) दाह जनक, (कटुकम्) कड़ुवा [अप्रिय], (अपाष्ठवत्) अपस्थान [अपमान] युक्त और (विषवत्) विष समान [होता है], (एतत्) यह [विरुद्धपन] (अत्तवे) प्रबन्ध करने के लिये (न) नहीं [होता] । (यः) जो (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदवेत्ता पति] (सूर्याम्) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेजवाली] कन्या को (वेद) जानता है, (सः इत्) वही (वाधूयम्) विवाह कर्म के (अर्हति) योग्य होता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—जहां पर वधू वर परस्पर विरोधी निर्गुणी होते हैं, वहां गृहाश्रम में विपत्ति रहती है, और जब दोनों पूर्ण विद्वान् और युवा होकर परस्पर गुण जानकर विवाह करते हैं, तब वे गृहाश्रम में आनन्द भोगते हैं ॥ २९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३४ ॥

स इत् तत् स्योनं हरति ब्रह्मा वासः सुमङ्गलम् ।
प्रायश्चित्तिं यो अध्येति येन जाया न रिष्यति ॥ ३० ॥ (३)

सः । इत् । तत् । स्योनम् । हरति । ब्रह्मा । वासः । सु-मङ्गलम् ॥ प्रायश्चित्तिम् । यः । अधि-एति । येन । जाया । न । रिष्यति ॥ ३० ॥ (३)

भाषार्थ—(सः इत्) वही (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदवेत्ता पति] (तत्) तब (स्योनम्) सुखदायक और (सुमङ्गलम्) बड़े मङ्गलमय (वासः) वस्त्र

२९—(तृष्टम्) दाहजनकम् (एतत्) पूर्वोक्तम् (कटुकम्) अप्रियम् (अपाष्ठवत्) अपस्थानेनापमानेन युक्तम् (विषवत्) विषसमानम् (न) निषेधे (एतत्) विरुद्ध कर्म (अत्तवे) तुमर्थे सेसनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । अत बन्धने—तवेन् । प्रबन्धं कर्तुम् (सूर्याम्) (यः (ब्रह्मा) वेदज्ञः पतिः (वेद) जानाति (सः) (इत्) एव (वाधूयम्) वैवाहिकं विधानम् (अर्हति) कर्तुं योग्यो भवति । पूजयति ॥

३०—(सः) (इत्) एव (तत्) तदा (स्योनम्) सुखदम् (हरति) प्रापयति । प्राप्नोति (ब्रह्मा) वेदज्ञः पतिः (वासः) वस्त्रादिकम् (सुमङ्गलम्)

आदि [घर में] (हरति) लाता है, (यः) जो [पति] (प्रायश्चित्तिम्) प्रायश्चित क्रिया को (अध्येति) जानता है, (येन) जिस के कारण (जाया) पत्नी (न रिष्यति) कष्ट नहीं पाती ॥ ३० ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्वान् दूरदर्शी होकर गृहाश्रम में प्रवेश करता है, वही परिश्रम करके वस्त्र आदि आवश्यक पदार्थ लाकर घर में पत्नी सहित आनन्द पाता है ॥ ३० ॥

युवं भगं सं भरतं समृद्धमृतं वदन्तावृतोद्येषु । ब्रह्मणस्पते पतिमस्यै रोचय चारु संभलो वदतु वाचमेताम् ॥ ३१ ॥

युवम् । भगम् । सम् । भरतम् । सम्-ऋद्धम् । ऋतम् । वदन्तौ । ऋत-उद्येषु ॥ ब्रह्मणः । पते । पतिम् । अस्यै । रोचय । चारु । सम्-भलः । वदतु । वाचम् । एताम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे वधू वर !] (ऋतोद्येषु) सत्य वचनों के बीच (ऋतम्) सत्य (वदन्तौ) बोलते हुये (युवम्) तुम दोनों (समृद्धम्) अधिक सम्पत्ति वाले (भगम्) ऐश्वर्य को (सम्) मिलकर (भरतम्) धारण करो । (ब्रह्मणः पते) हे वेद के रक्षक [परमेश्वर !] (अस्यै) इस [वधू] के लिये (पतिम्) पति को (रोचय) आनन्दित कर—(एताम् वाचम्) इस वचन को (संभलः) यथार्थवक्ता पुरुष (चारु) मनोहर रीति से (वदतु) बोले ॥ ३१ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमेश्वर से प्रार्थना करके आशीर्वाद देवें कि यह दोनों स्त्री पुरुष अपनी प्रतिज्ञाओं में दृढ़ रहकर सम्पत्ति और ऐश्वर्य प्राप्त करके सदा प्रसन्न रहें ॥ ३१ ॥

महाहितकरम् (प्रायश्चित्तिम्) प्रायश्चित्तक्रियाम् । पापक्षयविधानम् (यः) (अध्येति) जानाति (येन) कारणेन (जाया) पत्नी (न) निषेधे (रिष्यति) दुःखं प्राप्नोति ॥ ३० ॥

३१—(युवम्) युवां वधूवरौ (भगम्) ऐश्वर्यम् (सम्) मिलित्वा (भरतम्) धारयतम् (समृद्धम्) बहुवृद्धियुक्तम् (ऋतम्) सत्यम् (वदन्तौ) कथयन्तौ (ऋतोद्येषु) वद—क्यप् । सत्यकथनेषु (ब्रह्मणः) वेदस्य (पते) रक्षक परमेश्वर (पतिम्) भर्तारम् (अस्यै) वधूहिताय (रोचय) प्रसादय (चारु) यथा तथा, मनोहररीत्या (संभलः) सम्यग्वक्ता (वाचम्) वाणीम् (एताम्) ॥

इहेदसाथ न परो गमाथेमं गावः प्रजया वर्धयाथ। शुभं यतीरुस्त्रियाः सोमवर्चसो विश्वे देवाः क्रन्निह वो मनांसि ॥३२॥

इह। इत्। असाथ। न। परः। गमाथ। इमम्। गावः। प्र-जया। वर्धयाथ॥ शुभम्। यतीः। उस्त्रियाः। सोम-वर्चसः। विश्वे। देवाः। क्रन्। इह। वः। मनांसि ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे गतिशील [पुरुषार्थी कुटुम्बी लोगो!] (इह इत्) यहां पर ही [हम में] (असाथ) तुम रहो, (परः) दूर (न गमाथ) मत जाओ, और (इमम्) इस [पुरुष] को (प्रजया) प्रजा [पुत्र, पौत्र, सेवक आदि] से (वर्धयाथ) बढ़ाओ। (शुभम्) शुभ रीति से (यतीः) चलती हुई (उस्त्रियाः) निवास करने वाली स्त्रियां और (सोमवर्चसः) ऐश्वर्य के साथ प्रताप वाले (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग [अर्थात् घर के विद्वान् स्त्री पुरुष] (वः) तुम्हारे (मनांसि) मनों को (इह) यहां [गृह कार्य में] (क्रन्) करें ॥ ३२ ॥

भावार्थ—सब कुटुम्बी लोग पुरुषार्थ करके मिलकर धैर्य से घर में रहें और सन्तान आदि को शिक्षा दान से बढ़ावें और सम्पत्ति और ऐश्वर्य बढ़ाकर गृहाश्रम को शोभायमान करें ॥ ३२ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आ चुका है—अ० ३। ८। ४॥

इमं गावः प्रजया सं विशाथायं देवानां न मिनाति भागम्। अस्मै वः पूषा मरुतश्च सर्वे अस्मै वो धाता सविता सुवाति ३३

३२—(इह) अत्र। अस्मासु (इत्) एव (असाथ) भवत (न) निषेधे (परः) परस्तात्। दूरम् (गमाथ) गच्छत (इमम्) पुरुषम् (गावः) गमेर्डोः। उ० २। ६७। गच्छतेर्डोप्रत्ययः। गौः स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। हे गतिशीलाः पुरुषार्थिनः कुटुम्बिनः (प्रजया) सन्तानसेवकादिरूपया (वर्धयाथ) वर्धयत (शुभम्) शुभरीत्या (यतीः) गच्छन्त्यः (उस्त्रियाः) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। वस निवासे-रक्, स्वार्थे घप्रत्ययः। निवासशीलाः स्त्रियः (सोमवर्चसः) ऐश्वर्येण प्रतापिनः (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (क्रन्) कुर्वन्तु (इह) गृहाश्रमे (वः) युष्माकम् (मनांसि) चित्तानि ॥

इमम् । गावः । प्र-जया । सम् । विशाथ । अयम् । देवानाम् । न । मिनाति । भागम् ॥ अस्मै । वः । पूषा । मरुतः । च । सर्वे । अस्मै । वः । धाता । सविता । सुवाति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे गतिशील [पुरुषार्थी कुटुम्बियो !] (इमम्) इस [पुरुष] में (प्रजया) प्रजा [सन्तान, सेवक आदि] के साथ (सम्) मिलकर (विशाथ) तुम प्रवेश करो, (अयम्) यह [पुरुष] (देवानाम्) विद्वानों के (भागम्) भाग को (न) नहीं (मिनाति) नाश करता है। (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (वः) तुम को (पूषा) पोषक वैद्य (च) और (सर्वे) सब (मरुतः) शूर पुरुष, और (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (वः) तुमको (धाता) धारण करने वाला (सविता) प्रेरक आचार्य (सुवाति) आगे बढ़ावे ॥ ३३ ॥

भावार्थ—कुटुम्बियों को योग्य है कि सब सन्तानों और उपयोगी पुरुषों सहित मिलकर विद्वान् प्रधान पुरुष का आदर मान करें ॥ ३३ ॥

अनृक्षरा ऋजवः सन्तु पन्थानो येभिः सखायो यन्ति नो वरेयम् । सं भगेन समर्यम्णा सं धाता सृजतु वर्चसा ॥३४॥

अनृक्षराः । ऋजवः । सन्तु । पन्थानः । येभिः । सखायः । यन्ति । नः । वरे-यम् ॥ सम् । भगेन । सम् । अर्यम्णा । सम् । धाता । सृजतु । वर्चसा ॥ ३४ ॥

३३—(इमम्) पुरुषम् (गावः) म० ३२ । हे गतिशीलाः पुरुषार्थिनः कुटुम्बिनः (प्रजया) सन्तानसेवकादिना सह (सम्) मिलित्वा (विशाथ) प्रविशत (अयम्) जनः (देवानाम्) विदुषाम् (न) निषेधे (मिनाति) मीञ् वधे, ह्रस्वः । मीनाति नाशयति (भागम्) अंशम् (अस्मै) पुरुषाय (वः) युष्मान् (पूषा) पोषको वैद्यः, (मरुतः) शत्रुमारकाः शूराः (च) (सर्वे) (अस्मै) (वः) युष्मान् (धाता) धारकः (सविता) प्रेरक आचार्यः (सुवाति) प्रेरयेत् ॥

भाषार्थ—(अनृक्षराः) विना कांटों वाले (ऋजवः) सीधे (पन्थानः) मार्ग (सन्तु) होवें, (येभिः) जिन से (नः) हमारे (सखायः) मित्र लोग (वरेयम्=वरेण्यम्) सुन्दर विधान से (यन्ति) चलते हैं। (धाता) धारण करने वाला [परमेश्वर] (भगेन सम्) ऐश्वर्य के साथ, (अर्यम्णा सम्) श्रेष्ठों के मान करने वाले व्यवहार के साथ और (वर्चसा सम्) प्रताप के साथ [हम को] (सृजतु) संयुक्त करे ॥ ३४ ॥

भावार्थ—सब घर के लोग परमेश्वर की उपासना के साथ विद्वानों के समान विघ्नों का नाश करके श्रेष्ठों के सन्मान से ऐश्वर्यवान् और प्रतापी होवें ३४

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । २३ ॥

यच्च वर्चो अक्षेषु सुरायां च यदाहितम् ।
यद् गोष्वश्विना वर्चस्तेनेमां वर्चसावतम् ॥ ३५ ॥

यत् । च । वर्चः । अक्षेषु । सुरायाम् । च । यत् । आ-हितम् ॥ यत् । गोषु । अश्विना । वर्चः । तेन । इमाम् । वर्चसा । अवतम् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (वर्चः) तेज (अक्षेषु) व्यवहार कुशलों में (च) और (यत्) जो [तेज] (सुरायाम्) ऐश्वर्य [वा लक्ष्मी] में (आहितम्) रक्खा गया है। (यत्) जो (वर्चः) तेज (गोषु) गतिशील [पुरुषार्थी] लोगों में है, (अश्विना) हे विद्या को प्राप्त दोनों [स्त्री पुरुष

३४—(अनृक्षराः) अकण्टकाः (ऋजवः) सरलाः (सन्तु) (पन्थानः) मार्गाः (येभिः) यैः (सखायः) सुहृदः (यन्ति) गच्छन्ति (नः) अस्माकम् (वरेयम्) णलोपः । यथा तथा, वरेण्यम् । वरणीयेन विधानेन (सम्) सह (भगेन) ऐश्वर्येण (सम्) (अर्यम्णा) श्रेष्ठानां मानकर्तृव्यवहारेण (सम्) (धाता) धारकः परमेश्वरः (सृजतु) योजयतु) वर्चसा) प्रतापेन ॥

३५—(यत्) (च) (वर्चः) तेजः (अक्षेषु) अक्ष-अश्रं आद्यच् । व्यवहारकुशलेषु (सुरायाम्) षुर दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क, टाप् । ऐश्वर्ये लक्ष्म्याम् (च) (यत्) (आहितम्) स्थापितम् (यत्) (गोषु) म० ३२ । गतिशीलेषु पुरु-

समूहो !] (तेन वर्चसा) उस तेज से (इमाम्) इस [वधू] को (अवतम्) शोभायमान करो ॥ ३५ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करके शिक्षा देवें कि वे विद्वान् पति पत्नी अपने कर्तव्यों को सकुशल सिद्ध करके तेजस्वी होवें ॥ ३५ ॥

येन॑ महान॒घ्न्या॑ ज॒घन॑म॒श्विना॒ येन॑ वा॒ सुरा॑ ।
येना॒क्षा अ॒भ्यषि॑च्यन्त॒ तेने॒मां वर्च॑सावतम् ॥ ३६ ॥

येन॑ । म॒हा॒ऽन॒घ्न्याः । ज॒घन॑म् । अ॒श्विना॑ । येन॑ । वा॒ । सुरा॑ ॥ येन॑ । अ॒क्षाः । अ॒भि॒ऽअसि॑च्यन्त । तेन॑ । इ॒माम् । वर्च॑सा । अ॒व॒त॒म् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [तेज] के कारण (महानघ्न्याः) अत्यन्त निर्दोष स्त्री के (जघनम्) पौरुष, (येन) जिस के कारण (सुरा) ऐश्वर्य [लक्ष्मी], (वा) और (येन) जिस करके (अक्षाः) सब व्यवहार (अभ्यषिच्यन्त) सींचे जाते हैं [बढ़ाये जाते हैं], (अश्विना) हे विद्या को प्राप्त दोनों [स्त्री पुरुष समूहो !] (तेन वर्चसा) उस तेज से (इमाम्) इस [वधू] को (अवतम्) शोभायमान करो ॥ ३६ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष मिलकर उपाय करें कि वधू बड़ी बड़ी स्त्रियों के समान पौरुष, ऐश्वर्य और व्यवहार बढ़ाकर तेजस्विनी होवे ॥ ३६ ॥

पार्थिवु (अश्विना) हे प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषसमूहौ (वर्चः) (तेन) (इमाम्) वधूम् (वर्चसा) तेजसा (अवतम्) अव रक्षणशोभादिषु । शोभयतम् ॥

३६—(येन) वर्चसा (महानघ्न्याः) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसङ्ख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । महा+न+हन हिंसागत्योः—क, ङीप् । न हन्तव्या न दण्डनीया सा नघ्नी तस्याः । अतिशयेन निर्दोषायाः स्त्रियाः (जघनम्) हन्तेः शरीरावयवे च । उ० ५ । ३२ । हन हिंसागत्योः—अच्, द्वित्वं च धातोः । गमनम् । पौरुषम् (अश्विनौ) हे प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषसमूहौ (येन) (वा) समुच्चये (सुरा) म० ३५ । ऐश्वर्यम् । लक्ष्मीः (येन) (अक्षाः) व्यवहाराः (अभ्यषिच्यन्त) अभिषिक्ता भवन्ति । वृद्धिं गम्यन्ते ॥

यो अ॑नि॒ध्मो दी॒दय॑द॒प्स्व१॒॑न्तर्यं विप्रा॑स॒ ईळ॑ते अध्व॒रेषु॑ ।
अपां॑ नपा॒न्मधु॑मतीर॒पो दा॒ याभि॒रिन्द्रो॑ वावृ॒धे वी॒र्या॑वान् ॥३७॥

यः । अ॒नि॒ध्मः । दी॒दय॑त् । अ॒प्ऽसु । अ॒न्तः । यम् । विप्रा॑सः ।
ईळ॑ते । अ॒ध्व॒रेषु॑ ॥ अ॒पाम् । न॒पा॒त् । मधु॑ऽमतीः । अ॒पः ।
दाः॒ । याभिः॑ । इन्द्रः॑ । व॒वृ॒धे । वी॒र्य॑ऽवान् ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (अनिध्मः) बिना चमकता हुआ [अन्तर्यामी] रहकर (अप्सु अन्तः) प्रजाओं के भीतर (दीदयत्) चमकता है, (यम्) जिस [परमेश्वर] की, (विप्रासः) बुद्धिमान् लोग (अध्वरेषु) सन्मार्ग बताने वाले व्यवहारों में, (ईडते) बड़ाई करते हैं, [सो तू] (अपाम्) प्रजाओं के मध्य (नपात्) नाशरहित [परमेश्वर !] (मधुमतीः) मधु विद्या से युक्त [पूर्ण विज्ञानवती] (अपः) प्रजायें (दाः) दे, (याभिः) जिन [प्रजाओं] से (इन्द्रः) बड़ा ऐश्वर्यवान् मनुष्य (वीर्यवान्) वीर्यवान् [धीर, वीर, शरीर, इन्द्रिय, और मन की अतिशय शक्तिवाला] होकर (ववृधे) बढ़ता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—वधू वर को उचित है कि विद्वानों के समान सर्वान्तर्यामी सर्वनियन्ता परमात्मा की उपासना करके ब्रह्मचर्यादि से विद्वान् सन्तान, सेवक आदि प्राप्त करें और वेदविद्या द्वारा बढ़ाकर सदा उन्नति करते रहें ॥३७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ३० । ४, और निरुक्त १० । १९ में भी व्याख्यात है ॥

३७—(यः) परमेश्वरः (अनिध्मः) अप्रकाशः । अन्तर्यामी सन् (दीदयत्) दीप्यते (अप्सु) आपः = आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । प्रजासु (अन्तः) मध्ये (यम्) परमेश्वरम् (विप्रासः) मेधाविनः (ईडते) स्तुवन्ति (अध्वरेषु) अध्वन्+रा दाने—क । सन्मार्गदातृषु व्यवहारेषु (अपाम्) प्रजानां मध्ये (नपात्) अपतनशील । अविनाशिन् (मधुमतीः) मधुविद्यया पूर्णविज्ञानेन युक्ताः (अपः) प्रजाः (दाः) देहि (याभिः) प्रजाभिः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् मनुष्यः (ववृधे) वर्धते (वीर्यवान्) वीरकर्मयुक्तः सन् ॥

इदमहं रुशन्तं ग्राभं तनूदूषिमपोहामि ।
यो भद्रो रोचनस्तमुदचामि ॥ ३८ ॥

इदम् । अहम् । रुशन्तम् । ग्राभम् । तनू-दूषिम् । अप । ऊहामि ॥ यः । भद्रः । रोचनः । तम् । उत् । अचामि ॥३८॥

भाषार्थ—(इदम्) अब [गृहस्थ होने पर] (अहम्) मैं [स्त्री वा पुरुष] (रुशन्तम्) सताने वाले, (तनूदूषिम्) शरीर को दोष लगाने वाले (ग्राभम्) ग्राही [मलबन्धक रोग वा दुष्ट व्यवहार] को (अप ऊहामि) हटा देता हूं । (यः) जो (भद्रः) मङ्गलमय, (रोचनः) रोचक व्यवहार है, (तम्) उसको (उत्) उत्तमता से (अचामि) प्राप्त होता हूं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—वधूवर पीडाप्रद, रोगकारक कर्म और स्वभाव छोड़कर स्वास्थ्य वर्धक व्यवहार करके गृहाश्रम में आनन्द बढ़ावें ॥ ३८ ॥

आस्यै ब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः । अर्यम्णो अग्निं पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वशुरो देवरश्च ॥ ३९ ॥

आ । अस्यै । ब्राह्मणाः । स्नपनीः । हरन्तु । अवीर-घ्नीः । उत् । अजन्तु । आपः ॥ अर्यम्णः । अग्निम् । परि । एतु । पूषन् । प्रति । ईक्षन्ते । श्वशुरः । देवरः । च ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(अस्यै) इस [वधू] के लिये (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण [विद्वान् लोग] (स्नपनीः) शुद्धिकारक सामग्रियों को (आ हरन्तु) लावें, (अवीरघ्नीः)

३८—(इदम्) इदानीम् । गृहाश्रमग्रहणसमये (रुशन्तम्) रुश हिंसायाम्-शतृ । हिंसन्तम् (ग्राभम्) मलबन्धकग्राहिरोगं दुष्टव्यवहारं वा (तनूदूषिम्) शरीरदूषकम् (अपोहामि) अपगमयामि (यः) (भद्रः) मङ्गलमयः (रोचनः) रुचिरो व्यवहारः (तम्) व्यवहारम् (उत्) उत्तमतया (अचामि) अचु गतौ याचने च । प्राप्नोमि । याचे ॥

३९—(अस्यै) वध्वै (ब्राह्मणाः) विद्वांसः (स्नपनीः) शोधयित्रीः सामग्रीः (आ हरन्तु) प्रापयन्तु (अवीरघ्नीः) वीराणां हितकरीः (उत्) उत्त-

वीरों की हितकारी (आपः) प्रजायें (उत्) उत्तमता से (अजन्तु) प्राप्त होवें। (पूषन्) हे पुष्टिकारक [विद्वान् !] (अर्यम्णः) श्रेष्ठों के मान करने वाले [पति] की (अग्निम्) अग्नि की [प्रत्येक पति पत्नी] (परि एतु) परिक्रमा करे, (श्वशुरः) ससुर [पति का पिता] (च) और (देवरः) देवर लोग [पति के छोटे बड़े भ्राता] (प्रति ईक्षन्ते) वाट देखते हैं ॥ ३९ ॥

भावार्थ—वर के घर पहुंचकर वधूवर विद्वानों की आज्ञानुसार शुद्ध जल आदि से स्नान करके अग्नि होत्रादि करके यज्ञकुण्ड की परिक्रमा करें और सब कुटुम्बी लोग सन्मान से स्वागत करें ॥ ३९ ॥

शं ते हिर॑ण्यं शमु॒ सन्त्वापः॒ शं मे॒थिर्भ॑वतु॒ शं यु॒गस्य॒ तर्द्म॑। शं त॒ आपः॑ श॒तप॑वित्रा भवन्तु॒ शमु॒ पत्या॑ त॒न्वं १ सं स्पृ॑शस्व ॥ ४० ॥ (४)

शम् । ते॒ । हिर॑ण्यम् । शम् । ऊं॒ इति॑ । स॒न्तु॒ । आपः॑ । शम् । मे॒थिः । भ॒व॒तु॒ । शम् । यु॒गस्य॑ । तर्द्म॑ ॥ शम् । ते॒ । आपः॑ । श॒त-प॑वित्राः । भ॒व॒न्तु॒ । शम् । ऊं॒ इति॑ । पत्या॑ । त॒न्व॑म् । सम् । स्पृ॒श॒स्व॒ ॥ ४० ॥ (४)

भाषार्थ—[हे वधू !] (ते) तेरे लिये (हिरण्यम्) सोना [द्रव्य, आभूषण आदि] (शम्) सुखदायक [हो], (उ) और (आपः) प्रजायें [सन्तान, सेवक आदि] (शम्) शान्तिदायक (सन्तु) होवें, (मेथिः) पशु बांधने का

मतया (अजन्तु) गच्छन्तु प्राप्नुवन्तु (आपः) म० ३७। प्रजाः (अर्यम्णः) श्रेष्ठ-मानकरस्य पत्युः (अग्निम्) होमाग्निम् (पर्येतु) प्रत्येकं वधूश्च वरश्च गच्छतु (पूषन्) हे पोषक विद्वन् (प्रतीक्षन्ते) प्रतीक्षया पश्यन्ति (श्वशुरः) शावशेरात्तो। उ० १। ४४। शु + अशू व्याप्तौ, व्याप्तौ—उरन्। शु आशु अश्यते प्राप्यते यः। दम्पत्योः पिता (देवरः) दिवेर्ऋः। उ० २। ९९। दिवु क्रीडादिषु—ऋप्रत्ययः। पत्युः कनिष्ठ-ज्येष्ठभ्रातरः (च) ॥

४०—(शम्) शान्तिदायम्। सुखकरम्। शान्तये (ते) तुभ्यम् (हिरण्यम्) सुवर्णम्। सुवर्णभूषणम् (शम्) (उ) समुच्चये। अवधारणे (सन्तु) (आपः) म०३७। प्रजाः (शम्) (मेथिः) मेथ सङ्गे—इन्। पशुबन्धनकाष्ठदण्डः

काष्ठदण्ड (शम्) आनन्दप्रद और (युगस्य) जूये का (तर्द्म) छिद्र (शम्) शान्तिदायक (भवतु) होवे । (ते) तेरे लिये (शतपवित्राः) सैकड़ों प्रकार शुद्ध करने वाले (आपः) जल (शम्) शान्तिदायक (भवन्तु) होवें, (शम्) शान्ति के लिये (उ) ही (पत्या) पति के साथ (तन्वम्) अपनी श्रद्धा को (सं स्पृशस्व) संयुक्त कर ॥ ४० ॥

भावार्थ—सासु ससुर आदि स्वागत करके सुवर्ण आभूषण आदि जो कुछ पदार्थ देवें, वधू उन्हें प्रसन्न होकर स्वीकार करे और घरके सन्तान, सेवक पशुओं, अन्न, जल आदि के प्रबन्ध में प्रवृत्त होकर आनन्द पावे और पति में सदा पूर्ण प्रीति रक्खे ॥ ४० ॥

खे रथ॑स्य॒ खेऽन॑सः॒ खे यु॒गस्य॑ शतक्रतो ।
अ॒पा॒लामि॑न्द्र॒ त्रिष्पू॒त्वाकृ॑णोः॒ सूर्य॑त्वचम् ॥ ४१ ॥

खे । रथ॑स्य । खे । अन॑सः । खे । यु॒गस्य॑ । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो ॥ अ॒पा॒लाम् । इ॒न्द्र॒ । त्रिः । पू॒त्वा । अकृ॑णोः । सूर्य॑-त्वचम् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैंकड़ों प्रकार की बुद्धियों वा कर्मों वाले ! (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले [पति !] (रथस्य) रथ [रथ रूप शरीर] के (खे) गमन [चेष्टा] में, (अनसः) जीवन के (खे) गमन [उपाय] में और (युगस्य) योग [ध्यान] के (खे) गमन [चलने] में (अपालाम्= अपाराम्) अपार गुणवाली [ब्रह्मवादिनी पत्नी] को (त्रिः) तीन बार [कर्म,

---

(भवतु) (शम्) (युगस्य) रथहलादेरङ्गभेदस्य (तर्द्म) तर्द हिंसायाम्—मनिन् । छिद्रम् (शम्) (ते) तुभ्यम् (आपः) जलानि (शतपवित्राः) बहुप्रकारेण शोधनशीलाः (शम्) (उ) (पत्या) स्वामिना सह (तन्वम्) तनु विस्तारे, तन श्रद्धायामुपकारे च—ऊप्रत्ययः । श्रद्धाम् (संस्पृशस्व) संयोजय ॥

४१—(खे) खर्व गतौ–ड । गमने । चेष्टने । उपाये (रथस्य) रथरूपस्य शरीरस्य (खे) उपाये (अनसः) अन जीवने–असुन् । जीवनस्य (खे) गतौ (युगस्य) योगस्य । ध्यानस्य (शतक्रतो) हे बहुप्रज्ञ । बहुकर्मन् (अपालाम्) रस्य लः । अपाराम् । अपारगुणवतीं ब्रह्मवादिनीं पत्नीम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन्

उपासना और ज्ञान से] (पूत्वा) शोधकर (सूर्यत्वचम्) सूर्य के समान तेज-वाली (अकृणोः) तू कर ॥ ४१ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् विद्वान् पति प्रयत्न करे कि विदुषी पत्नी वेदज्ञान से शुद्ध होकर शरीर को उचित चेष्टा में, जीवन को सुन्दर उपाय में, और मन को ईश्वर भक्ति में लगाकर संसार में कीर्ति पावे ॥ ४१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—सायण भाष्य ८। ८० । ७ और अजमेर वैदिकयन्त्रालय पुस्तक ८ । ६१ । ७ ॥

आशासाना सौमनसं प्रजां सौभाग्यं रयिम् ।
पत्युरनुव्रता भूत्वा सं नह्यस्वामृताय कम् ॥ ४२ ॥

आ-शासाना । सौमनसम् । प्र-जाम् । सौभाग्यम् । रयिम् ॥ पत्युः । अनु-व्रता । भूत्वा । सम् । नह्यस्व । अमृताय । कम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (सौमनसम्) मन की प्रसन्नता, (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान, सेवक आदि], (सौभाग्यम्) बड़ी भाग्यवाली और (रयिम्) धन को (आशासमाना) चाहती हुई तू (पत्युः) पति के (अनुव्रता) अनुकूल कर्म वाली (भूत्वा) होकर (अमृताय) अमर पन [पुरुषार्थ और कीर्ति] के लिये (कम्) सुख से (सं नह्यस्व) सन्नद्ध होजा [युद्ध के लिये कवच धारण कर] ॥ ४२ ॥

भावार्थ—सब कुटुम्बी लोग वधू को शिक्षा दें कि वह विदुषी वधू योग्यता के साथ पति से प्रीति करके प्रसन्नतापूर्वक गृहकार्यों को सिद्ध करे ॥ ४२ ॥

पते (त्रिः) त्रिवारं कर्मोपासनाज्ञानैः (पूत्वा) शोधयित्वा (अकृणोः) त्वं कुर्याः (सूर्यत्वचम्) त्वच संवरणे—असुन् । सूर्यवत्तेजस्विनीम् ॥

४२—(आशासमाना) कामयमाना (सौमनसम्) मनःप्रसादम् (प्रजाम्) सन्तानसेवकादिरूपाम् (सौभाग्यम्) सुभगत्वम् (रयिम्) धनम् (पत्युः) स्वामिनः (अनुव्रता) व्रतं कर्मनाम—निघ० २ । १ । अनुकूलकर्मा (भूत्वा) (संनह्यस्व) सन्नद्धा भव । सन्नाहं युद्धाय कवचं धारय (अमृताय) अमरणाय । पुरुषार्थाय कीर्त्तये च (कम्) सुखेन ॥

यथा सिन्धु॑र्न॒दीनां॒ साम्रा॑ज्यं सुषु॒वे वृषा॑ ।
ए॒वा त्वं स॒म्राज्ञ्ये॑धि॒ पत्यु॒रस्तं॑ प॒रेत्य॑ ॥ ४३ ॥

यथा॑ । सिन्धु॑: । न॒दीना॑म् । साम्-रा॑ज्यम् । सु॒सु॒वे । वृषा॑ ॥
ए॒व । त्वम् । स॒म्-रा॒ज्ञी । ए॒धि॒ । पत्यु॑: । अस्त॑म् । प॒रा-इ॒त्य॑ ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (वृषा) बलवान् (सिन्धुः) समुद्र ने (नदीनाम्) नदियों का (साम्राज्यम्) साम्राज्य [चक्रवर्ती राज्य, अपने लिये] (सुषुवे) उत्पन्न किया है। [हे वधू !] (एव) वैसे ही (त्वम्) तू (पत्युः) पति के (अस्तम्) घर (परेत्य) पहुंचकर (सम्राज्ञी) राजराजेश्वरी [चक्रवर्ती रानी] (एधि) हो ॥ ४३ ॥

भावार्थ—बड़े लोगों की शिक्षा और आशीर्वाद से वधू सावधानी के साथ घर के सब कामों को अपने हाथ में लेकर महारानी बनकर रहे ॥ ४३ ॥

स॒म्राज्ञ्ये॑धि॒ श्वशु॑रेषु स॒म्राज्ञ्यु॒त दे॒वृषु॑ ।
ननान्दुः॒ स॒म्राज्ञ्ये॑धि स॒म्राज्ञ्यु॒त श्व॒श्र्वाः ॥ ४४ ॥

स॒म्-रा॒ज्ञी । ए॒धि॒ । श्वशु॑रेषु । स॒म्-रा॒ज्ञी । उ॒त । दे॒वृषु॑ ॥
ननान्दुः । स॒म्-रा॒ज्ञी । ए॒धि॒ । स॒म्-रा॒ज्ञी । उ॒त । श्व॒श्र्वाः ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] तू (श्वशुरेषु) अपने ससुर आदि [मेरे पिता आदि गुरु जनों] के बीच (सम्राज्ञी) राजराजेश्वरी, (उत) और (देवृषु) अपने देवरों [मेरे बड़े और छोटे भाइयों] के बीच (सम्राज्ञी) राजराजेश्वरी

४३—(यथा) येन प्रकारेण (सिन्धुः) समुद्रः (नदीनाम्) सरिताम् (साम्राज्यम्) सार्वभौमत्वम्। चक्रवर्तिराज्यम् (सुषुवे) उत्पादयमास (वृषा) बलवान् (एव) तथा (त्वम्) (सम्राज्ञी) राजराजेश्वरी (एधि) भव (पत्युः) (अस्तम्) गृहम् (परेत्य) प्राप्य ॥

४४—(सम्राज्ञी) सम्यक् प्रकाशमाना। राजराजेश्वरी (एधि) भव (श्वशुरेषु) श्वशुरादिषु मान्येषु (सम्राज्ञी) (उत) अपि (देवृषु) म० २६। पत्युः कनिष्ठज्येष्ठभ्रातृषु (ननान्दुः) नञि च नन्देः। उ० २। ६८। नञ्+टु नदि

(एधि) हो। (ननान्दुः) अपनी ननद [मेरी बहिन] की (सम्राज्ञी) राजराजेश्वरी, (उत) और (श्वश्र्वाः) अपनी सासु [मेरी माता] की (सम्राज्ञी) राजराजेश्वरी (एधि) हो ॥ ४४ ॥

भावार्थ—वधू विद्या और बुद्धि के बल से अपने कर्तव्यों में ऐसी चतुर हो कि ससुर, सासु, देवर, ननद आदि सब बड़े छोटे जन उस की बड़ी प्रतिष्ठा करें ॥ ४४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१०। ८५। ४६। और महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में पति के घर पहुंचकर, वधू घर के हवन करने में व्याख्यात है ॥

या अकृ॑न्तन्नव॑यन् याश्च॑ तत्नि॒रे या दे॒वीरन्ताँ॑ अ॒भितोऽद॑दन्त।
तास्त्वा॑ ज॒रसे॒ सं व्य॑यन्त्वायु॑ष्मतीदं परि॑ धत्स्व॒ वास॑: ॥४५॥

याः । अकृ॑न्तन् । अव॑यन् । याः । च॒ । त॒त्नि॒रे । याः । दे॒वीः । अन्ता॑न् । अ॒भित॑: । अद॑दन्त ॥ ताः । त्वा॒ । ज॒रसे॑ । सम् । व्य॑यन्तु । आयु॑ष्मती । इ॒दम् । परि॑ । ध॒त्स्व॒ । वास॑: ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(याः) जिन [स्त्रियों] ने (अकृन्तन्) काता है, (च) और (याः) जिन्हों ने (तत्निरे) तन्तुओं को फैलाया है, और (अवयन्) बुना है, और (याः देवीः) जिन देवियों ने (अन्तान्) [वस्त्र के] आंचल (अभितः) सब प्रकार से (अददन्त) दिये हैं। [हे वधू !] (ताः) वे सब स्त्रियां (त्वा)

सन्तोषे—ऋन् वृद्धिश्च। भर्तृभगिन्याः (सम्राज्ञी) (एधि) (उत) (श्वश्र्वाः) श्वसुरस्योकाराकारलोपश्च वक्तव्यः। वा० पा० ४। १। ६८। श्वशुर-ऊङ् उकारस्य अकारस्य च लोपः। श्वशुरस्य भार्यायाः॥

४५—(याः) स्त्रियः (अकृन्तन्) कृती वेष्टने, छेदने च। वेष्टितवत्यः (अवयन्) वेञ् तन्तुसन्ताने। ओतवत्यः (याः) (च) (तत्निरे) तन्तून् विस्तारितवत्यः (याः) (देवीः) देव्यः। दिव्यगुणाः स्त्रियः (अन्तान्) वस्त्रान्तान् (अभितः) सर्वतः (अददन्त) दद दाने। दत्तवत्यः (ताः) (त्वा) त्वां वधूम् (जरसे) स्तुतिलाभाय (सं व्ययन्तु) व्येञ् स्यूतौ, वरणे च। आच्छादः

तुझे (जरसे) बड़ाई के लिये (सं व्ययन्तु) वस्त्र पहिनावें, (आयुष्मती) बड़ी आयु वाली तू (इदं वासः) इस वस्त्र को (परि धत्स्व) धारण कर ॥४५॥

भावार्थ—बड़ी बड़ी गुणवती स्त्रियां आदर करके सुन्दर सुन्दर वस्त्र वधू को देकर पहिनावें और आशीर्वाद देवें कि वह प्रसन्न रहकर बड़ा यश प्राप्त करे॥ ४५ ॥

जीवं रुदन्ति वि नयन्त्यध्वरं दीर्घामनु प्रसितिं दीध्युर्नरः । वामं पितृभ्यो य इदं समीरिरे मयः पतिभ्यो जनयें परिष्वजे॥४६॥

जीवम् । रुदन्ति । वि । नयन्ति । अध्वरम् । दीर्घाम् । अनु । प्र-सितिम् । दीध्युः । नरः ॥ वामम् । पितृ-भ्यः । ये । इदम् । सम्-ईरिरे । मयः । पति-भ्यः । जनये । परि-स्वजे॥४६॥

भाषार्थ—(नरः) नर [नेता लोग] (जीवम्) [संसार के] जीवन के लिये [प्रेम से] (रुदन्ति) आंसू बहाते हैं, (अध्वरम्) हिंसा रहित व्यवहार को (वि) विविध प्रकार (नयन्ति) ले चलते हैं, और (दीर्घाम्) लम्बी (प्रसितिम् अनु) प्रबन्ध क्रिया के साथ (दीध्युः) प्रकाशमान होते हैं। (ये) जिन [पुरुषार्थियों] ने (पितृभ्यः) पिता आदि मान्य लोगों के लिये (इदम्) यह (वामम्) श्रेष्ठ पदार्थ (समीरिरे) पहुंचाया है, (पतिभ्यः) उन रक्षक पुरुषों के लिये [पति से] (जनये परिष्वजे) पत्नी का मिलना (मयः) सुखदायक है ॥ ४६ ॥

यन्तु (आयुष्मती) पूर्णजीवनवती त्वम् (इदम्) (परि धत्स्व) परिधारय (वासः) वस्त्रम् ॥

४६—(जीवम्) संसारस्य जीवनार्थम् (रुदन्ति) अश्रून् विमोचयन्ति (वि) विविधम् (नयन्ति) प्रापयन्ति । गमयन्ति (अध्वरम्) हिंसारहितं व्यवहारम् (दीर्घाम्) (अनु) अनुसृत्य (प्रसितिम्) प्रबन्धक्रियाम् (दीध्युः) दीधीङ् दीप्तौ । प्रकाशन्ते (नरः) नयतेर्डिच्च । उ० २ । १०० । णीञ् प्रापणे-ऋ, डित् । नेतारः पुरुषाः (वामम्) श्रेष्ठं पदार्थम् (पितृभ्यः) पितृतुल्यमाननीयेभ्यः (ये) पुरुषाः (इदम्) (समीरिरे) प्रेरितवन्तः (मयः) सुखप्रदं कर्म (पतिभ्यः) तेभ्यः पालकेभ्यः (जनये) भार्यायै (परिष्वजे) क्विबन्तः प्रयोगः । संगमाय । संगन्तुम् ॥

भावार्थ—करुणाशील, शूरवीर पुरुष गृहाश्रम में हिंसा त्यागकर दृढ़ प्रबंन्ध करके यश पाते हैं। जो मनुष्य इस श्रेष्ठ सिद्धान्त को विद्वानों में फैलाते हैं, वे विद्वान् गृहाश्रमी स्त्री पुरुषों से विद्यावृद्धि में सुख पाते हैं॥ ४६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०।४०।१०, और महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में वधू को पितृ गृह छोड़ते समय आंख में आंसू भर लाने पर वर के बोलने में लिखा है॥

स्योनं ध्रुवं प्रजायै धारयामि तेऽश्मानं देव्याः पृथिव्या उपस्थे। तमा तिष्ठानुमाद्या सुवर्चा दीर्घं त आयुः सविता कृणोतु ४७

स्योनम्। ध्रुवम्। प्र-जायै। धारयामि। ते। अश्मानम्। देव्याः। पृथिव्याः। उप-स्थे॥ तम्। आ। तिष्ठ। अनु-माद्या। सु-वर्चाः। दीर्घम्। ते। आयुः। सविता। कृणोतु॥ ४७॥

भाषार्थ—(स्योनम्) सुखदायक, (ध्रुवम्) दृढ़ (अश्मानम्) पत्थर को (देव्याः) दिव्य गुण वाली (पृथिव्याः) पृथिवी की (उपस्थे) गोद में (प्रजायै) प्रजा [सन्तान, सेवक आदि] के निमित्त (ते) तेरे लिये (धारयामि) मैं [पति] रखता हूं। (अनुमाद्या) निरन्तर हर्ष मनाती हुयी और (सुवर्चाः) बड़ी प्रताप वाली तू (तम्) उस [पत्थर] पर (आ तिष्ठ) खड़ी हो, (सविता) सब का उत्पन्न करने वाला परमेश्वर (ते) तेरी (आयुः) आयु को (दीर्घम्) लम्बी (कृणोतु) करे॥ ४७॥

भावार्थ—जिस प्रकार पृथिवी पर पत्थर पहाड़ दृढ़ होकर रहते हैं, इसी प्रकार वधूवर दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ गृहाश्रम को सिद्ध करके आनन्द पावें॥४७॥

४७—(स्योनम्) सुखदायकम् (ध्रुवम्) दृढम् (प्रजायै) सन्तानसेवकादिनिमित्ताय (धारयामि) स्थापयामि (ते) तुभ्यम् (अश्मानम्) शिलाखण्डम् (देव्याः) दिव्यगुणवत्याः (पृथिव्याः) (उपस्थे) अङ्के (तम्) अश्मानम् (आ तिष्ठ) आरोह (अनुमाद्या) निरन्तरहर्षयुक्ता (सुवर्चाः) महातेजस्विनी (दीर्घम्) चिरम् (ते) तव (आयुः) जीवनम् (सविता) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (कृणोतु] करोतु॥

इस मन्त्र से वधू को वर शिला पर खड़ा करावे। महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि विवाह प्रकरण में वधू के लिये शिला पर चढ़ाना अन्य मन्त्र से लिखा है ॥

येनाग्निरस्या भूम्या हस्तं जग्राह दक्षिणम्। तेन गृह्णामि ते हस्तं मा व्यथिष्ठा मया सह प्रजया च धनेन च ॥ ४८ ॥

येन। अग्निः। अस्याः। भूम्याः। हस्तम्। जग्राह। दक्षिणम् ॥ तेन। गृह्णामि। ते। हस्तम्। मा। व्यथिष्ठाः। मया। सह। प्र-जया। च। धनेन। च ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [सामर्थ्य] से (अग्निः) तेजस्वी पुरुष ने (अस्याः भूम्याः) इस भूमि [प्रत्यक्ष भूमि के समान धैर्यवती अपनी पत्नी] का (दक्षिणम्) बड़े बल वाले वा गति वाले [अथवा दाहिने] (हस्तम्) हाथ को (जग्राह) पकड़ा है। (तेन) उसी [सामर्थ्य] से (ते हस्तम्) तेरे हाथ को (गृह्णामि) मैं [पति] पकड़ता हूं, (मया सह) मेरे साथ रहकर (प्रजया) प्रजा [सन्तान सेवक आदि] के साथ (च, च) और (धनेन) धन के साथ (मा व्यथिष्ठाः) व्यथा को मत प्राप्त हो ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पूर्वज लोग पाणिग्रहण करके उपकार करते आये हैं, इसी प्रकार वधूवर पाणिग्रहण करके प्रीति के साथ परस्पर हित करते हुये सन्तान आदि का पालन और धन की वृद्धि करें ॥ ४८ ॥

देवस्ते सविता हस्तं गृह्णातु सोमो राजा सुप्रजसं कृणोतु। अग्निः सुभगां जातवेदाः पत्ये पत्नीं जरदष्टिं कृणोतु ॥ ४९ ॥

४८—(येन) सामर्थ्येन (अग्निः) तेजस्वी पुरुषः (अस्याः) प्रत्यक्षायाः (भूम्याः) भूमिसमानधैर्यवत्याः स्वपत्न्याः (हस्तम्) करम् (जग्राह) गृहीतवान् (दक्षिणम्) द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५०। दक्ष गतिवृद्ध्योः—इनन्। बलवन्तम्। गतिमन्तम्। दक्षिणभागस्थम् (तेन) सामर्थ्येन (गृह्णामि) (ते) तव (हस्तम्) (मा व्यथिष्ठाः) व्यथां मा प्राप्नुहि (मया) (सह) (प्रजया) (च) (धनेन) च ॥

देवः । ते । सविता । हस्तम् । गृह्णातु । सोमः । राजा । सु-प्रजसम् । कृणोतु ॥ अग्निः । सु-भगाम् । जात-वेदाः । पत्ये । पत्नीम् । जरत्-अष्टिम् । कृणोतु ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(देवः) व्यवहार में चतुर, (सविता) सर्वप्रेरक [परमेश्वर] (ते हस्तम्) तेरे हाथ को (गृह्णातु) पकड़े [सहाय करे], (राजा) ऐश्वर्यवान् (सोमः) सर्वोत्पादक [परमात्मा] (सुप्रजसम्) सुन्दर सन्तान वाली (कृणोतु) करे । (जातवेदाः) धनों का प्राप्त कराने वाला (अग्निः) सर्वव्यापक [जगदीश्वर] (पत्ये) पति के लिये (पत्नीम्) पत्नी को (सुभगाम्) बड़े ऐश्वर्य वाली और (जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाली वा भोजन वाली (कृणोतु) करे ॥ ४९ ॥

भावार्थ—वधू वर सदा परमेश्वर की उपासना करके परस्पर सहाय करने, सन्तान को सुशिक्षित बलवान् बनाने, और धनों के सङ्ग्रह करने में तत्पर रहकर संसार में कीर्तिमान् होवें ॥ ४९ ॥

गृह्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः ।
भगो अर्यमा सविता पुरंधिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः ५०॥(५)

गृह्णामि । ते । सौभग-त्वाय । हस्तम् । मया । पत्या । जरत्-अष्टिः । यथा । असः ॥ भगः । अर्यमा । सविता । पुरम्-धिः । मह्यम् । त्वा । अदुः । गार्ह-पत्याय । देवाः ॥ ५०॥(५)

४९—(देवः) व्यवहारकुशलः (ते) तव (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (हस्तम्) (गृह्णातु) (सोमः) सर्वोत्पादकः (राजा) ऐश्वर्यवान् (सुप्रजसम्) सुसन्तानयुक्ताम् (कृणोतु) करोतु (अग्निः) सर्वव्यापको जगदीश्वरः (सुभगाम्) बह्वैश्वर्यवतीम् (जातवेदाः) जातानि प्राप्तानि वेदांसि धनानि यस्मात् सः (पत्ये) स्वामिने (पत्नीम्) (जरदष्टिम्) अ० २ । २८ । ५ । जरतेः स्तुतिकर्मणः [निरु० १० । ८]—जरत्+अशू व्याप्तौ, अश भोजने वा—क्तिन् । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्यास्तथाभूताम् (कृणोतु) ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (सौभगत्वाय) सौभाग्य [अर्थात् गृहाश्रम में सुख] के लिये (ते हस्तम्) तेरे हाथ को (गृह्णामि) मैं [पति] पकड़ता हूं, (यथा) जिससे (मया पत्या) मुझ पति के साथ (जरदष्टिः) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाली वा भोजन वाली (असः) तू रह। (भगः) सकल ऐश्वर्य वाले, (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने वाले, (सविता) सब का प्रेरणा करने वाले, (पुरन्धिः) सब जगत् का धारण करने वाले [परमेश्वर] और (देवाः) सब विद्वानों ने (मह्यम्) मुझको (त्वा) तुझे (गार्हपत्याय) गृहकार्य के लिये (अदुः) दिया है ॥ ५० ॥

भावार्थ—वधू वर परमेश्वर और विद्वानों को साक्षी करके परस्पर हाथ पकड़ कर दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि हम दोनों निष्कपट परस्पर सहायक होकर परमेश्वर और विद्वानों की मर्यादा पर चलकर गृहाश्रम का कर्तव्य सिद्ध करेंगे ॥ ५० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३६, और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका विवाह विषय पृष्ठ २०८ में व्याख्यात है ॥

भगस्ते हस्तमग्रहीत् सविता हस्तमग्रहीत् ।
पत्नी त्वमसि धर्मणाहं गृहपतिस्तव ॥ ५१ ॥

भगः । ते । हस्तम् । अग्रहीत् । सविता । हस्तम् । अग्रहीत् ॥
पत्नी । त्वम् । असि । धर्मणा । अहम् । गृह-पतिः । तव ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(भगः) ऐश्वर्यवान् [परमात्मा] ने (ते) तेरा (हस्तम्),

५०—(गृह्णामि) (ते) तव (सौभगत्वाय) सुभगत्वाय । गृहाश्रमे सुखप्राप्तये (हस्तम्) पाणिम् (मया) (पत्या) स्वामिना सह (जरदष्टिः) म० ४३ । स्तुत्या सह प्रवृत्तियुक्ता भोजनयुक्ता वा (यथा) येन प्रकारेण (असः) त्वं भवेः (भगः) सकलैश्वर्यसम्पन्नः (अर्यमा) श्रेष्ठानां मानकर्ता (सविता) सर्वप्रेरकः (पुरन्धिः) सर्वजगद्धारकः परमेश्वरः (मह्यम्) मदर्थम् (त्वा) त्वां वधूम् (अदुः) दत्तवन्तः (गार्हपत्याय) गृहकार्यसिद्धये (देवाः) विद्वांसः ॥

५१—(भगः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (ते) तव (हस्तम्) (अग्रहीत्)

हाथ (अग्रहीत्) पकड़ा है [सहाय किया है], (सविता) सर्वोत्पादक जगदीश्वर ने (हस्तम्) हाथ (अग्रहीत्) पकड़ा है । (धर्मणा) धर्म से, (त्वम्) तू (पत्नी) [मेरी] पत्नी [पालन करने वाली] (असि) है, (अहम्) मैं (तव) तेरा (गृहपतिः) गृहपति [घर का पालन करने वाला हूं] ॥ ५१ ॥

भावार्थ—पति पत्नी दृढ़ प्रतिज्ञा करें कि परमेश्वर के अनुग्रह से हम दोनों मिले हैं, हम दोनों मिलकर गृहाश्रम में धर्म मार्ग पर चलेंगे और परस्पर सहाय करेंगे ॥ ५१ ॥

ममे॒यम॑स्तु॒ पोष्या॒ मह्यं॑ त्वादा॒द् बृह॒स्पतिः॑ ।

मया॒ पत्या॑ प्रजावति॒ सं जी॑व श॒रदः॑ श॒तम् ॥ ५२ ॥

मम॑ । इ॒यम् । अ॒स्तु॒ । पोष्या॑ । मह्य॑म् । त्वा॒ । अ॒दा॒त् । बृह॒स्पतिः॑ ॥ मया॑ । पत्या॑ । प्र॒जा॒ऽव॒ति॒ । सम् । जी॒व॒ । श॒रदः॑ । श॒तम् ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह [पत्नी] (मम) मेरे (पोष्या) पोषणयोग्य (अस्तु) होवे, (मह्यम्) मुझ को (त्वा) तुझे (बृहस्पतिः) बड़े लोकों के स्वामी [परमात्मा] ने (अदात्) दिया है । (प्रजावति) हे श्रेष्ठ प्रजा वाली ! तू (मया पत्या) मुझ पति के साथ (सम्) मिलकर (शतम्) सौ (शरदः) वर्षों तक (जीव) जीती रहे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—पति को योग्य है कि वस्त्र, अलंकार आदि पदार्थों से पत्नी का सन्मान करता रहे, जिससे दम्पती प्रसन्न रहकर सन्तान आदि का पोषण पालन करते हुये पूर्ण आयु भोगें ॥ ५२ ॥

गृहीतवान् (सविता) सर्वोत्पादको जगदीश्वरः (हस्तम्) (अग्रहीत्) (पत्नी) पालयित्री (त्वम्) (असि) (धर्मणा) शास्त्रविहितकर्मणा (अहम्) (गृहपतिः) गृहस्वामी (तव) ॥

५२—(मम) (इयम्) पत्नी (अस्तु) (पोष्या) पोषणीया (मह्यम्) पत्ये (त्वा) त्वां पत्नीम् (अदात्) दत्तवान् (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालकः परमात्मा (मया) (पत्या) भर्त्रा (प्रजावति) हे सन्तानसेवकादियुक्ते (सम्) मिलित्वा (जीव) प्राणान् धारय (शरदः) वर्षाणि (शतम्) ॥

त्वष्टा वासो व्यदधाच्छुभे कं बृहस्पतेः प्रशिषा कवीनाम् ।
तेनेमां नारीं सविता भगश्च सूर्यामिव परि धत्तां प्रजया ॥५३॥

त्वष्टा । वासः । वि अदधात् । शुभे । कम् । बृहस्पतेः । प्र-शिषा । कवीनाम् ॥ तेन । इमाम् । नारीम् । सविता । भगः । च । सूर्याम्-इव । परि । धत्ताम् । प्र-जया ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्शी [आचार्य] (बृहस्पतेः) बड़ी वेद-वाणियों की रक्षिका [बृहस्पति पदवी वाली स्त्री] के (शुभे) शुभ [आनन्द] के लिये (कवीनाम्) बुद्धिमानों की (प्रशिषा) अनुमति से (कम्) आनन्द के साथ (वासः) वस्त्र [वेष] (वि) विशेष करके (अदधात्) दिया है । (तेन) इस कारण से (सूर्याम् इव) सूर्य की चमक के समान [शोभायमान] (इमाम् नारीम्) इस नारी [नर की पत्नी] को (सविता) प्रेरक विद्वानों का समूह (च) और (भगः) ऐश्वर्यवान् पति, दोनों (प्रजया) प्रजा [सन्तान सेवक आदि] के साथ (परि) सब ओर से (धत्ताम्) धारण करें ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जिस विदुषी स्त्री ने विद्या प्राप्त करके विद्वानों के समाज में बृहस्पति, स्नातक आदि पदवी लेकर विद्यासूचक वस्त्र अर्थात् वेष प्राप्त किया हो, विद्वान् लोग और पति उसकी सदा प्रतिष्ठा करें जिससे वह उत्तम प्रजा वाली होवे ॥ ५३ ॥

इन्द्राग्नी द्यावापृथिवी मातरिश्वा मित्रावरुणा भगो अश्विनोभा । बृहस्पतिर्मरुतो ब्रह्म सोम इमां नारीं प्रजया वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

५३—(त्वष्टा) सूक्ष्मदर्श्याचार्यः (वासः) वस्त्रम् । वेषम् (वि) विशेषेण (अदधात्) दत्तवान् (शुभे) शुभाय । सुखाय (कम्) (बृहस्पतेः) बृहतीनां वेदवाणीनां रक्षिकायाः । बृहस्पतिपदवीयुक्तायाः स्त्रियाः (प्रशिषा) अनुमत्या (कवीनाम्) मेधाविनाम् (तेन) कारणेन (इमाम्) प्रसिद्धाम् (नारीम्) नरपत्नीम् (सविता) प्रेरको विद्वत्समूहः (भगः) ऐश्वर्यवान् पतिः (च) (सूर्याम् इव) सूर्यदीप्तिमिव शोभायमानाम् (परि) सर्वतः (धत्ताम्) धारयताम् (प्रजया) सन्तानसेवकादिना सह ॥

इन्द्राग्नी इति । द्यावापृथिवी इति । मातरिश्वा । मित्रावरुणा । भगः । अश्विना । उभा ॥ बृहस्पतिः । मरुतः । ब्रह्म । सोमः । इमाम् । नारीम् । प्र-जया । वर्धयन्तु ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राग्नी) बिजुली और लौकिक अग्नि, (द्यावापृथिवी) सूर्य और भूमि, (मित्रावरुणा) प्राण और अपान, (उभा) दोनों (अश्विना) दिन और रात्रि, (मातरिश्वा) आकाश में चलने वाला [सूत्रात्मा वायु,], (बृहस्पतिः) बड़े लोकों का रक्षक [आकाश], (सोमः) चन्द्रमा, (भगः) सेवनीय यश, (ब्रह्म) अन्न, और (मरुतः) विद्वान् लोग (इमाम् नारीम्) इस नारी को (प्रजया) प्रजा [सन्तान, सेवक आदि] से (वर्धयन्तु) बढ़ावें । ५४ ।

भावार्थ—विदुषी स्त्री और विद्वान् पुरुष को योग्य है कि संसार के सब पदार्थों को उपयोगी बनाकर सन्तान आदि की वृद्धि युक्त करें ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिः प्रथमः सूर्यायाः शीर्षे केशाँ अकल्पयत् ॥
तेनेमामश्विना नारीं पत्ये सं शोभयामसि ॥ ५५ ॥

बृहस्पतिः । प्रथमः । सूर्यायाः । शीर्षे । केशान् । अकल्पयत् ॥
तेन । इमाम् । अश्विना । नारीम् । पत्ये । सम् । शोभयामसि ५५

भाषार्थ—(प्रथमः) पहिले से ही वर्तमान (बृहस्पतिः) बड़े बड़े लोकों के स्वामी [परमेश्वर] ने (सूर्यायाः) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या के (शीर्षे) मस्तक पर (केशान्) केशों को (अक-

---

५४—(इन्द्राग्नी) विद्युत्पावकौ (द्यावापृथिवी) सूर्यभूमिलोकौ (मातरिश्वा) आकाशे गमनशीलः सूत्रात्मा वायुः (मित्रावरुणा) प्राणापानौ (भगः) सेवनीयं यशः (अश्विना) अहोरात्रौ (उभा) द्वौ (बृहस्पतिः) बृहतां लोकानां पालक आकाशः (मरुतः) विद्वांसः (ब्रह्म) अन्नम् (सोमः) चन्द्रः (इमाम्) विदुषीम् (नारीम्) नरपत्नीम् (प्रजया) सन्तानसेवकादिना (वर्धयन्तु) उन्नयन्तु ॥

५५—(बृहस्पतिः) महतां लोकानां पालकः परमेश्वरः (प्रथमः) अग्रे वर्तमानः (सूर्यायाः) प्रेरिकायाः सूर्यवत्तेजस्विन्याः कन्यायाः (शीर्षे) मस्तके

रूपयत्) बनाया है। (तेन) इस [कारण] से (अश्विना) हे विद्या को प्राप्त दोनों [स्त्री पुरुषों के समाज!] (इमाम् नारीम्) इस नारी को (पत्ये) पति के लिये (सम्) ठीक ठीक (शोभयामसि) हम शोभायमान करते हैं॥५५॥

भावार्थ—परमेश्वर ने शिर के केशों और वैसे ही शरीर के अंगों को अपने अपने प्रयोजन के लिये सुडौल बनाया है। गुरुजनों को योग्य है कि वधू वर को संसार के हित के लिये विद्या सुशीलता आदि से सुशिक्षित करें कि वे अपने शरीर के अंगों को सुडौल और हृष्ट पुष्ट रक्खें॥५५॥

इदं तद्रूपं यदवस्त योषा जायां जिज्ञासे मनसा चरन्तीम्। तामन्वर्तिष्ये सखिभिर्नवग्वैः क इमान् विद्वान् वि चचर्त पाशान्॥५६॥

इदम्। तत्। रूपम्। यत्। अवस्त। योषा। जायाम्। जिज्ञासे। मनसा। चरन्तीम्॥ ताम्। अनु। अर्तिष्ये। सखि-भिः। नव-ग्वैः। कः। इमान्। विद्वान्। वि। चचर्त। पाशान्॥५६॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (तत्) वह (रूपम्) रूप [सुन्दरता व स्वभाव] है, (यत्) जिसको (योषा) सेवनीय (वधू) ने (अवस्त) धारण किया है, (मनसा) विज्ञान के साथ (चरन्तीम्) चलती हुई (जायाम्) पत्नी को (जिज्ञासे) मैं जानना चाहता हूं। (नवग्वैः) स्तुति योग्य चरित्र वाले अथवा नवीन नवीन विद्या को प्राप्त करने और कराने हारे (सखिभिः) मित्रों

(केशान्) (अकल्पयत्) रचितवान् (तेन) कारणेन (इमाम्) विदुषीम् (अश्विनौ) हे प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषसमूहौ (नारीम्) नरपत्नीम् (पत्ये) स्वामिने (सम्) सम्यक् (शोभयामसि) शोभयामः। भूषयामः॥

५६—(इदम्) इदानीं वर्तमानम् (तत्) दृश्यमानम् (रूपम्) सौन्दर्यम्। स्वभावः (यत्) (अवस्त) आच्छादितवती। अधारयत् (योषा) वृतॄवदिवचि०। उ० ३। ६२। यु मिश्रणामिश्रणयोः—सप्रत्ययः। यद्वा जुष सेवने-अच्, टाप्। मिश्रणयोग्या। सेवनीया पत्नी (जायाम्) पुत्रोत्पादिकां पत्नीम् (जिज्ञासे) ज्ञातुमिच्छामि (मनसा) मननेन। विज्ञानेन सह (चरन्तीम्) चलन्तीम् (ताम्) पत्नीम् (अनु) अनुसृत्य (अर्तिष्ये) ऋत गतौ। गमिष्यामि

के सहित (ताम् अनु) उस [पत्नी] के साथ साथ (अतिष्ये) मैं चलूंगा, (विद्वान्) विद्वान् (कः) प्रजापति [परमेश्वर] ने (इमान् पाशान्) इन [अविद्या के] फंदों को (वि चचर्त) खोल दिया है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—विद्या सुशीलता आदि गुणों से सुभूषित पतिपत्नी सुयोग्य इष्ट मित्रों सहित शुभ गुणों का आदर करके परस्पर हित करें और परमेश्वर को धन्यवाद दें कि जिसके अनुग्रह से ऐसा शुभ अवसर मिला है ॥ ५६ ॥

अहं वि ष्यामि मयि रूपमस्या वेददित् पश्यन् मनसः कुलायम् । न स्तेयमद्मि मनसोदमुच्ये स्वयं श्रश्नानो वरुणस्य पाशान् ॥ ५७ ॥

अहम् । वि । स्यामि । मयि । रूपम् । अस्याः । वेदत् । इत् । पश्यन् । मनसः । कुलायम् ॥ न । स्तेयम् । अद्मि । मनसा । उत् । अमुच्ये । स्वयम् । श्रश्नानः । वरुणस्य । पाशान् ॥५७॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [पत्नी] के (रूपम्) रूप [स्वभाव वा सौन्दर्य] को (मनसः) अपने मन का (कुलायम्) आधार (वेदत्) जानता हुआ और (पश्यन्) देखता हुआ (इत्) ही (अहम्) मैं [वर] (मयि) अपने में (वि ष्यामि) निश्चय करके धारण करता हूं । (स्तेयम्) चोरी के पदार्थ को (न) नहीं (अद्मि) खाता हूं, (मनसा) विज्ञान के साथ (वरु-

---

(सखिभिः) मित्रैः (नवग्वैः) णु स्तुतौ—अप्+गम्लृ गतौ—ड्वप्रत्ययः । नवग्वाः=नवगतयो नवनीतगतयो वा—निरु० ११ । १९ । स्तोतव्यचरित्रैः । नवशिक्षाविद्याप्राप्तैः प्रापयितृभिश्च (कः) सर्वकर्ता प्रजापतिः (इमान्) विद्यमानान् (विचचर्त) चृती हिंसाग्रन्थनयोः—लिट् । विमोचितवान् (पाशान्) अविद्याबन्धान् ॥

५७—(अहम्) वरः (वि ष्यामि) व्यवसायेन निश्चयेन धारयामि (मयि) आत्मनि (रूपम्) स्वभावम् । सौन्दर्यम् (अस्याः) पत्न्याः (वेदत्) विदन् । जानन् (इत्) एव (पश्यन्) अवलोकयन् (मनसः) अन्तःकरणस्य (कुलायम्) आधारम् (न) निषेधे (स्तेयम्) स्तेन—यत्, नलोपः । चौर्यपदार्थम् (अद्मि) भक्षयामि (मनसा) विज्ञानेन (उत्) उत्कर्षेण

णस्य) रुकावट [अर्थात् विघ्न] के (पाशात्) फन्दों को (स्वयम्) अपने आप [अर्थात् पुरुषार्थ से] (श्रथ्नानः) ढीला करता हुआ (उत् अमुच्ये) मैं छूट गया हूं ॥ ५७ ॥

भावार्थ—विद्वान् पति पत्नी परस्पर उत्तम गुण स्वभाव को हृदय में धारण करके विचार पूर्वक विघ्नों को हटाकर निष्कपट होकर उन्नति करें ॥५७॥

प्र त्वा मुञ्चामि वरुणस्य पाशाद् येन त्वाबध्नात् सविता सुशेवाः।
उरुं लोकं सुगमत्र पन्थां कृणोमि तुभ्यं सहपत्न्यै वधु ॥ ५८ ॥

प्र । त्वा । मुञ्चामि । वरुणस्य । पाशात् । येन । त्वा । अबध्नात् । सविता । सु-शेवाः ॥ उरुम् । लोकम् । सु-गम् । अत्र । पन्थाम् । कृणोमि । तुभ्यम् । सह-पत्न्यै । वधु ॥५८॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (त्वा) तुझे (वरुणस्य) रुकावट [विघ्न] के (पाशात्) बन्धन से (प्र मुञ्चामि) मैं [वर] अच्छे प्रकार छुड़ाता हूं, (येन) जिसके साथ (त्वा) तुझे (सुशेवाः) अत्यन्त सेवा योग्य (सविता) जन्म दाता पिता ने (अबध्नात्) बांधा है । (वधु) हे वधू ! (सहपत्न्यै) पति के साथ वर्तमान (तुभ्यम्) तेरे लिये (अत्र) यहां [गृहाश्रम में] (उरुम्) चौड़ा (लोकम्) घर और (सुगम्) सुगम (पन्थाम्) मार्ग (कृणोमि) मैं [पति] बनाता हूं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जिस कन्या को पिता ने योग्य पति के मिलने तक रोका था, वह कन्या योग्य पति के साथ सुखपूर्वक सुप्रबन्ध करके गृहाश्रम का कर्तव्य करे और उसी प्रकार पति भी पुरुषार्थ करके पत्नी के साथ प्रीति से रहे ॥५८॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऊपर मन्त्र १९ में आ चुका है ॥ ५८ ॥

(अमुच्ये) मुक्तोऽस्मि (स्वयम्) आत्मना । पुरुषार्थेन (श्रथ्नानः) शिथिलीकुर्वन् (वरुणस्य) आवरणस्य । विघ्नस्य (पाशात्) बन्धात् ॥

५८—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—म० १९ (उरुम्) विस्तृतम् (लोकम्) गृहम् (सुगम्) सुखेन गन्तव्यम् (अत्र) अस्मिन् गृहाश्रमे (पन्थाम्) पन्थानम् (कृणोमि) करोमि (तुभ्यम्) (सहपत्न्यै) पत्या सह वर्तमानायै (वधु) हे पत्नि ॥

उद्यच्छध्वमप रक्षो हनाथेमां नारीं सुकृते दधात। धाता विपश्चित् पतिमस्यै विवेद भगो राजा पुर एतु प्रजानन् ५९

उत्। यच्छध्वम्। अप। रक्षः। हनाथ। इमाम्। नारीम्। सु-कृते। दधात॥ धाता। विपः-चित्। पतिम्। अस्यै। विवेद। भगः। राजा। पुरः। एतु। प्र-जानन्॥५९॥

भाषार्थ—[हे वीरो! शस्त्रों को] (उत् यच्छध्वम्) उठाओ, (रक्षः) राक्षसों को (अप हनाथ) मार हटाओ, (इमां नारीम्) इस नारी [नर की पत्नी] को (सुकृते) सुकृत [पुण्य कर्म] में (दधात) धारण करो। (विपश्चित्) बुद्धिमान् (धाता) धारण करने वाले [परमेश्वर] ने (अस्यै) इस [वधू] के लिये (पतिम्) पति (विवेद) प्राप्त कराया है, (प्रजानन्) पहिले से जानने वाला (राजा) प्रकाशमान (भगः) ऐश्वर्यवान् [परमात्मा] (पुरः) आगे (एतु) प्राप्त होवे॥ ५९॥

भावार्थ—धर्मात्मा वीर लोग प्रयत्न के साथ विघ्नों से पृथक् करके वधू वर को धर्म में प्रवृत्त रक्खें, और परमात्मा का सदा ध्यान करें कि जिस ने कृपा करके विद्वान् पति पत्नी को मिलाया है, वही उनका सदा सहाय करे ५९

भगस्ततक्ष चतुरः पादान् भगस्ततक्ष चत्वार्युष्पलानि।
त्वष्टा पिपेश मध्यतोऽनु वर्ध्रान्त्सा नो अस्तु सुमङ्गली॥६०॥

५९—(उत् यच्छध्वम्) शस्त्राणि उन्नयत (रक्षः) राक्षसम्। विघ्नम् (अप हनाथ) लेटि रूपम्। दूरं हत। मारयत (इमाम्) विदुषीम् (नारीम्) नरस्य पत्नीम् (सुकृते) पुण्यकर्मणि (दधात) धारयत (धाता) धारकः परमेश्वरः (विपश्चित्) मेधावी (पतिम्) भर्तारम् (अस्यै) वध्वै (विवेद) प्रापितवान् (भगः) ऐश्वर्यवान् जगदीश्वरः (राजा) दीप्यमानः (पुरः) पुरस्तात्। अग्रे (एतु) गच्छतु (प्रजानन्) अग्रे विदन्॥

भगः । ततक्ष । चतुरः । पादान् । भगः । ततक्ष । चत्वारि । उष्पलानि ॥ त्वष्टा । पिपेश । मध्यतः । अनु । वर्ध्रान् । सा । नः । अस्तु । सु-मङ्गली ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(भगः) भगवान् [ऐश्वर्यवान जगदीश्वर] ने (चतुरः) चार [धर्म अर्थ काम मोक्ष रूप] (पादान्) प्राप्ति योग्य पदार्थ (ततक्ष) रचे हैं, (भगः) भगवान् ने (चत्वारि) चार [ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और संन्यास आश्रम रूप] (उष्पलानि) हिंसा से बचाने वाले कर्म (ततक्ष) बनाये हैं । (त्वष्टा) विश्वकर्मा [परमेश्वर] ने (मध्यतः) बीच में [स्त्री पुरुषों के भीतर] (वर्ध्रान्) वृद्धिव्यवहारों की (अनु) अनुकूल (पिपेश) व्यवस्था की है, (सा) वह [वधू] (नः) हमारे लिये (सुमङ्गली) सुमङ्गली [बड़ी आनन्द देने वाली] (अस्तु) होवे ॥ ६० ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने वेदों द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष और उनके साधन ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों का उपदेश कर के संसार के उपकार के लिये स्त्री पुरुषों को ज्ञान और बुद्धि रूप वृद्धि का सामर्थ्य दिया है ॥ ६० ॥

सुकिंशुकं वहतुं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम् । आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पतिभ्यो वहतुं कृणु त्वम् ॥ ६१ ॥

सु-किंशुकम् । वहतुम् । विश्व-रूपम् । हिरण्य-वर्णम् । सु-वृतम् । सु-चक्रम् ॥ आ । रोह । सूर्ये । अमृतस्य । लोकम् । स्योनम् । पति-भ्यः । वहतुम् । कृणु । त्वम् ॥ ६१ ॥

६०—(भगः) ऐश्वर्यवान् परमात्मा (ततक्ष) रचितवान् (चतुरः) चतुःसंख्याकान् धर्मार्थकाममोक्षान् (पादान्) प्राप्तव्यान् पदार्थान् (भगः) (ततक्ष) (चत्वारि) चतुःसंख्याकानि ब्रह्मचर्यगृहस्थवानप्रस्थसंन्यासाश्रमरूपाणि (उष्पलानि) उष दाहे हिंसायां च—क्विप्+पल रक्षणे—अच् । उषो हिंसनाद् रक्षककर्माणि (त्वष्टा) विश्वकर्मा परमेश्वरः (पिपेश) पिश अवयवे व्यवस्थायां च । व्यवस्थापितवान् (मध्यतः) स्त्रीपुरुषयोर्मनसि (अनु) अनुकूलम् (वर्ध्रान्) वृधिवपिभ्यां रन् । उ० २ । २७ । वृधु वृद्धौ—रन् । वृद्धिव्यवहारान् (सा) वधूः (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (सुमङ्गली) अत्यन्तसुखदायिनी ॥

भावार्थ—(सूर्ये) हे प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] वधू ! (सुकिंशुकम्) अच्छे चमकते वाले [अग्नि वा बिजुली वाले] वा बहुत प्रशंसनीय चाल वाले, (विश्वरूपम्) नाना रूपों वाले [शुक्ल, नील, पीत, रक्त आदि वर्ण वाले, अथवा ऊंचे नीचे मध्यम स्थान वाले], (हिरण्यवर्णम्) सुवर्ण के लिये चाहने योग्य, (सुवृतम्) अच्छे घूमने वाले [सब ओर मुड़ जाने वाले], (सुचक्रम्) सुन्दर [दृढ़, शीघ्रगामी] पहियों वाले (वहतुम्) रथ पर [गृहाश्रम रूप गाड़ी पर] (त्वम्) तू (आ रोह) चढ़, और (पतिभ्यः) पति कुल वालों के लिये (वहतुम्) [अपने] पहुंचने को (अमृतस्य) अमरपन [पुरुषार्थ] का (स्योनम्) सुखदायक (लोकम्) लोक [संसार वा स्थान] (कृणु) बना ॥ ६१ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर महारथी धन धान्य से परिपूर्ण सुदृढ़ रथ पर अपने साथियों सहित चढ़ कर इच्छानुसार विचर कर कार्य सिद्धि करता है, वैसे ही समझदार स्त्री तथा पुरुष गृहाश्रम में प्रवेश कर के सुप्रबन्ध से अपने कुटुम्बियों सहित सुख भोगें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । २०, तथा महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि विवाह प्रकरण में रथ पर वधू को वर के चढ़ा ले आने में विनियुक्त है, और निरुक्त १२ । ८ में व्याख्यात है ॥

अभ्रातृघ्नीं वरुणापशुघ्नीं बृहस्पते ।

इन्द्रापतिघ्नीं पुत्रिणीमास्मभ्यं सवितर्वह ॥ ६२ ॥

६१—(सुकिंशुकम्) सुकिंशुकम्=सुकाशनम्, किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः—निरु० १२ । ८ । यद्वा, कायतेर्डिमिः । उ० ४ । १५८ । सु+कै शब्दे —डिमि+शुक गतौ—क । अतिशयेन प्रकाशमानमग्निविद्युत्प्रयोगेण । अतिशयेन प्रशंसनीयगतिमन्तम् (वहतुम्) वहनसाधनं रथम् (विश्वरूपम्) शुक्लनीलपीतरक्तादिवर्णयुक्तम्, अथवा, उच्चनीचमध्याकारयुक्तम् (हिरण्यवर्णम्) हिरण्याय सुवर्णाय वरणीयं स्वीकरणीयम् (सुवृतम्) सर्वतो वर्तनशीलम् (सुचक्रम्) दृढशीघ्रगामिचक्रयुक्तम् (आरोह) आतिष्ठ (सूर्ये) हे प्रेरणशीले । सूर्यदीप्तिवत्तेजोयुक्ते (अमृतस्य) अमरणस्य । पुरुषार्थस्य (लोकम्) संसारम् । स्थानम् (स्योनम्) सुखप्रदम् (पतिभ्यः) पतिपक्षेभ्यः (वहतुम्) वहनम् । स्वप्रापणम् (कृणु) कुरु (त्वम्) ॥

अभ्रातृ-घ्नीम् । वरुण । अपशु-घ्नीम् । बृहस्पते ॥ इन्द्र । अपति-घ्नीम् । पुत्रिणीम् । आ । अस्मभ्यम् । सवितः । वह ॥६२

भाषार्थ—(वरुण) हे श्रेष्ठ ! (बृहस्पते) हे वेदवाणी के रक्षक ! (इन्द्र) हे बड़े ऐश्वर्य वाले ! (सवितः) हे प्रेरणा करने वाले [वर !] (अभ्रातृघ्नीम्) भाइयों को न सताने वाली, (अपशुघ्नीम्) पशुओं को न मारने वाली, (अपतिघ्नीम्) पति को न दुःख देने वाली और (पुत्रिणीम्) श्रेष्ठ पुत्रों की उत्पन्न करने वाली [वधू] को (अस्मभ्यम्) हमारे हित के लिये (आ वह) तू ले चल ॥ ६२ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् लोग आशीर्वाद देवें कि विद्वान् समर्थ वर विदुषी व्यवहारकुशल वधू को गृहाश्रम की सिद्धि के लिये आदर पूर्वक ग्रहण करे ॥६२॥

इस मन्त्र का मिलान करो—ऋग्वेद १० । ८५ । ४४ ॥

मा हिंसिष्टं कुमार्यं१ स्थूणे देवकृते पथि ।
शालाया देव्या द्वारं स्योनं कृण्मो वधूपथम् ॥ ६३ ॥

मा । हिंसिष्टम् । कुमार्यम् । स्थूणे इति । देव-कृते । पथि ॥ शालायाः । देव्याः । द्वारम् । स्योनम् । कृण्मः । वधू-पथम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(स्थूणे) हे दोनों स्थिर स्वभाव वाली [स्त्री पुरुषों की पङ्क्ति !] (कुमार्यम्) कुमारी [कन्या अर्थात् वधू] को (देवकृते) विद्वानों के बनाये (पथि) मार्ग में (मा हिंसिष्टम्) मत कष्ट पाने दो । (देव्याः) व्यवहार

६२—(अभ्रातृघ्नीम्) हन्तेः कः, मूलविभुजादित्वात् । भ्रातॄणामहन्त्रीं सुखप्रदाम् (वरुण) हे श्रेष्ठ (अपशुघ्नीम्) पशूनां सुखयित्रीम् (बृहस्पते) बृहत्या वेदवाण्या रक्षक (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (अपतिघ्नीम्) पत्युर्मोदयित्रीम् (पुत्रिणीम्) श्रेष्ठपुत्राणां जनयित्रीम् (अस्मभ्यम्) अस्माकं पितृपक्षाणां हिताय (सवितः) हे प्रेरक वर (आ वह) आनय ॥

६३—(मा हिंसिष्टम्) दुःखं मा प्रापयतम् (कुमार्यम्) कुमारीम् । वधूम् (स्थूणे) रास्नासास्नास्थूणावीणाः । उ० ३ । १५ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ-नप्रत्ययः, टाप्, आकारस्य ऊत्वं नस्य णत्वं च । हे स्थिरस्वभावे स्त्रीपुरुषपङ्क्ती (देव-

योग्य (शालायाः) शाला के (स्योनम्) सुखदायक (द्वारम्) द्वार को (वधूपथम्) वधू का मार्ग (कृणमः) हम बनाते हैं ॥ ६३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष प्रयत्न करें कि पितृकुल से पृथक् होकर वधू प्रसन्न रहे और जैसे सुन्दर स्वच्छ शाला के सुन्दर स्वच्छ द्वार में होकर जाने आने में सुख होता है, वैसे ही सुप्रबन्ध वाले गृहाश्रम में वधू को सुख मिले ॥ ६३ ॥

ब्रह्मापरं युज्यतां ब्रह्म पूर्वं ब्रह्मान्ततो मध्यतो ब्रह्म सर्वतः । अनाव्याधां देवपुरां प्रपद्य शिवा स्योना पतिलोके वि राज ॥ ६४ ॥ (६)

ब्रह्म । अपरम् । युज्यताम् । ब्रह्म । पूर्वम् । ब्रह्म । अन्ततः । मध्यतः । ब्रह्म । सर्वतः ॥ अनाव्याधाम् । देव-पुराम् । प्र-पद्य । शिवा । स्योना । पति-लोके । वि । राज ॥६४॥ (६)

भाषार्थ—(ब्रह्म) ब्रह्म [परब्रह्म परमात्मा] (पूर्वम्) पहिले, (ब्रह्म) ब्रह्म (अपरम्) पीछे, (ब्रह्म) ब्रह्म (अन्ततः) अन्त में और (मध्यतः) मध्य में, और (ब्रह्म) ब्रह्म (सर्वतः) सर्वत्र (युज्यताम्) ध्यान किया जावे। [हे वधू !] (अनाव्याधाम्) छेदन रहित [अटूट, दृढ़] (देवपुराम्) देवताओं [विद्वानों] के गढ़ में (प्रपद्य) पहुंचकर (शिवा) कल्याणकारिणी और (स्योना) सुखदायिनी तू (पतिलोके) पतिलोक [पति के समाज] में (वि राज) विराजमान हो ॥ ६४ ॥

भावार्थ—वधू तथा वर को योग्य है कि परमात्मा को सब स्थानों और

कृते) विदुषां रचिते (पथि) मार्गे (शालायाः) (देव्याः) व्यवहारयोग्यायाः (स्योनम्) सुखप्रदम् (कृणमः) कुर्मः (वधूपथम्) वधूगमनमार्गम् ॥

६४—(ब्रह्म) परमेश्वरः (अपरम्) पश्चात् (युज्यताम्) समाधीयताम् (ब्रह्म) (पूर्वम्) अग्रे (ब्रह्म) (अन्ततः) अन्ते (मध्यतः) मध्ये (ब्रह्म) (सर्वतः) सर्वत्र (अनाव्याधाम्) व्यध ताडने—घञ्। छेदनरहिताम्। सुदृढाम् (देवपुराम्) विदुषां दुर्गम् (प्रपद्य) प्राप्य (शिवा) कल्याणकारिणी (स्योना) सुखदायिनी (पतिलोके) पतिसमाजे (वि राज) विराजमाना भव ॥

सब कालों में प्रत्यक्ष जानकर वीरता और निर्विघ्नता से गृहाश्रम में अपने कर्तव्यों को प्रसन्न होकर पूरा करें ॥ ६४ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २ ॥

१—७५ ॥ दम्पती देवते ॥ १—४, ७, ८, १०, ११, १५, १६, २१—२३, २७—३०, ५३—५८, ६३—६६, ७२, ७३, अनुष्टुप् ; ५ जगती ; ६ निचृज्जगती ; ९ त्र्यवसाना षट्पदा भुरिगष्टिः ; १२ निचृदार्षी जगती ; १३, ३५, ४३ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ; १४, १७—१९, ३४, ३८, ४२, ७०; ७४, ७५ त्रिष्टुप् ; २० स्वराडनुष्टुप् ; २४ विराट् त्रिष्टुप्, २५, ३६, ४१, ४९, निचृत् त्रिष्टुप् ; २६ त्रिपदा विराड् गायत्री ; ३१, ३९ स्वराट् त्रिष्टुप् ; ३२, ३७ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ३३ भुरिगुपरिष्टाद् बृहती ; ४० स्वराड् जगती ; ४४ निचृत् प्रस्तारपङ्क्तिः ; ४५, ४६, ५१; ६७ भुरिगनुष्टुप् ; ४७ पथ्या बृहती ; ४८ आर्षी पङ्क्ति ; ५० निचृदुपरिष्टाद् बृहती ; ५२ विराट् परोष्णिक् ; ५९, ६०, ६२ पथ्या पङ्क्तिः, ६१ भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः; ६८, पुर उष्णिक्, ६९ त्र्यवसाना षट्पदाऽतिशक्वरी; ७१ निचृत्पथ्या पङ्क्तिश्छन्दः ॥

गृहाश्रमोपदेशः—गृह आश्रम का उपदेश

तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह ।
स नः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह ॥ १ ॥

तुभ्यम् । अग्रे । परि । अवहन् । सूर्याम् । वहतुना । सह ॥
सः । नः । पति-भ्यः । जायाम् । दाः । अग्ने । प्र-जया । सह ॥ १

भाषार्थ—(अग्ने) हे सर्वज्ञ परमात्मन् ! (अग्रे) पहिले से वर्तमान (तुभ्यम्) तेरे लिये [तेरी आज्ञा पालन के लिये] (सूर्याम्) प्रेरणा करने

१—(तुभ्यम्) तवाज्ञापालनाय (अग्रे) आदौ वर्तमानाय (परि) सर्वतः (अवहन) प्रापितवन्तो विद्वांसः (सूर्याम) प्रेरयित्रीम् । सूर्यदीप्तिव-

वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] कन्या को (वहतुना सह) दाय [यौतुक, अर्थात् विवाह में दिये हुये पदार्थ] के साथ (परि) सब प्रकार से (अवहन्) वे [विद्वान् लोग] लाये हैं, (सः) सो तू [हे परमेश्वर !] (नः पतिभ्यः) हम पतिकुल वालों के हित के लिये (जायाम्) इस पत्नी को (प्रजया सह) प्रजा [सन्तान सेवक आदि] के साथ (दाः) दे ॥ १ ॥

भावार्थ—अनादि परमात्मा की उपासना कर के विद्वान् लोग गुणवती कन्या को यौतुक आदि के साथ पति कुल में आनन्द से रहने के लिये आशीर्वाद देवें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३८, और महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में वधू वर के यज्ञकुण्ड की प्रदक्षिणा करने में उद्धृत है ॥

पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा ।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ २ ॥

पुनः । पत्नीम् । अग्निः । अदात् । आयुषा । सह । वर्चसा ॥
दीर्घ-आयुः । अस्याः । यः । पतिः । जीवाति । शरदः । शतम् २

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (आयुषा) आयु और (वर्चसा सह) तेज के साथ (पत्नीम्) पत्नी को (पुनः) निश्चय करके (अदात्) दिया है । (अस्याः) इस [पत्नी] का (यः) जो (पतिः) पति है, [वह] (दीर्घायुः) दीर्घ आयु वाला होकर (शतम् शरदः) सौ वर्षों तक (जीवाति) जीता रहे ॥ २ ॥

तेजस्विनीं कन्याम् (वहतुना) विवाहकाले देयपदार्थेन (सह) (सः) स त्वं परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (पतिभ्यः) पतिकुलस्थानां हिताय (जायाम्) पत्नीम् (दाः) देहि (अग्ने) अगि गतौ—नि, नलोपः । हे सर्वज्ञ परमात्मन् (प्रजया) सन्तानसेवकादिना (सह) ॥

२—(पुनः) निश्चयेन (पत्नीम्) (अग्निः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (अदात्) दत्तवान् (आयुषा) जीवनेन (सह) (वर्चसा) (दीर्घायुः) चिरंजीवी (अस्याः) पत्न्याः (यः) (पतिः) (जीवाति) जीवतु (शरदः) संवत्सरान् (शतम्) ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर के अनुग्रह से आयुष्मती पुण्यवती वधू प्राप्त हुयी है, उस परमात्मा से बुद्धिमान् लोग प्रार्थना करें कि उसका पति भी यश और कीर्ति के साथ पूर्ण आयु भोगे ॥२ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३९ ॥

सोमस्य जाया प्रथमं गन्धर्वस्तेऽपरः पतिः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥ ३ ॥

सोमस्य । जाया । प्रथमम् । गन्धर्वः । ते । अपरः । पतिः ।
तृतीयः । अग्निः । ते । पतिः । तुरीयः । ते । मनुष्य-जाः ॥ ३ ॥

१—सामान्य अर्थ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (सोमस्य) सोम [शान्ति आदि शुभ गुण] की (जाया) उत्पत्ति स्थान (प्रथमम्) पहिले [पहिली अवस्था में] [तू है], (गन्धर्वः) गन्धर्व [वेदवाणी का धारण करने वाला गुण] (ते) तेरा (अपरः) दूसरा (पतिः) पति [रक्षक] है । (अग्निः) अग्नि [अर्थात् विद्या और शरीर का तेज] (ते) तेरा (तृतीयः) तीसरा (पतिः) पति [रक्षक] है, और (मनुष्यजाः) मनुष्य [अर्थात् मनन शीलों में उत्पन्न विद्वान् युवा पुरुष] (ते) तेरा (तुरीयः) चौथा [पति] है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब कन्या ब्रह्मचर्य से पहिली, दूसरी और तीसरी अवस्था में क्रम से माता, पिता और आचार्या से सुशिक्षा पाकर और शरीर से स्वस्थ युवती होकर तेजस्विनी हो, तब अपने सदृश मातृमान् पितृमान् और आचार्यवान् नीरोग ब्रह्मचारी पुरुष से विवाह करे ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का अर्थ श्रीमान् पण्डित काली प्रसाद शर्मा आचार्य की

३—(सोमस्य) शान्त्यादिगुणस्य ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य (जाया) जायते यस्यां सा जाया । उत्पत्तिस्थानम् । पत्नी (प्रथमम्) प्रथमवारम् (गन्धर्वः) गोर्वेदवाण्या धारको गुणः पुरुषो वा (ते) तव (अपरः) द्वितीयः (पतिः) रक्षको भर्त्ता (तृतीयः) (अग्निः) विद्याप्राप्तिशरीरपुष्टिजन्यं तेजः । ज्ञानवान् पुरुषः (ते) तव (पतिः) (तुरीयः) चतुर्थः (ते) (मनुष्यजाः) अ० १२ । ४ । ४३ । मनुष्य + जनी प्रादुर्भावे—विट् । मनुष्येषु मननशीलेषूत्पन्नः ॥

सम्मति से किया गया है जिन को बहुत धन्यवाद देता हूं ॥ ३ ॥

२–नियोग विषयक अर्थ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री ! तू] (सोमस्य) सोम [अर्थात् ऐश्वर्यवान् विवाहित पुरुष] की (जाया) पत्नी (प्रथमम्) पहिली वार [होती है], (गन्धर्वः) गन्धर्व [अर्थात् वेद वाणी का धारण करने वाला नियुक्त पुरुष] (ते) तेरा (अपरः) दूसरा (पतिः) पति अर्थात् रक्षक [होता है], (अग्निः) अग्नि [अर्थात् ज्ञानी नियुक्त पुरुष] (ते) तेरा (तृतीयः) तीसरा (पतिः) पति [होता है] और (मनुष्यजाः) मनुष्य [मननशीलों में उत्पन्न नियुक्त पुरुष] (ते) तेरा (तुरीयः) चौथा [पति होता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्त्री को योग्य है कि विपत्तिकाल में अर्थात् विवाहित पति के रोगी होने वा मर जाने पर अन्य तीन पतियों तक एक दूसरे के पीछे नियोग करके सन्तान उत्पन्न करे, पहिले विवाहित पति का नाम सोम होता है और अन्य तीन जो नियोग के पति हैं, क्रम से गन्धर्व, अग्नि और मनुष्य कहाते हैं। इसी प्रकार विवाहित स्त्री सोम्या, और नियोग की तीनों स्त्रियां क्रम से गन्धर्वी, आग्नेयी और मानुषी कहाती हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ४० । और महर्षि दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश चतुर्थ समुल्लास नियोगविषय और ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका नियोगविषय में व्याख्यात है । इस मन्त्र का पाठ और शब्दार्थ इस प्रकार है—

सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः ।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्यजाः ॥

[हे स्त्री !] (सोमः) सोम [अर्थात् शान्ति आदि शुभ गुण, वा ऐश्वर्यवान् पुरुष] (प्रथमः) पहिला (ते) तेरा (पतिः) पति [रक्षक] (विविदे) [विद सत्तायाम्—लडर्थे लिट्] होता है, (उत्तरः) दूसरा (गन्धर्वः) गन्धर्व [अर्थात् वेदवाणी का धारण करने वाला गुण वा पुरुष], (तृतीयः) तीसरा (अग्निः) अग्नि [अर्थात् विद्या और शरीर का तेज वा ज्ञानी पुरुष], और (मनुष्यजाः) मनुष्य [मननशीलों में उत्पन्न हुआ पुरुष] (ते) तेरा (तुरीयः) चौथा [पति] (विविदे) होता है ॥

सोमो॑ ददद् गन्धर्वाय॑ गन्धर्वो द॑दद॒ग्नये॑ ।
र॒यिं च॑ पु॒त्रांश्चादाद॒ग्निर्मह्य॒मथो॑ इ॒माम् ॥ ४ ॥
सोम॑ः। द॒द॒त्। ग॒न्ध॒र्वाय॑। ग॒न्ध॒र्वः। द॒द॒त्। अ॒ग्नये॑॥ र॒यिम्।
च॒। पु॒त्रान्। च॒।अ॒दा॒त्।अ॒ग्निः।मह्य॑म्।अथो॒ इति॑।इ॒माम् ॥४॥

१—सामान्य अर्थ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सोम [शान्ति आदि शुभ गुण] (गन्धर्वाय) गन्धर्व [वेदवाणी के धारण करने वाले गुण] के लिये [कन्या को] (ददत्) देता है, (गन्धर्वः) गन्धर्व [वेदवाणी के धारण करने वाला गुण] (अग्नये) अग्नि [विद्या और शरीर के तेज] के लिये (ददत्) देता है। (अथो) फिर (अग्निः) अग्नि [विद्या और शरीर का तेज] (इमाम्) इस [स्त्री] को (च) और (रयिम्) धन को, (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (मह्यम्) मुझ [युवा ब्रह्मचारी] को (अदात्) देता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब कन्या माता पिता और आचार्या से यथाक्रम सुशिक्षित होकर युवती हो जावे, तब यथाक्रम माता पिता और आचार्य से शिक्षा पाया हुआ युवा ब्रह्मचारी वैसी गुणवती कन्या से विवाह करके धनवान् और पुत्रवान् होवे ॥ ४ ॥

२—नियोगविषयक अर्थ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सोम [ऐश्वर्यवान् विवाहित पति] (गन्धर्वाय) गन्धर्व [वेदवाणी के धारण करने वाले दूसरे नियुक्त पुरुष] के लिये [स्त्री को] (ददत्) छोड़ता है। (गन्धर्वः) गन्धर्व [वेदवाणी का धारण करने वाला दूसरा नियुक्त पुरुष] (अग्नये) अग्नि [ज्ञानी तीसरे नियुक्त पुरुष] के

४—(सोमः) शान्त्यादिगुणः। ऐश्वर्यवान् विवाहितपुरुषः (ददत्) ददं दाने त्यागे च। ददाति। त्यजति कन्यां स्त्रियं चेति शेषः (गन्धर्वाय) वेदवाणीधारकाय गुणाय नियुक्तपुरुषाय वा (गन्धर्वः)(ददत्) (अग्नये) विद्याप्राप्तिशरीरपुष्टिजन्यतेजसे। ज्ञानवते तृतीयनियुक्तपुरुषाय (रयिम्) धनम् (च) (पुत्रान्) (च) (अदात्) ददाति। त्यजति (अग्निः) ज्ञानवान् तृतीयनियुक्तपुरुषः (मह्यम्) यूने ब्रह्मचारिणे। चतुर्थनियुक्तपुरुषाय (अथो) पुनः (इमाम्) स्त्रियम् ॥

लिये (इदत्) छोड़ता है। (अथो) फिर (अग्निः) अग्नि [ज्ञानी तीसरा नियुक्त पुरुष] (इमाम्) इस [स्त्री] को, (च) और (रयिम्) धन को (च) और (पुत्रान्) पुत्रों को (मह्यम्) मेरे लिये [अर्थात् चौथे नियुक्त पुरुष के लिये] (अदात्) छोड़ता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि सदा एक स्त्रीव्रत रहे चाहे वह विवाहित हो वा नियुक्त हो, और विवाहित स्त्री के मरजाने वा रोगी हो जाने पर आपत् काल में ही एक दूसरे के पीछे अन्य तीन स्त्रियों तक नियोग करके धन और सन्तान प्राप्त करे। इसी प्रकार स्त्री भी एक विवाहित पति के मरजाने वा रोगी हो जाने पर आपत् काल में ही अन्य तीन नियुक्त पतियों के साथ एक दूसरे के पीछे रह कर धन और सन्तान की रक्षा करे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ४१ ॥

आ वा॑मगन्त्सुम॒तिर्वा॑जिनीवसू॒ न्य॑श्विना हृ॒त्सु कामा॑ अरंसत । अभू॑तं गो॒पा मि॑थु॒ना शु॑भस्पती प्रि॒या अ॑र्य॒म्णो दुर्यां॑ अशीमहि ॥ ५ ॥

आ । वा॒म् । अ॒ग॒न् । सु॒ऽम॒तिः । वा॒जि॒नी॒व॒सू॒ इति॑ वाजिनीऽवसू । नि । अ॒श्वि॒ना॒ । हृ॒त्ऽसु । कामाः॑ । अ॒रं॒स॒त॒ ॥ अभू॑तम् । गो॒पा । मि॒थु॒ना । शु॒भः॒ । प॒ती॒ इति॑ । प्रि॒याः । अ॒र्य॒म्णः । दुर्या॑न् । अ॒शी॒म॒हि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वाजिनीवसू) हे बहुत वेग वाली वा अन्न वाली क्रियाओं में निवास करने वाले दोनों [स्त्री पुरुषो !] (वाम्) तुम दोनों को (सुमतिः) सुमति (आ) सब ओर से (अगन्) प्राप्त होवे, (अश्विना) हे विद्या को प्राप्त दोनों (हृत्सु) [तुम्हारे] हृदयों में (कामाः) शुभ कामनायें (नि) निर-

५—(आ) समन्तात् (वाम्) युवाभ्याम् (अगन्) प्राप्नुयात् (सुमतिः) सुबुद्धिः (वाजिनीवसू) वेगवतीषु अन्नवतीषु वा क्रियासु निवसतस्तौ (नि) निरन्तरम् (अश्विना) हे प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषौ (हृत्सु) युवयोर्हृदयेषु (कामाः) शुभाभिलाषाः (अरंसत) रमन्ताम्। तिष्ठन्तु (अभूतम्) भवतम्

स्तर (अरंसत) रमण करें [रहें] । (शुभः पती) हे शुभ क्रिया के रक्षको ! (मिथुना) तुम दोनों (गोपा) रक्षक (अभूतम्) होओ, (प्रियाः) हम लोग प्रिय होकर (अर्यम्णः) श्रेष्ठों के मान करने वाले पुरुष के (दुर्यान्) घरों को (अशीमहि) प्राप्त करें ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को चाहिये कि फुरती से सुमति पूर्वक अन्न आदि सामग्री प्राप्त करके शुभ कामनायें सिद्ध करते हुये सब के रक्षक बनें, जिस से विद्वान् लोग प्रीति करके उनका आश्रय लेवें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ४० । १२ ॥

सा म॒न्द॒सा॒ना मन॑सा शि॒वेन॑ र॒यिं धे॑हि॒ सर्व॑वीरं वच॒स्य॑म् । सु॒गं ती॒र्थं सु॑प्रपा॒णं शु॑भस्पती स्था॒णुं॑ प॑थि॒ष्ठामप॑ दुर्म॒तिं ह॑तम् ॥ ६ ॥

सा । म॒न्द॒सा॒ना । मन॑सा । शि॒वेन॑ । र॒यिम् । धे॒हि॒ । सर्व॑-वीरम् । व॒च॒स्य॑म् ॥ सु॒-गम् । ती॒र्थम् । सु॒-प्र॒पा॒नम् । शु॒भः॒ । प॒ती॒ इति॑ । स्था॒णुम् । प॒थि॒-स्थाम् । अप॑ । दुः॒-म॒तिम् । ह॒त॒म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (सा) सो तू (मन्दसाना) आनन्द करती हुयी, (शिवेन) कल्याणयुक्त (मनसा) मन के साथ (सर्ववीरम्) सब वीरों वाले (वचस्यम्) स्तुति योग्य (रयिम्) धन को (धेहि) धारण कर । (शुभः पती) हे शुभ क्रिया के रक्षक तुम दोनों ! (सुगम्) सुख से जाने योग्य, (सुप्र-

---

(गोपा) गोपायितारौ । रक्षकौ (मिथुना) उभौ (शुभः) शुभक्रियायाः (पती) पालकौ (प्रियाः) हिता वयम् (अर्यम्णः) श्रेष्ठानां मानयितुः पुरुषस्य (दुर्यान्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । दुर्वी हिंसायाम्-यक्, वकारलोपे दीर्घाभावश्च । हिंसन्ति दुःखम् । गृहान्—निघ० ३ । ४ (अशीमहि) प्राप्नुयाम ॥

६—(सा) सा त्वम् (मन्दसाना) ऋञ्जिवृधिमन्दिसहिभ्यः कित् । उ० २ । ८७ । मदि आमोदस्तुतिदीप्त्यादिषु—असानच् कित् । आमोदयित्री (मनसा) चित्तेन (शिवेन) कल्याणयुक्तेन (रयिम्) धनम् (धेहि) धारय (सर्ववीरम्) सर्ववीरोपेतम् (वचस्यम्) प्रशंसनीयम् (सुगम्) सुखेन गन्त-

पाणम्) सुन्दर पानी वाले (तीर्थम्) तीर्थ [उतरने के घाट] को [धारण करो], और (पथिष्ठाम्) मार्ग में खड़े हुये (स्थाणुम्) ठूठ [झाड़ झंकड़ आदि समान] (दुर्मतिम्) दुर्मति को (अप हतम्) नाश करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहां पर गुणवती स्त्री प्रसन्न होकर धन का प्रबन्ध करके सन्तानों को शूर, वीर, यशस्वी बनाती है, वहां पर दोनों पति पत्नी विघ्नों को हटाकर गृहाश्रम को ऐसा सुखदायी करते हैं, जैसे विद्वान् शिल्पी मार्ग के कण्टक आदि मेटकर नदी का सुगम तीर्थ अर्थात् घाट बनाता है जिस पर होकर सब सुख से उतरते और जल से स्नान पान करके आनन्द पाते हैं ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ४० । १३ ॥

या ओषधयो या नद्यो३ यानि क्षेत्राणि या वना ।

तास्त्वा वधु प्रजावतीं पत्ये रक्षन्तु रक्षसः ॥ ७ ॥

याः । ओषधयः । याः । नद्यः । यानि । क्षेत्राणि । या । वना ॥

ताः । त्वा । वधु । प्रजा-वतीम् । पत्ये । रक्षन्तु । रक्षसः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(याः) जो (ओषधयः) ओषधियां [अन्न, सोमलता आदि], (याः) जो (नद्यः) नदियां, (यानि) जो (क्षेत्राणि) खेत और (या) जो (वना) बन [वृक्ष वाटिका आदि] हैं । (ताः) वे सब [ओषधि आदि], (वधु) हे वधू ! (त्वा प्रजावतीम्) तुझ श्रेष्ठ सन्तान वाली को (पत्ये) पति के लिये (रक्षसः) राक्षस [विघ्न] से (रक्षन्तु) बचावें ॥ ७ ॥

थम् (तीर्थम्) पातॄतुदिवचि० । उ० २ । ७ । तॄ प्लवनतरणयोः—थक् । तरणस्थानम् (सुप्रपाणम्) स्वच्छप्रकृष्टपानयुक्तम् (शुभः पती) हे शुभक्रियायाः पालकौ (स्थाणुम्) शाखाशून्यवृक्षादिकम् (पथिष्ठाम्) मार्गस्थम् (दुर्मतिम्) कुबुद्धिम् (अप हतम्) दूरे नाशयतम् ॥

७—(याः) (ओषधयः) अन्नसोमलतादयः (याः) (नद्यः) (यानि) (क्षेत्राणि) अन्नोत्पत्तिस्थानानि (या) यानि (वना) वनानि । वनोपवनवाटिकादीनि (ताः) पूर्वोक्ता ओषध्यादयः (त्वा) (वधु) हे पत्नि (प्रजावतीम्) उत्तमसन्तानयुक्ताम् (पत्ये) स्वामिहिताय (रक्षन्तु) पालयन्तु (रक्षसः) रक्षणीयं यस्मात् तस्माद् राक्षसात् विघ्नात् ॥

भावार्थ—गृहाश्रमी स्त्री पुरुषों को योग्य है कि अन्न, ओषधि, नदियों, वन उपवन आदि आवश्यक पदार्थों का यथावत् उपयोग करके कष्टों से बचकर सुखी रहें ॥ ७ ॥

एमं पन्थामरुक्षाम सुगं स्वस्तिवाहनम् ।

यस्मिन् वीरो न रिष्यत्यन्येषां विन्दते वसु ॥ ८ ॥

आ । इमम् । पन्थाम् । अरुक्षाम । सु-गम् । स्वस्ति-वाहनम् ॥

यस्मिन् । वीरः । न । रिष्यति । अन्येषाम् । विन्दते । वसु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इमम्) इस [वैदिक] (सुगम्) सुख से चलने योग्य, (स्वस्तिवाहनम्) आनन्द पहुंचाने वाले (पन्थाम्) मार्ग पर आ अरुक्षाम) हम चढ़ें । (यस्मिन्) जिस [मार्ग] में (वीरः) वीर पुरुष (न रिष्यति) कष्ट नहीं पाता है, और (अन्येषाम्) दूसरे [अधर्मियों] का (वसु) धन [दण्ड द्वारा] (विन्दते) लेता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—गृहस्थियों को चाहिये कि धार्मिक वैदिक मार्ग पर चलकर वीरपन से अधर्मियों को दण्ड दें और धन वृद्धि करें ॥ ८ ॥

इदं सु मे नरः शृणुत ययाशिषा दंपती वाममश्नुतः ।

ये गन्धर्वा अप्सरसश्च देवीरेषु वानस्पत्येषु येऽधि तस्थुः ।

स्योनास्ते अस्यै वध्वै भवन्तु मा हिंसिषुर्वहतुमुह्यमानम् ॥ ९ ॥

इदम् । सु । मे । नरः । शृणुत । यया । आ-शिषा । दंपती इति दम्-पती । वामम् । अश्नुतः ॥ ये । गन्धर्वाः । अप्सरसः । च । देवीः । एषु । वानस्पत्येषु । ये । अधि । तस्थुः ॥

८—(इमम) प्रसिद्धं वैदिकम् (पन्थाम्)मार्गम् (आ अरुक्षाम) आरुहेम (सुगम्) सुखेन गमनीयम् (स्वस्तिवाहनम्) आनन्दप्रापकम् (यस्मिन्) पथि (वीरः) पराक्रमी पुरुषः (न) निषेधे (रिष्यति) दुःखं प्राप्नोति (अन्येषाम्) अधर्मिणाम् (विन्दते) लभते (वसु) धनम् ॥

स्योनाः । ते । अस्यै । वध्वै । भवन्तु । मा । हिंसिषुः । वहतुम् । उह्यमानम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(नरः) हे नरो ! (इदम्) अब (मे) मेरी [बात] (सु) अच्छे प्रकार (शृणुत) सुनो, (यया आशिषा) जिस आशीर्वाद से (दम्पती) पति पत्नी दोनों (वामम्) श्रेष्ठ पदार्थ (अश्नुतः) पाते हैं । (ये) जो (गन्धर्वाः) गन्धर्व [वेदवाणी के धारण करने वाले पुरुष] (च) और (अप्सरसः) कामों में व्यापक रहने वाली (देवीः) देवियां [बड़ी गुणवती स्त्रियां] हैं, और (ये) जो पुरुष (एषु) इन (वानस्पत्येषु) सेवनीय शास्त्र के रक्षक जन से संबन्ध वाले पुरुषों में (अधि) ऊंचे (तस्थुः) ठहरते हैं । वे सब [हे वधू !](ते अस्यै वध्वै) तुझ इस वधू के लिये (स्योनाः) सुखदायक (भवन्तु) होवें, वे (उह्यमानम्) चलते हुये (वहतुम्) रथ [रथ समान गृह कार्य] को (मा हिंसिषुः) न हानि पहुंचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—सब निपुण विद्वान् पुरुष और गृहकार्य में चतुर स्त्रियां मिल कर ऐसा प्रयत्न करें कि वे दोनों स्त्री पुरुष गृहाश्रम में यथावत् सिद्धि प्राप्त करें, और कभी उनके चलते हुये गृह कार्य में विघ्न न पड़ने पावें ॥ ९ ॥

९—(इदम्) इदानीम् (सु) सुविचारेण (मे) मम वाणीम् (नरः) हे नेतारः (शृणुत) आकर्णयत (यया) (आशिषा) आशीर्वादेन (दम्पती) जायापती (वामम्) श्रेष्ठं पदार्थम् (अश्नुतः) प्राप्नुतः (ये) (गन्धर्वाः) गां वेदवाणीं धरन्ति ते विद्वांसः (अप्सरसः) अप. कर्मनाम—निघ० २ । १ । सर्तेः—अप्पूर्वादसिः । उ० ४ । २३७ । अपः + सृ गतौ—असि । अपांसि कर्माणि सरन्ति प्राप्नुवन्ति यास्ताः । कर्मकुशलाः स्त्रियः (देवीः) उत्तमगुणवत्यः (एषु) प्रसिद्धेषु (वानस्पत्येषु) वन्यते सेव्यते स वनः, तस्य पतिर्वनस्पतिः । [वनस्पते] वनस्य संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालक—दयानन्दभाष्ये, यजु० २७ । २१ । ततः । दित्यदित्यादित्य० । पा० ४ । १ । ८५ । एय । संभजनीयस्य शास्त्रस्य पालकस्य जनस्य सम्बन्धिषु पुरुषेषु (ये) (अधि) उपरि (तस्थुः) तिष्ठन्ति (स्योनाः) सुखदायकाः (ते) तुभ्यम् (अस्यै) प्रसिद्धायै (वध्वै) पत्न्यै (भवन्तु) (मा हिंसिषुः) मा नाशयन्तु (वहतुम्) वहनसाधनं रथतुल्यं गृहकार्यम् (उह्यमानम्) गम्यमानम् ॥

ये वध्वंश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनाँ अनु ।
पुनस्तान् यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः ॥ १० ॥ (७)

ये । वध्वः । चन्द्रम् । वहतुम् । यक्ष्माः । यन्ति । जनान् । अनु ॥ पुनः । तान् । यज्ञियाः । देवाः । नयन्तु । यतः । आ-गताः ॥ १० ॥ (७)

भाषार्थ—(ये) जो (यक्ष्माः) क्षय रोग (जनान् अनु) मनुष्यों में वर्तमान (वध्वः) वधू के (चन्द्रम्) आनन्द देने वाले [वा सुनहले] (वहतुम्) रथ को (यन्ति) प्राप्त होवें। (तान्) उन [रोगों] को (यज्ञियाः) पूजा योग्य (देवाः) विद्वान् लोग (पुनः) अवश्य [वहां] (नयन्तु) पहुंचावें, (यतः) जहां से [जिस कारण से] (आगताः) वे [रोग] आये हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जब कभी मार्ग आदि स्थान में स्त्री वा पुरुष को रोग का उपद्रव आ पड़े, विद्वान् वैद्य लोग कारण जानकर उसका प्रतिकार करें ॥ १० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३१ ॥

मा विदन् परिपन्थिनो य आसीदन्ति दंपती ।
सुगेन दुर्गमतीतामप द्रान्त्वरातयः ॥ ११ ॥

मा । विदन् । परि-पन्थिनः । ये । आ-सीदन्ति । दंपती इति दम्-पती ॥ सु-गेन । दुः-गम् । अति । इताम् । अप । द्रान्तु । अरातयः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (परिपन्थिनः) बटमार लोग (दम्पती) पति

१०—(ये) (वध्वः) वध्वाः । पत्न्याः (चन्द्रम्) आह्लादकम् । सुवर्णयुक्तम् (वहतुम्) वाहनं रथम् (यक्ष्माः) राजरोगाः (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (जनान्) मनुष्यान् (अनु) प्रति (पुनः) अवधारणे (तान्) रोगान् (यज्ञियाः) पूजार्हाः (देवाः) सुखदातारो वैद्याः (नयन्तु) प्रेरयन्तु (यतः) यस्मात् कारणात् (आगताः) प्राप्ताः ॥

११—(मा विदन्) मा प्राप्नुवन्तु (परिपन्थिनः) अ० १ । २७ । २ ।

पत्नी के (आसीदन्ति) घात में आकर बैठते हैं, (मा विदन्) वे न मिलें। (सुगेन) सुगम [मार्ग] से (दुर्गम्) कठिन स्थान को (अति) पार करके (इताम्) दोनों चले जावें और (अरातयः) शत्रु लोग (अप द्रान्तु) भाग जावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—मार्ग चलने में स्त्री पुरुष सावधानी से प्रबन्ध करें, कि डाकू लुटेरे आदि के उपद्रवों से बचकर कुशल से ठिकाने पर पहुंचे ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३२, और महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाहप्रकरण में चोर आदि से भय वा भयङ्कर स्थान होने पर बोलने के लिये उद्धृत है। इस मन्त्र का चौथा पाद ऊपर आ चुका है—अ० ६ । १२९ । १—३ ॥

सं काशयामि वहतुं ब्रह्मणा गृहैरघोरेण चक्षुषा मित्रियेण ।
पर्याणद्धं विश्वरूपं यदस्ति स्योनं पतिभ्यः सविता तत् कृणोतु॥१२

सम् । काशयामि । वहतुम् । ब्रह्मणा । गृहैः । अघोरेण । चक्षुषा । मित्रियेण ॥ परि-आनद्धम् । विश्व-रूपम् । यत् । अस्ति । स्योनम् । पति-भ्यः । सविता । तत् । कृणोतु ॥१२॥

भाषार्थ—(ब्रह्मणा) वेदज्ञान द्वारा (गृहैः) घरों के [पदार्थों] सहित [विराजमान] (वहतुम्) वधू को (अघोरेण) अक्रूर [कोमल], (मित्रियेण) मित्रता युक्त (चक्षुषा) नेत्र से (सम् काशयामि) मैं यथावत् दिखाता हूं। (यत्) जो कुछ पदार्थ (विश्वरूपम्) सब प्रकार का (पर्याणद्धम्)

प्रतिकूलाचारिणः (-आसीदन्ति) आगत्य घाते तिष्ठन्ति (दम्पती) पतिपत्न्यौ (सुगेन) सुगमनीयेन मार्गेण (दुर्गम्) दुर्गम्यस्थानम् (अति) अतीत्य (इताम्) गच्छताम् (अप द्रान्तु) पलायन्ताम् (अरातयः) शत्रवः ॥

१२—(सम्) सम्यक् (काशयामि) दीपयामि । दर्शयामि (वहतुम्) वधूम् । नवोढाम् (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (गृहैः) गृहपदार्थैः सह वर्तमानाम् (अघोरेण) अक्रूरेण (चक्षुषा) नेत्रेण (मित्रियेण) मित्रत्वोपेतेन (पर्याणद्धम्) सर्वतः प्रबन्धेन भृतम् (विश्वरूपम्) सर्वप्रकारम् (यत्) पदार्थजातम् (अस्ति)

सब ओर बंधा हुआ (अस्ति) है, (सविता) सब का प्रेरक [परमात्मा] (तत्) उस को (पतिभ्यः) पतिकुल वालों के लिये (स्योनम्) सुखदायक (कृणोतु) करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् वर घर में आयी विदुषी वधू के साथ श्रेष्ठ व्यवहार करता रहे, जिससे सब कुटुम्बी लोग घरके पदार्थों में आनन्द पावें ॥ १२ ॥

शिवा नारीयमस्तमागन्निमं धाता लोकमस्यै दिदेश ।
तामर्यमा भगो अश्विनोभा प्रजापतिः प्रजया वर्धयन्तु ॥१३॥

शिवा । नारी । इयम् । अस्तम् । आ । अगन् । इमम् । धाता । लोकम् । अस्यै । दिदेश ॥ ताम् । अर्यमा । भगः । अश्विना । उभा । प्रजा-पतिः । प्र-जया । वर्धयन्तु ॥१३॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (शिवा) मङ्गलदायिनी (नारी) नारी [नर की पत्नी] (अस्तम्)घर में (आ अगन्) प्राप्त होवे, (धाता) सर्वपोषक [परमात्मा] ने (अस्यै) इस [वधू] को (इमम्) यह (लोकम्) लोक [समाज] (दिदेश) दिया है । (ताम्) उस [वधू] को (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने वाला [राजा], (भगः) ऐश्वर्यवान् [आचार्य], (उभा) दोनों (अश्विना) विद्या को प्राप्त [स्त्री पुरुषों के समाज], और (प्रजापतिः) प्रजापालक [परमेश्वर] (प्रजया) उत्तम सन्तान से (वर्धयन्तु) बढ़ावें ॥ १३ ॥

भावार्थ—जब परमात्मा की कृपा से उत्तम वधू उत्तम वर को प्राप्त हो, राजा की व्यवस्था, आचार्य की शिक्षा, विद्वान् स्त्री पुरुषों की सत्संगति और परमात्मा की भक्ति से वधू वर दोनों गुणवान् श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न करें ॥ १३ ॥

(स्योनम्) सुखदम् (पतिभ्यः) पतिकुलस्थेभ्यः (सविता) सर्वप्रेरकः परमात्मा (तत्) पदार्थजातम् (कृणोतु) करोतु ॥

१३—(शिवा) मङ्गलदायिनी (नारी) नरस्य पत्नी (इयम्) गुणवती (अस्तम्) गृहम् (आ अगन्) आगच्छतु (इमम्) दृश्यमानम् (धाता) सर्वधारकः परमेश्वरः (लोकम्) समाजम् (अस्यै) वध्वै (दिदेश) दत्तवान् (ताम्) वधूम् (अर्यमा) श्रेष्ठानां मानयिता राजा (भगः) ऐश्वर्यवानाचार्यः (अश्विना) प्राप्तविद्यौ स्त्रीपुरुषसमूहौ (प्रजापतिः) प्रजापालको जगदीश्वरः (प्रजया) श्रेष्ठसन्तानेन (वर्धयन्तु) उन्नयन्तु ॥

आत्मन्वत्युर्वरा नारीयमागन् तस्यां नरो वपत बीजमस्याम् ।
सा वः प्रजां जनयद् वक्षणाभ्यो बिभ्रती दुग्धमृषभस्य रेतः ॥१४॥

आत्मन्-वती । उर्वरा । नारी । इयम् । आ । अगन् । तस्याम् ।
नरः । वपत । बीजम् । अस्याम् ॥ सा । वः । प्र-जाम् ।
जनयत् । वक्षणाभ्यः । बिभ्रती । दुग्धम् । ऋषभस्य । रेतः ॥१४॥

भाषार्थ—(आत्मन्वती) आत्मा [भीतरी बल] वाली (उर्वरा) उपजाऊ धरती [के समान], (इयम्) यह (नारी) नारी [नर की पत्नी] (आ अगन्) आयी है, (नरः) हे नर ! [वर] (तस्याम्) उस (अस्याम्) ऐसी [गुणवती वधू] में (बीजम्) बीज (वपत) बो । (सा) वह [नारी] (ऋषभस्य) वीर्यवान् पुरुष के (दुग्धम्) दूध समान (रेतः) वीर्य को (बिभ्रती) धारण करती हुयी (वक्षणाभ्यः) अपने पेट की नाड़ियों से (वः) तेरे लिये (प्रजाम्) सन्तान (जनयत्) उत्पन्न करे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे बलवती उपजाऊ भूमि में विधि पूर्वक जोतकर उत्तम बीज बोने से उत्तम अन्न उत्पन्न होता है, वैसे ही पूर्ण ब्रह्मचारिणी बलवती स्त्री के साथ पूर्ण ब्रह्मचारी वीर्यवान् ऋतुगामी पुरुष का यथाविधि संयोग होने से उत्तम सन्तान उत्पन्न होते हैं ॥ १४ ॥

प्रति तिष्ठ विराडसि विष्णुरिवेह सरस्वति ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ १५ ॥

१४—(आत्मन्वती) आभ्यन्तरशक्तियुक्ता (उर्वरा) शस्योत्पादनयोग्या भूमिर्यथा (नारी) नरस्य पत्नी (इयम्) वधूः (आ अगन्) आगमत् (तस्याम्) नार्याम् (नरः) सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । एकवचनस्य बहुवचनम् । हे नः । नायक (वपत) तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । एकवचनस्य बहुवचनम् । वप । प्रक्षिप (बीजम्) (अस्याम्) ईदृश्यां गुणवत्याम् (सा) (वः) पूर्ववद्बहुवचनम् । तुभ्यम् (प्रजाम्) सन्तानम् (जनयत्) जनयेत् (वक्षणाभ्यः) वक्षःस्थलेभ्यः । उदरनाडीभ्यः (बिभ्रती) धारयन्ती (दुग्धम्) क्षीरतुल्यम् (ऋषभस्य) वीर्यवतः पुरुषस्य (रेतः) वीर्यम् ॥

प्रति । तिष्ठ । वि-राट् । असि । विष्णुः-इव । इह । सरस्वति ॥ सिनीवालि । प्र । जायताम् । भगस्य । सु-मतौ । असत् ॥१५

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [श्रेष्ठ विज्ञान वाली] (प्रति तिष्ठ) दृढ़ रह, (विष्णुः इव) व्यापक सूर्य के समान तू (इह) यहां पर [गृहाश्रम में] (विराट्) विविध प्रकार ऐश्वर्य वाली (असि) है। (सिनीवालि) हे अन्न वाली पत्नी ! [तुझसे] (प्र जायताम्) उत्तम सन्तान उत्पन्न होवे और वह [सन्तान] (भगस्य) भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमात्मा] की (सुमतौ) सुमति में (असत्) रहे ॥ १५ ॥

भावार्थ—गर्भवती स्त्री विज्ञानपूर्वक समर्थ होकर वेदादि शास्त्रों के स्वाध्याय और बड़े बड़े पुरुषों के चरित्रों के विचार से श्रेष्ठ धर्मात्मा ईश्वर भक्त सन्तान उत्पन्न करे ॥ १५ ॥

उद्व ऊर्मिः शम्या हन्त्वापो योक्त्राणि मुञ्चत ।
माढुष्कृतौ व्येनसावघ्न्यावशुनमारताम् ॥ १६ ॥

उत् । वः । ऊर्मिः । शम्याः । हन्तु । आपः । योक्त्राणि । मुञ्चत ॥ मा । अदुः-कृतौ । वि-एनसौ । अघ्न्यौ । अशुनम् आ । अरताम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो !] (वः) तुम्हारी (ऊर्मिः) उत्साह रूपी लहर (उत् हन्तु) ऊंची चले, (आपः) हे आप्त प्रजाओ ! (शम्याः) कर्म

१५—(प्रति तिष्ठ) दृढं वर्तस्व (विराट्) विविधैश्वर्यवती (असि) (विष्णुः) व्यापकः सूर्यः (इव) यथा (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे (सरस्वति) हे श्रेष्ठविज्ञानवति (सिनीवालि) अ० २ । २६ । २ । षिञ् बन्धने—नक्, ङीप्+ वल संवरणे, यद्वा वल जीवने-दाने च—अण्, ङीप् । सिनीवाली सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि वालं पर्व वृणोतेस्तस्मिन्नन्नवती—निरु० ११ । ३१ । हे अन्नवति पत्नि (प्र जायताम्) उत्तमसन्तान उत्पद्यताम् (भगस्य) ऐश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (सुमतौ) धार्मिकबुद्धौ (असत्) भवेत् ॥

१६—(उत्) उपरि (वः) युष्माकम् (ऊर्मिः) ऋ गतौ—मिप्रत्ययः । उत्साहरूपतरङ्गः (शम्याः) शमी कर्मनाम निघ० २ । १ । शमी—यत् । शमीषु

कुशल होकर तुम (योक्त्राणि) निन्दित कर्मों को (मुञ्चत) छोड़ो। (अदुष्कृतौ) दुष्ट आचरण न करने वाले, (व्येनसौ) पाप रहित, (अघ्न्यौ) नहीं मारने योग्य [दोनों स्त्री पुरुष] (अशुनम्) दुःख (मा आ भरताम्) कभी न पावें ॥१६॥

भावार्थ—सब कर्मकुशल स्त्री पुरुष निन्दित कर्मों को छोड़कर शुभ कर्मों में अपना उत्साह बढ़ावें, जिन के अनुकरण से यह दम्पती पापों से मुक्त रहकर धर्मात्मा होते हुये उत्तम सन्तानों के साथ सुख भोगें ॥१६॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—३। ३३। १३॥

अघोरचक्षुरपतिघ्नी स्योना शग्मा सुशेवा सुयमा गृहेभ्यः।
वीरसूर्देवृकामा सं त्वयैधिषीमहि सुमनस्यमाना॥ १७॥

अघोर-चक्षुः। अपति—घ्नी। स्योना। शग्मा। सु-शेवा। सु-यमा। गृहेभ्यः॥ वीर-सूः। देवृ-कामा। सम्। त्वया। एधिषीमहि। सु-मनस्यमाना॥ १७॥

भाषार्थ—[हे वधू!] तू (गृहेभ्यः) घर वालों के लिये (अघोरचक्षुः) प्रिय दृष्टि वाली, (अपतिघ्नी) पति को न सताने वाली, (स्योना) सुखदायिनी (शग्मा) कार्यकुशला, (सुशेवा) सुन्दर सेवा योग्य, (सुयमा) अच्छे नियमों वाली, (वीरसूः) वीरों को उत्पन्न करने वाली, (देवृकामा) देवरों [पति के छोटे बड़े भाइयों] से प्रीति रखने वाली और (सुमनस्यमाना)

कर्मसु कुशलाः (हन्तु) गच्छतु (आपः) हे आप्तप्रजाः (योक्त्राणि) युज निन्दायाम्—ष्ट्रन्प्रत्ययः, नित्स्वरः। निन्दितकर्माणि (मुञ्चत) त्यजत (मा) निषेधे (अदुष्कृतौ) अदुष्टकर्माणौ (व्येनसौ) विगतपापौ (अघ्न्यौ) हन्तुमनर्हौ स्त्रीपुरुषौ (अशुनम्) शुन गतौ—क। शुनं सुखनाम—निघ० ३। ६। सुखरहितं दुःखम् (आ) समन्तात् (भरताम्) भृ गतौ—लुङ्। प्राप्नुताम्॥

१७—(अघोरचक्षुः) अभयङ्करनेत्री (अपतिघ्नी) पत्युरहिंसित्री (स्योना) सुखप्रदा (शग्मा) युजिरुचितिजां कुश्च। उ० १। १४६। शक्लृ शक्तौ—मक्, कस्य ग, अर्शआद्यच्, टाप्। शक्म शग्म कर्म नाम—निघ० १। २। कर्मकुशला (सुशेवा) सुसेवनीया (सुयमा) सुनियमवती (गृहेभ्यः) गृहपुरुषेभ्यः

प्रसन्न चित्त वाली [रह], (त्वया) तेरे साथ (सम् एधिषीमहि) हम मिल कर बढ़ते रहें ॥ १७ ॥

भावार्थ—गृहपत्नी कर्मकुशल होकर शुद्ध अन्तःकरण से सदा सब का हित करे, जिस से सब घर वृद्धि करता जावे ॥ १७ ॥

यह और आगे का मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ८५ । ४४, और यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाहप्रकरण में वधू वर के यज्ञ कुण्ड की प्रदक्षिणा करने में और फिर वर के घर पहुंचकर उनके आज्याहुति देने में व्याख्यात है ॥

अदे॑वृघ्न्यप॑तिघ्नी॒हैधि॑ शि॒वा प॒शुभ्य॑ः सु॒यमा॑ सु॒वर्चा॑ः । प्र॒जाव॑ती वीर॒सूर्दे॒वृका॑मा स्यो॒नेमम॒ग्निं गार्ह॑पत्यं सपर्य ॥ १८ ॥

अदे॑वृ-घ्नी । अप॑ति-घ्नी । इ॒ह । ए॒धि॒ । शि॒वा । प॒शु-भ्य॑ः । सु॒-यमा॑ । सु॒-वर्चा॑ः ॥ प्र॒जा-व॑ती । वी॒र॒-सूः । दे॒वृ-का॑मा । स्यो॒ना । इ॒मम् । अ॒ग्निम् । गार्ह॑-पत्यम् । स॒प॒र्य॒ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—[हे वधू !] (इह) यहां [गृहाश्रम में] (अपतिघ्नी) पति को न सताने वाली, (अदेवृघ्नी) देवरों को न कष्ट देने वाली, (शिवा) मङ्गल करने वाली, (पशुभ्यः) पशुओं के लिये (सुयमा) सुन्दर नियमों वाली (सुवर्चाः) बड़े तेज वाली (एधि) हो । (प्रजावती) श्रेष्ठ प्रजाओं [सेवक आदि] रखने वाली, (वीरसूः) वीरों की उत्पन्न करने वाली, (देवृकामा) देवरों से प्रीति करने वाली, (स्योना) सुख युक्त तू (गार्हपत्यम्) गृहस्थ सम्बन्धी (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि को (सपर्य) सेवन कर ॥ १८ ॥

(वीरसूः) वीराणां प्रसवित्री (देवृकामा) देवृषु पतिभ्रातृषु प्रीतियुक्ता (सम्) सम्यक् (एधिषीमहि) वर्धिषीमहि (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्ता ॥

१८—(अदेवृघ्नी) देवॄणामहिंसित्री (अपतिघ्नी) (इह) अस्मिन् गृहाश्रमे (एधि) भव (शिवा) हितकरी (पशुभ्यः), गवादिभ्यः (सुयमा) शोभननियमयुक्ता (सुवर्चाः) बहुतेजाः (प्रजावती) श्रेष्ठसेवकादिभिः युक्ता (देवृकामा) म० १७ (स्योना) (इमम्) प्रसिद्धम् (अग्निम्) भौतिकमग्निम् (गार्हपत्यम्) गृहपतिसम्बन्धिनम् (सपर्य) सपर्यतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । सेवस्व ॥

भावार्थ—गृहिणी को चाहिये कि अपने पति और सब कुटुम्बियों और पशुओं को प्रसन्न रखकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करे और गृहकार्य की सिद्धि के लिये शिल्पकर्म, हवनकर्म और पाकक्रिया आदि में अग्नि का यथावत् प्रयोग करती रहे ॥ १८ ॥

उत्तिष्ठेतः किमिच्छन्तीदमागा अहं त्वेडे अभिभूः स्वाद् गृहात्। शून्यैषी निर्ऋते याजगन्थोत्तिष्ठाराते प्र पत मेह रंस्थाः ॥ १९ ॥

उत्। तिष्ठ। इतः। किम्। इच्छन्ती। इदम्। आ। अगाः। अहम्। त्वा। ईडे। अभि-भूः। स्वात्। गृहात्॥ शून्य-एषी। निः-ऋते। या। आ-जगन्थ। उत्। तिष्ठ। अराते। प्र। पत। मा। इह। रंस्थाः ॥ १९ ॥

भावार्थ—(निर्ऋते) हे अलक्ष्मी! [दरिद्रता आदि] (इतः) यहां से [सुप्रबन्धयुक्त घर से] (उत् तिष्ठ) उठ, (किम्) क्या [बुरा] (इच्छन्ती) चाहती हुयी (इदम्) इस [घर] में (आ अगः) तू आयी है, (अभिभूः) विजयी (अहम्) मैं (त्वा) तुझे (स्वात् गृहात्) अपने घर से (ईडे=ईरे) निकालता हूं। (शून्यैषी) शून्य [निर्जनपन] चाहने वाली (या) जो तू(आजगन्थ) आयी है, (अराते) हे कंजूसिन् (उत् तिष्ठ) उठ, (प्र पत) चलती हो, (इह) यहां (मा रंस्थाः) मत ठहर ॥ १९ ॥

१९—(उत्तिष्ठ) दूरे गच्छ (इतः) अस्मात् सुप्रबन्धयुक्तगृहात् (किम्) अहितम् (इच्छन्ती) (इदम्) गृहम् (आ अगाः) आगतवती (अहम्) पुरुषार्थी गृहस्थः (त्वा) त्वाम् (ईडे) रस्य डः। ईरे। प्रेरयामि (अभिभूः) अभिभविता। विजयी (स्वात्) (गृहात्) (शून्यैषी) शून्यायै प्राणिहिंसायै हितम्, शून्या—यत्+इष इच्छायाम्—अच्, ङीप्। निर्जनत्वमिच्छन्ती (निर्ऋते) अ० १।३१।२। हे कृच्छ्रापत्ते—निरु० २।७। हे अलक्ष्मि (या) या त्वम् (आजगन्थ) थस्य धः। आजगन्थ। आगतवती (उत्तिष्ठ) (अराते) हे अदानशीले (प्रपत) बहिर्गच्छ (इह) अस्मिन् गृहे (मा रंस्था) नैवोपरम ॥

भावार्थ—जिस घर में स्त्री पुरुष विद्वान् चतुर कार्यकुशल होते हैं, वहां पर दरिद्रता, कंजूसी आदि दुर्विघ्न नहीं रहते, वह घर धन धान्य से भरा पूरा सदा मङ्गलमय रहता है ॥ १९ ॥

यदा गार्हपत्यमसपर्यैत् पूर्वमग्निं वधूरियम् ।
अधा सरस्वत्यै नारि पितृभ्यश्च नमस्कुरु ॥ २० ॥ (८)

यदा । गार्हऽपत्यम् । असपर्यैत् । पूर्वम् । अग्निम् । वधूः । इयम् ॥ अध । सरस्वत्यै । नारि । पितृऽभ्यः । च । नमः । कुरु ॥ २० (८)

भाषार्थ—(यदा) जब (इयम् वधू) इस वधू ने (गार्हपत्यम्) गृहस्थ सम्बन्धी (अग्निम्) अग्नि को (पूर्वम्) पहिले से (असपर्यैत्) सेवन किया है। (अध) इस लिये (नारि) हे नारी ! (सरस्वत्यै) सरस्वती [विज्ञान के भण्डार परमेश्वर] को (च) और (पितृभ्यः) पितरों [पिता समान मान्य पुरुषों] को (नमः) नमस्कार (कुरु) कर ॥ २० ॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर की और जिन महान् पुरुषों की कृपा से इस वधू ने हवन, शिल्प, अन्न, ओषधि आदि में अग्नि की विद्या को यथावत् जाना है, उस परमेश्वर और उन बड़े लोगों को वह कुलवधू सदा धन्यवाद देती रहे ॥ २० ॥

शर्म वर्मैतदा हरास्यै नार्या उपस्तरे ।
सिनीवालि प्र जायतां भगस्य सुमतावसत् ॥ २१ ॥

शर्म । वर्म । एतत् । आ । हर । अस्यै । नार्यै । उपऽस्तरे ॥ सिनीवालि । प्र । जायताम् । भगस्य । सुऽमतौ । असत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (एतत्) यह [गृहकार्यरूप] (शर्म)

२०—(यदा) यस्मिन् काले (गार्हपत्यम्) गृहपतिसंबन्धिनम् (असपर्यैत्) असपर्यत्। सेवितवती (पूर्वम्) अग्रे (अग्निम्) अग्निविद्याम् (वधूः) (इयम्) (अध) अथ (सरस्वत्यै) सरो विज्ञानं विद्यते यस्यां चितौ सा सरस्वती, तस्यै। सर्वविज्ञानवते परमेश्वराय (नारि) हे नरस्य पत्नि (पितृभ्यः) पितृतुल्यमान्येभ्यः (च) (नमः) नमस्कारम् (कुरु) ॥

२१—(शर्म) सुखप्रदम् (वर्म) कवचम् (एतत्) (आ हर) आनय

सुखदायक (वर्म) कवच (अस्यै नार्यै) इस नारी को (उपस्तरे) ओढ़ने के लिये (आ हर) ला । (सिनीवालि) हे अन्न वाली पत्नी ! [तुझ से] (प्र जायताम्) उत्तम सन्तान उत्पन्न होवे, और वह [सन्तान] (भगस्य) भगवान् [ऐश्वर्यवान् परमात्मा] की (सुमतौ) सुमति में (असत्) रहे २१

भावार्थ—पति आदि सब वधू को गृह कार्य में सदा सहाय देवें, जैसे योद्धा को कवच रणक्षेत्र में सहाय देता है, और सब पुरुष उस वधू के वीर ईश्वरभक्त सन्तान से सुख प्राप्त करें ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर मन्त्र १५ में आचुका है ॥

यं बल्बजं न्यस्यथ चर्म चोपस्तृणीथनं ।

तदा रोहतु सुप्रजा या कन्या विन्दते पतिम् ॥ २२ ॥

यम् । बल्बजम् । नि-अस्यथ । चर्म । च । उप-स्तृणीथन । तत् । आ । रोहतु । सु-प्रजाः । या । कन्या । विन्दते । पतिम् २२

भाषार्थ—[हे विद्वानो ! (यम्) जिस (बल्वजम्) बल्वज [तृण विशेष के आसन] को (न्यस्यथ) तुम बिछाते हो (च) और (चर्म) [मृग सिंह आदि का चर्म, उस पर] (उपस्तृणीथन) तुम फैलाते हो । (सुप्रजाः) सुन्दर जन्म वाली (कन्या) वह कन्या [कमनीया वधू] (तत्) उस पर (आ रोहतु) ऊंची बैठे, (या) जो (पतिम्) पति को (विन्दते) पाती है ॥ २२ ॥

(अस्यै) (नार्यै) (उपस्तरे) अवचक्षे च । पा० ३ । ४ । १५ । स्तृञ् स्तृञ् आच्छादने—एश् प्रत्ययो बाहुलकात् तुमर्थे । उपस्त्रे । उपस्तर्तुम् । आच्छादयितुम । अन्यद् व्याख्यातम्—म० १५ ॥

२२—(यम) (बल्वजम्) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । बल संवरणे वेष्टने—कन्+जन-ड । बलते भुवं वेष्टयतीति बल्वः पर्वतस्तत्र जायते । तृण—विशेषासनम् । मुञ्जभेदम्—यथा मनु० २ । ४३ (न्यस्यथ) निक्षिपथ (चर्म) सिंहमृगादिचर्म (च) (उपस्तृणीथन) आच्छादयथ (तत्) आसनम् (आ रोहतु) आतिष्ठतु (सुप्रजाः) जनी प्रादुर्भावे—विट् । सुजन्मा (या) (कन्या) कमनीया वधू (विन्दते) लभते (पतिम्) भर्तारम् ॥

भावार्थ—घर के विद्वान् लोग योग्य आसन आदि से पतिव्रता कुलवधू का आदर सत्कार करते रहें ॥ २२ ॥

(बल्वज) एक तृण विशेष मूंज वा कुश का भेद है जिस से मूंज न मिलने पर मेखला बनाने को मनु० २ । ४३ में लिखा है ॥

उप स्तृणीहि बल्वजमधि चर्मणि रोहिते ।
तत्रोपविश्य सुप्रजा इममग्निं सपर्यतु ॥ २३ ॥

उप । स्तृणीहि । बल्वजम् । अधि । चर्मणि । रोहिते ॥ तत्र । उप-विश्य । सु-प्रजाः । इमम् । अग्निम् । सपर्यतु ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(रोहिते) रोहित [हरिण विशेष] के (चर्मणि अधि) चर्म पर (बल्वजम्) बल्वज [तृण विशेष का आसन] (उप स्तृणीहि) तू फैला। (तत्र) उस पर (सुप्रजाः) सुन्दर जन्म वाली वधू (उपविश्य) बैठकर (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि [व्यापक परमेश्वर वा भौतिक अग्नि] की (सपर्यतु) सेवा करे ॥ २३ ॥

भावार्थ—विद्वानों के दिये आसन पर बैठकर कुलवधू परमेश्वर की उपासना और यज्ञ आदि में अग्नि का प्रयोग करे ॥ २३ ॥

आ रोह चर्मोप सीदाग्निमेष देवो हन्ति रक्षांसि सर्वा । इह प्रजां जनय पत्ये अस्मै सुज्यैष्ठ्यो भवत् पुत्रस्त एषः ॥२४॥

आ । रोह । चर्म । उप । सीद । अग्निम् । एषः । देवः । हन्ति । रक्षांसि । सर्वा ॥ इह । प्र-जाम् । जनय । पत्ये । अस्मै । सु-ज्यैष्ठ्यः । भवत् । पुत्रः । ते । एषः ॥ २४ ॥

२३—(उप स्तृणीहि) आच्छादय (बल्वजम्) म० २२ । तृणविशेषासनम् (अधि) उपरि (चर्मणि) म० २२ (रोहिते) रोहित—अर्शआद्यच् । मृगविशेषसम्बन्धिनि । गोकर्णपृषतैणर्श्यरोहिताश्चमरो मृगाः । अमर० १५ । १० । (तत्र) आसने (उपविश्य) (सुप्रजाः) सुजन्मा वधू (इमम्) प्रसिद्धम् (अग्निम्) व्यापकं परमेश्वरं भौतिकाग्निं वा (सपर्यतु) परिचरतु ॥

भाषार्थ–[हे वधू !] (चर्म) चर्म [मृग सिंह आदि के चर्म] पर (आ रोह) ऊंचो बैठ, (अग्निम्) अग्नि [व्यापक परमात्मा वा भौतिक अग्नि] की (उप सीद) सेवा कर. (एषः देवः) यह देवता (सर्वा) सब (रक्षांसि) राक्षसों [विघ्नों] को (हन्ति) नाश करता है । (इह) यहां [गृहाश्रम में] (अस्मै पत्ये) इस पति के लिये (प्रजाम्) सन्तान (जनय) उत्पन्न कर. (एषः) वह (ते पुत्रः) तेरा पुत्र (सुज्यैष्ठ्यः) बड़े ज्येष्ठपन वाला [आयु में वृद्ध और पद में श्रेष्ठ] (भवत्) होवे ॥ २४ ॥

भावार्थ—वधू सावधान और प्रसन्न चित्त होकर परमेश्वर की उपासना और हवन आदि क्रिया करे और विद्वान् लोग चिरजीवी पुरुषार्थी सन्तान उत्पन्न करने के लिये वधू को हित शिक्षा और आशीर्वाद देवें ॥ २४ ॥

वि तिष्ठन्तां मातुरस्या उपस्थान्नानारूपाः पशवो जायमानाः ।
सुमङ्गल्युप सीदेममग्निं संपत्नी प्रति भूषेह देवान् ॥ २५ ॥

वि । तिष्ठन्ताम् । मातुः । अस्याः । उप-स्थात् । नाना-रूपाः । पशवः । जायमानाः ॥ सु-मङ्गली । उप । सीद । इमम् । अग्निम् । सम्-पत्नी । प्रति । भूष । इह । देवान् ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(अस्याः मातुः) इस माता की (उपस्थात्) गोद से (नानारूपाः) नाना स्वभाव वाले, (जायमानाः) प्रसिद्ध होते हुये (पशवः) दृष्टिवाले विद्वान् लोग (वि) विविध प्रकार (तिष्ठन्ताम्) उपस्थित हों । (सुमङ्गली) बड़ी मङ्गल वाली तू (इमम्) इस (अग्निम्) अग्नि [व्यापक

२४—(आ रोह) आतिष्ठ (चर्म) म० २२ (उप सीद) उपतिष्ठ (अग्निम्) व्यापकं परमात्मानं भौतिकाग्निं वा (एषः) (देवः) (हन्ति) नाशयति (रक्षांसि) विघ्नान् (सर्वा) सर्वाणि (इह) गृहाश्रमे (प्रजाम्) सन्तानम् (जनय) उत्पादय (पत्ये) स्वामिने (अस्मै) (सुज्यैष्ठ्यः) ज्येष्ठ-भावे ष्यञ् । आयुषा सुवृद्धः पदेन सुश्रेष्ठो वा (भवत्) भवेत् (पुत्रः) (ते) तव (एषः) ॥

२५—(वि) विविधम् (तिष्ठन्ताम्) वर्तन्ताम् (मातुः) जनन्याः (अस्याः) (उपस्थात्) क्रोडात् (नानारूपाः) बहुस्वभावाः (पशवः) बहुदर्शिनो देवा विद्वांसः (जायमानाः) प्रादुर्भवन्तः (सुमङ्गली) बहुमङ्गलवती

परमेश्वर वा भौतिक अग्नि] की (उप सीद) सेवा कर, और (संपत्नी) पति सहित तू (इह) यहां [गृहाश्रम में] (देवान् प्रति) विद्वानों के लिये (भूष) शोभायमान हो ॥ २५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपाय पूर्वक आशीर्वाद दें कि उस वधू की पूरी ध्यानक्रिया के कारण अनेक दूरदर्शी वीर कीर्तिमान् सन्तान उत्पन्न होवें, और वह सौभाग्यवती विद्वानों का मान करके शोभा प्राप्त करे ॥ २५ ॥

सुमङ्गली प्रतरणी गृहाणां सुशेवा पत्ये श्वशुराय शंभूः ।
स्योना श्वश्र्वै प्र गृहान् विशेमान् ॥ २६ ॥

सु-मङ्गली । प्र-तरणी । गृहाणाम् । सु-शेवा । पत्ये । श्वशुराय । शम्-भूः ॥ स्योना । श्वश्र्वै । प्र । गृहान् । विश । इमान् २६

भाषार्थ—[हे वधू !] (सुमङ्गली) बड़ी मङ्गल वाली, (गृहाणाम्) घरों [घर वालों] की (प्रतरणी) बढ़ाने वाली, (पत्ये) पति के लिये (सुशेवा) बड़ी सुख देने वाली, (श्वशुराय) ससुर के लिये (शंभूः) शान्ति देने वाली और (श्वश्र्वै) सासु के लिये (स्योना) आनन्द देने वाली तू (इमान् गृहान्) इन घरों [अर्थात् गृहकार्य्यों] में (प्र विश) प्रवेश कर ॥ २६ ॥

भावार्थ—वधू को योग्य है कि सब प्रकार चतुर होकर घर वालों की उन्नति करती हुई पति, सासु, ससुर आदि को प्रसन्न रखकर घर के कामों में प्रवेश करे ॥ २६ ॥

मन्त्र २६ और २७ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

(उप सीद) परिचर (इमम्) (अग्निम्) व्यापकं परमात्मानं भौतिकाग्निं वा (संपत्नी) पतिसहिता (प्रति) (भूष) शोभस्व (इह) गृहाश्रमे (देवान्) विदुषः पुरुषान् ॥

२६—(सुमङ्गली) बहुमङ्गलवती (प्रतरणी) वर्धयित्री (गृहाणाम्) गृहपुरुषाणाम् (सुशेवा) बहुसुखदात्री (पत्ये) (श्वशुराय) पतिजनकाय (शंभूः) शान्तिप्रदा (स्योना) सुखप्रदा (श्वश्र्वै) पतिजनन्यै (गृहान्) गृहकार्याणि (प्र विश) (इमान्) ॥

स्योना भव श्वशुरेभ्यः स्योना पत्ये गृहेभ्यः ।
स्योनास्यै सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव ॥ २७ ॥

स्योना । भव श्वशुरेभ्यः । स्योना । पत्ये । गृहेभ्यः ॥ स्योना । अस्यै । सर्वस्यै । विशे । स्योना । पुष्टाय । एषाम् । भव ॥२७॥

भाषार्थ—[हे वधू !] तू (श्वशुरेभ्यः) ससुर आदि के लिये (स्योना) सुख देने वाली, (पत्ये) पति के लिये और (गृहेभ्यः) घर वालों के लिये (स्योना) सुख देनेवाली (भव) हो । (अस्यै) इस (सर्वस्यै विशे) सब प्रजा के लिये (स्योना) सुख देने वाली और (एषाम्) इनके (पुष्टाय) पोषण के लिये (स्योना) सुख देने वाली (भव) हो ॥ २७ ॥

भावार्थ—उत्तम वधू पालन पोषण करके सब कुटुम्बियों को प्रसन्न रक्खे ॥ २७ ॥

मन्त्र २६ देखो ॥

सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत ।
सौभाग्यमस्यै दत्त्वा दौर्भाग्यैर्विपरेतन ॥ २८ ॥

सु-मङ्गलीः । इयम् । वधूः । इमाम् । सम्-एत । पश्यत ॥ सौभाग्यम् अस्यै । दत्त्वा । दौः-भाग्यैः । वि-परेतन ॥ २८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (इयम् वधूः) यह वधू (सुमङ्गलीः) बड़े मङ्गल वाली है, (समेत) मिलकर आओ और (इमाम्) इसे (पश्यत) देखो।

२७—(स्योना) सुखप्रदा (भव) (श्वशुरेभ्यः) श्वशुरादिभ्यः (स्योना) (पत्ये) स्वामिने (गृहेभ्यः) गृहपुरुषेभ्यः (स्योना) (अस्यै) (सर्वस्यै) (विशे) प्रजायै (पुष्टाय) पोषणाय (एषाम्) पूर्वोक्तानाम् (भव) ॥

२८—(सुमङ्गलीः) छान्दसो विसर्गः । बहुमङ्गलवती (इयम्) दर्शनीया (वधूः) (इमाम्) (समेत) समेत्य आगच्छत (पश्यत) अवलोकयत (सौभाग्यम्) सुभगत्वम् । पतिप्रियत्वम् । बह्वैश्वर्यत्वम् (अस्यै) (वध्वै) (दत्त्वा)

(अस्यै) इस [वधू] को (सौभाग्यम्) सुभागपन [पति की प्रीति] (दत्वा) देकर (दौर्भाग्यैः) दुर्भागपनों से [इस को] (विपरेतन) पृथक् रक्खो ॥२८॥

भावार्थ—सब विद्वान् लोग मिलकर आशीर्वाद देवें कि वधू पति की प्राणप्रिया होकर सदा आनन्द से रहे और कभी कष्ट न उठावे ॥ २८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ३३, और महर्षि दयानन्द-कृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में आशीर्वाद देने के लिये विवाह में आये लोगों के बुलाने में विनियुक्त है ॥

या दुर्हार्दो युवतयो याश्चेह जरतीरपि ।
वर्चो न्वश्स्यै सं दुत्ताथास्तं विपरेतन ॥ २९ ॥

याः । दुः-हार्दः । युवतयः । याः । च । इह । जरतीः । अपि ॥
वर्चः । नु । अस्यै । सम् । दत्त । अथ । अस्तम् । वि-परेतन २९

भाषार्थ—(याः) जो तुम (युवतयः) हे युवा स्त्रियो ! (च) और (याः) जो तुम (जरतीः) हे वृद्ध स्त्रियो ! (अपि) भी (दुर्हार्दः) दुष्ट हृदय वाली (इह) यहां पर हो । वे तुम (अस्यै) इस [वधू] को (वर्चः) अपना तेज (नु) शीघ्र (सम् दत्त) दे डालो, (अथ) फिर (अस्तम्) अपने अपने घर (विपरेतन) चली जाओ ॥ २९ ॥

भावार्थ—जो दुष्ट स्त्रियां घर में आ जावें, वधू अपनी चतुराई से उन्हें ऐसा परास्त करे कि वे अपना तेज गंवाकर चली जावें और फिर कभी न आवें ॥ २९ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद ऋग्वेद १० । ८५ । ३३ में चौथा पाद है । यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

(दौर्भाग्यैः , दुर्भगत्वैः । ऐश्वर्यराहित्यैः । पतिस्नेहशून्यकर्मभिः (विपरेतन) अन्तर्गतण्यर्थः । विपरागमयत । पृथक् कुरुत ताम् ॥

२९—(याः) स्त्रियः (दुर्हार्दः) अ० २ । ७ । ५ । हार्दम् आनुकूल्यं करोति हार्दयतीति, हार्दयतेः—क्विपि णिलोपे रूपम् । दुष्टहृदयाः । क्रूरचित्ताः (युवतयः) तरुणस्त्रियः (याः) (च) (इह) गृहे (जरतीः) हे वृद्धस्त्रियः (अपि) (वर्चः) स्वतेजः (नु) शीघ्रम् (अस्यै) वध्वै (सम्) सम्यक् (दत्त) प्रयच्छत (अथ) अपि च (अस्तम्) स्वगृहम् (विपरेतन) विपरा विविधं दूरे गच्छत ॥

रुक्मप्रस्तरणं वह्यं विश्वा रूपाणि बिभ्रतम् ।
आरोहत् सूर्या सावित्री बृहते सौभगाय कम् ॥ ३० ॥ (८)

रुक्म-प्रस्तरणम् । वह्यम् । विश्वा । रूपाणि । बिभ्रतम् ॥
आ । अरोहत् । सूर्या । सावित्री । बृहते । सौभगाय । कम् ॥३०॥

भाषार्थ—(रुक्मप्रस्तरणम्) सुवर्ण के बिछौने वाले, (विश्वा) सब (रूपाणि) रूपों [उत्तम मध्यम-नीच आकार वा बैठकों] को (बिभ्रतम्) धारण करने वाले (वह्यम्) [गृहाश्रम रूप] गाड़ी पर (सावित्री) सविता [सर्वजनक परमात्मा] को अपना देवता मानने वाली (सूर्या) प्रेरणा करने वाली [वा सूर्य की चमक के समान तेज वाली] वधू (बृहते) बड़े (सौभगाय) सौभाग्य [पति की प्रीति, बहुत ऐश्वर्य आदि सुख] पाने के लिये (कम्) सुख से (आ अरुहत्) चढ़ी है ॥ ३० ॥

भावार्थ—हे विद्वानो ! यह ब्रह्मवादिनी तेजस्विनी वधू गृहाश्रम में प्रविष्ट हुई है, हम ऐसा उपाय करें कि वह पतिप्रिया और ऐश्वर्यवती होकर सदा सुख भोगे ॥ ३० ॥

आ रोह तल्पं सुमनस्यमानेह प्रजां जनय पत्ये अस्मै ।
इन्द्राणीव सुबुधा बुध्यमाना ज्योतिरग्रा उषसः प्रति जागरासि ॥३१॥

आ । रोह । तल्पम् । सु-मनस्यमाना । इह । प्र-जाम् । जनय । पत्ये । अस्मै ॥ इन्द्राणी-इव । सु-बुधा । बुध्यमाना ।
ज्योतिः-अग्राः । उषसः । प्रति । जागरासि ॥ ३१ ॥

३०—(रुक्मप्रस्तरणम्) स्तृञ् आच्छादने—ल्युट् । सुवर्णच्छादनयुक्तम् (वह्यम्) गृहाश्रमरूपं यानं रथम् (विश्वा) सर्वाणि (रूपाणि) आकारान् (बिभ्रतम्) शतृरूपम् । धारयन्तम् (आरोहत्) आतिष्ठत् (सूर्या) प्रेरयित्री सूर्यदीप्तिवत्तेजस्विनी वा वधूः (सावित्री) सविता सर्वोत्पादकः परमात्मा देवता यस्याः सा (बृहते) महते (सौभगाय) सुभगत्वाय । पतिप्रियत्वाय । बह्वैश्वर्याय (कम्) सुखेन ॥

भाषार्थ—[हे वधू!] तू (सुमनस्यमाना) प्रसन्न चित्त होकर (तल्पम्) पर्यङ्क पर (आ रोह) चढ़, और (इह) यहां [गृहाश्रम में] (अस्मै पत्ये) इस पति के लिये (प्रजाम्) सन्तान (जनय) उत्पन्न कर । (इन्द्राणी इव) इन्द्राणी [बड़े ऐश्वर्यवान् मनुष्य की पत्नी वा सूर्य की कान्ति] के समान, (सुबुधा) सुन्दर ज्ञान वाली (बुध्यमाना) सावधान तू (ज्योतिरग्राः) ज्योति को आगे रखने वाली (उषसः प्रति) प्रभात बेलाओं में (जागरासि जागती रहे ॥ ३१ ॥

भावार्थ—वधू को योग्य है कि प्रसन्न चित्त होकर पति के साथ उच्च पद पर विराजकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करे और सावधान रहकर सूर्योदय से पहिले उठकर शारीरिक और आत्मिक उन्नति करे ॥ ३१ ॥

मन्त्र ३१ और ३२ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

देवा अग्रे न्यपद्यन्त पत्नीः समस्पृशन्त तन्वस्तनूभिः ।
सूर्येव नारि विश्वरूपा महित्वा प्रजावती पत्या सं भवेह ३२

देवाः । अग्रे । नि । अपद्यन्त । पत्नीः । सम् । अस्पृशन्त । तन्वः । तनूभिः । सूर्याऽइव । नारि । विश्वऽरूपा । महिऽत्वा । प्रजाऽवती । पत्या । सम् । भव । इह ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (अग्रे) पहिले (पत्नीः) अपनी पत्नियों को (नि) निश्चय करके (अपद्यन्त) प्राप्त हुये हैं, और उन्होंने (तन्वः) शरीरों को (तनूभिः) शरीरों से (सम्) यथाविधि (अस्पृशन्त) स्पर्श किया है।

३१—(आ रोह) आतिष्ठ (तल्पम्) पर्यङ्कम् । उच्चपदम् (सुमनस्यमाना) प्रसन्नचित्ता सती (इह) गृहाश्रमे (प्रजाम्) सन्तानम् (जनय) उत्पादय (पत्ये) (अस्मै) (इन्द्राणी) इन्द्रस्य पत्नी । ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य भार्या । सूर्यकान्तिः (इव) यथा (सुबुधा) बहुज्ञानवती (बुध्यमाना) सावधाना (ज्योतिरग्राः) ज्योतिः प्रकाशोऽग्रे यासां ताः (उषसः) प्रभातवेलाः (प्रति) अनुलक्ष्य (जागरासि) जागृता भवेः ॥

३२—(देवाः) विद्वांसः (अग्रे) पूर्वकाले (नि) निश्चयेन (अपद्यन्त) प्राप्तवन्तः (पत्नीः) (सम्) सम्यक् । यथाविधि (अस्पृशन्त) स्पृष्टवन्तः (तन्वः) शरीराणि (तनूभिः) शरीरैः (सूर्या) सूर्यकान्तिः (इव) यथा (नारि)

[वैसे ही] (नारि) हे नारी ! तू (सूर्या इव) सूर्य की कान्ति के समान (महित्वा) अपने महत्त्व से (विश्वरूपा) समस्त सुन्दरता वाली, (प्रजावती) उत्तम सन्तान को प्राप्त होने हारी तू (पत्या) अपने पति से (इह) यहां [गृहाश्रम में] (सं भव) मिल ॥ ३२ ॥

भावार्थ—पूर्वज महात्माओं के समान पति पत्नी आपस में प्रीति से प्रयत्न करके उत्तम सन्तान उत्पन्न करें और गृहाश्रम के बीच सुख बढ़ावें ॥३२॥

मन्त्र ३१ की टिप्पणी देखो ॥

उत्ति॑ष्ठे॒तो वि॑श्वावसो॒ नम॑सेडामहे त्वा। जा॒मिमि॑च्छ पितृ॒षद॒॑ न्य॑क्तां॒ स ते॑ भा॒गो ज॒नुषा॒ तस्य॑ विद्धि ॥ ३३ ॥

उत् । तिष्ठ॒ । इ॒तः । वि॒श्व॒व॒सो॒ इति॒ विश्व-वसो । नम॑सा । ई॒डा॒म॒हे॒ । त्वा॒ ॥ जा॒मिम् । इ॒च्छ॒ । पि॒तृ॒-सद॑म् । नि-अ॑क्ताम् । सः । ते॒ । भा॒गः । ज॒नुषा॑ । तस्य॑ । वि॒द्धि॒ ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(विश्वावसो) हे समस्त धन वाले वर ! (इतः) [अपने] इस स्थान से (उत् तिष्ठ) उठ, (नमसा) आदर के साथ (त्वा) तुझ से (ईडामहे) हम यह चाहते हैं। (पितृषदम्) पितृकुल में रहती हुयी, (न्यक्ताम्) नियम से तैल आदि लगाये हुये [विवाह संस्कार किये हुये] (जामिम्) कुलवधू से (इच्छ) प्रीति कर. (जनुषा) जन्म [मनुष्य जन्म] के कारण (सः) यह (ते) तेरा (भागः) सेवनीय पदार्थ है, (तस्य) इसका (विद्धि) तू ज्ञान कर ॥ ३३ ॥

हे नरस्य पत्नि (विश्वरूपा) सर्वसौन्दर्योपेता (महित्वा) महत्त्वेन (प्रजावती) प्रशस्तसन्तानयुक्ता (पत्या) (सं भव) संगच्छस्व (इह) गृहाश्रमे ॥

३३—(उत्तिष्ठ) उद्गच्छ (इतः) स्थानात् (विश्वावसो) हे सर्वधनोपेत, वर (नमसा) सत्कारेण (ईडामहे) याचामहे (जामिम्) कुलस्त्रियम् । अत्र मनुः ३ । ५७ । शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम् (इच्छ) प्रीणीहि (पितृषदम्) पितृकुलस्थिताम् (न्यक्ताम्) अञ्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणादिषु—क्त । नियमेन कृताभ्यञ्जनाम् । कृतविवाह संस्काराम् (सः) पूर्वोक्तः (ते) तव (भागः) सेवनीयः पदार्थः (जनुषा) मनुष्यजन्मना (तस्य) पूर्वोक्तस्य (विद्धि) ज्ञानं कुरु ॥

भावार्थ—पूर्व मन्त्र में वर के साथ मिलने के लिये वधू से कहा गया था, अब वर से कहा है कि अपनी विवाहित स्त्री से यथाशास्त्र मिलकर सन्तान उत्पन्न करके मनुष्य जन्म सुफल करे ॥ ३३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । २१, २२ ॥

अप्सरसः सधमादं मदन्ति हविर्धानमन्तरा सूर्यं च । तास्ते जनित्रमभि ताः परेहि नमस्ते गन्धर्वर्तुना कृणोमि ॥ ३४ ॥

अप्सरसः । सध-मादम् । मदन्ति । हविः-धानम् । अन्तरा । सूर्यम् । च ॥ ताः । ते । जनित्रम् । अभि । ताः । परा । इहि । नमः । ते । गन्धर्व-ऋतुना । कृणोमि ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(अप्सरसः) अप्सरायें [कामों में व्यापक स्त्रियां] (हविर्धानम्) ग्राह्य पदार्थों के आधार [वधू] (च) और (सूर्यम् अन्तरा) प्रेरणा करने वाले [वर] के पास (सधमादम्) परस्पर आनन्द (मदन्ति) मनाती हैं । [हे वधू वा वर !] (ताः) वे [स्त्रियां] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म का कारण हैं, (ताः अभि) उनके सामने होकर (परा) निकट (इहि) जा, (गन्धर्वर्तुना) विद्या धारण करने वाले मनुष्य के ऋतु से [यथार्थ समय के विचार से] (ते) तेरे लिये (नमः) आदर (कृणोमि) मैं करता हूं ॥ ३४ ॥

भावार्थ—कुलस्त्रियां शान्तिकरण, स्वस्तिवाचन आदि गान से आनन्द मनावें, सादर प्रेरणा किये हुये वधू वर उन को सविनय नमस्कार करें ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आचुका है—अथर्व० ७ । १०६ । ३ ॥

३४—(अप्सरसः) म० ९ । अपःसु कर्मसु व्यापनशीलाः स्त्रियः (सधमादम्) परस्परानन्दोत्सवम् (मदन्ति) हर्षयन्ति (हविर्धानम्) ग्राह्यपदार्थाधारभूतां वधूम् (अन्तरा) निकटे (सूर्यम्) प्रेरकं वरम् (च) (ताः) स्त्रियः (ते) तव (जनित्रम्) जन्मकारणम् (अभि) अभील्य (ताः) (परा) निकटे (इहि) प्राप्नुहि (नमः) सत्कारम् (ते) तुभ्यम् (गन्धर्वर्तुना) गन्धर्वस्य विद्याधारकस्य ऋतुना यथार्थकालविचारेण (कृणोमि) करोमि ॥

नमो॑ गन्धर्वस्य॒ नम॑से॒ नमो॒ भामा॑य॒ चक्षु॑षे च कृण्मः ।
विश्वा॑वसो॒ ब्रह्म॑णा ते॒ नमो॒ऽभि जा॒या अ॑प्स॒रसः॒ परे॑हि ॥३५॥

नमः॑ । ग॒न्ध॒र्वस्य॑ । नम॑से । नमः॑ । भामा॑य । चक्षु॑षे । च॒ । कृ॒ण्म॒ः ॥ विश्व॑वसो॒ इति॒ विश्व॑-वसो । ब्रह्म॑णा । ते॒ । नमः॑ । अ॒भि । जा॒याः । अ॒प्स॒रसः॑ । परा॑ । इ॒हि॒ ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(गन्धर्वस्य) विद्या धारण करने वाले पुरुष के (नमसे) अन्न [भोजन] के लिये (नमः) [यह] अन्न है, (च) और (भामाय) प्रकाश युक्त (चक्षुषे) नेत्र [अर्थात् इन्द्रियों के हित] के लिये (नमः) अन्न (कृण्मः) हम बनाते हैं। (विश्वावसो) हे समस्त धन वाले वर ! (ते) तेरे लिये (ब्रह्मणा) जल सहित (नमः) अन्न है, (जायाः) जन्म के कारणों, (अप्सरसः अभि) अप्सराओं [कामों में व्यापक स्त्रियों] के सामने (परा इहि) निकट जा ॥ ३५ ॥

भावार्थ—सुन्दर स्वच्छ रोचक खान पान से वधू वर को सन्तुष्ट करें और वे दोनों सब बड़े कार्य कुशल स्त्री पुरुषों का उपकार मान कर उनका सत्कार करें ॥ ३५ ॥

रा॒या व॒यं सु॒मन॑सः स्या॒मोदि॒तो ग॑न्ध॒र्वमावी॑वृताम ।
अग॒न्त्स दे॒वः प॑र॒मं स॒धस्थ॒मग॑न्म॒ यत्र॑ प्रति॒रन्त॒ आयुः॑ ॥३६॥

रा॒या । व॒यम् । सु॒-मन॑सः । स्या॒म॒ । उत् । इ॒तः । ग॒न्ध॒र्वम् ।

३५—(नमः) अन्नम्—निघ० २ । ७ (गन्धर्वस्य) विद्याधारकपुरुषस्य (नमसे) अन्नाय । भोजनाय (नमः) (अन्नम्) (भामाय) अर्तिस्तुसुहु-सृधृक्षिक्षुभायाο । उ० १ । १४० । भा दीप्तौ—मन् । दीप्यमानाय (चक्षुषे) नेत्राय । सर्वेन्द्रियायेत्यर्थः (च) (कृण्मः) कुर्मः (विश्वावसो) हे सर्वधनिन् वर (ब्रह्मणा) उदकेन सह—निघ० १ । १२ (ते) तुभ्यम् (नमः) अन्नम् (अभि) अभीत्य (जायाः) उत्पत्तिकारणानि (अप्सरसः) म० ९ । कर्मसु व्यापनशीलाः स्त्रियः (परा) निकटे (इहि) गच्छ ॥

आ । अवीवृताम् ॥ अगन् । सः । देवः । परमम् । सुध-स्थम् । अगन्म । यत्र । प्र-तिरन्ते । आयुः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(राया) धन के साथ (वयम्) हम (सुमनसः) प्रसन्नचित्त (स्याम) होवें, (इतः) यहां से [अपने क्षेत्र से] (गन्धर्वम्) विद्याधारण करने वाले पुरुष को (उत् आ अवीवृताम) हम सब प्रकार ऊंचा वर्तमान करें। (सः देवः) वह विद्वान् (परमम्) सब से ऊंचे (सधस्थम्) सभा स्थान को (अगन्) प्राप्त हो, (अगन्म) हम [उस पद पर] पहुंचें (यत्र) जहां [लोग] (आयुः) जीवन को (प्रतिरन्ते) अच्छे प्रकार पार करते हैं॥३६॥

भावार्थ—सब विद्वान् लोग मिलकर आशीर्वाद देवें कि वह विद्वान् वर अपने उत्तम गुणों से बड़ा धनी और ऊंचे पद वाला होकर महात्माओं के समान अपना उच्च जीवन बनावे ॥ ३६ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद ऋग्वेद में है—१ । ११३ । १६ तथा ८ । ४८ । ११ ॥

सं पितरावृत्विये सृजेथां माता पिता च रेतसो भवाथः। मर्य इव योषामधि रोहयैनां प्रजां कृण्वाथामिह पुष्यतं रयिम् ॥ ३७ ॥

सम् । पितरौ । ऋत्विये इति । सृजेथाम् । माता । पिता । च । रेतसः । भवाथः ॥ मर्यः-इव । योषाम् । अधि । रोहय । एनाम् । प्र-जाम् । कृण्वाथाम् । इह । पुष्यतम् । रयिम् ३७

भाषार्थ—(पितरौ) हे [होने वाले] माता पिता ! (ऋत्विये)

३६—(राया) धनेन (वयम्) (सुमनसः) प्रसन्नचेतसः (स्याम) (उत्) उत्कर्षेण (इतः) अस्मात् स्थानात् (गन्धर्वम्) विद्याधारकं पुरुषम् (आ) समन्तात् (अवीवृताम्) णिचि लुङि रूपम्। वर्तमानं कुर्याम (अगन्) प्राप्नोतु (सः) (देवः) विद्वान् (परमम्) उत्कृष्टम् (सधस्थम्) सभास्थानम् (अगन्म) वयं गच्छेम (यत्र) यस्मिन् पदे (प्रतिरन्ते) प्रकर्षेण तरन्ति पारयन्ति (आयुः) जीवनम् ॥

३७—(पितरौ) भाविनौ मातापितरौ (ऋत्विये) अ० १२ । ३ ।

ऋतुकाल [गर्भाधान योग्य समय] को प्राप्त दो वस्तु [के समान] (संसृजेथाम्) तुम दोनों मिलो, (च) और (रेतसः) वीर्य से [वीर्य और रज के मेल से] तुम दोनों (माता पिता) माता पिता (भवाथः) होओ। (मर्यः इव) नर के समान [हे पति !] (एनाम्) इस (योषाम्) अपनी पत्नी के (अधि रोहय) ऊपर हो, और (प्रजाम्) सन्तान को (कृणवाथाम्) तुम दोनों उत्पन्न करो, और (इह) यहां [गृहाश्रम में] (रयिम्) धन को (पुष्यतम्) बढ़ाओ ॥३७॥

भावार्थ—जैसे वृक्ष आदि के बीज के मिले हुये दो टुकड़े वर्षा ऋतु में पृथिवी के संयोग से अङ्कुर उत्पन्न करते हैं, वैसे ही युवा पति पत्नी गर्भाधान विधि के अनुसार रतिक्रिया करके वीर्य और रज के संयोग से सन्तान उत्पन्न करें और धनी होकर सुखी होवें ॥ ३७ ॥

मन्त्र ३७ और ३८ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात हैं ॥

तां पूषं छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या॒३॒ वपन्ति। या न ऊरू उशती विश्रयाति यस्यामुशन्तः प्रहरेम शेपः ॥३८॥

ताम्। पूषन्। शिव-तमाम्। आ। ई॒रयस्व। यस्याम्। बीजम्। मनुष्याः। वपन्ति ॥ या। नः। ऊरू इति। उशती। वि-श्रयाति। यस्याम्। उशन्तः। प्र-हरेम। शेपः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(पूषन्) हे पोषक पति ! (ताम्) उस (शिवतमाम्) अतिशय कल्याण करने हारी पत्नी को (आ ईरयस्व) प्रेरणा कर (यस्याम्)

२६। छन्दसि घस्। पा० ५। १। १०६। ऋतु—घस्। द्विवचनान्तः प्रयोगोऽयं नपुंसके। ऋतु गर्भाधानयोग्यकालं प्राप्ते द्वे द्रव्ये यथा (संसृजेथाम्) युवां संयुक्तौ भवतम् (माता) (पिता) (च) (रेतसः) वीर्यात्। वीर्यरजः संयोगात् (भवाथः) युवां भवतम् (मर्यः इव) नरो यथा (योषाम्) सेवनीयां पत्नीम् (अधि रोहय) उपरि गच्छ (एनाम्) गुणवतीम् (प्रजाम्) सन्तानम् (कृणवाथाम्) जनयतम् (इह) गृहाश्रमे (पुष्यतम्) वर्धयतम् (रयिम्) धनम् ॥

३८—(ताम्) युवतीम् (पूषन्) हे पोषक पते (शिवतमाम्) अतिशयेनानन्दकरीम् (एरयस्व) प्रेरय (यस्याम्) पत्न्याम् (बीजम्) वीर्यम् (मनुष्याः)

जिस [पत्नी] में (मनुष्याः) मनुष्यलोग [मैं पति] (बीजम्) वीर्य (वपन्ति) बोवें। (या) जो (नः) हमारी (उशती) कामना करती हुयी (ऊरू) दोनों जंघाओं को (विश्रयाति) फैलावे, और (यस्याम्) जिस में (उशन्तः) [उसकी] कामना करते हुये हम लोग (शेपः) उपस्थेन्द्रिय का (प्रहरेम) प्रहरण करें॥ ३८॥

भावार्थ—मन्त्र में बहुवचन विद्वत्ता, बलवत्ता और प्रीति के सूचनार्थ है। युवा पति पत्नी दोनों परस्पर कामना करते हुये प्रसन्नवदन होकर गर्भाधान के लिये अपने अङ्गों को यथाविधि ठीक करें॥ ३८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है १०। ८५। ३७। ऊपर मन्त्र ३७ भी देखो॥

आ रोहोरुमुपं धत्स्व हस्तं परिं ष्वजस्व जायां सुमनस्यमानः। प्रजां कृण्वाथामिह मोदमानौ दीर्घं वामायुः सविता कृणोतु॥ ३९॥

आ। रोह। ऊरुम्। उपं। धत्स्व। हस्तम्। परिं। स्वजस्व। जायाम्। सु-मनस्यमानः॥ प्र-जाम्। कृण्वाथाम्। इह। मोदमानौ। दीर्घम्। वाम्। आयुः। सविता। कृणोतु ३९

भाषार्थ—[हे पति!] तू (ऊरुम) जंघा के (आ रोह) ऊपर आ, (हस्तम्) हाथ का (उप धत्स्व) सहारा दे, और (सुमनस्यमानः) प्रसन्न चित्त होकर तू (जायाम्) पत्नी को (परि ष्वजस्व) चिपटा ले। [हे स्त्री पुरुषो!] (इह) यहां [गर्भाधान क्रिया में] (मोदमानौ) हर्ष मनाते हुये तुम दोनों (प्रजाम्) सन्तान को (कृण्वाथाम्) उत्पन्न करो, (सविता) सब

नराः (वपन्ति) निक्षिपन्ति (या) पत्नी (नः अस्मान् (ऊरू) जंघाप्रदेशौ (उशती) कामयमाना (विश्रयाति) विविधं श्रयेत्। विस्तारयेत् (यस्याम्) (उशन्तः) तां कामयमानाः (प्रहरेम) प्रहृतं कुर्याम (शेपः) उपस्थेन्द्रियम्॥

३९—(आ रोह) आतिष्ठ (ऊरुम्) जंघाम् (उप धत्स्व) उपेत्य स्थापय धारय (हस्तम) (परि ष्वजस्व) आलिङ्ग (जायाम्) पत्नीम् (सुमनस्यमानः) प्रसन्नचित्तः (प्रजाम्) सन्तानम् (कृण्वाथाम्) जनयतम् (इह)

का उत्पन्न करने वाला [परमेश्वर] (वाम्) तुम दोनों का (आयुः) आयु (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ ३९ ॥

भावार्थ—पति पत्नी दोनों प्रसन्न वदन होकर मुख के सामने मुख, नासिका के सामने नासिका आदि अङ्गों को यथा योग्य सूधा रक्खें। पुरुष के प्रक्षिप्त वीर्य को खैंचकर स्त्री गर्भाशय में स्थिर करे जिस से गर्भाधान क्रिया सफल होवे, और परमेश्वर के अनुग्रह से उत्तम सन्तान उत्पन्न कर के वे दोनों अपने जीवन में प्रसन्न रहें ॥ ३९ ॥

आ वां प्रजां जनयतु प्रजापतिरहोरात्राभ्यां समनक्त्वर्यमा। अदुर्मङ्गली पतिलोकमा विशेमं शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे ॥ ४० ॥ (१०)

आ। वाम्। प्र-जाम्। जनयतु। प्रजा-पतिः। अहोरात्राभ्याम्। सम्। अनक्तु। अर्यमा ॥ अदुः-मङ्गली। पति-लोकम्। आ। विश। इमम्। शम्। नः। भव। द्वि-पदे। शम्। चतुः-पदे ॥ ४० ॥ (१०)

भाषार्थ—[हे वधू वर !] (प्रजापतिः) प्रजापालक, (अर्यमा) श्रेष्ठों का मान करने वाला, [परमात्मा] (वाम्) तुम दोनों को (प्रजाम्) सन्तान (आ जनयतु) उत्पन्न करे और (अहोरात्राभ्याम्) दिन और रात्रि के साथ [सब को] (सम् अनक्तु) संयुक्त करे। [हे वधू !] (अदुर्मङ्गली) दुष्ट लक्षण रहित तू (इमम्) इस (पतिलोकम्) पति लोक [पति कुल] में (आ

गर्भाधानविधौ (मोदमानौ) हर्षन्तौ (दीर्घम्) (वाम्) युवयोः (आयुः) जीवनम् (सविता) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (कृणोतु) करोतु ॥

४०—(वाम्) युवाभ्याम् (प्रजाम्) सन्तानम् (आ जनयतु) उत्पादयतु (प्रजापतिः) परमेश्वरः (अहोरात्राभ्याम्) रात्रिदिनाभ्याम्। सर्वदेत्यर्थः (समनक्तु) संयोजयतु (अर्यमा) श्रेष्ठानां मानकर्ता (अदुर्मङ्गली) दुष्टलक्षणरहिता (पतिलोकम्) पतिकुलम् (आ विश) प्रविश (इमम्) (शम्) सुख-

विश) प्रवेश कर, और (नः) हमारे (द्विपदे) दोपायों के लिये (शम्) सुखदायक और (चतुष्पदे) चौपायों के लिये (शम्) सुखदायक (भव) हो ॥४०॥

भावार्थ—जगत्पालक परमेश्वर की उपासना करके युक्त आहार विहार ऋतुगमन आदि योग्य क्रिया के साथ पति पत्नी चिरजीवी सन्तान उत्पन्न करें, जिससे पति कुल में उस वधू के शुभागमन से सब मनुष्य और गौ आदि पशु बढ़कर प्रसन्न रहें ॥ ४० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । ४७ ॥

दे॒वैर्द॒त्तं मनु॑ना सा॒कमे॒तद् वाधू॑यं॒ वासो॑ व॒ध्वश्च॒ वस्त्र॑म् ।
यो ब्र॒ह्मणे॑ चिकि॒तुषे॒ ददा॑ति॒ स इद् रक्षां॑सि॒ तल्पा॑नि हन्ति ४१

दे॒वैः । द॒त्तम् । मनु॑ना । सा॒कम् । ए॒तत् । वाधू॑-यम् । वासः । व॒ध्वः । च॒ । वस्त्र॑म् ॥ यः । ब्र॒ह्मणे॑ । चि॒कि॒तुषे॑ । ददा॑ति । सः । इत् । रक्षां॑सि । तल्पा॑नि । ह॒न्ति॒ ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [विद्वान् पिता आदि] (मनुना साकम्) मननशील राजा के साथ (देवैः) विद्वानों करके (दत्तम्) दिया हुआ (एतत्) यह (वाधूयम्) विवाह का (वासः) पहिरने योग्य (वस्त्रम्) वस्त्र [योग्यता का चिह्न] (चिकितुषे) ज्ञानवान् (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [वेदवेत्ता वर] को (च) और (वध्वः = वध्वै) वधू को (ददाति) देता है, (सः इत्) वही (तल्पानि) प्रतिष्ठा [सम्मान, गौरव] में होने वाले (रक्षांसि) दोषों को (हन्ति) नष्ट करता है ॥ ४१ ॥

प्रदा॰ (नः) अस्माकम् (भव) (द्विपदे) मनुष्यादिसमूहाय (शम्) (चतुष्पदे) गवादिपशुसमूहाय ॥

४१—(देवैः) विद्वद्भिः (दत्तम्) (मनुना) मननशीलेन राज्ञा (साकम्) सह (एतत्) दृश्यमानम् (वाधूयम्) वैवाहिकम् (वासः) परिधानीयम् (वध्वः) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ६२ । इति षष्ठी । वध्वै (च) (वस्त्रम्) योग्यतासूचकं वसनम् (यः) विद्वान् (ब्रह्मणे) वेदवेत्त्रे पुरुषाय (चिकितुषे) विद्यावते (ददाति) प्रयच्छति (सः) (इत्) एव (रक्षांसि) दोषान् (तल्पानि) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । तल प्रतिष्ठायां—पप्रत्ययः, ततः अर्श आद्यच् । तल्पे प्रतिष्ठायां सम्माने भवानि (हन्ति) नाशयति ॥

भावार्थ—पिता आदि गुरुजनों को योग्य है कि राजव्यवस्था के अनुसार आचार्या और आचार्य से सुशिक्षित ब्रह्मचारी, विद्यासूचक वस्त्र आदि से सुभूषित वधू वर का विवाह करें जिस से संसार में उन सब की निर्विघ्न प्रतिष्ठा बढ़े ॥ ४१ ॥

यं मे॑ द॒त्तो ब्र॑ह्मभा॒गं व॑धू॒योर्वाधू॑यं॒ वासो॑ व॒ध्वश्च॒ वस्त्र॑म् ।
यु॒वं ब्र॒ह्मणे॑ऽनु॒मन्य॑मानौ॒ बृह॑स्पते सा॒कमिन्द्र॑श्च द॒त्तम् ॥ ४२ ॥

यम् । मे॒ । द॒त्तः । ब्र॒ह्म॒ऽभा॒गम् । व॒धू॒ऽयोः । वाधू॑ऽयम् । वासः॑ । व॒ध्वः॑ । च॒ । वस्त्र॑म् ॥ यु॒वम् । ब्र॒ह्मणे॑ । अ॒नु॒ऽमन्य॑मानौ । बृह॑स्पते । सा॒कम् । इन्द्रः॑ । च॒ । द॒त्तम् ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(यम्) जो (ब्रह्मभागम्) ब्रह्मा [वेदवेत्ता] का भाग [अर्थात्] (वाधूयम्) विवाह का (वासः) पहिरने योग्य (वस्त्रम्) वस्त्र [योग्यता का चिह्न] (वधूयोः=वधूयवे) वधू की कामना करने वाले (मे) मुझ (ब्रह्मणे) ब्रह्मा [वेदवेत्ता वर] को (च) और (वध्वः=वध्वै) वधू को (दत्तः) वे दोनों [वर और वधू के पक्ष वाले] देते हैं । (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्या के रक्षक आचार्य] (च) और (इन्द्रः) हे बड़े ऐश्वर्यवाले राजन् ! (साकम्) साथ साथ (अनुमन्यमानौ) अनुमति देते हुये (युवम्) तुम दोनों [वह वस्त्र] (दत्तम्) देओ ॥ ४२ ॥

भावार्थ—जब वधू वर के पक्ष वाले युवा युवती का विवाह निश्चित करें, तब वे राजव्यवस्था और गुरुकुल आदि की शिक्षा के अनुसार दोनों की आयु, विद्या, स्वस्थता, सुशीलता आदि योग्यता को अवश्य विचार लेवें ॥ ४२ ॥

४२—(यम्) (मे) मह्यम् (दत्तः) प्रयच्छतः, तौ वधूवरपक्षौ (ब्रह्मभागम्) ब्रह्मणा वेदज्ञेन सेवनीयं पदार्थम् (वधूयोः) चतुर्थ्यर्थे बहुलं छन्दसि । पा० २ । ३ । ३२ । इति षष्ठी । वधूयवे । वधूकामाय वराय (वासः) परिधानीयम् (वध्वः) म० ४१ । वध्वै (च) (वस्त्रम्) योग्यतासूचकं वसनम् (युवम्) युवाम् (ब्रह्मणे) वेदवेत्त्रे पुरुषाय (अनुमन्यमानौ) अनुमतिं ददमानौ (बृहस्पते) बृहत्या विद्यायाः पालक । आचार्य (साकम्) (इन्द्रः) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (दत्तम्) प्रयच्छतम् ॥

स्योनाद्योनेरधि बुध्यमानौ हसामुदौ महसा मोदमानौ ।
सुगू सुपुत्रौ सुगृहौ तराथो जीवावुषसो विभातीः ॥ ४३ ॥

स्योनात् । योनेः । अधि । बुध्यमानौ । हसामुदौ । महसा । मोदमानौ ॥ सुगू इति सु-गू । सु-पुत्रौ । सु-गृहौ । तराथः । जीवौ । उषसः । वि-भातीः ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो !] (स्योनात्) सुखदायक (योनेः) घर से (अधि) अच्छे प्रकार (बुध्यमानौ) जागते हुये, (हसामुदौ) हँसी और आनन्द करते हुये (महसा) बड़े प्रेम से (मोदमानौ) हर्ष मनाते हुये, (सुगू) सुन्दर चाल चलने वाले [वा उत्तम गौओं वाले] (सुपुत्रौ) श्रेष्ठ पुत्रों वाले, (सुगृहौ) श्रेष्ठ गृह सामग्री वाले, (जीवौ) प्राणों को धारण करते हुये तुम दोनों (विभातीः) सुन्दर प्रकाश युक्त (उषसः) बहुत प्रभात बेलाओं को (तराथः) पार करो ॥ ४३ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुषों को उचित है कि अपने घरों को आवश्यक गृह-सामग्रियों से भरपूर रक्खें और पुत्र पौत्र आदि के साथ प्रसन्न रहकर चिर जीवी होकर यशस्वी होवें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

नवं वसानः सुरभिः सुवासा उदागां जीव उषसो विभातीः ।
आण्डात् पतत्रीवामुक्षि विश्वस्मादेनसस्परि ॥ ४४ ॥

४३—(स्योनात्) सुखप्रदात् (योनेः) गृहात्—निघ० ३ । ४ (अधि) यथाविधि (बुध्यमानौ) जागरूकौ । अप्रमत्तौ (हसामुदौ) हास्येनामोदं कुर्वन्तौ (महसा) महता प्रेम्णा (मोदमानौ) हर्षन्तौ (सुगू) सु+गच्छतेर्डु, यद्वा । गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य । पा० १ । २ । ४८ । इति गोर्ह्रस्वः । शोभनचरित्रौ । उत्तमगोयुक्तौ (सुपुत्रौ) श्रेष्ठसन्तानौ (सुगृहौ) श्रेष्ठगृहसामग्रीयुक्तौ (तराथः) पारयतम् (जीवौ) प्राणान् धारयन्तौ (उषसः) बहुप्रभातवेलाः (विभातीः) विविधप्रकाशमानाः ॥

नवम् । वसानः । सुरभिः । सु-वासाः । उत्-आगाम् । जीवः । उषसः । वि-भातीः ॥ आण्डात् । पतत्री-इव । अमुक्षि । विश्वस्मात् । एनसः । परि ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(नवम्) स्तुति को (वसानः) धारण करता हुआ, (सुरभिः) ऐश्वर्यवान् (सुवासाः) सुन्दर निवास वाला, (जीवः) जीव [जीवता हुआ] मैं (विभातीः) सुन्दर प्रकाशयुक्त (उषसः) प्रभात वेलाओं में (उदागाम्) उदय होता रहूं । (आण्डात्) अण्डे से (पतत्री इव) पक्षी के समान (विश्वस्मात्) सब (एनसः) कष्ट से (परि) सर्वथा (अमुक्षि) छूट जाऊं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मनुष्य गृहाश्रम में प्रवेश करके प्रयत्न करे कि वह प्रभात के सूर्य के समान उदय होता हुआ तेजस्वी, प्रशंसित, बलवान्, धनवान्, चिरजीवी होकर सुख भोगता रहे ॥ ४४ ॥

शुम्भनी द्यावापृथिवी अन्तिसुम्ने महिव्रते ।
आपः सप्त सुस्रुवुर्देवीस्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥ ४५ ॥

शुम्भनी इति । द्यावापृथिवी इति । अन्तिसुम्ने इत्यन्ति-सुम्ने । महिव्रते इति महि-व्रते ॥ आपः । सप्त । सुस्रुवुः । देवीः । ताः । नः । मुञ्चन्तु । अंहसः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(शुम्भनी) शोभायमान (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोक (अन्तिसुम्ने) [अपनी] गतियों से सुख देने वाले और (महिव्रते) बड़े व्रत [नियम] वाले हैं । (देवीः) उत्तम गुण वाली (सप्त) सात (आपः)

४४—(नवम्) णु स्तुतौ—अप् । स्तवम् । स्तुतिम् (वसानः) धारयन् (सुरभिः) अ० १२ । १।२३ । षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—अभिच् । ऐश्वर्यवान् (सुवासाः) सुनिवासयुक्तः (उदागाम्) उदयं प्राप्नुयाम् (जीवः) प्राणान् धारयन् (उषसः) प्रभातवेलाः (विभातीः) विविधप्रकाशयुक्ताः (आण्डात्) स्वार्थे-अण् । अण्डात् (पतत्री) पक्षी (इव) यथा (अमुक्षि) मुक्तो भवानि (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् (एनसः) कष्टात् (परि) पृथग्भावे ॥

४५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ११२ । १ ॥

व्यापनशील इन्द्रियां [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] (सुसुवुः) [हमें] प्राप्त हुयी हैं, (ताः) वे (नः) हमें (अंहसः) कष्ट से (मुञ्चन्तु) छुड़ावें ॥ ४५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य और पृथिवीलोक ईश्वर नियम से अपनी अपनी गति पर चलकर वृष्टि अन्न आदि से उपकार करते हैं, वैसे ही मनुष्य इन्द्रियों को नियम में रखकर अपराधों से बचें ॥ ४५ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० ७ । ११२ । १ ॥

सूर्यायै देवेभ्यो मित्राय वरुणाय च ।

ये भूतस्य प्रचेतसस्तेभ्य इदमकरं नमः ॥ ४६ ॥

सूर्यायै । देवेभ्यः । मित्राय । वरुणाय । च ॥

ये । भूतस्य । प्र-चेतसः । तेभ्यः । इदम् । अकरम् । नमः ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(सूर्यायै) बुद्धिमानों का हित करने वाली विद्या के लिये, (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के पाने के लिये (च) और (वरुणाय) श्रेष्ठ (मित्राय) मित्र की प्राप्ति के लिये (ये) जो पुरुष (भूतस्य) उचित कर्म के (प्रचेतसः) जानने वाले हैं, (तेभ्यः) उनके लिये (इदम्) यह (नमः) नमस्कार (अकरम्) करता हूं ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्या प्राप्त करके उत्तम गुणों और श्रेष्ठ मित्रों को प्राप्त करते हैं, वे संसार में प्रशंसनीय होते हैं ॥ ४६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८५ । १७ ॥

य ऋते चिदभिश्रिषः पुरा जत्रुभ्य आतृदः ।

संधाता संधिं मघवा पुरूवसुर्निष्कर्ता विहुतं पुनः ॥ ४७ ॥

यः । ऋते । चित् । अभि-श्रिषः । पुरा । जत्रु-भ्यः । आ-तृदः ॥

४६—(सूर्यायै) सूराः सूरयो वा मेधाविनः, तेभ्यो हिता, सूर सूरि वा—यत् । सूर्या वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । विद्याप्राप्तये (देवेभ्यः) उत्तमगुणानां लाभाय (मित्राय) मित्रलाभाय (वरुणाय) वरणीयाय श्रेष्ठाय (च) (ये) विद्वांसः (भूतस्य) उचितकर्मणः (प्रचेतसः) प्रज्ञातारः (तेभ्यः) (इदम्) (अकरम्) करोमि (नमः) नमस्कारम् ॥

सम्-धाता । सम्-धिम् । मघ-वा । पुरु-वसुः । निः-कर्ता । वि-हुतम् । पुनः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (पुरा) पहिले से [वर्तमान] (ऋते) सत्य नियम में (चित्) ही (अभिश्रिषः) चिपकाने के साधन [वीर्य के विन्दु] से (जत्रुभ्यः) ग्रीवा आदि जोड़ों के [बनाने के] लिये (आतृदः) [रुधिर के] सब ओर टकराने [घूमने] से (सन्धिम्) हड्डी के जोड़ को (संधाता) जोड़ देने वाला है, (मघवा) वह पूज्य (पुरुवसुः) बहुत श्रेष्ठ गुणों वाला [परमात्मा] (विहुतम्) टेढ़े हुये अंग को (पुनः) फिर (निष्कर्ता) ठीक करने वाला है ॥ ४७ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के अनादि सत्य नियम के अनुसार, बीज चाहे सीधा पड़े चाहे टेढ़ा, वह पृथिवी की भीतरी गति से ऐसा ठीक होजाता है कि उससे ऊपर को अङ्कुर और नीचे को जड़ उपजती है, इसी प्रकार वीर्य गर्भाशय में ठीक होकर नाभि से सम्बन्ध करता है, तब रुधिर के संचार से बालक के अङ्ग सीधे होकर पूरे और पुष्ट होते हैं ॥ ४७ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है—पू० ३ । ६ । २, तथा कुछ भेद से ऋग्वेद में है ।८—१ । १२ ॥

अपास्मत् तम उच्छतु नीलं पिशङ्गमुत लोहितं यत् । निर्दहनी या पृषातक्य१स्मिन् तां स्थाणावध्या सजामि ॥ ४८ ॥

अप । अस्मत् । तमः । उच्छतु । नीलम् । पिशङ्गम् । उत ।

४७—(यः) परमेश्वरः (ऋते) सत्यनियमे (चित्) एव (अभिश्रिषः) अभिश्लिषः । अभिश्लेषणात् सन्धानद्रव्यात् । वीर्यविन्दुसकाशात् (पुरा) पूर्वकाले (जत्रुभ्यः) जत्र्वादयश्च । उ० ४ । १०२ [जनी प्रादुर्भावे—रु, नस्य तः । ग्रीवादिसन्धीनां रचनाय (आतृदः) उ तृदिर् हिंसानादरयोः—क्विप् । आतर्दनात् । प्रताडनात् । रुधिरस्य संचारात् (सन्धाता) संयोजयिता भवति (सन्धिम्) अस्थिसंयोगम् (मघवा) अ० २ । ५ । ७ । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० । १ । १५९ । मह पूजायाम्—कनिन्, हस्य घः, वुगागमश्च । पूजनीयः (पुरुवसुः) सांहितिको दीर्घः । बहुश्रेष्ठगुणयुक्तः परमात्मा (निष्कर्ता) संस्कर्ता । सन्धाता भवति (विहुतम्) ह्वृ कौटिल्ये—क्त । कुटिलमङ्गम् (पुनः)॥

लोहितम् । यत् ॥ निः-दहनी । या । पृषातकी । अस्मिन् । ताम् । स्थाणौ । अधि । आ । सजामि ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(अस्मत्) हमसे (तमः) अन्धकार (अप उच्छतु) बाहिर जावे, (उत) और [वह भी], (यत्) जो कुछ (नीलम्) नीला, (पिशङ्गम्) पीला और (लोहितम्) रक्त वर्ण [अशुद्ध वस्तु] है। (निर्दहनी) जला देने वाली (या) जो (पृषातकी) वृद्धि बांधने वाली [पीड़ा] (अस्मिन्) इस (स्थाणौ) स्थिर चित्त वाले मनुष्य में है, (ताम्) उस [पीड़ा] को (अधि) अधिकार पूर्वक (आ सजामि) मैं बांधता [रोकता] हूं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्थिर चित्त होकर अपने शारीरिक, मानसिक और सामाजिक अशुद्धि, रोग आदि विघ्नों को हटावें ॥ ४८ ॥

यावतीः कृत्या उपवासने यावन्तो राज्ञो वरुणस्य पाशाः । व्यृद्धयो या असमृद्धयो या अस्मिन् ता स्थाणावधि सादयामि ॥४९॥

यावतीः । कृत्याः । उप-वासने । यावन्तः । राज्ञः । वरुणस्य । पाशाः ॥ वि-ऋद्धयः । याः । असम्-ऋद्धयः । याः । अस्मिन् । ताः । स्थाणौ । अधि । सादयामि ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(उपवासने) निवास स्थान [ग्राम आदि] में (राज्ञः) ऐश्वर्यवान् पुरुष की (वरुणस्य) रोक की (यावतीः) जितनी (कृत्याः)

४८—(अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (तमः) तम खेदे-असुन् । अन्धकारः (अप उच्छतु) उच्छी विवासे । दूरे गच्छतु (नीलम्) (पिशङ्गम्) पीतवर्णम् (उत) अपि च (लोहितम्) रक्तवर्णम् । रोगविशिष्टं वस्तु (यत्) वस्तु (निर्दहनी) नितरां दहनशीला (या) पीडा (पृषातकी) पृषु सेचने—क + बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ३७ । अत बन्धने-कुन्, गौरादित्वाद् ङीष् । सेचनस्य वर्धनस्य बन्धनशीला निवारणशीला (अस्मिन्) (ताम्) पीडाम् (स्थाणौ) स्थिरस्वभावे मनुष्ये (अधि) अधिकृत्य (आ सजामि) षञ्ज सङ्गे । प्रबध्नामि । रुणध्मि ॥

४९—(यावतीः) यत्परिमाणाः (कृत्याः) कृञ् हिंसायाम्—क्यप् तुक् च । हिंसाः । पीडाः (उपवासने) निवासस्थाने । उपवसथे । ग्रामे (यावन्तः) (राज्ञः)

पीड़ायें और (यावन्तः) जितने (पाशाः) फन्दे हैं। और (याः) जो (व्यृद्धयः) निर्धनतायें और (याः) जो (असमृद्धयः) असिद्धियां (अस्मिन्) इस (स्थाणौ) स्थिर चित्त वाले मनुष्य में हैं, (ताः) उन [सब बाधाओं] को (अधि) अधिकार पूर्वक (सादयामि) मैं मिटाता हूं ॥ ४९ ॥

भावार्थ—ग्राम आदि देशों में जो विद्वानों की वृद्धि रोकने वाले विघ्न उपस्थित होवें, उनका प्रतीकार शीघ्र करना चाहिये ॥ ४९ ॥

या मे॑ प्रि॒यत॑मा त॒नूः सा मे॑ बिभाय॒ वास॑सः ।

तस्या॑ग्रे॒ त्वं व॑नस्पते नी॒विं कृ॑णुष्व॒ मा व॒यं रि॑षाम ॥५० (११

या । मे॒ । प्रि॒य-त॑मा । त॒नूः । सा । मे॒ बि॒भा॒य॒ । वास॑सः ॥ तस्य॑ । अग्रे॑ । त्वम् । व॒न॒स्प॒ते॒ । नी॒विम् । कृ॒णु॒ष्व॒ । मा । व॒यम् । रि॒षा॒म॒ ॥ ५० ॥ (११)

भाषार्थ—[हे वीर !] (या) जो (मे) मेरा (प्रियतमा) अत्यन्त प्रिय (तनूः) शरीर है, (सा) वह (मे) मेरा शरीर (वाससः) हिंसा कर्मसे (बिभाय) डरता है। (वनस्पते) हे सेवनीय व्यवहार के रक्षक ! (त्वम्) तू (अग्रे) पहिले से (तस्य) उस [हिंसा कर्म] का (नीविम्) बन्धन (कृणुष्व) कर, (वयम्) हम लोग (मा रिषाम) कभी न कष्ट पावें ॥ ५० ॥

ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य (वरुणस्य) आवरणस्य । रोधनस्य (पाशाः) बन्धाः (व्यृद्धयः) असम्पत्तयः (याः) (असमृद्धयः) असिद्धयः (याः) (अस्मिन्) (ताः) बाधाः (स्थाणौ) दृढस्वभावे पुरुषे (अधि) अधिकृत्य (सादयामि) षद्लृ अवसादने । नाशयामि ॥

५०—(या) (मे) मम (प्रियतमा) अतिशयेन प्रिया (तनूः) शरीरम् (सा) तनूः (मे) मम (बिभाय) बिभेति (वाससः) वसेर्णित् । उ० ४ । २१८ । वस हिंसायाम्-असुन्, णित् । हिंसाकर्मणः सकाशात् (तस्य) हिंसाकर्मणः (अग्रे) आदौ (त्वम्) (वनस्पते) वननीयस्य सेवनीयव्यवहारस्य रक्षक (नीविम्) नौ व्यो यलोपः पूर्वस्य च दीर्घः । उ० ४ । १३६ । नि+व्येञ् संवरणे—इण् डित्, यलोपः, उपसर्गस्य दीर्घः । कटिबन्धनम् । प्रबन्धम् (कृणुष्व) कुरु (वयम्) (मा रिषाम) दुःखिता न भवेम ॥

भावार्थ—विद्वान् गृहस्थों का कर्तव्य है कि दूसरों को सताकर अपने को दूषित न करें और उस का पहिले से विचार करके राजदण्ड आदि के पश्चात्ताप से बच कर सुखी रहें ॥ ५० ॥

ये अन्ता यावतीः सिचो य ओतवो ये च तन्तवः ।

वासो यत् पत्नीभिरुतं तन्नः स्योनमुप स्पृशात् ॥ ५१ ॥

ये । अन्ताः । यावतीः । सिचः । ये । ओतवः । ये । च । तन्तवः ॥ वासः । यत् । पत्नीभिः । उतम् । तत् । नः । स्योनम् । उप । स्पृशात् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अन्ताः) वस्त्र के आंचल, (यावतीः) जितनी (सिचः) कोरें, (ये) जो (ओतवः) बुनावटें, (च) और (ये) जो (तन्तवः) तन्तु [तांते] हैं । (यत्) जो (वासः) वस्त्र (पत्नीभिः) पत्नियों करके (उतम्) बुना गया है, (तत्) वह (नः) हम से (स्योनम्) सुख के साथ (उप स्पृशात्) चिपटा रहे ॥ ५१ ॥

भावार्थ—जैसे विदुषी चतुर स्त्रियों के बुने और बनाये वस्त्र शरीर को सुख देते हैं, वैसे ही विद्वानों के विचार पूर्वक किये काम उपकारी होते हैं ॥५१॥

उशतीः कन्यला इमाः पितृलोकात् पतिं यतीः ।

अव दीक्षामसृक्षत स्वाहा ॥ ५२ ॥

उशतीः । कन्यलाः । इमाः । पितृ-लोकात् । पतिम् । यतीः ॥ अव । दीक्षाम् । असृक्षत । स्वाहा ॥ ५२ ॥

५१—(ये) (अन्ताः) वस्त्रान्ताः (यावतीः) यत्संख्याकाः (सिचः) षिच आर्द्रीकरणे-क्विप् । वस्त्रान्तविशेषाः (ये) (ओतवः) सितनिगमिमसिसच्यवि० उ० १ । ६९ । अव रक्षणादिषु—तुन्, ऊठ्च, यद्वा आङ्+वेञ् तन्तुसन्ताने-तुन् संप्रसारणं च । पटे दीर्घतन्तवः (ये) (च) (तन्तवः) तनु विस्तारे-तुन् । सूत्राणि (वासः) वस्त्रम् (यत्) (पत्नीभिः) (उतम्) वेञ् तन्तु सन्ताने-क्त । स्यूतम् (तत्) (नः) अस्मान् (स्योनम्) सुखेन (उप) उपेत्य (स्पृशात्) स्पृशेत् ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (उशतीः) कामना करती हुईं (कन्यलाः) शोभावती कन्यायें (पितृलोकात्) पितृलोक [पितृकुल] से (पतिम्) अपने अपने पति को (यतीः) जाती हुईं (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (दीक्षाम्) दीक्षा [नियम व्रत की शिक्षा] को (अव असृक्षत) दान करें ॥ ५२ ॥

भावार्थ—गुणवती विदुषी स्त्रियां विवाह करके घर के सुप्रबन्ध से सन्तान आदि को वेद द्वारा उत्तम नियम और कर्म सिखावें ॥ ५२ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।
वर्चो गोषु प्रविष्टं यत् तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५३ ॥

बृहस्पतिना । अव-सृष्टाम् । विश्वे । देवाः । अधारयन् ॥ वर्चः । गोषु । प्र-विष्टम् । यत् । तेन । इमाम् । सम् । सृजामसि ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिना) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक आचार्य] करके (अवसृष्टाम्) दी हुई [दीक्षा, नियम व्रत की शिक्षा—मन्त्र ५२] को (विश्वे देवाः) सब विद्वानों ने (अधारयन्) धारण किया है। (यत्) जो (वर्चः) प्रताप (गोषु) विद्वानों में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, (तेन) उससे (इमाम्) इस [प्रजा, स्त्री सन्तान आदि] को (सं सृजामसि) हम संयुक्त करते हैं ॥ ५३ ॥

५२—(उशतीः) कामयमानाः (कन्यलाः) उ० ५।५५। ३। अघ्न्यादयश्च। उ० ४। ११२। कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—यक्+ला आदाने—क, टाप्। शोभाग्रहीत्र्यः (इमाः) विदुष्यः (पितृलोकात्) पितृकुलात् (पतिम्) स्वस्वभर्तारम् (यतीः) गच्छन्त्यः (दीक्षाम्) दीक्ष मौण्ड्येज्योपनयननियमव्रतादेशेषु—अप्रत्ययः। नियमव्रतयोः शिक्षाम् (अव सृक्षत) अवसृजन्तु। ददतु (स्वाहा) अ० २। १६। १। सुवाण्या। वेदवाचा ॥

५३—(बृहस्पतिना) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकेण। आचार्येण (अवसृष्टाम्) दत्ताम्, दीक्षाम्—इति पदस्य पूर्वमन्त्रादनुवृत्तिः (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अधारयन्) धारितवन्तः (वर्चः) प्रतापः (गोषु) गच्छति जानातीति गौः। गौः स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। विद्वत्सु (प्रविष्टम्) व्याप्तम् (यत्) (तेन) (इमाम्) इदानीं प्रजाम् (सं सृजामसि) वयं संयोजयामः ॥

भावार्थ—जिस प्रकार आचार्य से सुशिक्षा पाकर पूर्वज विद्वानों ने उत्तम पद पाये हैं, वैसे ही मनुष्य अपने लोगों को सुशिक्षा देकर उन्नत करें ॥५३॥

बृहस्पतिना ० । तेजो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५४ ॥

० ॥ तेजः । गोषु । प्र-विष्टम् । यत् । तेन । ० ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिना) बृहस्पति......... । (यत्) जो (तेजः) तेज (गोषु) विद्वानों में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है,(तेन) उस से .....[मन्त्र ५३]॥५४॥

भावार्थ—मन्त्र ५३ के समान है ॥ ५४ ॥

बृहस्पतिना ० । भगो गोषु प्रविष्टो यस्तेन० ॥ ५५ ॥

० ॥ भगः । गोषु । प्र-विष्टः । यः । तेन । ० ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिना) बृहस्पति...... । (यः) जो (भगः) सेवनीय प्रभाव [ऐश्वर्य] (गोषु) विद्वानों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट है, (तेन) उस से......[म० ५३] ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५३ के समान ॥ ५५ ॥

बृहस्पतिना ० । यशो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५६ ॥

० ॥ यशः । गोषु । प्र-विष्टम् । यत् । तेन । ० ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिना) बृहस्पति...... । (यत्) जो (यशः) यश [दान शूरता आदि से बड़ा नाम] (गोषु) विद्वानों में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, (तेन) उससे......[म० ५३] ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५३ के समान है ॥ ५६ ॥

बृहस्पतिना० । पयो गोषु प्रविष्टं यत् तेन० ॥ ५७ ॥

० ॥ पयः । गोषु । प्र-विष्टम् । यत् । तेन । ० ॥ ५७ ॥

५४—(तेजः) ज्योतिः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५३ ॥

५५—(भगः) सेवनीयः प्रभावः । ऐश्वर्यम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५६—(यशः) दानशूरतादिप्रभवं सुनाम । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिना) बृहस्पति...... । (यत्) जो (पयः) विज्ञान (गोषु) विद्वानों में (प्रविष्टम्) प्रविष्ट है, (तेन) उससे......[म० ५३] ॥५७॥

भावार्थ—मन्त्र ५३ के समान है ॥ ५७ ॥

बृहस्पतिनावसृष्टां विश्वे देवा अधारयन् ।
रसो गोषु प्रविष्टो यस्तेनेमां सं सृजामसि ॥ ५८ ॥

बृहस्पतिना । अव-सृष्टाम् । विश्वे । देवाः । अधारयन् ॥ रसः । गोषु । प्र-विष्टः । यः । तेन । इमाम् । सम् । सृजामसि ॥५८॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिना) बृहस्पति [बड़ी वेद वाणी के रक्षक आचार्य] करके (अवसृष्टाम्) दी हुयी [दीक्षा, नियम व्रत की शिक्षा-म०५२] को (विश्वे देवाः) सब विद्वानों ने (अधारयन्) धारण किया है । (यः) जो (रसः) रस [वीर्य वा वीर रस] (गोषु) विद्वानों में (प्रविष्टः) प्रविष्ट है, (तेन) उस से (इमाम्) इस [प्रजा, स्त्री सन्तान आदि] को (सं सृजामसि) हम संयुक्त करते हैं ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वज विद्वानों के समान अपने लोगों को सुशिक्षित करके वीर बनाते हैं, वे सुप्रतिष्ठित हो कर सुख भोगते हैं ॥ ५८ ॥

यदीमे केशिनो जना गृहे ते समनर्तिषू रोदेन कृण्वन्तोऽघम् । अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ५९ ॥

यदि । इमे । केशिनः । जनाः । गृहे । ते । सम्-अनर्तिषुः । रोदेन । कृण्वन्तः । अघम् ॥ अग्निः । त्वा । तस्मात् । एनसः । सविता । च । प्र । मुञ्चताम् ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(यदि) यदि (इमे) यह (केशिनः) क्लेश युक्त (जनाः)

५७—(पयः) पय गतौ—असुन् । विज्ञानम् । अन्यद् गतम् ॥

५८—(रसः) वीर्यम् । वीररसः । अन्यद् गतम् ॥

५९—(यदि) सम्भावनायाम् (इमे) समीपस्थाः (केशिनः) क्लेशेन

मनुष्य (ते गृहे) तेरे घर में (रोदेन) विलाप के साथ (अघम्) दुःख (कृण्वन्तः) करते हुये (समनर्तिषुः) मिलकर इधर उधर फिरें। (अग्निः) तेजस्वी (च) और (सविता) प्रेरक मनुष्य (त्वा) तुझे (तस्मात् एनसः) उस कष्ट से (प्र) सर्वथा (मुञ्चताम्) छुड़ावे॥ ५६ ॥

भावार्थ—यदि घर के लोग रोग वा दरिद्रता आदि के कारण से क्लेश उठावें, प्रधान पुरुष अपने मानसिक और शारीरिक उत्साह और परमेश्वर में विश्वास से तेजस्वी होकर उन का दुःख दूर करे ॥ ५६ ॥

यदी॒यं दु॑हि॒ता तव॑ विके॒श्यरु॑दद् गृ॒हे रोदे॑न कृ॒ण्व॒त्य१॒घम् ।
अ॒ग्निष्ट्वा॑ ० ॥ ६० ॥ (१२)

यदि॑ । इ॒यम् । दु॒हि॒ता । तव॑ । वि॒ऽके॒शी । अरु॑दत् । गृ॒हे ।
रोदे॑न । कृ॒ण्वती॑ । अ॒घम् ॥ ० ॥ ६० ॥ (१२)

भाषार्थ—[हे गृहस्थ !] (यदि) यदि (इयम्) यह (तव) तेरी (दुहिता) पुत्री (विकेशी) बाल बिखेरे हुये, (रोदेन) विलाप के साथ (अघम्) दुःख (कृण्वती) करती हुयी (गृहे) घर में (अरुदत्) रोवे। (अग्निः) तेजस्वी (च) और......म० ५६ ॥ ६० ॥

भावार्थ—[मन्त्र ५६] के समान है ॥ ६० ॥

यज्जा॒मयो॒ यद्यु॑व॒तयो॑ गृ॒हे ते॑ स॒मन॑र्तिषू॒ रोदे॑न कृ॒ण्व॒तीर॒घम् ।
अ॒ग्निष्ट्वा॑ ० ॥ ६१ ॥

लो लोपश्च । उ० ५ । ३३ । क्लिश उपतापे—अन्, लस्य लोपः । केश—इनि । क्लेशिनः । क्लेशयुक्ताः (जनाः) मनुष्याः (गृहे)—(ते) तव (समनर्तिषुः) मिलित्वा नर्तनम् इतस्ततो गमनं कुर्युः (रोदेन) विलापेन (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (अघम्) दुःखम् (अग्निः) तेजस्वी (त्वा) त्वाम् (तस्मात्) (एनसः) कष्टात् (सविता) प्रेरकः पुरुषः (च) (प्र) प्रकर्षेण (मुञ्चताम्) एकवचनं लोट् । मोचयतु ॥

६०—(इयम्) उपस्थिता (दुहिता) पुत्री (तव) (विकेशी) विकीर्णकेशा (अरुदत्) रुद्यात् (कृण्वती) कुर्वती । अन्यद् गतम्—म० ५६ ॥

यत् । जामयः । यत् । युवतयः । गृहे । ते । सम्-अनर्तिषुः । रोदेन । कृण्वतीः । अघम् ॥ ० ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (जामयः) कुल स्त्रियां और (यत्) जो (युवतयः) युवा स्त्रियां (ते गृहे) तेरे घर में (रोदेन) विलाप के साथ (अघम्) कष्ट (कृण्वतीः) करती हुयीं (समनर्तिषुः) मिलकर इधर उधर फिरें। (अग्निः) तेजस्वी (च) और......[म० ५६] ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५६ के समान है ॥ ६१ ॥

यत् ते प्रजायां पशुषु यद्वा गृहेषु निष्ठितमघकृद्भिरघं कृतम् । अग्निष्ट्वा तस्मादेनसः सविता च प्र मुञ्चताम् ॥ ६२ ॥

यत् । ते । प्र-जायाम् । पशुषु । यत् । वा । गृहेषु । नि-स्थितम् । अघकृत्-भिः । अघम् । कृतम् ॥ अग्निः । त्वा । तस्मात् । एनसः । सविता । च । प्र । मुञ्चताम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—[हे गृहस्थ !] (यत्) यदि (ते) तेरी (प्रजायाम्) प्रजा [जनपद के लोगों] में, (पशुषु) पशुओं में, (वा) अथवा (यत्) यदि (गृहेषु) घरों में (अघकृद्भिः) दुःख करने वाले [रोगों वा मनुष्यों] करके (कृतम) किया गया (अघम्) दुःख (निष्ठितम्) स्थित कर दिया गया है। (अग्निः) तेजस्वी (च) और (सविता) प्रेरक पुरुष (त्वा) तुझे (तस्मात् एनसः) उस कष्ट से (प्र) सर्वथा (मुञ्चताम्) छुड़ावे ॥ ६२ ॥

भावार्थ—यदि प्रजा के लोगों, पशुओं वा शिल्पशाला आदि घरों में

६१—(यत्) यदि (जामयः) म० २२। कुलस्त्रियः (यत्) (युवतयः) तरुण्यः (कृण्वतीः) कुर्वन्त्यः। अन्यद् गतम्—म० ५६ ॥

६२—(यत्) यदि (ते) तव (प्रजायाम्) जनपदपुरुषेषु (पशुषु) गवादिषु (यत्) यदि (वा) अथवा (गृहेषु) शिल्पादिस्थानेषु (निष्ठितम्) स्थापितम (अघकृद्भिः) दुःखकर्तृभिः (अघम्) दुःखम् (कृतम्) सम्पादितम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५६ ॥

रोगों से वा दुष्ट मनुष्यों से कष्ट उपस्थित हो, विद्वान् लोग विद्याबल से और परमेश्वर के सहाय से उस कष्ट को हटावें ॥ ६२ ॥

इयं नार्युप ब्रूते पूल्यान्यावपन्तिका ।
दीर्घायुरस्तु मे पतिर्जीवाति शरदः शतम् ॥ ६३ ॥

इयम् । नारी । उप । ब्रूते । पूल्यानि । आ-वपन्तिका । दीर्घ-आयुः । अस्तु । मे । पतिः । जीवाति । शरदः । शतम् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (नारी) नारी [नर की पत्नी] (पूल्यानि) संगति के कर्मों को [बीज समान] (आवपन्तिका) बोदेती हुयी (उप ब्रूते) बोलती है—" (मे) मेरा (पतिः) पति (दीर्घायुः) लम्बी आयु वाला (अस्तु) होवे, और (शतं शरदः) सौ वर्षों (जीवाति) जीता रहे" ॥ ६३ ॥

भावार्थ पत्नी प्रयत्न करके परमात्मा की प्रार्थना करे कि उस का पति सुख से पूर्ण आयु भोगे और इसी प्रकार पति भी पत्नी की पूर्ण आयु के लिये पुरुषार्थ करे ॥ ६३ ॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दंपती ।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुताम् ॥ ६४ ॥

इह । इमौ । इन्द्र । सम् । नुद । चक्रवाका-इव । दम्पती इति दम्-पती ॥ प्र-जया । एनौ । सु-अस्तकौ । विश्वम् । आयुः । वि । अश्नुताम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परमैश्वर्ययुक्त राजन् ! (इह) यहां [संसार में]

६३—(इयम्) (नारी) नरस्य पत्नी (उपब्रूते) कथयति (पूल्यानि) पूल संहतौ—क्यप् । संहतिकर्माणि । संगतिबीजानि (आवपन्तिका) टुवप बीजतन्तुसन्ताने—शतृ, स्वार्थे कन्, टाप् बीजवद् विस्तारयन्ती (दीर्घायुः) दीर्घजीवनः (अस्तु) (पतिः) जीवाति) जीवेत् (शरदः) वर्षाणि (शतम्) बहूनि ॥

६४—(इह) संसारे (इमौ) प्रसिद्धौ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन्

(इमौ) इन दोनों (चक्रवाका इव) चकवा चकवी के समान (दम्पती) पति पत्नी को (सं नुद) यथावत् प्रेरणा कर (प्रजया) प्रजा के साथ (एनौ) इन दोनों (स्वस्तकौ) उत्तम घर वालों को (विश्वम्) सम्पूर्ण (आयः) आयु (वि अश्नुताम्) प्राप्त होवे ॥ ६४ ॥

भावार्थ—राजा व्यवस्था करे कि पति पत्नी चकवा चकवी के समान बड़े प्रेम से मिलकर रहें और ब्रह्मचर्य के पालन और धनादि के रक्षण से बलवान् और सुखी होकर पूर्ण आयु भोगें ॥ ६४ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कार विधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है॥

यदा॒स॒न्द्या॒मु॑प॒धाने॒ यद्वो॑प॒वास॑ने कृ॒तम् ।
वि॒वा॒हे कृ॒त्यां यां च॒क्रुरा॒स्नाने॒ तां नि द॑ध्मसि ॥ ६५ ॥

यत् । आ॒ऽस॒न्द्याम् । उ॒प॒ऽधाने॑ । यत् । वा॒ । उ॒प॒ऽवास॑ने । कृ॒तम् ॥ वि॒ऽवा॒हे । कृ॒त्याम् । याम् । च॒क्रुः । आ॒ऽस्नाने॑ । ताम् । नि । द॒ध्म॒सि ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(यत्) जिस (कृतम्) हिंसित कर्म को (आसन्द्याम्) सिंहासन में, (उपधाने) गद्दी में, (वा) अथवा (यत्) जिस [हिंसित कर्म] को (उपवासने) छत्र में, और (याम्) जिस (कृत्याम्) दुष्क्रिया को (आस्नाने) स्नानगृह में (विवाहे) विवाह के बीच (चक्रुः) [वे दुष्ट लोग] करें, (ताम्) उस [दुष्टक्रिया] को (नि दध्मसि) हम नीचे धरें ॥ ६५ ॥

(सं नुद) सम्यक् प्रेरय (चक्रवाका-इव) स्वनामख्यातौ खगौ यथा (दम्पती) जायापती (प्रजया) सन्तानेन (एनौ) द्वितीयाटौस्वेनः । पा० २ । ४ । ३४ । इति द्वितीयायाम् एनादेशः । पूर्वोक्तौ (स्वस्तकौ) अस्तं गृहनाम—निघ० ३ । ४ । उत्तमगृहयुक्तौ (विश्वम्) सम्पूर्णम् (आयुः) जीवनम् (अश्नुताम्) प्राप्नोतु ॥

६५—(यत्) (आसन्द्याम्) आसम् आसनं ददातीति आसन्दी, आस उपवेशने—क्विप्+दा-ड, ङीप् । सिंहासने (उपधाने) उपवर्हे (यत्) (वा) (उपवासने) छत्रे (कृतम्) हिंसितं कर्म (विवाहे) विवाहोत्सवे (कृत्याम्) हिंसाक्रियाम् (याम्) (चक्रुः) कुर्युर्दुष्टपुरुषाः (आस्नाने) स्नानगृहे (ताम्) हिंसाम् (नि) नीचैः (दध्मसि) धारयामः ॥

भावार्थ—यदि विवाह कर्म में कोई दुष्ट पुरुष विघ्न डालें, चतुर लोग उस का प्रतीकार करके विवाह को निर्विघ्न समाप्त करें ॥ ६५ ॥

यद् दुष्कृतं यच्छमलं विवाहे वहतौ च यत् ।
तत् संभलस्य कम्बले मृज्महे दुरितं वयम् ॥ ६६ ॥

यत् । दुः-कृतम् । यत् । शमलम् । वि-वाहे । वहतौ । च । यत् ॥
तत् । सम्-भलस्य । कम्बले । मृज्महे । दुः-इतम् । वयम् ६६॥

भाषार्थ—(यत्) जो (दुष्कृतम्) दुष्ट कर्म (च) और (यत्) जो (शमलम्) मलीनता (विवाहे) विवाह में [अथवा] (यत्) जो (वहतौ) विवाह में दिये पदार्थ में [होवे] । (तत्) उस (दुरितम्) खोट को (संभलस्य) आपस में समझा देने वाले पुरुष के (कम्बले) कामना योग्य कर्म पर (वयम्) हम (मृज्महे) शोध लेवें ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जो कोई दोष विवाह की प्रवृत्ति वा समाप्ति में आ पड़े, बुद्धिमान् लोग समझ बूझ कर उसका निबटेरा कर लें ॥ ६६ ॥

संभले मलं सादयित्वा कम्बले दुरितं वयम् ।
अभूम यज्ञियाः शुद्धाः प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ६७ ॥

सम्-भले । मलम् । सादयित्वा । कम्बले । दुः-इतम् । वयम् ।
अभूम । यज्ञियाः । शुद्धाः । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ॥६७॥

भाषार्थ—(संभले=संभलस्य) आपस में समझा देने वाले पुरुष के (कम्बले) कामना योग्य कर्म पर (मलम्) मलिनता और (दुरितम्) खोट को (सादयित्वा) मिटा कर (वयम्) हम (यज्ञियाः) पूजा योग्य और (शुद्धाः)

६६—(यत्) (दुष्कृतम्) दुष्टकर्म (यत्) (शमलम्) मालिन्यम् (विवाहे) (वहतौ) विवाहे दातव्यपदार्थे (च) (तत्) दुष्टकर्म (संभलस्य) भल निरूपणे—अच् । सम्यग् निरूपकस्य (कम्बले) कमेर्बुक् । उ० १ । १०७ । कमु कान्तौ—कलप्रत्यये वुक् । कमनीये कर्मणि (मृज्महे) शोधयामः (दुरितम्) दुष्कर्म (वयम्) पुरुषार्थिनः ॥

६७—(संभले) म० ६६ । षष्ठ्यर्थे सप्तमी । सम्यग् निरूपकस्य (मलम्) मालिन्यम् (सादयित्वा) नाशयित्वा (कम्बले) म० ६६ । कमनीये कर्मणि

शुद्ध (अभूम) होवें, [और यह कर्म] (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्रतारिषत्) बढ़ावे ॥ ६७ ॥

भावार्थ—चतुर विद्वान् पुरुष के निर्णय पर परस्पर ग्लानि मिटाकर वधू वर के पक्ष वाले प्रसन्न होवें ॥ ६७ ॥

कृत्रिमः कण्टकः शतदन् य एषः ।
अपास्याः केश्यं मलमप शीर्षण्यं लिखात् ॥ ६८ ॥

कृत्रिमः । कण्टकः । शत-दन् । यः । एषः ॥ अप । अस्याः । केश्यम् । मलम् । अप । शीर्षण्यम् । लिखात् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—(कृत्रिमः) शिल्पी का बनाया हुआ, (शतदन्), सौ [बहुत] दांतों वाला (यः एषः) जो यह (कण्टकः) कांटों वाला [कंघा आदि] है। वह (अस्याः) इस [प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषों] के (केश्यम्) केश के और (शीर्षण्यम्) शिर के (मलम्) मल को (अप अप लिखात्) सर्वथा खरोंच डाले ॥ ६८ ॥

भावार्थ—जैसे शिल्पी के बनाये कंघा कंघई से झाड़ने पर केश शुद्ध होते और शिर का क्लेश दूर होता है, वैसे ही अनेक प्रयत्नों से अज्ञान के मिटने पर आत्मा की शुद्धि होती है ॥ ६८ ॥

अङ्गादङ्गाद् वयमस्या अप यक्ष्मं नि दध्मसि ।

(दुरितम्) दोषम् (वयम्) पुरुषाः (अभूम) भवेम (यज्ञियाः) पूजार्हाः (शुद्धाः) प्रसन्नाः (प्र तारिषत्) वर्धयेत् (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि ॥

६८—(कृत्रिमः) शिल्पिना कृतः (कण्टकः) कटि गतौ-ण्वुल् अर्शआद्यच् । कण्टकः कन्तपो वा कृन्ततेर्वा कण्टतेर्वा स्याद् गतिकर्मणः-निरु० ६। ३२ । कण्टकयुक्तः कन्तकः (शतदन्) छन्दसि च । पा० ५ । ४ । १४२ । दतृ इत्ययमादेशः । बहुदन्तोपेतः (यः) (एषः) (अस्याः) प्रजायाः (केश्यम्) केशे भवम् (मलम्) मालिन्यम् (शीर्षण्यम्) शिरसि भवम् (अप अप लिखात्) भृशं विलिख्य दूरीकुर्यात् ॥

तन्मा प्रापत् पृथिवीं मोत देवान् दिवं मा प्रापदुर्वन्तरिक्षम् । अपो मा प्रापन्मलमेतदग्ने यमं मा प्रापत् पितृंश्च सर्वान् ॥ ६८ ॥

अङ्गात्-अङ्गात् । वयम् । अस्याः । अप । यक्ष्मम् । नि । दध्मसि ॥ तत् । मा । प्र । आपत् । पृथिवीम् । मा । उत । देवान् । दिवम् । मा । प्र । आपत् । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ अपः । मा । प्र । आपत् । मलम् । एतत् । अग्ने । यमम् । मा । प्र । आपत् । पितॄन् । च । सर्वान् ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [प्रजा अर्थात् स्त्री पुरुषों) के (अङ्गादङ्गात्) अङ्ग अङ्ग से (वयम्) हम (यक्ष्मम्) क्षय रोग को (नि) निश्चय करके (अप दध्मसि) बाहिर डालते हैं । (तत्) वह (देवान्) नेत्र आदि इन्द्रियों में (मा प्र आपत्) न पहुंचे, (उत) और (मा) न (पृथिवीम्) भूमि में, (मा) न (दिवम्) धूप में और (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष में (प्र आपत्) पहुंचे । (अग्ने) हे विद्वान् ! (एतत्) यह (मलम्) मैल (अपः) जलों में (मा प्र आपत्) न पहुंचे, और (यमम्) वायु में (च) और (सर्वान्) सब (पितॄन्) ऋतुओं में (मा प्र आपत्) न पहुंचे ॥ ६८ ॥

६८—(अङ्गादङ्गात्) सर्वस्मादङ्गात् (वयम्) (अस्याः) प्रजायाः (अप) दूरीकरणे (यक्ष्मम्) राजरोगम् (नि) निश्चयेन (दध्मसि) धारयामः (तत्) मलम् (मा प्रापत्) मा प्राप्नुयात् (पृथिवीम्) (मा) निषेधे (उत) अपि च (देवान्) चक्षुरादीनीन्द्रियाणि, यथा महीधरस्य दयानन्दस्य च भाष्ये—यजुः० ४० । ४ (दिवम्) प्रकाशम् (मा प्रापत्) (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) (अपः) जलानि (मा प्रापत्) (मलम्) मालिन्यम् (एतत्) (अग्ने) हे विद्वन् (यमम्) वायुलोकम् । यमो यच्छतीति सतः—इति मध्यस्थानदेवतासु पाठः—निरु० १० । १६ । यमः। मध्यस्थानो वायुः—इति देवराजयज्वा निघण्टुटीकायाम् (मा प्रापत्) (पितॄन्) ऋतून् , यथा दयानन्द भाष्ये—यजुः० ८ । ६० (सर्वान्) समस्तान् ॥

भावार्थ—विद्वान् राजा और सब लोग हवन और अन्न शोधन क्रियाओं से नगर ग्राम आदि में से रोग जनक दुर्गन्ध आदि दोषों को हटाकर अपने प्रजा जनों को नीरोग स्वस्थ रक्खें ॥ ६९ ॥

सं त्वा नह्यामि पयसा पृथिव्याः सं त्वा नह्यामि पयसौषधीनाम् । सं त्वा नह्यामि प्रजया धनेन सा संनद्धा सनुहि वाजमेमम् ॥ ७० ॥ (१३)

सम् । त्वा । नह्यामि । पयसा । पृथिव्याः । सम् । त्वा । नह्यामि । पयसा । ओषधीनाम् ॥ सम् । त्वा । नह्यामि । प्र-जया । धनेन । सा । सम्-नद्धा । सनुहि । वाजम् । आ । इमम् ॥ ७० ॥ (१३)

भाषार्थ—[हे प्रजा !] (त्वा) तुझे (पृथिव्याः) पृथिवी के (पयसा) ज्ञान से (सं नह्यामि) मैं कवचधारी करता हूं, (त्वा) तुझे (ओषधीनाम्) ओषधियों [अन्न सोमलता आदि] के (पयसा) ज्ञान से (सं नह्यामि) कवचधारी करता हूं । (त्वा) तुझे (प्रजया) प्रजा [सन्तान सेवक आदि] से और (धनेन) धन से (सं नह्यामि) मैं कटिबद्ध करता हूं, (सा) सो तू [हे प्रजा !] (सनद्धा) सन्नद्ध [कटिबद्ध] होकर (इमम्) यह (वाजम्) बल (आ) सब ओर से (सनुहि) दे ॥ ७० ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है ऐसे ऐसे विद्यालयों को बनावे, जिन में प्रजागण भूगर्भ विद्या, भूतल विद्या, अन्नविद्या, ओषधिविद्या आदि प्राप्त करके सन्तान और धन से बढ़ती करें और राजा को भी यथा योग्य सहायता देकर समर्थ बनावें ॥ ७० ॥

७०—(त्वा) त्वां प्रजाम् (सं नह्यामि) सन्नद्धां धृतकवचां कटिबद्धां करोमि (पयसा) पय गतौ—असुन् । ज्ञानेन (पृथिव्याः) (त्वा) (सं नह्यामि) (पयसा) (ओषधीनाम्) अन्नसोमलतादीनाम् (त्वा) (सं नह्यामि) (प्रजया) सन्तानसेवकादिना (धनेन) सम्पत्त्या (सा) सा त्वं प्रजे (सन्नद्धा) कटिबद्धा सती (सनुहि) षणु दाने । देहि (वाजम्) बलम्—निघ० २ । ९ (आ) समन्तात् (इमम्) प्रसिद्धम् ॥

अमो॒ऽहम॑स्मि॒ सा त्वं सामा॒हम॒स्म्यृक् त्वं द्यौ॒रहं पृ॑थि॒वी त्वम् ।
तावि॒ह सं भ॑वाव प्र॒जामा ज॑नयावहै ॥ ७१ ॥

अमः । अ॒हम् । अ॒स्मि॒ । सा । त्वम् । साम॑ । अ॒हम् । अ॒स्मि॒ । ऋक् । त्वम् । द्यौः । अ॒हम् । पृ॒थि॒वी । त्वम् ॥ तौ । इ॒ह । सम् । भ॒वा॒व॒ । प्र॒-जाम् । आ । ज॒न॒या॒व॒है॒ ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—[हे वधू!] (अहम्) मैं [वर] (अमः) ज्ञानवान् (अस्मि) हूं, (सा) सो (त्वम्) तू [ज्ञानवती है], (अहम्) मैं (साम) सामवेद [मोक्ष ज्ञान के समान सुखदायक] (अस्मि) हूं, (त्वम्) तू (ऋक्) ऋग्वेद की ऋचा [पदार्थों के गुणों की बड़ाई बताने वाली विद्या के तुल्य आनन्द देने वाली] है, (अहम्) मैं (द्यौः) सूर्य [वृष्टि आदि करने वाले रवि के समान उपकारी] हूं, और (त्वम्) तू (पृथिवी) पृथिवी [अन्नआदि उत्पन्न करने वाली भूमि के समान उत्तम सन्तान उत्पन्न करने वाली] है । (तौ) वे हम दोनों (इह) यहां [गृहाश्रम में] (सं भवाव) पराक्रमी होवें, और (प्रजाम्) प्रजा [उत्तम सन्तान] को (आ जनयावहै) उत्पन्न करें ॥ ७१ ॥

भावार्थ—वधूवर राज्य प्रबन्ध से सन्तुष्ट होकर और अनेक प्रकार की विद्या और सम्पत्ति की प्राप्ति और सुसन्तान की उत्पत्ति से सुखी होवें ७१

यह मन्त्र कुछ भेद से महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में वधूवर के परस्पर प्रतिज्ञा करने में व्याख्यात है ॥

ज॒नि॒यन्ति ना॒वग्र॑वः पु॒त्रि॒यन्ति सु॒दान॑वः ।

७१—(अमः) अम गतौ भोजने च—असुन्; मतुपो लोपः । ज्ञानवान् (अहम्) (अस्मि) (सा) तादृशी ज्ञानवती (त्वम्) (साम) सामवेदेन मोक्षज्ञानेन तुल्यः सुखदायकः (अहम्) (अस्मि) (ऋक्) ऋग्वेदस्य वाणी । पदार्थगुणप्रकाशिकाविद्यावत् सुखप्रदा (त्वम्) (द्यौः) सूर्यतुल्यवृष्ट्यादिनोपकारकः (अहम्) (पृथिवी) अन्नोत्पादयित्री भूमिरिव सुसन्तानोत्पादयित्री (त्वम्) (तौ) आवां वधूवरौ (इह) गृहाश्रमे (सं भवाव) पराक्रमिणौ भवाव (प्रजाम्) सन्तानम् (आ जनयावहै) उत्पादयावहै ॥

अरिष्टासू सचेवहि बृहते वाजसातये ॥ ७२ ॥

जनि-यन्ति । नौ । अग्रवः । पुत्रि-यन्ति । सु-दानवः ॥ अरिष्टासु इत्यरिष्ट-असू । सचेवहि । बृहते । वाज-सातये ॥७२॥

भाषार्थ—(अग्रवः) उद्योगी, (सुदानवः) बड़े दानी लोग (नौ) हम दोनों के लिये (जनियन्ति) जनों [भक्तजनों] को चाहते हैं और (पुत्रियन्ति) पुत्रों को चाहते हैं । (अरिष्टासू) विना नाश किये हुये प्राणों वाले [सदा पुरुषार्थी] हम दोनों (बृहते) बड़े (वाजसातये) विज्ञान, बल और अन्न के दान के लिये (सचेवहि) सदा मिले रहें ॥ ७२ ॥

भावार्थ—सब इष्ट मित्र यथावत् पुरुषार्थ से धन का व्यय करके चाहते हैं कि उनके पुत्रों के उत्तम सन्तान उत्पन्न हों, इस लिये पुत्र और पतोहू प्रीति पूर्वक उपाय करें कि उत्तम सन्तान होने से उनको विज्ञान, बल और अन्न आदि धन बढ़ें ॥ ७२ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है । इसका पूर्वार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—७ । ९६ । ४ ॥

ये पितरो वधूदर्शा इमं वहुतुमागमन् ।
ते अस्यै वध्वै संपत्न्यै प्रजावच्छर्म यच्छन्तु ॥ ७३ ॥

ये । पितरः । वधू-दर्शाः । इमम् । वहतुम् । आ । अगमन् ॥ ते । अस्यै । वध्वै । सम्-पत्न्यै । प्रजा-वत् । शर्म । यच्छन्तु ॥७३॥

७२—(जनियन्ति) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । जन—क्यच् । अपुत्रादीनामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ७ । ४ । ३५ । इति प्राप्तस्य ईत्वस्य छान्दसो ह्रस्वः । जनीयन्ति जनान् भक्तजनान् इच्छन्ति (नौ) आवाभ्याम् (अग्रवः) रुशातिभ्यां क्रुन् । उ० ४ । १०३ । अग गतौ—क्रुन् । गन्तारः । उद्योगिनः (पुत्रियन्ति) पुत्र—क्यचि, ईत्वस्य छान्दसो ह्रस्वः । पुत्रीयन्ति । पुत्रान् इच्छन्ति (सुदानवः) सुदानिनः (अरिष्टासू) रिष हिंसायाम्—क्त । अहिंसितप्राणौ । महापुरुषार्थिनौ (सचेवहि) षच समवाये विधिलिङ् । नित्यसम्बन्धिनौ भवेव (बृहते) महते (वाजसातये) वाजानां विज्ञानबलान्नानां दानाय ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (वधूदर्शाः) वधू के देखने वाले (पितरः) पिता आदि लोग (इमम्) इस (वहतुम्) विवाह उत्सव में (आ अगमन्) आये हैं। (ते) वे सब (सम्पत्न्यै) पति सहित वर्तमान (अस्यै वध्वै) इस वधू को (प्रजावत्) प्रजा [-सन्तान, सेवक आदि जनता] वाला (शर्म) सुख (यच्छन्तु) देवें ॥ ७३ ॥

भावार्थ—हितैषी बड़े लोगों का कर्तव्य है कि विद्वान् बलवान् वधूवर से विद्वान्, शूर, वीर सन्तान उत्पन्न होवें ॥ ७३ ॥

येदं पूर्वागन् रशनायमाना प्रजामस्यै द्रविणं चेह दत्त्वा । तां वहन्त्वगतस्यानु पन्थां विराडियं सुप्रजा अत्यजैषीत् ॥७४॥

या । इदम् । पूर्वा । अगन् । रशना-यमाना । प्र-जाम् । अस्यै । द्रविणम् । च । इह । दत्त्वा ॥ ताम् । वहन्तु । अगतस्य । अनु । पन्थाम् । वि-राट् । इयम् । सु-प्रजाः । अति । अजैषीत् ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—(या) जो [वधू] (पूर्वा) पहिली [सब से ऊपर] होकर (रशनायमाना) कटि बांधे हुये (इदम्) इस [स्थान] में (अगन्) आवे, (अस्यै) इस [वधू] के हित के लिये (इह) यहां (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान, सेवक आदि जनता] (च) और (द्रविणम्) धन (दत्त्वा) देकर (ताम्) उस को (अगतस्य) बिना प्राप्त हुये [आगे आने वाले काल] के (पन्थाम्

७३—(ये) (पितरः) पित्रादयः (वधूदर्शाः) दृशिर् दर्शने-अण् । वधूदर्शकाः (इमम्) दृश्यमानम् (वहतुम्) विवाहोत्सवम् (आ अगमन्) आगताः (ते) पूर्वोक्ताः (अस्यै) विदुष्यै (वध्वै) (सम्पत्न्यै) पत्या सह वर्तमानायै (प्रजावत्) सन्तानसेवकादियुक्तम् (यच्छन्तु) ददतु ॥

७४—(या) वधूः (इदम्) स्थानम् (पूर्वा) प्रथमा । मुख्या (अगन्) आगच्छतु (रशनयमाना) रशनां कटिबन्धनं करोतीति रशनायते । तत्करोति तदाचष्टे । वा० पा० ३ । १ । २६ । रशना-णिच्, शानच् । कटिबन्धनं कुर्वाणा। सदा पुरुषार्थयुक्ता (प्रजाम्) सन्तानसेवकादिजनताम् (अस्यै) वधूहिताय (द्रविणम्) धनम् (इह) गृहाश्रमे (दत्त्वा) (ताम्) वधूम् (वहन्तु) नयन्तु

अनु) मार्ग के पीछे पीछे (वहन्तु) वे [पिता आदि] ले चलें, (विराट्) बड़े ऐश्वर्य वाली (इयम्) यह (सुप्रजाः) उत्तम जन्म वाली [वधू) (अति) अत्यन्त (अजैषीत्) जय पावे ॥ ७४ ॥

भावार्थ—सब बड़े लोग सेवक धन आदि से प्रयत्न करें कि महाविदुषी, पुरुषार्थिनी, स्त्रीरत्न कुलवधू उत्तम सन्तान उत्पन्न करके आगे को यश बढ़ावे ॥ ७४ ॥

प्र बु॑ध्यस्व सु॒बुधा॒ बुध्य॑माना दीर्घायु॒त्वाय॑ श॒तशा॑रदाय। गृ॒हान् ग॑च्छ गृ॒हप॑त्नी॒ यथासो॑ दी॒र्घं त॒ आयु॑: सवि॒ता कृ॑णोतु ॥ ७५ ॥ (१४)

प्र । बु॒ध्य॒स्व॒ । सु॒-बुधा॑ । बुध्य॑माना । दी॒र्घा॒यु॒-त्वाय॑ । श॒त-शा॑रदाय । गृ॒हान् । ग॒च्छ॒ । गृ॒ह-प॑त्नी । यथा॑ । अस॑: । दीर्घम् । ते॒ । आयु॑: । स॒वि॒ता । कृ॒णो॒तु॒ ॥ ७५ ॥ (१४)

भाषार्थ—[हे पत्नी !] तू (शतशारदाय) सौ वर्ष तक (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ जीवन पाने के लिये (सुबुधा) उत्तम बुद्धि वाली और (बुध्यमाना) सावधान रहकर (प्र बुध्यस्व) जागती रहे। (गृहान्) घरों [घर के पदार्थों] को (गच्छ) प्राप्त हो, (यथा) जिस से तू (गृहपत्नी) गृहपत्नी (असः) होवे, (सविता) सब ऐश्वर्य वाला परमात्मा (ते) तेरे (आयुः) जीवन को (दीर्घम्) दीर्घ (कृणोतु) करे ॥ ७५ ॥

(अगतस्य) अप्राप्तस्य। अनागतस्य कालस्य (अनु) अनुसृत्य (पन्थाम्) पन्थानम् (विराट्) विविधैश्वर्यवती (इयम्) गुणवती (सुप्रजाः) जनी-विट्। सुजन्मा सती (अति) अत्यन्तम् (अजैषीत्) जयेत् ॥

७५—(प्र बुध्यस्व) प्रकर्षेण जागृता वर्तस्व (सुबुधा) उत्तमबुद्धिमती (बुध्यमाना) सावधाना (दीर्घायुत्वाय) दीर्घजीवनप्राप्तये (शतशारदाय) शतवर्षयुक्ताय (गृहान्) गृहपदार्थान् (गच्छ) प्राप्नुहि (गृहपत्नी) गृहस्वामिनी (यथा) येन प्रकारेण (असः) त्वं भवेः (दीर्घम्) (ते) तव (आयुः) जीवनम् (सविता) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (कृणोतु) करोतु ॥

भावार्थ—पत्नी को योग्य है कि परमात्मा का सदा ध्यान करके गृह-कार्यों में सावधान रहकर और चिरंजीविनी होकर कुल की वृद्धि करे ॥ ७५ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

इति चतुर्दशं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम **श्री सयाजी राव गायक-वाड़ाधिष्ठित** बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासपरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित

क्षेमकरण दास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये चतुर्दशं काण्डं समाप्तम्

इदं काण्डं प्रयागनगरे भाद्रमासे शुक्लपञ्चम्यां तिथौ १९७५

[पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे

धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये समाप्तिमगात्

मुद्रितम्—आश्विनकृष्णा ५ संवत् १९७५ वि० ता० २५ सितम्बर १९१८ ई० ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७६ मास २० जूलाई १९१६ ई०)

॥ ओरम् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य का करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्णकार्य होरहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटिके साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को इनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिए। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

चिट्ठी संख्या. २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्रधारी को अभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्वपूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१६१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारो वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल बृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १६१३।

श्री पं० क्षेमकरदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद-प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज भी अच्छा है।

श्रीयुत महाशय मुन्शीराम जी-जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ९४ तिथि २७-१०-१९०९।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९१०।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० शिवशंकर शर्मा काव्यतीर्थ—छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।......आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित भीमसेन शर्मा इटावा—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता शिवप्यारी देवी जी, १२७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है:..आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिकाप्रसाद जी—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १६१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७—६—१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम परिडत क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी है। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० [illegible] से वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज [illegible] आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद [illegible] ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं ह [illegible] क छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सं [illegible] प्रार अब तक कोई टीका नहीं हुई।...........इस स [illegible] भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने [illegible] ग्रौर सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता [illegible] ...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उन [illegible] ा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे [illegible] ोंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को [illegible] स समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस [illegible] ंख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्प [illegible] के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना [illegible] लिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकर.. [illegible] न् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, letter No. 624 dated 6th February* 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them...also add on the address lable "For Encouragement Fund.".

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan. Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHABAD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London

---

THE ARYA PATRIKA LAHORE, APRIL 18, 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature......The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *Bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works.....The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karan Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves......Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है॥"

आनन्दसमाचार।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी ग आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में हो के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुक है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था इस महात्रुटि को पूरा कर के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागर (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से ब परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भावार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी पाठान्तर अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्म के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची		पृष्ठ ३,६०० लगभग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)						२९=)

काण्ड—१८ छप रहा है। कांड १९ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२५ दिसम्बर १९१८। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड १५ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	व्रात्य आसीदीयमान	व्रात्य वा मन्त्रोक्त	परमात्मा और जीवात्मा	निचृत् साम्नी पङ्क्ति आदि
२	स उदतिष्ठत् स प्राचीं	व्रात्य	परमेश्वर की सर्व व्यापकता	साम्न्यनुष्टुप् आदि
३	स संवत्सरमूर्ध्वो	व्रात्य	परमात्मा का विराट् रूप	आर्षी गायत्री आदि
४	तस्मै प्राच्या दिशः	व्रात्य	परमेश्वर का रक्षा गुण	दैवी जगती आदि
५	तस्मै प्राच्या दिशो	परमात्मा	परमात्मा अन्तर्यामी	आर्षी गायत्री आदि
६	स ध्रुवां दिशमनु	व्रात्य	ईश्वर सर्व स्वामी	आसुरी पङ्क्ति आदि
७	स महिमा सद्रुर्भूत्वा	व्रात्य	परमात्मा की व्यापकता	निचृदार्षी गायत्री आदि
८	सोऽरज्यत ततो राज	व्रात्य	परमेश्वर की प्रभुता	साम्न्युष्णिक् आदि
९	स विशोऽनु व्यचलत्	व्रात्य	राजधर्म की व्यवस्था	आसुरी जगती आदि
१०	तद् यस्यैवं विद्वान्	व्रात्य	अतिथि सत्कार महिमा	साम्नी बृहती आदि
११	तद् यस्यैवं विद्वान्	व्रात्य	अतिथि सत्कार विधान	आसुरी गायत्री आदि
१२	तद् यस्यैवं विद्वान्	व्रात्य	यज्ञ में विद्वान् की सम्मति	स्वराड्डार्षी गायत्री
१३	तद् यस्यैवं विद्वान्	व्रात्य	अतिथि और अनतिथि	आर्च्युष्णिक् आदि
१४	स यत् प्राचीं दिशमनु	व्रात्य	अतिथि का उपकार	आर्च्युष्णिक् आदि
१५	तस्य व्रात्यस्य	व्रात्य	अतिथि का सामर्थ्य	दैवी पङ्क्ति आदि
१६	तस्य व्रात्यस्य	व्रात्य	अतिथि का सामर्थ्य	दैवी पङ्क्ति आदि
१७	तस्य व्रात्यस्य	व्रात्य	व्रात्य का सामर्थ्य	दैवी पङ्क्ति आदि
१८	तस्य व्रात्यस्य	व्रात्य	व्रात्य का सामर्थ्य	दैवी पङ्क्ति आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड १५ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्व वेद । (काण्ड १५) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि

—कुछ नहीं—

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ।

पञ्चदशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

१—८ ॥ व्रात्यो मन्त्रोक्तो वा देवता ॥ १ निचृत् साम्नी पङ्क्तिः; २ साम्नी बृहती; ३ प्राजापत्यनुष्टुप्; ४ आर्ची गायत्री; ५ साम्न्यनुष्टुप्; ६ प्राजापत्या बृहती; ७ आसुरी पङ्क्तिः; ८ आर्च्यनुष्टुप् ॥

अध्यात्मोपदेशः—परमात्मा और जीवात्मा का उपदेश ॥

अथवा सृष्टिविद्योपदेशः—अथवा सृष्टिविद्या का उपदेश ॥

व्रात्य॑ आसी॒दीय॑मान ए॒व स प्र॒जाप॑तिं॒ सम॑ैरयत् ॥ १ ॥

व्रा॒त्यः॑ । आ॒सी॒त् । ईय॑मानः । ए॒व । सः । प्र॒जा-प॑तिम् । सम् । ऐ॒र॒य॒त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(व्रात्यः) व्रात्य [अर्थात् सब समूहों का हितकारी परमात्मा] (ईयमानः) चलता हुआ (एव) ही (आसीत्) वर्तमान था, (सः) उसने

१—(व्रात्यः) पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। वृञ् वरणे स्वीकरणे—अतच्, कित्, आडागमः पृषोदरादित्वात्। व्रातः समूहः। व्राताः, मनुष्याः—निघ० २।३। तस्मै हितम्। पा० ५। १। ५। व्रात—यत्। यद्वा। पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। वृञ् वरणे—अतच् कित्। व्रतं कर्म—निरु० २। १३। व्रत—यप्रत्ययः। व्रातेभ्यः सर्वसमूहेभ्यो हितः। गणपतिः परमेश्वरः। सर्वहितैषी ब्रह्मचर्यादिव्रतधारको विद्वान्। अतिथिः (आसीत्) अभवत् (ईयमानः)

(प्रजापतिम्) [अपने] प्रजापालक गुण को (सम्) यथावत् (ऐरयत्) उकसाया ॥ १ ॥

भावार्थ—सृष्टि से पहिले प्रलय की अगम्य अवस्था में एक गणपति परमेश्वर सर्वव्यापक होरहा था, उसने सृष्टि उत्पन्न करने के लिये अपने गुणों में चेष्टा प्रकट की ॥ १ ॥

स प्रजापतिः सुवर्णमात्मन्नपश्यत् तत् प्राजनयत् ॥ २ ॥

सः । प्रजा-पतिः । सु-वर्णम् । आत्मन् । अपश्यत् । तत् । प्र । अजनयत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) उस (प्रजापतिः) प्रजापालक [परमात्मा] ने (सुवर्णम्) सुन्दर वरणीय [स्वीकरणीय] सामर्थ्य [वा सुवर्णसमान प्रकाश-स्वरूप] को (आत्मन्) अपने में (अपश्यत्) देखा और (तत्) उसको (प्र अजनयत्) प्रकट किया ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने सृष्टिसाधक सामर्थ्य को वा अपने प्रकाशस्वरूप को विचार कर प्रकट किया ॥ २ ॥

तदेकमभवत् तल्ललाममभवत् तन्महदभवत् तज्ज्येष्ठमभवत् तद् ब्रह्माभवत् तत् तपोऽभवत् तत् सत्यमभवत् तेन प्राजायत ३

तत् । एकम् । अभवत् । तत् । ललामम् । अभवत् । तत् । महत् । अभवत् । तत् । ज्येष्ठम् । अभवत् । तत् । ब्रह्म । अभवत् । तत् । तपः । अभवत् । तत् । सत्यम् । अभवत् । तेन । प्र । अजायत ॥ ३ ॥

ईङ् गतौ—शानच् । गच्छन् । व्यापकः (एव) निश्चयेन (सः) परमेश्वरः (प्रजापतिम्) स्वकीयं प्रजापालकं गुणम् (सम्) सम्यक् पूर्णतया (ऐरयत्) प्रेरितवान् ॥

२—(सः) (प्रजापतिः) प्रजापालकः परमात्मा (सुवर्णम्) कॄवृजॄसिद्रु० । उ० ३ । १० । वृञ् वरणे—नप्रत्ययो नित् । सुष्ठु वरणीयं स्वीकरणीयं सामर्थ्यम् । सुवर्णवत्प्रकाशस्वरूपम् (आत्मन्) आत्मनि (अपश्यत्) (तत्) सामर्थ्यं स्वरूपं वा (प्र अजनयत्) प्रकटीकृतवान् ॥

भाषार्थ—(तत्) वह [वरणीय सामर्थ्य] (एकम्) एक [अद्वितीय] (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (ललामम्) प्रधानस्वरूप (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (महत्) गुणों में वृद्ध (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (ज्येष्ठम्) अत्यन्त वयोवृद्ध (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (ब्रह्म) ब्रह्म [बड़ा फैला हुआ व्यापक] (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (तपः) तप [प्रताप वा ऐश्वर्यस्वरूप] (अभवत्) हुआ, (तत्) वह (सत्यम्) सत्य [विद्यमान जगत् का हितकारी अविनाशी कारणरूप] (अभवत्) हुआ, (तेन) उस [स्वरूप] के साथ (प्र अजायत) वह परमात्मा प्रकट हुआ ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह जगदीश्वर अपने अनेक सामर्थ्यों और गुणों को प्रकट करने से सब जगत् में प्रतीत हुआ ॥ ३ ॥

सो॑ऽवर्धत॒ स म॒हान॑भवत् स म॑हादे॒वो॑ऽभवत् ॥ ४ ॥

सः । अ॒व॒र्ध॒त॒ । सः । म॒हान् । अ॒भ॒व॒त् । सः । म॒हा॒-दे॒वः । अ॒भ॒व॒त् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमात्मा] (अवर्धत) बढ़ा [उसने अपना सामर्थ्य प्रकट किया], (सः) वह (महान्) महान् [बड़ा, पूजनीय] (अभवत्) हुआ, (सः) वह (महादेवः) महादेव [बड़ा तेजस्वी वा व्यवहारकुशल] (अभवत्) हुआ ॥ ४ ॥

३—(तत्) प्रसिद्धम् (एकम्) अद्वितीयं स्वरूपम् (अभवत्) (तत्) (ललामम्) लल ईप्सायाम्—क्विप् + अम गतौ—अण् । प्रधानस्वरूपम् (अभवत्) (तत्) (महत्) गुणैः पूजनीयम् (अभवत्) (तत्) (ज्येष्ठम्) अतिशयेन वयोवृद्धम् (अभवत्) (तत्) (ब्रह्म) प्रवृद्धं व्यापकस्वरूपम् (अभवत्) (तत्) (तपः) प्रतापस्वरूपम् । ऐश्वर्यस्वरूपम् (अभवत्) (तत्) (सत्यम्) सत्—यत् । सते विद्यमानाय जगते हितम् । अविनाशि कारणरूपम् (अभवत्) (तेन) सामर्थ्येन (प्र अजायत) प्रादुरभवत् ॥

४—(सः) परमात्मा (अवर्धत) प्रवृद्धोऽभवत् (सः) (महान्) पूजनीयः (अभवत्) (सः) (महादेवः) दिवु द्युतौ व्यवहारे च—अच् । महातेजस्वी । महाव्यवहारकुशलः (अभवत्) ॥

भावार्थ—जब संसार में परमात्मा के बड़े बड़े गुण प्रकट हुये, तब वही सब कार्यों में महाचतुर ऋषियों को जान पड़ा ॥ ४ ॥

स दे॒वाना॒मीशां॒ पर्यै॑त् स ईशा॑नोऽभवत् ॥ ५ ॥

सः । दे॒वाना॑म् । ई॒शाम् । परि॑ । ऐ॒त् । सः । ईशा॑नः । अ॒भ॒व॒त् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः) उस ने (देवानाम्) सब व्यवहारकुशलों की (ईशाम्) ईश्वरता [प्रभुता] को (परि ऐत्) सब ओर से पाया और (सः) वह (ईशानः) परमेश्वर (अभवत्) हुआ ॥ ५ ॥

भावार्थ—वह परमेश्वर ही सब व्यवहारकुशलों से अद्वितीय बड़ा चतुर है, इसी से वह परमेश्वर है ॥ ५ ॥

स ए॑कव्रा॒त्यो॑ऽभवत् स धनु॒राद॑त्त तदे॒वेन्द्र॑धनुः ॥ ६ ॥

सः । ए॒क॒-व्रा॒त्यः । अ॒भ॒व॒त् । सः । धनुः॑ । आ । अ॒द॒त्त॒ । तत् । ए॒व । इ॒न्द्र॒-ध॒नुः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [परमात्मा] (एकव्रात्यः) अकेला व्रात्य [सब समूहों का हितकारी](अभवत्) हुआ, (सः) उस ने (धनुः) उत्पन्न करने के सामर्थ्य को (आ अदत्त) ग्रहण किया, (तत् एव) वही (इन्द्रधनुः) जीवों के उत्पन्न करने का सामर्थ्य है ॥ ६ ॥

५—(सः) परमात्मा (देवानाम्) व्यवहारकुशलानाम् (ईशाम्) ईश ऐश्वर्ये—अ, टाप् । ईशा ईशस्य पत्नी विभूतिः । ईश्वरताम् । प्रभुताम् (परि) सर्वतः (ऐत्) प्राप्नोत् (सः) (ईशानः) ईश—चानश् । परमेश्वरः (अभवत्) ॥

६—(सः) परमात्मा (एकव्रात्यः) म० १ । अद्वितीयः सर्वसमूहहितकरः (अभवत्) (सः) (धनुः) अर्त्तिपृवपियजितनिधानतपिभ्यो नित् । उ० २ । ११७ । धन धान्ये उत्पादने च—उसि । उत्पादनसामर्थ्यम् (आदत्त) गृहीतवान् (तत्) सामर्थ्यम् (एव) निश्चयेन (इन्द्रधनुः) इन्द्राणां जीवाना-मुत्पादनसामर्थ्यम् ॥

भावार्थ—अद्वितीय परमात्मा ने पूर्वोक्त सामर्थ्यों को अपने से प्रकट करके दृश्यमान जीवों की सृष्टि को उत्पन्न किया ॥ ६ ॥

नीलमस्योदरं लोहितं पृष्ठम् ॥ ७ ॥

नीलम् । अस्य । उदरम् । लोहितम् । पृष्ठम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(नीलम्) निश्चित ज्ञान (अस्य) उस [परमात्मा] का (उदरम्) उदर [समान है] और (लोहितम्) उत्पन्न करने का सामर्थ्य (पृष्ठम्) पीठ [समान है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा में निश्चित ज्ञान और सृष्टि रचना स्वाभाविक गुण हैं ॥ ७ ॥

नीलेनैवाप्रियं भ्रातृव्यं प्रोर्णोति लोहितेन द्विषन्तं विध्यतीति ब्रह्मवादिनो वदन्ति ॥ ८ ॥

नीलेन । एव । अप्रियम् । भ्रातृव्यम् । प्र । ऊर्णोति । लोहितेन । द्विषन्तम् । विध्यति । इति । ब्रह्मवादिनः । वदन्ति ८

भाषार्थ—वह [परमात्मा अपने] (नीलेन) निश्चित ज्ञान से (एव) ही (अप्रियम्) अप्रिय (भ्रातृव्यम्) बैरी [विघ्न] को (प्र ऊर्णोति) ढक देता है और (लोहितेन) उत्पादन सामर्थ्य से (द्विषन्तम्) द्रोह करते हुये [विघ्न] को (विध्यति) बीधता [छेद डालता] है—(इति) ऐसा (ब्रह्मवादिनः) ब्रह्मवादी लोग (वदन्ति) कहते हैं ॥ ८ ॥

७—(नीलम्) नि + इल गतौ–क, । इला वाङ्नाम–निघ० १ । ११ । नि निश्चितं ज्ञानम् (अस्य) परमात्मनः (उदरम्) उदरस्थानीयम् (लोहितम्) रुहेरश्च लो वा । उ० ३ । ९४ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इतन्, रस्य लः । उत्पादनसामर्थ्यम् (पृष्ठम्) पृष्ठतुल्यम् ॥

८—(नीलेन) म० ७ । निश्चितज्ञानेन (एव) (अप्रियम्) अनिष्टम् (भ्रातृव्यम्) शत्रुम् । विघ्नम् (प्रोर्णोति) आच्छादयति (लोहितेन) म० ७ । उत्पादनसामर्थ्येन (द्विषन्तम्) द्रुह्यन्तं विघ्नम् (विध्यति) छिनत्ति (इति) अनेन प्रकारेण (ब्रह्मवादिनः) परमात्मज्ञानिनः (वदन्ति) कथयन्ति ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अटल ज्ञान से सब विघ्नों को हटाकर अपने भक्तों को आनन्द देता है, यह सब बुद्धिमानों का मत है ॥ ८ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—२८ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १, ६, ६, १५, २१, २६ साम्न्यनुष्टुप् ; २, १६ आर्च्यनुष्टुप् ; ३ आर्ची पङ्क्तिः ; ४, १८, २४ ब्राह्मी गायत्री ; ५, १३, १६ निचृदार्वी जगती ; ७, २७ पदपङ्क्तिः ; ८ । २८ प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; १० आर्च्युष्णिक् ; ११ भुरिगार्वी त्रिष्टुप् ; १२ आर्षी त्रिष्टुप् ; १४ साम्नी पङ्क्तिः, १७ विराडार्षी पङ्क्तिः ; २० आसुरी गायत्री ; २२ साम्नी त्रिष्टुप् ; २३ निचृदार्ची पङ्क्तिः ; २५ आर्ची जगती ॥

परमेश्वरस्य सर्वत्र व्यापकत्वोपदेशः—परमेश्वर की सर्वत्र व्यापकता का उपदेश ॥

स उदतिष्ठत् स प्राचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥

सः । उत् । अतिष्ठत् । सः । प्राचीम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (उत् अतिष्ठत्) खड़ा हुआ (सः) वह (प्राचीम्) सामने वाली [अथवा पूर्व] (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को अपने सामने वा पूर्व दिशा में व्यापक जानकर आगे को प्रवृत्ति करे ॥ १ ॥

इस सूक्त में परमात्मा के विराट् रूप का वर्णन है ॥

तं बृहच्च रथंतरं चादित्याश्च विश्वे च देवा अनुव्यचलन् ॥ २ ॥

तम् । बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । आदित्याः । च । विश्वे । च । देवाः । अनु-व्यचलन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(बृहत्) बृहत् [बड़ा आकाश] (च च) और (रथन्तरम्)

१—(सः) व्रात्यः परमात्मा (उदतिष्ठत्) प्रादुरभवत् (सः) (प्राचीम्) अ० ३ । २६ । १ । अभिमुखीभूताम् पूर्वाम् (दिशम्) दिशाम् (अनु) अनुलक्ष्य (वि) विविधम् (अचलत्) अचरत् ॥

२—(तम्) व्रात्यं परमात्मानम् (बृहत्) प्रवृद्धमाकाशम् (च) (रथ-

रथन्तर [रमणीय गुणों द्वारा पार होने योग्य जगत्] (च) और (आदित्याः) सब चमकने वाले सूर्य आदि (च) और (विश्वे) सब (देवाः) गति वाले लोक (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे पीछे विचरे ॥२॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि आकाश, भूमि, सूर्य, और सब चलते हुये लोकों को परमात्मा की आज्ञा में चलता हुआ साक्षात् करे ॥ २ ॥

बृहते च वै स रथंतराय चादित्येभ्यश्च विश्वेभ्यश्च देवेभ्य आ वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ॥ ३ ॥

बृहते । च । वै । सः । रथम्-तराय । च । आदित्येभ्यः । च । विश्वेभ्यः । च । देवेभ्यः । आ । वृश्चते । यः । एवम् । विद्वांसम् । व्रात्यम् । उप-वदति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [मूर्ख] (वै) निश्चय करके (बृहते) बृहत् [बड़े आकाश] के लिये (च च) और (रथन्तराय) रथन्तर [रमणीय गुणों द्वारा पार होने योग्य जगत्] के लिये (च) और, (आदित्येभ्यः) चमकने वाले सूर्य आदि के लिये (च) और (विश्वेभ्यः) सब (देवेभ्यः) गति वाले लोकों के लिये (आ) सब प्रकार (वृश्चते) दोषी होता है, (यः) जो [मूर्ख]

न्तरम्) अ० ८ । १० (२) । ६ । रमु क्रीडायाम्—क्थन्+तॄ प्लवनतरणयोः—खच्, मुम् च । रमणीयैर्गुणैस्तरणीयं जगत् (च) (आदित्याः) आदीप्यमानाः सूर्यादिलोकाः (च) विश्वे) सर्वे (च) (देवाः) दिवु गतौ—पचाद्यच् । गतिमन्तो लोकाः (अनुव्यचलन्) अनुसृत्य व्यचरन् ॥

३—(बृहते) प्रवृद्धायाकाशाय (च) (वै) निश्चयेन (रथन्तराय) रमणीयैर्गुणैस्तरणीयाय जगते (च) (आदित्येभ्यः) आदीप्यमानेभ्यः सूर्यादिभ्यः (च) (विश्वेभ्यः) (च) (देवेभ्यः) गतिमद्भ्यो लोकेभ्यः (आ) समन्तात् (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते । दूषितो भवति (यः) मूर्खः (एवम्) इण्शीभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । इण् गतौ-वन् । एवैरयनैरवनैर्वा—निरु० २।२५। एति प्राप्नोतीत्येवस्तम् । ईदृशम् । व्यापकम् (विद्वांसम्) विज्ञातारम् (व्रात्यम्)

(एवम्) ऐसे वा व्यापक (विद्वांसम्) ज्ञानवान् (व्रात्यम्) व्रात्य [सब समूहों के हितकारी परमात्मा] को (उपवदति) बुरा कहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के गुणों को साक्षात् न करके तत्त्वज्ञान नहीं पाता, वह संसार के पदार्थों से यथावत् उपकार नहीं ले सकता ॥ ३ ॥

बृहतश्च वै स रथंतरस्यं चादित्यानां च विश्वेषां च देवानां प्रियं धाम भवति तस्य प्राच्यां दिशि ॥ ४ ॥

बृहतः । च । वै । सः । रथम्-तरस्यं । च । आदित्यानाम् । च । विश्वेषाम् । च । देवानाम् । प्रियम् । धाम । भवति । तस्यं । प्राच्याम् । दिशि ॥ ४ ॥

श्रद्धा पुंश्चली मित्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ ५ ॥

श्रद्धा । पुंश्चली । मित्रः । मागधः । वि-ज्ञानम् । वासः । अहः । उष्णीषम् । रात्री । केशाः । हरितौ । प्र-वर्तौ । कल्मलिः । मणिः ॥ ५ ॥

भूतं च भविष्यच्च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ ६ ॥

भूतम् । च । भविष्यत् । च । परि-स्कन्दौ । मनः । वि-पथम् ॥ ६ ॥

मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ ७ ॥

मातरिश्वा । च । पवमानः । च । विपथ-वाहौ । वातः । सारथिः । रेष्मा । प्र-तोदः ॥ ७ ॥

म० ३ । व्रातेभ्यः सर्वसमूहेभ्यो हितकरं परमात्मानम् (उपवदति) हीनं कथयति । निन्दति ॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ ८ ॥

कीर्तिः । च । यशः । च । पुरः-सरौ । आ । एनम् । कीर्तिः । गच्छति । आ । यशः । गच्छति । यः । एवम् । वेद ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान्] (वै) निश्चय करके (बृहतः) बृहत् [बड़े आकाश] का (च च) और भी (रथन्तरस्य) रथन्तर [रमणीय गुणों द्वारा पार होने योग्य जगत्] का (च) और (आदित्यानाम्) चमकने वाले सूर्यों का (च) और (विश्वेषाम्) सब (देवानाम्) गति वाले लोकों [अर्थात् उनके ज्ञान] का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है और (तस्य) उस [विद्वान्] के लिये (प्राच्यां दिशि) सामने वाली [वा पूर्व] दिशा में ॥ ४ ॥ (श्रद्धा) इच्छा (पुंश्चली) पुंश्चली [पर पुरुषों में जाने वाली व्यभिचारिणी स्त्री, तथा परस्त्रीगामी व्यभिचारी पुरुष के समान घृणित] (मित्रः) स्नेह (मागधः) भाट [स्तुतिपाठक के समान], (विज्ञानम्) विज्ञान [विवेक] (वासः) वस्त्र [समान], (अहः) दिन (उष्णीषम्) [धूप रोकने वाली] पगड़ी [समान], (रात्री) रात्री (केशाः) केश [समान],

४—(बृहतः) प्रवृद्धस्याकाशस्य (च) (वै) (सः) विद्वान् (रथन्तरस्य) रमणीयैर्गुणैस्तरणीयस्य जगतः (च) (आदित्यानाम्) आदीप्यमानानां सूर्याणाम् (च) (विश्वेषाम्) (च) (देवानाम्) गतिमतां लोकानाम् (प्रियम्) (धाम) गृहम् (भवति) (तस्य) चतुर्थ्यां षष्ठी। विदुषे जनाय (प्राच्याम्) अभिमुखीभूतायाम्। पूर्वस्याम् (दिशि) दिशायाम् ॥

५—(श्रद्धा) श्रिञ् सेवायाम्, श्रिष दाहे, श्री पाके वा—डति+डु धाञ् धारणपोषणयोः—अङ्, टाप्। इच्छा। श्रद्धा संप्रत्ययः स्पृहा—अमर० २३। १०२ (पुंश्चली) पुंस्सु अन्यपुरुषेषु चलतीति। पुंस्+चल गतौ—अच्, ङीप्। व्यभिचारिणी कुलटेव घृणिता (मित्रः) स्नेहः (मागधः) मगि गतौ-घञ्+धा—क, पृषोदरादिरूपम्। स्तुतिपाठको यथा (विज्ञानम्) विवेकः (वासः) वस्त्रं यथा (अहः) दिनम् (उष्णीषम्) उष्ण+ईष हिंसायाम्—क, शकन्ध्वादिरूपम् तापनिवारकं शिरोवेष्टनवस्त्रं यथा (रात्री) (केशाः) (हरितौ) धारणाकर्षणगुणौ (प्रवर्तौ) वृतु वर्तने—अच्। द्वे वर्तुले कुण्डले।

(हरितौ) दोनों धारण आकर्षण गुण (प्रवर्तौ) दो गोलकुण्डल [कर्णभूषण समान] और (कल्मलिः) [गति देने वाली] तारा गणों की झलक (मणिः) मणि [मणियों के हार समान] ॥ ५ ॥ (भूतम्) भूत [बीता हुआ (च च) और भी (भविष्यत्) भविष्यत् [आने वाला] (परिष्कन्दौ) [सब ओर चलने वाले] दो सेवक [समान], (मनः) मन (विपथम्) विविध मार्गगामी रथ [यान आदि समान] ॥ ६ ॥ (मातरिश्वा) आकाश में घूमने वाला सूत्रात्मा [वायु विशेष] (च च) और भी (पवमानः) संशोधक वायु (विपथवाहौ) दो रथ लेचलने वाले [बैल घोड़े आदि समान], (वातः) वात [सामान्य वायु] (सारथिः) सारथी [रथ हांकने वाले के समान] (रेष्मा) आंधी (प्रतोदः) अङ्कुश [कोड़ा, पैना समान] ॥ ७ ॥ (कीर्तिः) कीर्ति [दान आदि से बड़ाई] (च च) और (यशः) यश [शूरता आदि से बड़ाई] (पुरःसरौ) दो अग्रधावक [पायक समान] हैं, (एनम्) उस [विद्वान्] को (कीर्तिः) कीर्ति [दान आदि से बड़ाई] (आ) आकर (गच्छति) मिलती है, (यशः) यश [शूरता आदि से बड़ा नाम] (आ) आकर, (गच्छति) मिलता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ८ ॥

कर्णभूषणे (कल्मलिः) अर्तिस्तुसुहु० । उ० १ । १४० । कल गतौ-मन्+ला दाने-कि । गतिदात्री तारादीप्तिः (मणिः) मणिभूषणं यथा ॥

६—(भूतम्) अतीतम् (च) (भविष्यत्) अनागतम् (च) (परिष्कन्दौ) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—घञ् । परितो गन्तारौ परपुष्टौ । सेवकौ यथा (मनः) चित्तम् (विपथम्) विविधगमनं यानम् ॥

७—(मातरिश्वा) आकाशे गमनशीलः सूत्रात्मा वायुः (च) (पवमानः) संशोधको वायुः (च) (विपथवाहौ) रथवाहकौ वृषभौ यथा (वातः) सामान्यपवनः (सारथिः) सर्तेर्णिच्च । उ० ४ । ८९ । सृ गतौ—अथिन्, णित् । रथचालकः (रेष्मा) रिष हिंसायाम्—मनिन् । प्रचण्डवायुः (प्रतोदः) तुद-घञ् । अश्वादिताडनदण्डः ॥

८—(कीर्तिः) दानादिप्रभवा ख्यातिः (च) (यशः) दानादिप्रभवं नाम (च) (पुरःसरौ) अग्रधावकौ (आ) आगत्य (एनम्) विद्वांसम् (कीर्तिः) (गच्छति) प्राप्नोति (आ) (यशः) (गच्छति) (यः) विद्वान् पुरुषः (एवम्) म० २ । ईदृशं व्यापकं वा परमात्मानम् (वेद) जानाति ॥

भावार्थ—जब मनुष्य योगाभ्यास करके शुद्ध ज्ञान द्वारा परमाणु से लेकर परमेश्वर तक साक्षात् करलेता है, वह पूर्णकाम और पूर्णविज्ञानी होकर संसार में अपने आप कीर्ति और यश पाता है ॥ ४—८ ॥

स उदंतिष्ठत् स दक्षिणां दिशमनु व्यंचलत् ॥ ९ ॥

० सः । दक्षिणाम् । दिशंम् ।.० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (उत् अतिष्ठत्) खड़ा हुआ, (सः) वह (दक्षिणाम्) दाहिनी [वा दक्षिण] (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को अपनी दाहिनी वा दक्षिण दिशा में व्यापक जानकर आगे बढ़े ॥ ९ ॥

तं यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यंचलन् ॥ १० ॥

तम् । यज्ञायज्ञियम् । च । वाम-देव्यम् । च । यज्ञः । च । यजमानः । च । पशवः । च । अनु-व्यंचलन् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों का हितकारी [वेदज्ञान] (च च) और (वामदेव्यम्) वामदेव [श्रेष्ठ परमात्मा] से जताया गया [भूतपञ्चक] (च) और (यज्ञः) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] (च) और (यजमानः) यजमान [पूजनीय व्यवहार करने वाला पुरुष] (च) और (पशवः) सब जीव जन्तु (तम्) उस [परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे पीछे विचरे ॥ १० ॥

९—(दक्षिणाम्) अवामभागस्थाम् । दक्षिणस्थाम् । अन्यत्पूर्ववत्—म० १॥

१०—(तम्) व्रात्यं परमात्मानम् (यज्ञायज्ञियम्) अ० ८ । १० (२) । ९ । यज्ञायज्ञ—घप्रत्ययः । सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो हितं वेदज्ञानम् (च) (वामदेव्यम्) अ० ४ । ३४ । १ । वामदेवाड् ड्यड्ड्यौ । पा० ४ । २ । ९ । वामदेव—ड्य । वामदेवेन श्रेष्ठपरमेश्वरेण विज्ञापितं पृथिव्यादिभूतपञ्चकम् (च) (यज्ञः) पूजनीयव्यवहारः (च) (यजमानः) पूजनीयव्यवहारकर्ता (च) (पशवः) जन्तवः—निघ० ११ । २९ (अनुव्यचलन्) अनुसृत्य विचरितवन्तः ॥

भावार्थ—सब ऋग्वेद आदि वेद पृथिवी आदि पञ्चभूत, सद्व्यवहार और सत्कर्मी पुरुष और सब प्राणी परमात्मा के अनुशासनगामी हैं ॥ १० ॥

यज्ञायज्ञियाय च वै स वामदेव्याय च यज्ञाय च यजमानाय च पशुभ्यश्चा वृश्चते य एवं विद्वांसं व्रात्यमुपवदति ११

यज्ञायज्ञियाय । च । वै । सः । वाम-देव्याय । च । यज्ञाय । च । यजमानाय । च । पशु-भ्यः । च । आ । वृश्चते ।०११

भावार्थ—(सः) वह [मूर्ख] (वै) निश्चय करके (यज्ञायज्ञियाय) सब यज्ञों के हितकारी [वेद ज्ञान] के लिये (च च) और भी (वामदेव्याय) वामदेव [श्रेष्ठ परमात्मा] से जताये गये [भूतपञ्चक] के लिये (च) और (यज्ञाय) पूजनीय व्यवहार के लिये (च) और (यजमानाय) यजमान [पूजनीय व्यवहार करने वाले] के लिये (च) और (पशुभ्यः) सब जीव जन्तुओं के लिये (आ) सब प्रकार (वृश्चते) दोषी होता है, (यः) जो [मूर्ख] (एवम्) ऐसे वा व्यापक (विद्वांसम्) ज्ञानवान् (व्रात्यम्) व्रात्य [सब समूहों के हितकारी परमात्मा] को (उपवदति) बुरा कहता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३ देखो—अर्थात् अज्ञानी अनीश्वरवादी पापात्मा मनुष्य अपने शुभ कर्तव्यों में सर्वथा असमर्थ होता है ॥ ११ ॥

यज्ञायज्ञियस्य च वै स वामदेव्यस्य च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति तस्य दक्षिणायां दिशि ॥१२॥

यज्ञायज्ञियस्य । च । वै । सः । वाम-देव्यस्य । च । यज्ञस्य । च । यजमानस्य । च । पशूनाम् । च । प्रियम् । धाम । भवति । तस्य । दक्षिणायाम् । । दिशि ॥ १२ ॥

११—(यज्ञायज्ञियाय) म० १० । सर्वयज्ञहितकराय वेदज्ञानाय (वामदेव्याय) श्रेष्ठपरमात्मना विज्ञापिताय भूतपञ्चकाय (यज्ञाय) श्रेष्ठव्यवहाराय (यजमानाय) श्रेष्ठव्यवहारकारकाय पुरुषाय (पशुभ्यः) सर्वप्राणिभ्यः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

उषाः पुंश्चली मन्त्रो मागधो विज्ञानं वासोऽहरुष्णीषं रात्री केशा हरितौ प्रवर्तौ कल्मलिर्मणिः ॥ १३ ॥

उषाः । पुंश्चली । मन्त्रः । मागधः । वि-ज्ञानम् । वासः । अहः । उष्णीषम् । रात्री । केशाः । हरितौ । प्र-वर्तौ । कल्मलिः । मणिः ॥ १३ ॥

अमावास्या च पौर्णमासी च परिष्कन्दौ मनो० । ० ॥ १४ ॥

अमा-वास्या । च । पौर्ण-मासी । च । ० ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान्] (वै) निश्चय करके (यज्ञायज्ञियस्य) सब यज्ञों के हितकारी [वेद ज्ञान] का (च च) और भी (वामदेव्यस्य) वामदेव [श्रेष्ठ परमात्मा] से जताये गये [भूतपञ्चक] का (च) और (यज्ञस्य) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] का (च) और (यजमानस्य) यजमान [पूजनीय व्यवहार करने वाले पुरुष] का (च) और (पशूनाम्) सब जीव जन्तुओं का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है। और (तस्य) उस [विद्वान्] के लिये (दक्षिणायाम्) दाहिनी [वा दक्षिण] (दिशि) दिशा में ॥ १२ ॥ (उषाः) हिंसा (पुंश्चली) पुंश्चली [पर पुरुषों में जाने वाली व्यभिचारिणी स्त्री, तथा परस्त्रीगामी व्यभिचारी पुरुष के समान घृणित], (मन्त्रः) मननगुण (मागधः) भाट [स्तुतिपाठक के समान], (विज्ञानम्) विज्ञान [विवेक] (वासः) वस्त्र [समान], (अहः) दिन (उष्णीषम्) [धूप रोकने वाली] पगड़ी [समान], (रात्री) रात्री (केशाः) केश [समान], (हरितौ) दोनों धारण आकर्षण गुण (प्रवर्तौ) दो गोल—

१२—(यज्ञायज्ञियस्य) सर्वव्यवहारहितस्य वेदज्ञानस्य (वामदेव्यस्य) श्रेष्ठपरमात्मना ज्ञापितस्य भूतपञ्चकस्य (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (यजमानस्य) पूजनीयकर्मकारस्य पुरुषस्य (पशूनाम्) सर्वजन्तूनाम् (तस्य) तस्मै (दक्षिणायाम्) अवामदेशस्थायाम्। दक्षिणस्याम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४॥

१३—(उषाः) उषः किच्च । उ० ४ । २३४ । उष दाहे वधे च—असि। हिंसा (मन्त्रः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । मन ज्ञाने—ष्ट्रन् । मननगुणः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ५ ॥

कुण्डल [कर्णभूषण समान] और (कल्मलिः) [गति देने वाली] तारों की झलक (मणिः) मणि [मणियों के हार समान] ॥ १३ ॥ (अमावास्या) अमावस [कृष्णपक्ष की अन्तिम तिथि, अर्थात् अन्धकार वा अविद्या (च च) और भी (पूर्णमासी) पूर्णमासी [शुक्लपक्ष की अन्तिम तिथि, अर्थात् प्रकाश वा विद्या] (परिष्कन्दौ) [सब ओर चलने वाले] दो सेवक [समान] (मनः) मन......[म० ६, ७, ८] ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के ज्ञान के साथ अविद्या के त्याग और विद्या की प्राप्ति से योग्य पदार्थों के उपकार और अयोग्यों के अपकार को जानकर अपना कर्तव्य करता है; वह संसार में कीर्तिमान् और यशस्वी होता है ॥ १२—१४ ॥

स उदतिष्ठत् स प्रतीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ १५ ॥

० सः । प्रतीचीम् । दिशम् । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (उत् अतिष्ठत्) खड़ा हुआ (सः) वह (प्रतीचीम्) पीछे वाली [वा पश्चिम] (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पीछे वाली वा पश्चिम दिशा में परमात्मा की व्यापकता विचार कर पुरुषार्थ करे ॥ १५ ॥

तं वैरूपं च वैराजं चापश्च वरुणश्च राजानुव्यचलन् ॥१६॥

तम् । वैरूपम् । च । वैराजम् । च । आपः । च । वरुणः । च । राजा । अनु-व्यचलन् ॥ १६ ॥

१४—(अमावास्या) अमा सह चन्द्रार्कौ वसतो यत्र तिथौ सा, अमा + वस निवासे—आधारे ण्यत्, टाप् । कृष्णपक्षशेषतिथिः अन्धकारः । अविद्या (पौर्णमासी) पूर्णो मासश्चन्द्रो वर्तते यस्यां तिथौ सा । पूर्णमासादण् । वा० पा० ४ । २ । ३५ । पूर्णमास—अण् । शुक्लपक्षान्तिमतिथिः प्रकाशः । विद्या । अन्यत् पूर्ववत्—म० ६ ॥

१५—(प्रतीचीम्) पश्चाद्भागस्थाम् । पश्चिमाम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १ ॥

भाषार्थ—(वैरूपम्) वैरूप [विविध पदार्थों का जताने वाला वेद ज्ञान] (च च) और (वैराजम्) वैराज [विराट् रूप, अर्थात् बड़े ऐश्वर्यवान् वा प्रकाशमान परमात्मा के स्वरूप का प्राप्त कराने वाला मोक्षज्ञान] (च) और (आपः) प्रजायें [सृष्टि की वस्तुयें] (च) और (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान्] (वरुणः) श्रेष्ठ जीव [मनुष्य] (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे पीछे विचरे ॥ १६ ॥

भावार्थ—ज्ञानी पुरुष साक्षात् करता है कि सब वेदज्ञान, मोक्षज्ञान और सृष्टि के पदार्थ, और सब सृष्टि में उत्तम यह मनुष्य उसी परमात्मा के आश्रित हैं ॥ १६ ॥

वै॒रू॒पाय॑ च॒ वै स वै॑रा॒जाय॑ चा॒द्भ्यश्च॒ वरु॑णाय च॒ राज्ञ॒ आ वृ॑श्चते॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मुप॒वद॑ति ॥ १७ ॥

वै॒रू॒पाय॑ । च॒ । वै । सः । वै॒रा॒जाय॑ । च॒ । अ॒त्ऽभ्यः । च॒ । वरु॑णाय । च॒ । राज्ञे॑ । आ । वृ॒श्च॒ते॒ । ० ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [मूर्ख] (वै) निश्चय करके (वैरूपाय) वैरूप [विविध पदार्थों के जताने वाले वेदज्ञान] के लिये (च च) और भी (वैराजाय) वैराज [विराट् रूप, बड़े ऐश्वर्यवान् वा प्रकाशमान परमात्मा के स्वरूप के प्राप्त कराने वाले मोक्षज्ञान] के लिये (च) और (अद्भ्यः) प्रजाओं के लिये (च) और (राज्ञे) राजा [ऐश्वर्यवान्] (वरुणाय) श्रेष्ठ जीव [मनुष्य] के लिये (आ) सब प्रकार (वृश्चते) दोषी होता है, (यः) जो मूर्ख (एवम्) व्यापक (विद्वांसम्) ज्ञानवान् (व्रात्यम्) व्रात्य

१६—(तम्) व्रात्यम् (वैरूपम्) विरूप—अण् । विविधपदार्थानां रूपं निरूपणं यस्मात् तद् वेदज्ञानम् (च) (वैराजम्) विराज्—अण् । विराड्रूपस्य ऐश्वर्यवतः प्रकाशमानस्य वा परमात्मस्वरूपस्य प्रतिपादकं मोक्षज्ञानम् (च) (आपः) प्रजाः । सृष्टिपदार्थाः (च) (वरुणः) श्रेष्ठजीवो मनुष्यः (च) (राजा) ऐश्वर्यवान् (अनुव्यचलन्) अनुसृत्य विचरितवन्तः ॥

१७ (वैरूपाय) म० १६ । विविधपदार्थानां निरूपकाय वेदज्ञानाय (वैराजाय) विराड् रूपस्य परमात्मनः स्वरूपस्य प्रापकाय मोक्षज्ञानाय (अद्भ्यः)

[सब समूहों के हितकारी परमात्मा] को (उपवदति) बुरा कहता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—परमात्मा के ज्ञान से विमुख पुरुष सब संसार की हानि करके पापी होता है ॥ १७ ॥

वै॒रूप॒स्य॑ च॒ वै स वै॑रा॒जस्य॑ चा॒पां च॒ वरु॑णस्य च॒ राज्ञः॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ तस्य॑ प्र॒तीच्यां॑ दि॒शि ॥ १८ ॥

वै॒रू॒पस्य॑ । च॒ । वै । सः । वै॒रा॒जस्य॑ । च॒ । अ॒पाम् । च॒ । वरु॑णस्य । च॒ । राज्ञः॑ । प्रि॒यम् । धाम॑ । भ॒व॒ति॒ । तस्य॑ । प्र॒ती॒च्याम् । दि॒शि ॥ १८ ॥

उ॒रा पुं॑श्च॒ली हसो॑ माग॒धो वि॒ज्ञानं॒ वासो॒ऽह॑रु॒ष्णीषं॒ रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्रव॒र्तौ क॑ल्म॒लिर्म॒णिः ॥ १९ ॥

उ॒रा । पुं॒श्च॒ली । हसः॑ । मा॒ग॒धः । वि॒-ज्ञान॑म् । वासः॑ । अहः॑ । उ॒ष्णीष॑म् । रात्री॑ । केशाः॑ । हरि॑तौ । प्र॒-व॒र्तौ । क॒ल्म॒लिः । म॒णिः ॥ १९ ॥

अह॑श्च॒ रात्री॑ च॒ परि॑ष्कन्दौ॒ मनो॑ ० । ० ॥ २० ॥

अहः॑ । च॒ । रात्री॑ । च॒ । ० ॥ २० ॥

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान्] (वै) निश्चय करके (वैरूपस्य) वैरूप [विविध पदार्थों के जताने वाले वेदज्ञान] का (च च) और भी (वैराजस्य) वैराज [विराट्रूप ऐश्वर्यवाले वा प्रकाशमान परमात्मा के स्वरूप के प्राप्त करने वाले मोक्षज्ञान] का (च) और (अपाम्) प्रजाओं का (च) और

प्रजाभ्यः (वरुणाय) श्रेष्ठजीवाय-मनुष्याय (राज्ञे) ऐश्वर्यवते । अन्यत् पूर्ववत्-म० ३ ॥

१८—(वैरूपस्य) म० १६ । विविधपदार्थानां निरूपकस्य वेदज्ञानस्य (वैराजस्य) म० १६ विराड्रूपस्य परमात्मस्वरूपस्य प्रापकस्य मोक्षज्ञानस्य (अपाम्) प्रजानाम् (वरुणस्य) श्रेष्ठजीवस्य मनुष्यस्य (राज्ञः) ऐश्वर्यवतः (प्रतीच्याम्) पश्चाद्भवायाम् । पश्चिमायाम् । अन्यत् पूर्ववत्-म०-४ ॥

(राज्ञः) ऐश्वर्यवान् (वरुणस्य) श्रेष्ठ जीव [मनुष्य] का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है। और (तस्य) उस [विद्वान्] के लिये (प्रतीच्याम्) पीछे वाली [वा पश्चिम] (दिशि) दिशा में ॥ १८ ॥ (इरा) मदिरा [मद्यवस्तु] (पुंश्चली) पुंश्चली [पर पुरुषों में जाने वाली व्यभिचारिणी स्त्री तथा परस्त्रीगामी व्यभिचारी पुरुष के समान घृणित], (हसः) हास्यरस (मागधः) भाट [स्तुतिपाठक के समान], (विज्ञानम्) विज्ञान [विवेक] (वासः) वस्त्र [समान], (अहः) दिन (उष्णीषम्) [धूप रोकनेवाली] पगड़ी [समान], (रात्री) रात्री (केशाः) केश [समान], (हरितौ) दोनों धारण आकर्षण गुण (प्रवर्तौ) दो गोलकुण्डल [कर्णभूषण समान] और (कल्मलिः) [गति देने वाली] तारों की झलक (मणिः) मणि [मणियों के हार समान] ॥ १९ ॥ (अहः) दिन (च च) और भी (रात्री) रात्री (परिष्कन्दौ) [सब ओर चलने वाले] दो सेवक [समान], (मनः) मन.........[मन्त्र ६, ७, ८] ॥

भावार्थ--मनुष्य वेदज्ञान और मोक्षज्ञान द्वारा परमात्मा को प्राप्त करके दुष्कर्मों के सर्वथा त्याग और सत्कर्मों के निरन्तर निष्काम अनुष्ठान से संसार में आनन्द पाता है ॥ १८, १९, २० ॥

स उदतिष्ठत् स उदीचीं दिशमनु व्यचलत् ॥ २१ ॥

सः । उत् । अतिष्ठत् । सः । उदीचीम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् ॥ २१ ॥

भाषार्थ--(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (उत् अतिष्ठत्) खड़ा हुआ, (सः) वह (उदीचीम्) बायीं [अथवा उत्तर] (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ २१ ॥

भावार्थ--मनुष्य जगदीश्वर को बायीं ओर वा उत्तर दिशा में वर्तमान जानकर आत्मोन्नति करे ॥ २१ ॥

१९--(इरा) ऋज्रेन्द्राग्रवज्रविप्र० । उ० २ । २८ । इण् गतौ-रन्, टाप्, गुणाभावः । मद्यं वस्तु । मदिरा । इरा भूवाक्सुराप्सु स्यात् । अमर ० २३ । १७८ । अन्यत् पूर्ववत्--म० ५ ॥

२०--(अहः) दिनम् (रात्री) रात्रिः । अन्यत् पूर्ववत्-म० ६ ॥

२१--(उदीचीम्) वामभागवर्तमानाम् । उत्तरभागस्थाम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥

तं श्यै॒तं च॒ नौध॒सं च॑ स॒प्तर्ष॑यश्च॒ सोम॑श्च॒ राजा॑नु॒व्य॑चलन् २२

तम् । श्यै॒तम् । च॒ । नौ॒ध॒सम् । च॒ । स॒प्त॒-ऋ॒षयः॑ । च॒ । सोमः॑ । च॒ । राजा॑ । अ॒नु॒-व्य॑चलन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(श्यैतम्) श्यैत [सद्गति बताने वाला वेदज्ञान] (च च) और (नौधसम्) नौधस [ऋषियों का हितकारी मोक्षज्ञान] (च) और (सप्तर्षयः) सात ऋषि [छह इन्द्रियां और सातवीं बुद्धि अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] (च) और (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान्] (सोमः) प्रेरक मनुष्य (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे पीछे चले ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदज्ञान से परमात्मा का ज्ञान प्राप्त करके इन्द्रियों और आत्मा की शक्तियों को बढ़ाता हुआ परमेश्वर के आश्रय से बढ़ती करता जावे ॥ २२ ॥

श्यै॒ताय॑ च॒ वै स नौ॑ध॒साय॑ च स॒प्तर्षि॒भ्य॑श्च॒ सोमा॑य च॒ राज्ञ॒ आ वृ॑श्चते॒ य ए॒वं वि॒द्वांसं॒ व्रात्य॑मुप॒वद॑ति ॥ २३ ॥

श्यै॒ताय॑ । च॒ । वै । सः । नौ॒ध॒साय॑ । च॒ । स॒प्त॒र्षि॒-भ्यः॑ । च॒ । सोमा॑य । च॒ । राज्ञे॑ । आ । वृ॒श्च॒ते॒ । यः । ए॒वम् । वि॒द्वां॒सम् । व्रात्य॑म् । उ॒प॒-वद॑ति ॥ २३ ॥

२२—(तम्) व्रात्यम् (श्यैतम्) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । श्यैङ् गतौ-इतन्, श्येत—अण् । श्येतस्य सद्गतेः प्रतिपादकं वेदज्ञानम् (च) (नौधसम्) नुवो धुट् च । उ० ४ । २२६ । णु स्तुतौ—असि, धुट् च, यद्वा गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । नौते डों प्रत्ययः + डु धाञ्—असि, नोधस्—अण् । नोधा ऋषिर्भवति नवनं दधाति—निरु० ४ । १६ । ऋषीणां हितकरं मोक्षज्ञानम् (च) (सप्तर्षयः) अ० ४ । ११ । ६ । सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे । यजु० ३४ । ५५ । सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । त्वक् चक्षुः श्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः (च) (सोमः) प्रेरको मनुष्यः (च) (राजा) ऐश्वर्यवान् (अनुव्यचलन्) अनुसृत्य विचरितवन्तः ॥

भाषार्थ—(सः) वह [मूर्ख] (वै) निश्चय करके (श्यैताय) श्यैत [सद्गति बताने वाले वेदज्ञान] के लिये (च च) और भी (नौधसाय) नौधस [ऋषियों के हितकारी मोक्षज्ञान] के लिये (च) और (सप्तर्षिभ्यः) सात ऋषियों [छह इन्द्रियों और सातवीं बुद्धि—म० २२] के लिये (च) और (राज्ञे) ऐश्वर्यवान् (सोमाय) प्रेरक जीव [मनुष्य] के लिये (आ) सब प्रकार (वृश्चते) दोषी होता है, (यः) जो [मूर्ख] (एवम्) व्यापक (विद्वांसम्) ज्ञानवान् (व्रात्यम्) व्रात्य [सब समूहों के हितकारी परमात्मा] को (उपवदति) बुरा कहता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—कृतघ्न अज्ञानी पुरुष वेदज्ञान और मोक्षज्ञान को नहीं प्राप्त कर सकता और न वह जितेन्द्रिय और हितैषी हो सकता, इसी से वह सदा दुःख में पड़ा रहता है ॥ २३ ॥

श्यै॒तस्य॑ च॒ वै स नौ॑ध॒सस्य॑ च स॒प्तर्षी॒णां च॒ सोम॑स्य च॒ राज्ञः॑ प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ तस्योदी॑च्यां दि॒शि ॥ २४ ॥

श्यै॒तस्य॑ । च॒ । वै । सः । नौ॒ध॒सस्य॑ । च॒ । स॒प्त-ऋ॒षी॒णाम् । च । सोम॑स्य । च॒ । राज्ञः॑ । प्रि॒यम् । धाम॑ । भ॒व॒ति॒ । तस्य॑ । उदी॑च्याम् । दि॒शि ॥ २४ ॥

वि॒द्युत् पुं॑श्च॒ली स्त॒नयि॒त्नुर्मा॑ग॒धो वि॒ज्ञानं॒ वासोऽह॑रु॒ष्णीषं॒ रात्री॒ केशा॒ हरि॑तौ प्रव॒र्तौ क॑ल्म॒लिर्म॒णिः ॥ २५ ॥

वि॒-द्युत् । पुं॒श्च॒ली । स्त॒न॒यि॒त्नुः । मा॒ग॒धः । वि॒-ज्ञान॑म् । वास॑ः । अह॑ः । उ॒ष्णीष॑म् । रात्री॑ । केशा॑ः । हरि॑तौ । प्र-व॒र्तौ । क॒ल्म॒लिः । म॒णिः ॥ २५ ॥

२३—(श्यैताय) म० २२ । सद्गतिप्रापकाय वेदज्ञानाय (नौधसाय) म० २२ । ऋषीणां हितकराय मोक्षज्ञानाय (सप्तर्षिभ्यः) सबुद्धिषडिन्द्रियेभ्यः (सोमाय) प्रेरकाय मनुष्याय (राज्ञे) ऐश्वर्यवते । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

श्रुतं च विश्रुतं च परिष्कन्दौ मनो विपथम् ॥ २६ ॥

श्रुतम् । च । वि-श्रुतम् । च । परि-स्कन्दौ । मनः । वि-पथम् ॥२६॥

मातरिश्वा च पवमानश्च विपथवाहौ वातः सारथी रेष्मा प्रतोदः ॥ २७ ॥

मातरिश्वा । च । पवमानः । च । विपथ-वाहौ । वातः । सारथिः । रेष्मा । प्र-तोदः ॥ २७ ॥

कीर्तिश्च यशश्च पुरःसरावैनं कीर्तिर्गच्छत्या यशो गच्छति य एवं वेद ॥ २८ ॥

कीर्तिः । च । यशः । च । पुरः-सरौ । आ । एनम् । कीर्तिः । गच्छति । आ । यशः । गच्छति । यः । ० ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान्] (वै) निश्चय करके (श्यैतस्य) श्यैत [सद्गति बताने वाले वेदज्ञान] का (च च) और भी (नौधसस्य) नौधस [ऋषियों के हितकारी मोक्ष ज्ञान] का (च) और (सप्तर्षीणाम्) सात ऋषियों [छह इन्द्रियों और सातवीं बुद्धि—मन्त्र २२] का (च) और (राज्ञः) ऐश्वर्यवान् (सोमस्य) प्रेरक पुरुष का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है। और (तस्य) उस [विद्वान्] के लिये (उदीच्याम्) बायीं [वा उत्तर] (दिशि) दिशा में ॥२४॥ (विद्युत्) बिजुली [बिजुली समान चंचलता] (पुंश्चली) पुंश्चली [पर पुरुषों में जाने वाली व्यभिचारिणी स्त्री तथा परस्त्रीगामी व्यभिचारी पुरुष के समान घृणित], (स्तनयित्नुः) मेघ की गर्जन (मागधः) भाट [स्तुतिपाठक के समान], (विज्ञानम्) विज्ञान [विवेक] (वासः) वस्त्र [समान], (अहः) दिन (उष्णीषम्) [धूप रोकने

२४—(श्यैतस्य) म० २२ । सद्गतिप्रतिपादकस्य वेदज्ञानस्य (नौधसस्य) ऋषीणां हितकरस्य मोक्षज्ञानस्य (सप्तर्षीणाम्) म० २२ । सबुद्धिषडिन्द्रियाणाम् (सोमस्य) प्रेरकस्य मनुष्यस्य (राज्ञः) ऐश्वर्यवतः । अन्यद् गतम्—म० ४ ॥

२५—(विद्युत्) तडिद्वच् चंचलता (स्तनयित्नुः) मेघगर्जनम् । शेषं गतम्—म० ५ ॥

वाली] पगड़ी [समान], (रात्री) रात्री (केशाः) केश [समान], (हरितौ) दोनों धारण आकर्षण गुण (प्रवर्तौ) दो गोलकुण्डल [कर्णभूषण समान] और (कल्मलिः) [गति देने वाली] तारा गणों की झलक (मणिः) मणि [मणियों के हार समान] ॥ २५ ॥ (श्रुतम्) ख्याति [प्रशंसा] (च च) और (विश्रुतम्) विख्याति [प्रसिद्धि] (परिष्कन्दौ [सब ओर चलने वाले] दो सेवक [समान] (मनः) मन (विपथम्) विविध मार्गगामी रथ [यान आदि समान] ॥ २६ ॥ (मातरिश्वा) आकाश में घूमने वाला सूत्रात्मा [वायु विशेष] (च च) और भी (पवमानः) संशोधक वायु (विपथवाहौ) दो रथ ले चलाने वाले [बैल घोड़े आदि समान], (वातः) वात [सामान्य वायु] (सारथिः) सारथी [रथ हांकने वाले के समान] (रेष्मा) आंधी (प्रतोदः) अंकुश [कोड़ा, पैना समान] ॥२७॥ (कीर्तिः) कीर्ति [दान आदि से बड़ाई] (च च) और भी (यशः) यश [शूरता आदि से बड़ाई] (पुरःसरौ) दो अग्रधावक [पायक समान] हैं, (एनम्) उस [विद्वान्] को (कीर्तिः) कीर्ति [दान आदि से बड़ाई] (आ) आकर (गच्छति) मिलती है, (यशः) यश [शूरता आदि से बड़ा नाम] (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा में लवलीन होता है, वही वेदज्ञान और मोक्षज्ञान से जितेन्द्रिय और सर्वहितैषी होकर संसार में सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द पाता है ॥ २४—२८ ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—११ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ आर्षी गायत्री ; २ साम्न्युष्णिक् ; ३ याजुषी जगती ; ४, ११ आर्च्युष्णिक् ; ५ आर्ची बृहती ; ६ आसुर्यनुष्टुप् ; ७ साम्नी गायत्री ; ८ आसुरी पङ्क्तिः ; ९ आसुरी जगती १० प्राजापत्या त्रिष्टुप् ॥

परमात्मविराड्रूपोपदेशः—परमात्मा के विराट् रूप का उपदेश ॥

स सं॑वत्स॒रमू॒र्ध्वो॑ऽतिष्ठ॒त् तं दे॒वा अ॑ब्रुव॒न् व्रात्य॒ किं नु

२६—(श्रुतम्) ख्यातिः । प्रशंसा (विश्रुतम्) विख्यातिः । प्रसिद्धिः । अन्यद् गतम्—म० ६ ॥

२७—यथा मन्त्रः ७ ॥

२८—यथा मन्त्रः ८ ॥

तिष्ठसीति ॥ १ ॥

सः । सम्-वत्सरम् । ऊर्ध्वः । अतिष्ठत् । तम् । देवाः । अब्रुवन् । व्रात्य । किम् । नु । तिष्ठसि । इति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (संवत्सरम्) वर्ष भर तक [कुछ काल तक] (ऊर्ध्वः) ऊंचा (अतिष्ठत्) खड़ा रहा, (तम्) उस से (देवाः) देवता [विद्वान् लोग] (अब्रुवन्) बोले—(व्रात्य) हे व्रात्य ! [सब समूहों के हितकारी परमात्मन्] (किम्) क्यों (नु) अब (तिष्ठसि इति) तू खड़ा है ॥ १ ॥

भावार्थ—ऋषि लोग परमात्मा की सत्ता को विविध प्रकार विचारें कि वह जगदीश्वर प्रलय और सृष्टि के बीच क्या क्या करता है ॥ १ ॥

सोऽब्रवीदासन्दीं मे सं भरन्त्विति ॥ २ ॥

सः । अब्रवीत् । आ-सन्दीम् । मे । सम् । भरन्तु । इति ॥२॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (अब्रवीत्) बोला—(आसन्दीम्) सिंहासन (मे) मेरे लिये (सम्) मिलकर (भरन्तु इति) आप भरें ॥२॥

भावार्थ—ऋषि लोग अनुभव करते हैं कि वह परमात्मा सर्वोपरि विराजकर अपनी महिमा दिखा रहा है ॥ २ ॥

तस्मै व्रात्यायासन्दीं समभरन् ॥ ३ ॥

तस्मै । व्रात्याय । आ-सन्दीम् । सम् । अभरन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस (व्रात्याय) व्रात्य [सब समूहों के हितकारी

१—(सः) व्रात्यः परमात्मा (संवत्सरम्) किञ्चित्कालपर्यन्तम् (ऊर्ध्वः) उन्नतः (अतिष्ठत्) स्थितवान् (तम्) व्रात्यम् (देवाः) विद्वांसः (अब्रुवन्) अकथयन् । विचारितवन्तः (व्रात्य) हे सर्वसमूहहितकारिन् (किम्) किमर्थम् (नु) इदानीम् (तिष्ठसि) स्थितोभवसि (इति) पादपूर्तौ ॥

२—(सः) व्रात्यः (अब्रवीत्) (आसन्दीम्) सिंहासनम् (मे) मह्यम् (सम्) संगत्य (भरन्तु) धरन्तु भवन्तः (इति) ॥

३—(तस्मै) तादृशाय (व्रात्याय) सर्वसमूहहितकारिणे परमात्मने

परमात्मा] के लिये (आसन्दीम्) सिंहासन (सम् अभरन्) उन्होंने मिलकर रक्खा ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परस्पर विचार करके आगे के मन्त्रों की युक्ति से उस परमेश्वर को सर्वोपरि विराजमान समझें ॥ ३ ॥

तस्या ग्रीष्मश्च वसन्तश्च द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ ॥ ४ ॥

तस्याः । ग्रीष्मः । च । वसन्तः । च । द्वौ । पादौ । आस्ताम् । शरत् । च । वर्षाः । च । द्वौ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वसन्तः) वसन्त ऋतु (च.च) और (ग्रीष्मः) घाम ऋतु (तस्याः) उस [सिंहासन] के (द्वौ) दो (च) और (वर्षाः) वरसा ऋतु (च) और (शरत्) शरद् ऋतु (द्वौ) दो (पादौ) पाये (आस्ताम्) थे ॥ ४ ॥

भावार्थ—घाम आदि ऋतुयें अर्थात् समस्त काल परमात्मा के वशीभूत हैं ॥ ४ ॥

बृहच्च रथंतरं चानूच्ये३ आस्तां यज्ञायज्ञियं च वामदेव्यं च तिरश्च्ये ॥ ५ ॥

बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । अनूच्ये३ इति । आस्ताम् । यज्ञायज्ञियम् । च । वाम-देव्यम् । च । तिरश्च्ये३ इति ॥ ५

भाषार्थ—(बृहत्) बृहत् [बड़ा आकाश] (च च) और (रथंतरम्) रथंतर [रमणीय गुणों से पार होने योग्य जगत्] (अनूच्ये) दो पाटियां

(आसन्दीम्) सिंहासनम् (सम्) संगत्य (अभरन्) धारितवन्तो विद्वांसः ॥

४—(तस्याः) आसन्द्याः (ग्रीष्मः) निदाघकालः (च) (वसन्तः) (द्वौ) (पादौ) चरणौ (आस्ताम्) अभवताम् (शरत्) शरदृतुः (च) (वर्षाः) वृष्टिकालः (च) (द्वौ) ॥

५—(बृहत्) सू० २ । २ । प्रवृद्धमाकाशम् (रथंतरम्) सू० २ । २ । रमणीयैर्गुणैस्तरणीयं जगत् (च) (अनूच्ये) अनु+उच समवाये—क्यप् । सिंहासनादौ संगमनीये लम्बमाने द्वे काष्ठादिवस्तुनी (आस्ताम्) अभवताम्

[पट्टियां, लंबे काष्ठ आदि जोड़] (च) और (यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों का हितकारी [वेद ज्ञान] (च) और (वामदेव्यम्) वामदेव [श्रेष्ठ परमात्मा] से जताया गया [भूतपंचक] (तिरश्च्ये) दो सेरुवे [तिरछे काष्ठ आदि जोड़] (आस्ताम्) थे ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्यकृत सिंहासन में दो पाटी और दो सेरुवे होते हैं, वैसे ही परमेश्वर के सिंहासन के आकाश, जगत् आदि हैं ॥ ५ ॥

ऋचः॒ प्राञ्च॒स्तन्त॑वो॒ यजूं॑षि ति॒र्यञ्चः॑ ॥ ६ ॥

ऋचः॑ । प्राञ्चः॑ । तन्त॑वः । यजूं॑षि । ति॒र्यञ्चः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ऋचः) ऋचायें [पदार्थों की गुणप्रकाशक विद्यायें] [उस सिंहासन के] (प्राञ्चः) लम्बे फैले हुये (तन्तवः) तन्तु [सूत] और (यजूंषि) यजुर्मन्त्र (तिर्यञ्चः) तिरछे फैले हुये [तन्तु] थे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे वस्त्र के ताने बाने में सूत लगते हैं, वैसे ही परमात्मा ने सृष्टि रचना में ऋग्वेद और यजुर्वेद विद्यायें बनायी हैं ॥ ६ ॥

वेद॑ आ॒स्तर॑णं॒ ब्रह्मो॑प॒बर्ह॑णम् ॥ ७ ॥

वेदः॑ । आ॒ऽस्तर॑णम् । ब्रह्म॑ । उ॒प॒ऽबर्ह॑णम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वेदः) धन [उस सिंहासन का] (आस्तरणम्) बिछौना और (ब्रह्म) अन्न (उपबर्हणम्) बालिश [शिर रखने का सहारा] था ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सिंहासन पर गद्दी और बालिश लगाये जाते हैं, वैसे ही परमेश्वर ने संसार में धन और अन्न रचे हैं ॥ ७ ॥

(यज्ञायज्ञियम्) सू० २ । १० । सर्वेभ्यो यज्ञेभ्यो हितं वेदज्ञानम् (च) (वामदेव्यम्) सू० २ । १० । श्रेष्ठपरमेश्वरेण विज्ञापितं भूतपञ्चकम् (च) (तिरश्च्ये) तिरस्+च्युङ् गतौ-ड । अन्तर्गते लघुनी द्वे काष्ठादिवस्तुनी ॥

६—(ऋचः) पदार्थविज्ञानप्रकाशिकाविद्याः (प्राञ्चः) प्र+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । प्रकर्षेण प्राप्ताः (तन्तवः) सूत्राणि (यजूंषि) सत्कर्मप्रतिपादकानि ज्ञानानि (तिर्यञ्चः) तिरस्+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । तिर्यग्भवास्तन्तवः ॥

७—(वेदः) विद्लृ लाभे-असुन् । धनम्—निघ० २ । १० (आस्तरणम्) आस्तरः । विष्टरः (ब्रह्म) अन्नम्—निघ० २ । ७ (उपबर्हणम्) बालिशम् ॥

सामासाद उद्गीथोऽपश्रयः ॥ ८ ॥

साम । आ-सादः । उत्-गीथः । अप-श्रयः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(साम) सामवेद [मोक्षज्ञान] (आसादः) [उस सिंहासन का] बैठने का स्थान और (उद्गीथः) उद्गीथ [अच्छे प्रकार गाने योग्य ओरम् शब्द] (अपश्रयः) सहारा था ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सिंहासन में बैठने का स्थान और बैठने वाले के सुख के लिये सहारे होते हैं, वैसे ही परमात्मा ने विद्वानों के लिये मुक्तिज्ञान और प्रणव का जप बनाया है ॥ ८ ॥

तामासन्दीं व्रात्य आरोहत् ॥ ९ ॥

ताम् । आ-सन्दीम् । व्रात्यः । आ । अरोहत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस (आसन्दीम्) सिंहासन पर (व्रात्यः) व्रात्य [सब समूहों का हितकारी परमात्मा] (आ अरोहत्) चढ़ गया ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे चक्रवर्ती राजा सिंहासन पर ऊंचा बैठता है, वैसे ही परमात्मा सब संसार के ऊपर विराजमान है ॥ ९ ॥

तस्य देवजनाः परिष्कन्दा आसन्त्संकल्पाः प्रहाय्या३ विश्वानि भूतान्युपसदः ॥ १० ॥

तस्य । देव-जनाः । परि-स्कन्दाः । आसन् । सम्-कल्पाः । प्र-हाय्याः । विश्वानि । भूतानि । उप-सदः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(देवजनाः) विद्वान् लोग (तस्य) उस [व्रात्य परमात्मा]

८—(साम) मोक्षज्ञानम् (आसादः) आङ्+षद्लृ गतौ—घञ् । स्थितिस्थानम् (उद्गीथः) गश्चोदि । उ० २ । १० । उत्+गै गाने—थक् । उच्चैर्गीयमानः सामध्वनिः प्रणवो वा (अपश्रयः) अप+श्रिञ् सेवायाम्—अच् । आश्रयः ॥

९—(ताम्) पूर्वोक्ताम् (आसन्दीम्) सिंहासनम् (व्रात्यः) सर्वसमूहहितकारी परमात्मा (आ अरोहत्) आरूढवान् ॥

१०—(तस्य) व्रात्यस्य (देवजनाः) विद्वांसः पुरुषाः (परिष्कन्दाः)

के (परिष्कन्दाः) सेवक, (संकल्पाः) सङ्कल्प [दृढ़ विचार] (प्रहाय्याः) [उसके] दूत, और (विश्वानि) सब (भूतानि) सत्तायें [उसके] (उपसदः) निकटवर्ती (आसन्) थे ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे सिंहासन पर बैठे हुये राजराजेश्वर के सेवक, दूत और अन्य समीपवर्ती होते हैं, वैसे ही वह परमात्मा सब विद्वानों, दृढ़ संकल्पी लोगों और सब सत्ताओं को अपनी कृपा दृष्टि में रखता है ॥ १० ॥

विश्वा॑न्ये॒वास्य॑ भू॒तान्यु॑प॒सदो॑ भवन्ति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ११ ॥

विश्वा॑नि । ए॒व । अ॒स्य॒ । भू॒तानि॑ । उ॒प॒ऽसदः॑ । भ॒व॒न्ति॒ । यः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(विश्वानि) सब (एव) ही (भूतानि) सत्ता वाले पदार्थ (अस्य) उस [विद्वान् पुरुष] के (उपसदः) समीपवर्ती (भवन्ति) होते हैं, (यः) जो (एवम्) व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा के तत्त्व को जान लेता है, वह योगीश्वर सब सत्ता वालों से यथावत् उपकार कर सकता है॥११॥

सूक्तम् ४ ॥

१—१८ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १,१३, १६ दैवी जगती; २, ८ आर्च्यनुष्टुप्; ३, १२ प्राजापत्या जगती; ४, ७, १० प्राजापत्या गायत्री; ५ भुरिक् प्राजापत्या बृहती; ६ आर्ची जगती; ६ आर्ची त्रिष्टुप्; ११ साम्नी त्रिष्टुप्; १४ प्राजापत्या बृहती; १५, १८ आर्ची पङ्क्तिः; १७ आर्च्युष्णिक् ॥

परमेश्वरस्य रक्षागुणोपदेशः—परमेश्वर के रक्षा गुण का उपदेश ॥

तस्मै॒ प्राच्या॑ दि॒शः ॥ १ ॥ तस्मै॑ । प्राच्याः॑ । दि॒शः ॥ १ ॥

परि+स्कन्दिर् गतिशोषणयोः-घञ् । परपुष्टाः । परिचराः (आसन्) (संकल्पाः) दृढविचाराः (प्रहाय्याः) श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः । उ० ३ । ९६ । ओ हाङ् गती—आय्य । प्रगन्तारः । दूताः (विश्वानि) सर्वाणि (भूतानि) सत्त्वानि । सत्तासमन्वितानि पदार्थजातानि (उपसदः) समीपवर्तिनः ॥

११—(विश्वानि) सर्वाणि (एव) अवधारणे (अस्य) विदुषः पुरुषस्य (भूतानि) सत्त्वानि (उपसदः) समीपवर्तिनः (भवन्ति) (यः) पुरुषः (एवम्) सू० २ । ३१ व्यापकं व्रात्यं परमात्मानम् (वेद) वेत्ति ॥

वासन्तौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् बृहच्च रथंतरं चानुष्ठातारौ ॥ २ ॥

वासन्तौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । अनु-स्थातारौ ॥ २ ॥

वासन्तावेनं मासौ प्राच्या दिशो गोपायतो बृहच्च रथंतरं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ ३ ॥

वासन्तौ । एनम् । मासौ । प्राच्याः । दिशः । गोपायतः । बृहत् । च । रथम्-तरम् । च । अनु । तिष्ठतः । यः । ० ॥३॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (प्राच्याः) पूर्व (दिशः) दिशा से ॥ १ ॥ (वासन्तौ) वसन्त ऋतु वाले [चैत्र—वैशाख] (मासौ) दो महीनों को (गोप्तारौ) दो रक्षक (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया, (बृहत्) बृहत् [बड़े आकाश] (च च) और (रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय गुणों द्वारा पार होने योग्य जगत्] को (अनुष्ठातारौ) दो अनुष्ठाता [साथ रहने वाला वा विहित कार्यसाधक] [बनाया] ॥ २ ॥ (वासन्तौ) वसन्त ऋतु वाले (मासौ) दो महीने (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा से (एनम्) उस [विद्वान्] की (गोपायतः) रक्षा करते हैं, [और दोनों] (बृहत्) बृहत् [बड़ा आकाश] (च च) और (रथन्तरम्) रथन्तर [रमणीय गुणों द्वारा पार होने योग्य जगत्] [उस के लिये] (अनु तिष्ठतः) विहित कार्य करते हैं, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ३ ॥

१—(तस्मै) विदुषे जनाय (प्राच्याः) पूर्वायाः (दिशः) दिक्सकाशात् ॥

२—(वासन्तौ) वसन्तसम्बन्धिनौ चैत्रवैशाखौ (मासौ) (गोप्तारौ) रक्षकौ (अकुर्वन्) ते विद्वांसः कृतवन्तः (बृहत्) प्रवृद्धमाकाशम् (च) (रथन्तरम्) रमणीयगुणैस्तरणीयं जगत् (च) (अनुष्ठातारौ) सहवर्तमानौ । विहितकर्मसाधकौ ॥

३—(एनम्) विद्वांसम् (गोपायतः) रक्षतः (अनुतिष्ठतः) सहवर्तेते । विहितकर्म कुरुतः (यः) विद्वान् (एवम्) इण गतौ-वन् । व्यापकं व्रात्यं परमात्मानम् (वेद) जानाति । अन्यत् पूर्ववत्—म० १, २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निश्चय करके मानते हैं कि जो मनुष्य परमात्मा में विश्वास करता है, वह पुरुषार्थी जन पूर्वादि दिशाओं और वसन्त आदि ऋतुओं में सुरक्षित रहता है ॥ १—३ ॥

तस्मै॒ दक्षि॑णाया दि॒शः ॥४॥ तस्मै॑ । दक्षि॑णायाः । दि॒शः ॥४॥

ग्रैष्मौ॒ मासौ॑ गोप्ता॒रावकु॑र्वन् य॒ज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वा॑मदे॒व्यं चा॑नु॒ष्ठा॒तारौ॑ ॥ ५ ॥

ग्रैष्मौ॑ । मासौ॑ । गो॒प्तारौ॑ । अकु॑र्वन् । य॒ज्ञाय॒ज्ञियं॑म् । च॒ । वा॒म॒-दे॒व्यम् । च॒ । ० ॥ ५ ॥

ग्रैष्मावे॑नं॒ मासौ॑ दक्षि॑णाया दि॒शो गो॑पायतो य॒ज्ञाय॒ज्ञियं॑ च वा॑मदे॒व्यं चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ६ ॥

ग्रैष्मौ॑ । ए॒न॒म् । मासौ॑ । दक्षि॑णायाः । दि॒शः । गो॒पा॒य॒तः । य॒ज्ञाय॒ज्ञियं॑म् । च॒ । वा॒म॒-दे॒व्यम् । च॒ । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से ॥ ४ ॥ (ग्रैष्मौ) घाम वाले [ज्येष्ठ-आषाढ़] (मासौ) दो महीनों को (गोप्तारौ) दो रक्षक (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया, (यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों के हितकारी [वेद ज्ञान] को (च च) और (वामदेव्यम्) वामदेव [श्रेष्ठ परमात्मा] से जताये गये [भूतपञ्चक] को (अनुष्ठातारौ) दो अनुष्ठाता [साथ रहने वाले वा कार्य साधक] [बनाया] ॥ ५ ॥ (ग्रैष्मौ) घाम वाले (मासौ) दो महीने (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा से (एनम्) उस [विद्वान्] की (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (च) और [दोनों]

४—स्पष्टम् ॥

५, ६—(ग्रैष्मौ) ग्रीष्म—अण् । निदाघसम्बन्धिनौ ज्येष्ठाषाढौ मासौ) (यज्ञायज्ञियम्) व्याख्यातम्—सू० ३ म० ५ (वामदेव्यम्) गतम्—

(यज्ञायज्ञियम्) सब यज्ञों का हितकारी [वेद ज्ञान], (च) और (वामदेव्यम्) वामदेव [श्रेष्ठ परमात्मा] करके जताया गया [भूतपञ्चक] [उस के लिये] (अनुतिष्ठतः) विहित कर्म करते हैं, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ४-६ ॥

तस्मै॑ प्रतीच्या॑ दिशः ॥७॥ तस्मै॑ । प्रतीच्याः॑ । दिशः ॥ ७ ॥

वार्षिकौ॒ मासौ॑ गोप्तारा॒वकु॑र्वन् वैरूपं च॑ वैराजं चा॑नु-ष्ठातारौ॑ ॥ ८ ॥

वार्षिकौ । मासौ॑ । गोप्तारौ॑ । अकु॑र्वन् । वैरूपम् । च । वैराजम् । च ।० ॥ ८ ॥

वार्षिकावेनं॒ मासौ॑ प्रतीच्या दिशो गोपायतो वैरूपं च॑ वैराजं चानु॑ तिष्ठतो य एवं वेद॑ ॥ ९ ॥

वार्षिकौ । एनम् । मासौ॑ । प्रतीच्याः । दिशः । गोपायतः । वैरूपम् । च । वैराजम् । च । ० ॥ ९ ॥

भावार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिमी दिशा से ॥ ७ ॥ (वार्षिकौ) वर्षा वाले [श्रावण—भाद्र] (मासौ) दो महीनों को (गोप्तारौ) दो रक्षक (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया, (च) और (वैरूपम्) वैरूप [विविध पदार्थों के जताने वाले वेद ज्ञान को (च) और (वैराजम्) वैराज [विराट् रूप अर्थात् बड़े ऐश्वर्यवान् वा प्रकाशमान परमात्मा के स्वरूप के प्राप्त कराने वाले मोक्ष ज्ञान] को (अनुष्ठातारौ) दो अनुष्ठाता [साथ रहने वाले वा विहित कर्म साधक] [बनाया] ॥ ८ ॥ (वार्षिकौ) वर्षा

सू० ३ म० ५ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(तस्मै) विदुषे (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः (दिशः) ॥

८, ९—(वार्षिकौ) वर्षा—ठञ् । वर्षासम्बन्धिनौ श्रावणभाद्रौ (वैरूपम्)

वाले (मासौ) दोनों महीने (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिमी दिशा से (एनम्) उस [विद्वान्] की (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (च) और [दोनों] (वैरूपम्) वैरूप [विविध पदार्थों का जताने वाला वेद ज्ञान] (च) और (वैराजम्) वैराज [विराट् रूप अर्थात् बड़े ऐश्वर्यवान् वा प्रकाशमान परमात्मा का स्वरूप प्राप्त कराने वाला मोक्ष ज्ञान] [उसके लिये] (अनु तिष्ठतः) विहित कर्म करते हैं, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [आत्मपरमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १–३ के समान है ॥ ७–९ ॥

तस्मा उदीच्या दिशः ॥१०॥ तस्मै । उदीच्याः । दिशः ॥१०॥

शारदौ मासौ गोप्तारावकुर्वञ्छ्यैतं च नौधसं चानुष्ठातारौ ॥११॥

शारदौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । श्यैतम् । च । नौधसम् । च । ० ॥ ११ ॥

शारदावेनं मासावुदीच्या दिशो गोपायतः श्यैतं च नौधसं चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १२ ॥

शारदौ । एनम् । मासौ । उदीच्याः । दिशः । गोपायतः । श्यैतम् । च । नौधसम् । च । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर वाली दिशा से ॥ १० ॥ (शारदौ) शरद् ऋतु वाले [आश्विन—कार्तिक] (मासौ) दो महीनों को (गोप्तारौ) दो रक्षक (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया, (च) और (श्यैतम्) श्यैत [सद्गति बताने वाले वेदज्ञान] को (च)

सू० २ । १६ । पदार्थानां रूपं निरूपणं यस्मात् तद् वेदज्ञानम् (वैराजम्) सू० २ । १६ । विराड्रूपस्य ऐश्वर्यवतः प्रकाशमानस्य वा परमात्मस्वरूपस्य प्रतिपादकं मोक्षज्ञानम् । अन्यद् पूर्ववत् ॥

१०—(उदीच्याः) उत्तरायाः । अन्यद् गतम् ॥

११, १२—(शारदौ) शरत् सम्बन्धिनावाश्विनकार्त्तिकौ (श्यैतम्)

और (नौधसम्) नौधस [ऋषियों के हितकारी मोक्ष ज्ञान] को (अनुष्ठातारौ) दो अनुष्ठाता [साथ रहने वाले वा कार्यसाधक] [बनाया] ॥ ११ ॥ (शार्दौ) शरद् ऋतु वाले (मासौ) दो महीने (उदीच्याः दिशः) उत्तर वाली दिशा से (एनम्) उस [विद्वान्] की (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (च) और [दोनों] (श्यैतम्) श्यैत् [सद्गति बताने वाला, वेद ज्ञान] (च) और (नौधसम्) नौधस [ऋषियों का हितकारी मोक्ष ज्ञान] [उसके लिये] (अनुतिष्ठतः) विहित कर्म करते हैं, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [-व्रात्य परमात्मा) को (वेद) जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ १०—१२ ॥

तस्मै॑ ध्रुवाया॑ दि॒शः ॥ १३ ॥ तस्मै॑ । ध्रु॒वायाः॑ । दि॒शः ॥ १३ ॥

है॒म॒नौ मासौ॑ गो॒प्तारा॒वकु॑र्व॒न् भूमिं॑ चा॒ग्निं चा॑नु॒ष्ठा॒तारौ॑ ॥ १४

है॒म॒नौ । मासौ॑ । गो॒प्तारौ॑ । अकु॑र्व॒न् । भूमि॑म् । च॒ । अ॒ग्निम् । च॒ । ० ॥ १४ ॥

है॒म॒नौ॑ एनं॒ मासौ॑ ध्रुवाया॑ दि॒शो गो॑पायतो॒ भूमि॑श्चा॒ग्नि॑श्चानु॑ तिष्ठतो॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १५ ॥

है॒म॒नौ । ए॒न॒म् । मासौ॑ । ध्रु॒वायाः॑ । दि॒शः । गो॒पा॒य॒तः॒ । भूमिः॑ । च॒ । अ॒ग्निः । च॒ । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (ध्रुवायाः दिशः) नीची दिशा से ॥ १३ ॥ (हैमनौ) शीत वाले [अग्रहायण—पौष] (मासौ) दो

सू० २ । २२ । श्येत—अण् । श्येतस्य सद्गतेः प्रतिपादकं वेदज्ञानम् (नौधसम्) सू० २ । २२ । नोधस्—अण् । नोधसाम् ऋषीणां हितकरं मोक्षज्ञानम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(तस्मै) (ध्रुवायाः) अधोभवायाः (दिशः) ॥

१४, १५—(हैमनौ) सर्वत्राण् च तलोपश्च । पा० ४ । ३ । २२ । हेमन्त-

महीनों को (गोप्तारौ) दो रक्षक (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया, (भूमिम्) भूमि (च च) और (अग्निम्) अग्नि [भौतिक अग्नि] को (अनुष्ठातारौ) दो अनुष्ठाता [साथ रहने वाले वा कार्य साधक] [बनाया] ॥१४॥ (हैमनौ) शीतवाले (मासौ) दो महीने (ध्रुवायाः दिशः) नीची दिशा से (एनम्) उस [विद्वान्] की (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (च) और [दोनों] (भूमिः) भूमि (च) और (अग्निः) अग्नि [उसके लिये] (अनु तिष्ठतः) विहित कर्म करते हैं, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [व्रात्य परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ १३— १५ ॥

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशः ॥१६॥ तस्मै । ऊर्ध्वायाः । दिशः ॥१६॥

शैशिरौ मासौ गोप्तारावकुर्वन् दिवं चादित्यं चानुष्ठातारौ ॥१७॥
शैशिरौ । मासौ । गोप्तारौ । अकुर्वन् । दिवम् । च । आदित्यम् । च । अनु-स्थातारौ ॥ १७ ॥

शैशिरावेनं मासावूर्ध्वाया दिशो गोपायतो द्यौश्चादित्यश्चानु तिष्ठतो य एवं वेद ॥ १८ ॥

शैशिरौ । एनम् । मासौ । ऊर्ध्वायाः । दिशः । गोपायतः । द्यौः । च । आदित्यः । च । अनु । तिष्ठतः । यः । ० ॥१८॥

भावार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊंची दिशा से ॥ १६ ॥ (शैशिरौ) शिशिर वाले [पतझड़ वाले, माघ—फाल्गुन] (मासौ) दो महीनों को (गोप्तारौ) दो रक्षक (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया, (दिवम्) आकाश (च च) और (आदित्यम्) सूर्य को (अनुष्ठातारौ) दो अनुष्ठाता [साथ रहने वाले वा कार्य साधक] [बनाया] ॥१७॥ (शैशिरौ)

अण्, तलोपः । शीतसम्बन्धिनौ । आग्रहायणपौषौ (भूमिम्) पृथिवीम् (अग्निम्) भौतिकाग्निम् । अन्यद् गतम् ॥

१६-(तस्मै) (ऊर्ध्वायाः) उन्नतायाः ॥

१७, १८—(शिशिरौ) शिशिर अण् । शिशिरसम्बन्धिनौ माघ फाल्गुनौ

शिशिर वाले (मासौ) दोनों महीने (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊंची दिशा से (एनम्) उस [विद्वान्] की (गोपायतः) रक्षा करते हैं, (च) और [दोनों] (द्यौः) आकाश (च) और (आदित्यः) सूर्य [उसके लिये] (अनु तिष्ठतः) विहित कर्म करते हैं, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १-३ के समान है ॥ १६—१८ ॥

सूक्तम् ५ ॥

१—१६ ॥ परमात्मा देवता ॥ १, १०, १४ आर्षी गायत्री; २, १५, आर्ची त्रिष्टुप्; ३, १६ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ४, ६, ८,-१२ स्वराट् प्राजापत्या पङ्क्तिः; ५, ७, ६, १३ ब्राह्मी गायत्री; ११ निचृद् ब्राह्मी गायत्री ॥

परमात्मान्तर्यामित्वोपदेशः-परमात्मा के अन्तर्यामी होने का उपदेश ॥-

तस्मै प्राच्या दिशो अन्तर्देशाद् भवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १ ॥

तस्मै । प्राच्याः । दिशः । अन्तः-देशात् । भवम् । इषु-आसम् । अनु-स्थातारम् । अकुर्वन् ॥ १ ॥

भव एनमिष्वासः प्राच्या दिशो अन्तर्देशादनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ २ ॥

भवः । एनम् । इषु-आसः । प्राच्याः । दिशः । अन्तः-देशात् । अनु-स्थाता । अनु । तिष्ठति । न । एनम् । शर्वः । न । भवः । न । ईशानः ॥ २ ॥

नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ ३ ॥

न । अस्य । पशून् । न । समानान् । हिनस्ति । यः ।० ॥३॥

(दिवम्) आकाशम् (आदित्यम्) आदीप्यमानं सूर्यम् । अन्यद् गतम् ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्यदेश से (भवम्) सर्वत्र वर्तमान परमेश्वर को (इष्वासम्) हिंसा नाशक, (अनुष्ठातारम्) अनुष्ठाता [साथ रहने वाला] (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया ॥ १ ॥ (भवः) सर्वत्र वर्तमान, (इष्वासः) हिंसा निवारक, (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला परमात्मा (प्राच्याः दिशः) पूर्व दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (एनम् अनु) उस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है, और (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न (शर्वः) दुःख नाशक, (न) न (भवः) सर्वत्र वर्तमान और (न) न (ईशानः) सर्वस्वामी परमेश्वर ॥ २ ॥ (हिनस्ति) कष्ट देता है, (न) न (अस्य) उस [विद्वान्] के (पशून्) प्राणियों को और (न) न (समानान्) [उसके] तुल्य गुण वालों को [कष्ट देता है], (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [मान्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वानों का मत है कि जो मनुष्य परमात्मा को सर्वव्यापक सर्वान्तर्यामी जानकर सदा सर्वत्र पुरुषार्थ करके उसका आज्ञाकारी रहता है, वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर सब विघ्न हटाकर उस पर उसके अनुगामियों पर अनुग्रह करता है ॥ १-३ ॥

१—(तस्मै) विदुषे (प्राच्याः) पूर्वायाः (दिशः) (अन्तर्देशात्) मध्यदेशात् (भवम्) सर्वत्र वर्तमानं परमेश्वरम् (इष्वासम्) ईषेः किच्च । उ० १ । १३ । ईष हिंसायाम्-उप्रत्ययः, कित् ह्रस्वश्च, इषु + असु क्षेपे-अण् । हिंसायाः क्षेपकं नाशकम् (अनुष्ठातारम्) सहवर्तमानम् (अकुर्वन्) ते विद्वांसः कृतवन्तः ॥

२—(भवः) सर्वत्र वर्तमानः (एनम्) विद्वांसम् (इष्वासः) हिंसानाशकः (प्राच्याः) (दिशः) (अन्तर्देशात्) (अनुष्ठाता) सहवर्तमानः (अनु) अनुलक्ष्य (तिष्ठति) वर्तते (न) निषेधे (शर्वः) दुःखनाशकः परमेश्वरः (न) (भवः) (न) (ईशानः) सर्वेश्वरः ॥

३—(न) निषेधे (अस्य) विदुषः (पशून्) प्राणिनः (न) (समानान्) तुल्यगुणान् पुरुषान् (हिनस्ति) दुःखयति (यः) विद्वान् (एवम्) ईदृशं व्यापकं वा मान्यं परमात्मानम् (वेद) जानाति ॥

तस्मै॑ दक्षि॑णाया दि॒शो अ॒न्तर्दे॒शाच्छ॒र्वमि॑ष्वा॒सम॑नुष्ठा॒तार॑मकुर्वन् ॥ ४ ॥

तस्मै॑ । दक्षि॑णायाः । दि॒शः । अ॒न्तः-दे॒शात् । श॒र्वम् । इ॒षु-आ॒सम् । ० ॥ ४ ॥

श॒र्व ए॑नमिष्वा॒सो दक्षि॑णाया दि॒शो अ॒न्तर्दे॒शाद॑नुष्ठा॒तानु॑ तिष्ठति॒ नैनं० ॥ ५ ॥

श॒र्वः । ए॒नम् । इ॒षु-आ॒सः । दक्षि॑णायाः । दि॒शः ० । ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (शर्वम्) दुःखनाशक परमात्मा को (इष्वासम्) हिंसा निवारक, (अनुष्ठातारम्) साथ रहने वाला (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया ॥४॥ (शर्वः) दुःखनाशक, (इष्वासः) हिंसा निवारक, (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला जगदीश्वर (दक्षिणायाः दिशः) दक्षिण दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (एनम् अनु) इस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है, (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न...... [म० २, ३] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ४,५ ॥

तस्मै॑ प्र॒तीच्या॑ दि॒शो अ॒न्तर्दे॒शात् प॑शु॒पति॑मिष्वा॒सम॑नुष्ठा॒तार॑मकुर्वन् ॥ ६ ॥

तस्मै॑ । प्र॒तीच्याः॑ । दि॒शः । अ॒न्तः-दे॒शात् । प॒शु-पति॑म् । इ॒षु-आ॒सम् । ० ॥ ६ ॥

प॒शु॒पति॑रेनमिष्वा॒सः प्र॒तीच्या॑ दि॒शो अ॒न्तर्दे॒शाद॑नु० ॥ ७ ॥

प॒शु-पतिः॑ । ए॒नम् । इ॒षु-आ॒सः । प्र॒तीच्याः॑ । दि॒शः । ०॥७॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम

४,५—स्पष्टं पूर्ववच्च ॥

६,७—(प्रतीच्याः) पश्चिमायाः (पशुपतिम्) प्राणिनां रक्षकम् (पशु-

दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (पशुपतिम्) प्राणियों के रक्षक परमात्मा को (इष्वासम्) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठातारम्) साथ रहने वाला (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया ॥ ६ ॥ (पशुपतिः) प्राणियों का रक्षक, (इष्वासः) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला परमात्मा (प्रतीच्याः दिशः) पश्चिम दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (एनम् अनु) उस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है और (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न......[म० २, ३] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १–३ के समान है ॥ ६, ७ ॥

तस्मा उदीच्या दिशो अन्तर्देशादुग्रं देवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ ८ ॥

तस्मै । उदीच्याः । दिशः । अन्तः-देशात् । उग्रम् । देवम् । इषु-आसम् । ० ॥ ८ ॥

उग्र एनं देव इष्वास उदीच्या दिशो अन्तर्देशादनु० ॥९॥

उग्रः । एनम् । देवः । इषु-आसः । उदीच्याः । दिशः ।०॥९॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्यदेश से (उग्रम्) प्रचण्ड स्वभाव वाले (देवम्) प्रकाशमय परमात्मा को (इष्वासम्) हिंसा हटाने वाला, (अनुष्ठातारम्) साथ रहने वाला (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया ॥ ८ ॥ (उग्रः) प्रचण्ड स्वभाव वाला, (देवः) प्रकाशमय, (इष्वासः) हिंसा हटाने वाला, (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला परमात्मा (उदीच्याः दिशः) उत्तर दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (एनम् अनु) उस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है, (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न...... [मन्त्र २, ३] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १–३ के समान है ॥ ८, ९ ॥

पतिः) प्राणिनां रक्षकः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८, ९—(उदीच्याः) उत्तरायाः (उग्रम्) प्रचण्डस्वभावम् (देवम्) प्रकाशमयम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

तस्मै ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशाद् रुद्रमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १० ॥

तस्मै । ध्रुवायाः । दिशः । अन्तः-देशात् । रुद्रम् । इषु-आसम् । ० ॥ १० ॥

रुद्र एनमिष्वासो ध्रुवाया दिशो अन्तर्देशादनु ० ॥ ११ ॥

रुद्रः । एनम् । इषु-आसः । ध्रुवायाः । दिशः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (ध्रुवायाः दिशः) नीची दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (रुद्रम्) शत्रुनाशक परमेश्वर को (इष्वासम्) हिंसा हटाने वाला, (अनुष्ठातारम्) साथ रहने वाला (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया ॥ १० ॥ (रुद्रः) शत्रुनाशक, (इष्वासः) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला परमात्मा (ध्रुवायाः दिशः) नीची दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (एनम् अनु) उस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है, और (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न...... [म० २,]३ ॥ ११ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ १०, ११ ॥

तस्मा ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशान्महादेवमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् ॥ १२ ॥

तस्मै । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अन्तः-देशात् । महा-देवम् । इषु-आसम् । ० ॥ १२ ॥

महादेव एनमिष्वास ऊर्ध्वाया दिशो अन्तर्देशादनु ० ।१३

महा-देवः । एनम् । इषु-आसः । ऊर्ध्वायाः । दिशः । अन्तः-देशात् । अनु-स्थाता । ० ॥ १३ ॥

१०, ११—(ध्रुवायाः) अधोवर्तमानायाः (रुद्रम्) रुङ् गतिहिंसयोः—क्विप् तुक् च + रुङ् हिंसायाम्—ड । शत्रुनाशकम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊंची दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (महादेवम्) महादेव [बड़े प्रकाशमय] परमेश्वर को (इष्वासम्) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठातारम्) साथ रहने वाला (अकुर्वन्) उन [विद्वानों] ने बनाया ॥ १२ ॥ (महादेवः) महादेव [बड़ा प्रकाशमय] (इष्वासः) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला परमात्मा (ऊर्ध्वायाः दिशः) ऊंची दिशा के (अन्तर्देशात्) मध्य देश से (एनम् अनु) उस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है, और (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न ...... [म० २, ३] ॥ १३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ १२, १३ ॥

तस्मै सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्य ईशानमिष्वासमनुष्ठातारमकुर्वन् १४

तस्मै । सर्वेभ्यः । अन्तः-देशेभ्यः । ईशानम् । इषु-आसम् । अनु-स्थातारम् । अकुर्वन् ॥ १४ ॥

ईशान एनमिष्वासः सर्वेभ्यो अन्तर्देशेभ्योऽनुष्ठातानु तिष्ठति नैनं शर्वो न भवो नेशानः ॥ १५ ॥

ईशानः । एनम् । इषु-आसः । सर्वेभ्यः । अन्तः-देशेभ्यः । अनु-स्थाता । अनु । तिष्ठति । न । एनम् । शर्वः । न । भवः । न । ईशानः ॥ १५ ॥

नास्य पशून् न समानान् हिनस्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

न । अस्य । पशून् । न । समानान् । हिनस्ति । यः । ०॥१६॥

भाषार्थ—(तस्मै) उस [विद्वान्] के लिये (सर्वेभ्यः) सब (अन्तर्देशेभ्यः) मध्यदेशों से (ईशानम्) सब के स्वामी परमात्मा को (इष्वासम्) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठातारम्) साथ रहने वाला (अकुर्वन्) उन

१२, १३—(ऊर्ध्वायाः) उपरिवर्तमानायाः (महादेवम्) महाप्रकाशमयम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

१४, १५, १६—(अन्तर्देशेभ्यः) मध्यदेशेभ्यः (ईशानम्) सर्वस्वामिनम् ।

[विद्वानों] ने बनाया ॥ १४ ॥ (ईशानः) सब का स्वामी, (इष्वासः) हिंसा हटाने वाला (अनुष्ठाता) साथ रहने वाला परमात्मा (सर्वेभ्यः अन्तर्देशेभ्यः) सब मध्य देशों से (एनम् अनु) उस [विद्वान्] के साथ (तिष्ठति) रहता है, और (एनम्) उस [विद्वान्] को (न) न (शर्वः) दुःखनाशक, (न) न (भवः) सर्वत्र वर्तमान (न) न (ईशानः) सर्वस्वामी परमेश्वर ॥ १५ ॥ (हिनस्ति) कष्ट देता है, (न) न (अस्य) उस [विद्वान्] के (पशून्) प्राणियों को और (न) न [उसके] (समानान्) तुल्य गुण वालों को [कष्ट देता है], (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ १४, १५, १६ ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—२६ ॥ व्रात्यो देवता, १, ४ आसुरी पङ्क्तिः; २, १७ आर्ची पङ्क्तिः; ३ आर्षी पङ्क्तिः; ५, ११ साम्नी त्रिष्टुप्; ६, १२ निचृदार्ची बृहती; ७,१०, १३, १६, २४ आसुरी बृहती; ८ साम्नी पङ्क्तिः; ९ प्राजापत्या त्रिष्टुप्; १४, २३ आर्ची त्रिष्टुप्; १५, १८ विराडार्षी जगती; १९ आर्च्युष्णिक्; २० साम्न्यनुष्टुप्; २१ आर्ची बृहती; २२ आर्ष्युष्णिक्; २५ आर्च्यनुष्टुप्, २६ विराडार्षी बृहती ॥

ईश्वरस्य सर्वस्वामित्वोपदेशः—ईश्वर के सर्वस्वामी होने का उपदेश ॥

स ध्रुवां दिशमनु व्यचलत् ॥ १ ॥ सः । ध्रुवाम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् ॥ १ ॥

तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन् ॥ २ ॥

तम् । भूमिः । च । अग्निः । च । ओषधयः । च । वनस्पतयः । च । वानस्पत्याः । च । वीरुधः । च । अनु-व्यचलन् ॥ २ ॥

भूमेश्च वै स ओ अग्नेश्चौषधीनां च वनस्पतीनां च वानस्पत्यानां च वीरुधां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

अन्यत् पूर्ववत्—म० १—३, स्पष्टं च ॥

भूमेः । च । वै । सः । अग्नेः । च । ओषधीनाम् । च । वनस्पतीनाम् । च । वानस्पत्यानाम् । च । वीरुधाम् । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (ध्रुवाम्) नीची (दिशम् अनु) दिशा को ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १ ॥ (भूमिः) भूमि (च च) और (अग्निः) अग्नि [भौतिक अग्नि] (च) और (ओषधयः) ओषधें [जौ, गेहूं, चावल आदि अन्न] (च) और (वनस्पतयः) वनस्पतियां [पीपल आदि वृक्ष] (च) और (वानस्पत्याः) वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थ [काष्ठ फूल, फल, मूल, रस आदि] (च) और (वीरुधः) लतायें [सोमलता आदि] (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ २ ॥ (सः) वह [विद्वान्] (वै) निश्चय करके (भूमेः) भूमि का (च च) और (अग्नेः) अग्नि का (च) और (ओषधीनाम्) ओषधियों का (च) और (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों का (च) और (वानस्पत्यानाम्) वनस्पतियों से उत्पन्न पदार्थों का (च) और (वीरुधाम्) लताओं का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब विद्वान् पुरुष परमात्मा को नीची आदि दिशाओं में सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता जानकर उसके उत्पन्न किये पृथिवी आदि पदार्थों का तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है, तब वह उनसे यथावत् उपकार लेकर सुख पाता है ॥ १—३ ॥

१—(सः) व्रात्यः (ध्रुवाम्) अधोवर्तमानाम् (दिशम्) (अनु) अनुलक्ष्य (व्यचलत्) विचरितवान् ॥

२—(तम्) व्रात्यम् (भूमिः) (च) (अग्निः) भौतिकाग्निः (ओषधयः) यवव्रीह्याद्यन्नानि (च) (वनस्पतयः) पिप्पलादयो वृक्षाः (वानस्पत्याः) वनस्पति—ण्य । वनस्पतिभ्य उत्पन्नाः काष्ठपुष्पफलमूलरसादयः (च) (वीरुधः) सोमलतादयः (च) (अनुव्यचलन्) अनुसृत्य व्यचरन् ॥

३—(धाम) गृहम् (एवम्) सू० २ म० ३ । इण् गतौ—वन् । ईदृशं व्यापकं वा व्रात्यम् । अन्यद् गतं सुगमं च ॥

स ऊर्ध्वां दिशमनु व्यचलत् ॥४॥ सः ऊर्ध्वाम् । दिशम् ०॥४॥

तमृतं च सत्यं च सूर्यश्च चन्द्रश्च नक्षत्राणि चानुव्यचलन् ॥५

तम् । ऋतम् । च । सत्यम् । च । सूर्यः । च । चन्द्रः । च । नक्षत्राणि । च । ० ॥ ५ ॥

ऋतस्य च वै स सत्यस्य च सूर्यस्य च चन्द्रस्य च नक्षत्राणां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ६ ॥

ऋतस्य । च । वै । सः । सत्यस्य । च । सूर्यस्य । च । चन्द्रस्य । च । नक्षत्राणाम् । च । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (ऊर्ध्वाम्) ऊंची (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ ४ ॥ (ऋतम्) यथार्थ विज्ञान (च च) और (सत्यम्) [विद्यमान जगत् का हितकारी] अविनाशी कारण (च) और (सूर्यः) सूर्य (च) और (चन्द्रः) चन्द्रमा (च) और (नक्षत्राणि) चलने वाले तारे (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ ५ ॥ (सः) वह [विद्वान् पुरुष] (वै) निश्चय करके (ऋतस्य) सत्य विज्ञान का (च च) और (सत्यस्य) [विद्यमान् जगत् के हितकारी] अविनाशी कारण का (च) और (सूर्यस्य) सूर्य का (च) और (चन्द्रस्य) चन्द्रमा का (च) और (नक्षत्राणाम्) चलने वाले तारागणों का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा के सामर्थ्य से ही अविनाशी विज्ञान और जगत् का नित्य कारण और कार्यरूप सूर्य आदि पदार्थ उत्पन्न होते हैं, ऐसा दृढ़ ज्ञानी पुरुष ईश्वरीय सत्यज्ञान को, कारणरूप और कार्यरूप जगत् को यथावत् जानकर आनन्द पाता है॥ ४, ५, ६ ॥

४—(सः) व्रात्यः (ऊर्ध्वाम्) उपरिवर्तमानाम् ॥

५, ६, (तम्) व्रात्यम् (ऋतम्) यथार्थविज्ञानम् (च) (सत्यम्) सत्—यत् । सते विद्यमानाय जगते हितम् । अविनाशि कारणम् (नक्षत्राणि) णक्ष गतौ—अत्रन् । गतिमन्तस्तारागणाः । अन्यद् गतं स्पष्टं च ॥

स उ॑त्त॒मां दिश॒मनु॒ व्य॑चलत् ॥७॥ सः । उ॒त्-त॒माम् । दिश॑म् ।०७

तमृ॒चश्च॒ सामा॑नि च॒ यजूं॑षि च॒ ब्रह्म॑ चा॒नु॒व्य॑चलन् ॥ ८ ॥

तम् । ऋचः॑ । च॒ । सामा॑नि । च॒ । यजूं॑षि । च॒ । ब्रह्म॑ । च॒।०८

ऋ॒चां च॒ वै स साम्नां॑ च॒ यजु॑षां च॒ ब्रह्म॑णश्च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ९ ॥

ऋ॒चाम् । च॒ । वै । सः । साम्ना॑म् । च॒ । यजु॑षाम् । च॒ । ब्रह्म॑णः । च॒ । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (उत्तमाम्) अत्यन्त ऊंची (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ ७ ॥ (ऋचः) ऋग्वेद की ऋचायें [अर्थात् पदार्थों के गुण बताने वाले मन्त्र] (च च) और (सामानि) सामवेद के मन्त्र [अर्थात् मोक्ष प्रतिपादक मन्त्र] (च) और (यजूंषि) यजुर्वेद के मन्त्र [अर्थात् सत्कर्म प्रकाशक ज्ञान] (च) और (ब्रह्म) अथर्ववेद [अर्थात् ब्रह्मज्ञान] (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे चले ॥ ८ ॥ (सः) वह [विद्वान्] (वै) निश्चय करके (ऋचाम्) ऋग्वेद की ऋचाओं का (च च) और (साम्नाम्) सामवेद के मन्त्रों का (च) और (यजुषाम्) यजुर्वेद के मन्त्रों का (च) और (ब्रह्मणः) अथर्ववेद का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदों में प्रतिपादित ईश्वरीय ज्ञान को ऊंचे से ऊंचे स्थान में साक्षात् करके उन्नति करता हुआ मोक्षानन्द भोगता है ॥ ७, ८, ९ ॥

७—(सः) व्रात्यः (उत्तमाम्) अतिशयेनोन्नताम् । अन्यद् गतम् ॥

८, ९—(तम्) व्रात्यम् (ऋचः) पदार्थानां गुणप्रकाशका मन्त्राः (सामानि) मोक्षप्रतिपादकमन्त्राः (यजूंषि) सत्कर्मप्रकाशकज्ञानानि (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानप्रतिपादकोऽथर्ववेदः । अन्यद् गतं सुगमं च ॥

स बृ॒ह॒तीं दिश॒मनु॒ व्य॑चलत् ॥१०॥ सः । बृ॒ह॒तीम् । दिश॑म् । ०॥१०॥

तमि॑तिहा॒सश्च॑ पुरा॒णं च॒ गाथा॑श्च नाराशं॒सीश्चानु॒व्य॑चलन् ॥११

तम् । इ॒ति॒ह॒-आ॒सः । च॒ । पु॒रा॒णम् । च॒ । गाथाः॑ । च॒ । ना॒रा॒शं॒सीः । च॒ । ० ॥ ११ ॥

इ॒ति॒हा॒सस्य॑ च॒ वै स पु॑रा॒णस्य॑ च॒ गाथा॑नां च नाराशं॒सीनां॑ च प्रि॒यं धाम॑ भवति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ १२ ॥

इ॒ति॒ह॒-आ॒सस्य॑ । च॒ । वै । सः । पु॒रा॒णस्य॑ । च॒ । गाथा॑नाम् । च॒ । ना॒रा॒शं॒सीना॑म् । च॒ । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ – (सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (बृहतीम्) बड़ी (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १० ॥ (इतिहासः) इतिहास [बड़े लोगों का वृत्तान्त] (च च) और (पुराणम्) पुराण [पुराने लोगों का वृत्तान्त] (च) और (गाथाः) गाथायें [गाने योग्य वेदमन्त्र, शिक्षाप्रद श्लोक आदि] (च) और (नाराशंसीः) नाराशंसी [वीर नरों की गुणकथायें] (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे चलीं ॥११॥ (सः) वह [विद्वान्] पुरुष (वै) निश्चय करके (इतिहासस्य) इतिहास का (च च) और (पुराणस्य) पुराण का (च) और (गाथानाम्) गाथाओं का (च) और (नाराशंसीनाम्) नाराशंसियों का (प्रियम्) प्रिय (धाम)

१०—(सः) व्रात्यः परमात्मा (बृहतीम्) प्रवृद्धाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११, १२—(तम्) व्रात्यम् (इतिहासः) इतिह पारम्पर्य्योपदेश आस्तेऽस्मिन् । इतिह+आस उपवेशने विद्यमानतायां च—घञ् । महापुरुषाणां वृत्तान्तः (च) (पुराणम्) प्राचीनपुरुषाणां वृत्तान्तः (च) (गाथाः) उपिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । गै गाने-थन् । गानयोग्या वेदमन्त्राः । शिक्षाप्रदाः श्लोकादयः (नाराशंसीः) अ० १४ । १ । ७ । नर+शंसु स्तुतौ-अण् । दीर्घश्च, ततः स्वार्थे-अण्, ङीप् । येन नराः प्रशस्यन्ते स नाराशंसो मन्त्रः—निरु० ६ ।

धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव के साथ उत्तम मनुष्यों के गुण कर्म स्वभाव का उपदेश करता है, वह इतिहास पुराण आदि द्वारा कीर्ति पाता है ॥ १०, ११, १२ ॥

मन्त्र १०—१२ महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका वेदसंज्ञा-विचार पृष्ठ ८२ में उद्धृत हैं ॥

स परमां दिशमनु व्यचलत् ॥१३॥ सः । परमाम् । दिशम् ।०॥१३॥

तमाहवनीयश्च गार्हपत्यश्च दक्षिणाग्निश्च यज्ञश्च यजमानश्च पशवश्चानुव्यचलन् ॥ १४ ॥

तम् । आ-हवनीयः । च । गार्ह-पत्यः । च । दक्षिण-अग्निः । च । यज्ञः । च । यजमानः । च । पशवः । च । ० ॥ १४ ॥

आहवनीयस्य च वै स गार्हपत्यस्य च दक्षिणाग्नेश्च यज्ञस्य च यजमानस्य च पशूनां च प्रियं धाम भवति य एवं वेद१५

आ-हवनीयस्य । च । वै । सः । गार्ह-पत्यस्य । च । दक्षिण-अग्नेः । च । यज्ञस्य । च । यजमानस्य । च । पशूनाम् । च । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (परमाम्) सब से दूर (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १३ ॥ (आहवनीयः)

---

६ । वीरनराणां कीर्तनानि (अनुव्यचलन्) अनुसृत्य व्यचरन् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

१३—(सः) व्रात्यः परमात्मा (परमाम्) अतिदूराम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४, १५—(तम्) व्रात्यम् (आहवनीयः) आङ्+हु दानादानादनेषु—

आहवनीय [यज्ञ की अग्नि विशेष] (च च) और (गार्हपत्यः) गार्हपत्य [गृहपति की सिद्ध की हुयी यज्ञाग्नि विशेष] (च) और (दक्षिणाग्निः) दक्षिण अग्नि [यज्ञाग्नि विशेष] (च) और (यज्ञः) यज्ञ (च) और (यजमानः) यजमान [यज्ञकर्ता] (च) और (पशवः) सब प्राणी (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ १४ ॥ (सः) वह [विद्वान् पुरुष] (वै) निश्चय करके (आहवनीयस्य) आहवनीय [अग्नि] का (च च) और (गार्हपत्यस्य) गार्हपत्य [अग्नि] का (च) और (दक्षिणाग्नेः) दक्षिण अग्नि का (च) और (यज्ञस्य) यज्ञ का (च) और (यजमानस्य) यजमान का (च) और (पशूनाम्) सब प्राणियों का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा में ध्यान लगा कर संसार के उपकारी अग्निहोत्र आदि यज्ञ तथा विद्यादान और विद्वानों के सत्कार आदि यज्ञ करता है, वह परमात्मा का भक्त संसार में अति प्रशंसनीय होता है ॥ १३, १४, १५ ॥

सोऽनादिष्टां दिशमनु व्यचलत् ॥ १६ ॥

सः । अनादिष्टाम् । दिशम् । ० ॥ १६ ॥

तमृतवश्चार्तवाश्च लोकाश्च लौक्याश्च मासाश्चार्धमासाश्चाहोरात्रे चानुव्यचलन् ॥ १७ ॥

तम् । ऋतवः । च । आर्तवाः । च । लोकाः । च । लौक्याः । च । मासाः । च । अर्ध-मासाः । च । अहोरात्रे इति । च० १७

ऋतूनां च वै स आर्तवानां च लोकानां च लौक्यानां च मासानां चार्धमासानां चाहोरात्रयोश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ १८ ॥

अनीयर् । यज्ञाग्निविशेषः (गार्हपत्यः) गृहपतिना संयुक्तो यज्ञाग्निविशेषः (दक्षिणाग्निः) यज्ञाग्निविशेषः (यज्ञः) सद्व्यवहारः (यजमानः) यज्ञकर्ता (पशवः) सर्वे प्राणिनः । अन्यत् पूर्ववत् सुगमं च ॥

ऋतूनाम् । च । वै । सः । आर्तवानाम् । च । लोकानाम् । च । लौक्यानाम् । च । मासानाम् । च । अर्ध-मासानाम् । च । अहोरात्रयोः । च । ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (अनादिष्टाम्) बिना बताई हुयी (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १६ ॥ (लोकाः) सब लोक (च च) और (लौक्याः) लोकों में रहने वाले (च) और (ऋतवः) ऋतुयें (च) और (आर्तवाः) ऋतुओं में उत्पन्न हुये पदार्थ (च) और (मासाः) महीने (च) और (अर्धमासाः) आधे महीने (च) और (अहोरात्रे) दिन राति (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ १७ ॥ (सः) वह [विद्वान्] पुरुष (वै) निश्चय करके (लोकानाम्) सब लोकों का (च च) और (लौक्यानाम्) लोकों में रहने वालों का (च) और (ऋतूनाम्) ऋतुओं का (च) और (आर्तवानाम्) ऋतुओं में उत्पन्न हुये पदार्थों का (च) और (मासानाम्) महीनों का (च) और (अर्धमासानाम्) आधे महीनों का (च) और (अहोरात्रयोः) दोनों दिन राति का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि परमात्मा को सब लोकों, लोक वालों और ऋतुओं आदि का स्वामी जानकर सब पदार्थों का विवेकी होवे और उन से यथावत् उपकार लेकर आनन्द पावे ॥ १६, १७, १८ ॥

सोऽनावृत्तां दिशमनु व्यचलत् ततो नावर्त्स्यन्नमन्यत ॥ १९ ॥

सः । अनावृत्ताम् । दिशम् । अनु । वि । अचलत् । ततः । न । आ-वर्त्स्यन् । अमन्यत ॥ १९ ॥

१६—(सः) व्रात्यः (अनादिष्टाम्) अज्ञापिताम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१७, १८—(तम्) व्रात्यम् (ऋतवः) वसन्तादयः (आर्तवाः) ऋतुभवाः पदार्थाः (लोकाः) भुवनानि (लौक्याः) लोक—यत् । लोकभवाः पदार्थाः (मासाः) (अर्धमासाः) (अहोरात्रे) रात्रिदिने । अन्यत् पूर्ववत् सुगमं च ॥

तं दितिश्चादितिश्चेडा चेन्द्राणी चानुव्यचलन् ॥ २० ॥
तम् । दितिः । च । अदितिः । च । इडा । च । इन्द्राणी । च । अनु-व्यचलन् ॥ २० ॥

दितेश्च वै सोऽदितेश्चेडायाश्चेन्द्राण्याश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २१ ॥
दितेः । च । वै । सः । अदितेः । च । इडायाः । च । इन्द्राण्याः । च । प्रियम् । ० ॥ २१ ॥

भावार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (अनावृत्ताम्) अनावृत [बिना अभ्यास की हुयी, मनुष्य की बिना जानी] (दिशम् अनु) दिशा की ओर (वि अचलत्) विचरा, (ततः) उस [दिशा] से वह (न) नहीं (आवर्त्स्यन्) लौटेगा—(अमन्यत) उस [विद्वान्] ने माना ॥ १९ ॥ (दितिः) दिति [खण्डित विकृति अर्थात् कार्यरूप नाशवान् सृष्टि] (च च) और (अदितिः) अदिति [अखण्डित प्रकृति अर्थात् जगत् की अविनाशी परमाणु रूप सामग्री] (च) और (इडा) इड़ा [प्राप्ति योग्य वेदवाणी] (च) और (इन्द्राणी) इन्द्राणी [इन्द्र अर्थात् जीव की शक्ति] (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ २० ॥ (सः) वह [विद्वान्] पुरुष (वै) निश्चय करके (दितेः) दिति [नाशवान् सृष्टि] का (च च) और (अदितेः) [अदिति अविनाशी परमाणु रूप सामग्री] का (च) और (इडायाः) इड़ा [वेदवाणी] का (च) और (इन्द्राण्याः) इन्द्राणी [जीव की शक्ति] का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः)

१९—(सः) व्रात्यः (अनावृत्ताम्) अनभ्यस्ताम् । अज्ञाताम् (ततः) तद्दिक्प्रकाशात् (न) (निषेधे) (आवर्त्स्यन्) आवृत्तिं पुनर्गमनं कर्तुमिच्छन् भविष्यति (अमन्यत) अबुध्यत विद्वान् पुरुषः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०, २१—(तम्) व्रात्यम् (दितिः) दो अवखण्डने-क्तिच् । खण्डिता विकृतिः । कार्यरूपा नाशशीला सृष्टिः (अदितिः) दो अवखण्डने—क्तिन् । अखण्डिता प्रकृतिः । अविनाशिनी परमाणुरूपा सामग्री (इडा) वेदवाणी

जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—परमात्मा की अपार, अनादि और अनन्त शक्ति है, मनुष्य जितना जितना खोजता है, उतना उतना ही जगदीश्वर की सृष्टि और परमाणु रूप सामग्री को अनादि अनन्त ही पाता जाता है और वेद द्वारा अपनी शक्ति बढ़ाता हुआ आनन्द मनाता चला चलता है ॥ १८, २०, २१ ॥

स दिशोऽनु व्यचलुत् तं विराडनु व्यचलुत् सर्वे च देवाः सर्वाश्च देवताः ॥ २२ ॥

सः । दिशः । अनु । वि । अचलत् । तम् । वि-राट् । अनु । वि । अचलत् । सर्वे । च । देवाः । सर्वाः । च । देवताः ॥ २२

विराजश्च वै स सर्वेषां च देवानां सर्वासां च देवतानां प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २३ ॥

वि-राजः । च । वै । सः । सर्वेषाम् । च । देवानाम् । सर्वासाम् । च । देवतानाम् । प्रियम् । ० ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा (दिशः अनु) सब दिशाओं की ओर (वि अचलत्) विचरा, (विराट्) विराट् [विविध पदार्थों से प्रकाशमान ब्रह्माण्डरूप संसार] (तम् अनु) उस [व्रात्य परमात्मा] के पीछे (वि अचलत्) विचरा, (च) और (सर्वे) सब (देवाः) दिव्यपदार्थ (च) और (सर्वाः) सब (देवताः) दिव्य शक्तियां [उसके पीछे विचरीं] ॥ २२ ॥ (सः) वह [विद्वान्] पुरुष (वै) निश्चय करके (विराजः) विराट् [विविध पदार्थों से प्रकाशमान संसार] का (च च) और (सर्वेषाम्) सब (देवानाम्) उत्तम पदार्थों का (च) और (सर्वासाम्) सब (देवतानाम्)

निघ० १ । ११ (इन्द्राणी) इन्द्रस्य जीवस्य पत्नी विभूतिः शक्तिः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

२२, २३—(सः) व्रात्यः (दिशः) सर्वाः दिशाः (तम्) व्रात्यम् (विराट्) वि + राजृ दीप्तौ—क्विप् । विविधपदार्थैः प्रकाशमानो ब्रह्माण्डरूपसंसारः

उत्तम शक्तियों का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ २३ ॥

भावार्थ—यह संसार, दिव्यपदार्थ और उनकी दिव्यशक्तियां परमात्मा से सब दिशाओं में प्रसिद्ध हुई हैं, उस परमात्मा को साक्षात् करने वाला मनुष्य सब उत्तम पदार्थों और गुणों का विवेकी होकर संसार का प्रिय होता है ॥ २२, २३ ॥

ऋग्वेद १० । ९० । ५ तथा यजुर्वेद ३१ । ५ में ऐसा वर्णन है—(ततो विराडजायत विराजो अधिपूरुषः) उस [पूर्ण पुरुष परमात्मा] से विराट् [विविध पदार्थों से प्रकाशमान संसार] उत्पन्न हुआ, विराट् [संसार] के ऊपर [अधिष्ठाता] पुरुष [परिपूर्ण परमात्मा] है ॥

स सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् ॥ २४ ॥

सः । सर्वान् । अन्तः-देशान् । अनु । वि । अचलत् ॥ २४ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चानुव्यचलन् ॥ २५ ॥

तम् । प्रजा-पतिः । च । परमे-स्थी । च । पिता । च । पितामहः । च । अनु-व्यचलन् ॥ २५ ॥

प्रजापतेश्च वै स परमेष्ठिनश्च पितुश्च पितामहस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ २६ ॥

प्रजा-पतेः । च । वै । सः । परमे-स्थिनः । च । पितुः । च । पितामहस्य । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः ।०॥२६॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (सर्वान्) सब (अन्तर्देशान्

(देवाः) दिव्यपदार्थाः (देवताः) दिव्यशक्तयः । अन्यत् पूर्ववद् यथावद् योजनीयश्च ॥

२४—२६—(सः) व्रात्यः परमात्मा (अन्तर्देशान्) मध्यदेशान् (तम्)

अनु) भीतरी देशों की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ २४ ॥ (प्रजापतिः) प्रजापालक [राजा] (च च) और (परमेष्ठी) परमेष्ठी [बड़े पद वाला आचार्य वा सन्यासी] (च) और (पिता) बाप (च) और (पितामहः) दादा (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ २५ ॥ (सः) वह [विद्वान्] पुरुष (वै) निश्चय करके (प्रजापतेः) प्रजापालक [राजा] का (च च) और (परमेष्ठिनः) परमेष्ठी [बड़ी स्थिति वाले आचार्य वा सन्यासी] का (च) और (पितुः) बाप का (च) और (पितामहस्य) दादा का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥२६॥

भावार्थ—जो विद्वान् पुरुष गहरे विचार से यह देखते हैं कि संसार में सब लोग परब्रह्म परमात्मा की आज्ञा मानने से बड़े हुये हैं, वे ही ईश्वर की आज्ञा में रहकर उन्नति करते और आनन्द भोगते हैं ॥ २४—२६ ॥

सूक्तम् ७ ॥

१—५ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ निचृदार्षी गायत्री ; २ विराडार्षी बृहती ; ३ विराडार्ष्युष्णिक् ; ४ आर्षी गायत्री ; ५ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

परमात्मव्यापकत्वोपदेशः—परमात्मा की व्यापकता का उपदेश ॥

स म॑हि॒मा सद्रु॑र्भू॒त्वान्तं॑ पृथि॒व्या अ॑गच्छ॒त् स स॑मु॒द्रो॑ऽभवत् ॥ १ ॥

सः । म॒हि॒मा । सद्रुः॑ । भू॒त्वा । अन्त॑म् । पृ॒थि॒व्याः । अ॒ग॒च्छ॒त् । सः । स॒मु॒द्रः । अ॒भ॒व॒त् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (महिमा) महिमास्वरूप और (सद्रुः) वेगवान् (भूत्वा) होकर (पृथिव्याः) पृथिवी के (अन्तम्)

व्रात्यम् (प्रजापतिः) प्रजापालको राजा (परमेष्ठी) उच्चपदस्थ आचार्यः सन्न्यासी वा (पिता) जनकः (पितामहः) पितुः पिता । अन्यत् पूर्ववद् यथोचितं योजनीयं च ॥

१—(सः) व्रात्यः परमात्मा (महिमा) महत्—इमनिच् । महास्वरूपः (सद्रुः) हरिमितयोर्द्रुवः । उ० १ । ३४ । सह + द्रु गतौ—कु, डित् । वेगवान्

अन्त को (अगच्छत्) पहुंचा है, (सः) वह [परमात्मा] (समुद्रः) अन्तरिक्ष-रूप [अनादि, अनन्त] (अभवत्) हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी बड़ाई के कारण विद्वानों को पृथिवी से आगे अन्तरिक्ष के समान अनादि अनन्त जान पड़ता है ॥ १ ॥

तं प्रजापतिश्च परमेष्ठी च पिता च पितामहश्चापश्च श्रद्धा च वर्षं भूत्वानुव्यवर्तयन्त ॥ २ ॥

तम् । प्रजा-पतिः । च । परमे-स्थी । च । पिता । च । पितामहः । च । आपः । च । श्रद्धा । च । वर्षम् । भूत्वा । अनु-व्यवर्तयन्त ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतिः) प्रजापालक [राजा] (च) और (परमेष्ठी) परमेष्ठी [सब से ऊंचे पद वाला आचार्य वा सन्न्यासी] (च) और (पिता) बाप (च) और (पितामहः) दादा (च) और (आपः) सत्कर्म (च) और (श्रद्धा) श्रद्धा [धर्म में प्रतीति] (वर्षम्) श्रेष्ठपन को (भूत्वा) पाकर (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यवर्तयन्त) पीछे विविध प्रकार वर्तमान हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब शूर वीर ज्ञानी और पूजनीय महात्मा संसार में उस परमात्मा ही का आश्रय लेकर श्रेष्ठ होते हैं ॥ २ ॥

ऐनमापो गच्छन्त्यैनं श्रद्धा गच्छत्यैनं वर्षं गच्छति य एवं वेद ॥ ३ ॥

आ । एनम् । आपः । गच्छन्ति । आ । एनम् । श्रद्धा । गच्छति । आ । एनम् । वर्षम् । गच्छति । यः । ० ॥ ३ ॥

(भूत्वा) (अन्तम्) सीमाम् (पृथिव्याः) भूमेः (अगच्छत्) प्राप्तवान् (सः) (समुद्रः) अन्तरिक्षसदृशः (अभवत्) ॥

२—(तम्) व्रात्यम् (आपः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च । उ० ४ । २०८ । आप्लृ व्याप्तौ—असुन् । सुकर्म (श्रद्धा) धर्मविश्वासः (वर्षम्) वृतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । वृञ् वरणे—सप्रत्ययः । वरत्वं श्रेष्ठताम् (भूत्वा) भू प्राप्तौ—क्त्वा । प्राप्य (अनुव्यवर्तयन्त) अनुसृत्य वर्तमाना अभवन् । अन्यत् पूर्ववत्—सू० ६ । म० २५ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [विद्वान्] पुरुष को (आपः) सत्कर्म (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (एनम्) उस को (श्रद्धा) श्रद्धा [धर्म में प्रतीति] (आ) आकर (गच्छति) मिलती है, (एनम्) उसको (वर्षम्) श्रेष्ठपन (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य परमात्मा को जान लेता है, तब वह सुकर्मी श्रद्धावान् और श्रेष्ठ होकर उन्नति करता है ॥ ३ ॥

तं श्रद्धा च॑ यज्ञश्च॑ लोकश्चान्नं॑ चान्नाद्यं॑ च भूत्वाभिपर्या-वर्तन्त ॥ ४ ॥

तम् । श्रद्धा । च । यज्ञः । च । लोकः । च । अन्नम् । च । अन्न-अद्यम् । च । भूत्वा । अभि-पुर्यावर्तन्त ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(श्रद्धा) श्रद्धा [धर्म में प्रतीति] (च च) और (यज्ञः) यज्ञ [सद् व्यवहार] (च) और (लोकः) समाज (च) और (अन्नम्) अन्न [जौ चावल आदि] (च) और (अन्नाद्यम्) अनाज [रोटी पूरी आदि बना भोजन] (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] में (भूत्वा) व्यापकर (अभिपर्यावर्तन्त) सामने सब ओर से आकर वर्तमान हुये हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—उस परमात्मा के ही सामर्थ्य से पुरुषार्थी पुरुष के लिये श्रद्धा आदि उपयोगी गुण, सब समाज और अन्न आदि भोग्य पदार्थ सर्वत्र सर्वदा वर्तमान रहते हैं ॥ ४ ॥

३—(आ) आगत्य (एनम्) विद्वांसं पुरुषम् (आपः) म० २ । सुकर्म (गच्छति) प्राप्नोति । अन्यद् गतं स्पष्टं च—म० २ ॥

४—(तम्) व्रात्यं परमात्मानम् (श्रद्धा) धर्मविश्वासः (यज्ञः) सद्-व्यवहारः (लोकः) समाजः (अन्नम्) सस्यम् (अन्नाद्यम्) भक्षणीयं संस्कृत-मन्नम् (भूत्वा) व्याप्य (अभिपर्यावर्तन्त) अभि+परि+आ+अवर्तन्त । अभितः परित आगत्य वर्तमाना अभवन् । अन्यद् गतम् ॥

ऐनं श्रद्धा गच्छत्यैनं यज्ञो गच्छत्यैनं लोको गच्छत्यैनमन्नं गच्छत्यैनमन्नाद्यं गच्छति य एवं वेद ॥ ५ ॥

आ । एनम् । श्रद्धा । गच्छति । आ । एनम् । यज्ञः । गच्छति । आ । एनम् । लोकः । गच्छति । आ । एनम् । अन्नम् । गच्छति । आ । एनम् । अन्न-अद्यम् । गच्छति । यः ॥ ५

भाषार्थ—(एनम्) उस [विद्वान्] पुरुष को (श्रद्धा) श्रद्धा [धर्म में प्रतीति] (आ) आकर (गच्छति) मिलती है, (एनम्) उस को (यज्ञः) सद्व्यवहार (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (एनम्) उसको (लोकः) समाज (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (एनम्) उस को (अन्नम्) अन्न [जौ चावल आदि] (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (एनम्) उस को (अन्नाद्यम्) अनाज [रोटी पूरी आदि बना भोजन] (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी पुरुष ही श्रद्धालु, सत्कर्मी, सर्वहितैषी और अन्नवान् होकर संसार में प्रशंसनीय होता है ॥ ५ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—३ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ साम्न्युष्णिक् ; २ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ३ आर्ची पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरस्य प्रभुत्वोपदेशः—परमेश्वर की प्रभुता का उपदेश ॥

सोऽरज्यत ततो राजन्योऽजायत ॥ १ ॥

५—(आ) आगत्य (एनम्) विद्वांसं पुरुषम् (गच्छति) प्राप्नोति । अन्यत् पूर्ववत्-म० ४ सुगमं च ॥

सः । अरज्यत । ततः । राजन्यः । अजायत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः) उस [व्रात्य परमात्मा] ने (अरज्यत) प्रेम किया, (ततः) उसी से वह (राजन्यः) सर्वस्वामी (अजायत) हुआ ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी स्वाभाविक प्रीति से सब सृष्टि का स्वामी है ॥ १ ॥

स विशः सबन्धूनन्नमन्नाद्यमभ्युदतिष्ठत् ॥ २ ॥

सः । विशः । स-बन्धून् । अन्नम् । अन्न-अद्यम् । अभि-उदतिष्ठत् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (सबन्धून्) बन्धुओं सहित [कुटुम्बियों] सहित (विशः) मनुष्यों पर, (अन्नम्) अन्न [जौ चावल आदि] पर और (अन्नाद्यम्) अनाज [रोटी पूरी आदि] पर (अभ्युदतिष्ठत्) सर्वथा अधिष्ठाता हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा मनुष्य आदि सब पदार्थों का अधिष्ठाता होकर सब की रक्षा करता है ॥ २ ॥

विशां च वै स सबन्धूनां चान्नस्य चान्नाद्यस्य च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

विशाम् । च । वै । सः । स-बन्धूनाम् । च । अन्नस्य । च । अन्न-अद्यस्य । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः । ० ॥ ३ ॥

१—(सः) व्रात्यः परमात्मा (अरज्यत) रञ्ज रागे, आसक्तौ प्रीतौ च—लङ्, दिवादिः । प्रीतियुक्तोऽभवत् सृष्टौ (ततः) तस्मात् कारणात् (राजन्यः) राजेरन्यः । उ० ३ । १०० । राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—अन्य । सर्वस्वामी (अजायत) प्रादुरभवत् ॥

२—(सः) व्रात्यः परमात्मा (विशः) पुं० लि० । मनुष्यान्-निघ० २ । ३ (सबन्धून्) बन्धुभिः सहितान् (अन्नम्) सस्यम् (अन्नाद्यम्) अदनीयं संस्कृतं पदार्थम् (अभ्युदतिष्ठत्) अभीत्य अधिष्ठितवान् ॥

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान् पुरुष] (वै) निश्चय करके (सबन्धूनाम्) बन्धुओं सहित (विशाम्) मनुष्यों का (च च) और (अन्नस्य) अन्न [जौ चावल आदि] का (च च) और (अन्नाद्यस्य) अनाज [रोटी पूरी आदि बने हुये पदार्थ] का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर पुरुषार्थ करता है, वह सर्वहितकारी होने से सब में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ९ ॥

१—३ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ आसुरी जगती ; २ आर्षी गायत्री ; ३ आर्ची पङ्क्तिः ॥

राजधर्मव्यवस्थोपदेशः—राजधर्म की व्यवस्था का उपदेश ॥

स विशोऽनु व्यचलत् ॥१॥ सः । विशः । अनु । वि । अचलत् ॥१

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य परमात्मा] (विशः अनु) मनुष्यों की ओर (वि अचलत्) विचरा ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक परमात्मा ने वेदद्वारा मनुष्यों में राजधर्म का उपदेश किया है ॥ १ ॥

तं सभा च समितिश्च सेना च सुरा चानुव्यचलन् ॥ २ ॥

तम् । सभा । च । सम्ऽइतिः । च । सेना । च । सुरा । च । अनुऽव्यचलन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सभा) सभा (च च) और (समितिः) संग्राम व्यवस्था

३—(विशाम्) मनुष्याणाम् (च) (वै) निश्चयेन (सः) विद्वान् (सबन्धूनाम्) सकुटुम्बिनाम् (अन्नस्य) सस्यस्य (अन्नाद्यस्य) भोग्यस्य संस्कृतपदार्थस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(सः) व्रात्यः परमात्मा (विशः) मनुष्यान् (अनु) अनुलक्ष्य अन्यत् पूर्ववत् ॥

२—(तम्) व्रात्यं परमात्मानम् (सभा) राजधर्मादिसभा (समितिः)

(च) और (सेना) सेना (च) और (सुरा) राज्यलक्ष्मी (तम्) उस [व्रात्य परमात्मा] के (अनुव्यचलन्) पीछे विचरे ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा की विहित व्यवस्था से ही संसार में सभा आदि की संस्था स्थापित हुयी है ॥ २ ॥

इस मन्त्र का कुछ अंश महर्षि दयानन्दकृत सत्यार्थप्रकाश समुल्लास ६ राजधर्म प्रकरण तथा संस्कारविधि गृहाश्रम प्रकरण में व्याख्यात है ॥

सुभायाश्च वै स समितेश्च सेनायाश्च सुरायाश्च प्रियं धाम भवति य एवं वेद ॥ ३ ॥

सभायाः । च । वै । सः । सम्-इतेः । च । सेनायाः । च । सुरायाः । च । प्रियम् । धाम । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ३

भाषार्थ—(सः) वह [विद्वान्] पुरुष (वै) निश्चय करके (सभायाः) सभा का (च च) और (समितेः) संग्राम व्यवस्था का (च) और (सेनायाः) सेना का (च) और (सुरायाः) राज्यलक्ष्मी का (प्रियम्) प्रिय (धाम) धाम [घर] (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) ऐसे वा व्यापक [व्रात्य परमात्मा] को (वेद) जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की व्यवस्था जानकर सभा आदि की यथावत् संस्था करते हैं, वे राज्यलक्ष्मी बढ़ा कर कीर्ति पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् १० ॥

१—११—व्रात्यो देवता ॥ १, ५, साम्नी बृहती ; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः ; ३, ४ प्राजापत्या पङ्क्तिः ; ६, ८, १० आसुरी-गायत्री ; ७, ९ साम्न्युष्णिक् ; ११ आसुरी बृहती ॥

आतिथ्यमहिमोपदेशः—अतिथि सत्कार की महिमा का उपदेश ॥

तद् यस्यै॒वं विद्वान् व्रात्यो राज्ञोऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

संग्रामः—निघ० २ । १७ । संग्रामव्यवस्था (सेना) (सुरा) षुर दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क, टाप् । राज्यलक्ष्मीः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—उपरि व्याख्यातं यथोचितं योजनीयम् ॥

तत् । यस्य । एवम् । विद्वान् । व्रात्यः । राज्ञः । अतिथिः । गृहान् । आ-गच्छेत् । ॥ १ ॥

श्रेयांसमेनमात्मनो मानयेत् तथा क्षत्राय ना वृश्चते तथा राष्ट्राय ना वृश्चते ॥ २ ॥

श्रेयांसम् । एनम् । आत्मनः । मानयेत् । तथा । क्षत्राय । न । आ । वृश्चते । तथा । राष्ट्राय । न । आ । वृश्चते ।२।

भाषार्थ—(तत्) फिर (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सद्व्रतधारी, सदाचारी] (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य सत्पुरुष] (यस्य राज्ञः) जिस राजा के (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ वह [राजा] (एनम्) उस [अतिथि] को (आत्मनः) अपने से (श्रेयांसम्) अधिक श्रेष्ठ (मानयेत्) सन्मान करे, (तथा) उस प्रकार [सत्कार] से वह [राजा] (क्षत्राय) क्षत्रिय कुल के लिये (न) नहीं (आ) कुछ (वृश्चते) दोषी होता है, और (तथा) उस प्रकार से (राष्ट्रम्) राज्य के लिये भी (न) नहीं (आ) कुछ (वृश्चते) दोषी होता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मवादी आप्त विद्वान् अतिथि राजा के घर आवे, राजा उसको अपने से अधिक गुणी जानकर यथावत् सत्कार करे जिस से उसके सदुपदेश से दोषों के मिटने पर उसके कुल की और राज्य की वृद्धि होवे ॥ १, २ ॥

१—(तत्) तदा (यस्य) (एवम्) सू० २ म० ३ । इण् गतौ-वन् । व्यापकं परमात्मानम् (विद्वान्) विद ज्ञाने-शतृ, वसुरादेशः । जानन् (व्रात्यः) सू० १ । १ । व्रत-यत् । व्रतधारी । सदाचारी (राज्ञः) नरपतेः (अतिथिः) अ० ७ । २१ । १ । ऋतन्यञ्जिवन्य० । उ० ४ । २ । अत सातत्यगमने—इथिन् । अतनशीलः । नित्यं प्रापणीयः । विद्वान् । अभ्यागतः (गृहान्) (आगच्छेत्) ॥

२—(श्रेयांसम्) प्रशस्यतरम् (आत्मनः) आत्मसकाशात् (मानयेत्) सत्कुर्यात् (तथा) तेन प्रकारेण (क्षत्राय) क्षत्रियकुलाय (न) निषेधे (आ) ईषत् (वृश्चते) वृश्च्यते । छिद्यते । दूषितो भवति (राष्ट्राय) राज्य-संपादनाय । अन्यद् गतम् ॥

अतो॒ वै ब्रह्म॑ च क्ष॒त्रं चोद॑तिष्ठतां॒ ते अ॑ब्रूतां॒ कं प्र वि॑शा॒वेति॑ ॥ ३ ॥

अतः॑ । वै । ब्रह्म॑ । च॒ । क्ष॒त्रम् । च॒ । उत् । अ॒ति॒ष्ठ॒ता॒म् । ते इति॑ । अ॒ब्रू॒ता॒म् । कम् । प्र । वि॒शा॒व॒ । इति॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अतः) इस [अतिथि सत्कार] से (वै) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानी कुल (च च) और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल (उत् अतिष्ठताम्) दोनों ऊंचे होवें, (ते) वे दोनों (अब्रूताम्) कहें—(कम्) किस [गुण] में (प्र विशाव इति) हम दोनों प्रवेश करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी और क्षत्रिय लोग अतिथि का सत्कार करके विचार करें कि कौन से कौन से गुण स्वीकार करने से हमारी उन्नति होवे। इस का उत्तर आगे है ॥ ३ ॥

अतो॒ वै बृह॒स्पति॑मे॒व ब्रह्म॒ प्र वि॑श॒त्विन्द्रं॑ क्ष॒त्रं तथा॒ वा इति॑ ॥ ४ ॥

० । बृह॒स्पति॑म् । ए॒व । ब्रह्म॑ । प्र । वि॒श॒तु॒ । इन्द्र॑म् । क्ष॒त्रम् । तथा॑ । वै । इति॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अतः) इस [अतिथि सत्कार] से (वै) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानी कुल (बृहस्पतिम्) बड़े बड़े प्राणियों के रक्षक गुण में (एव) ही (प्र विशतु) प्रवेश करे, (तथा) उसी प्रकार [अतिथि सत्कार] से (वै) निश्चय करके (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य में [प्रवेश करे], (इति) ऐसा [अतिथि कहे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—आप्त अतिथि मन्त्र ३ का उत्तर देवे कि ब्रह्मज्ञानी पुरुष प्राणियों की रक्षा का और राजा लोग ऐश्वर्य प्राप्ति का प्रयत्न करते रहें ॥ ४ ॥

३—(अतः) एतस्मात् सत्कारात् (वै) निश्चयेन (ब्रह्म) ब्रह्मवादिकुलम् (च) (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् (च) (उत्) उद्देत्य (अतिष्ठताम्) तिष्ठताम् (ते) द्वे (अब्रूताम्) कथयताम् (कम्) कं गुणम् (प्र विशाव) आवां प्रविष्टौ भवाव (इति) ॥

४—(बृहस्पतिम्) बृहतां प्राणिनां पालकं गुणम् (एव) निश्चयेन (प्र विशतु) प्रविष्टं भवतु (इन्द्रम्) परमैश्वर्यम् (तथा) तद्विधानेन सत्कारेण (इति) पादपूर्तौ । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३ ॥

अतो॒ वै बृह॒स्पति॑मे॒व ब्रह्म॒ प्रावि॑श॒दिन्द्रं॑ क्ष॒त्रम् ॥ ५ ॥

अतः॑ । वै । बृह॒स्पति॑म् । ए॒व । ब्रह्म॑ । प्र । अ॒वि॒श॒त् । इन्द्र॑म् । क्ष॒त्रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (अतः) इस [अतिथि सत्कार] से (वै) निश्चय करके (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानी समूह ने (बृहस्पतिम्) बड़े बड़े प्राणियों के रक्षक गुण [वेद ज्ञान आदि] में (एव) ही (प्र अविशत्) प्रवेश किया है, और (क्षत्रम्) क्षत्रिय कुल ने (इन्द्रम्) परम ऐश्वर्य में [प्रवेश किया है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—इस चक्ररूप संसार में यही नियम सदा से है कि ब्रह्मज्ञानियों ने वेदज्ञान आदि से और क्षत्रियों ने परम ऐश्वर्य बढ़ाने से प्रतिष्ठा पायी है ॥ ५ ॥

इ॒यं वा उ॑ पृथि॒वी बृह॒स्पति॒र्द्यौरे॒वेन्द्रः॑ ॥ ६ ॥

इ॒यम् । वै । ऊं॒ इति॑ । पृ॒थि॒वी । बृह॒स्पतिः॑ । द्यौः । ए॒व । इन्द्रः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी [भूमि का राज्य] (वै) निश्चय करके (उ) ही (बृहस्पतिः) बड़े बड़े प्राणियों का रक्षक गुण है, (द्यौः) प्रकाशमान राजनीति (एव) ही (इन्द्रः) परम ऐश्वर्य है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार में अतिथि सत्कार करके और उससे शिक्षा पाके राज्यपालन से प्राणियों की रक्षा करने की, और राजनीति से ऐश्वर्य बढ़ाने की योग्यता पावें ॥ ६ ॥

अ॒यं वा उ॑ अ॒ग्निर्ब्रह्मा॒सावा॑दि॒त्यः क्ष॒त्रम् ॥ ७ ॥

अ॒यम् । वै । ऊं॒ इति॑ । अ॒ग्निः । ब्रह्म॑ । अ॒सौ । आ॒दि॒त्यः । क्ष॒त्रम् ॥ ७ ॥

५—(प्र अविशत्) प्रविष्टमभवत् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

६—(इयम्) दृश्यमाना (वै) (उ) (पृथिवी) भूमिराज्यम् (बृहस्पतिः) महतां प्राणिनां रक्षको गुणः (द्यौः) दिवु द्युतौ गतौ च—डिवि । प्रकाशमाना राजनीतिः (एव) (इन्द्रः) परमैश्वर्यम् ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (अग्निः) अग्नि [अग्नि समान तेजस्वी] (एव) निश्चय करके (उ) ही (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानी समूह है और (असौ) वह (आदित्यः) सूर्य [सूर्य समान प्रतापी] (क्षत्रम्) क्षत्रिय समूह है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदों के मनन से अग्नि समान तेजस्वी और प्रजापालन से सूर्य समान प्रतापी होवे ॥ ७ ॥

ऐनं ब्रह्म गच्छति ब्रह्मवर्च॒सी भ॑वति ॥ ८ ॥

आ । ए॒न॒म् । ब्रह्म॑ । ग॒च्छ॒ति॒ । ब्र॒ह्म॒-व॒र्च॒सी । भ॒व॒ति॒ ॥ ८ ॥

यः पृ॑थि॒वीं बृह॒स्पति॑म॒ग्निं ब्रह्म॒ वेद॑ ॥ ९ ॥

यः । पृ॒थि॒वीम् । बृह॒स्पति॑म् । अ॒ग्निम् । ब्रह्म॑ । वेद॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [पुरुष] को (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानी समूह (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, और वह (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मवर्चसी [वेदाभ्यास से तेजस्वी] (भवति) होता है ॥ ८ ॥ (यः) जो [पुरुष] (पृथिवीम्) पृथिवी [पृथिवी के राज्य] को (बृहस्पतिम्) बड़े बड़े प्राणियों का रक्षक गुण, और (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानी समूह को (अग्निम्) अग्नि [अग्नि समान तेजोमय] (वेद) जानता है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रजापालक और अतिथि सत्कारक होकर वेदज्ञानियों के साथ विराजकर ब्रह्मवर्चसी होवे ॥ ८, ९ ॥

ऐनमिन्द्रियं गच्छतीन्द्रियवान् भवति ॥ १० ॥

७—(अयम्) दृश्यमानः (वै) निश्चयेन (उ) एव (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानिसमूहः (असौ) प्रसिद्धः (आदित्यः) आदीप्यमानः सूर्यः (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् ॥

८—(आ) आगत्य (एनम्) ब्रह्मज्ञम् (ब्रह्म) ब्रह्मज्ञानिसमूहः (गच्छति) प्राप्नोति (ब्रह्मवर्चसी) ब्रह्मणा वेदाध्ययनेन तदनुष्ठानेन च तेजस्वी (भवति) ॥

९—(यः) पुरुषः (पृथिवीम्) भूमिराज्यम् (बृहस्पतिम्) महतां प्राणिनां रक्षकगुणम् (अग्निम्) अग्निवत्तेजोमयम् (ब्रह्म) वेदज्ञानिकुलम् (वेद) जानाति ॥

आ । एनम् । इन्द्रियम् । गच्छति । इन्द्रिय-वान् । भवति ॥ १० ॥

य आदित्यं क्षत्रं दिवमिन्द्रं वेद ॥ ११ ॥

यः । आदित्यम् । क्षत्रम् । दिवम् । इन्द्रम् । वेद ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [पुरुषार्थी] को (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य (आ) आकर (गच्छति) मिलता है, वह (इन्द्रियवान्) ऐश्वर्यवान् (भवति) होता है ॥ १० ॥ (यः) जो [पुरुष] (क्षत्रम्) क्षत्रिय समूह को (आदित्यम्) सूर्य [सूर्य समान तेजस्वी] और (दिवम्) प्रकाशमान राजनीति को (इन्द्रम्) ऐश्वर्य (वेद) ज्ञानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रजापालन में दक्ष और सुनीतिप्रचार में चतुर होकर ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १०, ११ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—११ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ आसुरी गायत्री ; २ भुरिक् शक्वरी ; ३, ५, ६, ८ आर्ची बृहती ; ४, ७, ९ प्राजापत्या बृहती ; १० भुरिगार्ची बृहती ; ११ आर्च्यनुष्टुप् ॥

आतिथ्यविधानोपदेशः—अतिथि सत्कार के विधान का उपदेश ॥

तद् यस्यैवं विद्वान् व्रात्योऽतिथिर्गृहानागच्छेत् ॥ १ ॥

० । व्रात्यः । अतिथिः । ० [सू०१० म० १] ॥ १ ॥

स्वयमेनमभ्युदेत्य ब्रूयाद् व्रात्य क्वावात्सीर्व्रात्योदकं व्रात्य तर्पयन्तु व्रात्य यथा ते प्रियं तथास्तु व्रात्य यथा ते वशस्तथास्तु व्रात्य यथा ते निकामस्तथास्त्विति ॥ २ ॥

१०—(आ) आगत्य (एनम्) पुरुषार्थिनम् (इन्द्रियम्) इन्द्रचिह्नम् । ऐश्वर्यम् (गच्छति) प्राप्नोति (इन्द्रियवान्) ऐश्वर्यवान् (भवति) ॥

११—(यः) पुरुषः (आदित्यम्) सूर्यवत्तेजोमयम् (क्षत्रम्) क्षत्रियकुलम् (दिवम्) दिवु द्युतौ गतौ च—डिवि । दीप्यमानां राजनीतिम् (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (वेद) जानाति ॥

स्वयम् । एनम् । अभि-उदेत्य । ब्रूयात् । व्रात्य । क्व । अवात्सीः । व्रात्य । उदकम् । व्रात्य । तर्पयन्तु । व्रात्य । यथा । ते । प्रियम् । तथा । अस्तु । व्रात्य । यथा । ते । वशः । तथा । अस्तु । व्रात्य । यथा । ते । नि-कामः । तथा । अस्तु । इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सद् व्रतधारी,] (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य सत्पुरुष] (यस्य) जिस [पुरुष] के (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आवे ॥ १ ॥ (स्वयम्) आप ही (अभ्युदेत्य) उठके जाकर (एनम्) उस [अतिथि] से (ब्रूयात्) कहे—(व्रात्य) हे व्रात्य ! (क्व) कहां (अवात्सीः) [रात्रि में] तू रहा था ? (व्रात्य) हे व्रात्य ! (उदकम्) यह जल है, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (तर्पयन्तु) वे [यह पदार्थ तुझे, अथवा, आप हमें] तृप्त करें, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जैसे (ते) तेरा (प्रियम्) प्रिय [अभीष्ट] हो (तथा) वैसा ही (अस्तु) होवे, (व्रात्य) हे व्रात्य (यथा) जैसे (ते) तेरी (वशः) प्रधानता हो (तथा अस्तु) वैसा होवे, (व्रात्य) हे व्रात्य ! (यथा) जैसे (ते) तेरी (निकामः) इच्छा पूर्ति हो (तथा अस्तु इति) वैसा ही होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—गृहस्थों को चाहिये कि जब कोई विद्वान् महामान्य अतिथि घर पर आवे, प्रीति वचन, जल, अन्न आदि पदार्थों से उसकी सेवा करें ॥१,२॥

यह दोनों मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका अतिथियज्ञविषय पृष्ठ २७१ में व्याख्यात हैं ॥

१—व्याख्यातम्—सू० १० म० १ ॥

२—(स्वयम्) आत्मना (एनम्) अतिथिम् (अभ्युदेत्य) अभिमुखमुत्थाय (ब्रूयात्) कथयेत् (व्रात्य) हे सद्व्रतधारिन् (क्व) कुत्र (अवात्सीः) निवासं कृतवानसि (व्रात्य) (उदकम्) जलम् (तर्पयन्तु) हर्षयन्तु एते पदार्था भवन्तम्, यद्वा भवन्तोऽस्मान् (यथा) येन प्रकारेण (ते) तव (प्रियम्) अभिमतम् (तथा) तेन प्रकारेण (अस्तु) भवतु (वशः) वशित्वम् । प्रधानत्वम् (निकामः) निरन्तरकामः । इच्छापूर्तिः (इति) पादपूरणे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॒ क्वा॑वात्सी॒रिति॑ प॒थ ए॒व तेन॑ देव॒याना॒मव॑ रुन्द्धे ॥ ३ ॥

यत् । ए॒न॒म् । आह॑ । व्रात्य॑ । क्व॑ । अ॒वा॒त्सीः॒ । इति॑ । प॒थः । ए॒व । तेन॑ । दे॒व॒ऽयाना॑न् । अव॑ । रु॒न्द्धे॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (एनम्) इस [अतिथि] से (आह) वह [गृहस्थ] कहता है—(व्रात्य) हे व्रात्य ! [सद्व्रतधारी] (क्व) कहां (अवात्सीः इति) [रात्रि में] तू रहा था ? (तेन) उस [सत्कार] से (एव) निश्चय करके (देवयानान्) विद्वानों के चलने योग्य (पथः) मार्गों को (अव रुन्द्धे) वह [अपने लिये] सुरक्षित करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—अतिथि के साथ प्रीतिपूर्वक वार्तालाप करने से गृहस्थ उस के उपदेश द्वारा सन्मार्ग पर चल कर आनन्द भोगे ॥ ३ ॥

यदे॑नमाह॒ व्रात्योद॒कमित्य॒प ए॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ ४ ॥

०। व्रात्य॑ । उ॒द॒कम् । इति॑ । अ॒पः । ए॒व । तेन॑ । अव॑ । रु॒न्द्धे॒ ४

भाषार्थ—(यत्) जब (एनम्) इस [अतिथि] से (आह) वह [गृहस्थ] कहता है—(व्रात्य) हे व्रात्य ! [सद्व्रतधारी] (उदकम् इति) यह जल है—(तेन) उस [सत्कार] से (एव) निश्चय करके (अपः) सत्कर्म को (अव रुन्द्धे) वह [अपने लिये] सुरक्षित करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—अतिथि को जल आदि देने से गृहस्थ सत्कर्मी होता है ॥ ४ ॥

यदे॑नमाह॒ व्रात्य॑ त॒र्पय॑न्त्विति॑ प्रा॒णमे॒व तेन॒ वर्षी॑यांसं कुरुते ५

०। व्रात्य॑ । त॒र्पय॑न्तु । इति॑ । प्रा॒णम् । ए॒व । तेन॑ । वर्षी॑ऽयांसम् । कु॒रु॒ते॒ ॥ ५ ॥

३—(यत्) यदा (एनम्) अतिथिम् (आह) ब्रूते (पथः) मार्गान् (एव) निश्चयेन (तेन) सत्कारेण (देवयानान्) विद्वद्भिर्गन्तव्यान् (अव रुन्द्धे) आत्मने सुरक्षति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(अपः) आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । आप्लृ व्याप्तौ—असुन् ह्रस्वश्च । कर्म—निघ० २ । १ । सत्कर्म । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सेनाव रुन्द्धे ॥ १० ॥

यत् । एनम् । आह । व्रात्य । यथा । ते । नि-कामः । तथा । अस्तु । इति । नि-कामम् । एव । तेन । अव । रुन्द्धे ॥१०॥

भाषार्थ—(यत्) जब (एनम्) इस [अतिथि] से (आह) वह [गृहस्थ] कहता है—(व्रात्य) हे व्रात्य ! [सत्यव्रतधारी] (यथा) जैसी (ते) तेरी (निकामः) लालसा [निश्चितकामना] हो, (तथा अस्तु इति) वैसा होवे—(तेन) उस [सत्कार] से (एव) निश्चय करके (निकामम्) अपनी लालसा को (अव रुन्द्धे) वह [गृहस्थ] सुरक्षित करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—गृहस्थ अतिथि की विद्यावृद्धि आदि लालसा पूरी करने से अपनी लालसाओं की पूर्ति का उपाय जाने ॥ १० ॥

ऐनं निकामो गच्छति निकामे निकामस्य भवति य एवं वेद ॥११॥

आ । एनम् । नि-कामः । गच्छति । नि-कामे । नि-कामस्य । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(एनम्) उस [गृहस्थ] को (निकामः) लालसा (आ) आकर (गच्छति) मिलती है, वह (निकामस्य) लालसा की (निकामे) निरन्तर पूर्ति में (भवति) होता है, (यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) ऐसे [विद्वान्] को (वेद) जानता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—गृहस्थ को योग्य है कि आप्त विद्वान् अतिथि का अनेक प्रकार सत्कार करके उन्नति की अभिलाषाओं को पूरा करे ॥ ११ ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—११ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ स्वराडार्षी गायत्री ; २ प्राजापत्या बृहती ; ३ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ४ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ५, ६, ६, १० आसुरी गायत्री ; ७, ११ प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; ८ आर्ची गायत्री ॥

१०—(निकामः) निश्चितकामः । लालसा (निकामम्) लालसाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

११—(निकामः) लालसा (निकामे) निरन्तरकामे । इच्छापूर्तौ (निकामस्य) लालसायाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यज्ञानुष्ठाने विदुषः सम्मत्युपदेशः—यज्ञ करने में विद्वान् की सम्मति का उपदेश ॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॒ उद्धृ॑ते॒ष्व॒ग्निष्वधि॑श्रितेऽग्निहो॒त्रेऽति॑थि॒र्गृ॒हाना॒गच्छे॑त् ॥ १ ॥

० । व्रात्यः॑ । उद्धृ॑तेषु । अ॒ग्निषु॑ । अधि॑-श्रिते । अ॒ग्नि-हो॒त्रे । अति॑थिः । गृ॒हान् । आ॒-गच्छे॑त् ॥ १ ॥

स्व॒यमे॑नमभ्युदेत्य॑ ब्रू॒याद् व्रात्याति॑ सृ॒ज हो॒ष्यामीति॑ ॥ २ ॥

स्व॒यम् । ए॒नम् । अ॒भि-उ॒देत्य॑ । ब्रू॒यात् । व्रात्य॑ । अति॑ । सृ॒ज । हो॒ष्यामि॑ । इति॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक [परमात्मा] को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी] (अतिथिः) अतिथि [नित्य मिलने योग्य सत्पुरुष] (उद्धृतेषु) ऊंची उठी हुयी (अग्निषु) अग्नियों के वीच (अग्निहोत्रे) अग्निहोत्र [हवन सामग्री] (अधिश्रिते) रक्खे जाने पर (यस्य) जिस [मनुष्य] के (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आजावे ॥ १ ॥ वह [मनुष्य] (स्वयम्) आप ही (अभ्युदेत्य) सामने से उठकर (एनम्) इस [अतिथि] से (ब्रूयात्) कहे—(व्रात्य) हे व्रात्य ! [सत्यव्रतधारी] (अति सृज) आज्ञा दे, (होष्यामि इति) मैं हवन करूंगा ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि यज्ञ सामग्री उपस्थित और यज्ञ आरम्भ होने पर

१—(तत्) ततः (यस्य) मनुष्यस्य (एवम्) इण् गतौ—वन् । व्यापकं परमात्मानम् (विद्वान्) जानन् (व्रात्यः) सद्व्रतधारी (उद्धृतेषु) ऊर्ध्वं हृतेषु प्राप्तेषु (अग्निषु) अग्निज्वालासु (अधिश्रिते) स्थापिते सति (अग्निहोत्रे) अग्निहोमे । यज्ञे (अतिथिः) अतनशीलः । नित्यं प्राप्तव्यो विद्वान् (गृहान्) (आगच्छेत्) प्राप्नुयात् ॥

२—(स्वयम्) आत्मना (एनम्) अतिथिम् (अभ्युदेत्य) अभिमुखमुत्थाय (ब्रूयात्) कथयेत् (व्रात्य) (अति सृज) आज्ञापय (होष्यामि) होमं यज्ञं करिष्यामि (इति) ॥

विद्वान् ब्रह्मवादी अतिथि आजावे, गृहस्थ आदर पूर्वक उस महामान्य की सम्मति लेकर यज्ञ करे ॥ १, २ ॥

स चा॑तिसृ॒जेज्जु॑हु॒यान्न चा॑तिसृ॒जेन्न जु॑हु॒यात् ॥ ३ ॥

सः । च॒ । अ॒ति॒-सृ॒जेत् । जु॒हु॒यात् । न । च॒ । अ॒ति॒-सृ॒जेत् । न । जु॒हु॒यात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [अतिथि] (च) यदि (अतिसृजेत्) आज्ञा देवे, (जुहुयात्) वह [गृहस्थ] हवन करे, (च) यदि वह (न अतिसृजेत्) न आज्ञा देवे, (न जुहुयात्) वह [गृहस्थ] न हवन करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—विचारवान् अतिथि की आज्ञानुसार अधिकारी गृहस्थ यज्ञ करे और अनधिकारी न करे ॥ ३ ॥

स य ए॒वं वि॒दुषा॒ व्रात्ये॒नाति॑सृष्टो जु॒होति॑ ॥ ४ ॥

स । यः । ए॒वम् । वि॒दुषा॑ । व्रात्ये॑न । अति॑-सृष्टः । जु॒होति॑ ४

प्र पि॑तृ॒याणं॒ पन्थां॑ जानाति॒ प्र दे॑व॒यान॑म् ॥ ५ ॥

प्र । पि॒तृ॒-यान॑म् । पन्था॑म् । जा॒ना॒ति॒ । प्र । दे॒व॒-यान॑म् ॥५॥

न दे॒वेष्वा वृ॑श्चते हु॒तम॑स्य भवति ॥ ६ ॥

न । दे॒वेषु॑ । आ । वृ॒श्च॒ते॒ । हु॒तम् । अ॒स्य॒ । भ॒व॒ति॒ ॥ ६ ॥

पर्य॑स्या॒स्मिल्लो॒क आ॒यत॑नं शिष्यते॒ य ए॒वं वि॒दुषा॒ व्रात्ये॒-नाति॑सृष्टो जु॒होति॑ ॥ ७ ॥

परि॑ । अ॒स्य॒ । अ॒स्मिन् । लो॒के । आ॒-यत॑नम् । शि॒ष्य॒ते॒ । यः । ए॒वम् । वि॒दुषा॑ । व्रात्ये॑न । अति॑-सृष्टः । जु॒होति॑ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) व्यापक परमात्मा को

३—(सः) अतिथिः (च) यदि (अतिसृजेत्) आज्ञापयेत् (जुहुयात्) गृहस्थो होमं कुर्यात् (न) निषेधे । अन्यत् स्पष्टम् ॥

४—(सः) गृहस्थः (यः) गृहस्थः (एवम्) व्यापकं परमात्मानम्

(विदुषा) जानते हुये (व्रात्येन) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] करके (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) यज्ञ करता है, (सः) वह [गृहस्थ] ॥ ४ ॥ (पितृयाणम्) पितरों [पालनकर्ता बड़े लोगों] के चलने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (प्र) भले प्रकार (जानाति) जान लेता है, (देवयानम्) और देवताओं [विद्वानों] के चलने योग्य [मार्ग] को (प्र) भले प्रकार [जान लेता है] ॥ ५ ॥ वह (देवेषु) विद्वानों के बीच (आ) थोड़ा भी (न वृश्चते) दोषी नहीं होता है, [तब] (अस्य) उस [गृहस्थ] का (हुतम्) यज्ञ (भवति) हो जाता है ॥ ६ ॥ (अस्मिन् लोके) इस संसार में (अस्य) उस [गृहस्थ] की (आयतनम्) मर्यादा (परि) सब प्रकार (शिष्यते) शेष रह जाती है, (यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) व्यापक [परमात्मा] को (विदुषा) जानते हुये (व्रात्येन) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] करके (अतिसृष्टः) आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) यज्ञ करता है ॥ ७ ॥

भावार्थ—गृहस्थ को योग्य है कि आदरपूर्वक विद्वान् मर्यादापुरुष सत्यव्रतधारी अतिथि की आज्ञा से उत्तम उत्तम कर्म करता रहे, जिससे उसकी मर्यादा और कीर्ति संसार में स्थिर होवे ॥ ४—७ ॥

अथ॒ य ए॒वं वि॒दुषा॒ व्रात्ये॒नान॑तिसृष्टो जु॒होति॑ ॥ ८ ॥

अथ॑ । यः । ए॒वम् । वि॒दुषा॑ । व्रात्ये॑न । अन॑ति-सृष्टः । जु॒होति॑ ॥ ८ ॥

न पि॑तृ॒याणं॒ पन्थां॑ जाना॒ति न दे॑व॒यान॑म् ॥ ९ ॥

(विदुषा) जानता (व्रात्येन) सत्यव्रतधारिणाऽतिथिना (अतिसृष्टः) आज्ञापितः (जुहोति) यज्ञं करोति ॥

५—(प्र) प्रकर्षेण (पितृयाणम्) पालयितृभिर्गन्तव्यम् (पन्थाम्) पन्थानम् (जानाति) वेत्ति (प्र) (देवयानम्) विद्वद्भिर्गन्तव्यम् ॥

६—(न) निषेधे (देवेषु) विद्वत्सु (आ) ईषत् (वृश्चते) वृश्च्यते । दूषितो भवति (हुतम्) हवनम् । यज्ञः (भवति) सिद्ध्यति ॥

७—(परि) सर्वतः (अस्य) गृहस्थस्य (अस्मिन्) दृश्यमाने (लोके) संसारे (आयतनम्) यती—ल्युट् । मर्यादाम् । आश्रयः (शिष्यते) अवशिष्टं वर्तते । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४ ॥

न । पितृ-यानम् । पन्थाम् । जानाति । न । देव-यानम् ॥९॥

आ देवेषु वृश्चते अहुतमस्य भवति ॥ १० ॥

आ । देवेषु । वृश्चते । अहुतम् । अस्य । भवति ॥ १० ॥

नास्यास्मिल्लोक आयतनं शिष्यते य एवं विदुषा व्रात्येनानतिसृष्टो जुहोति ॥ ११ ॥

न । अस्य । अस्मिन् । लोके । आ-यतनम् । शिष्यते । यः । एवम् । विदुषा । व्रात्येन । अनति-सृष्टः । जुहोति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अथ) और फिर (यः) जो [गृहस्थ] (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विदुषा) जानते हुये (व्रात्येन) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] करके (अनतिसृष्टः) नहीं आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) यज्ञ करता है ॥ ८ ॥ वह (न) न तो (पितृयाणम्) पितरों [पालनकर्ता बड़े लोगों] के चलने योग्य (पन्थाम्) मार्ग को (जानाति) जनता है, और (न) न (देवयानम्) देवताओं [विद्वानों] के चलने योग्य [मार्ग] को [जनता है] ॥ ९ ॥ वह (देवेषु) विद्वानों के बीच (आ) सर्वथा (वृश्चते) दोषी होता है, और (अस्य) उस [गृहस्थ] का (अहुतम्) कुयज्ञ (भवति) हो जाता है ॥ १० ॥ (अस्मिन् लोके) इस संसार में (अस्य) उस (गृहस्थ) की (आयतनम्) मर्यादा (न शिष्यते) शेष नहीं रहती है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विदुषा) जानते हुये (व्रात्येन) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] करके (अनतिसृष्टः) नहीं आज्ञा दिया हुआ (जुहोति) यज्ञ करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो अयोग्य गृहस्थ नीतिज्ञ वेदवेत्ता अतिथि की आज्ञा विना मनमाना काम करने लगता है, वह अनधिकारी होने से शुभ कार्य सिद्ध नहीं कर सकता और न लोग उसकी कुमर्यादा को मानते हैं ॥ ८—११ ॥

८—(अथ) अपिच (अनतिसृष्टः) अनाज्ञापितः । अन्यत् पूर्ववत्–म० ४ ॥

९—(न) निषेधे । अन्यत् पूर्ववत्–म० ५ ॥

१०—(आ) समन्तात् (अहुतम्) कुयज्ञः । अन्यत् पूर्ववत्–म० ६ ॥

११—(न) निषेधे (अनतिसृष्टः) अनाज्ञापितः । अन्यत् पूर्ववत्–म० ७ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—१४ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १, ३, ५, ७ आर्च्युष्णिक्; २, ४, ८ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ६ आसुरी गायत्री; ९ निचृदार्ची गायत्री; १० भुरिगार्ची गायत्री; ११ प्राजापत्या पङ्क्तिः; १२ आसुरी जगती; १३ विराडार्षी पङ्क्तिः; १४ साम्नी पङ्क्तिः ॥

अतिथ्यनतिथ्योर्विषयोपदेशः—अतिथि और अनतिथि के विषय का उपदेश ॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॒ एकां॒ रात्रि॑मति॑थिर्गृ॒हे व॒सति॑ ॥१॥

० । व्रात्यः । एकाम् । रात्रिम् । अति॑थिः । गृहे । वसति ॥१

ये पृ॑थि॒व्यां पुण्या॑ लो॒कास्ताने॒व तेना॑व॑ रुन्द्धे ॥ २ ॥

ये । पृथि॒व्याम् । पुण्याः । लो॒काः । तान् । ए॒व । तेन॑ । अव॑ । रुन्द्धे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी] (अतिथिः) अतिथि (एकाम् रात्रीम्) एक रात्रि (यस्य) जिस [गृहस्थ] के (गृहे) घर में (वसति) वसता है ॥ १ ॥ (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (ये) जो (पुण्याः) पवित्र (लोकाः) लोक [दर्शनीय समाज] हैं, (तान्) उन समाजों को (एव) निश्चय करके (तेन) उस [अतिथि सत्कार] से वह [गृहस्थ] (अव रुन्द्धे) सुरक्षित करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् गृहस्थ पुरुष आप्त सदाचारी अतिथि को एक दिन ठहरा कर उससे उपकारी भूमिविद्या ग्रहण करके लोगों में प्रतिष्ठा पावे १, २ ॥

१—(तत्) अनन्तरम् (यस्य) गृहस्थस्य (एवम्) व्यापकं परमात्मानम् (विद्वान्) जानन् (व्रात्यः) सत्यव्रतधारी (एकाम्) (रात्रिम्) कालात्यन्तसंयोगे द्वितीया (अतिथिः) (गृहे) (वसति) तिष्ठति ॥

२—(ये) (पृथिव्याम्) भूम्याम् (पुण्याः) पवित्राः । उपकारिणः (लोकाः) दर्शनीयाः समाजाः (तान्) (एव) निश्चयेन (तेन) अतिथि-सत्कारेण (अव रुन्द्धे) सुरक्षति ॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्यो॑ द्वि॒तीयां॒ रात्रि॒मति॑थिर्गृ॒हे वस॑ति ३

०। व्रात्यः॑। द्वि॒तीया॑म्। रात्रि॑म्। ०॥ ३॥

ये॒ ऽन्तरि॑क्षे॒ पुण्या॑ लो॒कास्ताने॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ ४ ॥

ये। अ॒न्तरि॑क्षे। पुण्याः॑। ०॥ ४॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी] (अतिथिः) अतिथि (द्वितीयां रात्रिम्) दूसरी रात्रि (यस्य) जिस [गृहस्थ] के (गृहे) घर में (वसति) बसता है॥ ३॥ (अन्तरिक्षे) अन्तरिक्ष में (ये) जो (पुण्याः) पवित्र (लोकाः) लोक [दर्शनीय समाज] हैं (तान्) उनको (एव) निश्चय करके (तेन) उस [अतिथि सत्कार] से वह [गृहस्थ] (अव रुन्द्धे) सुरक्षित करता है॥ ४॥

भावार्थ—गृहस्थ यथावत् सत्कार से अतिथि को दूसरे दिन ठहराकर उससे अन्तरिक्षविद्या प्राप्त करे॥ ३, ४॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॑स्तृ॒तीयां॒ रात्रि॒मति॑थिर्गृ॒हे वस॑ति ५

०। व्रात्यः॑। तृ॒तीया॑म्। रात्रि॑म्। ०॥ ५॥

ये दि॒वि पुण्या॑ लो॒कास्ताने॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ ६ ॥

ये। दि॒वि। पुण्याः॑। ०॥ ६॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी] (अतिथिः) अतिथि (तृतीयाम्) तीसरी (रात्रिम्) रात्रि (यस्य) जिस [गृहस्थ] के (गृहे) घर में (वसति) बसता है॥ ५॥ (दिवि) सूर्य लोक में (ये) जो (पुण्याः) पवित्र (लोकाः) लोक [दर्शनीय समाज] हैं, (तान्) उनको (एव) निश्चय करके (तेन) उस [अतिथि सत्कार] से वह [गृहस्थ] (अव रुन्द्धे) सुरक्षित करता है॥ ६॥

३, ४—(अन्तरिक्षे) भूलोकसूर्यमध्यवर्तिनि लोके। अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च॥

५, ६—(दिवि) सूर्यमण्डले। अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च॥

भावार्थ—गृहस्थ महामान्य अतिथि से तीसरी रात्रि ठहरा कर सूर्य-मण्डल का ज्ञान अर्थात् उपकारी ज्योतिष विद्या को प्राप्त करे ॥ ५, ६ ॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्य॑श्चतु॒र्थीं रात्रि॒मति॑थिर्गृ॒हे वस॑ति ॥ ७

० । व्रात्य॑ः । च॒तु॒र्थीम् । रात्रि॑म् । अति॑थिः । ० ॥ ७ ॥

ये पुण्या॑नां पुण्या॑ लो॒कास्ताने॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ ८ ॥

ये । पुण्या॑नाम् । पुण्या॑ः । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी] (अतिथिः) अतिथि (चतुर्थीं) चौथी (रात्रीम्) रात्रि (यस्य) जिस [गृहस्थ] के (गृहे) घर में (वसति) वसता है ॥ ७ ॥ (पुण्यानाम्) पवित्र जनों के (ये) जो (पुण्याः) पवित्र (लोकाः) लोक [दर्शनीय समाज] हैं, (तान्) उनको (एव) निश्चय करके (तेन) उस [अतिथि सत्कार] से वह [गृहस्थ] (अव रुन्द्धे) सुरक्षित करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुअवसर को ग्रहण करके अतिथि विद्वान् से उत्तम मनुष्यों के सभ्यता आदि गुण ग्रहण करे ॥ ७, ८ ॥

तद् यस्यै॒वं वि॒द्वान् व्रात्यो॒ऽप॑रिमिता॒ रात्री॒रति॑थिर्गृ॒हे वस॑ति ॥ ९

तत् । यस्य॑ । ए॒वम् । वि॒द्वान् । व्रात्य॑ः । अप॑रि-मिताः । रात्री॑ः । अति॑थिः । गृ॒हे । वस॑ति ॥ ९ ॥

य ए॒वाप॑रिमिता॒ः पुण्या॑ लो॒कास्ताने॒व तेनाव॑ रुन्द्धे ॥ १० ॥

ये । ए॒व । अप॑रि-मिताः । पुण्या॑ः । लो॒काः । तान् । ए॒व । तेन॑ । अव॑ । रु॒न्द्धे ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तत्) सो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (विद्वान्) जानता हुआ (व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी] (अतिथिः) अतिथि (अपरिमिताः) असंख्य (रात्रीः) रात्रियों (यस्य) जिस के (गृहे) घर में (वसति) वसता है ॥ ९ ॥ (ये) जो (एव) निश्चय करके (अपरिमिताः) असंख्य

७, ८—(पुण्यानाम्) पवित्रजनानाम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

९, १०—(अपरिमिताः) असंख्याताः (रात्रीः) (लोकाः) दर्शनीयाः

(पुण्याः) पवित्र (लोकाः) लोक [दर्शनीय समाज] हैं, (तान्) उनको (एव) निश्चय करके (तेन) उस [अतिथि सत्कार] से (अव रुन्द्धे) वह [गृहस्थ] सुरक्षित करता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जब मनुष्य को बड़े विद्वान् अतिथि से बहुत दिनों सत्संग करने का अवसर मिले, तो वह उससे ब्रह्मविद्या, राज्यविद्या आदि अनेक शुभविद्यायें प्राप्त करके उन्नति करे ॥ ९, १० ॥

अथ यस्याव्रात्यो व्रात्यब्रुवो नामबिभ्रत्यतिथिर्गृहानागच्छेत् ११

अथ । यस्य । अव्रात्यः । व्रात्य-ब्रुवः । नाम-बिभ्रती । अतिथिः । गृहान् । आ-गच्छेत् ॥ ११ ॥

कर्षेदेनं न चैनं कर्षेत् ॥ १२ ॥ कर्षेत् । एनम् । न । च । एनम् । कर्षेत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अथ) और फिर (अव्रात्यः) अव्रात्य [कुव्रतधारी] (व्रात्यब्रुवः) अपने को व्रात्य [सत्यव्रत धारी] बताता हुआ, (नामबिभ्रती) केवल नाम धारण करता हुआ (अतिथिः) अतिथि (यस्य) जिस [गृहस्थ] के (गृहान्) घरों में (आगच्छेत्) आजावे ॥ ११ ॥ वह [गृहस्थ] एनम्) उस [झूठे व्रात्य] को (कर्षेत्) तिरस्कार करे, (न) अब (च) निश्चय करके (एनम्) उस [मिथ्याचारी] को (कर्षेत्) तिरस्कार करे ॥ १२ ॥

समाजाः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

११—(अथ) अपि च (यस्य) गृहस्थस्य (अव्रात्यः) असत्यव्रतधारी (व्रात्यब्रुवः) व्रात्य + ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि—क । आत्मानं व्रात्यं कथयन् (नामबिभ्रती) नाम + डु भृञ् धारणपोषणयोः—शतृ । इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम् । वा० पा० ७ । १ । ३९ । ईकारादेशः सुविभक्तेः । नामधारयन् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१२—(कर्षेत्) कृष विलेखने—विधिलिङ् । अवकर्षेत् । तिरस्कुर्यात् । दण्डयेत् (एनम्) कुव्रात्यम् (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (च) अवधारणे (एनम्) अव्रात्यम् (कर्षेत्) तिरस्कुर्यात् ।

भावार्थ—यदि कोई छली कपटी मिथ्यावादी मनुष्य अपने को सत्यव्रतधारी अतिथि बताकर आजावे, गृहस्थ उस पाखण्डी धूर्त को अवश्य निरादर करके निकाल देवे, और अगले दो मन्त्रों के अनुसार वर्ताव करे ॥ ११, १२ ॥

अस्यै देवताया उदकं याचामीमां देवतां वासय इमामिमां देवतां परि वेवेष्मीत्येनं परि वेविष्यात् ॥ १३ ॥

अस्यै । देवतायै । उदकम् । याचामि । इमाम् । देवताम् । वासये । इमाम् । इमाम् । देवताम् । परि । वेवेष्मि । इति । एनम् । परि । वेविष्यात् ॥ १३ ॥

तस्यामेवास्य तद् देवतायां हुतं भवति य एवं वेद ॥१४॥

तस्याम् । एव । अस्य । तत् । देवतायाम् । हुतम् । भवति । यः । एवम् । वेद ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अस्यै) उस (देवतायै) देवता [विद्वान्] को (उदकम्) जल (याचामि) समर्पण करता हूं, (इमाम्) उस (देवताम्) देवता [विद्वान्] को (वासये) ठहराता हूं, (इमाम् इमाम्) उस ही (देवताम्) देवता [विद्वान्] को (परि वेवेष्मि) भोजन परोसता हूं—(इति) इस प्रकार से (एनम्) उस [विद्वान्] की (परि वेविष्यात्) [भोजन आदि से] सेवा करे ॥ १३ ॥ (तस्याम् एव) उसी ही (देवतायाम्) देवता [विद्वान्] में (अस्य) उस [गृहस्थ] का (तत्) वह (हुतम्) दान (भवति) होता है, (यः) जो [विद्वान्] (एवम्) व्यापक [परमात्मा] को (वेद) जानता है १४

१३—(अस्यै) अस्मै (देवतायै) देवाय । विदुषे (उदकम्) जलम् (इमाम् देवताम्) तं देवम् (वासये) निवासयामि (इमाम् इमाम्) तमेव (देवताम्) विद्वांसम् (परि वेवेष्मि) भोजनेन परिचरामि (इति) एवं प्रकारेण (एनम्) विद्वांसम् (परि वेविष्यात्) भोजनादिना सत्कुर्यात् ॥

१४—(तस्याम्) (एव) निश्चयेन (तत्) पूर्वोक्तम् (देवतायाम्) देवे । विदुषि पुरुषे (हुतम्) दानम् (भवति) (यः) अतिथिः (एवम्) व्यापकं परमात्मानम् (वेद) जानाति ॥

भावार्थ—गृहस्थ को योग्य है कि पूर्वोक्त प्रकार से छली कपटी झूठे वेषधारी को दण्ड देवे और जो सत्यव्रतधारी ब्रह्मज्ञानी अतिथि हो, उसका यथावत् आदर मान करे और सब प्रकार जल, अन्न, स्थान आदि से उसकी सेवा करे ॥ १३, १४ ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—२४ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १, १३ आर्ष्युष्णिक् ; २, ४, २०, २२, २४ आसुर्युष्णिक् ; ३, ६, १५ आर्ची बृहती ; ५, २३ भुरिगार्ष्युष्णिक् ; ६ आसुरी गायत्री ; ७ ब्राह्मी गायत्री ; ८, १० आसुर्यनुष्टुप् ; ११, १६ भुरिगार्षी गायत्री ; १२ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; १४, १६, १८ प्राजापत्यानुष्टुप् ; १७ आर्ची पङ्क्तिः ; २१ निचृदार्ची बृहती ॥

अतिथेरुपकारोपदेशः—अतिथि के उपकार का उपदेश ॥

स यत् प्राचीं दिशमनु व्यचलन्मारुतं शर्धो भूत्वानुव्यचलन्मनोऽन्नादं कृत्वा ॥ १ ॥

सः । यत् । प्राचीम् । दिशम् । अनु । वि-अचलत् । मारुतम् । शर्धः । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । मनः । अन्न-अदम् । कृत्वा ॥ १ ॥

मनसान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २ ॥

मनसा । अन्न-अदेन । अन्नम् । अत्ति । यः । ० ॥ २ ॥

भावार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (प्राचीम्) पूर्व वा सामने वाली (दिशम् अनु) दिशा की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (मारुतम्) [शत्रुओं के मारने वाले] शूरों का (शर्धः) बल (भूत्वा) होकर और (मनः) मन को (अन्नादम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्य-

---

१—(सः) व्रात्योऽतिथिः (यत्) यदा (प्राचीम्) पूर्वाम् । अभिमुखीभूताम् (दिशम्) दिशाम् (अनु) अनुलक्ष्य (व्यचलत्) विचरितवान् (मारुतम्) अ० १ । २० । १ । मृग्रोरुतिः । उ० १ । ९४ । मृङ् प्राणत्यागे-उति । मारयन्ति शत्रून् ते मरुतः । देवाः । मरुत्—अण् । शूराणामिदम् (शर्धः) बलम्-निघ० २ । ९ (भूत्वा) (अनुव्यचलत्) अनुक्रमेण विचरितवान् (मनः)

चलत्) लगातार चला गया ॥ १ ॥ (अन्नाद्येन) जीवनरक्षक (मनसा) मन के साथ वह [अतिथि] (अन्नम्) जीवन को (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ २ ॥

भावार्थ—ब्रह्मज्ञानी विद्वान् अतिथि अपने लगातार सदुपदेशों सत्कर्मों और सत्पराक्रमों से लोगों को बलवान् करके संसार की रक्षा करता है ॥ १, २ ॥

स यद् दक्षिणां दिशमनु व्यचलदिन्द्रो भूत्वानुव्यचलद् बलमन्नादं कृत्वा ॥ ३ ॥

० यत् । दक्षिणाम् । दिशम् । अनु । वि-अचलत् । इन्द्रः । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । बलम् । अन्न-अदम् । कृत्वा ॥ ३ ॥

बलेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ ४ ॥

बलेन । अन्न-अदेन । अन्नम् । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (दक्षिणाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशम् अनु) दिशा की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् (भूत्वा) होकर और (बलम्) बल [सामर्थ्य] को (अन्नादम्) जीवनरक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ ३ ॥ (अन्नादेन) जीवन रक्षक (बलेन) बल से वह [अतिथि]

अन्तः करणम् (अन्नादम्) कृवृजॄसिद्रुपन्यनिस्वपिभ्यो नित् । उ० ३ । १० । अन जीवने—नप्रत्ययः, नित् । अद भक्षणे अवने च—इति शब्दस्तोममहानिधिः । कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । अन्न+अद अवने रक्षणे—अण् । पदपाठे ह्रस्वत्वं पृषोदरादित्वात् । जीवनरक्षकम् (कृत्वा) विधाय ॥

२—(मनसा) अन्तःकरणेन (अन्नादेन) म० १ । जीवनरक्षकेण (अन्नम्) कृवृजॄसिद्रुपन्यनि० । उ० ३ । १० । अन जीवने—नप्रत्ययः, नित् । जीवनम् (अत्ति) अद भक्षणे अवने च, अदादिः—इति शब्दस्तोममहानिधिः । अवति रक्षति (यः) अतिथिः (एवम्) इण् गतौ—वन् । व्यापकं परमात्मानम् (वेद) जानाति ॥

३, ४—(दक्षिणाम्) दक्षिणदेशस्थाम् । स्वशरीरस्य दक्षिणभागस्थाम्

(अन्नम्) जीवन को (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान है ॥ ३, ४ ॥

स यत् प्रतीचीं दिशमनु व्यचलद् वरुणो राजा भूत्वानुव्यचलदपोऽन्नादीः कृत्वा ॥ ५ ॥

० यत् । प्रतीचीम् । दिशम् । अनु । वि-अचलत् । वरुणः । राजा । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । अपः । अन्नऽअदीः । कृत्वा ५

अद्भिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ ६ ॥

अत्-भिः । अन्न-अदीभिः । अन्नम् । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (प्रतीचीम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशम् अनु) दिशा की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (वरुणः) श्रेष्ठ (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान्] (भूत्वा) होकर और (अपः) [कर्मों में व्यापक रहने वाली] इन्द्रियों को (अन्नादीः) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ ५ ॥ (अन्नादीभिः) जीवन रक्षक (अद्भिः) इन्द्रियों के साथ वह [अतिथि] (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान ॥ ५, ६ ॥

स यदुदीचीं दिशमनु व्यचलत् सोमो राजा भूत्वानुव्यचलत्

(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (वलम्) सामर्थ्यम् (वलेन) सामर्थ्येन । अन्यत् पूर्ववत्–म० १, २ ॥

५, ६—(प्रतीचीम्) पश्चिमाम् । पश्चाद्भागस्थाम् (वरुणः) श्रेष्ठः (राजा) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—कनिन् । ऐश्वर्यवान् । भूपालः (अपः) आपः= इन्द्रियाणि=आपनानि—निरु० १२ । ३७ । कर्मसु व्यापकानीन्द्रियाणि (अन्नादीः) म० १ । अन्नाद—ङीप् । जीवनरक्षिकाः (अद्भिः) इन्द्रियैः (अन्नादीभिः) जीवनरक्षिकाभिः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १,२ ॥

सप्तर्षिभिर्हु॒त आहु॑तिमन्ना॒दीं कृ॒त्वा ॥ ७ ॥

०। यत्। उदीचीम्। दिश॑म्। अनु॑। वि-अ॑चलत्। सोमः॑। राजा॑। भूत्वा। अनु-व्य॑चलत्। सप्तर्षि-भिः। हुते। आ-हु॑तिम्। अन्न-अदीम्। कृत्वा ॥ ७ ॥

आहु॑त्यान्ना॒द्यान्नमत्ति॒ य ए॒वं वेद॑ ॥ ८ ॥

आ-हु॑त्या। अन्न-अद्या। अन्न॑म्। ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (उदीचीम्) उत्तर वा बायीं (दिशम् अनु) दिशा की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (सोमः) पुरुषार्थी (राजा) राजा [ऐश्वर्यवान्] (भूत्वा) होकर (सप्तर्षिभिः) [दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख] सात गोलकों के साथ (हुते) हवन में (आहुतिम्) आहुति को [दानक्रिया अर्थात् परोपकार में इन्द्रियों को यज्ञ में आहुति सदृश] (अन्नादीम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥७॥ वह [अतिथि] (अन्नाद्या) जीवनरक्षक (आहुत्या) आहुति के साथ (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—म० १, २ के समान ॥ ७, ८ ॥

स यद् ध्रु॒वां दिश॒मनु॒ व्यच॑लद् विष्णु॑र्भू॒त्वानु॒व्य॑चलद् वि॒राज॑मन्ना॒दीं कृ॒त्वा ॥ ९ ॥

० यत्। ध्रु॒वाम्। दिश॑म्। अनु॑। वि-अ॑चलत्। विष्णुः॑। भूत्वा। अनु-व्य॑चलत्। वि-राज॑म्। अन्न-अदीम्। कृत्वा। ९

७, ८—(उदीचीम्) उत्तराम्। वामभागवर्तमानाम् (सोमः) षु गतौ ऐश्वर्ये च-मन्। पुरुषार्थी (राजा) भूपतिः (सप्तर्षिभिः) शीर्षण्यसप्तगोलकैः सह (हुते) होमे (आहुतिम्) दानक्रियाम् (अन्नादीम्) म० ६। जीवनरक्षिकाम् (आहुत्या) यज्ञाग्नौ दानक्रियया (अन्नाद्या) जीवनरक्षिकया। अन्यत् पूर्ववत्—म० १, २ ॥

विराजान्नाद्यान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १० ॥

वि-राजा । अन्न-अद्या । अन्नम् । ० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (ध्रुवाम्) नीचे वाली (दिशम् अनु) दिशा की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (विष्णुः) विष्णु [कामों में व्यापक] (भूत्वा) होकर और (विराजम्) विराट् [विविध प्रकाशमान राज्यश्री] को (अन्नादीम्) जीवनरक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ ९ ॥ वह [अतिथि] (अन्नाद्या) जीवन रक्षक (विराजा) विराट् [विविध प्रकाशमान राज्यश्री] से (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥१० ॥

भावार्थ—म० १, २ के समान ॥ ९,१० ॥

स यत् पशूननु व्यचलद् रुद्रो भूत्वानुव्यचलदोषधीरन्नादीः कृत्वा ॥ ११ ॥

० । यत् । पशून् । अनु । वि-अचलत् । रुद्रः । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । ओषधीः । अन्न-अदीः । कृत्वा ॥ ११ ॥

ओषधीभिरन्नादीभिरन्नमत्ति य एवं वेद ॥ १२ ॥

ओषधीभिः । अन्न-अदीभिः । अन्नम् । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (पशून् अनु) जीव जन्तुओं की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (रुद्रः) रुद्र [शत्रुनाशक] (भूत्वा) होकर और (ओषधीः) ओषधियों [जौ चावल आदि] को (अन्नादीः) जीवनरक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ ११॥

९, १०—(ध्रुवाम्) अधोगताम् (विष्णुः) कर्मसु व्यापकः पण्डितः (विराजम्) वि+राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च-क्विप् । विविधप्रकाशमानां राज्यश्रियम् (अन्नादीम्) जीवनरक्षिकाम् (विराजा) विविधप्रकाशमानया राज्यश्रिया (अन्नाद्या) जीवनरक्षिकया । अन्यत् पूर्ववत् म० १, २ ॥

११, १२—(पशून्) जीवजन्तून् (रुद्रः) रुङ् हिंसायाम्-क्विप् तुक् च + रुङ् हिंसायाम्—ड । शत्रुनाशकः (ओषधीः) यवव्रीह्यादिरूपाः (ओषधीभिः)

वह [अतिथि] (अन्नादीभिः) जीवनरक्षक (ओषधीभिः) ओषधियों से (अन्नम्) जीवन को (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान ॥ ११, १२ ॥

स यत् पितॄननु व्यचलद् यमो राजा भूत्वानुव्यचलत् स्वधाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १३ ॥

० । यत् । पितॄन् । अनु । वि-अचलत् । यमः । राजा । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । स्वधा-कारम् । अन्न-अदम् । कृत्वा ॥ १३ ॥

स्वधाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १४ ॥

स्वधा-कारेण । अन्न-अदेन । अन्नम् । ० ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (पितॄन् अनु) पितरों [पालन कर्ता बड़े लोगों की ओर] (व्यचलत्) विचरा, वह (यमः) न्यायी (राजा) राजा (भूत्वा) होकर और (स्वधाकारम्) अपने धारण सामर्थ्य को (अन्नादम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ १३ ॥ वह [अतिथि] (अन्नादेन) जीवन रक्षक (स्वधाकारेण) अपने धारण सामर्थ्य से (अन्नम्) जीवन को (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान ॥ १३, १४ ॥

स यन्मनुष्या३ँ नु व्यचलदग्निर्भूत्वानुव्यचलत् स्वाहाकारमन्नादं कृत्वा ॥ १५ ॥

यवव्रीह्यादिभिः (अन्नादीभिः) जीवनरक्षिकाभिः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १, २ ॥

१३, १४—(पितॄन्) पालकान् महापुरुषान् (यमः) न्यायी (राजा) प्रजाशासकः (स्वधाकारम्) स्वधारणसामर्थ्यम् (स्वधाकारेण) स्वधारणसामर्थ्येन । अन्यत् पूर्ववत्—म० १, २ ॥

०। यत्। मनुष्यान्। अनु। वि-अचलत्। अग्निः। भूत्वा। अनु-व्यचलत्। स्वाहा-कारम्। अन्न-अदम्। ०॥ १५॥

स्वाहाकारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १६ ॥

स्वाहा-कारेण। अन्न-अदेन। ०॥ १६॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (मनुष्यान् अनु) मनुष्यों [मननशील पुरुषों] की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी] (भूत्वा) होकर और (स्वाहाकारम्) वेदविद्या प्रचार को (अन्नादम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ १५ ॥ वह [अतिथि] (अन्नादेन) जीवन रक्षक (स्वाहाकारेण) वेदविद्या प्रचार से (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ १६॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान ॥ १५, १६ ॥

स यदूर्ध्वां दिशमनु व्यचलद् बृहस्पतिर्भूत्वानुव्यचलद् वषट्कारमन्नादं कृत्वा ॥ १७ ॥

०। यत्। ऊर्ध्वाम्। दिशम्। अनु। वि-अचलत्। बृहस्पतिः। भूत्वा। अनु-व्यचलत्। वषट्-कारम्। अन्न-अदम्। ०॥ १७॥

वषट्कारेणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ १८ ॥

वषट्-कारेण। अन्न-अदेन। ०॥ १८॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (ऊर्ध्वाम्) ऊंची (दिशम् अनु) दिशा की ओर (व्यचलत्) विचरा वह (बृहस्पतिः)

१५, १६—(मनुष्यान्) मननशीलान् पुरुषान् (अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी (स्वाहाकारम्) स्वाहा वाङ्नाम-निघ० १। ११। वेदविद्याप्रचारम् (स्वाहाकारेण) वेदविद्याप्रचारेण। अन्यत् पूर्ववत्—म० १, २॥

१७, १८—(ऊर्ध्वाम्)उन्नताम् (बृहस्पतिः) बृहतानां महतीनां विद्यानां

बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक] (भूत्वा) होकर और (वषट्कारम्) दानव्यवहार को (अन्नादम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥१७॥ वह [अतिथि] (अन्नादेन) जीवन रक्षक (वषट्कारेण) दानव्यवहार से (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान ॥ १७, १८ ॥

स यद् देवाननु व्यचलदीशानो भूत्वानुव्यचलन्मन्युमन्नादं कृत्वा ॥ १९ ॥

० । यत् । देवान् । अनु । वि-अचलत् । ईशानः । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । मन्युम् । अन्न-अदम् । ० ॥ १९ ॥

मन्युनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २० ॥

मन्युना । अन्न-अदेन ० ॥ २० ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (देवान् अनु) विद्वानों की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (ईशानः) समर्थ (भूत्वा) होकर और (मन्युम्) ज्ञान को (अन्नादम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ १९ ॥ वह [अतिथि] (अन्नादेन) जीवन रक्षक (मन्युना) ज्ञान से (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ २० ॥

भावार्थ—मन्त्र १, २ के समान ॥ १९,२० ॥

रक्षकः (वषट्कारम्) वह प्रापणे—डपटि । दानव्यवहारम् (वषट्कारेण) दानव्यवहारेण । अन्यत् पूर्ववत्-म० १, २ ॥

१९, २०—(देवान्) विदुषः पुरुषान् (ईशानः) समर्थः (मन्युम्) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । मन ज्ञाने—युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । ज्ञानम् । प्रकाशम् (मन्युना) ज्ञानेन । अन्यत् पूर्ववत्—म० १, २ ॥

स यत् प्रजा अनु व्यचलत् प्रजापतिर्भूत्वानुव्यचलत् प्राणमन्नादं कृत्वा ॥ २१ ॥

०। यत् । प्र-जाः । अनु । वि-अचलत् । प्रजा-पतिः । भूत्वा अनु-व्यचलत् । प्राणम् । अन्न-अदम् । ० ॥ २१ ॥

प्राणेनान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २२ ॥

प्राणेन । अन्न-अदेन । ० ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (प्रजाः अनु) प्रजाओं [प्राणियों] की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (प्रजापतिः) प्रजापति [प्राणियों का रक्षक] (भूत्वा) होकर और (प्राणम्) प्राण [आत्मबल] को (अन्नादम्) जीवनरक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ २१ ॥ वह [अतिथि] (अन्नादेन) जीवनरक्षक (प्राणेन) प्राण से (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १,२ के समान ॥ २१, २२ ॥

स यत् सर्वानन्तर्देशाननु व्यचलत् परमेष्ठी भूत्वानुव्यचलद् ब्रह्मान्नादं कृत्वा ॥ २३ ॥

सः । यत् । सर्वान् । अन्तः-देशान् । अनु । वि-अचलत् । परमे-स्थी । भूत्वा । अनु-व्यचलत् । ब्रह्म । अन्न-अदम् । कृत्वा ॥ २३ ॥

ब्रह्मणान्नादेनान्नमत्ति य एवं वेद ॥ २४ ॥

ब्रह्मणा । अन्न-अदेन । अन्नम् । अत्ति । यः । एवम् । वेद २४

२१, २२—(प्रजाः) जीवान् (प्रजापतिः) जीवपालः (प्राणम्) आत्मबलम् (प्राणेन) आत्मबलेन । अन्यत् पूर्ववत्-म० १, २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [व्रात्य अतिथि] (यत्) जब (सर्वान्) सब (अन्तर्देशान् अनु) बीच वाले देशों की ओर (व्यचलत्) विचरा, वह (परमेष्ठी) परमेष्ठी [सब से ऊंचे पद वाला] (भूत्वा) होकर और (ब्रह्म) परब्रह्म [जगदीश्वर] को (अन्नादम्) जीवन रक्षक (कृत्वा) करके (अनुव्यचलत्) लगातार चला गया ॥ २३ ॥ वह [अतिथि] (अन्नादेन) जीवन रक्षक (ब्रह्मणा) परब्रह्म जगदीश्वर के साथ (अन्नम्) जीवन की (अत्ति) रक्षा करता है, (यः) जो (एवम्) व्यापक परमात्मा को (वेद) जानता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १,२ के समान ॥ २३, २४ ॥

सूक्तम् ॥ १५ ॥

१-९ ॥ व्रात्यो देवता ॥ तस्य व्रात्यस्य १, ३-९ दैवी पङ्क्तिः, २ आसुरी बृहती; योऽस्येति ३ प्राजापत्याऽनुष्टुप्; योऽस्येति ४, ७, ८ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्; योऽस्येति ५, ६, साम्नी बृहती; योऽस्येति ९ आर्च्यनुष्टुप् ॥ अतिथेः सामर्थ्योपदेशः—अतिथि के सामर्थ्य का उपदेश ॥

तस्य व्रात्यस्य ॥ १ ॥ तस्य । व्रात्यस्य ॥ १ ॥

सप्त प्राणाः सप्तापानाः सप्त व्यानाः ॥ २ ॥

सप्त । प्राणाः । सप्त । अपानाः । सप्त । वि-आनाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] के ॥ १ ॥ (सप्त) सात (प्राणाः) प्राण [शरीर में भीतर जाने वाले जीवन वर्धक श्वास], (सप्त) सात (अपानाः) अपान [शरीर से बाहिर निकलने

२३, २४—(सर्वान्) समस्तान् (अन्तर्देशान्) मध्यदेशान् (परमेष्ठी) सर्वोपरिपदस्थः (ब्रह्म) परमात्मानम् (ब्रह्मणा) परमात्मना सह । अन्यत् पूर्ववत्-म० १, २ ॥

१—(तस्य) तादृशस्य (व्रात्यस्य) सत्यव्रतधारिणोऽतिथेः ॥

२—(सप्त) शीर्षण्यसप्तच्छिद्रसम्बन्धेन सप्तसंख्याकाः (प्राणाः) प्र+अन जीवने-घञ् । शरीरमध्यगामिनो जीवनवर्धका वायवः (सप्त) (अपानाः)

वाले दोषनाशक प्रश्वास] और (सप्त) सात (व्यानाः) व्यान [सब शरीर में फैले हुये वायु] हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्राणियों के शरीर में मस्तक के भीतर दो कान, दो नथने, दो आंखें और एक मुख सात छिद्र बनाये हैं, इन को ही [सप्त ऋषयः, सप्त सिन्धवः, सप्त प्राणाः आदि] कहते हैं। विद्वान् योगी अतिथि इनकी विविध वृत्तियों को वश में करने से तत्त्वज्ञानी होकर सर्वोपकारी होता है। इन ही सात शीर्षण्य छिद्रों के सम्बन्ध से इस सूक्त तथा १६ और १७ में अतिथि के सात प्राण, सात अपान और सात व्यान का वर्णन है ॥ १, २ ॥

अथर्ववेद १०। २। ६ का वचन है—(कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्। येषां पुरुत्रा विजयस्य मह्मनि चतुष्पादो द्विपदो यन्ति यामम्) कर्ता प्रजापति ने [प्राणी के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दो नथने, दोनों आंखें और एक मुख। जिनके विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से सन्मार्ग चलते हैं ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य प्रथमः प्राण ऊर्ध्वो नामायं सो अग्निः ३

०। यः। अस्य। प्रथमः। प्राणः। ऊर्ध्वः। नाम। अयम्। सः। अग्निः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (प्रथमः) पहिला (प्राणः) प्राण [श्वास] (ऊर्ध्वः) ऊर्ध्व [ऊंचा] (नाम) नाम है, (सः) सो (अयम् अग्निः) यह अग्नि है [अर्थात् वह शारीरिक, पार्थिव, समुद्रीय, गुप्त प्रकट बिजुली आदि अग्नि विद्याओं का प्रकाशक होता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ पर देखो ॥ ३ ॥

तस्य व्रात्यस्य। योऽस्य द्वितीयः प्राणः प्रौढो नामासौ स आदित्यः ॥ ४ ॥

अप + अन जीवने—घञ्। शरीरबहिर्गामिनो दोषनाशका वायवः (सप्त) (व्यानाः) वि + अन जीवने—घञ्। सर्वशरीरव्यापका वायवः ॥

३—(प्रथमः) आद्यः (ऊर्ध्वः) उन्नतः (अग्निः) अग्निविद्याप्रकाशः। अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

० । अस्य । द्वितीयः । प्राणः । प्र-ऊढः । नाम । असौ । सः । आदित्यः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (द्वितीयः) दूसरा (प्राणः) प्राण (प्रौढः) प्रौढ [प्रवृद्ध] (नाम) नाम है, (सः) सो (असौ) यह (आदित्यः) चमकने वाला सूर्य है [अर्थात् वह सूर्यविद्या का प्रकाशक होता है-कि सूर्य का पृथिवी आदि लोकों और उनके पदार्थों से और उन सब का सूर्य लोक से क्या सम्बन्ध है यह विचारता है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ९ पर देखो ॥ ४ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य तृतीयः प्राणोऽभ्यूढो नामासौ स चन्द्रमाः ॥ ५ ॥

० । अस्य । तृतीयः । प्राणः । अभि-ऊढः । नाम । असौ । सः । चन्द्रमाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (तृतीयः) तीसरा (प्राणः) प्राण [श्वास] (अभ्यूढ) अभ्यूढ [सामने से प्राप्त] (नाम) नाम है, (सः) सो (असौ चन्द्रमाः) यह चन्द्रमा है [अर्थात् वह बताता है कि उपग्रह चन्द्रमा, अपने ग्रह पृथिवी से किस सम्बन्ध से क्या प्रभाव करता है और इसी प्रकार अन्य चन्द्रमाओं का अन्य ग्रहों से क्या सम्बन्ध है] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ९ पर देखो ॥ ५ ॥

४—(प्रौढः) प्रादूहोढोढ्येषैष्येषु । वा० पा० ६ । १ । ८९ । प्र+ऊढः, वृद्धिः । प्रवृद्धः (आदित्यः) आदीप्यमानसूर्यविद्याप्रकाशः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

५—(अभ्यूढः) आभिमुख्येन प्राप्तः (चन्द्रमाः) चन्द्रविद्याप्रचारः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य चतुर्थः प्राणो विभूर्नामायं स पवमानः ॥ ६ ॥

० । अस्य । चतुर्थः । प्राणः । वि-भूः । नाम । अयम् । सः । पवमानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (चतुर्थः) चौथा (प्राणः) प्राण [श्वास] (विभूः) विभू [व्यापक] (नाम) नाम है, (सः) सो (अयं पवमानः) यह पवमान [शोधक वायु] है [अर्थात् वह बताता है कि वायु क्या है और उस का प्रभाव सब जीवों, सब पृथिवी, सूर्य आदि लोकों पर क्या होता है] ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र ९ पर देखो ॥ ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य पञ्चमः प्राणो योनिर्नाम ता इमा आपः ॥ ७ ॥

० । अस्य । पञ्चमः । प्राणः । योनिः । नाम । ताः । इमाः । आपः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (पञ्चमः) पांचवां (प्राणः) प्राण [श्वास] (योनिः) योनि [कारण] (नाम) नाम है, (ताः) सो (इमाः आपः) ये जल हैं [अर्थात् वह सिखाता है कि जल क्या है और वह भूमण्डल, मेघमण्डल, सूर्यमण्डल आदि लोकों से क्या सम्बन्ध रखता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ९ पर देखो ॥ ७ ॥

६—(विभूः) व्यापकः (पवमानः) शोधकवायुविद्या । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

७—(योनिः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—नि । कारणम् (आपः) जलविद्या । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठः प्रा॒णः प्रि॒यो नाम॑ त इ॒मे प॒शवः॑ ॥ ८ ॥

अ॒स्य॒ । ष॒ष्ठः । प्रा॒णः । प्रि॒यः । नाम॑ । ते । इ॒मे । प॒शवः॑ ॥८॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (षष्ठः) छठा (प्राणः) प्राण [श्वास] (प्रियः) प्रिय [प्रीतिकारक] (नाम) नाम है, (ते) सो (इमे पशवः) ये पशु हैं [अर्थात् वह जताता है कि गौ अश्व आदि जीव पृथिवी लोक और दूसरे लोकों में कैसे उपकारी होते हैं] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मन्त्र ९ पर देखो ॥ ८ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य स॒प्त॒मः प्रा॒णो॑ऽप॑रिमितो॒ नाम॒ ता इ॒माः प्र॒जाः ॥ ९ ॥

० । अ॒स्य॒ । स॒प्त॒मः । प्रा॒णः । अप॑रि-मितः । नाम॑ । ताः । इ॒माः । प्र॒-जाः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) उस [व्रात्य] का (सप्तमः) सातवां (प्राणः) प्राण [श्वास] (अपरिमितः) अपरिमित [असीम] (नाम) नाम है, (ताः) सो (इमाः प्रजाः) यह प्रजायें हैं [अर्थात् वह समझाता है कि परमात्मा की सृष्टि में भूलोक, चन्द्रलोक, सूर्यलोक आदि के मनुष्य, जीव जन्तुओं का सम्बन्ध आपस में और दूसरे लोक वालों से क्या रहता है] ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् मस्तक के सात छिद्रों द्वारा [मन्त्र १, २ देखो] प्रथम श्वास में विद्या, दूसरे में सूर्यविद्या, तीसरे में चन्द्रविद्या, चौथे में वायुविद्या, पांचवें में जलविद्या, छठे में पशुविद्या, और सातवें में प्रजाओं के

८—(प्रियः) प्रीतिकरः (पशवः) गवाश्वादयः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

९—(अपरिमितः) अगणितः (प्रजाः) उत्पन्नजनानां सङ्घटनविद्याः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

परस्पर संघटन की विद्या का प्रकाश करता है—अर्थात् वह बहुत शीघ्र मन की वृत्तियों को वश में करके प्रत्येक इन्द्रिय से प्रत्येक श्वास में संसार का उपकार करता है ॥ ३-६ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—७ ॥ व्रात्यो देवता ॥ तस्य व्रात्यस्य १—७ दैवी पङ्क्तिः ; योऽस्येति १, ३ साम्न्युष्णिक् ; योऽस्येति २, ४, ५ प्राजापत्योष्णिक् ; योऽस्येति ६ याजुषी त्रिष्टुप् ; योऽस्येति ७ आसुरी गायत्री ॥

अतिथेः सामर्थ्योपदेशः—अतिथि के सामर्थ्य का उपदेश ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य प्रथमोऽपानः सा पौर्णमासी ॥ १ ॥

० । प्रथमः । अपानः । सा । पौर्ण-मासी ॥ १ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का-(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (प्रथमः) पहिला (अपानः) अपान [प्रश्वास अर्थात् बाहिर निकलने वाला दोषनाशक वायु] है, (सा) वह (पौर्णमासी) पौर्णमासी है [अर्थात् पूर्णमासेष्टि है जिसमें वह विचारता है कि उस दिन चन्द्रमा पूरा क्यों दीखता है, पृथिवी, समुद्र आदि पर उसका क्या प्रभाव होता है, इस प्रकार का यज्ञ वह ज्ञानी पुरुष अपने इन्द्रिय दमन से सिद्ध करता है] ॥ १ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य द्वितीयोऽपानः साष्टका ॥ २ ॥

० । द्वितीयः । अपानः । सा । अष्टका ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का-(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (द्वितीयः) दूसरा (अपानः) अपान [प्रश्वास] है, (सः) वह (अष्टका) अष्टका है [अर्थात् वह अष्टमी आदि

१—(अपानः) प्रश्वासः । शरीरबहिर्गामी दोषनाशको वायुः (पौर्णमासी) अ० ७ । ८० । १ तथा १५ । १७ । ६ । पूर्णमास-अण्, ङीप् । पूर्णमासेष्टिः । पूर्णचन्द्रसम्बन्धिनी विद्या । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

२—(अष्टका) इष्यशिभ्यां तकन् । उ० ३ । १४८ । अशू व्याप्तौ अश भोजने वा-तकन्, टाप् । अष्टका पितृदेवत्ये । वा० पा० ७ । ३ । ४५ । इत्वाभावः ।

तिथि का यज्ञ है जिसमें विद्वान् पितर लोग विचारते हैं कि ज्योतिष शास्त्र की मर्यादा से इन तिथियों में सूर्य और चन्द्र आदि का क्या प्रभाव पड़ता है] ॥ २ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो᳖ऽस्य तृ॒तीयो᳖ऽपा॒नः सा॑मा॒वा॒स्या᳖ ॥ ३ ॥

० । तृ॒तीयः॑ । अ॒पा॒नः । सा । अ॒मा॒-वा॒स्या᳖ ॥ ३ ॥

भावार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (तृतीयः) तीसरा (अपानः) अपान [प्रश्वास] है, (सा) वह (अमावास्या) अमावस्या है [वह दर्शेष्टि है जिसमें विचारा जाता है कि अमावस के सूर्य और चन्द्रमा एक राशि में आकर क्या प्रभाव उत्पन्न करते हैं] ॥ ३ ॥

पूर्णमासेष्टि और दर्शेष्टि के विषय में देखो—मनु० अ० ४ श्लो० २५ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो᳖ऽस्य च॒तु॒र्थो᳖ऽपा॒नः सा श्र॒द्धा ॥ ४ ॥

० । च॒तु॒र्थः । अ॒पा॒नः । सा । श्र॒द्धा ॥ ४ ॥

भावार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (चतुर्थः) चौथा (अपानः) अपान [प्रश्वास] है, (सा श्रद्धा) वह श्रद्धा है [वह ज्ञानी पुरुष जितेन्द्रियता से श्रद्धा प्राप्त करता है] ॥ ४ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो᳖ऽस्य प॒ञ्च॒मो᳖ऽपा॒नः सा दी॒क्षा ॥ ५ ॥

० । प॒ञ्च॒मः । अ॒पा॒नः । सा । दी॒क्षा ॥ ५ ॥

भावार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (पञ्चमः) पाचवां (अपानः) अपान [प्रश्वास] है, (सा दीक्षा) वह दीक्षा है [वह नियम और व्रतपालन की शिक्षा करता है] ॥ ५ ॥

अष्टम्यादितिथौ पितॄणां समागमेन ज्योतिषविद्याविचारः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

३—(अमावास्या) सू० १७ म० ८ । अमा सह वसतश्चन्द्रार्कौ यत्र, वस निवासे—एयत् । कृष्णपक्षशेषतिथिः, तद्दिने चन्द्रार्कावेकराशिस्थौ भवतः । दर्शेष्टिर्यज्ञविशेषः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

४—(श्रद्धा) गुरुवेदादिवाक्येषु विश्वासः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

५—(दीक्षा) नियमव्रतयोः शिक्षा । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य षष्ठोऽपानः स यज्ञः ॥ ६ ॥

० । षष्ठः । अपानः । सः । यज्ञः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का-(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (षष्ठः) छठा (अपानः) अपान [प्रश्वास] है, (स यज्ञः) वह यज्ञ है [मानो वह परमेश्वर और विद्वानों का सत्कार, परस्पर संयोग और विद्या आदि दान है] ॥ ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमोऽपानस्ता इमा दक्षिणाः ॥ ७ ॥

० । सप्तमः । अपानः । ताः । इमाः । दक्षिणाः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का-(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (सप्तमः) सातवां (अपानः) अपान [प्रश्वास] है, (ताः) वे (इमाः) ये (दक्षिणाः) दक्षिणायें हैं [मानो वह यज्ञ समाप्ति पर विद्वानों के सत्कारद्रव्य हैं] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे सामान्य मनुष्य ज्ञान प्राप्ति के लिये पौर्णमासी आदि यज्ञ करके श्रद्धावान् होते हैं, वैसे ही विद्वान् अतिथि सन्न्यासी उस कार्मिक यज्ञ आदि के स्थान पर अपनी जितेन्द्रियता से मानसिक यज्ञ करके यज्ञ फल प्राप्त करते हैं, अर्थात् ब्रह्मविद्या ज्योतिषविद्या आदि अनेक विद्याओं का प्रचार करके संसार में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ १–७ ॥

मनु महाराज कहते हैं—अ० ४ श्लो० २३ [वाच्येके जुह्वति प्राणं प्राणे वाचं च सर्वदा । वाचि प्राणे च पश्यन्तो यज्ञनिर्वृत्तिमक्षयाम्] ॥

कोई कोई विद्वान् वाणी और प्राण [के संयम] में अक्षय यज्ञसिद्धि देखते हुये वाणी में प्राण का और प्राण में वाणी का हवन करते हैं [अर्थात् वाणी और प्राण का संयम करते हैं] ॥

६—(यज्ञः) यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नङ् । पा० ३ । ३ । ६० । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—नङ् । परमेश्वरविद्वत्सत्कार-परस्परसंयोग । विद्यादि-दानव्यवहारः । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

७—(दक्षिणाः) यज्ञसमाप्तौ विद्वद्भ्यः सत्कारद्रव्याणि । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—१० ॥ व्रात्यो देवता ॥ तस्य व्रात्यस्य १—१० दैवी पङ्क्तिः ; योऽस्येति १, ५ प्राजापत्योष्णिक् ; योऽस्येति २, ७ आसुर्यनुष्टुप् ; योऽस्येति ३ याजुषी पङ्क्तिः ; योऽस्येति ४ साम्न्युष्णिक् ; योऽस्येति ६ याजुषी त्रिष्टुप् ; समानमिति ८ आर्ची पङ्क्तिः ; यदादित्यमिति ९ साम्नी त्रिष्टुप् ; एकमिति १० साम्न्यनुष्टुप् ॥

व्रात्यसामर्थ्योपदेशः—व्रात्य के सामर्थ्य का उपदेश ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प्र॒थ॒मो व्या॒नः सेयं भूमि॑ः ॥ १ ॥

० । अ॒स्य॒ । प्र॒थ॒मः । वि॒-आ॒नः । सा । इ॒यम् । भूमि॑ः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (प्रथमः) पहिला (व्यानः) व्यान [शरीर में फैला वायु] है, (सा) सो (इयम् भूमिः) यह भूमि है [अर्थात् वह भूगर्भविद्या, राज्यपालन आदि विद्या का उपदेश करता है] ॥ १ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य द्वि॒तीयो॑ व्या॒नस्तद॒न्तरि॑क्षम् ॥ २ ॥

० । अ॒स्य॒ । द्वि॒तीय॑ः । वि॒-आ॒नः । तत् । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (द्वितीयः) दूसरा (व्यानः) व्यान [शरीर में फैला हुआ वायु] है, (तत्) वह (अन्तरिक्षम्) मध्यलोक है [अर्थात् वह वायुमण्डल, मेघमण्डल आदि का ज्ञान देता है] ॥ २ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य तृ॒तीयो॑ व्या॒नः सा द्यौः ॥ ३ ॥

० । अ॒स्य॒ । तृ॒तीय॑ः । वि॒-आ॒नः । सा । द्यौः ॥ ३ ॥

१—(व्यानः) सर्वशरीरव्यापको वायुः (भूमिः) भूगर्भविद्या राज्यपालनादिविद्या च । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

२—(अन्तरिक्षम्) मध्यलोकस्थवायुमण्डलमेघमण्डलादिज्ञानम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

भावार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (तृतीयः) तीसरा (व्यानः) व्यान [शरीर में फैला हुआ वायु] है, (सा) वह (द्यौः) सूर्य वा आकाश है [अर्थात् वह सूर्य के ताप आकर्षण आदि और आकाश के फैलाव आदि की विद्या को जताता है] ॥ ३ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य च॒तुर्थो॑ व्या॒नस्तानि॒ नक्ष॑त्राणि ॥ ४ ॥

० । अ॒स्य॒ । च॒तु॒र्थः । वि॒-आ॒नः । तानि॑ । नक्ष॑त्राणि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का-(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (चतुर्थः) चौथा (व्यानः) व्यान [सब शरीर में फैला हुआ वायु] है, (तानि) वे (नक्षत्राणि) चलने वाले तारागण हैं [अर्थात् वह तारागणों के परस्पर आकर्षण रखने, अपने अपने मार्ग पर चलने और उछलने डूबने आदि का ज्ञान बताता है] ॥ ४ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य प॒ञ्च॒मो व्या॒नस्त ऋ॒तवः॑ ॥ ५ ॥

० । अ॒स्य॒ । प॒ञ्च॒मः । वि॒-आ॒नः । ते । ऋ॒तवः॑ ॥ ५ ॥

भावार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का-(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (पञ्चमः) पाचवां (व्यानः) व्यान [सब शरीर में फैला हुआ वायु] है, (ते) वे (ऋतवः) ऋतुयें हैं [अर्थात् वह वसन्त आदि ऋतुओं के क्रम और कारण आदि का उपदेश करता है] ॥५॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यो॑ऽस्य ष॒ष्ठो व्या॒नस्त आ॑र्त॒वाः ॥ ६ ॥

० । अ॒स्य॒ । ष॒ष्ठः । वि॒-आ॒नः । ते । आ॒र्त॒वाः ॥ ६ ॥

३—(द्यौः) सूर्यतापाकर्षणादिविद्या। आकाशस्य विस्तारादिविद्या। अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

४—(नक्षत्राणि) अमिनक्षियजिवधिपतिभ्योऽत्रन् । उ० ३ । १०५ । णक्ष-गतौ—अत्रन् । गतिशीलानां तारागणानां परस्पराकर्षणादिज्ञानम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

५—(ऋतवः) वसन्तादीनां क्रमकारणादिबोधः अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का–(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (षष्ठः) छठा (व्यानः) व्यान [सब शरीर में फैला हुआ वायु] है, (ते) वे (आर्तवाः) ऋतुओं में उत्पन्न पदार्थ हैं [अर्थात् वह फूल फल आदि की उत्पत्ति और उपकार का ज्ञान देता है] ॥ ६ ॥

तस्य व्रात्यस्य । योऽस्य सप्तमो व्यानः स संवत्सरः ॥ ७ ॥

० । यः । अस्य । सप्तमः । वि-आनः । सः । सम्-वत्सरः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] का–(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (सप्तमः) सातवां (व्यानः) व्यान [सब शरीर में फैला हुआ वायु] है, (सः) वह (संवत्सरः) संवत्सर है [अर्थात् वर्ष में ऋतु महीने आदि कैसे वसते हैं और सब मनुष्य आदि प्राणी कैसे उसका उपभोग करते हैं, इस का वह ज्ञान कराता है] ॥ ७ ॥

भावार्थ–सत्यव्रतधारी महात्मा अतिथि सन्न्यासी अपने प्रत्येक व्यान वायु की चेष्टा में संसार का उपकार करता है, जैसे वह प्रथम व्यान में भूमिविद्या, दूसरे में अन्तरिक्षविद्या, तीसरे में सूर्यविद्या वा आकाशविद्या, चौथे में नक्षत्र-विद्या, पाचवें में वसन्त आदि ऋतुविद्या, छठे में ऋतुओं में उत्पन्न पुष्प फल आदि पदार्थविद्या और सातवें में संवत्सर अर्थात् काल की उपभोगविद्या का उपदेश करता है ॥ १–७ ॥

तस्य व्रात्यस्य । समानमर्थं परि यन्ति देवाः संवत्सरं वा एतदृतवोऽनुपरियन्ति व्रात्यं च ॥ ८ ॥

० । समानम् । अर्थम् । परि । यन्ति । देवाः । सम्-वत्सरम् ।

६—(आर्तवाः) ऋतुभवानां पुष्पफलादिपदार्थानां ज्ञानम् । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

७—(संवत्सरः) संपूर्वाच्चित् । उ० ३ । ७२ । सम्+वस निवासे सरन्, स च चित् । संवसन्ति वसन्तादयो यत्र । कालोपभोगविद्या । अन्यत् पूर्ववत् स्पष्टं च ॥

वै । ए॒तत् । ऋ॒तवः । अ॒नु-परि॑यन्ति । व्रात्य॑म् । च॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] के-(समानम्) एक से अर्थात् धार्मिक (अर्थम्) अर्थ [विचार] को (देवाः) विद्वान् लोग (परि) सब ओर से (यन्ति) प्राप्त करते हैं, (च) और (व्रात्यम्) उस व्रात्य [सत्यव्रतधारी पुरुष] के (वै) निश्चय करके (एतत्) इस प्रकार से (अनुपरियन्ति) पीछे घिर कर चलते हैं; [जैसे] (ऋतवः) ऋतुयें (संवत्सरम्) वर्षकाल के [पीछे चलते हैं] ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो सत्यव्रतधारी परोपकारी सन्यासी हो, सब विद्वान् लोग उसी के न्याययुक्त वेदानुकूल मार्ग पर चलें और सब मिलकर उसी से प्रीति करें, जैसे सब ऋतुयें और महीने आदि वर्ष में मिले रहते हैं ॥ ८ ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य । यदा॑दि॒त्यम॑भिसं॒विश॒न्त्य॑मावा॒स्यां॑ चै॒व तत्पौ॑र्णमा॒सीं च॑ ॥ ९ ॥

० । यत् । आ॒दि॒त्यम् । अ॒भि-सं॒विश॑न्ति । अ॒मा-वा॒स्या॑म् । च॒ । ए॒व । तत् । पौ॒र्ण॒-मा॒सीम् । च॒ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] के-(आदित्यम्) प्रकाशमान गुण में (यत्) जब (अभिसंविशन्ति) वे [विद्वान्—मन्त्र ८] सब ओर से यथावत् प्रवेश करते हैं, (तत् एव) तब ही

८—(समानम्) सम्+अन जीवने-घञ् । यद्वा सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे-ड । एकम् । धार्मिकम् (अर्थम्) उषिकुषिगार्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । ऋ गतिप्रापणयोः—थन् । विचारम् । प्रयोजनम् (परि) सर्वतः (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (देवाः) विद्वांसः (संवत्सरम्) द्वादशमासात्मकं कालम् (वै) निश्चयेन (एतत्) अनेन प्रकारेण (ऋतवः) वसन्तादयः (अनुपरियन्ति) अनुसृत्य सर्वतः प्राप्नुवन्ति (व्रात्यम्) सत्यव्रतधारिणं पुरुषम् (च) समुच्चये ॥

९—(यत्) यदा (आदित्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । आङ्+दीपी दीप्तौ-यक् । पृषोदरादिरूपम् । आदीप्यमानं गुणम् (अभिसंविशन्ति) अभितः सर्वतः सम्यक् प्रविशन्ति । प्राप्नुवन्ति ते देवाः—म० ८ (अमावास्याम्)

(अमावास्याम्) साथ साथ बसने की क्रिया में (च च) और (पौर्णमासीम्) पूरे मापने [निश्चय करने] की क्रिया में [वे प्रवेश करते हैं] ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग आप्त सन्यासी अतिथि के सत्संग से परस्पर उपकार और पदार्थों की परीक्षा आदि विद्यायें ग्रहण करें ॥ ९ ॥

तस्य व्रात्यस्य । एकं तदेषाममृतत्वमित्याहुतिरेव ॥ १० ॥

० । एकम् । तत् । एषाम् । अमृत-त्वम् । इति । आ-हुतिः । एव ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] की—(आहुतिः) आहुति [दानक्रिया] (एव) ही (एषाम्) इन [विद्वानों] का (एकम्) केवल (तत्) वह [प्रसिद्ध] (अमृतत्वम्) अमरपन [जीवन अर्थात् पुरुषार्थ] है—(इति) यह निश्चित है ॥ १० ॥

भावार्थ—जब विद्वान् सन्यासी अपने आत्मा को संसार की भलाई में लगा देता है, विद्वान् लोग उसकी मर्यादा को मानकर पुरुषार्थ करते और क्लेशों को त्याग कर आनन्द भोगते हैं ॥ १० ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—५ ॥ व्रात्यो देवता ॥ १ दैवी पङ्क्तिः ; २, ३, आर्ची बृहती ; ४ आर्च्यनुष्टुप् ; ५ साम्न्युष्णिक् ॥

व्रात्यसामर्थ्योपदेशः—व्रात्य के सामर्थ्य का उपदेश ॥

अ० ७ । ७९ । १ । अमावस्यदन्यतरस्याम् । पा० ३ । १ । १२२ । अमा+वस निवासे—ण्यत्, टाप् । अमा सह निवसन्ति प्राणिनो यस्यां क्रियायां ताम् (च) (एव) (तत्) तदा (पौर्णमासीम्) अ० ७ । ८० । १ । पूर्ण+मसी परिणामे परिमाणे च—घञ् । पूर्णमासादण् । वा० पा० ४ । २ । ३५ । पूर्णमास—अण् । पूर्णो मासः परिमाणं परीक्षणं यस्यां क्रियायां ताम् (च) ॥

१०—(एकम्) केवलम् (तत्) प्रसिद्धम् (एषाम्) देवानाम् । विदुषाम् (अमृतत्वम्) अमरणम् । जीवनम् । पुरुषार्थम् (इति) एवं निश्चितम् (आहुतिः) समन्ताद् दानक्रिया (एव) अवधारणे ॥

तस्य॒ व्रात्य॑स्य ॥ १ ॥ तस्य॑ । व्रात्य॑स्य ॥ १ ॥

यद॑स्य॒ दक्षि॑ण॒मक्ष्य॒सौ स आ॑दि॒त्यो यद॑स्य स॒व्यमक्ष्य॒सौ स च॒न्द्रमाः॑ ॥ २ ॥

यत् । अ॒स्य । दक्षि॑णम् । अक्षि॑ । अ॒सौ । सः । आ॒दि॒त्यः । यत् । अ॒स्य । स॒व्यम् । अक्षि॑ । अ॒सौ । सः । च॒न्द्रमाः॑ ॥२॥

भाषार्थ—(तस्य) उस (व्रात्यस्य) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] को ॥ १ ॥ (यत्) जो (अस्य) इस [व्रात्य] की (दक्षिणम्) दाहिनी (अक्षि) आंख है, (सः) सो (असौ) वह (आदित्यः) चमकता हुआ सूर्य है, और (यत्) जो (अस्य) इस की (सव्यम्) बायीं (अक्षि) आंख है, (सः) सो (असौ) वह (चन्द्रमाः) आनन्दप्रद चन्द्रमा है ॥ २ ॥

भावार्थ—आप्त सन्यासी पूर्ण दृष्टि से सब मर्यादाओं को जांचकर अपनी विद्या से सूर्य चन्द्रमा के समान उपकार करता है ॥ १, २ ॥

यो॑ऽस्य॒ दक्षि॑णः॒ कर्णो॒ऽयं सो अ॒ग्निर्यो॑ऽस्य स॒व्यः कर्णो॒ऽयं स पव॑मानः ॥ ३ ॥

यः । अ॒स्य॒ । दक्षि॑णः । कर्णः॑ । अ॒यम् । सः । अ॒ग्निः । यः । अ॒स्य॒ । स॒व्यः । कर्णः॑ । अ॒यम् । सः । पव॑मानः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (अस्य) इस [व्रात्य] का (दक्षिणः) दाहिना (कर्णः) कान है, (सः) सो (अयम्) यह (अग्निः) व्यापक अग्नि है, (यः) जो (अस्य) इस का (सव्यः) बायां (कर्णः) कान है, (सः) सो (अयम्) यह (पवमानः) शोधक वायु है ॥ ३ ॥

१, २—(यत्) (अस्य) (दक्षिणम्) अवामम् (अक्षि) नेत्रम् (असौ) (सः) प्रसिद्धः (आदित्यः) आदीप्यमानः सूर्यः (सव्यम्) वामम् (चन्द्रमाः) आह्लादकश्चन्द्रलोकः । अन्यत् पूर्ववत् सुगमं च ॥

३—(यः) (अस्य) व्रात्यस्य (दक्षिणः) अवामः (कर्णः) श्रोत्रम् (अयम्) (सः) (अग्निः) व्यापकोऽग्निः (सव्यः) वामः (पवमानः) दोषशोधको वायुः । अन्यद् गतं स्पष्टं च ॥

भावार्थ—विद्वान् अतिथि अपने स्वस्थ सचेत कानों द्वारा विद्याओं का श्रवण करके अग्नि समान व्यापक और पवन के समान दोषनाशक होकर संसार में सुख बढ़ाता है ॥ ३ ॥

अहोरात्रे नासिके दितिश्चादितिश्च शीर्षकपाले संवत्सरः शिरः ॥ ४ ॥

अहोरात्रे इति । नासिके इति । दितिः । च । अदितिः । च । शीर्षकपाले इति शीर्ष-कपाले । सम्-वत्सरः । शिरः ।४।

भाषार्थ—[इस व्रात्य के] (नासिके) दो नथने (अहोरात्रे) दिन रात्रि, (च) और (शीर्षकपाले) मस्तक के दोनों खोपड़े (दितिः) दिति [खण्डित विकृति अर्थात् विनश्वर सृष्टि] (च) और (अदितिः) अदिति [अखण्डित प्रकृति अर्थात् नाशरहित जगत् सामग्री] हैं और [उसका] (शिरः) शिर (संवत्सरः) संवत्सर [कालज्ञान] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सन्न्यासी अपने नथने श्वास प्रश्वास के मार्गों को दिन रात्रि के समान बहुत बड़ा मान कर मस्तक के खोपड़ों में सृष्टि और प्रकृति के नियमों को और मस्तक के भीतर कालज्ञान प्राप्त करता है अर्थात् वह अपनी स्वस्थ सचेत इन्द्रियों द्वारा समस्त संसार के ज्ञान को ग्रहण करता है ॥ ४ ॥

अह्ना प्रत्यङ् व्रात्यो रात्र्या प्राङ् नमो व्रात्याय ॥ ५ ॥

अह्ना । प्रत्यङ् । व्रात्यः । रात्र्या । प्राङ् । नमः । व्रात्याय ।५।

भाषार्थ—(व्रात्यः) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] (अह्ना) दिन के साथ (प्रत्यङ्) सामने जाने वाला और (रात्र्या) रात्रि के साथ (प्राङ्)

४—(अहोरात्रे) रात्रिदिने (नासिके) नासाच्छिद्रे (दितिः) खण्डिता विकृतिः । विनश्वरा सृष्टिः (च) (अदितिः) अखण्डिता विनाशरहिता प्रकृतिः । जगत्सामग्री (शीर्षकपाले) शिरोऽस्थिनी (संवत्सरः) सवत्सर-ज्ञानमित्यर्थः ॥

५—(अह्ना) दिनेन सह (प्रत्यङ्)प्रति + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । प्रतिगतः । अभिमुखः (व्रात्यः) सत्यव्रतधारी पुरुषः (रात्र्या) (प्राङ्) प्र+

आगे को चलने वाला है, (व्रात्याय) व्रात्य [सत्यव्रतधारी अतिथि] के लिये (नमः) नमस्कार [अर्थात् सत्कार होवे] ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् अतिथि दिन राति पुरुषार्थ से विघ्नों को हटा कर उन्नति करता और कराता है, सब गृहस्थ लोग उसका निरन्तर आदर सत्कार

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

इति पञ्चदशं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायक-

वाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम्

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये पञ्चदशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे कार्तिकमासे कृष्णसप्तम्यां तिथौ १९७५

[पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे

धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात्

मुद्रितम्—मार्गशीर्षशुक्ला २ संवत् १९७५ ता० ५ दिसम्बर १९१८ ॥

अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । प्रकर्षेण गतः । अग्रगामी (नमः) सत्कारः (व्रात्याय) सत्यव्रतधारिणे विदुषे ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ९-१२-११ की प्रति।

ला० दीवान चन्द्र प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जाव॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७९ प्राप्त २० जुलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आप को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य का करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्णकार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस, दान करें। स्वयम् ग्रहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय,—

नन्दलाल सिंह,

BSc. LL. B. उपमंत्री।

चिट्ठी संख्या ६० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद हैं। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए०, एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैं ने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा**—काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहाँ से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आप का भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आप ने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है आप को अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवाँ कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है, कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत परिडत महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आप का भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत परिडत गणेश प्रसाद शर्मा—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू कालिकाप्रशाद जी—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१२।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, जिला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १६१२।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आप को वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता. सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १६-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६—लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।.........इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोच कर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है......त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDY ADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State*, *letter No* 624 *dated 6th February* 1913.

... It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them ...also add on the address lable " For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support

---

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature .....The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥"

आनन्दसमाचार !

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आए और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। ये अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था, इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	-	पृष्ठ ३,६०० लगभग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)						२९=)

काण्ड—१८ छप रहा है। कांड १९ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२५ दिसम्बर १९१८। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड १६॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	अतिसृष्टो अपां वृषभो	प्रजापति	दुःख से निवृत्ति	सम्नी बृहती आदि
२	निर्दुरर्मण्य ऊर्जा	वाक्	इन्द्रियों की दृढ़ता	आसुर्यनुष्टुप् आदि
३	मूर्धाहं रयीणां	आत्मा	आयु की वृद्धि	आसुरी गायत्री आदि
४	नाभिरहं रयीणां	आत्मा	आयु की वृद्धि	साम्न्यनुष्टुप् आदि
५	विद्म ते स्वप्न जनित्रं	स्वप्न	आलस्यादि त्याग	भुरिगार्ची गायत्री आदि
६	अजैष्माद्या सनामाद्या	प्रजापति	रोग नाश	प्राजापत्याऽनुष्टुप् आदि
७	तेनैनं विध्याम्य	प्रजापति	शत्रु का नाश	आर्षी पङ्क्ति आदि
८	जितमस्माकमुद्भिन्न	प्रजापति	तथा	ब्राह्म्यनुष्टुप् आदि
९	जितमस्माकमुद्भिन्न	प्रजापति	सुख प्राप्ति का	साम्नी त्रिष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड १६ के मन्त्र अन्यवेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १६) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र,	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र,	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१, २	अजैष्माद्या सनामाद्या	६ । १,२	८ । ४७ । १८		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

षोडशं काण्डम् ।

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—१३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३ साम्नी बृहती ; २, १० याजुषी त्रिष्टुप् ; ४ आसुरी गायत्री ; ५, ८ साम्नी पङ्क्तिः ; ६ साम्न्यनुष्टुप् ; ७ आर्ची गायत्री ; ९ आसुरी पङ्क्तिः ; ११ साम्न्युष्णिक् ; १२, १३ निचृदार्च्यनुष्टुप् ॥

दुःखनिवृत्त्युपदेशः—दुःख से छुटने का उपदेश ॥

अतिसृष्टो अपां वृषभोऽतिसृष्टा अग्नयो दिव्याः ॥ १ ॥

अति-सृष्टः । अपाम् । वृषभः । अति-सृष्टाः । अग्नयः । दिव्याः ॥१॥

भाषार्थ—(अपाम्) प्रजाओं का (वृषभः) बड़ा ईश्वर [परमात्मा] (अतिसृष्टः) विमुक्त [छुटा हुआ] है, [जैसे] (दिव्याः) व्यवहारों में वर्तमान (अग्नयः) अग्नियां [सूर्य, बिजुली और प्रसिद्ध अग्नि] (अतिसृष्टाः) विमुक्त हैं ॥ १ ॥

१—(अतिसृष्टः) स्वातन्त्र्येण विमुक्तः (अपाम्) आपः=आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये, यजुः० ६ । २७ । प्रजानाम् (वृषभः) वृषु सेचने परमैश्वर्ये च—अभच्, कित् । परमेश्वरः । सर्वस्वामी (अतिसृष्टाः) विमुक्ताः (अग्नयः) सूर्यविद्युत्प्रसिद्धाग्नयः (दिव्याः) व्यवहारेषु भवाः ॥

भावार्थ—वह परमात्मा सब सृष्टि में ऐसा स्वतन्त्र रम रहा है, जैसे सूर्य बिजुली अग्नि वायु आदि संसार में निरन्तर सर्वोपकारी हैं, सब मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना करें ॥ १ ॥

रुजन् परिरुजन् मृणन् प्रमृणन् ॥ २ ॥

रुजन् । परि-रुजन् । मृणन् । प्र-मृणन् ॥ २ ॥

म्रोको मनोहा खनो निर्दाह आत्मदूषिस्तनूदूषिः ॥ ३ ॥

म्रोकः । मनः-हा । खनः । निः-दाहः । आत्म-दूषिः । तनू-दूषिः ३

इदं तमति सृजामि तं माभ्यवनिक्षि ॥ ४ ॥

इदम् । तम् । अति । सृजामि । तम् । मा । अभि-अवनिक्षि ॥४॥

भाषार्थ—(रुजन्) तोड़ता हुआ, (परिरुजन्) सब ओर से तोड़ता हुआ, (मृणन्) मारता हुआ, (प्रमृणन्) कुचलता हुआ ॥ २ ॥ (म्रोकः) सताने वाला, (मनोहा) मन का नाश करने वाला, (खनः) खोद डालने वाला, (निर्दाहः) जलन करने वाला, (आत्मदूषिः) आत्मा को दूषित करने वाला, और (तनूदूषिः) शरीर को दूषित करने वाला [जो रोग है] ॥ ३ ॥ (इदम्) अब (तम्) उस [रोग] को (अति सृजामि) मैं नाश करता हूं, (तम्) उस [रोग] को (मा अभ्यवनिक्षि) मैं कभी पुष्ट नहीं करूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जिन रोगों वा दोषों से आत्मा और शरीर में विकार होवे, उनको ज्ञानपूर्वक हटावें और कभी न बढ़ने दें ॥ २—४ ॥

२—(रुजन्) विदारयन् (परिरुजन्) सर्वतो विदारयन् (मृणन्) मारयन् (प्रमृणन्) प्रकर्षेण नाशयन् ॥

३—(म्रोकः) म्रुचु गतौ वेदे तु हिंसने-घञ्, कुत्वम् । हिंसकः (मनोहा) मनोनाशकः (खनः) खनु विदारणे—अच् । विदारकः । पीडकः (निर्दाहः) निरन्तर्दाहकः (आत्मदूषिः) आत्मदूषको रोगः (तनूदूषिः) शरीरदूषकः ॥

४—(इदम्) इदानीम् (तम्) रोगम् (अतिसृजामि) अतिसर्जनं वधे दाने च । विनाशयामि (तम्) रोगम् (मा अभ्यवनिक्षि) णिजिर् शौच-पोषणयोः—लुङ्, अडभावः । नैव पुष्येयम् ॥

तेन तम॒भ्यति॑सृजामो॒ यो॒३॒॑ऽस्मान् द्वे॒ष्टि॒ यं व॒यं द्वि॒ष्मः ॥५॥

तेन॑ । तम् । अ॒भि॒-अति॑सृजामः । यः । अ॒स्मान् । द्वे॒ष्टि॑ । यम् । व॒यम् । द्वि॒ष्मः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तेन) उसी [पूर्वोक्त कारण] से (तम्) उस [अज्ञानी वैरी] को (अभ्यतिसृजामः) हम सर्वथा नाश करते हैं, (यः) जो [अज्ञानी] (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) द्वेष करता है और (यम्) जिस से (वयम्) हम (द्विष्मः) द्वेष करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो अधर्मी लोग धर्मात्माओं से अपनी दुष्टता के कारण वैर करें, अथवा धर्मात्मा लोग जिन्हें उनके दुष्ट व्यवहार के कारण बुरा जानें, विद्वान् लोग उन दुराचारियों को प्रयत्न पूर्वक नाश करें ॥ ५ ॥

अ॒पाम॑ग्र॑मसि समु॒द्रं वो॒ऽभ्यव॑सृजामि ॥ ६ ॥

अ॒पाम् । अग्र॑म् । अ॒सि॒ । स॒मु॒द्रम् । वः॒ । अ॒भि॒-अव॑सृजामि ६

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] वह [परमात्मा] (अपाम्) प्रजाओं का (अग्रम्) सहारा (असि=अस्ति) है-(वः) तुमको (समुद्रम्) प्राणियों के यथावत् उदय करने वाले परमात्मा की ओर (अभ्यवसृजामि) मैं छोड़ता हूं ॥ ६ ॥

५—(तेन) पूर्वोक्तेन कारणेन (तम्) अज्ञानिनं शत्रुम् (अभ्यतिसृजामः) म० ४ । सर्वतो विनाशयामः (यः) अज्ञानी (अस्मान्) धार्मिकान् (द्वेष्टि) बाधते (यम्) अज्ञानिनम् (वयम्) धार्मिकाः (द्विष्मः) बाधामहे ॥

६—(अपाम्) म० १ । प्रजानाम् (अग्रम्) आलम्बनम् (असि) प्रथमपुरुषस्य मध्यमपुरुषः । अस्ति । वर्तते (समुद्रम्) अ० १० । ५ । २३ । सम्+उत्+द्रु गतौ—डप्रत्ययः । समुद्रः कस्मात्समुद्द्रवन्त्यस्मादापः, समभिद्रवन्त्येनमापः, सम्मोदन्तेऽस्मिन् भूतानि समुदको भवति समुनत्तीति वा—निरु० २ । १० । समुद्र आदित्यः, समुद्र आत्मा—निरु० १४ । १६ । समुद्रः समुद्द्रवन्ति भूतानि यस्मात्सः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ५ । ३३ । सर्वे देवाः सम्यगुत्कर्षेण द्रवन्ति यत्रेति समुद्रः—महीधरभाष्ये, यजु० ५ । ३३ । भूतानां समुदयकारकं परमात्मानम् (वः) युष्मान् (अभ्यवसृजामि) अभिलक्ष्य त्यजामि अनुज्ञापयामि ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपदेश करें कि मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर अपने कर्तव्य में कुशल होवें ॥ ६ ॥

योऽ३॑प्स्व१॒॑ग्निरति॒ तं सृ॑जामि म्रो॒कं ख॒निं त॑नू॒दूषि॑म् ॥ ७ ॥

यः । अ॒प्ऽसु । अ॒ग्निः । अति॑ । तम् । सृ॒जा॒मि॒ । म्रो॒कम् । ख॒निम् । त॒नू॒ऽदूषि॑म् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [दोष] (अप्सु) प्राणियों के भीतर (अग्निः) अग्नि [समान सन्तापक] है, (तम्) उस (म्रोकम्) हिंसक, (खनिम्) दुःखदायक और (तनूदूषिम्) शरीरदूषक [रोग] को (अति सृजामि) मैं नाश करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सन्तापकारी दोषों का विचार पूर्वक नाश करे ७

यो व॑ आपो॒ऽग्निरा॑वि॒वेश॒ स ए॒ष यद् वो॑ घो॒रं तदे॒तत् ॥ ८ ॥

यः । वः॒ । आ॒पः॒ । अ॒ग्निः । आ॒ऽवि॒वेश॑ । सः॒ । ए॒षः । यत् । वः॒ । घो॒रम् । तत् । ए॒तत् ॥ ८ ॥

इन्द्र॑स्य व इन्द्रि॒येणा॒भि षि॑ञ्चेत् ॥ ९ ॥

इन्द्र॑स्य । वः॒ । इ॒न्द्रि॒येण॑ । अ॒भि । सि॒ञ्चे॒त् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे सब विद्याओं में व्यापक बुद्धिमानो ! (यः) जिस (अग्निः) व्यापक परमात्मा ने (वः) तुम में (आविवेश) प्रवेश किया है, (सः) वह (एषः) यह [परमात्मा] है, और (यत्) जो [शत्रुओं के लिये] (वः) तुम्हारा (घोरम्) भयानक रूप है, (तत्) वह (एतत्=एतस्मात्)

७—(यः) दोषः (अप्सु) म० १ । प्रजासु (अग्निः) अग्निवत्सन्तापकः (अति सृजामि) म० ४ विनाशयामि (तम्) दोषम् (म्रोकम्) म० ३ । हिंसकम् (खनिम्) विदारकम् । पीडकम् (तनूदूषिम्) शरीरदूषकम् ॥

८—(यः) (वः) युष्मान् (आपः) हे सर्वविद्याव्यापिनो विपश्चितः—दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । २७ । (अग्निः) व्यापकः परमेश्वरः (आ विवेश) प्रविष्टवान् (सः) परमात्मा (एषः) अत्र व्यापकः (यत्) (वः) युष्माकम् (घोरम्) भयानकं रूपम् (तत्) रूपम् (एतत्) अव्ययम् । एतस्मात्परमेश्वरात्

इसी [परमात्मा] से है ॥ ८ ॥ वह [परमात्मा] (वः) तुम को (इन्द्रस्य) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष के [योग्य] (इन्द्रियेण) बड़े ऐश्वर्य से (अभि षिञ्चेत्) अभिषेक युक्त [राज्य का अधिकारी] करे ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उस जगदीश्वर को सर्वव्यापक और सर्वबल-दायक समझ कर बड़े महात्माओं के समान अधिकारी बन कर संसार में बड़े बड़े काम करें ॥ ८, ९ ॥

अरिप्रा आपो अप रिप्रमस्मत् ॥ १० ॥

अरिप्राः । आपः । अप । रिप्रम् । अस्मत् ॥ १० ॥

प्रास्मदेनो वहन्तु प्र दुष्वप्न्यं वहन्तु ॥ ११ ॥

प्र । अस्मत् । एनः । वहन्तु । प्र । दुः-स्वप्न्यम् । वहन्तु ११

भाषार्थ—(अरिप्राः) निर्दोष (आपः) विद्वान् लोग (रिप्रम्) पाप को (अस्मत्) हम से (अप) दूर [पहुंचावें] ॥ १० ॥ (अस्मत्) हम से (एनः) पाप को (प्र वहन्तु) बाहिर पहुंचावें और (दुःस्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न में उत्पन्न कुविचार को (प्र वहन्तु) बाहिर पहुंचावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग और शिक्षा से जागते सोते कभी पाप कर्म का विचार न करें ॥ १०, ११ ॥

यह दोनों मन्त्र कुछ भेद से आ चुके हैं—अ० १० । ५ । २४ ॥

शिवेन मा चक्षुषा पश्यतापः शिवया तन्वोप स्पृशत त्वचं मे १२

शिवेन । मा । चक्षुषा । पश्यत । आपः । शिवया । तन्वा ।

९—(इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य (वः) (युष्मान्) (इन्द्रियेण) परमैश्वर्येण (अभि षिञ्चेत्) अभिषेकयुक्तान् राज्याधिकारिणः कुर्यात् ॥

१०—(अरिप्राः) निर्दोषाः (आपः) म० ८ । विपश्चितः (अप) दूरे (रिप्रम्) पापम् (अस्मत्) ॥

११—(अस्मत्) (एनम्) पापम् (प्र वहन्तु) बहिर्गमयन्तु (दुःस्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्ने भवं कुविचारम् (प्र वहन्तु) ॥

उप॑ । स्पृ॒शत॒ । त्वच॑म् । मे॒ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे विद्वानो ! (शिवेन) सुखप्रद (चक्षुषा) नेत्र से (मा) मुझे (पश्यत) तुम देखो, (शिवया) अपने सुखप्रद (तन्वा) शरीर से (मे) मेरे (त्वचम्) शरीर को (उप स्पृशत) तुम सुख से छूओ ॥ १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग कृपा दृष्टि से मनुष्यों को देख कर अपने समान स्वस्थ और उपकारी बनावें ॥ १२ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० १ । ३३ । ४ ॥

शि॒वान॒ग्नीन॑प्सु॒षदो॑ हवामहे॒ मयि॑ क्ष॒त्रं वर्च॒ आ ध॑त्त देवीः ॥१३॥

शि॒वान् । अ॒ग्नीन् । अ॒प्सु॒-सदः॑ । ह॒वा॒म॒हे॒ । मयि॑ । क्ष॒त्रम् । वर्चः॑ । आ । ध॒त्त॒ । दे॒वीः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अप्सुसदः) प्रजाओं में बैठने वाले (शिवान्) आनन्दप्रद (अग्नीन्) विद्वानों को (हवामहे) हम बुलाते हैं, (देवीः) हे दिव्य गुण वाली प्रजाओ ! (मयि) मुझ में (क्षत्रम्) राज्य और (वर्चः) तेज (आ) आकर (धत्त) धारण करो ॥ १३ ॥

भावार्थ—शूर पराक्रमी मनुष्य विद्वान् प्रजागणों की सम्मति से राज्य पद ग्रहण करके प्रतापी होवे ॥ १३ ॥

सूक्तम् २ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—६ ॥ वाग्देवता ॥ १ आसुर्यनुष्टुप् ; २, ३ आसुर्युष्णिक् ; ४ साम्नी बृहती ; ५ आर्च्यनुष्टुप् ; ६ आर्ची गायत्री ॥

इन्द्रियाणां दार्ढ्योपदेशः—इन्द्रियों की दृढ़ता का उपदेश ॥

१२—(शिवेन) सुखप्रदेन (मा) माम् (चक्षुषा) नेत्रेण (पश्यत) अवलोकयत (आपः) म० ८ । हे विद्वांसः (शिवया) सुखप्रदेन (तन्वा) शरीरेण (उप) सुखेन (स्पृशत) (त्वचम्) शरीरम् (मे) मम ॥

१३—(शिवान्) मङ्गलप्रदान् (अग्नीन्) अग्नयः=ज्ञानवन्तः—दयानन्द-भाष्ये, यजु० ५ । ३४ । ज्ञानिनः पुरुषान् (अप्सुसदः) म० १ । प्रजासु सदनशीलान् (हवामहे) आह्वयामः (मयि) पराक्रमिणि पुरुषे (क्षत्रम्) राज्यम् (वर्चः) तेजः (आ) आगत्य (धत्त) धारयत (देवीः) हे देव्यः प्रजाः ॥

निर्दुरर्म॒ण्य॑ ऊ॒र्जा मधु॑मती॒ वाक् ॥ १ ॥

निः । दुः॒-अ॒र्म॒ण्यः॑ । ऊ॒र्जा । मधु॑-मती । वाक् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ऊर्जा) शक्ति के साथ (मधुमती) ज्ञानयुक्त (वाक्) वाणी (दुरर्मण्यः) दुर्गति से (निः) पृथक् [होवे] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वे समझ बूझ कर सदा सत्य वचन बोल कर दृढ़ प्रतिज्ञा वाले होवें, जिससे उनके जीवन में शक्ति बढ़े और कभी निन्दा न होवे ॥ १ ॥

मधु॑मती स्थ॒ मधु॑मतीं॒ वाच॑मुदेयम् ॥ २ ॥

मधु॑-मतीः । स्थ॒ । मधु॑-मतीम् । वाच॑म् । उ॒त्-दे॒य॒म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ !] तुम (मधुमतीः) ज्ञान वाली (स्थ) हो, (मधुमतीम्) ज्ञानयुक्त (वाचम्) वाणी (उदेयम्) मैं बोलूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से सुशिक्षित होकर सदा ज्ञानयुक्त बोलें ॥ २ ॥

उप॑हूतो मे गो॒पा उप॑हूतो गोपी॒थः ॥ ३ ॥

उप॑-हूतः । मे॒ । गो॒पाः । उप॑-हूतः । गो॒पी॒थः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गोपाः) वाणी का रक्षक [आचार्य] (मे) मेरा (उपहूतः) आदर से बुलाया हुआ है और (गोपीथः) भूमि का रक्षक [राजा] (उपहूतः) आदर से बुलाया हुआ है ॥ ३ ॥

१—(निः) बहिर्भवतु (दुरर्मण्यः) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । दुः + ऋ गतिप्रापणयोः—मनिन् । ऋन्नेभ्यो ङीप् । पा० ४ । १ । ५ । इति ङीप्, पञ्चमीरूपम् । दुरर्मण्याः । दुर्गतेः (ऊर्जा) ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप् । शक्त्या (मधुमती) ज्ञानवती (वाक्) वाणी ॥

२—(मधुमतीः) ज्ञानवत्यः प्रजाः (स्थ) भवथ (मधुमतीम्) ज्ञानवतीम् (वाचम्) वाणीम् (उदेयम्) अ० ३ । २० । १० । उच्यासम् ॥

३—(उपहूतः) आदरेणाऽऽवाहनीकृतः (मे) मम (गोपाः) वाणीरक्षक आचार्यः (उपहूतः) (गोपीथः) निशीथगोपीथावगथाः । उ० २ । ६ । गो + पा रक्षणे-थक्, ईत्वम् । भूपालः । राजा ॥

भावार्थ—मनुष्य आचार्य की शिक्षा और राजा की व्यवस्था से सुशिक्षित होकर स्वस्थ और प्रतिष्ठित रहें ॥ ३ ॥

सुश्रुतौ कर्णौ भद्रश्रुतौ कर्णौ भद्रं श्लोकं श्रूयासम् ॥ ४ ॥

सु-श्रुतौ । कर्णौ । भद्र-श्रुतौ । कर्णौ । भद्रम् । श्लोकम् । श्रूयासम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[मेरे] (कर्णौ) दोनों कान (सुश्रुतौ) शीघ्र सुनने वाले, (कर्णौ) दोनों कान (भद्रश्रुतौ) मङ्गल सुनने वाले [होवें], (भद्रम्) मङ्गलमय (श्लोकम्) यश (श्रूयासम्) मैं सुना करूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके अभ्यास करें कि वे कान आदि इन्द्रियों को सचेत रख कर श्रेष्ठ कर्मों के करने में शीघ्रता करते रहें ॥ ४ ॥

सुश्रुतिश्च मोपश्रुतिश्च मा हासिष्टां सौपर्णं चक्षुरजस्रं ज्योतिः ॥ ५ ॥

सु-श्रुतिः । च । मा । उप-श्रुतिः । च । मा । हासिष्टाम् । सौपर्णम् । चक्षुः । अजस्रम् । ज्योतिः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सुश्रुतिः) शीघ्र सुनना (च च) और (उपश्रुतिः) अङ्गीकार करना (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों न छोड़ें, (सौपर्णम्) समस्त पूर्ति वाली (चक्षुः) दृष्टि और (अजस्रम्) अचूक (ज्योतिः) ज्योति [बनी रहे] ॥ ५ ॥

४—(सुश्रुतौ) श्रु—क्विप् । शीघ्रश्रोतारौ (कर्णौ) श्रोत्रे (भद्रश्रुतौ) मङ्गलश्रोतारौ (भद्रम्) मङ्गलमयम् (श्लोकम्) यशः (श्रूयासम्) आकर्णयासम् ॥

५—(सुश्रुतिः) शीघ्रश्रवणम् (च) (मा) माम् (उपश्रुतिः) विषयाणामङ्गीकारः (च) (मा हासिष्टाम्) ओ हाक् त्यागे—लुङ् । न त्यजताम् (सौपर्णम्) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । सु + पॄ पालनपूरणयोः—न, सुपर्णम्—अण् । बहुपूर्त्तियुक्तम् (चक्षुः) दृष्टिः (अजस्रम्) निरन्तरम् (ज्योतिः) तेजः ॥

भावार्थ—मनुष्य ब्रह्मचर्य आदि के सेवन से अपने श्रवण इन्द्रियों को विकल न होने दें और ऐसा स्वस्थ रक्खें कि वे अपने विषयों पूर्ण रीति से शीघ्र अङ्गीकार कर लें ॥ ५ ॥

ऋषीणां प्रस्तरोऽसि नमोऽस्तु दैवाय प्रस्तराय ॥ ६ ॥

ऋषीणाम् । प्र-स्तरः । असि । नमः । अस्तु । दैवा प्र-स्तराय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (ऋषीणाम्) इन्द्रियों का (प्रस्त फैलाने वाला (असि) है, (दैवाय) दिव्य गुण वाले (प्रस्तराय) फैलाने [तुझ] को (नमः) नमस्कार [सत्कार] (अस्तु) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस परमात्मा को सदा धन्यवाद दें कि उसने उ वेदादि शास्त्र सुनने, विचारने और उपकार करने के लिये अमूल्य श्रवण आ इन्द्रियां दी हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३ [पर्यायसूक्तम् ॥]

१—६ ॥ आत्मा देवता ॥ १ आसुरी गायत्री ; २ निचृदार्च्यनुष्टुप् आर्च्यनुष्टुप् ; ४ प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; ५ साम्न्युष्णिक् ; ६ साम्नी त्रिष्टुप् ॥ आयुर्वृद्ध्यर्थमुपदेशः—आयु की वृद्धि के लिये उपदेश ॥

मूर्धाहं रयीणां मूर्धा समानानां भूयासम् ॥ १ ॥

मूर्धा । अहम् । रयीणाम् । मूर्धा । समानानाम् । भूयासम्

भाषार्थ—(अहम्) मैं (रयीणाम्) धनों का (मूर्धा) सिर (समानानाम्) समान [तुल्य गुणी] पुरुषों का (मूर्धा) सिर (भूयासम्

( ) ६—(ऋषीणाम्) सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे षडिन्द्रियाणि वि सप्तमी—निरु० १२ । ३७ । इन्द्रियाणाम् (प्रस्तरः) प्रस्तारकः । प्रसारकः पर श्वरः (असि) (नमः) सत्कारः (अस्तु) (दैवाय) दिव्यगुणवते (प्रस्तरा प्रसारकाय तुभ्यम् ॥

१—(मूर्धा) शिरः । मस्तकवत्प्रधानः (अहम्) (रयीणाम्) विद सुवर्णादिधनानाम् (मूर्धा) (समानानाम्) सम्+आङ्+णीञ् प्रापणे—

हो जाऊं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उद्योग करें कि विद्याधन और सुवर्ण आदि धन से गुणी मनुष्यों को पाकर संसार में शरीर में मस्तक के समान मुखिया होवें ॥१॥

रुजश्च मा वेनश्च मा हासिष्टां मूर्धा च मा विधर्मा च मा हासिष्टाम् ॥ २ ॥

रुजः । च । मा । वेनः । च । मा । हासिष्टाम् । मूर्धा । च । मा । वि-धर्मा । च । मा । हासिष्टाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रुजः) अन्धकारनाशक गुण (च च) और (वेनः) कमनीय गुण (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों न छोड़ें, (मूर्धा) मस्तक [मस्तक बल] (च च) और (विधर्मा) विविध प्रकार धारण करने वाला आत्मा [आत्मबल] (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों कभी न छोड़ें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य अज्ञान के नाश से अपने मस्तक बल अर्थात् विचार सामर्थ्य और आत्मबल को बढ़ाते रहें ॥ २ ॥

उर्वश्च मा चमसश्च मा हासिष्टां धर्ता च मा धरुणश्च मा हासिष्टाम् ॥ ३ ॥

उर्वः । च । मा । चमसः । च । मा । हासिष्टाम् । धर्ता । च । मा । धरुणः । च । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उर्वः) शत्रुनाशक गुण [शूरपन], (च च) और

तुल्यगुणवताम् (भूयासम्) ॥

२—(रुजः) रुजो भङ्गे—क । अन्धकारनाशको गुणः (च) (मा) माम् (वेनः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । अज गतिक्षेपणयोः—न, वीभावः, अथवा वी कान्त्यादिषु—न । प्रापणीयः कमनीयो वा गुणः (च) (मा हासिष्टाम्) न त्यजताम् (मूर्धा) मस्तकसामर्थ्यम् (च) (मा) माम् (विधर्मा) विविधधारक आत्मा (च) (मा हासिष्टाम्) ॥

३—(उर्वः) उर्वी हिंसायाम्—अच् । उर्वति शूरयति मारयति शत्रून् ।

(चमसः) भोजनपात्र [शरीर] (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों न छोड़ें, (धर्ता) धारण करने वाला गुण (च-च) और (धरुणः) अवस्थान [दृढ़ रहने का गुण] (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों न छोड़ें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सङ्ग्रामरूप संसार में शूर रहकर शरीर रक्षा करते हुये शुभगुणों को धारण करें और स्थिर रक्खें ॥ ३ ॥

विमोकश्च मार्द्रपविश्च मा हासिष्टामार्द्रदानुश्च मा मातरिश्वा च मा हासिष्टाम् ॥ ४ ॥

वि-मोकः । च । मा । आर्द्र-पविः । च । मा । हासिष्टाम् । आर्द्र-दानुः । च । मा । मातरिश्वा । च । मा । हासिष्टाम् ४

भाषार्थ—(विमोकः) विमुक्त करने वाला गुण (च च) और (आर्द्रपविः) गतिशोधक गुण (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों न छोड़ें, (आर्द्रदानुः) याचकों का पालने वाला गुण (च च) और (मातरिश्वा) ऐश्वर्य में बढ़ने वाला गुण (मा) मुझे (मा हासिष्टाम्) दोनों न छोड़ें ॥ ४ ॥

शूरत्वगुणः (च) (मा) माम् (चमसः) भोजनपात्रं शरीरम् (च) (मा हासिष्टाम्) न त्यजताम् (धर्ता) धारको गुणः (धरुणः) कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । धृङ् अवस्थाने-उनन् । अवस्थानम् । दृढस्थितिगुणः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

४—(विमोकः) मुचॢ मोचने—घञ् कुत्वं च । दुःखविमोचको गुणः (च) (मा) माम् (आर्द्रपविः) अर्देर्दीर्घश्च । उ० २ । १८ । अर्द गतौ याचने हिंसायां च—रक्+अच इः । उ० ४ । १३६ । पूञ् शोधने-इप्रत्ययः । गतिशोधको गुणः (च) (मा हासिष्टाम्) न त्यजताम् (आर्द्रदानुः) अर्द याचने-रक्+दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । देङ् पालने-नु । याचकपालको गुणः (मातरिश्वा) माता लक्ष्मीः, वैभवम् । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । मातरि +टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् डित् । मातरि वैभवे ऐश्वर्ये प्रवर्धको गुणः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—मनुष्य दुःखों से छूटकर उद्योग करें और अधिकारी याचकों का पालन करके वैभव बढ़ावें ॥ ४ ॥

बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः ॥ ५ ॥

बृहस्पतिः । मे । आत्मा । नृ-मनाः । नाम । हृद्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मे) मेरा (आत्मा) आत्मा (बृहस्पतिः) बड़े गुणों का स्वामी, (नृमणाः) नेताओं के तुल्य मन वाला और (हृद्यः) हृदय का प्रियो (नाम) प्रसिद्ध [हो] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मबल बढ़ाकर उत्तम गुण प्राप्त करें और वीर के समान पराक्रम करके सब के प्रिय हों ॥ ५ ॥

असंतापं मे हृदयमुर्वी गव्यूतिः समुद्रो अस्मि विधर्मणा ॥ ६ ॥

असम्-तापम् । मे । हृदयम् । उर्वी । गव्यूतिः । समुद्रः । अस्मि । वि-धर्मणा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (मे) मेरा (हृदयम्) हृदय (असन्तापम्) सन्ताप रहित और (गव्यूतिः) विद्या मिलने का मार्ग (उर्वी) चौड़ा [होवे], मैं (विधर्मणा) विविध धारण सामर्थ्य से (समुद्रः) समुद्र [समुद्र समान गहरा] (अस्मि) हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विघ्नों में हृदय को शान्त रखकर वेद मार्ग की दृढ़ता और विस्तीर्णता फैलावे, क्योंकि परमेश्वर ने मनुष्य को बड़ा सामर्थ्य दिया है ॥ ६ ॥

५—(बृहस्पतिः) महतां गुणानां पालकः (मे) मम (आत्मा) (नृमणाः) नेतृतुल्यमनस्कः (नाम) प्रसिद्धौ (हृद्यः) हृदयप्रियः ॥

६—(असन्तापम्) सन्तापरहितम् । शान्तम् (मे) मम (हृदयम्) अन्तःकरणम् (उर्वी) विस्तीर्णा (गव्यूतिः) गो+यूतिः । विद्यामिश्रणमार्गः (समुद्रः) समुद्र इव गम्भीरः (अस्मि) (विधर्मणा) विविधधारणसामर्थ्येन॥

सूक्तम् ४ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—७ ॥ आत्मा देवता ॥ १, ३ साम्न्यनुष्टुप् ; २ प्राजापत्योष्णिक् ; ४ आर्ची पङ्क्तिः ; ५ आसुरी गायत्री ; ६ साम्नी त्रिष्टुप् ; ७ भुरिगार्च्युष्णिक् ॥

आयुर्वृद्ध्यर्थमुपदेशः—आयु की वृद्धि के लिये उपदेश ॥

नाभिर॒हं र॑यी॒णां नाभिः॑ समा॒नानां॑ भूयासम् ॥ १ ॥

नाभिः॑ । अ॒हम् । र॒यी॒णाम् । नाभिः॑ । स॒मा॒नाना॑म् । भू॒या॒स॒म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (रयीणाम्) धनों की (नाभिः) नाभि [मध्यस्थान] और (समानानाम्) समान [तुल्य गुणी] पुरुषों की (नाभिः) नाभि (भूयासम्) हो जाऊं ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्याधन और सुवर्ण आदि धन के साथ गुणी मनुष्यों को प्राप्त होते हैं, वे संसार में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ १ ॥

स्वा॒सद॑सि सू॒षा अ॒मृतो॒ मर्त्ये॒ष्वा ॥ २ ॥

सु॒-आ॒सत् । अ॒सि॒ । सु॒-उ॒षाः । अ॒मृतः॑ । मर्त्ये॑षु । आ ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे आत्मा !] तू (स्वासत्) सुन्दर सत्ता वाला, (सूषाः) सुन्दर प्रभातों वाला [प्रभात के प्रकाश के समान बढ़ने वाला] (आ) और (मर्त्येषु) मनुष्यों के भीतर (अमृतः) अमर (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य यह विचारते हैं कि यह आत्मा जो बड़े पुण्यों के कारण इस मनुष्य शरीर में वर्तमान है, वह प्रभात के प्रकाश के समान उन्नति-

---

१—(नाभिः) मध्यस्थानम् (अहम्) पुरुषः (रयीणाम्) विद्यासुवर्णादिधनानाम् (नाभिः) (समानानाम्) सू० ३ म० १ । तुल्यगुणवताम् (भूयासम्) भवेयम् ॥

२—(स्वासत्) सु + आस सत्तायाम्—शतृ । शोभनसत्तावान् (असि) हे आत्मन् त्वं भवसि (सूषाः) उष: किच्च । उ० ४ । २३४ । सु + उष दाहे—असि । शोभना उषसो यस्य सः । प्रभातवेलाप्रकाशतुल्यप्रवर्धमानः (अमृतः) अमरः । नित्यः पुरुषार्थी (मर्त्येषु) मनुष्येषु (आ) समुच्चये ॥

शील और भी अमर अर्थात् नित्य और पुरुषार्थी है, वे संसार में बढ़ती करके यश पाते हैं ॥ २ ॥

मा मां प्राणो हासीन्मो अपानोऽवहाय परा गात् ॥ ३ ॥

मा । माम् । प्राणः । हासीत् । मो इति । अपानः । अव-हाय । परा । गात् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (प्राणः) प्राण [श्वास] (माम्) मुझे (मा हासीत्) न छोड़े, (मो) और न (अपानः) अपान [प्रश्वास] (अव-हाय) छोड़कर (परा गात्) दूर जावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर की स्वस्थता के साथ आत्मबल बढ़ाते रहें ॥ ३ ॥

सूर्यो माह्नः पात्वग्निः पृथिव्या वायुरन्तरिक्षाद् यमो मनुष्येभ्यः सरस्वती पार्थिवेभ्यः ॥ ४ ॥

सूर्यः । मा । अह्नः । पातु । अग्निः । पृथिव्याः । वायुः । अन्तरिक्षात् । यमः । मनुष्येभ्यः । सरस्वती । पार्थिवेभ्यः ॥४॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सब का चलाने वाला परमात्मा (मा) मुझे (अह्नः) दिन [के भय] से (पातु) बचावे, (अग्निः) ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर (पृथिव्याः) पृथिवी [के भय] से, (वायुः) सर्वव्यापक परमेश्वर (अन्त-रिक्षात्) अन्तरिक्ष [के भय] से, (यमः) न्यायकारी ईश्वर (मनुष्येभ्यः) मनुष्यों [के भय] से और (सरस्वती) सर्वविज्ञानमय परमेश्वर (पार्थि-वेभ्यः) पृथिवी के प्राणी आदियों [के भय] से [बचावे] ॥ ४ ॥

३—(मा हासीत्) मा त्यजेत् (माम्) प्राणिनम् (प्राणः) श्वासः (मो) न च (अपानः) प्रश्वासः (अवहाय) परित्यज्य (परा गात्) दूरे गच्छतु ॥ ३ ॥

४—(सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (मा) माम् (अहः) दिनभयात् (पातु) रक्षतु (अग्निः) अग गतौ–नि । ज्ञानस्वरूपो जगदीश्वरः (वायुः) सर्वव्यापकः परमेश्वरः (अन्तरिक्षात्) अन्तरिक्षभयात् (यमः) न्यायकारी-श्वरः (मनुष्येभ्यः) मनुष्याणां भयात् (सरस्वती) सरस्–मतुप्, ङीप् । सरांसि विज्ञानानि विद्यन्ते यस्यां सा चितिः । सर्वविज्ञानमयः परमेश्वरः (पार्थिवेभ्यः) पृथिवीभवानां प्राण्यादीनां भयात् ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की उपासना करता हुआ सदा उपाय करे कि वह सब प्रकार के विघ्नों से सुरक्षित होकर शुभ कर्मों को करता रहे ॥ ४ ॥

प्राणापानौ मा मा हासिष्टं मा जने प्र मेषि ॥ ५ ॥

प्राणापानौ । मा । मा । हासिष्टम् । मा । जने । प्र । मेषि ५

भाषार्थ—(प्राणापानौ) हे प्राण और अपान ! तुम दोनों (मा) मुझे (मा हासिष्टम्) मत छोड़ो, (जने) मनुष्यों के बीच (मा प्र मेषि) कभी नष्ट न होऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर और आत्मा से सावधान रहकर निर्भयता से कर्तव्य परायण हो ॥ ५ ॥

स्वस्त्यद्योषसो दोषसश्च सर्वं आपः सर्वगणो अशीय ॥ ६ ॥

स्वस्ति । अद्य । उषसः । दोषसः । च । सर्वः । आपः । सर्व-गणः । अशीय ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आपः) हे आप्त विद्वानो ! (सर्वगणः) अपने सब गणों के सहित (सर्वः) सम्पूर्ण मैं (स्वस्ति) कल्याण से (अद्य) अब (उषसः) प्रभात वेलाओं को (च) और (दोषसः) रात्रियों को (अशीय) पाता रहूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य आप्त विद्वानों के सत्संग से प्रयत्न करें कि वे और उन के इष्ट मित्र प्रजागण आदि सदा राति दिन सुखी रहें ॥ ६ ॥

५—(प्राणापानौ) हे श्वासप्रश्वासौ (मा) माम् (मा हासिष्टम्) नैव त्यजतम् (जने) मनुष्येषु (प्र) प्रकर्षेण (मा मेषि) मीङ् हिंसायाम्—लुङ् । नाशं मा प्राप्नुयाम् ॥

६—(स्वस्ति) कल्याणेन (अद्य) इदानीम् (उषसः) प्रभातवेलाः (दोषसः) दुष वैकृत्ये—असुन् । रात्रीः (च) (सर्वः) सम्पूर्णोऽहम् (आपः) हे आप्ता विद्वांसः (सर्वगणः) सर्वेष्टमित्रप्रजादिसहितः (अशीय) बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । अश्नुतेः शपो लुकि लिङ्युत्तमैकवचने रूपम् । प्राप्नुयाम् ॥

शक्वरी स्थ पशवो मोप स्थेषुर्मित्रावरुणौ मे प्राणापानाव-
ग्निर्मे दक्षं दधातु ॥ ७ ॥

शक्वरीः । स्थ । पशवः । मा । उप । स्थेषुः । मित्रावरुणौ ।
मे । प्राणापानौ । अग्निः । मे । दक्षम् । दधातु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजाओ !] तुम (शक्वरीः) बलवती (स्थ) हो, (पशवः) सब प्राणी (मा उप) मेरे समीप (स्थेषुः) ठहरें, (अग्निः) ज्ञानस्वरूप जगदीश्वर (मित्रावरुणौ) दो श्रेष्ठ मित्र (मे) मेरे (प्राणापानौ) प्राण और अपान को और (मे) मेरी (दक्षम्) चतुराई को (दधातु) स्थिर रक्खे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों के उपदेश और परमात्मा की उपासना में तत्पर रहते हैं, वे अपने शरीर और आत्मा से स्वस्थ रहकर कार्यकुशल होते हैं ॥ ७ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ५ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—१० ॥ स्वप्नो देवता ॥ १ भुरिगार्ची गायत्री; २, ६ प्राजापत्या गायत्री; ३, १० साम्नी बृहती; ४—६ साम्नी पङ्क्तिः; ७ आर्च्युष्णिक्; ८ साम्नी त्रिष्टुप् ॥

आलस्यादिदोषत्यागोपदेशः—आलस्यादि दोष के त्याग के लिये उपदेश ॥

७—(शक्वरीः) स्नामदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । शक्नोतेर्वनिप्, ङीब्रेफौ । शक्तिमत्यः प्रजाः (स्थ) भवथ (पशवः) प्राणिनः (मा) माम् (उप) उपेत्य (स्थेषुः) तिष्ठन्तु (मित्रावरुणौ) मित्रवरौ (मे) मम (प्राणापानौ) श्वासप्रश्वासौ (अग्निः) ज्ञानस्वरूपः परमेश्वरः (मे) (दक्षम्) कार्यकुशलताम् (दधातु) स्थापयतु ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं ग्राह्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥ १ ॥

विद्म । ते । स्वप्न । जनित्रम् । ग्राह्याः । पुत्रः । असि । यमस्य । करणः ॥ १ ॥

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥२॥ अन्तकः । असि । मृत्युः । असि ॥२

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ३

तम् । त्वा । स्वप्न । तथा । सम् । विद्म । सः । नः । स्वप्न । दुःऽस्वप्न्यात् । पाहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! [आलस्य] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म-स्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (ग्राह्याः) गठिया [रोगविशेष] का (पुत्रः) पुत्र और (यमस्य) मृत्यु का (करणः) करने वाला (असि) है ॥ १ ॥ तू (अन्तकः) अन्त करने वाला (असि) है और तू (मृत्युः) मृत्यु [के समान दुःखदायी] (असि) है ॥ २ ॥ (स्वप्न) हे स्वप्न ! [आलस्य] (तम्) उस (त्वा) तुझ को (तथा) वैसा ही (सम्) अच्छे प्रकार (विद्म) हम जानते हैं, (सः) सो तू (स्वप्न) हे स्वप्न ! [आलस्य] (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे कुविचार से (पाहि) बचा ॥ ३ ॥

१—इदं सूक्तं किञ्चिद् भेदेन गतं व्याख्यातं च—अ० ६ । ४६ । २ (विद्म) जानीमः (ते) तव (स्वप्न) हे निद्रे । हे आलस्य (जनित्रम्) जन्मस्थानम् (ग्राह्याः) अ० २ । ६ । १ । सन्धीनां ग्रहणशीलपीडायाः (पुत्रः) पुत्र इवोत्पन्नः (यमस्य) मृत्योः (करणः) करोतेर्ल्युः । कर्ता ॥

२—(अन्तकः) अन्त, णिच्—ण्वुल् । अन्तयतीति अन्तकः । अन्तकरः (असि) (मृत्युः) मृत्युरिव दुःखप्रदः (असि) ॥

३—(तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (स्वप्न) (तथा) तेन प्रकारेण (सम्) सम्यक् (सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (दुःस्वप्न्यात्) दुःस्वप्न—यत् । दुष्टस्वप्नेषु भवात् कुविचारात् (पाहि) रक्ष ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो! कुपथ्य आदि करने से गठिया आदि रोग होते हैं, गठिया आदि से आलस्य और उससे अनेक विपत्तियां मृत्यु आदि होती हैं। इससे सब लोग दुःखों के कारण अति निद्रा आदि को खोज कर निकालें और केवल परिश्रम की निवृत्ति के लिये ही उचित निद्रा का आश्रय लेकर सदा सचेते रहें ॥ १—३ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से आ चुका है-अथर्व ६। ४६। २॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्ऋत्याः पुत्रोऽसि यमस्य करणः।०।०।४।

७। जनित्रम्। निः-ऋत्याः। पुत्रः ०। ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न! [आलस्य] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्मस्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (निर्ऋत्याः) निर्ऋति [महामारी] का (पुत्रः) पुत्र और (यमस्य) मृत्यु का (करणः) करने वाला (असि) है ......[म० २, ३] ॥ ४ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ४ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रमभूत्याः पुत्रोऽसि ०।०।० ॥ ५ ॥

०। जनित्रम्। अभूत्याः। पुत्रः। ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न! [आलस्य] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्मस्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (अभूत्याः) अभूति [असम्पत्ति] का (पुत्रः) पुत्र और (यमस्य) मृत्यु का (करणः) करने वाला (असि) है...... [म० २, ३] ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ५ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं निर्भूत्याः पुत्रोऽसि ०।०।० ॥ ६ ॥

०। जनित्रम्। निः-भूत्याः। पुत्रः। ० ॥ ६ ॥

४—(निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्तेः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(अभूत्याः) असम्पत्त्याः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! [आलस्य] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म स्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (निर्भूत्याः) निर्भूति [हानि, नाश वा अभाव] का (पुत्रः) पुत्र और (यमस्य) मृत्यु का (करणः) करने वाला (असि) है......[म० २, ३] ॥ ६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ६ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं पराभूत्याः पुत्रोऽसि ० । ० । ० ॥ ७ ॥

० । जनित्रम् । परा-भूत्याः । पुत्रः । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! [आलस्य] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म-स्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (पराभूत्याः) पराभूति [पराभव, हार] का (पुत्रः) पुत्र और (यमस्य) मृत्यु का (करणः) करने वाला (असि) है......[म० २, ३] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ७ ॥

विद्म ते स्वप्न जनित्रं देवजामीनां पुत्रोऽसि यमस्य करणः ॥८॥

विद्म । ते । स्वप्न । जनित्रम् । देव-जामीनाम् । पुत्रः । असि । यमस्य । करणः ॥ ८ ॥

अन्तकोऽसि मृत्युरसि ॥ ९ ॥

अन्तकः । असि । मृत्युः । असि ॥ ९ ॥

तं त्वा स्वप्न तथा सं विद्म स नः स्वप्न दुष्वप्न्यात् पाहि ॥१०॥

तम् । त्वा । स्वप्न । तथा । सम् । विद्म । सः । नः । स्वप्न । दुः-स्वप्न्यात् । पाहि ॥ १० ॥

६—(निर्भूत्याः) क्षित्याः । नाशस्य । अभावस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥
७—(पराभूत्याः) पराजितेः । पराभवस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(स्वप्न) हे स्वप्न ! [आलस्य] (ते) तेरे (जनित्रम्) जन्म-स्थान को (विद्म) हम जानते हैं, तू (देवजामीनाम्) उन्मत्तों की गतियों का (पुत्रः) पुत्र और (यमस्य) मृत्यु का (करणः) करने वाला (असि) है ॥८॥ तू (अन्तकः) अन्त करने वाला (असि) है और तू (मृत्युः) मृत्यु [के समान दुःखदायी] (असि) है ॥ ९ ॥ (स्वप्न) हे स्वप्न [आलस्य] (तम्) उस (त्वा) तुझ को (तथा) वैसा ही (सम्) अच्छे प्रकार (विद्म) हम जानते हैं, (सः) सो तू (स्वप्न) हे स्वप्न ! (नः) हमें (दुःस्वप्न्यात्) बुरी निद्रा में उठे कुविचार से (पाहि) बचा ॥ १० ॥

भावार्थ—मन्त्र १—३ के समान है ॥ ८—१० ॥

सूक्तम् ६ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—११ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १—४ प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; ५ साम्नी पङ्क्तिः ; ६ निचृदार्ची बृहती ; ७ साम्नी बृहती ; ८ आसुरी जगती ; ९ आसुरी बृहती ; १० आर्च्युष्णिक् ; ११ आर्षी गायत्री ॥

रोगनाशनोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

अजैष्माद्यासनामाद्याभूमानागसो वयम् ॥ १ ॥

अजैष्म । अद्य । असनाम । अद्य । अभूम । अनागसः । वयम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्य) अब [अनिष्ट को] (अजैष्म) हम ने जीत लिया है, (अद्य) अब [इष्ट को] (असनाम) हम ने पा लिया है, (वयम्) हम (अनागसः) निर्दोष (अभूम) हो गये हैं ॥ १ ॥

८—(देवजामीनाम्) दिवु मदे—पचाद्यच् । नियो मिः । उ० ४ । ४३ । या गतिप्रापणयोः—मि, आदेर्जत्वम् । देवानामुन्मत्तपुरुषाणां जामीनां यामीनां गतीनाम् ॥ अन्यत् पूर्ववत् ॥

१—(अजैष्म) वयं जितवन्तः (अद्य) इदानीम् (असनाम) षण संभक्तौ—लङ् । वयं लब्धवन्तः (अद्य) (अभूम) (अनागसः) निर्दोषाः (वयम्) पुरुषार्थिनः ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दोषों को छोड़ते हैं, वे अनिष्ट को जीत कर इष्ट प्राप्त करते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १ तथा २ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—८ । ४७ । १८ ॥

उषो॒ यस्मा॑द् दु॒ष्वप्न्या॒दभै॒ष्माप॒ तदु॑च्छतु ॥ २ ॥

उषः॑ । यस्मा॑त् । दुः॒-स्वप्न्या॑त् । अभै॑ष्म । अप॑ । तत् । उ॒च्छ॒तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(उषः) हे उषा ! [प्रभात वेला] (यस्मात्) जिस (दुःस्वप्न्यात्) दुष्ट स्वप्न में उठे कुविचार से (अभैष्म) हम डरे हैं, (तत्) वह (अप) दूर (उच्छतु) चला जावे ॥ २ ॥

भावार्थ—यदि किसी कुपथ्य वा रोग के कारण निद्राभंग होकर मस्तक में कुविचार घूमने लगें, मनुष्य उसका प्रतीकार प्रभात ही अर्थात् बहुत शीघ्र करें ॥ २ ॥

द्वि॒ष॒ते तत् परा॑ वह॒ शप॑ते॒ तत् परा॑ वह ॥ ३ ॥

द्वि॒ष॒ते । तत् । परा॑ । व॒ह॒ । शप॑ते । तत् । परा॑ । व॒ह॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे उषा !] तू (तत्) वह [कष्ट] (द्विषते) [वैद्यों से] वैर करने वाले के लिये (परा वह) पहुंचा दे, (तत्) वह (शपते) [उन्हें] कोसने वाले के लिये (परा वह) पहुंचा दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वैद्यों के शासन पर नहीं चलते, वे शीघ्र दुःख भोगते हैं ॥ ३ ॥

यं द्वि॒ष्मो यश्च॑ नो॒ द्वेष्टि॒ तस्मा॑ एनद् गमयामः ॥ ४ ॥

२—(उषः) हे प्रभातवेले (यस्मात्) (दुःस्वप्न्यात्) दुष्टस्वप्ने भवात् कुविचारात् (अभैष्म) वयं भयं प्राप्तवन्तः (अप) दूरे (तत्) भयम् (उच्छतु) गच्छतु ॥

३—(द्विषते) वैद्येभ्यः कुप्रीतिकारिणे (तत्) कष्टम् (परा वह) दूरे गमय (शपते) शापं कुर्वते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यम् । द्विष्मः । यत् । च । नः । द्वेष्टि । तस्मै । एनत् । गमयामः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस [कुपथ्यकारी] से (द्विष्मः) हम [वैद्य लोग] वैर करते हैं, (च) और (यत्=यः) जो (नः) हम से (द्वेष्टि) वैर करता है, (तस्मै) उसको (एनत्) यह [कष्ट] (गमयामः) हम जताते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—वैद्य लोग कह दें कि कुपथ्यकारी मनुष्य अवश्य कष्ट भोगेगा ॥ ४ ॥

उषा देवी वाचा संविदाना वाग् देव्यु१षसा संविदाना ॥५॥

उषाः । देवी । वाचा । सम्-विदाना । वाक् । देवी । उषसा । सम्-विदाना ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(उषाः देवी) उषा देवी [उत्तम गुण वाली प्रभात वेला] (वाचा) वाणी से (संविदाना) मिली हुयी और (वाक् देवी) वाक् देवी [श्रेष्ठ वाणी] (उषसा) प्रभात वेला से (संविदाना) मिली हुयी [होवे] ॥५॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रभात वेला को सत्य वाणी के साथ और सत्य-वाणी को प्रभात वेला के साथ संयुक्त करते हैं, अर्थात् जो प्रभात से लेकर दूसरी प्रभात तक सत्यवाणी से काम करते हैं, वे अवश्य सुखी रहते हैं ॥ ५ ॥

उषस्पतिर्वाचस्पतिना संविदानो वाचस्पतिरुषस्पतिना संविदानः ॥ ६ ॥

४—(यम्) कुपथ्यसेविनम् (द्विष्मः) वैरयामः, वयं वैद्याः (यत्) अव्ययम् । यः (च) (नः) अस्मान् वैद्यान् (द्वेष्टि) वैरयति (तस्मै) कुपथ्यसेविने (एनत्) कष्टम् (गमयामः) ज्ञापयामः ॥

५—(उषाः) प्रभातवेला (देवी) दिव्यगुणवती (वाचा) वाण्या सह (संविदाना) संगच्छमाना (वाक्) (देवी) (उषसा) प्रभातवेलया सह (संविदाना) संगच्छमाना ॥

उषः । पतिः । वाचः । पतिना । सम्-विदानः । वाचः । पतिः । उषः । पतिना । सम्-विदानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(उषः=उषसः) उषा का (पतिः) पति [प्रभात उठने वाला मनुष्य] (वाचः) वाणी के (पतिना) पति [विद्याभ्यासी] के साथ (संविदानः) मिला हुआ और (वाचः) वाणी का (पतिः) पति [विद्याभ्यासी पुरुष] (उषः=उषसः) उषा के (पतिना) पति [प्रभात उठने वाले] के साथ (संविदानः) मिला हुआ [होवे] ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रभात वेला में उठकर वेदादि शास्त्रों को विचारें और वेदादि शास्त्र विचारने वाले प्रभात वेला में उठें, जिससे उनकी स्वस्थता और स्मृति बढ़ती रहे ॥ ६ ॥

ते ऽमुष्मै परा वहन्त्वरायान् दुर्णाम्नः सदान्वाः ॥ ७ ॥

ते । अमुष्मै । परा । वहन्तु । अरायान् । दुः-नाम्नः । सदान्वाः ॥ ७ ॥

कुम्भीका दूषीकाः पीयकान् ॥ ८ ॥

कुम्भीकाः । दूषीकाः । पीयकान् ॥ ८ ॥

जाग्रद्दुष्वप्न्यं स्वप्नेदुष्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

जाग्रत्-दुःस्वप्न्यम् । स्वप्ने-दुःस्वप्न्यम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(ते) वे [ईश्वर नियम] (अमुष्मै) उस [कुपथ्यकारी] के लिये (अरायान्) क्लेशों, (दुर्णाम्नः) दुर्नामों [अर्श आदि रोगों], (सदान्वाः)

६—(उषः) विभक्तिलोपः । उषसः । प्रभातवेलायाः (पतिः) पालकः पुरुषः (वाचः) वाण्याः (पतिना) पालकेन पुरुषेण (संविदानः) संगच्छमानः (वाचस्पतिः) विद्याभ्यासी पुरुषः (उषस्पतिना) प्रभातबोधनशीलेन (संविदानः) ॥

७—(ते) ईश्वरनियमाः (अमुष्मै) कुपथ्यसेविने (परा वहन्तु) दूरे प्रापयन्तु (अरायान्) शुदृविस्पृहिगृहिभ्य आय्यः । उ० ३ । ९६ । ऋ हिंसायाम्

सदा चिल्लाने वाली पीड़ाओं [रोग जिन में रोगी चिल्लाता है] ॥ ७ ॥ (कुम्भीकाः) कुम्भीकाओं [रोग जिस में पेट बटलोई सा बजता है], (दूषीकाः) दूषीकाओं [जिन रोगों में रोगी गिरता जाता है], (पीयकान्) अन्य दुःखदायी रोगों ॥ ८ ॥ (जाग्रद्दुष्वप्न्यम्) जागते में बुरे स्वप्न और (स्वप्नेदुष्वप्न्यम्) सोते में बुरे स्वप्न को ॥९॥ (परा वहन्तु—म० ७) दूर पहुंचावें ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ईश्वर नियम को छोड़कर कुपथ्य करते, हैं वे अनेक महाक्लिष्ट रोग भोगते हैं ॥ ७-९ ॥

अनागमिष्यतो वरानवित्तेः संकल्पानमुच्या द्रुहः पाशान् ।१०

अनागमिष्यतः । वरान् । अवित्तेः । सम्-कल्पान् । अमुच्याः । द्रुहः । पाशान् ॥ १० ॥

तदमुष्मा अग्ने देवाः परा वहन्तु वध्रिर्यथासद् विथुरो न साधुः ॥ ११ ॥

तत् । अमुष्मै । अग्ने । देवाः । परा । वहन्तु । वध्रिः । यथा । असत् । विथुरः । न । साधुः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अनागमिष्यतः) न आने वाले (वरान्) वरदानों [श्रेष्ठ कर्मफलों] को, (अवित्तेः) निर्धनता के (संकल्पान्) विचारों को और

—आप्य, यलोपः । क्रशान् (दुर्णाम्नः) अ० ८ । ६ । १ । अर्शआदिरोगान् (सदान्वाः) अ० २ । १४ । १ । सदा नोनुवाः । सर्वदा नोनूयमानाः शब्दायमानाः पीडाः ॥

८—(कुम्भीकाः) कुम्भी + कै शब्दे—क । कुम्भी उखेव कायन्ति शब्दायन्ते यासु ताः पीडाः (पीयकान्) पीयतिर्हिंसाकर्मा—निघ० ४ । २५ । कुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि । उ० २ । ३२ । पीयति—कुन् । हिंसकान् रोगान् ॥

९—(जाग्रद्दुस्वप्न्यम्) जाग्रदवस्थायां दुष्टस्वप्नम् (स्वप्नेदुस्वप्न्यम्) स्वप्नावस्थायां दुष्टस्वप्नम् ॥

१०—(अनागमिष्यतः) अनागमनमिच्छतः (वरान्) श्रेष्ठफलान् (अवित्तेः) दरिद्रतायाः (संकल्पान्) विचारान् (अमुच्याः) मुच्लृ मोचने-

(अमुच्याः) न छोड़ने वाले (द्रुहः) द्रोह [अनिष्ट चिन्ता] के (पाशान्) फन्दों को ॥ १० ॥ (तत्) इस [सब दुःख] को (अमुष्मै) उस [कुपथ्यसेवी] के लिये, (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर ! (देवाः) [तेरे] दिव्य नियम (परा वहन्तु) पहुंचावें, (यथा) जिस से (न साधुः) वह असाधु पुरुष (वध्रिः) निर्वीर्य और (विथुरः) व्याकुल (असत्) हो जावे ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कुपथ्यसेवी होवे, वह ईश्वर नियम के अनुसार दुष्ट कर्मों की अधिकता से श्रेष्ठ फल कभी न पावे, किन्तु दरिद्रता आदि महाक्लेशों में पड़कर घोर नरक भोगे ॥ १०, ११ ॥

सूक्तम् ७ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—१३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ आर्षी पङ्क्तिः ; २ साम्न्यनुष्टुप् ; ३ आसुर्युष्णिक् ; ४ प्राजापत्या गायत्री ; ५ आर्च्युष्णिक् ; ६, ८, ९, ११ साम्नी बृहती ; ७ याजुषी गायत्री ; १० साम्नी गायत्री; १२ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप् ; १३ आसुरी त्रिष्टुप् ॥

शत्रुनाशनोपदेशः—शत्रु के नाश करने का उपदेश ॥

तेनै॒नं वि॑ध्याम्यभू॑त्यैनं विध्यामि॒ निर्भू॑त्यैनं विध्यामि॒ परा॑भूत्यैनं विध्यामि॒ ग्राह्यै॒नं वि॑ध्यामि॒ तम॑सैनं विध्यामि ॥ १ ॥

तेन॑ । ए॒न॒म् । वि॒ध्या॒मि॒ । अभू॑त्या । ए॒न॒म् । वि॒ध्या॒मि॒ । निः-भू॑त्या । ए॒न॒म् । वि॒ध्या॒मि॒ । परा॑-भूत्या । ए॒न॒म् । वि॒ध्या॒मि॒ । ग्राह्या॑ । ए॒न॒म् । वि॒ध्या॒मि॒ । तम॑सा । ए॒न॒म् । वि॒ध्या॒मि॒ ॥ १ ॥

क, ङीप् । अमोचनशीलायाः (द्रुहः) अनिष्टचिन्तायाः (पाशान्) बन्धान् ॥

११—(तत्) पूर्वोक्तं दुःखम् (अमुष्मै) तस्मै कुपथ्यसेविने (अग्ने) हे ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (देवाः) दिव्यनियमाः (परा वहन्तु) प्रापयन्तु (वध्रिः) निर्वीर्यः (यथा) येन प्रकारेण (असत्) भूयात् (विथुरः) व्यथेः सम्प्रसारणं धः किच्च । उ० १ । ३९ । व्यथ भयसंचलनयोः—उरच्, कित् । व्याकुलः (न साधुः) असाधुः । दुष्टजनः ॥

भाषार्थ—(तेन) उस [ईश्वर नियम] से (एनम्) इस [कुमार्गी] को (अभूत्या) अभूति [असम्पत्ति] से (विध्यामि) मैं छेदता हूं, (एनम्) इस को (निर्भूत्या) निर्भूति [हानि वा नाश] से (विध्यामि) छेदता हूं, (एनम्) इस को (पराभूत्या) पराभूति [पराभव, हार] से (विध्यामि) छेदता हूं, (एनम्) इस को (ग्राह्या) गठिया रोग से (विध्यामि) छेदता हूं, (एनम्) इस को (तमसा) अन्धकार [महाक्लेश] से (विध्यामि) छेदता हूं; (एनम्) इस [कुमार्गी] को [अन्य विपत्तियों से] (विध्यामि) मैं छेदता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—कुमार्गी दुराचारी लोग ईश्वर नियम से नाना विपत्तियां झेलते हैं ॥ १ ॥

देवानामेनं घोरैः क्रूरैः प्रैषैरभिप्रेष्यामि ॥ २ ॥

देवानाम् । एनम् । घोरैः । क्रूरैः । प्र-एषैः । अभि-प्रेष्यामि २

भाषार्थ—(एनम्) इस [कुमार्गी] को (देवानाम्) [परमात्मा के] उत्तम नियमों के (घोरैः) घोर [भयानक] और (क्रूरैः) क्रूर [निर्दय] (प्रैषैः) शासनों से (अभिप्रेष्यामि) मैं सामने से प्राप्त होता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—दुराचारी लोग परमात्मा के नियमों से घोर क्रूर क्लेशों में पड़ते हैं ॥ २ ॥

वैश्वानरस्यैनं दंष्ट्रयोरपि दधामि ॥ ३ ॥

वैश्वानरस्य । एनम् । दंष्ट्रयोः । अपि । दधामि ॥ ३ ॥

१—(तेन) ईश्वरनियमेन (एनम्) कुमार्गिणम् (विध्यामि) विदारयामि। पीडयामि। (अभूत्या) असम्पत्त्या (निर्भूत्या) हान्या (पराभूत्या) पराजित्या। पराभवेन (ग्राह्या) सन्धीनां रोगविशेषेण (तमसा) अन्धकारेण। महाक्लेशेन। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२—(देवानाम्) ईश्वरस्य दिव्यनियमानाम् (एनम्) कुमार्गिणम् (घोरैः) भयानकैः (क्रूरैः) दयारहितैः (प्रैषैः) प्र+इष वाञ्छायां गतौ च—घञ्। शासनैः (अभिप्रेष्यामि) आभिमुख्येन प्राप्नोमि ॥

भाषार्थ—(एनम्) इस [कुमार्गी] को (वैश्वानरस्य) सब नरों के हितकारी पुरुष के (दंष्ट्रयोः) दोनों डाढ़ों के बीच [जैसे अन्न को] (अपि) अवश्य (दधामि) धरता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण कुकर्मी जन को पकड़कर सब के हित के लिये राजा को देवें, वह उसे ऐसा नष्ट करे जैसे अन्न को डाढ़ों से कुचलते हैं ॥३॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आ चुका है—अ० ५। २६। ९॥

एवानेवाव सा गरत् ॥ ४ ॥ एव । अनेव । अव । सा । गरत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एव) इस प्रकार से [अथवा] (अनेव) अन्य प्रकार से (सा) वह [न्याय व्यवस्था] [कुमार्गी को] (अव गरत्) निगल जावे ॥४॥

भावार्थ—राजा अपनी अनेक न्याय व्यवस्थाओं से दुष्टों का नाश करता रहे ॥ ४ ॥

योऽ३स्मान् द्वेष्टि तमात्मा द्वेष्टु यं वयं द्विष्मः स आत्मानं द्वेष्टु ॥ ५ ॥

यः । अस्मान् । द्वेष्टि । तम् । आत्मा । द्वेष्टु । यम् । वयम् । द्विष्मः । सः । आत्मानम् । द्वेष्टु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [कुमार्गी] (अस्मान्) हम से (द्वेष्टि) वैर करता है, (तम्) उस से [उस का] (आत्मा) आत्मा (द्वेष्टु) वैर करे, (यम्) जिस [कुमार्गी] से (वयम्) हम (द्विष्मः) वैर करते हैं, (सः) वह (आत्मा-

३—(वैश्वानरस्य) सर्वनरहितस्य पुरुषस्य (एनम्) कुमार्गिणम् (दंष्ट्रयोः) दन्तपङ्क्तिविशेषयोर्मध्ये (अपि) अवश्यम् (दधामि) धरामि ॥

४—(एव) एवम् । अनेन प्रकारेण (अनेव) अनेवम् । अन्यप्रकारेण (सा) न्यायव्यवस्था (अव गरत्) विनाशयेत् ॥

५—(यः) कुमार्गी (अस्मान्) धार्मिकान् (द्वेष्टि) वैरयति (तम्) दुष्टम् (आत्मा) तस्यात्मा (द्वेष्टु) वैरयतु (यम्) (वयम्) धार्मिकाः

नष्ट) [अपने] आत्मा से (द्वेष्टु) वैर करे ॥ ५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! कुमार्गी पुरुष धर्मात्माओं का मार्ग छोड़ने से आप ही अपना वैरी बन जाता है ॥ ५ ॥

निर्द्विषन्तं दिवो निः पृथिव्या निरन्तरिक्षाद् भजाम ॥६॥

निः । द्विषन्तम् । दिवः । निः । पृथिव्याः । निः । अन्तरिक्षात् । भजाम ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(द्विषन्तम्) वैर करने वाले [कुमार्गी] को (दिवः) आकाश से (निः) पृथक्, (पृथिव्याः) पृथिवी से (निः) पृथक् और (अन्तरिक्षात्) मध्यलोक से (निः भजाम) हम भाग रहित करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—शूर धर्मात्मा लोग दुराचारियों को आकाश मार्ग, पृथिवी-मार्ग और अन्य मार्ग से सर्वथा निकाल देवें ॥ ६ ॥

सुयामंश्चाक्षुष ॥ ७ ॥ सु-यामन् ॥ चाक्षुष ॥ ७ ॥

इदमहमामुष्यायणे३ऽमुष्याः पुत्रे दुष्वप्न्यं मृजे ॥ ८ ॥

इदम् । अहम् । आमुष्यायणे । अमुष्याः । पुत्रे । दुः-स्वप्न्यम् । मृजे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सुयामन्) हे सुमार्गी ! (चाक्षुष) हे नेत्र वाले ! [विद्वान्] ॥ ७ ॥ (इदम्) अब (अहम्) मैं (आमुष्यायणे) अमुक पुरुष के सन्तान,

---

(द्विष्मः) वैरयामः (सः) दुराचारी (आत्मानम्) स्वकीयमात्मानम् (द्वेष्टु) ॥

६—(निः) पृथक् (द्विषन्तम्) वैरयन्तम् (दिवः) आकाशात् (निः) (पृथिव्याः) भूलोकात् (अन्तरिक्षात्) मध्यलोकात् (निर्भजाम) भागरहितं कुर्याम ॥

७—(सुयामन्) या गतौ—मनिन् । हे सुमार्गिन् (चाक्षुष) हे नेत्रवन् । दूरदर्शिन् ॥

८—(इदम्) इदानीम् (अहम्) धर्मात्मा (आमुष्यायणे) अमुष्य पुरु-

(अमुष्याः) अमुक स्त्री के (पुत्रे) [कुमार्गी] पुत्र पर (दुःस्वप्न्यम्) दुष्ट स्वप्न [आलस्य आदि] में उठे कुविचार को (मृजे) शोधता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा दूरदर्शी लोग कुमार्गी जन के कुल, माता पिता आदि का पता लगाकर यथोचित दण्ड देवें ॥ ७, ८ ॥

यद्दोअंदो अभ्यगच्छन् यद् दोषा यत् पूर्वां रात्रिम् ॥ ९ ॥

यत् । अदः-अदः । अभि-अगच्छन् । यत् । दोषा । यत् । पूर्वाम् । रात्रिम् ॥ ९ ॥

यज्जाग्रद् यत् सुप्तो यद् दिवा यन्नक्तम् ॥ १० ॥

यत् । जाग्रत् । यत् । सुप्तः । यत् । दिवा । यत् । नक्तम् १०

यदहरहरभिगच्छामि तस्मादेनमव दये ॥ ११ ॥

यत् । अहः-अहः । अभि-गच्छामि । तस्मात् । एनम् । अव । दये ॥ ११ ॥

भावार्थ—(यत्) जैसे (अदोअदः) उस उस समय पर (यत्) जो [कष्ट] (दोषा) रात्रि में, (यत्) जो [कष्ट] (पूर्वां रात्रिम्) रात्रि के पूर्व भाग में (अभ्यगच्छन्) उन [पूर्वज लोगों] ने सामने से पाया है ॥ ९ ॥ [वैसे ही] (यत्) जो [कष्ट] (जाग्रत्) जागता हुआ, (यत्) जो [कष्ट] (सुप्तः) सोता हुआ मैं (यत्) जो [कष्ट] (दिवा) दिन में, (यत्) जो

यस्य सन्ताने (अमुष्याः) अमुकस्त्रियाः (पुत्रे) कुमार्गिणि सन्ताने (दुःस्वप्न्यम्) दुष्टस्वप्ने भवं कुविचारम् (मृजे) शोधयामि ॥

९—(यत्) यथा (अदोअदः) तस्मिंस्तस्मिन् समये (अभ्यगच्छन्) ते पूर्वजा आभिमुख्येन प्राप्नुवन् (यत्) कष्टम् (दोषा) रात्रौ (यत्) (पूर्वाम्) पूर्वभागभवायाम् (रात्रिम्) ॥

१०—(यत्) कष्टम् (जाग्रत्) जागरणयुक्तः सन् (सुप्तः) निद्रालुः सन् (दिवा) दिने (नक्तम्) रात्रौ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

(नक्तम्) रात्रि में, ॥ १० ॥ (यत्) जो (अहरहः) दिन दिन (अभिगच्छामि) सामने से पाता हूं; (तस्मात्) उसी कारण से (एनम्) इस [कुमार्गी] को (अव दये) मार गिराता हूँ ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज विद्वान् लोग बड़े बड़े कष्ट सहकर दुराचारी असुरों को हराते आये हैं, वैसे ही मनुष्य क्लेश सहकर दुष्टों को हराकर शिष्टों का पालन करते रहें ॥ ९, १०, ११ ॥

तं जहि तेन मन्दस्व तस्य पृष्टीरपि शृणीहि ॥ १२ ॥

तम् । जहि । तेन । मन्दस्व । तस्य । पृष्टीः । अपि । शृणीहि १२

भाषार्थ—(तम्) उस [कुमार्गी] को (जहि) नाश करदे, (तस्य) उसकी (पृष्टीः) पसलियां (अपि) सर्वथा (शृणीहि) तोड़ डाल, (तेन) उस [शूर कर्म] से (मन्दस्व) तू चल ॥ १२ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् शूर लोग दुष्टों को नाश करके सदा आगे बढ़ते रहें ॥ १२ ॥

स मा जीवीत् तं प्राणो जहातु ॥ १३ ॥

सः । मा । जीवीत् । तम् । प्राणः । जहातु ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह [कुमार्गी] (मा जीवीत्) न जीता रहे, (तम्) उसको (प्राणः) प्राण (जहातु) छोड़ देवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा दुराचारियों को सर्वथा नाश करके प्रजा पालन करे ॥ १३ ॥

११—(यत्) कष्टम् (अहरहः) प्रतिदिनम् (अभिगच्छामि) अहमाभिमुख्येन प्राप्नोमि (तस्मात्) कारणात् (एनम्) दुष्टम् (अव दये) विनाशयामि ॥

१२—(तम्) कुमार्गिणम् (जहि) नाशय (तेन) शूरकर्मणा (मन्दस्व) मदि स्तुतिगत्यादिषु । गच्छ (तस्य) दुष्टस्य (पृष्टीः) पार्श्वास्थीनि (अपि) सर्वथा (शृणीहि) विदारय ॥

१३—(सः) दुष्टः (मा जीवीत्) नैव प्राणान् धारयेत् (तम्) दुष्टम् (प्राणः) जीवनम् (जहातु) त्यजतु ॥

सूक्तम् ८ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—३३ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ जितमित्यादि १, ५—३० प्राजापत्यनुष्टुप्, २, ५—२६, ३१ विराडार्षी गायत्री ; ३ प्राजापत्या गायत्री ; तस्येत्यादि ४-२६, ३३ प्राजापत्या त्रिष्टुप् ; स इत्यादि ५, ६, ७, १२, १४, १६, २०, २२, २७ आसुरी जगती ; स इत्यादि ८, १०, १३, २१, २३, २४, २५ आसुरी त्रिष्टुप् ; स इत्यादि ९, १५, १७, १८, १९, २६, ३२ आसुरी पङ्क्तिः ; २८, २९ याजुषी जगती ॥

शत्रुनाशनोपदेशः—शत्रु के नाश करने का उपदेश ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मा-स्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं वीरा अस्माकम् ॥ १ ॥

जितम् । अस्माकम् । उत्-भिन्नम् । अस्माकम् । ऋतम् । अस्माकम् । तेजः । अस्माकम् । ब्रह्म । अस्माकम् । स्वः । अस्माकम् । यज्ञः । अस्माकम् । पशवः । अस्माकम् । प्र-जाः । अस्माकम् । वीराः । अस्माकम् ॥ १ ॥

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥२॥

तस्मात् । अमुम् । निः । भजामः । अमुम् । आमुष्यायणम् । अमुष्याः । पुत्रम् । असौ । यः ॥ २ ॥

स ग्राह्याः पाशान्मा मोचि ॥ ३ ॥

सः । ग्राह्याः । पाशात् । मा । मोचि ॥ ३ ॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ४ ॥

तस्य । इदम् । वर्चः । तेजः । प्राणम् । आयुः । नि । वेष्टयामि । इदम् । एनम् । अधराञ्चम् । पादयामि ॥ ४ ॥

भावार्थ—(जितम्) जय किया हुआ वस्तु (अस्माकम्) हमारा, (उद्भिन्नम्) निकासी किया हुआ धन (अस्माकम्) हमारा, (ऋतम्) वेद-ज्ञान (अस्माकम्) हमारा, (तेजः) तेज (अस्माकम्) हमारा, (ब्रह्म) अन्न (अस्माकम्) हमारा, (स्वः) सुख (अस्माकम्) हमारा, (यज्ञः) यज्ञ [देव-पूजा, संगतिकरण और दान] (अस्माकम्) हमारा, (पशवः) सब पशु [गौ घोड़ा आदि] (अस्माकम्) हमारे, (प्रजाः) प्रजागण (अस्माकम्) हमारे और (वीराः) वीर लोग (अस्माकम्) हमारे [होवें] ॥ १ ॥ (तस्मात्) उस [पद] से (अमुम्) अमुक, (अमुम्) अमुक पुरुष, (आमुष्यायणम्) अमुक पुरुष के सन्तान, (अमुष्याः) अमुक स्त्री के (पुत्रम्) पुत्र को (निः भजामः) हम भागरहित करते हैं, (असौ यः) वह जो [कुमार्गी] है ॥ २ ॥ (सः) वह [कुमार्गी] (ग्राह्याः) गठिया रोग के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ॥ ३ ॥ (तस्य) उस [कुमार्गी] के (इदम्) अब (वर्चः) प्रताप, (तेजः) तेज, (प्राणम्) प्राण और (आयुः) जीवन को (नि वेष्टयामि) मैं लपेटे लेता हूं, (इदम्) अब (एनम्)

१—(जितम्) जयेन प्राप्तं वस्तु (अस्माकम्) धर्मात्मनाम् (उद्भिन्नम्) उद्भेदनं स्फुरणाम् । आयधनम् (ऋतम्) वेदज्ञानम् (तेजः) (ब्रह्म) अन्नम्–निघ० २ । ७ (स्वः) सुखम् (यज्ञः) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारः (पशवः) गवाश्वादयः (प्रजाः) प्रजागणाः (वीराः) वीरपुरुषाः (अस्माकम्) भवन्तु इति शेषः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२—(तस्मात्) प्रसिद्धात् पदात् (अमुम्) अमुकपुरुषम् (अमुम्) अमुकपुरुषम् (निर्भजामः) भागरहितं कुर्मः (आमुष्यायणम्) अमुक पुरुषस्य सन्तानम् (अमुष्याः) अमुकस्त्रियाः (पुत्रम्) सुतम् (असौ) (यः) कुमार्गी पुरुषः ॥

३—(सः) कुमार्गी (ग्राह्याः) ग्राहीरोगस्य (पाशात्) बन्धनात् (मा मोचि) न मुक्तो भवतु ॥

४—(तस्य) कुमार्गिणः पुरुषस्य (इदम्) इदानीम् (वर्चः) प्रतापम् (तेजः) प्रकाशम् (प्राणम्) श्वासव्यापारम् (आयुः) जीवनम् (नि) नितराम् (वेष्टयामि) आच्छादयामि (इदम्) इदानीम् (एनम्) कुमार्गिणम् (अधराञ्चम्)

इस [कुमार्गी] को (अधराञ्चम्) नीचे (पादयामि) लतियाता हूं ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् धर्मवीर राजा सुवर्ण आदि धन और सब सम्पत्ति का सुन्दर प्रयोग करे और अपने प्रजागण और वीरों को सदा प्रसन्न रख कर कुमार्गियों को कष्ट देकर नाश करे ॥ १-४ ॥

१—आगे के सब मन्त्रों का भावार्थ इस भावार्थ के समान है ॥

२—मन्त्र १, २, ४ कुछ भेद से आ चुके हैं—अ० १० । ५ । ३६ ॥

जितम् ० । ० । स निर्ऋत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ५ ॥

० । सः । निः-ऋत्याः । पाशात् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (निर्ऋत्याः) निर्ऋति [महामारी] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ ५ ॥

जितम् ० । ० सोऽभूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ६ ॥

० । सः । अभूत्याः । पाशात् । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (अभूत्याः) अभूति [असम्पत्ति] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ ६ ॥

जितम् ० । ० । स निर्भूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ७ ॥

० । सः । निः-भूत्याः । पाशात् । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (निर्भूत्याः) निर्भूति [हानि] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ ७ ॥

अधोगतम् (पादयामि) पादेन प्रहरामि ॥

५—(निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्तेः । महामारीरोगस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

६—(अभूत्याः) असम्पत्तेः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७—(निर्भूत्याः) हानेः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

जितम् ० । ० । स पराभूत्याः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ८ ॥

० । सः । परा-भूत्याः । पाशात् । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २]। (सः) वह [कुमार्गी] (पराभूत्याः) पराभूति [हार] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ ८ ॥

जितम् ० । ० । स देवजामीनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ ९ ॥

० । सः । देव-जामीनाम् । पाशात् । ० ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (देवजामीनाम्) उन्मत्तों की गतियों के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ ९ ॥

जितम् ० । ० । स बृहस्पतेः पाशान्मा मोचि । ० ॥ १० ॥

० । सः । बृहस्पतेः । पाशात् । ० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (बृहस्पतेः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक सेनाध्यक्ष] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १० ॥

जितम् ० । ० स प्रजापतेः पाशान्मा मोचि । ० ॥ ११ ॥

० । सः । प्रजा-पतेः । पाशात् । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (प्रजापतेः) प्रजापति [प्रजापालक सेनापति] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ ११ ॥

८—(पराभूत्याः) पराजितेः । पराभवस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(देवजामीनाम्)सू०५। म०८। उन्मत्तपुरुषाणां गतीनाम् । अन्यत्पूर्ववत् ।

१०—(बृहस्पतेः) बृहतीनां विद्यानां पालकस्य सेनाध्यक्षस्य । अन्यत् पूर्ववत् ।

११—(प्रजापतेः) प्रजापालकस्य सेनापतेः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

जितम् ० । ० । स ऋषीणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १२ ॥

० । सः । ऋषीणाम् । पाशात् । ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (ऋषीणाम्) ऋषियों [सन्मार्ग दर्शक महात्माओं] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।...... [म० ४] ॥ १२ ॥

जितम् ० । ० । स आर्षेयाणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १३ ॥

० । सः । आर्षेयाणाम् । पाशात् । ० ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (आर्षेयाणाम्) आर्षेय शास्त्रों [ऋषिप्रणीत धर्मशास्त्रों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १३ ॥

जितम् ० । ० सोऽङ्गिरसां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १४ ॥

० । सः । अङ्गिरसाम् । पाशात् । ० ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (अङ्गिरसाम्) अङ्गिराओं [महाज्ञानी युद्धकुशलों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १४ ॥

जितम् ० । ० । स आङ्गिरसानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १५ ॥

० । सः । आङ्गिरसानाम् । पाशात् । ० ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (आङ्गिरसानाम्) अङ्गिराओं [महाज्ञानियों] के शिक्षित योद्धाओं

१२—(ऋषीणाम्) सन्मार्गदर्शकमहात्मनाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१३—(आर्षेयाणाम्) ऋषिप्रणीतानां धर्मशास्त्राणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(अङ्गिरसाम्) अ० २ । १२ । ४ । अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २३६ । अगि गतौ—असि, इरुट् । महाज्ञानिनां युद्धकुशलानाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(आङ्गिरसानाम्) अङ्गिरस्—अण् । महाज्ञानिभिः शिक्षितयोद्-

के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १५ ॥

जितम् ० । ० सोऽथर्वणां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १६ ॥

० । सः । अथर्वणाम् । पाशात् । ० ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (अथर्वणाम्) अथर्वाओं [निश्चल स्वभाव वाले सेना नायकों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १६ ॥

जितम् ० । ० । स आथर्वणानां पाशान्मा मोचि । ० ॥१७॥

० । सः । आथर्वणानाम् । पाशात् । ० ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (आथर्वणानाम्) अथर्वाओं के सेना दलों के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १७ ॥

जितम् ० । ० । स वनस्पतीनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १८ ॥

० । सः । वनस्पतीनाम् । पाशात् । ० ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (वनस्पतीनाम्) वनस्पतियों [वृक्षों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।......[म० ४] ॥ १८ ॥

वृक्षाणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१६—(अथर्वणाम्) अ० ४ । १ । ७ । अथर्वाणोऽथनवन्तस्थर्वतिश्चरति कर्मा तत्प्रतिषेधः—निरु० ११ । १८ । आतमदिपद्यर्त्तिपॄशकिभ्यो वनिप् । उ० ४ । ११३ । अथर्व चरणे=गतौ-वनिप् । वलोपो विकल्पेन । निश्चलस्वभावानां सेनानायकानाम् ॥

१७—(आथर्वणानाम्) अ० ४ । ३ । ७ । अथर्वन्—अण् । अन् । पा० ६ । ४ । १६७ । अनः प्रकृतिभावः । अथर्वणां निश्चलस्वभावसेनानायकानां गणानाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१८—(वनस्पतीनाम्) वृक्षाणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

जितम् ० । ० । स वानस्पत्यानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ १९ ॥

० । सः । वानस्पत्यानाम् । पाशात् । ० ॥ १९ ॥

भावार्थ— (जितम्) जय किया हुआ...... [म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (वानस्पत्यानाम्) वनस्पतियों से उत्पन्न [काष्ठ, पुष्प, फल आदिकों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।...... [म० ४] ॥१९॥

जितम् ० । ० । स ऋतूनां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २०

० । सः । ऋतूनाम् । पाशात् । ० ॥ २० ॥

भावार्थ—(जितम्) जय किया हुआ...... [म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (ऋतूनाम्) ऋतुओं [वसन्त आदिकों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।...... [म० ४] ॥ २० ॥

जितम् ० । ० । स आर्तवानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २१ ॥

० । सः । आर्तवानाम् । पाशात् । ० ॥ २१ ॥

भावार्थ—(जितम्) जय किया हुआ...... [म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (आर्तवानाम्) ऋतुओं में उत्पन्न [शीत, उष्ण, पुष्प फल, आदिकों] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे । ...... [म० ४] ॥ २१ ॥

जितम् ० । ० । स मासानां पाशान्मा मोचि । ० ॥ २२ ॥

० । सः । मासानाम् । पाशात् । ० ॥ २२ ॥

भावार्थ—(जितम्) जय किया हुआ...... [म० १, २] । (सः) वह

१९—(वानस्पत्यानाम्) वृक्षेभ्य उत्पन्नकाष्ठपुष्पफलादिकानाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०—(ऋतूनाम्) वसन्तादिकालानाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२१—(आर्तवानाम्) ऋतुषूत्पन्नानां शीतोष्णपुष्पफलादीनाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२२—(मासानाम्) वर्षावयवानाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

[कुमार्गी] (मासानाम्) महीनों के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे।......[म० ४] ॥ २२॥

जितम् ० । ० सोऽर्धमासानां पाशान्मा मोचि । ० । २३ ॥

० । सः । अर्ध-मासानाम् । पाशात् । ० ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २]। (सः) वह [कुमार्गी] (अर्धमासानाम्) आधे महीनों के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे। ......[म० ४]॥ २३ ॥

जितम् ० । ० । सोऽहोरात्रयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २४ ।

० । सः । अहोरात्रयोः । पाशात् । ० ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (अहोरात्रयोः) दिन और रात्रि के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे।......[म० ४] ॥ २४ ॥

जितम् ० । ० । सोऽह्नोः संयतोः पाशान्मा मोचि । ० ॥२५॥

० । सः । अह्नोः । सम्-यतोः । पाशात् । ० ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ......[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (संयतोः) मिले हुये (अह्नोः) दो दिन [दो समय के संयोग] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे।......[म० ४] ॥ २५ ॥

जितम् ० । ० । स द्यावापृथिव्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥२६॥

० । सः । द्यावापृथिव्योः । पाशात् । ० ॥ २६ ॥

२३—(अर्धमासानाम्) मासावयवानाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२४—(अहोरात्रयोः) रात्रिदिवसयोः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२५—(अह्नोः) दिनयोः। कालयोः (संयतोः) यमेः क्विप् । संयुक्तयोः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ……[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (द्यावापृथिव्योः) सूर्य और पृथिवी के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।……[म० ४] ॥ २६ ॥

जितम् ० । ० स इन्द्राग्न्योः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २७ ॥

० । सः । इन्द्राग्न्योः । पाशात् । ० ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ……[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (इन्द्राग्न्योः) बिजुली और भौतिक अग्नि के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।……[म० ४] ॥ २७ ॥

जितम् ० । ० स मित्रावरुणयोः पाशान्मा मोचि । ० ॥ २८ ॥

० । सः । मित्रावरुणयोः । पाशात् । ० ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ……[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (मित्रावरुणयोः) प्राण और अपान [श्वास प्रश्वास के कष्ट] के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।……[म० ४] ॥ २८ ॥

जितम् ० । ० । स राज्ञो वरुणस्य पाशान्मा मोचि । ० ॥२९॥

० । सः । राज्ञः । वरुणस्य । पाशात् । ० ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ……[म० १, २] । (सः) वह [कुमार्गी] (वरुणस्य) श्रेष्ठ (राज्ञः) राजा के (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ।……[म० ४] ॥ २९ ॥

जितमस्माकमुद्भिन्नमस्माकमृतमस्माकं तेजोऽस्माकं ब्रह्मा-स्माकं स्वरस्माकं यज्ञोऽस्माकं पशवोऽस्माकं प्रजा अस्माकं

२६—(द्यावापृथिव्योः) सूर्यपृथिव्योः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२७—(इन्द्राग्न्योः) विद्युदग्न्योः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२८—(मित्रावरुणयोः) प्राणापानयोः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

२९—(राज्ञः) भूपतेः (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

वीरा अस्माकम् ॥ ३० ॥

० । अस्माकम् । ऋतम् । अस्माकम् । तेजः । अस्माकम् । ब्रह्म । अस्माकम् । स्वः । अस्माकम् । यज्ञः । अस्माकम् । पशवः । अस्माकम् । प्र-जाः । अस्माकम् । वीराः । अस्माकम् ॥ ३० ॥

तस्मादमुं निर्भजामोऽमुमामुष्यायणममुष्याः पुत्रमसौ यः ॥३१॥

तस्मात् । अमुम् । निः । भजामः । अमुम् । आमुष्यायणम् । अमुष्याः । पुत्रम् । असौ । यः ॥ ३१ ॥

स मृत्योः पड्वीशात् पाशान्मा मोचि ॥ ३२ ॥

सः । मृत्योः । पड्वीशात् । पाशात् । मा । मोचि ॥ ३२ ॥

तस्येदं वर्चस्तेजः प्राणमायुर्नि वेष्टयामीदमेनमधराञ्चं पादयामि ॥ ३३ ॥

तस्य । इदम् । वर्चः । तेजः । प्राणम् । आयुः । नि । वेष्ट-यामि । इदम् । एनम् । अधराञ्चम् । पादयामि ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ वस्तु (अस्माकम्) हमारा, (उद्भिन्नम्) निकाली किया हुआ धन (अस्माकम्) हमारा, (ऋतम्) वेदज्ञान (अस्माकम्) हमारा, (तेजः) तेज (अस्माकम्) हमारा, (ब्रह्म) अन्न (अस्माकम्) हमारा, (स्वः) सुख (अस्माकम्) हमारा, (यज्ञः) यज्ञ [देवपूजा, सङ्गतिकरण और दान] (अस्माकम्) हमारा, (पशवः) सब पशु [गौ, घोड़ा आदि] (अस्माकम्) हमारे, (प्रजाः) प्रजागण (अस्माकम्) हमारे और (वीराः) वीर लोग (अस्माकम्) हमारे [होवें]—[म० १]॥३० ॥ (तस्मात्) उस [पद] से (अमुम्) अमुक (अमुम्) अमुक पुरुष, (आमुष्यायणम्) अमुक पुरुष के सन्तान, (अमुष्याः) अमुक स्त्री के (पुत्रम्) पुत्र

को (निः भजामः) हम भाग रहित करते हैं, (असौ यः) वह जो [कुमार्गी] है—[म० २] ॥ ३१ ॥ (सः) वह [कुमार्गी] (मृत्योः) मृत्यु की (पड्वीशात्) बेड़ी के प्रवेश वाले (पाशात्) बन्धन से (मा मोचि) न छूटे ॥ ३२ ॥ (तस्य) उस [कुमार्गी] के (इदम्) अब (वर्चः) प्रताप, (तेजः) तेज, (प्राणम्) प्राण और (आयुः) जीवन को (नि वेष्टयामि) मैं लपेटे लेता हूं, (इदम्) अब (एनम्) इस [कुमार्गी] को (अधराञ्चम्) नीचे (पादयामि) लतियाता हूं—[म० ४] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—म० १—४ के समान ॥ ३०—३३ ॥

सूक्तम् ९ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—४ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १ साम्नी त्रिष्टुप् ; २ आर्च्युष्णिक् ; ३ साम्नी गायत्री ; ४ आर्च्युष्णिक् ॥

सुखप्राप्त्युपदेशः—सुख की प्राप्ति का उपदेश ॥

जितमुस्माकुमुद्भिन्नमुस्माकंमुभ्यष्ठां विश्वाः पृतंना अरातीः॥१

जितम् । अस्माकम् । उत्ऽभिन्नम् । अस्माकम् । अभि । अस्थाम् । विश्वाः । पृतनाः । अरातीः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जितम्) जय किया हुआ वस्तु (अस्माकम्) हमारा और (उद्भिन्नम्) निकासी किया हुआ धन (अस्माकम्) हमारा [हो], (विश्वाः) [शत्रुओं की] सब (पृतनाः) सेनाओं और (अरातीः) कंजूसियों को (अभि अस्थाम्) मैं ने रोक दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—पराक्रमी वीर पुरुष शत्रुओं को जीतकर और उन से कर लेकर अपने वश में रक्खे ॥ १ ॥

यह मन्त्र आचुका है-अ० १० । ५ । ३६ ॥

तदुग्निरांह तदु सोम आह पूषा मा धात् सुकृतस्य लोके ॥२॥

तत् । अग्निः । आह । तत् । ऊं इति । सोमः । आह ।

३२—(मृत्योः) मरणस्य (पड्वीशात्) अ० ६ । ९६ । २ । सर्वेरटिः । उ० १ । १३४ । पश बन्धने—अटि, डित् + विश प्रवेशे—क, दीर्घः । पाशप्रवेशयुक्तात् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १—४ ॥

१—(जितम्) जयेन प्राप्तम् (अस्माकम्) धर्मात्मनाम् (उद्भिन्नम्) उद्भेदनं स्फुरणम् । आयधनम् (अस्माकम्) (अभि अस्थाम्) अभिभूतवानस्मि (विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः) शत्रुसेनाः (अरातीः) अदानशीलताः ॥

पूषा । मा । धातु । सु-कृतस्य । लोके ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तत्) यह (अग्निः) ज्ञानस्वरूप परमेश्वर (आह) कहता है, (तत् उ) वही (सोमः) सर्वोत्पादक परमात्मा (आह) कहता है, (पूषा) पोषण करने वाला जगदीश्वर (मा) मुझे (सुकृतस्य) पुण्य कर्म के (लोके) लोक [समाज] में (धातु) रक्खे ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा निरन्तर आज्ञा देता है कि मनुष्य सदा धर्मात्माओं के समाज में रह कर उन्नति करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का कुछ भाग आ चुका है–अ० ८ । ५ । ५ ॥

अगन्म स्वः स्वरगन्म सं सूर्यस्य ज्योतिषागन्म ॥ ३ ॥

अगन्म । स्वः । स्वः । अगन्म । सम् । सूर्यस्य । ज्योतिषा । अगन्म ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्वः) सुख [तत्त्वज्ञान का आनन्द] (अगन्म) हम पावें और (स्वः) सुख [मोक्ष आनन्द] (अगन्म) हम पावें और (सूर्यस्य) सर्वप्रेरक परमात्मा की (ज्योतिषा) ज्योति से (सम् अगन्म) हम मिल जावें॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ के साथ तत्त्वज्ञानी होकर मोक्ष सुख पावें और परमात्मा के दर्शन के भागी होवें ॥ ३ ॥

वस्योभूयाय वसुमान् यज्ञो वसु वंशिषीय वसुमान् भूयासं वसु मयि धेहि ॥ ४ ॥

वस्यः-भूयाय । वसु-मान् । यज्ञः । वसु । वंशिषीय । वसु-मान् । भूयासम् । वसु । मयि । धेहि ॥ ४ ॥

२—(तत्) इदम् (अग्निः) ज्ञानस्वरूपपरमेश्वरः (आह) ब्रवीति । उपदिशति (तत्) (उ) एव (सोमः) सर्वोत्पादकः परमात्मा (आह) (पूषा) सर्वपोषकजगदीश्वरः (मा) माम् (धातु) दध्यात् (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः (लोके) समाजे ॥

३—(अगन्म) छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । लिङर्थे लुङ् । गच्छेम । प्राप्नुयाम (स्वः) तत्त्वज्ञानसुखम् (स्वः) मोक्षसुखम् (अगन्म) प्राप्नुयाम (सम्) संगत्य (सूर्यस्य) सर्वप्रेरकस्य परमात्मनः (ज्योतिषा) तेजसा (अगन्म) प्राप्नुयाम ॥

भाषार्थ—(वस्योभूयाय) अधिक श्रेष्ठ पद पाने के लिये [हमारा] (यज्ञः) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दानव्यवहार] (वसुमान्) श्रेष्ठ गुण वाला [हो], (वसु) श्रेष्ठ पद (वंशिपीय) मैं मांगूं, (वसुमान्) श्रेष्ठ पद वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊं, [हे परमात्मन् !] (वसु) श्रेष्ठ पद (मयि) मुझ में (धेहि) धारण कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में विश्वास कर के यह प्रयत्न करें कि वे परोपकार द्वारा संसार के भीतर श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पद पावें ॥ ४ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

इति षोडशं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायक-
वाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम्
ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित
क्षेमकरणदास त्रिवेदिना
कृते अथर्ववेदभाष्ये षोडशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे मार्गशीर्षकृष्णद्वितीयायां तिथौ १६७५
[पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे
धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि
श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य
सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—मार्गशीर्षशुक्ला ११ संवत् १६७५ ता० १४ दिसम्बर १६१८ ॥

४—(वस्योभूयाय) वसु-ईयसुन्, ईलोपः + भू सत्तायां प्राप्तौ च-क्यप् । श्रेष्ठतरपदप्राप्तये (वसुमान्) श्रेष्ठगुणवान् (यज्ञः) देवपूजासंगतिकरणदान-व्यवहारः (वसु) श्रेष्ठपदम् (वंशिपीय) अ० ६ । १ । १४ । वनु याचने-आशीर्लिङि छान्दसं रूपम् । अहं वनिषीय । याचिषीय (वसुमान्) श्रेष्ठपदयुक्तः (वसु) श्रेष्ठपदम् (मयि) पुरुषार्थिनि (धेहि) धारय ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१७ की प्रति।

ला० दीवान चन्द्र प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर. अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७६ प्राप्त २० जुलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आप को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य का करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की हैं। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्माभिमानी श्री त्रिवेदी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजों के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही जरूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

BSc. LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या ६७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-

प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए०, एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैं ने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

14521

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो... छपाई और कागज़ भी अच्छा है।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६६८।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा— पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१८६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा**—काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहाँ से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में......अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है...भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १२७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आप का भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आप ने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है आप को अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवाँ कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है, कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आप का भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५=९ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करें कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, जिला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आप को वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १८७३ (२५ जून १९१६
लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।.......... इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोच कर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है...... ...त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDY ADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, letter No* 624 *dated 6th February* 1913.

...It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्व वेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them ...also add on the address lable " For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope ..the venture will not fail for want of pecuniary support

---

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature .....The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works... ..The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves.....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest.....

N.B—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ।

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

1997

सप्तदशं काण्डम् ।

8/12/28

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः

प्रथमावृत्तौ १००० पुस्तकानि | संवत् १६७५ वि० सन् १६१८ ई० | मूल्यम् ।≡)

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है ॥"

आनन्दसमाचार ।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था। इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भावार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी पाठान्तर अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची		पृष्ठ ३,६०० लगभग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)						२९=)

काण्ड—१८ छप रहा है। कांड १९ शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी

२५ दिसम्बर १९१८। ५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad)

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद, काण्ड १७ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	विषासहिं सहमानं	इन्द्र वा विष्णु	आयुकी बढ़ती	आर्ची जगती आदि

२—अथर्ववेद, काण्ड १७ के मन्त्र अन्यवेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १७) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र,	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र,	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१	उदगादयमादित्यो	१ । २४	१ । ५० । १३		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

सप्तदशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ [पर्यायसूक्तम्] ॥

१—३० ॥ इन्द्रो विष्णुर्वा देवता ॥ १ आर्ची जगती ; २, ३, ४ विराडतिजगती ; ५ निचृदतिजगती ; ६, ७ अष्टिः ; ८, ११, १६ अतिधृतिः ; ९, १५ विराट् शक्वरी ; १० भुरिग् धृतिः ; १२ कृतिः ; १३ प्रकृतिः ; १४ शक्वरी ; १७ स्वराट् शक्वरी ; १८ भुरिगष्टिः ; १९, २४ स्वराडष्टिः ; २० आर्षी गायत्री ; २१ विराडार्षी बृहती ; २२ आर्ष्यनुष्टुप् ; २३ आर्ची त्रिष्टुप् ; २५ अनुष्टुप् ; २६ आर्ष्युष्णिक् ; २७ विराडार्षी जगती ; २८, २९ त्रिष्टुप् ; ३० आर्षी त्रिष्टुप् ॥

आयुर्वृद्ध्यर्थमुपदेशः—आयु की बढ़ती के लिये उपदेश ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रमायुष्मान् भूयासम् ॥ १ ॥

वि-ससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ॥
सहमानम् । सहः-जितम् । स्वः-जितम् । गो-जितम् । संधन-जितम् ॥ ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । आयुष्मान् । भूयासम् ॥ १ ॥

भावार्थ—(विषासहिम्) विशेष हराने वाले, (सहमानम्) दबा लेते हुये, (सासहानम्) दबा चुकने वाले, (सहीयांसम्) अत्यन्त शक्तिवाले—(सहमानम्) वश में करते हुये, (सहोजितम्) बलवान् के जीतने वाले, (स्वर्जितम्) स्वर्ग जीतने वाले, (गोजितम्) भूमि जीतने वाले, (संधनजितम्) पूरा धन जीतने वाले—(ईड्यम्) बड़ाई योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (नाम) नाम से (ह्वे) मैं पुकारता हूं, (आयुष्मान्) बड़े आयु वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊं ॥ १ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जिस सर्वजनक जगदीश्वर परमात्मा ने सब विघ्नों को नाश करके तुम्हें अनेक सुख के साधन दिये हैं, तुम उसी की उपासना से बहुप्रकार शक्ति बढ़ाकर संसार में यश और कीर्ति फैलाओ ॥ १ ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियो देवानां भूयासम् ॥ २ ॥

वि-ससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ॥ सहमानम् । सहः-जितम् । स्वः-जितम् । गो-जितम् । संधन-जितम् ॥ ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । देवानाम् । भूयासम् ॥ २ ॥

१—(विषासहिम्) षह अभिभवे शक्तौ च यङि—किप्रत्ययः। विशेषेणाभिभवितारम् (सहमानम्) ताच्छील्यवयोवचनशक्तिषु चानश् । पा० ३ । २ । १२९ । सहेश्चानश् । अभिभवन् (सासहानम्) सहेर्लिटः कानच्, छान्दसो दीर्घः । पूर्वमपि अभिभवितारम् (सहीयांसम्) तुश्छन्दसि । पा० ५ । ३ । ५९ । सोढृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृलोपः । शक्तिमत्तरम् (सहमानम्) वशीकुर्वन् (सहोजितम्) बलवतो जेतारम् (स्वर्जितम्) स्वर्गस्य जेतारम् (गोजितम्) भूमेर्जेतारम् (संधनजितम्) सांहितिको दीर्घः । सम्यग् धनस्य सम्पूर्णसुवर्णादिलक्षणस्य जेतारम् (ईड्यम्) स्तुत्यम् (नाम-) प्रसिद्धौ । नाम्ना (ह्वे) ह्वये । आह्वयामि (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् (आयुष्मान्) दीर्घजीवनयुक्तः (भूयासम्) भवेयम् ॥

भाषार्थ—(विषासहिम्) विशेष हराने वाले......[मन्त्र १,]—(ईड्यम्) बड़ाई योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (नाम) नाम ले (ह्वे) मैं पुकारता हूं, (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (भूयासम्) मैं हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ २ ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः प्रजानां भूयासम् ॥ ३ ॥

वि-ससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ॥ सहमानम् । सहः-जितम् । स्वः-जितम् । गो-जितम् । सम्-धन-जितम् ॥ ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । प्र-जानाम् । भूयासम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विषासहिम्) विशेष हराने वाले......[मन्त्र १]—(ईड्यम्) बड़ाई योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (नाम) नाम से (ह्वे) मैं पुकारता हूं, (प्रजानाम्) प्रजागणों का (प्रियः) प्रिय (भूयासम्) मैं हो जाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान है ॥ ३ ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः पशूनां भूयासम् ॥ ४ ॥

वि-ससहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ॥ सहमानम् । सहः-जितम् । स्वः-जितम् । गो-जितम् । सम्-धन-

२—(प्रियः) प्रीतिकरः (देवानाम्) विदुषाम् । अन्यत् पूर्ववत्-म० १ ॥
३—(प्रजानाम्) जनपदपुरुषाणाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

जितम् ॥ ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । पशूनाम् । भूयासम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(विषासहिम्) विशेष हराने वाले......[मन्त्र १]—(ईड्यम्) बड़ाई योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (नाम) नाम से (ह्वे) मैं पुकारता हूं, (पशूनाम्) प्राणियों का (प्रियः) प्रिय (भूयासम्) मैं हो जाऊं ॥ ४॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ४ ॥

विषासहिं सहमानं सासहानं सहीयांसम् ।
सहमानं सहोजितं स्वर्जितं गोजितं संधनाजितम् ।
ईड्यं नाम ह्व इन्द्रं प्रियः समानानां भूयासम् ॥ ५ ॥

वि-सहिम् । सहमानम् । ससहानम् । सहीयांसम् ॥ सहमानम् । सहः-जितम् । स्वः-जितम् । गो-जितम् । सम्-धन-जितम् ॥ ईड्यम् । नाम । ह्वे । इन्द्रम् । प्रियः । समानानाम् । भूयासम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विषासहिम्) विशेष हराने वाले, (सहमानम्) दबा लेते हुये, (सासहानम्) दबा चुकने वाले, (सहीयांसम्) अत्यन्त शक्ति वाले—(सहमानम्) वश में करते हुये, (सहोजितम्) बलवान् के जीतने वाले,(स्वर्जितम्) स्वर्ग जीतने वाले, (गोजितम्) भूमि जीतने वाले, (संधनजितम्) पूरा धन जीतने वाले—(ईड्यम्) बड़ाई योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (नाम) नाम से (ह्वे) मैं पुकारता हूं, (समानानाम्) तुल्य गुण वालों का (प्रियः) प्रिय (भूयासम्) मैं हो जाऊं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मन्त्र १ के समान ॥ ५ ॥

४—(पशूनाम्) प्राणिनाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

५—(समानानाम्) कुलजातिवयोधनविद्याकर्मादिभिः स्वसदृशानाम् । तुल्यगुणवताम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

उदिह्युदिहि सूर्य वर्चसा माभ्युदिहि । द्विषंश्च मह्यं रध्यतु मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ।६।

उत् । इहि । उत् । इहि । सूर्य । वर्चसा । मा । अभि-उदिहि ॥ द्विषन् । च । मह्यम् । रध्यतु । मा । च । अहम् । द्विषते । रधम् । तव । इत् । विष्णो इति । बहुधा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सब के चलाने वाले परमेश्वर] (उत् इहि) तू उदय हो, (उत् इहि) तू उदय हो, (वर्चसा) प्रताप के साथ (मा) मुझ पर (अभ्युदिहि) उदय हो—(द्विषन्) बैर करता हुआ [शत्रु] (च) अवश्य (मह्यम् रध्यतु) मेरे वश में हो जावे, (च) और (अहम्) मैं (द्विषते) बैर करते हुये के (मा रधम्) वश में न पड़ूं (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही (वीर्याणि) वीर कर्म [पराक्रम] (बहुधा) अनेक प्रकार हैं । (त्वम्) तू (नः) हमें (विश्वरूपैः) सब रूप वाले (पशुभिः) प्राणियों से (पृणीहि) भरपूर कर, (मा) मुझे (परमे)

६—(उदिहि) उदितो भव (उदिहि) वीप्सायां द्विर्वचनम् (सूर्य) राजसूयसूर्य० । पा० ३ । १ । ११४ । सरतेः सुवतेर्वा क्यप् । हे सर्वव्यापक सर्वप्रेरक परमेश्वर (वर्चसा) प्रतापेन (मा) माम् (अभ्युदिहि) अभिलक्ष्योदितो भव (द्विषन्) वैरयन्, शत्रुः (च) निश्चयेन (मह्यम्) मदर्थम् (रध्यतु) रध हिंसासंराद्ध्योः—श्यन् दिवादित्वात् । रध्यतिर्वशगमनेऽपि दृश्यते—निरु० १० । ४० । वशं प्राप्नोतु (च) समुच्चये (अहम्) धार्मिकः (द्विषते) द्वेषं कुर्वते शत्रवे (मा रधम्) वशं न प्राप्नुयाम् (तव) त्वदीयानि (इत्) एव (विष्णो) हे सर्वव्यापक परमेश्वर (वीर्याणि) वीरकर्माणि (त्वम्) हे परमेश्वर (नः) अस्मान् (पृणीहि) पूरय (पशुभिः) प्राणिभिः (विश्वरूपैः) नानास्वरूपैः (सुधायाम्) सु+डु धाञ् धारणपोषणयोः—अङ्, टाप् ।

सब से ऊंचे (व्योमन्) विशेष रक्षा पद में (सुधायाम्) पूरी पोषण शक्ति के बीच (धेहि) रख ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे वीर विद्वानो ! उस महाबली सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर को सर्वव्यापक साक्षात् करके सब का उपकार करो ॥ ६ ॥

उदि॒ह्युदि॑हि सूर्य॒ वर्च॑सा मा॒भ्युदि॑हि। यांश्च॒ पश्या॑मि॒ यांश्च॒ न तेषु॑ मा सुम॒तिं कृ॑धि॒ तवेद्वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्या॑णि। त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ ७ ॥

उत्। इ॒हि॒। उत्। इ॒हि॒। सूर्य॒। वर्च॑सा। मा॒। अ॒भि-उदि॑हि॥ यान्। च॒। पश्या॑मि। यान्। च॒। न। तेषु॑। मा॒। सु॒-म॒तिम्। कृ॒धि॒। तव॑ इत्। विष्णो॒ इति॑। ब॒हु॒धा। वी॒र्या॑णि॥ त्वम्। नः॒। पृ॒णी॒हि॒। प॒शु-भिः॑। वि॒श्वरू॑पैः। सु॒-धाया॑म्। मा॒। धे॒हि॒। प॒र॒मे। वि-औ॑मन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सब के चलाने वाले परमेश्वर] (उत् इहि) तू उदय हो, (उत् इहि) तू उदय हो, (वर्चसा) प्रताप के साथ (मा) मुझ पर (अभ्युदिहि) उदय हो। (यान्) जिन [समीपस्थ प्राणियों] को (पश्यामि) मैं देखता हूं (च च) और (यान्) जिन [दूर वालों] को (न) नहीं [देखता हूं], (तेषु) उन पर (मा) मुझ को (सुमतिम्) सुमति वाला (कृधि) कर, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर](तव इत्) तेरे ही......[मन्त्र ६] ॥ ७ ॥

अतिशयेन पोषणशक्तौ (मा) माम् (धेहि) धारय (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। वि+अव रक्षणे—मनिन्, विभक्तिलोपः। व्योमन्=व्यवने-निरु० ११। ४०। विशेषरक्षापदे ॥

७—(यान्) समीपस्थान् प्राणिनः (च) (पश्यामि) चक्षुषा विषयी-करोमि (यान्) दूरस्थान् प्राणिनः (च) (न) निषेधे (मा) माम् (सुमतिम्) अनुग्रहबुद्धियुक्तम् (कृधि) कुरु। अन्यद् पूर्ववत्—म० ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा को उपास्य देव समझकर सब समीप वाले और दूर वाले प्राणियों का उपकार करते रहें ॥ ७ ॥

मा त्वा दभन्त्सलिले अप्स्व१न्तर्ये पाशिन उपतिष्ठन्त्यत्र ।
हित्वाशस्तिं दिवमारुक्ष एतां स नो मृड सुमतौ ते स्याम
तवेद्विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ८ ॥

मा । त्वा । दभन् । सलिले । अप्-सु । अन्तः । ये । पाशिनः । उप-तिष्ठन्ति । अत्र ॥ हित्वा । अशस्तिम् । दिवम् । आ । अरुक्षः । एताम् । सः । नः । मृड । सु-मतौ । ते । स्याम । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वा) तुझे उन [विघ्नों] ने (मा दभन्) नहीं रोका है, (ये) जो (पाशिनः) बन्धन वाले [विघ्न] (सलिले) अन्तरिक्ष में (अप्सु अन्तः) तन्मात्राओं के भीतर (अत्र) यहां [संसार में] (उपतिष्ठन्ति) उपस्थित हैं। (एताम्) इस (अशस्तिम्) अपकीर्ति को (हित्वा) छोड़कर (दिवम्) व्यवहार में (आ अरुक्षः) तू ऊंचा हुआ है, (सः) सो तू (नः) हमें (मृड) सुखी रख, (ते) तेरी (सुमतौ) सुमति

८—(त्वा) त्वाम् (मा दभन्) दम्भु हिंसायां माङि लुङि रूपम् । न हिंसितवन्तस्ते विघ्नाः (सलिले) अन्तरिक्षे (अप्सु) आपो व्यापिकास्तन्मात्राः—दयानन्दभाष्ये-यजु० २७ । २५ । व्यापिकासु तन्मात्रासु (अन्तः) मध्ये (ये) विघ्नाः (पाशिनः) बन्धनवन्तः (उपतिष्ठन्ति) उपस्थिता भवन्ति (अत्र) संसारे (हित्वा) त्यक्त्वा (अशस्तिम्) अपकीर्तिम् (दिवम्) व्यवहारम् (आ अरुक्षः) आरूढवानसि (एताम्) पूर्वोक्ताम् (सः) स त्वम् (नः)

[सुन्दर आज्ञा] में (स्याम) हम होवें, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······[मन्त्र ६] ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने सब विघ्नों को हटाकर तत्त्वों के परमाणुओं से सूर्य तृण आदि बड़े छोटे पदार्थों को रचकर परस्पर आकर्षण में ठहराया है, तुम सब उस परमात्मा की उपासना करके तत्त्वज्ञान से उन्नति करते जाओ ॥८॥

त्वं न॑ इन्द्र म॒हते सौभ॑गा॒याद॑ब्धेभिः॒ परि॑ पाह्य॒क्तुभि॒स्तवेद्वि॑ष्णो बहु॒धा वी॒र्याणि । त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः । सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ ९ ॥

त्वम् । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । म॒ह॒ते । सौभ॑गाय । अद॑ब्धेभिः । परि॑ । पा॒हि॒ । अ॒क्तु-भिः॑ । तव॑ । इत् । वि॒ष्णो॒ इति॑ । ब॒हु-धा । वी॒र्या॑णि ॥ त्वम् । नः॒ । पृ॒णी॒हि॒ । प॒शु-भिः॑ । वि॒श्व-रू॑पैः । सु॒-धाया॑म् । मा॒ । धे॒हि॒ । प॒र॒मे । वि-ओ॑मन् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (त्वम्) तू (नः) हमें (महते) बड़े (सौभगाय) सुन्दर ऐश्वर्य के लिये (अदब्धेभिः) [अपने] अखण्ड (अक्तुभिः) प्रकाशों के साथ (परि) सब ओर से (पाहि) बचा, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······ [मन्त्र ६] ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अखण्डज्ञान के प्रकाश से संसार में बड़ा ऐश्वर्य पाकर सुरक्षित रहें ॥ ९ ॥

अस्मान् (मृड) सुखय (सुमतौ) अनुग्रहबुद्धौ (ते) तव (स्याम) भवेम । अन्यत् पूर्ववत् ॥

९—(त्वम्) (नः) अस्मान् (महते) प्रवृद्धाय (सौभगाय) महैश्वर्यप्राप्तये (अदब्धेभिः) अहिंसितैः । अखण्डितैः (परि) सर्वतः (पाहि) रक्ष (अक्तुभिः) पः किच्च । उ० १ । ७१ । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—तुन् । व्यञ्जकैः प्रकाशैः किरणैः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

त्वं न॑ इन्द्रो॒तिभिः॑ शि॒वाभिः॒ शंत॑मो भव । आ॒रोह॑स्त्रि॒दिवं॑ दि॒वो गृ॑णा॒नः सोम॑पीतये प्रि॒यधा॑मा स्व॒स्तये॒ तवेद् विष्णो बहु॒धा वी॒र्या॑णि । त्वं नः॑ पृणीहि प॒शुभि॑र्वि॒श्वरू॑पैः सु॒धायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ १० ॥ (१)

त्वम् । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । ऊ॒ति-भिः॑ । शि॒वाभिः॑ । शम्-त॑मः । भ॒व॒ ॥ आ॒-रोह॑न् । त्रि॒-दि॒वम् । दि॒वः । गृ॒णा॒नः । सोम॑- पीतये । प्रि॒य-धा॑मा । स्व॒स्तये॑ । तव॑ । इत् । वि॒ष्णो॒ इति॑ । ब॒हु॒-धा । वी॒र्या॑णि ॥ त्वम् । नः॒ । पृ॒णी॒हि॒ । प॒शु-भिः॑ । वि॒श्व-रू॑पैः । सु॒-धाया॑म् । मा॒ । धे॒हि॒ । प॒र॒मे । वि-ओ॑मन् ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (शिवाभिः) मङ्गलमय (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (त्रिदिवम्) तीन [आय व्यय वृद्धि] व्यवहार में (आरोहन्) ऊंचा होता हुआ और (दिवः) व्यवहारों को (गृणानः) जताता हुआ (प्रियधामा) प्रिय पद वाला (त्वम्) तू (सोमपीतये) ऐश्वर्य की रक्षा के लिये [वा अमृत पीने के लिये] और (स्वस्तये) सुन्दर सत्ता [दशा] के लिये (नः) हम को (शंतमः) अत्यन्त सुख देनेवाला (भव) हो, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्व व्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······[मन्त्र ६] ॥१०॥

भावार्थ—परमात्मा अपनी अपार महिमा से प्राणियों को उनके पुरुषार्थ के अनुसार आय, व्यय और वृद्धिरूप फल देता हुआ अनेक व्यवहारों

१०—(त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (ऊतिभिः) रक्षाभिः (शिवाभिः) मङ्गलयुक्ताभिः (शंतमः) सुखयितृतमः (भव) (आरोहन्) आरूढ उन्नतः सन् (त्रिदिवम्) अ० ४। ५। १०। दिवु व्यवहारे—क। त्रयो दिवा आयव्ययवृद्धिरूपा यस्मिंस्तं व्यवहारम् (दिवः) व्यवहारान् (गृणानः) विज्ञापयन् । उपदिशन् (सोमपीतये) ऐश्वर्यरक्षणाय । अमृतपानाय (प्रियधामा) प्रियपदः। प्रियतेजाः (स्वस्तये) शोभनास्तित्वाय । सुदशाप्राप्तये। अन्यत् पूर्ववत् ॥

का उपदेश करता है, हे मनुष्यो ! उसी की उपासना से पुरुषार्थ के साथ ऐश्वर्य बढ़ाकर अपनी दशा सुधारते रहो ॥ १० ॥

त्वमिन्द्रासि विश्वजित् सर्ववित् पुरुहूतस्त्वमिन्द्र । त्वमिन्द्रेमं सुहवं स्तोममेरयस्व स नो मृड सुमतौ ते स्याम तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ ११ ॥

त्वम् । इन्द्र । असि । विश्व-जित् । सर्व-वित् । पुरु-हूतः । त्वम् । इन्द्र ॥ त्वम् । इन्द्र । इमम् । सु-हवम् । स्तोमम् । आ । ईरयस्व । सः । नः । मृड । सु-मतौ । ते । स्याम । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । आ । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (त्वम्) तू (विश्वजित्) सब का जीतने वाला, (सर्ववित्) सब का जानने वाला, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (त्वम्) तू (पुरुहूतः) बहुत प्रकार पुकारा गया (असि) है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! (त्वम्) तू (इमम्) इस (सुहवम्) अच्छे प्रकार पुकारने वाली (स्तोमम्) स्तुति को (आ) यथावत् (ईरयस्व) प्राप्त कर, (सः) सो तू (नः) हमें (मृड) सुखी रख, (ते) तेरी (सुमतौ) सुमति [सुन्दर आज्ञा] में (स्याम) हम होवें, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्व व्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही ······ [मन्त्र ६] ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमेश्वर के गुणों को यथावत् जानकर अपने गुण, कर्म, स्वभाव उत्तम बनाते हैं, वे परमेश्वर के भक्त सदा सुखी रहते हैं॥११॥

११—(त्वम्) (इन्द्र) (असि) (विश्वजित्) सर्वस्य जेता । वशीकर्ता (सर्ववित्) सर्वज्ञः (पुरुहूतः) बहुप्रकारेणाहूतः (इमम्) क्रियमाणम् (सुहवम्) शोभनाह्वानयुक्तम् (स्तोमम्) स्तवम् (आ) समन्तात् (ईरयस्व) प्राप्नुहि । अन्यत् पूर्ववत्—म०८ ॥

अदब्धो दिवि पृथिव्यामुतासि न त आपुर्महिमानमन्तरिक्षे ।
अदब्धेन ब्रह्मणा वावृधानः स त्वं न इन्द्र दिवि षंछर्म यच्छ तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १२ ॥

अदब्धः । दिवि । पृथिव्याम् । उत । असि । न । ते । आपुः । महिमानम् । अन्तरिक्षे ॥ अदब्धेन । ब्रह्मणा । ववृधानः । सः । त्वम् । नः । इन्द्र । दिवि । सन् । शर्म । यच्छ । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] तू (दिवि) सूर्य [प्रकाश वाले लोक] पर (उत) और (पृथिव्याम्) पृथिवी [प्रकाशरहित लोक] पर (अदब्धः) अखण्ड (असि) है, (ते) तेरी (महिमानम्) महिमा को (अन्तरिक्षे) आकाश में उन [लोकों और लोकवासियों] ने (न आपुः) नहीं पाया । (अदब्धेन) अखण्ड (ब्रह्मणा) बढ़ते हुये वेद ज्ञान से (वावृधानः) अत्यन्त बढ़ता हुआ और (दिवि) प्रत्येक व्यवहार में (सन्) वर्तमान, (सः त्वम्) सो तू (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (नः) हमें (शर्म) सुख (यच्छ) दे, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही...... [मन्त्र ६] ॥ १२॥

१२—(अदब्धः) अखण्डः (दिवि) सूर्ये । प्रकाशमानलोके (पृथिव्याम्) भूमौ । प्रकाशरहितलोके (उत) अपि (असि) (न) निषेधे (ते) तव (आपुः) प्राप्तवन्तस्ते लोका लोकिनश्च (महिमानम्) महत्त्वम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (अदब्धे) अखण्डेन (ब्रह्मणा) प्रवृद्धेन वेदज्ञानेन (वावृधानः) भृशं वर्धमानः (सः) तादृशः (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र) (दिवि) व्यवहारे (सन्) वर्तमानः (शर्म) सुखम् (यच्छ) देहि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भावार्थ—जो परमात्मा संसार में बड़ों से बड़ा, अनन्त ज्ञानी और प्रत्येक व्यवहार में वर्तमान है, मनुष्य उसी जगदीश्वर की उपासना से वृद्धि करके सुख पावें ॥ १२ ॥

या त॑ इन्द्र तुनूरुप्सु या पृ॑थिव्यां यान्तरुग्नौ या त॑ इन्द्र पव॑माने स्व॒र्विदि॑ । ययेन्द्र तुन्वा॑ ऽन्तरि॑क्षं व्यापिथ तया॑ न इन्द्र तुन्वा॑ शर्म॑ यच्छ तवेद्द विष्णो बहुधा वीर्या॑णि । त्वं नः पृणीहि पुशुभि॑र्विश्वरू॑पैः सुधायां॑ मा धेहि पर॒मे व्यो॑मन् ॥ १३ ॥

या । ते । इन्द्र । तनूः । अप्-सु । या । पृथिव्याम् । या । अन्तः । अग्नौ । या । ते । इन्द्र । पव॑माने । स्वः-विदि॑ ॥ यया॑ । इन्द्र । तन्वा॑ । अन्तरि॑क्षम् । वि-आपिथ । तया॑ । नः । इन्द्र । तन्वा॑ । शर्म॑ । यच्छ । तव॑ । इत् । विष्णो इति॑ । बहुधा । वीर्या॑णि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्वा-रू॑पैः । सु-धाया॑म् । मा । धेहि । पर॒मे । वि-ओमन् ॥ १३

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (या) जो (ते) तेरी (तनूः) उपकार शक्ति (अप्सु) जल में और (या) जो (पृथिव्याम्) पृथिवी में है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! (या) जो (ते) तेरी [उपकार शक्ति] (अग्नौ अन्तः) अग्नि के भीतर और (या) जो (स्वर्विदि) सुख पहुंचाने वाले (पवमाने) शुद्ध करने वाले पवन में है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! (यया) जिस (तन्वा) उपकार शक्ति से (अन्तरिक्षम्) आकाश में (व्यापिथ) तू व्यापा है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! (तया) (तन्वा) उपकार शक्ति से (नः) हमें (शर्म)

१३—(या) (ते) तव (तनूः) कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० । तन उपकारे—ऊप्रत्ययः । उपकारशक्तिः (अप्सु) उदकेषु (पृथिव्याम्) भूमौ (अन्तः) मध्ये (अग्नौ) (पवमाने) संशोधके पवने (स्वर्विदि) सुखप्रापके (यया) (तन्वा) उपकारशक्त्या (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (व्यापिथ) त्वं

सुख (यच्छ) दे, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······[मन्त्र ६] ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पृथिवी आदि पांच तत्त्वों में अनन्त उपकार शक्ति दी है, मनुष्य उन तत्त्वों के विज्ञान से उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ १३॥

त्वामिन्द्र ब्रह्मणा वर्धयन्तः सत्रं नि षेदुर्ऋषयो नाधमानास्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १४ ॥

त्वाम् । इन्द्र । ब्रह्मणा । वर्धयन्तः । सत्रम् । नि । सेदुः । ऋषयः । नाधमानाः । तव । इत् । विष्णो इति । बहुधा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (ब्रह्मणा) बढ़े हुये वेदज्ञान से (त्वाम्) तुझे (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुए, (नाधमानाः) [मोक्ष सुख] मांगते हुये (ऋषयः) ऋषि [वेदज्ञाता] लोग (सत्रम्) बैठक [वा यज्ञ] में (निषेदुः) बैठे हैं, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······ [मन्त्र ६] ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे ऋषि लोग वेद ज्ञान द्वारा जगदीश्वर की महिमा के ज्ञान से उन्नति करके संसार को सुख पहुंचाते हैं, वैसे ही सब मनुष्य परस्पर उपकार करें ॥ १४ ॥

त्वं तृतं त्वं पर्येष्युत्सं सहस्रधारं विदथं स्वर्विदं तवेद्

व्याप्तवानसि (तया) (नः) अस्मभ्यम् (तन्वा) उपकारशक्त्या (शर्म) सुखम् (यच्छ) देहि । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१४—(त्वाम्) परमात्मानम् (इन्द्र) (ब्रह्मणा) प्रवृद्धेन वेदज्ञानेन (वर्धयन्तः) उन्नयन्तः । स्तुवन्त इत्यर्थः (सत्रम्) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु-त्रन् । स्थानम् । यज्ञम् (निषेदुः) निषण्णा नियमेन स्थिता बभूवुः (ऋषयः) वेदवेत्तारः (नाधमानाः) मोक्षं याचमानाः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १५ ॥

त्वम् । तृतम् । त्वम् । परि । एषि । उत्सम् । सहस्र-धारम् । विदथम् । स्वः-विदम् । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ १५॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (तृतम्=त्रितम्) तीनों [कालों] के बीच फैले हुये [जगत्] में, (त्वम्) तू (सहस्रधारम्) सहस्रों धाराओं वाले (उत्सम्) स्रोते, [अर्थात्] (स्वर्विदम्) सुख पहुंचाने वाले (विदथम्) विज्ञान समाज में (परि) सब ओर से (एषि) व्यापक है, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······[मन्त्र६]१५

भावार्थ—जो परमात्मा सर्वदा सब संसार में व्यापक रह कर विद्वानों की उन्नति करता है, हम सब उसी की उपासना से विद्वान् होकर उन्नति करें ॥१५॥

त्वं रक्षसे प्रदिशश्चतस्रस्त्वं शोचिषा नभसी वि भासि । त्वमिमा विश्वा भुवनानु तिष्ठस ऋतस्य पन्थामन्वेषि विद्वांस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १६ ॥

त्वम् । रक्षसे । प्र-दिशः । चतस्रः । त्वम् । शोचिषा । नभसी इति । वि । भासि ॥ त्वम् । इमा । विश्वा । भुवना ।

१५—(त्वम्) (तृतम्) सम्प्रसारणं छान्दसम् । अ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे – ड । त्रिषु कालेषु विस्तीर्णं जगत् (त्वम्) (परि) सर्वतः (एषि) व्याप्नोषि (उत्सम्) उन्दिगुधिकुषिभ्यश्च । उ० ३ । ६८ । उन्दी क्लेदने—सप्रत्ययः । जलस्रवणस्थानम् (सहस्रधारम्) बहुधारायुक्तम् (विदथम्) विज्ञानसमाजम् (स्वर्विदम्) सुखस्य लम्भयितारम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

अनु॑। तिष्ठसे। ऋतस्य॑ । पन्था॑म् । अनु॑ । एषि । विद्वान् । तव॑ । इत् । विष्णो इति॑ । बहु-धा । वीर्या॑णि ॥ त्वम् । नः॒ । पृणीहि । पशु-भिः॑ । विश्व-रू॑पैः । सु-धाया॑म् । मा । धेहि । परमे । वि-ओ॑मन् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (चतस्रः) चारों (प्रदिशः) बड़ी दिशाओं की (रक्षसे) रक्षा करता है, (त्वम्) तू (शोचिषा) प्रकाश से (नभसी) सूर्य और पृथिवी में (वि) विविध प्रकार (भासि) चमकता है। (त्वम्) तू (इमा) इन (विश्वा) सब (भुवना अनु) भुवनों [लोकों] में (तिष्ठसे) ठहरता है, और (विद्वान्) जानता हुआ तू (ऋतस्य) सत्यधर्म के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनु) लगातार (एषि) चलता है, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······ [मन्त्र ६] ॥ १६ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब दिशाओं में हमारी रक्षा करता है, सूर्य पृथिवी आदि लोकों में प्रकाश पहुंचा कर सब का धारण करता है और सदा सत्य नियम पर चलता है, तुम उसी की आराधना से धर्म पथ पर चल कर अपनी उन्नति करो ॥ १६ ॥

पञ्चभिः परा॒ङ् तपस्ये॒कया॒र्वाङशस्ति॒मेषि सुदिने बाध॑मा-नस्तवेद्वि॑ष्णो बहुधा वीर्या॑णि । त्वं नः॑ पृणीहि पशुभि॑-र्विश्वरू॑पैः सुधाया॑ मा धेहि परमे व्यो॑मन् ॥ १७ ॥

पञ्च-भिः॑ । परा॑ङ् । तपसि । एक॑या । अर्वाङ् । अश॑स्तिम् ।

१६—(त्वम्) (रक्षसे) रक्षसि । पालयसि (प्रदिशः) प्रकृष्टा दिशाः (चतस्रः) चतुःसंख्याकाः (त्वम्) (शोचिषा) प्रकाशेन (नभसी) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । पूर्वसवर्णदीर्घः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १९ । इति प्रगृह्यम् । नभस्योर्द्यावापृथिव्योर्मध्ये (वि) विविधम् (भासि) दीप्यसे (त्वम्) (इमा) दृश्यमानानि (विश्वा) सर्वाणि (भुवना) लोकान् (अनु) प्रति (तिष्ठसे) वर्त्तसे (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पन्थाम्) मार्गम् (अनु) निरन्तरम् (एषि) अच्छसि (विद्वान्) जानन् सन् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

एषि । सु-दिने । बाधमानः । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् १७

भाषार्थ—[हे परमेश्वर ! (पञ्चभिः) पांच [दिशाओं] के साथ और (एकया) एक [दिशा] के साथ [अर्थात् छह दिशाओं के साथ) (पराङ्) दूरवर्ती और (अर्वाङ्) समीपवर्ती होकर (तपसि) तू प्रतापी [ऐश्वर्यवान्] होता है, और (अशस्तिम्) अपकीर्ति को (बाधमानः) हटाता हुआ (सुदिने) अच्छे दिन [निर्मल प्रकाश] में (एषि) चलता रहता है, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही······[मन्त्र ६] ॥१७॥

भावार्थ—परमात्मा पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीची, ऊंची दिशाओं में का स्वामी होकर सब विघ्नों को हटाकर व्याप रहा है, उसी का आश्रय लेकर तुम आगे बढ़ो ॥ १७ ॥

त्वमिन्द्रस्त्वं महेन्द्रस्त्वं लोकस्त्वं प्रजापतिः । तुभ्यं यज्ञो वि तायते तुभ्यं जुह्वति जुह्वतस्तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १८ ॥

त्वम् । इन्द्रः । त्वम् । महा-इन्द्रः । त्वम् । लोकः । त्वम् । प्रजा-पतिः ॥ तुभ्यम् । यज्ञः । वि । तायते । तुभ्यम् । जुह्वति । जुह्वतः । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ १८ ॥

१७—(पञ्चभिः) पञ्चभिर्दिग्भिः (पराङ्) दूरगतः सन् (तपसि) तप ऐश्वर्ये । ईशिषे (एकया) एकया दिशा च (अर्वाङ्) समीपवर्त्ती सन् (अशस्तिम्) अपकीर्त्तिम् (एषि) गच्छसि (सुदिने) नीहारमेघाद्युपद्रवरहिते दिवसे । स्वच्छप्रकाशे (बाधमानः) निवारयन् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाला], (त्वम्) तू (महेन्द्रः) महेन्द्र [बड़ों में परम ऐश्वर्य वाला], (त्वम्) तू (लोकः) लोकपति [संसार का स्वामी] और (त्वम्) तू (प्रजापतिः) प्रजापति [प्राणियों का रक्षक] है । (तुभ्यम्) तेरे लिये [तेरी आज्ञा पालने के लिये] (यज्ञः) यज्ञ [श्रेष्ठ व्यवहार] (वि तायते) विविध फैलाया जाता है, (तुभ्यम्) तेरे लिये (जुह्वतः) होम [हवन, दान आदि] करते हुये पुरुष (जुह्वति) होम [हवन, दान आदि] करते हैं, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्व—व्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही...... [मन्त्र ६] ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सब का स्वामी, सब का रक्षक और सब का नियम में रखने वाला है, उस की आज्ञा पालने से तुम अपनी उन्नति करो ॥ १८ ॥

असति सत् प्रतिष्ठितं सति भूतं प्रतिष्ठितम् । भूतं ह भव्य आहितं भव्यं भूते प्रतिष्ठितं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ १९ ॥

असति । सत् । प्रति-स्थितम् । सति । भूतम् । प्रति-स्थितम् ॥ भूतम् । ह । भव्ये । आ-हितम् । भव्यम् । भूते । प्रति-स्थितम् । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(असति) अनित्य [कार्य] में (सत्) नित्य वर्त्तमान

१८—(त्वम्) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (महेन्द्रः) महत्सु परमैश्वर्यवान् (लोकः) अर्शआद्यच् । लोकपतिः (प्रजापतिः) प्राणिनां रक्षकः (तुभ्यम्) तवाज्ञापालनाय (यज्ञः) श्रेष्ठव्यवहारः (वि) विविधम् (तायते) विस्तार्यते (जुह्वति) होमं हवनदानादिकं कुर्वन्ति (जुह्वतः) होमं हवनदानादिकं कुर्वन्तः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१९—(असति) अस सत्तायाम्—शतृ । अनित्ये कार्ये (सत्) नित्य-

[आदिकारण ब्रह्म] (प्रतिष्ठितम्) ठहरा हुआ है, और (सति) नित्य [ब्रह्म] में (भूतम्) सत्ता वाला जगत् [अथवा पृथिवी आदि भूतपञ्चक] (प्रतिष्ठितम्) ठहरा हुआ है। (भूतम्) बीता हुआ (भव्ये) होने वाले में (ह) निश्चय करके (आहितम्) रक्खा हुआ है, और (भव्यम्) होने वाला (भूते) बीते हुये में (प्रतिष्ठितम्) ठहरा हुआ है, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही (वीर्याणि) वीरकर्म [पराक्रम] (बहुधा) अनेक प्रकार हैं। (त्वम्) तू (नः) हमें (विश्वरूपैः) सब रूप वाले (पशुभिः) प्राणियों से (पृणीहि) भरपूर कर, (मा) मुझे (परमे) सब से ऊंचे (व्योमन्) विशेष रक्षापद में (सुधायाम्) पूरी पोषण शक्ति के बीच (धेहि) रख ॥ १९ ॥

भावार्थ—जो ओं तत्सत् परमात्मा अपनी महिमा से सब का आदि कारण होकर सब के भीतर और बाहिर और भूत भविष्यत् और वर्त्तमान में एक रस व्यापकर सब ब्रह्माण्ड को थांभे है, हम सब उसकी ही उपासना करके सुखी होवें ॥ १९ ॥

शुक्रोऽसि भ्राजोऽसि। स यथा त्वं भ्राजता भ्राजोऽस्येवाहं भ्राजता भ्राज्यासम् ॥ २० ॥ (२)

शुक्रः। असि। भ्राजः। असि ॥ सः। यथा। त्वम्। भ्राजता। भ्राजः। असि। एव। अहम्। भ्राजता। भ्राज्यासम् ॥२०॥(२)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (शुक्रः) शुद्ध [स्वच्छ निर्मल] (असि) है, तू (भ्राजः) प्रकाशमान (असि) है। (सः त्वम्) सो तू (यथा) जैसे (भ्राजता) प्रकाशमान स्वरूप के साथ (भ्राजः) प्रकाशमान (असि) है,

---

मादिकारणं परब्रह्म—ओंतत्सदिति निर्देशात् (प्रतिष्ठितम्) प्रतीत्या स्थितम् (सति) नित्ये ब्रह्मणि (भूतम्) सत्तायुक्तं जगत्। पृथिव्यादिभूतपञ्चकम् (प्रतिष्ठितम्) (भूतम्) अतीतम् (ह) निश्चयेन (भव्ये) भविष्यति (आहितम्) स्थापितम् (भव्यम्) भविष्यत् (भूते) अतीते। अन्यत् पूर्ववत् ॥

२०—(शुक्रः) शुक्रः। शुद्धः (असि) (भ्राजः) भ्राजृ दीप्तौ—पचाद्यच्। प्रकाशमानः (असि) (सः) तादृशः (यथा) येन प्रकारेण (त्वम्) (भ्राजता) प्रकाशमानेन स्वरूपेण (भ्राजः) प्रकाशमानः (असि) (एवम्) (अहम्)

(एव) वैसे ही (अहम्) मैं (भ्राजता) प्रकाशमान स्वरूप के साथ (भ्राज्यासम्) प्रकाशमान रहूं ॥ २० ॥

भावार्थ—जगदीश्वर के प्रकाश स्वरूप का ध्यान करके मनुष्य विद्या आदि उत्तम गुणों से संसार में तेजस्वी होवें ॥ २० ॥

रुचिरसि रोचोऽसि । स यथा त्वं रुच्या रोचोऽस्येवाहं पशुभिश्च ब्राह्मणवर्चसेन च रुचिषीय ॥ २१ ॥

रुचिः । असि । रोचः । असि ॥ सः । यथा । त्वम् । रुच्या । रोचः । असि । एव । अहम् । पशु-भिः । च । ब्राह्मण-वर्चसेन । च । रुचिषीय ॥ २१ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (रुचिः) प्रीतिरूप (असि) है, तू (रोचः) प्रीति कराने वाला (असि) है । (सः त्वम्) सो तू (यथा) जैसे (रुच्या) प्रीति के साथ (रोचः) प्रीति कराने वाला (असि) है, (एव) वैसे ही (अहम्) मैं (पशुभिः) प्राणियों के साथ (च च) और (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्राह्मणों [ब्रह्मज्ञानियों] के समान तेज के साथ (रुचिषीय) रुचि करूं ॥ २१ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा हमारे साथ प्रीति करके अनेक उपकार करता है, वैसे ही हम महात्माओं के समान सब प्राणियों और वेद ज्ञान से प्रीति करके सदा उपकार करें ॥ २१ ॥

उद्यते नमं उदायते नमु उदिताय नमः ।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २२ ॥

उपासकः (भ्राजता) दीप्यमानेन स्वरूपेण (भ्राज्यासम्) दीपिषीय ॥

२१—(रुचिः) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—कि । प्रीतिस्वरूपः (असि) (रोचः) रोचयतेः पचाद्यच् । प्रीतिकारकः (सः) तादृशः (यथा) (त्वम्) (रुच्या) प्रीत्या (रोचः) प्रीतिकारकः (असि) (एव) तथा (अहम्) उपासकः (पशुभिः) प्राणिभिः (च) (ब्राह्मणवर्चसेन) ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । पा० ५ । ४ । ७८ । इति ब्राह्मणशब्दात् परस्यापि वर्चसः समासान्तोऽच् । ब्रह्मज्ञानितुल्यतेजसा (च) (रुचिषीय) रुचिमान् भवेयम् ॥

उत्-यते । नमः । उत्-आयते । नमः । उत्-इताय । नमः ॥
वि-राजे । नमः । स्व-राजे । नमः । सम्-राजे । नमः ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(उद्यते) उदय होते हुये [परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार है, (उदायते) ऊंचे आते हुये को (नमः) नमस्कार है, (उदिताय) उदय हो चुके हुये को (नमः) नमस्कार है। (विराजे) विविध राजा को (नमः) नमस्कार है, (स्वराजे) अपने आप राजा को (नमः) नमस्कार है, (सम्राजे) सम्राट् [राजराजेश्वर] को (नमः) नमस्कार है ॥ २२ ॥

भावार्थ—परमात्मा एक प्रलय और सृष्टि की सन्धि दशा में, दूसरे सृष्टि करने की दशा में और तीसरे सृष्टि की समाप्ति में अपनी महिमा विविध प्रकार प्रकट करता है, उस सर्वशक्तिमान् अद्वितीय जगदीश्वर की आज्ञा में रहकर हम सदा आनन्दित रहें ॥ २२ ॥

अस्तंयते नमोऽस्तमेष्यते नमोऽस्तमिताय नमः ।
विराजे नमः स्वराजे नमः सम्राजे नमः ॥ २३ ॥

अस्तम्-यते । नमः । अस्तम्-एष्यते । नमः । अस्तम्-इताय । नमः ॥ वि-राजे । नमः । स्व-राजे । नमः । सम्-राजे । नमः ॥२३

भाषार्थ—(अस्तंयते) अस्त होते हुये [परमेश्वर] को (नमः) नमस्कार है, (अस्तमेष्यते) अस्त होना चाहने वाले को (नमः) नमस्कार है, (अस्तमिताय) अस्त हो चुके हुये को (नमः) नमस्कार है। (विराजे) विविध राजा को (नमः) नमस्कार है, (स्वराजे) अपने आप राजा को (नमः) नमस्कार है, (सम्राजे) सम्राट् [राजराजेश्वर] को (नमः) नमस्कार है ॥२३॥

२२-(उद्यते) प्रलयसृष्टिसन्धिदशायामुदयं गच्छते परमेश्वराय (नमः) नमस्कारः (उदायते) उत्+आङ्+इण् गतौ—शतृ। सृष्टिकाल उदयमागच्छते (उदिताय) सृष्टिसमाप्तिकाल उदयं प्राप्ताय (विराजे) विविधेश्वराय (स्वराजे) स्वयमैश्वर्यवते (सम्राजे) राजराजेश्वराय । अन्यद् गतम् ॥

२३—(अस्तंयते) अस्तंगच्छते परमेश्वराय (नमः) नमस्कारः (अस्तमेष्यते) अस्तं गमिष्यते (अस्तमिताय) अस्तं प्राप्ताय । अन्यत् पूर्ववत्-म० २२॥

भावार्थ—परमात्मा एक सृष्टि और प्रलय की सन्धि दशा में, दूसरे प्रलय करने की दशा में और तीसरे प्रलय की समाप्ति में विविध प्रकार अपनी महिमा दिखाता है, उसी सर्वशक्तिमान् सम्राट् की आज्ञा मान कर हम सदा सुखी रहें ॥ २३ ॥

उदगादुयमादित्यो विश्वेन तपसा सह । सपत्नान् मह्यं रन्धयन् मा चाहं द्विषते रधं तवेद् विष्णो बहुधा वीर्याणि । त्वं नः पृणीहि पशुभिर्विश्वरूपैः सुधायां मा धेहि परमे व्योमन् ॥ २४ ॥

उत् । अगात् । अयम् । आदित्यः । विश्वेन । तपसा । सह ॥ सु-पत्नान् । मह्यम् । रन्धयन् । मा । च । अहम् । द्विषते । रधम् । तव । इत् । विष्णो इति । बहु-धा । वीर्याणि ॥ त्वम् । नः । पृणीहि । पशु-भिः । विश्व-रूपैः । सु-धायाम् । मा । धेहि । परमे । वि-ओमन् ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (आदित्यः) आदित्य [अखण्ड प्रभाव वाला परमात्मा] (सपत्नान्) बैरियों को (मह्यं रन्धयन्) मेरे वश में करता हुआ, (विश्वेन) समस्त (तपसा सह) ऐश्वर्य के साथ (उत् अगात्) उदय हुआ है, (च) और (अहम्) मैं (द्विषते) बैर करते हुये के (मा रधम्) वश में न पड़ूं, (विष्णो) हे विष्णु ! [सर्वव्यापक परमेश्वर] (तव इत्) तेरे ही (वीर्याणि) वीरकर्म [पराक्रम] (बहुधा) अनेक प्रकार हैं। (त्वम्) तू (नः) हमें (विश्वरूपैः) सब रूप वाले (पशुभिः) प्राणियों से (पृणीहि) भरपूर कर, (मा) मुझे (परमे) सब से ऊंचे (व्योमन्) विशेष रक्षापद में (सुधायाम्) पूरी पोषण शक्ति के बीच (धेहि) रख ॥ २४ ॥

२४—(उदगात्) उदितवान् (अयम्) सर्वव्यापकः (आदित्यः) अदिति—ण्य । अखण्डप्रभावः परमेश्वरः (विश्वेन) समस्तेन (तपसा) ऐश्वर्येण (सह) (सपत्नान्) शत्रून् (मह्यं रन्धयन्) मम वशं प्रापयन् । अन्यत् पूर्ववत्—मं० ६ ॥

भावार्थ—जो पुरुषार्थी मनुष्य परमेश्वर को सब प्रकार अपना रक्षक जानता है, वह बैरियों को जीतता है और आप उनके वश में नहीं पड़ता ॥२४॥

यह मन्त्र (उद्गादय......द्विषते रधम्) कुछ भेद से ऋग्वेद में है १।५०।१३॥

मन्त्र ६ और १८ से इस मन्त्र का मिलान करो ॥

आदित्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये ।
अहर्मात्यपीपरो रात्रिं सत्राति पारय ॥ २५ ॥

आदित्य । नावम् । आ । अरुक्षः । शत-अरित्राम् । स्व-स्तये ॥ अहः । मा । अति । अपीपरः । रात्रिम् । सत्रा । अति । पारय ॥ २५ ॥

भाषार्थ—(आदित्य) हे आदित्य ! [अखण्ड प्रभाव वाले परमात्मा] (स्वस्तये) [हमारे] आनन्द के लिये (शतारित्राम्) सैकड़ों डांड़ वाली (नावम्) नाव पर (आ अरुक्षः) तू चढ़ा है । (मा) मुझ से (अहः) दिन (अति अपीपरः) तू ने सर्वथा पार कराया है, (रात्रिम्) रात्रि (सत्रा) भी (अति पारय) तू सर्वथा पार करा ॥ २५ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अनेक प्रकार जगत् को चला रहा है, मनुष्य उस की अनन्त कृपा से दिन का कर्तव्य पूरा करके रात्रि का कर्तव्य पूरा करने का प्रयत्न करें, और इस मन्त्र से सायंकाल में प्रार्थना करें ॥ २५ ॥

सूर्य नावमारुक्षः शतारित्रां स्वस्तये ।
रात्रिं मात्यपीपरोऽहः सत्राति पारय ॥ २६ ॥

सूर्य । नावम् । आ । अरुक्षः । शत-अरित्राम् । स्वस्तये ॥

२५—(आदित्य) म० २४ । हे अखण्डप्रभाव परमात्मन् (नावम्) (आ अरुक्षः) आरूढवानसि (शतारित्राम्) शतं बहूनि अरित्राणि उदकाकर्षणसाधनानि विद्यन्ते यस्यां ताम् (स्वस्तये) क्षेमाय (अहः) दिनकार्यमित्यर्थः (मा) माम् (अति अपीपरः) पॄ पालनपूरणयोः—णिचि लुङ् । पारं प्रापितवानसि (रात्रिम्) रात्रिकर्तव्यमित्यर्थः (सत्रा) सत्यं निश्चयेन (अति पारय) पॄ—णिचि, यद्वा, पार कर्मसमाप्तौ—लोट् । सर्वथा पारं गमय ॥

रात्रिम् । आ । अति । अपीपरः । अहः । सत्रा । अति । पारय ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सब के चलाने वाले जगदीश्वर] (स्वस्तये) [हमारे] आनन्द के लिये (शतारित्राम्) सैकड़ों डाड़ों वाली (नावम्) नाव पर (आ अरुक्षः) तू चढ़ा है। (मा) मुझ को (रात्रिम्) रात्रि को (अति अपीपरः) तूने सर्वथा पार कराया है, (अहः) दिन (सत्रा) भी (अति पारय) सर्वथा तू पार करा ॥ २६ ॥

भावार्थ—जो जगदीश्वर इस संसार को विविध प्रकार चला रहा है, मनुष्य उसकी महती कृपा से रात्रि का कर्त्तव्य पूरा करके दिन का कर्त्तव्य पूरा करने का उद्योग करें, और इस मन्त्र से प्रातःकाल में प्रार्थना करें ॥ २६ ॥

प्रजापतेरावृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च । जरदष्टिः कृतवीर्यो विहायाः सहस्रायुः सुकृतश्चरेयम् २७।

प्रजा-पतेः । आ-वृतः । ब्रह्मणा । वर्मणा । अहम् । कश्यपस्य । ज्योतिषा । वर्चसा । च ॥ जरत्-अष्टिः । कृत-वीर्यः । वि-हायाः । सहस्र-आयुः । सु-कृतः । चरेयम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(प्रजापतेः) प्रजापति [प्राणियों के रक्षक] और (कश्यपस्य) कश्यप [सर्वदर्शक परमेश्वर] के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से, (वर्मणा) आश्रय [वा रक्षा] से, (ज्योतिषा) ज्योति से (च) और (वर्चसा) प्रताप से (आवृतः) घेरा हुआ (अहम्) मैं, (जरदष्टिः) बड़ाई के साथ प्रवृत्ति [वा भोजन] वाला, (कृतवीर्यः) पूरे पराक्रम वाला, (विहायाः) विविध उपायों

२६—(सूर्य) हे सर्वप्रेरक जगदीश्वर (रात्रिम्) रात्रिकर्त्तव्यम् (अहः) दिनकर्त्तव्यम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

२७—(प्रजापतेः) प्राणिपालकस्य (आवृतः) समन्ताद् वेष्टितः (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (वर्मणा) आश्रयेण रक्षणेन (अहम्) उपासकः (कश्यपस्य) अ० २ । ३३ । ७ । कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । दृशिर् प्रेक्षणे—वुन्, पश्यादेशः, आद्यन्ताक्षरविपर्ययेण सिद्धिः । पश्यकस्य । सर्वद्रष्टुः परमेश्वरस्य

वाला, (सहस्रायुः) सहस्रों प्रकार से अन्न वाला और (सुकृतः) पुण्यकर्म वाला [होकर], (चरेयम्) चलता रहूं ॥ २७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि सर्वपालक, सर्वदर्शक जगदीश्वर का अनेक प्रकार आश्रय लेकर और विविध प्रकार उपाय करके सुकर्मी होकर सदा आनन्द भोगें ॥ २७ ॥

परीवृतो ब्रह्मणा वर्मणाहं कश्यपस्य ज्योतिषा वर्चसा च ।
मा मा प्रापन्निषवो दैव्या या मा मानुषीरवसृष्टा वधाय ॥२८

परि-वृतः । ब्रह्मणा । वर्मणा । अहम् । कश्यपस्य । ज्योतिषा । वर्चसा । च ॥ मा । मा । प्र । आपन् । इषवः । दैव्याः । याः । मा । मानुषीः । अव-सृष्टाः । वधाय ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(कश्यपस्य) कश्यप [सर्वदर्शक परमेश्वर] के (ब्रह्मणा) वेदज्ञान से, (वर्मणा) आश्रय से, (ज्योतिषा) ज्योति से (च) और (वर्चसा) प्रताप से मैं (परिवृतः) ढका हुआ हूं । (याः) जो (दैव्याः) दैवी [आधिदैविक] (इषवः) बाण हैं, वे (मा) मुझ को (मा प्र आपन्) न पहुंचे, (च) और (मानुषीः) मानुषी [आधिभौतिक] (अवसृष्टाः) छोड़े हुये [बाण] (वधाय) मारने के लिये (मा) न [पहुंचें] ॥ २८ ॥

(ज्योतिषा) तेजसा (वर्चसा) प्रतापेन (च) (जरदष्टिः) अ० २ । २८ । ५ । जरतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । जीर्यतेरतृन् । पा० ३ । २ । १०४ । जॄ स्तुतौ-अतृन् + अशू व्याप्तौ, अश भोजने वा-क्तिन् । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्भोजनं वा यस्य सः (कृतवीर्यः) पर्याप्तपराक्रमः (विहायाः) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । ओ हाङ् गतौ-असुन्, णिद्वद्भावाद् युगागमः । विविधगतियुक्तः । बहुप्रयत्नः (सहस्रायुः) आयुः, अन्ननाम—निघ० २ । ७ । छन्दसीणः । उ० १ । २ । इण् गतौ-उण् । सहस्रप्रकारेणान्नयुक्तः । (सुकृतः) पुण्यकर्मा (चरेयम्) गच्छेयम् ॥

२८—(परिवृतः) परिवेष्टितः । अन्यत् पूर्ववत्-म० २७ (मा) माम् (मा प्रापन्) मा प्राप्नुयुः (इषवः) बाणाः (दैव्याः) देव—यञ् । आधिदैविक्यः (याः) (मा) निषेधे (मानुषीः) मानुष्यः । अधिकभौतिक्य इत्यर्थः (अवसृष्टाः) प्रेरिताः (वधाय) हननाय ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर ऐसे दूरदर्शी पुरुषार्थी होवें कि आधिदैविक और आधिभौतिक क्लेशों से सदा बचे रहें ॥ २८ ॥

ऋतेन गुप्त ऋतुभिश्च सर्वैर्भूतेन गुप्तो भव्येन चाहम्। मा मा प्रापत् पाप्मा मोत मृत्युरन्तर्दधेऽहं सलिलेन वाचः ॥२९॥

ऋतेन। गुप्तः। ऋतु-भिः। च। सर्वैः। भूतेन। गुप्तः। भव्येन। च। अहम् ॥ मा। मा। प्र। आपत्। पाप्मा। मा। उत। मृत्युः। अन्तः। दधे। अहम्। सलिलेन। वाचः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (ऋतेन) सत्य धर्म से (च) और (सर्वैः ऋतुभिः) सब ऋतुओं से (गुप्तः) रक्षा किया हुआ और (भूतेन) बीते हुये से (च) और (भव्येन) होने वाले से (गुप्तः) रक्षा किया हुआ हूं। (मा) मुझे (पाप्मा) पाप [बुराई] (मा प्र आपत्) न पावे, (उत) और (मा) न (मृत्युः) मृत्यु [पावे], (अहम्) मैं (वाचः) वेदवाणी के (सलिलेन) जल के साथ (अन्तः दधे) अन्तर्धान होता हूं [डुबकी लगाता हूं] ॥ २९ ॥

भावार्थ—मनुष्य धर्म का सहारा लेकर सब भूत, भविष्यत् और वर्तमान को विचार के सब काल में सुरक्षित रह कर निष्पाप और अमर अर्थात् यशस्वी होवें, यही वेदवाणी रूप जल में स्नातक होना है ॥ २९ ॥

अग्निर्मा गोप्ता परि पातु विश्वत उद्यन्त्सूर्यो नुदतां मृत्युपाशान्। व्युच्छन्तीरुषसः पर्वता ध्रुवाः सहस्रं प्राणा मय्या यतन्ताम् ॥ ३० ॥ (३)

अग्निः। मा। गोप्ता। परि। पातु। विश्वतः। उत्-यन्। सूर्यः। नुदताम्। मृत्यु-पाशान् ॥ वि-उच्छन्तीः। उषसः। पर्वताः। ध्रुवाः। सहस्रम्। प्राणाः। मयि। आ। यतन्ताम् ॥ ३० ॥ (३)

२९—(ऋतेन) सत्यधर्मेण (गुप्तः) रक्षितः (ऋतुभिः) वसन्तादि-कालैः (च) (सर्वैः) (भूतेन) अतीतेन (गुप्तः) (भव्येन) भविष्यता (च) (अहम्) उपासकः (मा) माम् (मा प्रापत्) मा प्राप्नुयात् (पाप्मा) पापम् (मा) निषेधे (उत) अपि च (मृत्युः) मरणम् (अन्तर्दधे) अन्तर्धानं करोमि (अहम्) (सलिलेन) जलेन (वाचः) वेदवाण्याः ॥

भाषार्थ—(गोप्ता) रक्षा करने वाला (अग्निः) ज्ञानमय परमेश्वर (विश्वतः) सब ओर से (मा परि पातु) मेरी रक्षा करे, (उद्यन्) उदय होता हुआ (सूर्यः) सर्वप्रेरक परमात्मा (मृत्युपाशान्) मृत्यु के बन्धनों को (नुदताम्) हटावे। (व्युच्छन्तीः) विशेष चमकती हुई (उषसः) प्रभात वेलायें, (ध्रुवाः) दृढ़ (पर्वताः) पहाड़ और (प्राणाः) सब प्राण [शारीरिक और आत्मिक बल] (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (मयि) मुझ में (आ यतन्ताम्) सब ओर से यत्न करते रहें ॥ ३० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर अमर अर्थात् यशस्वी होकर सब कालों को सब ऊंची नीची अवस्थाओं को और शारीरिक और आत्मिक बलों को अनुकूल बनावें ॥ ३० ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

इति सप्तदशं काण्डम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्री सयाजी राव गायकवाड़ाधिष्ठित बड़ोदे पुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्री पण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेद भाष्ये सप्तदशं काण्डम् समाप्तम् ॥

इदं काण्डम् प्रयागनगरे मार्गशीर्षमासे कृष्णद्वादश्यां तिथौ १९७५ [पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्री राजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—पौषकृष्णा ८ संवत् १९७५ वि० ता० २५ दिसम्बर १९१८ ई० ॥

३०—(अग्निः) ज्ञानमयः परमेश्वरः (मा) माम् (गोप्ता) रक्षकः (परिपातु) परितो रक्षतु (विश्वतः) सर्वतः (उद्यन्) उदयं गच्छन् (सूर्यः) सर्वप्रेरकः परमात्मा (नुदताम्) अपसारयतु (मृत्युपाशान्) मरणबन्धान् (व्युच्छन्तीः) व्युच्छन्त्यः। विशेषप्रकाशयुक्ताः (पर्वताः) शैलाः (ध्रुवाः) दृढाः (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (प्राणाः) श्वासप्रश्वासाः। शारीरिकात्मिकपराक्रमाः (मयि) पुरुषार्थिनि (आ) समन्तात् (यतन्ताम्) यत्नशीला भवन्तु ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियाँ ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१२ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेमकरणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जाव॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७९ प्राप्त २० जूलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते!

आप को ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आप ने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य का करने का प्रयत्न किया है। भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बड़ा महत्त्वपूर्णकार्य हो रहा है। त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस दान करें। स्वयम् ग्रहक बनें और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाजक पुस्तकालयों में तो इनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

BSc. LL. B. उपमन्त्री।

चिट्ठी संख्या ६७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती **आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।**

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आप को उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए०, एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१३।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रशाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैं ने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो...छपाई और काग़ज़ भी अच्छा है।

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम जी**—जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१९६६।

अथर्ववेद भाष्य आप का दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा— पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१९६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्मा**—काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादर्श ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है।... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहाँ से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरण दास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में··· ··अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है···भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है, अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१९१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आप का भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आप ने हम सभों पर अत्यन्त कृपा की है आप को अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवाँ कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिसका मूल्य ।)॥ है, कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित **महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १९१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आप ने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आप की राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आप का भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित **गणेश प्रसाद शर्मा**—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तहगढ़, ता० १२ अप्रैल १९१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिकाप्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८९ ता० २७-३-१२।

आप का भेजा अथर्ववेद भाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देख कर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, जिला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १९१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आप को वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)**—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता. सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी० श्री प्रयागराज, पत्र ता० १५-६-१३।

आपका अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६
लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है-कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।...... ...... इस समय जो पांच कांडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोच कर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है...... ...त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDY ADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State, letter No* 624 *dated 6th February* 1913.

... It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम्. It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them ...also add on the address lable " For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support

---

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the Ist and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda*, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature .....The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjali and other standard ancient works......The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind.

Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation,but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest......

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥ १ ॥

अथर्व० का० १६ सू० ६२ म० १ ।

प्रिय मोहि करौ देव, तथा राज समाज में ।
प्रिय सब दृष्टि वाले, औ शूद्र और अर्य में ॥

अथर्ववेदभाष्यम् ।

अष्टादशं काण्डम् ।

आर्यभाषायामनुवाद-भावार्थादिसहितं
संस्कृते व्याकरणनिरुक्तादिप्रमाणसमन्वितं च ।

श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिमधीरवीरचिरप्रतापि श्री
सयाजीरावगायकवाडाधिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास-
दक्षिणपरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु
लब्धदक्षिणेन

श्री पण्डित क्षेमकरणदासत्रिवेदिना

निर्मितं प्रकाशितं च ।

Make me beloved among the Gods,
beloved among the Princes, make
Me dear to every one who sees,
to Sudra and to Aryanman.

Griffith's Trans. Atharva 19: 62 : 1

अयं ग्रन्थः पण्डित काशीनाथ वाजपेयिप्रबन्धेन
प्रयागनगरे ओंकारयन्त्रालये मुद्रितः ।

प्रथमावृत्तौ } संवत् १९७६ वि० { मूल्यम् २।=)
१००० पुस्तकानि } सन् १९१९ ई० {

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, ५२ लूकरगंज, प्रयाग (Allahabad) ।

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना सब आर्यों का परम धर्म है" ॥

आनन्दसमाचार ।

अथर्ववेदभाष्यम्—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका है। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में नहीं था। इस महात्रुटि को पूरा करने के लिये प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने उत्साह किया है। वे भाष्य को नागरी (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाण से बड़े परिश्रम के साथ बनाकर प्रकाशित कर रहे हैं।

भाष्य का क्रम इस प्रकार है। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी, पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि ।

इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर ग्राहकों के पास पहुंचता है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक क्रियाओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें और धर्मात्मा पुरुषार्थी होकर कीर्ति पावें। छपाई उत्तम और कागज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २०) सैकड़ा छोड़कर पुस्तक वी० पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	पद सूची	पृष्ठ ३,८५० लगभग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।=)					३१॥)

काण्ड—१९ छप रहा है। कांड २० शीघ्र प्रकाशित होगा।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः—मूलमात्र बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें—वेदों में विमान, नौका अस्त्र शस्त्र निर्माण, व्यापार, गृहस्थ, अतिथि सभा, ब्रह्मचर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad).

१५ जून १९१९।
Onkar Press Allahabad.

१—सूक्तविवरण अथर्ववेद काण्ड १८ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
	सूक्तम् १ ॥			
मन्त्राः १-१६	ओ चित् सखायं सख्या	यमयमी	भाईबहिन के परस्पर विवाह का निषेध	त्रिष्टुप् आदि
” १७-२६	त्रीणि च्छन्दांसि कवयो	अग्नि	विद्वानों के कर्तव्य	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
” २७-३६	अन्वग्निरुषसामग्र	अग्नि	परमात्मा के गुण	निचृत्त्रिष्टुप् आदि
” ३७, ३८	सखाय आ शिषामहे	इन्द्र	राजा का चुनाव	निचृदुष्णिक् आदि
” ३९	स्तेगो न क्षामत्येषि	मित्र	राजा का कर्तव्य	निचृदार्षी त्रिष्टुप्
” ४०	स्तुहि श्रुतं गर्तसदं	रुद्र	राजा का कर्तव्य	निचृत् त्रिष्टुप्
” ४१-४३	सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते	सरस्वती	सरस्वती का आवाहन	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
”,४४-४६	उदीरतामवर उत्परास	पितर	पितरों के सत्कार	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
” ४७	मातली कव्यैर्यमो	पितर	पितरों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् छन्दः
” ४८	स्वादुष्किलायं मधुमाँ	सोम	शूरवीर के लक्षण	त्रिष्टुप् छन्दः
” ४९, ५०	परेयिवासं प्रवतो महीः	यम	परमात्मा की शक्ति	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
” ५१, ५२	बर्हिषदः पितर ऊत्य	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	विराडार्षी आदि
” ५३	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	त्वष्टा	अज्ञान का नाश	त्रिष्टुप्
” ५४, ५५	प्रेहि प्रेहि पथिभिः	पितर	मनुष्य की उन्नति	निचृत् त्रिष्टुप्
” ५६, ५७	उशन्तस्त्वेधीमह्यु	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्तव्य	अनुष्टुप्
” ५८-६१	अङ्गिरसो नः पितरो	पितर	तथा	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
	सूक्तम् २ ॥			
मन्त्राः १-३	यमाय सोमः पवते	यम	ईश्वर की भक्ति	अनुष्टुप् आदि
” ४-१०	मैनमग्ने विदहो माभि	अग्नि	आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्तव्य	निचृज् जगती आदि
” ११-१३	अति द्रव श्वानौ	श्वान	समय के सुप्रयोग	त्रिष्टुप् आदि
” १४-१८	सोम एकेभ्य पवते	यम	विद्वानों का सत्संग	अनुष्टुप्
” १९-२०	स्योनास्मै भव पृथिव्य	पृथिवी	पृथिवी की विद्या	गायत्री आदि
” २१-३०	ह्वयामि ते मनसा मन	पितर	मनुष्यों का पितरों के साथ कर्तव्य	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
” ३१-३३	अश्वावतीं प्रतर या	प्रजापति	ईश्वर के गुण	निचृत् त्रिष्टुप् आदि
” ३४,३५	ये निखाता ये परोप्ता ये	पितर	पितरों के सत्कार	अनुष्टुप् आदि
” ३६	शं तप माति तपो अग्ने	अग्नि	बल बढ़ाना	आर्ष्यनुष्टुप्

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
,, ३७	ददाम्यस्मा अवसान	यम	परमात्मा की आज्ञा पालना	विराड् जगती
,, ३८-४५	इमां मात्रां मिमीमहे	प्रजापति	मोक्ष के लिये प्रयत्न	गायत्री आदि
,, ४६-४९	प्राणो अपानो व्यान	पितर	पितरों के गुण	भुरिगनुष्टुप् आदि
,, ५०-५२	इदमिद् वा उ नापरं	भूमि	परमात्मा की उपासना	अनुष्टुप् आदि
,, ५३-५५	अग्नीषोमा पथिकृता	पूषा	सत्पुरुषोंकेमार्गपर चलना	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
,, ५६	इमौ युनज्मि ते वह्नी	परमात्मा	पुरुषार्थ करना	अनुष्टुप्
,, ५७-६०	एतत् त्वा वासः प्रथमं	जीवात्मा	सुकर्म करना	भुरिक्त्रिष्टुप् आदि

सूक्तम् ३ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
मन्त्राः१-४	इयं नारी पतिलोकं	नारी	नियोग विधान	त्रिष्टुप् आदि
,, ५-९	उपद्यामुप वेतस	अग्नि	उन्नति करना	निचृद्गायत्री आदि
,, १०-२४	वर्चसा मां पितरः	पितर	पितरों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
,, २५-२९	इन्द्रो मा मरुत्वान्	प्रजापति	सब दिशाओं में रक्षा	निचृदार्षी जगती आदि
,, ३०-३७	प्राच्यां त्वा दिशि	ईश्वर	सर्वत्र परमेश्वर है	अतिजगती आदि
,, ३८-४१	इतश्चमामुतश्चावतां	स्त्री पुरुष	मनुष्योंके कर्त्तव्य	विराट्त्रिष्टुप्आदि
,, ४२-४८	त्वमग्न ईडितो जात	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
,, ४९-५२	उप सर्प मातरं	पृथिवी	पृथिवी के उपकार	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
,, ५३-६०	इममग्ने चमसं मा	अग्नि	घर की रक्षा	आर्षी त्रिष्टुप् आदि
५५	यत् ते कृष्णः शकुन	अग्नि	विष औषध अग्नि	त्रिष्टुप्
,, ६१-६४	विवस्वान् नो अभयं	यम	अभय पाना	त्रिष्टुप् आदि
,, ६५-६७	प्रकेतुनाबृहताभात्य	अग्नि, इन्द्र	राजा के कर्त्तव्य	अनुष्टुप् आदि
,, ६८-७३	अपूपापिहितान्	प्रजापति	गृहाश्रम के कर्त्तव्य	त्रिष्टुप् आदि

सूक्तम् ४ ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
मन्त्राः१-१५	आ रोहत जनित्रीं	प्रजापति	सत्यमार्गपर चलना	भुरिगार्षी त्रिष्टुप् आदि
,, १६-२७	अपूपवान् क्षीरवांश्च	यज्ञ	यजमान के कर्तव्य	भुरिगार्षी बृहती आदि
,, २८,२९	द्रप्सश्चस्कन्द पृथिवी	ईश्वर	ब्रह्म की उपासना	त्रिष्टुप् आदि
,, ३०-४०	कोशं दुहन्ति कलशं	धेनु	गोरक्षा	त्रिष्टुप् आदि
,, ४१-४४	समिन्धते अमर्त्यं	पितर	पितरों की सेवा	अनुष्टुप् आदि

सूक्त	सूक्त के प्रथम पाद	देवता	उपदेश	छन्द
" ४५-४७	सरस्वतीं देवयन्तो	सरस्वती	सरस्वतीकाआवाहन	निचृत् त्रिष्टुप्
" ४८-५२	पृथिवीं त्वा पृथिव्या	पितर	पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य	भुरिक् त्रिष्टुप् आदि
" ५३-५४	पर्णो राजापिधानं	परमेश्वर	परमात्मा की भक्ति के फल	आर्षी पङ्क्ति आदि
" ५५-५७	यथा यमाय हर्म्य	जीव	मनुष्य को वृद्धि करना	अनुष्टुप् आदि
" ५८-६०	वृषा मतीनां पवते	परमेश्वर	ईश्वर की उपासना	जगती आदि
" ६१-६८	अक्षन्नमीमदन्त	पितर	पितरों के सत्कार	अनुष्टुप् आदि
" ६९-७०	उदुत्तमं वरुण	वरुण	ईश्वर के नियम	त्रिष्टुप्
" ७१-८७	अग्नये कव्यवाहनाय	पितर	पितरों के सन्मान	आसुर्यनुष्टुप् आदि
" ८८	आ त्वाग्न इधीमहि	अग्नि	परमात्मा की उपासना	स्वराडार्षी बृहती
" ८९	चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा	विश्वेदेवा	सूर्यचन्द्र आदि विषय	निचृदार्षी पङ्क्तिः

२—अथर्ववेद काण्ड १८ के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
१—५	ओचित् सखायं सख्या	१ । १-५	१० । १० । १—५		
६	को अद्य युङ्क्ते धुरि	१ । ६	१ । ८४ । १६		
७—१२	को अस्य वेद प्रथमस्या	१ । ७-१२	१० । १०।६—११		
१३	न ते नाथं यम्यत्राह	१ । १३	१० । १० । १२		
१४	न वा उ ते तनूं	१ । १४	१० । १० । १२		
१५,१६	बतो बतासि यम	१ । १५,१६	१०।१०।१३, १४		
१७—२३	वृषा वृष्णे दुदुहे	१ । १८-२४	१० । ११ । १—७		
२४	श्रुधी नो अग्ने सदने	१ । २५	१० । ११ । ८		
२५	यदग्न एषा समिति	१ । २६	१० । ११ । ८		
२६	अन्वग्निरुषसा	१ । २७	४ । १३ । १		
२७,२८	द्यावा ह क्षामा	१ । २६,३०	१० । १२ । १,२		
२९	अर्चामि वां वर्धय	१ । ३१	१० । १२ । ४		
३०	स्वावृग् देवस्या	१ । ३२	१० । १२ । ३		
३१—३४	किंस्विन्नो राजा	१ । ३३-३६	१० । १२।५—८		
३५	सखाय आ शिषामहे	१ । ३७	८ । २४ । १		पू०४।१।१०

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक उत्तरार्चिक इत्यादि
३६	शवसा ह्यसि श्रुतो	१ । ३८	८ । २४ । २		
३७	स्तेगो न क्षामत्येषि	१ । ३९	१० । ३१ । ९		
३८	स्तुहि श्रुतं गर्तसदं	१ । ४०	२ । ३३ । ११		
३९-४१	सरस्वतीं देवयन्तो	१ । ४१-४३	१० । १७ । ७-९		
४२-४४	उदीरतामवर उत्परास	१ । ४४-४६	१० ।१५।१,३,२	१९ । ४९, ५६, ६८	
४५	मातली कव्यैर्यमो	१ । ४७	१० । १४ । ३		
४६	स्वादुष्किलायं	१ । ४८	६ । ४७ । १		
४७, ४८	परेयिवांसं प्रवतो	१ । ४९, ५०	१० । १४ । १,२		
४९, ५०	बर्हिषदः पितर	१ । ५१, ५२	१० । १५ । ४, ६	१९।५५,६२	
५१	त्वष्टा दुहित्रे वहतुं	१ । ५३	१० । १७ । १		
५२	प्रेहि प्रेहि पथिभिः	१ । ५४	१० । १४ । ७		
५३	अपेत वीत वि च	१ । ५५	१० । १४ । ९	१२ । ४५	
५४	उशन्तस्त्वेधी मह्य	१ । ५६	१० । १६ । १२	१९ । ७०	
५५	अङ्गिरसो नः पितरो	१ । ५८	१० । १४ । ६	१९ । ५०	
५६,५७	अङ्गिरोभिर्यज्ञियै	१ । ५९, ६०	१० । १४ । ५, ४		
५८	इत एत उदारुहन्	१ । ६१			पू०१।१०।२
५९-६१	यमाय सोमः पवते	२ । १-३	१०।१४।१३,१५,१४		
६२,६३	मैनमग्ने विदहो	२ । ४, ५	१० । १६ । १, २		
६४	त्रिकद्रुकेभिः पवते	२। ६	१० । १४ । १६		
६५,६६	सूर्यं चक्षुषा गच्छ	२ । ७, ८	१० । १६ । ३, ४		
६७	अव सृज पुनरग्ने	२ । १०	१० । १६ । ५		
६८-७०	अति द्रव श्वानौ	२ । ११-१३	१० । १४ । १०-१२		
७१-७५	सोम एकेभ्यः पवते	२ । १४-१८	१०।१५४।१,४,२,३,५		
७६	स्योनास्मै भवपृथि	२ । १९	१। २२ । १५	३५ । २१	
७७	ह्वयामि ते मनसा	२ । २१	१० । १४ । ८		
७८	ये दस्यवः पितृषु	२ । २८		२ । ३०	
७९	अपागूहन्नमृतां	२ । ३३	१० । १७ । २		
८०	ये अग्निदग्धा	२ । ३५	१० । १५ । १४,१३	१९ । ७,६७	
८१	इदमिद् वा उ नापरं	२ । ५०	१० । १८ । ११		
८२,८३	पूषा त्वेतश्च्यावयतु	२ । ५४, ५५	१० । १७ । ३, ४		
८४	अग्नेर्वर्म परिगोभि	२ । ५८	१० । १६ । ७		
८५,८६	दण्डं हस्तादाददानो	२ । ५९, ६०	१० । १८ । ९		
८७	उदीर्ष्व नार्यभि	३ । २	१० । १८ । ८		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
८८	उपद्यामुप वेतस	३ । ५		१७ । ६	
८९	यं त्वमग्ने समदह	३ । ६	१० । १६ । १३		
९०	इदं त एकं पर उत	३ । ७	१० । ५६ । १		पू०।१।७।३
९१	अञ्जते व्यञ्जते	३ । १८	९ । ८६ । ४३	१९ । ९९	पू०।६।७।११ उ०।७।३।२१
९२–९४	अधा यथा नः पितरः	३ । २१–२३	४ । २ । १६—१८		
९५	अकर्म ते स्वपसो	३ । २४	४ । २ । १९, २ । २३ । १९	३४ । ५८	
९६	इतश्च मामुतश्चावतां	३ । ३८	१० । १३ । २		
९७	स्वासस्थे भवतमिन्द	३ । ३९	१० । १३ । १,२	११ । ५	
९८,९९	त्रीणि पदानिरुपो	३ । ४०,४१	१० । १३ । ३,४		
१००	त्वमग्न ईडितो जात	३ । ४२	१० । १५ । १२	१९ । ६६	
१०१	आसीनासो अरुणीना	३ । ४३	१० । १५ । ७	१९ । ६३	
१०२	अग्निष्वात्ताः पितर	३ । ४४	१० । १५ । ११	१९ । ५९	
१०३	उपहूता नः पितरः	३ । ४५	१० । १५ । ५	१९ । ५७	
१०४	ये नः पितुः पितरो ये	३ । ४६	१० । १५ । ८	१९ । ५१	
१०५,१०६	ये तातृषुर्देवत्रा	३ । ४७, ४८	१० । १५ । ९,१०		
१०७–११०	उप सर्प मातरं भूमि	३ । ४९–५२	१० । १८ । १०-१३		
१११	इममग्ने चमसं मा	३ । ५३	१० । १६ । ८		
११२	यत् ते कृष्णः शकुन	३ । ५५	१० । १६ । ६		
११३	पयस्वतीरोषधय	३ । ५६	१० । १७ । १४		
११४	इमा नारीरविधवाः	३ । ५७	१० । १८ । ७		
११५	सं गच्छस्व पितृभिः	३ । ५८	१० । १४ । ८		
११६	ये नः पितुः पितरो	३ । ५९	१० । १५ । १४	१९ । ६०	
११७	शं ते नीहारो भवतु	३ । ६०	१० । १६ । १४		
११८	आ रोहत दिवमुत्त	३ । ६४	...	२० । २१	
११९	प्र केतुना बृहता	३ । ६५	१० । ८ । १ ६ । ७३ । १	...	पू०।१।७।९
१२०	नाके सुपर्णमुप यत	३ । ६६	१० । १२३ । ५	...	पू०४ । ३ । ८ उ०९।२।१३
१२१	इन्द्र क्रतुं न आ भर	३ । ६७	७ । ३२ । २६	...	पू० ३।७ ।७ उ० ६।३ ।६
१२२	अयः सुपर्णा उपरस्य	४ । ४	१ । १६४ । २०		
१२३	अग्निर्होताध्वर्युष्टे	४ । १५	१० । ७१ । ११		

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड १८) सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक इत्यादि
१२४	द्रप्सश्चस्कन्द	४ । २८	१० । १७ । ११	१३ । ५	
१२५	शतधारं वायुमर्कं	४ । २९	१० । १०७ । ४		
१२६	कोशं दुहन्ति कलशं	४ । ३०		१३ । ४९	
१२७	सहस्रधारं शतधार	४ । ३६		१३ । ४९	
१२८	वृषा मतीनां पवते	४ । ५८	९ । ८६ । १९	...	पू० ६।७।६ उ०२।१।१७
१२९	त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु	४ । ५९	६ । २ । ६		पू०१।९। ३
१३०	प्र वा एतीन्दुरिन्द्र	४ । ६०	९ । ८६ । १६	...	पू०६।७।४ उ०४।२।७
१३१	अक्षन्नमीमदन्त	४ । ६१	१ । ८२ । २	३ । ५१	पू०५।३। ७
१३२	अभूद् दूतः प्रहितो	४ । ६५	४ । ५४ । १	५ । २६	
१३३	शुम्भन्तां लोकाः	४ । ६७		२ । २९	
१३४,१३५	अग्नये कव्यवाह	४ । ७१, ७२		९ । २	
१३६-१३८	स्वधा पितृभ्य	४ । ७८-८०		२ । ३२	
१३९-१४३	नमो व पितर ऊर्जे	४ । ८१-८५			
१४४	आत्वाग्न इधीमहि	४ । ८८	५ । ६ । ४	...	पू०५।४।१ उ०३।२।२१
१४५	चन्द्रमा अप्स्वन्त	४ । ८९	१ । १०५ । १	३३ । ९०	पू०५।३।९

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

अष्टादशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ [मन्त्राः १-६१] ॥

मन्त्राः १-१६ ॥

यमयम्यौ देवते ॥ १, ५, ६—११ त्रिष्टुप् ; २ विराट् त्रिष्टुप् ; ३, ४, ६, १७, १२, १३ निचृत् त्रिष्टुप् ; ८ विराट् छन्दः ; १४ भुरिक् त्रिष्टुप् ; १५ आर्षी पङ्क्तिः ; १६ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

भ्रातृभगिनीपरस्परविवाहनिषेधोपदेशः—भाई बहिन के परस्पर विवाह के निषेध का उपदेश ॥

ओ चित् सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरू चिदर्णवं जगन्वान् । पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधि क्षमि प्रतरं दीध्यानः ॥ १ ॥

ओ इति । चित् । सखायम् । सख्या । ववृत्याम् । तिरः । पुरु । चित् । अर्णवम् । जगन्वान् ॥ पितुः । नपातम् । आ । दधीत । वेधाः । अधि । क्षमि । प्र-तरम् । दीध्यानः ॥ १

भाषार्थ—(ओ) ओ ! [हे पुरुष !] (सखायम्) [तुझ] मित्र

१—(ओ) सम्बोधने (चित्) एव (सखायम्) सुहृदम् (सख्या)

को (चित्) ही (सख्या) मित्रता के साथ (ववृत्याम्) मैं [स्त्री] प्रवृत करूं-(पुरु चित्) बहुत ही प्रकार से (अर्णवम्) विज्ञान युक्त शास्त्र को (तिरः जगन्वान्) पार जा चुकने वाले, (प्रतरम्) बहुत अधिक (दीध्यानः) प्रकाशमान, (वेधाः) बुद्धिमान् आप (पितुः) [अपने] पिता के (नपातम्) नाती [पौत्र] को (क्षमि अधि) पृथिवी पर (आ दधीत) धारण करें ॥ १ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र स्त्री का वचन है। हम दोनों बड़े प्रेमी हैं, तू वेद आदि शास्त्रों का जानने वाला बुद्धिमान् पुरुष है, ऐसा प्रयत्न किया जावे कि हम दोनों के सम्बन्ध से उत्तम सन्तान उत्पन्न हो ॥ १ ॥

इस सूक्त के मन्त्र १-१६ में यमीयम अर्थात् जोड़िया बहिन और भाई को संवाद वा प्रश्न उत्तर की रीति से यह बताया है कि वे दोनों बहिन भाई होकर परस्पर विवाह कभी न करें, किन्तु बहिन भाई से अन्य पुरुष के साथ और भाई बहिन से दूसरी स्त्री के साथ विवाह करे ॥

मन्त्र १—५। अभेद वा भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १०। १—५॥

न ते॒ सखा॑ स॒ख्यं॑ वष्ट्ये॒तत् सल॑क्ष्मा॒ यद् विषु॑रूपा॒ भवा॑ति।
म॒हस्पु॒त्रासो॒ असु॑रस्य वी॒रा दि॒वो ध॒र्तार॑ उर्वि॒या परि॑ ख्यन् २

न। ते॒। सखा॑। स॒ख्यम्। व॒ष्टि॒। ए॒तत्। स-ल॑क्ष्मा। यत्। विषु॑-रूपा। भवा॑ति॥ म॒हः। पु॒त्रासः॑। असु॑रस्य। वी॒राः। दि॒वः। ध॒र्तारः॑। उ॒र्वि॒या। परि॑। ख्य॒न्॥ २॥

सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेराकारः। सख्येन। मित्रत्वेन (ववृत्याम्) वृतु वर्तने—लिङ्, शपः श्लुः। प्रवर्तयेयम् (तिरः) पारे (पुरु) बहुप्रकारेण (चित्) एव (अर्णवम्) अर्णवं विज्ञानम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० १२। ४६। धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३। ६। ऋ गतिप्रापणयोः—नप्रत्ययः, ततो मत्वर्थीयो वः। विज्ञानयुक्तं शास्त्रम् (जगन्वान्) गमेर्लिटः क्वसुः। गतवान् (पितुः) स्वजनकस्य (नपातम्) नप्तारं पौत्रम् (आदधीत) आदध्यात्। समन्ताद् धारयतु (वेधाः) मेधाविनाम—निघ० ३। १५। मेधावी भवान् (क्षमि अधि) भूमेरुपरि (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (दीध्यानः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच्। दीप्यमानः ॥

भाषार्थ—(सखा) [यह] प्रेमी (ते) तेरी (एतत्) यह (सख्यम्) प्रीति (न) नहीं (वष्टि) चाहता है—(यत्) कि (सलक्ष्मा) समान [धार्मिक] लक्षण वाली [आप] (विषुरूपा) नाना स्वभाव वाली [चंचल अधार्मिक] (भवाति) हो जावें। (महः) महान् (असुरस्य) बुद्धिमान् पुरुष के (दिवः) व्यवहार के (धर्तारः) धारण करने वाले, (वीराः) वीर (पुत्रासः) पुत्र (उर्विया) भूमि पर (परि ख्यन्) विख्यात हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—यह मन्त्र पुरुष का उत्तर है। हे स्त्री! तू जो मुझ से पुत्र की कामना करती है सो उचित नहीं, हम दोनों धर्मात्मा होकर अधर्म न करें—क्योंकि बड़े कुल में उत्पन्न व्यवहारकुशल धर्मात्मा वीर ही संसार में कीर्तिमान् होते हैं ॥ २ ॥

उशन्ति घा ते अमृतास एतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य। नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः॥३॥

उशन्ति। घ। ते। अमृतासः। एतत्। एकस्य। चित्। त्यजसम्। मर्त्यस्य॥ नि। ते। मनः। मनसि। धायि। अस्मे इति। जन्युः। पतिः। तन्वम्। आ। विविश्याः॥३॥

भाषार्थ—(ते) वे (अमृतासः) अमर [यशस्वी] लोग (घ) अवश्य (एतत्) इस प्रकार से (एकस्य) एक [अद्वितीय, अति श्रेष्ठ] (मर्त्यस्य)

२—(न) निषेधे (ते) तव (सखा) प्रियः (सख्यम्) प्रीतिम् (वष्टि) कामयते (एतत्) (सलक्ष्मा) समानलक्षणा । धर्मशीला (यत्) यतः (विषुरूपा) नानास्वभावा । चञ्चला । अधार्मिका (भवाति) भवेत् (महः) महतः (पुत्रासः) पुत्राः (असुरस्य) असुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६, रो मत्वर्थीयः। प्रज्ञावतः पुरुषस्य (वीराः) विक्रान्ताः (दिवः) व्यवहारस्य (धर्तारः) धारकाः (उर्विया) इयाडियाजीकाराणामुपसंख्यानम्। वा० पा० ७ । १ । ३९ । उर्वी-डियाच्। उर्व्यां भूमौ (परि ख्यन्) ख्या प्रकथने, प्रसिद्धौ—लुङ्, अडभावः। विख्याता अभूवन् ॥

३—(उशन्ति) कामयन्ते (घ) प्रसिद्धौ (ते) प्रसिद्धाः(अमृतासः) अमराः। यशस्विनः(एतत्) अनेन प्रकारेण (एकस्य) अद्वितीयस्य। अतिश्रेष्ठस्य (चित्)

मनुष्य के (चित्) ही (त्यजसम्) सन्तान की (उशन्ति) कामना करते हैं। (ते मनः) तेरा मन (अस्मे) हमारे (मनसि) मन में (नि धायि) जमाया जावे, और (जन्युः) उत्पन्न करने वाला (पतिः) पति [होकर] (तन्वम्) [मेरे] शरीर में (आ विविश्याः) प्रवेश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। महात्मा लोग मानते है कि अद्वितीय वीर पुरुष का सन्तान अद्वितीय वीर होता है, इस लिये तू श्रेष्ठ होकर मेरे साथ विवाह करके श्रेष्ठ सन्तान उत्पन्न कर ॥ ३ ॥

न यत् पुरा चकृमा कद्ध नूनमृतं वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नौ नाभिः परमं जामि तन्नौ ॥ ४ ॥

न। यत्। पुरा। चकृम। कत्। ह। नूनम्। ऋतम्। वदन्तः। अनृतम्। रपेम॥ गन्धर्वः। अप्-सु। अप्या। च। योषा। सा। नौ। नाभिः। परमम्। जामि। तत्। नौ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [कर्म] (पुरा) पहिले (न चकृम) हम ने नहीं किया, (कत्) कैसे (ह) निश्चय करके (नूनम्) अब (ऋतम्) सत्य (वदन्तः) बोलते हुये हम (अनृतम्) असत्य (रपेम) बोलें। [जैसे] (अप्सु) सत्कर्मों में (गन्धर्वः) दृष्टि रखने वाला पुरुष (च) और (अप्या) सत्कर्मों में प्रसिद्ध (योषा) सेवा करने वाली स्त्री [होवे], (सा) वही (नौ)

एव (त्यजसम्) त्यज हानौ दाने च—असुन्। सन्तानम् (मर्त्यस्य) मनुष्यस्य (नि) निश्चयेन। नियमेन (ते) तव (मनः) चित्तम् (मनसि) चित्ते (धायि) धीयताम् (अस्मे) अस्माकम् (जन्युः) भुजिमृङ्भ्यां युक्त्यकौ। उ० ३। २१। जन जनने-युक्। जनयिता (पतिः) त्वं पतिः सन् (तन्वम्) मम तनूं शरीरम् (आ विविश्याः) विश प्रवेशने—लिङ्, शपःश्लुः। प्रविश ॥

४—(न) निषेधे (यत्) यस्मात् कारणात् (पुरा) पूर्वकाले (चकृम) वयं कृतवन्तः (कत्) कथम् (ह) निश्चयेन (नूनम्) इदानीम् (ऋतम्) सत्यम् (वदन्तः) कथयन्तः (अनृतम्) असत्यम् (रपेम) कथयेम (गन्धर्वः) गां दृष्टिं धरतीति यः सः (अप्सु) सत्कर्मसु (अप्या) अप्यः, अप्सु सत्कर्मसु भवः-दयानन्दभाष्ये, ऋग्० ६। ६७। ९। सत्कर्मसु प्रसिद्धा (च) (योषा)

हम दोनों की (नाभिः) बन्धुता, और (तत्) वह (नौ) हम दोनों का (परमम्) सब से बड़ा (जामि) सम्बन्ध [होवे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। तू कहती है-श्रेष्ठ पुरुष का सन्तान श्रेष्ठ होता है, परन्तु मैं मर्यादा तोड़कर असत्य कभी नहीं बोलूंगा। स्त्री पुरुष सदा सत्कर्म करें, यही दोनों में परस्पर बड़े स्नेह का कारण है ॥ ४ ॥

गर्भे नु नौ जनिता दंपती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।
नकिरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः ५

गर्भे। नु। नौ। जनिता। दंपती इति दम्-पती। कः। देवः। त्वष्टा। सविता। विश्व-रूपः॥ नकिः। अस्य। प्र। मिनन्ति। व्रतानि। वेद। नौ। अस्य। पृथिवी। उत। द्यौः ५

भाषार्थ—(जनिता) उत्पन्न करने वाले, (देवः) प्रकाशमान, (त्वष्टा) बनाने वाले, (सविता) प्रेरक, (विश्वरूपः) सब के रूप देने वाले परमेश्वर ने (गर्भे) गर्भ में (नु) ही (नौ) हम दोनों को (दम्पती) पति पत्नी (कः) बनाया है। (अस्य) इस [परमेश्वर] के (व्रतानि) नियमों को (नकिः प्र मिनन्ति) कोई भी नहीं तोड़ सकते, (नौ) हम दोनों के लिये (अस्य) इस [बात] को (पृथिवी) पृथिवी (उत) और भी (द्यौः) सूर्य (वेद) जानता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन। परमात्मा ने अपने अटल नियम से माता के गर्भ में ही हम दोनों को एक साथ जोड़िया उत्पन्न करके पति पत्नी बनाया है,

---

युष भजने-अच्, टाप्। सेवाशीला स्त्री (सा) (नौ) आवयोः (नाभिः) बन्धुता (परमम्) निरतिशयम् (जामि) वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। जमु अदने-इञ्। सम्बन्धः (तत्) (नौ) आवयोः ॥

५—(गर्भे) गर्भाशये (नु) निश्चयेन (नौ) आवाम् (जनिता) उत्पादकः (दम्पती) जायापती। पतिपत्न्यौ (कः) करोतेर्लुङ्। अकः। कृतवान् (देवः) प्रकाशमानः (सविता) प्रेरकः (विश्वरूपः) सर्वस्य रूपकर्ता (नकिः) न कोऽपि (अस्य) परमेश्वरस्य (प्र) (मिनन्ति) मीञ् हिंसायाम्। ह्रस्वः प्वादित्वात्। हिंसन्ति। अतिक्रामन्ति (व्रतानि) कर्माणि (वेद) जानाति (नौ) आवाभ्याम् (अस्य) इदं वचनम् (पृथिवी) (उत) अपि च (द्यौः) सूर्यः ॥

जैसे यह प्रत्यक्ष है कि सृष्टि की आदि से सूर्य और पृथिवी में पतिपत्नी भाव है क्योंकि सूर्य वृष्टि करता है पृथिवी उसे ग्रहण करके अन्न आदि उत्पन्न करती है ॥ ५ ॥

को अद्य युङ्क्ते धुरि गा ऋतस्य शिमीवतो भामिनो दुर्हृणायून्। आसन्निषून् हृत्स्वसो मयोभून् य एषां भृत्यामृणधत् स जीवात् ॥ ६ ॥

कः। अद्य। युङ्क्ते। धुरि। गाः। ऋतस्य। शिमी-वतः। भामिनः। दुः-हृणायून् ॥ आसन्-इषून्। हृत्सु-असः। मयः-भून्। यः। एषाम्। भृत्याम्। ऋणधत्। सः। जीवात् ॥६॥

भाषार्थ—(कः) कर्ता [प्रजापति] परमेश्वर (अद्य) आज (ऋतस्य) सत्य के (गाः) गाने वाले, (शिमीवतः) उत्तम कर्म वाले, (भामिनः) तेजस्वी (दुर्हृणायून्) [शत्रुओं पर] भारी क्रोध वाले, (आसन्निषून्) ठीक स्थान पर वाण पहुंचाने वाले, (हृत्स्वसः) [शत्रुओं के] हृदयों में शस्त्र मारने वाले और (मयोभून्) [धर्मात्माओं को] सुख देने वाले वीरों को (धुरि) धुरी [भारी बोझ] में (युङ्क्ते) जोड़ता है, (यः) जो पुरुष (एषाम्) इन [वीरों] की (भृत्याम्) पोषण रीति को (ऋणधत्) बढ़ावेगा, (सः) वह (जीवात्) जीवेगा ॥ ६ ॥

६—(कः) करोतेर्डप्रत्ययः। कर्ता। प्रजापतिः परमेश्वरः (अद्य) अस्मिन् दिने (युङ्क्ते) योजयति (धुरि) भारे (गाः) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। गायकान् (शिमीवतः) शिमी कर्मनाम—निघ० २। १। उत्तमकर्मयुक्तान् (भामिनः) भाम—इनि। तेजस्विनः (दुर्हृणायून्) हृणीयतेः क्रुध्यतिकर्मा—निघ० २। १२। हृणीङ् रोषणे लज्जायां च-उण्, कण्ड्वादित्वाद् यक्, अतो लोपे सति ईकारस्य आकारः। शत्रुषु महाक्रोधयुक्तान् (आसन्निषून्) पद्दन्नो-मास्०। पा०६।१।६३। आसनशब्दस्य आसन् आदेशः। आसने लक्ष्ये प्राप्तबाणान् (हृत्स्वसः) अस्यतेः—क्विप्। शत्रुहृदयेषु प्रक्षिप्तशस्त्रान् (मयोभून्) सुखं भावुकान् वीरान् (यः) पुरुषः (एषाम्) वीराणाम् (भृत्याम्) पोषणरीतिम् (ऋणधत्) ऋधु वृद्धौ—लेटि अडागमः। वर्धयेत् (सः) (जीवात्) लेटि आडागमः। चिरं जीवेत्। यशस्वी भवेत् ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। परमात्मा धुरन्धर धर्मात्मा वीरों पर संसार की रक्षा का भार रखता है, और वे उस नियम का यथावत् पालन करते हैं। जो मनुष्य ऐसे मर्यादा पुरुषों की नीति पर चलता है, वह संसार में यशस्वी होकर अमर होता है ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है, १। ८४। ६। महर्षि दयानन्द ने सेनापति के योग्य कर्म में इसकी व्याख्या की है ॥

को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन् ॥७॥

कः। अस्य। वेद। प्रथमस्य। अह्नः। कः। ईम्। ददर्श। कः। इह। प्र। वोचत्॥ बृहत्। मित्रस्य। वरुणस्य। धाम। कत्। ऊं इति। ब्रवः। आहनः। वीच्या। नॄन् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन [पुरुष] (अस्य) इस [जगत्] के (प्रथमस्य) पहिले (अह्नः) दिन को (वेद) जानता है (कः) किस ने (ईम्) इस [दिन] को (ददर्श) देखा है, (कः) कौन (इह) इस [विषय] में (प्र वोचत्) बोले। (मित्रस्य) सर्व प्रेरक (वरुणस्य) श्रेष्ठ परमेश्वर का (बृहत्) बड़ा (धाम) धाम [धारण सामर्थ्य वा नियम] है, (आहनः) हे चोट लगाने वाली ! (कत् उ) कैसे (वीच्या) छल के साथ (नॄन्) नरों [नेताओं] से (ब्रवः) तू बोल सके ॥ ७ ॥

भावार्थ—यह भी पुरुष का वचन है। तू कहती है कि सूर्य और

७—(कः) प्रश्ने। कः पुरुषः (अस्य) जगतः (वेद) जानाति (प्रथमस्य) प्रथमम् (अह्नः) अहः। दिनम् (कः) (ईम्) इदं दिनम् (ददर्श) दृष्टवान् (कः) (इह) अस्मिन् विषये (प्र वोचत्) प्रकथयेत् (बृहत्) महत् (मित्रस्य) डु मिञ् प्रक्षेपणे—क्त्र। सर्वप्रेरकस्य (वरुणस्य) श्रेष्ठस्य परमेश्वरस्य (धाम) धारणसामर्थ्यम्। प्रभावः (कत्) कथम् (उ) पादपूरणः (ब्रवः) ब्रूयाः। ब्रवीषि (आहनः) आङ्+हन हिंसागत्योः—असुन्। हे आहननशीले। क्लेशकारिणि (वीच्या) व्यच व्याजीकरणे—क्विप्रत्ययः। छान्दसो दीर्घः। छलेन (नॄन्) नयतेर्डिच्च। उ० २। १००। णीञ् प्रापणे—ऋ, स च डित्। नेतॄन् पुरुषान् ॥

पृथिवी प्राकृतिक पदार्थों में भी पति पत्नी भाव है, यह ठीक नहीं। परमेश्वर के नियम मनुष्य नहीं समझ सकता, जैसे सूर्य और पृथिवी में आकर्षण धारण आदि गुण हैं जिनके कारण उनके बीच बारंबार आपस में वृष्टि देने और लेने का सामर्थ्य है। तू हमें मत ठग ॥ ७ ॥

मन्त्र ७-१२ कुछ अभेद वा भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १० । ६-११ ॥

यमस्य मा यम्यं१ काम आगन्त्समाने योनौ सहशेय्याय । जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद् वृहेव रथ्येव चक्रा ॥८॥

यमस्य । मा । यम्यम् । कामः । आ । अगन् । समाने । योनौ । सह-शेय्याय ॥ जाया-इव । पत्ये । तन्वम् । रिरिच्याम् । वि । चित् । वृहेव । रथ्या-इव । चक्रा ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) यम [जोड़िया भाई] की (कामः) कामना (मा) मुझ (यम्यम्) यमी [जोड़िया बहिन] को, (समाने योनौ) एक घर में (सहशेय्याय) साथ साथ सोने के लिये, (आ अगन्) आकर प्राप्त हुयी है। (जाया इव) पत्नी के समान (पत्ये) पति के लिये (तन्वम्) [अपना] शरीर (रिरिच्याम्) मैं फैलाऊं, (चित्) और (रथ्या) रथ ले चलने वाले (चक्रा इव) दो पहियों के समान (वि विरहेव) हम दोनों मिलें ॥ ८ ॥

भावार्थ---स्त्री का वचन है। तू और मैं दोनों एक माता से एक साथ

८—(यमस्य) यम परिवेषणे—अच् । एकगर्भजायमानस्य यमजस्य भ्रातुः (मा) माम् (यम्यम्) यम ङीष् गौरादित्वात्, यणादेशः । यमीम् । एक-गर्भजायमानां यमजां भगिनीम् (कामः) कामना (आ अगन्) आगमत् (समाने) एकस्मिन्नेव (योनौ) गृहे (सहशेय्याय) अचो यत् । पा० ३ । १ । ६७ । शीङ् शयने—यत् । शेयं शयनं स्वार्थेयत् । सहशयनाय (जाया) पत्नी (इव) यथा (पत्ये) स्वभर्त्रे (तन्वम्) तनूम् । स्वशरीरम् (रिरिच्याम्) रिचिर् विरेचने । विस्तारयेयम् (चित्) अपि च (वि वृहेव) परस्परसंश्लेषो विवहौ । आवां संश्लेषं करवाव (रथ्या) तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम् । पा० ४ । ४ । ७६ । इति यत् । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । रथ्ये । रथवाहके (इव) यथा (चक्रा) चक्रद्वे ॥

जोड़िया उत्पन्न हुये हैं सो हम दोनों में अति प्रीति है। हम दोनों ही आपस में विवाह करके पति पत्नी बनें और मिलकर गृहस्थ आश्रम चलावें, जैसे रथ के दो पहिये धुरा के साथ आपस में मिलकर रथ चलाते हैं ॥ ८ ॥

न तिष्ठन्ति न नि मिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा ॥ ९ ॥

न। तिष्ठन्ति। न। नि। मिषन्ति। एते। देवानाम्। स्पशः। इह। ये। चरन्ति ॥ अन्येन। मत्। आहनः। याहि। तूयम्। तेन। वि। वृह। रथ्या-इव। चक्रा ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(देवानाम्) विद्वानों के (एते) यह (स्पशः) नियम (न) न (तिष्ठन्ति) ठहरते हैं और (न) न (नि मिषन्ति) मुंदते हैं, (ये) जो (इह) यहां पर (चरन्ति) चलते हैं। (आहनः) हे चोट लगाने वाली! तू (मत्) मुझ से (अन्येन) दूसरे के साथ (तूयम्) शीघ्र (याहि) जा और (तेन) उसके साथ (रथ्या) रथ ले चलने वाले (चक्रा इव) दो पहियों के समान (वि वृह) संयोग कर ॥ ९ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। बड़े लोगों की अटल मर्यादायें सब को मानने योग्य हैं, मैं बहिन के साथ विवाह नहीं कर सकता, तू दूसरे से विवाह करके गृहस्थिनी हो ॥ ९ ॥

रात्रीभिरस्मा अहंभिर्दशस्येत् सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात्।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य विवृहादजामि १० (१)

९—(न) निषेधे (तिष्ठन्ति) गत्या निवर्तन्ते (न) (नि मिषन्ति) निमेषं चक्षुर्मुद्रणं कुर्वन्ति (एते) (देवानाम्) विदुषाम् (स्पशः) स्पश ग्रन्थे बाधने च—क्विप्। प्रबन्धाः। नियमाः (इह) संसारे (ये) (चरन्ति) प्रवर्तन्ते (अन्येन) इतरेण सह (मत्) मत्तः (आहनः) म० ७। हे आहनन-शीले (याहि) गच्छ (तूयम्) क्षिप्रनाम—निघ० २। १५। शीघ्रम् (तेन) पुरुषेण सह (वि वृह) संश्लेषं कुरु (रथ्या) म० ८। रथवाहके (इव) (चक्रा) चक्रद्वे ॥

रात्रीभिः । अस्मै । अहं-भिः । दुशस्येत् । सूर्यस्य । चक्षुः । मुहुः । उत् । मिमीयात् ॥ दिवा । पृथिव्या । मिथुना । सबन्धू इति स-बन्धू । यमीः । यमस्य । विवृहात् । अजामि ॥ १० ॥ (१)

भाषार्थ—(रात्रीभिः) रात्रियों के साथ और (अहभिः) दिनों के साथ (अस्मै) इस [भाई] को (सूर्यस्य) सूर्य की (चक्षुः) ज्योति (दशस्येत्) [सुमति] देवे और (मुहुः) बारम्बार (उत् मिमीयात्) फैली रहे। (दिवा) सूर्य के साथ और (पृथिव्या) पृथिवी के साथ (मिथुना) जोड़ा जोड़ा (सम्बन्धू) भाई के साथ वाले हैं,[फिर] (यमीः) जोड़िया बहिन (यमस्य) जोड़िया भाई के (अजामि) बिना सम्बन्ध से (विवृहात्) उद्यम करे ॥ १० ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। हे भाई ! सूर्य के प्रकाश में आंख खोल कर देख कि राति और दिन बहिन भाई होकर पति पत्नी भाव से रहते हैं और सूर्य और पृथिवी के बीच सब पदार्थों में भी यही सम्बन्ध है, फिर मैं भी बहिन होकर अपने भाई से ही विवाह करूं ॥ १० ॥

आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृणवन्नजामि ।
उप बर्बृहि वृषभाय बाहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत् ॥११॥

आ । घ । ता । गच्छान् । उत्-तरा । युगानि । यत्र । जामयः । कृणवन् । अजामि ॥ उप । बर्बृहि । वृषभाय ।

१०—(रात्रीभिः) (अस्मै) यमाय (अहभिः) अहोभिः । दिनैः (दशस्येत्) दद्यात् सुमतिम् (सूर्यस्य) (चक्षुः) प्रकाशकं तेजः (मुहुः) बारम्बारम् (उन्मिमीयात्) माङ् माने, परस्मैपदं छान्दसम् । ऊर्ध्वं मानं गमनं कुर्यात् (दिवा) सूर्येण सह(पृथिव्या) भूम्या सह (मिथुना) स्त्रीपुरुषयोर्युग्मे । द्वन्द्वे (सबन्धू) बन्धुना भ्रात्रा सहिते (यमीः) विसर्गश्छान्दसः—म० ८ । यमी । एकगर्भजायमाना यमजा भगिनी (यमस्य) म० ८ । एकगर्भजायमानस्य यमजस्य । भ्रातुः (वि वृहात्) वृहू उद्यमने । विविधं यत्नं कुर्यात् (अजामि) अजामित्वेन । सम्बन्धराहित्येन ॥

बाहुम् । अन्यम् । इच्छस्व । सु-भगे । पतिम् । मत् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(ता) वे (उत्तरा) अगले (युगानि) युग [समय] (घ) निःसन्देह (आ गच्छान्) आवें, (यत्र) जिन में (जामयः) कुल स्त्रियां [वा बहिनें] (अजामि) कुल स्त्रियों [वा बहिनों] के अयोग्य काम को (कृणवन्) करने लगें। (वृषभाय) श्रेष्ठ वर के लिये (बाहुम्) [अपनी] भुजा (उप बर्बृहि) आगे बढ़ा, (सुभगे) हे सुभगे ! [बड़े ऐश्वर्य वाली (मत्) मुझ से (अन्यम्) दूसरे (पतिम्) पति को (इच्छस्व) ढूंढ़ ॥ ११ ॥

भावार्थ—पुरुष का बचन है । चाहे कुल स्त्रियां धर्म छोड़ कर अधर्म करने लगें, मैं अधर्म न करूंगा, तू अपने लिये दूसरा पति बरके गृहस्थ आश्रम कर ॥ ११ ॥

किं भ्रातासद् यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्नि-गच्छात् । कामसूता बह्वे३तद् रपामि तन्वा मे तन्वं१ सं पिपृग्धि ॥ १२ ॥

किम् । भ्राता । असत् । यत् । अनाथम् । भवाति । किम् । ऊं इति । स्वसा । यत् । निः-ऋतिः । नि-गच्छात् ॥ कामसूता । बहु । एतत् । रपामि । तन्वा । मे । तन्वम् । सम् । पिपृग्धि ॥ १२ ॥

११—(आ गच्छान्) आगच्छेयुः (घ) निश्चयेन (ता) तानि (उत्तरा) आगामीनि (युगानि) समयविशेषाः (यत्र) येषु युगेषु (जामयः) कुल-स्त्रियः । भगिन्यः (कृणवन्) कृवि हिंसाकरणयोः । कुर्युः (अजामि) कुलस्त्रीणां भगिनीनां वा अयोग्यं कर्म (उप) समीपे (बर्बृहि) बृह वृद्धौ यङ्लुकि लोट् । भृशं वर्धय (वृषभाय) श्रेष्ठाय वराय (बाहुम्) स्वभुजम् (अन्यम्) भिन्नपुरुषम् (इच्छस्व) कामयस्व (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (पतिम्) भर्तारम् (मत्) मत्तः ॥

भाषार्थ—(भ्राता) भाई (किम्) क्या (असत्) होवे, (यत्) जब [बहिन को] (अनाथम्) बिन सहारा (भवाति) होवे, (उ) और (स्वसा) बहिन (किम्) क्या है (यत्) जब [भाई पर] (निर्ऋतिः) महाविपत्ति (निगच्छात्) आपड़े। (काममूता) काम से बंधी हुई मैं (बहु) बहुत कुछ (एतत्) यह (रपामि) कहती हूं, (तन्वा) [अपने] शरीर से (मे) मेरे (तन्वम्) शरीर को (सं पिपृग्धि) मिलकर छू ॥ १२ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है। वह भाई नहीं है जो बहिन की विपत्ति में सहाय न करे और न वह बहिन है जो भाई के कष्ट को न मिटावे। मैं काम से पीड़ित होकर तेरे साथ विवाह के लिये कहती हूं ॥ १२ ॥

न ते॒ नाथं॑ यम्यत्रा॒हम॑स्मि॒ न ते॑ त॒नूं त॒न्वा॒३॒॑ सं प॑पृच्याम्। अ॒न्येन॒ मत् प्र॒मुदः॑ कल्पयस्व॒ न ते॒ भ्राता॑ सुभगे वष्ट्ये॒तत् ॥१३॥

न । ते॒ । नाथ॑म् । य॒मि॒ । अत्र॑ । अ॒हम् । अ॒स्मि॒ । न । ते॒ । त॒नूम् । त॒न्वा॑ । सम् । प॒पृ॒च्या॒म् ॥ अ॒न्येन॑ । मत् । प्र॒-मुदः॑ । क॒ल्प॒य॒स्व॒ । न । ते॒ । भ्राता॑ । सु॒-भ॒गे॒ । व॒ष्टि॒ । ए॒तत् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यमि) हे यमी ! [जोड़िया बहिन] (अहम्) मैं (अत्र) इस [विषय] में (ते) तेरा (नाथम्) आश्रय (न) नहीं (अस्मि) हूं, (ते) तेरे (तनूम्) शरीर को (तन्वा) [अपने] शरीर से (न) नहीं (सम्)

१२—(किम्) किमर्थम्। निष्फलम् (भ्राता) सहोदरः (असत्) भवेत् (यत्) यदि (अनाथम्) अनाथत्वम्। अनाश्रयत्वम् (भवाति) भवेत्, भगिन्याम् (किम्) निष्फलम् (उ) समुच्चये (स्वसा) भगिनी (यत्) यदि (निर्ऋतिः) कृच्छ्रापत्तिः (निगच्छात्) निपतेत् भ्रातरि (काममूता) मूङ् बन्धने—क्त। कामेन बद्धा पीडिता (बहु) नानाप्रकारेण (एतत्) इदं वचनम् (रपामि) कथयामि (तन्वा) स्वशरीरेण (मे) मम (सम्) संगत्य (पिपृग्धि) पृची सम्पर्कें। छान्दसः श्लुः, अभ्यासस्य इत्वं। संपर्चय ॥

१३—(न) निषेधे (ते) तव (नाथम्) आश्रयः (यमि) म० ८। हे यमजे भगिनि (अत्र) अस्मिन् विषये (अहम्) भ्राता (अस्मि) भवामि (न)

मिलकर (पपृच्याम्) छूऊंगा। (मत्) मुझे से (अन्येन) दूसरे [वर] के साथ (प्रमदः) आनन्दों को (कल्पयस्व) मना, (सुभगे) हे सुभगे ! [बड़े ऐश्वर्य वाली] (ते भ्राता) तेरा भाई (एतत्) यह (न) नहीं (वष्टि) चाहता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—पुरुष का वचन है। यह ठीक है कि हम दोनों भाई बहिन होकर विपत्ति में परस्पर सहाय करें, परन्तु धर्म छोड़कर बहिन से विवाह न करूंगा। मैं तुझ से कहता हूं कि तू दूसरे योग्य वर से विवाह कर ले ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऋग्वेद में है—१०। १०। १२ ॥

न वा उं ते तनूं तन्वा३ सं पंपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्। असंयदेतन्मनसो हृदो मे भ्राता स्वसुः शयने यच्छयीय ॥ १४ ॥

न। वै। ऊं इति। ते। तनूम्। तन्वा। सम्। पपृच्याम्। पापम्। आहुः। यः। स्वसारम्। नि-गच्छात् ॥ असम्-यत्। एतत्। मनसः। हृदः। मे। भ्राता। स्वसुः। शयने। यत्। शयीय ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वै उ) कभी भी (ते तनूम्) तेरे शरीर को (तन्वा) [अपने] शरीर से (न) नहीं (सम्) मिलकर (पपृच्याम्) छूऊंगा, [उस मनुष्य को] (पापम्) पापी (आहुः) वे [शिष्ट लोग] कहते हैं, (यः) जो (स्वसारम्) बहिन को (निगच्छात्) नीचपन से प्राप्त करे। (एतत्) यह

नहि (ते) तव (तनूम्) शरीरम् (तन्वा) स्वशरीरेण (सम्) संगत्य (पपृच्याम्) संपर्चयाम् (अन्येन) भिन्नेन वरेण (मत्) मत्तः (प्रमुदः) प्रहर्षान् (कल्पयस्व) समर्थय। साधय (न) निषेधे (ते) तव (भ्राता) सहोदरः (सुभगे) हे बह्वैश्वर्यवति (वष्टि) इच्छति (एतत्) इदं कर्म ॥

१४—(न) निषेधे (वै उ) कदापि (ते) तव (तनूम्) शरीरम् (तन्वा) स्वशरीरेण (सम्) संगत्य (पपृच्याम्) संपर्चयाम् (पापम्) पापिनं तं पुरुषम् (आहुः) कथयन्ति शिष्टाः (यः) भ्राता (स्वसारम्) भगिनीम् (निगच्छात्) नीचं प्राप्नुयात् (असंयत्) यमु उपरमे—क्विप। असंगतम्

[बात] (मे) मेरे (मनसः) मन [संकल्प] के और (हृदः) हृदय [निश्चय] के (असंयत्) असंगत है—(यत्) कि (भ्राता) मैं भाई (स्वसुः) बहिन की (शयने) सेज पर (शयीय) सोऊं ॥ १४ ॥

भावार्थ—यह भी पुरुष का वचन है। मैं कभी भी तेरे साथ विवाह न करूंगा। बड़े लोग भाई के साथ बहिन का विवाह पाप मानते हैं और मैं भी अन्तः करण से इसे पाप समझता हूं ॥ १४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है—१० । १० । १२ ॥

बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम। अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् ॥ १५ ॥

बतः । बत । असि । यम । न । एव । ते । मनः । हृदयम् । च । अविदाम ॥ अन्या । किल । त्वाम् । कक्ष्या-इव । युक्तम् । परि । स्वजातै । लिबुजा-इव । वृक्षम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(बत) हा ! (यम) हे यम ! [जोड़िया भाई] तू (बतः) बड़ा निर्बल (असि) है, (ते) तेरे (मनः) मन [संकल्प] को (च) और (हृदयम्) हृदय [निश्चय] को (एव) निःसन्देह (न अविदाम) हम ने नहीं पाया। (अन्या) दूसरी स्त्री (किल) अवश्य (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजातै) आलिङ्गन करेगी, (कक्ष्या इव) जैसे घोड़े की पेटी (युक्तम्) कसे

(एतत्) इदं कर्म (मनसः) चित्तस्य। संकल्पस्य (हृदः) हृदयस्य। निश्चयस्य (मे) मम (भ्राता) (स्वसुः) भगिन्याः (शयने) शय्यायाम् (यत्) अर्थबोधने (शयीय) अहं शयनं कुर्याम् ॥

१५—(बतः) वन उपकारे उपतापे च—क्त। बतो बलादतीतो भवति दुर्बलः—निरु० ६। २८। अतिनिर्बलः (बत) शोके। हा (असि) (यम) म० ८। हे यमजभ्रातः (न) निषेधे (एव) निश्चयेन (ते) तव (मनः) चित्तम् संकल्पम् (हृदयम्) अन्तःकरणम्। निश्चयम् (च) (अविदाम) विद्लृ लाभे—लुङ्। वयं प्राप्तवत्यः (अन्या) मद्भिन्ना स्त्री (किल) प्रसिद्धौ (त्वाम्) (कक्ष्या) अश्वस्य कक्षप्रदेशस्था रज्जुः (इव) यथा (युक्तम्) गमनाय योजि-

हुये [घोड़े] से और (लिबुजा इव) जैसे बेल [लता] (वृक्षम्) वृक्ष से [लिपट जाती है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—स्त्री का वचन है । भाई ! मैं ने तुझे इतना समझाया पर तू ने मेरी बात न मानी, अवश्य मुझ से दूसरी स्त्री तेरे साथ विवाह कर के सुख भोगेगी ॥ १५ ॥

मन्त्र १५ और १६ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १० । १३, १४ ॥

अन्यमू षु यम्यन्य उ त्वां परि ष्वजातै लिबुजेव वृक्षम् । तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविदं सुभद्राम् ॥ १६ ॥

अन्यम् । ऊं इति । सु । यमि । अन्यः । ऊं इति । त्वाम् । परि । स्वजातै । लिबुजा-इव । वृक्षम् ॥ तस्य । वा । त्वम् । मनः । इच्छ । सः । वा । तव । अध । कृणुष्व सम्-विदम् । सु-भद्राम् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यमि) हे यमी ! [जोड़िया बहिन] तू (अन्यम्) दूसरे पुरुष से (सु उ) अच्छे प्रकार [मिल], (उ) और (अन्यः) दूसरा पुरुष (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजातै) मिले, (लिबुजा इव) जैसे बेल [लता] (वृक्षम्) वृक्ष से । (वा) और (त्वम्) तू (तस्य) उसके (मनः) मन को (इच्छ) चाह, (वा) और (सः) वह (तव) तेरे [मन को चाहे], (अध) फिर तू (सुभद्राम्) बड़े मङ्गल युक्त (संविदम्) संगति (कृणुष्व) कर ॥ १६ ॥

भावार्थ—पुरुष का अन्तिम वचन है । हे बहिन ! तू प्रसन होकर दूसरे योग्य वर से विवाह कर ले । तुम दोनों परस्पर प्रीति बढ़ाकर आनन्द भोगो १६

तमश्वम् (परिष्वजातै) आलिङ्गेत् (लिबुजा) अ० ६ । ८ । १ । लता (वृक्षम्) तरुम् ॥

१६—(अन्यम्) भिन्नपुरुषम्—परिष्वजेति शेषः (उ) एव (सु) सुष्ठु (यमि) म० ८ । हे यमजे भगिनि (अन्यः) इतरः पुरुषः (उ) (त्वाम्) (परिष्वजातै) आलिङ्गेत् (लिबुजा) अ० ६ । ८ । १ । लता (इव) यथा (वृक्षम्) (तस्य) वरस्य (वा) समुच्चये । च (त्वम्) (मनः) चित्तम् (इच्छ) कामयस्व (सः) वरः (वा) च (तव) (अध) अथ । अनन्तरम् (कृणुष्व) कुरु (संविदम्) संगतिम् (सुभद्राम्) अत्यन्तमङ्गलप्रदाम् ॥

मन्त्राः १७—२६ ॥

अग्निर्देवता [ऋग्वेदे १० । ११ । १-६ यथा]॥ १७ आर्षी त्रिष्टुप् ; १८-२०, २२ निचृज्जगती ; २१, २३ जगती ; २४—२६ त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्मोपदेशः—विद्वानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

त्रीणि च्छन्दांसि कवयो वि येतिरे पुरुरूपं दर्शतं विश्वचक्षणम् । आपो वाता ओषधयस्तान्येकस्मिन् भुवन आर्पितानि ॥ १७ ॥

त्रीणि । छन्दांसि । कवयः । वि । येतिरे । पुरु-रूपम् । दर्शतम् । विश्व-चक्षणम् ॥ आपः । वाताः । ओषधयः । तानि । एकस्मिन् । भुवने । आर्पितानि ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कवयः) बुद्धिमानों ने (पुरुरूपम्) अनेक प्रकार निरूपण करने योग्य, (दर्शतम्) अद्भुत गुण वाले (विश्वचक्षणम्) सब के देखने योग्य, (त्रीणि) तीन (छन्दांसि) आनन्द देने वाले पदार्थों को (वि) विविध प्रकार (येतिरे) यत्न में किया है । वे (आपः) जल, (वाताः) पवनें और (ओषधयः) ओषधें [सोमलता, जौ, चावल आदि] हैं, (तानि) वे सब (एकस्मिन्) एक (भुवने) भुवन [सब के आधार परमात्मा] में (आर्पितानि) ठहरे हैं ॥ १७ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग अनेक प्रकार उपकारी जल, वायु और ओषधियों आदि के गुणों को विद्वानों में उपदेश करके लाभ उठावें और उनके कर्ता परमात्मा की महिमा जानकर उन्नति करें ॥ १७ ॥

१७—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (छन्दांसि) अ० ४ । ३४ । १ । चन्देरादेश्च छः । उ० ४ । २१६ । चदि आह्लादने—असुन्, चस्य छः । आनन्दप्रद-पदार्थान् (कवयः) मेधाविनः (वि) विविधम् (येतिरे) यती प्रयत्ने—लिट् । यत्नं कृतवन्तः (पुरुरूपम्) बहुविधनिरूपणीयम् (दर्शतम्) दृशिर्—अतच् । दर्शनीयम् । अद्भुतगुणयुक्तम् (विश्वचक्षणम्) सर्वैर्दर्शनीयम् (आपः) जलानि (वाताः) वायवः (ओषधयः) सोमलताव्रीहियवादयः (तानि) वस्तूनि (एकस्मिन्) (भुवने) सर्वाधारे परमेश्वरे (आर्पितानि) समन्ताद् निवेशितानि ॥

वृषा वृष्णे दुदुहे दोहसा दिवः पयांसि यह्वो अदितेरदाभ्यः । विश्वं स वेद वरुणो यथा धिया स यज्ञियो यजति यज्ञियाँ ऋतून् ॥ १८ ॥

वृषा । वृष्णे । दुदुहे । दोहसा । दिवः । पयांसि । यह्वः । अदितेः । अदाभ्यः ॥ विश्वम् । सः । वेद । वरुणः । यथा । धिया । सः । यज्ञियः । यजति । यज्ञियान् । ऋतून् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यह्वः) महान्, (अदाभ्यः) न दबने वाले (वृषा) बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा ने (वृष्णे) पराक्रमी मनुष्य के लिये (दिवः) आनन्द देने वाली (अदितेः) अखण्ड वेदवाणी की (दोहसा) पूरणता से (पयांसि) अनेक रसों को (दुदुहे) भरपूर किया है। (वरुणः यथा) श्रेष्ठ पुरुष के समान (सः) वह [मनुष्य] (विश्वम्) संसार को (धिया) [अपनी] बुद्धि से (वेद) जानता है और (सः) वह (यज्ञियः) पूजनीय होकर (यज्ञियान्) पूजनीय (ऋतून्) ऋतुओं [उचित कालों] को (यजति) पूजता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने वेदद्वारा पुरुषार्थी के लिये संसार में अनेक ऐश्वर्य का उपदेश किया है। वही ज्ञानी पुरुष श्रेष्ठों के समान आचरण करके उचित समय को न खोकर संसार का उपकार करता है ॥ १८ ॥

मन्त्र १८—२४ कुछ भेद वा अभेद से ऋग्वेद में हैं—१० । ११ । १-७ ॥

रपद् गन्धर्वीरप्या च योषणा नदस्य नादे परि पातु नो मनः ।

१८—(वृषा) वृषु प्रजनने, परमशक्तौ पराक्रमे च—कनिन् । परमशक्तिमान् परमेश्वरः । इन्द्रः (वृष्णे) पराक्रमिणे पुरुषाय (दुदुहे) प्रपूरितवान् (दोहसा) दुह प्रपूरणे—असुन् । प्रपूर्त्या (दिवः) दिवु मोदे—डिवि । आनन्दप्रदायाः (पयांसि) रसान् (यह्वः) महान्—निघ० ३ । ३ । (अदितेः) अदितिर्वाङ्-नाम—निघ० १ । ११ । अखण्डितायाः वेदवाण्याः (अदाभ्यः) अहिंस्यः (विश्वम्) संसारम् (सः) पराक्रमी (वेद) वेत्ति (वरुणः) श्रेष्ठपुरुषः (यथा) सादृश्ये (धिया) प्रज्ञया (सः) (यज्ञियः) पूजार्हः (यजति) पूजयति (यज्ञियान्) पूजनीयान् (ऋतून्) अर्त्तेश्चतुः । उ० १ । ७२ ।ऋ गतौ—तु, कित् । गमनशीलान् योग्यकालान् ॥

इ॒ष्टस्य॒ मध्ये॒ अदि॑ति॒र्नि धा॑तु नो॒ भ्राता॑ नो ज्ये॒ष्ठः प्र॑थ॒मो वि वो॑चति ॥ १९ ॥

रप॑त् । ग॒न्ध॒र्वीः । अप्या॑ । च॒ । योष॑णा । न॒दस्य॑ । ना॒दे । परि॑ । पा॒तु॒ । नः॒ । मनः॑ ॥ इ॒ष्टस्य॑ । मध्ये॑ । अदि॑तिः । नि । धा॒तु॒ । नः॒ । भ्राता॑ । नः॒ । ज्ये॒ष्ठः । प्र॒थ॒मः । वि । वो॒च॒ति॒ १९

भाषार्थ—(गन्धर्वीः) विद्वानों को धारण करने वाली, (अप्या) सत्कर्मों में प्रसिद्ध (च) और (योषणा) सेवने योग्य [वेद वाणी] (रपत्) स्पष्ट कहती है—कि वह [वेदवाणी] (नदस्य) स्तोता [गुणज्ञ] पुरुष के (नादे) सत्कार में (नः) हमारे (मनः) मन [वा विज्ञान] की (परि) सब ओर से (पातु) रक्षा करे। (अदितिः) अखण्ड वेदवाणी (इष्टस्य) अभीष्ट सुख के (मध्ये) बीच में (नः) हमें (नि) नित्य (धातु) रक्खे, (भ्राता) भाई [के समान हितकारी] (ज्येष्ठः) अतिश्रेष्ठ, (प्रथमः) मुख्य पुरुष (नः) हम को (वि) अनेक प्रकार (वोचति) उपदेश करे ॥ १९ ॥

भावार्थ—वेदवाणी हमें उपदेश करती है कि मनुष्य गुणों के जानने से अपनी रक्षा करता और अभीष्ट सुख पाता है, श्रेष्ठ विद्वान् परस्पर यही उपदेश करे ॥ १९ ॥

सो चि॒न्नु भ॒द्रा क्षु॒मती॒ यश॑स्वत्यु॒षा उ॑वास॒ मन॑वे॒ स्व᳡र्वती । यदी॑मु॒शन्त॑मुश॒तामनु॒ क्रतु॑म॒ग्निं होता॑रं वि॒दथा॑य॒ जीज॑-

१९—(रपत्) रपति । उपदिशति (गन्धर्वीः) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३।१६। स्तोतॄणां धारयित्री (अप्या) म० ४। सत्कर्मसु भवा (च) (योषणा) युष भजने—ल्यु, टाप्। सेवनीया (नदस्य) नदः स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। स्तोतुः। गुणज्ञस्य (नादे) नदतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। अर्चने। सत्कारे (परि) सर्वतः (पातु) रक्षतु (नः) अस्माकम् (मनः) विज्ञानम्। अन्तः-करणम् (इष्टस्य) अभीष्टसुखस्य (मध्ये) (अदितिः) अखण्डिता वेद-वाणी (नि) नित्यम् (धातु) दधातु (नः) अस्मान् (भ्राता) भ्रातेव हित-कारी (नः) अस्माकम् (ज्येष्ठः) प्रशस्यतमः (प्रथमः) मुख्यः पुरुषः (वि) विविधम् (वोचति) वक्तु। उपदिशतु॥

नन् ॥ २० ॥ (२)

सो इ॒ति । चि॒त् । नु । भ॒द्रा । क्षु॒-मती॑ । य॒श॑स्वती । उ॒षाः । उ॒वा॒स॒ । मन॑वे । स्वः॑-वती ॥ यत् । ई॒म् । उ॒शन्त॑म् । उ॒श॒ताम् । अनु॑ । क्रतु॑म् । अ॒ग्निम् । होता॑रम् । वि॒दथा॑य । जीज॑नन् ॥ २० ॥ (२ ॥

भाषार्थ—(सो) वही (चित्) निश्चय करके (नु) अब (भद्रा) कल्याणी, (क्षुमती) अन्न वाली, (यशस्वती) यश वाली, (स्वर्वती) बड़े सुख वाली [वेदवाणी], (उषाः) उषा [प्रभात वेला के समान], (मनवे) मनुष्य के लिये (उवास) प्रकाशमान हुयी है। (यत्) क्योंकि (ईम्) इस [वेदवाणी] को (उशन्तम्) चाहने वाले, (होतारम्) दानी (अग्निम्) विद्वान् पुरुष को (उशताम्) अभिलाषी पुरुषों की (क्रतुम् अनु) बुद्धि के साथ (विदथाय) ज्ञान समाज के लिये (जीजनन्) उन्होंने [विद्वानों ने] उत्पन्न किया है ॥२० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने मनुष्य के कल्याण के लिये वेदवाणी को सूर्य के प्रकाश के समान संसार में प्रकट किया है। जो मनुष्य वेदज्ञाता महाविद्वान् होवे, विद्वान् लोग उसको मुखिया बनाकर समाज का सुख बढ़ावें ॥ २० ॥

अध॒ त्यं द्र॒प्सं वि॒भ्वं॑ विचक्ष॒णं विराभ॑रदिषि॒रः श्ये॒नो अ॑ध्व॒रे। यदी॒ विशो॑ वृ॒णते॑ द॒स्ममार्या॑ अ॒ग्निं होता॑र॒मध॒ धीर॑जायत २१

अध॑ । त्यम् । द्र॒प्सम् । वि॒-भ्व॑म् । वि॒-च॒क्ष॒णम् । विः । आ ।

२०—(सो) सा—उ। सैव वेदवाणी (चित्) एव (नु) सम्प्रति (भद्रा) कल्याणी (क्षुमती) अन्नवती—निघ० २। ७ (यशस्वती) कार्त्तिमती (उषाः) प्रभातवेलारूपा वेदवाणी (उवास) वस—लिट्। प्रकाशं कृतवती (मनवे) (मनुष्याय (स्वर्वती) सुखवती (यत्) यतः (ईम्) इमां वेदाणीम् (उशन्तम्) कामयमानम् (उशताम्) कामयमानानाम्। अभिलाषिणाम् (अनु) अनुसृत्य (क्रतुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३। ६ (अग्निम्) विद्वांसम् (होतारम्) दातारम् (विदथाय) ज्ञानसमाजाय (जीजनन्) अजीजनन्। उदपादयन् ते विद्वांसः ॥

अभरत् । इषिरः । श्येनः । अध्वरे ॥ यदि । विशः । वृणते । दस्मम् । आर्याः । अग्निम् । होतारम् । अध । धीः । अजायत ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अध) और (त्यम्) उस (द्रप्सम्) हर्ष देने वाले, (विभ्वम्) बली (विचक्षणम्) चतुर [विद्वान्] पुरुष को (श्येनः) श्येन [बाज] (विः) पक्षी [के समान] (इषिरः) फुरतीला [आचार्य आदि] (अध्वरे) यज्ञ में (आ अभरत्) लाया है । (यदि) यदि (आर्याः) आर्य [श्रेष्ठ] (विशः) मनुष्य (दस्मम्) दर्शनीय, (होतारम्) दानी (अग्निम्) विद्वान् पुरुष को (वृणते) चुने, (अध) तब (धीः) वह कर्म (अजायत) हो जावे ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस विद्वान् दूरदर्शी जन को उत्तम गुणों के कारण विद्वान् आचार्य आदि प्रसिद्ध करें उसको श्रेष्ठ लोग प्रधान बनाकर कार्य सिद्ध करें२१॥

सदासि रण्वो यवसेव पुष्यते होत्राभिरग्ने मनुषः स्वध्वरः । विप्रस्य वा यच्छशमान उक्थ्यो३ वाजं ससवाँ उपयासि भूरिभिः ॥ २२ ॥

सदा । असि । रण्वः । यवसा-इव । पुष्यते । होत्राभिः । अग्ने । मनुषः । सु-अध्वरः ॥ विप्रस्य । वा । यत् । शश-

---

२१—(अध) अथ (त्यम्) तम् (द्रप्सम्) वृतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । दृप हर्षमोहनयोः—सप्रत्ययः । हर्षकारिणम् (विभ्वम्) विभुम् । प्रभुम् । (विचक्षणम्) दूरदर्शिनम् । चतुरम् (विः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतिगन्धनयोः–इण, डित् । पक्षी (आ अभरत्) हृग्रहोर्भः । आहरत् । आहृतवान्(इषिरः) इषिमदिमुदि० । उ०१ । ५१ । इष गतौ–किरच् । शीघ्रगामी (श्येनः) श्येन इव (अध्वरे) यज्ञे (यदि) (विशः) मनुष्याः–निघ० २ । ३ (वृणते) वरणं कुर्वन्ति । पुरस्कुर्वन्ति (दस्मम्) दर्शनीयम् (आर्याः) ऋ गतिप्रापणयोः–ण्यत् । श्रेष्ठाः (अग्निम्) विद्वांसम् (होतारम्) दातारम् (अध) अनन्तरम् (धीः) कर्म–निघ० २ । १ (अजायत) जायते ॥

शशमानः । उक्थ्यः । वाजम् । सस-वान् । उप-यासि । भूरि-भिः२२

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (स्वध्वरः) सुन्दर यज्ञ वाला होकर (मनुषः) ज्ञान की (होत्राभिः) वाणियों से (पुष्यते) पुष्ट करने वाले [मनुष्य] के लिये (यवसा इव) जैसे घास [गौ आदि के लिये] (सदा) सदा तू (रणवः) रमणीय [सुखदायक] (असि) होता है । (वा) और (यत्) क्योंकि (विप्रस्य) विद्वान् [आचार्य आदि] के (वाजम्) विज्ञान को (ससवान्) सेवन कर चुका हुआ, (शशमानः) फुरतीला, (भूरिभिः) बहुत [उत्तम पुरुषों] से (उक्थ्यः) स्तुतियोग्य तू (उपयासि) आता है ॥ २२ ॥

भावार्थ—विद्वान् को योग्य है कि ज्ञानदाता आचार्य आदि को अपने सत्कर्मों से सदा प्रसन्न रक्खे, क्योंकि उन्हीं महात्माओं की कृपा से वह विज्ञान प्राप्त करके संसार में विख्यात हुआ है ॥ २२ ॥

उदीरय पितरा जार आ भगमियक्षति हर्यतो हृत्त इष्यति ।
विवक्ति वह्निः स्वपस्यते मखस्तविष्यते असुरो वेपते मती२३

उत् । ईरय । पितरा । जारः । आ । भगम् । इयक्षति । हर्यतः । हृत्तः । इष्यति ॥ विवक्ति । वह्निः । सु-अपस्यते । मखः । तविष्यते । असुरः । वेपते । मती ॥ २३ ॥

२२—(सदा) सर्वदा (असि) भवसि (रणवः) कृगृशॄदृभ्यो वः । उ १ । १५५ । रमु क्रीडायाम्—व, मस्य णः । रमणीयः । सुखप्रदः यद्वा, रण शब्दे गतौ च–वप्रत्ययः । स्तुत्यः । प्राप्तव्यः (यवसा) विभक्तेराकारः । यवसम् । घासः । तृणम् (इव) यथा (पुष्यते) पुष पुष्टौ–शतृ । पोषणं कुर्वते पुरुषाय (होत्राभिः) वाग्भिः—निघ० १ । ११ (अग्ने) हे विद्वन् (मनुषः) जनेरुसिः उ० २ । ११५ । मन ज्ञाने—उसि । ज्ञानस्य (स्वध्वरः) शोभनयागः (विप्रस्य) मेधाविनः (वा) च (यत्) यतः (शशमानः) अ० २ । ३४ । २ । शश प्लुतगतौ—चानश् । उत्प्लुत्य गमनशीलः ॥ शीघ्रगामी (उक्थ्यः) स्तुत्यः (वाजम्) विज्ञानम् (ससवान्) षण संभक्तौ—क्वसु । संभजमानः । सेवमानः (उपयासि) आगच्छसि (भूरिभिः) बहुपुरुषैः ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (जारः आ) स्तोता [गुणज्ञ पुरुष] के समान (पितरा) माता पिता को (भगम्) ऐश्वर्य की ओर (उत् ईरय) ऊंचा पहुंचा, [क्योंकि] (हर्यतः) [शुभगुणों का] चाहने वाला (हृत्तः) हृदय से (इयक्षति) [उन्हें] पूजना चाहता है और (इष्यति) चलता है। (वह्निः) भार उठाने वाला (विवक्ति) बोलता है, (मखः) उद्योगी (स्वपस्यते) सत्कर्म करना चाहता है और (असुरः) प्राणवान् [बलवान्] (तविष्यते) महान् होना चाहता है, और (मती) बुद्धि के साथ (वेपते) चेष्टा करता है ॥ २३॥

भावार्थ—विद्वान् कृतज्ञ पुरुष धन आदि से माता पिता की सेवा करे, क्योंकि वृद्धों की सेवा से मनुष्य पुरुषार्थी होकर जगत् में बड़ा होता है ॥ २३ ॥

यस्ते॑ अग्ने सुम॒तिं मर्तो॒ अख्य॒त् सह॑सःसूनो॒ अति॒ स प्र शृ॑ण्वे।
इषं॒ दधा॑नो॒ वह॑मानो॒ अश्वै॒रा स द्यु॒माँ अम॑वान् भूषति॒ द्यून्॥२४

यः। ते॒। अ॒ग्ने॒। सु॒ऽम॒तिम्। मर्तः॑। अख्य॑त्। सह॑सः। सू॒नो॒ इति॑। अति॑। सः। प्र। शृ॒ण्वे॒॥ इष॑म्। दधा॑नः। वह॑मानः। अश्वैः॑। आ। सः। द्यु॒ऽमान्। अम॑ऽवान्। भू॒ष॒ति॒। द्यून्॥२४॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (यः मर्तः) जो मनुष्य (ते) तेरी

२३—(उदीरय) द्विकर्मकः। उद्गमय। उच्चैः प्रापय (पितरा) मातापितरौ (जारः) जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३। १४। जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। जॄ स्तुतौ—घञ्। स्तोता। गुणज्ञः (आ) सादृश्ये। इव (भगम्) ऐश्वर्यं प्रति (इयक्षति) यजेः सन्, अभ्यासस्य संप्रसारणं छान्दसम्। यष्टुं पूजयितुमिच्छति (हर्यतः) कमनीयः पुरुषः (हृत्तः) हृदयात् (इष्यति) इष गतौ। गच्छति (विवक्ति) कथयति (वह्निः) भारस्य वोढा (स्वपस्यते) अपः कर्मनाम—निघ० २। १। सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १।८। सु+अपस्—क्यच्। सत्कर्म कर्त्तुमिच्छति (मखः) मख सर्पणे, गतौ—घप्रत्ययः। उद्योगी पुरुषः (तविष्यते) तविषो महन्नाम—निघ० ३। ३। तविष—क्यच्। अकारलोपश्छान्दसः। तविषयते। महान् भवितुमिच्छति (असुरः) प्राणवान्। बलवान् (वेपते) चेष्टते (मती) मत्या ॥

२४—(यः) (ते) तव (अग्ने) हे विद्वन् (सुमतिम्) उत्तमबुद्धिम्

(सुमतिम्) सुमति को (अख्यत्) बखानता है, (सहसः सूनो) हे बलवान् पुरुष के पुत्र ! (सः) वह (अति) अति (प्र) बड़ाई से (शृण्वे) सुना जाता है [यशस्वी होता है]। और (सः) वह (इषम्) अन्न (दधानः) रखता हुआ, (अश्वैः) घोड़ों से (वहमानः) ले जाता हुआ, (द्युमान्) प्रकाशमान और (अमवान्) पराक्रमी होकर (द्यून्) दिनों को (आ) सब प्रकार (भूषति) सुधारता है ॥ २४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कुलीन बली विद्वानों की सुमति पर चलता है, वह यशस्वी, धनी और पराक्रमी होकर संसार का उपकार करता है ॥ २४ ॥

श्रुधी नो॑ अग्ने॒ सद॑ने स॒धस्थे॑ यु॒क्ष्वा रथ॑म॒मृत॑स्य द्रवि॒त्नुम् ।
आ नो॑ वह॒ रोद॑सी दे॒वपु॑त्रे॒ माकि॑र्दे॒वाना॒मप॑ भूरि॒ह स्याः॑ २५

श्रु॒धि । नः॒ । अ॒ग्ने॒ । सद॑ने । स॒ध-स्थे॑ । यु॒क्ष्व । रथ॑म् । अ॒मृ-त॑स्य । द्र॒वि॒त्नुम् ॥ आ । नः॒ । व॒ह॒ । रोद॑सी॒ इति॑ । दे॒वपु॑त्रे॒ इति॑ दे॒व-पु॑त्रे । माकिः॑ । दे॒वाना॑म् । अप॑ । भूः॒ । इ॒ह । स्याः॒ २५

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (सधस्थे) मिलकर बैठने योग्य (सदने) बैठक [समाज] में (नः) हमारी [बात] (श्रुधि) सुन,—(अमृतस्य) अमृत [अमरपन, पुरुषार्थ] के (द्रवित्नुम्) वेग वाले (रथम्) रथ को (युक्ष्व) जोड़। (नः) हमारे लिये (रोदसी) भूमि और सूर्य [के समान

(मर्तः) मनुष्यः (अख्यत्) लडर्थे लुङ्। कथयति (सहसः) बलवतः पुरुषस्य (सूनो) पुत्र (अति) अत्यन्तम् (सः) (प्र) प्रकर्षेण (शृण्वे) लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७। १। ४१। तलोपः, यणादेशः। शृणुते। श्रूयते। विश्रुतो भवति (इषम्) अन्नम् (दधानः) धारयन् (वहमानः) उह्यमानः (अश्वैः) तुरङ्गैः (आ) समन्तात् (सः) मर्तः (द्युमान्) दीप्तिमान् (अमवान्) बलवान् (भूषति) अलंकरोति (द्यून्) दिनानि—निघ० १। ६॥

२५—(श्रुधि) शृणु (नः) अस्माकं वचः (अग्ने) हे विद्वन् (सदने) समाजे (सधस्थे) सहस्थितियोग्ये (रथम्) (अमृतस्य) अमरणस्य। (द्रवित्नुम्) स्तनिहृषिपुषिगदिमदिभ्यो णेरित्नुच्। उ० ३। २६। द्रु गतौ—इत्नुच्, अण्यन्तादपि। शीघ्रगामिनम् (आवह) आनय (नः) अस्मान् (रोदसी)

उपकारी] (देवपुत्रे) विद्वानों को पुत्र रखने वाले [दो प्रजायें अर्थात् माता पिता] को (आ वह) ला, (देवानाम्) विद्वानों के बीच (माकिः) न कभी (अप भूः) तू दूर हो, (इह) यहां [हम में] (स्याः) रह ॥ २५ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सभा के बीच अधिक विद्वान् पुरुष को प्रधान बनाकर व्यवस्था करें कि सब माता पिता विज्ञान पूर्वक उत्तम सन्तान उत्पन्न करके संसार का उपकार करें और विद्वानों से आदर पूर्वक मिलते रहें ॥ २५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ११ । ८ ॥

यद॑ग्न एषा समि॑तिर्भवा॑ति दे॒वी दे॒वेषु॑ यज॒ता य॑जत्र । रत्ना॑ च॒ यद् वि॒भजा॑सि स्वधावो भा॒गं नो॒ अत्र॒ वसु॑मन्तं वीतात् ॥२६॥

यत् । अ॒ग्ने॒ । ए॒षा । सम्ऽइ॑तिः । भवा॑ति । दे॒वी । दे॒वेषु॑ । य॒ज॒ता । य॒ज॒त्र॒ ॥ रत्ना॑ । च॒ । यत् । वि॒ऽभजा॑सि । स्व॒धा॒ऽवः॒ । भा॒गम् । नः॒ । अत्र॑ । वसु॑ऽमन्तम् । वी॒ता॒त् ॥ २६ ॥

भाषार्थ—(यजत्र) हे संगति योग्य ! (अग्ने) हे विद्वान् ! (यत्) जब (एषा) यह (समितिः) समिति [सभा] (देवेषु) विद्वानों के बीच (देवी) विज्ञानवती और (यजता) संगति योग्य (भवाति) होवे। (च) और (यत्) जब, (स्वधावः) हे आत्मधारी ! तू (रत्ना) रत्नों को (विभजासि) बांटे, (नः) हमारे लिये (अत्र) यहां [संसार में] (वसुमन्तम्) बहुत धन युक्त (भागम्) भाग (वीतात्) भेज ॥ २६ ॥

भूमिसूर्यतुल्योपकारशीले (देवपुत्रे) देवा विद्वांसः पुत्रा ययोस्ते ते प्रजे। मातापितरौ (माकिः) न कदापि (देवानाम्) विदुषां मध्ये (अप भूः) अपगतो भव (इह) अस्मासु (स्याः) भवेः ॥

२६—(यत्) यदा (एषा) (समितिः) सभा (भवाति) भूयात् (देवी) विज्ञानवती (देवेषु) विद्वत्सु (यजता) संगन्तव्या (यजत्र) हे संगन्तव्य (रत्ना) रत्नानि । बहुमूल्यधनानि (च) (यत्) यदा (विभजासि) विभागेन दद्याः (स्वधावः) मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । मत्वन्तस्य रुः । हे स्वधारणशक्तियुक्त (भागम्) अंशम् (नः) अस्माकम् (अत्र) संसारे (वसुमन्तम्) बहुधनयुक्तम् (वीतात्) वी असने क्षेपणे । प्रेरय ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्वानों के सत्संग से सार्वभौम विद्यासभा बनाकर विज्ञान का प्रचार करें जिससे लोग गुणी होकर धनी होवें ॥ २६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । ११ । ८ ॥

मन्त्राः २७—३६ ॥

अग्निर्देवता [ऋग्वेदे १० । १२ । १-६ यथा] ॥ २७—२६, ३१, ३३ त्रिष्टुप्; ३०, ३२, ३५, ३६ निचृत् त्रिष्टुप्; ३४ विराट् त्रिष्टुप् ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

अन्वग्निरुषसामग्रंमख्यदन्वहानि प्रथमो जातवेदाः । अनु सूर्यं उषसो अनुं रश्मीनन्नु द्यावापृथिवी आ विवेश ॥ २७ ॥

अनुं । अग्निः । उषसाम् । अग्रंम् । अख्यत् । अनुं । अहानि । प्रथमः । जात-वेदाः ॥ अनुं । सूर्यः । उषसः । अनुं । रश्मीन् । अनुं । द्यावापृथिवी इति । आ । विवेश ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (अनु) निरन्तर, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (अनु) निरन्तर (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (सूर्यः) [उसी] सूर्य [सब में व्यापक वा सबको चलाने वाले परमेश्वर] ने (उषसः) उषाओं में (अनु) लगातार, (रश्मीन्) व्यापक किरणों में (अनु) लगातार, (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी में (अनु) लगातार (आविवेश) प्रवेश किया है ॥२७॥

भावार्थ—जिस परमेश्वर ने सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को रचकर सब को अपने वश में कर रक्खा है, वही सब मनुष्यों का उपास्य है ॥ २७ ॥

मन्त्र २७, २८ आ चुके हैं—अ० ७ । ८२ । ४, ५ ॥

मन्त्र २७ का प्रथम पाद ऋग्वेद में है—४ । १३ । १ ॥

प्रत्यग्निरुषसामग्रंमख्यत् प्रत्यहानि प्रथमो जातवेदाः । प्रति

२७—मन्त्रौ २७, २८ पूर्वत्र व्याख्यातौ—अ० ७ । ८२ । ४, ५ ॥

सूर्यस्य पुरुधा च रश्मीन् प्रति द्यावापृथिवी आ ततान ॥२८॥

प्रति । अग्निः । उषसाम् । अग्रम् । अख्यत् । प्रति । अहानि । प्रथमः । जात-वेदाः ॥ प्रति । सूर्यस्य । पुरु-धा । च । रश्मीन् । प्रति । द्यावापृथिवी इति । आ । ततान ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) सर्वव्यापक परमेश्वर ने (उषसाम्) उषाओं के (अग्रम्) विकाश को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, [उसी] (प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (जातवेदाः) उत्पन्न वस्तुओं के ज्ञान कराने वाले परमेश्वर ने (अहानि) दिनों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (अख्यत्) प्रसिद्ध किया है। (च) और (सूर्यस्य) सूर्य की (रश्मीन्) व्यापक किरणों को (पुरुधा) अनेक प्रकार (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से, और (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी लोकों को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (आ) सब ओर (ततान) फैलाया है ॥२८॥

भावार्थ—सब जगत् के उत्पादक और सर्वनियन्ता ईश्वर की महिमा को विचार कर मनुष्य अपनी उन्नति करें ॥ २८ ॥

द्यावा ह क्षामा प्रथमे ऋतेनाभिश्रावे भवतः सत्यवाचा । देवो यन्मर्तान् यजथाय कृण्वन्त्सीदद्धोता प्रत्यङ् स्वमसुं यन् ॥ २९ ॥

द्यावा । ह । क्षामा । प्रथमे इति । ऋतेन । अभि-श्रावे । भवतः । सत्य-वाचा ॥ देवः । यत् । मर्तान् । यजथाय । कृण्वन् । सीदत् । होता । प्रत्यङ् । स्वम् । असुम् । यन् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(द्यावा क्षामा) सूर्य और पृथिवी [के समान उपकारी], (प्रथमे) मुख्य, (सत्यवाचा) सत्यवाणी वाली [दो प्रजायें स्त्री और पुरुष] (ह) निश्चय करके (ऋतेन) सत्य धर्म से (अभिश्रावे) पूरी कीर्ति के बीच

२९—(द्यावा) द्यौः । सूर्यः (ह) प्रसिद्धौ (क्षामा) पृथिवी—निघ० १ । १ (प्रथमे) मुख्ये (ऋतेन) सत्यधर्मेण (अभिश्रावे) श्रु श्रवणे—घञ् । सर्व-यशसि (भवतः) वर्तेते (सत्यवाचा) सत्यवाचौ । सत्यवादिन्यौ स्त्रीपुरुष-

(भवतः) होते हैं। (यत्) क्योंकि (होता) दानी, (देवः) प्रकाशमान [परमेश्वर] (मर्तान्) मनुष्यों को (यजथाय) परस्पर मिलने के लिये (कृण्वन्) बनाता हुआ और (स्वम्) अपनी (असुम्) बुद्धि को (यन्) प्राप्त होता हुआ (प्रत्यङ्) सामने (सीदत्) बैठता है ॥ २९ ॥

भावार्थ—सब में मुख्य सर्वोपकारी स्त्री पुरुष ही कीर्त्ति पाते हैं, क्योंकि सर्वव्यापक परमात्मा मनुष्यों को परस्पर सहायक बनाकर कर्मों का फल देने के लिये अपने ज्ञान से सब के सन्मुख रहता है ॥ २९ ॥

मन्त्र २९, ३० ऋग्वेद में हैं १० । १२ । १,२ ॥

दे॒वो दे॒वान् प॑रि॒भूर्ऋ॒तेन॒ वहा॑ नो ह॒व्यं प्र॑थ॒मश्चि॑कि॒त्वान् । धूमके॑तुः स॒मिधा॒ भाऋ॑जीको म॒न्द्रो होता॒ नित्यो॑ वा॒चा यजी॑यान् ॥ ३० ॥ (३)

दे॒वः । दे॒वान् । प॒रि॒ऽभूः । ऋ॒तेन॑ । वह॑ । नः॒ । ह॒व्यम् । प्र॒थ॒मः । चि॒कि॒त्वान् ॥ धू॒मऽके॑तुः । स॒म्ऽइधा॑ । भाःऽऋ॑जीकः । म॒न्द्रः । होता॑ । नित्यः॑ । वा॒चा । यजी॑यान् ॥ ३० ॥ (३)

भाषार्थ—[हे परमात्मन्!] (देवः) प्रकाशमान, (ऋतेन) सत्य धर्म से (देवान्) गतिमान् लोकों में (परिभूः) व्यापता हुआ, (प्रथमः) पहिले से वर्तमान (चिकित्वान्) [सब] जानता हुआ तू (नः) हमारे लिये (हव्यम्) ग्राह्य पदार्थ (वह) पहुंचा। (समिधा) समिधा [काष्ठ

रूपे प्रजे (देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (यत्) यतः (मर्तान्) मनुष्यान् (यजथाय) संगतिकरणाय (कृण्वन्) कुर्वन् (सीदत्) निषीदति (होता) दानी (प्रत्यङ्) अभिमुखः सन् (स्वम्) स्वकीयम् (असुम्) प्रज्ञाम्—निघ० ३ । ९ (यन्) गच्छन्। प्राप्नुवन् ॥

३०—(देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (देवान्) गतिमतो लोकान् (परिभूः) परिभवन्। सर्वतो व्याप्नुवन् (ऋतेन) सत्यधर्मेण (वह) आनय (नः) अस्मान् (हव्यम्) ग्राह्यं पदार्थम् (प्रथमः) आदिमः (चिकित्वान्) सर्वं जानन् (धूमकेतुः) धूमेन जायमानः। धूमध्वजोऽग्निः (समिधा) समिन्धनेन।

आदि] से (धूमकेतुः) धुयें के झंडे वाले [अग्निरूप] तू (भाऋजीकः) बड़े प्रकाश वाला, (मन्द्रः) आनन्द दाता, (होता) दानकर्ता (नित्यः) सदा वर्तमान और (वाचा) वाणी द्वारा (यजीयान्) अति संयोग करने वाला है ॥ ३० ॥

भावार्थ—मनुष्य अनादि अनन्त सर्वस्रष्टा परमात्मा को सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता और सर्वज्ञ जान कर पुरुषार्थ के साथ ग्राह्य पदार्थों का उपार्जन करें ॥ ३० ॥

अर्चामि वां वर्धायापो घृतस्नू द्यावाभूमी शृणुतं रोदसी मे । अहा यद् देवा असुनीतिमायन् मध्वा नो अत्र पितरा शिशीताम् ॥ ३१ ॥

अर्चामि । वाम् । वर्धाय । अपः । घृतस्नू इति घृत-स्नू । द्यावाभूमी इति । शृणुतम् । रोदसी इति । मे ॥ अहा । यत् । देवाः । असु-नीतिम् । आयन् । मध्वा । नः । अत्र । पितरा । शिशीताम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(घृतस्नू) हे जल समान [व्यवहार को] शुद्ध करने वाले ! [दोनों माता पिता] (वर्धाय) [अपने] बढ़ने के लिये (वाम्) तुम दोनों के (अपः) कर्म की (अर्चामि) मैं पूजा करता हूं, (रोदसी) हे व्यवहार की रक्षक ! [दो प्रजाओ] तुम (द्यावाभूमी) सूर्य और भूमि [के समान उप-

सन्दीपनसाधनेन काष्ठादिना (भाऋजीकः) ऋजेश्च । उ० ४ । २२ । भास्+ ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु—ईकन्, कित् । भाऋजीकः प्रसिद्धभाः—निरु० ६ । ४ । बहुप्रकाशयुक्तः (मन्द्रः) मोदयिता । आनन्दयिता (होता) दाता (नित्यः) सदा वर्तमानः (वाचा) वाण्या (यजीयान्) यष्टृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृचो लोपः । अत्यन्तं संयोजकः ॥

३१—(अर्चामि) पूजयामि । सत्करोमि (वाम्) युवयोः (वर्धाय) वृधेर्घञ् । वृद्धये (अपः) कर्म (घृतस्नू) ष्णा शौचे—डु । हे उदकमिव व्यवहारशोधयित्र्यौ (द्यावाभूमी) सूर्यभूलोकसमानोपकारिण्यौ (शृणुतम्) (रोदसी) रुधेरसुन् । धस्य दः, ङीप्, पूर्वसवर्णदीर्घः । रोदसी रोधसी द्यावापृथिव्यौ

कारी होकर] (मे) मेरी (शृणुतम्) सुनो। (यत्) क्योंकि (अहा) दिन और (देवाः) गतिमान् लोक (असुनीतिम्) प्राणदाता [परमात्मा] को (आयन्) प्राप्त होते हैं, (अत्र) यहां [संसार में] (नः) हमें (पितरा) माता पिता [आप दोनों] (मध्वा) ज्ञान से (शिशीताम्) तीक्ष्ण करें ॥ ३१ ॥

भावार्थ—जो माता पिता आदि पूजनीय विद्वानों के कर्मों से और संसार के विविध पदार्थों से परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त करते हैं, वे ही महाज्ञानी होते हैं ॥ ३१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १२ । ४ ॥

स्वावृंग् देवस्यामृतं यदी गोरतो जातासो धारयन्त उर्वी ।
विश्वे देवा अनु तत् ते यजुर्गुर्दुहे यदेनी दिव्यं घृतं वाः ॥३२॥

स्वावृक् । देवस्य । अमृतम् । यदि । गोः । अतः । जातासः । धारयन्ते । उर्वी इति ॥ विश्वे । देवाः । अनु । तत् । ते । यजुः । गः । दुहे । यत् । एनी । दिव्यम् । घृतम् । वाः ॥३२॥

भाषार्थ—(यदि) जब कि (देवस्य) प्रकाशमय परमेश्वर का (अमृतम्) अमृत [जीवन सामर्थ्य] (गोः) पृथिवी के लिये (स्वावृक्) सहज में पाने योग्य है, (अतः) इसी [जीवन सामर्थ्य] से (जातासः) उत्पन्न हुये प्राणी (उर्वी) पृथिवी पर (धारयन्ते) [अपने को] रखते हैं । हे परमात्मन् ! (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग (ते) तेरे (तत्) उस (यजुः अनु)

विरोधनात्—निरु० ६ । १ । हे व्यवहारस्यावरोधयित्र्यौ रक्षित्र्यौ प्रजे (मे) मम वचः (अहा) दिनानि (यत्) यतः (देवाः) गतिमन्तो लोकाः (असुनीतिम्) प्राणप्रापकं परमात्मनम् (आयन्) लडर्थे—लङ् । यन्ति । प्राप्नुवन्ति (मध्वा) मधुना। ज्ञानेन (नः) अस्मान् (अत्र) संसारे (पितरा) मातापितरौ (शिशीताम्) शो तनूकरणे लोटि छान्दसंरूपम् । तीक्ष्णीकुरुतां भवत्यौ ॥

३२—(स्वावृक्) सु + आङ् + वृजी वर्जने—क्विप् । सुष्ठु सहजेन आवर्जनीयमाहरणीयं ग्राह्यम् (देवस्य) प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य (अमृतम्) अमरणम् । जीवनसामर्थ्यम् (यदि) यदा (गोः) चतुर्थ्यां षष्ठी । गवे । भूमये (अतः) अस्माद् अमृतात् (जातासः) उत्पन्नाः प्राणिनः (धारयन्ते) आत्मानं धारयन्ति (उर्वी) सप्तम्यां पूर्वसवर्णदीर्घः । ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १६ ।

पूजनीय कर्म के पीछे (गुः) चलते हैं, (यत्) क्योंकि (एनी) चलने वाली भूमि (दिव्यम्) श्रेष्ठ (घृतम्) सार युक्त (वाः) वरणीय उत्तम पदार्थ (दुहे) भरपूर करती है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने प्राणियों के पालन के लिये पृथिवी पर प्रकाश, वायु, जल, अन्न आदि अनेक पदार्थ स्वयं पाने योग्य बनाये हैं, सब विद्वान् लोग परमेश्वर के नियमों को समझ कर संसार में अनेक लाभ उठाते हैं ॥३२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १२ । ३ ॥

किं स्विन्नो राजा जगृहे कदस्याति व्रतं चकृमा को वि वेद । मित्रश्चिद्धि ष्मा जुहुराणो देवांछ्लोको न यातामपि वाजो अस्ति ॥ ३३ ॥

किम् । स्वित् । नः । राजा । जगृहे । कत् । अस्य । अति । व्रतम् । चकृम । कः । वि । वेद ॥ मित्रः । चित् । हि । स्म । जुहुराणः । देवान् । श्लोकः । न । याताम् । अपि । वाजः । अस्ति ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(किं स्वित्) क्यों [किस कर्म फल से] (नः) हमें (राजा) राजा [परमेश्वर] ने (जगृहे) ग्रहण किया है [सुख दिया है], (कत्) कब (अस्य) इस [परमात्मा] के (व्रतम्) नियम को (अति चकृम) हम ने

इति प्रगृह्यम् । उर्व्याम् । पृथिव्याम् (विश्वे) सर्वे (देवाः) विद्वांसः (अनु) अनुसृत्य (तत्) (ते) तव (यजुः) अर्त्तिपृवपियजि० । उ० २ । ११७ । यज पूजायाम्—उसि, नित् । पूजनीयं कर्म (गुः) गच्छन्ति (दुहे) तलोपः । दुग्धे । प्रपूरयति (यत्) यतः (एनी) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इण् गतौ-नि । एन्यो नद्यः—निघ० १ । १३ । गमनशीला पृथिवी (दिव्यम्) श्रेष्ठम् (घृतम्) सारयुक्तम् (वाः) वारयतेः क्विप् । वरणीयं द्रव्यम् ॥

३३—(किं स्वित्) कस्मात् कर्मफलात् (नः) अस्मान् (राजा) परमेश्वरः (जगृहे) जग्राह । गृहीतवान् (कत्) कदा (अस्य) परमेश्वरस्य (व्रतम) नियमम् (अति चकृम) वयमतिक्रान्तवन्तः (कः) प्रजापतिः परमेश्वरः (वि)

उल्लंघन किया है [जिस से क्लेश पाया है], (कः) प्रजापति परमेश्वर [इस को] (वि) विविध प्रकार (वेद) जानता है। (हि) क्योंकि (मित्रः) सब का मित्र [परमात्मा] (चित्) ही (स्म) अवश्य (देवान्) उन्मत्तों को (जुहुराणः) मरोड़ देने वाला और (याताम्) गतिशीलों [पुरुषार्थियों] का (अपि) ही (श्लोकः न) स्तुति के समान (वाजः) बल (अस्ति) है ॥३३॥

भावार्थ—पूर्वजन्म के फल की व्यवस्था को, जो हमारे अकस्मात् सुख दुःख का कारण है, परमेश्वर जानता है, परन्तु वह अपनी न्याय व्यवस्था से उन्मत्त आलसियों को कष्ट और उद्योगियों को सुख देता है ॥ ८ ॥

मन्त्र ३३—३६ ऋग्वेद में हैं—१० । १२ । ५—८ ॥

दुर्मन्त्वत्रामृतस्य नाम सलक्ष्मा यद् विषुरूपा भवाति ।
यमस्य यो मनवते सुमन्त्वग्ने तमृष्व पाह्यप्रयुच्छन् ॥ ३४ ॥

दुः-मन्तु । अत्र । अमृतस्य । नाम । स-लक्ष्मा । यत् । विषु-रूपा । भवाति ॥ यमस्य । यः । मनवते । सु-मन्तु । अग्ने । तम् । ऋष्व । पाहि । अप्र-युच्छन् ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां [संसार में] (अमृतस्य) अमर [अविनाशी परमात्मा] का (नाम) नाम (दुर्मन्तु) दुर्माननीय [सर्वथा अपूजनीय] [होवे], (यत्) यदि (सलक्ष्मा) एकसे लक्षण वाली [धर्मव्यवस्था] (विषुरूपा) नाना स्वभाव वाली [चंचल, अधार्मिक] (भवाति) हो जावे।

विविधम् (वेद) वेत्ति (मित्रः) सर्वसुहृत् (चित्) एव (हि) यस्मात् कारणात् (स्म) अवश्यम् (जुहुराणः) हवृ कौटिल्ये—कानच् । कुटिलीकुर्वाणः (देवान्) दिवु मदे—पचाद्यच् । उन्मत्तान् । अलसान् (श्लोकः) स्तुतिः (न) यथा (याताम्) या गतौ—शतृ । गच्छताम् (अपि) एव (वाजः) बलम् (अस्ति) भवति ॥

३४—(दुर्मन्तु) कमिमनिजनि० । उ० १ । ७३ । मन पूजायाम्—तु दुर्माननीयम् । न कदापिसत्करणीयम् (अत्र) संसारे (अमृतस्य) अविनाशिनः परमेश्वरस्य (नाम) नामधेयम् (सलक्ष्मा) समानलक्षणा धर्मव्यवस्था (यत्) यदि (विषुरूपा) नाना स्वभावा । चंचला । अधार्मिका (भवाति) भवेत्

(यः) जो कोई [मनुष्य] (यमस्य) [तुझ] न्यायकारी परमेश्वर के [नाम को] (सुमन्तु) बड़ा माननीय (मनवते) मानता है, (अग्ने) हे ज्ञानमय ! (ऋष्व) हे महान् परमेश्वर ! (तम्) उसको (अप्रयुच्छन्) बिना चूके हुये (पाहि) पाल ॥ ३४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अन्याय करे सब संसार उलट पलट हो जावे। जो कोई मनुष्य उस की न्यायव्यवस्था पर चलते हैं, वे सुख पाते हैं ॥ ३४ ॥

इस मन्त्र का दूसरा पाद मन्त्र २ में आया है ॥

यस्मि॑न्दे॒वा वि॒दथे॑ मा॒दय॑न्ते वि॒वस्व॑तः॒ सद॑ने धा॒रय॑न्ते। सूर्ये॒ ज्योति॒रद॑धुर्मा॒स्य॑१॒क्तून् परि॑ द्योत॒निं च॑रतो॒ अज॑स्रा॥३५॥

यस्मि॑न्। दे॒वाः। वि॒दथे॑। मा॒दय॑न्ते। वि॒वस्व॑तः। सद॑ने। धा॒रय॑न्ते॥ सूर्ये॑। ज्योतिः॑। अद॑धुः। मा॒सि। अ॒क्तून्। परि॑। द्यो॒त॒निम्। च॒र॒तः। अज॑स्रा॥ ३५॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमात्मा] में (देवाः) दिव्य नियम (विदथे) विज्ञान के बीच (मादयन्ते) तृप्त रहते हैं और (विवस्वतः) प्रकाशमय [परमेश्वर] के (सदने) घर (ब्रह्माण्ड) में (धारयन्ते) [अपने को] ठहराते हैं। (सूर्ये) सूर्य में (ज्योतिः) ज्योति और (मासि) चन्द्रमा में (अक्तून्) [सूर्य की] किरणों को (अदधुः) उन [नियमों] ने रक्खा है,

---

(यमस्य) न्याककारिणः परमेश्वरस्य, नाम—इत्यस्यानुवृत्तिः (यः) कश्चित् पुरुषः (मनवते) मनुते। जानाति (सुमन्तु) सुमाननीयम् (अग्ने) हे ज्ञानमय परमेश्वर (तम्) पुरुषम् (ऋष्व) सर्वनिघृष्वरिष्व०। उ० १। १५३। ऋष गतौ दर्शने च—वन्, गुणाभावः। ऋषिर्दर्शनात्—निरु० २। ११। ऋषो महन्नाम—निघ० ३। ३। हे महन् परमेश्वर (पाहि) पालय (अप्रयुच्छन्) अप्रमाद्यन् ॥

३५—(यस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) दिव्यनियमाः (विदथे) विज्ञाने (मादयन्ते) तृप्ता भवन्ति (विवस्वतः) प्रकाशमयस्य परमेश्वरस्य (सदने) गृहे। ब्रह्माण्डे (धारयन्ते) आत्मनं धारयन्ति (सूर्ये) सूर्यलोके (ज्योतिः) तेजः (अदधुः) धारितवन्तस्ते दिव्यनियमाः (मासि) चन्द्रलोके (अक्तून्) अ०१७। १। ६। व्यञ्जकान् सूर्यरश्मीन् (द्योतनिम्) अर्त्तिसृधृ०। उ० २। १०२।

(अजस्रा) निरन्तर वे दोनों (द्योतनिम्) उस प्रकाशमान [परमात्मा] की (परि चरतः) सेवा करते हैं ॥ ३५ ॥

भावार्थ—ऋषि मुनि लोग ध्यान लगाकर जिस परमात्मा के ज्ञान का प्रचार संसार में फैलाते हैं, उसी परमेश्वर के नियम से सूर्य चन्द्र आदि लोक उपकार करते हैं ॥ ३५ ॥

यस्मिन् देवा मन्मनि संचरन्त्यपीच्ये ३ न वयमस्य विद्म । मित्रो नो अत्रादितिरनागान्त्सविता देवो वरुणाय वोचत् ॥३६

यस्मिन् । देवाः । मन्मनि । सम्-चरन्ति । अपीच्ये । न । वयम् । अस्य । विद्म ॥ मित्रः । नः । अत्र । अदितिः । अनागान् । सविता । देवः । वरुणाय । वोचत् ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [परमात्मा] में (देवाः) दिव्य नियम (अपीच्ये) गुप्त (मन्मनि) ज्ञान के बीच (संचरन्ति) चलते रहते हैं, (वयम्) हम लोग (अस्य) उसे (न) नहीं (विद्म) जानते हैं। (मित्रः) सब का मित्र, (अदितिः) अखण्ड, (सविता) सब का उत्पन्न करने हारा, (देवः) प्रकाशमान परमात्मा (अनागान् नः) हम निरपराधियों [धार्मिक पुरुषार्थियों] को (अत्र) इस [विषय] में (वरुणाय) श्रेष्ठ गुण के लिये (वोचत्) उपदेश करे ॥ ३६ ॥

द्युत दीप्तौ—अनि । प्रकाशमानं तं परमेश्वरम् (परि चरतः) सेवेते (अजस्रा) निरन्तरौ तौ सूर्याचन्द्रौ ॥

३६—(यस्मिन्) परमात्मनि (देवाः) दिव्यनियमाः (मन्मनि) ज्ञाने (संचरन्ति) विचरन्ति (अपीच्ये) ऋत्विग् दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । अपि+अञ्चतेः क्विन् । भवे छन्दसि च । पा० ४ । ४ । ११० । इति यत् । अपीच्यं निर्णीतान्तर्हितनाम—निघ० ३ । २५ । अन्तर्हिते । गुप्ते (न) निषेधे (वयम्) विद्वांसः (अस्य) इदम् (विद्म) जानीमः (मित्रः) सुहृत् (नः) अस्मान् (अत्र) अस्मिन् विषये (अदितिः) अखण्डः । अविनाशी (अनागान्) इण् आगोऽपराधे च । उ० ४ । २१२ । इति श्रवणाद् इण् गतौ—ड, आगादेशः । अनागसः । निरपराधिनः (सविता) सर्वोत्पादकः (देवः) प्रकाशमयः परमात्मा (वरुणाय) श्रेष्ठगुणाय (वोचत्) कथयेत् । उपदिशेत् ॥

भावार्थ—परमात्मा के नियम संसार में ऐसे गुप्त हैं कि जितना जितना विद्वान् लोग उन्हें खोजते हैं, उतना ही अधिक जानते जाते हैं। मनुष्य निरालसी होकर परमेश्वर की शरण में रहकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ ३६ ॥

मन्त्रौ ३७, ३८ ॥

इन्द्रो देवता [ऋग्वेदे ८। २४। १,२ यथा] ॥ ३७ निचृदुष्णिक्; ३८ उष्णिक् ॥

राजनिर्वाचनोपदेशः—राजा के चुनाव का उपदेश ॥

सखाय आ शिषामहे ब्रह्मेन्द्राय वज्रिणे ।

स्तुष ऊ षु नृतमाय धृष्णवे ॥ ३७ ॥

सखायः । आ । शिषामहे । ब्रह्म । इन्द्राय । वज्रिणे ॥

स्तुषे । ऊं इति । सु । नृ-तमाय । धृष्णवे ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (वज्रिणे) वज्र [अस्त्र-शस्त्र] रखने वाले, (नृतमाय) बहुत बड़े नेता, (धृष्णवे) साहसी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (ब्रह्म) ब्रह्म ज्ञान (स्तुषे) स्तुति करने के लिये (उ) अवश्य (सु) भले प्रकार (आ शिषामहे) हम निवेदन करें ॥ ३७ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् लोग महागुणी, नीतिज्ञ पुरुषार्थी मनुष्य को राजसिंहासन पर विराजने के लिये निवेदन करें ॥ ३७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८। २४। १ और सामवेद में पू० ४। १०। १० ॥

शवसा ह्यसि श्रुतो वृत्रहत्येन वृत्रहा ।

मघैर्मघोनो अति शूर दाशसि ॥ ३८ ॥

३७—(सखायः) हे सुहृदः (आशिषामहे) आङ्ःशासु इच्छायाम्, लेटि, आडागमः। शास इदङ्हलोः। पा० ६। ४। ३४। इति इत्वं छान्दसम्। शासिवसिघसीनां च। पा० ८। ३। ६०। इति षत्वम्। इच्छेम। निवेदयेम (ब्रह्म) बृहत् तत्त्वज्ञानम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जनाय (वज्रिणे) अस्त्रशस्त्रधारिणे (स्तुषे) तुमर्थे सेसेनसेअसेन्क्से०। पा० ३। ४। ९। ष्टुञ् स्तुतौ–क्से। स्तोतुम् (उ) एव (सु) सुष्ठु (नृतमाय) नेतृतमाय (धृष्णवे) प्रगल्भाय। साहसिने ॥

शवसा । हि । असि । श्रुतः । वृत्र-हत्येन । वृत्र-हा ॥
मघैः । मघोनः । अति । शूर । दाशसि ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि, (शूर) हे शूर ! तू (शवसा) बल से (श्रुतः) विख्यात और (वृत्रहत्येन) दुष्टों के मारने से (वृत्रहा) दुष्ट नाशक (असि) है, और (मघैः) धनों के कारण (मघोनः अति) धन वालों से बढ़कर (दाशसि) तू दान करता है ॥ ३८ ॥

भावार्थ—हे राजन् ! आप महाबली, शत्रुनाशक और सुपात्रों के लिये बहुत दान देने वाले हैं, इन गुणों से हम आप को राजा बनाते हैं ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । २४ । २ ॥

मन्त्रः ३९ ॥

मित्रो देवता ॥ निचृदार्षी त्रिष्टुप् छन्दः ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

स्तेगो न क्षामत्येषि पृथिवीं मही नो वाता इह वान्तु भूमौ ।
मित्रो नो अत्र वरुणो युज्यमानो अग्निर्वने न व्यसृष्ट शोकम् ॥ ३९ ॥

स्तेगः । न । क्षाम् । अति । एषि । पृथिवीम् । मही इति । नः । वाताः । इह । वान्तु । भूमौ ॥ मित्रः । नः । अत्र । वरुणः । युज्यमानः । अग्निः । वने । न । वि । असृष्ट । शोकम् ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (स्तेगः न) संग्रह कर्ता पुरुष के समान (क्षाम्) निवास देने वाली (पृथिवीम् अति) पृथिवी पर (एषि) तू चलता

३८—(शवसा) बलेन (हि) यस्मात् कारणात् (असि) (श्रुतः) विख्यातः (वृत्रहत्येन) शत्रुहननेन (वृत्रहा) दुष्टानां हन्ता (मघैः) धनैः (मघोनः) मघवतः । धनवतः पुरुषान् (अति) अतीत्य (शूर) हे वीर (दाशसि) ददासि ॥ ३८ ॥

३९—(स्तेगः) मुदिग्रोर्गग्घौ । उ० १ । १२८ । स्त्यै शब्दसंघातयोः—गप्रत्ययः । पृषोदरादिरूपम् । संग्रहकर्ता पुरुषः (न) यथा (क्षाम्) अन्येष्वपि

है, (वाताः) वायुओं [के समान वेग वाले पुरुष] (इह) यहां पर [राज्य में] (नः) हमारे लिये (मही) बड़ी (भूमौ) भूमि पर (वान्तु) चलें। (अत्र) यहां पर (नः) हमारे (युज्यमानः) मिलते हुये (वरुणः) श्रेष्ठ (मित्रः) मित्र [आप] ने (शोकम्) प्रताप को (वि) दूर दूर (असृष्ट) फैलाया है, (अग्निः न) जैसे आग (वने) वन में [ताप फैलाता है] ॥ ३६ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बहुत धन का संग्रह करके राज्य की रक्षा करे और प्रजागणों को उद्योगी बना कर शत्रुओं को मारे ॥ ३६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ३१ । ६ । और वहां [विश्वे—देवाः] देवता हैं ॥

मन्त्रः ४० ॥

रुद्रो देवता [ऋग्वेदे २ । ३३ । ११ यथा] ॥ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजकृत्योपदेशः-राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं जनानां राजानं भीममुपहत्नुमुग्रम् । मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यमस्मत् ते नि वपन्तु सेन्यम् ॥४० (४)

स्तुहि । श्रुतम् । गर्त-सदम् । जनानाम् । राजानम् । भीमम् । उप-हत्नुम् । उग्रम् । मृड । जरित्रे । रुद्र । स्तवानः । अन्यम् । अस्मत् । ते । नि । वपन्तु । सेन्यम् ४० (४)

भाषार्थ—(रुद्र) हे रुद्र ! [शत्रुनाशक राजन्] (श्रुतम्) विख्यात, (गर्तसदम्) रथ पर बैठने वाले, (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (राजानम्)

दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१। क्षि निवासगत्योः—डप्रत्ययः, टाप् । निवासयित्रीम् (अति) प्रति (एषि) गच्छसि (पृथिवीम्) पृथिवीराज्यम् (मही) सप्तम्याम् ईकारः । मह्याम् । महत्याम् (नः) अस्मभ्यम् (वाताः) वायव इव शीघ्रगामिनः पुरुषाः (इह) अत्र राज्ये (वान्तु) गच्छन्तु (भूमौ) (मित्रः) मित्रभूतो राजा (नः) अस्माकम् (अत्र) राज्ये (वरुणः) श्रेष्ठः (युज्यमानः) संगच्छमानः (अग्निः) पावकः (वने) वृक्षसमूहे (न) इव (वि) विविधम् । अति—दूरम् (असृष्ट) सृज विसर्गे—लुङ् । विस्तारितवान् (शोकम्) प्रतापम् ॥

४०—(स्तुहि) प्रशंस (श्रुतम्) विख्यातम् (गर्तसदम्) हसिमृग्रिण०। उ० ३ । ८६ । गॄ विज्ञापने स्तुतौ च-तन् । रथोऽपि गर्त उच्यते गृणातेः स्तुतिक-

शोभायमान, (भीमम्) भयङ्कर, (उपहत्नुम्) बड़े मारने वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड [सेनापति] की (स्तुहि) बड़ाई कर। और (स्तवानः) बड़ाई किया गया तू (जरित्रे) बड़ाई करने वाले के लिये (मृड) सुखी हो, (अस्मत्) हम से (अन्यम्) दूसरे पुरुष [अर्थात् शत्रु] को (ते) तेरे (सेन्यम्) सेना-दल (नि वपन्तु) काट डालें ॥ ४० ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बड़े बड़े शूर सेनापतियों की बड़ाई करके आदर करे, और जो प्रजागण आदि राजा के श्रेष्ठ गुणों की स्तुति करें, वह उन्हें प्रसन्न करे और धर्मात्माओं की रक्षा करके शत्रुओं का नाश करे॥४०॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है। २। ३३। ११ ॥

मन्त्रः ४१—४३ ॥

सरस्वती देवता [ऋग्वेदे १०। १७। ७–९ यथा] ॥ ४१, ४२ निचृत् त्रिष्टुप्; ४३ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सरस्वत्यावाहनोपदेशः—सरस्वती के आवाहन का उपदेश ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने।
सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४१ ॥

सरस्वतीम् । देव-यन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । ताय-माने ॥ सरस्वतीम् । सु-कृतः । हवन्ते । सरस्वती । दाशुषे । वार्यम् । दात् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को,

मणः स्तुततमं यानम्—निरु० ३। ५। रथे स्थितिशीलम् (जनानाम्) मनुष्याणां मध्ये (राजानम्) शोभायमानम् (भीमम्) भयङ्करम् (उपहत्नुम्) अतिहन्तारम् (उग्रम्) प्रचण्डं सेनापतिम् (मृड) सुखी भव (जरित्रे) स्तोत्र (रुद्र) हे शत्रुनाशक (स्तवानः) स्तूयमानः (अन्यम्) भिन्नम्। शत्रुम् (अस्मत्) अस्मत्तः (ते) तव (नि वपन्तु) डु वप बीजसन्ताने छेदने च। नितरां छिन्दन्तु (सेन्यम्) एकवचनं बहुवचने। सेनादलानि ॥

४१—(सरस्वतीम्) विज्ञानवतीं वेदविद्याम् (देवयन्तः) देव—क्यच्।

(सरस्वतीम्) उसी सरस्वती को (देवयन्तः) दिव्यगुणों को चाहने वाले पुरुष (तायमाने) विस्तृत होते हुये (अध्वरे) हिंसा रहित व्यवहार में(हवन्ते) बुलाते हैं। (सरस्वतीम्) सरस्वती को (सुकृतः) सुकृती लोग (हवन्ते) बुलाते हैं, (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) अपने भक्त को (वार्यम्) श्रेष्ठ पदार्थ (दात्) देती है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदर पूर्वक वेदविद्या का अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं ॥ ४१ ॥

१—मन्त्र ४१—४३ । कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं १० । १७ । ७-९ ॥

२—इस सूक्त का मिलान करो—अ० ७ । ६८ १ -३ ॥

३—यह तीनों मन्त्र आगे भी हैं अ० १८ । ४ । ४५—४७॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः ।

आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ४२

सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभि-नक्षमाणाः ॥ आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । अनमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (दक्षिणा) सरल मार्ग में (यज्ञम्) यज्ञ [संयोगव्यवहार] को (अभिनक्ष-माणाः) प्राप्त करते हुये (पितरः) पितर [पालन करने वाले विज्ञानी] लोग

देवान् श्रेष्ठगुणान् आत्मन इच्छन्तः (हवन्ते) आह्वयन्ति (सरस्वतीम्) (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (तायमाने) विस्तार्यमाणे (सरस्वतीम)(सुकृतः) पुण्यकर्माणः (हवन्ते) (सरस्वती) (दाशुषे) आत्मानं दत्तवते स्वभक्ताय (वार्यम्) वरणीयं स्वीकरणीयं मोक्षादिपदार्थम् (दात्) अदात् । ददाति ॥

४२—(सरस्वतीम्) विज्ञानवतीं वेदविद्याम् (पितरः) पालनशीला विज्ञानिनः (हवन्ते) आह्वयन्ति (दक्षिणा) दक्षिण—आच् । दक्षिणतः । सरल-मार्गे (यज्ञम्)संयोगव्यवहारम् (अभिनक्षमाणाः) अभितो गच्छन्तः (आसद्य)

(हवन्ते) बुलाते हैं। [हे विद्वानो ! (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो, [हे सरस्वती !] (अस्मे) हम में (अनमीवाः) पीड़ा रहित (इषः) इच्छायें (आ धेहि) स्थापित कर ॥ ४२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निर्विघ्न होकर सरल रीति में सब से मिलकर वेदविद्या के प्रचार से विज्ञान की वृद्धि और इष्ट पदार्थ की सिद्धि करते हैं॥४२॥

सरस्वति या सुरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती ।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥४३ ॥

सरस्वति । या । सु-रथम् । ययाथ । उक्थैः । स्वधाभिः । देवि । पितृ-भिः । मदन्ती ॥ सहस्र-अर्घम् । इडः । अत्र । भागम् । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [विज्ञानवती वेदविद्या] (देवि) हे देवी ! [उत्तम गुण वाली] (या) जो तू (उक्थैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (सरथम्) रमणीय गुणों वाली होकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के सहित [विराजमान] (पितृभिः) पितरों [विज्ञानियों] के साथ (मदन्ती) तृप्ति होती हुयी (ययाथ) प्राप्त हुयी है। सो तू (अत्र) यहां

उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) बृंहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०९ । बृहि वृद्धौ—इषि । वृद्धिकर्मणि (मादयध्वम्) तर्पयत सर्वान्, हे विद्वांसः (अनमीवाः) पीडारहिताः(इषः) इच्छाः (आ धेहि) स्थापय, हे सरस्वति (अस्मे) अस्मासु ॥ ४२ ॥

४३—(सरस्वति) हे विज्ञानवति वेदविद्ये (या) या त्वम् (सरथम्) यथा भवति तथा। रमणीयगुणैः सह वर्तमाना सती (ययाथ) या प्रापणे—लिट्। प्राप्तासि (उक्थैः) वेदोक्तस्तोत्रैः (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः सह (देवि) हे उत्तमगुणवति (पितृभिः) पालनशीलैर्विज्ञानिभिः (मदन्ती) तृप्ता भवन्ती (सहस्रार्घम्) अर्ह पूजायाम्—घञ्, कुत्वम्। सहस्रप्रकार-

(इडः) विद्या के (सहस्रार्घम्) सहस्रों प्रकार पूजनीय (भागम्) भाग को और (रायः) धन की (पोषम्) वृद्धि को (यजमानाय) यजमान [विद्वानों के सत्कारी] के लिये (धेहि) दान कर ॥ ४३ ॥

भावार्थ—आत्मविश्वासी विज्ञानी लोग वेदविद्या प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं। सब मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वेदविद्या ग्रहण करके धन आदि की वृद्धि करें ॥ ४३ ॥

मन्त्राः ४४—४६ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १५ । १—३ यथा] ॥ ४४, ४६ निचृत् त्रिष्टुप्, ४५ त्रिष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरों के सत्कार का उपदेश ॥

उदीरतामवर उत् परास उन्मध्यमाः पितरः सोम्यासः ।
असुं य ईयुरवृका ऋतज्ञास्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥४४ ॥

उत् । ईरताम् । अवरे । उत् । परासः । उत् । मध्यमाः । पितरः । सोम्यासः ॥ असुम् । ये । ईयुः । अवृकाः । ऋतज्ञाः । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अवरे) छोटे पद वाले (सोम्यासः) ऐश्वर्य के हितकारी, (पितरः) पितर [पालन करने वाले विद्वान्] (उत्) उत्तमता से, (परासः) ऊंचे पद वाले (उत्) उत्तमता से और (मध्यमाः) मध्य पद वाले (उत्) उत्तमता से (ईरताम्) चलें। (ये) जिन (अवृकाः) भेड़िये वा चोर का स्वभाव न रखने वाले, (ऋतज्ञाः) सत्य धर्म जानने वाले [विद्वानों] ने (असुम्) प्राण [बल वा जीवन] (ईयुः) पाया है (ते) वे (पितरः) पितर

पूजनीयम् (इडः) इडायाः। विद्यायाः (अत्र) अस्मिन् संसारे (भागम्) अंशम् (रायः) धनस्य (पोषम्) वृद्धिम् (यजमानाय) संयोगकराय विदुषे (धेहि) धारय ॥

४४—(उत्) उत्तमतया (ईरताम्) गच्छन्तु (अवरे) नीचपदस्थाः (उत्) (परासः) उच्चपदस्थाः (उत्) (मध्यमाः) मध्यपदस्थाः (पितरः) पालनशीला विद्वांसः (सोम्यासः) सोमायैश्वर्याय हिताः (असुम्) प्राणम्। बलम्। जीवनम् (ईयुः) प्रापुः (अवृकाः) वृकस्य श्वापदस्य चौरस्य वा स्वभावरहिताः

[पालन करने वाले] लोग (नः) हमें (हवेषु) संग्रामों में (अवन्तु) बचावें ॥ ४४ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष को चाहिये कि विद्या, कर्म और स्वभाव की योग्यता के अनुसार विद्वानों का सत्कार करे, जिस से वे लोग सब की रक्षा करने में सदा तत्पर रहें ॥ ४४ ॥

मन्त्र ४४–४६ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १५ । १, ३, २ और यजुर्वेद में १९ । ४९, ५६, ६८ और और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में भी व्याख्यात हैं ॥

आहं पितॄन्त्सुविदत्राँ अवित्सि नपातं च विक्रमणं च विष्णोः।
बर्हिषदो ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः ४५

आ । अहम् । पितॄन् । सु-विदत्रान् । अवित्सि । नपातम् । च । वि-क्रमणम् । च । विष्णोः ॥ बर्हि-सदः । ये । स्वधया । सुतस्य । भजन्त । पित्वः । ते । इह । आ-गमिष्ठाः ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (विष्णोः) विष्णु [सर्वव्यापक परमात्मा] से (सुविदत्रान्) बड़े ज्ञानी वा बड़े धनी (पितॄन्) पितरों [पालने वाले विद्वानों] को (च च) और भी (नपातम्) न गिरने वाली (विक्रमणम्) त्रिविध प्रवृत्ति को (आ अवित्सि) पाया है। (ये) जिन आप (बर्हिषदः) उत्तम पद पर बैठने वालों ने (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (सुतस्य)

(ऋतज्ञाः) सत्यधर्मस्य ज्ञातारः (ते) (नः) अस्मान् (अवन्तु) रक्षन्तु (पितरः) (हवेषु) संग्रामेषु ॥

४५—(आ) समन्तात् (अहम्) प्रधानजनः (पितॄन्) पालकान् विदुषः (सुविदत्रान्) अ० १ । ३१ । ४ । सुविदेः कत्रन् । उ० ३ । १०८ । सु+विद ज्ञाने विद्लृ लाभे च—कत्रन् । उत्तमज्ञानान् । बहुधनान् (अवित्सि) विद्लृ लाभे—लुङ् । लब्धवानस्मि (नपातम्) पातरहितम् । अनश्वरम् (च) (विक्रमणम्) विविधप्रवृत्तिम् (च) अपि (विष्णोः) सर्वव्यापकात् परमेश्वरात् (बर्हिषदः) उत्तमपदस्थाः (ये) पितरः (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (सुतस्य) ऐश्वर्ययुक्तस्य (भजन्त) अभजन्त । सेवनं कृतवन्तः (पित्वः) कमिमनिजनि० ।

ऐश्वर्य युक्त (पित्वः) रक्षा साधन अन्न का (भजन्त) सेवन किया है, (ते) वे तुम सब (इह) यहां (आगमिष्ठाः) आये हो ॥ ४५ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष परमात्मा की कृपा से धर्मात्माओं के साथ कार्य कुशलता को प्राप्त करे और जो बड़े पराक्रमी विद्वान् हों, उनका उचित सत्कार करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ४५ ॥

इदं पितृभ्यो नमो अस्त्वद्य ये पूर्वासो ये अपरास ईयुः । ये पार्थिवे रजस्या निषत्ता ये वा नूनं सुवृजनासु दिक्षु ॥ ४६ ॥

इदम् । पितृ-भ्यः । नमः । अस्तु । अद्य । ये । पूर्वासः । ये । अपरासः । ईयुः ॥ ये । पार्थिवे । रजसि । आ । नि-सत्ताः । ये । वा । नूनम् । सु-वृजनासु । दिक्षु ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) अन्न (पितृभ्यः) उन पितरों [पालन करने वाले वीरों] के लिये (अद्य) आज (अस्तु) होवे, (ये) जो (पूर्वासः) पहिले [विद्वान्] होकर और (ये) जो (अपरासः) अर्वाचीन [नवीन विद्वान्] होकर (ईयुः) चले हैं। (ये) जो (पार्थिवे) भूमि विद्या [राजनीति आदि] सम्बन्धी (रजसि) समाज में (आ) आकर (निषत्ताः) बैठे हैं, (वा) और (ये) जो (नूनम्) निश्चय करके (सुवृजनासु) बड़े बल [गढ़ सेना आदि] वाली (दिक्षु) दिशाओं में हैं ॥ ४६ ॥

उ० १ । ७२ । पा रक्षणे—तु, पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० ६ । २४ । रक्षासाधनस्यान्नस्य (ते) तादृशाः पितरः (इह) अत्र (आगमिष्ठाः) लुङि रूपम् । यूयम् आगताःस्थ ॥

४६—(इदम्) (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (नमः) अन्नम् (अस्तु) (अद्य) इदानीम् (पूर्वासः) पूर्वे विद्वांसः सन्तः (ये) (अपरासः) अपरे । अर्वाचीनाः । नूतना विद्वांसः (ईयुः) जग्मुः । गताः (ये) (पार्थिवे) भूमिविद्यासम्बन्धिनि । राजनीतिसम्बन्धिनि (रजसि) लोके । समाजे (आ) आगत्य (निषत्ताः) निषण्णाः । उपविष्टाः (ये) (वा) चार्थे (नूनम्) निश्चयेन (सुवृजनासु) वृजनं बलनाम—निघ० २ । ६ । शोभनं वृजनं बलं दुर्गसेनादिकं यासां तादृशीषु (दिक्षु) प्राच्यादिषु ॥

भावार्थ—राजा उन वृद्ध और युवा विद्वानों का यथोचित आदर करे जो नीतिकुशल होकर भूमि सम्बन्धी अनेक विद्याओं का प्रचार करके राज्य की उन्नति करें ॥ ४६ ॥

मन्त्रः ४७ ॥

पितरो देवताः ॥ त्रिष्टुप्छन्दः ॥

पितृकर्त्तव्योपदेश—पितरों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

मातली कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृहस्पतिर्ऋक्वभिर्वावृधानः ।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवांस्ते नोऽवन्तु पितरो हवेषु ॥ ४७ ॥

मातली । कव्यैः । यमः । अङ्गिरःऽभिः । बृहस्पतिः । ऋक्वऽभिः । ववृधानः ॥ यान् । च । देवाः । ववृधुः । ये । च । देवान् । ते । नः । अवन्तु । पितरः । हवेषु ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(मातली) ऐश्वर्य सिद्ध करने वाला, (यमः) संयमी और (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक पुरुष] (कव्यैः) बुद्धिमानों के हितकारी (अङ्गिरोभिः) विज्ञानी महर्षियों द्वारा (ऋक्वभिः) बड़ाई वाले कामों से (ववृधानः) बढ़ने वाला होता है। (च) और (यान्) जिन [पितरों] को (देवाः) विद्वानों ने (ववृधुः) बढ़ाया है, (च) और (ये) जिन [पितरों] ने (देवान्) विद्वानों को [बढ़ाया है], (ते) वे (पितरः) पितर [पालन करने वाले] लोग (नः) हमें (हवेषु) संग्रामों में (अवन्तु) बचावें ॥ ४७ ॥

४७—(मातली) अ० ८ । ६ । ५ । सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मा+तल प्रतिष्ठायाम्–इन् । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । मां लक्ष्मीं तालयति स्थापयतीतीति मातलिः (कव्यैः) कविभ्यो हितैः (यमः) संयमी पुरुषः (अङ्गिरोभिः) अ० २ । १२ । ४ । अङ्गतेरसिरिरुडागमश्च । उ० ४ । २३६ । अगि गतौ—असि, इरुडागमश्च विज्ञानिभिः । महर्षिभिः (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालको जनः (ऋक्वभिः) ऋच स्तुतौ—क्विप् । छन्दसीवनिपौ च वक्तव्यौ । वा० पा० ५ । २ । १०२ । मत्वर्थे वनिप्, छान्दसं कुत्वम् । स्तुतिमद्भिः कर्मभिः (ववृधानः) वर्धमानः (यान्) पितॄन् (च) (देवाः) विद्वांसः (ववृधुः) वर्धितवन्तः (ये) पितरः (च) (देवान्) विदुषः पुरुषान् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४४ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्य चाहने वाला जितेन्द्रिय पुरुष बड़े बड़े विद्वानों के उपदेश और वेदादि शास्त्रों के मनन से उन्नति करके संसार की रक्षा करें ॥४७॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । ३ और ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्रः ४८ ॥

सोमो देवता [ऋग्वेद ६ । ४७ । १ यथा] ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

शूरवीरलक्षणोपदेशः—शूरवीर के लक्षण का उपदेश ॥

स्वादुष्किलायं मधुमाँ उतायं तीव्रः किलायं रसवाँ उतायम् । उतो न्व१स्य पपिवांसमिन्द्रं न कश्चन सहत आहवेषु ॥ ४८ ॥

स्वादुः । किल । अयम् । मधु-मान् । उत । अयम् । तीव्रः । किल । अयम् । रस-वान् । उत । अयम् ॥ उतो इति । नु । अस्य । पपि-वांसम् । इन्द्रम् । न । कः । चन । सहते । आ-हवेषु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह [सोम अर्थात् विद्यारस वा सोमलता आदि रस] (किल) निश्चय करके (स्वादुः) बड़ा स्वादु , (अयम्) यह (मधुमान्) विज्ञान युक्त [वा मधुर गुण युक्त], (उत) और (अयम्) यह (किल) निश्चय करके (तीव्रः) तेजस्वी, (उत) और (अयम्) यह (रसवान्) उत्तम रस वाला [बड़ा वीर्यवान्] है । (उतो) और भी (नु) अब (अस्य) इस [रस] के (पपिवांसम्) पी चुकने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर पुरुष] को (कः चन) कोई भी (आहवेषु) संग्रामों में (न) नहीं

४८—(स्वादुः) आस्वादनीयः (किल) निश्चयेन (अयम्) सोमः । विद्यारसः । सोमलतादिमहौषधिरसः (मधुमान्) मधुविद्योपेतः । मधुगुणः (उत) अपि (अयम्) (तीव्रः) तेजस्वी (किल) (अयम्) (रसवान्) बहुवीर्यवान् (उत) (अयम्) (उतो) अपि च (नु) क्षिप्रम् (अस्य) रसस्य (पपिवांसम्) पीतवन्तम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं शूरपुरुषम् (न)

(सहते) हराता है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी होकर विद्यारस को तथा परीक्षित महौषधियों के रस को चखकर तेजस्वी होते हैं, वे ही युद्धों में शत्रुओं को हराते हैं ॥ ४८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—६ । ४७ । १ ॥

मन्त्रौ ४९, ५० ॥

यमो देवता [ऋग्वेदे १० । १४ । १,२ यथा] ॥ ४९ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५० निचृत् त्रिष्टुप् ।

परमात्मशक्त्युपदेशः—परमात्म की शक्ति का उपदेश ॥

परेयिवांसं प्रवतो महीरिति बहुभ्यः पन्थामनुपस्पशानम् । वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥४९॥

परेयि-वांसम् । प्र-वतः । महीः । इति । बहु-भ्यः । पन्थाम् । अनु-पस्पशानम् ॥ वैवस्वतम् । सम्-गमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(प्रवतः) उत्तम गति वाली (महीः) बड़ी भूमियों को (परेयिवांसम्) पराक्रम से पहुंच चुके हुये, (इति) इसी से, (बहुभ्यः) बहुत से [लोकों और जीवों] के लिये (पन्थाम्) मार्ग (अनुपस्पशानम्) गांठने वाले (वैवस्वतम्) सूर्य लोकों में विदित, (जनानाम्) मनुष्यों के (संगमनम्) मेल कराने वाले (यमम्) यम [न्यायकारी परमात्मा] (राजानम्)

निषेधे (कश्चन) कोऽपि (सहते) पराभवति (आहवेषु) संग्रामेषु ॥

४९—(परेयिवांसम्) उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । पा० ३ । २ । १०९ । परा + इण् गतौ—क्वसन्तो निपातितः । परा पराक्रमेण गतवन्तम् (प्रवतः) अ० ३ । १ । ४ । उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे । पा० ५ । १ । ११८ । इति उपसर्गात् साधने धात्वर्थे वर्तमानात् स्वार्थे वतिः प्रत्ययः । प्रकृष्टगतीः (महीः) भूमि-लोकान् (इति) अस्मात् कारणात् (बहुभ्यः) सर्वलोकेभ्यः प्राणिभ्यश्च (पन्थाम्) मार्गम् (अनुपस्पशानम्) स्पश बाधनग्रन्थनग्रहणसंश्लेषणेषु कानच् । अनु निरन्तरं ग्रथ्नन् प्रबध्नन् (वैवस्वतम्) तत्र विदित इति च । पा० ५ । १ । ४३ । इत्यण्, बाहुलकात् । विवस्वत्सु सूर्यलोकेषु विदितम् (संगमनम्)

राजा [शासक] का (हविषा) भक्ति के साथ (सपर्यत) तुम पूजो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब लोकों में व्यापक और सूर्य आदि का आकर्षक और मनुष्य आदि का नियामक है, सब लोग उस की उपासना से उन्नति करें ॥ ४६ ॥

मन्त्र ४६, ५० कुछ भेद से ऋग्वेद में-१०। १४। १, २। और ऋग्वेद पाठ महर्षिदयानन्द कृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

य॒मो नो॑ गा॒तुं प्र॑थ॒मो वि॑वेद॒ नैषा गव्यू॑ति॒रप॑भर्त॒वा उ॑। यत्रा॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरः॑। परे॑ता ए॒ना ज॑ज्ञा॒नाः प॒थ्या॒३॑ अनु॒ स्वाः॥५०(५)

य॒मः। नः॒। गा॒तुम्। प्र॒थ॒मः। वि॒वे॒द॒। न। ए॒षा। गव्यू॑तिः। अप॑-भर्त॒वै। ऊं॒ इति॑॥ यत्र॑। नः॒। पूर्वे॑। पि॒तरः॑। परा॑-इ॒ताः। ए॒ना। ज॒ज्ञा॒नाः। प॒थ्याः॑। अनु॑। स्वाः॥ ५० ॥ (५)

भाषार्थ—(प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (यमः) यम [न्यायकारी परमात्मा] ने (नः) हमारे लिये (गातुम्) मार्ग (विवेद) जाना, (एषा) यह (गव्यूतिः) मार्ग (उ) कभी (अपभर्तवै) हटा धरने योग्य (न) नहीं है। (यत्र) जिस [मार्ग] में (नः) हमारे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितर [पालन करने वाले बड़े लोग] (परेताः) पराक्रम से चले हैं, (एना) उसी से (जज्ञानाः) उत्पन्न हुये [प्राणी] (स्वाः) अपनी अपनी (पथ्याः अनु)

संगमयितारम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (यमम्) न्यायकारिणं परमात्मानम् (राजानम्) शासकम् (हविषा) भक्तिदानेन (सपर्यत) पूजयत ॥

५०—(यमः) न्यायकारी परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (गातुम्) मार्गम् (प्रथमः) सर्वादिमः (विवेद) विद ज्ञाने—लिट्। ज्ञातवान् (न) निषेधे (एषा) पूर्वस्थापिता (गव्यूतिः) पद्धतिः (अपभर्तवै) तुमर्थे सेसेन-से०। पा० ३। ४। ९। इति तवै। अपभर्तुं दूरीकर्तुम् (उ) निश्चयेन (यत्र) यस्मिन् मार्गे (नः) अस्माकम् (पूर्वे) पूर्वजाः (पितरः) पालका महापुरुषाः (परेताः) पराक्रमेण गताः (एना) अनेन (जज्ञानाः) जाताः प्राणिनः (पथ्याः)

सड़कों पर [चलें] ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा ने पहिले से पहिले सब के लिये वेदमार्ग खोल दिया है, जिस प्रकार हमारे पूर्वजों ने उस मार्ग पर चलकर यश पाया है, उसी वेदमार्ग पर चलकर सब मनुष्य उन्नति करें ॥ ५० ॥

मन्त्रौ ५१ । ५२ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १५ । ४, ६ यथा] ॥ ५१ विराडार्षी त्रिष्टुप्; ५२ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

बर्हिषदः पितर ऊत्यर्वागिमा वो हव्या चकृमा जुषध्वम् । त आ गतावसा शंतमेनाधा नः शं योररपो दधात ॥ ५१ ॥

बर्हि-सदः । पितरः । ऊती । अर्वाक् । इमा । वः । हव्या । चकृम । जुषध्वम् ॥ ते । आ । गत । अवसा । शम्-तमेन । अध । नः । शम् । योः । अरपः । दधात ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(बर्हिषदः) हे उत्तम पद पर बैठने हारे (पितरः) पितरो [पालने वाले वीरो] (ऊती) रक्षा के साथ (अर्वाक्) सामने [होकर] (इमा) इन (हव्या) ग्राह्य भोजन आदि को (जुषध्वम्) सेवन करो [जिन को] (वः) तुम्हारे लिये (चकृम) हम ने बनाया है । (ते) वे तुम (शन्तमेन) अत्यन्त सुखदायक (अवसा) रक्षा के साथ (आ गत) आओ, (अध) फिर (नः) हमारे लिये (शम्) सुख, (योः) अभय और (अरपः) निर्दोष आचरण (दधात) धारण करते रहो ॥ ५१ ॥

पथे राजमार्गाय हितान् महामार्गान् (अनु) प्रति (स्वाः) स्वीयाः ॥

५१—(बर्हिषदः) उत्तमपदे सदनशीलाः (पितरः) हे पालकाः शूरवीराः (ऊती) ऊत्या । रक्षया (अर्वाक्) अभिमुखं भूत्वा (इमा) पुरोगतानि (वः) युष्मभ्यम् (हव्या) ग्राह्याणि भोजनादिवस्तूनि (चकृम) वयं संस्कृतवन्तः (ते) तादृशा यूयम् (आगत) आगच्छत (अवसा) रक्षणेन (शन्तमेन) अतिशयसुखदायकेन (अध) पुनः (नः) अस्मभ्यम् (शम् योः) शमनं च रोगाणां यावनं च भयानाम्—निरु० ४ । २१ । सुखं च अभयं च (अरपः) निर्दोषाचरणम् (दधात) धारयेत ॥

भावार्थ—सब मनुष्य वयोवृद्ध और विद्यावृद्ध पितरों का भली भांति सत्कार करें और उनसे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति की शिक्षा पावें ॥ ५१ ॥

मन्त्र ५१, ५२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं १० । १५ । ४, ६ और यजुर्वेद में भी—१९ । ५५, ६२ ॥

आच्या जानु॑ दक्षिणतो निषद्ये॒दं नो॑ हुविरुभि गृ॑णन्तु विश्वे॑। मा हिं॑सिष्ट पितरः केन॑ चिन्नो यद्व॒ आग॑ः पुरुषता करा॑म॥५२

आ-अच्य॑ । जानु॑ । दुक्षिणतः । नि-सद्य॑ । इदम् । नः । हविः । अभि । गृणन्तु । विश्वे॑ ॥ मा । हिं॑सिष्ट । पितरः । केन॑ । चित् । नः । यत् । वः । आग॑ः। पुरुषता । कराम ५२

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [रक्षक विद्वानो] (विश्वे) आप सब (जानु) घुटना (आच्य) टेक कर और (दक्षिणतः) दाहिनी ओर (निषद्य) बैठकर (नः) हमारे (इदम्) इस (हविः) ग्राह्य अन्न को (अभि गृणन्तु) बड़ाई योग्य करें । (वः) तुम्हारा (यत्) जो कुछ (आगः) अपराध (कराम) हम करें, (केन चित्) उस किसी [अपराध] के कारण (नः) हमें (पुरुषता) अपने पुरुषपन से (मा हासिष्ट) मत दुःख दो ॥ ५२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने पिता पितामह आदि पितरों को सत्कार पूर्वक बैठा कर भोजन आदि से सेवा किया करें और अपनी भूल चूक के लिये क्षमा मांगते रहें ॥ ५२ ॥

मन्त्रः ५३ ॥

त्वष्टा देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

५२—(आच्य) अधो निपात्य (जानु) जानुप्रदेशम् (दक्षिणतः) अवामपार्श्वतः (निषद्य) उपविश्य (इदम्) (नः) अस्माकम् (हविः) ग्राह्य-भोजनम् (अभि गृणन्तु) स्तुत्यं कुर्वन्तु । सुखेन स्वीकुर्वन्तु (विश्वे) सर्वे भवन्तः (मा हिंसिष्ट) दुःखिनो मा कुरुत (पितरः) हे रक्षका विद्वांसः (केन चित्) केनापि दोषेण (नः) अस्मान् (यत्) (वः) युष्माकम् (आगः) दोषम् (पुरुषता) स्वपुरुषतया । मनुष्यत्वेन (कराम) लेटि रूपम् । कुर्याम ॥

अज्ञाननाशोपदेशः— अज्ञान के नाश का उपदेश ॥

त्वष्टा दुहित्रे वहतुं कृणोति तेनेदं विश्वं भुवनं समेति ।
यमस्य माता पर्युह्यमाना महो जाया विवस्वतो ननाश ॥५३॥

त्वष्टा । दुहित्रे । वहतुम् । कृणोति । तेन । इदम् । विश्वम् । भुवनम् । सम् । एति ॥ यमस्य । माता । परि-उह्यमाना । महः । जाया । विवस्वतः । ननाश ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(त्वष्टा) त्वष्टा [प्रकाशमान सूर्य] (दुहित्रे) दुहिता [पूर्ति करने वाली उषा] का (वहतुम्) चलाना (कृणोति) करता है, (तेन) उस [चलने] के साथ (इदम्) यह (विश्वम्) सब (भुवनम्) जगत् (सम्) ठीक ठीक (एति) चलता है। (यमस्य) यम [दिन] की (माता) माता [बनाने वाली], (महः) बड़े (विवस्वतः) प्रकाशमान सूर्य की (जाया) पत्नी रूप [रात्रि] (पर्युह्यमाना) सब ओर हटायी गयी (ननाश) छिप जाती है ॥ ५३ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य उषा अर्थात् प्रभात किरणों को फैलाता जाता है, सब जगत् अपने अपने कामों में चेष्टा करता है, और जैसे जैसे दिन चढ़ता जाता है रात्रि का अन्धकार हटता जाता है, इसी प्रकार ज्ञानी पितर लोग अज्ञान हटाकर ज्ञान के प्रकाश से संसार को सुख पहुंचावें ॥ ५३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । १ ॥

भगवान् यास्क मुनि ने निरुक्त १२ । ११ में व्याख्या की है—"त्वष्टा दुहिता का वहन [चलाना] करता है, यह सब भुवन ठीक ठीक चलता है

५३—(त्वष्टा) प्रकाशमानः सूर्यः (दुहित्रे) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी । दुहितुः । प्रपूरयित्र्या उषसः (वहतुम्) वहनम् । चालनम् । (कृणोति) करोति (तेन) पूर्वोक्तेन कर्मणा गमनेन (इदम्) विश्वम्) सर्वम् (भुवनम्) जगत् (सम्) सम्यक् (एति) गच्छति । चेष्टते (यमस्य) दिनस्य (माता) निर्मात्री । रात्रिः (पर्युह्यमाना) प्रकाशेन पर्युत्सार्यमाणा (महः) महतः (जाया) पत्नीरूपा रात्रिः (विवस्वतः) प्रकाशमानस्य सूर्यस्य (ननाश) लडर्थे-लिट् । नश्यति । अदृष्टा भवति ॥

और यह सब प्राणी सब ओर से आकर मिलते हैं, यम की माता सब ओर को ले जायी गयी छिप गयी। रात्रि सूर्य की [पत्नी] सूर्य के उदय होने पर छिप जाती है " ॥

मन्त्रौ-५४, ५५ ॥

पितरो देवताः [ऋग्वेदे १० । १४ । ७, ८ यथा] ॥ निचृत् त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्योन्नत्युपदेशः—मनुष्य की उन्नति का उपदेश ॥

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्याणैर्येना ते पूर्वे पितरः परेताः ।
उभा राजाना स्वधया मदन्तौ यमं पश्यासि वरुणं च देवम् ५४

प्र । इहि । प्र । इहि । पथि-भिः । पूः-यानैः । येन । ते । पूर्वे । पितरः । परा-इताः ॥ उभा । राजाना । स्वधया । मदन्तौ । यमम् । पश्यासि । वरुणम् । च । देवम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] तू (प्र इहि) आगे बढ़, (पूर्याणैः) नगरों को जाने वाले (पथिभिः) मार्गों से (प्र इहि) आगे बढ़, (येन) जिस [कर्म] से (ते) तेरे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितर [रक्षक पिता आदि महापुरुष] (परेताः) पराक्रम से गये हैं। और (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (मन्दन्तौ) तृप्त होते हुये (उभा) दोनों (राजानौ) शोभायमान, [अर्थात्] (देवम्) प्रकाशमान (यमम्) यम [न्यायकारी परमात्मा] को (च) और (वरुणम्) वरुण [श्रेष्ठ जीवात्मा] को (पश्यासि) तू देखता रह ॥ ५४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि पूर्व महात्माओं के वेदोक्त मार्ग पर चल कर देश देशान्तरों में जाकर उन्नति करे और सदा परमात्मा की उपासना

५४—(प्रेहि) प्रकर्षेण गच्छ (प्रेहि) (पथिभिः) मार्गैः (पूर्याणैः) पुरो नगरान् गच्छद्भिः (येन) कर्मणा (ते) तव (पूर्वे) पूर्वजाः (पितरः) पालका महापुरुषाः (परेताः) पराक्रमेण गताः (उभा) उभौ (राजानौ) शोभायमानौ (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (मदन्तौ) तृप्यन्तौ (यमम्) न्यायकारिणं परमात्मानम् (पश्यासि) पश्येः (वरुणम्) श्रेष्ठं जीवात्मानम् (च) (देवम्) प्रकाशमानम् ॥

से जीवात्मा की दशा का चिन्तन करता रहे ॥ ५४ ॥

मन्त्र ५४, ५५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १४ । ७, ६ और दोनों का ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

अपे॑त॒ वीत॒ वि च॑ सर्प॒ताऽतो॒ऽस्मा ए॒तं पि॒तरो॑ लो॒कम॑क्रन् ।
अहो॑भिर॒द्भिर॒क्तुभि॒र्व्य॑क्तं य॒मो द॑दात्यव॒सान॑मस्मै ॥ ५५ ॥

अप॑ । इ॒त॒ । वि । इ॒त॒ । वि । च॒ । स॒र्प॒त॒ । अतः॑ । अ॒स्मै । ए॒तम् । पि॒तरः॑ । लो॒कम् । अ॒क्र॒न् ॥ अहः॑-भिः । अ॒त्-भिः । अ॒क्तु-भिः॑ । वि-अ॑क्तम् । य॒मः । द॒दा॒ति॒ । अ॒व॒-सान॑म् । अ॒स्मै ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (अतः) यहां से [इस घर वा विद्यालय आदि से] (अप इत) बाहिर चलो, (वि इत) विविध प्रकार चलो, (च) और (वि सर्पत) फैल जाओ, (अस्मै) इस [जीव के हित] के लिये (एतम्) यह (लोकम्) लोक [समाज] (पितरः) पितरों [रक्षक महात्माओं] ने (अक्रन्) बनाया है । (यमः) यम [न्यायकारी परमात्मा] (अस्मै) इस [समाज] को (अहोभिः) दिनों से, (अक्तुभिः) रातों से और (अद्भिः) जल [अन्न जल आदि] से (व्यक्तम्) स्पष्ट (अवसानम्) विराम [स्थिर पद] (ददाति) देता है ॥ ५५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारी लोग महापुरुषों के बनाये विद्यालय आदि से विद्या समाप्त करके विविध उद्योग करें और परमात्मा के उपकारों को विचारते हुये अपने समय और आहार विहार आदि का सुप्रयोग करके समाज को स्थिर सुख पहुंचावें ॥ ५५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है—१२ । ४५ ॥

५५—(अप इत) दूरे गच्छत (वि इत) विविधं गच्छत (च) (वि सर्पत) विस्तृता भवत (अतः) अस्मात् स्थानात् (अस्मै) जीवाय (एतम्) (पितरः) पालकाः पुरुषाः (लोकम्) दर्शनीयं समाजम् (अकरन्) कृतवन्तः (अहोभिः) दिवसैः (अद्भिः) जलेन । अन्नजलादिना (अक्तुभिः) रात्रिभिः (व्यक्तम्) विशदम् (यमः) न्यायकारी परमात्मा (ददाति) (अवसानम्) विरामम् । स्थिरपदम् (अस्मै) समाजाय ॥

मन्त्रौ ५६, ५७ ॥

पितरो देवताः [यजुर्वेदे १९ । ७० यथा] ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

उशन्तस्त्वेधीमह्युशन्तः समिधीमहि ।
उशन्नुशत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५६ ॥

उशन्तः । त्वा । इधीमहि । उशन्तः । सम् । इधीमहि ॥
उशन् । उशतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥५६॥

भाषार्थ—[हे ब्रह्मचारी !] (उशन्तः) कामना करते हुये हम (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करें, (उशन्तः) अभिलाषा करते हुये हम (सम्) मिलकर (इधीमहि) तेजस्वी करें। (उशन्) कामना करता हुआ तू (उशतः) कामना करते हुये (पितॄन्) पितरों [रक्षक जनों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) ले आ ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् माता पिता आदि बड़े लोग जितेन्द्रिय विद्वान् सभ्य सन्तान की कामना करें, वैसे ही सन्तान भी उन पितृजनों की सेवा करके गुण प्राप्त करें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । १२ और यजुर्वेद में १९ । ७० और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पितृयज्ञविषय में भी व्याख्यात है ॥

द्युमन्तस्त्वेधीमहि द्युमन्तः समिधीमहि ।
द्युमान् द्युमत आ वह पितॄन् हविषे अत्तवे ॥ ५७ ॥

५६—(उशन्तः) कामयमानाः (त्वा) त्वां ब्रह्मचारिणम् (इधीमहि) दीपयेम । तेजस्विनं कुर्याम (उशन्तः) (सम्) एकीभावे (इधीमहि) (उशन्) कामयमानः (उशतः) कामयमानान् (आ वह) आनय (पितॄन्) पालकान् । जनकादीन् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी । हविः । ग्राह्यं भोजनम् (अत्तवे) अत्तुं भोक्तुम् ॥

द्यु-मन्तः । त्वा । इधीमहि । द्यु-मन्तः । सम् । इधीमहि ॥
द्यु-मान् । द्यु-मतः । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ५७

भाषार्थ—[हे पुत्र !] (द्युमन्तः) बड़े गति वाले हम (त्वा) तुझे (इधीमहि) प्रकाशित करें, (द्युमन्तः) व्यवहार कुशल हम (सम्) एक होकर (इधीमहि) तेजस्वी करें। (द्युमान्) व्यवहार कुशल तू (द्युमतः) व्यवहार कुशल (पितॄन्) पितरों [रक्षक विद्वानों] को (हविषे) ग्रहण करने योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) ले आ ॥ ५७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ५६ के समान है ॥ ५७ ॥

मन्त्राः ५८–६१ ॥

पितरो देवताः ॥ ५८ निचृत् त्रिष्टुप्; ५९ आर्षी पङ्क्तिः; ६० त्रिष्टुप्; ६१ अनुष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यासः ।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ५८ ॥

अङ्गिरसः । नः । पितरः । नव-ग्वाः । अथर्वाणः । भृगवः । सोम्यासः ॥ तेषाम् । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियानाम् । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (अङ्गिरसः) महाविज्ञानी (पितरः) पितर [रक्षक पिता आदि बुद्धिमान् लोग] (नवग्वाः) स्तुति योग्य चरित्र वाले

५७—(द्युमन्तः) दिवु द्युतिगतिव्यवहारेषु-विच्। ततो मतुप्। दिव उत्। पा० ६। १। १३१। इत्युत्त्वम्। दीप्तिमन्तः। गतिमन्तः (द्युमन्तः) व्यवहारकुशलाः (द्युमान्) व्यवहारकुशलः (द्युमतः) व्यवहारकुशलान्। अन्यत् पूर्ववत्—म० ५६ ॥

५८—(अङ्गिरसः) महाविज्ञानिनो महर्षयः (नः) अस्माकम् (पितरः) पालका ज्ञानिनः पुरुषाः (नवग्वाः) अ० १४। १। ५६। णु स्तुतौ—अप्+ गम्लृ गतौ—ड्वप्रत्ययः। नवगतयः। स्तोतव्यचरित्राः। नवीनविद्याः प्राप्ताः

[वा नवीन नवीन विद्यायें प्राप्त करने और कराने हारे], (अथर्वाणः) निश्चल स्वभाव वाले, (भृगवः) परिपक्व ज्ञान युक्त और (सोम्यासः) ऐश्वर्य पाने योग्य [होवें]। (तेषाम्) उन (यज्ञियानाम्) पूजनीय महापुरुषों की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करने हारी (सौमनसे) मन की प्रसन्नता में (वयम्) हम (स्याम) होवें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—सन्तानों को योग्य है कि बड़े बड़े विज्ञानी माता पिता आदि पूजनीय महात्माओं की उत्तम शिक्षा को सदा ग्रहण करें ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १४ । ६ और यजुर्वेद में १९ । ५० ॥

इस मन्त्र के उत्तरार्द्ध का मिलान करो—अथर्व० ६ । ५५ । ३ तथा ७ ॥ ९५ । १ ॥

अङ्गि॑रोभि॒र्य॒ज्ञियै॒रा ग॑ही॒ह यम॒ वैरू॑पैरि॒ह मा॑दयस्व ।
विव॑स्वन्तं हुवे॒ यः पि॒ता ते॒ऽस्मिन् ब॒र्हिष्या नि॒षद्य॑ ॥ ५९ ॥

अङ्गि॑रः-भिः । य॒ज्ञियैः॑ । आ । ग॒हि॒ । इ॒ह । यम॑ । वैरू॑पैः । इ॒ह । मा॒द॒य॒स्व॒ ॥ विव॑स्वन्तम् । हु॒वे॒ । यः । पि॒ता । ते॒ । अ॒स्मिन् । ब॒र्हिषि॑ । आ । नि॒-सद्य॑ ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(यम) हे संयमी जन ! (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानी, (यज्ञियैः) पूजा योग्य पुरुषों के साथ (इह) यहां [समाज में] (आ गहि)

प्रापयितारश्च (अथर्वाणः) अ० ४ । १ । ७ । थर्वतिश्चरतिकर्मा—निरु० ११ । २८ । स्नामदिपद्यर्त्ति० उ० ४ । ११३ । अ+थर्व चरणे गतौ=वनिप्, वकारलोपो वा । निश्चलस्वभावाः (भृगवः) परिपक्वज्ञानयुक्ताः (सोम्यासः) सोममैश्वर्यमर्हन्ति ये (तेषाम्) (वयम्) (सुमतौ) कल्याणबुद्धौ (यज्ञियानाम्) पूजार्हाणाम् (अपि) (भद्रे) मङ्गलप्रदे (सौमनसे) सुमनसो भावे । प्रसादे (स्याम) भवेम ॥

५९—(अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानिभिः (यज्ञियैः) पूजार्हैः (आ गहि) आगच्छ (इह) अस्मिन् समाजे (यम) हे संयमिन् पुरुष (वैरूपैः) अ० १५ । २ । १६ ।

तू आ, और (वैरूपैः) विविध पदार्थों के निरूपण करने वाले वेद ज्ञानों से (इह) यहां (मादयस्व) [हमें] तृप्त कर। (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) उत्तम पद पर (आ) भले प्रकार (निषद्य) बैठकर (विवस्वन्तम्) प्रकाशमय परमात्मा को (हुवे) मैं बुलाता हूं, (यः) जो (ते) तेरा (पिता) पालक है ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय विद्वान् पुरुष विविध विद्वानों के सत्संग से अनेक विद्यायें प्राप्त करके वेदाभ्यास द्वारा परमात्मा का विचार करें ॥५८॥

मन्त्र ५६, ६० कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं–१०। १४। ५, ४ और दोनों मन्त्र महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं॥

इमं यम प्रस्तरमा हि रोहाङ्गिरोभिः पितृभिः संविदानः। आ त्वा मन्त्राः कविशस्ता वहन्त्वेना राजन् हविषा मादयस्व ६०

इमम्। यम। प्र-स्तरम्। आ। हि। रोह। अङ्गिरः-भिः। पितृ-भिः। सम्-विदानः॥ आ। त्वा। मन्त्राः। कवि-शस्ताः। वहन्तु। एना। राजन्। हविषा। मादयस्व ॥ ६० ॥

भाषार्थ—(यम) हे संयमी पुरुष ! (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानी (पितृभिः) पितरों [रक्षक लोगों] से (हि) ही (संविदानः) मिला हुआ तू (इमम्) इस (प्रस्तरम्) विस्तीर्ण आसन पर (आ रोह) ऊंचा हो। (त्वा) तुझे (मन्त्राः) मन्त्र कुशल [बड़े विचारशील] (कविशस्ताः)

विरूप—अण्। विविधपदार्थानां रूपं निरूपणं येभ्यः सकाशात् तैर्वेदज्ञानैः (इह) (मादयस्व) अस्मान् तर्पयस्व (विवस्वन्तम्) प्रकाशमयं परमात्मानम् (हुवे) आह्वयामि (यः) (पिता) पालकः (ते) तव (अस्मिन्) (बर्हिषि) उत्तमे पदे (आ) समन्तात् (निषद्य) उपविश्य ॥

६०—(इमम्) (यम) हे संयमिन् पुरुष (प्रस्तरम्) विस्तीर्णमासनम् (हि) निश्चयेन (आ रोह) आरूढो भव (अङ्गिरोभिः) महाविज्ञानिभिः (पितृभिः) पालकैः (संविदानः) संगच्छमानः (त्वा) शूरम् (मन्त्राः) मन्त्र-अर्श आद्यच्। मन्त्रकुशलाः। महाविचारशीलाः (कविशस्ताः) मेधाविष

विद्वानों में श्रेष्ठ पुरुष (आ वहन्तु) बुलावें (राजन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (एना) इस (हविषः = हविषा) भक्तिदान से (मादयस्व) [हमें] प्रसन्न करे ॥ ६० ॥

भावार्थ—जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी पुरुष विद्वानों के मेल से उच्च पद प्राप्त करें और अपने शुभ गुण और पराक्रम से सब प्रजा को सदा प्रसन्न रक्खें ॥ ६० ॥

इत एत उदारुहन् दिवस्पृष्ठान्यारुहन् ।

प्र भूर्जयो यथा पथा द्यामङ्गिरसो ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

इतः । एते । उत् । आ । अरुहन् । दिवः । पृष्ठानि । आ । अरुहन् ॥ प्र । भूः-जयः । यथा । पथा । द्याम् । अङ्गिरसः । ययुः ॥ ६१ ॥ (६)

भाषार्थ—(एते) यह [पितर लोग] (इतः) इस [सामान्य दशा] से (उत्) उत्तमता के साथ (आ अरुहन्) ऊंचे चढ़े हैं, और (दिवः) व्यवहार के (पृष्ठानि) पूछने योग्य स्थानों पर (आ अरुहन्) ऊंचे चढ़े हैं। (भूर्जयः यथा) भूमि जीतने वालों के समान (पथा) सन्मार्ग से (अङ्गिरसः) विज्ञानी महर्षि लोग (द्याम्) प्रकाश को (प्र) अच्छे प्रकार (ययुः) प्राप्त हुये हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ—बड़े बड़े महात्मा ब्रह्मचर्य आदि तप के साथ विद्या ग्रहण करके सामान्य अवस्था से ऊंचे हुये हैं, इसी प्रकार सब मनुष्य परिश्रम और

प्रशस्ताः (आ वहन्तु) आनयन्तु (एना) एनेन । अनेन (राजन्) ऐश्वर्यवन् (हविषः) तृतीयार्थे षष्ठी । हविषा । भक्तिदानेन (मादयस्व) अस्मान् प्रसादय ॥

६१—(इतः) अस्मात्) स्थानात् । सामान्यदशासकाशात् (एते) पितरः (उत्) उत्तमतया (आ अरुहन्) आरूढा अभवन् (दिवः) व्यवहारस्य (पृष्ठानि) प्रष्टव्यानि स्थानानि (आ अरुहन्) (प्र) प्रकर्षेण (भूर्जयः) भू सत्तायाम्—रुक् । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० । ३ । २ । ७५ । जि जये—विच् । भूर्भुवो भूमेर्जेतारः (यथा) सादृश्ये (पथा) सन्मार्गेण (द्याम्) विद्याप्रकाशम् (अङ्गिरसः) महाविज्ञानिनः (ययुः) प्रापुः ॥

उद्योग करके सदा उन्नति करें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में है—पू० १ । १० । २ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् २ [मन्त्राः १-६०] ॥

मन्त्राः १—३ ॥

यमो देवता ॥ १, ३, अनुष्टुप्; २ विराट् पथ्या बृहती ॥

ईश्वरभक्त्युपदेशः—ईश्वर की भक्ति का उपदेश ॥

यमाय सोमः पवते यमाय क्रियते हविः ।

यमं ह यज्ञो गच्छत्यग्निदूतो अरंकृतः ॥ १ ॥

यमाय । सोमः । पवते । यमाय । क्रियते । हविः ॥ यमम् । ह । यज्ञः । गच्छति । अग्नि-दूतः । अरम्-कृतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यमाय) यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] के लिये (सोमः) ऐश्वर्यवान् [जीवात्मा] (पवते) अपने को शुद्ध करता है, (यमाय) यम [न्यायकारी ईश्वर] के लिये (हविः) भक्तिदान (क्रियते) किया जाता है । (यमम्) यम [परमेश्वर] को (ह) ही (यज्ञः) संगति वाला संसार (गच्छति) चलता है, [जैसे] (अरंकृतः) पर्याप्त किया हुआ (अग्निदूतः) अग्नि से तपाया हुआ [जल आदि रस ऊपर जाता है] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से ईश्वर भक्ति करके ऐश्वर्यवान् होवें । वह परमात्मा इतना बड़ा है कि यह सब संसार उसी की आज्ञा में

१—(यमाय) सर्वनियामकाय । न्यायकारिणे परमात्मने (सोमः) ऐश्वर्ययुक्तो जीवात्मा (पवते) आत्मानं शोधयति (यमाय) (क्रियते) अनुष्ठीयते (हविः) हु दानादानादनेषु—इसि । भक्तिदानम् (यमम्) परमेश्वरम् (ह) एव (यज्ञः) संयोगं प्राप्तः संसारः (गच्छति) प्राप्नोति (अग्निदूतः) टु दु उपतापे—क्त, दीर्घः । अग्निना परितापिता जलादिरसो यथा (अरंकृतः) पर्याप्तीकृतः ॥

चलता है, जैसे अग्नि के पूरे ताप से भाप ऊंचा उठता है ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०। १४। १३, १५, १४। ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

यमाय मधुमत्तमं जुहोता प्र च तिष्ठत ।

इदं नम ऋषिभ्यः पूर्वजेभ्यः पूर्वेभ्यः पथिकृद्भ्यः ॥ २ ॥

यमाय । मधुमत्-तमम् । जुहोत । प्र । च । तिष्ठत ॥ इदम् । नमः । ऋषि-भ्यः । पूर्व-जेभ्यः । पूर्वेभ्यः । पथिकृत्-भ्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यमाय) यम [सर्वनियन्ता परमात्मा] के लिये (मधुमत्तमम्) अत्यन्त विज्ञान युक्त कर्म (जुहोत) तुम दान करो, (च) और (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठा पावो (इदम्) यह (नमः) नमस्कार (पूर्वेभ्यः) पहिले [पूर्ण विद्वान्], (पथिकृद्भ्यः) मार्ग बनाने वाले (पूर्वजेभ्यः) पूर्वज (ऋषिभ्यः) ऋषियों [महाज्ञानियों] को है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य विज्ञान पूर्वक उस जगदीश्वर को आत्मसमर्पण करके संसार में प्रतिष्ठा पावें और जो महर्षि वेदानुकूल ग्रन्थ रचना और शिक्षा करें, उस से सुधार करके उनका उद्देश्य पूरा करें ॥ २ ॥

यमाय घृतवत् पयो राज्ञे हविर्जुहोतन ।

स नो जीवेष्वा यमेद्दीर्घमायुः प्र जीवसे ॥ ३ ॥

यमाय । घृत-वत् । पयः । राज्ञे । हविः । जुहोतन ॥ सः । नः । जीवेषु । आ । यमेत् । दीर्घम् । आयुः । प्र । जीवसे ॥ ३ ॥

२—(यमाय) सर्वनियामकाय परमात्मने (मधुमत्तमम्) मन ज्ञाने—उ, नस्य धः, तमप् । अतिशयेन विज्ञानयुक्तं कर्म (जुहोत) जुहुत । समर्पयत (च) (प्र तिष्ठत) प्रतिष्ठां प्राप्नुत (इदम्) (नमः) सत्कारः (ऋषिभ्यः) वेदार्थदर्शकेभ्यः (पूर्वजेभ्यः) प्रथमोत्पन्नेभ्यः (पूर्वेभ्यः) प्रथमेभ्यः । पूर्णविद्वद्भ्यः (पथिकृद्भ्यः) सन्मार्गकर्तृभ्यः ॥

भाषार्थ—(यमाय राज्ञे) यम राजा [न्यायकारी शासक परमेश्वर] के लिये (घृतवत्) प्रकाशयुक्त (पयः) विज्ञान और (हविः) भक्ति दान का (जुहोतन) तुम दान करो। (सः) वह [परमात्मा] (नः) हमें (जीवेषु) जीवों के बीच (दीर्घम्) दीर्घ (आयुः) आयु (प्र) उत्तम (जीवसे) जीवन के लिये (आ यमेत्) देवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विज्ञानपूर्वक परमात्मा की आज्ञा मानकर ब्रह्मचर्य आदि से आप चलते और दूसरों को चलाते हैं, वे अपना जीवन बढ़ाकर शुभ कर्म से यश पाते हैं ॥ ३ ॥

मन्त्राः ४—१० ॥

अग्निर्देवता ॥ ४, ७ निचृज् जगती ; ५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ६ अनुष्टुप् ; ८ त्रिष्टुप् ; ९ भुरिगार्षी जगती ; १० निचृत् त्रिष्टुप् ॥

आचार्यब्रह्मचारिकृत्योपदेशः—आचार्य और ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

मैनमग्ने वि दहो माभि शूशुचो मास्य त्वचं चिक्षिपो मा शरीरम्। शृतं यदा करसि जातवेदोऽथेमेनं प्र हिणुतात् पितॄँरुप ॥ ४ ॥

मा। एनम्। अग्ने। वि। दहः। मा। अभि। शुशुचः। मा। अस्य। त्वचम्। चिक्षिपः। मा। शरीरम् ॥ शृतम्। यदा। करसि। जात-वेदः। अथ। ईम्। एनम्। प्र। हिनुतात्। पितॄन्। उप ॥ ४ ॥

३—(यमाय) न्यायकारिणे परमात्मने (घृतवत्) प्रकाशयुक्तम् (पयः) पय गतौ—असुन्। विज्ञानम् (राज्ञे) सर्वशासकाय (हविः) भक्तिदानम् (जुहोतन) जुहुत। समर्पयत (सः) परमात्मा (नः) अस्मभ्यम् (जीवेषु) जीवत्सु प्राणिषु (आ यमेत्) प्रयच्छेत्। दद्यात् (दीर्घम्) (आयुः) जीवनम् (प्र) प्रकृष्टाय (जीवसे) जीवनाय ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! [आचार्य] (एनम्) इस [ब्रह्मचारी] को (वि) विपरीत भाव से (मा दहः) मत जला [मत कष्ट दे] और (मा अभि शूशुचः) मत शोक में डाल, (मा) न (अस्य) इसकी (त्वचम्) त्वचा को और (मा) न (शरीरम्) शरीर को (चिक्षिपः) गिरने दे। (जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले [आचार्य !] (यदा) जब [इसे] (शृतम्) परिपक्व [बड़ा ज्ञानी] (करसि) तू कर लेवे, (अथ) तब (ईम्) ही (एनम्) इस [शिष्य] को (पितॄन् उप) पितरों [रक्षक विद्वानों] के पास (प्र) अच्छे प्रकार (हिनुतात्) तू भेज ॥ ४ ॥

भावार्थ—आचार्य शिष्यों को विपरीत भाव से मानसिक वा शारीरिक कष्ट कदापि न देवे, किन्तु कोमल भाव से उन्हें पक्का ज्ञानी बनावे, जिस से वे विद्वान् लोगों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४, ५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १६ । १, २ ॥

यदा शृतं कृणवो जातवेदोऽथेममेनं परि दत्तात् पितृभ्यः ।
यदो गच्छात्यसुनीतिमेतामथा देवानां वशनीर्भवाति ॥ ५ ॥

यदा । शृतम् । कृणवः । जात-वेदः । अथ । इमम् । एनम् । परि । दत्तात् । पितृ-भ्यः ॥ यदो इति । गच्छाति । असु-नीतिम् । एताम् । अथ । देवानाम् । वश-नीः । भवाति ५

४—(एनम्) ब्रह्मचारिणम् (अग्ने) हे विद्वन् आचार्य (वि) विपरीतभावेन (मा दहः) दहनं मा कुरु । कष्टं मा देहि (अभि) (मा शूशुचः) शुच शोके—णिचि लुङ् । शोकयुक्तं मा कुरु (अस्य) ब्रह्मचारिणः (त्वचम्) (मा चिक्षिपः) क्षिप प्रेरणे—णिचि लुङ् । मा विकिर (मा) निषेधे (शरीरम्) (शृतम्) श्रा पाके—क्त । शृतं पाके । पा० ६ । १ । २७ । इति शृभावः । परिपक्वम् । दृढज्ञानयुक्तम् (यदा) (करसि) लेटि रूपम् । त्वं कुर्याः (जातवेदः) हे प्रसिद्धप्रज्ञ (अथ) अनन्तरम् (ईम्) एव (एनम्) ब्रह्मचारिणम् (प्र) प्रकर्षेण (हिनुतात्) त्वंहिनु । प्रेरय (पितॄन्) पालकान् पुरुषान् (उप) प्रति ॥

भाषार्थ--(जातवेदः) हे प्रसिद्ध ज्ञान वाले ! [आचार्य] (यदा) जब (इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (शृतम्) [दृढ़ ज्ञानी] (कृणवः) तू कर लेवे, (अथ) तब (एनम्) इस [परिश्रमी] को (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक विद्वानों] को (परि दत्तात्) तू दे दे । (यदो) जब ही वह (एताम्) इस (असुनीतिम्) बुद्धि के साथ नीति [उन्नति मार्ग] को (गच्छाति) पावे, (अथ) तब वह (देवानाम्) दिव्य पदार्थों का (वशनीः) वश में लाने वाला (भवाति) होवे ॥ ५ ॥

भावार्थ--जब ब्रह्मचारी आचार्य से शिक्षा पाकर विद्वानों में गिना जावे, तब वह अपनी बुद्धि और विद्या के बल से संसार के स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों के परीक्षण से उपकार करे ॥ ५ ॥

त्रिकंद्रुकेभिः पवते षडुर्वीरेकमिद् बृहत् ।

त्रिष्टुब् गायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आर्पिता ॥ ६ ॥

त्रि-कद्रुकेभिः । पवते । षट् । उर्वीः । एकम् । इत् । बृहत् ॥

त्रि-स्तुप् । गायत्री । छन्दांसि । सर्वा । ता । यमे । आर्पिता ६

भाषार्थ—(एकम् इत्) एक ही (बृहत्) बड़ा [ब्रह्म] (त्रिकद्रुकेभिः) तीन [संसार की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय] के विधानों से (षट्) छह

५—(यदा) (शृतम्) म० ४ । परिपक्वं दृढज्ञानिनम् (कृणवः) कृवि हिंसाकरणयोः--लेटि अडागमः । त्वं कुर्याः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान (अथ) तदा (इमम्) ब्रह्मचारिणम् (एनम्) परिश्रमिणं शिष्यम् (परिदत्तात्) समर्पय (पितृभ्यः) रक्षकविद्वद्भ्यः (यदो) यदा हि (गच्छाति) स प्राप्नुयात् (असुनीतिम्) असुः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । प्रज्ञया सह नीतिमुन्नतिमार्गम् (एताम्) प्रसिद्धां वेदविहिताम् (अथ) तदा (देवानाम्) उत्तमपदार्थानाम् (वशनीः) वशे नेता (भवाति) भूयात् ॥

६—(त्रिकद्रुकेभिः) अ० २ । ५ । ७ । रुशातिभ्यां क्रुन् । उ० ४ । १०३ । त्रि + कद आह्वाने—क्रुन्, समासान्तः कप् । त्रयाणां संसारोत्पत्तिस्थितिविना-

(उर्वीः) चौड़ी दिशाओं को (पवते) शोधता है। (त्रिष्टुप्) त्रिष्टुप्, (गायत्री) गायत्री और (ता) वे [दूसरे] (सर्वा) सब (छन्दांसि) छन्द [वेद मन्त्र] (यमे) यम [न्यायकारी परमात्मा] में (आर्पिता) ठहरे हुये हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीची और ऊंची दिशा में व्यापक है, और सब छन्द अर्थात् चारो वेद उसी परमात्मा का गान करते हैं, हे मनुष्यो! उसी की उपासना करके अपनी उन्नति करो ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १४ । १६ ॥

सूर्यं चक्षुषा गच्छ वातमात्मना दिवं च गच्छ पृथिवीं च धर्मभिः। अपो वा गच्छ यदि तत्र ते हितमोषधीषु प्रति तिष्ठा शरीरैः ॥ ७ ॥

सूर्यम् । चक्षुषा । गच्छ । वातम् । आत्मना । दिवम् । च । गच्छ । पृथिवीम् । च । धर्म-भिः॥ अपः । वा । गच्छ । यदि । तत्र । ते । हितम् । ओषधीषु । प्रति । तिष्ठ । शरीरैः ॥ ७

भाषार्थ—[हे जीव!] तू (सूर्यम्) सूर्य [तत्त्व] को (चक्षुषा) नेत्र से, (वातम्) वायु को (आत्मना) प्राण से (गच्छ) प्राप्त हो, (च) और (धर्मभिः) धर्मों [उनके धारण गुणों] से (दिवम्) आकाश को (च) और (पृथिवीम्) पृथिवी को (गच्छ) प्राप्त हो (वा) और (अपः) जल को

शानां कद्रुकैः, आह्वानैर्विधानैः (पवते) पुनाति। शोधयति (षट्) प्राच्यादि-षट्संख्याकाः (उर्वीः) विस्तीर्णा दिशाः (एकम्) अद्वितीयम् (इत्) एव (बृहत्) ब्रह्म (त्रिष्टुप्) छन्दोविशेषः (गायत्री) छन्दोविशेषः (छन्दांसि) वेदमन्त्राः (सर्वा) सर्वाणि (ता) तानि । इतराणि (यमे) न्यायकारिणि परमात्मनि (आर्पिता) स्थापितानि ॥

७—(सूर्यम्) सूर्यतत्त्वम् (चक्षुषा) नेत्रविज्ञानेन (गच्छ) प्राप्नुहि। जानीहि (वातम्) वायुतत्त्वम् (आत्मना) प्राणेन (दिवम्) आकाशतत्त्वम् (च) (गच्छ) (पृथिवीम्) पृथिवीतत्त्वम् (च) (धर्मभिः) तेषां धारणगुणैः

(गच्छ) प्राप्त हो, और (ओषधीषु) ओषधियों [अन्न आदिकों] में (शरीरैः) [उनके] अङ्गों सहित (प्रति तिष्ठ) प्रतिष्ठा पा, (यदि) क्योंकि (तत्र) वहां [उन सब में] (ते) तेरा (हितम्) हित है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य नेत्र आदि इन्द्रियों की रचना और उपकारों से सूर्य आदि के तत्वों को जानकर विज्ञान द्वारा अन्न आदि पदार्थों और उनके अङ्गों से अपना और संसार का भला करते हैं वे ही सर्वहितकारी होते हैं ॥ ७॥

मन्त्र ७, ८ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं-१० । १६ । ३, ४ और ऋग्वेद पाठ महर्षिदयानन्दकृतसंस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

अजो भागस्तपंसुस्तं तंपस्व तं ते शोचिस्तंपतु तं ते अर्चिः ।
यास्ते शिवास्तन्वो जातवेदुस्ताभिर्वहैनं सुकृतामु लोकम् ॥८

अजः । भागः । तपंसः । तम् । तपस्व । तम् । ते । शोचिः । तपतु । तम् । ते । अर्चिः ॥ याः । ते । शिवाः । तन्वः । जात-वेदः । ताभिः । वह । एनम् । सु-कृताम् । ऊं इति । लोकम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (अजः) अजन्मा [वा गतिमान् जीवात्मा] (तपसः=तपसा) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] से (भागः) सेवनीय है, (तम्) उसे (तपस्व) प्रतापी कर, (तम्) उसे (ते) तेरा (शोचिः) पवित्र कर्म और (तम्) उसे (ते) तेरा (अर्चिः) पूजनीय व्यवहार (तपतु) ऐश्वर्य युक्त करे । (जातवेदः) हे बड़े विद्वान् ! (याः) जो (ते) तेरी (शिवाः)

(अपः) जलम् (वा) च (गच्छ) (यदि) यतः (तत्र) तेषु पूर्वोक्तेषु (ते) तव (हितम्) इष्टम् (ओषधीषु) व्रीहियवादिषु (प्रतितिष्ठ) प्रतिष्ठितो भव (शरीरैः) अवयवैः ॥

८—(अजः) न जायते, जन—ड, यद्वा, अज गतिक्षेपणयोः—अच् । अजा अजनाः—निरु० ४ । २५ । अजन्मा । गतिमान् । जीवात्मा (भागः) सेवनीयः (तपसः) तृतीयार्थे षष्ठी । तपसा । ब्रह्मचर्यसेवनेन वेदाध्ययनेन च (तम्) जीवात्मानम् (तपस्व) तप सन्तापे ऐश्वर्ये च । प्रतापिनं कुरु (तम्) (ते) तव (शोचिः) शुच शौचे—इसि । शौचं पवित्रकर्म (तपतु) ऐश्वर्यवन्तं करोतु

कल्याणकारी (तन्वः) उपकार शक्तियां हैं, (ताभिः) उनसे (एनम्) इस [जीवात्मा] को (सुकृताम्) पुण्यात्माओं के (लोकम्) लोक [समाज] में (उ) अवश्य (वह) लेजा ॥ ८ ॥

भावार्थ –जो मनुष्य ब्रह्मचर्य सेवन, वेदाध्ययन और शुभ आचरण से आत्मवान् होकर उपकारी होवें, वे ही पुण्यात्माओं में गिने जावें ॥ ८ ॥

यास्ते शोचयो रंहयो जातवेदो याभिरापृणासि दिवमन्तरिक्षम् । अजं यन्तमनु ताः समृण्वतामथेतराभिः शिवतमाभिः शृतं कृधि ॥ ९ ॥

याः । ते । शोचयः । रंहयः । जात-वेदः । याभिः । आ-पृणासि दिवम् । अन्तरिक्षम् ॥ अजम् । यन्तम् । अनु । ताः । सम् । ऋण्वताम् । अथ । इतराभिः । शिव-तमाभिः । शृतम् । कृधि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े विद्वान् ! [मनुष्य] (याः) जो (ते) तेरी (शोचयः) पवित्र क्रियायें और (रंहयः) वेग क्रियायें हैं और (याभिः) जिन [क्रियाओं] से (दिवम्) व्यवहार कुशल [वा गतिमान्] (अन्तरिक्षम्) मध्यवर्ती हृदय को (आपृणासि) तू सब ओर से पूर्ण करता है । (ताः) वे [सब क्रियायें] (यन्तम्) चलते हुये (अजम् अनु) अजन्मे [वा गतिशील

(तम्)(ते)(अर्चिः) अर्च पूजायाम्—इसि । पूजनीयव्यवहारः (याः) (ते) तव (शिवाः) सुखकराः (तन्वः) तन उपकारे—ऊ । उपकारशक्तयः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान । महाविद्वन् (ताभिः) उपकारशक्तिभिः (वह) प्रापय (एनम्) जीवात्मानम् (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) अवश्यम् (लोकम्) समाजम् ॥

९—(याः) (ते) तव (शोचयः) शुचिक्रियाः (रंहयः) रहि गतौ—इप्रत्ययः । वेगक्रियाः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान महाविद्वन् (याभिः) पूर्वोक्ताभिः (आपृणासि) समन्तात् पूरयसि (दिवम्) दिवु व्यवहारे गतौ च–क । व्यवहारकुशलम् । गतियुक्तम् (अन्तरिक्षम्) मध्ये दृश्यमानं हृदयम् (अजम्) अजन्मानं गतिमन्तं वा जीवात्मानम् (यन्तम्) इण् गतौ-शतृ । गच्छन्तम् [

जीवात्मा] के अनुकूल होकर (सम्) ठीक ठीक (ऋण्वताम्) चलें, (अथ) फिर तू (इतराभिः) दूसरी [ईश्वर की प्राप्ति वाली] (शिवतमाभिः) अत्यन्त कल्याणकारी [क्रियाओं] से [जीवात्मा] को (शृतम्) परिपक्क (कृधि) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी शुद्ध और वेग वाली वृत्तियों को व्यवहार कुशल वा गतिमान् मन में ठहराकर पुरुषार्थी जीवात्मा को खोजते हैं, वे ही फिर परमात्मा को पाकर पक्के ज्ञानी होते हैं ॥ ६ ॥

अव॑ सृज॒ पुन॑रग्ने पि॒तृभ्यो॒ यस्त॒ आहु॑त॒श्चर॑ति स्व॒धावा॑न् ।
आयु॒र्वसा॑न॒ उप॑ यातु॒ शेषः॒ सं ग॑च्छतां त॒न्वा॑ सु॒वर्चाः॑ ॥१०॥ (७)

अव॑ । सृ॒ज॒ । पुन॑ः । अ॒ग्ने॒ । पि॒तृ-भ्यः॑ । यः । ते॒ । आ-हु॑तः । चर॑ति । स्व॒धा-वा॑न् ॥ आयुः॑ । वसा॑नः । उप॑ । या॒तु॒ । शेषः॑ । सम् । ग॒च्छ॒ता॒म् । त॒न्वा॑ । सु॒-वर्चाः॑ ॥ १० ॥ (७)

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (पुनः) बारम्बार (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महापुरुषों] को [अपने आत्मा का] (अव सृज) दान कर, (यः) जो [आत्मा] (ते) तुझ को (आहुतः) यथावत् दिया हुआ (स्वधा-वान्) अपनी धारण शक्ति वाला (चरति) विचरता है । (शेषः) विशेष गुणी [वह आत्मा] (आयुः) जीवन (वसानः) धारण करता हुआ (उप यातु) आवे और (सुवर्चाः) बड़ा तेजस्वी होकर (तन्वा) उपकार शक्ति के साथ

(ताः) पूर्वोक्ताः क्रियाः (ऋण्वताम्) ऋण गतौ—लोट् । गच्छन्तु (अथ) पुनः । जीवात्मप्राप्तिपश्चात् (इतराभिः) जीवात्मभिन्नाभिः परमात्मप्राप्ति-क्रियाभिः (शिवतमाभिः) अत्यन्तसुखकराभिः (शृतम्) परिपक्कज्ञानम् (कृधि) कुरु—जीवात्मानमिति शेषः ॥

१०—(अव सृज) त्यज । देहि—स्वात्मानमिति शेषः (पुनः) वारंवारम् (अग्ने) हे विद्वन् (पितृभ्यः) रक्षकमहापुरुषाणां हिताय (यः) आत्मा (ते) तुभ्यम् (आहुतः) समन्ताद् दत्तः (चरति) गच्छति (स्वधावान्) स्वधारणशक्तिमान् (आयुः) जीवनम् (वसानः) दधानः (उपयातु) आ-गच्छतु (शेषः) शिषॢ विशेषणे—अच् । विशेषगुणी (संगच्छताम्) (तन्वा)

(सं गच्छताम्) मिलता रहे ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की सेवा और परोपकार में स्वविश्वासी होकर विचरे और अपने जीवन को विशेष गुणी बनाकर लोक परलोक में कीर्त्ति पावे ॥ १० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ५ । और महर्षि दयानन्द-कृत संस्कारविधिअन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्राः ११—१३ ॥

श्वानौ देवते ॥ ११, १२ त्रिष्टुप् ; १३ विराड् जगती ॥

कालस्य सुप्रयोगोपदेशः—समय के सुप्रयोग का उपदेश ॥

अति द्रव श्वानौ सारमेयौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा । अधा पितॄन्त्सुविदत्राँ अपीहि यमेन ये सधमादं मदन्ति ११

अति । द्रव । श्वानौ । सारमेयौ । चतुःऽअक्षौ । शबलौ । साधुना । पथा ॥ अध । पितॄन् । सुऽविदत्रान् । अपि । इहि । यमेन । ये । सधऽमादम् । मदन्ति ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] तू (सारमेयौ) सार कर्मों से प्रमाण करने योग्य, (चतुरक्षौ) चार दिशाओं में व्यापक, (शबलौ) चितकबरे (श्वानौ) दो चलने वाले [राति दिन] को (साधुना) धर्म के साधने वाले (पथा) मार्ग से (अति) पार करके (द्रव) चल । (अध) तब (सुविदत्रान्) बड़े ज्ञानी (पितॄन्) पितरों [रक्षक महापुरुषों] को (अपि) निश्चय करके (इहि)

उपकारशक्त्या (सुवर्चाः) महातेजस्वी ॥

११—(अति) अतीत्य (द्रव) गच्छ (श्वानौ) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । गमनशीलौ रात्रिदिवसौ (सारमेयौ) सार+माङ् माने—यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । इति ईत्वम् । सारकर्मभिः प्रमेयौ प्रतिपादनीयौ बोधनीयौ (चतुरक्षौ) अक्षू व्याप्तौ-अच् । चतसृषु दिक्षु व्यापकौ (शबलौ) कर्बुरवर्णौ । श्यामश्वेतौ (साधुना) साध संसिद्धौ-उण् । धर्मसाधकेन (पथा) मार्गेण (अध) अथ । अनन्तरम् (पितॄन्) पालकान् महापुरुषान् (सुविदत्रान्) महाज्ञानान् (अपि) अवश्यम्

प्राप्त हो, (ये) जो [पितर] (यमेन) न्यायकारी परमात्मा के साथ (सधमादम्) मिले हुये हर्ष को (मदन्ति) भोगते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य गमनशील समय का धर्म मार्ग में सुप्रयोग करते हैं, वे महाविद्वानों के समान परमात्मा से मिलकर मोक्ष सुख भोगते हैं ॥ ११ ॥

मन्त्र ११—१३ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १४ । १०—१२ ॥

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिषदी नृचक्षसा ।
ताभ्यां राजन् परि धेह्येनं स्वस्त्यस्मा अनमीवं च धेहि ॥१२॥

यौ । ते । श्वानौ । यम । रक्षितारौ । चतुः-अक्षौ । पथिसदी इति पथि-सदी । नृ-चक्षसा ॥ ताभ्याम् । राजन् । परि । धेहि । एनम् । स्वस्ति । अस्मै । अनमीवम् । च । धेहि ।१२

भाषार्थ—(यम) हे संयमी मनुष्य ! (यौ) जो (चतुरक्षौ) चारो दिशाओं में व्यापक, (पथिषदी) मार्ग में बैठने वाले, (नृचक्षसा) नेता पुरुषों से देखने योग्य (श्वानौ) दो चलने वाले [राति दिन] (ते) तेरे (रक्षितारौ) दो रक्षक हैं । (राजन्) हे ऐश्वर्यवान् जीव ! (ताभ्याम्) उन दोनों [राति दिन] को (एनम्) यह [अपना आत्मा] (परि धेहि) सौंप दे, और (अस्मै) इस [अपने आत्मा] को (स्वस्ति) सुन्दर सत्ता [बड़ा कल्याण] (च) और (अनमीवम्) नीरोगता (धेहि) दे ॥ १२ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो तुम पूर्ण भक्ति से अपने समय को धर्म में

(इहि) प्राप्नुहि (यमेन) न्यायकारिणा परमात्मना (ये) पितरः (सधमादम्) सहहर्षम् (मदन्ति) हर्षन्ति । सेवन्ते ॥

१२—(यौ) रात्रिदिवसौ (ते) तव (श्वानौ) म० ११ । गमनशीलौ (यम) हे संयमिन् जीव (रक्षितारौ) रक्षकौ (चतुरक्षौ) म० ११ । चतसृषु दिक्षु व्यापकौ (पथिषदी) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—इन् । मार्गे सीदन्तौ व्यापकौ (नृचक्षसा) नेतृमनुष्यैर्द्रष्टव्यौ (ताभ्याम्) रात्रिदिवसाभ्याम् (राजन्) ऐश्वर्यवन् पुरुष (परि धेहि) डु धाञ् दाने । समर्पय (एनम्) स्वात्मानम् (स्वस्ति) सुसत्ताम् । महत्कल्याणम् (अस्मै) स्वात्मने (अनमीवम्) नैरोग्यम् (च) (धेहि) देहि ॥

लगाओगे, तौ तुम नीरोग रह कर सदा आनन्द भोगोगे ॥ १२ ॥

उरूणसावसुतृपावुदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु ।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम् ॥ १३ ॥

उरु-नसौ । असु-तृपौ । उदुम्बलौ । यमस्य । दूतौ । चरतः । जनान् । अनु ॥ तौ । अस्मभ्यम् । दृशये । सूर्याय । पुनः । दाताम् । असुम् । अद्य । इह । भद्रम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(यमस्य) संयमी पुरुष के (दूतौ) उत्तेजक (उरुणसौ) बड़ी गति वाले, (असुतृपौ) बुद्धि को तृप्त करने वाले, (उदुम्बलौ) दृढ़ बल वाले दोनों [राति दिन] (जनान् अनु) मनुष्यों में (चरतः) विचरते हैं। (तौ) वे दोनों (अस्मभ्यम्) हम लोगों को (सूर्याय दृशये) सर्वप्रेरक परमात्मा के देखने के लिये (अद्य) अब (इह) यहां पर (असुम्) बुद्धि और (भद्रम्) आनन्द (पुनः) बारम्बार (दाताम्) देते रहें ॥ १३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य समय के लक्षणों को पूरा विचार कर ऐसा प्रयत्न करें कि वे दोनों राति दिन अपने लिये बुद्धि और आनन्द बढ़ाते रहें ॥ १३ ॥

मन्त्राः १४—१८॥

यमो देवता ॥ १४—१८ अनुष्टुप् छन्दः ॥

विद्वत्संगत्या वृद्ध्युपदेशः—विद्वानों के सत्संग से बढ़ती का उपदेश ॥

१३—(उरुणसौ) णस कौटिल्ये गतौ च—क्विप्। नसतेर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। विस्तीर्णगतिमन्तौ (असुतृपौ) प्रज्ञातर्पकौ (उदुम्बलौ) उड संहतौ सौ० धा०—कु, डस्य दः, यद्वा उन्दी क्लेदने—कु + बल संवरणे—खच्। संहतबलौ। दृढबलौ। रात्रिदिवसौ (यमस्य) संयमिनः पुरुषस्य (दूतौ) दुतनिभ्यां दीर्घश्च। उ० ३। ९०। टु दु उपतापे, यद्वा, दु गतौ—क्त। उपतापकौ। उत्तेजकौ (चरतः) विचरतः (जनान्) मनुष्यान् (अनु) अनुलक्ष्य (तौ) तादृशौ रात्रिदिवसौ (अस्मभ्यम्) (दृशये) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। दृशिर् प्रेक्षणे-इप्रत्ययः, कित्। दर्शनाय (सूर्याय) सर्वप्रेरकाय परमेश्वराय (पुनः) वारंवारम् (दाताम्) लोडर्थे लुङ्, अडभावः। दत्ताम् (असुम्) प्रज्ञाम् (अद्य) इदानीम् (इह) अत्र (भद्रम्) कल्याणम् ॥

सोम॒ एके॑भ्यः पवते घृ॒तमेक॒ उपा॑सते ।
येभ्यो॒ मधु॑ प्र॒धाव॑ति॒ तांश्चि॑दे॒वापि॑ गच्छतात् ॥ १४ ॥

सोमः॑ । एके॑भ्यः । प॒व॒ते॒ । घृ॒तम् । एके॑ । उप॑ । आ॒स॒ते॒ ॥ येभ्यः॑ । मधु॑ । प्र॒ऽधाव॑ति । तान् । चि॒त् । ए॒व । अपि॑ । ग॒च्छ॒ता॒त् ॥ १४

भाषार्थ—(सोमः) ऐश्वर्य (एकेभ्यः) किन्हीं किन्हीं [विद्वानों] को (पवते) मिलता है, (घृतम्) सार पदार्थ को (एके) कोई कोई [विद्वान्] (उप आसते) सेवते हैं। (येभ्यः) जिन [विद्वानों] को (मधु) विज्ञान (प्रधावति) शीघ्र प्राप्त होता है, (तान्) उन [सब महात्माओं] को (चित्) सत्कार से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐश्वर्यवान्, तत्त्ववेत्ता, विज्ञानी पुरुषों को प्राप्त होकर उन्नति करें ॥ १४ ॥

मन्त्र १४-१८ कुछ भेद वा अभेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १५४ । १, ४, २, ३, ५ । और मन्त्र १४—१७—ऋग्वेद पाठ से महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

ये चि॒त् पूर्व॑ ऋ॒तसा॑ता ऋ॒तजा॑ता ऋता॒वृधः॑ ।
ऋषी॑न् तप॑स्वतो यम तपो॒जाँ अपि॑ गच्छतात् ॥ १५ ॥

ये । चि॒त् । पूर्वे॑ । ऋ॒त॒ऽसा॑ताः । ऋ॒त॒ऽजा॑ताः । ऋ॒त॒ऽवृधः॑ ॥ ऋषी॑न् । तप॑स्वतः । य॒म॒ । त॒पः॒ऽजान् । अपि॑ । ग॒च्छ॒ता॒त् १५

भाषार्थ—(ये) जो (चित्) ही (पूर्वे) पहिले [पूर्ण विद्वान्]

१४—(सोमः) ऐश्वर्यम् (एकेभ्यः) केभ्यश्चिद् विद्वद्भ्यः (पवते) पवतेर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छति । प्राप्नोति (घृतम्) सारपदार्थम् (एके) केचिद् विद्वांसः (उपासते) उपभुञ्जते । सेवन्ते (येभ्यः) (मधु) विज्ञानम् (प्रधावति)प्रकर्षेण शीघ्रं गच्छति (तान्) विदुषः पुरुषान् (चित्) सत्कारे (एव) निश्चयेन (अपि) अवश्यम् (गच्छतात्) गच्छ । प्राप्नुहि ॥

१५—(ये) विद्वांसः (चित्) एव (पूर्वे) प्रथमश्रेणिस्थाः । पूर्णविद्वांसः

(ऋतसाताः) सत्य धर्म से सेवन किये गये, (ऋतजाताः) सत्य धर्म से प्रसिद्ध हुये और (ऋतावृधः) सत्य धर्म से बढ़ने और बढ़ाने वाले हैं। (यम) हे यम ! [संयमी पुरुष] (तपस्वतः) उन तपस्वी, (तपोजान्) तप से प्रकट हुये (ऋषीन्) ऋषियों को (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो महात्मा पूर्ण श्रद्धा से अनुष्ठान करके सत्य वैदिक धर्म का उपदेश करते हैं, और जिन्होंने अपने पूर्व जन्म के पुण्य से तथा अपने माता पिता के तप से ऋषि पद पाया है, मनुष्य उनके सत्संग से अपनी उन्नति करें ॥ १५ ॥

तपसा ये अनाधृष्यास्तपसा ये स्वर्य्युः ।

तपो ये चक्रिरे महस्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १६ ॥

तपसा । ये । अनाधृष्याः । तपसा । ये । स्वः । ययुः ॥ तपः । ये । चक्रिरे । महः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १६

भाषार्थ—(ये) जो [विद्वान्] (तपसा) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] से (अनाधृष्याः) नहीं दबने वाले हैं और (ये) जिन्होंने (तपसा) तप से (स्वः) स्वर्ग [आनन्द पद] (ययुः) पाया है । और (ये) जिन्होंने (तपः) तप [ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन] को (महः) अपना महत्त्व (चक्रिरे) बनाया है, (तान्) उन [महात्माओं] को (चित्) सत्कार

(ऋतसाताः) षण संभक्तौ—क्त । जनसनखनां सञ्झलोः । पा० ६ । ४ । ४२ । इत्यात्वम् । सत्यधर्मेण सेविताः (ऋतजाताः) सत्यधर्मेण प्रादुर्भूताः प्रसिद्धाः (ऋतावृधः) सत्यधर्मेण वर्धितारो वर्धयितारश्च (ऋषीन्) वेदार्थदर्शिनः पुरुषान् (तपस्वतः) ब्रह्मचर्यवेदाध्ययनयुक्तान् (यम) हे संयमिन् पुरुष (तपोजान्) तपसा जातान् (अपि) अवश्यम् (गच्छतात्) गच्छ ॥

१६—(तपसा) ब्रह्मचर्यसेवनेन वेदाध्ययनेन च (ये) महात्मानः (अनाधृष्याः) धर्षितुमशक्याः । दुर्धर्षाः । अहिंसनीयाः (तपसा) (ये) (स्वः) सुखपदम् (ययुः) प्रापुः (तपः) ब्रह्मचर्यसेवनं वेदाध्ययनं च (ये)

से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो महर्षि ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन को अपना महत्त्व समझ कर आनन्द पाते हैं, मनुष्य उन से शिक्षा लेकर ब्रह्मचर्य सेवन और वेदाध्ययन से महान् होकर सुखी होवे ॥ १६ ॥

ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो ये तनूत्यजः ।
ये वा सहस्रदक्षिणास्तांश्चिदेवापि गच्छतात् ॥ १७ ॥

ये । युध्यन्ते । प्र-धनेषु । शूरासः । ये । तनू-त्यजः ॥ ये । वा । सहस्र-दक्षिणाः । तान् । चित् । एव । अपि । गच्छतात् १७

भाषार्थ—(ये) जो [वीर] (प्रधनेषु) संग्रामों में (युध्यन्ते) युद्ध करते हैं, और (ये) जो (शूरासः) शूर (तनूत्यजः) शरीर का बलिदान करने वाले [वा उपकार का दान करने वाले] हैं। (वा) और (ये) जो (सहस्रदक्षिणाः) सहस्रों प्रकार की दक्षिणा देने वाले हैं, (तान्) उन [महात्माओं] को (चित्) सत्कार से (एव) ही (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १७ ॥

भावार्थ—जैसे शूरवीर पुरुष धर्म युद्ध में अपने को बलिदान करके संसार में शान्ति स्थापित करते हैं, वैसे ही मनुष्यों को दुष्कर्मियों के दण्ड देने में सदा उद्यत रहना चाहिये ॥ १७ ॥

सहस्रणीथाः कवयो ये गोपायन्ति सूर्यम् ।
ऋषीन् तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात् ॥ १८ ॥

(चक्रिरे) कृतवन्तः (महः) स्वमहत्त्वम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

१७—(ये) वीराः (युध्यन्ते) शस्त्राणि संप्रहरन्ति (प्रधनेषु) संग्रामेषु (शूरासः) शूराः पराक्रमिणः (ये) (तनूत्यजः) तनु विस्तारे तन उपकारे च—ऊ+त्यज हानौ दाने च—क्विप् । शरीराणां त्यक्तारः । उपकारस्य दातारः (ये) (वा) चार्थे (सहस्रदक्षिणाः) सहस्राणि दक्षिणाः प्रतिष्ठापदानि दत्तानि यैस्ते । अन्यत् पूर्ववत्—म० १४ ॥

सहस्र-नीथाः । कवयः । ये । गोपायन्ति । सूर्यम् ॥ ऋषीन् । तपस्वतः । यम । तपः-जान् । अपि । गच्छतात् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सहस्रणीथाः) सहस्रों [योधाओं] के नेता (कवयः) बुद्धिमान् लोग (सूर्यम्) सर्वप्रेरक मनुष्य की (गोपायन्ति) रक्षा करते हैं। (यम) हे यम ! [संयमी पुरुष] (तपस्वतः) उन तपस्वी (तपोजान्) तप से उत्पन्न हुये (ऋषीन्) ऋषियों को (अपि) अवश्य (गच्छतात्) तू प्राप्त हो ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने बुद्धिबल और कर्म से प्रधान नेता होकर सर्वहितैषी पुरुष की रक्षा करते हैं, सब लोग उनके अनुकरण से महान् होवें ॥१८॥

मन्त्रौ १९, २० ॥

पृथिवी देवता ॥ १९ गायत्री ; २० अनुष्टुप् छन्दः ॥

पृथिवीविद्योपदेशः—पृथिवी की विद्या का उपदेश ॥

स्योनास्मै भव पृथिव्यनृक्षरा निवेशनी ।
यच्छास्मै शर्म सुप्रथाः ॥ १९ ॥

स्योना । अस्मै । भव । पृथिवि । अनृक्षरा । नि-वेशनी ॥ यच्छ । अस्मै । शर्म । स-प्रथाः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी ! (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (स्योना) सुख देने हारी, (अनृक्षरा) बिना कांटे वाली और (निवेशनी) प्रवेश करने योग्य (भव) हो। और (सप्रथाः) विस्तार वाली तू (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (शर्म) शरण (यच्छ) दे ॥ १९ ॥

१८—(सहस्रणीथाः) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । सहस्र + णीञ् प्रापणे - क्थन् । सहस्राणां योद्धॄणां नेतारः (कवयः) मेधाविनः (ये) (गोपायन्ति) रक्षन्ति (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं मनुष्यम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० १५ ॥

१९—(स्योना) सुखप्रदा (अस्मै) पुरुषाय (भव) (पृथिवि) हे भूमे (अनृक्षरा) अकण्टका (निवेशनी) प्रवेशयोग्या (यच्छ) देहि (शर्म) शरणम् (सप्रथाः) प्रथसा विस्तारेण सहिता त्वम् ॥

भावार्थ—मनुष्य पृथिवी विद्या में निपुण होकर अनेक रत्नों और पदार्थों को प्राप्त करके निर्विघ्नता से आनन्द भोगें ॥ १६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । २२ । १५ तथा यजु० ३५ । २१ ॥

असंबाधे पृथिव्या उरौ लोके नि धीयस्व ।
स्वधा याश्चकृषे जीवन् तास्ते सन्तु मधुश्चुतः ॥ २० ॥ (८)

असम्-बाधे । पृथिव्याः । उरौ । लोके । नि । धीयस्व ॥
स्वधाः । याः । चकृषे । जीवन् । ताः । ते । सन्तु । मधु-श्चुतः ॥२०॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] (पृथिव्याः) पृथिवी के (असंबाधे) बाधा रहित, (उरौ) विस्तीर्ण (लोके) स्थान में (नि) दृढ़ता से (धीयस्व) तू ठहराया गया हो । (याः) जिन (स्वधाः) आत्मधारण शक्तियों को (जीवन्) जीवते हुये (चकृषे) तू ने किया है, (ताः) वे [सब शक्तियां] (ते) तेरे लिये (मधुश्चुतः) ज्ञान की बरसाने वाली (सन्तु) होवें ॥ २० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विघ्नों को हटाकर दृढ़ता से पृथिवी पर श्रेष्ठ पदार्थ खोजते जाते हैं, वे आत्मविश्वासी सदा सुख पाते हैं ॥ २० ॥

मन्त्राः २१—३० ॥

पितरो देवताः ॥ २१, २६ भुरिक् त्रिष्टुप् ; २२, २३, २५, ३० अनुष्टुप् ; २४ आर्षी गायत्री ; २७, २८ त्रिष्टुप् ; २६ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

मनुष्याणां पितॄन् प्रति कर्त्तव्योपदेशः—मनुष्यों का पितरों के साथ कर्त्तव्य का उपदेश ॥

२०—(असम्बाधे) संबाधारहिते । निर्विघ्ने (पृथिव्याः) भूमेः (उरौ) विस्तृते (लोके) स्थाने (नि) निश्चयेन (धीयस्व) दधातेः कर्मणि यक् । धारितो भव (स्वधाः) स्वधारणशक्तीः (याः) (चकृषे) त्वं कृतवानसि (जीवन्) प्राणान् धारयन् सन् (ताः) शक्तयः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (मधुश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । ज्ञानस्य क्षारयित्र्यो वर्षयित्र्यः ॥

ह्वया॑मि ते॒ मन॑सा॒ मन॑ इ॒हेमान् गृ॒हाँ उप॑ जुजुषा॒ण एहि॑।
सं ग॑च्छस्व पि॒तृभिः॒ सं य॒मेन॑ स्यो॒नास्त्वा॒ वाता॒ उप॑ वान्तु
शुग्माः ॥ २१ ॥

ह्वया॑मि । ते॒ । मन॑सा । मनः॑ । इ॒ह । इ॒मान् । गृ॒हान् । उप॑ ।
जु॒जु॒षा॒णः । आ । इ॒हि॒ ॥ सम् । ग॒च्छ॒स्व॒ । पि॒तृ-भिः॑ ।
सम् । य॒मेन॑ । स्यो॒नाः । त्वा॒ । वाताः॑ । उप॑ । वा॒न्तु॒ । शु॒ग्माः॥२१

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (ते) तेरे (मनः) मन को (मनसा) [अपने] मन के साथ (इह) यहां (ह्वयामि) मैं बुलाता हूं, (इमान्) इन (गृहान्) घरों [घर वालों] को (उप) आदर से (जुजुषाणः) प्रसन्न करता हुआ तू (आ इहि) आ । (पितृभिः) पितरों [रक्षक महात्माओं] से और (यमेन) यम [न्यायकारी परमात्मा] से (सं सं गच्छस्व) तू भले प्रकार मिल, (स्योनाः) सुखदायक और (शग्माः) शक्ति वाले (वाताः) सेवनीय पदार्थ (त्वा) तुझ को (उप) यथावत् (वान्तु) प्राप्त होवें ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों को आदर पूर्वक बुलावें और उनसे उचित शिक्षा और परमेश्वर ज्ञान प्राप्त करके प्रयत्न के साथ उत्तम उत्तम पदार्थों द्वारा आनन्द पावें ॥ २१ ॥

इस मन्त्र का तीसरा पाद ऋग्वेद में है—१० । १४ । ८ ॥

२१—(ह्वयामि) आह्वयामि (ते) तव (मनसा) स्वान्तःकरणेन (मनः) अन्तःकरणम् (इह) अत्र (इमान्) दृश्यमानान् (गृहान्) गृहस्थान् (उप) आदरेण (जुजुषाणः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—कानच् । प्रीयमाणः (एहि) आगच्छ (सं सं गच्छस्व) अतिशयेन सङ्गतो भव (पितृभिः) पालकमहात्मभिः सह (यमेन) न्यायकारिणा परमात्मना सह (स्योनाः) सुखप्रदाः (त्वा) त्वाम् (वाताः) वात गतिसुखसेवनेषु-अच् । सेवनीयाः । पदार्थाः (उप) यथावत् (वान्तु) प्राप्नुवन्तु (शग्माः) युजिरुचितिजां कुश्च । उ० १ । १४६ । शकॢ शक्तौ—मक्, कस्य गः । शक्तिमन्तः ॥

उत् त्वा वहन्तु मरुत उदवाहा उदप्रुतः ।
अजेन कृण्वन्तः शीतं वर्षेणोक्षन्तु बालिति ॥ २२ ॥
उत् । त्वा । वहन्तु । मरुतः । उद-वाहाः । उद-प्रुतः ॥
अजेन । कृण्वन्तः । शीतम् । वर्षेण । उक्षन्तु । बाल् । इति २२

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (उदवाहाः) जल पहुंचाने वाले, (उदप्रुतः) जल में चलने वाले (मरुतः) पवन रूप विद्वान् लोग (त्वा) तुझे (उत् वहन्तु) ऊंचा पहुंचावें । और (अजेन) अजन्मे परमात्मा के साथ (वर्षेण) वृष्टि से (शीतम्) शीतलता (कृण्वन्तः) करते हुये वे [तुझ को] (उक्षन्तु) बढ़ावें—(बाल् इति) यही बल है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जैसे पवन अपने झकोरों से मेघों को चला वृष्टि करके ताप हटाकर संसार को सुख पहुंचाता है, वैसे ही विद्वान् लोग अज्ञान मिटा शान्ति के साथ मनुष्यों को ऊंचा करके शक्तिमान् करें ॥ २२ ॥

उदह्वमायुरायुषे क्रत्वे दक्षाय जीवसे ।
स्वान् गच्छतु ते मनो अधा पितॄँरुप द्रव ॥ २३ ॥
उत् । अह्वम् । आयुः । आयुषे । क्रत्वे । दक्षाय । जीवसे ॥
स्वान् । गच्छतु । ते । मनः । अध । पितॄन् । उप । द्रव २३

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (आयुः) [तेरे] जीवन को (आयुषे) [अपने] जीवन के लिये, (क्रत्वे) बुद्धि वा कर्म के लिये, (दक्षाय) बल के

२२—(उत्) ऊर्ध्वम् (त्वा) (वहन्तु) प्रापयन्तु (मरुतः) मरुतो ऋत्विङ्नाम—निघ० ३ । १८ । पवना इव विद्वांसः (उदवाहाः) कर्मण्यण् । पा० ३ । २ । १ । उदक+वह प्रापणे—अण्, उदकस्य उदभावः । जलस्य वोढारः प्रापयितारः (उदप्रुतः) प्रुङ् गतौ—क्विप् । जले गन्तारः (अजेन) अजन्मना परमात्मना (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (शीतम्) शैत्यम् (वर्षेण) वृष्टिजलेन (उक्षन्तु) उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ९ । वर्धयन्तु (बाल्) क्विब्वचिप्रच्छिश्रिस्रुद्रुप्रुज्वां दीर्घोऽसम्प्रसारणं च । उ० २ । ५७ । बल दाने जीवने वधे च—क्विप्, दीर्घश्च । बलम् (इति) एवम् ॥

२३—(उत्) उत्तमतया (अह्वम्) आहूतवानस्मि (आयुः) तव जीव-

लिये और (जीवसे) प्राण धारण [पराक्रम] के लिये (उत्) उत्तमता से (अह्वम्) मैं ने बुलाया है। (ते) तेरा (मनः) मन (स्वान्) अपने लोगों में (गच्छतु) जावे, (अध) और तू (पितॄन्) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (उप) आदर से (द्रव) दौड़ जा ॥ २३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के सत्संग से अपना आचरण, अपना ज्ञान, अपना शारीरिक और आत्मिक बल ठीक रख कर माता पिता आदि और सब महात्माओं के सदा कृतज्ञ रहें ॥ २३ ॥

मा ते मनो मासोर्माङ्गानां मा रसस्य ते ।
मा ते हास्त तन्वः किं चनेह ॥ २४ ॥

मा । ते । मनः । मा । असोः । मा । अङ्गानाम् । मा । रसस्य । ते ॥ मा । ते । हास्त । तन्वः । किम् । चन । इह ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (मा) न तो (ते) तेरा (मनः) मन, (मा) न (ते) तेरे (असोः) प्राण का (मा) न (अङ्गानाम्) अङ्गों का, (मा) न (रसस्य) रस [वीर्य] का, (मा) न (ते) तेरे (तन्वः) शरीर का (किं चन) कुछ भी (इह) यहां पर से (हास्त) चला जावे ॥ २४ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों से सुशिक्षित होकर प्रयत्न करे कि उसकी शारीरिक और आत्मिक अवस्था सदा स्वस्थ रहे ॥ २४ ॥

नम् (आयुषे) स्वजीवनहिताय (क्रत्वे) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १, प्रज्ञानाम ३ । ६ । क्रतवे । प्रज्ञायै, कर्मणे (दक्षाय) बलाय (जीवसे) प्राणधारणाय । पराक्रमाय (स्वान्) स्वकीयान् । ज्ञातीन् (गच्छतु) प्राप्नोतु (ते) तव (मनः) चित्तम् (अध) अपि च (पितॄन्) पालकान् महात्मनः (उप) आदरेण (द्रव) शीघ्रं गच्छ ॥

२४—(मा) निषेधे (ते) तव (मनः) चित्तम् (मा) (असोः) प्राणस्य (मा) (अङ्गानाम्) अवयवानाम् (मा) (रसस्य) वीर्यस्य (ते) (मा हास्त) ओ हाङ् गतौ—लुङ् । मा गच्छेत् (ते) (तन्वः) शरीरस्य (किं चन) किमपि (इह) अत्र । अस्माकं मध्यात् ॥

मा त्वा वृक्षः सं बाधिष्ट मा देवी पृथिवी मही।
लोकं पितृषु वित्त्वैधस्व यमराजसु ॥ २५ ॥

मा। त्वा। वृक्षः। सम्। बाधिष्ट। मा। देवी। पृथिवी। मही॥ लोकम्। पितृषु। वित्त्वा। एधस्व। यमराज-सु ॥२५॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझे (मा) न तो (वृक्षः) सेवनीय संसार और (मा) न (देवी) चलने वाली (मही) बड़ी (पृथिवी) पृथिवी (सं बाधिष्ट) कुछ बाधा देवे। (यमराजसु) यम [न्यायकारी परमात्मा] को राजा मानने वाले (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (लोकम्) स्थान (वित्त्वा) पाकर (एधस्व) तू बढ़ ॥ २५ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी मनुष्य संसार में विघ्नों को हटा, रत्नों की खानि पृथिवी से उपकार लेकर बड़े लोगों में पद पाकर बढ़ती करें ॥ २५ ॥

यत् ते अङ्गमतिहितं पराचैरपानः प्राणो य उं वा ते परेतः।
तत् ते संगत्य पितरः सनीडा घासाद् घासं पुनरा वेशयन्तु॥२६॥

यत्। ते। अङ्गम्। अति-हितम्। पराचैः। अपानः। प्राणः। यः। ऊं इति। वा। ते। परा-इतः॥ तत्। ते। सम्-गत्य। पितरः। स-नीडाः। घासात्। घासम्। पुनः। आ। वेशयन्तु॥२६॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो (ते) तेरा (अङ्गम्) [शारीरिक वा आत्मिक] अङ्ग (पराचैः) उलटा होकर (अतिहितम्) हट गया है,

---

२५—(मा बाधिष्ट) बाधृ विलोडने-लुङ्। मा पीडयेत् (त्वा) (वृक्षः) वृक्ष वरणे-कप्रत्ययः। सेवनीयः। संसारः (सम्) सम्यक् (मा) (देवी) दिवु गतौ-अच्। गतिमती (पृथिवी) (मही) विशाला (लोकम्) स्थानम् (पितृषु) पालकमहात्मसु (वित्त्वा) लब्ध्वा (एधस्व) वर्धस्व (यमराजसु) यमो न्यायकारी परमात्मा राजा येषां तेषु ॥

२६—(यत्) (ते) तव (अङ्गम्) अवयवः (पराचैः) पराङ्मुखम्। प्रतिकूलम् (अतिहितम्) अतीत्य धृतम् (अपानः) प्रश्वासः (प्राणः) श्वासः

(उ) और (ते) तेरा (यः) (अपानः) अपान [प्रश्वास] (वा) अथवा (प्राणः) प्राण [श्वास] (परेतः) विचल गया है । (सनीडाः) समान घर वाले (पितरः) पितर लोग [रक्षक महात्मा] (संगत्य) मिलकर (ते) तेरी (तत्) उस [हानि] को (पुनः) फिर (आ वेशयन्तु) भर देवें, [जैसे] (घासात्) घास से (घासम्) घास को [बांध देते हैं] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शारीरिक और आत्मिक दोषों को समझ कर विद्वानों की संमति से उनकी निवृत्ति करें ॥ २६ ॥

अपेमं जीवा अरुधन् गृहेभ्यस्तं निर्वहत परि ग्रामादितः ।
मृत्युर्यमस्यासीद् दूतः प्रचेता असून् पितृभ्यो गमयां चकार २७

अप । इमम् । जीवाः । अरुधन् । गृहेभ्यः । तम् । निः । वहत । परि । ग्रामात् । इतः ॥ मृत्युः । यमस्य । आसीत् । दूतः । प्र-चेताः । असून् । पितृ-भ्यः । गमयाम् । चकार ॥२७

भाषार्थ—(इमम्) इस [ब्रह्मचारी] को (जीवाः) प्राणधारी [आचार्य आदि] लोगों ने (गृहेभ्यः) घरों के हित के लिये (अप) आनन्द से (अरुधन्) रोका था, (तम्) उस [ब्रह्मचारी] को (इतः) इस (ग्रामात्) ग्राम [विद्यालय] से (परि) सब ओर को (निः) निश्चय करके (वहत) तुम ले जाओ । (मृत्युः) मृत्यु [आत्मत्याग] (यमस्य) संयमी पुरुष का

(यः) (उ) चार्थे (वा) अथवा (ते) तव (परेतः) दूरे गतः (तत्) तत्सर्वम् (ते) तव (संगत्य) एकीभूय (पितरः) रक्षका महात्मानः (सनीडाः) समानगृहाः (घासात्) तृणात् (घासम्) तृणं यथा (पुनः) (आ वेशयन्तु) प्रवेशयन्तु ॥

२७—(अप) आनन्दे (इमम्) ब्रह्मचारिणम् (जीवाः) प्राणधारकाः । महात्मानः (अरुधन्) अवरोधेन धारितवन्तः (गृहेभ्यः) गृहाणां हिताय (तम्) ब्रह्मचारिणम् (निः) निश्चयेन (वहत) नयत (परि) परितः (ग्रामात्) समूहात् । विद्यालयमध्यात् (इतः) अस्मात् (मृत्युः) प्राणत्यागः । आत्मत्यागः

(दूतः) उत्तेजक, (प्रचेतः) ज्ञान करने वाला (आसीत्) हुआ है, उसने (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (असून्) प्राण (गमायाम् चकार) भेजे हैं ॥ २७ ॥

भावार्थ—आचार्य लोग ब्रह्मचारियों को विद्यालय में उत्तम शिक्षा देने तक रक्खें और विद्या समाप्ति पर उन को उपदेश करें कि वे परिश्रम के साथ आत्म त्याग करके अर्थात् आपा छोड़ कर संसार का उपकार करें, जैसे कि महात्मा लोग आपा छोड़कर विद्या द्वारा आत्मबल प्राप्त करके उपकारी होते हैं ॥ २७ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

ये दस्यवः पितृषु प्रविष्टा ज्ञातिमुखा अहुतादश्चरन्ति । परापुरो निपुरो ये भरन्त्यग्निष्टानस्मात् प्र धमाति यज्ञात् ॥२८॥

ये । दस्यवः । पितृषु । प्र-विष्टाः । ज्ञाति-मुखाः । अहुत-अदः । चरन्ति ॥ परा-पुरः । नि-पुरः । ये । भरन्ति । अग्निः । तान् । अस्मात् । प्र । धमाति । यज्ञात् ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (ज्ञातिमुखाः) बन्धुओं के समान मुख वाले [छल से हित बोलने वाले], (अहुतादः) बिना दिया हुआ खाने वाले (दस्यवः) डाकू लोग (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (प्रविष्टाः) प्रविष्ट होकर (चरन्ति) विचरते हैं । और (ये) जो [दुराचारी] (परापुरः)

(यमस्य) संयमिनः पुरुषस्य (आसीत्) अभवत् (दूतः) उत्तापकः । उत्तेजकः (प्रचेताः) प्रकृष्टानि चेतांसि यस्य सः । प्रचेतयिता । प्रज्ञापयिता (असून्) प्राणान् (पितृभ्यः) पालकमहात्मभ्यः (गमयांचकार) प्रेषयामास ॥

२८--(ये) (दस्यवः) महासाहसिकाश्चौरादयः (पितृषु) पालक—महात्मसु (प्रविष्टाः) (ज्ञातिमुखाः) ज्ञातीनां मुखं वचनमिव वचनं येषां ते (अहुतादः) अहुतस्य अदत्तस्य भक्षकाः (चरन्ति) विचरन्ति (परापुरः) परा+पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १।१०२ । इत्युत्त्वम् । परा प्रातिकूल्येन पालनस्वभावान् (निपुरः) नि+पुर अग्रगतौ–क्विप् ।

उलटेपन से पालन स्वभावों को और (निपुरः) नीचपन से अगुआ होने की क्रियाओं को (भरन्ति) धारण करते हैं, (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुष (तान्) उन [दुष्टों] को (अस्मात्) इस (यज्ञात्) पूजा स्थान से (प्र धमाति) दूर भेजे ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य ऊपर से मीठा बोलकर दूसरों के पदार्थों को खा जावें और शिष्ट पुरुषों में मिल कर छल करें। विद्वान् राजा आदि प्रधान पुरुष उन अन्यायिओं को दण्ड देकर निकाल देवे ॥ २८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है--२। ३० ॥

सं विशन्त्विह पितरः स्वा नः स्योनं कृण्वन्तः प्रतिरन्त आयुः। तेभ्यः शकेम हविषा नक्षमाणा ज्योग् जीवन्तः शरदः पुरूचीः ॥ २९ ॥

सम्। विशन्तु। इह। पितरः। स्वाः। नः। स्योनम्। कृण्वन्तः। प्र-तिरन्तः। आयुः॥ तेभ्यः। शकेम। हविषा। नक्षमाणाः। ज्योक्। जीवन्तः। शरदः। पुरूचीः ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (स्योनम्) सुख (कृण्वन्तः) करते हुये और (आयुः) जीवन (प्रतिरन्तः) बढ़ाते हुये (पितरः) रक्षा करने वाले (स्वाः) बान्धव लोग (इह) यहां (सम्) मिलकर (विशन्तु) प्रवेश करें। (हविषा) भक्ति के साथ (नक्षमाणाः) चलते हुये और (ज्योक्) बहुत काल तक (पुरूचीः) अनेक (शरदः) वर्षों तक (जीवन्तः) जीवते हुये हम लोग (तेभ्यः) उन [बान्धवों] के लिये (शकेम) समर्थ होवें ॥२९॥

निकृष्टभावेन अग्रगमनक्रियाः (ये) (भरन्ति) धरन्ति (अग्निः) ज्ञानवान् पुरुषः (तान्) दुष्टान् (अस्मात) (प्रधमाति) धमतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४; वधकर्मा २। १९। बहिर्गमयेत् (यज्ञात्) पूजास्थानात् ॥

२९—(सम्) संगत्य (विशन्तु) प्रविशन्तु (इह) अस्मासु (पितरः) पालकाः (स्वाः) ज्ञातयः। बान्धवाः (नः) अस्मभ्यम् (स्योनम्) सुखम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (प्रतिरन्तः) वर्धयन्तः (आयुः) जीवनम् (तेभ्यः) स्वेभ्यः (शकेम) शक्ताः समर्था भवेम सेवितुम् (हविषा) आत्मदानेन। भक्त्या (नक्षमाणाः) गच्छन्तः (ज्योक्) चिरकालम् (जीवन्तः) प्राणान् धारयन्तः (शरदः) संवत्सरान् (पुरूचीः) पुरु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। बह्वीः ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने माता पिता आदि के प्रयत्न और आशीर्वाद से उन्नति करके और कीर्ति बढ़ा कर उनकी सेवा करते रहें ॥ २९ ॥

यां ते धेनुं निपृणामि यमु ते क्षीर ओदुनम् ।
तेना जनस्यासो भर्ता योऽत्रासदजीवनः ॥ ३० ॥ (९)

याम् । ते । धेनुम् । नि-पृणामि । यम् । ऊं इति । ते । क्षीरे । ओदनम् ॥ तेन । जनस्य । असः । भर्ता । यः । अत्र । असत् । अजीवनः ॥ ३० ॥

भाषार्थ—[हे महात्मन्] (ते) तेरे लिये (याम्) जिस (धेनुम्) दुधैल गौ को (उ) और (ते) तेरे लिये (यम् ओदनम्) जिस भात को (क्षीरे) दूध में (निपृणामि) मैं रखता हूं । (तेन) उसी [कारण] से तू (जनस्य) उस मनुष्य का (भर्ता) पोषक (असः) होवे, (यः) जो [मनुष्य] (अत्र) यहां (अजीवनः) निर्जीव [बिना जीविका, निर्बल] (असत्) होवे ॥ ३० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दुग्ध अन्न आदि से विद्वान् महात्माओं की सेवा करते हैं, वे पुरुषार्थी अपना जीवन निर्विघ्न बिताते हैं ॥ ३० ॥

मन्त्राः ३१—३३ ॥

मन्त्रः ३१ प्रजापतिः ; ३२ यमः ; ३३ सरण्यूर्देवता ॥ ३१ निचृत् त्रिष्टुप्; ३२, ३३ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरगुणोपदेशः—ईश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अश्वावतीं प्र तर या सुशेवार्क्षाकं वा प्रतरं नवीयः । यस्त्वा जघान वध्यः सो अस्तु मा सो अन्यद् विदत भागधेयम् ॥३१॥

३०—(याम्) (ते) तुभ्यम् (धेनुम्) दोग्ध्रीं गाम् (निपृणामि) पॄ पालनपूरणयोः । नितरां पालयामि । धरामि (यम्) (उ) चार्थे (क्षीरे) दुग्धे (ओदनम्) भक्तम् । सिद्धान्नम् (तेन) कारणेन (जनस्य) तस्य पुरुषस्य (असः) भवेः (भर्ता) पोषकः (यः) (अत्र) (असत्) भवेत् (अजीवनः) निर्जीवकः । निर्बलः ॥

अश्व-वतीम् । प्र । तर । या । सु-शेवा । ऋक्षाकम् । वा । प्र-तरम् । नवीयः ॥ यः । त्वा । जघान । वध्यः । सः । अस्तु । मा । सः । अन्यत् । विदत । भाग-धेयम् ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] तू (अश्वावतीम्) घोड़ों वाली [शक्ति] को (प्र तर) बढ़ा, (या) जो (सुशेवा) बड़े सुख देने वाली है, (वा) निश्चय करके [आगे] (ऋक्षाकम्) हिंसा मिटाने वाला (प्रतरम्) अधिक उत्तम (नवीयः) अधिक नवीन [स्थान] है। और (यः) जिस [अत्याचारी] ने (त्वा) तुझ [सदाचारी] को (जघान) मारा है [दुखाया है], (सः) वह (वध्यः) बध्य [मार डालने योग्य] (अस्तु) होवे, (सः) वह (अन्यत्) दूसरा (भागधेयम्) भाग (मा विदत) न पावे ॥ ३१ ॥

भावार्थ—संसार में मनुष्य शीघ्रगामी होकर आगे उत्तम उत्तम पद पाने का प्रयत्न करे और सब प्रकार के विघ्नों को हटाता रहे ॥ ३१ ॥

यमः परोऽवरो विवस्वान् ततः परं नाति पश्यामि किं चन ।
यमे अध्वरो अधि मे निविष्टो भुवो विवस्वानन्वाततान ॥३२

यमः । परः । अवरः । विवस्वान् । ततः । परम् । न । अति । पश्यामि । किम् । चन ॥ यमे । अध्वरः । अधि । मे । नि-विष्टः । भुवः । विवस्वान् । अनु-आततान ॥ ३२ ॥

३१—(अश्वावतीम्) मन्त्रे सोमाश्वेन्द्रिय० । पा० ६ । ३ । १३१ । इति मता दीर्घः । अश्वक्रियायुक्तां शक्तिम् (प्र तर) वर्धय (या) शक्तिः (सुशेवा) सुसुखा (ऋक्षाकम्) ऋक्ष हिंसायाम्—अच्, टाप्+कष वधे—ड । हिंसानाशकम् (वा) अवधारणे (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (नवीयः) नवीनतरं स्थानम् (यः) दुराचारी (त्वा) त्वां सदाचारिणम् (जघान) हतवान् दुःखं प्रापितवान् (वध्यः) वधार्हः (सः) दुराचारी (अस्तु) (मा विदत) विद्लृ लाभे—लुङ् । मा लभताम् (सः) (अन्यत्) बध्याद् भिन्नम् (भागधेयम्) भागम् ॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय (यमः) न्यायकारी परमात्मा (परः) दूर और (अवरः) समीप है, (ततः) उस से (परम्) बड़ा (किंचन) किसी वस्तु को भी (अति) उल्लंघन करके (न पश्यामि) नहीं देखता हूं। (यमे) न्यायकारी परमात्मा में (अध्वरः) हिंसा रहित व्यवहार (मे) मेरे लिये (अधि) सर्वथा (निविष्टः) स्थापित है, (विवस्वान्) प्रकाशमय परमात्मा ने (भुवः) सत्ताओं को (अन्वाततान) निरन्तर सब ओर फैलाया है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! परमात्मा सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और सर्वनियन्ता है, उस से बड़ा संसार में कुछ भी नहीं है, उसी ने सब लोकों को रचा है, तुम उसी की उपासना से अपनी उन्नति करो ॥ ३२ ॥

मन्त्र ३२ और ३३ महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत हैं ॥

अपागूहन्नमृतां मर्त्येभ्यः कृत्वा सवर्णामदधुर्विवस्वते ।
उताश्विनावभरद् यत् तदासीदजहादु द्वा मिथुना सरण्यूः ॥३३॥

अप । अगूहन् । अमृताम् । मर्त्येभ्यः । कृत्वा । स-वर्णाम् । अदधुः । विवस्वते ॥ उत । अश्विनौ । अभरत् । यत् । तत् । आसीत् । अजहात् । ऊं इति । द्वा । मिथुना । सरण्यूः ३३॥

भाषार्थ—(अमृताम्) अमर [नित्य प्रकृति, जगत् सामग्री] को

३२—(यमः) न्यायकारी परमात्मा (परः) दूरस्थः (अवरः) समीपस्थः (विवस्वान्) प्रकाशमयः (ततः) तस्मात् परमेश्वरात् (परम्) उत्कृष्टम् (न) निषेधे (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (पश्यामि) अवलोकयामि (यमे) न्यायकारिणि परमेश्वरे (अध्वरः) हिंसारहितो व्यवहारः (अधि) सर्वथा (मे) मह्यम् (निविष्टः) स्थापितः (भुवः) भू सत्तायाम्—क्विप् । सर्वाः सत्ताः । लोकान् (विवस्वान्) प्रकाशमयः परमेश्वरः (अन्वाततान) निरन्तरं समन्ताद् विस्तारितवान् ॥

३३—(अप) आनन्दे (अगूहन्) गुहू संवरणे-लङ् । अन्तर्हितां कृत-

(अप) सुख से (अगूहन्) उन [ईश्वर नियमों] ने गुप्त रक्खा और (मर्त्येभ्यः) मरण धर्मी [मनुष्य आदि प्राणियों] के हित के लिये [उसे] (सवर्णाम्) समान अङ्गीकार करने योग्य (कृत्वा) करके (विवस्वते) प्रकाशमय परमात्मा [की आज्ञा मानने] के लिये (अदधुः) उन्हों ने पुष्ट किया । (उत) और (यत्) जो कुछ [जगत्] (आसीत्) था, (तत्) उस [जगत्] ने (अश्विनौ) व्यापक प्राण और अपान को (अभरत्) धारण किया, (उ) और (सरण्यूः) व्यापक [प्रकृति, जगत् सामग्री] ने (द्वा) दो (मिथुना) जोड़ियाओं [स्त्री पुरुष] को (अजहात्) त्यागा [उत्पन्न किया] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—ईश्वर नियम से प्रकृति अर्थात् जगत् सामग्री प्रलय समय में अदृश्य रहती और सृष्टि काल में सर्वोपकारी होकर प्रकट होती है, तब यह जगत् प्राण और अपान द्वारा चेष्टा करता है और स्त्री पुरुष आदि प्राणी उत्पन्न होते हैं ॥ ३३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । २ ॥

मन्त्रौ ३४, ३५ ॥

पितरो देवताः । ३४ अनुष्टुप् ; ३५ त्रिष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरोंके सत्कार का उपदेश ॥

ये निखा॑ता॒ ये परो॑प्ता॒ ये द॒ग्धा ये चोद्धि॑ताः ।

सर्वा॒ँस्ताँन॑ग्न॒ आ व॑ह पि॒तॄन् ह॒विषे॒ अत्त॑वे ॥ ३४ ॥

ये । नि-खा॑ताः । ये । परा॑-उप्ताः । ये । द॒ग्धाः । ये । च॒ ।

वन्तः परमात्मनियमाः प्रलये (अमृताम्) नित्यां प्रकृतिम् । जगत्सामग्रीम् (मर्त्येभ्यः) मरणधर्मणां मनुष्यादिप्राणिनां हिताय (सवर्णाम्) समानवर्ण-नीयां स्वीकरणीयाम् (अदधुः) अधारयन् परमेश्वरनियमाः (विवस्वते) प्रकाशमयाय । परमात्माज्ञापालनाय (उत) अपि च (अश्विनौ) प्राणापानौ (अभरत्) अधरत् (यत्) जगत् (तत्) सर्वम् (आसीत्) (अजहात्) ओ हाक् त्यागे-लङ् । अत्यजत् । असृजत् (उ) चार्थे (द्वा) द्वौ (मिथुना) मिथुनौ । स्त्रीपुंसात्मकौ यमलौ (सरण्यूः) सृयुवचिभ्योऽन्युजागूजक्नुचः । उ० ३ । ८१ । सृ गतौ—अन्युच्, ऊङ् स्त्रियाम् । व्यापिका प्रकृतिः । जगत्सामग्री ॥

उत्ऽहिताः ॥ सर्वान् । तान् । अग्ने । आ । वह । पितॄन् । हविषे । अत्तवे ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष [ब्रह्मचर्य आदि सदाचार में] (निखाताः) दृढ़ गड़े हुये, (ये) जो (परोप्ताः) उत्तमता से बीज बोये गये, (ये) जो (दग्धाः) तपाये गये [वा चमकते हुये] (च) और (ये) जो (उद्धिताः) ऊंचे उठाये गये हैं । (अग्ने) हे विद्वान्! (तान् सर्वान्) उन सब (पितॄन्) पितरों [पिता आदि ज्ञानियों] को (हविषे) ग्रहण योग्य भोजन (अत्तवे) खाने के लिये (आ वह) तू ले आ ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो पुरुष दृढ़ स्वभाव, ब्रह्मचर्य सेवी, सुशिक्षित, परिश्रमी महाविद्वान् हों, उनका भोजन आदि से सदा सत्कार करें ॥ ३४ ॥

ये अ॒ग्नि॒द॒ग्धा ये अन॑ग्निदग्धा॒ मध्ये॑ दि॒वः स्व॒धया॑ मा॒दय॑न्ते ।
त्वं तान् वे॑त्थ॒ यदि॑ ते जातवेदः स्व॒धया॑ य॒ज्ञं स्वधि॑तिं जुषन्ताम् ॥ ३५ ॥

ये । अ॒ग्नि॒ऽद॒ग्धाः । ये । अन॑ग्निऽदग्धाः । मध्ये॑ । दि॒वः । स्व॒धया॑ । मा॒दय॑न्ते ॥ त्वम् । तान् । वे॒त्थ॒ । यदि॑ । ते । जात॒ऽवे॒दः॒ । स्व॒धया॑ । य॒ज्ञम् । स्वऽधि॑तिम् । जु॒षन्ता॒म् ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्निदग्धाः) अग्नि जलाने वाले [हवन आदि

३४—(ये) विद्वांसः (निखाताः) खनु अवदारणे—क्त । ब्रह्मचर्यादि-सदाचारे दृढतया स्थिताः (ये) (परोप्ताः) परा+डु वप बीजसन्ताने—क्त । उत्तमतया बीजवत् स्थापिताः (ये) (दग्धाः) दह दीप्तौ भस्मीकरणे च—क्त । ब्रह्मचर्यादिना तप्ताः। प्रदीप्यमानाः(ये) (च) (उद्धिताः) उत्+दधातेः—क्त । ऊर्ध्वं धृताः (सर्वान्) (तान्) (अग्ने) हे विद्वन् (आ वह) आनय (पितॄन्) पित्रादिरक्षकान् विद्वत्पुरुषान् (हविषे) द्वितीयार्थे चतुर्थी । हविः । ग्राह्यं पदार्थम् (अत्तवे) अद भक्षणे—तवेन् प्रत्ययः । अत्तुं भक्षितुम् ॥

३५—(ये) पुरुषाः (अग्निदग्धाः) अग्नय आहवनीयगार्हपत्यदाक्षि-

करने वाले गृहस्थ आदि] और (ये) जो (अनग्निदग्धाः) अग्नि को नहीं जलाने वाले पुरुष [आहवनीय आदि भौतिक यज्ञ अग्नि छोड़ देने वाले संन्यासी] (दिवः) ज्ञान के (मध्ये) बीच (स्वधया) आत्मधारण शक्ति से (मादयन्ते) आनन्द पाते हैं। (जातवेदः) हे पूर्ण ज्ञानी पुरुष ! (त्वम्) तू (तान्) उन को (यदि) जो (वेत्थ) जानता है, (ते) वे (स्वधया) अन्न के साथ (स्वधितिम्) स्वधारण शक्ति वाले (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] का (जुषन्ताम्) सेवन करें ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि हवन आदि यज्ञ करने वाले ब्रह्मचारी, गृथस्थ लोगों को और भौतिक अग्नि के यज्ञ को छोड़कर ज्ञान यज्ञ करने वाले संन्यासी विद्वानों को यथाविधि सत्कार से बुलावें और उन से श्रेष्ठ ज्ञान प्राप्त करें ॥ ३५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १५ । १४, १३ और यजुर्वेद-१६ । ७, ६७ ॥

भगवान् मनु ने इस आशय को इस प्रकार वर्णन किया है ॥ अध्याय ६ श्लोक ३६, ३८ ॥

अधीत्य विधिवद् वेदान् पुत्रांश्चोत्पाद्य धर्मतः ।
इष्ट्वा च शक्तितो यज्ञैर्मनो मोक्षे निवेशयेत् ॥ १ ॥
प्राजापत्यां निरूप्येष्टिं सर्ववेदसदक्षिणाम् ।
आत्मन्यग्नीन्समारोप्य ब्राह्मणः प्रव्रजेद् गृहात् ॥ २ ॥

विधि पूर्वक वेदों को पढ़कर और धर्म से सन्तानों को उत्पन्न कर के और यथाशक्ति यज्ञों को कर के मन को मोक्ष [अर्थात् सन्यासाश्रम] में

णात्या दग्धाः प्रज्वलिता यैस्ते ब्रह्मचारिणो गृहस्थाश्च (ये) (अनग्निदग्धाः) अग्नय आहवनीयादयो न दग्धाः प्रज्वलिता यैस्ते ज्ञानाग्निप्रदीपकाः सन्यासिनः (मध्ये) (दिवः) दिवु गतौ–डिवि । ज्ञानस्य (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (मादयन्ते) हृष्यन्ति (त्वम्) (तान्) पूर्वोक्तान् (वेत्थ) जानासि (यदि) (ते) पूर्वोक्ताः (जातवेदः) हे प्रसिद्धज्ञान विद्वन् (स्वधया) अन्नेन–निघ० २ । ७ (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (स्वधितिम्) धि धारणे–क्तिन् । स्वधारण-शक्तियुक्तम् (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् ॥

लगावे ॥ १ ॥

प्रजापति परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले, सर्वस्व दक्षिणा वाले यज्ञ को कर के आत्मा में [आहवनीय, गार्हपत्य और दाक्षिणात्य] अग्नियों को समारोपित करके ब्राह्मण, वेद और ईश्वर जानने वाला पुरुष, गृहाश्रम से संन्यास लेवे ॥ २ ॥

मन्त्रः ३६ ॥

अग्निर्देवता ॥ आर्ष्यनुष्टुप् छन्दः ॥

बलवर्धनोपदेशः—बल बढ़ाने का उपदेश ॥

शं तप मार्ति तपो अग्ने मा तन्वं तपः ।

वनेषु शुष्मो अस्तु ते पृथिव्यामस्तु यद्धरः ॥ ३६ ॥

शम् । तप । मा । अति । तपः । अग्ने । मा । तन्वम् । तपः ॥

वनेषु । शुष्मः । अस्तु । ते । पृथिव्याम् । अस्तु । यत् । हरः ३६

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! तू (शम्) शान्ति के लिये (तप) तप कर, [किसी को] (अति) अत्याचार से (मा तपः) मत तपा और [किसी के] (तन्वम्) शरीर को [अत्याचार से] (मा तपः) मत तपा [मत सता]। वनेषु) सेवनीय व्यवहारों में (ते) तेरा (शुष्मः) बल (अस्तु) होवे और (यत्) जो (हरः) [तेरा] तेज है, वह (पृथिव्याम्) पृथिवी पर (अस्तु) होवे ॥ ३६ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष संसार में शान्ति फैलाने के लिये शम दम आदि तप करे और किसी को किसी प्रकार न सतावे । इस विधि से बल बढ़ा उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके पृथिवी पर प्रतापी होवे ॥ ३६ ॥

मन्त्रः ३७ ॥

यमो देवता । विराड् जगती छन्दः ॥

३६—(शम्) शान्तये (तप) शमदमादितपः कुरु (अति) अत्याचारेण (मा तपः) मा तापय । मा दुःखय कमपि (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (तन्वम्) कस्यचिदपि शरीरम् (मा तपः) मा दुःखय (वनेषु) वन सेवने—अच् । सेवनीयव्यवहारेषु (शुष्मः) बलम् (अस्तु) (ते) तव (पृथिव्याम्) भूमौ (अस्तु) (यत्) (हरः) हरो हरतेः, ज्योतिर्हर उच्यते—निरु० ४ । १९ । तेजः ॥

परमात्माज्ञापालनोपदेशः--परमात्मा की आज्ञा पालने का उपदेश ॥

ददाम्यस्मा अवसानमेतद् य एष आगन् मम चेदभूदिह ।
यमश्चिकित्वान् प्रत्येतदाह ममैष राय उप तिष्ठतामिह ॥३७॥

ददामि । अस्मै । अव-सानम् । एतत् । यः । एषः । आ-अगन् । मम । च । इत् । अभूत् । इह ॥ यमः । चिकित्वान् । प्रति । एतत् । आह । मम । एषः । राये । उप । तिष्ठताम् । इह ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(एतद्) यह (अवसानम्) विश्राम (अस्मै) उस पुरुष को (ददामि) मैं देता हूं, (यः एषः) जो यह (आ-अगन्) आया है, (च) और (मम इत्) मेरा ही (इह) यहां (अभूत्) हुआ है, (मम) मेरा (एषः) यह पुरुष (राये) धन के लिये (इह) यहां पर (उप तिष्ठताम्) सेवा करे—(चिकित्वान्) ज्ञानवान् (यमः) न्यायकारी परमात्मा (एतत्) यह (प्रति) प्रत्यक्ष (आह) कहता है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—यह परमात्मा का वचन है कि जो पुरुष संसार के बीच उत्तम शरीर और ज्ञान पाकर मेरी शरण आते हैं, वे मेरे प्रीतिपात्र होकर लोक और परलोक में मोक्षरूप धन प्राप्त करते हैं ॥ ३७ ॥

मन्त्राः ३८—४५ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ ३८, ३९, ४१ गायत्री ; ४०, ४२-४४ भुरिग् गायत्री ; ४५ विराडनुष्टुप् ॥

मोक्षाय प्रयत्नोपदेशः-मोक्ष के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

३७—(ददामि) प्रयच्छामि (अस्मै) पुरुषाय (अवसानम्) विरामम् विश्रामम् (एतत्) प्रत्यक्षम् (यः) पुरुषः (एषः) विद्यमानः (आगन्) आगमत् (मम) मत्सम्बन्धी । मदुपासकः (च) (इत्) एव (अभूत्) (इह) अत्र संसारे (यमः) न्यायकारी परमात्मा (चिकित्वान्)सर्वं जानन् (प्रति) प्रत्यक्षम् (एतत्) वाक्यम् (आह) ब्रवीति (मम) मत्प्रीतिपात्रम् (एषः) पुरुषः (राये) मोक्षरूपाय धनाय (उपतिष्ठताम्) सेवताम् (इह) जगति ॥

इमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३८ ॥

इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ॥
शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (मिमीमहे) हम नापते हैं, (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता । (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सब प्राणी परमेश्वर की ही वेदोक्त आज्ञा में रहकर निबाह करते हैं, और चाहे कोई नास्तिक अपने जीवन भर अन्यथा प्रयत्न करे, तौ भी परमेश्वर के नियम को नहीं टाल सकता ॥ ३८ ॥

प्रेमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ३९ ॥

प्र । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न ।
मासातै ॥ शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (प्र) आगे बढ़कर (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ३९ ॥

३८—(इमाम्) वेदोक्ताम् (मात्राम्) मर्यादाम् (मिमीमहे) माङ् माने । मानेन जानीमः (यथा) यस्मात् कारणात् (अपरम्) अन्यप्रकारेण (न) निषेधे (मासातै) माङ् माने—लेट् । मानेन जानीयात् (शते) (शरत्सु) जीवनसंवत्सरेषु (नो) नैव (पुरा) पुरा प्रबन्धचिरातीतनिकटाऽऽगामिषु—इत्यव्ययार्थः । प्रबन्धेन निरन्तरेण ॥

३९—(प्र) प्रकर्षेण । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

अपे॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४० ॥ (१०)

अप॑ । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४० ॥ (१०)

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (अप) आनन्द से (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ४० ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४० ॥

वी३॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मासा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४१ ॥

वि । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (वि) विशेष करके (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ४१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४१ ॥

निरि॒मां मात्रां॑ मिमीमहे॒ यथाप॑रं॒ न मसा॑तै ।
श॒ते श॒रत्सु॒ नो पु॒रा ॥ ४२ ॥

निः । इ॒माम् । मात्रा॑म् । मि॒मी॒म॒हे॒ । यथा॑ । अप॑रम् । न । मासा॑तै ॥ श॒ते । श॒रत्-सु॑ । नो इति॑ । पु॒रा ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (निः) निश्चय करके (मिमीमहे) हम नापते हैं......[म० ३८] ॥ ४२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४२ ॥

४०—(अप) आनन्देन । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४१—(वि) विशेषेण । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

[illegible]

उदिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४३ ॥

उत् । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ॥ शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (उत्) उत्तमता से (मिमीमहे) हम नापते हैं......[मन्त्र ३८] ॥ ४३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४३ ॥

समिमां मात्रां मिमीमहे यथापरं न मासातै ।
शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४४ ॥

सम् । इमाम् । मात्राम् । मिमीमहे । यथा । अपरम् । न । मासातै ॥ शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(इमाम्) इस [वेदोक्त] (मात्राम्) मात्रा [मर्यादा] को (सम्) सब प्रकार (मिमीमहे) हम नापते हैं, (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता । (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३८ के समान ॥ ४४ ॥

अमासि मात्रां स्वरगामायुष्मान् भूयासम् ।
यथापरं न मासातै शते शरत्सु नो पुरा ॥ ४५ ॥

अमासि । मात्राम् । स्वः । अगाम् । आयुष्मान् । भूयासम् ॥ यथा । अपरम् । न । मासातै । शते । शरत्-सु । नो इति । पुरा ॥ ४५ ॥

४३—(उत्) उत्तमतया । अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४४—(सम्) सम्यक् ॥ अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

भाषार्थ—(मात्राम्) मात्रा [इस वेदोक्त मर्यादा] को (अमासि) मैं नापूं, (स्वः) सुख (अगाम्) पाऊं, और (आयुष्मान्) उत्तम जीवन वाला (भूयासम्) मैं हो जाऊं। (यथा) क्योंकि (अपरम्) अन्य प्रकार से [उस मर्यादा को, कोई भी] (न) नहीं (मासातै) नाप सकता, (शते शरत्सु) सौ वर्षों में भी (पुरा) लगातार (नो) कभी नहीं ॥ ४५ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य वेद विहित ईश्वर मर्यादा पर चल कर मोक्ष सुख प्राप्त करे, वेदविमुख पुरुष सारे जीवन भर भी प्रयत्न करने पर ईश्वर नियम को नहीं हटा सकता ॥ ४५ ॥

मन्त्राः ४६—४९ ॥

पितरो देवताः ॥ ४६ भुरिगनुष्टुप् । ४७ त्रिष्टुप् ; ४८ अनुष्टुप् ४९ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृगुणोपदेशः–पितरों के गुणों का उपदेश ॥

प्राणो अपानो व्यान आयुश्चक्षुर्दृशये सूर्याय ।
अपरिपरेण पथा यमराज्ञः पितॄन् गच्छ ॥ ४६ ॥

प्राणः । अपानः । वि-आनः । आयुः । चक्षुः । दृशये । सूर्याय ॥
अपरि-परेण । पथा । यम-राज्ञः । पितॄन् । गच्छ ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य ! तेरे] (प्राणः) प्राण [श्वास], (अपानः) अपान [प्रश्वास], (व्यानः) व्यान [सर्व शरीर व्यापक वायु], (आयुः) जीवन और (चक्षुः) नेत्र (सूर्याय दृशये) सर्वप्रेरक परमात्मा के देखने को [होवें]। (अपरिपरेण) इधर उधर न घूमने वाले [सर्वथा सीधे] (पथा)

४५—(अमासि) माङ् माने लिङर्थे लुङ्। अहं मासीय (मात्राम्) वेदोक्तमर्यादाम् (स्वः) सुखम् (अगाम्) इण् गतौ—लिङर्थे लुङ्। ईयासम्। प्राप्नुयाम् (आयुष्मान्) उत्तमजीवनयुक्तः (भूयासम्) अन्यत् पूर्ववत्—म० ३८ ॥

४६—(प्राणः) श्वासः (अपानः) प्रश्वासः (व्यानः) सर्वशरीरव्यापको वायुः (आयुः) जीवनम् (चक्षुः) नेत्रम् (दृशये) दर्शनाय। द्रष्टुम् (सूर्याय) सूर्यम्। सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (अपरिपरेण) छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि। पा० ५। २। ८९। अत्र परिपरशब्द इनिप्रत्ययान्तो दृश्यते।

मार्ग से (यमराज्ञः) यम [न्यायकारी परमात्मा] को राजा रखने वाले (पितॄन्) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (गच्छ) प्राप्त हो ॥ ४६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनन्यभाव से परमात्मा की प्राप्ति के लिये वेदानुयायी महात्माओं की शरण लेवे ॥ ४६ ॥

ये अग्रवः शशमानाः परेयुर्हित्वा द्वेषांस्यनपत्यवन्तः ।
ते द्यामुदित्याविदन्त लोकं नाकस्य पृष्ठे अधि दीध्यानाः ॥४७॥

ये । अग्रवः । शशमानाः । परा-ईयुः । हित्वा । द्वेषांसि । अनपत्य-वन्तः ॥ ते । द्याम् । उत्-इत्य । अविदन्त । लोकम् । नाकस्य । पृष्ठे । अधि । दीध्यानाः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अग्रवः) आगे चलने वाले, (शशमानाः) उद्योगी (अनपत्यवन्तः) अनैश्वर्य [दरिद्रता] न रखने वाले पुरुष (द्वेषांसि) द्वेषों को (हित्वा) छोड़कर (परेयुः) ऊंचे गये हैं। (ते) उन (दीध्यानाः) प्रकाशमान लोगों ने (द्याम्) प्रकाशमान विद्या को (उदित्य) उत्तमता से प्राप्त करके (नाकस्य) महासुख के (पृष्ठे) उपरि भाग में (लोकम्) स्थान (अधि) अधिकार पूर्वक (अविदन्त) पाया है ॥ ४७ ॥

परि परितः सर्वतः परः परभावो भिन्नभावः कुटिलभावो न विद्यते यस्मिन् तादृशेन महासरलेन (पथा) मार्गेण (यमराज्ञः) यमो न्यायकारी परमात्मा राजा येषां तान् (पितॄन्) पालकान्। महापुरुषान् (गच्छ) प्राप्नुहि ॥

४७—(ये) विद्वांसः (अग्रवः) मीपीभ्यां रुः। उ० ४। १०१। अग गतौ रुप्रत्ययः। अग्रगामिनः (शशमानाः) शश प्लुतगतौ—चानश्। प्लुतगमनशीलाः। उद्योगिनः (परेयुः) परा प्राधान्येन गताः (हित्वा) त्यक्त्वा (द्वेषांसि) विरोधान् (अनपत्यवन्तः) अघ्न्यादयश्च । उ० ४। ११२। द्विनञ्पूर्वात् पत ऐश्वर्ये—यक्। पत्यतेरैश्वर्यकर्मा—निघ० २। २१। अनैश्वर्यरहिताः। परमैश्वर्यवन्तः (ते) (द्याम्) प्रकाशमानां विद्याम् (उदित्य) उत्तमतया प्राप्य (अविदन्त) विद्लृ लाभे—लुङ्। अलभन्त (लोकम्) स्थानम् (नाकस्य) महासुखस्य (दीध्यानाः) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच्। दीप्यमानाः ॥

भावार्थ—विद्वान् उद्योगी महापुरुष ही पक्षपात छोड़ विद्या प्राप्त करके मोक्षसुख भोगते हैं ॥ ५७ ॥

उदन्वती द्यौरवमा पीलुमतीति मध्यमा ।
तृतीया ह प्रद्यौरिति यस्यां पितर आसते ॥ ४८ ॥

उदन्-वती । द्यौः । अवमा । पीलु-मती । इति । मध्यमा ॥
तृतीया । ह । प्र-द्यौः । इति । यस्याम् । पितरः । आसते ॥४८॥

भाषार्थ—(उदन्वती) थोड़े जल वाली [नदी के समान] (अवमा) थोड़ी (द्यौः) प्रकाशमान विद्या है, (पीलुमती) फूलों वाली [लता के समान] (मध्यमा इति) मध्यम विद्या है। (तृतीया) तीसरी (ह) निश्चय करके (प्रद्यौः इति) बड़े प्रकाश वाली [विद्या] है, (यस्याम्) जिस [बड़ी विद्या] में (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा लोग] (आसते) ठहरते हैं ॥ ४८ ॥

भावार्थ—छोटे विद्वान् छोटी नदी के समान, मध्यम विद्वान् केवल फल वाली लता के समान बाहिर से शोभायमान होते हैं, परन्तु पूर्ण विद्या प्राप्त करके सर्वोपकारी हो पितर अर्थात् पालनकर्ता कहाते हैं ॥ ४८ ॥

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् ॥
य आक्षियन्ति पृथिवीमुत द्यां तेभ्यः पितृभ्यो नमसा विधेम ४८

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये । आ-विविशुः ।

४८—(उदन्वती) उदन्वानुदधौ च । पा० ८ । २ । १३ । उदकस्य उदन् मतौ, निन्दायां मतुप् । अल्पजला नदी यथा (द्यौः) प्रकाशकर्मा विद्या—दयानन्द-भाष्ये, यजु० १८ । १८ । प्रकाशमाना विद्या (अवमा) अवद्यावमाधमार्वरेफाः कुत्सिते । उ० ५ । ५४ । अव रक्षणगतिवधादिषु—अमप्रत्ययः । कुत्सिता । अल्पा (पीलुमती) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ पील रोधने–कु । द्रुमप्रभेदमातङ्ग-काण्डपुष्पाणि पीलवः । अमरः २३ । १८३ । प्रसूनवती । पुष्पयुक्ता लता यथा (इति) पादपूरणे (मध्यमा) (तृतीया) (ह) निश्चयेन (प्रद्यौः) प्रकर्षेण दीप्यमाना विद्या (इति) (यस्याम्) विद्यायाम् (पितरः) पालका महात्मानः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

उरु । अन्तरिक्षम् ॥ ये । आ-क्षियन्ति । पृथिवीम् । उत । द्याम् । तेभ्यः । पितृ-भ्यः । नमसा । विधेम ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता के समान हैं, और (ये) जो [उसके] (पितामहाः) दादे के तुल्य हैं, और (ये) जो (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश में [विद्या बल से विमान आदि द्वारा] (आविविशुः) प्रविष्ट हुये हैं और (ये) जो (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) आकाश में (आक्षियन्ति) सब प्रकार शासन करते हैं, (तेभ्यः) उन (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] की (नमसा) अन्न से (विधेम) हम सेवा करें ॥ ४६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! जो तुम्हारे पिता दादे, परदादे आदि बड़े योगी विद्वान् होकर विद्याबल से विमान आदि द्वारा आकाश में पहुंचे हैं और जो पृथिवी और आकाश में राज्य करते हैं, उनका अन्न आदि से सत्कार करके अपनी उन्नति करो ॥ ४६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध आगे है—अथ० १८ । ३ । ५६ ।

मन्त्राः ५०—५२ ॥

भूमिर्देवता ॥ ५०, ५२ अनुष्टुप् ; ५१ भुरिगनुष्टुप् ॥

परमात्मोपासनोपदेशः—परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

इदमिद् वा उ नापरं दिवि पश्यसि सूर्यम् ।
माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (११)

इदम् । इत् । वै । ऊं इति । न । अपरम् । दिवि । पश्यसि ।

४६—(ये) माननीयाः (नः) अस्माकम् (पितुः) जनकस्य (पितरः) पितृतुल्यमाननीयाः (ये) (पितामहाः) पितामहसमानपूजनीयाः (ये) (आविविशुः) प्रविष्टा बभूवुः (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (ये) (आक्षियन्ति) क्षि ऐश्वर्यनिवासयोः । अन्तर्गतण्यर्थः । क्षयति क्षियति, ऐश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । समन्ताद्दर्शयन्ति । सम्यक् शासति (पृथिवीम्) (उत) अपि च (द्याम्) आकाशम् (तेभ्यः) तादृशेभ्यः (पितृभ्यः) पालकेभ्यो महात्मभ्यः (नमसा) अन्नेन (विधेम) परिचरेम—निघ० ३ । ५ ॥

सूर्य॑म् ॥ मा॒ता । पु॒त्रम् । यथा॑ । सि॒चा । अ॒भि । ए॒नम् ।
भू॒मे॒ । ऊ॒र्णु॒हि॒ ॥ ५० ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (इदम् इत्) यही [सर्वव्यापक ब्रह्म] (वै) निश्चय करके है, (उ) और (अपरम्) दूसरा (न) नहीं है, तू (दिवि) ज्ञान प्रकाश में (सूर्यम्) सर्वप्रेरक परमात्मा को (पश्यसि) देखता है ।

(यथा)जैसे (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने आंचल से, [वैसे](भूमे) हे सर्वाधार परमेश्वर ! (एनम्) इस [जीव] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढकले ॥ ५० ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वव्यापक है, उसके समान और कोई नहीं है, वह ज्ञान नेत्र से दीखता है । वह अपने शरणागत भक्तों की इस प्रकार सर्वथा रक्षा करता है,जैसे माता अपने छोटे बच्चों की वस्त्र आदि से रक्षा करतीहै५०

इस मन्त्र का उत्तरार्ध ऋग्वेद में है—१० । १८ । ११, और आगे है—अथर्व १८ । ३ । ५० ॥

इ॒दमिद्वा उ॒ नाप॑रं ज॒रस्य॒न्यदि॒तोऽप॑रम् ।
जा॒या पति॑मिव॒ वास॑सा॒भ्ये॒नं भूम ऊर्णु॑हि ॥ ५१ ॥

इ॒दम् । इ॒त् । वै । ऊं॒ इति॑ । न । अप॑रम् । ज॒रसि॑ । अ॒न्यत् ।
इ॒तः । अप॑रम् ॥ जा॒या । पति॑म्-इव । वास॑सा । अ॒भि ।
ए॒नम् । भू॒मे॒ । ऊ॒र्णु॒हि॒ ॥ ५१ ॥

५०—(इदम्) दृश्यमानम् । सर्वव्यापकं ब्रह्म (इत) एव (वै) निश्चयेन (उ) च (न) निषेधे (अपरम्) अन्यत् किंचित् (दिवि) ज्ञानप्रकाशे (पश्यसि) अवलोकयसि (सूर्यम्) सर्वप्रेरकं परमात्मानम् (माता) जननी (पुत्रम्) (यथा) येन प्रकारेण (सिचा) षिच क्षरणे—क्विप् । वस्त्रेण । चेलाञ्चलेन (अभि) सर्वतः (एनम्) जीवम् (भूमे) भवन्ति लोका यस्यां सा भूमिः परमेश्वरः । हे सर्वाधार परमात्मन् (ऊर्णुहि) आच्छादय । सर्वथा रक्ष ॥

भाषार्थ—(इदम् इत्) यही [सर्वव्यापक ब्रह्म] (वै) निश्चय करके है, (उ) और (जरसि) स्तुति में (इतः) इस [ब्रह्म] से (अन्यत्) भिन्न (अपरम् अपरम्) दूसरा कुछ भी (न) नहीं है।

(इव) जैसे (जाया) सुख उत्पन्न करने वाली पत्नी (पतिम्) पति को (वाससा) वस्त्र से, [वैसे] (भूमे) हे सर्वाधार परमेश्वर ! (एनम्) इस [जीव] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढकले ॥ ५१ ॥

भावार्थ—वह अद्वितीय सर्वान्तर्यामी जगदीश्वर अपने उपासकों को अपनी कृपा से ऐसा प्रसन्न रखता है, जैसे पत्नी पति को वस्त्र आदि की सेवा से प्रसन्न रखती है ॥ ५१ ॥

अभि त्वोर्णोमि पृथिव्या मातुर्वस्त्रेण भद्रया ।
जीवेषु भद्रं तन्मयि स्वधा पितृषु सा त्वयि ॥ ५२ ॥

अभि । त्वा । ऊर्णोमि । पृथिव्याः । मातुः । वस्त्रेण । भद्रया ॥ जीवेषु । भद्रम् । तत् । मयि । स्वधा । पितृषु । सा । त्वयि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे जीव !] (त्वा) तुझे (पृथिव्याः) जगत् के विस्तार करने वाले परमेश्वर के [दिये] (भद्रया) कल्याण से (अभि) सब ओर से (ऊर्णोमि) मैं ढकता हूं, [जैसे] (मातुः) माता के (वस्त्रेण) वस्त्र से [बालक को] । (जीवेषु) जीवों में (भद्रम्) [जो] कल्याण हो, (तत्) वह

५१—(अपरम् अपरम्) अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अन्यत् किंचिदपि (जरसि) जॄ स्तुतौ—असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । स्तुतौ (अन्यत्) (इतः) अस्मात् परब्रह्मणः (जाया) सुखोत्पादिका पत्नी (पतिम्) भर्तारम् (इव) यथा—अन्यत् पूर्ववत्—म० ५० ॥

५२—(अभि) अभितः । सर्वतः (त्वा) जीवम् (ऊर्णोमि) आच्छादयामि (पृथिव्याः) प्रथेः षिवन्० । उ० १ । १५० । प्रथ प्रख्याने—षिवन्, संप्रसारणं ङीष् च । प्रथयति विस्तारयति सर्वं जगत् सा पृथिवी परमेश्वरः । जगद् विस्तारकस्य परमेश्वरस्य (मातुः) जनन्याः (वस्त्रेण) वाससा यथा (भद्रया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्याप्रत्ययः । भद्रेण । कल्या-

(मयि) मुझ में [हो]. (पितृषु) पितरों [रक्षक महात्माओं] में (स्वधा) [जो] आत्म धारण शक्ति हो, (सा) वह (त्वयि) तुझ में होवे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य परमात्मा की शरण में रहकर इस प्रकार सुख पावे, जैसे बालक माता के पास पाता है, और ऐसा प्रयत्न करे कि सब प्राणी एक दूसरे के समान सुख पावें और ज्ञानी महात्माओं के समान आत्मावलम्बन करें ॥ ५२ ॥

मन्त्राः ५३–५५ ॥

पूषा देवता ॥ ५३, ५५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ५४ त्रिष्टुप् ॥

सन्मार्गगमनोपदेशः–सत्पुरुषों के मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

अग्नीषोमा पथिकृता स्योनं देवेभ्यो रत्नं दधथुर्वि लोकम् । उप प्रेष्यन्तं पूषणं यो वहात्यञ्जोयानैः पथिभिस्तत्र गच्छतम् ॥ ५३ ॥

अग्नीषोमा । पथि-कृता । स्योनम् । देवेभ्यः । रत्नम् । दधथुः । वि । लोकम् ॥ उप । प्र । ईष्यन्तम् । पूषणम् । यः । वहाति । अञ्जः-यानैः । पथि-भिः । तत्र । गच्छतम् ५३

भाषार्थ—(अग्नीषोमा) हे ज्ञानवान् और ऐश्वर्यवान् ! [स्त्री पुरुषो] (पथिकृता) मार्ग बनाने वाले तुम दोनों (देवेभ्यः) विद्वानों को (स्योनम्) सुख, (रत्नम्) रत्न और (लोकम्) स्थान (वि) विविध प्रकार (दधथुः) दो । (यः) जो [परमेश्वर] (अञ्जोयानैः) सीधे चलने वाले (पथिभिः)

येन (जीवेषु) प्राणिषु (भद्रम्) यत् कल्याणम् (तत्) (मयि) प्राणिनि (स्वधा) या स्वधारणशक्तिः (पितृषु) पालकेषु महात्मसु (सा) (त्वयि) प्राणिनि भवतु ॥

५३—(अग्नीषोमा) अग गतौ–नि + षू प्रसवैश्वर्ययोः—मन् । ज्ञानैश्वर्यवन्तौ स्त्रीपुरुषौ (पथिकृता) मार्गकर्तारौ (स्योनम्) सुखम् (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (रत्नम्) प्रशस्तं धनम् (दधथुः) लोडर्थे लिट् । धत्तम् । दत्तम् (वि) विविधम् (लोकम्) स्थानम् (उप) उपेत्य (प्र) प्रकर्षेण (ईष्यन्तम्)

मार्गों से [हम सब को] (वहाति) ले चलता है, (प्र ईष्यन्तम्) उस अच्छे प्रकार देखते हुये (पूषणम्) पोषक परमात्मा को (उप) प्राप्त होकर (तत्र) वहां [मार्गों में] (गच्छतम्) तुम दोनों चलो ॥ ५३ ॥

भावार्थ--सब स्त्री पुरुष विद्वानों का सब प्रकार सत्कार करके वेद-विहित मार्गों पर चल कर परमात्मा को साक्षात् करके परम आनन्द पावें ॥५३॥

पूषा त्वेतश्च्यावयतु प्र विद्वाननष्टपशुर्भुवनस्य गोपाः ।

स त्वैतेभ्यः परि ददत् पितृभ्योऽग्निर्देवेभ्यः सुविदत्रियेभ्यः ॥५४॥

पूषा । त्वा । इतः । च्यवयतु । प्र । विद्वान् । अनष्ट-पशुः । भुवनस्य । गोपाः ॥ सः । त्वा । एतेभ्यः । परि । ददत् । पितृ-भ्यः । अग्निः । देवेभ्यः । सु-विदत्रियेभ्यः ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(विद्वान्) सब जानने वाला, (अनष्टपशुः) जीवों का नाश नहीं करने वाला, (भुवनस्य) संसार का (गोपाः) रक्षक, (पूषा) पोषक परमात्मा (त्वा) तुझे (इतः) यहां से [इस दशा से] (प्र च्यवयतु) आगे को बढ़ावे । (सः) वह (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वर (त्वा) तुझे (एतेभ्यः) इन (देवेभ्यः) विद्वान् (सुविदत्रियेभ्यः) बड़े धन वाले (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (परि) सब प्रकार (ददत्) देवे ॥ ५४ ॥

ईष गतिहिंसादर्शनेषु—शतृ । पश्यन्तम् (पूषणम्) तं पोषकं परमात्मानम् (यः) पूषा परमात्मा (वहाति) लडर्थे लेट् । वहति । नयति (अञ्जोयानैः) अञ्जसा सरलभावेन गन्तृभिः (पथिभिः) मार्गैः (तत्र) तेषु मार्गेषु (गच्छतम्) ॥

५४—(पूषा) पोषकः परमात्मा (त्वा) त्वामुपासकम् (च्यवयतु) गमयतु (प्र) प्रकर्षेण (विद्वान्) (अनष्टपशुः) अनष्टा अहताः पशवः प्राणिनो येन स तथोक्तः (भुवनस्य) संसारस्य (गोपाः) गुपू रक्षणे-आय-प्रत्यये कृते क्विप्, अल्लोपयलोपौ । गोपायिता । रक्षकः (त्वा) (एतेभ्यः) (परि) सर्वतः (ददत्) दद्यात् (पितृभ्यः) पालकेभ्यो महात्मभ्यः (अग्निः) ज्ञानवान् परमेश्वरः (देवेभ्यः) विद्वद्भ्यः (सुविदत्रियेभ्यः) सुविदत्र-घप्रत्ययः । सुविदत्रं धनं भवति विन्दतेः-निरु० ७ । ६ । बहुधनार्हेभ्यः । महाधनिभ्यः ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वदर्शक, सर्वरक्षक, सर्वनियामक, जगदीश्वर की उपासना करके आगे बढ़े, जिस से वह बड़े बड़े विद्वानों में स्थान पावे ॥ ५४ ॥

मन्त्र ५४ अभेद से और मन्त्र ५५ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१०।१७।३,४॥

आयुर्विश्वायुः परि पातु त्वा पूषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात्।
यत्रासते सुकृतो यत्र त ईयुस्तत्र त्वा देवः सविता दधातु ॥५५

आयुः। विश्व-आयुः। परि। पातु। त्वा। पूषा। त्वा। पातु। प्र-पथे। पुरस्तात् ॥ यत्र। आसते। सु-कृतः। यत्र। ते। ईयुः। तत्र। त्वा। देवः। सविता। दधातु ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—(विश्वायुः) सब को अन्न देने वाला (आयुः) सर्वव्यापक परमात्मा (त्वा) तेरी (परि) सब ओर से (पातु) रक्षा करे, (पूषा) पोषक परमेश्वर (प्रपथे) उत्तम मार्ग में (पुरस्तात्) सामने से (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे । (यत्र) जहां [उत्तम स्थान में] (सुकृतः) सुकर्मी लोग (आसते) बैठते हैं, और (यत्र) जहां [उत्तम मार्ग में] (ते) वे (ईयुः) चले हैं, (तत्र) वहां [उस स्थान और मार्ग में] (त्वा) तुझको (देवः) प्रकाशमय (सविता) सर्वप्रेरक परमात्मा (दधातु) रक्खे ॥ ५५ ॥

भावार्थ—सर्वपालक, सर्वव्यापक, सर्वपोषक जगदीश्वर का आश्रय लेकर सदा सुकर्मी लोग सन्मार्ग पर चलते हैं, उसी जगत् पिता की शरण में रह कर प्रत्येक मनुष्य श्रेष्ठ मार्ग पर चल कर सुखी होवे ॥ ५५ ॥

५५—(आयुः) छन्दसीणः । उ० १ । २ । इण् गतौ—उण् । सर्वव्यापकः (विश्वायुः) आयुः, अन्नम्-निघ० २ । ७ । सर्वेभ्यः प्रापणीयमन्नं यस्मात् सः परमेश्वरः (परि) सर्वतः (पातु) (त्वा) (पूषा) पोषकः परमेश्वरः (त्वा) (पातु) (प्रपथे) प्रकृष्टे मार्गे (पुरस्तात्) अग्रे (यत्र) यस्मिन् श्रेष्ठस्थाने (आसते) उपविशन्ति (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (यत्र) सन्मार्गे (ते) सुकृतिनः (ईयुः) जग्मुः (तत्र) स्थाने मार्गे च (त्वा) (देवः) प्रकाशमयः (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (दधातु) धारयतु । स्थापयतु ॥

मन्त्रः ५६ ॥

परमात्मा देवता ॥ अनुष्टुप् छन्दः ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

इमौ युनज्मि ते वह्नी असुनीताय वोढवे ।

ताभ्यां यमस्य सदनं समितीश्चाव गच्छतात् ॥ ५६ ॥

इमौ । युनज्मि । ते । वह्नी इति । असु-नीताय । वोढवे ॥

ताभ्याम् । यमस्य । सदनम् । सम्-इतीः । च । अव ।

गच्छतात् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—(इमौ) इन (वह्नी) ले चलने वाले दोनों [प्राण और अपान] को (असुनीताय) बुद्धि से ले जाये गये (ते) तुझे (वोढवे) ले चलने के लिये (युनज्मि) मैं [परमेश्वर] युक्त करता हूं। (ताभ्याम्) उन दोनों [प्राण और अपान] के द्वारा (यमस्य) नियम के (सदनम्) प्राप्ति योग्य पद को (च) और (समितीः) समितियों [सभाओं] को (अव गच्छतात्) निश्चय से तू प्राप्त हो ॥ ५६ ॥

भावार्थ—परमात्मा आज्ञा देता है कि हे मनुष्य मैं ने प्राण अपान आदि बुद्धि सहित तुझे इस लिये दिये हैं कि तू नियम के साथ उत्तम पद प्राप्त करके सभाओं में प्रतिष्ठा पावे ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

मन्त्राः ५७—६० ॥

जीवात्मा देवता ॥ ५७ भुरिक् त्रिष्टुप् , ५८ निचृत् त्रिष्टुप् ; ५९ , ६० त्रिष्टुप् ॥

५६—(इमौ) शरीरे वर्तमानौ (युनज्मि) अहं परमेश्वरो योजयामि (ते) द्वितीयार्थे चतुर्थी । त्वाम् (वह्नी) वोढारौ प्राणापानौ (असुनीताय) असु-रिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थान्-निरु० १० । ३४ । प्रज्ञया नीतं प्रापितम् (वोढवे) वह प्रापणे—तवेन्प्रत्ययः । वोढुम् । नेतुम् (ताभ्याम्) प्राणापानाभ्यां द्वारा (यमस्य) नियमस्य (सदनम्) स्थानम् । पदम् (समितीः) सभाः (च) (अव) निश्च-येन (गच्छतात्) प्राप्नुहि ॥

सुकर्म करणोपदेशः—सुकर्म करने का उपदेश ॥

एतत् त्वा वासः प्रथमं न्वागन्नपैतदूह यदिहाबिभः पुरा ।
इष्टापूर्तमनुसंक्राम विद्वान् यत्र ते दत्तं बहुधा विबन्धुषु ॥५७॥

एतत् । त्वा । वासः । प्रथमम् । नु । आ । अगन् । अप । एतत् । ऊह । यत् । इह । अबिभः । पुरा ॥ इष्टापूर्तम् । अनु-संक्राम । विद्वान् । यत्र । ते । दत्तम् । बहु-धा । वि-बन्धुषु ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(एतत्) यह (प्रथमम्) मुख्य (वासः) वस्त्र (त्वा) तुझे (नु) अब (आ अगन्) प्राप्त हुआ है, (एतत्) इस [वस्त्र] को (अप ऊह) छोड़ (यत्) जो (इह) यहां पर (पुरा) पहिले (अबिभः) तू ने धारण किया है। (विद्वान्) विद्वान् तू (इष्टापूर्तम्) यज्ञ, वेदाध्ययन और अन्नदान आदि पुण्य कर्म के (अनुसंक्राम) पीछे पीछे चल, (यत्र) जिस [पुण्य कर्म] में (ते) तेरा (दत्तम्) दान (बहुधा) बहुत प्रकार से (विबन्धुषु) बिना बन्धु वालों [दीन, अनाथों] में है ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जैसे नवीन वस्त्र पाने पर जीर्ण वस्त्र छोड़ दिया जाता है, वैसे ही ज्ञान की प्राप्ति पर अज्ञान त्यागा जाता है। मनुष्य को चाहिये कि वेदाध्ययन आदि शुभकर्म करता हुआ निष्काम होकर परोपकार करे ॥ ५७ ॥

५७—(एतत्) इदं दृश्यमानम् (त्वा) त्वाम् (वासः) वस्त्रम् (प्रथमम्) मुख्यम् (नु) इदानीम् (आगन्) आगमत्। प्राप्नोत् (अप ऊह) ऊह वितर्के। परित्यज (एतत्) वस्त्रम् (यत्) वस्त्रम् (इह) अत्र संसारे (अबिभः) बिभर्त्तेर्लङ्। अधारयः (पुरा) पूर्वकाले (इष्टापूर्तम्) अ० २। १२। १४। यज्ञवेदाध्ययनान्नप्रदानादि पुण्यकर्म (अनुसंक्राम) अनुलक्ष्य गच्छ (विद्वान्) (यत्र) यस्मिन् पुण्यकर्मणि (ते) तव (दत्तम्) दानम् (बहुधा) बहुप्रकारेण (विबन्धुषु) विगतबान्धवेषु। दीनेषु ॥

अ॒ग्नेर्वर्म॒ परि॒ गोभि॒र्व्य॑यस्व॒ सं प्रोर्णु॑ष्व॒ मेद॑सा॒ पीव॑सा च।
नेत् त्वा॑ धृ॒ष्णुर्हर॑सा॒ जर्हृ॑षाणो दृ॒धृग् वि॑ध॒क्षन् प॑री॒ङ्खया॑तै ५८

अ॒ग्नेः। वर्म॑। परि॑। गोभिः॑। वि॒। व्य॒य॒स्व॒। सम्। प्र। ऊ॒र्णु॒ष्व॒। मेद॑सा। पीव॑सा। च॒॥ न। इत्। त्वा॒। धृ॒ष्णुः। हर॑सा। जर्हृ॑षाणः। दृ॒धृक्। वि॒-ध॒क्षन्। प॒रि॒-ई॒ङ्खया॑तै॥ ५८॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (अग्नेः) ज्ञानमय परमेश्वर के (वर्म) कवच [समान आश्रय] को (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा (परि) सब ओर से (व्ययस्व) तू पहिन और (मेदसा) ज्ञान से (च) और (पीवसा) वृद्धि से [अपने को] (सम्) सब प्रकार (प्र ऊर्णुष्व) ढके रख। (न इत्) नहीं तो (धृष्णुः) साहसी, (जर्हृषाणः) अत्यन्त हर्ष मनाने वाला, (दधृक्) निर्भय परमात्मा (त्वा) तुझ को (हरसा) [अपने] तेज से (विधक्षन्) विविध प्रकार सन्ताप देता हुआ (परीङ्खयातै) इधर उधर चला देगा॥ ५८॥

भावार्थ—सब मनुष्य वेदों के मनन से परमात्मा का आश्रय ले बुद्धि बढ़ाकर उन्नति करें, नहीं तो सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर के नियम से दुष्ट मूर्ख नरक भोगेगा॥ ५८॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १६। ७। और महर्षि दयानन्दकृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है॥

५८—(अग्नेः) ज्ञानमयस्य परमात्मनः (वर्म) कवचरूपमाश्रयम् (परि) सर्वतः (गोभिः) वेदवाग्भिः (व्ययस्व) व्येञ् संवरणे। संवृणु (सम्) सम्यक् (प्र) प्रकर्षेण (ऊर्णुष्व) आच्छादय (मेदसा) मेद मेधायाम्—असुन्। मेधया। ज्ञानेन (पीवसा) पीव स्थौल्ये-असुन्। वृद्ध्या (च) (न इत्) नो चेत् (त्वा) (धृष्णुः) धर्षकः। अविभविता (हरसा) स्वतेजसा (जर्हृषाणः) अत्यन्तं हृष्यन् (दधृक) ऋत्विग्दधृक्स्रग०। पा०। ३। २। ५९। धृष्णोतेः क्विन् द्वित्वमन्तोदात्तत्वं च। धृष्टः। प्रगल्भः (विधक्षन्) विविधं दग्धुं तापयितुमिच्छन् (परीङ्खयातै) इखि गतौ—लेट्। ईङ्खत इति गतिकर्मा—निघ० २। १४। सर्वथा चालयेत्॥

दण्डं हस्तादाददानो गतासोः सह श्रोत्रेण वर्चसा बलेन ।
अत्रैव त्वमिह वयं सुवीरा विश्वा मृधो अभिमातीर्जयेम ॥५९॥

दण्डम् । हस्तात् । आ-ददानः । गत-असोः । सह । श्रोत्रेण । वर्चसा । बलेन ॥ अत्र । एव । त्वम् । इह । वयम् । सु-वीराः विश्वाः । मृधः । अभि-मातीः । जयेम ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(गतासोः) प्राण छोड़े हुये [मृतक समान निरुत्साही] पुरुष के (हस्तात्) हाथ से (श्रोत्रेण) [अपने] श्रवण सामर्थ्य [विद्याबल], (वर्चसा) तेज और (बलेन सह) बल के साथ (दण्डम्) दण्ड [शासन पद] को (आददानः) लेता हुआ (त्वम्) तू (अत्र एव) यहां पर और (वयम्) हम (इह) यहां पर (सुवीराः) बड़े वीरों वाले होकर (विश्वाः) सब (मृधः) संग्रामों और (अभिमातीः) अभिमानी शत्रुओं को (जयेम) जीतें ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म में निरुत्साही हो, सब धर्मात्मा पुरुष उस दुराचारी को पदच्युत करके परास्त करें ॥ ५९ ॥

मन्त्र ५९ का उत्तरार्द्ध और मन्त्र ६० का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १८ । ९ ॥

धनुर्हस्तादाददानो मृतस्य सह क्षत्रेण वर्चसा बलेन ।
समागृभाय वसु भूरि पुष्टमर्वाङ् त्वमेह्युप जीवलोकम् ॥६०॥(१२)

धनुः । हस्तात् । आ-ददानः । मृतस्य । सह । क्षत्रेण । वर्चसा ।

५९—(दण्डम्) शासनाधिकारम् (हस्तात्) अधिकारात् (आददानः) गृह्णानः (गतासोः) विगतप्राणस्य । मृतकसदृशस्य (सह) (श्रोत्रेण) श्रवणसामर्थ्येन । विद्याबलेन (वर्चसा) तेजसा (बलेन) सामर्थ्येन (अत्र) अस्मिन् संसारे (एव) (त्वम्) (इह) (वयम्) पुरुषार्थिनः (सुवीराः) सुवीरवन्तः (विश्वाः) सर्वाः (मृधः) संग्रामान् (अभिमातीः) अभिमन्यमानान् शत्रून् (जयेम) अभिभवेम ॥

बलेन ॥ सुम्-आगृभाय । वसु । भूरि । पुष्टम् । अर्वाङ् । त्वम् । आ । इहि । उप । जीव-लोकम् ॥ ६० ॥ (१२)

भाषार्थ—(मृतस्य) मरे हुये [मरे हुये के समान दुर्बलेन्द्रिय पुरुष] के (हस्तात्) हाथ से (धनुः) धनुष [शासनशक्ति] को (क्षत्रेण) [अपने] क्षत्रियपन, (वर्चसा) तेज और (बलेन सह) बल के साथ (आददानः) लेता हुआ तू (भूरि) बहुत (पुष्टम्) पुष्ट [पुष्टिकारक] (वसु) धन (समागृभाय) यथावत् संग्रह कर और (अर्वाङ्) सामने होता हुआ (त्वम्) तू (जीवलोकम्) जीवते हुये [पुरुषार्थी] मनुष्यों के समाज में (उप) आदर से (आ इहि) आ ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्मके पालने में पुरुषार्थ न करता हो , उस को अधिकार से हटाकर पुरुषार्थी पुरुष धर्मसे धन का संग्रह करके सब लोगो की वृद्धि करे ॥ ६० ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३ [मन्त्राः १-७३] ॥

मन्त्राः १—४ ॥ नारी देवता ॥ १,२,३ त्रिष्टुप्, ४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

नियोगविधानोपदेशः—नियोग विधान का उपदेश ॥

इयं नारी पतिलोकं वृणाना नि पद्यत उप त्वा मर्त्य प्रेतम् । धर्मं पुराणमनुपालयन्ती तस्यै प्रजां द्रविणं चेह धेहि ॥ १ ॥

६०— (धनुः) चापम् । शासनचिह्नम् (हस्तात्) अधिकारात् (आददानः) गृह्णानः (मृतस्य) मृतकतुल्यस्य दुर्बलेन्द्रियस्य (सह) (क्षत्रेण) क्षत्रियत्वेन (वर्चसा) (बलेन) (समागृभाय) ग्रह उपादाने-श्ना-प्रत्ययस्य शायजादेशः, हस्य भः । संग्रहेण प्राप्नुहि (वसु) धनम् (भूरि) बहुलम् (पुष्टम्) पोषकम् (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (त्वम्) (एहि) आगच्छ (उप) पूजायाम् (जीवलोकम्) जीवानां जीवितानां पुरुषार्थिनां लोकं समाजम् ॥

इयम् । नारी । पति-लोकम् । वृणाना । नि । पद्यते । उप । त्वा । मर्त्य । प्र-इतम् ॥ धर्मम् । पुराणम् । अनु-पालयन्ती । तस्यै । । प्र-जाम् । द्रविणम् । च । इह । धेहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मर्त्य) हे मनुष्य ! (इयम्) यह (नारी) नारी (पतिलोकम्) पति के लोक [गृहाश्रम के सुख] को (वृणाना) चाहती हुयी और (पुराणम्) पुराने [सनातन] (धर्मम्) धर्म को (अनुपालयन्ती) निरन्तर पालती हुयी (प्रेतम्) मरे हुये [पति] की (उप) स्तुति करती हुयी (त्वा) तुझको (निपद्यते) प्राप्त होती है, (तस्यै) उस [स्त्री] को (प्रजाम्) सन्तान (च) और (द्रविणम्) बल (इह) यहां पर (धेहि) धारण कर ॥१ ॥

भावार्थ—यदि विधवा स्त्री मृत पति के गुण गाती हुयी सन्तान उत्पन्न करना चाहे, वह मृतस्त्रीक पुरुष के साथ यथाविधि नियोग करके अपने कुल की वृद्धि के लिये सन्तान उत्पन्न करे। इसी प्रकार मृतस्त्रीक पुरुष अपने कुलको बढ़ती के लिये सन्तान उत्पन्न करने को विधवा स्त्री से विधिवत् नियोग करे ॥ १ ॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका नियोग विषय में व्याख्यात है ॥

उदीर्ष्व नार्यभि जीवलोकं गतासुमेतमुप शेष एहि ।
हस्तग्राभस्य दधिषोस्तवेदं पत्युर्जनित्वमभि सं बभूथ ॥ २ ॥

१—(इयम्) दृश्यमाना विधवा (नारी) ऋतोऽञ् । पा० ४ । ४ । ४९ । नराच्चेति वक्तव्यम् । इति तत्रैव वार्त्तिकं च । नृ, नर—अञ् । शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् । पा० ४ । १ । ७३ । इति ङीन् । नुर्नरस्य वा धर्माचारोऽस्यां सा । स्त्री (पतिलोकम्) पतिगृहम् । गृहाश्रमसुखम् (वृणाना) वाञ्छन्ती (निपद्यते) प्राप्नोति (उप) पूजायाम् । उपगच्छन्ती । स्तुवाना (त्वा) त्वाम् मृतस्त्रीकम् (मर्त्य) हे मनुष्य (प्रेतम्) प्र+इण् गतौ-क्त । मृतं पतिम् (धर्मम्) धारणीयं नियमम् (पुराणम्) पुरा अग्रे नीयते । णीञ्—ड । सनातनम् (अनुपालयन्ती) निरन्तरं रक्षन्ती (तस्यै) विधवायै (प्रजाम्) सन्तानम् (द्रविणम्) बलम्—निघ० २ । ९ (च) (इह) गृहाश्रमे (धेहि) धारय ॥

उत् । ई॒र्ष्व॒ । ना॒रि॒ । अ॒भि । जी॒व॒-लो॒कम् । ग॒त-अ॑सुम् । ए॒तम् । उप॑ । शे॒षे॒ । आ । इ॒हि॒ ॥ ह॒स्त॒-ग्रा॒भस्य॑ । द॒धि॒षोः । तव॑ । इ॒दम् । पत्युः॑ । ज॒नि॒-त्वम् । अ॒भि । सम् । ब॒भू॒थ॒ ॥२

भाषार्थ—(नारि) हे नारी ! (जीवलोकम् अभि) जीवते पुरुषों के समाज की ओर (उत्) उठकर (ईर्ष्व) चल, (एतम्) इस (गतासुम्) गये प्राण वाले [मरे वा रोगी पति] को (उप) सराहती हुयी (शेषे) तू पड़ी है, (आ इहि) आ (दधिषोः) वीर्यदाता [नियुक्त पति] से (ते) अपने (हस्तग्राभस्य) [विवाह में] हाथ पकड़ने वाले (पत्युः) पति के (जनित्वम्) सन्तान को (इदम्) अब (अभि) सब प्रकार (सम्) यथावत् [शास्त्रानुसार] (बभूथ) तू प्राप्त हो ॥ २ ॥

भावार्थ—विपत्ति काल में अर्थात् सन्तान न होने पर पति के बड़े रोगी होने वा मर जाने पर स्त्री मृतस्त्रीक पुरुष से नियोग कर सन्तान उत्पन्न करके पति के वंश को चलावे । इसी प्रकार जिस पुरुष की स्त्री बड़ी रोगिनी हो वा मर गई हो वह विधवा से नियोग कर सन्तान उत्पन्न करके अपना वंश चलावे ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १८ । ८, वहां पर (दधिषोः) के स्थान पर (दिधिषोः) पद है और ऋग्वेद पाठ ही महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि

२—(उत्) उत्थाय (ईर्ष्व) गच्छ (नारि) म० १ । हे स्त्रि (अभि) अभिलक्ष्य (जीवलोकम्) जीवितानां समाजम् (गतासुम्) विगतप्राणम् । मृतं रोगिणं वा (एतम्) दृश्यमानम् (उप) पूजायाम् । उपगच्छन्ती । स्तुवाना (शेषे) शीङ् स्वप्ने । भूमौ वर्तसे (एहि) आगच्छ (हस्तग्राभस्य) ग्रह उपादाने—कर्मण्यण् , हस्य भः । विवाहे गृहीतहस्तस्य (दधिषोः) दधातेर्द्वित्वमित्वं षुक् च । उ० ३ । ६७ । इति दर्शनात् । कुभ्रश्च । उ० १ । २२ । दधातेः कु, इत्वं षुगागमश्च । दधिषुरेव दिधिषुः । नियुक्तायां स्त्रियां गर्भस्थापकात् पुरुषात् (तव) स्वकीयायाः (इदम्) इदानीम् (पत्युः) स्वामिनः (जनित्वम्) सन्तानम् (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् । यथाविधि (बभूथ) भू सत्तायां प्राप्तौ च । छन्दसि लुङ्लङ्लिटः । पा० ३ । ४ । ६ । लोडर्थे लिट् । बभूविथ । प्राप्नुहि ॥

भाष्य भूमिका के और सत्यार्थ प्रकाश चतुर्थ समुल्लास के नियोग विषय में में व्याख्यात है ॥

मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ५८ आदि में नियोग विषय का वर्णन है, यहां दो श्लोक लिखे जाते हैं—

देवराद् वा सपिण्डाद् वा स्त्रिया सम्यङ् नियुक्तया ।
प्रजेप्सिताधिगन्तव्या सन्तानस्य परिक्षये ॥ १ ॥

विधवायां नियोगार्थे निर्वृते तु यथाविधि ।

गुरुवच्च स्नुषावच्च वर्तेयातां परस्परम् ॥ २ ॥

मनुस्मृति अध्याय ९ श्लोक ५९, ६२ ॥

देवर [पति के छोटे वा बड़े भाई] से अथवा सपिण्ड से [पति की छह पीढ़ियों के भीतर वाले से] यथाविधि [पति आदि बड़े लोगों द्वारा] नियुक्त की हुयी स्त्री को सन्तान के सर्वथा नाश होने पर यथेष्ट सन्तान उत्पन्न करनी चाहिये ॥ १ ॥

विधवा [आदि] में नियोग का प्रयोजन यथाविधि पूरा हो जाने पर दोनों [पुरुष और स्त्री] गुरु के समान और पुत्र बधू के समान आपस में बर्ताव करें ॥ २ ॥

अपश्यं युवतिं नीयमानां जीवां मृतेभ्यः परिणीयमानाम् । अन्धेन यत् तमसा प्रावृतासीत् प्राक्तो अपाचीमनयं तदेनाम् ३

अपश्यम् । युवतिम् । नीयमानाम् । जीवाम् । मृतेभ्यः । परि-नीयमानाम् ॥ अन्धेन । यत् । तमसा । प्रावृता । आसीत् । प्राक्तः । अपाचीम् । अनयम् । तत् । एनाम् ॥३॥

भाषार्थ—(जीवाम्) जीवती हुयी [पुरुषार्थ युक्त] (युवतिम्) युवा स्त्री (नीयमानाम्) ले जायी गयी और (मृतेभ्यः) मरे हुओं से [मृतक वा महारोगियों से] (परिणीयमानाम्) पृथक् ले जायी गयी (अपश्यम्) मैं ने देखी है । (यत्) क्योंकि वह (अन्धेन तमसा) गहरे अन्धकार से [सन्तान न

३—(अपश्यम्) अहं दृष्टवानस्मि (युवतिम्) यौवनवतीं स्त्रियम् (नीयमानाम्) प्राप्यमाणाम् (जीवाम्) जीवन्तीम् प्राणवतीम् (मृतेभ्यः) गतप्राणपुरुषेभ्यः सकाशात् (परिणीयमानाम्) पृथक् प्राप्यमाणाम् (अन्धेन) गाढेन (यत्) यस्मात् कारणात् (तमसा) अन्धकारेण सन्तानाभावशोकेन

होने के शोक से] (प्रावृता) ढकी हुयी (आसीत्) थी, (तत्) इसी से (एनाम्) उस (अपाचीम्) अलग पड़ी हुयी स्त्री को (प्राक्तः) सामने (अनयम्) मैं लाया हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—यदि स्त्री का पति मर गया हो वा महारोगी हो और स्त्री सन्तान के न होने से दुःखित हो, तौ बुद्धिमान् लोग उस को धैर्य देकर नियोग विधि से सन्तान उत्पन्न करा के प्रसन्न करें ॥ ३ ॥

प्रजानत्यघ्न्ये जीवलोकं देवानां पन्थामनुसंचरन्ती ।
अयं ते गोपतिस्तं जुषस्व स्वर्गं लोकमधि रोहयैनम् ॥ ४ ॥

प्र-जानती । अघ्न्ये । जीव-लोकम् । देवानाम् । पन्थाम् । अनु-संचरन्ती ॥ अयम् । ते । गो-पतिः । तम् । जुषस्व । स्वः-गम् । लोकम् । अधि । रोहय । एनम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अघ्न्ये) हे निष्पाप स्त्री ! तू (जीवलोकम्) जीवित मनुष्यों के समाज को (प्रजानती) अच्छे प्रकार जानती हुई और (देवानाम्) विद्वानों के (पन्थाम्) मार्ग पर (अनुसंचरन्ती) निरन्तर चलती हुई है। (अयम्) यह [नियुक्त पति] (ते) तेरी (गोपतिः) वाणी का रक्षक [वंश चलाने की बात निबाहने वाला] है, (तम्) उसको (जुषस्व) सेवन कर (एनम्) इसको (स्वर्गम् लोकम्) स्वर्ग लोक [सुख के समाज] में (अधि) अधिकार पूर्वक (रोहय) प्रकट कर ॥ ४ ॥

(प्रावृता) अतिशयेन वेष्टिता (आसीत्) (प्राक्तः) आभिमुख्येन (अपाचीम्) अपीच्यमपचितमपगतमपिहितमन्तर्हितं वा—निरु० ४। २५। अपगताम् । पृथग् गताम् (अनयम्) आनीतवानस्मि (तत्) तस्मात् कारणात् (एनाम्) युवतिम् ॥

४—(प्रजानती) प्रकर्षेण जानाना (अघ्न्ये) हे अहन्तव्ये। निष्पापे (जीवलोकम्) जीवितानां समाजम् (देवानाम्) विदुषाम् (पन्थाम्) पन्थानम् (अनुसंचरन्ती) निरन्तरं गच्छन्ती (अयम्) नियुक्तः पतिः। दधिषुः (ते) तव (गोपतिः) वाचो रक्षकः (जुषस्व) सेवस्व। प्रीणीहि (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (लोकम्) समाजम् (अधि) अधिकृत्य (रोहय) प्रादुर्भावय। प्रापय (एनम्) पुरुषम् ॥

भावार्थ—कुल की वृद्धि के मर्म को जानने हारी धर्मशीला स्त्री नियुक्त पति से यथेष्ट कुल वर्धक सन्तान अपने लिये और उस पुरुष के लिये उत्पन्न करे और इस प्रकार वे दोनों अपने अपने कुलों को बढ़ाकर अपने वचन की रक्षा करें ॥ ४ ॥

मन्त्राः ५—९ ॥

अग्निर्देवता ॥ ५ निचृद् गायत्री; ६ अनुष्टुप्; ७, ९ त्रिष्टुप्; ८ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

उन्नतिकरणोपदेशः—उन्नति करने का उपदेश ॥

उप॑ द्यामुप॑ वेत॒समव॑त्तरो न॒दीना॑म् । अग्ने॑ पि॒त्तम॒पाम॑सि ॥५॥

उप॑ । द्याम् । उप॑ । वे॒त॒सम् । अव॑त्‌-तरः । न॒दीना॑म् ॥

अग्ने॑ । पि॒त्तम् । अ॒पाम् । अ॒सि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (द्याम्) विद्या प्रकाश को (उप) पाकर और (नदीनाम्) स्तुतियों के (वेतसम्) विस्तार को (उप) आदर से (अवत्तरः) अधिक रक्षा करता हुआ तू (अपाम्) प्राणों के (पित्तम्) तेज (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या प्राप्त करके स्तुति योग्य व्यवहारों की रक्षा रक्षा करता हुआ सब प्राणियों का बल बढ़ावे ॥ ५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो यजुर्वेद १७ । ६ ॥

५—(उप) उपेत्य । प्राप्य (द्याम्) विद्याप्रकाशम् (उप) पूजायाम् (वेतसम्) वेञस्तुट् च । उ० ३ । ११८ । वेञ् तन्तुसन्ताने—असच् तुट् च । विस्तारम् (अवत्तरः) अव रक्षणे—शतृ, तरप् । अतिशयेन अवन् रक्षन् (नदीनाम्) णद अव्यक्ते शब्दे भाषायां स्तुतौ च—अच्, ङीप् । नदतिरर्चतिकर्मा —निघ० ३ । १४ । ऋषिर्नदो भवति नदतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० ५।२।स्तुतीनाम् (अग्ने) हे विद्वन् पुरुष (पित्तम्) अपि+दैङ् पालने—क्त । अच उपसर्गात्तः । पा० ७ । ४ । ४७ । इति तादेशः । अपिदीयते रक्ष्यते शरीरं येन तत् । तेजः (अपाम्) प्राणानाम (असि) ॥

यं त्वम॑ग्ने स॒मद॑ह॒स्तमु॒ निर्वा॑पया॒ पुन॑: ।
क्या॒म्बूरत्र॑ रोहतु शाण्डदू॒र्वा व्य॑ल्कशा ॥ ६ ॥

यम् । त्वम् । अ॒ग्ने॒ । स॒म्-अद॑हः । तम् । ऊं॒ इति॑ । निः । वा॒प॒य॒ । पुन॒रिति॑ ॥ क्या॒म्बू॑ः । अत्र॑ । रो॒ह॒तु॒ । शा॒ण्ड॒-दू॒र्वा । वि-अ॑ल्कशा ६

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् पुरुष ! (त्वम्) तू ने (यम्) जिस [ब्रह्मचारी] को (समदहः) यथाविधि तपाया है [ब्रह्मचर्य तप कराया है] (तम् उ) उस को (पुनः) अवश्य (निः) निश्चय करके (वापय) बीज के समान फैला । (अत्र) यहां [संसार में] (क्याम्बूः) ज्ञान उपदेश करने वाली, (शाण्डदूर्वा) दुःख नाश करने वाली और (व्यल्कशा) विविध प्रकार शोभा वाली [शक्ति] (रोहतु) प्रकट होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—माता पिता आचार्य आदि विद्वान् लोग ब्रह्मचर्य आदि तप करा के सन्तानों को ऐसी शिक्षा देवें कि जिस से वे शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति कर सकें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है १० । १६ । १३ और वही पाठ महर्षि दयानन्दकृत संस्कार विधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

इ॒दं त॒ एकं॑ पु॒र ऊं॑ त॒ एकं॑ तृ॒तीये॑न॒ ज्योति॑षा॒ सं वि॑शस्व ।
सं॒वेश॑ने त॒न्वा॒ ३ चारु॑रेधि प्रि॒यो दे॒वानां॑ प॒र॒मे स॒धस्थे॑ ॥ ७ ॥

६—(यम्) ब्रह्मचारिणम् (त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् (समदहः) समन्ताद् ब्रह्मचर्यादि तपः कारितवानसि (तम्) ब्रह्मचारिणम् (उ) पाद-पूर्त्तौ (निः) निश्चयेन (वापय) डु वप बीजसन्ताने—णिच् । बीजवद् विस्तारय (पुनः) अवधारणे (क्याम्बूः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । कि कित वा ज्ञाने-इण्प्रत्ययः, डित् । णित्कशिपद्यर्त्तेः । उ० १ । ८५ । अबि शब्दे-ऊप्रत्ययो णित् । ज्ञानस्य शब्दयित्री ज्ञापयित्री (अत्र) संसारे (रोहतु) प्रादुर्भवतु (शाण्डदूर्वा) शडि संघाते रोगे च—घञ्+दुर्व दूर्व हिंसायाम्—अच्, टाप्, दुःखस्य नाशयित्री (व्यल्कशा) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । वि+अल भूषणपर्याप्तिशक्तिवारणेषु—कप्रत्ययः शो मत्वर्थीयः । विविधभूषणोपेता शक्तिः ॥

इदम् । ते । एकम् । परः । ऊं इति । ते । एकम् । तृतीयेन । ज्योतिषा । सम् । विशस्व ॥ सम्-वेशने । तन्वा । चारुः । एधि । प्रियः । देवानाम् । परमे । सध-स्थे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् पुरुष !] (ते) तेरे लिये (इदम्) यह [कार्य रूप जगत्] (एकम्) एक [ज्योति तुल्य] है, (उ) और (परः) परे [आगे बढ़कर] (ते) तेरे लिये (एकम्) एक [कारण रूप जगत् ज्योति समान] है, (तृतीयेन) तीसरी (ज्योतिषा) ज्योति [प्रकाशस्वरूप परब्रह्म] के साथ (सम्)मिलकर (विशस्व) प्रवेश कर । (संवेशने) यथावत् प्रवेशविधि में (तन्वा) [अपनी] उपकार क्रिया से (चारुः) शोभायमान और (परमे) बड़े ऊंचे (सधस्थे) समाज में (देवानाम्) विद्वानों का (प्रियः) प्रिय (एधि) हो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य स्थूल और सूक्ष्म जगत् के तत्त्व को परमात्मा के ज्ञान के साथ जान कर विद्या द्वारा उपकार करता हुआ विद्वानों में उच्च पद प्राप्त करे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ५६ । १ । और सामवेद में पू० १ । ७ । ३ ॥

उत्तिष्ठ प्रेहि प्र द्रवौकः कृणुष्व सलिले सधस्थे । तत्र त्वं पितृभिः संविदानः सं सोमेन मदस्व सं स्वधाभिः ॥ ८ ॥

उत् । तिष्ठ । प्र । इहि । प्र । द्रव । ओकः । कृणुष्व ।

७—(इदम्) दृश्यमानं कार्यरूपं जगत् (ते) तुभ्यम् (एकम्) ज्योतिर्वत् (परः) परस्तात् । अग्रे (उ) चार्थे (ते) तुभ्यम् (एकम्) कारणरूपं सूक्ष्मं जगत्, ज्योतिः समानम् (तृतीयेन) कार्यकारणरूपसंसारात् परेण (ज्योतिषा) प्रकाशस्वरूपेण परब्रह्मणा (सम्)संगत्य (विशस्व) प्रवेशं कुरु (संवेशने) सम्यक् प्रवेशविधाने (तन्वा) तन उपकारे, तनु विस्तारे-ऊ । उपकारक्रियया (चारुः) शोभनः (एधि) अस भुवि—लोट् । भव (प्रियः) प्रीतिकरः (देवानाम्) विदुषाम् (परमे) उत्कृष्टे (सधस्थे) समाजे ॥

सलिले । सध-स्थे ॥ तत्र । त्वम् । पितृ-भिः । सम्-विदानः । सम् । सोमेन । मदस्व । सम् । स्वधाभिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (उत् तिष्ठ) उठ, (प्र इहि) आगे बढ़ (प्र द्रव) आगे को दौड़ और (सलिले) चलते हुये जगत् में (सधस्थे) समाज के बीच (ओकः) घर (कृणुष्व) बना। (तत्र) वहां (त्वम्) तू (पितृभिः) पितरों [पिता आदि रक्षक महात्माओं] के साथ (संविदानः) मिलता हुआ (सोमेन) ऐश्वर्य से (सम्) मिलकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों से (सम्) मिल कर (मदस्व) आनन्द पा ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा पुरुषार्थ करके विद्वानों के सत्संग से प्रतिष्ठित होकर ऐश्वर्य प्राप्त करे और आत्मावलम्बन करता हुआ सुखी रहे ॥ ८ ॥

प्र च्यवस्व तन्वं१ सं भरस्व मा ते गात्रा वि हायि मो शरीरम्।
मनो निविष्टमनुसंविशस्व यत्र भूमेर्जुषसे तत्र गच्छ ॥ ९ ॥

प्र । च्यवस्व । तन्वम् । सम् । भरस्व । मा । ते । गात्रा । वि । हायि । मो इति । शरीरम् ॥ मनः । नि-विष्टम् । अनु-संविशस्व । यत्र । भूमेः । जुषसे । तत्र । गच्छ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (तन्वम्) [अपने] शरीर को (प्र) आगे (च्यवस्व) चला और (सम्) मिलकर (भरस्व) पोषण कर, [जिस से] (मा) न तो (ते) तेरे (गात्रा) अङ्ग (मो) और न (शरीरम्) [तेरा]

८—(उत्तिष्ठ) ऊर्ध्वं तिष्ठ (प्रेहि) अग्रे गच्छ (प्र द्रव) अग्रे धाव (ओकः) गृहम् (कृणुष्व) कुरु (सलिले) षल गतौ—इलच् । संगते जगति यथा सायणः—ऋग्० १० । १२९ । ३ (सधस्थे) समाजे (तत्र) समाजे (त्वम्) (पितृभिः) रक्षकैर्महात्मभिः (संविदानः) संगच्छमानः (सम्) संगत्य (सोमेन) ऐश्वर्येण (मदस्व) तृप्तो भव (सम्) संगत्य (स्वधाभिः) स्वधारणशक्तिभिः । आत्मावलम्बनैः ॥

९—(प्र) प्रकर्षेण । अग्रे (च्यवस्व) च्यावय । गमय (तन्वम्) शरीरम् (सम्) संगत्य (भरस्व) पोषय (मा) निषेधे (ते) तव (गात्रा)

शरीर (वि) विचल होकर (हायि) छूटे। (निविष्टम्) जमे हुये (मनः) मन के (अनुसंविशस्व) पीछे पीछे प्रवेश कर, और (यत्र) जहां (भूमेः) भूमि की (जुषसे) तू प्रीति करता है, (तत्र) वहां (गच्छ) जा ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर से सदा उद्योग करके सब के पोषण में अपनी शरीर रक्षा करे और दृढ़ संकल्पी होकर आगे बढ़ता हुआ दुष्टों से शिष्टों की रक्षा करे ॥ ६ ॥

मन्त्राः १०—२४ ॥

पितरो देवताः ॥ १०, १२—१४, १६,१७,२०—२२,२४ त्रिष्टुप्; ११ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; १५ आर्ची त्रिष्टुप्; १८ पादनिचृज् जगती; १९ भुरिक् त्रिष्टुप्; २३ आर्षी पङ्क्तिः ॥

पितृकर्तव्योपदेशः—पितरों के कर्तव्य का उपदेश ॥

वर्चसा मां पितरः सोम्यासो अञ्जन्तु देवा मधुना घृतेन ।
चक्षुषे मा प्रतरं तारयन्तो जरसे मा जरदष्टिं वर्धन्तु ।१०।(१३)

वर्चसा । माम् । पितरः । सोम्यासः । अञ्जन्तु । देवाः । मधुना । घृतेन ॥ चक्षुषे । मा । प्र-तरम् । तारयन्तः । जरसे । मा । जरत्-अष्टिम् । वर्धन्तु ॥ १० ॥ (१३)

भाषार्थ—(सोम्यासः) ऐश्वर्य वाले, (देवाः) विद्वान्, (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा] (माम्) मुझ को (वर्चसा) तेज से, (मधुना) विज्ञान और (घृतेन) प्रकाश से (अञ्जन्तु) प्रसिद्ध करें। (चक्षुषे) सूक्ष्म दृष्टि के लिये (मा) मुझे (प्रतरम्) आगे को (तारयन्तः) पार करते हुये [वे लोग]

त्यक्तं भवेत् (मा) नैव (शरीरम्) (मनः) चित्तम् (निविष्टम्) अवस्थितम् (अनुसंविशस्व) अनुसृत्य प्रविष्टो भव (यत्र) स्थाने (भूमेः) पृथिव्याः (जुषसे) प्रीतिं करोषि (तत्र) स्थाने (गच्छ) ॥

१०—(वर्चसा) तेजसा (माम्) (पितरः) रक्षका महात्मानः (सोम्यासः) ऐश्वर्यवन्तः (अञ्जन्तु) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । व्यक्तीकुर्वन्तु। विख्यातं कुर्वन्तु (देवाः) विद्वांसः (मधुना) विज्ञानेन (घृतेन) प्रकाशेन (चक्षुषे) सूक्ष्मदर्शनाय (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम्। अधिकतरम् (तारयन्तः) पारयन्तः (जरसे)

(जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाले (मा) मुझ को (जरसे) स्तुति के लिये (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ १० ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ऐसी शिक्षा प्रणाली चलावें कि जिस से सब लोग बलवान्, विज्ञानवान्, तेजस्वी और सूक्ष्मदर्शी होकर संसार में कीर्ति पावें ॥ १० ॥

वर्चसा मां समनक्त्वग्निर्मेधां मे विष्णुर्न्यनक्त्वासन् । रयिं मे विश्वे नि यच्छन्तु देवाः स्योना मापः पवनैः पुनन्तु ॥११॥

वर्चसा । माम् । सम् । अनक्तु । अग्निः । मेधाम् । मे । विष्णुः । नि । अनक्तु । आसन् ॥ रयिम् । मे । विश्वे । नि । यच्छन्तु । देवाः । स्योनाः । मा । आपः । पवनैः । पुनन्तु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) ज्ञानमय परमेश्वर (वर्चसा) तेज के साथ (मा) मुझे (सम्) यथावत् (अनक्तु) विख्यात करे, (विष्णुः) विष्णु [सर्वव्यापक जगदीश्वर] (मे) मेरे (आसन्) मुख में (मेधाम्) बुद्धि को (नि) नियम से (अनक्तु) प्रसिद्ध करे । (विश्वे) सब (देवाः) उत्तम गुण (रयिम्) धन (मे) मुझ को (नि) निरन्तर (यच्छन्तु) देवें, (स्योनाः) सुख देने वाले (आपः) आप्त विद्वान् (मा) मुझे (पवनैः) शुद्ध व्यवहारों से (पुनन्तु) शुद्ध करें ॥ ११ ॥

जॄ स्तुतौ-असुन् । जरतिरर्चतिकर्मा-निघ० ३ । १४ । स्तुतये (मा) माम् (जरदष्टिम्) अ० २ । २८ । ५ । जॄ स्तुतौ—अतृन्+अशू व्याप्तौ—क्तिन् । जरता स्तुत्या सह अष्टिः कार्यव्याप्तिर्यस्य तम् (वर्धन्तु) वर्धयन्तु उन्नयन्तु ॥

११—(वर्चसा) तेजसा (माम्) (सम्) सम्यक् (अनक्तु)विख्यातं करोतु (अग्निः) ज्ञानमयः परमेश्वरः (मेधाम्) प्रज्ञाम् (विष्णुः) सर्वव्यापकः परमात्मा (नि) नियमेन (अनक्तु) प्रसिद्धं करोतु (आसन्)आसनि । आस्ये । मुखे (मे) मह्यम् (विश्वे) सर्वे (नि) निरन्तरम् (यच्छन्तु) दाण् दाने । ददतु (देवाः) उत्तमगुणाः (स्योनाः) सुखप्रदाः (मा) माम् (आपः) सर्व-विद्याव्यापिनो विपश्चितः-दयानन्दभाष्ये, यजु० ६ । १७ । आप्ता विद्वांसः (पवनैः) शुद्धव्यवहारैः (पुनन्तु) शोधयन्तु ॥

भावार्थ– मनुष्य परमात्मा की आराधना से तेजस्वी होकर विद्या का प्रकाश करें और धर्म से धन प्राप्त करके आप्त विद्वानों द्वारा अपना आचरण शुद्ध रक्खें ॥ ११ ॥

मित्रावरुणा परि मामधातामादित्या मा स्वरवो वर्धयन्तु।
वर्चो म इन्द्रो न्यनक्तु हस्तयोर्जरदष्टिं मा सविता कृणोतु॥१२

मित्रावरुणा। परि। माम्। अधाताम्। आदित्याः। मा। स्वरवः। वर्धयन्तु॥ वर्चः। मे। इन्द्रः। नि। अनक्तु। हस्तयोः। जरत्-अष्टिम्। मा। सविता। कृणोतु॥ १२॥

भाषार्थ—(मित्रावरुणा) स्नेही और श्रेष्ठ दोनों [माता पिता] ने (माम्) मुझे (परि) सब ओर से (अधाताम्) पुष्ट किया है, (आदित्याः) पृथिवी के (स्वरवः) जयस्तम्भ (मा) मुझे (वर्धयन्तु) बढ़ावें। (इन्द्रः) बड़े ऐश्वर्य वाला जगदीश्वर (मे) मेरे (हस्तयोः) दोनों हाथों के (वर्चः) बल को (नि) नियम से (अनक्तु) प्रसिद्ध करे, (सविता) सर्वप्रेरक परमात्मा (मा) मुझे (जरदष्टिम्) स्तुति के साथ प्रवृत्ति वाला(कृणोतु) करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जिन लोगों के माता पिता आदि बड़े लोग श्रेष्ठ और सच्चे प्रेमी होते हैं, वे ही विजयी हो कर संसार में कीर्ति पाते हैं और परमात्मा के अनुग्रह से अपने भुजबल द्वारा श्रेष्ठ कामों में प्रवृत्ति करते हैं ॥ १२ ॥

१२—(मित्रावरुणा) स्नेहिश्रेष्ठपुरुषौ मातापितरौ (परि) सर्वतः (माम्) विद्यार्थिनम् (अधाताम्) धृतवन्तौ। पोषितवन्तौ (आदित्याः) अदिति–ण्य । अदितिः पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । अदितेः पृथिव्या पते (मा) माम् (स्वरवः) शृस्निहि० । उ० १ । १० । स्वृ शब्दोपतापयोः–उप्रत्ययः । जयस्तम्भाः (वर्धयन्तु) उन्नयन्तु (वर्चः) शुक्रम् । बलम् (मे) मम (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (नि) नियमेन (अनक्तु) प्रसिद्धं करोतु (हस्तयोः) करयोः (जरदष्टिम्) म० ११ । स्तुत्या सह प्रवृत्तिमन्तम् (मा) माम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमात्मा (कृणोतु) करोतु ॥

यो मुमारं प्रथमो मर्त्यानां यः प्रेयायं प्रथमो लोकमेतम् ।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा सपर्यत ॥१३॥

यः । मुमारं । प्रथमः । मर्त्यानाम् । यः । प्र-इयायं । प्रथमः । लोकम् । एतम् ॥ वैवस्वतम् । सम्-गमनम् । जनानाम् । यमम् । राजानम् । हविषा । सपर्यत ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (यः) जो [मनुष्य] (मर्त्यानाम्) मनुष्यों के बीच (प्रथमः) मुख्य होकर (ममार) मर गया, और (यः) जो (प्रथमः) मुख्य होकर (एतम् लोकम्) इस लोक में (प्रेयाय) आगे बढ़ा । (वैवस्वतम्) उस मनुष्यों के हितकारी, (जनानाम्) मनुष्यों के (संगमनम्) मेल कराने वाले (यमम्) न्यायकारी (राजानम्) राजा को (हविषा) भक्ति के साथ (सपर्यत) तुम पूजो ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब के हित के लिये आत्मसमर्पण करके उन्नति करता जावे, सब मनुष्य उस के साथ सदा प्रीति करें ॥ १३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध आ चुका है—अ० १८ ॥ १ ॥ ४९ ॥

परा यात पितर आ चं यातायं वो यज्ञो मधुंना समंक्तः ।
दत्तो अस्मभ्यं द्रविणेह भद्रं रयिं चं नः सर्ववीरं दधात ।१४।

परा । यात । पितरः । आ । च । यात । अयम् । वः । यज्ञः । मधुंना । सम्-अंक्तः ॥ दत्तो इति । अस्मभ्यंम् । द्रविणा ।

१३—(यः) मनुष्यः (ममार) मरणं प्राप्तवान् । आत्मानं समर्पितवान् (प्रथमः) मुख्यः सन् (मर्त्यानाम्) मनुष्याणां मध्ये (यः) (प्रेयाय) अग्रे गतवान् । प्राप्तवान् (प्रथमः) मुख्यः (लोकम्) संसारम् (एतम्) (वैवस्वतम्) विवस्वन्तो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इत्यण् । विवस्वद्भ्यो मनुष्येभ्यो हितम् (संगमनम्) संगमयितारम् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (यमम्) न्यायकारिणं मनुष्यम् (राजानम्) शासकम् (हविषा) भक्तिदानेन (सपर्यत) पूजयत ॥

इह । भुद्रम् । रुयिम् । चु । नः । सर्व-वीरम् । दुधात ॥१४॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि रक्षक महात्माओ] (परा) धानता से (यात) चलो, (च) और (आ यात) आओ, (वः) तुम्हारा (अयम्) ह (यज्ञः) पूजनीय व्यवहार (मधुना) विज्ञान के साथ (समक्तः) सर्वथा ख्यात है । (अस्मभ्यम्) हमको (इह) यहां पर (द्रविणा) अनेक धन और भद्रम्) कल्याण (दत्तो) अवश्य देओ, (च) और (नः) हमें (सर्ववीरम्) ब वीरों को रखने वाला (रयिम्) धन (दधात) धारण करो ॥ १४ ॥

भावार्थ—विद्वान् माता पिता आदि महापुरुष सन्तान आदि गृहस्थों मिलकर उन को उपदेश करें कि जिस से वे लोग अनेक धनों को प्राप्त होकर र पुरुषों का आदर करते रहें ॥ १४ ॥

ण्वः कुक्षीवान् पुरुमीढो अुगस्त्यः श्यावाश्वः सोभर्यर्च् - नानाः । विश्वामित्रोऽयं जुमदंग्निरवन्तु नः कुश्यपो वामदेवः १५

ण्वः । कुक्षीवान् । पुरु-मीढः । अुगस्त्यः । श्याव-अश्वः । भरी । अर्च् नानाः ॥ विश्वामित्रः । अयम् । जुमत्-अग्निः । त्रिः । अवन्तु । नः । कुश्यपः । वाम-देवः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (कण्वः) बुद्धिमान्, (कक्षीवान्) शासन रने वाला, (पुरुमीढः) बड़ा धनी, (अगस्त्यः) पाप नाशक, (श्यावाश्वः) न में व्याप्ति वाला (सोभरी) ऐश्वर्य धारण करने वाला, (अर्चनानाः)

१४—(परा) प्राधान्येन (यात) गच्छत (पितरः) हे पित्रादिमहात्मानः च) (आयात) आगच्छत (अयम्) उपस्थितः (वः) युष्माकम् (यज्ञः) जनीयव्यवहारः (मधुना) विज्ञानेन (समक्तः) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्ति- तिषु—क्त । सम्यग् व्यक्तीकृतः (दत्तो) दत्त—उ । प्रयच्छतैव (अस्मभ्यम्) द्रविणा) धनानि (इह) (भद्रम्) कल्याणम् (रयिम्) धनम् (च) (नः) स्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्ववीरैरुपेतम् (दधात) धारयत ॥

१५—(कण्वः) अ० ६ । ५२ । ३ । मेधावी (कक्षीवान्) अ० ४ । २६ । ५। ासनशीलः (पुरुमीढः) अ० ४ । २६ । ४ । बहुधनः (अगस्त्यः) अ० ४ । ७ । १ । आतोऽनुपसर्गे कः । पा० ३ । २ । ३ । अग + स्त्यै ष्ट्यै शब्दसंघातयोः—

पूजनीय जीवन वाला, (विश्वामित्रः) सब का मित्र, (जमदग्निः) [शिल्प और यज्ञ आदि में] अग्नि प्रकाश करने वाला, (अत्रिः) सदा प्राप्ति योग्य, (कश्यपः) सूक्ष्मदर्शी, (वामदेवः) उत्तम व्यवहार वाला, [ये सब गुणी पुरुष] (नः) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ १५ ॥

भावार्थ—कर्मवीर बुद्धिमान् पुरुष संसार की रक्षा करने में सदा तत्पर रहें ॥ १५ ॥

विश्वा॑मित्र॒ जम॑दग्ने॒ वसि॑ष्ठ॒ भर॑द्वाज॒ गोत॑म॒ वाम॑देव । शर्दि॑र्नो॒ अत्रि॑रग्रभी॒न्नमो॑भिः॒ सुसं॑शासः॒ पित॑रो मृ॒डता॑ नः ॥ १६ ॥

विश्वा॑मित्र । जम॑त्-अग्ने । वसि॑ष्ठ । भर॑त्-वाज । गोत॑म । वाम॑-देव ॥ शर्दिः॑ । नः॒ । अत्रिः॑ । अग्रभीत् । नमः॑-भिः । सु-सं॑शासः । पित॑रः । मृ॒डत॑ । नः॒ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(विश्वामित्र) हे सब के मित्र ! (जमदग्ने) हे अग्नि के प्रकाश करने वाले ! [शिल्प और यज्ञ में] (वसिष्ठ) हे अत्यन्त श्रेष्ठ ! (भरद्वाज) हे विज्ञान बल के धारण करने वाले ! (गोतम) हे अतिशय स्तुति करने वाले वा विद्या की कामना करने वाले ! (वामदेव) हे श्रेष्ठ व्यवहार वाले !

कप्रत्ययः । अगस्य पापस्य संहन्ता नाशकः (श्यावाश्वः) अ० ४ । २९ । ४ । श्यैङ् गतौ—व + अशू व्याप्तौ—क्वन् । श्यावे ज्ञाने अश्वो व्याप्तिर्यस्य सः (सोभरी) षु प्रसवैश्वर्ययोः—विच् + भर—इनि । सोः ऐश्वर्यस्य भरो भरणं धारणं यस्य सः (अर्चनानाः) अर्चन + अन प्राणने—असुन् । अर्चनमर्चनीयम् अनो जीवनं यस्य सः (विश्वामित्रः) सर्वेषां मित्रम् (अयम्) (जमदग्निः) अ० ४ । २९ । ३ । जमन्तः प्रज्वलन्तोऽग्नयो यज्ञे शिल्पसिद्धौ वा यस्य सः (अत्रिः) अ० १३ । २ । ४ । अत सातत्यगमने—त्रिप् । सदा प्रापणीयो विज्ञानवान् (अवन्तु) रक्षन्तु (नः) अस्मान् (कश्यपः) अ० २ । ३३ । ७ । पश्यकः सूक्ष्मदर्शी (वामदेवः) वामः प्रशस्यो देवो व्यवहारकुशलः ॥

१६—(विश्वामित्र) हे सर्वमित्र (जमदग्ने) हे अग्निप्रकाशक (वसिष्ठ) वसु—इष्ठन् । हे अतिशयेन श्रेष्ठ (भरद्वाज) हे विज्ञानधारक (गोतम) अ० ४ । २९ । ६ । गो—तमप् । गौः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । अतिशयेन स्तोता । यद्वा

[यह तुम सब] (सुसंशासः) उत्तम रीति से सर्वथा शासन करने वाले (पितरः) पितरो ! [रक्षक महात्माओ] (नः) हमें (मृडत) सुखी करो, (शर्द्धिः) विजयी (अत्रिः) प्राप्ति योग्य ज्ञानी पुरुष ने (नमोभिः) अन्नों के साथ (नः) हमें (अग्रभीत्) ग्रहण किया है ॥ १६ ॥

भावार्थ—शूर वीर ज्ञानी महात्मा लोग ही अन्न आदि से वृद्धि करके सब जीवों को सुख पहुंचावें ॥ १६ ॥

कुस्ये मृजाना अति यन्ति रिप्रमायुर्दधानाः प्रतरं नवीयः ।
आप्यायमानाः प्रजया धनेनाध स्याम सुरभयो गृहेषु ॥ १७ ॥

कुस्ये । मृजानाः । अति । यन्ति । रिप्रम् । आयुः । दधानाः । प्र-तरम् । नवीयः ॥ आ-प्यायमानाः । प्र-जया । धनेन । अध । स्याम । सुरभयः । गृहेषु ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(कस्ये) [अपने] शासन में (मृजानाः) शुद्ध करते हुये, (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ और (नवीयः) अधिक नवीन (आयुः) जीवन (दधानाः) धारण करते हुये लोग (रिप्रम्) पाप को (अति) उलांघ कर (यन्ति) चलते हैं (अध) फिर (प्रजया) प्रजा [सन्तान आदि] से और

गौर्वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । गो+तमु काङ्क्षायाम्—पचाद्यच् । हे विद्याभिलाषिन् (वामदेव) हे प्रशस्यव्यवहारकुशल (शर्द्धिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । शृधु शब्दकुत्सायाम्, उन्दने प्रसहने च—इन् धस्य दः । शर्धोबलम्—निघ० २ । ६ । प्रसोढा । अभिभविता । विजेता (अत्रिः) म० १५ । प्राप्तियोग्यो विद्वान् (अग्रभीत्) अग्रहीत् । गृहीतवान् (नमोभिः) अन्नैः (सुसंशासः) सु+सम्+शासु अनुशिष्टौ—विट् । सुष्ठु सम्यक् शासकाः (पितरः) (मृडत) सुखयत (नः) अस्मान् ॥

१७—(कस्ये) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । कस गतिशासनयोः—यक् । ज्ञाने । शासने (मृजानाः) शोधकाः (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (यन्ति) गच्छन्ति (रिप्रम्) लीरीङोर्ह्रस्वः पुट् च तरौ श्लेषणकुत्सनयोः । उ० । ५ । ५५ । रीङ् स्रवणे—रप्रत्ययः कुत्सने धातोर्ह्रस्वत्वं पुट् च प्रत्ययस्य । रपो रिप्रमिति पापनामनी भवतः—निरु० ४ । २१ । पापं कष्टम् (आयुः)

(धनेन) धन से (आप्यायमानाः) बढ़ते हुये (गृहेषु) घरों में हम (सुरभयः) ऐश्वर्यवान् (स्याम) होवें ॥ १७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि शासक शुद्धाचारी निष्पाप महात्माओं के जीवन को विचार कर अपने को और अपनी प्रजा अर्थात् सन्तान और राज्य जनों को धनी और ऐश्वर्यवान् बनावें ॥ १७॥

अ॒ञ्जते॒ व्य॑ञ्जते॒ सम॑ञ्जते॒ क्रतुं॑ रिहन्ति॒ मधु॑ना॒भ्य॑ञ्जते ।
सिन्धो॑रुच्छ्वा॒से प॒तय॑न्तमु॒क्षणं॑ हिरण्यपा॒वाः प॒शुमा॑सु गृह्णते॥१८

अ॒ञ्जते॑ । वि । अ॒ञ्जते॒ । सम् । अ॒ञ्जते॒ । क्रतु॑म् । रि॒ह॒न्ति॒ । मधु॑ना । अ॒भि । अ॒ञ्जते॒ ॥ सिन्धोः॑। उ॒त्ऽश्वा॒से । प॒तय॑न्तम्। उ॒क्षण॑म् । हि॒र॒ण्य॒ऽपा॒वाः । प॒शुम् । आ॒सु॒ । गृ॒ह्ण॒ते॒ ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(हिरण्यपावाः) तेज [वा सुवर्ण आदि धन] के रक्षक लोग (क्रतुम्) कर्म [वा बुद्धि] को (मधुना) विज्ञान के साथ (अञ्जते) शुद्ध करते हैं, (वि अञ्जते) विख्यात करते हैं , (सम्) मिलकर (अञ्जते) प्राप्त करते हैं, (अभि अञ्जते) सब ओर फैलाते हैं और (रिहन्ति) सराहते हैं। (सिन्धोः) समुद्र के (उच्छ्वासे) बढ़ाव में (पतयन्तम्) जाते हुये

जीवनम् (दधानाः) धारयन्तः (प्रतरम्) अधिकश्रेष्ठम् (नवीयः) नव-ईयसुन्। नवीनतरम् (आप्यायमानाः) प्रवर्धमानाः (प्रजया) सन्तानराज्यजनरूपया (धनेन) (अध) अथ (स्याम) (सुरभयः) अ० १२ । १ । २३ । षुर ऐश्वर्यदीप्त्योः—अभिच्। ऐश्वर्यवन्तः (गृहेषु) निवासेषु ॥

१८—(अञ्जते) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु । शोधयन्ति (व्यञ्जते) विख्यातं कुर्वन्ति (सम्) संगत्य (अञ्जते) गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (क्रतुम्) कर्म—निघ० २ । १। प्रज्ञाम्-निघ० ३ । ६ (रिहन्ति) अर्चन्ति—निघ० ३ । १४ । स्तुवन्ति (मधुना) विज्ञानेन (अभि) सर्वतः (अञ्जते) विस्तारयन्ति । प्रकटयन्ति (उच्छ्वासे) उद्गमे (पतयन्तम्) पत गतौ चुरादिरदन्तः-शतृ । गच्छन्तम् (उक्षणम्) उक्ष वृद्धौ—कनिन् । उक्षण उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ६ । वृद्धिकर्तारम् (हिरण्यपावाः) कृगृशृदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । हिरण्य + पा रक्षणे-वप्रत्ययः । हिरण्यस्य तेजसः सुवर्णादिधनस्य वा रक्षकाः (पशुम्)

(उक्षणम्) वृद्धि करने वाले (पशुम्) दृष्टि वाले प्राणी को (आसु) इन [प्रजाओं] के बीच (गृह्णते) गहते हैं [सहारा देते हैं] ॥ १८ ॥

भावार्थ—प्रतापी, धनी, विज्ञानी, महात्मा पुरुष शुभ कर्मों और ज्ञानों को संसार में फैलावें और समुद्र वा आकाश आदि कठिन स्थानों में जाने वाले उद्योगी दृष्टिमान् पुरुषों को सब लोगों के बीच सहाय करें ॥ १८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—४ । ८६ । ४३ । और सामवेद में है—पू० ६ । ७ । ११ तथा उ० ७ । ३ । २१ ॥

यद् वो मुद्रं पितरः सोम्यं च तेनो सचध्वं स्वयंशसो हि भूत ।
ते अर्वाणः कवय आ शृणोत सुविदत्रा विदथे हूयमानाः ॥१९॥

यत् । वः । मुद्रम् । पितरः । सोम्यम् । च । तेनो इति । सचध्वम् । स्व-यंशसः । हि । भूत ॥ ते । अर्वाणः । कवयः । आ । शृणोत । सु-विदत्राः । विदथे । हूयमानाः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [रक्षक महात्माओ] (यत्) जो कुछ [कर्म] (वः) तुम्हारा (मुद्रम्) हर्षदायक (च) और (सोम्यम्) सोम्य [प्रियदर्शन उत्तम गुणयुक्त] है, (तेनो) उस से ही [हमें] (सचध्वम्) तुम सींचो [बढ़ाओ] और (हि) अवश्य (स्वयशसः) अपने आप यश वाले (भूत) होओ । (अर्वाणः) शीघ्रगामी, (कवयः) बुद्धिमान्, (सुविदत्राः) बड़े धनी और (विदथे) ज्ञान समाज में (हूयमानाः) पुकारे गये (ते) वे तुम (आ) आकर (शृणोत) सुनो ॥ १९ ॥

अर्जिदृशिकम्यमि० । उ० । १ । २७ । दृशिर् प्रेक्षणे—कु । पशुः पश्यतेः—निरु० ३ । १६ । द्रष्टारं जीवम् (आसु) दृश्यमानासु प्रजासु (गृह्णते) गृह्णन्ति ॥

१९—(यत्) यत् किञ्चित् कर्म (वः) युष्माकम् (मुद्रम्) स्फायितञ्चि-वञ्चि० । उ० २ । १३ । मुद हर्षे—रक् । हर्षकरम् (पितरः) हे रक्षकाः पित्रादयः (सोम्यम्) प्रियदर्शनम् । उत्तमगुणविशिष्टम् (च) (तेनो) तेन—उ । तेनैव कर्मणा (सचध्वम्) षच समवाये सेचने च । संगच्छध्वम् । सिञ्चत (स्वयशसः) आत्मयशस्विनः (हि) अवश्यम् (भूत) भवत (ते) ते यूयम् (अर्वाणः) ऋ गतौ—वनिप् । विज्ञानिनः । शीघ्रगामिनः (कवयः) मेधाविनः (आ) आगत्य (शृणोत) शृणुत (सुविदत्राः) बहुधनाः (विदथे) ज्ञानसमाजे (हूयमानाः)

भावार्थ—विद्वान् महात्मा लोग अपने शान्तिदायक कर्मों से संसार की रक्षा करके यशस्वी होवें ॥ १९ ॥

ये अत्रयो अङ्गिरसो नवग्वा इष्टावन्तो रातिषाचो दधानाः । दक्षिणावन्तः सुकृतो य उ स्थासद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वम् ॥ २० ॥ (१४)

ये । अत्रयः । अङ्गिरसः । नव-ग्वाः । इष्ट-वन्तः । राति-साचः । दधानाः ॥ दक्षिणा-वन्तः । सु-कृतः । ये । ऊं इति । स्थ । आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् ॥ ॥२०॥(१४)

भाषार्थ—(ये) जो तुम (अत्रयः) सदा प्राप्ति योग्य, (अङ्गिरसः) ज्ञानवान्, (नवग्वाः) स्तुति योग्य चलने वाले, (इष्टवन्तः) यज्ञ, तप, वेदाध्ययन आदि वाले, (रातिषाचः) दानों की वर्षा करने वाले और (दधानाः) पोषण करने वाले [हो] । (उ) और (ये) जो तुम (दक्षिणावन्तः) दक्षिणा [प्रतिष्ठा के दान] वाले (सुकृतः) सुकर्मी जन (स्थ) हो, वे तुम (अस्मिन्)) इस (बर्हिषि) उत्तम आसन पर (आसद्य) बैठकर (मादयध्वम्) आनन्द करो । २० ।

भावार्थ—जो विद्वान् महर्षि विद्याप्रचारक धर्मात्मा और बहु प्रतिष्ठित होवें, गृहस्थ आदि लोग सत्कार करके उनको प्रसन्न करें ॥२०॥

अधा यथा नः पितरः परासः प्रत्नासो अग्न ऋतमाशशानाः । शुचीदयन् दीध्यत उक्थशासः क्षामा भिन्दतो अरुणीरप व्रन् २१

२०—(ये) यूयम् (अत्रयः) सदा प्राप्तव्याः (अङ्गिरसः) अगि गतौ—असि, इरुडागमः । ज्ञानिनः (नवग्वाः) अ० १४ । १ । ५६ । णु स्तुतौ—अप्+गम्लृ गतौ-ड्वप्रत्ययः । स्तोतव्यचरित्राः (इष्टवन्तः) अ० २ । १२ । ३ । यज्ञतपोवेदाध्ययनादिमन्तः (रातिषाचः) भजो ण्विः । पा० ३ । २ । ६२ । इति बाहुलकात् षच सेचने- ण्वि । धनानां वर्षयितारः (दधानाः) पोषणं कुर्वाणाः (दक्षिणावन्तः) प्रतिष्ठादानोपेताः (सुकृतः) सुकर्माणः (ये)(उ)चार्थे (स्थ) भवथ (आसद्य) उपविश्य (अस्मिन्) (बर्हिषि) उत्तमासने (मादयध्वम्) हृष्टा भवत ॥

अर्ध । यथा । नः । पितरः । परासः । प्रत्नासः । अग्ने ।
ऋतम् । आ-शुशानाः ॥ शुचि । इत् । अयन् । दीध्यतः ।
उक्थ-शसः । क्षाम । भिन्दन्तः । अरुणीः । अप । व्रन् ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (अध) फिर (यथा) जैसे (नः) हमारे (परासः) उत्तम (प्रत्नासः) प्राचीन (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा] (ऋतम्) सत्य धर्म को (आशशानाः) अच्छे प्रकार सूक्ष्म करने वाले [हुये हैं] [वैसे ही] (दीध्यतः) प्रकाशमान, (उक्थशासः) प्रशंसनीय कर्मों की स्तुति करने वालों ने (शुचि) पवित्र कर्म को (इत्) ही (अयन्) प्राप्त किया है, और (क्षाम) हानि को (भिन्दन्तः) तोड़ते हुये उन्होंने (अरुणीः) प्राप्ति योग्य क्रियाओं को वैसेही (अपव्रन्) खोला है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार पहिले विद्वान् लोग पिता आदि महात्माओं का अनुकरण करके विघ्नों को हटा कर उपकारी कामों का प्रचार करते आये हैं, वैसे ही सब विद्वानो को करना चाहिये ॥ २१ ॥

मन्त्र २१–२२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं–४ । २ । १६–१८ और यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है– १६ । ६६ ॥

२१–(अध) अथ । अनन्तरम् (यथा) येन प्रकारेण (नः) अस्माकम् (पितरः) (परासः) पराः । उत्कृष्टाः (प्रत्नासः) प्रत्नाः । प्राचीनाः (अग्ने) हे विद्वन् (ऋतम्) सत्यधर्मम् (आशशानाः) आङ् + शो तनूकरणे यद्वा शश प्लुतगतौ—कानच् । सूक्ष्मीकुर्वाणाः (शुचि) पवित्रं कर्म (इत्) एव (अयन्) इण गतौ—लङ् । प्राप्तवन्तः (उक्थशासः) मन्त्रे श्वेतवहोक्थशस्पुरोडाशो ण्विन् । पा० ३ । २ । ७१ । उक्थ + शंसु स्तुतौ–ण्विन् , नकारलोपः, पदकाले ह्रस्वश्छान्दसः । उक्थ्यानां प्रशंसनीयकर्मणां शंसितारः स्तोतारः (क्षाम) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । क्षै क्षये—मनिन् । क्षयम् । हानिम् (भिन्दन्तः) छिन्दन्तः । विदारयन्तः (अरुणीः) अर्तेश्च । उ० ३ । ६० । ऋ गतौ—उनन् चित् , ङीप् । प्राप्तव्याः क्रियाः (अप व्रन्) वृणोतेर्लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणशवृ० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । अपावृण्वन् । प्रकाशितवन्तः ॥

सुकर्माणः सुरुचो देवयन्तो अयो न देवा जनिमा धमन्तः ।
शुचन्तो अग्निं वावृधन्त इन्द्रमुर्वीं गव्यां परिषदं नो अक्रन् ॥२२॥

सु-कर्माणः । सु-रुचः । देव-यन्तः । अयः । न । देवाः । जनिम । धमन्तः ॥ शुचन्तः । अग्निम् । ववृधन्तः । इन्द्रम् । उर्वीम् । गव्याम् । परि-सदम् । नः । अक्रन् ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(सुकर्माणः) पुण्यकर्म करने वाले, (सुरुचः) बड़ी प्रीति वाले, (देवयन्तः) उत्तम गुणों को चाहने वाले, (अयः न) सुवर्ण के समान (जनिम) जन्म [जीवन] को (धमन्तः) [धमन रूप तप से] शुद्ध करते हुये, (अग्निम्) अग्नि [शारीरिक और आत्मिक बल] को (शुचन्तः) प्रकाशित करते हुये और (इन्द्रम्) ऐश्वर्य को (ववृधन्तः) बढ़ाते हुये (देवाः) विद्वानों ने (नः) हमारे लिये (उर्वीम्) विस्तृत, (गव्याम्) वाणीमय (परिषदम्) परिषद [सभा] (अक्रन्) बनाई है ॥ २२ ॥

भावार्थ—पवित्र वेदों के विचार से पुण्यात्मा पुरुषों ने ब्रह्मचर्य आदि तप द्वारा संसार में हमारी उन्नति के अनेक मार्ग दिखाये हैं, उसी प्रकार हम लोग भी स्वाध्याय आदि से अपना जन्म उच्च बनावें ॥ २२ ॥

आ यथेव क्षुमति पश्वो अख्यद् देवानां जनिमान्त्युग्रः ।
मर्तानांश्चिदुर्वशीरकृप्रन् वृधे चिदर्य उपरस्यायोः ॥ २३ ॥

आ । यथा-इव । क्षु-मति । पश्वः । अख्यत् । देवानाम् ।

२२—(सुकर्माणः) पुण्यकर्मकर्तारः (सुरुचः) बहुप्रीतयः (देवयन्तः) देवान् शुभगुणान् कामयमानाः (अयः) अयो हिरण्यनाम—निघ० १ । २ । सुवर्णम् (न) यथा (देवाः) विद्वांसः (जनिम) जन्म । जीवनम् (धमन्तः) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः—शतृ । धमनेन शोधयन्तः । तपसा निर्मलीकृतवन्तः (शुचन्तः) दीपयन्तः (अग्निम्) तेजः । शारीरिकात्मिकबलमित्यर्थः (ववृधन्तः) वर्धयन्तः (इन्द्रम्) ऐश्वर्यम् (उर्वीम्) विस्तृताम् (गव्याम्) वाङ्मयाम् । विद्यायुक्ताम् (परिषदम्) सभाम् (नः) अस्मभ्यम् (अक्रन्) करोतेर्लुङ् । मन्त्रे घसह्वरणशवृ० । पा० २ । ४ । ८० । इति च्लेर्लुक् । अकार्षुः ॥

जनिम । अन्ति । उग्रः ॥ मर्तासः । चित् । उर्वशीः । अकृ-
प्रन् । वृधे । चित् । अर्यः । उपरस्य । आयोः ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(उग्रः) तेजस्वी पुरुष ने (क्षुमति) अन्न [घास आदि] वाले स्थान में (पश्वः) पशुओं के (यूथा इव) यूथों के समान (देवानाम्) विद्वानों के (जनिम) जन्म [जीवन] को (अन्ति) समीप से (आ) सब प्रकार (अख्यत्) देखा है। (मर्तासः) मनुष्यों ने (चित्) भी (उर्वशीः) बहुत फैली हुयी क्रियाओं को (अकृप्रन्) विचारा है, (चित्) जैसे (अर्यः) वैश्य (उपरस्य) समीपस्थ (आयोः) आय की (वृधे) बढ़ती के लिये [विचारता है] ॥ २३ ॥

भावार्थ—प्रतापी बुद्धिमान् पुरुष विद्वानों के आचरणों को इस प्रकार ध्यान से देखता है, जैसे ग्वाला चरते हुये पशुओं को इधर उधर जाने से रोक कर देखता रहता है। और जैसे वैश्य अपने आय की उन्नति सोचता है, वैसे ही सब मनुष्य उत्तम विद्याओं और क्रियाओं का प्रचार करें ॥ २३ ॥

अकर्म ते स्वपसो अभूम ऋतमवस्रन्नुषसो विभातीः।
विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवा बृहद् वदेम विदथे सुवीराः।२४
अकर्म । ते । सु-अपसः । अभूम । ऋतम् । अवस्रन् । उषसः।

२३—(आ) समन्तात् (यूथा) यूथानि । समूहान् (क्षुमति) क्षु, अन्नम्-निघ० २। ७। अन्नवति। तृणयुक्ते स्थाने (पश्वः) बहुवचनस्यैकवचनम्। पशोः। पशूनाम् (अख्यत्) चक्षिङ् दर्शने। अदर्शत् (देवानाम्) विदुषाम् (जनिम) जन्म। जीवनम् (अन्ति) अन्तिके । समीपे (उग्रः) तेजस्वी मनुष्य; (मर्तासः) मनुष्याः (चित्) अपि (उर्वशीः) उरु+अशूङ् व्याप्तौ—क, गौरादित्वाद् ङीष्। उर्वशी पदनाम—निघ० ४। २। तथा ५। ५। बहुव्यापिकाः क्रियाः (अकृप्रन्) कृपू सामर्थ्ये कल्पने च—लुङि च्लेः अङ् आदेशः। बहुलं छन्दसि। पा० ७। १। ८। इति रुडागमः। कल्पनया समर्थितवन्तः। विचारितवन्तः (वृधे) वर्धनाय (चित्) यथा (उपरस्य) उप+रमु क्रीडायाम्—ड। समीपस्थस्य (अर्यः) अर्यः स्वामिवैश्ययोः। पा० ३। १। १०३। ऋ गतौ-यत्। वैश्यः (आयोः) छन्दसीणः। उ० १। २। इण् गतौ—उण्। गतस्य। लब्धस्य। आयस्य॥

वि-भातीः ॥ विश्वम् । तत् । भद्रम् । यत् । अवन्ति । देवाः । बृहत् । वदेम । विदथे । सु-वीराः ॥ २४ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (ते) तेरे लिये [उत्तम कर्म] (अकर्म) हम ने किये है, (स्वपसः) अच्छे कर्म वाले (अभूम) हम हुये हैं, (विभातीः) प्रकाश करती हुयी (उषसः) प्रभात वेलाओं ने (ऋतम्) सत्य धर्म में (अवस्रन्) निवास किया है । (यत्) जो कुछ (भद्रम्) कल्याण कारक कर्म है, (तत्) उस (विश्वम्) सब की (देवाः) विद्वान् लोग (अवन्ति) रक्षा करते हैं, (सुवीराः) अच्छे वीरों वाले हम (विदथे) ज्ञान सामाज में (बृहत्) बढ़ती करने वाला [वचन] (वदेम) बोलें ॥ २४ ॥

भावार्थ—जैसे प्रभात बेलायें अन्धकार नाश करके प्रकाश करती हैं, वैसे ही सत्य धर्म असत्य का नाश करके प्रकाशमान होता है, विद्वान् लोग उस सत्य का ग्रहण करके और सभाओं में बैठकर सर्ववृद्धि का विचार करें ॥२४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध ऋग्वेद में है— ४ । २। १६ और उत्तरार्द्ध ऋग्वेद— २ । २३ । १६ और यजुर्वेद–३४ । ५८ ॥

मन्त्राः २५—२६ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ २५ निचृदार्षी जगती; २६, २८ भुरिगार्षी जगती; २७ आर्षी जगती; २६ विराडार्षी जगती ॥

सर्वदिक्षु रक्षोपदेशः—सब दिशाओं में रक्षा का उपदेश ॥

इन्द्रो मा मरुत्वान् प्राच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी

२४—(अकर्म) मन्त्रे घसह्वर० । पा०२ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । वयं कृतवन्तः श्रेष्ठकर्माणि (ते) तुभ्यम् (स्वपसः) अपः कर्मनाम–निघ० २ । १ । धार्मिककर्माणः (अभूम (ऋतम्) सत्यधर्मम् (अवस्रन्) वस निवासे— लङ्, रुडागमः । निवसन्ति स्म (उषसः) प्रभातवेलाः (विभातीः) विभात्यः । प्रकाशमानाः (विश्वम्) सर्वम् (तत्) (भद्रम्) शुभं कर्म (यत्) अवन्ति) रक्षन्ति (देवाः) विद्वांसः (बृहत्) वृद्धिकरं वचनम् (वदेम)ब्रूयाम (विदथे) ज्ञानसमाजे (सुवीराः) श्रेष्ठवीरैरुपेताः ॥

द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुत-भागा इह स्थ ॥ २५ ॥

इन्द्रः । मा । मरुत्वान् । प्राच्याः । दिशः । पातु । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ २५

भाषार्थ—(मरुत्वान्) शूरों का स्वामी (इन्द्रः) परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर (प्राच्याः) पूर्व वा सामने वाली (दिशः) दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे पर, प्राणियों की रक्षा करती है] (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ २५ ॥

भावार्थ—परमात्मा पूर्व आदि और सामने वाली आदि दिशाओं में शूरों को बल देकर रक्षा करता है, जैसे चतुर लोगों के उद्योग से पृथिवी सूर्य के आकर्षण और प्रकाश आदि द्वारा वृष्टि ताप आदि पाकर अन्न आदि उत्पन्न करके रक्षा करती है, सब मनुष्य हितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २५ ॥

२५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (मा) माम् (मरुत्वान्) अ० १।२०।१। मरुतां शूराणां स्वामी (प्राच्याः) पूर्वायाः। अभिमुखीभूतायाः सकाशात् (पातु) रक्षतु (बाहुच्युता) च्यु सहने हसने च, अन्तर्गतणिजर्थः। बाहुभिर्भुजैश्च्याविता उत्साहिता (पृथिवी) (द्याम्) सूर्यम्। सूर्यस्याकर्षणप्रकाशादिकमित्यर्थः (इव) यथा (उपरि) उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु ०) वा ० पा० २।३।२। इत्यनाम्रेडितान्तेऽपि उपरियोगे द्यामित्यस्य द्वितीया। आश्रित्येत्यर्थः (लोककृतः) लोकानां समाजानां कर्तॄन् (पथिकृतः) सन्मार्गाणां कर्तॄन् दर्शकान् (यजामहे) पूजयामहे (ये) पुरुषाः (देवानाम्) विदुषां मध्ये (हुतभागाः) हु दानादानादनेषु—क्त। हुता आप्ता गृहीता भागा यैस्ते (इह) संसारे (स्थ) भवथ ॥

धाता मा निर्ऋत्या दक्षिणाया दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २६ ॥

धाता । मा । निः-ऋत्याः । दक्षिणायाः । दिशः । पातु । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ २६

भाषार्थ—(धाता) धारण करने वाला परमात्मा (दक्षिणायाः) दक्षिण वा दाहिनी (दिशः) दिशा की (निर्ऋत्याः) महाविपत्ति से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी......[मन्त्र २५] ॥ २६ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २६ ॥

अदितिर्मादित्यैः प्रतीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुत-भागा इह स्थ ॥ २७ ॥

अदितिः । मा । आदित्यैः । प्रतीच्याः । दिशः । पातु । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २७ ॥

भाषार्थ—(अदितिः) अखण्ड परमात्मा (आदित्यैः) अखण्डव्रती ब्रह्मचारियों द्वारा (प्रतीच्याः) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशः) दिशा से (मा)

२६—(धाता) सर्वधारकः परमात्मा (निर्ऋत्याः) कृच्छ्रापत्तेः सकाशात् (दक्षिणायाः) दक्षिणस्याः । दक्षिणहस्तस्थायाः (दिशः) दिक् सम्बन्धिन्याः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

२७—(अदितिः) अखण्डपरमात्मा (आदित्यैः) अखण्डव्रतिब्रह्म-

मेरी (पातु) रक्षा करे, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी ....[म० २५] ॥ २७ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २७ ॥

सोमो मा विश्वैर्देवैरुदीच्या दिशः पातु बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २८ ॥

सोमः । मा । विश्वैः । देवैः । उदीच्याः । दिशः । पातु । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २८ ॥

भाषार्थ—(सोमः) सर्वजनक परमात्मा (विश्वैः) सब (देवैः) उत्तम गुणों के साथ (उदीच्याः) उत्तर वा बाईं ओर वाली (दिशः) दिशा से (मा) मेरी (पातु) रक्षा करे (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी...... [मन्त्र २५] ॥ २८ ॥

भावार्थ—मन्त्र २५ के समान है ॥ २८ ॥

धर्ता ह त्वा धरुणो धारयाता ऊर्ध्वं भानुं सविता द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २९ ॥

धर्ता । ह । त्वा । धरुणः । धारयातै । ऊर्ध्वम् । भानुम् । सविता । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः पथि-कृतः ।

चारिभिः (प्रतीच्याः) पश्चिमायाः । पश्चाद्भागस्थायाः (दिशः) दिक्सकाशात् । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

२८—(सोमः) सर्वोत्पादकः परमेश्वरः (विश्वैः) सर्वैः (देवैः) उत्तमगुणैः (उदीच्याः) उत्तरायाः । वामभागस्थायाः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(धर्ता) पोषण करने वाला (धरुणः) स्थिर स्वभाव वाला परमात्मा (ह) निश्चय करके (त्वा) तुझे (ऊर्ध्वम्) ऊंचा (धारयातै) रक्खे, (इव) जैसे (सविता) सर्वप्रेरक परमेश्वर (भानुम्) सूर्य को (द्याम् उपरि) आकाश पर [रखता है] । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां (स्थ) हो ॥ २९ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वपोषक, दृढ़ स्वभाव वाले पुरुषार्थी जनों को उच्च स्थान देता है, जैसे वह अनेक लोकों के आकर्षक, पोषक सूर्य को आकाश में ऊंचा रखता है । सब मनुष्य सर्वहितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २९ ॥

मन्त्राः ३०—३७ ॥

ईश्वरो देवता ॥ ३० अतिजगती ; ३१ विराट् शक्वरी ; ३२—३५ भुरिगतिजगती ; ३६ आसुर्यनुष्टुप् ३७ आसुरी गायत्री ॥

सर्वत्रपरमेश्वरधारणोपदेशः—सर्वत्र परमेश्वर के धारण का उपदेश ॥

प्राच्यां त्वा दिशि पुरा सं॒वृतः॑ स्वधाया॒मा द॑धामि बाहु॒च्युता॑ पृथि॒वी द्यामि॑वोपरि । लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजामहे॒ ये दे॒वानां॑ हुतभागा इ॒ह स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

प्राच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः॑ । स्वधाया॑म् । आ । दधामि । बाहु-च्युता॑ । पृथिवी । द्याम्-इ॑व । उपरि॑ ॥

२९—(धर्ता) पोषकः (ह) निश्चयेन (त्वा) (धरुणः) कृवृदारिभ्य उनन् । उ० ३ । ५३ । धृङ् अवस्थाने—उनन् । स्थिरस्वभावः परमात्मा (धारयातै) लेटि रूपम् । धारयेत् (ऊर्ध्वम्) उन्नतम् (भानुम्) सूर्यम् (सविता) सर्वप्रेरकः परमेश्वरः (द्याम्) आकाशम् (इव) यथा (उपरि) म० २५ । आश्रित्येत्यर्थः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३० ॥ (१५)

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (प्राच्याम्) पूर्व वा सामने वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्मधारण शक्ति के बीच (पुरा) पूर्ति के साथ (संवृतः) घिरा हुआ मैं (आ) सब ओर से (दधामि) मैं [मनुष्य अपने में] धारण करता हूं, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे पर], [अपने में तुझे धारण करती है] । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले, [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ ३० ॥

भावार्थ—सर्वथा परिपूर्ण परमेश्वर से पूर्व आदि और सामने वाली आदि दिशाओं में मनुष्य अपने में आत्मशक्ति पाकर पुरुषार्थ करता है, जैसे पृथिवी सूर्य के आकर्षण आदि में रह कर परमेश्वर की दी हुई आत्मशक्ति से उपकार करती है । सब मनुष्य हितैषी विद्वानों का आश्रय लेकर उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ ३० ॥

दक्षिणायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३१ ॥

दक्षिणायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३०—(प्राच्याम्) पूर्वस्याम् । अभिमुखीभूतायाम् (दिशि) (पुरा) पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । पूर्त्या (संवृतः) सम्यग् वेष्टितः (स्वधायाम्) आत्मधारणशक्तौ (आ) समन्तात् (दधामि) धारयामि । अन्यत् पूर्ववत्—म० २५ ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—(दक्षिणायाम्) दक्षिण वा दाहिनी (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे [मन्त्र ३०] ॥ ३१ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३१ ॥

प्रतीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३२ ॥

प्रतीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३२ ॥

भाषार्थ—(प्रतीच्याम्) पश्चिम वा पीछे वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे......[म० ३०] ॥ ३२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३२ ॥

उदीच्यां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः । पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३३ ॥

उदीच्याम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३१—(दक्षिणायाम्) दक्षिणहस्तस्थितायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३२—(प्रतीच्याम्) पश्चिमायाम् । पश्चाद्भागे वर्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(उदीच्याम्) उत्तर वा बायीं (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे......[म० ३०] ॥ ३३ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३३ ॥

ध्रुवायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३४ ॥

ध्रुवायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३४ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवायाम्) स्थिर वा नीचे वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे......[मन्त्र ३०] ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३४ ॥

ऊर्ध्वायां त्वा दिशि पुरा संवृतः स्वधायामा दधामि बाहुच्युता पृथिवी द्यामिवोपरि । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ ३५ ॥

ऊर्ध्वायाम् । त्वा । दिशि । पुरा । सम्-वृतः । स्वधायाम् । आ । दधामि । बाहु-च्युता । पृथिवी । द्याम्-इव । उपरि ॥

३३—(उदीच्याम्) उत्तरस्याम् । वामहस्तवर्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥
३४—(ध्रुवायाम्) स्थिरायाम् । अधो वर्त्तमानायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ऊर्ध्वायाम्) ऊपर वाली (दिशि) दिशा में (त्वा) तुझे (स्वधायाम्) आत्मधारण शक्ति के बीच (पुरा) पूर्ति के साथ (संवृतः) घिरा हुआ मैं [मनुष्य] (आ) सब ओर से (दधामि) धारण करता हूं, (बाहुच्युता) भुजाओं से उत्साह दी गयी (पृथिवी) पृथिवी (इव) जैसे (द्याम् उपरि) सूर्य पर [सूर्य के आकर्षण, प्रकाश आदि के सहारे पर, [अपने में तुझे धारण करती है] (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले, [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ ३५ ॥

भावार्थ—मन्त्र ३० के समान है ॥ ३५ ॥

धर्तासि धरुणोऽसि वंसगोऽसि ॥ ३६ ॥

धर्ता । असि । धरुणः । असि । वंसगः । असि ॥ ३६ ॥

उदपूरसि मधुपूरसि वातपूरसि ॥ ३७ ॥

उद-पूः । असि । मधु-पूः । असि । वात-पूः । असि ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—[हे ईश्वर !] (धर्ता) तू धारण करने वाला (असि) है, (धरुणः) तू स्थिर स्वभाव वाला (असि) है और (वंसगः) तू सेवनीय व्यवहारों का प्राप्त कराने वाला (असि) है ॥ ३६ ॥ (उदपूः) तू जल से शोधने वाला [वा जल से अग्रगामी] (असि) है, (वातपूः) तू वायु से

३५—(ऊर्ध्वायाम्) उपरि स्थितायाम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३६—(धर्ता) धारकः परमेश्वरः (असि) (धरुणः) म० २८ स्थिरस्वभावः (असि) (वंसगः) वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । वन संभक्तौ—सप्रत्ययः+ गमयतेर्डः । वंसानां सेवनीयानां व्यवहाराणां गमयिता प्रापयिता (असि) ॥

३७—(उदपूः) उदक+पूञ शोधने—क्विप्, वा पुर अग्रगमने—क्विप् । जलेन शोधयिता जलादग्रगामी वा (असि) (मधुपूः) मधु+पॄ पालन पूर-

पालने वाला [वा वायु से अग्रगामी] (असि) है, (मधुपूः) तू मधुर [स्वास्थ्य वर्धक] रस से पूर्ण करने वाला [वा ज्ञान से अग्रगामी] (असि] है ॥ ३७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पूर्वोक्त प्रकार से परमात्मा को सब दिशाओं में व्यापक जानकर दृढ़ स्वभाव होवें और शुद्ध जल, वायु, अन्न आदि से शरीर के धातुरसों को पुष्ट करें। वह सर्वपोषक परमात्मा जल आदि स्थूल और सूक्ष्म पदार्थों से और ज्ञानियों के ज्ञान से अधिक आगे है ॥ ३६, ३७ ॥

मन्त्राः ३८—४१ ॥

स्त्रीपुरुषौ देवते ॥ ३८ विराट् त्रिष्टुप् ; ३९ भुरिक् पङ्क्तिः ; ४० त्रिष्टुप्; ४१ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इतश्च मामुतश्चावतां यमे इव यतमाने यदैतम् । प्र वां भरन् मानुषा देवयन्तो आ सीदतां स्वमु लोकं विदाने ॥३८॥

इतः । च । मा । अमुतः । च । अवताम् । यमे इवेति यमे-इव । यतमाने इति । यत् । ऐतम् ॥ प्र । वाम् । भरन् । मानुषाः । देव-यन्तः । आ । सीदताम् । स्वम् । ऊं इति । लोकम् । विदाने इति ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो ! आप दोनों] (इतः) यहां से [समीप में वा इस जन्म में] (च च) और (अमुतः) वहां से [दूर में वा परजन्म में] (मा) मुझे (अवताम्) बचावें, (यत्) क्योंकि (यमे इव) दो नियम

णयोः—क्विप्, वा पुर—क्विप्। मधुरस्य स्वास्थ्यवर्धकस्य रसस्य पूरयिता मधुनो ज्ञानादग्रगामी वा (असि) (वातपूः) वात+पॄ—क्विप्, वा पुर—क्विप्। वातेन वायुना पालयिता वायोः सकाशादग्रगामी वा (असि) ॥

३८—(इतः) अस्मात् स्थानाल्लोकाद् वा (च) (मा) माम् (अमुतः) तस्माद् दूरदेशात् परलोकाद् वा (च) (अवताम्) रक्षतां भवन्तौ (यमे) सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति सुपः शे। इत्यादेशः। यमौ। नियमवन्तौ

वालों के समान (यतमाने) यत्न करते हुये तुम दोनों (ऐतम्) चले हो। (देवयन्तः) उत्तम गुण चाहने वाले (मानुषाः) मनन शील मनुष्यों ने (वाम्) तुम दोनों को (प्र) अच्छे प्रकार (भरन्) पाला है, (स्वम्) अपने (लोकम्) स्थान को (उ) अवश्य (विदाने) जानते हुये [आप दोनों] (आ) आकर (सीदताम्) बैठें ॥ ३८ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष जितेन्द्रिय होकर समीप और दूर में तथा लोक और परलोक में सुख के लिये यत्न करके परस्पर अपनी सत्ता को उच्च बनावें ॥ ३८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३ । २ ॥

स्वासंस्थे भवतमिन्दवे नो युजे वां ब्रह्म पूर्व्यं नमोभिः। वि श्लोक एति पथ्येव सूरिः शृण्वन्तु विश्वे अमृतास एतत् ॥३९॥

स्वासंस्थे इति सु-आसंस्थे । भवतम् । इन्दवे । नः । युजे । वाम् । ब्रह्म । पूर्व्यम् । नमः-भिः ॥ वि । श्लोकः । एति । पथ्या-इव । सूरिः । शृण्वन्तु । विश्वे । अमृतासः । एतत् ॥३९॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (इन्दवे) ऐश्वर्य के लिये (स्वासस्थे) अच्छे आसन पर बैठने वाले (भवतम्) तुम दोनों होओ, (वाम्) तुम दोनों के लिये (पूर्व्यम्) पहिले [योगियों] करके प्रत्यक्ष किये (ब्रह्म) बड़े परमेश्वर का (नमोभिः) सत्कारों के साथ (युजे) मैं ध्यान करता हूं । (श्लोकः)

(इव) यथा (यतमाने) सुपः शे । यतमानौ व्याप्रियमाणौ (यत्) यतः (ऐतम्) आगच्छतं युवाम् (प्र) प्रकर्षेण (वाम्) युवाम् (भरन्) अभरन् । पालितवन्तः (मानुषाः) मननशीलाः पुरुषाः (देवयन्तः) दिव्यगुणान् कामयमानाः (आ) आगत्य (सीदताम्) उपविशतां भवन्तौ (स्वयम्) स्वकीयम् (उ) अवश्यम् (लोकम्) स्थानम् (विदाने) सुपः शे । विदानौ । जानन्तौ ॥

३९—(स्वासस्थे) सु+आस उपवेशने—घञ्+तिष्ठतेः—क । सुपः शे । स्वासस्थौ । सुखासने तिष्ठन्तौ युवाम् (भवतम्) (इन्दवे) ऐश्वर्याय (नः) अस्माकम् (युजे) आत्मनि समादधे (वाम्) युवयोर्हिताय (ब्रह्म) बृहन्तं व्यापकं परमात्मानम (पूर्व्यम्) पूर्वयोगिभिः प्रत्यक्षीकृतम् (नमोभिः)

वेदवाणी में कुशल (सूरिः) विद्वान् (पथ्या इव) सुन्दर मार्ग के समान (वि) विविध प्रकार से (एति) चलता है, (विश्वे) सब (अमृतासः) अमर [पुरुषार्थी] लोग (एतत्) यह (शृण्वन्तु) सुनें ॥ ३६ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष पूर्वज योगियों के समान योगाभ्यास से आत्मशुद्धि करके परमात्मा को प्राप्त होवें, और जैसे विद्वानों का बनाया मार्ग सब यात्रियों को सुख दायक होता है, वैसे ही वेद कुशल विद्वानों का विद्या प्रचार सब को आनन्द देता है ॥ ३६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३ । १, २ तथा यजुर्वेद में—११ । ५ ॥

त्रीणि पदानि रुपो अन्वरोहच्चतुष्पदीमन्वैतद्व्रतेन । अक्षरेण प्रति मिमीते अर्कमृतस्य नाभावभि सं पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)

त्रीणि । पदानि । रुपः । अनु । अरोहत् । चतुः-पदीम् । अनु । एतत् । व्रतेन ॥ अक्षरेण । प्रति । मिमीते । अर्कम् । ऋतस्य । नाभौ । अभि । सम् । पुनाति ॥ ४० ॥ (१६)

भाषार्थ—(रुपः) गतिमान् पुरुष (त्रीणि) तीनों [भूत, भविष्यत् और वर्तमान] (पदानि) पदों [अधिकारों] के (अनु) पीछे पीछे (अरोहत्) प्रसिद्ध हुआ है, और (व्रतेन) व्रत [ब्रह्मचर्य आदि नियम] के साथ (चतुष्पदीम्) चारों [धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष] में अधिकार वाली वेद-

---

सत्कारैः (वि) विविधम् (श्लोकः) श्लोक—अर्श आद्यच् । श्लोको वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणीकुशलः (एति) गच्छति (पथ्या) पथे मार्गाय हिता । सुगमा सृतिः (इव) यथा (शृण्वन्तु) आकर्णयन्तु (विश्वे) सर्वे (अमृतासः) अमराः । पुरुषार्थिनः । यशस्विनः पुरुषाः (एतत्) इदं वचनम् ॥

४०—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (पदानि) प्राप्तव्यानि भूतभविष्यद्वर्तमानवस्तूनि (रुपः) च्युवः किच्च । उ० ३ । २४ । रुङ् गतिरेषणयोः, रु शब्दे वा—पप्रत्ययः, कित् । गतिमान् । स्तोतव्यः पुरुषः (अनु) अनुसृत्य (अरोहत्) प्रादुरभवत् (चतुष्पदीम्) चतुर्वर्गे धर्मार्थकाममोक्षेषु पुरुषार्थेषु

वाणी के (अनु) पीछे पीछे (ऐतत्) चला है। वह (अक्षरेण) व्यापक वा अविनाशी [ओ३म् परमात्मा] के साथ (अर्कम्) पूजनीय विचार को (प्रति) प्रत्यक्ष (मिमीते) कर्ता है, और (ऋतस्य) सत्य धर्म की (नाभौ) नाभि में [सब को] (अभि) सब ओर से (सम्) यथावत् (पुनाति) शुद्ध करता है ॥ ४० ॥

भावार्थ—चलते फिरते उद्योगी स्त्री पुरुष भूत, भविष्यत् और वर्तमान का विचार करके वेदद्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को प्राप्त होवें और परमात्मा की आज्ञा का पालन करके सब मनुष्यों को शुभ मार्ग पर चलावें ॥ ४० ॥

१—मन्त्र ४० और ४१ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १३ । ३, ४ ॥

२—संहिता के (ऐतत्) पद के स्थान पर पदपाठ में (एतत्) पद विचारणीय है ॥

देवेभ्यः कर्मवृणीत मृत्युं प्रजायै किममृतं नावृणीत ।
बृहस्पतिर्यज्ञमतनुत ऋषिः प्रियां यमस्तन्वं मा रिरेच ॥४१॥

देवेभ्यः । कम् । अवृणीत । मृत्युम् । प्र-जायै । किम् । अमृतम् । न । अवृणीत ॥ बृहस्पतिः । यज्ञम् । अतनुत । ऋषिः । प्रियाम् । यमः । तन्वम् । आ । रिरेच ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—[जिस ने] (देवेभ्यः) उत्तम गुणों के लिये (कम्) सुख से (मृत्युम्) मृत्यु [अहङ्कारत्याग] को (अवृणीत) अङ्गीकार किया है, उस ने (प्रजायै) प्रजा के लिये (किम्) क्या (अमृतम्) अमृत [अमरपन

पदमधिकारो यस्यास्तां वेदवाणीम् (अनु) अनुसृत्य (ऐतत्) इण् गतौ—लङ्, तकारश्छान्दसः । ऐत् । प्राप्नोत् (व्रतेन) ब्रह्मचर्यादितपश्चरणेन (अक्षरेण) अ० ६ । १० । २ । अशू व्याप्तौ—सर । यद्वा नञ्+क्षर संचलने-अच् । व्यापकेन विनाशरहितेन, ओ३म् इति प्रणवेन सह (प्रति) प्रत्यक्षम् (मिमीते) माङ् माने । करोति (अर्कम्) कृदाधारार्चिकलिभ्यः कः । उ० ३ । ४० । अर्च पूजायाम्—क, यद्वा, अर्च—घञ्, कुत्वम् । अर्को मन्त्रो भवति यदनेनार्चन्ति—निरु० ५ । ४ । पूजनीयं विचारम् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (नाभौ) मध्यस्थाने (अभि) सर्वतः (सम्) सम्यक् (पुनाति) शोधयति सर्वान् ॥

४१—(देवेभ्यः) उत्तमगुणानां प्राप्तये (कम्) सुखेन (अवृणीत) अङ्गीकृतवान् (मृत्युम्) मरणम् । अहंकारत्यागम् । आत्मसमर्पणम् (प्रजायै) मनुष्या-

मोक्षपद] को (न) नहीं (अवृणीत) अङ्गीकार किया ? । (बृहस्पतिः) उस बड़े बड़े व्यवहारों के रक्षक (ऋषिः) सन्मार्गदर्शक, (यमः) नियम वाले पुरुष ने (यज्ञम्) पूजनीय व्यवहार को (अतनुत) फैलाया है और (प्रियाम्) हित करने वाली (तन्वम्) उपकार क्रिया को (आ) सब ओर से (रिरेच) संयुक्त किया है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति के लिये अहङ्कार, अर्थात् आपा छोड़ आत्मदान करते हैं, वे ही संसार को मोक्षपद देते और पूजनीय व्यवहारों को फैलाकर अवश्य महान् उपकार करते हैं ॥ ४१ ॥

मन्त्राः ४२—४८ ॥

पितरो देवताः ॥ ४२, ४३, ४८ त्रिष्टुप् ; ४४, ४६ निचृज् जगती; ४५ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४७ भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

पितृसन्तानकर्तव्योपदेशः—पितरों और सन्तानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

त्वम॑ग्न ईडि॒तो जा॑तवेदोऽवा॑ड्ढ॒व्यानि॑ सुर॒भीणि॑ कृ॒त्वा । प्रादाः॑ पि॒तृभ्यः॑ स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ॥४२॥

त्वम् । अ॒ग्ने॒ । ई॒डि॒तः । जा॒त॒-वे॒दः॒ । अवा॑ट् । ह॒व्यानि॑ । सु॒र॒भीणि॑ । कृ॒त्वा ॥ प्र । अ॒दाः॒ । पि॒तृ-भ्यः॑ । स्व॒धया॑ । ते । अ॒क्ष॒न् । अ॒द्धि । त्वम् । दे॒व॒ । प्र-य॑ता । ह॒वींषि॑ ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े धनी (अग्ने) विद्वान् ! (ईडितः) प्रशंसित (त्वम्) तू ने (हव्यानि) ग्रहण करने योग्य पदार्थों को (सुरभीणि)

दिरूपायै (किम्) (अमृतम्) अमरणम् । मोक्षपदम् (न) निषेधे (अवृणीत) स्वीकृतवान् (बृहस्पतिः) बृहतां व्यवहाराणां रक्षकः (यज्ञम) पूजनीयं व्यवहारम् (अतनुत) विस्तारितवान् (यमः) सन्मार्गदर्शकः (प्रियाम्) हितकरीम् (यमः) नियमवान् । जितेन्द्रियः पुरुषः (तन्वम्) उपकारक्रियाम् (आ) समन्तात् (रिरेच) रिचिर् विरेचने, रिच वियोजनसंम्पर्चनयोः—लिट् । संयोजितवान् ॥

४२—(त्वम्) (अग्ने) हे विद्वन् (ईडितः) प्रशंसितः (जातवेदः) जातानि प्रसिद्धानि वेदांसि धनानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (अवाट्) वहतेर्लुङ्, इडागमाभावे

ऐश्वर्य युक्त (कृत्वा) करके (अवाट्) पहुंचाया है । (पितृभ्यः) पितरों [पिता आदि रक्षक महात्माओं] को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (प्रयता) शुद्ध [वा प्रयत्न से सिद्ध किये] (हवींषि) ग्रहण करने योग्य भोजन (प्र) अच्छे प्रकार (अदाः) तू ने दिये हैं, (ते) उन्होंने (अक्षन्) खाये हैं, (देव) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू [भी] (अद्धि) खा ॥ ४२ ॥

भावार्थ—पुत्रादि सन्तान उत्तम उत्तम पदार्थों से पितरों की सेवा करें और प्रयत्न से शुद्ध बनाये हुये भोजन उन्हें खिलावें और आप खावें, जिस से सब स्वस्थ रहकर आनन्द भोगें ॥ ४२ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १२ और यजुर्वेद में—१६ । ६६ तथा उत्तरार्द्ध आगे है—अ० १८ । ४ । ६५ ॥

आसीनासो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत्त दाशुषे मर्त्याय ।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्र यच्छत त इहोर्जं दधात ॥ ४३ ॥

आसीनासः । अरुणीनाम् । उप-स्थे । रयिम् । धत्त । दाशुषे । मर्त्याय ॥ पुत्रेभ्यः । पितरः । तस्य । वस्वः । प्र । यच्छत । ते । इह । ऊर्जम् । दधात ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! (अरुणीनाम्) पाने योग्य क्रियाओं [वा विद्याओं] की (उपस्थे) गोद में (आसीनासः) बैठे हुये तुम (दाशुषे) दाता (मर्त्याय) मनुष्य के लिये (रयिम्) धन (धत्त) धरो, (ते) वे तुम

सिचो लोपे रूपसिद्धिः । अवाक्षीः । प्रापितवानसि (हव्यानि) ग्राह्यवस्तूनि (सुरभीणि) म० १७ । ऐश्वर्ययुक्तानि (कृत्वा) विधाय (प्र) प्रकर्षेण (अदाः) ददातेर्लङ् । दत्तवानसि (पितृभ्यः) (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (ते) पितरः (अक्षन्) घस्लृ अदने—लुङ् । भक्षितवन्तः (अद्धि) अद भक्षणे—लोट् । भक्षय (त्वम्) (देव) हे विद्वन् (प्रयता) यमु उपरमे—क्त, यद्वा यती प्रयत्ने—अप् । शुद्धानि । प्रयत्नसाधितानि (हवींषि) ग्राह्यभोजनानि ॥

४३—(आसीनासः) आसीनाः । उपविशन्तः (अरुणीनाम्) म० २१ । प्राप्तव्यानां क्रियाणां विद्यानां वा (उपस्थे) उत्सङ्गे (रयिम्) धनम् (धत्त) धरत (दाशुषे) दात्रे (मर्त्याय) मनुष्याय (पुत्रेभ्यः) सन्तानेभ्यः (पितरः)

(इह) यहां पर (पुत्रेभ्य) पुत्रों को (तस्य) उस (वस्वः) धन का (प्र यच्छत) दान करो, और (ऊर्जम्) पराक्रम (दधात) धारण करो ॥ ४३ ॥

भावार्थ—वृद्ध पितर लोग उत्तम क्रियाओं और विद्याओं द्वारा धन का संग्रह कर के सुपात्र विद्या आदि देने वाले पुरुष को धन का दान देवें और सन्तानों को यथा योग्य दाय भाग कर के पराक्रमी बनावें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १५। ७ ।और यजुर्वेद १९ ।६३॥

अग्निष्वात्ताः पितर एह गच्छत सदःसदः सदत सुप्रणीतयः । अत्तो हवींषि प्रयतानि बर्हिषि रयिं च नः सर्ववीरं दधात ४४

अग्नि-स्वात्ताः । पितरः । आ । इह । गच्छत । सदः-सदः । सदत । सु-प्रनीतयः ॥ अत्तो इति । हवींषि । प्र-यतानि । बर्हिषि । रयिम् । च । नः । सर्व-वीरम् । दधात ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—(अग्निष्वात्ताः) हे अग्निविद्या [वा।शारीरिक और आत्मिक तेज] के ग्रहण करने वाले (पितरः) पालन करने वाले पितरो ! (इह) यहां (आ गच्छत) आओ और (सुप्रणीतयः)अत्युत्तम नीतों वाले तुम (सदः-सदः) सभा सभा में (सदत) बैठो। और (बर्हिषि) वृद्धि कारक व्यवहार के बीच (प्रयतानि) शुद्ध [वा प्रयत्न से शुद्ध किये] (हवींषि) खाने योग्य अन्नों को (अत्तो) अवश्य खाओ, (च) और (नः) हमारे लिये (सर्ववीरम्) सब वीर पुरुषों के प्राप्त कराने हारे (रयिम्) धन को (धत्त) धारण करो ॥४४॥

(तस्य) (वस्वः) वसुनो धनस्य (प्र यच्छत) दानं कुरुत (ते) तादृशा यूयम् (इह) अस्मिंल्लोके (ऊर्जम्) पराक्रमम् (दधात) धरत ॥

४४—(अग्निष्वात्ताः) अग्नि+सु+आङ्+ददातेः—क्त । अग्निः सूर्यविद्युदग्निविद्या शारीरिकात्मिकतेजो वा आत्तं गृहीतं यैस्ते (पितरः) (इह) अस्मिन् काले (आ गच्छत) (सदःसदः) सदसि सदसि (सदत) सीदत । उपविशत (सुप्रणीतयः) अत्युत्तमनीतिमन्तः (अत्तो) अत्त—उ। भक्षयतैव (हवींषि) अदनीयानि भोजनानि (प्रयतानि) म० ४२। शुद्धानि । प्रयत्नेन साधितानि (बर्हिषि) वृद्धिकरे व्यवहारे (रयिम्) धनम् (च) (नः) अस्मभ्यम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीराः प्राप्यन्ते यस्मात् तम् (दधात) धरत ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सभाओं में उपदेश करके अग्नि अर्थात् सूर्य, बिजुली और अग्नि आदि विद्याओं द्वारा मनुष्यों का शारीरिक तथा आत्मिक बल बढ़ावें और श्रद्धा से दिये हुये अन्न आदि को ग्रहण करके उन्हें पुरुषार्थी, श्रीमान् और वीर सेनापति बनावें ॥ ४४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । ११ और यजुर्वेद में—१६ । ५६ तथा महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में व्याख्यात है ॥

उप॑हूता नः पि॒तरः॑ सो॒म्यासो॑ ब॒र्हि॒ष्ये॑षु नि॒धिषु॑ प्रि॒येषु॑ ।
त आ ग॑मन्तु॒ त इ॒ह श्रु॑व॒न्त्वधि॑ ब्रुवन्तु॒ तेऽव॑न्त्व॒स्मान् ॥४५॥

उप॑-हूताः । नः॒ । पि॒तरः॑ । सो॒म्यासः॑ । ब॒र्हि॒ष्ये॑षु । नि॒-धिषु॑ । प्रि॒येषु॑ ॥ ते । आ । ग॒म॒न्तु॒ । ते । इ॒ह । श्रु॒व॒न्तु॒ । अधि॑ । ब्रु॒व॒न्तु॒ । ते । अ॒व॒न्तु॒ । अ॒स्मान् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सोम्यासः) ऐश्वर्य के योग्य [वा प्रियदर्शन] (पितरः) पितर लोग (नः) हमारे (बर्हिष्येषु) वृद्धि योग्य, (प्रियेषु) प्रिय (निधिषु) [रत्न सुवर्ण आदि के] कोशों के निमित्त (उपहूताः) बुलाये गये हैं। (ते) वे (आ गमन्तु) आवें, (ते) वे (इह) यहां (श्रुवन्तु) सुनें, (ते) वे (अधि) अधिकार पूर्वक (ब्रुवन्तु) उपदेश करें और (अस्मान्) हमारी (अवन्तु) रक्षा करें ॥ ४५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विद्यावृद्ध और वयोवृद्ध विद्वानों का सत्कार करते रहें और उनसे उत्तम उत्तम उपदेश प्राप्त करके महाधनी और यशस्वी होवें ॥ ४५ ॥

४५—(उपहूताः) निमन्त्रिताः (नः) अस्माकम् (पितरः) पितृवत्पालकाः (सोम्यासः) सोम्याः। ऐश्वर्यार्हाः। प्रियदर्शनाः (बर्हिष्येषु) वृद्धियोग्येषु (निधिषु) निमित्ते सप्तमी। रत्नसुवर्णादिकोशनिमित्ते (प्रियेषु) प्रीतिविषयेषु (ते) पितरः (आ गमन्तु) आगच्छन्तु (ते) (इह) अस्मिन् यज्ञदेशे (श्रुवन्तु) विकरणस्य लुक्। शृण्वन्तु (अधि) अधिकृत्य (ब्रुवन्तु) उपदिशन्तु (ते) (अवन्तु) रक्षन्तु (अस्मान्) धार्मिकान् ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०।१५।५ तथा यजुर्वेद–१६।५७ और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पितृयज्ञ विषय में व्याख्यात है ॥

ये नः॑ पि॒तुः पि॒तरो॒ ये पि॑ताम॒हा अ॑नूजहि॒रे सो॑मपी॒थं वसि॑ष्ठाः।
तेभि॑र्य॒मः सं॑रर॒ाणो ह॒वींष्यु॒शन्नु॒शद्भिः॑ प्रतिका॒मम॑त्तु ॥ ४६ ॥

ये। नः॒। पि॒तुः। पि॒तरः॑। ये। पि॒ता॒म॒हाः। अ॒नु॒-ज॒हि॒रे। सो॒म॒-पी॒थम्। वसि॑ष्ठाः ॥ तेभिः॑। य॒मः। स॒म्-र॒रा॒णः। ह॒वींषि॑। उ॒शन्। उ॒शत्-भिः॑। प्र॒ति॒-का॒मम्। अ॒त्तु॒ ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(ये) जिन (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पालन करने हारे पिता आदि ने और (ये) जिन (पितामहाः) दादा आदि वयोवृद्धों ने (वसिष्ठाः) अत्यन्त श्रेष्ठ होकर (सोमपीथम्) ऐश्वर्य की रक्षा को (अनुजहिरे) निरन्तर स्वीकार किया है। (संरराणः) अच्छे प्रकार दान करने हारा, (उशन्) कामना करने हारा (यमः) संयमी सन्तान (तेभिः) उन (उशद्भिः) कामना करने हारों के साथ (हवींषि) देने लेने योग्य भोजनों को (प्रतिकामम्) प्रत्येक कामना में (अत्तु) खावे ॥ ४६ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज वृद्धों ने धार्मिक आचरणों से ऐश्वर्यवान् होकर सन्तानों से प्रीति की है, वैसे ही सब सन्तान जितेन्द्रिय होकर उत्तम व्यवहारों से उनकी सेवा करते रहें ॥ ४६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१०। १५। ८ और यजुर्वेद में १६। ५१ और इसका पहिला पाद आ चुका है—अ० १८। २। ४६ ॥

४६–(ये) (नः) अस्माकम् (पितुः) जनकस्य (पितरः) पितृवत् पालकाः (ये) (पितामहाः) जनकस्य पितृवद् वृद्धाः (अनु- जहिरे) हञ् स्वीकारादिषु—लिट्। अनुजहिरे। निरन्तरं स्वीचक्रुः (सोमपीथम्) निशीथ-गोपीथावगथाः। उ० २।६। सोम+पा रक्षणे—थक्। ऐश्वर्यरक्षणम् (वसिष्ठाः) वसुतमाः। अतिशयेन श्रेष्ठाः सन्तः (तेभिः) तैः (यमः) न्यायी। संयमी सन्तानः (संरराणः) रा दाने–कानच्। सम्यक्सुख- दाता (हवींषि) दातव्य ग्राह्यभोजनानि (उशन्) कामयमानः (उशद्भिः) कामयमानैः (प्रतिकामम्) कामं कामं प्रति (अत्तु) भक्षयतु ॥

ये तातृषुर्देवत्रा जेहमाना होत्राविद स्तोमतष्टासो अर्कैः ।
आग्ने याहि सहस्रं देववन्दैः सत्यैः कविभिर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः ४७

ये । ततृषुः । देव-त्रा । जेहमानाः । होत्रा-विदः । स्तोम-तष्टासः । अर्कैः ॥ आ । अग्ने । याहि । सहस्रम् । देव-वन्दैः । सत्यैः । कवि-भिः । ऋषि-भिः । घर्म सत्-भिः ॥ ४७ ॥

भाषार्थ–(ये) जिन (जेहमानाः) प्रयत्न करते हुये, (होत्राविदः) वेदवाणी जानने वाले, (स्तोमतष्टासः) स्तुति योग्य कर्मों में ढाले हुये पुरुषों ने (अर्कैः) पूजनीय व्यवहारों से (देवत्रा) उत्तम गुणों की (ततृषुः) तृष्णा की है । (अग्ने) हे विद्वान् ! (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (देववन्दैः) विद्वानों से वन्दना किये गये, (सत्यैः) सत्य शील वाले, (कविभिः) बुद्धिमान्, (घर्मसद्भिः) यज्ञ में बैठने वाले (ऋषिभिः) उन ऋषियों के साथ (आ याहि) तू आ ॥ ४७ ॥

भावार्थ–जो महात्मा लोग उत्तम विचार वाले सत्यशील प्रतिष्ठित वेदवेत्ता होवें, विद्वान् पुरुष उन से मिलकर सत्कार पूर्वक उन्नति का विचार करें ॥ ४७ ॥

मन्त्र ४७, ४८ कुछ पद भेद और पाद भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । ९, १० ॥

४७—(ये) विद्वांसः (ततृषुः) ञि तृषा पिपासायाम्–लिट् । तृष्यन्ति स्म । उत्कण्ठितवन्तः (देवत्रा) देवमनुष्यपुरुष० । पा० ५ । ४ । ५६ । इति द्वितीयार्थे त्रा । देवान् । दिव्यगुणान् (जेहमानाः) जेह्र प्रयत्ने—शानच् । प्रयतमानाः । व्याप्रियमाणाः (होत्राविदः) होत्रा वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाग्ज्ञातारः (स्तोमतष्टासः) तक्षू तनूकरणे—क्त, असुगागमः । स्तोमैःस्तुतिकर्मभिस्तनूकृतः (अर्कैः) म० ४० । पूजनीयविचारैः (अग्ने) हे विद्वन् (आ याहि) आगच्छ (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (देववन्दैः) विद्वद्भिर्वन्दना नमस्कारो येषां तैः (सत्यैः) सत्यशीलैः (कविभिः) मेधाविभिः (ऋषिभिः) वेदार्थदर्शकैः (घर्मसद्भिः) घर्म यज्ञनाम–निघ० ३ । १७ । यज्ञे सदनशीलैः ॥

ये सुत्यासो हविरदो हविष्पा इन्द्रेण देवैः सुरथं तुरेण ।
आग्ने याहि सुविदत्रेभिरुर्वाङ् परैः पूर्वैर्ऋषिभिर्घर्मसद्भिः॥४८॥

ये । सुत्यासः । हविः-अदः । हविः-पाः । इन्द्रेण । देवैः ।
सु-रथम् । तुरेण ॥ आ । अग्ने । याहि । सु-विदत्रेभिः ।
अर्वाङ् । परैः । पूर्वैः । ऋषि-भिः । घर्मसत्-भिः ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सत्यासः) सत्यशील, (हविरदः) ग्राह्य अन्न खाने वाले, (हविष्पाः) देने लेने योग्य पदार्थों के रक्षक पुरुष (देवैः) विजयी पुरुषों के सहित (तुरेण) वेगवान् (इन्द्रेण) बड़े ऐश्वर्य वाले जन के साथ (सरथम्) एकरथ में [चलते हैं] । (अग्ने) हे विद्वान् ! (सुविदत्रेभिः) बड़े धनी, (परैः) श्रेष्ठ (पूर्वैः) पूर्वज, (घर्मसद्भिः) यज्ञ में बैठने वाले, (ऋषिभिः) उन ऋषियों के साथ (अर्वाङ्) सन्मुख होकर (आ याहि) तू आ ॥ ४८॥

भावार्थ—विद्वान् लोग, प्रतापी पुरुष के सहायक, शूरवीरों के नायक पूजनीय महापुरुषों से मिलकर सदा उन्नति का उपाय सोचें ॥ ४८ ॥

मन्त्राः ४९–५२ ॥

पृथिवी देवता ॥ ४९, ५१, ५२ भुरिक् त्रिष्टुप्, ५० प्रस्तारपङ्क्तिः ॥
पृथिव्या उपकारोपदेशः—पृथिवी के उपकार का उपदेश ॥

उप सर्प मातरं भूमिमेतामुरुव्यचसं पृथिवीं सुशेवाम् ।
ऊर्णम्रदाः पृथिवी दक्षिणावत एषा त्वा पातु प्रपथे पुरस्तात् ४९

उप । सर्प । मातरम् । भूमिम् । एताम् । उरु-व्यचसम् ।

४८—(सत्यासः) सत्याः । सत्यशीलाः (हविरदः) हविषां ग्राह्यान्नानां भक्षयितारः (हविष्पाः) हविषां दातव्यग्राह्यपदार्थानां रक्षकाः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता पुरुषेण सह (देवैः) विजयिपुरुषैः सह (सरथम्) यथा तथा । समाने रथे वर्तमानाः (त्वरेण) त्वरमाणेन (अग्ने) हे विद्वन् (आयाहि) आगच्छ (सुविदत्रेभिः) बहुधनयुक्तैः (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (परैः) उत्कृष्टैः (पूर्वैः) पूर्वपुरुषैः । अन्यत् पूर्ववत्—म० ४७ ॥

पृथिवीम् । सु-शेवाम् ॥ ऊर्ण-म्रदाः । पृथिवी । दक्षिणा-वते । एषा । त्वा । पातु । प्र-पथे । पुरस्तात् ॥ ४९ ॥

भाषार्थ—(मातरम्) माता [के समान] (भूमिम्) आधार वाली (एताम्) इस (उरुव्यचसम्) बड़े फैलाव वाली, (सुशेवाम्) बड़ी सुख देने वाली (पृथिवीम्) पृथिवी को (उप) आदर से (सर्प) तू प्राप्त कर। (पृथिवी) पृथिवी (दक्षिणावते) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] वाले पुरुष के लिये (ऊर्णम्रदाः) ऊन के समान मृदुल है, (एषा) यह [पृथिवी] (प्रपथे) बड़े मार्ग में (पुरस्तात्) सामने से (त्वा) तेरी (पातु) रक्षा करे ॥ ४९ ॥

भावार्थ—जो जिज्ञासु पुरुष इस पृथिवी को खोजते रहते हैं, वे प्रतिष्ठा के साथ सुख भोगते हुये आगे बढ़ते जाते हैं ॥ ४९ ॥

मन्त्र ४९-५२ कुछ भेद से ऋग्वेद में हैं—१० । १८ । १०—१३ ॥

उच्छ्वञ्चस्व पृथिवि मा नि बाधथाः सूपायनास्मै भव सूपसर्पणा । माता पुत्रं यथा सिचाभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ५०॥ (१७)

उत् । श्वञ्चस्व । पृथिवि । मा । नि । बाधथाः । सु-उपायना । अस्मै । भव । सु-उपसर्पणा ॥ माता । पुत्रम् । यथा । सिचा । अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ५० ॥ (१७)

भाषार्थ—(पृथिवि) हे पृथिवी तू (उत् श्वञ्चस्व) फूल जा [फूल के समान खिल जा], (मा नि बाधथाः) मत दबी जा; (अस्मै) इस [पुरुष] के लिये (सूपायना) अच्छे प्रकार पाने योग्य और (सूपसर्पणा) भले प्रकार चलने

४९—(उप) पूजायाम् (सर्प) गच्छ । प्राप्नुहि (मातरम्) मातृतुल्याम् (भूमिम्) आधारभूताम् (एताम्) दृश्यमानाम् (उरुव्यचसम्) बहुव्याप्तिकाम् (पृथिवीम्) (सुशेवाम्) बहुसुखकरीम् (ऊर्णम्रदाः) गतिकारकोप० । उ० ४ । २२७ । ऊर्ण+म्रद क्षोदे-असि । ऊर्णवन्मृदुला (पृथिवी) भूमिः (दक्षिणावते) प्रतिष्ठायुक्ताय मनुष्याय (एषा) (त्वा) (पातु) रक्षतु (पुरस्तात्) अग्रतः ॥

५० —(उच्छ्वञ्चस्व) श्वचि गतौ—लोट् । उदेहि । पुलकिता भव (पृथिवि) (मा नि बाधथाः) संपीडिता मा भूः (सूपायना) सु + उप + अयना । सुखेन प्राप्तव्या (अस्मै) (भव) (सूपसर्पणा) सु + उप + सर्पणा । सुखेन

योग्य (भव) हो। (यथा) जैसे (माता) माता (पुत्रम्) पुत्र को (सिचा) अपने आंचल से, [वैसे] (भूमे) हे भूमि ! (एनम्) इस [पुरुष] को [अपने रत्नों से] (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) ढक ले ॥ ५० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विज्ञान पूर्वक पृथिवी के पदार्थों और गुणों का प्रकाश करते हैं, वे अनेक रत्नों को पाकर ऐसे सुखी होते हैं जैसे माता से रक्षित बालक आनन्द पाता है ॥ ५० ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आ चुका है—अथ० १८ । २ । ५० ॥

उच्छ्वञ्चमाना पृथिवी सु तिष्ठतु सहस्रं मित उप हि श्रयन्ताम् । ते गृहासो घृतश्चुतः स्योना विश्वाहास्मै शरणाः सन्त्वत्र ॥ ५१ ॥

उत्-श्वञ्चमाना । पृथिवी । सु । तिष्ठतु । सहस्रम् । मितः । उप । हि । श्रयन्ताम् ॥ ते । गृहासः । घृत-श्चुतः । स्योनाः । विश्वाहा । अस्मै । शरणाः । सन्तु । अत्र ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(उच्छ्वञ्चमाना) फूलती हुयी (पृथिवी) पृथिवी (सु) अच्छे प्रकार (तिष्ठतु) ठहरी रहे, (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (मितः) फैले हुये स्थान [दुर्ग आदि] (हि) अवश्य (उप श्रयन्ताम्) आश्रय लेवें । (ते) यह (गृहासः) घर (घृतश्चुतः) घी से सींचने वाले, (स्योनाः) सुख करने हारे और (शरणाः) शरण देने वाले (विश्वाहा) सब दिन (अत्र) यहां पर (अस्मै) इस पुरुष के लिये (सन्तु) होवें ॥ ५१ ॥

गन्तव्या (माता) जननी (पुत्रम्) सन्तानम् (यथा) (सिचा) चेलाञ्चलेन (अभि) सर्वतः (एनम्) जिज्ञासुम् (भूमे) हे पृथिवि (ऊर्णुहि) आच्छादय स्वरत्नैः ॥

५१—(उच्छ्वञ्चमाना) म० ५० । पुलकितावयवा (पृथिवी) (सु) (तिष्ठतु) (सहस्रम्) सहस्रप्रकारेण (मितः) डु मिञ् प्रक्षेपणे—क्विप् , तुक् । प्रक्षिप्ता विस्तृता दुर्गादिनिवासाः (हि) निश्चयेन (उपश्रयन्ताम्) आश्रिता भवन्तु (ते) दृश्यमानाः (गृहासः) गृहाः (घृतश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । घृतेन क्षारयितारः । सेक्तारः (स्योनाः) सुखकराः (विश्वाहा) सर्वाण्यहानि (अस्मै) पुरुषाय (शरणाः) शरण—अर्शआद्यच् । आश्रयभूताः (सन्तु) (अत्र) अस्मिंल्लोके ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि पृथिवी को भले प्रकार उपकारी करके अच्छे अच्छे दृढ़ सुखदायक स्थान बनावें ॥ ५१ ॥

उत्ते स्तभ्नामि पृथिवीं त्वत् परीमं लोगं निदधन्मो अहं रिषम् । एतां स्थूणां पितरो धारयन्ति ते तत्रं यमः सादना ते कृणोतु ॥ ५२ ॥

उत् । ते । स्तभ्नामि । पृथिवीम् । त्वत् । परि । इमम् । लोगम् । नि-दधत् । मो इति । अहम् । रिषम् ॥ एताम् । स्थूणाम् । पितरः । धारयन्ति । ते । तत्रं । यमः । सदना । ते । कृणोतु ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (पृथिवीम्) पृथिवी को (उत्) उत्तमता से (स्तभ्नामि) मैं [गृहस्थ] थांभता हूं, (त्वत् परि) तेरे सब ओर (इमम्) इस (लोगम्) निवास स्थान को (निदधत्) दृढ़ जमाता हुआ (अहम्) मैं (मो रिषम्) कभी न दुःख पाऊं । (एताम्) इस (स्थूणाम्) नीव [घर की मूल] को (पितरः) पितर [रक्षक महात्मा लोग] (ते) तेरे लिये (धारयन्ति) धरते हैं, (तत्र) उस [नीव] पर (यमः) संयमी [शिल्पी जन] (ते) तेरे लिये (सदना) घरों को (कृणोतु) बनावे ॥ ५२ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य भूमि को सुथरी सुडौल बनाकर बड़े लोगों के

५२—(उत्) उत्तमतया (ते) तुभ्यम् (स्तभ्नामि) ष्टभि गतिप्रतिबन्धे—श्ना । धारयामि । स्थापयामि (पृथिवीम्) भूमिम् (त्वत् परि) तव परितः (इमम्) (लोगम्) लुज लुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु—घञ् । चजोः कु घिण्यतोः । पा० ७ । ३ । ५२ । इति कुत्वं घिति प्रत्यये । निवासस्थानम् (निदधत्) दृढं धारयन् (अहम्) गृहस्थः (मो रिषम्) मैव हिंसितो भूवम् (एताम्) (स्थूणाम्) रास्नासास्नास्थूणावीणाः । उ० ३ । १५ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—नप्रत्ययः, आकारस्य ऊ इत्यादेशः । तिष्ठति गृहं यस्यां ताम् । गृहमूलम् (पितरः) पालका महात्मानः (धारयन्ति) धरन्ति (ते) तुभ्यम् (तत्र) गृहमूले (यमः) संयमी । शिल्पी (सदना) गृहाणि (ते) तुभ्यम् (कृणोतु) करोतु ॥

हाथों से नींव जमवा कर अच्छे अच्छे शिल्पियों से दृढ़ स्थान बनवावें जिससे रहने वाले सदा सुखी रहें ॥ ५२ ॥

मन्त्राः ५३—६० ॥

अग्निर्देवता ॥ ५३ आर्षी त्रिष्टुप्; ५४ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ५५, ५७ त्रिष्टुप्; ५६ अनुष्टुप् ; ५८ भुरिग् विराट् छन्दः; ५९ भुरिक् त्रिष्टुप्; ६० षट्पदा जगती ॥

गृहरक्षणोपदेशः—घर की रक्षा का उपदेश ॥

इममग्ने चमसं मा वि जिह्वरः प्रियो देवानामुत सोम्यानाम् । अयं यश्चमसो देवपानस्तस्मिन् देवा अमृता मादयन्ताम् ॥५३॥

इमम् । अग्ने । चमसम् । मा । वि । जिह्वरः । प्रियः । देवानाम् । उत । सोम्यानाम् ॥ अयम् । यः । चमसः । देव-पानः । तस्मिन् । देवाः । अमृताः । मादयन्ताम् ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे विद्वान् ! (इमम्) इस (चमसम्) खाने योग्य अन्न को (वि) बिगाड़ कर (मा जिह्वरः) मत नष्ट कर, वह [अन्न] (देवानाम्) विद्वानों का (उत) और (सोम्यानाम्) ऐश्वर्य वालों का (प्रियः) प्रिय है। (अयम्) यह (यः) जो (चमसः) अन्न (देवपानः) इन्द्रियों का रक्षक है, (तस्मिन्) उस में (अमृताः) अमर [न मरे हुये पुरुषार्थी] (देवाः) व्यवहार कुशल लोग (मादयन्ताम्) [सब को] तृप्त करें ॥ ५३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध अन्न आदि पदार्थ के सेवन से विद्वान् और ऐश्वर्यवान् होकर शरीर रक्षा करके सब को सुखी रक्खें ॥ ५३ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । ८ ॥

५३—(इमम्) उपस्थितम् (चमसम्) अत्यविचमि० । उ० ३ । ११७ । चमु अदने—असच् । भक्षणीयं पदार्थम् (वि) विकृत्य (मा जिह्वरः) ह्वृ कौटिल्ये—णिचि चङि लुङि रूपम् । कुटिलं नष्टं मा कार्षीः (प्रियः) प्रीतिकरः (देवानाम्) विदुषाम् (उत) अपि च (सोम्यानाम्) ऐश्वर्ययोग्यानाम् (अयम्) (यः) (चमसः) भक्षणीयपदार्थः (देवपानः) पा रक्षणे-ल्युट् । इन्द्रियरक्षणः (तस्मिन्) पदार्थे (देवाः) व्यवहारकुशलाः (अमृताः) अमराः । पुरुषार्थवन्तः (मादयन्ताम्) तर्पयन्तु सर्वान् ॥

अथर्वा पूर्णं चमसं यमिन्द्रायाबिभर्वाजिनीवते । तस्मिन् कृणोति सुकृतस्य भक्षं तस्मिन्निन्दुः पवते विश्वदानीम् ॥५४॥

अथर्वा । पूर्णम् । चमसम् । यम् । इन्द्राय । अबिभः । वाजिनी-वते ॥ तस्मिन् । कृणोति । सु-कृतस्य । भक्षम् । तस्मिन् । इन्दुः । पवते । विश्व-दानीम् ॥ ५४ ॥

भाषार्थ—(अथर्वा) निश्चल परमात्मा ने (यम्) जिसे (पूर्णम्) पूरे (चमसम्) अन्न को (वाजिनीवते) विज्ञान युक्त क्रिया वाले (इन्द्राय) बड़े ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (अबिभः) भरा है। (तस्मिन्) उस [अन्न] में (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (सुकृतस्य) सुकर्म का (भक्षम्) सेवन [वा भोग] (कृणोति) करता है, और (तस्मिन्) उसी [अन्न] में वह (विश्वदानीम्) समस्त दानों की क्रिया को (पवते) शुद्ध करता है ॥ ५४ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने संसार को अन्न आदि सुखदायक पदार्थों से भर दिया है, मनुष्य पुरुषार्थ से धर्म के साथ उन्हें प्राप्त कर के सब को सुख देवें ॥ ५४ ॥

यत् ते कृष्णः शकुन आतुतोद पिपीलः सर्प उत वा श्वापदः । अग्निष्टद् विश्वादगदं कृणोतु सोमश्च यो ब्राह्मणाँ आविवेश ॥५५

यत् । ते । कृष्णः । शकुनः । आ-तुतोद । पिपीलः । सर्पः ।

५४—(अथर्वा) अ० ४ । १ । ७ । थर्वतिश्चरतिकर्मा—निरु० ११ । १८ । स्नामदिपद्यर्ति० । उ० ४ । ११३ । अ+थर्व चरणे—वनिप्, वलोपः । निश्चलः परमेश्वरः (पूर्णम्) पर्याप्तम् (चमसम्) म० ५३ । भक्षणीयपदार्थम् (यम्) (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (अबिभः) बिभर्तेर्लङि प्रथमैक-वचनम् । भृतवान् (वाजिनीवते) विज्ञानवतीक्रियायुक्ताय (तस्मिन्) चमसे (कृणोति) करोति (सुकृतस्य) पुण्यकर्मणः । धर्मस्य (भक्षम्) वृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । भज सेवायाम्—सप्रत्ययः । सेवनम् । भोगम् (तस्मिन्) (इन्दुः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पवते) शोधयति (विश्वदानीम्) अ० ७ । ७३ । ११ । विश्वानि सर्वाणि दानानि यस्यां तां क्रियाम् ॥

उत । वा । श्वापदः ॥ अग्निः । तत् । विश्व-अत् । अगदम् ।
कृणोतु । सोमः । च । यः । ब्राह्मणान् । आ-विवेश ॥ ५५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यत्) जो कुछ (ते) तेरा [अङ्ग] (कृष्णः) काले (शकुनः) पक्षी [काक आदि], (पिपीलः) चीउंटा, (सर्पः) सर्प, (उत वा) अथवा (श्वापदः) कुत्ते समान पांव वाले, जङ्गली पशु [व्याघ्र शृगाल आदि] ने (आतुतोद) घायल कर दिया है, (तत्) उस [घायल अङ्ग] को (विश्वात्) सर्वरोगभक्षक (अग्निः) आग (अगदम्) नीरोग (कृणोतु) करे, (च) और (यः) जिस (सोमः) ऐश्वर्य [प्रभाव] ने (ब्राह्मणान्) बड़े विद्वानों में (आविवेश) प्रवेश किया है, [वह भी उसे नीरोग करे] ॥ ५५ ॥

भावार्थ—यदि विषैला पक्षी, पशु सर्प, कीट आदि काट खावे, तो मनुष्य थोड़े विषैले के काटे को आग से सेक दें और बड़े विषैले के काटे को आग से जलावें तथा और विद्वान् वैद्यों से भी औषध करावें, यह गृहस्थों को जानना चाहिये ॥ ५५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १६ । ६ ॥

पयस्वतीरोषधयः पयस्वन्मामकं पयः ।
अपां पयसो यत् पयस्तेन मा सह शुम्भतु ॥ ५६ ॥

पयस्वतीः । ओषधयः । पयस्वत् । मामकम् । पयः ॥
अपाम् । पयसः । यत् । पयः । तेन । मा । सह । शुम्भतु ॥५६

भाषार्थ—(ओषधयः) ओषधियां [अन्न सोम लता आदि] (पयस्वतीः)

५५—(यत्) अङ्गम् (ते) तव (कृष्णः) कृष्णवर्णः (शकुनः) पक्षी काकादिः (आतुतोद) तुद व्यथने । सर्वतो व्यथितं व्याकुलं कृतवान् (पिपीलः) अपि+पील रोधने—अच् । विषदंष्ट्रः पिपीलकादिः (सर्पः) भुजङ्गः (उत वा) अथवा (श्वापदः) शुनः पादानीव पादानि यस्य सः । व्याघ्रशृगालादिहिंस्रपशुः (अग्निः) भौतिकोऽग्निः (तत्) व्यथितमङ्गम् (विश्वात्) सर्वरोगभक्षकः (अगदम्) नीरोगम् (कृणोतु) करोतु (सोमः) ऐश्वर्यम् । प्रभावः (यः) (ब्राह्मणान्) विदुषः पुरुषान् (आविवेश) सम्यक् प्रविष्टवान् ॥

५६—(पयस्वतीः) रपेरत एच्च । उ० ४ । १९० । पा पाने—असुन्

सार वाली [होवें], (मामकम्) मेरा (पयः) ज्ञान (पयस्वत्) सार वाला [होवे]। और (अपाम्) जलों के (पयसः) सार का (यत्) जो (पयः) सार है, (तेन सह) उस के साथ (मा) मुझे (शुम्भतु) वह [विद्वान्] शोभायमान करे ॥ ५६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विचार पूर्वक सारयुक्त ओषधियों का सेवन शुद्ध उत्तम जल के साथ करके शरीर को पुष्ट करें ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । १४ । इस मन्त्र के पूर्वार्द्ध का मिलान करो—अ० ३ । २४ । १ ॥

इमा नारीरविधवाः सुपत्नीराञ्जनेन सर्पिषा सं स्पृशन्ताम् ।
अनश्रवो अनमीवाः सुरत्ना आ रोहन्तु जनयो योनिमग्रे ॥५७॥

इमाः । नारीः । अविधवाः । सु-पत्नीः । आ-अञ्जनेन । सर्पिषा । सम् । स्पृशन्ताम् ॥ अनश्रवः । अनमीवाः । सु-रत्नाः । आ । रोहन्तु । जनयः । योनिम् । अग्रे ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह [विदुषी] (नारीः) नारियां (अविधवाः) सधवा [मनुष्यों वाली] और (सुपत्नीः) धार्मिक पतियों वाली होकर (आञ्जनेन) यथावत् मेल से और (सर्पिषा) घी आदि [सारपदार्थ] से (सं स्पृशन्ताम्) संयुक्त रहें । (अनश्रवः) बिना आसुओं वाली, (अनमीवाः) बिना रोगों वाली, (सुरत्नाः) सुन्दर सुन्दर रत्नों वाली (जनयः) मातायें (अग्रे) आगे आगे (योनिम्) मिलने के स्थान [घर, सभा आदि] में (आ रोहन्तु) चढ़ें ॥ ५७ ॥

भावार्थ—जो विदुषी स्त्रियां ब्रह्मचर्य आदि शुभ गुण वाली होती हैं, वे अपने विद्वान् सुयोग्य कुटुम्बियों पतियों और पुत्र आदि के साथ शरीर और

मतुप्, ङीप् धातोरीत्वम् । सारवत्यः (ओषधयः) अन्नसोमलतादयः (पयस्वत्) सारयुक्तम् (मामकम्) मदीयम् (पयः) पय गतौ—असुन् । ज्ञानम् (अपाम्) जलानाम् (पयसः) सारस्य (यत्) (पयः) सारः (तेन) पयसा (मा) माम् (सह) (शुम्भतु) शोभनं करोतु ॥

५७—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १२ । २ । ३१ ॥

आत्मा से स्वस्थ रहकर बहुत धनवती और सुखवती होकर अग्रगामिनी बनती हैं ॥ ५७ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १८ । ७ । और ऊपर आचुका है-अ० १२ । २ । ३१ ॥

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन् ।

हित्वावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छतां तन्वा सुवर्चाः ॥ ५८ ॥

सम् । गच्छस्व । पितृ-भिः । सम् । यमेन । इष्टापूर्तेन । परमे । वि-ओमन् ॥ हित्वा । अवद्यम् । पुनः । अस्तम् । आ । इहि । सम् । गच्छताम् । तन्वा । सु-वर्चाः ॥ ५८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यमेन सम्) नियम [ब्रह्मचर्य आदि व्रत] के साथ (इष्टापूर्तेन) यज्ञ, वेदाध्ययन तथा अन्नदान आदि पुण्य कर्म से (परमे) सब से ऊंचे (व्योमन्) विशेष रक्षा पद में [वर्तमान] (पितृभिः) पितरों [पालक महात्माओं] से (सं गच्छस्व) तू मिल । (अवद्यम्) निन्दित कर्म [अज्ञान] को (हित्वा) छोड़कर (पुनः) फिर (अस्तम्) घर (आ इहि) तू आ और (सुवर्चाः) बड़ा तेजस्वी होकर (तन्वा) उपकार शक्ति के साथ (सं गच्छताम्) आप मिलें ॥ ५८ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि ब्रह्मचर्य आदि तप के साथ बड़े विद्वान् महाशयों से विद्या प्राप्त करके गृहाश्रम में प्रवेश कर प्रतापी होवें ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १४ । ८ । और इस का चौथा पाद ऊपर आचुका है-अ० १८ ।२ । १० तथा ऋग्वेद पाठ महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि अन्त्येष्टि प्रकरण में उद्धृत है ॥

५८—(सं गच्छस्व) संगतो भव (पितृभिः) पालकैर्महात्मभिः (सम्) सह (यमेन) नियमेन । ब्रह्मचर्यादिव्रतेन (इष्टापूर्तेन) अ०२ । १२ । ४ । यज्ञ-वेदाध्ययनान्नदानादिकर्मणा (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) अ० १ १७ । ६ । वि + अव रक्षणे—मनिन् । विशेषरक्षापदे (हित्वा) त्यक्त्वा (अवद्यम्) निन्द्यम् अज्ञानम् (पुनः) अज्ञानत्यागानन्तरम् (अस्तम्) गृहम् (एहि) आगच्छ (सं गच्छताम्) संगतो भवतु भवान् (तन्वा) उपकारशक्त्या (सुवर्चाः) महा-

ये नः पितुः पितरो ये पितामहा य आविविशुरुर्व१न्तरिक्षम् । तेभ्यः स्वराडसुनीतिर्नो अद्य यथावशं तन्वः कल्पयाति ॥ ५९ ॥

ये । नः । पितुः । पितरः । ये । पितामहाः । ये । आ-विविशुः । उरु । अन्तरिक्षम् ॥ तेभ्यः । स्व-राट् । असु-नीतिः । नः । अद्य । यथा-वशम् । तन्वः । कल्पयाति ॥ ५९ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (नः) हमारे (पितुः) पिता के (पितरः) पिता के समान हैं, और (ये) जो [उस के] (पितामहाः) दादे के तुल्य हैं, और (ये) जो (उरु) चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश में [विद्याबल से विमान आदि द्वारा] (आविविशुः) प्रविष्ट हुये हैं, (तेभ्यः) उन [पितरों] के लिये (स्वराट्) स्वयं राजा (असुनीतिः) प्राण दाता परमेश्वर (नः) हमारे (तन्वः) शरीरों को (अद्य) अब (यथावशम्) [हमारी] कामना के अनुकूल (कल्पयाति) समर्थ करे ॥ ५९ ॥

भावार्थ—जो पितर लोग विद्या के भंडार परोपकारी होवें, सब मनुष्य परमेश्वर की प्रार्थना द्वारा विद्या आदि शुभ गुण प्राप्त कर के उन महात्माओं के उद्देश्य पूरे करने में समर्थ होवें ॥ ५९ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५ । १४ तथा यजुर्वेद में—१९ । ६० और पूर्वार्द्ध ऊपर आया है—अ० १८ । २ । ४९ ॥

शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम् ।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति ।
मण्डूक्य१प्सु शं भुव इमं स्व१ग्निं शमय ॥ ६० ॥ (१८)

शम् । ते । नीहारः । भवतु । शम् । ते । प्रुष्वा । अव ।

५९—पूर्वार्द्धो व्याख्यातः—अ० १८ । २ । ४९ । (तेभ्यः) पितृभ्यः (स्वराट्) स्वयमेव राजा शासकः (असुनीतिः) असूनां प्राणानां नेता प्रापकः परमेश्वरः (नः) अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (यथावशम्) यथाकामम् (तन्वः) शरीराणि (कल्पयाति) कल्पयेत् । समर्थयेत् ॥

शीयताम् ॥ शीतिके । शीतिका-वति । ह्लादिके । ह्लादिका-वति ॥ मण्डूकी । अप्-सु । शम् । भुवः । इमम् । सु । अग्निम् । शमय ॥ ६० ॥ (१८)

भाषार्थ—(ते) तेरे लिये (नीहारः) कुहरा (शम्) शान्तिदायक (भवतु) होवे, (ते) तेरे लिये (प्रुष्वा) वृष्टि (शम्) शान्ति से (अवशीयताम्) नीचे गिरे । (शीतिके) हे शीतल स्वभाव वाली (शीतिकावति) हे शीतल क्रियाओं वाली (ह्लादिके) हे आनन्द देने वाली (ह्लादिकावति) हे आनन्द युक्त क्रियाओं वाली ! [प्रजा अर्थात् प्रत्येक स्त्री पुरुष] (अप्सु) जल में (मण्डूकी) मेंडुकी [के समान] तू (शम्) शान्त (भुवः) हो, और (इमम्) इस (अग्निम्) आग [महासन्ताप] को (सु) अच्छे प्रकार (शमय) शान्त कर ॥ ६० ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष कुहरे, वृष्टि आदि का सहन कर के और जल में मेंडुकी के समान शान्त स्वभाव और प्रसन्न चित्त रहकर सन्ताप अर्थात् विघ्नों का नाश करें ॥ ६० ॥

इस मन्त्र का भाग (शीतिके......शमय) कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १६ । १४ ॥

मन्त्राः ६१—६४ ॥

विवस्वान् यमो वा देवता ॥ ६१ त्रिष्टुप् ; ६२ आर्षी त्रिष्टुप् ; ६३ निचृत्

६०—(शम्) सुखकरः (ते) तुभ्यम् (नीहारः) घनीभूतशिशिरम् (भवतु) (शम्) शान्तिप्रदः (ते) (प्रुष्वा) शीङ्क्रुशिरुहि० । उ० ४ । ११४ । प्रुष स्नेहनसेवनपूरणेषु—क्वनिप् । वृष्टिपातः (अवशीयताम्) शीङ् स्वप्ने—भावे लोट् । अधो वर्तताम् । अधः पततु (शीतिके) स्वार्थे कन् , टाप् । उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः । पा० ७ । ३ । ४६ । अत इत्वम् । हे शीतल-स्वभावे प्रजे (शीतिकावति) हे शीतलक्रियायुक्ते (ह्लादिके) ह्लादी सुखे—ण्वुल् । प्रत्ययस्थात् कात्पूर्वस्यात इदाप्यसुपः । पा० ७ । ३ । ४४ । अत इत्वम् । हे सुखकारिणि (ह्लादिकावति) हे सुखवतीक्रियायुक्ते (मण्डूकी) मण्डूक-स्त्री यथा (अप्सु) जलेषु (शम्) शान्ता (भुवः) लेटि रूपम् । भवेः (इमम्) (सु) सुष्ठु (अग्निम्) सन्तापम् । विघ्नम् (शमय) शान्तं कुरु ॥

त्रिष्टुप् ; ६४ भुरिक् पथ्या पङ्क्तिः ॥

अभयप्राप्त्युपदेशः—अभय पाने का उपदेश ॥

वि॒वस्वा॑न्नो॒ अभ॑यं कृणोतु॒ यः सु॒त्रामा॑ जी॒रदा॑नुः सु॒दानुः॑।
इ॒हेमे वी॒रा ब॒हवो॑ भवन्तु॒ गोम॒दश्व॑व॒न्मय्य॑स्तु पु॒ष्टम् ॥६१॥

वि॒वस्वा॑न् । नः॒ । अभ॑यम् । कृ॒णो॒तु॒ । यः । सु॒ऽत्रामा॑ । जी॒रऽदा॑नुः । सु॒ऽदानुः॑ ॥ इ॒ह । इ॒मे । वी॒राः । ब॒हवः॑ । भ॒व॒न्तु॒ । गोऽम॑त् । अश्व॑ऽवत् । मयि॑ । अ॒स्तु॒ । पु॒ष्टम् ॥ ६१ ॥

भावार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय परमेश्वर (नः) हमारे लिये (अभयम्) अभय (कृणोतु) करे, (यः) जो [परमात्मा] (सुत्रामा) बड़ा रक्षक (जीरदानुः) वेग का देने वाला, (सुदानुः) बड़ा उदार है (इह) यहां पर (इमे) यह सब (वीराः) वीर लोग (बहवः) बहुत (भवन्तु) होवें, (गोमत्) उत्तम गौओं से युक्त और (अश्ववत्) उत्तम घोड़ों से युक्त (पुष्टम्) पोषण (मयि) मुझ में (अस्तु) होवे ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर प्रयत्नशाली वेगवान् और उदार होकर संसार में शान्ति करें और सब लोगों को वीर बनाकर समृद्ध होवें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र महर्षिदयानन्दकृत संस्कारविधि जात कर्म प्रकरण में उद्धृत है और इस का तीसरा पाद ऊपर आया है—अ० १२ । २ । २१ ॥

वि॒वस्वा॑न्नो अ॒मृत॒त्वे द॑धातु॒ परै॑तु मृ॒त्युर॒मृतं॑ न॒ ऐतु॑ ।
इ॒मान् र॑क्षतु॒ पुरु॑षा॒ना ज॑रि॒म्णो मो ष्वे॑षा॒मस॑वो य॒मं गुः॑ ।६२।

६१—(विवस्वान्) प्रकाशमयः परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (अभयम्) भयराहित्यम् (कृणोतु) करोतु (यः) परमेश्वरः (सुत्रामा) सु+त्रैङ् पालने मनिन् । बहुरक्षकः (जीरदानुः) अ० ७ । १८ । २ । जोरी च । उ० २ । २३ । जु गतौ–रक्, ईकारादेशः, जीराः क्षिप्रनाम—निघ० २ । १५, ददातेर्नु । वेगदाता (सुदानुः) महोदारः (इह) अत्र संसारे (इमे) (वीराः) शूराः (बहवः) बहुसंख्याकाः (भवन्तु) (गोमत्) उत्तमगोभिर्युक्तम् (अश्ववत्) श्रेष्ठाश्वोपेतम् (मयि) (अस्तु) (पुष्टम्) पोषणम् । वर्धनम् ॥

विवस्वान् । नः । अमृत-त्वे । दधातु । परा । एतु । मृत्युः । अमृतम् । नः । आ । एतु ॥ इमान् । रक्षतु । पुरुषान् । आ । जरिम्णः । मो इति । सु । एषाम् । असवः । यमम् । गुः ॥६२॥

भाषार्थ—(विवस्वान्) प्रकाशमय परमेश्वर (नः) हमें (अमृतत्वे) अमरपन [यश] के बीच (दधातु) रक्खे, (मृत्युः) [निर्धनता आदि दुःख] (परा) दूर (एतु) जावे, (अमृतम्) अमरण [धनाढ्यता] (नः) हम में (आ एतु) आवे। वह [परमेश्वर] (इमान्) इन (पुरुषान्) पुरुषों को (जरिम्णः) जीवन की हानि से (आ) सब प्रकार (रक्षतु) बचावे, (एषाम्) इन के (असवः) प्राण (यमम्) मृत्यु को (सु) कष्ट के साथ (मो गुः) कभी न जावें ॥ ६२ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी लोग परमात्मा के नियम से कभी भूखे प्यासे नहीं रहते, वे धनवान् होकर अपना जीवन सुख से बिताते हैं ॥ ६२ ॥

यो दध्रे अन्तरिक्षे न मह्ना पितृणां कविः प्रमतिर्मतीनाम् । तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ॥६३॥

यः । दध्रे । अन्तरिक्षे । न । मह्ना । पितृणाम् । कविः । प्र-मतिः । मतीनाम् ॥ तम् । अर्चत । विश्व-मित्राः । हविः-भिः । सः । नः । यमः । प्र-तरम् । जीवसे । धात् ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमात्मा] ने (पितृणाम्) पितरों [पालक-

६२—(विवस्वान्) प्रकाशमयः परमात्मा (नः) अस्मान् (अमृतत्वे) अमरत्वे । यशसि (दधातु) धारयतु (परा) दूरे (एतु) गच्छतु (मृत्युः) मरणम् । निर्धनतादिदुःखम् (अमृतम्) अमरणम् । धनाढ्यत्वम् (नः) अस्मान् (ऐतु) आगच्छतु (इमान्) उपस्थितान् (रक्षतु) पातु (पुरुषान्) (आ) समन्तात् (जरिम्णः) जरा-इमनिच् । वयोहानेः सकाशात् (मो गुः) इण् गतौ, माङि लुङि रूपम् । मैव गच्छन्तु (सु) कृच्छ्रेण । कष्टेन (एषाम्) पुरुषाणाम् (असवः) प्राणाः (यमम्) मृत्युम् ॥

६३—(यः) परमात्मा (दध्रे) धृञ् धारणे-लिट् । धृतवान् (अन्तरिक्षे)

महात्माओं] में (कविः) बुद्धिमान् और (मतीनाम्) बुद्धिमानों में (प्रमतिः) बड़ा बुद्धिमान् होकर (अन्तरिक्षे) आकाश के बीच (न) प्रबन्ध के साथ (मह्ना) अपनी महिमा से [सब लोकों को] (दध्रे) धारण किया है। (तम्) उस [परमात्मा] को (विश्वमित्राः) सब के मित्र होकर तुम (हविर्भिः) आत्मसमर्पणों से (अर्चत) पूजो, (सः) वह (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक उत्तमता से (जीवसे) जीने के लिये (धात्) धारण करे ॥ ६३ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा आकाश के बीच सब लोगों को रचकर आकर्षण आदि नियम में रखता है, सब मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना कर के अपने जीवन को अधिक अधिक उच्च बनाते हैं ॥ ६३ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्ध आगे है, अ० १८ । ४ । ५४ ॥

आ रोहत दिवमुत्तमामृषयो मा बिभीतन । सोमपाः सोमपायिन इदं वः क्रियते हविरगन्म ज्योतिरुत्तमम् ॥ ६४ ॥

आ । रोहत । दिवम् । उत्-तमाम् । ऋषयः । मा । बिभीतन ॥ सोम-पाः । सोम-पायिनः । इदम् । वः । क्रियते । हविः । अगन्म । ज्योतिः । उत्-तमम् ॥ ६४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (उत्तमाम्) उत्तम (दिवम्) विद्या में (आ रोहत) तुम ऊंचे होओ, (ऋषयः) हे ऋषियो ! [सन्मार्गदर्शको] (मा

आकाशे (न) णह बन्धने—ड । सुपां सुलुक्० । पा० । ७ । १ । ३९ । इति विभक्तेर्लुक् । नेन प्रबन्धेन । आकर्षणादिनियमेन (मह्ना) स्वमहिम्ना (पितॄणाम्) पालकमहात्मनां मध्ये (कविः) मेधावी (प्रमतिः) प्रकृष्टबुद्धियुक्तः (मतीनाम्) मतयो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । मेधाविनां मध्ये (तम्) परमात्मानम् (अर्चत) पूजयत (विश्वमित्राः) सर्वेषां सखायः सन्तः (हविर्भिः) आत्मदानैः (सः) (नः) अस्मान् (यमः) नियामकः परमेश्वरः (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (जीव से) जीवनाय (धात्) दध्यात् । धारयेत् ॥

६४—(आ रोहत) आरूढा भवत (दिवम्) दिवु गतौ—डिवि । गतिम् । विद्याम् (उत्तमाम्) उत्कृष्टाम् (ऋषयः) सन्मार्गदर्शकाः (मा बिभीतन)

बिभीतन) मत भय करो। तुम (सोमपाः) शान्ति रस पीने वाले और (सोमपायिनः) शान्ति रस पिलाने वाले हो, (वः) तुम्हारे लिये (इदम्) यह (हविः) देने लेने योग्य कर्म (क्रियते) किया जाता है, (उत्तमम्) सब से उत्तम (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर को (अगन्म) हम सब प्राप्त होवें ॥ ६४ ॥

भावार्थ—जो ऋषि महात्मा उत्तम विद्या प्राप्त कर के शान्तचित्त होकर संसार में शान्ति स्थापित करें, मनुष्य उन से सत्कार पूर्वक शिक्षा ग्रहण करके परमात्मा की आज्ञा पालने में आनन्द पावें ॥ ६४॥

इस मन्त्र का अन्तिमपाद (अगन्म ...) यजुर्वेद में है—२० । २१ ॥

मन्त्राः ६५—६७ ॥

अग्निरिन्द्रो वा देवता ॥ ६५, ६६ त्रिष्टुप् ; ६७ पथ्या बृहती ॥ राजकर्त्तव्योपदेशः—राजा के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

प्र केतुना बृहता भात्यग्निरा रोदसी वृषभो रोरवीति ।

दिवश्चिदन्तादुपमामुदानडपामुपस्थे महिषो ववर्ध ॥ ६५ ॥

प्र । केतुना । बृहता । भाति । अग्निः । आ । रोदसी इति । वृषभः । रोरवीति ॥ दिवः । चित् । अन्तात् । उप-माम् । उत् । आनट् । अपाम् । उप-स्थे । महिषः । ववर्ध ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि समान तेजस्वी राजा (बृहता) बड़ी (केतुना) बुद्धि के साथ (प्र भाति) चमकता जाता है, [जैसे] (वृषभः) वृष्टि कराने

घिभेतेर्लोटि तनादेशः । मा विभीत । भयं मा प्राप्नुत (सोमपाः) शान्तिरसस्य पानशीलाः (सोमपायिनः) शान्तिरसस्य पानकारयितारः (इदम्) (वः) युष्मभ्यम् (क्रियते) विधीयते (हविः) दातव्यग्राह्यकर्म (अगन्म) लिङर्थे लुङ् । वयं प्राप्नुयाम (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (उत्तमम्) श्रेष्ठम् ॥

६५—(प्र) प्रकर्षेण (केतुना) प्रज्ञया—निघ० ३ । ६ (बृहता) महता

वाला [सूर्य का ताप] (रोदसी) आकाश और पृथिवी में (आ) व्यापकर (रोरवीति) [बिजुली, मेघ, वायु आदि द्वारा] सब ओर से गरजता है। और (दिवः) सूर्य लोक के (चित्) ही (अन्तात्) अन्त से (उपमाम्) [हमारी] निकटता को (उत्) उत्तमता से (आनट्) वह [सूर्य का ताप] व्यापता है, [वैसे ही] (महिषः) वह पूजनीय राजा (अपाम्) प्रजाओं को (उपस्थे) गोद में (ववर्ध) बढ़ता है ॥ ६५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने ताप द्वारा पृथिवी से जल खींचकर और फिर बरसा कर आनन्द बढ़ाता है, वैसे ही जो प्रतापी राजा प्रजा से कर लेकर प्रजा को सुख देता है, वह प्रजाप्रिय होकर संसार में बढ़ाता है ॥ ६५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । ८ । १ तथा सामवेद में— पू० १ । ७ । ६ । दूसरा पाद ऋग्वेद में है—६ । ७३ । १ ॥

नाके सुपर्णमुप यत् पतन्तं हृदा वेनन्तो अभ्यचक्षत त्वा ।

हिरण्यपक्षं वरुणस्य दूतं यमस्य योनौ शकुनं भुरण्युम् ॥६६॥

नाके । सु-पर्णम् । उप । यत् । पतन्तम् । हृदा । वेनन्तः । अभि-अचक्षत । त्वा ॥ हिरण्य-पक्षम् । वरुणस्य । दूतम् । यमस्य । योनौ । शकुनम् । भुरण्युम् ॥ ६६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (यत्) जैसे (नाके) आकाश में (उप

द्यावापृथिव्यौ (वृषभः)वर्षकः सूर्यतापः (रोरवीति) भृशं रौति । विद्युदादिना भृशं शब्दं करोति (दिवः) सूर्यलोकस्य (चित्) एव (अन्तात्) (उपमाम्) सामीप्यम् (उत) उत्तमतया (आनट्) अशूङ् व्याप्तौ लिटि, पश्त्वे, पशो लुक् छान्दसः, व्रश्चादिना षत्वम्। झलां जशोऽन्ते । पा० ८ । २ । ३६ । इति डकारः । वावसाने । पा० ८ । ४ । ५६ । डस्य टः । आनट्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । आनशे । अश्नुते । व्याप्नोति (अपाम्) प्रजानाम् (उपस्थे) उपस्थाने । उत्सङ्गे (महिषः) महान्—निघ० ३ । ३ । पूजनीयो राजा (ववर्ध) लडर्थे लिट् । ववृधे । वर्धते ॥

६६—(नाके) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । णीञ् प्रापणे-आकप्रत्ययः,

पतन्तम्) उड़ते हुये (सुपर्णम्) सुन्दर पंख वाले [गरुड़ आदि] पक्षी को, [वैसे ही] (हिरण्यपक्षम्) तेज ग्रहण करने वाले, (वरुणस्य) श्रेष्ठ गुण के (दूतम्) पहुंचाने वाले, (यमस्य) न्याय के (योनौ) घर में (शकुनम्) शक्तिमान् और (भुरण्युम्) पालन करने वाले (त्वा) तुझ को (हृदा) हृदय से (वेनन्तः) चाहने वाले पुरुषों ने (अभ्यचक्षत) सब ओर से देखते हैं ॥ ६६ ॥

भावार्थ—जो राजा महाप्रतापी, श्रेष्ठ गुणी, न्यायकारी और प्रजापालक होता है, मनुष्य उस वेगवान् तीव्रबुद्धि को ऐसी प्रीत से देखते हैं, जैसे आकाश में ऊंचे उड़ते हुये गरुड़ आदि को चाव से देखते हैं ॥ ६६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है-१० । १२३ । ५ और सामवेद में—पू० ४ । ३ । ८ तथा उ० ६ । २ । १३ ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ ६७ ॥

इन्द्र । क्रतुम् । नः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ॥ शिक्ष । नः । अस्मिन् । पुरु-हूत । यामनि । जीवाः । ज्योतिः । अशीमहि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे परम ऐश्वर्य वाले राजन् ! तू (नः) हमारे लिये (क्रतुम्) बुद्धि (आ भर) भर दे, (यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः)

टिलोपः । लोकानां नेतरि आकाशे (सुपर्णम्) शोभनपक्षोपेतं गरुडादिविहङ्गम् (यत) यथा (उप पतन्तम्) उड्डीयमानम् (हृदा) हृदयेन (वेनन्तः) वेनतिः कान्तिकर्मा—निघ० २ । ६ । कामयमानाः (अभ्यचक्षत) सर्वतः पश्यन्ति (त्वा) त्वां राजानम् (हिरण्यपक्षम्) पक्ष परिग्रहे-अच् । तेजसो ग्रहीतारम् (वरुणस्य) श्रेष्ठगुणस्य (दूतम्) दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३ । ६० । दु गतौ—क्त । प्रापकम् (यमस्य) न्यायस्य (योनौ) गृहे (शकुनम्) शकेरुनोन्तान्त्युनयः । उ० ३ । ४६ । शक्लृ शक्तौ—उनप्रत्ययः । शक्तम् । समर्थम् (भुरण्युम्) यजिमनिशुन्धि० उ० ३ । २० । भुरण धारणपोषणयोः—युच् । भर्तारम् ॥

६७—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (क्रतुम्) प्रज्ञाम् (नः) अस्मभ्यम् (भर) पोषय (पिता) (पुत्रेभ्यः) भ्रातृपुत्रौ स्वसृदुहितृभ्याम् । पा० १ । २ ।

पुत्रों [सन्तानों] के लिये । (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये [राजन् !] (अस्मिन्) इस (यामनि) समय वा मार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दे, [जिस से] (जीवाः) हम जीव लोग (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि) पावें ॥ ६७ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम विद्यालय, शिल्पालय आदि खोलकर प्रजा का हित करे जैसे पिता सन्तानों का हित करता है, जिस से लोग अज्ञान के अन्धकार से छूट कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होवें ॥ ६७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है–७ । ३२ । २६ और सामवेद में है—पू० ३ । ७ । ७ तथा उ० ६ । ३ । ६ ॥

मन्त्राः ६८—७३ ॥

प्रजापतिर्देवता ॥ ६८, ७०, ७२ अनुष्टुप् ; ६६, ७१ निचृदार्षी बृहती; ७३ त्रिष्टुप् ॥

गृहाश्रमे मनुष्यकर्तव्योपदेशः—गृहाश्रम में मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ ६८ ॥

अपूप-अपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ॥
ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः । घृत-श्चुतः ॥६८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों माल पूये पूड़ी आदि] को ढककर रखने वाले (कुम्भान्) पात्रों को (ते) तेरे लिये (देवाः) विद्वानों ने (अधारयन्) रक्खा है । (ते) वे

---

६८ । इत्येकशेषः । पुत्रदुहितृभ्यः । सन्तानेभ्यः (यथा) (शिक्ष) अनुशाधि । शिक्षां कुरु (नः) अस्मान् (पुरुहूत) बहुप्रकारेणाहूत (यामनि) समये मार्गे वा (जीवाः) प्राणिनो वयम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (अशीमहि) प्राप्नुयाम ॥

६८—(अपूपापिहितान्) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ्+पूयी विशरणे दुर्गन्धे च—पप्रत्ययः, यलोपः । अविशीर्णा अक्षीणा अपूपाः सुसंस्कृतभोजनपदार्था अपिहिता आच्छादिता येषु तान् । सुसंस्कृतभोजनपदार्थपूर्णान् (कुम्भान्) घटान् (यान्) (ते) तुभ्यम् (देवाः) विद्वांसः (अधारयन्)

[भोजन पदार्थ] (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] के सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ ६८ ॥

भावार्थ—गृहस्थों को योग्य है कि विद्वानों के स्थापित नियमों के अनुसार उत्तम भोजनों के सेवन से स्वस्थ रहें ॥ ६८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । २५ और उत्तरार्ध उसी के मन्त्र म० ४२ में है ॥

यास्ते॑ धा॒ना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्व॒धाव॑तीः । तास्ते॑ सन्तु वि॒भ्वीः प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजानु॑ मन्यताम् ॥ ६९ ॥

याः । ते॒ । धा॒नाः । अ॒नु॒-कि॒रामि॑ । ति॒ल-मि॑श्राः । स्व॒धा-व॑तीः ॥ ताः । ते॒ । स॒न्तु॒ । वि॒-भ्वीः । प्र॒-भ्वीः । ताः । ते॒ । य॒मः । राजा॑ । अ॒नु॑ । म॒न्य॒ता॒म् ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिलमिश्राः) उद्योग से मिली हुयी, (स्वधावतीः) आत्मधारण शक्ति वाली (धानाः) पोषण क्रियाओं को (अनुकिरामि) मैं अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [पोषण क्रियायें] (ते) तेरे लिये (विभ्वीः) सर्वव्यापिनी और (प्रभ्वीः) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [पोषणक्रियाओं] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक पुरुष] (अनु) अनुकूल

धारितवन्तः (ते) कुम्भाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (स्वधावन्तः) आत्मधारण-शक्तियुक्ताः (मधुमन्तः) मधुरगुणोपेताः (घृतश्चुतः) श्चुतिर् क्षरणे-क्विप् । घृतस्य साररसस्य सेचकाः ॥

६९—(याः) (ते) तुभ्यम् (धानाः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । डुधाञ् धारणपोषणदानेषु— नप्रत्ययः, टाप् । पोषणक्रियाः (अनुकिरामि) कॄ विक्षेपे । आनुकूल्येन विस्तारयामि (तिलमिश्राः) तिल गतौ स्नेहने च— कप्रत्ययः । तिलेन गत्या प्रयत्नेन मिश्रिताः (स्वधावतीः) स्वधारणशक्तिमतीः (ताः) पोषणक्रियाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (विभ्वीः) विभ्व्यः । सर्वव्यापिन्यः (प्रभ्वीः) प्रभ्व्यः । प्रभुत्वोपेताः (ताः) (ते) तुभ्यम् (यमः) संयमी

(मन्यताम्) जाने ॥ ६९ ॥

भावार्थ—परमेश्वर कहता है कि मैं मनुष्य को अनेक विचित्र प्रभावशाली क्रियायें सर्वत्र लगातार देता हूं, उन को आत्मशासक संयमी पुरुष ज्ञान पूर्वक प्राप्त करे ॥ ६९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । २६ तथा ४३ ॥

पुनर्देहि वनस्पते य एष निहितस्त्वयि ।
यथा यमस्य सादन आसातै विदथा वदन् ॥ ७० ॥

पुनः । देहि । वनस्पते । यः । एषः । नि-हितः । त्वयि ॥
यथा । यमस्य । सदने । आसातै । विदथा । वदन् ॥ ७० ॥

भाषार्थ—(वनस्पते) हे सेवकों के रक्षक [परमात्मन् !] [वह श्रेष्ठ गुण] (पुनः) निश्चय कर के (देहि) दे, (यः एषः) जो यह [श्रेष्ठ गुण] (त्वयि) तुझ में (निहितः) दृढ़ रक्खा है । (यथा) जिस से यह [जीव] (यमस्य) न्याय के (सदने) घर में (विदथा) ज्ञानों को (वदन्) बताता हुआ (आसातै) बैठे ॥ ७० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के सर्वव्यापक उत्तम गुणों को अवश्य प्रयत्न से प्राप्त करके न्याय के साथ संसार में उपकार करे ॥ ७० ॥

आ रभस्व जातवेदस्तेजस्वद्धरो अस्तु ते ।
शरीरमस्य सं दहाथैनं धेहि सुकृतामु लोके ॥ ७१ ॥

आ । रभस्व । जात-वेदः । तेजस्वत् । हरः । अस्तु । ते ॥ शरीरम् । अस्य । सम् । दह । अथ । एनम् । धेहि । सु-कृताम् ।

पुरुषः (राजा) शासकः । जीवात्मा (अनु) अनुकूलम् (मन्यताम्) जानातु ॥

७०—(पुनः) अवधारणे (देहि) प्रयच्छ श्रेष्ठगुणम् (वनस्पते) वन सेवने—अच् । हे वनानां सेवकानां पालक परमेश्वर (यः) श्रेष्ठगुणः (एषः) (निहितः) दृढं धृतः (त्वयि) (यथा) येन प्रकारेण (यमस्य) न्यायस्य (सदने) गृहे (आसातै) लेटि रूपम् । आसीत् । उपविशेत् (विदथा) ज्ञानानि (वदन्) कथयन् । उपदिशन् ।

ऊं इति । लोके ॥ ७१ ॥

भाषार्थ—(जातवेदः) हे बड़े ज्ञानों वाले जीव ! [धर्म को] (आ रभस्व) आरम्भ कर, (ते) तेरा (हरः) ग्रहण सामर्थ्य (तेजस्वत्) तेज वाला (अस्तु) होवे । (अस्य) इस [प्राणी] के (शरीरम्) शरीर को [ब्रह्मचर्य आदि तप से] (सम्) यथावत् (दह) तपा, (अथ) फिर (एनम्) इस [प्राणी] को (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (उ) अवश्य (धेहि) रख ॥ ७१॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म को आरम्भ कर के अपना बल पराक्रम बढ़ाते हैं; और अपने शरीर को ब्रह्मचर्य आदि तप से संयम में रखते हैं वेही पुण्यात्माओं में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ ७१ ॥

ये ते पूर्वे परागता अपरे पितरश्च ये ।
तेभ्यो घृतस्य कुल्यैतु शतधारा व्युन्दती ॥ ७२ ॥

ये । ते । पूर्वे । परा-गताः । अपरे । पितरः । च । ये ॥ तेभ्यः । घृतस्य । कुल्या । एतु । शत-धारा । वि-उन्दती ॥ ७२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ये) जो (ते) तेरे (पूर्वे) प्राचीन (च) और (ये) जो (अपरे) अर्वाचीन (पितरः) पितर [पालक महात्मा] (परागताः) प्रधानता से चले हैं । (तेभ्यः) उन के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) कुल्या [कृत्रिम नाली] (शतधारा) सैकड़ों धाराओं वाली, (व्युन्दती)

७१—(आ रभस्व) उपक्रमस्व धर्मम् (जातवेदः) जातानि प्रसिद्धानि वेदांसि ज्ञानानि यस्य तत्सम्बुद्धौ (तेजस्वत्) प्रकाशयुक्तम् (हरः) हरतेरसुन् । ग्रहणसामर्थ्यम् । बलम् (अस्तु) (ते) तव (शरीरम्) (अस्य) प्राणिनः (सम्) सम्यक् (दह) तापय ब्रह्मचर्यादितपसा (अथ) अनन्तरम् (एनम्) प्राणिनम् (धेहि) स्थापय (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) अवश्यम् (लोके) समाजे ॥

७२—(ये) (ते) तव (पूर्वे) प्राचीनाः (परागताः) प्राधान्येन गताः (अपरे) पश्चाद्भाविनः । अर्वाचीनाः (पितरः) पालका महात्मानः (च) (ये) (तेभ्यः) पितॄणां हिताय (घृतस्य) उदकस्य—निघ० १ । १२ (कुल्या) कुल—यत्, यद्वा कुल बन्धे संहतौ च—क्यप्, टाप्, कृत्रिमाल्पा नदी (शत

उमड़ती हुयी (एतु) चले ॥ ७२ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज और वर्तमान महात्माओं से गुण ग्रहण करके संसार को अनेक प्रकार आनन्द देवें, जैसे कि किसान लोग जल की नालियां बना खेतों को सींच कर अन्न की वृद्धि से सुख पहुंचाते हैं ॥ ७२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आगे है—अ० १८ । ४ । ५७ ॥

एतदा रोह वयं उन्मृजानः स्वा इह बृहदु दीदयन्ते । अभि प्रेहि मध्यतो मापं हास्थाःपितृणां लोकं प्रथमो यो अत्र॥७३(१८

एतत् । आ । रोह । वयः । उत्-मृजानः । स्वाः । इह । बृहत् । ऊं इति । दीदयन्ते ॥ अभि । प्र । इहि । मध्यतः । मा । अप । हास्थाः । पितृणाम् । लोकम् । प्रथमः । यः । अत्र ॥ ७३ ॥ (१८)

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (एतत्) इस (वयः) जीवन को (उन्मृजानः) शुद्ध करता हुआ तू (आ रोह) ऊंचा चढ़, (ते) तेरे (स्वाः) बान्धव लोग (इह) यहां पर (बृहत्) बहुत (हि) ही (दीदयन्ते) प्रकाशमान हैं। तू (अभि) सब ओर (प्र) आगे को (इहि) चल, (मध्यतः) बीच से (पितृणाम्) पितरों के (लोकम्) उस समाज को (अप) बिलगा कर (मा हास्थाः) मत जा, (यः) जो [समाज] (अत्र) यहां पर (प्रथमः) मुख्य है ॥ ७३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने यशस्वी बान्धवों के समान अपना जीवन उत्तम

धारा) बहुधाराभिरुपेता (व्युन्दन्ती) विशेषेण आर्द्रीकुर्वती ॥

७३—(एतत्) दृश्यमानम् (आ रोह) आरुह्य प्राप्नुहि (वयः) जीवनम् (उन्मृजानः) परिशोधयन् (स्वाः) ज्ञातयः (इह) अस्मिंल्लोके (बृहत्) यथा भवति तथा । अधिकम् (दीदयन्ते) दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा निघ० १ । १६ । दीदयतिर्नैरुक्तो धातुः—पश्यत निरु १० । १६ । दीप्यन्ते (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण अग्रे(इहि) गच्छ (मध्यतः) मध्यभागात् (अप) अपेत्य वियुज्य (मा हास्थाः) ओहाङ् गतौ—लुङ् । मा गच्छ (पितृणाम्) पालकानाम् ॥ (लोकम्) समाजम् (प्रथमः) मुख्यः(यः) लोकः (अत्र) अस्मिन् संसारे ॥

बनावें, और सब श्रेष्ठ कामों को दृढ़ता से आरम्भ कर के सर्वथा समाप्त कर महापुरुषार्थियों में स्थान पावें ॥ ७२ ॥

इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः॥

सूक्तम् ४ [मन्त्राः १-८८] ॥

मन्त्राः १—१५ ॥

प्रजापतिरग्निश्च देवते ॥ १, २ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्; ३ भुरिगतिजगती; ४, ७ भुरिक् त्रिष्टुप्; ५ स्वराट् त्रिष्टुप्; ६, ९, १३ शक्वरी; ८ भुरिक् शक्वरी; १०, १५ निचृत् त्रिष्टुप्; ११ त्रिष्टुप् १२ निचृन्महाबृहती; १४ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

सन्मार्गगमनोपदेशः—सत्य मार्ग पर चलने का उपदेश ॥

आ रोहत जनित्रीं जातवेदसः पितृयाणैः सं व आ रोहयामि। अवाड्ढव्येषितो हव्यवाह ईजानं युक्ताः सुकृतां धत्त लोके॥१॥

आ। रोहत। जनित्रीम्। जात-वेदसः। पितृ-यानैः। सम्। वः। आ। रोहयामि॥ अवाट्। हव्या। इषितः। हव्य-वाहः। ईजानम्। युक्ताः। सु-कृताम्। धत्त। लोके॥ १॥

भाषार्थ—(जातवेदसः) बड़े ज्ञान वाले तुम (जनित्रीम्) जगत् की जननी [परमात्मा] को (आ) व्याप कर (रोहत) प्रकट होओ, (पितृयाणैः) पितरों [पालक महात्माओं] के मार्गों से (सम्) मिलकर (वः) तुम्हें (आ रोहयामि) मैं [विद्वान्] ऊंचा करता हूं। (इषितः) प्रिय (हव्यवाहः) देने लेने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले परमेश्वर ने (हव्या) देने लेने योग्य पदार्थ

१—(आ) व्याप्य (रोहत) प्रादुर्भवत (जनित्रीम्) अ० २। १। ३। जन जनने—णिचि तृच्, ङीप। जनयित्रीम्। जगतो जननीं परमात्मानम् (जातवेदसः) प्रसिद्धज्ञानवन्तो यूयम् (पितृयाणैः) पितॄणां मार्गैः (सम्) संगत्य (वः) युष्मान् (आ रोहयामि) अधिष्ठापयामि (अवाट्) अ० १८। ३। ४२। वहे- र्लुङि रूपम्। अवाक्षीत्। प्रापितवान् (हव्या) दातव्यग्राह्यवस्तूनि (इषितः)

(अवाट्) पहुंचाये हैं, (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (युक्ताः) मिले हुये तुम (सुकृताम्) सुकर्मियों के (लोके) समाज में (धत्त) रक्खो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् मनुष्य उपदेश करें कि सब मनुष्य परमात्मा का आश्रय लेकर अपना कर्तव्य करते हुये उच्च पद प्राप्त करें और जो पुरुष अधिक पुरुषार्थी और परोपकारी होवे, सब मिलकर धर्मात्माओं में उसकी प्रतिष्ठा करें ॥ १ ॥

देवा यज्ञमृतवः कल्पयन्ति हविः पुरोडाशं स्रुचो यज्ञायुधानि।
तेभिर्याहि पथिभिर्देवयानैर्यैरीजानाः स्वर्गं यन्ति लोकम् ॥२॥

देवाः । यज्ञम् । ऋतवः । कल्पयन्ति । हविः । पुरोडाशम् । स्रुचः । यज्ञ-आयुधानि ॥ तेभिः । याहि । पथि-भिः । देव-यानैः । यैः । ईजानाः । स्वः-गम् । यन्ति । लोकम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग और (ऋतवः) सब ऋतुयें (यज्ञम्) यज्ञ [हवन आदि श्रेष्ठ व्यवहार], (हविः) हवि [होमीय वस्तु], (पुरोडाशम्) पुरोडाश [मोहनभोग आदि], (स्रुचः) स्रुचाओं [हवन के चमचों] और (यज्ञायुधानि) यज्ञ के अस्त्र शस्त्रों [उलूखल मूसल सूप आदि] को (कल्पयन्ति) रचते हैं। [हे मनुष्य !] (तेभिः) उन (देवयानैः) विद्वानों के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (याहि) तू चल, (यैः) जिन [मार्गों]

इषु इच्छायाम्—क्त । तीषसहलुभरुषरिषः । पा० ७ । २ । ४८ । इडागमः । इष्टः । प्रियः (हव्यवाहः) हव्य + वह प्रापणे—अण् । दातव्यग्राह्यपदार्थानां प्रापकः परमेश्वरः (ईजानम्) यजेर्लिटः कानच् । इष्टवन्तम् । समाप्तयज्ञं पुरुषम् (युक्ताः) संयुक्ता यूयम् (सुकृताम्) सुकर्मणाम् (धत्त) स्थापयत (लोके) समाजे ॥

२—(देवाः) विद्वांसः (यज्ञम्) यजनीयं व्यवहारम् (ऋतवः) वसन्तादिकालाश्च (कल्पयन्ति) रचयन्ति (हविः) हु दानादानादनेषु—इसि। हवनीयद्रव्यम् (पुरोडाशम्) अ० ६ । ६ (१) १२। पुरो अग्रे दाश्यते दीयते । दाशृ दाने—घञ्, दस्य डः। संस्कृतान्नविशेषम् (स्रुचः) चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ—चिक् प्रत्ययः। यज्ञचमसान् (यज्ञायुधानि) यज्ञसाधनान्यस्त्रशस्त्रादीनि (तेभिः) तैः (याहि) गच्छ (पथिभिः) मार्गैः (देवयानैः) विद्वद्भिर्गन्तव्यैः

से (ईजानाः) यज्ञ कर चुकने वाले लोग (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम्) समाज में (यन्ति) पहुंचते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब ऋतुओं में योग्य सामग्री द्वारा यज्ञ करके श्रेष्ठ कर्म करते रहें और सब से कराते रहें, क्योंकि श्रेष्ठ कर्म समाप्त कर लेने वाले ही आनन्द पद के अधिकारी होते हैं ॥ २ ॥

ऋतस्य पन्थामनु पश्य साध्वङ्गिरसः सुकृतो येन यन्ति। तेभिर्याहि पथिभिः स्वर्गं यत्रादित्या मधु भक्षयन्ति तृतीये नाके अधि वि श्रयस्व ॥ ३ ॥

ऋतस्य । पन्थाम् । अनु । पश्य । साधु । अङ्गिरसः । सु-कृतः । येन । यन्ति ॥ तेभिः । याहि । पथि-भिः । स्वः-गम् । यत्र । आदित्याः । मधु । भक्षयन्ति । तृतीये । नाके । अधि । वि । श्रयस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (ऋतस्य) सत्य धर्म के (पन्थाम्) मार्ग को (साधु) साधुपन से [कुशलता से] (अनु) लगातार (पश्य) देख, (येन) जिस [मार्ग] से (अङ्गिरसः) महाविद्वान् (सुकृतः) सुकर्मी लोग (यन्ति) चलते हैं। (तेभिः) उन (पथिभिः) मार्गों से (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले पद को (याहि) प्राप्त हो, (यत्र) जिन [मार्गों] में (आदित्याः) अखण्ड व्रतधारी विद्वान् लोग (मधु) ज्ञान रस को (भक्षयन्ति) भोगते हैं,

---

(यैः) पथिभिः (ईजानाः) म० १ । समाप्तयज्ञाः पुरुषाः (स्वर्गम्) सुखप्रापकम् (यन्ति) गच्छन्ति (लोकम्) समाजम् ॥

३—(ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पन्थाम्) मार्गम् (अनु) निरन्तरम् (पश्य) अवलोकय (साधु) यथा भवति तथा । साधुत्वेन कुशलत्वेन (अङ्गिरसः) महाज्ञानिनः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (येन) मार्गेण (यन्ति) गच्छन्ति (तेभिः) तैः (याहि) प्राप्नुहि (पथिभिः) मार्गैः (स्वर्गम्) सुखप्रापकं पदम् (यत्र) येषु मार्गेषु (आदित्याः) अदिति—ण्य । अदितिरखण्डव्रतं येषां ते विद्वांसः (मधु) ज्ञानरसम् (भक्षयन्ति) भुञ्जते । अनुभवन्ति (तृतीये) जीव-

और (तृतीये) तीसरे [दोनों जीव और प्रकृति से भिन्न] (नाके) सुखस्वरूप [वा सब के नायक] परमात्मा में (अधि) अधिकार पूर्वक (वि श्रयस्व) फैलकर विश्राम कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को योग्य है कि पुण्यात्मा पुरुषों के वेदोक्त मार्ग पर चलकर जीव प्रकृति और परमात्मा के तत्त्व को जानता हुआ आनन्द को प्राप्त हो ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद (तृतीये...) आ चुका है—अ० ६ । ५ । ८ ॥

त्रयः सुपर्णा उपरस्य मायू नाकस्य पृष्ठे अधि विष्टपि श्रिताः।
स्वर्गा लोका अमृतेन विष्ठा इषमूर्जं यजमानाय दुह्राम् ॥४॥

त्रयः । सु-पर्णाः । उपरस्य । मायू इति । नाकस्य । पृष्ठे । अधि । विष्टपि । श्रिताः ॥ स्वः-गाः । लोकाः । अमृतेन । वि-स्थाः । इषम् । ऊर्जम् । यजमानाय । दुह्राम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(त्रयः) तीन [ब्रह्म जीव और प्रकृति] (सुपर्णाः) सुन्दर पालन वा पूर्ति वाले पदार्थ [अथवा सुन्दर पंख वाले पक्षियों के समान] (उपरस्य) जल के देने वाले मेघ की (मायू) गर्जन में, (नाकस्य) लोकों के चलाने वाले सूर्य के (पृष्ठे) ऊंचे भाग पर और (विष्टपि) विविध प्रकार थांभने वाले आकाश में (अधि) अधिकार पूर्वक (श्रिताः) आश्रित हैं। (अमृ-

---

प्रकृतिभ्यां भिन्ने (नाके) अ० १ । ६ । २ । पिनाकादयश्च । उ० ४ । ५१ । णीञ् प्रापणे-आकप्रत्ययः, टिलोपः । नाक आदित्यो भवति नेता भासां ज्योतिषां प्रणयोऽथ द्यौः कमिति सुखनाम तत्प्रतिषिद्धं प्रतिषिध्यते—निरु० २ । १४ । सुखस्वरूपे सर्वनायके वा परमात्मनि (अधि) अधिकृत्य (वि) विविधम् (श्रयस्व) आश्रितो भव ॥

४—(त्रयः) त्रिसंख्याकाः । ब्रह्मजीवप्रकृतयः (सुपर्णाः) अ० ६ । ६ । २० । सु—पॄ पालनपूरणयोः—न । शोभनपालनाः शोभनपूर्णाः शोभनपक्षविहगसदृशा वा पदार्थाः (उपरस्य) उप—रा दानादानयोः—क । उपरो मेघनाम—निघ० १ । १० । जलप्रदस्य मेघस्य (मायू) कृवापाजिमि० । उ० १ । १ । माङ् माने शब्दे च—उण्, युगागमः । मायुरिति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । सुपां

तेन) अमर परमात्मा के साथ (विष्ठाः) विशेष करके ठहरे हुये (स्वर्गाः) सुख पहुंचाने वाले (लोकाः) समाज (इषम्) ज्ञान को और (ऊर्जम्) बल को (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ कर्म करने वाले] के लिये (दुह्राम्) भरपूर करें ॥ ४ ॥

भावार्थ—ब्रह्म जीव और प्रकृति यह तीनों सब पदार्थों और सब लोकों में व्याप रहे हैं, मनुष्य सर्वनायक परमात्मा के आश्रय से उनके तत्त्व को जानकर आनन्द पावें ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो (द्वा सुपर्णा सयुजा......) अ० ६ । ६ । २० तथा ऋग्वेद—१ । १६४ । २० ॥

जुहूर्दाधार द्यामुपभृदन्तरिक्षं ध्रुवा दाधार पृथिवीं प्रतिष्ठाम्। प्रतीमां लोका घृतपृष्ठाः स्वर्गाः कामंकामं यजमानाय दुह्राम्॥५॥

जुहूः । दाधार । द्याम् । उप-भृत् । अन्तरिक्षम् । ध्रुवा । दाधार । पृथिवीम् । प्रति-स्थाम् ॥ प्रति । इमाम् । लोकाः । घृत-पृष्ठाः । स्वः-गाः । कामम्-कामम् । यजमानाय । दुह्राम्॥५॥

भाषार्थ—(जुहूः) ग्रहण [आकर्षण] करने वाली शक्ति [परमात्मा] ने (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को, (उपभृत्) समीप से धारण करने वाली [उसी]

सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९। सप्तम्याः पूर्वसवर्णदीर्घः। ईदूतौ च सप्तम्यर्थे । पा० १ । १ । १९। इति प्रगृह्यम् । मायौ । शब्दे (नाकस्य) म० ३ । लोकानां नायकस्य सूर्यस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (अधि) अधिकृत्य (विष्टपि) अ० १० । १० । ३१। वि—ष्टभि प्रतिबन्धे—क्विप्, भस्य पः । विविधस्तम्भनशीले । आकाशे । (श्रिताः) स्थिताः (स्वर्गाः) सुखप्रापकाः (लोकाः) समाजाः (अमृतेन) अमरेण परमात्मना (विष्ठाः) विशेषेण स्थिताः (इषम्) इष गतौ—क्विप् । इषतीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । ज्ञानम् (ऊर्जम्) बलम् (यजमानाय) यज्ञस्यानुष्ठात्रे (दुह्राम्) अ० ३ । २० । ६ । दुह प्रपूरणे तलोपो रुडागमश्च । दुहताम् । प्रपूरयन्तु ॥

५—(जुहूः) हुवः श्लुवच्च । उ० २ । ६० । हु दानादानादनेषु--क्विप् । ग्रहीत्री शक्तिः परमात्मा (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (उपभृत्) सामीप्येन

शक्ति ने (अन्तरिक्षम्) भीतर दिखाई देने वाले आकाश को (दाधार) धारण किया है, और (ध्रुवा) [उसी] निश्चल शक्ति ने (प्रतिष्ठाम्) आश्रय स्थान, (पृथिवीम्) पृथिवी को (दाधार) धारण किया है। (इमाम्) इसी [शक्ति परमात्मा] में (प्रति) व्याप कर (घृतपृष्ठाः) प्रकाश को ऊपर रखने वाले [सुन्दर ज्योति वाले] (स्वर्गाः) सुख पहुंचाने वाले (लोकाः) लोक [समाज वा अधिकार] (कामंकामम्) प्रत्येक कामना को (यजमानाय) यजमान [श्रेष्ठ व्यवहार करने वाले] के लिये (दुह्राम्) भरपूर करें ॥ ५ ॥

भावार्थ--जिस परमात्मा ने सूर्य को अनेक लोकों का आकर्षक, आकाश को सब लोकों का आधार और पृथिवी को प्राणियों का निवास स्थान बनाया है, उस जगदीश्वर के आश्रय में रहकर यह सब लोक पुरुषार्थी धर्मात्मा मनुष्य के लिये बड़े ज्योतिष्मान् होकर शुभ कामनायें पूरी करते हैं ॥ ५ ॥

ध्रुव आ रोह पृथिवीं विश्वभोजसमन्तरिक्षमुपभृदा क्रमस्व । जुहु द्यां गच्छ यजमानेन साकं स्रुवेण वत्सेन दिशः प्रपीनाः सर्वा धुक्ष्वाहृणीयमानः ॥ ६ ॥

ध्रुवे । आ । रोह । पृथिवीम् । विश्व-भोजसम् । अन्तरिक्षम् । उप-भृत् । आ । क्रमस्व ॥ जुहु । द्याम् । गच्छ । यजमानेन । साकम् । स्रुवेण । वत्सेन । दिशः । प्र-पीनाः । सर्वाः । धुक्ष्व । अहृणीयमानः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(ध्रुवे) हे निश्चल शक्ति ! [परमात्मा] (विश्वभोजसम्) सब को पालन वाली (पृथिवीम्) पृथिवी में (आ) व्याप कर (रोह) प्रकट

धारयित्री शक्तिः (अन्तरिक्षम्) अन्तर्मध्ये दृश्यमानमाकाशम् (ध्रुवा) ध्रु गतिस्थैर्ययोः—क, टाप् । निश्चला शक्तिः (दाधार) (पृथिवीम्) (प्रतिष्ठाम्) आश्रयभूताम् (इमाम्) शक्तिम् (लोकाः) समाजाः । अधिकाराः (घृतपृष्ठाः) घृ क्षरणदीप्त्योः—क्त । दीप्तोपरिभागाः । सर्वतो ज्योतिष्मन्तः (स्वर्गाः) सुख-प्रापकाः (कामंकामम्) प्रत्येककामनाम् । अन्यत् पूर्ववत्—म० ॥ ४ ॥

६—(ध्रुवे) म० ५ । हे निश्चलशक्ते । परमात्मन् (आ) व्याप्य (रोह) प्रादुर्भव (पृथिवीम्) (विश्वभोजसम्) सर्वस्य भोजयित्रीं पालयित्रीम् (अन्त-

हो, (उपभृत्) हे समीप से धारण करने वाली शक्ति ! (अन्तरिक्षम्) भीतर दिखाई देने वाले आकाश में (आ) व्यापकर (क्रमस्व) प्राप्त हो । (जुहू) हे ग्रहण [आकर्षण] करने वाली शक्ति ! (यजमानेन साकम्) यजमान [श्रेष्ठ व्यवहार करने वाले] के साथ (द्याम्) प्रकाशमान सूर्य को (गच्छ) प्राप्त हो,

[हे यजमान !] (अहृणीयमानः) संकोच न करता हुआ तू (वत्सेन) बछड़े रूप (स्रुवेण) ज्ञान के साथ (सर्वाः) सब (प्रपीनाः) बढ़ती हुयी (दिशः) दिशाओं को (धुक्ष्व) दुह ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमात्मा नीचे ऊंचे और मध्य लोक में व्याप कर धर्मात्मा पुरुष का सदा सहायक है, मनुष्य ज्ञान द्वारा सब दिशाओं से इस प्रकार उपकार लेवे जैसे बछड़े को लगाकर गौ से दूध दुहते हैं ॥ ६ ॥

तीर्थैस्तरन्ति प्रवतो महीरिति यज्ञकृतः सुकृतो येन यन्ति । अत्रादधुर्यजमानाय लोकं दिशो भूतानि यदकल्पयन्त ॥ ७ ॥

तीर्थैः । तरन्ति । प्र-वतः । महीः । इति । यज्ञ-कृतः । सु-कृतः । येन । यन्ति ॥ अत्र । अदधुः । यजमानाय । लोकम् । दिशः । भूतानि । यत् । अकल्पयन्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(तीर्थैः) तरने के साधनों [शास्त्रों वा घाटों आदि] द्वारा [मनुष्य] (प्रवतः) बहुत गतियों वाली (महीः) बड़ी [विपत्तियों वा नदियों]

रिक्षम्) मध्ये दृश्यमानमाकाशम् (उपभृत्) हे समीपधारयित्रि शक्ते (आ) (क्रमस्व) प्राप्नुहि (जुहु) म० ५ । हे ग्रहीत्रि शक्ते (द्याम्) प्रकाशमानां सूर्यम् (गच्छ) प्राप्नुहि (यजमानेन) (साकम्) (स्रुवेण) स्रुवः कः । उ० २ । ६१ । स्रु गतौ—क । ज्ञानेन (वत्सेन) गोशिशुरूपेण (दिशः) प्राच्याद्याः (प्रपीनाः) ओ प्यायी वृद्धौ—क्त । प्रवृद्धाः (सर्वाः) (धुक्ष्व) प्रपूरय (अहृणीयमानः) हृणीङ् रोषणे लज्जायां च—शानच् । लज्जां संकोचम् अकुर्वन् ॥

७—(तीर्थैः) पातॄतुदिवचि० । उ० २ । ७ । तॄ तरणे—थक् । तरणसाधनैः शास्त्रैर्घट्टादिभिर्वा (तरन्ति) अतिक्रामन्ति (प्रवतः) अ० १८ । १ । ४९ ।

को [उस प्रकार से] (तरन्ति) पार करते हैं, (येन) जिससे (यज्ञकृतः) यज्ञ करने वाले, (सुकृतः) सुकर्मी लोग (यन्ति) चलते हैं—(इति) ऐसा [निश्चय है]। (अत्र) यहां [संसार में] (यजमानाय) यजमान के लिये (लोकम्) स्थान (अदधुः) उन [पुण्यात्माओं] ने दिया है, (यत्) जब कि (दिशः) दिशाओं को (भूतानि) सत्ता वाले प्राणियों ने (अकल्पयन्त) समर्थ बनाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् धर्मात्माओं के वेद विहित मार्ग पर चल कर विपत्तियों से पार होवें। धर्मात्मा लोग ही संसार में मान्य होते हैं, क्योंकि वे पुरुषार्थी जीव सब दिशाओं को उपकारी बनाते हैं ॥ ७ ॥

अङ्गिरसामयनं पूर्वो अग्निरादित्यानामयनं गार्हपत्यो दक्षिणानामयनं दक्षिणाग्निः। महिमानमग्नेर्विहितस्य ब्रह्मणा समङ्गः सर्व उप याहि शग्मः ॥ ८ ॥

अङ्गिरसाम्। अयनम्। पूर्वः। अग्निः। आदित्यानाम्। अयनम्। गार्हऽपत्यः। दक्षिणानाम्। अयनम्। दक्षिणऽअग्निः॥ महिमानम्। अग्नेः। विऽहितस्य। ब्रह्मणा। सम्ऽअङ्गः। सर्वः। उप। याहि। शग्मः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अङ्गिरसाम्) महर्षियों का (अयनम्) मार्ग (पूर्वः) पूर्वीय (अग्निः) अग्नि है, (आदित्यानाम्) [उन्हीं] अखण्ड व्रत वाले ब्रह्मचारियों का (अयनम्) मार्ग (गार्हपत्यः) गृहपति की अग्नि है, (दक्षिणानाम्) [उन्हीं]

प्रकृष्टगतियुक्ताः (मही:) महतीर्विपत्तीर्नदीर्वा (इति) अवधारणे (यज्ञकृतः) यज्ञस्य कर्तारः (सुकृतः) पुण्यकर्माणः (येन) प्रकारेण (यन्ति) गच्छन्ति (अदधुः) दत्तवन्तः (यजमानाय) (लोकम्) स्थानम् (दिशः) प्राच्याद्याः (भूतानि) सत्तावन्तः प्राणिनः (यत्) यदा (अकल्पयन्त) समर्था अकुर्वन्त ॥

८—(अङ्गिरसाम्) महर्षीणाम् (अयनम्) मार्गः (पूर्वः) पूर्वायां दिशि वर्तमानः (अग्निः) होमाग्निः (आदित्यानाम्) अखण्डब्रह्मचारिणाम् (अयनम्) मार्गम् (गार्हपत्यः) गृहपति—ञ्य। गृहिपतिना संयुक्तो यज्ञाग्निः (दक्षिणा—

कार्य कुशलों का (अयनम्) मार्ग (दक्षिणाग्निः) दक्षिण वाली अग्नि है। (ब्रह्मणा) ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाले] कर के (विहितस्य) स्थापित (अग्नेः) अग्नि की (महिमानम्) महिमा को (समङ्गः) दृढाङ्ग, (सर्वः) सम्पूर्ण [चित्त वाला] और (शग्मः) शक्तिमान् होकर तू (उप याहि) सर्वथा प्राप्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—यज्ञ में ब्रह्मा की स्थापित पूर्वाग्नि, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि को प्रकाशित करने से विद्वान् लोग आत्मिक उन्नति करके सब प्रकार शक्तिमान् होवें ॥ ८ ॥

पूर्वो अग्निष्ट्वा तपतु शं पुरस्ताच्छं पश्चात् तपतु गार्हपत्यः। दक्षिणाग्निष्टे तपतु शर्म वर्मोत्तरतो मध्यतो अन्तरिक्षाद् दिशोदिशो अग्ने परि पाहि घोरात् ॥ ९ ॥

पूर्वः। अग्निः। त्वा। तपतु। शम्। पुरस्तात्। शम्। पश्चात्। तपतु। गार्ह-पत्यः॥ दक्षिण-अग्निः। ते। तपतु। शर्म। वर्म। उत्तरतः। मध्यतः। अन्तरिक्षात्। दिशः-दिशः। अग्ने। परि। पाहि। घोरात् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (पूर्वः) पूर्व वाली (अग्निः) अग्नि (त्वा) तुझे (शम्) आनन्द के साथ (पुरस्तात्) आगे से (तपतु) प्रतापी [ऐश्वर्यवान्] करे, (गार्हपत्यः) गृहपति की अग्नि [तुझे] (शम्)

नाम्) द्रुदक्षिभ्यामिनन्। उ० २। ५०। दक्ष वृद्धौ शीघ्रार्थे च—इनन्। दक्षाणां कार्यकुशलानाम् (दक्षिणाग्निः) दक्षिणदिशि वर्तमानोऽग्निः (महिमानम्) महत्वम् (अग्नेः) भौतिकस्य (विहितस्य) यथाविधि स्थापितस्य (ब्रह्मणा) चतुर्वेदज्ञेन (समङ्गः) संहतावयवः। दृढाङ्गः (सर्वः) समस्तः। समाहितचित्तः (उप याहि) सर्वथा प्राप्नुहि (शग्मः) युजिरुचितिजां कुश्च। उ० १। १४६। शक्लृ शक्तौ—मक्, कस्य गः। शक्तः। समर्थः॥

९—(पूर्वः) पूर्वदिशि दीप्यमानः (अग्निः) यज्ञाग्निः (त्वा) (तपतु) तप ऐश्वर्ये, अन्तर्गतण्यर्थः। ऐश्वर्यवन्तं प्रतापिनं करोतु (शम्) सुखेन (पुरस्तात्) अग्रतः (शम्) (पश्चात्) (तपतु) (गार्हपत्यः) गृहपतिना

सुख के साथ (पश्चात्) पीछे से (तपतु) प्रतापी करे। (दक्षिणाग्निः) दक्षिणीय अग्नि (ते) तेरे लिये (शर्म) शरण और (वर्म) कवच होकर (तपतु) प्रतापी करे ॥

(अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् ! (उत्तरतः) ऊपर से (मध्यतः) मध्य से, (अन्तरिक्षात्) आकाश से और (दिशोदिशः) प्रत्येक दिशा से [उस उपासक को] (घोरात्) घोर [भयानक कष्ट] से (परि) सर्वथा (पाहि) बचा ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य भौतिक यज्ञ द्वारा आत्मिक यज्ञ सिद्ध करके समर्थ होते हैं, परमात्मा उनकी सर्वथा रक्षा करता है ॥ ६ ॥

यूयमग्ने शंतमाभिस्तनूभिरीजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
अश्वा भूत्वा पृष्टिवाहो वहाथ यत्र देवैः सधमादं मदन्ति १०(२०)

यूयम् । अग्ने । शम्-तमाभिः । तनूभिः । ईजानम् । अभि । लोकम् । स्वः-गम् ॥ अश्वाः । भूत्वा । पृष्टि-वाहः । वहाथ । यत्र । देवैः । सध-मादम् । मदन्ति ॥ १० ॥ (२०)

भाषार्थ—(अग्ने=अग्नयः) हे अग्नियो ! (यूयम्) तुम (पृष्टिवाहः) पीठ पर ले चलने वाले (अश्वाः) घोड़ों के समान (भूत्वा) होकर (शन्तमाभिः) अत्यन्त शान्ति युक्त (तनूभिः) उपकार क्रियाओं से (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि)

संयुक्तोऽग्निः (ते) तुभ्यम् (शर्म) शरणरूपः सन् (वर्म) कवचरूपः सन् (उत्तरतः) उपरिदेशात् (मध्यतः) मध्यदेशात् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (दिशोदिशः) प्रत्येकदिशः सकाशात् (अग्ने) हे सर्वव्यापक परमात्मन् (परि) सर्वथा (पाहि) रक्ष (घोरात्) घुर भीमार्थशब्दयोः—अच् । भयानकात् कष्टात् ॥

१०—(यूयम्) (अग्ने) बहुवचनस्यैकवचनम् । हे पूर्वाग्न्यादयः (शंतमाभिः) अत्यन्तसुखयुक्ताभिः (तनूभिः) उपकृतिभिः (ईजानम्) समाप्तयज्ञं पुरुषम् (अभि) प्रति (लोकम्) समाजम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकम्-(अश्वाः) अश्वा यथा (भूत्वा) (पृष्टिवाहः) पृषु सेचने—क्तिन् । वहश्च ।

समाज में (वहाथ) ले जाओ, (यत्र) जहां पर (देवैः) विद्वानों के साथ (सधमादम्) संगति सुख को (मदन्ति) वे [विद्वान्] भोगते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—पूर्वाग्नि, गार्हपत्याग्नि और दक्षिणाग्नि यज्ञ के द्वारा मनुष्य आत्मिक और शारीरिक दोषों की निवृत्ति से अत्यन्त शान्तचित्त होकर विद्वानों में मिल कर आनन्द भोगें ॥ १० ॥

शम॑ग्ने प॒श्चात् त॑प॒ शं पु॒रस्ता॒च्छमु॑त्त॒राच्छम॑ध॒रात् त॑पैनम्। एक॒स्त्रे॒धा विहि॑तो जातवेदः स॒म्यगे॑नं धेहि सु॒कृता॑मु लो॒के॥११

शम्। अ॒ग्ने॒। प॒श्चात्। त॒प॒। शम्। पु॒रस्ता॑त्। शम्। उ॒त्त॒रात्। शम्। अ॒ध॒रात्। त॒प॒। ए॒न॒म्॥ एकः॑। त्रे॒धा। वि-हि॑तः। जा॒त॒-वे॒दः॒। स॒म्यक्। ए॒न॒म्। धे॒हि॒। सु॒-कृता॑म्। ऊं॒ इति॑। लो॒के॥ ११॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! (एनम्) इस [विद्वान्] को (शम्) शान्ति के साथ (पश्चात्) पीछे से, (शम्) शान्ति के साथ (पुरस्तात्) सामने से (तप) प्रतापी कर, (शम्) शान्ति के साथ (उत्तरात्) ऊपर से और (शम्) शान्ति के साथ (अधरात्) नीचे से (तप) प्रतापी कर। (जातवेदः) हे उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान [अग्नि] (एकः) अकेला होकर (त्रेधा) तीन प्रकार से [पूर्वाग्नि, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि रूप से] (विहितः) स्थापित किया हुआ तू (एनम्) इस [पुरुष] को (सुकृताम्)

पा० ३। २। ६४। पृष्टि+वह प्रापणे—णिव। पृष्ठे वाहकाः (वहाथ) लेटि रूपम्। वहत। गमयत (यत्र) (देवैः) विद्वद्भिः (सधमादम्) संगतिसुखम् (मदन्ति) हर्षयन्ति ॥

११—(शम्) शान्त्या। सुखेन (अग्ने) हे यज्ञाग्ने (पश्चात्) पृष्ठतः (तप) तप ऐश्वर्ये। तापय। प्रतापिनं कुरु (शम्) (पुरस्तात्) अग्रतः (शम्) (उत्तरात्) उपरिदेशात् (शम्) (अधरात्) अधोगतदेशात् (तप) (एनम्) पुरुषम् (एकः) एकसंख्याकः (त्रेधा) त्रिप्रकारेण। पूर्वाग्निगार्हपत्यदक्षिणाग्नि-रूपेण (विहितः) स्थापितः (जातवेदः) विद सत्तायाम्—असुन्। हे जातेषु

-सुकर्मियों के (उ) ही (लोके) समाज में (सम्यक्) ठीक रीति से (धेहि) रख ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि हवन आदि यज्ञ द्वारा अपने इन्द्रियों को वश में करके पुण्यात्मा पुरुषों में स्थान पावें ॥ ११ ॥

शमग्नयः समिद्धा आ रभन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

शम् । अग्नयः । सम्-इद्धाः । आ । रभन्ताम् । प्राजा-पत्यम् । मेध्यम् । जात-वेदसः । शृतम् । कृण्वन्तः । इह । मा । अव । चिक्षिपन् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(समिद्धाः) यथाविधि प्रकाशित की हुयी और (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नयः) अग्नियां (प्राजापत्यम्) प्रजापति परमात्मा को देवता मानने वाले (मेध्यम्) पवित्र पुरुष को (शम्) शान्ति के साथ (आ) सब ओर से (रभन्ताम्) उत्साही करें । और [उस को] (इह) यहां (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ स्वभाव] (कृण्वन्तः) करती हुयीं [अग्नियां] (मा अव चिक्षिपन्) कभी न गिरने देवें ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य यज्ञ में पूर्वोक्त पूर्वादि तीनों अग्नियों को यथा—विधि प्रज्वलित करते हैं, वे ब्राह्मण अपने आचरण को शुद्ध कर के पक्के ज्ञानी होकर संसार में नीचे नहीं गिरते ॥ १२ ॥

उत्पन्नेषु विद्यमानाग्ने (सम्यक्) यथा तथा । समीचीनम् (एनम्) यजमानम् (धेहि) धारय (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) एव (लोके) समाजे ॥

१२—(शम्) सुखेन (अग्नयः) पूर्वोक्तपूर्वाग्न्यादयः (समिद्धाः) सम्यक् प्रकाशिताः (आ) समन्तात् (रभन्ताम्) रभ राभस्ये, औत्सुक्ये । रभसो महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उत्सुकमुत्साहिनं कुर्वन्तु (प्राजापत्यम्) प्रजापतिः परमात्मा देवता यस्य तम् (मेध्यम्) मेधृ मेधाहिंसनयोः—ण्यत् । पवित्रम् (जातवेदसः) उत्पन्नपदार्थेषु विद्यमानाः (शृतम्) परिपक्वम् । दृढस्वभावम् (कृण्वन्तः) कुर्वन्तः (मा अव चिक्षिपन्) अ० १८ । २ । ४ । क्षिप-
[illegible] अधः क्षेपणं मा कुर्वन्त ॥

यज्ञ एति वितंतः कल्पमान ईजानमभि लोकं स्वर्गम् ।
तमग्नयः सर्वहुतं जुषन्तां प्राजापत्यं मेध्यं जातवेदसः ।
शृतं कृण्वन्त इह माव चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

यज्ञः । एति । वि-तंतः । कल्पमानः । ईजानम् । अभि ।
लोकम् । स्वः-गम् ॥ तम् । अग्नयः । सर्व-हुतम् । जुषन्ताम् ।
प्राजा-पत्यम् । मेध्यम् । जात-वेदसः ॥ शृतम् । कृण्वन्तः ।
इह । मा । अव । चिक्षिपन् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(विततः) फैला हुआ (यज्ञः) यज्ञ (कल्पमानः) समर्थ होकर (ईजानम्) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष को (स्वर्गम्) सुख पहुंचाने वाले (लोकम् अभि) समाज में (एति) पहुंचाता है । (जातवेदसः) उत्पन्न पदार्थों में विद्यमान (अग्नयः) अग्नियां (तम्) उस (सर्वहुतम्) पूर्ण आहुति दे चुकने वाले, (प्राजापत्यम्) प्रजापति परमात्मा को देवता मानने वाले, (मेध्यम्) पवित्र पुरुष को (जुषन्ताम्) सन्तुष्ट करें । और [उस को] (इह) यहां (शृतम्) परिपक्व [दृढ़ स्वभाव] (कृण्वन्तः) करती हुयीं [अग्नियां] (मा अव चिक्षिपन्) कभी न गिरने दें ॥ १३ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त अग्नियों में हवन करके पूर्ण आहुति से यज्ञ अर्थात् ब्रह्मयज्ञ; देवयज्ञ, पितृयज्ञ; भूतयज्ञ और नृयज्ञ, इन पांच महायज्ञों को समाप्त करने वाला पुरुष परमात्मा की भक्ति करता हुआ अनेक आनन्दों से ऊंचा होता जाता है ॥ १३ ॥

१३—(यज्ञः) यज देवपूजासङ्गतिकरणदानेषु—नङ् । इज्यते हविर्दीयतेऽत्र । ब्रह्मयज्ञदेवयज्ञपितृयज्ञभूतयज्ञनृयज्ञानां समुदायः (एति) अन्तर्गतण्यर्थः । गमयति (विततः) विस्तृतः (कल्पमानः) समर्थः सन् (ईजानम्) समाप्तयज्ञं पुरुषम् (अभि) प्रति (लोकम्) समाजम् (स्वर्गम) सुखप्रापकम् (तम्) (अग्नयः) पूर्वाग्न्यादयः—म० ६ (सर्वहुतम) सर्वं हुतं यज्ञे हविर्दत्तं येन तं कृतपूर्णाहुतिकम् (जुषन्ताम्) जुषी प्रीतिसेवनयोः । प्रीणन्तु । तर्पयन्तु ।

ई॒जा॒नश्चि॒तमारु॑क्षद॒ग्निं नाक॑स्य पृ॒ष्ठाद् दिव॑मुत्पति॒ष्यन् ।
तस्मै॒ प्र भा॑ति॒ नभ॑सो॒ ज्योति॑षीमान्त्स्व॒र्गः पन्थाः॑ सु॒कृते॑ दे॒वयानः॑ ॥ १४ ॥

ई॒जा॒नः । चि॒तम् । आ । अ॒रु॒क्ष॒त् । अ॒ग्निम् । नाक॑स्य । पृ॒ष्ठात् । दिव॑म् । उ॒त्-प॒ति॒ष्यन् ॥ तस्मै॑ । प्र । भा॒ति॒ । नभ॑सः । ज्योति॑षी-मान् । स्वः॒-गः । पन्थाः॑ । सु॒-कृते॑ । दे॒व-यानः॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(ईजानः) यज्ञ कर चुकने वाले पुरुष ने (नाकस्य) अत्यन्त सुख के (पृष्ठात्) ऊपरी स्थान से (दिवम्) प्रकाशस्वरूप परमात्मा की ओर (उत्पतिष्यन्) चढ़ने की इच्छा करके, (चितम्) चुनी हुयी (अग्निम्) अग्नि को (आ) सब ओर (अरुक्षत्) प्रकट किया है। (तस्मै) उस (सुकृते) सुकृती पुरुष के लिये (नभसः) आकाश से [खुले स्थान से] (ज्योतिषीमान्) ज्योतिष्मती बुद्धि वाला (स्वर्गः) सुख पहुंचाने वाला, (देवयानः) विद्वानों के चलने योग्य (पन्थाः) मार्ग (प्र भाति) चमकता जाता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अत्यन्त सुख से परमात्मा की प्राप्ति में ऊंचा होकर अपना कर्तव्यरूप यज्ञ पूरा कर चुकता है, उसकी बुद्धि ऐसी चमकती है जैसे सूर्य खुले निर्मल आकाश में ॥ १४ ॥

अ॒ग्निर्होता॑ध्व॒र्युष्टे॒ बृह॒स्पति॒रिन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा द॑क्षिण॒तस्ते॑ अस्तु ।
हु॒तो॒ऽयं संस्थि॑तो य॒ज्ञ ए॑ति॒ यत्र॒ पूर्व॒मय॑नं हु॒तानाम् ॥ १५ ॥

१४—(ईजानः) समाप्तयज्ञः पुरुषः (चितम्) हवनपदार्थैः संचितम् (आ) समन्तात् (अरुक्षत्) प्रादुष्कृतवान् (अग्निम्) यज्ञाग्निम् (नाकस्य) अतिसुखस्य (पृष्ठात्) उपरिदेशात् (दिवम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (उत्पतिष्यन्) उत्पतितुमूर्ध्वं गन्तुमिच्छन् सन् (तस्मै) (प्र) प्रकर्षेण (भाति) दीप्यते (नभसः) निर्मलाकाशादित्यर्थः (ज्योतिषीमान्) ज्योतिष्—अर्शआद्यच्, ङीप्, मतुप्। ज्योतिष्मती बुद्धिर्यस्मिन् सः (स्वर्गः) सुखप्रापकः (पन्थाः) मार्गः (सुकृते) पुण्यकर्मणे पुरुषाय (देवयानः) विद्वद्भिर्गमनयोग्यः ॥

अ॒ग्निः । होता॑ । अ॒ध्व॒र्युः । ते॒ । बृह॒स्पतिः॑ । इन्द्रः॑ । ब्र॒ह्मा । द॒क्षि॒ण॒तः । ते॒ । अ॒स्तु॒ ॥ हु॒तः । अ॒यम् । सम्-स्थितः । य॒ज्ञः । ए॒ति॒ । यत्र॑ । पूर्व॑म् । अय॑नम् । हु॒ताना॑म् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे यजमान !] (ते) तेरे लिये (अग्निः) [एक] विद्वान् पुरुष (होता) होता [मन्त्रों से आहुति देने वाला], (बृहस्पतिः) [एक] बृहस्पति [विद्वानों का पालन कर्ता] (अध्वर्युः) अध्वर्यु [यज्ञ कराने वाला] (इन्द्रः) [एक] परम ऐश्वर्यवान् महाविद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा [चारों वेद जानने वाला यज्ञनिरीक्षक पुरुष] (ते) तेरी (दक्षिणतः) दाहिनी ओर में (अस्तु) होवे। (अयम्) यह (हुतः) आहुति दिया गया और (संस्थितः) पूरा किया गया (यज्ञः) यज्ञ (एति) [वहां] जाता है, (यत्र) जहां (हुतानाम्) आहुति दिये हुये [यज्ञों] का (पूर्वम्) मुख्य (अयनम्) जाना होता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—विद्वान् यजमान वेदवेत्ता विद्वानों को होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा आदि ऋत्विज अधिकारी बना कर प्राचीन महात्माओं की रीति से यज्ञ को यथावधि समाप्त और सुफल करे ॥ १५ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो ऋग्वेद-१० । ७१ । ११ से, जो यहां लिखा जाता है और जिसकी व्याख्या भगवान् यास्कमुनि ने-निरु० १ । ८ में की है ॥

१५—(अग्निः) विद्वान् पुरुषः (होता) आहुतिदाता (अध्वर्युः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अध्वर+या प्रापणे-कु, अकारलोपः । यद्वा, अध्वर-क्यच् कव्यध्वरपृतनस्यर्चि लोपः । पा० ७ । ४ । ३९ । इत्यन्त्यलोपः । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः । अध्वर्युरध्वरयुरध्वरं युनक्त्यध्वरस्य नेताऽध्वरं कामयत इति वा । अपि वाधीयाने युरुपबन्धः—निरु० १ । ८ । याजकः (ते) तुभ्यम् (बृहस्पतिः) बृहतां विदुषां पालकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् । महाविद्वान् (ब्रह्मा) ब्रह्मा सर्वविद्यः सर्वं वेदितुमर्हति । ब्रह्मा परिवृढः श्रुततो ब्रह्म परिवृढं सर्वतः-निरु० १ । ८ । चतुर्वेदज्ञः (दक्षिणतः) अवामभागे (ते) तव (अस्तु) (हुतः) आहुत्या निष्पादितः (अयम्) (संस्थितः) समापितः (यज्ञः) (एति) गच्छति (यत्र) (पूर्वम्) मुख्यम् (अयनम्) गमनम् (हुतानाम्) आहुत्या निष्पादितानां यज्ञानाम् ॥

ऋ॒चां त्वः पोषं॑मास्ते पुपु॒ष्वान् गा॑य॒त्रं त्वो॑ गायति॒ शक्व॑रीषु।
ब्र॒ह्मा त्वो॒ वद॑ति जातवि॒द्यां य॒ज्ञस्य॒ मात्रां॒ वि मि॑मीत उ त्वः ॥

(त्वः) एक [होता] (ऋचाम्) ऋचाओं के (पोषम्) विधान की (पुपुष्वान्) पुष्टि करता हुआ (आस्ते) बैठता है, (त्वः) एक [उद्गाता] (गायत्रम्) गाने योग्य [स्तोत्र) को (शाक्वरीषु) शक्तिवाली ऋचाओं में (गायति) गाता है । (त्वः) एक (ब्रह्मा) ब्रह्मा [सब विद्यायें जानने वाला] (जातविद्याम्) होते हुये कर्म में विद्या (वदति) बताता है, (त्वः) एक [अध्वर्यु] (यज्ञस्य) यज्ञ के (मात्राम्) परिमाण को (उ) ही (वि) विविध प्रकार (मिमीते) बनाता है ॥

मन्त्राः १६—२७ ॥

यज्ञो देवता ॥ १ —२४ भुरिगार्षी बृहती ; २५ अनुष्टुप् ; २६ निचृदार्ची बृहती , २७ याजुषी गायत्री ॥

यजमानकर्तव्योपदेशः—यजमान के कर्तव्य का उपदेश ॥

अ॒पू॒पवा॑न् क्षी॒रवां॑श्च॒रुरेह सी॑दतु । लो॒क॒कृतः॑ पथि॒कृतो॑ यजा-
महे ये दे॒वानां॑ हु॒तभा॑गा इ॒ह स्थ ॥ १६ ॥

अ॒पू॒प-वा॑न् । क्षी॒र-वा॑न् । च॒रुः । आ । इ॒ह । सी॒द॒तु॒ ॥ लो॒क॒-
कृतः॑ । प॒थि॒-कृतः॑ । य॒जा॒म॒हे॒ । ये । दे॒वाना॑म् । हु॒त-भा॑गाः ।
इ॒ह । स्थ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (क्षीरवान्) दूध वाला (चरुः) चरु [स्थालीपाक] (इह) यहां [वेदी पर] (आ सीदतु) आवे । (लोककृतः) समाजों के करने वाले, (पथिकृतः) मार्गों के बनाने वाले [तुम लोगों] को (यजामहे) हम पूजते

१६—(अपूपवान्) पानीविशिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । नञ् + पूयी विशरणे दुर्गन्धे च—पप्रत्ययः, यलोपः । सुसंस्कृतभोजनपदार्थयुक्तः (क्षीरवान्) दुग्धवान् (चरुः) भृमृशीङ्तृचरि० । उ० १ । ७ । चर गतिभक्षणयोः—उप्रत्ययः । चरुर्मृच्चयो भवति चरतेर्वा समुच्चरन्त्यस्मादापः—निरु० ६ । ११ ।

हैं, (ये) जो तुम (देवानाम्) विद्वानों के बीच (हुतभागाः) भाग लेने वाले (इह) यहां पर (स्थ) हो ॥ १६ ॥

भावार्थ—यजमान को योग्य है कि विद्वानों को सत्कार पूर्वक बुलाकर शुद्ध, सुगन्धित, पुष्टिकारक मोहन भोग मालपूये आदि पदार्थों के स्थालीपाक से यज्ञ करे ॥ १६ ॥

इस मन्त्र का उत्तर भाग आ चुका है–अ० १८ । ३ । २५—२९ ॥

अपूपवान् दधिवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १७ ॥

अपूप-वान् । दधि-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (दधिवान्) पुष्टि कारक पदार्थों वाला (चरुः) चरु...... [मन्त्र १६] ॥ १७ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १७ ॥

अपूपवान् द्रप्सवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १८ ॥

अपूप-वान् । द्रप्स-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १८ ॥

चरुर्मेघनाम—निघ० १ । १० । यज्ञपाकः (इह) अत्र वेद्याम् (आ सीदतु) आ गच्छतु । तिष्ठतु । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । २५ ॥

१७—(दधिवान्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । डु धाञ् धारणपोषणयोः—किन्प्रत्ययः । पोषकपदार्थयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्–म० १६ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (द्रप्सवान्) हर्षकारक द्रव्यों वाला (चरुः) चरु......[मन्त्र १६] ॥ १८ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १८ ॥

अपूपवान् घृतवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ १९ ॥

अपूप-वान् । घृत-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (घृतवान्) घृत वाला (चरुः) चरु......[मन्त्र १६] ॥ १९ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ १९ ॥

अपूपवान् मांसवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २० ॥ (२१)

अपूप-वान् । मांस-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २० ॥ (२१)

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (मांसवान्) मननसाधक पदार्थों वाला [अर्थात् बुद्धिवर्धक जैसे मीठे फल बादाम, अखोट आदि वस्तुओं वाला] (चरुः) चरु ..... [मन्त्र १६] ॥ २० ॥

१८—(द्रप्सवान्) अ० १८ । १ । २१ । हर्षकारकद्रव्ययुक्तः । अन्यत्—पूर्ववत्—म० १६ ॥

१९—(घृतवान्) आज्येन युक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२०—(मांसवान्) अ० ९ । ६ (३) ९ । मनेर्दीर्घश्च । उ० ३ । ६४ । मन ज्ञाने-सप्रत्ययो दीर्घश्च । मांसं माननं वा मानसं वा मनोऽस्मिन्त्सीदतीति वा-निरु० ४ । ३ । मननसाधकेन बुद्धिवर्धकवस्तुना युक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २० ॥

अपूपवानन्नवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २१ ॥

अपूप-वान् । अन्न-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (अन्नवान्) अन्न [जौ, चावल, गेहूं, उरद आदि] वाला (चरुः) चरु ...... (मन्त्र १६]॥ २१ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २१ ॥

अपूपवान् मधुमांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २२ ॥

अपूप-वान् । मधु-मान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (मधुमान्) मधु [मक्खियों का रस] वाला (चरुः) चरु ..... [मन्त्र १६] ॥ २२ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २२ ॥

अपूपवान् रसवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजा-

२१—(अन्नवान्) अदनीयपदार्थयुक्तः । यवव्रीहिगोधूममाषादियुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

२२—(मधुमान्) माक्षिकरसयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

महे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २३ ॥

अपूप-वान् । रस-वान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (रसवान्) रस वाले [वीर्यवर्धक शर्करा आदि] पदार्थों वाला (चरुः) चरु...... [मन्त्र १६] ॥ २३ ॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २३ ॥

अपूपवानपवांश्चरुरेह सीदतु । लोककृतः पथिकृतो यजामहे ये देवानां हुतभागा इह स्थ ॥ २४ ॥

अपूप-वान् । अपवान् । चरुः । आ । इह । सीदतु ॥ लोक-कृतः । पथि-कृतः । यजामहे । ये । देवानाम् । हुत-भागाः । इह । स्थ ॥ २४ ॥

भाषार्थ—(अपूपवान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] वाला, (अपवान्) शुद्ध जल वाला (चरुः) चरु...... [मन्त्र १६] ॥२४॥

भावार्थ—मन्त्र १६ के समान है ॥ २४ ॥

अपूपापिहितान् कुम्भान् यांस्ते देवा अधारयन् ।
ते ते सन्तु स्वधावन्तो मधुमन्तो घृतश्चुतः ॥ २५ ॥

अपूप-अपिहितान् । कुम्भान् । यान् । ते । देवाः । अधारयन् ॥ ते । ते । सन्तु । स्वधा-वन्तः । मधु-मन्तः । घृत-श्चुतः ॥२५॥

२३—(रसवान्) वीर्यवर्धकशर्करादिपदार्थयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्-म०१६॥

२४—(अपवान्) आप्लृ व्याप्तौ—घञ् । आपः कर्माख्यायां ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । इति निर्देशेन ह्रस्वः । अपस्वान् । शुद्धजलयुक्तः । अन्यत् पूर्ववत्—म० १६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (यान्) जिन (अपूपापिहितान्) अपूपों [शुद्ध पके हुये भोजनों मालपूये पूड़ी आदि] को ढककर रखने वाले (कुम्भान्) पात्रों को (ते) तेरे लिये (देवाः) विद्वानों ने (अधारयन्) रक्खा है। (ते) वे [भोजन पदार्थ) (ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] के सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ २५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सुन्दर पौष्टिक पदार्थों से यज्ञ करें, जिससे वायु मण्डल शुद्ध होने पर उत्तम बलदायक अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न होवें ॥ २५ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६८ ॥

यास्ते धाना अनुकिरामि तिलमिश्राः स्वधावतीः ।

तास्ते सन्तूद्भ्वीःप्रभ्वीस्तास्ते यमो राजानु मन्यताम् ॥ २६ ॥

याः । ते । धानाः । अनु-किरामि । तिल-मिश्राः । स्वधा-वतीः ॥

ताः । ते । सन्तु । उत्-भ्वीः । प्र-भ्वीः । ताः । ते । यमः । राजा । अनु । मन्यताम् ॥ २६ ॥

अक्षितिं भूयसीम् ॥ २७ ॥ अक्षितिम् । भूयसीम् ॥ २७ ॥

भाषार्थ—[हे यजमान !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिलमिश्राः) तिलों से मिली हुयी, (स्वधावतीः) उत्तम अन्न वाली (धानाः) धानाओं [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थों] को (अनुकिरामि) [अग्नि में] मैं [ऋत्विज] अनुकूल रीति से फैलाता हूं। (ताः) वे [सब सामग्री] (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उदय कराने वाली और (प्रभ्वी) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [सामग्रियों] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक अर्थात् याजक पुरुष] (अनु) अनुकूल (मन्यताम्) जाने

२५—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १८ । ३ । ६८ ॥

२६—(याः) (ते) तुभ्यम् (धानाः) दधातेर्नप्रत्ययः, टाप्। सुसंस्कृत-पौष्टिकपदार्थान् (अनुकिरामि) आनुकूल्येन क्षिपामि प्रसारयामि (तिलमिश्राः) तिलैर्मिश्रिताः (स्वधावतीः) उत्तमान्नयुक्ताः (ताः) (सन्तु) (उद्भ्वीः)

॥ २६ ॥ [और वह उनको] (भूयसीम्) अधिकतर (अक्षितिम्) क्षय रहित क्रिया [निरन्तर जाने] ॥ २७ ॥

भावार्थ—यज्ञ कराने वाला पुरुष यथाविधि संशोधित तिल, जौ, चावल आदि जिन सामग्रियों से हवन करता है, उस के द्वारा वायुमण्डल की शुद्धि से संसार का उपकार और यजमान का अधिक पुण्य होता है—२६, २७ ॥

यह मन्त्र आगे है—अ० १८ । ४ । ४३ और कुछ भेद से आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६६ ॥

मन्त्रौ २८, २९ ॥

ईश्वरो देवता ॥ २८ त्रिष्टुप् ; २९ निचृज्जगती ॥

ब्रह्मोपासनोपदेशः—ब्रह्म की उपासना का उपदेश ॥

द्रुप्सश्चस्कन्द पृथिवीमनु द्यामिमं च योनिमनु यश्च पूर्वः । समानं योनिमनु संचरन्तं द्रुप्सं जुहोम्यनु सप्त होत्राः ॥२८॥

द्रुप्सः । चस्कन्द । पृथिवीम् । अनु । द्याम् । इमम् । च । योनिम् । अनु । यः । च । पूर्वः ॥ समानम् । योनिम् अनु । सम्-चरन्तम् । द्रुप्सम् । जुहोमि । अनु । सप्त । होत्राः ॥२८

भाषार्थ—(द्रुप्सः) हर्षकारक परमात्मा (पृथिवीम्) पृथिवी और (द्याम् अनु) प्रकाश में (च) और (इमम्) इस (योनिम् अनु) घर [शरीर] में (च) और [उस शरीर में भी] (चस्कन्द) व्यापक है (यः) जो [शरीर] (पूर्वः) पहिला है । (समानम्) समान [सर्वसाधारण] (योनिम् अनु)

उद्भूभ्यः । उदयं भावयितृभ्यः । अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८ । ३ । ६६ ॥

२७—(अक्षितिम्) क्षयरहितां क्रियाम् (भूयसीम्) अधिकतराम् ॥

२८—(द्रुप्सः) अ० १८ । १ । २१ । दृप हर्षमोहनयोः । हर्षकारी परमात्मा (चस्कन्द) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः लिट् । स्कन्दति । गच्छति । व्याप्नोति (पृथिवीम्) (अनु) प्रति (द्याम्) प्रकाशम् (इमम्) दृश्यमानम् (च) (योनिम्) गृहम् । शरीरम् (अनु) प्रति (यः) योनिः । शरीरम् (च) (पूर्वः) पूर्वमुत्पन्नः (समानम्) तुल्यम् । सर्वसाधारणम् (योनिम्) कारणम्

कारण में (संचरन्तम्) विचरते हुये (द्रप्सम्) हर्षकारक परमात्मा को (सप्त) सात [मस्तक के सात गोलक] (होत्राः अनु) विषय ग्रहण करने वाली शक्तियों के साथ (जुहोमि) मैं ग्रहण करता हूं ॥ २८ ॥

भावार्थ—जो परमेश्वर अन्धकार और प्रकाश में, हमारे वर्तमान और पूर्व शरीर में और प्रत्येक सर्व साधारण कारण में व्यापक है, सब मनुष्य योगाभ्यास से इन्द्रियों को वश में करके उस जगदीश्वर की भक्ति करें ॥ २८ ॥

अथर्ववेद कांड १० । २ । ६ में आया है—"कर्ता [परमेश्वर] ने [मनुष्य के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दोनों कान, दोनों नथने, दोनों आंखें और एक मुख । जिन के विजय की महिमा में चौपाये और दोपाये जीव अनेक प्रकार से मार्ग चलते हैं" ॥

यह मन्त्र अभेद से यजुर्वेद में है—१३ । ५, और कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १७ । ११ ॥

शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते रयिम् । ये पृणन्ति प्र च यच्छन्ति सर्वदा ते दुहते दक्षिणां सप्तमातरम् २९

शत-धारम् । वायुम् । अर्कम् । स्वः-विदम् । नृ-चक्षसः । ते । अभि । चक्षते । रयिम् ॥ ये । पृणन्ति । प्र । च । यच्छन्ति । सर्वदा । ते । दुहते । दक्षिणाम् । सप्त-मातरम् ॥ २९ ॥

भाषार्थ—(ते) वे (नृचक्षसः) मनुष्यों के देखने वाले पुरुष (रयिम् अभि) धन को सब ओर से पाकर (शतधारम्) सैकड़ों प्रकार से धारण करने वाले (वायुम्) सर्वव्यापक, (अर्कम्) पूजनीय, (स्वर्विदम्) सुख

(अनु) प्रति (संचरन्तम्) विचरन्तम् (द्रप्सम्) हर्षकारकं परमात्मानम् (जुहोमि) आदत्ते । गृह्णामि (अनु) अनुसृत्य (होत्राः) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । हु दानादानादनेषु—त्रन्, टाप् । होत्रा वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । शीर्षण्यच्छिद्ररूपा विषयग्रहीत्रीः शक्तीः ॥

२९—(शतधारम्) बहुप्रकारेण धारकम् (वायुम्) सर्वव्यापकम् (अर्कम्) अर्चनीयम् (स्वर्विदम्) सुखस्य लम्भकं परमात्मानम् (नृचक्षसः) मनुष्याणां द्रष्टारः (ते) प्रसिद्धाः (अभि) अभिगत्य । सर्वतः प्राप्य (चक्षते) पश्यन्ति

पहुंचाने वाले परमेश्वर को (चक्षते) देखते हैं। (ये) जो पुरुष (सर्वदा) सर्वदा (पृणन्ति) [धन को] भरते हैं (च) और (प्र यच्छन्ति) [सुपात्रों को] देते हैं, (ते) वे लोग (सप्तमातरम्) सात [मन्त्र २८, मस्तक के सात गोलकों] द्वारा बनी हुयी (दक्षिणाम्) प्रतिष्ठा को (दुह्रते) दुहते हैं [पाते हैं] ॥ २९ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी परोपकारी पुरुष परमात्मा के दिये धन को प्रत्येक स्थान में प्राप्त करके सुपात्रों को देकर यशस्वी होवें, क्योंकि जो पुरुष जितेन्द्रिय होकर धन बढ़ाते और सुपात्रों को देते हैं, वे ही संसार में प्रतिष्ठा पाते हैं ॥ २९ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है-१० । १०७ । ४ ॥

मन्त्राः ३०—४० ॥

धेनुर्देवता ३० । ३६ त्रिष्टुप् ; ३१, ३८, अनुष्टुप् ; ३२ निचृदनुष्टुप् ; ३३ भुरिगार्षी बृहती ; ३४ त्रिष्टुप् ; ३५ निचृदार्षी त्रिष्टुप् ; ३७, निचृत् त्रिष्टुप् ; ३९ आर्षी पङ्क्तिः ; ४० भुरिक् त्रिष्टुप् ॥

गोरक्षोपदेशः—गोरक्षा का उपदेश ॥

कोशं दुहन्ति कुलशं चतुर्बिलमिडां धेनुं मधुमतीं स्वस्तये ।
ऊर्जं मदन्तीमदितिं जनेष्वग्ने मा हिंसीः परमे व्योमन् ३०(२२

कोशम् । दुहन्ति । कलशम् । चतुः-बिलम् । इडाम् । धेनुम् । मधु-मतीम् । स्वस्तये ॥ ऊर्जम् । मदन्तीम् । अदितिम् । जनेषु । अग्ने । मा । हिंसीः । परमे । वि-ओमन् ॥३०॥(२२)

भाषार्थ—(कोशम्) भण्डार तुल्य, (चतुर्बिलम्) चार छेद [स्तन] वाले (कलशम्) कलश [गौ के लेवा] को (इडाम्) स्तुति योग्य, (मधुमतीम्)

(रयिम्) धनम् (ये) पुरुषार्थिनः (पृणन्ति) पॄ पालनपूरणयोः । पूरयन्ति (च) (प्रयच्छन्ति) ददति सुपात्रेभ्यः (सर्वदा) (ते) पुरुषाः (दुह्रते) रुडागमः । दुहते । प्राप्नुवन्ति (दक्षिणाम्) वृद्धिक्रियाम् । प्रतिष्ठाम् । सत्-क्रियाम् (सप्तमातरम्) म० २८ । सप्तसंख्याकानि शीर्षण्यच्छिद्राणि मातॄणि निर्मातॄणि मातृभूतानि वा यस्यास्तां तथाभूताम् ॥

३०—(कोशम्) रत्नसुवर्णादिसंचयस्थानं यथा (दुहन्ति) दुहिर्द्विकर्मकः । प्रपूरयन्ति (कलशम्) कुम्भसदृशं पयोधरम् (चतुर्बिलम्) चतुश्छिद्र-

मधुर रस [मीठे दूध] वाली (धेनुम्) दुधैल गौ से (स्वस्तये) आनन्द के लिये (दुहन्ति) [मनुष्य] दुहते हैं। (अग्ने) हे ज्ञानी राजन्! (परमे) सर्वोत्कृष्ट (व्योमन्) सर्वत्र व्यापक परमात्मा में [वर्तमान तू] (जनेषु) मनुष्यों के बीच (ऊर्जम्) बलदायक रस (मदन्तीम्) बढ़ाती हुयी (अदितिम्) अदीन [और अखण्डनीय] गौ को (मा हिंसीः) मत मार ॥ ३० ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि गौ आदि पशु जो दूध घी आदि उत्तम पदार्थ देने में दीन नहीं होते और उनके बच्चे बैल आदि जो खेती आदि में उपकार करते हैं जिस से प्रजा की रक्षा होती है, उन सब को कोई मनुष्य कभी न सतावे और न मारे ॥ ३० ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है-१३। ४९, और पूर्वार्ध के लिये मन्त्र ३६ आगे देखो ॥

एतत् ते देवः सविता वासो ददाति भर्तवे।
तत् त्वं यमस्य राज्ये वसानस्तार्प्यं चर ॥ ३१ ॥

एतत्। ते। देवः। सविता। वासः। ददाति। भर्तवे ॥
तत्। त्वम्। यमस्य। राज्ये। वसानः। तार्प्यम्। चर ॥ ३१ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य!] (ते) तेरे लिये (देवः) व्यवहार कुशल

द्रम्। चतुःस्तनम् (इडाम्) अ० ३। १०। ६। ईड स्तुतौ-घञ्। ईकारस्य ह्रस्वः, टाप्। इला गोनाम -निघ० २। ११। ईड्याम्। स्तुत्याम् (धेनुम्) अ० ३। १०। १। धेट इच्च। उ० ३। ३४। इति धेट् पाने-नु। यद्वा, धि धारणे, तर्पणे च—नु। धेनुर्धयतेर्वा धिनोतेर्वा—निरु० ११। ४२। दोग्ध्रीं गाम् (मधुमतीम्) मधुररसदुग्धयुक्ताम् (स्वस्तये) कल्याणाय (ऊर्जम्) बलकरं रसम् (मदन्तीम्) मदयन्तीम्। तोषयन्तीम्। वर्धयन्तीम् (अदितिम्) अ० २। २८। ४ कृत्यल्युटो बहुलम्। पा० ३। ३। ११६। दीङ् क्षये, दो अवखण्डने-क्तिन्। अदितिरदीना देवमाता-निरु० ४। २२। अदितिर्गोनाम-निघ० २। ११। अदीनामखण्डनीयां गाम् (जनेषु) मनुष्येषु (अग्ने) हे विद्वन् राजन् (मा हिंसीः) मा वधीः मा पीडय (परमे) सर्वोत्कृष्टे (व्योमन्) व्योम्नि। सर्वव्यापके परमात्मनि ॥

[illegible] (ते) [illegible] (देवः) व्यवहारकुशलः

(सविता) प्रेरक [काम चलाने वाला, कपड़ा बनाने वाला पुरुष] (एतत्) यह (वासः) कपड़ा (भर्तवे) पहिरने को (ददाति) देता है। (त्वम्) तू (यमस्य) न्यायकारी राजा के (राज्ये) राज्य में (तार्प्यम्) तृप्तिकारक (तत्) उस [वस्त्र] को (वसानः) पहिरे हुये (चर) विचर ॥ ३१ ॥

भावार्थ -न्यायी राजा के राज्य में गाय बैल आदि के उपकार से [मन्त्र ३०] वस्त्रकार आदि लोग वस्त्र आदि बनाकर मनुष्यों का उपकार करते हैं ॥ ३१ ॥

धाना धेनुरभवद् वृत्सो अस्यास्तिलोऽभवत् ।
तां वै यमस्य राज्ये अक्षितामुप जीवति ॥ ३२ ॥

धानाः । धेनुः । अभवत् । वृत्सः । अस्याः । तिलः । अभवत् ॥
ताम् । वै । यमस्य । राज्ये । अक्षिताम् । उप । जीवति ॥३२॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस [गौ] से (धानाः) धानियें [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थ] और (धेनुः) गौ और (वत्सः) बछड़ा (अभवत्) होता है और (तिलः) तिल [तिल सरसों आदि] (अभवत्) होता है। (यमस्य) न्यायकारी राजा के (राज्ये) राज्य में [मनुष्य] (वै) निश्चय करके (ताम्) उस (अक्षिताम्) बिना सतायी हुयी [गौ] के (उप जीवति) सहारे से जीवता है ॥ ३२ ॥

भावार्थ—उत्तम राज्य के प्रबन्ध द्वारा गौ के उपकार से अन्न और तेल आदि भोजन आदि के लिये तथा गौ दूध, घी आदि के लिये और बैल खेती

(सविता) कर्मप्रेरकः । वस्त्रकारः । शिल्पी (वासः) वस्त्रम् (ददाति) प्रयच्छति (भर्तवे) भर्त्तुमाच्छादयितुम् (तत्) वस्त्रम् (त्वम्) हे मनुष्य (यमस्य) न्यायकारिणो राज्ञः (राज्ये) जनपदे (वसानः) आच्छादयन् (तार्प्यम्) तृप प्रीणने-ण्यत् । तृप्तिकरम् (चर) विचर ॥

३२—(धानाः) सुसंस्कृतपौष्टिकपदार्थाः (धेनुः) दोग्ध्री गौः (अभवत्) भवति (वत्सः) गोशिशुः । वृषभः (अस्याः) धेनोः सकाशात् (तिलः तिलसर्षपादिपदार्थः (ताम्) गाम् (वै) निश्चयेन (यमस्य) न्यायशीलस्य राज्ञः (राज्ये) जनपदे (अक्षिताम्) अहिंसिताम् (उप) उपेत्य (जीवति) प्राणान् धारयति ॥

आदि के लिये होते हैं, जिन पदार्थों के ऊपर मनुष्य का जीवन निर्भर है ॥ ३२ ॥

एतास्ते असौ धेनवः कामदुघा भवन्तु । एनीः श्येनीः सरूपा विरूपास्तिलवत्सा उप तिष्ठन्तु त्वात्र ॥ ३३ ॥

एताः । ते । असौ । धेनवः । काम-दुघाः । भवन्तु ॥ एनीः । श्येनीः । स-रूपाः । वि-रूपाः। तिल-वत्साः । उप । तिष्ठन्तु । त्वा । अत्र ॥ ३३ ॥

भाषार्थ—(असौ) हे अमुक पुरुष ! (ते) तेरी (एताः) यह (धेनवः) दुधेल गायें (कामदुघाः) कामधेनु [कामना पूरी करने वाली] (भवन्तु) होवें। (एनीः) चितकबरी, (श्येनीः) धौली, (सरूपाः) एक से रूप वाली, (विरूपाः) अलग अलग रूप वाली, (तिलवत्साः) बड़े बड़े बछड़ों वाली [गौयें] (अत्र) यहां (त्वा) तेरी (उप तिष्ठन्तु) सेवा करें ॥ ३३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य गौओं की घास अन्न आदि से यथावत् सेवा करें जिससे वे अभीष्ट घी दूध बड़े बछड़े आदि देकर उपकार करती रहें और प्रीति बढ़ाने के लिये ऐसा प्रयत्न करें कि गौयें और बछड़े अनेक रंगों और नामों के होवें ॥ ३३ ॥

एनीर्धाना हरिणीः श्येनीरस्य कृष्णा धाना रोहिणीर्धेनवस्ते ॥ तिलवत्सा ऊर्जमस्मै दुहाना विश्वाहा सन्त्वनपस्फुरन्तीः ॥ ३४ ॥

एनीः । धानाः । हरिणीः । श्येनीः । अस्य । कृष्णाः । धानाः । रोहिणीः । धेनवः । ते ॥ तिल-वत्साः । ऊर्जम् । अस्मै । दुहानाः । विश्वाहा । सन्तु । अनप-स्फुरन्तीः ॥३४॥

३३—(एताः) (ते) तव (असौ) हे अमुक पुरुष (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (कामदुघाः) दुग्धघृतादिदानेन कामानां प्रपूरयित्र्यः (भवन्तु) (एनीः) कर्बुरवर्णाः (श्येनीः) श्वेतवर्णाः । धवलाः (सरूपाः) समानरूपाः (विरूपाः) विविधरूपाः (तिलवत्साः) तिलाः तिलकाः प्रधानाः शिशवो यासां ताः

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अस्य) इस (ते) तेरी (एनीः) चितकबरी, (हरिणीः) पीली, (श्येनीः) धौली, (कृष्णाः) काली, (रोहिणीः) लाल (तिलवत्साः) बड़े बड़े बछड़ों वाली, (अनपस्फुरन्तीः) कभी न चलायमान होने वाली (धेनवः) दुधेल गौयें (धानाः) पुष्टिकारक (धानाः) धानियों [सुसंस्कृत अन्नों] को और (ऊर्जम्) बलदायक रस [दूध घी आदि] को (अस्मै) उस तेरे लिये (विश्वाहा) सब दिनों (दुहानाः) देती हुई (सन्तु) होवें ॥ ३४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे प्रीतिसूचक रंग और नाम वाली गौओं को सावधानी से पालें जिस से गौओं के दूध घी आदि द्वारा उत्तम उत्तम भोजन और खेती आदि के लिये बड़े बड़े बछड़े करके सदा पुष्ट रहें ॥ ३४ ॥

वैश्वानरे हविरिदं जुहोमि साहस्रं शतधारमुत्सम् । स बिभर्ति पितरं पितामहान् प्रपितामहान् बिभर्ति पिन्वमानः ३५

वैश्वानरे । हविः । इदम् । जुहोमि । साहस्रम् । शत-धारम् । उत्सम् ॥ सः । बिभर्ति । पितरम् । पितामहान् । प्र-पितामहान् । बिभर्ति । पिन्वमानः ॥ ३५ ॥

भाषार्थ—(वैश्वानरे) सब नरों के हितकारी पुरुष के निमित्त (इदम्) इस (हविः) ग्रहण करने योग्य वस्तु, (साहस्रम्) सहस्रों उपकार वाले, (शतधारम्) सैकड़ों दूध के धाराओं वाले (उत्सम्) स्रोते [अर्थात् गौ रूप

३४—(एनीः) कर्बूरवर्णाः (धानाः) पोषयित्रीः (हरिणीः) हरिण्यः । हरितवर्णाः (श्येनीः) श्वेतवर्णाः (अस्य) पुरुषस्य (कृष्णाः) कृष्णवर्णाः (धानाः) सुसंस्कृतान्नानि (रोहिणीः) रोहितवर्णाः रक्ताः (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (ते) तव (तिलवत्साः) म० ३३ । प्रधानशिशूपेताः (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धघृतादिकम् (अस्मै) तथाभूताय तुभ्यम् (दुहानाः) प्रयच्छन्त्यः (विश्वाहा) सर्वाणि दिनानि (सन्तु) (अनपस्फुरन्तीः) स्फुर संचलने—शतृ । न कदापि संचलन्त्यः ॥

३५—(वैश्वानरे) निमित्ते सप्तमी । सर्वनरहितपुरुषस्य निमित्ते (हविः) ग्राह्यं वस्तु गोरूपम् (जुहोमि) ददामि (साहस्रम्) बहूपकारयुक्तम् (शतधारम्) बहुदुग्धधारायुक्तम् (उत्सम्) उन्दी क्लेदने—सप्रत्ययः । स्रवज्जलस्य

पदार्थ] को (जुहोमि) मैं देता हूं। (सः) वह (पिन्वमानः) सेवा किया हुआ [गौ रूप पदार्थ] (पितरम्) पिता [पिता आदि बड़ों] को (पितामहान्) दादे आदि मान्य जनों को (बिभर्त्ति) पुष्ट करता है, और (प्रपितामहान्) परदादे आदि महामान्य पुरुषों को (बिभर्ति) पुष्ट करता है ॥ ३५ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! गौ को प्राप्त करके उसकी पूरी सेवा करो, उस के पालने से खेती आदि के लिये उत्तम बैल तथा दूध घी आदि उत्तम पदार्थ मिलने से तुम्हारे कुटुम्बी और सब बड़े बूढ़े बलवान् और पुष्ट रहेंगे ॥ ३५ ॥

सहस्रधारं शतधारमुत्समक्षितं व्यच्यमानं सलिलस्य पृष्ठे ।
ऊर्जं दुहानमनपस्फुरन्तमुपासते पितरः स्वधाभिः ॥३६ ॥

सहस्र-धारम् । शत-धारम् । उत्सम् । अक्षितम् । वि-अच्यमानम् । सलिलस्य । पृष्ठे ॥ ऊर्जम् । दुहानम् । अनप-स्फुरन्तम् । उप । आसते । पितरः । स्वधाभिः ॥ ३६ ॥

भाषार्थ—(सहस्रधारम्) सहस्रों प्रकार से पोषण करने वाले, (शतधारम्) दूध की सैकड़ों धाराओं वाले, (अक्षितम्) न घटने वाले, (सलिलस्य) समुद्र की (पृष्ठे) पीठ पर (व्यच्यमानम्) फैले हुये [अर्थात् जल समान बहुत होने वाले], (ऊर्जम्) बलकारक रस [दूध घी आदि] (दुहानम्) देने वाले (अनपस्फुरन्तम्) कभी न चलायमान होने वाले (उत्सम्) स्रोते [अर्थात् गौ रूप पदार्थ] को (पितरः) पितर [पिता आदि

पातसदृशं गोरूपपदार्थम् (सः) गोरूपपदार्थः (बिभर्ति) पुष्णाति (पितरम्) बहुवचनस्यैकवचनम् । पितॄन् । पित्रादिमाननीयान् (पितामहान्) पितामहादीन् सत्करणीयान् (प्रपितामहान्) प्रपितादीन् महामान्यान् (बिभर्ति) (पिन्वमानः) पिवि सेचने, सेवने च—चानश् । सेव्यमानः ॥

३६—(सहस्रधारम्) सहस्रप्रकारेण धारकं पोषकम् (शतधारम्) असंख्यातदुग्धधारोपेतम् (उत्सम्) स्रोतः सदृशं गोरूपपदार्थम् (अक्षितम्) अक्षीणम् (व्यच्यमानम्) अचु गतौ याचने च—शानच् । वि विविधं प्रसरन्तम् (सलिलस्य) समुद्रस्य (पृष्ठे) उपरिभागे (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धादिकम् (दुहानम्) प्रयच्छन्तम् (अनपस्फुरन्तम्) न कदापि संचलन्तम् (उपासते)

मान्य] लोग (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के साथ (उप आसते) सेवते हैं ॥३६॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपना शारीरिक और आत्मिक बल बढ़ाना चाहें, वे गौ की रक्षा करके दूध घी आदि का सेवन करें ॥ ३६ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से यजुर्वेद में है—१३। ४६ और उत्तरार्द्ध के लिये—मन्त्र ३० ऊपर देखो ॥

इदं कसाम्बु चयनेन चितं तत् सजाता अव पश्यतेत। मर्त्योऽयममृतत्वमेति तस्मै गृहान् कृणुत यावत्सबन्धु॥ ३७ ॥

इदम्। कसाम्बु। चयनेन। चितम्। तत्। स-जाताः। अव। पश्यत। आ। इत॥ मर्त्यः। अयम्। अमृत-त्वम्। एति। तस्मै। गृहान्। कृणुत। यावत्-सबन्धु ॥ ३७ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (कसाम्बु) शासन का कीर्तन (चयनेन) इकट्ठा करने से (चितम्) इकट्ठा किया गया है, (सजाताः) हे सजातियो ! (तत्) उस को (अव पश्यत) ध्यान से देखो और (आ) सब ओर से (इत) प्राप्त करो। (अयम्) यह (मर्त्यः) मनुष्य (अमृतत्वम्) अमरपन (एति) पाता है। (यावत्सबन्धु) जितने तुम समान गोत्र वाले [अर्थात् सपिण्डी] हो सब मिल कर (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (गृहान्) घरों को (कृणुत) बनाओ ॥ ३७ ॥

सेवन्ते (पितरः) पित्र्यादिमान्याः (स्वधाभिः) आत्मधारणशक्तिभिः ॥

३७—(इदम्) उपस्थितम् (कसाम्बु) कस गतिशासनयोः—अच्+अबि शब्दे गतौ च-उप्रत्ययः। कसस्य शासनस्य कीर्तनम् (चयनेन) संग्रहेण (चितम्) संचितम्। समूहीकृतम् (तत्) शासनकीर्तनम् (सजाताः) हे समानजन्मानः। सगोत्राः (अव पश्यत) अवधानेन ईक्षध्वम् (आ) समन्तात् (इत) प्राप्नुत (मर्त्यः) मनुष्यः (अयम्) (अमृतत्वम्) अमरत्वम्। अमरणम् (एति) प्राप्नोति (तस्मै) मनुष्याय (गृहान्) स्थानानि (कृणुत) कुरुत। रचयत (यावत्सबन्धु) यथा भवति तथा यावन्तः सबन्धवः समानगोत्राः सपिण्डिनो भवथ ते सर्वे यूयं संगत्य ॥

भावार्थ—संसार में गौ आदि उपकारी जीव और बड़े बड़े घर आदि स्थान युक्ति के साथ क्रम क्रम से ठीक होते हैं, मनुष्य यह विचार कर उन्नति करें। मनुष्य इसी प्रकार श्रेष्ठ कामों से यश पाता है और सब कुटुम्बी आदि उस का सहाय करते हैं ॥ ३७ ॥

इहैवैधि धनसनिरिहचित्त इहक्रतुः ।
इहैधि वीर्यवत्तरो वयोधा अपराहतः ॥ ३८ ॥

इह । एव । एधि । धन-सनिः । इह-चित्तः । इह-क्रतुः ॥
इह । एधि । वीर्यवत्-तरः । वयः-धाः । अपरा-हतः ॥ ३८ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (धनसनिः) धन कमाता हुआ, (इहचित्तः) यहां पर चित्त देता हुआ, (इहक्रतुः) यहां पर कर्म करता हुआ तू (इह) यहां पर (एव) ही (एधि) रह। और (वीर्यवत्तरः) अधिक वीर्यवान् होता हुआ, (वयोधाः) बल देता हुआ और (अपराहतः) न मार डाला गया तू (इह) यहां पर (एधि) रह ॥ ३८ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या द्वारा धन आदि प्राप्त करके यहां अर्थात् अपने घर, नगर, देश तथा संसार में उपकार करता हुआ महाबली उदार और शत्रु-रहित होकर निर्भय होवे ॥ ३८ ॥

पुत्रं पौत्रमभितर्पयन्तीरापो मधुमतीरिमाः । स्वधां पितृभ्यो अमृतं दुहाना आपो देवीरुभयांस्तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥

पुत्रम् । पौत्रम् । अभि-तर्पयन्तीः । आपः । मधु-मतीः । इमाः ॥ स्वधाम् । पितृ-भ्यः । अमृतम् । दुहानाः । आपः ।

३८—(इह) अत्र (एव) निश्चयेन (एधि) भव (धनसनिः) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । धन + सन षण सम्भक्तौ—इन् । धनस्य संभाजकः । लम्भकः (इहचित्तः) अस्मिन् देशे कर्मणि वा चित्तं मनो यस्य सः (इहक्रतुः) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । अस्मिन् संसारे कर्मयुक्तः (इह) (एधि) भव (वीर्यवत्तरः) अधिकतरो बलवान् (वयोधाः) वयः + डु धाञ् धारणपोषणदानेषु—क्विप् । पराक्रमस्य दाता (अपराहतः) अनपमारितः ॥

देवीः । उभयान् । तर्पयन्तु ॥ ३९ ॥

भाषार्थ—(इमाः) यह (मधुमतीः) मधुर रस [मीठे दूध घी] वाली (आपः) प्राप्ति योग्य [गौयें] (पुत्रम्) पुत्र और (पौत्रम्) पौत्र को (अभितर्पयन्तीः) सब ओर से तृप्त करती हुयी होवें और (पितृभ्यः) पितरों को (स्वधाम्) स्वधारण शक्ति और (अमृतम्) अमरण [जीवन] (दुहानाः) देती हुयीं, (देवीः) उत्तम गुण वाली (आपः) प्राप्ति योग्य [गौयें] (उभयान्) दोनों पक्षों [स्त्री पुरुषों] को (तर्पयन्तु) तृप्त करें ॥ ३९ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को गौ आदि उपकारी पशुओं की सदा रक्षा करनी चाहिये, जिस से बालक युवा और वृद्ध स्त्री पुरुषों का पालन होता रहे ॥ २९ ॥

आपो अग्निं प्र हिणुत पितॄँरुपेमं यज्ञं पितरो मे जुषन्ताम् । आसीनामूर्जमुप ये सचन्ते तेनो रयिं सर्ववीरं नि यच्छान् ४०(२३)

आपः । अग्निम् । प्र । हिणुत । पितॄन् । उप । इमम् । यज्ञम् । पितरः । मे । जुषन्ताम् ॥ आसीनाम् । ऊर्जम् । उप । ये । सचन्ते । ते । नः । रयिम् । सर्व-वीरम् । नि । यच्छान् ॥ ४० ॥ (२३)

भाषार्थ—(आपः) हे प्राप्ति योग्य [गौओ !] (अग्निम्) अग्नि [प्रताप वा बल] को (पितॄन् उप) पितरों में (प्र हिणुत) बढ़ाये जाओ, (मे)

३९—(पुत्रम्) आत्मजम् (पौत्रम्) पुत्रस्य पुत्रम् (अभितर्पयन्तीः) सर्वतः संतोषयन्त्यः (आपः) आप्लृ व्याप्तौ—क्विप् । आपः पदनाम—निघ० ५ । ३ । आपः=आपनाः, आपनानि च–निरु० १२ । ३७ । प्राप्तव्या गावः (मधुमतीः) मधुरसेन घृतदुग्धादिना युक्ताः (इमाः) दृश्यमानाः (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (पितृभ्यः) पालकेभ्यो विद्वद्भ्यः (अमृतम्) अमरणम् । जीवनम् (दुहानाः) प्रयच्छन्त्यः (आपः) प्राप्तव्या गावः (देवीः) देव्यः । शुभगुणवत्यः (उभयान्) उभयपक्षान् स्त्रीपुरुषरूपान् (तर्पयन्तु) तोषयन्तु । वर्धयन्तु ॥

४०—(आपः) म० ३९ । प्राप्तव्या गावः (अग्निम्) प्रतापं बलं वा (प्र) प्रकर्षेण (हिणुत) हि गतिवृद्ध्योः । वर्धयत (पितॄन्) पालकान् विदुषः

मेरे (इमम्) इस (यज्ञम्) सत्कार को (पितरः) पितर लोग (जुषन्ताम्) सेवन करें। (ये) जो [पितर लोग] (आसीनाम्) उपस्थित (ऊर्जम्) बल-कारक रस [दूध घी आदि] को (उप) आदर से (सचन्ते) सेवें, (ते) वे [विद्वान् पितर] (नः) हमें (सर्ववीरम्) पूरे वीर पुरुष वाला (रयिम्) धन (नि) नियम से (यच्छान्) देवें ॥ ४० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम दूध घी आदि पदार्थों से विद्वान् बड़े बूढ़ों को तृप्त करते रहें, जिस से उनके विद्यादान और आशीर्वाद से गृहस्थों के कार्यकुशल वीर सन्तानें और बहुत धन होवें ॥ ४० ॥

मन्त्रः ४१—४४ ॥

पितरो देवताः ॥ ४१, ४२ अनुष्टुप्; ४३ आर्षी बृहती; ४४ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

पितृसेवोपदेशः—पितरों की सेवा का उपदेश ॥

समिन्धते अमर्त्यं हव्यवाहं घृतप्रियम् ।
स वेद निहितान् निधीन् पितॄन् परावतो गतान् ॥ ४१ ॥

सम् । इन्धते । अमर्त्यम् । हव्य-वाहम् । घृत-प्रियम् ॥
सः । वेद । नि-हितान् । नि-धीन् । पितॄन् । परा-वतः । गतान् ॥ ४१ ॥

भाषार्थ—वे [पितर लोग] (अमर्त्यम्) अमर [न मरते हुये पुरुषार्थी], (हव्यवाहम्) ग्रहण करने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले, (घृतप्रियम्)

पुरुषान् (उप) प्रति (इमम्) अनुष्ठीयमानम् (यज्ञम्) सत्कारम् (पितरः) (मे) मम (जुषन्ताम्) सेवन्ताम् (आसीनाम्) उपविष्टाम्। उपस्थिताम् (ऊर्जम्) बलकरं रसं दुग्धघृतादिकम् (ये) पितरः (सचन्ते) सेवन्ते (ते) पितरः (नः (अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) पूर्णवीरैरुपेतम् (नि) नियमेन (यच्छान्) अ० १२ । ३ । ३८ । लेटि रूपम् । यच्छन्तु । ददतु ॥

४१—(सम्) सम्यक्। यथाविधि। ज्ञानेन (इन्धते) प्रकाशयन्ते ते पितरः (अमर्त्यम) अम्रियमाणम्। पुरुषार्थिनम (हव्यवाहम्) ग्राह्यपदार्थानां

घी आदि को प्रिय जानने वाले [जिस] पुरुष को (सम्) यथाविधि [ज्ञान से] (इन्धते) प्रकाशमान करते हैं। (सः) वह [पुरुष] (परावतः) पराक्रम से चलने वाले (पितॄन्) पितरों को (गतान्) प्राप्त हुये और (निहितान्) संग्रह किये हुये (निधीन्) [रत्न सुवर्ण आदि के] कोशों को (वेद) जानता है ॥ ४१ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य माता पिता आदि पितरों की सेवा घृत दुग्ध आदि उत्तम पदार्थों से करते हैं, वे पितृभक्त उन पितरों की कृपा से विद्यारत्न प्राप्त करके बड़े धनी होते हैं ॥ ४१ ॥

यं ते॑ म॒न्थं यमो॑द॒नं यन्मां॒सं नि॑पृ॒णामि॑ ते ।
ते ते॑ सन्तु स्व॒धाव॑न्तो॒ मधु॑मन्तो घृत॒श्चुतः॑ ॥ ४२ ॥

यम् । ते॒ । म॒न्थम् । यम् । ओ॒द॒नम् । यत् । मां॒सम् । नि॒-पृ॒णामि॑ । ते॒ ॥ ते । ते॒ । स॒न्तु॒ । स्व॒धा-व॑न्तः । मधु॑-मन्तः । घृ॒त॒-श्चुतः॑ ॥ ४२ ॥

भाषार्थ—[हे पितृगण !] (यम्) जिस (मन्थम्) मथने से प्राप्त हुये पदार्थ [नवनीत आदि] और (यम्) जिस (ओदनम्) भात आदि [सुसंस्कृत भोजन] को (ते) तेरे लिये और (यत्) जिस (मांसम्) मनन साधक वस्तु [बुद्धिवर्धक मीठे फल बादाम अखोट आदि के गूदे, मींग] को (ते) तेरे लिये (निपृणामि) मैं भेंट करता हूं। (ते) वे [भोजन पदार्थ]

प्रापकम् (घृतप्रियम्) घृतादिकं कामयमानं पुरुषम् (सः) पूर्वोक्तः पुरुषः (वेद) वेत्ति (निहितान्) स्थापितान्। संगृहीतान् (निधीन्) रत्नसुवर्णादि-कोशान् (पितॄन्) "गतान्" इत्यनेन कर्मकारके सम्बन्धः। पालकान् पुरुषान् (परावतः) उपसर्गाच्छन्दसि धात्वर्थे। पा० ५।१।११८। परा+वतिप्रत्ययो धात्वर्थे। परा पराक्रमेण गन्तॄन् (गतान्) अयं सकर्मकः। प्राप्तान् ॥

४२—(यम्) (ते) तुभ्यम् (मन्थम्) विलोडनेन प्राप्तं नवनीतादि-पदार्थम् (यम्) (ओदनम्) भक्तम्। सुसंस्कृतान्नम् (यत्) (मांसम्) म० २०। मननसाधकं बुद्धिवर्धकं पदार्थम् (निपृणामि) पॄ पालनपूरणयोः।

(ते) तेरे लिये (स्वधावन्तः) आत्मधारण शक्ति वाले, (मधुमन्तः) मधुर से] गुण वाले और (घृतश्चुतः) घी [सार रस] सींचने वाले (सन्तु) होवें ॥ ४२ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वान् गुणी माता पिता आदि बड़ों की सेवा घृत दुग्ध आदि से किया करें, जिस से वे पितर लोग बलवान् रह कर उत्तम उत्तम कर्म करने में समर्थ होवें ॥ ४२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६८ । तथा १८ । ४ । २५ ॥

यास्ते॑ धा॒ना अ॑नुकि॒रामि॑ ति॒लमि॑श्राः स्व॒धाव॑तीः । तास्ते॑ सन्तू॒द्भ्वीः प्र॒भ्वीस्तास्ते॑ य॒मो राजानु॑ मन्यताम् ॥ ४३ ॥

याः । ते॒ । धा॒नाः । अ॒नु॒-कि॒रामि॑ । ति॒ल-मि॑श्राः । स्व॒धा-व॑तीः ॥ ताः । ते॒ । स॒न्तु॒ । उ॒त्-भ्वीः । प्र॒-भ्वीः । ताः । ते॒ । य॒मः । राजा॑ । अनु॑ । म॒न्य॒ता॒म् ॥ ४३ ॥

भाषार्थ—[हे पितृगण !] (ते) तेरे लिये (याः) जिन (तिल-मिश्राः) तिलों से मिली हुयी, (स्वधावतीः) उत्तम अन्न वाली (धानाः) धानाओं [सुसंस्कृत पौष्टिक पदार्थों] को (अनुकिरामि) मैं [गृहस्थ] अनुकूल रीति से फैलाता हूं । (ताः) वे [सब सामग्री] (ते) तेरे लिये (उद्भ्वीः) उदय कराने वाली और (प्रभ्वीः) प्रभुता वाली (सन्तु) होवें, और (ताः) उन [सामग्रियों] को (ते) तेरे लिये (यमः) संयमी (राजा) राजा [शासक वैद्य] (अनु) अनुकूल (मन्यताम्) जाने ॥ ४३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग वैद्यक प्रक्रिया के अनुसार पुष्टिकारक पदार्थों से सेवा करके पितरों को नीरोग रक्खें ॥ ४३ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है–मन्त्र २६ तथा कुछ भेद से–अ० १८ । ३ । ६९ ॥

नियमेन पूरयामि । समर्पयामि (ते) तुभ्यम् । अन्यत् पूर्ववत्–अ० १८ । ३ । ६८ तथा १८ । ४ । २५ ॥

४३—(राजा) शासको वैद्यः । अन्यत् पूर्ववत्—म० २६ तथा अ० १८ । ३ । ६९ ॥

इदं पूर्वमपरं नियानं येना ते पूर्वे पितरः परेताः । पुरोगवा ये अभिशाचो अस्य ते त्वा वहन्ति सुकृतामु लोकम् ॥ ४४ ॥

इदम् । पूर्वम् । अपरम् । नि-यानम् । येन । ते । पूर्वे । पितरः । परा-इताः ॥ पुरः-गवाः । ये । अभि-शाचः । अस्य । ते । त्वा । वहन्ति । सु-कृताम् । ऊं इति । लोकम् ॥ ४४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्] यह (पूर्वम्) पहिला और (अवरम्) पिछला (नियानम्) निश्चित मार्ग है, (येन) जिस से (ते) तेरे (पूर्वे) पहिले [प्रधान] (पितरः) पितर लोग (परेताः) बल के साथ गये हैं । (ये) जो [पितर] (अस्य) इस [मार्ग] के (पुरोगवाः) आगे चलने वाले और (अभिशाचः) सब प्रकार उपदेश करने वाले हैं, (ते) वे [पितर] (त्वा) तुझ को (सुकृताम्) सुकर्मियों के (उ) ही (लोकम्) समाज में (वहन्ति) पहुंचाते हैं ॥ ४४ ॥

भावार्थ—पितरों अर्थात् विद्वान् जनों की सेवा करना प्राचीन और अर्वाचीन अर्थात् सार्वभौम और सर्वकालीन धर्म है, उन की सेवा से मनुष्य योग्य हो कर विद्वानों में प्रतिष्ठा पाता है ॥ ४४ ॥

मन्त्राः ४५–४७ ॥

सरस्वती देवता [ऋग्वेदे १० । १७ । ७—९ यथा] ॥ ४५,४६ निचृत् त्रिष्टप्, ४७ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

४४—(इदम्) पितृसेवारूपमाचरणम् (पूर्वम्) पुरातनम् (अपरम्) अर्वाचीनम् (नियानम्) निश्चितमार्गः (येन) मार्गेण (ते) तव (पूर्वे) प्रथमपदस्थाः प्रधानाः (पितरः) पालका विद्वांसः (परेताः) परा प्राधान्येन गताः (पुरोगवाः) गोरतद्धितलुकि । पा० ५।४।९२। इति पुरः+गो-टच्, तत्पुरुषे समासान्तः । अग्रगामिनः (ये) पितरः (अभिशाचः) वहश्च । पा० ३ । २ । ६४ । अभि+शच व्यक्तायां वाचि—ण्विप्रत्ययो बाहुलकात् सर्वत उपदेशकाः (अस्य) नियानस्य । निश्चितमार्गस्य (ते) पितरः (त्वा) त्वां पितृसेवकम् (वहन्ति) प्रापयन्ति (सुकृताम्) पुण्यकर्मणाम् (उ) निश्चयेन (लोकम्) समाजम् ॥

सरस्वत्यावाहनोपदेशः—सरस्वती के आवाहन का उपदेश ॥

सरस्वतीं देवयन्तो हवन्ते सरस्वतीमध्वरे तायमाने। सरस्वतीं सुकृतो हवन्ते सरस्वती दाशुषे वार्यं दात् ॥ ४५ ॥

सरस्वतीम् । देव-यन्तः । हवन्ते । सरस्वतीम् । अध्वरे । तायमाने ॥ सरस्वतीम् । सु-कृतः । हवन्ते । सरस्वती । दाशुषे । वार्यम् । दात् ॥ ४५ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (सरस्वतीम्) उसी सरस्वती को (देवयन्तः) दिव्य गुणों को चाहने वाले पुरुष (तायमाने) विस्तृत होते हुये (अध्वरे) हिंसारहित व्यवहार में (हवन्ते) बुलाते हैं। (सरस्वतीम्) सरस्वती को (सुकृतः) सुकृती लोग (हवन्ते) बुलाते हैं, (सरस्वती) सरस्वती (दाशुषे) अपने भक्त को (वार्यम्) श्रेष्ठ पदार्थ (दात्) देती है ॥ ४५ ॥

भावार्थ—विज्ञानी लोग परिश्रम के साथ आदर पूर्वक वेदविद्या का अभ्यास करके पुण्य कर्म करते और मोक्ष आदि इष्ट पदार्थ पाते हैं ॥ ४५ ॥

मन्त्र ४५-४७ ऊपर आ चुके हैं—अ० १८। १। ४१-४३ ॥

सरस्वतीं पितरो हवन्ते दक्षिणा यज्ञमभिनक्षमाणाः। आसद्यास्मिन् बर्हिषि मादयध्वमनमीवा इष आ धेह्यस्मे ४६

सरस्वतीम् । पितरः । हवन्ते । दक्षिणा । यज्ञम् । अभि-नक्षमाणाः ॥ आ-सद्य । अस्मिन् । बर्हिषि । मादयध्वम् । अनमीवाः । इषः । आ । धेहि । अस्मे इति ॥ ४६ ॥

भाषार्थ—(सरस्वतीम्) सरस्वती [विज्ञानवती वेदविद्या] को (दक्षिणा) सरल मार्ग में (यज्ञम्) यज्ञ [संयोग व्यवहार] को (अभिनक्षमाणाः) प्राप्त करते हुये (पितरः) पितर [पालन करने वाले विज्ञानी] लोग

४५—४७ मन्त्रा व्याख्याताः—अ० १८। १। ४१-४३ ॥

(हवन्ते) बुलाते हैं। [हे विद्वानो !] (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) वृद्धि कर्म में (आसद्य) आकर (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो, [हे सरस्वती !] (अस्मे) हम में (अनमीवाः) पीड़ा रहित (इषः) इच्छायें (आ धेहि) स्थपित कर ॥ ४६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग निर्विघ्न होकर सरल रीति में सब से मिल कर वेदविद्या के प्रचार से विज्ञान की वृद्धि और इष्ट पदार्थ की सिद्धि करते हैं॥४६॥

सरस्वति या सरथं ययाथोक्थैः स्वधाभिर्देवि पितृभिर्मदन्ती।
सहस्रार्घमिडो अत्र भागं रायस्पोषं यजमानाय धेहि ॥ ४७ ॥

सरस्वति । या । स-रथम् । ययाथ । उक्थैः । स्वधाभिः । देवि । पितृ-भिः । मदन्ती ॥ सहस्र-अर्घम् । इडः । अत्र । भागम् । रायः । पोषम् । यजमानाय । धेहि ॥ ४७ ॥

भाषार्थ—(सरस्वति) हे सरस्वती ! [विज्ञानवती वेदविद्या] (देवि) हे देवी ! [उत्तम गुण वाली] (या) जो तू (उक्थैः) वेदोक्त स्तोत्रों से (सरथम्) रमणीय गुणों वाली होकर और (स्वधाभिः) आत्मधारण शक्तियों के सहित [विराजमान] (पितृभिः) पितरों [विज्ञानियों] के साथ (मदन्ती) तृप्त होती हुयी (ययाथ) प्राप्त हुयी है। सो तू (अत्र) यहां (इडः) विद्या के (सहस्रार्घम्) सहस्रों प्रकार पूजनीय (भागम्) भाग को और (रायः) धन का (पोषम्) वृद्धि को (यजमानाय) यजमान [विद्वानों के सत्कारी] के लिये (धेहि) दान कर ॥ ४७ ॥

भावार्थ—आत्मविश्वासी विज्ञानी लोग वेद विद्या प्राप्त करके आनन्द भोगते हैं। सब मनुष्य विद्वानों के सत्संग से वेदविद्या ग्रहण करके धन आदि की वृद्धि करें ॥ ४७ ॥

मन्त्राः ४८—५२ ॥

पितरो देवताः ॥ ४८, ५१, ५२ भुरिक् त्रिष्टुप्; ४६; अनुष्टुब्गर्भा त्रिष्टुप्, ५० निचृज्जगती ॥

पितृसन्तानकर्त्तव्योपदेशः— पितरों और सन्तान के कर्त्तव्य का उपदेश ॥

पृथिवीं त्वा पृथिव्यामा वेशयामि देवो नो धाता प्र तिरा-त्यायुः । परापरैता वसुविद् वो अस्त्वधा मृताः पितृषु सं भवन्तु ॥ ४८ ॥

पृथिवीम् । त्वा । पृथिव्याम् । आ । वेशयामि । देवः । नः । धाता । प्र । तिराति । आयुः ॥ परा-परैता । वसु-वित् । वः । अस्तु । अध । मृताः । पितृषु । सम् । भवन्तु ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा ! स्त्री वा पुरुष] (पृथिवीम् त्वा) तुझ प्रख्यात को (पृथिव्याम्) प्रख्यात [विद्या] के भीतर (आ वेशयामि) मैं [माता पिता आचार्य आदि] प्रवेश कराता हूं, (देवः) प्रकाशस्वरूप (धाता) धाता [पोषक परमात्मा] (नः) हमारी (आयुः) आयु को (प्र तिराति) बढ़ावे। (परापरैता) अत्यन्त पराक्रम से चलने वाला पुरुष (वः) तुम्हारे लिये (वसुवित्) श्रेष्ठ पदार्थों का पाने वाला (अस्तु) होवे, (अध) तब (मृताः) मरे हुये [निरुत्साही पुरुष] (पितृषु) पितरों [पालक विद्वानों] के बीच (सं भवन्तु) समर्थ होवें ॥ ४८ ॥

भावार्थ—माता पिता आचार्य आदि सन्तानों को उत्तम विद्या देवें जिस से वे परमेश्वर के भक्त होकर श्रेष्ठ जीवन बितावें और बड़े नेता और श्रेष्ठ धनी होवें और उनके देखने से निरुत्साही भी उत्साही होकर पितरों में स्थान पावें ॥ ४८ ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद ऊपर आ चुका—अ० १२ । ३ । २२ ॥

४८—(पृथिवीम्) प्रख्याताम् (त्वा) त्वां प्रजां पुरुषं स्त्रियं वा (पृथिव्याम्) प्रख्यातायां विद्यायाम् (आवेशयामि) प्रवेशयामि (देवः) प्रकाशस्वरूपः (नः) अस्माकम् (धाता) पोषकः परमात्मा (प्र तिराति) तरतेर्लेट् । वर्धयतु (आयुः) जीवनम् (परापरैता) परा+परा+इण् गतौ—तृन् । अभ्यासे भूयांसमर्थं मन्यन्ते—निरु० १० । ४२ । अतिशयेन पराक्रमेण गन्ता (वसुवित्) विद्लृ लाभे—क्विप् । श्रेष्ठपदार्थानां लम्भयिता प्रापयिता (वः) युष्मभ्यम् (अध) अथ (मृताः) त्यक्तप्राणाः । निरुत्साहिनः (पितृषु) पालकेषु विद्वत्सु (सं भवन्तु) संभूतियुक्ताः समर्था भवन्तु ॥

आ प्र च्यवेथामप तन्मृजेथां यद् वामभिभा अत्रोचुः । अस्मा-
देतमघ्न्यौ तद् वशीयो दातुः पितृष्विहभोजनौ मम ॥ ४८ ॥
आ । प्र । च्यवेथाम् । अप । तत् । मृजेथाम् । यत् । वाम् ।
अभि-भाः । अत्र । ऊचुः ॥ अस्मात् । आ । इतम् ।
अघ्न्यौ । तत् । वशीयः । दातुः । पितृषु । इह-भोजनौ ।
मम ॥ ४८ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री पुरुषो !] तुम दोनों (आ) सब ओर (प्रच्यवेथाम्) आगे बढ़ो, और (तत्) उस [पाप] को (अप मृजेथाम्) शोध डालो, (यत्) जिस को (वाम्) तुम दोनों के (अभिभाः) सामने चमकती हुयी आपत्तियों ने (अत्र) यहां पर (ऊचुः) बताया है । (पितृषु) पितरों के बीच (दातुः मम) मुझ दानी के (इहभोजनौ) यहां पालन करने वाले (अघ्न्यौः) हिंसा न करने वाले तुम दोनों (अस्मात्) इस [पाप] से पृथक् होकर (तत्) उस [सुकर्म] को (आ) सब प्रकार (इतम्) प्राप्त हो [जो सुकर्म] (वशीयः) अधिक वश करने वाला है ॥ ४८ ॥

भावार्थ—जिस पाप के कारण मनुष्य पर अनेक विपत्तियां आपड़ती हैं, स्त्री पुरुष पुरुषार्थ पूर्वक विद्वान् पितरों की आज्ञा मान कर उस पाप को हटाकर सुकर्म में प्रवृत्त हों, क्योंकि सुकर्म ही से मनुष्य पाप को वश में करता है ॥ ४८ ॥

एयमगन् दक्षिणा भद्रतो नो अनेन दत्ता सुदुघा वयोधाः ।

४८—(आ) समन्तात् (प्र च्यवेथाम्) च्युङ् गतौ । प्रकर्षेण गच्छतम् (तत्) पापम् (अप मृजेथाम्) अप मार्जयतम् । शोधयतम् (यत्) पापम् (वाम्) युवाभ्याम् (अभिभाः) अ० १ । २० । १ । अभि भा दीप्तौ—क्विप् । आभिमुख्येन दीप्यमाना विपत्तयः (अत्र) अस्मिन् स्थाने (ऊचुः) उदितवत्यः। प्रकटितवत्यः (अस्मात्) पापात् पृथग् भूत्वा (एतम्) आगच्छतम् (अघ्न्यौः) नञ् + हन हिंसागत्योः—यक् । अहिंसकौ (तत्) सुकर्म (वशीयः) वशितृ—ईयसुन्, तृचो लोपः । वशितृतरं सुकर्म (दातुः) दानशीलस्य (पितृषु) (इह-भोजनौ) इह अस्मिन् स्थाने भोजनं पोषणं ययोस्तौ (मम) ॥

यौवने जीवानुपपृञ्चती जरा पितृभ्य उपसंपराणायादिमान् ५०(२४

आ । इयम् । अगन् । दक्षिणा । भद्रतः । नः। अनेन । दत्ता । सु-दुघा । वयः-धाः ॥ यौवने । जीवान् । उप-पृञ्चती । जरा । पितृ-भ्यः । उपसंपरानयात् । इमान् ॥ ५० ॥ (२४)

भाषार्थ—(अनेन) इस [सुकर्म] करके (दत्ता) दी हुयी, (सुदुघा) बड़ी दुधैल [गौ के समान] (वयोधाः) बल देने वाली (इयम्) यह (दक्षिणा) दक्षिणा [प्रतिष्ठा] (भद्रतः) उत्तमता से (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुयी है। (यौवने) यौवन [बल की पूरी अवस्था] में (इमान्) इन (जीवान्) जीवते हुये पुरुषों को (उपपृञ्चती) मिलती हुयी (जरा) बड़ाई (पितृभ्यः) पितरों के पास को (उपसंपराणयात्) प्रधानता से ठीक ठीक ले चले ॥ ५० ॥

भावार्थ—जैसे दुधैल गौ सेवा करने से दूध घी आदि पदार्थ देकर मनुष्यों को बलवान् करती है, वैसे ही मनुष्य सुकर्म के अनुष्ठान से दृढ़ गौरव पाकर बड़े लोगों में नाम पावें ॥ ५० ॥

इदं पितृभ्यः प्र भरामि बर्हिर्जीवं देवेभ्य उत्तरं स्तृणामि ।
तदा रोह पुरुष मेध्यो भवन् प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम्५१

इदम् । पितृ-भ्यः । प्र । भरामि । बर्हिः । जीवम् । देवेभ्यः । उत्-तरम् । स्तृणामि ॥ तत् । आ । रोह । पुरुष । मेध्यः ।

५०—(इयम्) (आ अगन्) आगमत् (दक्षिणा) प्रतिष्ठा । गौरवम् (भद्रतः) कल्याणात् (नः) अस्मान् (अनेन) सुकर्मणा (दत्ता) (सुदुघा) बहुदोग्ध्री गौर्यथा (वयोधाः) बलदायिका (यौवने) पूर्णबलवत्त्वे (जीवान्) जीवनवतः पुरुषार्थिनः पुरुषान् (उपपृञ्चती) संयोजयन्ती (जरा) जरा स्तुति— र्जरतेः स्तुतिकर्मणः—निरु० १० । ८ । प्रशंसा (पितृभ्यः) तादर्थ्ये चतुर्थी । पालकेभ्यः (उपसंपराणयात्) उप+सम्+परा+नयात् । प्राधान्येन सम्यग् नयतु प्रापयतु (इमान्) प्रसिद्धान् ॥

भवन् । प्रति । त्वा । जानन्तु । पितरः । परा-इतम् ॥ ५१ ॥

भाषार्थ—(इदम्) यह (बर्हिः) उत्तम आसन (पितृभ्यः) पितरों के लिये (प्र भरामि) आगे धरता हूं, और (देवेभ्यः) श्रेष्ठ गुणों के लिये (जीवम्) इस जीव [अपने आत्मा] को (उत्तरम्) अधिक ऊंचा (स्तृणामि) फैलाता हूं । (पुरुष) हे पुरुष ! (मेध्यः) पवित्र (भवन्) होता हुआ तू (तत्) इस [आसन] पर (आ रोह) ऊंचा हो, [तब] (पितरः) पितर लोग (त्वा) तुझे (परेतम्) प्रधानता को पहुंचा हुआ (प्रति) प्रत्यक्ष (जानन्तु) जानें ॥ ५१ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् जनों की प्रतिष्ठा करके और उनके समान शुद्धाचारी होकर अपने जीवन को श्रेष्ठ और प्रतिष्ठित बनावे ॥ ५१ ॥

एदं बर्हिरसदो मेध्योऽभूः प्रति त्वा जानन्तु पितरः परेतम् । यथापुरु तन्वं१ सं भरस्व गात्राणि ते ब्रह्मणा कल्पयामि ॥५२

आ । इदम् । बर्हिः । असदः । मेध्यः । अभूः । प्रति । त्वा । जानन्तु । पितरः । परा-इतम् ॥ यथा-पुरु । तन्वम् । सम् । भरस्व । गात्राणि । ते । ब्रह्मणा । कल्पयामि ॥ ५२ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ असदः) तू बैठा है और (मेध्यः) पवित्र (अभूः) हुआ है, (पितरः) पितर लोग (त्वा) तुझे (परेतम्) प्रधानता को पहुंचा हुआ (प्रति) प्रत्यक्ष

५१—(इदम्) (पितृभ्यः) पित्रादिमान्येभ्यः (प्र) प्रकर्षेण (भरामि) धरामि (बर्हिः) उत्तमासनम् (जीवम्) स्वात्मानम् (देवेभ्यः) दिव्यगुणानां प्राप्तये (उत्तरम्) उत्कृष्टतरम् (स्तृणामि) विस्तारयामि (तत्) आसनम् (आरोह) आतिष्ठ (पुरुष) (मेध्यः) पवित्रः (भवन्) सन् (प्रति) प्रत्यक्षेण (त्वा) त्वाम् (जानन्तु) (पितरः) (परेतम्) परा प्राधान्यं गतं प्राप्तम् ॥

५२—(इदम्) दृश्यमानम् (बर्हिः) उच्चासनम् (आ असदः) आरूढवानसि (मेध्यः) पवित्रः (अभूः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (त्वा) त्वाम् (जानन्तु) विदन्तु (पितरः) (परेतम्) परा प्राधान्यमितं प्राप्तम् (यथापरु) परौ परौ

(जानन्तु) जानें । (यथापरु) गांठ गांठ में (तन्वम्) उपकार शक्ति को (सम् भरस्व) भर दे, (ते) तेरे (गात्राणि) गातों को (ब्रह्मणा) वेदद्वारा (कल्पयामि) समर्थ करता हूं ॥ ५२ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विद्या आदि उत्तम गुणों से शुद्ध पवित्र हो जावे, विद्वान् उस की प्रतिष्ठा करें और वह वेदज्ञान से समर्थ होकर अपना सब सामर्थ्य परोपकार में लगावे ॥ ५२ ॥

मन्त्रौ ५३, ५४ ॥

परमेश्वरो देवता ॥ ५३ आर्षी पङ्क्तिः ; ५४ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमात्मभक्तिफलोपदेशः—परमात्मा की भक्ति के फल का उपदेश ॥

पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन् ।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय ॥ ५३ ॥

पर्णः । राजा । अपि-धानम् । चरूणाम् । ऊर्जः । बलम् । सहः । ओजः । नः । आ । अगन् ॥ आयुः । जीवेभ्यः । वि-दधत् । दीर्घायु-त्वाय । शत-शारदाय ॥ ५३ ॥

भाषार्थ—(पर्णः) पालन करने वाला (राजा) राजा [सर्वशासक परमात्मा] (चरूणाम्) पात्र [समान लोकों] का (अपिधानम्) ढक्कन है, [उस से] (ऊर्जः) पराक्रम, (बलम्) बल, (सहः) उत्साह और (ओजः) प्रभाव [यह चार] (नः) हम को (आ अगन्) प्राप्त हुआ है । वह (जीवेभ्यः)

ग्रन्थौ ग्रन्थौ (तन्वम्) तनूम् । उपकारशक्तिम् (सम्) सम्यक् (भरस्व) धारय (गात्राणि) अङ्गानि (ते) तव (ब्रह्मणा) वेदज्ञानेन (कल्पयामि) समर्थयामि ॥

५३—(पर्णः) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः—न । पालकः (राजा) सर्वशासकः परमात्मा (अपिधानम्) आच्छादनसाधनं यथा (चरूणाम्) पात्ररूपाणां लोकानाम् (ऊर्जः) ऊर्ज बलप्राणनयोः—पचाद्यच् । पराक्रमः (बलम्) सामर्थ्यम् (सहः) उत्साहः (ओजः) प्रभावः—इति धर्मार्थकाममोक्षचतुर्वर्गः (नः) अस्मान् (आ अगन्) आगमत् । प्राप्तवान्

जीवते हुये पुरुषों को (शतशारदाय) सौ वर्ष वाले (दीर्घायुत्वाय) दीर्घ आयु के लिये (आयुः) जीवन (विदधत्) विशेष कर के देवे ॥ ५३ ॥

भावार्थ—सर्वनियन्ता सर्वव्यापक जगदीश्वर अपनी न्याय व्यवस्था से मनुष्यों को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चार प्रकार के बल देता है, और वही जीवते हुये पुरुषार्थी का जीवन दीर्घ करता है ॥ ५३ ॥

ऊर्जो भागो य इमं जजानाश्मान्नानामाधिपत्यं जगाम ।
तमर्चत विश्वमित्रा हविर्भिः स नो यमः प्रतरं जीवसे धात् ५४

ऊर्जः । भागः । यः । इमम् । जजान । अश्मा । अन्नानाम् । आधि-पत्यम् । जगाम ॥ तम् । अर्चत । विश्व-मित्राः । हविः-भिः । सः । नः । यमः । प्र-तरम् । जीवसे । धात् ॥५४॥

भाषार्थ—(ऊर्जः) पराक्रम के (यः) जिस (भागः) भाग करने वाले [परमेश्वर] ने (इमम्) इस [संसार] को (जजान) उत्पन्न किया है और (अश्मा) व्यापक होकर (अन्नानाम्) अन्नों का (आधिपत्यम्) स्वामिपन (जगाम) पाया है। (तम्) उस [परमात्मा] को (विश्वमित्राः) सब के मित्र तुम (हविर्भिः) आत्मदानों से (अर्चत) पूजो, (सः) वह (यमः) न्यायकारी परमेश्वर (नः) हमें (प्रतरम्) अधिक उत्तमता से (जीवसे) जीने के लिये (धात्) धारण करे ॥ ५४ ॥

भावार्थ—जगत् स्रष्टा परमेश्वर सब प्राणियों को उन के पुरुषार्थ के अनुसार सामर्थ्य देकर अन्न आदि देता है, इस लिये मनुष्य अधिक अधिक

(आयुः) जीवनम् (जीवेभ्यः) जीवितेभ्यः पुरुषार्थिभ्यः (विदधत्) दधाते-लेटि, अडागमः। विशेषेण दध्यात्। प्रयच्छेत् (दीर्घायुत्वाय) अ० १। ३५। १। चिरकालजीवनाय (शतशारदाय) अ० १। ३५। १। शतसंवत्सरयुक्ताय॥

५४—(ऊर्जः) ऊर्ज बलप्राणनयोः—क्विप्। पराक्रमस्य (भागः) संभक्ता (यः) परमेश्वरः (इमम्) दृश्यमानं संसारम् (जजान) जनयामास (अश्मा) अशू व्याप्तौ—मनिन्। व्यापकः परमात्मा (अन्नानाम्) भोजनानाम् (आधिपत्यम्) स्वामित्वम् (जगाम) प्राप। अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८। ३। ६३॥

पुरुषार्थ करके अपने जीवन को अधिक अधिक ऊंचा बनावें ॥ ५४ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आ चुका है—अ० १८ । ३ । ६३ ॥

मन्त्राः ५५—५७ ॥

जीवो देवता । ५५, ५७ अनुष्टुप् ; ५६ विराडनुष्टुप् ॥

मनुष्याय वृद्धिकरणोपदेशः—मनुष्य को वृद्धि करने का उपदेश ॥

यथा॑ य॒माय॑ ह॒र्म्यमव॑पन् पञ्च॑ मान॒वाः ।
ए॒वा व॑पामि ह॒र्म्यं॑ यथा॑ मे॒ भूर॒योऽस॑त ॥ ५५ ॥

यथा॑ । य॒माय॑ । ह॒र्म्यम् । अव॑पन् । पञ्च॑ । मा॒न॒वाः ॥
ए॒व । व॒पा॒मि॒ । ह॒र्म्यम् । यथा॑ । मे॒ । भूर॑यः । अस॑त ॥५५ ॥

भाषार्थ—(यथा) जैसे (यमाय) न्यायकारी राजा के लिये (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश, इन पांच तत्त्वों] से सम्बन्ध वाले (मानवाः) मनुष्यों ने (हर्म्यम्) स्वीकार करने योग्य राजमहल (अवपन्) फैलाकर बनाया है। (एव) वैसे ही मैं (हर्म्यम्) सुन्दर राजमहल (वपामि) फैलाकर बनाता हूं, (यथा) जिस से (मे) मेरे लिये (भूरयः) बहुत से (असत) तुम होओ ॥ ५५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को बड़े पुरुषों के समान अच्छे अच्छे शिल्पियों द्वारा दृढ़ सुखप्रद गढ़, विद्यालय, न्यायालय, आदि घर बनवाकर सब की यथायोग्य रक्षा करनी चाहिये ॥ ५५ ॥

इ॒दं हिर॑ण्यं बिभृहि॒ यत् ते॑ पि॒ताबि॑भः पु॒रा ।

५५—(यथा) सादृश्ये (यमाय) न्यायकारिणे शासकाय (हर्म्यम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । हृञ् स्वीकारे—यक्, मुडागमः । हर्म्यं गृहनाम—निघ० ३ । ४ । स्वीकरणीयं महिलायोग्यं गृहम् । धनिनां गृहम् (अवपन्) डु वप बीजसन्ताने । बीजवद् विस्तार्य निर्मितवन्तः (पञ्च मानवाः) अ० १२ । १ । १५ । पृथिव्यादिपञ्चभूतसंबन्धिनो मनुष्याः (एव) एवम् (वपामि) संपादयामि । निर्मिमे (हर्म्यम्) राजगृहम् (यथा) येन प्रकारेण (मे) मह्यम् (भूरयः) बहवः (असत) अस्तेर्लेटि, अडागमः । यूयं स्यात ॥

स्वर्गं यतः पितुर्हस्तं निर्मृड्ढि दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

इदम् । हिरण्यम् । बिभृहि । यत् । ते । पिता । अबिभः । पुरा ॥ स्वः-गम् । यतः । पितुः । हस्तम् । निः । मृड्ढि । दक्षिणम् ॥ ५६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (इदम्) इस (हिरण्यम्) सुवर्ण को (बिभृहि) तू धारण कर, (यत्) जैसे (ते) तेरे (पिता) पिता ने (पुरा) पहिले (अबिभः) धारण किया है । और (स्वर्गम्) सुख देने वाले पद को (यतः) प्राप्त होते हुये (पितुः) पिता के (दक्षिणम्) दाहिने [वा उदार और कार्यकुशल] (हस्तम्) हाथ को (नि) निश्चय करके (मृड्ढि) शोभायमन कर ॥ ५६ ॥

भावार्थ—मनुष्य बड़े पुरुषों के समान सुवर्ण आदि धन प्राप्त करें और उपकारी कार्यों में चतुर होने के लिये युवराज बनकर बड़े लोगों का हाथ बटावें अर्थात् सहाय करें ॥ ५६ ॥

ये चं जीवा ये चं मृता ये जाता ये चं यज्ञियाः ।
तेभ्यो घृतस्यं कुल्यैतु मधुंधारा व्युन्दती ॥ ५७ ॥

ये । च । जीवाः । ये । च । मृताः । ये । जाताः । ये । च । यज्ञियाः ॥ तेभ्यः । घृतस्यं । कुल्या । एतु । मधुंधारा । वि-उन्दती ॥ ५७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (जीवाः) जीवते हुये [उत्साही], (च) और

५६—(इदम्) उपस्थितम् (हिरण्यम्) सुवर्णम् (विभृहि) धारय (यत्) यथा (ते) तव (पिता) जनकः (अबिभः) भृतवान् । धारितवान् (पुरा) पूर्वम् (स्वर्गम्) सुखप्रापकं पदम् (यतः) इण गतौ—शतृ । गच्छतः । प्राप्नुवतः (पितुः) जनकस्य (हस्तम्) करम् (निः) निश्चयेन (मृड्ढि) अ० ११ । १ । २६ । मृजू शौचालङ्कारयोः—लोट् , अदादिः । मार्जय । अलङ्कुरु (दक्षिणम्) असव्यम् ॥ उदारम् । कार्यकुशलम् ॥

५७—(ये) पुरुषाः (च) (जीवाः) जीववन्तः । उत्साहिनः (ये) (च)

(ये) जो (मृताः) मरे हुये [निरुत्साही], (च) और (ये) जो (जाताः) उत्पन्न हुये [बालक] (च) और (ये) जो (यज्ञियाः) पूजा योग्य [वृद्ध] पुरुष हैं। (तेभ्यः) उन के लिये (घृतस्य) जल की (कुल्या) कुल्या [कृत्रिम नाली] (मधुधारा) मधुर धाराओं वाली, (व्युन्दती) उमड़ती हुयी (एतु) चले ॥ ५७ ॥

भावार्थ—उत्साही और निरुत्साही, बाल और वृद्ध सब पुरुषार्थ करके परस्पर आनन्द भोगें, जैसे लोग मीठे जल की नालियों से खेत, बाटिका आदि सींचकर अन्न फूल फल आदि प्राप्तकर सुखी होते हैं ॥ ५७ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—अ० १८। ३। ७२ ॥

मन्त्राः ५८—६० ॥

परमेश्वरो देवता ॥ ५८ जगती ; ५६ अनुष्टुप् ; ६० आर्षी त्रिष्टुप् ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

वृषा मतीनां पवते विचक्षणः सूरो अह्नां प्रतरीतोषसां दिवः। प्राणः सिन्धूनां कुलशाँ अचिक्रददिन्द्रस्य हार्दिमाविशन्मनीषया ॥ ५८ ॥

वृषा। मतीनाम्। पवते। वि-चक्षणः। सूरः। अह्नाम्। प्र-तरीता। उषसाम्। दिवः ॥ प्राणः। सिन्धूनाम्। कुलशान्। अचिक्रदत्। इन्द्रस्य। हार्दिम्। आ-विशन्। मनीषया ॥५८॥

भाषार्थ—(वृषा) परम ऐश्वर्यवान्, (विचक्षणः) विशेष दृष्टि वाला परमेश्वर (मतीनाम्) बुद्धियों का (पवते) पवित्रकारी है, [जैसे] (सूरः) सूर्य (दिवः) [अपने] प्रकाश से (अह्नाम्) दिनों का और (उषसाम्) प्रभात

(मृताः) त्यक्तप्राणाः। निरुत्साहिनः (ये) (जाताः) उत्पन्ना बालकाः (यज्ञियाः) पूजार्हाः। वृद्धाः। अन्यत् पूर्ववत्—अ० १८। ३। ७२ ॥

५८—(वृषा) वृषु सेचने परमैश्वर्ये च–कनिन्। परमैश्वर्यवान्। इन्द्रः। परमेश्वरः (मतीनाम्) बुद्धीनाम् (पवते) शोधको भवति (विचक्षणः) विशेषेण द्रष्टा (सूरः) प्रेरकः सूर्यः (अह्नाम्) दिनानाम् (प्रतरीता)

बेलाओं का (प्रतरीता) फैलाने वाला है। (सिन्धूनाम्) नदियों के (प्राणः) प्राण [चेष्टा देने वाले उस परमेश्वर] ने (मनीषया) बुद्धिमत्ता से (इन्द्रस्य) सूर्य के (हार्दिम्) हार्दिक शक्ति में (आविशन्) प्रवेश करके (कलशान्) कलसों [घड़ों समान मेघों] को (अचिक्रदत्) गुंजाया है ॥ ५८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से सब पदार्थों को प्रकाशित करता है, वैसे ही परमात्मा अपने ज्ञान से आज्ञाकारी भक्तों की बुद्धियों को निर्मल करता है, वही परमेश्वर सूर्य के भीतर आकर्षण गुण देकर मेघों में गर्जन उत्पन्न करता और जल बरसाता है ॥ ५८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—९। ८६। १९ और सामवेद में पू० ६। ७। ६ तथा उ० २। १। १७ ॥

त्वेषस्ते धूम ऊर्णोतु दिवि षंछुक्र आततः।
सूरो न हि द्युता त्वं कृपा पावक रोचसे ॥ ५९ ॥

त्वेषः। ते। धूमः। ऊर्णोतु। दिवि। सन्। शुक्रः। आऽततः॥
सूरः। न। हि। द्युता। त्वम्। कृपा। पावक। रोचसे ॥५९॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (ते) तेरा (सन्) श्रेष्ठ, (शुक्रः) निर्मल (आततः) सब ओर फैला हुआ (त्वेषः) प्रकाश [हम को] (दिवि) आकाश में (धूमः) भाप [जैसे,वैसे] (ऊर्णोतु) ढक लेवे। (पावक) हे शोधक! [परमेश्वर] (सूरः न) जैसे सूर्य (द्युता) अपने प्रकाश से [वैसे] (त्वम्) तू

तरतेस्तृच्। वृतो वा। पा० ७। २। ३८। इति इडागमस्य दीर्घः। प्रवर्धयिता (दिवः) स्वप्रकाशात् (प्राणः) प्राणयिता। चेष्टयिता (सिन्धूनाम्) नदीनाम् (कलशान्) कलशसदृशान् मेघान् (अचिक्रदत्) क्रद आह्वानरोदनयोः—णिचि लुङि रूपम्। प्रतिध्वनिं कारितवान् (इन्द्रस्य) सूर्यस्य) (हार्दिम्) अ० ६। ८९। १। हृद्—इञ्। हार्दिकां शक्तिम् (आविशन्) प्रविशन् (मनीषया) बुद्धिमत्तया ॥

५९— (त्वेषः) त्विष दीप्तौ—पचाद्यच्। प्रकाशः (ते) तव (धूमः) वाष्पो यथा (ऊर्णोतु) आच्छादयतु (दिवि) आकाशे (सन्) श्रेष्ठः (शुक्रः) शुक्रः। शुद्धः (आततः) समन्ताद् विस्तीर्णः (सूरः) प्रेरकः सूर्यः (न) यथा (हि) निश्चयेन (द्युता) दीप्त्या (त्वम्) (कृपा) कृपू सामर्थ्ये—क्विप्। कृपया।

(हि) ही (कृपा) अपनी कृपा से (रोचसे) चमकता है ॥ ५६ ॥

भावार्थ—जैसे मेघ के कण आकाश में व्यापक रहते हैं, वैसे ही परमात्मा को हम लोग सर्वत्र व्यापक साक्षात् करें, वह कृपालु जगदीश्वर सूर्य समान सब में प्रकाशमान है ॥ ५६ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—६।२।६ और सामवेद में पू० १।६।३ ॥

प्र वा एतीन्दुरिन्द्रस्य निष्कृतिं सखा सख्युर्न प्र मिनाति संगिरः। मर्य इव योषाः समर्षसे सोमः कलशे शतयामना पथा ॥ ६० ॥ (२५)

प्र। वै। एति। इन्दुः। इन्द्रस्य। निः-कृतिम्। सखा। सख्युः। न। प्र। मिनाति। सम्-गिरः॥ मर्यः-इव। योषाः। सम्। अर्षसे। सोमः। कलशे। शत-यामना। पथा ॥६०॥ (२५)

भाषार्थ—(इन्दुः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (इन्द्रस्य) परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर की (निष्कृतिम्) निस्तार शक्ति को (वै) निश्चय करके (प्र) आगे को (एति) पाता जाता है, (सखा) सखा [परमात्मा का मित्र जीव] (सख्युः) सखा [अपने मित्र जगदीश्वर] की (संगिरः) उचित वाणियों को (न) नहीं (प्र मिनाति) तोड़ देता है। (मर्यः इव) जैसे मनुष्य (योषाः) अपनी स्त्री को [प्रीति से वैसे] (सोमः) प्रेरक आत्मा तू (कलशे) कलस [घट रूप हृदय] के भीतर (शतयामना) सैकड़ों गति वाले (पथा) मार्ग से

दयया (पावक) हे शोधक परमात्मन् (रोचसे) दीप्यसे ॥

६०— (प्र) प्रकर्षेण (वै) निश्चयेन (एति) प्राप्नोति (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् जीवात्मा (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (निष्कृतिम्) निस्तारशक्तिम्। निर्मुक्तिम् (सखा) सुहृद्वज्जीवात्मा (सख्युः) सर्वमित्रस्य परमात्मनः (न) निषेधे (प्र) (मिनाति) मीञ् हिंसायाम्। मीनातेर्निगमे। पा० ७।३।८१। इति ह्रस्वत्वम्। हिनस्ति (संगिरः) गॄ विज्ञापने—क्विप्। संगरान्। समीचीनवचनतानि (मर्यः) मनुष्यः (इव) यथा (योषाः) सुपां सुपो भवन्ति। वा० पा० ७।१।३९। एकवचनस्य बहुवचनम्। योषाम्।

[परमात्मा को] (सम्) यथाविधि (अर्षसे) प्राप्त होता है ॥ ६० ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परमात्मा की आज्ञाओं का पालन करता है, वही पापों से छूटकर मोक्ष सुख भोगता है, और जैसे स्त्री पुरुष गृहाश्रम की सिद्धि के लिये परस्पर हार्दिक प्रीति करते हैं, वैसे ही योगी पुरुष अनेक प्रकार से अपने हृदय में परमात्मा का दर्शन करके उसके साथ प्रीति में मग्न हो जाता है ॥ ६० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—९ । ८६ । १६ और सामवेद में है—पू० ६ । ७ । ४ तथा उ० ४ । २ । ७ ॥

मन्त्राः ६१—६८ ॥

पितरो देवताः ॥ ६१ अनुष्टुप्, ६२ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ६३ स्वराडार्षी पङ्क्तिः; ६४, ६५ त्रिष्टुप्; ६६ भुरिग् गायत्री; ६७ निचृदार्च्यनुष्टुप्; ६८ आसुर्यनुष्टुप् ॥

पितृसत्कारोपदेशः—पितरों के सत्कार का उपदेश ॥

अक्षुन्नमीमदन्त ह्यव प्रियाँ अधूषत ।
अस्तोषत स्वभानवो विप्रा यविष्ठा ईमहे ॥ ६१ ॥

अक्षन् । अमीमदन्त । हि । अव । प्रियान् । अधूषत ॥
अस्तोषत । स्व-भानवः । विप्राः । यविष्ठाः । ईमहे ॥ ६१ ॥

भाषार्थ—(स्वभानवः) अपना ही प्रकाश रखने वाले, (विप्राः) बुद्धिमान्, (यविष्ठाः) महाबली [पितरों] ने (अक्षन्) भोजन खाया है और

सेवनीयां स्त्रियम् (सम्) सम्यक् (अर्षसे) ऋषी गतौ, भौवादिकः । प्राप्नोषि (सोमः) सोमः सूर्यः प्रसवनात्, सोम आत्माऽप्येतस्मादेव—निरु० १४ । १२ । प्रेरको जीवात्मा (कलशे) घटरूपे हृदये (शतयामना) अल्लोपोऽनः । पा० ६ । ४ । १३४ । इति प्राप्तस्य अकारलोपस्याभावश्छान्दसः । शतयाम्ना । बहुगतियुक्तेन (पथा) मार्गेण ॥

६१—(अक्षन्) अद भक्षणे—लुङ्, घस्लादेशः । अघसन् । भोगान् भक्षितवन्तः (अमीमदन्त) मद तृप्तियोगे, चुरादेरात्मनेपदिनश्चङि रूपम् । आनन्दं प्राप्तवन्तः (हि) अवधारणे (अव) निश्चयेन (प्रियान्) प्रीतिकरान् बान्धवान्

(अमीमदन्त) आनन्द पाया है, उन्होंने (हि) ही (प्रियान्) अपने प्रिय [बान्धवों] को (अव) निश्चय करके (अधूषत) शोभायमान किया है और (अस्तोषत) बड़ाई योग्य बनाया है, (ईमहे) [उन से] हम विनय करते हैं ॥ ६१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को विनय करके विद्यावृद्ध, बलवृद्ध और वयोवृद्ध पुरुषों का सदा सत्कार करना चाहिये, जिस से वे प्रसन्न होकर उत्तम उत्तम शिक्षा दिया करें ॥ ६१ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१ । ८२ । २ । यजुर्वेद में ३ । ५१ और सामवेद में—पू० ५ । ३ । ७ ॥

आ यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पितृयाणैः । आयुरस्मभ्यं दधतः प्रजां च रायश्च पोषैरभि नः सचध्वम् ॥ ६२ ॥

आ । यात । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पथि-भिः । पितृ-यानैः ॥ आयुः । अस्मभ्यम् । दधतः । प्र-जाम् । च । रायः । च । पोषैः । अभि । नः । सचध्वम् ॥ ६२ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि मान्यो] (सोम्यासः) प्रियदर्शन तुम (गम्भीरैः) गम्भीर [शान्त], (पितृयाणैः) पितरों के चलने योग्य (पथिभिः) मार्गों से (आ यात) आओ । (च) और (अस्मभ्यम्) हम को (आयुः) जीवन (च) और (प्रजाम्) प्रजा [पुत्र, पौत्र, सेवक

(अधूषत) धूष कान्तिकरणे—लङ् । तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । बहुवचनस्यैकवचनम् । अधूषन्त । शोभायमानान् कृतवन्तः (अस्तोषत) स्तुत्यान् कृतवन्तः (स्वभानवः) स्वकीया भानुर्दीप्तिः प्रकाशो येषां ते (विप्राः) मेधाविनः (यविष्ठाः) युवन्—इष्ठन् । स्थूलदूरयुवह्रस्व० । पा० ६ । ४ । १५६ । इति वकारस्य लोप उकारस्य च गुणः । अतिशयेन युवानः । निसर्गबलिनः (ईमहे) याच्ञाकर्मा—निघ० ३ । १९ । याचामहे । प्रार्थयामहे । विनयामः ॥

६२—(आ यात) आगच्छत (पितरः) हे पालका ज्ञानिनः (सोम्यासः) प्रियदर्शना यूयम् (गम्भीरैः) गभीरगम्भीरौ । उ० ४ । ३५ । गम्लृ गतौ—ईरन् नुगागमः । शान्तैः । गहनैः (पथिभिः) मार्गैः (पितृयाणैः) पितृ-

आदि] (ददतः) देते हुये तुम (रायः) धन की (पोषैः) वृद्धियों से (नः) हमें (अभि) सब ओर (सचध्वम्) सींचो ॥ ६२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शान्तचित्त, शान्ति के मार्ग पर चलने वाले विद्वान् महात्माओं का सत्संग करते रहते हैं, वह उत्तम जीवन और श्रेष्ठ सन्तान आदि प्रजा पाकर बहुत धनी होते हैं ॥ ६२ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० ६ । ४ । २२ ॥

परा यात पितरः सोम्यासो गम्भीरैः पथिभिः पूर्याणैः । अधा मासि पुनरा यात नो गृहान् हविरत्तुं सुप्रजसः सुवीराः ॥६३॥

परा । यात । पितरः । सोम्यासः । गम्भीरैः । पथि-भिः । पूः-यानैः ॥ अध । मासि । पुनः । आ । यात । नः । गृहान् । हविः । अत्तुम् । सु-प्रजसः । सु-वीराः ॥ ६३ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पिता आदि मान्यो] (सोम्यासः) प्रियदर्शन तुम (गम्भीरैः) गम्भीर [शान्त], (पूर्याणैः) नगरों को जाने वाले (पथिभिः) मार्गों से (परा) प्रधानता के साथ (यात) चलो । (अध) और (पुनः) अवश्य (मासि) महीने महीने (सुप्रजसः) उत्तम प्रजाओं वाले और (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले तुम (नः) हमारे (गृहान्) घरों में (हविः) भोजन (अत्तुम्) खाने के लिये (आ यात) आओ ॥ ६३ ॥

भावार्थ—गृहस्थ लोग विद्वान् पितर महात्माओं के दर्शन से सदा लाभ उठावें और दर्शेष्टि और पूर्णमासेष्टि आदि नियत समय पर तो अवश्य

भिर्गमनयोग्यैः (ददतः) प्रयच्छन्तः (सचध्वम्) सिञ्चत । अन्यद् गतम् अ० ६ । ४ । २२ ॥

६३—(परा) प्राधान्येन । अन्यत् पूर्ववत्-म० ६२ (पूर्याणैः) अ० १८ । १ । ५४ । पुरो नगरान् गच्छद्भिः (अध) अथ (मासि) प्रतिमासं दर्शेष्टौ पूर्णमासेष्टौ च (पुनः) अवश्यम् (आयात) आगच्छत (नः) अस्माकम् (गृहान्) निवासान् (हविः) ग्राह्यं भोजनम् (अत्तुम्) भक्षयितुम् (सुप्रजसः)

उन के सत्संग से आनन्द पावें ॥ ६३ ॥

इस मन्त्र के प्रथम पाद को मिलाओ—अ० १८ । ३ । १४ ॥

यद् वो अ॒ग्निरज॑हा॒देक॒मङ्गं॑ पितृ॒लो॒कं ग॒मयं॑ जा॒तवे॑दाः । तद् वं॒ ए॒तत् पु॒नरा प्या॑ययामि सा॒ङ्गाः स्व॒र्गे पि॒तरो॑ मादयध्वम्॥६४॥

यत् । वः॒ । अ॒ग्निः । अज॑हात् । एक॑म् । अङ्ग॑म् । पि॒तृ॒-लो॒कम् । ग॒मय॑न् । जा॒त-वे॑दाः ॥ तत् । वः॒ । ए॒तत् । पु॒न॑ः । आ । प्या॒य॒या॒मि॒ । स॒-अ॒ङ्गाः । स्वः॒-गे । पि॒तर॑ः । मा॒द॒य॒ध्व॒म् ॥६४॥

भाषार्थ—[हे पितरो !] (वः) तुम्हारे (यत्) जिस (एकम्) एक (अङ्गम्) अङ्ग को (पितृलोकम्) पितृ समाज में [मनुष्यों को] (गमयन्) ले चलते हुये, (जातवेदाः) धनों के उत्पन्न करने वाले (अग्निः) अग्नि [शारीरिक पराक्रम] ने (अजहात्) त्याग दिया है । (वः) तुम्हारे (तत्) उस [अङ्ग] को (एतत्) अब (पुनः) निश्चय करके (आ) सब प्रकार (प्याययामि) मैं पूरा करता हूं, (साङ्गाः) पूरे अङ्ग वाले (पितरः) पालक ज्ञानी होकर तुम (स्वर्गे) सुख पहुंचाने वाले पद पर (मादयध्वम्) आनन्द पाओ ॥ ६४ ॥

भावार्थ—यदि विद्वान् पिता आदि बड़ों के अङ्ग में थकान आदि से कुछ हानि होवे, गृहस्थ सुसन्तान आदि उसका प्रतिकार करके उन्हें प्रसन्न करें ॥ ६४ ॥

अभू॑द् दू॒तः प्रहि॑तो जा॒तवे॑दाः सा॒यं न्य॒ह्न उप॒वन्द्यो॒ नृभि॑ः । प्रादा॑ः पि॒तृभ्य॑ः स्व॒धया॒ ते अ॑क्षन्न॒द्धि त्वं दे॑व॒ प्रय॑ता ह॒वींषि॑ ६५

६४—(यत्) (वः) युष्माकम् (अग्निः) शारीरिकपराक्रमः (अजहात्) ओ हाक् त्यागे । त्यक्तवान् (अङ्गम्) अवयवम् (पितृलोकम्) विदुषां समाजम् (गमयन्) प्रापयन् (जातवेदाः) जातान्युत्पन्नानि वेदांसि धनानि यस्मात्सः (तत्) अङ्गम् (वः) युष्माकम् (एतत्) इदानीम् (पुनः) निश्चयेन (आ) समन्तात् (प्याययामि) वर्धयामि । पूरयामि (साङ्गाः) सम्पूर्णावयवाः (स्वर्गे) सुखप्रापके पदे (पितरः) (मादयध्वम्) मोदध्वम् ॥

अभूत् । दूतः । प्र-हितः । जात-वेदाः । सायम् । नि-अह्ने । उप-वन्द्यः । नृ-भिः ॥ प्र । अदाः । पितृ-भ्यः । स्वधया । ते । अक्षन् । अद्धि । त्वम् । देव । प्र-यता । हवींषि ॥ ६५ ॥

भाषार्थ—(दूतः) चलने वाला [उद्योगी] (प्रहितः) बड़ा हितकारी (जातवेदाः) महाज्ञानी [वा महाधनी] पुरुष (सायम्) सायंकाल में और (न्यह्ने) प्रातः काल में (नृभिः) नेताओं करके (उपवन्द्यः) बहुत प्रशंसनीय (अभूत्) हुआ है। [इस लिये] (पितृभ्यः) पितरों [रक्षक महात्माओं] को (स्वधया) अपनी धारण शक्ति से (प्रयता) शुद्ध [वा प्रयत्न से सिद्ध किये] (हवींषि) ग्रहण करने योग्य भोजन (प्र) अच्छे प्रकार (अदाः) तू ने दिये हैं,(ते) उन्होंने (अक्षन्) खाये हैं,(देव) हे विद्वान् ! (त्वम्) तू (अद्धि) खा। ६५

भावार्थ—उद्योगी, हितकारी विद्वान् लोग सदा से बड़े लोगों के माननीय हुये हैं, इस लिये मनुष्य भोजन आदि से विद्वानों का सत्कार करके अपनी रक्षा करें और कीर्ति बढ़ावें ॥ ६५ ॥

इस मन्त्र का उत्तरार्द्ध ऊपर आचुका है—अ० १८।३।४२। और पूर्वार्द्ध का मिलान करो—ऋग्० ४।५४।१॥

असौ हा इह ते मनः ककुत्सलमिव जामयः ।
अभ्येनं भूम ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

असौ । हे । इह । ते । मनः । ककुत्सलम्-इव । जामयः ॥ अभि । एनम् । भूमे । ऊर्णुहि ॥ ६६ ॥

६५—(अभूत्) (दूतः) दुतनिभ्यां दीर्घश्च । उ० ३। ६०। दु गतौ—क्त। गमनशीलः। उद्योगी (प्रहितः) प्रकृष्टो हितकारी (जातवेदाः) उत्पन्नज्ञानः। बहुधनः (सायम्) सूर्यास्ते (न्यह्ने) निगते निश्चयेन प्राप्ते दिने। प्रातःकाले (उपवन्द्यः) महाप्रशंसनीयः (नृभिः) नेतृभिः (प्र) प्रकर्षेण (अदाः) दत्तवानसि (पितृभ्यः) (स्वधया) स्वधारणशक्त्या (ते) पितरः (अक्षन्) अघसन्। अभक्षयन् (अद्धि) भक्षय (त्वम्) (देव) हे विद्वन् (प्रयता) शुद्धानि। प्रयत्नेन साधितानि (हवींषि) ग्राह्याणि भोजनानि ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (असौ) वह [पिता आदि] (है) निश्चय करके (इह) यहां पर [हम में] (ते) तेरे (मनः) मन को [ढकता है], (इव) जैसे (जामयः) कुल स्त्रियां (ककुत्सलम्) सुख का शब्द सुनाने वाले को [अर्थात् लड़ैते बालक को वस्त्र से ढकती हैं]। (भूमे) हे भूमि तुल्य [सर्वाधार विद्वान् !] (एनम्) इस [पिता आदि जन] को (अभि) सब ओर से (ऊर्णुहि) तू ढक [सुख दे] ॥ ३६ ॥

भावार्थ—जैसे माता पिता आदि पितर लोग छोटे प्रिय सन्तान की वस्त्र आदि से रक्षा करते और ज्ञान देते हैं, वैसे ही वे लोग उन पिता आदि की यथोचित सेवा करें ॥ ६६ ॥

इस मन्त्र का अन्तिम पाद आ चुका है—अ० १८ । २ । ५०, ५१, तथा १८ । ३ । ५० और इस मन्त्र का मिलान भी उन मन्त्रों से करो ॥

शुम्भन्तां लोकाः पितृषदनाः पितृषदने त्वा लोक आ सादयामि ॥ ६७ ॥

शुम्भन्ताम् । लोकाः । पितृ-सदनाः । पितृ-सदने । त्वा । लोके । आ । सादयामि ॥ ६७ ॥

भाषार्थ—(पितृषदनाः) पितरों [ज्ञानियों] की बैठक वाले (लोकाः) समाज (शुम्भन्ताम्) शोभायमान होवें, (पितृषदने) पितरों की बैठक वाले (लोके) समाज में (त्वा) तुझे (आ सादयामि) मैं बिठालता हूं ॥ ६७ ॥

भावार्थ—ज्ञानी लोग ही विद्वानों के समाजों में शोभा पाते हैं, इसलिये

६६—(असौ) पित्रादिः (है) निश्चयेन (इह) अत्र । अस्मासु (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् (ककुत्सलम्) क+कु कुङ् वा शब्दे—क्विप्, तुक्+षल गतौ—अच् । कस्य सुखस्य शब्दप्रापकं प्रियवाचं सन्तानम् (इव) यथा (जामयः) कुलस्त्रियः (अभि) सर्वतः (एनम्) पित्रादिकम् (भूमे) हे भूमितुल्य सर्वाधार विद्वन् (ऊर्णुहि) आच्छादय । सुखय ॥

६७—(शुम्भन्ताम्) शुम्भ शोभायाम् । शोभायमाना भवन्तु (लोकाः) समाजाः (पितृषदनाः) पितॄणां सदनयुक्ताः (पितृषदने) पितॄणां सदनयुक्ते (त्वा) त्वाम् (लोके) समाजे (आ) समन्तात् (सादयामि) स्थापयामि ॥

माता पिता आदि प्रयत्न करें कि उन के सन्तान भी विद्वानों में प्रतिष्ठा पावें ॥ ६७ ॥

इस मन्त्र का पहिला पाद कुछ भेद से यजुर्वेद में है—५ । २६ ॥

ये३॒ऽस्माकं॑ पि॒तर॒स्तेषां॑ ब॒र्हिर॑सि ॥ ६८ ॥

ये । अ॒स्माक॑म् । पि॒तरः॑ । तेषा॑म् । ब॒र्हिः । अ॒सि॒ ॥ ६८ ॥

भाषार्थ—(ये) जो पुरुष (अस्माकम्) हमारे बीच (पितरः) पितर [ज्ञानी पुरुष] हैं, (तेषाम्) उनका [यहां] (बर्हिः) उत्तम आसन (असि) है ॥ ६८ ॥

भावार्थ—मनुष्य ध्यान रक्खें कि सर्वहितकारी ज्ञानी पुरुष सदा प्रतिष्ठा पावें ॥ ६८ ॥

मन्त्रौ ६९, ७० ॥

वरुणो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ।

ईश्वरनियमोपदेशः—ईश्वर के नियमों का उपदेश ॥

उदु॑त्त॒मं व॑रुण॒ पाश॑म॒स्मदवा॑ध॒मं वि म॑ध्य॒मं श्र॑थाय ।

अधा॑ व॒यमा॑दित्य व्र॒ते तवाना॑गसो॒ अदि॑तये स्याम ॥ ६९ ॥

उत् । उ॒त्ऽत॒मम् । व॒रु॒ण॒ । पाश॑म् । अ॒स्मत् । अव॑ । अ॒ध॒मम् । वि । म॒ध्य॒मम् । श्र॒थ॒य॒ ॥ अध॑ । व॒यम् । आ॒दि॒त्य॒ । व्र॒ते । तव॑ । अना॑गसः । अदि॑तये । स्या॒म॒ ॥ ६९ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे स्वीकार करने योग्य ईश्वर ! (अस्मत्) हम से (उत्तमम्) ऊंचे वाले (पाशम्) पाश को (उत्) ऊपर से, (अधमम्) नीचे वाले को (अव) नीचे से, और (मध्यमम्) बीच वाले को (वि) विविध प्रकार से (श्रथय) खोल दे । (आदित्य) हे सर्वत्र प्रकाशमान वा अखण्ड-नीय जगदीश्वर ! (अध) फिर (वयम्) हम लोग (ते) तेरे (व्रते) वरणीय नियम में (अदितये) अदीना पृथिवी के [राज्य के] लिये (अनागसः)

६८—(ये) पुरुषाः (अस्माकम्) अस्माकं मध्ये (पितरः) पालका ज्ञानिनः (तेषाम्) पितॄणाम् (बर्हिः) उत्तमासनम् (असि) प्रथमस्य मध्यम-पुरुषः । अस्ति । भवति ॥

६९—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७ । ८३ । ३ ॥

निरपराधी (स्याम) होवें ॥ ६९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा का यथावत् पालन कर के धर्माचरण से भूत, भविष्यत्, और वर्तमान क्लेशों को अलग कर के सदा सुखी रहें ॥ ६९ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० ७ । ८३ । ३ ॥

प्रास्मत् पाशा॑न् वरुण मुञ्च सर्वा॒न् यैः स॑मा॒मे ब॒ध्यते॒ यैर्व्या॒मे । अधा॑ जीवेम श॒रदं॑ श॒ताति॒ त्वया॑ राजन् गुपि॒ता रक्ष॑माणाः ॥ ७० ॥ (२६)

प्र । अ॒स्मत् । पाशा॑न् । व॒रु॒ण॒ । मु॒ञ्च॒ । सर्वा॑न् । यैः । स॒म्ऽआ॒मे । ब॒ध्यते॑ । यैः । वि॒ऽआ॒मे ॥ अध॑ । जी॒वे॒म॒ । श॒रद॑म् । श॒तानि॑ । त्वया॑ । रा॒ज॒न् । गु॒पि॒ताः । रक्ष॑माणाः ॥ ७० ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे दुःख निवारक परमेश्वर ! (अस्मत्) हम से (सर्वान्) सब (पाशान्) फन्दों को (प्र मुञ्च) खोल दे, (यैः) जिन [फन्दों] से (समामे) छूत रोग में, और (यैः) जिन से (व्यामे) विशेष रोग में (बध्यते) [प्राणी] बांधा जाता है। (अध) तब (राजन्) हे राजन् ! [परमेश्वर] (त्वया) तुझ कर के (गुपिताः) रक्षा किये गये और (रक्षमाणाः) [दूसरों की] रक्षा करते हुये हम (शतानि) सैकड़ों (शरदम्) बरसों तक (जीवेम) जीवें ॥ ७० ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि जो कोई रोग परस्पर छूत से वा कुपथ्य आदि दोष से हो जावें, परमेश्वर की उपासना करते हुये वैद्यराजों की सम्मति से उन रोगों का निवारण करके स्वस्थ रहकर सब की रक्षा करें। ७० ॥

७०—(प्रमुञ्च) सर्वथा मोचय (अस्मत्) अस्मत्तः (पाशान्) बन्धान् (वरुण) हे दुःखनिवारकपरमात्मन् (सर्वान्) (यैः) पाशैः (समामे) सम्+अम रोगे पीडने—घञ् । संगतिरोगे । सम्पर्केण प्राप्ते रोगे (बध्यते) बन्धं प्राप्नोति (यैः) (व्यामे) विशेषरोगे (जीवेम) प्राणान् धारयेम (शरदम्) शरदः । संवत्सरान् (शतानि) बहुसंख्याकानि (त्वया) (राजन्) हे शासक परमात्मन् (गुपिताः) रक्षिताः (रक्षमाणाः) अन्यान् रक्षन्तः ॥

इस मन्त्र का प्रथम पाद आ चुका है—अ० ७ । ८३ । ४ ॥

मन्त्र ७१—८७ ॥

पितरो देवताः ॥ ७१ आसुर्यनुष्टुप्; ७२—७४, ७९ आसुरी पङ्क्तिः; ७५ आसुरी गायत्री; ७६ आसुर्युष्णिक्; ७७ दैवी जगती; ७८ आसुरी त्रिष्टुप्; ८० आसुरी जगती; ८१ भुरिक् प्राजापत्याऽनुष्टुप्; ८२ साम्नी बृहती; ८३, ८४ साम्नी त्रिष्टुप्; ८५ आसुरीबृहती; ८६ भुरिगार्ष्युष्णिक्; ८७ निचृदार्ष्युष्णिक् ॥

पितृसन्मानोपदेशः—पितरों के सन्मान का उपदेश ॥

अग्नये कव्यवाहनाय स्वधा नमः ॥ ७१ ॥

अग्नये । कव्य-वाहनाय । स्वधा । नमः ॥ ७१ ॥

सोमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७२ ॥

सोमाय । पितृ-मते । स्वधा । नमः ॥ ७२ ॥

पितृभ्यः सोमवद्भ्यः स्वधा नमः ॥ ७३ ॥

पितृ-भ्यः । सोमवत्-भ्यः । स्वधा । नमः ॥ ७३ ॥

यमाय पितृमते स्वधा नमः ॥ ७४ ॥

यमाय । पितृ-मते । स्वधा । नमः ॥ ७४ ॥

भाषार्थ—(कव्यवाहनाय) बुद्धिमानों को हितकारी पदार्थों के पहुंचाने वाले (अग्नये) विद्वान् पुरुष को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार होवे ॥ ७१ ॥

(पितृमते) श्रेष्ठमातापिता वाले (सोमाय) प्रेरक पुरुष को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो ॥ ७२ ॥

(सोमवद्भ्यः) बड़े ऐश्वर्य वाले (पितृभ्यः) पितरों [माता पिता

७१—(अग्नये) विदुषे पुरुषाय (कव्यवाहनाय) कविर्मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । कविभ्यो मेधाविभ्यो हितपदार्थानां प्रापकाय (स्वधा) अन्नम् निघ० २ । ७ (नमः) सत्करणम् ॥

७२—(सोमाय) प्रेरकपुरुषाय (पितृमते) प्रशस्तमातापितृभिर्युक्ताय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७३—(पितृभ्यः) मातापित्रादिपालकज्ञानिभ्यः (सोमवद्भ्यः) परमैश्वर्य-

आदि पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न और (नमः) नमस्कार हो ॥ ७३ ॥

(पितृमते) श्रेष्ठ माता पिता वाले (यमाय) न्यायाधीश राजा को (स्वधा) अन्न (नमः) नमस्कार हो ॥ ७४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि विविध प्रकार के विद्वान् माननीय पुरुषों का अन्न आदि से सत्कार करके विविध शिक्षा ग्रहण करें ॥ ७१—७४ ॥

मन्त्र ७१, ७२ कुछ भेद से यजुर्वेद में हैं—२ । २६ ॥

एतत् ते प्रततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७५ ॥

एतत् । ते । प्र-ततामह । स्वधा । ये । च । त्वाम् । अनु ॥७५

एतत् ते ततामह स्वधा ये च त्वामनु ॥ ७६ ॥

एतत् । ते । ततामह । स्वधा । ये । च । त्वाम् । अनु ॥७६॥

एतत् ते तत स्वधा ॥७७॥ एतत् । ते । तत । स्वधा ॥ ७७ ॥

भाषार्थ—(प्रततामह) हे परदादे ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो, (च) और [उन के लिये भी अन्न हो] (ये) जो (त्वाम् अनु) तेरे साथ हैं ॥ ७५ ॥

(ततामह) हे दादे ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो,(च) और [उन के लिये अन्न हो] (ये) जो (त्वाम् अनु) तेरे साथ हैं ॥ ७६ ॥

(तत) हे पिता ! (एतत्) यहां (ते) तेरे लिये (स्वधा) अन्न हो ॥७७॥

भावार्थ—सन्तानों को चाहिये कि बड़ों से आरंभ करके परदादी परदादा, दादी दादा माता पिता आदि मान्यों की अन्न आदि से सेवा करके उत्तम शिक्षा और आशीर्वाद पावें ॥ ७५—७७ ॥

युक्तेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७४—(यमाय) न्यायाधीशाय राज्ञे (पितृमते) म० ७२ । अन्यत् पूर्ववत् ॥

७५—(एतत्) अत्र (ते) तुभ्यम् (प्रततामह) तनु विस्तारे—क्त । तत इति सन्ताननाम पितुर्वा पुत्रस्य वा—निरु० ६ । ६ । पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः । पा० । ४ । २ । ३६ । प्रतत—डामहच्, बाहुलकात् । हे प्रपितामह (स्वधा) अन्नम् (ये) (च) तेभ्यश्च (त्वाम्) (अनु) अनुसृत्य वर्तन्ते ॥

७६—(ततामह) म० ७५ । हे पितामह । अन्यत् पूर्ववत् ।

७७—(तत) म० ७५ हे पितः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

स्वधा पितृभ्यः पृथिविषद्भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा । पितृ-भ्यः । पृथिविसत्-भ्यः ॥ ७८ ॥

स्वधा पितृभ्यो अन्तरिक्षसद्भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा । पितृ-भ्यः । अन्तरिक्षसत्-भ्यः ॥ ७९ ॥

स्वधा पितृभ्यो दिविषद्भ्यः ॥ ८० ॥ (२७)

स्वधा । पितृ-भ्यः । दिविसत्-भ्यः ॥ ८० ॥ (२७)

भाषार्थ—(पृथिविषद्भ्यः) पृथिवी की विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ७८ ॥

(अन्तरिक्षसद्भ्यः) आकाश विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ७९ ॥

(दिविषद्भ्यः) प्रकाश विद्या में गति वाले (पितृभ्यः) पितरों [पालक ज्ञानियों] को (स्वधा) अन्न हो ॥ ८० ॥

७८—८० इन मन्त्रों का मिलान करो यजु० ६ । २ ॥

भावार्थ—जो पितर पण्डित लोग पृथिवी अर्थात् राज्यविद्या, भूगर्भ विद्या आदि में चतुर हों, जो ज्योतिषी आकाश विद्या-अर्थात् सौर मण्डल, तारामण्डल, वायुमण्डल आदि विद्या में दक्ष हों और जो महापुरुष अन्य व्यवहारों अर्थात् संग्राम विद्या, धर्म शिक्षा आदि विद्या में गुणी होवें, सब मनुष्य ऐसे महात्माओं का सदा आदर करते रहें ॥ ७८—८० ॥

नमो वः पितर ऊर्जे नमो वः पितरो रसाय ॥ ८१ ॥

नमः । वः । पितरः । ऊर्जे । नमः । वः । पितरः । रसाय ॥ ८१

नमो वः पितरो भामाय नमो वः पितरो मन्यवे ॥ ८२ ॥

७८—(स्वधा) अन्नम् (पितृभ्यः) पालकज्ञानिभ्यः (पृथिविषद्भ्यः) ङ्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् । पा० ६ । ३ । ६३ । इति ह्रस्वः । पृथिवीविद्यायां गतिशीलेभ्यः ॥

७९—(अन्तरिक्षसद्भ्यः) आकाशविद्यायां गतिशीलेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८०—(दिविषद्भ्यः) सप्तम्या अलुक् । प्रकाशविद्यायां गतिशीलेभ्यः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

नमः । वः । पितरः । भामाय । नमः । वः । पितरः । मन्यवे ८२

नमो वः पितरो यद् घोरं तस्मै नमो वः पितरो यत् क्रूरं तस्मै ८३

नमः । वः । पितरः । यत् । घोरम् । तस्मै । नमः । वः । पितरः । यत् । क्रूरम् । तस्मै ॥ ८३ ॥

नमो वः पितरो यच्छिवं तस्मै नमो वः पितरो यत् स्योनं तस्मै ॥ ८४ ॥

नमः । वः । पितरः । यत् । शिवम् । तस्मै । नमः । वः । पितरः । यत् । स्योनम् । तस्मै ॥ ८४ ॥

नमो वः पितरः स्वधा वः पितरः ॥ ८५ ॥

नमः । वः । पितरः । स्वधा । वः । पितरः ॥ ८५ ॥

भाषार्थ—(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (ऊर्जे) पराक्रम पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (रसाय) रस [ज्ञानरस, ओषधिरस, और दूध, जल, विद्या आदि रस] पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८१ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (भामाय) प्रताप की प्राप्ति के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (मन्यवे) क्रोध की निवृत्ति के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८२ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (घोरम्)

८१—(नमः) सत्करणम् (वः) युष्मभ्यम् (पितरः) हे पित्रादिपालकज्ञानिनः (ऊर्जे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । ऊर्जं पराक्रमं प्राप्तुम् (रसाय) ज्ञानरसौषधिरसदुग्धजलविद्यादिरसान् प्राप्तुम् । अन्यद् गतम् ॥

८२—(भामाय) अर्त्तिस्तुसुहुसृधृक्षिक्षुभा० । उ० १ । १४० । भा दीप्तौ—मन् । भामं प्रकाशं प्रतापं प्राप्तुम् (मन्यवे) यथा म० ८१ । मन्युं क्रोधं निवर्तयितुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

घोर [दारुण दुःख] है, (तस्मै) उसे हटाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (क्रूरम्) क्रूर [निर्दयता] है, (तस्मै) उसे दूर करने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८३ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (शिवम्) मङ्गलकारी है, (तस्मै) उसे पाने के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (यत्) जो कुछ (स्योनम्) सुखदायक है, (तस्मै) उसके लाभ के लिये (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो ॥ ८४ ॥

(पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (वः) तुम को (नमः) नमस्कार हो, (पितरः) हे पितरो ! [पालक ज्ञानियो] (वः) तुम्हारे लिये (स्वधा) अन्न हो ॥ ८५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि पराक्रम आदि शुभ गुणों की प्राप्ति के लिये और क्रोध आदि दुर्गुणों की निवृत्ति के लिये ज्ञानी पितरों का अनेक प्रकार सत्कार करके सदुपदेश ग्रहण करें ॥ ८१—८५ ॥

८१—८५ इन मन्त्रों का मिलान करो—यजुर्वेद २ । ३२ तथा महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पितृयज्ञविषय ॥

येऽत्र पितरः पितरो येऽत्र यूयं स्थ युष्मांस्तेऽनु यूयं तेषां श्रेष्ठा भूयास्थ ॥ ८६ ॥

ये । अत्र । पितरः । पितरः । ये । अत्र । यूयम् । स्थ । युष्मान् । ते । अनु । यूयम् । तेषाम् । श्रेष्ठाः । भूयास्थ ॥ ८६ ॥

य इह पितरो जीवा इह वयं स्मः । अस्मांस्तेऽनु वयं तेषां

हन हिंसागत्योः—अच् , घुरादेशः । भयानकं दारुणं दुःखम् (तस्मै) यथा म० ८१ । तन्नाशयितुम् (क्रूरम्) कृतेश्छः क्रू च । उ० २ । २१ । कृती छेदने—रक, क्रू इत्यादेशः । निर्दयत्वम् (तस्मै) तद्दूरीकर्तुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८४—(यत्) (शिवम्) कल्याणकरम् (तस्मै) तत् प्राप्तुम् (यत्) (स्योनम्) सुखम् (तस्मै) तल्लब्धुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

८५—(स्वधा) अन्नम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

श्रेष्ठा भूयास्म ॥ ८७ ॥

ये । इह । पितरः । जीवाः । इह । वयम् । स्मः ॥ अस्मान् ।

ते । अनु । वयम् । तेषाम् । श्रेष्ठाः । भूयास्म ॥ ८७ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (अत्र) यहां (पितरः) पितर [पालक ज्ञानी] हैं, (ये) जो (यूयम्) तुम (अत्र) यहां पर (पितरः) पितर (स्थ) हो, (ते) वे लोग (युष्मान् अनु) [उन] तुम्हारे अनुकूल होवें, और (यूयम्) तुम (तेषाम्) उन के बीच (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्थ) होओ ॥ ८६ ॥

(ये) जो (इह) यहां पर (पितरः) पितर [पालक ज्ञानी] हैं, [उन के अनुग्रह से] (वयम्) हम (इह) यहां पर (जीवाः) जीवते हुये [सचेत] (स्मः) हैं, (ते) वे लोग (अस्मान् अनु) हमारे अनुकूल होवें और (तेषाम्) उनके बीच (वयम्) हम (श्रेष्ठाः) श्रेष्ठ (भूयास्म) होवें ८७

भावार्थ—श्रेष्ठ ज्ञानी पितर लोग मिलकर संसार का उपकार करें, जिन के अनुग्रह से सब मनुष्य सचेत और श्रेष्ठ होवें ॥ ८६, ८७ ॥

मन्त्रः—८८ ॥

अग्निर्देवता ॥ स्वराडार्षी बृहती छन्दः ॥

परमात्मोपासनोपदेशः—परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

आ त्वाग्न इधीमहि द्युमन्तं देवाजरम् । यद् घ सा ते पनीयसी सुमिद् दीदयति द्यवि । इषं स्तोतृभ्य आ भर ॥ ८८ ॥

आ । त्वा । अग्ने । इधीमहि । द्यु-मन्तम् । देव । अजरम् ॥ यत् । घ । सा । ते । पनीयसी । सम्-इत् । दीदयति । द्यवि ॥ इषम् । स्तोतृ-भ्यः । आ । भर ॥ ८८ ॥

भाषार्थ—(देव) हे आनन्दप्रद ! (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् ! (द्युमन्तम्) प्रकाशयुक्त (अजरम्) अजर [जरारहित, सदा बलवान्]

८६—(ये) (अत्र) अस्मिन् संसारे (पितरः) पालका ज्ञानिनः (यूयम्) (स्थ) भवथ (युष्मान्) पितॄन् (ते) प्रसिद्धाः (अनु) अनुकूल्य (यूयम्) (तेषाम्) तेषां मध्ये (श्रेष्ठाः) प्रशस्यतमाः (भूयास्थ) तस्य थनादेशः । भूयास्त ॥

८७—(जीवाः) जीवनवन्तः । सचेतसः (इह) (वयम्) (स्मः) भवामः (ते) प्रसिद्धाः (अनु) अनुसृत्य । अनुकूल्य (वयम्) अन्यत् पूर्ववत् ॥

८८—(आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मन् (इधीमहि) इन्धेर्लिङि रूपम् । दीपयेम (द्युमन्तम्) दीप्तिमन्तम् (देव)

(त्वा) तुझ को (आ) सब ओर से [हृदय में] (इधीमहि) हम प्रकाशित करें। (यत्) जो (सा) वह (घ) निश्चय कर के (ते) तेरी (पनीयसी) अति प्रशंसनीय (समित्) चमक (द्यवि) चमकते हुये [सूर्य आदि में] (दीदयति) चमकती है। [उस से] (इषम्) इष्ट पदार्थ को (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों के लिये (आ) सब ओर से (भर) भर दे ॥ ८८ ॥

भावार्थ—जो अजर अमर जगदीश्वर सूर्य अग्नि आदि प्रकाशक पदार्थों का प्रकाशक है, उस प्रकाशस्वरूप को हृदय में धारण करके अपने नेत्रों को दिव्य बनावें और प्रत्येक वस्तु में उस की ज्योति देख कर प्रत्येक वस्तु से इष्ट मनोरथ सिद्ध करें ॥ ८८ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है—५ । ६ । ४ और सामवेद में पू० ५ । ४ । १ तथा उ० ३ । २ । २१ ॥

मन्त्रः—८९ ॥

विश्वेदेवा देवताः ॥ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

सूर्यचन्द्रादिविषयोपदेशः—सूर्य चन्द्र आदि के विषय का उपदेश ॥

चन्द्रमा अप्स्व१न्तरा सुपर्णो धावते दिवि । न वो हिरण्यनेमयः पदं विन्दन्ति विद्युतो वित्तं मे अस्य रोदसी ॥८९॥ (२८)

चन्द्रमाः । अप्-सु । अन्तः । आ । सु-पर्णः । धावते । दिवि ॥ न । वः । हिरण्य-नेमयः । पदम् । विन्दन्ति । वि-द्युतः । वित्तम् । मे । अस्य । रोदसी इति ॥ ८९ ॥ (२८)

भाषार्थ—(सुपर्णः) सुन्दर पूर्त्ति करने वाला (चन्द्रमाः) चन्द्र लोक (अप्सु अन्तः) [अपने] जलों के भीतर (दिवि) सूर्य के प्रकाश में (आ धावते) दौड़ता रहता है। (हिरण्यनेमयः) हे प्रकाशस्वरूप परमात्मा में सीमा रखने वाले (विद्युतः) विविध प्रकाशमान [सब लोको !] (वः)

हे सुखप्रद (अजरम्) जरारहितम्। बलवन्तम् (यत्) विभक्तेर्लुक् । या (घ) निश्चयेन (सा) प्रसिद्धा (ते) तव (पनीयसी) पनतिः स्तुतिकर्मा । स्तुत्यतरा (समित्) सम्यग् दीप्तिः (दीदयति) दीप्यते (द्यवि) द्योतमाने सूर्यादौ (इषम्) इष्टं पदार्थम् (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः (आ) समन्तात् (भर) धर ॥

८९—(चन्द्रमाः) चन्द्रलोकः (अप्सु) स्वमण्डलस्थेषु जलेषु (अन्तः) मध्ये (आ) समन्तात् (सुपर्णः) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । सु+पृ पालनपूरणयोः—नप्रत्ययः । सुष्ठु पूरयिता (धावते) शीघ्रं गच्छति (दिवि) सूर्यस्य प्रकाशे (न) निषेधे (वः) युष्माकम् (हिरण्यनेमयः) हर्यतेः कन्यन् हिरच । उ० ५ । ४४ । हर्य गतिकान्त्योः—कन्यन् । नियो मिः उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मिप्रत्ययः । हिरण्ये कमनीये प्रकाशस्वरूपे परमात्मनि नेमिः सीमा

तुम्हारे (पदम्) ठहराव को (न विन्दन्ति) वे [जिज्ञासु लोग] नहीं पाते हैं, (रोदसी) हे पृथिवी और सूर्य के समान स्त्री पुरुषो ! (मे) मेरे (अस्य) इस [वचन] का (वित्तम्) तुम दोनों ज्ञान करो ॥ ८६ ॥

भावार्थ—चन्द्रमा अपने मण्डल के समुद्रों पर सूर्य की किरणों के पड़ने से प्रकाशित होकर अपनी जलमय शीतल किरणों द्वारा पृथिवी के पदार्थों को पुष्ट करता है, इस के अतिरिक्त परमात्मा की अनन्त रचनाओं, अनन्त सूर्य पृथिवी आदि लोकों को जिज्ञासु लोग खोजते जाते हैं और अन्त नहीं पाते। उस जगदीश्वर की महिमा को जानकर सब स्त्री पुरुष अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ८६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १०५ । १ और सामवेद में पू० ५ । ३ । ६ और पहिले दो पाद यजुर्वेद में हैं—३३ । ६० ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

इत्यष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इति श्रीमद्राजाधिराज प्रथितमहागुणमहिम **श्रीसयाजीराव गायक-वाड़ाधिष्ठित** बड़ोदेपुरीगतश्रावणमास दक्षिणापरीक्षायाम् ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना ।

कृते अथर्ववेदभाष्ये अष्टादशं काण्डं समाप्तम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे चैत्रमासे कृष्णैकादश्यां तिथौ १६७५ [पञ्चसप्तत्युत्तर एकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि

श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य

सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात् ॥

मुद्रितम्—ज्येष्ठ शुक्ला १० संवत् १६७६ वि०, ता० ८ जून १६१६ ई० ॥

येषां ते तथा भूतास्तत्सम्बुद्धौ (पदम्) स्थितिम् (विन्दन्ति) लभन्ते (विद्युतः) वि + द्युत दीप्तौ—क्विप् । हे विविध प्रकाशमानलोकाः (वित्तम्) जानीतम् । ज्ञानं कुरुतम् (मे) मम (अस्य) वचनस्य (रोदसी) हे द्यावापृथिव्याविव प्रजे स्त्री-पुरुषौ॥

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां

श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-७३ की प्रति।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि पं० क्षेम-करणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे उपस्थित हुआ। निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावें कि वे इस भाष्य के ग्राहक बने तथा अन्यों को बनावें।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पंडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें। इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे।

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५८७६ प्राप्त २० जुलाई १९१६)

॥ ओ३म ॥

मान्यवर नमस्ते !,

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बड़ी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं। आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है। भाष्य कांडों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं। आर्य समाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः वह बड़ा महत्वपूर्णकार्य हो रहा है त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है। परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़न की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है। जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं। भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं। लागत तक वसूल नहीं होती। वेदों का पढ़ना पढ़ाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्तव्य है। अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मीमात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें। स्वयम ग्राहक बने और दूसरों को बनावें। ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और भी अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे। आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे। प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये। समाज के पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही ज़रूरी है। भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोड़ा रक्खा है।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये। जल्दी से भाष्य को मंगाइये।

भवदीय—

नन्दलाल सिंह,

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१५१४। कार्यालय श्रीमती आर्य **प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध बुलन्दशहर।**

आप का पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धशाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्रधारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय

मदनमोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित **तुलसीराम स्वामी**—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश गेरठ —१९१३।

ऋग् जुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामी दयानन्द सरस्वती जीने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे. आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय **नारायणप्रसाद जी**—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्त प्रान्त। आर्यमित्र आगरा २४ जनवरी १९१३।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक्, साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों, में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ में एक उपयोगी भूमि का दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खें।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ वह शुभ कार्य पूरा हो'''छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय--**मुन्शीरामजी** जिज्ञासु-मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७-१०-१६०६।

अथर्ववेदभाष्य आपका दिया व किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आपका परिश्रम सराहनीय है।

तथा --पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६०६।

अवलोकन करने से उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिवशंकर शर्म्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रन्थकर्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि सम्पादक आर्यमित्र-८ फ़रवरी १६१२।

अथर्ववेद भाष्य। श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। '''आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढ़ने में लगाने लगे। अन्ततः आप ने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आपका अथर्ववेदीयभाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित—**भीमसेन शर्म्मा इटावा** उपनिषद् गीतादि भाष्यकर्ता वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१२।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में''''''अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है।

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते।

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैंने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पाँचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक **हवनमन्त्राः**को जिसका मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पंडित—**महावीर प्रसाद द्विवेदी**—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रमका यह फल है कि आपने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है...बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूल मन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भावार्थ, पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है...आपकी राय है कि "वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पंडित—**गणेश प्रसाद शर्मा** सम्पादक भारत सुदशाप्रवर्त्तक फतहगढ़, ता० १२ अप्रैल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वर्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है, वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये कि उनके मान्य ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उससे कार्य लिया जा सकता है।

बाबू **कालिका प्रसाद जी**—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आप का भेजा अथर्ववेदभाष्य का वी० पी० मिला, मैं आप का भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय **रावत हरप्रसाद सिंह जी वर्मा**, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर, ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १६१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आपने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय **पंडित श्रीधर पाठक जी**, (सभापति हिन्दी

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२५ जून १९१६- लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है—कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्यन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है—जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं। इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पांच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने पढ़ाने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते हैं। हमारा विश्वास है कि जब तक पं० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई।............ इस समय जो पांच काडों का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द...विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान् पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपने सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है........त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर—इस लिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), ***Baroda State***, *letter No 624 dated 6th February* 1913.

....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled **अथर्ववेद भाष्यम्.** It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution. Please send them ...also add on the address lable " For Encouragement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya:—It is a gigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age. I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914.

I very much admire your labour of lore and hope...the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No. 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the lst and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE ***Atharva Veda Bhashya*** or commentary on the ***Atharva Veda***, which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship. The first part contains the Introduction and the first ***Kanda*** or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature .. ..The arrangement is good, the original ***Mantra*** is followed by a literal translation and their ***bhavarth*** or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious; they give the derivation and meaning in Sanskrit of the various words quoting the authority of ***Ashtadhyayi*** of Panini, ***Unadikosha*** of Dayananda, ***Nirukta*** of Yaska, ***Yoga Darshana*** of Patanjali and other standard ancient works... ..The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition ; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation, but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .....Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest .....

N.B.—The printing and paper are good, the price is moderate.

॥ ओ३म् ॥

"वेद सब सत्य विद्याओं का पुस्तक है, वेद का पढ़ना पढ़ाना
और सुनना सुनाना सब आर्य्यों का परम धर्म है" ॥

आनन्दसमाचार ।

१—**अथर्ववेदभाष्यम्**—जिन वेदों की महिमा सब बड़े २ ऋषि, मुनि और योगी गाते आये हैं और विदेशी विद्वान् जिनका अर्थ खोजने में लग रहे हैं। वे अब तक संस्कृत में होने के कारण बड़े कठिन थे। ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद का अर्थ तो भाषा में हो चुका था। परन्तु अथर्ववेद का अर्थ अभी तक नागरी भाषा में न था। और संस्कृत में भी श्री सायण भाष्य पूरा नहीं है। अब परमात्मा की कृपा से अथर्ववेद का भाष्य भी नागरी भाषा (हिन्दी) और संस्कृत में वेद, निघण्टु, निरुक्त, व्याकरणादि सत्य शास्त्रों के प्रमाणों सहित, प्रयाग निवासी पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने संवत् १९६९ वि० में आरंभ करके संवत् १९७७ वि० में श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रान्त और पंजाब प्रान्त तथा विद्वान् ग्राहक महाशयों की गुण ग्राहकता से पूरा कर लिया।

२—भाष्य का क्रम इस प्रकार। १—सूक्त के देवता, छन्द, उपदेश, २-सस्वर मूल मन्त्र, ३-सस्वर पदपाठ, ४—मन्त्रों के शब्दों को कोष्ठ में देकर सान्वय भाषार्थ, ५—भावार्थ, ६—आवश्यक टिप्पणी पाठान्तर, अनुरूप पाठादि, ७—प्रत्येक पृष्ठ में लाइन देकर सन्देह निवृत्ति के लिये शब्दों और क्रियाओं की व्याकरण निरुक्तादि प्रमाणों से सिद्धि।

३—इस वेद में २० छोटे बड़े काण्ड हैं, एक एक काण्ड का भावपूर्ण संक्षिप्त स्त्री पुरुषों के समझने योग्य अति सरल हिन्दी और संस्कृत भाष्य अल्प मूल्य में छपकर उपस्थित है। वेदप्रेमी श्रीमान् राजे, महाराजे, सेठ, साहूकार, विद्वान् और सर्व साधारण स्त्री पुरुष स्वाध्याय, पुस्तकालयों और पारितोषिकों के लिये भाष्य मंगावें और जगत्पिता परमात्मा के पारमार्थिक और सांसारिक उपदेश, ब्रह्मविद्या, वैद्यकविद्या, शिल्पविद्या, राजविद्यादि अनेक विद्याओं का तत्त्व जानकर आनन्द भोगें, छपाई उत्तम और काग़ज़ बढ़िया रायल अठपेजी है।

स्थायी ग्राहकों में नाम लिखाने वाले सज्जन २० सैकड़ा छोड़कर
पुस्तक वी०पी० वा नगद दाम पर पाते हैं। डाकव्यय ग्राहक देते हैं।

काण्ड	१ भूमिका सहित	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११
मूल्य	१।)	१।-)	१॥-)	२)	१॥।=)	३)	२।)	२)	२।)	२॥)	२।)

काण्ड	१२	१३	१४	१५	१६	१७	१८	१९	२०	मन्त्र सूची	पद सूची	योग
मूल्य	२=)	१।≡)	१।)	१-)	॥-)	।≡)	२।=)	३।)	७।)			४२)

भाष्य सब छप गया, मन्त्र सूची छप रही है, पद सूची छपने में है। पुराने ग्राहक जिनके पास सब काण्ड नहीं पहुंचे, और नये ग्राहक भाष्य शीघ्र मंगावें पुस्तक थोड़े रहे हैं, ऐसे बड़े ग्रन्थ का फिर छपना कठिन है।

हवनमन्त्राः—धर्म शिक्षा का उपकारी पुस्तक—चारों वेदों के संगृहीत मन्त्र ईश्वर स्तुति, स्वस्तिवाचन, शान्तिकरण, हवनमन्त्र, वामदेव्यगान सरल भाषा में शब्दार्थ सहित संशोधित बढ़िया रायल अठपेजी पृष्ठ ६०, मूल्य ।)॥

रुद्राध्यायः—प्रसिद्ध यजुर्वेद अध्याय १६ (नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः) ब्रह्मनिरूपक अर्थ संस्कृत, भाषा और अंग्रेज़ी में बढ़िया रायल अठपेजी, पृष्ठ १४८ मूल्य ।=)

रुद्राध्यायः [illegible] रायल अठपेजी, पृष्ठ १४ मूल्य)॥

वेदविद्यायें [illegible] व्याख्यान दिया था। वेदों में विमान, नौका, अस्त्र शस्त्र निर्माण, [illegible] गृहस्थ, अतिथि, सभा, [illegible]चर्यादि का वर्णन मूल्य -)॥

२० अक्तूबर १९२[illegible]

पता—पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी
५२, लूकरगंज, प्रयाग। (Allahabad).

सूचना—सूची १ और २ अथर्ववेद भाष्य काण्ड २० के आरम्भ में लगालें ॥

१—सूक्त विवरण, अथर्ववेद काण्ड २० ॥

क्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१	इन्द्र त्वा वृषभं	इन्द्र आदि	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
२	मरुतः पोत्रात्	मरुत आदि	विद्वान् लोग	गायत्री आदि
३	आ याहि सुषुमा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री
४	आ नो याहि	इन्द्र	महौषधियां	गायत्री आदि
५	अयमु त्वा विचर्षणे	इन्द्र	सोम रस सेवन	गायत्री आदि
६	इन्द्र त्वा वृषभं	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
७	उद् घेदभि श्रुता	इन्द्र	सेनापति	गायत्री आदि
८	एवा पाहि प्रत्नथा	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
९	तं वो दस्ममृतीषहं	इन्द्र	ईश्वर उपासना	बृहती आदि
०	उदु त्ये मधुमत्तमा	इन्द्र	ईश्वर उपासना	बृहती आदि
१	इन्द्रः पूर्भिदा	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप् आदि
२	उदु ब्रह्माण्यैरत	इन्द्र	सेनापति कर्तव्य	पङ्क्तिः आदि
३	इन्द्रश्च सोमं	इन्द्र आदि	राजा और विद्वान्	त्रिष्टुप् आदि
४	वयमु त्वामपूर्व्य	इन्द्र	राजा और प्रजा	उष्णिक् आदि
५	प्र मंहिष्ठाय बृहते	इन्द्र	सभाध्यक्ष	जगती आदि
६	उदप्रुतो न वयो	बृहस्पति	विद्वान् लोग	त्रिष्टुप् आदि
७	अच्छा म इन्द्रं	इन्द्र आदि	राजा और प्रजा	जगती आदि
८	वयमु त्वा तदि	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
९	वार्त्रहत्याय शवसे	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
०	शुष्मिन्तमं न ऊतये	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
१	न्यू३ षु वाचं प्र	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	जगती आदि
२	अभि त्वा वृषभा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
३	आ तू न इन्द्र	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
४	उप नः सुतमा	इन्द्र	विद्वान् लोग	गायत्री आदि
५	अश्वावति प्रथमो	इन्द्र	विद्वान् लोग	जगती आदि
६	योगे योगे तव	इन्द्र	सेनाध्यक्ष आदि	गायत्री आदि
७	यदिन्द्राहं यथा	इन्द्र	राजा के लक्षण	गायत्री आदि
८	व्य१न्तरिक्षमति	इन्द्र	राजा के लक्षण	गायत्री आदि
९	त्वं हि स्तोमवर्धन	इन्द्र	राजा के धर्म	गायत्री आदि
०	प्र ते महे विदथे	इन्द्र	बल पराक्रम	जगती आदि

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद भाष्य काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
३१	ता वज्रिणां मन्दिनं	इन्द्र	पुरुषार्थ-	जगती आदि
३२	आ रोदसी हर्य	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
३३	अप्सु धूतस्य हरिवः	इन्द्र	राजा के धर्म	त्रिष्टुप आदि
३४	यो जात एव प्रथमो	इन्द्र	परमेश्वर गुण	त्रिष्टुप् आदि
३५	अस्मा इदु प्र तवसे	इन्द्र	सभापति	त्रिष्टुप् आदि
३६	य एक इद् धव्य	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	पङ्क्ति आदि
३७	यस्तिग्मश्टङ्गो	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप् आदि
३८	आ याहि सुषुमा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
३९	इन्द्रं वो विश्वतस्परि	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	गायत्री आदि
४०	इन्द्रेण सं हि दक्षसे	मरुत आदि	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
४१	इन्द्रो दधीचो अस्थ	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	गायत्री
४२	वाचमष्टापदीमह	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री
४३	भिन्धि विश्वा अप	इन्द्र	राजा के धर्म	गायत्री
४४	प्र सम्राजं चर्षणी	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री आदि
४५	अयमु ते समतसि	इन्द्र	सभापति कर्तव्य	गायत्री आदि
४६	प्रणेतारं वस्यो	इन्द्र	सेनापति लक्षण	गायत्री
४७	तमिन्द्र वाजयामसि	इन्द्र	राजा प्रजा आदि	गायत्री आदि
४८	अभि त्वा वर्चसा	इन्द्र आदि	परमात्मा और जीवात्मा	गायत्री आदि
४९	यच्छक्रा वाचमा	इन्द्र	ईश्वर उपासना	गायत्री आदि
५०	कन्नव्यो अतसीनां	इन्द्र	परमेश्वर महिमा	अनुष्टुप् आदि
५१	अभि प्र वः सुराध	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	बृहती आदि
५२	वयं घ त्वा सुतावन्त	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	बृहती
५३	क ईं वेद सुते	इन्द्र	सेनापति	बृहती
५४	विश्वाः पृतना	इन्द्र	राजा और प्रजा	जगती आदि
५५	तमिन्द्रं जोहवीमि	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	जगती आदि
५६	इन्द्रो मदाय वावृधे	इन्द्र	सभापति लक्षण	पङ्क्तिः आदि
५७	सुरूपकृत्नुमूतये	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
५८	श्रायन्त इव सूर्यं	इन्द्र आदि	ईश्वर विषय	बृहती आदि
५९	उदु त्ये मधुमत्तमा	इन्द्र	ईश्वर, राजा, प्रजा	बृहती आदि
६०	एवा ह्यसि वीरयु	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
६१	तं ते मदं गृणीमसि	इन्द्र	परमेश्वर गुण	उष्णिक् आदि
६२	वयमु त्वामपूर्व्य	इन्द्र	राजा, प्रजा आदि	उष्णिक् आदि
६३	इमा नु कं भुवना	इन्द्र आदि	राजा, प्रजा आदि	पङ्क्ति आदि

१-सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
६४	एन्द्र नो गधि	इन्द्र	परमात्मा के गुण	उष्णिक् आदि
६५	एतो न्विन्द्रं स्तवाम	इन्द्र	परमेश्वर गुण	गायत्री आदि
६६	स्तुहीन्द्रं व्यश्ववद्	इन्द्र	ऐश्वर्यवान् पुरुष	उष्णिक् आदि
६७	वनोति हि सुन्वन्	इन्द्र आदि	मनुष्य कर्तव्य	अष्टि आदि
६८	सुरूपकृत्नुमूतये	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
६९	स घा नो योग	इन्द्र आदि	पराक्रमी मनुष्य	गायत्री आदि
७०	वीलु चिदारुज	मरुत आदि	राजा और प्रजा आदि	गायत्री आदि
७१	महाँ इन्द्रः परश्च	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री आदि
७२	विश्वेषु हि त्वा	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	अष्टि आदि
७३	तुभ्येदिमा सवना	इन्द्र	सेनापति लक्षण	अनुष्टुप् आदि
७४	यच्चिद्धि सत्य सोम	इन्द्र	राजा और प्रजा	पङ्क्ति आदि
७५	वि त्वा ततस्रे मिथुना	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	अष्टि आदि
७६	वने न वा यो न्यधा	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
७७	आ सत्यो यातु मघवाँ	इन्द्र	राजा के धर्म्म	त्रिष्टुप् आदि
७८	तद्वो गाय सुते	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री
७९	इन्द्र क्रतुं न आ भर	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती आदि
८०	इन्द्र ज्येष्ठं न आ	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती आदि
८१	यद् द्याव इन्द्र ते	इन्द्र	परमात्मा के गुण	बृहती आदि
८२	यदिन्द्र यावतस्त्व	इन्द्र	राजपुरुष और प्रजा	बृहती आदि
८३	इन्द्र त्रिधातु शरणं	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती आदि
८४	इन्द्रा याहि चित्र	इन्द्र	सभापति कर्तव्य	गायत्री आदि
८५	मा चिदन्यद्, वि शंसत	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
८६	ब्रह्मणा ते ब्रह्म युजा	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	त्रिष्टुप्
८७	अध्वर्यवोऽरुण	इन्द्र आदि	पुरुषार्थी लक्षण	त्रिष्टुप् आदि
८८	यस्तस्तम्भ सहसा	बृहस्पति	विद्वानों के कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
८९	अस्तेव सु प्रतरं	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	त्रिष्टुप् आदि
९०	यो अद्रिभित् प्रथमजा	बृहस्पति	राजा के लक्षण	त्रिष्टुप्
९१	इमां धियं सप्त	बृहस्पति	परमात्मा के गुण	त्रिष्टुप्
९२	अभि प्र गोपतिं	इन्द्र	राजा प्रजा आदि	गायत्री आदि
९३	उत् त्वा मन्दन्तु	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	गायत्री आदि
९४	आयात्विन्द्रः स्वपति	इन्द्र	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप् आदि
९५	त्रिकद्रुकेषु महिषो	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	अष्टि आदि
९६	तीव्रस्याभिवयसो	इन्द्र आदि	राजा के कर्तव्य	त्रिष्टुप आदि

१—सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
९७	वयमेनमिदा ह्यो	इन्द्र	वीर लक्षण	बृहती आदि
९८	त्वामिद्धि हवामहे	इन्द्र	राजा के धर्म	अनुष्टुप् आदि
९९	अभि त्वा पूर्वपीतय	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१००	अधा हीन्द्र गिर्वण	इन्द्र	राजा और प्रजा	उष्णिक् आदि
१०१	अग्निं दूतं वृणीमहे	अग्नि	सैनिक अग्नि	गायत्री आदि
१०२	ईळेन्यो नमस्य	अग्नि	परमेश्वर गुण	गायत्री आदि
१०३	अग्निमीळिष्वावसे	अग्नि	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१०४	इमा उ त्वा पुरुवसो	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१०५	त्वमिन्द्र प्रतूर्तिं	इन्द्र	परमेश्वर गुण	अनुष्टुप् आदि
१०६	तव त्यदिन्द्रियं बृहत्	इन्द्र	परमेश्वर गुण	उष्णिक् आदि
१०७	समस्य मन्यवे	इन्द्र आदि	परमेश्वर गुण	गायत्री आदि
१०८	त्वं न इन्द्रा भर	इन्द्र	परमेश्वर प्रार्थना	उष्णिक् आदि
१०९	स्वादोरित्था	इन्द्र	सभापति आदि	पथ्या पङ्क्ति
११०	इन्द्राय मद्वने	इन्द्र	विद्वान् के कर्तव्य	गायत्री
१११	यत् सोममिन्द्र	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	उष्णिक्
११२	यदद्य कच्च वृत्रह	इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	गायत्री
११३	उभयं शृणवच्च न	इन्द्र	राजा के धर्म	बृहती
११४	अभ्रातृव्यो अना	इन्द्र	परमेश्वर गुण	उष्णिक् आदि
११५	अहमिद्धि पितु	इन्द्र	परमेश्वर गुण	गायत्री
११६	मा भूम निष्ट्या	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	बृहती
११७	पिबा सोममिन्द्र	इन्द्र	राजा के कर्तव्य	पङ्क्ति आदि
११८	शग्ध्यू ३ षु शचीपत	इन्द्र	परमेश्वर उपासना	बृहती आदि
११९	अस्तावि मन्म	इन्द्र	परमेश्वर स्तुति	बृहती आदि
१२०	यदिन्द्र प्रागपा	इन्द्र	परमेश्वर गुण	बृहती आदि
१२१	अभि त्वा शूर नोनु	इन्द्र	परमेश्वर गुण	अनुष्टुप् आदि
१२२	रेवतीर्नः सधमाद	इन्द्र	सभापति लक्षण	बृहती आदि
१२३	तत् सूर्यस्य देवत्व	सूर्य	सूर्य का काम	गायत्री
१२४	कया नश्चित्र आ भुव	इन्द्र आदि	राजा और प्रजा	त्रिष्टुप्
१२५	अपेन्द्र प्राचो मघव	इन्द्र आदि	राजा के धर्म	गायत्री आदि
१२६	वि हि सोतोरसृक्षत	इन्द्र	गृहस्थ कर्तव्य	त्रिष्टुप्
१२७	इदं जना उप श्रुत	प्रजापति, इन्द्र	राजा के धर्म	पङ्क्ति
१२८	यः सभेयो विदथ्यः	प्रजापति, इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	बृहती आदि
१२९	एता अश्वा आप्लवन्ते	प्रजापति	मनुष्य के प्रयत्न	अनुष्टुप्
				गायत्री आदि

१-सूक्त विवरण अथर्ववेद काण्ड २० ॥

सूक्त	सूक्त के प्रथम पद	देवता	उपदेश	छन्द
१२०	को अर्य बहुलि	प्रजापति	मनुष्य के पुरुषार्थ	पङ्क्ति आदि
१२१	आमिनोनिति भद्यते	प्रजापति	ऐश्वर्य प्राप्ति	गायत्री आदि
१२२	आदलाबुकमेककम	प्रजापति	परमात्मा के गुण	गायत्री आदि
१२३	वितनौ क्रिरणौ द्वौ	कुमारी	स्त्रियों के कर्तव्य	अनुष्टुप्
१२४	इहेत्थ प्रागपाग	प्रजापति	बुद्धि बढाना	पङ्क्ति
१२५	भुगित्यभिगतः	प्रजापति, इन्द्र	मनुष्य कर्तव्य	अनुष्टुप् आदि
१२६	यदस्या अंहुभेद्यः	प्रजापति	राजा और प्रजा	अनुष्टुप् आदि
१२७	यद् प्राचीरजगन्ता	अलक्ष्मीघ्न आदि	राजा और प्रजा	अनुष्टुप् आदि
१२८	महाँ इन्द्रो य ओजसा	इन्द्र	राजा और प्रजा	गायत्री
१२९	आ नूनमश्विना	अश्विनौ	गुरु जन	बृहती आदि
१४०	यन्नासत्या भुरण्य	अश्विनौ	दिन राति	बृहती आदि
१४१	यातं छर्दिष्पा उत नः	अश्विनौ	दिन राति	गायत्री आदि
१४२	अभुत्स्यु प्र देव्या	अश्विनौ	दिन राति	अनुष्टुप् आदि
१४३	तं वां रथं वयम	अश्विनौ	राजा और मन्त्री	त्रिष्टुप् आदि

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड२०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
१	इन्द्र त्वा	१ । १	२० । ६ । १	३ । ४० । १		
२	मरुतो यस्य	१ । २		१ । ८६ । १	८ । ३१	
३	उक्षान्नाय	१ । ३	३ । २१ । ६	८ । ४३ । ११		
४	मरुतः पोत्रात्	२ । १		१ । १५ । २		
५–७	आ याहि	३ । १–३	२० । ३८ । १–३; ४७ । ७–९	८ । १७ । १-३		उ० १ । १ । ६; म० १ पू० २ । १० । ७७
८–१०	आ नो याहि	४ । १ ३		८ । १७ । ४–६		
११–१७	अयमु त्वा	५ । १–७		८ । १७ । ६–१३		५–७; उ० १ । २ । ५ म० ५, पू० २ । ७ । ५
१८–२६	इन्द्र त्वा वृष	६ । १–९	म० १; २० । १ । १	३ । ४० । १-९		
२७	इन्द्र क्रतुविदं	६ । २	२० । ७ । ४			
२८	गिर्वणः पाहि	६ । ६				पू० ३ । १ । २
२९	अर्वावतोन	६ । ८	२० । २० । ४, ५७ । ८			
३०–३२	उद्घेदभि	७ । १–३		८ । ९३ । १-३		म० १; पू० २ । ४ । १ म० १-३; उ० ६ । ३ । ४
३३	इन्द्र क्रतुविदं	७ । ४	२० । ६ । २			
३४	एवा पाहि प्रत्न	८ । १		६ । १७ । ३ ।		

३५	अवाङेहि	८ । २		१ । १०४ । ९		
३६	आपूर्णो अस्य	८ । ३		३ । ३२ । १५		
३७, ३८	तं वा दस्ममृती	९ । १-२	म० १-४; २० । ४९ । ४-७	८ । ८८ । १-७	म० १, २६ । ११	म० १, २; उ० १ । १ । १३, म० १; पू० ३ । ५ । ५
३९, ४०	तद् त्वा यामि	९ । ३-४		८ । ३ । ९-१०		
४१, ४२	उदु त्ये मधुम	१० । १-२	२० । ५९ । १-२	८ । ३ । १५-१६		
४३-५३	इन्द्रः पूर्भिदाति	११ । १-११		३ । ३४ । १-११		उ० ६ । १ । ६ म० १; पू० ३ । ६ । ९
५४	इन्द्रो वृत्रमवृ	११ । ३			३३ । २८	
५५	शुनं हुवेम मघ	११ । ११		१४वार ३ । सू०३०-३९ आदि		उ० ४ । ४ । ७
५६-६१	उदुब्रह्माण्यै	१२ । १-६		७ । २३ । १-६		
६२	आपश्चित्	१२ । ४			३३ । १८	
६३	एवेदिन्द्रं वृष	१२ । ६			२० । ५४	
६४	ऋजीषी वज्री	१२ । ७		५ । ४० । ४		
६५	इन्द्रश्च सोमं	१३ । १		४ । ५० । १०		
६६	आ वो वहन्तु	१३ । २		१ । ८५ । ६		
६७	इमं स्तोम मर्हते	१३ । ३		१ । ९४ । १		
६८	एभिरग्ने सरथं	१३ । ४		३ । ६ । ९		पू० १ । ७ । ४; उ० ४ । १ । ७
६९-७०	वयमु त्वाम	१४ । १-२	म० १-४, २० । ६२ । १-४	८ । २१ । १-२		म० १; पू० ५ । २ । १०
७१-७२	यो न इदमिदं	१४ । ३-४		१ । ८ । २ ९-१०		म० १-२; उ० १ । १ । २२
७३-७८	प्र मंहिष्ठाय	१५ । १-६		१ । ५७ । १-६		म० ३; उ० ५ । २ । २
७९	इमे त इन्द्र ते वय	१५ । ४	पू० ४ । ६ । ३			पू० ४ । ६ । ३

२ अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद (काण्ड२०) सूक्त,मन्त्र	अथर्ववेद (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद अध्याय, मन्त्र	सामवेद पूर्वार्चिक,उत्तरार्चिक आदि
८०-९१	उद् प्रुतो न वयो	१६।१-१२		१०।६८।१-१२		
९२-१०२	अच्छ म इन्द्रं मतयः	१७।१-११		१०।४३।१-११		
१०३	गोभिष्टरेमामतिं	१७।१०	७।५०।७;म० १०-११, २०। ८६।१०-११;२०। ६४।१०, ११			
१०४	बृहस्पतिर्नः परि	१७।११	७।५१।१			
१०५	बृहस्पते युव	१७।१२	२०।८७।७	७।६७।१०		
१०६-१०८	वयमु त्वा	१८।१-३		८।२।१६-१८		उ० १।२।३ म० १; पू २।७।६,
१०९-१११	वयमिन्द्र त्वा	१८।४-६		७।३१।४-६		म० ४; पू० २।४।८
११२-११८	वार्त्रहत्याय	१९।१-७		३।३७।१-७	म०१;१८।६८	
११९-१२२	शुष्मिन्तमं न	२०।१-४	म० १-७,२०। ५७।४-१०	३।३७।८-११		
१२३	अर्वावतो न आग	२०।४	२०।६।८			
१२४-२६	इन्द्रो अङ्ग महद्भयं	२०।५-७		२।४१।१०-१२		म० ५; पू० ३।१।७
१२७-३७	न्यूषु वाचं प्रमहे	२१।१-११		१।५३।१-११		
१३८-४०	अभि त्वा वृषभा	२२।१-३		८।४५।२२-२४		उ० १।२।७ म० १; पू० २।७।७

१४१-४३	अभि प्र गोपति	२२ । ४-६	२० । ६२ । १-३	८ । ६६ । ४ ६		उ० ७ । १ । १ म० १, पू० २ । ८ । ५
१४४-५२	आ तू न इन्द्र	२३ । १-९		३ । ४१ । १-९		
१५३-६१	उप नः सुतमा	२४ । १-९		३ । ४२ । १-९		
१६२-६७	अश्वावति प्रथमो	२५ । १-६		१ । ८३ । १-६		
१६८	प्रोग्रां पीतिं	२५ । ७	२० । ३३ । २	१० । १०४ । ३		
१६९	योगे योगे	२६ । १	१९ । २४ । ७			
१७०-७१	आ घा गमद् यदि	२६ । २३		१ । ३० । ८-९		उ० १ । २ । ११
१७२-७४	युञ्जन्ति ब्रध्न	२६ । ४-६	२०,४७ । १० १२	१ । ६ । १-३	म० ४,५;२३ ५,६	उ० ६ । ३ । १४
१७५	केतुं कृण्वन्न	२६ । ६			२९ । ३७	
१७६-८१	यदिन्द्राहं यथा	२७ । १-६		८ । १४ । १-६		म० १-३;उ० २ । ९ । ९ म० १;पू० २।३।७
१८२	यच्छ इन्द्रमवर्ध	२७ । ५				पू० २ । ३ । ७ । उ० ८ । १ । ९
१८३-८६	व्यन्तरिक्षमतिर	२८ । १-४	२० । ३९ । २ ५	८ । १४ । ७-१०		म० १, २; उ० ८ । १ । ९
१८७-९१	त्वं हि स्तोम	२९ । १-५		८ । १४ । ११-१५		
१९२	अपां फेनेन नमु	२९ । ३			१९ । ७१	पू० ३ । २ । ८
१९३-९७	प्र ते महे विद	३० । १-५		१० । ९६ । १-५		
१९८-०२	ता वज्रिण	३१ । १-५		१० । ९६ । ६-१०		
२०३-०५	आ रोदसी	३२ । १-३		१० । ९६ । ११-१३		
२०६-०८	अप्सु धूतस्य	३२ । १-३		१० । १०४ । २-४		
२०९	प्रोग्रा पीतिं वृष्ण	३३ । २	२० । २५ । ७			
२१०-२४	यो जात एव	३४ । १ ११, १३ १५; १८		२ । १२ । १-१५		
२२५-४०	अस्मा इदु प्र	३५ । १-१६		१ । ६१ । १ १६		

३ अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक, आदि
२४१-५१	य एक इद्धव्य	३६ । १-११		६ । २२ । १-११		
२५२ ६२	यस्तिग्मशृङ्गो	३७ । १ ११		७ । १६ । १-११		
२६३-६५	आ याहि सुषुमा	३८ । १-३	२०।३।१-३;४७।७ ६			
२६६-६८	इन्द्रमिद् गाथि	३८ । ४-६	२० । ४७ । ४-६; ६	१ । ७ । १-३		उ० २ । १ । ८; म० ४;पू०३ । १ । ५
२६९	इन्द्र वो विश्वत	३९ । १	२० । ७० । १६	१ । ७ । १०		उ० ८ । १ । २
२७०-७३	व्यन्तरिक्षम	३९ । २-५	२० । २८ । १-४			
२७४ ७५	इन्द्रेण सं हि दृक्षसे	४० । १ २	२० । ७० । ३-४	१ । ६ । ७-८		म० १; उ० २ । २ । ७
२७६	आदह स्वधाम	४० । ३	२० । ६६ । १२	१ । ६ । ४		उ० २ । २ । ७
२७७ ७९	इन्द्रो दधीचो	४१ । १-३		१ । ८४ । १३-१५		उ०३।१।८;म०१पू०२।६।५;म०३ पू०२।६।३
२८०-८२	वाचमष्टापदी	४२ । १-३		८ । ७६ । १२,११,१०		उ०३ । २ । ९
२८३-८५	भिन्धि विश्वा	४३ । १-३		८ । ४५ । ४०-४२		उ०४।१।८म०१;पू०२।४।१०;म०२,पू०२।२।३
२८६-८८	प्र सम्राजं	४४ । १-३		८ । १६ । १-४		म०१;पू०२ । ५ । १०
२८९-९१	अयमु ते समत	४५ । १-३		१ । ३० । ४-६		उ०७ । ३ । १५ म०१;पू०२ । ९ । ६
२९२-९४	प्रणेतारं वस्यो	४६ । १-३		८ । १६ । १०-१२		
२९५-९७	तमिन्द्रं वाज	४७ । १-३	२०।१३७।१२-१४	८ । ९३ । ७-९		उ० ५ । २ । १० म० १। पू० २। ३।५
२९८-३००	इन्द्रमिद् गाथिनो	४७ । ४-६	२०।३८।४-६; ७०।			

			७-९			
३०१-०३	आ याहि सुषु	४७ । ७ ९	२०।३।१-३,३८। १-३			
३०४-०६	युञ्जन्ति ब्रध्न	४७।१० १२	२०।२६।४ ६,६९। ९-११			
३०७-१५	उदुत्यं जातवेद	४७।१३-२१	१३। २। १६-२४			
३१६-१८	आयं गौः	४८ । ४-६	६ । ३१ । १-३			
३१९-२२	त वो दस्म	४९ । ४-७	२० । ९ । १-४			
३२३-२४	कन्नव्यो अत	५० । १-२		८ । ३ । १३-१४		
३२५-२६	अभि प्र वः सु	५१ । १ २		८ । ४९ । १-२		उ० २ । १ । १३, म० १-पू० ३ । ५।३
३२७ २८	प्र सु श्रुतं	५२ । ३-४		८ । ५० । १-२		
३२९-३१	वयं घ त्वा	५२ । १-३	२०।५७।१४ १६	८ । ३२ । १-३		उ० २ । २ । १२ म० १ पू० ३ । ७। ९
३३२-३४	क ईं वेद सुते	५३ । १-३	२०।५७।११-१३	८ । ३३ । ७-९		उ० ८ । २ । १५ म० १ पू० ४ । १।५
३३५-३७	विश्वाः पृतना	५४ । १-३		८ । ९७ । १०-१२		उ० ३ । १ । १४ म० १ पू० ४ । ९।१
३३८ ४०	तमिन्द्रं जोहवीमि	५५ । १-३		८ । ९७ १३, १-२		म० १ पू० ५ । ८।४ म० २ पू०३।७।२
३४१-४६	इन्द्रो मदाय	५६ । १-६		१ । ८१ । १-३,७ ९		म० १-३ उ० ३।२।१४ म०१ पू०५।३।३
३४७-४९	सुरूपकृत्नु	५७ । १-३	२० । ६८ । १-३	१ । ४ । १-३		
३५०-५६	शुष्मिन्तमं न	५७। ४-१०	२० । २० । १-७			
३५७ ५९	क ईं वेद सुते	५७।११-१३	२० । ५३ । १-३			
३६०-६२	वयं घ त्वा	५७।१४-१६	२० । ५२ । १-३			
३६३-६४	आयन्त इव	५८ । १-२		८ । ९९ । ३-४	३३ । ४१	उ० ५ । २ । १४ म० १पू० १ । ८ । ५
३६५-६६	बण्महाँ असि	५८ । ३-४	म०३;१३।२।२९	८ । १०१ । ११-१२	३३ ।३९, ४०	उ० ९ । १। ९

२ अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण या कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
३६७-६८	उदित्ये मधु	५६ । १-२	२० । १० । १-२			
३६९-७०	उदिन्न्वस्य	५६ । ३-४		७ । ३२ । १२-१३		
३७१-७३	एवा ह्यसि वी	६० । १-३		८ । ९२ । २८-३०		उ० २ । १ । १८ म० १पू०१ । ४ । १०
३७४-७६	एवा ह्यस्य	६० । ४-६	२० । ७१ । ४-६	१ । ८ । ८-१०		
३७७-७९	त ते मदं	६१ । १-३		८ । १५ । ४-६		उ० २ । २ । १८ म० १ पू० ३ । ४ । १०
३८०-८२	तम्वभि प्र गायत	६१ । ४-६	२० । ६२ । ८-१०	८ । १५ । १-३		म० १पू० ४ । १० । ३
३८३-८६	वयमु त्वाम	६२ । १-४	२० । १४ । १-४			
३८७-८९	इन्द्राय साम	६२ । ५-७		८ । ९८ । १-३		उ० ३ । २ । २२ म० ५ पू० ४ । १०८
३९० ९२	तम्वभि प्रगा	६२ । ८-१०	२० । ६१ । ४-६			
३९३-९५	इमा नु क भुव	६३ । १-३	२० । १२४ । ४-६	१० । १५७ । १-५	२५ । ४६	उ० ४ । २ । २३
३९६-९८	य एक इद्वि	६३ । ४-६		१ । ८४ । ७-९		उ० ५ । २ । २२म०७पू० ४ । १० । ९
३९९-४०१	य इन्द्र सोम	६३ । ७-९		८ । १२ । १-३		म० ७ पू० ५ । १ । ४
४०२-०४	एन्द्र नो गधि	६४ । १-३		८ । ९८ । ४-६		उ० ५ । १ । १९म० २ पू० ५ । १ । ३
४०५-०७	एदु मध्वो म	६४ । ४-६		८ । २४ । १६-१८		उ०८ । २ । १० म०४ पू० ४ । १० । ५
४०८-१०	एतो न्विन्द्रं	६५ । १-३		८ । २४ । १९-२१		म० १ पू० ४ । १० । ७
४११-१३	स्तुहीन्द्रं व्य	६६ । १-३		८ । २४ । २२-२४		
४१४	वनोति हि सु	६७ । १		१ । १३३ । ७		

४१५	मो षु वो अस्म	६७ । २		१ । १३९ । ८		
४१६	अग्निं होतारं	६७ । ३		१ । १२७ । १	१५ । ४७	पू० ५ । ८ । ६ उ० ९ । १ । १८
४१७-१९	यज्ञैः संमिश्लाः	६७ । ४-६		२ । ३६ । , ४, ५		
४२०-२२	सुरूपकृत्नु	६८ । १-३	२० । ५७ । १-३			
४२३-२९	परेहि विग्र	६८ । ४ १०		१ । ४ । ४-१०		
४३०-३१	आ त्वेतानि	६८ । ११-१२		१ । ५ । १ २		
४३२-३९	स घा नो योग	६९ । १-८		१ । ५ । ३-१०		उ०१ । २ । १० म०१ पू०२ । ७ । १०
४४०-४२	युञ्जन्ति ब्रध्न	६९ । ९-११	२० । २६ ४-६ " ४७ । १० । १२			म० १ उ० १ । २ । १०
४४३	आदह स्वधामनु	६९ । १२	२० । ४० । ३			
४४४-४९	वीलु चिदारु	७० । १-६		१ । ६ ५-१०		म० १ उ० २ । २ । ७
४५०-५१	इन्द्रेण सं हि	७० । ३-४	२० । ४० । १-२			
४५२-५४	इन्द्रमिद् गाथि	७० । ७-९	२० । ३८ । ४ ६, ४७ । ४-६			
४५५-६१	इन्द्र वाजेषु	७० । १०-१६		१ । ७ । ४-१०		म० १० पू० ६ । ११ । ४ उ० २ । १ । ८
४६२	इन्द्रं वयं महा	७० । ११				पू० २ । ४ । ६
४६३	स नो वृषन्	७० । १२				उ० ८ । १ । २
४६४	वृषा यूथेव	७० । १४				उ० ८ । १ । २
४६५	इन्द्रं वो विश्व	७० । १६	२० । ३९ । १			
४६६-६९	इन्द्रं सानसिं	७० । १७-२०		१ । ८ । १-४		म० १७ पू० २ । ४ । ५
४७०-७५	महाँ इन्द्रः परश्च	७१ । १-६		१ । ८ । ५-१०		म० १ पू० २ । ८ । २
४७६-७८	एवा ह्यस्य	७१ । ४-९	२० । ६० । ४-६			

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्व वेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्व वेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
४७६-८८	इन्द्रे हि मत्स्य	७१ । ७-१६		१ । ६ । १-१०	म० ७; ३३ । २५	म० ७ पू० २ । ६ । ६
४८६-६१	विश्वेषु हि त्वा	७२ । १-३		१ । १३ । २, ३, ६		
४६२	नि त्वा ततक्षे	७२ । २	२० । ७५ । १			
४६३ ६४	तुभ्येदिमा सवना	७३ । १-२		७ । २२ । ७-८		
४६५	प्र वो महे महि	७३ । ३		७ । ३१ । १०		
४६६-६८	यदा वज्रं हिर	७३ । ४-७		१० । २३ । ३-५		
४६६ ०५	यच्चिद्धि सत्य	७४ । १-७		१ । २६ । १-७		
५०६-०८	वि त्वा ततस्रे	७५ । १-३	म०१ ; २० । ७२।२	१ । १३१ । ३-५		
५०६-१६	वने न वायो	७६ । १-८		१० । २६ । १-८		
५१७-२४	आ सत्यो यातु	७७ । १-८		४ । १६ । १-८		
५२५-२७	तद्वो गाय	७८ । १-३		६ । ४५ । २२-२४		उ० ८ । २ । ४ म० १ पू० २ । ३ । १
५२८	इन्द्र क्रतुं न आ	७६ । १	१८ । ३ । ६७			
६५२	मा नो अज्ञाता	७६ । २		७ । ३२ । २७		उ० ६ । ३ । ६
५३०-३१	इन्द्र ज्येष्ठं	८० । १-२		६ । ४६ । ५-६		म० १ पू० ६ । १० । १
५३२ ३३	यद् द्याव इन्द्र	८१ । १-२	२०।६२ । २०-२१	८ । ७० । ५-६		उ० २ । २ । ११ । म० १ पू० । ३ । ६
५३४-३५	यदिन्द्र यावत	८२ । १-२		७ । ३२ । १८-१६		उ० ६ । २ । ६ म० १ पू० ४ । ७ । ८
५३६-३७	इन्द्र त्रिधातु	८३ । १-२		६ । ४६ । ६-१०		म० १ पू० ३ । ८ । ४

५३८-४०	इन्द्र याहि	८४ । १-३		१ । ६ । ४-६	२० । ८७-८६	उ० ४ । २ । ५
५४१-४४	मा चिदन्यद् वि	८५ । १ ४		८ । १ । १-४		म० १-२ उ० ६।१ । ५ म० १ पू० ३।५।१०
५४५	ब्रह्मणा ते ब्रह्म	८६ । १		३ । ३५ । ४		
५४६-५२	अध्वर्यवो ऽरुणं	८७ । १-७		७ । ९८ । १-७		
५५३	बृहस्पते युव	८७ । ७	२० । १७ । १२			
५५४-५६	यस्तस्तम्भ	८८ । १-६		४ । ५० । १-६		
५६०-७०	अस्तव सु प्रतर	८९ । १-११		१० । ४२ । १-११		
५७१-७२	उत ब्रह्मामति	८९ । ९-१०	७ । ५० । ६-७			
५७३ ७४	गोभिष्टरेमा	८९ । १० ११	२०।१७।१०-११; ६४।१०-११			
५७५	बृहस्पतिर्नः परि	८९ । ११	७ । ५१।१			
५७६-७८	योऽद्रिभित् प्र	९० । १-३		६ । ७३ । १-३		
५७९-९०	इमां धिय सप्त	९१ । १-१२		१० । ६७ । १-१२		
५९१-०५	अभि प्र गोपति	९२ । १-१५	१-३;२०।२२ । ४-६	८ । ६९ । ४ १८		
५०६	अर्चन प्रार्चत	९२ । ५				पू० ४ । ८ । ३
५०७-१२	यो राजा चर्ष	९२ । १६-२१	म०१६-१७,२० । १०५ । ४५	८ । ७० । १-६		म० १६-१७ । उ० ३ । १ । १५ म० १६ । पू० ३ । ९ । १
६१३-१४	नकिष्ट कर्मणा	९२ । १८ १९	२० । ८१ । १-२			उ० ४ । २ । ८, म० १८ पू० ३ । ६ । १
६१५-१६	यद् द्याव इन्द्र	९२ । २० २१				
६१७ १९	उत् त्वा मन्दन्तु	९३ । १-३		८ । ६४ । १-३		उ० ६ । १ । ३ म० १ पू० ३ । १ । १
६२०-२४	ईङ्खयन्ती	९३ । ४-८		१० । १५३ । १-५		म० ४ पू० २ । ९ । १
६२५ ३५	आ यात्विन्द्रः	९४ । १ ११		१० । ४४ । १-११		

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड२०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
६३६-३७	गोभिष्टरेमा	९४। १०-११	२०। १७। १० ११; ८९। १०-११			
६३८	त्रिकद्रुकेषु	९५। १		२। २२। १		पू० ५। ८। १; उ० ६। ३। २०
६३९-४१	प्रोष्वस्मै पुरो	९५। २-४		१०। १३३। १-३		उ० ९। १। १४
६४२-४६	तीव्रस्याभि	९६। १-५		१०। १६०। १-५		
६४७-५०	मुञ्चामि त्वा	९६। ६-९	३। ११। १-४			
६५१	आहार्षमविदं	९६। १०	८। १। २०			
६५२-५७	ब्रह्मणाग्निः	९६। ११-१६		१०। १६२। १-६		
६५८-६४	अक्षीभ्यां ते	९६। १७-२३	२। ३३। १-७			
६६५	अपेहि मनस	९६। २४		१०। १६४। १		
६६६-६८	वयमेनमिदा	९७। १-३		८। ६६। ७-९		उ० ८। २। १३ म०१ पू०३। ८। १०
६६९-७०	त्वामिद्धि हवा	९८। १-२		६। ४६। १-२	२७। ३७-३८	उ०२। १। १२; म०१ पू०३। ५। २
६७१-७२	अभि त्वा पूर्व	९९। १-२		८। ३। ७-८		उ० ७। ३। १ म० १ पू० ३। ७। ४
६७३-७५	अधा हीन्द्र	१००। १-३		८। ९८। ७-९		उ० १। १। २३ म०१ पू० ५। २। ८
६७६-७८	अग्निं दूतं वृ	१०१। १-३		१। १२। १-३		उ० २। १। ६ म०१ पू० १। १। ३
६७९-८१	ईळेन्यो नमस्य	१०२। १-३		३। २७। १३-१५		उ० ७। २। २
६८२	अग्निमीळिष्वा	१०३। १		८। ७१। १४		पू० १। ५। ६

६८३-८४	अग्न आ याहि	१०२।२-३		८।६।१-२		उ० ७।२।७
६८५-८६	इमा उ त्वा पु	१०४।१-२		८।३।३-४	३३।८१-८३	उ० ७।३।१८। म०१ पू०३।६।८
६८७-८८	आ नो विश्वासु	१०४।३-४		८।९०।१ २	म१ २;२३।	उ० ७।१।२ म० १ पू० ३।८।७
६८९-९१	त्वमिन्द्र प्रतूर्ति	१०५।१-३		८।९९।५-७	६६-६७	उ० ८।१।८ म० १ पू० ४।२।९
६९२	इत ऊती वो	१०५।३				पू० ३।१०।१
६९३-९४	यो राजा चर्ष	१०५।४-५	२०।९२।१६-१७			उ० ८।१।११
६९५-९७	तव त्यदिन्द्रियं	१०६।१-३		८।१५।७-९		उ० ८।१।१३, म१ पू० २।५।३
६९८-७००	समस्य मन्यवे	१०७।१३		८।६।४६		
७०१-७०९	नदिदास भुवनेषु	१०७।४-१२	५।२।१९			
७१०-११	चित्रं देवानां	१०७।१३-१४	१३।२।३४-३५			
७१२	सूर्यो देवीमुषसं	१०७।१५		१।११५।२		
७१३-१५	त्वं न इन्द्र- मर्ह	१०८।१-३		८।९८।१०-१२		उ० ४।२।१३; म० १ पू०२।२।७
७१६-१८	स्वादोरित्था वि	१०९।१-३		१।८४।१०-१२		उ० ३।२।१५;म०१ पू० ५।३।१
७१९-२१	इन्द्राय मद्वने	११०।१३		८।९२।१९-२१		उ० १।२।४; म०१ पू० २।७।४
७२२-२४	यत् सोममिन्द्र	१११।१-३		८।१२।१६-१८		पू० ७।१०।४
७२५-२७	यदद्य कच्च वृ	११२।१-३		८।९३।४-६	म० १;३३।३५	म० १ पू० २।४।२
७२८	ये सोमासः परा	११२।३				उ० ४।२।११
७२९-३०	उभयं शृणवच्च	११३।१-२		८।६१।१-२		उ०५।१।१४;म०१ पू ३।१०।८
७३१-३२	अभ्रातृव्या अना	११४।१-२		८।२१।१३-१४		उ० ६।२।४; म०१ पू० ५।२।१
७३३-३५	अहमिद्धि पितु	११५।१३		८।६।१०-१२		उ० ७।१।५; म० पू २।६।८
७३६-३७	मा भूम निष्ट्या	११६।१-२		८।१।१३-१४		

२—अथर्ववेद काण्ड २० के मन्त्र अन्य वेदों में सम्पूर्ण वा कुछ भेद से ॥

मन्त्र संख्या	मन्त्र	अथर्ववेद, (काण्ड २०) सूक्त, मन्त्र	अथर्ववेद, (अन्यत्र) काण्ड, सूक्त, मन्त्र	ऋग्वेद, मण्डल, सूक्त, मन्त्र	यजुर्वेद, अध्याय, मन्त्र	सामवेद, पूर्वार्चिक, उत्तरार्चिक आदि
७३८-४०	पिबा सोममिन्द्र	११७ । १-३		७ । २२ । १ ३		उ० ३ । १ । १३ म० १ पू० ५।६ । ८
७४१-४२	शग्ध्यू३ षु	११८।१-२		८ । ६१ । ५-६		उ० ७ । ३ । ३ म१पू० ३ । ७ । १
७४३-४४	इन्द्रमिद् देवता	११८।३-४		८ । ३ । ५-६		उ० ७ । ३ । ८; म०३ पू० ३ । ६ । ७
७४५	अस्तावि मन्म	११९ । १		८ । ५२ । ९		उ० ८ । २ । ७
७४६	तुरण्यवो मधु	११९ । २		८ । ५ १ । १०		उ० ७ । ३ । १९
७४७ ४८	यदिन्द्र प्रागपा	१२०।१-२		८ । ४ । १-२		उ० ५ । १ । १३ म० १ पू० ३ । ९ । ७
७४९ ५०	अभि त्वा शूर नो	१२१।१-२		७ । ३२ । २२-२३	२७ । ३५-३६	उ० १ । १ । ११, म० १ पू० ३ । ३ । ५
७५१-५३	रेवतीर्नः सधमा	१२२।१-३		१ । ३० । १३-१५		उ०४ । ३ । १४ म० १ पू०२ । ६ । ८
७५४-५५	तत् सूर्यस्य दे	१२३।१-२		१ । ११५ । ४-५		
७५६-५८	कया नश्चित्र	१२४।१-३		४ । ३१ । १-३	२७ । ३९-४१; ३६ । ४६	उ० १ । १ । १२; म० १ पू०२ । ८ । ५
७५९-६१	इमा नु कं भुवना	१२४।४-६	२० । ६३ । १-३			
७६२ ६८	अपेन्द्र प्राचो	१२५ । १-७		१० । ११३ । १-७		
७६९	कुविदङ्ग यव	१२५ । २			१० । ३२; १९। ६; २३ । ३८	
७७०-७१	युवं सुराममं	१२५ । ४ ५			१० । ३३-३४; २० । ७६-७७	

७७२ ७३	इन्द्रा सुत्रामा	१२५ । ६-७	७ । ९१-९२			
७७४ ९६	वि हि सोतारसृ	१२६।१-२३		१० । ८६ । १-२३		
७९७	यद्स्या अंहुभे	१३६ । ४			२३ । २८	
७९८	यद् देवासो ललाम	१३६ । ४			२३ । २९	
७९९	यद्ध प्राचीरज	१३७ । १		१० । १५५ । ४		
८००	कपृन्नरः कपृथ	१३७ । २		१० । १०१ । १२		
८०१	दधिक्राव्णो अका	१३७ । ३		४ । ३९ । ६	२३ । ३२	पू० ४ । ७ । ७
८०२-०४	सुतासो मधुमत्त	१३७ । ४ ६		९ । १०१ । ४-६		उ० २ । २ । । १५ म०४ पू० ६ । ६ । ३
८०५-०९	अव द्रप्सो अंशु	१३७।७ ११		८ । ९६ । १३-१७		म०७पू०४ ।४। १ म० १० पू० ४ । ४।४
८१०-१२	तमिन्द्र वाजयाम	१३७ १२ १४	२० । ४७ । १-३			
८१३-१५	महाँ इन्द्रो य ओजसा	१३८ । १-३		८ । ६ । १-३	म० १;७ । ४०	उ० ५ । २ । १०
८१६-२०	आ नूनमश्विना	१३९ । १-५		८ । ९ । १-५		
८२१-२५	यन्नासत्या भुर	१४० । १-५		८ । ९ । ६-१०		
८२६-३०	यातं छर्दिष्पा	१४१ । १-५		८ । ९ । ११-१५		
८३१-३६	अभुत्स्यु प्र दे	१४२ । १-६		८ । ९ । १६-२१		
८३७-४३	त वां रथं वयम	१४३।१-७		४ । ४४ । १-७		
८	इहेह यद् वां	१४३ । ७		४ । ४३ । ७		
	मधुमतीरोषधी	१४३ । ८		४ । ५७ । ३		
८४६	पनाय्यं तदश्विना	१४३ । ९		८ । ५७ । ३		

॥ ओ३म् ॥

अथर्ववेदः ॥

विंशं काण्डम् ॥

प्रथमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १ ॥

मन्त्राः १—३ ॥ १ इन्द्रः ; २ मरुतः ; ३ अग्निर्देवता ॥ १, २ गायत्री ; ३ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे ।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥

इन्द्र । त्वा । वृषभम् । वयम् । सुते । सोमे । हवामहे ॥
सः । पाहि । मध्वः । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (वृषभम्) बलिष्ठ (त्वा) तुझ को (सुते) सिद्ध किये हुये (सोमे) ऐश्वर्य वा ओषधियों के समूह में (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं । (सः) सो तू

१—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वा) त्वाम् (वृषभम्) बलिष्ठम् (वयम्) प्रजाजनाः (सुते) निष्पन्ने । सिद्धे (सोमे) ऐश्वर्ये ओषधिगणे वा (हवामहे) आह्वयामः (सः) स त्वम् (पाहि) रक्षां कुरु (मध्वः) मधुरगुण-

(मध्वः) मधुर गुण से युक्त (अन्धसः) अन्न की (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजाजन सत्कार के साथ ऐश्वर्य देकर धर्मात्मा राजा से अपनी रक्षा करावें, जैसे सद्वैद्य उत्तम ओषधियों से रोगी को अच्छा करता है ॥ १

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—३। ४०। १ और आगे है—अथ० २०। सूक्त ६। म० १ ॥

मरुतो यस्य हि क्षये पाथा दिवो विमहसः।
स सुगोपातमो जनः ॥ २ ॥

मरुतः। यस्य। हि। क्षये। पाथ। दिवः। वि-महसः ॥
सः। सु-गोपातमः। जनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(विमहसः) हे विविध पूजनीय (मरुतः) शूर विद्वानो ! (यस्य) जिस [राजा] के (क्षये) ऐश्वर्य में (दिवः) उत्तम व्यवहारों की (पाथ) तुम रक्षा करते हो, (सः हि) वही (सुगोपातमः) अच्छे प्रकार पृथिवी का अत्यन्त पालने वाला (जनः) पुरुष है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण बुद्धिमान् राजा का सहाय करके परस्पर ऐश्वर्य बढ़ावें, जिससे वह सर्वथा प्रजा की रक्षा कर सके ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१। ८६। १ और यजु० ८। ३१ ॥

उक्षान्नाय वशान्नाय सोमपृष्ठाय वेधसे।
स्तोमैर्विधेमाग्नये ॥ ३ ॥

उक्ष-अन्नाय। वशा-अन्नाय। सोम-पृष्ठाय। वेधसे ॥
स्तोमैः। विधेम। अग्नये ॥ ३ ॥

युक्तस्य (अन्धसः) अन्नस्य-निघ० २। ७ ॥

२—(मरुतः) हे शूरविद्वांसः (यस्य) राज्ञः (हि) खलु (क्षये) क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च-अच्। ऐश्वर्ये (पाथ) सांहितिको दीर्घः। रक्षथ (दिवः) दिव्यव्यवहारान् (विमहसः) हे विविधपूजनीयाः (सः) स राजा (सुगोपातमः) अतिशयेन सुष्ठु पृथिवीरक्षकः (जनः) पुरुषः ॥

भाषार्थ—(उक्षान्नाय) प्रबलों के अन्न दाता (वशान्नाय) वशी भूत [निर्बल प्रजाओं] के अन्न दाता, (सोमपृष्ठाय) ऐश्वर्य के सींचने वाले (वेधसे) बुद्धिमान् (अग्नये) अग्नि [समान तेजस्वी राजा] की (स्तोमैः) स्तुति योग्य कर्मों से (विधेम) हम पूजा करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार राजा अपने पराक्रम और धर्म नीति से प्रजा का उपकार करे, वैसे ही प्रजागण योग्य रीति से राजा की सेवा करते रहें ॥३॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ४३ । ११ और कुछ भेद से पहिले आ चुका है—अ० ३ । २१ । ६ ॥

सूक्तम् २ ॥

१—४ ॥ १ मरुतः ; २ अग्निः ; ३ ब्रह्मा ; ४ द्रविणोदा देवता ॥ १, २ आर्ची गायत्री ; ३ साम्नी पङ्क्तिः ; ४ आर्च्युष्णिक् ॥

विदुषां व्यवहारोपदेशः—विद्वानों के व्यवहार का उपदेश ॥

म॒रुतः॑ पो॒त्रात् सु॒ष्टुभः॑ स्व॒र्कादृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ १ ॥

म॒रुतः॑ । पो॒त्रात् । सु॒-स्तुभः॑ । सु॒-अ॒र्कात् । ऋ॒तुना॑ । सोम॑म् । पि॒ब॒तु॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) शूर विद्वान् लोग (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (पोत्रात्) पवित्र व्यवहार से (ऋतुना) ऋतु के

३—(उक्षान्नाय) अ० ३ । २१ । ६ । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । उक्ष सेचने वृद्धौ च-कनिन् । उक्षा महन्नाम—निघ० ३ । ३ । उक्षभ्यो महद्भ्यः प्रबलेभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । प्रबलानां भोजनदात्रे (वशान्नाय) वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश स्पृहायाम् , अप्, टाप् । वशाभ्यो वशीभूताभ्यः प्रजाभ्योऽन्नं यस्मात् तस्मै । निर्बलप्रजानां भोजनदात्रे (सोमपृष्ठाय) पृषु सेचने—थक् । ऐश्वर्यस्य सेचकाय वर्धकाय (वेधसे) मेधाविने—निघ० ३ । १५ (स्तोमैः) स्तुत्यकर्मभिः (विधेम) परिचरेम (अग्नये) अग्निवत्तेजस्विने राज्ञे ॥

१—(मरुतः) शूरविद्वांसः (पोत्रात्) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५९ । पूञ् शोधने-ष्ट्रन् । पवित्रव्यवहारात् (सुष्टुभः) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४, क्विप् । बहुस्तुतियोग्यात् (स्वर्कात्) बहुपूजनीयात् (ऋतुना) ऋतुना

अनुसार (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम व्यवहारों से उत्तम ओषधि आदि का सेवन करके सदा सुख बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऋग्वेद में है- १ । १५ । २ ॥

अ॒ग्निरा॒ग्नीध्रा॑त् सु॒ष्टुभः॑ स्व॒र्का॑दृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ २ ॥

अ॒ग्निः । आ॒ग्नीध्रा॑त् । सु॒ऽस्तुभः॑ । सु॒ऽअ॒र्कात् । ऋ॒तुना॑ । सोम॑म् । पि॒ब॒तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्निः) अग्नि [समान तेजस्वी पुरुष] (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (आग्नीध्रात्) अग्नि की प्रकाश विद्या को आश्रय में रखने वाले व्यवहार से (ऋतुना) ऋतु के साथ (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम अग्नि विद्या के उपयोग से सदा सुख सामग्री बढ़ावे ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ ब्र॒ह्मा ब्राह्म॑णात् सु॒ष्टुभः॑ स्व॒र्का॑दृ॒तुना॒ सोमं॑ पिबतु ॥ ३ ॥

इन्द्रः॑ । ब्र॒ह्मा । ब्राह्म॑णात् । सु॒ऽस्तुभः॑ । सु॒ऽअ॒र्कात् । ऋ॒तुना॑ । सोम॑म् । पि॒ब॒तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) परम ऐश्वर्य वाला (ब्रह्मा) ब्रह्मा [वेदज्ञाता पुरुष] (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (ब्राह्मणात्)

सह । ऋतुमनुसृत्येत्यर्थः (सोमम्) सदोषधिरसम् (पिबतु) बहुवचनस्यैकवचनम् । पिबन्तु ॥

२—(अग्निः) अग्निवत्तेजस्वी पुरुषः (आग्नीध्रात्) अग्नि+इन्धी दीप्तौ-क्विप्, नलोपः । अग्नीधः शरणे रञ् भं च । वा० पा० ४ । ३ । १२० । अग्नीध्-रञ्, भत्वान्न जश् । अग्नीत् अग्निदीपनं यस्य शरणे आश्रये तस्मात् । अग्निप्रकाशविद्याधारणयुक्तव्यवहारात् । शिष्टं पूर्ववत् ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (ब्रह्मा) वेदज्ञाता पुरुषः (ब्राह्मणात्)

ब्राह्मण [वेदोक्त ज्ञान] से (ऋतुना) ऋतु के अनुसार (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—वेदज्ञानी पुरुष वेदज्ञान से सदा सुख प्राप्त करे ॥ ३ ॥

देवो द्रविणोदाः पोत्रात् सुष्टुभः स्वर्कादृतुना सोमं पिबतु ॥४

देवः । द्रविणः-दाः । पोत्रात् । सु-स्तुभः । सु-अर्कात् । ऋतुना । सोमम् । पिबतु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(देवः) विद्वान् (द्रविणोदाः) धन वा बल का दाता पुरुष, (सुष्टुभः) बड़े स्तुति योग्य, (स्वर्कात्) बड़े पूजनीय (पोत्रात्) पवित्र व्यवहार से (ऋतुना) ऋतु के अनुसार (सोमम्) उत्तम ओषधियों के रस को (पिबतु) पीवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सुपात्रों को योग्य दान देकर सुख को प्राप्त होवें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ३ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥ आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ १ ॥

वेदोक्तज्ञानात् । शिष्टं पूर्ववत् ॥

४—(देवः) विद्वान् (द्रविणोदाः) द्रविणशब्दस्य सकार उपजनः, ददातेरसुनि बाहुलकादाकारलोपः । द्रविणोदाः कस्माद्धनं द्रविणमुच्यते यदेनमभिद्रवन्ति बलं वा द्रविणं यदेनेनाभिद्रवन्ति तस्य दाता द्रविणोदाः—निरु० ८।१ । धनस्य बलस्य वा दाता । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (आ याहि) तू आ, (हि) क्योंकि (ते) तेरे लिये (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (सुषुम) हम ने सिद्ध किया है, (इमम्) इस [रस] को (पिब) पी, (मम) मेरे (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदः) बैठ ॥ १ ॥

भावार्थ—लोग विद्वान् सद्वैद्य के सिद्ध किये हुये महौषधियों के रस से राजा को स्वस्थ बलवान् रख कर राजसिंहासन पर सुशोभित करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है-८ । १७ । १—३ । और सामवेद-उ० १ । १ । तृच ६, मन्त्र १ सामवेद-पू० २ । १० । ७ तथा आगे है—अ० २० । ३८ । १—३ और ४७ । ७—६ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

आ । त्वा । ब्रह्म-युजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥ उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ब्रह्मयुजा) धन के लिये जोड़े गये, (केशिना) सुन्दर केश [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (त्वा) तुझ को (आ) सब ओर (वहताम्) ले चलें । (नः) हमारे (ब्रह्माणि)

१—(आ याहि) आगच्छ (सुषुम) षुञ् अभिषवे—लिट्, छान्दसं रूपम्, संहितिको दीर्घः । वयमभिषुतवन्तः । निष्पादितवन्तः (हि) यस्मात् कारणात् (ते) तुभ्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमम्) सदोषधिरसम् (पिब) पानं कुरु (इमम्) रसम् (इदम्) आस्तीर्णम् (बर्हिः) प्रवृद्धासनम् (आ सदः) लेटि, अडागमे, इतश्च लोपे च कृते रूपम् । निषीद ॥

२—(आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (ब्रह्मयुजा) ब्रह्म धननाम—निघ० २ । १० । ब्रह्मणे धनाय युज्यमानौ (हरी) रथस्य हारकावश्वाविव बलपराक्रमौ (वहताम्) प्रापयताम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (केशिना) प्रशस्तकेशयुक्तौ स्कन्धादिषिव कृष्णवालोपेतौ (वप) पूजायाम् (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि

वेदज्ञानों को (उप) आदर से (शृणु) तू सुन ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बलवान् घोड़े रथ को ठिकाने पर पहुंचाते हैं, वैसे ही राजा वेदोक्त मार्ग पर चल कर अपने बल और पराक्रम से राज्य भार बढ़ाकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—दयानन्दभाष्य यजु० ८ । ३४, ३५ और अथ० २० । २६ । २ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोम-पाम् । इन्द्र ।
सोमिनः ॥ सुत-वन्तः । हवामहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक (त्वा) तुझ को (युजा) मित्रता के साथ (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले, (सोमिनः) ऐश्वर्य वाले, (सुतवन्तः) उत्तम पुत्रादि [सन्तानों] वाले (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सुप्रबन्ध से प्रजागण ज्ञानवान्, धनवान् और सुशिक्षित सन्तान वाले होवें, उसको मित्र जान कर सदा स्मरण करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४ ॥

१—३॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

महौषधिरसपानोपदेशः—महौषधियों के रसपान का उपदेश ॥

आ नो याहि सुतावतोऽस्माकं सुष्टुतीरुप ।

(नः) अस्माकम् (शृणु) आकर्णय ॥

३—(ब्रह्माणः) वेदज्ञातारः (त्वा) त्वाम् (वयम्) प्रजागणाः (युजा) सम्पदादिक्किप् । संयोगेन । मित्रभावेन (सोमपाम्) ऐश्वर्यरक्षकम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ८ । ३४ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सोमिनः) ऐश्वर्यवन्तः (सुतवन्तः) सुशिक्षितसन्तानयुक्ताः (हवामहे) आह्वयामः ॥

पिबा सु शिप्रिन्नन्धसः ॥ १ ॥

आ । नः । याहि । सुत-वतः । अस्माकम् । सु-स्तुतीः । उप ॥ पिब । सु । शिप्रिन् । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र राजन्!] (अस्माकम्) हमारी (सुष्टुतीः) सुन्दर स्तुतियों को (उप=उपेत्य) प्राप्त होकर (सुतवतः) उत्तम पुत्र आदि [सन्तानों] वाले (नः) हम लोगों को (आ याहि) आकर प्राप्त हो। (सुशिप्रिन्) हे दृढ़ जावड़े वाले! (अन्धसः) इस अन्न रस का (सु) भले प्रकार (पिब) पान कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुन्दर महौषधियों के रस के सेवन से हृष्ट पुष्ट होवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १७ । ४—६ ॥

आ ते सिञ्चामि कुक्ष्योरनु गात्रा वि धावतु ।
गृभाय जिह्वया मधु ॥ २ ॥

आ । ते । सिञ्चामि । कुक्ष्योः । अनु । गात्रा । वि । धावतु ॥ गृभाय । जिह्वया । मधु ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे राजन्!] (ते) तेरी (कुक्ष्योः) दोनों कोखों में (मधु) मधुर पान को (आ) भली भांति (सिञ्चामि) मैं सींचता हूं, वह (गात्रा अनु)

१—(आ) आगत्य (नः) अस्मान् (याहि) प्राप्नुहि (सुतवतः) उत्तमसन्तानयुक्तान् (अस्माकम्) (सुष्टुतीः) शोभनाः स्तुतीः (उप) उपेत्य (पिब) पानं कुरु (सु) सुष्ठु (शिप्रिन्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शिञ् निशाने छेदने—रक्, पुक् च, यद्वा सृप्लृ गतौ—रक्, सृशब्दस्य शिभावः । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु० ६ । १७ । हे दृढहनूयुक्त (अन्धसः) अन्नरसस्य ॥

२—(आ) समन्तात् (ते) तव (सिञ्चामि) अवनयामि । पूरयामि (कुक्ष्योः) सव्यदक्षिणपार्श्वयोः (अनु) प्रति (गात्रा) अङ्गानि (वि) विविधम्।

[तेरे] अङ्गों में (वि धावतु) दौड़ने लगे, [इनको] (जिह्वया) जीभ से (गृभाय) ग्रहण कर ॥ २ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य रुधिरसंचारक ओषधियों का सेवन कराके मनुष्यों को पुष्ट रक्खें ॥ २ ॥

स्वादुष्टे अस्तु संसुदे मधुमान् तन्वे३ तव ।
सोमः शमस्तु ते हृदे ॥ ३ ॥

स्वादुः । ते । अस्तु । सम्-सुदे । मधु-मान् । तन्वे । तव ॥
सोमः । शम् । अस्तु । ते । हृदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सोमः) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (ते) तेरे (संसुदे) स्वीकार करने के लिये (स्वादुः) स्वादु [रोचक] और (तव) तेरे (तन्वे) शरीर के लिये (मधुमान्) मधुर रस वाला (अस्तु) होवे और (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्तिकारक (अस्तु) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य ऐसी उत्तम ओषधियों का रस सेवन करें जो खाने में स्वादिष्ट हों, शरीर को पुष्ट और हृदय को शान्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५ ॥

मन्त्राः १—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ६ गायत्री; ३—५, ७ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

सोमसेवनोपदेशः—सोम रस के सेवन का उपदेश ॥

सर्वत्र (धावतु) प्रवहतु (गृभाय) श्नः शायजादेशः, हस्य भः । गृहाण (जिह्वया) रसनया (मधु) मधुरपानम् ॥

३—(स्वादुः) रोचकः (ते) तव (अस्तु) (संसुदे) षूद आश्रुतिहत्योः—क्विप्, छान्दसो ह्रस्वः, आश्रुतिरङ्गीकारः । सम्यक् स्वीकरणाय (मधुमान्) माधुर्योपेतः (तन्वे) शरीराय (तव) (सोमः) सदौषधिरसः (तन्वे) शरीराय (शम्) सुखकरः (अस्तु) (ते) तव (हृदे) हृदयाय ॥

अयमु त्वा विचर्षणे जनीरिवाभि संवृतः ।
प्र सोम इन्द्र सर्पतु ॥ १ ॥

अयम् । ऊं इति । त्वा । वि-चर्षणे । जनीः-इव । अभि । सम्-वृतः ॥ प्र । सोमः । इन्द्र । सर्पतु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विचर्षणे) हे दूरदर्शी (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अयम् उ) यही (अभि) सब प्रकार (संवृतः) यथाविधि स्वीकार किया हुआ (सोमः) सोम [महौषधियों का रस], (जनीः इव) कुलस्त्रियों के समान, (त्वा) तुझको (प्र) अच्छे प्रकार (सर्पतु) प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे कुलस्त्रियां अपने सन्तान आदि का हित करती हैं, वैसे ही सद्वैद्यों का सिद्ध किया हुआ महौषधियों का रस सुखदायक होता है ॥१॥

मन्त्र १—७ ऋग्वेद में हैं—८ । १७ । ६—१३ ॥

तुविग्रीवो वपोदरः सुबाहुरन्धसो मदे ।
इन्द्रो वृत्राणि जिघ्नते ॥ २ ॥

तुवि-ग्रीवः । वपा-उदरः । सु-बाहुः । अन्धसः । मदे ॥ इन्द्रः । वृत्राणि । जिघ्नते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुविग्रीवः) दृढ़ गले वाला, (वपोदरः) चर्बी से युक्त पेट वाला, (सुबाहुः) बलवान् भुजाओं वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य

१—(अयम्) (उ) एव (त्वा) त्वाम् (विचर्षणे) कृषेरादेश्च चः । उ० २ । १०४ । वि + कृष विलेखने—अनि, कस्य चः । विचर्षणिः पश्यतिकर्मा—निघ० ३ । ११ । हे विविधं द्रष्टः । दूरदर्शिन् (जनीः) जनयः । कुलस्त्रियः (इव) यथा (अभि) अभितः । सर्वप्रकारेण (संवृतः) सम्यक् स्वीकृतः, (प्र) प्रकर्षेण (सोमः) महौषधिरसः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (सर्पतु) प्राप्नोतु ॥

२—(तुविग्रीवः) दृढकण्ठः (वपोदरः) वपा वसा मेद उदरे यस्य सः (सुबाहुः) प्रभूतबलभुजः (अन्धसः) अन्नरसस्य (मदे) हर्षे (इन्द्रः) परमै०

वाला पुरुष] (अन्धसः) अन्न रस के (मदे) आनन्द में (वृत्राणि) बैरियों को (जिघ्नते) मारे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ओषधियों के यथावत् सेवन से पुष्ट और बलवान् होकर शत्रुओं का नाश करे ॥ २ ॥

इन्द्र प्रेहि पुरस्त्वं विश्वस्येशान ओजसा ।
वृत्राणि वृत्रहं जहि ॥ ३ ॥

इन्द्र । प्र । इहि । पुरः । त्वम् । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ॥ वृत्राणि । वृत्र-हन् । जहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन् !] (ओजसा) अपने बल से (विश्वस्य) सब का (ईशानः) स्वामी (त्वम्) तू (पुरः) सामने से (प्र इहि) आगे बढ़ । (वृत्रहन्) हे बैरियों के नाश करने वाले ! (वृत्राणि) बैरियों को (जहि) नाश कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य महाबली होकर आगे बढ़ता हुआ सब विघ्नों को मिटावे ॥ ३ ॥

दीर्घस्ते अस्त्वङ्कुशो येना वसु प्रयच्छसि ।
यजमानाय सुन्वते ॥ ४ ॥

दीर्घः । ते । अस्तु । अङ्कुशः । येन । वसु । प्र-यच्छसि । यजमानाय । सुन्वते ॥ ४ ॥

ऐश्वर्यवान् पुरुषः (वृत्राणि) शत्रून् (जिघ्नते) हन्तेर्लेट् । लेटोऽडाटौ । पा० ३ । ४ । ९४ । अडागमः, शपः श्लुः । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । अभ्यासस्य इत्वम् । हन्यात् । मारयेत् ॥

३—(इन्द्र) (प्र) प्रकर्षेण (इहि) गच्छ (पुरः) अग्रतः (त्वम्) (विश्वस्य) सर्वस्य (ईशानः) स्वामी (ओजसा) स्वबलेन (वृत्राणि) शत्रून् (वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक (जहि) नाशय ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (ते) तेरा (अङ्कुशः) अङ्कुश [दण्डसाधन] (दीर्घः) लम्बा (अस्तु) होवे, (येन) जिस के कारण से (सुन्वते) तत्त्व रस निचोड़ने वाले (यजमानाय) यजमान [दाता पुरुष] को (वसु) धन (प्रयच्छसि) तू देता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों के दण्ड देने में निष्पक्ष और प्रचण्ड होकर सज्जनों का मान बढ़ावे ॥ ४ ॥

अयं त इन्द्र सोमो निपूतो अधि बर्हिषि ।
एहीमस्य द्रवा पिब ॥ ५ ॥

अयम् । ते । इन्द्र । सोमः । नि-पूतः । अधि । बर्हिषि ॥
आ । इहि । ईम् । अस्य । द्रव । पिब ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन् !] (ते) तेरे लिये (अयम्) यह (निपूतः) छाना हुआ (सोमः) सोम [महौषधियों का रस] (बर्हिषि अधि) बढ़िया आसन के ऊपर [है] । (आ इहि) तू आ, (ईम्) अब (द्रव) दौड़ और (अस्य) इस का (पिब) पान कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—उत्तम सोम रस उत्तम आसन पर बैठ कर रुचि से पीना चाहिये ॥ ५ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है—पू० २। ७। ५ और मन्त्र ५-७ सामवेद में हैं—उ० १। २। तृच ५ ॥

शाचिगो शाचिपूजनायं रणाय ते सुतः ।
आखण्डल प्र हूयसे ॥ ६ ॥

४—(दीर्घः) आयतः । विस्तृतः (ते) तव (अस्तु) (अङ्कुशः) वक्राग्रो लौहास्त्रभेदः । दण्डसाधनम् (येन) कारणेन (वसु) धनम् (प्रयच्छसि) ददासि (यजमानाय) दानिने पुरुषाय (सुन्वते) तत्त्वरसं निष्पादयते ॥

५—(अयम्) (ते) तुभ्यम् (इन्द्र) (सोमः) सदौषधिरसः (निपूतः) नितरां शोधितः (अधि) उपरि (बर्हिषि) प्रवृद्धासने (एहि) आगच्छ (ईम्) इदानीम् (अस्य) सोमस्य (द्रव) त्वरया आगच्छ (पिब) पानं कुरु ॥

शाचिगो इति शाचि-गो । शाचि-पूजन । अयम् । रणाय । ते । सुतः ॥ आखण्डल । प्र । हूयसे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शाचिगो) हे स्पष्ट वाणियों वाले ! (शाचिपूजन) हे प्रसिद्ध सत्कार वाले ! (अयम्) यह [सोमरस] (ते) तेरे लिये (रणाय) रण जीतने को (सुतः) सिद्ध किया गया है । (आखण्डल) हे [शत्रुओं के] खण्ड खण्ड करने वाले ! (प्र हूयसे) तू आवाहन किया जाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्यवक्ता, सत्य कीर्ति वाले पुरुष का सत्कार उत्तम पदार्थों से करें ॥ ६ ॥

यस्ते शृङ्गवृषो नपात् प्रणपात् कुण्डपाय्यः ।
न्यस्मिन् दध्र आ मनः ॥ ७ ॥

यः । ते । शृङ्ग-वृषः । नपात् । प्रनपादिति प्र-नपात् । कुण्ड-पाय्यः ॥ नि । अस्मिन् । दध्रे । आ । मनः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शृङ्गवृषः) हे तेज की वृष्टि करने वाले [शूर पुरुष] के (नपात्) न गिराने वाले [राजन् !] (ते) तेरा (यः) जो (प्रणपात्) अतिशय करके न गिराने वाला (कुण्डपाय्यः) रक्षा करने वाले [सोमरस]

६—(शाचिगो) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । शच व्यक्तायां वाचि-इञ् । गौरिति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । शाचयः स्पष्टा गावो यस्य स शाचिगुः । हे स्पष्टवाक् (शाचिपूजन) हे प्रख्यातसत्कार (अयम्) सोमरसः (रणाय) रणं युद्धं जेतुम् (ते) तुभ्यम् (सुतः) संस्कृतः (आखण्डल) मङ्गेरलच् । उ० ५ । ७० । आङ्+खडि भेदने-अलच् । हे शत्रूणां सर्वथा खण्डयितः (प्र) प्रकर्षेण (हूयसे) आहूतोऽसि ॥

७—(यः) (ते) तव (शृङ्गवृषः) शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, नुडागमः+वृषु सेचने-क्विप् । शृङ्गाणि ज्वलतो नाम-निघ० १ । १७ । शृङ्गस्य तेजसो वर्षकस्य शूरस्य (नपात्) हे न पातयितः । रक्षक (शृङ्गवृषो नपात्) सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे । पा० २ । १ । २ । इतिषष्ठ्यन्तस्य शृङ्गवृद्शब्दस्य पराङ्गवद् भावेनामन्त्रितानुप्रवेशात् समुदायस्याष्टमिकं सर्वानुदात्तत्वम् (प्रणपात्) प्रकर्षेण न पातयिता रक्षिता (कुण्ड-

पीने का व्यवहार है। (अस्मिन्) उस में (मनः) मन को (नि) निरन्तर (आ दधे) मैं धारण करता हूं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो राजा शूर वीर लोगों का उत्साह देने वाला और सोम यज्ञ करके अन्न आदि से प्रजा की रक्षा करे, विद्वान् जन उस राजा के उत्तम कामों से प्रसन्न होवें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ६ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—४, ६—६ गायत्री ; ५ निचृद् गायत्री ॥
राजप्रजाविषयोपदेशः -राजा और प्रजा के विषय का उपदेश ॥

इन्द्रं त्वा वृषभं वयं सुते सोमे हवामहे ।
स पाहि मध्वो अन्धसः ॥ १ ॥
इन्द्रम् । त्वा । वृषभम् । वयम् । सुते । सोमे । हवामहे ॥
सः । पाहि । मध्वः । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (वृषभम्) बलिष्ठ (त्वा) तुझ को (सुते) सिद्ध किये हुये (सोमे) सोम [ऐश्वर्य वा ओषधियों के समूह] में (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं। (सः) सो तू (मध्वः) मधुरगुण से युक्त (अन्धसः) अन्न की (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजाजन सत्कार के साथ ऐश्वर्य देकर धर्मात्मा राजा से अपनी रक्षा करावें, जैसे सद्वैद्य उत्तम ओषधियों से रोगी को अच्छा करता है ॥ १ ॥

पाय्यः) कुडि रक्षणे-अच् । क्रतौ कुण्डपाय्यसंचाय्यौ । पा० ३ । १ । १३० । कुण्ड + पा पाने—यत्, युगागमः । कुण्डो रक्षकः सोमः पातव्यो यस्मिन् स व्यवहारः । क्रतुः कर्मनाम-निघ० २ । १ (नि) नितराम् (अस्मिन्) कुण्डपाय्ये व्यवहारे (आ दधे) बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । ८ । इति रुडागमः । अहमादधे । समन्ताद् दधामि धारयामि ॥

१-अयं मन्त्रो व्याख्यातः-अ० २० । १ । १ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० २० । १ । १ । यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ४० । १—६ ॥

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।
पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ २ ॥

इन्द्रं । क्रतु-विदम् । सुतम् । सोमम् । हर्य । पुरु-स्तुत ॥
पिब । आ । वृषस्व । ततृपिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुरुष्टुत) हे बहुतों से बड़ाई किये गये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (क्रतुविदम्) बुद्धि के प्राप्त कराने वाले, (ततृपिम्) तृप्त करने वाले, (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्) सोम [महौषधियों के रस] की (हर्य) इच्छा कर, (पिब) पी (आ) और (वृषस्व) बलवान् हो ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा बल और बुद्धि बढ़ाने वाले खान पान के भोजन से तृप्त होकर स्वस्थ रहे ॥ २ ॥

यह मन्त्र आगे है—अ० २० । ७ । ४ ॥

इन्द्र प्र णो धितावानं यज्ञं विश्वेभिर्देवेभिः ।
तिर स्तवान विश्पते ॥ ३ ॥

इन्द्रं । प्र । नः । धित-वानम् । यज्ञम् । विश्वेभिः । देवेभिः ॥
तिर । स्तवान । विश्पते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्तवान) हे बड़ाई किये गये ! (विश्पते) हे प्रजापालक !

२—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (क्रतुविदम्) प्रज्ञाप्रापकम् (सुतम्) संस्कृतम् (सोमम्) महौषधिरसम् (हर्य) कामयस्व (पुरुष्टुत) हे बहुभिः प्रशंसित (पिब) (आ) समुच्चये (वृषस्व) बलिष्ठो भव (ततृपिम्) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । तृप प्रीणने—किन्, छान्दसो दीर्घः । तर्पकम् । प्रीणयितारम् ॥

२—(इन्द्र) (प्र तिर) वर्धय (नः) अस्मभ्यम् (धितवानम्) धि

(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (विश्वेभिः) सब (देवेभिः) विद्वानों के साथ (नः) हमारे लिये (धितवानम्) सेवनीय धन धारण कराने वाले (यज्ञम्) यज्ञ [विद्वानों के सत्कार, सत्संग और दान] को (प्र तिर) बढ़ा ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजापालक राजा विद्वानों के साथ विद्या आदि श्रेष्ठ कर्मों की उन्नति कर के प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

इन्द्र सोमाः सुता इमे तव प्र यन्ति सत्पते ।
क्षयं चन्द्रास इन्दवः ॥ ४ ॥

इन्द्र । सोमाः । सुताः । इमे । तव । प्र । यन्ति । सत्-पते ॥
क्षयम् । चन्द्रासः । इन्दवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सत्पते) हे सत्पुरुषों के पालन करने वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजन्] (इमे) यह (चन्द्रासः) आनन्द कारक, (इन्दवः) गीले [रसीले], (सुताः) सिद्ध किये हुये (सोमाः) सोम [महौषधियों के रस] (तव) तेरे (क्षयम्) रहने के स्थान को (प्रयन्ति) पहुंचते हैं ४

भावार्थ—राजा विद्वानों द्वारा उत्तम उपयोगी पदार्थों का संग्रह करके प्रजा को पाले ॥ ४ ॥

धृतौ-क्त+वन सेवने—घञ्। धितो धृतो वानः सेवनीयं धनं यस्मात् तम् (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (विश्वेभिः) सर्वैः (देवेभिः) विद्वद्भिः(स्तवान) ष्टुञ् स्तुतौ—शानच्, छान्दसं रूपम्, कर्मणि कर्तृप्रत्ययः। हे स्तूयमान (विश्पते) हे प्रजापालक ॥

४—(इन्द्र) (सोमाः) महौषधिरसाः (सुताः) संस्कृताः (इमे) (तव) (प्र) प्रकर्षेण (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (सत्पते) सतां सत्पुरुषाणां पालक (क्षयम्) निवासस्थानम् (चन्द्रासः) चदि आह्लादने दीप्तौ च—रक्, असुगागमः। आह्लादकाः (इन्दवः) उन्देरिच्चादेः। उ० १। १२। उन्दी क्लेदने—उ [illegible], उकारस्य इकारः। क्लिन्नाः। सरसाः। रसात्मकाः ॥

दुधिष्वा जुठरे सुतं सोमंमिन्द्र वरेण्यम् ।
तव॑ द्युक्षास इन्द॑वः ॥ ५ ॥

दुधिष्व । जुठरे॑ । सुतम् । सोम॑म् । इन्द्र । वरे॑ण्यम् ॥
तव॑ । द्युक्षासः॑ । इन्द॑वः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [सम्पूर्ण ऐश्वर्य वाले राजन्] (वरेण्यम्) अङ्गीकार करने योग्य (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्) सोम [अन्न आदि महौषधियों के रस] को (जठरे) पेट में (दधिष्व) धर, (द्युक्षासः) व्यवहार में रहने वाले (इन्दवः) रसीले पदार्थ (तव) तेरे [ही हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा आदि श्रेष्ठ जन उत्तम पदार्थों के सेवन से बल और बुद्धि बढ़ावें ॥ ५ ॥

गिर्वणः पाहि नः सुतं मधोर्धाराभिरज्यसे ।
इन्द्र त्वादातमिद् यशः ॥ ६ ॥

गिर्वणः । पाहि । नः । सुतम् । मधोः॑। धाराभिः । अज्यसे ॥
इन्द्र॑ । त्वा-दा॑तम् । इत् । यशः॑ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे वाणियों से सेवने योग्य ! (नः) हमारे (सुतम्) ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर, (मधोः) मधुर रस की (धाराभिः) धाराओं करके (अज्यसे) तू प्राप्त किया जाता है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य

५—(दधिष्व) दधातेर्लोट्, साहितिको दीर्घः । धरस्व । धरस्व (जठरे) उदरे (सुतम्) संस्कृतम् (सोमम्) अन्नादिमहौषधिरसम् (इन्द्र) (वरेण्यम्) अ० ७ । १४ । ४ । वृञ् वरणे-एण्य । स्वीकरणीयम् (तव) तवैव (द्युक्षासः) दिव् + क्षि निवासगत्योः-डप्रत्ययः, असुगागमः । दिवि व्यवहारे निवासशीलाः (इन्दवः) म० ४ । सजलाः । रसात्मकाः पदार्थाः ॥

६—(गिर्वणः) गॄ शब्दे—क्विप् + वन संभक्तौ-असुन् । गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति—निरु० ६ । १४ । हे गीर्भिर्वाणीभिः सेवनीय (पाहि) रक्ष (नः) अस्माकम् (सुतम्) षु ऐश्वर्ये-क्त । ऐश्वर्यम् (मधोः) मधुररसस्य (धाराभिः) प्रवाहैः (अज्यसे) प्राप्यसे (इन्द्र) (त्वादातम्) त्वा + दाञ् दाने

वाले राजन्] (त्वादातम्) तेरा दिया हुआ [वा शोधा हुआ] (इत्) ही (यशः) [हमारा] यश है ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रजागण धर्मात्मा राजा का यथा योग्य धनादि से सत्कार करके अपना ऐश्वर्य और यश बढ़ावें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—पू० ३ । १ । २ ॥

अभि द्युम्नानि वनिन इन्द्रं सचन्ते अक्षिता ।
पीत्वी सोमस्य वावृधे ॥ ७ ॥

अभि । द्युम्नानि । वनिनः । इन्द्रम् । सचन्ते । अक्षिता ॥
पीत्वी । सोमस्य । ववृधे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वनिनः) सेवक लोग (अक्षिता) न घटने वाले (द्युम्नानि) धनों [वा यशों] को (अभि=अभिलक्ष्य) देखकर (इन्द्रम्) [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] से (सचन्ते) मिलते हैं। वह (सोमस्य) सोम [अन्न आदि महौषधियों का रस] (पीत्वी) पीकर (ववृधे) बढ़ा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो पराक्रमी धर्मात्मा राजा अक्षय धन और कीर्ति प्राप्त करता है, प्रजागण उससे प्रीति करते हैं ॥ ७ ॥

क, छान्दसं रूपम्, यद्वा दैप् शोधने-क । त्वादातम्=त्वया दातव्यम्—निरु० ४ । ४ । त्वया दत्तं शोधितं विशदीकृतं वा (इत्) एव (यशः) अस्माकं कीर्तिः ॥

७—(अभि) अभिलक्ष्य (द्युम्नानि) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । द्युत दीप्तौ-नप्रत्ययः, तकारस्य मकारः । द्युम्नं धननाम-निघ० २ । १० । द्युम्नं द्योततेर्यशो वान्नं वा—निरु० ५ । ५ । धनानि । यशांसि (वनिनः) वन संभक्तौ-अच् । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । वन—इनि । संभजमानाः । सेवकाः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (सचन्ते) षच समवाये । संगच्छन्ते (अक्षिता) अक्षीणानि (पीत्वी) स्नात्व्यादयश्च । पा० ७ । १ । ४९ । इति त्वीभावः । पीत्वा । पानं कृत्वा (सोमस्य) अन्नादिमहौषधिरसस्य (ववृधे) प्रवृद्धो बभूव ॥

अर्वावतो न आ गहि परावतश्च वृत्रहन् ।
इमा जुषस्व नो गिरः ॥ ८ ॥

अर्वा-वतः । नः । आ । गहि । परा-वतः । च । वृत्र-हन् ॥
इमाः । जुषस्व । नः । गिरः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे धन के पाने वाले ! (अर्वावतः) समीप देश से (च) और (परावतः) दूर देश से (नः) हम में (आ गहि) आ । और (नः) हमारी (इमाः) इन (गिरः) वाणियों का (जुषस्व) सेवन कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा धनवान् होकर समीप और दूर से प्रजा की पुकार सुनकर सदा रक्षा करे ॥ ८ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्ध कुछ भेद से आगे है—अ० २० । २० । ४ और ५७ । ८ ॥

यदन्तरा परावतमर्वावतं च हूयसे ।
इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ९ ॥

यत् । अन्तरा । परा-वतम् । अर्वा-वतम् । च । हूयसे ॥
इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) जब कि (परावतम्) दूर देश (च) और (अर्वावतम्) समीप देश के (अन्तरा) बीच में (हूयसे) तू पुकारा जाता है, (ततः) इस लिये (इह) यहां पर

८—(अर्वावतः) अर्वाचीनात् । समीपदेशात् (नः) अस्मान् (आ गहि) आगच्छ (परावतः) दूरदेशात् (च) समुच्चये (वृत्रहन्) वृत्रं धननाम—निघ० २ । १० । हन हिंसागत्योः—क्विप् । यो वृत्रं धनं हन्ति प्राप्नोति स वृत्रहा तत्सम्बुद्धौ (इमाः) उच्चार्यमाणाः (जुषस्व) सेवस्व (नः) अस्माकम् (गिरः) वाचः ॥

९—(यत्) यदा (अन्तरा) मध्ये । अन्तरान्तरेण युक्ते । पा० २ । ३ । ४ । इति द्वितीया (परावतम्) दूरदेशम् (अर्वावतम्) समीपदेशम् (च) (हूयसे) आहूतो भवसि (इन्द्र) (इह) अत्र (ततः) तस्मात् कारणात् (आ

(आ गहि) तू आ ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो न्यायी राजा योग्य अधिकारियों द्वारा सब स्थान में प्रजा को पाले, सब लोग उस से प्रीति करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ७ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री ; २, ३ निचृद् गायत्री ; ४ गायत्री ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

उद्धेदुभि श्रुतामघं वृषभं नर्यापसम् ।

अस्तारमेषि सूर्य ॥ १ ॥

उत् । घ । इत् । अभि । श्रुत-मघम् । वृषभम् । नर्य-अपसम् ॥

अस्तारम् । एषि । सूर्य ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सर्वव्यापक वा सर्वप्रेरक परमेश्वर] (श्रुतमघम्) विख्यात धन वाले, (वृषभम्) बलवान्, (नर्यापसम्) मनुष्यों के हितकारी कर्म वाले, (अस्तारम् अभि) शत्रुओं के गिराने वाले पुरुष को (इत्) ही (घ) निश्चय करके (उद् एषि) तू उदय होता है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमपिता जगदीश्वर पुरुषार्थी सर्वहितकारी शूर पुरुष का सदा सहाय करता है ॥ १ ॥

गहि) आगच्छ ॥

१—(उद् एषि) ऊर्ध्वं गच्छसि (घ) अवश्यम् (इत्) एव (अभि) प्रति (श्रुतमघम्) प्रख्यातधनयुक्तम् (वृषभम्) बलवन्तम् (नर्यापसम्) अपः कर्मनाम—निघ० २ । १ । तस्मै हितम् । पा० ५ । १ । ५ । इति नर-यत् । नरेभ्यो हितकर्माणम् (अस्तारम्) असु क्षेपणे—तृन् । रधादिभ्यश्च । पा० ७ । २ । ४५ । इति इड्विकल्पः । शत्रूणां निरसितारम् । क्षेप्तारम् (सूर्य) सृ गतौ यद्वा षू प्रेरणे यद्वा, सु+ईर गतौ—क्यप् । सूर्यः सर्तेर्वा सुवतेर्वा स्वीर्यतेर्वा—निरु० १२ । १४ । हे सर्वव्यापक सर्वप्रेरक वा परमेश्वर ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं-८।९३ [सायणभाष्य ८२]।१-३। मन्त्र १ साम० पू० २।४।१, मन्त्र १-३ साम० उ० ६।३। तृच ४॥

नव॒ यो न॑व॒तिं पुरो॑ बि॒भेद॑ बा॒ह्वो॑जसा ।
अहिं॑ च वृत्र॒हाव॑धीत् ॥ २ ॥

नव॑ । यः । न॒व॒तिम् । पुरः॑ । बि॒भेद॑ । बा॒हु-ओ॑जसा ॥
अहि॑म् । च॒ । वृ॒त्र॒-हा । अ॒व॒धी॒त् ॥ २ ॥

स न॒ इन्द्रः॑ शि॒वः सखाश्व॑वा॒द् गोम॒द् यव॑मत् ॥
उ॒रुधा॑रेव दोहते ॥ ३ ॥

सः । नः॒ । इन्द्रः॑ । शि॒वः । सखा॑ । अश्व॑-वत् । गो-म॑त् । यव॑-मत् ॥ उ॒रुधा॑रा-इव । दो॒ह॒ते॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ— (यः) जिस (वृत्रहा) शत्रुनाशक [सेनापति] ने (बाह्वोजसा) अपने बाहु बल से (नव नवतिम्)नौ नव्वे [९+९० = ९९ अथवा ९× ९० = ८१०, अर्थात् असंख्य] (पुरः) दुर्गों को (बिभेद) तोड़ा है (च) और (अहिम्)सर्प [सर्प समान हिंसक शत्रु] को (अवधीत्) मारा ॥ २ ॥

(सः) वह (शिवः) सुखदायक (सखा) मित्र (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (उरुधारा इव) बहुत दूध वाली [गौ] के समान (नः) हमारे लिये (अश्ववत्) उत्तम घोड़ों वाला, (गोमत्) उत्तम गौओं

२—(यः) इन्द्रः (नव नवतिम्) नव च नवतिं च, यद्वा नवगुणितां नवतिं दशोत्तराणि अष्टाशतानि एतत्सङ्ख्याकाः। असंख्याः(पुरः)दुर्गाणि (बिभेद) भिन्नवान् (बाह्वोजसा) भुजबलेन (अहिम्) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च । उ० ४ । १३८। आङ्+हन हिंसागत्योः-इण् स च डित् । आहन्तारं सर्पमिव हिंसकं शत्रुम् (च) (वृत्रहा) शत्रुहन्ता (अवधीत्) हतवान् ॥

३—(सः) पूर्वोक्तः (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (शिवः) सुखप्रदः (सखा) मित्रभूतः (अश्ववत्) उत्तमाश्वैर्युक्तम् (गोमत्) उत्तमगोभिरुपेतम् (यवमत्) उत्तमान्नयुक्तं धनम् (उरुधारा) प्रभूतक्षीरधारा-

वाला और (यवमत्) उत्तम अन्न वाला [धन] (दोहते) दुहे [पूर्ण करे] ॥३॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति अनेक अधर्मी दुष्टों को नाश करे, वही प्रजा को धनवान् करता है ॥ २, ३ ॥

मन्त्र २ का मिलान करो—ऋक्० १ । ८४ ।१३ ॥

इन्द्रं क्रतुविदं सुतं सोमं हर्य पुरुष्टुत ।

पिबा वृषस्व तातृपिम् ॥ ४ ॥

इन्द्रं । क्रतु-विदम् । सुतम् । सोमम् । हर्य । पुरु-स्तुत ॥

पिब । आ । वृषस्व । ततृपिम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुष्टुत) हे बहुतों से बड़ाई किये गये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (क्रतुविदम्) बुद्धि प्राप्त कराने वाले, (ततृपिम्) तृप्त कराने वाले, (सुतम्) सिद्ध किये हुये (सोमम्), सोम [महौषधियों के रस] की (हर्य) इच्छा कर, (पिब) पी (आ) और (वृषस्व) बलवान् हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—सेनापति बल और बुद्धि बढ़ाने वाले खान पान के भोजन से तृप्त रह कर स्वस्थ रहे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० २० । ६ । २ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्, २, ३ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

एवा पाहि प्रत्नथा मन्दतु त्वा श्रुधि ब्रह्म वावृधस्वोत गीर्भिः।

आविः सूर्यं कृणुहि पीपिहीषो जहि शत्रूँरभि गा इन्द्र तृन्धि ॥१॥

एव । पाहि । प्रत्न-था । मन्दतु । त्वा । श्रुधि । ब्रह्म ।

युक्ता गाः (इव) यथा (दोहते) लेटि, अडागमः । पूरयेत् ॥

४—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । ६ । २ ॥

व॒वृ॒धस्व॒ । उ॒त । गीः॒-भिः ॥ आ॒विः । सूर्य॑म् । कृ॒णु॒हि । पी॒पि॒हि । इषः॑ । ज॒हि । शत्रू॑न् । अ॒भि । गाः । इ॒न्द्र॒ । तृ॒न्धि॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (प्रत्नथा) पहिले के समान (एव) ही [हमारी] (पाहि) रक्षा कर, (ब्रह्म) ईश्वर वा वेद (त्वा) तुझे (मन्दतु) हर्षित करे, [उसे] (श्रुधि) सुन (उत) और (गीर्भिः) वेद वाणियों से (ववृधस्व) बढ़ । (सूर्यम्) सूर्य [सूर्य समान विद्या प्रकाश] को (आविः कृणु) प्रकट कर, (इषः) अन्नों को (पीपिहि) प्राप्त हो, (शत्रून्) शत्रुओं को (जहि) मार और [उसकी] (गाः) वाणियों को (अभि) सर्वथा (तृन्धि) मिटा दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर और वेद में श्रद्धा कर के विद्या और पुरुषार्थ द्वारा अन्न आदि से परिपूर्ण होकर शत्रुओं का नाश कर उनकी कुमर्यादाओं को हटावे ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—६ । १७ । ३ ॥

अ॒र्वाङे॑हि॒ सोम॑कामं त्वाहुर॒यं सु॒तस्तस्य॑ पिबा॒ मदा॑य ।
उ॒रु॒व्यचा॑ ज॒ठर॒ आ वृ॑षस्व पि॒तेव॑ नः शृणुहि हू॒यमा॑नः ॥ २ ॥

अ॒र्वाङ् । आ । इ॒हि॒ । सोम॑-कामम् । त्वा॒ । आ॒हुः॒ । अ॒यम् ।

१—(एव) अवधारणे (पाहि) रक्ष, अस्मान् (प्रत्नथा) प्रत्नपूर्व विश्वेमात्थाल् छन्दसि । पा० ५ । ३ । १११ । इवार्थे थाल्प्रत्ययः । पूर्वं यथा- (मन्दतु) आमोदयतु । हर्षयतु (त्वा) त्वाम् (श्रुधि) शृणु (ब्रह्म) परमेश्वरो वेदो वा (ववृधस्व) शपः श्लुः । वर्धस्व (उत) अपिच (गीर्भिः) वेदवाणीभिः (आविः) प्राकट्ये (सूर्यम्) सूर्यवद् विद्याप्रकाशम् (कृणुहि) कुरु (पीपिहि) पि गतौ—शपः श्लुः । तुजादित्वादभ्यासस्य दीर्घश्च । प्राप्नुहि (इषः) अन्नानि (जहि) नाशय (शत्रून्) (अभि) सर्वथा (गाः) शत्रूणां वाचः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (तृन्धि) उतृदिर् हिंसानादरयोः । छिन्धि । नाशय ॥

सुतः । तस्य॑ । पि॒ब॒ । मदा॑य ॥ उ॒रु-व्यचाः॑ । ज॒ठरे॑ । आ ।
वृ॒ष॒स्व॒ । पि॒ता-इ॑व । नः॒ । शृ॒णु॒हि॒ । हू॒यमा॑नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे सभाध्यक्ष !] (अर्वाङ्) सामने (आ इहि) आ, (त्वा) तुझ को (सोमकामम्) ऐश्वर्य चाहने वाला (आहुः) वे कहते हैं, (अयम्) यह (सुतः) सिद्ध किया हुआ [सोमरस] है, (मदाय) हर्ष के लिये (तस्य) उस का (पिब) पान कर। (उरुव्यचाः) बड़े सत्कार वाला तू (जठरे) अपने पेट में [उसे] (आ वृषस्व) सींच ले, (पिता इव) पिता के समान (हूयमानः) पुकारा गया तू (नः) हमारी [बात] (शृणुहि) सुन ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण सभापति आदि महापुरुषों को पिता के समान उत्तम पदार्थों और हित वचनों से प्रसन्न रक्खें और प्रधान पुरुष भी प्रजाजनों को पुत्र के समान पालें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १०४ । ६ ॥

आपू॒र्णो अ॑स्य क॒लशः॒ स्वाहा॒ सेक्ते॑व॒ कोशं॑ सिसिचे॒ पिब॑ध्यै।
समु॑ प्रि॒या आव॑वृत्र॒न् मदा॑य प्रदक्षि॒णिद॒भि सोमा॑स॒ इन्द्र॑म्॥३

आ-पू॒र्णः । अ॒स्य॒ । क॒लशः॑ । स्वाहा॑ । सेक्ता॑-इव । कोश॑म् । सि॒सि॒चे॒ । पिब॑ध्यै ॥ सम् । ऊं॒ इति॑ । प्रि॒याः । आ । अ॒व॒-वृ॒त्र॒न् । मदा॑य । प्र॒-द॒क्षि॒णित् । अ॒भि । सोमा॑सः । इन्द्र॑म् ३॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [महा पुरुष] का (कलशः) कलस (आपूर्णः)

२—(अर्वाङ्) अभिमुखः (आ इहि) आगच्छ (सोमकामम्) ऐश्वर्यं कामयमानम् (त्वा) त्वाम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (अयम्) (सुतः) निष्पादितः सोमरसः (तस्य) (पिब) पानं कुरु (मदाय) हर्षाय (उरुव्यचा) उरु+वि+अञ्चु गतिपूजनयोः—असुन् । उरु बहुविधं व्यचो विज्ञानं पूजनं सत्करणं वा यस्य सः (जठरे) उदरे (आ) समन्तात् (वृषस्व) सिञ्चस्व (पिता) (इव) यथा (नः) अस्माकं वार्ताम् (शृणुहि) शृणु (हूयमानः) कृताह्वानः ॥

३—(आपूर्णः) समन्तात् पूरितः (अस्य) इन्द्रस्य (कलशः) कुम्भः

मुंहामुंह भरा है, (स्वाहा) सुन्दर वाणी के साथ (सेक्ता इव) भरने वाले के समान मैंने (कोशम्) वर्तन को (पिबध्यै) पीने के लिये (सिसिचे) भरा है। (प्रियाः) पियारे (प्र दक्षिणित्) दाहिनी ओर को प्राप्त होने वाले (सोमासः) सोम [महौषधियों के रस] (मदाय) हर्ष के लिये (इन्द्रम् अभि) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले प्रधान] को (उ) ही (सम्) यथाविधि (आ) सब ओर (अवृत्रन्) वर्तमान हुये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् सद्वैद्य उत्तम उत्तम अन्न आदि ओषधियों के रस से आदर करके प्रधान पुरुष को हृष्ट पुष्ट रक्खें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है ३। ३२। १५ ॥

सूक्तम् ८ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्याबृहती, २, ४ सतः पङ्क्तिः, ३ निचृद्-बृहती छन्दः ।

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

तं वो॑ द॒स्मम्‌॑ृती॒षहं॒ वसो॑र्मन्दा॒नमन्ध॑सः ।

अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥ १ ॥

तम् । वः॒ । द॒स्मम् । ऋ॒ति॒-सह॑म् । वसोः॑ । म॒न्दा॒नम् । अन्ध॑सः ॥ अ॒भि । व॒त्सम् । न । स्वस॑रेषु । धे॒नवः॑ । इन्द्र॑म् । गीः॒-भिः । न॒वा॒म॒हे॒ ॥ १ ॥

(स्वाहा) सुवाण्या (सेक्ता) पूरकः (इव) यथा (कोशम्) पात्रम् (सिसिचे) षिच क्षरणे—लिट्। अहं सिक्तवानस्मि (पिबध्यै) तुमर्थे सेसेनसे०। पा० ३। ४। ६। पा पाने—शध्यैन्, शित्वात् पिबादेशः, नित्त्वादाद्युदात्तः। पानं कर्तुम् (सम्) सम्यक् (उ) अवधारणे (प्रियाः) कमनीयाः (आ) समन्तात् (अवृत्रन्) वृतु वर्तने—लङ्, परस्मैपदम्, शपः श्लुः, रुडागमः। वर्तमाना अभवन् (मदाय) हर्षाय (प्रदक्षिणित्) प्रदक्षिण+इण् गतौ—क्विप्। शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। इति जसः लुः। प्रदक्षिणेतः। दक्षिणपार्श्वं गन्तारः (अभि) प्रति (सोमासः) महौषधिरसाः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं प्रधानम् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतीषहम्) शत्रुओं के हराने वाले, (वसोः) धनसे और (अन्धसः) अन्न से (मन्दानम्) आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (नवामहे) हम सराहते हैं, (न) जैसे (धेनवः) गौयें (स्वसरेषु) घरों में [वर्तमान] (वत्सम्) बछड़े को [हिङ्कारती हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अनेक धन और अन्न आदि देकर हमें तृप्त करता है, उसे ऐसी प्रीति से हम स्मरण करें, जैसे गौयें दोहने के समय घर में बन्धे छोटे बच्चों को पुकारती हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ८८ [सायणभाष्य ७७] । १,२, साम० उ० १ । १ । १३, मन्त्र १ यजु० २६ । ११ और साम० पू० ३ । ५ । ४ और मन्त्र १—४ आगे हैं—अ० २० । ४६ । ४—७ ॥

द्युक्षं सुदानुं तविषीभिरावृतं गिरिं न पुरुभोजसम् ।
क्षुमन्तं वाजं शतिनं सहस्रिणं मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ २ ॥

द्युक्षम् । सु-दानुम् । तविषीभिः । आ-वृतम् । गिरिम् । न । पुरु-भोजसम् ॥ क्षु-मन्तम् । वाजम् । शतिनम् । सहस्रिणम् । मक्षु । गो-मन्तम् । ईमहे ॥ २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (वः) युष्मदर्थम् (दस्मम्) इषियुधीन्धिदसि० । उ० १ । १४५ । दसि दर्शनसंदंशनयोः—मक् । दर्शनीयम् (ऋतीषहम्) संहितिको दीर्घः । ऋतयो बाधकाः शत्रवः, तेषामभिभवितारम् (वसोः) वसुनः । धनात् (मन्दानम्) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ६० । मदि स्तुतिमोदमदादिषु—आनच् । आमोदयितारम् (अन्धसः) अन्नात् (अभि) सर्वतः (वत्सम्) शिशुम् (न) इव (स्वसरेषु) स्व—ऋ गतौ—पचाद्यच् । स्वेन आत्मना सरन्ति गच्छन्ति यत्र । स्वसराणि गृहनाम—निघ० ३ । ४ । गृहेषु । गोष्ठेषु (धेनवः) गावः (गीर्भिः) वाणीभिः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (नवामहे) णु स्तुतौ—लट् । स्तुमः ॥

भाषार्थ—(द्युक्षम्) व्यवहारों में गति वाले, (सुदानुम्) बड़े दानी, (तविषीभिः) सेनाओं से (आवृतम्) भरपूर (गिरिम् न) मेघ के समान (पुरुभोजसम्) बहुत पालन करने वाले, (क्षुमन्तम्) अन्न वाले, (वाजम्) बल वाले, (शतिनम्) सैकड़ों उत्तम पदार्थों वाले (सहस्रिणम्) सहस्रों श्रेष्ठ गुण वाले, (गोमन्तम्) उत्तम गौओं वाले [शूर पुरुष] को (मक्षु) शीघ्र [इन्द्र परमात्मा से] (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना कर के प्रयत्न करें कि वे अपने सन्तानों, अधिकारियों और प्रजाजनों सहित शूरवीर होकर व्यवहार कुशल होवें ॥ २ ॥

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये ।
येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ३ ॥

तत् । त्वा । यामि । सु-वीर्यम् । तत् । ब्रह्म । पूर्व-चित्तये ॥
येन । यति-भ्यः । भृगवे । धने । हिते । येन । प्रस्कण्वम् ॥
आविथ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वा) तुझ से (तत्) वह (सुवीर्यम्)

२—(द्युक्षम्) दिवु व्यवहारे—डिवि + क्षि निवासगत्योः—डप्रत्ययः । द्युषु व्यवहारेषु गन्तारम् (सुदानुम्) महादानिनम् (तविषीभिः) तु वृद्धौ पूर्तौ च—टिषच्, ङीप् । तविषी बलनाम—निघ० २ । ९ । बलैः । सेनाभिः (आवृतम्) आच्छादितम् । प्रपूर्णम् (गिरिम्) गिरिर्मेघनाम—निघ० १ । १० । मेघम् (न) इव (पुरुभोजसम्) बहुपालकम् (क्षुमन्तम्) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । टु क्षु शब्दे, क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च—कुप्रत्ययः स च डित् । क्षु अन्ननाम—निघ० २ । ७ । अन्नवन्तम् (वाजम्) अर्श आद्यच् । वाजवन्तम् । बलवन्तम् (शतिनम्) असंख्यश्रेष्ठपदार्थयुक्तम् (सहस्रिणम्) तपःसहस्राभ्यां विनीनी । पा० ५ । २ । १०२ । सहस्र—इनि । असंख्यश्रेष्ठगुणोपेतम् (मक्षु) शीघ्रम् (गोमन्तम्) प्रशस्तगोभिर्युक्तम् (ईमहे) याचामहे—निघ० ३ । १९ ॥

३—(तत्) तादृक् (त्वा) त्वाम् (यामि) अथापि वर्णलोपो भवति तत्त्वा यामीति—निरु० २ । १ । याचामि । याचे (सुवीर्यम्) महद्वीरत्वम्

बढ़ा वीरत्व और (तत्) वह (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (पूर्वचित्तये) पहिले ज्ञान के लिए (यामि) मैं मांगता हूं। (येन) जिस [वीरत्व और अन्न] से (धने हिते) धन के स्थापित होने पर (यतिभ्यः) यतियों [यत्नशीलों] के लिये (भृगवे=भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को और (येन) जिस से (प्रस्कण्वम्) बड़े बुद्धिमान् पुरुष को (आविथ) तू ने बचाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमात्मा की उपासना कर के पुरुषार्थ के साथ प्रथम श्रेणी के पराक्रमी, अन्नवान् और धनी होना चाहिये, जिसके अनुकरण से प्रयत्नशील पुरुष सुरक्षित रहें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८। ३। ९, १० ॥

येना॑ समु॒द्रमसृ॑जो म॒हीर॒पस्तदि॑न्द्र॒ वृष्णि॑ ते॒ शवः॑ ।
स॒द्यः सो अ॒स्य म॑हि॒मा न सं॒नशे॒ यं क्षो॒णीर॑नुचक्र॒दे ॥ ४ ॥

येन॑ । स॒मु॒द्रम् । असृ॑जः । म॒हीः । अ॒पः । तत् । इ॒न्द्र॒ । वृष्णि॑ । ते॒ । शवः॑ ॥ स॒द्यः । सः । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मा । न । स॒म्ऽनशे॑ । यम् । क्षो॒णीः । अ॒नु॒ऽच॒क्र॒दे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] से (समुद्रम्) समुद्र में (महीः) शक्तिशाली (अपः) जलों को (असृजः) तू ने उत्पन्न किया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (तत्) वह (ते) तेरा (वृष्णि) परा-

(तत्) (ब्रह्म) प्रवृद्धम् अन्नम्—निघ० २। ७ (पूर्वचित्तये) चिती संज्ञाने-क्तिन् प्रथमज्ञानाय (येन) सुवीर्येण ब्रह्मणा च (यतिभ्यः) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। यती प्रयत्ने—इन्। प्रयत्नशीलेभ्यः (भृगवे) प्रथिम्रदिभ्रस्जां सम्प्रसारणं सलोपश्च। उ० १। २८। भ्रस्ज पाके—कु। द्वितीयार्थे चतुर्थी। भृगुम्। परिपक्वज्ञानिनम् (धने) (हिते) स्थापिते (येन) (प्रस्कण्वम्) प्रकृष्टश्चासौ कण्वो मेधावी च तं यथा दयानन्दभाष्ये, ऋ० १। ४४। ६ (आविथ) अव रक्षणे—लिट्। त्वं ररक्षिथ ॥

४—(येन) शवसा। बलेन (समुद्रम्) जलौघम् (असृजः) त्वं सृष्टवान् (महीः) महतीः। शक्तिशालिनीः (अपः) जलानि (तत्) तादृक् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (वृष्णि) पराक्रमयुक्तम् (ते) तव (शवः) बलम्

क्रम युक्त (शवः) बल है। (सद्यः) अब भी (अस्य) उस [परमात्मा] की (सः) वह (महिमा) महिमा [हम से] (न) नहीं (संनशे) पाने योग्य है, (यम्) जिस [परमात्मा] को (क्षोणीः) लोकों ने (अनुचक्रदे) निरन्तर पुकारा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने मेघ मण्डल में और पृथिवी पर जल आदि पदार्थ और सब लोकों को उत्पन्न कर के अपने वश में रक्खा है, उसकी महिमा की सीमा को सृष्टि में कोई भी नहीं पा सकता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥
ईश्वरोपासनोदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते ।
सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ १ ॥

उत् । ऊं इति । त्ये । मधुमत्-तमाः । गिरः । स्तोमासः । ईरते ॥ सत्राजितः । धन-साः। अक्षित-ऊतयः । वाज-यन्तः। रथाः-इव ॥१ ॥

भाषार्थ—(त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अतिमधुर (स्तोमासः) स्तोत्र (उ) और (गिरः) वाणियां (उत् ईरते) ऊंची जाती हैं। (इव) जैसे

(सद्यः) इदानीमपि (सः) (अस्य) इन्द्रस्य । परमेश्वरस्य (महिमा) महत्त्वम् (न) निषेधे (संनशे) नशत्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । नश व्याप्तौ—केन्प्रत्ययः । सम्यक् प्रापणीयः (यम्) इन्द्रम् (क्षोणीः) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । टुक्षु शब्दे—नि, ङीष् । क्षोणी पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । क्षोण्यः । पृथिव्यः । लोकाः (अनुचक्रदे) निरन्तरं क्रन्दन्ति स्म ॥

१—(उत्) ऊर्ध्वम् (उ) चार्थे (त्ये) ते (मधुमत्तमाः) अतिशयेन मधुराः(गिरः) वाण्यः (स्तोमासः) स्तोत्राणि (ईरते) गच्छन्ति (सत्राजितः) सत्रा सत्यनाम—निघ० ३ । १० । सत्रा सत्येन जेतारः(धनसाः) जनसनखन-

(सत्राजितः) सत्य से जीतने वाले, (धनसाः) धन देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय रक्षा करने वाले, (वाजयन्तः) बल प्रकट करते हुये (रथाः) रथ [आगे बढ़ते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे शूर वीरों के रथ रण क्षेत्र में विजय पाने के लिये क्रम से चलते हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों और दुष्टों को वश में करने के लिये परमात्मा की स्तुति को बड़े आनन्द से किया करें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ३ । १५, १६, साम ० उ ० ६ । १ । ६ और आगे हैं—अ ० २ ० । ५४ । १, २ तथा म ० १ साम० पू ० ३ । ६ । ४ में भी है ॥

कण्वा इव भृगवः सूर्या इव विश्वमिद् धीतमानशुः ।
इन्द्रं स्तोमेभिर्महयन्त आयवः प्रियमेधासो अस्वरन् ॥ २ ॥

कण्वाः-इव । भृगवः । सूर्याः-इव । विश्वम् । इत् । धीतम् । आनशुः ॥ इन्द्रम् । स्तोमेभिः । महयन्तः । आयवः । प्रिय-मेधासः । अस्वरन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कण्वाः इव) बुद्धिमानों के समान और (सूर्याः इव) सूर्यों के समान [तेजस्वी], (भृगवः) परिपक्व ज्ञान वाले, (महयन्तः) पूजते हुये, (प्रियमेधासः) यज्ञ को प्रिय जानने वाले (आयवः) मनुष्यों ने (विश्वम्) व्यापक, (धीतम्) ध्यान किये गये (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (इत्)

क्रमुगमो विट् । पा ० ३ । २ । ६७ । षण संभक्तौ—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा ० ६ । ४ । ४१ । इत्यात्वम् । धनानां संभक्तारः । धनप्रदाः (अक्षितोतयः) अक्षीणरक्षणाः (वाजयन्त) वाज—क्यच्, शतृ । वाजं बलमिच्छन्तः (रथाः) युद्धयानानि (इव) यथा ॥

२—(कण्वाः) मेधाविनः (इव) यथा (भृगवः) सू० ६ । २ । परिपक्वज्ञानिनः (सूर्याः) प्रकाशमानाः सूर्यलोकाः (इव) यथा (विश्वम्) व्यापकम् (इत्) एव (धीतम्) ध्यातम् (आनशुः) प्रापुः (इन्द्रम्) परमात्मानम् (स्तोमेभिः) स्तोत्रैः (महयन्तः) पूजयन्तः (आयवः) मनुष्याः—निघ ० २ । ३ (प्रियमेधासः) मिधृ मेधृ संगमे हिंसायां मेधायां च-अच्, असुक् च । मेधो यज-

ही (स्तोमेभिः) स्तोत्रों से (आनशुः) पाया है और (अस्वरन्) उच्चारा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य बुद्धिमानों और सूर्यों के समान प्रतापी होकर परमात्मा के गुणों को गाते हुये आत्मोन्नति करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ११ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ११ त्रिष्टुप् ; ३, ६, ६ विराडार्षी त्रिष्टुप् ४, ५, ७, १० निचृत् त्रिष्टुप् ; ८ भूरिक् पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रः पूर्भिदातिरद्दासमर्कैर्विदद्वसुर्दयमानो वि शत्रून् ।
ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधानो भूरिदात्र आपृणद्रोदसी उभे ॥ १ ॥

इन्द्रः । पूः-भित् । आ । अतिरत् । दासम् । अर्कैः । विदत्-वसुः । दयमानः । वि । शत्रून् ॥ ब्रह्म-जूतः । तन्वा । ववृधानः । भूरि-दात्रः । आ । अपृणत् । रोदसी इति । उभे इति १

भाषार्थ—(विदद्वसुः) ज्ञानी श्रेष्ठ पुरुषों से युक्त (पूर्भित्) [शत्रुओं के] गढ़ों को तोड़ने वाले, (शत्रून्) बैरियों को (वि) विविध प्रकार (दयमानः) मारते हुये (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (दासम्) दास [सेवक] को (आ अतिरत्) बढ़ाया है ।

नाम—निघ० ३ । १७ । मेधा यज्ञाः प्रिया येषां ते (अस्वरन्) शब्दम् अकुर्वन् । उच्चारितवन्तः ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (पूर्भित्) शत्रूणां पुरां दुर्गाणां भेत्ता (आ अतिरत्) प्रावर्धयत् (दासम्) दासृ दाने—घञ् । सेवकम् (अर्कैः) अर्चनीयैर्मन्त्रैर्विचारैः (विदद्वसुः) विद ज्ञाने शतृ । विदन्तो जानन्तो वसवः श्रेष्ठपुरुषा यस्य सः (दयमानः) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु—शानच् । विदद्वसुर्दयमानो विशत्रूनिति हिंसाकर्मा—निरु० ४ । १७ । हिंसन् । नाशयन् (वि) विविधम् (शत्रून्) (ब्रह्मजूतः) ब्रह्मभिर्महाविद्वद्भिः प्रेरितः (तन्वा)

(ब्रह्मजूतः) ब्रह्माओ [महाविद्वानों] से प्रेरणा किये गये, (तन्वा) उपकार शक्ति से (वावृधानः) बढ़ते हुये, (भूरिदात्रः) बहुत से अस्त्र शस्त्र वाले [शूर] ने (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि को (आ) भले प्रकार (अपृणात्) तृप्त किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस राजा की सभा में विद्वान् लोग सम्मति दाता होते हैं, वह राजा शत्रुओं का नाश और प्रजा का पालन कर के विज्ञान द्वारा पृथिवी और आकाश को वश में करके संसार को सुखी करता है ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ३४ । १—११ ॥

मखस्यं ते तविषस्य प्र जूतिमियर्मि वाचममृताय भूषन् ।
इन्द्र क्षितीनामसि मानुषीणां विशां दैवीनामुत पूर्वयावा॥२॥

मखस्यं । ते । तविषस्यं । प्र । जूतिम् । इयर्मि । वाचम् । अमृताय । भूषन्॥ इन्द्र । क्षितीनाम् । असि । मानुषीणाम् । विशाम् । दैवीनाम् । उत । पूर्व-यावा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अमृताय) अविनाशी सुख के लिये (वाचम्) अपनी वाणी को (भूषन्) शोभित करता हुआ मैं (ते) तेरे (तविषस्य) बड़े (मखस्य) यज्ञ के (जूतिम्) वेग को (प्र इयर्मि) प्राप्त होता हूं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] तू (क्षितीनाम्) भूमियों का (उत) और (मानुषीणाम्)

उपकृत्या (वावृधानः) वर्धमानः (भूरिदात्रः) दादिभ्यश्छन्दसि । उ० ४ । १७० । दाप् लवने—त्रन् । भूरीणि बहूनि दात्राणिच्छेदनसाधनानि शस्त्रास्त्राणि यस्य सः । प्रभूतायुधः (आ) समन्तात् (अपृणत्) पृण प्रीणने—लङ् । तर्पितवान् (रोदसी)द्यावापृथिव्यौ । आकाशभूमी (उभे) द्वे ॥

२—(मखस्य) यज्ञस्य—निघ० ३ । १७ (ते) तव (तविषस्य) महतः निघ० ३ । ३ (प्र) प्रकर्षेण (जूतिम्) वेगम् (इयर्मि) प्राप्नोमि (वाचम्) स्ववाणीम् (अमृताय) अविनाशिने सुखाय (भूषन्) अलंकुर्वन् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (क्षितीनाम्) पृथिवीनाम्-निघ० १ । १ (असि) (मानुषीणाम्)

मनुष्य सम्बन्धी (दैवीनाम्) उत्तम गुण वाली (विशाम्) प्रजाओं का (पूर्व-यावा) अग्रगामी (अस्ति) है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजाजनों को चाहिये कि धर्मज्ञ राजा की आज्ञा का पालन करते रहें कि जिस से वह सब खेती आदि पदार्थों और मनुष्यों की रक्षा कर सके ॥ २ ॥

इन्द्रो॑ वृ॒त्रम॑वृणो॒च्छर्ध॑नीतिः॒ प्र मा॒यिना॑ममिना॒द् वर्प॑णीतिः ।
अह॒न् व्यं॑समु॒शध॒ग् वने॑ष्वा॒विर्धेना॑ अकृणोद् रा॒म्याणा॑म् ॥३॥

इन्द्रः॑ । वृ॒त्रम् । अ॒वृ॒णो॒त् । शर्ध॑-नीतिः । प्र । मा॒यिना॑म् । अ॒मि॒ना॒त् । वर्प॑-नीतिः ॥ अह॑न् । वि-अं॑सम् । उ॒शध॑क् । वने॑षु । आ॒विः । धेनाः॑ । अ॒कृ॒णो॒त् । रा॒म्याणा॑म् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शर्धनीतिः) सेना के नायक (इन्द्रः) इन्द्र [प्रतापी राजा] ने (वृत्रम्) शत्रु को (अवृणोत्) घेर लिया, (मायिनाम्) कपटी लोगों का (वर्पणीतिः) कपटो नेता (प्र अमिनात्) अत्यन्त घबराया । (उशधक्) हिंसकों के जलाने वाले ने (वनेषु) वनों में [छिपे] (व्यंसम्) विविध पीड़ा देने वाले को (अहन्) मारा, और (राम्याणाम्) आनन्द देने वाले

मनुष्यसम्बन्धिनीनाम् (विशाम्) प्रजानाम् (दैवीनाम्) दिव्यगुणयुक्तानाम् (उत) अपि च (पूर्वयावा) या गतिप्रापणयोः—वनिप् । अग्रगामी ॥

३—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (वृत्रम्) शत्रुम् (अवृणोत्) आच्छादितवान् (शर्धनीतिः) शर्धतिरुत्साहार्थः—घञ्+णीञ् प्रापणे—क्तिच् । शर्धो बलनाम—निघ० २ । ९ । बलस्य सैन्यस्य नायकः (प्र) प्रकर्षेण (मायिनाम्) कपटिनाम् (अमिनात्) मीञ् हिंसायाम्—लङ् । कर्तृप्रयोगः कर्मण्यर्थे । हिंसितो दुःखितोऽभूत् (वर्पणीतिः) खष्पशिल्पशष्प० । उ० ३ । २८ । वृञ् आच्छादने—पप्रत्ययः+णीञ् प्रापणे—क्तिच् । वर्प आवरकः कपटी नीतिर्नेता (अहन्) अवधीत् (व्यंसम्) अमेः सन् । उ० ५ । २१ । अम पीडने—सन् । विविधपीडकम् (उशधक्) उष वधे—क+दह दाहे—क्विप्, षस्य शः । हिंसकानां दाहकः (वनेषु) जङ्गलेषु (आविः) प्राकट्ये (धेनाः) वाचः (अकृणोत्) कृवि हिंसाकरणयोः—लङ् । अकरोत् (राम्याणाम्) आह्लादयितॄणाम् । पा०

पुरुषों की (धेनाः) वाणियों को (आविः अकृणोत्) प्रकट किया ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब शूर सेनापति दुष्टों को मारकर प्रजा को सुखी करता है, तब लोग आनन्द मनाते हुये विविध प्रकार स्तुति करते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—३३ । २६ ॥

इन्द्रः स्वर्षा जनयन्नहानि जिगायोशिग्भिः पृतना अभिष्टिः । प्रारोचयन्मनवे केतुमह्नामविन्दज्ज्योतिर्बृहते रणाय ॥ ४ ॥

इन्द्रः । स्वः-साः । जनयन् । अहानि । जिगाय । उशिक्-भिः । पृतनाः । अभिष्टिः ॥ प्र । अरोचयत् । मनवे । केतुम् । अह्नाम् । अविन्दत् । ज्योतिः । बृहते । रणाय ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अहानि) दिनों [दिनों के कर्मों] को (जनयन्) प्रकट करते हुये, (स्वर्षाः) सुख देने हारे (अभिष्टिः) सब ओर मेल करने वाले, (इन्द्रः) इन्द्र [तेजस्वी सेनापति] ने (उशिग्भिः) प्रीति युक्त बुद्धिमानों के साथ (पृतनाः) सङ्ग्रामों को (जिगाय) जीता है । उसने (मनवे) मनन करने वाले मनुष्य के लिये (अह्नाम्) दिनों के (केतुम्) ज्ञान को (प्र अरोचयत्) प्रकाशित कर दिया है और (बृहते) बड़े (रणाय) रण के जीतने के लिये (ज्योतिः) तेज (अविन्दत्) पाया है ॥ ४ ॥

---

३ । १ । १२४ । रमु क्रीडायाम्, ण्यर्थाद् ण्यत् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । इति कर्तृप्रत्ययः । रमयन्ति आनन्दयन्ति तेषाम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ३३ । २६ । रमयितॄणां रामाणाम् आनन्दयितॄणां पुरुषाणाम् ॥

४—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (स्वर्षाः) अ० ५ । २ । ८ । स्वः+षणु दाने—विट्, आत्त्वं षत्वं च । सुखस्य दाता (जनयन्) प्रकटयन् (अहानि) दिनानि । दिनकर्माणि (जिगाय) जि जये—लिट् । जितवान् (उशिग्भिः) वशेः कित् । उ० २ । ७१ । वश कान्तौ—इजिप्रत्ययः । उशिजो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । कामयमानैर्मेधाविभिः (पृतनाः) सङ्ग्रामान्—निघ० २।१७ (अभिष्टिः) यज संगतिकरणे—क्तिन् । अभितःसंगतिकर्ता (प्र) प्रकर्षेण (अरोचयत्) अदीपयत् (मनवे) मननशीलाय मनुष्याय (केतुम्) प्रज्ञाम् (अह्नाम्) दिनानाम् (अविन्दत्) अलभत (ज्योतिः) तेजः (बृहते) महते (रणाय) रणं सङ्ग्रामं जेतुम् ॥

भावार्थ—शूर सेनापति दुष्टों की बुराई और शिष्टों की भलाई जताकर शत्रुओं का नाश करे और न्याय की पताका फैलाकर प्रजा को कष्ट से छुड़ावे ॥ ४ ॥

इन्द्रस्तुजो बर्हणा आ विवेश नृवद् दधानो नर्या पुरूणि ।
अचेतयद् धिय इमा जरित्रे प्रेमं वर्णमतिरच्छुक्रमासाम् ॥५॥

इन्द्रः । तुजः । बर्हणाः । आ । विवेश । नृ-वत् । दधानः । नर्या । पुरूणि ॥ अचेतयत् । धियः । इमाः । जरित्रे । प्र । इमम् । वर्णम् । अतिरत् । शुक्रम् । आसाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(नृवत्) नरों [नेताओं के समान] (पुरूणि) बहुत से (नर्या) नरों के योग्य कर्मों को (दधानः) धारण करते हुये (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] ने (बर्हणाः) बढ़ती हुयी (तुजः) सताने वाली सेनाओं में (आ विवेश) प्रवेश किया। (इमाः) इन (धियः) बुद्धियों को (जरित्रे) स्तुति करने वाले के लिये (अचेतयत्) चेताया, और (आसाम्) इन [प्रजाओं] के बीच (इमम्) इस (शुक्रम्) शुद्ध (वर्णम्) स्वीकार करने योग्य यश को (प्र अतिरत्) बढ़ाया ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो शूर सेनापति आगे बढ़ती हुयी शत्रु सेना में घुसकर सङ्ग्राम जीतता है, वही संसार में कीर्ति पाता है ॥ ५ ॥

महो महानि पनयन्त्यस्येन्द्रस्य कर्म सुकृता पुरूणि ।
वृजनेन वृजिनान्त्सं पिपेष मायाभिर्दस्यूँरभिभूत्योजाः ॥ ६ ॥

५—(इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (तुजः) तुज हिंसायाम्-क्विप्। हिंसिकाः शत्रुसेनाः (बर्हणाः) बृहि वृद्धौ—युच्। वर्धमानाः (आ विवेश) प्रविष्टवान् (नृवत्) नेतृवत् (दधानः) धारयन् (नर्या) तत्र साधुः। पा० ४।४।९८। नर—यत्। नरयोग्यानि कर्माणि (पुरूणि) बहूनि (अचेतयत्) अज्ञापयत् (धियः) ध्यै चिन्तायाम्—क्विप्। प्रज्ञाः (जरित्रे) स्तोत्रे (इमम्) (वर्णम्) स्वीकरणीयं यशः (प्र अतिरत्) प्रावर्धयत् (शुक्रम्) शुद्धम् (आसाम्) प्रजानां मध्ये ॥

मुहः । मुहानि । पुनयन्ति । अस्य । इन्द्रस्य । कर्म । सुकृता । पुरूणि ॥ वृजनेन । वृजिनान् । सम् । पिपेष । मायाभिः । दस्यून् । अभिभूति-ओजाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(महः) महान् लोग (अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] के (सुकृता) धर्म से किये हुये (पुरूणि) बहुत से (महानि) महान् [पूजनीय] (कर्म) कर्मों को (पनयन्ति) सराहते हैं । (अभिभूत्योजाः) हरा देने वाले बल से युक्त [शूर] ने (वृजिनान्) पापी (दस्यून्) साहसी चोरों को (वृजनेन) बल के साथ (मायाभिः) बुद्धियों से (सं पिपेष) पीस डाला ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस प्रतापी धर्मात्मा राजा की कीर्ति को बड़े बड़े लोग गाते हों, वह राजा अपनी कीर्ति स्थिर रखने के लिये दुराचारियों का नाश कर के प्रजा को सुखी रक्खे ॥ ६ ॥

युधेन्द्रो मुह्ना वरिवश्चकार देवेभ्यः सत्पतिश्चर्षणिप्राः ।
विवस्वतः सदने अस्य तानि विप्रा उक्थेभिः कवयो गृणन्ति ॥७॥

युधा । इन्द्रः । मुह्ना । वरिवः । चुकार । देवेभ्यः । सत्-पतिः । चुर्षणि-प्राः ॥ विवस्वतः । सदने । अस्य । तानि ।

६—(महः) मह पूजायाम्—क्विप् । महान्तः पुरुषाः (महानि) मह पूजायाम्—अप् । महान्ति (पनयन्ति) छान्दसो ह्रस्वः । पनायन्ति । स्तुवन्ति (अस्य) प्रसिद्धस्य (इन्द्रस्य) महातेजस्विनः पुरुषस्य (कर्म) कर्माणि (सुकृता) धर्मेण सम्पादितानि (पुरूणि) बहूनि (वृजनेन) कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः । उ० २ । ८१ । वृजी वर्जने—क्यु । बलेन—निघ० २ । ९ (वृजिनान्) वृजेः किच्च । उ० २ । ४७ । वृजी वर्जने—इनच् । वृजिन—अर्श आद्यच् । वृजन पापं तद्वतः । पापिनः पुरुषान् (सं पिपेष) पिष्लृ संचूर्णने—लिट् । सम्यक् चूर्णीचकार (मायाभिः) प्रज्ञाभिः—निघ० ३ । ९ (दस्यून्) साहसिकान् । वञ्चकान् । चोरान् (अभिभूत्योजाः) अभिभूति पराजयकरमोजो बलं यस्य सः ॥

विप्राः । उक्थेभिः । कवयः । गृणन्ति ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सत्पतिः) सत् पुरुषों के पालने वाले, (चर्षणिप्राः) मनुष्यों के मनोरथ पूरण करने वाले (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] ने (युधा) युद्ध के साथ (मह्ना) अपनी महिमा से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (वरिवः) सेवनीय धन (चकार) किया है। (विवस्वतः) (विविध निवासों वाले [धनी मनुष्य] के (सदने) घर में (अस्य) इस [पुरुष] के (तानि) उन [कर्मों] को (विप्राः) बुद्धिमान् (कवयः) ज्ञानी पुरुष (उक्थेभिः) अपने वचनों से (गृणन्ति) सराहते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य परोपकारी होकर बड़े कष्ट उठाकर सत्पुरुषों का पालन करते हैं, वे ही संसार में बड़े गिने जाते और कीर्तिमान् होते हैं ॥ ७ ॥

सत्रासाहं॒ वरे॑ण्यं सहो॒दां स॑स॒वांसं॒ स्व॑र॒पश्च॑ दे॒वीः ।
स॒सान॒ यः पृ॑थि॒वीं द्यामु॒तेमामिन्द्रं॑ मद॒न्त्यनु॒ धीर॑णासः ॥८॥

स॒त्रा-सह॑म् । वरे॑ण्यम् । स॒हः-दाम् । स॒स-वांस॑म् । स्वः॑ । अ॒पः । च॒ । दे॒वीः ॥ स॒सान॑ । यः । पृ॒थि॒वीम् । द्याम् । उ॒त । इ॒माम् । इन्द्र॑म् । म॒द॒न्ति॒ । अनु॑ । धी-र॑णासः ॥ ८ ॥

७—(युधा) युद्धेन (इन्द्रः) महातेजस्वी पुरुषः (मह्ना) धापृवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । मह पूजायाम्—नप्रत्ययः । महिम्ना (वरिवः) वृञ् वरणे यङ्लुकि, असुन् । ऋतश्च । पा० ७ । ४ ९२ । अभ्यासस्य रिगागमः, टिलोपः । वरिवो धननाम—निघ० २ । १० । वरणीयं धनम् (चकार) उत्पादयामास (देवेभ्यः) विदुषामर्थम् (सत्पतिः) सतां पालकः (चर्षणिप्राः) प्रा पूरणे—विच् । मनुष्याणां मनोरथपूरकः (विवस्वतः) वि+वस निवासे—क्विप, मतुप् । विवस्वन्तो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । बहुनिवासयुक्तस्य धनिनः पुरुषस्य (सदने) गृहे (अस्य) इन्द्रस्य (तानि) प्रसिद्धानि कर्माणि (विप्राः) मेधाविनः (उक्थेभिः) स्ववचनैः (कवयः) विद्वांसः (गृणन्ति) स्तुवन्ति ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [वीर] ने (इमाम्) इस (पृथिवीम्) पृथिवी (उत) और (द्याम्) आकाश को (ससान) सेवा है, [उस] (सत्रा-साहम्) सत्यों के सहने वाले, (वरेण्यम्) स्वीकार करने योग्य, (सहोदाम्) बल के देने वाले, (स्वः) सुख (च) और (देवीः) उत्तम (अपः) प्राणों के (ससवांसम्) दान करने वाले, (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] के (अनु) पीछे (धीरणासः) उत्तम बुद्धियों के लिये युद्ध करने वाले लोग (मदन्ति) सुख पाते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो विद्वान् पुरुष पृथिवी और आकाश के पदार्थों से विद्या द्वारा उपयोग लेता है, उसी सत्यवादी र के पीछे चलकर सब सत्यकर्मी वीर लोग आनन्द पाते हैं ॥ ८ ॥

ससानात्याँ उत सूर्यं ससानेन्द्रः ससान पुरुभोजसं गाम् ।
हिरण्ययमुत भोगं ससान हत्वी दस्यून् प्रार्यं वर्णमावत् ॥९॥

ससान । अत्यान् । उत । सूर्यम् । ससान । इन्द्रः । ससान । पुरु-भोजसम् । गाम् ॥ हिरण्ययम् । उत । भोगम् । ससान । हत्वी । दस्यून् । प्र । आर्यम् । वर्णम् । आवत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] ने (अत्यान्) घोड़ों को

८—(सत्रासाहम्) यः सत्रा सत्यानि सहते तम् (वरेण्यम्) स्वीकरणीयम् (सहोदाम्) बलस्य दातारम् (ससवांसम्) षणु दाने—क्वसु । दत्तवन्तम् (स्वः) सुखम् (अपः) प्राणान् (च) (देवीः) दिव्याः (ससान) षण सम्भक्तौ—लिट् । सेवितवान् । उपयुक्तवान् (यः) इन्द्रः (पृथिवीम्) भूमिम् । भूमिस्थपदार्थानित्यर्थः (द्याम्) आकाशम् । आकाशस्थपदार्थानित्यर्थः (उत) अपि च (इमाम्) दृश्यमानाम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (मदन्ति) हृष्यन्ति (अनु) अनुसृत्य (धीरणासः) धीः प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । रणः संग्रामनाम—निघ० २ । १७ । असुगागमः । धीभ्यः प्रशस्तप्रज्ञाभ्यो रणः सङ्ग्रामो येषां ते ॥

९—(ससान) म० ८ । सेवितवान् । उपयुक्तवान् (अत्यान्) अश्वान्-

(सस्रान) सेवा है (उत) और (सूर्यम्) सूर्य [समान प्रतापी वीर] को (ससान) सेवा है, (पुरुभोजसम्) बहुत पालन करने वाली (गाम्) पृथिवी [वा गौ] को (ससान) सेवा है। (हिरण्ययम्) सुवर्ण (उत) और (भोगम्) भोग [उत्तम पदार्थों के उपयोग] को (ससान) सेवा है, (दस्यून्) साहसी चोरों को (हत्वी) मारकर (वर्णम्) स्वीकार करने योग्य (आर्यम्) आर्य [श्रेष्ठ धर्मात्मा पुरुष] की (प्र आवत्) रक्षा की है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम घोड़ों, श्रेष्ठ वीर पुरुषों, राज्य, सुवर्ण आदि धन, और अन्न आदि भोगों के रखने में समर्थ होता है, वही दुष्टों का नाश कर शिष्टों की रक्षा करता है ॥ ९ ॥

इन्द्र॒ ओष॑धीरसनो॒दहा॑नि॒ वन॒स्पतीँ॑रसनोद॒न्तरि॑क्षम् ।
बि॒भेद॑ व॒लं नु॑नु॒दे वि॒वाचोऽथा॑भवद्द॒मि॒ताभिक्र॑तूनाम् ॥१०॥

इन्द्रः॑ । ओष॑धीः । अ॒स॒नो॒त् । अहा॑नि । वन॒स्पती॑न् । अ॒स॒नो॒त् । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ बि॒भेद॑ । व॒लम् । नु॒नु॒दे । वि-वा॑चः । अथ॑ । अ॒भ॒व॒त् । द॒मि॒ता । अ॒भि-क्र॑तूनाम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] ने (अहानि) दिनों को और (ओषधीः) ओषधियों [सोम अन्न आदि] को (असनोत्) सेवा है, (वनस्पतीन्) वनस्पतियों [पीपल आदि] और (अन्तरिक्षम्) आकाश

यश्च । उ० ४ । ११२ । अत सातत्यगमने—यक् । अत्योऽश्वनाम—निघ० १ । १४ । अश्वान् (उत) अपि च (सूर्यम्) सूर्यमिव प्रतापिनं वीरम् (ससान) (इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुषः (ससान) (पुरुभोजसम्) बहुपालयित्रीम् (गाम्) भूमिं धेनुं वा (हिरण्ययम्) सुवर्णादिधनम् (उत) (भोगम्) उत्तमपदार्थोपयोगम् (हत्वी) स्नात्व्यादयश्च । पा० ७ । १ । ४९ । इति ईकारः । हत्वा (दस्यून्) साहसिकान् । चोरान् (प्र) प्रकर्षेण (आर्यम्) श्रेष्ठं धार्मिकम् (वर्णम्) वरणीयम् (आवत्) अव रक्षणे—लङ् । अरक्षत् ॥

१०—(इन्द्रः) महाप्रतापी पुरुषः (ओषधीः) सोमान्नादिपदार्थान् (असनोत्) षण संभक्तौ—लङ् । सेवितवान् (अहानि) दिनानि (वनस्पतीन्) पिप्पलादिवृक्षान् (असनोत्) सेवितवान् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (बिभेद)

को (असनोत्) सेवा है । उसने (वलम्) घेरने वाले शत्रु को (विभेद) छिन्न भिन्न किया और (विवाचः) विरुद्ध बोलने वालों को (नुनुदे) निकाल दिया (अथ) फिर (अभिक्रतूनाम्) विरुद्ध कर्म वालों [अभिमानी दुष्टों] का (दमिता) दमन करने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सदा समय पर ध्यान रखकर पृथिवी और आकाश के पदार्थों को उपयोगी करके विरोधी दुष्टों को निकाल देवे ॥१०

शुनं हुवेम मघवानमिन्द्रमस्मिन् भरे नृतमं वाजसातौ ।
शृण्वन्तमुग्रमूतये समत्सु घ्नन्तं वृत्राणि संजितं धनानाम् ॥११

शुनम् । हुवेम । मघ-वानम् । इन्द्रम् । अस्मिन् । भरे । नृ-तमम् । वाज-सातौ ॥ शृण्वन्तम् । उग्रम् । ऊतये । समत्-सु । घ्नन्तम् । वृत्राणि । सम्-जितम् । धनानाम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शुनम्) सुख देने वाले (मघवानम्) बड़े धनी, (अस्मिन्) इस (भरे) युद्ध के बीच (वाजसातौ) अन्न के पाने में (नृतमम्) बड़े नेता, (शृण्वन्तम्) सुनने वाले, (उग्रम्) तेजस्वी, (समत्सु) संग्रामों में (वृत्राणि) शत्रुओं को (घ्नन्तम्) मारने वाले, (धनानाम्) धनों के (संजितम्) जीत लेने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी जन] को (ऊतये) रक्षा के लिये (हुवेम)

भिन्नवान् (वलम्) वल संवरणे-अच् । आवरकं दैत्यम् (नुनुदे) णुद प्रेरणे—लिट् । निराचकार (विवाचः) विरुद्धवाग्युक्तान् (अथ) अपि च (अभवत्) (दमिता) दमु उपशमे—तृच् । नियन्ता (अभिक्रतूनाम्) अभि आभिमुख्येन क्रतवः कर्माणि येषां तेषाम् । विरुद्धकर्मणाम् । अभिमानिनां दुष्टानाम् ॥

११—(शुनम्) सुखप्रदम् (हुवेम) आह्वयेम (मघवानम्) महाधनिनम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (अस्मिन्) वर्तमाने (भरे) संग्रामे—निघ० २। १७ (नृतमम्) अतिशयेन नेतारम् (वाजसातौ) अन्नस्य लाभे (शृण्वन्तम्) श्रोतारम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (ऊतये) अवनाय । रक्षणाय (समत्सु) सम्+अद भक्षणे, यद्वा, सम्+मदी हर्षे-क्विप् । समदः समदो वात्तेः सम्मदो वा मदतेः—निरु० ९।१७ । संग्रामेषु—निघ० २।१७ (घ्नन्तम्) नाशयन्तम् (वृत्राणि)

हम बुलावें ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रजागण न्यायकारी, प्रतापी, शत्रुनाशक, शूर राजा का सदा आदर करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में है—उ० ४ । ४ । ७ । और विना भेद ऋग्वेद में चौदह [१४] वार है—म० ३ । सू० ३०, ३१, ३२, ३४, ३५, ३६, ३८, ३९, ४३, ४८, ४९, ५०, म० १० । सू० ८९, १०४ के अन्त में ॥

सूक्तम् १२ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ६ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; २, ३ विराट् त्रिष्टुप्; ४ स्वराडार्षी पङ्क्तिः; ५ निचृत् त्रिष्टुप् ७ त्रिष्टुप् ॥

सेनापतिकर्तव्योपदेशः—सेनापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

उदु ब्रह्माण्यैरत श्रवस्येन्द्रं समर्ये महया वसिष्ठ ।
आ यो विश्वानि शवसा ततानोपश्रोता म ईवतो वचांसि ॥१॥

उत् । ऊं इति । ब्रह्माणि । ऐरत । श्रवस्या । इन्द्रम् । स-मर्ये । महय । वसिष्ठ ॥ आ । यः । विश्वानि । शवसा । ततान । उप-श्रोता । मे । ईवतः । वचांसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(श्रवस्या) यश के लिये हितकारी (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (उ) ही (उत् ऐरत) उन [विद्वानों] ने उच्चारण किया है, (वसिष्ठ) हे अतिश्रेष्ठ ! (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (समर्ये) युद्ध में (महय) पूज । (यः) जिस (उपश्रोता) आदर से सुनने वाले [शूर] ने

शत्रून् (सजितम्) सम्यग् जेतारम् (धनानाम्) सुवर्णादीनाम् ॥

१—(उत् ऐरत) ईर गतौ—लङ् । ते विद्वांस उदीरितवन्तः । उच्चारितवन्तः (उ) एव (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (श्रवस्या) श्रवस्—यत् । श्रवो धनम्—निघ० २ । १० । श्रवसे यशसे हितानि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनापतिम् (समर्ये) मर्यो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । सह शब्दस्य सभावः । समर्ये संग्रामनाम—निघ० २ । १७ । मर्यैर्मनुष्यैः सह वर्तमाने युद्धे (महय) पूजय (वसिष्ठ) वसु—इष्ठन् । हे अतिशयेन वसो श्रेष्ठ (आ) समन्तात् (यः)

(ईवतः) उद्योगी (मे) मेरे (विश्वानि) सब (वचांसि) वचनों को (शवसा) बल के साथ (आ) अच्छे प्रकार (ततान) फैलाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उपदेश करें कि सब श्रेष्ठ पुरुष शूरवीर धर्मात्मा जन का सत्कार करें, जिस से वह उद्योगी पुरुषों की शिक्षा को संसार में फैलावे ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में हैं—७। २३। १—६ ॥

अया॑मि॒ घोष॑ इन्द्र दे॒वजा॑मिरिर॒ज्यन्त॒ यच्छु॒रुधो॒ विवा॑चि ।
न॒हि स्वमायु॑श्चिकि॒ते जने॑षु॒ तानीदंहां॒स्यति॑ पर्ष्य॒स्मान् ॥२॥

अया॑मि । घोषः॑ । इ॒न्द्र॒ । दे॒व-जा॑मिः । इ॒र॒ज्यन्त॑ । यत् । शु॒रुधः॑ । वि-वा॑चि ॥ न॒हि । स्वम् । आयुः॑ । चि॒कि॒ते । जने॑षु । तानि॑ । इत् । अंहां॑सि । अति॑ । प॒र्षि॒ । अ॒स्मान् ॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी वीर] (देवजामिः) विद्वानों को प्राप्त होने वाला (घोषः) शब्द (अयामि) ऊंचा किया गया है, (यत्) जिस [शब्द] को (शुरुधः) शीघ्र रोकने वाले पुरुष (विवाचि) विविध वाणियों से युक्त व्यवहार [वा संग्राम] में (इरज्यन्त) सेवते हैं। (स्वम्) अपने (आयुः) जीवन काल को (जनेषु) मनुष्यों में (नहि) किसी ने नहीं

इन्द्रः सेनापतिः (विश्वानि) सर्वाणि (शवसा) बलेन (ततान) विस्तारयामास (उपश्रोता) आदरेण श्रवणकर्ता (मे) मम (ईवतः) ईङ् गतौ—क्विप्, ईर्गतिः—मतुप्। गतियुक्तस्य। उद्योगिनः पुरुषस्य (वचांसि) वचनानि ॥

२—(अयामि) यमु उपरमे कर्मणि लुङ्। उद्यतः। उच्चैर्गतः (घोषः) शब्दः (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् वीर (देवजामिः) वसिवपियजि०। उ० ४। १२५। जमु अदने गतौ च—इञ्। जमतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। यो देवान् विदुषः पुरुषान् जमति प्राप्नोति सः (इरज्यन्त) लटि रूपम्। इरज्यतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३। ५। इरज्यन्ति। सेवन्ते (यत्) यं घोषम् (शुरुधः) शु गतौ—डु + रुधिर् आवरणे—क्विप्। शवतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४, परिचरणकर्मा—निघ० ३। ५। आशु इति च शु इति च क्षिप्रनामनी भवतः—निरु० ६। १। शीघ्ररोधनशीलाः (विवाचि) विवाक् संग्रामनाम—निघ० २। १७। विविधवाणीयुक्ते व्यवहारे संग्रामे वा (नहि) न कोऽपि (स्वम्) स्वकीयम्

(चिकिते) जाना है, (तानि) उन (अंहासि) पापों को (इत्) ही (अति) लांघ कर (अस्मान्) हमें (पर्षि) पाल ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेद वचनों को भली भाति मानता हुआ और मृत्यु को सदा अपने पास जानता हुआ पापों को छोड धर्म करने में शीघ्रता करता रहे ॥ २ ॥

युजे रथं गवेषणं हरिभ्यामुप ब्रह्माणि जुजुषाणमस्थुः ।
वि बाधिष्ट स्य रोदसी महित्वेन्द्रो वृत्राण्यप्रती जघन्वान् ॥३॥

युजे । रथम् । गो-एषणम् । हरि-भ्याम् । उप । ब्रह्माणि । जुजुषाणम् । अस्थुः ॥ वि । बाधिष्ट । स्यः । रोदसी इति । महि-त्वा । इन्द्रः । वृत्राणि । अप्रति । जघन्वान् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गवेषणम्) भूमि प्राप्त कराने हारे (रथम्) रथ को (हरिभ्याम्) दो घोड़ों से (युजे=युयुजे) उस [सेनापति] ने जोता, (जुजुषाणम्) उस हर्ष करते हुये को (ब्रह्माणि) अनेक धन (उप अस्थुः) उपस्थित हुये । (स्यः) उस (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] ने (वृत्राणि) शत्रुदलों को (अप्रति) बिना रोक (जघन्वान्) मार डाल कर (महित्वा) अपने महत्त्व से (रोदसी) दोनों आकाश और भूमि को (वि) विविध प्रकार (बाधिष्ट) बिलोया [मथा] है ॥ ३ ॥

(आयुः) जीवनकालम् (चिकिते) कित ज्ञाने—लिट् । ज्ञातवान् (जनेषु) मनुष्येषु (तानि) प्रसिद्धानि (इत्) एव (अंहांसि) पापानि (अति) अतीत्य उल्लङ्घ्य (पर्षि) पॄ पालनपूरणयोः—लोट् । पालय (अस्मान्) ॥

३—(युजे) युजिर् योगे—लिट् । स युयुजे । योजितवान् (रथम्) यानम् (गवेषणम्) गां भूमिं प्रापकम् (हरिभ्याम्) शत्रुनाशनप्रजापालनरूपाभ्यां तुरङ्गाभ्याम् (उप अस्थुः) उपतिष्ठन्ते सेवन्ते स्म (ब्रह्माणि) धनानि (जुजुषाणम्) जुष तर्के, जुषी प्रीतिसेवनयोः—कानच् । हृष्यन्तं सेनापतिम् (वि) विविधम् (बाधिष्ट) अबाधिष्ट । विलोडितवान् (स्यः) सः (रोदसी) आकाशभूमी (महित्वा) महत्त्वेन (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः (वृत्राणि) शत्रुसैन्यानि (अप्रति) यथा भवति तथा । प्रातिकूल्यस्य विघ्नस्य राहित्येन (जघन्वान्) हन हिंसागत्योः—क्वसु । नाशितवान् ॥

भावार्थ—जो राजा दो घोड़ों के समान वर्तमान शत्रु के नाश और प्रजा के पालनरूप गुणों से राज्य को चलाता है, वह निर्विघ्न होकर भूमि और आकाश के पदार्थों से उपकार लेता है ॥ ३ ॥

आपश्चित् पिप्यु स्तर्यो३ न गावो नक्षन्नृतं जरितारस्त इन्द्र । याहि वायुर्न नियुतो नो अच्छा त्वं हि धीभिर्दयसे वि वाजान् ॥ ४ ॥

आपः । चित् । पिप्युः । स्तर्यः । न । गावः । नक्षन् । ऋतम् । जरितारः । ते । इन्द्र ॥ याहि । वायुः । न । नि-युतः । नः । अच्छ । त्वम् । हि । धीभिः । दयसे । वि । वाजान् ॥४॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी सेनापति] (स्तर्यः) फैले हुये (आपः चित्) जलों के समान और (गावः न) किरणों के समान (ते) तेरे (जरितारः) स्तुति करने वाले (पिप्युः) बढ़े हैं, और (ऋतम्) सत्य को (नक्षन्) प्राप्त हुये हैं। (वायुः न) पवन के समान (नियुतः) वेग आदि गुणों को, (त्वम्) तू (अच्छ) अच्छे प्रकार से (नः) हमें (याहि) प्राप्त हो, (हि) क्योंकि (धीभिः) अपनी बुद्धियों वा कर्मों से (वाजान्) विज्ञानियों पर (वि) विविध प्रकार (दयसे) तू दया करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पुरुष फैलते हुये जल और किरणों के समान बढ़कर

४—(आपः) जलानि (चित्) उपमार्थे—निरु० १ । ४ । (पिप्युः) ओप्यायी वृद्धौ—लिट् । अभिवृद्धा बभूवुः (स्तर्यः) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । स्तृञ् आच्छादने-ईप्रत्ययः । विस्तारशीलाः (न) इव-निरु० १ । ४। (गावः) किरणाः (नक्षन्) णक्ष गतौ—लङ्, अडभावः । प्राप्तवन्तः (ऋतम्) सत्यम् (जरितारः) स्तोतारः (ते) तव (इन्द्र) महाप्रतापिन् सेनापते (याहि) प्राप्नुहि (वायुः) पवनः (न) इव (नियुतः) नि+यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्विप् । नियुतो वायोरादिष्टोपयोजनानि—निघ० १ । १५ । वेगादिगुणान् (नः) अस्मान् (अच्छ) सुष्ठु (त्वम्) (हि) यतः (धीभिः) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (दयसे) दय दानगतिरक्षणहिंसादानेषु । दयां करोषि (वि) विविधम् (वाजान्) विज्ञानवतः ॥

उपकारी होवें, महासेनापति वायु के समान शीघ्रता करके उन उपकारी सज्जनों को सन्तुष्ट करे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—३३ । १८ ॥

ते त्वा मदा इन्द्र मादयन्तु शुष्मिणं तुविराधसं जरित्रे ।
एको देवत्रा दयसे हि मर्तानस्मिञ्छूर सवने मादयस्व ॥ ५ ॥

ते । त्वा । मदाः । इन्द्र । मादयन्तु । शुष्मिणम् । तुवि-राधसम् । जरित्रे ॥ एकः । देव-त्रा । दयसे । हि । मर्तान् । अस्मिन् । शूर । सवने । मादयस्व ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी सेनापति] (ते) वे (मदाः) आनन्द करते हुये वीर (शुष्मिणम्) महाबली और (तुविराधसम्) बड़े धनी (त्वा) तुझको (जरित्रे) स्तुति करने वाले के लिये (मादयन्तु) हर्षित करें। (देवत्रा) विद्वानों में (एकः हि) अकेला ही तू (मर्तान्) मनुष्यों पर (दयसे) दया करता है, (शूर) हे शूर ! (अस्मिन्) इस (सवने) प्रेरणा में [सब को] (मादयस्व) आनन्दित कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब सैन्यदल अपने पराक्रमों से मुख्य सेनापति को प्रसन्न करें और वह सेनापति भी उन सबों पर पूर्ण दया करे, जिस से शत्रुओं का नाश और प्रजा की रक्षा होवे ॥ ५ ॥

एवेदिन्द्रं वृषणं वज्रबाहुं वसिष्ठासो अभ्यर्चन्त्यर्कैः । स नं स्तुतो वीरवद् धातु गोमद् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥ ६ ॥

एव । इत् । इन्द्रम् । वृषणम् । वज्र-बाहुम् । वसिष्ठासः ।

५—(ते) प्रसिद्धाः (त्वा) त्वाम् (मदाः) आनन्दयुक्ताः सुभटाः—दयानन्दभाष्ये, ऋ० ७ । २३ । ५ (इन्द्र) (मादयन्तु) हर्षयन्तु (शुष्मिणम्) बलिष्ठम् (तुविराधसम्) बहुधनयुक्तम् (जरित्रे) स्तोत्रे (एकः) अद्वितीयः (देवत्रा) विद्वत्सु (दयसे) म० ४ । दया करोषि (हि) एव (मर्तान्) मनुष्यान् (अस्मिन्) वर्तमाने (शूर) निर्भय (सवने) प्रेरणे (मादयस्व) आनन्दयस्व सर्वानिति शेषः ॥

अभि । अर्च॒न्ति॒ । अ॒र्कैः ॥ सः । नः॒ । स्तु॒तः । वी॒र-व॑त् । धा॒तु॒ । गो-म॑त् । यू॒यम् ॥ पा॒त॒ । स्व॒स्ति-भिः॑ । सदा॑ । नः॒ ॥६॥

भाषार्थ—(एव इत्) इस प्रकार से ही (वसिष्ठासः) अत्यन्त वसु [श्रेष्ठ विद्वान् लोग] (वृषणम्) बलवान्, (वज्रबाहुम्) वज्र [शस्त्र अस्त्रों] को भुजा पर रखने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (अभि अर्चन्ति) यथावत् पूजते हैं। (स्तुतः) स्तुति किया गया (सः) वह (नः) हमारे लिये (वीरवत्) वीरों से युक्त (गोमत्) उत्तम गौओं वाले [राज्य] को (धातु) धारण करे, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों से (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विजयी सेनापति को सदा प्रसन्न रक्खें और ऐसा प्रबन्ध होवे कि सब लोग शस्त्र अस्त्र विद्या में निपुण होकर राज्य की रक्षा करें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—२० । ५४ । और चौथा पाद आगे है—अथ० २० । १७ । १२; ३७ । ११; ८७ । ७ ॥

ऋ॒जी॒षी व॒ज्री वृ॑ष॒भस्तु॑रा॒षाट् छु॒ष्मी राजा॑ वृत्र॒हा सो॑म॒पावा॑ । यु॒क्त्वा हरि॑भ्या॒मुप॑ यासद॒र्वाङ् माध्यं॑दिने॒ सव॑ने मत्स॒दिन्द्रः॑ ॥७॥

ऋ॒जी॒षी । व॒ज्री । वृ॒ष॒भः । तु॒रा॒षाट् । शु॒ष्मी । राजा॑ । वृ॒त्र-हा । सो॒म॒-पावा॑ ॥ यु॒क्त्वा । हरि॑-भ्याम् । उप॑ । या॒स॒त् । अ॒र्वाङ् । माध्यं॑दिने । सव॑ने । म॒त्स॒त् । इन्द्रः॑ ॥ ७ ॥

६—(एव) एवम् (इत्) अपि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं सेनापतिम् (वृषणम्) बलवन्तम् (वज्रबाहुम्) शस्त्रास्त्रपाणिम् (वसिष्ठासः) वसु—इष्ठन्, असुक् । अतिशयेन वसवः श्रेष्ठविद्वांसः (अभि) सर्वतः (अर्चन्ति) सत्कुर्वन्ति (अर्कैः) सुविचारैः (सः) (नः) अस्मान् (स्तुतः) प्रशंसितः (वीरवत्) वीरैर्युक्तम् (धातु) दधातु (गोमत्) प्रशस्तधेनुभिर्युक्तं राज्यम् (यूयम्) (पात) रक्षत (स्वस्तिभिः) सुखैः (सदा) (नः) अस्मान् ॥

भाषार्थ—(ऋजीषी) महाधनी, (वज्री) वज्र धारी [शस्त्र अस्त्रों वाला], (वृषभः) बलवान्, (तुराषाट्) हिंसक शत्रुओं का हराने वाला, (शुष्मी) बलवान् सेना वाला, (राजा) राजा, (वृत्रहा) वैरियों का मारने-वाला, (सोमपावा) सोम [महौषधियों के रस] का पीने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (हरिभ्याम्) दो घोड़ों से [रथ को] (युक्त्वा) जोत कर (अर्वाङ्) सामने (उप यासत्) आवे और (माध्यन्दिने) मध्याह्न में (सवने) यज्ञ के बीच (मत्सत्) आनन्द पावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा महाधनी, प्रतापी, शस्त्रअस्त्रधारी होकर शत्रुओं का नाश कर के प्रजा की रक्षा करे और दोपहर दिन के समान लोगों में आनन्द का प्रकाश करे ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—५ । ४० । ४ ॥

सूक्तम् १३ ॥

१—४ ॥ १ इन्द्राबृहस्पती देवते; २ मरुतो देवताः; ३, ४ अग्निर्देवता ॥ १ भुरिक् त्रिष्टुप्; २ जगती; ३ निचृज् जगती; ४ त्रिष्टुप् ॥

राजविद्वद्गुणोपदेशः—राजा और विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्र॑श्च॒ सोमं॑ पिबतं बृहस्पते॒ऽस्मिन् य॒ज्ञे म॑न्दसा॒ना वृ॑षण्वसू। आ वां॑ विशन्त्विन्द॑वः स्वा॒भुवो॒ऽस्मे र॒यिं सर्व॑वीरं॒ नि य॑च्छतम् १

इन्द्रः॑ । च॒ । सोम॑म् । पि॒ब॒त॒म् । बृ॒ह॒स्प॒ते॒ । अ॒स्मिन् । य॒ज्ञे ।

७—(ऋजीषी) अर्जेर्ऋज च । उ० ४ । २८ । अर्ज अर्जने—ईषन्, कित्, ऋजादेशश्च । ऋजीषं धनमस्यास्तीति—इनि । महाधनी (वज्री) शस्त्रास्त्रभृत् (वृषभः) बलिष्ठः (तुराषाट्) तुर हिंसायाम्—क + षह अभिभवे—ण्वि, अन्येषामपि दृश्यते । पा० ६ । ३ । १३७ । इति दीर्घः । तुराणां हिंसकशत्रूणामभिभविता (शुष्मी) शुष्मं बलिष्ठं सैन्यं विद्यते यस्य सः (राजा) शासकः (वृत्रहा) शत्रुहन्ता (सोमपावा) श्रेष्ठौषधिरसस्य पानकर्ता (युक्त्वा) योजयित्वा (हरिभ्याम्) अश्वाभ्याम् (उप यासत्) आगच्छेत् (अर्वाङ्) अभिमुखः (माध्यन्दिने) मध्याह्ने (सवने) यज्ञमध्ये (मत्सत्) आनन्देत् (इन्द्र) महाप्रतापी सेनापतिः ॥

मन्दसाना । वृषण्-वसू इति वृषण्-वसू ॥ आ । वाम् । विशन्तु । इन्दवः । सु-आभुवः । अस्मे इति । रयिम् । सर्व-वीरम् । नि । यच्छतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले राजन्] (मन्दसानौ) आनन्द देने वाले, (वृषणवसू) बलवान् वीरों को निवास कराने वाले तुम दोनों (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों के रस] को (अस्मिन्) इस (यज्ञे) यज्ञ [राज्यपालन व्यवहार] में (पिबतम्) पीओ । (स्वाभुवः) अच्छे प्रकार सब ओर होने वाले (इन्दवः) ऐश्वर्य (वाम्) तुम दोनों में (आ विशन्तु) प्रवेश करें, (अस्मे) हम को (सर्ववीरम्) सब को वीर बनाने वाला (रयिम्) धन (नि) नियम पूर्वक (यच्छतम्) तुम दोनों दो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग और राजा राज्य के पालन और प्रजा के धन-वान् बनाने में आनन्द पावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—४ । ५० । १० ॥

आ वो वहन्तु सप्तयो रघुष्यदो रघुपत्वानः प्र जिगात बाहुभिः। सीदता बर्हिरुरु वः सदस्कृतं मादयध्वं मरुतो मध्वो अन्धसः॥२॥

आ । वः । वहन्तु । सप्तयः । रघु-स्यदः । रघु-पत्वानः । प्र । जिगात । बाहु-भिः ॥ सीदत । आ । बर्हिः । उरु । वः ।

१—(इन्द्रः) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (च) (सोमम्) सदोषधिरसम् (पिबतम्) (बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक विद्वन् (अस्मिन्) (यज्ञे) पूजनीये राज्यपालनव्यवहारे (मन्दसानौ) अ० १४ । २ । ६ । मदि आमोद-स्तुतिदीप्त्यादिषु—असानच् आमोदयितारौ (वृषणवसू) यौ वृष्णो बलवतः वीरान् वासयतस्तौ (वाम्) युवाम् (आविशन्तु) प्रविशन्तु । प्राप्नुवन्तु (इन्दवः) ऐश्वर्याणि (स्वाभुवः) सुष्ठु सर्वतो भवन्तः (अस्मे) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (सर्ववीरम्) सर्वे वीरा यस्मात्तम् (नि) नियमेन (यच्छतम्) दत्तम् ॥

सदः । कृतम् । मादयध्वम् । मरुतः । मध्वः । अन्धसः ॥२॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे विद्वान् शूरो ! (वः) तुम को (रघुष्यदः) शीघ्रगामी (सप्तयः) घोड़े (आ) सब ओर (वहन्तु) ले चलें, (रघुपत्वानः) शीघ्रगामी तुम (बाहुभिः) भुजाओं [हस्तक्रियाओं] से (प्र जिगात) आगे बढ़ो । और (उरु) चौड़े (बर्हिः) आकाश में (आ सीदत) आओ/जाओ, (वः) तुम्हारे लिये (सदः) स्थान (कृतम्) बनाया गया है, (मध्वः) मधुर (अन्धसः) अन्न से (मादयध्वम्) [सब को] तृप्त करो ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग क्रियाकुशल होकर, शिल्पविद्या से यान विमान आदि द्वारा जल थल और आकाश में जाना आना करके अन्न आदि उत्तम पदार्थों की प्राप्ति से सब को प्रसन्न करें । मरुत् लोगों के विषय में—अथ० १ । २० । १ देखो ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है— १ । ९४ । १ ॥

इमं स्तोममर्हते जातवेदसे रथमिव सं महेमा मनीषया ।
भद्रा हि नः प्रमतिरस्य संसद्यग्ने सख्ये मा रिषामा वयं तव ॥३॥

इमम् । स्तोमम् । अर्हते । जात-वेदसे । रथम्-इव । सम् । महेम । मनीषया ॥ भद्रा । हि । नः । प्र-मतिः । अस्य ।

२—(आ) समन्तात् (वः) युष्मान् (वहन्तु) नयन्तु (सप्तयः) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । षप समवाये-तिप्रत्ययः, यद्वा सृप्लृ गतौ—तिप्रत्यये गुणे च रेफलोपः । सप्तेः सरणस्य-निरु० ६ । ३ । अश्वाः—निघ० १ । १४ (रघुष्यदः) रघि गतौ-उप्रत्ययो नकारलोपश्च + स्यन्दू प्रस्रवणे—क्विप् । रघु शीघ्रं स्यन्दमाना वेगेन गच्छन्तः (रघुपत्वानः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । रघु + पत्लृ गतौ—वनिप् । रघु शीघ्रं पतन्तो गच्छन्तो यूयम् (प्र) प्रकर्षेण (जिगात) गा स्तुतौ जुहोत्यादिकः । जिगातीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । गच्छत (बाहुभिः) भुजैः । हस्तक्रियाभिः (आसीदत) गमनागमनं कुरुत (बर्हिः) अन्तरिक्षम्—निघ० १ । ३ (उरु) विस्तीर्णम् (वः) युष्मभ्यम् (सदः) स्थानम् (कृतम्) रचितम् (मादयध्वम्) तर्पयत सर्वान् (मरुतः) अ० १ । २० । १ । हे विद्वांसः शूराः (मध्वः) मधुरात् (अन्धसः) अन्नात् ॥

सुम्-सदि । अग्ने । सुख्ये । मा । रिषाम । वयम् । तव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अर्हते) योग्य, (जातवेदसे) उत्पन्न पदार्थों के जानने हारे [पुरुष] के लिये (इमम्) इस (स्तोमम्) गुणकीर्तन को (रथम् इव) रथ के समान (मनीषया) बुद्धि से (सम्) यथावत् (महेम) हम बढ़ावें। (हि) क्योंकि (अस्य) इस [विद्वान्] की (प्रमतिः) उत्तम समझ (संसदि) सभा के बीच (नः) हमारे लिये (भद्रा) कल्याण करने वाली है। (अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी विद्वान्] (ते) तेरी (सख्ये) मित्रता में (वयम्) हम (मा रिषाम) न दुखी होवें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बने हुये यान विमान आदि की चाल और योग्यता से उपकार लेकर मनुष्य गुण गाते हैं, वैसे ही लोग विज्ञान के आविष्कार करने वाले विद्वान् के गुणों से उपकार लेकर सुख प्राप्त करें ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ९४ । १ और सामवेद पू० १ । ७ । ४ तथा उ० ४ । १ । ७ ॥

ऐभिरग्ने सुरथं याह्यर्वाङ् नानारथं वा विभवो ह्यश्वाः ।
पत्नीवतस्त्रिंशतं त्रींश्च देवाननुष्वधमा वह मादयस्व ॥ ४ ॥

आ । एभिः । अग्ने । सु-रथम् । याहि । अर्वाङ् । नाना-रथम् । वा । वि-भवः । हि । अश्वाः ॥ पत्नी-वतः । त्रिंशतम् । त्रीन् । च । देवान् । अनु-स्वधम् । आ । वह । मादयस्व ॥ ४ ॥

३—(इमम्) प्रत्यक्षम् (स्तोमम्) गुणकीर्तनम् (अर्हते) योग्याय (जातवेदसे) जातानामुत्पन्नानां वेदित्रे (रथम्) रमणसाधनंविमानादियानम् (इव) यथा (सम्) सम्यक् (महेम) पूजयेम । सत्कुर्याम (मनीषया) प्रज्ञया (भद्रा) कल्याणकारिणी (हि) यतः (नः) अस्मभ्यम् (प्रमतिः) प्रकृष्टा बुद्धिः (अस्य) विदुषः पुरुषस्य (संसदि) परिषदि । सभायाम् (अग्ने) हे तेजस्विन् विद्वन् (सख्ये) मित्रभावे (मा रिषाम) हिंसिता मा भूम (वयम्) (तव) ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! [तेजस्वी विद्वान्] (एभिः) इन [घोड़ों] से (सरथम्)एक से रथों वाले (वा) और (नानारथम्) नाना प्रकार के रथों वाले [मार्ग] को (अर्वाङ्) सामने होकर (आ याहि) आ, (हि) क्योंकि [तेरे] (अश्वाः) घोड़े (विभवः) प्रबल हैं । और (पत्नीवतः) पालनशक्तियों [सूक्ष्म अवस्थाओं] से युक्त (त्रिंशतम्) तीस (च) और (त्रीन्) तीन [तेतीस अर्थात् आठ वसु आदि] (देवान्) दिव्य पदार्थों को (अनुष्वधम्) अन्न के लिये (आ) यथावत् (वह) प्राप्त हो, और [सब को] (मादयस्व) हर्षित कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेतीस देवता वा दिव्य पदार्थ यह हैं—अग्नि पृथिवी आदि आठ वसु, प्राण, अपान आदि ग्यारह रुद्र, चैत्र आदि बारह आदित्य वा महीने, एक इन्द्र वा बिजुली, एक प्रजापति वा यज्ञ—देखो अथर्ववेद—६ । १३९ । १ । भाव यह है कि विज्ञानी शिल्पी पुरुष इन तेतीस दिव्य पदार्थों के बाहिरी आकार और भीतरी सूक्ष्म शक्तियों को भलीं भांति समझ कर अद्भुत यान विमान आदि बनाकर संसार को सुख पहुंचावें ॥ ४ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—३ । ६ । ६ ॥

इति प्रथमोऽनुवाकः ॥

४—(आ याहि) आगच्छ (एभिः) अश्वैः (अग्ने) हे तेजस्विन् विद्वन् (सरथम्) समानस्यच्छन्दस्यमूर्द्धप्रभृत्युदर्केषु । पा० ६ । ३ । ८४ । समानस्य सभावः । समानाः सदृशा रथा यस्मिंस्तं मार्गम् (अर्वाङ्) अभिमुखः (नानारथम्) बहुविधा रथा यस्मिंस्तं मार्गम् (वा) समुच्चये (विभवः) प्रभवः । प्रबलाः (हि) यतः (अश्वाः) तुरङ्गाः (पत्नीवतः) पालनशक्तिभिः सूक्ष्मावस्थाभिर्युक्तान् (त्रिंशतम्) (त्रीन्) (च) (देवान्) अ० ६ । १३९ । १ । अष्टवस्वादीन् दिव्यपदार्थान् (अनुष्वधम्) स्वधेत्यन्ननाम—निघ० २ । ७ । स्वधाम् अन्नम् अनुलक्ष्य (आ) यथावत् (वह) प्राप्नुहि (मादयस्व) आनन्दय सर्वान् ॥

अथ द्वितीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १४ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्ष्युष्णिक्; २ भुरिगार्षी बृहती; ३ ककुबुष्णिक्; ४ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः ।
वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

वयम् । ऊं इति । त्वाम् । अपूर्व्य । स्थूरम् । न । कत् । चित् । भरन्तः । अवस्यवः ॥ वाजे । चित्रम् । हवामहे ॥१॥

भाषार्थ—(अपूर्व्य) हे अनुपम ! [राजन्] (कत् चित्) कुछ भी (स्थूरम्) स्थिर (न) नहीं (भरन्तः) रक्खे हुये, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (वयम्) हम (वाजे) संग्राम के बीच (चित्रम्) विचित्र स्वभाव वाले (त्वाम्) तुझ को (उ) ही (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दुष्ट चोर डाकू लोग अत्यन्त सतावें, प्रजागण वीर राजा की शरण ले कर रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । २१ । १, २ । मन्त्र १ सामवेद में है—पू० ५ । २ । १० तथा मन्त्र १, २ उ० १ । १ । २२ और मन्त्र १—४ आगे हैं—अथ० २० । ६२ । १—४ ॥

१—(वयम्) प्रजाः (उ) अवधारणे (त्वाम्) (अपूर्व्य) स्वार्थे यत् । नास्ति पूर्वः श्रेष्ठो यस्मात् सः, अपूर्वः, अपूर्व्यः । हे अनुपम (स्थूरम्) स्थः किच्च । उ० ५ । ४ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—ऊरन्, कित् । स्थिरम् (न) निषेधे (कच्चित्) किमपि (भरन्तः) धरन्तः (अवस्यवः) अवस—क्यच्, उ । रक्षाकामाः (वाजे) संग्रामे—निघ० २ । १७ (चित्रम्) अद्भुतस्वभावम् (हवामहे) आह्वयामः ॥

उप॑ त्वा॒ कर्म॑न्नू॒तये॒ स नो॒ युवो॒ग्रश्च॑क्राम॒ यो धृ॒षत् ।
त्वामिद्ध्य॑वि॒तारं॑ ववृ॒महे॒ सखा॑य इन्द्र सान॒सिम् ॥ २ ॥

उप॑ । त्वा॒ । कर्म॑न् । ऊ॒तये॑ । सः । नः॒ । युवा॑ । उ॒ग्रः । च॒क्राम॑ । यः । धृ॒षत् ॥ त्वाम् । इत् । हि । अ॒वि॒तार॑म् । व॒वृ॒महे॑ । सखा॑यः । इन्द्र॒ । सा॒न॒सिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कर्मन्) कर्म के बीच (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (सः) उस (यः) जिस (युवा) स्वभाव से बलवान्, (उग्रः) तेजस्वी और (धृषत्) निर्भय पुरुष ने (चक्राम) पैर बढ़ाया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (अवितारम्) उस रक्षक और (सानसिम्) दानी (त्वा) तुझ को, (त्वाम्) तुझ को (हि) ही (इत्) अवश्य (सखायः) हम मित्र लोग (उप) आदर से (ववृमहे) चुनते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रजा रक्षण में बड़ा पराक्रमी हो, प्रजागण सब लोगों में से उसी को राजा बनावें ॥ २ ॥

यो न॑ इ॒दमि॑दं पु॒रा प्र वस्य॑ आनि॒नाय॒ तमु॑ वः स्तुषे ।
सखा॑य॒ इन्द्र॑मू॒तये॑ ॥ ३ ॥

यः । नः॒ । इ॒दम्-इ॑दम् । पु॒रा । प्र । वस्यः॑ । आ॒-नि॒नाय॑ । तम् । ऊँ॒ इति॑ । वः॒ । स्तु॒षे॒ ॥ सखा॑यः । इन्द्र॑म् । ऊ॒तये॑ ॥ ३ ॥

२—(उप) आदरेण (त्वा) त्वाम् (कर्मन्) कर्मणि । व्यवहारे (ऊतये) रक्षायै (सः) (नः) अस्माकम् (युवा) निसर्गबलवान् (उग्रः) प्रचण्डः (चक्राम) क्रमु पादविक्षेपे—लिट् । अग्रे जगाम (यः) (धृषत्) संश्चत्-तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । ञि धृषा प्रागल्भ्ये—अतिप्रत्ययः । प्रगल्भः । निर्भयः (त्वाम्) (इत्) एव (हि) (अवितारम्) रक्षकम् (ववृमहे) वृणीमहे । स्वीकुर्मः (सखायः) मित्रभूता वयम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (सानसिम्) सानसिवर्णसिपर्णसि० । उ० ४ । १०७ । षणु दाने—असि, उपधा-वृद्धिः । दातारम् ॥

भाषार्थ—(यः) जो [पराक्रमी] (नः) हमारे लिये (इदमिदम्) इस-इस (वस्यः) उत्तम वस्तु को (पुरा) पहिले (प्र) अच्छे प्रकार (आनिनाय) लाया है, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] को, (सखायः) हे मित्रो ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के लिये (स्तुषे) मैं सराहता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पहिले से ही धीर वीर होवे; लोग उस की बड़ाई करके गुण ग्रहण करें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८ । २१ । ९, १० । मन्त्र ३ सामवेद में है—उ० ५ । २ । २ ॥

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत ।
आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥४॥

हरि-अश्वम् । सत्-पतिम् । चर्षणि-सहम् । सः । हि । स्म । यः । अमन्दत ॥ आ । तु । नः । सः । वयति । गव्यम् । अश्व्यम् । स्तोतृ-भ्यः । मघ-वा । शतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (हि) ही (स्म) अवश्य [मनुष्य है]; (यः) जिस ने (हर्यश्वम्) ले चलने वाले घोड़ों से युक्त, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक, (चर्षणीसहम्) मनुष्यों को नियम में रखने वाले [राजा] को

३—(यः) पराक्रमी (नः) अस्मभ्यम् (इदमिदम्) बहुनिर्दिष्टम् (पुरा) अग्रे (प्र) प्रकर्षेण (वस्यः) वसु—ईयसुन्, ईकारलोपः । वसीयः प्रशस्तं वस्तु (आनिनाय) आनीतवान् (तम्) (उ) अवधारणे (वः) युष्माकम् (स्तुषे) लडर्थे लेडुत्तमैकवचने । सिब् बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् । स्तुवे । स्तौमि (सखायः) हे सुहृदः (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं वीरम् (ऊतये) रक्षायै ॥

४—(हर्यश्वम्) हरयो हरणशीला अश्वा यस्य तम् । शीघ्रगामितुरङ्गवन्तम् (सत्पतिम्) सतां कर्मश्रेष्ठानां पालकम् (चर्षणीसहम्) चर्षणीनां मनुष्याणां सोढारम् अभिभवितारं नियन्तारम् (सः) (हि) (स्म) अवश्यम् (यः) पुरुषः (अमन्दत) मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—लङ् ।

(अमन्दत) प्रसन्न किया है। (सः) वह (मघवा) महाधनी (तु) तौ (नः) हम (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों को (शतम्), सौ [बहुत] (गव्यम्) गौओं का समूह और (अश्व्यम्) घोड़ों का समूह (आ वयति) लाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण आज्ञा मानकर शूर धर्मात्मा राजा को प्रसन्न रक्खें, जिस से वह उत्तम प्रबन्ध के साथ प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ४ ॥

सूक्तम् १५ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४ जगती; ३, ६ निचृज्जगती; ५ भुरिगार्षी त्रिष्टुप् ॥

सभाध्यक्षगुणोपदेशः—सभाध्यक्ष के गुणों का उपदेश ॥

प्र मंहिष्ठाय बृहते बृहद्रये सत्यशुष्माय तवसे मतिं भरे।
अपामिव प्रवणे यस्य दुर्धरं राधो विश्वायु शवसे अपावृतम्॥१

प्र । मंहिष्ठाय । बृहते । बृहत्-रये । सत्य-शुष्माय । तवसे । मतिम् । भरे ॥ अपाम्-इव । प्रवणे । यस्य । दुः-धरम् । राधः । विश्व-आयु । शवसे । अप-वृतम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मंहिष्ठाय) अत्यन्त दानी, (बृहते) महागुणी, (बृहद्रये) महाधनी, (सत्यशुष्माय) सच्चे बलवान् [सभाध्यक्ष] के लिये (तवसे) बल पाने को (मतिम्) बुद्धि (प्र) उत्तम रीति से (भरे) मैं

आमोदितवान्। तर्पितवान् (आ वयति) वी गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु—लट्, छान्दसः शप्। आगमयति। प्रापयति (तु) अवधारणे। नियोगे (नः) अस्मभ्यम् (सः) (गव्यम्) गोसमूहम् (अश्व्यम्) अश्वसमूहम् (स्तोतृभ्यः) (मघवा) महाधनी (शतम्) बहु ॥

१—(प्र) प्रकर्षेण (मंहिष्ठाय) मंहतेर्दानकर्मा—निघ० ३। २०। महि वृद्धौ दाने च—तृच्, मंहितृ—इष्ठन्, तृलोपः। दातृतमाय (बृहते) गुणैर्महते (बृहद्रये) रैशब्दस्य ऐकारस्य एकारः। प्रभूतधनाय (सत्यशुष्माय) अवितथबलाय (तवसे) अ० ४। २२। ३। बलप्राप्तये (मतिम्) बुद्धिम् (भरे)

धारण करता हूं। (प्रवणे) ढालू स्थान में (अपाम् इव) जलों के [प्रवाह के] समान, (यस्य) जिस [समाध्यक्ष] का (दुर्धरम्) बेरोक, (विश्वायु) सब को जीवन देने वाला (राधः) धन (शवसे) बल के लिये (अपावृतम्) फैला हुआ है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो समाध्यक्ष सुपात्रों को दान देकर प्रजा को सुशिक्षित बलवान् बनाता है, उसके उपकारों की महिमा ऐसी सुखदायक होती है, जैसे जल ढालू स्थानों में बह कर खेती आदि बढ़ाकर आनन्द देता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ५७ । १—६ ॥

अधं ते विश्वमनु हासदिष्टय आपो निम्नेव सवना हविष्मतः। यत् पर्वते न समशीत हर्यत इन्द्रस्य वज्रः श्नथिता हिरण्ययः॥२॥

अधं । ते । विश्वम् । अनु । ह । असत् । इष्टये । आपः । निम्ना-इंव । सवना । हविष्मतः ॥ यत् । पर्वते । न । सम्-अशीत । हर्यतः । इन्द्रस्य । वज्रः । श्नथिता । हिरण्ययः॥२॥

भाषार्थ—(अध) फिर (विश्वम्) सब जगत् (हविष्मतः) दान योग्य पदार्थों वाले (ते) तेरे (सवना अनु) ऐश्वर्यों के पीछे (इष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये (ह) निश्चय करके (असत्) होवे, (आपः) जल (निम्ना-इव) जैसे नीचे स्थानों के [पीछे बह चलते हैं] । (यत्) जब (इन्द्रस्य) इन्द्र [अत्यन्त ऐश्वर्य वाले समाध्यक्ष] का (हर्यतः) कमनीय, (श्नथिता) चूर चूर

'अहं धरे (अपाम्) जलानां प्रवाहः (इव) यथा (प्रवणे) अवनतदेशे (यस्य) समाध्यक्षस्य (दुर्धरम्) दुःखेन धरणीयं निवारणीयम् (राधः) धनम् (विश्वायु) विश्वस्मै सर्वस्मै आयुर्जीवनं यस्मात् तत् (शवसे) बललाभाय (अपावृतम्) छान्दसो दीर्घः । अपगतावरणं व्यावृतं वर्तते ॥

२—(अध) अथ । अनन्तरम् (विश्वम्) सर्वं जगत् (अनु) अनुसृत्य (ह) निश्चयेन (असत्) भवेत् (इष्टये) अभीष्टसिद्धये (आपः) जलानि (निम्ना) निम्नानि स्थलानि अनुसृत्य (इव) यथा (सवना) ऐश्वर्याणि (हविष्मतः) हवींषि दानयोग्यानि वस्तूनि यस्य (यत्) यदा (पर्वते) शैले (न) यथा (समशीत) शीङ् स्वप्ने—लङ् । गुणाभावः । अशेत । सम्यग् वर्तमानोऽभूत् (हर्यतः) कमनीयः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः समाध्यक्षस्य (वज्रः)

करने वाला, (हिरण्ययः) तेजोमय (वज्रः) वज्र [हथियारों का झुण्ड] (पर्वते न) जैसे पहाड़ पर, (सम्—अणीत) वर्तमान हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे जल ऊंचे स्थान से नीचे स्थान में फैलकर संसार का उपकार करता है, वैसे ही राजा धन का संग्रह करके प्रजा पालन करे, और शत्रुओं के मारने में ऐसा दृढ़ उपाय करे, जैसे पहाड़ काटने के लिये दृढ़ हथियार आवश्यक होते हैं ॥ २ ॥

अस्मै भीमाय नमसा समध्वर उषो न शुभ्र आ भरा पनीयसे । यस्य धाम श्रवसे नामेन्द्रियं ज्योतिरकारि हरितो नायसे ॥ ३ ॥

अस्मै । भीमाय । नमसा । सम् । अध्वरे । उषः । न । शुभ्रे । आ । भर । पनीयसे ॥ यस्य । धाम । श्रवसे । नाम । इन्द्रियम् । ज्योतिः । अकारि । हरितः । न । अयसे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शुभ्रे) हे चमकीली (उषः) उषा ! [प्रभात वेला के समान सुखदायक पुरुष] (न) अब (अस्मै) इस (भीमाय) भीम [भयङ्कर], (पनीयसे) अत्यन्त व्यवहार कुशल [सभाध्यक्ष] के लिये (अध्वरे) हिंसा रहित कर्म में (नमसा) सत्कार के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (आ भर) भरपूर हो । (यस्य) जिस [सभाध्यक्ष] का (धाम) धाम [न्यायालय आदि

आयुधसमूहः (श्नथिता) श्नथ हिंसायाम्—तृन् , नित्वादाद्युदात्तः । हिंसिता । संपेष्टा (हिरण्ययः) तेजोमयः ॥

३—(अस्मै) प्रसिद्धाय (भीमाय) भयङ्कराय (नमसा) सत्कारेण (सम्) सम्यक् (अध्वरे) हिंसारहिते कर्मणि (उषः) पादादित्वाद् निघाताभावः । हे प्रभातवेले (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (शुभ्रे) स्फायितञ्चि० । उ० २ । १३ । शुभ दीप्तौ—रक् टाप् । हे दीप्यमाने (आ) समन्तात् (भर) धृतः पूरितो भव (पनीयसे) पन व्यवहारे स्तुतौ च—तृच्, ईयसुन्, तृलोपः । अत्यन्तव्यवहारकुशलाय सभाध्यक्षाय (यस्य) सभाध्यक्षस्य (धाम)

स्थान], (नाम) नाम [यश], (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य और (ज्योतिः) प्रताप (अवसे) अन्न के लिये (अकारि) बनाया गया है, (हरितः न) जैसे दिशायें (अयसे) चलने के लिये [बनी] हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल में अन्धकार के नाश से आनन्द होता है, वैसे ही मनुष्य योग्य सभाध्यक्ष के सत्कार करने में सुखी होवें, और वह भी अपना सर्वस्व प्रजा को सुख देने में सब ओर लगावे ॥ ३ ॥

इमे त इन्द्र ते वयं पुरुष्टुत ये त्वारभ्य चरामसि प्रभूवसो । नहि त्वदन्यो गिर्वणो गिरः सघत् क्षोणीरिव प्रति नो हर्य तद् वचः ॥ ४ ॥

इमे । ते । इन्द्र । ते । वयम् । पुरु-स्तुत । ये । त्वा । आ-रभ्य । चरामसि । प्रभुवसो इति प्रभु-वसो ॥ नहि । त्वत् । अन्यः । गिर्वणः । गिरः । सघत् । क्षोणीः-इव । प्रति । नः । हर्य । तत् । वचः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुष्टुत) हे बहुत स्तुति किये गये ! (प्रभुवसो) हे अधिक धन वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (इमे) यह लोग और (ते) वे लोग (वयम्) हम सब (ते) तेरे हैं, (ये) जो हम (त्वा आरभ्य) तेरा सहारा लेकर (चरामसि) विचरते हैं। (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवने

चालयादि स्थानम् (अवसे) अन्नलाभाय (नाम) यशः (इन्द्रियम्) इन्द्रियं धननाम—निघ० २ । १० । इन्द्रलिङ्गम् । ऐश्वर्यम् (ज्योतिः) प्रतापः (अकारि) कृतम् (हरितः) हरितो दिङ्नाम—निघ० १ । ६ । दिशः (न) इव (अयसे) अय गतौ—असुन् । गमनाय ॥

४—(इमे) समीपवर्तिनः (ते) तव (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् राजन् (ते) दूरवर्तिनः पुरुषाः (वयम्) सर्वे (पुरुष्टुत) हे बहुप्रकारं स्तुत (ये) (त्वा) त्वाम् (आरभ्य) आश्रित्य (चरामसि) विचरामः (प्रभुवसो) हे प्रभूतधन (नहि) निषेधे (त्वत्) तव सकाशात् (अन्यः) भिन्नपुरुषः

योग्य ! (त्वत्) तुझ से (अन्यः) दूसरा पुरुष (गिरः) [हमारी] वाणियों को (नहि) नहीं (सघत्) सह सकता, (क्षोणीरिव) पृथिवियों के समान तू (नः) हमारे (तत्) उस (वचः) वचन में (प्रति) निश्चय करके (हर्य) प्रीति कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों के बीच अद्वितीय पराक्रमी धर्मज्ञ राजा निकटवर्ती और दूरवर्ती प्रजा की पुकार सुनकर रक्षा करे, जैसे पृथिवी सब उत्पन्न मात्र की रक्षा करती है ॥ ४ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—पू० ४ । ६ । ३ ॥

भूरि त इन्द्र वीर्यं१ तव स्मस्यस्य स्तोतुर्मघवन् काममा पृण।
अनु ते द्यौर्बृहती वीर्यं मम इयं च ते पृथिवी नेम ओजसे ॥५॥

भूरि । ते । इन्द्र । वीर्यम् । तव । स्मसि । अस्य । स्तोतुः । मघ-वन् । कामम् । आ । पृण ॥ अनु । ते । द्यौः । बृहती । वीर्यम् । ममे । इयम् । च । ते । पृथिवी । नेमे । ओजसे ॥५॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (ते) तेरा (वीर्यम्) पराक्रम (भूरि) बहुत है, हम (ते) तेरे [प्रजा] (स्मसि) हैं, (मघवन्) हे महाधनी ! (अस्य) इस (स्तोतुः) स्तुति करने वाले की (कामम्) कामना को (आ) सब ओर से (पृण) तृप्त कर । (ते) तेरे (वीर्यम् अनु) पराक्रम के पीछे (बृहती) बड़ा (द्यौः) आकाश (ममे) नापा

(गिर्वणः) गॄ शब्दे—क्विप्+सर्वधातुभ्योऽसुन् । उ० ४ । १८९ । वन संभक्तौ—असुन् । गिर्वणा देवो भवति गीर्भिरेनं वनयन्ति—निरु० ६ । १४ । हे गीर्भिः स्तुतिभिर्वननीय सेवनीय (गिरः) वाणीः(सघत्) सहेर्लेटि, अडागमः, हस्य घः । सहेत । स्वीकुर्यात् (क्षोणीः) पृथिव्यः (इव) यथा (प्रति) निश्चयेन (नः) अस्माकम् (हर्य) कामयस्व (तत्) (वचः) वचनम् ॥

५—(भूरि) बहु (ते) तव (इन्द्र) हे प्रतापिन् राजन् (वीर्यम्) पराक्रमः (ते) तव (स्मसि) वयं प्रजाः स्मः (अस्य) (स्तोतुः) गुणप्रकाशकस्य (मघवन्) हे बहुधन (कामम्) अभिलाषम् (पृण) पृण प्रीणने । तर्पय (अनु) अनुसृत्य (ते) तव (द्यौः) आकाशः (बृहती) महती (वीर्यम् पराक्रमम् (ममे) माङ् माने शब्दे च—लिट् । परिमितः बभूव (इयम्)

गया है, (च) और (ते) तेरे (ओजसे) बल के लिये (इयम्) यह (पृथिवी) पृथिवी (नेमे) झुकी है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो विज्ञानी राजा प्रजा को प्रसन्न रखकर विद्वानों का उचित सत्कार करता है, वह वायु विमान आदि से आकाश को, तथा स्थल और जल यान आदि से पृथिवी को वश में कर के राज्य की उन्नति करता है॥५॥

त्वं तमि॑न्द्र॒ पर्व॑तं म॒हामु॒रुं वज्रे॑ण वज्रिन् पर्व॒शश्च॑कर्तिथ । अवा॑सृजो निवृ॑ताः सर्त॒वा अ॒पः स॒त्रा विश्वं॑ दधिषे॒ केव॑लं॒ सहः॑ ॥ ६ ॥

त्वम् । तम् । इ॒न्द्र॒ । पर्व॑तम् । म॒हाम् । उ॒रुम् । वज्रे॑ण ॥ व॒ज्रि॒न् । प॒र्व॒-शः । च॒क॒र्ति॒थ ॥ अव॑ । अ॒सृ॒जः । नि-वृ॑ताः । सर्त॒वै । अ॒पः । स॒त्रा । विश्व॑म् । द॒धि॒षे॒ । केव॑लम् । सहः॑ ॥ ६ ॥

भावार्थ—(वज्रिन्) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (त्वम्) तू ने (तम्) उस (महाम्) बड़े, (उरुम्) चौड़े (पर्वतम्) पहाड़ को (वज्रेण) वज्र [हथियारों के झुण्ड] से (पर्वशः) टुकड़े टुकड़े करके (चकर्तिथ) काट डाला है। और (निवृतः) रोके हुये (अपः) जलों को (सर्तवै) बहने के लिये (अव असृजः) छोड़ दिया है, (सत्रा) सत्य रूप से (विश्वम्) सम्पूर्ण, (केवलम्) असाधारण (सहः) बल को (दधिषे) तू ने धारण किया है ॥ ६ ॥

दृश्यमाना (च) (ते) तव (पृथिवी) भूमिः (नेमे) णम प्रह्वत्वे—लिट् । प्रह्वी नम्रा बभूव (ओजसे) बलाय ॥

६—(त्वम्) (तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (पर्वतम्) शैलम् (महाम्) नकारतकारयोर्लोपः। महान्तम् (उरुम्) विस्तीर्णम् (वज्रेण) आयुधसमूहेन (वज्रिन्) हे शस्त्रास्त्रधारिन् (पर्वशः) खण्डशः (चकर्तिथ) कृती छेदने—लिट् । छिन्नवानसि (अवासृजः) मुक्तवानसि (निवृताः) निवारिताः । निरुद्धाः (सर्तवै) सरतेः कृत्यार्थे तवैप्रत्ययः। सरणाय। वहनाय (अपः) जलानि (सत्रा) सत्यरूपेण (विश्वम्) सर्वम् (दधिषे) धारितवानसि (केवलम्) असाधारणम् (सहः) बलम् ॥

भावार्थ—जो वीर पराक्रमी राजा पहाड़ों को काटकर वहां पर एकत्र हुये जल को पृथिवी पर लाकर खेती आदि में उपयुक्त करे वह संसार के बीच कीर्तिमान् होवे ॥ ६ ॥

सूक्तम् १६ ॥

१—१२ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ १, ३, ५, ६ निचृत् त्रिष्टुप्; २, ६—८, १०, ११ त्रिष्टुप्; ४ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्, १२ विराट् त्रिष्टुप् ॥

विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

उदप्रुतो न वयो रक्षमाणा वावदतो अभ्रियस्येव घोषाः ।
गिरिभ्रजो नोर्मयो मदन्तो बृहस्पतिमभ्य१र्का अनावन् ॥१॥

उद-प्रुतः । न । वयः । रक्षमाणाः । वावदतः । अभ्रियस्य-इव । घोषाः ॥ गिरि-भ्रजः । न । ऊर्मयः । मदन्तः । बृहस्पतिम् । अभि । अर्काः । अनावन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(उदप्रुतः) जल को प्राप्त हुये, (रक्षमाणाः) अपनी रक्षा करते हुये (वयः न) पक्षियों के समान, (वावदतः) बार बार गरजते हुये (अभ्रियस्य) बादल के (घोषाः इव) शब्दों के समान, (गिरिभ्रजः) पहाड़ों से गिरते हुये, (मदन्तः) तृप्त करते हुये (ऊर्मयः न) जल के प्रवाहों के समान, (अर्काः) पूजनीय पण्डितों ने (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] को (अभि) सब ओर से (अनावन्) सराहा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे पक्षीगण जलाशय में पान स्नान करके तृप्त होते, जैसे

१—(उदप्रुतः) प्रुङ् गतौ—क्विप् । उदकं प्राप्ताः (न) यथा (वयः) पक्षिणः (रक्षमाणाः) आत्मानं पालयन्तः (वावदतः) वदेर्यङ्लुकि शतृ । पुनः पुनः शब्दायमानस्य (अभ्रियस्य) स्वार्थे घप्रत्ययः । अभ्रस्य मेघस्य—निघ० १ । १० (इव) यथा (घोषाः) ध्वनयः (गिरिभ्रजः) भ्रशु अधःपतने—क्विप् । शस्य जः । शैलेभ्यः सकाशादधःपतन्तः (न) यथा (ऊर्मयः) जलप्रवाहाः (मदन्तः) तर्पयन्तः (बृहस्पतिम्) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकं विद्वांसम् (अभि) सर्वतः (अर्काः) पूजनीयाः पण्डिताः (अनावन्) णु स्तुतौ—लङ्, छान्दसः शप् । अस्तुवन् ॥

बरसते हुये मेघ अपनी गर्जन से प्रसन्न करते हैं, और जैसे पहाड़ों से बहती हुई नदियां अन्न आदि उत्पन्न करती हैं, वैसे ही बुद्धिमान् लोग वेदाभ्यासी पुरुष के गुणों को गाकर, आनन्द बढ़ाते हैं ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ६८ । १—१२ ॥

सं गोभिराङ्गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय । जने मित्रो न दम्पती अनक्ति बृहस्पते वाजयाशूँरिवाजौ ॥ २ ॥

सम् । गोभिः । आङ्गिरसः । नक्षमाणः । भगःऽइव । इत् । अर्यमणम् । निनाय ॥ जने । मित्रः । न । दम्पती इति दम्ऽपती । अनक्ति । बृहस्पते । वाजय । आशून्ऽइव । आजौ ॥२

भाषार्थ—(आङ्गिरसः) विज्ञान वाला पुरुष, (भगः इव) ऐश्वर्यवान् के समान (अर्यमणम्) श्रेष्ठों के मान करने वाले जन को (इत्) ही (नक्षमाणः) पाता हुआ (गोभिः) वाणियों से (सम्) यथावत् (निनाय) लाया है । (जने) मनुष्यों में (मित्रः न) मित्र के समान वह (दम्पती) दोनों स्त्री पुरुष को (अनक्ति) शोभायमान करता है, (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [वेदवाणी के रक्षक] (आजौ) सङ्ग्राम में (आशून् इव) घोड़ों के समान (वाजय) [हमें] वेग वाला कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे विज्ञानी पुरुष विद्वानों को पाकर गृहस्थियों को गुणी बनाते आये हैं, और जैसे संग्राम वा घुड़दौड़ के लिये घोड़े शीघ्रगामी होते हैं,

---

२—(सम्) सम्यक् (गोभिः) वाग्भिः (आङ्गिरसः) अङ्गिरस्—अण् । अङ्गिरो विज्ञानं यस्यास्तीति स महाविद्वान् (नक्षमाणः) प्राप्नुवन् (भगः) ऐश्वर्यवान् (इव) यथा (इत्) एव (अर्यमणम्) अ० १ । ११ । १ । अर्य+माङ् माने—कनिन् । अर्याणां श्रेष्ठानां मानकर्तारम् (निनाय) आनीतवान् (जने) मनुष्यसमूहे (मित्रः) सुहृत् (न) इव (दम्पती) जायापती (अनक्ति) अञ्जू व्यक्त्यादिषु । शोभायमानौ करोति (बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक (वाजय) वेगयुक्तान् कुरु अस्मान् (आशून्) व्यापकान् अश्वान् (इव) यथा (आजौ) अज्यतिभ्यां च । उ० ४ । १३१ । अज गतिक्षेपणयोः—इण् । सङ्ग्रामे—निघ० २ । १७ ॥

वैसे ही मनुष्य विद्वानों के सत्संग से धर्म में शीघ्रकारी होवें ॥ २ ॥

साध्वर्या अतिथिनीरिषिरा स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यरूपाः ।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यवमिव स्थिविभ्यः ॥ ३ ॥

साधु-अर्याः । अतिथिनीः । इषिराः । स्पार्हाः । सु-वर्णाः । अनवद्य-रूपाः ॥ बृहस्पतिः । पर्वतेभ्यः । वि-तूर्य । निः । गाः । ऊपे । यवम्-इव । स्थिवि-भ्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(साध्वर्याः) साधुओं से पाने योग्य, (अतिथिनीः) अतिथियों को प्राप्त कराने वाली, (इषिराः) वेग वाली, (स्पार्हाः) चाहने योग्य (सुवर्णाः) सुन्दर रीति से स्वीकार योग्य, (अनवद्यरूपाः) अनिन्दित स्वभाव वाली (गाः) वाणियों को (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (वितूर्य) शीघ्रता करके '(पर्वतेभ्यः) पर्वतों [के समान दृढ़-चित्तों] के लिये, (स्थिविभ्यः) कोठियों [के भरने] के लिये (यवम् इव) जैसे अन्न को, (निः ऊपे) फैलाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उत्तम वेदवाणियों का प्रचार करके सब को ऐसा प्रसन्न करें, जैसे किसान लोग बीज बोकर अधिक अन्न प्राप्त करके आनन्दित होते हैं ॥ ३ ॥

आप्रुषायन् मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्योः ।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उद्नेव वि त्वचं बिभेद ॥ ४ ॥

आ-प्रुषायन् । मधुना । ऋतस्य । योनिम् । अव-क्षिपन् ।

३—(साध्वर्याः) साधुभिः सज्जनैः प्राप्तव्याः (अतिथिनीः) अतिथि+णीञ् प्रापणे—क्विप् । अतिथीनां प्रापयित्रीः (इषिराः) वेगशीलाः (स्पार्हाः) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । स्पृहा—अण् । स्पृहणीयाः । कमनीयाः (सुवर्णाः) सुष्ठु वरणीयाः (अनवद्यरूपाः) अनिन्दितस्वभावाः (बृहस्पतिः) (पर्वतेभ्यः) शैलतुल्यदृढस्वभावानां हिताय (वितूर्य) वि+तुर त्वरणे—ल्यप् । विविधवेगं कृत्वा (निः) निश्चयेन(ऊपे) डुवप बीजसन्ताने-लिट् । विस्तारितवान् (यवम्) अन्नम् (इव) यथा (स्थिविभ्यः) स्थवयः शूकुलाः, तान् भर्तुं पूरयितुम् ॥

अर्कः। उल्काम्-इव। द्योः॥ बृहस्पतिः। उत्ऽधरन्। अश्मनः।
गाः। भूम्याः। उद्ना-इव। वि। त्वचम्। बिभेद॥ ४॥

भाषार्थ—(मधुना) ज्ञान के साथ (ऋतस्य) सत्य के (योनिम्) घर [वेद] को (आप्रुषायन्) सब प्रकार सींचते हुये और (द्योः) आकाश से (उल्काम् इव) उल्का [गिरते हुये चमकते तारे] के समान (अवक्षिपन्) फैलाते हुये और (उद्धरन्) ऊंचे धरते हुये, (अर्कः) पूजनीय (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्या के रक्षक महाविद्वान्] ने (अश्मनः) व्यापक [परमात्मा] की (गाः) वाणियों को (वि बिभेद) फैलाया है, (उद्ना इव) जैसे जल से (भूम्याः) भूमि की (त्वचम्) त्वचा को [फैलाते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—महाविद्वान् पुरुष विचार के साथ वेदविद्या को बढ़ावे और आकाश से गिरते चमकते तारे के समान प्रकाशमान करे और उच्चभाव के साथ उसे विविध प्रकार फैलावे जैसे पृथिवी जल से फैलकर उपकारी होती है ४

अप ज्योतिषा तमो अन्तरिक्षादुद्नः शीपालमिव वात आजत्।
बृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः ॥५॥

अप। ज्योतिषा। तमः। अन्तरिक्षात्। उद्नः। शीपालम्-इव। वातः। आजत्॥ बृहस्पतिः। अनु-मृश्य। वलस्य। अभ्रम्-इव। वातः। आ। चक्रे। आ। गाः॥ ५॥

४—(आप्रुषायन्) प्रुष स्नेहनसेचनपूरणेषु—शतृ, विकरणस्य शायजादेशः। सर्वतः सिञ्चन् (मधुना) फलिपाटिनमिमनिजनां०। उ० १। १८। मनं ज्ञाने—उप्रत्ययः, नस्य धः। ज्ञानेन (ऋतस्य) सत्यस्य (योनिम्) गृहम्। वेदम् (अवक्षिपन्) विस्तारयन् (अर्कः) पूजनीयः (उल्काम्) रेखाकारे गगनात् पतत्तेजःपुञ्जम् (इव) यथा (द्योः) आकाशात् (बृहस्पतिः) (उद्धरन्) ऊर्ध्वं स्थापयन् (अश्मनः) अशिशकिभ्यां छन्दसि। उ० ४। १४७। अशू व्याप्तौ—मनिन्। व्यापकस्य परमेश्वरस्य (गाः) वाणीः (भूम्याः) पृथिव्याः (उद्ना) उदकेन (इव) यथा (त्वचम्) उपरिदेशम् (वि बिभेद) विस्तारयामास॥

भाषार्थ—[जैसे सूर्य] (ज्योतिषा) ज्योति के साथ (अन्तरिक्षात्) आकाश से (तमः) अन्धकार को, और (इव) जैसे (वातः) पवन (उद्नः) जल पर से (शीपालम्) सेवार घास को, और (इव) जैसे (वातः) पवन (अभ्रम्) बादल को, [वैसे ही] (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ा वेदविद्या के रक्षक महाविद्वान्] ने (अनुमृश्य) बार बार विचारकर (वलस्य) हिंसक असुर को (अप आजत्) निकाल दिया है, (आ) और (गाः) वेदवाणियों को (आ चक्रे) स्वीकार किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अन्धकार का, और जैसे पवन सेवार, कमल आदि, और मेघ को हटा देता है, वैसे ही विद्वान् पुरुष दुराचारियों को हटाकर वेद की आज्ञा का पालन करे ॥ ५ ॥

यदा वलस्य पीयतो जसुं भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिर्कैः ।
दुद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीँरकृणोदुस्रियाणाम् ॥६॥

यदा । वलस्य । पीयतः । जसुम् । भेत् । बृहस्पतिः । अग्निऽतपःऽभिः । अर्कैः ॥ दत्ऽभिः । न । जिह्वा । परिऽविष्टम् । आदत् । आविः । निऽधीन् । अकृणोत् । उस्रियाणाम् ॥६॥

भाषार्थ—(यदा) जब (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (अग्नितपोभिः) अग्नि समान तेज वाले (अर्कैः)

५—(अप) दूरीकरणे (ज्योतिषा) प्रकाशेन सह (तमः) अन्धकारम् (अन्तरिक्षात्) आकाशात् सूर्यो यथा (उद्नः) उदकात् (शीपालम्) शीङो धुक्लकवलञ्वालनः । उ० ४ । ३८ । शीङ् स्वप्ने — वालन्, स च कित, वस्य पः । शैवालम् । उदके लतारूपमुत्पन्नं तृणविशेषम् । जलनीलीम् (इव) यथा (वातः) पवनः (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ् । अगमयत (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षक (अनुमृश्य) निरन्तरं विचार्य (वलस्य) द्वितीतार्थे षष्ठी । हिंसकं दैत्यम् (अभ्रम्) मेघम् (इव) (वातः) (आ) समुच्चये (आ चक्रे) स्वीकृतवान् (गाः) वेदवाणीः ॥

६—(यदा) यस्मिन् काले (वलस्य) दुष्टस्य । दैत्यस्य (पीयतः) हिंसकस्य (जसुम्) जसु ताडने हिंसायां च—उप्रत्ययः । आयुधम् (भेत्) अभेत् ।

पूजनीय परिडतों के साथ (पीयतः) हिंसक (वलस्य) असुर के (जसुम्) हथियार को (भेत्) तोड़ डाला,(न) जैसे (दद्भिः) दांतों से (परिविष्टम्) घेरे हुये [भोजन] को (जिह्वा) जीभ ने (आदत्) खाया हो, और (उस्रियाणाम्) निवास करने वाली [प्रजाओं] के (निधीन्) निधियों [सुवर्ण आदि के कोशों] को (आविः अकृणोत्) खोल दिया ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे जीभ दांतों से घेरे हुये अन्न को खाकर सब अङ्गों को पुष्ट करती है, वैसेही विद्वान् पुरुष प्रतापी शूर युद्धपरिडतों के साथ दुष्टों को मारकर प्रजा के धनों को बढ़ाकर राज्य में उन्नति करे ॥ ६ ॥

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहा यत् । आण्डेव भित्त्वा शकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत् ॥७॥

बृहस्पतिः । अमत । हि । त्यत् । आसाम् । नाम । स्वरीणाम् । सदने । गुहा । यत् ॥ आण्डा-इव । भित्त्वा । शकुनस्य । गर्भम् । उत् । उस्रियाः । पर्वतस्य । त्मना । आजत् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (हि) ही (आसाम्) इन (स्वरीणाम्) शब्द करती हुई [वेदवाणियों] के (त्यत्) उस (नाम) यश को (अमत) जाना है, (यत्) जो (गुहा) हृदय के भीतर (सदने) घर में है । (इव) जैसे (आण्डा) अण्डों को

अभिनत् (बृहस्पतिः) (अग्नितपोभिः) अग्निवत्तेजस्विभिः (अर्कैः) पूजनीयैः परिडतैःसह (दद्भिः) दन्तशब्दस्य दद्भावः । दन्तैः (न) यथा (जिह्वा) रसना (परिविष्टम्) विष्लृ व्याप्तौ—क्त । वेष्टितम् । परिगृहीतं भोजनम् (आदत्) अद भक्षणे—लङ् । अभक्षयत् (आविरकृणोत्) स्पष्टीकृतवान् (निधीन्) सुवर्णादिकोशान् (उस्रियाणाम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । वस निवासे-रक्, स्वार्थे घप्रत्ययः, टाप् । निवासशीलानां प्रजानाम् ॥

७—(बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षकः (अमत) मनु अवबोधने—लुङ् । ज्ञानवान् (हि) निश्चयेन (त्यत्) प्रसिद्धम् (आसाम्) प्रसिद्धानाम् (नाम) यशः । कीर्तिम् (स्वरीणाम्) अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । स्वृ शब्दोपतापयोः—ईप्रत्ययः । शब्दायमानानां वेदवाणीनाम् (सदने)

(भित्त्वा) तोड़कर (शकुनस्य) पक्षी के (गर्भम्) बच्चे को, [वैसे ही] उस [महाविद्वान्] ने (उस्रियाः)-निवास करने वाली [प्रजाओं] को (पर्वतस्य) पर्वत [समान दृढ़ स्वभाव वाले मनुष्य] के (त्मना) आत्मा से (उत् आजत्) उदय किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष अपने हृदय में प्राप्त वेदवाणियों के गुणों को जानकर संसार में इस प्रकार प्रकट करे, जैसे अण्डों के पककर फूटने पर पक्षियों के बच्चे निकलते हैं ॥ ७ ॥

मन्त्र ७ और ८ का पाठ ऋग्वेद, निरु० १० । १२, तथा अथर्ववेद संहिता गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई, और प० सेवकलाल कृष्णदास बम्बई के पुस्तकों के अनुसार लिया है, वैदिक यन्त्रालय अजमेर के पुस्तक का पाठ विचारणीय है कि कदापि छपने में मन्त्र का अङ्क [७] चौथे पाद पर लगने के स्थान पर दूसरे पाद पर लग गया है, क्योंकि उस में मन्त्र ७ दो पाद का और मन्त्र ८ छह पाद का छपा है ॥

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्यन्मत्स्यं न दीन उदनि क्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विरवेणा विकृत्य ॥८॥

अश्ना । अपि-नद्धम् । मधु । परि । अपश्यत् । मत्स्यम् । न । दीने । उदनि । क्षियन्तम् ॥ निः । तत् । जभार । चमसम् । न । वृक्षात् । बृहस्पतिः । वि-रवेण । वि-कृत्य ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (अश्ना) फैले हुये [अज्ञान] से (अपिनद्धम्) ढके हुये (मधु)

गृहे (गुहा) गुहायाम् । हृदये (यत्) (आण्डा) अण्डानि (भित्त्वा) विदार्य (शकुनस्य) पक्षिणः (गर्भम्) बालकम् (उत्) ऊर्ध्वम् (उस्रियाः) म० ६ । निवासशीलाः प्रजाः (पर्वतस्य) शैलतुल्यदृढस्वभावस्य पुरुषस्य (त्मना) आत्मना (आजत्) म० ५ । अगमयत् ॥

८—(अश्ना) अश्मना । व्यापकेन अज्ञानेन (अपिनद्धम्) पिहितम् (मधु) म० ४ । ज्ञानम् (परि) सर्वतः (अपश्यत्) अद्राक्षीत् (मत्स्यम्) जल-

ज्ञान को, (दीने) थोड़े (उदनि) जल में (क्षियन्तम्) रहती हुई (मत्स्यम् न) मछली के समान, (परि) सब ओर से (अपश्यत्) देखा, और (वृक्षात्) वृक्ष से (चमसम् न) अन्न के समान, (तत्) उस [ज्ञान] को (विरवेण) विशेष ध्वनि के साथ (विकृत्य) हल चल करके (निः जभार) बाहिर लाया ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष जब संसार में अज्ञान के कारण से ज्ञान के फैलाव में ऐसी रोक देखे जैसे मछली थोड़े जल में नहीं चल फिर सकती है, वह पुरुष विशेष प्रयत्न कर के ज्ञान का विस्तार करे जैसे वृक्ष से अन्न अर्थात फल लेकर उपकार करते हैं ॥ ८ ॥

मन्त्र ७ की टिप्पणी देखो ॥

सोषामविन्दुत् स स्वः१ः सो अग्निं सो अर्केण वि बंबाधे तमांसि । बृहस्पतिर्गोवपुषो वलस्य निर्मज्जानं न पर्वणो जभार ॥ ९ ॥

सः । उषाम् । अविन्दत् । सः । स्व१रिति स्वः । सः । अग्निम् । सः । अर्केण । वि । बबाधे । तमांसि ॥ बृहस्पतिः । गो-वपुषः । वलस्य । निः । मज्जानम् । न । पर्वणः । जभार ।९।

भाषार्थ—(सः) उस (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्या के रक्षक महाविद्वान्] ने (उषाम्) उषा [प्रभात वेला के समान प्रकाशवती बुद्धि] को, (सः) उस ने (स्वः) सुख को, (सः) उस ने

जन्तुविशेषम् (न) यथा (दीने) क्षीणे । अल्पे (उदनि) उदके (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (निर्जभार) निर्जहार । बहिश्चकार (चमसम्) अन्नम् । फलम् (न) यथा (वृक्षात्) तरुसकाशात् (बृहस्पतिः) महाविद्वान् पुरुषः (विरवेण) विशेषध्वनिना (विकृत्य) विकारं गत्वा ॥

९—(सः) पूर्वोक्तः (उषाम्) उष दाहे—क, टाप् । (प्रभातवेलावत् प्रकाशवतीं बुद्धिम् (अविन्दत्) विद्लृ लाभे—लङ् । अलभत (सः) (स्वः) सुखम् (सः) (अग्निम्) अग्निवत्प्रतापम् (सः) (अर्केण) पूजनीयेन विचा-

(अग्निम्) अग्नि [समान तेज] को (अविन्दत्) पाया है, (सः) उस ने (अर्केण) पूजनीय विचार से (तमांसि) अन्धकारों को (वि बबाधे) हटा दिया है। उस ने (गोवपुषः) वज्र समान दृढ़ शरीर वाले (वलस्य) हिंसक असुर के (पर्वणः) जोड़ से (मज्जानम्) मींग को (न) अब (निः जभार) निकाल डाला है ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष उत्तम बुद्धि प्राप्त करके सुख के साथ तेजस्वी होकर अज्ञान का नाश कर दुष्टों को मिटावे ॥ ९ ॥

हिमेव पुर्णा मुंषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद् वलो गाः ।
अनानुकृत्यमंपुनश्चकार यात् सूर्यामासा मिथ उच्चरातः ॥ १० ॥

हिमा-इंव । पुर्णा । मुषिता । वनानि । बृहस्पतिना । अकृपयत् । वलः । गाः ॥ अनन-कृत्यम् । अपुनरिति । चकार । यात् । सूर्यामासा । मिथः । उत्-चरातः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(हिमा इव) जैसे हिम [महाशीत] से (मुषिता) उजाड़े गये (पर्णा) पत्तों को (वनानि) वृक्ष, [वैसे ही] (बृहस्पतिना) बृहस्पति [महाविद्वान्] के कारण से (वलः) हिंसक दुष्ट ने (गाः) वेदवाणियों को (अकृपयत्) माना। (अननुकृत्यम्) दूसरों से न करने योग्य, (अपुनः)

रेण (वि) विशेषेण (बबाधे) बाधितवान्। निराचकार (तमांसि) अन्धकारान् (बृहस्पति.) बृहत्या वेदवाण्याः रक्षकः(गोवपुषः) गौर्वज्रः—वज्रतुल्यदृढशरीरस्य (निः) बहिर्भावे (मज्जानम्) अ० १। ११। ४। अस्थिसारम् (न) संप्रति (पर्वणः) सन्धिप्रदेशात् (जभार) जहार। निनाय ॥

१०—(हिमा) हिमेन। महाशीतेन (इव) यथा (पर्णा) पर्णानि। वृक्षपत्राणि (मुषिता) मुषितानि। नाशितानि (वनानि) वृक्षाः (बृहस्पतिना) महाविदुषः पुरुषस्य कारणेन (अकृपयत्) कृप चिन्तने—लङ्। अचिन्तयत्। कल्पितवान् (वलः) हिंसको दुष्टः (गाः) वेदवाणीः (अननुकृत्यम्) सांहितिको दीर्घः। अननुकरणीयम्। अन्यैःकर्तुम् अशक्यम् (अपुनः) प्रातेररन्। उ० ५। ५६। पन स्तुतौ—अरन्, अस्य उत्वम्। नास्ति पुनः स्तुत्यं

सब से बढ़कर कर्म (चकार) उस [महाविद्वान्] ने किया है, (यात्) जैसे (सूर्यामासा) सूर्य और चन्द्रमा (मिथः) आपस में (उच्चरातः) उत्तमता से चलते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जैसे जाड़े के मारे वृक्ष सूख जाते हैं, वैसे ही विद्वान् पुरुष वेदवाणी के प्रभाव से दुष्टों को मार कर अनुपम कर्म करता हुआ सूर्य और चन्द्रमा के समान सन्मार्ग पर चलता रहे ॥ १० ॥

अभि श्यावं न कृशनेभिरश्वं नक्षत्रेभिः पितरो द्यामपिंशन्। रात्र्यां तमो अदधुर्ज्योतिरहन् बृहस्पतिर्भिनदद्रिं विदद् गाः॥११॥

अभि। श्यावम्। न। कृशनेभिः। अश्वम्। नक्षत्रेभिः। पितरः। द्याम्। अपिंशन्॥ रात्र्याम्। तमः। अदधुः। ज्योतिः। अहन्। बृहस्पतिः। भिनत्। अद्रिम्। विदत्। गाः॥११॥

भाषार्थ—(कृशनेभिः) सुवर्णों से (न) जैसे (श्यावम्) शीघ्रगामी (अश्वम्) घोड़े को, [वैसे ही] (पितरः) पालने वाले [ईश्वर नियमों] ने (नक्षत्रेभिः) तारों से (द्याम्) आकाश को (अभि) सब ओर से (अपिंशन्) सजाया है। और (राज्याम्) रात्रि में (तमः) अन्धकार को और (अहन्) दिन में (ज्योतिः) प्रकाश को (अदधुः) रक्खा है, [उसी प्रकार] बृहस्पतिः)

यस्मात् तत्। अत्यन्तस्तुत्यं कर्म (चकार) कृतवान् (यात्) छान्दसो दीर्घः। यत्। यथा (सूर्यामासा) माङ् माने असुन्। मस्यते परिमीयते स्वकलावृद्धिहानिभ्यामिति माश्चन्द्रमाः। सूर्याचन्द्रमसौ (मिथः) परस्परम् (उच्चरातः) उत्तमतया चरतः, गच्छतः॥

११—(अभि) सर्वतः (श्यावम्) अ० ५।५।८। श्यैङ् गतौ-वप्रत्ययः। शीघ्रगामिनम् (न) यथा (कृशनेभिः) कॄपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः। उ० २। ८१। कृश तनूकरणे—क्यु। कृशनैः सुवर्णालङ्कारैः—निघ० १।२ (अश्वम्) तुरङ्गम् (नक्षत्रेभिः) तारागणैः (पितरः) पालकाः परमेश्वरनियमाः (द्याम्) आकाशम् (अपिंशन्) पिश अवयवे दीपनायां च—लङ्। अदीपयन्। अलमकुर्वन् (राज्याम्) निशि (तमः) अन्धकारम् (अदधुः) धारितवन्तः (ज्योतिः)

बृहस्पति [बड़ी वेदवाणी के रक्षक महाविद्वान्] ने (अद्रिम्) पहाड़ [के समान भारी अज्ञान] को (भिनत्) तोड़ डाला और (गाः) वेद वाणियों को (विदत्) प्राप्त कराया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जैसे नक्षत्र, दिन, रात्रि आदि ईश्वर के अटल नियमों पर चलते हैं, विद्वान् जन दृढ चित्त से अज्ञान मिटा कर अचल वेदवाणी को फैलावे ॥ ११ ॥

इदम॑कर्म॒ नमो॑ अभ्रि॒याय॒ यः पू॒र्वीरन्वा॒नोन॑वीति । बृह॒स्पति॒ः स हि गोभि॒ः सो अश्वै॒ः स वी॒रेभि॒ः स नृभि॑र्नो॒ वयो॑ धात् ॥ १२ ॥

इ॒दम् । अ॒कर्म॒ । नम॑ः । अ॒भ्रि॒याय॑ । यः । पू॒र्वीः । अनु॑ । आ॒ऽनोन॑वीति ॥ बृह॒स्पति॑ः । सः । हि । गोभि॑ः । सः । अश्वै॑ः । सः । वी॒रेभि॑ः । सः । नृ॒ऽभिः॑ । नः॒ । वय॑ः । धा॒त् ॥ १२

भाषार्थ—(इदम्) यह (नमः) नमस्कार (अभ्रियाय) गति में रहने वाले [पुरुषार्थी मनुष्य] को (अकर्म) हम ने किया है, (यः) जो [विद्वान्] (पूर्वीः) पहिली [वेदवाणियों] को (अनु) लगातार (आनोनवीत) सब ओर सराहता रहता है । (सः हि) वही (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्या का रक्षक महाविद्वान्] (गोभिः) गौओं के साथ, (सः) वही (अश्वैः)

प्रकाशम् (अहन्) अह्नि । दिने (बृहस्पतिः) महाविद्वान् पुरुषः (भिनत्) अभिनत् । विदारितवान् (अद्रिम्) शैलतुल्यदृढाज्ञानम् (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ् । अन्तर्गतण्यर्थः । अविदत् । प्रापितवान् (गाः) वेदवाणीः ॥

१२—(इदम्) (अकर्म) अकार्ष्म । वयं कृतवन्तः (अभ्रियाय) नन्दिग्रहिपचादिभ्यो ल्युणिन्यचः । पा० ३ । १ । १३ । अभ्र गतौ—पचाद्यच् । अभ्रं मेघः—निघ० १ । १० । समुद्राभ्राद् घः । पा० ४ । ४ । ११८ । अभ्र—घप्रत्ययो भवार्थे । अभ्रे गतौ भवाय वर्तमानाय । पुरुषार्थिने (यः) विद्वान् (पूर्वीः) आद्या वेदवाणीः (अनु) निरन्तरम् (आनोनवीति) णु स्तुतौ यङ्लुकि । समन्ताद् अत्यर्थं नौति स्तौति (बृहस्पतिः) बृहत्या वेदवाण्या रक्षको महाविद्वान् (सः) (हि) एव (गोभिः) धेनुभिः (सः) (अश्वैः) तुरङ्गैः (सः)

घोड़ों के साथ, (सः) वही (वीरेभिः) वीरों के साथ, (सः) वही (नृभिः) नेता लोगों के साथ (नः) हमें (वयः) अन्न (धात्) देवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—सब लोग उस महाविद्वान् का सदा सत्कार करें जो सदा वेदवाणियों का गुण गाकर मनुष्यों को सम्पत्तियों, वीरों और पराक्रमियों से युक्त करके पुष्कल अन्न प्राप्त करावें ॥ १२ ॥

सूक्तम् १७ ॥

१—१२ ॥ १—११ इन्द्रः ; १२ इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ १, ६ निचृज्जगती; २, ११ त्रिष्टुप्; ३, ६ जगती, ४ विराड् जगती; ५, ७, ८ विराडार्षी जगती; १०, १२ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

अच्छा म इन्द्रं मतयः स्वर्विदः सध्रीचीर्विश्वा उशतीरनूषत।
परि ष्वजन्ते जनयो यथा पतिं मर्यं न शुन्ध्युं मघवानमूतये १

अच्छ । मे । इन्द्रम् । मतयः । स्वः-विदः । सध्रीचीः । विश्वाः । उशतीः । अनूषत ॥ परि । स्वजन्ते । जनयः । यथा । पतिम् । मर्यम् । न । शुन्ध्युम् । मघ-वानम् । ऊतये १

भाषार्थ—(स्वर्विदः) सुख पहुंचाने वाली, (सध्रीचीः) आपस में मिली हुयी, (उशतीः) कामना करती हुयी, (विश्वाः) सब (मे) मेरी (मतयः) बुद्धियों ने (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] को (अच्छ) अच्छे प्रकार से (अनूषत) सराहा है और (ऊतये) रक्षा के लिये [ऐसे, उसे]

(वीरेभिः) वीरैः (सः) (नृभिः) नेतृभिः (नः) अस्मभ्यम् (वयः) वि गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु, यद्वा वय गतौ असुन् । अन्नम्—निघ० २ । ७ (धात्) दध्यात् ॥

१—(अच्छ) सुष्ठु (मे) मम (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (मतयः) बुद्धयः (स्वर्विदः) सुखस्य लम्भयित्र्यः (सध्रीचीः) अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्, ङीप् । सहाञ्चनाः । परस्परं संगताः (विश्वाः) सर्वाः (उशतीः) कामयमानाः (अनूषत) णु स्तुतौ—लुङ् । आत्मनेपदत्वम् उकारस्य दीर्घत्वं च छान्दसम् । अस्तुवन् (परि) सर्वतः (स्वजन्ते) आलिङ्गन्ति । वेष्टन्ते

(परि ष्वजन्ते) सब ओर घेरती हैं, (यथा) जैसे (जनयः) पत्नियां (पतिम्) [अपने अपने] पति को, और (न) जैसे (शुन्ध्युम्) शुद्ध आचार वाले, (मघवानम्) महाधनी (मर्यम्) मनुष्य को [लोग घेरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा पराक्रमी मनुष्य का आश्रय लेकर रक्षा करें, जैसे स्त्रियां अपने पतियों का, और सब लोग सदाचारी कमाऊ जन का आश्रय लेते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—११ ऋग्वेद में हैं—१० । ४३ । १—११ ॥

न घा त्वद्रिगप वेति मे मनस्त्वे इत् कामं पुरुहूत शिश्रय ।
राजेव दस्म नि षदोऽधि बर्हिष्यस्मिन्त्सु सोमेऽवपानमस्तु ते २

न । घ । त्वद्रिक् । अप । वेति । मे । मनः । त्वे इति । इत् । कामम् । पुरु-हूत । शिश्रय ॥ राजा-इव । दस्म । नि । सदः । अधि । बर्हिषि । अस्मिन् । सु । सोमे । अव-पानम् । अस्तु । ते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत प्रकार से बुलाये गये ! (त्वद्रिक्) तेरी ओर गया हुआ (मे) मेरा (मनः) मन (न घ) न कभी (अप वेति) भटकता है, (त्वे) तुझमें (इत्) ही (कामम्) [अपनी] आशा को (शिश्रय) मैंने ठहराया है। (दस्म) हे दर्शनीय ! (राजा इव) राजा के समान (बर्हिषि)

(जनयः) पत्न्यः (यथा) (पतिम्) स्वस्वभर्तारम् (मर्यम्) मनुष्यम् (न) यथा (शुन्ध्युम्) अ० १३ । २ । २४ । शुन्ध विशुद्धौ—युच् । शुद्धाचारवन्तम् (मघवानम्) महाधनिनम् (ऊतये) रक्षणाय ॥

२—(न घ) न कदापि (त्वद्रिक्) युष्मद् + अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये । पा० ६ । ३ । ९२ । इति सर्वनाम्नः टेः अद्रि इत्यादेशः । अचः । पा० ६ । ४ । १३८ । लुप्तनकारस्याञ्चतेर्भस्य अकारस्य लोपः । त्वां गच्छन् (अप वेति) अपगच्छति (मे) मम (मनः) चित्तम् (त्वे) शे इत्यादेशः । त्वयि (इत्) एव (कामम्) आशाम् (पुरुहूत) हे बहुविधाहूत (शिश्रय) श्रिञ् सेवायाम्—लिट् । अहमाश्रितवान् स्थापितवानस्मि (राजा) (इव)

उत्तम आसन पर (अधि) अधिकार पूर्वक (नि षदः) तू बैठ, और (अस्मिन्) इस (सोमे) ऐश्वर्य में (ते) तेरा (अवपानम्) निश्चित रक्षा कर्म (सु) सुन्दर रीति से (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण पूर्ण राजभक्ति से उचित उपहार देकर धर्मात्मा राजा को प्रसन्न रक्खें ॥ २ ॥

विषूवृदिन्द्रो अमतेरुत क्षुधः स इद्रायो मघवा वस्व ईशते। तस्येदिमे प्रवणे सप्त सिन्धवो वयो वर्धन्ति वृषभस्य शुष्मिणः॥३

विषु-वृत् । इन्द्रः । अमतेः । उत । क्षुधः । सः । इत् । रायः । मघ-वा । वस्वः । ईशते ॥ तस्य । इत् । इमे । प्रवणे । सप्त । सिन्धवः । वयः । वर्धन्ति । वृषभस्य । शुष्मिणः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी राजा] (अमतेः) कंगाल का (उत) और (क्षुधः) भूख का (विषुवृत्) सर्वथा हटाने वाला है, (सः इत्) वही (मघवा) महाधनी (रायः) धनका और (वस्वः) वस्तु का (ईशते) स्वामी है। (तस्य इत्) उसी हो (वृषभस्य) श्रेष्ठ (शुष्मिणः) महाबली के (प्रवणे) सेवनीय लवे राज्य में (इमे) यह (सप्त सिन्धवः) बहते हुये सात

(दस्म) इषियुधीन्धिदसि० । उ० ४ । १४५ । दसु उपक्षये, यद्वा, दस दसि दर्शनसन्दशनयोः—मक् । हे दर्शनीय (नि षदः) लेटि रूपम् । निषीद (अधि) अधिकारपूर्वकम् (बर्हिषि) उत्तमासने (अस्मिन्) (सु) सुष्ठु (सोमे) ऐश्वर्ये (अवपानम्) निश्चितरक्षणम् (अस्तु) (ते) तव ॥

३—(विषुवृत्) विषु+वृतु वर्तने—क्विप् । सर्वथा निवर्तयिता (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् (अमतेः) अमेरतिः । उ० ४ । ५६ । अम पीडने—अति । दारिद्र्यस्य (क्षुधः) बुभुक्षायाः (सः) (इत्) एव (रायः) धनस्य (मघवा) महाधनी (वस्वः) वसुनः । वस्तुनः (ईशते) छान्दस. शप् । ईष्टे । ईश्वरो भवति (तस्य) (इत्) (इमे) प्रत्यक्षाः (प्रवणे) वन सम्भक्तौ—अच् । सेवनीये । आयते दीर्घे राज्ये (सप्त) सप्तसंख्याकानि शीर्षण्यानि छिद्राणि । कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्—अथर्व० १० । २ । ६ (सिन्धवः) स्यन्दमानानि

समुद्रकपच्छेद [हमारे दो कान दो नथने, दो आखें और एक मुख अथर्व० १० । २ । ६] (वयः) अन्न को (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—धार्मिक प्रतापी, धनी राजा की सुनीति से प्रजागण जितेन्द्रिय होकर विद्यावृद्धि करके धनवान् और अन्नवान् होवें ॥ ३ ॥

वयो न वृक्षं सुपलाशमासदन्त्सोमास इन्द्रं मन्दिनश्चमूषदः । प्रैषामनीकं शवसा दविद्युतद् विदत् स्वर्मनवे ज्योतिरार्यम् ॥४

वयः । न । वृक्षम् । सु-पलाशम् । आ । असदन् । सोमासः । इन्द्रम् । मन्दिनः । चमू-सदः ॥ प्र । एषाम् । अनीकम् । शवसा । दविद्युतत् । विदत् । स्वः । मनवे । ज्योतिः । आर्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वयः न) जैसे पक्षी गण (सुपलाशम्) सुन्दर पत्तों वाले (वृक्षम्) वृक्ष को, [वैसे ही] (मन्दिनः) आनन्द देने वाले, (चमूषदः) सेनाओं में ठहरने वाले (सोमासः) ऐश्वर्यवान् पुरुष (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] को (आ असदन्) आकर प्राप्त हुये हैं । (शवसा) बल के साथ (एषाम्) इन [ऐश्वर्यवानों] के (दविद्युतत्) अत्यन्त चमकते हुये (अनीकम्) सेनादल ने (मनवे) मनुष्य के लिये (आर्यम्) उत्तम (स्वः)

समुद्रकाणि छिद्राणि (वय.) अन्नम् (वर्धन्ति) वर्धयन्ति (वृषभस्य) श्रेष्ठस्य (शुष्मिणः) महाबलवतः ॥

४—(वयः) पक्षिणः (न) यथा (वृक्षम्) (सुपलाशम्) सुपल्लवितम् (आ) आगत्य (असदन्) प्राप्नुवन् (सोमासः) ऐश्वर्यवन्तः पुरुषाः (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं राजानम् (मन्दिनः) प्रजोरिनिः । पा० ३ । २ । १५६ । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—इनि प्रत्ययो बाहुलकात् । आनन्दयितारः (चमूषदः) चमूषु सेनासु सीदन्ति तिष्ठन्ति ये ते (प्र) प्रकर्षेण (एषाम्) ऐश्वर्यवताम् (अनीकम्) अन प्राणने—ईकन् । सैन्यम् (शवसा) बलेन (दविद्युतत्) दाधर्तिदर्धर्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । द्युत दीप्तौ—यङ्लुकि शतरि रूपसिद्धिः । भृशं दीप्यमानम् (विदत्) अविदत् । अलभत (स्वः) सुखम (मनवे) मनुष्याय

सुख और (ज्योतिः) तेज को (प्र) अच्छे प्रकार (विदत्) पाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे सुन्दर फल पुष्प और छाया वाले वृक्ष पर पक्षी आकर रहते हैं, वैसे ही तीक्ष्ण हथियार वाले धीर वीर लोग महाप्रतापी राजा का आश्रय लेकर प्रजा को सुख देते और प्रकाश का मार्ग खोलते हैं ॥ ४ ॥

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यन्मघवा सूर्यं जयत्। न तत् ते अन्यो अनु वीर्यं शकन्न पुराणो मघवन् नोत नूतनः ॥ ५ ॥

कृतम्। न। श्वघ्नी। वि। चिनोति। देवने। सम्-वर्गम्। यत्। मघ-वा। सूर्यम्। जयत् ॥ न। तत्। ते। अन्यः। अनु। वीर्यम्। शकत्। न। पुराणः। मघ-वन्। न। उत। नूतनः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (श्वघ्नी) धन नाश करने वाला जुआरी (कृतम्) जीते धनको (देवने) जुये में (वि चिनोति) बटोर लेता है, [वैसे ही] (यत्) जब (मघवा) महाधनी [राजा] (सूर्यम्-सूर्यस्य) प्रेरणा करने वाले [प्रधान] के (संवर्गम्) रोकने वाले [शत्रु] को (जयत्) जीतता है, (तत्) तब (मघवन्) हे महाधनी ! [राजन्] (अन्यः) कोई दूसरा (ते) तेरे (वीर्यम्) वीरपन को (न) नहीं (अनु शकत्) पा सकता है, (न) न

(ज्योतिः) तेजः (आर्यम्) श्रेष्ठम् ॥

५—(कृतम्) द्यूते प्राप्तं धनम् (न) यथा (श्वघ्नी) स्व + हन हिंसागत्योः—घञर्थे कप्रत्ययः। अत इनिठनौ। पा० ५। २। ११५। इनिप्रत्ययः, सकारस्य शः। श्वघ्नी कितवो भवति स्वं पुनराश्रितं भवति—निरु० ५। २२। स्वस्य धनस्य नाशकः। कितवः। द्यूतकारकः (वि चिनोति) विविधं संगृह्णाति (देवने) द्यूते (संवर्गम्) वृजी वर्जने—घञ्, कुत्वम्। संवर्जयितारम् (यत्) यदा (मघवा) महाधनी (सूर्यम्) षष्ठ्यर्थे द्वितीया। सूर्यस्य। प्रेरकप्रधानस्य (जयत्) जयति (न) निषेधे (तत्) तदा (ते) तव (अन्यः) इतरः (वीर्यम्) वीरत्वम् (अनु शकत्) अनुकर्तुं शक्नोति (न) निषेधे (पुराणः) प्राचीनः

तौ (पुराणः) कोई प्राचीन (उत) और (न) न (नूतन,) कोई नवीन जन ॥५॥

भावार्थ—वीर राजा अनुपम पराक्रम के साथ संग्राम में शत्रुओं को को जीत कर प्रजा का पलन करे ॥ ५ ॥

विशंविशं मघवा पर्यशायत जनानां धेना अवचाकशद् वृषा। यस्याह शक्रः सवनेषु रण्यति स तीव्रैः सोमैः सहते पृतन्यतः॥६॥

विशम्-विशम् । मघ-वा । परि । अशायत । जनानाम् । धेनाः । अव-चाकशत् । वृषा ॥ यस्य । अह । शक्रः । सवनेषु । रण्यति । सः । तीव्रैः । सोमैः । सहते । पृतन्यतः ॥६॥

भाषार्थ—(मघवा) महाधनी, (वृषा) बलवान् [सेनापति] (जनानाम्) मनुष्यों की (धेनाः) वाणियों को (अवचाकशत्) ध्यान से देखता हुआ (विशंविशम्) मनुष्य मनुष्य को (परि अशायत) पहुंचा है। (शक्रः) शक्तिमान् [सेनापति] (यस्य अह) जिसके ही (सवनेषु) यज्ञों के बीच (रण्यति) पहुंचता है, (सः) वह [मनुष्य] (तीव्रैः) पौष्टिक (सोमैः) सोमों [ऐश्वर्यों वा महौषधियों के रसों] से (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वाले [शत्रुओं] को (सहते) हराता है ॥ ६ ॥

भावार्थ-चतुर सेनापति समस्त प्रजा की पुकार सुनकर ऐसे ऐसे उत्तम उपाय करे जिससे प्रजागण ऐश्वर्यवान् और बलवान् होकर शत्रुओं को जीतें ६

(मघवन्) हे महाधनिन् (न) निषेधे (उत) अपि च (नूतनः) आधुनिकः ॥

६—(विशंविशम्) मनुष्यं मनुष्यम् (मघवा) महाधनी सेनापतिः (परि अशायत) शीङ् शयने णिचि—लङ्। प्राप्तवान् (जनानाम्) मनुष्याणाम् (धेनाः) वाणीः—निघ० १ । ११ (अवचाकशत्) अ० ६ । ८० । १ । अव + काशृ दीप्तौ यङ्लुकि शतृ। भृशं पश्यन्—निघ० ३ । ११ (वृषा) महाबली (यस्य) पुरुषस्य (अह) एव (शक्रः) शक्तिमान् (सवनेषु) यज्ञेषु (रण्यति) रण गतौ शब्दे च दिवादिः । गच्छति । प्राप्नोति (सः) मनुष्यः (तीव्रैः) तीव स्थौल्ये-रक् । स्थूलैः । पौष्टिकैः (सोमैः) ऐश्वर्यैः । महौषधिरसैः (सहते) अभिभवति (पृतन्यतः) पृतनां सेनामात्मन इच्छतः शत्रून् ॥

आपो न सिन्धुमभि यत् समक्षरन्त्सोमास इन्द्रं कुल्या इव हृदम्। वर्धन्ति विप्रा महो अस्य सादने यवं न वृष्टिर्दिव्येन दानुना ॥ ७ ॥

आपः। न। सिन्धुम्। अभि। यत्। सम्-अक्षरन्। सोमासः। इन्द्रम्। कुल्याः-इव। हृदम् ॥ वर्धन्ति। विप्राः। महः। अस्य। सदने। यवम्। न। वृष्टिः। दिव्येन। दानुना ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (आपः) नदियां (सिन्धुम् अभि) समुद्र को और (इव) जैसे (कुल्याः) नाले (हृदम्) झील को [मिल कर बह जाते हैं], वैसे ही (यत्) जब (सोमासः) सोम [ऐश्वर्य] (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी पुरुष] को (समक्षरन्) मिल कर बह आये हैं, [तब] (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (अस्य) इस [शूर] की (महः) बड़ाई को (सदने) समाज के बीच (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (न) जैसे (यवम्) अन्न को (वृष्टिः) बरसा (दिव्येन) दिव्य आकाश से आये (दानुना) जलदान से [बढ़ाती है] ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो महाप्रतापी राजा सब प्रकार से ऐश्वर्यवान् हो, विद्वान् लोग उसके गुणों की प्रशंसा कर के उन्नति करें ॥ ७ ॥

वृषा न क्रुद्धः पतयद् रजःस्वा यो अर्यपत्नीरकृणोदिमा अपः। स सुन्वते मघवा जीरदानवेऽविन्दज्ज्योतिर्मनवे हविष्मते ॥ ८ ॥

वृषा। न। क्रुद्धः। पतयत्। रजः-सु। आ। यः। अर्य-पत्नीः।

---

७ (आपः) जलवत्यो नद्यः (न) यथा (सिन्धुम्) समुद्रम् (अभि) प्रति (यत्) यदा (समक्षरन्) मिलित्वा वहन्ति स्म (सोमासः) ऐश्वर्याणि (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं पुरुषम् (कुल्याः) अल्पाः सरितः (इव) (हृदम्) जलाशयम् (वर्धति) वर्धयन्ति (विप्राः) मेधाविनः (महः) मह पूजायाम्—असुन्। महत्त्वम् (अस्य) शूरस्य (सदने) समाजे (यवम्) अन्नम् (न) यथा (वृष्टिः) जलवर्षणम् (दिव्येन) दिवि आकाशे भवेन (दानुना) दाभाभ्यां नु। उ० ३। ३२। ददातेः—नु। जलदानेन ॥

अकृणोत् । इमाः । अपः ॥ सः । सुन्वते । मघ-वा । जीर-दानवे । अविन्दत् । ज्योतिः । मनवे । हविष्मते ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(क्रुद्धः) क्रुद्ध (वृषा न) बैल के समान, (यः) जो [सेनापति] (रजःसु) देशों में (आ पतयत्) झपट पड़ता है, और [जिस ने] (इमाः) इन (अपः) प्रजाओं को (अर्यपत्नीः) स्वामी से रक्षित (अकृणोत्) किया है। (सः) उस (मघवा) महाधनी [सेनापति] ने (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ने वाले, (जीरदानवे) शीघ्रदानी और (हविष्मते) ग्राह्य पदार्थों वाले, (मनवे) मननशील पुरुष के लिये (ज्योतिः) प्रकाश को (अविन्दत्) पाया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—पराक्रमी सेनापति शत्रुओं को यथावत् दण्ड देकर प्रजा की रक्षा करे और राजभक्तों को यथोचित ऊंचा करके प्रतापी बनावे ॥ ८ ॥

उज्जायतां परशुर्ज्योतिषा सह भूया ऋतस्य सुदुघा पुराणवत् । वि रोचतामरुषो भानुना शुचिः स्वर्ण शुक्रं शुशुचीत सत्पतिः ॥ ९ ॥

उत् । जायताम् । परशुः । ज्योतिषा । सह । भूयाः । ऋतस्य । सु-दुघा । पुराण-वत् ॥ वि । रोचताम् । अरुषः । भानुना । शुचिः । स्वः । न । शुक्रम् । शुशुचीत । सत्-पतिः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(परशुः) फरसा [कुल्हाड़ा] (ज्योतिषा सह) प्रकाश के

८—(वृषा) बलीवर्दः (न) यथा (क्रुद्धः) कुपितः (पतयत्) पतयति पतति शीघ्रं धावति (रजःसु) देशेषु (आ) समन्तात् (यः) सेनापतिः (अर्यपत्नीः) अर्येण स्वामिना पालिताः (अकृणोत्) अकरोत् (इमा) दृश्यमानाः (अपः) प्राप्ताः प्रजाः (सः) (सुन्वते) तत्त्वस्य निष्पादयित्रे (मघवा) महाधनी (जीरदानवे) अ० ७। १८। २। शीघ्रदानिने (अविन्दत्) अलभत (ज्योतिः) प्रकाशम् (मनवे) मननवते पुरुषाय (हविष्मते) ग्राह्य पदार्थयुक्ताय ॥

९—(उत्) ऊर्ध्वम् (जायताम्) प्रादुर्भवतु (परशुः) कुठारः। वज्रः

साथ (उत् जायताम्) ऊंचा होवे, (ऋतस्य) सत्य की (सुदुघा) अच्छे प्रकार पूर्ण करने हारी [वेदवाणी] (पुराणवत्) पहिले के समान (भूयाः) वर्तमान होवे। (अरुषः) गतिमान्, (शुचिः) शुद्धाचारी, (सत्पतिः) सत्पुरुषों का रक्षक पुरुष (भानुना) अपने प्रकाश से (वि) विविध प्रकार (रोचताम्) प्रिय होवे, और (शुक्रम्) निर्मल (स्वः न) सूर्य के समान (शुशुचीत) चमकता रहे ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब शूर सेनापति अपने उज्ज्वल तीक्ष्ण हथियारों से शत्रुओं को मारकर सत्य की स्थापना करता है, तब वह अपने उपकारों से सूर्य समान प्रतापी होकर सब को प्रिय लगता है ॥ ६ ॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

गोभिः। तरेम। अमतिम्। दुःऽएवाम्। यवेन। क्षुधम्। पुरुऽहूत। विश्वाम् ॥ वयम्। राजऽभिः। प्रथमाः। धनानि। अस्माकेन। वृजनेन। जयेम ॥ १० ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये ! [राजन्] (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गति वाली (अमतिम्) कुमति [वा कङ्गाली] को और (यवेन) अन्न से (विश्वाम्) सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) हम हटावें। (वयम्) हम (राजभिः) राजाओं के साथ (प्रथमाः) प्रथम श्रेणी

(ज्योतिषा) प्रकाशेन (सह) ((भूयाः) प्रथमस्य मध्यमपुरुषः। भूयात् (ऋतस्य) सत्यस्य (सुदुघा) दुह प्रपूरणे—कप्, टाप्, हस्य घः। सुष्ठु पूरयित्री वेदवाणी (पुराणवत्) पूर्वं यथा (वि) विविधम् (रोचताम्) रोचकः प्रियो भवतु (अरुषः) अ० ३। ३। २। पूनहिकलिभ्य उषच्। उ० ४। ७५। ऋ गतिप्रापणयोः—उषच्। गतिशीलः (भानुना) स्वप्रकाशेन (शुचिः) शुद्धाचारी (स्वः) आदित्यः (न) यथा (शुक्रम्) शुक्लम्। निर्मलम् (शुशुचीत) शुच शोके—लिङि शपः श्लु। दीप्यताम् (सत्पतिः) सत्पुरुषाणां पालकः ॥

१०—अयं मन्त्रो भेदेन गतः—अ० ७। ५०। ७ (गोभिः) विद्याभिः (तरेम) अभिभवेम (अमतिम्) म० ३। दुर्बुद्धिम्। दारिद्र्यम् (यवेन) अन्नेन (क्षुधम्) बुभुक्षाम् (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (विश्वाम्) सर्वाम् (वयम्) (राजभिः)

वाले होकर (धनानि) अनेक धनों को (अस्माकेन) अपने (वृजनेन) बल से (जयेम) जीतें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके विद्याओं द्वारा कुमति और निर्धनता हटाकर भोजन पदार्थ प्राप्त करें और अपने भुजबल से महाधनी होकर राजाओं के साथ प्रथम श्रेणी वाले होवें ॥ १० ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऊपर आचुका है—अ० ७ । ५० । ७ । और मन्त्र १०,११ आगे हैं—२० । ८६ । १०,११ तथा २० । ६४ । १०,११ ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्-तरस्मात् । अधरात् । अघ-योः ॥ इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरिवः) सेवनीय धन (कृणोतु) करे, (सखा) [जैसे] मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥ ११

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से ऊपर आ चुका है—अ० ७ । ५१ । १, मन्त्र १० की भी टिप्पणी देखो ॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य ।

नृपैः (प्रथमाः) मुख्याः (धनानि) (अस्माकेन) अ० ४ । ३३ । ३ । आस्माकेन । आत्मीयेन (वृजनेन) बलेन (जयेम) जयेन प्राप्नुयाम ॥

११—(वरिवः) अ० २० । ११ । ७ । बहुवरणीयं धनम् । अन्यत् पूर्ववत्— अ० ७ । ५१ । १ ॥

धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥१२॥

बृहस्पते । युवम् । इन्द्रः । च । वस्वः । दिव्यस्य । ईशाथे इति । उत । पार्थिवस्य ॥ धत्तम् । रयिम् । स्तुवते । कीरये । चित् । यूयम् । पात । स्वस्ति-भिः । सदा । नः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) आकाश के (उत) और (पार्थिवस्य) पृथिवी के (वस्वः) धन के (ईशाथे) स्वामी हो । (स्तुवते) स्तुति करते हुये (कीरये) विद्वान् को (रयिम्) धन (चित) अवश्य (धत्तम्) तुम दोनों दो, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो । १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् मन्त्री और पराक्रमी राजा और सब शूर पुरुष आकाशस्थ वायु वृष्टि आदि, और पृथिवीस्थ अन्न सुवर्ण आदि का सुप्रबन्ध करके प्रजा की रक्षा करें ॥१२॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ६७ । १० और आगे है अथ० २० । ८७ । ७ और चौथा पाद ऊपर आचुका है—२० । १२ । ६ और आगे है—२० । ३७ । ११ ॥

इति द्वितीयोऽनुवाकः ॥

१२—(बृहस्पते) हे बृहत्या वेदवाण्या रक्षक विद्वन् (युवम्) युवाम् (इन्द्रः) हे महाप्रतापिन् राजन् (च) (वस्वः) वसुनः । धनस्य (दिव्यस्य) दिवि आकाशे भवस्य (ईशाथे) स्वामिनौ भवथः (उत) अपिच (पार्थिवस्य) पृथिव्यां भवस्य (धत्तम्) दत्तम् (रयिम्) धनम् (स्तुवते) स्तोत्रं कुर्वते (कीरये) कॄगॄशॄपॄ० । उ० ४ । १४३ । कॄ क्षेपे-इप्रत्ययः, दीर्घश्छान्दसः, यद्वा कील बन्धने-इन्, लस्य रः । कीरिः स्तोतृनाम-निघ० ३ । १६ । किरति वाचा प्रेरयति स किरिः तस्मै विदुषे (चित्) अवश्यम् । अन्यद् गतम्—अ० २० । १२ । ६ ॥

अथ तृतीयोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् १८ [सूक्तानि १८-२१ प्रथमः पर्यायः] ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—३ गायत्री, ४, ५ आर्च्युष्णिक्; ६ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

व॒यमु॑ त्वा त॒दिद॑र्था॒ इन्द्र॑ त्वा॒यन्तः॒ सखा॑यः ।

कण्वा॑ उ॒क्थेभि॑र्जरन्ते ॥ १ ॥

व॒यम् । ऊं॒ इति॑ । त्वा॒ । त॒दित्-अ॑र्थाः । इन्द्र॑ । त्वा॒-यन्तः॑ । सखा॑यः ॥ कण्वाः॑ । उ॒क्थेभिः॑ । ज॒र॒न्ते॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन्] (तदिदर्थाः) उस तुझ से प्रयोजन रखने वाले [तेरे ही भक्त], (त्वायन्तः) तुझे चाहते हुये, (सखायः) मित्र, (कण्वाः) बुद्धिमान् लोग (वयम्) हम (त्वा) तुझको (उ) ही (उक्थेभिः) अपने वचनों से (जरन्ते=जरामहे) सराहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण धर्मात्मा राजा से कृतज्ञ होकर गुणों का ग्रहण करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । २ । १६-१८ और सामवेद में हैं—उ० १ । २ । तृच ३, तथा मन्त्र १ सामवेद में है-पू० २ । ७ । ३ ॥

न घे॑म॒न्यदा प॑पन॒ वज्रि॑न्न॒पसो॒ नवि॑ष्टौ ।

तवेदु॒ स्तोमं॑ चिकेत ॥ २ ॥

न । घ॒ । ई॒म् । अ॒न्यत् । आ । प॒प॒न॒ । वज्रि॑न् । अ॒पसः॑ । नवि॑ष्टौ ॥ तव॑ । इत् । ऊं॒ इति॑ । स्तोम॑म् । चि॒के॒त॒ ॥ २ ॥

१—(वयम्) प्रजागणाः (उ) एव (त्वा) त्वाम् (तदिदर्थाः) स त्वमेव अर्थः प्रयोजनं येषां तादृशाः । तवैव भक्ताः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वायन्तः) त्वामात्मन इच्छन्तः (सखायः) सखिभूताः (कण्वाः) मेधाविनः (उक्थेभिः) कथनीयवचनैः (जरन्ते) उत्तमस्य प्रथमपुरुषः । जरामहे । स्तुमः ॥

भावार्थ—(वज्रिन्) हे वज्रधारी राजन् ! (नविष्टौ) स्तुति की इच्छा में (अपसः) [तेरे] कर्म से (अन्यत्) दूसरे [कर्म] को (न घ ईम्) कभी भी नहीं (आ पपन) मैं ने सराहा है। (तव इत् उ) तेरे ही (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार को (चिकेत) मैं ने जाना है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण स्तुति योग्य उपकारी कामों में प्रतापी धर्मात्मा राजा से सहायता लेते रहें ॥ २ ॥

इच्छन्ति देवाः सुन्वन्तं न स्वप्नाय स्पृहयन्ति ।
यन्ति प्रमादमतन्द्राः ॥ ३ ॥

इच्छन्ति । देवाः । सुन्वन्तम् । न । स्वप्नाय । स्पृहयन्ति ॥
यन्ति । प्र-मादम् । अतन्द्राः ॥ ३ ॥

भावार्थ—(देवाः) विद्वान् लोग (सुन्वन्तम्) तत्त्व को निचोड़ने वाले को (इच्छन्ति) चाहते हैं, (स्वप्नाय) निद्रा को (न) नहीं (स्पृहयन्ति) चाहते हैं, और (अतन्द्राः) निरालसी होकर (प्रमादम्) भूल वाले को (यन्ति) दण्ड देते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—दूरदर्शी विद्वान् पुरुष कर्म कुशल चौकसे लोगों से प्रसन्न रहें और ढिल्लड़ निकम्मों को दण्ड देवें ॥ ३ ॥

२—(न) निषेधे (घ) अवश्यम् (ईम्) एव (अन्यत्) भिन्नम् (आ) समन्तात् (पपन) पन स्तुतौ—णलि लिटि रूपम्। स्तुतवानस्मि (वज्रिन्) हे वज्रधारिन् (अपसः) कर्मणः सकाशात् (नविष्टौ) णु स्तुतौ—अप् + इष इच्छायाम्—क्तिन्। शकन्ध्वादित्वात् पररूपम्। नवस्य स्तुतेः इष्टौ इच्छायाम् (तव) (इत्) एव (उ) अवधारणे (स्तोमम्) स्तुत्यं व्यवहारम् (चिकेत) कित ज्ञाने—लिट्। अहं ज्ञातवानस्मि ॥

३—(इच्छन्ति) कामयन्ते (देवाः) विद्वांसः (सुन्वन्तम्) तत्त्वस्य निष्पादकम् (न) निषेधे (स्वप्नाय) स्पृहेरीप्सितः । पा० १ । ४ । ३६ । इति कर्मणि चतुर्थी । स्वप्नम् । आलस्यम् (स्पृहयन्ति) इच्छन्ति (यन्ति) यम नियमने, अदादित्वं [illegible] । दमयन्ति । नियमयन्ति । दण्डयन्ति (प्रमादम्) अर्श आद्यच्। प्रमादिनम् । अनवधानत्वम् (अतन्द्राः) अनलसाः ॥

वयमिन्द्र त्वायवोऽभि प्र णोनुमो वृषन् ।
विद्धी त्वं१ स्य नो वसो ॥ ४ ॥

वयम् । इन्द्र । त्वा-यवः । अभि । प्र । नोनुमः । वृषन् ॥
विद्धि । तु । अस्य । नः । वसो इति ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे महाबली ! (इन्द्र) इन्द्र [महाप्रतापी राजन्] (त्वायवः) तुझे चाहते हुये (वयम्) हम (अभि) सब ओर को (प्र) अच्छे प्रकार (नोनुमः) सराहते हैं । (वसो) हे बसाने वाले ! (नः) हमारे (अस्य) इस [कर्म] का (तु) शीघ्र (विद्धि) ज्ञान कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण धर्मात्मा राजा से प्रीति करें, वैसेही राजा भी धार्मिक प्रजा को चाहे ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—७ । ३१ । ४—६ और मन्त्र ४ सामवेद में है—पू० २ । ४ । ८ ॥

मा नो निदे च वक्तवेऽर्यो रन्धीरराव्णे ।
त्वे अपि क्रतुर्मम ॥ ५ ॥

मा । नः । निदे । च । वक्तवे । अर्यः । रन्धीः । अराव्णे ॥
त्वे इति । अपि । क्रतुः । मम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अर्यः) स्वामी तू (नः) हमको (निदे)

४—(वयम्) (इन्द्र) (त्वायवः) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । युष्मद्+या प्रापणे-कुप्रत्ययः । यद्वा । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । युष्मद्-क्यच्, उप्रत्ययः । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । पा० ७ । २ । ९८ । मपर्यन्तस्य त्वादेशः । त्वदित्यत्र तलोपः, अकारदीर्घत्वं च छान्दसम् । त्वां प्राप्ताः । त्वां कामयमानाः (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (नोनुमः) णु स्तुतौ—यङ्लुक् । भृशं स्तुमः (वृषन्) हे बलवन् (विद्धि) ज्ञानं कुरु (तु) शीघ्रम् (अस्य) कर्मणः (नः) अस्माकम् (वसो) हे वासयितः ॥

५—(मा) निषेधे (नः) अस्मान् (निदे) निन्दकाय (च) (वक्तवे) सितनिगमि० । उ० १ । ६९ । वच परिभाषणे—तुन् । परुषभाषिणे । वक्ता-

निन्दक के, (च) और (वक्वे) वकवादी (अराव्णे) अदानी पुरुष के (मा रन्धीः) वश में मत कर। (त्वे) तुझ में (अपि) ही (मम) मेरी (क्रतुः) बुद्धि है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा में श्रेष्ठ कर्मों का प्रचार करे और गुणों में दोष लगाने वाले निन्दकों को हटावे ॥ ५ ॥

त्वं वर्मासि सुप्रथः पुरोयोधश्च वृत्रहन् ।
त्वया प्रति ब्रुवे युजा ॥ ६ ॥

त्वम् । वर्म । असि । सु-प्रथः । पुरः-योधः । च । वृत्र-हन् ॥
त्वया । प्रति । ब्रुवे । युजा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे दुष्टनाशक ! (त्वम्) तू (सप्रथः) चौड़े (वर्म) कवच [के समान] (च) और (पुरोयुधः) सामने से युद्ध करने वाला (असि) है। (त्वया युजा) तुझ मिलनसार के साथ [वैरियों को] (प्रति ब्रुवे) मैं ललकारता हूं ॥ ६ ॥

भावार्थ—धर्मात्मा वीर राजा के साथ होकर प्रजागण शत्रुओं को मारें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १८ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३, ७ निचृद् गायत्री; २, ४—६ गायत्री ॥

राजप्रजागुणोपदेशः—राजा और प्रजा के गुणों का उपदेश ॥

वार्त्रहत्याय शवसे पृतनाषाह्याय च । इन्द्र त्वा वर्तयामसि ॥ १ ॥

वार्त्र-हत्याय । शवसे । पृतना-सह्याय । च ॥ इन्द्र । त्वा । आ । वर्तयामसि ॥ १ ॥

दिने (अर्यः) स्वामी त्वम् (मा रन्धीः) रध हिंसापाकयोः—लुङ्। रधिजभोरचि। पा० ७।१।६१। इति नुमागमः। रध्यतिर्वशगमनेऽपि—निरु० १०।४०। मा नाशय। मा वशीकुरु (अराव्णे) रा दाने—वनिप्। अदानिने (त्वे) त्वयि (अपि) एव (क्रतुः) प्रज्ञा (मम) ॥

६—(त्वम्) (वर्म) कवचमिव (असि) (सप्रथः) सविस्तारम् (पुरोयुधः) अग्रतो योद्धा (च) (वृत्रहन्) हे दुष्टनाशक (त्वया) (प्रति ब्रुवे) प्रत्यक्षं प्रतिकूलं वा कथयामि भर्त्सयामि (युजा) युजिर् योगे—क्विप्। मित्रेण ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले सेनापति] (वार्त्रहत्याय) वैरियों के मारने वाले (च) और (पृतनाषाह्याय) सङ्ग्राम में हराने वाले (शवसे) बल के लिये (त्वा) तुझ को (आ वर्तयामसि) हम अपनी ओर घुमाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति सेनाजनों को उत्साही करके शत्रुओं को जीते ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ३७ । १—७ और मन्त्र १ यजुर्वेद में है—१८ । ६८ ॥

अर्वाचीनं सु ते मन उत चक्षुः शतक्रतो ।
इन्द्र कृण्वन्तु वाघतः ॥ २ ॥

अर्वाचीनम् । सु । ते । मनः । उत । चक्षुः । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ इन्द्र । कृण्वन्तु । वाघतः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवान् राजन्] (वाघतः) निबाहने वाले बुद्धिमान् लोग (ते) तेरे (मनः) मन (उत) और (चक्षुः) नेत्र को (अर्वाचीनम्) हमारी ओर आने वाला (सु) आदर के साथ (कृण्वन्तु) करें ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग चतुर पुरुषार्थी राजा को प्रजा पालन आदि शुभ गुणों में प्रवृत्त करते रहें ॥ २ ॥

१—(वार्त्रहत्याय) तस्येदम् । पा० ४ । ३ । १२० । इत्यण् । शत्रुहननिमित्ताय (शवसे) बलाय (पृतनाषाह्याय) शकिसहोश्च । पा० ३ । १ । ९९ । षह अभिभवे—यत्, षत्वं दीर्घत्वं च । सङ्ग्रामे पराभवसमर्थाय (च) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (त्वा) त्वाम् (आ वर्तयामसि) आवर्तयामः । अभिमुखं कुर्मः ॥

२—(अर्वाचीनम्) अस्मदभिमुखीगतम् (सु) पूजायाम् (ते) तव (मनः) चित्तम् (उत) अपि च (चक्षुः) नेत्रम् (शतक्रतो) क्रतुः कर्मनाम—निघ० २ । १ । प्रज्ञानाम ३ । ९ । हे बहुकर्मन् । हे बहुप्रज्ञ (इन्द्र) (कृण्वन्तु) कुर्वन्तु (वाघतः) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । वह प्रापणे—अतिप्रत्ययः, उपधावृद्धिर्हस्य घः । निर्वाहकाः । मेधाविनः—निघ० ३ । १५ ॥

नामा॑नि ते शतक्रतो विश्वा॑भिर्गी॒र्भिरी॑महे ।

इन्द्रा॑भिमातिषाह्ये॑ ॥ ३ ॥

नामा॑नि । ते॒ । श॒तक्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो । विश्वा॑भिः । गीः-

भिः । ई॒म॒हे॒ ॥ इन्द्र॑ । अ॒भि॒मा॒ति-सह्ये॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवाले राजन्] (ते) तेरे (नामानि) नामों को (विश्वाभिः) सम्पूर्ण (गीर्भिः) स्तुतियों के साथ (अभिमातिषाह्ये) अभिमानी शत्रुओं के हराने में (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा अपने गुणों से नरपति अर्थात् मनुष्यों का पालने वाला, और भूपाल अर्थात् भूमि की रक्षा करने वाला इत्यादि नामों वाला होवे, वही शत्रुओं पर विजय पाता है ॥ ३ ॥

पु॒रु॒ष्टु॒तस्य॒ धाम॑भिः श॒तेन॑ महयामसि ।

इन्द्र॑स्य चर्षणी॒धृतः॑ ॥ ४ ॥

पु॒रु-स्तु॒तस्य॑ । धाम॑-भिः । श॒तेन॑ । म॒ह॒या॒म॒सि॒ ॥

इन्द्र॑स्य । च॒र्ष॒णि-धृतः॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शतेन) असंख्य (धामभिः) प्रभावों से (पुरुष्टुतस्य) बहुतों करके बड़ाई किये गये और (चर्षणिधृतः) मनुष्यों के पोषण करने वाले (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (महयामसि) हम सत्कार करते हैं ॥ ४ ॥

३—(नामानि) नरपतिभूपालादिसंज्ञाः (ते) तव (शतक्रतो) बहुकर्मन् ! बहुप्रज्ञ (विश्वाभिः) सर्वाभिः (गीर्भिः) स्तुतयो गिरो गृणातेः—निरु० १। १०। स्तुतिभिः (ईमहे) याचामहे (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (अभिमातिषाह्ये) अभिमातीनाम् , अभिमानिनां शत्रूणां सह्ये सहने पराजये ॥

४—(पुरुष्टुतस्य) बहुभिः स्तुतस्य (धामभिः) धारणसामर्थ्यैः। प्रभावैः (शतेन) असंख्यैः (महयामसि) पूजनं सत्कारं कुर्मः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (चर्षणिधृतः) चर्षणीनां मनुष्याणां धारकस्य पोषकस्य ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा परस्पर उन्नति करके सुख बढ़ावें ॥ ४ ॥

इन्द्रं वृत्राय हन्तवे पुरुहूतमुप ब्रुवे । भरेषु वाजसातये ॥ ५ ॥

इन्द्रम् । वृत्राय । हन्तवे । पुरु-हूतम् । उप । ब्रुवे ॥ भरेषु । वाज-सातये ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूतम्) बहुतों से पुकारे गये (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले राजा] को (वृत्राय हन्तवे) शत्रु के मारने के लिये (भरेषु) संग्रामों में (वाजसातये) धनों के पाने को (उप) समीप में (ब्रुवे) मैं कहता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सङ्ग्राम प्रवृत्त होने पर सब योधा लोग और सेनाध्यक्ष पुरुष प्रयत्न करें कि शत्रुओं को हराकर सब प्रकार विजय होवे ॥ ५ ॥

वाजेषु सासहिर्भव त्वामीमहे शतक्रतो ।
इन्द्र वृत्राय हन्तवे ॥ ६ ॥

वाजेषु । ससहिः । भव । त्वाम् । ईमहे । शतक्रतो इति शतक्रतो ॥ इन्द्र । वृत्राय । हन्तवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] तू (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (ससहिः) विजयी (भव) हो, (त्वा) तुझ से (वृत्राय हन्तवे) शत्रु को मारने के लिये (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—सब योधाजन प्रधान सेनापति की आज्ञा से अपने अपने पद पर स्थिर रहकर शत्रुओं को जीतें ॥ ६ ॥

५—(इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं राजानम् (वृत्राय) वृत्रं शत्रुम् (हन्तवे) तवेन् प्रत्ययः । हन्तुम् (पुरुहूतम्) बहुभिराहूतम् (उप) समीपे (ब्रुवे) कथयामि (भरेषु) सङ्ग्रामेषु (वाजसातये) धनानां लाभाय ॥

६—(वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (ससहिः) षह अभिभवे-किप्रत्ययः । अभिभविता । विजयी (भव) (त्वाम्) (ईमहे) प्रार्थयामहे (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् । बहुप्रज्ञ (इन्द्र) ([illegible]) (हन्तवे) म० ५ । हन्तुम् ॥

द्युम्नेषु पृतनाज्ये पृत्सुतूर्षु श्रवःसु च ।
इन्द्र साक्ष्वाभिमातिषु ॥ ७ ॥
द्युम्नेषु । पृतनाज्ये । पृत्सुतूर्षु । श्रवः-सु । च ॥ इन्द्र ।
साक्ष्व । अभि-मातिषु ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (पृतनाज्ये) सेनाओं के चलने स्थान रणक्षेत्र में (पृत्सुतूर्षु) सेनाओं में मारने वाले शूरों के बीच, (द्युम्नेषु) चमकने वाले धनों के बीच (च) और (श्रवःसु) कीर्तियों के बीच (अभिमातिषु) अभिमानी बैरियों पर (साक्ष्व) जय पा ॥ ७ ॥

भावार्थ—प्रतापी सेनापति सङ्ग्राम जीतकर शूर योधाओं समेत बहुत साधन और यश प्राप्त करके विजय की घोषणा करे ॥ ७ ॥

सूक्तम् २० ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—३,५, ६ गायत्री ; ४ अनुष्टुप् ; ७ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् ।
इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ १ ॥
शुष्मिन्-तमम् । नः । ऊतये । द्युम्निनम् । पाहि । जागृविम् ॥
इन्द्र । सोमम् । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ १ ॥

७—(द्युम्नेषु) द्योतमानेषु धनेषु (पृतनाज्ये) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । पृतना+अज गतिक्षेपणयोः—यक्प्रत्ययः । पृतनानां सेनानाम्, अजनं गमनं यत्र । रणक्षेत्रे (पृत्सुतूर्षु) तुर हिंसायाम्—क्विप् । मांसपृतनासानूनां मांस्पृत्स्नवो वाच्याः । वा० पा० ६ । १ । ६३ । इति पृतना शब्दस्य पृत्, अलुक् समासः । पृत्सु पृतनासु सेनासु तूर्षु हिंसकेषु शूरेषु (श्रवःसु) कीर्तिषु (च) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (साक्ष्व) षह मर्षणे—लोट्, शपो लुक्, ढत्वकत्वे, छान्दसो दीर्घः । सहस्व । अभिभव । विजय (अभिमातिषु) अभिमानिषु । शत्रुषु ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (शुष्मिन्तमम्) अत्यन्त बलवान्, (द्युम्निनम्) अत्यन्त धनी वा यशस्वी और (जागृविम्) जागने वाले [चौकस] पुरुष की और (सोमम्) ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा धर्मात्मा शूर वीरों की और सबके ऐश्वर्य की यथावत् रक्षा करके प्रजा का पालन करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—४ ऋग्वेद में हैं—३ । ३७ । ८—११ और पूरा सूक्त आगे है—अथर्व० २० । ५७ । ४—१० ॥

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु ।
इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ २ ॥

इन्द्रियाणि । शतक्रतो इति शत-क्रतो । या । ते । जनेषु । पञ्च-सु ॥ इन्द्र । तानि । ते । आ । वृणे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (या) जो (ते) तेरे (इन्द्रियाणि) इन्द्र [ऐश्वर्यवान्] के चिह्न धनादि (पञ्चसु जनेषु) पञ्च [मुख्य] लोगों में हैं । (ते) तेरे (तानि) उन [चिह्नों] को (आ) सब प्रकार (वृणे) मैं स्वीकार करता हूं ॥२॥

१—(शुष्मिन्तमम्) नाद्घस्य । पा० ८ । २ । १७ । इति नुडागमः । अतिशयेन बलवन्तम् (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (द्युम्निनम्) धनिनम् । यशस्विनम् (पाहि) (जागृविम्) जॄशॄस्तॄजागृभ्यः क्विन् । उ० ४ । ५४ । जागृ निद्राक्षये—क्विन् । जागरूकम् । सावधानम् (इन्द्र) (सोमम्) ऐश्वर्यम् (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् । बहुप्रज्ञ ॥

२—(इन्द्रियाणि) इन्द्रियं धननाम—निघ० २ । १० । इन्द्रस्य परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य लिङ्गानि धनादीनि (शतक्रतो) म० १ (या) यानि (ते) तव (जनेषु) पुरुषेषु (पञ्चसु) पचि व्यक्तीकरणे—कनिन् । प्रधानेषु (इन्द्र) (तानि) लिङ्गानि (ते) तव (आ) समन्तात् (वृणे) स्वीकरोमि ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् धार्मिक राजा बड़े बड़े अधिकारियों का आदर करके प्रजा की रक्षा करे ॥ २ ॥

अगन्निन्द्र श्रवो बृहद् द्युम्नं दधिष्व दुष्टरम् ।
उत् ते शुष्मं तिरामसि ॥ ३ ॥

अगन् । इन्द्र । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् । दधिष्व । दुस्तरम् ॥
उत् । ते । शुष्मम् । तिरामसि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (बृहत्) बड़ा (श्रवः) अन्न [हमको] (अगन्) प्राप्त हुआ है, (दुस्तरम्) दुस्तर [अजेय] (द्युम्नम्) चमकने वाले यश को (दधिष्व) तू धारण कर । (ते) तेरे (शुष्मम्) बल को (उत् तिरामसि) हम बढ़ाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के कारण बहुत अन्न आदि पदार्थ मिलें, प्रजागण उसके बल बढ़ाने में सदा प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

अर्वावतो न आ गह्यथो शक्र परावतः ।
उ लोको यस्ते अद्रिव इन्द्रेह तत आ गहि ॥ ४ ॥

अर्वा-वतः । नः । आ । गहि । अथो इति । शक्र । परावतः ॥
ऊं इति । लोकः । यः । ते । अद्रि-वः । इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शक्र) हे समर्थ ! (अर्वावतः) समीप से (अथो) और

३—(अगन्) अ० २ । ६ । ३ । गमेर्लुङि छान्दसं रूपम् । अगमत् । प्राप्नोत्—अस्मानिति शेषः (श्रवः) अन्नम् (बृहत्) महत् (द्युम्नम्) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । द्युत दीप्तौ—नप्रत्ययः, तकारस्य मः । द्युम्नं द्योततेर्यशो वाऽन्नं वा—निरु० ५ । ५ । द्योतमानं यशः (दधिष्व) धर (दुस्तरम्) दुःखेन तरणीयं जेयम् (ते) तव (शुष्मम्) बलम् (उत् तिरामसि) प्रवर्धयामः ॥

४—(अर्वावतः) समीपात् (नः) अस्मान् (आ गहि) आगच्छ । प्राप्नुहि (अथो) अपि च (शक्र) हे शक्तिमन् (परावतः) दूरात् (उ) चार्थे (लोकः)

(परावतः) दूर से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो, (अद्रिवः) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (उ) और (यः) जो (ते) तेरा (लोकः) स्थान है, (ततः) वहां से (इह) यहां पर (आ गहि) तू आ ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा अधिकारियों द्वारा समीप और दूर से प्रजा की सुधि रक्खे और उन को आप भी जाकर देखा करे ॥ ४ ॥

इस मन्त्र का पूर्वार्द्ध कुछ भेद से आ चुका है—अ० २० । ६ । ८ ।

इन्द्रो॑ अ॒ङ्ग म॒हद् भ॒यम॒भी षदप॑ चुच्यवत् ।

स हि स्थि॒रो विच॑र्षणिः ॥ ५ ॥

इन्द्रः॑ । अ॒ङ्ग । म॒हत् । भ॒यम् । अ॒भि । सत् । अप॑ । चु॒च्य॒व॒त् ॥

सः । हि । स्थि॒रः । वि॒ऽच॑र्षणिः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे विद्वान् ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (महत्) बड़े और (अभि) सब ओर से (सत्) वर्तमान (भयम्) भय को (अप चुच्यवत्) हटा दिया है । (सः हि) वही (स्थिर,) दृढ़ और (विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा दृढ़स्वभाव और सावधान रहकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥ ५ ॥

मन्त्र ५—७ ऋग्वेद में हैं—२ । ४१ । १०—१२ और मन्त्र ५ सामवेद में हैं—पू० ३ । १ । ७ ॥

स्थानम् (यः) (ते) तव (अद्रिवः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन् । उ० ४ । ६५ । अद् भक्षणे—क्रिन् । मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । इति रुत्वम् । अद्रिवः=अद्रिवन्, अद्रिरादृणात्येनेनापि वात्तेः स्यात्—निरु० ४ । ४ । अत्ति शत्रून् भक्षयतीति, अद्रिर्वज्रस्तद्वन् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (इह) अत्र (ततः) तस्मात् स्थानात् (आ गहि) आगच्छ ॥

५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (अङ्ग) सम्बोधने (महत्) अधिकम् (अभि) सर्वतः (सत्) अस भुवि—शतृ । भवत् । वर्तमानम् (अप) दूरे (चुच्यवत्) च्युङ् गतौ—लुङि णिलोपे, उपधाह्रस्वत्वम्, अडभावः । अपसारितवान् (सः) (हि) एव (स्थिरः) दृढः (विचर्षणिः) विशेषेण द्रष्टा—निघ० ३ । ११ ॥

इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् ।
भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ६ ॥

इन्द्रः । च । मृलयाति । नः । न । नः । पश्चात् । अघम् । नशत् ॥ भद्रम् । भवाति । नः । पुरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (च) निश्चय करके (नः) हमें (मृलयाति) सुखी करे, (अघम्) पाप (नः) हमको (पश्चात्) पीछे (न) न (नशत्) नाश करे । (भद्रम्) कल्याण (नः) हमारे लिये (पुरस्तात्) आगे (भवाति) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा राजा के प्रबन्ध में रहकर पापों से बचकर सुख भोगें ॥ ६ ॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत् ।
जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ ७ ॥

इन्द्रः । आशाभ्यः । परि । सर्वाभ्यः । अभयम् । करत् ॥ जेता । शत्रून् । वि-चर्षणिः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सर्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) आशाओं [गहरी इच्छाओं] के लिये (अभयम्) अभय (परि) सब ओर से (करत्) करे । वह (शत्रून् जेता) शत्रुओं को जीतने वाला और

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (च) अवधारणे (मृलयाति) डस्य लः । मृडयाति सुखयेत् (नः) अस्मान् (न) निषेधे (नः) अस्मान् (पश्चात्) पश्चात् काले (अघम्) पापम् (नशत्) नाशयेत् (भद्रम्) कल्याणम् (भवाति) भूयात् (नः) अस्मभ्यम् (पुरः) पुरस्तात् (अग्रे) ॥

७—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (आशाभ्यः) अभिलाषाणां सिद्धये (परि) सर्वतः (सर्वाभ्यः) (अभयम्) भयराहित्यम् (करत्) कुर्यात् (जेता) न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । पा० २।३।६९ । इति तृन्नन्तत्वात् षष्ठ्यभावः ।

(विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा अपने न्याययुक्त प्रबन्ध से विघ्नों को हटाकर प्रजा की उन्नति की गहरी इच्छाओं को पूरा करे ॥ ७ ॥

सूक्तम् २१ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ निचृज्जगती; २ भुरिग् जगती; ४ जगती; ५-७ विराडार्षी जगती; ८ त्रिष्टुप्; ९ आर्षी त्रिष्टुप्; १० भुरिक् त्रिष्टुप्, ११ सतः पङ्क्तिः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

न्यू॒३॒षु वाचं॒ प्र म॒हे भ॑रामहे॒ गिर॒ इन्द्रा॑य॒ सद॑ने वि॒वस्व॑तः।
नू चि॒द्धि रत्नं॑ सस॒तामि॒वावि॑द॒न्न दु॑ष्टु॒तिर्द्र॑विणो॒देषु॑ शस्यते ॥१॥

नि । ऊं इति॑ । सु । वाच॑म् । प्र । म॒हे । भ॒रा॒म॒हे॒ । गिरः॑ । इन्द्रा॑य । सद॑ने । वि॒वस्व॑तः ॥ नु । चि॒त् । हि । रत्न॑म् । स॒स॒ताम्-इ॑व । अवि॑दत् । न । दुः-स्तु॒तिः । द्र॒वि॒णः-दे॑षु । श॒स्य॒ते॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(महे) पूजनीय (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये (सु) सुन्दर लक्षण वाली (वाचम्) वाणी और (गिरः) स्तुतियों को (विवस्वतः) विविध निवास वाले [धनी पुरुष] के (सदने) घर पर (नि उ) निश्चय करके ही (प्र भरामहे) हम धारण करते हैं । (हि) क्योंकि (ससताम्)

विजयन् (शत्रून्) (विचर्षणिः) म० ५ । विशेषद्रष्टा ॥

१—(नि) निश्चयेन (उ) एव (सु) शोभनाम् (वाचम्) वाणीम् (प्र) प्रकर्षेण (महे) महते । पूजनीयाय (भरामहे) धरामहे (गिरः) स्तुतीः निरु० १ । १० (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (सदने) गृहे (विवस्वतः) अ० २० । ११ । ७ । बहुनिवासयुक्तस्य धनिनः पुरुषस्य (नु) शीघ्रम् (चित्) निश्चयेन (हि) यस्मात् कारणात् (रत्नम्) रमणीयं सुवर्णादिधनम् (ससताम्) स्वपतां पुरुषाणाम् (इव) अवधारणे (अविदत्) अलभत स चोरादिकः

सोते हुये मनुष्यों के (इव) ही (रत्नम्) रत्न [रमणीय धन] को (नु) शीघ्र (चित्) निश्चय करके (अविदत्) उस [चोर आदि] ने ले लिया है, (द्रविणोदेषु) धन देनेवाले पुरुषों में (दुस्तुतिः) दुष्ट स्तुति (न शस्यते) श्रेष्ठ नहीं होती है ॥१॥

भावार्थ—धर्मात्मा लोगों की स्तुति बड़े लोगों में होती है, आलसी निकम्मों के धन को चोर आदि ले जाते हैं, विद्वानों को श्रेष्ठों की बड़ाई ही सदा करनी चाहिये ॥ १ ॥

यह पूरा सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ५३ । १—११ ॥

दुरो अश्वस्य दुर इन्द्र गोरसि दुरो यवस्य वसुन इनस्पतिः । शिक्षानरः प्रदिवो अकामकर्शनः सखा सखिभ्यस्तमिदं गृणीमसि ॥ २ ॥

दुरः । अश्वस्य । दुरः । इन्द्र । गोः । असि । दुरः । यवस्य । वसुनः । इनः । पतिः ॥ शिक्षा-नरः । प्र-दिवः । अकाम-कर्शनः । सखा । सखि-भ्यः । तम् । इदम् । गृणीमसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] तू (अश्वस्य) घोड़े का (दुरः) देने वाला, (गोः) गौ [वा भूमि] का (दुरः) देनेवाला, (यवस्य) अन्न का (दुरः) देनेवाला, (वसुनः) धन का (इनः) स्वामी और (पतिः) रक्षक, (प्रदिवः) उत्तम व्यवहार को (शिक्षानरः) शिक्षा पहुंचाने वाला,

---

(न) निषेधे (दुष्टुतिः) दुः स्तुतिः । दुष्टा स्तुतिः । असमीचीना प्रशंसा (द्रविणोदेषु) अ० २० । २ । ४ । द्रुदक्षिभ्यामिनन् । उ० २ । ५० । द्रु गतौ—इनन्+ददातेः—कप्रत्ययः, पूर्वपदस्य सकार उपजनः । द्रविणं धननाम-निघ० २ । १० । धनदातृषु (शस्यते) प्रशस्ता भवति ॥

२—(दुरः) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । डु दाञ् दाने—उरच्, कित्वा-दाकारलोपः । दाता (अश्वस्य) तुरङ्गस्य (दुरः) (गोः) गवादिपशोः पृथिव्या वा (असि) (दुरः) (यवस्य) अन्नस्य (वसुनः) धनस्य (इनः) इण्-सिञ्जिदीङुष्यविभ्यो नक् । उ० ३ । २ । इण गतौ—नक्प्रत्ययः । इन ईश्वरनाम—निघ० २ । २२ । स्वामी (पतिः) रक्षकः (शिक्षानरः) नॄ नये-अच् । शिक्षाप्रापकः । विद्यादाता (प्रदिवः) दिवु व्यवहारे—क्विप् । प्रकृष्टव्यवहारस्य । प्र दिवः

हुये (जरितुः) स्तुति करने वाले की (कामम्) आशा को (मा ऊनयीः) मत घटा ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा राज्य के सब पदार्थों पर दृष्टि रखकर और उनका सुप्रयोग करके प्रजा की इष्ट सिद्धि करता है, वही प्रशंसनीय होता है ॥ ३ ॥

एभिर्द्युभिः सुमना एभिरिन्दुभिर्निरुन्धानो अमतिं गोभिरश्विना। इन्द्रेण दस्युं दरयन्त इन्दुभिर्युतद्वेषसः समिषा रभेमहि ॥ ४ ॥

एभिः। द्यु-भिः। सु-मनाः। एभिः। इन्दु-भिः। नि-रुन्धानः। अमतिम्। गोभिः। अश्विना॥ इन्द्रेण। दस्युम्। दरयन्तः। इन्दु-भिः। युत-द्वेषसः। सम्। इषा। रभेमहि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एभिः) इन (द्युभिः) तेजों से और (एभिः) इन (इन्दुभिः) ऐश्वर्यों से (सुमनाः) प्रसन्न मन वाला, और (गोभिः) गौओं से और (अश्विना) घोडों से (अमतिम्) दरिद्रता को (निरुन्धानः) रोकने वाला, वह है। (इन्द्रेण) उस इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के साथ (इन्दुभिः) ऐश्वर्यों के द्वारा (दस्युम्) डाकू को (दरयन्तः) दर डालने वाले और (युतद्वेषसः) द्वेष से अलग रहने वाले हम (इषा) अन्न के साथ (सं रभेमहि)

(त्वायतः) त्वां कामयमानस्य (जरितुः) स्तोतुः (कामम्) अभिलाषम् (ऊनयीः) ऊन परिहाणे—लुङ्। ऊनयेः ॥

४—(एभिः) प्रत्यक्षैः (द्युभिः) तेजोभिः (सुमनाः) प्रसन्नचित्तः (एभिः) (इन्दुभिः) ऐश्वर्यैः (निरुन्धानः) रुधिर् आवरणे—शानच्। निवर्तयन् (अमतिम्) पीडकम्। दारिद्र्यम्(गोभिः) धेनुभिः(अश्विना)अश्व-इनि। सुपां सुलुक्० पा० ७। १। ३९। तृतीयाबहुवचनस्य आकारः। अश्वो मार्गव्याप्तिर्यस्यास्तीति अश्वी, यद्वा स्वार्थे इनिः। अश्वैः। तुरङ्गैः (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा (दस्युम्) बलात्कारेण परस्वहर्तारम् (दरयन्तः) विदारयन्तः। नाशयन्तः (इन्दुभिः) ऐश्वर्यैर्द्वारा (युतद्वेषसः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्त। युतानि पृथग्भूतानि द्वेषांसि शत्रुकर्माणि येषां ते (इषा) अन्नेन (सं रभेमहि) सं-

संयुक्त होवें ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेजस्वी, परम ऐश्वर्यवान्, न्यायकारी राजा की सुनीति से दुराचारियों का नाश होकर प्रजा के धन धान्य की बढती होती है ॥ ४ ॥

समिन्द्र राया समिषा रभेमहि सं वाजेभिः पुरुश्चन्द्रैरभिद्युभिः।
सं देव्या प्रमत्या वीरशुष्मया गोअग्रयाश्वावत्या रभेमहि ॥५

सम् । इन्द्र । राया । सम् । इषा । रभेमहि । सम् । वाजेभिः। पुरु-चन्द्रैः । अभिद्यु-भिः ॥ सम् । देव्या । प्र-मत्या । वीर-शुष्मया । गो-अग्रया । अश्व-वत्या । रभेमहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बडे ऐश्वर्य वाले राजा वा परमात्मा] हम (राया) सम्पत्ति से (सम्) संयुक्त, (इषा) अन्न से (सम्) संयुक्त, और (पुरुश्चन्द्रैः) बहुत सुवर्ण आदि वाले तथा (अभिद्युभिः) सब ओर से व्यवहार वाले (वाजेभिः) विज्ञानों [वा बलों] से (सं रभेमहि) संयुक्त होवें । और (देव्या) दिव्य गुण वाली, (वीरशुष्मया) वीरों को बल देने वाली, (गोअग्रया) श्रेष्ठ गौओं वा देशों वाली और (अश्ववत्या) वेग युक्त घोड़ों वाली (प्रमत्या) उत्तम बुद्धि से (संरभेमहि) हम संयुक्त होवें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति और न्यायी राजा की सुनीति से अनेक प्रकार विज्ञानी और बलवान् होकर श्रेष्ठ बुद्धि के साथ उन्नति करते रहें ॥ ५ ॥

रभ्धाः संगता भवेम ॥ –

५—(सम्) सम्भूय (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् परमात्मन् वा (राया) सम्पत्त्या (इषा) अन्नेन (सं रभेमहि) संगता भवेम (सम्) (वाजेभिः) विज्ञानैः । बलैः (पुरुश्चन्द्रैः) चन्द्रं हिरण्यनाम–निघ० १। २ । बहुसुवर्णादियुक्तैः (अभिद्युभिः) सर्वतो व्यवहारोपेतैः (सम्) (देव्या) दिव्यगुणवत्या (प्रमत्या) प्रकृष्टबुद्ध्या (वीरशुष्मया) वीरेभ्यः शुष्मं बलं यस्याः सकाशात् तया (गोअग्रया) सर्वत्र विभाषा गोः । पा० ६ । १ । १२२ । इति प्रकृतिभावः । गावो धेनवः पृथिवीदेशा वाऽग्रा श्रेष्ठा यस्यां तया (अश्ववत्या) वेगयुक्ततुरङ्गवत्या (सं रभेमहि) ॥

ते त्वा मदा॑ अमदुन् तानि॒ वृष्ण्या॒ ते सोमा॑सो वृत्रुहत्ये॑षु सत्पते। यत् कारवे॒ दश॑ वृत्राण्य॑प्रति बुर्हिष्म॑ते नि सुहस्रा॑णि बुर्हय॑ः ॥ ६ ॥

ते। त्वा। मदा॑ः। अमदुन्। तानि॑। वृष्ण्या॑। ते। सोमा॑सः। वृत्र-हत्ये॑षु। सत्-पते॥ यत्। कारवे॑। दश॑। वृत्राणि॑। अप्रति। बुर्हिष्म॑ते। नि। सुहस्रा॑णि। बुर्हय॑ः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सत्पते) हे सत्पुरुषों के रक्षक! [सेनापति] (ते) उन (मदाः) आनन्द देने वाले शूरों ने, (तानि) उन (वृष्ण्या) वीरों के योग्य कर्मों ने और (ते) उन (सोमासः) ऐश्वर्यों ने (वृत्रहत्येषु) वैरियों के मारने वाले संग्रामों में (त्वा) तुझ को (अमदन्) प्रसन्न किया है, (यत्) जब (बर्हिष्मते) विज्ञानी (कारवे) कर्म कर्ता के लिये (दश सहस्राणि) दस सहस्र [असंख्य] (वृत्राणि) शत्रुदलों को (अप्रति) विना रोक (नि बर्हयः) तू ने मार डाला है ॥ ६ ॥

भावार्थ—धार्मिक राजा सज्जनों की रक्षा के लिये दुष्टों का नाश करके आनन्द के साथ वैभव बढ़ावे। ६ ॥

युधा युध॒मुप॒ घेदे॑षि धृष्णुया पुरा पुरं॒ समिदं हं॒स्योज॑सा। नम्या॒ यदि॑न्द्र॒ सख्या॑ परा॒वति॑ निबुर्हयो॒ नमु॑चिं॒ नाम॑ मा॒यिन॑म् ॥ ७ ॥

६—(ते) प्रसिद्धाः (त्वा) त्वाम् (मदाः) आनन्दयितारः शूराः (अमदन्) हर्षितवन्तः (तानि) प्रसिद्धानि (वृष्ण्या) वृषन्—यत्। शेर्लोपः। वृष्णः इन्द्रस्य वीरस्य योग्यानि कर्माणि (ते) प्रसिद्धाः (सोमासः) ऐश्वर्याणि (वृत्रहत्येषु) वृत्राणां शत्रूणां हत्या हननं येषु तेषु संग्रामेषु (सत्पते) हे सत्पुरुषाणां रक्षक (यत्) यदा (कारवे) कृवापा०। उ० १। १। करोतेः—उण्। कर्मकर्त्रे (दश सहस्राणि) असंख्यातानि (वृत्राणि) शत्रुसैन्यानि (अप्रति) अ० ७।१२।३। यथा तथा, प्रातिकूल्यस्य विघ्नस्य राहित्येन (बर्हिष्मते) विज्ञानवते (नि बर्हयः) बर्ह प्राधान्ये हिंसादिषु च-लङ्, अडभावश्छान्दसः। निबर्हयतिर्वधकर्मा—निघ० २। १९। नितरामवधीः ॥

युधा । युधम् । उप । घ । इत् । एषि । धृष्णु-या । पुरा । पुरम् । सम् । इदम् । हंसि । ओजसा ॥ नम्या । यत् । इन्द्र । सख्या । परा-वति । नि-बर्हयः । नमुचिम् । नाम । मायिनम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (युधा) एक युद्ध से (युधम्) दूसरे युद्ध को (घ) निश्चय करके (इत्) अवश्य (धृष्णुया) निर्भयता से (उप एषि) तू चला चलता है, और (इदम्) अब (पुरा) एक गढ के साथ (पुरम्) दूसरे गढ़ को (ओजसा) बल से (सं हंसि) तू नष्ट कर देता है । (यत्) क्योंकि (नम्या) नम्र [आज्ञाकारी] (सख्या) मित्र के साथ (परावति) दूर देश में (नमुचिम्) न छुटने योग्य [दण्डनीय] (नाम) प्रसिद्ध (मायिनम्) छली पुरुष को (निबर्हयः) तू ने मार डाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा विनीति आज्ञाकारी मित्रों के साथ कपटी शत्रुओं को और उनके दुर्गों को नाश करके सुख से राज्य करे ॥ ७ ॥

त्वं करञ्जमुत पर्णयं वधीस्तेजिष्ठयातिथिग्वस्य वर्तनी ।
त्वं शता वङ्गृदस्याभिनत् पुरोऽनानुदः परिषूता ऋजिश्वना ८

७—(युधा) युद्धेन (युधम्) युद्धम् (उप) समीपे (घ) निश्चयेन (इत्) एव (एषि) गच्छसि । प्राप्नोषि (धृष्णुया) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३। २ । १४०। इति ञि धृषा प्रागल्भ्ये-क्नु । सुपां सुलुक्० । पा०७ ।१ । ३९ । विभक्तेर्याजादेशः । धृष्णुना । धर्षकेण प्रगल्भेन कर्मणा (पुरा) शत्रुदुर्गेण (पुरम्) शत्रुदुर्गम् (सम्) सम्यक् (इदम्) इदानीम् (हंसि) नाशयसि (ओजसा) बलेन (नम्या) णम प्रह्वत्वे—यत्, विभक्तेराकारः । नम्येन । नम्रेण । विनीतेन (यत्) यदा (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (सख्या) मित्रेण (परावति) दूरदेशे (निबर्हयः) म० ६ । नितरां नाशितवानसि (नमुचिम्) मुचेः किच्च । उ०४।१४२। मुच्लृ मोचने—इप्रत्ययः कित् । न भ्राण्नपान्नवेदा० ।पा०६।३।७५। इति नञः प्रकृतिभावः । अमोचनीयम् । दण्डनीयम् (नाम) प्रसिद्धम् (मायिनम्) छलिनम् ॥

त्वम् । करञ्जम् । उत । पर्णयम् । वधीः । तेजिष्ठया । अतिथि-ग्वस्य । वर्तनी ॥ त्वम् । शता । वङ्गृदस्य । अभिनत् । पुरः । अनानु-दः । परि-सूताः । ऋजिश्वना ॥ ८ ॥

भावार्थ—[हे राजन् !] (त्वम्) तू ने (करञ्जम्) हिंसक (उत) और (पर्णयम्) पालन वस्तुओं को लेने वाले [चोर] को (अतिथिग्वस्य) अतिथियों को प्राप्त होने वाले पुरुष के (तेजिष्ठया) अत्यन्त तेजस्वी (वर्तनी) मार्ग से (वधीः) मारा है। (त्वम्) तू ने (वङ्गृदस्य) मार्ग तोड़ने वाले (अनानुदः) अनुकूल न वर्तने वाले दुष्ट के (ऋजिश्वना) सरलस्वभाव पुरुषों के बढ़ाने वाले [आप] करके (परिषूताः) घेरे हुये (शता) सैकड़ों (पुरः) दुर्गों को (अभिनत्) तोड़ा है ॥ ८ ॥

८—(त्वम्) (करञ्जम्) कॄ हिंसने—अञ्जन् औणादिक, प्रत्ययः । कृणाति हिनस्तीति करञ्जस्तम् । हिंसकम् (उत) अपि च (पर्णयम्) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । पॄ पालनपूरणयोः—नप्रत्ययः+या प्रापणे—कप्रत्ययः । पर्णानां पालनवस्तूनां यातारं ग्रहीतारं चोरम् (वधीः) हन्तेर्लुङि वधादेशोऽडभावश्च । अवधीः । हतवानसि (तेजिष्ठया) तेजस्विन्—इष्ठन् । विन्मतोर्लुक् । पा० ५।३। ६५। इति विनो लुक् । अतिशयेन तेजस्विन्या (अतिथिग्वस्य) अतिथि+गमेः—औणादिको ड्वप्रत्ययः । अतिथीनां विदुषां पुरुषाणां प्रापकस्य (वर्तनी) वृतु वर्तने—ल्युट्, ङीप् । सुपां सुलुक्० । पा०७। १।३९ । इति विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः । वर्तन्या पथा (त्वम्) (शता) शतानि (वङ्गृदस्य) ऋज्रेन्द्रा० । उ० २।९९। वगि गतौ—ऋप्रत्ययः+दो अवखण्डने—कप्रत्ययः । यो वङ्गृन् मार्गान् द्यति खण्डयतीति तस्य । सन्मार्गभेदकस्य (अभिनत्) भिदिर् विदारणे—लङ् सिपि । इतश्च । पा० ३ । ४ । १०० । इकारलोपः । हल्ङ्याब्भ्यो० । पा० ६ । १ । ६८ । इति सकारलोपः । दश्च । पा० ८ । २ । ७५ । इति रुत्वदकारयोर्विकल्पः । अभिनः । त्वं भिन्नवानसि (पुरः) शत्रुदुर्गान् (अनानुदः) अनानु+ददातेः—क्विप् । योऽनुकूलं न ददाति तस्य (परिषूताः) षू प्रेरणे—क्त । परिवेष्टिताः (ऋजिश्वना) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । ऋज आर्जवे—इन्, स च कित् । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १।१५६। टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । ऋजीनां सरलस्वभावानां वर्धकेन त्वया ॥

भावार्थ—परोपकारी विद्वान् अतिथियों का सत्कार करने वाला राजा धार्मिक रीति से उपद्रवी दुष्टों का नाश करता रहे ॥ ८ ॥

त्वमे॒तां ज॑नरा॒ज्ञो द्विर्दशा॑ब॒न्धुना॑ सु॒श्रव॑सोपज॒ग्मुषः॑ । ष॒ष्टिं स॒हस्रा॑ नव॒तिं नव॑ श्रु॒तो नि च॒क्रेण॒ रथ्या॑ दु॒ष्पदा॑वृणक् ॥ ९ ॥

त्वम् । ए॒तान् । ज॒न॒-रा॒ज्ञः । द्विः । दश॑ । अ॒ब॒न्धुना॑ । सु॒-श्रव॑सा । उ॒प॒-ज॒ग्मुषः॑ ॥ ष॒ष्टिम् । स॒हस्रा॑ । न॒व॒तिम् । नव॑ । श्रु॒तः । नि । च॒क्रेण॑ । रथ्या॑ । दुः॒-पदा॑ । अ॒वृ॒ण॒क् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अबन्धुना) बन्धुहीन और (सुश्रवसा) बड़ी कीर्ति वाले पुरुष के साथ, (श्रुतः) विख्यात (त्वम्) तू ने (एतान्) इन (द्विःदश) दो बार दश [बीस] (जनराज्ञः) नीच लोगों के राजाओं को और (षष्टिम् सहस्रा) साठ सहस्र (नव नवतिम्) नौ नब्बे [९ + ९० = ९९ अथवा ९ × ९० = ८१० अर्थात् ६०,०९९ अथवा ६०,८१०] (उपजग्मुषः) [उनके] साथियों को (दुष्पदा) न पकड़ने योग्य [अति शीघ्रगामी] (रथ्या) रथ के पहिये के समान (चक्रेण) चक्र [हथियार विशेष] से (नि अवृणक्) उलट पलट कर दिया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—प्रतापी बलवान् राजा शरणागत अनाथों और धार्मिक प्रसिद्ध पुरुषों की रक्षा करके बीसियों प्रधान शत्रुओं और उनकी सहस्रों

९—(त्वम्) (एतान्) उपस्थितान् (जनराज्ञः) जनानां पामराणां शासकान् (द्विर्दश) द्विगुणितान् दश । विंशतिसंख्याकान् (सुश्रवसा) बहुकीर्तिमता (उपजग्मुषः) गमेर्लिटः कसुः । उपगतान् । सहचरान् (षष्टिम्) (सहस्रा) सहस्राणि (नवतिम् नव) नवोत्तरनवतिसंख्याकान्, यद्वा नवगुणित-नवतिसंख्याकान् (श्रुतः) प्रख्यातः (नि) नीचैः (चक्रेण) आयुधविशेषेण (रथ्या) रथाद् यत् । पा० ४ । ३ । १२१ । रथ—यत् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः । रथस्येदं चक्रं तेन । रथाङ्गविशेषेण (दुष्पदा) ईषद्दुःसुषु० । पा० ३ । ३ । १२६ । दुर्+पद गतौ—खल् । दुष्प्राप्येण । अतिशीघ्रगामिना (अवृणक्) वृजी वर्जने—लङि मध्यमैकवचनम् । अव-र्जयः । अनाशयः ॥

सेनाओं को अपने चक्र आदि हथियारों से उखाड़ दे, जैसे वेग चलने वाले रथ के पहियों से भूमि उखड़ जाती है ॥ ॥ ६ ॥

त्वमा॑विथ सु॒श्रव॑सं॒ तवो॒तिभि॒स्तव॒ त्राम॑भिरिन्द्र॒ तूर्व॑याणम् ।
त्वम॑स्मै॒ कुत्स॑मतिथि॒ग्वमा॒युं म॒हे राज्ञे॒ यूने॑ अरन्धनायः ॥१०॥

त्वम् । आ॒वि॒थ॒ । सु॒ऽश्रव॑सम् । तव॑ । ऊ॒तिऽभिः॑ । तव॑ । त्राम॑ऽभिः । इ॒न्द्र॒ । तूर्व॑याणम् ॥ त्वम् । अ॒स्मै॒ । कुत्स॑म् । अ॒ति॒थि॒ऽग्वम् । आ॒युम् । म॒हे । राज्ञे॑ । यूने॑ । अ॒र॒न्ध॒ना॒यः॒ ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवान् सेनापति] (त्वम्) तू ने (सुश्रवसम्) बडी कीर्ति वाले, (तूर्वयाणम्) शत्रुओं को मारने वाले शूरों के चलाने वाले वीर को (तव) अपनी (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ और (तव) अपने (त्रामभि,) पालन साधनों के साथ (आविथ) बचाया है । (त्वम्) तू (अस्मै) इस (महे) पूजनीय, (यूने) स्वभाव से बलवान् (राज्ञे) राजा के लिये (कुत्सम्) मिलनसार ऋषि, (अतिथिग्वम्) अतिथियों को प्राप्त होने वाले (आयुम्) चलते हुये मनुष्य को (अरन्धनायः) पूरे धनी के समान आचरण करता रहे ॥ १० ॥

१०—(त्वम्) (आविथ) रक्षिथ (सुश्रवसम्) बहुकीर्तिमन्तं शुद्धपण्डितम् (तव) स्वकीयाभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (तव) स्वकीयैः (त्रामभिः) त्रैङ् पालने—मनिन् । पालनसाधनैः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (तूर्वयाणम्) तुर्वी हिंसायाम्—अच + या गतौ—ल्युट् । तूर्वाणां शत्रुहिंसकानां शूराणां यानं गमनं यस्मात् तं वीरम् (त्वम्) (अस्मै) युध्यमानाय (कुत्सम्) अ० ४ । २९ । ५ । कुस संश्लेषणे—सप्रत्ययः । सस्य तः । संगतिशीलम् ऋषिम् (अतिथिग्वम्) म० ८ । अतिथीनां विदुषां प्रापकम् (आयुम्) छन्दसीणः । उ० १ । २ । इण् गतौ—उण् । आयवो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । गतिशीलं मनुष्यम् (महे) पूजनीयाय (राज्ञे) प्रधानशासकाय (यूने) निसर्गबलवते (अरन्धनायः) अरन्धन—क्यङ्, लिङ्रूपम् । अरमलं धनं यस्य स इवाचरेः ॥

भावार्थ—राजपुरुष सेनापति लोग अपने राजा के बचाने के लिये युद्ध पण्डित उपकारी वीरों की सदा रक्षा करते रहें ॥ १० ॥

य उद्दृचीन्द्र देवगोपाः सखायस्ते शिवतमा असाम।
त्वां स्तोषाम त्वया सुवीरा द्राघीय आयुः प्रतरं दधानाः॥११

ये। उत्-ऋचि। इन्द्र। देव-गोपाः। सखायः। ते। शिव-तमाः। असाम॥ त्वाम्। स्तोषाम। त्वया। सु-वीराः। द्राघीयः। आयुः। प्र-तरम्। दधानाः॥ ११॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (उदृचि) उत्तम स्तुति के बीच (देवगोपाः) विद्वानों से रक्षा किये गये (ये) जो हम (ते) तेरे (सखायः) मित्र होकर (शिवतमाः) अत्यन्त आनन्द युक्त (असाम) होवें। (त्वया) तेरे साथ (सुवीराः) बड़े वीरों वाले और (द्राघीयः) अधिक लम्बे और (प्रतरम्) अधिक श्रेष्ठ (आयुः) जीवन को (दधानाः) रखते हुये वे हम (त्वाम्) तुझे (स्तोषाम) सराहते रहें ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा आपस में प्रीति करके प्रयत्न करें कि सब मनुष्य पुरुषार्थी वीर होकर सुख के साथ पूर्ण आयु भोगें ॥ ११ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके प्रथमः पर्यायः ॥

सूक्तम् २२ ॥ [सूक्तानि २२-२५ द्वितीयः पर्यायः ॥]

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४, ५ निचृद् गायत्री; २, ३, ६ गायत्री ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

११—(ये) वयम् (उदृचि) अ० ६ । ४८ । १ । उत्तमायां स्तुतौ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (देवगोपाः) विद्वद्भिः पालिताः (सखायः) सुहृदः सन्तः (ते) तव (शिवतमाः) अतिशयेन कल्याणयुक्ताः (असाम) अस भुवि—लोट् । भवाम (त्वाम्) (स्तोषाम) स्तौतेर्लेटि सिबागमश्छान्दसः । वयं स्तवाम (त्वया) (सुवीराः) श्रेष्ठवीरोपेताः (द्राघीयः) दीर्घतरम् (आयुः) जीवनम् (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (दधानाः) धरन्तः ॥

अभि त्वा वृषभा सुते सुतं सृजामि पीतये ।
तृम्पा व्यश्नुही मदम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । वृषभ । सुते । सुतम् । सृजामि । पीतये ॥
तृम्प । वि । अश्नुहि । मदम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृषभ) हे वीर ! (सुते) निचोड़ने पर (सुतम्) निचोड़े हुये [सोम रस] को (पीतये) पीने के लिये (त्वा अभि) तुझे (सृजामि) मैं देता हूं । (तृम्प) तू तृप्त हो और (मदम्) आनन्द को (वि अश्नुहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे राजा सद्वैद्यों द्वारा सोम आदि उत्तम ओषधियों के सेवन से प्रसन्न रहे, वैसे ही मनुष्य वेद आदि सत्य शास्त्रों का तत्त्व ग्रहण कर के आनन्द पावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ । ऋग्वेद में हैं—८ । ४५ । २२—२४ तथा सामवेद में हैं—उ० १ । २ तृच ७ तथा मन्त्र १ सामवेद में है—पू० २ । ७ । ७ ॥

मा त्वा मूरा अविष्यवो मोपहस्वान आ दभन् ।
माकीं ब्रह्मद्विषो वनः ॥ २ ॥

मा । त्वा । मूराः । अविष्यवः । मा । उप-हस्वानः । आ । दभन् ॥ माकीम् । ब्रह्म-द्विषः । वनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(त्वा) तुझ को (मा) न तो (मूराः) मूढ़ (अविष्यवः) हिंसा चाहने वाले और (मा) न (उपहस्वानः) ठट्ठा करने वाले लोग

१—(अभि) प्रति (त्वा) त्वाम् (वृषभ) हे वीर । हे इन्द्र (सुते) अभिषुते । संस्कृते (सुतम्) अभिषुतं संस्कृतं सोमम् (सृजामि) त्यजामि । ददामि (पीतये) पानाय (तृम्प) तृम्प तृप्तौ । तृप्तो भव (वि) विविधम् (अश्नुहि) अशू व्याप्तौ—परस्मैपदम् । अश्नुष्व । प्राप्नुहि (मदम्) हर्षम् ॥

२—(मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (मूराः) मूढाः—निरु० ६ । ८ (अविष्यवः) अ० ११ । २ । २ । अव हिंसायाम्—इसि, क्यच, उप्रत्ययः । पर-हिंसेच्छवः (मा) निषेधे (उपहस्वानः) उप+हसतेः—वनिप् । उपहास-

(आ दभन्) कभी दबावें। तू (ब्रह्मद्विषः) वेद के वैरियों को (माकीम्) मत (वनः) सेवन कर ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् राजा सदा श्रेष्ठ कर्म करे, जिस से कोई दुष्ट उसका उपहास आदि न कर सके ॥ २ ॥

इह त्वा गोपरीणसा महे मन्दन्तु राधसे ।
सरो गौरो यथा पिब ॥ ३ ॥

इह । त्वा । गो-परीणसा । महे । मन्दन्तु । राधसे ॥
सरः । गौरः । यथा । पिब ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां पर (त्वा) तुझ को (गोपरीणसा) भूमि की प्राप्ति से (महे) बड़े (राधसे) धन के लिये (मदन्तु) लोग प्रसन्न करें। तू [आनन्द रस को] (पिब) पी, (यथा) जैसे (गौरः) गौर हरिण (सरः) जल [पीता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा राज्य पाकर प्रजा जनों को उन्नति के साथ प्रसन्न करके प्रसन्न होवे, जैसे प्यासा हरिण जल पी कर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे ।
सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ ४ ॥

अभि । प्र । गो-पतिम् । गिरा । इन्द्रम् । अर्च । यथा ।
विदे ॥ सूनुम् । सत्यस्य । सत्-पतिम् ॥ ४ ॥

कर्तारः (आ) समन्तात् (दभन्) दम्भु दम्भे—लुङ्। हिंसन्तु (माकीम्) निषेधे। मा शब्दार्थे (ब्रह्मद्विषः) वेदद्वेष्टॄन् (वनः) वन संभक्तौ—लङ्। भजेथाः ॥

३—(इह) अत्र राज्ये (त्वा) त्वाम् (गोपरीणसा) णस कौटिल्ये गतौ च—क्विप्। नसत इति गतिकर्मा—निघ० २। १४। भूमिप्राप्त्या (महे) पूजनीयाय। महते (राधसे) धनाय (सरः) जलम् (गौरः) गौरमृगः (यथा) (पिब) आनन्दरसस्य पानं कुरु ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (गोपतिम्) पृथिवी के पालक, (सत्यस्य) सत्य के (सूनुम्) प्रेरक, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को, (यथा) जैसा (विदे) वह है, (गिरा) स्तुति के साथ (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (अर्च) तू पूज ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे राजा उत्तम गुण वाला हो, वैसे ही मनुष्यों को उसकी यथार्थ बड़ाई करनी चाहिये ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—८ । ६९ [सायणभाष्य ५८] । ४—६ और सामवेद में हैं—उ० ७ । १ । तृच १ और मन्त्र १ सामवेद में है—पू० २ । ८ । ४ । तीनों मन्त्र आगे हैं—अथर्व० २० । ९२ । १—३ ॥

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि ।

यत्राभि संनवामहे ॥ ५ ॥

आ । हरयः । ससृज्रिरे । अरुषीः । अधि । बर्हिषि ॥

यत्र । अभि । सम्-नवामहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरयः) दुख हरने वाले मनुष्य (अरुषीः) गति शील [उद्योगी] प्रजाओं को (बर्हिषि) बढ़ती के स्थान में (अधि) अधिकार पूर्वक (आ ससृज्रिरे) लाये हैं, (यत्र) जहां पर [तुझ राजा को] (अभि) सब ओर से (संनवामहे) हम मिलकर सराहते हैं ॥ ५ ॥

४—(अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (गोपतिम्) भूपालम् (गिरा) स्तुत्या (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (अर्च) पूजय (विदे) विद सत्तायाम्, लडर्थे लिट्, छान्दसं रूपम् । विविदे । विद्यते स इन्द्रः (सूनुम्) अ० ६ । १ । २ । षू प्रेरणे—नु । प्रेरकम् । प्रचारकम् (सत्यस्य) यथार्थज्ञानस्य (सत्पतिम्) सत्पुरुषाणां रक्षकम् ॥

५—(हरयः) हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । दुःखहर्तारो विद्वांसः (आ ससृज्रिरे) सृज विसर्गे—लिट्, रुडागमः । आ ससृजिरे । आनीतवन्तः (अरुषीः) अ० २० । १७ । ९ । ऋ गतौ—उषच्, ङीप् । गतिशीलाः । उद्योगिनीः प्रजाः (अधि) अधिकारपूर्वकम् (बर्हिषि) बृह वृद्धौ—इसुन् । वृद्धिस्थाने (यत्र) यस्मिन् स्थाने (अभि) सर्वतः (संनवामहे) णु स्तुतौ । राजानं वयं मिलित्वा स्तुमः ॥

भावार्थ—जिस राजा की सुनीति से विद्या द्वारा उन्नति होवे, प्रजा सहित विद्वान् जन उसके गुणों का गान करें ॥ ५ ॥

इन्द्राय गाव॑ आ॒शिरं॑ दुदु॒ह्रे व॒ज्रिणे॒ मधु॑ ।

यत् सी॑मुपह्व॒रे वि॒दत् ॥ ६ ॥

इन्द्राय । गाव॑ः । आ॒ऽशिर॑म् । दु॒दु॒ह्रे । व॒ज्रिणे॑ । मधु॑ ॥

यत् । सी॒म् । उ॒प॒ऽह्व॒रे । वि॒दत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणे) वज्रधारी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के लिये (गावः) वेदवाणियों ने (आशिरम्) सेवने वा पकाने योग्य पदार्थ [दूध, दही, घी आदि] को और (मधु) मधुविद्या [यथार्थ ज्ञान] को (दुदुह्रे) भर दिया है। (यत्) जब कि उसने [उन वेदवाणियों] को (उपह्वरे) अपने पास (सीम्)सब प्रकार (विदत्) पाया ॥ ६ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष वेदवाणियों से सुशिक्षित होकर दूध आदि भोग्य पदार्थ प्राप्त करके यथार्थ ज्ञान बढ़ावे ॥ ६ ॥

सूक्तम् २३ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—७, ६ गायत्री ; ८ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

६—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते राज्ञे (गावः) वेदवाण्यः (आशिरम्) अपस्पृधेथामानृचु० । पा० ६ । १ । ३६ । आङ्+श्रिञ् सेवायां श्रीञ् पाके वा—क्विप्, धातोः शिर इत्यादेशः । यद्वा । अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । आङ्+अश भोजने अशू व्याप्तौ वा—किरन् नित् । आशीराश्रयणाद् वाश्रपणाद् वा, अथेयमितराशीराशास्तेः—निरु० ६ । ८ । आश्रययोग्यं परिपाकयोग्यं वा दुग्धदधिघृतादिपदार्थम् (दुदुह्रे) दुह प्रपूरणे लिटि रुट् । दुदुहिरे । पूरितवत्यः (वज्रिणे) वज्रधारिणे (मधु) मधुविद्याम् । यथार्थज्ञानम् (यत्) यदा (सीम्) अवितॄस्तृ० उ० ३ । १५८ । षिञ् बन्धने—ईप्रत्ययः । सीमिति परिग्रहार्थीयो वा पदपूरणो वा सर्वत इति वा—निरु० १ । ७ । सर्वतः (उपह्वरे) उप+ह्वृ कौटिल्ये—अप् । निकटे । गुह्ये (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ् । प्राप्तवान् स इन्द्रस्ता वाणीः ॥

आ तू नं इन्द्र मुद्र्यंग्घुवानः सोमंपीतये ।
हरिभ्यां याह्यद्रिवः ॥ १ ॥

आ । तु । नः । इन्द्र । मुद्र्यक् । हुवानः । सोम-पीतये ॥
हरि-भ्याम् । याहि । अद्रि-वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपीतये) पदार्थों की रक्षा के लिये (हुवानः) बुलाया गया, (मद्र्यक्) मुझ को प्राप्त होता हुआ तू (हरिभ्याम्) दो घोड़ों [के समान व्यापक बल और पराक्रम] से (नः) हम को (तु) शीघ्र (आ-याहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अपनी प्रजा के पदार्थों की रक्षा के लिये बल और पराक्रम के साथ शीघ्र उपाय करे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ४१ । १—६ ॥

सुत्तो होतो न ऋत्वियस्तिस्तिरे बर्हिरानुषक् ।
अयुञ्जन् प्रातरद्रयः ॥ २ ॥

सुत्तः । होता । नः । ऋत्वियः । तिस्तिरे । बर्हिः । आनुषक् ॥
अयुञ्जन् । प्रातः । अद्रयः ॥ २ ॥

१—(आ याहि) आगच्छ (तु) शीघ्रम् (नः) अस्मान् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (मद्र्यक्)- ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । अस्मत्+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन् । प्रत्ययोत्तरपदयोश्च । पा० ७ । २ । ९८ । अस्मच्छब्दस्यैकवचने मपर्यन्तस्य म इत्यादेशः । विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये । पा० ६ । ३ । ९२ । इति टेः अद्रि इत्यादेशः । माम् अञ्चति प्राप्नोति यः सः (हुवानः) हूयमानः (सोमपीतये) अ० १७ । १ । १० । सोमानां पदार्थानां पीती रक्षणं यस्मिन् व्यवहारे तस्मिन्—दयानन्दभाष्य ऋक्० १ । २१ । ३ (हरिभ्याम्) अश्वसदृशाभ्यां व्यापकाभ्यां बलपराक्रमाभ्याम् (अद्रिवः) अ० २० । २० । ४ । हे वज्रिन् ॥

भाषार्थ—(नः) हमारा (होता) ग्रहण करने वाला, (ऋत्वियः) सब ऋतुओं में प्राप्त होने वाला [राजा] (सत्तः) बैठा है, (बर्हिः) उत्तम आसन (आनुषक्) निरन्तर [यथाविधि] (तिस्तिरे) बिछाया गया है, (अद्रयः) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] (प्रातः) प्रातः काल में (अयुज्रन्) जुड़ गये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग एकत्र होकर प्रजापालक राजा का उत्तम आसन आदि से सत्कार कर के हित के लिये निवेदन करें ॥ २ ॥

इमा ब्रह्म ब्रह्मवाहः क्रियन्त आ बर्हिः सीद ।
वीहि शूर पुरोलाशम् ॥ ३ ॥

इमा । ब्रह्म । ब्रह्म-वाहः । क्रियन्ते । आ । बर्हिः । सीद ॥
वीहि । शूर । पुरोलाशम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(ब्रह्मवाहः) हे अन्न पहुंचाने वाले ! (इमा) यह (ब्रह्म) वेद ज्ञान (क्रियन्ते) किये जाते हैं, (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सीद) बैठ। (शूर) हे शूर ! [दुष्ट नाशक] (पुरोलाशम्) अच्छे बने हुए अन्न का

२—(सत्तः) षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्त। निषण्णोऽस्ति (होता) आदाता (नः) अस्माकम् (ऋत्वियः) अ० ३। २०। १। सर्वकालेषु प्राप्तः (तिस्तिरे) स्तॄञ् आच्छादने—कर्मणि लिट्। ऋत इद्धातोः। पा० ७। १। १००। इति इत्वम्, द्विर्वचनम्। शर्पूर्वाः खयः। पा० ७। ४। ६१। इति तकारस्य शेषः। लिटस्तझयोरेशिरेच्। पा० ३। ४। ८१। इति एश् इत्यादेशः। आच्छादितं बभूव। (बर्हिः) उत्तममासनम् (आनुषक्) अ० ४। ३२। १। निरन्तरम्। यथाविधि (अयुज्रन्) सगता अभूवन् (प्रातः) प्रातःकाले (अद्रयः) अद्रिर्मेघनाम—निघ० १। १०। मेघा इवोपकारिणः पुरुषाः ॥

३—(इमा) इमानि (ब्रह्म) ब्रह्माणि। वेदज्ञानानि (ब्रह्मवाहः) वसेर्णित्। उ० ४। २१८। वह प्रापणे—असुन् णित्। ब्रह्म अन्ननाम—निघ० २। ७। हे अन्नप्रापक। अन्नदातः (क्रियन्ते) अनुष्ठीयन्ते (बर्हिः) उत्तमासनम् (आसीद) उपविश (वीहि) भक्षय) (शूर) हे दुष्टनाशक (पुरोलाशम्)

(वीहि) भोजन कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण अन्नदाता राजा को उत्तम आसन पर बैठा कर और उत्तम पदार्थ भेंट कर के वेद अनुकूल निवेदन करें ॥ ३ ॥

ररन्धि सर्वनेषु ण एषु स्तोमेषु वृत्रहन् ।
उक्थेष्विन्द्र गिर्वणः ॥ ४ ॥

ररन्धि । सर्वनेषु । नः । एषु । स्तोमेषु । वृत्र-हन् ॥
उक्थेषु । इन्द्र । गिर्वणः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे धन रखने वाले ! (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एषु) इन (सवनेषु) ऐश्वर्यों में, (स्तोमेषु) बड़ाइयों में और (उक्थेषु) वचनों में) (नः) हमें (ररन्धि) रमा ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा प्रयत्न करे कि सब लोग मन, वचन, कर्म से पुरुषार्थ करके सुखी रहें ॥ ४ ॥

मतयः सोमपामुरुं रिहन्ति शवसस्पतिम् ।
इन्द्रं वत्सं न मातरः ॥ ५ ॥

मतयः । सोम-पाम् । उरुम् । रिहन्ति । शवसः । पतिम् ॥
इन्द्रम् । वत्सम् । न । मातरः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(मतयः) बुद्धिमान् लोग (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक

अ० ८ । ८ । २२ । सुसंस्कृतमन्नम् ॥

४—(ररन्धि) रमतेर्लोटि शपः श्लुः, हेर्धिः, अन्तर्गतण्यर्थः । रमय (सवनेषु) ऐश्वर्येषु (नः) अस्मान् (एषु) (स्तोमेषु) प्रशंसासु (वृत्रहन्) वृत्रं धन नाम—निघ० २ । १० । हन्तिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । हे धनप्रापक (उक्थेषु) वचनेषु (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (गिर्वणः) अ० २० । १५ । ४ । हे स्तुतिभिः सेवनीय ॥

५—(मतयः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ (सोमपाम्) ऐश्वर्यरक्षकम्

(उरुम्) महान्, (शवसः) बल के (पतिम्) पालने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बडे ऐश्वर्यवान् राजा] को (रिहन्ति) पियार करते हैं; (न) जैसे (मातरः) मातायें [गौयें] (वत्सम्) बछड़े को ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे गौयें अपने बछड़ों से प्रीति करती हैं, वैसे ही बुद्धिमान् लोग न्यायकारी राजा से प्रीति करें ॥ ५ ॥

स मन्दस्वा ह्यन्धसो राधसे तन्वा महे ।
न स्तोतारं निदे करः ॥ ६ ॥

सः । मन्दस्व । हि । अन्धसः । राधसे । तन्वा । महे ॥
न । स्तोतारम् । निदे । करः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सः) सो तू (हि) ही (तन्वा) अपने शरीर के साथ (महे) बडे (राधसे) धन के लिये (अन्धसः) अन्न से (मन्दस्व) आनन्द कर, और (स्तोतारम्) स्तुति करने वाले विद्वान् को (निदे) निन्दा के लिये (न) मत (करः) कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—शरीर और आत्मा की उन्नति चाहने वाला पुरुष विद्वानों की निन्दा कभी न करे ॥ ६ ॥

वयमिन्द्र त्वायवो हविष्मन्तो जरामहे ।
उत त्वमस्मयुर्वसो ॥ ७ ॥

वयम् । इन्द्र । त्वा-यवः । हविष्मन्तः । जरामहे ॥
उत । त्वम् । अस्म-युः । वसो इति ॥ ७ ॥

(उरुम्) महान्तम् (रिहन्ति) रिहतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । कामयन्ते (शवसः) बलस्य (पतिम्) पालकम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (वत्सम्) गोशिशुम् (न) इव (मातरः) जनन्यो गावः ॥

६—(सः) स त्वम् (मन्दस्व) आनन्द (हि) अवश्यम् (अन्धसः) अन्नात् (राधसे) संसाधकाय धनाय (तन्वा) शरीरेण (महे) महते (न) निषेधे (स्तोतारम्) स्तावकं विद्वांसम् (निदे) णिदि कुत्सायाम्—क्विप्, नुमभावः । निन्दायै (करः) करोतेर्लेटि, अडागमः । कुर्याः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (त्वायवः) तुझे चाहने वाले (उत) और (हविष्मन्तः) देने योग्य वस्तुओं वाले (वयम्) हम [तुझ को] (जरामहे) सराहते हैं। (वसो) हे वसु ! [श्रेष्ठ वा निवास कराने वाले] (त्वम्) तू (अस्मयुः) हमें चाहने वाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा प्रीति कर के उन्नति के साथ सुखी रहें ॥ ७ ॥

मारे अस्मद् वि मुमुचो हरिप्रियार्वाङ् याहि ।
इन्द्र स्वधावो मत्स्वेह ॥ ८ ॥

मा । आरे । अस्मत् । वि । मुमुचः । हरि-प्रिय । अर्वाङ् । याहि ॥ इन्द्र । स्वधा-वः । मत्स्व । इह ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(हरिप्रिय) हे मनुष्यों के प्रिय ! [अपने को] (अस्मत्) हम से (आरे) दूर (मा वि मुमुचः) कभी न छोड़, (अर्वाङ्) इधर चलता हुआ (याहि) चल। (स्वधावः) हे बहुत अन्न वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (इह) यहां (मत्स्व) आनन्द कर ॥ ८ ॥

७—(वयम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वायवः) सुप आत्मनः क्यच्। पा० ३। १। ८। युष्मद्—क्यच्। प्रत्ययोत्तरपदयोश्च। पा० ७। २। ९८। मपर्यन्तस्य त्वादेशः। क्याच्छन्दसि। पा० ३। २। १७०। इति उप्रत्ययः। त्वां कामयमानाः (हविष्मन्तः) दातव्यवस्तूपेताः (जरामहे) स्तुमः—त्वाम् (उत) अपि च (त्वम्) (अस्मयुः) अस्मद्—क्यचि उप्रत्ययो दकारलोपश्छन्दसः। अस्मान् कामयमानः (वसो) हे श्रेष्ठ। निवासयितः ॥

८—(मा) निषेधे (आरे) दूरे (अस्मत्) अस्मत्तः (वि) वियुज्य (मुमुचः) मुच्लृ मोक्षणे ण्यन्तस्य छान्दसे लुङि चङि रूपम्, अभ्यासस्य दीर्घाभावः, माङ्योगेऽडभावः। मोचय—आत्मानम् (हरिप्रिय) हरयो मनुष्य—नाम—निघ० २। ३। हरीणां मनुष्याणां प्रिय हितकर (अर्वाङ्) अभिमुखं गच्छन् (याहि) गच्छ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (स्वधावः) बह्वन्नवन् (मत्स्व) आनन्द (इह) अत्र ॥

भावार्थ—जहां पर राजा और प्रजा प्रीति के साथ रहते हैं और कोई किसी को नहीं छोड़ते, उस राज्य में अन्न आदि बढ़ते रहते हैं ॥ ८ ॥

अर्वाञ्चं त्वा सुखे रथे वहतामिन्द्र केशिना ।
घृतस्नू बर्हिरासदे ॥ ९ ॥

अर्वाञ्चम् । त्वा । सु-खे । रथे । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥
घृतस्नू इति घृत-स्नू । बर्हिः । आ-सदे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सुखे) सुख देने वाले [सब ओर चलने वाले] (रथे) रथ में (आसदे) बैठने के लिये (केशिना) प्रकाश [अग्नि] वाले और (घृतस्नू) जल को भाप से टपकाने वाले [दो पदार्थ] (अर्वाञ्चम्) नीचे चलते हुये (त्वा) तुझ को (बर्हिः) आकाश में (वहताम्) पहुंचावें ॥ ९ ॥

भावार्थ—विद्वान् राजा विज्ञानी शिल्पियों द्वारा अग्नि और जल से चलने वाले विमान को पृथिवी से आकाश में और आकाश से पृथिवी पर जाने के लिये बनवावे ॥ ९ ॥

सूक्तम् २४ ॥

१—९ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४—७ गायत्री, २, ३, ८, ९ निचृद् गायत्री ॥
विद्वद्गुणोपदेशः—विद्वानों के गुणों का उपदेश ॥

उप नः सुतमा गहि सोममिन्द्र गवाशिरम् ।

९—(अर्वाञ्चम्) अधोगच्छन्तम् (त्वा) त्वाम् (सुखे) सुखकरे सर्वदिक्षु गमनशीले (रथे) रमणीये याने विमाने (वहताम्) द्विकर्मकः । प्रापयताम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (केशिना) अ० ६ । १० । २६ । काशृ दीप्तौ—अच् घञ् वा, इनि, काशी सन् केशी । केशी केशा रश्मयस्तैस्तद्वान् भवति काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा—निरु० १२ । २५ । प्रकाशवन्तौ । अग्नियुक्तौ (घृतस्नू) घृतम् उदकनाम—निघ० १ । १२ । ष्णु प्रस्रवणे—क्विप् । घृतस्य जलस्य स्नु वाष्पेण स्रवणं ययोस्तौ पदार्थौ (बर्हिः) अन्तरिक्षं प्रति—निघ० १ । ३ । (आसदे) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । सीदतेः केन् प्रत्ययः कृत्यार्थे । आसादनाय उपवेशनाय ॥

हरिभ्यां यस्ते अस्मयुः ॥ १ ॥

उप । नः । सुतम् । आ । गहि । सोमम् । इन्द्र ।
गो-आशिरम् ॥ हरि-भ्याम् । यः । ते । अस्म-युः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] (नः) हमारे (सुतम्) सिद्ध किये हुये, (गवाशिरम्) पृथिवी पर फैले हुये (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप) समीप में (आ गहि) सब ओर से प्राप्त हो, (यः) जो (ते) तेरा [ऐश्वर्य] (हरिभ्याम्) दो घोड़ों [के समान व्यापक बल और पराक्रम] से (अस्मयुः) हमें चाहने वाला है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पृथिवी के सब वैभवों को एक दूसरे के लिये उपयोगी बनावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—३ । ४२ । १—६ ॥

तमिन्द्र मदमा गहि बर्हिष्ठां ग्रावभिः सुतम् ।
कुविन्न्वस्य तृप्णवः ॥ २ ॥

तम् । इन्द्र । मदम् । आ । गहि । बर्हिः-स्थाम् । ग्राव-भिः ।
सुतम् ॥ कुवित् । नु । अस्य । तृप्णवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] तू (ग्रावभिः) पण्डितों करके (सुतम्) सिद्ध किये हुये, (बर्हिष्ठाम्) उत्तम आसन पर

१—(उप) समीपे (नः) अस्माकम् (सुतम्) संस्कृतम् (आ) समन्तात् (गहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् विद्वन् (गवाशिरम्) अ०२० । २२ । ६ । अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । गो+आङ्+अशू व्याप्तौ—किरन् । पृथिव्यां व्याप्तम् (हरिभ्याम्) । अ० २० । २३ । १ । अश्वसदृशाभ्यां व्यापकाभ्यां बलपराक्रमाभ्याम् (यः) सोमः । ऐश्वर्यम् (ते) तव (अस्मयुः) अ० २० । २३ । ७ । अस्मान् कामयमानः ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्र) (मदम्) मदी हर्षे—अच् । कल्याणकरं पदार्थम् (आ) समन्तात् (गहि) प्राप्नुहि (बर्हिष्ठाम्) बर्हिस्+ष्ठा गति-

रक्खे हुये (तम्) उस (मदम्) कल्याणकारक पदार्थ को (नु) शीघ्र (आ) सब प्रकार (गहि) प्राप्त हो, वे [पण्डित लोग] (कुवित्) बहुत प्रकार से (अस्य) इस [कल्याण कारक पदार्थ] का (तृम्पवः) हर्ष पाने वाले हैं ॥२॥

भावार्थ—विद्वान् लोग प्रीति के साथ एक दूसरे को उत्तम पदार्थों का दान कर के आनन्द पावें ॥ २ ॥

इन्द्रमित्था गिरो ममाच्छागुरिषिता इतः ।
आवृते सोमपीतये ॥ ३ ॥

इन्द्रम् । इत्था । गिरः । मम । अच्छ । अगुः । इषिताः । इतः ॥ आ-वृते । सोम-पीतये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इत्था) इस प्रकार से (मम) मेरी (इषिताः) प्रेरणा की गयीं (गिरः) वाणियां (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (सोमपीतये) सोमरस [उत्तम ओषधि] पीने के लिये (आवृते) घूमने को (अच्छ) अच्छे प्रकार (इतः) यहां से (अगुः) गयीं हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वानों का सत्कार उत्तम रीति से करते रहें ॥ ३ ॥

इन्द्रं सोमस्य पीतये स्तोमैरिह हवामहे ।
उक्थेभिः कुविदागमत् ॥ ४ ॥

निवृत्तौ—क्विप् । बर्हिषि उत्तमासने स्थितम् (ग्रावभिः) अ० ३ । १० । ५ । गॄ विज्ञापने स्तुतौ च—कनिप् । शास्त्रविज्ञापकैः पण्डितैः (सुतम्) संस्कृतम् (कुवित्) बहुनाम-निघ० ३ । १ । बहुप्रकारेण (नु) क्षिप्रम् (अस्य) कल्याणकरस्य पदार्थस्य (तृम्पवः) त्रसिगृधिधृषिक्षिपेः क्नुः । पा० ३ । २ । १४० । तृप प्रीणने—क्नु । तृप्तिशीलाः ॥

३—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (इत्था) अनेन प्रकारेण (गिरः) वाण्यः (मम) (अच्छ) सुरीत्या (अगुः) इण् गतौ—लुङ् । अगमन् । प्राप्ताः (इषिताः) प्रेरिताः (इतः) अस्मात् स्थानात् (आवृते) वृतु वर्तने-सम्पदादिः क्विप् । आवर्तनाय । आगमनाय (सोमपीतये) महौषधिरसस्य पानाय ॥

इन्द्रम् । सोम॑स्य । पी॒तये॑ । स्तोमैः॑ । इ॒ह । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥
उ॒क्थेभिः॑ । कु॒वित् । आ॒-गम॑त् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (सोमस्य) सोमरस [महौषधि] के (पीतये) पीने के लिये (स्तोमैः) स्तुतियों के साथ (इह) यहां (हवामहे) हम बुलाते हैं। वह (उक्थेभिः) अपने उपदेशों के साथ (कुवित्) बहुत बार (आगमत्) आवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विद्वानों के बुलाने से प्रसन्न होकर आया आया करें ॥ ४ ॥

इन्द्र॒ सोमाः॑ सु॒ता इ॒मे तान् द॑धिष्व शतक्रतो ।
ज॒ठरे॑ वाजिनीवसो ॥ ५ ॥

इन्द्र॑ । सोमाः॑ । सु॒ताः । इ॒मे । तान् । द॒धि॒ष्व॒ । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो ॥ ज॒ठरे॑ । वा॒जि॒नी॒व॒सो॒ इति॑ वाजिनी-वसो ॥ ५

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले, (वाजिनी-वसो) अन्नयुक्त क्रियाओं में बसाने वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (जठरे) प्रसिद्ध हुये जगत् में (इमे) यह (सोमाः) पदार्थ (सुताः) उत्पन्न हुये हैं, (तान्) उनको (दधिष्व) धारण कर ॥ ५ ॥

४—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (सोमस्य) महौषधिरसस्य (पीतये) पानाय (स्तोमैः) स्तोत्रैः (इह) अत्र (हवामहे) आह्वयामः (उक्थेभिः) कथनीयोपदेशैः (कुवित्) म० २ । बहुवारम् (आगमत्) गमेर्लेटि अडागमः । आगच्छेत् ॥

५—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (सोमाः) पदार्थाः (सुताः) निष्पन्नाः (इमे) दृश्यमानाः (तान्) (दधिष्व) धत्स्व । धर (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् । बहुप्रज्ञ (जठरे) जनेररष्ठ च । उ० ५ । ३८ । जनी प्रादुर्भावे—अरप्रत्ययः; ठश्चान्तादेशः । प्रादुर्भूते जगति । जातेऽस्मिन् जगति दयानन्दभाष्ये (वाजिनीवसो) वाजोऽन्नम्—निघ० २ । ७ । तस्मात्—इनि, ङीप् । हे अन्नयुक्तासु क्रियासु वासयितः ॥

भावार्थ—मनुष्य सृष्टि के पदार्थों की विद्या जानकर ऐश्वर्यवान् होवें ॥ ५ ॥

विद्मा हि त्वा धनंजयं वाजेषु दधृषं कवे ।

अधा ते सुम्नमीमहे ॥ ६ ॥

विद्म । हि । त्वा । धनम्-जयम् । वाजेषु । दधृषम् । कवे ॥

अध । ते । सुम्नम् । ईमहे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कवे) हे विद्वान् ! (त्वा) तुझ को (हि) ही (धनंजयम्) धन जीतने वाला और (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (दधृषम्) अत्यन्त निर्भय (विद्म) हम जानते हैं । (अध) इस लिये (ते) तेरे लिये (सुम्नम्) सुख की (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धनी, शूर और परोपकारी होवे, उसके लिये सुख पहुंचाने को सब प्रयत्न करें ॥ ६ ॥

इममिन्द्र गवाशिरं यवाशिरं च नः पिब ।

आगत्या वृषभिः सुतम् ॥ ७ ॥

इमम् । इन्द्र । गो-आशिरम् । यव-आशिरम् । च । नः ।

पिब ॥ आ-गत्य । वृष-भिः । सुतम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (नः) हमारे (इमम्) इस (वृषभिः) बलवानों करके (सुतम्) सिद्ध किये गये (गवाशिरम्) पृथिवी पर फैले हुये (च) और (यवाशिरम्) अन्न के भोजन वाले

६—(विद्म) वयं जानीमः (हि) एव (त्वा) त्वाम् (धनञ्जयम्) अ० ३ । १४ । २ । धनस्य जेतारम् (वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (दधृषम्) ञि धृषा प्रागल्भ्ये यङ्लुकि पचाद्यच् । अतिप्रगल्भम् (कवे) हे मेधाविन्—निघ० ३ । १५ (अध) अथ । अतः (ते) तुभ्यम् (सुम्नम्) सुखम् (ईमहे) याचामहे ॥

७—(इमम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (गवाशिरम्) म० १ । पृथिव्यां व्याप्तम् (यवाशिरम्) अशेर्नित् । उ० १ । ५२ । यव+आङ्+अश भोजने—किरन् । अन्नभोजनयुक्तं पदार्थम् (च) (नः) अस्माकम् (पिब) (आगत्य)

पदार्थ को (आगत्य) आकर (पिब) पी ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार के बीच उत्तम पदार्थों का भोजन पान कर के बलवान् होवें ॥ ७ ॥

तुभ्येदिन्द्र स्व ओक्ये३ सोमं चोदामि पीतये ।
एष रारन्तु ते हृदि ॥ ८ ॥

तुभ्यं । इत् । इन्द्र । स्वे । ओक्ये । सोमम् । चोदामि ।
पीतये ॥ एषः । ररन्तु । ते । हृदि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जन] (तुभ्य) तेरे लिये (इत्) ही (स्वे) अपने (ओक्ये) घर में (पीतये) पीने को (सोमम्) सोमरस [महौषधि] (चोदयामि) भेजता हूं । (एषः) यह (ते) तेरे (हृदि) हृदय में (ररन्तु) अत्यन्त रमे ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम उत्तम पदार्थों को रुचि के साथ खावें जिससे हृदय में उत्तम रस उत्पन्न होकर सब शरीर में फैले और बल बढ़े ॥ ८ ॥

त्वां सुतस्यं पीतये प्रत्नमिन्द्र हवामहे ।
कुशिकासौ अवस्यवः ॥ ९ ॥

त्वाम् । सुतस्यं । पीतये । प्रत्नम् । इन्द्र । हवामहे ॥
कुशिकासः । अवस्यवः ॥ ९ ॥

अस्मान् प्राप्य (वृषभिः) बलवद्भिः (सुतम्) साधितम् ॥

८—(तुभ्य) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्लुक् । तुभ्यम् (इत्) एव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (स्वे) स्वकीये (ओक्ये) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । उच समवाये—ण्यत् कुत्वं च । ओकसि । गृहे (सोमम्) महौषधिरसम् (चोदामि) प्रेरयामि (पीतये) पानाय (एषः) सोमः (ररन्तु) रमु क्रीडायाम्—यङ्लुकि लोट्, लुमभावश्छान्दसः सांहितिको दीर्घः । भृशं रमताम् (ते) तव (हृदि) हृदये ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (त्वां प्रत्नम्) तुझ पुराने को (सुतस्य) सिद्ध किये हुये रस के (पीतये) पीने के लिये (कुशिकासः) मिलने वाले, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य अनुभवी पुराने बुद्धिमानों से आदर करके शिक्षा लेवें ॥ ९ ॥

सूक्तम् २५ ॥

१—७॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३—५ निचृज् जगती ; २ जगती ; ६ आर्षी त्रिष्टुप् ; ७ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

अश्वा॑वति प्रथ॒मो गोषु॑ गच्छति सुप्रा॒वीरि॑न्द्र॒ मर्त्य॒स्तवो॒तिभिः॑ । तमित् पृ॑णक्षि॒ वसु॑ना॒ भवी॑यसा॒ सिन्धु॒मापो॒ यथा॒भितो॒ विचे॑तसः ॥ १ ॥

अश्व॑-वति । प्र॒थ॒मः । गोषु॑ । ग॒च्छ॒ति॒ । सु॒प्र॒-अ॒वीः । इ॒न्द्र॒ । मर्त्यः॑ । तव॑ । ऊ॒ति-भिः॑ ॥ तम् । इ॒त् । पृ॒ण॒क्षि॒ । वसु॑ना । भवी॑यसा । सिन्धु॑म् । आपः॑ । यथा॑ । अ॒भितः॑ । वि-चे॑तसः ॥१

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर वा राजन्] (मर्त्यः) मनुष्य (तव) तेरी (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अश्वावति) उत्तम

९—(त्वाम्) (सुतस्य) संस्कृतस्य रसस्य (पीतये) पानाय (प्रत्नम्) नश्च पुराणे प्रात् । वा० पा० ५ । ४ । २५ । प्र—त्नप्प्रत्ययः । पुराणम्—निघ० ३ । २७ । अनुभविपुरुषम् (इन्द्र) (हवामहे) आह्वयामः (कुशिकासः) वृश्चिकृष्योः किकन् । उ० २ । ४० । कुश संश्लेषणे—किकन्, असुगागमः । कुशिको राजा बभूव क्रोशतेः शब्दकर्मणः क्रंशतेर्वा स्यात् प्रकाशयतिकर्मणः साधुविक्रोशयितार्थानामिति वा—निरु० २ । २५ । सगन्तारो वयम् (अवस्यवः) अ० २० । १४ । १ । रक्षाकामाः ॥

१—(अश्वावति) मन्त्रे सोमाश्वे० । पा० ६ । ३ । १३१ । इति दीर्घः । श्रेष्ठाश्वैर्युक्ते सैन्ये (प्रथमः) मुख्यः (गोषु) भूमिदेशेषु (गच्छति) चलति (प्रावीः) अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । अव रक्षणे-ईप्रत्ययः । सुरक्षकः

घोड़ों वाले [सेनादल] में (प्रथमः) पहिला [प्रधान] (प्रावीः) बड़ा रक्षक होकर (गोषु) भूमियों पर (गच्छति) चलता है। (तम् इत्) उसको ही (भवीयसा) अति अधिक (वसुना) धन से (पृणक्षि) तू भर देता है, (यथा) जैसे (अभितः) सब ओर से (विचेतसः) विविध प्रकार जाने गये (आपः) जल समूह (सिन्धुम्) समुद्र को [भरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजा और सेनापति आदि कार्यकर्ता परमेश्वर में विश्वास करके एक दूसरे की रक्षा और सत्कार करते हैं, वे सब देशों में विजयी होकर बहुत धनी होते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ८३ । १—६ ॥

आपो न देवीरुप यन्ति होत्रियमवः पश्यन्ति विततं यथा रजः । प्राचैर्देवासः प्र णयन्ति देवयुं ब्रह्मप्रियं जोषयन्ते वरा इव ॥ २ ॥

आपः । न । देवीः । उप । यन्ति । होत्रियम् । अवः । पश्यन्ति । वि-ततम् । यथा । रजः ॥ प्राचैः । देवासः । प्र । नयन्ति । देव-युम् । ब्रह्म-प्रियम् । जोषयन्ते । वराः-इव ॥२

भाषार्थ—(आपः न) व्याप्त जलों के समान [उपकारी] (देवासः) विद्वान् लोग (देवीः) दिव्य गुण वाली [विद्याओं] को (उप) आदर से (यन्ति) पाते हैं, और (होत्रियम्) देने लेने योग्य (अवः) रक्षा को (यथा

(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमेश्वर राजन् वा (मर्त्यः) मनुष्यः (तव) (ऊतिभिः) रक्षाभिः (तम्) मनुष्यम् (इत्) एव (पृणक्षि) पृची सम्पर्के । संयोजयसि । पूरयसि (वसुना) धनेन (भवीयसा) भवितृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । इति तृलोपः । अत्यधिकेन । भूयसा (सिन्धुम्) समुद्रम् (आपः) जलानि (यथा) येन प्रकारेण (अभितः) सर्वतः (विचेतसः) विविधानि चेतांसि ज्ञानानि यासां ताः । विविधज्ञातव्याः ॥

२—(आपः) व्याप्तानि जलानि (न) यथा (देवीः) दिव्यगुणवतीः सुविद्याः (उप) पूजायाम् (यन्ति) प्राप्नुवन्ति (होत्रियम्) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन् । उ० ४ । १६८ । हु दानादानादनेषु—त्रन् । तस्येदम् । पा० ४ । ३ ।

रजः) रज [धूलि] के समान (विततम्) फैला हुआ (पश्यन्ति) देखते हैं। और (वराः इव) श्रेष्ठ पुरुषों के समान वे (प्राचैः) पुराने व्यवहारों के साथ (देवयुम्) उत्तम गुण चाहने वाले, (ब्रह्मप्रियम्) ईश्वर और वेद में प्रीति करने वाले पुरुष को (प्र णयन्ति) आगे बढ़ाते हैं और (जोषयन्ते) सेवा करते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग उत्तम उत्तम विद्यायें प्राप्त करके संसार के प्रत्येक पदार्थ से उपकार लेते हैं और श्रेष्ठ धर्मात्मा ईश्वरभक्त को अगुआ बनाकर उसकी आज्ञा में चलते हैं ॥ २ ॥

अधि द्वयोरदधा उक्थ्यं१ वचो यतस्रुचा मिथुना या सपर्यतः। असंयत्तो व्रते ते क्षेति पुष्यति भद्रा शक्तिर्यजमानाय सुन्वते ॥ ३ ॥

अधि। द्वयोः। अदधाः। उक्थ्यम्। वचः। यतऽस्रुचा। मिथुना। या। सपर्यतः॥ असम्ऽयत्तः। व्रते। ते। क्षेति। पुष्यति। भद्रा। शक्तिः। यजमानाय। सुन्वते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्!] (द्वयोः अधि) उन दोनों के ऊपर (उक्थ्यम्) बड़ाई के योग्य (वचः) वचन को (अदधाः) तू ने धारण किया है, (या) जो (यतस्रुचा) चमचा [भोजन साधन] लिये हुये (मिथुना) दोनों

१२०। होत्र—घप्रत्ययः। होत्राणामिदम्। दानव्यादातव्यम् (अवः) रक्षणम् (पश्यन्ति) प्रेक्षन्ते (विततम्) विस्तृतम् (यथा) येन प्रकारेण (प्राचैः) प्र+अञ्चतेः—घञर्थे कप्रत्ययः। प्राचीनैर्व्यवहारैः (देवासः) विद्वांसः (प्र) प्रकर्षेण। अग्रे (नयन्ति) प्रापयन्ति (देवयुम्) देव—क्यच्, उ। देवान् दिव्यगुणान् कामयमानम् (ब्रह्मप्रियम्) ईश्वरो वेदो वा प्रियो यस्य तम् (जोषयन्ते) जुषी प्रीतिसेवनयोः—स्वार्थे णिच्। सेवन्ते (वराः) श्रेष्ठाः पुरुषाः (इव) यथा।

३—(अधि) उपरि (द्वयोः) स्त्रीपुरुषयोः (अदधाः) धारितवानसि (उक्थ्यम्) कथनीयं स्तुत्यम् (वचः) वचनम् (यतस्रुचा) यमु उपरमे—क्त। क्विप् च। उ० २। ६२। स्रु गतौ—चिक्। यता नियताः स्रुचः चमसा भोजनसाधनानि याभ्यां तौ (मिथुना) क्षुधिपिशिमिथिभ्यः कित्। उ० ३।

मिलनसार स्त्री पुरुष (सपर्यतः) सेवा करते हैं। वह [स्त्री वा पुरुष] (ते) तेरे (व्रते) नियम में (असंयत्तः) बे रोक [स्वतन्त्र] होकर (क्षेति) रहता है और (पुष्यति) पुष्ट होता है, (भद्रा) कल्याण करने हारी (शक्तिः) शक्ति (यजमानाय) यजमान [सत्कार, संगति और दान करने हारे] (सुन्वते) ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये [होती है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब स्त्री पुरुष विद्वानों के उपदेश और मार्ग पर चलकर स्वाधीनता के साथ भोजन आदि से आप सुख पाते और सब को सुख देते हैं॥३

आदङ्गिराः प्रथमं दधिरे वयं इद्धाग्नयः शम्या ये सुकृत्यया।
सर्वं पणेः समविन्दन्त भोजनमश्वावन्तं गोमन्तमा पशुं नरः॥४

आत्। अङ्गिराः। प्रथमम्। दधिरे। वयः। इद्ध-अग्नयः। शम्या। ये। सु-कृत्यया॥ सर्वम्। पणेः। सम्। अविन्दन्त। भोजनम्। अश्व-वन्तम्। गो-मन्तम्। आ। पशुम्। नरः॥४॥

भाषार्थ—(ये) जिन (इद्धाग्नयः) अग्नि के प्रकाश करने वाले (अङ्गिराः) अङ्गिराओं [ज्ञानी ऋषियों] ने (प्रथमम्) श्रेष्ठ (वयः) जीवन को (सुकृत्यया) सुन्दर रीति से करने योग्य (शम्या) शान्तिदायक कर्म से (दधिरे) धारण किया था, (आत्) तब ही (नरः) उन नेताओं ने (पणेः)

५५। मिथृ मेथृ संगमे वधे मेधायां च—उनन्, कित्। मिलितौ स्त्रीपुरुषौ (या) यौ (सपर्यतः) सपर पूजायाम्—कण्ड्वादित्वाद् यक्। सपर्यतिः परिचरणकर्मा-निघ० ३। ५। परिचरतः। सेवेते (असंयत्तः)। नञ्+सम्+यती प्रयत्ने—क्त। अनायत्त। अवशीभूतः। स्वतन्त्रः (व्रते) नियमे (ते) तव (क्षेति) क्षि निवासगत्योः विकरणस्य लुक्। क्षियति। निवसति (पुष्यति) पुष्टो भवति (भद्रा) कल्याणी (शक्तिः) समर्थता (यजमानाय) पूजासंगतिदानशीलाय (सुन्वते) षु ऐश्वर्ये—शतृ, स्वादित्वं छान्दसम्। ऐश्वर्यवते॥

४—(आत्) अनन्तरम् (अङ्गिराः) अ० १।३४।५। अगि गतौ-किरच् नित्। विज्ञानिनः। ऋषयः (प्रथमम्) श्रेष्ठम (दधिरे) (धारितवन्तः (वयः) जीवनम् (इद्धाग्नयः) प्रकाशिताग्नयः। अग्निविद्याकुशलाः (शम्या) शमु उपशमे—इन्, ङीप्। शान्तिप्रदेन कर्मणा—निघ० २। १ (ये) (सुकृत्यया)

उद्यम से (सर्वम्) सब (भोजनम्) भोजन [पालन साधन धन अन्न आदि], (अश्वावन्तम्) उत्तम घोड़ों वाले (आ) और (गोमन्तम्) उत्तम गौओं वाले (पशुम्) पशु समूह को (सम्) अच्छे प्रकार (अविन्दन्त) पाया है ॥४॥

भावार्थ—जो अग्नि विद्या में कुशल, पुरुषार्थी, विज्ञानी लोग धार्मिक कर्म कर के उत्तम जीवन बनाते हैं, वे ही उद्योग कर के सब प्रकार से सुख पाते हैं ॥ ४ ॥

यज्ञैरथर्वा प्रथमः पथस्तते ततः सूर्यो व्रतपा वेन आजनि । आ गा आजदुशना काव्यः सचा यमस्य जातममृतं यजामहे ॥५॥

यज्ञैः । अथर्वा । प्रथमः । पथः । तते । ततः । सूर्यः । व्रतपाः । वेनः । आ । अजनि ॥ आ । गाः । आजत् । उशना । काव्यः । सचा । यमस्य । जातम् । अमृतम् । यजामहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्रथमः) सब से पहिले वर्तमान (अथर्वा) निश्चल परमात्मा ने (यज्ञैः) संगति कर्मों [परमाणुओं के मेलों] से (पथः) मार्गों को (तते) फैलाया, (ततः) फिर (व्रतपाः) नियम पालने वाला, (वेनः) पियारा (सूर्यः) सूर्य लोक (आ) सब ओर (अजनि) प्रकट हुआ । (उशना)

शोभनकर्तव्ययुक्तया (सर्वम्) (पणेः) पण व्यवहारे स्तुतौ च—इन् । उद्योगात् (सम्) सम्यक् (अविन्दन्त) अलभन्त (भोजनम्) धननाम—निघ० २ । १० । भोजनसाधनं धनान्नादिकम् (अश्वावन्तम्) म० १ । प्रशस्ततुरङ्गयुक्तम् (गोमन्तम्) उत्तमधेनुयुक्तम् (आ) समुच्चये (पशुम्) पशुसमूहम् (नरः) नेतारः॥

५—(यज्ञैः) संगतिकरणैः । परमाणूनां संगमैः (-अथर्वा) अ० ४ । १ । ७ । नञ् + थर्व चरणे = गतौ—वनिप्, वलोपः । निश्चलः परमेश्वरः (प्रथमः) सर्वेषामादिः (पथः) मार्गान् (तते) तनु विस्तारे—लिट्, छान्दसं रूपम् । तेने । विस्तारितवान् (सूर्यः) सवितृलोकः (व्रतपाः) नियमपालकः (वेनः) कमनीयः (आ) समन्तात् (अजनि) जनी प्रादुर्भावे—लुङ् । प्रादुरभूत् (आ) समन्तात् (गाः) गमनशीलान् पृथिव्यादिलोकान् (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ् । प्रक्षिप्तवान् । आकर्षणेन धारितवान् (उशना) वशेः कनसि । उ०

पियारे, (काव्यः) बड़ाई योग्य उस [सूर्य] ने (गाः) पृथिवियों [चलते हुये लोकों] को (आ) सब ओर (आजत्) खींचा है, (यमस्य) उस नियम कर्ता परमेश्वर के (सचा) मेल से (जातम्) उत्पन्न हुये (अमृतम्) अमरण [मोक्ष सुख वा जीवन सामर्थ्य] को (यजामहे) हम पाते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने आकाश, सूर्य, पृथिवी आदि लोक बनाकर हमें जीवन दिया है, उस बड़े जगदीश्वर की उपासना से विद्वान् लोग आत्मिक बल बढ़ाकर मोक्ष सुख भोगें ॥ ५ ॥

बर्हिर्वा यत् स्वपत्याय वृज्यतेऽर्को वा श्लोकमाघोषते दिवि । ग्रावा यत्र वदति कारुरुक्थ्यः स्तस्येदिन्द्रो अभिपित्वेषु रणयति ॥ ६ ॥

बर्हिः । वा । यत् । सु-अपत्याय । वृज्यते । अर्कः । वा । श्लोकम् । आ-घोषते । दिवि ॥ ग्रावा । यत्र । वदति । कारुः। उक्थ्यः। तस्य । इत् । इन्द्रः । अभि-पित्वेषु । रणयति ६

भाषार्थ—(यत्) जब (बर्हिः) उत्तम आसन (स्वपत्याय) गुणी सन्तान के लिये (वा) विचार पूर्वक (वृज्यते) छोड़ा जाता है, (वा) अथवा (अर्कः) पूजनीय विद्वान् (श्लोकम्) अपनी वाणी को (दिवि) व्यवहार के

४ । २३६ । वश कान्तौ—कसि, सम्प्रसारणं च । ऋदुशनस्पुरुदंशोऽनेहसां च । पा० ७ । १ । ६४ । अनङ् आदेशः। सर्वनामस्थाने चा०। पा० ६ । ४ । ८ । उपधादीर्घः । हल्ङ्याब्भ्यो० । पा० ६ । १ । ६८ । सुलोपः । नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य । पा० ८ । २ । ७ । नलोपः । कमनीयः (काव्यः) अ० ४ । १ । ६ । कव् स्तुतौ-ण्यत् । स्तुत्यः सूर्यः (सचा) षच समवाये—क्विप् । सम्मेलनेन (यमस्य) सर्वनियन्तुः परमेश्वरस्य (जातम्) उत्पन्नम् । प्रसिद्धम् (अमृतम्) अमरणम्। मोक्षसुखं जीवनसामर्थ्यं वा (यजामहे) संगच्छामहे । प्राप्नुमः॥

६—(बर्हिः) उत्तमासनम् (वा) वेति विचारणार्थे—निरु० १ । ४ । विचारपूर्वकम् (यत्) यदा (स्वपत्याय) गुणिने सन्तानाय (वृज्यते) वृजी वर्जने । त्यज्यते । दीयते (अर्कः) पूजनीयः पण्डितः (वा) अथवा (श्लोकम्) वाणीम् (आघोषते) घुषिर् विशब्दने । उच्चारयति (दिवि) व्यवहारे (ग्रावा)

बीच (आघोषते) कह सुनाता है। और (यत्र) जहां (ग्रावा) मेघ [के समान उपकारी], (उक्थ्यः) प्रशंसनीय (कारुः) शिल्पी विद्वान् (वदति) बोलता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (तस्य) इस [सब] के (इत्) ही (अभिपित्वेषु) सङ्ग्रामों में (रण्यति) आनन्द पाता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस स्थान में विद्वान् गुणी सन्तानों का आदर होता है और जहां पर बड़े विज्ञानी शिल्पी लोग उत्तम उत्तम विद्याओं का आविष्कार करते हैं, वहां पर सब प्राणियों को सुख मिलता है ॥ ६ ॥

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण इयर्मि सत्यां प्रयै सुतस्य हर्यश्व तुभ्यम् ।
इन्द्र धेनाभिरिह मादयस्व धीभिर्विश्वाभिः शच्या गृणानः ॥७॥

प्र । उग्राम् । पीतिम् । वृष्णे । इयर्मि । सत्याम् । प्र-यै । सुतस्य । हरि-अश्व । तुभ्यम् ॥ इन्द्र । धेनाभिः । इह । मादयस्व । धीभिः । विश्वाभिः । शच्या । गृणानः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे वायु समान फुरतीले घोड़ों वाले ! (वृष्णे तुभ्यम्) तुझ महाबली को (प्रयै) आगे चलने के लिये (सुतस्य) निचोड़ [सिद्धान्त] का (उग्राम्) तीव्र, (सत्याम्) सत्यगुण वाला (पीतिम्) घूंट (प्र इयर्मि) आगे रखता हूं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्]

मेघनाम—निघ० १ । १० । मेघ इवोपकारी (यत्र) यस्मिन् देशे (वदति) उपदिशति (कारुः) शिल्पकर्ता विद्वान् (उक्थ्यः) प्रशंसनीयः (तस्य) पूर्वोक्तस्य सर्वस्य (इत्) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (अभिपित्वेषु) जनिदाच्यु० । उ० ४ । १०४ । पि गतौ—त्वन् प्रत्ययः । अभिप्राप्तिषु । संगमेषु (रण्यति) रमु क्रीडायाम्—छान्दसः श्यन् परस्मैपदं मकारस्य नत्वं च । रमते। आनन्दितो भवति ॥

७—(उग्राम्) तीव्राम् (पीतिम्) पानम् (वृष्णे) महाबलवते (प्र इयर्मि) ऋ गतौ जुहोत्यादिः । प्रेरयामि । अग्रे धरामि (सत्याम्) यथार्थगुणयुक्ताम् (प्रयै) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै । पा० ३ । ४ । १० । प्र+या गतिप्रापणयोः—कैप्रत्ययः, तुमर्थे । प्रयातुम् । अग्रे गन्तुम् (सुतस्य) (संस्कृतस्य) सिद्धान्तस्य (हर्यश्व) अ० ५ । ३ । ८ । हृञ् प्रापणस्वीकारस्तेयनाशनेषु—इन्+अश्व

(धेनाभिः) वेदवाणियों द्वारा (इह) यहां पर (विश्वाभिः) समस्त (धीभिः) बुद्धियों से और (शच्या) कर्म से (गृणानः) उपदेश करता हुआ तू (मादयस्व) आनन्द दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य फुरतीली सेना वाला ज्ञानवान् और बलवान् हो, सब लोग आदर करके उस बुद्धिमान् कर्मकुशल की वैदिक शिक्षाओं से आनन्द पावें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १०४ । ३ और आगे है—अ०२० । ३३ ।२ ॥

इति तृतीयेऽनुवाके द्वितीयः पर्यायः ॥

सूक्तम् २६ ॥ [सूक्तानि २६-३३ तृतीयः पर्यायः ॥]

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४, ६ गायत्री, ३ निचृद् गायत्री; ५ विराड् गायत्री ॥

१—३ सेनाध्यक्षलक्षणोपदेशः—१—३ सेनाध्यक्ष के लक्षण का उपदेश; ४—६ परमेश्वरगुणोपदेशः—४—६ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

योगेयोगे तवस्तरं वाजेवाजे हवामहे । सखाय इन्द्रमूतये ॥१॥

योगे-योगे । तवः-तरम् । वाजे-वाजे । हवामहे ॥ सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥ १ ॥

भाषार्थ—(योगेयोगे) अवसर अवसर पर और (वाजेवाजे) सङ्ग्राम सङ्ग्राम के बीच (तवस्तरम्) अधिक बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् पुरुष] को (ऊतये) रक्षा के लिये (सखायः) मित्र लोग हम (हवामहे) पुकारते हैं ॥ १ ॥

व्याप्नौ—कन् । हरी इन्द्रस्य—निघ० २ । १ । । हरिर्वायुः । हे हरिभिर्वायुतुल्यैः शीघ्रगामिभिस्तुरङ्गैर्युक्त (तुभ्यम्) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् विद्वन् (धेनाभिः) धेट इच्च । उ०३ । ११ । धेट् पाने—नप्रत्ययः,टाप् । धेना वाङ्नाम-निघ०१ । ११ । वेदवाणीभिः (इह) अत्र (मादयस्व) आनन्दय (धीभिः) प्रज्ञाभिः (विश्वाभिः) सर्वाभिः (शच्या) अ०५ । ११ । ८ । शच व्यक्तायां वाचि—इन्, ङीप् । कर्मणा—निघ० २ ।-१ (गृणानः) उपदिशंस्त्वम् ॥

—१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १८ । २५ । ७ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण विद्वान् पुरुषार्थी राजा के साथ मित्रता करके शत्रु से अपनी रक्षा का उपाय करें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऊपर आचुका है—अ० १६ । २४ । ७ ॥

आ घा गमद्यदि श्रवत्सहस्रिणीभिरूतिभिः ।
वाजेभिरुप नो हवम् ॥ २ ॥

आ । घ । गमत् । यदि । श्रवत् । सहस्रिणीभिः । ऊतिभिः ॥
वाजेभिः । उप । नः । हवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदि) जो वह (आ गमत्) आवे, (घ) तो वह (सहस्रिणीभिः) सहस्रों उत्तम पदार्थ पहुंचानेवाली (ऊतिभिः) रक्षाओं से (वाजेभिः) अन्नों के साथ (नः) हमारी (हवम्) पुकार को (उप) आदर से (श्रवत्) सुने ॥ २ ॥

भावार्थ—सेनाध्यक्ष को चाहिये कि दूरदर्शी होकर आवश्यक अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करके सब की यथावत् रक्षा करे ॥ २

मन्त्र २, ३ ऋग्वेद मे है— १ । ३० । ८, ६, और सामवेद में है—उ० १ । २ । तृच ११ ॥

अनु प्रत्नस्यौकसो हुवे तुविप्रतिं नरम् ।
यं ते पूर्वं पिता हुवे ॥ ३ ॥

अनु । प्रत्नस्य । ओकसः । हुवे । तुवि-प्रतिम् । नरम् ॥ यम् । ते । पूर्वम् । पिता । हुवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (प्रत्नस्य) पुराने (ओकसः) घर के

२—(आ गमत्) गमेर्लेटि अडागमः । आगच्छेत् (यदि) चेत् (श्रवत्) शृणोतेर्लेटि अडागमः । शृणुयात् (सहस्रिणीभिः)प्रशस्तार्थे इनिः । सहस्राणि प्रशस्तानि पदार्थप्रापणानि यासु ताभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (वाजेभिः) अन्नैः (उप) पूजायाम् (नः) अस्माकम् (हवम्) आह्वानम् ॥

३—(अनु) निरन्तरम् (प्रत्नस्य) अ० २० । २४ । ६ । प्राचीनस्य (ओकसः) गृहस्य (हुवे) ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च— लटि छान्दसं रूपम् । अहं ह्वये । आह्वयामि

[उत्पन्न हुये] (तुविप्रतिम) बहुत पदार्थों के प्रत्यक्ष पहुंचाने वाले (नरम्) पुरुष को (अनु हुवे) मैं पुकारता रहता हूं, (यम्) जिस [पुरुष] को (पूर्वम्) पहिले काल में (ते) तेरा (पिता) पिता (हुवे) बुलाता था ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो कोई प्रतिष्ठित घराने का पुरुष अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाकर उपकार करे, उस को लोग आदर करके बुलावें ॥ ३ ॥

४—६ । परमेश्वरगुणोपदेशः । ४—६ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः ।
रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ४ ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥
रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तस्थुषः) मनुष्यादि प्राणियों और लोकों में (परि) सब ओर से (चरन्तम्) व्यापे हुये, (ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) हिंसा रहित [परमात्मा] को (रोचना) प्रकाशमान पदार्थ (दिवि) व्यवहार के बीच (युञ्जन्ति) ध्यान में रखते और (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमाणुओं से लेकर सूर्य आदि लोक और सब प्राणी सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता परात्मा की आज्ञा को मानते हैं, उसी की उपासना से मनुष्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करें ॥ ४ ॥

(तुविप्रतिम्) विनाऽपिप्रत्ययेन पूर्वोत्तरपदयोर्विभाषा लोपो वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ३ । ८३ । इति गमयितृ शब्दस्य लोपः । तुवीनां बहूनां पदार्थानां प्रतिगमयितारं प्रत्यक्षेण प्रापकम् (नरम्) नेतारम् (यम्)सभाध्यक्षम् (ते)तव(पूर्वम्) पूर्वकाले (पिता)जनकः(हुवे) ह्वेञ्—लिटि छान्दसं रूपम् । जुहुवे । आहूतवान् ॥

४—(युञ्जन्ति) युज समाधौ । ध्यायन्ति (ब्रध्नम्) अ० ७ । २२ । २ । महान्तम्-निघ० ३ । ३ (अरुषम्) रुष हिंसायाम्—कप्रत्ययः । अहिंसकम् (चरन्तम्) व्याप्नुवन्तम् (परि) सर्वतः (तस्थुषः) तिष्ठतेः क्वसुः शसि रूपम् । तस्थुष इति मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्यादिप्राणिनो लोकांश्च (रोचन्ते) प्रकाशन्ते (रोचना) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च—युच्, शेर्लो : । रोचनानि । प्रकाशमानानि वस्तूनि (दिवि) व्यवहारे ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में है—१। ६। १—३, सामवेद में—उ० ६ । ३। तृच १४ और आगे हैं—अ० २०। ४७। १०—१२ तथा ६६। ६—११। मन्त्र ४, ५ यजुर्वेद में है— २३। ५, ६ और मन्त्र ४ महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका उपासना विषय में व्याख्यात है ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या॒ हरी॒ विप॑क्षसा॒ रथे॑ ।
शोणा॑ धृ॒ष्णू नृ॒वाह॑सा ॥ ५ ॥

यु॒ञ्जन्ति॑ । अ॒स्य॒ । काम्या॑ । हरी॒ इति॑ । वि-प॑क्षसा । रथे॑ ॥
शोणा॑ । धृ॒ष्णू इति॑ । नृ॒-वाह॑सा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमात्मा—म० ४] के (काम्या) चाहने योग्य, (विपक्षसा) विविध प्रकार ग्रहण करने वाले, (शोणा) व्यापक, (धृष्णू) निर्भय, (नृवाहसा) नेताओं [दूसरों के चलाने वाले सूर्य आदि लोकों] के चलाने वाले (हरी) दोनों धारण आकर्षण गुणों को (रथे) रमणीय जगत् के बीच (युञ्जन्ति)वे [प्रकाशमान पदार्थ—म०४]ध्यान में रखते हैं ५

भावार्थ—जिस परमात्मा के धारण आकर्षण सामर्थ्य में सूर्य आदि पिण्ड ठहर कर अन्य लोकों और प्राणियों को चलाते हैं, मनुष्य उन सब पदार्थों से उपकार लेकर उस ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ ५ ॥

के॒तुं कृ॒ण्वन्न॑के॒तवे॒ पेशो॑ मर्या अपे॒शसे॑ ।
समु॒षद्भि॑रजायथाः ॥ ६ ॥

५—(युञ्जन्ति) समाधौ कुर्वन्ति तानि रोचनानि—म० ४ (अस्य) परमेश्वरस्य—म० ४ (काम्या) कमु कान्तौ—ण्यत्। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। इत्यत्र सर्वत्र विभक्तेराकारः। कमनीयौ (हरी) हरणशीलौ धारणाकर्षणगुणौ (विपक्षसा) पक्ष परिग्रहे —असुन्। विविधग्रहणशीलौ (रथे) रमणीये जगति (शोणा) शोणृ वर्णगत्योः—घञ्। व्यापकौ। (धृष्णू) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्नु। धर्षकौ। निर्भयौ (नृवाहसा) वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि। उ० ४। २२१। वह प्रापणे—असुन् णित्। नृणां नेतॄणां सूर्यादिलोकानां गमयितारौ ॥

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ॥
सम् । उषत्-भिः । अजायथाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(मर्याः) हे मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञान हटाने के लिये (केतुम्) ज्ञान को और (अपेशसे) निर्धनता मिटाने के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ वह [परमात्मा—मन्त्र० ५, ६] (उषद्भिः) प्रकाशमान गुणों के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके परमात्मा को विचारते हुये सृष्टि के पदार्थों से उपकार लेकर ज्ञानी और धनी होवें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—२९ । ३७ और महर्षि दयानन्दकृत ऋग्वेदादि भाष्यभूमिका पृष्ठ ३०७ ग्रन्थप्रामाण्याप्रामाण्य विषय में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् २७ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री; २, ४, ५ निचृद् गायत्री; ३, ६ गायत्री ॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षणों का उपदेश ।

यदिन्द्राहं यथा त्वमीशीय वस्व एक इत् ।
स्तोता मे गोषखा स्यात् ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । अहम् । यथा । त्वम् । ईशीय । वस्वः । इत् ॥
स्तोता । मे । गो-सखा । स्यात् ॥ १ ॥

६—(केतुम्) केतुरिति प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । प्रज्ञानम् (कृण्वन्) कृवि हिंसाकरणयोः—शतृ । कुर्वन् सन् सः परमेश्वरः—म० ५, ६ (अकेतवे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । अज्ञानं नाशयितुम् (पेशः) पिश गतौ—अवयवे दीपनायां च—असुन् । पेश इति हिरण्यनाम—निघ० १ । २ । पेश इति रूपनाम पिंशतेर्विपिशितं भवति निरु० ८ । ११ । सुवर्णादिधनं रूप वा (मर्याः)मनुष्याः(अपेशसे)निर्धनतां नाशयितुम् (सम्) सम्यक् (उषद्भिः) उष दाहे—शतृ, । प्रकाशमानैर्गुणैः (अजायथाः) प्रथमपुरुषस्य मध्यमपुरुषः । अजायत । प्रादुरभवत् ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) जब (यथा) जैसे जैसे (एकः) अद्वितीय (त्वम्) तू (इत्) ही (मे) मेरा [स्वामी होवे], (अहम्) मैं (वस्वः) धन का (ईशीय) स्वामी हो जाऊं, और (स्तोता) गुणों का व्याख्यान करने वाला [प्रत्येक पुरुष] (गोसखा) पृथिवी [अर्थात् तेरे राज्य] का मित्र (स्यात्) हो जावे ॥ १ ॥

भावार्थ—अद्वितीय प्रतापी राजा विद्वान् गुणी पुरुषों का आदर करता रहे, जिस से सब लोग राज्य की वृद्धि में लगे रहें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १४ । १—६ मन्त्र १—३ सामवेद में हैं—उ० २ । ६ । तृच ६, और मन्त्र १ सामवेद में है—पू० २ । ३ । ७ ॥

शिक्षेयमस्मै दित्सेयं शचीपते मनीषिणे ।

यदहं गोपतिः स्याम् ॥ २ ॥

शिक्षेयम् । अस्मै । दित्सेयम् । शची-पते । मनीषिणे ॥

यत् । अहम् । गो-पतिः । स्याम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शचीपते) हे बुद्धि के स्वामी ! [राजन्] (अस्मै) इस (मनीषिणे) बुद्धिमान् [ब्रह्मचारी] को (शिक्षेयम्) मैं शिक्षा करूं और (दित्सेयम्) दान दूं, (यत्) जो (अहम्) मैं (गोपतिः) विद्या का स्वामी (स्याम्) हो जाऊं ॥ २ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् राजा आदि धनी लोग प्रबन्ध करें कि ब्रह्मचारी लोग निश्चिन्त होकर उत्तम शिक्षकों से उत्तम विद्या पावें ॥ २ ॥

१—(यत्) यदा (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (अहम्) (यथा) येन येन प्रकारेण (त्वम्) ईशिषे—इति शेषः (ईशीय) ईश्वरः स्वामी स्याम् (वस्वः) धनस्य (इत्) एव (एकः) अद्वितीयः (स्तोता) गुणानां व्याख्याता (मे) मम (गोसखा) गोः पृथिव्यास्तवराज्यस्य मित्रभूतः (स्यात्) भवेत् ॥

२—(शिक्षेयम्) शिक्षां दद्याम् (अस्मै) उपस्थिताय (दित्सेयम्) दा दाने—सन् प्रत्ययः । दातुमिच्छेयम् (शचीपते) अ० ३ । १० । १२ । शच व्यक्तायां वाचि—इन्, ङीष् । शची प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६ । हे बुद्धिस्वामिन् (मनीषिणे) बुद्धिमते ब्रह्मचारिणे (यत्) यदि (अहम्) पुरुषः (गोपतिः) गोर्विद्यायाः स्वामी (स्याम्) भवेयम् ॥

धेनुष्ट इन्द्र सूनृता यजमानाय सुन्वते ।
गामश्वं पिप्युषी दुहे ॥ ३ ॥

धेनुः । ते । इन्द्र । सूनृता । यजमानाय । सुन्वते ॥
गाम् । अश्वम् । पिप्युषी । दुहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ते) तेरी (धेनुः) वाणी (सूनृता) प्यारी और सच्ची और (पिप्युषी) बढ़ती करने वाली होकर (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ने वाले (यजमानाय) यजमान [विद्वानों का सत्कार, सत्संग और विद्या आदि दान करने वाले] के लिये (गाम्) भूमि, विद्या वा गौओं और (अश्वम्) घोड़ों को (दुहे) भर पूर करती है ॥३

भावार्थ—सत्यवादी ऐश्वर्यवान् राजा सत्कार करके विद्वानों की उन्नति करके राज्य की उन्नति करे ॥ ३ ॥

न ते वर्तास्ति राधस इन्द्र देवो न मर्त्यः ।
यद् दित्ससि स्तुतो मघम् ॥ ४ ॥

न । ते । वर्ता । अस्ति । राधसः । इन्द्र । देवः । न । मर्त्यः ॥
यत् । दित्ससि । स्तुतः । मघम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ते) तेरे (राधसः) ऐश्वर्य का (वर्ता) रोकने वाला, (न) न तो (देवः) विद्वान् पुरुष और (न) न (मर्त्यः) सामान्य पुरुष (अस्ति) है, (यत्) जब कि

३—(धेनुः) वाक्—निघ० ८ । ११ (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सूनृता) अ० ३ । १२ । २ प्रियसत्यात्मिका (यजमानाय) देवपूजासंगतिकरणविद्यादिदानकारकाय (सुन्वते) तत्त्वनिष्पादनं कुर्वते (गाम्) भूमिं विद्यां गोसमूहं वा (अश्वम्) अश्वसमूहम् (पिप्युषी) ओ प्यायी वृद्धौ, क्वसु, ङीप् । वर्धयित्री (दुहे) तलोपः । दुग्धे । प्रपूरयति ॥

४—(न) निषेधे (ते) तव (वर्ता) निवारकः (अस्ति) (राधसः) ऐश्वर्यस्य (इन्द्र) (देवः) विद्वान् पुरुषः (न) निषेधे (मर्त्यः) सामान्यो मनुष्यः (यत्)

(स्तुतः) स्तुति किया गया तू (मघम्) धन (दित्ससि) देना चाहता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा अपने उत्तम गुणों से अनुपम होकर सुपात्रों को दान देकर उन्नति करे ॥ ४ ॥

यज्ञ इन्द्रमवर्धयद् यद् भूमिं व्यवर्तयत् ।
चक्राण ओपशं दिवि ॥ ५ ॥

यज्ञः । इन्द्रम् । अवर्धयत् । यत् । भूमिम् । वि । अवर्तयत् ॥
चक्राणः । ओपशम् । दिवि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यज्ञः) यज्ञ [विद्वानों के सत्कार, सत्सग और विद्या आदि दान] ने (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (अवर्धयत्) बढ़ाया है, (यत्) जब कि (दिवि) व्यवहार के बीच (ओपशम्) पूरा उद्योग (चक्राणः) कर चुकते हुये उसने (भूमिम्) भूमि को (वि अवर्तयत्) व्याख्यात किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य पृथिवी पर प्रत्येक काम को योग्यता से करता है, तब वह उन्नति करके कीर्ति पाता है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है पू० २ । ३ । ७ तथा उ० ८ । १ । ६ ॥

वावृधानस्य ते वयं विश्वा धनानि जिग्युषः ।
ऊतिमिन्द्रा वृणीमहे ॥ ६ ॥

ववृधानस्य । ते । वयम् । विश्वा । धनानि । जिग्युषः ॥
ऊतिम् । इन्द्र । आ । वृणीमहे ॥ ६ ॥

यदा (दित्ससि) दातुमिच्छसि (स्तुतः) (मघम्) मंहनीयं धनम् ॥

५—(यज्ञः) देवपूजासगतिकरणविद्यादिदानव्यवहारः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (अवर्धयत्) वर्धितवान् (यत्) यदा (भूमिम्) (वि अवर्तयत्) विवृतां व्याख्यातां कृतवान् (चक्राणः) करोतेः—कानच् । कृतवान् सन् (ओपशम्) अ० ६ । १३८ । १ । आङ्+उप+शीङ् शयने—ड । ओपशः= उपशयः=उपयोगः । समन्तादुपयोगम् (दिवि) व्यवहारे ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ववृधानस्य) बढ़ते हुये और (विश्वा) सब (धनानि) धनों को (जिग्युषः) जीत चुकने वाले (ते) तेरी (ऊतिम्) रक्षा को (वयम्) हम (आ) सब ओर से (वृणीमहे) मांगते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जब राजा पराक्रमी और धनी होता है, तब प्रजागण सुरक्षित रह कर उस राज्य की वृद्धि चाहते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् गायत्री, २—४ गायत्री ॥

परमेश्वरोपसनो पदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

व्य१न्तरिक्षमतिरन्मदे सोमस्य रोचना ।
इन्द्रो यदभिनद् वलम् ॥ १ ॥

वि । अन्तरिक्षम् । अतिरत् । मदे । सोमस्य । रोचना ॥
इन्द्रः । यत् । अभिनत् । वलम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (सोमस्य) ऐश्वर्य के (मदे) आनन्द में (रोचना) प्रीति के साथ (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरत्) पार किया है, (यत्) जब कि उस ने (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अभिनत्) तोड डाला ॥ १ ॥

भावार्थ—सब से महान् और पूजनीय परमेश्वर की उपासना से सब मनुष्य उन्नति करें ॥ १ ॥

६—(ववृधानस्य) वर्धमानस्य (ते) तव (वयम्) प्रजाजनाः (विश्वा) सर्वाणि (धनानि) (जिग्युषः) जि जये—क्वसु । जितवत. (ऊतिम्) रक्षाम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (आ) समन्तात् (वृणीमहे) याचामहे ॥

१—(वि) विविधम् (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (अतिरत्) पारं कृतवान् (मदे) आनन्दे (सोमस्य) ऐश्वर्यस्य (रोचना) विभक्तेराकारः । रोचनया । प्रीत्या (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (यत्) यदा (अभिनत्) व्यदारयत् (वलम्) हिंसकं विघ्नम् ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १४ । ७—१० और आगे है—अ० २० । ३९ । २—५ । मन्त्र १, २ सामवेद में है—उ० ८ । १ । तृच ६ ॥

उद्गा आजदङ्गिरोभ्य आविष्कृण्वन् गुहा सतीः ।
अर्वाञ्चं नुनुदे वलम् ॥ २ ॥

उत् । गाः । आजत् । अङ्गिरःऽभ्यः । आविः । कृण्वन् । गुहा । सतीः ॥ अर्वाञ्चम् । नुनुदे । वलम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (सतीः) वर्तमान (गाः) वाणियों को (आविः कृण्वन्) प्रकट करते हुये उस [परमेश्वर] ने (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (उत् आजत्) ऊंचा पहुंचाया और (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अर्वाञ्चम्) नीचे (नुनुदे) हटाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रलय के पीछे परमात्मा ने वेदों का उपदेश करके हमारे सब विघ्न मिटाये हैं ॥ २ ॥

इन्द्रेण रोचना दिवो दृळ्हानि दृंहितानि च ।
स्थिराणि न पराणुदे ॥ ३ ॥

इन्द्रेण । रोचना । दिवः । दृळ्हानि । दृंहितानि । च ॥
स्थिराणि । न । पराऽनुदे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] करके (दिवः) व्यवहार के (स्थिराणि) ठहराऊ (रोचना) प्रकाश (न पराणुदे)

२—(उत्) ऊर्ध्वम् (गाः) वाणीः । विद्याः (आजत्) अज गतिक्षेपणयोः—लङ् । अगमयत् (अङ्गिरोभ्यः) अ० २ । १२ । ४ । विज्ञानिभ्यः (आविष्कृण्वन्) प्रकटयन् (गुहा) गुहायाम् । गुप्तावस्थायाम् (सतीः) विद्यमानाः (अर्वाञ्चम्) अधोगतम् (नुनुदे) प्रेरितवान् (वलम्) हिंसकं विघ्नम् ॥

३—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता परमात्मना (रोचना) रोचनानि । प्रकाशाः (दिवः) व्यवहारस्य (दृळ्हानि) दृह वृद्धौ—क्त । दृढीकृतानि (दृंहितानि) दृहि वृद्धौ—क्त । वर्धितानि । विस्तारितानि (च) (स्थिराणि)

न हटने के लिये (दृढ़लानि) पक्के किये गये (च) और (दृंहितानि) बढ़ाये गये [फैलाये गये] हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने अटल नियमों से सब संसार को सुख दिया है ॥ ३ ॥

अपामूर्मिर्मदन्निव स्तोम इन्द्राजिरायते ।

वि ते मदा अराजिषुः ॥ ४ ॥

अपाम् । ऊर्मिः । मदन्-इव । स्तोमः । इन्द्र । अजिर-यते ॥

वि । ते । मदाः । अराजिषुः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (स्तोमः) बड़ाई (अपाम्) जलों की (मदन्) हर्ष बढ़ाने वाली (ऊर्मिः इव) लहर के समान (अजिरायते) वेग से चलती है, और (मदाः) आनन्द (वि अराजिषुः) विराजते हैं [विविध प्रकार ऐश्वर्य बढ़ाते हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—न्यायकारी जगदीश्वर की उत्तम नीति को मानकर सब लोग आनन्द पाकर शीघ्र ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ४ ॥

सूक्तम् २८ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री; २—४ गायत्री; ५ निचृद् गायत्री ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

स्थितिशीलानि (न) निषेधे (पराणुदे) परा+णुद प्रेरणे—क्विप् । परानोदनाय । दूरे प्रेरणाय ॥

४—(अपाम्) जलानाम् (ऊर्मिः) तरङ्गः (मदन्) आनन्दयन् (इव) यथा (स्तोमः) स्तुतिः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् (अजिरायते) अजिरशिशिरशिथिल०। उ०१ । ५३ । अज गतिक्षेपणयोः—किरच् । अजिर क्षिप्रनाम—निघ० २ । १५ । तत्करोतीत्युपसंख्यान सूत्रयत्याद्यर्थम् । वा० पा० । ३ । १ । २६ । अजिर—णिच्, सांहितिको दीर्घः । अजिरं क्षिप्रं करोति । शीघ्रं गच्छति (वि) विविधम् (ते) तव (मदाः) आनन्दाः (अराजिषुः) लडर्थे लुङ् । राजतीति ऐश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । ऐश्वर्यं वर्धयन्ति । शोभन्ते ॥

त्वं हि स्तोमवर्धन इन्द्रास्युक्थवर्धनः ।
स्तोतॄणामुत भद्रकृत् ॥ १ ॥

त्वम् । हि । स्तोम-वर्धनः । इन्द्र । असि । उक्थ-वर्धनः ॥
स्तोतॄणाम् । उत । भद्र-कृत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू (हि) ही (स्तोमवर्धनः) स्तुतियों से बढ़ाने योग्य और (उक्थवर्धनः) यथार्थ वचनों से सराहने योग्य (उत) और (स्तोतॄणाम्) गुण व्याख्याताओं का (भद्रकृत्) कल्याण करने वाला (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा उत्तम गुणी और पराक्रमी होवे कि सब लोग उसके गुणों से सुखी होवें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १४ । ११—१५ ॥

इन्द्रमित् केशिना हरी सोमपेयाय वक्षतः ।
उप यज्ञं सुराधसम् ॥ २ ॥

इन्द्रम् । इत् । केशिना । हरी इति । सोम-पेयाय । वक्षतः ॥
उप । यज्ञम् । सु-राधसम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(केशिना) सुन्दर केशों [कन्धे आदि के बालों] वाले, (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (सुराध-

१—(त्वम्) (हि) एव (स्तोमवर्धनः) कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ । ११३ । स्तोम+वृधु वर्धने-अर्हार्थे ल्युट् । स्तुतिभिर्वर्द्धनीयः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (असि) (उक्थवर्धनः) ल्युट् पूर्ववत् । यथार्थवचनैर्वर्धनीयः (स्तोतॄणाम्) गुणव्याख्यातॄणाम् (उत) अपि च (भद्रकृत्) कल्याणस्य कर्ता ॥

२—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् । (इत्) एव (केशिना) प्रशस्तकेशयुक्तौ । स्कन्धादिचिक्कणबालोपेतौ (हरी) रथस्य वाहकावश्वाविव बल-

सम्) महाधनी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (इत्) ही (सोमपेयाय) ऐश्वर्य की रक्षा के लिये (यज्ञम् उप) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] की ओर (वक्षतः) लावें ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम उत्साही पुरुष का श्रेष्ठ वस्तुओं से आदर करके उसके योग्य प्रबन्ध से सुखी होवें ॥ २ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० २० । ३ । २ ॥

अपां फेनेन नमुचेः शिर इन्द्रोदवर्तयः ।
विश्वा यदजय स्पृधः ॥ ३ ॥

अपाम् । फेनेन । नमुचेः । शिरः । इन्द्र । उत् । अवर्तयः ॥
विश्वाः । यत् । अजयः । स्पृधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (अपाम्) जलों के (फेनेन) फेन [झाग के समान हलके तीक्ष्ण शस्त्र विशेष] से (नमुचेः) न छुटने योग्य [दण्डनीय पापी] के (शिरः) शिर को (उत् अवर्तयः) तू ने उछाल दिया है, (यत्) जब कि (विश्वाः) सब (स्पृधः) झगड़ने वाली सेनाओं को (अजयः) तू ने जीता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेनापति पानी के झाग के समान हलके तीक्ष्ण चक्र आदि हथियारों से शत्रु का शिर काटकर उसकी सेना को जीते ॥ ३ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—१९ । ७१ तथा सामवेद—पू० ३ । २ । ८

पराक्रमी (सोमपेयाय) अचो यत् पा० ३ । १ । ९७ । सोम+पा रक्षणे-यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । आकारस्य ईकारः । ऐश्वर्यस्य रक्षणाय (वक्षतः) वह प्रापणे—लेट् । वहताम् । प्रापयताम् (उप) प्रति (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सुराधसम्) बहुधनवन्तम् ॥

३—(अपाम्) जलानाम् (फेनेन) फेनवल्लघुतीक्ष्णशस्त्रविशेषेण (नमुचेः) अ० २० । २१ । ७ । अमोचनीयस्य दण्डनीयस्य पापिनः (शिरः) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (उदवर्तयः) ऊर्ध्वं गमितवानसि (विश्वाः) सर्वाः (यत्) यदा (अजयः) जितवानसि (स्पृधः) स्पर्ध संघर्षे—क्विप्, रेफस्य ऋकारः अकारलोपश्च । स्पर्धमानाः । युध्यमानाः शत्रुसेनाः ॥

मायाभिरुत्सिसृप्सत इन्द्र द्यामारुरुक्षतः ।
अव दस्यूँरधूनुथाः ॥ ४ ॥

मायाभिः ॥ उत्-सिसृप्सतः । इन्द्र । द्याम् । आ-रुरुक्षतः ॥
अव । दस्यून् । अधूनुथाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (उत्सिसृप्सतः उछलते हुये और (द्याम्) आकाश को (आरुरुक्षतः) चढ़ते हुये (दस्यून्) डाकुओं को तू ने (मायाभिः) अपनी बुद्धियों से (अव अधूनुथाः) औंधा गिरा दिया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो शत्रु लोग विमान आदि से आकाश में चढ़ कर उपद्रव मचावें, युद्ध कुशल सेनापति विमान आदि में चढ़ कर उन्हें गिरावे ॥ ४ ॥

असुन्वामिन्द्र संसदं विषूचीं व्यनाशयः ।
सोमपा उत्तरो भवन् ॥ ५ ॥

असुन्वाम् । इन्द्र । सम्-सदम् । विषूचीम् । वि । अनाशयः ॥
सोम-पाः । उत्-तरः । भवन् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (सोमपाः) ऐश्वर्य का रक्षक और (उत्तरः) बड़ा विजयी (भवन्) हो कर तूने, (असुन्वाम्)

४—(मायाभिः) प्रज्ञाभिः (उत्सिसृप्सतः) सृप्लृ गतौ—सनि शतृ । उत्सर्पणेच्छून् । ऊर्ध्वगमनेच्छून् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् सेनापते (द्याम्) आकाशम् (आरुरुक्षतः) रुह प्रादुर्भावे—सनि शतृ । आरोहणेच्छून् (अव) अधोमुखम् (दस्यून्) उपक्षेप्तॄन् । दुष्टान् । चौरान् (अधूनुथाः) धूञ् कम्पने—लङ् । कम्पितवान् प्रेरितवानसि ॥

५—(असुन्वाम्) षुञ् अभिषवे—शानच्, स्वादिभ्यः श्नुः, ततष्टाप्, अमि कृते नकारलोपः । असुन्वानाम् । अभिषव बलि राजग्राह्यं भाग न ददतीम् (इन्द्र) (संसदम्) जनसङ्गतिम् (विषूचीम्) नानागतिम् ((वि) विशेषेण (अना-

भेंट न देती हुई (विषूचीम्) इतर विनर चलती हुयी (संसदम्) भीड़ का (वि अनाशयः) विनाश कर दिया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विजयी सेनापति कट्टर लुटेरे शत्रुओं का नाश करके ऐश्वर्य बढावे ॥ ५ ॥

सूक्तम् ३० ॥

१—५॥ इन्द्रो देवता ॥ १ जगती; २—४ निचृज्जगती; ५ आर्षी त्रिष्टुप् ॥

बलपराक्रमोपदेशः—बल और पराक्रम का उपदेश ॥

प्र ते म॒हे वि॒दथे॑ शंसिषं॒ हरी॒ प्र ते॑ वन्वे व॒नुषो॑ हर्य॒तं मद॑म् । घृ॒तं न यो हरि॑भि॒श्चारु॒ सेच॑त॒ आ त्वा॑ विशन्तु॒ हरि॑वर्पसं॒ गिरः॑ ॥ १ ॥

प्र । ते॒ । म॒हे । वि॒दथे॑ । शं॒सि॒ष॒म् । हरी॒ इति॑ । ते॒ । व॒न्वे॒ । व॒नुषः॑ । ह॒र्य॒तम् । मद॑म् ॥ घृ॒तम् । न । यः । हरि॑-भिः । चारु॑ । सेच॑ते । आ । त्वा॒ । वि॒श॒न्तु॒ । हरि॑-वर्पसम् । गिरः॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (महे) बड़े (विदथे) समाज के बीच (ते) तेरे (हरी) दुख हरने वाले दोनो बल और पराक्रम की (प्र शंसिषम्) मैं प्रशंसा करता हूं, और (वनुषः ते) तुझ शूर के (हर्यतम्) कामना योग्य (मदम्) आनन्द को (प्र वन्वे) मांगता हूं। (यः) जो आप (हरिभिः) वीर

शयः) नाशितवानसि (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षकः (उत्तरः) उत्+तॄ अभिभवे—अप्। उत्कर्षेण विजयी (भवन्) सन् ॥

१—(प्र) (ते) तव (महे) मह पूजायाम्—यजर्थे क। महति (विदथे) अ० १। १३। ४। विद ज्ञाने—अथप्रत्ययः। समाजे (शंसिषम्) शंसु स्तुतौ—लडर्थे लुङ्, अडभावः। स्तौमि (हरी) दुःखहरणशीलौ बलपराक्रमौ (प्र (ते) तव (वन्वे) वनु याचने—लट्। अहं याचे (वनुषः) जनेरुसि। उ० २। ११५। वन हिंसायाम्—उसि। शत्रुहिंसकस्य शूरस्य (हर्यतम्) भृमृदृशि-यजि०। उ० ३। ११०। हर्य कान्तौ—अतच्। कमनीयम् (मदम्) आनन्दम् (घृतम्) उदकम् (न) इव (यः) भवान् (हरिभिः)

पुरुषों के साथ (घृतम् न) जल के समान (चारु) रमणीय धन को (सेचते) बरसाते हैं, (हरिवर्पसम्) सिंहरूप (त्वा) उस तुझ में (गिरः) स्तुतियां (आ) सब ओर से (विशन्तु) प्रवेश करें ॥ १ ॥

भावार्थ—बली, पराक्रमी, धनी दानी पुरुष ससार में बडाई पाता है॥१

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ६६ । १—५ ।

इस सूक्त का मिलान करो ऋग्वेद—म० ३ । सू० ४४ ॥

हरिं हि योनिमभि ये समस्वरन् हिन्वन्तो हरी दिव्यं यथा सदः । आ यं पृणन्ति हरिभिर्न धेनव इन्द्राय शूषं हरिवन्तमर्चत ॥ २ ॥

हरिम् । हि । योनिम् । अभि । ये । सम्-अस्वरन् । हिन्वन्तः । हरी इति । दिव्यम् । -यथा । सदः ॥ आ । यम् । पृणन्ति । हरि-भिः । न । धेनवः । इन्द्राय । शूषम् । हरि-वन्तम् । अर्चत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम को (हिन्वन्तः) बढाते हुये (ये) जो लोग (दिव्यम्) दिव्य गुण वाले (सदः यथा) समाज के समान (हरिम्) दुख मिटाने वाले [सेनापति] को (हि) निश्चय करके (योनिम् अभि) न्याय घर में (समस्वरन्) अच्छे प्रकार सराहते हैं,

---

वीरमनुष्यैः (चारु) रमणीय धनम् (सेचते) सिञ्चति । वर्षयति (आ) समन्तात् (त्वा) त्वाम् (विशन्तु) प्रविशन्तु । प्राप्नुवन्तु (हरिवर्पसम्) वृङ् शीङ्भ्या रूपस्वाङ्गयोः पुट् च । उ० ४ । २०१ । वृङ् वरणे-असुन् पुट् च । वर्प रूपनाम—निघ० ३ । ७ । हरेः सिंहस्य रूपमिव रूपं यस्य तम् । महाबलवन्तम् (गिरः) स्तुतयः ॥

२—(हरिम्) दुःखहर्तारं सेनापतिम् (हि) निश्चयेन (योनिम्) न्यायगृहम् (अभि) प्रति (ये) पुरुषाः (समस्वरन्) स्वृ शब्दोपतापयोः — लडर्थे लङ् । सम्यक् स्तुवन्ति (हिन्वन्तः) हि गतिवृद्ध्योः—शतृ । वर्धयन्तः (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (दिव्यम्) उत्तमगुणविशिष्टम् (यथा)

और (यम्) जिस [सेनापति] को (हरिभिः) शूर पुरुषों सहित (धेनवः न) गौओं के समान [जो] (आ) सब ओर से (पृणन्ति) तृप्त करते हैं, (इन्द्राय) ऐश्वर्य के लिये (शूषम्) सुख से (हरिवन्तम्) उस शूर पुरुषों वाले [सेनापति को (अर्चत) तुम पूजो ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रजागण न्यायकारी वीर राजा को शूर विद्वानों के सहित प्रसन्न करके आनन्दित रहें ॥ २ ॥

सो अस्य वज्रो हरितो य आयसो हरिर्निकामो हरिरा गभस्त्योः । द्युम्नी सुशिप्रो हरिमन्युसायक इन्द्रे नि रूपा हरिता मिमिक्षिरे ॥ ३ ॥

सः । अस्य । वज्रः । हरितः । यः । आयसः । हरिः । निकामः । हरिः । आ । गभस्त्योः ॥ द्युम्नी । सु-शिप्रः । हरिमन्यु-सायकः । इन्द्रे । नि । रूपा । हरिता । मिमिक्षिरे ॥३॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सेनापति] का (सः) वह (हरितः) शत्रुनाशक, (आयसः) लोहे का बना (वज्रः) वज्र [शस्त्र] है, (यः) जो (गभस्त्योः) दोनों भुजाओं पर (निकामः) बड़ा प्रिय, (हरिः) सिंह [के समान] (आ) और (हरिः) सूर्य [के समान] (द्युम्नी) तेजस्वी, (सुशिप्रः)

(सदः) समाजः (आ) समन्तात् (यम्) सेनापतिम् (पृणन्ति) पृण तर्पणे । तर्पयन्ति (हरिभिः) शूरमनुष्यैः सह (न) यथा (धेनवः) गावः (इन्द्राय) ऐश्वर्याय (शूषम्)शूषं सुखनाम—निघ० ३ । ६ । सुखेन (हरिवन्तम्) शूरपुरुषैर्युक्तम् (अर्चत) पूजयत ॥

३—(सः) प्रसिद्धः (अस्य) सेनापतेः (वज्रः) दण्डशस्त्रम् (हरितः) हृश्याभ्यामितन् । उ० ३ । ९३ । हृञ् नाशने—इतन् । शत्रुनाशकः (यः) वज्रः (आयसः) लोहनिर्मितः (हरिः) सिंह इव (निकामः) नितरां कमनीयः प्रियः (हरिः) सूर्य इव (आ) समुच्चये (गभस्त्योः) गम्यते ज्ञायते इति गः विषयः, गम—ड, तं बभस्ति भासयति दीपयतीति । क्विप्कौ च । पा० ३।३।७। भस दीप्तौ—क्विच् । गभस्ती बाहुनाम—निघ० २।४। भुजयोः (द्युम्नी) अ०

बहुत काटने वाला [बड़ा कटीला वा दन्तीला] और (हरिमन्युसायकः) सर्प [के समान शत्रु] के क्रोध का नाश करने वाला है (इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सेना पति] में (हरिता) स्वीकार करने योग्य (रूपा) रूप [सुन्दरपन] (नि) दृढ़ करके (मिमिक्षिरे) सींचे गये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—सेना पति दृढ़ तीक्ष्ण हथियारों से शत्रुओं का नाश करके अपने उत्तम गुणों से प्रजा का पालन करे ॥ ३ ॥

दिवि न केतुरधि धायि हर्यतो विव्यचद् वज्रो हरितो न रंह्या । तुददहिं हरिशिप्रो य आयसः सहस्रशोका अभवद्धरिंभरः ॥ ४ ॥

दिवि । न । केतुः । अधि । धायि । हर्यतः । विव्यचत् । वज्रः । हरितः । न । रंह्या ॥ तुदत् । अहिम् । हरि-शिप्रः । यः । आयसः । सहस्र-शोकाः । अभवत् । हरिम्-भरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (हर्यतः) रमणीक (केतुः) प्रकाश (दिवि) आकाश में (अधि) ऊपर (धायि) रक्खा गया है, (वज्रः) वह वज्रधारी (रंह्या) वेग के साथ (हरितः न) सिंह के समान (विव्यचत्) व्याप गया,

---

६।३५।३। द्युत दीप्तौ—नप्रत्ययः, कित्, तस्य मः, द्युम्न-इति । दीप्तिमान् (सुशिप्रः) अ० २०।४।१। शिञ् निशाने छेदने—रक् पुक् च । बहुच्छेदकः। बहुकण्टकः। बहुदन्तः (हरिमन्युसायकः) हरेः सर्पस्येव शत्रोः क्रोधस्य नाशकः (इन्द्रे) परमैश्वर्यवति सेनापतौ (नि) नितराम् (रूपा) सौन्दर्याणि (हरिता) हञ् स्वीकारे-इतन् । स्वीकरणीयानि (मिमिक्षिरे) मिह सेचने—सन्—कर्मणि लडर्थे लिट् । मेढुं सेक्तुम् इष्टानि भवन्ति । सिक्तानि सन्ति ॥

४—(दिवि) प्रकाशे (न) यथा (केतुः) प्रज्ञापकः प्रकाशः (अधि) उपरि (धायि) अधायि । निहितो वर्तते (हर्यतः) कमनीयः (विव्यचत्) व्यच व्याजीकरणे मेदे व्याप्तौ—णिच्लुङ् । डाडभावः । व्याप्नोत् (वज्रः) अर्श आद्यच् । वज्रवान् (हरितः) सिंहः (न) इव (रंह्या) रंहणेन वेगेन (तुदत्) अतुदत् । हिंसितवान् (अहिम्) आहन्तारं सर्पमिव शत्रुम् (हरिशिप्रः) स्फा-

और (आयसः) लोहे के बने हुये [अति दृढ़], (हरिशिप्रः) सिंह के समान मुख वाले (यः) जिस ने (अहिम्) सर्प [समान शत्रु] को (तुदत्) छेदा, है, वह (सहस्रशोकाः) सहस्रों प्रकाश वाला होकर (हरिंभरः) मनुष्यों का पालने वाला (अभवत्) हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—तेजस्वी न्यायकारी राजा दुष्ट पापियों को शीघ्र दण्ड देकर अनेक प्रकार से प्रजा का पालन करे ॥ ४ ॥

त्वंत्वमहर्यथा उपस्तुतः पूर्वेभिरिन्द्र हरिकेश यज्वभिः । त्वं हर्यसि तव विश्वमुक्थ्यं१ मसामि राधो हरिजात हर्यतम् ॥५॥

त्वम्-त्वम् । अहर्यथाः । उप-स्तुतः । पूर्वेभिः । इन्द्र । हरि-केश । यज्व-भिः ॥ त्वम् । हर्यसि । तव । विश्वम् । उक्थ्यम् । असामि । राधः । हरि-जात । हर्यतम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरिकेश) हे सूर्य समान तेज वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (पूर्वेभिः) समस्त (यज्वभिः) यज्ञ करने वालों करके (उपस्तुतः) आदर से स्तुति किया गया (त्वं-त्वम्) तू ही तू (अहर्यथाः) प्रिय हुआ है । (हरिजात) हे मनुष्यों में

४—यतिञ्चिवच्चि० उ० २।१३। शिञ् निशाने छेदने—रक्, पुक् च । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु० ६।१७। हरेः सिंहस्य मुखमिव मुखं यस्य सः (यः) (आयसः) लोहनिर्मितः । अतिदृढः (सहस्रशोकाः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृति-स्वरत्वं च। उ० ४।२२७। सहस्र + ईश शुचिर् पूतीभावे—असि । सहस्रप्रकाशः (अभवत्) (हरिंभरः) संज्ञायां भृतॄवृजि०। पा० ३।२।४६। हरि + भृञ् भरणे-खच्, मुमागमः । हरयो मनुष्याः निघ० ३।२। मनुष्याणां पोषकः ॥

५—(त्वंत्वम्) त्वमेव (अहर्यथाः) अकामयथाः । प्रियोऽभवः (उपस्तुतः) आदरेण प्रशंसितः (पूर्वेभिः) समस्तैः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (हरिकेश) केशा रश्मयः काशनाद् वा प्रकाशनाद् वा—निरु० १२ । २५ । हे सूर्यवत् प्रकाशवन् (यज्वभिः) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । यज देवपूजादिषु, ङ्वनिप् । यज्ञकर्तृभिः (त्वम्) (हर्यसि) कामयसे (तव) (विश्वम्) सर्वम्

प्रसिद्ध ! (त्वम्) तू (हर्यसि) प्रीति करता है, (विश्वम्) सब (उक्थ्यम्) बड़ाई योग्य वस्तु और (असामि) न समाप्त होने वाला [अनन्त] (हर्यतम्) चाहने योग्य (राधः) धन (नव) तेरा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—शुभ गुणों के कारण जिस राजा से सब विद्वान् प्रीति करते हैं और जो सबसे प्रीति करता है, उसके राज्य में बहुत सम्पत्ति और धन होता है ॥५॥

सूक्तम् ॥ ३१ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी जगती; २, ३ जगती; ४, ५ निचृज् जगती ॥

पुरुषार्थकरणोपदेशः—पुरुषार्थ करने का उपदेश ॥

ता व॒ज्रिणं॑ म॒न्दिनं॒ स्तोम्यं॒ मद॒ इन्द्रं॒ रथे॑ वहतो हर्य॒ता हरी॑।
पु॒रूण्य॑स्मै॒ सव॑नानि॒ हर्य॑त॒ इन्द्रा॑य॒ सोमा॒ हर॑यो दधन्विरे ॥१॥

ता । व॒ज्रिण॑म् । म॒न्दिन॑म् । स्तोम्य॑म् । मदे॑ । इन्द्र॑म् । रथे॑ । व॒ह॒तः॒ । ह॒र्य॒ता । हरी॒ इति॑ ॥ पु॒रूणि॑ । अ॒स्मै॒ । सव॑नानि । हर्य॑ते । इन्द्रा॑य । सोमाः॑ । हर॑यः । द॒ध॒न्वि॒रे॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ता) वे दोनों (हर्यता) प्यारे (हरी) दुख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम (वज्रिणम्) वज्रधारी, (मन्दिनम्) आनन्दकारी, (स्तोम्यम्) स्तुति योग्य (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (मदे) सुख के लिये (रथे) रमण साधन जगत् में (वहतः) ले चलते हैं।

(उक्थ्यम्) प्रशस्यम् (असामि) भुवः कित् । उ० ४ । ४५ । षो अन्तकर्मणि—मिप्रत्ययः । असामि सामिप्रतिषिद्ध सामि स्यतेः " असुसमाप्तम्—निरु० ६ । २३ । असमाप्तम् । अनन्तम् (राधः) धनम् (हरिजात) हे हरिषु मनुष्येषु प्रसिद्ध (हर्यतम्) कमनीयम् ॥

१—(ता) तौ प्रसिद्धौ (वज्रिणम्) वज्रधारिणम् (मन्दिनम्) अ० २० । १७ । ४ । मोदयितारम् (स्तोम्यम्) स्तुतियोग्यम् (मदे) आनन्दाय (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (रथे) रमणसाधने जगति (वहतः) प्रापयतः । गमयतः (हर्यता) हर्य कान्तौ—अतच् । हर्यतौ कमनीयौ (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (पुरूणि) बहूनि (अस्मै) (सवनानि) ऐश्वर्याणि

(सोमाः) शान्त स्वभाव वाले (हरयः) मनुष्यों ने (अर्पं) इस (हर्यते) प्यारे (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये (पुरूणि) बहुत से (सवनानि) ऐश्वर्य (दधन्विरे) प्राप्त किये हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य धर्म के साथ बल और पराक्रम करके संसार को आनन्द देता है, सब लोग मान आदर करके उस का ऐश्वर्य बढ़ाते हैं ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ९६ । ६—१० ॥

अरं कामाय हरयो दधन्विरे स्थिराय हिन्वन् हरयो हरी तुरा। अर्वद्भिर्यो हरिभिर्जोषमीयते सो अस्य कामं हरिवन्तमानशे

अरम् । कामाय । हरयः । दधन्विरे । स्थिराय । हिन्वन् । हरयः । हरी इति । तुरा ॥ अर्वत्-भिः । यः । हरि-भिः । जोषम् । ईयते । सः । अस्य । कामम् । हरि-वन्तम् । आनशे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हरयः) सिंह [समान बलवान्] (हरयः) दुःख हरने वाले मनुष्यों ने (कामाय) कामना पूरी करने के लिये (तुरा) शीघ्रकारी (हरी) दुःख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम को (स्थिराय) दृढ़ स्वभाव वाले[सेनापति] के निमित्त (अरम्) पूरा पूरा (दधन्विरे) प्राप्त किया और (हिन्वन्) बढ़ाया है । (यः) जो मनुष्य (अर्वद्भिः) घोड़ों [के समान

(हर्यते) वर्तमाने पृषद्बृहन् महज्० । उ० २ । ८४ । हर्य कान्तौ—अति-प्रत्ययः । कमनीयाय (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (सोमाः) शान्तस्व-भावाः (हरयः) मनुष्याः (दधन्विरे) धवि गतौ—लिट्, आत्मनेपदम् । प्राप्तवन्तः ॥

२—(अरम्) अलम् । पर्याप्तम् (कामाय) कामनां पूरयितुम् (हरयः) सिंहसमाना बलवन्तः (दधन्विरे) म० १ । प्राप्तवन्तः (स्थिराय) दृढाय सेनापतये (हिन्वन्) हि गतिवृद्ध्योः—लङ् । वर्द्धितवन्तः (हरयः) दुःख-हर्तारो मनुष्याः (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (तुरा) वेगे—क । वेग-वन्तौ (अर्वद्भिः) अरणवद्भिः अश्वतुल्यैर्वेगवद्भिः (यः) (हरिभिः) दुःख-

शीघ्रगामी] (हरिभिः) दुःख हरने वाले मनुष्यों के साथ (जोषम्) प्रीति (ईयते) प्राप्त करता है, (सः) उस ने ही (हरिवन्तम्) श्रेष्ठ मनुष्यों वाली (अस्य) अपनी (कामम) कामना को (आनशे) फैलाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जहां पर विद्वान् लोग राजा के लिये बल और पराक्रम करते हैं और राजा विद्वानों से प्रीति करता है, वहां सब उत्तम कामनायें पूरी होकर आनन्द बढ़ता है ॥ २ ॥

हरिश्मशारुर्हरिकेश आयसस्तुरस्पेये यो हरिपा अवर्धत ।
अर्वद्भिर्यो हरिभिर्वाजिनीवसुरति विश्वा दुरिता पारिषद्धरी ॥३॥

हरि-श्मशारुः । हरि-केशः । आयसः । तुरः-पेये । यः । हरि-पाः । अवर्धत ॥ अर्वत्-भिः । यः । हरि-भिः । वाजिनी-वसुः । अति । विश्वा । दुः-इता । परिषत् । हरी इति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हरिश्मशारुः) सिंह के शरीर को छेदने वाला, (हरिकेशः) सूर्य समान तेज वाला, (आयसः) लोहे का बना हुआ [अति दृढ] (यः) जो (हरिपाः) मनुष्यों का रक्षक [सेनापति] (तुरस्पेये) शीघ्र रक्षा करने में (अवर्धत) बढ़ा है, और (यः) जो (अर्वद्भिः) घोड़ों [के समान शीघ्रगामी] (हरिभिः) दुःख हरने वाले मनुष्यों के साथ (वाजिनीवसुः) अन्न युक्त

हर्तृभिर्मनुष्यैः सह (जोषम्) प्रीतिम् (ईयते) गच्छति । प्राप्नोति (सः) सेनापतिः (अस्य) स्वकीयस्य (कामम्) अभिलाषाम् (हरिवन्तम्) श्रेष्ठपुरुषैर्युक्तम् (आनशे) अशू व्याप्तौ—लिट् । व्याप्तवान् । विस्तारितवान् ॥

३—(हरिश्मशारुः) हञ् नाशने—इन्+शीङ् स्वप्ने—मनिन्, डिच्च+ओरश्चलः । उ० १ । ५ । ६ शॄ हिंसायाम्—उण् । श्म शरीरम्—निरु० ३ । ५ । हरेः सिंहस्य श्मनः शरीरस्य शारुः छेदकः (हरिकेशः) सूर्यवत् प्रकाशमानः (आयसः) लोहनिर्मितः । अतिदृढः (तुरस्पेये) भूरञ्जिभ्यां कित् । उ० ४ । २१७ । तुर वेगे—असुन्, कित् । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । पा रक्षणे—यत् । ईद्यति । पा० ६ । ४ । ६५ । आकारस्य ईकारः । तुरसा वेगेन रक्षणे (यः) सेनापतिः (हरिपाः) हरीणां मनुष्याणां रक्षकः (अवर्धत) वर्धितवान् (अर्वद्भिः) म० २ । अश्ववद्वेगवद्भिः (यः)(हरिभिः) म० २ (वाजिनी-

क्रियाओं में बसने वाला है, वह (विश्वा) सब (दुरिता) विघ्नों को (अति) लांघकर (हरी) दुःख हरने वाले दोनों बल और पराक्रम को (पारिषत्) भरपूर करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अति बलवान् और तेजस्वी होकर कष्ट से प्रजा की रक्षा करता है और सत्कार पूर्वक शूर वीर विद्वानों का अन्न आदि देता है, वही अपने बल और पराक्रम से कीर्ति पाता है ॥ ३ ॥

स्रुवेव॒ यस्य॒ हरि॑णी विपे॒ततुः॒ शिप्रे॒ वाजा॑य॒ हरि॑णी॒ दवि॑ध्वतः।
प्र यत् कृ॒ते च॑म॒से मर्मृ॑ज॒द्धरी॑ पी॒त्वा मद॑स्य हर्य॒तस्यान्ध॑सः ॥४॥

स्रुवा॑ऽइव । यस्य॑ । हरि॑णी॒ इति॑ । वि॒ऽपे॒ततुः॑ । शिप्रे॒ इति॑ । वाजा॑य । हरि॑णी॒ इति॑ । दवि॑ध्वतः ॥ प्र । यत् । कृ॒ते । च॒म॒से । मर्मृ॑जत् । हरी॒ इति॑ । पी॒त्वा । मद॑स्य । ह॒र्य॒तस्य॑ । अन्ध॑सः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(वाजाय) अन्न के लिये (यस्य) जिस [सेनापति] के (हरिणी) स्वीकार करने योग्य (शिप्रे) दोनों जावड़े (स्रुवा इव) दो चमचाओं के समान (विपेततुः) विविध प्रकार चलते हैं, [उसके राज्य में] (हरिणी) सुख हरने वाली [अविद्या और कुनीति] दोनों (दविध्वतः) सर्वथा मिट जाती हैं। (यत्) क्योंकि वह (चमसे कृते) भोजन सिद्ध होने

वसुः) वाजिनीषु अन्नयुक्तासु क्रियासु निवासशीलः (अति) अतीत्य (विश्वा) सर्वाणि (दुरिता) विघ्नान् (पारिषत्) पॄ पूरणे-णिच्, लेट्। पूरयेत् (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ ॥

४—(स्रुवा) स्रुवौ । चमसौ (इव) यथा (यस्य) सेनापतेः) (हरिणी) हृञ् स्वीकारे—इनच्, उ० २ । ४६ । स्वीकरणीये (विपेततुः) लडर्थे लिट्। विविधं पततश्चलतः (शिप्रे) अथर्व—२० । ४ । १ । शिञ् निशाने छेदने—रक् पुक् च, टाप् । शिप्रे हनू नासिके वा—निरु० ६ । १७ । हनू (वाजाय) अन्नाय (हरिणी) हृञ् नाशने—इनच्। सुखनाशिके अविद्याकुनीती (दविध्वतः) दाधर्तिदर्धर्ति० । पा० ७ । ४ । ६५ । ध्वृ कौटिल्ये यङ्लुकि लट् द्विवचनान्तः ।

पर (मदस्य) आनन्द दायक, (हर्यतस्य) कामना योग्य (अन्धसः) अन्न का (पीत्वा) पान कर के (हरी) बल और पराक्रम दोनों को (प्र) अच्छे प्रकार (मर्मृजत्) शुद्ध करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे अन्न खाने से भूख मिटती है और स्रुवा से अग्नि में घी डालने से धुआँ नष्ट हो जाता है, वैसे ही जो राजा विद्या और सुनीति के फैलाने से अविद्या और कुनीति मिटाता है, वह अन्न के भोजन से बल और पराक्रम बढ़ाता है ॥ ४ ॥

उत स्म सद्म हर्यतस्य पस्त्योरत्यो न वाजं हरिवाँ अचिक्रदत्। मही चिद्धि धिषणाहर्यदोजसा बृहद् वयो दधिषे हर्यतश्चिदा ॥ ५ ॥

उत । स्म । सद्म । हर्यतस्य । पस्त्योः । अत्यः । न । वाजम् । हरि-वान् । अचिक्रदत् ॥ मही । चित् । हि । धिषणा । अहर्यत् । ओजसा । बृहत् । वयः । दधिषे । हर्यतः । चित् । आ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हर्यतस्य) कामना योग्य [उस पूर्वोक्त पुरुष] का (सद्म) घर (उत स्म) अवश्य ही (पस्त्योः) आकाश और पृथिवी में [हुआ है] और (हरिवान्) उत्तम पुरुषों वाले [उस पुरुष] ने (अत्यः न) घोड़े के समान (वाजम्) अन्न को (अचिक्रदत्) पुकारा है—(मही) पूज-

---

ध्वरति वधकर्मा—निघ० २ । १९ । सर्वथा विनश्यतः (प्र) प्रकर्षेण (यत्) यतः (कृते) संस्कृते (चमसे) भोजने (मर्मृजत्) मृजू शुद्धौ-लट्। मार्ष्टि । शोधयति (हरी) दुःखहर्तारौ बलपराक्रमौ (पीत्वा) पान कृत्वा (मदस्य) आनन्दकस्य (हर्यतस्य) कमनीयस्य (अन्धसः) अन्नस्य ॥

५—(उत) अवश्यम् (स्म) एव (सद्म) गृहम् (हर्यतस्य) कमनीयस्य (पस्त्योः) जनेर्यक्। उ० ४ । १११ । पस बाधे ग्रन्थे च—यक्, तुगागमः । पस्त्य गृहनाम—निघ० ३ । ४ । द्यावापृथिव्योर्मध्ये (अत्यः) अ० २० । ११ । ९ । अश्वः (न) यथा (वाजम्) अन्नम् (हरिवान्) हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । उत्तम मनुष्योपेतः (अचिक्रदत्) अ० ३ । ३ । १ । क्रदि

नाय (धिषणा) वेदवाणी ने (चित्) अवश्य (हि) ही (ओजसा) बल के साथ [वह] (अहर्यत्) कामना की है । [इसी से] (हर्यतः) कामना योग्य तू ने (चित्) भी (बृहत्) बड़े (वयः) जीवन को (आ) सब ओर से (दधिषे) धारण किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पूर्वोक्त प्रकार से वेदवाणी को मानकर बलवान् और पराक्रमी होता है वही आकाश और भूमि पर राज्य करके बहुत अन्न प्राप्त करता है, वैसा ही प्रत्येक मनुष्य को अपना जीवन बनाना चाहिये ॥ ५ ॥

सूक्तम् ॥ ३२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; २, ३ त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ रोदसी हर्यमाणो महित्वा नव्यंनव्यं हर्यसि मन्म नु प्रियम् ।
प्र पस्त्यमसुर हर्यतं गोराविष्कृधि हरये सूर्याय ॥ १ ॥

आ । रोदसी इति । हर्यमाणः । महि-त्वा । नव्यम्-नव्यम् । हर्यसि । मन्म । नु । प्रियम् ॥ प्र । पस्त्यम् । असुर । हर्यतम् । गोः । आविः । कृधि । हरये । सूर्याय ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे शूर !] (महित्वा) अपने महत्त्व से (रोदसी) आकाश और भूमि को (आ हर्यमाणः) प्राप्त कर लेता हुआ तू (नव्यंनव्यम्)

आह्वाने—सप्तम्याल् लुङ्, तुमभावः । आहूतवान् (मही) पूजनीया (चित्) अवश्यम् (हि) (धिषणा) धृषेर्धिष च सञ्ज्ञायाम् । उ० २ । ८२ । इति ञि धृषा प्रागल्भ्ये—क्यु, धिषादेशश्च । यद्वा, धिष शब्दे—क्यु, टाप्, धिषणा वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । वेदवाणी (अहर्यत्) अकामयत (ओजसा) बलेन (बृहत्) महत् (वयः) जीवनम् (दधिषे) दधातेः—लिट् । त्वं धारितवानसि (हर्यत) कमनीय (चित्) अपि (आ) समन्तात् ॥

१—(आ) समन्तात् (रोदसी) अ० ४ । १ । ४ । रुधेः—असुन् धस्य दः, ङीप् । विभक्तेः पूर्व सवर्णदीर्घः । सर्वभूतरोधयित्र्यौ द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३ । ३० (हर्यमाणः) हर्य गतिकान्त्योः—शानच् । प्राप्नुवन् (महित्वा)

नवे नवे (प्रियम्) प्रिय (मन्म) ज्ञान को (नु) शीघ्र (हर्यसि) पाता है । (असुर हे बुद्धिमान् ! (गोः) विद्या के (हर्यनम्) पाने योग्य (पस्त्यम्) घर को (हरये) दुःख हरने वाले (सूर्याय) सूर्य [के समान प्रेरक विद्वान्] के लिये (प्र) अच्छे प्रकार (आविः कृधिः) प्रकट कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि पूर्ण विद्वान् होकर प्रकाश और भूमि के तत्त्वों को जानकर नवीन नवीन विद्याओं के आविष्कार करे और विद्वान् आचार्य और ब्रह्मचारियों के लिये विद्यामन्दिर आदि स्थान बनावे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ९६ । ११—१३ ॥

आ त्वा हुर्यन्तं प्रयुजो जनानां रथे वहन्तु हरिशिप्रमिन्द्र । पिबा यथा प्रतिभृतस्य मध्वो हर्यन् युज्ञं सधमादे दशोणिम् ॥२॥

आ । त्वा । हुर्यन्तम् । प्र-युजः । जनानाम् । रथे । वहन्तु । हरि-शिप्रम् । इन्द्र ॥ पिब । यथा । प्रति-भृतस्य । मध्वः । हर्यन् । युज्ञम् । सुध-मादे । दश-ओणिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (जनानाम्) मनुष्यों की (प्रयुजः) प्रार्थनायें (हरिशिप्रम्) सिंह के समान मुख वाले (हर्यन्तम्) कामना योग्य (त्वा) तुझ को (रथे) रथ पर (आ वहन्तु) लावें । (यथा) जिससे (सधमादे) उत्सव के बीच (दशोणिम्) दस

महत्त्वेन (नव्यनव्यम्) नवीनं नवीनम् (हर्यसि) प्राप्नोषि (मन्म) मन ज्ञाने—मनिन् । ज्ञानम् (नु) क्षिप्रम् (प्रियम्) हितकरम् (पस्त्यम्) अ० २० । ३१ । ५ । गृहम् (असुर) असुरिति प्रज्ञानामास्यत्वनर्थान्—निरु० १० । ३४ । रो मत्वर्थीयः । हे प्रज्ञावन् (हर्यनम्) प्रापणीयम् (गोः) विद्यायाः (आविष्कृधि) प्रकटीकुरु (हरये) दुःखनाशकाय (सूर्याय) सूर्यवत् प्रेरकाय विदुषे ॥

२—(आ वहन्तु) आनयन्तु (त्वा) त्वाम् (हर्यन्तम्) कमनीयम् (प्रयुजः) युजिर् योगे—क्विप् । प्रयोजनाः । प्रार्थनाः (जनानाम्) मनुष्याणाम् (रथे) रमणसाधने याने (हरिशिप्रम्) अ० २० । ३० । ४ सिंहसमानमुखयुक्तम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (पिब) पानं कुरु (यथा) येन

दिशाओं में क्लेश मिटाने वाले (यज्ञम्) यज्ञ [पूजनीय व्यवहार] को (हर्यन्) चाहता हुआ तू (प्रतिभृतस्य) प्रत्यक्ष रक्खे हुये (मध्वः) ज्ञान का (पिब) पान करे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा सभा के बीच प्रजा की प्रार्थनाओं को सुन कर उनके दुखों को मिटाकर राज्य की उन्नति का विचार करे ॥ २ ॥

अपाः पूर्वेषां हरिवः सुतानामथो इदं सवनं केवलं ते । ममद्धि सोमं मधुमन्तमिन्द्र सत्रा वृषं जठर आ वृषस्व ॥ ३ ॥

अपाः । पूर्वेषाम् । हरि-वः । सुतानाम् । अथो इति । इदम् । सवनम् । केवलम् । ते ॥ ममद्धि । सोमम् । मधु-मन्तम् । इन्द्र । सत्रा । वृषन् । जठरे । आ । वृषस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हरिवः) हे उत्तम मनुष्यों वाले ! [राजन्] तू ने (पूर्वेषाम्) पहिले महात्माओं के (सुतानाम्) निचोड़ों [सिद्धान्तों] का (अपाः) पान किया है, (अथो) इसी लिये (इदम्) यह (सवनम्) ऐश्वर्य (केवलम्) केवल (ते) तेरा है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (मधुमन्तम्) ज्ञानयुक्त (सोमम्) ऐश्वर्य को (ममद्धि) तृप्त कर और (वृषन्) हे बलवान् ! (सत्रा) सत्य रीति से (जठरे) प्रसिद्ध हुये जगत् के

प्रकारेण (प्रतिभृतस्य) प्रत्यक्षधृतस्य (मध्वः) मधुनः। ज्ञानस्य (हर्यन्) कामयमानः (यज्ञम्) पूजनीयं व्यवहारम् (सधमादे) सहमोदस्थाने। उत्सवे (दशोणिम्) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४। ११८। दश+ओणृ अपनयने—इन्, पृषोदरादिरूपम्। दशसु दिक्षु क्लेशानामपनेतारं नाशयितारम् ॥

३—(अपाः) पीतवानसि (पूर्वेषाम्) पूर्वमहात्मनाम् (हरिवः) अ० २०। ३१। ५। हे श्रेष्ठमनुष्ययुक्त (सुतानाम्) निष्पादितानां सिद्धान्तानाम् (अथो) अपि च (इदम्) दृश्यमानम् (सवनम्) ऐश्वर्यम् (केवलम्) असाधारणम्। विशेषम् (ते) तव (ममद्धि) मदी आमोदे—शपःश्लुः। हर्षय। तर्पय (सोमम्) ऐश्वर्यम् (मधुमन्तम्) ज्ञानयुक्तम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (सत्रा) निघ० ३। १०। सत्येन (वृषन्) हे महाबलवन्

बीच (आ) सब ओर से (वृषस्व) बरसा ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा पूर्व महात्माओं के सिद्धान्तों पर चल कर ऐश्वर्य प्राप्त करे और उस का सत् प्रयोग करके संसार को सुख देवे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ३३ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ त्रिष्टुप्; २, ३ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः -राजा के धर्म का उपदेश ॥

अप्सु धूतस्य हरिवः पिबेह नृभिः सुतस्य जठरं पृणस्व ।
मिमिक्षुर्यमद्रय इन्द्र तुभ्यं तेभिर्वर्धस्व मदमुक्थवाहः ॥ १ ॥

अप्-सु । धूतस्य । हरि-वः । पिब । इह । नृ-भिः । सुतस्य । जठरम् । पृणस्व ॥ मिमिक्षुः । यम् । अद्रयः । इन्द्र । तुभ्यम् । तेभिः । वर्धस्व । मदम् । उक्थ-वाहः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हरिवः) हे श्रेष्ठ मनुष्यों वाले! (अप्सु) प्रजाओं के बीच (नृभिः) नरों [नेताओं] करके (धूतस्य) शोधे हुये। (सुतस्य) निचोड़ [सिद्धान्त] का (इह) यहां पर (पिब) पान कर और (जठरम्) प्रसिद्ध हुये जगत् को (पृणस्व) सन्तुष्ट कर। (इन्द्र) हे इन्द्र! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अद्रयः) मेघों [के समान उपकारी पुरुषों] ने (तुभ्यम्) तेरे लिये (यम्) जिस [आनन्द] को (मिमिक्षुः) सींचना चाहा है, (उक्थवाहः)

(जठरे) अ० २० । २४ । ५ । प्रादुर्भूते जगति (आ) समन्तात् (वृषस्व) वर्षय ॥

१—(अप्सु) आपः, आप्ताः प्रजाः, दयानन्दभाष्ये—६ । २७ । प्रजासु (धूतस्य) धावु गतिशुद्ध्योः—क्त । छान्दसं रूपम् । धौतस्य । शोधितस्य (हरिवः) हे श्रेष्ठमनुष्ययुक्त (पिब) पानं कुरु (इह) अत्र (नृभिः) नेतृभिः सह (सुतस्य) अभिषुतस्य शोधितस्य सिद्धान्तस्य (जठरम्) अ० २० । २४ । ५ । प्रादुर्भूतं संसारम् (पृणस्व) तर्पय (मिमिक्षुः) मिह सेचने—सन्, लिट् मेढुं सेक्तुमैच्छन् (यम्) आनन्दम् (अद्रयः) अद्रिर्मेघनाम—निघ० १ । १० । मेघसमानोपकारिणः पुरुषाः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (तुभ्यम्) (तेभिः) तैः पुरुषैः (वर्धस्व) वर्धय (मदम्) आनन्दम् (उक्थवाहः)

हे वचनों पर चलने वाले ! [सत्यवादी] (तेभिः) उन [पुरुषों] के साथ (मदम्) उस आनन्द को (वर्धस्व) तू बढ़ा ॥ १ ॥

भावार्थ—जो राजा विद्वानों के संशोधित सिद्धान्तों को मानकर प्रजा को प्रसन्न रखता है, प्रजा भी उसे आनन्द देती है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । १०४ । २—४ ॥

प्रोग्रां पीतिं वृष्ण॑ इयर्मि स॒त्यां प्र॒यै सु॒तस्य॑ हर्यश्व॒ तुभ्य॑म् । इन्द्र॒ धेना॑भिरि॒ह मा॑दयस्व धी॒भिर्विश्वा॑भिः॒ शच्या॑ गृणा॒नः ॥२

प्र । उ॒ग्राम् । पी॒तिम् । वृष्णे॑ । इ॒य॒र्मि॒ । स॒त्याम् । प्र॒ऽयै । सु॒तस्य॑ । ह॒रि॒ऽअ॒श्व॒ । तुभ्य॑म् ॥ इन्द्र॑ । धेना॑भिः । इ॒ह । मा॒द॒य॒स्व॒ । धी॒भिः । विश्वा॑भिः । शच्या॑ । गृ॒णा॒नः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे वायु समान फुरतीले घोड़ों वाले ! (वृष्णे तुभ्यम्) तुझ महाबली को (प्रयै) आगे चलने के लिये (सुतस्य) निचोड़ [सिद्धान्त] का (उग्राम्) तीव्र, (सत्यम्) सत्यगुण वाला (पीतिम्) घूंट (प्र इयर्मि) आगे रखता हूं । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले विद्वान्] (धेनाभिः) वेदवाणियों द्वारा (इह) यहां पर (विश्वाभिः) समस्त (धीभिः) बुद्धियों से और (शच्या) कर्म से (गृणानः) उपदेश करता हुआ तू (मादयस्व) आनन्द दे ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य फुरतीली सेना वाला ज्ञानवान् और बलवान् हो, सब लोग आदर करके उस बुद्धिमान् कर्मकुशल की वैदिक शिक्षाओं से आनन्द पावें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऊपर आ चुका है—अ० । २० । २५ । ७ ॥

ऊ॒ती श॑चीव॒स्तव॑ वी॒र्ये॑ण॒ वयो॒ दधा॑ना उ॒शिज॑ ऋत॒ज्ञाः । प्र॒जाव॑दिन्द्र॒ मनु॑षो दुरो॒णे त॒स्थुर्गृ॒णन्तः॑ सध॒माद्या॑सः ॥ ३ ॥

गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २ ७ उक्थ+वह प्रापणे-असि, णित् । हे उक्थेषु वचनेषु वहनशील । सत्यवादिन ॥

३—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । २५ । ७ ॥

ऊ॒ती । श॒ची॒-व॒: । तव॑ । वी॒र्ये॑ण । वय॑: । दधा॑नाः । उ॒शिज॑: ।
ऋ॒त॒-ज्ञाः ॥ प्र॒जा-व॑त् । इ॒न्द्र॒ । मनु॑षः । दु॒रो॒णे । त॒स्थुः ।
गृ॒णन्त॑: । स॒ध॒-मा॒द्या॑सः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शचीवः) हे बुद्धिमान् (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तव) तेरी (ऊती) रक्षा से और (वीर्येण) वीरता से (प्रजावत्) उत्तम प्रजा वाले (वयः) जीवन का (दधानाः) धारण करते हुये, (उशिजः) प्रीति युक्त बुद्धिमान् (ऋतज्ञाः) सत्य शास्त्र जानने वाले (मनुषः) मनन शील मनुष्य (दुरोणे) घर के बीच (गृणन्तः) गुण बखानते हुये (सधमाद्यासः) मिलकर आनन्द मनाते हुये (तस्थुः) ठहरते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् जितेन्द्रिय प्रधान पुरुष अपनी नीति कुशलता से ऐसा प्रबन्ध करे कि सब मनुष्य विद्वान् होकर उत्तम सन्तान और भृत्य आदि सहित आनन्द से रहें ॥ ३ ॥

॥ इति तृतीयेऽनुवाके तृतीयः पर्यायः ॥

॥ इति तृतीयोऽनुवाकः ॥

अथ चतुर्थोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३४ ॥

१—१८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—४, १३—१५, १८ त्रिष्टुप्; ५; १२ आर्षी त्रिष्टुप्; ६—८, ११, १७ निचृत् त्रिष्टुप्; ९ भुरिक् त्रिष्टुप्; १० विराडार्षी त्रिष्टुप्; १६ आर्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

३—(ऊती) ऊत्या । रक्षणेन (शचीवः) अ० २० । २१ । ३ । हे प्रशस्तप्रज्ञावन् (तव) (वीर्येण) वीरकर्मणा (वयः) जीवनम् (दधानाः) धारयन्तः (उशिजः) अ० २० । ११ । ४ । कामयमाना मेधाविनः (ऋतज्ञाः) सत्यशास्त्रस्य ज्ञातारः (प्रजावत्) उत्तमप्रजायुक्तम् (इन्द्र) (मनुषः) जनेरुसि । उ० २ । ११५ । मन ज्ञाने—उसि । मननशीला मनुष्याः (दुरोणे) अ० ५ । २ । ६ । गृहे—निघ० ३ । ४ (तस्थुः) लडर्थे लिट् । तिष्ठन्ति (गृणन्तः) स्तुवन्तः । गुणान् विज्ञापयन्तः (सधमाद्यासः) मद हर्षे—यत् । सह हर्षन्तः ॥

यो जात एव प्रथमो मनस्वान् देवो देवान् क्रतुना पर्यभूषत्।
यस्य शुष्माद् रोदसी अभ्यसेतां नृम्णस्य महा स जनास इन्द्रः ॥ १ ॥

यः। जातः। एव। प्रथमः। मनस्वान्। देवः। देवान्। क्रतुना। परि-अभूषत् ॥ यस्य। शुष्मात्। रोदसी इति। अभ्यसेताम्। नृम्णस्य। महा। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(जातः एव) प्रकट होते ही (यः) जिस (प्रथमः) पहिले (मनस्वान्) मननशील (देवः) प्रकाशमान [परमेश्वर] ने (क्रतुना) अपनी बुद्धि से (देवान्) चलते हुये [पृथिवी आदि लोकों] को (पर्यभूषत्) सब ओर सजाया है। (यस्य) जिसके (शुष्मात्) बल से (नृम्णस्य) मनुष्यों को झुकाने वाले सामर्थ्य की (महना) महिमा के कारण (रोदसी) दोनों आकाश और भूमि (अभ्यसेताम्) भय को प्राप्त हुये हैं, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस अनादि पुरुष ने अपने अनन्त ज्ञान और सामर्थ्य से पृथिवी आदि लोकों को रचकर नियम में रक्खा है, उस परमेश्वर के गुण विचार कर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ १ ॥

१—(यः) इन्द्रः (जातः) प्रकटः सन् (एव) (प्रथमः) आदिमः (मनस्वान्) मननवान् (देवः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (देवान्) दिवु गतौ—पचाद्यच्। गच्छतः पृथिव्यादिलोकान् (क्रतुना) प्रज्ञया—निघ० ३। ९ (पर्यभूषत्) भूष अलङ्कारे लङ्। परितो भूषितवान् (यस्य) (शुष्मात्) बलात् (रोदसी) अ० ४। १। ४। द्यावापृथिव्यौ (अभ्यसेताम्) भ्यस भये-लङ्। अबिभीताम्—निरु० १०। १० (नृम्णस्य) अ० ४। २४। ३। नृ+णम प्रह्वत्वे शब्दे च—पचाद्यच्, आद्यन्त विपर्ययोऽलोपश्च। नॄन् शत्रुभूतान् नमयति प्रह्वीकरोतीति नृम्णं बलम्—निघ० २। ९। मनुष्याणां नमयितुः सामर्थ्यस्य (महना) महिम्ना (सः) पूर्वोक्तः (जनासः) हे मनुष्याः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः ॥

यह सूक्त मन्त्र १२, १६ और १७ को छोड़ कर ऋग्वेद में है—२। १२ । १—१५॥

यः पृ॑थि॒वीं व्यथ॑माना॒मदृं॑ह॒द् यः पर्व॑ता॒न् प्रकु॑पिताँ॒ अर॑म्णात्। यो अ॒न्तरि॑क्षं वि॒म॒मे वरी॑यो॒ यो द्याम॒स्त॑भ्ना॒त् स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥ २ ॥

यः। पृ॒थि॒वीम्। व्यथ॑मानाम्। अदृं॑हत्। यः। पर्व॑तान्। प्र-कु॑पितान्। अर॑म्णात्॥ यः। अ॒न्तरि॑क्षम्। वि॒-म॒मे। वरी॑यः। यः। द्याम्। अस्त॑भ्नात्। सः। जना॑सः। इन्द्रः॑॥ २॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (व्यथमानाम्) चलती हुई (पृथिवीम्) पृथिवी को (अदृहत्) दृढ किया है, (यः) जिस ने (प्रकुपितान्) कोप करते हुये (पर्वतान्) मेघों को (अरम्णात्) ठहराया है। (यः) जिस ने (वरीयः) अधिक चौड़े (अन्तरिक्षम्) आकाश को (विममे) नाप डाला है, (यः) जिस ने (द्याम्) सूर्य को (अस्तभ्नात्) खम्भे समान खड़ा किया है, (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवाला परमेश्वर] है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूर्य के आकर्षण से पृथिवी को ठहराना, किरणों से खींचे हुये पानी को बरसाना, और आकाश के बीच सूर्य को खम्भे के समान बनाकर अनेक लोकों को उसके आकर्षण में सब ओर घुमाता है, उस परमेश्वर की उपासना से आत्मबल बढ़ाओ ॥ २ ॥

यो ह॒त्वाहि॒मरि॑णात् स॒प्त सिन्धू॒न् यो गा उ॒दाज॑दप॒धा व॒लस्य॑।

२—(यः) परमेश्वरः (पृथिवीम्) विस्तीर्णां भूमिम् (व्यथमानाम्) चलन्तीम् (अदृहत्) दृढीकृतवान्। सूर्यस्याकर्षणे धृतवान् (यः) (पर्वतान्) मेघान् (प्रकुपितान्) प्रकुद्धान् (अरम्णात्) रमु क्रीडायाम् श्नाप्रत्ययः, अन्तर्गतण्यर्थः। स्थापितवान् सूर्याकर्षणे (यः) (अन्तरिक्षम्) आकाशम्) (विममे) माङ् माने—लिट्। विशेषेण मानं कृतवान् (वरीयः) उरुतरम् (यः) (द्याम्) सूर्यमण्डलम् (अस्तभ्नात्) स्तम्भं यथा स्थापितवान्। अन्यद् गतम् ॥

यो अश्मनोरन्तरग्निं जजान संवृक् समत्सु स जनास इन्द्रः॥३

यः। हत्वा। अहिम्। अरिणात्। सप्त। सिन्धून्। यः। गाः। उत्-आजत्। अप-धा। वलस्य॥ यः। अश्मनोः। अन्तः। अग्निम्। जजान। सम्-वृक्। समत्-सु। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ३॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमेश्वर] ने (अहिम्) सब ओर चलने वाले मेघ में (हत्वा) व्यापकर (सप्त) सात (सिन्धून्) बहते हुये समुद्रों [अर्थात् भूर्भुवः आदि सात अवस्था वाले सब लोकों] को (अरिणात्) चलाया है, (वलस्य) बल [सामर्थ्य] के (अपधा) हर्ष से धारण करने वाले (यः) जिस ने (गाः) पृथिवियों को (उदाजत्) उत्तमता से चलाया है। (समत्सु) संग्रामों के बीच (संवृक्) शत्रुओं के रोकने वाले (यः) जिसने (अश्मनोः) दो व्यापक मेघों वा पत्थरों के (अन्तः) बीच (अग्निम्) अग्नि [बिजुली] को (जजान) उत्पन्न किया है, (जनासः) हे मनुष्यो! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है॥ ३॥

भावार्थ—भूर्, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्य, सात लोक संसार की अवस्था विशेष हैं। परमेश्वर मेघ आदि पदार्थों और सात अवस्था वाले समस्त संसार में व्याप कर पृथिवी आदि लोकों का आकर्षण में रखकर, मेघ

३—(यः) इन्द्रः (हत्वा) हन हिंसागत्योः। गत्वा। व्याप्य (अहिम्) आङि श्रिहनिभ्यां ह्रस्वश्च। उ० ४। १३८ आङ्+हन हिंसागत्योः—इण्, डित्। आहन्तारम्। समन्ताद् गन्तारं मेघम्—निघ० १।१० (अरिणात्) री गतिरेषणयोः—लङ्। अगमयत् (सप्त) सप्तसंख्याकान् (सिन्धून्) स्यन्दमानान् समुद्रान् इव भूर्भुवः स्वर्महा जनस्तपः सत्यमिति सप्तलोकान् संसारस्य अवस्थाविशेषान् (यः) (गाः) पृथिवीः (उदाजत्) अज गतिक्षेपणयोः— लङ्। उत्तमतया चालितवान् (अपधा) आतश्चोप सर्गे। पा० ३। १। १३६। अप+दधातेः— कप्रत्ययः। सुपां सुलुक्०। पा० ७।१।३९। विभक्तेर्डा। अपधः। हर्षेण धारकः (वलस्य) सामर्थ्यस्य (यः) (अश्मनोः) व्यापकयो मेघयोः पाषाणयोर्वा (अन्तः) मध्ये (अग्निम्) विद्युतम् (जजान) उत्पादयामास (संवृक्) वृजी वर्जने—क्विप्। संवर्जकः। शत्रूणां निवारकः (समत्सु) अ० २०। ११। ११। सङ्ग्रामेषु। अन्यद् गतम्॥

पाषाण आदि सब वस्तुओं में बिजुली धारण करके परमाणुओं के संयोग वियोग से अनन्त रचना करता है, उस को जानकर मनुष्य वृद्धि करें ॥ ३ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथर्व—२० । ६१ । १२ ॥

येनेमा विश्वा च्यवना कृतानि यो दासं वर्णमधरं गुहाकः ।
श्वघ्नीव यो जिगीवां लक्षमाददर्यः पुष्टानि स जनास इन्द्रः॥

येन । इमा । विश्वा । च्यवना । कृतानि । यः । दासम् । वर्णम् । अधरम् । गुहा । अकरित्यकः ॥ श्वघ्नी-इव । यः । जिगीवान् । लक्षम् । आदत् । अर्यः । पुष्टानि । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ४ ॥

भावार्थ—(येन) जिस [परमेश्वर] करके (इमा) यह (विश्वा) सब (च्यवना) चलते हुये लोक (कृतानि) बनाये गये हैं, (यः) जिसने (दासम्) देने योग्य (वर्णम्) रूप को (गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (अधरम्) नीचे (अकः) किया है। (यः) जो, (इव) जैसे (श्वघ्नी) वृद्धि पाने वाला (जिगीवान्) विजयी पुरुष (लक्षम्) लक्ष्य [जीते पदार्थ] को, (अर्यः) बैरी के (पुष्टानि) बढ़े हुये धनों को (आदत्) ले लेता है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ४ ॥

४—(येन) परमेश्वरेण (इमा) इमानि दृश्यमानानि (विश्वा) सर्वाणि (च्यवना) च्युङ् गतौ—ल्युट् । शेर्लुक् । गच्छन्ति जगन्ति । लोकान् (कृतानि) रचितानि (यः) (दासम्) दातव्यम् (वर्णम्) रूपम् (अधरम्) निम्नम् (गुहा) गुहायाम् । गुप्तावस्थायाम् (अकः) करोतेर्लुङ छान्दसं रूपम् । अकार्षीत् (श्वघ्नी) अ० २० । १७ । ५ । श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १।१५९ । टुओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन्+हन हिंसागत्योः—घञर्थे कप्रत्ययः । श्वघ्न-इनि । शुनो वृद्धेर्घ्नः प्राप्तिर्यस्य सः । वृद्धिं गतः (इव) यथा (यः) (जिगीवान्) जि जये क्वसु, छान्दसो दीर्घः। विजयी पुरुषः (लक्षम्) लक्ष्यम् । जितपदार्थम् (आदत्) आदत्ते (अर्यः) षष्ठ्येकवचने छान्दसो यणादेशः । अरेः । शत्रोः (पुष्टानि) समृद्धानि धनानि । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जो सब घूमते हुये लोकों को बनाता है और पदार्थों के रूपों को बीज के भीतर छिपा रखता है और जो दुष्टों को दण्ड देता है, मनुष्य उस परमेश्वर के गुणों को ग्रहण करें ॥ ४ ॥

यं स्मा पृच्छन्ति कुह सेति घोरमुतेमाहुर्नैषो अस्तीत्येनम्।
सो अर्यः पुष्टीर्विज इवा मिनाति श्रदस्मै धत्त स जनास इन्द्रः ॥५

यम्। स्म। पृच्छन्ति। कुह। सः। इति। घोरम्। उत। ईम्। आहुः। न। एषः। अस्ति। इति। एनम्॥ सः। अर्यः। पुष्टीः। विजः-इव। आ। मिनाति। श्रत्। अस्मै। धत्त। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ५॥

भावार्थ—(यम्) जिस (घोरम्) भयानक को [कोई कोई] (सः) वह (स्म) निश्चय करके (कुह) कहां है, (इति) ऐसा (पृच्छन्ति) पूछते हैं, (उत) और [कोई कोई] (एनम्) इसको,(एषः) वह (अस्ति ईम्) है ही (न) नहीं, (इति) ऐसा (आहुः) कहते हैं। (सः) वह (विजः) विवेकी (इव) ही (अर्यः) वैरी के (पुष्टीः) बढ़े हुये धनों को (आ) सब ओर से (मिनाति) नष्ट करता है, (अस्मै) उसके लिये तुम (श्रत्) सत्य [श्रद्धा] (धत्त) धारण करो, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ५ ॥

५—(यम्) (स्म) एव (पृच्छन्ति) जिज्ञासन्ते (कुह) क्व (सः) (इति) अनेन प्रकारेण। (सेति) सोऽपि लोपे चेत् पादपूरणम्। पा० ६।१।१३४। इति सोर्लोपे गुणः। (घोरम्) भयङ्कर परमेश्वरम् (उत) अपि च (ईम्) सर्वतः। निश्चयेन (आहुः) कथयन्ति (न) निषेधे (एषः) (अस्ति) वर्तते (इति) (एनम्) इन्द्रम् (सः) (अर्यः) म० ४। अरेः (पुष्टीः) पोषणानि धनानि (विजः) विजिर् पृथग्भावे—कप्रत्ययः। विवेकी (इव) एवार्थे (आ) समन्तात् (मिनाति) मीङ् हिंसायाम्। मीनातेर्निगमे। पा० ७। ३। ८१। इति ह्रस्वः। नाशयति (श्रत्) सत्यम्। श्रद्धाम् (अस्मै) (धत्त) धरत। अन्यद् गतम्॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की विवेचना मनुष्य अनेक प्रकार करते हैं, और जो सब का आधार है, वही परमेश्वर सब का उपास्य देव है ॥ ५ ॥

यो रध्रस्य चोदिता यः कृशस्य यो ब्रह्मणो नाधमानस्य कीरेः। युक्तग्राव्णो योऽविता सुशिप्रः सुतसोमस्य स जनास इन्द्रः॥६॥

यः। रध्रस्य। चोदिता। यः। कृशस्य। यः। ब्रह्मणः। नाधमानस्य। कीरेः॥ युक्त-ग्राव्णः। यः। अविता। सु-शिप्रः। सुत-सोमस्य। सः। जनासः। इन्द्रः॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (रध्रस्य) धनी का, और (यः) जो (कृशस्य) दुर्बल का, (यः) जो (नाधमानस्य) ऐश्वर्य वाले, (कीरेः) गुणों के व्याख्याता (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [ब्रह्मज्ञानी] का (चोदिता) आगे बढ़ाने वाला है । (यः) जो (युक्तग्राव्णः) योगाभ्यासी पण्डित का और (सुतसोमस्य) मोक्ष पा लेने वाले का (सुशिप्रः) बड़ा सेवनीय (अविता) रक्षक है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस परमात्मा की उपासना से सदा उत्तम कर्म करें, जो सब को श्रेष्ठ कर्म द्वारा उन्नति के लिये आज्ञा देता है ॥ ६ ॥

यस्याश्वासः प्रदिशि यस्य गावो यस्य ग्रामा यस्य विश्वे

६—(यः) परमेश्वरः (रध्रस्य) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । रध हिंसासंराद्ध्योः—रक् । समृद्धस्य । धनिकस्य (चोदिता) प्रेरकः (यः) (कृशस्य) दुर्बलस्य (यः) (ब्रह्मणः) वेदज्ञानिनः पुरुषस्य (नाधमानस्य) नाधृ याच्ञोपतापैश्वर्याशीःषु—शानच् । ऐश्वर्ययुक्तस्य (कीरेः) अ० २० । १७ । १२ । गुणव्याख्यातुः (युक्तग्राव्णः) युज समाधौ—क्त । अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । गॄ शब्दे विज्ञापे स्तुतौ च—कनिप् । अभ्यस्तयोगस्य पण्डितस्य (यः) (अविता), रक्षकः (सुशिप्रः) स्फायित-ञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शेवृ सेवायाम्—रक्, पृषोदरादि त्वाद् रूपसिद्धिः । सुसेवनीयः (सुतसोमस्य) षु गतौ प्रसवैश्वर्ययोश्च—क्त, सोमो मोक्षः । प्राप्तमोक्षस्य । अन्यत् गतम् ॥

रथासः । यः सूर्यं य उषसं जजान यो अपां नेता स जनास इन्द्रः ॥ ७ ॥

यस्य । अश्वासः । प्र-दिशि । यस्य । गावः । यस्य । ग्रामाः। यस्य । विश्वे । रथासः ॥ यः। सूर्यम् । यः। उषसम् । जजान। यः । अपाम् । नेता । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिसकी (प्रदिशि) बड़ी आज्ञा में (अश्वासः) घोड़े, (यस्य) जिसकी [आज्ञा में] (गावः) गाय बैल आदि पशु, (यस्य) जिसकी [आज्ञा में] (ग्रामाः) गाम [मनुष्य समूह] और (यस्य) जिसकी [आज्ञा में] (विश्वे) सब (रथासः) विहार कराने वाले पदार्थ हैं। (यः) जिस ने (सूर्यम्) सूर्य को, (यः) जिस ने (उषसम्) प्रभात वेला को (जजान) उत्पन्न किया है, और (यः) जो (अपाम्) जलों का (नेता) पहुंचाने वाला है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के अनन्त सामर्थ्य से सब उपकारी जीव और पदार्थ उत्पन्न हुये हैं, उस जगदीश्वर की उपासना करके मनुष्य उपकार करें ॥ ७ ॥

यं क्रन्दसी संयती विह्वयेते परेऽवर उभया अमित्राः। समानं चिद्रथमातस्थिवांसा नाना हवेते स जनास इन्द्रः ॥ ८ ॥

यम् । क्रन्दसी इति । संयती इति सम्-यती । विह्वयेते इति वि-ह्वयेते । परे । अवरे । उभयाः । अमित्राः ॥ समानम् ।

७—(यस्य) परमेश्वरस्य (अश्वासः) तुरङ्गाः (प्रदिशि) प्रकृष्टायाम्—आज्ञायाम् (यस्य) (गावः) धेनुवृषभादयः पशवः (यस्य) (ग्रामाः) मनुष्य—समूहाः (यस्य) (विश्वे) (रथासः) विहारसाधनाः पदार्थाः (यः) (सूर्यम्) सवितृमण्डलम् (यः) (उषसम्) प्रत्यूषकालम् (जजान) उत्पादितवान् (यः) (अपाम्) जलानाम् (नेता) प्रापकः । अन्यद् गतम् ॥

चित् । रथम् । आतस्थि-वांसा । नाना । हुवेते इति । सः ।
जनासः । इन्द्रः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिसको (संयती) आपस में जुटी हुयी (क्रन्दसी) ललकारती हुयी दो सेनायें (विह्वयेते) विविध प्रकार पुकारती हैं, (परे) ऊंचे [जीतने वाले] और (अवरे) नीचे [हारने वाले] (उभयाः) दोनों पक्ष (अमित्राः) शत्रुदल [पुकारते हैं]। और [जिसको] (समानम्) एक (चित्) ही (रथम्) रथ में (आतस्थिवांसा) चढ़े हुये दोनों [योधा और सारथी] (नाना) बहुत प्रकार से (हवेते) बुलाते हैं, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस इष्टदेव परमात्मा का स्मरण करके सब मनुष्य उत्साही होकर आगे बढ़ते हैं, उसकी उपासना सबको करनी चाहिये ॥ ८ ॥

यस्मान्न ऋते विजयन्ते जनासो यं युध्यमाना अवसे हवन्ते ।
यो विश्वस्य प्रतिमानं बभूव यो अच्युतच्युत् स जनास
इन्द्रः ॥ ९ ॥

यस्मात् । न । ऋते । वि-जयन्ते । जनासः। यम् । युध्यमानाः ।
अवसे । हवन्ते ॥ यः । विश्वस्य । प्रति-मानम् । बभूव ।
यः । अच्युत-च्युत् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(यस्मात् ऋते) जिस के बिना (जनासः) मनुष्य (न)

८—(यम्) परमेश्वरम् (क्रन्दसी) अ० २ । ४ । १ । क्रदि आह्वाने—असुन्, ङीप् पूर्वसवर्णदीर्घः । क्रन्दस्यौ । आह्वयन्त्यौ द्वे सेने (संयती) इण् गतौ-शतृ-। संगच्छमाने (विह्वयेते) विविधमाह्वयतः प्रतिभटान् (परे) प्रकृष्टाः । जेतारः (अवरे) निकृष्टाः । पराजिताः (उभयाः) उभयपक्षाः (अमित्राः) शत्रवः (समानम्) एकम् (चित्) एव (रथम्) यानम् (आतस्थिवांसा) अधितिष्ठन्तौ (नाना) अनेकधा (हवेते) आह्वयतः । अन्यद् गतम् ॥

९—(यस्मात्) परमेश्वरात् (न) निषेधे (ऋते) विना (विजयन्ते)

नहीं (विजयन्ते) विजय पाते हैं. (यम्) जिसको (युध्यमानाः) लड़ते हुये लोग (अवसे) रक्षा के लिये (हवन्ते) पुकारते हैं। (यः) जो (विश्वस्य) संसार का (प्रतिमानम्) प्रत्यक्ष नापने का साधन और (यः) जो (अच्युतच्युत्) नहीं हिलने वालों का हिलाने वाला (बभूव) है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस जगदीश्वर की उपासना से ही मनुष्य युद्ध में जय पाते हैं, जो सब संसार को ठीक ठीक जानता और जो अत्यन्त से अत्यन्त दृढ़ स्वभाव वालों को वश में रखता है, उसकी उपासना सब करें ॥ ९ ॥

यः शश्वतो मह्येनो दधानानमन्यमानाञ्छर्वा जघान। यः शर्धते नानुददाति शृध्यां यो दस्योर्हन्ता स जनास इन्द्रः ॥ १० ॥

यः। शश्वतः। महि। एनः। दधानान्। अमन्यमानान्। शर्वा। जघान ॥ यः। शर्धते। न। अनु-ददाति। शृध्याम्। यः। दस्योः। हन्ता। सः। जनासः। इन्द्रः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जिस ने (महि) बड़े (एनः) पाप को (दधानान्) धारण करने वाले (शश्वतः) बहुत से (अमन्यमानान्) अज्ञानियों को (शर्वा) शासनरूपी वज्र से (जघान) मारा है। (यः) जो (शर्धते) अपमान करने वाले को (शृध्याम्) उत्साह (न) नहीं (अनुददाति) कभी देता है. और (यः)

विजयं प्राप्नुवन्ति (जनासः) मनुष्याः (यम्) (युध्यमानाः) युद्धं कुर्वाणाः (अवसे) रक्षणाय (हवन्ते) आह्वयन्ति (यः) (विश्वस्य) संसारस्य (प्रतिमानम्) प्रत्यक्षमानसाधनम् (बभूव) लडर्थे लिट्। भवति (यः) (अच्युतच्युत्) अच्युतानाम्, अच्यावयितव्यानां स्थावरादीनां च्यावयिता प्रेरयिता। अन्यद् गतम् ॥

१०—(यः) परमेश्वरः (शश्वतः) बहून्—निघ० ३। १ (महि) महत् (एनः) पापम् (दधानान्) धरतः (अमन्यमानान्) अज्ञानिनः। शठान् (शर्वा) दुडभावः। शरुणा। शासनरूपवज्रेण (जघान) नाशितवान् (यः) (शर्धते) शृधु शब्दकुत्सायाम्, अपमाने उत्साहे च—शतृ। अपमानं कुर्वते (न) निषेधे (अनुददाति) आनुकूल्येन प्रयच्छति (शृध्याम्) शृधु उत्साहे—क्यप्। शर्धो

जो (दस्योः) डाकू का (हन्ता) मारने वाला है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बडे ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो परमात्मा पापियों, निन्दकों और डाकुओं को बिना दण्ड दिये नहीं छोडता, अर्थात् दण्डनीय को दण्ड ही देता है, उसी को न्यायकारी जगदीश्वर जानो ॥ १० ॥

यः शम्बरं पर्वतेषु क्षियन्तं चत्वारिंश्यां शरद्यन्वविन्दत् ।
ओजायमानं यो अहिं जघान दानुं शयानं स जनास इन्द्रः ॥११

यः । शम्बरम् । पर्वतेषु । क्षियन्तम् । चत्वारिंश्याम् । शरदि । अनु-अविन्दत् ॥ ओजायमानम् । यः । अहिम् । जघान । दानुम् । शयानम् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस ने (पर्वतेषु) बादलों में (क्षियन्तम्) रहते हुये (शम्बरम्) चलने वाले पानी को (चत्वारिंश्याम्) भिक्षा नाश करने वाले (शरदि) वर्ष में (अन्वविन्दत्) निरन्तर पहुंचाया है । (यः) जिसने (ओजायमानम्) अत्यन्त बल करते हुये, (दानुम्) छेदने वाले, (शयानम्) पडे हुये (अहिम्) सब ओर से नाश करने वाले [विघ्न] को (जघान) नष्ट किया है,

बलनाम—निघ० २ । ६ । उत्साहम् (यः) (दस्योः) परपदार्थापहारकस्य (हन्ता) घातकः । अन्यद् गतम् ॥

११—(यः) इन्द्रः परमेश्वरः (शम्बरम्) कोरन् । उ० ४ । १५५ । शम्ब सम्बन्धने गतौ च-अरन्, यद्वा शम्+वृञ् वरणे—अप्, वस्य बः । शम्बरो मेघः—निघ०१।१०। शम्बरमुदकम्—१।१२। शम्बर बलम् २। ६ । गतिशील जलम् (पर्वतेषु) मेघेषु (क्षियन्तम्) निवसन्तम् (चत्वारिंश्याम्) अशूप्रुषिलटि० । उ०१। १५१। चत याचने-क्वन्, टाप्+रिश हिंसायाम्-क, गौरादित्वाद् ङीष्, छान्दसो नुम् । चत्वाया भिक्षाया रिश्यां नाशिकायाम् (शरदि) वत्सरे (अन्वविन्दत्) अन्तर्गतण्यर्थः । निरन्तरं प्रापितवान् (ओजायमानम्) कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । पा० ३ ।१।११। ओजस्-क्यङ् ओजसोऽप्सरसो नित्यमितरेषां विभाषया। वा० पा० ३।१।११। सकारलोपः । ओजो बलम्, तद्वदाचरन्तम् । अतिशयितबलयुक्तम् (यः) (अहिम्) म०३। आहन्तारं समन्ताद् नाशयितारं विघ्नम् (जघान)

(जनासः) हे मनुष्यो ! (सः, सः इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सूखा के समय अकाल में मेह बरसाकर अन्न उत्पन्न करता और क्लेशों का नाश करके शारीरिक और आत्मिक सुख पहुंचाता है, उसी की उपासना किया करो ॥ ११ ॥

यः शम्बरं पर्यतरत् कसीभिर्योऽचारुकास्नापिबत् सुतस्य । अन्तर्गिरौ यजमानं बहुं जनं यस्मिन्नामूर्छत् स जनास इन्द्रः ॥ १२ ॥

[सूचना—मन्त्र १२, १६, १७ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं, और इन का पदपाठ गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई के पुस्तक में भी नहीं दिया। हम स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द कृत पदसूची से संग्रह कर के स्वरों को यथासम्भव शोधकर यहां लिखते हैं, बुद्धिमान् जन विचार लेवें]

यः । शम्बरम् । परि । अतरत् । कसीभिः । यः । अचारु । कास्ना । अपिबत् । सुतस्य ॥ अन्तः । गिरौ । यजमानम् । बहुम् । जनम् । यस्मिन् । आमूर्छत् । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यः) जिसने (शम्बरम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (कसीभिः) ज्ञानों के साथ (परि) सब प्रकार (अतरत्) तराया है, (यः) जिस (अचारु) अचालु [निश्चल] ने (कास्ना) प्रकाश के साथ (सुतस्य) तत्त्व का (अपिबत्) पान कराया है। और [जिसने] (यस्मिन) जिस (गिरौ अन्तः)

नाशितवान् (दानुम्) दाभाभ्यां नुः । उ० ३ । ३२ । दाप् लवने–नु । छेत्तारम् (शयानत्) कृतशयनमिव वर्तमानम् । अन्यद् गतम् ॥

१२—(यः) इन्द्रः (शम्बरम्) म० ११ । मेघमिवोपकारिणम् (परि) सर्वतः (अतरत्) तॄ तरणे—लङ् । पारं कृतवान् (कसीभिः) अवितॄस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । कस गतिशासनयोः—ईप्रत्ययः । कसतीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । ज्ञानैः (यः) (अचारु) चर गतौ—उण् । विप्रकोलुक् । अचारुः । अचालुः । निश्चलः (कास्ना) रास्नासास्ना० । उ० ३ । १५ काशृ शब्दे दीप्तौ च-नप्रत्ययः, टाप्, विभक्तेराकारः । कास्नया दीप्त्या (अपिबत्) अन्तर्गत-

तत्त्व ज्ञान के भीतर (बहुम्) बहुत से (यजमानम्) यज्ञ करने वाले (जनम्) लोगों को (आमूर्छत्) सब प्रकार बढ़ाया है, (जनासः) हे मनुष्यो (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १२ ॥

भावार्थ—परमात्मा उपकारी ज्ञानी पुरुषों को दुःख से पार करता और वैदिक तत्त्वों पर चलने वालों को बढ़ाता है, हम उस परमेश्वर की भक्ति करें ॥ १२ ॥

यः सुप्तर॑श्मिर्वृ॒षभस्तुवि॑ष्मान॒वासृ॑जत् सर्त॑वे सुप्त सिन्धू॑न् ।
यो रौ॑हि॒णमस्फु॑रुद् वज्र॑बाहु॒र्द्यामा॒रोह॑न्तं॒ स जना॑स॒ इन्द्रः॑ ॥१३॥
यः । सुप्त-र॑श्मिः । वृ॒षभः । तुवि॑ष्मान् । अव-असृ॑जत् । सर्त॑वे । सुप्त । सिन्धू॑न् ॥ यः । रौहि॒णम् । अस्फु॑रत् । वज्र॑-बाहुः । द्याम् । आ-रोह॑न्तम् । सः । जना॑सः । इन्द्रः॑ ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सप्तरश्मिः) सात प्रकार की [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्र] किरणों वाले सूर्य के समान (यः) जिस (वृषभः) सुख की वरसा करने वाले, (तुविष्मान्) बलवान् ने (सप्त) सात (सिन्धून्) बहते हुये समुद्रों [के समान भूर् आदि सात लोकों] को (सर्तवे) चलने के लिये (अवासृजत्) विमुक्त किया है। और (यः) जिस (वज्रबाहुः) वज्र

णयर्थः। पानमकारयत् (सुतस्य) निष्पादितस्य तत्त्वस्य (अन्तः) मध्ये (गिरौ) कॄगॄशॄपॄ० । उ० ४ । १४३ । गॄ विज्ञापने—इप्रत्ययः । तत्त्वज्ञाने (यजमानम्) (बहुम्) बहुसंख्याकम् (जनम्) मनुष्यसमूहम् (यस्मिन्) ज्ञाने (आमूर्छत्) आङ्+मूर्छा मोहसमुच्छ्राययोः—लङ्। समन्ताद् वर्धितवान्। अन्यद् गतम् ॥

१३—(यः) इन्द्रः (सप्तरश्मिः) अ० ६ । ५ । १५ । सप्त आदित्यरश्मयः निरु० ४ । २६ । शुक्लनीलपीतादिवर्णाः सप्तकिरणाः सन्ति यस्य सः। सूर्यलोक इव । (वृषभः) सुखस्य वर्षिता (तुविष्मान्) बलवान् (अवासृजत् विमुक्तवान् (सर्तवे) गन्तुम् (सप्त) (सिन्धून्) म० ३ । स्यन्दमानान् समुद्रान् इव भूरादिसप्तलोकान्, संसारस्यावस्थाविशेषान् (यः) (रौहिणम्) वहेश्च।

समान भुजाओं वाले [दृढ़ शरीर वाले वीर सदृश] ने (द्याम्) आकाश को (आरोहन्तम्) चढ़ते हुये (रौहिणम्) उपजाने वाले बादल को (अस्फुरत्) घुमड़ाया है [घेरा करके चलाया है], (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १३ ॥

भावार्थ—भूर् आदि लोकों के लिये मन्त्र ३ का भावार्थ देखो। जैसे सूर्य अपनी परिधि के लोकों को आकर्षण में रखकर ठहराता है, वैसे ही परमेश्वर सूर्य आदि लोकों को नियम में रखकर चलाता है, और अनावृष्टि हटाकर मेह बरसा कर अन्न आदि उत्पन्न करता है, हे मनुष्यो ! उस परमेश्वर की आज्ञा में चलो ॥ १३ ॥

द्यावा चिदस्मै पृथिवी नमेते शुष्मांच्चिदस्य पर्वता भयन्ते।
यः सोमपा निचितो वज्रबाहुर्यो वज्रहस्तः स जनास इन्द्रः॥१४

द्यावा । चित् । अस्मै । पृथिवी इति । नमेते इति । शुष्मात् । चित् । अस्य । पर्वताः । भयन्ते । यः । सोम-पाः । नि-चितः । वज्रबाहुः । यः । वज्र-हस्तः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(द्यावा पृथिवी) आकाश और भूमि (चित्) भी (अस्मै) इस [परमेश्वर] के लिये (नमेते) झुकते हैं, (अस्य) इस के (शुष्मात्) बल से (चित्) ही (पर्वताः) मेघ (भयन्ते) डरते हैं। (यः) जो (निचितः) भर पूर, (सोमपाः) ऐश्वर्य का रक्षक, (वज्रबाहुः) वज्रसमान भुजाओं वाला

उ० २ । ५५ । रुह बीजजन्मनि प्रादुर्भावे च—इनन्, प्रज्ञादित्वादण्। रौहिणो मेघनाम—निघ० १ । १० । उत्पादनशीलं मेघम् (अस्फुरत्) स्फुर संचलने। संचालितवान् (वज्रबाहुः) वज्रवत् सारभूताभ्यां बाहुभ्यामुपेतः शूरपुरुष इव (द्याम्) आकाशम् (आरोहन्तम्) अधितिष्ठन्तम्। अन्यद् गतम् ॥

१४—(द्यावा पृथिवी) छान्दसं व्यवधानम्। आकाशभूमिलोकौ (चित्) अपि (अस्मै) परमेश्वराय (नमेते) प्रह्वीभवतः (शुष्मात्) बलात् (चित्) एव (अस्य) परमेश्वरस्य (पर्वताः) मेघाः (भयन्ते) छान्दसः शप् आत्मनेपदं च। बिभ्यति (यः) (सोमपाः) ऐश्वर्यरक्षकः—दयानन्दभाष्ये, यजु०

[दृढ़ शरीर वाले वीर सदृश] है और (यः) जो (वज्रहस्तः) वज्र हाथ में रखने वाले [दृढ़ हथियार वाले शूर सदृश] है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियम में सब बड़े बड़े और छोटे छोटे पदार्थ रहते हैं, वही महाबली हमारे ऐश्वर्य का रक्षक है, उसकी शरण में रहकर हम अपना कर्तव्य करें ॥ १४ ॥

यः सुन्वन्तमवति यः पचन्तं यः शंसन्तं यः शशमानमूती ।
यस्य ब्रह्म वर्धनं यस्य सोमो यस्येदं राधः स जनास इन्द्रः ॥१५॥

यः । सुन्वन्तम् । अवति । यः । पचन्तम् । यः । शंसन्तम् । यः । शशमानम् । ऊती ॥ यस्य । ब्रह्म । वर्धनम् । यस्य । सोमः । यस्य । इदम् । राधः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (सुन्वन्तम्) तत्त्व निचोड़ते हुये को, (यः) जो (पचन्तम्) पक्के करते हुये को, (यः) जो (शसन्तम्) गुण बखानते हुये को, (यः) जो (शशमानम्) उद्योग करते हुये को (ऊती) अपनी रक्षा से (अवति) पालता है । (यस्य) जिसका (ब्रह्म) वेद, (यस्य) जिसका (सोमः) मोक्ष और (यस्य) जिसका (इदम्) यह (राधः) धन (वर्धनम्) वृद्धिरूप है, (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १५ ॥

---

८ । ३४ (निचितः) चिञ् चयने—क्त । नितरां राशीकृतः । पूरितः (वज्रबाहुः) म० १३ (यः) वज्रहस्तः) वज्रो दृढशस्त्रं हस्तयोर्यस्य स शूर इव । अन्यद् गतम् ॥

१५—(यः) परमेश्वरः (सुन्वन्तम्) तत्त्वं निष्पादयन्तम् (अवति) पालयति (यः) (पचन्तम्) परिपक्वं कुर्वन्तम् (यः) (शंसन्तम्) गुणान् वर्णयन्तम् (यः) (शशमानम्) शश प्लुतगतौ-शानच् । उद्योगं कुर्वन्तम् (ऊती) रक्षया (यस्य) (ब्रह्म) वेदः (वर्धनम्) वृद्धिरूपम् (यस्य) (सोमः) मोक्षः (यस्य) (इदम्) (राधः) धनम् । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—जो परमात्मा वेद द्वारा सब मनुष्यों को तत्त्वदर्शी बनने बनाने का उपदेश करता है, और संसार के सब पदार्थ जिसका ऐश्वर्य प्रकाशित करते हैं, उसका ध्यान करके सब लोग उन्नति करें ॥ १५ ॥

जातो व्य॑ख्यत् पित्रोरुपस्थे॒ भुवो॒ न वे॑द जनि॒तुः पर॑स्य ।
स्तवि॒ष्यमा॑णो नो यो अ॒स्मद् व्र॒ता दे॒वानां॒ स जना॑स इन्द्रः॑ ॥१६॥

[सूचना-पद पाठ के लिये सूचना मन्त्र १२ देखो ।]

जा॒तः । वि । अ॒ख्य॒त् । पि॒त्रोः । उ॒पस्थे॑ । भु॒वः । न । वे॒द॒ । जनि॒तुः । पर॑स्य ॥ स्तवि॒ष्यमा॑णः । नो इति॑ । यः । अ॒स्मत् । व्र॒ता । दे॒वाना॑म् । सः । जना॑सः । इन्द्रः॑ ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (जातः) प्रकट होकर (पित्रोः) [हमारे] माता पिता के (उपस्थे) समीप में (वि अख्यत्) व्याख्यात हुआ है, और (परस्य) [अपने से] दूसरे (जनितुः) जनक और (भुवः) जननी को (न) नहीं (वेद) जानता है, और (देवानाम्) विद्वानों का (स्तविष्यमाणः) स्तुति किया गया [जो] (नो) अभी ही (अस्मत्) हमारे (व्रता) कर्मों को [जानता है], (जनासः) हे मनुष्यो ! (सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो अनादि होने से हमारे पूर्वजों का पूर्वज है, और अजन्मा होने से जिसके माता पिता नहीं हैं, और सर्वज्ञ होने से सब के कर्मों को जानता है, हम उस जगदीश्वर की उपासना करके अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १६ ॥

१६—(जातः) प्रकटः सन् (वि अख्यत्) विख्यातोऽभवत् (पित्रोः) अस्माकं मातापित्रोः (उपस्थे) समीपे (भुवः) भू सत्तायाम्—क्विप् । भवन्ति उत्पद्यन्ते सन्ताना यस्यां सा भूः । द्वितीयार्थे षष्ठी । भुवम् । जननीम् (न) निषेधे (वेद) जानाति (जनितुः) जनितारम् । जनकम् (परस्य) परम् । स्वस्माद् भिन्नम् (स्तविष्यमाणः) लृटः सद् वा । पा० ३।३।१४। ष्टुञ् स्तुतौ—लृटः शानच्, कर्मणि प्रयोगः । स्तूयमानः (नो) न—उ । न इति सम्प्रत्यर्थे—निरु०७।३१ । उ एवार्थे । इदानीमेव (यः) परमेश्वरः (अस्मत्) षष्ठ्यर्थे पञ्चमी । अस्माकम् (व्रता) व्रतानि । कर्माणि—निघ० २।१ (देवानाम्) विदुषां मध्ये । अन्यत् पूर्ववत् ॥

यः सोमकामो हर्यश्वः सूरिर्यस्माद्रेजन्ते भुवनानि विश्वा ।
यो जघान शम्बरं यश्च शुष्णं य एकवीरः स जनास इन्द्रः ॥१७

[सूचना-पद पाठ के लिये सूचना मन्त्र १२ देखो ।]

यः । सोम-कामः । हरि-अश्वः । सूरिः । यस्मात् । रेजन्ते । भुवनानि । विश्वा ॥ यः । जघान । शम्बरम् । यः । च । शुष्णम् । यः । एक-वीरः । सः । जनासः । इन्द्रः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(य,) जो [परमेश्वर] (सोमकामः) ऐश्वर्य चाहने वाला, (हर्यश्वः) मनुष्यों में व्यापक, (सूरिः) प्रेरक, विद्वान् है, (यस्मात्) जिससे (विश्वा) सब (भुवनानि) लोक (रेजन्ते) थरथराते हैं । (यः) जो (शम्बरम्) मेघ में (च) और (यः) जो (शुष्णम्) सूर्य में (जघान) व्यापा है, (यः) जो (एकवीरः) एकवीर [अकेला शूर] है, (जनासः) हे मनुष्यो !(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सर्वव्यापक सर्वज्ञ परमात्मा परम ऐश्वर्यवान् होकर सब को ऐश्वर्यवान् बनाता है और जो एकवीर होकर सब संसार को नियम में रखता है, उस इष्ट देव की महिमा विचार कर हम ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १७ ॥

यः सुन्वते पचते दुध्र आ चिद्वाजं दर्दर्षि स किलासि सत्यः ।
वयं त इन्द्र विश्वह प्रियासः सुवीरासो विदथमा वदेम ॥१८

१७—(यः) परमेश्वरः (सोमकामः) ऐश्वर्यं कामयमानः (हर्यश्वः) हरयो मनुष्याः—निघ० २ । ३ + अशू व्याप्तौ-क्वन् । मनुष्येषु व्यापकः (सूरिः) अ० २ । ११ । ४ । षू प्रेरणे—क्रि-उ० ४ । ६४ । प्रेरको विद्वान् (यस्मात्) परमेश्वरात् (रेजन्ते) रेजत इति भयवेपनयोः—निरु० ३ । २१ । कम्पन्ते (भुवनानि) लोकाः (विश्वा) सर्वाणि (यः) (जघान) हन हिंसागत्योः—लिट् । जगाम । व्याप्तवान् (शम्बरम्) म० १२ । मेघम्—निघ० १ । १० (यः) (च) (शुष्णम्) तृषिशु-षिरसिभ्यः कित् । उ० ३ । १२ । शुष शोषे—नप्रत्ययः कित् । रसशोषकं सूर्यम् (यः) (एकवीरः) अ० १६ । १३ । २ । अद्वितीयशूरः । अन्यद् गतम् ॥

यः । सुन्वते । पचते । दुध्रः । आ । चित् । वाजम् । दर्दर्षि । सः । किल । असि । सत्यः ॥ वयम् । ते । इन्द्र । विश्वह । प्रियासः । सु-वीरासः । विदथम् । आ । वदेम ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यः) जो तू (दुध्रः) पूर्ण होकर (चित्) ही (सुन्वते) तत्त्व निचोडते हुये और (पचते) परिपक्क करते हुये के लिये (वाजम्) अन्न [वा बल] (आ दर्दर्षि) फाड़ कर देता है, (सः) सो तू (किल) निश्चय करके (सत्यः) सच्चा (असि) है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (वयम्) हम (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे हो कर (सुवीरासः) सुन्दर वीरों वाले (विश्वह) सब दिनों (विदथम्) ज्ञान का (आ) सब ओर (वदेम) उपदेश करें ॥ १८ ॥

भावार्थ—परिपूर्ण सत्यस्वरूप परमात्मा तत्त्वदर्शी परिपक्व ज्ञानियों को धनवान् और बलवान् करता है, उसी के गुणों को विचार कर हम उत्तम वीरों वाले होवें ॥ १८ ॥

सूक्तम् ३५ ॥

१—१६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, १६ विराडार्षी त्रिष्टुप्; २, ७, ६ निचृत् त्रिष्टुप्; ३, ५, १५ विराट् पङ्क्तिः; ४, १० पङ्क्तिः; ६, १२ आर्षी पङ्क्तिः; ८, ११ भुरिक् पङ्क्तिः; १३ निचृदार्षी पङ्क्तिः; १४ विराट् त्रिष्टुप् ॥

सभापतिलक्षणोपदेशः—सभापति के लक्षणों का उपदेश ॥

अस्मा इदु प्र तवसे तुराय प्रयो न हर्मि स्तोमं माहिनाय ।

१८—(यः) परमेश्वरः (सुन्वते) तत्त्वं निष्पादयते (पचते) परिपक्वं कुर्वते (दुध्रः) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । दुह प्रपूरणे-रक्, हस्य धः । पूर्णः सन् (आ) समन्तात् (चित्) अपि (वाजम्) अन्नम् । बलम् (दर्दर्षि) दॄ विदारणे—यङ्लुकि लट् । भृशं विदृणासि । अत्यन्तं ददासि (सः) (किल) निश्चयेन (असि) (सत्यः) यथार्थस्वरूपः (वयम्) (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (विश्वह) अकारलोपो विभक्तेर्लुक् च । विश्वेषु अहःसु दिनेषु (प्रियासः) प्रियाः सन्तः (सुवीरासः) शोभनवीरोपेताः (विदथम्) ज्ञानम् (आ) समन्तात् (वदेम) उपदिशेम ॥

ऋचीषमायाध्रिगव ओहमिन्द्राय ब्रह्माणि राततमा ॥ १ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । प्र । तवसे । तुराय । प्रयः । न । हर्मि । स्तोमम् । माहिनाय ॥ ऋचीषमाय । अध्रि-गवे । ओहम् । इन्द्राय । ब्रह्माणि । रात-तमा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (तवसे) बल के निमित्त, (तुराय) फुरतीले, (माहिनाय) पूजनीय, (ऋचीषमाय) स्तुति के समान गुण वाले, (अध्रिगवे) वेरोक गति वाले, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिये (स्तोमम्) स्तुति को, (ओहम्) पूरे विचार को और (राततमा) अत्यन्त देने योग्य (ब्रह्माणि) धनों को (प्रयः न) तृप्ति करने वाले अन्न के समान (प्र हर्मि) मैं आगे लाता हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि पूजनीय, उत्तम गुण वाले, अति बुद्धिमान् राजा आदि प्रधान पुरुषों का धन आदि से सत्कार करें और प्रधान

१—(अस्मै) परिदृश्यमानस्य संसारस्य हिताय (इत्) एव (उ) वितर्के। विचारे (प्र) (तवसे) अ० ४। ३२। ३। बलार्थम् (तुराय) तुर त्वरणे-कप्रत्ययः। वेगवते (प्रयः) सर्वधातुभ्य असुन्। उ० ४। १८६। प्रीञ् तर्पणे—असुन्। प्रीतिकरम् अन्नम्—निघ० २। ७ (न) यथा (हर्मि) शपो लुक्। हरामि। नयामि (स्तोमम्) स्तुतिम् (माहिनाय) महेरिनण् च। उ० २। ५६। मह पूजायाम्—इनण्। पूजनीयाय (ऋचीषमाय) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। ऋच स्तुतौ—इन, कित् ङीप्+षम अवैकल्ये—अच्। ऋचीषम ऋचा समः—निरु० ६। २३। ऋचा स्तुत्या तुल्याय। स्तुतितुल्यगुणवते (अध्रि-गवे) भुजेः किच्च। उ० ४। १४२। नञ्+धृञ् धारणे—इप्रत्ययः कित्। गो स्त्रियोरुपसर्जनस्य। पा० १। २। ४८। इति ह्रस्वः। अध्रिगु', अधृतगमनः, इन्द्रोऽप्यध्रिगुरुच्यते—निरु० ५। ११। अध्रिः अधृतोऽन्येनानिवारितो गौर्ग-मनं यस्य तस्मै। अनिवारितगतये (ओहम्) आ+ऊह वितर्के—घञ्। पूर्ण-विचारम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते सेनापतये (ब्रह्माणि) प्रवृद्धानि धनानि निघ० २। १० (राततमा) रा दाने—क्त, तमप्। अतिशयेन दातव्यानि ॥

लोग भी इसी प्रकार उनका आदर करें॥ १ ॥

यह सूक्त—ऋग्वेद में है—१। ६१ । १—१६ ॥

अस्मा इदु प्रयं इव प्र यंसि भराम्याङ्गूषं बाधे सुवृक्ति। इन्द्राय हृदा मनसा मनीषा प्रत्नाय पत्ये धियो मर्जयन्त ॥२॥

अस्मै। इत्। ऊं इति। प्रयः-इव। प्र। यंसि। भरामि। आङ्गूषम्। बाधे। सु-वृक्ति॥ इन्द्राय। हृदा। मनसा। मनीषा। प्रत्नाय। पत्ये। धियः। मर्जयन्त ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान्!] (अस्मै) इस [संसार के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक, (प्रयः इव) तृप्ति करने वाले अन्न, के समान (आङ्गूषम्) प्राप्ति योग्य स्तुति को (प्र यंसि) तू देता है और (बाधे) बाधा रोकने के लिये (सुवृक्ति) सुन्दर ग्रहण करने योग्य कर्म को (भरामि) मैं पुष्ट करता हूं। (प्रत्नाय) प्राचीन (पत्ये) स्वामी, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिये (हृदा) हृदय से, (मनसा) मनन से और (मनीषा) बुद्धि से (धियः) कर्मों को (मर्जयन्त) मनुष्य शुद्ध करें॥ २॥

भावार्थ—सब मनुष्य मिलकर परस्पर हितके लिये सुपरीक्षित विद्वान् उपकारी पुरुष को सभापति बनाकर उसके लिये प्रिय आचरण करें॥ २॥

अस्मा इदु त्यमुपमं स्वर्षां भराम्याङ्गूषमास्येन।

२—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (प्रयः) म० १। प्रीतिकरमन्नम् (इव) यथा (प्र यंसि) यमु उपरमे-शपो लुक्। प्रयच्छसि। ददासि हे विद्वन् (भरामि) पुष्णामि (आङ्गूषम्) पीयेरूषन्। उ० ४। ७६। आङ्+अङ्ग गतौ-ऊषन्। आङ्गूष स्तोम आघोषः-निरु० ५। ११। प्रापणीय स्तोमम् (बाधे) बाधृ विलोडने-क्विप्। क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः। पा० २। ३। १४। इति तुमुनः कर्मणि चतुर्थी। बाधं बाधां व्यथां निवारयितुम् (सुवृक्ति) सु+वृजी आदाने-क्तिन्। सुष्ठु ग्राह्यं कर्म (इन्द्राय) म० १ (हृदा) हृदयेन (मनसा) मननेन (मनीषा) विभक्तेर्डा। मनीषया बुद्ध्या (प्रत्नाय) प्राचीनाय (पत्ये) स्वामिने (धियः) कर्माणि-निघ० २। १ (मर्जयन्त) मृजू शुद्धौ-लोडर्थे लङ् अडभावश्च। मर्जयन्तु शोधयन्तु॥

मंहिष्ठमच्छोक्तिभिर्मतीनां सुवृक्तिभिः सूरिं वावृधध्यै ॥ ३ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्यम् । उप-मम् । स्वः-साम् । भरामि । आङ्गूषम् । आस्येन ॥ मंहिष्ठम् । अच्छोक्ति-भिः । मतीनाम् । सुवृक्ति-भिः । सूरिम् । ववृधध्यै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (त्यम्) उस (उपमम्) उपमा योग्य, (स्वर्षाम्) सुख देने वाली, (आङ्गूषम्) प्राप्ति योग्य स्तुति को (आस्येन) [अपने] मुख से (मतीनाम्) बुद्धिमानों में (अच्छोक्तिभिः) अच्छे वचनों वाली (सुवृक्तिभिः) सुन्दर ग्रहण योग्य क्रियाओं के साथ (महिष्ठम्) उस अत्यन्त उदार, (सूरिम्) प्रेरक विद्वान् को (ववृधध्यै) बढ़ाने के लिये (भरामि) मैं धारण करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने शुभ लक्षणों से सब में श्रेष्ठ गुणी विद्वान् हो, उस को आदर पूर्वक सभापति बनावें ॥ ३ ॥

अस्मा इदु स्तोमं सं हिनोमि रथं न तष्टेव तत्सिनाय ।
गिरश्च गिर्वाहसे सुवृक्तीन्द्राय विश्वमिन्वं मेधिराय ॥ ४ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । स्तोमम् । सम् । हिनोमि । रथम् । न । तष्टा-इव । तत्-सिनाय ॥ गिरः । च । गिर्वाहसे । सु-वृक्ति । इन्द्राय । विश्वम्-इन्वम् । मेधिराय ॥ ४ ॥

३—(अस्मै) (इत्) (उ) म० १ (त्यम्) तम् (उपमम्) दृष्टान्तयोग्यम् (स्वर्षाम्) अ० ५ । २ । ८ । स्वः + षणु दाने—विट् । सुखस्य दातारम् (भरामि) धरामि (आङ्गूषम्) म ०२ । प्रापणीयं स्तोमम् (मंहिष्ठम्) अ० २० । १५ । १ दातृतमम् (अच्छोक्तिभिः) श्रेष्ठवचनयुक्ताभिः (मतीनाम्) मेधाविनाम—निघ० ३ । १ (सुवृक्तिभिः) म० २ । सुष्ठु ग्राह्याभिः क्रियाभिः (सूरिम्) अ० २ । ११ । ४ । प्रेरकं विद्वांसम् (ववृधध्यै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ६ । वृधु वृद्धौ—कध्यैप्रत्ययः, अन्तर्गतण्यर्थः, कित्वाद् गुणाभावः, द्विर्भावश्छान्दसः । वर्धयितुम् । स्तोतुम् ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (गिर्वाहसे) विद्याओं के पहुंचाने वाले, (मेधिराय) बुद्धिमान् (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के लिये (सुवृक्ति) सुन्दर ग्रहण करने योग्य क्रियाओं के साथ (विश्वमिन्वम्) सब में फैलने वाले (स्तोमम्) स्तुति योग्य व्यवहार (च) और (गिरः) वेदवाणियों को (सम्) यथावत् (हिनोमि) मैं बढ़ाता हूं, (रथम्) रथ को (तष्टा इव) जैसे विश्वकर्मा [बड़ा ज्ञाती बढ़ई] (न) अब (तत्सिनाय) उस [रथ] से अन्न के लिये बढ़ाता है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् शिल्पी कला यन्त्र लगाकर सुन्दर रथ बनाकर उस से अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करता कराता है। वैसे ही मनुष्य बुद्धिमान् पुरुष से आदर के साथ उत्तम गुण ग्रहण करके आनन्द पावे ॥ ४ ॥

अस्मा इदु सप्तिमिव श्रवस्येन्द्रायार्कं जुह्वा३ समञ्जे ।
वीरं दानौकसं वन्दध्यै पुरां गूर्तश्रवसं दर्माणम् ॥ ५ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । सप्तिम्-इव । श्रवस्या । इन्द्राय ।
अर्कम् । जुह्वा । सम् । अञ्जे ॥ वीरम् । दान-ओकसम् ।

४—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (स्तोमम्) स्तुत्यं व्यवहारम् (सम्) सम्यक् (हिनोमि) हि गतिवृद्ध्योः । वर्धयामि । स्तौमि (रथम्) रमणीयं यानम् (न) सम्प्रति (तष्टा) तक्षू तनूकरणे—तृन्, ऋदित्वात्पक्षे इडभावः । तक्षकः । विश्वकर्म्मा । शिल्पी (इव) यथा (तत्सिनाय) इणसिञ्जि० । उ० ३ । २ । षिञ् बन्धने—नक् । सिनमन्नं भवति सिनाति भूतानि—निरु० ५ । ५ । तेन रथेन सिनस्य अन्नस्य प्राप्तये (गिरः) वेदवाणीः (च) (गिर्वाहसे) सर्वधातुभ्य असुन् । उ० ४ । १८६ । गिर्+वह प्रापणे—असुन्, धातोर्दीर्घश्छान्दसः । गिरां विद्यानां प्रापकाय (सुवृक्ति) म० २ । सु+वृक आदाने—क्तिन् । विभक्तेर्लुक् । सुष्ठु ग्राह्याभिः क्रियाभिः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते सभापतये (विश्वमिन्वम्) इवि व्याप्तौ—पचाद्यच्, विभक्त्यलुक् । सर्वव्यापकम् (मेधिराय) मेधारथाभ्यामिरन्निरचौ वक्तव्यौ । वा० पा० ५ । २ । १०६ । मेधा—इरन् । मेधाविने ॥

वन्दध्यै । पुराम् । गूर्त-श्रवसम् । दुर्माणम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (इन्द्राय) ऐश्वर्य के अर्थ (अवस्या) कीर्ति की इच्छा से (जुह्वा) देने लेने वाली क्रिया के साथ (सप्तिम् इव) जैसे फुरतीले घोड़े को [वैसे] (अर्कम्) पूजनीय (वीरम्) वीर, (दानौकसम्) दान के घर [बड़े दानी], (गूर्तश्रवसम्) उद्यम युक्त यश वाले, (पुराम्) शत्रुओं के गढ़ों के (दर्माणम्) ढाने वाले [सभापति] को (वन्दध्यै) सत्कार करने के लिये (सम्) अच्छे प्रकार (अञ्जे) मैं चाहता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे फुरतीले घोड़े को चढने और रथ आदि में चलने के लिये चाहते हैं, वैसे ही मनुष्य शुभ गुण वाले महा कीर्तिमान् पुरुषार्थी जन को संसार के हित के लिये आदर से चाहते हैं ॥ ५ ॥

अस्मा इदु त्वष्टा तक्षद् वज्रं स्वपस्तमं स्वर्यं१ रणाय ।
वृत्रस्य चिद् विदद् येन मर्म तुजन्नीशानस्तुजता कियेधाः ॥६॥

५—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (सप्तिम्) षसेस्ति । उ० ४ । १८० । इति षप समवाये-ति । सप्तिरिति अश्वनाम—निघ० १ । १४ । शीघ्रगामिनम् अश्वम् (इव) यथा (अवस्या) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । अवस्—क्यच् । तस्मात् अप्रत्ययः, टाप् । तृतीयाया आदेशः । कीर्तीच्छया (इन्द्राय) परमैश्वर्यप्राप्तये (अर्कम्) अर्चनीयम् (जुह्वा) अ० १८ । ४ । ५ । हु दानादानादनेषु—क्विप्, तृतीयैकवचनम् । दानादानक्रियया (सम्) सम्यक् (अञ्जे) अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—आत्मनेपदं छान्दसम् । अहं कामये (वीरम्) शूरम् (दानौकसम्) दानस्य गृहम् । महादानिनम् (वन्दध्यै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । वदि अभिवादनस्तुत्योः—कध्यै । वन्दितुम् । सत्कर्तुम् (पुराम्) शत्रूणां पुराणां दुर्गाणाम् (गूर्तश्रवसम्) नसत्तनिषत्ताऽनुत्तप्रतूर्तसूर्तगूर्तानिच्छन्दसि । पा० ८ । २ । ६१ । गूरी उद्यमने—क्त; नत्वाभावः । गूर्णम् उद्योगयुक्तं श्रवो यशो यस्य तम् (दर्माणम्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । दॄ विदारणे—मनिन् । विदारयितारम् ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्वष्टा । तुक्षत् । वज्रम् । स्वपःऽतमम् । स्वर्यम् । रणाय ॥ वृत्रस्य । चित् । विदत् । येन । मर्म । तुजन् । ईशानः । तुजता । कियेधाः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (त्वष्टा) सूक्ष्म करने वाले [सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा सभापति] ने (स्वपस्तमम्) अत्यन्त सुन्दर रीति से काम सिद्ध करने वाला, (स्वर्यम्) सुख देने वाला (वज्रम्) वज्र [बिजुली आदि शस्त्र] (रणाय) रण जीतने को (तक्षत्) तीक्ष्ण किया है । (तुजता येन) जिस काटने वाले [वज्र] से (वृत्रस्य) वैरी के (मर्म) मर्म [जीवन स्थान] को (चित्) ही (तुजन्) छेद कर (ईशानः) ऐश्वर्यवान्, (कियेधाः) कितने [अर्थात् बड़े बल] के धारण करने वाले [उस सभापति] ने (विदत्) पाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—सभापति राजा तीक्ष्ण तीक्ष्ण अस्त्र शस्त्रों से शत्रुओं को दण्ड देकर प्रजा को आनन्द देवे ॥ ६ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अ० २ । ५ । ६ ॥

अस्येदु मातुःसवनेषु सद्यो महःपितुंपपिवां चार्वन्ना । मुषायद् विष्णुः पचतं सहीयान् विध्यद् वराहं तिरो अद्रिमस्ता ॥७॥

६—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (त्वष्टा) अ० २ । ५ । ६ । त्वक्ष तनूकरणे—तृन् । व्यवहाराणां तनूकर्ता सूक्ष्मदर्शी विश्वकर्मा (तक्षत्) तक्ष तनूकरणे—लङ् । अतक्षत् । तीक्ष्णमकरोत् (वज्रम्) विद्युदादिशस्त्रसमूहम् (स्वपस्तमम्) अपः कर्मनाम—निघ० २ । १ । सुष्ठु अपांसि कर्माणि यस्मात् तम् (स्वर्यम्) अ० २ । ५ । ६ । स्वः—यत् । सुखे साधुम् (रणाय) रणं युद्धं जेतुम् (वृत्रस्य) शत्रोः (चित्) एव (विदत्) विद्लृ लाभे—लुङ् । अविदत् । लब्धवान् (येन) वज्रेण (मर्म) अ० ५ । ८ । ६ । सन्धिस्थानं जीवस्थानम् (तुजन्) तुज हिंसायाम्—शतृ, शपि प्राप्ते छान्दसः शः । हिंसन् (ईशानः) ऐश्वर्यवान् (तुजता) छेदकेन (कियेधाः) कियत्+दधातेर्विच्, कियतः किये भावः । कियेधा. कियद्धा इति वा क्रममाणधा इति वा—निरु० ६ । २० । कियतो महतो बलस्य धारकः ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । मातुः । सवनेषु । सद्यः । महः । पितुम् । पपि-वान् । चारु । अन्ना ॥ मुषायत् । विष्णुः । पचतम् । सहीयान् । विध्यत् । वराहम् । तिरः । अद्रिम् । अस्ता ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [जगत्] के (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (महः) बड़े (मातुः) निर्माता [बनाने वाले परमेश्वर] के (सवनेषु) ऐश्वर्यों में (सद्यः) तुरन्त (चारु) सुन्दर (पितुम्)पीने योग्य रस को और (अन्ना) अन्नों को (पपिवान्) खाने पीने वाला, (पचतम्) परिपक्व [बैरी के अन्न वा धन] को (मुषायत्) लूटता हुआ, (विष्णुः) विद्याओं में व्यापक, (सहीयान्) विजयी, (अद्रिम्) वज्र का (अस्ता) चलाने वाला [सेनापति] (वराहम्) वराह [सूअर के समान अच्छे पदार्थ नाश करने वाले शत्रु] को

७—(अस्य) संसारस्य (इत्) एव (उ) वितर्के (मातुः) निर्मातुः । रचकस्य परमेश्वरस्य (सवनेषु) ऐश्वर्येषु (सद्यः) समाने दिने । इदानीम् (महः) मह पूजायाम्- विच् । महतः । पूजनीयस्य (पितुम्) अ० ४ । ६ । ३ पा पाने रक्षणे वा—तुप्रत्ययो धातोः पिभावः । पितुरित्यन्ननाम पातेर्वा पिबतेर्वा प्यायतेर्वा—निरु० ९ । २४ । पानीयं रसम् (पपिवान्) अ० ७ । ९७ । ३ । पिबतेः क्वसु । पीतवान् । खादितवान् (चारु) विभक्तेर्लुक् । सुन्दरम् (अन्ना) अन्नानि (मुषायत्) मुष स्तेये—छन्दसि शायजपि । पा० ३ । १ । ८४ । मुष-श्नाच् । शायच् । ... पा० ७ । ४ । ३५ । ईत्वप्राप्तौ दीर्घस्यापि प्रतिषेधे छान्दसो दीर्घः । अस्मात् क्यजन्तात् शतृ, नुमभावः । आत्मनः स्तेयमिच्छन् अपहरन् (विष्णुः) विद्यासु व्यापनशीलः (पचतम्) भृमृदृशियजिपर्विपच्यमि० । उ० ३ । ११० । पचतेः—अतच् । शत्रूणां परिपक्वमन्नं धनं वा (सहीयान्) सोढृ—ईयसुन् । अतिशयेन अभिभविता, विजेता (विध्यत्) विध्यति । ताडयति (वराहम्) वृञ् वरणे—अप् अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । वर+आङ्+हन् नाशने वा हन हिंसागत्योः—डप्रत्ययः । 'वरस्य उत्कृष्टस्य पदार्थस्य आहर्तारम् आहन्तारं नाशयितारं शूकरमिव शत्रुम् । वराहो मेघो भवति वराहारः,'''अयमपीतरो वराह एतस्मादेव । वृहति मूलानि, वरं वरं मूलं वृहतीति वा,' अङ्गिरसोऽपि वराहा

(तिरः) आर पार (विध्यत्) छेदता है ॥ ७ ॥

भावार्थ--जो परमेश्वर के बनाये ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों का ठीक-ठीक उपयोग कर के जङ्गली सूअर के समान उपद्रवी शत्रुओं का नाश करे, वही पुरुष सभापति सेनापति होवे ॥ ७ ॥

अस्मा इदु ग्नाश्चिद् देवपत्नीरिन्द्रायार्कमहिहत्य ऊवुः ।
परि द्यावापृथिवी जभ्र उर्वी नास्य ते महिमानं परि ष्टः ॥८॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । ग्नाः । चित् । देव-पत्नीः । इन्द्राय । अर्कम् । अहि-हत्ये । ऊवुरित्यूवुः ॥ परि । द्यावापृथिवी इति । जभ्रे । उर्वी इति । न । अस्य । ते इति । महिमानम् । परि । स्तः इति स्तः ॥ ८ ॥

भाषार्थ--(अस्मै) इस [संसार] के हित के लिये (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (देवपत्नीः) विद्वानों से पालने योग्य (ग्नाः) वेदवाणियों ने (चित्) भी (अहिहत्ये) सब ओर से नाश करने वाले [विघ्न] के मिटने पर (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के लिये (अर्कम्) पूजनीय व्यवहार को (ऊवुः) बुना है [फैलाया है] । उस [परमात्मा] ने (उर्वी) चौड़े (द्यावापृथिवी) सूर्य और पृथिवी को (परि) सब ओर से

उच्यन्ते--निरु० ५ । ४ (तिरः) तिरस्कृत्य (अद्रिम्) वज्रम् (अस्ता) असु क्षेपणे-तृन्, इडभावः । नलोकाव्ययनिष्ठा० । पा० २ । ३ । ६९ । षष्ठी-प्रतिषेधः । प्रक्षेप्ता ॥

८--(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (ग्नाः) अ० ७ । ४९ । २ । गमेर्नप्रत्ययः, टाप्, टिलोपः । ग्ना वाङ्नाम--निघ० १ । ११ । वेदवाण्यः (चित्) अपि (देवपत्नीः) विद्वद्भिः पालनीयाः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमात्मने (अर्कम्) अर्चनम् । पूजनम् (अहिहत्ये) अहेराहन्तुः समन्ताद् नाशकस्य विघ्नस्य हत्यायां नाशने (ऊवुः) वेञ् तन्तुसन्ताने--लिट् । विस्तारयामासुः अतःपरं (परि) सर्वतः (द्यावापृथिवी) सूर्यभूलोकौ (जभ्रे)

(उभे) ग्रहण किया है, (ते) वे दोनों (अस्य) इस [परमात्मा] की (महिमानम्) महिमा को (न) नहीं (परि अस्तः) पहुंच सकते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सब से बड़े परमात्मा ने प्रलय के अन्धकार आदि क्लेश मिटाकर सूर्य पृथिवी आदि लोक रच कर वेदद्वारा अपनी महिमा फैलायी है, वैसे ही सभापति आदि पुरुष कठिनाइयों को झेलकर सब को आनन्द देवें ॥ ८ ॥

अस्येदेव प्र रिरिचे महित्वं दिवस्पृथिव्याः पर्यन्तरिक्षात् ।
स्वराळिन्द्रो दम आ विश्वगूर्तः स्वरिरमत्रो ववक्षे रणाय ॥९॥

अस्य । इत् । एव । प्र । रिरिचे । महि-त्वम् । दिवः । पृथिव्याः । परि । अन्तरिक्षात् ॥ स्व-राट् । इन्द्रः । दमे । आ । विश्व-गूर्तः । सु-अरिः । अमत्रः । ववक्षे । रणाय ॥९॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] का (इत्) ही (महित्वम्) महत्त्व (एव) निश्चय करके (दिवः) सूर्य से, (पृथिव्याः) पृथिवी से और (अन्तरिक्षात्) आकाश से (परि) सब प्रकार (प्र रिरिचे) अधिक बढ़ा है । (स्वराट्) स्वयं राजा, (विश्वगूर्तः) सब को उद्यम में लगाने वाला, (स्वरिः)

हृञो लिट् । हृस्य भः । अहे । गृहीतवान् (उर्वी) विस्तृते (न) निषेधे (अस्य) परमेश्वरस्य (ते) उभे (महिमानम्) महत्त्वम् (परि अस्तः) पराभवतः । प्राप्नुतः ॥

९—(अस्य) सर्वज्ञव्यापकस्य परमेश्वरस्य (इत्) एव (एव) निश्चयेन (प्र)-प्रकर्षेण (रिरिचे) रिचिर् विरेचने—लिट् । अधिकं बभूव (महित्वम्) महत्त्वम् (दिवः) सूर्यलोकात् (पृथिव्याः) भूलोकात् (परि) सर्वतः (अन्तरिक्षात्) आकाशात् (स्वराट्) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—क्विप् । स्वयं राजा शासकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (दमे) दमु उपशमे-घञ् । शासने (विश्वगूर्तः) गूरी उद्यमे—क । नसत्तनिषत्ताऽनुत्त प्रतूर्तसूर्तगूर्तानिच्छन्दसि । पा० ८ । २ । ६१ । निष्ठानत्वाभावः । विश्वं सर्वं जगत् गूर्णम् उद्यतम् उद्यमे कृतं येन सः (स्वरिः) अच इः । उ० ४ । १३९ । सु+ऋ गतिप्रापणयोः—

बड़ा प्रेरक, (अमत्रः) ज्ञानवान् (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (दमे) शासन के बीच (रणाय) रण मिटाने के लिये (आ ववक्षे) क्रोधित हुआ है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे परमात्मा सब से बड़ा होकर सूर्य आदि सब बड़ों से बड़ों को शासन में रखता है, वैसे ही सब से अधिक गुणी पुरुष प्रधान हो कर प्रजा का पालन करे ॥ ९ ॥

अस्येदेव शवसा शुषन्तं वि वृश्चद् वज्रेण वृत्रमिन्द्रः ।
गा न व्राणा अवनीरमुञ्चदभि श्रवो दावने सचेताः ॥ १० ॥

अस्य । इत् । एव । शवसा । शुषन्तम् । वि । वृश्चत् । वज्रेण । वृत्रम् । इन्द्रः ॥ गाः । न । व्राणाः । अवनीः । अमुञ्चत् । अभि । श्रवः । दावने । स-चेताः ॥ १० ॥

भावार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] ने (अस्य) इस [परमेश्वर] के (इत् एव) ही (शवसा) बल से(शुषन्तम्) सुखाने वाले (वृत्रम्) वैरी को (वज्रेण) वज्र [बिजुली आदि शस्त्र] द्वारा (वि वृश्चत्) छेद डाला। और (श्रवः अभि) कीर्ति के निमित्त (दावने) सुख दान के लिये (सचेताः)चित्त वाला होकर (व्राणाः) घिरी हुयी (अवनीः) रक्षा योग्य

प्रत्ययः। सुप्रेरकः (अमत्रः) अमिनक्षियजि० । उ० ३ । १०५ । अम गत्यादिषु अत्रन्। ज्ञानवान् (ववक्षे) वक्ष रोषसंघातयोः—लिट्, आत्मनेपदं छान्दसम्। रोषं चकार (रणाय) रण युद्ध नाशयितुम् ॥

१०—(अस्य) परमेश्वरस्य (इत् एव) (शवसा) बलेन (शुषन्तम्) शुष शोषणे—श्यनि प्राप्ते शः। शुष्यन्तम्। शोषकम् (वि) विविधम् (वृश्चत्) अच्छिनत् (वज्रेण) विद्युदादिशस्त्रेण (वृत्रम्) आवरकं शत्रुम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (गाः) धेनूः (न) इव (व्राणाः) वृञ् वरणे—कर्मणि शानच्, यको लुक्, गुणाभावे यणादेशः। आवृताः (अवनीः) अर्तिसृधृधम्यश्यवितृभ्योऽनिः । उ०२ । १०२ । अव रक्षणगतिकान्तिप्रीतितृप्त्यवगमप्रवेशश्रवणस्वाम्यर्थयाचनक्रियेच्छादीप्त्यवाप्त्यालिङ्गन हिंसादानभागवृद्धिषु-

भूमियों को (गाः न) गौओं के समान (अमुञ्चन्) छुडाया ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा परमेश्वर का आश्रय लेकर दुःखदायी शत्रुओं का नाश करके प्रजा को कष्ट से छुडाकर और कीर्ति पाकर सुख का दान करे, जैसे ग्वाला गौओं को बन्धन से खोलकर सुखी करके वन में चराता है ॥ १० ॥

अस्येदु त्वेषसा रन्त सिन्धवः परि यद् वज्रेण सीमयच्छत् ।
ईशानकृद् दाशुषे दशस्यन् तुर्वीतये गाधं तुर्वणिः कः ॥ ११ ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । त्वेषसा । रन्त । सिन्धवः । परि ।
यत् । वज्रेण । सीम् । अयच्छत् ॥ ईशान-कृत् । दाशुषे ।
दशस्यन् । तुर्वीतये । गाधम् । तुर्वणिः । करिति कः ॥११॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सभापति] के (इत्) ही (उ) निश्चय करके (त्वेषसा) तेज [पराक्रम] से (सिन्धवः) नदियां [नाले बरहा आदि] (रन्त) रमे हैं [बहे हैं], (यत्) क्योंकि उस ने (वज्रेण) वज्र [बिजुली फडुआ आदि शस्त्रों] से (सीम्) बन्ध [बांध आदि] को (परि) सब ओर से (अयच्छत्) बांधा है : (दाशुषे) दानी मनुष्य को (ईशानकृत्) ऐश्वर्यवान् करने वाले, (दशस्यन्) कवच [रक्षासाधन] के समान काम करते हुये, (तुर्वणिः) शीघ्रता सेवन करने वाले [समाध्यक्ष] ने (तुर्वीतये) शीघ्रता

—अनिप्रत्ययः । भूमिदेशान् (अमुञ्चन्) अमोचयत् (अभि) अभिलक्ष्य (श्रवः) कीर्तिम् (दावने) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । ददातेर्वनिप्, अल्लोपाभावश्छान्दसः। सुखदानाय(सचेता:)चेतसा ज्ञानेन सह वर्तमानः ॥

११—(अस्य) सभाध्यक्षस्य (इत् उ) अवधारणे (त्वेषसा) तेजसा । पराक्रमेण (रन्त) रमु क्रीडायाम्—लङि शपोलुक् । अरमन्त (सिन्धवः) नद्यः (परि) सर्वतः (यत्) यतः (वज्रेण) विद्युदादिभूखननशस्त्रेण (सीम्) अ० २० । २० । ६ । षिञ् बन्धने—ईप्रत्ययः । बन्धम् (अयच्छत्) यमु उपरमे—लङ् । नियमितवान् । अवरुद्धवान् (ईशानकृत्) ऐश्वर्ययुक्तस्य कर्ता (दाशुषे) दानिने मनुष्याय (दशस्यन्) दंश दंशने—असुन्, स च कित् । उपमानादाचारे । पा० ३ । १ । १० । दशस्—क्यच्, शतृ । दश: कवच इवाचरन् (तुर्वीतये) ञि तुर वेगे—क्विप् + वी गतौ—क्तिन् । तुरां शीघ्रकारिणां गतये गमनाय (गाधम्) गाधृ

करने वालों के चलने के लिये (गाधम्) उथले स्थान [घाटि आदि] को (कः) बनाया है ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रधान राजा, को चाहिये कि पहाड़ों से बड़े बड़े नाले काट॰ कर पृथिवी पर जल लाकर खेती आदि करावे, और यात्रियों के लिये सेतु [पुल] घाट आदि बनावे ॥ ११ ॥

अस्मा इदु प्र भ॑रा तूतु॑जानो वृत्राय वज्र॒मीशा॑नः कियेधाः ।
गोर्न पर्व॒ वि र॑दा तिर॒श्चेष्य॒न्नर्णा॑स्य॒पां च॒रध्यै॑ ॥ १२ ॥

अ॒स्मै । इत् । ऊं॒ इति॑ । प्र । भ॒र॒ । तूतु॑जानः । वृ॒त्राय॑ । वज्र॑म् । ईशा॑नः । कि॒ये॒धाः ॥ गोः । न । पर्व॑ । वि । र॒द॒ । ति॒र॒श्चा । इ॒ष्यन् । अर्णां॑सि । अ॒पाम् । च॒रध्यै॑ ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस [संसार] के निमित्त (इत्) ही (उ) विचार पूर्वक (तूतुजानः) शीघ्रता करता हुआ, (ईशानः) ऐश्वर्यवान्, (कियेधाः) कितने [अर्थात् बड़े बल]का धारण करने वाला तू (वृत्राय) वैरी के लिये (वज्रम्) वज्र [बिजुली आदि शस्त्र] को (प्र) अच्छे प्रकार (भर) धारण कर । और (तिरश्चा) तिरछी चाल के साथ (अर्णांसि) अपनी वालों को (इष्यन्) चलता हुआ तू (अपाम्) प्रजाओं के (चरध्यै) चलने के लिये (पर्व)

प्रतिष्ठायाम—घञ् । नलपर्यंस्थानम् । अवतरणस्थानम् (तुर्वणिः) तुर्+ घन संभक्तौ—इन् । शीघ्रत्वस्य वेगस्य संभक्ता (कः) करोतेर्लुङि छान्दसं रूपम् । अकार्षीत् ॥

१२—(अस्मै) संसारहिताय (इत्) एव (उ) वितर्के (प्र) प्रकर्षेण (भर) धर (तूतुजानः) तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु—कानच् । तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । तूतुजानः क्षिप्रनाम-निघ० २ । १५ । त्वरमाण-(ईशानः) ऐश्वर्यवान् (कियेधाः) म०६ । कियतो महतो बलस्य धारकः (गोः) पृथिव्याः (न) इव (पर्व) पर्वाणि (वि) विविधम् (रद) रद विलेखने । विदारय (तिरश्चा) ऋत्विग्दधृक्० । पा० ३ । २ । ५९ । तिरस् +अञ्चु गतिपूजनयो—क्विन् । तिर्यग्गत्या (इष्यन्) गच्छन् (अर्णांसि) उदके नुट् च । उ० ४ । १९६ । ऋ गतिप्रापणयोः—असुन् नुट् च । गमनानि

[वैरी के] जोड़ों को (वि रद) चीर डाल, (गोः न) जैसे भूमि के [जोड़ों को किसान चीरते हैं] ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे किसान पृथिवी को जोतकर, घास आदि काट कर एकसा करके अन्न उत्पन्न कर सुख देते हैं, वैसे ही सभाध्यक्ष राजा शत्रुओं को छिन्न भिन्न कर के प्रजा को सुखी करे ॥ १२ ॥

अस्येदु प्र ब्रूहि पूर्व्याणि तुरस्य कर्माणि नव्य उक्थैः । युधे यदिष्णान आयुधान्यृघायमाणो निरिणाति शत्रून् ॥ १३ ॥

अस्य । इत् । ऊं इति । प्र । ब्रूहि । पूर्व्याणि । तुरस्य । कर्माणि । नव्यः । उक्थैः ॥ युधे । यत् । इष्णानः । आयुधानि । ऋघायमाणः । निः-रिणाति । शत्रून् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस (इत्) ही (उ) विचारपूर्वक (तुरस्य) शीघ्रता करने वाले [सभापति] के (पूर्व्याणि) पहिले किये हुये (कर्माणि) कामों को (प्र) अच्छे प्रकार (ब्रूहि) तू कह, (उक्थैः) कहने योग्य वचनों से (नव्यः) स्तुति योग्य होकर, (युधे) युद्ध के लिये (आयुधानि) हथियारों को (इष्णानः) बार बार चलाता हुआ और (ऋघायमाणः) बढ़ता हुआ [बेरोक चलता हुआ] (यत्) जो [सभापति]

(अपाम्) आपः, आप्ताः प्रजाः—दयानन्दभाष्ये यजु० ६ । २७ । प्रजानाम् (चरध्यै) तुमर्थे सेसेन से० । पा० ३ । ४ । ९ । चरतेः—अध्यैप्रत्ययः । चरितुम् । गन्तुम् ॥

१३—(अस्य) सभापतेः (इत्) (उ) (प्र) प्रकर्षेण (ब्रूहि) कथय (पूर्व्याणि) पूर्व्यं पुराणनाम—निघ० ३ । २७ । पुराणानि (तुरस्य) तुरमाणस्य (कर्माणि) वीरकर्माणि (नव्यः) अ० २ । ५ । २ । अचो यत् । पा० ३ । १ । ९७ । णु स्तुतौ-यत् । स्तुत्यः (उक्थैः पातृतुदिवचि० । उ० २ । ७ । वच परिभाषणे थक् । वक्तुं योग्यैर्वचनैः (युधे) युद्धाय (यत्) यः सेनापतिः (इष्णानः) इष आभीक्ष्ण्ये—शानच् । वारं वारं प्रेरयन् (आयुधानि) शस्त्राणि (ऋघायमाणः) इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः । पा० ३ । १ । १३५ । ऋधु वृद्धौ-क, धस्य घः । लोहितादिडाज्भ्यः क्यष् । पा० ३ । १ । १३ । ऋघ—भवत्यर्थे—क्यष्, शानच् । ऋघ ऋघो वृद्धो भवतीति । प्रवर्धमानः । अप्रतिहतगतिः (निरिणाति) री गति-

(शत्रून्) वैरियों को (निरिणाति) मारता जाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जो सभाध्यक्ष सेनापति शस्त्र अस्त्र विद्या में चतुर और विजयी शूर होवे, विद्वान् लोग उसके विद्या, विनय, वीरता आदि गुणों की बड़ाई करके उसका मान और उत्साह बढ़ावे ॥ १३ ॥

अस्येदु भिया गिरयश्च दृह्ला द्यावा च भूमा जनुषस्तुजेते ।
उपो वेनस्य जोगुवान ओणिं सद्यो भुवद् वीर्याय नोधाः ॥१४॥

अस्य । इत् । ऊं इति । भिया । गिरयः । च । दृह्लाः । द्यावा । च । भूम । जनुषः । तुजेते इति ॥ उपो इति । वेनस्य । जोगुवानः । ओणिम् । सद्यः । भुवत् । वीर्याय । नोधाः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (जनुषः) उत्पन्न करने वाले [परमेश्वर] के (इत्) ही (उ) निश्चय करके (भिया) भय से (गिरयः) पहाड़ (च) भी (दृह्लाः) दृढ़ हैं, (च) और (द्यावा भूम) सूर्य और भूमि (तुजेते) बलवान् हैं। (वेनस्य) प्यारे [वा बुद्धिमान् परमेश्वर] के (ओणिम्) दुःख मिटाने को

रेषणयोः श्ना। प्वादीनां ह्रस्वः। पा० ७। ३। ८०। इति ह्रस्वः। निरन्तरं हिनस्ति (शत्रून्) वैरिणो दुष्टान् ॥

१४—(अस्य) सर्वत्र वर्तमानस्य (इत्) एव (उ) निश्चयेन (भिया) भयेन (गिरयः) पर्वताः) (च) अपि (दृह्ला.) स्थिराः सन्ति (द्यावा भूम) दिवो द्यावा। पा० ६। ३। २६। दिव्शब्दस्य द्यावा इत्यादेशः। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३६। विभक्तेर्डा आदेशः,देवता द्वन्द्वे च। पा०६। २। १४१। इत्युभयपदप्रकृतिस्वरत्वम्, अत्वम् पदपाठे विचारणीयम्, चकारेण व्यवधानं सांहितिकम्। द्यावाभूमी। सूर्यपृथिव्यौ (च) समुच्चये (जनुषः) जनेरुसि। उ० २। ११५। जन जनने—उसि। जनयितुः परमेश्वरस्य (तुजेते) तुज हिंसाबलादाननिकेतनेषु-लट्, छुरादिस्थाने तुदादित्वम्। तोजयतः। बलवत्यौ भवतः (उपो) समीप एव (वेनस्य) अ० २। १। १। कमनीयस्य। मेधाविनः परमेश्वरस्य (जोगुवानः) गुङ् अव्यक्ते शब्दे यङ्लुकि शानच्। भृशं कथयन्

(ओगुवानः) बार बार कहता हुआ (नोधाः) नेताओं [वस्तुतियों] का धारण करने वाला [सभापति] (सद्यः) तुरन्त (वीर्याय) पराक्रम सिद्ध करने के लिये (उपो) समीप ही (भुवत्) होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से सब लोकों को नियम पूर्वक अपने अपने काम के लिये समर्थ बनाता है, सभाध्यक्ष आदि उस जगदीश्वर का आश्रय लेकर अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ १४ ॥

अस्मा इदु त्यदनु दाय्येषामेको यद् वव्ने भूरेरीशानः ।
प्रैतशं सूर्ये पस्पृधानं सौवश्व्ये सुष्विमावदिन्द्रः ॥ १५ ॥

अस्मै । इत् । ऊं इति । त्यत् । अनु । दायि । एषाम् । एकः । यत् । वव्ने । भूरेः । ईशानः ॥ प्र । एतशम् । सूर्ये । पस्पृधानम् । सौवश्व्ये । सुस्विम् । आवत् । इन्द्रः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अस्मै) उस [मनुष्य] को (इत्) ही (उ) निश्चय कर के (त्यत्) वह [वस्तु] (अनु) निरन्तर (दायि) दी गयी है, (यत्) जो [वस्तु] (एषाम्) इन [मनुष्यों] के बीच (एकः) अकेले (भूरेः) बहुत

(ओणिम्) अ० ७ । १४ । १ । ओणृ अपनयने—इन् । दुःखस्य अपनयन नाशनम् (सद्यः) शीघ्रम् (भुवत्) भवेत् (वीर्याय) पराक्रमसम्पादनाय (नोधाः) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । णीञ् प्रापणे, यद्वा णु स्तुतौ—डोप्रत्ययः । गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्व च । उ०४ । २२७ । नो+डुधाञ् धारणपोषणयोः—असि । नोधा ऋषिर्भवति नवन दधाति—निरु०४ । १६ । नेतॄणां स्तुतीनां वा धारकः ॥

१५—(अस्मै) तस्मै मनुष्याय (इत्) एव (उ) निश्चयेन (त्यत्) तद् वस्तु (अनु) निरन्तरम् (दायि) अदायि । दत्तमस्ति (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (एकः) असहायः । केवलः (यत्) वस्तु (वव्ने) वनु याचने-लिट्, उपधालोपः । ववने । ययाचे (भूरेः) प्रभूतस्य राज्यस्य (ईशानः) अधिपतिः (प्र) प्रकर्षेण (एतशम्) इणस्तशन्तशसुनौ । उ० ३ । १४९ इण् गतौ-तशन् । एतशः, अश्वनाम-निघ० १ । १४ । गमनशीलम् । ब्राह्मणम् । ब्रह्मजिनं एभा-

[राज्य] के (ईशानः) स्वामी ने (वव्ने) मांगी है । (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवाले परमेश्वर] ने (सौवश्व्ये) फुरतीले घोड़ों वाले संग्राम के बीच (सूर्ये) सूर्य के प्रकाश में [जैसे स्पष्ट रीति से] (पस्पृधानम्) झगड़ते हुये (सुष्विम्) ऐश्वर्यवान् (एतशम्) ब्राह्मण [ब्रह्मज्ञानी सभापति] को (प्र) अच्छे प्रकार (आवत्) बचाया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो आत्मविश्वासी मनुष्य शुद्ध अन्तःकरण से दुष्टों को जीतने में प्रयत्न करता है, परमात्मा अवश्य उसकी रक्षा करता है ॥ १५ ॥

एवा ते हारियोजना सुवृक्तीन्द्र ब्रह्माणि गोतमासो अक्रन् ।
ऐषु विश्वपेशसं धियं धाः प्रातर्मक्षू धियावसुर्जगम्यात् ॥१६॥

एव । ते । हारि-योजन । सु-वृक्ति । इन्द्र । ब्रह्माणि । गोतमासः । अक्रन् ॥ आ । एषु । विश्व-पेशसम् । धियम् । धाः । प्रातः । मक्षु । धिया-वसुः । जगम्यात् ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(हारियोजन) हे घोड़ों के जोतने वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवाले पुरुष] (ते) तेरे लिये (एव) ही (गोतमासः) अत्यन्त ज्ञानी

पतिम् (सूर्ये) सूर्यप्रकाशे यथा । अतिस्पष्टरीत्या (पस्पृधानम्) स्पर्ध संघर्षे-कानच् । शर्पूर्वाः खयः । पा० ७ । ४ । ६१ इत्यभ्यासस्य पकारः शिष्यते, धातु-ककारस्य लोपः रेफस्य सम्प्रसारणं च पृषोदरादित्वात् । स्पर्धमानम् । मत्सरं कुर्वन्तम् (सौवश्व्ये) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । स्वश्व-ष्यञ् । नय्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच् । पा० ७ । ३ । ३ । वकारात् पूर्वम् औकारागमः । शोभना वेगवन्तोऽश्वास्तुरङ्गाः स्वश्वाः, तेषां कर्मणि । वेगवदश्वयुक्ते सङ्ग्रामे (सुष्विम्) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादि-भ्यो दर्शनात् । वा० । पा० ३ । २ । १७१ । षु प्रसवैश्वर्ययोः-किन्, यणादेशः उव-ङादेशाभाव श्छान्दसः । ऐश्वर्यवन्तम् (आवत) अरक्षत् (इन्द्र) परमैश्वर्यवान् परमात्मा ॥

१६—(एव) निश्चयेन (ते) तुभ्यम् (हारियोजन) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । हृञ् प्रापणे-इञ् + युजिर् योग-ल्युः । हे हारीणां हरीणाम् अश्वानां योजक (सुवृक्ति) म० २ । विभक्तेर्लुक् । सुवृक्तीनि । सुग्राह्याणि (इन्द्र) हे

[ऋषियों] ने (सुवृक्ति) अच्छे प्रकार ग्रहण करने योग्य (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (अक्रन्) किया है [बताया है]। (धियावसुः) बुद्धि और कर्म के साथ रहने वाला तू (एषु) इन [ज्ञानों] में (विश्वपेशसम्) सब रूपों वाली (धियम्) निश्चल बुद्धि को (आ) सब ओर से (धाः) धारण कर और (प्रातः) प्रातःकाल (मक्षु) शीघ्र (जगम्यात्) [उस बुद्धि को] प्राप्त हो ॥१६॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सभापति आदि को सदा वेदशास्त्रों का उपदेश करें और प्रधान आदि जन अन्तःकरण से ग्रहण कर के परोपकार करते रहें ॥ १६ ॥

सूक्तम् ३६ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ७ भूरिक् पङ्क्तिः ; २, ४, ५ त्रिष्टुप्, ३ स्वराडार्षी पङ्क्तिः ; ६, विराट् त्रिष्टुप् ; ८, ११ निचृत् त्रिष्टुप्, १० आर्षी पङ्क्तिः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

य एक॒ इद्धव्य॑श्चर्षणी॒नामिन्द्रं॒ तं गी॒र्भिर॒भ्य॑र्च आ॒भिः । यः पत्य॑ते वृष॒भो वृष्ण्या॑वान्त्स॒त्यः सत्वा॑ पुरुमा॒यः सह॑स्वान् ॥१॥

यः । एकः॑ । इत् । हव्यः॑ । च॒र्ष॒णी॒नाम् । इन्द्र॑म् । तम् । गीः॒ऽभिः । अ॒भि । अ॒र्चे॒ । आ॒भिः ॥ यः । पत्य॑ते । वृ॒ष॒भः । वृष्ण्य॑ऽवान् । स॒त्यः । सत्वा॑ । पु॒रु॒ऽमा॒यः । सह॑स्वान् ॥ १ ॥

परमैश्वर्यवन् पुरुष (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (गोनमाम) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । गम्लृ गतौ यद्वा गै गाने—डो प्रत्ययः, तमप्, अलुक् च । गौरिति स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । अतिशयेन ज्ञानिनः । महर्षयः (अक्रन्) अ० । २६ । ७ । करोतेर्लुङ् छान्दसं रूपम् । अकार्षुः (आ) समन्तात् (एषु) ब्रह्मसु । वेदज्ञानेषु (विश्वपेशसम्) सर्वरूपोपेताम् (धियम्) धारणावतीं प्रज्ञाम् (धाः) दधातेः लुङ् लोडर्थे । धेहि । धर (प्रातः) प्रातःकाले (मक्षु) शीघ्रम् (धियावसुः) प्रज्ञाकर्मभ्यां सह निवासी (जगम्यात्) अ० ७ । ७६ । २ । गमेः शपः श्लुः, लिङि [illegible] प्रथमः । भव्यः । प्राप्यः ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (आभिः) इन (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (अर्चे) मैं पूजता हूं । (यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के बीच (हव्यः) ग्रहण करने योग्य है और (यः) जो (वृषभः) श्रेष्ठ, (वृष्ण्यावान्) पराक्रम वाला, (सत्यः) सच्चा, (सत्वा) वीर, (पुरुमायः) बहुत बुद्धि वाला और (सहस्वान्) महाबलवान् (पत्यते) स्वामी है ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्यों को सर्वशक्तिमान्, महापराक्रमी जगदीश्वर की उपासना करके श्रेष्ठ गुणी होना चाहिये ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—६ । २२ । १—११ ॥

तमु॑ नः॒ पूर्वे॑ पि॒तरो॒ नव॑ग्वाः स॒प्त विप्रा॑सो अ॒भि वा॒जय॑न्तः ।
न॒क्ष॒द्दा॒भं ततु॑रिं पर्वते॒ष्ठामद्रो॑घवाचं म॒तिभिः॒ शवि॑ष्ठम् ॥ २ ॥

तम् । ऊं॒ इति॑ । नः॒ । पूर्वे॑ । पि॒तरः॑ । नव॑ऽग्वाः । स॒प्त । विप्रा॑सः । अ॒भि । वा॒जय॑न्तः ॥ न॒क्ष॒त्ऽदा॒भम् । ततु॑रिम् । प॒र्व॒ते॒ऽस्थाम् । अद्रो॑घऽवाचम् । म॒तिऽभिः॑ । शवि॑ष्ठम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नवग्वाः) स्तुति योग्य चरित्र वाले, (सप्त) सात (विप्रासः) [त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन, और बुद्धि] व्यापन शील

१—(यः) परमेश्वरः (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (हव्यः) हु आदाने—यत् । ग्राह्यः (चर्षणीनाम्) मनुष्याणां मध्ये (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (तम्) (गीर्भिः) वाग्भिः । स्तुतिभिः (अभि) सर्वतः (अर्चे) पूजयामि (आभिः) (यः) (पत्यते) यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६ । इति निघातप्रतिषेधः । ईष्टे । स्वामी भवति (वृषभः) श्रेष्ठः (वृष्ण्यवान्) अ० ४ । ४ । ४ । वृषन्—यत्, मतुप् । पराक्रमयुक्तः (सत्यः) यथार्थस्वभावः (सत्वा) अ० ५ । २० । ८ षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—कनिप् दस्य तः । वीरः (पुरुमायः) माया प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ९ । बहुप्रज्ञः (सहस्वान्) महाबलवान् ॥

२—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (पूर्वे) प्राचीनाः (पितरः) पालकतमाः विद्वांसः (नवग्वाः) अ० १४ । १ । ५६ । णु स्तुतौ—अप् + गम्लृ गतौ-

इन्द्रियों के समान (नः) हमारे (पूर्वे) पहिले (पितरः) पितृजन (तम्) उस (उ) ही (नक्षद्दाभम्) व्याप्त दोषों के नाश करने वाले, (ततुरिम्) दुःखों से तारने वाले, (पर्वतेष्ठाम्) मेघ में वर्तमान [बिजुली के समान शुद्ध स्वरूप], (अद्रोघवाचम्) द्रोह रहित वाणी वाले, (मतिभिः) बुद्धियों के साथ (शविष्ठम्) अत्यन्त बली [परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (वाजयन्तः) जताते हुये हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस अनादि अनन्त परमात्मा की उपासना योगी जन सदा करते हैं, उसका ध्यान करके सब मनुष्य आनन्द पावें ॥ २ ॥

तमीमह इन्द्रमस्य रायः पुरुवीरस्य नृवतः पुरुक्षोः । यो अस्कृधोयुरजरः स्वर्वान् तमा भर हरिवो मादयध्यै ॥ ३ ॥

तम् । ईमहे । इन्द्रम् । अस्य । रायः । पुरु-वीरस्य । नृवतः । पुरु-क्षोः ॥ यः । अस्कृधोयुः । अजरः । स्वः-वान् । तम् । आ । भर । हरि-वः । मादयध्यै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा]

इवप्रत्ययः । स्तोतव्यचरित्राः (सप्त) सप्तसंख्याकाः (विप्रासः) विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणाम्—निरु० १४ । १२ । व्यापनकर्माणीन्द्रियाणि यथा । त्वक्चक्षुःश्रवणरसनाघ्राणमनोबुद्धयः । सप्त ऋषयः—अ० ४ । ११ । ६ (अभि) सर्वतः (वाजयन्तः) ज्ञापयन्तः सन्ति (नक्षद्दाभम्) नक्षतिर्व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८—शतृ, दभ्नोतीति वधकर्मा—निघ० २ । १९ । नक्षत् + दम्भु दम्भे हनने—अण्, नलोपश्छान्दसः । व्याप्नुवतां दोषाणां नाशकम् (ततुरिम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । तॄ प्लवनतरणयोः, अन्तर्गतण्यर्थः—किन् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १०३ । इत्युत्वम् । दुःखेभ्यस्तारयितारम् (पर्वतेष्ठाम्) पर्वते मेघे स्थितां विद्युतमिव शुद्धस्वरूपम्—इति दयानन्दभाष्ये (अद्रोघवाचम्) अ० ६ । १ । २ । द्रोहरहितवाग्युक्तम् । कल्याणवाणीम् (मतिभिः) बुद्धिभिः (शविष्ठम्) अतिशयेन बलवन्तम् ॥

३—(तम्) (ईमहे) याचनां कुर्मः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (अस्य) (रायः) धनस्य (पुरुवीरस्य) बहुवीरप्रापकस्य (नृवतः)

से (अस्य) इस (पुरुवीरस्य) बहुत वीरों के प्राप्त कराने वाले, (नृवतः) श्रेष्ठ मनुष्यों वाले, (पुरुक्षोः) बहुत ऐश्वर्य वा अन्न वाले (रायः) धन की (ईमहे) हम मांग करते हैं। और (यः) जो [परमात्मा] (अस्कृधोयुः) अपनी छोटाई न चाहने वाला, (अजरः) निर्बल न होने वाला, (स्वर्वान्) बहुत सुख वाला है, (हरिवः) हे उत्तम मनुष्यों वाले ! [विद्वान् पुरुष] तू (मादयध्यै) आनन्दित करने के लिये (तम्) उस [परमात्मा] को (आ) सब प्रकार (भर) धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विज्ञान और ऐश्वर्य आदि बढ़ाने के लिये परमात्मा से प्रार्थना करके सदा प्रयत्न करें ॥ ३ ॥

तन्नो वि वोचो यदि ते पुरा चिज्जरितार आनशुः सुम्नमिन्द्र।
कस्ते भागः किं वयो दुध्र खिद्वः पुरुहूत पुरूवसोऽसुरघ्नः ॥४॥

तत् । नः । वि । वोचः । यदि । ते । पुरा । चित् । जरितारः। आनशुः । सुम्नम् । इन्द्र ॥ कः । ते । भागः । किम् । वयः ।

श्रेष्ठनृभिर्युक्तस्य (पुरुक्षोः) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । टु क्षु शब्दे, क्षि निवासगत्योः, ऐश्वर्ये च—कु प्रत्ययः, सच डित् । क्षु अन्ननाम—निघ० २ । ७ । बह्वैश्वर्ययुक्तस्य । बह्वन्नोपेतस्य (यः) परमात्मा (अस्कृधोयुः) पृभिदिव्यधिगृधिधृषिहृषिभ्यः । उ० १ । २३ । कृती छेदने—कु, तकारस्य धः । कृधु ह्रस्वनाम—निघ० ३ । २ । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । अकृधु-क्यच् । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः, यद्वा, मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अकृधु+या प्रापणे—कु । सकार उपजनः, धुशब्दस्य धोभावः । अस्कृधोयुरकृध्वायुः कृध्विति ह्रस्वनाम निकृत्तं भवति—निरु० ३ । २ । य आत्मनः कृधु ह्रस्वत्वं नेच्छतीति–दयानन्दभाष्ये—ऋक्० ६ । ६७ । ११ (अजरः) जरारहितः । अनिर्बलः । दृढः (स्वर्वान्) सुखवान् (तम्) परमात्मानम् (आ) समन्तात् (भर) धर (हरिवः) हरयो मनुष्याः—निघ० २ । ३ । हे प्रशस्त—मनुष्ययुक्त (मादयध्यै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३ । ४ । ९ । मादयतेः—अध्यै प्रत्ययः । मादयितुमानन्दयितुम् ॥

दुध्र । खिद्वः । पुरु-हूत । पुरुवसो इति पुरु-वसो । असुर-घ्नः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तत्) यह बात (नः) हम को (वि) विशेष करके (वोचः) तू बता—(यदि) यदि (ते) तेरे (जरितारः) गुण बखानने वालों ने (पुरा चित्) पहिले भी (सुम्नम्) सुख को (आनशुः) पाया है । (दुध्र) हे पूर्ण ! (खिद्वः) हे शत्रुओं के खेद देने वाले ! (पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये ! (पुरुवसो) हे बहुत धन वाले (ते) तेरा (कः) कौन सा (असुरघ्नः) असुरों [दुष्टों का] नाश करने वाला (भागः) भाग है और (किम्) कौन (वयः) जीवन है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि विद्वानों के उपदेशों को ग्रहण करके सदा सुख प्राप्त करें ॥ ४ ॥

तं पृच्छन्ती वज्रहस्तं रथेष्ठामिन्द्रं वेपी वक्वरी यस्य नू गीः ।
तुविग्राभं तुविकूर्मिं रभोदां गातुमिषे नक्षते तुम्रमच्छ ॥ ५ ॥

तम् । पृच्छन्ती । वज्र-हस्तम् । रथे-स्थाम् । इन्द्रम् । वेपी । वक्वरी । यस्य । नु । गीः ॥ तुवि-ग्राभम् । तुवि-कूर्मिम् । रभः-दाम् । गातुम् । इषे । नक्षते । तुम्रम् । अच्छ ॥ ५ ॥

४—(तत्) वक्ष्यमाणम् (नः) अस्मान् (वि) विशेषेण (वोचः) लोडर्थे लुङ् । ब्रूहि (यदि) (ते) तव (पुरा) पूर्वम (चित्) अपि (जरितारः) गुणस्तोतारः (आनशुः) अशू व्याप्तौ—लिट् । प्रापुः (सुम्नम्) सुखम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (कः) (ते) तव (भागः) अंशः (किम्) (वयः) जीवनम् (दुध्र) अ० २० । ३४ । १८ । हे पूर्ण (खिद्वः) खिद दैन्ये, अन्तर्गतण्यर्थः—क्वसु । वस्वेकाजाद्घसाम् । पा० ७ । २ । ६७ । इडभावः । द्विर्वचनप्रकरणे छन्दसि वेति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ८ । इत्यनभ्यासः । मतुवसो रु सम्बुद्धौ छन्दसि । पा० ८ । ३ । १ । इति रुत्वम् । आमन्त्रितनिघातः । हे शत्रूणां खेदयितः (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (पुरुवसो) हे बहुधन (असुरघ्नः) कप्रकरणे मूलविभुजादिभ्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । २ । ५ । असुर+हन हिंसागत्योः— कप्रत्ययः । दुष्टानां हन्ता नाशकः ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [पुरुष] की (गीः) वाणी (तु) निश्चय करके (वेपी) हिलने वाली [वे रोक चलने वाली] और (वक्करी) बोलने की शक्ति वाली है, (तम्) उस (वज्रहस्तम्) वज्र [हथियार] हाथ में रखने वाले (रथेष्ठाम्) रथ में बैठे हुये, (तुविग्राभम्) बहुतों को सहारा देने वाले, (तुविकूर्मिम्) बहुत से काम करने वाले, (रभोदाम्) वेगयुक्त बल देने वाले, (गातुम्) वेदों के गाने वाले, (तुम्रम्) विघ्नों के मिटाने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (इषे) अन्न आदि के लिये (पृच्छन्ती) पूंछती हुयी [स्त्री] (अच्छ) अच्छे प्रकार (नक्षते) प्राप्त होती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—ब्रह्मचारिणी कन्या भली भांति निश्चय करके शुभ गुण वाले ऐश्वर्यवान् पुरुष को विवाह के लिये स्वीकार करे ॥ ५ ॥

अया ह त्यं मायया वावृधानं मनोजुवा स्वतवः पर्वतेन । अच्युता चिद् वीलिता स्वोजो रुजो वि दृह्ला धृषता विरप्शिन् ॥ ६ ॥

५—(तम्) पुरुषम् (पृच्छन्ती) जिज्ञासमाना (वज्रहस्तम्) आयुधपाणिम् (रथेष्ठाम्) रथारूढम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (वेपी) वेपृ कम्पने पचाद्यच् । गौरादित्वाद् ङीष् । कम्पनशीला । चेष्टायमाना (वक्करी) वचेर्वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीव्रेफौ । यद्वा, कृगॄशॄदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । वचेर्वप्रत्ययः, रो मत्वर्थे, ङीप् । न्यङ्क्वादीनां च । पा ७ । ३ । ५३ । इति बाहुलकात् कुत्वम् । वचनशक्तिमती (यस्य) पुरुषस्य (तु) निश्चयेन (गीः) वाक् (तुविग्राभम्) ग्रह उपादाने-अण् हस्य भः । बहूनां ग्रहीतारं सहायकम् (तुविकूर्मिम्) अर्त्तेरूच्च । उ० ४ । ४४ । डु कृञ् करणे-मिप्रत्ययः ऊच्च । बहुकर्माणम् (रभोदाम्) रभसो वेगयुक्तबलस्य दातारम् (गातुम्) कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च । उ० १ । ७३ । वेदानां गायनं गायकम् (इषे) अन्नाय-दयानन्दभाष्ये—ऋक्० ६ । २२ । ५ (नक्षते) प्राप्नोति । नक्षतिर्गतिकर्मा-निघ० २ । १४ (तुम्रम्) तुमिराहननार्थः—सायणभाष्ये—ऋक्० ३ । ५० । १ । सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । इति क्रन् प्रत्ययः । विघ्नानां नाशकम् (अच्छ) सुष्ठु ॥

अया । ह । त्यम् । मायया । वृधानम् । मनः-जुवा । स्व-तवः । पर्वतेन ॥ अच्युता । चित् । वीलिता । सु-ओजः । रुजः । वि । दृह्ला । धृषता । विरप्शिन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(स्वतवः) हे अपने बल वाले ! (स्वोजः) हे बड़े पराक्रम वाले ! (विरप्शिन्) हे महागुणी पुरुष ! (अया) इस (ह) ही (मायया) [अपनी] बुद्धि और (मनोजुवा) मन के समान वेग के साथ (पर्वतेन) पहाड़ [के तुल्य दृढ़ हथियार] से और (धृषता) ढीठपन से (त्यम्) उस (वावृधानम्) बढ़ते हुये [वैरी] को और (अच्युता) न हिलने वाले, और (वीलिता) ठहराऊ और (दृह्ला) दृढ़ [पदार्थों] को (चित्) भी (वि रुजः) तू ने चूर चूर कर दिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष बड़े बड़े विघ्नों और कष्टों को सह सकें, वे ही गृहस्थाश्रम आदि बड़े बड़े काम चला सकते हैं ॥ ६ ॥

तं वो धिया नव्यस्या शविष्ठं प्रत्नं प्रत्नवत् परितंसयध्यै । स नो वक्षदनिमानः सुवह्मेन्द्रो विश्वान्यति दुर्गहाणि ॥ ७ ॥

तम् । वः । धिया । नव्यस्या । शविष्ठम् । प्रत्नम् । प्रत्न-वत् । परि-तंसयध्यै ॥ सः । नः । वक्षत् । अनि-मानः । सु-वह्मा । इन्द्रः । विश्वानि । अति । दुः-गहानि ॥ ७ ॥

६—(अया) अनया (ह) एव (त्यम्) तम् (मायया) प्रज्ञया (वावृधानम्) वर्धमानम् (मनोजुवा) जु गतौ—क्विप् । मनोवद् वेगेन (स्वतवः) तवो बलम्—निघ० २ । ६ । हे स्वकीयबलयुक्त (पर्वतेन) शैलतुल्यदृढशस्त्रेण (अच्युता) च्युङ् गतौ—क्त । अचेष्टायमानानि (चित्) अपि (वीलिता) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५ । १६ । संस्तम्भितानि । स्थिराणि (स्वोजः) हे महापराक्रमिन् (रुजः) अरुजः । भग्नवानसि (वि) विशेषेण (दृह्ला) दृढानि वस्तूनि (धृषता) संश्चत्तृपद्वेहत् । उ० २ । ८५ । ञि धृषा प्रागल्भ्ये-अति प्रत्ययः । प्रागल्भ्येन (विरप्शिन्) अ० ५ । २६ । १२ । हे महागुणिन् ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (शविष्ठम्) अत्यन्त बली और (प्रत्नम्) पुराने [अनुभवी पुरुष] को (नव्यस्या) अधिक नवीन (धिया) बुद्धि वा कर्म से (प्रत्नवत्) पुराने लोगों के समान (परितंसयध्यै) हम शोभायमान करें । (सः) वह (अनिमानः) विना परिमाण वाला, (सुवह्ना) बड़ा नायक (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (विश्वानि) सब (दुर्गहानि) अत्यन्त कठिन स्थानों को (अति) पार करके (नः) हम को (वक्षत्) चलावे ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो पुरुष सब मनुष्यों के बीच अनुपम, बलवान्, बुद्धिमान्, परोपकारी होवे, उसी को विद्वान् लोग अपना प्रधान बनावें ॥ ७ ॥

आ जनाय द्रुह्वणे पार्थिवानि दिव्यानि दीपयोऽन्तरिक्षा । तपा वृषन् विश्वतः शोचिषा तान् ब्रह्मद्विषे शोचय क्षामपश्च ॥८

आ । जनाय । द्रुह्वणे । पार्थिवानि । दिव्यानि । दीपयः । अन्तरिक्षा ॥ तप । वृषन् । विश्वतः । शोचिषा । तान् । ब्रह्म-द्विषे । शोचय । क्षाम् । अपः । च ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलिष्ठ ! [पुरुष] (दिव्यानि) श्रेष्ठ गुण वाले (पार्थिवानि) पृथिवी पर उत्पन्न हुये और (अन्तरिक्षा) आकाश वाले पदार्थों

७—(तम्) (वः) युष्मभ्यम् (धिया) प्रज्ञया कर्मणा वा (नव्यस्या) नव-ईयसुन्, ईकारलोपः. ङीप् नवीयस्या । नवतरया (शविष्ठम्) अतिशयेन बलवन्तम् (प्रत्नम्) प्राचीनम् । अनुभविनं पुरुषम् (प्रत्नवत्) पुराणाः पुरुषो यथा (परितंसयध्यै) तिङां तिङो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३६ । तसि अलङ्करणे-तुमर्थे अध्यैप्रत्ययो लिङर्थे । अलंकुर्याम (सः) (नः) अस्मान् (वक्षत्) वहतेर्लेट् । वहेत् । नयेत् (अनिमानः) अपरिमाणः (सुवह्ना) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । वह प्रापणे—मनिन् । सुष्ठु वोढा । महानायकः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (विश्वानि) सर्वाणि (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (दुर्गहानि) गह गहने दुर्गमने-अच् । दुर्गमानि । अतिकठिनानि वस्तूनि ॥

८—(आ) समन्तात् (जनाय) पुरुषाय (द्रुह्वणे) अ० ४ । २६ । १ । द्रुह जिघांसायाम्-क्वनिप् द्रोग्धे (पार्थिवानि) पृथिव्यां भवानि (दिव्यानि)

को (आ) सब ओर से (दीपयः) प्रकाशित कर, और (तान्) हिंसक चोरों को (शोचिषा) तेज से (विश्वतः) सब प्रकार (तप) तपादे, और (ब्रह्मद्विषे) ईश्वर और वेद के द्वेषी, (दुहणे) अनिष्ट चाहने वाले (जनाय) जनके लिये (क्षाम्) पृथिवी (च) और (अपः) जलों को (शोचय) शोकयुक्त कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पृथिवी आदि पदार्थों के तत्त्वज्ञान को फैलाकर दुष्टों को सन्ताप और सत्पुरुषों को आनन्द देवें ॥ ८ ॥

भुवो जनस्य दिव्यस्य राजा पार्थिवस्य जगतस्त्वेषसंदृक् ।
धिष्व वज्रं दक्षिण इन्द्र हस्ते विश्वा अजुर्य दयसे वि मायाः ॥ ९ ॥

भुवः । जनस्य । दिव्यस्य । राजा । पार्थिवस्य । जगतः । त्वेष-संदृक् ॥ धिष्व । वज्रम् । दक्षिणे । इन्द्र । हस्ते । विश्वाः । अजुर्य । दयसे । वि । मायाः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(त्वेषसंदृक्) हे प्रकाश के दिखाने वाले ! तू (दिव्यस्य) कामना योग्य (जनस्य) मनुष्य का और (पार्थिवस्य) पृथिवी पर हुये (जगतः) संसार का (राजा) राजा (भुवः) है । (अजुर्य) हे जरा रहित [प्रबल] (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (दक्षिणे) दाहिने (हस्ते) हाथमें (वज्रम्) वज्र [हथियार] (धिष्व) धारण कर । और

दिव्यगुणयुक्तानि (दीपयः) अदीपयः—लोडर्थे लङ् । प्रकाशय (अन्तरिक्षा) अर्शआद्यच् । अन्तरिक्षसम्बन्धीनि वस्तूनि (तप) दह (वृषन्) हे बलिष्ठ (विश्वतः) सर्वतः (शोचिषा) तेजसा (तान्) तर्द हिंसायाम्—डप्रत्ययः । चोरान् (ब्रह्मद्विषे) ईश्वरवेदयोर्द्वेष्ट्रे (शोचय) शोकं प्रापय (क्षाम्) पृथिवीम् (अपः) जलानि (च) ॥

९—(भुवः) छान्दसं रूपम् । भवसि (जनस्य) पुरुषस्य (दिव्यस्य) कमनीयस्य (राजा) (पार्थिवस्य) पृथिव्यां भवस्य (जगतः) संसारस्य (त्वेषसंदृक्) हे प्रकाशस्य सम्यग् दर्शयितः (धिष्व) सुधितवसुधित नेम धित धिष्वधिषीय च । पा० ७ । ४ । ४५ । दधातेः इत्वम् । धत्स्व । धर (वज्रम्) शस्त्रम् (दक्षिणे) (इन्द्र) (हस्ते) (विश्वाः) सर्वाः (अजुर्य) अ० ५ । १ । ४ । जूरी हिंसावयोहान्योः—यक् । हे जरारहित प्रबल (दयसे) दय दानादिषु ।

(विश्वाः) समस्त (मायाः) बुद्धियों को (वि) विशेष करके (दयस्व) दे ॥९॥

भावार्थ— वही मनुष्य राजा होना चाहिये जो शरीर और आत्मा से प्रबल होकर संसार की रक्षा और विद्याओं का प्रचार करे ॥ ९ ॥

आ सं॑यतमिन्द्र णः स्व॒स्तिं श॑त्रु॒तूर्या॑य बृह॒तीमसृ॑ध्राम् ।
यया॒ दासा॒न्यार्या॑णि वृ॒त्रा करो॑ वज्रिन्त्सु॒तुका॒ नाहु॑षाणि ॥१०॥

आ । सम्ऽयतम् । इन्द्र । नः । स्व॒स्तिम् । श॒त्रु॒ऽतूर्या॑य । बृह॒तीम् । असृ॑ध्राम् ॥ यया॑ । दासा॑नि । आर्या॑णि । वृ॒त्रा । करः॑ । व॒ज्रि॒न् । सु॒ऽतुका॑ । नाहु॑षाणि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारे लिये (शत्रुतूर्याय) शत्रुओं के मारने को (संयतम्) बहुत दृढ़, (बृहतीम्) बढ़ती हुयी, (असृध्राम्) अक्षय (स्वस्तिम्) सुख सामग्री (आ) सब ओर से (करः) तू कर । (यया) जिस [सुख सामग्री] से (वज्रिन्) हे वज्रधारी ! (दासानि) शूद्रों के कुल (आर्याणि) द्विजकुल [होवें] और (नाहुषाणि) मनुष्यों के (वृत्राणि) धन (सुतुका) बहुत बढ़ने वाले [होवें] ॥१०॥

भावार्थ—राजा विद्यादान और सत्य उपदेश से शूद्रों को भी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य बनाकर शत्रुओं के नाश के लिये मनुष्यों में धन और सुख की वृद्धि करे ॥ १० ॥

लोडर्थे लट् । देहि (वि) विशेषेण (मायाः) प्रज्ञाः ॥

१०—(आ) समन्तात् (संयतम्) यम नियमने—क्विप् तुक् च । सम्यग् नियमिताम् । सुदृढाम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (नः) अस्मभ्यम् (स्वस्तिम्) सुखत्वाम् । सुखसामग्रीम् (शत्रुतूर्याय) तूरी गतित्वरणहिंसनयोः—क्यप् । शत्रूणां हिंसनाय (बृहतीम्) महतीम् (असृध्राम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । सृधु आर्द्रीभावे हिंसायां च—रक्, टाप् । अहिंसिताम् । अक्षीणाम् । (यया) स्वस्त्या (दासानि) शूद्रकुलानि (आर्याणि) द्विजकुलानि (वृत्राणि) धनानि (करः) कुरु (वज्रिन्) शस्त्रधारिन् (सुतुका) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । तु गतिवृद्धिहिंसासु—कक । सुवर्धमानानि (नाहुषाणि) मनुष्यसम्बन्धीनि ॥

स नो॑ नि॒युद्भि॑: पुरुहूत वेधो वि॒श्ववा॑राभि॒रा ग॑हि प्रयज्यो।
न या अदे॑वो॒ वर॑ते॒ न दे॒व आभि॑र्याहि॒ तूय॒मा म॑द्र्य॒द्रिक् ॥११

सः। नः। नि॒युत्ऽभि॑: । पु॒रु॒ऽहू॒त॒ । वे॒धः॒ । वि॒श्वऽवा॑राभिः ।
आ। ग॒हि॒ । प्र॒य॒ज्यो॒ इति॑ प्रऽयज्यो ॥ न । याः । अदे॑वः ।
वर॑ते । न । दे॒वः । आ । आ॒भि॒ः । या॒हि॒ । तूय॑म् । आ ।
म॒द्र्य॒द्रिक् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से पुकारे गये ! (वेधः) हे बुद्धिमान्! (प्रयज्यो) हे अच्छे प्रकार यज्ञ करने वाले ! (सः) वह तू (नः) हम को (विश्ववाराभिः) सब से स्वीकार करने योग्य (नियुद्भिः) निश्चित मिलने और विछुड़ने की रीतों से (आ गहि) प्राप्त हो। (याः) जिन [मिलने विछुड़ने की रीतों] को (अदेवः) अविद्वान् जन (देवः न) विद्वान् के समान (न) नहीं (आ) अच्छे प्रकार (वरते) मानता है, (आभिः) उन [रीतों] के साथ (मद्र्यद्रिक्) मेरी ओर दृष्टि करता हुआ तू (तूयम्) शीघ्र (आ याहि) आ ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम रीतों को स्वीकार कर के विद्वानों से स्वीकार करावे, क्योंकि मूर्ख जन उत्तम बातों को तुरन्त ठीक नहीं समझते ॥११॥

११—(सः) स त्वम् (नः) अस्मान् (नियुद्भिः) यु मिश्रणामिश्रणयोः—क्विप् । निश्चितसंयोगवियोगरीतिभिः (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (वेधः) मेधाविन् !(विश्ववाराभिः) सर्वैः स्वीकरणीयाभिः (आगहि) प्राप्नुहि (प्रयज्यो) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—युच् । हे प्रकर्षेण यज्ञकर्तः (न) निषेधे (याः) नियुतः (अदेवः) अविद्वान् (वरते) वृञ् वरणे, भ्वादिः । स्वीकरोति (न) यथा (देवः) विद्वान् (आ समन्तात् (आभिः) नियुद्भिः (याहि) गच्छ (तूयम्) अघ्न्यादयश्च । उ० ४ । ११२ । तवतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० ६ । २५—यक्, छान्दसो दीर्घः । शीघ्रम्—निघ०२ । १५ (मद्र्यद्रिक्) मद्र्यञ्च्—अथर्व० २० । २३ । १+ दृशिर् प्रेक्षणे —क्विप , पृषोदरादिरूपम् । मदभिमुखदृष्टिः सन् ॥

सूक्तम् ३७ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ५ त्रिष्टुप् ; २ आर्षी पङ्क्तिः; ३, ६ निचृत् त्रिष्टुप्; ४ पङ्क्तिः; ७, ९, १० विराडार्षी त्रिष्टुप्; ८ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; ११ भुरिक् पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

यस्तिग्मशृङ्गो वृषभो न भीम एकः कृष्टीश्च्यावयति प्र विश्वाः।
यः शश्वतो अदाशुषो गयस्य प्रयन्तासि सुष्वितराय वेदः ॥१॥
यः । तिग्म-शृङ्गः । वृषभः । न । भीमः । एकः । कृष्टीः । च्यवयति । प्र । विश्वाः ॥ यः । शश्वतः । अदाशुषः । गयस्य । प्र-यन्ता । असि । सुस्वि-तराय । वेदः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(एकः) अकेला [वही] (विश्वाः) सब (कृष्टीः) मनुष्य प्रजाओं को (प्र) अच्छे प्रकार (च्यावयति) चलाता है, (यः) जो (तिग्मशृङ्गः न) तीखी किरणों वाले सूर्य के समान (भीमः] भयङ्कर और (वृषभः) बरसा करने वाला है। और (यः) जो (शश्वतः) निरन्तर (अदाशुषः) न देने वाले के (गयस्य) घर का (वेदः) धन (सुष्वितराय) अधिक ऐश्वर्य वाले व्यवहार के लिये (प्रयन्ता) देने वाला (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने ताप से जल खींच बरसा करके उपकार करता है, वैसे ही राजा कुदानी वा कंजूसों से धन लेकर विद्या आदि शुभ कर्मों में लगावे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । १९ । १—११ ॥

१—(यः) पुरुषः (तिग्मशृङ्गः) तिग्मानि तेजस्वीनि शृङ्गानि किरणा यस्य स सूर्यः (वृषभः) वृष्टकरः (न) इव (भीमः) भयङ्करः (एकः) अद्वितीयः (कृष्टीः) मनुष्यप्रजाः (च्यावयति) चालयति (प्र) प्रकर्षेण (विश्वाः) सर्वाः (यः) (शश्वतः) निरन्तरस्य । सदा वर्तमानस्य (अदाशुषः) अदातुः पुरुषस्य (गयस्य) गृहस्य (प्रयन्ता) नियमयिता । प्रदाता (असि) अस्ति (सुष्वितराय) अ० २० । ३५ । १५ । अधिकैश्वर्यवते व्यवहाराय (वेदः) धनम्—निघ० २ । १० ॥

त्वं ह त्यदिन्द्र कुत्समावः शुश्रूषमाणस्तन्वा समर्ये। दासं यच्छुष्णं कुयवं न्यस्मा अरन्धय आर्जुनेयाय शिक्षन् ॥ २ ॥

त्वम् । ह । त्यत् । इन्द्र । कुत्सम् । आवः । शुश्रूषमाणः । तन्वा । सु-मर्ये ॥ दासम् । यत् । शुष्णम् । कुयवम् । नि । अस्मै । अरन्धयः । आर्जुनेयाय । शिक्षन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (शुश्रूषमाणः) सुनने की इच्छा करते हुये [वा सेवा करते हुये] (त्वम्) तू ने (ह) ही (त्यत्) तब (कुत्सम्) मिलनसार ऋषि [वा वज्रधारी शूर] को (तन्वा) शरीर से (समर्ये) सङ्ग्राम में (आवः) बचाया है। (यत्) जब कि (दासम्) नाश करने वाले, (शुष्णम्) सुखाने वाले, (कुयवम्) अन्नों के बिगाड़ देने वाले [वैरी] को (अस्मै) उस (आर्जुनेयाय) विद्या प्राप्ति कराने वाली [विदुषी-स्त्री] के पुत्र के लिये (शिक्षन्) शिक्षा देते हुये तू ने (नि अरन्धयः) वश में कर लिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा प्रजा की पुकार सुनता और विद्वानों का सत्कार करता है और शत्रुओं का नाश करके विद्या फैलाता है, वह स्थिर ऐश्वर्य को प्राप्त होता है ॥ २ ॥

२—(त्वम्) (ह) निश्चयेन (त्यत्) तदा (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (कुत्सम्) अ० २० । २१ । १० । संगतिशीलम् । ऋषिम् । कुत्सो वज्रनाम—निघ० २ । २० । अर्शआद्यच् । वज्रधारिणम् (आवः) अरक्षः (शुश्रूषमाणः) श्रोतुमिच्छन् । सेवां कुर्वाणः (तन्वा) शरीरेण (समर्ये) मर्या मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्यैर्युक्ते सङ्ग्रामे (दासम्) दसु उपक्षये—घञ् । नाशयितारम् (यत्) यदा (शुष्णम्) शोषकम् (कुयवम्) कु कुत्सिता नाशिता यवा अन्नानि येन तं शत्रुम् (नि) निरन्तरम् (अस्मै) (अरन्धयः) अ० १० । ४ । १० । वशीकृतवानसि (आर्जुनेयाय) अर्जेर्णिलुक् च। उ० ३ । ५८ । अर्ज संचये-णिच्-उनन् णेश्च लुक्, गौरादित्वाद् ङीप् । स्त्रीभ्यो ढक् । पा०४ । १ । १२० । अर्जुनी-ढक् । अर्जयति विद्याः सा अर्जुनी । अर्जुन्या विदुष्याः पुत्राय (शिक्षन्) शिक्षां कुर्वन् ॥

त्वं धृ॑ष्णो धृष॒ता वी॒तह॑व्यं॒ प्रावो॒ विश्वा॑भिरू॒तिभिः॑ सु॒दास॑म्।
प्र पौरु॑कुत्सिं॑ त्र॒सद॑स्युमावः॒ क्षेत्र॑साता वृत्र॒हत्ये॑षु पू॒रुम्॥ ३॥

त्वम्। धृ॒ष्णो॒ इति॑। धृ॒ष॒ता। वी॒त-ह॑व्यम्। प्र। आ॒वः॒।
विश्वा॑भिः। ऊ॒ति-भिः॑। सु॒-दास॑म्॥ प्र। पौरु॑-कुत्सिम्।
त्र॒सद॑स्युम्। आ॒वः॒। क्षेत्र॑-साता। वृ॒त्र-हत्ये॑षु। पू॒रुम्॥ ३॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निडर पुरुष ! (त्वम्) तू ने (धृषता) निडरपन से (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (वीतहव्यम्) पाने योग्य पदार्थ के पाने वाले, (सुदासम्) बड़े दाता को (प्र) अच्छे प्रकार (आवः) बचाया है। और (पौरुकुत्सिम्) बहुत वज्र आदि हथियारों के जानने वाले के सन्तान, (त्रसदस्युम्) डाकुओं के डराने वाले (पूरुम्) मनुष्य को (क्षेत्रसाता) रणक्षेत्र के विभाग में (वृत्रहत्येषु) शत्रुओं के मारने वाले सङ्ग्रामों के बीच (प्र) अच्छे प्रकार (आवः) तृप्त किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा लोग सङ्ग्राम में शत्रुओं को जीतने वाले, शस्त्र विद्या में चतुर वीरों का सत्कार करके सुखी होवें ॥ ३ ॥

त्वं नृभि॑र्नृमणो दे॒ववी॑तौ॒ भूरी॑णि वृ॒त्रा ह॑र्यश्व हंसि।
त्वं नि दस्यं॒ चुमु॑रिं॒ धुनिं॒ चास्वा॑पयो द॒भीत॑ये सु॒हन्तु॑ ॥४॥

३—(त्वम्) (धृष्णो) अ० १। १३। ४। ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्नु। हे निर्भय (धृषता) अ० २०। ३६। ६। प्रागल्भ्येन (वीतहव्यम्) अ० ६। १३७। १। प्राप्तप्राप्तव्यपदार्थम् (प्र) प्रकर्षेण (आवः) रक्षितवानसि (विश्वाभिः) सर्वाभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः (सुदासम्) बहुदातारम् (प्र) (पौरुकुत्सिम्) अत इञ्। पा० ४। १। ६५। पुरुकुत्स-इञ्। पुरुकुत्सस्य बहुवज्रादिशस्त्रविदः पुरुषस्य सन्तानम् (त्रसदस्युम्) त्रसी उद्वेगे—अच्। त्रसा उद्विग्ना भयभीता दस्यवः साहसिका यस्मात् तम् (आवः) अव तृप्तौ। तर्पितवानसि (क्षेत्रसाता) क्षेत्रसातौ। रणक्षेत्रविभागे (वृत्रहत्येषु) अ० २०। २१। ६। शत्रुहननेषु सङ्ग्रामेषु (पूरुम्) पॄभिदिव्यधि०। उ० १। २३। पूरी आप्यायने-कु। मनुष्यम्-निघ० २। ३॥

त्वम् । नृ-भिः । नृ-मनः । देव-वीतौ । भूरीणि । वृत्रा । हरि-अश्व । हंसि ॥ त्वम् । नि । दस्युम् । चुमुरिम् । धुनिम् । च । अस्वापयः । दभीतये । सु-हन्तु ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नृमणः) हे नरों के समान मन वाले ! (हर्यश्व) हे वायु समान फुरतीले घोड़ों वाले ! (त्वम्) तू (नृभिः) नरों के साथ (देववीतौ) दिव्यगुणों की प्राप्ति में (भूरीणि) बहुत (वृत्राणि) धनों को (हंसि) पाता है । (च) और (त्वम्) तू ने (चुमुरिम्) हिंसाकारी, (धुनिम्) कंपाने वाले (दस्युम्) डाकू को (दभीतये) शासन के लिये (सुहन्तु) अच्छे प्रकार मारने वाले हथियार से (नि) नीचे (अस्वापयः) सुलाया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा धन आदि पदार्थ प्राप्त कर के वीर सेनाध्यक्षों के साथ शत्रुओं का नाश करके प्रजा पालन करे ॥ ४ ॥

तव च्यौत्नानि वज्रहस्त तानि नव यत् पुरो नवतिं च सद्यः । निवेशने शततमाविवेषीरहं च वृत्रं नमुचिमुताहन् ॥ ५ ॥

तव । च्यौत्नानि । वज्र-हस्त । तानि । नव । यत् । पुरः । नवतिम् । च । सद्यः ॥ नि-वेशने । शत-तमा । अविवेषीः । अहन् । च । वृत्रम् । नमुचिम् । उत । अहन् ॥ ५ ॥

४—(त्वम्) (नृभिः) नेतृभिः (नृमणः) अ० १६ । ३ । ५ । नेतृतुल्यमनस्क (देववीतौ) दिव्यगुणानां प्राप्तौ (भूरीणि) बहूनि (वृत्राणि) धनानि—निघ० २ । १० (हर्यश्व) अ० २० । २५ । ७ । हे हरिभिर्वायुतुल्यैः शीघ्रगामिभिस्तुरङ्गैर्युक्त (हंसि) गच्छसि । प्राप्नोषि (त्वम्) (नि) नीचैः (दस्युम्) साहसिकम् (चुमुरिम्) चुवि वक्त्रसंयोगे हिंसायां च—उरिन्, वलोपः । हिंसकम् (धुनिम्) खवृपिभ्यां कित् । उ० ४ । ४६ । धुञ् कम्पने—निप्रत्ययः कित् । कम्पयितारम् (च) (अस्वापयः) स्वापितवानसि । नाशितवानसि (दभीतये) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । दभ प्रेरणे—तिप्रत्ययः, ईकार उपजनः । प्रेरणाय । शासनाय (सुहन्तु) विभक्तेर्लुक् । सुहन्तुना । सुहननसाधनेन शस्त्रेण ॥

भाषार्थ—(वज्रहस्त) हे हाथों में वज्र रखने वाले ! (ते) तेरे (तानि) वे (च्यौत्नानि) बल हैं,(यत्) कि (सद्यः) तुरन्त (नव) नवें (च) और (नवतिम्) नब्बे [निवासे] (पुरः) नगरों में और (निवेशने) छावनी के बीच (शततमा) सौवें [नगर] में (अविवेषीः) तू व्याप गया है, (च) और (वृत्रम्) रोकने वाले शत्रु को (अहन्) तू ने मारा है (उत) और (नमुचिम्) न छोड़ने योग्य डाकू को (अहन्) मारा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपनी उत्तम सेना के द्वारा वैरी के सब नगरों और राजधानी को अधीन कर के शत्रुओं को मारे ॥ ५ ॥

सना ता त इन्द्र भोजनानि रातहव्याय दाशुषे सुदासे । वृष्णे ते हरी वृषणा युनज्मि व्यन्तु ब्रह्माणि पुरुशाक वाजम् ॥ ६ ॥

सना । ता । ते । इन्द्र । भोजनानि । रात-हव्याय । दाशुषे । सु-दासे ॥ वृष्णे । ते । हरी इति । वृषणा । युनज्मि । व्यन्तु । ब्रह्माणि । पुरु-शाक । वाजम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ता) वे (ते) तेरे (भोजनानि) पालन साधन (रातहव्याय) पाने योग्य पदार्थ के

५—(नव) (च्यौत्नानि) अनिदाच्युसुवृ० । उ० ४ । १०४ । च्युङ् गतौ—त्नण्प्रत्ययः । बलानि—निघ० २ । ९ (वज्रहस्त) हे शस्त्रपाणे (तानि) प्रसिद्धानि (नवनवतिम्) एकोनशतसंख्याकाः (पुरः) नगर्यः (च) (सद्यः) शीघ्रम् (निवेशने) निवेशे । सेनास्थितिस्थाने (शततमा) नित्यं शतादिमासार्ध० पा० ५ । २ । ५७ । डटस्तमडागमः । शततमीम् । शतसंख्यापूरिकां पुरीम् (अविवेषीः) विप्लृ व्याप्तौ—यङ्लुगन्ताल् लुङि । व्याप्तवानसि (अहन्) मध्यमपुरुषस्य प्रथमपुरुष. । अहः । हतवानसि (च) (वृत्रम्) आवरकं शत्रुम् (नमुचिम्) अ० २० । २१ । ७ । अमोचनीयम् । दण्डनीयम् (उत) अपि च (अहन्) हतवानसि ॥

६—(सना) षण संभक्तौ—अप् । सनानि सनातनानि । विभजनीयानि (ता) प्रसिद्धानि (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (भोजनानि)

पाने वाले, (सुदासे) बड़े उदार (दाशुषे) दाता के लिये (सना) सेवनीय हैं। (पुरुशाक) हे महाबली ! (वृष्णे ते) तुझ बलवान् के लिये (वृषणा) दो बलवान् (हरी) घोड़ों [के समान बल और पराक्रम] को (युनज्मि) मैं जोड़ता हूं, वे [प्रजा जन] (ब्रह्माणि) अनेक धनों को और (वाजम्) बल को (व्यन्तु) प्राप्त होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा लोग कर देने वाले राज भक्तों का पालन करके बल और पराक्रम के साथ प्रजाजनों की सब प्रकार उन्नति करें ॥ ६ ॥

मा ते॑ अ॒स्यां स॑हसाव॒न् परि॑ष्टाव॒घाय॑ भूम हरिवः परा॒दै ।
त्राय॑स्व नोऽवृ॒केभि॒र्वरू॑थै॒स्तव॑ प्रि॒यासः॑ सू॒रिषु॑ स्याम ॥ ७ ॥

मा । ते॒ । अ॒स्याम् । स॒ह॒सा॒-व॒न् । परि॑ष्टौ । अ॒घाय॑ । भू॒म॒ । ह॒रि॒-वः॒ । प॒रा॒-दै ॥ त्राय॑स्व । नः॒ । अ॒वृ॒केभिः॑ । वरू॑थैः । तव॑ । प्रि॒यासः॑ । सू॒रिषु॑ । स्या॒म॒ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सहसावन्) हे बहुत बल वाले ! (हरिवः) हे प्रशंसनीय मनुष्यों वाले ! [राजन्] (ते) तेरी (अस्याम्) इस (परिष्टौ) सब ओर से इष्ट सिद्धि में (परादै) छोड़ने योग्य (अघाय) पाप करने के लिये (मा भूम) हम न होवें । (नः) हम को (अवृकेभिः) चोर न होने वाले (वरूथैः)

पालनसाधनानि (रातहव्य) रा दानादानयोः—क्त । प्राप्तप्राप्तव्यपदार्थाय (दाशुषे) दात्रे (सुदासे) दासृ दाने—विट् । महादानिने । उदाराय (वृष्णे) बलवते (हरी) अश्वसमानौ बलपराक्रमौ (वृषणा) बलवन्तौ (युनज्मि) योजयामि (व्यन्तु) अ० ७ । ४६ । २ । वी गत्यादिषु । प्राप्नुवन्तु (ब्रह्माणि) धनानि (पुरुशाक) शक्लृ शक्तौ—घञ् । हे बहुशक्तिमन् (वाजम) बलम् ॥

७—(मा) निषेधे (ते) तव (अस्याम्) उपस्थितायाम् (सहसावन्) मध्ये तृतीयाविभक्तिश्छान्दसी । हे सहस्वन् । बहुबलयुक्त (परिष्टौ) शकन्ध्वादित्वात् पररूपम् । परित इष्टसिद्धौ (अघाय) पापकरणाय (भूम) भवेम (हरिवः) अ० २० । ३१ । ५ । प्रशस्तमनुष्ययुक्त (परादै) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै । पा० ३ । ४ । १० । परा+ददातेः—कै प्रत्ययस्तुमर्थे । परादानाय

श्रेष्ठों के द्वारा (त्रायस्व) बचा, (सूरिषु) प्रेरक नेताओं के बीच हम लोग (ते) तेरे (प्रियासः) प्यारे [प्रसन्न करने वाले] (स्याम) होवें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण धर्मात्मा राजा की उन्नति के लिये प्रयत्न करें, वैसे ही वह भी उत्तम उत्तम विद्याओं और बड़े बड़े अधिकारों के देने से प्रजा को प्रसन्न करे ॥ ७ ॥

प्रियास इत् ते मघवन्नभिष्टौ नरो मदेम शरणे सखायः ।
नि तुर्वशं नि याद्वं शिशीह्यतिथिग्वाय शंस्यं करिष्यन् ॥८॥

प्रियासः । इत् । ते । मघ-वन् । अभिष्टौ । नरः । मदेम । शरणे । सखायः ॥ नि । तुर्वशम् । नि । याद्वम् । शिशीहि । अतिथि-ग्वाय । शंस्यम् । करिष्यन् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (अभिष्टौ) सब प्रकार इष्ट-सिद्धि में (नरः) हम नेता लोग (ते इत्) तेरे ही (प्रियासः) प्यारे (सखायः) मित्र होकर (शरणे) शरण में [रह कर] (मदेम) प्रसन्न होवें । (शंस्यम्) बड़ाई योग्य कर्म (करिष्यन्) करता हुआ तू (तुर्वशम्) हिंसकों को वश में करने वाले (याद्वम्) प्रयत्न शील मनुष्य को (अतिथिग्वाय) अतिथियों

त्यागाय । त्यक्तव्याय—इति दयानन्दभाष्ये (त्रायस्व) पाहि (नः) अस्मान् (अवृकेभिः) अचोरैः (वरूथैः) वरैः । श्रेष्ठैः (तव) (प्रियासः) प्रीताः (सूरिषु) प्रेरकेषु नेतृषु (स्याम) भवेम ॥

८—(प्रियासः) प्रीताः (इत्) एव (ते) तव (मघवन्) महाधनिन् (अभिष्टौ) पररूपम् । अभित इष्टसिद्धौ (नरः) नेतारः (मदेम) आनन्देम (शरणे) शरणागतपालने कर्मणि (सखायः) सुहृदः सन्तः (नि) निश्चयेन (तुर्वशम्) तुर तूर त्वरणहिंसनयोः—क्विप्+वशिरण्योरुपसंख्यानम् । वा० पा० ३ । ३ । ५८ । वश कान्तौ—अप् । तुरां हिंसकानां वशयितारम् (नि) नित्यम् (याद्वम्) इण्शिभ्यां वन् । उ० १ । १५२ । यती प्रयत्ने वा यत ताडने-वन्, णित्, तस्य दः । यद्वो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । प्रयत्नवन्तं मनुष्यम् (शिशीहि) अ० ५ । ४ २ । ७ । शो तनूकरणे—श्यनः श्लुः, लोट् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । ४ । ७८ । अभ्यासस्य इत्वम् । ई हल्यघोः । पा० ६ ।

१५५१५

[विद्वानों] को प्राप्ति के लिये (नि) निश्चय करके (नि) नित्य (शिशीहि) तीक्ष्ण कर ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा अपनी और प्रजा की बढ़ती के लिये शान्ति स्थापित कर के सब को प्रसन्न रक्खे, जिससे विद्वान् लोग बे रोक आ जाकर उन्नति का उपदेश करते रहें ॥ ८ ॥

सुद्यश्चिन्नु ते॑ मघवन्नुभिष्टौ॒ नरः॑ शंसन्त्युक्थुशास॑ उक्था।
ये ते॒ हवे॑भिर्वि पुणीँरदा॑शन्नुस्मान् वृ॑णीष्व॒ युज्या॑य॒ तस्मै॑ ॥९॥

सुद्यः। चित्। नु। ते॒। मुघ-वन्। अुभिष्टौ॑। नरः॑। शंसन्ति। उक्थ-शसः॑। उक्था॥ ये। ते॒। हवे॑भिः। वि। पुणीन्। अदा॑शन्। अुस्मान्। वृ॒णीष्व॒। युज्या॑य। तस्मै॑ ॥९॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे बड़े पूजनीय! (ये) जो (उक्थशासः) प्रशंसनीय अर्थों का उपदेश करने वाले (नरः) नर [नेता लोग] (ते) तेरी (अभिष्टौ) सब प्रकार इष्ट सिद्धि में (सद्यः) शीघ्र (चित्) ही (नु) निश्चय कर के (उक्था) कहने योग्य वचनों को (शंसन्ति) कहते हैं। और (ते) तेरे (हवेभिः) बुलावों से (पणीन्) व्यवहारों का (वि) विविध प्रकार (अदाशन्) दान करते हैं, [उन] (अस्मान्) हम को (तस्मै) उस (युज्याय) योग्य व्यवहार के लिये (वृणीष्व) तू स्वीकार कर ॥ ९ ॥

४। ११३। आत इत्वम्। तीक्ष्णीकुरु (अतिथिग्वाय) अ० २०। २१। ८। अतिथीनां विदुषां गमनाय (शंस्यम्) प्रशंसनीयं कर्म (करिष्यन्) कुर्वन् ॥

९—(सद्यः) शीघ्रम् (चित्) अपि (नु) निश्चयेन (ते) तव (मघवन्) हे महापूज्य (अभिष्टौ) अभीष्टसिद्धौ (नरः) नेतारः (शंसन्ति) कथयन्ति (उक्थशासः) उक्थानां प्रशसनीयार्थानां वक्तारः (उक्था) कथनीयानि वचनानि (ये) (ते) तव (हवेभिः) आह्वानैः (वि) विविधम् (पणीन्) व्यवहारान् (अदाशन्) लडर्थे लङ्। ददति (अस्मान्) (तान्) तथाविधान् (वृणीष्व) स्वीकुरु (युज्याय) युजिर् योगे—क्यप्। योग्यव्यवहाराय (तस्मै) ॥

भावार्थ—जो मनुष्य राज्य की भलाई का उपदेश करें और अवसर होने पर उत्तम उपाय करें, राजा उनका सदा सन्मान करे ॥ ६ ॥

एते स्तोमा नरां नृतम तुभ्यमस्मद्र्यञ्चो ददतो मघानि ।
तेषामिन्द्र वृत्रहत्ये शिवो भूः सखा च शूरोऽविता च नृणाम् ॥१०॥

एते । स्तोमाः । नराम् । नृ-तम । तुभ्यम् । अस्मद्र्यञ्चः । ददतः । मघानि ॥ तेषाम् । इन्द्र । वृत्र-हत्ये । शिवः । भूः । सखा । च । शूरः । अविता । च । नृणाम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(नराम्) नरों के बीच (नृतम) हे बड़े नर! [नेता] (एते) यह (अस्मद्र्यञ्चः) हमको मिलने वाले (स्तोमाः) प्रशंसनीय विद्वान् लोग (तुभ्यम्) तेरे लिये (मघानि) धनों को (ददतः) देते हुये हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्!] (वृत्रहत्ये) शत्रुओं के मारने वाले संग्राम में (तेषाम्) उन (नृणाम्) नरों का (शिवः) मङ्गलकारी (सखा) मित्र (च च) और (शूरः) शूर (अविता) रक्षक (भूः) तू हो ॥१०॥

भावार्थ—राजा विद्वानों द्वारा धन आदि बढ़ाकर शत्रुओं का नाश कर के प्रजा की रक्षा करे ॥ १० ॥

नू इन्द्र शूर स्तवमान ऊती ब्रह्मजूतस्तन्वा वावृधस्व । उप नो वाजान् मिमीह्युप स्तीन् यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥११

१०—(एते) (स्तोमाः) प्रशंसनीयाः पुरुषाः (नराम्) नॄ नये—विट्। नेतॄणां मध्ये (नृतम) नयतेर्डिच्च। उ० २। १००। णीञ् प्रापणे—ऋप्रत्ययो डित्, तमप्। हे अतिशयेन नायक (तुभ्यम्) (अस्मद्र्यञ्चः) अस्मद्+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। विष्वग्देवयोश्च टेरद्र्यञ्चतावप्रत्यये। पा० ६।३। ९२। अस्मद् शब्दस्य टेरद्रि। अस्मान् अञ्चन्तः प्राप्नुवन्तः (ददतः) प्रयच्छन्तः सन्ति (मघानि) धनानि (तेषाम्) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (वृत्रहत्ये) वृत्राणां शत्रूणां हन्या हननं यस्मिंस्तस्मिन्, सङ्ग्रामे (शिवः) मङ्गलकारी (भूः) अभूः। भव (सखा) सुहृत् (च) (शूरः) निर्भयः (अविता) रक्षकः (च) (नृणाम्) नेतॄणाम् ॥

नु । इन्द्र । शूर । स्तवमानः । ऊती । ब्रह्म-जूतः । तन्वा । वृवृधस्व ॥ उप । नः । वाजान् । मिमीहि । उप । स्तीन् । यूयम् । पात । स्वस्ति-भिः । सदा । नः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नु) शीघ्र (स्तवमानः) उत्साह देता हुआ और (ब्रह्मजूतः) धन वा अन्न को प्राप्त होता हुआ तू (ऊती) रक्षा के साथ (तन्वा) शरीर से (वावृधस्व) अत्यन्त बढ़ । (नः) हमारे (वाजान्) बलों को और (स्तीन्) घरों को (उप) आदर से (उप मिमीहि) उपमा योग्य [बड़ाई योग्य]. कर । [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥ ११ ॥

भावार्थ—राजा वीर पुरुषों को उत्साह देकर उनकी और अपनी वृद्धि करे और सब लोग उत्तम गुणों से उपमा योग्य प्रशंसनीय होकर परस्पर रक्षा करें ॥ ११ ॥

इस मन्त्र का चौथा पाद आ चुका है—अ० २० । १२ । ६, और १७ । १२, और आगे है—२० । ८७ । ७ ॥

इति चतुर्थोऽनुवाकः ॥

अथ पञ्चमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ३८ ॥

११—(नु) शीघ्रम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (शूर) निर्भय (स्तवमानः) स्तुवन् । उत्साहयन् (ऊती) रक्षया (ब्रह्मजूतः) ब्रह्म धनम् अन्नं वा जूतः प्राप्तः (उप) पूजायाम् (तन्वा) शरीरेण (वावृधस्व) भृशं वर्धस्व (नः) अस्माकम् (वाजान्) पराक्रमान् (उप मिमीहि) माङ् माने शब्दे च । भृञामित् । पा० ७ । ४ । ७६ । अभ्यासस्य इत्वम् । ई हल्यघोः । पा० ६ । ४ । ११३ । इति आत ईत्वम् । मिमिष्व । उपमितान् उपमायोग्यान् स्तुत्यान् कुरु (स्तीन्) अव इः । उ० ४ । १३६ । ष्टै वेष्टने-इप्रत्ययः । गृहान् । अन्यत् पूर्ववत्-अ० २० । १२ । ६ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—४, ६ गायत्री; ५ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् ।
एदं बर्हिः सदो मम ॥ १ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥ आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (आ याहि) तू आ, (हि) क्योंकि (ते) तेरे लिये (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (सुषुम) हम ने सिद्ध किया है, (इमम्) इस [रस] को (पिब) पी, (मम) मेरे (इदम्) इस (वर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदः) बैठ ॥१॥

भावार्थ—लोग विद्वान् सद्वैद्य के सिद्ध किये हुये महौषधियों के रस से राजा को स्वस्थ बलवान् रखकर राजसिंहासन पर सुशोभित करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ आ चुके हैं—अ० २० । ३ । १-३ और आगे हैं—अ० २० । ४७ । ७-६ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना ।
उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ २ ॥

आ । त्वा । ब्रह्म-युजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥ उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ब्रह्मयुजा) धन के लिये जोड़े गये, (केशिना) सुन्दर केशों [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (त्वा) तुझ को (आ) सब ओर (वहताम्) ले चलें । (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेदज्ञानों को (उप) आदर से (शृणु) तू सुन ॥ २ ॥

मन्त्राः १—३ व्याख्याताः—अ० २० । ३ । १—३ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बलवान् घोड़े रथ को ठिकाने पर पहुंचाते हैं, वैसे ही राजा वेदोक्त मार्ग पर चल कर अपने बल और पराक्रम से राज्य भार उठा कर प्रजापालन करे ॥ २ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः ।
सुतावन्तो हवामहे ॥ ३ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोम-पाम् । इन्द्र । सोमिनः ॥
सुत-वन्तः । हवामहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक (त्वा) तुझ को (युजा) मित्रता के साथ (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले, (सोमिनः) ऐश्वर्य वाले, (सुतवन्तः) उत्तम पुत्र आदि सन्तानों वाले (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सुप्रबन्ध से प्रजागण ज्ञानवान् धनवान् और सुशिक्षित सन्तान वाले होवें, उसको मित्र जान कर सदा स्मरण करें ॥ ३ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः ।
इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥
इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गाथिनः) गाने वालों और (अर्किणः) विचार करने वालों ने (अर्केभिः) पूजनीय विचारों से (इन्द्रम्) सूर्य [के समान प्रतापी], (इन्द्रम्) वायु [के समान फुरतीले] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को और (वाणीः) वाणियों [वेदवचनों] को (इत्) निश्चय कर के

४—(इन्द्रम्) सूर्यमिव प्रतापिनम् (इत्) निश्चयेन (गाथिनः) उषिकुषिगर्त्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । गायतेः—थन्प्रत्ययः, टाप् । व्रीह्यादिभ्यश्च । पा० ५ । २ । ११६ । गाथा—इनि । गानशीलाः (बृहत्) यथा भवति तथा । बृहद्भावेन (इन्द्रम्) वायुमिव शीघ्रगामिनम् । उद्योगिनम् (अर्केभिः) ऋ० ३ । ३ । २ । पूजनीयविचारैः (अर्किणः) विचारवन्तः (इन्द्रम्) पर-

(बृहन्) बड़े ढंग से (अनूषत) सराहा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुनीतिज्ञ, प्रतापी, उद्योगी राजा के व्यवहारों और परमेश्वर की दी हुई वेदवाणी के गुणों को विचार कर सब के सुख के लिये यथावत् उपाय करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ७ । १-३, सामवेद-उ० २ । १ । ८ और आगे हैं—अ० २० । ४७ । ४—६ तथा ७० । ७—६ और मन्त्र ४ सामवेद—पू० ३ । १ । ५ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा ।
इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्-मिश्लः । आ । वचः-युजा ॥
इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वज्री) वज्रधारी, (हिरण्ययः) तेजोमय (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (इत्) ही (इन्द्रः) वायु [के समान] (सचा) नित्य मिले हुये (हर्योः) दोनों संयोग वियोग गुणों का (संमिश्लः) यथावत् मिलाने वाला (आ) और (वचोयुजा) वचन का योग्य बनाने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे पवन के आने जाने से पदार्थों में चलने, फिरने, ठहरने का और जीभ में बोलने का सामर्थ्य होता है, वैसे ही दण्डदाता प्रतापी

मैश्वर्यवन्तं राजानम् (वाणीः) वेदचतुष्टयीः (अनूषत) अ० २० । १७ । १ । स्तुतवन्तः ॥

५—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (इत्) एव (हर्योः) हञ् स्वीकारप्रापणयोः—इन् । संयोगवियोगयोः (सचा) षच समवाये—क्विप्, विभक्तेराकारः । समवेतयोः (संमिश्लः) सम्+मिश्रयतेः—घञ् । कपिलादीनां संज्ञाछन्दसोर्वा० । पा० पा० ८ । २ । १८ । रेफस्य लत्वम् । सर्वतो मिश्रयिता (आ) चार्थे (वचोयुजा) युजिर् योगे—क्विन्, विभक्तेराकारः । वचसो वचनस्य योजयिता (इन्द्रः) वायुरिव (वज्री) वज्रधारी (हिरण्ययः) तेजोमयः ॥

राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि ।
वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥
वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा [वा किरणों और जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥६॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर ताप आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींच कर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूरदर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहार से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ३८ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ निचृद् गायत्री, ३—५ गायत्री ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः ।
अस्माकमस्तु केवलः ॥ १ ॥

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (दीर्घाय) विस्तृताय (सूर्यम्) सूर्यलोकम् । सूर्यवत्प्रेरकम् (आरोहयत्) अधिष्ठापितवान् (दिवि) व्यवहारे । आकाशे (वि) विविधम् (गोभिः) वेदवाणीभिः । किरणैः । जलैः (अद्रिम्) मेघम् मेघवतुल्योपकारिणम् (ऐरयत्) ईर गतौ कम्पने च—णिच्, लङ् । प्रेरितवान् ॥

इन्द्र॑म् । व॒: । वि॒श्वत॑: । परि॑ । ह॒वाम॑हे । जने॑भ्यः ॥
अ॒स्माक॑म् । अ॒स्तु॒ । केव॑लः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मा] को (वः) तुम्हारे लिये और (विश्वतः) सब (जनेभ्यः) प्राणियों के लिये (परि) सब प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं। वह (अस्माकम्) हमारा (केवलः) सेवनीय (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य सर्वहितकारी जगदीश्वर की आज्ञा में रहकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ७ । १०, सामवेद—उ० ८ । १ । २ और आगे है—अ० २० । ७० । १६ ॥

व्य१॒॑न्तरि॑क्षमतिर॒न्मदे॒ सोम॑स्य रोच॒ना ।
इन्द्रो॒ यद॒भिन॑द् व॒लम् ॥ २ ॥
वि । अ॒न्तरि॑क्षम् । अ॒ति॒र॒त् । मदे॑ । सोम॑स्य । रो॒च॒ना ॥
इन्द्र॑: । यत् । अ॒भिन॑त् । व॒लम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (सोमस्य) ऐश्वर्य के (मदे) आनन्द में (रोचना) प्रीति के साथ (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरत्) पार किया है,(यत्) जब कि उस ने (वलम्)हिंसक [विघ्न] को (अभिनत्) तोड़ डाला ॥ २ ॥

भावार्थ—सब से महान् और पूजनीय परमात्मा की उपासना से सब मनुष्य उन्नति करें ॥ २ ॥

मन्त्र २—५ आचुके हैं—अ० २० । २८ । १—४ ॥

१—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (वः) युष्मभ्यम् (विश्वतः) सर्वेभ्यः। सर्वेषां हिताय (परि) सर्वतः (हवामहे) आह्वयाम (जनेभ्यः) प्रादुर्भूतानां प्राणिनां हिताय (अस्माकम्) मनुष्याणाम् (अस्तु) (केवलः) केवृ सेवने—कलच् । सेवनीयः ॥

मन्त्राः २—५ व्याख्याताः—अ० २० । २८ । १—४ ॥

उद् गा आ॑जुदङ्गि॑रोभ्य आ॒विष्कृ॒ण्वन् गुहा॑ स॒तीः । अ॒र्वाञ्चं॑ नुनुदे व॒लम् ॥ ३ ॥

उत् । गाः । आ॒जत् । अङ्गि॑रःऽभ्यः । आ॒विः । कृ॒ण्वन् । गुहा॑ । स॒तीः ॥ अ॒र्वाञ्च॑म् । नु॒नु॒दे॒ । व॒लम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गुहा) गुहा [गुप्त अवस्था] में (सतीः) वर्तमान (गाः) वाणियों को (आविः कृण्वन्) प्रकट करते हुये उस [परमेश्वर] ने (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (उत् आजत्) ऊंचा पहुंचाया और (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (अर्वाञ्चम्) नीचे (नुनुदे) हटाया ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रलय के पीछे परमात्मा ने वेदों का उपदेश कर के हमारे सब विघ्न मिटाये हैं ॥ ३ ॥

इन्द्रे॑ण रोच॒ना दि॒वो दृ॒ह्ळानि॑ दृंहि॒तानि॑ च । स्थि॒राणि॒ न प॑रा॒णुदे॑ ॥ ४ ॥

इन्द्रे॑ण । रो॒च॒ना । दि॒वः । दृ॒ह्ळानि॑ । दृं॒हि॒तानि॑ । च॒ ॥ स्थि॒राणि॑ । न । प॒रा॒ऽनुदे॑ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] कर के (दिवः) व्यवहार के (स्थिराणि) ठहराऊ (रोचना) प्रकाश (न पराणुदे) न हटने के लिये (दृह्ळानि) पक्के किये गये (च) और (दृंहितानि) बढ़ाये गये [फैलाये गये हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपने अटल नियमों से सब संसार को सुख दिया है ॥ ४ ॥

अ॒पामू॒र्मिर्मद॑न्निव॒ स्तोम॑ इन्द्राजिरायते ।
वि ते॒ मदा॑ अराजिषुः ॥ ५ ॥

अ॒पाम् । ऊ॒र्मिः । मद॑न्ऽइव । स्तोमः॑ । इ॒न्द्र॒ । अ॒जि॒र॒य॒ते॒ ॥ वि । ते॒ । मदाः॑ । अ॒रा॒जि॒षुः॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (स्तोमः) बड़ाई (अपाम्) जलों की (मदन्) हर्ष बढ़ाने वाली (ऊर्मिः इव) लहर के समान (अजिरायते) वेग से चलती है, और (मदः) आनन्द (वि अराजिषुः) विराजते हैं [विविध प्रकार ऐश्वर्य बढ़ाते हैं] ॥ ५ ॥

भावार्थ—न्यायकारी परमात्मा की उत्तम नीति को मानकर सब लोग आनन्द पाकर शीघ्र ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

सूक्तम् ४० ॥

१—३ ॥ १ मरुत इन्द्रश्च ; २, ३ मरुतो देवताः ॥ १ गायत्री ; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इन्द्रे॑ण॒ सं हि दृक्ष॑से संज॒ग्मा॒नो अबि॑भ्युषा ।
म॒न्दू स॑मा॒नव॑र्चसा ॥ १ ॥

इन्द्रे॑ण । सम् । हि । दृक्ष॑से । स॒म्-ज॒ग्मा॒नः । अबि॑भ्युषा ॥
म॒न्दू इति॑ । स॒मा॒न-व॑र्चसा ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (अबिभ्युषा) निडर (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के साथ (हि) ही (संजग्मानः) मिलता हुआ तू (सम्) अच्छे प्रकार (दृक्षसे) दिखाई देता है । (समानवर्चसा) एक से तेज के साथ (मन्दू) तुम दोनों [राजा और प्रजा] आनन्द देने वाले हो ॥१॥

भावार्थ—जिस राज्य में प्रजागण राजा से और राजा प्रजा से प्रसन्न रहते हैं, वही राज्य विद्या और धन में उन्नति करता है ॥ १ ॥

(मरुतः) अर्थात् मनुष्य वा प्रजागण देवता हैं, इसके लिये (मरुतः)

१—(इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता राज्ञा (सम्) सम्यक् (दृक्षसे) दृशेर्लेट् । त्वं दृश्येथाः (संजग्मानः) गमेः कानच् । संगच्छमानः (अबिभ्युषा) ञिभी भये-क्वसु । निर्भयेण (मन्दू) भृमृशीङ० । उ० १ । ७ । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—उप्रत्ययः । आनन्दकौ (समानवर्चसा) समानेन तेजसा ॥

ऋत्विज्—निघ० ३ । १८; पद नाम—निघ० ५ । ५ और अथर्व० १ । २० । १ भी देखो ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—१ । ६ । ७, ८ और आगे हैं—अ० २० । ७० । ३, ४; मन्त्र १ सामवेद में है—उ० २ । २ । ७ ॥

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः॥२॥

अनवद्यैः । अभिद्यु-भिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ॥ गणैः । इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अनवद्यैः) निर्दोष, (अभिद्युभिः) सब ओर से प्रकाशमान और (काम्यैः) प्रीति के योग्य (गणैः) गणों [प्रजागणों] के साथ (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (मखः) यज्ञ [राज्य व्यवहार] (सहस्वत्) अति दृढ़ता से (अर्चति) सत्कार पाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—सब राज काज उत्तम विद्वान् लोगों के मेल से अच्छे प्रकार सिद्ध होते हैं ॥ २ ॥

आदह स्वधामनु पुनर्गर्भत्वमेरिरे । दधाना नाम यज्ञियम्॥३॥

आत् । अह । स्वधाम् । अनु । पुनः । गर्भ-त्वम् । आ-ईरिरे ॥ दधानाः । नाम । यज्ञियम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(आत्) फिर (अह) अवश्य (स्वधाम् अनु) अपनी

२—(अनवद्यैः) निर्दोषैः (अभिद्युभिः) अभितः प्रकाशमानैः (मखः) मख गतौ—घप्रत्ययः । यज्ञः—निघ० ३ । १७ । राज्यव्यवहारः (सहस्वत्) यथास्यात्तथा । बलवत्त्वेन । अतिदृढत्वेन (अर्चति) अर्च्यते । सत्क्रियते (गणैः) प्रजाजनैः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो राज्ञः (काम्यैः) कमेर्णिङ् । पा० ३ । १ । ३० । कमु कान्तौ—णिङ् । अचोयत् । पा० ३ । १ । ९७ । कामियत् । कामयितव्यैः । प्रीतियोग्यैः ॥

३—(आत्) अनन्तरम् (अह) विनिग्रहे—निघ० १ । १२ । अवश्यम् (स्वधाम्) स्वधारणशक्तिम् (अनु) अनुसृत्य (पुनः) अवधारणे (गर्भत्वम्)

धारण शक्ति के पीछे (यज्ञियम्) सत्कार योग्य (नाम) नाम [यश] को (दधानाः) धारण करते हुये लोगों ने (पुनः) निश्चय कर के (गभत्वम्) गर्भपन [सारपन, बड़े पद] को (एरिरे) सब प्रकार से पाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जहां पर पूर्वोक्त प्रकार से न्याययुक्त स्वतन्त्रता के साथ लोग कार्य करते हैं, वहां पर सब पुरुष बड़ाई पाते हैं ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१।६।४; सामवेद उ० २।२।७ और आगे है—अथ० २०।६४।१२ ॥

सूक्तम् ४१ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ निचृद् गायत्री छन्दः ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रो॑ दधी॒चो अ॒स्थभि॑र्वृ॒त्राण्यप्र॑तिष्कुतः। ज॒घान॑ नव॒तीर्नव॑ ॥१॥

इन्द्रः॑। द॒धी॒चः। अ॒स्थ॒ऽभिः॑। वृ॒त्राणि॑। अप्र॑ति॒ऽस्कु॒तः॥ ज॒घान॑। न॒व॒तीः। नव॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अप्रतिष्कुतः) बे रोक गति वाले (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] ने (दधीचः) पोषण प्राप्त कराने वाले पुरुष की

अ० ३।१०।१२। अर्त्तिगृभ्यां भन्। उ० ३।१५२। गॄ शब्दे, विज्ञापने, स्तुतौ निगरणे च—भन्। गर्भो गृभेर्गृणात्यर्थे गिरत्यनर्थानिति वा—निरु० १०।२३। गृणातिरर्चतिकर्मा—निघ० ३।१४। गर्भभावम्। स्तुत्यं पदम् (एरिरे) आ+ईर गतौ—लिटो झस्य इरेच्। समन्तात् प्राप्तवन्तः (दधानाः) धारयन्तः पुरुषाः (नाम) यशः। कीर्तिम् (यज्ञियम्) यज्ञार्हम्। पूजनीयम् ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (दधीचः) भाषायां धाञ्कृसृजनिगमिनमिभ्यः किकिनौ वक्तव्यौ। वा० पा० ३।२।१७१। दधातेः—कि प्रत्ययः, यद्वा सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४।११८। दध दाने धारणे च—इन्। ऋत्विग्दधृक्स्रग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिक्रुञ्चां च। पा० ३।२।५९। दधि+अञ्चु गतिपूजनयोः अन्तर्गतण्यर्थः—क्विन्। दधिं पोषणम् अञ्चयति प्रापयतीति दध्यङ् तस्य। पोषणप्रापकस्य पुरुषस्य। दध्यङ् प्रत्यक्तो ध्यानमिति वा प्रत्यक्तमस्मिन् ध्यानमिति वा—निरु० १२।३३ (अस्थभिः) असिसञ्जिभ्यां क्थिन्।

(अश्व्यभिः) गतियों से (नव नवतीः) नौ नब्बे [९×९०=८१० अर्थात् बहुत से] (वृत्राणि) रोकने वाले शत्रुओं को (जघान) मारा है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा प्रजापोषक वीरों के समान अनेक उपाय कर के शत्रुओं को मारे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । ८४ । १३—१५; सामवेद—उ० ३ । १ । तृच ८, मन्त्र १ साम० पू० २ । ६ । ५ । और मन्त्र ३ पू० २ । ६ । ३ ॥

इ॒च्छन्नश्व॑स्य॒ यच्छिरः॒ पर्व॑ते॒ष्वप॑श्रितम् । तद्वि॑दच्छर्य॒णाव॑ति ॥ २ ॥

इ॒च्छन् । अश्व॑स्य । यत् । शिरः॑ । पर्व॑तेषु । अप॑-श्रितम् ॥ तत् । वि॒द॒त् । श॒र्य॒णा-व॑ति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्वस्य) काम में व्यापने वाले बलवान् पुरुष का (यत्) जो (शिरः) शिर [मस्तक वा विचार सामर्थ्य] (पर्वतेषु) मेघों [के समान उपकारी मनुष्यों] में (अपश्रितम्) आश्रित है, (तत्) उस [विचार सामर्थ्य] को (इच्छन्) चाहते हुये पुरुष ने (शर्यणावति) तीर चलाने के स्थान संग्राम में (विदत्) पाया है ॥ २ ॥

उ० ३ । १५४ । अस भुवि, गतिदीप्त्यादानेषु, यद्वा असु क्षेपणे-क्थिन् । छन्दस्यपि दृश्यते । पा० ७ । १ । ७६ । अनङादेशः । गतिभिः । उपायैः (वृत्राणि) आवरकान् शत्रून् (अप्रतिष्कुतः) ष्कुञ् आप्रवणे आगमने—क । अप्रतिष्कुतोऽप्रतिष्कृतोऽप्रतिस्खलितो वा—निरु० ६ । १६ । अप्रतिगतः । अनिरुद्धः (जघान) नाशितवान् (नव नवतीः) नववारं नवतीः । दशोत्तराण्यष्टशतानि । बहुसंख्याकानि ॥

२—(इच्छन्) कामयमानः (अश्वस्य) कर्मसु व्यापकस्य बलवतः पुरुषस्य (यत्) (शिरः) मस्तकसामर्थ्यम् । विचारशक्तिम् (पर्वतेषु) मेघेषु । मेघवदुपकारिषु मनुष्येषु (अपश्रितम्) आसेवितम् (तत्) मस्तकसामर्थ्यम् (विदत्) अविदत् । प्राप्तवान् (शर्यणावति) मध्वादिभ्यश्च । पा० ४ । २ । ८६ । शर्यणा—शॄ हिंसायाम्, शर्याणि शर्यणा इति रूपद्वयं पृषोदरादित्वात् शराणां तीराणां यानेन गमनेन युक्ते संग्रामे ॥

भावार्थ—जो पुरुष विद्वानों के समान अपनी विचार सामर्थ्य बढ़ाना चाहे, वह परिश्रम के साथ ऐसा प्रयत्न करे जैसे शूर सेनापति सङ्ग्राम में प्रयत्न करता है ॥ २ ॥

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम् । इत्था चन्द्रमसो गृहे ॥ ३ ॥

अत्र । अह । गोः । अमन्वत । नाम । त्वष्टुः । अपीच्यम् ॥ इत्था । चन्द्रमसः । गृहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अत्र) यहां [राज्य व्यवहार में] (अह) निश्चय करके (गोः) पृथिवी के, (इत्था) इसी प्रकार (चन्द्रमसः) चन्द्रमा के (गृहे) घर [लोक] में (त्वष्टुः) छेदन करने वाले सूर्य के (अपीच्यम्) भीतर रक्खे हुये (नाम) झुकाव [आकर्षण] को (अमन्वत) उन्हों ने जाना है ॥३॥

भावार्थ—जैसे ईश्वर के नियम से सूर्य अपने प्रकाश और आकर्षण द्वारा पृथिवी और चन्द्र आदि लोकों को उन के मार्ग में दृढ़ रखता है, वैसे ही राजा अपनी सुनीति से प्रजा को धर्म में लगावे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ४ । २५ में भी व्याख्यात है ॥

सूक्तम् ४२ ॥

१—३॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

मनुष्यकृत्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

वाचमष्टापदीमहं नवस्रक्तिमृतस्पृशम् । इन्द्रात् परि तन्वं ममे ॥ १ ॥

३—(अत्र) राज्यव्यवहारे (अह) निश्चयेन (गोः) पृथिव्याः (अमन्वत) मनु अवबोधने—लङ् । अजानन् ते विद्वांसः (नाम) नामन्-सीमन्व्योमन्० । उ० ४ । १५१ । नमतेः—मनिन् धातोर्मलोपो दीर्घश्च, नाम उदकनाम—निघ० १ । १२ । नमनम् । आकर्षणम् (त्वष्टुः) छेदकस्य सूर्यस्य (अपीच्यम्) आ० १८ । १ । ३६ । अपि + अञ्चतेः—किन्, यत् । अन्तर्हितम्—निघ० ३ । २५ । (इत्था) अनेन प्रकारेण (चन्द्रमसः) चन्द्रस्य (गृहे) लोके ॥

वाचम् । अष्टा-पदीम् । अहम् । नव-स्रक्तिम् । ऋत-स्पृशम् ॥ इन्द्रात् । परि । तन्वम् । ममे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अष्टापदीम्) आठ पद [छोटाई, हलकाई प्राप्ति, स्वतन्त्रता, बड़ाई, ईश्वरपन, जितेन्द्रियता और सत्य सङ्कल्प, आठ ऐश्वर्य] प्राप्त कराने वाली, (नवस्रक्तिम्) नौ [मन बुद्धि सहित दो कान, दो नथने, दो आँखें और एक मुख] से प्राप्ति योग्य, (ऋतस्पृशम्) सत्य नियम की प्राप्ति कराने वाली, (तन्वम्) विस्तीर्ण [वा सूक्ष्म] (वाचम) वेदवाणी को (इन्द्रात्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] से (अहम्) मैं ने (परि ममे) नापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने अपनी वेदवाणी सब के हित के लिये दी है, उसके द्वारा मनुष्य इन्द्रियों की स्वस्थता से [अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥१॥]यह आठ ऐश्वर्य पाता है । हम लोग उचित प्रबन्ध से उसे विचार कर अपना जीवन सुधारें ॥१॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथर्व० १३ । १ । ४२ । यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ७६ [सायणभाष्य ६५] । १२, ११, १० और कुछ भेद से सामवेद—उ० ३ । २ । तृच ६ ॥

अनु त्वा रोदसी उभे क्रक्षमाणमकृपेताम् । इन्द्र यद् दस्युहाभवः ॥ २ ॥

अनु । त्वा । रोदसी इति । उभे इति । क्रक्षमाणम् । अकृपेताम् ॥ इन्द्र । इन्द्र । यत् । दस्यु-हा । अभवः ॥ २ ॥

१—(वाचम्) वेदवाणीम् (अष्टापदीम्) अ० १३ । १ । ४२ । अणिमा लघिमा प्राप्तिः प्राकाम्यं महिमा तथा । ईशित्वं च वशित्वं च तथा कामावसायिता ॥ १ ॥ इत्यष्टैश्वर्याणि पदानि प्राप्तव्यानि यया ताम् (अहम्) उपासकः (नवस्रक्तिम्) स्रक् स्रकि गतौ-क्तिन् । मनोबुद्धिसहितैः सप्तशीर्षण्यच्छिद्रैः प्राप्तव्याम् । नवपदीम्—अ० १३ । १ । ४२ (ऋतस्पृशम्) ऋतस्य सत्यनियमस्य स्पर्शयित्रीं प्रापयित्रीम् (इन्द्रात्) परमैश्वर्ययुक्तात् परमेश्वरात् (तन्वम्) विस्तृतां सूक्ष्मां वा (परि ममे) परिमापितवानस्मि । सर्वतो ज्ञातवानस्मि ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (कर्षमाणम्) आकर्षण करते हुये [वश में करते हुये] (त्वा अनु) तेरे पीछे (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि (अकृपेताम्) समर्थ हुये हैं, (यत्) जबकि तू (दस्युहा) शत्रुओं [विघ्नों] का नाश करने वाला (अभवः) हुआ ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ने अन्धकार आदि विघ्नों को हटा कर वायु, जल, अन्न आदि पदार्थ उत्पन्न कर के सब लोकों को धारण किया है, वैसे ही मनुष्य अविद्या मिटाकर परस्पर रक्षा करें ॥ २ ॥

उत्तिष्ठन्नोजसा सह पीत्वी शिप्रे अवेपयः । सोममिन्द्र चमू सुतम् ॥ ३ ॥

उत्-तिष्ठन् । ओजसा । सह । पीत्वी । शिप्रे इति । अवेपयः ॥ सोमम् । इन्द्र । चमू इति । सुतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (ओजसा सह) पराक्रम के साथ (उत्तिष्ठन्) उठते हुये तू ने (चमू) चमचे में (सुतम्) सिद्ध किया हुआ (सोमम्) सोम [अन्न आदि महौषधियों का रस] (पीत्वी) पीकर (शिप्रे) दोनों जावड़ों को (अवेपयः) हिलाया है ॥ ३ ॥

२—(अनु) अनुसृत्य (त्वा) त्वाम् (रोदसी) आकाशभूमी (उभे) (कर्षमाणम्) कृष विलेखने आकर्षणे—लट् । स्यतासी लृलुटोः । पा० ३ । १ । ३३ । इति स्य । लृटः सद्वा । पा० ३ । ३ । १४ । लृटः शानच्, यकारलोपश्छान्दसः । कर्ष्यमाणम् । आकर्षन्तम् वशे कुर्वन्तम् (अकृपेताम्) कृपू सामर्थ्ये-लङ् । समर्थेऽभवताम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (यत्) यदा (दस्युहा) शत्रूणां विघ्नानां नाशकः (अभवः) ॥

३—(उत्तिष्ठन्) ऊर्ध्वं गच्छन् (ओजसा) बलेन (सह) (पीत्वी) अ० २० । ६ । ७ । पीत्वा (शिप्रे) अ० २० । ३१ । ४ । हनू (अवेपयः) अकम्पयः चालितवानसि (सोमम्) अन्नादिमहौषधिरसम् (चमू) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । सप्तम्याः पूर्वसवर्णः । चम्वाम् । भोजनपात्रे । चमसे (सुतम्) संस्कृतम् ॥

भावार्थ—जैसे प्राणी दांतो को चलाकर अन्न आदि का आनन्द पाते हैं, वैसे ही मनुष्य बल पराक्रम कर के अभीष्ट फल प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४३ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

भिन्धि विश्वा अप द्विषः परि बाधो जही मृधः । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ १ ॥

भिन्धि । विश्वाः । अप । द्विषः । परि । बाधः । जहि । मृधः ॥ वसु । स्पार्हम् । तत् । आ । भर ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेष करने वाली सेनाओं में (अप भिन्धि) फूट डाल दे, और (बाधः) रोक डालने वाले (मृधः) संग्रामों को (परि) सब ओर से (जहि) मिटा दे (तत्) उस (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (आ भर) ले आ ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा धर्मात्माओं की रक्षा के लिये शत्रुओं में फूट डालकर उन का नाश करें और उनका धन लेकर विद्यादान आदि धर्म कार्य में लगावे ॥ १ ॥

यह तृच् ऋग्वेद में है—८ । ४५ । ४०—४२; सामवेद—उ० ४ । १ । तृच ८ । मन्त्र १—साम० पू० २ । ४ । १० और मन्त्र २ पू० ३ । २ । ३ ॥

यद् वीळाविन्द्र यत् स्थिरे यत् पर्शाने पराभृतम् । वसु स्पार्हं तदा भर ॥ २ ॥

यत् । वीळौ । इन्द्र । यत् । स्थिरे । यत् । पर्शाने । परा-

१—(भिन्धि) भेदेन कुरु (विश्वाः) सर्वाः (अप) पृथग्भावे (द्विषः) द्वेष्ट्रीः सेनाः (परि) सर्वतः (बाधः) बाधृ विलोडने—क्विप् । बाधिकाः (जहि) नाशय (मृधः) सङ्ग्रामान् (वसु) धनम् (स्पार्हम्) अ० २० । १६ । ३ । कमनीयम् (तत्) (आ भर) आहर । प्रापय ॥

भूतम् । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) जो [धन] (वीळौ) बल [वा सेना] में (यत्) जो [धन] (स्थिरे) दृढ़ स्थान में और (यत्) जो [धन] (पर्शाने) मेघ [वरसा] में (पराभृतम्) धरा हुआ है, (तत्) उस (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (आ भर) ले आ ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि शत्रुओं ने जो धन सेना में, दृढ़ कोश में, और जो जल आदि स्थान में रक्खा हो, उस सब को ले लेवे ॥ २ ॥

यस्य॑ ते वि॒श्वमा॑नुषो॒ भूरे॑र्द॒त्तस्य॒ वेद॑ति । वसु॑ स्पा॒र्हं तदा भ॑र ॥ ३ ॥

यस्य॑ । ते॒ । वि॒श्व-मा॑नुषः । भूरेः॑ । द॒त्तस्य॑ । वेद॑ति ॥ वसु॑ । स्पा॒र्हम् । तत् । आ । भ॒र ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(विश्वमानुषः) संसार का प्रत्येक मनुष्य (यस्य ते) जिस तेरे (भूरेः) बड़े (दत्तस्य) दान का (वेदति) ज्ञान करे, (तत्) उस (स्पार्हम्) चाहने योग्य (वसु) धन को (आ भर) ले आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को ऐसा दान करना चाहिये जिस से समस्त संसार का उपकार होवे ॥ ३ ॥

२—(यत्) धनम् (वीळौ) भृमृशीङ्० ०। उ० १। ७। वीळयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५। १६—उप्रत्ययः। वीळु बलनाम—निघ० २। ९। बले। सैन्ये (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (यत्) (स्थिरे) दृढ़स्थाने (यत्) (पर्शाने) अ० ८। ४। ५। परि+शॄ हिंसायाम्—आनच्, डित्, परे रिकारलोपः। पर्शानो मेघः—टिप्पणी, निघ० १। १०। मेघे। वर्षाजले (पराभृतम्) न्यस्तम्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(यस्य) (ते) तव (विश्वमानुषः) विश्वस्य संसारस्य प्रत्येकमनुष्यः (भूरेः) प्रभूतस्य (दत्तस्य) दानस्य (वेदति) लेटि रूपम्। ज्ञानं कुर्यात्। अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ४४ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

राजप्रजाकृत्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

प्र सम्राजं चर्षणीनामिन्द्रं स्तोता नव्यं गीर्भिः । नरं नृषाहं मंहिष्ठम् ॥ १ ॥

प्र । सम्-राजम् । चर्षणीनाम् । इन्द्रम् । स्तोत । नव्यम् । गीः-भिः ॥ नरम् । नृ-सहम् । मंहिष्ठम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (चर्षणीनाम्) मनुष्यों के (सम्राजम्) सम्राट् [राजाधिराज], (नव्यम्) स्तुति योग्य, (नरम्) नेता, (नृषहम्) नेताओं को वश में रखने वाले, (मंहिष्ठम्) अत्यन्त दानी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (गीर्भिः) वाणियों से (प्र) अच्छे प्रकार (स्तोत) सराहो ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् प्रजागण अभिनन्दन आदि से उदार चित्त राजा के बड़े बड़े उपकारी कामों की प्रशंसा करके सत्कार करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १६ । १—३ । मन्त्र १ सामवेद—पू० २ । ५ । १० ॥

यस्मिन्नुक्थानि रण्यन्ति विश्वानि च श्रवस्या । अपामवो न समुद्रे ॥ २ ॥

यस्मिन् । उक्थानि । रण्यन्ति । विश्वानि । च । श्रवस्या ॥ अपाम् । अवः । न । समुद्रे ॥ २ ॥

तं सुष्टुत्या विवासे ज्येष्ठराजं भरे कृत्नुम् । महो वाजिनं

१—(प्र) प्रकर्षेण (सम्राजम्) राजराजेश्वरम् (चर्षणीनाम्) मनुष्याणाम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (स्तोत) स्तुत (नव्यम्) स्तुत्यम् (गीर्भिः) वाणीभिः (नरम्) नेतारम् (नृषहम्) नेतृणामभिभवितारं वशयितारम् (मंहिष्ठम्) ऋ० २० । १५ । १ । उदारतमम् ॥

सुनिभ्यः ॥ ३ ॥

तम् । सु-स्तुत्या । आ । विवासे । ज्येष्ठ-राजम् । भरे । कृत्नुम् ॥ महः । वाजिनम् । सनि-भ्यः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [पुरुष] में (विश्वानि) सब (उक्थानि) कहने योग्य वचन (च) और (श्रवस्या) धन के लिये हितकारी कर्म (रण्यन्ति) पहुंचते हैं, (न) जैसे (समुद्रे) समुद्र में (अपाम्) जलों की (अवः) गति [पहुंचती है] ॥ २ ॥ (तम्) उस (ज्येष्ठराजम्) सब से बड़े राजा, (भरे) सङ्ग्राम में (कृत्नुम्) काम करने वाले, (वाजिनम्) महाबलवान् [पुरुष] को, (महः) महत्त्व के (सनिभ्यः) दानों के लिये, (सुष्टुत्या) सुन्दर स्तुति के साथ (आ) सब प्रकार (विवासे) मैं सेवा करता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे नदियां समुद्र में जाकर विश्राम पाती हैं, वैसे ही विद्वान् लोग पराक्रमी राजा के पास पहुंचकर अपना गुण प्रकाशित कर के सुख पावें ॥ २,३ ॥

सूक्तम् ४५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १,३ गायत्री ; २ निचृद् गायत्री ॥

सभाध्यक्षकृत्योपदेशः—सभापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

अयमु ते समतसि कपोत इव गर्भधिम् । वचस्तच्चिन्न ओहसे ॥१॥

२—(यस्मिन्) पुरुषे (उक्थानि) वक्तव्यानि वचनानि (रण्यन्ति) अ० २० । १७ । ६ । गच्छन्ति (विश्वानि) सर्वाणि (च) (श्रवस्या) अ० २० । १२ । १ । धनाय हितानि कर्माणि (अपाम्) जलानाम् (अवः) अव गतौ—असुन् । गमनम् (न) यथा (समुद्रे) उदधौ ॥

३—(तम्) (सुष्टुत्या) शोभनया स्तुत्या (आ) समन्तात् (विवासे) विवासतिः परिचरणकर्मा—निघ० ३ । ५ । परिचरामि (ज्येष्ठराजम्) प्रशस्यतमं राजानम् (भरे) सङ्ग्रामे (कृत्नुम्) कृहनिभ्यां क्नुः । उ० ३ । ३० । करोतेः—क्नु । कार्यकर्तारम् (महः) मह पूजायाम्—क्विप् । महत्त्वस्य (वाजिनम्) महाबलिनम् (सनिभ्यः) दानेभ्यः ॥

अयम् । ऊं इति । ते । सम् । अतसि । कपोतः-इव । गर्भ-धिम् ॥ वचः । तत् । चित् । नः । ओहसे ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे सेनापति !] (अयम्) यह [प्रजा जन] (ते उ) तेरा ही है, तू [उस प्रजा जन से] (सम् अतसि) सदा मिलता रहता है, (इव) जैसे (कपोतः) कबूतर (गर्भधिम्) गर्भ रखने वाली कबूतरी से [पालने को मिलता है], (तत्) इस लिये तू (चित्) ही (नः) हमारे (वचः) वचन को (ओहसे) सब प्रकार विचारता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जब कबूतरी अण्डे सेवती और बच्चे देती है, कबूतर बड़े प्रेम से उसको चारा लाकर खिलाता है, इसी प्रकार राजा सुनीति से प्रजा का पालन करे और उन की पुकार सुने ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । ३० । ४—६ ; सामवेद—उ० ७ । ३ । तृच १५, तथा मन्त्र १-साम० पू० २ । ६ । ६ ॥

स्तोत्रं राधानां पते गिर्वाहो वीर यस्य ते । विभूतिरस्तु सूनृता ॥ २ ॥

स्तोत्रम् । राधानाम् । पते । गिर्वाहः । वीर । यस्य । ते ॥ वि-भूतिः । अस्तु । सूनृता ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राधानां पते) हे धनों के स्वामी ! (गिर्वाहः) हे विद्याओं के पहुंचाने वाले ! (वीर) हे वीर ! (यस्य ते) जिस तेरी (स्तोत्रम्) स्तुति है, [उस तेरी] (विभूतिः) विभूति [ऐश्वर्य] (सूनृता) प्यारी और सच्ची

१—(अयम्) प्रजाजनः (उ) एव (ते) तव (सम्) (अतसि) सततं संगच्छसे (कपोतः) पारावतः (इव) यथा (गर्भधिम्) गर्भ+ दधातेः—कि प्रत्ययः । गर्भधारिणीं कपोतीम् (वचः) वचनम् (तत्) तस्मात् कारणात् (चित्) एव (नः) अस्माकम् (ओहसे) आ+ऊह वितर्के । समन्तात् विचारयसि ॥

२—(स्तोत्रम्) स्तुतिम् (राधानाम्) धनानाम् (पते) पालक (गिर्वाहः) अ० २ । ३५ । ४ । हे गिरां विद्यानां प्रापक (वीर) हे निर्भय (यस्य) (ते) तव (विभूतिः) ऐश्वर्यम् (अस्तु) (सूनृता) अ० ३ । १२ । २ ।

वाणी (अस्तु) होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—प्रधान पुरुष अनेक धनों को प्राप्त होकर उत्तम कर्मों से अपनी स्तुति बढ़ावे और हितकारी सच्ची बात बोलने को ही अपना ऐश्वर्य समझे ॥ २ ॥

ऊर्ध्वस्तिष्ठा न ऊतयेऽस्मिन् वाजे शतक्रतो। समन्येषु ब्रवावहै ॥ ३ ॥

ऊर्ध्वः। तिष्ठ। नः। ऊतये। अस्मिन्। वाजे। शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ सम्। अन्येषु। ब्रवावहै ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (अस्मिन्) इस (वाजे) सङ्ग्राम में (ऊर्ध्वः) ऊपर (तिष्ठ) ठहर, (अन्येषु) दूसरे कामों पर (सम्) मिलकर (ब्रवावहै) हम दोनों बात करें ॥ ३ ॥

भावार्थ-विद्वान् लोग प्रजापालक सेनापति से बात चीत करके कर्तव्य को करते हुये और अकर्तव्य को छोड़ते हुये युद्ध में विजय प्राप्त करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

प्रणेतारं वस्यो अच्छा कर्तारं ज्योतिः समत्सु। सासह्वांसं युधामित्रान् ॥ १ ॥

प्र-नेतारम्। वस्यः। अच्छ। कर्तारम्। ज्योतिः। समत्-सु। ससह्वांसम्। युधा। अमित्रान् ॥ १ ॥

प्रियसत्यात्मिका वाक् ॥

३—(ऊर्ध्वः) उन्नतः (तिष्ठ) (नः) अस्माकम् (ऊतये) रक्षायै (अस्मिन्) (वाजे) संग्रामे (शतक्रतो) बहुकर्मन्। बहुप्रज्ञ (सम्) मिलित्वा (अन्येषु) युद्धाद् भिन्नविषयेषु (ब्रवावहै) आवां विचारयाव ॥

भाषार्थ—(वस्वः) श्रेष्ठ धन की ओर (प्रणेतारम्) ले चलने वाले (समत्सु) संग्रामों में (ज्योतिः) प्रकाश (कर्तारम्) करने वाले (युधा) युद्ध से (अमित्रान्) पीड़ा देने वाले वैरियों को (ससह्वांसम्) हराने वाले [सेनापति] को (अच्छ) पाकर [हम वर्तें] ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा को धन प्राप्त करावे और संग्रामों में वैरियों को जीते, वह सेनापति होवे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १६ । १०-१२ ॥

स नः॑ पप्रिः पा॑रयाति स्व॒स्ति ना॒वा पु॑रुहू॒तः । इन्द्रो॒ विश्वा॒ अति॒ द्विषः॑ ॥ २ ॥

सः । नः॒ । प॒प्रिः । पा॒र॒या॒ति॒ । स्व॒स्ति । ना॒वा । पु॒रु॒-हू॒तः ॥ इन्द्रः॑ । विश्वाः॑ । अति॑ । द्विषः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (पप्रिः) पूरण करने वाला, (पुरुहूतः) बहुत पुकारा गया, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (विश्वाः) सब (द्विषः) द्वेष करने वाली सेनाओं को (अति) लांघ कर (नः) हम को (स्वस्ति) आनन्द के साथ (नावा) नाव से (पारयाति) पार लगावे ॥ २ ॥

भावार्थ—युद्ध कुशल सेनापति शत्रुओं को मार कर प्रजा को कष्ट से छुड़ावे, जैसे नाव से समुद्र पार करते हैं ॥ २ ॥

१—(प्रणेतारम्) प्रापयितारम् (वस्वः) अ० २० । १४ । ३ । प्रशस्यं धनम् (अच्छ) अच्छाभेराप्तुमिति शाकपूणिः—निरु० ५ । २८ । प्राप्य (कर्तारम्) कारकम् (ज्योतिः) प्रकाशम् (समत्सु) सङ्ग्रामेषु (ससह्वांसम्) षह अभिभवे—क्वसु, अभ्यासस्य दीर्घश्छान्दसः । अभिभवितारम् (युधा) युद्धेन (अमित्रान्) पीडकान् । शत्रून् ॥

२—(सः) (नः) अस्मान् (पप्रिः) अ० १२ । २ । ४७ । प्रा पूरणे—किन् । प्राता । पूरयिता (पारयाति) लेटि रूपम् । पारयेत् (स्वस्ति) क्षेमेण (नावा) नौकया (पुरुहूतः) बहुविधाहूतः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (विश्वाः) सर्वाः (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (द्विषः) द्वेष्ट्रीः सेनाः ॥

स त्वं नं इन्द्र वाजेभिर्दशुस्या चं गातुया चं । अच्छां च नः सुम्नं नेषि ॥ ३ ॥

सः । त्वम् । नः । इन्द्र । वाजेभिः । दुशस्य । च । गातु-या । च ॥ अच्छं । च । नः । सुम्नम् । नेषि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सः त्वम्) सो तू, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (नः) हमारे लिये (वाजेभिः) पराक्रमों के साथ (दशस्य) कवच के समान काम कर, (च च) और (गातुया) मार्ग बता, (च) और (अच्छ) अच्छे प्रकार (नः) हमें (सुम्नम्) सुख की ओर (नेषि) ले चल ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा पराक्रम कर के प्रजा को अनेक प्रकार से सुख पाने के ढंग बतावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ४७ ॥

१—२१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—१०,१२—२१ गायत्री; ११ विराड् गायत्री, ॥

१—६ राजप्रजकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

तमिन्द्रं वाजयामसि मुहे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषुभो भुवत् ॥ १ ॥

तम् । इन्द्रम् । वाजयामसि । मुहे । वृत्राय । हन्तवे ॥ सः । वृषा । वृषुभः । भुवत् ॥ १ ॥

३—(सः) तादृशः (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र) सेनापते (वाजेभिः) सङ्ग्रामैः (दशस्य) अ० २०। ३५ । ११ । दशः कवच इवाचर (च) (गातुया) छन्दसि परेच्छायामपि । वा० पा० ३ । १ । ८ । गातु—क्यच् । छान्दसो दीर्घः, ऋग्वेदे [गातुय] इति पदपाठः । मार्गम् इच्छ (च) (अच्छ) सुष्ठु (च) (नः) अस्मान् (सुम्नम्) सुखं प्रति (नेषि) शपो लुक् । नयसि-नय । प्रापय ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (महे) बड़े (वृत्राय) रोकने वाले वैरी के (हन्तवे) मारने को (वाजयामसि) हम बलवान् करते हैं [उत्साही बनाते हैं], (सः) वह (वृषा) पराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठ वीर (भुवत्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा को शत्रुओं के मारने के लिये सहाय करें, और राजा भी प्रजा की भलाई के लिये प्रयत्न करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८। ९३ [सायणभाष्य ८२]। ७—९; कुछ भेद से सामवेद—उ० ५। १। तृच १०। मन्त्र १ पू० २। ३। ५ और यह तृच आगे है—अथर्व० २०। १३७। १२—१४ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः। द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ २ ॥

इन्द्रः। सः। दामने। कृतः। ओजिष्ठः। सः। मदे। हितः ॥ द्युम्नी। श्लोकी। सः। सोम्यः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (दामने) दान करने के लिये और (सः) वह (मदे) आनन्द देने के लिये (ओजिष्ठः) महाबली और (हितः) हितकारी (कृतः) बनाया गया है, (सः) वह (द्युम्नी) अन्न वाला और (श्लोकी) कीर्ति वाला पुरुष (सोम्यः) ऐश्वर्य के योग्य है ॥ २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (वाजयामसि) बलवन्तं कुर्मः। उत्साहयामः (महे) द्वितीयार्थे चतुर्थी। महान्तम् (वृत्राय) आवरकं, शत्रुम् (हन्तवे) मारयितुम् (सः) (वृषा) पराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठो वीरः (भुवत्) भवेत् ॥

२—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (सः) (दामने) सर्वधातुभ्यो मनिन्। उ० ४। १४५। ददातेः—मनिन्। दानाय (कृतः) स्वीकृतः (ओजिष्ठः) ओजस्वितमः (सः) (मदे) आनन्ददानाय (हितः) हितकरः (द्युम्नी) अन्नवान् (श्लोकी) कीर्तिमान् (सः) (सोम्यः) ऐश्वर्ययोग्यः ॥

भावार्थ—प्रजागण प्रतापी, गुणी पुरुष को इस लिये राजा बनावें कि वह प्रजा के उपकार के लिये दान कर के प्रयत्न करे और अन्न आदि पदार्थ बढ़ा कर कीर्ति पावे ॥ २ ॥

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ ३ ॥

गिरा। वज्रः। न। सम्-भृतः। स-बलः। अनप-च्युतः॥ ववक्षे। ऋष्वः। अस्तृतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गिरा) वाणी से (संभृतः) पुष्ट किया गया, (सबलः) सबल, (अनपच्युतः) न गिरने योग्य, (ऋष्वः) गति वाला, और (अस्तृतः) बे रोक सेनापति (वज्रः न) बिजुली के समान (ववक्षे) रिस होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी बात में सच्चा, महाबली हो, वह सेनानी होकर शत्रुओं पर बिजुली के समान क्रोध करे ॥ ३ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः। इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ४ ॥

इन्द्रम्। इत्। गाथिनः। बृहत्। इन्द्रम्। अर्केभिः। अर्किणः॥ इन्द्रम्। वाणीः। अनूषत ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(गाथिनः) गाने वालों और (अर्किणः) विचार करने वालों ने (अर्केभिः) पूजनीय विचारों से (इन्द्रम्) सूर्य [के समान प्रतापी], (इन्द्रम्) वायु के समान फुरतीले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को और (वाणीः) वाणियों [वेदवचनों] को (इत्) निश्चय करके (बृहत्) बड़े ढंग से (अनूषत) सराहा है ॥ ४ ॥

३—(गिरा) वाण्या (वज्रः) विद्युत् (न) यथा (संभृतः) सम्यक् पोषितः (सबलः) बलसहितः (अनपच्युतः) परैरपरिच्युतः। अनभिगतः (ववक्षे) अ० २० । ३५ । ६ । लेडर्थे लिट्। रोषं कुर्यात् (ऋष्वः) अशूप्रुषिलटि० । उ० १ । १५१ । ऋषी गतौ—क्वन्। गतिमान्। महान्—निघ० ३। ३ (अस्तृतः) अहिंसितः। अनिवारितः ॥

४—६। एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ३८ । ४—६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुनीतिज्ञ, प्रतापी, उद्योगी राजा के और परमेश्वर की दी हुई वेदवाणी के गुणों को विचार कर सब के सुख के लिये यथावत् उपाय करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४-६ आ चुके हैं—अ०२० । ३८ । ४—६ और आगे हैं—२० । ७० । ७—६ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ५ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्-मिश्लः । आ । वचः-युजा ॥ इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वज्री) वज्रधारी, (हिरण्ययः) तेजोमय (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (इत्) ही (इन्द्रः) वायु [के समान] (सचा) नित्य मिले हुये (हर्योः) दोनों संयोग वियोग गुणों का (संमिश्लः) यथावत् मिलाने वाला (आ) और (वचोयुजा) वचन का योग्य बनाने वाला है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे पवन के आने जाने से पदार्थों में चलने, फिरने, ठहरने का और जीभ में बोलने का सामर्थ्य होता है, वैसे ही दण्डदाता प्रतापी राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ६ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥ वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेदवाणियों द्वारा [वा किरणों वा जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर ताप आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींचकर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूरदर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहार से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ६ ॥

आ याहि सुषुमा हि त इन्द्र सोमं पिबा इमम् । एदं बर्हिः सदो मम ॥ ७ ॥

आ । याहि । सुसुम । हि । ते । इन्द्र । सोमम् । पिब । इमम् ॥ आ । इदम् । बर्हिः । सदः । मम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (आ याहि) तू आ, (हि) क्योंकि (ते) तेरे लिये (सोमम्) सोम [उत्तम ओषधियों का रस] (सुषुम) हम ने सिद्ध किया है, (इमम्) इस [रस] को (पिब) पी, (मम) मेरे (इदम्) इस (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदः) बैठ ॥ ७ ॥

भावार्थ—लोग विद्वान् सद्वैद्य के सिद्ध किये हुये महौषधियों के रस से राजा को स्वस्थ बलवान् रखकर राज सिंहासन पर सुशोभित करें ॥७॥

मन्त्र ७-९ आ चुके हैं—अ० २० । ३ । १—३ तथा ३८ । १—३ ॥

आ त्वा ब्रह्मयुजा हरी वहतामिन्द्र केशिना । उप ब्रह्माणि नः शृणु ॥ ८ ॥

आ । त्वा । ब्रह्म-युजा । हरी इति । वहताम् । इन्द्र । केशिना ॥ उप । ब्रह्माणि । नः । शृणु ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ब्रह्मयुजा) धन के लिये जोड़े गये, (केशिना) सुन्दर केशों [कन्धे आदि के बालों] वाले (हरी) रथ ले चलने वाले दो घोड़ों [के समान बल और पराक्रम] (त्वा) तुझको (आ) सब ओर (वहताम्) ले चलें । (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेद ज्ञानों को (उप) आदर से (शृणु) तू सुन ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम बलवान् घोड़े रथ को ठिकाने पर पहुंचाते हैं, वैसे ही राजा वेदोक्त मार्ग पर चलकर अपने बल और पराक्रम से राज्यभार उठाकर प्रजा पालन करे ॥ ८ ॥

ब्रह्माणस्त्वा वयं युजा सोमपामिन्द्र सोमिनः । सुतावन्तो हवामहे ॥ ९ ॥

ब्रह्माणः । त्वा । वयम् । युजा । सोम-पाम् । इन्द्र । सोमिनः । सुत-वन्तः । हवामहे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमपाम्) ऐश्वर्य के रक्षक (त्वा) तुझ को (युजा) मित्रता के साथ (ब्रह्माणः) वेद जानने वाले, (सोमिनः) ऐश्वर्य वाले, (सुतवन्तः) उत्तम पुत्र आदि सन्तानों वाले (वयम्) हम (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस राजा के सुप्रबन्ध से प्रजागण ज्ञानवान्, धनवान्, और सुशिक्षित सन्तान वाले होवें, उस को मित्र जानकर सदा स्मरण करें ॥ ९ ॥

मन्त्राः १०—१२ परमेश्वर गुणोपदेशः—१०—१२ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ १० ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥ रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ १० ॥

भाषार्थ—(तस्थुषः) मनुष्य आदि प्राणियों और लोकों में (परि) सब ओर से (चरन्तम्) व्यापे हुये, (ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) हिंसारहित [परमात्मा] को (रोचना) प्रकाशमान पदार्थ (दिवि) व्यवहार के बीच (युञ्जन्ति) ध्यान में रखते और (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—परमाणुओं से लेकर सूर्य आदि लोक और सब प्राणी सर्व-

१०—१२ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । २६ । ४—६ ॥

व्यापक, सर्वनियन्ता परमेश्वर की आज्ञा को मानते हैं, उसी की उपासना से मनुष्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करें ॥ १० ॥

मन्त्र १०—१२ आचुके हैं—अ० २० । २६ । ४—६ और आगे हैं—२० । ६६ । ६—११ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ ११ ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । वि-पक्षसा । रथे ॥ शोणा । धृष्णू इति । नृ-वाहसा ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमात्मा-मन्त्र १०] के (काम्या) चाहने योग्य, (विपक्षसा) विविध प्रकार ग्रहण करने वाले, (शोणा) व्यापक (धृष्णू) निर्भय, (नृवाहसा) नेताओं [दूसरों के चलाने वाले सूर्य आदि लोकों] के चलाने वाले (हरी) दोनों धारण आकर्षण गुणों को (रथे) रमणीय जगत् के बीच (युञ्जन्ति) वे [प्रकाशमान पदार्थ—मन्त्र १०] ध्यान में रखते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के धारण आकर्षण सामर्थ्य में सूर्य आदि पिण्ड ठहर कर अन्य लोकों और प्राणियों को चलाते हैं, मनुष्य उन सब पदार्थों से उपकार ले कर उस ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ ११ ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः १२

केतुम् । कृण्वन् । अकेतवे । पेशः । मर्याः । अपेशसे ॥ सम् । उषत्-भिः । अजायथाः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(मर्याः) हे मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञान हटाने के लिये (केतुम्) ज्ञान को और (अपेशसे) निर्धनता मिटाने के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ वह [परमात्मा—मन्त्र १०, ११] (उषद्भिः) प्रकाशमान गुणों के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके परमात्मा को विचारते हुये सृष्टि

के पदार्थों से उपकार लेकर ज्ञानी और धनी होवें ॥ १२ ॥

मन्त्राः १३—२१ आध्यात्मोपदेशः ॥ १३—२१। परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः। दृशे विश्वाय सूर्यम् ॥१३

उत्। ऊं इति। त्यम्। जात-वेदसम्। देवम्। वहन्ति। केतवः॥ दृशे। विश्वाय। सूर्यम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(केतवः) किरणें (त्यम्) उस (जातवेदसम्) उत्पन्न पदार्थों को प्राप्त करने वाले, (देवम्) चलते हुये (सूर्यम्) रविमण्डल को (विश्वाय दृशे) सब के देखने के लिये (उ) अवश्य (उत् वहन्ति) ऊपर ले चलती हैं ॥ १३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार सूर्य किरणों के आकर्षण से ऊंचा होकर सब पदार्थों को प्रकट करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या और धर्म से उन्नति करके सब का उपकार करें ॥ १३ ॥

मन्त्र १३—२१ आ चुके हैं—अ० १३ । २ । १६—२४ ॥

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः । सूराय विश्वचक्षसे ॥ १४ ॥

अप। त्ये। तायवः। यथा। नक्षत्रा। यन्ति। अक्तु-भिः॥ सूराय। विश्व-चक्षसे ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(विश्वचक्षसे) सब के दिखाने वाले (सूराय) सूर्य के लिये (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (नक्षत्रा) तारा गण (अप यन्ति) भाग जाते हैं, (यथा) जैसे (त्ये) वे (तायवः) चोर [भाग जाते हैं] ॥ १४ ॥

भावार्थ—सूर्य के प्रकाश से रात्रि का अन्धकार मिट जाता है, मन्द चमकने वाले नक्षत्र छिप जाते हैं, और चोर लोग भाग जाते हैं, वैसेही वेद विज्ञान फैलने से अधर्म का नाश और धर्म की वृद्धि होती है ॥ १४ ॥

१३—२१। एते मन्त्रा व्याख्याताः-अ० १३ । २ । १६—२४ ॥

अदृश्रन्नस्य केतवो वि रश्मयो जनाँ अनु । भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ १५ ॥

अदृश्रन् । अस्य । केतवः । वि । रश्मयः । जनान् । अनु ॥ भ्राजन्तः । अग्नयः । यथा ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [सूर्य] की (केतवः) जताने वाली (रश्मयः) किरणें (जनान् अनु) प्राणियों में (वि) विविध प्रकार से (अदृश्रन्) देखी गयी हैं, (यथा) जैसे (भ्राजन्तः) दहकते हुये (अग्नयः) अंगारे ॥ १५ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य की किरणें धूप, बिजुली और अग्नि के रूप से संसार में फैलती हैं, वैसेही सब मनुष्य शुभ गुण कर्म और स्वभाव से प्रकाशमान होकर आत्मा और समाज की उन्नति करें ॥ १५ ॥

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य । विश्वमा भासि रोचन ॥ १६ ॥

तरणिः । विश्व-दर्शतः । ज्योतिः-कृत् । असि । सूर्य ॥ विश्वम् । आ । भासि । रोचन ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! तू (तरणिः) अन्धकार से पार करने वाला, (विश्वदर्शतः) सब का दिखाने वाला, (ज्योतिष्कृत्) [चन्द्र आदि में] प्रकाश करने वाला (असि) है । (रोचन) हे चमकने वाले ! तू (विश्वम्) सब को (आ) भले प्रकार (भासि) चमकाता है ॥ १६ ॥

भावार्थ—जैसे यह सूर्य अग्नि, बिजुली, चन्द्रमा, नक्षत्र आदि पर अपना प्रकाश डाल कर उन्हें चमकीला बनाता है, वैसे ही परमात्मा अपने सामर्थ्य से सब सूर्य आदि को रचता है और वैसे ही विद्वान् लोग विद्या के प्रकाश से संसार को आनन्द देते हैं ॥ १६ ॥

प्रत्यङ् देवानां विशः प्रत्यङ्ङुदेषि मानुषीः । प्रत्यङ् विश्वं स्वर्दृशे ॥ १७ ॥

प्रत्यङ् । देवानाम् । विशः । प्रत्यङ् । उत् । एषि । मानुषीः ॥ प्रत्यङ् । विश्वम् । स्वः । दृशे ॥ १७ ॥

भाषार्थ—[हे सूर्य !] (देवानाम्) गति शील [चन्द्र आदि लोकों] की (विशः) प्रजाओं को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर, (मानुषीः) मानुषी [मनुष्य सम्बन्धी पार्थिव प्रजाओं] को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर और (विश्वम्) सब जगत् को (प्रत्यङ्) सन्मुख होकर (स्वः) सुख से (दृशे) देखने के लिये (उत्) ऊँचा होकर (एषि) तू प्राप्त होता है ॥ १७ ॥

भावार्थ—सूर्य गोल आकार बहुत बड़ा पिण्ड है, इस लिये वह सब लोकों के सन्मुख दीखता है, और सब लोक उस के आकर्षण प्रकाशन आदि से सुख पाते हैं, ऐसे ही परमात्मा के सर्वव्यापी और सर्व शक्तिमान् होने से उसके नियम पर चलकर सब सुखी रहते हैं ॥ १७ ॥

येना पावक चक्षसा भुरण्यन्तं जनाँ अनु । त्वं वरुण पश्यसि ॥१८॥

येन । पावक । चक्षसा । भुरण्यन्तम् । जनान् । अनु ॥ त्वम् । वरुण । पश्यसि ॥ १८ ॥

वि द्यामेषि रजस्पृथ्वहर्मिमानो अक्तुभिः । पश्यञ् जन्मानि सूर्य ॥ १९ ॥

वि । द्याम् । एषि । रजः । पृथु । अहः । मिमानः । अक्तुभिः ॥ पश्यन् । जन्मानि । सूर्य ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(पावक) हे पवित्र करने वाले ! (वरुण) हे उत्तम गुण वाले ! [सूर्य रविमण्डल] (येन) जिस (चक्षसा) प्रकाश से (भुरण्यन्तम्) धारण और पोषण करते हुये [पराक्रम] को (जनान् अनु) उत्पन्न प्राणियों में (त्वम्) तू (पश्यसि) दिखाता है ॥ १८ ॥ [उस प्रकाश से] (सूर्य) हे सूर्य ! [रविमण्डल] (अहः) दिन को (अक्तुभिः) रात्रियों के साथ (मिमानः) बनाता हुआ और (जन्मानि) उत्पन्न वस्तुओं को (पश्यन्) दिखाता हुआ तू (द्याम्) आकाश में (पृथु)-फैले हुये (रजः) लोक को (वि) विविध प्रकार (एषि) प्राप्त होता है ॥ १९ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने प्रकाश से वृष्टि आदि द्वारा अपने घेरे के सब प्राणियों और लोकों को धारण पोषण करता है, वैसे ही मनुष्य सर्वोपरि विराजमान परमात्मा के ज्ञान से परस्पर सहायक होकर सुखी होवें ॥ १८, १९ ॥

सुप्त त्वा हुरितो रथे वहन्ति देव सूर्य । शोचिष्केशं विचक्षणम् ॥ २० ॥

सुप्त । त्वा । हुरितः । रथे । वहन्ति । देव । सूर्य ॥ शोचिःकेशम् । वि-चक्षणम् ॥ २० ॥

भाषार्थ—(देव) हे चलने वाले (सूर्य) सूर्य ! [रविमण्डल] (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश, चित्र वर्ण वाली] (हरितः) आकर्षक किरणें (शोचिष्केशम्) पवित्र प्रकाश वाले (विचक्षणम्) विविध प्रकार दिखाने वाले (त्वा) तुझ को (रथे) रथ [गमन विधान] में (वहन्ति) ले चलती हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—यह प्रकाशमान सूर्य लोक शुक्ल, नील, पीत आदि सात किरणों द्वारा अपनी धुरी पर अपने घेरे में घूमता है। इस नियम का बनाने वाला वह परमेश्वर है ॥ २० ॥

अयुक्त सुप्त शुन्ध्युवः सूरो रथस्य नुप्त्यः । ताभिर्याति स्वयुक्तिभिः ॥ २१ ॥

अयुक्त । सुप्त । शुन्ध्युवः । सूरः । रथस्य । नुप्त्यः ॥ ताभिः ॥ याति । स्वयुक्ति-भिः ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(सूरः) सूर्य [लोक प्रेरक रविमण्डल] ने (रथस्य) रथ [अपने चलने के विधान] की (नप्त्यः) न गिराने वाली (सप्त) सात [शुक्ल, नील, पीत आदि—मन्त्र २०] (शुन्ध्युवः) शुद्ध किरणों को (अयुक्त) जोड़ा है। (ताभिः) उन (स्वयुक्तिभिः) धन से संयोग वाली [किरणों] के साथ (याति) वह चलता है ॥ २१ ॥

भावार्थ—जो सूर्य अपनी परिधि के लोकों को अपने आकर्षण में रख-कर चलाता है और जिस की किरणें रोगों को हटा कर प्रकाश और वृष्टि आदि

से संसार को धनी बनाती हैं, उस सूर्य को जगदीश्वर परमात्मा ने बनाया है ॥ २१ ॥

सूक्तम् ४८ ॥

१—६॥ १—३ इन्द्रः,४–६ सर्पराज्ञी सूर्यो वा देवता ॥ १, ४–६ गायत्री ; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

१—३ आध्यात्मोपदेशः—१—३ परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

अभि त्वा वर्चसा गिरः सिञ्चन्तीराचरण्यवः । अभि वत्सं न धेनवः ॥ १ ॥

[सूचना—मन्त्र १—३ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं; और इनका पद पाठ भी गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई के पुस्तक में नहीं है। हम स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द कृत पद सूची से संग्रह करके यहां लिखते हैं, बुद्धिमान् जन विचार लेवें। सूचना अथ० २० । ३४ । १२ भी देखें।]

अभि । त्वा । वर्चसा । गिरः । सिञ्चन्तीः । आचरण्यवः ॥ अभि । वत्सम् । न । धेनवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (आचरण्यवः) सब ओर चलती हुई (गिरः) वाणियां (त्वा) तुझ को (वर्चसा) प्रकाश के साथ (अभि) सब प्रकार (सिञ्चन्तीः) सींचती हुई [हैं] । (न) जैसे (धेनवः) दुधेल गायें (वत्सम्) [अपने] बच्चे को (अभि) सब प्रकार [सींचती हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य प्रकाश स्वरूप परमात्मा की अनन्य भक्ति करके आनन्द पावें, जैसे गौयें अपने तुरन्त उत्पन्न हुये बच्चों से प्रीति करके सुखी होती हैं ॥ १ ॥

१–(अभि) सर्वतः (त्वा) (वर्चसा) तेजसा (गिरः) वाचः (सिञ्चन्तीः) सिञ्चन्त्यः । वर्धयन्त्यः (आचरण्यवः) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । आ + चरण गतौ—युच् । समन्ताद् गतिशीलाः (अभि) (वत्सम्) शिशुम् (न) यथा (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः ॥

ता अर्षन्ति शुभ्रियः पृञ्चन्तीर्वर्चसा प्रियः । जातं जात्रीर्यथा हृदा ॥ २ ॥

[सूचना—पद पाठ के लिये—मन्त्र १ देखो] ॥

ताः । अर्षन्ति । शुभ्रियः । पृञ्चन्तीः । वर्चसा । प्रियः ॥ जातम् । जात्रीः । यथा । हृदा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शुभ्रियः) शुद्ध (प्रियः) प्रीति करती हुई (ताः) वे [वाणियां—मन्त्र १] (वर्चसा) प्रकाश के साथ (पृञ्चन्ती,) छूती हुई [तुझको-मन्त्र १] (अर्षन्ति) ग्रहण करती हैं । (यथा जैसे (जात्रीः) मातायें (जातम्) जने हुये बच्चों को (हृदा) हृदय से [ग्रहण करती हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को एकाग्र चित्त होकर परमात्मा की उपासना ऐसी रीति से करनी चाहिये, जैसे माता तुरन्त जनमे बालक से प्रीति करती है ॥ २ ॥

वज्रापवसाध्यः कीर्तिर्म्रियमाणमावहन् । मह्यमायुर्घृतं पयः ॥ ३ ॥

[सूचना—पदपाठ के लिये—मन्त्र १ देखो] ॥

वज्रापवसाध्यः । कीर्तिः । म्रियमाणम् । आवहन् ॥ मह्यम् । आयुः । घृतम् । पयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वज्रापवसाध्यः) शस्त्रों के शोधने वालों [उजले शस्त्र

२—(ताः) गिरः—म० १ (अर्षन्ति) ऋषी गतौ । प्राप्नुवन्ति । ग्रहणन्ति (शुभ्रियः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्मिन् । उ० ४ । ६५ । शुभ शोभायायाम्—क्मिन्, ङीप् । शुद्धाः (पृञ्चन्तीः) सम्पर्कं कुर्वन्त्यः (वर्चसा) तेजसा (प्रियः) प्रीञ् तर्पणे कान्तौ च—क्विप् । तर्पयित्र्यः (जातम्) उत्पन्नं सन्तानम् (जात्रीः) सर्वधातुभ्यः ष्ट्रन् । उ० ४ । १५६ । जन जनने-ष्ट्रन्, ङीष् । जनयित्र्यः । जनन्यः (यथा) (हृदा) हृदयेन ॥

३—(वज्रापवसाध्यः) वज्र + आ + पूञ् शोधने—अप् । ऋदोरप् । पा० ३ । ३ । ५७ । साध संसिद्धौ-ण्यत् । कृत्यल्युटो बहुलम् । पा० ३ । ३ ।

वालों] की सिद्धि करने वाला, (कीर्तिः) कीर्तिरूप [बड़े ही यश वाला, परमेश्वर] (मह्यम्) मेरे लिये (म्रियमाणम्) नष्ट होते हुये (आयुः) जीवन, (घृतम्) घी [वा जल] और (पयः) दूध [वा अन्न] को (आवहन्) यथावत् लाता हुआ है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब हम किसी विपत्ति से निर्बल होकर अति दुःखी होवें, तब हम उस जगत् पालक परमात्मा का आश्रय लेकर शत्रु आदि कर्तव्य ठीक करके कार्य सिद्धि करें ॥ २ ॥

सूचना—पं० सेवक लाल कृष्ण दास परिशोधित संहिता के अनुसार इस मन्त्र का यह पाठ है—

उग्राय यशसो धियः कीर्तिमिन्द्रियमा वहान् ।

मह्यमायुर्घृतं पयः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यशसः) यशस्वी [परमेश्वर] (उग्राय मह्यम्) मुझ तेजस्वी के लिये (धियः) बुद्धियां (कीर्तिम्) कीर्ति [बड़ाई], (इन्द्रियम्) ऐश्वर्य, (आयुः) जीवन, (घृतम्) घी [वा जल] (पयः) दूध [वा अन्न] (आ) अच्छे प्रकार (वहान्) लावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर उत्तम विद्यायें पाकर आवश्यकीय पदार्थ पावे ॥ ३ ॥

मन्त्र ४—६ सूर्यस्य भूमेर्वा गुणोपदेशः—सूर्य वा भूमि के गुणों का उपदेश ॥

---

११३ । इति कर्तरि प्रत्ययः । साध्याः साधनात्-निरु० ८ । ४० । वज्राणां शत्रूणाम् । आपद्वानां संशोधकानां साध्यः साधकः सिद्धिकर्ता (कीर्तिः) यशोरूपः परमेश्वरः (म्रियमाणम्) विनश्यमानम् (आवहन्) आ समन्ताद् वहन् प्रापयन् वर्तते (मह्यम्) उपासकाय (आयुः) जीवनम् (घृतम्) आज्यं जलं वा (पयः) दुग्धमन्नं वा ॥

३—(उग्राय) तेजस्विने (यशसः) अर्शआद्यच् । यशस्वी परमात्मा (धियः) प्रज्ञाः (कीर्तिम्) यशः (इन्द्रियम्) ऐश्वर्यम् (आ) समन्तात् (वहान्) लेट् । वहेत् । प्रापयेत् (मह्यम्) उपासकाय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन्मातरं पुरः । पितरं च प्रयन्त्स्वः ॥ ४ ॥

आ । अयम् । गौः । पृश्निः । अक्रमीत् । असदत् । मातरम् । पुरः ॥ पितरम् । च । प्र-यन् । स्वः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अयम्) यह (गौः) चलने वा चलाने वाला, (पृश्निः) रसों वा प्रकाश का छूने वाला सूर्य (आ अक्रमीत्) घूमता हुआ है, (च) और (पितरम्) पालन करने वाले (स्वः) आकाश में (प्रयन्) चलता हुआ (पुरः) सन्मुख होकर (मातरम्) सब की बनाने वाली पृथिवी माता को (असदत्) व्यापा है ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह सूर्य अन्तरिक्ष में घूमकर आकर्षण, वृष्टि आदि व्यापारों से पृथिवी आदि लोकों का उपकार करता है ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ आचुके हैं—अ० ६ । ३१ । १—३, वहां सविस्तार अर्थ देखो ॥

अन्तश्चरति रोचना अस्य प्राणादपानतः । व्यख्यन्महिषः स्वः ॥ ५ ॥

अन्तः । चरति । रोचना । अस्य । प्राणात् । अपानतः ॥ वि । अख्यत् । महिषः । स्वः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(प्राणात्) भीतर के श्वास के पीछे (अपानतः) बाहर को श्वास निकालने हुये (अस्य) इस [सूर्य] की (रोचना) रोचक ज्योति (अन्तः) [जगत् के] भीतर (चरति) चलती है, और वह (महिषः) बड़ा सूर्य (स्वः) आकाश को (वि) विविध प्रकार (अख्यत्) प्रकाशित करता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे सब प्राणी श्वास प्रश्वास से जीवित रहकर चेष्टा करते हैं, वैसे ही सूर्य प्रकाश का ग्रहण और त्याग करके लोकों को प्रकाशित करता है ॥ ५ ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० ६ । ३१ । १—३ ॥

त्रिंशद्धामा वि राजति वाक् पतङ्गो अशिश्रियत् । प्रति वस्तोरहर्द्युभिः ॥ ६ ॥

त्रिंशत् । धाम । वि । राजति । वाक् । पतङ्गः । अशिश्रियत् ॥ प्रति । वस्तोः । अहः । द्यु-भिः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(पतङ्गः) चलने वाला वा ऐश्वर्य वाला सूर्य (त्रिंशद् धामा) तीस धामों पर [दिन रात्रि के तीस मुहूर्तों पर] (वस्तोः, अहः) दिन दिन (द्युभिः) अपनी किरणों और गतियो के साथ (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (वि) विविध प्रकार (राजति) राज करता वा चमकता है, (वाक्) इस वचन ने [उस सूर्य में] (अशिश्रियत्) आश्रय लिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यह बात स्वयं सिद्ध है कि यह सूर्य सर्वदा सब ओर चमकता रहकर अपनी परिधि के सब लोकों को गमन, आकर्षण, विकर्षण, वृष्टि, शीत, ताप आदि द्वारा स्थिर रखता है ॥ ६ ॥

सूक्तम् ४९ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १—३ गायत्री; ४ पथ्या बृहती; ५, ७ सतःपङ्क्तिः, ६ निचृद् बृहती छन्दः ॥

ईश्वरोपासनोपदेशः—ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

यच्छुक्रा वाचमारुहन्नन्तरिक्षं सिषासथः । सं देवा अमदन् वृषा ॥ १ ॥

[सूचना—मन्त्र १—३ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं है, और इन का पदपाठ भी गवर्नमेन्ट बुकडिपो बम्बई के पुस्तक में नहीं है, आगे सूचना—सूक्त ४८ मन्त्र १—३ देखो ॥]

यत् । शुक्राः । वाचम् । आरुहन् । अन्तरिक्षम् । सिषासथः ॥ सम् । देवाः । अमदन् । वृषा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (वृषा) बलवान् परमेश्वर (सिषासथः)

१—(यत्) यदा (शुक्राः) समर्थाः (वाचम्) वाणीम् (आरुहन्)

दान की इच्छा करने वाला [हुआ], [तब] (शक्राः) समर्थ (देवाः) विद्वानों ने (वाचम्) वाणी [वेद वाणी] को (अन्तरिक्षम्) हृदय आकाश में (आरुहन्) बोया और (सम्) ठीक रीति से (अमदन्) आनन्द पाया ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा की दी हुयी वेदवाणी को पाकर विद्वान् लोग समर्थ होकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

सूचना—पं० सेवक लाल कृष्णदास परिशोधित संहिता में इस मन्त्र का यह पाठ है—

यच्छुक्रं वाच आरुहन्नन्तरिक्षं सिषासतीः ।

सं देवो अमदद् वृषा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (अन्तरिक्षम्) हृदय आकाश को (सिषासतीः) सेवने की इच्छा करती हुई (वाचः) वाणियां (शक्रम्) समर्थ [जीव] को (आरुहन्) प्रकट हुईं, [तब] (देवः) विजय चाहने वाले (वृषा) बलवान् पुरुष ने (सम्) ठीक ठीक (अमदत्) आनन्द पाया ॥ १ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य हृदय के भाव प्रकट करने के लिये परमेश्वर नियम से बोलने की शक्ति पाता है, तब वह व्यवहारों की सिद्धि करके सुखी होता है ॥ १ ॥

शुक्रो वाचमधृष्टायोरुवाचो अधृष्णुहि । मंहिष्ठ आ मदुर्दिवि

[सूचना—पदपाठ के लिये मन्त्र १ देखो] ॥

शुक्रः । वाचम् । अधृष्टाय । उरुवाचः । अधृष्णुहि ॥

बीजवत् स्थापितवन्तः (अन्तरिक्षम्) हृदयाकाशं प्रति (सिषासथः) शीङ्शपिरुगमि० । उ० ३।११३ । षणु दाने—सनि अथप्रत्ययः । दानेच्छुकः-आसीत् इति शेषः (सम्) सम्यक् (देवाः) विद्वांसः (अमदन्) आनन्दं प्राप्नुवन् (वृषा) बलिष्ठः परमेश्वरः ॥

१—(यत्) यदा (शक्रम्) समर्थं जीवम् (वाचः) वाण्यः (आरुहन्) प्रादुरभवन् (अन्तरिक्षम्) हृदयाकाशम् (सिषासतीः) षणु सम्भक्तौ, सन्, शतृ, ङीप् । सेवितुमिच्छन्त्यः (सम्) सम्यक् (देवः) विजिगीषुः (अमदत्) हर्षं प्राप्नोत् (वृषा) बलवान् पुरुषः ॥

मंहिष्ठः । आ । मदुर्दिवि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (शक्रः) शक्तिमान् तू (उरुवाचः) बहुत बड़ी वाणी वाले [परमेश्वर] की (वाचम्) वाणी को (अधृष्टाय) डरे हुये पुरुष के लिये (अधृष्णुहि) मत शक्तिहीन कर। वह [परमेश्वर] (मदर्दिवि) दीनता जीतने में (आ) सब ओर से (मंहिष्ठः) अत्यन्त उदार है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष दीन हीन पुरुषों के सुधार के लिये संकोच छोड़ कर शक्तिमती वेदवाणी का उपदेश करें, क्योंकि परमात्मा उद्योगी के लिये महादानी है ॥ २ ॥

सूचना—पं० सेवक लाल कृष्णादास परिशोधित संहिता में इस मन्त्र का यह पाठ है—

शक्रं वाचाभिष्टुहि घोरं वाचाभिष्टुहि ।
मंहिष्ठ आ मदद्दिवि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (वाचा) वाणी से (शक्रम्) शक्तिमान् [परमेश्वर] की (अभिष्टुहि) सब ओर से बड़ाई कर, (वाचा) वाणी से (घोरम्) भयङ्कर [विघ्ननाशक] की (अभिष्टुहि) सब प्रकार स्तुति कर। (मंहिष्ठः) वह अत्यन्त उदार (दिवि) जीतने की इच्छा में (आ) सब ओर से (मदत्)-आनन्द दाता है ॥ २ ॥

२—(शक्रः) शक्तिमांस्त्वम् (वाचम्) वाणीम् (अधृष्टाय) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्त। अप्रगल्भाय भयभीताय (उरुवाचः) विस्तीर्णवाणीयुक्तस्य परमेश्वरस्य (अधृष्णुहि) नञ्+धृष शक्तिबन्धे-लोट्। नञ्। पा० २। २। ६। इति नञ् तत्पुरुषसमासः। नञो नलोपस्तिङि क्षेपे। वा०। पा० २। २। ६ तिङा सह समासे नञो नलोपः। शक्तिहीनां मा कुरु (मंहिष्ठः) अतिशयेन दाता (आ) समन्तात् (मदर्दिवि) प्राततेररन्। उ० ५। ५६। मदी हर्षग्लेपनयोः—अरन्, ग्लेपन।दैन्यम्+दिवु विजिगीषायाम्—डिवि। दैन्यस्य विजिगीषायाम् ॥

२—(शक्रम्) शक्तिमन्तं परमात्मानम् (वाचा) वाण्या (अभिष्टुहि) सर्वतः प्रशंस (घोरम्) भयङ्करम्। विघ्ननाशकम् (वाचा)(अभिष्टुहि) (मंहिष्ठः) अतिशयेन दाता (आ) समन्तात् (मदत्) संश्चत्तृपद्वेहत्। उ०२। ८५। मदी- तर्पणे—अतिप्रत्ययः। आनन्दयिता (दिवि) विजिगीषायाम् ॥

भावार्थ—मनुष्य अनेक विद्यायें प्राप्त कर के जगदीश्वर परमात्मा के गुणों का ग्रहण करके संसार में विजयी होकर सुख पावें ॥ २ ॥

शुक्रो वाचमधृष्णुहि धामधर्मन् वि राजति । विमदन् बर्हिरासरन् ॥ ३ ॥

[सूचना—पदपाठ के लिये मन्त्र १ देखो] ॥

शुक्रः । वाचम् । अधृष्णुहि । धाम । धर्मन् । वि । राजति ॥ विमदन् । बर्हिः । आसरन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (शुक्रः) शक्तिमान् तू (वाचम्) वाणी [वेदवाणी] को (अधृष्णुहि) मत शक्तिहीन कर, वह [परमात्मा] (विमदन्) विशेष रीति से आनन्द करता हुआ, (बर्हिः) उत्तम आसन (आसरन्) पाता हुआ (धाम) धाम धाम [जगह जगह] और (धर्मन्) धर्म धर्म [प्रत्येक धारण करने योग्य कर्तव्य व्यवहार] में (वि राजति) विराजता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—समर्थ विद्वान् पुरुष वेदवाणी के उपदेश से शक्ति बढ़ावे, वह आनन्द स्वरूप परमात्मा अन्तर्यामी होकर सब को शक्ति देता है ॥ ३ ॥

सूचना—प० सेवकलाल कृष्णदास परिशोधित संहिता में इस मन्त्र का यह पाठ है—

शुक्रं वाचाभि ष्टुहि धामन्धामन् विराजति । विमदन् बर्हिरा सन् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (वाचा) वाणी से (शुक्रम्) शक्तिमान् [परमेश्वर] की (अभि ष्टुहि) सब ओर से बड़ाई कर, वह [परमात्मा] (विमदन्)

३—(शुक्रः) शक्तिमांस्त्वम् (वाचम्) वेदवाणीम् (अधृष्णुहि) म०२। शक्तिहीनां मा कुरु (धाम) धाम्नि धाम्नि। प्रत्येकस्थाने (धर्मन्) धर्मणि धर्मणि। प्रत्येकधारणीये कर्तव्ये व्यवहारे (वि) विविधम् (राजति) शोभते (विमदन्) विशेषेण हृष्यन् (बर्हिः) उत्तमासनम् (आसरन्) प्राप्नुवन् ॥

३—(शुक्रम्) शक्तिमन्तं परमात्मानम् (वाचा) (अभि ष्टुहि) (धाम)

विशेष रीति से आनन्द करता हुआ (बर्हिः) उत्तम आसन पर (आ सदन्) बैठा हुआ (धामन्धामन्) धाम धाम [जगह जगह] में (वि राजति) विराजता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य घट घट वासी परमात्मा का सदा ध्यान रख कर अपनी अवस्था सुधारता रहे ॥ ३ ॥

तं वो॑ दुस्ममृ॑ती॒षहं॒ वसो॑र्म॒न्दा॒नमन्ध॑सः । अ॒भि व॒त्सं न स्वस॑रेषु धे॒नव॒ इन्द्रं॑ गी॒र्भिर्न॑वामहे ॥ ४ ॥

तम् । वः॒ । द॒स्मम् । ऋ॒ति-सह॑म् । वसोः॑ । म॒न्दा॒नम् । अन्ध॑सः ॥ अ॒भि । व॒त्सम् । न । स्वस॑रेषु । धे॒नवः॑ । इन्द्र॑म् । गीः॒-भिः । न॒वा॒म॒हे॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (दस्मम्) दर्शनीय, (ऋतिषहम्) शत्रुओं के हराने वाले, (वसोः) धन से और (अन्धसः) अन्न से (मन्दमानम्) आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (गीर्भिः) वाणियों से (अभि) सब प्रकार (नवामहे) हम सराहते हैं, (न) जैसे (धेनवः) गौयें (स्वसरेषु) घरों में [वर्तमान] (वत्सम्) बछड़े को [हिङ्कारती हैं] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अनेक धन और अन्न आदि देकर हमें तृप्त करता है, उसे ऐसी प्रीति से हम स्मरण करें, जैसे गौयें दोहने के समय घर में बंधे छोटे बच्चों को पुकारती हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ४–७ ऊपर आचुके हैं—अ० २० । ९ । १–४ ॥

द्यु॒क्षं सु॒दानुं॒ तवि॑षीभि॒रावृ॑तं गि॒रिं न पु॑रु॒भोज॑सम् । क्षु॒मन्तं॒ वाजं॑ श॒तिनं॑ सह॒स्रिणं॑ म॒क्षू गोम॑न्तमीमहे ॥ ५ ॥

धामन्) । धामनि धामनि । प्रत्येकस्थाने (वि) विशेषेण (राजति) शोभते (विमक्षन्) विशेषेण हृष्यन् (बर्हिः) उत्तमासनम् (आ सदन्) आतिष्ठन् ॥

४—७ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ९ । १—४ ॥

द्युक्षम् । सु-दानुम् । तविषीभिः । आ-वृतम् । गिरिम् । न । पुरु-भोजसम् ॥ क्षु-मन्तम् । वाजम् । शतिनम् । सहस्रिणम् । मक्षु । गो-मन्तम् । ईमहे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(द्युक्षम्) व्यवहारों में गति वाले, (सुदानुम्) बड़े दानी, (तविषीभिः) सेनाओं से (आवृतम्) भरपूर, (गिरिम् न) मेघ के समान (पुरुभोजसम्) बहुत पालन करने वाले, (क्षुमन्तम्) अन्न वाले, (वाजम्) बल वाले, (शतिनम्) सैकड़ों उत्तम पदार्थों वाले, (सहस्रिणम्) सहस्रों श्रेष्ठ गुण वाले, (गोमन्तम्) उत्तम गौओं वाले [शूर पुरुष] को (मक्षु) शीघ्र [इन्द्र परमात्मा से] (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा से प्रार्थना करके प्रयत्न करें कि वे अपने सन्तानों अधिकारियों और प्रजाजनों सहित शूर वीर होकर व्यवहार कुशल होवें ॥ ५ ॥

तत् त्वा यामि सुवीर्यं तद् ब्रह्म पूर्वचित्तये । येना यतिभ्यो भृगवे धने हिते येन प्रस्कण्वमाविथ ॥ ६ ॥

तत् । त्वा । यामि । सु-वीर्यम् । तत् । ब्रह्म । पूर्व-चित्तये ॥ येन । यति-भ्यः । भृगवे । धने । हिते । येन । प्रस्कण्वम् । आविथ ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (त्वा) तुझ से (तत्) वह (सुवीर्यम्) बड़ा वीरत्व और (तत्) वह (ब्रह्म) बढ़ता हुआ अन्न (पूर्वचित्तये) पहिले ज्ञान के लिये (यामि) मैं मांगता हूं। (येन) जिस [वीरत्व और अन्न] से (धने हिते) धन के स्थापित होने पर (यतिभ्यः) यतियों [यत्नशीलों] के लिये (भृगवे=भृगुम्) परिपक्व ज्ञानी को और (येन) जिस से (प्रस्कण्वम्) बड़े बुद्धिमान् पुरुष को (आविथ) तू ने बचाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को परमात्मा की उपासना कर के पुरुषार्थ के साथ पराक्रमी, अन्नवान् और धनी होना चाहिये, जिस के अनुकरण से प्रयत्न शील पुरुष सुरक्षित रहें ॥ ६ ॥

येना॑ समु॒द्रमसृ॑जो म॒हीर॒पस्तदि॑न्द्र॒ वृष्णि॑ ते॒ शवः॑ । स॒द्यः सो अ॑स्य महि॒मा न सं॒नशे॒ यं क्षो॒णीर॑नुचक्र॒दे ॥ ७ ॥

येन॑ । स॒मु॒द्रम् । असृ॑जः । म॒हीः । अ॒पः । तत् । इ॒न्द्र॒ । वृष्णि॑ । ते॒ । शवः॑ ॥ स॒द्यः । सः । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मा । न । स॒म्-नशे॑ । यम् । क्षो॒णीः । अ॒नु॒-च॒क्र॒दे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(येन) जिस [बल] से (समुद्रम्) समुद्र में (महीः) शक्ति वाले (अपः) जलों को (असृजः) तू ने उत्पन्न किया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (तत्) वह (ते) तेरा (वृष्णि) पराक्रम युक्त (शवः) बल है । (सद्यः) अभी (अस्य) उस [परमात्मा] की (सः) वह (महिमा) महिमा [हम से] (न) नहीं (संनशे) पाने योग्य है, (यम्) जिस [परमात्मा] को (क्षोणीः) लोकों ने (अनुचक्रदे) निरन्तर पुकारा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने मेघमण्डल में और पृथिवी पर जलादि पदार्थ और सब लोकों को उत्पन्न करके अपने वश में रक्खा है, उस की महिमा की सीमा को सृष्टि में कोई भी नहीं पा सकता ॥ ७ ॥

सूक्तम् ५० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ आर्ष्यनुष्टुप्; २ सतः पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरस्य महिमोपदेशः—परमेश्वर की महिमा का उपदेश ॥

कन्न॒व्यो अ॑त॒सीनां॑ तु॒रो गृ॑णीत॒ मर्त्यः॑ । न॒ही न्व॑स्य महि॒मान॑मिन्द्रि॒यं स्व॑र्गृ॒णन्त॑ आन॒शुः ॥ १ ॥

कत् । नव्यः॑ । अ॒त॒सीना॑म् । तु॒रः । गृ॒णी॒त॒ । मर्त्यः॑ ॥ न॒हि । नु । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मान॑म् । इ॒न्द्रि॒यम् । स्वः॑ । गृ॒णन्तः॑ । आ॒न॒शुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अतसीनाम्) सदा चलती हुई [सृष्टियों] के (तुरः) वेग देने वाले [परमात्मा] के (नव्यः) अधिक नवीन कर्म को (मर्त्यः) मनुष्य (कत्) कैसे (गृणीत) बता सके ? (नु) क्या (अस्य) उस की (महिमानम्) महिमा और (इन्द्रियम्) इन्द्रपन [परम ऐश्वर्य] को (गृणन्तः) वर्णन करते हुये पुरुषों ने (स्वः) आनन्द (नहि) नहीं (आनशुः) पाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—यद्यपि अल्पज्ञ मनुष्य सब सृष्टियों के चलाने वाले जगदीश्वर के अनन्त गुणों को नहीं जान सकता, तो भी वह उसको महिमा और परम ऐश्वर्य को विचारते विचारते और पुरुषार्थ करते करते अवश्य आनन्द पाता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ३ । १३, १४ ॥

कदु स्तुवन्त ऋतयन्त देवत ऋषिः को विप्र ओहते । कदा हवं मघवन्निन्द्र सुन्वतः कदु स्तुवत आ गमः ॥ २ ॥

कत् । ऊं इति । स्तुवन्तः । ऋत-यन्त । देवता । ऋषिः । कः । विप्रः । ओहते ॥ कदा । हवम् । मघ-वन् । इन्द्र । सुन्वतः । कत् । ऊं इति । स्तुवतः । आ । गमः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कत् उ) कैसे ही (स्तुवन्तः) स्तुति करने वाले लोगों ने

१—(कत्) कथम् (नव्यः) अ० २० । ३६ । ७ । नवीयः । नवतरं कर्म (अतसीनाम्) अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । अत सातत्यगमने—असच्, गौरादित्वाद् ङीष् । संततगामिनीनां सृष्टीनाम् (तुरः) तुर वेगे—क्विप् । प्रेरकस्य परमेश्वरस्य (गृणीत) गॄ विज्ञापे—लिङ् । गारयेत । वर्णयेत (मर्त्यः) मनुष्यः (नहि) न कदापि (नु) प्रश्ने (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमानम्) महत्त्वम् (इन्द्रियम्) इन्द्रलिङ्गम् । परमैश्वर्यम् (स्वः) सुखम् (गृणन्तः) स्तुवन्तो जनाः (आनशुः) अश्नोतेर्लिटि परस्मैपदं छान्दसम् । प्रापुः ॥

२—(कत्) कथम् (उ) एव (स्तुवन्तः) स्तुतिं कुर्वन्तः (ऋतयन्त) सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । ऋत—क्यच्, आत्मनेपदत्वम्, ईत्व दीर्घा

(ऋतयन्त) सत्य धर्म को चाहा है ? (देवता) विद्वानों में (कः) कौन (ऋषिः) ऋषि [धर्म का साक्षात् करने वाला], (विप्र) बुद्धिमान् पुरुष (ओहते) सब प्रकार से विचार करे ? (मघवन्) हे अति पूजनीय ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (सुन्वत.) तत्त्व निचोड़ने वाले, (स्तुवतः) स्तुति करने वाले को (हवम्) पुकार को (कदा) कब और (कत्) कैसे (उ) निश्चय कर के (आ) सब प्रकार से (गमः) तू पहुंचा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जब ऋषि महात्मा भी परमात्मा को ठीक ठीक नहीं पहुंचते, तो हम अल्पज्ञ होकर उस तक कैसे पहुंचे ? हम ऐसी शङ्का करने लगते है । परन्तु परमात्मा अपनी शक्तिमत्ता से अपने भक्तों की पुकार सदा सुनता है, यह सोच कर हम अवश्य उसके लिये पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

भगवान् यास्कमुनि ने कहा है—धर्म के साक्षात् करने वाले ऋषि हुये, उन्हों ने छोटे, धर्म के साक्षात् न करने वालों को उपदेश द्वारा मन्त्र दिये थे—निरु० १ । २० ॥

सूक्तम् ५१ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती, २ आर्षी पङ्क्तिः ३ निचृत् पथ्या बृहती; ४ सतः पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

अभि प्र वः सुराधसमिन्द्रमर्च यथा विदे । यो जरितृभ्यो मघवा पुरूवसुः सहस्रेणेव शिक्षति ॥ १ ॥

भावोऽभावश्च छान्दसः । अर्तीयन् । ऋतं सत्यधर्ममैच्छन् (देवता) देवतासु । विद्वत्सु (ऋषिः) मन्त्रार्थद्रष्टा । ऋषिर्दर्शनात्—निरु० १ । ११ । साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रा न्सम्प्रादुः—निरु० १ । २० (कः) (विप्रः) मेधावी (ओहते) समन्तादूहते तर्कयति (कदा) कस्मिन् काले (हवम्) आह्वानम् (मघवन्) हे बहुपूजनीय (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सुन्वतः) तत्त्वरस संस्कुर्वतः (कत्) कथम् (उ) एव (स्तुवतः) स्तुतिं कुर्वतः पुरुषस्य (आ) समन्तात् (गमः) अगमः । प्राप्तवानसि ॥

अभि । प्र । वः । सु-राधसम् । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ॥ यः । जरितृभ्यः । मघ-वा । पुरु-वसुः । सहस्रेण-इव । शिक्षति ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (सुराधसम्) सुन्दर धनों के देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (वः) स्वीकार कर और (यथा) जैसा (विदे) वह है [वैसा उसे] (अर्च) पूज । (यः) जो (मघवा) पूजनीय, (पुरुवसुः) बड़ा धनी [परमेश्वर] (जरितृभ्यः) स्तुति करने वालों को (सहस्रेण इव) सहस्र प्रकार से (शिक्षति) देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने हमें अनेक सुख दिये है, उस के गुणों को मनुष्य यथावत् जानकर उसकी सदा उपासना करे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ४९ । १, २ [सायणभाष्य, परिशिष्ट, वालखिल्य १ । १, २] । सामवेद—उ० २ । १ । १३ तथा मन्त्र १ पू० ३ । ५ । ३ ॥

शतानीकेव प्र जिगाति धृष्णुया हन्ति वृत्राणि दाशुषे ।
गिरेरिव प्र रसा अस्य पिन्विरे दत्राणि पुरुभोजसः ॥ २ ॥

शतानीका-इव । प्र । जिगाति । धृष्णु-या । हन्ति । वृत्राणि दाशुषे ॥ गिरेः-इव । प्र । रसाः । अस्य । पिन्विरे । दत्राणि । पुरु-भोजसः ॥ २ ॥

१—(अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (वः) वृञ् वरणे स्वीकरणे—लोडर्थे लुङ् । मन्त्रे घस० । पा० २ । ४ । ८० । च्लेर्लुक् । बहुलं छन्दस्यमाङ्योगेऽपि । पा० ६ । ४ । ७५ । अडभावः । वृणु । स्वीकुरु (सुराधसम्) सु शोभनानि राधांसि धनानि यस्मात् तम् । बहुधनदातारम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (अर्च) पूजय (यथा) येन प्रकारेण (विदे) अ० २० । २२ । ४ । विद्यते सः (यः) परमेश्वरः (जरितृभ्यः) स्तोतृभ्यः (मघवा) पूजनीयः (पुरुवसुः) प्रभूतधनः (सहस्रेण) बहुप्रकारेण (इव) पादपूरणः (शिक्षति) ददाति—निघ० ३ । २० ॥

भाषार्थ—(शतानीका इव) सैकड़ों सेना वाले [सेनापति] के समान (धृष्णुया) निर्भय [परमेश्वर] (प्र जिगाति) आगे बढ़ता है और (वृत्राणि) शत्रुओं को (दाशुषे) दाता [आत्मदानी उपासक] के लिये (हन्ति) मारता है । (गिरेः) पहाड़ से (रसाः इव) जलों के समान (अस्य) इस (पुरुभोजसः) बहुत भोजन वाले [परमेश्वर] के (दत्राणि) दानों को (प्र पिन्विरे) सींचते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में आत्म समर्पण कर के धन धान्य आदि बढ़ा कर आनन्द भोगें ॥ २ ॥

प्र सु श्रुतं सुराधसमर्चा शुक्रमभिष्टये । यः सुन्वते स्तुवते काम्यं वसु सहस्रेणेव मंहते ॥ ३ ॥

प्र । सु । श्रुतम् । सु-राधसम् । अर्च । शुक्रम् । अभिष्टये ॥ यः । सुन्वते । स्तुवते । काम्यम् । वसु । सहस्रेण-इव । मंहते ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सु श्रुतम्) बड़े विख्यात, (सुराधसम्) सुन्दर धनों के देने वाले, (शक्रम्) शक्तिमान् [परमेश्वर] को (अभिष्टये) अभीष्ट सिद्धि के लिये (प्र अर्च) अच्छे प्रकार पूज । (यः) जो [परमात्मा] (सुन्वते)

२—(शतानीका) विभक्तेराकारः । शतान्यनेकानि सेनादलानि यस्य स शतानीकः सेनापतिः (इव) यथा (प्र)(जिगाति) गच्छति—निघ० २ । १४ (धृष्णुया) सुपां सुलुक् । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्याच । धृष्णुः । निर्भयः परमेश्वरः (हन्ति) नाशयति (वृत्राणि) आवरकान् । शत्रून् (दाशुषे) आत्मसमर्पकाय जनाय (गिरेः) पर्वतात् (इव) यथा (प्र) (रसाः) जलानि (अस्य) (पिन्विरे) पिवि प्रीणने सेचने च—लडर्थे लिट् । सिञ्चन्ति (दत्राणि) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । डु दाञ् दाने—क्त्र । दो दद् घोः । पा० ७ । ४ । ४६ । इति दद्भावः, यद्वा । दद दाने—क्त्र । दानानि (पुरुभोजसः) बहुभोजनयुक्तस्य ॥

३—(प्र) प्रकर्षेण (सु) सुष्ठु (श्रुतम्) विख्यातम् (सुराधसम्) म० १ । बहुधनदातारम् (अर्च) (शक्रम्) शक्तिमन्तम् (अभिष्टये) अभीष्टसिद्धये (यः) परमेश्वरः (सुन्वते) तत्त्वं संस्कुर्वते (स्तुवते) स्तुतिं कुर्वते

तत्त्व निचोड़ने वाले, (स्तुव्रते) स्तुति करने वाले को (काम्यम्) मन भावना (वसु) धन (सहस्रेण इव) सहस्र प्रकार से (मंहते) देता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अनन्त भण्डार से अपने सेवकों की कामनायें पूरी करता है ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८ । ५० । १, २ [सायणभाष्य परिशिष्ट, वालखिल्य] । १, २ ॥

श॒तानी॑का हे॒तयो॑ अस्य दु॒ष्टरा॒ इन्द्र॑स्य स॒मिषो॑ म॒हीः ।
गि॒रिर्न भु॒ज्मा म॒घव॑त्सु पिन्वते॒ यदीं॑ सु॒ता अम॑न्दिषुः ॥ ४ ॥

शत-अ॒नीकाः । हे॒तयः॑ । अ॒स्य॒ । दु॒स्तराः॑ । इन्द्र॑स्य । स॒म्-इषः॑ । म॒हीः ॥ गि॒रिः । न । भु॒ज्मा । म॒घव॑त्-सु । पिन्व॒ते । यत् । ई॒म् । सु॒ताः । अम॑न्दिषुः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] की (महीः) पूजनीय (समिषः) यथावत् इच्छायें (शतानीकाः) सैकड़ों सेना दलों में वर्तमान (हेतयः) बाणों के समान (दुष्टराः) दुस्तर [अजेय] हैं । (गिरिः न) मेघ के समान, वह [परमात्मा] (भुज्मा) भोग्य पदार्थों को (मघवत्सु) गति वालों पर (पिन्वते) सींचता है, (यत्) जबकि (सुताः) पुत्र [के समान उपासक] (ईम्) प्राप्ति योग्य [परमेश्वर] को (अमन्दिषुः) प्रसन्न कर चुके ॥ ४ ॥

(काम्यम्) कमनीयम् । मनोहरम् (वसु) धनम् (सहस्रेण इव) म० १ (मंहते) ददाति—निघ० ३ । २० ॥

४—(शतानीकाः) शतेषु सैन्येषु वर्तमाना यथा (हेतयः) बाणाः (अस्य) (दुष्टराः) दुःखेन तरणीयाः । अजेयाः (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (समिषः) सम्यग् इच्छाः (महीः) महत्यः (गिरिः) मेघः—निघ० १ । १० (न) यथा (भुज्मा) इषियुधीन्धि० । उ० १ । १४५ । भुज पालनाभ्यवहारयोः—मक् । भुज्मानि । भोग्यवस्तूनि (मघवत्सु) मघ मघी गतौ आरम्भे च—अच् । गतिमत्सु । उद्योगिषु (पिन्वते) सिञ्चति (यत्) यदा (ईम्) ई गतिकान्त्यादिषु—क्विप् । प्राप्तव्यं परमेश्वरम् (सुताः) पुत्रा इवोपासकाः (अमन्दिषुः) हर्षितं कृतवन्तः ॥

भावार्थ—परमात्मा की अनन्त शक्तियां दुष्टों वा दोषों को इस प्रकार नाश करती हैं, जैसे बड़े सेनापति के हथियार। और जो उद्योगी उपासक उसकी आज्ञा मानते हैं, उन को वह मेह के समान अवश्य अत्यन्त सुख देता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती ॥

परमात्मोपासनोपदेशः—परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

व॒यं घ॑ त्वा सु॒तावं॑न्त॒ आपो॒ न वृ॒क्तब॑र्हिषः ।
प॒वित्र॑स्य प्र॒स्रव॑णेषु वृत्रह॒न् परि॑ स्तो॒तार॑ आसते ॥ १ ॥
व॒यम् । घ॒ । त्वा॒ । सु॒त-व॑न्तः । आपः॑ । न । वृ॒क्त-ब॑र्हिषः ॥
प॒वित्र॑स्य । प्र॒-स्रव॑णेषु । वृ॒त्र-ह॒न् । परि॑ । स्तो॒तारः॑ । आ॒स॒ते १

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक ! [परमात्मन्] (सुतवन्तः) तत्त्व के धारण करने वाले, (वृक्तबर्हिषः) हिंसा त्यागने वाले [अथवा वृद्धि पाने वाले विद्वान्], (स्तोतारः) स्तुति करने वाले (वयम्) हम लोग (घ) निश्चय करके (त्वाम) तुझ को (परि आसते) सेवते हैं, (पवित्रस्य) शुद्ध स्थान के (प्रस्रवणेषु) झरनों में (आपः न) जैसे जल [ठहरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—तत्त्वग्राही विद्वान् लोग उस परमात्मा के ही ध्यान में शान्ति पाते हैं, जैसे बहता हुआ पानी शुद्ध चौरस स्थान में आकर ठहर जाता है ॥१॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ३३ । १-३ ; सामवेद उ० २ । २ । तृच १२ और आगे है—अथर्व० २० । ५७ । १४-१६, तथा मन्त्र १ साम० पू० ३ । ७ । ६ ॥

१—(वयम्) उपासकाः (घ) एव (त्वा) त्वाम् (सुतवन्तः) तत्त्वस्य धारकाः (आपः) जलानि (न) यथा (वृक्तबर्हिषः) वृजी वर्जने-क्त । श्वीदितो निष्ठायाम्-इट् प्रतिषेधः । बृहेर्नलोपश्च । उ० २ । १०६ । बर्ह परिभाषणहिंसाच्छादनेषु-इसि यद्वा वृक आदाने—क्त + बृहि वृद्धौ—इसि, नलोपः । त्यक्तहिंसाः । प्राप्तवृद्धयः । ऋत्विजः-निघ० ३ । १८ (पवित्रस्य) शुद्धदेशस्य (प्रस्रवणेषु) निर्झरेषु (वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक (परि) सर्वतः (स्तोतारः) स्तावकाः (परि आसते) उत्तमपुरुषस्य प्रथमपुरुषः । उपास्महे । सेवामहे ॥

स्वरन्ति त्वा सुते नरो वसो निरेक उक्थिनः ।
कदा सुतं तृषाण ओक आ गम इन्द्र स्वब्दीव वंसगः ॥२॥
स्वरन्ति । त्वा । सुते । नरः । वसो इति । निरेके । उक्थिनः ॥
कदा । सुतम् । तृषाणः । ओकः । आ । गमः । इन्द्र । स्वब्दी-इव । वंसगः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ ! [परमात्मन्] (उक्थिनः) कहने योग्य वचनों वाले (नरः) नर [नेता लोग] (निरेके) निःशङ्क स्थान में (सुते) सार पदार्थ के निमित्त (त्वा) तुझ को (स्वरन्ति) पुकारते हैं—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (कदा) कब (तृषाणः) प्यासे [के समान] तू (सुतम्) पुत्र को (ओकः) घर में (आ गमः) प्राप्त होगा, (स्वब्दी इव) जैसे सुन्दर जल देने वाला मेघ (वंसगः) सेवनीय पदार्थों का प्राप्त कराने वाला [होता है] ॥ २ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य सार पदार्थ पाने के लिये परमात्मा की भक्ति निर्भय होकर करता है, परमात्मा उस को इस प्रकार चाहता है जैसे प्यासा जल को, और जगदीश्वर इस प्रकार उस का उपकार करता है, जैसे सूखा के पीछे मेह आनन्द देता है ॥ २ ॥

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् ।
पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ ३ ॥

२—(स्वरन्ति) शब्दायन्ते । आह्वयन्ति (त्वा) त्वाम् (सुते) सारपदार्थनिमित्ते (नरः) मनुष्याः (वसो) हे श्रेष्ठ (निरेके) रेक शङ्कायाम्—अच् । निःशङ्कस्थाने (उक्थिनः) वक्तव्यवचनोपेताः (कदा) (सुतम्) पुत्रम् (तृषाणः) युधिबुधिदृशः किच्च । उ० २ । ९० । ञि तृषा पिपासायाम्—आनच्, कित् । पिपासुरिव (ओकः) गृहम् (आ गमः) आगच्छेः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (स्वब्दी) सु+अप्+ददातेः—क, स्वब्द—इनि । सु शोभनानाम् अपां जलानां दानवान् मेघः (इव) यथा (वंसगः) अ० १८ । ३ । ३६ । वन संभक्तौ—सप्रत्ययः+गमयतेर्डः । सेवनीयपदार्थानां प्रापयिता ॥

कण्वेभिः । धृष्णो इति । आ । धृषत् । वाजंम् । दर्षि । सह्स्रिणंम् ॥ पिशङ्ग-रूपम् । मघ-वन् । वि-चर्षणे । मक्षु । गो-मन्तम् । ईमहे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निर्भय ! [परमात्मन्] (धृषत्) दृढ़ता से (कण्वेभिः) बुद्धिमानों करके [किये हुये] (सहस्रिणम्) सहस्रों आनन्द वाले (वाजम्) वेग का (आ दर्षि) तू आदर करता है । (मघवन्) हे धन वाले ! (विचर्षणे) हे दूरदर्शी ! (पिशङ्गरूपम्) अवयवों को रूप देने वाले, (गोमन्तम्) वेदवाणी वाले [तुझ] से (मक्षु) शीघ्र (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा परमाणुओं से सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों का बनाने वाला है, उस निर्भय की उपासना से मनुष्य धर्मात्मा होकर निर्भय होवें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या बृहती छन्दः ॥

सेनानीलक्षणोपदेशः—सेना पति के लक्षणों का उपदेश ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे ।
अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ १ ॥

कः । ईम् । वेद । सुते । सचा । पिबन्तम् । कत् । वयः । दधे ॥ अयम् । यः । पुरः । वि-भिनत्ति । ओजसा । मन्दानः ।

३—(कण्वेभिः) मेधाविभिः (धृष्णो) हे प्रगल्भ (आ) (धृषत्) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये—अति, विभक्तेर्लुक् । निर्भयत्वेन (वाजम्) वेगम् । पौरुषम् (दर्षि) दृङ् आदरे— लट्, अदादित्वं छान्दसम् । आद्रियसे । सत्कारेण गृह्णासि (सहस्रिणम्) सहस्रहर्षोपेतम् (पिशङ्गरूपम्) अ० ६ । ४ । २२ । पिश अवयवे —अङ्गच् + रूप रूपकरणे—अच् । अवयवानां रूपकर्तारम् (मघवन्) हे धनवन् (विचर्षणे) अ० २० । ५ । १ । हे बहुदर्शिन् (मक्षु) शीघ्रम् (गोमन्तम्) वेदवाणीयुक्तम् (ईमहे) याचामहे ॥

शिप्री । अन्धसः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन (सचा) नित्य मेल के साथ-(सुते) तत्त्व रस (पिबन्तम्) पीते हुये (ईम्) प्राप्ति योग्य [सेनापति] को (वेद) जानता है? (कत्) कितना (वयः) जीवन सामर्थ्य [पराक्रम] (दधे) वह रखता है? (अयम्) यह (यः) जो (शिप्री) दृढ़ जावड़े वाला, (अन्धसः) अन्न का (मन्दानः) आनन्द देने वाला [वीर] (ओजसा) बल से (पुरः) दुर्गों को (विभिनत्ति) तोड़ देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी पुरुष के शरीर बल और बुद्धिबल की थाह सामान्य मनुष्य नहीं जानते, वह नीतिज्ञ अन्न आदि पदार्थ एकत्र करके वैरियों को जीतता है ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ३३ । ७—९, सामवेद—उ० ८ । २ । तृच १५, आगे है—अथ० २ । ५७ । ११—१३, मन्त्र १ सामवेद—पू० ४ । १ । ५ ॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे ।
नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ २ ॥

दाना । मृगः । न । वारणः । पुरु-त्रा । चरथम् । दधे ॥ नकिः । त्वा । नि । यमत् । आ । सुते । गमः । महान् । चरसि । ओजसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (मृगः) जंगली (वारणः) हाथी (दाना) मद के कारण (पुरुत्रा) बहुत प्रकार से (चरथम्) झपट (दधे) लगाता है।

१—(कः) सामान्यपुरुषः (ईम्) प्राप्तव्यं सेनापतिम् (वेद) वेत्ति (सुते) सुतम् । तत्त्वरसम् (सचा) समवायेन । नित्यसम्बन्धेन (पिबन्तम्) (कत्) कियत् परिमाणम् (वयः) जीवनसामर्थ्यम् । पराक्रमम् (दधे) लडर्थे लिट् । धारयति (अयम्) (यः) (पुरः) नगराणि । दुर्गाणि (विभिनत्ति) विशेषेण छिनत्ति (ओजसा) बलेन (मन्दानः) अ० २० । ६ । १ । आमोदयिता (शिप्री) अ० २० । ४ । १ । दृढहनुः (अन्धसः) अन्नस्य ॥

२—(दाना) दानेन । मदजलेन (मृगः) वनचरः (न) यथा (वारणः गजः (पुरुत्रा) बहुप्रकारेण (चरथम्) शीघ्रग्पिकमि । उ० ३ । ११३ । चरते-

[वैसे ही] (नकिः) कोई नहीं (त्वा) तुझे (नि यमत्) रोक सकता, (सुते) तत्त्व/रस को (आ गमः) तू प्राप्त हो, (महान्) महान् होकर तू (ओजसा) बल के साथ (चरसि) विचरता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे बन का मदमत्त हाथी सब ओर बेरोक घूम कर उपद्रव मचाता है, वैसे ही नीतिज्ञ सेनापति तत्त्व विचार कर शत्रुओं को शीघ्र दबावे ॥ २ ॥

य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः ।

यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥ ३ ॥

यः । उग्रः । । सन् । अनिः-स्तृतः । स्थिरः । रणाय । संस्कृतः ॥

यदि । स्तोतुः । मघ-वा । शृणवत् । हवम् । न । इन्द्रः ।

योषति । आ । गमत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [वीर] (उग्रः) प्रचण्ड, (अनिष्टृतः) कभी न हराया गया, (स्थिरः) दृढ़ (सन्) होकर (रणाय) रण के लिये (संस्कृतः) संस्कार किये हुये है। (यदि) यदि (मघवा) वह महाधनी (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (स्तोतुः) स्तुति करने वाले की (हवम्) पुकार (शृणवत्) सुने, [तो] (न योषति) वह अलग न रहे, [किन्तु] (आ गमत्) आता रहे ॥ ३ ॥

अथप्रत्ययः । संचरणम् (दधे) धरति (नकिः) न कोऽपि (त्वा) त्वाम् (नि यमत्) नियच्छति (आ) (सुते) तत्वरसम् (गमः) प्राप्नुहि (महान्) (चरसि) (ओजसा) ॥

३—(यः) वीरः (उग्रः) प्रचण्डः (सन्) भवन् (अनिष्टृतः) अ+निः+स्तृञ् आच्छादने हिंसायां च—क । स्तृणातिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । न कदापि हिंसितः (स्थिरः) दृढः (रणाय) युद्धाय (संस्कृतः) कृतसंस्कारः । सन्नद्धः (यदि) सम्भावनायाम् (स्तोतुः) (मघवा) महाधनी (शृणवत्) शृणुयात् (हवम्) आह्वानम् (न) निषेधे (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सेनापतिः (योषति) यु मिश्रणामिश्रणयोः—लेट् । पृथग् भवेत् (आगमत्) आ गच्छेत् ॥

भावार्थ—प्रतापी अजेय, युद्ध कुशल सेनापति प्रजा की पुकार को सदा ध्यान देकर सुनता रहे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५४ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ स्वराड् जगती; २, ३ निचृद् बृहती ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

विश्वाः पृतना अभिभूतरं नरं सजूस्ततक्षुरिन्द्रं जजनुश्च राजसे। क्रत्वा वरिष्ठं वर आमुरिमुतोग्रमोजिष्ठं तवसं तरस्विनम् ॥ १ ॥

विश्वाः। पृतनाः। अभि-भूतरम्। नरम्। स-जूः। ततक्षुः। इन्द्रम्। जजनुः। च। राजसे ॥ क्रत्वा। वरिष्ठम्। वरे। आ-मुरिम्। उत। उग्रम्। ओजिष्ठम्। तवसम्। तरस्विनम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वाः) सब (पृतनाः) सङ्ग्रामों के (अभिभूतरम्) अत्यन्त मिटाने वाले, (क्रत्वा) अपनी बुद्धि से (वरे) श्रेष्ठ व्यवहार में (वरिष्ठम्) अति श्रेष्ठ, (आमुरिम्) शत्रुओं के घेर लेने [वा मार डालने] वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड (ओजिष्ठम्) अत्यन्त पराक्रमी, (तवसम्) महाबली (उत) और (तरस्विनम्) बड़े उत्साही (नरम्) नर को (राजसे) राज्य के लिये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] को (सजूः) मिलकर

१—(विश्वाः) सर्वाः (पृतनाः) सङ्ग्रामान् (अभिभूतरम्) अभिभवतेः-क्विप, तरप्। अत्यर्थम् अभिभवितारं नाशयितारम् (नरम्) नेतारम् (सजूः) संगत्य (ततक्षुः) तक्षतिः करोतिकर्मा-निरु० ४। १९। कृतवन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (जजनुः) जनी प्रादुर्भावे-लिट्। प्रादुष्कृतवन्तः (च) (राजसे) राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—असुन्। राज्याय (क्रत्वा) क्रतुना। प्रज्ञया-निघ० ३। ९। (वरिष्ठम्) श्रेष्ठतमम् (वरे) श्रेष्ठव्यवहारे (आमुरिम्) भुजेः किच्च। उ० ४। १४२। आ+मुर संवेष्टने यद्वा मृ हिंसायाम्-इप्रत्ययः, कित्। उदोष्ठ्यपूर्वस्य। पा० ७। १। १०२। इत्युत्वम्। आभिमुख्येन

(ततक्षु) उन्हों ने [प्रजाजनों ने] बनाया (च) और (जजनुः) प्रसिद्ध किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रजागणों को उचित है कि जो मनुष्य सब में श्रेष्ठ गुणी प्रतापी होवे, उसी को सब मिलकर रक्षा के लिये राजा बनावें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ८७ [सायणभाष्य ८६] । १०—१२ । कुछ भेद से सामवेद–उ० ३ । १ । तृच १४ । तथा म० १–पू० ४ । ६ । १ ॥

समीं रेभासो अस्वरन्निन्द्रं सोमस्य पीतये ।
स्वर्पतिं यदीं वृधे धृतव्रतो ह्योजसा समूतिभिः ॥ २ ॥

सम् । ई॒म् । रेभासः । अस्वरन् । इन्द्रम् । सोमस्य । पीतये ॥
स्वः-पतिम् । यत् । ई॒म् । वृधे । धृत-व्रतः । हि । ओजसा ।
सम् । ऊ॒ति-भिः ॥ २ ॥

भावार्थ—(रेभासः) पुकारने वाले [प्रजागण] (सोमस्य) तत्त्व रस के (पीतये) पीने के लिये (यत्) जब (ईम् ईम्) अवश्य प्राप्ति के योग्य (स्वर्पतिम्) सुख के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (सम्) मिलकर (अस्वरन्) पुकारने लगे, [तब] (वृधे) बढ़ती के लिये (धृतव्रतः) नियम धारण करने वाला [वह पुरुष] (हि) निश्चय करके (ओजसा) बल से और (ऊतिभिः) रक्षाओं से (सम्) मिलकर [उन्हें पुकारने लगा] ॥ २ ॥

वेष्टयितारं मारयितारं वा शत्रूणाम् (उत) अपि च (उग्रम्) प्रचण्डम् (ओजिष्ठम्) ओजस्वितमम् (नवमम्) आशु आधृष् । बलवन्तम् (तरस्विनम्) वेगवन्तम् । परमोत्साहिनम् ॥

२—(सम्) संगत्य (ईम्) प्राप्तव्यम् (रेभासः) रेभृ शब्दे–अच् असुक् च । शब्दायमानाः प्रजाजनाः (अस्वरन्) अशब्दयन् । आहूतवन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्त पुरुषम् (सोमस्य) तत्त्वरसस्य (पीतये) पानाय (स्वर्पतिम्) सुखस्य रक्षकम् (यत्) यदा (ईम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् । प्राप्तव्यमेव (वृधे) वृद्धये (धृतव्रतः) स्वीकृतनियमः (हि) निश्चयेन (ओजसा) बलेन (सम्) संगत्य (ऊतिभिः) रक्षाभिः ॥

भावार्थ—प्रजागण अपनी रक्षा के लिये राजा की सहायता चाहें, और राजा राज्य की रक्षा के लिये उन से सहायता ले, इस प्रकार राजा और प्रजा परस्पर प्रीति करके आनन्द भोगें ॥ २ ॥

नेमिं नमन्ति चक्षसा मेषं विप्रा अभिस्वरा ।
सुदीतयो वो अद्रुहोऽपि कर्णे तरस्विनः समृक्वभिः ॥ ३ ॥
नेमिम् । नमन्ति । चक्षसा । मेषम् । विप्राः । अभि-स्वरा ॥
सु-दीतयः । वः । अद्रुहः । अपि । कर्णे । तरस्विनः । सम् । ऋक्व-भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (विप्राः) बुद्धिमान् (सुदीतयः) बहुत प्रकाश वाले, (अद्रुहः) द्रोह न करने वाले, (तरस्विनः) बड़े उत्साह वाले पुरुष (वः) तुम्हारे लिये (कर्णे) कान में (अपि) ही (अभिस्वरा) सब प्रकार से वाणी के साथ (ऋक्वभिः) स्तुतिवाले कर्मों द्वारा (नेमिम्) नेता (मेषम्) सुख से सींचने वाले [वीर] को (चक्षसा) दर्शन के साथ (सम्) मिलकर (नमन्ति) झुकते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—उत्साही बुद्धिमान् लोग प्रजा के सुख के लिये राजा को सुन्दर नियमों और सत्कार के साथ धर्मपथ का निवेदन करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अतिजगती; २ विराट् पथ्या बृहती; ३ निचृत्पथ्या बृहती ॥

राजकृत्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

३—(नेमिम्) नियोभिः । उ० ४ । ४३ । णीञ् प्रापणे—मि । नेतारम् (नमन्ति) नमस्कुर्वन्ति (चक्षसा) दर्शनेन (मेषम्) मिष सेचने—अच् । सुखस्य सेक्तारम् (विप्राः) मेधाविनः (अभिस्वरा) स्वृ शब्दोपतापयोः—विट् । अभिस्वरेण । सर्वतः शब्देन (सुदीतयः) पलोपः । शोभनदीप्तयः (वः) युष्मभ्यम् (अद्रुहः) अद्रोग्धारः (अपि) (कर्णे) श्रोत्रे (तरस्विनः) उत्साहिनः (सम्) संगत्य (ऋक्वभिः) अ० १८ । १ । ४७ । ऋच स्तुतौ—क्विप्, मत्वर्थे—वनिप् । स्तुतिमद्भिः कर्मभिः ॥

तमिन्द्रं जोहवीमि मघवानमुग्रं सत्रा दधानमप्रतिष्कुतं शवांसि । मंहिष्ठो गीर्भिरा च यज्ञियो ववर्तद् राये नो विश्वा सुपथा कृणोतु वज्री ॥ १ ॥

तम् । इन्द्रम् । जोहवीमि । मघ-वानम् । उग्रम् । सत्रा । दधानम् । अप्रति-स्कुतम् । शवांसि ॥ मंहिष्ठः । गीः-भिः । आ । च । यज्ञियः । ववर्तत् । राये । नः । विश्वा । सु-पथा । कृणोतु । वज्री ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवानम्) अत्यन्त धनी, (उग्रम्) प्रचण्ड, (सत्रा) सच्चे (शवांसि) बलों के (दधानम्) धारण करने वाले (अप्रतिष्कुतम्) बे रोक गति वाले (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (जोहवीमि) मैं बार बार पुकारता हुं । (मंहिष्ठः) वह अत्यन्त उदार (यज्ञियः) पूजा योग्य (च) और (वज्री) वज्रधारी [शस्त्र अस्त्र वाला] (गीर्भिः) हमारी वाणियों से (नः) हम को (राये) धन के लिये (आ) सब प्रकार (ववर्तत्) वर्तमान करे, और (विश्वा) सब कर्मों को (सुपथा) सुन्दर मार्ग वाला (कृणोतु) बनावे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की पुकार सुनकर उन्हें सुमार्ग में चलाकर धन प्राप्त करावे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ९७ [सायणभाष्य ८ ६] । १३, १, २, मन्त्र १ सामवेद—पू० ५ । ८ । ४ और मन्त्र २ पू० ३ । ७ । २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (जोहवीमि) अ० २ । १२ । ३ । ह्वेञ् आह्वाने, यङ्लुगन्तात्— लट् । पुनः पुनराह्वयामि (मघवानम्) बहुधनवन्तम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (सत्रा) सत्यानि (दधानम्) धारयन्तम् (अप्रतिष्कुतम्) अ० २० । ४१ । १ । अप्रतिगतम् (शवांसि) बलानि (मंहिष्ठः) दातृतमः (गीर्भिः) अस्माकं वाणीभिः (आ) समन्तात् (च) (यज्ञियः) पूजार्हः (ववर्तत्) वर्ततेर्ण्यन्तस्य चङि रूप लिङर्थे । वर्तयेत (राये) धनाय (नः) अस्मान् (विश्वा) सर्वाणि कर्माणि (सुपथा) सुपथानि । सुमार्गयुक्तानि (कृणोतु) करोतु (वज्री) शस्त्रास्त्रधारकः ॥

या इन्द्र भुज आभरः स्वर्वाँ असुरेभ्यः ।
स्तोतारमिन्मघवन्नस्य वर्धय ये च त्वे वृक्तबर्हिषः ॥ २ ॥

याः । इन्द्र । भुजः । आ । अभरः । स्वः-वान् । असुरेभ्यः ॥
स्तोतारम् । इत् । मघ-वन् । अस्य । वर्धय । ये । च ।
त्वे इति । वृक्त-बर्हिषः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (स्वर्वान्) आनन्द युक्त तू (याः) जिन (भुजः) भोग सामग्रियों को (असुरेभ्यः) दुष्ट मनुष्यों से (आ अभरः) लाया है, (मघवन्) हे बड़े धनी ! (अस्य) उस अपने (स्तोतारम्) स्तुति करने वाले को (इत्) अवश्य (वर्धय) बढ़ा (च) और [उन्हें भी], (ये) जो (त्वे) तुझ में (वृक्तबर्हिषः) वृद्धि पाने वाले हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा दुष्टों का धन हरण करके शिष्टों का पालन करे ॥ २ ॥

यमिन्द्र दधिषे त्वमश्वं गां भागमव्ययम् ।
यजमाने सुन्वति दक्षिणावति तस्मिन् तं धेहि मा पणौ ॥३॥

यम् । इन्द्र । दधिषे । त्वम् । अश्वम् । गाम् । भागम् ।
अव्ययम् ॥ यजमाने । सुन्वति । दक्षिणा-वति । तस्मिन् ।
तम् । धेहि । मा । पणौ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यम्) जिस

२—(याः) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (भुजः) भोग्यसामग्रीः (आ अभरः) आहृतवानसि (स्वर्वान्) सुखवान् सन् (असुरेभ्यः) सुरविरोधिभ्यो दुष्टेभ्यः सकाशात् (स्तोतारम्) (इत्) एव (मघवन्) हे धनवन् (अस्य) तादृशस्य त्वदीयस्य स्वकीयस्य (वर्धय) वृद्धिमन्तं कुरु (ये) (च) (त्वे) त्वयि राजनि (वृक्तबर्हिषः) अ० २० । ५२ । १ । प्राप्त वृद्धयः ॥

३—(यम्) भागम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (दधिषे) धारयसि

(अश्वम्) घोड़े को, (गाम्) गौ को और (अव्ययम्) अक्षय (भागम्) सेवनीय धन को (त्वम्) तू (दधिषे) धारण करता है, (तम्) उसको (तस्मिन्) उस (सुन्वति) तत्त्व निचोड़ने वाले, (दक्षिणावति) दक्षिणा [प्रतिष्ठा वा दान] वाले (यजमाने) यजमान [यज्ञ श्रेष्ठ कर्म करने वाले] में (धेहि) धारण कर और (पणौ) कुव्यवहारी में (मा) नहीं ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि अवसर विचार कर घोड़े, गौयें, सुवर्ण आदि धन दक्षिणा देकर सुपात्रों का सन्मान करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ५६ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४, ६ विराट् पङ्क्तिः, ३ निचृत् पङ्क्तिः; ५ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

सभापतिलक्षणोपदेशः—सभापति के लक्षण का उपदेश ॥

इन्द्रो मदाय वावृधे शवसे वृत्रहा नृभिः ।
तमिन्महत्स्वाजिषूतेमर्भे हवामहे स वाजेषु प्र नोऽविषत् ॥१॥

इन्द्रः । मदाय । ववृधे । शवसे । वृत्रहा । नृ-भिः ॥ तम् । इत् । महत्-सु । आजिषु । उत । ईम् । अर्भे । हवामहे । सः । वाजेषु । प्र । नः । अविषत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहा) रोकने वाले शत्रुओं का नाश करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (मदाय) आनन्द और (शवसे) बल के लिये (नृभिः) नरों [नेताओं] के साथ (ववृधे) बढ़ा है । (तम् ईम्)

लिट् । धत्से । धरसि (त्वम्) (अश्वम) गाम्) धेनुम (भागम्) सेवनीयं धनम् (अव्ययम्) अक्षयम् (यजमाने) श्रेष्ठकर्मकर्तरि (सुन्वति) तत्त्वरसं संस्कुर्वाणे (दक्षिणावति) प्रतिष्ठाधनयुक्ते (तस्मिन्) (तम्) (भागम् (धेहि) धारय (मा) निषेधे (पणौ) कुव्यवहारिणि असुरे ॥

१—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभाध्यक्षः (मदाय) आनन्दाय (ववृधे) लिटि रूपम् । प्रवृद्धो बभूव (शवसे) बलाय (वृत्रहा) आवरकाणां शत्रूणां नाशकः (नृभिः) नेतृभिः पुरुषैः (तम्) सेनापतिम् (इत्) एव (महत्सु)

इस प्राप्ति योग्य को (इत्) ही (महत्सु) बड़े (आजिषु) संग्रामों में (उत) और (अर्भे) छोटे [संग्राम] में (हवामहे) हम बुलाते हैं, (सः) वह (वाजेषु) संङ्ग्रामों में (नः) हमें (प्र) अच्छे प्रकार (अविषत्) बचावे ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा की भलाई के लिये पराक्रम करके शत्रुओं को मारे, उसी हितैषी को सेनापति बनाना चाहिये ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१। ८१। १—३, ७-९। तृच १ कुछ भेद से सामवेद में है—उ० ३। २। तृच १४, मन्त्र १; पू० ५। ३। ३॥

असि॒ हि वी॑र॒ सेन्यो॒ऽसि॒ भूरि॑ पराद॒दिः। असि॑ द॒भ्रस्य॑ चिद्वृ॒धो यज॑मानाय शिक्षसि सुन्व॒ते भूरि॑ ते॒ वसु॑ ॥ २ ॥

असि॑। हि। वी॒र॒। सेन्यः॑। असि॑। भूरि॑। प॒रा॒ऽद॒दिः ॥ असि॑। द॒भ्रस्य॑। चि॒त्। वृ॒धः। यज॑मानाय। शि॒क्ष॒सि॒। सु॒न्व॒ते। भूरि॑। ते॒। वसु॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वीर) हे वीर तू (हि) ही (सेन्यः) सेनाओं का हितकारी (असि) है, (भूरि) बहुत प्रकार से (परादुदिः) शत्रुओं का पकड़ने वाला (असि) है। तू (दभ्रस्य) छोटे पुरुष का (चित्) अवश्य (वृधः) बढ़ाने वाला (असि) है, तू (सुन्वते) तत्त्व निचोड़ने वाले (यजमानाय)

महाप्रबलेषु (आजिषु) अ० २। १४। ६। संग्रामेषु (उत) अपि (ईम्) प्राप्तव्यम् (अर्भे) अल्पे संग्रामे (हवामहे) आह्वयामः (सः) सेनापतिः (वाजेषु) संग्रामेषु (प्र) (नः) अस्मान् (अविषत्) अव रक्षणे—लेट्, इकारलोपः सिप् च इडागमश्च। रक्षेत् ॥

२—(असि) (हि) (वीर) (सेन्यः) सेनाभ्यो हितः (असि) (भूरि) बहु (परादुदिः) पर+आङ्+डु दाञ् दाने—किप्रत्ययः। पराकृत्य शत्रूनादाता ग्रहीता (असि) (दभ्रस्य) अल्पस्य पुरुषस्य (चित्) एव (वृधः) वृधेरन्तर्गतण्यन्तात्—कप्रत्ययः। वर्धयिता (यजमानाय) श्रेष्ठकर्मकारकाय (शिक्षसि) ददासि—निघ० ३। २० (सुन्वते) तत्त्वं संस्कुर्वते (भूरि) बहु

यजमान को (ते) अपना (भूरि) बहुत (वसु) धन (शिक्षसि) देता है ॥ २ ॥

भावार्थ—वीर सेना हितकारी योग्य छोटे अधिकारियों को बढ़ाकर श्रेष्ठों का मान करे ॥ २ ॥

यदुदीरत आजयो धृष्णवे धीयते धना। युक्ष्वा मदच्युता हरी कं हनः कं वसौ दधोऽस्माँ इन्द्र वसौ दधः ॥ ३ ॥

यत्। उत्-ईरते। आजयः। धृष्णवे। धीयते। धना ॥ युक्ष्व। मद-च्युता। हरी इति। कम्। हनः। कम्। वसौ। दधः। अस्मान्। इन्द्र। वसौ। दधः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आजयः) सङ्ग्राम (उदीरते) उठते हैं, (धृष्णवे) निर्भय पुरुष के लिये (धना) धन (धीयते) धरा जाता है। (मदच्युता) आनन्द देने वाले (हरी) दो घोड़ों [के समान बल और पराक्रम] को (युक्ष्व) जोड़, (कम्) किस [शत्रु] को (हनः) तू मारेगा ? (कम्) किस [मित्र] को (वसौ) धन के बीच (दधः) तू रक्खेगा ? (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सेनापति] (अस्मान्) हमें तू (वसौ) धन में (दधः) रख ॥ ३ ॥

भावार्थ—विजय पाने पर वीर पुरुष धन पाता है, यह विचार कर राजा बल और पराक्रम से युद्ध सामग्री एकत्र करके शत्रुओं को मारता हुआ और मित्रों का सत्कार करता हुआ प्रजा की उन्नति करे ॥ ३ ॥

(ते) त्वदीयम्। स्वकीयम् (वसु) धनम् ॥

३—(यत्) यदा (उदीरते) उद्गच्छन्ति (आजयः) संग्रामाः (धृष्णवे) प्रगल्भाय (धीयते) ध्रियते (धना) विभक्तेराकारः। धनम् (युक्ष्व) सांहितिको दीर्घः। युजिर् योगे—लोट्, अन्तर्गतण्यर्थः। योजय (मदच्युता) मदस्य हर्षस्य च्यावयितारौ प्रापयितारौ (हरी) अश्वाविवबलपराक्रमौ (कम्) शत्रुम् (हनः) हन्तेर्लेट्। हन्याः (कम्) सुहृदम् (वसौ) वसुनि। धने। (दधः) दध धारणे—लेट्। दध्याः (अस्मान्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सेनापते (वसौ) धने (दधः) स्थापय ॥

मदेमदे हि नो दुदिर्यूथा गवामृजुक्रतुः । सं गृभाय पुरू शतोभयाहुस्त्या वसु शिशीहि राय आ भर ॥ ४ ॥

मदे-मदे । हि । नः । दुदिः । यूथा । गवाम् । ऋजु-क्रतुः ॥ सम् । गृभाय । पुरु । शता । उभयाहुस्त्या । वसु । शिशीहि । रायः । आ । भर ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ऋजुक्रतुः) सच्ची बुद्धि वा कर्म वाला तू (मदेमदे) आनन्द आनन्द पर (हि) निश्चय करके (नः) हम को (गवाम्) गौ आदि पशुओं के (यूथा) समूहों का (ददिः) देने वाला है, (उभयाहस्त्या) दोनों हाथों से (पुरु) बहुत (शता) सैकड़े (वसु) धनों को (सं गृभाय) संग्रह कर, (शिशीहि) तीक्ष्ण हो और (रायः) धनों को (आ) सब ओर से (भर) भर ॥ ४ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् राजा आनन्द के प्रत्येक अवसर पर योग्य पुरुषों का सत्कार करे और उचित व्यय करने के लिये सदा धन का संग्रह करता रहे ॥ ४ ॥

मादयस्व सुते सचा शवसे शूर राधसे । विद्मा हि त्वा पुरूवसुमुप कामान्त्ससृज्महेऽथा नोऽविता भव ॥ ५ ॥

मादयस्व । सुते । सचा । शवसे । शूर । राधसे ॥ विद्म ।

४—(मदेमदे) प्रत्येकहर्षावसरे (हि) निश्चयेन (नः) अस्मभ्यम् (ददिः) डुदाञ् दाने-किप्रत्ययः । दाता (यूथा) यूथानि समूहान् (गवाम्) गवादिपशूनाम् (ऋजुक्रतुः) सरलबुद्धिः । सत्यकर्मा (संगृभाय) सम्यग् गृहाण (पुरु) बहूनि (शता) शतानि (उभयाहस्त्या) विभक्तेर्याजादेशः, छान्दसो दीर्घः । उभाभ्यां हस्ताभ्याम् (वसु) वसूनि । धनानि (शिशीहि) शो तनूकरणे, विकरणस्य श्लुः, अभ्यासस्य इत्वम् । ई हल्यघोः । पा० ६ । ४ । ११३ । इति धातोरीत्वम् । श्य । तीक्ष्णीभव । उद्यतो भव (रायः) धनानि (आ) समन्तात् (भर) धेहि ॥

हि । त्वा । पुरु-वसुम् । उप । कामान् । सुसृज्महे । अथ । नः । अविता । भव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर ! (सुते) उत्पन्न जगत् में (सचा) नित्य मेल के साथ (शवसे) बल के लिये और (राधसे) धन के लिये (मादयस्व) आनन्द दे। (त्वा) तुझ को (हि) निश्चय करके (पुरुवसुम्) बहुतों में श्रेष्ठ (विद्म) हम जानते हैं, और (कामान्) मनोरथों को (उप) समीप से (ससृज्महे) हम सिद्ध करते हैं, (अथ) इस लिये तू (नः) हमारा (अविता) रक्षक (भव) हो ॥ ५ ॥

भावार्थ—बल और धन की वृद्धि के लिये शूर सेनापति के आश्रय से मनोरथ सिद्ध करके रक्षा करें ॥ ५ ॥

एते त इन्द्र जन्तवो विश्वं पुष्यन्ति वार्यम् । अन्तर्हि ख्यो जनानामर्यो वेदो अदाशुषां तेषां नो वेद आ भर ॥ ६ ॥

एते । ते । इन्द्र । जन्तवः । विश्वम् । पुष्यन्ति । वार्यम् ॥ अन्तः । हि । ख्यः । जनानाम् । अर्यः । वेदः । अदाशुषाम् । तेषाम् । नः । वेदः । आ । भर ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (ते) तेरे लिये (एते) यह (जन्तवः) लोग (विश्वम्) सब (वार्यम्) स्वीकार योग्य

५—(मादयस्व) आनन्दय (सुते) उत्पन्ने जगति (सचा) समवायेन । नित्यसम्बन्धेन (शवसे) बलाय (शूर) हे शत्रुनिवारक (राधसे) धनाय (विद्म) जानीमः (हि) अवधारणे (त्वा) त्वाम् (पुरुवसुम्) बहुषु श्रेष्ठम् (उप) समीपे (कामान्) मनोरथान् (ससृज्महे) सृज विसर्गे, विकरणस्य श्लुः । निष्पादयामः । साधयामः (अथ) अनन्तरम् (नः) अस्माकम् (अविता) अवतेस्तृच् । रक्षकः (भव) ॥

६—(एते) उपस्थिताः (ते) तुभ्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (जन्तवः) जीवाः जनाः (विश्वम्) सर्वम् (पुष्यन्ति) वर्धयन्ति (वार्यम्)

पदार्थ को (पुष्यन्ति) पुष्ट करते हैं। (अर्यः) स्वामी तू (तेषाम्) उन (जनानाम्) मनुष्यों के (अन्तः) बीच (हि) निश्चय करके (अदाशुषाम्) अदानी, लोगों की (वेदः) समझ को (ख्यः) देख और (नः) हमारे लिये (वेदः) ज्ञान को (आ) सब प्रकार (भर) प्राप्त करा ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण श्रेष्ठ पदार्थों के दान से राजभक्ति करें, वैसे ही राजा अदाताओं से प्रजा की रक्षा करके विज्ञान की वृद्धि करे ॥ ६ ॥

सूक्तम् ५७ ॥

१-१६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४-६, ८, ९ गायत्री; ३ विराडार्षी गायत्री; ७ अनुष्टुप्; १० निचृद् गायत्री; ११-१६ पथ्या बृहती ॥

१—१० मनुष्यकर्तव्योपदेशः— १—१० मनुष्यों के कर्तव्य का उपदेश ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

सुरूप-कृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्-इव । गो-दुहे ॥ जुहूमसि । द्यवि-द्यवि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुरूपकृत्नुम्) सुन्दर स्वभावों के बनाने वाले [राजा] को (ऊतये) रक्षा के लिये (द्यविद्यवि) दिन दिन (जुहूमसि) हम बुलाते हैं, (इव)

स्वीकार्यं पदार्थम् (अन्तः) मध्ये (हि) अवश्यम् (ख्यः) ख्या प्रकथने दर्शने च लोडर्थे लुङ्। पश्य (जनानाम्) जन्तूनाम्। जीवानाम् (अर्यः) स्वामी (वेदः) बोधम् (अदाशुषाम्) अदातॄणाम् (तेषाम्) पूर्वोक्तानां जन्तूनाम् (नः) अस्मभ्यम् (वेदः) विज्ञानम् (आ) समन्तात् (भर) प्रापय ॥

१—(सुरूपकृत्नुम्) कृहनिभ्यां क्त्नुः। उ० ३। ३०। करोतेः—क्त्नु। शोभनस्वभावानां कर्तारम् (ऊतये) रक्षायै (सुदुघाम्) अ० ७। ७३। ७। बहुदोग्ध्रीं गाम् (इव) यथा (गोदुहे) सत्सूद्विष द्रुह दुह०। पा० ३। २। ६१। गो+दुह प्रपूरणे—क्विप्। गोदोग्ध्रे। दुग्धादिकसिञ्चने (जुहूमसि) ह्वयतेर्लट्। शपः श्लुः। अभ्यस्तस्य च। पा० ६। १। ३३। इति अभ्यस्ती भविष्यतो ह्वयतेः सम्प्रसारणम्। सम्प्रसारणाच्च। पा० ६। १। १०८। इति परपूर्वत्वम्। हलः। पा० ६। ४। २। इति। दीर्घः। श्लौ। पा० ६। १। १०। द्विर्वचनम्। इदन्तः।

जैसे (सुदुघाम्) बडी दुधेल गौ को (गोदुहे) गौ दोहने वाले के लिये ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे दुधेल गौ को दूध दोहने के लिये प्रीति से बुलाते हैं, वैसे ही प्रजागण विद्या आदि शुभ गुणों के बढ़ाने वाले राजा का आश्रय लेकर उन्नति करें ॥ १ ॥

म० १—३ ऋग्वेद में है— १ । ४ । १—३ और आगे है अ० २० । ६८ । १—३ ॥

उप॑ नः सव॒ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब । गो॒दा इद्रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥

उप॑ । नः॒ । सव॑ना । आ । ग॒हि॒ । सोम॑स्य । सो॒म॒-पाः॒ । पि॒ब॒ ॥ गो॒-दाः । इत् । रे॒वतः॑ । मदः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमपाः) हे ऐश्वर्य के रक्षक ! [राजन्] (नः) हमारे लिये (सवना) ऐश्वर्य युक्त पदार्थों को (उप) समीप से (आ गहि) तू प्राप्त हो और (सोमस्य) सोम [तत्त्व रस] का (पिब) पानकर; (रेवतः) धनवान् पुरुष का (मदः) हर्ष (इत्) ही (गोदाः) दृष्टि का देने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐश्वर्यवान् और दूरदर्शी होकर प्रसन्नता पूर्वक प्रजा को ज्ञानवान् बनावे ॥ २ ॥

अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुमती॒नाम् । मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥ ३ ॥

पा० ७ । ४ । ५६ । इति अभ्यासस्य ह्रस्वः । इञ्चुत्वजश्त्वे । इदन्तोमसि । पा० ७ । १ । ४६ । इति इकारागमः । जुहूमः । आह्वयामः (ह्वयिह्वयि) दिने दिने निघ० १ । ६ ॥

२—(उप) समीपे (नः) अस्मभ्यम् (सवना) ऐश्वर्ययुक्तानि वस्तूनि (आ) समन्तात् (गहि) गच्छ । प्राप्नुहि (सोमस्य) तत्त्वरसस्य (सोमपाः) हे ऐश्वर्यरक्षक (पिब) पानं कुरु (गोदाः) क्विप् च । पा० ३ । २ । ७६ । गो+ददातेः—क्विप् । गोर्दृष्टेर्दाता (इत्) एव (रेवतः) धनवतः पुरुषस्य (मदः) हर्षः ॥

अर्थ । ते । अन्तमानाम् । विद्याम । सु-मतीनाम् ॥ मा । नः । अति । ख्यः । आ । गहि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अथ) और (ते) तेरी । (अन्तमानाम्) अत्यन्त समीप रहने वाली (सुमतीनाम्) सुन्दर बुद्धियों का (विद्याम) हम ज्ञान करें । तू (नः) हमें (अति) छोड़कर (मा ख्यः) मत बोल, (आ गहि) तू आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब राजा पूर्ण प्रीति से प्रजा पालन करता है, प्रजागण उस की धार्मिक नीतियों से लाभ उठाकर उस से प्रीति करते हैं ॥ ३ ॥

शुष्मिन्तमं न ऊतये द्युम्निनं पाहि जागृविम् । इन्द्र सोमं शतक्रतो ॥ ४ ॥

शुष्मिन्-तमम् । नः । ऊतये । द्युम्निनम् । पाहि । जागृविम् ॥ इन्द्र । सोमम् । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (शुष्मिन्तमम्) अत्यन्त बलवान्, (द्युम्निनम्) अत्यन्त धनी वा यशस्वी और (जागृविम्) जागने वाले [चौकस] पुरुष की और (सोमम्) ऐश्वर्य की (पाहि) रक्षा कर ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा धर्मात्मा शूर वीरों की और सब के ऐश्वर्य की यथावत्

३—(अथ) अनन्तरम् (ते) तव (अन्तमानाम्) अन्तः सामीप्यम् । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । इति अन्त-ठन् प्रत्ययः । ततोऽतिशायिने तमप् । पृषोदरादित्वात् तिकशब्दस्य लोपः । अन्तमानाम्, अन्तिकनाम—निघ० २ । १६ । अन्तिकतमानाम् । अतिशयेन समीपस्थानाम् (विद्याम) वेत्तेर्लिङ् । ज्ञानं कुर्याम (मा) निषेधे (नः) अस्मान् (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (ख्यः) ख्या प्रकथने लुङ् । माङ् योगेऽडभावः । प्रकथय (आ गहि) आगच्छ ॥

४—१० एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । २० । १—७ ॥

रक्षा कर के प्रजा का पालन करे ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—१० आ चुके हैं—अ० २० । २० । १—७ ।

इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आ वृणे ॥ ५ ॥

इन्द्रियाणि । शतक्रतो इति शत-क्रतो । या । ते । जनेषु । पञ्च-सु ॥ इन्द्र । तानि । ते । आ । वृणे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वा बुद्धियों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (या) जो (ते) तेरे (इन्द्रियाणि) इन्द्र [ऐश्वर्यवान्] के चिह्न धनादि (पञ्चसु जनेषु) पंच [मुख्य] लोगों में हैं । (ते) तेरे (तानि) उन [चिह्नों] को (आ) सब प्रकार (वृणे) मैं स्वीकार करता हूं ॥ ५ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् धार्मिक राजा बड़े बड़े अधिकारियों का आदर करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ५ ॥

अग॑न्निन्द्र श्रवो॑ बृहद् द्युम्नं द॑धिष्व दुष्टर॑म् । उत् ते॒ शुष्मं॑ तिरामसि ॥ ६ ॥

अग॑न् । इन्द्र । श्रवः॑ । बृहत् । द्युम्नम् । दधिष्व । दुस्तर॑म् ॥ उत् । ते । शुष्म॑म् । तिरामसि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (बृहत्) बड़ा (श्रवः) अन्न [हमको] (अगन्) प्राप्त हुआ है, (दुस्तरम्) दुस्तर [अजेय] (द्युम्नम्) चमकने वाले यश को (दधिष्व) तू धारण कर, (ते) तेरे (शुष्मम्) बल को (उत् तिरामसि) हम बढ़ाते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जिस राजा के कारण बहुत अन्न आदि पदार्थ मिलें, प्रजागण उस के बल बढ़ाने में सदा प्रयत्न करें ॥ ६ ॥

अर्वावतो न आ ग॒ह्यथो॑ शक्र परावतः । उ लोको यस्ते॑ अद्रिव इन्द्रेह तत आ ग॑हि ॥ ७ ॥

अर्वा-वतः । नः । आ । गहि । अथो इति । शक्र । परा-वतः ॥ ऊं इति । लोकः । यः । ते । अद्रि-वः । इन्द्र । इह । ततः । आ । गहि ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शक्र) हे समर्थ ! (अर्वावतः) समीप से (अथो) और (परावतः) दूर से (नः) हमें (आ गहि) प्राप्त हो, (अद्रिवः) हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (उ) और (यः) जो (ते) तेरा (लोकः) स्थान है, (ततः) वहां से (इह) यहां पर (आ गहि) तू आ ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा अधिकारियों द्वारा समीप और दूर से प्रजा की सुधि रक्खे और उनको आप भी जा कर देखा करे ॥ ७ ॥

इन्द्रो अङ्ग महद्भयमभी षदप चुच्यवत् । स हि स्थिरो विचर्षणिः ॥ ८ ॥

इन्द्रः । अङ्ग । महत् । भयम् । अभि । सत् । अप । चुच्यु-वत् ॥ सः । हि । स्थिरः । वि-चर्षणिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे विद्वान् ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] ने (महत्) बड़े और (अभि) सब ओर से (सत्) वर्तमान (भयम्) भय को (अप चुच्यवत्) हटा दिया है । (सः हि) वही (स्थिरः) दृढ और (विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ ८ ॥

भावार्थ—राजा दृढस्वभाव और सावधान रहकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥ ८ ॥

इन्द्रश्च मृलयाति नो न नः पश्चादघं नशत् । भद्रं भवाति नः पुरः ॥ ९ ॥

इन्द्रः । च । मृलयाति । नः । न । नः । पश्चात् । अघम् । नशत् ॥ भद्रम् । भवाति । नः । पुरः ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (च) निश्चय करके (नः) हमें (मृलयाति) सुखी करे, (अघम्) पाप (नः) हम को

(पश्चात्) पीछे (न) न (नशत्) नाश करे । (भद्रम्) कल्याण (नः) हमारे लिये (पुरस्तात्) आगे (भवाति) होवे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि धर्मात्मा राजा के प्रबन्ध में रहकर पापों से बच कर सुख भोगें ॥ ६ ॥

इन्द्र आशाभ्यस्परि सर्वाभ्यो अभयं करत्। जेता शत्रून् विचर्षणिः ॥ १० ॥

इन्द्रः। आशाभ्यः। परि। सर्वाभ्यः। अभयम्। करत् ॥ जेता। शत्रून्। विचर्षणिः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सर्वाभ्यः) सब (आशाभ्यः) आशाओं [गहरी इच्छाओं] के लिये (अभयम्) अभय (परि) सब ओर से (करत्) करे। वह (शत्रून् जेता) शत्रुओं को जीतने वाला और (विचर्षणिः) विशेष देखने वाला है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा अपने न्याय युक्त प्रबन्ध से विघ्नों को हटाकर प्रजा को उन्नति की गहरी इच्छाओं को पूरा करे ॥ १० ॥

मन्त्राः ११—१३ सेनानीलक्षणोपदेशः—मन्त्र ११—१३ सेनापति के लक्षणों का उपदेश ॥

क ईं वेद सुते सचा पिबन्तं कद् वयो दधे। अयं यः पुरो विभिनत्त्योजसा मन्दानः शिप्र्यन्धसः ॥ ११ ॥

कः। ईम्। वेद। सुते। सचा। पिबन्तम्। कत्। वयः। दधे ॥ अयम्। यः। पुरः। वि-भिनत्ति। ओजसा। मन्दानः। शिप्री। अन्धसः ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(कः) कौन (सचा) नित्य मेल के साथ (सुते) तत्त्वरस (पिबन्तम्) पीते हुये (ईम्) प्राप्ति योग्य [सेनापति] को (वेद) जानता है? (कत्) कितना (वयः) जीवन सामर्थ्य [पराक्रम] (दधे) वह रखता है? (अयम्) यह (यः) जो (शिप्री) दृढ़ जावड़े वाला, (अन्धसः) अन्न

का (मन्दानः) आनन्द देने वाला [वीर] (ओजसा) बल से (पुरः) दुर्गों को (विभिनत्ति) तोड़ देता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी पुरुष के शरीर बल और बुद्धिबल की थाह सामान्य पुरुष नहीं जानते, वह नीतिज्ञ अन्न आदि पदार्थ एकत्र कर के बैरियों को जीतता है ॥ ११ ॥

मन्त्र ११—१३ आचुके हैं —अ० २० । ५३ । १—३ ॥

दाना मृगो न वारणः पुरुत्रा चरथं दधे । नकिष्ट्वा नि यमदा सुते गमो महांश्चरस्योजसा ॥ १२ ॥

दाना । मृगः । न । वारणः । पुरु-त्रा । चरथम् । दधे ॥ नकिः । त्वा । नि । यमत् । आ । सुते । गमः । महान् । चरसि । । ओजसा ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(न) जैसे (मृगः) जंगली (वारणः) हाथी (दाना) मद के कारण (पुरुत्रा) बहुत प्रकार से (चरथम्) झपट (दधे) लगाता है । [वैसे ही] (नकि) कोई नहीं (त्वा) तुझे (नि यमत्) रोक सकता, (सुते) तत्त्वरस को (आ गमः) तू प्राप्त हो, (महान्) महान् होकर तू (ओजसा) बल के साथ (चरसि) विचरता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे वन का मदमत्त हाथी सब ओर बे रोक घूमकर उपद्रव मचाता है, वैसे ही नीतिज्ञ सेनापति तत्त्व विचार कर शत्रुओं को शीघ्र दबावे ॥ १२ ॥

य उग्रः सन्ननिष्टृत स्थिरो रणाय संस्कृतः । यदि स्तोतुर्मघवा शृणवद्धवं नेन्द्रो योषत्या गमत् ॥ १३ ॥

यः । उग्रः । सन् । अनिः-स्तृतः । स्थिरः । रणाय । संस्कृतः ॥ यदि । स्तोतुः । मघ-वा । शृणवत् । हवम् । न । इन्द्रः । योषति । आ । गमत् ॥ १३ ॥

११—१३ एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ५३ । १—३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [वीर] (उग्रः) प्रचण्ड, (अनिष्टृतः) कभी न हराया गया, (स्थिरः) दृढ (सन्) होकर (रणाय) रण के लिये (संस्कृतः) संस्कार किये हुये है। (यदि) यदि (मघवा) वह महाधनी (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सेनापति] (स्तोतुः) स्तुति करने वाले की (हवम्) पुकार (शृणवत्) सुने, [तो] (न योषति) वह अलग न रहे, [किन्तु] (आ गमत्) आता रहे ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्रतापी, अजेय, युद्धकुशल सेनापति प्रजा की पुकार को सदा ध्यान देकर सुनता रहे ॥ १३ ॥

मन्त्राः १४—१६ परमात्मोपासनोपदेशः। मन्त्र १४—१६ परमात्मा की उपासना का उपदेश ॥

व॒यं घ॑ त्वा सु॒तावं॑न्त॒ आपो॒ न वृ॒क्तब॑र्हिषः। प॒वित्र॑स्य प्र॒स्र-व॑णेषु वृत्रहु॒न् परि॑ स्तो॒तार॑ आसते ॥ १४ ॥

व॒यम्। घ॒। त्वा॒। सु॒त-व॑न्तः। आपः॑। न। वृ॒क्त-ब॑र्हिषः ॥ प॒वित्र॑स्य। प्र॒-स्रव॑णेषु। वृ॒त्र॒-ह॒न्। परि॑। स्तो॒तारः॑। आ॒स॒ते॒ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक ! [परमात्मन्] (सुतवन्तः) तत्त्व के धारण करने वाले, (वृक्तबर्हिषः) हिंसा त्यागने वाले [अथवा वृद्धि पाने वाले विद्वान्], (स्तोतारः) स्तुति करने वाले (वयम्) हम लोग (घ) निश्चय करके (त्वा) तुझ को (परि आसते) सेवते हैं, (पवित्रस्य) शुद्ध स्थान के (प्रस्रवणेषु) झरनों में (आपः न) जैसे जल [ठहरते हैं] ॥ १४ ॥

भावार्थ—तत्त्वग्राही विद्वान् लोग उस परमात्मा के ही ध्यान में शान्ति पाते हैं, जैसे बहता हुआ पानी शुद्ध चौरस स्थान में आकर ठहर जाता है ॥ १४ ॥

मन्त्र १४—१६ आचुके हैं—अ० २० । ५२ । १—३ ॥

स्वर॑न्ति त्वा सु॒ते नरो॒ वसो॑ निरे॒क उ॒क्थिनः॑। क॒दा सु॒तं

१४—१६। एते मन्त्रा व्याख्याता.—अ० २० । ५२ । १—३ ॥

तृषाण ओक आ गमु इन्द्रं स्वब्दीव वंसगः ॥ १५ ॥

स्वरन्ति । त्वा । सुते । नरः । वसो इति । निरेके । उक्थिनः ॥ कदा । सुतम् । तृषाणः । ओकः । आ । गमः । इन्द्र । स्वब्दी-इव । वंसगः ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे श्रेष्ठ ! [परमात्मन्] (उक्थिनः) कहने योग्य वचनों वाले (नरः) नर [नेता लोग] (निरेके) निःशंक स्थान में (सुते) सार पदार्थ के निमित्त (त्वा) तुझ को (स्वरन्ति) पुकारते हैं—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (कदा) कब (तृषाणः) प्यासे [के समान] तू (सुतम्) पुत्र को (ओकः) घर में (आ गमः) प्राप्त होगा, (स्वब्दी-इव) जैसे सुन्दर जल देने वाला मेघ (वंसगः) सेवनीय पदार्थों का प्राप्त कराने वाला [होता है]॥ १५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य सार पदार्थ पाने के लिये परमात्मा की भक्ति निर्भय होकर करता है, परमात्मा उसको इस प्रकार चाहता है जैसे प्यासा जल को, और इस प्रकार उसका उपकार करता है, जैसे सूखा के पीछे मेह आनन्द देता है ॥ १५ ॥

कण्वेभिर्धृष्णवा धृषद् वाजं दर्षि सहस्रिणम् । पिशङ्गरूपं मघवन् विचर्षणे मक्षू गोमन्तमीमहे ॥ १६ ॥

कण्वेभिः । धृष्णो इति । आ । धृषत् । वाजम् । दर्षि । सहस्रिणम् ॥ पिशङ्ग-रूपम् । मघ-वन् । वि-चर्षणे । मक्षु । गोमन्तम् । ईमहे ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निर्भय ! [परमात्मन्] (धृषत्) दृढ़ता से (कण्वेभिः) बुद्धिमानों करके [किये हुये] (सहस्रिणम्) सहस्रों आनन्द वाले (वाजम्) वेग का (आ दर्षि) तू आदर करता है, (मघवन्) हे धन वाले ! (विचर्षणे) हे दूरदर्शी ! (पिशङ्गरूपम्) अवयवों को रूप देने वाले, (गोमन्तम्) वेदवाणी वाले [तुझ] से (मक्षु) शीघ्र (ईमहे) हम प्रार्थना करते हैं ॥ १६ ॥

भावार्थ—वह परमात्मा परमाणुओं से सूर्य आदि बड़े बड़े लोकों का बनाने वाला है, उस निर्भय की उपासना से मनुष्य धर्मात्मा होकर निर्भय होवें ॥ १६ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

१—४॥ १, २ इन्द्रः, ३, ४ सूर्यो देवता ॥ १, ३ निचृत्पथ्या बृहती; २ सतः पङ्क्तिः ; ४ भुरिगार्षी बृहती ॥

ईश्वरविषयोपदेशः—ईश्वर विषय का उपदेश ॥

श्रायन्त इव सूर्यं विश्वेदिन्द्रस्य भक्षत । वसूनि जाते जनमान ओजसा प्रति भागं न दीधिम ॥ १ ॥

श्रायन्तः-इव । सूर्यम् । विश्वा । इत् । इन्द्रस्य । भक्षत ॥ वसूनि । जाते । जनमाने । ओजसा । प्रति । भागम् । न । दीधिम ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (सूर्यम्) सूर्य [रवि] का (श्रायन्तः इव) आश्रय करते हुये [किरणों] के समान (इन्द्रस्य) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् परमात्मा] के (ओजसा) सामर्थ्य से (विश्वा) सब (इत्) ही (वसूनि) वस्तुओं को (भक्षत) भोगो, [उन को](जाते) उत्पन्न हुये और (जनमाने) उत्पन्न होने वाले जगत् में (भागम् न) अपने भाग के समान (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (दीधिम) हम प्रकाशित करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे किरणें सूर्य के आश्रय से रहती हैं, वैसे ही परमात्मा का आश्रय लेकर संसार के पदार्थों से उपकार लेते हुये हम आगे होने वाले

१—(श्रायन्तः) श्रिञ् सेवायाम्—शतृ । गुणे प्राप्ते छान्दसी वृद्धिः । श्रयन्तः । आश्रयन्तः किरणाः (इव) यथा (सूर्यम्) रविमण्डलम् (विश्वा) सर्वाणि (इत्) एव (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमात्मनः (भक्षत) भक्ष अदने—लोट् । भक्षयत । सेवध्वम् (वसूनि) वस्तूनि (जाते) उत्पन्ने (जनमाने) छान्दसं रूपम् । जनिष्यमाणे । उत्पत्स्यमाने जगति (ओजसा) सामर्थ्येन (प्रति) प्रत्यक्षेण (भागम्) सेवनीयमशंम् (न) इव (दीधिम) दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः । छान्दसं परस्मैपदम्, अन्तर्गतण्यर्थः । प्रकाशयेम ॥

के लिये पिता के धन के समान अपना कर्म छोड़ जावे ॥ १ ॥

मन्त्र १. २ ऋग्वेद में हैं—८ । ६६ [सायणभाष्य ८८] । ३, ४; सामवेद—उ० ५ । २ । १४, म० १—पू० ३ । ८ । ५ तथा यजुर्वेद—३३ । ४१ ॥

अनर्शरातिं वसुदामुप स्तुहि भद्रा इन्द्रस्य रातयः । सो अस्य कामं विधतो न रोषति मनो दानाय चोदयन् ॥ २ ॥

अनर्श-रातिम् । वसु-दाम् । उप । स्तुहि । भद्राः । इन्द्रस्य । रातयः ॥ सः । अस्य । कामम् । विधतः । न । रोषति । मनः । दानाय । चोदयन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (अनर्शरातिम्) निर्दोष दानी, (वसुदाम्) धन देने वाले [परमात्मा] की (उप) आदर पूर्वक (स्तुहि) स्तुति कर, (इन्द्रस्य) उस इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] के (रातयः) दान (भद्राः) कल्याणकारी हैं । (सः) वह [परमात्मा] (विधतः) सेवक के (मनः) मन को (दानाय) दान के लिये (चोदयन्) बढ़ाता हुआ (अस्य) उसकी (कामम्) इच्छा को (न) नहीं (रोषति) नष्ट करता है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के अक्षय भण्डार से अनन्त दानों को पाकर सदा उपकार में लगावे ॥ २ ॥

बण्महाँ असि सूर्य बडादित्य महाँ असि । महस्ते सतो महिमा पनस्यतेऽद्धा देव महाँ असि ॥ ३ ॥

बट् । महान् । असि । सूर्य । बट् । आदित्य । महान् ।

२—(अनर्शरातिम्) अर्श हिंसायाम्-अच, सौत्रो धातुः । अनर्शरातिमनश्लीलदानमश्लीलं पापकमश्रिमद् विपरम्—निरु० ६ । २३ । निर्दोषदानम् (वसुदाम्) धनस्य दातारम् (उप) पूजायाम् (स्तुहि) प्रशंस (भद्राः) कल्याण्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (रातयः) दानानि (सः) परमात्मा (अस्य) उपासकस्य (कामम्) मनोरथम् (विधतः) परिचरतः पुरुषस्य (न) निषेधे (रोषति) हिनस्ति । नाशयति (मनः) अन्तःकरणम् (दानाय) (चोदयन्) प्रेरयन् सन् ॥

असि । महः । ते । सतः । महिमा । पनस्यते । अद्धा । देव । महान् । असि ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे चराचर के प्रेरक [परमेश्वर] तू (बट्) सत्य सत्य (महान्) बड़ा (असि) है, (आदित्य) हे अविनाशी ! तू (बट्) ठीक ठीक (महान्) महान् [पूजनीय] (असि) है । (ते) तुझ (महः) महान्, (सत.) सत्य स्वरूप की (महिमा) महिमा (पनस्यते) स्तुति की जाती है, (देव) हे दिव्य गुण वाले तू (अद्धा) निश्चय करके (महान्) महान् (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा की महिमा सब सृष्टि के पदार्थ जताते हैं, सब मनुष्य उसकी उपासना करके अपनी उन्नति करें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३ कुछ भेद से आचुका है—अ० १३ । २ । २९ । मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में हैं—८ । १०१ [सायणभाष्य ९०] । ११, १२ ; यजुर्वेद ३३ । ३९, ४० । और सामवेद—उ० ९ । १ । ९ ॥

बट् सूर्य अवसा महाँ असि सत्रा देव महाँ असि । मह्ना देवानामसुर्यः पुरोहितो विभु ज्योतिरदाभ्यम् ॥ ४ ॥

बट् । सूर्य । अवसा । महान् । असि । सत्रा । देव । महान् । असि ॥ मह्ना । देवानाम् । असुर्यः । पुरःऽहितः । विऽभु । ज्योतिः । अदाभ्यम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सूर्य) हे सूर्य ! [सूर्य के समान सब के प्रकाशक परमेश्वर] तू (श्रवसा) यश वा धन से (बट्) सचमुच (महान्) बड़ा (असि) है,

---

३—(बट्) सत्यम् (महान्) विशालः (असि) (सूर्य) हे चराचर—प्रेरक (बट्) (आदित्य) हे अविनाशिस्वरूप (महान्) पूजनीयः (असि) (महः) महतः (ते) तव (सतः) सत्यस्वरूपस्य (पनस्यते) स्तूयते (अद्धा) सत्यम् (देव) हे दिव्यगुणविशिष्ट (महान्) (असि) ॥

४—(बट्) सत्यम् (सूर्य) हे सवितृवत् स्वप्रकाशक (श्रवसा) यशसा धनेन वा (महान्) (असि) (मह्ना) महिम्ना । महत्त्वेन (देवानाम्)

(देव) हे सुखदाता तू (मन्हा) सचमुच (महान्) बड़ा (असि) है । (देवानाम्) चलने वाले लोकों के बीच (महा) अपनी बड़ाई से तू (असुर्यः) प्राणियों वा बुद्धि वालों का हितकारी (पुरोहितः) पुरोहित [अगुआ] और (विभु) व्यापक (अदाभ्यम्) न दबने योग्य (ज्योतिः) ज्योति है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो प्रकाशस्वरूप, सब का पुरोहित अर्थात् मुखिया होकर सब प्राणियों का हित करता है, मनुष्य उसकी आराधना कर के आत्मबल बढ़ावें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ५८ ॥

मन्त्राः १—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २, ४ निचृदार्षी पङ्क्तिः; ३ निचृदार्षी बृहती ॥

१—२ ईश्वरोपासनोपदेशः—१—२ ईश्वर की उपासना का उपदेश ॥

उदु त्ये मधुमत्तमा गिर स्तोमास ईरते । सत्राजितो धनसा अक्षितोतयो वाजयन्तो रथा इव ॥ १ ॥

उत् । ऊं इति । त्ये । मधुमत्-तमाः । गिरः । स्तोमासः । ईरते ॥ सत्रा-जितः । धनसाः । अक्षित-ऊतयः । वाज-यन्तः । रथाः-इव ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्ये) वे (मधुमत्तमाः) अतिमधुर (स्तोमासः) स्तोत्र (उ) और (गिरः) वाणियां (उत् ईरते) ऊंची जाती हैं । (इव) जैसे (सत्राजितः) सत्य से जीतने वाले, (धनसाः) धन देने वाले, (अक्षितोतयः) अक्षय रक्षा करने वाले, (वाजयन्तः) बल प्रकट करते हुये (रथाः) रथ [आगे बढ़ते हैं] ॥ १ ॥

गतिशीलानां लोकानां मध्ये (असुर्यः) असुः प्राणः । प्रज्ञानाम—निघ० ३ । ६, रोमत्वर्थीयः, यत् हितार्थे । असुरत्वं प्रज्ञावत्वं वानवत्त्वं वा—निरु० १० । ३४ । प्राणिभ्यो बुद्धिमद्भ्यो वा हितकरः (पुरोहितः) अ० ३ । १९ । १ । पुरस्+डुधाञ् धारण पोषणयोः—क्त । अग्रे धृतः स्थापितः । प्रधानः (विभु) व्यापकम् (ज्योतिः) प्रकाशस्वरूपम् (अदाभ्यम्) अहिंसनीयम् ।

भावार्थ—जैसे शूर वीरों के रथ रणक्षेत्र में विजय पाने के लिये उमंग से चलते हैं, वैसे ही मनुष्य दोषों और दुष्टों को वश में करने के लिये परमात्मा की स्तुति को किया करें ॥ १ ॥

मन्त्र १,२ आचुके हैं—अ० २० । १० । १—२ ॥

कण्वा॑ इव॒ भृग॑वः॒ सूर्या॑ इव॒ विश्व॒मिद्धी॒तमा॑नशुः । इन्द्रं॒ स्तोमे॑भि॒र्म॒हय॑न्त आ॒यवः॑ प्रि॒यमे॑धासो अस्वरन् ॥ २ ॥

कण्वाः॑-इव । भृग॑वः । सूर्याः॑-इव । विश्व॑म् । इत् । धी॒तम् । आ॒न॒शुः॒ ॥ इन्द्र॑म् । स्तोमे॑भिः । म॒ह-यन्तः॑ । आ॒यवः॑ । प्रि॒य-मे॑धासः । अ॒स्व॒र॒न् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कण्वाः इव) बुद्धिमानों के समान, और (सूर्याः इव) सूर्यों के समान [तेजस्वी], (भृगवः) परिपक्व ज्ञान वाले, (महयन्तः) पूजते हुये, (प्रियमेधासः) यज्ञ को प्रिय जानने वाले (आयवः) मनुष्यों ने (विश्वम्) व्यापक, (धीतम्) ध्यान किये गये (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] का (इत्) ही (स्तोमेभिः) स्तोत्रों से (आनशुः) पाया है और (अस्वरन्) उच्चारा है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य बुद्धिमानों और सूर्यों के समान प्रतापी होकर परमात्मा के गुणों को गाते हुये आत्मोन्नति करें ॥ २ ॥

३—४ राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—३—४ राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

उदिन्न्व॑स्य रिच्य॒तेंऽशो॒ धनं॒ न जि॒ग्युषः॑ । य इन्द्रो॒ हरि॑वा॒न्न द॑भन्ति॒ तं रिपो॒ दक्षं॑ दधाति सो॒मिनि॑ ॥ ३ ॥

उत् । इत् । नु । अ॒स्य॒ । रि॒च्यते॒ । अंशः॑ । धन॑म् । न । जि॒ग्युषः॑ ॥ यः । इन्द्रः॑ । हरि॑-वान् । न । द॒भ॒न्ति॒ । तम् । रिपः॑ । दक्ष॑म् । द॒धा॒ति॒ । सो॒मिनि॑ ॥ ३ ॥

१—२ ॥ मन्त्रौ व्याख्यातौ अ० २० । १० । १—२ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [राजा] का (इत्) ही (अंशः) भाग (जिग्युषः) विजयी वीर के (धनं न) धन के समान (नु) शीघ्र (उत् रिच्यते) बढ़ता जाता है (यः) जो (हरिवान्) श्रेष्ठ मनुष्यों वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (सोमिनि) तत्व रस वाले व्यवहार में (दक्षम्) बल को (दधाति) लगाता है, और (तम्) उस [राजा] को (रिपः) वैरी लोग (न) नहीं (दभन्ति) सताते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा अपने बल को श्रेष्ठ व्यवहारों में लगाता है, वह राज्य में उन्नति कर के प्रतिष्ठा पाता है ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—७ । ३२ । १२, १३ ॥

मन्त्रमखर्वं सुधितं सुपेशसं दधात यज्ञियेष्वा ।
पूर्वीश्चन प्रसितयस्तरन्ति तं य इन्द्रे कर्मणा भुवत् ॥ ४ ॥

मन्त्रम् । अखर्वम् । सु-धितम् । सु-पेशसम् । दधात । यज्ञियेषु । आ ॥ पूर्वीः । चन । प्र-सितयः । तरन्ति । तम् । यः । इन्द्रे । कर्मणा । भुवत् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (अखर्वम्) अनीच [धार्मिक], (सुधितम्) अच्छे प्रकार व्यवस्था किये गये, (सुपेशसम्) बहुत सोना आदि धन करनेवाले (मन्त्रम्) मन्त्र [मन्तव्य विचार] को (यज्ञियेषु) पूजा योग्य व्यवहारों में

३—(उत्) आधिक्ये (इत्) एव (नु) क्षिप्रम् (अस्य) राज्ञः (रिच्यते) अधिको भवति (अंशः) भागः (धनम्) (न) इव (जिग्युषः) जि जये—क्वसु । जयशीलस्य (यः) (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (हरिवान्) प्रशस्तमनुष्यैर्युक्तः (न) निषेधे (दभन्ति) हिंसन्ति (तम्) राजानम् (रिपः) रिपवः । शत्रवः (दक्षम्) बलम् (दधाति) धरति (सोमिनि) तत्वरसवति व्यवहारे ॥

४—(मन्त्रम्) मन्तव्यं विचारम् (अखर्वम्) सर्वगतौ दर्पे च—अच् । अनीचम् । धार्मिकम् (सुधितम्) दधातेः—क्त । सुविहितम् । सुष्ठु व्यवस्थापितम् (सुपेशसम्) पेशो हिरण्यनाम—निघ० १ । २ । सुपेशांसि शोभनानि

(आ) सब ओर से (दधात) धारण करो। (पूर्वीः) प्राचीन (चन) ही (प्रसितयः) उत्तम प्रबन्ध (तम्) उस मनुष्य को (तरन्ति) पार लगाते हैं, (यः) जो पुरुष (इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के निमित्त (कर्मणा) क्रिया के साथ (भुवत्) होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ— राजा और विद्वान् जन मिलकर गूढ़ विचारों के साथ सर्वहितकारी काम करके आपस में प्रीति बढ़ावें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ९० ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी गायत्री, २, ५ गायत्री; ३, ४ निचृद् गायत्री; ६ वर्धमाना गायत्री ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

एवा ह्यसि वीरयुरेवा शूर उत स्थिरः । एवा ते राध्यं मनः ॥१

एव । हि । असि । वीर॒ऽयुः । एव । शूरः । उत । स्थिरः ॥ एव । ते । राध्यम् । मनः ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे पुरुष !] तू (एव) निश्चय करके (हि) ही (वीरयुः) वीरों का चाहने वाला, (एव) निश्चय करके (शूरः) शूर (उत) और (स्थिरः) दृढ़ (असि) है, (एव) निश्चय करके (ते) तेरा (मनः) मन [विचार सामर्थ्य] (राध्यम्) बड़ाई योग्य है ॥१ ॥

भावार्थ—मनुष्य धार्मिक सत्य सङ्कल्पों की पूर्ति के लिये सदा दृढ़ प्रयत्न करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८। ९२ [सायण भाष्य ८१] । २८—३०, सामवेद—उ० २। १। तृच १८; मन्त्र १—पू० ३। ४। १० ॥

सुवर्णादिधनानि यस्मात् तम् (दधात) धत्त (यज्ञियेषु) पूजार्हेषु व्यवहारेषु (आ) समन्तात् (पूर्वीः) प्राचीनाः (चन) अपि (प्रसितयः) उत्तमप्रबन्धाः (तरन्ति) पारयन्ति (तम्) पुरुषम् (यः) (इन्द्रे) ऐश्वर्यवति राजनि निमित्ते (कर्मणा) सत्क्रियया (भुवत्) भवेत् ॥

१—((एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (असि) (वीरयुः) वीर—क्यच् । उप्रत्ययः वीरान् कामयमानः (एव) (शूरः) (उत) अपि (स्थिरः) दृढ़ः (एव) (ते) तव (राध्यम्) आराधनीयम् (मनः) मननसामर्थ्यम् ॥

एवा रातिस्तुवीमघ विश्वेभिर्धायि धातृभिः । अधा चिदिन्द्र मे सचा ॥ २ ॥

एव । रातिः । तुवि-मघ । विश्वेभिः । धायि । धातृ-भिः ॥ अध । चित् । इन्द्र । मे । सचा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुविमघ) हे बहुत धन वाले ! (रातिः) [तेरा] दान (एव) निश्चय करके (विश्वेभिः) सब (धातृभिः) कर्मधारियों कर के (धायि) धारण किया गया है, (अध) सो, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (मे) मेरे लिये (चित्) भी (सचा) नित्य मेल से [रह] ॥ २ ॥

भावार्थ—वीर पुरुष बहुत धन को एकत्र करके अपने कर्मकारियों को सदा प्रसन्न रक्खे ॥ २ ॥

मो षु ब्रह्मेव तन्द्रयुर्भुवो वाजानां पते । मत्स्वा सुतस्य गोमतः ॥ ३ ॥

मो इति । सु । ब्रह्मा-इव । तन्द्रयुः । भुवः । वाजानाम् । पते ॥ मत्स्व । सुतस्य । गो-मतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वाजानां पते) हे अन्नों के रक्षक ! (ब्रह्मा इव) ब्रह्मा [वेदज्ञाता] के समान [होकर] तू (तन्द्रयुः) आलसी (मो षु भुवः) कभी भी मत हो, (गोमतः) वेदवाणी से युक्त (सुतस्य) तत्त्व रस का (मत्स्व) आनन्द भोग ॥ ३ ॥

२—(एव) निश्चयेन (रातिः) दानम् (तुविमघ) हे बहुधनवन् (विश्वेभिः) सर्वैः (धायि) अधायि । धार्यते (धातृभिः) कर्मधारकैः (अध) अनन्तरम् (चित्) एव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (मे) मह्यम् (सचा) समवायेन—वर्तस्वेति शेषः ॥

३—(मो) नैव (सु) (ब्रह्मा) वेदज्ञाता (इव) यथा (तन्द्रयुः) तद्रि अवसादे मोहे च—घञ्, क्यच्—उ । तन्द्रम् आलस्यमिच्छन् । आलस्ययुक्तः (भुवः) भूयाः (वाजानाम्) अन्नानाम् (पते) रक्षक (मत्स्व) हर्षं प्राप्नुहि (सुतस्य) तत्त्वरसस्य (गोमतः) वेदवाणीयुक्तस्य ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों के समान निरालसी होकर तत्त्वज्ञान के अभ्यास से सुखी होवे ॥ ३ ॥

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एव । हि । अस्य । सूनृता । वि-रप्शी । गो-मती । मही ॥ पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अस्य) उस [सभापति] की (सूनृता) अन्नवाली क्रिया (एव) निश्चय करके (हि) ही (विरप्शी) स्पष्ट वाणी वाली, (गोमती) श्रेष्ठ दृष्टि वाली, (मही) सत्कार योग्य, (पक्वा) परिपक्व [फल फूल वाली] (शाखा न) शाखा के समान (दाशुषे) आत्मदानी पुरुष के लिये [होवे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा आदि सभापति दूरदर्शी होकर अन्न आदि पदार्थों से हितैषी सुपात्रों का सत्कार कर के सुखी करें, जैसे फल फूल वाले वृक्ष आनन्द देते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१ । ८ । ८—१० । और आगे हैं, २० । ७१ । ४—६ ॥

एवा हि ते विभूतय ऊतय इन्द्र मावते । सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एव । हि । ते । वि-भूतयः । ऊतयः । इन्द्र । मा-वते ॥ सद्यः । चित् । सन्ति । दाशुषे ॥ ५ ॥

४—(एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (अस्य) सभापतेः (सूनृता) सूनृतेत्यन्ननाम—निघ० २ । ७ । अन्नवती क्रिया (विरप्शी) अ० ५ । २६ । १३ । वि+रप व्यक्तायां वाचि—क्विप् शप्रत्ययो मत्वर्थे, ङीप् । स्पष्टवाग्वती (गोमती) श्रेष्ठदृष्टियुक्ता (मही) महती । पूज्या (पक्वा) फलपुष्पयुक्ता (शाखा) वृक्षावयवः (न) इव (दाशुषे) आत्मदानिने । भक्ताय ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एव) निश्चय करके (हि) ही (ते) तेरे (विभूतयः) अनेक ऐश्वर्य (मावते) मेरे तुल्य (दाशुषे) आत्मदानी के लिये (सद्यः चित्) तुरन्त ही (ऊतयः) रक्षासाधन (सन्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपना ऐश्वर्य श्रेष्ठ उपकारी पुरुषों की रक्षा में लगाता रहे ॥ ५ ॥

एवा ह्यस्य काम्या स्तोमं उक्थं च शंस्या । इन्द्राय सोमपीतये ॥ ६ ॥

एव । हि । अस्य । काम्या । स्तोमः । उक्थम् । च । शंस्या ॥ इन्द्राय । सोम-पीतये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एव) निश्चय करके (हि) ही (अस्य) उस [सभापति] के (काम्या) मनोहर और (शंस्या) प्रशंसनीय (स्तोमः) उत्तम गुण (च) और (उक्थम्) कहने योग्य कर्म (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (सोमपीतये) तत्त्वरस पीने के निमित्त [हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—उत्तम गुणी पुरुष को सभापति बनाकर सब मनुष्य ऐश्वर्य वाले और तत्त्वज्ञानी वाले होवें ॥ ६ ॥

५—(एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (ते) तव (विभूतयः) विविधैश्वर्याणि (ऊतयः) रक्षासाधनानि (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् राजन् (मावते) वतुप्प्रकरणे युष्मदस्मद्भ्यां छन्दसि सादृश्य उपसंख्यानम् । वा० पा० ५ । २ । ३९ । अस्मद्—वतुप् सादृश्ये । आ सर्वनाम्नः । पा० ६ । ३ । ९१ । इत्याकारादेशः । मत्सदृशाय (सद्यः)- शीघ्रम् (चित्) एव (सन्ति) भवन्ति (दाशुषे) आत्मदानिने ॥

६—(एव) निश्चयेन (हि) अवधारणे (अस्य) सभापतेः (काम्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । इति द्विवचनस्य आकारः । कमनीये (स्तोमः) स्तुत्यगुणः (उक्थम्) वक्तव्यं कर्म (च) (शंस्या) पूर्ववद् आकारः । प्रशंसनीये (इन्द्राय) ऐश्वर्यवते पुरुषाय (सोमपीतये) तत्त्वरसपानाय ॥

सूक्तम् ६१ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ उष्णिक्; २—६ निचृदुष्णिक ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

तं ते॒ मदं॑ गृणीमसि॒ वृष॑णं पृ॒त्सु सा॑स॒हिम् । उ॒ लो॒क॒कृ॒त्नु-
म॑द्रिवो हरि॒श्रिय॑म् ॥ १ ॥

तम् । ते॒ । मद॑म् । गृ॒णी॒म॒सि॒ । वृष॑णम् । पृ॒त्-सु । स॒स॒हिम् ॥
ऊं॒ इति॑ । लो॒क॒-कृ॒त्नुम् । अ॒द्रि॒-वः॒ । ह॒रि॒-श्रिय॑म् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे मेघों के धारण करने वाले ! [परमेश्वर] (ते) तेरे (तम्) उस (वृषणम्) महाबल वाले, (पृत्सु) सङ्ग्रामों में (ससहिम्) विजय करने वाले, (लोककृत्नुम) लोकों के बनाने वाले (उ) और (हरिश्रियम्) मनुष्यों में श्री [सेवनीय सम्पत्ति वा शोभा] देने वाले (मदम्) आनन्द की (गृणीमसि) हम स्तुति करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—पृथिवी आदि सब लोकों के रचने वाले, मनुष्यों को सब में श्रेष्ठ बनाने वाले न्यायकारी परमेश्वर की स्तुति से हम समर्थ होकर आनन्द बढ़ावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८।१५।४—६, सामवेद—उ० २।२। तृच १८; मन्त्र १—पू०४।१०।३॥

येन॒ ज्योतीं॑ष्या॒यवे॒ मन॑वे च वि॒वेदि॑थ । म॒न्दा॒नो अ॒स्य ब॒र्हिषो॒ वि रा॑जसि ॥ २ ॥

१—(तम्) प्रसिद्धम् (ते) तव (मदम्) आनन्दम् (गृणीमसि) मस इकारागमः। गृणीमः। स्तुमः (वृषणम्) महाबलवन्तम् (पृत्सु) सङ्ग्रामेषु (ससहिम्) अ० ३।१८।५। अभिभवितारम्। विजयितारम् (उ) च (लोककृत्नुम्) कृहनिभ्यां क्त्नुः। उ० ३।३०। करोतेः क्त्नु। लोकानां कर्तारम् (अद्रिवः) हे मेघधारिन् (हरिश्रियम्) हरिषु मनुष्येषु श्रीः श्रयणीया सेव्या सम्पत्तिः शोभा वा यस्मात् तम् ॥

येन । ज्योतींषि । आयवे । मनवे । च । विवेदिथ ॥ मन्दानः । अस्य । बर्हिषः । वि । राजसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (येन) जिस [यज्ञ] के द्वारा (आयवे) गतिशील [उद्योगी] (च) और (मनवे) मननशील मनुष्य के लिये (ज्योतींषि) ज्योतियों को (विवेदिथ) तू ने प्राप्त कराया है, (मन्दानः) आनन्द करता हुआ तू (अस्य) उस (बर्हिषः) बढ़े हुये यज्ञ [संसार] की (वि) विशेष कर के (राजसि) राजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने संसार के बीच, सूर्य, अग्नि, बिजुली, वायु आदि रचकर पुरुषार्थी विचारवान् पुरुष के लिये ऐश्वर्य पाने के अनन्त साधन दिये हैं, वही परमेश्वर सब सृष्टि का स्वामी है ॥ २ ॥

तदुद्या चित्त उक्थिनोऽनु ष्टुवन्ति पूर्वथा । वृषपत्नीरपो जया दिवेदिवे ॥ ३ ॥

तत् । अद्य । चित् । ते । उक्थिनः । अनु । स्तुवन्ति । पूर्व-था ॥ वृष-पत्नीः । अपः । जय । दिवे-दिवे ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (ते) तेरे (तत्) उस [सामर्थ्य] को (उक्थिनः) कहने योग्य के कहने हारे पुरुष (अद्यचित्) अब भी (पूर्वथा) पहिले के समान (अनु) लगातार (स्तुवन्ति) गाते हैं । [जिस सामर्थ्य से]

२—(येन) बर्हिषा । यज्ञेन (ज्योतींषि) सूर्याग्निविद्युद्वाय्वादीन् (आयवे) छन्दसीणः उ० १ । २ । इण् । गतौ-उण् । गतिशीलाय (मनवे) मननशीलाय मनुष्याय (च) (विवेदिथ) विद्लृ लाभे-लिट् । प्रापितवानसि (मन्दानः) अ० २० । ६ । १ । आमोदयितारम् (अस्य) प्रसिद्धस्य (बर्हिषः) प्रवृद्धस्य यज्ञस्य (वि) विशेषेण (राजसि) ईशिषे ॥

३—(तत्) सामर्थ्यम् (अद्य) इदानीम् (चित्) अपि (ते) तव (उक्थिन.) वक्तव्यस्य वक्तारः (अनु) निरन्तरम् (स्तुवन्ति) प्रशंसन्ति (पूर्वथा) पूर्वकाले यथा (वृषपत्नीः) वृषा बलवान् परमात्मा पती रक्षको

(वृषजूतीः) बलवान् [तुझ परमात्मा] से रक्षा की हुई (अपः) प्रजाओं (को (दिवेदिवे) दिन दिन (जय) तू जीतता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विज्ञानी सूक्ष्मदर्शी लोग परमात्मा की उस शक्ति को देखकर समर्थ होते हैं, जिस शक्ति से वह सब सृष्टि को रचकर सदा अपने वश में रखता है ॥ ३ ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ४ ॥

तम् । ऊं इति । अभि । प्र । गायत । पुरु-हूतम् । पुरु-स्तुतम् ॥ इन्द्रम् । गीः-भिः । तविषम् । आ । विवासत ॥ ४

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (तम् उ) उस ही (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे हुये, (पुरुष्टुतम्) बहुत बड़ाई किये हुये, (तविषम्) महान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (प्र) भले प्रकार (गायत) गाओ, और (गीर्भिः) वाणियों से (आ) सब प्रकार (विवासत) सत्कार करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा सब से बड़ा है, उसी के गुणों को हृदय में धारण कर के आत्मबल बढ़ाओ ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में है—८ । १५ । १—३ और आगे हैं—अ० २० । ६२ । ८—१० और मन्त्र १ सामवेद में है—पू० ४ । १० । ३ ॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ५ ॥

याभ्यां ताः (अपः) प्रजाः (जय) लडर्थे लोट् । जयसि । वशीकरोषि (दिवे-दिवे) प्रतिदिनम् ॥

४—(तम्) प्रसिद्धम् (उ) एव (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (गायत) स्तुत (पुरुहूतम्) बहुविधाहूतम् (पुरुष्टुतम्) बहुप्रशंसितम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (गीर्भिः) वाणीभिः (तविषम्) महान्तम् (आ) समन्तात् (विवासत) परिचरत । सेवध्वम्—निघ० ३ । ५ ॥

यस्य । द्वि-बर्हसः । बृहत् । सहः । दाधार । रोदसी इति ॥
गिरीन् । अज्रान् । अपः । स्वः । वृष-त्वना ॥ ५ ॥

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ ६ ॥

सः । राजसि । पुरु-स्तुत । एकः । वृत्राणि । जिघ्नसे ॥ इन्द्र । जैत्रा । श्रवस्या । च । यन्तवे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(द्विबर्हसः) दोनों विद्या और पुरुषार्थ में बढ़े हुये (यस्य) जिस [परमात्मा] के (बृहत्) बड़े (सहः) सामर्थ्य ने (रोदसी) सूर्य और भूमि, (अज्रान्) शीघ्रगामी (गिरीन्) मेघों, (अपः) जलों [समुद्र आदि] और (स्वः) प्रकाश को (वृषत्वना) बल के साथ (दाधार) धारण किया है ॥ ५ ॥ (पुरुष्टुत) हे बहुत स्तुति किये हुये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (सः) सो (एकः) अकेला तू (जैत्रा) जीतने वालों के योग्य धनों (च) और (श्रवस्या) यश के लिये हितकारी कर्मों को (यन्तवे) नियम में रखने के लिये, (राजसि) राज्य करता है, और (वृत्राणि) रोकने वाले विघ्नों को (जिघ्नसे मिटाता है ॥ ६ ॥

५—(यस्य) परमात्मनः (द्विबर्हसः) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ।च। उ० ४ । २२७ । द्वि+बर्ह प्राधान्ये—असि । द्वयोर्विद्यापुरुषार्थयोः परिवृद्धस्य (बृहत्) महत् (सहः) सामर्थ्यम् (दाधार) धारितवान् (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (गिरीन्) मेघान् (अज्रान्) स्फायितञ्चिवञ्चिशकि० । उ० २ । १३ । अज गतिक्षेपणयोः—रक्, वीभावाभावः । क्षिप्रान्—निघ० २ । १५ । शीघ्रगमनान् (अपः) जलानि समुद्रादीनि (स्वः) प्रकाशम् (वृषत्वना) वृषत्वेन । वीर्येण ॥ ५ ॥

६—(सः) तादृशस्त्वम् (राजसि) ईशिषे (पुरुष्टुत) बहुस्तुत (एकः) अद्वितीयः (वृत्राणि) आवरकान् । विघ्नान् (जिघ्नसे) हंसि । नाशयसि (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (जैत्रा) जेतृ—अण् । जेतॄणां योग्यानि धनानि (श्रवस्या) अ० २० । १२ । १ । यशसे हितानि कर्माणि (च) (यन्तवे) यन्तुं नियन्तुं वशीकर्तुम् ॥

भावार्थ—अकेला महाविद्वान् और महापुरुषार्थी परमात्मा सब को परस्पर धारण आकर्षण से चलाता हुआ अपने विश्वासी भक्तों को उनके पुरुषार्थ के अनुसार धन और कीर्ति देता है ॥ ५, ६ ॥

सूक्तम् ६२ ॥

१—१० ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ६, ७ विराडाण्युष्णिक्; २ भुरिगार्षी बृहती; ३, ५ ककुबुष्णिक्; ४ विराडार्षी पङ्क्तिः; ८—१० निचृदुष्णिक् ॥

१—४ राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—१—४ राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

वयमु त्वामपूर्व्य स्थूरं न कच्चिद् भरन्तोऽवस्यवः । वाजे चित्रं हवामहे ॥ १ ॥

वयम् । ऊं इति । त्वाम् । अपूर्व्य । स्थूरम् । न । कत् । चित् । भरन्तः । अवस्यवः ॥ वाजे । चित्रम् । हवामहे ॥१॥

भाषार्थ—(अपूर्व्य) हे अनुपम ! [राजन्] (कत् चित्) कुछ भी (स्थूरम्) स्थिर (न) नहीं (भरन्तः) रखते हुये, (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (वयम्) हम (वाजे) सङ्ग्राम के बीच (चित्रम्) विचित्र स्वभाव वाले (त्वाम्) तुझ का (उ) ही (हवामहे) बुलाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जब दुष्ट चोर डाकू लोग अत्यन्त सतावें, प्रजागण वीर राजा की शरण लेकर रक्षा करें ॥ १॥

मन्त्र १—४ आ चुके हैं—अथर्व० २० । १४ । १—४ ॥

उप त्वा कर्मन्नूतये स नो युवोग्रश्चक्राम यो धृषत् । त्वामिद्ध्यवितारं ववृमहे सखाय इन्द्र सानसिम् ॥ २ ॥

उप । त्वा । कर्मन् । ऊतये । सः । नः । युवा । उग्रः । चक्राम । यः । धृषत् ॥ त्वाम् । इत् । हि । अवितारम् । ववृमहे । सखायः । इन्द्र । सानसिम् ॥ २ ॥

१—४ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । १४ । १—४ ॥

भावार्थ—(कर्मन्) कर्म के बीच (नः) हमारी (ऊतये) रक्षा के लिये (सः) उस (यः) जिस (शुग्रा) स्वभाव से बलवान्, (उग्रः) तेजस्वी और (धृषत्) निर्भय पुरुष ने (चकाम) पैर बढ़ाया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (अवितारम्) उस रक्षक और (सानसिम्) दानी (त्वा) तुझ को. (त्वाम्) तुझ को (हि) ही (इत्) अवश्य (सखायः) हम मित्र लोग (उप) आदर से (ववृमहे) चुनते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष प्रजारक्षण में बड़ा पराक्रमी हो, प्रजागण सब लोगों में से उसी को राजा बनावें ॥ २ ॥

यो नं इदर्मिदं पुरा प्र वस्य आनिनाय तमु व स्तुषे ।
सखाय इन्द्रमूतये ॥ ३ ॥

यः । नः । इदम्-इदम् । पुरा । प्र । वस्यः । आ-निनाय । तम् । ऊं इति । वः । स्तुषे ॥ सखायः । इन्द्रम् । ऊतये ॥३

भावार्थ—(यः) जो [पराक्रमी] (नः) हमारे लिये (इदमिदम्) इस—इस (वस्यः) उत्तम वस्तु को (प्र) अच्छे प्रकार (आनिनाय) लाया है, (तम् उ) उस ही (इन्द्रम) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] को, (सखायः) हे मित्रों ! (वः) तुम्हारी (ऊतये) रक्षा के लिये (स्तुषे) मैं सराहता हूं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पहले ही से धीर वीर होवे, लोग उसकी बड़ाई कर के गुण ग्रहण करें ॥ ३ ॥

हर्यश्वं सत्पतिं चर्षणीसहं स हि ष्मा यो अमन्दत । आ तु नः स वयति गव्यमश्व्यं स्तोतृभ्यो मघवा शतम् ॥ ४ ॥

हरि-अश्वम् । सत्-पतिम् । चर्षणि-सहम् । सः । हि । स्म । यः । अमन्दत ॥ आ । तु । नः । सः । वयति । गव्यम् । अश्व्यम् । स्तोतृ-भ्यः । मघ-वा । शतम् ॥ ४ ॥

भावार्थ—(सः) वह (हि) ही (स्म) अवश्य [मनुष्य है], (यः) जिस ने (हर्यश्वम्) ले चलने वाले घोड़ों से युक्त, (सत्पतिम्)

सत्पुरुषों के रक्षक, (चर्षणीसहम्) मनुष्यों को नियम में रखने वाले [राजा] को (अमन्दत) प्रसन्न किया है। (सः) वह (मघवा) महाधनी (तु) तो (नः) हम (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों को (शतम्) सौ [बहुत] (गव्यम्) गौओं का समूह और (अश्व्यम्) घोड़ों का समूह (आ वयति) लाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब प्रजागण आज्ञा मानकर शूर धर्मात्मा राजा को प्रसन्न रक्खें, जिस से वह उत्तम प्रबन्ध के साथ प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ४ ॥

मन्त्राः ५—१० परमेश्वर गुणोपदेशः—मन्त्र ५—१० परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इन्द्राय साम गायत विप्राय बृहते बृहत्। धर्मकृते विपश्चिते पनस्यवे ॥ ५ ॥

इन्द्राय। साम। गायत। विप्राय। बृहते। बृहत् ॥ धर्म-कृते। विपः-चिते। पनस्यवे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (विप्राय) बुद्धिमान्, (बृहते) महान्, (धर्मकृते) धर्म [धारण योग्य नियम] के बनाने वाले, (विपश्चिते) विशेष महाज्ञानी, (पनस्यवे) सब के लिये व्यवहार चाहने वाले, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] के लिये (बृहत्) बड़े (साम) साम [दुःख-नाशक मोक्षज्ञान] का (गायत) तुम गान करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य वेदद्वारा धर्म विधान पर चलकर परमात्मा की उपासना से बुद्धिमान् और व्यवहार कुशल होकर मोक्ष सुख प्राप्त करें ॥ ५ ॥

मन्त्र ५—७ ऋग्वेद में हैं—८। ६८ [सायण भाष्य ८७]। १-३। सामवेद—उ० ३। २। तृच २२, मन्त्र ५, पू० ४। १०। ८ ॥

५—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (साम) अ० ७। ५४। १। दुःखनाशकं मोक्षज्ञानम् (गायत) पठत (विप्राय) मेधाविने (बृहते) महते (बृहत्) महत् (धर्मकृते) धर्मस्य धारणीयनियमस्य कर्त्रे (विपश्चिते) अ० ६। ५२। ३। वि+प्र+चिती संज्ञाने—क्विप्। विशेषमहाज्ञानिने (पनस्यवे) पन स्तुतौ, व्यवहारे, च—असुन्—क्यच्—उ। सर्वेभ्यो व्यवहारमिच्छते ॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि त्वं सूर्यमरोचयः। विश्वकर्मा विश्वदेवो महाँ असि ॥ ६ ॥

त्वम्। इन्द्र। अभि-भूः। असि। त्वम्। सूर्यम्। अरोचयः॥ विश्व-कर्मा। विश्व-देवः। महान्। असि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वम्) तू (अभिभूः) विजयी (असि) है, (त्वम्) तू ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयः) चमक दी है। तू (विश्वकर्मा) विश्वकर्मा [सब का बनाने वाला], (विश्वदेवः) विश्वदेव [सब का पूजनीय] और (महान्) महान् [अति प्रबल] (असि) है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उस महाबली परमात्मा की उपासना से अपने आत्मा को बलवान् करें ॥ ६ ॥

विभ्राजं ज्योतिषा स्व१रगच्छो रोचनं दिवः। देवास्त इन्द्र सख्याय येमिरे ॥ ७ ॥

वि-भ्राजन्। ज्योतिषा। स्वः। अगच्छः। रोचनम्। दिवः॥ देवाः। ते। इन्द्र। सख्याय। येमिरे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ज्योतिषा) अपनी ज्योति से (विभ्राजन्) चमकता हुआ तू (दिवः) सूर्य के (रोचनम्) चमकाने वाले (स्वः) अपने आनन्द स्वरूप को (अगच्छः) प्राप्त हुआ है,

६—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (अभिभूः) अभिभविता। विजेता (असि) (त्वम्) (सूर्यम्) रविमण्डलम् (अरोचयः) अदीपयः (विश्वकर्मा) सर्वस्य कर्ता (विश्वदेवः) सर्वैः स्तुत्यः (महान्) अतिप्रबलः (असि) ॥

७—(विभ्राजन्) विविधं प्रकाशमानः (ज्योतिषा) स्वतेजसा (स्वः) स्वकीयं सुखस्वरूपम् (अगच्छः) प्राप्तवानसि (रोचनम्) प्रकाशकम् (दिवः) सूर्यस्य (देवाः) विद्वांसः (ते) तव (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन्

(देवाः) विद्वानों ने (ते) तेरी (सख्याय) मित्रता के लिये (येमिरे) उद्योग किया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो प्रकाश स्वरूप परमात्मा अपनी महिमा से प्रत्येक वस्तु में चमकता है, उसकी उपासना से हम अपने आत्मा में प्रकाश करें ॥ ७ ॥

तम्वभि प्र गायत पुरुहूतं पुरुष्टुतम् । इन्द्रं गीर्भिस्तविषमा विवासत ॥ ८ ॥

तम् । ऊं इति । अभि । प्र । गायत । पुरु-हूतम् । पुरु-स्तुतम् ॥ इन्द्रम् । गीः-भिः । तविषम् । आ । विवासत॥८॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (तम् उ) उस ही (पुरुहूतम्) बहुत पुकारे हुये, (पुरुष्टुतम्) बहुत बड़ाई किये हुये, (तविषम्) महान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (अभि) सब ओर से (प्र) भले प्रकार (गायत) गाओ, और (गीर्भिः) वाणियों से (आ) सब प्रकार (विवासत) सत्कार करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! वह परमात्मा सब से बड़ा है, उसी के गुणों को हृदय में धारण करके आत्मबल बढ़ाओ ॥ ८ ॥

मन्त्र ८—१० आचुके हैं— अ० २० । ६१ । ४—६ ॥

यस्य द्विबर्हसो बृहत् सहो दाधार रोदसी । गिरीँरज्राँ अपः स्वर्वृषत्वना ॥ ९ ॥

यस्य । द्वि-बर्हसः । बृहत् । सहः । दाधार । रोदसी इति॥ गिरीन् । अज्रान् । अपः । स्वः । वृष-त्वना ॥ ९ ॥

स राजसि पुरुष्टुतँ एको वृत्राणि जिघ्नसे । इन्द्र जैत्रा श्रवस्या च यन्तवे ॥ १० ॥

(सख्याय) मित्रत्वाय (येमिरे) नियमितवन्तः । उद्यतवन्तः ॥

९—१० । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ०२० । ६१ । ४—६ ॥

सः । राजसि । पुरु-स्तुत । एकः । वृत्राणि । जिघ्नसे ॥
इन्द्र । जैत्रा । श्रवस्या । च । यन्तवे ॥ १० ॥

भाषार्थ—(द्विबर्हज्मः) दोनों विद्या और पुरुषार्थ में बढ़े हुये (यस्य) जिस [परमात्मा] के (बृहत्) बड़े (सहः) सामर्थ्य ने (रोदसी) सूर्य और भूमि, (अज्मान) शीघ्रगामी (गिरीन्) मेघों, (अपः) जलों [समुद्र आदि] और (स्वः) प्रकाश को (वृषत्वना) बल के साथ (दाधार) धारण किया है ॥९॥ (पुरुष्टुत) हे बहुत स्तुति किये हुये (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (सः) सो (एकः) अकेला तू (जैत्रा) जीतने वालों के योग्य धनों (च) और (श्रवस्या) यश के लिये हितकारी कर्मों को (यन्तवे) नियम में रखने के लिये (राजसि) राज्य करता है, और (वृत्राणि) रोकने वाले विघ्नों को (जिघ्नसे) मिटाता है ॥ १० ॥

भावार्थ—अकेला महाविद्वान् और महापुरुषार्थी परमात्मा सब को परस्पर धारण आकर्षण से चलाता हुआ अपने विश्वासी भक्तों को उनके पुरुषार्थ के अनुसार धन और कीर्ति देता है ॥ ९, १० ॥

सूक्तम् ६३ ॥

१—९ ॥ १—३ इन्द्रो विश्वेदेवाश्च देवताः; ४—९ इन्द्रो देवता ॥
१—विराट् पङ्क्तिः; २, ३ निचृत् त्रिष्टुप्; ४—६, ९ उष्णिक्; ७, ८ निचृदुष्णिक् ॥

१—९ राजप्रजाधर्मोपदेशः—१६, राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ १ ॥

इमा । नु । कम् । भुवना । सीसधाम । इन्द्रः । च । विश्वे । च । देवाः ॥ यज्ञम् । च । नः । तन्वम् । च । प्र-जाम् । च । आदित्यैः । इन्द्रः । सह । चीक्लृपाति ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इमा) यह (भुवना) उत्पन्न पदार्थ, (च) और (इन्द्रः)

१—(इमा) इमानि (नु) क्षिप्रम् (कम्) सुखम् (भुवना) उत्पन्नानि

इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (च) और (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग हम (नु) शीघ्र (कम्) सुख को (सीसधाम) सिद्ध करें। (आदित्यैः सह) अखण्ड व्रतधारी विद्वानों के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [मेल मिलाप आदि] (च) और (तन्वम्) शरीर (च) और (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] को (च) भी (चीक्लृपाति) समर्थ करे ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति राजा और सभासद लोग संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सब की यथावत् रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ पूर्वार्ध कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १५७ । १—५ यजुर्वेद—२५ । ४६ सामवेद—उ० ४ । १ । तृच २३। मन्त्र ३ उत्तरार्द्ध ऋग्वेद में है—६ । १७ । १५ और सामवेद—पू० ५ । ७ । ८; मन्त्र १—३ आगे हैं—अ० २० । १२४ । ४—६ ॥

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥२॥

आदित्यैः । इन्द्रः । स-गणः । मरुत्-भिः । अस्माकम् । भूतु । अविता । तनूनाम् ॥ हत्वाय । देवाः । असुरान् । यत् । आयन् । देवाः । देव-त्वम् । अभि-रक्षमाणाः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सगणः) गणों [सुभट वीरों] के साथ वर्तमान (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (आदित्यैः) अखण्ड व्रतधारी (मरुद्भिः) शूर मनुष्यों के साथ (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (अविता)

भूतजातानि (सीसधाम) साधयेम (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभापतिः (च) (विश्वे) सर्वे (च) (देवाः) विद्वांसः सभासदः (यज्ञम्) संगतिकरण-व्यवहारम् (च) (नः) अस्माकम् (तन्वम्) शरीरम् (च) (प्रजाम्) सन्तानादि-रूपाम् (च) (आदित्यैः) अखण्डव्रतिभिः विद्वद्भिः (इन्द्रः) (सह) (चीक्लृपाति) कृपू सामर्थ्ये—लेट् । कल्पयेत् समर्थयेत् ॥

२—(आदित्यैः) अखण्डव्रतिभिः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान्, सभापतिः (सगणः) गणैः सुभटवीरैः सह वर्तमानः (मरुद्भिः) शूरमनुष्यैः (अस्माकम्) (भूतु) भवतु (अविता) रक्षकः (तनूनाम्) शरीराणाम् (हत्वाय) क्त्वाल्यपोः

रक्षक (भूतु) होवे । (यत्) क्योंकि (असुरान्) असुरों [दुराचारियों] को (हत्वाय) मारकर (देवाः) विजय चाहने वाले, (अभिरक्षमाणाः) सब ओर से रक्षा करते हुये (देवाः) विद्वानों ने (देवत्वम्) देवतापन [उत्तमपद] (आयन्) पाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूर वीर विद्वानों के साथ प्रजा की रक्षा कर सके, वही अपने उत्तम कर्मों के कारण उत्तमपद सभापतित्व आदि के योग्य होवे ॥ २ ॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ३ ॥

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । अनयन् । शचीभिः । आत् । इत् । स्वधाम् । इषिराम् । परि । अपश्यन् ॥ अया । वाजम् । देव-हितम् । सनेम । मदेम । शत-हिमाः । सु-वीराः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष पाने योग्य (अर्कम्) पूजनीय व्यवहार को (शचीभिः) अपने कर्मों से (अनयन्) उन [विद्वानों] ने प्राप्त कराया है, और (आत् इत्) तभी (इषिराम) चलाने वाली (स्वधाम्) आत्म धारण शक्ति को (परि) सब ओर (अपश्यन्) देखा है । (अया) इसी [नीति] से (शतहिमाः) सौ वर्षों जीते हुये (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले हम (देवहितम्) विद्वानों के हितकारी (वाजम्) विज्ञान को (सनेम) देवें और (मदेम)

प्रयोग श्छान्दसः । हत्वा । नाशयित्वा (देवाः) विजिगीषवः (असुरान्) सुरविरोधिनः । दुराचारिणः पुरुषान् (यत्) यतः (आयन्) इण गतौ—लङ् ॥ अगच्छन् । प्राप्नुवन् (देवाः) विद्वांसः (देवत्वम्) दिव्यपदम् (अभिरक्षमाणाः) सर्वतो रक्षन्तः ॥

३—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्षेण गन्तव्यं प्रापणीयम् (अर्कम्) अर्चनीयं व्यवहारम् (अनयन्) प्रापयन् ते विद्वांसः (शचीभिः) स्वकर्मभिः (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (स्वधाम्) आत्मधारणशक्तिम् (इषिराम्) अ० ५ । १ । ६ । गमयित्रीम् (परि) सर्वतः (अपश्यन्) अवलोकितवन्तः (अया) अनया नीत्या (वाजम्) विज्ञानम् (देवहितम्) विद्वद्भ्यो हितकारिणम् (सनेम) नियच्छेम । दद्याम (मदेम) आनन्देम (शतहिमाः) शतवर्षजीविनः (सुवीराः)

आनन्द करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग अपने उत्तम कर्मों से संसार का उपकार करते रहे हैं, वैसे ही हम श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्यों को वीर बनाकर आनन्द देवें ॥ ३ ॥

य एक इद् विदयते वसु मर्ताय दाशुषे । ईशानो अप्रतिष्कुत इन्द्रो अङ्ग ॥ ४ ॥

यः । एकः । इत् । वि-दयते । वसु । मर्ताय । दाशुषे ॥ ईशानः । अप्रति-स्कुतः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (दाशुषे) दाता (मर्ताय) मनुष्य के लिये (वसु) धन (विदयते) बहुत प्रकार देता है, (अङ्ग) हे मित्र ! वह (ईशानः) समर्थ, (अप्रतिष्कुतः) बे रोक गतिवाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] होता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सब में बड़ा उत्साही निर्भय शूर पुरुष हो, वही सभापति राजा होवे ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में है—१ । ८४ । ७—९; सामवेद—उ० ५ । २ । तृच २२, मन्त्र ७ साम०—पू० ४ । १० । ६ ॥

कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत् । कदा नः शुश्रवद् गिर इन्द्रो अङ्ग ॥ ५ ॥

कदा । मर्तम् । अराधसम् । पदा । क्षुम्पम्-इव । स्फुरत् ॥ कदा । नः । शुश्रवत् । गिरः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ५ ॥

उत्तमवीरोपेताः ॥

४—(यः) पुरुषः (एकः) अद्वितीयः (इत्) एव (विदयते) विविधं ददाति (वसु) धनम् (मर्ताय) मनुष्याय (दाशुषे) दात्रे (ईशानः) समर्थः (अप्रतिष्कुतः) अ० २० । ४१ । १ । अप्रतिगतः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभापतिः (अङ्ग) हे मित्र ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे मित्र ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति आप] (कदा) कब (अराधसम्) आराधना न करने वाले (मर्तम्) मनुष्य को (पदा) पांव से (क्षुम्पम् इव) खुम्भी [गली लकड़ी से उगे हुये छत्राकार छोटे पौधे] के समान (स्फुरत्) नष्ट करेंगे और (कदा) कब (नः) हमारी (गिरः) वाणियों को (शुश्रवत्) सुनेंगे ॥ ५ ॥

भावार्थ—सभापति दुःखित प्रजा की पुकार सुनकर अनाज्ञाकारी दुष्ट को इस प्रकार गिरा देवे, जैसे खुम्भी वृक्ष पांव से कुचल जाता है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र निरुक्त में व्याख्यात है—५ । १६-१७ ॥

यश्चिद्धि त्वा बहुभ्य आ सुतावाँ आविवासति । उग्रं तत् पत्यते शव इन्द्रो अङ्ग ॥ ६ ॥

यः । चित् । हि । त्वा । बहु-भ्यः । आ । सुत-वान् । आविवासति ॥ उग्रम् । तत् । पत्यते । शवः । इन्द्रः । अङ्ग ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (बहुभ्यः) बहुतों में से (यः चित् हि) जो कोई भी (सुतवान्) तत्त्वरस वाला [मनुष्य] (त्वा) तुझको (आ) निश्चय करके (आविवासति) भले प्रकार सेवा करता है, (तत्) इसी से (अङ्ग) हे मित्र ! (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (उग्रम्) भारी (शवः) बल (पत्यते) पाता है ॥ ६ ॥

५—(कदा) कस्मिन् काले (मर्तम्) मनुष्यम् (अराधसम्) अनाराधयन्तम्—निरु० ५ । १७ (पदा) पादेन (क्षुम्पम्) गलितकाष्ठोत्पन्नक्षुद्रवृक्षम् । अहिछत्रकम्—निरु० ५ । १६ (इव) यथा (स्फुरत्) स्फुरतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १६ । अवस्फुरिष्यति । वधिष्यति (कदा) (नः) अस्माकम् (शुश्रवत्) श्रोष्यति—निरु० ५ । १७ (गिरः) वाणीः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभाध्यक्षो भवान् (अङ्ग) हे मित्र ॥

६—(यः चित्) यः कश्चित् (हि) एव (त्वा) त्वाम् । प्रजागणम् (बहुभ्यः) बहुमनुष्येभ्यः सकाशात् (आ) अवधारणे (सुतवान्) तत्त्वरसेन युक्तः (आविवासति) समन्तात् परिचरति (उग्रम्) प्रचण्डम् (तत्) तस्मात् कारणात् (पत्यते) प्राप्नोति (शवः) बलम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् सभापतिः (अङ्ग) हे मित्र ॥

भावार्थ—जो मनुष्य प्रजा की सेवा करता है, वही बलवान् होकर ऐश्वर्य प्राप्त करता है ॥ ६ ॥

७—६ परमेश्वरगुणोपदेशः—७-६ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

य इन्द्र सोमपातमो मदः शविष्ठ चेतति । येना हंसि न्यत्रिणं तमीमहे ॥ ७ ॥

यः । इन्द्र । सोम-पातमः । मदः । शविष्ठ । चेतति ॥ येन । हंसि । नि । अत्रिणम् । तम् । ईमहे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(शविष्ठ) हे महाबली ! (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] [तेरा] (यः) जो (सोमपातमः) ऐश्वर्य का अत्यन्त रक्षक (मदः) आनन्द (चेतति) चेताने वाला है, और (येन) जिस [आनन्द] से (अत्रिणम्) खाऊ [स्वार्थी दुर्जन] को (नि हंसि) तू मार गिराता है, (तम्) उस [आनन्द] को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा स्वार्थी दुष्टों को दण्ड देकर श्रेष्ठों को सुख देता है, उस की उपासना सदा करनी चाहिये ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—६ ऋग्वेद में हैं—८ । १२ । १—३ । मन्त्र ७ साम०—पू० ५ । १ । ४ ॥

येना दशग्वमध्रिगुं वेपयन्तं स्वर्णरम् । येना समुद्रमाविथा तमीमहे ॥ ८ ॥

येन । दश-ग्वम् । अध्रि-गुम् । वेपयन्तम् । स्वः-नरम् ॥ येन । समुद्रम् । आविथ । तम् । ईमहे ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (येन) जिस [नियम] से (दशग्वम्)

७—(यः) (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सोमपातमः) ऐश्वर्यस्य रक्षितृतमः (मदः) आनन्दः (शविष्ठ) हे शवस्वितम । बलवत्तम (चेतति) चेतयिता भवति (येन) मदेन (हंसि) नाशयसि (नि) नितराम् (अत्रिणम्) अत्तारम् । स्वार्थिनम् (तम्) मदम् (ईमहे) याचामहे ॥

८—(येन) नियमेन (दशग्वम्) दश+गम्लृ गतौ-ड्वप्रत्ययः । दशविधं

सब दिशाओं में जाने वाले, (अध्रिगुम्) बे रोक गति वाले, (वेपयन्तम्) [वैरियों को] कंपाते हुये, (स्वर्णरम्) सुख पहुंचाने वाले [वीर] को और (येन) जिस [नियम] से (समुद्रम्) समुद्र के समान [गम्भीर पुरुष] को (आविथ) तू ने बचाया है, (तम्) उस [नियम] को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो आनन्दस्वरूप जगदीश्वर पुरुषार्थियों को सदा सहाय देता है, उसी की उपासना से पुरुषार्थ करके हम सुखी होवें ॥ ८ ॥

येन सिन्धुं महीरपो रथाँ इव प्रचोदयः । पन्थामृतस्य यातवे तमीमहे ॥ ९ ॥

येन । सिन्धुम् । महीः । अपः । रथान्-इव । प्र-चोदयः ॥ पन्थाम् । ऋतस्य । यातवे । तम् । ईमहे ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे जगदीश्वर !] (येन) जिस [नियम] से (सिन्धुम्) समुद्र में (महीः) भारी (अपः) जलों को (रथान् इव) रथों के समान (प्रचोदयः) तू ने चलाया है, (ऋतस्य) सत्य के (पन्थाम्) मार्ग पर (यातवे) चलने के लिये (तम्) उस [नियम] को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ९ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार नियम से परमात्मा अन्तरिक्ष और पृथिवी के समुद्र में जगत् के उपकार के लिये जल भरता और रीता करता है, वैसे ही परमेश्वर की उपासना के साथ हम नियम पूर्वक पुरुषार्थी होकर उपकार करें ॥ ९ ॥

गन्तारम् (अध्रिगुम्) अ० २० । ३५ । १ । अधृतगमनम् । अनिवारितगतिम् (वेपयन्तम्) शत्रून् कम्पयन्तम् (स्वर्णरम्) सुखस्य नेतारं प्रापयितारम् (येन) नियमेन (समुद्रम्) समुद्रमिव गम्भीरं पुरुषम् (आविथ) त्वं ररक्षिथ (तम्) नियमम् (ईमहे) याचामहे ॥

९—(येन) नियमेन (सिन्धुम्) अन्तरिक्षपृथिवीस्थसमुद्रं प्रति (महीः) महतीः (अपः) जलानि (रथान्) (इव) यथा (प्रचोदयः) लुङि रूपम् । प्रेरितवानसि (पन्थाम्) पन्थानम् (ऋतस्य) सत्यस्य (यातवे) यातुम् । गन्तुम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

सूक्तम् ६४ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३, ५, ६, विराडाष्युष्णिक्, २, ४ उष्णिक् ॥
परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

एन्द्र॑ नो गधि प्रि॒यः स॑त्रा॒जिद॑गोह्यः । गि॒रिर्न वि॒श्वत॑स्पृ॒थुः पति॑र्दि॒वः ॥ १ ॥

आ । इ॒न्द्र॒ । नः॒ । ग॒धि॒ । प्रि॒यः । स॒त्रा॒ऽजित् । अगो॑ह्यः ॥
गि॒रिः । न । वि॒श्वत॑ः । पृ॒थुः । पति॑ः । दि॒वः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (प्रियः) प्यारा, (सत्राजित्) सत्य से जीतने वाला, (अगोह्यः) न छिपने वाला तू (नः) हमको (आ) सब ओर से (गधि) प्राप्त हो, तू (गिरिः न) मेह के समान (विश्वतः) सब ओर से (पृथुः) फैला हुआ, (दिवः) प्राप्ति योग्य सुख का (पतिः) स्वामी है ॥ १ ॥

भावार्थ—सर्वहितकारी, सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक परमात्मा की उपासना से मनुष्य आनन्द प्राप्त करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । ६८ [सायण भाष्य ८ ७] । ४—६, सामवेद—उ० ५ । १ । तृच १६; मन्त्र १—साम०-पू० ५ । १ । ३ ॥

अ॒भि हि स॑त्य सोमपा उ॒भे ब॒भूथ॒ रोद॑सी । इन्द्रासि॑ सुन्व॒तो वृ॒धः पति॑र्दि॒वः ॥ २ ॥

अ॒भि । हि । स॒त्य॒ । सो॒म॒ऽपाः॒ । उ॒भे इति॑ । ब॒भूथ॑ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥ इन्द्र॑ । असि॑ । सु॒न्व॒तः । वृ॒धः । पति॑ः । दि॒वः ॥२॥

१—(आ) समन्तात् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (नः) अस्मान् (गधि) गहि । गच्छ । प्राप्नुहि (प्रियः) हितकरः (सत्राजित्) सत्येन जेता (अगोह्यः) अगोपनीयः । सुप्रकटः (गिरिः) मेघः (न) इव (विश्वतः) सर्वतः (पृथुः) विस्तृतः (पतिः) स्वामी (दिवः) स्वर्गस्य । सुखस्य ॥

भाषार्थ—(सत्य) हे सत्य स्वरूप ! (सोमपाः) हे ऐश्वर्य रक्षक ! (हि) निश्चय कर के (उभे) दोनों (रोदसी) सूर्य और भूमि को (अभि बभूथ) तू ने वश में किया है, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मन्] तू (सुन्वतः) तत्त्व रस निचोड़ने वाले पुरुष का (वृधः) बढ़ाने वाला, (दिवः) सुख का (पतिः) स्वामी (असि) है ॥ २ ॥

भावार्थ—सूर्य और पृथिवी आदि लोकों के रचने वाले परमात्मा की उपासना से हम तत्त्व ज्ञान प्राप्त कर के वृद्धि करें ॥ २ ॥

त्वं हि शश्व॑तीना॒मिन्द्र॑ द॒र्ता पु॒राम॑सि । ह॒न्ता दस्यो॒र्मनो॑र्वृ॒धः पति॑र्दि॒वः ॥ ३ ॥

त्वम् । हि । शश्व॑तीनाम् । इन्द्र॑ । द॒र्ता । पु॒राम् । असि ॥ ह॒न्ता । दस्योः॑ । मनोः॑ । वृ॒धः । पतिः॑ । दि॒वः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वम्) तू (हि) ही [शत्रुओं की] (शश्वतीनाम्) सब (पुराम्) नगरियों का (दर्ता) तोड़ने वाला, (दस्योः) डाकू का (हन्ता) मारने वाला और (मनोः) ज्ञानी का (वृधः) बढ़ाने वाला, (दिवः) सुख का (पतिः) स्वामी (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब विघ्नों को मिटा कर अपने भक्तों की उन्नति कर के सुख देता है ॥ ३ ॥

२—(अभि बभूथ) अभिबभूविथ । अभिभूतवानसि (हि) निश्चयेन (सत्य) हे अविनाशिस्वरूप (सोमपाः) हे ऐश्वर्यरक्षक (उभे) द्वे (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (असि) भवसि (सुन्वतः) तत्त्वरसं संस्कुर्वतः पुरुषस्य (वृधः) वर्धयिता । अन्यद् गतम् ॥

३—(त्वम्) (हि) एव (शश्वतीनाम्) बह्वीनाम् । सर्वासाम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (दर्ता) विदारयिता (पुराम्) शत्रुनगरीणाम् (असि) (हन्ता) घातकः (दस्योः) परधनापहर्तुः (मनोः) मननशीलस्य । अन्यत् पूर्ववत् ॥

एदु मध्वो मुदिन्तरं सिञ्च वाध्वर्यो अन्धसः। एवा हि वीर स्तवते सदावृधः ॥ ४ ॥

आ । इत् । ऊं इति । मध्वः। मुदिन्-तरम् । सिञ्च । वा । अध्वर्यो इति । अन्धसः ॥ एव । हि । वीरः । स्तवते । सदा-वृधः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अध्वर्यो) हे हिंसा न चाहने वाले पुरुष ! (मध्वः) ज्ञान [मधु विद्या] के (वा) और (अन्धसः) अन्न के (मदिन्तरम्) अधिक आनन्द देने वाले रस को (इत् उ) अवश्य ही (आ) सब ओर (सिञ्च) सींच, (सदावृधः) सदा बढ़ाने वाला (वीरः) वीर (एव) इस प्रकार (हि) ही (स्तवते) स्तुति किया जाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष हिंसा कर्म छोड़ कर विद्या और अन्न आदि की प्राप्ति के तत्त्व सिद्धान्तों का प्रकाश करके वीरों के समान कीर्ति पावे ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—८ । २४ । १६—१८, कुछ भेद से सामवेद—उ० ८ । २ । । तृच १०, मन्त्र ४—साम०—पू० ४ । १० । ५ ॥

इन्द्रं स्थातर्हरीणां नकिष्टे पूर्व्यस्तुतिम् । उदानंश शवसा न भन्दना ॥ ५ ॥

इन्द्रं । स्थातः । हरीणाम् । नकिः । ते । पूर्व्य-स्तुतिम् ॥ उत् । आनंश । शवसा । न । भन्दना ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(हरीणाम्) दुःख हरने वाले मनुष्यों में (स्थातः) ठह-

४—(आ) समन्तात् (इत्) अवश्यम् (उ) अवधारणे (मध्वः) मधुनः । निश्चितज्ञानस्य (मदिन्तरम्) नाद्घस्य । पा० ८ । २ । १७ । इति तरपो नुडागमः । मादयितृतरं रसम् (सिञ्च) सिक्तं कुरु (वा) चार्थे (अध्वर्यो) अ० १८ । ४ । १५ । हे अहिंसामिच्छुक (एव) एवम् (हि) निश्चयेन (वीरः) शूरः (स्तवते) स्तूयते (सदावृधः) सर्वदा वर्धयिता ॥

५—(इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (स्थातः) हे स्थितिशील (हरीणाम्)

रने वाले (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (पूर्व्यस्तुतिम्) प्राचीन बड़ाई को (नकिः) न किसी ने (शवसा) अपने बल से और (न) न (भन्दना) शुभ कर्म से (उत् आनंश) पाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—संसार के बीच एक परमात्मा ही सर्वशक्तिमान् और सर्व-दुःखनाशक है, उसी के उपासना से मनुष्य उपकार शक्ति बढ़ावे ॥ ५ ॥

तं वो॒ वाजा॑नां॒ पति॒महू॑महि श्रव॒स्यवः॑ । अप्रा॑युभिर्य॒ज्ञेभि॑र्वावृ॒धेन्य॑म् ॥ ६ ॥

तम् । वः॒ । वाजा॑नाम् । पति॑म् । अहू॑महि । श्र॒व॒स्यवः॑ ॥ अप्रा॑यु-भिः । य॒ज्ञेभिः॑ । व॒वृ॒धेन्य॑म् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारे लिये (तम्) उस (वाजानाम्) बलों के (पतिम्) स्वामी, (अप्रायुभिः) बिना भूल (यज्ञेभिः) पूजनीय व्यवहारों से (ववृधेन्यम्) बढ़ाने वाले [परमात्मा] को (श्रवस्यवः) कीर्ति चाहने वाले हम लोगों ने (अहूमहि) पुकारा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! सब बलों के दाता, सदा उपकार कर के बढ़ाने वाले परमात्मा की आराधना से हम सामर्थ्य बढ़ा कर कीर्ति पावें ॥ ६ ॥

हरयो मनुष्यनाम—निघ०२ । ३ । दुःखहर्तॄणां मनुष्याणां मध्ये (नकिः) नकश्चिदपि (ते) तव (पूर्व्यस्तुतिम्) पूर्व्यं पुराणनाम—घि० ३ । २७ । प्राचीनप्रशंसाम् (उत्) (आनंश) अशू व्याप्तौ—लिट् । प्राप्तवान् (शवसा) स्वबलेन (न) निषेधे (भन्दना) भदि कल्याणे सुखेच—युच्, विभक्तेराकारः । शुभकर्मणा ॥

६—(तम्) प्रसिद्धम् (वः) युष्मदर्थम् (वाजानाम्) बलानाम् (पतिम्) स्वामिनम् (अहूमहि) ह्वयतेर्लुङ् । वयमाहूतवन्तः (श्रवस्यवः) कीर्तिकामाः (अप्रायुभिः) न + प्र + आङ् + युञ् बन्धने, यद्वा युङ् निन्दने —डु । निर्बन्धैः । निरालसैः । अप्रमादिभिः (यज्ञेभिः) पूजनीयव्यवहारैः (ववृधेन्यम्) वृञ्एण्यः । उ० ३ । ६८ । वृधु वृद्धौ—एण्यः, सच कित् द्वित्वं च, अन्तर्गतण्यर्थः । वर्धयितारम् ॥

सूक्तम् ६५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ आर्षी गायत्री; २ निचृदुष्णिक्; ३ विराड्—न्युंष्णिक् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश

एतो न्विन्द्रं स्तवाम सखायः स्तोम्यं नरम् । कृष्टीर्यो विश्वा अभ्यस्त्येक इत् ॥ १ ॥

एतो इति । नु । इन्द्रम् । स्तवाम । सखायः । स्तोम्यम् । नरम् ॥ कृष्टीः । यः । विश्वाः । अभि । अस्ति । एकः । इत् ॥ १

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (नु) शीघ्र (एतो) आओ भी, (स्तोम्यम्) स्तुति योग्य, (नरम्) नेता [प्रेरक] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] की (स्तवाम) हम स्तुति करें, (यः) जो (एकः) अकेला (इत्) ही (विश्वाः) सब (कृष्टीः) मनुष्यों को (अभि अस्ति) वश में रखता है ॥ १ ॥

भावार्थ—हम सब मिलकर सर्वशक्तिमान् परमात्मा की स्तुति करके आनन्द पावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—गत सूक्त से आगे, ८ । २४ । १९—२१ । म० १ साम०—पू० ४ । १० । ७ ॥

अगोरुधाय गविषे द्युक्षाय दस्म्यं वचः । घृतात् स्वादीयो मधुनश्च वोचत ॥ २ ॥

अगो-रुधाय । गो-इषे । द्युक्षाय । दस्म्यम् । वचः ॥ घृतात् । स्वादीयः । मधुनः । च । वोचत ॥ २ ॥

१—(एतो) आ, इत, उ । आगच्छतैव (नु) क्षिप्रम्) (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (स्तवाम) प्रशंसाम (सखायः)हे सुहृदः (स्तोम्यम्) स्तुतियोग्यम् (नरम्) नेतारम् । प्रेरकम् (कृष्टीः) मनुष्यप्रजाः (विश्वाः) सर्वाः (यः) (अभि अस्ति) अभिभवति । वशीकरोति (एकः) असहायः (इत्) एव ॥

यस्यामितानि वीर्यार्॒ न राधः पर्येतवे । ज्योतिर्न विश्वम॒भ्यस्ति दक्षिणा ॥ ३ ॥

यस्य॑ । अमि॑तानि । वीर्या॑ । न । राधः॑ । परि॑ऽएतवे ॥ ज्योतिः॑ । न । विश्व॑म् । अ॒भि । अस्ति॑ । दक्षि॑णा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अगोरुधाय) दृष्टि को न रोकने वाले, (गविषे) स्तोताओं [गुण व्याख्याताओं] का चाहने वाले, (घुक्षाय) व्यवहारों में गति वाले [उस परमेश्वर] के लिये (घृतात्) घृत से (च) और (मधुनः) मधु [रस विशेष] से (स्वादीयः) अधिक स्वादु और (दस्म्यम्) दर्शनीय [विचारणीय] (वचः) वचन (वोचत) तुम बोलो ॥ २ ॥ (यस्य) जिस [परमात्मा] के (वीर्या) वीर कर्म (अमितानि) वे नाप हैं, [जिसका] (राधः) धन (पर्येतवे) पार पाने योग्य (न) नहीं है, और [जिसकी] (दक्षिणा) दक्षिणा [दान-शक्ति], (ज्योतिः न) प्रकाश के समान (विश्वम् अभि) सब पर फैलकर (अस्ति) वर्तमान है ॥ ३ ॥

भावार्थ—हे मनुष्यो ! तुम परमेश्वर की स्तुति नम्रता पूर्वक करके अपना सामर्थ्य बढ़ाओ, वह जगदीश्वर अनन्तबली, अनन्त धनी और अनन्त दानी है ॥ २, ३ ॥

२—(अगोरुधाय) गमेर्डो । उ० २ । ६७ । गच्छतेर्डो, रुधिर् आवरणे—कप्रत्ययः । अदृष्टिरोधकाय (गविषे) गो+इषु इच्छायाम्—क्विप् । गौः स्तोतृनाम—निघ— ३ । १६ । स्तोतॄन् इच्छवे (घुक्षाय) अ० २० । ६ । २ । व्यवहारेषु गतिशीलाय (दस्म्यम्) अ०२० । १७ । २ । दस्म—यत् । दर्शनार्हम् । विचारणीयम् (वचः) वचनम् (घृतात्) आज्यात् (स्वादीयः) स्वादुतरम् (मधुनः) रसविशेषात् (च) (वोचत) लोडर्थे लुङ्, अडभावः । ब्रूत ॥

३—(यस्य) इन्द्रस्य । परमेश्वरस्य (अमितानि) परिमाणरहितानि (वीर्या) वीरकर्माणि (न) निषेधे (राधः) धनम् (पर्येतवे) इण् गतौ—तवेन् । परिगन्तुं प्राप्तुं शक्यम् (ज्योतिः) तेजः (न) यथा (विश्वम्) सर्वं जगत् (अभि) अभीत्य । व्याप्य (अस्ति) वर्तते (दक्षिणा) दानशक्तिः ॥

सूक्तम् ६६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडुष्णिक्; २ निचृदुष्णिक्; ३ आर्च्युष्णिक् ॥

ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य लक्षणोपदेशः—ऐश्वर्यवान् पुरुष के लक्षणों का उपदेश ॥

स्तुहीन्द्रं व्यश्ववदनूर्मिं वाजिनं यमम् । अर्यो गयं मंहमानं वि दाशुषे ॥ १ ॥

स्तुहि । इन्द्रम् । व्यश्व-वत् । अनूर्मिम् । वाजिनम् । यमम् ॥ अर्यः । गयम् । मंहमानम् । वि । दाशुषे ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वान् !] (व्यश्ववत्) विविध वेग वाले पुरुष के समान (अनूर्मिम्) बिना पीड़ाओं वाले, (वाजिनम्) पराक्रमी, (यमम्) न्यायकारी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] की (स्तुहि) स्तुति कर। (अर्यः) स्वामी (दाशुषे) आत्मदानी भक्त के लिये (वि) विविध प्रकार (मंहमानम् बढ़ते हुये (गयम्) धन सदृश है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो पुरुष पराक्रम करके भूख आदि पीड़ाओं से बचा रहता है, उस के गुणों को ग्रहण कर के मनुष्य सुखी होवें। विद्वानों ने छह पीड़ायें मानी हैं, जिन से बचने का मनुष्य उपाय करता रहे—[बुभुक्षा च पिपासा च प्राणस्य, मनसः स्मृतौ। शोकमोहौ शरीरस्य जरामृत्यू षडूर्मयः ॥ १ ॥] प्राण की भूख और प्यास, मन की शोक और मोह, शरीर की जरा और मृत्यु, यह छह पीड़ायें कही गयी हैं ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—गतसूक्त से आगे, ८ । २४ । २२-२४ ॥

१—(स्तुहि) प्रशंस (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (व्यश्ववत्) वि+अशू व्याप्तौ—क्वन्, सादृश्ये वतिः। विविधवेगवान् पुरुष इव (अनूर्मिम्) ऊर्मिभिर्बुभुक्षापिपासादिषड्पीडाभी रहितम् (वाजिनम्) पराक्रमिणम् (यमम्) न्यायिनम् (अर्यः) स्वामी (गयम्) धनरूपम् (मंहमानम्) महि वृद्धौ—शानच्। वर्धमानम् (वि) विविधम् (दाशुषे) आत्मदानिने। भक्ताय ॥

एवा नूनमुप स्तुहि वैयश्व दशमं नवम्। सुविद्वांसं चर्कृत्यं चरणीनाम् ॥ २ ॥

एव। नूनम्। उप। स्तुहि। वैयश्व। दशमम्। नवम् ॥ सु-विद्वांसम्। चर्कृत्यम्। चरणीनाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वैयश्व) हे विविध वेग वाले पुरुष! (दशमम्) प्रकाशमान [अथवा जीवन के दसवें काल तक] (नवम्) स्तुतियोग्य [वा नवीन अर्थात् बलवान्], (सुविद्वांसम्) बड़े विद्वान् और (चरणीनाम्) चलने वाले मनुष्यों में (चर्कृत्यम्) अत्यन्त करने योग्य कर्मों में चतुर की (एव) निश्चय करके (नूनम्) अवश्य (उप) आदर से (स्तुहि) तू स्तुति कर ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष बड़े प्रतापी, जीवन के सौ वर्ष में से नव्वे वर्ष के ऊपर भी अर्थात् अन्त काल तक आत्मिक और शारीरिक बल वाले कर्मकुशल वीर होवें, उनके गुणों को सब मनुष्य ग्रहण करें ॥ २ ॥

वेत्था हि निर्ऋतीनां वज्रहस्त परिवृजम्। अहरहः शुन्ध्युः परिपदामिव ॥ ३ ॥

वेत्थ। हि। निः-ऋतीनाम्। वज्र-हस्त। परि-वृजम् ॥

२—(एव) निश्चयेन (नूनम्) अवश्यम् (उप) पूजायाम् (स्तुहि) प्रशंस (वैयश्व) वि+अश्व—अण्। न य्वाभ्यां पदान्ताभ्यां पूर्वौ तु ताभ्यामैच्। पा० ७। ३। ३। इति ऐकारागमः। अश्वो वेगः। हे विविधवेगवन् पुरुष (दशमम्) प्रथेरमच्। उ० ५। ६८। दशि भाषायां दीप्तौ च-अमच्, नकारलोपः। दीप्यमानम्। यद्वा दशानां पूरणः, डटि मुडागमः। पुरुषाणां शतायुष्यनियमात् तस्यायुषो दशधा विभागे नवत्यधिकायामवस्थायां वर्तमानम्। अतिवृद्धावस्थापर्यन्तम् (नवम्) स्तुत्यम्। नवीनं बलवन्तम् (सुविद्वांसम्) अतिशयेन ज्ञानिनम् (चर्कृत्यम्) अ० ६। ६८। १। यङ्लुगन्तात् करोतेः—क्व, ततः साध्वर्थे—यत्। चर्कृतेषु अतिशयेन कर्तव्येषु कर्मसु कुशलम् (चरणीनाम्) कॄतिसृधृ०। उ० २। १०२। चर गतिभक्षणयोः—अनि। चर्षणीनां गमनशीलानां मनुष्याणाम् ॥

अहः-अहः । शुन्ध्युः । परिपदाम्-इव ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वज्रहस्त) हे वज्र हाथ में रखने वाले ! (हि) निश्चय करके (परिपदाम्) विपत्तियों के (शुन्ध्युः इव) शोधने वाले के समान (अहरहः) दिन दिन (निर्ऋतीनाम्) महाविपत्तियों के (परिवृजम्) रोकने को (वेत्थ) तू जानता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूर पराक्रमियों के समान विघ्नों को हटाकर प्रजा की रक्षा करें, उसका सब लोग आदर करें ॥ ३ ॥

इति पञ्चमोऽनुवाकः ॥

अथ षष्ठोऽनुवाकः

सूक्तम् ६७ ॥

१—७ ॥ १ इन्द्रः; २ मरुतः; ३ अग्निः; ४ मरुतो माधवश्च; ५ अग्निः शुचिश्च; ६ इन्द्रो नभश्च, ७ द्रविणोदाश्च देवताः ॥ १ विराडष्टिः; २ सुराडत्यष्टिः; ३ अष्टिः; ४ जगती; ५ सुराडार्षी त्रिष्टुप्, ६ भुरिक् त्रिष्टुप्; ७ आर्षी जगती ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

वनोति हि सुन्वन् क्षयं परीणसः सुन्वानो हि ष्मा यजत्यव द्विषो देवानामव द्विषः । सुन्वान इत् सिषासति सहस्रा वाज्यवृतः । सुन्वानायेन्द्रो ददात्याभुवं रयिं ददात्याभुवम् ॥१॥

वनोति । हि । सुन्वन् । क्षयम् । परीणसः । सुन्वानः । हि । स्म । यजति । अव । द्विषः । देवानाम् । अव । द्विषः ॥

३—(वेत्थ) सांहितिको दीर्घः । वेत्सि । जानासि (हि) एव (निर्ऋतीनाम्) अ० २ । १० । १ । कृच्छ्रापत्तीनाम् निरु० २ । ७ (वज्रहस्त) हे वज्रपाणे (परिवृजम्) वृजी वर्जने—घञर्थे क । परिवर्जनम् । निवारणम् (अहरहः) ...नम् (शुन्ध्युः) अ० २० । १७ । १ । शोधकः (परिपदाम्) विपदाम् । ...नाम् (इव) यथा ॥

सुन्वानः । इत् । सिसासति । सहस्रा । वाजी । अवृतः ॥
सुन्वानाय । इन्द्रः । ददाति । आ-भुवम् । रयिम् ।
ददाति । आ-भुवम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सुन्वन्) तत्त्व निकालता हुआ पुरुष (हि) ही (परीणसः) पाने योग्य धन के (क्षयम्) घर को (वनोति) सेवता है [भोगता है], (सुन्वानः) तत्त्व निकालता हुआ पुरुष (हि) ही (स्म) अवश्य (द्विषः) वैरियों का (अव यजति) दूर करता है, (देवानाम्) विद्वानों के (द्विषः) वैरियों को (अव) दूर [करता है], (सुन्वानः) तत्त्व रस निकालता हुआ पुरुष (इत्) ही (वाजी) पराक्रमी और (अवृतः) बे रोक होकर (सहस्रा) सैकड़ों सुख (सिसासति) देना चाहता है । (सुन्वानाय) तत्त्व निकालते हुये पुरुष को (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (आभुवम्) सब ओर से पाने योग्य (रयिम्) धन (ददाति) देता है, (आभुवम्) सब ओर से रहने योग्य [धन] (ददाति) देता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्याओं का सार ग्रहण कर के शत्रुओं को मारता

१—(वनोति) छान्दसं परस्मैपदम् । वनुते । सेवते (हि) निश्चयेन (सुन्वन्) षुञ् अभिषवे—शतृ । तत्त्वरसं निष्पादयन् (क्षयम्) गृहम् (परीणसः) परि+णस कौटिल्ये गतौ प्राप्तौ च—क्विप् । नसतेर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । नसतिराप्नोतिकर्मा वा नमतिकर्मा वा—निरु० ७ । १७ । परितः प्रापणीयस्य धनस्य (सुन्वानः) षुञ् अभिषवे—शानच् विद्यानां तत्त्वरसं निष्पादयन् (हि) एव (स्म) अवश्यम् (अव यजति) अवयजनं दूरीकरणम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० ८ । १३ । दूरीकरोति (द्विषः) द्वेषकान् । शत्रून् (देवानाम्) विदुषाम् (अव) दूरे (द्विषः) (सुन्वानः) (इत्) एव (सिसासति) षणु दाने—सन् । सनितुं दातुमिच्छति (सहस्रा) सहस्राणि सुखानि (वाजी) पराक्रमी (अवृतः) अनिवारितः (सुन्वानाय) तत्त्वरसं निष्पादयते (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (ददाति) प्रयच्छति (आभुवम्) आङ्+भू प्राप्तौ—घञर्थे कप्रत्ययः । समन्तात् प्रापणीयम् (रयिम्) धनम् (ददाति) (आभुवम्) भू सत्तायाम्—घञर्थे क । सर्वतो भवनशीलम् ॥

है, वही वीर सब को सुख देता और परमात्मा का प्रीति पात्र होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १३३ । ७ ॥

मो षु वो अस्मदुभि तानि पौंस्या सना भूवन् द्युम्नानि मोत जारिषुरस्मत् पुरोत जारिषुः । यद्व श्चित्रं युगेयुगे नव्यं घोषादमर्त्यम् । अस्मासु तन्मरुतो यच्च दुष्टरं दिधृता यच्च दुष्टरम् ॥ २ ॥

मो इति । सु । वः । अस्मत् । अभि । तानि । पौंस्या । सना । भूवन् । द्युम्नानि । मा । उत । जारिषुः । अस्मत् । पुरा । उत । जारिषुः ॥ यत् । वः । चित्रम् । युगे-युगे । नव्यम् । घोषात् । अमर्त्यम् ॥ अस्मासु । तत् । मरुतः । यत् । च । दुस्तरम् । दिधृत । यत् । च । दुस्तरम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मरुतः) हे शत्रुओं के मारने वाले वीरो ! (अस्मत्) हम पर से (वः) तुम्हारे (तानि) वे (सना) सनातन [वा सेवनीय] (पौंस्या) मनुष्य कर्म [वा बल] (मो षु अभि भूवन्] कभी भी न हट जावें, (उत) और [तुम्हारे] (द्युम्नानि) चमकते हुये यश वा धन (मा जारिषुः) कभी न घटें, (उत) और (अस्मत्) हम से (पुरा) आगे को (जारिषुः) बड़ाई योग्य होवें। और (यत्) जो (वः) तुम्हारा (चित्रम्) विचित्र [अद्भुत] कर्म (युगे युगे)

२—(मो) नैव (सु) सुष्ठु (वः) युष्माकम् (अस्मत्) अस्मत्तः (अभि) अभिभवे (तानि) प्रसिद्धानि (पौंस्या) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । पुंस्—ष्यञ्, ब्राह्मणादेराकृतिगणत्वात् । पुंसां कर्माणि । बलानि—निघ० २ । ६ (सना) सनातनानि । सेवनीयानि (भूवन्) अडभावः । अभूवन् । भवन्तु (द्युम्नानि) अ० ६ । ३५ । ३ । द्योतमानानि यशांसि धनानि वा (मा) निषेधे (उत) अपि (जारिषुः) जॄ वयोहानौ, अडभावः । अजारिषुः जरन्तु । जीर्णानि क्षीणानि भवन्तु (अस्मत्) अस्माकं सकाशात् (पुरा) अग्र-काले (उत) (जारिषुः) जॄ स्तुतौ । स्तुत्यानि भवन्तु (यत्) कर्म (वः) युष्माकम् (चित्रम्) अद्भुतम् (युगेयुगे) समये समये । सर्वदा (नव्यम्) स्तुत्यम् ।

युग युग में [समय समय पर] (घोषात्) घोषणा देने से (नव्यम्) स्तुति योग्य [वा नवीन] और (अमर्त्यम्) मनुष्यों में दुर्लभ है, (च) और (यत्) जो कुछ (दुस्तरम्) पाने में कठिन (च) और (यत्) जो कुछ (दुस्तरम्) पाने में कठिन है, (तत्) उस को (अस्मासु) हम में (दिधृत) धारण करो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को सदा आपस में मिल कर बल, यश और धन बढ़ाने का प्रयत्न करना चाहिये ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १२७ । ८ ॥

अग्निं होतारं मन्ये दास्वन्तं वसुं सूनुं सहसो जातवेदसं विप्रं न जातवेदसम् । य ऊर्ध्वया स्वध्वरो देवो देवाच्या कृपा । घृतस्य विभ्राष्टिमनु वष्टि शोचिषाजुह्वानस्य सर्पिषः ॥३॥

अग्निम् । होतारम् । मन्ये । दास्वन्तम् । वसुम् । सूनुम् । सहसः । जात-वेदसम् । विप्रम् । न । जात-वेदसम् ॥ यः । ऊर्ध्वया । सु-अध्वरः । । देवः । देवाच्या । कृपा ॥ घृतस्य । वि-भ्राष्टिम् । अनु । वष्टि । शोचिषा । आजुह्वानस्य । सर्पिषः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(होतारम्) ग्रहण करने वाले, (दास्वन्तम्) दान करने वाले, (वसुम्) श्रेष्ठ गुण वाले, (सहसः) बलवान् पुरुष के (सूनुम्) पुत्र, (जातवेदसम्) प्रसिद्ध विद्या वाले (विप्रम् न) बुद्धिमान् के समान (जातवेद-

---

नूतनम्—निघ० ३।१८ (घोषात्) घुषिर् शब्दे घञ् । घोषणायाः । ख्यापनार्थमुच्चैः शब्दकारणात् (अमर्त्यम्) अमरणधर्मकम् । मर्त्येषु दुर्लभम् । नाशरहितम् (अस्मासु) (तत्) (मरुतः) हे शत्रुनाशका वीराः (यत्) यत् किञ्चित् (च) (दुस्तरम्) दुःखेन तरितुं प्राप्तुं योग्यम् (दिधृत) श्लः श्लुः, अभ्यासस्य ह्रस्वं च छान्दसम्, सांहितिको दीर्घः । धरत । स्थापयत (यत्) (च) (दुस्तरम्) ॥

३—(अग्निम्) अग्निवद् वर्तमानम् (होतारम्) ग्रहीतारम् (मन्ये) जानामि (दास्वन्तम्) दातारम् (वसुम्) श्रेष्ठगुणवन्तम् (सूनुम्) पुत्रम् (सहसः) मतुपो लोपः । सहस्वतः । बलवतः (जातवेदसम्) प्रसिद्धविद्यम्

सः) प्रसिद्ध विद्या वाले विद्वान् को (अग्निम्) उस अग्नि के समान (मन्ये) मैं मानता हूं। (यः) जो (देवः) प्रकाशमान, (स्वध्वरः) अच्छे प्रकार हिंसा रहित यज्ञ का साधने वाला [अग्नि] (ऊर्ध्वया) ऊंची (देवाच्या) गतिशील [वायु आदि देवताओं] को पहुंचने वाली (कृपा) शक्ति के साथ (आजुह्वानस्य) होमे हुये और (सर्पिषः) पिघले हुये (घृतस्य) घी की (शोचिषा) शुद्धि से (विभ्राष्टिम्) विविध प्रकाश को (अनु) लगातार (वष्टि) चाहता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष विद्या प्राप्त कर के संसार में ऐसा उपकारी होवे, जैसे अग्नि घृत आदि से प्रज्वलित होकर वायु जल आदि को शुद्ध करके और सूर्य पार्थिव रस खींच कर वृष्टि द्वारा उपयोगी होता है ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । १२७ । १; यजुर्वेद—१५ । ४७; कुछ भेद से सामवेद—पू० ५ । ८ । ६ और उ० ६ । १ । १८ ॥

युज्ञैः संमिश्लाः पृषतीभिर्ऋष्टिभिर्यामंछुभ्रासो॑ अञ्जिषु प्रिया उत । आसद्या बर्हिर्भरतस्य सूनवः पोत्रादा सोमं पिबता दिवो नरः ॥ ४ ॥

युज्ञैः । सम्-मिश्लाः । पृषतीभिः । ऋष्टि-भिः । यामन् । शुभ्रासः । अञ्जिषु । प्रियाः । उत ॥ आ-सद्य । बर्हिः । भरतस्य । सूनवः । पोत्रात् । आ । सोमम् । पिबत । दिवः । नरः ॥ ४ ॥

(विप्रम्) मेधाविनम् (न) इव (जातवेदसम्) प्रसिद्धविद्यम् (यः) अग्निः (ऊर्ध्वया) उन्नतया (स्वध्वरः) हिंसारहितस्य यज्ञस्य सुष्ठु साधकः (देवः) प्रकाशमानः (देवाच्या) देवान् गतिशीलान् वाय्वादीन् अञ्चति प्राप्नोतीति देवाची तया (कृपा) कृपू सामर्थ्ये—क्विप् । शक्त्या । (घृतस्य) आज्यस्य (विभ्राष्टिम्) भ्राज—क्तिन् । विविधां दीप्तिम् (अनु) निरन्तरम् (वष्टि) कामयते (शोचिषा) ईशुचिर् शौचे क्लेदे च—इसि । प्रभया (आजुह्वानस्य) समन्तादाधूयमानस्य (सर्पिषः) सरणशीलस्य । द्रवीभूतस्य ॥

भाषार्थ—(भरतस्य सूनवः) हे धारण करने वाले पुरुष के पुत्रो ! (दिवः) हे विजय चाहने वाले (नरः) नरो ! [नेता लोगो] (यज्ञैः) पूजनीय व्यवहारों से, (पृषतीभिः) सेचन क्रियाओं से और (ऋष्टिभिः) दो धारा तलवारों से (संमिश्लाः) अच्छे प्रकार मिले हुये [सजे हुये], (उत) और (यामन्) प्राप्त हुये समय पर (अञ्जिषु) कामना योग्य कर्मों में (शुभ्रासः) शोभायमान (प्रियाः) प्यारे तुम (बर्हिः) उत्तम आसन (आसद्य) पा कर (पोत्रात्) पवित्र आचरण से (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (आ) भले प्रकार (पिबत) पीओ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि उत्तम घरानों में उत्पन्न होकर अपने पराक्रम युक्त पवित्र कर्मों से तत्त्व को ग्रहण करके आनन्द पावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—२ । ३६ । २, ४, ५ ॥

आ वक्षि देवाँ इह विप्र यक्षि चोशन् होतर्नि षदा योनिषु त्रिषु । प्रति वीहि प्रस्थितं सोम्यं मधु पिबाग्नीध्रात् तव भागस्य तृप्णुहि ॥ ५ ॥

आ । वक्षि । देवान् । इह । विप्र । यक्षि । च । उशन् । होतः ।

४—(यज्ञैः) पूजनीयव्यवहारैः (संमिश्लाः) अ० २० । ३८ । ५ । मिश्रयतेः—घञ् भावे । सर्वतो मिश्रिताः सज्जीकृताः (पृषतीभिः) अ० १३ । १ । २१ । पृषु सेचने—अति, ङीष् । सेचनक्रियाभिः (ऋष्टिभिः) अ० ८ । ३ । ७ । ऋषी गतौ—क्तिन् । उभयतो धारयुक्तैः खड्गैः (यामन्) यामनि । प्राप्ते काले (शुभ्रासः) शुभ्राः शोभमानाः (अञ्जिषु) खनिकष्यज्यसि० । उ० ४ । १४० । अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु—इप्रत्ययः । कमनीयेषु कर्मसु (प्रियाः) प्रीतिकराः (उत) अपि (आसद्य) प्राप्य (बर्हिः) उत्तमासनम् (भरतस्य) भृमृदृशियजि० । उ० । ३ । ११० । डुभृञ् धारणपोषणयोः—अतच् । धारकस्य पुरुषस्य (सूनवः) पुत्राः (पोत्रात्) अ० २० २ । १ । पवित्रव्यवहारात् (आ) समन्तात् (सोमम्) तत्त्वरसम् (पिबत) पानं कुरुत । अनुभवत (दिवः) दिवु विजिगीषायाम्—क्विप् । हे जिगीषवः (नरः) नेतारः पुरुषाः ॥

नि । सुद । योनिषु । त्रिषु ॥ प्रति । वीहि । प्र-स्थितम् । सोम्यम् । मधु । पिब । आग्नीध्रात् । तव । भागस्य । तृप्णुहि ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(विप्र) हे बुद्धिमान् ! (होतः) हे दाता ! (इह) यहां पर (देवान्) दिव्य गुणों को (आ) अच्छे प्रकार (वक्षि) तू कहता है (च) और (यक्षि) तू देता है, सो (उशन्) कामना करता हुआ तू (त्रिषु) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] (योनिषु) निमित्तों में (नि) निरन्तर (सद) स्थिर हो । (प्रस्थितम्) उपस्थित किये हुये (सोम्यम्) सोम [तत्त्व रस] से युक्त (मधु) निश्चित ज्ञान को (प्रति) प्रतिज्ञा पूर्वक (वीहि) प्राप्त हो, और (पिब) पान कर, और (आग्नीध्रात्) अग्नि की प्रकाश विद्या को आश्रय में रखने वाले व्यवहार से (तव) अपने (भागस्य) भाग की (तृप्णुहि) तृप्ति कर ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य कर्म उपासना और ज्ञान के साथ तत्त्व रस का ग्रहण करके पुरुषार्थी होकर तृप्त होवें ॥ ५ ॥

एष स्य ते तन्वो नृम्णवर्धनः सह ओजः प्रदिवि बाह्वोर्हितः । तुभ्यं सुतो मघवन् तुभ्यमाभृतस्त्वमस्य ब्राह्मणादा तृपत् पिब ॥ ६ ॥

एषः । स्यः । ते । तन्वः । नृम्ण-वर्धनः । सहः । ओजः । प्र-

५—(आ) समन्तात् (वक्षि) वच परिभाषणे—लट् । कथयसि (देवान्) दिव्यगुणान् (इह) अत्र (विप्र) मेधाविन् (यक्षि) यजसि । ददासि (च) (उशन्) कामयमानः (होतः) हे दातः (नि) नितराम् (सद) तिष्ठ (योनिषु) निमित्तेषु (त्रिषु) कर्मोपासनाज्ञानेषु (प्रति) प्रतिज्ञया (वीहि) वी गतौ—लोट् । प्राप्नुहि (प्रस्थितम्) उपस्थितम् (सोम्यम्) सोमेन तत्त्वरसेन युक्तम् (मधु) मधुविद्याम् । निश्चितज्ञानम् (पिब) अनुभव (आग्नीध्रात) अ० २० । २ । २ । अग्नि प्रकाशविद्याशरणयुक्तव्यवहारात् (तव) स्वकीयस्य (भागस्य) अंशस्य (तृप्णुहि) तृप्तिं कुरु ॥

दिवि । बाह्वोः । हितः ॥ तुभ्यम् । सुतः । मघ-वन् । तुभ्यम् । आ-भृतः । त्वम् । अस्य । ब्राह्मणात् । आ । तृपत् । पिब ॥६॥

भाषार्थ—(एषः स्यः) यही (नृम्णवर्धनः) धन का बढ़ाने वाला [तत्त्व रस] (ते) तेरे (तन्वः) शरीर का (सहः) बल और (ओजः) पराक्रम होकर (प्रदिवि) उत्तम व्यवहार के बीच (बाह्वोः) तेरी दोनों भुजाओं पर (हितः) धरा गया है। (मघवन्) हे बड़े धनी ! (तुभ्यम्) तेरे लिये (सुतः) सिद्ध किया हुआ [तत्त्व रस] (तुभ्यम्) तुझ को (आभृतः) धारण किया गया है, (त्वम्) तू (ब्राह्मणात्) ब्रह्म [परमेश्वर] के ज्ञान से (आ) भले प्रकार (तृपत्) तृप्त होता हुआ (अस्य) इस [तत्त्व रस] का (पिब) पान कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पराक्रमी व्यवहार कुशल मनुष्य को परमेश्वरीय ज्ञान का उपदेश करके धन आदि की बढ़ती के लिये उत्साही करें ॥ ६ ॥

यमु पूर्वमहुवे तमिदं हुवे सेदु हव्यो ददिर्यो नाम पत्यते । अध्वर्युभिः प्रस्थितं सोम्यं मधु पोत्रात् सोमं द्रविणोदः पिब ऋतुभिः ॥ ७ ॥

यम् । ऊं इति । पूर्वम् । अहुवे । तम् । इदम् । हुवे । सः । इत् । ऊं इति । हव्यः । ददिः । यः । नाम । पत्यते ॥ अध्वर्युभिः । प्र-स्थितम् । सोम्यम् । मधु । पोत्रात् । सोमम् । द्रविणः-दः । पिब । ऋतु-भिः ॥ ७ ॥

६—(एषः स्यः) स एव (ते) तव (तन्वः) शरीरस्य (नृम्णवर्धनः) अ० ४।२४।३। धनवर्धकः (सहः) बलम् (ओजः) पराक्रमः (प्रदिवि) दिवु व्यवहारे—क्विप्। उत्तमव्यवहारे (बाह्वोः) भुजयोः (हितः) धृतः (तुभ्यम्) (सुतः) संस्कृतस्तत्त्वरसः (मघवन्) हे धनवन् (तुभ्यम्) (आभृतः) समन्ताद् धारितः (त्वम्) (अस्य) तत्त्वरसस्य (ब्राह्मणात्) ब्रह्मणः परमेश्वरस्य ज्ञानात् (आ) समन्तात् (तृपत्) तृप्यन् सन् (पिब) पानं कुरु ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस [पराक्रमी] को (उ) ही (पूर्वम्) पहिले (अहुवे) मैं ने ग्रहण किया था, (तम्) उस [पुरुष] को (इदम्) अब (हुवे) मैं ग्रहण करता हूं, (सः इत्) वही (उ) निश्चय करके (हव्यः) ग्रहण करने योग्य है, (यः) जो (ददिः) दाता (नाम) नाम [होकर] (पत्यते) स्वामी होता है। (द्रविणोदः) हे धन देने वाले (पोत्रात्) पवित्र व्यवहार से (अध्वर्युभिः) हिंसा न चाहने वाले पुरुषों करके (प्रस्थितम्) उपस्थित किये हुये (सोम्यम्) ऐश्वर्य के लिये हितकारी (मधु) निश्चित ज्ञान को और (सोमम्) सोम [तत्त्वरस] को (ऋतुभिः) ऋतुओं के साथ (पिब) तू पी ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् पुरुष सुपरीक्षित गुणी पराक्रमी मनुष्य को सदा उत्तम व्यवहारों के लिये नियुक्त करें ॥ ७ ॥

सूक्तम् ६८ ॥

१—१२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २, ४—६ गायत्री; ३, ११ विराडार्षीगायत्री; १० निचृद् गायत्री; १२ आर्च्युष्णिक्छन्दः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

सुरूपकृत्नुमूतये सुदुघामिव गोदुहे । जुहूमसि द्यविद्यवि ॥१॥

सुरूप-कृत्नुम् । ऊतये । सुदुघाम्-इव । गो-दुहे ॥ जुहूमसि । द्यवि-द्यवि ॥ १ ॥

७—(यम्) पराक्रमिणम् (उ) एव (पूर्वम्) पूर्वकाले (अहुवे) हु दानादानयोः— लङ् शपः लुक्। गृहीतवानस्मि (तम्) (इदम्) इदानीम् (हुवे) हु दानादानयोः। गृह्णामि (सः) (इत्) एव (उ) निश्चयेन (हव्यः) ग्रहीतुमर्हः (ददिः) दाता (यः) पुरुषः (नाम) प्रसिद्धौ (पत्यते) ईष्टे (अध्वर्युभिः) हिंसामनिच्छुभिः पुरुषैः (प्रस्थितम) उपस्थितम् (सोम्यम्) ऐश्वर्याय हितम् (मधु) निश्चरज्ञानम् (पोत्रात) पवित्रव्यवहारात् (सोमम्) तत्त्वरसम् (द्रविणोदः) अ० २० । २ । ४ । हे धनप्रद (पिब) अनुभव (ऋतुभिः) ॥

भाषार्थ—(सुरूपकृत्नुम्) सुन्दर स्वभावों के बनाने वाले [राजा] को (ऊतये) रक्षा के लिये (द्यविद्यवि) दिन दिन (जुहूमसि) हम बुलाते हैं, (इव) जैसे (सुदुघाम्) बड़ी दुधेल गौ को (गोदुहे) गौ दोहने वाले के लिये ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे दुधेल गौ को दूध दोहने के लिये प्रीति से बुलाते हैं, वैसे ही प्रजागण विद्या आदि शुभ गुणों के बढ़ाने वाले राजा का आश्रय लेकर उन्नति करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ आचुके हैं—अ० २० । ५७ । १—३ ॥

उप॑ नः सव॒ना ग॑हि॒ सोम॑स्य सोमपाः पिब । गो॒दा इद् रे॒वतो॒ मदः॑ ॥ २ ॥

उप॑ । नः॒ । सव॑ना । आ । ग॒हि॒ । सोम॑स्य । सो॒म॒-पा॒ः । पिब॒ ॥ गो॒-दाः । इत् । रे॒वतः॑ । मदः॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सोमपाः) हे ऐश्वर्य के रक्षक ! [राजन्] (नः) हमारे लिये (सवना) ऐश्वर्य युक्त पदार्थों को (उप) समीप से (आ गहि) तू प्राप्त हो और (सोमस्य) सोम [तत्त्व रस] का (पिब) पान कर, (रेवतः) धनवान् पुरुष का (मदः) हर्ष (इत्) ही (गोदाः) दृष्टि का देने वाला है ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐश्वर्यवान् और दूरदर्शी होकर प्रसन्नता पूर्वक प्रजा को ज्ञानवान बनावे ॥ २ ॥

अथा॑ ते॒ अन्त॑मानां वि॒द्याम॑ सुमती॒नाम् । मा नो॒ अति॑ ख्य॒ आ ग॑हि ॥ ३ ॥

अथ॑ । ते॒ । अन्त॑मानाम् । वि॒द्याम॑ । सु॒-म॒ती॒नाम् ॥ मा । नः॒ । अति॑ । ख्यः॒ । आ । ग॒हि॒ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (अथ) और (ते) तेरी (अन्तमानाम्)

१—३ ॥ एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ५७ । १—३ ॥

अत्यन्त समीप रहने वाली (सुमतीनाम्) सुन्दर बुद्धियों का (विद्याम) हम ज्ञान करें। तू (नः) हमें (अति) छोड़कर (मा ख्यः) मत बोल, (आ गहि) तू आ ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब राजा पूर्ण रीति से प्रजा पालन करता है, प्रजागण उस की धार्मिक नीतियों से लाभ उठाकर उस से प्रीति करते हैं ॥ ३ ॥

परेहि विग्रमस्तृतमिन्द्रं पृच्छा विपश्चितम्। यस्ते सखिभ्य आ वरम् ॥ ४ ॥

परा। इहि। विग्रम्। अस्तृतम्। इन्द्रम्। पृच्छ। विपःऽचितम् ॥ यः। ते। सखिऽभ्यः। आ। वरम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—[हे जिज्ञासु !] तू (परा) समीप (इहि) जा, और (विग्रम्) बुद्धिमान्, (अस्तृतम्) अजेय, (विपश्चितम्) आप्त विद्वान्, (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] से (पृच्छ) पूंछ, (यः) जो [मनुष्य] (ते) तेरे (सखिभ्यः) ,मित्रों के लिये (आ) सब प्रकार (वरम्) श्रेष्ठ [मित्र] है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्यो को चाहिये कि आप्त विद्वानों से प्रश्नोत्तर के साथ शङ्का निवृत्ति कर के सत्य का ग्रहण करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—१० ऋग्वेद में हैं—१ । ४ । ४—१० ॥

उत ब्रुवन्तु नो निदो निरन्यतश्चिदारत। दधाना इन्द्र इद् दुवः ॥ ५ ॥

४—(परा) समीपे (इहि) गच्छ (विग्रम्) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । ग्रह उपादाने—डप्रत्ययः । विविधं गृह्णात्यर्थान् यः स विग्रः । वेर्ग्रो वक्तव्यः । वा० पा० ५ । ४ । ११९ । इति विपूर्वकनासिकाशब्दस्य ग्रःसमासान्तादेशः । ग्रस कौटिल्ये—एवुल् । विगता नासिका कुटिलता यस्य सः । विग्रइति मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । मेधाविनम् (अस्तृतम्) अहिंसितम् । अजेयम् (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्तं मनुष्यम् (पृच्छ) जिज्ञासस्व । प्रश्न कुरु (विपश्चितम्) आप्त विद्वांसम् (यः) विद्वान् (ते) तव (सखिभ्यः) मित्राणा हिताय (आ) समन्तात् (वरम्) श्रेष्ठं मित्रम् ॥

उत । ब्रुवन्तु । नः । निदः । निः । अन्यतः । चित् । आरत ॥
दधानाः । इन्द्रे । इत् । दुवः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] में (इत्) ही (दुवः) सेवा को (दधानाः) धारण करते हुये पुरुष (उत) निश्चय कर के (नः) हमारे (निदः) निन्दकों से (ब्रुवन्तु) कहें—"(अन्यतः) दूसरे देश को (चित्) अवश्य (निः आरत) तुम निकल जाओ" ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में दृढ़ विश्वास कर के दुराचारियों को दण्ड देकर देश से निकाल दें ॥ ५ ॥

उत नः सुभगाँ अरिर्वोचेयुर्दस्म कृष्टयः । स्यामेदिन्द्रस्य शर्मणि ॥ ६ ॥

उत । नः । सु-भगान् । अरिः । वोचेयुः । दस्म । कृष्टयः ॥
स्याम । इत् । इन्द्रस्य । शर्मणि ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दस्म) हे दर्शनीय ! [परमात्मन्] (अरिः=अरयः) प्रेरणा करने वाले [वा वैरी] (कृष्टयः) मनुष्य (उत) भी (नः) हम को (सुभगान्) बड़े ऐश्वर्य वाला (वोचेयुः) कहें, [तो भी] (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य

५—(उत) निश्चयेन (ब्रुवन्तु) कथयन्तु (नः) अस्माकम् (निदः) णिदि कुत्सायाम्—क्विप्, नुमभावः । निन्दकान् (निः) वहिर्भावे (अन्यतः) इतराभ्योऽपि दृश्यते । पा० । ५ । ३ । १४। द्वितीयार्थे तसिल् । अन्यं देशम् (चित) अवश्यम् (आरत) ऋ गतौ—लुङ् लोडर्थे । गच्छत यूयम् (दधानाः) दधातेः शानच् । धारयन्तः (इन्द्रे) परमैश्वर्ययुक्ते परमेश्वरे (इत्) एव (दुवः) दुवस् परिचरणोपतापयोः—क्विप् । दुवस्यतिः परिचरण—कर्मा—निघ० २ । ५ । परिचर्याम् ॥

६—(उत) अपि च (नः) अस्मान् (सुभगान्) वह्वैश्वर्योपेतान् (अरिः) अच इः । उ० ४ । १३९ । ऋ गतिप्रापणयोः—इप्रत्ययः । बहुवचनस्यैकवचनम् । अरयः प्रेरकाः । नायकाः । शत्रवः (वोचेयुः) वच परिभाषणे-आशीर्लिङ् प्रथमस्य बहुवचने । लिङ्याशिष्यङ् । पा० ३ । १ । ८६ । इति विकरणस्थान्यङ् प्रत्ययः । वच उम् । पा० ७ । ४ । २० । उमागमः । उक्तासुः । उपदिश्यासुः (दस्म)

वाले परमात्मा] की (इत्) ही (शर्मणि) शरण में (स्याम) हम रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—चाहे मनुष्य ऐसे बड़े हों, जावें कि बड़े बड़े लोग और बैरी लोग भी उन्हें बड़ा जानें, तो भी वे अभिमान छोड़कर परमेश्वर की शरण में रहकर उन्नति करें ॥ ६ ॥

एमाशुमाशवे भर यज्ञश्रियं नृमादनम् । पतयन्मन्दयत्सखम् ॥७॥

आ । ईम् । आशुम् । आशवे । भर । यज्ञ-श्रियम् । नृ-मादनम् ॥ पतयत् । मन्दयत्-सखम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे इन्द्र परमेश्वर !] (आशवे) वेग वाले [रथ आदि] के लिये (यज्ञश्रियम्) यज्ञ [संगतिकरण] से लक्ष्मी बढ़ाने वाले, (नृमादनम्) मनुष्यों को आनन्द देने वाले (आशुम्) वेग आदि गुण वाले [अग्नि, वायु आदि] पदार्थ और (ईम्) प्राप्ति योग्य जल को और (पतयत्) स्वामिपन देने वाले, (मन्दयत्सखम्) मित्रों को आनन्द देने वाले धन को (आ) सब प्रकार (भर) भर दे ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि अग्नि वायु जल आदि पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ७ ॥

अस्य पीत्वा शतक्रतो घनो वृत्राणामभवः । प्रावो वाजेषु वाजिनम् ॥ ८ ॥

अ० २० । ७ । २ । हे दर्शनीय (कृष्टयः) अ० ३ । २४ । ३ । मनुष्याः (स्याम) भवेम (इत्) एव (इन्द्रस्य) परमेश्वरस्य (शर्मणि) सुखे । शरणे ॥

७—(आ) समन्तात् (ईम्) प्राप्तव्य जलम्—निघ० १ । १२ । (आशुम्) कृवापा० । उ० १ । १ अशूङ् व्याप्तौ-उण् । वेगादिगुणवन्तमग्निवाय्वादिपदार्थसमूहम् (आशवे) वेगादिगुणयुक्तरथादिहिताय (भर) देहि (यज्ञश्रियम्) संगतिकरणेन लक्ष्मीदातारम् (नृमादनम्) नृणां मनुष्याणां हर्षहेतुम् (पतयत्) तत् करोति तदाचष्टे । वा० पा० ३ । १ । २६ । पति-णिच्, ततः शतृ । पतित्वसम्पादकम् (मन्दयत्सखम्) मन्दयन्तः सखायो यस्मिंस्तद् धनम् ॥

अस्य । पीत्वा । शतक्रतो इति शत-क्रतो । घनः । वृत्राणाम् । अभवः । प्र ॥ आवः । वाजेषु । वाजिनम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [वीर पुरुष] (अस्य) इस [तत्त्व रस] का (पीत्वा) पान कर के तू (वृत्राणाम्)रोकने वाले शत्रुओं का (घनः) मारने वाला (अभवः) हुआ है और (वाजेषु) सङ्ग्रामों में (वाजिनम्) पराक्रमी वीर को (प्र) अच्छे प्रकार (आवः) तू ने बचाया है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष वेदविद्या का रस चखता रहता है, वह परमेश्वर की कृपा से शत्रुओं को मारकर अपने वीर लोगों की रक्षा करता है ॥ ८ ॥

तं त्वा वाजेषु वाजिनं वाजयामः शतक्रतो । धनानामिन्द्र सातये ॥ ९ ॥

तम् । त्वा । वाजेषु । वाजिनम् । वाजयामः । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ धनानाम् । इन्द्र । सातये ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों [असंख्य] वस्तुओं में बुद्धि वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (वाजेषु) सङ्ग्रामों के बीच (वाजिनम्) महाबलवान् (तम्) उस (त्वा) तुझ को (धनानाम्) धनों के (सातये) भोगने के लिये (वाजयामः) हम प्राप्त होते हैं ॥ ९ ॥

८—(अस्य) सोमस्य । तत्त्वरसस्य (पीत्वा) पानं कृत्वा (शतक्रतो) हे बहुकर्मन् (घनः) मूर्तौ घनः । पा० ३ । ३ । ७७ । हन्तेरप् मूर्तिभिन्नार्थेऽपि । हन्ता । घातुकः (वृत्राणाम्) आवरकाणां शत्रूणाम् (अभवः) (प्र) प्रकर्षेण (आवः) रक्षितवानसि (वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (वाजिनम्) पराक्रमिणं पुरुषम् ॥

९—(तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (वाजेषु) सङ्ग्रामेषु (वाजिनम्) महाबलवन्तम् (वाजयामः) वज गतौ, चुरादिः । प्राप्नुमः (शतक्रतो) शतेष्वसंख्यातेषु वस्तुषु क्रतुः प्रज्ञा यस्य तत्सम्बुद्धौ (धनानाम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सातये) सेवनाय । लाभाय ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की आज्ञा पालन से जितेन्द्रिय बलवान् होकर सब विघ्न हटाकर सुख भोगें ॥ ६ ॥

यो रायो३ऽवनिर्महान्त्सुपारः सुन्वतः सखा । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ १० ॥

यः । रायः । अवनिः । महान् । सु-पारः । सुन्वतः । सखा ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (रायः) धन का (अवनिः) रक्षक वा स्वामी (महान्) [बड़ा गुणी वा बली], (सुपारः) भले प्रकार पार लगाने वाला, (सुन्वतः) तत्त्वरस निकालने वाले पुरुष का (सखा) मित्र है, [हे मनुष्यो !] (तस्मै) उस (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] के लिये (गायत) तुम गान करो ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर परमात्मा की उपासना से तत्त्व का ग्रहण करके पुरुषार्थ से धर्म का सेवन करें ॥ १० ॥

आ त्वेता नि षीदतेन्द्रमभि प्र गायत । सखाय स्तोमवाहसः ॥ ११ ॥

आ । तु । आ । इत । नि । सीदत । इन्द्रम् । अभि । प्र । गायत ॥ सखायः । स्तोम-वाहसः ॥ ११ ॥

पुरूतमं पुरूणामीशानं वार्याणाम् । इन्द्रं सोमे सचा सुते ॥ १२ ॥

पुरुतमम् । पुरूणाम् । ईशानम् । वार्याणाम् । इन्द्रम् । सोमे । सचा । सुते ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(स्तोमवाहसः) हे बड़ाई के प्राप्त कराने वाले (सखायः)

१०—(यः) परमेश्वरः (रायः) धनस्य (अवनिः) अ० २० । ३५ । १० । रक्षकः । स्वामी (महान्) गुणेन बलेन वाधिकः (सुपारः) पार कर्म-समाप्तौ—पचाद्यच् । सुष्ठु पारयिता (सुन्वतः) तत्त्वरसं निष्पादयतः पुरुषस्य (सखा) प्रियः (तस्मै) (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (गायत) गानं कुरुत ॥

११—(आ इत) आगच्छत (तु) शीघ्रम् (आ) समुच्चये (नि षीदत)

मित्रो ! (तु) शीघ्र (आ इत) आओ, (आ) और (नि षीदत) बैठो, और (पुरूणाम्) पालन करने वालों के (पुरुतमम्) अत्यन्त पालन करने वाले, (वार्याणाम्) श्रेष्ठ पदार्थों वा धनों के (ईशानम्) स्वामी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले], (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (सचा) सदा मेल के साथ (सोमे) सोम [तत्त्वरस] (सुते) सिद्ध होने पर (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (गायत) गाओ ॥ ११, १२ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परस्पर उपकार के लिये धैर्य और प्रीति के साथ, परमात्मा के गुणों के विचार से निश्चित सिद्धान्त करके ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ११, १२ ॥

मन्त्र ११, १२ ऋग्वेद में हैं—१ । ५ । १, २ सामवेद—उ० १ । २ । १० मन्त्र ११ साम०—पू० २ । ७ । १० ॥

सूक्तम् ९९ ॥

१—१२ ॥ १—११ इन्द्रः; १२ मरुतो देवता ॥ १, ३—५, ७, १२ निचृद् गायत्री; २, ८, ९, ११ गायत्री; ६ पाद निचृद् गायत्री; १० विराड् गायत्री ॥

१—८ पराक्रमिलक्षणोपदेशः—१—८ पराक्रमी मनुष्य के लक्षणों का उपदेश ॥

स घा नो योग आ भुवत् स राये स पुरंध्याम् । गमद् वाजेभिरा स नः ॥ १ ॥

उपविशत (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (अभि) सर्वतः (प्र) प्रकर्षेण (गायत) स्तुत (सखायः) हे सुहृदः (स्तोमवाहसः) अर्त्तिस्तुसुहु० उ० १ । १४० । स्तौतेर्मन् । वहिहाधाञ्भ्यश्छन्दसि । उ० ४ । २२१ । वह प्रापणे-असुन् स च णित् । स्तुतिप्रापकाः ॥

१२—(पुरुतमम्) पॄभिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । पॄ पालनपूरणयोः—कु । उदोष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ इत्युत्वम्, अतिशायने तमप् । अतिशयेन पालकम् (पुरूणाम्) पालकानाम् (ईशानम्) स्वामिनम् (वार्याणाम्) ऋहलोर्ण्यत् । पा० ३ । १ । १२४ । वृङ् सम्भक्तौ वृञ् वरणे वा-ण्यत् वरणीयानां श्रेष्ठानां पदार्थानां धनानां वा (इन्द्रम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् । परमात्मानम् (सोमे) तत्त्वरसे (सचा) समवायेन (सुते) संस्कृते ॥

सः । घ । नः । योगे । आ । भुवत् । सः । राये । सः । पुरम्-ध्याम् ॥ गमत् । वाजेभिः । आ । सः । नः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(सः घ) [वही परमात्मा वा पुरुषार्थी मनुष्य] (नः) हमारे (योगे) मेल में, (सः सः) वही (राये) हमारे धन के लिये (पुरन्ध्याम्) नगरी के धारण करने वाली बुद्धि में (आ) सब प्रकार (भुवत्) होवे। (सः) वही (वाजेभिः) अन्नों वा बलों के साथ (नः) हम को (आ गमत्) सब प्रकार प्राप्त होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की उपासना से और आप्त पुरुषार्थी विद्वानों के सत्संग से बुद्धि को उत्तम बनाकर बल और धन की वृद्धि करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—८ ऋग्वेद में हैं—१ । ५ । ३—१०, मन्त्र १ सामवेद—उ० १ । २ । १० ॥

यस्य संस्थे न वृण्वते हरी समत्सु शत्रवः । तस्मा इन्द्राय गायत ॥ २ ॥

यस्य । सम्-स्थे । न । वृण्वते । हरी इति । समत्-सु । शत्रवः ॥ तस्मै । इन्द्राय । गायत ॥ २ ॥

भाषार्थ—(संस्थे) संस्था [न्यायव्यवस्था] में (यस्य) जिस [वीर] के (हरी) पदार्थों के पहुंचाने वाले बल और पराक्रम को (समत्सु)

१—(सः) इन्द्रः परमेश्वरः पुरुषार्थी मनुष्यो वा (घ) एव (नः) अस्माकम् (योगे) संयोगे (आ) समन्तात् (भुवत्) आशिषि लिङि छान्दसं-रूपम् । भूयात् (सः) (राये) धनलाभाय (सः) (पुरन्ध्याम्) अ० १४ । १० । २ । पुरां नगराणां धारिका बुद्धिः (गमत्) गमेर्लेटि शपो लुक्, अडागमः, यद्वा लिङर्थे लुङ् अडभावः । गच्छेत् प्राप्नुयात् (वाजेभिः) अन्नैर्बलैर्वा सह (आ) सर्वतः (सः) (नः) अस्मान् ॥ १ ॥

२—(यस्य) पुरुषस्य (संस्थे) आतश्चोपसर्गे । पा० ३ । १ । १३६ । सम्+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क । संस्थायाम् । न्यायपथव्यवस्थायाम् (न)

संग्रामों के बीच (शत्रवः) वैरी लोग (न) नहीं (वृणुते) ढकते हैं, (तस्मै-) उस (इन्द्राय) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] के लिये (गायत) तुम गान करो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो पुरुष न्यायकारी, दृढ़स्वभाव, पराक्रमी होवे, उस के गुणों को सब लोग ग्रहण करें ॥ २ ॥

सुतपाव्ने सुता इमे शुचयो यन्ति वीतये । सोमासो दध्याशिरः ॥ ३ ॥

सुत-पाव्ने । सुताः । इमे । शुचयः । यन्ति । वीतये ॥ सोमासः । दधि-आशिरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सुतपाव्ने) ऐश्वर्य के रक्षक मनुष्य को (वीतये) भोग के लिये (इमे) यह (सुताः) निचोड़े हुये (शुचयः) शुद्ध (दध्याशिरः) पोषक पदार्थों के यथावत् सेवन [वा परिपक्व अर्थात् दृढ़] करने वाले (सोमासः) सोम रस [तत्त्व वा अमृत रस] (यन्ति) पहुंचते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपने और प्रजा के ऐश्वर्य की रक्षा कर सकता है, वही संसार में वृद्धिकारक सिद्धान्तों को दृढ़ जमाना है ॥ ३ ॥

निषेधे (वृणुते) आच्छादयन्ति (हरी) पदार्थानां हरणशीलौ बलपराक्रमौ (समत्सु) सङ्ग्रामेषु (शत्रवः) अमित्राः (तस्मै) तादृशाय (इन्द्राय) महाप्रतापिने मनुष्याय (गायत) गानं कुरुत ॥

३—(सुतपाव्ने) षु ऐश्वर्ये—क्त । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । सुत+पा रक्षणे वनिप् । ऐश्वर्याणां रक्षकाय (सुताः) निष्पादिताः (इमे) शुचयः) पवित्राः (यन्ति) गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (वीतये) वी गति व्याप्तिप्रजनकान्त्यसनखादनेषु—क्तिन् । भोगाय (सोमासः) तत्त्वरसाः । अमृतरसाः (दध्याशिरः) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । डुधाञ् धारणपोषणयोः—किन् । दधति पुष्णन्तीति दधयः । अपस्पृधेथामानृचु० । पा० ६ । १ । ३६ । आङ्+श्रिञ् सेवायां श्रीञ् पाके वा—क्विप्, धातोः शिर् इत्यादेशः । आशीराश्रयणाद्वाश्रपणाद् वा, अथेयमितराशीराशास्तेः—निरु० ६ । ८ । पोषकपदार्थानामाश्रयदातारः परिपक्कर्तारो वा ॥

त्वं सुतस्य॑ पी॒तये॑ स॒द्यो वृ॒द्धो अ॑जायथाः । इन्द्र॒ ज्यैष्ठ्या॑य सुक्रतो ॥ ४ ॥

त्वम् । सु॒तस्य॑ । पी॒तये॑ । स॒द्यः । वृ॒द्धः । अ॒जा॒य॒थाः ॥ इन्द्र॑ । ज्यैष्ठ्या॑य । सु॒क्र॒तो॒ इति॑ सु-क्र॒तो॒ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(सुक्रतो) हे श्रेष्ठ कर्म और बुद्धि वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बडे प्रतापी मनुष्य] (त्वम्) तू (सद्यः) शीघ्र (सुतस्य) तत्त्वरस के (पीतये) पीने के लिये और (ज्येष्ठ्याय) प्रधानपन के लिये (वृद्धः) वृद्धि युक्त पण्डित (अजायथाः) हुआ है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य तीव्र बुद्धि होकर शीघ्र तत्त्व को ग्रहण करते हैं, वे ही संसार में बडे पद के योग्य होते हैं ॥ ४ ॥

आ त्वा॑ विश॒न्त्वा॒शवः॒ सोमा॑स इन्द्र गिर्वणः । शं ते॑ सन्तु॒ प्रचे॑तसे ॥ ५ ॥

आ । त्वा॒ । वि॒श॒न्तु॒ । आ॒शवः॑ । सोमा॑सः । इ॒न्द्र॒ । गि॒र्व॒णः॒ ॥ शम् । ते॒ । स॒न्तु॒ । प्र-चे॑तसे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी मनुष्य] (आशवः) वेग गुण वाले (सोमास) सोम रस (त्वा) तुझ में (आ) सब ओर से (विशन्तु) प्रवेश करें और (प्रचेतसे ते) तुझ दूरदर्शी के लिये (शम्) सुखदायक (सन्तु) होवें ॥ ५ ॥

४—(त्वम्) (सुतस्य) निष्पादितस्य तत्त्वरसस्य (पीतये) पानाय । ग्रहणाय (सद्यः) शीघ्रम् (वृद्ध) वृद्धियुक्तः पण्डितः (अजायथाः) प्रसिद्धोऽभवः (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (ज्यैष्ठ्याय) गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि च । पा० ५ । १ । १२४ । ज्येष्ठ—ष्यञ् । प्रधानत्वप्राप्तये (सुक्रतो) श्रेष्ठकर्मबुद्धियुक्त ॥

५—(आ) सर्वतः (त्वा) त्वाम् (विशन्तु) प्रविशन्तु । व्याप्नुवन्तु (आशवः) वेगगुणयुक्ताः (सोमासः) तत्त्वरसाः (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (गिर्वणः) अ० २० । ६ । ५ । स्तुतिभिः सेवनीय (शम्) सुखप्रदाः (ते) तुभ्यम् (सन्तु) (प्रचेतसे) प्रकृष्टज्ञानिने दूरदर्शिने ॥

भावार्थ—मनुष्य तत्त्वबुद्धि होकर शीघ्र गुणकारी सिद्धान्तों का ग्रहण कर के सुखी होवें ॥ ५ ॥

त्वां स्तोमा अवीवृधन् त्वामुक्था शतक्रतो। त्वां वर्धन्तु नो गिरः ॥ ६ ॥

त्वाम्। स्तोमाः। अवीवृधन्। त्वाम्। उक्था। शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ त्वाम्। वर्धन्तु। नः। गिरः ॥ ६ ॥

भाषार्थ–(शतक्रतो) हे सैकड़ों व्यवहारों में बुद्धि वाले मनुष्य (त्वाम्) तुझ को (स्तोमाः) बड़ाई योग्य गुणों ने और (त्वाम्) तुझ को (उक्था) कहने योग्य कर्मों ने (अवीवृधन्) बढ़ाया है। (त्वाम्) तुझ को (नः) हमारी (गिरः) स्तुतियां (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ ६ ॥

भावार्थ—श्रेष्ठ कर्मी मनुष्य सदा विद्वानों के सत्संग से उपकार शक्ति बढ़ाते रहें ॥ ६ ॥

अक्षितोतिः सनेदिमं वाजमिन्द्रः सहस्रिणम्। यस्मिन् विश्वानि पौंस्या ॥ ७ ॥

अक्षित-ऊतिः। सनेत्। इमम्। वाजम्। इन्द्रः। सहस्रिणम् ॥ यस्मिन्। विश्वानि। पौंस्या ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(अक्षितोतिः) अक्षय रक्षा वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] (इमम्) उस (सहस्रिणम्) सहस्रों सुख वाले

६—(त्वाम्) (स्तोमाः) स्तुत्यगुणाः (अवीवृधन्) वृधु वृद्धौ णयन्ताल्लुङ्। वर्धितवन्तः (त्वाम्) (उक्था) पातॄतुदिवचि०। उ० २। ७। वच परिभाषणे–थक्। वक्तव्यानि प्रशंसनीयानि कर्माणि (शतक्रतो) बहुव्यवहारेषु बुद्धियुक्त (त्वाम्) (वर्धन्तु) अन्तर्गतण्यर्थः। वर्धयन्तु (नः) अस्माकम् (गिरः) स्तुतयः ॥

७—(अक्षितोतिः) अक्षीणा वर्धमाना ऊती रक्षा ज्ञानं वा यस्य सः (सनेत्) षण संभक्तौ—विधिलिङ्। सेवेत (इमम्) वक्ष्यमाणम् (वाजम्) विज्ञानम् (इन्द्रः) महाप्रतापी मनुष्यः (सहस्रिणम्) अ० २०। ६। २।

(वाजम्) ज्ञान का (भनेत्) सेवन करे, (यस्मिन्) जिस में (विश्वानि) सब (पौंस्या) मनुष्य कर्म [वा बल] हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रतापी होकर सर्वोपकारी कार्य कर के सुखी होवे ॥७॥

मा नो मर्ता अभि द्रुहन् तनूनामिन्द्र गिर्वणः । ईशानो यवया वधम् ॥ ८ ॥

मा । नः । मर्ताः । अभि । द्रुहन् । तनूनाम् । इन्द्र । गिर्वणः ॥ ईशानः । यवय । वधम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी मनुष्य] (मर्ताः) मनुष्य (नः) हमारी (तनूनाम्) उपकार क्रियाओं का (मा अभि द्रुहन्) कभी द्रोह न करें । तू (ईशानः) स्वामी होकर (वधम्) उन के वध [हनन व्यवहार] को (यवय) हटा ॥ ८ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् प्रतापी मनुष्य ऐसा प्रयत्न करे कि सब लोग वैर छोड़ कर परस्पर उपकारी होकर सुखी होवें ॥ ८ ॥

मन्त्राः ९—११ परमेश्वरगुणोपदेशः—९—११ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

युञ्जन्ति ब्रध्नमरुषं चरन्तं परि तस्थुषः । रोचन्ते रोचना दिवि ॥ ९ ॥

असंख्यसुखयुक्तम् (यस्मिन्) ज्ञाने (विश्वानि) सर्वाणि (पौंस्या) अ० २० । ६७ । २ । मनुष्यकर्माणि । बलानि ॥

८—(मा) निषेधे (नः) अस्माकम् (मर्ताः) मनुष्याः (अभि) सर्वतः (द्रुहन्) द्रुह जिघांसायाम्—लुङ्, अडभावः, छान्दसः शविकरणः । द्रोह कुर्वन्तु (तनूनाम्) कृषिचमितनि० । उ० १ । ८० तनु विस्तारे श्रद्धोपकरणयोश्च—ऊप्रत्ययः । उपकारक्रियाणाम् (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (गिर्वणः) म० ५ । स्तुतिभिः सेवनीय (ईशानः) समर्थः (यवय) प्रातिपदिकाद्धात्वर्थे बहुलमिष्ठवच्च । इति वार्तिकेन यवशब्दाद् धात्वर्थे—णिच्, टलोपः । पृथक् कुरु (वधम्) हन हिंसागत्योः—अप् । हननव्यवहारम् ॥

युञ्जन्ति । ब्रध्नम् । अरुषम् । चरन्तम् । परि । तस्थुषः ॥ रोचन्ते । रोचना । दिवि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(तस्थुषः) मनुष्य आदि प्राणियों और लोकों में (परि) सब ओर से (चरन्तम्) व्यापे हुये, (ब्रध्नम्) महान् (अरुषम्) हिंसा रहित [परमात्मा] को (रोचना) प्रकाशमान पदार्थ (दिवि) व्यवहार के बीच (युञ्जन्ति) ध्यान में रखते और (रोचन्ते) प्रकाशित होते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमाणुओं से लेकर सूर्य आदि लोक और सब प्राणी सर्वव्यापक, सर्वनियन्ता परमात्मा की आज्ञा को मानते हैं, उसी की उपासना से मनुष्य पदार्थों का ज्ञान प्राप्त करके आत्मा की उन्नति करें ॥ ६ ॥

मन्त्र ९—११ आ चुके हैं—म० २० । २६ । ४—६ तथा ४७ । १०—१२ ॥

युञ्जन्त्यस्य काम्या हरी विपक्षसा रथे । शोणा धृष्णू नृवाहसा ॥ १० ॥

युञ्जन्ति । अस्य । काम्या । हरी इति । वि-पक्षसा । रथे । शोणा । धृष्णू इति । नृ-वाहसा ॥ १० ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमात्मा—म० ९] के (काम्या) चाहने योग्य, (विपक्षसा) विविध प्रकार ग्रहण करने वाले, (शोणा) व्यापक, (धृष्णू) निर्भय, (नृवाहसा) नेताओं [दूसरों के चलाने वाले सूर्य आदि लोकों] के चलाने वाले (हरी) दोनों धारण आकर्षण गुणों को (रथे) रमणीय जगत् के बीच (युञ्जन्ति) वे [प्रकाशमान पदार्थ—म० ९] ध्यान में रखते हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के धारण आकर्षण सामर्थ्य में सूर्य आदि पिण्ड अन्य लोकों और प्राणियों को चलाते हैं, मनुष्य उन सब पदार्थों से उपकार लेकर उस ईश्वर को धन्यवाद दें ॥ १० ॥

केतुं कृण्वन्नकेतवे पेशो मर्या अपेशसे । समुषद्भिरजायथाः ॥ ११ ॥

९—११ ॥ एते मन्त्रा गताः—म० २० । २६ । ४—६ तथा ४७ । १०—१२ ॥

के॒तुम् । कृ॒ण्वन् । अ॒के॒तवे॑ । पेशः॑ । म॒र्याः॒ । अ॒पे॒शसे॑ ॥ सम् । उ॒षत्-भिः॑ । अ॒जा॒य॒थाः॒ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(मर्याः) हे मनुष्यो ! (अकेतवे) अज्ञान हटाने के लिये (केतुम्) ज्ञान को और (अपेशसे) निर्धनता मिटाने के लिये (पेशः) सुवर्ण आदि धन को (कृण्वन्) उत्पन्न करता हुआ वह [परमात्मा-म० ६, १०] (उषद्भिः) प्रकाशमान गुणों के साथ (सम्) अच्छे प्रकार (अजायथाः) प्रकट हुआ है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके परमात्मा को विचारते हुये सृष्टि के पदार्थों से उपकार लेकर ज्ञानी और धनी होवें ॥ ११ ॥

मन्त्र १२ राजप्रजाधर्मोपदेशः—मन्त्र १२ राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

आदह॑ स्व॒धामनु॒ पुन॑र्गर्भ॒त्वमे॑रि॒रे । दधा॑ना॒ नाम॑ य॒ज्ञिय॑म् १२

आत् । अह॑ । स्व॒धाम् । अनु॑ । पुन॒रिति॑ । ग॒र्भ॒-त्वम् । आ॒-ई॒रि॒रे ॥ दधा॑नाः । नाम॑ । य॒ज्ञिय॑म् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(आत्) फिर (अह) अवश्य (स्वधाम् अनु) अपनी धारण शक्ति के पीछे (यज्ञियम्) सत्कार योग्य (नाम) नाम [यश] को (दधानाः) धारण करते हुये लोगों ने (पुनः) निश्चय कर के (गर्भत्वम्) गर्भपन [सारपन, बड़े पद] को (एरिरे) सब प्रकार से पाया है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जहां पर पूर्वोक्त प्रकार से न्याय युक्त स्वतन्त्रता के साथ लोग कार्य करते हैं, वहां पर सब पुरुष बड़ाई पाते हैं ॥ १२ ॥

यह मन्त्र, आ चुका है—अ० २० । ४० । ३ ॥

सूक्तम् ७० ॥

१—२० ॥ १, ३ मरुत इन्द्रश्च; २, ४, ५ मरुतः; ६—२० इन्द्रो देवता ॥ १—३, ५—७; ६, ११—१३, १८,२० गायत्री; ४, ८, १०, १४, १६, १७, निचृद् गायत्री; १५ पाद निचृद् गायत्री; १८ विराड् गायत्री छन्दः ॥

१—६ । राजप्रजाधर्मोपदेशः—१—६ राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

१२—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । ४० । ३ ॥

वीलु चिदारुजत्नुभिर्गुहा चिदिन्द्र वह्निभिः। अविन्द उस्रिया अनु ॥ १ ॥

वीलु। चित्। आरुजत्नु-भिः। गुहा। चित्। इन्द्र। वह्निभिः॥ अविन्दः। उस्रियाः। अनु ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र! [महाप्रतापी मनुष्य] (गुहा) गुहा [गुप्त स्थान] में (चित्) भी [शत्रुओं के] (वीलु) दृढ़ गढ़ को, (आरुजत्नुभिः) तोड़ डालने वाले (वह्निभिः) अग्नियों [आग्नेय शस्त्रों] से (चित्) निश्चय करके (उस्रियाः अनु) निवास करने वाली प्रजाओं के पीछे (अविन्दः) तू ने पाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी वीर मनुष्य आग्नेय शस्त्र बाण तोप भुशुण्डी आदि से गुप्त स्थानों में छिपे वैरियों को नष्ट करके प्रजा की रक्षा करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में है—१। ६। ५—१०, मन्त्र १ सामवेद—उ० २। २। ७॥

देवयन्तो यथा मतिमच्छा विदद्वसुं गिरः। महामनूषत श्रुतम् ॥ २ ॥

देव-यन्तः। यथा। मतिम्। अच्छ। विदत्-वसुम्। गिरः। महाम्। अनूषत। श्रुतम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देवयन्तः) विजय चाहने वाले (गिरः) विद्वान् लोगों ने

१—(वीलु) वीलयतिः संस्तम्भकर्मा—निरु० ५। १७। भृमृशीङ् तृ०। उ० १। ७। उप्रत्ययः। वीलु बलनाम—निघ० २। ६। दृढस्थानम्। दुर्गम् (चित्) अपि (आरुजत्नुभिः) कृहनिभ्यां क्त्नुः। उ० ३। ३०। आङ्+रुजो भङ्गे—क्त्नु प्रत्ययः अकारसहितः। समन्ताद् भञ्जद्भिः। सम्यग्भञ्जनशीलैः (गुहा) गुहायाम्। गुप्तस्थाने (चित्) निश्चयेन (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (वह्निभिः) वहिश्रिश्रु०। उ० ४। ५१। वह प्रापणे—नि। वोढृभिः। नेतृभिः पुरुषैः (अविन्दः) विदॢ लाभे—लङ्। लब्धवानसि (उस्रियाः) अथ० २०। १६। ७। निवासशीलाः प्रजाः (अनु) अनुलक्ष्य ॥

२—(देवयन्तः) दिवु विजिगीषायाम् चुरादिः—शतृ। यद्वा देव-क्यच्,

(यथा) जैसे (विदद्वसुम्) धनों के प्रसिद्ध करने वाले (मतिम्) बुद्धिमान् को, [वैसे ही] (महाम्) महान् और (श्रुतम्) विख्यात पुरुष की (अच्छ) अच्छे प्रकार (अनूषत) स्तुति की है ॥ २ ॥

भावार्थ—विजयी विद्वान् लोग अनुभवी प्रसिद्ध पुरुषों से उत्तम गुण ग्रहण करते रहें ॥ २ ॥

इन्द्रेण सं हि दृक्षसे संजग्मानो अबिभ्युषा । मन्दू समानवर्चसा ॥ ३ ॥

इन्द्रेण । सम् । हि । दृक्षसे । सम्-जग्मानः । अबिभ्युषा ॥ मन्दू इति । समान-वर्चसा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजागण !] (अबिभ्युषा) निडर (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के साथ (हि) ही (सजग्मानः) मिलता हुआ तू (सम्) अच्छे प्रकार (दृक्षसे) दिखाई देता है । (समानवर्चसा) एक से तेज के साथ (मन्दू) तुम दोनों [राजा और प्रजा] आनन्द देने वाले हो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस राज्य में प्रजागण राजा से और राजा प्रजा से प्रसन्न रहते हैं, वही राज्य विद्या और धन में उन्नति करता है ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ आचुके हैं—अथ० २० । ४० । १, २ ॥

अनवद्यैरभिद्युभिर्मखः सहस्वदर्चति । गणैरिन्द्रस्य काम्यैः ॥ ४ ॥

अनवद्यैः । अभिद्यु-भिः । मखः । सहस्वत् । अर्चति ॥ गणैः । इन्द्रस्य । काम्यैः ॥ ४ ॥

शातृ । विजिगीषमाणाः । विजयमिच्छन्तः (यथा) येन प्रकारेण (मतिम्) क्तिच्क्तौ च संज्ञायाम् । पा० ३ । ३ । १७४ । मन ज्ञाने क्तिच् । मतयो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । मेधाविनम् (अच्छ) उत्तमरीत्या (विदद्वसुम्) विद ज्ञाने—शतृ । विदन्ति जानन्ति वसूनि धनानि यस्मात् तम् (गिरः) गॄ विज्ञापे स्तुतौ च—क्विप् । विद्वांसः (महाम्) नकारतकारलोपः । महान्तम् (अनूषत) अथ० २० १७ । १ । स्तुतवन्तः (श्रुतम्) विख्यातम् ॥

३, ४—मन्त्रौ व्याख्यातौ अथ० २० । ४० । १०२ ॥

भावार्थ—(अनवद्यैः) निर्दोष, (अभिद्युभिः) सब ओर से प्रकाशमान, और (काम्यैः) प्रीति के योग्य (गणैः) गणों [प्रजागणों] के साथ (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] का (मखः) यज्ञ [राज्य व्यवहार] (सहस्वत्) अति दृढ़ता से (अर्चति) सत्कार पाता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब राजाकाज उत्तम विद्वान् लोगों के मेल से अच्छे प्रकार सिद्ध होते हैं ॥ ४ ॥

अतः परिज्मन्ना गहि दिवो वा रोचनादधि । समस्मिन्नृञ्जते गिरः ॥ ५ ॥

अतः । परि-ज्मन् । आ । गहि । दिवः । वा । रोचनात् । अधि ॥ सम् । अस्मिन् । ऋञ्जते । गिरः ॥ ५ ॥

भावार्थ—(अतः) इस लिये, (परिज्मन्) हे सर्वत्र गति वाले शूर ! (दिवः) विजय की इच्छा से (वा) और (रोचनात्) प्रीति भाव से (अधि) ऊपर (आ गहि) आ, (अस्मिन्) इस [वचन] में (गिरः) हमारी स्तुतियां (सम्) ठीक ठीक (ऋञ्जते) सिद्ध होती हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—पूर्वोक्त प्रकारसे आवश्यकता जताकर श्रेष्ठ प्रजागण वीर धीर पुरुष को उत्तम कर्मों में प्रवृत्त करें ॥ ५ ॥

इतो वा सातिमीमहे दिवो वा पार्थिवादधि । इन्द्रं महो वा रजसः ॥ ६ ॥

इतः । वा । सातिम् । ईमहे । दिवः । वा । पार्थिवात् ।

५—(अतः) अस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् (परिज्मन्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । परि + अज गतिक्षेपणयोः—मनिन्, अकारलोपः । हे सर्वतो गतिशील (आ गहि) आगच्छ (दिवः) दिवु विजिगीषायाम्—क्विप् । विजयेच्छायाः सकाशात् (वा) चार्थे (रोचनात्) रुच दीप्तावभिप्रीतौ च युच् । प्रीतिभावात (अधि) उपरि (सम्) सम्यक् (अस्मिन्) वचसि (ऋञ्जते) ऋञ्जतिः प्रसाधनकर्मा—निरु० ६ । २१ । प्रकर्षेण सिध्यन्ति (गिरः) स्तुतयः—निघ० १ । ११ ॥

अधि ॥ इन्द्रम् । महः । वा । रजसः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इतः) इस लिये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े प्रतापी मनुष्य] के द्वारा (दिवः) प्रकाश से (वा) और (पार्थिवात्) पृथिवी के संयोग से (वा) और (महः) बड़े (रजसः) जल [अथवा वायु मण्डल] से (वा) निश्चय करके (सातिम्) दान [उपकार] को (अधि) अधिकार पूर्वक (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को उचित है कि पूर्वोक्त प्रकार से विचार पूर्वक बड़े बड़े विद्वानों द्वारा विद्या ग्रहण कर के संसार के सब अग्नि आदि पदार्थों से उपकार लेकर उन्नति करें ॥ ६ ॥

इन्द्रमिद् गाथिनो बृहदिन्द्रमर्केभिरर्किणः । इन्द्रं वाणीरनूषत ॥ ७ ॥

इन्द्रम् । इत् । गाथिनः । बृहत् । इन्द्रम् । अर्केभिः । अर्किणः ॥ इन्द्रम् । वाणीः । अनूषत ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(गाथिनः) गाने वालों और (अर्किणः) विचार करने वालों ने (अर्केभिः) पूजनीय विचारों से (इन्द्रम्) सूर्य [के समान प्रतापी], (इन्द्रम्) वायु [के समान फुरतीले] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को और (वाणीः) वाणियों [वेदवचनों] को (इत्) निश्चय करके (बृहत्) बड़े ढंग से (अनूषत सराहा है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सुनीतिज्ञ प्रतापी, उद्योगी राजा के और परमेश्वर

६—(इतः) अस्मात् पूर्वोक्तात् कारणात् (वा) च (सातिम्) ऊतियूतिजूतिसातिहेति० पा० ३ । ३ । ६७ । षणु दाने—क्तिन् । दानम् । उपकारम् (ईमहे) ईङ् गतौ शपो लुकि श्यनभावः । याचामहे—निघ० ३ । १६ (दिवः) प्रकाशात् (वा) च (पार्थिवात्) सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ । पा० ५ । १ । ४१ । पृथिवी अञ् प्रत्ययः संयोगविषये । । पृथिवीसंयोगात् (अधि) अधिकारपूर्वकम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं मनुष्यम् (महः) महतः (वा) अवधारणे (रजसः) उदकं रज उच्यते—निरु० ४ । १६ । जलात् । अन्तरिक्षात् । वायुमण्डलात् ॥

७—६ । एते मन्त्रा गताः—अथ० २० । ३८ । ४—६ तथा ४७ । ४—६ ॥

की दी हुई वेदवाणी के गुणों को विचारकर सब के सुख के लिये यथावत् उपाय करें ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—६ आचुके हैं– अथ० २० । २८ । ४—६ तथा ४७ । ४—६ ॥

इन्द्र इद्धर्योः सचा संमिश्ल आ वचोयुजा । इन्द्रो वज्री हिरण्ययः ॥ ८ ॥

इन्द्रः । इत् । हर्योः । सचा । सम्ऽमिश्लः । आ । वचःऽयुजा ॥ इन्द्रः । वज्री । हिरण्ययः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(वज्री) वज्रधारी, (हिरण्ययः) तेजोमय (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (इत्) ही (इन्द्रः) वायु [के समान] (सचा) नित्य मिले हुये (हर्योः) दोनों संयोग वियोग गुणों का (समिश्लः) यथावत् मिलाने वाला (आ) और (वचोयुजा) वचन का योग्य बनाने वाला है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे पवन के आने जाने से पदार्थों में चलने, फिरने, ठहरने का और जीभ में बोलने का सामर्थ्य होता है, वैसे ही दण्ड दाता प्रतापी राजा के न्याय से सब लोगों में शुभ गुणों का संयोग और दोषों का वियोग होकर वाणी में सत्यता होती है ॥ ८ ॥

इन्द्रो दीर्घाय चक्षस आ सूर्यं रोहयद् दिवि । वि गोभिरद्रिमैरयत् ॥ ९ ॥

इन्द्रः । दीर्घाय । चक्षसे । आ । सूर्यम् । रोहयत् । दिवि ॥ वि । गोभिः । अद्रिम् । ऐरयत् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (दीर्घाय) दूर तक (चक्षसे) देखने के लिये (दिवि) व्यवहार [वा आकाश] के बीच (गोभिः) वेद वाणियों द्वारा [वा किरणों वा जलों द्वारा] (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रेरक] और (अद्रिम्) मेघ [के समान उपकारी पुरुष] को (आ रोहयत्) ऊंचा किया और (वि) विविध प्रकार (ऐरयत्) चलाया है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे परमेश्वर के नियम से सूर्य आकाश में चलकर तापि

आदि गुणों से अनेक लोकों को धारण करता और किरणों द्वारा जल खींचकर फिर बरसाकर उपकार करता है, वैसे ही दूर दर्शी राजा अपने प्रताप और उत्तम व्यवहारों से सब प्रजा को नियम में रक्खे और कर लेकर उनका प्रतिपालन करे ॥ ९ ॥

म० १०—२० । परमेश्वरोपासनोपदेशः—म० १०-२० । परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

इन्द्र वाजेषु नोऽव सहस्रप्रधनेषु च । उग्र उग्राभिरूतिभिः॥१०

इन्द्र । वाजेषु । नः । अव । सहस्र-प्रधनेषु । च । उग्रः ।
उग्राभिः । ऊति-भिः ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (उग्रः) उग्र [प्रचण्ड] तू (वाजेषु) पराक्रमों के बीच (च) और (सहस्रप्रधनेषु) सहस्रों बड़े धन वाले व्यवहारों में (उग्राभिः) उग्र [दृढ़] (ऊतिभिः) रक्षा साधनों के साथ (नः) हमें (अव) बचा ॥ १० ॥

भावार्थ—परमात्मा की प्रार्थना करके वीर पुरुष पराक्रमी और धनी होकर प्रजा का पालन करें ॥ १० ॥

मन्त्र १०—१६ ऋग्वेद में है—१ । ७ । ४-१०, म० १० सामवेद—पू० ६ । ११ । ४ तथा—उ० २ । २ । ८ ॥

इन्द्रं वयं महाधन इन्द्रमर्भे हवामहे । युजं वृत्रेषु वज्रिणम्॥११

इन्द्रम् । वयम् । महा-धने । इन्द्रम् । अर्भे । हवामहे ।
युजम् । वृत्रेषु । वज्रिणम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम (अर्भे) चलते हुये (महाधने) बहुत धन

१०—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (वाजेषु) पराक्रमेषु (नः) अस्मान् (अव) रक्ष (सहस्रप्रधनेषु) असंख्यप्रकृष्टधनयुक्तेषु व्यवहारेषु (च) समुच्चये (उग्रः) प्रचण्डः (उग्राभिः) प्रचण्डाभिः । दृढाभिः (ऊतिभिः) रक्षासाधनैः ॥

११—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् (वयम्) (महाधने) महा-

प्राप्त कराने वाले संग्राम में [अथवा बहुत धन में] (युजम्) सहायकारी और (वृत्रेषु) रोकने वाले शत्रुओं पर (वज्रिणम्) वज्र धारी (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को, (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] को (हवामहे) बुलाते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—युद्धों में तथा बहुत धन में वीर पुरुष—"हे इन्द्र जगदीश्वर ! हे इन्द्र जगदीश्वर"—ऐसा स्मरण करके अपना बल बढ़ावें और प्रयत्न करके शत्रुओं को हटावें ॥ ११ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—पू० २ । ४ । ६ ॥

स नो॑ वृषन्न॒मुं च॒रुं सत्रा॑दाव॒न्नपा॑ वृधि । अ॒स्मभ्य॒मप्र॑तिष्कुतः॥१२

सः । नः । वृष॒न् । अ॒मुम् । च॒रुम् । सत्रा॑-दाव॒न् । अप॑ । वृ॒धि ॥ अ॒स्मभ्य॑म् । अप्र॑ति-स्कुतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे सुख बरसाने वाले ! (सत्रादावन्) हे सत्य ज्ञान देने वाले परमेश्वर ! (अप्रतिष्कुत.) बे रोक गति वाला (सः) सो तू (नः) हमारे लिये, (अस्मभ्यम्) हमारे लिये (अमुम्) उस (चरुम्) मेघ के समान ज्ञान को (अप वृधि) खोल दे ॥ १२

धने संग्रामनाम—निघ० २ । १७ । प्रभूतधननिमित्ते संग्रामे । यद्वा, महच्च तद् धनं च । प्रभूते धने (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं जगदीश्वरम् (अर्भे) अर्त्तिगृभ्यां भन् । उ० ३ । १५२ । ऋ गतौ—भन् । गतिशीले (हवामहे) आह्वयामहे (युजम्) युजिर् योगे, युज समाधौ च —क्विप् । सहायकम् (वृत्रेषु) आवरकेषु शत्रुषु (वज्रिणम्) दण्डधारिणम् ॥

१२—(सः) परमेश्वरः (नः) अस्मभ्यम् (वृषन्) हे सुखवर्षक (अमुम्) प्रसिद्धम् (चरुम्) भृमृशीङ् तृचरि० । उ० १ । ७ । चर गतिभक्षणयोः—उप्रत्ययः । चरुर्मेघनाम निघ० १ । १० । मेघमिवोपकारकं ज्ञानम् (सत्रादावन्) सत्रा सत्यनाम—निघ० ३ । १० । आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७२ । ददातेर्वनिप् । हे सत्यज्ञानस्य दातः (अप वृधि) वृञ् आच्छादने—लोट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । श्नोर्लुक् । श्रुशृणुपृकृवृभ्यश्छन्दसि । पा० ६ । ४ । १०२ । इति हेर्धिः । उत्पाटय । उद्घाटय (अस्मभ्यम्) (अप्रतिष्कुतः) अथ० २० । ४१ । १ । अप्रतिगतः ॥

भावार्थ—मनुष्य ईश्वर से मेघ समान उपकारी सत्यज्ञान को प्राप्त कर के सुखी होवे ॥ १२ ॥

यह मन्त्र सामवेद में है— उ० ८ । १ । २ ॥

तुञ्जेतुंञ्जे॒ य उत्त॑रे॒ स्तोमा॒ इन्द्र॑स्य व॒ज्रिणः॑ । न वि॑न्धे अस्य सुष्टु॒तिम् ॥ १३ ॥

तुञ्जे-तुंञ्जे । ये । उत्-त॑रे । स्तोमाः॑ । इन्द्र॑स्य । व॒ज्रिणः॑ ॥ न । वि॒न्धे॒ । अ॒स्य॒ । सु॒-स्तु॒तिम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणः) अत्यन्त पराक्रम वाले (इन्द्रस्य) इन्द्र [परम-ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] के (तुञ्जेतुञ्जे) दान दान में (ये) जो (उत्तरे) उत्तम उत्तम (स्तोमाः) स्तोत्र हैं, [उन से] (अस्य) उस की (सुष्टुतिम्) सुन्दर स्तुति (न विन्धे) मैं नहीं पाता हूं ॥ १३ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने प्राणियों के सुख के लिये अनन्त पदार्थ दिये हैं, अल्पज्ञ मनुष्य उन की गणना करके उसकी स्तुति नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

वृषा॑ यू॒थेव॒ वंस॑गः कृ॒ष्टीरि॑यु॒र्त्योज॑सा । ईशा॑नो॒ अप्र॑तिष्कुतः १४

वृषा॑ । यू॒था-इ॑व । वंस॑गः । कृ॒ष्टीः । इ॒यर्ति॑ । ओज॑सा ॥ ईशा॑नः । अप्र॑ति-स्कुतः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(वृषा) बलवान् बैल (यूथा इव) जैसे अपने झुण्डों को, [वैसे ही] (वंसगः) सेवनीय पदार्थों का पहुंचाने वाला, (अप्रतिष्कुतः)

१३ (तुञ्जेतुञ्जे) तुजि हिंसायां पालने च—भावे घञ् । तुजस्तुञ्जतेर्दानकर्मणः—निरु० ६ । १७ । दाने दाने—निरु० ६ । १८ (ये) (उत्तरे) उत्कृष्टाः (स्तोमाः) स्तोत्राणि (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो जगदीश्वरस्य (वज्रिणः) वीर्यवतः । प्रशस्तपराक्रमिणः (न) निषेधे (विन्धे) विद्लृ लाभे—लट्, दकारस्य धकारः । विन्दे । विन्दामि । प्राप्नोमि (अस्य) परमेश्वरस्य (सुष्टुतिम्) शोभनां स्तुतिम् ॥

१४—(वृषा) वीर्यवान् बलीवर्दः (यूथा) तिथपृष्ठगूथयूथप्रोथाः । उ० २ । १२ । यु मिश्रणामिश्रणयोः-थक् । सजातीयसमुदायान् (इव) यथा (वंसगः)

-वे रोक गति वाला (ईशानः) परमेश्वर (ओजसा) अपने बल से (कृष्टीः) मनुष्यों को (इयर्ति) प्राप्त होता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् बैल अपने झुण्ड को वश में रखता है, वैसे ही परमात्मा सब में व्यापकर मनुष्य आदि प्राणियों को अपने नियम में रखता है ॥ १४ ॥

यह मन्त्र सामवेद में भी है—उ० ८ । १ । २ ॥

य एकश्चर्षणीनां वसूनामिरज्यति । इन्द्रः पञ्च क्षितीनाम् ॥१५॥

यः । एकः । चर्षणीनाम् । वसूनाम् । इरज्यति ॥ इन्द्रः । पञ्च । क्षितीनाम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (एकः) अकेला (चर्षणीनाम्) चलने वाले मनुष्यों और (वसूनाम्) श्रेष्ठ गुणों का (इरज्यति) स्वामी है, (इन्द्रः) वही इन्द्र [परम ऐश्वर्यवान् जगदीश्वर] (पञ्च) पांच [पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश] से सम्बन्ध वाले (क्षितीनाम्) चलते हुये लोकों का [स्वामी है] ॥ १५ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब प्राणियों, सब श्रेष्ठ गुणों और सब लोकों का स्वामी है, मनुष्य उसकी भक्ति से अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ १५ ॥

अ० १८ । ३ । ३६ । सेवनीयपदार्थानां प्रापयिता (कृष्टीः) अ० ३ । २४ । ३ । मनुष्यान्—निघ० २ । ३ (इयर्ति) ऋ गतौ—लट् शपः श्लुः । प्राप्नोति (ओजसा) बलेन (ईशानः) ईश ऐश्वर्ये—शानच् । परमेश्वरः (अप्रतिष्कुतः) म० १२ । अप्रतिगतः ॥

१५—(यः) परमेश्वरः (एकः) अद्वितीयः (चर्षणीनाम्) अ० १ । ९ । ४ । चरणशीलानां मनुष्याणाम्—निघ० २ । ३ (वसूनाम्) श्रेष्ठगुणानाम् (इरज्यति) इरज ईर्ष्यायाम् । कण्ड्वादिः । इरज्यतिरैश्वर्यकर्मा—निघ० २ । २१ । ईष्टे (इन्द्रः) स परमेश्वरः (पञ्च) शप्यशूभ्यां तुट् च । उ० १ । १५७ । पचि व्यक्तीकरणे—कनिन् । पृथिवीजलतेजोवाय्वाकाशपञ्चभूतसम्बद्धानाम् (क्षितीनाम्) क्षि निवासगत्योः—क्तिन् । क्षितिः पृथिवीनाम—निघ० १ । १ । गतिशीलानां लोकानाम् ॥

इन्द्रं वो विश्वतस्परि हवामहे जनेभ्यः । अस्माकमस्तु केवलः ॥ १६ ॥

इन्द्रम् । वः । विश्वतः । परि । हवामहे । जनेभ्यः ॥ अस्माकम् । अस्तु । केवलः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्यवान् परमात्मा] को (वः) तुम्हारे लिये और (विश्वतः) सब (जनेभ्यः) प्राणियों के लिये (परि) सब प्रकार (हवामहे) हम बुलाते हैं। वह (अस्माकम्) हमारा (केवलः) सेवनीय (अस्तु) होवे ॥ १६ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य सर्वहितकारी जगदीश्वर की आज्ञा में रह कर आनन्द पावें ॥ १६ ॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० २० । ३९ । १ ॥

एन्द्र सानसिं रयिं सजित्वानं सदासहम् । वर्षिष्ठमूतये भर ॥ १७ ॥

आ । इन्द्र । सानसिम् । रयिम् । स-जित्वानम् ॥ सदा-सहम् ॥ वर्षिष्ठम् । ऊतये । भर ॥ १७ ॥

नि येन मुष्टिहत्यया नि वृत्रा रुणधामहै । त्वोतासो न्यर्वता ॥ १८ ॥

नि । येन । मुष्टि-हत्यया । नि । वृत्रा । रुणधामहै ॥ त्वा-ऊतासः । नि । अर्वता ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (सानसिम्) सेवनीय, (सजित्वानम्) जीतने वालों के साथ वर्तमान, (सदासहम्) सदा वैरियों के हराने वाले, (वर्षिष्ठम्) अत्यन्त बढ़े हुये

१६—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० २० । ३९ । १ ॥

१७—(आ) समन्तात् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (सानसिम्) अ० २० । १४ । २ । षण सम्भक्तौ—असिप्रत्ययः । सेवनीयम् (रयिम्) धनम् (सजित्वानम्) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । जि जये—क्वनिप्, स इत्यस्य सभावः । जित्वभिर्जेतृभिः सह वर्तमानम् (सदासहम्) सर्वदा शत्रूणा-

(रयिम्) उस धन को (ऊतये) हमारी रक्षा के लिये (आ) सब ओर से (भर) भर ॥ १७ ॥ (येन) जिस [धन] के द्वारा (मुष्टिहत्यया) मुट्ठियों की मार [बाहुयुद्ध] से और (अर्वता) घुड़चढ़े दल से (वृत्रा) शत्रुओं को (त्वोतासः) तुझ से रक्षा किये गये हम (नि) निश्चय करके (नि) नित्य (नि रुणधामहै) रोकते रहें ॥ १८ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य परमेश्वर का आश्रय लेकर पुरुषार्थ के साथ विद्याओं द्वारा धन बढ़ावें और शरीर और बुद्धिबल तथा अश्व आदि सेना को दृढ़ करके शत्रुओं को जीतें ॥ १७, १८ ॥

मन्त्र १७-२० ऋग्वेद में हैं—१ । ८ । १—४; मन्त्र १७ साम०—पू० २ । ४ । ५ ॥

इन्द्र त्वोतास आ वयं वज्रं घना ददीमहि । जयेम सं युधि स्पृधः ॥ १९ ॥

इन्द्र । त्वा-ऊतासः । आ । वयम् । वज्रम् । घना । ददीमहि ॥ जयेम । सम् । युधि । स्पृधः ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वोतासः) तुझ से रक्षा किये गये (वयम्) हम (वज्रम्) वज्र [बिजुली और अग्नि के शस्त्रों] और (घना) घनों [मारने के तलवार आदि हथियारों] को (आ ददी-

---

ममिर्मविनारम् (वर्षिष्ठम्) अ० ४ । ९ । ८ । वृद्ध—इष्ठन् । अतिशयेन वृद्धम् (ऊतये) रक्षायै (भर) धर ॥

१८—(नि) निश्चयेन (येन) धनेन (मुष्टिहत्यया) हनस्त च । पा० ३ । १ । १०८ । मुष्टि+हन हिंसागत्योः—क्यप् । मुष्टिप्रहारेण । बाहुयुद्धेन (नि) निनराम् (वृत्रा) शत्रून् (रुणधामहै) निरुणधाम । निरुद्धान् करवाम (त्वोतासः) त्वया ऊता रक्षिताः (नि) निश्चयेन (अर्वता) अश्वबलेन ॥

१९—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (त्वोतासः) त्वया रक्षिताः (वयम्) धार्मिकाः (वज्रम्) विद्युदग्निशस्त्रास्त्रसमूहम (घना) दृढानि युद्धसाधनानि लोहमुद्गरखड्गादीनि (आ ददीमहि) गृह्णीयाम (जयेम)

महि) ग्रहण करें और (युधि) युद्ध में (स्पृधः) ललकारते हुये शत्रुओं को (सम्) ठीक ठीक (जयेम) जीतें ॥ १९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की शरण में रहकर वीर सेना और पुष्कल युद्ध सामग्री लेकर शत्रुओं को हरावें ॥ १९ ॥

व॒यं शूरे॑भि॒रस्तृ॑भि॒रिन्द्र॒ त्वया॑ यु॒जा व॒यम् । सा॒स॒ह्याम॑ पृतन्य॒तः ॥ २० ॥

व॒यम् । शूरे॑भिः । अस्तृ॑-भिः । इन्द्र॑ । त्वया॑ । यु॒जा । व॒यम् ॥ स॒स॒ह्याम॑ । पृ॒त॒न्य॒तः ॥ २० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (वयम्) हम, (वयम्) हम (युजा त्वया) तुझ सहायक के साथ (अस्तृभिः) हथियार चलाने वाले (शूरेभिः) शूरों के द्वारा (पृतन्यतः) सेना चढ़ाने वाले वैरियों को (ससह्याम) हरा दें ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर में दृढ़ विश्वास करके धर्मयुद्ध में युद्ध कुशल शूरों द्वारा वैरियों को जीत कर प्रजा पालन करें ॥

सूक्तम् ७१ ॥

१—१६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १-४, ७, ९, ११—१३, १६ निचृद् गायत्री; २, ३, ५, ८, १०, १४, १५ गायत्री, ६ वर्धमाना गायत्री ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अभिभवेम (सम्) सम्यक् (युधि) युद्धे (स्पृधः) स्पर्ध संघर्षे—क्विप् । बहुलं छन्दसि । पा० ६ । १ । ३४ । रेफस्य सम्प्रसारणमल्लोपश्च । स्पर्धमानान् । युद्धाय शब्दमानान् शत्रून् ॥

२०—(वयम्) सेनापतयः (शूरेभिः) शूरैः । वीरैः (अस्तृभिः) शस्त्रास्त्रप्रक्षेपणदक्षैः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (त्वया) (युजा) सामर्थ्यसंयोजकेन । सहायकेन (वयम्) वीप्सायां द्विर्वचनम् (ससह्याम) षह मर्षणे यङ्लुकि लिङि रूपम् । पुनः पुनः सहेमहि जयेम (पृतन्यतः अ० १ । २१ । २ । आत्मनः पृतनां सेनामिच्छतः शत्रून् ॥

महाँ इन्द्रः परश्च नु महित्वमस्तु वज्रिणे । द्यौर्न प्रथिना शवः ॥ १ ॥

महान् । इन्द्रः । परः । च । नु । महि-त्वम् । अस्तु । वज्रिणे ॥ द्यौः । न । प्रथिना । शवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् (च) और (परः) श्रेष्ठ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला परमेश्वर] (प्रथिना) फैलाव से (द्यौः न) सूर्य के प्रकाश के समान है, (नु) इस लिये (वज्रिणे) उस महापराक्रमी [परमेश्वर] के लिये (महित्वम्) महत्त्व और (शवः) बल (अस्तु) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वश्रेष्ठ परमेश्वर को धन्यवाद देते हुये विद्याओं द्वारा अपना ऐश्वर्य और बल बढ़ावें ॥ १ ॥

मन्त्र १—६ ऋग्वेद में हैं—२ । ८ । ५—१० और म० १—साम०—पू० २ । ८ । २ ॥

समोहे वा य आशंत नरस्तोकस्य सनितौ । विप्रासो वा धियायवः ॥ २ ॥

सम्-ओहे । वा । ये । आशंत । नरः । तोकस्य । सनितौ ॥ विप्रासः । वा । धिया-यवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (नरः) नर [नेता लोग] (समोहे) सङ्ग्राम

१—(महान्) शुभगुणैः पूजनीयः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् जगदीश्वरः (परः) उत्कृष्टः (च) (नु) अस्मात् कारणात् (महित्वम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । मह पूजायाम्—इन्, भावे त्वप्रत्ययः । महत्वम् (अस्तु) (वज्रिणे) तस्मै महापराक्रमिणे परमेश्वराय (द्यौः) सूर्यप्रकाशः (न) यथा (प्रथिना) पृथु—इमनिच्, मकारलोपः । प्रथिम्ना । विस्तारेण (शवः) बलम् ॥

२—(समोहे) सम्+उहिर् अर्दने—घञ् । संग्रामे-निघ० २ । १७ (वा) चार्थे (ये) (आशत) अशू व्याप्तौ—लुङ्, च्लेर्लोपः, आडागमः ।

में (वा) और (तोकस्य) सन्तान के (सनितौ) सेवन [पोषण, अध्यापन आदि] में (आशत) लगे हैं, वे (विप्रासः) विद्वान् (वा) और (धियायवः) बुद्धि की कामना वाले हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य साङ्ग्रामिक नीति से प्रजा की रक्षा और सामान्य प्रबन्ध से विद्या की वृद्धि करें ॥ २ ॥

यः कुक्षिः सोमपातमः समुद्र इव पिन्वते । उर्वीरापो न काकुदः ॥ ३ ॥

यः । कुक्षिः । सोम-पातमः । समुद्रः-इव । पिन्वते ॥ उर्वीः । आपः । न । काकुदः ॥ ३ ॥

एवा ह्यस्य सूनृता विरप्शी गोमती मही । पक्वा शाखा न दाशुषे ॥ ४ ॥

एव । हि । अस्य । सूनृता । वि-रप्शी । गो-मती । मही ॥ पक्वा । शाखा । न । दाशुषे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (कुक्षिः) तत्त्व रस निकालने वाला, (सोमपातमः) ऐश्वर्य का अत्यन्त रक्षक मनुष्य (समुद्रः इव) समुद्र के समान (उर्वीः) भूमियों को और (काकुदः न) वेद वाणी जानने वाले के समान

व्याप्ता अभवन् (नरः) नेतारः (तोकस्य) अ० १ । १३ । २ । तु वृद्धौ पूर्तौ च—कप्रत्ययः । सन्तानस्य—निघ० २ । २ (सनितौ) षण सम्भक्तौ—क्तिन् । तितुत्रतथसिसुसरकसेषु च । इति इडागमः । सेवने । पोषणाध्यापनादौ (विप्रासः) विप्राः । मेधाविनः (वा) चार्थे (धियायवः) धि धारणे—कप्रत्ययः, टाप् । धीयते धार्यते सा धिया प्रज्ञा, ततः क्यच्, उप्रत्ययः । बुद्धिकामाः ॥

३—(यः) पुरुषः (कुक्षिः) प्लुषिकुषि शुषिभ्यः क्सिः । उ० ३ । १५५ । कुष निष्कर्षे—क्सि । तत्त्वनिष्कर्षकः (सोमपातमः) अतिशयेनैश्वर्यरक्षकः (समुद्रः) उदधिः (इव) यथा (पिन्वते) सिञ्चति (उर्वीः) पृथिवीः (आपः)

(आपः) शुभ कर्म को (पिन्वते) सींचता है ॥ ३ ॥ (अस्य) उस [मनुष्य] की (सूनृता) अन्न वाली क्रिया (एव) निश्चय कर के (हि) ही (विरप्शी) स्पष्ट वाणी वाली, (गोमती) श्रेष्ठ दृष्टि वाली, (मही) सत्कार योग्य, (पक्वा) परिपक्व [फल फूल वाली] (शाखा न) शाखा के समान (दाशुषे) आत्मदानी पुरुष के लिये [होवे ॥ ४ ॥

भावार्थ—विज्ञानी, ऐश्वर्यवान् दूरदर्शी सत्यवादी पुरुष ही प्रजा रक्षक होता है ॥ ३, ४ ॥

म० ४—६ आ चुके हैं अ० २० । ६० । ४—६

एवा हि ते विभूतय ऊतयं इन्द्र मावंते । सद्यश्चित् सन्ति दाशुषे ॥ ५ ॥

एव । हि । ते । वि-भूतयः । ऊतयः । इन्द्र । मा-वंते ॥ सद्यः । चित् । सन्ति । दाशुषे ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (एव) निश्चय कर के (हि) ही (ते) तेरे (विभूतयः) अनेक ऐश्वर्य (मावते) मेरे तुल्य (दाशुषे) आत्मदानी के लिये (सद्यः चित्) तुरन्त ही (ऊतयः) रक्षा साधन (सन्ति) होते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा अपना ऐश्वर्य श्रेष्ठ उपकारी पुरुषों की रक्षा में लगाता रहे ॥ ५ ॥

एवा ह्यस्य काम्या स्तोमं उक्थं च शंस्या । इन्द्राय सोमंपीतये ॥ ६ ॥

आपः कर्माख्याया ह्रस्वो नुट् च वा । उ० ४ । २०८ । आप्नोतेः—असुन् । शुभकर्म (न) यथा (काकुदः) सम्पदादिभ्यः क्विप् । वा० पा० ३ । ३ । ९४ । कै शब्दे—क्विप्+कु शब्दे—क्विप्, तुगागमः, तकारस्य दः । कां शब्दनं कौति वदति सा काकुत् । काकुत् इति वाङ्नाम—निघ० १ । ११ तदधीते तद् वेद । पा० ४ । २ । ५९ । काकुद्-अण् । वेदवाणीवेत्ता ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अ० २० । ६० । ४-६ ॥

एव । हि । अस्य । काम्या । स्तोमः । उक्थम् । च । शंस्या ॥ इन्द्राय । सोम-पीतये ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(एव) निश्चय करके (हि) ही (अस्य) इस [सभापति] के (काम्या) मनोहर और (शंस्या) प्रशंसनीय (स्तोमः) उत्तम गुण (च) और (उक्थम्) कहने योग्य कर्म (इन्द्राय) ऐश्वर्यवान् पुरुष के लिये (सोम-पीतये) सोम रस पीने के निमित्त [हैं] ॥ ६ ॥

भावार्थ—उत्तम गुणी पुरुष को सभापति बनाकर सब मनुष्य ऐश्वर्य वाले और तत्त्वज्ञान वाले होवें ॥ ६ ॥

इन्द्रेहि मत्स्यन्धसो विश्वेभिः सोमपर्वभिः । महाँ अभिष्टिरोजसा ॥ ७ ॥

इन्द्र । आ । इहि । मत्सि । अन्धसः । विश्वेभिः । सोमपर्व-भिः ॥ महान् । अभिष्टिः । ओजसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ![परमऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (आ इहि) तू प्राप्त हो, और (विश्वेभिः) सब (सोमपर्वभिः) ऐश्वर्य के उत्सवों के साथ (अन्धसः) अन्न से (मत्सि) तृप्त कर, तू (ओजसा) बल से (महान्) महान् और (अभिष्टिः) सब प्रकार पूजनीय है ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा का सहाय लेकर आपस में मिलकर विद्या द्वारा ऐश्वर्य बढ़ाने और अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करें ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—१६ ऋग्वेद में हैं—१ । ६ । १—१०, मन्त्र ७ यजुर्वेद ३३ । २५ और सामवेद—पू० २ । ६ । ६ ॥

७—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (आ) समन्तात् (इहि) प्राप्नुहि (मत्सि) श्यनो लुक् । मादयस्व । हर्षय (अन्धसः) अन्नात् (विश्वेभिः) सर्वैः (सोमपर्वभिः) अन्येभ्योऽपि दृश्यन्ते । पा० ३ । २ । ७५ । सोम + पूपालनपूरणयोः—वनिप् । सोमस्य ऐश्वर्यस्य पर्वभिरुत्सवैः (महान्) उत्कृष्टः (अभिष्टिः) यजेः—क्तिन्, यद्वा इष गतौ—क्तिन् । एमन्नादिषु छन्दसि पररूपं वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । १ । ६४ । इति पररूपम् । सर्वतःपूजनीयः (ओजसा) बलेन ॥

एमेनं सृजता सुते मन्दिमिन्द्राय मन्दिने । चक्रिं विश्वानि चक्रये ॥ ८ ॥

आ । ईम् । एनम् । सृजत । सुते । मन्दिम् । इन्द्राय । मन्दिने ॥ चक्रिम् । विश्वानि । चक्रये ॥ ८ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (सुते) उत्पन्न जगत् में (मन्दिम्) आनन्द बढ़ाने वाले, (चक्रिम्) कार्य सिद्ध करने वाले (एनम्) इस (ईम्) प्राप्ति योग्य बोध को (मन्दिने) गतिशील, (विश्वानि) सब कर्मों के (चक्रये) कर चुकने वाले (इन्द्राय) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले मनुष्य के लिये (आ) सब प्रकार (सृजत) उत्पन्न करो ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग शिल्प विद्या से लेकर मोक्ष पर्यन्त ज्ञान का उपदेश करके सब मनुष्यों को कर्मवीर बनावें ॥ ८ ॥

मत्स्वा सुशिप्र मन्दिभि स्तोमेभिर्विश्वचर्षणे । सचैषु सवनेष्वा ॥ ९ ॥

मत्स्व । सु-शिप्र । मन्दि-भिः । स्तोमेभिः । विश्व-चर्षणे ॥ सचा । एषु । सवनेषु । आ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(सुशिप्र) हे बड़े ज्ञानी ! (विश्वचर्षणे) हे सब गतिशील

८—(आ) समन्तात् (ईम्) प्राप्तव्यं बोधम् (एनम्) प्रसिद्धम् (सृजत) उत्पादयत । सम्पादयत (सुते) उत्पन्ने जगति (मन्दिम्) खनिकष्यज्यसिवसि०—उ० ४ । १४० । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—इप्रत्ययः । आनन्दयितारम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (मन्दिने) अ० २० । १७ । ४ । मोदयित्रे (चक्रिम्) आदृगमहनजनः किकिनौ लिट् च । पा० ३ । २ । १७१ । डुकृञ् करणे—किन्प्रत्ययः । कार्यकर्तारम् (विश्वानि) सर्वाणि कर्माणि अस्य चक्रये इति कृदन्तेन योगेऽपि । नलोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम् । पा० २ । ३ । ६९ । किकिनौ लिट् चेति किकिनोर्लिड्वद्भावेन षष्ठीनिषेधे द्वितीया (चक्रये) करोतेः किन् पूर्ववत् । कृतवते ॥

९—(मत्स्व) हर्षय (सुशिप्र) अ० २० । ४ । १ । सृप्लृ गतौ—रक्

मनुष्यों के स्वामी ! [वा सब के देखने वाले परमेश्वर] (मन्दिभिः) हर्ष देने वाले (स्तोमेभिः) स्तुति योग्य व्यवहारों के साथ (सचा) सदा मेल से (एषु) इन (सवनेषु) ऐश्वर्य वाले पदार्थों में (आ) अच्छे प्रकार (मत्स्व) आनन्दित कर ॥ ६ ॥

भावार्थ—सर्वज्ञ सर्वदर्शक परमेश्वर के गुणों को धारण करके मनुष्य दूरदर्शी और पुरुषार्थी होकर सब को सुखी करें ॥ ६ ॥

असृ॑ग्रमिन्द्र ते॒ गिरः॒ प्रति॒ त्वामुद॑हासत । अजो॑षा वृष॒भं पति॑म् ॥ १० ॥

असृ॑ग्रम् । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । गिरः॑ । प्रति॑ । त्वाम् । उत् । अ॒हा॒स॒त॒ ॥ अजो॑षाः । वृ॒ष॒भम् । पति॑म् ॥ १० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ते) तेरी (अजोषाः) अत्यन्त प्रीति करने वाली [जिन से अधिक हितकारी दूसरा नहीं वे] (गिरः) वेदवाणियां (असृग्रम्) गति देने वाले, (वृषभम्) सुखों के बरसाने वाले [वा बलवान्] (पतिं त्वाम्) तुझ स्वामी को (प्रति] प्रत्यक्ष करके (उत् अहासत) ऊंची गयी हैं ॥ १० ॥

सृशब्दस्य शिभावः । सृपः सर्पणादिदमपीतरत् सृपमेतस्मादेव सर्पिर्वा तैलं वा ...... सुशिप्रमेतेन व्याख्यातम्—निरु० ६ । १७ ॥ हे बहुज्ञानयुक्त [मन्दिभिः] म० ८ । हर्षयितृभिः (स्तोमेभिः) स्तुत्यव्यवहारैः (विश्वचर्षणे) चर्षणयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । सर्वे चरणशीला मनुष्या यस्य तत्सम्बुद्धौ । हे सर्व-मनुष्यस्वामिन् । हे सर्वदर्शक—निघ० ३ । ११ (सचा) समवायेन (एषु) प्रत्यक्षेषु (सवनेषु) ऐश्वर्ययुक्तेषु पदार्थेषु (आ) समन्तात् ॥

१०—(असृग्रम्) अस गतिदीप्त्यादानेषु—ऋजिप्रत्ययः + रा दाने—क । गतिदातारम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ते) तव (गिरः) वेद-वाण्यः (प्रति) प्रत्यक्षेण (त्वाम्) परमेश्वरम् (उत्) उत्कर्षेण (अहासत) ओहाङ् गतौ—लुङ् । प्राप्नुवन् (अजोषाः) जुषी प्रीतिसेवनयोः—घञ, टाप् । नास्ति अधिकप्रीतिकरा यस्याः सकाशात् सा अजोषा, यथा अनुत्तमः, अनुदारः, अमूलः इत्यादिपदानि । अत्यन्तहितकारिण्यः (वृषभम्) सुखवर्षकम् (पतिम्) स्वामिनम् ॥

भावार्थ—परमात्मा के प्रकाशित अनन्त हितकारी वेदों को विचार कर विद्वान् लोग उस को अद्वितीय अनन्त सामर्थ्य वाला जानकर सदा पुरुषार्थ, करें ॥ १० ॥

सं चोदय चित्रमर्वाग् राध इन्द्र वरेण्यम् । असदित् ते विभु प्रभु ॥ ११ ॥

सम् । चोदय । चित्रम् । अर्वाक् । राधः । इन्द्र । वरेण्यम् ॥ असत् । इत् । ते । विऽभु । प्रऽभु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (चित्रम्) अद्भुत, (वरेण्यम्) अतिश्रेष्ठ (राधः) सिद्धि करने वाले धन को (अर्वाक्) सन्मुख (सम्) ठीक ठीक (चोदय) भेज, (ते) तेरा (इत्) ही (विभु) व्यापक और (प्रभु) प्रबल सामर्थ्य (असत्) है ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य पुरुषार्थ करके परमात्मा के अनन्त भण्डार से विचित्र पदार्थों को प्राप्त करके इष्ट सिद्धि करें ॥ ११ ॥

अस्मान्त्सु तत्र चोदयेन्द्र राये रभस्वतः । तुविद्युम्न यशस्वतः ॥ १२ ॥

अस्मान् । सु । तत्र । चोदय । इन्द्र । राये । रभस्वतः ॥ तुविऽद्युम्न । यशस्वतः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(तुविद्युम्न) हे अत्यन्त धन वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [परम

११—(सम्) सम्यक् (चोदय) प्रेरय । प्रापय (चित्रम्) अद्भुतम् (अर्वाक्) अभिमुखम् (राधः) सिद्धिकरं धनम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (वरेण्यम्) वृञ् एण्यः । उ० ३ । ९८ । वृञ् वरणे-एण्य । अतिश्रेष्ठम् (असत्) लडर्थे लेट् । अस्ति (इत्) एव (ते) तव (विभु) व्यापकम् (प्रभु) प्रबलं सामर्थ्यम् ॥

१२—(अस्मान्) धार्मिकान् (सु) सुष्ठु (तत्र) प्रसिद्धे श्रेष्ठकर्मणि

ऐश्वर्य वाले परमात्मन् (राये) धन के लिये (रभस्वतः) उपाय सोच कर आरम्भ करने वाले, (यशस्वतः) यश रखने वाले (अस्मान्) हम को (तत्र) वहां [श्रेष्ठ कर्म में] (सु) अच्छे प्रकार (चोदय) पहुंचा ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा में विश्वास करके पहिले से विचार कर कार्य सिद्ध करें और कीर्तिमान होवें ॥ १२ ॥

सं गोम॑दिन्द्र॒ वाज॑वद॒स्मे पृ॒थु श्रवो॑ बृ॒हत् । वि॒श्वायु॑र्धे॒-ह्यक्षि॑तम् ॥ १३ ॥

सम् । गो-म॑त् । इ॒न्द्र॒ । वाज॑-वत् । अ॒स्मे इति॑ । पृ॒थु । श्रवः॑ । बृ॒हत् ॥ वि॒श्व-आ॑युः । धे॒हि॒ । अक्षि॑तम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (अस्मे) हम को (गोमत्) बहुत भूमि वाला, (वाजवत्) बहुत अन्न वाला, (पृथु) फैला हुआ, (बृहत्) बढ़ता हुआ, (विश्वायुः) पूरे जीवन तक रहने वाला, (अक्षितम्) अक्षय [न घटने वाला] (श्रवः) सुनने योग्य यश वा धन (सम्) अच्छे प्रकार (धेहि) दे ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा की भक्ति के साथ ब्रह्मचर्य से विद्या प्राप्त करें और बहुत यश और धन पाकर चक्रवर्ती राजा होकर संसार को सुख दें और आप सुखी होवें ॥ १३ ॥

अ॒स्मे धे॑हि॒ श्रवो॑ बृ॒हद् द्यु॒म्नं स॑हस्र॒सात॑मम् । इन्द्र॒ ता र॒थिनी॒रिषः॑ ॥ १४ ॥

(चोदय) प्रेरय (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (राये) धनाय (रभस्वतः) रभ राभस्ये=कार्योपक्रमे—असुन्, मतुप् । उपायज्ञानपूर्वकारम्भयुक्तान् (तुविद्युम्न) बहुधनिन् (यशस्वतः) कीर्तिमतः ॥

१३—(सम्) सम्यक् (गोमत्) बहुभूमियुक्तम् (इन्द्र) परमेश्वर (वाजवत्) बह्वन्नवत् (अस्मे) अस्मभ्यम् (पृथु) विस्तृतम् (श्रवः) श्रवणीयं यशो धनं वा (बृहत्) वर्धमानम् (विश्वायुः) सर्वजीवनपर्यन्तम् (धेहि) देहि (अक्षितम्) अक्षीणम् । हानिरहितम् ॥

अस्मे इति । धेहि । श्रवः । बृहत् । द्युम्नम् ।
सहस्र-सातमम् ॥ इन्द्र । ताः । रथिनीः । इषः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (अस्मे) हम को (बृहत्) बढ़ता हुआ (श्रवः) सुनने योग्य धन और (सहस्रसातमम्) सहस्रों सुखो का देने वाला (द्युम्नम्) चमकता हुआ यश और (ताः) वे [प्रसिद्ध] (रथिनीः) रथों [यान विमान आदि] वाली (इषः) चलती हुयी सेनायें (धेहि) दे ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की प्रार्थना पूर्वक बहुत धन, कीर्ति और सेना के संग्रह से शत्रुओं का नाश करके सुख को प्राप्त होवें ॥ १४ ॥

वसोरिन्द्रं वसुपतिं गीर्भिर्गृणन्त ऋग्मियम् । होम गन्तारमूतये ॥ १५ ॥

वसोः । इन्द्रम् । वसु-पतिम् । गीः-भिः । गृणन्तः ।
ऋग्मियम् ॥ होम । गन्तारम् । ऊतये ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(गीर्भिः) वेद वाणियों से (गृणन्तः) स्तुति करते हुये हम (वसुपतिम्) वसुओं [अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य वा सूर्यलोक, द्यौ वा आकाश, चन्द्रलोक और तारागणों] के स्वामी, (ऋग्मियम्)

१४—(अस्मे) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (श्रवः) श्रवणीयं धनम् (बृहत्) वर्धमानम् (द्युम्नम्) अ० ६ । ३५ । ३ । द्योतमानं यशः (सहस्रसातमम्) जनसनखनक्रमगमो विट् । पा० ३ । २ । ६७ । षणु दाने—विट् । विड्वनोरनुनासिकस्यात् । पा० ६ । ४ । ४१ । नकारस्य आकारः, ततस्तमप् । अतिशयेन सहस्रसुखप्रदम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (ताः) प्रसिद्धाः (रथिनीः) बहुयानविमानादियुक्ताः (इषः) इष् गतौ—क्विप् । गतिशीलाः सेनाः ॥

१५—(वसोः) श्रेष्ठगुणस्य (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमेश्वरम् (वसुपतिम्) अष्टवसूनामग्निपृथिव्यादीनां स्वामिनम् । अग्निश्च पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्चद्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः—दयानन्द भाष्ये, ऋक्० १ । ६ । ६ (गीर्भिः) वेदवाणीभिः (गृणन्तः) स्तुवन्तः (ऋग्-

स्तुति योग्य, (गन्तारम्) ज्ञान वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] को (वसोः) श्रेष्ठ गुण की (ऊतये) रक्षा के लिये (होम) बुलाते हैं ॥ १५ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब ऐश्वर्य के दाता और न्यायकारी परमात्मा की प्रार्थना और उत्तम गुणों की धारणा से राज्य लक्ष्मी को प्राप्त होकर उन्नति करें ॥ १५ ॥

सुतेसुते न्योकसे बृहद् बृहत एदरिः । इन्द्राय शूषमर्चति ॥१६॥

सुते-सुते । नि-ओकसे । बृहत् । बृहते । आ । इत् । अरिः ॥ इन्द्राय । शूषम् । अर्चति ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(अरिः) शत्रु (इत्) भी (सुतेसुते) उत्पन्न हुये उत्पन्न हुये पदार्थ में (न्योकसे) निश्चित स्थान वाले, (बृहते) महान् (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के (बृहत्) बड़े हुये (शूषम्) बल को (आ) सब प्रकार (अर्चति) पूजता है १६ ॥

मियम्) अर्त्तिस्तुसु० । उ० १ । १४० । ऋच स्तुतौ—मक्, कुत्वं अत्वं च, ऋग्मम्. स्तुतिः, तदर्हति ऋग्मियः । पात्राद् घंश्च । पा० ५ । १ । ६८ । अर्हार्थे-घन्, यद्वा बाहुलकात् घच् । ऋग्मियमृग्मन्तमिति वार्चनीयमिति वा पूजनीयमिति वा—निरु० ७ । २६ । स्तुतियोग्यम् (होम) ह्वेञ् स्पर्धायां शब्दे च—लट् । बहुलं छन्दसि । पा० २ । ४ । ७३ । शपो लुक् । छन्दस्युभयथा । ३ । ४ । ११७ । उभयसंज्ञात्वे गुणसम्प्रसारणे, सकारलोपश्छान्दसः । आह्वयामः (गन्तारम्) गच्छतेः—तृन् । ज्ञातारम् (ऊतये) रक्षायै ॥

१६—(सुतेसुते) उत्पन्न उत्पन्ने पदार्थे (न्योकसे) अञ्च्यञ्जियुजिभृजिभ्यः कुश्च । उ० ४ । २१६ । उच समवाये—असुन्, न्यङ्क्वादित्वात् कुत्वम् । ओक इति निवासनामोच्यते—निरु० ३ । ३ । षष्ठ्यर्थे चतुर्थी वक्तव्या । वा० पा० २ । ३ । ६२ निश्चितनिवासयुक्तस्य (बृहत्) वर्धमानम् (बृहते) महतः (आ) समन्तात् (इत्) एव (अरिः) शत्रुः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवतः परमेश्वरस्य (शूषम्) पीयेरूषन् । उ० ४ । ७६ । शुष शोषणे-ऊषन् कित । शत्रुशोषकं बलम् निघ० २ । ६० (अर्चति) पूजयति ॥

भावार्थ—संसार में विचित्र पदार्थों की रचना और गुण देखकर वेद विरोधी नास्तिक भी परमात्मा के सामर्थ्य को मानकर उस की शरण लेता है ॥ १६ ॥

इति षष्ठोऽनुवाकः ॥

अथ सप्तमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ७२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदत्यष्टिः ; २, ३ भुरिगष्टिश्छन्दः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

विश्वेषु हि त्वा सवनेषु तुञ्जते समानमेकं वृषमण्यवः पृथक् स्वः सनिष्यवः पृथक् । तं त्वा नावं न पर्षणिं शूषस्य धुरि धीमहि । इन्द्रं न यज्ञैश्चितयन्त आयवः स्तोमेभिरिन्द्रमायवः ॥ १ ॥

विश्वेषु । हि । त्वा । सवनेषु । तुञ्जते । समानम् । एकम् । वृषऽमन्यवः । पृथक् । स्वः रिति स्वः । सनिष्यवः । पृथक् ॥ तम् । त्वा । नावम् । न । पर्षणिम् । शूषस्य । धुरि । धीमहि ॥ इन्द्रम् । न । यज्ञैः । चितयन्तः । आयवः । स्तोमेभिः । इन्द्रम् । आयवः ॥ १ ॥

भावार्थ—[हे परमेश्वर !] (विश्वेषु) सब (हि) ही (सवनेषु) ऐश्वर्य युक्त पदार्थों में (समानम्) एक रस व्यापक, (एकम्) एक, (स्वः) सुखस्वरूप (त्वा) तुझको (वृषमन्यवः) बलवान् के समान तेज वाले, और

१—(विश्वेषु) सर्वेषु (हि) निश्चयेन (त्वा) त्वाम् (सवनेषु) ऐश्वर्ययुक्तेषु पदार्थेषु (तुञ्जते) तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु—लट् । गृह्णन्ति (समानम्) एकरसव्यापकम् (एकम्) अद्वितीयम् (वृषमन्यवः) बलि-ष्ठवत् । ऋ० ३ । २० । मन ज्ञाने दीप्तौ च—युच् । मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः

(सनिष्यवः) देने योग्य धन को चाहने वाले पुरुष (पृथक् पृथक्) अलग अलग (तुञ्जते) ग्रहण करते हैं। (नावम् न) नाव के समान (पर्षणिम्) पार लगाने वाले (तम्) उस (त्वा) तुझ (-इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा], (इन्द्रम) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (शूषस्य) बल की (धुरि) धुरी [धारण शक्ति] में (यज्ञैः) यज्ञों [श्रेष्ठ व्यवहारों] से और (स्तोमेभिः) प्रशंसनीय गुणों से (चितयन्तः) चिन्तवन करते हुये (आयवः) पुरुषार्थी (आयवः न) मनुष्यों के समान (धीमहि) हम धारण करें ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पुरुषार्थी लोगों के समान आनन्द स्वरूप सर्वशक्तिमान् परमेश्वर का सदा स्मरण करके अपना बल बढ़ाने के लिये प्रयत्न करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । १३१ । २, ३, ६ ॥

वि त्वा॑ ततस्रे मिथु॒ना अ॑व॒स्यवो॑ व्र॒जस्य॑ सा॒ता गव्य॑स्य निः॒-सृजः॒ सक्ष॑न्त इन्द्र॒ निः॒सृजः॑ । यद्ग॒व्यन्ता॒ द्वा जना॒ स्व॑-१॒र्यन्ता॑ स॒मूह॑सि । आ॒विष्कर्क्रि॑द्द्वृष॑णं सचा॒भुवं॒ वज्र॑मि-

---

क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा—निरु० १० । २६ । वृषस्य बलवतः पुरुषस्य तेज इव तेजो येषां ते (पृथक्) भिन्नप्रकारेण (स्वः) सुखस्वरूपम् (सनिष्यवः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । षणु दाने-इन् । सुप आत्मनः क्यच् । पा० ३ । १ । ८ । सनि—क्यच् । सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां सुगसुकौ । वा० पा० ७ । १ । सुगागमः । क्याच्छन्दसि । पा० ३ । २ । १७० । उप्रत्ययः । दातव्य-धनमिच्छवः (पृथक्) (तम्) तादृशम् (-त्वा) त्वाम् (नावम्) नौकाम् (न) इव (पर्षणिम्) अर्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । पृ पालनपूरणयोः—अनिप्रत्ययः षुगागमः । पारयितारम् (शूषस्य) बलस्य (धुरि) धृञ् धारणे – क्विप् । बहुलं छन्दसि । पा० ७ । १ । १०३ । इति उरादेशः । यानमुखे । धारणशक्तौ (धीमहि) दधातेः—लिङ् । धरेम (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (न) इव (यज्ञैः) श्रेष्ठव्यवहारैः (चितयन्तः) चिती संज्ञाने-णिच्, शतृ । गुणाभावः । चेतयन्तः । स्मरन्तः (आयवः) छन्दसीणः । उ० १ । २ । इण् गतौ—उण् । गतिमन्तः पुरुषार्थिनः (स्तोमेभिः) प्रशंसनीयगुणैः (इन्द्रम्) परमेश्वरम् (आयवः) मनुष्याः—निघ० २ । ३ ॥

न्द्र सचाभुवम् ॥ २ ॥

वि । त्वा । ततस्रे । मिथुनाः । अवस्यवः । व्रजस्य । साता । गव्यस्य । निः-सृजः । सक्षन्त । इन्द्र । निः-सृजः ॥ यत् । गव्यन्ता । द्वा । जना । स्वः । यन्ता । सम्-ऊहसि ॥ आविः । करिक्रत् । वृषणम् । सचा-भुवम् । वज्रम् । इन्द्र । सचा-भुवम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र !) हे इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (व्रजस्य) मार्ग के (साता) पाने में (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले (सक्षन्तः) गतिशील, (गव्यस्य) भूमि के लिये हित के (निःसृजः) नित्य उत्पन्न करने वाले और (निःसृजः) निरन्तर देने वाले (मिथुनाः) स्त्री पुरुषों के समूहों ने (त्वा) तुझको [तेरे गुणों को] (वि) विविध प्रकार (ततस्रे) फैलाया है । (यत्) क्योंकि, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमात्मन्] (वृषणम्) बलवान्, (सचाभुवम्) नित्य मेल से रहने वाले, (सचाभुवम्) सेचन [वृद्धि] के साथ वर्तमान (वज्रम्) वज्र [दण्डगुण] को (आविः करिक्रत्) प्रकट करता हुआ तू (गव्यन्ता) वाणी [विद्या] को चाहने वाले, (स्वः) सुख को (यन्ता) प्राप्त

२—(वि) विविधम् (त्वा) त्वाम् । तव गुणम् (ततस्रे) तसु उपक्षेपे च—लिट् । इरयो रे । पा० ६ । ४ । ७६ । इति रेभावः । उत्क्षिप्तवन्तः । विस्तारितवन्तः (मिथुनाः) स्त्रीपुरुषसमूहाः (अवस्यवः) अ० २० । १४ । १ । रक्षाकामाः (व्रजस्य) व्रज गतौ+घञर्थे क । मार्गस्य (साता) विभक्तेर्डा । सातौ । लाभे (गव्यस्य) गवे पृथिव्यै हितस्य (निःसृजः) सृज विसर्गे-क्विप् । नितरां स्रष्टारो निष्पादयितारः (सक्षन्तः) सक्षतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । नैरुक्तो धातुः—शतृ । गच्छन्तः (इन्द्र) परमात्मन् (निःसृजः) निरन्तरदातारः (यत्) यतः (गव्यन्ता) गो—क्यच्, शतृ । गां वाणीं विद्यामिच्छन्तौ (द्वा) द्वौ (जना) जनौ । स्त्रीपुरुषौ (स्वः) सुखम् (यन्ता) यन्तौ । प्राप्नुवन्तौ (समूहसि) ऊह वितर्के । सम्यक् चेतयसि (आविः) प्राकट्ये (करिक्रत्) करोतेर्यङ्लुकि शतृ । भृशं कुर्वन् (वृषणम्) बलवन्तम् (सचाभुवम्) षच समवाये सेचने च—क्विप्+भू सत्तायाम्—क्विप् । समवा-

होने वाले (द्वा) दोनों (जना) जनों [स्त्री पुरुषों] को (समूहसि) यथावत् चेताता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष सबके सुख के लिये राज्य आदि प्राप्त करके शिष्ट सुखदायक, दुष्ट विनाशक परमात्मा की भक्ति करते हैं, उनको वह जगदीश्वर उन्नति के लिये सदा उत्साह देता है ॥ २ ॥

यह मन्त्र आगे है—अथ० २० । ७५ । १॥

उ॒तो नो॑ अ॒स्या उ॒षसो॑ जु॒षेत॒ ह्य॑१॒र्कस्य॑ बोधि ह॒विषो॒ हवी॑मभिः॒ स्व॑र्षाता॒ हवी॑मभिः । यदि॑न्द्र॒ हन्त॑वे॒ मृधो॒ वृषा॑ वज्रि॒ञ् चिके॑तसि । आ मे॑ अ॒स्य वे॒धसो॒ नवी॑यसो॒ मन्म॑ श्रुधि॒ नवी॑यसः ॥ ३ ॥

उ॒तो इति॑ । नः॒ । अ॒स्याः । उ॒षसः॑ । जु॒षेत॑ । हि । अ॒र्कस्य॑ । बो॒धि॒ । ह॒विषः॑ । हवी॑म-भिः । स्वः॑-साता । हवी॑म-भिः ॥ यत् । इ॒न्द्र॒ । हन्त॑वे । मृधः॑ । वृषा॑ । व॒ज्रि॒न् । चिके॑तसि ॥ आ । मे॒ । अ॒स्य । वे॒धसः॑ । नवी॑यसः । मन्म॑ । श्रु॒धि॒ । नवी॑यसः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे बीच में (उतो) निश्चय करके ही वह [जिज्ञासु पुरुष] (अस्याः) इस (उषसः) उषा [प्रभात वेला] का (जुषेत) सेवन करे और (हवीमभिः) ग्रहण करने योग्य व्यवहारों और (हवीमभिः) देने योग्य पदार्थों से (हि) ही (स्वर्षाता) सुख के सेवन में

वेन वर्तमानम् (वज्रम्) दण्डगुणम् (इन्द्र) परमात्मन् (सचाभुवम्) सेवनेन वर्धनेन सह वर्तमानम्॥

३—(उतो) निश्चयेनैव (नः) अस्माकं मध्ये (अस्याः) दृश्यमानायाः (उषसः) प्रभातवेलायाः (जुषेत) सेवेत । सेवनं कुर्यात् (हि) अवधारणे (अर्कस्य) पूजनीयस्य परमात्मनः (बोधि) बुध अवगमने—लिङर्थे लुङ् प्रथमपुरुषस्यैकवचनम् । बोधं कुर्यात् (हविषः) आदानस्य । ग्रहणस्य (हवीमभिः) आतो मनिन्क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३ । २ । ७४ । हु दानादानयोः—

(अर्कस्य) पूजनीय परमात्मा के (हविषः) ग्रहण का (बोधि) बोध करे। (यत्) क्योंकि (वज्रिन्) हे दण्ड दाता (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (वृषा) सुखों का बरसाने वाला महा बलवान् तू (मृधः) हिंसक वैरियों के (हन्तवे) मारने को (चिकेतसि) जानता है, [इस लिये] (मे) मुझ (नवीयसः) अधिक नवीन [अभ्यासी ब्रह्मचारी] और (अस्य) उस (नवीयसः) अधिक स्तुति योग्य (वेधसः) बुद्धिमान् [आचार्य] के (मन्म) मनन योग्य कथन को (आ) अच्छे प्रकार (श्रुधि) सुन ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे प्रातःकाल में प्रकाश बढ़ता जाता है, वैसे ही मनुष्य उत्तम उत्तम व्यवहारों के लेने देने से परमात्मा की भक्ति बढ़ावें, वह जगदीश्वर विघ्ननाशक है, उस की उपासना नवीन अभ्यासी ब्रह्मचारी और सुबोध आचार्य आदि सब लोग करते रहें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७३ ॥

१—६ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्ष्यनुष्टुप्; २ विराडार्ष्यनुष्टुप्; ३ भुरिगार्ष्यनुष्टुप्; ४ निचृज्जगती; ५, ६ निचृदार्षी त्रिष्टुप् ॥

सेनापतिलक्षणोपदेशः—सेनापति के लक्षण का उपदेश ॥

तुभ्येदिमा सवना शूर विश्वा तुभ्यं ब्रह्माणि वर्धना कृणोमि। त्वं नृभिर्हव्यो विश्वधासि ॥ १ ॥

तुभ्य॑ । इत् । इमा । सव॑ना । शूर । विश्वा॑ । तुभ्य॑म् । ब्रह्मा॑णि । वर्ध॑ना । कृणोमि । त्वम् । नृ-भिः । हव्यः॑ । विश्वधा॑ । असि ॥ १ ॥

मनिन्, ईडागमः । ब्राह्मव्यवहारैः (स्वर्षाता) विभक्तौ । सुखस्य सेवने (हवीमभिः) दातव्यपदार्थैः (यत्) यतः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (हन्तवे) तवेन् प्रत्ययः । हन्तुं नाशयितुम् (मृधः) हिंसकान् शत्रून् (वृषा) सुखस्य वर्षकः । बलिष्ठः (वज्रिन्) हे दण्डदातः (चिकेतसि) कित ज्ञाने, जौहोत्यादिकः, लेटि अडागमः । जानासि (आ) समन्तात् (मे) मम (अस्य) तस्य (वेधसः) मेधाविनः (नवीयसः) नव-ईयसुन् । नवीनतरस्य । अभ्यासिनो ब्रह्मचारिणः (मन्म) मननीयं कथनम् (श्रुधि) शृणु (नवीयसः) नवतरस्य । स्तुत्यतरस्य । सुबोधाचार्यस्य ॥

भावार्थ—(शूर) हे शूर ! [निर्भय मनुष्य] (तुभ्य) तेरे लिये (इत्) ही (इमा) इन (विश्वा) सब (सवना) ऐश्वर्य युक्त वस्तुओं को और (तुभ्यम्) तेरे लिये (वर्धना) उन्नति करने वाले (ब्रह्माणि) धनों वा अन्नों को (कृणोमि) मैं करता हूं । (त्वम्) तू (नृभिः) नेता मनुष्यों से (विश्वधा) सब प्रकार (हव्य) ग्रहण करने योग्य (असि) है ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर सेनापति सब अधिकारियों की यथा योग्य पालना करता रहे, जिस से वे लोग सेवा करने में सदा प्रसन्न रहें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—७ । २२ । ७, ८ ॥

नू चिन्नु ते मन्यमानस्य दस्मोदश्नुवन्ति महिमानमुग्र ।
न वीर्यमिन्द्र ते न राधः ॥ २ ॥

नु । चित् । नु । ते । मन्यमानस्य । दस्म । उत् । अश्नुवन्ति ।
महिमानम् । उग्र । न । वीर्यम् । इन्द्र । ते । न । राधः ॥२॥

भावार्थ—(दस्म) हे दर्शनीय ! (उग्र) हे तेजस्वी (इन्द्र) इन्द्र ! [राजन्] (मन्यमानस्य ते) तुझ महाज्ञानी की (न) न तो (महिमानम्) महिमा को और (न) न (ते) तेरे (वीर्यम्) पराक्रम और (राधः) धन को वे [अन्य पुरुष] (नु चित्) कभी भी (नु) किसी प्रकार (उत्) अधिकता से (अश्नुवन्ति) पहुंचते हैं ॥ २ ॥

१—(तुभ्य) तुभ्यम् (इत्) एव (इमा) इमानि (सवना) ऐश्वर्ययुक्तानि वस्तूनि (शूर) निर्भय मनुष्य (विश्वा) सर्वाणि (तुभ्यम्) (ब्रह्माणि) धनानि अन्नानि वा (वर्धना) उन्नतिकराणि (कृणोमि) करोमि (त्वम्) (नृभिः) नेतृभिः पुरुषैः (हव्यः) ग्रहणीयः (विश्वधा) सर्वप्रकारेण (असि) ॥

२—(नु चित्) कदापि (नु) निश्चयेन (ते) तव (मन्यमानस्य) मन ज्ञाने—शानच् । विदुषः पुरुषस्य (दस्म) अ० २० । १७ । २ । हे दर्शनीय (उत) आधिक्ये (अश्नुवन्ति) प्राप्नुवन्ति (महिमानम्) महत्त्वम् (उग्र) तेजस्विन् (न) निषेधे (वीर्यम्) पराक्रमम् (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त राजन् (ते) तव (न) निषेधे (राधः) धनम् ॥

भावार्थ—जो मनुष्य महिमा और विद्या आदि शुभ गुणों, पराक्रम और धन में अधिक होवे, वह सभापति राजा होवे ॥ २ ॥

प्र वो॑ म॒हे म॑हि॒वृधे॑ भरध्वं॒ प्रचे॑तसे॒ प्र सु॑म॒तिं कृ॑णुध्वम् ।
विशः॑ पू॒र्वीः प्र च॑रा चर्षणि॒प्राः ॥ ३ ॥

प्र । वः॒ । म॒हे । म॒हि॒-वृधे॑ । भ॒र॒ध्व॒म् । प्र-चे॑तसे । प्र । सु॒-म॒तिम् । कृ॒णु॒ध्व॒म् ॥ विशः॑ । पू॒र्वीः । प्र । च॒र॒ । च॒र्ष॒णि॒-प्राः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) अपने लिये (महे) महान् (महिवृधे) बड़ों के बढ़ाने वाले, (प्रचेतसे) उत्तम ज्ञानी [दूरदर्शी राजा] के लिये (सुमतिम्) सुन्दर मति को (प्र) अच्छे प्रकार (भरध्वम्) धारण करो और (प्र) सामने (कृणुध्वम्) करो । [हे सभापते !] (चर्षणिप्राः) मनुष्यों के मनोरथ पूरा करने वाला तू (पूर्वीः) प्राचीन (विशः) प्रजाओं को (प्र चर) फैला ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग चतुर नीतिज्ञ सभापति के आश्रय से अपनी उन्नति करें और सभापति उन लोगों के मेल से अपना और प्रजा का ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३१ । १० ॥

य॒दा वज्रं॒ हिर॑ण्य॒मिदथा॒ रथं॒ हरी॒ यम॑स्य॒ वह॑तो॒ वि सू॒रिभिः॑ । आ ति॑ष्ठति म॒घवा॒ सन॑श्रुत॒ इन्द्रो॒ वाज॑स्य दी॒र्घश्र॑वस॒स्पतिः॑ ॥ ४ ॥

य॒दा । वज्र॑म् । हिर॑ण्यम् । इत् । अथ॑ । रथ॑म् । हरी॒ इति॑ ।

३—(प्र) प्रकर्षेण (वः) युष्मभ्यम् । स्वीकार्यार्थम् (महे) महते (महिवृधे) महीनां महतां वर्धकाय (भरध्वम्) धारयत (प्रचेतसे) प्रकृष्टज्ञानाय । दूरदर्शिने (प्र) (सुमतिम्) शोभनां बुद्धिम् (कृणुध्वम्) कुरुत (विशः) प्रजाः (पूर्वीः) प्राचीनाः पितापितामहादिभ्यः प्राप्ताः (प्र चर) प्रसारय (चर्षणिप्राः) अ० २० । ११ । ७ । मनुष्याणां मनोरथपूरकः ॥

यम् । अस्य । वहतः । वि । सूरि-भिः ॥ आ । तिष्ठति । मघ-वा । सनं-श्रुतः । इन्द्रः । वाजस्य । दीर्घ-श्रवसः । पतिः ॥

भाषार्थ—(यदा) जब (अस्य) इस [सेनापति]-के (यम्) जिस (हिरण्यम्) तेजोमय (वज्रम्) वज्र [दण्ड] (अथ) और (रथम्) रथ [राज्यव्यवहार] को (हरी) दो घोड़े [के समान बल और पराक्रम] (सूरिभिः) प्रेरक विद्वानों के साथ (इत्) ही (वि) (विविध प्रकार (वहतः) ले चलते हैं । [तब उस पर] (मघवा) महाधनी, (सनश्रुतः) दान के लिये प्रसिद्ध, (दीर्घश्रवसः) बहुत यश वाले (वाजस्य)- पराक्रम का (पतिः) स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र [महाप्रतापी सेनापति] (आ तिष्ठति) ऊंचा बैठता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब राजा विद्वानों से मिलकर धर्मयुक्त नीति के साथ राज्य को चलाता है, वह प्रजापालक महाधनी होकर बड़ी कीर्ति पाता है ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—१० । २३ । ३—५ ॥

सो चिन्नु वृष्टिर्यूथ्या३ स्वा सचाँ इन्द्रः श्मश्रूणि हरिताभि प्रुष्णुते । अव वेति सुक्षयं सुते मधूदिद्धूनोति वातो यथा वनम् ॥ ५ ॥

सो इति । चित् । नु । वृष्टिः । यूथ्या । स्वा । सचा । इन्द्रः । श्मश्रूणि । हरिता । अभि । प्रुष्णुते ॥ अव । वेति ।

४—(यदा) यस्मिन् काले (वज्रम्) दण्डम् (हिरण्यम्) तेजोमयम् (इत्) एव (अथ) अनन्तरम् (रथम्) रथमिव रमणीय राज्यव्यवहारम् (हरी) अश्वाविव बलपराक्रमौ (यम्) वज्रं रथं वा (अस्य) सेनापतेः (वहतः) नयतः (वि) विविधम् (सूरिभिः) अ० २० । ३४ । १७ । प्रेरकैर्विद्वद्भिः (आ तिष्ठति) आरोहति । उपरि वर्तते (मघवा) महाधनी (सनश्रुतः) षणु दाने—अच् । दानाय प्रसिद्धः (इन्द्रः) महाप्रतापी सेनापतिः (वाजस्य) पराक्रमस्य (दीर्घश्रवसः) बहुकीर्तियुक्तस्य (पतिः) स्वामी ॥

सु-क्षयम् । सुते । मधु । उत् । इत् । धूनोति । वातः । यथा । वनम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सो) वही (इन्द्रः) इन्द्र [बड़ा ऐश्वर्यवान् पुरुष] (वृष्टिः चित्) वृष्टि के समान (नु) निश्चय करके (सचा) नित्य मेल के साथ (स्वा) अपने (हरिता) स्वीकार करने योग्य (यूथ्या) समुदायों को (श्मश्रूणि) अपने शरीर में आश्रित अङ्गों [के समान] (अभि) सब प्रकार (प्रुष्णुते) सींचता है । और वह (सुते) उत्पन्न जगत् में (सुक्षयम् बड़े ऐश्वर्य वाले (मधु) निश्चित ज्ञान [मधु विद्या] को (इत्) अवश्य (अव वेति) पा लेता है और [पापों को] (उत्) (धूनोति) उखाड़ कर हिला देता है, (यथा) जैसे (वातः) पवन (वनम्) वन को ॥ ५ ॥

भावार्थ—वृष्टि के समान जो मनुष्य शरीर के अङ्गों के तुल्य प्रिय अपने लोगों पर उपकार करता है, वह संसार में ऐश्वर्य युक्त ज्ञान प्राप्त करके पापों को हटाकर आनन्द पाता है ॥ ५ ॥

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान । तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे शवः ॥ ६ ॥

यः । वाचा । वि-वाचः । मृध्र-वाचः । पुरु । सहस्रा । अशिवा ।

५—(सो) स एव (चित्) उपमार्थे (नु) निश्चयेन (वृष्टिः) जलवर्षा (यूथ्या) स्वार्थे यत् । यूथानि । सजातीयसमुदायान् (स्वा) स्वकीयानि (सचा) समवायेन (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् मनुष्यः (श्मश्रूणि) अ० ५ । १६ । १४ । शीङ् शयने-मनिन्, डित्+श्रिञ् सेवायाम्—डुन् । श्म शरीरम्...श्मश्रु लोम श्मनि श्रितं भवति—निरु० ३ । ५ । शरीरे श्रितान्यङ्गानि यथा (हरिता) अ० २० । ३० । ३ । स्वीकरणीयानि (अभि) सर्वतः (प्रुष्णुते) प्रुष स्नेहनसेचनपूरणेषु—लट् । सिञ्चति । वर्धयति (अव वेति) वी गत्यादिषु । अधिगच्छति । प्राप्नोति (सुक्षयम्) क्षि ऐश्वर्ये—अच् । बह्वैश्वर्ययुक्तम् (सुते) उत्पन्ने जगति (मधु) निश्चितं ज्ञानम् । मधुविद्याम् (उत्) उत्कृष्य (इत्) एव (धूनोति) कम्पयति पापानि (वातः) वायुः (यथा) (वनम्) वृक्षसमूहम् ॥

जघान ॥ तत्-तत् । इत् । अस्य । पौंस्यम् । गृणीमसि । पिता-इव । यः । तविषीम् । वृवृधे । शवः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [शूर] ने (वाचा) [अपनी सत्य] वाणी से (विवाचः) विरुद्ध बोलने वाले, (मृध्रवाचः) हिंसक वाणी वाले के (पुरु) बहुत (सहस्रा) सहस्रों (अशिवा) क्रूर कर्मों को (जघान) नष्ट किया है और (यः) जिस [शूर] ने (पिता इव) पिता के समान (तविषीम्) हमारी शक्ति और (शवः) पराक्रम को (ववृधे) बढ़ाया है, (अस्य) उस के (तत्तत्) उस उस (इत्) ही (पौंस्यम्) मनुष्यपन [वा बल] की (गृणीमसि) हम बड़ाई करते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो वीर पुरुष दुराचारियों का नाश करके प्रजा को कष्ट से छुड़ाता है, प्रजागण उस गुणवान् पुरुष को ही मुखिया बनाकर प्रीति करते हैं ॥ ६ ॥

सूक्तम् ७४ ॥

१—७ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४, ५ निचृत् पथ्या पङ्क्तिः; २, ३, ६, ७ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

यच्चिद्धि सत्य सोमपा अनाशस्ता इव स्मसि । आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ १ ॥

यत् । चित् । हि । सत्य । सोम-पाः । अनाशस्ताः-इव । स्मसि ॥ आ । तु । नः । इन्द्र । शंसय । गोषु । अश्वेषु । शुभ्रिषु । सहस्रेषु । तुवि-मघ ॥ १ ॥

६—(यः) वीरः (वाचा) सत्यवाण्या (विवाचः) विरुद्धवाणीयुक्तस्य (मृध्रवाचः) हिंसकवाणीयुक्तस्य (पुरु) बहूनि (सहस्रा) सहस्राणि (अशिवा) अभद्राणि । क्रूरकर्माणि (जघान) नाशितवान् (तत्तत्) सुप्रसिद्धम् (इत्) एव (अस्य) शूरस्य (पौंस्यम्) अ० २०। ६७। २। पुंसः कर्म । बलम् (गृणीमसि) वयं स्तुमः (पिता) (इव) (यः) शूरः (तविषीम्) अ० २०। ३। २। शक्तिम् (ववृधे) वर्धितवान् (शवः) बलम् ॥

भाषार्थ—(सत्य) हे सच्चे ! [सत्यवादी, सत्यगुणी] (सोमपाः) हे सोम [तत्त्व रस] पीने वाले ! [वा ऐश्वर्य के रक्षक राजन्] (यत् चित्) जो कभी (हि) भी (अनाशस्ताः इव) निन्दनीय कर्म वालों के समान (स्मसि) हम होवें। (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े प्रतापी राजन्] (तु) निश्चय करके (नः) हम को (सहस्रेषु) सहस्रों (शुभ्रिषु) शुभ गुण वाले (गोषु) विद्वानों और (अश्वेषु) कामों में व्यापक बलवानों में (आ) सब ओर से (शंसय) बड़ाई वाला कर ॥ १ ॥

भावार्थ—यदि धार्मिक लोगों से किसी कारण विशेष से अपराध हो जावे, नीतिज्ञ राजा यथायोग्य बर्ताव करके उन भूले भटकों को फिर सुमार्ग पर लावे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । २९ । १—७ ॥

शिप्रिन् वाजानां पते शचीवस्तव दंसना । आ तू० ॥ २ ॥

शिप्रिन् । वाजानाम् । पते । शची-वः । तव । दंसना । ०॥२॥

भाषार्थ—(शिप्रिन्) हे बड़े ज्ञानी ! [वा दृढ़ जावड़े आदि अङ्गों वाले] (वाजानां पते) हे अन्नों के स्वामी ! (शचीवः) हे उत्तम कर्म वाले ! [राजन्] (तव) तेरी ही (दंसना) दर्शनीय क्रिया है। (तुविमघ) हे महा-

---

१—(यत् चित्) यद्यपि (हि) एव (सत्य) हे यथार्थवादिन्। यथार्थगुणिन् (सोमपाः) हे तत्त्वरसस्य पानकर्तः। ऐश्वर्यरक्षक (अनाशस्ताः) अप्रशस्ताः। निन्दनीयकर्माणः (इव) यथा (स्मसि) भवामः (आ) समन्तात् (तु) निश्चयेन (नः) अस्मान् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (शंसय) प्रशस्तान् कुरु (गोषु) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३। १६। स्तोतृषु। विद्वत्सु (अश्वेषु) कर्मसु व्यापकेषु। बलवत्सु (शुभ्रिषु) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन्। उ० ४। ६५। शुभ दीप्तौ—क्रिन्। शुभगुणयुक्तेषु (सहस्रेषु) बहुषु (तुविमघ) हे बहुधनवन् ॥

२—(शिप्रिन्) अ० २०। ४। १। हे बहुज्ञानिन्। हे दृढहनुयुक्त। हे दृढाङ्ग (वाजानाम्) अन्नानाम् (पते) स्वामिन् (शचीवः) अ० २०। २१। ३। हे प्रशस्तकर्मन् (तव) (दंसना) ण्यासश्रन्थो युच्। पा० ३। ३। १०७।

धनी (इन्द्र) इन्द्र) ! [बड़े प्रतापी राजन्] ......[मन्त्र १] ॥ २ ॥

भावार्थ—बलवान् राजा बड़ा ज्ञानी, धनी और सत्कर्मी होकर प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

नि ष्वापया मिथूदृशा सुस्तामबुध्यमाने । आ तू० ॥ ३ ॥

नि । स्वापय । मिथु-दृशा । सुस्ताम् । अबुध्यमाने इति ।०॥३

भावार्थ—[हे राजन्] (मिथुदृशा) दोनों हिंसा दिखाने वाले [शरीर और मन] को (नि स्वापय) सुला दे, (अबुध्यमाने) बिना जगे हुये वे दोनों (सस्ताम्) सो जावें । (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! ......[मन्त्र १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने सुप्रबन्ध से सब प्रजा को सुबोध और निरालसी बनावे ॥ ३ ॥

सुसन्तु त्या अरातयो बोधन्तु शूर रातयः । आ तू० ॥ ४ ॥

सुसन्तु । त्याः । अरातयः । बोधन्तु । शूर । रातयः । ०॥४॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर ! [निर्भय] (त्याः) वे (अरातयः) दान न करने वाली शत्रु प्रजायें (ससन्तु) सो जावें, और (रातयः) दानी लोग (बोधन्तु) जागते रहें । (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! ...... [मन्त्र १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा अपने पराक्रम से दुष्टों को शिर न उठाने दे और धर्मात्मा दाता लोगों को उत्साही करे ॥ ४ ॥

दृशि दर्शनसंदशनयोर्भाषायां च—णिचि युच्, टाप् । दर्शनीयक्रिया वर्तते । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(निष्वापय) नितरां सुप्ते कुरु (मिथुदृशा) पमिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । मिथृ मेधाहिंसनयोः—कु + दृशेः—क्विप् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेराकारः । द्वे हिंसादर्शके शरीरमनसी (सस्ताम्) षस स्वप्ने । शयाताम् (अबुध्यमाने) अजागरिते । निद्रां प्राप्ते । अन्यद् गतम् ॥

४—(ससन्तु) शेरताम् (त्याः) ताः (अरातयः) अदानशीला शत्रुप्रजाः (बोधन्तु) जाग्रतु (शूर) हे वीर (रातयः) दातारः । अन्यद् गतम् ॥

समिन्द्र गर्दभं मृण नुवन्तं पापयामुया । आ तू० ॥ ५ ॥

सम् । इन्द्र । गर्दभम् । मृण । नुवन्तम् । पापया । अमुया । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े प्रतापी राजन्) (अमुया) उस (पापया) पाप क्रिया के साथ (नुवन्तम्) स्तुति करते हुये (गर्दभम्) गदहे के [समान व्यर्थ रेंकने वाले निन्दक पुरुष] को (सम् मृण) मार डाल। (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! ..... [मन्त्र १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा गदहे के समान कटुवाची, मिथ्याभाषी दुर्जन को कुशिक्षा फैलने से रोके ॥ ५ ॥

पताति कुण्डृणाच्या दूरं वातो वनादधि । आ तू० ॥ ६ ॥

पताति । कुण्डृणाच्या । दूरम् । वातः । वनात् । अधि । ० ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(कुण्डृणाच्या) रक्षा पहुंचाने वाली क्रिया के साथ (दूरम्) दूर तक (वनात् अधि) वन [उपवन वाटिका आदि] के ऊपर होता हुआ (वातः) पवन (पताति) चला करे। (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र... ...[मन्त्र १] ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा वन, उपवन, वाटिका आदि से प्रजा का स्वास्थ्य बढ़ावे ॥ ६ ॥

५—(सम्) सम्यक् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (गर्दभम्) कॄ शृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच् ॥ उ० ३ । १२२ । गर्द शब्दे—अभच्। खरमिव कटुभाषिणम् (मृण) मारय (नुवन्तम्) स्तुवन्तम् (पापया) पापक्रियया (अमुया) अनया प्रसिद्धया। अन्यद् गतम् ॥

६—(पताति) लेटि आडागमः। गच्छेत्। वहेत् (कुण्डृणाच्या) दिवेर्ऋः। उ० २ । ९९ । कुडि दाहे वैकल्ये, रक्षणे च—ऋप्रत्ययः। कर्मण्यण्। पा० ३ । २ । १ । कुण्डृ+णच गतौ—अण् ङीप्, क्षकारस्य चकारः। रक्षाप्रापिकया क्रियया (दूरम्) विप्रकृष्टदेशम् (वातः) वायुः (वनात्) वृक्षसमूहात् (अधि) उपरि गच्छन्। अन्यद् गतम् ॥

सर्वं परिक्रोशं जहि जम्भया कृकदाश्वम्। आ तू न इन्द्र शंसय गोष्वश्वेषु शुभ्रिषु सहस्रेषु तुवीमघ ॥ ७ ॥

सर्वम्। परि-क्रोशम्। जहि। जम्भय। कृकदाश्वम् ॥ आ। तु। नः। इन्द्र। शंसय। गोषु। अश्वेषु। शुभ्रिषु। सहस्रेषु। तुवि-मघ ॥ ७ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सर्वम्) प्रत्येक (परिक्रोशम्) निन्दक, (कृकदाश्वम्) कष्ट देने वाले को (जहि) पहुंच और (जम्भय) मार डाल। (तुविमघ) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े प्रतापी राजन्] (तु) निश्चय करके (नः) हम को (सहस्रेषु) सहस्रों (शुभ्रिषु) शुभ गुण वाले (गोषु) विद्वानों और (अश्वेषु) कामों में व्यापक बलवानों में (आ) सब ओर से (शंसय) बड़ाई वाला कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा गुणों में दोष लगाने वाले कुचाली हिंसकों को नष्ट करके प्रजा को सब प्रकार सुखी रक्खे ॥ ७ ॥

सूक्तम् ७५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ भुरिगष्टिः; २ स्वराडष्टिः ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

वि त्वा ततस्रे मिथुना अवस्यवो व्रजस्य साता गव्यस्य निःसृजः सक्षन्त इन्द्र निःसृजः। यद् गव्यन्ता द्वा जना स्वर्यन्ता समूहसि। आविष्करिक्रद् वृषणं सचाभुवं वज्रमिन्द्र सचाभुवम् ॥ १ ॥

७—(सर्वम्) प्रत्येकम् (परिक्रोशम्) क्रुश आह्वाने शब्दे च—पचाद्यच्। परिक्रोशकम्। निन्दकम् (जहि) हन हिंसागत्योः। गच्छ। प्राप्नुहि (जम्भय) मारय (कृकदाश्वम्) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक्। उ० ३। ४१। कृञ् हिंसायाम्—कक्। कृवापाजि०। उ० १। १। दाश्ृ दाने—उण्। अमि यणादेशः। पीडादातारम्। अन्यद् गतम् ॥

वि । त्वा । ततस्रे । मिथुनाः । अवस्यवः । व्रजस्य । साता । गव्यस्य । निः-सृजः । सक्षन्तः । इन्द्र । निः-सृजः ॥ यत् । गव्यन्ता । द्वा । जना । स्वः । यन्ता । सम्-ऊहसि ॥ आविः । करिक्रत् । वृषणम् । सचा-भुवम् । वज्रम् । इन्द्र । सचा-भुवम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (व्रजस्य) मार्ग के (साता) पाने में (अवस्यवः) रक्षा चाहने वाले, (सक्षन्तः) गतिशील, (गव्यस्य) भूमि के लिये हित के (निःसृजः) नित्य उत्पन्न करने वाले और (निःसृजः) निरन्तर देने वाले (मिथुनाः) स्त्री पुरुषों के समूहों ने (त्वा) तुझ को [तेरे गुणों को] (वि) विविध प्रकार (ततस्रे) फैलाया है। (यत्) क्योंकि, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमात्मन्] (वृषणम्) बलवान्, (सचाभुवम्) नित्य मेल से रहने वाले, (सचाभुवम्) सेचन [वृद्धि] के साथ वर्तमान (वज्रम्) वज्र [दण्डगुण] को (आविः करिक्रत्) प्रकट करता हुआ तू (गव्यन्ता) वाणी [विद्या] को चाहने वाले, (स्वः) सुख को (यन्ता) प्राप्त होने वाले (द्वा) दोनों (जना) जनों [स्त्री पुरुषों] को (समूहसि) यथावत् चेताता है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो स्त्री पुरुष सब के सुख के लिये राज्य आदि प्राप्त करके शिष्टसुखदायक, दुष्टविनाशक परमात्मा की भक्ति करते हैं, उन को वह जगदीश्वर उन्नति के लिये सदा उत्साह देता है ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । १३१ । ३—५ । मन्त्र १ आचुका है—अथ० २० । ७२ । २ ॥

विदुष्टे अस्य वीर्यस्य पूरवः पुरो यदिन्द्र शारदीरवातिरः सासहानो अवातिरः। शासुस्तमिन्द्र मर्त्यमयज्युं शवसस्पते। महीममुष्णाः पृथिवीमिमा अपो मन्दसान इमा अपः ॥२॥

विदुः । ते । अस्य । वीर्यस्य । पूरवः । पुरः । यत् । इन्द्र । शारदीः । अव-अतिरः । ससहानः । अव-अतिरः ॥ शासः । तम् ।

इन्द्र । मर्त्यम् । अयज्युम् । शवसः । पते ॥ महीम् । अमुष्णाः। पृथिवीम् । इमाः । अपः। मन्दसानः । इमाः । अपः॥२॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (पूरवः) मनुष्य (ते) तेरे (अस्य) उस (वीर्यस्य) सामर्थ्य का (विदुः) ज्ञान रखते हैं, (यत्) जिस [सामर्थ्य] से (ससहानः) जीतते हुये तू ने (शारदीः) वर्ष भर में उत्पन्न होने वाली (पुरः) पालन सामग्रियों को (अवातिरः) उतारा है. (अवातिरः) उतारा है, (शवसःपते) हे बल के स्वामी (इन्द्र) इन्द्र ! [परमेश्वर] (तम्) उस (अयज्युम्) यज्ञ के न करने वाले (मर्त्यम्) मनुष्य को (शासः) तू ने शासन में किया है, और (मन्दसानः) आनन्द करते हुये तू ने (महीम्) बड़ी (पृथिवीम्) पृथिवी से (इमाः) इन [यज्ञ न करने वाली] (अपः) प्रजाओं को, (इमाः) इन (अपः) प्रजाओं को (अमुष्णाः) लूटा है ॥ २ ॥

२—(विदुः) विदन्ति । ज्ञानं कुर्वन्ति (ते) तव (अस्य) प्रसिद्धस्य (वीर्यस्य) सामर्थ्यस्य (पूरवः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । पूरी आप्यायने—उप्रत्ययः । पूरवः पूरयितव्या मनुष्याः—निरु० ७ । २३ । मनुष्याः—निघ०२ । ३ (पुरः) पॄ पालनपूरणयोः—क्विप् । उदोष्ठ्य पूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । पालनसामग्रीः (यत्) येन सामर्थ्येन (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (शारदीः) शरद्—अण्, ङीप् । शरदि संवत्सरे भवाः (अवातिरः) अवनारितवानसि । दत्तवानसि (ससहानः) सहतेर्यङ्लुगन्ताच्चानश् । अभिभवन् । विजयन् (अवातिरः) दत्तवानसि (शासः) शासु अनुशिष्टौ—लुङ्, छान्दस रूपम् । शासितवानसि । निगृहीतवानसि (तम्) (इन्द्र) (मर्त्यम्) मनुष्यम् (अयज्युम्) यजिमनिशुन्धि० । उ० ३ । २० । यजेः—युच् । अयष्टारम् । यज्ञविघातकम् (शवसः) बलस्य (पते) स्वामिन् (महीम्) महतीम् (अमुष्णाः) मुष स्तेये—लङ् । अपहृतवानसि । दुह्याच्पच्दण्ड्रुधिप्रच्छिचिब्रूशासुजिमथ्मुषाम् । कारिका, पा० १ । ४ । ५१ । इति मुष्णातेर्द्विकर्मकत्वात् पृथिवीमित्यस्य, अप इति अस्य पदस्य च कर्मकत्वम् (पृथिवीम्) भूमिम् । भूमेःसकाशात् (इमाः) दृश्यमानाः (अपः) प्रजाः (मन्दसानः) हृष्यन् सन् (इमाः) (अपः) प्रजाः ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने सामर्थ्य से अनन्त पदार्थ उत्पन्न करके सब का सदा पालन करता है, और अनाज्ञाकारी दुष्टों को अवश्य दण्ड देता है ॥ २ ॥

आदित् ते अस्य वीर्यस्य चर्किरन्मदेषु वृषन्नुशिजो यदाविथ सखीयतो यदाविथ। चकर्थ कारमेभ्यः पृतनासु प्रवन्तवे। ते अन्यामन्यां नद्यं सनिष्णत श्रवस्यन्तः सनिष्णत ॥ ३ ॥

आत्। इत्। ते। अस्य। वीर्यस्य। चर्किरन्। मदेषु। वृषन्। उशिजः। यत्। आविथ। सखि-यतः। यत्। आविथ ॥ चकर्थ। कारम्। एभ्यः। पृतनासु। प्र-वन्तवे ॥ ते। अन्याम्-अन्याम्। नद्यम्। सनिष्णत। श्रवस्यन्तः। सनिष्णत ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे महाबली ! [परमेश्वर] (आत्) इस लिये (इत्) ही (ते) तेरे (अस्य) उस (वीर्यस्य) सामर्थ्य को (चर्किरन्) उन्हों ने [मनुष्यों ने] वार वार जाना है, (यत्) जिस [सामर्थ्य] से (मदेषु) आनन्दों के बीच (उशिजः) शुभ गुण चाहने वाले बुद्धिमानों को (आविथ) तू ने बचाया है, (यत्) जिस [सामर्थ्य] से (सखियतः) तुझे मित्र के समान

३—(आत्) अतः (इत्) एव (ते) तव (अस्य) द्वितीयार्थे षष्ठी। तत्। वक्ष्यमाणम् (वीर्यस्य) सामर्थ्यम् (चर्किरन्) कॄ विक्षेपे हिंसायां विज्ञाने च, यङ्लुगन्तात् लङ्, अडभावः। ज्ञातवन्तः (मदेषु) हर्षेषु (वृषन्) बलिष्ठ। परमात्मन् (उशिजः) अ० २०। ११। ४। शुभगुणान् कामयमानान् मेधाविनः (यत्) येन वीर्येण (आविथ) रक्षितवानसि (सखियतः) उपमानादाचारे। पा० ३। १। १०। सखि—क्यच्, शतृ। न च्छन्दस्यपुत्रस्य। पा० ७। ४। ३५। इति दीर्घनिषेधः त्वां सखायमिवाचरतः पुरुषान् (यत्) येन (आविथ) रक्षितवानसि (चकर्थ) कृतवानसि (कारम्) करोतेः—घञ्। दलम् (एभ्यः) पूर्वोक्तेभ्यः (पृतनासु) वीपतिभ्यां तनन्। उ० ३। १५। पृङ् व्यायामे—तनन्, कित्, टाप्। पृतनाः, मनुष्यनाम—निघ० २। ३।

समझने हुये लोगों को (आविथ) तू ने बचाया है। और (एभ्यः) इन [लोगों] के लिये (पृतनासु) मनुष्यों में (प्रवन्तवे) सेवन करने को (कारम्) यत्न (चकर्थ) तू ने किया है, (श्रवस्यन्तः) कीर्ति चाहने वाले (ते) वे (अन्यामन्याम्) अलग, अलग (नद्यम्) पूजने योग्य क्रिया को (सनिष्णत) सेवन करें, (सनिष्णत) सेवन करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग परमात्मा के सामर्थ्य का अनेक प्रकार अनुभव करके आपस में मिलकर तथा पृथक् पृथक् भी शुभ गुणों की प्राप्ति से सामर्थ्य बढावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७६ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी त्रिष्टुप्; २, ४—६ निचृत् त्रिष्टुप्; ३, ७, ८ विराट् त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

वने न वा यो न्यधायि चाकं छुचिर्वां स्तोमो भुरणावजीगः।
यस्येदिन्द्रः पुरुदिनेषु होता नृणां नर्यो नृतमः क्षपावान् ॥१॥

वने । वा । यः । नि । अधायि । चाकन् । शुचिः । वाम् । स्तोमः । भुरणौ । अजीगरिति ॥ यस्य । इत् । इन्द्रः । पुरु-दिनेषु । होता । नृणाम् । नर्यः । नृ-तमः । क्षपा-वान् ॥१

मनुष्येषु (प्रवन्तवे) तुमर्थे तवेन् । प्रकर्षेण वनितुं सेवितुम् (ते) पूर्वोक्ताः (अन्यामन्याम्) भिन्नां भिन्नाम् (नद्यम्) णद अव्यक्ते शब्दे स्तुतौ च—पचाद्यच्, ङीप्। नदतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । नद्यः स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । नदीम्। पूजनीयां क्रियाम् (सनिष्णत) षण सम्भक्तौ—लेट् । सिब्बहुलं लेटि । पा० ३ । १ । ३४ । इति सिप् इट् श्नाप्रत्ययश्च । आत्मने देष्वनतः । पा० ७ । १ । ५ । इति झस्य अदादेशे । श्नाभ्यस्तयोरातः । पा० ६ । ४ । ११२ इत्याकारलोपः । टेरेत्वाभावः । सभजेयुः । सेवन्ताम् (श्रवस्यन्तः) श्रवस्—क्यच्, शतृ । कीर्तिमिच्छन्तः (सनिष्णत) सेवन्ताम् ॥

भाषार्थ—(वने) वृक्ष पर (न) जैसे (चाकन्) प्रीति करने वाला (वा, यः=वायः) पक्षी का बच्चा (नि अधायि) रक्खा जाता है, [वैसे ही (भुरणौ) हे दोनों पोषको ! [माता पिताओ] (शुचिः) पवित्र (स्तोमः) बड़ाई योग्य गुण ने (वाम्) तुम दोनों को (अजीगः) ग्रहण किया है। (यस्य) जिस [बड़ाई योग्य गुण] का (इत्) ही (होता) ग्रहण करने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (पुरुदिनेषु) बहुत दिनों के भीतर (नृणाम्) नेताओं का (नृतमः) सब से बड़ा नेता, (नर्यः) मनुष्यों का हितकारी, (क्षपावान्) श्रेष्ठ रात्रियों वाला है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे चिड़िया चिरौटा बच्चे को घोंसले में धर कर पुष्ट और समर्थ करते हैं, वैसे ही स्त्री पुरुष सदा दिन रात उत्तम गुण ग्रहण करके अपने को और अपने सन्तानों को मुख्य कार्य कर्ता बनावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । २९ । १—८ ॥

हम ने (वा, यः) दो पदों के स्थान पर (वायः) एक पद मानकर अर्थ किया है। भगवान् यास्कमुनि ने इस मन्त्र पर—निरुक्त ६ । २८ । में

१—(वने) वनावयवे वृक्षे (न) यथा (वा, यः=वायः) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । वा गतौ—इण्, डित् । वि—अण् अपत्यार्थे । पक्षिशावकः । वन इव वायो वेः पुत्रश्चायन्निति वा कामयमान इति वा । वेतिच य इति च चकार शाकल्यः । उदात्तं त्वेवमाख्यातमभविष्यदसुसमाप्तश्चार्थः—निरु० ६ । २८ (नि अधायि) निहितः । धृतः (चाकन्) कनी दीप्तिकान्तिगतिषु, यङ्लु-गन्तात्—क्विप् । उत्सुककमनाः (शुचिः) पवित्रः (वाम्) युवां द्वौ (स्तोमः) स्तुत्यगुणः (भुरणौ) भुरण धारणपोषणयोः—पचाद्यच् । हे भर्तारौ माता-पितरौ (अजीगः) जिगर्ति नैरुक्तधातुः, यद्वा गॄ निगरणे—लुङि, सिपि, इतश्चलोपे, रात्सस्य । पा० ८ । २ । २४ । सलोपः, रेफस्य विसर्जनीयः । प्रथमपुरुषस्य मध्यमः । गृहीतवान् प्राप्तवान् । अजीगः ·· अगारीत् जि ।र्ति-र्गिरतिकर्मा वा गृणातिकर्मा वा गृह्णातिकर्मा वा—निरु० ६ । ८ (यस्य) स्तोमस्य (इत्) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पुरुदिनेषु) बहुदिवसेषु (होता) ग्रहीता (नृणाम्) नेतॄणाम् । शूराणां मध्ये (नर्यः) नृभ्यो हितः (नृतमः) नेतृतमः । शूरतमः (क्षपावान्) क्षप प्रेरणे—अच्, टाप् । प्रशस्त-रात्रिमान् ॥

लिखा है—(वा और यः) शाकल्य ने [पद विभाग] किया है, किन्तु ऐसा होने पर आख्यात उदात्त होता और अर्थ भी पूरा न होता—अर्थात् जो (वा और यः) पदकार शाकल्य ऋषि ने पद विभाग किया है, वह दो पद होना तो [यद्वृत्तान्नित्यम् । पा० ८ । १ । ६६] इस सूत्र से (अधायि) क्रिया पद उदात्त होता, किन्तु वह अनुदात्त है, और (वा) का अर्थ कुछ न बनता और वृक्ष पर क्या रक्खा हुआ है, यह आकांक्षा बनी रहती। इस से (वा । यः ।) दो पद भूल से हैं. (वायः) ऐसा एक पद ठीक है। सायणाचार्य और ग्रिफिथ महाशय ने भी (वायः) ही माना है॥

प्र ते॑ अ॒स्या उ॒षसः॒ प्राप॑रस्या नृ॒तौ स्या॑म॒ नृत॑मस्य नृ॒णाम्। अनु॑ त्रि॒शोकः॑ श॒तमाव॑हृ॒न्नॄन् कुत्से॑न॒ रथो॒ यो अस॑त् सस॒वान् ॥२

प्र । ते॒ । अ॒स्याः । उ॒षसः॑ । प्र । अप॑रस्याः । नृ॒तौ । स्या॒म॒ । नृ॒ऽत॑मस्य । नृ॒णाम् ॥ अनु॑ । त्रि॒ऽशोकः॑ । श॒तम् । आ । अ॒व॒ऽह॒त् । नॄन् । कुत्से॑न । रथः॑ । यः । अस॑त् । स॒स॒ऽवान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्याः) इस और (अपरस्याः) दूसरी [आने वाली] (उषसः) उषा [प्रभात वेला] के (नृतौ) नृत्य [चेष्टा] में (नृणाम्) नेताओं के (नृतमस्य ते) तुझ सब से बड़े नेता के [भक्त रह कर] (प्र प्र) बहुत उत्तम (स्याम) हम होवें। (यः) जो (त्रिशोकः) तीन प्रकार [बिजुली, सूर्य और अग्नि] के प्रकाश वाला (रथः) रथ (असत् होवे, वह [रथ] (ससवान्) सेवन करता हुआ (शतम्) सौ (नॄन्) नेता पुरुषों को

२—(प्र प्र) अतिशयेन प्रकृष्टाः (ते) तव (अस्याः) वर्तमानायाः (उषसः) प्रभातवेलायाः (अपरस्याः) अन्यस्याः। आगामिन्याः (नृतौ) इगुपधात् कित्। उ० ४। १२०। नृती गात्रविक्षेपे—इन्, कित्। नर्तने। चेष्टने (स्याम) भवेम (नृतमस्य) नेतृतमस्य (नृणाम्) नेतॄणां मध्ये (अनु) आनुकूल्येन (त्रिशोकः) ई शुचिर् क्लेदने शौचे च—घञ्। त्रयाणां सूर्यविद्युदग्नीनां शोकः प्रकाशो यस्मिन् स. (शतम्) (आ अवहत्) लिङर्थे लङ्। आवहेत् (नॄन्) नेतॄन् पुरुषान् (कुत्सेन) अ० ४। २६। ५। कुस संश्लेषणे—सम्प्रत्ययः॥ ऋषि.कुत्सो भवति कर्ता स्तोमानाम्—निरु० ३। ११। संगतिशीलेन ऋषिणा

(कुत्सेन) मिलनसार ऋषि [सेनापति] के साथ (अनु) अनुकूल रीति से (आ अवहत्) लावे ॥ २ ॥

भावार्थ - जैसे प्रभात वेला सूर्य द्वारा प्रकाश करती हुयी चली चलती है, वैसे ही मनुष्य अत्यन्त ज्ञानी पुरुष के आश्रय से बिजुली, सूर्य और अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा यान विमान आदि बनाकर कार्य सिद्ध करें ॥ २ ॥

कस्ते मद॑ इन्द्र रन्त्यो॑ भूद् दुरो॒ गिरो॑ अ॒भ्यु१॒ग्रो वि धा॑व । कद् वाहो॑ अ॒र्वागुप॑ मा मनी॒षा आ त्वा॑ शक्यामुप॒मं राधो॒ अन्नैः॑ ॥ ३ ॥

कः । ते॒ । मदः॑ । इन्द्र॒ । रन्त्यः॑ । भूत् । दुरः॑ । गिरः॑ । अ॒भि । उ॒ग्रः । वि । धा॒व॒ ॥ कत् । वाहः॑ । अ॒र्वाक् । उप॑ । मा॒ । म॒नी॒षा । आ । त्वा॒ । श॒क्या॒म् । उ॒प॒ऽमम् । राधः॑ । अन्नैः॑ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (कः) कौन सा (ते) तेरा (मदः) हर्ष (रन्त्यः [हमारे लिये] आनन्द दायक (भूत्) होवे, (उग्रः) तेजस्वी तू (गिरः) स्तुतियों को (अभि) प्राप्त होकर (दुरः) [हमारे] द्वारों पर (वि धाव) दौड़ता आ । (कत्) कब (वाहः) वाहन [घोड़ा रथ आदि] (मनीषा) बुद्धि के साथ (मा उप) मेरे समीप (अर्वाक्) सामने [होवे], और (उपमम्) समीपस्थ (त्वा) तुझ को (आ) प्राप्त

सेनापतिना (रथः) यानभेदः (यः) रथः (असत्) भवेत् (सखवान्) पशु संभक्तौ - क्वसु । सेवमानः ॥

३ -(कः) (ते) तव (मदः) हर्षः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (रन्त्यः) वसेस्तिः । उ० ४ । १८० । रमु क्रीडायाम्—तिप्रत्ययः । हितार्थे यत् । रन्तये रमणाय हितः । रमयिता । प्रीतिकरः (भूत्) भवेत् (दुरः) अस्माकं द्वाराणि (गिरः) स्तुतीः (अभि) अभिगत्य । प्राप्य (उग्रः) तेजस्वी (वि) विविधम् (धाव) धावु गतिशुद्ध्योः । शीघ्रमागच्छ (कत्) कदा (वाहः) वाहकः । अश्वरथादिकः (अर्वाक्) अभिमुखः (उप) उपेत्य

(उ) और (अन्नैः) अन्नों के सहित (राधः) धन (शक्याम्) पाने को समर्थ हो जाऊं ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रजागण पुरुषार्थी धार्मिक राजा का आदर पूर्वक निमन्त्रण कर के उन्नति के उपायों का विचार करें ॥ ३ ॥

कदु द्युम्नमिन्द्र त्वावतो नॄन् कया धिया करसे कन्न आगन् । मित्रो न सत्य उरुगाय भृत्या अन्ने समस्य यदसन्मनीषाः ॥ ४ ॥

कत् । ऊं इति । द्युम्नम् । इन्द्र । त्वा-वतः । नॄन् । कया । धिया । करसे । कत् । नः । आ । अगन् ॥ मित्रः । न । सत्यः । उरु-गाय । भृत्यै । अन्ने । समस्य । यत् । असन् । मनीषाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वावतः) तुझ जैसे का (द्युम्नम्) यश (नॄन्) नेताओं में (कत् उ) किस को है, (कया धिया) किस बुद्धि के साथ (करसे) तू कर्तव्य करेगा, (उरुगाय, हे बहुत कीर्ति वाले ! (कत्) कैसे (नः) हम को (सत्यः) सच्चे (मित्रः न) मित्र के समान (भृत्यै) पालने के लिये (आ अगन्) तू प्राप्त हुआ है, (यत्) क्योंकि (अन्ने) अन्न में (समस्य) सब की (मनीषाः) बुद्धियां (असन्) रहती हैं ॥४॥

(मा) माम् (मनीषा) प्रज्ञया (आ) आगत्य । प्राप्य (त्वा) त्वाम् (शक्याम्) प्राप्नुं शक्नुयाम् (उपमम्) समीपस्थम् (राधः) धनम् (अन्नैः) अदनीयपदार्थैः ॥

४—(कत्) कस्मै मनुष्याय (उ) एव (द्युम्नम्) अ० ६ । ३५ । ३ । द्योतमानं यशः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वावतः) त्वत्सदृशस्य (नॄन्) सप्तम्यर्थे द्वितीया । नेतृषु (कया) कीदृश्या (धिया) प्रज्ञया (करसे) करोतेर्लेट् । कर्तव्यं करिष्यसि (कत्) कथम् (नः) अस्मान् (आ अगन्) प्राप्तवानसि (मित्रः) सखा (न) यथा (सत्यः) सत्यशीलः (उरुगाय) अ० २ । १२ । १ । बहुकीर्ते (भृत्यै) भरणाय । पोषणाय (अन्ने) (समस्य) सर्वस्य (यत्) यतः (असन्) लेट् । भवन्ति (मनीषाः) बुद्धयः ॥

भावार्थ—मनुष्य संसार में अत्यन्त कीर्ति पाकर अपना पुरुषार्थ सिद्ध करने के लिये प्रजा की रक्षा का विचार सच्चे हृदय से करता रहे ॥ ४ ॥

प्रेरय सूरो अर्थं न पारं ये अस्य कामं जनिधा इव ग्मन् ।
गिरश्च ये ते तुविजात पूर्वीर्नर इन्द्र प्रतिशिक्षन्त्यन्नैः ॥ ५ ॥

प्र । ईरय । सूरः । अर्थम् । न । पारम् । ये । अस्य । कामम् । जनिधाःऽइव । ग्मन् ॥ गिरः । च । ये । ते । तुविऽजात । पूर्वीः । नरः । इन्द्र । प्रतिऽशिक्षन्ति । अन्नैः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(तुविजात) हे बहुत प्रकार से प्रसिद्ध (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सूरः न) सूर्य के समान तू [उन को] (अर्थम्) पाने योग्य (पारम्) पार की ओर (प्र ईरय) आगे बढ़ा (ये) जो (जनिधाः इव) वीरों को उत्पन्न करने वाली पत्नियों के धारण करने वाले के समान (अस्य) उस [तेरे] (कामम्) मनोरथ को (ग्मन्) प्राप्त होते हैं, (च) और (ये) जो (नरः) नेता लोग (ते) तेरे लिये (पूर्वीः) सनातन (गिरः) वाणियों [विद्याओं] को (अन्नैः) अन्नों के साथ (प्रतिशिक्षन्ति) समर्पण करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य वीरसू पत्नी का प्रयत्न पूर्वक आदर करते हैं, वैसे ही राजा हितैषी नेता पुरुषों की उन्नति में तत्पर रहे ॥ ५ ॥

५—(प्र) प्रकर्षेण (ईरय) गमय (सूरः) सुसूधाञ्गृधिभ्यः क्रन् । उ० २ । २४ । षू प्रेरणे—क्रन् । सूर्यः (अर्थम्) उषिकुषिगर्तिभ्यस्थन् । उ० २ । ४ । ऋ गतौ—थन् । अरणीयं प्रापणीयम् (न) यथा (पारम्) परतीरम् (ये) पुरुषाः (अस्य) त्वदीयस्य (कामम्) मनोरथम् (जनिधाः) अ० २ । ३० । ५ । जनि + दधातेः—क्विप् । जनीनां वीरपुत्रजनयित्रीणां पत्नीनां भर्तारः (इव) यथा (ग्मन्) अगमन् । प्राप्नुवन्ति (गिरः) वाणीः । विद्याः (च) (ये) (ते) तुभ्यम् (तुविजात) बहुप्रसिद्ध (पूर्वीः) सनातनीः (नरः) नेतारः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (प्रतिशिक्षन्ति) शिक्षतिर्दानकर्मा—निघ० ३ । २० । प्रत्यक्षं ददति । समर्पयन्ति (अन्नैः) ॥

मात्रे नु ते सुमिते इन्द्र पूर्वी द्यौर्मज्मना पृथिवी काव्येन।
वराय ते घृतवन्तः सुतासः स्वाद्मन् भवन्तु पीतये मधूनि ॥६॥
मात्रे इति। नु। ते। सुमिते इति सु-मिते। इन्द्र। पूर्वी इति। द्यौः। मज्मना। पृथिवी। काव्येन॥ वराय। ते। घृत-वन्तः। सुतासः। स्वाद्मन्। भवन्तु। पीतये। मधूनि ।६।

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नु) निश्चय करके (ते) तेरी (मात्रे) दो मात्रायें [उपाय शक्तियां] (सुमिते) अच्छे प्रकार नापी गयीं [जांची गयीं], (पूर्वी) सनातनी हैं कि तू (मज्मना) अपने बल से और (काव्येन) बुद्धिमत्ता से (द्यौः) चमकते हुये सूर्य [के समान] और (पृथिवी) फैली हुई पृथिवी [के समान] है। (ते) तेरे (वराय) वर [श्रेष्ठफल] के लिये (घृतवन्तः) प्रकाशमान (सुतासः) निचोड़े हुये तत्त्व रस हैं (मधूनि) निश्चित ज्ञान रस (पीतये) पीने के लिये (स्वाद्मन्) स्वादिष्ठ (भवन्तु) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य दो उपायों अर्थात् पराक्रम और बुद्धि से सूर्य और भूमि के समान उपकारी होता है, उस की इष्ट सिद्धि के लिये संसार के सब पदार्थ उपयोगी होते हैं ॥ ६ ॥

आ मध्वो अस्मा असिचन्नमत्रमिन्द्राय पूर्णं स हि सत्यराधाः।
स वावृधे वरिमन्ना पृथिव्या अभि क्रत्वा नर्यः पौंस्यैश्च ॥७॥

६—(मात्रे) हुयामाश्रुभसिभ्यस्त्रन्। उ० ४। १६८। माङ् माने—त्रन्। द्वे मानकर्त्र्यौ बलशक्ती (नु) निश्चयेन (ते) तव (सुमिते) सुपरिमिते (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (पूर्वी) सनातन्यौ (द्यौः) द्योतमानः सूर्यो यथा (मज्मना) अ० १३। १। १४। अधिकेन बलेन (पृथिवी) विस्तृता भूमिर्यथा (काव्येन) कविकर्मणा। बुद्धिमत्तया (वराय) इष्टफलप्राप्तये (ते) तव (घृतवन्तः) दीप्तिमन्तः (सुतासः) निष्पादितास्तत्त्वरसाः (स्वाद्मन्) सातिभ्यां मनिन्मनिणौ। उ० ४। १५३। ष्वद स्वाद वा आस्वादने—मनिण, विभक्तेर्लुक्। स्वाद्मानि। स्वादिष्ठानि (भवन्तु) (पीतये) पानाय। ग्रहणाय (मधूनि) निश्चितज्ञानानि ॥

आ। मध्वः। अस्मै। अुसिचन्। अमत्रम्। इन्द्राय। पूर्णम्। सः। हि। सत्य-राधाः॥ सः। वुवृधे। वरिमन्। आ। पृथिव्याः। अभि। क्रत्वा। नर्यैः। पौंस्यैः। च॥ ७॥

भाषार्थ—(अस्मै) इस (इन्द्राय) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले मनुष्य] के लिये (मध्वः) मधुर रस [उत्तम ज्ञान] का (पूर्णम्) पूरा (अमत्रम्) पात्र (आ) सब ओर से (असिचन्) उन्हों ने [विद्वानों ने] सींचा है,(हि) क्योंकि (सः) वह (सत्यराधाः) सच्चे साधक धन वाला है। (सः) वह (नर्यः) नरों का हितकारी (पृथिव्याः) पृथिवी के (वरिमन्) फैलाव में (क्रत्वा) अपनी बुद्धि से (च) और (पौंस्यैः) मनुष्य कर्मों से (अभि) सब प्रकार (आ) पूरा पूरा (ववृधे) बढ़ा है॥ ७॥

भावार्थ—विद्वानों का सिद्धान्त है कि पराक्रमी मनुष्य पूरा ज्ञानी होकर अपनी बुद्धि और कर्मों से परोपकार करता हुआ अभीष्ट पद अर्थात् मोक्ष सुख पाता है॥ ७॥

व्यानुळिन्द्रः पृतनाः स्वोजा आस्मै यतन्ते सुख्याय पूर्वीः।
आ स्मा रथं न पृतनासु तिष्ठ यं भुद्रया सुमृत्या चोदयासे॥८॥

वि। आनुट्। इन्द्रः। पृतनाः। सु-ओजाः। आ। अुस्मै। यतन्ते। सुख्याय। पूर्वीः॥ आ। स्म। रथम्। न। पृतनासु। तिष्ठ। यम्। भुद्रया। सु-मृत्या। चोदयासे॥ ८॥

७—(आ) समन्तात् (मध्वः) मधुनः। मधुररसस्य। उत्तमज्ञानस्य (अस्मै) (असिचन्) असिञ्चन्। सिक्तवन्तः (अमत्रम्) पात्रम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (पूर्णम्) (सः) (हि) यस्मात् कारणात् (सत्यराधाः) सत्यं राधः साधकं धनं यस्य सः (सः) (ववृधे) वृद्धिं चकार (वरिमन्) वरिमनि। उरुत्वे। विस्तारे (आ) समन्तात् (पृथिव्याः) भूमेः (अभि) सर्वतः (क्रत्वा) क्रतुना। प्रज्ञया (नर्यः) नृभ्यो हितः (पौंस्यैः) अ० २०। ६७। २। मनुष्यकर्मभिः (च)॥

शब्दार्थ—(स्वोजाः) सुन्दर बल वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाला पुरुष] (पृतनाः) मनुष्यों में (वि आनट्) फैल गया है, (अस्मै) इस की (सख्याय) मित्रता के लिये (पूर्वीः) सब [मनुष्य] (आ यतन्ते) यत्न करते रहते हैं। [हे राजन्!] (न) अब (पृतनासु) मनुष्यों के बीच (स्म) अवश्य (रथम्) रथ पर (आ तिष्ठ) तू चढ़, (यम्) जिस [रथ] को (भद्रया) कल्याणी (सुमत्या) सुमति के साथ (चोदयासे) तू चलावेगा ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो धर्मात्मा पुरुष सब में प्रबल और सुबोध होता है, सब मनुष्य उसके मित्र बन जाते हैं और वह सभी रथ रूपी राजकाज आदि व्यवहार को उत्तम रीति से चलाता है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ७७ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४, ६ निचृत् त्रिष्टुप्; २ निचृत् पङ्क्तिः; ३, ५ त्रिष्टुप्; ७, ८ विराट् त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

आ सत्यो यातु मघवाँ ऋजीषी द्रवन्त्वस्य हरय उप नः।
तस्मा इदन्धः सुषुमा सुदक्षमिहाभिपित्वं करते गृणानः ॥१॥

आ। सत्यः। यातु। मघऽवान्। ऋजीषी। द्रवन्तु। अस्य। हरयः। उप। नः ॥ तस्मै। इत्। अन्धः। सुसुम। सुऽदक्षम्। इह। अभिऽपित्वम्। करते। गृणानः ॥ १ ॥

८—(वि आनट्) व्याप्नोति (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (पृतनाः) मनुष्यान्—निघ० २। ३ (स्वोजाः) शोभनबलः (आ) समन्तात् (अस्मै) षष्ठ्यर्थे चतुर्थी। अस्य। इन्द्रस्य (यतन्ते) यत्नं कुर्वन्ति (सख्याय) सखित्वाय मित्रभावाय (पूर्वीः) समस्ताः मनुष्यप्रजाः (स्म) अवश्यम् (रथम्) रथरूप राजव्यवहारम् (न) सम्प्रति (पृतनासु) मनुष्येषु (आ तिष्ठ) आरोह (यम्) रथम् (भद्रया) कल्याण्या (सुमत्या) शोभनया बुद्ध्या (चोदयासे) लेटि रूपम्। चोदयेः। प्रेरयेः ॥

भाषार्थ—(सत्यः) सच्चा [सत्यवादी, सत्यकर्मी], (मघवान्) महाधनी, (ऋजीषी) सरल स्वभाव वाला [राजा] (आ यातु) आवे, और (अस्य) इस [राजा] के (हरयः) मनुष्य (नः) हमारे (उपद्रवन्तु) पास आवें। (तस्मै) उस के लिये (इत्) ही (सुदक्षम्) सुन्दर बल वाला (अन्धः) अन्न (सुषुम) हमने सिद्ध किया है, (गृणानः) उपदेश करता हुआ वह (इह) यहां (अभिपित्वम्) मेल मिलाप (करते) करे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और राजा के पुरुष धर्मात्मा होकर प्रेम से प्रजा का पालन करें, और प्रजागण भी ऐश्वर्य बढ़ाकर उस से प्रीति करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—४। १६। १—८॥

अव॑ स्य शू॒राध्व॑नो॒ नान्ते॑ऽस्मिन् नो॑ अ॒द्य सव॑ने म॒न्दध्यै॑।
शंसा॑त्यु॒क्थमु॒शने॑व वे॒धाश्चि॑कि॒तुषे॑ असु॒र्या॑य॒ मन्म॑ ॥ २ ॥

अव॑। स्यः। शू॒र॒। अध्व॑नः। न। अन्ते॑। अ॒स्मिन्। नः॒। अ॒द्य। सव॑ने। म॒न्दध्यै॑ ॥ शंसा॑ति। उ॒क्थम्। उ॒शना॑ऽइव। वे॒धाः। चि॒कि॒तुषे॑। अ॒सु॒र्या॑य। मन्म॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(शूर) हे शूर ! [राजन्] (अद्य) अब (अस्मिन्) इस (अन्ते) पास वाले (सवने) ऐश्वर्य में (मन्दध्यै) आनन्द करने के लिये (नः)

१—(आ यातु) आगच्छतु (सत्यः) सत्यवादी। सत्यकर्मी (मघवान्) धनवान् (ऋजीषी) अर्जेर्ऋज च। उ० ४। २८। अर्ज संचये—ईषन्, कित्, ऋजादेशः, यद्वा, ऋज गतिस्थानार्जनोपार्जनेषु ईषन्, कित्, ऋजीष—इनि। ऋजुस्वभावः। सरलस्वभावः (द्रवन्तु) गच्छन्तु (अस्य) राज्ञः (हरयः) मनुष्याः (उप) (नः) अस्मान् (तस्मै) राज्ञे (इत्) एव (अन्धः) अन्नम् (सुषुम) अ० २०। ३। १। वयं निष्पादितवन्तः (सुदक्षम्) शोभनबलयुक्तम् (इह) (अभिपित्वम्) अ० २०। २५। ६। संगमम् (करते) कुर्यात् (गृणानः) उपदिशन् ॥

२—(अव स्य) षो अन्तकर्मणि—लोट्। विनाशय (शूर) हे निर्भय राजन् (अध्वनः) मार्गान् (न) निषेधे (अन्ते) समीपस्थे (अस्मिन्) (नः)

हमारे (अध्वनः) मार्गों को (न) मत (अव स्य) विनष्ट कर । (उशना इव) चाहने योग्य पुरुष के समान (वेधाः) बुद्धिमान् पुरुष (चिकितुषे) ज्ञानवान् (असुर्याय) प्राणियों के हितकारी के लिये (उक्थम्) कहने योग्य कर्म और (मन्म) मनन योग्य ज्ञान को (शमति) कहे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा उपाय करे कि सब लोग बेरोक स्वतन्त्र होकर संसार के पदार्थों से उन्नति करें और विद्वान् लोग मिलकर प्राणियों के हित के लिये विचार करते रहें ॥ २ ॥

कृविर्न निण्यं विदथानि साधन् वृषा यत् सेकं विपिपानो अर्चात् । दिव इत्था जीजनत् सप्त कारूनह्ना चिच्चक्रुर्वयुना गृणन्तः ॥ ३ ॥

कविः । न । निण्यम् । विदथानि । साधन् । वृषा । यत् । सेकम् । वि-पिपानः । अर्चात् ॥ दिवः । इत्था । जीजनत् । सप्त । कारून् । अह्ना । चित् । चक्रुः । वयुना । गृणन्तः ॥३॥

भाषार्थ—(कविः न) जैसे बुद्धिमान् पुरुष (विदथानि) जानने योग्य कर्मों को (साधन्) सिद्ध करता हुआ (निण्यम्) गूढ़ अर्थ को, [वैसे ही] (यत्) जो (वृषा) सुखों का बरसाने वाला बलवान् [राजा] (सेकम्) सिञ्चन [वृद्धि के प्रयत्न] को (विपिपानः) विशेष करके रक्षा करता हुआ

अस्माकम् (अद्य) इदानीम् (सवने) ऐश्वर्ये (मन्दध्यै) तुमर्थे सेसेनसे-असेन्० । पा० ३ । ४ । ६ । मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु—अध्यैप्रत्ययः मन्दितुमानन्दितुम् (शमति) कथयेत् (उक्थम्) वक्तव्यं प्रशंसनीय कर्म (उशना) अ० २० । २५ । ५ । कमनीयः पुरुषः (इव) यथा (वेधाः) मेधावी (चिकितुषे) अ० ४ । ३० । २ । कित ज्ञाने—क्वसु । ज्ञानिने (असुर्याय) अ० २० । ५८ । ४ । प्राणिभ्यो हितकराय (मन्म) मननीय ज्ञानम् ॥

३—(कविः) मेधावी (न) यथा (निण्यम्) अ० ६ । १० । १५ । निर्+णीञ् प्रापणे—यक्, टिलोपो रेफलोपश्च । अन्तर्हितं गूढमर्थम् (विदथानि) ज्ञातव्यानि कर्माणि (साधन्) साधयन् (वृषा) सुखानां वर्षकः । बलिष्ठः (यत्) यः (सेकम्) सिञ्चनम् । वृद्धिप्रयत्नम् (विपिपानः) पा रक्षणे कानच् ।

(अर्चात्) सत्कार करे, वह (इत्था) इस प्रकार से (सप्त) सात (कारून्) काम करने वालों [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि, अथवा दो कान, दो नथने, दो आंख, और एक मुख, इन सात] को (दिवः) व्यवहार कुशल (अजीजनत्) उत्पन्न करे, (चित्) जैसे (गृणन्तः) उपदेश करते हुये पुरुषों ने (अह्ना) दिन के साथ (वयुनानि) जानने योग्य कर्मों को (चक्रुः) किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो राजा बुद्धिमानों के समान गूढ विचार वाला और बुद्धि करने वाला होता है, वह सात के शरीर और बुद्धि को व्यवहार कुशल करके पहिले महात्माओं के सदृश अद्भुत कर्मों को दिन के प्रकाश के समान प्रकट करता है ॥ ३ ॥

मन्त्र में (कारु) पद ऋषि आदि वाचक है। यजुर्वेद ३४। ५५ का वचन है (सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) शरीर में सात ऋषि रक्खे हुये हैं। [सप्त ऋषयः षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तमी] सात ऋषि छह इन्द्रियां और सातवीं विद्या [बुद्धि] है—निरु० १२। ३७ (कः सप्त खानि वि ततर्द शीर्षणि। कर्णाविमौ नासिके चक्षणी मुखम्] किसने [मनुष्य के] मस्तक में सात गोलक खोदे, यह दो कान, दोनों नथने, दोनों आंखें और एक मुख—अथ० १०। २। ६॥

स्व१र्यद्वेदि सुदृशीकमर्कैर्महि ज्योती रुरुचुर्यद्ध वस्तोः।
अन्धा तमांसि दुधिता विचक्षे नृभ्यश्चकार नृतमो अभिष्टौ॥४॥

स्वः। यत्। वेदि। सु-दृशीकम्। अर्कैः। महि। ज्योतिः। रुरुचुः। यत्। ह। वस्तोः॥ अन्धा। तमांसि। दुधिता। वि-चक्षे। नृ-भ्यः। चकार। नृ-तमः। अभिष्टौ॥४॥

विशेषे स्वान् (अर्चात्) सत्कुर्यात् (दिवः) दिवु व्यवहारे—क्विप्। व्यवहारकुशलान् (इत्था) अनेन प्रकारेण (अजीजनत्) जनी प्रादुर्भावे लिङर्थे लुङ्। अजीजनत्। जनयेत् (सप्त) सप्तसंख्यकान् (कारून्) कृवापा०। उ० १। १। करोतेः—उण्। कार्यकर्तॄन् सप्तऋषीन्। अ० ४। ११। ९। सप्त होतॄन्। अ० ४। २४। ३ (अह्ना) दिवसेन (चित्) यथा (चक्रुः) कृतवन्तः (वयुनानि) अ० २। २८। २। ज्ञातव्यानि कर्माणि (गृणन्तः) उपदिशन्तः॥

भाषार्थ—(यत्) जो (अर्कैः) पूजनीय विचारों से (सुदृशीकम्) उत्तम प्रकार से देखने योग्य, (महि) बड़ा (ज्योतिः) प्रकाशमय (स्वः) सुख (वेदि) जाना गया है, और (यत्) जिस [सुख] से (ह) निश्चय करके (वस्तोः) दिन [के समान] (रुरुचुः) वे [विद्वान् जन] प्रकाशित हुये हैं। [उस सुख के लिये] (नृतमः) सब से बड़े नेता पुरुष ने (अभिष्टौ) सब प्रकार मिलाप में (नृभ्यः) नेता लोगों के निमित्त (विचक्षे) विशेष करके देखने के अर्थ (अन्धा) भारी (तमांसि) अन्धकारों को (दुधिता) नष्ट (चकार) किया है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस सुख को महात्मा लोगों ने बड़े विचारों से अनुभव करके हृदय का आवरण हटाया है, उस सुख को सुनीतिज्ञ राजा सूर्य के प्रकाश के समान विद्वानों में बढ़ाकर प्रजा पालन करे ॥ ४ ॥

ववक्ष इन्द्रो अमितमृजीष्युभे आ पप्रौ रोदसी महित्वा ।
अतश्चिदस्य महिमा वि रेच्यभि यो विश्वा भुवना बभूव ॥५॥

ववक्षे । इन्द्रः । अमितम् । ऋजीषी । उभे इति । आ । पप्रौ ।
रोदसी इति । महि-त्वा ॥ अतः । चित् । अस्य । महिमा ।
वि । रेचि । अभि । यः । विश्वा । भुवना । बभूव ॥ ५ ॥

४—(स्वः) सुखम् (यत्) (वेदि) अवेदि । ज्ञातम् (सुदृशीकम्) सुदृशः कीकच्कङ्कणौ । उ० ४ । २४ । दृशेः—कीकच् । सुष्ठु दर्शनीयम् (अर्कैः) पूजनीयविचारैः (महि) महत् (ज्योतिः) प्रकाशमयम् (रुरुचुः) दीप्तियुक्ता बभूवुः, ते विद्वांसः (यत्) येन सुखेन (ह) निश्चयेन (वस्तोः) दिनम् । दिनप्रकाशो यथा (अन्धा) अन्धानि । निबिडानि (तमांसि) अन्धकारान् (दुधिता) दुधिर् अर्दने—क्त, इत्वं च । दुधितानि । नाशितानि (विचक्षे) चक्षिङ् व्यक्तायां वाचि दर्शने च—क्विप । विशेषेण दर्शनाय (नृभ्यः) नेतृभ्यः (चकार) कृतवान् (नृतमः) अतिशयेन नेता (अभिष्टौ) यजेः क्तिन् । सर्वतः सङ्गतौ ॥

भावार्थ—(ऋजीषी) सरल स्वभाव वाले (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] ने (अमितम्) बेनाप सामर्थ्य को (ववक्षे) पाया है, और (महित्वा) अपनी महिमा से (उभे) दोनों (रोदसी) सूर्य और भूमि को (आ) सब प्रकार (पप्रौ) भर दिया है। (अतः) इस कारण से (चित्) ही (अस्य) इस [जगदीश्वर] की (महिमा) महिमा (वि) विशेष करके (रेचि) अधिक हुई है, (यः) जो (विश्वा) सब (भुवना) लोकों में (अभि बभूव) व्यापक हुआ है॥ ५ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अपने अतोल बल से अनन्त संसार को धारण कर रहा है, उसी के गुण जानकर मनुष्य अपना सामर्थ्य बढ़ावें ॥ ५ ॥

विश्वानि शुक्रो नर्याणि विद्वानपो रिरेच सखिभिर्निकामैः ।
अश्मानं चिद् ये बिभिदुर्वचोभिर्व्रजं गोमन्तमुशिजो वि वव्रुः ॥६

विश्वानि । शुक्रः । नर्याणि । विद्वान् । अपः । रिरेच । सखि-भिः । नि-कामैः ॥ अश्मानम् । चित् । ये । बिभिदुः । वचः-भिः । व्रजम् । गो-मन्तम् । उशिजः । वि । वव्रुरिति वव्रुः ॥ ६ ॥

भावार्थ—(विद्वान्) विद्वान् (शक्रः) शक्ति वाले [इन्द्र मनुष्य] ने

५—(ववक्षे) वहतेर्लिडर्थे लेट्। सिब्बहुलं लेटि। पा० ३ । १ । ३४ इति सिप्। बहुलं छन्दसि। पा० २ । ४ । ७६ । इति शपः श्लुः। ढत्वकत्वषत्वानि। लोपस्त आत्मनेपदेषु। पा० ७ । १ । ४१ । इति तलोपः। वहते, गतिकर्मा-निघ० २ । १४ । उवाह। प्राप (इन्द्रः) परमैश्वर्ययुक्तो जगदीश्वरः (अमितम्) अपरिमित सामर्थ्यम् (ऋजीषी) म० १ । सरलस्वभावः (उभे) द्वे (आ) समन्तात् (पप्रौ) पूरितवान् (रोदसी) सूर्यभूमी (महित्वा) महत्त्वेन (अतः) अस्मात् कारणात् (चित्) एव (महिमा) (अस्य) ईश्वरस्य (वि) विशेषेण (रेचि) अरेचि। अधिकोऽभवत (अभि) अभीत्य। व्याप्य (यः) ईश्वरः (विश्वा) सर्वाणि (भुवना) भुवनानि (बभूव) ॥

६—(विश्वानि) सर्वाणि (शक्रः) शक्तिमान् राजा (नर्याणि)

(निकामैः) निश्चित कामना वाले (सखिभिः) मित्रों के साथ (विश्वानि) सब (नर्याणि) नेताओं के हितकारी (अपः) कर्मों को (रिरेच) फैलाया है। (ये) जिन [बुद्धिमानों] ने (वचोभि.) अपने वचनों से (अश्मानम्) व्यापक विघ्न [अथवा मेघ के समान अन्धकार फैलाने वाले शत्रु] को (चित्) निश्चय कर के (विभिदुः) तोड़ा फोड़ा है, (उशिजः) उन बुद्धिमानों ने (गोमन्तम्) वेदवाणी वाले (व्रजम्) मार्ग को (वि वव्रुः) खोल दिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि सत्यवादी पराक्रमी मित्रों के साथ अज्ञान का नाश कर के विद्या की वृद्धि से प्रजा पालन करे ॥ ६ ॥

अपो वृत्रं वव्रिवांसं पराहन् प्रावत् ते वज्रं पृथिवी सचेताः।
प्रार्णांसि समुद्रियाण्यैनोः पतिर्भवं छवसा शूर धृष्णो ॥ ७ ॥

अपः । वृत्रम् । वव्रि-वांसम् । परा । अहन् । प्र । आवत् । ते । वज्रम् । पृथिवी । स-चेताः ॥ प्र । अर्णांसि । समुद्रियाणि । ऐनोः । पतिः । भवन् । शवसा । शूर । धृष्णो इति ॥ ७ ॥

भावार्थ—(धृष्णो) हे साहसी (शूर) शूर पुरुष ! (शवसा) बल के साथ (पतिः) स्वामी (भवन्) होते हुये तू ने (अपः) कर्म के (वव्रिवांसम्) रोकने वाले (वृत्रम्) अन्धकार को (परा अहन्) मार फेंका है, (सचेताः)

नेतृभ्यो हितानि (विद्वान्) (अपः) बहुवचनस्यैकवचनम् । अपांसि कर्माणि (रिरेच) रिचिर् विरेचने । व्यक्तीकृतवान् (सखिभिः) मित्रैः (निकामैः) निश्चितकामनायुक्तैः (अश्मानम्) व्यापकं विघ्नम् । मेघमिवान्धकारकरं शत्रुम् (चित्) निश्चयेन (ये) मेधाविनः (विभिदुः) छिन्नभिन्नं कृतवन्तः (वचोभिः) वचनैः (व्रजम्) मार्गम् (गोमन्तम्) वेदवाणीयुक्तम् (उशिजः) शुभगुणान् कामयमाना मेधाविनः (वि वव्रुः) विवृतं व्यक्तं कृतवन्तः ॥

७—(अपः) कर्म-निघ० २ । १ (वृत्रम्) अन्धकारम् (वव्रिवांसम्) वृणोतेः—क्वसु । आवरकम् (परा) दूरे (अहन्) मध्यमपुरुषस्य प्रथमः । अहः । नाशितवानसि (प्र) प्रकर्षेण (आवत्)' अव रक्षणादानादिषु—लङ् । गृहीतवती (ते) तव (वज्रम्) दण्डम् । शासनम् (पृथिवी) (सचेतः)

सचेत (पृथिवी) भूमि ने (ते) तेरे (वज्रम्) वज्र [शासन] को (प्र) अच्छे प्रकार (आयत्) माना है, और तू ने (समुद्रियाणि) समुद्र के योग्य (अर्णांसि) बहते हुये जलों को (प्र) आगे को (ऐनोः) चलाया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—पुरुषार्थी राजा कर्म प्रधान होकर प्रजा को शासन में रक्खे और खेती आदि सींचने के लिये नदी नालों को पहाड़ों से समुद्र तक पहुंचावे ॥ ७ ॥

अपो यदद्रिं पुरुहूत दर्दराविर्भुवत् सरमा पूर्व्यं ते। स नो नेता वाजमा दर्षि भूरिं गोत्रा रुजन्नङ्गिरोभिर्गृणानः ॥ ८ ॥

अपः। यत्। अद्रिम्। पुरु-हूत। दर्दः। आविः। भुवत्। सरमा। पूर्व्यम्। ते ॥ सः। नः। नेता। वाजम्। आ। दर्षि। भूरिम्। गोत्रा। रुजन्। अङ्गिरः-भिः। गृणानः ॥८॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये [राजन् !] (यत्) जब तू (अपः) जलों को (अद्रिम्) पहाड़ से (दर्दः) तोड़े, [तब] (ते) तेरी (सरमा) चलने योग्य सरल नीति (पूर्व्यम्) सनातन व्यवहार को (आविः भुवत्) प्रकट करे। (सः) सो तू (नः) हमारा (नेता) नेता होकर, (गोत्रा) पहाड़ों को [मार्ग के लिये] (रुजन्) तोड़ता हुआ और

चेतनावती (प्र) प्रकर्षेण (अर्णांसि) गतिमन्ति जलानि (समुद्रियाणि) समुद्रार्हाणि (ऐनोः) इण् गतौ, अन्तर्गतण्यर्थः—लङ्, आडागमो वृद्धिश्च, छान्दसः श्नुः। अगमयः। प्रेरितवानसि (पतिः) स्वामी (भवन्) सन् (शवसा) बलेन (शूर) वीर (धृष्णो) दृढात्मन् ॥

८—(अपः) जलानि (यत्) यदा (अद्रिम्) अद्रिसकाशात् पर्वतात् (पुरुहूत) हे बहुभिराहूत (दर्दः) दॄ विदारणे—लुङ् लिङर्थे। विदारयेः (आविः) प्राकट्ये (भुवत्) अन्तर्गतण्यर्थः। भावयेत्। कुर्यात् (सरमा) अ० ६।४।१३। सृ गतौ—अमप्रत्ययः, टाप्। सरमा पदनाम—निघ० ५।५। सरणीया। प्राप्तव्या सरला नीतिः (पूर्व्यम्) पुराणं व्यवहारम् (ते) तव (सः) स त्वम् (नः) अस्माकम् (नेता) नायकः (वाजम्) अन्नम् (आ दर्षि)

(अङ्गिरोभिः) विद्वानों के साथ (गृणानः) उपदेश करता हुआ (भूरिम्) बहुत (वाजम्) पराक्रम को (आ दर्षि) आदर करे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब राजा उत्तम नीति से पहाड़ों से नदी नाले निकाल कर प्रजा को खेती शिल्प आदि व्यवहारों से प्रसन्न रखता है, वह विद्वानों के साथ आने जाने के लिये मार्गों को खोल कर आदर के साथ सामर्थ्य बढ़ाता है ॥८॥

सूक्तम् ७८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजावर्तनोपदेशः—राजा और प्रजा के वर्ताव का उपदेश ॥

तद् वो॑ गाय सु॒ते सचा॑ पुरुहू॒ताय॒ सत्व॑ने । शं यद् गवे॒ न शा॒किने॑ ॥ १ ॥

तत् । वः॒ । गा॒य॒ । सु॒ते । सचा॑ । पु॒रु॒ऽहू॒ताय॑ । सत्व॑ने ॥ शम् । यत् । गवे॑ । न । शा॒किने॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वः) अपने लिये (सुते) उत्पन्न संसार के बीच (सचा) नित्य मिलाप के साथ (पुरुहूताय) बहुतों से बुलाये गये, (शाकिने) शक्तिमान् (सत्वने) वीर राजा के लिये (तत्) उस कर्म को (गाय) तुम गाओ, (यत्) जो (न) अब (गवे) भूमि के लिये (शम्) सुखदायक [होवे] ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पुरुषार्थी राजा का उत्साह सर्वहितकारी काम करने के लिये बढ़ाते रहें ॥ १ ॥

अ० २० । ५२ । ३ । लोडर्थे लट् । आद्रियस्व (भूरिम्) प्रभूतम् (गोत्रा) गोत्रान् । शैलान् (रुजन्) भञ्जन् (अङ्गिरोभिः) विद्वद्भिः (गृणानः) उपदिशन् ॥

१—(तत्) प्रसिद्धं कर्म (वः) युष्मभ्यम् (गाय) गायत यूयम् (सुते) उत्पन्ने जगति (सचा) नित्यसम्बन्धेन (पुरुहूताय) बहुविधाहूताय (सत्वने) अ० ५ । २० । ८ । वीराय राज्ञे (शम्) सुखप्रदम् (यत्) कर्म (गवे) भूम्यै (न) सम्प्रति (शाकिने) शक्तिमते ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—६ । ४५ । २२—२४ सामवेद—उ० ८ । २ । तृच ४ । मन्त्र १ साम० पू० २ । ३ । १ ॥

न घा वसुर्नि यमते दानं वाजस्य गोमतः । यत् सीमुप श्रवद् गिरः ॥ २ ॥

न । घ । वसुः । नि । यमते । दानम् । वाजस्य । गो-मतः ॥ यत् । सीम् । उप । श्रवत् । गिरः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसुः) बसाने वाला राजा (गोमतः) उत्तम विद्या से युक्त (वाजस्य) बल के (दानम्) दान को (न घ) कभी नहीं (नि यमते) रोके, (यत्) जब कि वह (गिरः) हमारी वाणियों को (सीम्) सब प्रकार (उप श्रवत्) सुन लेवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा के क्लेशों को ध्यान में रखकर उत्तम विद्या देकर उन का बल बढ़ावे ॥ २ ॥

कुवित्संस्य प्र हि व्रजं गोमन्तं दस्युहा गमत् । शचीभिरप नो वरत् ॥ ३ ॥

कुवित्-सस्य । प्र । हि । व्रजम् । गो-मन्तम् । दस्यु-हा । गमत् ॥ शचीभिः । अपः । नः । वरत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दस्युहा) डाकुओं का मारने वाला राजा (कुवित्सस्य) बहुत दानी पुरुष के (हि) ही (गोमन्तम्) उत्तम विद्याओं से युक्त (व्रजम्)

२—(न) निषेधे (घ) एव (वसुः) वासयिता (नि) नितराम् (यमते) यमु उपरमे । उपरतं निरुद्धं कुर्यात् (दानम्) (वाजस्य) बलस्य (गोमतः) प्रशस्तविद्यायुक्तस्य (यत्) यदा (सीम्) सर्वतः (उप) समीपे (श्रवत्) शृणुयात् (गिरः) वाणीः ॥

३—(कुवित्सस्य) कुवित् बहुनाम—निघ० ३ । १, षणु दाने—डप्रत्ययः । बहुदानशीलस्य (प्र) प्रकर्षेण (हि) एव (व्रजम्) मार्गम् (गोमन्तम्)

मार्ग पर (प्र) अच्छे प्रकार (गमत्) चले और (शचीभिः) बुद्धियों वा कर्मों के साथ (नः) हम को (अप) आनन्द से (वरत्) स्वीकार करे ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा दानी विद्वानों की नीति को मानकर श्रेष्ठों की सदा रक्षा करे ॥ ३ ॥

सूक्तम् ७९ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती; २ स्वराडार्षी बृहती ॥
राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्र क्रतुं न आ भर पिता पुत्रेभ्यो यथा । शिक्षा णो अस्मिन् पुरुहूत यामनि जीवा ज्योतिरशीमहि ॥ १ ॥

इन्द्र । क्रतुम् । नः । आ । भर । पिता । पुत्रेभ्यः । यथा ॥ शिक्ष । नः । अस्मिन् । पुरु-हूत । यामनि । जीवाः । ज्योतिः । अशीमहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले राजन्] तू (नः) हमारे लिये (क्रतुम्) बुद्धि (आ भर) भर दे, (यथा) जैसे (पिता) पिता (पुत्रेभ्यः) पुत्रों [सन्तानों] के लिये । (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये [राजन् !] (अस्मिन्) इस (यामनि) समय वा मार्ग में (नः) हमें (शिक्ष) शिक्षा दे, [जिस से] (जीवाः) हम जीव लोग (ज्योतिः) प्रकाश को (अशीमहि) पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा उत्तम उत्तम विद्यालय, शिल्पालय आदि खोलकर प्रजा का हित करे जैसे पिता सन्तानों का हित करता है,जिस से लोग अज्ञानके अन्धकार से छूट कर ज्ञान के प्रकाश को प्राप्त होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १ आ चुका है-अ० १८ । ३ । ६७ ॥

प्रशस्तविद्याभियुक्तम् (दस्युहा) दस्यूनां दुष्टचोराणां नाशकः (गमत्) गच्छेत् (शचीभिः) प्रज्ञाभिः कर्मभिर्वा (अप) आनन्दे (नः) अस्मान् (वरत्) वृणुयात् । स्वीकुर्यात् ॥

१—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० १८ । ३ । ६७ ॥

मा नो अज्ञाता वृजना दुराध्यो३ माशिवासो अव क्रमुः ।
त्वया वयं प्रवतः शश्वतीरपोऽति शूर तरामसि ॥ २ ॥

मा । नः । अज्ञाताः । वृजनाः । दुः-आध्यः । मा । अशिवासः । अव । क्रमुः ॥ त्वया । वयम् । प्र-वतः । शश्वतीः । अपः । अति । शूर । तरामसि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(नः) हम को (मा) न तो (अज्ञाताः) अनजाने हुये (वृजनाः) पापी, (दुराध्यः) दुष्ट बुद्धि वाले, और (मा) न (अशिवासः) अकल्याणकारी लोग (अव क्रमुः) उल्लंघन करें। (शूर) हे शूर (त्वया) तेरे साथ (वयम्) हम (प्रवतः) नीचे देशों [खाई, सुरङ्ग आदि] और (शश्वतीः) बढ़ते हुये (अपः) जलों को (अति) लांघ कर (तरामसि) पार हो जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि गुप्त दुराचारी लोग प्रजा को न सतावें और नौका, यान, विमान आदि से अपने लोग कठिन मार्गों को सुख से पार करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३२ । २७; सामवेद—उ० ६ । ३ । ६ ॥

सूक्तम् ८० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराट् पथ्या बृहती; २ ब्राह्मी गायत्री छन्दः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

२—(मा) निषेधे (नः) अस्मान् (अज्ञाताः) अविदिताः । गुप्ताः (वृजनाः) पापिनः (दुराध्यः) दुर्+आङ्+ध्यै चिन्तायाम्—क्विप् । दुराधियः । दुष्टाभिप्रायाः (मा) निषेधे (अशिवासः) अकल्याणकराः (अव क्रमुः) अवक्रमन्तु । उल्लङ्घयन्तु (त्वया) (वयम्) (प्रवतः) निम्नान् देशान् (शश्वतीः) वर्तमाने पृषद्बृहन्महज्जगच्छतृवच्च । उ० २ । ८४ । टुओश्वि गतिवृद्ध्योः—अति, अभ्यासवकारलोपे इकारस्य अकारः । वर्धमानाः । बह्वीः—निघ० ३ । १ (अपः) जलानि (अति) अतीत्य (शूर) निर्भय (तरामसि) उल्लङ्घेमहि ॥

इन्द्र ज्येष्ठं न आ भरँ ओजिष्ठं पपुरि श्रवः ।
येनेमे चित्र वज्रहस्त रोदसी ओभे सुशिप्र प्राः ॥ १ ॥

इन्द्र । ज्येष्ठम् । नः । आ । भर । ओजिष्ठम् । पपुरि । श्रवः ॥ येन । इमे इति । चित्र । वज्र-हस्त । रोदसी इति । आ । उभे इति । सु-शिप्र । प्राः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (नः) हमारे लिये (ज्येष्ठम्) अति श्रेष्ठ, (ओजिष्ठम्) अत्यन्त बल देने वाला, (पपुरि) पालन करने वाला (श्रवः) यश (आ) सब ओर से (भर) धारण कर (येन) जिस [यश] से, (चित्र) हे अद्भुत स्वभाव वाले, (वज्रहस्त) हे वज्र हाथ में रखने वाले ! (सुशिप्र) हे दृढ़ जावड़ों वाले ! (इमे) इन (उभे) दोनों (रोदसी) अन्तरिक्ष और भूमि को (आ प्राः) तू ने भर दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—दृढ़ स्वभाव और दृढ़ शरीर वाला राजा आकाश और भूमि पर चलने के लिये उपाय करके यशस्वी होवे ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—६ । ४६ । ५, ६, मन्त्र १ सामवेद-पू० ४। १०।१॥

त्वामुग्रमवसे चर्षणीसहं राजन् देवेषु हूमहे । विश्वा सु नो विथुरा पिब्दना वसोऽमित्रान् सुषहान् कृधि ॥ २ ॥

त्वाम् । उग्रम् । अवसे । चर्षणि-सहम् । राजन् । देवेषु । हूमहे ॥ विश्वा । सु । नः । विथुरा । पिब्दना । वसो इति ।

1—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (ज्येष्ठम्) अतिशयेन प्रशस्तम् (नः) अस्मभ्यम् (आ) समन्तात् (भर) धर (ओजिष्ठम्) अतिशयेन बलप्रदम् (पपुरि) आदृगमहन० । पा० ३ । २ । १७१ । पॄ पालनपूरणयोः—किन् । बहो- ष्ठ्यपूर्वस्य । पा० ७ । १ । १०२ । इत्युत्वम् । पालकम् । पोषकम् (श्रवः) यशः (येन) यशसा (इमे) दृश्यमाने (चित्र) अद्भुतस्वभाव (वज्रहस्त) शस्त्रास्त्रपाणे (रोदसी) अन्तरिक्षभूमी (आ) (उभे) (सुशिप्र) दृढहनो (प्राः) पूरितवानसि ॥

अमित्रान् । सु-सहान् । कृधि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(राजन्) हे राजन् ! (देवेषु) विद्वानों में (अवसे) रक्षा के लिये (उग्रम्) तेजस्वी, (चर्षणिसहम्) मनुष्यों के वश में रखने वाले (त्वाम्) तुझ को (हूमहे) हम पुकारते हैं। (वसो) हे बसाने वाले ! (नः) हमारे (विश्वा) सब (विथुरा) क्लेशों को (पिब्दना) खण्डन योग्य और (अमित्रान्) वैरियों को (सुसहान्) सहज में हारने योग्य (सु) सर्वथा (कृधि) कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा सदा ऐसा उपाय करे कि जिससे प्रजा के सब बाहिरी और भीतरी क्लेश दूर होवें ॥ २ ॥

सूक्तम् ८१ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ निचृत् सतः पङ्क्तिः ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः ।
न त्वा॑ वज्रिन्त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥ १ ॥

यत् । द्याव॑: । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । श॒तम् । भूमी॑: । उ॒त । स्यु॒रिति॑ स्युः ॥ न । त्वा॒ । व॒ज्रि॒न् । स॒हस्र॑म् । सूर्या॑: । अनु॑ । न । जा॒तम् । अ॒ष्ट॒ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥ १ ॥

२—(त्वाम्) (उग्रम्) तेजस्विनम् (अवसे) रक्षणाय (चर्षणिसहम्) मनुष्याणां सोढारम्। अभिभवितारं वशीकर्तारम् (राजन्) ऐश्वर्यवन् (देवेषु) विद्वत्सु (हूमहे) आह्वयामः (विश्वा) सर्वाणि (सु) सर्वथा (नः) अस्माकम् (विथुरा) ऋ० ७। ६५। १। व्यथ ताडने—उरच्, कित्। व्यथनानि। क्लेशान् (पिब्दना) कृपॄवृजिमन्दिनिधाञः क्युः। उ० २। ८१। अपि+दाप् लवने दो अवखण्डने वा क्यु। आतो लोप इटि च। पा० ६। ४। ६४। आकारलोपः, बकारोपजनः। अपिदनानि। अवखण्डनीयानि (वसो) हे वासयितः (अमित्रान्) शत्रून् (सुसहान्) सुखेन अभिभवनीयान् (कृधि) कुरु ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जो (शतम्) सौ (द्याव:) अन्तरिक्ष [वायु लोक], (उत) और (शतम्) सौ (भूमी:) भूमि लोक (ते) तेरे [सामने] (स्यु:) होवें, [तो वे सब] और (न) न (सहस्रम्) सहस्र (सूर्या) सूर्य लोक और (रोदसी) दोनों अन्तरिक्ष और भूमि लोक [मिल कर] और (न) न (जातम्) उत्पन्न हुआ जगत्, (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [परमात्मन्] (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (अष्ट) पा सके हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—सब असंख्य लोक और पदार्थ अलग अलग होकर अथवा सब मिलकर परमात्मा की महिमा का पार नहीं पा सकते ॥ १ ॥

यह दोनों मन्त्र ऋग्वेद में हैं—८ । ७० [सायणभाष्य ५६] । ५, ६ । सामवेद—उ० २ । २ । १७; और आगे हैं—अथ० २० । ९२ । २०, २१ । मन्त्र १ सा०—पू० ३ । ९ । ६ ॥

कठोपनिषद् का वचन है—वल्ली ५ श्लोक १५ [न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः । तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति] उस पर न सूर्य चमकता है, न चन्द्रमा और तारे, न ये बिजुलियां चमकती हैं, [फिर] यह अग्नि कहां, उसे ही चमकते हुये के पीछे सब चमकता है, उस की चमक से यह सब विविध प्रकार चमकता है ॥

आ पप्राथ महिना वृष्ण्या वृषन् विश्वा शविष्ठ शवसा ।
अस्माँ अव मघवन् गोमति व्रजे वज्रिं चित्राभिरूतिभिः ॥२॥

आ । पप्राथ । महिना । वृष्ण्या । वृषन् । विश्वा । शविष्ठ ।

१—(यत्) यदि (द्याव:) अन्तरिक्षलोकाः । वायुलोकाः (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (ते) तवाग्रे (शतम्) बहुसंख्याकाः (शतम्) (भूमीः) भूमयः (उत) अपि च (स्युः) भवेयुः (न) निषेधे (त्वा) त्वाम् (वज्रिन्) दण्डधारिन् । शासनकर्तः परमात्मन् (सहस्रम्) अगणिताः (सूर्या) सूर्यलोकाः (अनु) निरन्तरम् (न) निषेधे (जातम्) उत्पन्नं जगत् (अष्ट) अशू व्याप्तौ—लुङ्, अडभावः, बहुवचनस्यैकवचनम् । आप्त । आप्नुत । व्याप्तवन्तः (रोदसी) अन्तरिक्षभूमी ॥

शवसा ॥ अस्मान् । अव । मघ-वन् । गो-मति । व्रजे । वज्रिन् । चित्राभिः । ऊति-भिः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे शूर ! (शविष्ठ) हे अत्यन्त बली ! [परमात्मन्] (महिना) अपने बड़े (शवसा) बल से (विश्वा) सब (वृष्ण्या) शूर के योग्य बलों को (आ) सब ओर से (पप्राथ) तू ने भर दिया है। (मघवन्) हे महाधनी ! (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [शासक परमेश्वर] (गोमति) उत्तम विद्या वाले (व्रजे) मार्ग में (चित्राभिः) विचित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अस्मान्) हमें (अव) बचा ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा से प्रार्थना करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर यथावत् पालन करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुपरिष्टाद् बृहती; २ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

राजप्रजाजनकर्तव्योपदेशः—राज पुरुषों और प्रजा जनों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यदिन्द्र यावतस्त्वमेतावदहमीशीय । स्तोतारमिद् दिधिषेय रदावसो न पापत्वाय रासीय ॥ १ ॥

यत् । इन्द्र । यावतः । त्वम् । एतावत् । अहम् । ईशीय ॥ स्तोतारम् । इत् । दिधिषेय । रदवसो इति रद-वसो । न । पाप-त्वाय । रासीय ॥ १ ॥

भाषार्थ—(रदवसो) हे धनों के खोदने वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र !

२—(आ) समन्तात् (पप्राथ) प्रा—लिट् । पूरितवानसि (महिना) महता (वृष्ण्या) अ० । ४ । ४ । ४ । वृष्णे बलवते हितानि बलानि (वृषन्) हे शूर (विश्वा) सर्वाणि (शविष्ठ) बलिष्ठ (शवसा) बलेन (अस्मान्) (अव) रक्ष (मघवन्) धनवन् (गोमति) प्रशस्तविद्यायुक्ते (व्रजे) मार्गे (वज्रिन्) दण्डधारिन् शासक (चित्राभिः) अद्भुताभिः (ऊतिभिः) रक्षाभिः ॥

१—(यत्) यावता धनेन (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (यावतः)

[बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू (यावतः) जितने धन का [स्वामी है, [उस में से] (अहम्) मैं (एतावत्) इतने का (ईशीय) स्वामी हो जाऊँ, (यत्) जितने से (स्तोतारम्) गुण व्याख्याता [विद्वान्] को (इत्) अवश्य (दिधिषेय) पोषण करूं और (पापत्वाय) पाप होने के लिये [उसको] (न) न (रासीय) दूं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा परस्पर ऐसी प्रीति रक्खें कि सब लोग विद्वान् होवें और पदार्थों के गुण जानकर धर्म से एक दूसरे का पालन करें और कभी पाप कर्म न करें ॥ १ ॥

दोनों मन्त्र ऋग्वेद में है—७ । ३२ । १८, १९ । साम० उ० ६, । २ । ६, मन्त्र १ सा०— पू० ४ । २ । ८ ॥

शिक्षेयमिन्महयते दिवेदिवे राय आ कुहचिद्विदे । नहि त्वदन्यन्मघवन् न आप्यं वस्यो अस्ति पिता चन ॥ २ ॥

शिक्षेयम् । इत् । महु-यते । दिवे-दिवे । रायः । आ । कुहचित्-विदे ॥ नहि । त्वत् । अन्यत् । मघ-वन् । नः । आप्यम् । वस्यः । अस्ति । पिता । चन ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! [राजन्] (महयते) सत्कार करने वाले (कुहचिद्विदे) कहीं भी विद्यमान पुरुष के लिये (इत्) अवश्य (रायः) धनों को (दिवेदिवे) दिन दिन (आ) सब प्रकार से (शिक्षेयम्)

यत्परिमाणस्य धनस्य (त्वम्) ईशिषे इति शेषः, तस्मात् इति च (एतावत्) षष्ठ्या लुक् । एतावतो धनस्य (अहम्) (ईशीय) ईश्वरः स्वामी भवेयम् (स्तोतारम्) गुणव्याख्यातारं विद्वांसम् (इत्) अवश्यम् (दिधिषेय) धि धारणे-सन्, विधिलिङ् आत्मनेपदं छान्दसम् । धर्तुमिच्छेयम् । धरेयम् (रदवसो) रद विलेखने-अच् । रदति उत्खनति वसूनि धनानि यस्तत्सम्बुद्धौ (न) निषेधे (पापत्वाय) पापस्य भावाय (रासीय) दद्याम् ॥

२—(शिक्षेयम्) शिक्षतिर्दानकर्मा-निघ० ३ । २० । दद्याम् (इत्) अवश्यम् (महयते) पूजयते । सत्कुर्वते (दिवेदिवे) प्रतिदिनम् (रायः) धनानि (आ) समन्तात् (कुहचिद्विदे) विद सत्तायाम्-क्विप् । क्वापि विद्यमानाय जनाय

मैं हूं, (त्वत्) तुझ से (अन्यत्) दूसरा (नः) हमारा (आप्यम्) पाने योग्य (वस्यः) श्रेष्ठ वस्तु और (पिता) पिता (चन) भी (नहि) नहीं (अस्ति) है ॥ २ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब स्थानों के सुपात्रों को धन देकर विद्यावृद्धि करें और पूरे राजभक्त होकर सर्वहितकारी कर्म करते रहें ॥ २ ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१–२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ आर्षी पङ्क्तिः ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्र॑ त्रि॒धातु॑ शर॒णं त्रि॒वरू॑थं स्वस्ति॒मत् । छ॒र्दिर्य॑च्छ म॒घव॑द्भ्यश्च॒ मह्यं॑ च या॒वया॑ दि॒द्युमे॑भ्यः ॥ १ ॥

इन्द्र॑ । त्रि॒ऽधातु॑ । श॒र॒णम् । त्रि॒ऽवरू॑थम् । स्व॒स्ति॒ऽमत् ॥ छ॒र्दिः । य॒च्छ॒ । म॒घव॑त्ऽभ्यः । च॒ । मह्य॑म् । च॒ । य॒वय॑ । दि॒द्युम् । ए॒भ्यः॒ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्रिधातु) तीन [सोना, चांदी, लोहे) धातुओं वाला, (त्रिवरूथम्) तीन [शीत, ताप और वर्षा ऋतुओं] में उत्तम, (शरणम्) शरण [आश्रय] के योग्य और (स्वस्तिमत्) बहुत सुख वाला (छर्दिः) घर (मघवद्भ्यः) धन वालों को (च) और (मह्यम्) मुझ को [अर्थात् एक एक को] (यच्छ) दे, (च)

(नहि) (त्वत्) त्वत्तः (अन्यत्) भिन्नं वस्तु (मघवन्) धनवन् (नः) अस्माकम् (आप्यम्) प्रापणीयम् (वस्यः) वसीयः । वसुतरम् ॥ श्रेष्ठतरम् (अस्ति) (पिता) पालयिता (चन) अपि ॥

१—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (त्रिधातु) त्रिभिः सुवर्णरजतलोहधातुभिर्युक्तम् (शरणम्) आश्रययोग्यम् (त्रिवरूथम्) जॄवृञ्भ्यामूथन् । उ० २ । ६ । वृञ् वरणे—ऊथन् । त्रिषु शीततापवर्षासु वरणीयमुत्तमम् (स्वस्तिमत्) बहुसुखयुक्तम् (छर्दिः) अर्चिशुचिहुसृपिछादिछर्दिभ्य इसिः । २ । १०८ । छर्द सन्दीपने वमने च—इसि । गृहम्—निघ० ३ । ४ (यच्छ) देहि (मघवद्भ्यः) धनयुक्तेभ्यः (च) (मह्यम्) राजभक्ताय (च) (यवय) संयोजय (दिद्युम्)

और (एभ्यः) इन सब के लिये (दियुम्) प्रकाश को (यवय) संयुक्त कर ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा का कर्तव्य है कि मनुष्यों के निवास स्थान और सभा स्थान आदि ऐसे उत्तम बनवावे कि जिन में सब को मिलकर और प्रत्येक पुरुष को आवश्यक पदार्थ सुरक्षित रहने से सब ऋतुओं में सुख मिले और स्वास्थ्य बढ़ने से धन की वृद्धि होवे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—६ । ४६ । ६, १० । मन्त्र १ सामवेद-पू० ३ । ८ । ४ ॥

ये गव्यता मनसा शत्रुमादभुरभिप्रघ्नन्ति धृष्णुया ।
अध स्मा नो मघवन्निन्द्र गिर्वणस्तनूपा अन्तमो भव ॥ २ ॥

ये । गव्यता । मनसा । शत्रुम् । आ-दभुः । अभि-प्रघ्नन्ति । धृष्णु-या ॥ अध । स्म । नः । मघ-वन् । इन्द्र । गिर्वणः । तनू-पाः । अन्तमः । भव ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ये) जो (धृष्णुया) निर्भय मनुष्य (गव्यता) भूमि चाहने वाले (मनसा) मन से (शत्रुम्) वैरी को (अभिप्रघ्नन्ति) घेर लेते हैं और (आदभुः) मार डालते हैं, (मघवन्) हे महाधनी ! (गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (अध स्म) अवश्य ही (नः) हमारे (तनूपाः) शरीरों का रक्षक और (अन्तमः) अत्यन्त समीप वाला (भव) हो ॥ २ ॥

भावार्थ—जो शूर वीर पुरुष राज्य की वृद्धि चाहने वाले शत्रु नाशक होवें, राजा उनके विश्वास से प्रजा पालन करे ॥ २ ॥

अ० १ । २ । ३ । द्युत दीप्तौ—क्विप्, तलोपः । प्रकाशम् (एभ्यः) सर्वेभ्यः ॥

२—(ये) जनाः (गव्यता) गो—क्यच्, शतृ । गां भूमिमिच्छता (मनसा) चित्तेन (शत्रुम्) (आदभुः) लडर्थे लिट् । आदेभुः । समन्ताद् हिंसन्ति (अभिप्रघ्नन्ति) हन हिंसागत्योः । सर्वतः प्रगच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (धृष्णुया) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्याच् । धृष्णवः । प्रगल्भाः (अध) अवश्यम् (स्म) एव (नः) अस्माकम् (मघवन्) हे बहुधनयुक्त (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (गिर्वणः) हे स्तुतिभिः सेवनीय (तनूपाः) शरीराणां रक्षकः (अन्तमः) अन्तिकतमः । अतिसमीपस्थः (भव) ॥

सूक्तम् ८४ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् गायत्री; २, ३ गायत्री छन्दः ॥

सभापतिकर्तव्योपदेशः—सभापति के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्रा याहि चित्रभानो सुता इमे त्वायवः । अण्वीभिस्तना पूतासः ॥ १ ॥

इन्द्र । आ । याहि । चित्रभानो इति चित्र-भानो । सुताः । इमे । त्वा-यवः ॥ अण्वीभिः । तना । पूतासः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(चित्रभानो) हे विचित्र प्रकाश वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] (आ याहि) तू आ, (इमे) यह (त्वायवः) तुझ को मिलने वाले [वा तुझे चाहने वाले], (अण्वीभिः) सूक्ष्म क्रियाओं से (पूतासः) शोधे हुये, (तना) विस्तृत धन वाले (सुताः) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य सभापति की आज्ञा में रहकर विज्ञान युक्त क्रियाओं से उत्तम उत्तम पदार्थ सिद्ध करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद—१ । ३ । ४—६ । यजुर्वेद २० । ८७—८९ । सामवेद—उ० ४ । २ । तृच ५ ॥

इन्द्रा याहि धियेषितो विप्रजूतः सुतावतः । उप ब्रह्माणि वाघतः ॥ २ ॥

० धिया । इषितः । विप्र-जूतः । सुत-वतः ॥ उप । ब्रह्माणि । वाघतः ॥ २ ॥

१—(इन्द्र) परमैश्वर्यवन् सभापते (आ याहि) आगच्छ (चित्रभानो) अद्भुतदीप्ते (सुताः) निष्पादिततत्त्वरसाः (इमे)-दृश्यमानाः (त्वायवः) अ० २० । १८ । ४ । त्वां प्राप्ताः । त्वां कामयमानाः (अण्वीभिः) अणुशब्दः सूक्ष्मवाचकः । वोतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । अनेन ङीषि प्राप्ते छान्दसो ङीन्, नित्वादाद्युदात्तः । सूक्ष्माभिः क्रियाभिः (तना) धननाम—निघ० २ । १० । विभक्तेराकारः । विस्तृतधनयुक्ताः (पूतासः) शोधिताः ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] (धिया) कर्म से (इषितः) बढ़ाया गया, और (विप्रजूतः) बुद्धिमानों से वेगवान् किया गया तू (सुतवतः) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस वाले (वाघतः) बुद्धिमान् पुरुषों को और (ब्रह्माणि) धनों को (उप=उपेत्य) प्राप्त होकर (आ याहि) आ ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि अपने उत्तम कर्म और विद्वानों की शिक्षा से विज्ञानी बुद्धिमानों के साथ धन की वृद्धि करे ॥ २ ॥

इन्द्रा याहि तूतुजान उप ब्रह्माणि हरिवः । सुते दधिष्व नश्चनः ॥ ३ ॥

इन्द्र । आ । याहि । तूतुजानः । उप । ब्रह्माणि । हरि-वः ॥ सुते । दधिष्व । नः । चनः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हरिवः) हे उत्तम मनुष्यों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (तूतुजानः) शीघ्रता करता हुआ तू (ब्रह्माणि) धनों को (उप) प्राप्त होकर (आ याहि) आ। और (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस में (नः) हमारे लिये (चनः) अन्न को (दधिष्व) धारण कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम विद्वानों के साथ रहकर धर्म से धन

२—(इन्द्र) (आ याहि) (धिया) कर्मणा—निघ० २ । १ (इषितः) प्रेरितः (विप्रजूतः) जू इति सौत्रो धातुः गतौ—क्त । मेधाविभिः प्रेरिते वेगयुक्तः कृतः (सुतवतः) निष्पादिततत्त्वरसयुक्तान् (उप). उपेत्य (ब्रह्माणि) धनानि (वाघतः) अ० २० । १६ । २ । मेधाविनः पुरुषान्—निघ० ३ । १५ ॥

३—(इन्द्र) (आ याहि) (तूतुजानः) अ० २० । ३५ । १२ । त्वरमाणः (उप) उपेत्य (ब्रह्माणि) धनानि (हरिवः) हे प्रशस्तमनुष्ययुक्त (सुते) निष्पादिते तत्त्वरसे (दधिष्व) अ० २० । ६ । ५ । धत्स्व । धारय (नः) अस्मान् (चनः) चायतेरन्ने ह्रस्वश्च । उ० ४ । २०० । चायृ पूजादौ—असुन् चकाराद् नुडागमो यलोपो ह्रस्वश्च । चन इत्यन्ननाम निरु० ६ । १६ । अन्नम्—निघ० ४ । ३ ॥

प्राप्त करते हैं, वे ही दूसरों को ज्ञानी और धनी बनाकर यश पाते हैं ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ उपरिष्टाद् बृहती; २ निचृदार्षी पङ्क्ति , ३ विराट् पथ्या बृहती; ४ स्वराडार्षी बृहती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

मा चिदुन्यद् वि शंसत सखायो मा रिषण्यत ।
इन्द्रमित् स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत ॥ १ ॥

मा । चित् । अन्यत् । वि । शंसत । सखायः । मा । रिषण्यत ॥
इन्द्रम् । इत् । स्तोत । वृषणम् । सचा । सुते । मुहुः ।
उक्था । च । शंसत ॥ १ ॥

अवक्रक्षिणं वृषभं यथाजुरं गां न चर्षणीसहम् ।
विद्वेषणं संवननोभयंकुरं मंहिष्ठमुभयाविनम् ॥ २ ॥

अव-क्रक्षिणम् । वृषभम् । यथा । अजुरम् । गाम् । न ।
चर्षणि-सहम् ॥ वि-द्वेषणम् । सम्-वनना । उभयम्-
करम् । मंहिष्ठम् । उभयाविनम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(सखायः) हे मित्रो ! (अन्यत् चित्) और कुछ भी (मा वि शंसत) मत बोलो, और (मा रिषण्यत) मत दुखी हो (च) और (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस के बीच (मुहुः) बार बार (उक्था) कहने योग्य वचनों को (शंसत) कहो, [अर्थात्] (वृषणम्) महाबलवान्, (वृषभं यथा) जल बरसाने वाले मेघ के समान (अवक्रक्षिणम्) कष्ट हटाने वाले, और (गाम् न) [रसों को चलाने वाले और आकाश में चलने वाले] सूर्य के समान

१—(मा) निषेधे (चित्) अपि (अन्यत्) भिन्नं वस्तु (वि) विविधम् (शंसत) उच्चारयत (सखायः) हे सुहृदः (मा) निषेधे (रिषण्यत) रिषण हिंसायां दैन्ये च—यक् कण्ड्वादेराकृतिगणत्वात्। हिंसिता दुःखिता भवत (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (इत्) एव (स्तोत) स्तुत गुणग्र

(अजुरम्) सब के चलाने वाले,(चर्षणिसहम्) मनुष्यों के वश में रखने वाले, (विद्वेषणम्) निग्रह [ताड़ना] और (संवनना) अनुग्रह [पोषण], (उभयंकरम्) दोनों के करने वाले, (उभयाविनम्) दोनों [स्थावर और जङ्गम] के रक्षक, (मंहिष्ठम्) अत्यन्त दानी (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] की (इत्) ही (सचा) मिला करके (स्तोत) स्तुति करो ॥ १, २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा को छोड़कर किसी दूसरे को बड़ा जानकर अपनी अवनति न करें, सदा उसी ही विपत्तिनाशक, सर्वपोषक के गुणों को ग्रहण करके आनन्द पावें ॥ १, २ ॥

भगवान् यास्क मुनि ने कहा है—गौ सूर्य है वह रसों को चलाता है, अन्तरिक्ष में चलता है—निरुक्त २ । १४ ।

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १ । १—४ । मन्त्र १, २ सामवेद—उ० ६ । १ । ५, मन्त्र १—पू० ३ । ५ । १० ॥

यच्चिद्धि त्वा जना इमे नाना हवन्त ऊतये ।
अस्माकं ब्रह्मेदमिन्द्र भूतु तेऽहा विश्वा च वर्धनम् ॥ ३ ॥

(वृषणम्) बलवन्तम् (सचा) समवायेन सखीभूय (सुते) निष्पादिते तत्त्वरसे (मुहुः) पुनःपुनः (उक्था) कथनीयानि वचनीयानि (च) (शंसत) कथयत ॥

२—(अवक्रक्षिणम्) अव रक्षणहिंसादिषु—अच् । वृतृवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । कृष विलेखने—सप्रत्ययः । अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम् । पा० ६ । १ । ५९ । अमागमः । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ अव+क्रक्ष—इनि । अघस्य दुःखस्य विलेखकं वहिष्कर्तारम् (वृषभम्) वृषभो वर्षिताऽपाम्—निरु० ४ । ८ । जलवर्षकं मेघम् (यथा) (अजुरम्) मन्दिवाशिमथि० । उ० १ । ३८ । अज गतिक्षेपणयोः—उरच् । सर्वप्रेरकम् (गाम्) गमेः—डो प्रत्ययः । गौरादित्यो भवति गमयति रसान्, गच्छत्यन्तरिक्षे—निरु० २ । १४ । आदित्यम् (न) यथा (चर्षणिसहम्) मनुष्याणां वशीकर्तारम् (विद्वेषणम्) वैरिभावम् । निग्रहम् । दण्डदानम् (संवनना) संवननम् । सम्यक् सेवनम् । अनुग्रहम् । पोषणम् (उभयंकरम्) उभयोर्विद्वेषणसंवननयोः कर्तारम् (मंहिष्ठम्) दातृतमम् (उभयाविनम्) अ० ५ । २५ । ६ । उभय+अव रक्षणे—इनि । उभयोः स्थावरजङ्गमयो रक्षकम् ॥

यत् । चित् । हि । त्वा । जनाः । इमे । नाना । हवन्ते । ऊतये ॥ अस्माकम् । ब्रह्म । इदम् । इन्द्र । भूतु । ते । अहा । विश्वा । च । वर्धनम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) क्योंकि (चित्) निश्चय करके (हि) ही (त्वा) तुझ को (इमे) यह (जनाः) मनुष्य (नाना) नाना प्रकार से (ऊतये) रक्षा के लिये (हवन्ते) पुकारते हैं—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्यवाले जगदीश्वर] (इदम्) अब (अस्माकम्) हमारे (ब्रह्म) धन (भूतु) होवे (ते) तेरी (विश्वा अहा) सब दिनों (च) ही (वर्धनम्) बढ़ती है ॥ ३ ॥

भावार्थ—सब प्राणी परमात्मा की प्रार्थना करके अपनी रक्षा करते हैं, हम भी निरन्तर भक्ति करके उसके अनन्त कोश से पुरुषार्थ पूर्वक धन आदि प्राप्त करके अपनी वृद्धि करें ॥ ३ ॥

वि तर्तूर्यन्ते मघवन् विपश्चितोऽर्यो विपो जनानाम् ।
उप क्रमस्व पुरुरूपमा भर वाजं नेदिष्ठमूतये ॥ ४ ॥

वि । तर्तूर्यन्ते । मघ-वन् । विपः-चितः । अर्यः । विपः । जनानाम् ॥ उप । क्रमस्व । पुरु-रूपम् । आ । भर । वाजम् । नेदिष्ठम् । ऊतये ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! [परमेश्वर] (विपश्चितः) बड़े ज्ञानी (विपः) प्रेरक बुद्धिमान् लोग (जनानाम्) मनुष्यों के बीच (अर्यः =

३—(यत्) यतः (चित्) निश्चयेन (हि) (त्वा) (जनाः) मनुष्याः (इमे) वर्तमानाः (नाना) विविधम् (हवन्ते) आह्वयन्ति (ऊतये) रक्षणाय (अस्माकम्) (ब्रह्म) धनम् (इदम्) इदानीम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (भूतु) भवतु (ते) तव (अहा) दिनानि (विश्वा) सर्वाणि (च) अवधारणे (वर्धनम्) वृद्धिः ॥

४—(वि) विविधम् (तर्तूर्यन्ते) तॄ अभिभवे यङ्लुकि छान्दसं रूपम् । तातिरति । भृशं तरन्ति। अभिभवन्ति (मघवन्) हे धनवन् परमेश्वर (विप-

अरीन्) वैरियों को (वि) विविध प्रकार (तर्तूर्यन्ते) बार बार हराते हैं। (उप क्रमस्व) तू [हमें] पराक्रमी कर, और (ऊतये) तृप्ति के लिये (पुरुरूपम्) बहुत प्रकार वाले (वाजम्) बल को (नेदिष्ठम्) अति समीप (आ) सब प्रकार से (भर) भर ॥ ४ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य बुद्धिमानों के समान परमात्मा को हृदय में धारण करके पराक्रम के साथ वैरियों को जीतें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ८६ ॥

१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

ब्रह्मणा ते ब्रह्मयुजा युनज्मि हरी सखाया सधमाद आशू । स्थिरं रथं सुखमिन्द्राधितिष्ठन् प्रजानन् विद्वाँ उप याहि सोमम् ॥ १ ॥

ब्रह्मणा । ते । ब्रह्म-युजा । युनज्मि । हरी इति । सखाया । सध-मादे । आशू इति ॥ स्थिरम् । रथम् । सु-खम् । इन्द्र । अधि-तिष्ठन् । प्र-जानन् । विद्वान् । उप । याहि । सोमम् ॥१

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (ते) तेरे लिये (ब्रह्मणा) अन्न के साथ (ब्रह्मयुजा) धन के संग्रह करने वाले, (आशू) शीघ्र चलने वाले, (हरी) दोनों जल और अग्नि को (सखाया) दो मित्रों

श्चिनः) बहुज्ञानिनः (अर्यः) द्वितीयायाः प्रथमा यणादेशश्च । अरयः । अरीन् (विपः) विप क्षेपे—क्विप् । विपो मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ । प्रेरका मेधाविनः (जनानाम्) मनुष्याणां मध्ये (उप क्रमस्व) पराक्रमयुक्तान् कुरु (पुरुरूपम्) बहुविधम् (आ) समन्तात् (भर) धर (वाजम्) बलम् (नेदिष्ठम्) अन्तिक—इष्ठन् । अतिसमीपम् (ऊतये) तर्पणाय ॥

१—(ब्रह्मणा) अन्नेन (ते) तुभ्यम् (ब्रह्मयुजा) धनस्य संयोजकौ संग्राहकौ (युनज्मि) संयोजयामि (हरी) जलाग्नी (सखाया) सुहृदाविव (सधमादे) समानस्थाने (आशू) शीघ्रगामिनौ (स्थिरम्) दृढम् (रथम्) यानविमान-

के तुल्य (समभारे) चौरस स्थान में (युनज्मि) मैं संयुक्त करता हूं, (स्थिरम्) दृढ़, (सुखम्) सुख देने वाले [इन्द्रियों के लिये अच्छे हितकारी] (रथम्) रथ पर (अधितिष्ठन्) चढ़ता हुआ, (प्रजानन्) बड़ा चतुर (विद्वान्) विद्वान् तू (सोमम्) ऐश्वर्य को (उप याहि) प्राप्त हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि जल अग्नि आदि पदार्थों के द्वारा रथों अर्थात् यान विमानों को चलाकर देश देशान्तरों में जाकर विद्या और धर्म से ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—३ । ३५ । ४ और इस का अर्थ महर्षि दयानन्द के भाष्य के आधार पर किया गया है। निरुक्त ३ । १३ में (सुख) शब्द का अर्थ [अच्छा हितकारी इन्द्रियों के लिये] है ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१—७ ॥ १—६ इन्द्रः ; ७ इन्द्राबृहस्पती देवते ॥ १, २, ६, ७ निचृत् त्रिष्टुप् ; ३ विराट् त्रिष्टुप् ४, ५ त्रिष्टुप् ॥

पुरुषार्थिलक्षणोपदेशः—पुरुषार्थी के लक्षण का उपदेश ॥

अध्वर्यवोऽरुणं दुग्धमंशुं जुहोतन वृषभाय क्षितीनाम् । गौराद् वेदीयाँ अवपानमिन्द्रो विश्वाहेद्याति सुतसोममिच्छन् ॥ १ ॥

अध्वर्यवः । अरुणम् । दुग्धम् । अंशुम् । जुहोतन । वृषभाय । क्षितीनाम् ॥ गौरात् । वेदीयान् । अव-पानम् । इन्द्रः । विश्वाहा । इत् । याति । सुत-सोमम् । इच्छन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अध्वर्यवः) हे हिंसा न चाहने वाले पुरुषो ! (अरुणम्) प्राप्ति योग्य, (दुग्धम्) पूरे किये हुये (अंशुम्) भाग को (क्षितीनाम्)

समूहम् (सुखम्) सुखं कस्मात् सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः—निरु० ३ । १३ । इन्द्रियेभ्यो हितं सुखप्रदम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (अधितिष्ठन्) आरोहन् (प्रजानन्) बहुबुध्यमानः (विद्वान्)(उप) (याहि) प्राप्नुहि (सोमम्) ऐश्वर्यम् ॥

१—(अध्वर्यवः) अ० ७ । ७३ । ५ । अहिंसामिच्छवः । याजकाः (अरुणम्) ऋ गतिप्रापणयोः— उनन् । प्रापणीयम् (दुग्धम्) प्रपूर्णम् (अंशुम्)

मनुष्यों में (वृषभाय) बलवान् के लिये (जुहोतन) दान करो। (अवपानम्) रक्षा साधन को (गौरात्) गौर [हरिण विशेष] से (वेदीयान्) अधिक जानने वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला पुरुष] (विश्वाहा) सब दिनों (इत्) ही (सुतसोमम्) तत्व रस सिद्ध करने वाले पुरुष को (इच्छन्) चाहता हुआ (याति) चलता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि बलवान् पुरुष को आदर पूर्वक ग्रहण करें, वह चतुर मनुष्य रक्षा साधनों को औरों से अधिक जानता है, जैसे हरिण व्याधाओं से बचने के उपाय को जानता है ॥१॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । ९८ । १—७

यद् दधिषे प्रदिवि चार्वन्नं दिवेदिवे पीतिमिदस्य वक्षि। उत हृदोत मनसा जुषाण उशन्निन्द्र प्रस्थितान् पाहि सोमान् ॥२

यत् । दधिषे । प्र-दिवि । चारु । अन्नम् । दिवे-दिवे । पीतिम् । इत् । अस्य । वक्षि ॥ उत । हृदा । उत । मनसा । जुषाणः । उशन् । इन्द्र । प्र-स्थितान् । पाहि । सोमान् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (यत्) जिस (चारु) उत्तम (अन्नम्) अन्न को (प्रदिवि) पिछले समय में (दधिषे)

अंश विभाजने-कु । विभागम् (जुहोतन) दत्त (वृषभाय) श्रेष्ठाय बलयुक्ताय (क्षितीनाम्) क्षितियो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्याणां मध्ये (गौरात) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । गुङ् अव्यक्तशब्दे—रन् । यद्वा । हलश्च । पा० ३ । ३ । १२१ । गुरी उद्यमने—घञ्, वृद्धिः पृषोदरादित्वात् । हरिणविशेषात् (वेदीयान्) तुश्छन्दसि । पा० ५ । ३ । ५९ । वेत्तृ—ईयसुन् । तुरिष्ठेमेयःसु । पा० ६ । ४ । १५४ । तृलोपः । वेत्तृतरः । विद्वत्तरः (अवपानम्) रक्षासाधनम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (विश्वाहा) विश्वान्यहानि (इत्) एव (याति) गच्छति (सुतसोमम्) सुतः संस्कृतः सोमस्तत्त्वरसो येन तम् (इच्छन्) कामयमानः ॥

२—(यत्) (दधिषे) धारितवानसि (प्रदिवि) प्रगते दिने काले (चारु) मनोहरम् (अन्नम्) भक्षणीयं पदार्थम् (दिवेदिवे) प्रतिदिनम्

तू ने धारण किया था, (अस्य) उस [अन्न] के (पीतिम्) पान वा भोग को (दिवेदिवे) प्रतिदिन (इत्) ही (वदि) तू उपदेश करता है, (उत) और (हृदा) हृदय से (उत) और (मनसा) मनन से (प्रस्थितान्) उपस्थित (सोमान्) ऐश्वर्ययुक्त पदार्थों को (जुषाणः) सेवन करता हुआ और (उशन्) चाहता हुआ तू (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य उत्तम ज्ञान और पदार्थों को प्राप्त होकर सब के सुख के लिये प्रयत्न करे ॥ २ ॥

जज्ञानः सोमं सहसे पपाथ प्र ते माता महिमानमुवाच ।
एन्द्र पप्राथोर्व१न्तरिक्षं युधा देवेभ्यो वरिवश्चकर्थ ॥ ३ ॥

जज्ञानः । सोमम् । सहसे । पपाथ । प्र । ते । माता । महिमानम् । उवाच ॥ आ । इन्द्र । पप्राथ । उरु । अन्तरिक्षम् । युधा । देवेभ्यः । वरिवः । चकर्थ ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (जज्ञानः) उत्पन्न होते हुये तू ने (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (सहसे) बल के लिये (पपाथ) पान किया है और (ते) तेरी (माता) ने [तेरे] (महिमानम्) महत्त्व को (प्र) अच्छे प्रकार (उवाच) कहा है । तू ने (उरु) विशाल (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब ओर से (पप्राथ) भर दिया और

(पीतिम्) पानं भोगं वा (इत्) एव (अस्य) अन्नस्य (वदि) वद परिभाषणे— लट् । उपदिशसि (उत) अपि च (हृदा) हृदयेन (उत) (मनसा) मननेन (जुषाणः) सेवमानः (उशन्) कामयमानः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (प्रस्थितान्) उपस्थितान् (पाहि) रक्ष (सोमान्) ऐश्वर्ययुक्तान् पदार्थान् ॥

३—(जज्ञानः) जायमानः (सोमम्) तत्त्वरसम् (सहसे) बलाय (पपाथ) पा पाने रक्षणे च-लिट् । पीतवानसि (प्र) प्रकर्षेण (ते) तव (माता) माननीया जननी (महिमानम्) तव भाविमहत्त्वम् (उवाच) कथयामास (आ) समन्तात् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (पप्राथ) प्रा पूरणे—लिट् । पूरितवानसि (उरु) विस्तृतम् (अन्तरिक्षम्) अवकाशम् (युधा) युद्धेन (देवेभ्यः)

(युधा) युद्ध से (देवेभ्यः) विद्वानों के लिये (वरिवः) सेवनीय धन (चकर्थ) उत्पन्न किया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—पहिले ही पहिले माता उत्तम शिक्षा से मनुष्य में उत्तम संस्कार उत्पन्न करे, तब वह मनुष्य विद्वान् बलवान् और धनवान् होकर संसार में कीर्ति पाता है ॥ ३ ॥

यद् योधया महतो मन्यमानान् साक्षाम तान् बाहुभिः शाशदानान् । यद्वा नृभिर्वृत इन्द्राभियुध्यास्तं त्वयाजिं सौश्रवसं जयेम ॥ ४ ॥

यत् । योधयाः । महतः । मन्यमानान् । साक्षाम । तान् । बाहु-भिः । शाशदानान् ॥ यत् । वा । नृ-भिः । वृतः । इन्द्र । अभि-युध्याः । तम् । त्वया । आजिम् । सौश्रवसम् । जयेम ॥ ४

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी शूर] (यत्) जो तू (महतः मन्यमानान्) अपने को बड़े मानने वालों से [हमको] (योधयाः) लड़ावे, (तान्) उन (शाशदानान्) तीक्ष्ण स्वभाव वालों को (बाहुभिः) अपनी भुजाओं से (साक्षाम) हम हरावें । (यत् वा) अथवा (नृभिः) नरों से (वृतः) अङ्गीकार किया हुआ (अभियुध्याः) तू युद्ध करे, (त्वया) तेरे साथ [होकर] (तम्) उस (सौश्रवसम्) बड़े यश वा अन्न देने

विद्वद्भ्यः (वरिवः) अ० २० । ११ । ७ । वरणीयं धनम् (चकर्थ) कृतवानसि ॥

४—(यत्) यदि (योधयाः) योधयेः । युद्धं कारयेः—अस्मान् (महतः) पूजनीयान् (मन्यमानान्) जानतः पुरुषान् (साक्षाम) सहेम । अभिभवेम (तान्) (बाहुभिः) भुजैः (शाशदानान्) अ० १ । १० । १ । शद्लृ शातने—यङ्लुकि शानच् । तीक्ष्णस्वभावान् (यत् वा) यद्वा । अथवा (नृभिः) नेतृभिः (वृतः) स्वीकृतः (इन्द्र) महाप्रतापिन् शूर (अभियुध्याः) अभियुध्येथाः (तम्) प्रसिद्धम् (त्वया) शूरेण सह (आजिम्) सङ्ग्रामम् (सौश्रवसम्) शोभनस्य

वाले (आजिम्) सङ्ग्राम को (जयेम) हम जीतें ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य सङ्कल्प के साथ आप कर्म कुशल हो कर और दूसरों को कर्म कुशल बनाकर संसार में विजय प्राप्त करें ॥ ४ ॥

प्रेन्द्रस्य वोचं प्रथमा कृतानि प्र नूतना मघवा या चकार ।
यदेददेवीरसहिष्ट माया अथाभवत् केवलः सोमो अस्य ॥५॥

प्र । इन्द्रस्य । वोचम् । प्रथमा । कृतानि । प्र । नूतना । मघ-वा । या । चकार ॥ यदा । इत् । अदेवीः । असहिष्ट । मायाः । अथ । अभवत् । केवलः । सोमः । अस्य ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रस्य) इन्द्र [महाप्रतापी वीर] के (प्रथमा) पहिले और (नूतना) नवीन (कृतानि) कर्मों को, (या) जो (मघवा) उस महाधनी ने (चकार) किये हैं, (प्र प्र) बहुत अच्छे प्रकार (वोचम्) मैं कहूं । (यदा) जब (इत्) ही (अदेवीः) अदेवी [विद्वानों के विरुद्ध, आसुरी] (मायाः) मायाओं [छल कपट क्रियाओं] को (असहिष्ट) उस ने जीत लिया है, (अथ) तब ही (सोमः) सोम [अमृत रस अर्थात् मोक्ष सुख] (अस्य) उस [पुरुषार्थी] का (केवलः) सेवनीय (अभवत्) हुआ है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य प्राचीन और नवीन विद्वानों ने सिद्धान्तों को विचार कर दुष्कर्मों का नाश करता है, तब वह मोक्ष सुख पाता है ॥ ५ ॥

तवेदं विश्वमभितः पशव्यं१ यत् पश्यसि चक्षसा सूर्यस्य ।
गवामसि गोपतिरेक इन्द्र भक्षीमहि ते प्रयतस्य वस्वः ॥ ६ ॥

भूसो यशसोऽन्नस्य वा हेतुम् (जयेम) ॥

५—(प्र,प्र) अतिप्रकर्षेण (इन्द्रस्य) महाप्रतापिनो वीरस्य (वोचम्) कथयानि (प्रथमा) प्रथमानि । पुरातनानि (कृतानि) कर्माणि (नूतना) नूतनानि । नवीनानि (मघवा) धनवान् (या) यानि कर्माणि (चकार) कृतवान् (यदा) (इत्) एव (अदेवीः) विदुषां विरुद्धाः । आसुरीः (असहिष्ट) अभ्यभूत् (मायाः) छलकपटक्रियाः (अथ) अनन्तरमेव (अभवत्) (केवलः) सेवनीयः (सोमः) अमृतरसः । मोक्षानन्दः (अस्य) वीरस्य ॥

तव । इदम् । विश्वम् । अभितः । पशव्यम् । यत् । पश्यसि । चक्षसा । सूर्यस्य ॥ गवाम् । असि । गो-पतिः । एकः । इन्द्र । भक्षीमहि । ते । प्र-यतस्य । वस्वः ॥ ६ ॥

भाषार्थः—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी मनुष्य] (इदम्) यह (विश्वम्) सब (पशव्यम्) पशुओं [दोपाये और चौपाये जीवों] के लिये हित कर्म (तव) तेरा है, (यत्) जिस को (सूर्यस्य) सूर्य की (चक्षसा) दृष्टि से (अभितः) सब ओर को (पश्यसि) तू देखता है। (एकः) अकेला तू (गवाम्) विद्वानों की (गोपतिः) विद्याओं का रक्षक (असि) है, (ते) तेरे (प्रयतस्य) उत्तम नियम वाले (वस्वः) धन का (भक्षीमहि) हम सेवन करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सूर्य के समान सब ओर को दूरदर्शी होकर सर्व हितकारी होता है, वही विद्या के प्रचार से विद्वानों को सुख देता है ॥ ६ ॥

बृहस्पते युवमिन्द्रश्च वस्वो दिव्यस्येशाथे उत पार्थिवस्य । धत्तं रयिं स्तुवते कीरये चिद्यूयं पात स्वस्तिभिः सदा नः ॥७॥

बृहस्पते । युवम् । इन्द्रः । च । वस्वः । दिव्यस्य । ईशाथे इति । उत । पार्थिवस्य ॥ धत्तम् । रयिम् । स्तुवते । कीरये । चित् । यूयम् । पात । स्वस्ति-भिः । सदा । नः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी वेदवाणी के रक्षक

६—(तव) (इदम्) दृश्यमानम् (विश्वम्) सर्वम् (अभितः) सर्वतः (पशव्यम्) पशुभ्यो द्विपाच्चतुष्पद्भ्यो जीवेभ्यो हित कर्म (यत्) (पश्यसि) निरीक्षसे (चक्षसा) दृष्ट्या (सूर्यस्य) प्रेरकस्यादित्यस्य (गवाम्) गौः स्तोतृनाम—निघ० ३।१६। विदुषाम् (असि) (गोपतिः) गवां विद्यानां रक्षकः (एकः) अद्वितीयः (इन्द्र) महाप्रतापिन् मनुष्य (भक्षीमहि) अ० १६। ८।५। भजेमहि, सेविषीमहि (ते) तव (प्रयतस्य) यम—क्त। प्रकृष्टनियम युक्तस्य (वस्वः) वसुनः। धनस्य ॥

७—अयं मन्त्रो गतः—अ० २०। १७। १२ ॥

विद्वान्] (च) और (इन्द्रः) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्) (युवम्) तुम दोनों (दिव्यस्य) आकाश के (उत) और (पार्थिवस्य) पृथिवी के (वस्वः) धन के (ईशाथे) स्वामी हो । (स्तुवते) स्तुति करते हुये (कीरये) विद्वान् को (रयिम्) धन (चित्) अवश्य (धत्तम्) तुम दोनों दो, [हे वीरो !] (यूयम्) तुम सब (स्वस्तिभिः) सुखों के साथ (सदा) सदा (नः) हमें (पात) रक्षित रक्खो ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् मन्त्री और पराक्रमी राजा और सब शूर पुरुष आकाशस्थ वायु वृष्टि आदि, और पृथिवीस्थ अन्न सुवर्ण आदि का सुप्रबन्ध करके प्रजा की रक्षा करें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० २० । १७ । १२ और चौथे पाद के लिये देखो—अ० २० । ३७ । ११ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१—६ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ १—३, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ; ४ विराडार्षी त्रिष्टुप् ; ५ त्रिष्टुप् ॥

विद्वत्कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

यस्तुस्तम्भ सहसा वि ज्मो अन्तान् बृहस्पतिस्त्रिषधस्थो रवेण । तं प्रत्नास ऋषयो दीध्यानाः पुरो विप्रा दधिरे मन्द्रजिह्वम् ॥ १ ॥

यः । तस्तम्भ । सहसा । वि । ज्मः । अन्तान् । बृहस्पतिः । त्रि-सुधस्थः । रवेण ॥ तम् । प्रत्नासः । ऋषयः । दीध्यानाः । पुरः । विप्राः । दधिरे । मन्द्र-जिह्वम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (त्रिषधस्थः) तीन [कर्म, उपासना, ज्ञान] के साथ स्थित (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी वेदविद्याओं के रक्षक पुरुष] ने

१—(यः) विद्वान् (तस्तम्भ) दृढीकृतवान् (सहसा) बलेन (वि) विविधम् (ज्मः) जमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन् । उ० १ । १५९ । जमु अदने गतौ च—कनिन्, अकारलोपः । डावुभाभ्यामन्यत

(सहसा) अपने बल से और (रवेण) उपदेश से (ज्मः) पृथिवी के (अन्तान्) अन्तों [सीमाओं] को (वि) विविध प्रकार (तस्तम्भ) दृढ़ किया है। (तम्) उस (मन्द्रजिह्वम्) आनन्द देने वाली जिह्वा वाले विद्वान् को (प्रत्नासः) प्राचीन, (दीध्यानाः) प्रकाशमान [तेजस्वी], (विप्राः) बुद्धिमान् (ऋषयः) ऋषियों [वेदों के अर्थ जानने वालों] ने (पुरः) आगे (दधिरे) धरा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कर्म, उपासना, ज्ञान में तत्पर होकर पृथिवी भर को आनन्द देता है, ऋषि लोग उस सत्यवादी को मुखिया करते हैं ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—४। ५०। १—६ ॥

धुनेतयः सुप्रकेतं मदन्तो बृहस्पते अभि ये नस्ततस्रे ।
पृषन्तं सृप्रमदब्धमूर्वं बृहस्पते रक्षतादस्य योनिम् ॥ २ ॥

धुन-इतयः । सु-प्रकेतम् । मदन्तः । बृहस्पते । अभि । ये । नः । ततस्रे ॥ पृषन्तम् । सृप्रम् । अदब्धम् । ऊर्वम् । बृहस्पते । रक्षतात् । अस्य । योनिम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के रक्षक] (ये) जिन (धुनेतयः) शीघ्र गति वाले, (सुप्रकेतम्) सुन्दर ज्ञान से (मदन्तः) प्रसन्न होते हुये [विद्वानों ने] (नः) हम को (अभि) सब ओर (ततस्रे)

स्याम्। पा० ४। १। १३। इति डाप्। ज्मा पृथिवीनाम—निघ० १। १—निरु० १२। ४३। आतो धातोः। पा०६। ४। १४०। इत्यत्र आत इति योगविभागादाकारलोपः। पृथिव्याः (अन्तान्) सीमाः। दिग्देशान् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः पुरुषः (त्रिषधस्थः) त्रिभिः कर्मोपासनाज्ञानैः सह स्थितः (रवेण) उपदेशेन (तम्) (प्रत्नासः) प्राचीनाः (ऋषयः) वेदार्थवेत्तारः (दीध्यानाः) अ० २। ३४। ३। दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः—शानच्। दीप्यमानाः (पुरः) पुरस्तात्। अग्रे (विप्राः) मेधाविनः (दधिरे) धारितवन्तः (मन्द्रजिह्वम्) आनन्दप्रदजिह्वायुक्तम् ॥

२—(धुनेतयः) तृषिशुषिरसिभ्यः कित्। उ० ३। १२। धुञ् कम्पने नप्रत्ययः, कित् + इण् गतौ क्तिन्। शीघ्रगतयः (सुप्रकेतम्) यथा तथा। शोभनेन ज्ञानेन (मदन्तः) हृष्यन्तः (बृहस्पते) महतीनां विद्यानां रक्षक

फैलाया है [प्रसिद्ध किया है]। (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़े गुणों के स्वामी] (पृपन्तम्) सींचने वाले, (सृप्रम्) ज्ञान वाले, (अदब्धम्) नष्ट न किये हुये, (ऊर्वम्) दोषनाशक (अस्य) उन [विद्वानों] के (योनिम्) कारण [वेदशास्त्र] को (रक्षतात्) तू रक्षित रख ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस वेदज्ञान में महात्मा लोग मग्न होकर दूसरों को सुख पहुंचाते हैं, विद्वान् लोग उस वेद की रक्षा कर के अर्थात् आज्ञा में चलकर आनन्द पावें ॥ २ ॥

बृह॑स्पते॒ या प॑र॒मा प॑रा॒वदत॒ आ त॑ ऋत॒स्पृशो॒ नि षे॑दुः ।
तुभ्यं॑ खा॒ता अ॑व॒ता अद्रि॑दुग्धा॒ मध्वः॑ श्चोतन्त्य॒भितो॑ विर॒प्शम् ॥

बृह॑स्पते । या । प॒र॒मा । प॒रा॒ऽवत् । अतः॑ । आ । ते॒ । ऋ॒त॒ऽस्पृशः॑ । नि । से॒दुः॒ ॥ तुभ्य॑म् । खा॒ताः । अ॒व॒ताः । अद्रि॑ऽदुग्धाः । मध्वः॑ । श्चो॒त॒न्ति॒ । अ॒भितः॑ । वि॒ऽर॒प्शम् ॥३॥

भाषार्थ—(बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के रक्षक] (या) जो (ते) तेरी (परमा) उत्तम नीति (परावत्) उत्तम विद्या वाले राज्य में है, [उस नीति में] (ऋतस्पृशः) सत्य का स्पर्श करने वाले लोग (आ) सब ओर से (नि षेदुः) बैठे हैं, (अतः) इस लिये (अद्रिदुग्धाः)

(अभि) सर्वतः (ये) विद्वांसः (नः) अस्मान् (ततस्रे) अ० ६० । ७२ । २ । विस्तारितवन्तः । प्रसिद्धान् कृतवन्तः (पृपन्तम्) सिञ्चन्तम् (सृप्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । सृप्लृ गतौ—रक् । ज्ञानवन्तम् (अदब्धम्) अहिंसितम् । अनाशितम् (ऊर्वम्) उर्वी हिंसायाम्—पचाद्यच् । दोषनाशकम् (बृहस्पते) बृहतां गुणानां स्वामिन् (रक्षतात्) रक्ष (अस्य) बहुवचनस्यैकवचनम् । एषां विदुषाम् (योनिम्) कारणं वेदशास्त्रम् ॥

३—(बृहस्पते) बृहतीनां विद्यानां रक्षक (या) (परमा) उत्कृष्टा नीतिः (परावत्) परावति । उत्कृष्टविद्यायुक्ते राज्ये (अतः) अस्मात् कारणात् (आ) समन्तात् (ते) तव (ऋतस्पृशः) सत्यस्य स्पर्शनशीलाः पुरुषाः (नि षेदुः) निषण्णा स्थिताः (दुग्धम्) (खाताः) निखाताः (अवताः

मेघ से भरे गये, (खाताः) खोदे गये, (मध्वः) मीठे [मीठे जल वाले] (अवताः) कूप (तुभ्यम्) तेरे लिये (विरप्शम्) महान् संसार को (अभितः) सब ओर से (श्चोतन्ति सींचते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—चतुर राजा की सुन्दर नीति से विद्वान् लोग संसार को इस प्रकार आनन्द पहुंचाते हैं, जैसे मेघ के जल कूप आदि द्वारा उपकार करते हैं ॥ ३ ॥

बृह॒स्पति॑ः प्रथ॒मं जाय॑मानो म॒हो ज्योति॑षः पर॒मे व्यो॑मन् ।
स॒प्तास्य॑स्तुविजा॒तो रवे॑ण॒ वि स॒प्तर॑श्मिरधम॒त् तमां॑सि ॥ ४ ॥
बृह॒स्पति॑ः । प्र॒थ॒मम् । जाय॑मानः । म॒हः । ज्योति॑षः । प॒र॒मे । वि-ओ॑मन् ॥ स॒प्त-आ॑स्यः । तु॒वि॒-जा॒तः । रवे॑ण । वि । स॒प्त-र॑श्मिः । अ॒ध॒म॒त् । तमां॑सि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक पुरुष] ने (महः) बड़े (ज्योतिषः) तेज के (परमे) उत्तम (व्योमन्) विविध प्रकार रक्षणीय स्थान में (प्रथमम्) पहिले पदपर (जायमानः) प्रकट होते हुये (तुविजातः) बहुत प्रसिद्ध होकर (रवेण) अपने उपदेश से (सप्तास्यः) सात मुख वाले अग्नि और (सप्तरश्मिः) सात किरणों वाले सूर्य के समान (तमांसि)-अन्धकारों को (वि अधमत्) बाहिर हटाया है ॥ ४ ॥

भृमृदृशियजि० । उ० ३ । ११० । अव गतिरक्षणादिषु—अतच् । कूपाः—निघ० ३ । २३ (अद्रिदुग्धाः) मेघेन पूरिताः (मध्वः) मधवः । मधुरजलयुक्ताः (श्चोतन्ति) सिञ्चन्ति (अभितः) सर्वतः (विरप्शम्) महान्तं संसारम् ॥

४—(बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षक (प्रथमम्) प्रधाने पदे (जायमानः) प्रादुर्भवन् (महः) महतः (ज्योतिषः) प्रकाशस्य (परमे) उत्कृष्टे (व्योमन्) अ० ५ । १७ । ६ । विविधरक्षणीये स्थाने (सप्तास्यः) सप्त ज्वाला आस्यानि यस्य सः काली करालयादिजिह्वायुक्तोऽग्निर्यथा—मुण्डकोपनिषदि—१ । २ । ४ (तुविजातः) बहुप्रसिद्धः (रवेण) उपदेशेन (वि) बहिर्भावे (सप्तरश्मिः) शुक्लनीलपीतादिकिरणयुक्तः सूर्यो यथा (अधमत्) धमतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अगमयत् (तमांसि) अन्धकारान् ॥

भावार्थ—जैसे अग्नि सात प्रकार की ज्वालाओं से और सूर्य सात प्रकार की किरणों से अन्धकार हटाकर पदार्थों को दिखाते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग पांच ज्ञानेन्द्रिय मन और आत्मा से विद्यायें ग्रहण करके अज्ञान हटाकर विद्या का प्रकाश करें ॥ ४ ॥

अग्नि के सात मुख वा जिह्वायें अर्थात् ज्वालायें ये हैं—मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक १ खण्ड २ श्लोक ४ [काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा । स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥] काले वर्ण वाली, कराली, मन का सा वेग रखने वाली, रक्त वर्ण वाली, जो गहरे धुयें के वर्ण वाली है, चिनगारियों वाली और चमकती हुई झिलमिलाती हुई सब रूपों अर्थात् रंगों वाली, यह [अग्नि की] सात जिह्वाये हैं ॥

सूर्य की सात किरणें इस प्रकार हैं—शुक्ल, नील, पीत, रक्त, हरित, कपिश और चित्रवर्ण ॥

स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन वलं रुरोज फलिगं रवेण ।
बृहस्पतिरुस्रिया हव्यसूदः कनिक्रदद् वावशतीरुदाजत् ॥५॥

सः । सु-स्तुभा । सः । ऋक्वता । गणेन । वलम् । रुरोज । फलि-गम् । रवेण ॥ बृहस्पतिः । उस्रियाः । हव्य-सूदः । कनिक्रदत् । वावशतीः । उत् । आजत् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सः सः) उसी ही [वीर पुरुष] ने (सुष्टुभा) बड़ी स्तुति वाले (ऋकता) पूजनीय वाणी वाले (गणेन) समुदाय के साथ (फलिगम्) फूट डालने वाले [वा मेघ के समान अंधकार के फैलाने वाले] (वलम्) हिंसक वैरी को (रवेण) शब्द [धर्म घोषणा]

५—(सः सः) स एव (सुष्टुभा) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४—क्विप् । शोभनस्तुतिमता (ऋकता) ऋच स्तुतौ—क्विप्, मतुप्, मस्य वः । अयस्मयादीनि छन्दसि । पा० १ । ४ । २० । पदत्वात् कुत्वं भत्वाज्जश्त्वाभावः । ऋग् वाङ् नाम—निघ० १ । ११ । पूजनीयवाणीयुक्तेन (गणेन) समुदायेन (वलम्) हिंसकं शत्रुम् (रुरोज) बभञ्ज (फलिगम्) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । ञि फला विशरणे—इन् + गमेर्डः, अन्तर्गतण्यर्थः ।

(फलिगम्) मेघ किया है। (हव्यसूदः) देने या लेने योग्य पदार्थों की प्रतिज्ञा करने वाले, (कनिक्रदत्) बल से पुकारते हुये (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक मनुष्य] ने (वावशतीः) अत्यन्त कामना करती हुयी (उस्रियाः) रहने वाली प्रजाओं को (उत् आजत्) ऊंचा किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् सभापति राजा अज्ञान फैलाने वाले शत्रुओं का नाश करके विद्या और धन की वृद्धि से प्रजा का पालन करे ॥ ५ ॥

एवा पित्रे विश्वदेवाय वृष्णे यज्ञैर्विधेम नमसा हविर्भिः ।
बृहस्पते सुप्रजा वीरवन्तो वयं स्याम पतयो रयीणाम् ॥ ६ ॥

एव । पित्रे । विश्व-देवाय । वृष्णे । यज्ञैः । विधेम । नमसा । हविः-भिः ॥ बृहस्पते । सु-प्रजाः । वीर-वन्तः । वयम् । स्याम । पतयः । रयीणाम् ॥ ६ ॥

भावार्थ—(विश्वदेवाय) सबों से स्तुति योग्य, (वृष्णे) बलवान् (पित्रे) पिता [के समान पालन करने वाले पुरुष] को (एव) निश्चय करके (नमसा) अन्न के साथ (यज्ञैः) मेल मिलापों और (हविर्भिः) देने योग्य पदार्थों से (विधेम) हम सेवा करें। (बृहस्पते) हे बृहस्पति ! [बड़ी विद्याओं के रक्षक पुरुष] (सुप्रजाः) श्रेष्ठ प्रजाओं वाले और (वीरवन्तः)

फलिगो मेघनाम—निघ० १ । १० । भेदस्य प्रापकम् । मेघमिवान्धकारस्य प्रसारकम् (रवेण) शब्देन । धर्मघोषणया (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षकः (उस्रियाः) अ० २० । १६ । ६ । निवासशीला प्रजाः (हव्यसूदः) षूद क्षरणे, अङ्गीकारे, प्रतिज्ञायां मारणे च—अच् । हव्यानां दानग्राह्यपदार्थानां प्रतिज्ञाकरः (कनिक्रदत्) अ० २ । ३० । ५ । भृशमाह्वयन्तम् (वावशतीः) वश कान्तौ यङ्लुकि—शतृ; ङीप् । भृशं कामयमानाः (उत्) उपरिभागे (आजत्) अ० २० । १६ । ५ । अगमयत् ॥

६—(एव) निश्चयेन (पित्रे) पितृवत्पालकाय (विश्वदेवाय) सर्वैः स्तुत्याय (वृष्णे) बलवते (यज्ञैः) सङ्गतिकरणैः (विधेम) परिचरेम (नमसा) अन्नेन सह (हविर्भिः) दानपदार्थैः (बृहस्पते) बृहतीनां विद्यानां रक्षक (सुप्रजाः) श्रेष्ठप्रजावन्तः (वीरवन्तः) वीरपुरुषयुक्ताः (वयम्)

वीर पुरुषों वाले होकर (वयम) हम (रयीणाम्) अनेक धनों के (पतयः) स्वामी (स्याम) होवें ॥ ६॥

भावार्थ—प्रजागण प्रजा पालक नीतिज्ञ सभापति राजा का यथावत् आदर करके धनी और बलवान् होवें ॥ ६ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३, ७, ८, ११ त्रिष्टुप्; २, ५ निचृत् त्रिष्टुप्; ४; ६ विराट् त्रिष्टुप्; ९ भुरिक् त्रिष्टुप; १० निचृदार्षी त्रिष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

अस्तेव सु प्रतरं लायमस्यन् भूषन्निव प्र भरा स्तोममस्मै ।
वाचा विप्रास्तरत वाचमर्यो नि रामय जरितः सोम इन्द्रम् १

अस्ता-इव । सु । प्र-तरम् । लायम् । अस्यन् । भूषन्-इव । प्र । भर । स्तोमम् । अस्मै ॥ वाचा । विप्राः । तरत । वाचम् । अर्यः । नि । रमय । जरितरिति । सोमे । इन्द्रम् १

भाषार्थ—(जरितः) हे स्तोता विद्वान् ! (प्रतरम्) अधिक उत्तम (लायम्) हृदयवेधी तीर को (सु) अच्छे प्रकार (अस्यन्) छोड़ते हुये (अस्ता इव) धनुर्धारी के समान तू (अस्मै) इस [शूर] के लिये (स्तोमम्) स्तुति को (भूषन् इव) सजाता हुआ जैसे (प्र भर) आगे धर, और (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] को (सोमे) तत्त्व रस में (नि) निरन्तर (रमय) आनन्द दे, (विप्राः) हे बुद्धिमानो ! (वाचा) [अपनी सत्य] वाणी से (अर्यः)

(स्याम) (पतयः) स्वामिनः (रयीणाम्) अनेकधनानाम्) ॥

१—(अस्ता) बाणक्षेप्ता । धानुष्कः (इव) यथा (सु) सुष्ठु (प्रतरम्) प्रकृष्टतरम् (लायम्) लीङ श्लेषणे—घञ् । सश्लेषिणं हृदयवेधिनं शरम् (अस्यन्) क्षिपन् (भूषन्) अलंकुर्वन् (इव) यथा (प्र भर) अग्रे धर (स्तोमम्) स्तुतिम् (अस्मै) इन्द्राय (वाचा) स्वसत्यवाण्या (विप्राः) हे मेधाविनः (तरत) अभिभवत (वाचम्) मिथ्यावाणीम् (अर्यः) अरेः शत्रोः (नि) नितराम् (रमय) आनन्दय (जरितः) हे स्तोतः (सोमे) तत्त्वरसे

वैरी की (वाचम्) [असत्य] वाणी को (तरत) तुम दबाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे उत्तम धनुर्धारी प्रेम से कार्य सिद्धि के लिये अपने अच्छे बाण को छोडता है, वैसे ही विद्वान् लोग पृथक् पृथक् होकर तथा सब मिलकर प्रीति के साथ प्रतापी वीर के उत्तम गुणों को जानकर तत्त्व की ओर प्रवृत करें और मिथ्यावादी वैरी को हराकर आनन्द भोगें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ४२ । १—११ ॥

दोहे॑न॒ गामुप॑ शिक्षा॒ सखा॑यं॒ प्र बो॑धय जरितर्जा॒रमिन्द्र॑म् ।
कोशं॒ न पूर्णं वसु॑ना॒ न्यृ॑ष्ट॒मा च्या॑वय मघ॒देया॑य॒ शूर॑म् ॥२॥

दोहे॑न । गाम् । उप॑ । शि॒क्ष॒ । सखा॑यम् । प्र । बो॒ध॒य॒ । ज॒रि॒त॒रिति॑ । जा॒रम् । इन्द्र॑म् ॥ कोश॑म् । न । पू॒र्णम् । वसु॑ना । नि-ऋ॑ष्टम् । आ । च्य॒व॒य॒ । म॒घ॒-देया॑य । शूर॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(जरितः) हे स्तुति करने वाले विद्वान् ! (दोहेन) दूध दोहने के लिये (गाम्) गाय को [जैसे, वैसे] (जारम्) स्तुति योग्य (सखायम्) मित्र (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े प्रतापी पुरुष] को (उप शिक्ष) तू ग्रहण कर और (प्र) अच्छे प्रकार (बोधय) जगा (वसुना) धन से (पूर्णम्) भरे हुये (कोशं न) कोश [धनागार] के समान (न्यृष्टम्) निश्चय को प्राप्त हुये (शूरम्) शूर को (मघदेयाय) पूजनीय पदार्थ के दान के लिये (आ च्यवय) आगे बढ़ा ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे अन्न आदि देकर प्रीति के साथ गाय से दूध लेते हैं, वैसे

(इन्द्रम्) महाप्रतापिनं मनुष्यम् ॥

२—(दोहेन) दुग्धदोहनार्थम् (गाम्) धेनुम् (उप शिक्ष) शिक्षति-र्दानकर्मा—निघ० ३ । २० । उप पूर्वक आदाने । गृहाण (सखायम्) प्रियम् (प्र बोधय) प्रबुद्धं जागृतं कुरु (जरितः) हे स्तोतः (जारम्) जॄ स्तुतौ—घञ्, अर्शआद्यच् । स्तुतियोग्यम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं पुरुषम् (कोशम्) धनागारम् (न) यथा (पूर्णम्) पूरितम् (वसुना) धनेन (न्यृष्टम्) ऋषी गतौ—क्त । निश्चयगतम् (आ) अभिमुखम् (च्यवय) गमय (मघदेयाय) पूजनीयपदार्थस्य दानाय (शूरम्) वीरम् ॥

मनुष्य आदर सत्कार के साथ कर्मवीर पुरुष से पूजनीय व्यवहार की शिक्षा ग्रहण करें ॥ २ ॥

किमङ्ग त्वा मघवन् भोजमाहुः शिशीहि मा शिशयं त्वा शृणोमि । अप्नस्वती मम धीरस्तु शक्र वसुविदं भगमिन्द्रा भरा नः ॥ ३ ॥

किम् । अङ्ग । त्वा । मघ-वन् । भोजम् । आहुः । शिशीहि । मा । शिशयम् । त्वा । शृणोमि ॥ अप्नस्वती । मम । धीः । अस्तु । शक्र । वसु-विदम् । भगम् । इन्द्र । आ । भर । नः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे (मघवन्) धन वाले [पुरुष !] (किम्) किस लिये (त्वा) तुझ को (भोजम्) पालन करने वाला (आहुः) वे [विद्वान] कहते हैं ? (मा) मुझ को (शिशीहि) सचेत कर, (त्वा) तुझ को (शिशयम्) उद्योगी (शृणोमि) मैं सुनता हूं । (शक्र) हे शक्तिमान् ! (मम) मेरी (धीः) बुद्धि (अप्नस्वती) कर्म वाली (अस्तु) होवे, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बडे ऐश्वर्य वाले पुरुष] (नः) हमारे लिये (वसुविदम्) धन पहुंचाने वाला (भगम्) ऐश्वर्य (आ) सब ओर से (भर) भर ॥ ३ ॥

भावार्थ—कीर्तिमान् प्रधान पुरुष ऐसा प्रयत्न करे कि सब लोग बुद्धिमान् होकर कर्मवीर होवें ॥ ३ ॥

त्वां जना ममसत्येष्विन्द्र संतस्थाना वि ह्वयन्ते समीके । अत्रा

३—(किम्) किमर्थम् (अङ्ग) सम्बोधने (त्वा) त्वाम् (मघवन्) धनवन् (भोजम्) पालकम् (आहुः) कथयन्ति विद्वांसः (शिशीहि) अ० २० । ३७ । ८ । तीक्ष्णीकुरु । सचेतसं कुरु (मा) माम् (शिशयम्) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ६६ । शश प्लुतगतौ—कयन्, अकारस्य इकारः । उद्योगिनम् (त्वा) (शृणोमि) (अप्नस्वती) कर्मवती (मम) (धीः) प्रज्ञा (अस्तु) (शक्र) हे शक्तिमन् (वसुविदम्) धनस्य लम्भकम् (भगम्) ऐश्वर्यम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (आ) समन्तात् (भर) धर (नः) अस्मभ्यम् ॥

युजं कृणुते यो हविष्मान्नासुन्वता सुख्यं वष्टि शूरः ॥ ४ ॥

त्वाम् । जनाः । मम-सत्येषु । इन्द्र । सम्-तस्थानाः । वि । ह्वयन्ते । सम्-ईके ॥ अत्र । युजम् । कृणुते । यः । हविष्मान् । न । असुन्वत । सख्यम् । वष्टि । शूरः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ममसत्येषु) अपने अपने उद्देश्य को सत्य मानने वाले सङ्ग्रामों के बीच (समीके) भिड़ के (संतस्थानाः) सजकर खड़े हुये (जनाः) लोग (त्वाम्) तुझ को (वि) विविधप्रकार (ह्वयन्ते) पुकारते हैं। (अत्र) यहां पर (शूरः) शूर पुरुष [उस मनुष्य को] (युजम्) साथी (कृणुते) बनाता है, (यः) जो (हविष्मान्) भक्ति वाला है, और (असुन्वता) तत्त्व रस के न निकालने वाले के साथ (सख्यम्) मित्रता (न) नहीं (वष्टि) चाहता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जहां पर दो पक्ष वाले आपस में अपने अपने उद्देश्य के लिये लड़ते हों, बुद्धिमान् पुरुष मध्यस्थ होकर धर्मात्मा का सहाय करे ॥ ४ ॥

पदपाठ के (असुन्वत) पद में भूल दीखती है, ऋग्वेद का (असुन्वता) पद पाठ संहिता के अनुकूल है, उसी के अनुसार हमने अर्थ किया है ॥

धनं न स्पन्द्रं बहुलं यो अस्मै तीव्रान्त्सोमाँ आसुनोति प्रयस्वान् । तस्मै शत्रून्त्सुतुकान् प्रातरह्नो नि स्वष्ट्रान् युवति

४—(त्वाम्) (जनाः) (ममसत्येषु) ममप्रयोजनं सत्यम्—इति ब्रुवाणा योद्धारः सन्ति यत्र। ममसत्य संग्राम नाम—निघ० २। १७। सङ्ग्रामेषु (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् पुरुष (संतस्थानाः) तिष्ठतेः—कानच्। सम्यक् तिष्ठन्तः (वि) विविधम् (ह्वयन्ते) आह्वयन्ति (समीके) अलीकादयश्च। उ० ४। २५। सम्+इण गतौ—ईकन्। धातुलोपः। सङ्गमे। संग्रामे—निघ० २। १७ (अत्र) अस्मिन् विषये (युजम्) सखायम् (कृणुते) कुरुते (यः) पुरुषः (हविष्मान्) भक्तिमान् (न) निषेधे (असुन्वत) असुन्वता—ऋग्वेदपदपाठो यथा। तत्त्वरसं निष्पादयता (सख्यम्) सखित्वम् (वष्टि) कामयते (शूरः) निर्भयः ॥

हन्ति वृत्रम् ॥ ५ ॥

धनम् । न । स्पन्द्रम् । बहुलम् । यः । अस्मै । तीव्रान् । सोमान् । आ-सुनोति । प्रयस्वान् ॥ तस्मै । शत्रून् । सु-तुकान् । प्रातः । अह्नः । नि । सु-अष्ट्रान् । युवति । हन्ति । वृत्रम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (प्रयस्वान्) अन्न वाला पुरुष (अस्मै) इस [वीर] को (बहुलम्) बहुत से (स्पन्द्रम्) शीघ्र प्राप्त होने वाले (धनम् न) धन के समान (तीव्रान्) तीव्र (सोमान्) सोम [तत्त्व रसों] को (आसुनोति) सिद्ध करता है। (तस्मै) उस [पुरुष] के लिये (सुतुकान्) बड़े हिंसक, (स्वष्ट्रान्) तीक्ष्ण शस्त्रों वाले (शत्रून्) बैरियों को (अह्नः) दिन के (प्रातः) प्रातः काल में [अर्थात् प्रकाश रूप से] (नि युवति) वह [वीर] हटा देता है और (वृत्रम्) धन को (हन्ति) प्राप्त होता है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे प्रजागण धन मन और विद्याबल से प्रधान पुरुष की सहायता करें, वह वीर भी उसी प्रकार दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे ॥ ५ ॥

यस्मिन् वयं दधिमा शंसमिन्द्रे यः शिश्राय मघवा काममस्मे । आराच्चित् सन् भयतामस्य शत्रुर्न्यस्मै द्युम्ना जन्या नमन्ताम् ॥ ६ ॥

५—(धनम्) (न) यथा (स्पन्द्रम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । स्पदि किञ्चिच्चलने गतौ च-रक् । स्पन्दनशीलम् । शीघ्रं प्रापणीयम् (बहुलम्) प्रभूतम् (यः) पुरुषः (अस्मै) वीराय (तीव्रान्) (सोमान्) तत्त्वरसान् (आसुनोति) निष्पादयति । संस्करोति (प्रयस्वान्) अन्नवान्—निघ० २ । ७ (तस्मै) पुरुषाय (शत्रून्) (सुतुकान्) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । तु गतिवृद्धिहिंसासु—कक् । बहुहिंसकान् (प्रातः) प्रभातकाले यथा (अह्नः) दिनस्य (नि) नितराम् (स्वष्ट्रान्) अमिचिमिशसिभ्यः क्त्रः । उ० ४ । १६४ । अशू व्याप्तौ-क्त्र, टाप् । सुष्ठु अष्ट्रास्ताडन्यो येषां तान् । तीक्ष्णायुधान् (युवति) पृथक् करोति (हन्ति) गच्छति—निघ० २ । १४ । प्राप्नोति (वृत्रम्) धनम्—निघ० २ । १० ॥

यस्मिन् । वयम् । दधिम । शंसम् । इन्द्रे । यः । शिश्राय । मघ-वा । कामम् । अस्मे इति ॥ आरात् । चित् । सन् । भयताम् । अस्य । शत्रुः । नि । अस्मै । द्युम्ना । जन्या । नमन्ताम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस (इन्द्रे) इन्द्र [बड़े प्रतापी वीर] में (शंसम्) अपनी इच्छा को (वयम्) हम ने (दधिम) रक्खा था और (यः) जिस (मघवा) धनवान् ने (अस्मे) हम में (कामम्) अपनी कामना को (शिश्राय) आश्रय दिया था। (आरात्) दूर (चित्) भी (सन्) रहता हुआ (शत्रुः) शत्रु (अस्य) उस का (भयताम्) भय माने, और (अस्मै) उस के लिये (जन्या) लोगों के हितकारी (द्युम्नानि) प्रकाशमान यश (नि) नित्य (नमन्ताम्) नमते रहें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जहां पर प्रजागण और प्रधान वीर पुरुष परस्पर हित के लिये प्रयत्न करते हैं, वहां पर शत्रु लोग दुराचार नहीं करते, और सब लोग उन्नति करके यशस्वी होते हैं ॥ ६ ॥

आराच्छत्रुमप बाधस्व दूरमुग्रो यः शम्बः पुरुहूत तेन । अस्मे धेहि यवमद् गोमदिन्द्र कृधी धियं जरित्रे वाजरत्नाम् ॥ ७ ॥

आरात् । शत्रुम् । अप । बाधस्व । दूरम् । उग्रः । यः ।

६—(यस्मिन्) (वयम्) प्रजागणाः (दधिम) धृतवन्तः (शंसम्) शसि इच्छायाम्—घञ् । आशंसाम् । आकाङ्क्षाम् (इन्द्रे) परमप्रतापिनि वीरे (यः) (शिश्राय) आश्रितवान् । स्थापितवान् (मघवा) धनवान् (कामम्) अभिलाषम् (अस्मे) अस्मासु (आरात्) दूरे (चित्) अपि (सन्) भवन् (भयताम्) बिभेतु । भयं प्राप्नोतु (अस्य) वीरस्य (शत्रुः) (नि) नितराम् (अस्मै) वीराय (द्युम्ना) द्योतमानानि यशांसि (जन्या) जनहितानि (नमन्ताम्) प्रह्वीभवन्तु ॥

शम्बः । पुरु-हूत । तेन ॥ अस्मे इति । धेहि । यव-मत् । गो-मत् । इन्द्र । कृधि । धियम् । जरित्रे । वाज-रत्नाम् ॥७

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये ! [वीर] (यः) जो (शम्बः) तेरा वज्र (उग्रः) प्रचण्ड है. (तेन) उस से (शत्रुम्) शत्रु को (आरात्) दूर से (दूरम्) दूर (अप बाधस्व) हटा दे । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े प्रतापी वीर] (अस्मे) हम को (यवमत्) अन्न वाला (गोमत्) विद्याओं और गौओं वाला धन (धेहि) दे और (जरित्रे) स्तोता [गुण प्रसिद्ध करने वाले] के लिये (धियम्) बुद्धि को (वाजरत्नाम्) बलों और सुवर्ण आदि रत्नों वाली (कृधि) कर ॥ ७ ॥

भावार्थ—वीर प्रधान पुरुष अपने प्रचण्ड दण्डदान से शत्रुओं को हटाकर प्रजागणों को विद्या द्वारा पराक्रमी और धनाढ्य बनावे ॥ ७ ॥

प्र यमन्तर्वृषसवासो अग्मन् तीव्राः सोमा बहुलान्तास इन्द्रम् । नाह दामानं मघवा नि यंसन् नि सुन्वते वहति भूरि वामम् ॥ ८ ॥

प्र । यम् । अन्तः । वृष-सवासः । अग्मन् । तीव्राः । सोमाः । बहुल-अन्तासः । इन्द्रम् ॥ न । अह । दामानम् । मघ-वा । नि । यंसत् । नि । सुन्वते । वहति । भूरि । वामम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(यम्) जिस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े प्रतापी मनुष्य] को

७—(आरात्) दूरात् (शत्रुम्) (अप बाधस्व) अपगमय (दूरम्) (उग्रः) प्रचण्डः (यः) (शम्बः) अ० ६ । २ । ६ । शम्ब इति वज्रनाम, शमयतेर्वा शातयतेर्वा—निरु० ५ । २४ । वज्रः (पुरुहूत) हे बहुविधाहूत (तेन) वज्रेण (अस्मे) अस्मभ्यम् (धेहि) देहि (यवमत्) अन्नयुक्तम् (गोमत्) गोभिः—विद्याभिर्धेनुभिश्च युक्तं धनम् (इन्द्र) हे महाप्रतापिन् वीर (कृधि) कुरु (धियम्) प्रज्ञाम् (जरित्रे) स्तोत्रे (वाजरत्नाम्) वाजैर्बलैः सुवर्णादिरत्नैश्च युक्ताम् ॥

८—(प्र) प्रकर्षेण (यम्) (अन्तः) मध्ये । हृदये (वृषसवासः)

(वृषसवासः) बलवानों को ऐश्वर्य देने वाले, (तीव्राः) तीव्र स्वभाव वाले और (बहुलान्तासः) बहुत ज्ञान को अन्त [सिद्धान्त] में रखने वाले (सोमाः) सोम [तत्त्वरस] (अन्न.) भीतर [हृदय में] (प्र अग्मन्) प्राप्त हो गये हैं। (मघवा) वह धनवान् पुरुष (अह) निश्चय करके (दामानम्) दान को (न) नहीं (नि यंसत्) रोक सकता है वह (सुन्वते) तत्त्व रस निचोड़ने वाले को (भूरि) बहुत (वामम्) उत्तम धन (नि) नित्य (वहति) पहुंचाता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य निश्चित सिद्धान्तों पर दृढ होकर चले, उस वीर से दूसरे विद्वान् शिक्षा लेकर बहुत धन प्राप्त करें ॥ ८ ॥

उत प्रहामतिदीवा जयति कृतमिव श्वघ्नी वि चिनोति काले। यो देवकामो न धनं रुणद्धि समित् तं रायः सृजति स्वधाभिः ९

उत। प्र-हाम्। अति-दीवा। जयति। कृतम्-इव। श्व-घ्नी। वि। चिनोति। काले ॥ यः। देव-कामः। न। धनम्। रुणद्धि। सम्। इत्। तम्। रायः। सृजति। स्वधाभिः ॥९॥

भाषार्थ—(उत) और (अतिदीवा) बड़ा व्यवहार कुशल पुरुष (प्रहाम्) उपद्रवी पुरुष को (जयति) जीत लेता है, (श्वघ्नी) धन नाश करने वाला ज्वारी (काले) [हार के] समय पर (इव) ही (कृतम्) अपने काम का (वि चिनोति) विवेक करता है। (यः) जो (देवकामः) शुभ गुणों का चाहने वाला (धनम्) धन को [शुभ काम में] (न) नहीं (रुणद्धि) रोकता है, (रायः) अनेक धन (तम्) उसको (इत्) ही (स्वधाभिः) आत्म

वृषभ्यो बलवद्भ्यः स्वाः ऐश्वर्याणि येभ्यः सकाशात् ते तथाभूताः (अग्मन्) प्राप्तवन्तः (तीव्राः) तीक्ष्णाः, (सोमाः) तत्त्वरसाः (बहुलान्तासः) बहुलं बहुज्ञानम् अन्ते सिद्धान्ते येषां ते (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं पुरुषम् (न) निषेधे (अह) एव (दामानम्) ददातेः—मनिन्। दानम् (मघवा) धनवान् (नि) (यंसत्) यमु उपरमे—लेट्। उपरतं निरुद्धं कुर्यात् (नि) नित्यम् (सुन्वते) तत्त्वं निष्पादयते पुरुषाय (वहति) प्रापयति (भूरि) प्रभूतम् (वामम्) वननीयं धनम् ॥

मन्त्री ९, १० व्याख्याती—अ० ७। ५०। ६, ७ ॥

धारण शक्तियों के साथ (सम् सृजति) मिलते हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—प्रतापी पुरुष दुष्ट को जीतकर उसे उसके दोष का निश्चय करा देता है, शुभ गुण चाहने वाला उदारचित्त मनुष्य अनेक धन और आत्म-बल पाता है ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, १० आ चुके हैं—अ० ७ । ५० । ६ । ७ ॥

गोभि॑ष्टरे॒माम॑तिं दु॒रेवां॒ यवे॑न॒ क्षुधं॑ पुरुहूत॒ विश्वे॑ ।
व॒यं राज॑सु प्रथ॒मा धना॒न्यरि॑ष्टासो वृ॒जनी॑भिर्जयेम ॥ १० ॥

गोभिः॑ । त॒रे॒म॒ । अम॑तिम् । दुः॒-एवा॑म् । यवे॑न । वा॒ । क्षुध॑म् । पुरु॒-हू॒त॒ । विश्वे॑ ॥ व॒यम् । राज॑-सु । प्र॒थ॒माः । धना॑नि । अरि॑ष्टासः । वृ॒जनी॑भिः । ज॒ये॒म॒ ॥ १० ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुत बुलाये गये राजन् ! (विश्वे) हम सब लोग (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गति वाली (अमतिम्) कुमति को (तरेम) हटावें, (वा) जैसे (यवेन) जौ आदि अन्न से (क्षुधम्) भूख को । (वयम्) हम लोग (राजसु) राजाओं के बीच (प्रथमाः) पहिले और (अरिष्टासः) अजेय होकर (वृजनीभिः) अनेक वर्जन शक्तियों से (धनानि) अनेक धनों को (जयेम) जीतें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा कुमति हटाकर प्रशसनीय गुण प्राप्त करके अनेक धन प्राप्त करें ॥ १० ॥

मन्त्र १० कुछ भेद से और मन्त्र ११ आ चुके हैं—अ० २० । १७ । १०,११ और आगे हैं—अ० २० । ६४ । १०,११ । मन्त्र १० की टिप्पणी देखो ॥

बृह॒स्पति॑र्नः॒ परि॑ पातु प॒श्चादु॒तोत्त॑रस्मा॒दध॑रादघा॒योः । इन्द्रः॑ पु॒रस्ता॑दु॒त म॑ध्य॒तो नः॒ सखा॒ सखि॑भ्यो॒ वरी॑यः कृणोतु ॥ ११ ॥

बृह॒स्पतिः॑ । नः॒ । परि॑ । पा॒तु॒ । प॒श्चात् । उ॒त । उत्-त॑रस्मात् । अध॑रात् । अ॒घ॒-योः ॥ इन्द्रः॑ । पु॒रस्ता॑त् । उ॒त । म॒ध्य॒तः । नः॒ । सखा॑ । सखि॑-भ्यः । वरी॑यः । कृ॒णो॒तु॒ ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से, (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे। (इन्द्रः) इन्द्र [वह बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरीयः) विस्तीर्ण स्थान (कृणोतु) करे, (सखा) जैसे मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है]॥११॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की रक्षा करे॥

यह मन्त्र आचुका है—अ० ७। ५१। १। मन्त्र १०, ११ की टिप्पणी भी ऊपर देखो॥

सूक्तम् ८०॥

१—२॥ बृहस्पतिर्देवता॥ त्रिष्टुप् छन्दः॥

राजलक्षणोपदेशः—राजा के लक्षण का उपदेश॥

यो अद्रिभित् प्रथमजा ऋतावा बृहस्पतिराङ्गिरसो हविष्मान्। द्विबर्हज्मा प्राघर्मसत् पिता न आ रोदसी वृषभो रोरवीति॥ १॥

यः। अद्रि-भित्। प्रथम-जाः। ऋत-वा। बृहस्पतिः। आङ्गिरसः। हविष्मान्॥ द्विबर्ह-ज्मा। प्राघर्म-सत्। पिता। नः। आ। रोदसी इति। वृषभः। रोरवीति॥ १॥

भाषार्थ—(यः) जो (अद्रिभित्) पहाड़ों को तोड़ने वाला, (प्रथमजाः) मुख्य पद पर प्रकट होने वाला, (ऋतवा) सत्यवान्, (आङ्गिरसः) विद्वान् पुरुष का पुत्र (हविष्मान्) देने लेने योग्य पदार्थों वाला, (बृहस्पतिः)

११—अयं मन्त्रो व्याख्यातः—अ० ७। ५१। १॥

१—(यः) (अद्रिभित्) शैलानां छेत्ता (प्रथमजाः) मुख्यपदे प्रादुर्भूतः (ऋतवा) ऋत—मत्वर्थे वनिप्। सत्यवान् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षको राजा (आङ्गिरसः) अङ्गिरसो विदुषः पुरुषस्य पुत्रः (हविष्मान्)

बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक राजा] है, वह (द्विबर्हज्मा) दोनों [विद्या और पुरुषार्थ] से प्रधानता पाने वाला, (प्राघर्मसत्) अच्छे प्रकार सब ओर से प्रताप का सेवन करने वाला (नः) हमारा (पिता) पालने वाला है, [जैसे] (वृषभः) जल बरसाने वाला मेघ (रोदसी) आकाश और पृथिवी में (आ) व्यापकर (रोरवीति) बल से गरजता है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि पहाड़ आदि कठिन स्थानों में मार्ग करके प्रजा का पालन करे, जैसे मेघ गर्जन के साथ वृष्टि करके संसार का उपकार करता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—६ । ७३ । १—३ । चौथा पाद शाखा का है—अ० १८ । ३ । ६४ ॥

जनाय चिद् य ईवत उ लोकं बृहस्पतिर्देवहूतौ चकार । घ्नन् वृत्राणि वि पुरो दर्दरीति जयं छत्रूरमित्रान् पृत्सु साहन् ॥२॥

जनाय । चित् । यः । ईवते । ऊँ इति । लोकम् । बृहस्पतिः । देव-हूतौ । चकार ॥ घ्नन् । वृत्राणि । वि । पुरः । दर्दरीति । जयन् । शत्रून् । अमित्रान् । पृत्-सु । सहन् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के

[दातव्यग्राह्यपदार्थयुक्तः (द्विबर्हज्मा) बर्ह प्राधान्ये—वन् । ज्मतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । श्वन्नुक्षन्पूषन्प्लीहन्० । उ० १ । १५८ । ज्मु गतौ—कनिन्, अकारलोपः । द्वाभ्यां विद्यापुरुषार्थाभ्यां बर्हं प्राधान्यं ज्मति प्राप्नोति यः सः (प्राघर्मसत्) प्र+आ+घर्म+षण सम्भक्तौ-क्विप् । गमादीनामिति वक्तव्यम् । वा० पा० ६ । ४ । ४० । अनुनासिकलोपः । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । पा० ६ । १ । ७१ । तुगागमः । प्रकर्षेण समन्तात् प्रतापस्य सेवनकर्ता (पिता) पालकः) (नः) अस्माकम् (आ) व्याप्य (रोदसी) द्यावापृथिव्यौ (वृषभः) वर्षिताऽपाम्—निरु० ५ । ८ । मेघः (रोरवीति) भृशं रौति । अभिगर्जति ॥

२—(जनाय) (चित्) अवश्यम् (यः) (ईवते) गतिमते (उ) एव

[इन्द्र राजा] ने (चित् उ) अवश्य ही (ईवते) गतिमान् (जनाय) मनुष्य के लिये (देवहूतौ) विद्वानों के बुलावे में (लोकम्) दर्शनीय स्थान (चकार) किया है। वह (वृत्राणि) धनों को (घ्नन्) पाता हुआ और (अमित्रान्) सताने वाले (शत्रून्) वैरियों को (पृत्सु) सङ्ग्रामों में (जयन्) जीतता हुआ और (नहन्) हराता हुआ (पुरः) [उनके] दुर्गों को (वि दर्दरीति) तोड़ डालता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो वीर राजा विद्वान् उद्योगी जनों का आदर करता है, वह धनवान् होकर और शत्रुओं को जीतकर प्रजा को पालता है ॥ २ ॥

बृहस्पतिः सम॑जयद् वसू॑नि म॒हो व्र॒जान् गोम॑तो दे॒व ए॒षः ।
अ॒पः सिषा॑स॒न्त्स्व॒१ रप्र॑तीतो बृह॒स्पति॒र्हन्त्य॒मित्र॑म॒र्कैः ॥ ३ ॥

बृह॒स्पतिः । सम् । अ॒ज॒य॒त् । वसू॑नि । म॒हः । व्र॒जान् ।
गो-म॑तः । दे॒वः । ए॒षः ॥ अ॒पः । सिसा॑सन् । स्वः॑ । अप्र॑ति-इतः ।
बृह॒स्पतिः । हन्ति । अ॒मित्र॑म् । अ॒र्कैः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवः) विजय चाहने वाले (एषः) इस (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के रक्षक पुरुष] ने (वसूनि) धनों को और (महः) बड़े, (गोमतः) विद्याओं से युक्त (व्रजान्) मार्गों को (सम् अजयत्) जीत लिया है, (अपः) कर्म और (स्वः), सुख को (सिसासन्) पूरे करने की

(लोकम्) दर्शनीयं स्थानम् (बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां पालकः (देवहूतौ) देवानामाह्वाने (चकार) कृतवान् (घ्नन्) गच्छन् । प्राप्नुवन् (वृत्राणि) धनानि (वि) विशेषेण (पुरः) शत्रूणां नगराणि । दुर्गाणि (दर्दरीति) भृश विदारयति (जयन्) (शत्रून्) (अमित्रान्) अम पीडने—इत्रन् । पीडकान् (पृत्सु) पृतनासु । संग्रामेषु (नहन्) अभिभवन् ॥

३—(बृहस्पतिः) बृहतीनां विद्यानां रक्षको राजा (सम्) सम्यक् (अजयत्) जयेन प्राप्तवान् (वसूनि) धनानि (महः) महतः । विशालान् (व्रजान्) मार्गान् (गोमतः) विद्यायुक्तान् (देवः) विजिगीषुः (एषः) समीपस्थः (अपः) कर्म (सिसासन्) षो अन्तकर्मणि—सनि, शतृ । समाप्तिं

इच्छा करता हुआ, (अप्रतीतः) बे रोक (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं का रक्षक राजा] (अर्कैः) वज्रों [शस्त्रों] से (अमित्रम्) सताने वाले को (हन्ति) नाश करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो विजय चाहने वाला पुरुष धन और विद्याओं को बढ़ाता है वह अपने सुकर्म से दुष्टों को हराकर आनन्द पाता है ॥ ३ ॥

इति सप्तमोऽनुवाकः ॥

अथाष्टमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ९१ ॥

१—१२ ॥ बृहस्पतिर्देवता ॥ १ विराट् त्रिष्टुप्; २—७, ११ निचृत् त्रिष्टुप्; ८—१०, १२ त्रिष्टुप् ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों के उपदेश ॥

इमां धियं सप्तशीर्ष्णीं पिता न ऋतप्रजातां बृहतीमविन्दत्। तुरीयं स्विज्जनयद् विश्वजन्योऽयास्य उक्थमिन्द्राय शंसन् ॥ १ ॥

इमाम् । धियम् । सप्त-शीर्ष्णीम् । पिता । नः । ऋत-प्रजाताम् । बृहतीम् । अविन्दत् ॥ तुरीयम् । स्वित् । जनयत् । विश्व-जन्यः । अयास्यः । उक्थम् । इन्द्राय । शंसन् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (पिता) पिता [मनुष्य] ने (ऋतप्रजाताम्) सत्य [अविनाशी परमात्मा] से उत्पन्न हुई (सप्तशीर्ष्णीम्) [दो कान, दो नथने, दो आंखें, और एक मुख—अ० १०।२।६] सात गोलकों में शिर [आश्रय]

कर्तुमिच्छन् (स्वः) सुखम् (अप्रतीतः) अप्रतिगतः (बृहस्पतिः) (हन्ति) नाशयति (अमित्रम्) पीडकं पुरुषम् (अर्कैः) अर्को वज्रनाम—निघ० २ । २० । वज्रैः । शस्त्रैः ॥

१—(इमाम्) प्रत्यक्षाम् (धियम्) प्रज्ञाम् (सप्तशीर्ष्णीम्) शीर्षंश्छन्दसि । पा० । ६ । १ । ६० । शीर्षन्निति शब्दान्तर शिरःशब्देन समानार्थम्, ङीप् । कर्णौ नासिके चक्षणी मुखम्—अ० १० । २ । ६ । इति सप्तसु छिद्रेषु

रखने वाली, (इमाम्) इस (बृहतीम्) बड़ी (धियम्) बुद्धि को (अविन्दत्) पाया है। और (विश्वजन्यः) उस सब मनुष्यों के हितकारी, (अयास्यः) शुभ कर्मों में स्थिति रखने वाले मनुष्य ने (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] की (स्वित्) ही (शंसन्) स्तुति करते हुये (तुरीयम्) बल युक्त (उक्थम्) वचन को (जनयत्) प्रकट किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा की जिस सत्य वेदवाणी को पूर्वज लोग परम्परा से परीक्षा करके ग्रहण करते आये हैं, विद्वान् लोग उसी वेदवाणी पर चलकर परमेश्वर की स्तुति करते हुये अपने आत्मा को बढ़ावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ६७ । १—१२ ॥

ऋतं शंसन्त ऋजु दीध्याना दिवस्पुत्रासो असुरस्य वीराः ।
विप्रं पदमङ्गिरसो दधाना यज्ञस्य धाम प्रथमं मनन्त ॥ २ ॥

ऋतम् । शंसन्तः । ऋजु । दीध्यानाः । दिवः । पुत्रासः । असुरस्य । वीराः ॥ विप्रम् । पदम् । अङ्गिरसः । दधानाः । यज्ञस्य । धाम । प्रथमम् । मनन्त ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋतम्) सत्य ज्ञान की (शंसन्तः) स्तुति करते हुये, (ऋजु) ठीक ठीक (दीध्यानाः) ध्यान करते हुये, (दिवः) विजय चाहने वाले (असुरस्य) बुद्धिमान् पुरुष के (वीराः) वीर (पुत्रासः) पुत्र (विप्रम्)

शिर आश्रयो यस्यास्ताम् (पिता)जनकः (नः)अस्माकम् (ऋतप्रजाताम्) सत्यात् परमेश्वरात् प्रादुर्भूताम् (बृहतीम्) महतीम् (अविन्दत्) लब्धवान् (तुरीयम्) तुर वेगे—क । घच्छौ च । पा० ४ । ४ । ११७ । तुर—छप्रत्ययः, तत्र भव इत्यर्थे । बलयुक्तम् (स्वित्) अवधारणे (जनयत्) अजनयत् । प्रकटीकृतवान् (विश्व-जन्यः) सर्वजनहितः पुरुषः (अयास्यः) इण् गतौ—अच् + आस उपवेशने-क्यप्, टाप् । अयेषु शुभकर्मसु आस्या स्थितिर्यस्य सः (उक्थम्) वचनम् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते जगदीश्वराय (शंसन्) स्तुतिं कुर्वन् ॥

२—(ऋतम्) सत्यज्ञानम् (शंसन्तः) स्तुवन्तः (ऋजु) सरलम् । यथार्थम् (दीध्यानाः) ध्यै चिन्तायाम्—कानच् । तुजादीनां दीर्घोऽभ्यासस्य । पा० ६ । १ । ७ । इति दीर्घः । ध्यायन्तः (दिवः) विजिगीषोः (पुत्रासः) पुत्राः

विविध प्रकार पूर्ण (पदम्) पद [पाने योग्य वस्तु] को (दधानाः) धारण करते हुये (अङ्गिरसः) ज्ञानी ऋषियों ने (यज्ञस्य) पूजनीय व्यवहार के (प्रथमम्) मुख्य (धाम) स्थान [परब्रह्म] को (मनन्त) पूजा है ॥ २ ॥

भावार्थ—सत्यग्राही ऋषि महात्मा लोग माता पिता आदि विद्वानों से उत्तम शिक्षा पाकर परब्रह्म परमात्मा के ज्ञान में लवलीन होकर आत्मा की उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

हंसैरिव सखिभिर्वावदद्भिरश्मन्मयानि नहना व्यस्यन् ।
बृहस्पतिरभिकनिक्रदद् गा उत प्रास्तौदुच्च विद्वाँ अगायत् ॥ ३ ॥

हंसैःऽइव । सखिऽभिः । वावदत्ऽभिः । अश्मन्ऽमयानि । नहना । विऽअस्यन् ॥ बृहस्पतिः । अभिऽकनिक्रदत् । गाः । उत । प्र । अस्तौत् । उत् । च । विद्वान् । अगायत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(हंसैः इव) हंसों के समान [विवेकी] (वावदद्भिः) स्पष्ट बोलते हुये (सखिभिः) मित्र पुरुषों द्वारा (अश्मन्मयानि) व्याप्ति वाले (नहना) बन्धनों [कठिन विघ्नों] को (व्यस्यन्) हटाते हुये, (अभिकनिक्रदत्) सब ओर उपदेश करते हुये (विद्वान्) विद्वान् (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े विद्वानों के स्वामी परमात्मा] ने (गाः) वेदवाणियों को (प्र अस्तौत्)

(असुरस्य) महाबुद्धस्य (वीराः) विक्रान्ताः (विश्वम्) विविधपूरकम् (पदम्) प्रापणीयं वस्तु (अङ्गिरसः) ज्ञानिनः । ऋषयः (दधानाः) धारयन्तः (यज्ञस्य) पूजनीयव्यवहारस्य (धाम) धारकं स्थानम् (प्रथमम्) मुख्यम् (मनन्त) मन्यतेरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । ४ । अमनन्त । अस्तुवन्त ॥

३—(हंसैरिव) हंसपक्षिवद्विवेकिभिः (सखिभिः) मित्रैः (वावदद्भिः) वद व्यक्तायां वाचि—यङ्लुकि शतृ । स्पष्टं कथयद्भिः (अश्मन्मयानि) अशू व्याप्तौ—मनिन् । व्याप्तिमन्ति (नहना) बन्धनानि । विघ्नकर्माणि (व्यस्यन्) विक्षिपन् । शिथिलयन् (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां रक्षकः (अभिकनिक्रदत्) क्रदि आह्वाने रोदने च—यङ्लुकि, शतृ । आभिमुख्येन भृशमुपदिशन् (गाः) वेदवाणीः (उत) अपि (प्र अस्तौत्) प्रस्तुतवान् (उत्)

प्रस्तुत किया है [सामने रक्खा है] (उत च) और भी (उत् अगायत्) ऊंचा गाया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस पक्षपात रहित परमात्मा ने प्रलय के भारी अन्धकार को मिटाकर विवेकी प्यारे भक्त ऋषियों द्वारा संसार के सुख के लिये वेदों को प्रकाशित किया है, उस जगदीश्वर की उपासना से अपने आत्मा में सब लोग प्रकाश करें ॥ ३ ॥

अवो द्वाभ्यां पर एकया गा गुहा तिष्ठन्तीरनृतस्य सेतौ । बृहस्पतिस्तमसि ज्योतिरिच्छन्नुदुस्रा आकर्वि हि तिस्र आवः ॥ ४ ॥

अवः । द्वाभ्याम् । परः । एकया । गाः । गुहा । तिष्ठन्तीः । अनृतस्य । सेतौ ॥ बृहस्पतिः । तमसि । ज्योतिः । इच्छन् । उत् । उस्राः । आ । अकः । वि । हि । तिस्रः । आवरित्यावः ॥ ४ ॥

भावार्थ—(तमसि) अन्धकार के बीच (ज्योतिः) प्रकाश (इच्छन्) चाहता हुआ (बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों का स्वामी परमेश्वर] (द्वाभ्याम्) दोनों [प्रलय और सृष्टि की अवस्थाओं] से और (एकया) एक [स्थिति की अवस्था] से (अनृतस्य) असत्य [अज्ञान] के (सेतौ) बन्धन में (गुहा) गुहा [गुप्त वा अज्ञान दशा] के बीच (अवः) नीचे और (परः) ऊपर (तिष्ठन्तीः) ठहरी हुयी (गाः) वेदवाणियों को और (तिस्रः) तीनों (उस्राः) [सूर्य, अग्नि और बिजुली रूप] प्रकाशों को (हि) निश्चय करके

उच्चैः (च) (विद्वान्) (अगायत्) उपदिष्टवान् ॥

४—(अवः) अवस्तात् । नीचैः (द्वाभ्याम्) द्वित्वयुक्ताभ्यां प्रलयसृष्ट्यवस्थाभ्याम् (परः) परस्तात् । उच्चैः (एकया) एकत्वयुक्तया स्थित्यवस्थया (गाः) वेदवाणीः (गुहा) गुहायाम् । अज्ञानदशायाम् (तिष्ठन्तीः) वर्तमानाः (अनृतस्य) असत्यस्य । अज्ञानस्य (सेतौ) बन्धे (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामी परमेश्वरः (तमसि) अन्धकारे । प्रलये (ज्योतिः) प्रकाशम् (इच्छन्) कामयमानः (उत्) उत्तमतया (उस्राः) वस निवासे-रक् । उस्रा रश्मिनाम-निघ० १ । ५ । सूर्याग्निविद्युद्रूपप्रकाशान् (आ अकः) आकार्षीत्

(इत्) इस रीति से (आ अकः) आकार में लाया और (वि आवः) प्रकट किया ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ प्रलय, सृष्टि और स्थिति के अनादि चक्र से प्रलय की अवस्था में सूक्ष्म रूप से रहते हैं, वे परमात्मा की इच्छा से आकार पाकर संसार मे प्रकट होते हैं ॥ ४ ॥

विभिद्या पुरं शयथेमपाचीं निस्त्रीणि साकमुदधेरकृन्तत् ।
बृहस्पतिरुषसं सूर्यं गामर्कं विवेद स्तनयन्निव द्यौः ॥ ५ ॥

वि-भिद्य । पुरम् । शयथा । ईम् । अपाचीम् । निः । त्रीणि । साकम् । उद-धेः । अकृन्तत् ॥ बृहस्पतिः । उषसम् । सूर्यम् । गाम् । अर्कम् । विवेद । स्तनयन्-इव । द्यौः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] ने (शयथा) सोती हुयी (अपाचीम्) औंधे मुख वाली (ईम्) प्राप्त हुई (पुरम्) पूर्ति [वा नगरी] को (विभिद्य) तोड़ डालकर (त्रीणि) तीनों [धामों अर्थात् स्थान, नाम और जाति जैसे मनुष्य पशु आदि—निरु० ९ । २८] को (साकम्) एक साथ (उदधेः) जल वाले समुद्र से (निः अकृन्तत्) छांट लिया, (द्यौः) उस प्रकाशमान [परमात्मा] ने (स्तनयन् इव) गरजते हुये बादल के समान

कृतवान् (हि) निश्चयेन (निस्रः) निःसंख्याकाः (वि आवः) वृणोतेर्लुङि मन्त्रे घसेति च्लेर्लुक् । बहुलं छन्दसीत्यडागमः । विवृतवान् । प्रकाशितवान् ॥

५—(विभिद्य) विदार्य (पुरम्) पूर्तिं नगरीं वा (शयथा) शीङ्शपि० । उ० ३ । ११३ । शीङ् शयने—अथप्रत्ययः । विभक्तेराकारः । शयथाम् । शयनयुक्ताम् (ईम्) प्राप्ताम् (अपाचीम्) पराङ्मुखीम् (निः) पृथग्भावे (त्रीणि) धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९ । २८ (साकम्) युगपत् (उदधेः) जलाधारात् । समुद्रात् (अकृन्तत्) छिन्नवान् । निर्गमितवान् (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां रक्षकः परमेश्वरः (उषसम्) उषः किच्च । उ० ४ । २३४ । उष दाहे—असि कित् । दाहकम् (सूर्यम्) आदित्यमण्डलम् (गाम्) पृथिवीम् (अर्कम्) अर्क तापे स्तुतौ च—घञ् । अन्नम्—निरु०

होकर (उपसम्) तपाने वाले (सूर्यम्) सूर्य को, (गाम्) भूमि को और (अर्कम्) उष्णता देने वाले अन्न को (विवेद) जनाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो पदार्थ परमाणु रूप से प्रलय के बीच बीजरूप में गड़बड़ पड़े थे, उन को परमात्मा ने जल द्वारा आकार युक्त कर के सूर्य, पृथिवी, अन्न आदि उत्पन्न किये हैं ॥ ५ ॥

इन्द्रो वलं रक्षितारं दुघानां करेणेव वि चकर्ता रवेण। स्वेदाञ्जिभिराशिरमिच्छमानोऽरोदयत् पणिमा गा अमुष्णात् ॥ ६ ॥

इन्द्रः। वलम्। रक्षितारम्। दुघानाम्। करेण-इव। वि। चकर्त। रवेण ॥ स्वेदाञ्जि-भिः। आ-शिरम्। इच्छमानः। अरोदयत्। पणिम्। आ। गाः। अमुष्णात् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र.) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] ने (दुघानाम्) पूर्तियों के (रक्षितारम्) रखलेने वाले [रोकने वाले] (वलम्) हिंसक [विघ्न] को (करेण इव) हाथ से जैसे [वैसे] (रवेण) अपने शब्द [वेद] से (वि चकर्त) काट डाला है। और (स्वेदाञ्जिभिः) मोक्ष के प्रकट करने वाले व्यवहारों से (आशिरम्) परिपक्वता को (इच्छमानः) चाहते हुये उस ने

५। ४ (विवेद) विज्ञापितवान् (स्तनयन्) गर्जयन् मेघः (इव) यथा (द्यौः) प्रकाशमानः परमेश्वरः ॥

६—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (वलम्) हिंसकं विघ्नम् (रक्षितारम्) रक्षकम्। निरोधकमित्यर्थः (दुघानाम्) दुह प्रपूरणे-कप्, टाप्। पूरयित्रीणां शक्तीनाम् (करेण) हस्तेन (इव) यथा (वि) विविधम् (चकर्त) कृती छेदने—लिट्। चिच्छेद (रवेण) शब्देन वेदेन (स्वेदाञ्जिभिः) ञिष्विदा स्नेहनमोचनमोहनेषु अभ्यंकशब्दे गात्रप्रक्षरणे च—घञ्+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-इन्। मोचनस्य मोक्षस्य व्यक्तीकरणव्यवहारैः (आशिरम्) अ० २०। २२। ६। आङ्+श्रीञ् पाके—क्विप्, शिर् इत्यादेशः। परिपक्वत्वम् (इच्छमानः) कामयमानः (अरोदयत्) रोदनं कारितवान् (पणिम्) कुव्यव-

(पणिम्) कुव्यवहारी पुरुष को (अरोदयत्) रुलाया है और (गाः) प्रकाशों को [उस से] (आ) सर्वथा (अमुष्णात्) छीन लिया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—यहां (इन्द्र) शब्द (बृहस्पति) अर्थात् परमात्मा का वाचक है। परमात्मा वेदद्वारा मोक्षमार्ग बताकर सुखों के रोकने वाले विघ्नों को मिटाता है और अधर्मी पापियों को घोर अन्धकार में डालता है ॥ ६ ॥

स ईं सत्येभिः सखिभिः शुचद्भिर्गोधायसं वि धनसैरदर्दः ।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैर्घर्मस्वेदेभिर्द्रविणं व्यानट् ॥ ७ ॥

सः । ईम् । सत्येभिः । सखि-भिः । शुचत्-भिः । गो-धायसम् । वि । धन-सैः । अदर्दः इत्यदर्दः ॥ ब्रह्मणः । पतिः । वृष-भिः । वराहैः । घर्म-स्वेदेभिः । द्रविणम् । वि । आनट् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सः) उस (ब्रह्मणः) ब्रह्माण्ड के (पतिः) स्वामी [परमेश्वर] ने (सत्येभिः) सत्य (सखिभिः) मित्ररूप, (शुचद्भिः) प्रकाशमान, (धनसैः) धन देने वाले, (वृषभिः) बलवान्, (वराहैः) उत्तम आहार [भोजनादि] देने वाले, (घर्मस्वेदेभिः) ताप और भाप रखने वाले गुणों से (ईम्) प्राप्त हुये (गोधायसम्) वज्र रखने वाले [शत्रु], को (अदर्दः) फाड़ डाला और (द्रविणम्) धन को (वि आनट्) प्राप्त किया है ॥ ७ ॥

हारिणं पुरुषम् (आ) समन्तात् (गाः) रश्मीन्। प्रकाशान् (अमुष्णात्) अपहृतवान् ॥

७—(सः) (ईम्) प्राप्तम् (सत्येभिः) सत्यशीलैः (सखिभिः) मित्रभूतैः (शुचद्भिः) दीप्यमानैः (गोधायसम्) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वञ्च । उ० ४ । २२७ । गो+दधातेः—असि, णित्। गोर्वज्रस्य धारकं शत्रुम् (धनसैः) षणु दाने—ड। धनदातृभिः (अदर्दः) दॄ विदारणे—यङ्लुगन्ताल्लङि रूपम्। भृशं विदारितवान् (ब्रह्मणः) प्रवृद्धस्य ब्रह्माण्डस्य (पतिः) स्वामी (वृषभिः) बलवद्भिः (वराहैः) अ० ८ । ७ । २३ । अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । वर+आङ्+हञ् हरणे—डप्रत्ययः । वरः श्रेष्ठ आहारो भोजनादिकं येभ्यस्तैः । वराहारदातृभिः (घर्मस्वेदेभिः) घर्मस्तापः स्वेदो वाष्पश्च येभ्यस्तादृशगुणैः (द्रविणम्) धनम् (वि) विविधम् (आनट्) अ० १८ । ३ । ६५ । व्याप्तो । प्राप्तवान् ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने सत्य आदि गुणों से सब क्लेशों को हटाकर हमें धन आदि देकर आनन्द देता है ॥ ७ ॥

ते सत्येन मनसा गोपतिं गा इयानास इषणयन्त धीभिः ।
बृहस्पतिर्मिथोअवद्यपेभिरुदुस्रिया असृजत स्वयुग्भिः ॥ ८ ॥

ते । सत्येन । मनसा । गो-पतिम् । गाः । इयानासः । इषणयन्त । धीभिः ॥ बृहस्पतिः । मिथः-अवद्यपेभिः । उत् । उस्रियाः । असृजत । स्वयुक्-भिः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सत्येन) सच्चे (मनसा) मन से (धीभिः) कर्मों द्वारा (गाः) वेद वाणियों को (इयानासः) पा लेने वाले (ते) उन [विद्वानों] ने (गोपतिम्) वेद वाणी के स्वामी [परमात्मा] को (इषणयन्त) खोजा है, [कि] (बृहस्पतिः) उस बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] ने (उस्रियाः) निवास करने वाली प्रजाओं को (मिथोअवद्यपेभिः) आपस में पाप से बचाने वाले (स्वयुग्भिः) आत्मा के साथी कर्मों से (उत्) उत्तम रीति पर (असृजत) सृजा है ॥ ८ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग वेदवाणी द्वारा उत्तम उत्तम कर्म करके परमात्मा को खोजते हैं कि उसने मनुष्य आदि सृष्टि को उनके पूर्व जन्मों के कर्मफलों के अनुसार उत्पन्न किया है ॥ ८ ॥

तं वर्धयन्तो मतिभिः शिवाभिः सिंहमिव नानदतं सधस्थे ।
बृहस्पतिं वृषणं शूरसातौ भरेभरे अनु मदेम जिष्णुम् ॥ ९ ॥

८—(ते) विद्वांसः (सत्येन) यथार्थेन (मनसा) चित्तेन (गोपतिम्) वेदवाणीस्वामिनम् (गाः) वेदवाणीः (इयानासः) इण् गतौ—कानच्, असुक् च । प्राप्तवन्तः (इषणयन्त) इषु इच्छायाम्—क्यु । तत् करोति तदाचष्टे । वा० पा० ३ । १ । २६ । इषण—णिच्, लङ्, अडभावः । इषणमिच्छां कृतवन्तः (धीभिः) कर्मभिः (बृहस्पतिः) बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामी (मिथोअवद्यपेभिः) पातेः कप्रत्ययः । मिथः परस्परम् अवद्यात् निन्द्यात् पापात् रक्षकैः (उत्) उत्तमतया (उस्रियाः) अ० २० । १६ । ६ । निवासशीलाः प्रजाः (असृजत) अजनयत् (स्वयुग्भिः) युजिर् योगे—क्विप् । स्वेन आत्मना सह युक्तैः कर्मभिः ॥

तम् । व॒र्धय॑न्तः । म॒ति-भिः॑ । शि॒वाभिः॑ । सिं॒हम्-इ॑व ।
नान॑दतम् । स॒ध-स्थे॑ ॥ बृह॒स्पति॑म् । वृष॑णम् । शूर॑-सातौ ।
भरे॑-भरे । अनु॑ । म॒देम॒ । जि॒ष्णुम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(शिवाभिः) कल्याणी (मतिभिः) बुद्धियों के साथ (नानदतम्) बल से दहाड़ते हुये (सिंहम् इव) सिंह के समान (वृषणम्) बलवान् (जिष्णुम्) विजयी (तम्) उस (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमेश्वर] को (सधस्थे) सभा स्थान में (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुये हम (शूरसातौ) शूरों करके सेवने योग्य (भरेभरे) सङ्ग्राम सङ्ग्राम में (अनु मदेम) आनन्द पाते रहें ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य आपस में मिलकर परमात्मा के गुणों का निश्चय करके आत्मा की उन्नति करते हुये आनन्द पावें ॥ ९ ॥

य॒दा वाज॒मस॑नद् वि॒श्वरू॑प॒मा द्याम॑रु॒क्षदुत्त॑राणि॒ सद्म॑ । बृह॒स्पतिं॒ वृष॑णं व॒र्धय॑न्तो॒ नाना॒ सन्तो॒ बिभ्र॑तो॒ ज्योति॑रा॒सा ॥ १० ॥

य॒दा । वाज॑म् । अस॑नत् । वि॒श्व-रू॑पम् । आ । द्याम् ।
अरु॑क्षत् । उत्-त॑राणि । सद्म॑ ॥ बृह॒स्पति॑म् । वृष॑णम् ।
व॒र्धय॑न्तः । नाना॑ । सन्तः॑ । बिभ्र॑तः । ज्योतिः॑ । आ॒सा ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यदा) जब उस [परमात्मा] ने (विश्वरूपम्) सब संसार में रूप करने वाले (वाजम्) बल को (असनत्) सेवन किया, और (द्याम्)

९—(तम्) प्रसिद्धम् (वर्धयन्तः) स्तुवन्तः (मतिभिः) बुद्धिभिः (शिवाभिः) कल्याणीभिः (सिंहम्) (इव) (नानदतम्) भृशं शब्दायमानम् (सधस्थे) सभास्थाने (बृहस्पतिम्) बृहतां ब्रह्माण्डानां स्वामिनम् (वृषणम्) बलवन्तम् (शूरसातौ) शूरैः संभजनीये (भरेभरे) रणे रणे (अनु) निरन्तरम (मदेम) हृष्येम (जिष्णुम्) विजेतारम् ॥

१०—(यदा) (वाजम्) बलम् (असनत्) सेवितवान् (विश्वरूपम्) सर्वस्मिन् संसारे रूपं यस्मात् तम् (द्याम्) प्रकाशमानं सूर्यम् (आ अरुक्षत्)

चमकते हुये सूर्य को और (उत्तराणि) अधिक उत्तम (सद्म) लोकों को (आ अरुहत्) ऊंचा किया। [तब] (वृषणम्) उस बलवान् (बृहस्पतिम्) बृहस्पति [बड़े ब्रह्माण्डों के स्वामी परमात्मा] को (आसा) मुख से (नाना) नाना प्रकार (वर्धयन्तः) बढ़ाते हुये (सन्तः) सन्त लोग [सत्पुरुष] (ज्योतिः) ज्योति को (बिभ्रतः) धारण करने वाले [हुये हैं] ॥ १० ॥

भावार्थ—जब परमात्मा सूर्य आदि लोकों को उत्पन्न करके अपना सामर्थ्य दिखाता है, तब योगी जन उस जगदीश्वर की स्तुति करते हुये अपने आत्मा को प्रकाश युक्त करते हैं ॥ १० ॥

स॒त्यामा॒शिषं॑ कृणुता वयो॒धै की॒रिं चि॒द्ध्यव॑थ॒ स्वेभि॒रेवैः॑।
प॒श्चा मृधो॒ अप॑ भवन्तु॒ विश्वा॒स्तद्रो॑दसी शृणुतं विश्व॒मि॒न्वे ११

स॒त्याम् । आ॒-शिष॑म् । कृ॒णु॒त॒ । व॒यः॒-धै । की॒रिम् । चि॒त् । हि । अव॑थ । स्वेभिः॑ । एवैः॑ ॥ प॒श्चा । मृधः॑ । अप॑ । भ॒व॒न्तु॒ । विश्वाः॑ । तत् । रो॒द॒सी॒ इति॑ । शृ॒णु॒त॒म् । वि॒श्व॒मि॒न्वे इति॑ वि॒श्व॒म्-इ॒न्वे ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वयोधै) जीवन धारण करने के लिये (आशिषम्) मेरी प्रार्थना को (सत्याम्) सत्य (कृणुत) करो, (कीरिम्) स्तुति करने वाले को (स्वेभिः) अपने (एवैः) उद्योगों से तुम (चित् हि) अवश्य ही (अवथ) बचाते हो। (विश्वा) सब (मृधः) सताने वाली

आरोहितवान्। उत्पादितवानित्यर्थः (उत्तराणि) उत्तमतराणि (सद्म) सद्मानि। लोकान् (बृहस्पतिम्) परमात्मानम् (वृषणम्) बलवन्तम् (वर्धयन्तः) स्तुवन्तः (नाना) विविधप्रकारेण (सन्तः) सत्पुरुषाः (बिभ्रतः) धारयन्तः (ज्योतिः) प्रकाशम् (आसा) आस्येन। मुखेन ॥

११—(सत्याम्) यथार्थाम् (आशिषम्) प्रार्थनाम् (कृणुत) कुरुत (वयोधै) प्रयै रोहिष्यै अव्यथिष्यै। पा० ३।४।१०। वयस् + दधातेः—कैप्रत्ययस्तुमर्थे। जीवनं धारयितुम् (कीरिम्) अ० २०।१७।१२। स्तोतारम् (चित्) अवश्यम् (हि) एव (अवथ) रक्षथ (स्वेभिः) आत्मीयैः (एवैः)

सेनायें (पश्चा) पीछे (अप भवन्तु) हट जावें (तत्) इस को, (विश्वमिन्वे) हे सब में व्यापक (रोदसी) आकाश और भूमि ! (शृणुतम्) दोनों सुनो ॥ ११ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ११ ॥

इन्द्रो॑ म॒ह्ना मह॒तो अ॑र्ण॒वस्य॒ वि मू॒र्धान॑मभिनदर्बु॒दस्य॑ ।
अह॒न्नहि॒मरि॑णात् स॒प्त सिन्धू॑न् दे॒वैर्द्या॑वापृथिवी॒ प्राव॑तं नः ॥१२

इन्द्रः॑ । म॒ह्ना । म॒ह॒तः । अ॒र्ण॒वस्य॑ । वि । मू॒र्धान॑म् । अ॒भि॒न॒त् । अ॒र्बु॒दस्य॑ ॥ अह॑न् । अहि॑म् । अरि॑णात् । स॒प्त । सिन्धू॑न् । दे॒वैः । द्या॒वा॒पृ॒थि॒वी॒ इति॑ । प्र । अ॒व॒त॒म् । नः॒ ॥१२॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (मह्ना) अपनी महिमा से (महतः) विशाल (अर्णवस्य) गति वाले [वा जल वाले] (अर्बुदस्य) हिंसक [अथवा मेघ के समान अन्धकार करने वाले वैरी] के (मूर्धानम्) शिर को (वि अभिनत्) तोड़ दिया है, वह [परमात्मा] (अहिम्) सब ओर चलने वाले मेघ में (अहन्) व्यापा है, और उस ने (सप्त) सात (सिन्धून्) बहते हुये समुद्रों [के समान भूर आदि सात अवस्था वाले सब लोकों] को (अरिणात्) चलाया है, (द्यावापृथिवी) हे आकाश और भूमि ! (देवैः) उत्तम गुणों के साथ (नः) हम को (प्र अवतम्) दोनों बचाओ ॥१२

गमनैः । उद्योगैः (पश्चा) पश्चात् (मृधः) हिंसिकाः सेनाः (अप) दूरे (भवन्तु) (विश्वाः) सर्वाः (तत्) वचनम् (रोदसी) हे आकाशभूमी (शृणुतम्) (विश्वमिन्वे) अ० २० । ३५ । ४ । हे सर्वव्यापिके ॥

१२—(इन्द्रः) परमात्मा (मह्ना) महिम्ना । महत्त्वेन (महतः) विशालस्य (अर्णवस्य) गतियुक्तस्य, उदकयुक्तस्य (वि) विशेषेण (मूर्धानम्) शिरः (अभिनत्) अच्छिनत् (अर्बुदस्य) अर्व गतौ हिंसायां च—उदच् प्रत्ययः । हिंसकस्य । मेघस्येव अन्धकारविस्तारकस्य शत्रोः (अहन्) व्याप्तवान् (अहिम्, अरिणात, सप्त, सिन्धून्) एते व्याख्याताः—अ० २० । ३४ । ३ (देवैः) उत्तमगुणैः (द्यावापृथिवी) हे आकाशभूमी (प्र) प्रकर्षेण (अवतम्) रक्षतम् (नः) अस्मान् ॥

भावार्थ—भूर, भुव आदि सात अवस्थाओं के लिये अ० २० । ३४ । ३ । देखो और मिलाओ। परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से बड़े बड़े विघ्नों को हटाकर समस्त संसार की रक्षा करता है, उसी जगदीश्वर की कृपा से धर्मात्मा लोग बलवान् होकर दुष्टों का मिटाकर आनन्द पाते हैं ॥ १२ ॥

सूक्तम् ८२ ॥

१—२१ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ निचृद् गायत्री, ३ गायत्री, ४, ६, ९, १०, १२ निचृदनुष्टुप्; ५ भुरगार्ष्युष्णिक्, ७ विराडनुष्टुप्, ८ पङ्क्तिः, ११ अनुष्टुप्; १३ निचृत् पङ्क्तिः; १४ पथ्या बृहती, १५ विराडार्षी बृहती, १६ भुरिगार्ष्यनुष्टुप्, १७ निचदार्षी पङ्क्तिः, १८ निचृत्पथ्या बृहती, १९ सतः पङ्क्तिः २० विराडार्षी बृहती; २१ निचृत् सतः पङ्क्तिः ॥

१—३ राजप्रजाधर्मोपदेशः—१—३ राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

अभि प्र गोपतिं गिरेन्द्रमर्च यथा विदे। सूनुं सत्यस्य सत्पतिम् ॥ १ ॥

अभि । प्र । गो-पतिम् । गिरा । इन्द्रम् । अर्च । यथा । विदे ॥ सूनुम् । सत्यस्य । सत्-पतिम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य ।] (गोपतिम्) पृथिवी के पालक, (सत्यस्य) सत्य के (सूनुम्) प्रेरक, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के रक्षक (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को, (यथा) जैसा (विदे) वह है, (गिरा) स्तुति के साथ (अभि) सब ओर से (प्र) अच्छे प्रकार (अर्च) तू पूज ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे राजा उत्तम गुण वाला हो, वैसे ही मनुष्यों को उसकी यथार्थ बड़ाई करनी चाहिये ॥

मन्त्र १—१५ । ऋग्वेद में है —८ । ६९ [सायणभाष्य ५८] । ४—१८ । मन्त्र १—३ आचुके हैं अथर्व० २० । २२ । ४—६ ॥

आ हरयः ससृज्रिरेऽरुषीरधि बर्हिषि । यत्राभि संनवामहे ॥२॥

आ । हरयः । ससृज्रिरे । अरुषीः । अधि । बर्हिषि ॥ यत्र ।

१—३—व्याख्याताः—अ० २० । २२ । ४—६ ॥

अभि । सम्-नवामहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हरयः) दुःख हरने वाले मनुष्य (अरुषीः) गति शील [प्रजाओं] को (बर्हिषि) बढ़ती के स्थान में (अधि) अधिकार पूर्वक (आ-ससृज्रिरे) लाये हैं, (यत्र) जहां पर [तुझ राजा को] (अभि) सब ओर से (संनवामहे) हम मिलकर सराहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस राजा की सुनीति से विद्या द्वारा उन्नति होवे, प्रजा सहित विद्वान् जन उस के गुणों का गान करें ॥ २ ॥

इन्द्राय गाव आशिरं दुदुह्रे वज्रिणे मधु । यत् सीमुपह्वरे विदत् ॥ ३ ॥

इन्द्राय । गावः । आ-शिरम् । दुदुह्रे । वज्रिणे । मधु ॥ यत् । सीम् । उप-ह्वरे । विदत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वज्रिणे) वज्रधारी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के लिये (गावः) वेद वाणीयों ने (आशिरम्) सेवने वा पकाने योग्य पदार्थ [दूध, दही, घी आदि] को और (मधु) मधुविद्या [यथार्थ ज्ञान] को (दुदुह्रे) भर दिया है । (यत्) जब कि उसने [उन वेदवाणियों को] (उपह्वरे) अपने पास (सीम्) सब प्रकार (विदत्) पाया ॥ ३ ॥

भावार्थ—ऐश्वर्यवान् पुरुष वेदवाणियों से सुशिक्षित होकर दूध आदि, भोग्य पदार्थ प्राप्त करके यथार्थ ज्ञान बढ़ावे ॥ ३ ॥

मन्त्राः ४—२१ परमात्मगुणोपदेशः—मन्त्र ४–२१ परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

उद् यद् ब्रध्नस्य विष्टपं गृहमिन्द्रश्च गन्वहि ।
मध्वः पीत्वा सचेवहि त्रिः सप्त सख्युः पदे ॥ ४ ॥

उत् । यत् । ब्रध्नस्य । विष्टपम् । गृहम् । इन्द्रः । च । गन्वहि ॥ मध्वः । पीत्वा । सचेवहि । त्रिः । सप्त । सख्युः । पदे ॥ ४ ॥

भावार्थ—(यत्) जब (ब्रध्नस्य) नियम करने वाले [वा महान्, परमेश्वर] के (विष्टपम्) सहारे [अर्थात्] (गृहम्) शरण को (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला आचार्य] (च) और [मैं ब्रह्मचारी] (उत्) ऊंचे होकर (गन्वहि) हम दोनों प्राप्त करें। (त्रिः) तीन बार [सत्व, रज, तम तीनों गुणों सहित] (सप्त) सात [भूर् भुवः आदि सात अवस्थाओं वाले संसार] के (मध्वः) निश्चित ज्ञान का (पीत्वा) पान करके (सख्युः) सखा [मित्र, परमात्मा] के (पदे) पद [प्राप्ति योग्य मोक्ष सुख] में (सचेवहि) हम दोनों सींचे जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—आचार्य और जिज्ञासु ब्रह्मचारी परमात्मा की शरण लेकर सत्व, रज और तम तीनों गुणों द्वारा भूर्, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्य इन सात अवस्थाओं से सूक्ष्म और स्थूल पदार्थों को जानकर मोक्ष पद प्राप्त करके सदा वृद्धि करें ॥ ४ ॥

अर्चत प्रार्चत प्रियमेधासो अर्चत ।
अर्चन्तु पुत्रका उत पुरं न धृष्ण्वर्चत ॥ ५ ॥

अर्चत । प्र । अर्चत । प्रिय-मेधासः । अर्चत ॥
अर्चन्तु । पुत्रकाः । उत । पुरम् । न । धृष्णु । अर्चत ॥५॥

भावार्थ—(प्रियमेधासः) हे प्यारी [हितकारिणी] बुद्धि वाले पुरुषो! (धृष्णु) निर्भय (पुरं न) गढ़ के समान [उस परमेश्वर] को (अर्चत)

४—(उत्) उच्चैः (यत्) यदा (ब्रध्नस्य) अ० ७ । २२ । २ । नियामकस्य । महतः परमेश्वरस्य (विष्टपम्) अ० १० । १० । ३१ । आश्रयम् (गृहम्) शरणम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवानाचार्यः (च) अहं ब्रह्मचारी च (गन्वहि) आवां प्राप्नुयाव (मध्वः) मधुनः । यथार्थज्ञानस्य (पीत्वा) पानं कृत्वा । अनुभूय (सचेवहि) षच समवाये सेके च । सिक्तौ प्रवृद्धौ भवेव (त्रिः) त्रिवारं सत्त्वरजस्तमोगुणैः (सप्त) भूर्, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः, सत्यम्, इति सप्तावस्थाविशेषसम्बन्धिनः संसारस्य (सख्युः) सर्वमित्रस्य परमेश्वरस्य (पदे) प्राप्तव्ये मोक्षसुखे ॥

५—(अर्चत) पूजयत—इन्द्रं परमात्मानम् (प्र) प्रकर्षेण (अर्चत) (प्रियमेधासः) अ० २० । १० । २ । प्रियमेध—असुक् जसि । प्रिया हितकरी

पूजो, (प्र) अच्छे प्रकार (अर्चत) पूजो, (अर्चत) पूजो, (अर्चत) पूजो, (उत) और (पुत्रकाः) गुणी सन्तानें [उस को] (अर्चन्तु) पूजें ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि वे अपने पुत्र पुत्रियों सहित प्रत्येक क्षण में, प्रत्येक पदार्थ में, प्रत्येक कर्म में परमात्मा की शक्ति को निहार कर आत्मा की उन्नति करें ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में भी है—पू० ४ । ८ । ३ ॥

अव॑ स्वराति॒ गर्ग॑रो गो॒धा परि॑ सनिष्वणत् ।

पिङ्गा॒ परि॑ चनिष्कद॒दिन्द्रा॑य॒ ब्रह्मोद्य॑तम् ॥ ६ ॥

अव॑ । स्व॒रा॒ति॒ । गर्ग॑रः । गो॒धा । परि॑ । स॒नि॒स्व॒न॒त् ॥

पिङ्गा॑ । परि॑ । च॒नि॒स्क॒द॒त् । इन्द्रा॑य । ब्रह्म॑ । उत्ऽय॑तम् ॥६॥

भाषार्थ—(इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के लिये (उद्यतम्) ऊंचे किये हुये (ब्रह्म) वेदज्ञान का (गर्गरः) गर्गर [सारंगी आदि बाजा] (अव स्वराति) स्वर आलापे, (गोधा) गोधा [वीणा आदि बाजा] (परि सनिष्वणत्) बोल बोले, और (पिङ्गा) पिङ्गा [धनुष की दृढ़ डोरी] (परि चनिष्कदत्) टङ्कार करे ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि घर के बीच उत्सवों में और युद्ध क्षेत्र के बीच संग्रामों में परमात्मा का स्मरण भली भांति करते रहें ॥ ६ ॥

मेधा प्रज्ञा येषां तत्सम्बुद्धौ (अर्चत) (अर्चन्तु) पूजयन्तु (पुत्रकाः) अनुकम्पायाम् । पा० ५ । ३ । ७६ । पुत्र—कप्रत्ययः । गुणिनः सन्तानाः (उत) अपि च (पुरम्) दुर्गम् (न) यथा (धृष्णु) निर्भयम् (अर्चत) ॥

६—(अव स्वराति) निश्चयेन शब्दयेत् (गर्गरः) अ० ४ । १५ । १२ । गॄ शब्दे–गप्रत्ययः + रा दाने–कप्रत्ययः । गर्गरस्य कलशस्य ध्वनियुक्तो वाद्यविशेषः (गोधा) अ० ४ । ३ । ६ । गुध परिवेष्टने–घञ् टाप् । वीणादिवाद्यविशेषः (परि) सर्वतः (सनिष्वणत्) स्वन शब्दे, यङ्लुकि लेट् । भृशं ध्वनिं कुर्यात् (पिङ्गा) अ० ८ । ६ । ६ । पिजि बले दीप्तौ च—अच् , कुत्वम् । दृढा धनुर्ज्या (परि) (चनिष्कदत्) स्कन्दिर् गतिशोषणयोः—यङ्लुकि लेट् । गतिं कुर्यात् टङ्कारयेत् (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते परमात्मने (ब्रह्म) वेदज्ञानम् (उद्यतम्)–ऊर्ध्वीकृतम् ॥

आ यत् पतन्त्येन्यः सुदुघा अनपस्फुरः ।
अपस्फुरं गृभायत सोममिन्द्राय पातवे ॥ ७ ॥
आ । यत् । पतन्ति । एन्यः । सु-दुघाः । अनप-स्फुरः ॥
अप-स्फुरम् । गृभायत । सोमम् । इन्द्राय । पातवे ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (एन्यः) गति वाली, (सुदुघाः) अच्छे प्रकार कामनायें पूरी करने वाली, (अनपस्फुरः) निश्चल बुद्धियां (आ पतन्ति) आ जावें, [तब] (अपस्फुरम्) अत्यन्त बढ़े हुये (सोमम्) उत्पन्न करने वाले परमात्मा को (इन्द्राय) बड़े ऐश्वर्य की (पातवे) रक्षा के लिये (गृभायत) तुम ग्रहण करो ॥ ७ ॥

भावार्थ—मनुष्य सब में गति वाली उत्तम बुद्धि को प्राप्त होकर परमेश्वर का आश्रय लेकर अपना ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ७ ॥

अपादिन्द्रो अपादग्निर्विश्वे देवा अमत्सत । वरुण इदिह
क्षयत् तमापो अभ्यनूषत वत्सं संशिश्वरीरिव ॥ ८ ॥
अपात् । इन्द्रः । अपात् । अग्निः । विश्वे । देवाः । अमत्सत ॥
वरुणः । इत् । इह । क्षयत् । तम् । आपः । अभि । अनूषत ।
वत्सम् । संशिश्वरीः-इव ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [प्रतापी सूर्य] ने [पृथिवी आदि के जल को] (अपात्) पिया है, (अग्निः) अग्नि ने [काठ हव्य आदि के रस को]

७—(आ पतन्ति) आगच्छन्ति (यत्) यदा (एन्यः) वीज्याज्वरिभ्यो निः । उ० ४ । ४८ । इण् गतौ-निप्रत्ययः, ङीप् । एन्यो नदीनाम—निघ० १ । १३ । गतिशीलाः (सुदुघाः) सुष्ठु कामानां प्रपूरयित्र्यः (अनपस्फुरः) अन् अप+स्फुर संचलने—क्विप् । निश्चला बुद्धयः (अपस्फुरम्) अप+स्फुर संचलने वृद्धौ च क्विप् । अत्यन्तं प्रवृद्धम् (गृभायत) गृह्णीत (सोमम्) उत्पादकं परमात्मानम् (इन्द्राय) ऐश्वर्यम् (पातवे) पातुम् । रक्षितुम् ॥

८—(अपात्) पा पाने—लुङ् । पीतवान् पृथिव्यादिजलम् (इन्द्रः) प्रतापी सूर्यः (अपात्) पीतवान् काष्ठहव्यादिरसम् (अग्निः) प्रसिद्धः (विश्वे)

(अपात्) पिया है, [उस से] (विश्वे) सब (देवाः) व्यवहार करने वाले प्राणी (अमत्सत) तृप्त हुये हैं। (इह) इस [सब कर्म] में (वरुणः) श्रेष्ठ परमात्मा (इत्) ही (क्षयत्) समर्थ हुआ है, (तम्) उस [परमात्मा] को (आपः) प्राप्त प्रजाओं ने (अभि) सब प्रकार (अनूषत) [प्रीति से] सराहा है, (इव) जैसे (संशिश्वरीः) मिलती हुयी गौयें (वत्सम्) बछड़े को [प्रीति करती हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के नियम से सूर्य जल को खींच कर वृष्टिद्वारा अन्न आदि उत्पन्न करने में, और आग लकड़ी, घी आदि पदार्थों को जलाकर अशुद्धि हटाने और भोजन आदि बनाने में उपकार करता है, उस परमेश्वर से सब मनुष्य आपा छोड़कर इस प्रकार प्रीति करें, जैसे गौ आपा छोड़कर अपने छोटे बच्चे से प्रीति करती है ॥ ८ ॥

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः ।
अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥ ९ ॥

सु-देवः । असि । वरुण । यस्य । ते । सप्त । सिन्धवः ॥
अनु-क्षरन्ति । काकुदम् । सूर्म्यम् । सुषिराम्-इव ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वरुण) हे श्रेष्ठ परमात्मन् ! तू (सुदेवः) बड़ा देव [अति प्रकाशमान वा दानी] (असि) है, (यस्य ते) जिस तेरे (काकुदम्) तालु को (सप्त) सात (सिन्धवः) बहते हुये समुद्र [अर्थात् भूर्, भुवः, स्वः,

(देवाः) व्यवहारिणः प्राणिनः (अमत्सत) मदी हर्षे । तृप्ता अभवन् (वरुणः) श्रेष्ठः परमात्मा (इत्) एव (इह) अस्मिन् सर्वस्मिन् कर्मणि (क्षयत्) क्षि ऐश्वर्ये । समर्थोऽभवत् (तम्) वरुणम् (आपः) प्राप्ताः प्रजाः (अभि) (अनूषत) अ० २० । १७ । १ । अस्तुवन् (वत्सम्) गोशिशुम् (संशिश्वरीः) स्नामद्धि-पद्यर्त्ति० । उ० ४ । ११३ सम् + शश प्लुतगतौ—क्वनिप् । अकारस्य इकारः । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । संशिश्वर्यः संगच्छमाना गावः (इव) यथा ॥

९—(सुदेवः) कल्याणदेवः । अतिप्रकाशमानः । महाधनी (असि) (वरुण) हे श्रेष्ठ परमात्मन् (यस्य) (ते) तव (सप्त) सप्तसंख्याकाः (सिन्धवः) स्यन्दमानाः समुद्राः । भूर्भुवरादिव्यवस्थाविशेषयुक्ताः सर्वलोकाः

महः, जनः, तपः, सत्य, इन सात अवस्थाओं वाले सब लोक] (अनुक्षरन्ति) निरन्तर सींचते हैं, (इव) जैसे (सूर्म्यम्) बड़े वेग वाले (सुषिराम्) झरने को [जल सींचते हैं] ॥ ९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र के लिये—अ० २० । ३४ । ३ और निरुक्त ५ । २७ भी देखो । जिस परमात्मा की आज्ञा में यह सब बड़े छोटे लोक इस प्रकार झुकते हैं, जैसे जल दूर दूर से एकत्र होकर सोते में झुक कर गिरते हैं, हे मनुष्यो ! तुम अभिमान छोड़कर उसी जगदीश्वर के सामने झुको ॥ ९ ॥

यो व्यतीँरफाणयुत् सुयुक्ताँ उप दाशुषे ।
तुक्वो नेता तदिद् वपुरुपुमा यो अमुच्यत ॥ १० ॥

यः । विऽअतीन् । अफाणयत् । सुऽयुक्तान् । उप । दाशुषे ॥ तुक्वः नेता । तत् । इत् । वपुः । उपऽमा । यः । अमुच्यत ॥ १० ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमात्मा] ने (व्यतीन्) विविध प्रकार चलते रहने वाले, (सुयुक्तान्) बड़े योग्य पदार्थों को (दाशुषे) आत्मदानी [भक्त] के लिये (उप) सुन्दर रीति से (अफाणयत्) सहज में उत्पन्न किया है और (यः) जिस [परमात्मा] ने (उपमा) पास रहने वाले को (अमुच्यत) [दुःखों से] मुक्त किया है, (तत् इत्) वही (वपुः) बीज बोने वाला [ब्रह्म]

(अनुक्षरन्ति) निरन्तरं सिञ्चन्ति (काकुदम्) तालु—निघ० ५ । २६ (सूर्म्यम्) कल्याणोर्मिम् । सुवेगवतीम् (सुषिराम्) इषिमदिमुदि० । उ० १ । ५१ । शुष शोषणे—किरच् , टाप् , शस्य सः । जलनिःसरणच्छिद्रम् । स्रोतः (इव) यथा ॥

१०—(यः) परमात्मा (व्यतीन्) अत सातत्यगमने-इन् । विविधसदागमनशीलान् (अफाणयत्) फण गतौ अनायासेनोत्पत्तौ च—णिच् । फणतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अनायासेनोत्पादितवान् (सुयुक्तान्) सुयोग्यान् पदार्थान् (उप) पूजायाम् (दाशुषे) आत्मदानिने । उपासकाय (तक्वः) कृगृशृदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । तकतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ वप्रत्ययः । व्यापकः (नेता) (तत्) (इत्) एव (वपुः) अर्तिपृवपि० । उ० २ । ११७ । डुवप बीजतन्तुसन्ताने—उसि । बीजोत्पादकं ब्रह्म (उपमा) विभक्तेराकारः ।

(सक्रः) व्यापक (नेता) नेता [अगुआ परमात्मा] है ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने अपने सहज स्वभाव से अनोखे अनोखे पदार्थ रचकर अपने विवेकी भक्तों को परम आनन्द दिया है, सब मनुष्य उस सर्वशक्तिमान् की उपासना करके सुखी होवें ॥ १० ॥

अतीदु शुक्र ओहत इन्द्रो विश्वा अति द्विषः ।
भिनत् कनीन ओदनं पच्यमानं परो गिरा ॥ ११ ॥

अति । इत् । ऊं इति । शुक्रः । ओहते । इन्द्रः । विश्वाः । अति । द्विषः ॥ भिनत् । कनीनः । ओदनम् । पच्यमानम् । परः । गिरा ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(शक्रः) शक्तिमान् (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाला परमात्मा] (इत्) ही (उ) अवश्य (अति) तिरस्कार करके (विश्वाः) सब (द्विषः) विरोध करने वाली प्रजाओं को (अति) सर्वथा (ओहते) मारता है, [जैसे] (कनीनः) चमकता हुआ सूर्य (गिरा) वाणी [गर्जन] से (पच्यमानम्) पचाये गये [ताड़े गये] (ओदनम्) मेघ को (परः) दूर (भिनत्) छिन्न भिन्न करता है ॥ ११ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर हमारे सब विघ्नों को दूर कर देता है जैसे सूर्य मेघ को छिन्न भिन्न करके प्रकाश करता है ॥ ११ ॥

अर्भको न कुमारकोऽधि तिष्ठन्नवं रथम् ।

उपमे अन्तिकनामा—निघ० २ । १६ । उपमं निकटस्थम् । उपासकम् (यः) परमात्मा (अमुच्यत) मुक्तवान् दुःखेभ्यः ॥

११—(अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य (इत्) एव (उ) अवश्यम् (शक्रः) शक्तिमान् (ओहते) उहिर् अर्दने । नाशयति (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमेश्वरः (विश्वाः) सर्वाः (अति) सर्वथा (द्विषः) द्वेष्ट्रीः प्रजाः (भिनत्) भिनत्ति (कनीनः) कनतिः कान्तिकर्मा—निघ० २ । ६—ईन प्रत्ययः । प्रकाशमानः सूर्यः (ओदनम्) मेघम्—निघ० १ । १० (पच्यमानम्) ताड्यमानमित्यर्थः (परः) परस्तात् । दूरे (गिरा) शब्देन । गर्जनेन ॥

स पक्षन्महिषं मृगं पित्रे मात्रे विभुक्रतुम् ॥ १२ ॥

अर्भकः । न । कुमारकः । अधि । तिष्ठत् । नवम् । रथम् ॥
सः । पक्षत् । महिषम् । मृगम् । पित्रे । मात्रे । विभु-क्रतुम् ॥ १२

भाषार्थ—(न) जैसे (कुमारकः) खिलाड़ी (अर्भकः) बालक (नवम्) नये (रथम्) रथ पर (अधि तिष्ठत्) चढ़े । [वैसे ही] (सः) वह [जिज्ञासु] (मात्रे) माता के लिये और (पित्रे) पिता के लिये (महिषम्) महान्, (मृगम्) खोजने योग्य (विभुक्रतुम्) व्यापक कर्म वाले [परमात्मा] को (पक्षत्) ग्रहण करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—जैसे छोटा बालक रथ आदि क्रीडा वस्तुओं में प्रीति करता है, वैसे ही जिज्ञासु पुरुष माता पिता की प्रसन्नता के लिये महान् परमात्मा में प्रीति कर के अपना जीवन सुधारे ॥ १२ ॥

आ तू सुशिप्र दंपते रथं तिष्ठा हिरण्ययम् । अध द्युक्षं सचेवहि सहस्रपादमरुषं स्वस्तिगामनेहसम् ॥ १३ ॥

आ । तु । सु-शिप्र । दम्-पते । रथम् । तिष्ठ । हिरण्ययम् ॥
अध । द्युक्षम् । सचेवहि । सहस्र-पादम् । अरुषम् ।
स्वस्ति-गाम् । अनेहसम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सुशिप्र) हे बड़े ज्ञानी ! (दम्पते) हे दमनरक्षक [जितेन्द्रिय ब्रह्मचारी] (हिरण्ययम्) प्रकाशमय [ज्ञानरूपी] (रथम्)

१२—(अर्भकः) बालकः (न) यथा (कुमारकः) कुमार क्रीडायाम्—वुन् । क्रीडकः (अधि तिष्ठत्) आरोहेत् (नवम्) नवीनम् (रथम्) यानम् (सः) जिज्ञासुः (पक्षत्) परिगृह्णीयात् (महिषम्) महान्तम् (मृगम्) मृग्यम् । अन्वेषणीयम् (पित्रे) पितृप्रसादाय (मात्रे) मातृप्रसादाय (विभुक्रतुम्) व्यापककर्माणं परमात्मानम् ॥

१३—(आ तिष्ठ) आरोह (तु) क्षिप्रम् (सुशिप्र) अ० २० । ७१ । ६ । हे बहुज्ञानयुक्त ब्रह्मचारिन् (दम्पते) दमु उपशमे—क्विप् । हे दमनरक्षक जितेन्द्रिय (रथम्) (हिरण्ययम्) तेजोमय ज्ञानरूपम् (अध) अनन्तरम्

रथ पर (तु) शीघ्र (आ तिष्ठ) चढ़। (अध) फिर (द्युक्षम्) व्यवहारों में समर्थ, (सहस्रपादम्) सहस्रों [असीम] गति शक्ति वाले, (अरुषम्) व्यापक, (स्वस्तिगाम्) आनन्द पहुंचाने वाले, (अनेहसम्) निर्दोष परमात्मा को (सचेवहि) हम दोनों [आचार्य और ब्रह्मचारी] मिल जावें]॥ १३ ॥

भावार्थ—जब ब्रह्मचारी ब्रह्म विद्या में पूरी निष्ठा करता है, तब आचार्य और ब्रह्मचारी परमात्मा के आश्रय में पूरा आनन्द पाते हैं ॥ १३ ॥

तं घे॑मि॒त्था न॑म॒स्विन॒ उप॑ स्व॒राज॑मासते ।

अर्थं॑ चिदस्य॒ सुधि॑तं॒ यदेत॑व आव॒र्तय॑न्ति दा॒वने॑ ॥ १४ ॥

तम् । घ । ई॒म् । इ॒त्था । न॒म॒स्विन॑: । उप॑ । स्व॒ऽराज॑म् । आ॒स॒ते॒ ॥ अर्थ॑म् । चि॒त् । अ॒स्य॒ । सु॒ऽधि॑तम् । यत् । एत॑वे । आ॒ऽव॒र्तय॑न्ति । दा॒वने॑ ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(तम्) उस (घ) ही (ईम्) प्राप्ति योग्य (स्वराजम्) स्वराजा [अपने आप राजा परमेश्वर] को (इत्था) इस प्रकार (नमस्विनः) नमस्कार करने वाले लोग (उप आसते) पूजते हैं, (यत्) जब कि वे (अस्य) उस [परमात्मा] का (चित्) ही (सुधितम्) भले प्रकार रक्खा हुआ (अर्थम्) पाने योग्य धन (एतवे) पाने के लिये और (दावने) दान के लिये [उस परमात्मा] को (आवर्तयन्ति) सामने वर्तमान करते हैं ॥ १४ ॥

(द्युक्षम्) अ० २० । ६ । २। दिवु व्यवहारे—क्विप्+क्षि ऐश्वर्ये—ड। व्यवहारेषु समर्थम् (सचेवहि) आवामाचार्यब्रह्मचारिणौ संगच्छेवहि। संगतौ भवेव (सहस्रपादम्) अ० ७ । ४१ । २ । असीमगतिशक्तियुक्तम् (अरुषम्) अर्तिपृवपि० । २ । ११७ । ऋ गतौ—उसि । व्यापकम् (स्वस्तिगाम्) आनन्दस्य गमयितारं प्रापकम् (अनेहसम्) निर्दोषं परमात्मानम् ॥

१४—(तम्) (घ) एव (ईम्) प्राप्यम् (इत्था) इत्थम् । अनेन प्रकारेण (नमस्विनः) नमस्कारयुक्ताः (उप आसते) सेवन्ते (स्वराजम्) स्वयं राजानं शासकम् (अर्थम्)अरणीयं प्रापणीयं धनम् (चित्) एव (अस्य) परमात्मनः (सुधितम्) सुष्ठु स्थापितम् (यत्) यदा (एतवे) एतुम् । प्राप्तुम् (आवर्तयन्ति) अभिमुखं वर्तमानं कुर्वन्ति (दावने) दानाय ॥

भावार्थ—जो परमात्मा अपने आप सब का राजा है, सब लोग उस की आज्ञा मानकर विविध प्रकार धन प्राप्त करके सुपात्रों का सहाय करें ॥ १४ ॥

अनु प्रत्नस्यौकसः प्रियमेधास एषाम् ।

पूर्वामनु प्रयतिं वृक्तबर्हिषो हितप्रयस आशत ॥ १५ ॥

अनु । प्रत्नस्य । ओकसः । प्रिय-मेधासः । एषाम् ॥ पूर्वाम् ।

अनु । प्र-यतिम् । वृक्त-बर्हिषः । हित-प्रयसः । आशत ॥१५॥

भाषार्थ—(एषाम) इन प्राणियों के बीच (प्रियमेधासः) प्यारी बुद्धि वाले, (वृक्तबर्हिषः) हिंसा त्यागने वाले (हितप्रयसः) हितकारी अन्न वाले पुरुषों ने (प्रत्नस्य) सनातन (ओकसः) आश्रय [परमात्मा] के (अनु) पीछे होकर (पूर्वाम्) पहिली (प्रयतिम्) प्रयत्न रीति को (अनु) निरन्तर (आशत) पाया है ॥ १५ ॥

भावार्थ—इन प्राणियों के बीच सर्वहितैषी विद्वान् लोग परमात्मा का आश्रय लेकर आनन्द पावें ॥ १५ ॥

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः ।

विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥ १६ ॥

यः । राजा । चर्षणीनाम् । याता । रथेभिः । अध्रि-गुः ॥

विश्वासाम् । तरुता । पृतनानाम् । ज्येष्ठः । यः । वृत्र-हा ।

गृणे ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का

१५—(अनु) अनुसृत्य (प्रत्नस्य) पुराणस्य (ओकसः) आश्रयस्य परमेश्वरस्य (प्रियमेधासः) हितकरमेधायुक्ताः (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (पूर्वाम्) प्रथमाम् (अनु) निरन्तरम् (प्रयतिम्) यती प्रयत्ने—इन् । प्रयत्नरीतिम् (वृक्तबर्हिषः) अ० २० । ५२ । १ । त्यक्तहिंसाः (हितप्रयसः) हितकरान्नयुक्ताः (आशत) प्राप्तवन्तः ॥

१६—(यः) परमेश्वरः (राजा) ऐश्वर्यवान् (चर्षणीनाम्) मनुष्या-

(राजा) राजा (रथेभिः) रथों [के समान रमणीय लोकों] के साथ (अध्रिगुः) बेरोक (याता) चलने वाला, और (यः) जो (विश्वासाम्) सब (पृतनानाम्) शत्रु सेनाओं का (तरुता) हराने वाले, (ज्येष्ठः) अति श्रेष्ठ (वृत्रहा) अन्धकार नाशक है, [उस की] (गृणे) मैं स्तुति करता हूं ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब मनुष्य आदि प्राणियों और सूर्य आदि लोकों का स्वामी है, हम उसके गुणों को ग्रहण कर के सब कष्टों से बचें ॥१६॥

मन्त्र १६—२१ ऋग्वेद में है—८ । ७० [सायणभाष्य ५६] । १—६ । मन्त्र १६, १७ सामवेद—उ० ३ । १ । १५, मन्त्र १६ साम० । पू० ३ । ६ । १, मन्त्र १६, १७ आगे हैं—अ० २० । १०५ । ४, ५ ॥

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मुन्नवसे यस्यं द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो मुहो दिवे न सूर्यः ॥१७ ॥

इन्द्रम् । तम् । शुम्भ । पुरु-हुन्मन् । अवसे । यस्यं । द्विता । वि-धर्तरि ॥ हस्ताय । वज्रः । प्रति । धायि । दुर्शतः । मुहः । दिवे । न । सूर्यः ॥ १७ ॥

भाषार्थ—(पुरुहन्मन्) हे बहुत ज्ञानी ऋषि ! (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] का (शुम्भ) भाषण कर, (यस्य) जिसके (द्विता) दोनों धर्म [अनुग्रह और निग्रह गुण] (विधर्तरि) बुद्धिमान् जन

णाम् (याता) गन्ता (रथेभिः) रथसदृशै रमणीयलोकैः सह (अध्रिगुः) अ० २० । ३५ । १ । अधृतगमनः । अनिवारितगतिः (विश्वासाम्) सर्वासाम् (तरुता) असितस्कभितस्तभितो० । पा० ७ । २ । ३४ । इकारस्य उकारः । तरिता । अभिभविता (पृतनानाम्) शत्रुसेनानाम् (ज्येष्ठः) अतिश्रेष्ठः । अतिवृद्धः (यः) (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (गृणे) स्तौमि तम् ॥

१७—(इन्द्रम्) परमेश्वरम् (तम्) (शुम्भ) शुम्भ हिंसाभाषणभासनेषु । भाषस्व । वर्णय (पुरुहन्मन्) सर्वधातुभ्यो मनिन् । उ० ४ । १४५ । पुरु+हन हिंसागत्योः—मनिन् । पुरु बहु हन्ति गच्छति जानातीति पुरुहन्मा तत्सम्बुद्धौ । हे बहुज्ञानिन् । ऋषे (अवसे) रक्षणाय (यस्य) परमेश्वरस्य

पर (अवसे) रक्षा के लिये और [जिस का] (दर्शतः) दर्शनीय (महः) महान् (वज्रः) वज्र [दण्ड सामर्थ्य] (हस्ताय) हाथ [अर्थात् हमारे बाहु-बल] के लिये (प्रति) प्रत्यक्ष (धायि) धारण किया गया है, (न) जैसे (सूर्यः) सूर्य (दिवे) प्रकाश के लिये है ॥ ७ ॥

भावार्थ—परमात्मा अति प्रत्यक्ष रूप से दुष्टों को दण्ड देता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, ऐसा निश्चय करके विद्वान् लोग सदा ईश्वर की आज्ञा में रहकर सुखी होवें ॥ १७ ॥

नकिष्टं कर्मणा नशुद् यश्चुकार सुदावृधम् ।
इन्द्रं न युज्ञैर्विश्वगूर्तमृभ्वसुमधृष्टं धृष्ण्वोजसम् ॥ १८ ॥

नकिः । तम् । कर्मणा । नशुत् । यः । चुकार । सुदा-वृधम् ॥
इन्द्रम् । न । युज्ञैः । विश्व-गूर्तम् । ऋभ्वसम् । अधृष्टम् । धृष्णु-ओजसम् ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस [परमात्मा] ने (सदावृधम्) सदा बढ़ाने वाले व्यवहार को (चकार) बनाया है, (तम्) उस (विश्वगूर्तम्) सबों को उद्यम में लगाने वाले, (ऋभ्वसम्) बुद्धिमानों को ग्रहण करने वाले, (अधृष्टम्) अजेय, (धृष्णवोजसम्) निर्भय बल वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (नकिः) न कोई (कर्मणा) कर्म से और (न) न

(छिता) छित्वम् । निग्रहानुग्रहरूपं गुणद्वयम् (विधर्तरि) मेधाविनि जने—निघ० ३ । १५ (हस्ताय) अस्माकं बाहुबलाय (वज्रः) दण्डसामर्थ्यम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (धायि) अधारि (दर्शतः) दर्शनीयः (महः) मह—अच् । महान् (दिवे) प्रकाशाय (न) यथा (सूर्यः) ॥

१८—(नकिः) न कश्चित् (तम्) प्रसिद्धम् (कर्मणा) (नशत्) प्राप्नुयात् (यः) परमेश्वरः (चकार) रचितवान् (सदावृधम्) सदावर्धकं व्यवहारम् (इन्द्रम्) (न) निषेधे (यज्ञैः) दानैः (विश्वगूर्तम्) अ० २० । १५ । ५ । विश्वं सर्वं जगद् गूर्णम् उद्यतम् उद्यमे कृतं येन तम (ऋभ्वसम्) ऋभुर्मेधाविनाम—निघ० ३ । १५ + अस ग्रहणे—अच् । ऋभूणां मेधाविनां ग्रहीतारम् (अधृष्टम्) अजेयम (धृष्णवोजसम) धर्षकबलम् । निर्भयपरा-

(यहः) दानों से (नशत्) पा सकता है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सृष्टि आदि अद्भुत कर्मों को करता है, और सब को पालता है, कोई भी प्राणी उस अनन्तकर्मा और अनन्तदानी परमेश्वर के समान नहीं हो सकता है ॥

मन्त्र १८, १६ सामवेद में भी हैं—उ० ४। २। ८, मन्त्र १८—साम० पू० ३। ६। १॥

अषाल्हमुग्रं पृतनासु सासहिं यस्मिन् महीरुरुज्रयः ।
सं धेनवो जायमाने अनोनवुर्द्यावः क्षामो अनोनवुः ॥ १६ ॥

अषाल्हम् । उग्रम् । पृतनासु । ससहिम् । यस्मिन् । महीः । उरु-ज्रयः ॥ सम् । धेनवः । जायमाने । अनोनवुः । द्यावः । क्षामः । अनोनवुः ॥ १६ ॥

भावार्थ—(यस्मिन् जायमाने) जिस [परमात्मा] के प्रकट होने पर (महीः) पृथिवियां (उरुज्रयः) बहुत चलने वाली होती हैं, (अषाल्हम्) उस अजेय, (उग्रम्) तेजस्वी, और (पृतनासु) सङ्ग्रामों में (ससहिम्) जिताने वाले [परमेश्वर] को (धेनवः) वाणियों ने (सम्) मिलकर (अनोनवुः) अत्यन्त सराहा है, (द्यावः) सूर्यों और (क्षामः) भूमियों ने (अनोनवुः) अत्यन्त सराहा है ॥ १६ ॥

क्रमयुक्तम् ॥

१६—(अषाल्हम्) षह मर्षणे अभिभवे—क्त, ओकारस्य आकारः। ऋसोढम्। अनभिभूतम् (उग्रम्) तेजस्विनम् (पृतनासु) सङ्ग्रामेषु (ससहिम्) अ० ३। १८। ५। अभिभवितारम् । विजयकारकम् (यस्मिन्) परमात्मनि (महीः) पृथिव्यः (उरुज्रयः) ज्रयतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। वातेर्डिच्च। उ० ४। १३४। ज्रि गतौ—इण्, डित् । बहुगतिशीलाः (सम्) एकीभूय (धेनवः) प्रीणयित्र्यो वाचः (जायमाने) प्रकटीभूयमाने (अनोनवुः) णु स्तुतौ—यङ् लुकि लङ् । भृशमस्तुवन् (द्यावः) सूर्याः (क्षामः) पृथिव्यः (अनोनवुः) ॥

भावार्थ—जब परमात्मा अपने सामर्थ्य को प्रकट करता है, तब सब पृथिवी आदि लोक उत्पन्न होते हैं, और उस की अद्भुत महिमा को सूर्य पृथिवी आदि लोकों में देख कर सब प्राणी आनन्द पाते हैं ॥ १९ ॥

यद् द्याव॑ इन्द्र ते श॒तं श॒तं भूमी॑रु॒त स्युः ।
न त्वा॑ वज्रिन्त्स॒हस्रं॒ सूर्या॒ अनु॒ न जा॒तम॑ष्ट॒ रोद॑सी ॥ २० ॥

यत् । द्याव॑: । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । श॒तम् । श॒तम् । भूमी॑: । उ॒त । स्युरिति॑ स्युः ॥ न । त्वा॒ । व॒ज्रि॒न् । स॒हस्र॑म् । सूर्या॑: । अनु॑ । न । जा॒तम् । अ॒ष्ट॒ । रोद॑सी॒ इति॑ ॥ २० ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जो (शतम्) सौ (द्याव:) अन्तरिक्ष [वायु लोक], (उत) और (शतम्) सौ (भूमीः) भूमि लोक (ते) तेरे [सामने] (स्युः) होवें, [न वे सब] और (न) न (सहस्रम्) सहस्र (सूर्याः) सूर्य लोक और (रोदसी) दोनों अन्तरिक्ष और भूमि लोक [मिलकर) और (न) न (जातम्) उत्पन्न हुआ जगत्, (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [परमात्मन्] (त्वा) तुझ को (अनु) निरन्तर (अष्ट) पा सके हैं ॥ २० ॥

भावार्थ—सब असंख्य लोक और पदार्थ अलग अलग होकर अथवा सब मिलकर परमात्मा की महिमा का पार नहीं पा सकते ॥ २० ॥

*मन्त्र २०, २१ आ चुके हैं—अ० २० । ८१ । १, २ ॥

आ प॑प्राथ महि॒ना वृष्ण्या॑ वृष॒न् विश्वा॑ शविष्ठ॒ शव॑सा ।
अ॒स्माँ अ॑व मघव॒न् गोम॑ति व्र॒जे वज्रि॑ञ्चि॒त्राभि॑रू॒तिभि॑: ॥२१॥

आ । प॒प्राथ॒ । म॒हि॒ना । वृष्ण्या॑ । वृ॒ष॒न् । विश्वा॑ । श॒वि॒ष्ठ॒ । शव॑सा ॥ अ॒स्मान् । अ॒व॒ । म॒घ॒-व॒न् । गो-म॑ति । व्र॒जे । वज्रि॑न् । चि॒त्राभि॑: । ऊ॒ति-भि॑: ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे शूर ! (शविष्ठ) हे अत्यन्त बली ! [परमात्मन्]

२०, २१—व्याख्यातौ—अ० २० । ८१ । १, २ ॥

(महिना) अपने बड़े (शवसा) बल से (विश्वा) सब (वृष्ण्या) शूर के योग्य बलों को (आ) सब ओर से (पप्राथ) तू ने भर दिया है। (मघवन्) हे महाधनी ! (वज्रिन्) हे दण्डधारी ! [शासक परमेश्वर] (गोमति) उत्तम विद्या वाले (व्रजे) मार्ग में (चित्राभिः) विचित्र (ऊतिभिः) रक्षाओं से (अस्मान्) हमें (अव) बचा ॥ २१ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा से प्रार्थना करके सब पदार्थों से उपकार ले कर यथावत् पालन करें ॥

सूक्तम् ८३ ॥

१—८ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४ निचृद् गायत्री; २ गायत्री; ३ स्वराडार्ची गायत्री; ५—८ विराडार्षी गायत्री ॥

परमेश्वरोपासनोपदेशः—पमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

उत् त्वा मन्दन्तु स्तोमाः कृणुष्व राधो अद्रिवः । अव ब्रह्मद्विषो जहि ॥ १ ॥

उत् । त्वा । मन्दन्तु । स्तोमाः । कृणुष्व । राधः । अद्रिवः ॥ अव । ब्रह्म-द्विषः । जहि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे अन्न वाले ! [वा वज्र वाले परमेश्वर !] (त्वा) तुझ को (स्तोमाः) स्तुति करने वाले लोग (उत्) अच्छे प्रकार (मदन्तु) प्रसन्न करें, तू [हमारे लिये] (राधः) धन (कृणुष्व) कर, (ब्रह्मद्विषः) वेद द्वेषियों को (अव जहि) नष्ट कर दे ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के गुणों को जानकर विद्याधन और सुवर्ण आदि धन बढ़ावें और अधर्मियों का नाश करें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में है—८ । ६४ [सायणभाष्य ५३] । १—३ और कुछ भेद से सामवेद में हैं—४०६ । १ । तृच ३ और मन्त्र १ साम०—पू०३ । १ । १ ॥

१—(उत्) उत्तमतया (त्वा) (मदन्तु) तर्पयन्तु (स्तोमः) स्तावकाः (कृणुष्व) कुरु (राधः) विद्यासुवर्णादिधनम् (अद्रिवः) अदिशदिभूशुभिभ्यः क्रिन । उ० ४ । ६५ । अद भक्षणे—क्रिन । हे अन्नवन् । वज्रिन् (अव जहि) विनाशय (ब्रह्मद्विषः वेदद्वेषन् ॥

प्रदा पुणीँरराधसो नि बाधस्व महाँ असि । नहि त्वा कश्चन प्रति ॥ २ ॥

प्रदा । पुणीन् । अराधसः । नि । बाधस्व । महान् । असि ॥ नहि । त्वा । कः । चन । प्रति ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] तू (पदा) अपनी व्याप्ति से (अराधसः) आराधना न करने वाले (पणीन्) कुव्यवहारी पुरुषों को (नि बाधस्व) रोकता रह, तू (महान्) महान् (असि) है । (कः चन) कोई भी (त्वा प्रति) तेरे समान (नहि) नहीं है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा सर्वव्यापक होकर दुष्टों का नाश और धर्मात्माओं की रक्षा करता है ॥ २ ॥

त्वमीशिषे सुतानामिन्द्र त्वमसुतानाम् । त्वं राजा जनानाम् ३

त्वम् । ईशिषे । सुतानाम् । इन्द्र । त्वम् । असुतानाम् ॥ त्वम् । राजा । जनानाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (सुतानाम्) उत्पन्न हुये पदार्थों का, और (त्वम्) तू (असुतानाम्) न उत्पन्न हुये [परमाणु रूप] पदार्थों का (ईशिषे) स्वामी है, (त्वम्) तू (जनानाम्) उत्पन्न होने वालों का (राजा) राजा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही परमाणुओं के संयोग वियोग से भूत, भविष्यत् और वर्तमान सृष्टि का स्वामी है ॥ ३ ॥

२—(पदा) पद गतौ स्थैर्ये च—क्विप् । गत्या । व्याप्त्या (पणीन्) कुव्यवहारिणः पुरुषान् (अराधसः) अराधसमनाराधयन्तम्—निरु० ५ । १७ । अनाराधनाशीलान् (नि) नितराम् (बाधस्व) विलोडय । अपवृणु (महान्) (असि) (नहि) (कश्चन) कश्चिदपि (त्वा प्रति) त्वया सदृशः ॥

३—(त्वम्) (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (सुतानाम्) उत्पन्नानां पदार्थानाम् (इन्द्र) हे परमेश्वर (त्वम्) (असुतानाम्) अनुत्पन्नानां परमाणुरूपपदार्थानाम् (त्वम् (राजा) (जनानाम्) जनिष्यमाणानाम् ॥

ई॒ङ्खय॑न्तीरप॒स्युव॒ इन्द्रं॑ जा॒तमुपा॑सते । भे॒जा॒नासः॑ सु॒वीर्य॑म् ॥४॥

ई॒ङ्खय॑न्तीः । अ॒प॒स्युवः॑ । इन्द्र॑म् । जा॒तम् । उप॑ । आ॒स॒ते ॥ भे॒जा॒नासः॑ । सु॒-वीर्य॑म् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(ईङ्खयन्तीः) चेष्टा करती हुई, (अपस्युवः) काम चाहने वाली, (सुवीर्यम्) बड़े सामर्थ्य को (भेजानासः) सेवन करती हुई प्रजायें (जातम्) प्रकट हुये (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] की (उप आसते) उपासना करती हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—यह सब पदार्थ परमेश्वर के नियम से चेष्टा करते हुये और अपना कर्तव्य करते हुये उस जगदीश्वर की आज्ञा में रहते हैं ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—८ ऋग्वेद में हैं १० । १५३ । १—५; मन्त्र ४ सामवेद पू० २ । ६ । ६ ॥

त्वमि॑न्द्र ब॒लादधि॒ सह॑सो जा॒त ओज॑सः । त्वं वृ॑षन् वृ॒षेद॑सि ॥५॥

त्वम् । इ॒न्द्र॒ । ब॒लात् । अधि॑ । सह॑सः । जा॒तः । ओज॑सः ॥ त्वम् । वृ॒ष॒न् । वृषा॑ । इत् । अ॒सि॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वम्) तू (बलात्) बल से, (ओजसः) पराक्रम [धैर्य] और (सहसः) जयशीलता से (अधि) अधिक करके (जातः) प्रसिद्ध है । (वृषन्) हे बलवान् ! (त्वम्) तू (वृषा इत्) बलवान् ही (असि) है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अनन्त सामर्थ्य से सब को अपने वश में रखता है ॥ ५ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से सामवेद में भी है—पू० २ । ३ । ६ ॥

४—(ईङ्खयन्तीः) ईखि गतौ—शतृ । गच्छन्त्यः । चेष्टमानाः (अपस्युवः) अपः कर्मात्मन इच्छन्त्यः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (जातम्) प्रादुर्भूतम् (उप आसते) परिचरन्ति (भेजानासः) छान्दसं रूपम् । भजमानाः (सुवीर्यम्) शोभनं बलम् ॥

५—(त्वम्) (इन्द्र) (बलात्) (अधि) अधिकत्वं (सहसः) अभिभवनात् । जयशीलत्वात् (जातः) प्रसिद्धः (ओजसः) पराक्रमात् । धैर्यात् (त्वम्) (वृषन्) हे बलवन् (वृषा) बलवान् (इत्) एव (असि) ॥

त्वमिन्द्रासि वृत्रहा व्यन्तरिक्षमतिरः । उद्द्यामस्तभ्ना ओजसा ॥ ६ ॥

त्वम् । इन्द्र । असि । वृत्र-हा । वि । अन्तरिक्षम् । अतिरः ॥ उत् । द्याम् । अस्तभ्नाः । ओजसा ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्) (त्वम्) तू (वृत्रहा) अन्धकार नाशक (असि) है, (अन्तरिक्षम्) आकाश को (वि अतिरः) तू ने फैलाया है, और (ओजसा) पराक्रम के साथ (द्याम्) चमकते हुये सूर्य को (उत्) उत्तम रीति से (अस्तभ्नाः) थांमा है ॥ ६ ॥

भावार्थ—परमेश्वर ही आकर्षण नियम से सूर्य आदि लोकों को अपने अपने स्थान पर आकाश में स्थिर रखता है ॥ ६ ॥

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं बिभर्षि बाह्वोः । वज्रं शिशान ओजसा ॥ ७ ॥

त्वम् । इन्द्र । स-जोषसम् । अर्कम् । बिभर्षि । बाह्वोः ॥ वज्रम् । शिशानः । ओजसा ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (ओजसा) पराक्रम से (वज्रम) वज्र को (शिशानः) तीक्ष्ण करता हुआ (त्वम्) तू (सजोषसम्) प्रीति युक्त [वा विचारवान्] (अर्कम्) पूजनीय विद्वान् को (बाह्वोः) दोनों भुजाओं पर [जैसे] (बिभर्षि) धारण करता है ॥ ७ ॥

६—(त्वम्) इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन (असि) (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (अन्तरिक्षम्) आकाशम् (वि अतिरः) तॄ तरणे—लङ्, अडादित्वम् । विस्तारितवानसि (उत्) उत्तमतया (द्याम्) द्योतमानं सूर्यम् (अस्तभ्नाः) स्तम्भितवानसि (ओजसा) पराक्रमेण ॥

७—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (सजोषसम्) प्रीत्या विचारेण वा सह वर्तमानम् (अर्कम्) पूजनीय पण्डितम् (बिभर्षि) धारयसि (बाह्वोः) भुजयोः (वज्रम्) (शिशानः) निश्यन् । तीक्ष्णीकुर्वन् (ओजसा) पराक्रमेण ॥

भावार्थ—परमात्मा दुष्टों का नाश करता हुआ आज्ञाकारी विचारशील विद्वानों को अपने प्रेम की गोद में बिठा कर बढ़ाता है ॥ ७ ॥

त्वमिन्द्राभिभूरसि विश्वा जातान्योजसा । स विश्वा भुव आभवः ॥ ८ ॥

त्वम् । इन्द्र । अभि-भूः । असि । विश्वा । जातानि । ओजसा ॥ सः । विश्वाः । भुवः । आ । अभवः ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (ओजसा) पराक्रम से (विश्वा) सब (जातानि) उत्पन्न वस्तुओं को (अभिभूः) वश में रखने वाला (असि) है, (सः) सो तू (विश्वाः) सब (भुवः) भूमियों को (आ) सब ओर से (अभवः) प्राप्त हुआ है ॥ ८ ॥

भावार्थ—परमात्मा सब संसार को वश में रखकर सब स्थानों में व्यापक है ॥ ८ ॥

सूक्तम् ८४ ॥

१—११ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडार्षी त्रिष्टुप् ; २, १० निचृत् त्रिष्टुप् ; ३, ११ त्रिष्टुप् ; ४, ६, ७, ६, विराड् जगती; ५ भुरिक् त्रिष्टुप् ; ८ निचृज्जगती ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

आ यात्विन्द्रः स्वपतिर्मदाय यो धर्मणा तूतुजानस्तुविष्मान् । प्रत्वक्षाणो अति विश्वा सहांस्यपारेण महता वृष्ण्येन ॥ १ ॥

आ । यातु । इन्द्रः । स्व-पतिः । मदाय । यः । धर्मणा । तूतुजानः । तुविष्मान् ॥ प्र-त्वक्षाणः । अति । विश्वा । सहांसि । अपारेण । महता । वृष्ण्येन ॥ १ ॥

८—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (अभिभूः) अभिभविता । वशीकर्ता (असि) (विश्वा) सर्वाणि (जातानि) उत्पन्नानि भूतानि (ओजसा) पराक्रमेण (सः) स त्वम् (विश्वाः) सर्वाः (भुवः) भूमीः (आ) समन्तात् (अभवः) भू प्राप्तौ । प्राप्तवानसि ॥

पदार्थ—(स्वपतिः) धन का स्वामी वा स्वयं स्वामी (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (मदाय) हमारे आनन्द के लिये (आ यातु) आवे, (यः) जो [राजा] (धर्मणा) धर्म के साथ (तूतुजानः) फुरतीला, (तुविष्मान्) वृद्धि वाला और (अपारेण) अपने अपार (महता) बड़े (वृष्ण्येन) साहस से [वैरियों के] (विश्वा) सब (सहांसि) जीतने वाले बलों को (अति) सर्वथा (प्रत्वक्षमाणः) रेतने वाला [छीलने वाला] है ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा परस्पर सहाय करके शत्रुओं का नाश करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ४४ । १–११ ॥

सुष्ठामा रथः सुयमा हरी ते मिम्यक्ष वज्रो नृपते गभस्तौ ।
शीभं राजन् सुपथा याह्यर्वाङ् वर्धाम ते पपुषो वृष्ण्यानि ॥२॥

सु-स्थामा । रथः । सु-यमा । हरी इति । ते । मिम्यक्ष ।
वज्रः । नृ-पते । गभस्तौ ॥ शीभम् । राजन् । सु-पथा ।
आ । याहि । अर्वाङ् । वर्धाम । ते । पपुषः । वृष्ण्यानि ॥२

पदार्थ—(नृपते) हे नरपति ! [मनुष्यों के स्वामी] (ते) तेरा (रथः) रथ (सुष्ठामा) दृढ़ बैठकों वाला है, (हरी) दोनों घोड़े (सुयमा) अच्छे साधे हुये हैं, (गभस्तौ) हाथ में (वज्रः) वज्र (मिम्यक्ष) प्राप्त हुआ

१—(आ यातु) आगच्छतु (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (स्वपतिः) धनपतिः स्वयं पतिर्वा (मदाय) अस्माकं हर्षाय (यः) इन्द्रः (धर्मणा) शास्त्रोक्तव्यवहारेण (तूतुजानः) त्वरमाणः, (तुविष्मान्) वृद्धिमान् (प्रत्वक्षमाणः) प्रकर्षेण तनू कुर्वन् (अति) सर्वथा (विश्वा) सर्वाणि (सहांसि) अभिभवशीलानि बलानि (अपारेण) पाररहितेन (महता) प्रवृद्धेन (वृष्ण्येन) वृषकर्मणा । साहसेन ॥

२—(सुष्ठामा) दृढावस्थानयुक्तः (रथः) (सुयमा) सुयमौ । सुशिक्षितौ (हरी) अश्वौ (ते) तव (मिम्यक्ष) म्यक्षतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४, लिट् । प्राप्तो बभूव (वज्रः) आयुधम् (नृपते) नृणां पालक राजन् (गभस्तौ) बाहौ । हस्ते (शीभम्) अथ० ३ । १३ । २ । शीघ्रम् (राजन्)

है। (राजन्) हे राजन्! (सुपथा) सुन्दर मार्ग से (शीभम्) शीघ्र (अर्वाङ्) सामने होकर (आ याहि) आ, (पपुषः ते) तुझ रक्षक के (वृष्ण्यानि) बलों को (वर्धाम) हम बढ़ावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जो राजा रथ, अश्व आदि सेना सजाकर वैरियों पर चढ़ाई करे, प्रजागण सहाय करके उसका बल बढ़ावें ॥ २ ॥

एन्द्रवाहो नृपतिं वज्रबाहुमुग्रमुग्रासस्तविषास एनम् ।
प्रत्वक्षसं वृषभं सत्यशुष्ममेमस्मत्रा सधमादो वहन्तु ॥ ३ ॥

आ । इन्द्र-वाहः । नृ-पतिम् । वज्र-बाहुम् । उग्रम् । उग्रासः । तविषासः । एनम् ॥ प्र-त्वक्षसम् । वृषभम् । सत्य-शुष्मम् । आ । ईम् । अस्म-त्रा । सध-मादः । वहन्तु ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(नृपतिम्) मनुष्यों के स्वामी, (वज्रबाहुम्) भुजा पर वज्र रखने वाले, (उग्रम्) प्रचण्ड (प्रत्वक्षसम्) [शत्रुओं के] रेत डालने वाले, (वृषभम्) सुख की बरसा करने वाले, (ईम्) प्राप्ति योग्य (एनम्) इस (सत्यशुष्मम्) सच्चे बल रखने वाले [राजा] को (उग्रासः) प्रचण्ड, (तविषासः) बलवान् (सधमादः) मिलकर उत्सव मनाने वाले, (इन्द्रवाहः)

(सुपथा) शोभनेन मार्गेण (आ याहि) आगच्छ (अर्वाङ्) अभिमुखः सन् (वर्धाम) वर्धयाम (ते) तव (पपुषः) पा रक्षणे—क्वसु । रक्षकस्य (वृष्ण्यानि) बलानि ॥

३—(आ) समन्तात् (इन्द्रवाहः) वह प्रापणे—क्विप् । इन्द्रस्य वोढारोऽश्वगजादयः (नृपतिम्) (वज्रबाहुम्) हस्ते वज्रयुक्तम् (उग्रम्) प्रचण्डम् (उग्रासः) उग्राः (तविषासः) तवेर्णिद्वा । उ० १ । ४८ । तव वृद्धौ—टिषच्, कस्मुक् च । तविषाः । बलवन्तः (एनम्) (प्रत्वक्षसम्) गतिकारकोपपदयोः पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं च । उ० ४ । २२७ । प्र + त्वक्षू तनूकरणे—असि । शत्रूणां प्रकर्षेण तनूकर्तारम् (वृषभम्) सुखस्य वर्षकम् (सत्यशुष्मम्) यथार्थबलो-

ऐश्वर्यवान् राजा के वाहन [घोड़ा हाथी आदि] (अस्मत्रा) हमारे बीच में (आ आ वहन्तु) अवश्य ही लावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा अपने बलवान् सैनिकों के साथ शत्रुओं के मारने को उद्यत होवे ॥ ३ ॥

एवा पतिं द्रोणसाचं सचेतसमूर्ज स्कम्भं धरुण आ वृषायसे ।
ओजः कृष्व सं गृभाय त्वे अप्यसो यथा केनिपानामिनो वृधे ॥ ४

एव । पतिम् । द्रोण-साचम् । स-चेतसम् । ऊर्जः । स्कम्भम् । धरुणे । आ । वृष-यसे ॥ ओजः । कृष्व । सम् । गृभाय । त्वे इति । अपि । असः । यथा । के-निपानाम् । इनः । वृधे ४

भाषार्थ—[हे राजन् !] (एव) इस प्रकार से (पतिम्) पालन करने वाले, (द्रोणसाचम्) ज्ञान से सींचने वाले, (सचेतसम्) सचेत, (ऊर्जः) बल के (स्कम्भम्) खम्भे रूप पुरुष से (धरुणे) धारण करने में (आ) सब प्रकार (वृषयसे) तू बलवान् के समान आचरण करता है। तू (ओजः) पराक्रम को (कृष्व) कर और (त्वे) अपने में [उस को] (सम् गृभाय) एकत्र कर, (अपि) और (केनिपानाम्) आत्मा में झुकने वाले बुद्धिमानों के (इनः यथा) स्वामी के समान (वृधे) बढ़ती के लिये (असः) तू वर्तमान हो ॥४॥

पेतम् (आ) समन्तात् (ईम्) प्राप्तव्यम् (अस्मत्रा) अस्मासु (सधमादः) सहमाद्यन्तः (वहन्तु) प्रापयन्तु ॥

४—(एव) एवम् (पतिम्) पालकम् (द्रोणसाचम्) कृवृजृसिद्रु०। उ०३।१०। द्रु गतौ—नप्रत्ययः+षच समवाये सेचने च—ण्वि। ज्ञानेन सेक्तारम् (सचेतसम्) चेतसा युक्तम् (ऊर्जः) बलस्य (स्कम्भम्) स्तम्भ यथा (धरुणे) धारणे (आ) समन्तात् (वृषयसे) वृषन्—क्यङ्। वृषेव बलवानिवाचरसि (ओजः) बलम् (कृष्व) कुरुष्व (सम् गृभाय) स गृहाण (त्वे) त्वयि (अपि) निश्चये (असः) भवेः (यथा) सादृश्ये (केनिपानाम्) अन्येष्वपि दृश्यते। पा० ३।२।१०१। के + नि + पत्लृ पतने—डप्रत्ययः। के आत्मनि पतन्ति केनिपाः। आके निपो मेधाविनाम—निघ० ३।१५। मेधाविनाम् (इनः) स्वामी (वृधे) वर्धनाय ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि वीर बुद्धिमान् पुरुषों के साथ दया करके बल बढ़ावे और प्रजा की उन्नति करे ॥ ४ ॥

गमन्नस्मे वसून्या हि शंसिषं स्वाशिषं भरमा याहि सोमिनः। त्वमीशिषे सास्मिन्ना सत्सि बर्हिष्यनाधृष्या तव पात्राणि धर्मणा ॥ ५ ॥

गमन् । अस्मे इति । वसूनि । आ । हि । शंसिषम् । सु-आशिषम् । भरम् । आ । याहि । सोमिनः ॥ त्वम् । ईशिषे । सः । अस्मिन् । आ । सत्सि । बर्हिषि । अनाधृष्या । तव । पात्राणि । धर्मणा ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(अस्मे) हम को (वसूनि) अनेक धन (आ गमन्) आवें, (हि) क्योंकि (शंसिषम्) मैं कहता हूं, (सोमिनः) शान्त स्वभाव वाले के (स्वाशिषम्) सुन्दर आशीर्वाद वाले (भरम्) पोषण व्यवहार को (आ) सब प्रकार (याहि) तू प्राप्त हो। (त्वम्) तू (ईशिषे) स्वामी है, (सः) सो तू (अस्मिन्) इस (बर्हिषि) उत्तम आसन पर (आ) आकर (सत्सि) बैठ (तव) तेरे (पात्राणि) रक्षा साधन (धर्मणा) धर्म के साथ (अनाधृष्या) अजेय हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की सम्मति से सिंहासन पर विराजकर उत्तम साधनों से रक्षा करके धन की वृद्धि करे ॥ ५ ॥

५—(आ गमन्) आगच्छन्तु (अस्मे) अस्मभ्यम् (वसूनि) धनानि (हि) यतः (शंसिषम्) शंस कथने—लुङ्। कथयामि (स्वाशिषम्) शोभनाशीर्वादयुक्तम् (भरम्) पोषणम् (आ) समन्तात् (याहि) प्राप्नुहि (सोमिनः) शान्तस्वभावयुक्तस्य (त्वम्) (ईशिषे) ईश्वरो भवसि (सः) स त्वम् (अस्मिन्) (आ) आगत्य (सत्सि) सीद (बर्हिषि) उत्तमासने (अनाधृष्या) ञिधृषा प्रागल्भ्ये—क्यप्। धर्षितुमशक्यानि। अजेयानि (तव) (पात्राणि) रक्षासाधनानि (धर्मणा) शास्त्रविहितव्यवहारेण ॥

पृथक् प्रायन् प्रथमा देवहूतयोऽकृण्वत श्रवस्यानि दुष्टरा ।
न ये शेकुर्यज्ञियां नावमारुहमीर्मैव ते न्यविशन्त केपयः ॥६॥

पृथक् । प्र । आयन् । प्रथमाः । देव-हूतयः । अकृण्वत ।
श्रवस्यानि । दुस्तरा ॥ न । ये । शेकुः । यज्ञियाम् । नावम् ।
आ-रुहम् । ईर्मा । एव । ते । नि । अविशन्त । केपयः॥६॥

भाषार्थ—(प्रथमाः) मुखिया, (देवहूतयः) विद्वानों के बुलाने वाले पुरुष (पृथक्) अलग अलग [अर्थात् कोई वीरता, कोई विद्यावृद्धि आदि गुण से] (प्र) आगे (आयन्) गये हैं और उन्हों ने (दुस्तरा) दुस्तर [बड़े कठिन] (श्रवस्यानि) यश के कर्म (अकृण्वत) किये हैं । (ये) जो (यज्ञियाम्) यज्ञ [देवपूजा, सगतिकरण और दान] की (नावम्) नाव पर (न आरुहं शेकुः) नहीं चढ़ सके हैं, (ते) वे (केपयः) दुराचारी (ईर्मा) मार्ग में (एव) ही (नि अविशन्त) टिक रहे हैं ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों की शिक्षा से अनेक कठिन कामों को पूरा करके यश बढ़ावें, और दुष्कर्मियों के समान श्रेष्ठ कर्मों को छोड़कर निन्दनीय कर्मों में न पड़ें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र निरुक्त ५ । २५ में भी व्याख्यात है ॥

६—(पृथक्) नाना प्रकारेण, केचद् वीरत्वेन केचद् विद्यावृद्ध्यादिना (प्र) प्रकर्षेण (आयन्) इण् गतौ—लङ् । अगच्छन् (प्रथमाः) मुख्याः (देवहूतयः) विदुषामाह्वातारः (अकृण्वत) अकुर्वन (श्रवस्यानि) श्रवणीयानि यशांसि (दुस्तरा) दुःखेन तरणीयानि (न) निषेधे (ये) पुरुषाः (शेकुः) शक्ता बभूवुः (यज्ञियाम्) यज्ञसम्बन्धिनीम् (नावम्) नौकाम् (आरुहम्) शकि णमुल्कमुलौ । पा० ३ । ४ । १२ । रोहतेः कमुल् तुमर्थे । आरोढुम् (ईर्मा) इषियुधीन्धि उ० १ । १४५ । ईर् गतौ—मक्, विभक्तेर्डा । ईर्मे गन्तव्ये मार्गे (एव) अवधारणे (ते) पुरुषाः (नि अविशन्त) निवेशं स्थितिस्थानं प्राप्नुवन् (केपयः) कु+पय गतौ—क्विप्, कुशब्दस्य के इत्यादेशः । केपयः कपूया भवन्ति कपूयमिति पुनाति कर्म कुत्सितं दुष्पूयं भवति—निरु० ५ । २४ । कुत्सितगतयः । दुराचारिणः ॥

एवैवापागपरे सन्तु दूढ्योऽश्वा येषां दुर्युज आयुयुज्रे । इत्था ये प्रागुपरे सन्ति दावने पुरूणि यत्र वयुनानि भोजना ॥ ७ ॥

एव । एव । अपाक् । अपरे । सन्तु । दुः-ध्यः । अश्वाः । येषाम् । दुः-युजः । आ-युयुज्रे ॥ इत्था । ये । प्राक् । उपरे । सन्ति । दावने । पुरूणि । यत्र । वयुनानि । भोजना ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(एव) ऐसे (एव) ही (अपरे) वे दूसरे [वेद विरोधी] (दूढ्यः) दुर्बुद्धि लोग (अपाक्) नीच गति में (सन्तु) होवें, (येषाम्) जिन के (दुर्युजः) कठिनाई से जुतने वाले [अति प्रबल] (अश्वाः) घोड़े (आयुयुज्रे) बांध दिये गये [ठहरा दिये गये] हैं । (इत्था) इसी प्रकार (प्राक्) उत्तम गति में (सन्तु) वे होवें, (ये) जो लोग (उपरे) निवृत्ति [विषयों के त्याग] में (दावने) दान के लिये हैं, (यत्र) जिस [दान] में (पुरूणि) बहुत से (वयुनानि) कर्म और (भोजनानि) पालन साधन धन आदि हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—दुर्बुद्धि वेद विरोधी मनुष्य बहुत प्रयत्न करने पर भी श्रेष्ठ कर्म नहीं कर सकते, और जो पुरुष कुविषयों को छोड़कर वेदाज्ञा में आत्मदान करते हैं, वे अनेक प्रकार धन आदि प्राप्त करके संसार में उत्तम गति भोगते हैं ॥ ७ ॥

७—(एव) एवम् (एव) अवधारणे (अपाक्) अप+अञ्चु गतौ—क्विन्, यथा भवति तथा । अधोगतौ (अपरे) अन्ये वेदविरोधिनः (सन्तु) (दूढ्यः) दुर्धियः । दुर्बुद्धयः (अश्वाः) तुरङ्गाः (येषाम्) (दुर्युजः) युज संयमने—क्विन् । दुर्योजनीयाः । अतिप्रबलाः (आयुयुज्रे) युज संयमने—कर्मणि लिट् । सम्यग् बद्धाः स्थितिं प्राप्ता बभूवुः (इत्था) अनेन प्रकारेण (ये) (प्राक्) प्रकृष्टगमने (उपरे) उप+रमतेर्ड प्रत्ययः । उपरतौ निवृत्तौ । विषयत्यागे (सन्ति) (दावने) ददातेः—वनिप् । दानाय (पुरूणि) बहूनि (यत्र) यस्मिन् दाने (वयुनानि) कर्माणि (भोजना) भोजनानि । पालनसाधनानि धनानि—निघ० २ । १ ॥

गिरीँरज्रान् रेजमानाँ अधारयद् द्यौः क्रन्ददन्तरिक्षाणि कोपयत्। समीचीने धिषणे वि ष्कभायति वृष्णः पीत्वा मद उक्थानि शंसति ॥ ८ ॥

गिरीन्। अज्रान्। रेजमानान्। अधारयत्। द्यौः। क्रन्दत्। अन्तरिक्षाणि। कोपयत् ॥ समीचीने इति सम्ऽईचीने। धिषणे इति। वि। स्कभायति। वृष्णः। पीत्वा। मदे। उक्थानि। शंसति ॥ ८ ॥

पदार्थ—(क्रन्दत्) पुकारता हुआ (द्यौः) प्रकाशमान परमात्मा (अज्रान्) चलते हुये और (रेजमानान्) कांपते हुये (गिरीन्) मेघों को (अधारयत्) धारण करता और (अन्तरिक्षाणि) आकाशस्थ लोकों को (कोपयत्) प्रकाशित करता, (समीचीने) आपस में मिले हुये (धिषणे) दोनों सूर्य और भूमि को (वि) विविध प्रकार (स्कभायति) थांभता और (वृष्णः) ऐश्वर्यों को (पीत्वा) ग्रहण करके (मदे) आनन्द में (उक्थानि) कहने योग्य वचनों का (शंसति) उपदेश करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा जल रूप मेघ को धारण करके वृष्टि करता, जगत् को रचता, सूर्य, भूमि आदि लोकों को आकर्षण द्वारा दृढ़ रखता और ऋषियों द्वारा वेदों का उपदेश करता है, सब मनुष्य उसी की उपासना करें ॥ ८ ॥

८—(गिरीन्) मेघान् (अज्रान्) अ० २०।९१।५। शीघ्रगमनान् (रेजमानान्) कम्पमानान् (अधारयत्) धारयति (द्यौः) प्रकाशमानः परमात्मा (क्रन्दत्) क्रदि आह्वाने रोदने च—शतृ। क्रन्दन्। आह्वयन् (अन्तरिक्षाणि) आकाशस्थलोकान् (कोपयत्) कुप [illegible] क्रोधे च। दीपयति। प्रकाशयति (समीचीने) संगच्छमाने (धिषणे) अ० २०।३१।५। द्यावापृथिव्यौ—निघ० ३।३०। सूर्यभूमिलोकौ (वि) विविधम् (स्कभायति) स्तभ्नाति स्तम्भयति (वृष्णः) वृषु सेचने ऐश्वर्ये च—कनिन्। ऐश्वर्याणि (पीत्वा) गृहीत्वा (मदे) आनन्दे (उक्थानि) कथनीयानि वचनानि (शंसति) उपदिशति ॥

इमं बिभर्मि सुकृतं ते अङ्कुशं येनारुजासि मघवञ्छफारुजः।
अस्मिन्त्सु ते सवने अस्त्वोक्यं सुत इष्टौ मघवन् बोध्याभगः ॥९॥

इमम्। बिभर्मि। सु-कृतम्। ते। अङ्कुशम्। येन। आ-रुजासि। मघ-वन्। शफ-आरुजः॥ अस्मिन्। सु। ते। सवने। अस्तु। ओक्यम्। सुते। इष्टौ। मघ-वन्। बोधि। आ-भगः॥ ९॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी! (इमम्) इस (सुकृतम्) दृढ़ बने हुये (अङ्कुशम्) अङ्कुश को (ते) तेरे लिये (बिभर्मि) मैं रखता हूं, (येन) जिस [कारण] से (शफारुजः) शान्ति भंजकों को (आरुजासि) तू नष्ट करे। (अस्मिन्) इस (सवने) ऐश्वर्य के बीच (ते) तेरा (ओक्यम्) निवास (सु) भले प्रकार (अस्तु) होवे, (इष्टौ) यज्ञ [देवपूजा, संगतिकरण और दान] के बीच (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस में, (मघवन्) हे महाधनी! (आभगः) बड़ा ऐश्वर्य (बोधि) जाना जाता है॥ ९॥

भावार्थ—विद्वान् लोग राजा की रक्षा के लिये अङ्कुश आदि हथियार धारण करके शत्रुओं को हटाकर ऐश्वर्य बढ़ावें॥ ९॥

गोभिष्टरेमामतिं दुरेवां यवेन क्षुधं पुरुहूत विश्वाम्।
वयं राजभिः प्रथमा धनान्यस्माकेन वृजनेना जयेम ॥ १० ॥

९—(इमम्) दृश्यमानम् (बिभर्मि) धरामि (सुकृतम्) दृढनिर्मितम् (ते) तुभ्यम् (अङ्कुशम्) आयुधविशेषम् (येन) कारणेन (आरुजासि) आरुजसि। आभिमुख्येन पीडयसि (मघवन्) हे धनवन् (शफारुजः) अ० ८।३।२१। शम शान्तौ—अच्, मस्य फः, शफ+आ+रुजो भङ्गे—क्विप्। शान्तिसम्भञ्जकान् (अस्मिन्) (सु) सुष्ठु (ते) तव (सवने) ऐश्वर्ये (अस्तु) (ओक्यम्) ओकः। निवासः (सुते) संस्कृते तत्त्वरसे (इष्टौ) यज्ञे। देवपूजादिव्यवहारे (मघवन्) (बोधि) अबोधि। ज्ञायते (आभगः) समन्ताद् ऐश्वर्यम्॥

गोभिः । तरेम । अमतिम् । दुः-एवाम् । यवेन । क्षुधम् । पुरु-हूत । विश्वाम् ॥ वयम् । राज-भिः । प्रथमाः । धनानि । अस्माकेन । वृजनेन । जयेम ॥ १० ॥

भाषार्थ—(पुरुहूत) हे बहुतों से बुलाये गये ! [राजन्] (गोभिः) विद्याओं से (दुरेवाम्) दुर्गति वाली (अमतिम्) कुमति [वा कङ्गाली] को और (यवेन) अन्न से (विश्वाम्) सब (क्षुधम्) भूख को (तरेम) हम हटावें । (वयम्) हम (राजभिः) राजाओं के साथ (प्रथमाः) प्रथम श्रेणी वाले होकर (धनानि) अनेक धनों को (अस्माकेन) अपने (वृजनेन) बल से (जयेम) जीतें ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न करके विद्याओं द्वारा कुमति और निर्धनता हटाकर भोजन पदार्थ प्राप्त करें और अपने भुज बल से महाधनी होकर राजाओं के साथ प्रथम श्रेणी वाले होवें ॥ १० ॥

मन्त्र १०, ११ आ चुके हैं—अ० २० । १७ । १०, ११ । और कुछ भेद से—२० । ८९ । १०, ११ ॥

बृहस्पतिर्नः परि पातु पश्चादुतोत्तरस्मादधरादघायोः । इन्द्रः पुरस्तादुत मध्यतो नः सखा सखिभ्यो वरिवः कृणोतु ११

बृहस्पतिः । नः । परि । पातु । पश्चात् । उत । उत्-तरस्मात् । अधरात् । अघ-योः ॥ इन्द्रः । पुरस्तात् । उत । मध्यतः । नः । सखा । सखि-भ्यः । वरिवः । कृणोतु ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहस्पतिः) बृहस्पति [बड़े शूरों का रक्षक सेनापति] (नः) हमें (पश्चात्) पीछे से (उत्तरस्मात्) ऊपर से (उत) और (अधरात्) नीचे से (अघायोः) बुरा चीतने वाले शत्रु से (परि पातु) सब प्रकार बचावे । (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (पुरस्तात्) आगे से (उत) और (मध्यतः) मध्य से (नः) हमारे लिये (वरिवः) सेवनीय धन

१०, ११—मन्त्रौ व्याख्यातौ—अ० २० । १७ । १०, ११ ॥

(कृणोतु) करे, (सखा) [जैसे] मित्र (सखिभ्यः) मित्रों के लिये [करता है] ॥ ११ ॥

भावार्थ—मनुष्य वीरों में महावीर और प्रतापियों में महाप्रतापी होकर दुष्टों से प्रजा की सदा रक्षा करें ॥ ११ ॥

सूक्तम् ८५ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ अष्टिः; २, ३ अतिजगती; ४ भुरिगतिजगती ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

त्रिकद्रुकेषु महिषो यवाशिरं तुविशुष्मस्तृपत् सोममपिबद् विष्णुना सुतं यथावशत् । स ईं ममाद महि कर्म कर्तवे महामुरुं सैनं सश्चद् देवो देवं सत्यमिन्द्रं सत्य इन्दुः ॥ १ ॥

त्रि-कद्रुकेषु । महिषः । यव-आशिरम् । तुवि-शुष्मः । तृपत् । सोमम् । अपिबत् । विष्णुना । सुतम् । यथा । अवशत् ॥ सः । ईम् । ममाद । महि । कर्म । कर्तवे । महाम् । उरुम् । सः । एनम् । सश्चत् । देवः । देवम् । सत्यम् । इन्द्रम् । सत्यः । इन्दुः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(त्रिकद्रुकेषु) तीन [शारीरिक, आत्मिक] और सामाजिक [उन्नतियों] के विधानों में (तृपत्) तृप्त होते हुये (महिषः) महान् (तुविशुष्मः) बहुत बल वाले [शूर] ने (विष्णुना) बुद्धिमान् मनुष्य वा व्यापक परमेश्वर करके (सुतम्) निचोड़े हुये, (यवाशिरम्) अन्न के भोजन युक्त (सोमम्) सोम

१—(त्रिकद्रुकेषु) अ० २।५।७। त्रि+कद्र कदि आह्वाने—क्रुन्, कृप् च । तिसृणां शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीनां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु (महिषः) महान् (यवाशिरम्) अ० २० । २४ । ७ । अन्नभोजनयुक्तम् (तुविशुष्मः) बहुबलः (तृपत्) तृप्तभावः । तृप्यन् (सोमम्) तत्त्वरसम् (अपिबत्) पीतवान् (विष्णुना) कर्मसु व्यापकेन विदुषा सर्वव्यापकेन परमे-

श्वरण [तत्त्व रस] को (अपिवत्) पिया है, (यथा) जैसा (अवशत्) उस [शूर] ने चाहा। (सः) उस [तत्त्वरस] ने (ईम्) प्राप्ति योग्य, (महाम्) महान् (उरुम्) लम्बे चौड़े पुरुष को (महि) बड़े (कर्म) कर्म (कर्तवे) करने के लिये (ममाद) हर्षित किया है, (सः) वह (देवः) दिव्य (सत्यः) सत्य गुण वाला, (इन्दुः) ऐश्वर्यवान् [तत्त्वरस] (एनम्) इस (देवम्) कामना योग्य, (सत्यम्) सच्चे [सत्यकर्मा] (इन्द्रम्) इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] को (सश्चत्) व्यापा है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक उन्नति करके परमात्मा और विद्वानों के सिद्धान्तों पर चलता है, वही शूर संसार में बड़े बड़े कर्म करके सर्वहितैषी होता है ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—२। २२। १, सामवेद—पू० ५। ८। १। तथा साम०—उ० ६। ३। २० ॥

प्रो ष्व॑स्मै पुरोर॒थमिन्द्रा॑य शू॒षम॑र्चत । अ॒भीके॑ चिदु लोक॒कृत् सं॒गे स॒मत्सु॑ वृत्र॒हास्माकं॑ बोधि चोदि॒ता नभ॑न्तामन्य॒केषां॑ ज्या॒का अधि॒ धन्व॑सु ॥ २ ॥

प्रो इति॑ । सु । अ॒स्मै॒ । पु॒रः॒ऽर॒थम् । इन्द्रा॑य । शू॒षम् । अ॒र्च॒त॒ ॥ अ॒भीके॑ । चि॒त् । ऊँ॒ इति॑ । लो॒क॒ऽकृत् । स॒म्ऽगे । स॒मत्ऽसु॑ । वृ॒त्र॒ऽहा । अ॒स्माक॑म् । बो॒धि॒ । चो॒दि॒ता । नभ॑न्ताम् । अ॒न्य॒केषा॑म् । ज्या॒काः । अधि॑ । धन्व॑ऽसु ॥ २ ॥

दः (सुतम्) निष्पादितम् (यथा) येन प्रकारेण (अवशत्) वश कान्तौ—छान्दसः शप्। अवष्ट। अकामयत (सः) सोमः (ईम्) प्राप्तव्यम् (ममाद) हर्षितवान् (महि) महत् (कर्म) कर्तव्यम् (कर्तवे) तुमर्थे तवेन्। कर्तुम् (महाम्) महान्तम् (उरुम्) विस्तृतम् (सः) सोमः (एनम्) (सश्चत्) सश्चतिर्गतिकर्मा—निघ० २। १४। असश्चत्। व्याप्तवान् (देवः) दिव्यः (देवम्) कमनीयम् (सत्यम्) यथार्थकर्माणम् (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं मनुष्यम् (सत्यः) सत्यगुणयुक्तः (इन्दुः) इदि परमैश्वर्ये—उ। परमैश्वर्यवान् सोमः ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (अस्मै) इस (इन्द्राय) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] के लिये (पुरोरथम्] रथ को आगे रखने वाले (शूषम्) शत्रुओं के सुखाने वाले बल का (सु) भले प्रकार से (प्रो) अवश्य ही (अर्चत) आदर करो । (अभीके) समीप में (चित् उ) ही (संगे) मिलने पर (समत्सु) परस्पर खाने के स्थान सङ्ग्रामों में (वृत्रहा) शत्रुनाशक (अस्माकम्) हमारा (चोदिता) प्रेरक [उत्साह बढ़ाने वाला] और (लोककृत्) स्थान करने वाला (बोधि) जाना गया है । (अन्यकेषाम्) दूसरे खोटे लोगों की (ज्याकाः) निर्बल डोरियां (धन्वसु अधि) धनुषों पर चढ़ी हुई (नभन्ताम्) टूट जावें ॥ २ ॥

भावार्थ—जिस शूर राजा के प्रताप से उपद्रवी शत्रु लोग हार मानें और प्रजागण आगे बढ़ें, विद्वान् पुरुष उस वीर का सदा मान करें ॥ २ ॥

मन्त्र २—४ ऋग्वेद में हैं—१० । १३३ । १—३ । और सामवेद—उ० ६ । १ । तृच १४ ॥

त्वं सिन्धूँरवासृजोऽध॒राचो॒ अह॒न्नहि॑म् । अ॒श॒त्रुरि॑न्द्र जज्ञिषे॒ विश्वं॑ पुष्यसि॒ वार्यं॒ तं त्वा॒ परि॑ ष्वजामहे॒ नभं० ॥ ३ ॥

त्वम् । सिन्धू॑न् । अव॑ । अ॒सृ॒जः॒ । अ॒ध॒राचः॑ । अह॑न् ।

२—(प्रो) प्र उ इति निपातसमुदायः । ओत् । पा० १ । १ । १५ । इति प्रगृह्यम् । प्रकर्षेणैव । अवश्यमेव (सु) सुष्ठु (अस्मै) (पुरोरथम्) अग्रे रथयुक्तम् (इन्द्राय), महाप्रतापिने राज्ञे (शूषम्) अ०२०। ७१ । १६ । शत्रुशोषकं बलम् (अर्चत) सत्कुरुत (अभीके) अलीकादयश्च । उ० ४ । २५ । अभि + इण् गतौ—कीकन् । धातोर्लोपः । आसन्ने—निरु० ३ । २० (चित्) एव (उ) अवधारणे (लोककृत्) स्थानस्य कर्ता (संगे) संगमे (समत्सु) परस्परादनस्थानेषु संग्रामेषु (वृत्रहा) शत्रुनाशकः (अस्माकम्) (बोधि) अबोधि । ज्ञायते (चोदिता) प्रेरकः । उत्साहवर्धकः (नभन्ताम्) नभतेर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । हिंस्यन्ताम् । नश्यन्तु (अन्यकेषाम्) अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक् टेः । पा० ५ । ३ । ७१ । अन्य—अकच् । कुत्सितानामन्येषां शत्रूणाम् (ज्याकाः) कुत्सिते । पा० ५ । ३ । ७४ । ज्या—कप्रत्ययः । कुत्सिता निर्बला ज्याः (अधि) उपरि (धन्वसु) धनुःषु ॥

अहिम् ॥ अशत्रुः । इन्द्र । जज्ञिषे । विश्वम् । पुष्यसि । वार्यम् । तम् । त्वा । परि । स्वजामहे । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(त्वम्) तू ने (अधराचः) नीचे को बहने वाले (सिन्धून्) नदी नालों को (अव असृजः) छोड़ दिया है, (अहिम्) मारने वाले विघ्न को (अहन्) तू ने मारा है। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] तू (अशत्रुः) निर्वैरी (जज्ञिषे) हो गया है, (विश्वम्) सब (वार्यम्) जल में होने वाले [अन्न आदि] को (पुष्यसि) तू पुष्ट करता है, (तम्) उस (त्वाम्) तुझ से (परि ष्वजामहे) हम मिलते हैं। (अन्यकेषाम्) दुष्ट खोटे लोगों की [मन्त्र २] ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा पहाड़ आदि जल स्थानों से नदी नाले निकाल कर खेती आदि उद्यम को बढ़ावे, जिस से प्रजागण उस से प्रीति करें ॥ ३ ॥

वि षु विश्वा अरातयोऽर्यो नशन्त नो धियः। अस्तासि शत्रवे वधं यो न इन्द्र जिघांसति या ते रातिर्ददिर्वसु नभन्तामन्यकेषां ज्याका अधि धन्वसु ॥ ४ ॥

वि । सु । विश्वाः । अरातयः । अर्यः । नशन्त । नः । धियः ॥ अस्ता । असि । शत्रवे । वधम् । यः । नः । इन्द्र । जिघांसति । या । ते । रातिः । ददिः । वसु । नभन्ताम् । अन्यकेषाम् । ज्याकाः । अधि । धन्वऽसु ॥ ४ ॥

३—(त्वम्) (सिन्धून्) स्यन्दनशीलान् जलपूर्णान् । नदीः कुल्याः (अव असृजः) अवसृष्टवान् निर्गमितवानसि (अधराचः) अधोमुखमञ्चतो गन्तॄन् (अहन्) हतवानसि (अहिम्) आहन्तारं विघ्नम् (अशत्रुः) शत्रुरहितः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (जज्ञिषे) जनेर्लिट् । प्रादुर्बभूविथ (विश्वम्) सर्वम् (पुष्यसि) वर्धयसि (वार्यम्) वार्—यत् । वारि जले भवमुत्पन्नमन्नादिकम् (तम्) तादृशम् (त्वा) त्वाम् (परि) परितः (स्वजामहे) ष्वञ्ज आलिङ्गने । आलिङ्गाम । संगच्छामहे । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे (अर्यः) शत्रु की (विश्वाः) सब (अरातयः) कंजूस प्रजायें और (धियः) बुद्धियां (सु) सर्वथा (वि नशन्त) नष्ट हो जावें। (इन्द्र) हे इन्द्र [महाप्रतापी राजन्] तू (शत्रवे) उस वैरी पर (वधम्) शस्त्र (अस्ता) चलाने वाला (असि) है, (यः) जो (नः) हमें (जिघांसति) मारना चाहता है, (या) जो (ते) तेरी (रातिः) दान शक्ति है, [वह] (वसु) धन को (ददिः) देने वाली है। (अन्यकेषाम्) दूसरे खोटे लोगों की (ज्याकाः) निर्बल डोरियां (धन्वसु अधि) धनुषों पर चढ़ी हुई (नभन्ताम्) टूट जावें ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा ऐसा प्रबन्ध करे कि दुष्ट लोग उपद्रव न मचावें और सदाचारी राजभक्त सन्तुष्ट होकर सुखी रहें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ९६ ॥ १—२४ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ त्रिष्टुप्; २ विराट् त्रिष्टुप्; ४, ५ विराड्गर्भा त्रिष्टुप् ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

तीव्रस्याभिवयसो अस्य पाहि सर्वरथा वि हरी इह मुञ्च। इन्द्र मा त्वा यजमानासो अन्ये नि रीरमन् तुभ्यमिमे सुतासः ॥१॥

तीव्रस्य। अभि-वयसः। अस्य। पाहि। सर्व-रथा। वि। हरी इति। इह। मुञ्च ॥ इन्द्र। मा। त्वा। यजमानासः। अन्ये। नि। रीरमन्। तुभ्यम्। इमे। सुतासः ॥ १ ॥

४—(वि) विविधम् (सु) सर्वथा (विश्वाः) सर्वाः (अरातयः) अदातारः प्रजाः (अर्यः) अरेः। शत्रोः (नशन्त) नश्यन्तु (नः) अस्माकम् (धियः) बुद्धयः (अस्ता) क्षेप्ता (असि) (शत्रवे) (वधम्) आयुधम् (यः) शत्रुः (नः) अस्मान् (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (या) (ते) तव (रातिः) दानशक्तिः (ददिः) ददातेः—किप्रत्ययः। न लोकाव्ययनिष्ठाखलर्थतृनाम्। पा० २।३।६९। इति वसुशब्दात् षष्ठ्यभावः। दात्री (वसु) धनम्। सिद्धमन्यत्—म० २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (अस्य) इस (तीव्रस्य) तीक्ष्ण [शीघ्र बलदायक] (अभिवयसः) प्राप्त अन्न की (पाहि) तू रक्षा कर और (सर्वरथा) सब रथों के योग्य (हरी) अपने दोनों घोड़ों को (इह) यहां पर (वि मुञ्च) छोड़ दे । (त्वा) तुझ को (यजमानासः) यजमानों के गिराने वाले [अथवा यजमानों से भिन्न] (अन्ये) दूसरे [विरोधी] लोग (मा नि रीरमन्) न रोक लेवें, (तुभ्यम्) तेरे लिये (इमे) यह (सुतासः) सिद्ध किये हुये [तत्व रस] हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा अन्न आदि बलदायक पदार्थों की रक्षा करके प्रजा की बात सुने और वैरियों के फन्दों में न पड़कर श्रेष्ठों के सिद्धान्तों को माने १

मन्त्र १—५ ऋग्वेद में हैं—१० । १६० । १—५ ॥

तुभ्यं सुतास्तुभ्यमु सोत्वासुस्त्वां गिरः श्वात्र्या आ ह्वयन्ति ।
इन्द्रे॒दम॒द्य सव॑नं जुषा॒णो विश्व॑स्य वि॒द्वाँ इ॒ह पा॑हि॒ सोम॑म् ॥

तुभ्य॑म् । सु॒ताः । तुभ्य॑म् । ऊँ॒ इति॑ । सोत्वा॑सः । त्वाम् । गिरः॑ । श्वात्र्याः॑ । आ । ह्व॒य॒न्ति॒ ॥ इन्द्र॑ । इ॒दम् । अ॒द्य । सव॑नम् । जु॒षा॒णः । विश्व॑स्य । वि॒द्वान् । इ॒ह । पा॒हि॒ । सोम॑म् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (तुभ्यम्) तेरे

१—(तीव्रस्य) तीक्ष्णस्य । क्षिप्रं बलकरस्य (अभिवयसः) वयोऽन्नम्—निघ० २ । ७ । अभिगतस्य प्राप्तस्यान्नस्य (अस्य) समीपस्थस्य (पाहि) रक्षां कुरु (सर्वरथा) सर्वरथयोग्यौ (वि मुञ्च) विसृज (हरी) अश्वौ (इह) अत्र (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (यजमानासः) यजमान + असु क्षेपणे—क्विप् । यजमानानां क्षेप्तारः । यद्वा । सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । पञ्चम्यर्थे प्रथमा, असुक् च । यजमानेभ्यः सकाशात् पृथग् भूताः (अन्ये) अपरे । विरोधिनः (नि) नितराम् (रीरमन्) रमु उपरमे—णिचि लुङ् । अडभावो माङ्योगे । उपरमयन्तु । निवर्तयन्तु (तुभ्यम्) त्वदर्थम् (इमे) लभ्यमानाः (सुतासः) संस्कृतास्तत्त्वरसाः ॥

२—(तुभ्यम्) त्वदर्थम् (सुताः) संस्कृतास्तत्त्वरसाः (तुभ्यम्) (उ)

लिये (सुताः) सिद्ध किये हुये, (उ) और (तुभ्यम्) तेरे लिये (सोत्वासः) सिद्ध होने वाले [तत्त्व-रस] हैं, (त्वाम्) तुझ को (श्वाव्याः) गति वाली [प्रजा] की (गिरः) वाणियां (आह्वयन्ति) बुलाती हैं। (अद्य) अब (इदम्) इस (सवनम्) ऐश्वर्य कर्म का (जुषाणः) सेवन करता हुआ और (विश्वस्य) सब का (विद्वान्) जानने वाला तू (इह) यहां पर (सोमम्) उत्पन्न संसार की (पाहि) रक्षा कर ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि भूत भविष्यत् और वर्तमान को विचार कर प्रजा की सदा रक्षा करे ॥ २ ॥

य उशता मनसा सोममस्मै सर्वहृदा देवकामः सुनोति । न गा इन्द्रस्तस्य परा ददाति प्रशस्तमिच्चारुमस्मै कृणोति ॥३॥

यः । उशता । मनसा । सोमम् । अस्मै । सर्व-हृदा । देव-कामः । सुनोति ॥ न । गाः । इन्द्रः । तस्य । परा । ददाति । प्र-शस्तम् । इत् । चारुम् । अस्मै । कृणोति ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवकामः) दिव्यगुण चाहने वाला मनुष्य (उशता) कामना वाले (मनसा) मन से और (सर्वहृदा) पूरे हृदय से (अस्मै) इस [संसार] के लिये (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (सुनोति) निचोड़ता है। (इन्द्रः) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] (तस्य) उस [मनुष्य] की (गाः)

च (सोत्वासः) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । सुनोतेः—त्वन् सोतव्याः । संस्कर्तव्याः (त्वाम्) (गिरः) वाण्यः (श्वाव्याः) श्वात्रतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अच् प्रत्ययः, ङीप् । गतिशीलायाः प्रजायाः (आ ह्वयन्ति) आक्रोशन्ति (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (इदम्) (अद्य) (सवनम्) ऐश्वर्यकर्म (जुषाणः) सेवमानः (विश्वस्य) सर्वस्य (विद्वान्) ज्ञाता (इह) अत्र (पाहि) रक्ष (सोमम्) उत्पन्नं संसारम् ॥

३—(यः) पुरुषः (उशता) कामयमानेन (मनसा) चित्तेन (सोमम्) तत्त्वरसम् (अस्मै) दृश्यमानाय संसाराय (सर्वहृदा) पूर्णहृदयेन (देवकामः) —दिव्यगुणान् कामयमानः (सुनोति) निष्पादयति (न) निषेधे (गाः) वाणीः (इन्द्रः) महाप्रतापी राजा (तस्य) पुरुषस्य (परा ददाति) परादानं विनाशः ।

प्राणियों को (न) नहीं (परा ददाति) नष्ट करता है, (अस्मै) उसके लिये वह (प्रशस्तम्) प्रशंसनीय, (चारुम्) मनोहर व्यवहार (इत्) ही (कृणोति) करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा और विद्वान लोग संसार के हित के लिये परस्पर श्रेष्ठ व्यवहार करें ॥ ३ ॥

अनुस्पष्टो भवत्येषो अस्य यो अस्मै रेवान् न सुनोति सोमम्। निररत्नौ मघवा तं दधाति ब्रह्मद्विषो हन्त्यनानुदिष्टः ॥ ४ ॥

अनु-स्पष्टः। भवति। एषः। अस्य। यः। अस्मै। रेवान्। न। सुनोति। सोमम् ॥ निः। अरत्नौ। मघ-वा। तम्। दधाति। ब्रह्म-द्विषः। हन्ति। अननु-दिष्टः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(एषः) वह [मनुष्य] (अस्य) इस [शूर पुरुष] का (अनुस्पष्टः) सर्वथा स्पष्ट [दृष्टि गोचर] (भवति) होता है, (यः) जो [मनुष्य] (रेवान् न) धनवान् के समान (अस्मै) उस [शूर] के लिये (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] (सुनोति) निचोड़ता है। (मघवा) धनवान् [शूर] (तम्) उस [मनुष्य] को (अरत्नौ) अपनी गोद में (निः) निश्चय करके (दधाति) बैठालता है, और (अननुदिष्टः) बिना कहा हुआ [वह शूर] (ब्रह्मद्विषः) वेद विरोधियों को (हन्ति) मारता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा बुद्धिमान् राजभक्तों पर सदा दया दृष्टि रक्खे ॥ ४ ॥

विनाशयति (प्रशस्तम्) प्रशंसनीयम् (इत्) एव (चारुम्) मनोहरं व्यवहारम् (अस्मै) पुरुषाय (कृणोति) करोति ॥

४—(अनुस्पष्टः) निरन्तरस्पष्टः। दृष्टिगोचरः (भवति) (एषः) स मनुष्यः (अस्य) प्रसिद्धस्य शूरस्य (यः) मनुष्यः (अस्मै) शूराय (रेवान्) धनवान् (न) इव (सुनोति) निष्पादयति (सोमम्) तत्त्वरसम् (निः) निश्चयेन (अरत्नौ) ऋतन्यञ्जि०। उ० ४।२। ऋ गतौ—कत्निच्, रत्निर्बद्धमुष्टिकरः स नास्ति यत्र। विस्तृतकनिष्ठाङ्गुलिमुष्टिकहस्ते। हस्ते। क्रोडे (मघवा) धनवान् (तम्) पुरुषम् (दधाति) स्थापयति (ब्रह्मद्विषः) वेदद्वेषिणः (हन्ति) नाशयति (अननुदिष्टः) अनुदेशमप्राप्तः। अनुक्तः। अप्रार्थितः ॥

अ॒श्व॒यन्तो॑ ग॒व्यन्तो॑ वा॒जय॑न्तो॒ हवा॑महे॒ त्वोप॑गन्त॒वा उ॑ ।
आ॒भूष॑न्तस्ते सुम॒तौ नवा॑यां व॒यमि॑न्द्र त्वा शु॒नं हु॑वेम ॥ ५ ॥

अ॒श्व॒ऽयन्तः॑ । ग॒व्यन्तः॑ । वा॒जय॑न्तः । हवा॑महे । त्वा॑ । उप॑ऽग॒न्त॒वै । ऊं॒ इति॑ ॥ आ॒ऽभूष॑न्तः । ते॒ । सु॒ऽम॒तौ । नवा॑याम् । व॒यम् । इ॒न्द्र॒ । त्वा॒ । शु॒नम् । हु॒वे॒म॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !](अश्वायन्तः) घोड़े चाहते हुये,|(गव्यन्तः) भूमि चाहते हुये, (वाजयन्तः) बल वा अन्न चाहते हुये हम (त्वा) तुझे (उपगन्तवै) आने के लिये (उ) अवश्य कर के (हवामहे) बुलाते हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (ते) तेरी (नवायाम्) श्रेष्ठ (सुमतौ) सुमति में (आभूषन्तः) शोभा पाते हुये (वयम्) हम (त्वा) तुझ को (शुनम्) सुख से (हुवेम) बुलावें ॥ ५ ॥

भावार्थ—प्रजागण धर्मात्मा राजा की नीति में चलकर सदा उन्नति करें ॥ ५ ॥

मन्त्राः, ६—१० ॥ राजयक्ष्मघ्नं देवता ॥ ६ आर्षी; ७ त्रिष्टुप् ; ८ निचृत् त्रिष्टुप् ; ९ विराट् त्रिष्टुप् ; १० निचृदनुष्टुप् ॥

रोगनाशनोपदेशः—रोग नाश करने का उपदेश ॥

मु॒ञ्चामि॑ त्वा ह॒विषा॒ जीव॑नाय॒ कम॑ज्ञातय॒क्ष्मादु॒त रा॑जय॒क्ष्मात् । ग्राहि॑र्ज॒ग्राह॒ यद्ये॒तदे॑नं॒ तस्या॑ इन्द्राग्नी॒ प्र मु॑मुक्त-

५—(अश्वायन्तः) अश्व—क्यच्, शतृ । अश्वाघस्यात् । पा० ७।४।३७ । इत्यात्वम् । अश्वान् इच्छन्तः (गव्यन्तः) गो—क्यच्, शतृ । वान्तो यि प्रत्यये । पा० ६।१।७९ । अवादेशः । गां भूमिमिच्छन्तः (वाजयन्तः) बलमन्नं वेच्छन्तः (हवामहे) आह्वयामः (त्वा) त्वाम् (उपगन्तवै) तुमर्थे सेसेनसे० । पा० ३।४।९ । गमेः—तवैप्रत्ययः । आगन्तुम् (उ) अवधारणे (आभूषन्तः) अलंक्रियमाणाः । शोभयमानाः (ते) तव (सुमतौ) शोभनायां बुद्धौ (नवायाम्) णु स्तुतौ—अप् । स्तुत्यायाम् (वयम्) (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (त्वा) (शुनम्) सुखेन (हुवेम) आह्वयेम ॥

सेनम् ॥ ६ ॥

मुञ्चामि । त्वा । हविषा । जीवनाय । कम् । अज्ञात-यक्ष्मात् । उत । राज-यक्ष्मात् ॥ ग्राहिः । जग्राह । यदि । एतत् । एनम् । तस्याः । इन्द्राग्नी इति । प्र । मुमुक्तम् । एनम् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (त्वा) तुझ को (हविषा) भक्ति के साथ (कम्) सुख से (जीवनाय) जीवन के लिये (अज्ञातयक्ष्मात्) अप्रकट रोग से (उत) और (राजयक्ष्मात्) राजरोग से (मुञ्चामि) मैं छुड़ाता हूं । (यदि) जो (ग्राहिः) जकड़ने वाली पीडा [गठिया रोग] ने (एतत्) इस समय (एनम्) इस प्राणी को (जग्राह) पकड़ लिया है, (तस्याः) उस [पीड़ा] से, (इन्द्राग्नी) हे सूर्य और अग्नि (एनम्) इस [प्राणी] को (प्र मुमुक्तम्) तुम छोड़ाओ ॥ ६ ॥

भावार्थ—सद्वैद्य गुप्त और प्रकट रोगों से विचार पूर्वक रोगी को अच्छा करता है, ऐसे ही प्रत्येक मनुष्य (इन्द्राग्नी) सूर्य और अग्नि अर्थात् सूर्य से लेकर अग्नि पर्यन्त अर्थात् दिव्य और पार्थिव सब पदार्थों से उपकार लेकर, अथवा सूर्य और अग्नि के समान तेजस्वी विद्वानों से मिलकर, अपने दोषों को मिटाकर यशस्वी होवे ॥ ६ ॥

मन्त्र ६—६ आ चुके हैं—अ० ३ । ११ । १—४ ॥

यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव । तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेनं शतशारदाय ॥ ७ ॥

यदि । क्षित-आयुः । यदि । वा । परा-इतः । यदि । मृत्योः । अन्तिकम् । नि-इतः । एव ॥ तम् । आ । हरामि । निः-ऋतेः । उप-स्थात् । अस्पार्शम् । एनम् । शत-शारदाय ॥ ७ ॥

६—६—व्याख्याताः—अ० ३ । ११ । १—४ ॥

भाषार्थ—(यदि) चाहे [यह] (क्षितायुः) टूटी आयु वाला, (यदि वा) अथवा (परेतः) अंग भग है, (यदि) चाहे (मृत्योः) मृत्यु के (अन्तिकम्) समीप (एव) ही (नीतः=नि—इतः) आ चुका है। (तम्) उस को (निर्ऋतेः) महामारी की (उपस्थात्) गोद से (आ हरामि) लिये आता हूं, (एनम्) इस को (शतशारदाय+जीवनाय) सौ शरद् ऋतुओं वाले [जीवन] के लिये (अस्पार्शम् मैं ने छुआ है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर वैद्य यत्न करके भारी भारी रोगियों को चंगा करता है, ऐसे ही मनुष्य शारीरिक, आत्मिक और सामाजिक कठिन संकट पड़ने पर अपने आत्मा को प्रबल रक्खे ॥ ७ ॥

सहस्राक्षेण शतवीर्येण शतायुषा हविषाहार्षमेनम् ।
इन्द्रो यथैनं शरदो नयात्यति विश्वस्य दुरितस्य पारम् ॥८॥

सहस्र-अक्षेण । शत-वीर्येण । शत-आयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ इन्द्रः । यथा । एनम् । शरदः । नयाति । अति । विश्वस्य । दुः-इतस्य । पारम् ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सहस्राक्षेण) सहस्रों नेत्र वाले, (शतवीर्येण) सैकड़ों सामर्थ्य वाले, (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम्) मैं ने उभारा है। (यथा) जिस से (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान् मनुष्य (एनम्) इस [जीव] को (विश्वस्य) प्रत्येक (दुरितस्य) कष्ट के (पारम्) पार (अति=अतीत्य) निकालकर (शरदः) [सौ] शरद ऋतुओं तक (नयाति) पहुंचावे ॥ ८ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य एकाग्र चित्त होकर अनेक प्रकार से अपनी दर्शन शक्ति, कर्म-शक्ति और जीविका शक्ति बढ़ाकर अपने को सुधारता है, तब वह इन्द्र पुरुष सब उलझनों को सुलझाकर यशस्वी होकर चिरंजीवी होता है ॥८॥

शतं जीव शरदो वर्धमानः शतं हेमन्तान्छतमु वसन्तान् ।
शतं त इन्द्रो अग्निः सविता बृहस्पतिः शतायुषा हविषा-

७—(अस्पार्शम्) स्पृष्टवानस्मि । अस्पृक्ष गतम् ॥

हार्षमेनम् ॥ ९ ॥

शतम् । जीव । शरदः । वर्धमानः । शतम् । हेमन्तान् । शतम् । ऊं इति । वसन्तान् ॥ शतम् । ते । इन्द्रः । अग्निः । सविता । बृहस्पतिः । शत-आयुषा । हविषा । आ । अहार्षम् । एनम् ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(वर्धमानः+त्वम्) बढ़ती करता हुआ तू (शतं शरदः) सौ शरद ऋतुओं तक, (शतं हेमन्तान्) सौ शीत ऋतुओं तक (उ) और (शतं वसन्तान्) सौ वसन्त ऋतुओं तक (जीव) जीता रह । (इन्द्रः) ऐश्वर्यवान्, (अग्निः) तेजस्वी विद्वान्, (सविता) सब के चलाने वाले, (बृहस्पतिः+अहं जीवः) बड़े बड़ों के रक्षक मैं ने (शतम) अनेक प्रकार से (ते) तेरे लिये (शतायुषा) सैकड़ों जीवन शक्ति वाले (हविषा) आत्मदान वा भक्ति से (एनम्) इस [आत्मा] को (आ अहार्षम् उभारा है ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य उचित रीति से वर्षा, शीत और उष्ण ऋतुओं को सहकर बहुप्रकार मन्त्रोक्त विधि पर विद्या आदि बल से शक्तिमान् होकर जीविका उपार्जन करता हुआ आत्मा की उन्नति करे ॥ ९ ॥

आहार्षमविदं त्वा पुनरागाः पुनर्णवः ।
सर्वाङ्ग सर्वं ते चक्षुः सर्वमायुश्च तेऽविदम् ॥ १० ॥

आ । अहार्षम् । अविदम् । त्वा । पुनः । आ । अगाः । पुनः-नवः ॥ सर्व-अङ्ग । सर्वम् । ते । चक्षुः । सर्वम् । आयुः । च । ते । अविदम् ॥ १० ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य !] (त्वा) तुझ को (आ अहार्षम्) मैं ने ग्रहण किया है और (अविदम्) मै ने पाया है, तू (पुनर्णवः) नवीन होकर (पुनः) फिर (आ अगाः) आया है । (सर्वाङ्ग) हे सम्पूर्ण [विद्या] के अङ्ग वाले ! (ते) तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (चक्षुः) दर्शन सामर्थ्य (च) और (ते)

१०—अयं व्याख्यातः—अ० ८ । १ । २० ॥

तेरे लिये (सर्वम्) सम्पूर्ण (आयुः) आयु (अविदम्) मैं ने पायी है ॥ १० ॥

भावार्थ—जिस पुरुष को आचार्य स्वीकार करके विद्यादान देकर द्विजन्मा बनाता है, वह सब प्रकार विद्या से प्रकाशित होकर उत्तम जीवन युक्त होता है ॥ १० ॥

यह मन्त्र आ चुका है—अ० ८ । १ । २० ॥

मन्त्र ११—१६ ॥ गर्भसंस्रावे प्रायश्चित्तं देवता ॥ ११, १२, १४ त्रिष्टुप्, १३, १५ १६ अनुष्टुप् ॥

गर्भरक्षोपदेशः—गर्भ रक्षा का उपदेश ॥

ब्रह्मणाग्निः संविदानो रक्षोहा बाधतामितः ।
अमीवा यस्ते गर्भं दुर्णामा योनिमाशये ॥ ११ ॥

ब्रह्मणा । अग्निः । सम्-विदानः । रक्षः-हा । बाधताम् । इतः ॥ अमीवा । यः । ते । गर्भम् । दुः-नामा । योनिम् । आ-शये ॥ ११ ॥

भाषार्थ—[हे गर्भिणी !] (ब्रह्मणा) विद्वान् वैद्य से (संविदानः) मेल रखता हुआ, (रक्षोहा) राक्षसों [रोगों] का नाश करने वाला (अग्निः) अग्नि [अग्नि के समान रोग भस्म करने वाला औषध] (इतः) यहां से [उस रोग को] (बाधताम्) हटावे, (यः) जो कोई (दुर्णामा) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाले बवासीर आदि रोग का कीड़ा] (अमीवा) पीड़ा होकर (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भाशय [कोख] और (योनिम्) योनि [गुप्त-उत्पत्ति मार्ग] को (आशये) घेर लेता है ॥ ११ ॥

११—(ब्रह्मणा) विदुषा वैद्येन सह (अग्निः) अग्निसमानं रोगस्य भस्मीकरमौषधम् (संविदानः) ऐकमत्यं प्राप्तः (रक्षोहा) रक्षसां रोगाणां नाशकः (बाधताम्) हिनस्तु तं रोगम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (अमीवा) पीड़ा (यः) (ते) तव (गर्भम्) गर्भाशयम् (दुर्णामा) अ० ८ । ६ । १ । दुर्णामा क्रिमिर्भवति पापनामा—निरु० ६ । १२ । अर्शआदिरोगजन्तुः (योनिम्) गुप्तोत्पत्तिमार्गम् (आशये) तलोपः । आशेते । प्राप्नोति ॥

भावार्थ—स्त्री की कोख और योनि के रोग जन्तुओं को विद्वान् वैद्यों की सम्मति से दूर करना चाहिये ॥ ११ ॥

मन्त्र ११—१६ ऋग्वेद में हैं—१० । १६२ । १—६ ॥

इन मन्त्रों से मिलाओ—अ० का० ८ । सू० ६ ॥

यस्ते गर्भममीवा दुर्णामा योनिमाशये ।
अग्निष्टं ब्रह्मणा सह निष्क्रव्यादमनीनशत् ॥ १२ ॥

यः । ते । गर्भम् । अमीवा । दुः-नामा । योनिम् । आ-शये ॥
अग्निः । तम् । ब्रह्मणा । सह । निः । क्रव्य-अदम् ।
अनीनशत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे गर्भिणी !] (यः) जो कोई (दुर्णामा) दुर्नामा [दुष्ट नाम वाला बवासीर आदि रोग का कीड़ा] (अमीवा) पीड़ा होकर (ते) तेरे (गर्भम्) गर्भाशय [कोख] और (योनिम्) योनि [गुप्त उत्पत्ति मार्ग] को (आशये) घेर लेता है, (ब्रह्मणा सह) विद्वान् वैद्य के साथ (अग्निः) अग्नि [अग्नि समान रोग भस्म करने वाला औषध] (तम्) उस (क्रव्यादम्) मांस खाने वाले [रोग] को (निः) सर्वथा (अनीनशत्) नाश करे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मन्त्र ११ के समान है ॥ १२ ॥

यस्ते हन्ति पतयन्तं निषत्स्नुं यः सरीसृपम् ।
जातं यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १३ ॥

यः । ते । हन्ति । पतयन्तम् । नि-सत्स्नुम् । यः । सरीसृपम् ॥
जातम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे गर्भिणी !] (यः) जो कोई [रोग] (ते) तेरे [गर्भा-

१२—(यः ते गर्भम्···) इत्यादयो गताः सुगमाश्च (निः) निःशेषेण (क्रव्यादम्) मांसभक्षक रोगम् (अनीनशत्) नाशयतु ॥

१३—(यः) रोगः (ते) तव गर्भाशये (हन्ति) नाशयति (पतयन्तम्)

शय में] (पतयन्तम्) गिरते हुये [वीर्य रूप गर्भ] को और (निषत्स्नुम्) जमते हुये [अंकुये अर्थात् बालक] को और (यः) जो कोई [रोग] (सरीसृपम्) डोलते हुये गर्भ को (हन्ति) नाश करे, और (यः) जो कोई [रोग] (ते) तेरे (जातम्) उत्पन्न हुये बच्चे को (जिघांसति) मारना चाहे, (तम्) उस [रोग] को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १३ ॥

भावार्थ—उत्तम वैद्यों द्वारा रोगों का नाश करके गर्भ और उत्पन्न हुये बच्चे की रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

यस्त ऊरू विहरत्यन्तरा दम्पती शये ।
योनिं यो अन्तरारेल्हि तमितो नाशयामसि ॥ १४ ॥

यः । ते । ऊरू इति । वि-हरति । अन्तरा । दम्पती इति दम्-पती । शये ॥ योनिम् । यः । अन्तः । आ-रेल्हि । तम् । इतः । नाशयामसि ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो कोई [रोग] (ते) तेरी (ऊरू) दोनों जंघाओं को (विहरति) फैला दे और (दम्पती अन्तरा) पति पत्नी के बीच में (शये) पड़ जावे और (यः) जो कोई [रोग] (योनिम्) योनि को (अन्तः) भीतर से (आरेल्हि) चाट लेवे, (तम्) उस [रोग] को (इतः) यहां से (नाश-

---

पतन्तं वीर्यरूपगर्भम् (निषत्स्नुम्) ग्लाजिस्थश्च क्स्नु । पा० ३ । २ । १३९। नि + षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु—क्स्नु गस्नु वा । निषीदन्तं गर्भम् (यः) रोगः (सरीसृपम्) अ० ३ । १० । ६ । सृपेर्यङ्लुगन्तात् पचाद्यच् । सर्पणशीलं गर्भम् (जातम्) दशसु मासेषूत्पन्नं गर्भम् (यः) रोगः (ते) तव (जिघांसति) हन्तुमिच्छति (तम्) रोगम् (इतः) अस्मात् स्थानात् (नाशयामसि) नाशयामः ॥

१४—(यः) रोगः (ते) तव (ऊरू) जंघे । पादमूलौ (विहरति) विक्षिप्ते करोति (दम्पती अन्तरा) जायापत्योर्मध्ये (शये) शेते । वर्तते (योनिम्) गर्भाशयम् (यः) रोगः (अन्तः) मध्ये (आरेल्हि) लिह आस्वादने, आदादिकः, कपिलकादित्वात् लत्वविकल्पः । आस्वादयति । शोषयति

यामसि) हम नाश करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—जिस रोग से स्त्री की जांघें फैल जावें, और जिस रोग से सन्तान उत्पन्न करने में स्त्री पुरुषों को विघ्न होवे और योनि आदि में सुत्रा का रोग लग जावे, उस सब का औषध करना चाहिये ॥ १४ ॥

यस्त्वा भ्राता पतिर्भूत्वा जारो भूत्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १५ ॥

यः । त्वा । भ्राता । पतिः । भूत्वा । जारः । भूत्वा । नि-पद्यते ॥ प्र-जाम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि ॥ १५ ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो कोई (जारः) व्यभिचारी (भ्राता) भाई (भूत्वा) होकर [अथवा] (पतिः) पति (भूत्वा) होकर (त्वा) तेरे पास (निपद्यते) आ जावे, [अथवा] (यः) जो कोई [दुष्ट] (ते) तेरे (प्रजाम्) सन्तान को (जिघांसति) मारना चाहे, (तम्) उस को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १५ ॥

भावार्थ—जो कोई दुराचारी जन भाई वा पति के समान बन कर घर में आकर उपद्रव करे, उसका नाश करना चाहिये ॥ १५ ॥

यस्त्वा स्वप्नेन तमसा मोहयित्वा निपद्यते ।
प्रजां यस्ते जिघांसति तमितो नाशयामसि ॥ १६ ॥

यः । त्वा । स्वप्नेन । तमसा । मोहयित्वा । नि-पद्यते ॥ प्र-जाम् । यः । ते । जिघांसति । तम् । इतः । नाशयामसि ॥ १६

निषक्तं रेतः । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१५—(यः) दुराचारी (त्वा) त्वाम् (भ्राता) भ्रातृरूपः (पतिः) भर्तृरूपः (भूत्वा) (जारः) व्यभिचारी (भूत्वा) (निपद्यते) अभिगच्छति (प्रजाम्) सन्तानम् (यः) दुराचारी (ते) तव (जिघांसति) हन्तुमिच्छति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (यः) जो कोई [दुष्ट] (स्वप्नेन) नींद से [अथवा] (तमसा) अंधेरे से (मोहयित्वा) घबड़ा देकर (त्वा) तेरे पास (निपद्यते) आजावे, और (यः) जो कोई (ते) तेरे (प्रजाम्) सन्तान को (जिघांसति) मारना चाहे, (तम्) उस [दुष्ट] को (इतः) यहां से (नाशयामसि) हम नाश करें ॥ १६ ॥

भावार्थ—जो कोई दुष्ट जन नींद की औषधि से अथवा अंधेरा करके कुछ हानि करे, उसका नाश करना चाहिये ॥ १६ ॥

मन्त्राः १७—२३ ॥ आत्मा देवता ॥ १७, २० अनुष्टुप्, १८ निचृदनुष्टुप्; १९ विराडनुष्टुप्; २१ निचृदुपरिष्टाद् बृहती; २२ भुरिगनुष्टुप्; २३ पङ्क्तिः ॥

शारीरिकविषये शरीररक्षोपदेशः—शारीरिक विषय में शरीर रक्षा का उपदेश ॥

अक्षीभ्यां ते नासिकाभ्यां कर्णाभ्यां छुबुकादधि । यक्ष्मं शीर्षण्यं मस्तिष्काज्जिह्वाया वि वृहामि ते ॥ १७ ॥

अक्षीभ्याम् । ते । नासिकाभ्याम् । कर्णाभ्याम् । छुबुकात् । अधि ॥ यक्ष्मम् । शीर्षण्यम् । मस्तिष्कात् । जिह्वायाः । वि । वृहामि । ते ॥ १७ ॥

भाषार्थ—[हे प्राणी !] (ते) तेरी (अक्षीभ्याम्) दोनों आंखों से, (नासिकाभ्याम्) दोनों नथनों से, (कर्णाभ्याम्) दोनों कानों से, (छुबुकात् अधि=चुबुकात् अधि) ठोड़ी में से, (ते) तेरे (मस्तिष्कात्) भेजे से, और (जिह्वायाः) जिह्वा से (शीर्षण्यम्) शिर में के (यक्ष्मम्) क्षयी [क्षयी रोग] को (वि-वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १७ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में शिर के अवयवों का वर्णन है। जैसे सद्वैद्य उत्तम औषधों से रोगों की निवृत्ति करता है, ऐसे ही मनुष्य अपने आत्मिक

१६—(यः) दुष्टः (त्वा) त्वाम् (स्वप्नेन) निद्रौषधेन (तमसा) अन्धकारेण (मोहयित्वा) मूढां कृत्वा (निपद्यते) अभिगच्छति । अन्यत् पूर्ववत् ॥

१७—२३ व्याख्याताः—अ० २ । ३३ । १—७ ॥

और शारीरिक दोषों को विचार पूर्वक नाश करे ॥

मन्त्र १७—२३ आ चुके हैं—अ० २ । ३३ । १—७ ॥

ग्रीवाभ्यस्त उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्यात् ।
यक्ष्मं दोषण्यं१ मंसाभ्यां बाहुभ्यां वि वृहामि ते ॥ १८ ॥

ग्रीवाभ्यः । ते । उष्णिहाभ्यः । कीकसाभ्यः । अनूक्यात् ॥
यक्ष्मम् । दोषण्यम् । अंसाभ्याम् । बाहु-भ्याम् । वि । वृहामि ।
ते ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (ग्रीवाभ्यः) गले की नाड़ियों से, (उष्णिहाभ्यः) गुद्दी की नाड़ियों से, (कीकसाभ्यः) हंसली की हड्डियों से, (अनूक्यात्) रीढ़ से और (ते) तेरे (अंसाभ्याम्) दोनों कंधों से, और (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से, (दोषण्यम्) मुड्ढे वा बक्खे से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ १८ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में ग्रीवा के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ १८ ॥

हृदयात् ते परि क्लोम्नो हलीक्ष्णात् पार्श्वाभ्याम् ।
यक्ष्मं मतस्नाभ्यां प्लीह्नो यक्नस्ते वि वृहामसि ॥ १९ ॥

हृदयात् । ते । परि । क्लोम्नः । हलीक्ष्णात् । पार्श्वाभ्याम् ॥
यक्ष्मम् । मतस्नाभ्याम् । प्लीह्नः । यक्नः । ते । वि ।
वृहामसि ॥ १९ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (हृदयात्) हृदय से, (क्लोम्नः) फेफड़े से, (हलीक्ष्णात्) पित्ते से, (पार्श्वाभ्यां परि) दोनों कांखों [कक्षाओं] से और (ते) तेरे (मतस्नाभ्याम्) दोनों मतस्नों [गुर्दों] से, (प्लीह्नः) प्लीहा वा पिलही [तिल्ली] से, (यक्नः) यकृत् [काल खण्ड वा कलेजा] से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामसि) हम उखाड़े देते हैं ॥ १९ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कन्धों के नीचे के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ १९ ॥

आन्त्रेभ्यस्ते गुदाभ्यो वनिष्ठोरुदरादधि ।
यक्ष्मं कुक्षिभ्यां प्लाशेर्नाभ्या वि वृहामि ते ॥ २० ॥

आन्त्रेभ्यः । ते । गुदाभ्यः । वनिष्ठोः । उदरात् । अधि ॥
यक्ष्मम् । कुक्षि-भ्याम् । प्लाशेः । नाभ्याः । वि । वृहामि । ते २० ॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (आन्त्रेभ्यः) आंतों से, (गुदाभ्यः) गुदा की नाड़ियों से, (वनिष्ठोः) वनिष्ठु [भीतरी मल स्थान] से, (उदरात् अधि) उदर में से, और (ते) तेरी (कुक्षिभ्याम्) दोनों कोखों से, (प्लाशेः) प्लाशि [कोख में की थैली] से, और (नाभ्याः) नाभि में से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं उखाड़े देता हूं ॥ २० ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उदर के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ २० ॥

ऊरुभ्यां ते अष्ठीवद्भ्यां पार्ष्णिभ्यां प्रपदाभ्याम् । यक्ष्मं भसद्यं१ श्रोणिभ्यां भासदं भंससो वि वृहामि ते ॥ २१ ॥

ऊरु-भ्याम् । ते । अष्ठीवत्-भ्याम् । पार्ष्णि-भ्याम् । प्र-पदाभ्याम् ॥ यक्ष्मम् । भसद्यम् । श्रोणि-भ्याम् । भासदम् । भंससः । वि । वृहामि । ते ॥ २१ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरी (ऊरुभ्याम्) दोनों जंघाओं से, (अष्ठीवद्भ्याम्) दोनों घुटनों से (पार्ष्णिभ्याम्) दोनों एड़ियों से, (प्रपदाभ्याम्) दोनो पैरों के पंजों से और (ते) तेरे (श्रोणिभ्याम्) दोनों कुल्हों से [वा नितम्बों से] और (भंससः) गुह्य स्थान से (भसद्यम्) कटि [कमर] के और (भासदम्) गुह्य के (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥२१॥

भावार्थ—इस मन्त्र में कटि के नीचे के अवयवों का वर्णन है । भावार्थ मन्त्र १७ के समान है ॥ २१ ॥

अस्थिभ्यस्ते मज्जभ्यः स्नावभ्यो धमनिभ्यः । यक्ष्मं पाणिभ्याम् अङ्गुलिभ्यो नखेभ्यो वि वृहामि ते ॥ २२ ॥

अस्थि-भ्यः । ते । मज्ज-भ्यः । स्नाव-भ्यः । धमनि-भ्यः ॥ यक्ष्मम् । पाणि-भ्याम् । अङ्गुलि-भ्यः । नखेभ्यः । वि । वृहामि । ते ॥ २२ ॥

भाषार्थ—(ते) तेरे (अस्थिभ्यः) हड्डियों से, (मज्जभ्यः) मज्जा धातु [हड्डी के भीतर के रस] से, (स्नावभ्यः) सूक्ष्म नाड़ियों [वा पुट्ठों] से, और (धमनिभ्यः) स्थूल नाड़ियों से, और (ते) तेरे (पाणिभ्याम्) दोनों हाथों से, (अङ्गुलिभ्यः) अङ्गुलियों से और (नखेभ्यः) नखों से (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (वि वृहामि) मैं जड़ से उखाड़ता हूं ॥ २२ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने शरीर के भीतरी धातुओं, नाड़ियों और हाथ आदि बाहिरी अङ्गों को यथा योग्य आहार विहार से पुष्ट और स्वस्थ रक्खें, जिस से आत्मिक शक्ति सदा बढ़ती रहे ॥ २२ ॥

अङ्गेअङ्गे लोम्निलोम्नि यस्ते पर्वणिपर्वणि । यक्ष्मं त्वचस्यं ते वयं कश्यपस्य वीबर्हेण विष्वञ्चं वि वृहामसि ॥ २३ ॥

अङ्गे-अङ्गे । लोम्नि-लोम्नि । ते । पर्वणि-पर्वणि ॥ यक्ष्मम् । त्वचस्यम् । ते । वयम् । कश्यपस्य । वि-बर्हेण । विष्वञ्चम् । वि । वृहामसि ॥ २३ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [क्षयी रोग] (ते) तेरे (अङ्गेअङ्गे) अङ्ग अङ्ग में, (लोम्निलोम्नि) रोम रोम में और (पर्वणिपर्वणि) गांठ गांठ में है। (वयम्) हम (ते) तेरे (त्वचस्यम्) त्वचा के और (विष्वञ्चम्) सब अवयवों में व्यापक (यक्ष्मम्) क्षयी रोग को (कश्यपस्य) ज्ञानदृष्टि वाले विद्वान् के (विबर्हेण) विविध उद्यम से (वि वृहामसि) जड़ से उखाड़ते हैं ॥ २३ ॥

भावार्थ—इस मन्त्र में उपसंहार वा समाप्ति है अर्थात् प्रसिद्ध अवयवों का वर्णन करके अन्य सब अवयवों का कथन है। जिस प्रकार सद्वैद्य निदान पूर्वक रोगी के जोड़ जोड़ में से रोग को नाश करता है, वैसे ही ज्ञानी

पुरुष निदिध्यासन पूर्वक आत्मिक दोषों को मिटाकर प्रसन्नचित्त होता है॥२३॥

अपेहि मनसस्पतेऽप क्राम परश्चर। परो निर्ऋत्या आ चक्ष्व बहुधा जीवतो मनः॥२४॥

अप। इहि। मनसः। पते। अप। क्राम। परः। चर॥ परः। निःऋत्यै। आ। चक्ष्व। बहुधा। जीवतः। मनः॥२४॥

मन्त्र २४॥ दुःस्वप्नघ्नं देवता॥ निचृदनुष्टुप् छन्दः॥

स्वास्थ्यरक्षोपदेशः—स्वास्थ्य की रक्षा का उपदेश॥

भाषार्थ—(मनसः पते) हे मन के गिराने वाले! [दुष्ट स्वप्न आदि रोग] (अप इहि) निकल जा, (अप क्राम) पैर उठा, (परः) परे (चर) चला जा। (निर्ऋत्यै) अलक्ष्मी [महामारी, दरिद्रता आदि] को (परः) दूर [जाने के लिये] (आ चक्ष्व) कह दे, (जीवतः) जीवित मनुष्य का (मनः) मन (बहुधा) बहुत प्रकार से [बहुत विषयों में उत्सुक] होता है॥२४॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि उत्तम विचारों के साथ स्वास्थ्य की रक्षा करें और निरालसी होकर शुभ कर्मों को सोचते हुये ऐश्वर्यवान् होवें॥२४॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१०।१६४।१॥

इत्यष्टमोऽनुवाकः॥

२४—(अप इहि) अप गच्छ। निर्गच्छ (मनसः) चित्तस्य (पते) सर्वधातुभ्य इन्। उ० ४।११८। पत्लृ पतने—इन्। अधोगमयितः (अपक्राम) पादौ विक्षिप (परः) परस्तात्। दूरे (चर) गच्छ (परः) परस्तात् (निर्ऋत्यै) अ० २।१०।१। कृच्छ्रापत्तये (आ) आभिमुख्येन (चक्ष्व) ब्रूहि (बहुधा) बहुप्रकारेण। बहुषु विषयेषु-युक्तम् (जीवतः) जीवितस्य (मनः) चित्तम्॥

अथ नवमोऽनुवाकः ॥

सूक्तम् ८७ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी बृहती; २ निचृद् विराट्पङ्क्तिः; ३ आर्ष्यनुष्टुप् ॥

वीरलक्षणोपदेशः—वीर के लक्षणों का उपदेश ॥

व॒यमे॑नमि॒दा ह्योऽपी॑पेमे॒ह व॒ज्रिण॑म् । तस्मा॑ उ अ॒द्य स॑म॒ना सु॒तं भ॒रा नू॒नं भू॑षत श्रु॒ते ॥ १ ॥

व॒यम् । ए॒न॒म् । इ॒दा । ह्यः । अपी॑पेम । इ॒ह । व॒ज्रिण॑म् ॥ तस्मै॑ । ऊं॒ इति॑ । अ॒द्य । स॒म॒ना । सु॒तम् । भ॒र॒ । आ । नू॒नम् । भू॒ष॒त॒ । श्रु॒ते ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वयम्) हम ने (इदा) परम ऐश्वर्य के साथ [वर्तमान] (एनम्) इस (वज्रिणम्) वज्रधारी [वीर] को (ह्यः) कल्य (इह) यहां पर [तत्त्व रस] (अपीपेम) पान कराया है । [हे विद्वान्] (तस्मै) उस (समना) पूर्ण बल वाले [शूर] के लिये (उ) ही (अद्य) आज (सुतम्) सिद्ध किये हुये [तत्त्व रस] को (भर) भरदे, और (नूनम्) निश्चय करके (श्रुते) सुनने योग्य शास्त्र के बीच (आ) सब ओर से (भूषत) तुम शोभा बढ़ाओ ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस पराक्रमी वीर को सदा तत्त्व ज्ञान का उपदेश होता है, वहां प्रत्येक मनुष्य अलग अलग और सब मनुष्य मिलकर विज्ञान की उन्नति करते हैं ॥ १ ॥

१—(वयम्) (एनम्) (इदा) इदि परमैश्वर्ये-क्विप्, नलोपः । परमैश्वर्येण सह वर्तमानम् (ह्यः) गतदिने (अपीपेम) पीङ् पाने जुहोत्यादौ लङ्, परस्मैपदं छान्दसम् । पानं कारितवन्तः (इह) अत्र (वज्रिणम्) (तस्मै) (उ) निश्चयेन (अद्य) अस्मिन् दिने (समना) अन प्राणने—अच्, विभक्तेर्डा । समनाय । पूर्णबलवते (सुतम्) संस्कृतं तत्त्वरसम् (भर) धर (आ) समन्तात् (नूनम्) अवश्यम (भूषत) अलं कुरुत (श्रुते) श्रवणीये शास्त्रे ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८। ६६ [सायणभाष्य ५५] । ७-९ मन्त्र १,२ सामवेद—उ० ८ । २ । १३; मन्त्र १—साम०—पू० ३ । ८ । १० ॥

वृकश्चिदस्य वारण उरामथिरा वयुनेषु भूषति । सेमं नः स्तोमं जुजुषाण आ गहीन्द्र प्र चित्रया धिया ॥ २ ॥

वृकः । चित् । अस्य । वारणः । उरा-मथिः । आ । वयुनेषु । भूषति ॥ सः । इमम् । नः । स्तोमम् । जुजुषाणः । आ । गहि । इन्द्र । प्र । चित्रया । धिया ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वारणः) रोकने वाला (उरामथिः) भेड़ों का मथने वाला (वृकः) भेड़िया (चित्) भी (अस्य) इस [वीर] के (वयुनेषु) कर्मों में (आ) अनुकूल (भूषति) हो जाता है । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर] (सः) सो तू (नः) हमारे (इमम्) इस (स्तोमम्) स्तोत्र को (जुजुषाणः) स्वीकार करता हुआ (चित्रया) विचित्र (धिया) बुद्धि वा कर्म के साथ (प्र) भले प्रकार (आ गहि) आ ॥ २ ॥

भावार्थ—शूर प्रतापी राजा भेड़िये की प्रकृति वाले दुष्टों को विचित्र नीति से वश में करके प्रजा को सुखी करे ॥ २ ॥

इस मन्त्र के अर्थ के लिये देखो—निरु० ५ । २१ ॥

कदु न्व१स्याकृतमिन्द्रस्यास्ति पौंस्यम् । केनो नु कं श्रोमतेन न शुश्रुवे जनुषः परि वृत्रहा ॥ ३ ॥

२—(वृकः) वृक आदाने—क । श्वापि वृक उच्यते विकर्तनात्—निरु० ५ । २१ । व्याघ्रभेदः (चित्) अपि (वारणः) वारयिता (उरामथिः) उरामथिः । उरणमथिः । उरण ऊर्णावान् भवत्यूर्णा पुनर्वृणोतेरूर्णोतेर्वा—निरु० ५ । २१ । मेषाणां मथिता नाशयिता (आ) समन्तात् । आनुकूल्येन (वयुनेषु) कर्मसु (भूषति) भवति (सः) स त्वम् (इमम्) (नः) अस्माकम् (स्तोमम्) स्तोत्रम् (जुजुषाणः) सेवमानः । स्वीकुर्वाणः (आ गहि) आगच्छ (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् वीर (प्र) प्रकर्षेण (चित्रया) अद्भुतया (धिया) बुद्ध्या ॥

कत् । ऊं॒ इति॑ । नु । अ॒स्य॒ । अकृ॑तम् । इन्द्र॑स्य । अ॒स्ति॒ । पौंस्य॑म् ॥ केनो॒ इति॑ । नु । कम् । श्रोम॑तेन । न । शु॒श्रु॒वे॒ । ज॒नुषः॑ । परि॑ । वृ॒त्र॒-हा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले वीर] का (नु) अब (कत् उ) कौन सा (पौंस्यम्) पौरुष (अकृतम्) बिना किया हुआ (अस्ति) है ? (केनो) किस (श्रोमतेन) श्रुति [वेद] मानने वाले करके (नु) अब (जनुषः परि) जन्म से लेकर (वृत्रहा) शत्रुनाशक [वीर-पुरुष] (कम्) सुख से (न) नहीं (शुश्रुवे) सुना गया है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य विश्वकर्मा होकर अपना सब धार्मिक कर्तव्य कर लेता है, तब वह वीर समस्त संसार मे बड़ाई पाता है ॥ ३ ॥

सूक्तम् ८८ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदनुष्टुप् ; २ स्वराडार्षी बृहती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

त्वामिद्धि हवा॑महे सा॒ता वाज॑स्य का॒रवः॑ ।
त्वां वृ॒त्रेष्वि॑न्द्र॒ सत्प॑तिं॒ नर॒स्त्वां काष्ठा॒स्वर्व॑तः ॥ १ ॥

त्वाम् । इत् । हि । हवा॑महे । सा॒ता । वाज॑स्य । का॒रवः॑ ॥ त्वाम् । वृ॒त्रेषु॑ । इ॒न्द्र॒ । सत्-प॑तिम् । नरः॑ । त्वाम् । काष्ठा॑सु । अर्व॑तः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (कारवः)

३—(कत्) किम् (उ) एव (नु) इदानीम् (अस्य) (अकृतम्) अनाचारितम् (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतो वीरस्य (अस्ति (पौंस्यम्) पौरुषम् (केनो) केनापि (नु) इदानीम् (कम्) सुखेन (श्रोमतेन) गमेर्डोः । उ० २ । ६७ । श्रु श्रवणे—डोप्रत्ययः + मन ज्ञाने पूजायां च—क्त । श्रोः श्रवणीयो वेदो मतः संमानितो येन तेन (न) निषेधे (शुश्रुवे) श्रु श्रवणे—कर्मणि लिट् । श्रूयते स्म (जनुषः) जन्मनः सकाशात् (परि) (वृत्रहा) शत्रुनाशकः ॥

१—(त्वाम्) (इत्) एव (हि) (हवामहे) आह्वयामः (साता) सातौ ।

काम करने वाले, (नरः) नेता लोग हम (त्वाम्) तुझ को (इव हि) ही (वाजस्य) विज्ञान के (सातौ) लाभ में, (सत्पतिम्) सत्पुरुषों के पालने वाले (त्वाम्) तुझ को (वृत्रेषु) धनों में, और (त्वाम्) तुझ को (काष्ठासु) बड़ाइयों के बीच (अर्वतः) घोड़ों को जैसे (हवामहे) पुकारते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—कार्यकर्ता लोग राजा के सहाय से विद्या, धन और विजय की प्राप्ति करें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—६ । ४६ । १,२; यजुर्वेद—२७ । ३७, ३८; सामवेद उ० २ । १ । १२ और मन्त्र १ साम०—पू० ३ । ५ । २ ॥

स त्वं न॑श्चित्र वज्रहस्त धृष्णुया म॒ह स्त॑वा॒नो अ॑द्रिवः ।
गामश्वं॑ र॒थ्य॑मिन्द्र॒ सं कि॑र स॒त्रा वाजं॒ न जि॒ग्युषे॑ ॥ २ ॥

सः । त्वम् । नः॒ । चि॒त्र॒ । व॒ज्र॒-ह॒स्त॒ । धृ॒ष्णु॒-या । म॒हः । स्त॒वा॒नः । अ॒द्रि॒-वः॒ ॥ गाम् । अश्व॑म् । र॒थ्य॑म् । इ॒न्द्र॒ । सम् । कि॒र॒ । स॒त्रा । वाज॑म् । न । जि॒ग्युषे॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(चित्र) हे अद्भुत स्वभाव वाले ! (वज्रहस्त) हे हाथ में वज्र रखने वाले ! (अद्रिवः) हे मेघ वाले ! (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (सः) सो (धृष्णुया) निर्भय (महः) बड़े लोगों की (स्तवानः) स्तुति करता हुआ (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (रथ्यम्) रथ के योग्य (गाम्) बैल

विभागे । लाभे (वाजस्य) विज्ञानस्य (कारवः) कर्तारः (त्वाम्) (वृत्रेषु) धनेषु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (सत्पतिम्) सत्पुरुषाणां पालकम् (नरः) नेतारः (त्वाम्) (काष्ठासु) हनिकुषिनीरमिकाशिभ्यः क्थन् । उ० २ । २ । काशृ दीप्तौ—क्थन् । काष्ठोत्कर्षे स्थितौ दिशि—अमरः २३ । ४१ । उत्कर्षेषु (अर्वतः) अश्वानिव ॥

२—(सः) (त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (चित्र) अद्भुतस्वभाव (वज्रहस्त) शस्त्रपाणे (धृष्णुया) विभक्तेर्या—पा० ७ । १ । ३९ । धृष्णुः । प्रगल्भः (महः) महतः पुरुषान् (स्तवानः) प्रशंसन् (अद्रिवः) हे मेघवन् (गाम्) वृषभम् (अश्वम्) तुरङ्गम्) (रथ्यम्) रथस्य वोढारम् (इन्द्र)

और (अश्वम्) घोड़ों को (सं किर) संग्रह कर, (न) जैसे (सत्रा) सत्य के साथ (जिग्युषे) जीतने वाले वीर को (वाजम्) अन्नआदि पदार्थ [देते हैं] ॥२॥

भावार्थ—जैसे विजयी योद्धा लोग अन्न पान आदि पदार्थों से प्रतिष्ठा पाते हैं, वैसे ही अन्य विद्वान् लोग अपनी चतुराई के कारण योग्य प्रतिष्ठा और धन प्राप्त करें ॥ २ ॥

सूक्तम् ९९ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृत् पथ्या बृहती; २ स्वराडार्षी बृहती ॥
परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्वा पूर्वपीतय इन्द्र स्तोमेभिरायवः । समीचीनास ऋभवः समस्वरन् रुद्रा गृणन्त पूर्व्यम् ॥ १ ॥

अभि । त्वा । पूर्व-पीतये । इन्द्र । स्तोमेभिः । आयवः ॥ सम्-ईचीनासः । ऋभवः । सम् । अस्वरन् । रुद्राः । गृणन्त । पूर्व्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (पूर्वपीतये) पहिले [मुख्य] भोग के लिये, (समीचीनासः) साधु, (ऋभवः) बुद्धिमान्, (रुद्राः) स्तुति करने वाले (आयवः) मनुष्यों ने (स्तोमेभिः) स्तोत्रों से (पूर्व्यम्) प्राचीन-(त्वाम्) तुझ को (सम्) मिलकर (अभि) सब प्रकार (अस्वरन्) आलापा है और (गृणन्त) गाया है ॥ १ ॥

भावार्थ—सब बुद्धिमान् लोग परमेश्वर के गुणों को जानकर अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

महाप्रतापिन् राजन् (सं किर) संगृहाण (सत्रा) सत्येन (वाजम्) अन्नादिकम् (न) यथा (जिग्युषे) जयतेः—क्वसु । जयशीलस्य ॥

१—(अभि) अभितः (त्वा) त्वाम् (पूर्वपीतये) प्रथमपानाय । मुख्यभोगाय (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (स्तोमेभिः) स्तोत्रैः (आयवः) मनुष्याः—निघ० २ । ३ (समीचीनासः) सगताः । साधवः (ऋभवः) मेधाविनः (सम्) संगत्य (अस्वरन्) स्वृ शब्दोपतापयोः । अस्तुवन् (रुद्राः) स्तोतारः—निघ० ३ । १६ (गृणन्त) स्तुतवन्तः (पूर्व्यम्) प्राचीनम् ॥

दोनों मन्त्र ऋग्वेद में हैं—८ । ३ । ७, ८; सामवेद—उ० ७ । ३ । १। मन्त्र १ साम० पू० ३ । ७ । ३ ॥

अ॒स्येदिन्द्रो॑ वावृधे॒ वृष्ण्यं॒ शवो॒ मदे॑ सु॒तस्य॒ विष्ण॑वि ।
अ॒द्या तम॑स्य महि॒मान॑मा॒यवोऽनु॑ ष्टुवन्ति पू॒र्वथा॑ ॥ २ ॥

अ॒स्य । इत् । इन्द्रः॑ । व॒वृ॒धे॒ । वृष्ण्य॑म् । शवः॑ । मदे॑ । सु॒तस्य॑ । विष्ण॑वि ॥ अ॒द्य । तम् । अ॒स्य॒ । म॒हि॒मान॑म् । आ॒यवः॑ । अनु॑ । स्तु॒व॒न्ति॒ । पू॒र्व-था॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (इत्) ही (सुतस्य) उत्पन्न हुये (अस्य) इस [जीव] के (वृष्ण्यम्) पराक्रम और (शवः) बल को (विष्णवि) व्यापक (मदे) आनन्द में (ववृधे) बढ़ाया है, (अस्य) इस [परमात्मा] की (तम्) उस (महिमानम्) बड़ाई को (आयवः) मनुष्य (अद्य) अब (पूर्वथा) पहिले के समान (अनु स्तुवन्ति) सराहते रहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—अनादि निर्विकार परमात्मा इस प्राणी के आनन्द के लिये सदा सहाय करता है, उसी की उपासना सब मनुष्य सदा करते हैं ॥ २ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में भी है—३३ । ९७ ॥

सूक्तम् १०० ॥

१—३ । इन्द्रो देवता ॥ १ १ विराडार्ष्युष्णिक्; २ विराडुष्णिक्; ३ निचृदुष्णिक् ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

अधा॒ हीन्द्र गिर्वण॒ उप॑ त्वा॒ कामा॑न् म॒हः स॑सृ॒ज्महे॑ ।
उ॒देव॒ यन्त॑ उ॒दभिः॑ ॥ १ ॥

२—(अस्य) जीवस्य (इत) एव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (ववृधे) वर्धितवान् (वृष्ण्यम्) वृषत्वम् । पराक्रमम् (शवः) बलम् (मदे) आनन्दे (सुतस्य) उत्पन्नस्य (विष्णवि) विष्णौ । व्यापके (अद्य) (तम्) (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमानम्) महत्त्वम् (आयवः) मनुष्याः (अनु) निरन्तरम् (स्तुवन्ति) प्रशंसन्ति (पूर्वथा) यथापूर्वम् ॥

अध । हि । इन्द्र । गिर्वणः । उप । त्वा । कामान् । महः । ससृज्महे ॥ उदा-इव । यन्तः । उद-भिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(गिर्वणः) हे स्तुतियों से सेवनीय (इन्द्र) इन्द्र ! [महा प्रतापी राजन्] (अध हि) अब ही (त्वा) तुझे (महः) अपनी बड़ी (कामान्) कामनाओं को, (उदा) जल [जल की बाढ] के पीछे (उदभिः) दूसरी जलों की बाढ़ों के साथ (यन्तः इव) चलते हुये पुरुषों के समान हमने (उप) आदर से (ससृज्महे) समर्पण किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नदी की बाढ़ अति वेग से लगातार चली आती हो और ग्रामों और प्राणी आदि को बहाये ले जाती हो, उसे देख लोग घबड़ाकर भागते हैं, वैसे ही प्रजागण दुष्टों से बचने के लिये राजा की शरण शीघ्र लेवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६८ [सायणभाष्य ८७] । ७—६, सामवेद—उ० १ । १ । तृच २३ और मन्त्र १ साम० पू० ५ । २ । ८ ॥

वार्ण त्वा युव्याभिर्वर्धन्ति शूर ब्रह्माणि । वावृध्वांसं चिद्-द्रिवो दिवेदिवे ॥ २ ॥

वाः । न । त्वा । युव्याभिः । वर्धन्ति । शूर । ब्रह्माणि ॥ ववृध्वांसम् । चित् । अद्रि-वः ॥ दिवे-दिवे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अद्रिवः) हे वज्रधारी (शूर) शूर ! [राजन्] (दिवे-दिवे) दिन दिन (ववृध्वांसम्) बढते हुये (चित्) भी (त्वा) तुझको

१—(अध) सम्प्रति (हि) (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (गिर्वणः) स्तुतिभिः सेवनीय (उप) पूजायाम् (त्वा) त्वाम् (कामान्) कमनीयान् मनोरथान् (महः) महतः । विशालान् (ससृज्महे) वयं समर्पितवन्तः (उदा) उदकेन । जलप्रवाहेण (इव) यथा (यन्तः) गच्छन्तः पुरुषाः (उदभिः) उदकैः । अन्यजलप्रवाहैः ॥

२—(वाः) जलम् (न) यथा (त्वा) त्वाम् (युव्याभिः) सर्वयव-मापतिलवृपब्रह्मणश्च । पा० ५ । १ । ७ । यव—यत् ॥ यवेभ्यो हिता भिर्जल-मालीभिः । नदीभिः । युव्याः, नदीनाम—निघ० १ । १३ (वर्धन्ति) वर्धयन्ति ।

(ब्रह्माणि) वेदज्ञान (वर्धन्ति) बढ़ाते हैं, (न) जैसे (वाः) जल को (यव्याभिः) जौ आदि अन्न की हित करने वाला नालियों से [बढ़ाते हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा वेदानुकूल चल कर अपनी और प्रजा की वृद्धि करे जैसे जल को नल से ऊंचा लेजाकर अन्न आदि बढ़ाते हैं ॥ २ ॥

युञ्जन्ति हरी इषिरस्य गाथयोरौ रथ उरुयुगे । इन्द्रवाहा वचोयुजा ॥ ३ ॥

युञ्जन्ति । हरी इति । इषिरस्य । गाथया । उरौ । रथे । उरु-युगे ॥ इन्द्र-वाहा । वचः-युजा ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(गाथया) प्रशंसा के साथ (इषिरस्य) शीघ्र गामी [राजा] के (उरुयुगे) बड़े जुये वाले, (उरौ) बड़े (रथे) रथ में (इन्द्रवाहा) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को ले चलने वाले, (वचोयुजा) वचन से जुतने वाले (हरी) दो घोड़ों को (युञ्जन्ति) वे [सारथी आदि] जोतते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा धर्म की रक्षा के लिये सुशिक्षित शीघ्रगामी घोड़ों के रथ से चलकर प्रशंसा पावे ॥ ३ ॥

सूक्तम् १०१ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री ॥

भौतिकाग्निगुणोपदेशः—भौतिक अग्नि के गुणों का उपदेश ॥

अग्निं दूतं वृणीमहे होतारं विश्ववेदसम् । अस्य यज्ञस्य सुक्रतुम् ॥ १ ॥

अग्निम् । दूतम् । वृणीमहे । होतारम् । विश्व-वेदसम् ॥

उन्नयन्ति (शूर) (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (वव्रुध्वांसम्) वर्धतेः कसु । वर्धमानम् (चित्) अपि (अद्रिवः) वज्रिन् (दिवेदिवे) दिने दिने ॥

३—(युञ्जन्ति) योजयन्ति (हरी) अश्वौ (इषिरस्य) शीघ्रगामिनो राज्ञः (गाथया) गायनीयया प्रशंसया (उरौ) महति (रथे) याने (उरुयुगे) महायुगयुक्ते (इन्द्रवाहा) इन्द्रस्य वोढारौ (वचोयुजा) वचनेन युज्यमानौ । सुशिक्षितौ ॥

अस्य । यज्ञस्य॑ । सुक्रतुम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(दूतम्) पदार्थों के पहुंचाने वाले वा तपाने वाले, (होतारम्) वेग आदि देने वाले, (विश्ववेदसम्) सब धनों के प्राप्त कराने वाले, (अस्य) इस [प्रसिद्ध] (यज्ञस्य) यज्ञ [संयोग वियोग व्यवहार] के (सुक्रतुम) सुधारने वाले (अग्निम्) अग्नि [आग, बिजुली, सूर्य] को (वृणीमहे) हम स्वीकार करते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि कला यन्त्र यान विमान आदि में वेग से चलाने के लिये और शरीरों में भोजन आदि द्वारा बल बढ़ाने लिये बिजुली आदि अग्नि को काम में लावें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । १२ । १—३, सामवेद उ० २ । १ । तृच ६ तथा म० १ साम० पू० १ । १ । ३ ॥

अ॒ग्निम॑ग्निं॒ हवी॑मभिः॒ सदा॑ हवन्त वि॒श्पति॑म् । ह॒व्य॒वाहं॑ पुरुप्रि॒यम् ॥ २ ॥

अ॒ग्निम्-अ॑ग्निम् । हवी॑म-भिः॑ । सदा॑ । ह॒व॒न्त॒ । वि॒श्पति॑म् ॥ ह॒व्य॒-वाह॑म् । पु॒रु॒-प्रि॒यम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (हवीमभिः) ग्रहण करने योग्य व्यवहारों से (विश्पतिम्) प्रजाओं के पालने वाले, (हव्यवाहम्) देने लेने योग्य पदार्थों के पहुंचाने वाले, (पुरुप्रियम्) बहुत प्रिय करने वाले (अग्निमग्निम्) अग्नि अग्नि [अर्थात् पृथिवी की आग, बिजुली और सूर्य] को (सदा) सदा

१—(अग्निम्) विद्युत्सूर्यपार्थिवाग्निरूपम् (दूतम्) पदार्थानां प्रापकं तापकं वा (वृणीमहे) स्वीकुर्मः (होतारम्) वेगादिदातारम् (विश्ववेदसम्) सर्वधनप्रापकम् (अस्य) प्रसिद्धस्य (यज्ञस्य) संयोगवियोगव्यवहारस्य (सुक्रतुम्) शोभनकर्तारम् ।

२—(अग्निमग्निम्) प्रत्येकप्रकारं विद्युत्सूर्यपार्थिवाग्निरूपम् (हवीमभिः) अथ० २० । ७२ । ३ । ग्राह्यव्यवहारैः (सदा) (हवन्त) गृह्णीत (विश्पतिम्) प्रजानां पालकम् (हव्यवाहम्) दातव्यग्राह्यपदार्थप्रापकम्

(हवन्त) तुम ग्रहण करो ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि प्रसिद्ध अग्नि, बिजुली और सूर्य को कला यन्त्र आदि में प्रयुक्त करके सदा सुख की वृद्धि करें ॥ २ ॥

अग्ने॑ देवाँ इहा व॑ह जज्ञानो वृक्तब॑र्हिषे । असि॒ होता॑ न॒ ईड्य॑: ॥ ३ ॥

अग्ने॑ । देवान् । इह । आ । वह । जज्ञानः । वृक्त-ब॑र्हिषे ॥ असि॑ । होता॑ । नः । ईड्य॑: ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि ! [आग, बिजुली और सूर्य] (जज्ञानः) प्रकट होता हुआ तू (देवान्) दिव्य पदार्थों को (इह) यहां (वृक्तबर्हिषे) हिंसा छोड़ने वाले विद्वान् के लिये (आ वह) ला । तू (नः) हमारे लिये (होता) धन देने वाला और (ईड्यः) खोजने योग्य (असि) है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अग्नि, बिजुली और सूर्य की विद्या को खोज करके अनेक प्रकार उपयोग करें और उत्तम उत्तम पदार्थ प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ३॥

सूक्तम् १०२ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराड् गायत्री; २, ३ निचृद् गायत्री ॥

परमेश्वरस्य गुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

ई॒ळेन्यो॑ नमस्य॑स्ति॒रस्तमां॑सि दर्श॒तः । सम॒ग्निरि॑ध्यते॒ वृषा॑ ॥ १ ॥

ई॒ळेन्य॑: । न॒म॒स्य॑: । ति॒रः । तमां॑सि । द॒र्श॒तः ॥ सम् । अ॒ग्निः । इ॒ध्य॒ते॒ । वृषा॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(ईलेन्यः) खोजने योग्य, (नमस्यः) सत्कार करने योग्य,

(पुरुप्रियम्) बहुहितकरम् ॥

३—(अग्ने) हे विद्युत्सूर्यपार्थिवाग्निरूप (देवान्) दिव्यपदार्थान् (इह) (आ वह), प्रापय (जज्ञानः) प्रादुर्भूतः सन् (वृक्तबर्हिषे) अथ० २० । ५२ । १ । त्यक्तहिंसाय विदुषे (असि) (होता) धनस्य दाता (नः) अस्मभ्यम् (ईड्यः) अध्येषणीयः ॥

१—(ईलेन्यः) कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः । पा० ३ । ४ । १४ । ईड—

(तमांसि) अन्धकारों को (तिरः) हटाने वाला, (दर्शतः) देखने योग्य, (वृषा) बलवान् (अग्निः) अग्नि [प्रकाशमान परमेश्वर] (सम्) भले प्रकार (इध्यते) प्रकाश करता है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य अन्धकार नाशक परमात्मा को प्रत्येक पदार्थ में साक्षात् कर के अपने हृदय को प्रकाशमान करे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—३ । २७ । १३—१५, सामवेद—उ० ७ । २ । तृच २ ॥

वृषो अग्निः समिध्यतेऽश्वो न देववाहनः। तं हविष्मन्त ईलते२

वृषो इति । अग्निः । सम् । इध्यते । अश्वः । न । देव-वाहनः ॥ तम् । हविष्मन्तः । ईलते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अश्वः न) शीघ्र गामी घोड़े के समान (देववाहनः) उत्तम पदार्थों का पहुंचाने वाला (वृषो) बलवान् ही (अग्निः) अग्नि [प्रकाशमान परमेश्वर] (सम्) भले प्रकार (इध्यते) प्रकाश करता है । (हविष्मन्तः) ग्रहण करने योग्य वस्तुओं वाले पुरुष (तम्) उस को (ईलते) खोजते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे घोड़े आदि वाहन द्वारा पदार्थ प्राप्त किये जाते हैं, वैसे ही परमात्मा सब संसार को वायु जल आदि उत्तम पदार्थ सदा पहुंचाता है ॥ २ ॥

स्तुतौ, अभ्येषणायाम्—निरु० ७ । १५ । केन्यप्रत्ययः, डस्य लः । अध्येषणीयः (नमस्यः) अचो यत् पा० ३ । १ । ६७ । नमस्यतेः—यत् । सत्कर्तव्यः (तिरः) तिरस्कुर्वन् (तमांसि) ध्वान्तानि (दर्शत.) अथ० ४ । १० । ६ । दर्शनीयः (सम्) सम्यक् (अग्निः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (इध्यते) दीप्यते (वृषा) बलवान् ॥

२—(वृषो) वृषैव । बलिष्ठ एव (अग्निः) प्रकाशमानः परमेश्वरः (सम्) सम्यक् (इध्यते) दीप्यते (अश्वः) तुरङ्गः (न) इव (देववाहनः) दिव्यपदार्थवाहकः (तम्) (हविष्मन्तः) ग्राह्यपदार्थयुक्ताः पुरुषाः (ईलते) म० १ । अध्येषणया प्राप्नुवन्ति ॥

वृषणं त्वा वयं वृषन् वृषणः समिधीमहि । अग्ने दीद्यतं बृहत् ॥ ३ ॥

वृषणम् । त्वा । वयम् । वृषन् । वृषणः । सम् । इधीमहि ॥ अग्ने । दीद्यतम् । बृहत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(वृषन्) हे बलवान् (अग्ने) अग्नि ! [प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] (वृषणः) बलवान् होते हुये (वयम्) हम (वृषणम्) बलवान् (बृहत्) बहुत (दीद्यतम्) प्रकाशमान (त्वा) तुझ को (सम्) भले प्रकार (इधीमहि) प्रकाशित करें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सर्वशक्तिमान् परमात्मा के अनेक उपकारों से बलवान् होकर उस के उत्तम गुणों को खोजते रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १०३ ॥

१—३ ॥ अग्निर्देवता ॥ १ विराडार्षी बृहती; २ निचृद् बृहती; ३ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अग्निमीळिष्वावसे गाथाभिः शीरशोचिषम् ।

अग्निं राये पुरुमीळ्ह श्रुतं नरोऽग्निं सुदीतये छर्दिः ॥ १ ॥

अग्निम् । ईळिष्व । अवसे । गाथाभिः । शीर-शोचिषम् ॥ अग्निम् । राये । पुरु-मीळ्ह । श्रुतम् । नरः । अग्निम् । सु-दीतये । छर्दिः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पुरुमीळ्ह) हे बहुत ज्ञान से सींचे हुये मनुष्य ! (नरः)

३—(वृषणम्) बलवन्तम् (त्वा) (वयम्) (वृषन्) बलवन् (वृषणः) बलवन्तः सन्तः (सम्) सम्यक् (इधीमहि) प्रकाशयेम (अग्ने) प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (दीद्यतम्) दीदयतिर्ज्वलतिकर्मा—निघ० १ । १६, शतृ । दीप्यमानम् (बृहत्) बहुप्रकारेण ॥

१—(अग्निम्) प्रकाशस्वरूपं परमात्मानम् (ईळिष्व) अ० २० । १०२ ।

नर [नेता] होकर तू (गाथाभिः गाने योग्य क्रियाओं के साथ (अवसे) अपनी रक्षा के लिये (शीरशोचिषम्) बड़े प्रकाश वाले (अग्निम्) अग्नि [प्रकाश स्वरूप परमात्मा] को, (राये) धन के लिये (श्रुतम्) विख्यात (अग्निम्) अग्नि [प्रकाश स्वरूप परमात्मा] को और (सुदीतये) सुन्दर प्रकाश के लिये (छर्दिः) घर सदृश (अग्निम्) अग्नि [प्रकाशस्वरूप परमात्मा] को (ईळिष्व) खोज ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की भक्ति से अपनी रक्षा के लिये धन और विद्या को बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ७१ [सायणभाष्य ६०] । १४, सामवेद—पू० १ । ५ । ६ ॥

अग्न आ याह्यग्निभिर्होतारं त्वा वृणीमहे ।
आ त्वामनक्तु प्रयता हविष्मती यजिष्ठं बर्हिरासदे ॥ २ ॥

अग्ने । आ । याहि । अग्नि-भिः । होतारम् । त्वा । वृणीमहे ॥
आ । त्वाम् । अनक्तु । प्र-यता । हविष्मती । यजिष्ठम् । बर्हिः । आ-सदे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अग्ने) हे अग्नि [[प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] (अग्निभिः) ज्ञान प्रकाशों के साथ (आ याहि) तू प्राप्त हो, (होतारम्) दानी (त्वा)

---

१ । अधीष्व । अन्विच्छ (अवसे) रक्षणाय (गाथाभिः) गानयोग्यक्रियाभिः (शीरशोचिषम्) स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । शीङ् स्वप्ने—रक् । अर्चिशुचि० उ० २ । १०८ । शुच शोके—इसि । महाप्रकाशयुक्तम् (अग्निम्) (राये) धनाय (पुरुमीळ्ह) मिह सेचने—क । बहुज्ञानेन मीढ सिक्त वर्धित मनुष्य (श्रुतम्) विख्यातम् (नरः)नेता सन् (अग्निम्) (सुदीतये) पलोपः । सुदीप्तये । शोभनप्रकाशाय (छर्दिः) अर्चिशुचिहुसृपिच्छादिछर्दिभ्य इसिः । उ० २ । १०८ । छर्द सन्दीपने—इसि । गृहम्—निघ० ३ । ४ ॥

२—(अग्ने) हे प्रकाशस्वरूप परमेश्वर (आ याहि) प्राप्तो भव (अग्निभिः) ज्ञानप्रकाशैः (होतारम्) दातारम् (त्वा) त्वाम् (वृणीमहे) स्वीकुर्मः

तुझ को (वृणीमहे) हम स्वीकार करते हैं । (प्रयता) नियम युक्त (हविष्मती) भक्ति वाली प्रजा (बर्हिः) वृद्धि (आसदे) पाने के लिये (यजिष्ठम्) अत्यन्त संयोग वियोग करने वाले (त्वा) तुझ को (आ) सब प्रकार से (अनक्तु) प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की आज्ञा में रहकर सद् वृद्धि करें ॥ २ ॥

मन्त्र २, ३ ऋग्वेद में हैं—८ । ६० [सायण भाष्य ४९] । १, २; सामवेद—उ० ७ । २ । ७ ॥

अच्छा हि त्वा सहसः सूनो अङ्गिरः स्रुचश्चरन्त्यध्वरे ।
ऊर्जो नपातं घृतकेशमीमहेऽग्निं यज्ञेषु पूर्व्यम् ॥ ३ ॥

अच्छ । हि । त्वा । सहसः । सूनो इति । अङ्गिरः । स्रुचः । चरन्ति । अध्वरे ॥ ऊर्जः । नपातम् । घृत-केशम् । ईमहे । अग्निम् । यज्ञेषु । पूर्व्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(सहसः सूनो) हे बल के पहुंचाने वाले ! (अङ्गिरः) हे ज्ञानी परमेश्वर ! (स्रुचः) चलने वाली प्रजायें (अध्वरे) बिना हिंसावाले व्यवहार में (त्वा) तुझ को (हि) ही (अच्छ) अच्छे प्रकार (चरन्ति) प्राप्त होती हैं । (ऊर्जः) बल के (नपातम्) न गिराने वाले [रक्षक], (यज्ञेषु) यज्ञों [संयोग वियोग व्यहारों] में (पूर्व्यम्) पुराने (अग्निम्) अग्नि

(आ) समन्तात् (त्वाम्) परमेश्वरम् (अनक्तु) अन्जू गतौ । प्राप्नोतु (प्रयता) यम—क्त । नियमयुक्ता (हविष्मती) भक्तिमती प्रजा (यजिष्ठम्) यज्—इष्ठन् । अतिशयेन यष्टारं संयोगवियोगकर्तारम् (बर्हिः) वृद्धिम् (आसदे) प्राप्तुम् ॥

३—(अच्छ) सुष्ठुप्रकारेण (हि) एव (त्वा) (सहसः) बलस्य (सूनो) प्रेरक (अङ्गिरः) हे ज्ञानिन् परमेश्वर (स्रुचः) चिक् च । उ० २ । ६२ । स्रु गतौ—क्विप् चिगागमः । गतिशीलाः प्रजाः (चरन्ति) गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (ऊर्जः) बलस्य (नपातम्) नपातयितारम् । रक्षकम् (घृतकेशम्) घृतं जलं केशं प्रकाशं च (ईमहे) याचामहे (अग्निम्)

[प्रकाशस्वरूप परमेश्वर] से (घृतकेशम्) जल और प्रकाश को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ -मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर के बनाये पदार्थों से उपकार लेकर उन्नति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १०४ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् बृहती, २ निचृत् पङ्क्तिः; ३ निचृदार्षी बृहती; ४ भुरिगार्षी बृहती ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

इमा उ त्वा पुरूवसो गिरो वर्धन्तु या मम । पावकवर्णाः शुचयो विपश्चितोऽभि स्तोमैरनूषत ॥ १ ॥

इमाः । ऊं इति । त्वा । पुरुवसो इति पुरु-वसो । गिरः । वर्धन्तु । याः । मम ॥ पावक-वर्णाः । शुचयः । विपः-चितः । अभि । स्तोमैः । अनूषत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पुरुवसो) हे बहुत धन वाले ! [परमात्मन्] (मम) मेरी (याः) जो (गिरः) वाणियां हैं, (इमाः) वे (त्वा) तुझ को (उ) निश्चय करके (वर्धन्तु) बढावें [विख्यात करें] । (पावकवर्णाः) अग्नि के समान तेजस्वी, (शुचयः) पवित्र (विपश्चितः) विद्वान् लोगों ने (स्तोमैः) स्तोत्रों से [तेरी] (अभि) सब ओर से (अनूषत) प्रशंसा की है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग पूर्वज विद्वानों के समान परमेश्वर के उपकारों की स्तुति करके अपनी उन्नति करें ॥ १ ॥

प्रकाशस्वरूपं परमेश्वरम् (यज्ञेषु) संयोगवियोगव्यवहारेषु (पूर्व्यम्) पुरातनम् ॥

२—(इमाः) वक्ष्यमाणाः (उ) निश्चयेन (त्वा) (पुरुवसो) हे बहुधनवन् (गिरः) वाण्यः (वर्धन्तु) वर्धयन्तु विख्यात कुर्वन्तु (याः) (मम) (पावकवर्णाः) अग्निवत्तेजस्विनः । ब्रह्मवर्चस्विनः (शुचयः) पवित्राः (विपश्चितः)विद्वांसः (अभि) सर्वतः (स्तोमैः) स्तोत्रैः (अनूषत) अस्तुवन् ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८ । ३ । ३, ४; यजुर्वेद—३३ । ८१, ८३; सामवेद—उ० ७ । ३ । १८; म० १ साम०—पू० ३ । ६ । ८ ॥

अयं सुहस्रमृषिभिः सहस्कृतः समुद्र इव पप्रथे । सुत्यः सो अस्य महिमा गृणे शवो युज्ञेषु विप्रराज्ये ॥ २ ॥

अयम् । सुहस्रम् । ऋषि-भिः । सहः-कृतः । सुमुद्रः-इव । पप्रथे ॥ सत्यः । सः । अस्य । महिमा । गृणे । शवः । युज्ञेषु । विप्र-राज्ये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(समुद्रः इव) आकाश के समान वर्तमान (अयम्) इस [परमेश्वर] ने (ऋषिभिः) ऋषियों [वेदार्थ जानने वालों] द्वारा (सहस्कृतः) पराक्रम करने वालों को (सहस्रम्) सहस्र प्रकार से (पप्रथे) फैलाया है । (अस्य) इस [परमात्मा] की (सः) वह (महिमा) महिमा (सत्यः) सत्य है । (विप्रराज्ये) विद्वानों के राज्य के बीच (यज्ञेषु) यज्ञों [श्रेष्ठ व्यवहारों] में (शवः) उस बल की (गृणे) मैं बड़ाई करता हूं ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमात्मा की सदा स्तुति करते रहें क्योंकि वह विद्वानों को प्राप्त होकर राज्य करने वाले पुरुष का बल बढ़ाता है ॥२॥

आ नो विश्वासु हव्य इन्द्रः सुमत्सु भूषतु । उप ब्रह्माणि सवनानि वृत्रहा परमुज्या ऋचीषमः ॥ ३ ॥

आ । नः । विश्वासु । हव्यः । इन्द्रः । सुमत्-सु । भूषतु ॥ उप । ब्रह्माणि । सवनानि । वृत्र-हा । पुरम-ज्याः । ऋचीषमः ॥

२—(अयम्) परमेश्वरः (सहस्रम्) बहुप्रकारेण (ऋषिभिः) वेदार्थविद्भिः (सहस्कृतः) पराक्रमकर्तॄन् (समुद्रः) अन्तरिक्षम् (इव) यथा (पप्रथे) विस्तारितवान् (सत्यः) यथार्थः (सः) (अस्य) परमेश्वरस्य (महिमा) महत्त्वम् (गृणे) स्तौमि (शवः) बलम् (यज्ञेषु) श्रेष्ठव्यवहारेषु (विप्रराज्ये) मेधाविनां राष्ट्रे ॥

भाषार्थ—(विश्वासु) सब (समत्सु) संग्रामों में (हव्यः) पुकारने योग्य, (वृत्रहा) अन्धकार मिटाने वाला, (परमज्याः) बड़े शत्रुओं का मारने वाला, (ऋचीषमः) स्तुति के समान गुण वाला (इन्द्रः) इन्द्र [परम ऐश्वर्यवाला परमात्मा] (नः) हमारे (ब्रह्माणि) वेद ज्ञानों और (सवनानि) ऐश्वर्य की वस्तुओं को (आ) सब ओर से (उप)-भले प्रकार (भूषतु) शोभायमान करे ॥३॥

भावार्थ—मनुष्य परमपिता परमेश्वर का आश्रय लेकर शत्रुओं का नाश कर के ऐश्वर्य बढ़ावें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३. ४ ऋग्वेद में हैं—८ । ६० [सायणभाष्य ७९] । १, २; सामवेद—उ० ७ । १ । २; मन्त्र १ साम० पू० ३ । ८ । ७ ॥

त्वं दाता प्रथमो राधसामस्यसि सत्य ईशानकृत् ।
तुविद्युम्नस्य युज्या वृणीमहे पुत्रस्य शवसो महः ॥ ४ ॥

त्वम् । दाता । प्रथमः । राधसाम् । असि । असि । सत्यः । ईशान-कृत् ॥ तुवि-द्युम्नस्य । युज्या । आ । वृणीमहे । पुत्रस्य । शवसः । महः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(हे परमेश्वर !] (त्वम्) तू (राधसाम्) धनों का (प्रथमः) सब से पहिला (दाता) दाता (असि) है, और (सत्यः) सच्चा (ईशानकृत्) ऐश्वर्यवान् बनाने वाला (असि) है। (तुविद्युम्नस्य) बड़े यशस्वी पुरुष के

३—(आ) समन्तात् (नः) अस्माकम् (विश्वासु) सर्वासु (हव्यः) आह्वातव्यः (इन्द्रः) परमेश्वरः (समत्सु) संग्रामेषु (भूषतु) अलंकरोतु (उप) पूजायाम् (ब्रह्माणि) वेदज्ञानानि (सवनानि) ऐश्वर्यवस्तूनि (वृत्रहा) अन्धकारनाशकः (परमज्याः) आतो मनिन् क्वनिब्वनिपश्च । पा० ३।२। ७४ । परम+ज्या वयोहानौ—विच् । महाशत्रूणां नाशयिता (ऋचीषमः) अथ० २० । ३५ । १ । स्तुतितुल्यगुणयुक्तः ॥

४—(त्वम्) (दाता) दानी (प्रथमः) आदिमः (राधसाम्) धनानाम् (असि) (असि) (सत्यः) यथार्थः (ईशानकृत्) ऐश्वर्यवतां कर्ता (तुविद्युम्नस्य) बहुयशस्विनः पुरुषस्य (युज्या) युज—क्यप् । योग्यानि कर्माणि

(पुत्रस्य) पुत्र के (महः) बड़े (शवसः) बल के (युज्या) योग्य कामों को (आ) सब प्रकार (वृणीमहे) हम अङ्गीकार करते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य उत्तम घरानों में उत्पन्न होकर माता पिता आदि से सुशिक्षा पाकर पराक्रम करते हैं, जगदीश्वर उन का ऐश्वर्य बढ़ाता है ॥ ४ ॥

सूक्तम् १०५ ॥

१—५ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ४ भुरिगार्ष्यनुष्टुप्; २ पङ्क्तिः; ३ निचृत् पथ्या बृहती; ५ निचृदार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

त्वमिन्द्र प्रतूर्तिष्वभि विश्वा असि स्पृधः ।
अशस्तिहा जनिता विश्वतूरसि त्वं तूर्य तरुष्यतः ॥ १ ॥

त्वम् । इन्द्र । प्र-तूर्तिषु । अभि । विश्वाः । असि । स्पृधः ॥ अशस्ति-हा । जनिता । विश्व-तूः । असि । त्वम् । तूर्य । तरुष्यतः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (त्वम्) तू (प्रतूर्तिषु) मार धाड़ वाले संग्रामों में (सर्वाः) सब (स्पृधः) ललकारती हुई शत्रु सेनाओं को (अभि असि) हरा देता है । (त्वम्) तू (अशस्तिहा) अपकीर्ति मिटाने वाला, (जनिता) सुख उत्पन्न करने वाला, (विश्वतूः) सब शत्रुओं का मारने वाला (असि) है, (तरुष्यतः) मारने वाले वैरियों को (तूर्य) मार ॥ १ ॥

(आ) समन्तात् (वृणीमहे) स्वीकुर्मः (पुत्रस्य) (शवसः) बलस्य (महः) महतः ॥

१—(त्वम्) (इन्द्र) परमेश्वर (प्रतूर्तिषु) तुरी गतित्वरणहिंसनयोः-क्तिन् । परस्परमारणेषु संग्रामेषु (अभि असि) अभिभवसि (विश्वाः) सर्वाः (स्पृधः) स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः (अशस्तिहा) अपकीर्तिनाशकः (जनिता) सुखोत्पादकः (विश्वतूः) तुरी हिंसायाम्—क्विप् । सर्वशत्रुनाशकः (असि) (त्वम् (त्वम्) (तूर्य) तूरीं हिंसे ॥ मारय (तरुष्यतः) बाधकान् वैरिणः ॥

भावार्थ—युद्धपंडित राजा विघ्ननाशक परमात्मा का आश्रय लेकर सब शत्रुओं का नाश करके प्रजापालन करे ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । ९९ [सायण भाष्य ८८] । ५—७; मन्त्र १, २ यजुर्वेद—३३ । ९६, ९७; सामवेद—उ० ८ । १ । ८, म० १ साम० पू० ४ । २ । ६ ।

अनु॑ ते॒ शुष्मं॑ तु॒रय॑न्तमीयतुः क्षो॒णी शिशुं॒ न मा॒तरा॑ ।
विश्वा॑स्ते॒ स्पृधः॑ श्नथयन्त म॒न्यवे॑ वृ॒त्रं यदि॑न्द्र॒ तूर्व॑सि ॥ २ ॥

अनु॑ । ते॒ । शुष्म॑म् । तु॒रय॑न्तम् । ई॒य॒तुः॒ । क्षो॒णी इति॑ । शिशु॑म् । न । मा॒तरा॑ ॥ विश्वाः॑ । ते॒ । स्पृधः॑ । श्न॒थ॒य॒न्त॒ । म॒न्यवे॑ । वृ॒त्रम् । यत् । इ॒न्द्र॒ । तूर्व॑सि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (क्षोणी) दोनों आकाश और भूमि लोक (ते) तेरे (तुरयन्तम्) वेग करते हुये (शुष्मम् अनु) शत्रुओं को सुखाने बल के पीछे (ईयतुः) चलते हैं, (न) जैसे (मातरा) माता पिता दोनों (शिशुम्) बालक के [पीछे प्रीति से चलते हैं] । (ते) तेरे (मन्यवे) क्रोध से (विश्वाः) सब (स्पृधः) ललकारती हुई शत्रु सेनायें (श्नथयन्त) मारी गयी हैं, (यत्) जब कि तू (वृत्रम्) शत्रु को (तूर्वसि) मारता है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे माता पिता आपा छोड़ कर बच्चे से प्रीति करते हैं, वैसे ही सर्वशक्तिमान्, सर्वनियन्ता परमात्मा में परम भक्ति करके मनुष्य शत्रुओं को मारें ॥ २ ॥

२—(अनु) अनुसृत्य (ते) तव (शुष्मम्) शत्रुशोषकं बलम् (तुरयन्तम्) तुरां कुर्वन्तम् (ईयतुः) गच्छतः (क्षोणी) द्यावापृथिव्यौ (शिशुम्) (न) इव (मातरा) मातापितरौ (विश्वाः) (ते) तव (स्पृधः) स्पर्धमानाः शत्रुसेनाः (श्नथयन्त) श्नथतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । हता अभवन् (मन्यवे) क्रोधाय (वृत्रम्) शत्रुम् (यत्) यदा (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (तूर्वसि) हंसि ॥

इत ऊती वो अजरं प्रहेतारमप्रहितम्। आशुं जेतारं हेतारं रथीतममतूर्तं तुग्र्यावृधम् ॥ ३ ॥

इतः। ऊती। वः। अजरम्। प्र-हेतारम्। अप्र-हितम् ॥ आशुम्। जेतारम्। हेतारम्। रथि-तमम्। अतूर्तम्। तुग्र्य-वृधम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (वः) तुम्हारी (ऊती) रक्षा के लिये (अजरम्) जरा रहित [सदा बलवान्] (प्रहेतारम्) सब के चलाने वाले, (अप्रहितम्) किसी से न चलाये गये, (आशुम्) फुरतीले, (जेतारम्) जय करने वाले, (हेतारम्) बढ़ाने वाले, (रथितमम्) रमणीय पदार्थों के सब से बड़े स्वामी, (अतूर्तम्) न सताये गये, (तुग्र्यवृधम्) बस्ती के हितकारी के बढाने वाले [परमेश्वर] को (इतः) वे दोनों [आकाश और भूमि—म० २] प्राप्त होते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने पृथिवी और आकाश के पदार्थ मनुष्य के हित के लिये रचे हैं, उस जगदीश्वर की सदा भक्ति करके बलवान् होकर वृद्धि करें ॥ ३ ॥

मन्त्र ३ सामवेद में भी है— पू० ३ । १० । १ ॥

यो राजा चर्षणीनां याता रथेभिरध्रिगुः।
विश्वासां तरुता पृतनानां ज्येष्ठो यो वृत्रहा गृणे ॥ ४ ॥

यः। राजा। चर्षणीनाम्। याता। रथेभिः। अध्रि-गुः ॥

३—(इतः) गच्छतः प्राप्नुतः। ते क्षोणी—म० २ (ऊती) ऊत्यै रक्षायै (वः) युष्माकम् (अजरम्) जरारहितम् (प्रहेतारम्) हि गतौ—तृन्। प्रकर्षेण गमयितारम् (अप्रहितम्) केनाप्यचालितम् (आशुम्) वेगवन्तम् (जेतारम्) जयकर्तारम् (हेतारम्) हि वृद्धौ—तृन्। वर्धयितारम् (रथितमम्) रमणीयपदार्थानां स्वामितमम् (अतूर्तम्) तुर्वी हिंसने—क्त। अहिंसितम् (तुग्र्यवृधम्) स्फायितञ्चिवञ्चि०। उ० २। १३। तुरज तुजि हिंसाबलादाननिकेतनेषु रक्, तुग्र—यत्। निवासाय हितस्य वर्धकम् ॥

विश्वासाम् । तुरुता । पृतनानाम् । ज्येष्ठः । यः । वृत्र-हा । गृणे ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यः) जो [परमेश्वर] (चर्षणीनाम्) मनुष्यों का (राजा) राजा (रथेभिः) रथों [के समान रमणीय लोकों] के साथ (अध्रिगुः) बेरोक (याता) चलने वाला, और (यः) जो (विश्वासाम्) सब (पृतनानाम्) शत्रु सेनाओं का (तरुता) हराने वाला, (ज्येष्ठः) अति श्रेष्ठ, (वृत्रहा) अन्धकार नाशक है, [उस की] (गृणे) मैं स्तुति करता हूँ ॥ ४ ॥

भावार्थ—जो परमात्मा सब मनुष्य आदि प्राणियों और सूर्य आदि लोकों का स्वामी है, हम उसके गुणों को ग्रहण कर के सब कष्टों से बचें ॥४॥

मन्त्र ४ । ५ आ चुके हैं—अथ० २० । ४२ । १६, १७ ॥

इन्द्रं तं शुम्भ पुरुहन्मन्नवसे यस्य द्विता विधर्तरि ।
हस्ताय वज्रः प्रति धायि दर्शतो महो दिवे न । सूर्यः ॥ ५ ॥

इन्द्रम् । तम् । शुम्भ । पुरु-हन्मन् । अवसे । यस्य । द्विता । वि-धर्तरि ॥ हस्ताय । वज्रः । प्रति । धायि । दर्शतः । महः । दिवे । न । सूर्यः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पुरुहन्मन्) हे बहुत ज्ञानी ऋषि ! (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] का (शुम्भ) भाषण कर, (यस्य) जिस के (द्विता) दोनों धर्म [अनुग्रह और निग्रह गुण] (विधर्तरि) बुद्धिमान् जन पर (अवसे) रक्षा के लिये और [जिसका] (दर्शतः) दर्शनीय (महः) महान् (वज्रः) वज्र [दण्ड सामर्थ्य] (हस्ताय) हाथ [अर्थात् हमारे बाहु बल] के लिये (प्रति) प्रत्यक्ष (धायि) धारण किया गया है, (न) जैसे (सूर्यः) सूर्य (दिवे) प्रकाश के लिये है ॥ ५ ॥

भावार्थ—परमात्मा अति प्रत्यक्ष रूप से दुष्टों को दंड देता है और धर्मात्माओं पर अनुग्रह करता है, ऐसा निश्चय करके विद्वान् लोग सदा ईश्वर की आज्ञा में रहकर सुखी होवें ॥ ५ ॥

४, ५—व्याख्यातौ—अथ० २० । ४२ । १६, १७ ॥

सूक्तम् १०६ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुष्णिक्; २, ३ विराडाष्र्युष्णिक् ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

तव॒ त्यदि॑न्द्रि॒यं बृ॒हत् तव॒ शुष्म॑मु॒त क्रतु॑म् । वज्रं॑ शिशाति धि॒षणा॒ वरे॑ण्यम् ॥ १ ॥

तव॑ । त्यत् । इ॒न्द्रि॒यम् । बृ॒हत् । तव॑ । शुष्म॑म् । उ॒त । क्रतु॑म् ॥ वज्र॑म् । शि॒शा॒ति॒ । धि॒षणा॑ । वरे॑ण्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (तव) तेरे (त्यत्) उस [प्रसिद्ध] (बृहत्) बड़े (इन्द्रियम्) इन्द्रपन [ऐश्वर्य], (तव) तेरे (शुष्मम्) बल (उत) और (क्रतुम्) बुद्धि और (वरेण्यम्) उत्तम (वज्रम्) वज्र [दण्ड सामर्थ्य] को (धिषणा [तेरी] वाणी (शिशाति) पैना करती है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर के गुणों को वेद द्वारा निश्चय करके अपना सामर्थ्य बढ़ावे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । १५ । ७—९; कुछ भेद से सामवेद—उ० ८ । १ । तृच ११ ॥

तव॒ द्यौरि॑न्द्र॒ पौंस्यं॑ पृथि॒वी व॑र्धति॒ श्रवः॑ । त्वामापः॒ पर्व॑ता॒सश्च॑ हिन्विरे ॥ २ ॥

तव॑ । द्यौः । इ॒न्द्र॒ । पौंस्य॑म् । पृ॒थि॒वी । व॒र्ध॒ति॒ । श्रवः॑ ॥ त्वाम् । आपः॑ । पर्व॑तासः । च॒ । हि॒न्वि॒रे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (तव),

---

१—(तव) (त्यत्) तत्प्रसिद्धम् (इन्द्रियम्) इन्द्रलिङ्गम् । ऐश्वर्यम् (बृहत्) (तव) (शुष्मम्) शोषकं बलम् (उत) अपि च (क्रतुम्) प्रज्ञाम् (वज्रम्) शासनसामर्थ्यम (शिशाति) श्यति । तीक्ष्णीकरोति (धिषणा) वेदरूपा वाणी (वरेण्यम्) वरणीयं श्रेष्ठम् ॥

२—(तव) (द्यौः) आकाशः (इन्द्र) हे परमेश्वर (पौंस्यम्) पौरुषम्

तेरे (गौंस्यम्) पुरुषार्थ और (श्रव.) यश को (द्यौः) आकाश और (पृथिवी) पृथिवी (वर्धति) बढ़ाती है । (त्वाम्) तुझ को (आपः) जलों ने (च) और (पर्वतासः) पहाड़ों ने (हिन्विरे) प्रसन्न किया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर को उसके बड़े बड़े कर्मों से जानकर पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

त्वां विष्णुर्बृहन् क्षयो मित्रो गृणाति वरुणः । त्वां शर्धो मदत्यनु मारुतम् ॥ ३ ॥

त्वाम् । विष्णुः । बृहन् । क्षयः । मित्रः । गृणाति । वरुणः ॥ त्वाम् । शर्धः । मदति । अनु । मारुतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे परमेश्वर !] (बृहन्) बड़ा (क्षयः) ऐश्वर्यवान् (विष्णु) व्यापक सूर्य, (मित्रः) प्रेरक वायु और (वरुणः) स्वीकार करने योग्य जल (त्वाम्) तेरी (गृणाति) बड़ाई करता है । (त्वाम् अनु) तेरे पीछे (मारुतम्) शूर पुरुषों का (शर्ध) बल (मदति) तृप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा के बल से सब सूर्य आदि में बल है, उस सर्वशक्तिमान् की उपासना करके सब मनुष्य आत्मबल बढ़ावें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १०७ ॥

१—१५ ॥ १—१२ इन्द्रः; १३-१५ सूर्यो देवता ॥ १—३ गायत्री; ४ निचृदार्षी त्रिष्टुप्; ५ विराट् त्रिष्टुप्; ६,१० विराडार्षी त्रिष्टुप्, ७-९, ११, १४, १५ निचृत् त्रिष्टुप्, १२ आर्षी त्रिष्टुप्; १३ पङ्क्तिः ॥

१—१२ परमेश्वरगुणोपदेशः १—१२ परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

(पृथिवी) (वर्धति) वर्धयति (श्रवः) यशः (त्वाम्) (आपः) जलानि (पर्वतास) शैलाः (च) (हिन्विरे) प्रीणयन्ति स्म ॥

३—(त्वाम्) (विष्णुः) व्यापकः सूर्यः (बृहन्) महान् (क्षयः) क्षि ऐश्वर्यं—अच् । ऐश्वर्यवान् (मित्रः) प्रेरको वायुः (गृणाति) स्तौति (वरुणः) स्वीकरणीयं जलम् (त्वाम्) (शर्धः) बलम् (मदति) हृष्यति (अनु) अनुसृत्य (मारुतम्) मरुतां शूरपुरुषाणामिदम् ॥

समस्य मन्यवे विशो विश्वा नमन्त कृष्टयः । समुद्रायेव सिन्धवः ॥ १ ॥

सम् । अस्य । मन्यवे । विशः । विश्वाः । नमन्त । कृष्टयः ॥ समुद्राय-इव । सिन्धवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(विश्वाः) सब (विशः) प्रजायें और (कृष्टयः) मनुष्य (अस्य) इस [परमेश्वर] के (मन्यवे) तेज वा क्रोध के आगे (सम्) ठीक ठीक (नमन्त) नमे हैं, (समुद्राय इव) जैसे समुद्र के लिये (सिन्धवः) नदियां [नमती हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे नदियां समुद्र की ओर झुकती हैं, वैसे ही सब सृष्टि के पदार्थ और सब मनुष्य परमात्मा की आज्ञा को अवश्य मानते हैं ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—८ । ६ । ४—६; सामवेद—उ० ८ । १ । तृच १३; मन्त्र १ साम० पू० २ । ५ । ३ ॥

ओजस्तदस्य तित्विष उभे यत् समवर्तयत् । इन्द्रश्चर्मेव रोदसी ॥ २ ॥

ओजः । तत् । अस्य । तित्विषे । उभे इति । यत् । सम्-अवर्तयत् ॥ इन्द्रः । चर्म-इव । रोदसी इति ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अस्य) इस [परमेश्वर] का (ओजः) बल (तत्) तब (तित्विषे) प्रकाशित हुआ, (यत्) जब (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (उभे) दोनों (रोदसी) आकाश और भूमि को (चर्म इव) चमड़े के समान (समवर्तयत्) यथाविधि वर्तमान किया ॥ २ ॥

१—(सम्) सम्यक् (अस्य) परमेश्वरस्य (मन्यवे) मन्युर्मन्यतेर्दीप्तिकर्मणः क्रोधकर्मणो वधकर्मणो वा-निरु० १० । २९ । तेजसे । क्रोधाय (विशः) प्रजाः (विश्वाः) (नमन्त) नमतेर्लङ् । नमन्ति स्म (कृष्टयः) मनुष्याः (समुद्राय) (इव) यथा (सिन्धवः) स्यन्दनशीला नद्यः ॥

२—(ओजः) बलम् (तत्) तदा (अस्य) परमेश्वरस्य (तित्विषे) त्विष दीप्तौ—लिट् । दिदीपे (उभे) (यत्) यदा (समवर्तयत्) यथाविधि वर्तितवान् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (चर्म) (इव) यथा (रोदसी) आकाशभूमी ॥

भावार्थ—जैसे कोई चमड़े को कमाकर ठीक करता है, वैसे ही परमात्मा परमाणुओं के संयोग वियोग से सृष्टि बनाता है, तब उस की महिमा प्रकट होती है ॥ २ ॥

वि चिद् वृत्रस्य दोधतो वज्रेण शतपर्वणा । शिरो बिभेद वृष्णिना ॥३

वि । चित् । वृत्रस्य । दोधतः । वज्रेण । शत-पर्वणा ॥ शिरः । बिभेद । वृष्णिना ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(दोधतः) क्रोध करते हुये (वृत्रस्य) रोकने वाले शत्रु के (शिरः) सिर को (शतपर्वणा) सैकड़ों जोड़ों वाले, (वृष्णिना) दृढ़ (वज्रेण) वज्र से (चित्) निश्चय करके (वि) अनेक प्रकार (बिभेद) उस [परमेश्वर] ने तोड़ा है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे शूर पुरुष भारी भारी शस्त्रों से शत्रुओं को मार गिराता है, वैसे ही परमात्मा पापियों को अनेक प्रकार दण्ड देता है ॥ ३ ॥

तदिदास भुवनेषु ज्येष्ठं यतो जज्ञ उग्रस्त्वेषनृम्णः । सद्यो जज्ञानो नि रिणाति शत्रूननु यदेनं मदन्ति विश्व ऊमाः ॥४

तत् । इत् । आस । भुवनेषु । ज्येष्ठम् । यतः । जज्ञे । उग्रः । त्वेष-नृम्णः ॥ सद्यः । जज्ञानः । नि । रिणाति । शत्रून् । अनु । यत् । एनम् । मदन्ति । विश्वे । ऊमाः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(तत्) विस्तीर्ण ब्रह्म (इत्) ही (भुवनेषु) लोकों के भीतर (ज्येष्ठम्) सब में उत्तम और सब में बड़ा (आस) प्रकाशमान हुआ । (यतः) जिस [ब्रह्म] से (उग्रः) तेजस्वी (त्वेषनृम्णः) तेजोमय बल वा धन वाला पुरुष (जज्ञे) प्रकट हुआ । (सद्यः) शीघ्र (जज्ञानः) प्रकट होकर (शत्रून्) गिराने वाले विघ्नों को (नि रिणाति) नाश कर देता है, (यत्)

३—(वि) विविधम् (चित्) एव (वृत्रस्य) आवरकस्य शत्रोः (दोधतः) अ० १२ । १ । ५८ । क्रुध्यतः (वज्रेण) शस्त्रेण (शतपर्वणा) बहुसन्धियुक्तेन (शिरः) (बिभेद) विच्छेद (वृष्णिना) वीर्यवता । दृढेन ॥

४—१२ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—ऋग० ५ । २ । १—८

जिस से (एनम् अनु) इस [परमात्मा] के पीछे पीछे (विश्वे) सब (ऊमाः) परस्पर रक्षक लोग (मदन्ति) हर्षित होते हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—आदि कारण परमात्मा की उपासना से मनुष्य वीर होकर शत्रुओं को मारता है, जिस के कारण सब लोग प्रसन्न होते हैं, इस जगदीश्वर की उपासना सब लोग किया करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४-१२ आ चुके हैं—अथ० । २ । १—६ ॥

वावृधानः शवसा भूयोजाः शत्रुर्दासाय भियसं दधाति ।
अव्यनच्च व्यनच्च सस्नि सं ते नवन्त प्रभृता मदेषु ॥ ५ ॥

ववृधानः । शवसा । भूरि-ओजाः । शत्रुः । दासाय । भियसम् । दधाति ॥ अवि-अनत् । च । वि-अनत् । च । सस्नि । सम् । ते । नवन्त । प्रभृता । मदेषु ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(शवसा) बल से (ववृधानः) बढ़ता हुआ, (भूयोजाः) महाबली, (शत्रुः) हमारा शत्रु (दासाय) दान पात्र दास को (भियसम्) भय (दधाति) देता है। (अव्यनत्) गति शून्य स्थावर (च) और (व्यनत्) गति वाला जङ्गम जगत् (च) निश्चय करके [परमात्मा में] (सस्नि) लपेटा हुआ है, (प्रभृता) अच्छे प्रकार पुष्ट किये हुए प्राणी (मदेषु) आनन्दों में (ते) तेरी (सम् नवन्त) यथावत् स्तुति करते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—सर्वशक्तिमान् परमेश्वर समस्त जगत् में व्यापक होकर सब को धारण करता है। उसी की महिमा को जानकर सब मनुष्य पुरुषार्थ पूर्वक अपने विघ्नों को नाश करके प्रसन्न होवें ॥ ५ ॥

त्वे क्रतुमपि पृञ्चन्ति भूरि द्विर्यदेते त्रिर्भवन्त्यूमाः । स्वादोः स्वादीयः स्वादुना सृजा समदः सु मधु मधुनाभि योधीः ॥६॥

त्वे इति । क्रतुम् । अपि । पृञ्चन्ति । भूरि । द्विः । यत् । एते । त्रिः । भवन्ति । ऊमाः ॥ स्वादोः । स्वादीयः । स्वादुना । सृज । सम् । अदः । सु । मधु । मधुना । अभि । योधीः ॥

भावार्थ—[हे परमात्मन्!] (त्वे अपि) तुझ में ही (क्रतुम्) अपनी बुद्धि को (भूरि) बहुत प्रकार से [सब प्राणी] (पृञ्चन्ति) जोड़ते हैं, (एते) यह सब (ऊमाः) रक्षक प्राणी (द्विः) दो बार [स्त्री पुरुष रूप से] (त्रिः) तीन बार [स्थान, नाम और जन्म रूप से] (भवन्ति) रहते हैं। (यत्) क्योंकि (स्वादोः) स्वादु से (स्वादीयः) अधिक स्वादु मोक्ष-सुख को (स्वादुना) स्वादु [सांसारिक सुख] के साथ (सम् सृज) संयुक्त कर, (अदः) उस (मधु) मधुर [मोक्ष सुख] को (मधुना) मधुर [सांसारिक] ज्ञान के साथ (सु) भले प्रकार (अभि) सब ओर से (योधीः) तू ने पहुंचाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—लिङ्ग रहित आत्मा कभी स्त्री कभी पुरुष होकर अपने कर्मानुसार मनुष्य आदि शरीर, नाम और जाति भोगता है। सब प्राणी परमेश्वर की महिमा जानकर सांसारिक व्यवहार द्वारा मोक्ष सुख प्राप्त करें जैसे कि पूर्वज ऋषियों ने वेद द्वारा प्राप्त किया है ॥ ६ ॥

यदि चिन्नु त्वा धना जयन्तं रणेरणे अनुमदन्ति विप्राः।
ओजीयः शुष्मिन्त्स्थिरमा तनुष्व मा त्वा दभन् दुरेवासः कशोकाः ॥ ७ ॥

यदि। चित्। नु। त्वा। धना। जयन्तम्। रणे-रणे। अनु-मदन्ति। विप्राः॥ ओजीयः। शुष्मिन्। स्थिरम्। आ। तनुष्व। मा। त्वा। दभन्। दुः-एवासः। कशोकाः ॥ ७ ॥

भावार्थ—(यदि) जो (चित्) निश्चय कर के (विप्राः) पंडित जन (रणेरणे) प्रत्येक रण में (नु) शीघ्र (धना) धनों को (जयन्तम्) जीतने-वाले (त्वा) तेरे (अनुमदन्ति) पीछे पीछे आनन्द पाते हैं। (शुष्मिन्) हे बलवन् परमात्मन्! (ओजीयः) अधिक बलवान् (स्थिरम्) स्थिर मोक्ष सुख (आ) सब ओर से (तनुष्व) फैला, (दुरेवासः) दुष्ट गति वाले (कशोकाः) परसुख में शोक करने वाले जन (त्वा) तुझ को (मा दभन्) न सतावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् मनुष्य विघ्नों को हटाकर कठिन कठिन कार्य सिद्ध कर के स्थिर सुख पाते हैं ॥ ७ ॥

त्वया॑ व॒यं शा॑शद्महे॒ रणे॑षु प्र॒पश्य॑न्तो यु॒धेन्या॑नि॒ भूरि॑ । चो॒दया॑मि त॒ आयु॑धा॒ वचो॑भि॒ः सं ते॑ शिशामि॒ ब्रह्म॑णा॒ वयां॑सि ॥ ८ ॥

त्वया॑ । व॒यम् । शा॒श॒द्म॒हे॒ । रणे॑षु । प्र॒ऽपश्य॑न्तः । यु॒धेन्या॑नि । भूरि॑ ॥ चो॒दया॑मि । ते॒ । आयु॑धा । वचः॑ऽभिः । सम् । ते॒ । शि॒शा॒मि॒ । ब्रह्म॑णा । वयां॑सि ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(भूरि) बहुत से (युधेन्यानि) युद्धों को (प्रपश्यन्तः) देखते हुये (वयम्) हम लोग (त्वया) तेरे साथ (रणेषु) रण क्षेत्रों में [शत्रुओं को] (शाशद्महे) मार गिराते हैं। (ते) तेरे (वचोभिः) वचनों से (आयुधा) अपने शस्त्रों को (चोदयामि) मैं आगे बढ़ाता हूं और (ते) तेरे (ब्रह्मणा) ब्रह्म ज्ञान से (वयांसि) अपने जीवनों को (सम्) यथावत् (शिशामि) तीक्ष्ण करता हूं ॥ ८ ॥

भावार्थ—शूर वीर मनुष्य परमेश्वर में विश्वास करके पुरुषार्थ पूर्वक बड़े बड़े कार्य सिद्ध करते हैं ॥ ८ ॥

नि तद् द॑धि॒षेऽव॑रे॒ परे॑ च॒ यस्मि॒न्नावि॒थाव॑सा दुरो॒णे । आ स्था॑पयत मा॒तरं॑ जिग॒त्नुमत॑ इन्वत॒ कर्व॑राणि॒ भूरि॑ ॥ ९ ॥

नि । तत् । द॒धि॒षे॒ । अव॑रे । परे॑ । च॒ । यस्मि॑न् । आवि॑थ । अव॑सा । दु॒रो॒णे ॥ आ । स्था॒प॒य॒त॒ । मा॒तर॑म् । जि॒ग॒त्नुम् । अतः॑ । इ॒न्व॒त॒ । कर्व॑राणि । भूरि॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (अवरे) छोटे (च) और (परे) बड़े मनुष्य में (तत्) उस [घर] को (नि) निश्चय करके (दधिषे) तू ने पोषण किया है, (यस्मिन्) जिस (दुरोणे) कष्ट से भरने योग्य घर में (अवसा) अन्न से (आविथ) तू ने रक्षा की है। [हे मनुष्यो !] (जिगत्नुम्) सर्वव्यापक (मातरम्) माता [परमेश्वर] को (आ) भली भांति (स्थापयत) [हृदय में] ठहराओ और (अतः) इसी से (भूरि) बहुत से (कर्व-

राणि) कर्मों को (इन्वत) सिद्ध करो ॥ ९ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की उपासना पूर्वक अन्न आदि पदार्थ प्राप्त करके अपने सब काम सिद्ध करें ॥ ९ ॥

स्तुष्व वर्ष्मन् पुरुवर्त्मानं समृभ्वाणमिनतममाप्तमाप्त्यानाम् ।
आ दर्शति शवसा भूर्योजाः प्र सक्षति प्रतिमानं पृथिव्याः १०

स्तुष्व । वर्ष्मन् । पुरु-वर्त्मानम् । सम् । ऋभ्वाणम् । इन-तमम् । आप्तम् । आप्त्यानाम् ॥ आ । दर्शति । शवसा । भूरि-ओजाः । प्र । सक्षति । प्रति-मानम् । पृथिव्याः १० ॥

भाषार्थ—(वर्ष्मन्) हे ऐश्वर्यवान् पुरुष ! (पुरुवर्त्मानम्) बहुत मार्ग वाले (ऋभ्वाणम्) दूर दूर चमकने वाले, (इनतमम्) महा प्रभु और (आप्त्यानाम्) आप्त [यथार्थ वक्ता] पुरुषों में रहने वाले गुणों के (आप्तम्) यथार्थ वक्ता परमेश्वर की (सम्) यथावत् (स्तुष्व) स्तुति कर । (भूर्योजाः) वह महाबली (शवसा) अपने बल से (आ) सब ओर (दर्शति) देखता है, और वह (पृथिव्याः) पृथिवी का (प्रतिमानम्) प्रतिमान होकर (प्र) भली भांति (सक्षति) व्यापता है ॥ १० ॥

भावार्थ—मनुष्य जगदीश्वर परमात्मा के गुण कर्म स्वभाव विचार कर अपनी उन्नति करें ॥ १० ॥

इमा ब्रह्म बृहद्दिवः कृणवदिन्द्राय शूषमग्रियः स्वर्षाः । महो गोत्रस्य क्षयति स्वराजा तुरश्चिद् विश्वमर्णवत् तपस्वान् ॥११

इमा । ब्रह्म । बृहत्-दिवः । कृणवत् । इन्द्राय । शूषम् । अग्रियः । स्वः-साः ॥ महः । गोत्रस्य । क्षयति । स्व-राजा । तुरः । चित् । विश्वम् । अर्णवत् । तपस्वान् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(बृहद्दिवः) बड़े व्यवहार वा गति वाला, (अग्रियः) अगुआ और (स्वर्षाः) स्वर्ग का सेवन करने वाला पुरुष (इन्द्राय) परमेश्वर के लिये (इमा) इन (ब्रह्म = ब्रह्माणि) बड़े रत्नों को (शूषम्) अपना बल

(कृणवत्) बनावें । (स्वराजा) वह स्वराजा [स्वतन्त्र राजा परमेश्वर] (महः) बड़े (गोत्रस्य) भूपति राजा का (क्षयति) राजा है, और वह (तुरः) शीघ्र स्वभाव, (तपस्वान्) सामर्थ्य वाला परमात्मा (चित्) ही (विश्वम्) सब जगत् में (अर्णवत्) व्यापता है ॥ ११ ॥

भावार्थ– मनुष्य जगदीश्वर परम पिता के गुण जानकर अपना बल बढ़ावें ॥ ११ ॥

एवा महान् बृहद्दिवो अथर्वावोचत् स्वां तन्व१ मिन्द्रमेव । स्वसारौ मातरिभ्वरी अरिप्रे हिन्वन्ति चैने शवसा वर्धयन्ति च ॥ १२ ॥

एव । महान् । बृहत्-दिवः । अथर्वा । अवोचत् । स्वाम् । तन्वम् । इन्द्रम् । एव ॥ स्वसारौ । मातरिभ्वरी इति । अरिप्रे इति । हिन्वन्ति । च । एने इति । शवसा । वर्धयन्ति । च ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान्, (बृहद्दिवः) बड़े व्यवहार वाले, (अथर्वा) निश्चल स्वभाव पुरुष ने (स्वाम्) अपनी (तन्वम्) विस्तृत स्तुति (इन्द्रम्) परमेश्वर के लिये (एव) ही (एव) इस प्रकार से (अवोचत्) कही है। (मातरिभ्वरी) आकाश में वर्तमान (स्वसारौ) अच्छे प्रकार ग्रहण करने वाले वा गति वाले [वा दो बहिनों के समान सहाय कारी] दिन और रात (च) और (अरिप्रे) निर्दोष (एने) यह दोनों [सूर्य और पृथिवी] (शवसा) अपने सामर्थ्य से [उसी को] (हिन्वन्ति) प्रसन्न करती (च) और (वर्धयन्ति) सराहती हैं ॥ १२ ॥

भावार्थ—हम से पहिले ऋषियोंने भी उसी परमात्मा की स्तुति की है, और दिन रात आदि काल और सूर्य पृथिवी आदि सब लोक उसी के आज्ञाकारी हैं ॥ १२ ॥

मन्त्र १३—१५ ॥ आध्यात्मोपदेशः—मन्त्र १३—१५ परमात्मा और जीवात्मा के विषय का उपदेश ॥

चित्रं देवानां केतुरनीकं ज्योतिष्मान् प्रदिशः सूर्य उद्यन् ।
दिवाकरोऽति द्युम्नैस्तमांसि विश्वातारीद् दुरितानि शुक्रः १३

चित्रम् । देवानाम् । केतुः । अनीकम् । ज्योतिष्मान् ।
प्र-दिशः । सूर्यः । उत्-यन् ॥ दिवा-करः । अति । द्युम्नैः ।
तमांसि । विश्वा । अतारीत् । दुः-इतानि । शुक्रः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(चित्रम्) अद्भुत (अनीकम्) जीवन दाता [ब्रह्म], (देवानाम्) गतिमान् लोकों के (केतुः) जताने वाले, (ज्योतिष्मान्) तेजोमय (सूर्यः) सर्वप्रेरक [परमात्मा] (प्रदिशः) सब दिशाओं में (उद्यन्) ऊंचे होते हुये (दिवाकरः) दिन को रचने वाले [सूर्य रूप], (शुक्रः) वीर्यवान् [परमेश्वर] ने (द्युम्नैः) अपने प्रकाशों से (तमांसि) अन्धकारों को (अति) लांघकर (विश्वा) सब (दुरितानि) कठिनाइयों को (अतारीत्) पार किया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे वह सूर्य अन्धकार नाश करके दिन बनाकर प्रकाशमान है, वैसे ही वह परमेश्वर सूर्य आदि लोकों को रचकर धारण आकर्षण द्वारा सब की रक्षा करता है, वैसे ही मनुष्य विद्या से प्रकाशमान होकर विघ्नों को हटावें ॥ १३ ॥

मन्त्र १३, १४ आचुके हैं—अथ० १३ । २ । ३४, ३५ ॥

चित्रं देवानामुदगादनीकं चक्षुर्मित्रस्य वरुणस्याग्नेः ।
आप्राद् द्यावापृथिवी अन्तरिक्षं सूर्य आत्मा जगतस्तस्थु-
षश्च ॥ १४ ॥

चित्रम् । देवानाम् । उत् । अगात् । अनीकम् । चक्षुः ।
मित्रस्य । वरुणस्य । अग्नेः ॥ आ । अप्रात् । द्यावापृथिवी
इति । अन्तरिक्षम् । सूर्यः । आत्मा । जगतः । तस्थुषः । च १४

भाषार्थ—(देवानाम्) गतिमान् लोकों का (चित्रम्) अद्भुत (अनी-

१३, १४ मन्त्रौ व्याख्यातौ—अथर्व० १३ । २ । ३४, ३५ ॥

कम्) जीवन दाता, (मित्रस्य) सूर्य [वा प्राण] का, (वरुणस्य) चन्द्रमा [अथवा जल वा अपान] का और (अग्नेः) बिजुली का (चक्षुः) दिखाने वाला [ब्रह्म] (उत्) सर्वोपरि (अगात्) व्यापा है। (सूर्यः) सर्वप्रेरक, (जगतः) जङ्गम (च) और (तस्थुषः) स्थावर के (आत्मा) आत्मा [निरन्तर व्यापक परमात्मा] ने (द्यावापृथिवी) सूर्य भूमि [प्रकाशमान अप्रकाशमान लोकों] और (अन्तरिक्षम्) अन्तरिक्ष को (आ) सब प्रकार से (अप्राः) पूर्ण किया है ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो अद्भुत स्वरूप परमात्मा सूर्य, चन्द्र, वायु आदि द्वारा सब प्राणियों को सुख देता है, मनुष्य उस की उपासना द्वारा जानकर आत्मोन्नति करें ॥ १४ ॥

सूर्यो॑ दे॒वीमु॒षसं॒ रोच॑माना॒ं मर्यो॒ न योषा॑म॒भ्ये॑ति प॒श्चात् ।
यत्रा॒ नरो॑ देव॒यन्तो॑ यु॒गानि॑ वितन्व॒ते प्रति॑ भ॒द्राय॑ भ॒द्रम् ॥१५॥

सूर्यः॑ । दे॒वीम् । उ॒षस॑म् । रोच॑मानाम् । मर्यः॑ । न । योषा॑म् । अ॒भि । ए॒ति॒ । प॒श्चात् ॥ यत्र॑ । नरः॑ । दे॒व॒ऽयन्तः॑ । यु॒गानि॑ । वि॒ऽत॒न्व॒ते । प्रति॑ । भ॒द्राय॑ । भ॒द्रम् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(सूर्यः) सूर्य मण्डल (देवीम्) देवी [दिव्यगुण वाली] (रोचमानाम्) रुचि कराने वाली (उषसम्) उषा [प्रभात वेला] के (पश्चात्) पीछे पीछे (अभि) सब ओर से (एति) प्राप्त होता है, (न) जैसे (मर्यः) मनुष्य (योषाम्) अपनी स्त्री को [प्रीति से प्राप्त होता है], (यत्र) जहां [संसार के बीच] (देवयन्तः) व्यवहार चाहने वाले (नरः) नर [नेता लोग] (भद्रम् प्रति) आनन्द स्वरूप परमात्मा के सामने (भद्राय) आनन्द के लिये (युगानि) जुगों [वर्षों] को (वितन्वते) फैलाते हैं ॥ १५ ॥

१५—(सूर्यः) सविता (देवीम्) दिव्यगुणयुक्ताम् (उषसम्) प्रभातवेलाम्। सन्धिकालम् (रोचमानाम्) रुचिकारिकाम् (मर्यः) पतिर्मनुष्यः (न) इव (योषाम्) स्वभार्याम् (अभि) सर्वतः (एति) प्राप्नोति (पश्चात्) (यत्र) यस्मिन् संसारे (नरः) नेतारः (देवयन्तः) व्यवहारान् कामयमानाः (युगानि) वर्षाणि (वितन्वते) विस्तारयन्ति (प्रति) अभिमुखीकृत्य (भद्राय) कल्याणाय (भद्रम्) सुखस्वरूपं परमात्मानम् ॥

भावार्थ—जैसे ईश्वरकृत नियमों के अनुसार सूर्य और उषा के सम्बन्ध से प्रकाश, और पुरुष और स्त्री के सम्बन्ध से सन्तान होता है, वैसे ही बुद्धिमान् लोग सुखस्वरूप परमात्मा की आज्ञा में रहकर नियम पूर्वक सुख भोगते हुये अपना जीवन काल बढ़ावें ॥ १५ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१ । ११५ । २ ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ विराडुष्णिक्; २,३ विराडार्ष्युष्णिक् ॥

परमेश्वरप्रार्थनोपदेशः—परमेश्वर की प्रार्थना का उपदेश ॥

त्वं न॑ इन्द्रा भ॑रँ ओजो॑ नृ॒म्णं श॑तक्रतो विचर्षणे । आ वी॒रं पृ॑तना॒षहम् ॥ १ ॥

त्वम् । नः॒ । इ॒न्द्र॒ । आ । भ॒र॒ । ओजः॑ । नृ॒म्णम् । श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो । वि॒-च॒र्ष॒णे॒ ॥ आ । वी॒रम् । पृ॒त॒ना॒-सह॑म् १

भाषार्थ—(शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्म करने वाले ! (विचर्षणे) हे विविध प्रकार देखने वाले ! (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले जगदीश्वर] (त्वम्) तू (नः) हमारे लिये (ओजः) बल, (नृम्णम्) धन (आ) और (पृतनासहम्) संग्राम जीतने वाले (वीरम्) वीर को (आ) भले प्रकार (भर) पुष्ट कर ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर से प्रार्थना करके प्रयत्न पूर्वक बलवान्, धनवान् और वीर पुरुषों वाले होवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ९८ [सायण भाष्य ८७] । १०—१२, सामवेद—उ० ४ । २ । तृच १३; मन्त्र १ साम० पू० २ । २ । ७ ॥

त्वं हि नः॑ पि॒ता व॑सो॒ त्वं मा॒ता श॑तक्रतो ब॒भूवि॑थ । अधा॑ ते

१—(त्वम्) (नः) अस्मभ्यम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् जगदीश्वर (आ) समन्तात् (भर) पोषय (ओजः) बलम् (नृम्णम्) धनम् (शतक्रतो) बहुकर्मन् (विचर्षणे) विविधद्रष्टः (आ) समुच्चये (वीरम्) वीर्योपेतम् (पृतनासहम्) संग्रामजेतारम् ॥

सुम्नमीमहे ॥ २ ॥

त्वम् । हि । नः । पिता । वसो इति । त्वम् । माता । शत-क्रतो इति शत-क्रतो । बभूविथ ॥ अध । ते । सुम्नम् । ईमहे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वसो) हे बसाने वाले ! (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [परमेश्वर] (त्वम्) तू (हि) ही (नः) हमारा (पिता) पिता और (त्वम्) तू ही) माता) माता (बभूविथ) हुआ है, (अध) इस लिये (ते) तेरे (सुम्नम्) सुख को (ईमहे) हम मांगते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर सदा से सब सृष्टि का पालन पोषण करता है, हम उसी से प्रार्थना करके पुरुषार्थ के साथ सुखी होवें ॥ २ ॥

त्वां शुष्मिन् पुरुहूत वाजयन्तमुप ब्रुवे शतक्रतो । स नो रास्व सुवीर्यम् ॥ ३ ॥

त्वाम् । शुष्मिन् । पुरु-हूत । वाज-यन्तम् । उप । ब्रुवे । शतक्रतो इति शत-क्रतो ॥ सः । नः । रास्व । सु-वीर्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(शुष्मिन्) हे महाबली ! (पुरुहूत) हे बहुत प्रकार बुलाये गये ! (शतक्रतो) हे सैकड़ों कर्मों वाले ! [परमेश्वर] (वाजयन्तम्) बलवान् बनाने वाले (त्वाम्) तुझ को (उप) आदर से (ब्रुवे) मैं बुलाता हूं, (सः) सो तू (नः) हमें (सुवीर्यम्) बड़ा वीरपन (रास्व) दे ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य महाबली परमेश्वर से प्रार्थना करके अनेक उपकारी कर्म करते हुये अपना वीरत्व बढ़ावें ॥ ३ ॥

२—(त्वम्) (हि) (नः) अस्माकम् (पिता) पालकः (वसो) वासयितः (त्वम्) (माता) जननीवद् धारकः (शतक्रतो) बहुकर्मन् (बभूविथ) (अध) अनन्तरम् (ते) तव (सुम्नम्) सुखम् (ईमहे) याचामहे ॥ २ ॥

३—(त्वाम्) (शुष्मिन्) महाबलिन् (पुरुहूत) बहुविधाहूत (वाजयन्तम्) बलवन्तं कुर्वाणम् (उप) पूजायाम् (ब्रुवे) वदामि (शतक्रतो) बहुकर्मन् (सः) स त्वम् (नः) अस्मभ्यम् (रास्व) देहि (सुवीर्यम्) महावीरत्वम् ॥

सूक्तम् १०८ ॥

१-३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ पथ्या पङ्क्तिः ॥

सभापतिसभ्यजनलक्षणोपदेशः—सभापति और सभासदों के लक्षणों का उपदेश ॥

स्वादोरित्था विषूवतो मध्वः पिबन्ति गौर्यः । या इन्द्रेण सयावरीर्वृष्णा मदन्ति शोभसे वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ १ ॥

स्वादोः । इत्था । विषु-वतः । मध्वः । पिबन्ति । गौर्यः ॥ याः । इन्द्रेण । स-यावरीः । वृष्णा । मदन्ति । शोभसे । वस्वीः । अनु । स्व-राज्यम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इत्था) इस प्रकार (स्वादोः) स्वादु (विषुवतः) बहुत फैलाव वाले (मध्वः) ज्ञान का (गौर्यः) वे उद्योग करने वाली प्रजायें (पिबन्ति) पान करती हैं, (याः) जो [प्रजायें] (वृष्णा) बलवान् (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] के साथ (सयावरीः) मिलकर चलने वाली, (वस्वीः) बसने वाली [प्रजायें] (स्वराज्यम् अनु) स्वराज्य [अपने राज्य] के पीछे (शोभसे) शोभा पाने के लिये (मदन्ति) प्रसन्न होती हैं ॥ १ ॥

१—(स्वादोः) स्वादयुक्तस्य (इत्था) अनेन प्रकारेण (विषुवतः) व्याप्तियुक्तस्य (मध्वः) मधुनः । ज्ञानस्य (पिबन्ति) पानं कुर्वन्ति (गौर्यः) गुरी उद्यमे—घञ् । षिद्गौरादिभ्यश्च । पा० ४ । १ । ४१ । इति ङीप् । गौरी रोचतेर्ज्वलतिकर्मणोऽयमपीतरो गौरो वर्ण एतस्मादेव प्रशस्यो भवति—निरु० ११ । ३६ । उद्यमयुक्ताः प्रजाः (याः) (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सभापतिना (सयावरीः) आतो मनिन्० । पा० ३ । २ । ७४ । या प्रापणे—वनिप् । वनो र च । पा० ४ । १ । ७ । ङीब्रेफौ । सहगच्छन्त्यः (वृष्णा) बलवता (मदन्ति) हृष्यन्ति (शोभसे) शोभार्थम् (वस्वीः) शृस्वृस्निहित्रप्यसिवसि० । उ० १ । १० । वस निवासे—उप्रत्ययः । वोतो गुणवचनात् । पा० ४ । १ । ४४ । इति ङीप् । वासकारिण्यः प्रजाः (अनु) अनुलक्ष्य (स्वराज्यम्) स्वकीय-राष्ट्रम् ॥

भावार्थ—जिस राज्य में सभापति और सभासद् लोग आपस में मिलकर उत्तम ज्ञान के साथ प्रजा के उपकार का प्रयत्न करते हैं, वहां आनन्द बढ़ता है ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१ । ८४ । १०-१२, सामवेद—उ० ३ । २ । तृच १५ ; म० १ साम—पू० ५ । ३ । १ ॥

ता अ॑स्य पृश॒नायुवः॒ सोमं॑ श्रीणन्ति॒ पृश्न॑यः । प्रि॒या इन्द्र॑स्य धे॒नवो॒ वज्रं॑ हिन्वन्ति॒ साय॑कं॒ वस्वी॑रनु॒ स्व॒राज्य॑म् ॥ २ ॥

ताः । अ॒स्य॒ । पृ॒श॒न॒-युवः॑ । सोम॑म् । श्री॒ण॒न्ति॒ । पृश्न॑यः ॥ प्रि॒याः । इन्द्र॑स्य । धे॒नवः॑ । वज्र॑म् । हि॒न्व॒न्ति॒ । साय॑कम् ॥०२

भाषार्थ—(अस्य) इस (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] की (पृशनयुवः) स्पर्श चाहती हुई और (पृश्नयः) प्रश्न करती हुई (ताः) वे [प्रजायें] (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] को (श्रीणन्ति) परिपक्व करती हैं । (प्रियाः) प्रीति करती हुई, (धेनवः) गौओं के समान तृप्त करने वाली (वस्वीः) बसने वाली [प्रजायें] (स्वाराज्यम् अनु) स्वराज्य [अपने राज्य] के पीछे (वज्रम्) वज्र और (सायकम्) बाण को (हिन्वन्ति) बढ़ाती हैं [छोड़ती हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे गौयें अपने रक्षक पुरुष से अन्न घास आदि पाकर उस को दूध से तृप्त करती हैं; वैसे ही प्रजागण वीर सभापति राजा से सुरक्षित रहकर स्वराज्य पाकर सहाय करें ॥

२—(ताः) (अस्य) (पृशनयुवः) सलोपः । स्पर्शनकामाः (सोमम्) तत्त्वरसम् (श्रीणन्ति) पचन्ति (पृश्नयः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । प्रच्छ जिज्ञासायाम्—नि । जिज्ञासमानाः (प्रियाः) प्रीतिकारिण्यः (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः सभाध्यक्षस्य (धेनवः) गावो यथा तर्पयित्र्यः (वज्रम्) आयुधम् (हिन्वन्ति) प्रेरयन्ति (सायकम्) शरम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

ता अस्य नमसा सहः सपर्यन्ति प्रचेतसः । व्रतान्यस्य सश्चिरे पुरूणि पूर्वचित्तये वस्वीरनु स्वराज्यम् ॥ ३ ॥

ताः । अस्य । नमसा । सहः । सपर्यन्ति । प्र-चेतसः ॥ व्रतानि । अस्य । सश्चिरे । पुरूणि । पूर्व-चित्तये । वस्वीः । अनु । स्व-राज्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(प्रचेतसः) उत्तम ज्ञान वाली (ताः) वे [प्रजायें] (नमसा) आदर के साथ (अस्य) उस [सभापति] के (सहः) बल के (सपर्यन्ति) सेवन करती हैं । (वस्वीः) बसने वाली [प्रजायें] (स्वराज्यम् अनु) स्वराज्य [अपने राज्य] के पीछे (पूर्वचित्तये) पूर्वजों का ज्ञान पाने के लिये (अस्य) इस [सभापति] के (पुरूणि) बहुत से (व्रतानि) नियमों को (सश्चिरे) प्राप्त होती हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग स्वराज्य के साथ साथ राजधर्म को मानकर प्रजा को शान्त रक्खें ॥ ३ ॥

सूक्तम् ११० ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

विद्वत्कर्तव्योपदेशः—विद्वानों के कर्तव्य का उपदेश ॥

इन्द्राय मद्वने सुतं परि ष्टोभन्तु नो गिरः । अर्कमर्चन्तु कारवः ॥ १ ॥

इन्द्राय । मद्वने । सुतम् । परि । स्तोभन्तु । नः । गिरः ॥ अर्कम् । अर्चन्तु । कारवः ॥ १ ॥

३—(ताः) प्रजाः (अस्य) सभापतेः (नमसा) सत्कारेण (सहः) बलम् (सपर्यन्ति) सेवन्ते (प्रचेतसः) प्रकृष्टज्ञानवत्यः (व्रतानि) नियमान् (अस्य) (सश्चिरे) सश्च गतौ । गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (पुरूणि) बहूनि (पूर्वचित्तये) चिती संज्ञाने—क्तिन् । पूर्वेषां ज्ञानप्राप्तये । अन्यत् पूर्ववत् ॥

भाषार्थ—(मङ्हने) आनन्द कारी (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] के लिये (नः) हमारी (गिरः) वाणियां (सुतम्) निचोड़े हुये तत्त्व रस का (परि) सब प्रकार (स्तोभन्तु) आदर करें और (कारवः) काम करने वाले लोग (अर्कम्) उस पूजनीय का (अर्चन्तु) आदर करें ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य विद्वानों के उत्तम सिद्धान्तों को माने, लोग सदा उस का आदर करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६२ [सायण भाष्य ८१] । १६—२१, सामवेद—उ० १ । २ । तृच ४; म० १ साम०—पू० २ । ७ । ४ ॥

यस्मि॒न् विश्वा॒ अधि॒ श्रियो॒ रण॑न्ति स॒प्त सं॒सदः॑ । इन्द्रं॑ सु॒ते ह॑वामहे ॥ २ ॥

यस्मि॑न् । विश्वाः॑ । अधि॑ । श्रियः॑ । रण॑न्ति । स॒प्त । स॒म्ऽसदः॑ ॥ इन्द्र॑म् । सु॒ते । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यस्मिन्) जिस [पुरुष] में (सप्त) सात (संसदः) मिलकर बैठने वाले [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, वाक्, मन और बुद्धि] (विश्वाः) सब (श्रियः) सम्पत्तियों को (अधि) अधिकार पूर्वक (रणन्ति) पाते हैं, (इन्द्रम्) उस इन्द्र [महाप्रतापी मनुष्य] को (सुते) सिद्ध किये तत्त्व रस में (हवामहे) हम बुलाते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य इन्द्रियों को वश करके सब सम्पत्तियां प्राप्त करे, वह सब का माननीय होवे ॥ २ ॥

१—(इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (मङ्हने) माद्यतेः—कनिप् । आनन्दकाय (सुतम्) संस्कृतं तत्त्वरसम् (परि) सर्वतः (स्तोभन्तु) स्तोभतिरर्चतिकर्मा—निघ० ३ । १४ । सत्कुर्वन्तु (नः) अस्माकम् (गिरः) वाण्यः (अर्कम्) अर्चनीयम् (अर्चन्तु) पूजयन्तु (कारवः) कर्मकर्तारः ॥

२—(यस्मिन्) इन्द्रे (विश्वाः) सर्वाः (अधि) अधिकृत्य (श्रियः) सम्पत्तीः (रणन्ति) गच्छन्ति । प्राप्नुवन्ति (सप्त) सप्तसंख्याकाः (संसदः) परस्परस्थितिशीलाः—त्वचानेत्रश्रोत्रजिह्वावाग्मनोबुद्धयः (इन्द्रम्) तं महाप्रतापिनं मनुष्यम् (सुते) निष्पादिते तत्त्वरसे (हवामहे) आह्वयामः ॥

यजुर्वेद ३४ । ५५ में आया है—(सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे) सात-ऋषि [अर्थात् त्वचा, नेत्र, कान, जिह्वा, नाक, मन और बुद्धि] शरीर में रक्खे हुये हैं ॥

त्रिकद्रुकेषु चेतनं देवासो यज्ञमत्नत । तमिद् वर्धन्तु नो गिरः॥३

त्रि-कद्रुकेषु । चेतनम् । देवासः । यज्ञम् । अत्नत ॥ तम् । इत् । वर्धन्तु । नः । गिरः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(देवासः) विद्वानों ने (त्रिकद्रुकेषु) तीन [शारीरिक, आत्मिक, और सामाजिक उन्नतियों के] विधानों में (चेतनम्) चेताने वाले (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान] को (अत्नत) फैलाया है । (तम् इत्) उस ही [यज्ञ] को (नः) हमारी (गिरः) विद्यायें (वर्धन्तु) बढ़ावें ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वान् पूर्वज महात्माओं के समान विद्या प्राप्त करके शारीरिक, आत्मिक और समाजिक उन्नति करें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १११ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुष्णिक्, २ ३ उष्णिक् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

यत् सोममिन्द्र विष्णवि यद्वा घ त्रित आप्त्ये । यद्वा मरुत्सु मन्दसे समिन्दुभिः ॥ १ ॥

यत् । सोमम् । इन्द्र । विष्णवि । यत् । वा । घ । त्रिते । आप्त्ये ॥ यत् । वा । मरुत्-सु । मन्दसे । सम् । इन्दु-भिः ॥ १ ॥

३—(त्रिकद्रुकेषु) अथ० २० । ६५ । १ तिसृणां शारीरिकात्मिकसामाजिकवृद्धीनां कद्रुकेषु आह्वानेषु विधानेषु (चेतनम्) ज्ञानसाधनम् (देवासः) विद्वांसः (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (अत्नत) अतन्वत । विस्तारितवन्तः (तम् इत) तमेव यज्ञम् (वर्धन्तु) वर्धयन्तु (नः) अस्माकम् (गिरः) विविधविद्याः॥

यद्वा॑ शक्र परा॒वति॑ समु॒द्रे अधि॒ मन्द॑से । अ॒स्माक॒मित् सु॒ते र॑णा॒ समिन्दु॑भिः ॥ २ ॥

यत् । वा॒ । श॒क्र॒ । प॒रा॒ऽवति॑ । स॒मु॒द्रे । अधि॑ । मन्द॑से ॥
अ॒स्माक॑म् । इत् । सु॒ते । र॒ण॒ । सम् । इन्दु॑ऽभिः ॥ २ ॥

यद्वासि॑ सुन्व॒तो वृ॒धो यज॑मानस्य सत्पते । उ॒क्थे वा॒ यस्य॒ रण्य॑सि॒ समिन्दु॑भिः ॥ ३ ॥

यत् । वा॒ । असि॑ । सु॒न्व॒तः । वृ॒धः । यज॑मानस्य । स॒त्ऽप॒ते ॥
उ॒क्थे । वा॒ । यस्य॑ । रण्य॑सि । सम् । इन्दु॑ऽभिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (यत्) जब (घ) निश्चय करके (यत् वा) अथवा (आप्त्ये) आप्तों [यथार्थ वक्ताओं] के हितकारी, (त्रिते) तीनों लोकों में फैले हुये (विष्णवि) विष्णु [व्यापक परमात्मा] में, (यत् वा) अथवा (मरुत्सु) शूर विद्वानों में (इन्दुभिः) ऐश्वर्य व्यवहारों के साथ (सोमम्) सोम [तत्त्वरस] को (सम्) ठीक ठीक (मन्दसे) तू प्राप्त होता है ॥ १ ॥ (शक्र) हे शक्तिमान् ! (मनुष्य) (यत् वा) अथवा (परावति) बहुत दूर वाले (समुद्रे) समुद्र [जलनिधि वा आकाश] में (अधि) अधिकार पूर्वक (इन्दुभिः) ऐश्वर्य व्यवहारों के साथ [तत्त्व रस को] (सम्) ठीक ठीक (मन्दसे) तू हर्ष युक्त करता

१—(यत्) यदा (सोमम्) तत्त्वरसम् (इन्द्र) हे परमैश्वर्यवन् मनुष्य (विष्णवि) विष्णौ । व्यापके परमात्मनि (यत् वा) अथवा (घ) निश्चयेन (त्रिते) अथ० ५ । १ । १ । त्रि+तनु विस्तारे—डप्रत्ययः । त्रिषु लोकेषु विस्तृते (आप्त्ये) आप्तानां यथार्थवक्तॄणां हिते (यत् वा) अथवा (मरुत्सु) शूरविद्वत्सु (मन्दसे) मदि स्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । गच्छसि । प्राप्नोषि (सम्) सम्यक् (इन्दुभिः) ऐश्वर्यव्यवहारैः ॥

२—(यत् वा) अथवा (शक्र) हे शक्तिमान् (परावति) दूरगते (समुद्रे) जलनिधौ । आकाशे (अधि) अधिकृत्य (मन्दसे) म० १ । मोदयसि । आनन्दयसि (अस्माकम्) (इत्) एव (सुते) संस्कृते तत्त्वरसे

है, (सत्पते) हे सत्पुरुषों के स्वामी ! (यत् वा) जब कि तू (सुन्वतः) उस तत्त्व रस निचोड़ने वाले (यजमानस्य) यजमान का (वृधः) बढ़ाने वाला (असि) है, (यस्य) जिस [यजमान] के (उक्थे) वचन में (वा) निश्चय करके (इन्दुभिः) ऐश्वर्य व्यवहारों के साथ (सम्) ठीक ठीक (रणयसि) तू उपदेश करता है, [तब] (अस्माकम् इत्) हमारे भी (सुते) सिद्ध किये हुये तत्त्व रस में (रण) उपदेश कर ॥ २, ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य तत्त्व रस की प्राप्ति से परमात्मा की आज्ञा पालता हुआ, तथा समष्टि रूप से सब मनुष्यों का और व्यष्टि रूप से प्रत्येक मनुष्य का ऐश्वर्य बढ़ाता हुआ उन्नति करके सदा धर्म का उपदेश करे ॥ २—३ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है— ८ । १२ । १६—१८; म० १ सामवेद—पू० ७ । १० । ४ ॥

सूक्तम् ११२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् गायत्री, २, ३ गायायत्री ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

यद॒द्य कच्च॑ वृत्रहन्नु॒दगा॑ अ॒भि सू॑र्य । सर्वं॒ तदि॑न्द्र ते॒ वशे॑ ॥ १ ॥

यत् । अ॒द्य । कत् । च॒ । वृ॒त्र॒ऽह॒न् । उ॒त्ऽअगाः॑ । अ॒भि । सू॒र्य॒ ॥ सर्व॑म् । तत् । इ॒न्द्र॒ । ते॒ । वशे॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रु नाशक ! (सूर्य) हे सूर्य ! [सूर्य के समान सर्वप्रेरक] (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (अद्य)

(रण) शब्दय । उपदिश (सम्) सम्यक् (इन्दुभिः) ऐश्वर्यव्यवहारैः ॥

३—(यत् वा) अथवा (असि) (सुन्वतः) तत्वरसं निष्पादयतः पुरुषस्य (वृधः) वर्धयिता (यजमानस्य) (सत्पते) सतां पालक (उक्थे) वचने (वा) अवधारणे (यस्य) यजमानस्य (रणयसि) उपदिशसि (सम्) सम्यक् (इन्दुभिः) ऐश्वर्यव्यवहारैः ॥

१—(यत्) वस्तु (अद्य) (कत् च) किमपि (वृत्रहन्) शत्रुनाशक (उदगाः) इण् गतौ—लुङ् । उदितवानसि (अभि) प्रति (सूर्य) सूर्यवत्प्रेरक

आज (यत् कत् च अभि) जिस किसी वस्तु पर (उदगाः) तू उदय हुआ है, (तत्) वह (सर्वम्) सब (ते) तेरे (वशे) वश में है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या और पराक्रम से संसार में सूर्य के समान प्रकाशमान होकर सब पदार्थों का तत्त्व जानकर उनको उपयोगी बनावे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ९३ [सायण भाष्य ८२] । ४—६; म० १ यजुर्वेद—३३ । ३५; सामवेद—पू० २ । ४ । २ ॥

यद्वा॑ प्रवृद्ध सत्पते॒ न म॑रा॒ इति॒ मन्य॑से । उ॒तो तत् स॒त्यमित् तव॑ ॥ २ ॥

यत् । वा॒ । प्र॒ऽवृ॒द्ध॒ । स॒त्ऽप॒ते॒ । न । म॒रै॒ । इति॑ । मन्य॑से ॥ उ॒तो इति॑ । तत् । स॒त्यम् । इत् । तव॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(प्रवृद्ध) हे बढ़े हुये (सत्पते) सत्पुरुषों के रक्षक [पुरुष] (वा) और (यत्) जो (इति) ऐसा (मन्यसे) तू मानता है—(न मरै) मैं न मरूं, (उतो) सो (तत्) वह (तव) तेरा [वचन] (सत्यम्) सत्य (इत्) ही [होवे] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रयत्न कर के सत्पुरुषों की रक्षा करते हुये धर्म में प्रवृत्त रहकर अपना नाम बनाये रक्खें ॥ २ ॥

ये सोमा॑सः परा॒वति॒ ये अ॑र्वा॒वति॑ सुन्वि॒रे । सर्वां॒स्ताँ इ॑न्द्र गच्छसि ॥ ३ ॥

ये । सोमा॑सः । प॒रा॒ऽवति॑ । ये । अ॒र्वा॒ऽवति॑ । सु॒न्वि॒रे ॥ सर्वा॑न् । तान् । इ॒न्द्र॒ । ग॒च्छ॒सि॒ ॥ ३ ॥

(सर्वम्) (तत्) वस्तु (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (ते) तव (वशे) अधीनत्वे ॥

२—(यत्) यदि (वा) च (प्रवृद्ध) प्रवर्धमान (सत्पते) सतां पालक (न) निषेधे (मरै) अहं म्रियै (इति) एवम् (मन्यसे) बुध्यसे (उतो) अपि च (तत्) वचनम् (सत्यम्) यथार्थम् (इत्) एव (तव) ॥

भाषार्थ—(ये) जो (सोमासः) सोम रस [तत्त्व रस] (परावति) दूर देश में और (ये) जो (अर्वावति) समीप देश में (सुन्विरे) निचोड़े गये हैं। (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (तान् सर्वान्) उन सब को (गच्छसि) तू प्राप्त होता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि पुरुषार्थ करके दूर और समीप अर्थात् सब स्थान में उत्तम विद्या प्राप्त कर के ऐश्वर्य बढ़ावे ॥

यह मन्त्र सामवेद में कुछ भेद से है—उ० ४ । २ । ११ ॥

सूक्तम् ११३ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद् बृहती, २ सतः बृहती ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

उभयं शृणवच्च न इन्द्रो अर्वागिदं वचः । सत्राच्या मघवा सोमपीतये धिया शविष्ठ आ गमत् ॥ १ ॥

उभयम् । शृणवत् । च । नः । इन्द्रः । अर्वाक् । इदम् । वचः ॥ सत्राच्या । मघ-वा । सोम-पीतये । धिया । शविष्ठः । आ । गमत् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (उभयम्) दो प्रकार से [शत्रुओं पर दण्ड और भक्तों पर अनुग्रह करने से] (नः) हमारे (इदम्) इस (अर्वाक्) वर्त्तमान (वचः) वचन को (च) निश्चय करके (शृणवत्) सुने, (मघवा) महाधनी और (शविष्ठः) महाबली

२—(ये) (सोमासः) तत्त्वरसाः (परावति) दूरदेशे (ये) (अर्वावति) समीपदेशे (सुन्विरे) सुनोतेः कर्मणि लिट् । अभिषुता बभूवुः (सर्वान्) (तान्) सोमान् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् पुरुष (गच्छसि) प्राप्नोषि ॥

१—(उभयम्) द्विप्रकारं शत्रुनिग्रहं भक्तानुग्रहं च (शृणवत्) शृणुयात् (च) अवधारणे (नः) अस्माकम् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (अर्वाक्) अभिमुखम् (इदम्) (वचः) वचनम् (सत्राच्या) सत्यगतिवत्या (मघवा)

[राजा] (सोमपीतये) सोम [तत्त्व रस] पीने के लिये (सम्राच्या) सत्य गति वाली (धिया) बुद्धि के साथ (आ गमात्) आवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा धन की पूर्णता और पराक्रम की उपयोगिता से शत्रुओं को मिटाकर और राज भक्तों को बढ़ाकर श्रेष्ठ कर्म करता रहे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ६१ [सायण भाष्य ५०] । १—२; सामवेद—उ० ५ । १ । १४; म० १ साम० पू० ३ । १० । ८ ॥

तं हि स्वराजं वृषभं तमोजसे धिषणे निष्टतक्षतुः ।

उतोपमानां प्रथमो नि षीदसि सोमकामं हि ते मनः ॥ २ ॥

तम् । हि । स्व-राजम् । वृषभम् । तम् । ओजसे । धिषणे इति । निः-ततक्षतुः ॥ उत । उप-मानाम् । प्रथमः । नि । सीदसि । सोम-कामम् । हि । ते । मनः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तम् हि) उस ही [तुझ] (स्वराजम्) स्वराजा को, (तम्) उस ही [तुझ] (वृषभम्) बलवान् को (ओजसे) पराक्रम के लिये (धिषणे) दोनों सूर्य और भूमि ने (निष्टतक्षतुः) बना दिया है। (उत) और (उपमानाम्) समीप वालों का भी (प्रथमः) पहिला [मुख्य] होकर (नि षीदसि) तू बैठता है, (हि) क्योंकि (ते) तेरा (मनः) मन (सोमकामम्) ऐश्वर्य का चाहने वाला है ॥ २ ॥

महाधनी (सोमपीतये) तत्त्वरसस्य पानाय (धिया) प्रज्ञया (शविष्ठः) अतिशयेन बलवान् (आ गमत्) आगच्छतु ॥

२—(तम्) तादृशं त्वाम् (हि) एव (स्वराजम्) स्वयमेव राजानम् (वृषभम्) बलवत्तम् (तम्) (ओजसे) पराक्रमाय (धिषणे) अथ० २० । ६४ । ८ । सूर्यभूमिलोकौ (निष्टतक्षतुः) संचस्करतुः (उत) अपि च (उपमानाम्) समीपस्थानाम् (प्रथमः) मुख्यः (नि षीदसि) उपविशसि (सोमकामम्) ऐश्वर्य-कामयमानम् (हि) यस्मात् कारणात् (ते) तव (मनः) अन्तःकरणम् ॥

भावार्थ—राजा सूर्य के समान तेजस्वी और पृथिवी के समान सहन शील होकर अपने पराक्रम से ऐश्वर्य बढ़ावे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११४ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदुष्णिक्; २ विराडार्षी पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभ्रातृव्यो अना त्वमनापिरिन्द्र जनुषा सनादसि । युधेदापित्वमिच्छसे ॥ १ ॥

अभ्रातृव्यः । अना । त्वम् । अनापिः । इन्द्र । जनुषा । सनात् । असि ॥ ॥ युधा । इत् । आपि-त्वम् । इच्छसे ॥१॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमेश्वर] (त्वम्) तू (जनुषा) जन्म से (सनात्) सदा (अभ्रातृव्यः) बिना वैरी वाला, (अना) बिना नेता वाला और (अनापिः) बिना बन्धु वाला (असि) है, (युधा) युद्ध में (हि) ही [हमारे साथ संग्राम होने पर ही] (आपित्वम्) बन्धुपन [हमारे लिये सहायता] (इच्छसे) तू चाहता है ॥ १ ॥

भावार्थ—अनादि, अद्वितीय परमात्मा अपने धर्मात्मा भक्तों को सदा संकट से छुड़ाता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । २१ । १३, १४, सामवेद, उ० ६ । २ । ४; म० १ सा० पू० ५ । ३ । १ ॥

नकी रेवन्तं सख्याय विन्दसे पीयन्ति ते सुराश्वः । यदा कृणोषि नदनुं समूहस्यादित् पितेव हूयसे ॥ २ ॥

नकिः । रेवन्तम् । सख्याय । विन्दसे । पीयन्ति । ते । सुरा-

१—(अभ्रातृव्यः) अ० २ । १८ । १ । शत्रुरहितः (अना) अनेतृकः (त्वम् (अनापिः) बन्धुवर्जितः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (जनुषा) जन्मना (सनात्) चिरादेव (असि) (युधा) विभक्तेराकारः । अस्माभिः सह युद्धे (इत्) एव (आपित्वम्) बन्धुत्वम् (इच्छसे) कामयसे ॥

श्वः ॥ यदा । कृणोषि । नदनुम् । सम् । ऊहसि । आत् । इत् । पिता-इव । हूयसे ॥ २ ॥

भाषार्थ—[हे परमात्मन् !] (रेवन्तम्) [उस] बड़े धनवान् को (सख्याय) अपनी मित्रता के लिये (नकिः) कभी नहीं (विन्दसे) तू मिलता है, (सुराश्वः) [जो] मदिरा से बढ़ा हुआ [उन्मत्त पागल मनुष्य] (ते) तेरी (पीयन्ति) हिंसा करता है । (यदा) जब तू (नदनुम्) गर्जन (कृणोषि) करता है और (सम्) यथावत् (ऊहसे) तू विचार करता है, (आत् इत्) तभी (पिता इव) पिता के समान (हूयसे) तू बुलाया जाता है ॥ २ ॥

भावार्थ—परमात्मा दुराचारी नास्तिक बड़े धनी को भी जब तब्छ कर देता है, तब वह अभिमानी उस परमात्मा की महिमा को साक्षात् करता है ॥ २ ॥

सूक्तम् ११५ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अहमिद्धि पितुष्परि मेधामृतस्य जग्रभ । अहं सूर्य इवाजनि ॥१

अहम् । इत् । हि । पितुः । परि । मेधाम् । ऋतस्य । जग्रभ ॥ अहम् । सूर्यःइव । अजनि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं ने (पितुः) पिता [परमेश्वर] से (इत् हि)

२—(नकिः) न कदापि (रेवन्तम्) बहुधनवन्तम् (सख्याय) सखिभावाय (विन्दसे) त्वं लभसे (पीयन्ति) एकवचनस्य बहुवचनम् । पीयति । हिंसां करोति (ते) तव (सुराश्वः) सुरा+टुओ श्वि गतिवृद्ध्योः—डप्रत्ययः । सुरया मदिरया वृद्धः प्रमत्तः । नास्तिकः (यदा) कृणोषि । करोषि (नदनुम्) नदेश्च । उ० ३ । ५२ । णद अव्यक्ते शब्दे—अनुङ् । गर्जनम् । संग्रामम्—निघ० २ । १७ (सम्) सम्यक् (ऊहसि) वितर्कयसि (आत्) अनन्तरम् (इत्) एव (पिता) (इव) (हूयसे) आहूयसे ॥

१—(अहम्) मनुष्यः (इत्) एव (हि) अवश्यम् (पितुः) पालकात्

अवश्य करके (ऋतस्य) सत्य वेद की (मेधाम्) धारणावती बुद्धि (परि) सब प्रकार (जग्रभ) पाई है, (अहम्) मैं (सूर्यः इव) सूर्य के समान (अजनि) प्रसिद्ध हुआ हूं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा के दिये वेद ज्ञान को ग्रहण कर के संसार में सूर्य के समान विद्या का प्रकाश करें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६ । १०-१२, सामवेद उ० ७ । १ । तृच ५, म० १ सा० पू० २ । ६ । ८ ॥

अहं प्रत्नेन मन्मना गिरः शुम्भामि कण्ववत् । येनेन्द्रः शुष्म-मिद् दुधे ॥ २ ॥

अहम् । प्रत्नेन । मन्मना । गिरः । शुम्भामि । कण्व-वत् ॥ येन । इन्द्रः । शुष्मम् । इत् । दुधे ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (कण्ववत्) बुद्धिमान् के समान (प्रत्नेन) उस प्राचीन (मन्मना) ज्ञान से (गिरः) अपनी वाणियों को (शुम्भामि) शोभित करता हूं, (येन) जिस [प्राचीन ज्ञान] से (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (शुष्मम्) बल (इत्) अवश्य (दुधे) दिया है ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वरीय ज्ञान वेद से सुशोभित होकर बलवान् होवे ॥ २ ॥

ये त्वामिन्द्र न तुष्टुवुर्ऋषयो ये च तुष्टुवुः । ममेद् वर्धस्व

परमेश्वरात् (परि) सर्वथा (मेधाम्) धारणावतीं बुद्धिम् (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (जग्रभ) हस्य भः । अहं जग्रह । गृहीतवानस्मि (अहम्) (सूर्यः) (इव) (अजनि) अजनिषि प्रादुरभूवम् ॥

२—(अहम्) मनुष्यः (प्रत्नेन) प्राचीनेन (मन्मना) मननसाधनेन ज्ञानेन (गिरः) वाणीः (शुम्भामि) अलं करोमि (कण्ववत्) मेधावी यथा (येन) मन्मना (इन्द्रः) परमेश्वरः (शुष्मम्) बलम् (इत्) अवश्यम् (दुधे) दत्तवान् ॥

सुष्टुतः ॥ ३ ॥

ये । त्वाम् । इन्द्र । न । तुस्तुवुः । ऋषयः । ये । च । तुस्तुवुः । मम । इत् । वर्धस्व । सु-स्तुतः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (ये) जिन [नास्तिकों] ने (त्वाम्) तुझ को (न) नहीं (तुष्टुवुः) सराहा है, (च) और (ये) जिन (ऋषयः) ऋषियों [ज्ञानी महात्माओं] ने (तुष्टुवुः) सराहा है, [इन दोनों में] (सुष्टुतः) अच्छे प्रकार स्तुति किया हुआ तू (मम) मेरी (इत्) भी (वर्धस्व) वृद्धि कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमात्मा की भक्ति करके ऐसे प्रिय आचरण करें कि नास्तिक भी आस्तिक होवें और वेदज्ञानी आस्तिक रहकर उपकार करें ॥३॥

सूक्तम् ११६ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी बृहती; २ विराडार्षी बृहती ॥
राजकर्मोपदेशः—राजा के कर्म का उपदेश ॥

मा भूम निष्ट्या इवेन्द्र त्वदरणा इव । वनानि न प्रजहितान्यद्रिवो दुरोषासो अमन्महि ॥ १ ॥

मा । भूम । निष्ट्याः-इव । इन्द्र । त्वत् । अरणाः-इव ॥ वनानि । न । प्र-जहितानि । अद्रि-वः । दुरोषासः । अमन्महि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वत्) तुझ से [अलग होकर] (निष्ट्याः इव) वर्ण सङ्कर नीचों के

३—(ये) नास्तिकाः (त्वाम्) (इन्द्र) परमेश्वर (न) निषेधे (तुष्टुवुः) स्तुतवन्तः (ऋषयः) साक्षात्कृतधर्माणः (ये) (च) समुच्चये (तुष्टुवुः) स्तुतवन्तः (मम) (इत्) एव (वर्धस्व) वृद्धिं कुरु (सुष्टुतः) शोभनं स्तुतः सन् ॥

१—(मा भूम) न भवेम (निष्ट्याः) अथ० १ । १६ । ३ । निस—त्यप् गतार्थौ निर्गता - वर्णधर्मेभ्यः । चाण्डालाः । वर्णसङ्कराः (इव) (इन्द्र)

समान और (अरणाः इव) न घात करने योग्य शत्रुओं के समान और (प्रजहितानि) छोड़ दिये गये (वनानि न) वृक्षों के समान (मा भूम) हम न होवें, (अद्रिवः) हे वज्रधारी । (दुरोपासः) न जल सकने वाले वा न मर सकने वाले [अर्थात् जीते हुये, प्रबल] (अमन्महि) हम समझे जावें ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा प्रजा की रक्षा करके उसको प्रबल और मित्र बनाये रक्खे, जैसे माली वृक्षों को सींचकर उपयोगी बनाता है ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । १ । १३, १४ ॥

अमन्महीदनाशवोऽनुग्रासश्च वृत्रहन् । सकृत् सु ते महता शूर राधसानु स्तोमं मुदीमहि ॥ २ ॥

अमन्महि । इत् । अनाशवः । अनुग्रासः । च । वृत्र-हन् ॥ सकृत् । सु । ते । महता । शूर । राधसा । अनु । स्तोमम् । मुदीमहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(वृत्रहन्) हे शत्रुनाशक ! [राजन्] (अनाशवः) अनफुरतीले (च) और (अनुग्रासः) अनतेज (इत्) ही (अमन्महि) हम जाने गये हैं । (शूर) हे शूर ! (ते) तेरे (महता) बडे (राधसा) धन से (स्तोमम् अनु) बड़ाई के साथ (सकृत्) एक बार (सु) भले प्रकार (मदीमहि) हम आनन्द पावें ॥ २ ॥

परमैश्वर्यवन् राजन् (त्वत्) त्वत्तः (अरणाः) रण शब्दे—अप् । असंभाषणीयाः । शत्रवः (इव) (वनानि) वृक्षजातानि (न) इव (प्रजहितानि) ओहाक् त्यागे—क्त । शाखादिभिः परित्यक्तानि । प्रक्षीणानि (अद्रिवः) हे वज्रवन् (दुरोपासः) उप दाहे हिंसे च—घञ्, असुक् । ओषितुं दग्धुं हिंसितुं वा अशक्याः । जीवन्तः प्रबलाः (अमन्महि) मन ज्ञाने लिङर्थे लुङ् । ज्ञाता भवेम ॥

२—(अमन्महि) म० १ । ज्ञाता अभूम (इत्) एव (अनाशवः) अशीघ्राः, अत्वरमाणाः (अनुग्रासः) अनुग्राः । निस्तेजसः (च) (वृत्रहन्) शत्रुनाशक राजन् (सकृत्) एकवारम् (सु) (ते) तव (महता) प्रभूतेन (शूर) (राधसा) धनेन (अनु) अनुलक्ष्य (स्तोमम्) स्तुत्यं गुणम् (मुदीमहि) आनन्देम ॥

भावार्थ—राजा को चाहिये कि प्रजा को निरालसी, उद्यमी और बलवान् बनाने के लिये राजकोश से धन का व्यय करे ॥ २ ॥

सूक्तम् ११७ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृदार्षी पङ्क्तिः; २ भुरिगार्षी पङ्क्तिः; विराड् गायत्री ॥

राजकर्तव्योपदेशः—राजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

पिबा सोममिन्द्र मन्दतु त्वा यं ते सुषाव हर्यश्वाद्रिः ।
सोतुर्बाहुभ्यां सुयतो नार्वा ॥ १ ॥

पिब । सोमम् । इन्द्र । मन्दतु । त्वा । यम् । ते । सुसाव । हरि-अश्व । अद्रिः ॥ सोतुः । बाहु-भ्याम् । सु-यतः । न । अर्वा ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे फुरतीले घोड़ों वाले (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (सोमम्) सोम [तत्त्व रस] का (पिब) पान कर; (त्वा) तुझ को (मन्दतु) वह [तत्त्व रस] आनन्द देवे, (यम्) जिस को (ते) तेरे लिये (सुयतः) अच्छे सिखाये हुये (अर्वा न) घोड़े के समान, (अद्रिः) मेघ [के तुल्य उपकारी पुरुष] ने (सोतुः) सार निकालने वाले की (बाहुभ्याम्) दोनों भुजाओं से (सुषाव) सिद्ध किया है ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे अच्छा सधा हुआ घोडा अपने स्वामी को ठिकाने पर पहुंचाता है, वैसे ही विद्वानों के सिद्ध किये हुये तत्त्व रस को ग्रहण करके राजा पराक्रमी होवे ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । २२ । १—३; सामवेद—उ० ३ । १ । तृच १३; म० १ साम० पू० ५ । १ । ८ ॥

१—(पिब) (सोमम्) तत्त्वरसम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (मन्दतु) आनन्दयतु (त्वा) (यम्) सोमम् (ते) तुभ्यम् (सुषाव) निष्पादितवान् (हर्यश्व) हरयो हरणशीलाः प्रापणशीला अश्वा यस्य तत्सम्बुद्धौ (अद्रिः) मेघ इवोपकारी पुरुषः (सोतुः) अभिषवकर्तुः (बाहुभ्याम्) भुजाभ्यां द्वारा (सुयतः) सुशिक्षितः (न) इव (अर्वा) अश्वः ॥

यस्ते मदो युज्यश्चारुरस्ति येन वृत्राणि हर्यश्व हंसि । स त्वामिन्द्र प्रभूवसो ममत्तु ॥ २ ॥

यः । ते । मदः । युज्यः । चारुः । अस्ति । येन । वृत्राणि । हरि-अश्व । हंसि ॥ सः । त्वाम् । इन्द्र । प्रभुवसो इति प्रभु-वसो । ममत्तु ॥ २ ॥

भाषार्थ—(हर्यश्व) हे फुरतीले घोड़ों वाले ! (प्रभुवसो) हे समर्थ बसाने वाले [वा बहुत धन वाले] (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यः) जो [तत्त्व रस] (ते) तेरे लिये (युज्यः) योग्य और (चारुः) सुन्दर (मदः) आनन्दकारी (अस्ति) है, और (येन) जिस [तत्त्व रस] से (वृत्राणि) शत्रु दलों को (हंसि) तू मारता है, (सः) वह [तत्त्वरस] (त्वाम्) तुझ को (ममत्तु) आनन्द देवे ॥ २ ॥

भावार्थ—राजा उचित उपायों से शत्रुओं को मारकर प्रजा का आनन्द बढ़ावे ॥ २ ॥

बोधा सु मे मघवन् वाचमेमां यां ते वसिष्ठो अर्चति प्रशस्तिम् । इमा ब्रह्म सधमादे जुषस्व ॥ ३ ॥

बोध । सु । मे । मघ-वन् । वाचम् । आ । इमाम् । याम् । ते । वसिष्ठः । अर्चति । प्र-शस्तिम् ॥ इमा । ब्रह्म । सध-मादे । जुषस्व ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी राजन् ! (याम्) जिस (प्रशस्तिम्)

२—(यः) तत्त्वरसः (ते) तुभ्यम् (मदः) हर्षकरः (युज्यः) युज-क्यप्। योग्यः (चारुः) समीचीनः (अस्ति) (येन) तत्त्वरसेन (वृत्राणि) शत्रुदलानि (हर्यश्व) म० १। प्रापणशीलाश्वयुक्त (हंसि) नाशयसि (सः) तत्त्वरसः (त्वाम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (प्रभुवसो) हे समर्थवासयितः। बहुधन (ममत्तु) मादयतु। हर्षयतु ॥

३—(बोध) बुध्यस्व। जानीहि (सु) सुष्ठु (मे) मम (मघवन्) हे

उत्तम [वाणी] को (ते) तुझे (वसिष्ठः) वसिष्ठ [अति श्रेष्ठ विद्वान्] (अर्चति) समर्पण करता है, (मे) मेरी (इमाम्) इस (वाचम्) वाणी को (सु) भले प्रकार (आ) सामने से (बोध) तू समझ, और (इमा) इन (ब्रह्म) वेद वचनों का (सधमादे) मिलकर हर्ष मनाने के स्थान उत्सव में (जुषस्व) सेवन कर ॥ ३ ॥

भावार्थ—राजा को योग्य है कि बड़े बड़े विद्वानों की श्रेष्ठ वाणी और वेद वचनों को यथावत् मानकर उन्नति करे ॥

सूक्तम् ११८ ॥

१—४ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ३ निचृद् बृहती ॥ २ विराडार्षी पङ्क्तिः ; ४ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

. परमेश्वरोपासनोपदेशः— परमेश्वर की उपासना का उपदेश ॥

शुग्ध्यू३ षु शचीपत इन्द्र विश्वाभिरूतिभिः ।
भगं न हि त्वा यशसं वसुविदमनु शूर चरामसि ॥ १ ॥

शुग्धि । ऊं इति । सु । शची-पते । इन्द्र । विश्वाभिः । ऊति-भिः ॥ भगम् । न । हि । त्वा । यशसम् । वसु-विदम् । अनु । शूर । चरामसि ॥ १ ॥

भाषार्थ—(शचीपते) हे वाणियों वा कर्मों के स्वामी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (विश्वाभिः) सब (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (उ) निश्चय करके (सु) भले प्रकार (शग्धि) शक्ति दे । (शूर) हे

धनवन् (वाचम्) वाणीम् (आ) आभिमुख्येन (इमाम्) (याम्) (ते) तुभ्यम् (वसिष्ठः) अतिशयेन वसुः श्रेष्ठो विद्वान् (अर्चति) समर्पयति (प्रशस्तिम्) उत्तमाम् (इमा) इमानि (ब्रह्म) ब्रह्माणि वेदज्ञानानि (सधमादे) सहहर्षस्थाने (जुषस्व) सेवस्व ॥

१—(शग्धि) अ० १८ । १५ । १ । शक्लेर्लोट् । शक्तिं देहि (उ) निश्चयेन (सु) (शचीपते) अ० ३ । १० । १२ । हे शचीनां वाचां कर्मणां वा पालक (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (विश्वाभिः) (ऊतिभिः) रक्षाभिः (भगम्)

शूर ! [परमेश्वर] (भगम् न) ऐश्वर्यवान् के समान (यशसम्) यशस्वी और (वसुविदम्) धन पहुंचाने वाले (त्वा हि अनु) तेरे ही पीछे (चरामसि) हम चलते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की भक्ति के साथ उत्तम कर्म और बुद्धि करके यशस्वी और धनी होवें ॥ १ ॥

मन्त्र १, २ ऋग्वेद में हैं—८। ६१ [सायण भाष्य ५०] । ५, ६ ; सामवेद उ० ७ । ३ । ३ ; म० १ सा० पू० ३ । ७ । १ ॥

पौरो अश्वस्य पुरुकृद् गवामस्युत्सो देव हिरण्ययः ।
नकिर्हि दानं परिमर्धिषत् त्वे यद्यद्यामि तदा भर ॥ २ ॥

पौरः । अश्वस्य । पुरु-कृत् । गवाम् । असि । उत्सः । देव । हिरण्ययः ॥ नकिः । हि । दानम् । परि-मर्धिषत् । त्वे इति । यत्-यत् । यामि । तत् । आ । भर ॥ २ ॥

भाषार्थ—(देव) हे देव ! [कामना योग्य परमेश्वर] तू (अश्वस्य) घोड़ों का (पौरः) भरपूर करने वाला, (गवाम्) गौओं का (पुरुकृत्) बहुत करने वाला, (हिरण्ययः) तेजोमय और (उत्सः) जल के स्रोत [कुये के समान उपकारी] (असि) है । (हि) क्योंकि (त्वे) तेरे (दानम्) दान को (नकिः) कोई भी नहीं (परिमर्धिषत्) नाश कर सकता, (यद्यत्) जो जो (यामि) मांगता हूं, (तत्) वह वह (आ भर) भर पूर कर ॥ २ ॥

ऐश्वर्यवन्तम् (न) इव (हि) एव (त्वा) (यशसम्) अर्शआद्यच् । यशस्विनम् (वसुविदम्) धनस्य लम्भकम् (अनु) अनुलक्ष्य (शूर) (चरामसि) गच्छामः ॥

२—(पौरः) पूर—अण् स्वार्थे । पूरः । पूरकः । पूरयिता (अश्वस्य) अश्वसमूहस्य (पुरुकृत्) बहुकर्ता (गवाम्) धेनूनाम् (असि) (उत्सः) कूपतुल्य उपकारकः (देव) कमनीय परमात्मन् (हिरण्ययः) तेजोमयः (नकिः) न कश्चिदपि (हि) यतः (दानम्) (परिमर्धिषत्) मृध मृधु हिंसायाम् आर्द्रीभावे च—लेट् । नाशयेत् (त्वे) (विभक्तेः शे । तव (यद्यत्) वस्तु (यामि) याचे (तत्) (आ) समन्तात् (भर) भर ॥

भावार्थ—मनुष्य परमेश्वर की सृष्टि में सब पदार्थों से उपकार लेकर सदा आनन्द पावे ॥ २ ॥

इन्द्रमिद् देवतातय इन्द्रं प्रयत्यध्वरे । इन्द्रं समीके वनिनो हवामह इन्द्रं धनस्य सातये ॥ ३ ॥

इन्द्रम् । इत् । देव-तातये । इन्द्रम् । प्र-यति । अध्वरे ॥ इन्द्रम् । सम्-ईके । वनिनः । हवामहे । इन्द्रम् । धनस्य । सातये ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] को (इत्) ही (देवतातये) दिव्य गुण फैलाने के लिये, (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (प्रयति) प्रयत्न साध्य (अध्वरे) बिना हिंसा वाले व्यवहार में, (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (समीके) युद्ध में, और (इन्द्रम्) इन्द्र [परमात्मा] को (धनस्य) धन के (सातये) मिलने के लिये. (वनिनः) शब्द करते हुये हम (हवामहे) पुकारते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने सब काम परमेश्वर को समर्पण करके पुरुषार्थ के साथ आनन्द पावे ॥ ३ ॥

मन्त्र ३, ४ ऋग्वेद में है—८ । ३ । ५, ६ ; सामवेद उ० ७ । ३ । ८ ; म० ३ सा० पू० ३ । ६ । ७ ॥

इन्द्रो मह्ना रोदसी पप्रथुच्छव इन्द्रः सूर्यमरोचयत् । इन्द्रे ह विश्वा भुवनानि येमिर इन्द्रे सुवानास इन्दवः ॥ ४ ॥

इन्द्रः । मह्ना । रोदसी इति । पप्रथत् । शवः । इन्द्रः । सूर्यम् । अरोचयत् ॥ इन्द्रे । ह । विश्वा । भुवनानि ।

३—(इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं परमात्मानम् (इत्) एव (देवतातये) दिव्यगुणानां विस्ताराय (इन्द्रम्) परमात्मानम् (प्रयति) अ० ७ । ९७ । १ । प्रयत्नसाध्ये (अध्वरे) हिंसारहिते व्यवहारे (इन्द्रम्) (समीके) अथ० २० । ८६ । ४ । संग्रामे (वनिनः) वन शब्दे—अच्, इनि । शब्दवन्तः (हवामहे) आह्वयामहे (इन्द्रम्) (धनस्य) (सातये) लाभाय ॥

येमिरे । इन्द्रे । सुवानासः । इन्दवः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] ने (शवः) बल की (महा) महिमा से (रोदसी) आकाश और भूमि को (पप्रथत्) फैलाया है, (इन्द्रः) इन्द्र [परमात्मा] ने (सूर्यम्) सूर्य को (अरोचयत्) चमकाया है । (इन्द्रे) इन्द्र [परमात्मा] में (ह) ही (विश्वा) सब (भुवनानि) भुवन (येमिरे) ठहरे हैं, (इन्द्रे) इन्द्र [परमात्मा] में (सुवानासः) उत्पन्न होते हुये (इन्दवः) ऐश्वर्य हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने ब्रह्माण्ड के भीतर सब ऐश्वर्यवान् पदार्थ रचे हैं, मनुष्य उस की भक्ति से सब पदार्थों से उपकार लेकर उन्नति करें ॥ ४ ॥

सूक्तम् ११९ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ पथ्या बृहती ; २ सतः पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरस्तुत्युपदेशः—परमेश्वर की स्तुति का उपदेश ॥

अस्तावि मन्म पूर्व्यं ब्रह्मेन्द्राय वोचत । पूर्वीर्ऋतस्य बृहतीरनूषत स्तोतुर्मेधा असृक्षत ॥ १ ॥

अस्तावि । मन्म । पूर्व्यम् । ब्रह्म । इन्द्राय । वोचत ॥ पूर्वीः । ऋतस्य । बृहतीः । अनूषत । स्तोतुः । मेधाः । असृक्षत ॥ १ ॥

भाषार्थ—(पूर्व्यम्) पुराना (मन्म) ज्ञान (अस्तावि) स्तुति-किया

४—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् परमात्मा (महा) महिम्ना । महत्त्वेन (रोदसी) आकाशभूमी (पप्रथत्) विस्तारितवान् (शवः) विभक्तेः सुः । शवसः । बलस्य (इन्द्रः) (सूर्यम्) प्रसिद्धम् (अरोचयत्) अदीपयत् (इन्द्रे) परमात्मनि (ह) एव (विश्वा) व्याप्तानि । सर्वाणि (भुवनानि) लोकजातानि (येमिरे) यम उपरमे—लिट् । नियमिताः स्थापिता बभूवुः (इन्द्रे) (सुवानासः) सूयमानाः । उत्पद्यमानाः (इन्दवः) ऐश्वर्याणि ॥

१—(अस्तावि) स्तुतम् (मन्म) ज्ञानम् (पूर्व्यम्) पुरातनम् (ब्रह्म)

गया है, (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मा] के पाने के लिये (ब्रह्म) वेद वचन को (वोचत) तुम बोलो । (ऋतस्य) सत्य ज्ञान की (पूर्वीः) पहिली (बृहतीः) बढ़ती हुई वाणियों की (अनूषत) उन्हों ने [ऋषियों ने] स्तुति की है और (स्तोतुः) स्तुति करने वाले विद्वान् की (मेधाः) धारणावती बुद्धियां (असृक्षत) दी है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिन वेद वाणियों को विचारकर ऋषि लोग सदा ज्ञानी होते हैं, उन्हीं वेद वाणियों को विचार कर मनुष्य अपना ज्ञान बढ़ावें ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ५२ । ६ [सायण भाष्य, अवशिष्ट, वालखिल्य, सू० ४ म० ६] ; सामवेद, उ० ८ । २ । ७ ॥

तुरण्यवो मधुमन्तं घृतश्चुतं विप्रासो अर्कमानृचुः ।
अस्मे रयिः पप्रथे वृष्ण्यं शवोऽस्मे सुवानास इन्दवः ॥ २ ॥

तुरण्यवः । मधु-मन्तम् । घृत-श्चुतम् । विप्रासः । अर्कम् । आनृचुः ॥ अस्मे इति । रयिः । पप्रथे । वृष्ण्यम् । शवः । अस्मे इति । सुवानासः । इन्दवः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(तुरण्यवः) फुरतीले (विप्रासः) बुद्धिमानों ने (मधुमन्तम्) मधु [वेदविद्या] वाले (घृतश्चुतम्) प्रकाश के बरसाने वाले (अर्कम्) पूजनीय परमात्मा को (आनृचुः) पूजा है । (अस्मे) हमारे लिये (रयिः) धन, और (वृष्ण्यम्) वीर के योग्य (शवः) बल (पप्रथे)

वेदवचनम् (इन्द्राय) परमेश्वरप्राप्तये (वोचत) लोडर्थे लुङ् । ब्रूत यूयम् (पूर्वीः) पूर्वकालीनाः (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (बृहतीः) वर्धमाना वाणीः (अनूषत) अ० २० । १७ । १ । अस्तुवन् ते ऋषयः (स्तोतुः) स्तुतिं कुर्वतः पुरुषस्य (मेधाः) धारणावती बुद्धीः (असृक्षत) सृज विसर्गे । दत्तवन्तः ॥

२—(तुरण्यवः) भृमिदिव्यधि० । उ० १ । २३ । त्वरण त्वरायाम् ; कण्ड्वादिः—कुप्रत्ययः । वेगशीलाः (मधुमन्तम्) वेदज्ञानवन्तम् (घृतश्चुतम्) अ० १० । ६ । ६ । श्चुतिर् क्षरणे—क्विप् । श्चोततिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । प्रकाशवर्षकम् (विप्रासः) मेधाविनः (अर्कम्) पूजनीयं परमात्मानम् (आनृचुः) अ० १२ । १ । ३८ । पूजितवन्तः (अस्मे) अस्मभ्यम् (रयिः) धनम् (पप्रथे)

फैल रहा है, (अस्मे) हमारे लिये (स्तुवानासः) उत्पन्न होते हुये (इन्दवः) ऐश्वर्य हैं ॥ २ ॥

भावार्थ- मनुष्य सर्वपूजनीय परमात्मा की महिमा विचार कर धनवान्, बलवान् और ऐश्वर्यवान होवें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ५१ । १० [सायण भाष्य, अवशिष्ट, वालखिल्य सू० ३ म० १०] ; सामवेद, उ० ७ । ३ । १६ ॥

सूक्तम् १२० ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ भुरिगार्ष्यनुष्टुप् ; २ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

यदि॑न्द्र॒ प्रागपा॒गुद॒ङ्न्य॑ग् वा हू॒यसे॒ नृभिः॑ ।
सिमा॑ पु॒रू नृषू॑तो अ॒स्यान॑वे॒ऽसि प्रशर्ध तु॒र्वशे॑ ॥ १ ॥

यत् । इ॒न्द्र॒ । प्राक् । अपा॑क् । उद॑क् । न्य॑क् । वा॒ । हू॒यसे॑ । नृ-भिः॑ ॥ सिम॑ । पु॒रु । नृ-सू॑तः । अ॒सि॒ । आन॑वे । असि॑ । प्र॒-श॒र्ध॒ । तु॒र्वशे॑ ॥ १ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जब (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में (वा) और (न्यक्) दक्षिण में (नृभिः) मनुष्यों करके (हूयसे) तू पुकारा जाता है। (सिम) हे सीमा बांधने वाले (प्रशर्ध) प्रबल ! [परमात्मन्] (आनवे) मनुष्यों के (तुर्वशे) हिंसकों के वश करने वाले पुरुष में (पुरु) बहुत प्रकार

विस्तृतं वर्तते (वृष्ण्यम्) वृष्णे बलवते हितम् (शवः) बलम् (अस्मे) अस्मभ्यम् । अन्यद् गतम्—अ० २० । ११८ । ४ ॥

१—(यत्) यदा (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (प्राक्) प्राच्यां दिशि (अपाक्) प्रतीच्यां दिशि (उदक्) उदीच्यां दिशि (न्यक्) नीच्यां दक्षिणस्यां दिशि (वा) च (हूयसे) आहूयसे (नृभिः) नेतृभिः (सिम) अविसिविसिशुषिभ्यः कित् । उ० १ । १४४ । षिञ् बन्धने—मन् कित् । हे सीमाकारक (पुरु) बहुलम् (नृषूतः) षू प्रेरणे—क्त । नरैः प्रेरितः प्रार्थितः (असि) (आनवे) अनु—अण् । अनवो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्यसम्बन्धिनि

(सुपूतः) तू मनुष्यों से प्रेरणा [प्रार्थना] किया गया (असि) है, (असि) है ॥१॥

भावार्थ—मनुष्य सब स्थानों में परमात्मा को वारंवार स्मरण करके परस्पर उपकार करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ४ । १, २; सामवेद, उ० ५ । १ । १३; म० १ सा० पू० ३ । ६ । ७ ॥

यद्वा रुमे रुशमे श्यावके कृप इन्द्र मादयसे सचा । कण्वासस्त्वा ब्रह्मभि स्तोमवाहस इन्द्रा यच्छन्त्या गहि ॥ २ ॥

यत् । वा । रुमे । रुशमे । श्यावके । कृपे । इन्द्र । मादयसे । सचा ॥ कण्वासः । त्वा । ब्रह्म-भिः । स्तोम-वाहसः । इन्द्र । आ । यच्छन्ति । आ । गहि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (यत्) जब (रुमे) ज्ञानी पुरुष में, (रुशमे) हिंसकों के फेंकने वाले में, (श्यावके) उद्योगी में (वा) और (कृपे) समर्थ में (सचा) नित्य मेल से (मादयसे) तू हर्ष पाता है, [तभी] (इन्द्र) हे इन्द्र [परमात्मन्] (स्तोमवाहसः) बड़ाई के प्राप्त कराने वाले (कण्वासः) बुद्धिमान् लोग (त्वा) तुझ को (ब्रह्मभिः) वेद वचनों से (आ यच्छन्ति) अपनी ओर खींचते हैं, (आ गहि) तू आ ॥ २ ॥

(असि) (प्रशर्ध) शृधु उत्साहे—अच् । शर्धो बलनाम—निघ० २ । ६ । हे प्रबल (तुर्वशे) अ० २० । ३७ । ८ । तुरां हिंसकानां वशयितरि ॥

२—(यत्) यदा (वा) च (रुमे) अविसिवि० । उ० १ । १४४ । रुङ् गतिरेषणयोः-मन्, कित् । ज्ञानिनि पुरुषे (रुशमे) रुश हिंसायाम्—क + टुमिञ् प्रक्षेपणे—डप्रत्ययः । हिंसकानां प्रक्षेप्तरि (श्यावके) अ० ५ । ५ । ८ ॥ गतिशीले । उद्योगिनि (कृपे) कृपू सामर्थ्ये—क । समर्थे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (मादयसे) हृष्यसि (सचा) समवायेन (कण्वासः) मेधाविनः (त्वा) (ब्रह्मभिः) वेदवचनैः (स्तोमवाहसः) अ० २० । ६८ । ११ । स्तुतिप्रापकाः (इन्द्र) (आ यच्छन्ति) आनीय यमयन्ति । आकर्षन्ति (आगहि) आगच्छ ॥

भावार्थ—परमात्मा स्वभाव से पुरुषार्थियों पर कृपा करता है, इसी से विद्वान् लोग उसे हृदय में वर्तमान जानकर संसार में उन्नति करते हैं ॥ २ ॥

सूक्तम् १२१ ॥

१—२ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १ निचृद्बृहती, २ निचृत् पङ्क्तिः ॥

परमेश्वरगुणोपदेशः—परमेश्वर के गुणों का उपदेश ॥

अभि त्वा शूर नोनुमोऽदुग्धा इव धेनवः ।

ईशानमस्य जगतः स्वर्दृशमीशानमिन्द्र तस्थुषः ॥ १ ॥

अभि । त्वा । शूर । नोनुमः । अदुग्धाः-इव । धेनवः ॥ ईशानम् । अस्य । जगतः । स्वः-दृशम् । ईशानम् । इन्द्र । तस्थुषः ॥१

भाषार्थ—(शूर) हे शूर (इन्द्र) इन्द्र ! [परमेश्वर] (अदुग्धाः) विना दुही (धेनवः इव) दुधेल गौओं के समान [झुककर] हम (अस्य) इस (जगतः) जंगम के (ईशानम्) स्वामी और (तस्थुषः) स्थावर के (ईशानम्) स्वामी, और (स्वर्दृशम्) सुख के दिखाने वाले (त्वा) तुझ को (अभि) सब ओर से (नोनुमः) अत्यन्त सराहते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—जैसे दूध से भरी गौयें दूध देने के लिये झुक जाती है, वैसे ही मनुष्य विद्या आदि शुभ गुणों से भर पूर होकर परमेश्वर की महिमा देखते हुये नम्र होकर संसार में उपकार करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—७ । ३२ । २२, २३; यजुर्वेद २७ । ३५, ३६; सामवेद उ० १ । १ । ११; म० १ सा० ३ । ३ । ५ ॥

१—(अभि) सर्वतः (त्वा) (शूर) (नोनुमः) अ० २० । १८ । ४ । भृशं स्तुमः (अदुग्धाः) क्षीरपूर्णोधस्त्वेन वर्तमानाः (इव) यथा (धेनवः) दोग्ध्र्यो गावः (ईशानम्) ईश्वरम् (अस्य) दृश्यमानस्य (जगतः) जंगमस्य (स्वर्दृशम्) सुखस्य दर्शयितारम् (ईशानम्) (इन्द्र) परमैश्वर्ययुक्त (तस्थुषः) स्थावरस्य ॥

न त्वावाँ अन्यो दि॒व्यो न पार्थि॑वो॒ न जा॒तो न ज॑निष्यते ।
अ॒श्वा॒यन्तो॑ मघवन्निन्द्र वा॒जिनो॑ ग॒व्यन्त॑स्त्वा हवामहे ॥ २ ॥

न । त्वा-वा॑न् । अ॒न्यः । दि॒व्यः । न । पार्थि॑वः । न । जा॒तः ।
न । ज॒नि॒ष्य॒ते ॥ अ॒श्व॒-यन्तः॑ । म॒घ॒-व॒न् । इ॒न्द्र॒ । वा॒जिनः॑ ।
ग॒व्यन्तः॑ । त्वा॒ । ह॒वा॒म॒हे॒ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले परमात्मन्] (त्वावान्) तेरे समान (अन्यः) दूसरा कोई (न) न तो (दिव्यः) आकाश में रहने वाला और (न) न (पार्थिवः) पृथिवी पर रहने वाला है, और (न) न (जातः) उत्पन्न हुआ है, और (न) न (जनिष्यते) उत्पन्न होगा । (अश्वयन्तः) घोड़े चाहते हुये, (गव्यन्तः) भूमि चाहते हुये, (वाजिनः) वेग वाले हम (त्वा) तुझ को (हवामहे) पुकारते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर से तुल्य वा अधिक बलवान् संसार में कोई नहीं है, इस प्रकार उसकी उपासना करके मनुष्य अपना वैभव बढ़ावें ॥ २ ॥

सूक्तम् १२२ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, २ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री ॥
सभापतिलक्षणोपदेशः—सभापति के लक्षण का उपदेश ॥

रे॒वती॑र्नः सध॒माद॒ इन्द्रे॑ सन्तु तु॒विवा॑जाः । क्षु॒मन्तो॒ याभि॒र्मदे॑म ॥ १ ॥

रे॒वतीः॑ । नः॒ । स॒ध॒-मादे॑ । इन्द्रे॑ । स॒न्तु॒ । तु॒वि-वा॑जाः ॥ क्षु॒-मन्तः॑ । याभिः॑ । मदे॑म ॥ १ ॥

२—(न) निषेधे (त्वावान्) त्वया सदृशः (अन्यः) भिन्नः कश्चित् (दिव्यः) दिवि आकाशे भवः (न) (पार्थिवः) पृथिव्यां विदितः (न) (जातः) उत्पन्नः (न) (जनिष्यते) उत्पत्स्यते (अश्वयन्तः) अश्वान् कामयमानाः (मघवन्) महाधनिन् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् परमात्मन् (वाजिनः) वेगवन्तः (गव्यन्तः) गां भूमिमिच्छन्तः (त्वा) त्वाम् (हवामहे) आह्वयामः ॥

भाषार्थ—(इन्द्रे) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सभापति] में (नः) हमारे (सधमादे) हर्ष युक्त उत्सव के बीच (रेवतीः) बहुत धन वाली और (तुविवाजाः) बहुत बल वाली [प्रजायें] (सन्तु) होवें। (याभिः) जिन [प्रजाओं] के साथ (क्षुमन्तः) बहुत अन्न वाले होकर (मदेम) हम आनन्द पावें ॥ १ ॥

भावार्थ—सभापति प्रयत्न करे कि सब प्रजागण उद्योगी, धनी होकर सुखी होवें ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—१। ३०। १३—१५; सामवेद, उ० ४। १। तृच १४; म० १ सा० पू० २। ६। ८ ॥

आ घ॒ त्वावा॒न् त्मना॒प्तस्तो॒तृभ्यो॑ धृष्णविया॒नः। ऋ॒णोरक्षं॒ न च॒क्र्योः॑ ॥ २ ॥

आ। घ॒। त्वा-वा॑न्। त्मना॑। आ॒प्तः। स्तो॒तृ-भ्यः॑। धृ॒ष्णो॒ इति॑। इ॒या॒नः॥ ऋ॒णोः। अक्ष॑म्। न। च॒क्र्योः॑ ॥ २ ॥

आ यद् दुवः॑ शतक्रतवा कामं॑ जरितॄ॒णाम्। ऋ॒णोरक्षं॒ न शची॑भिः ॥ ३ ॥

आ। यत्। दुवः॑। श॒त॒क्र॒तो॒ इति॑ शत-क्रतो। आ। काम॑म्। ज॒रि॒तॄ॒णाम्॥ ऋ॒णोः। अक्ष॑म्। न। शची॑भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(धृष्णो) हे निर्भय! [सभापति] (त्मना) अपने आप (त्वावान्) अपने सदृश (आप्तः) आप्त [सच्चा उपदेशक] (इयानः)

१—(रेवतीः) धनवत्यः प्रजाः (नः) अस्माकम् (सधमादे) आनन्देन सह वर्तमाने महोत्सवे (इन्द्रे) परमैश्वर्यवति सभाध्यक्षे (सन्तु) (तुविवाजाः) बहुबलयुक्ताः (क्षुमन्तः) बहुविधान्नयुक्ताः (याभिः) प्रजाभिः (मदेम) हृष्येम ॥

२—(आ) अभितः (घ) एव (त्वावान्) त्वत्सदृशः (त्मना) आत्मना (आप्तः) यथार्थज्ञाता। सत्योपदेष्टा (स्तोतृभ्यः) स्तावकेभ्यः

ज्ञानवान् तू (स्तोतृभ्यः) स्तुति करने वालों के लिये (घ) अवश्य (आ) सब प्रकार से (ऋणोः) प्राप्त हो, (न) जैसे (चक्रयोः) दोनों पहियों में (अक्षम्) धुरा [होता है] ॥ २ ॥ (यत्) क्योंकि, (शतक्रतो) हे सैकड़ों बुद्धियों वा कर्मों वाले ! [सभापति] (जरितॄणाम्) स्तुति करने वालों की (दुवः) सेवा को (कामम्) अपनी इच्छा के अनुसार (आ) सब ओर से (आ) पूरी रीति पर (ऋणोः) तू पाता है, (न) जैसे (अक्षम्) धुरा (शचीभिः) अपने कर्मों से [रथ को प्राप्त होता है] ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे धुरा पहियों के बीच में रहकर सब बोझ उठाकर रथ को चलाता है, वैसे ही सभापति राज्य का सब भार अपने ऊपर रखकर प्रजा को उद्योगी बनावे और प्रजा भी उसकी सेवा करती रहे ॥ २, ३ ॥

सूक्तम् १२३ ॥

१—२ ॥ सूर्यो देवता ॥ त्रिष्टुप् छन्दः ॥

सूर्यकृत्योपदेशः—सूर्य के काम का उपदेश ॥

तत् सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्तोर्विततं सं जभार ।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै ॥ १ ॥

तत् । सूर्यस्य । देव-त्वम् । तत् । महि-त्वम् । मध्या । कर्तोः । वि-ततम् । सम् । जभार ॥ यदा । इत् । अयुक्त । हरितः । सध-स्थात् । आत् । रात्री । वासः । तनुते । सिमस्मै ॥ १ ॥

(धृष्णो) हे निर्भय (इयानः) इङ् गतौ—कानच् । अभिज्ञाता (ऋणोः) ऋणु गतौ, लोडर्थे लङ् । प्राप्नुहि (अक्षम्) धूः (न) इव (चक्रयोः) आदृगमहनजनः । पा० ३ । २ । १७१ । करोतेः—कि प्रत्ययः । रथस्य चक्रयोः ॥

३—(आ) समन्तात् (यत्) यतः (दुवः) अ० । २० । ६८ । ५ । परिचरणम् (शतक्रतो) बहुप्रज्ञ । बहुकर्मन् (आ) अभितः । पूर्णतः (कामम्) यथेष्टम् (जरितॄणाम्) स्तावकानाम् (ऋणोः) म० २ । प्राप्नोषि (अक्षम्) धूः (न) इव (शचीभिः) कर्मभिः ॥

भावार्थ—(तत्) उस [ब्रह्म] ने (सूर्यस्य) सूर्य के (मध्या) बीच में (तत्) उस (विततम्) फैले हुये (देवत्वम्) प्रकाशपन को, (महित्वम्) बड़प्पन को और (कर्तोः) [आकर्षण आदि] कर्म को (सम् जभार) बटोर कर रख दिया है—कि (यदा इत्) जब ही वह [सूर्य] (हरितः) रस पहुंचाने वाली किरणों को (सधस्थात्) एक से स्थान से (अयुक्त) जोड़ता है, [आगे बढ़ाता है], (आत्) तभी (रात्री) रात्री (सिमस्मै) सब के लिये (वासः) वस्त्र [अन्धकार] (तनुते) फैलाती है ॥ १ ॥

भावार्थ—जिस परमात्मा ने बहुत बड़े तेजस्वी, आकर्षक सूर्य लोक को बनाया है, और जो उस सूर्य और पृथिवी की गति से प्रकाश और रात्रि करके प्राणियों को कार्य कुशलता और विश्राम देता है, सब मनुष्य उस जगदीश्वर की उपासना करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१ । ११५ । ४, ५ ॥

तन्मित्रस्य वरुणस्याभिचक्षे सूर्यो रूपं कृणुते द्योरुपस्थे ।
अनन्तमन्यद् रुशदस्य पाजः कृष्णमन्यद्धरितः सं भरन्ति ॥२

तत् । मित्रस्य । वरुणस्य । अभि-चक्षे । सूर्यः । रूपम् । कृणुते । द्योः । उप-स्थे ॥ अनन्तम् । अन्यत् । रुशत् अस्य । पाजः । कृष्णम् । अन्यत् । हरितः । सम् । भरन्ति ॥ २ ॥

भावार्थ—(तत्) उस (अनन्तम्) अनन्त [ब्रह्म] के द्वारा (द्योः)

१—(तत्) प्रसिद्धं ब्रह्म (सूर्यस्य) रविमण्डलस्य (देवत्वम्) प्रकाशत्वम् (तत्) प्रसिद्धम् (महित्वम्) महत्त्वम् (मध्या) विभक्तेराकारः । मध्ये (कर्तोः) करोतेः—तोसुन्प्रत्ययः । कर्म (विततम्) विस्तृतम् (सम्) संचित्य (जभार) जहार । गृहीतवान् (यदा) (इत्) एव (अयुक्त) युनक्ति (हरितः) रसप्रापकान् रश्मीन् (सधस्थात्) समानस्थानात् (आत्) अनन्तरम् (रात्री) (वासः) वस्त्रम् । अन्धकारम् (तनुते) विस्तारयति (सिमस्मै) सर्वस्मै संसाराय ॥

२—(तत्) तेन (मित्रस्य) प्राणस्य (वरुणस्य) उदानस्य (अभिचक्षे)

प्रकाश के (उपस्थे) गोद में (मित्रस्य) प्राण वायु और (वरुणस्य) उदान वायु के (अभिचक्षे) सब ओर देखने के लिये (सूर्यः) प्रेरणा करने वाला सूर्य लोक (रूपम्) रूप को (कृणुते) बनाता है, (अस्य) इस [सूर्य] के (अन्यत्) एक (रुशत्) प्रकाश और (अन्यत्) दूसरे (कृष्णम्) आकर्षण (पाजः) बल को (हरितः) दिशायें (सम्) मिलकर (भरन्ति) धारण करती हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—परमेश्वर के नियम से सूर्य लोक अपने प्रकाश से वायु में नीचे ऊपर जाने का बल उत्पन्न करके पृथिवी आदि लोकों को सब दिशाओं में आकर्षण में रखता है ॥ २ ॥

सूक्तम् १२४ ॥

१—६ ॥ १—३ इन्द्रो देवता; ४—६ इन्द्रो विश्वे देवाश्च देवताः ॥

१ गायत्री; २ निचृद् गायत्री, ३ पाद निचृद् गायत्री; ४ विराड् पङ्क्तिः; ५, ६ निचृत् त्रिष्टुप् ॥

राजप्रजाधर्मोपदेशः—राजा और प्रजा के धर्म का उपदेश ॥

कया नश्चित्र आ भुवदूती सदावृधः सखा । कया शचिष्ठया वृता ॥ १ ॥

कया । नः । चित्रः । आ । भुवत् । ऊती । सदा-वृधः । सखा ॥ कया । शचिष्ठया । वृता ॥ १ ॥

भाषार्थ—(चित्र !) विचित्र वा पूज्य और (सदावृधः) सदा बढ़ाने

चक्षिङ् दर्शने—क्विप् । संमुखदर्शनाय (सूर्यः) प्रेरकः सविता (रूपम्) चक्षुर्ग्राह्यंगुणम् (कृणुते) करोति (द्योः) प्रकाशस्य (उपस्थे) उपस्थाने मध्ये (अनन्तम्) अन्तरहितेन ब्रह्मणा। (अन्यत्) एकम् (रुशत्) रुश हिंसायाम्—शतृ—रुशदिति वर्णनाम रोचतेर्ज्वलतिकर्मणः—निरु० २। २०। ज्वलितवर्णम् दीप्यमानम् (अस्य) सूर्यस्य (पाजः) बलम् (कृष्णम्) आकर्षणम् (अन्यत्) द्वितीयम् (हरितः) दिशः (सम्) एकीभूय (भरन्ति) धरन्ति ॥

१—(कया) अन्येष्वपि दृश्यते । पा० ३ । २ । १०१ । कमेः क्रमेर्वा—डुप्रत्ययः क्रमे रेफलोपः स्त्रियां टाप् । कः कमनो वा क्रमणो वा सुखो वा—

वाला [राजा] (नः) हमारी (कया) कमनीय वा क्रमणशील [आगे बढ़ती हुई], अथवा सुख देने वाली [वा कौन सी] (ऊती) रक्षा से और (कया) कमनीय आदि [वा कौन सी] (शचिष्ठया) अति उत्तम वाणी वा कर्म वा बुद्धि वाले (वृता) वर्ताव से (सखा) [हमारा] सखा (आ) ठीक ठीक (भुवत्) होवे ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा प्रयत्न करके परस्पर प्रीति रक्खें ॥ १ ॥

मन्त्र १—३ ऋग्वेद में हैं—४ । ३१ । १—३; यजुर्वेद २७ । ३९-४१ तथा ३६ । ४—६; सामवेद उ० १ । १ । तृच १२, म० १ मा० पू० २ । ८ । ५ ॥

कस्त्वा सुत्यो मदा॑नां मंहि॑ष्ठो मत्सुदन्ध॑सः । दृह्ला चि॑दारुजे वसु॑ ॥ २ ॥

कः । त्वा । सुत्यः । मदा॑नाम् । मंहि॑ष्ठः । मत्सुत् । अन्ध॑सः ॥ दृह्ला । चित् । आ-रुजे॑ । वसु॑ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कः) कमनीय वा आगे बढ़ता हुआ, वा सुखदेने वाला (सत्यः) सत्य शील वाला, (मदानाम्) आनन्दों और (अन्धसः) अन्न का (मंहिष्ठः) महादानी राजा (दृह्ला) दृढ़ (वसु) धनों को (चित्) अवश्य

निरु १० । २२ । कमनीयया क्रमणशीलया गतिवत्या । सुखप्रदया । अथवा प्रश्नवाचकोऽस्ति (नः) अस्माकम् (चित्रः) अमिचिमि० । उ० ४ । १६४ । चिञ् चयने-क्त्र । चित्रं चायनीयम्—निरु० १२ । ६ । अद्भुतः । पूज्यः (आ) समन्तात् (भुवत्) भवतेर्लेट् । भवेत् (ऊती) ऊत्या रक्षया । गत्या (सदावृधः) वृधु—क्त । सदा वर्धमानो वर्धयिता वा (सखा) सुहृद् (कया (शचिष्ठया) शची-इष्ठन् मत्वर्थीयलोपः । शची=वाक्-निघ० १ । ११ । कर्म-२ । १ । प्रज्ञा-३ । ११ । अतिश्रेष्ठया वाचा क्रियया प्रज्ञया वा युक्तया (वृता) वृतु-क्विप् । वृत्या । वर्तनेन ॥

२—(कः) म० १ । कमनीयः । क्रमणशीलः । सुखप्रदः (त्वा) त्वां प्रजाजनम् (सत्यः) सत्सु साधुः (मदानाम्) आनन्दानाम् (मंहिष्ठः) अ० २० । १५ । १ । दातृतमः (मत्सत्) आनन्दयेत् (अन्धसः) अन्नस्य (दृह्ला) दृढानि (चित्) अवश्यम् (आरुजे) रुजो विध्ये च । पा० ३ । ४ । ११ । आ+

(आरुजे) खोलदेने के लिये (त्वा) तुझ [प्रजा जन] को (मन्दत्) तृप्त करे ॥ २ ॥

भावार्थ—सत्यशील राजा सुनीति से प्रजा को प्रसन्न रखकर धन धान्य को बढ़ावे ॥ २ ॥

अभी षु णः सखीनामविता जरितॄणाम् । शतं भवास्यूतिभिः ॥ ३ ॥

अभि । सु । नः । सखीनाम् । अविता । जरितॄणाम् ॥ शतम् । भवासि । ऊति-भिः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (सखीनाम्) [अपने] सखाओं और (जरितॄणाम्) स्तुति करने वाले (नः) हम लोगों का (सु) उत्तम (अविता) रक्षक होकर तू (शतम्) सौ प्रकार से (ऊतिभिः) रक्षाओं के साथ (अभि) सामने (भवासि) होवे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जिस प्रकार प्रजागण राजा के हित के लिये प्रयत्न करें, वैसे ही राजा भी उनका हित करे ॥ ३ ॥

इमा नु कं भुवना सीषधामेन्द्रश्च विश्वे च देवाः । यज्ञं च नस्तन्वं च प्रजां चादित्यैरिन्द्रः सह चीक्लृपाति ॥ ४ ॥

इमा । नु । कम् । भुवना । सीसधाम । इन्द्रः । च । विश्वे । च । देवाः ॥ यज्ञम् । च । नः । तन्वम् । च । प्र-जाम् । च । आदित्यैः । इन्द्रः । सह । चीक्लृपाति ॥ ४ ॥

रुजो भङ्गे—केन तुमर्थे । समन्ताद् भङ्क्तुम् । प्रकाशयितुम् । (वसु) वसूनि । धनानि ॥

३—(अभि) अभिमुखम् (सु) (नः) अस्माकम् (सखीनाम्) सुहृदाम् (अविता) रक्षकः (जरितॄणाम्) स्तोतॄणाम् । सद्गुणविदाम् (शतम्) बहुप्रकारेण (भवासि) लेटि रूपम् । भवेः (ऊतिभिः) रक्षाभिः ॥

भाषार्थ—(इमा) यह (भुवना) उत्पन्न पदार्थ, (च) और (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (च) और (विश्वे) सब (देवाः) विद्वान् लोग हम (नु) शीघ्र (कम्) सुख को (सीषधाम) सिद्ध करें। (आदित्यैः सह) अखण्ड व्रतधारी विद्वानों के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (नः) हमारे (यज्ञम्) यज्ञ [मेल मिलाप आदि] को (च) और (तन्वम्) शरीर (च) और (प्रजाम्) प्रजा [सन्तान आदि] को (च) भी (चीकॢपाति) समर्थ करे ॥ ४ ॥

भावार्थ—सभापति राजा और सभासद् लोग संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर सब की यथावत् रक्षा करें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४—६ आचुके हैं—अथ० २० । ६३ । १—३ ॥

आदित्यैरिन्द्रः सगणो मरुद्भिरस्माकं भूत्वविता तनूनाम् ।
हत्वाय देवा असुरान् यदायन् देवा देवत्वमभिरक्षमाणाः ॥५॥

आदित्यैः । इन्द्रः । स-गणः । मरुत्-भिः । अस्माकम् । भूतु । अविता । तनूनाम् ॥ हत्वाय । देवाः । असुरान् । यत् । आयन् । देवाः । देव-त्वम् । अभि-रक्षमाणाः ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(सगणः) गणों [सुभट वीरों] के साथ वर्तमान (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला सभापति] (आदित्यैः) अखण्ड व्रतधारी (मरुद्भिः) शूर मनुष्यों के साथ (अस्माकम्) हमारे (तनूनाम्) शरीरों का (अविता) रक्षक (भूतु) होवे । (यत्) क्योंकि (असुरान्) असुरों [दुराचारियों] को (हत्वाय) मारकर (देवाः) विजय चाहने वाले, (अभिरक्षमाणाः) सब ओर से रक्षा करते हुये (देवाः) विद्वानों ने (देवत्वम्) देवतापन [उत्तम पद] (आयन्) पाया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य शूर वीर विद्वानों के साथ प्रजा की रक्षा कर सके, वही अपने उत्तम कर्मों के कारण उत्तम पद सभापतित्व आदि के योग्य होवे ॥५॥

प्रत्यञ्चमर्कमनयं छचीभिरादित् स्वधामिषिरां पर्यपश्यन् ।
अया वाजं देवहितं सनेम मदेम शतहिमाः सुवीराः ॥ ६ ॥

४—६ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अथ० ६३ । १—३ ॥

प्रत्यञ्चम् । अर्कम् । अनयन् । शचीभिः । आत् । इत् । स्वधाम् । इषिराम् । परि । अपश्यन् ॥ अया । वाजम् । देव-हितम् । सनेम । मदेम । शत-हिमाः । सु-वीराः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(प्रत्यञ्चम्) प्रत्यक्ष पाने योग्य (अर्कम्) पूजनीय व्यवहार को (शचीभिः) अपने कर्मों से (अनयन्) उन [विद्वानों] ने प्राप्त कराया है, और (आत् इत्) तभी (इषिराम्) चलाने वाली (स्वधाम्) आत्म धारण शक्ति को (परि) सब ओर (अपश्यन्) देखा है । (अया) इसी [नीति] से (शतहिमाः) सौ वर्षों जीते हुये (सुवीराः) उत्तम वीरों वाले हम (देवहितम्) विद्वानों के हितकारी (वाजम्) विज्ञान को (सनेम) देवें और (मदेम) आनन्द करें ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग अपने उत्तम कर्मों से संसार का उपकार करते रहे हैं, वैसे ही हम श्रेष्ठ ज्ञान की प्राप्ति से मनुष्यों को वीर बनाकर आनन्द देवें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १२५ ॥

१—७ ॥ १—३, ६, ७ इन्द्रः; ४, ५ अश्विनौ देवते ॥ १—त्रिष्टुप्; २, ३ निचृत् त्रिष्टुप्; ४ निचृदनुष्टुप्; ५—७ विराडार्षी त्रिष्टुप् ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

अपेन्द्र प्राचो मघवन्नमित्रानपापाचो अभिभूते नुदस्व ।
अपोदीचो अप शूराधराच उरौ यथा तव शर्मन् मदेम ॥१॥

अप । इन्द्र । प्राचः । मघ-वन् । अमित्रान् । अप । अपाचः । अभि-भूते । नुदस्व ॥ अप । उदीचः । अप । शूर । अधराचः । उरौ । यथा । तव । शर्मन् । मदेम ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे महाधनी ! (अभिभूते) हे विजयी ! (शूर)

१—(अप) दूरे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (प्राचः) प्र+अञ्चतेः—

हे शूर ! (इन्द्र) हे इन्द्र !-[बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (प्राचः) पूर्व वाले (अमित्रान्) वैरियों को (अप) दूर, (अपाचः) पश्चिम वाले [वैरियों] को (अप) दूर, (उदीचः) उत्तर वाले [वैरियों] को (अप) दूर, और (अधराचः) दक्षिण वाले [वैरियों] को (अप) दूर (नुदस्व) हटा, (यथा) जिस से (तव) तेरी (उरौ) चौड़ी (शर्मन्) शरण में (मदेम) हम आनन्द करें ॥ १ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा सब दिशाओं के शत्रुओं का नाश करके प्रजा को सुख देवे ॥ १ ॥

यह सूक्त कुछ भेद से ऋग्वेद में है—१० । १३१ । १—७ ॥

कुविदुङ्ग यवमन्तो यवं चिद् यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूयं । इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः ॥ २ ॥

कुवित् । अङ्ग । यव-मन्तः । यवम् । चित् । यथा । दान्ति । अनु-पूर्वम् । वि-यूयं ॥ इह-इह । एषाम् । कृणुहि । भोजनानि । ये । बर्हिषः । नमः-वृक्तिम् । न । जग्मुः ॥ २ ॥

भाषार्थ—(अङ्ग) हे [राजन् !] (यवमन्तः) जौ आदि धान्य वाले [किसान लोग] (यथा चित्) जैसे ही (यवम्) जौ आदि धान्य को (अनुपूर्वम्) क्रम से (वियूय) अलग अलग करके (कुवित्) बहुत प्रकार (दान्ति) काटते हैं । (इहेह) इस इस [व्यवहार] में (एषाम्) उन [लोगों] के

किन्, शसु । प्राग्देशे वर्तमानान् (मघवन्) महाधनिन् (अमित्रान्) पीडकान् वैरिणः (अप) (अपाचः) पश्चिमदेशे वर्तमानान् (अभिभूते) अभिभवितः (नुदस्व) प्रेरय । दूरे गमय (अप) (उदीचः) उत्तरदेशे वर्तमानान् (अप) (शूर) (अधराचः) दक्षिणदिशि वर्तमानान् (उरौ) विस्तीर्णे (यथा) येन प्रकारेण (तव) (शर्मन्) शर्मणि । शरणे (मदेम) हृष्येम ॥

२—(कुवित्) बहुलम् (अङ्ग) हे (यवमन्तः) यवादिधान्ययुक्ताः कर्षकाः (यवम्) यवादिकम् (चित्) एव (यथा) (दान्ति) लुनन्ति (अनुपूर्वम्) यथाक्रमम् । धान्यानां जातिपाकक्रमेण (वियूय) पृथक् कृत्य (इहेह) अस्मिन्नस्मिन् व्यवहारे (एषाम्) पुरुषाणाम् (कृणुहि) कुरु

(भोजनानि) भोजनों और धनों को (कृणुहि) कर, (ये) जिन (बर्हिषः) बढ़ती करते हुये लोगों ने (नमोवृक्तिम्) सत्कार के त्याग को (न) नहीं (जग्मुः) पाया है ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे चतुर किसान जौ गेहूं आदि धान्य को काटकर उन को जाति और पकने के अनुसार एकत्र करते हैं, वैसे ही राजा आज्ञाकारी कर्मकुशल प्रजा गणों को उनकी योग्यता के अनुसार भोजन और धन आदि दान करे ॥ २ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में भी है—१० । ३२; १९ । ६; तथा २३ । ३८ ॥

नहि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे संगमेषु ।
गव्यन्त इन्द्रं सख्याय विप्रा अश्वायन्तो वृषणं वाजयन्तः ॥३

नहि । स्थूरि । ऋतु-था । यातम् । अस्ति । न । उत । श्रवः । विविदे । सम्-गमेषु ॥ गव्यन्तः । इन्द्रम् । सख्याय । विप्राः । अश्व-यन्तः । वृषणम् । वाजयन्तः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(स्थूरि) ठहरा हुआ [ढीला] काम (ऋतुथा) ऋतु के अनुसार [ठीक समय पर] (यातम्) पाया हुआ (नहि) नहीं (अस्ति) होता है, (उत) और [इसी कारण] (संगमेषु) समाजों [वा संग्रामों] में (श्रवः) यश (न) नहीं (विविदे) मिलता है, (सख्याय) मित्रता के लिये (वृषणम्) बलवान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (वाजयन्तः) वेगवान्

(भोजनानि) भोगसाधनानि खाद्यानि धनानि च (ये) पुरुषाः (बर्हिषः) वृद्धिकराः (नमोवृक्तिम्) वृजी वर्जने-क्त । नमस्कारस्य सत्कारस्य वर्जनं त्यागकरणम् (न) निषेधे (जग्मुः) प्रापुः ॥

३—(नहि) न कदापि (स्थूरि) स्थः किच्च । उ० ५ । ४ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क्रिन् । गतिशून्यं प्रवृत्तिरहितं कर्म (ऋतुथा) ऋतौ । निश्चितसमये (यातम्) प्राप्तं समाप्तम् (अस्ति) (न) निषेधे (उत) अपि (श्रवः) यशः (विविदे) लँडर्थे लिट् । लभ्यते प्राप्यते (संगमेषु) समाजेषु । संग्रामेषु (गव्यन्तः) भूमिमिच्छन्तः (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं राजानम् (सख्याय) सखिकर्मणे (विप्राः)

बनाते हुये (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (गव्यन्तः) भूमि चाहते हुये और (अश्वयन्तः) घोड़े चाहते हुये हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य कार्य आरम्भ करके आलस के मारे छोड़ देता है, वह यश नहीं पाता है, इस लिये वह विद्वानों से शिक्षा पाकर राज्य आदि कामों को पुरुषार्थ से चलावे ॥ ३ ॥

युवं सुराममश्विना नमुचावासुरे सचा ।
विपिपाना शुभस्पती इन्द्रं कर्मस्वावतम् ॥ ४ ॥

युवम् । सुरामम् । अश्विना । नमुचौ । आसुरे । सचा ॥
वि-पिपानः । शुभः । पती इति । इन्द्रम् । कर्म-सु ।
आवतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(शुभः पती) हे शुभ व्यवहार के पालन करने हारे (अश्विना) कर्मों में व्यापक [सभापति और सेनापति] (सचा) मिले हुये (विपिपाना) विविध प्रकार रक्षक (युवम्) तुम दोनों ने (नमुचौ) न छोड़ने योग्य [सदा रखने योग्य] (आसुरे) बुद्धिमान् पुरुष के व्यवहार में (कर्मसु) कर्मों के बीच वर्तमान, (सुरामम्) भले प्रकार आनन्द देने वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [परम ऐश्वर्य वाले धनी पुरुष] को (आवतम्) रक्षा की है ॥ ४ ॥

भावार्थ—प्रजा और सेना के अधिकारी मिलकर व्यवहार कुशल धनी पुरुषों की रक्षा करके खेती आदि व्यापारों से प्रजा को सुख पहुंचावें ॥ ४ ॥

मन्त्र ४, ५ यजुर्वेद में भी हैं—१० । ३३, ३४ तथा २० । ७६, ७७ ॥

मेधाविनः (अश्वयन्तः) तुरगानिच्छन्तः (वृषणम्) बलवन्तम् (वाजयन्तः) वेगवन्तं कुर्वन्तः ॥

४—(युवम्) युवाम् (सुरामम्) सुष्ठु रमयितारं आनन्दयितारम् (अश्विना) कर्मसु व्यापकौ सभासेनेशौ (नमुचौ) अ० २० । २१ । ७ । अमोचनीये । सदा रक्षणीये (आसुरे) असुर—अण् । असुः प्रज्ञा—निघ० ३ । ९, रो मत्वर्थे । असुरस्य मेधाविनः पुरुषस्य व्यवहारे (सचा) समवेतौ (विपिपाना) पा रक्षणे—कानच् । विविधं रक्षमाणौ (शुभः) कल्याणकरस्य व्यवहारस्य (पती) पालकौ (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं धनिकम (कर्मसु) (आवतम्) युवां रक्षितवन्तौ ॥

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दंसनाभिः । यत् सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक् ॥ ५ ॥

पुत्रम्-इव । पितरौ । अश्विना । उभा । इन्द्र । आवथुः । काव्यैः । दंसनाभिः ॥ यत् । सु-रामम् । वि । अपिबः । शचीभिः । सरस्वती । त्वा । मघ-वन् । अभिष्णक् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पितरौ) माता पिता (पुत्रम् इव) जैसे पुत्र को [वैसे] (अश्विना) कामों में व्यापक [सभापति और सेनापति] (उभा) तुम दोनों ने (काव्यैः) बुद्धिमानों के किये व्यवहारों से और (दंसनाभिः) दर्शनीय क्रियाओं से [राज्य की] (आवथुः) रक्षा की है, और (मघवन्) हे महाधनी (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (यत्) क्योंकि (सुरामम्) बड़े आनन्द देने वाले [आनन्द रस] को (शचीभिः) अपनी बुद्धियों से (वि) विविध प्रकार (अपिबः) तू ने पिया है, (सरस्वती) सरस्वती [विज्ञान युक्त विद्या] ने (त्वा) तुझ को (अभिष्णक्) सेवन किया है ॥ ५ ॥

भावार्थ—जब प्रजा और सेना के अधिकारी पूरी प्रीति से प्रजा की रक्षा करते हैं, और जब मुख्य सभापति राजा भी तत्त्व जानने वाला होता है, उस राज्य में विद्या की वृद्धि होती है ॥ ५ ॥

इन्द्रः सुत्रामा स्ववाँ अवोभिः सुमृडीको भवतु विश्ववेदाः । बाधतां द्वेषो अभयं नः कृणोतु सुवीर्यस्य पतयः स्याम ॥६॥

५—(पुत्रम्) सन्तानम् (इव) यथा (पितरौ) जननीजनकौ (अश्विना) कर्मसु व्यापकौ सभासेनेशौ (उभा) द्वौ (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (आवथुः) राज्यं रक्षितवन्तौ युवाम् (काव्यैः) कविभिर्मेधाविभिर्निर्मितैर्व्यवहारैः (दंसनाभिः) अथ० २० । ७४ । २ । दर्शनीयाभिः क्रियाभिः (यत्) यतः (सुरामम्) म० ४ । शोभनानन्दयितारम् (वि) विविधम् (अपिबः) पीतवानसि (शचीभिः) प्रज्ञाभिः (सरस्वती) विज्ञानयुक्ता विद्या (त्वा) (मघवन्) महाधनिन् (अभिष्णक्) भिष्णज् उपसेवायां कण्ड्वादिः, लङ्, यको लुक् छान्दसः । उपसेवताम् ॥

इन्द्रः । सु-त्रामा । स्व-वान् । अवः-भिः । सु-मृळीकः । भवतु । विश्व-वेदाः ॥ बाधताम् । द्वेषः । अभयम् । नः । कृणोतु । सु-वीर्यस्य । पतयः । स्याम ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बहुत से ज्ञाति पुरुषों वाला, (विश्ववेदाः) बहुत धन वा ज्ञान वाला (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (अवोभिः) अनेक रक्षाओं से (सुमृडीकः) अत्यन्त सुख देने वाला (भवतु) होवे। वह (द्वेषः) वैरियों को (बाधताम्) हटावे, (नः) हमारे लिये (अभयम्) निर्भयता (कृणोतु) करे और हम (सुवीर्यस्य) बड़े पराक्रम के (पतयः) पालन करने वाले (स्याम) होवें ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा दुष्ट स्वभावों और दुष्ट लोगों को नाश करके प्रजा की रक्षा करे ॥ ६ ॥

मन्त्र ६, ७, आचुके हैं—अथ० ७ सू० ९१, ९२ ॥

स सुत्रामा स्ववाँ इन्द्रो अस्मदाराच्चिद् द्वेषः सनुतर्युयोतु। तस्य वयं सुमतौ यज्ञियस्यापि भद्रे सौमनसे स्याम ॥ ७ ॥

सः । सु-त्रामा । स्व-वान् । इन्द्रः । अस्मत् । आरात् । चित् । द्वेषः । सनुतः । युयोतु ॥ तस्य । वयम् । सु-मतौ । यज्ञियस्य । अपि । भद्रे । सौमनसे । स्याम ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (सुत्रामा) बड़ा रक्षक, (स्ववान्) बड़ा धनी, (इन्द्रः) इन्द्र [महा प्रतापी राजा] (अस्मत) हम से (आरात् चित्) बहुत ही दूर (द्वेषः) शत्रुओं को (सनुतः) निर्णय पूर्वक (युयोतु) हटावे। (वयम्) हम लोग (तस्य) उस (यज्ञियस्य) पूजा योग्य [राजा] की (अपि) ही (सुमतौ) सुमति में और (भद्रे) कल्याण करने वाली (सौमनसे) प्रसन्नता में (स्याम) रहें ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य प्रजा रक्षक, शत्रुनाशक राजा की आज्ञा में रहकर सदा प्रसन्न रहें ॥ ७ ॥

६, ७—मन्त्रौ व्याख्यातौ—अथ० ७ सू० ९१, ९२ ॥

सूक्तम् १२६ ॥

१—२३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ १, ५—७ १०—१५, १८, १९, २३ पङ्क्तिः, २ विराडार्षी पङ्क्तिः; ३, ४, ८, ९, २०—२२ निचृत् पङ्क्तिः, १६, १७ विराट् पङ्क्तिः ॥

गृहस्थकर्तव्योपदेशः—गृहस्थ के कर्तव्य का उपदेश ॥

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत। यत्रामदद् वृषाकपिर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १ ॥

वि। हि। सोतोः। असृक्षत। न। इन्द्रम्। देवम्। अमंसत ॥ यत्र। अमदत्। वृषाकपिः। अर्यः। पुष्टेषु। मत्-सखा। विश्वस्मात्। इन्द्रः। उत्-तरः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(हि) क्योंकि (सोतोः) तत्त्व रस का निकालना (वि असृक्षत) उन्हों ने [लोगों ने] छोड़ दिया है, [इसी से] (देवम्) विद्वान् (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य आत्मा] को (न अमंसत) उन्हों ने नहीं जाना, (यत्र) जहां [संसार में] (अर्यः) स्वामी (मत्सखा) मेरा [देह वाले का] साथी (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् कंपाने वाले अर्थात् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा) ने (पुष्टेषु) पुष्टि कारक धनों में (अमदत्)

१—(वि) वियोगे (हि) यस्मात् कारणात् (सोतोः) ईश्वरे तोसुन्कसुनौ। पा० ३। ४। १३। षुञ् अभिषवे—तोसुन्। अभिषोतुम्। तत्त्वरसं निष्पादयितुम् (असृक्षत) विसृष्टवन्तः। त्यक्तवन्तः (न) निषेधे (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं मनुष्यम् (देवम्) विद्वांसम् (अमंसत) मन ज्ञाने—लुङ्। ज्ञातवन्तः (यत्र) यस्मिन् संसारे (अमदत्) हृष्टोऽभूत् (वृषाकपिः) कनिन् युवृषितक्षि०। उ० १। १५६। वृष सेचने पराक्रमे च—कनिन्, यद्वा, इगुपधज्ञाप्रीकिरः। पा० ३। १। १३५। इति कप्रत्ययः। कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च। उ० ४। १४४। कपि चलने-इप्रत्ययः। अन्येषामपि दृश्यते। पा० ६। ३। १३७। इति दीर्घः। वृषाकपिः पदनाम—निघ० ५। ६। अथ यद् रश्मिभिरभिप्रकम्पयन्नेति तद् वृषाकपिर्भवति वृषाकम्पनः—निरु० १२। २७। हरविष्णू वृषाकपी—

आनन्द पाया है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य, दूसरे जीवों से अधिक उत्तम और तत्त्व ज्ञानी होने पर भी अपने सामर्थ्य और कर्तव्य को भूल जाते हैं, वे आत्मघाती संसार में सुख कभी नहीं पाते ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—१० । ८६ । १—२३ ॥

सूचना—इस सूक्त में इन्द्र, वृषाकपि, इन्द्राणी और वृषाकपायी का वर्णन है । इन्द्र शब्द से मनुष्य का शरीरधारी जीवात्मा, वृषाकपि से भीतरी जीवात्मा, इन्द्राणी से इन्द्र की विभूति वा शक्ति और वृषाकपायी से वृषाकपि की विभूति वा शक्ति तात्पर्य है, अर्थात् एक ही मनुष्य के जीवात्मा का वर्णन भिन्न भिन्न प्रकार से है । इन्द्र अर्थात् शरीरधारी मनुष्य सब प्राणियों से श्रेष्ठ है, वह अपने को बुराई से बचाकर भलाई में सदा लगावे—सूक्त का यही सारांश है ॥

परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः । नो अह प्र विन्दस्यन्यत्र सोमपीतये विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २ ॥

परा । हि । इन्द्र । धावसि । वृषाकपेः । अति । व्यथिः ॥ नो इति । अह । प्र । विन्दसि । अन्यत्र । सोम-पीतये ॥०॥२

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] तू (हि) ही (वृषाकपेः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] से (अति) अत्यन्त (व्यथिः) व्याकुल होकर (परा) दूर (धावसि) दौड़ता है ।

अमरः, २३ । १३० । वृषाकपि.=विष्णुः, शिवः, अग्निः, इन्द्रः, सूर्यः—इति शब्दकल्पद्रुमः । वृषा बलवान्, कपिः कम्पयिता चेष्टयिता इन्द्रो जीवात्मा (अर्यः) स्वामी (पुष्टेषु) पोषकेषु धनेषु (मत्सखा) मम शरीरधारिणः सखा (विश्वस्मात्) सर्वस्मात् प्राणिमात्रात् (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् शरीरधारी मनुष्यः (उत्तरः) श्रेष्ठतरः ॥

२—(परा) दूरे (हि) अवधारणे (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (धावसि) शीघ्रं गच्छसि (वृषाकपेः) म० १ । बलवच्चेष्टाकारकात् जीवात्मनः (अति) अत्यन्तम् (व्यथिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ ।

(अन्यत्र) [अपने आत्मा से] दूसरे [प्राणी] में (सोमपीतये) सोम [तत्त्व रस] के पान के लिये (नो अह) कभी नहीं (प्र विन्दसि) तू पाया जाता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य आत्मज्ञान के बिना कष्टों से व्याकुल होकर अपने सामर्थ्य को सोचकर काम करता है, वही तत्त्व मार्ग पर चलकर आप सुखी होता और सब को सुखी करता है ॥ २ ॥

किमुयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः । यस्मा इरस्यसीदु न्व१र्यो वा पुष्टिमद् वसु विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ३ ॥

किम् । अयम् । त्वाम् । वृषाकपिः । चकार । हरितः । मृगः ॥ यस्मै । इरस्यसि । इत् । ऊं इति । नु । अर्यः । वा । पुष्टि-मत् । वसु । ० ॥ ३ ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्य] (किम्) कौनसा [अपकार] (अयम्) इस (हरितः) छीन लेने वाले, (मृगः) घूमने वाले मृग [जंगली पशु के समान] (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] ने (त्वाम्) तुझ को (चकार) किया है ? (यस्मै) जिस [जीवात्मा] के लिये (अर्यः) स्वामी होकर तू (पुष्टिमत्) पुष्टि रखने वाले (वसु) धन का (इत्) भी (वा) अवश्य (उ) निश्चय करके (नु) अब (इरस्यसि) डाह करता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से

व्यथ भयसंचलनयोः—इन् । व्याकुलः (नो) नैव (अह) निश्चयेन (प्र) (विन्दसि) लभसे । प्राप्य से (अन्यत्र) स्वात्मनो भिन्ने (सोमपीतये) तत्त्वरसपानाय । अन्यत् पूर्ववत् ॥

३—(किम्) किमपकारम् (अयम्) विचार्यमाणः (त्वाम्) मनुष्यम् (वृषाकपिः) म० १ । बलवच्चेष्टाकारको जीवात्मा (चकार) कृतवान् (हरितः) हरणशीलः (मृगः) मृगो मार्ष्टेर्गतिकर्मणः—निरु १३ । ३ । भ्रमणशीलो वनचतुष्पाद (यस्मै) वृषाकपये जीवात्मने (इरस्यसि) इरस ईर्ष्यायाम्, कण्ड्वादिः । ईर्ष्यसि (इत्) अपि (उ)-एव (नु) इदानीम् (अर्यः) स्वामी

(उत्तरः) उत्तम है ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि पशु के समान आचरण अर्थात् पाप-बुद्धि और डाह छोड़कर पुरुषार्थ से वृद्धि करे ॥ ३ ॥

यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि । श्वा न्वस्य जम्भिषदपि कर्णे वराहयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ४ ॥

यम् । इमम् । त्वम् । वृषाकपिम् । प्रियम् । इन्द्र । अभिरक्षसि ॥ श्वा । नु । अस्य । जम्भिषत् । अपि । कर्णे । वराह-युः । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (त्वम्) तू (यम्) जिस (इमम्) इस (प्रियम्) प्यारे (वृषाकपिम्) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा) की (अभिरक्षसि) सब ओर से रक्षा करे, [तो] (नु) क्या (वराहयुः) सुअर को ढूंढने वाला (श्वा) कुत्ता [अर्थात् पाक कर्म] (अस्य) इस [सूअर अर्थात् जीव] के (अपि) भी (कर्णे) कान में (जम्भिषत्) काटेगा, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ४ ॥

भावार्थ—जब सब प्राणियों में श्रेष्ठ मनुष्य अपने आत्मा को अपने वश में कर लेता है, तब उसको कोई पाप कर्म ऐसा नहीं सताता है, जैसे कुत्ता सूअर को कान पकड़कर झंझोर डालता है ॥ ४ ॥

प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत् । शिरो न्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ५ ॥

(वा) अवधारणे (पुष्टिमत्) पोषणयुक्तम् (वसु) धनम् । सिद्धमन्यत् ॥

४—(यम्) जीवात्मानम् (इमम्) शरीरे विद्यमानम् (त्वम्) (वृषाकपिम्) म० १ । बलवच्च चेष्टाकारकं जीवात्मानम् (प्रियम्) इष्टम् (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (अभिरक्षसि) परिपालयसि (श्वा) कुक्कुरः (नु) प्रश्ने (अस्य) जीवात्मनः (जम्भिषत्) भक्षयेत् (अपि) एव (कर्णे) श्रोत्रे (वराहयुः) वराहं शूकरमिच्छन् । अन्यद् गतम् ॥

प्रिया । तुष्टानि । मे । कपिः । वि-अक्ता । वि । अदूदुषत् ॥
शिरः । नु । अस्य । राविषम् । न । सु-गम् । दुः-कृते ।
भुवम् । ० ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(कपिः) कपि [चंचल जीवात्मा] ने (मे) मेरे (व्यक्तानि) स्वच्छ किये हुये (प्रिया) प्यारे (तष्टानि) कर्मों को (वि) विरुद्धपन से (अदूदुषत्) दूषित कर दिया है (अस्य) इस [पाप कर्म] के (शिरः) शिर को (नु) अब (राविषम्) मैं काट डालूं, और (दुष्कृते) दुष्ट कर्म में (सुगम्) सुगम (न) नहीं (भुवम्) हो जाऊं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वान् जितेन्द्रिय मनुष्य के मन मे यदि पाप की लहर उठे, वह ज्ञान से उस को सर्वथा नष्ट करके अपना महत्त्व दृढ़ बनाये रक्खे ॥ ५ ॥

न मत्स्त्री सुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत् । न मत् प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ६ ॥

न । मत् । स्त्री । सुभसत्-तरा । न । सुयाशु-तरा । भुवत् ॥
न । मत् । प्रति-च्यवीयसी । न । सक्थि । उत्-यमीयसी । ० ६

भाषार्थ—(स्त्री) कोई स्त्री (मत्) मुझ से (न) न (सुभसत्तरा)

५—(प्रिया) कमनीयानि (तष्टानि) कृतानि कर्माणि (मे) मम (कपिः) म० १ । कुण्ठिकम्प्योर्नलोपश्च । उ० ४ । १४४ । कपि चलने—इप्रत्ययः । चपलो जीवात्मा (व्यक्ता) वि + अञ्जू—क्त । स्वच्छीकृतानि (वि) विरोधे (अदूदुषत्) दुष वैकृत्ये—णिच् लुङ् । दूषितवान् (शिरः) मस्तकम् (नु) इदानीम् (अस्य) पापकर्मणः (राविषम्) रुङ् गतिरेषणयोः—लुङ्, अडभावः । लुनीयाम् (न) निषेधे (सुगम्) यथा तथा सुगमम् (दुष्कृते) दुष्टकर्मणि (भुवम्) भवेयम् । अन्यद् गतम् ॥

६—(न) निषेधे (मत्) मत्तः (स्त्री) अन्या नारी (सुभसत्तरा) शुद्-

अधिक बड़ी शोभा वाली, (न) न (सुयाशुतरा) अधिक सुन्दर यत्न वाली, (न) न (मत्) मुझ से (प्रतिच्यवीयसी) अधिक सहने वाली और (न) न (सक्थि) जंघा [आदि शरीर के अंगों] को (उद्यमीयसी) उद्योग में अधिक लगाने वाली (भुवत्) होवे, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ६ ॥

भावार्थ—स्त्रियां भी मनुष्य शरीर पाकर सब प्रकार विद्या ग्रहण करें और कर्तव्य में चतुर बनकर अन्य स्त्रियों और प्राणियों से अपनी शोभा अधिक बढ़ावें ॥ ६ ॥

उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति । भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरो मे वीव हृष्यति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥७॥

उवे । अम्ब । सुलाभिके । यथा-इव । अङ्ग । भविष्यति ॥ भसत् । मे । अम्ब । सक्थि । मे । शिरः । मे । वि-इव । हृष्यति । ० ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(उवे) हे (अम्ब) अम्मा ! (अङ्ग) हे (सुलाभिके) सुन्दर लाभ कराने वाली ! (यथा इव) जैसा कुछ (भविष्यति) आगे होगा [वैसा किया जावे], (अम्ब) हे अम्मा ! (मे) मेरा (भसत्) चमकता हुआ कर्म, (मे) मेरी (सक्थि) जंघा, (मे) मेरा (शिरः) शिर (वि) विविध

भसोऽदिः । उ० १ । १३० । भस दीप्तौ—अदि । अधिकसुदीप्यमाना । सुभगतरा (न) (सुयाशुतरा) यसु प्रयत्ने—उण्, सस्य शः । अतिशयेन सुप्रयतमाना (भुवत्) भवेत् (न) (मत्) (प्रतिच्यवीयसी) च्युङ् सहने गतौ च—तृच, ईयसुन् । प्रत्यक्षेणाधिकच्यावयित्री । अधिकसहनशीला (न) (सक्थि) जंघादिशरीराङ्गजातम् (उद्यमीयसी) यमु उपरमे—तृच, ईयसुन् । अतिशयेन उद्यमयित्री । अन्यद् गतम् ॥

७—(उवे) संबोधने निपातः । हे (अम्ब) मातः (सुलाभिके) शोभनलाभे (यथा इव) येन प्रकारेणैवोक्तं तथैव (अङ्ग) हे (भविष्यति) भवतु (भसत्) म० ६ । दीप्यमानं कर्म (मे) मम (अम्ब) (सक्थि) म०

प्रकार से (इव) ही (हृष्यति) आनन्द देवे, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ७ ॥

भावार्थ—सब लड़के लड़कियां गुणवती माता से, शरीर के अङ्गों से सुन्दर चेष्टा करके बलवान् और गुणवान् होना सीखें ॥ ७ ॥

किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टो पृथुजाघने । किं शूरपत्नि नुस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ८ ॥

किम् । सुबाहो इति सु-बाहो । सु-अङ्गुरे । पृथुस्तो इति पृथु-स्तो । पृथु-जघने ॥ किम् । शूर-पत्नि । नः । त्वम् । अभि । अमीषि । वृषाकपिम् । ० ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(सुबाहो) हे बलवान् भुजाओं वाली ! (स्वङ्गुरे) हे दृढ़ अंगुलियों वाली ! (पृथुजघने) हे मोटी जंघाओं वाली ! (पृथुष्टो) हे बड़ी स्तुति वाली ! [कुलवधू] (किम्) क्यों, (शूरपत्नि) हे शूर की पत्नी ! (किम्) क्यों, (त्वम्) तू (नः) हमारे (वृषाकपिम्) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] को (अभि) सर्वथा (अमीषि) पीड़ा देगी, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ८ ॥

भावार्थ—रूपवती, बलवती, गुणवती स्त्री पुत्र पुत्रियों को रूपवान्, बलवान् और गुणवान् बनाकर पति आदि को सदा प्रसन्न करे ॥ ८ ॥

अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते । उताहमस्मि वीरि-

---

६ । जंघा (मे) (शिरः) (मे) (वि) विविधम् (इव) अवधारणे (हृष्यति) हर्षयतु । अन्यद् गतम् ॥

८—(किम्) आक्षेपे । किमर्थम् (सुबाहो) बलयुक्तभुजोपेते (स्वङ्गुरे) दृढाङ्गुलिके (पृथुष्टो) अथ० ७ । ४६ । १ । ष्टुञ् स्तुतौ—डु । बहुस्तुतियुक्ते (पृथुजघने) स्थूलजंघे (किम्) (शूरपत्नि) हे वीरस्य भार्ये (नः) अस्माकम् (त्वम्) (अभि) सर्वतः (अमीषि) अम पीडने । आमयसि । पीडयिष्यसि (वृषाकपिम्) म० १ । बलवन्तं चेष्टयितारं जीवात्मानम् । अन्यत् पूर्ववत् ॥

वीरिणीन्द्रपत्नी मुरुत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ९ ॥

अवीराम्-इव । माम् । अयम् । शराऽरुः । अभि । मन्यते ॥
उत । अहम् । अस्मि । वीरिणी । इन्द्र-पत्नी । मरुत्-सखा०९

भाषार्थ—(अयम्) यह (शराऽरुः) अपकारी मनुष्य (माम्) मुझ [स्त्री] को (अवीराम् इव) अवीर स्त्री के समान (अभि मन्यते) मानता है, (उत) और (अहम्) मैं (वीरिणी) वीरिणी [वीर सन्तानों वाली], (इन्द्र-पत्नी) इन्द्र पत्नी [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य की पत्नी], और (मरुत्सखा) विद्वान् वीरों को साथी रखने वाली (अस्मि) हूं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य](विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ९ ॥

भावार्थ—वीर पत्नी स्त्री वीर सन्तानों और वीर पुरुषों के साथ रहकर दुष्टों से निर्भय होवे ॥ ९ ॥

संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वावं गच्छति । वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १० ॥

सम्-होत्रम् । स्म । पुरा । नारी । समनम् । वा । अव । गच्छति ॥ वेधाः । ऋतस्य । वीरिणी । इन्द्र-पत्नी । महीयते । ० ॥ १० ॥

भाषार्थ—(नारी) नारी [नरों का हितकरने हारी स्त्री] (पुरा) पहिले काल से (स्म) ही (संहोत्रम्) मिलकर अग्निहोत्र आदि यज्ञ करने (वा) और (समनम्) मिलकर जीवन करने को (अव गच्छति) जानती है । (ऋतस्य)

९—(अवीराम्) अबलाम् (इव) यथा (माम्) स्त्रियम् (अयम्) (शराऽरुः) शॄवन्द्योरारुः । पा० ३ । २ । १७३ । शॄ हिंसायाम्—आरु । घातुकः । अपकारी (अभि) आभिमुख्ये (मन्यते) जानाति (उत) अपि च (अहम्) स्त्री (अस्मि) (वीरिणी) वीरसन्तानवती (इन्द्रपत्नी) इन्द्रस्य ऐश्वर्यवतः पुरुषस्य भार्या (मरुत्सखा) मरुद्भिर्विद्वद्भिः शूरैर्युक्ता । अन्यद् गतम् ॥

१०—(संहोत्रम्) पत्यादिभिः सहाग्निहोत्रादियज्ञम् (स्म) एव (पुरा) पुरस्तात् (नारी) नराणां हिता स्त्री (समनम्) अन प्राणने—अच् । सहजी-

सत्य ज्ञान का (वेधाः) विधान करने वाली (वीरिणी) वीरिणी [वीर सन्तानों वाली], (इन्द्रपत्नी) इन्द्रपत्नी [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य की स्त्री] (महीयते) पूजी जाती है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम श्रेष्ठ है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ज्ञानवती स्त्री अपने सदृश वीर पति से विवाह करके वीर सन्तानें उत्पन्न करती है, वही संसार में बड़ाई पाती है ॥ १० ॥

इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम् । नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ ११ ॥

इन्द्राणीम् । आसु । नारिषु । सु-भगाम् । अहम् । अश्रवम् ॥ नहि । अस्याः । अपरम् । चन । जरसा । मरते । पतिः । ० ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(आसु) इन (नारिषु) चलायी गयी प्रजाओं के बीच (इन्द्राणीम्) इन्द्राणी [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष की विभूति वा शक्ति] को (सुभगाम्) बड़ी भगवती [ऐश्वर्य वाली] (अहम्) मैं ने (अश्रवम्) सुना है (अस्याः) इस [विभूति] का (पतिः) पति [पालन करने वाला, इन्द्र यह मनुष्य] (अपरम् चन) दूसरे प्राणियों के समान (जरसा) वयोहानि से (नहि) नहीं (मरते) मरता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ ११ ॥

वनम् (वा) समुच्चये (अव गच्छति) जानाति (वेधाः) विधात्री (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (वीरिणी) म० ६ (इन्द्रपत्नी) म० ३ (महीयते) पूज्यते । अन्यद् गतम् ॥

११—(इन्द्राणीम्) इन्द्राणीन्द्रस्य पत्नी—निरु० ११ । ३७। इन्द्राणी इन्द्रस्य पत्नी इन्द्रस्य विभूतिः—दुर्गाचार्यः । परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य विभूतिं शक्तिम् (आसु) दृश्यमानासु (नारिषु) वसिवपियजि०। उ० ४ । १२५ । नृ नये-इञ् । नीतासु प्रजासु (सुभगाम्) बह्वैश्वर्यवतीम् (अहम्) मनुष्यः (अश्रवम्) अश्रौषम् । श्रुतवानस्मि (नहि) नैव (अस्याः) विभूतेः (अपरम्) अन्यम् प्राणिजातम् (चन) सादृश्ये (जरसा) वयोहान्या । निर्बलत्वेन (मरते) म्रियते (पतिः) पालकः । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—यह वेदादि शास्त्रों से प्रसिद्ध है कि उन्नतिशील मनुष्य अपनी बुद्धि आदि शक्तियों को ठिकाने रखकर सदा बलवान् रहकर यशस्वी होवे ॥ ११ ॥

नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते। यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १२ ॥

न। अहम्। इन्द्राणि। ररण। सख्युः। वृषाकपेः। ऋते॥ यस्य। इदम्। अप्यम्। हविः। प्रियम्। देवेषु। गच्छति। ० ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(इन्द्राणि) हे इन्द्राणी! [इन्द्र, बड़े ऐश्वर्यवान् मनुष्य की विभूति] (सख्युः) सखा (वृषाकपेः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] के (ऋते) बिना (अहम्) मैं [शरीरधारी] (न) नहीं (ररण) चलसकता, (यस्य) जिस [वृषाकपि, जीवात्मा] का (इदम्) यह (अप्यम्) प्रजाओं का हितकारी (प्रियम्) प्यारा (हविः) हवि [देने लेने योग्य, घृत, जल आदि पदार्थ] (देवेषु) विद्वानों में (गच्छति) पहुंचता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १२ ॥

०भावार्थ—मनुष्य अपनी शक्ति को अपने मित्र जीवात्मा के साथ दृढ़ रखकर स्वस्थ रह, और सब प्राणियों से उत्तम होकर मोक्ष सुख पावे ॥ १२ ॥

वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे। घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १३ ॥

वृषाकपायि। रेवति। सु-पुत्रे। आत्। ऊं इति। सु-स्नुषे ॥

१२—(न) निषेधे (अहम्) शरीरी जीवः (इन्द्राणि) म० ११। हे परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य विभूते (ररण) रण गतौ शब्दे च—लडर्थे लिट्। गच्छामि (सख्युः) सखिभूतात् (वृषाकपेः) म० १। बलवतश्चेष्टयितुर्जीवात् (ऋते) विना (यस्य) वृषाकपेः (इदम्) दृश्यमानम् (अप्यम्) अपां प्रजानां हितम् (हविः) दातव्यग्राह्यं घृतजलादिकम् (प्रियम्) प्रीतिकरम् (देवेषु) विद्वत्सु (गच्छति) प्राप्यते। अन्यत् सिद्धम् ॥

घसंत् । ते । इन्द्रः । उक्षणः । प्रियम् । काचित्-करम् । हविः ॥० ॥ १३

भाषार्थ—(वृषाकपायि) हे वृषाकपायी ! [वृषाकपि बलवान्, चेष्टा कराने वाले जीवात्मा की विभूति] (रेवति) हे धनवाली ! (सुपुत्रे) हे वीर पुत्रों की करने वाली ! (सुस्नुषे) हे बहुत सुख बरसाने वाली ! (आत् उ) लगातार ही (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (ते) तेरे (उक्षणः) बढ़ती करने वाले पदार्थों को (घसत्) खावे, वह (प्रियम्) प्यारा (काचित्-करम्) सुख का सब ओर से एकत्र करने वाला (हविः) हवि [म० १२ । घृत, जल आदि पदार्थ] है, [क्योंकि] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १३ ॥

भावार्थ—मनुष्य आत्मबल को अपनी विभूति में संयुक्त करके संसार के सब पदार्थों से उपकार लेकर आनन्द पावे ॥ १३ ॥

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम् । उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १४ ॥

उक्षणः । हि । पञ्च-दश । साकम् । पचन्ति । विंशतिम् ॥

१३—(वृषाकपायि) मं० १। वृषाकप्यग्नि० पा० । ४ । १ । ३७ । वृषाकपि—ङीप्, ऐकारादेशश्च । वृषाकपायी वृषाकपेः पत्न्यपैवाभिसृष्टकालतमा निरु० १२ । ८ । वृषाकपायी वृषाकपेः पत्नी, वृषाकपिरादित्यः, तस्य पत्नी, तद्विभूतिः इति दुर्गाचार्यः । वृषाकपायी श्रीगौर्योः—इत्यमरः,२३ । १५६ । लक्ष्मीः,गौरी,स्वाहा, शची, जीवन्ती, शतावरी—इति शब्दकल्पद्रुमः । हे वृषाकपेर्जीवात्मनो विभूते (रेवति) धनवति (सुपुत्रे) सु वीराः पुत्रा यस्याः सकाशात् सा सुपत्रा तत्सम्बुद्धौ (आत्) अनन्तरम् (उ) एव (सुस्नुषे) स्नुव्रश्चि० । उ० ३ । ६६ । ष्णु प्रस्रवणे—सः कित्, टाप् । स्नुषा साधुसादिनीति वा साधुसाधिनीति वा स्वपत्यं तत् सनोतीति वा—निरु० १२ । ६ । बहुसुखस्य वर्षयित्रि (घसत्) घस्लृ अदने—लेट् । भक्षयेत् (ते) तव (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् मनुष्यः (उक्षणः) उक्षतेर्वृद्धिकर्मणः—निरु० १२ । ६ । वृद्धिकरान् पदार्थान् (प्रियम्) इष्टम् (काचित्करम्) क + आ + चिञ् चयने—क्विप्, तुक् + करोतेः—अच् । सुखाचयकरं सुखकरम्—निरु० १२ । ६ । कं सुखं तस्याचित् संचः, तत्करम् (हविः)म० १२ । घृतजलादिकम् । अन्यद् गतम् ॥

उत । अहम् । अद्मि । पीवः । उभा । कुक्षी इति । पृणन्ति । मे०१४

भाषार्थ—(पञ्चदश, विंशतिम्) पन्द्रह, बीस [अर्थात् बहुत से] (उक्षणः) बढ़ती करने वाले पदार्थों को (मे) मेरे लिये (हि) ही (साकम्) एक साथ (पचन्ति) वे [ईश्वर नियम] परिपक्व करते हैं, (उत) और (अहम्) मैं, पीवः) उन के पुष्टि कारक रस को (इत्) ही (अद्मि) खाता हूं, और (मे) मेरी (उभा) दोनों (कुक्षी) कोखों को (पृणन्ति) वे [पदार्थ] भरते हैं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणीमात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १४ ॥

भावार्थ—परमात्मा ने संसार में अनेक उपकारी पदार्थ उत्पन्न किये हैं, मनुष्य उन का सार लेकर शरीर और आत्मा की पुष्टि करे ॥ १४ ॥

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्। मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भावयुर्विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १५ ॥

वृषभः । न । तिग्म-शृङ्गः । अन्तः । यूथेषु । रोरुवत् ॥ मन्थः । ते । इन्द्र । शम् । हृदे । यम् । ते । सुनोति । भावयुः । ०॥१५

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (यूथेषु अन्तः) यूथों के बीच (रोरुवत्) दहाड़ते हुये, (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्ण सींगों वाले (वृषभः न) बैल के समान, (मन्थः) वह तत्त्व रस (ते) तेरे (हृदे) हृदय के लिये (शम्) शान्ति दायक हो, (यम्) जिस [तत्त्व रस] को (ते) तेरे

१४—(उक्षणः) म० १३ । वृद्धिकरान् पदार्थान् (हि) एव (मे) मह्यम् (पञ्चदश, विंशतिम्) बहुसंख्याकान् (साकम्) सह (पचन्ति) परिपक्वान् कुर्वन्ति ते परमेश्वरनियमाः (उत) अपि च (अहम्) मनुष्यः (अद्मि) भक्षयामि (पीवः) पीव स्थौल्ये-असुन् । पुष्टिकरं रसम् (इत्) एव (उभा) उभौ-। द्वौ (कुक्षी) उदरस्य वामदक्षिणपार्श्वौ (पृणन्ति) पूरयन्ति ते पदार्थाः (मे) मम । अन्यद् गतम् ॥

१५—(वृषभः) पुङ्गवः (न) इव (तिग्मशृङ्गः) तीक्ष्णविषाणः (अन्तः) मध्ये (यूथेषु) सजातीयसमूहेषु (रोरुवत्) रु शब्दे-यङ्लुकि शतृ । भृशं ध्वनिं कुर्वन् (मन्थः) तत्त्वरसः (ते) तव (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य

लिये (भावयुः) मत्ता चाहने वाला [परमात्मा] (सुनोति) मथता है, [क्योंकि] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् सांड़ अपने झुंडों को वश में करके सुख को प्राप्त होता है, वैसे ही प्रतापी मनुष्य परमात्मा के उत्पन्न किये पदार्थों से तत्त्व रस ग्रहण करके सुखी होवे ॥ १५ ॥

न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सुक्थ्या३ कपृत् । सेदीशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १६ ॥

न । सः । ईशे । यस्य । रम्बते । अन्तरा । सुक्थ्या । कपृत् ॥ सः । इत् । ईशे । यस्य । रोमशम् । नि-सेदुषः । वि-जृम्भते०१६

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (न ईशे) ऐश्वर्यवान् नहीं होता है, (यस्य) जिस का (कपृत्) शिर पालने वाला कपाल (सक्थ्या अन्तरा) दोनों जंघाओं के बीच (रम्बते) नीचे लटकता है, (सः इत्) वही पुरुष (ईशे) ऐश्वर्यवान् होता है, (यस्य निषेदुषः) जिस बैठे हुये [विचारते हुये] पुरुष का (रोमशम्) रोम वाला मस्तक [ज्ञान सामर्थ्य] (विजृम्भते) फैलता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य को चाहिये कि आलस्य से मस्तक झुकाकर अपने

(शम्) सुखदः (हृदे) हृदयाय (यम्) मन्थम् (ते) तुभ्यम (सुनोति) निष्पादयति (भावयुः) भावं सत्तामिच्छुकः । अन्यद् गतम् ॥

१६—(न) निषेधे (सः) पुरुषः (ईशे) ईष्टे । ऐश्वर्यवान् भवति (यस्य) (रम्बते) लम्ब रः । लम्बते । अधस्तादाश्रियते (अन्तरा) मध्ये (सक्थ्या) सक्थिनी । जंघे (कपृत्) क+पॄ पालने-क्विप्, तुक् । कस्य शिरसः पालकः । कपालः (सः) (इत्) एव (ईशे) ईष्टे (यस्य) (रोमशम्) मत्वर्थे शप्रत्ययः । रोमयुक्तं मस्तकम् (निषेदुषः) उपविष्टस्य (विजृम्भते) विस्तृतं भवति । विस्तीर्यते । अन्यद् गतम ॥

ज्ञान को संकुचित न करे, किन्तु शिर को सब ओर घुमाकर भली भान्ति विचारकर ज्ञान बढ़ाता हुआ अपना इन्द्रत्व दिखावे ॥ १६ ॥

न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषो विजृम्भते । सेदीशे यस्य रम्बते-ऽन्तरा सुक्थ्या३ कपृद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १७ ॥

न । सः । ईशे । यस्य । रोमशम् । नि-सेदुषः । वि-जृम्भते ॥
सः । इत् । ईशे । यस्य । रम्बते । अन्तरा । सक्थ्यौ । कपृत्०१७

भाषार्थ—(सः) वह पुरुष (न ईशे) ऐश्वर्यवान् नहीं होता, (यस्य निषेदुषः) जिस बैठे हुये [आलसी] का (रोमशम्) रोम वाला मस्तक (विजृम्भते) जमाई लेता है, (सः इत्) वही पुरुष (ईशे) ऐश्वर्यवान् होता है, (यस्य) जिस का (कपृत्) शिर पालने वाला कपाल (सक्थ्या अन्तरा) दोनों जंघाओं के बीच [ध्यान में] (रम्बते) नीचे लटकता है, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १७ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य आलस्य से शिर झुकाकर ऊंघने लगते हैं, उन को विद्या, सुवर्ण और राज्य आदि ऐश्वर्य नहीं मिलता, ऐश्वर्य उन को मिलता है जो शिर को झुकाकर अपना आपा सोचते हुये इन्द्र बनते हैं ॥ १७ ॥

अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत् । असिं सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १८ ॥

अयम् । इन्द्र । वृषाकपिः । परस्वन्तम् । हतम् । विदत् ॥
असिम् । सूनाम् । नवम् । चरुम् । आत् । एधस्य । अनः । आ-चितम्०॥ १८ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (अयम्) इस (वृषाकपिः) वृषाकपि [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] ने (पर-

१७—(विजृम्भते) आलस्येन जृम्भां मुखविकाशं करोति । अन्यत् पूर्ववत् ॥
१८—(अयम्) प्रसिद्धः (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (वृषाकपिः)

स्वन्तम्) पालने वाले व्यवहार को (हतम्) नाश किया हुआ (विदत्) पाय है, (आत्) तभी (नवम्) नवीन (चरम्) स्थान [अर्थात् देश निकाला] [अथवा] (असिम्) तलवार, (सूनाम्) वध स्थान, और (एधस्य) इन्धन का (आचितम्) भरा हुआ (अनः) छकड़ा [पाया है], (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १८ ॥

भावार्थ—जो पापी आत्मा उपकारी व्यवस्था को तोड़े, उस को दण्ड रीति से ऐसा कष्ट भोगना चाहिये, जैसे कोई अपराधी देश से निकाला जावे, अथवा तलवार आदि शस्त्र से मारकर लकड़ी से भस्म किया जावे ॥ १८ ॥

अयमेमि विचाकशद् विचिन्वन् दासमार्यम् । पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशं विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ १९ ॥

अयम् । एमि । वि-चाकशत् । वि-चिन्वन् । दासम् । आर्यम् ॥ पिबामि । पाक-सुत्वनः । अभि । धीरम् । अचाकशम् ० १९ ॥

भाषार्थ—(विचाकशत्) विविध प्रकार सुशोभित हुआ, और (दासम्) डाकू और (आर्यम्) आर्य [श्रेष्ठ पुरुष] को (विचिन्वन्) पहिचानता हुआ (अयम्) यह मैं [इन्द्र] (एमि) चलता हूं, (पाकसुत्वनः) पक्के विद्वान् के तत्त्व रस का (पिबामि) पान करता हूं और (धीरम्) धीर

म० १ । बलवान् चेष्टयिता जीवात्मा (परस्वन्तम्) पॄ पालनपूरणयोः—असुन् । पालनवन्तं व्यवहारम् (हतम्) हिंसितम् (विदत्) अविदत् । प्राप्तवान् (असिम्) खड्गम् (सूनाम्) षू क्षेपे—क्त, टाप् । प्राणिवधस्थानम् (नवम्) नवीनम् (चरम्) चरस्थानम् । विवासनम् (आत्) अनन्तरम् (एधस्य) इन्धनस्य (अनः) शकटम् (आचितम्) पूर्णम् । अन्यद् गतम् ॥

१९—(अयम्) इन्द्रः (एमि) गच्छामि (विचाकशत्) अ० १२ । ३ । १ । काश्ट दीप्तौ यङ्लुकि शतृ । विविधं भृशं शोभमानः (विचिन्वन्) चिञ् चयने—शतृ । परिचिन्वन् । विशेषेण जानन् (दासम्) उपक्षेपयितारम् । दस्युम् (आर्यम) श्रेष्ठं पुरुषम् (पिबामि) पानं करोमि (पाकसुत्वनः) शुभ्

[बुद्धिमान्] को (अभि) सब प्रकार (अचाकशम्) सुशोभित करता हूं, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ १९ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि श्रेष्ठ गुणों से सुशोभित होकर, दुष्टों और शिष्टों की विवेचना करके शिष्टों का मान और दुष्टों का अपमान करता हुआ इन्द्रत्व दिखावे ॥ १९ ॥

धन्व॑ च॒ यत् कृ॒न्तत्रं॑ च॒ कति॑ स्वि॒त् ता वि योज॑ना । नेदी॑यसो वृषाकपे॒ऽस्त॒मेहि॑ गृ॒हाँ उप॒ विश्व॑स्मा॒दिन्द्र॒ उत्त॑रः ॥ २० ॥

धन्व॑ । च॒ । यत् । कृ॒न्तत्र॑म् । च॒ । कति॑ । स्वि॒त् । ता । वि । योज॑ना ॥ नेदी॑यसः । वृषा॒कपे॒ । अस्त॑म् । आ । इ॒हि॒ । गृ॒हान् । उप॑ । ० ॥ २० ॥

भाषार्थ—(यत्) जो (कृन्तत्रम्) काटने योग्य वन (च च) और (धन्व) निर्जल देश हैं, (ता) वे (कति स्वित्) कितने ही (योजना) योजन (वि) दूर दूर हैं । (वृषाकपे) हे वृषाकपि ! [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] तू (नेदीयसः) अधिक समीप वाले (गृहान्) घरों को और (अस्तम्) अपने घर को (उप) आदर से (आ इहि) आ, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २० ॥

अभिपवे—कनिप् । पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आत्मा—निरु० ३ । १२ । विपक्वप्रज्ञस्य तीव्रवरसस्य (अभि) सर्वतः (धीरम्) बुद्धिमन्तम् (अचाकशम्) काशृ दीप्तौ यङ्लुकि लङ् । शोभयामि । अन्यद् गतम् ॥

२०—(धन्व) धन्वानि । निर्जलदेशान् (च) (यत्) (कृन्तत्रम्) कृतेर्नुम् च । उ० ३ । १०६ । कृती छेदने—कत्रन् नुम् च । छेदनीयं वनम् (च) (कति) किंपरिमाणानि (स्वित्) प्रश्ने (ता) तानि धन्वानि (वि) विकृष्टानि (योजना) चतुः क्रोशपरस्थानानि (नेदीयसः) अतिशयेन समीपस्थान् (वृषाकपे) म० १ । हे बलवन् चेष्टयितर्जीवात्मन् (अस्तम्) स्वगृहम् (आ इहि) आगच्छ (गृहान्) (उप) आदरे । अन्यद् गतम् ॥

भावार्थ—(वृषाकपे) हे वृषाकपि ! [बलवान् चेष्टा कराने वाले जीवात्मा] (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] [और हे इन्द्राणी ! मनुष्य की विभूति] (यत्) जब (उदञ्चः) ऊपर चढ़ते हुये तुम सब (गृहम्) घर (अजगन्तन) पहुंच गये, (स्यः) वह (पुल्वघः) महापापी, (जनयोपनः) मनुष्य को घबरा देने वाला, (मृग) पशु [पशु समान गिरा हुआ जीवात्मा] (क) कहां (कम्) किस मनुष्य को (अगन्) पहुंचा, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २२ ॥

भावार्थ—जब मनुष्य अपने आत्मा और बुद्धि आदि विभूति को ठिकाने ले आता है, वह कभी भी कुकर्मी होकर सङ्कट में नहीं पड़ता है ॥२२॥

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम् । भद्रं भल त्यस्या अभूद् यस्या उदरमामयद् विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः ॥ २३ ॥

पर्शुः । ह । नाम । मानवी । साकम् । ससूव । विंशतिम् ॥ भद्रम् । भल । त्यस्यै । अभूत् । यस्याः । उदरम् । आमयत् । विश्वस्मात् । इन्द्रः । उत्-तरः ॥ २३ ॥

भावार्थ—(पर्शुः) शत्रुओं का नाश करने वाली (मानवी) मनुष्य की विभूति ने (ह) निश्चय करके (नाम) प्रसिद्ध (विंशतिम्) बीस [पाँच

२२—(यत्) यदा (उदञ्चः) उद्गामिनः सन्तः (वृषाकपे) म० १ । हे बलवन् चेष्टयितर्जीवात्मन् (गृहम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य । हे इन्द्राणि च यूयं सर्वे (अजगन्तन) गमेर्लङि मध्यमबहुवचने छान्दसः शपः श्लुः । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । तनबादेशः । यूयम् अगच्छत (क) कुत्र (स्यः) सः (पुल्वघः) पुरु+अघ पापकरणे—अच् रस्य लः । बहुपापः (मृगः) म० ३ । पशुतुल्यो नीचगामी जीवात्मा (कम्) प्रश्ने । मनुष्यम् (अगन्) अगच्छत् (जनयोपनः) जनमोहनः । अन्यद् गतम् ॥

२३—(पर्शुः) आङ्परयोः खनिशृभ्यां डिच्च । उ० १ । ३३ । पर+शॄ हिंसायाम्—कु डित्, पृषोदरादित्वादकारलोपः । पराणां शत्रूणां नाशयित्री (ह) अवधारणे (नाम) प्रसिद्धौ (मानवी) अ० ३ । २४ । ३ । मनु—अण्,

ज्ञानेन्द्रियों और पांच कर्मेन्द्रियों और इन के दस विषयों] को (साकम्) एक साथ (ससूव) उत्पन्न किया है। (भल) हे विचारवान्! [आत्मा] (तस्यै) उस [माता] के लिये (भद्रम्) कल्याण (अभूत्) हुआ है, (यस्याः) जिस [माता] के (उदरम्) पेट को (आमयत्) उस [गर्भ] ने पीड़ा दी थी, (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला मनुष्य] (विश्वस्मात्) सब [प्राणी मात्र] से (उत्तरः) उत्तम है ॥ २३ ॥

भावार्थ—दस इन्द्रियां और उनके दस विषय, मनुष्य की उत्तम विभूति अर्थात् शक्ति से उत्तम होते हैं, इस लिये मनुष्य तपश्चरण से उत्तम विद्या प्राप्त करके सुख पावे; जैसे माता गर्भ का कष्ट सहकर उत्तम सन्तान उत्पन्न करके सुख पाती है ॥ २३ ॥

अथ कुन्तापसूक्तानि [१२७-१३६] ॥

सूक्तम् १२७ ॥

१—१४ ॥ प्रजापतिरिन्द्रो वा देवता ॥ १, २ पथ्या बृहती ; ३, ५, १२ निचृदनुष्टुप् , ४, ७, ६—११, १३ अनुष्टुप् ; ६ भुरिगुष्णिक् ; ८ भुरिगनुष्टुप् ; १४ निचृत् पङ्क्तिः ॥

राजधर्मोपदेशः—राजा के धर्म का उपदेश ॥

इदं जना उप श्रुत नराशंस स्तविष्यते । षष्टिं सहस्रा नवतिं च कौरम आ रुशमेषु दद्महे ॥ १ ॥

इदम् । जनाः । उप । श्रुत । नराशंसः । स्तविष्यते ॥ षष्टिम् । सहस्रा । नवतिम् । च । कौरम । आ । रुशमेषु । दद्महे ॥ १ ॥

ङीष्। मनेर्मनुष्यस्येयं विभूतिः (साकम्) सह (ससूव) ससूवेति निगमे। पा० ७। ४। ७४। इति सूतेर्लिटि रूपम्। सुषुवे। जनयामास (विंशतिम्) दशेन्द्रियाणि दश तेषां विषयान् च (भद्रम्) कल्याणम् (भल) भल वधे दाने निरूपणे च—अच्। हे निरूपकात्मन् (स्यस्यै) तस्यै। जनन्यै (अभूत्) (यस्याः) जनन्याः (उदरम्) गर्भाशयम् (आमयत्) अम पीडने। पीडितवान् स गर्भः। अन्यत् पूर्ववत् ॥

[सूचना—सूक्त १३६ के मन्त्र १ तथा ४ को छोड़कर, यह कुन्तापसूक्त १२७—१३६ ऋग्वेद आदि अन्य वेदों में नहीं हैं। हम स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द कृत पद सूची से पद पाठ को संग्रह करके और कुछ शोधकर लिखते हैं। आगे सूचना अथर्व० २० । ३४ । १२, १६, १७; ९८ । १—२; ४४ । १—३ भी देखो ॥]

भाषार्थ—(जनाः) हे मनुष्यो ! (इदम्) यह (उप) आदर से (श्रुत) सुनो, [कि] (नराशंसः) मनुष्यों में प्रशंसा वाला पुरुष (स्तविष्यते) बड़ाई किया जावेगा। (कौरम) हे पृथिवी पर रमण करने वाले राजन् ! (षष्टिम् सहस्रा) साठ सहस्रा (च) और (नवतिम्) नव्वे [अर्थात् अनेक दानों] को (रुशमेषु) हिंसकों के फैंकने वाले वीरों के बीच (आ ददद्महे) हम पाते हैं ॥ १ ॥

भावार्थ—उत्तम कर्म करने वाला मनुष्य संसार में सदा बड़ाई पाता है, यह विचार कर राजा कर्मकुशल वीरों के बीच आदर कर के सुपात्रों को अनेक दान देवे ॥ १ ॥

(कुन्तापसूक्तानि) का अर्थ पाप वा दुःख के भस्म करने वाले सूक्त अर्थात् वेद मन्त्रों के समुदाय है ॥

उष्ट्रा यस्य प्रवाहणो वधूमन्तो द्विर्दश । वर्ष्मा रथस्य नि जिहीडते दिव ईषमाणा उपस्पृशः ॥ २ ॥

उष्ट्राः । यस्य । प्रवाहणः । वधूमन्तः । द्विः दश ॥ वर्ष्मा ।

[कुन्तापसूक्तानि—कुङ् आर्तस्वरे—डुप्रत्ययः + तप दाहे—घञ्, अलुक्समासः + सु + वच कथने—क्त । कोः पापस्य दुःखस्य तापकानि दाहकानि सूक्तानि सुन्दरकथनानि वेदमन्त्रसमुदायाः—इत्यर्थः] ॥

१—(इदम्) वक्ष्यमाणम् (जनाः) हे मनुष्याः (उप) आदरे (श्रुत) शृणुत (नराशंसः) अथ० ५ । २७ । ३ । नरेषु आशंसा यस्य सः । मनुष्येषु प्रशंसनीयः (स्तविष्यते) स्तुत्यो भविष्यति (षष्टिं सहस्रा नवतिं च) बहुसंख्याकानि दानानि—इत्यर्थः (कौरम) कौ + रमु क्रीडायाम्—अच्, अलुक्समासः । हे कौ पृथिव्यां रमणशील राजन् (रुशमेषु) अथ० २० । २० । २ । रुशमाणां हिंसकानां प्रक्षेपकेषु वीरेषु (आ ददद्महे) वयं गृह्णीमः ॥

रथस्य । नि । जिहीडते । दिवः । ईषमाणाः । उपस्पृशः २॥

एष इषाय मामहे शतं निष्कान् दश स्रजः ।
त्रीणि शतान्यर्वतां सहस्रा दश गोनाम् ॥ ३ ॥

एषः । इषाय । मामहे । शतम् । निष्कान् । दश । स्रजः ॥
त्रीणि । शतानि । अर्वताम् । सहस्रा । दश । गोनाम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यस्य) जिस [राजा] के (रथस्य) रथ के (प्रवाहणः) ले चलने वाले, (ईषमाणाः) शीघ्र गामी, (उपस्पृशः) जुते हुये (वधूमन्तः) ऊंटनियों सहित, (द्विर्दश) दो बार दस (उष्ट्राः) ऊंट (दिवः) उन्मत्त मनुष्य के (वर्ष्मा=वर्ष्माणम्) ऊंचे पद को (नि जिहीडते) अपमान करते रहते हैं ॥ २ ॥ (एषः) उस [राजा] ने (इषाय) उद्योगी पुरुष को (शतम्) सौ (निष्कान्) दीनार [सुवर्ण मुद्रा], (दश) दस (स्रजः) मालायें, (अर्वताम् त्रीणि शतानि) तीन सौ घोड़े और (गोनाम् दश सहस्रा) दस सहस्र गौयें (मामहे) दान दी हैं ॥ ३ ॥

२—(उष्ट्राः) उषिकुशिभ्यां कित् । उ० ४ । १६२ । उष दाहे; वधे च—ष्ट्रन् कित् । पशुभेदाः (यस्य) राज्ञः (प्रवाहणः) वह प्रापणे—णिच्, कनिन् । वाहकाः (वधूमन्तः) उष्ट्रीसहिताः (द्विर्दश) द्विवारं दश । विंशतिम् (वर्ष्मा) अ० ३ । ४ । २ । वृष प्रजननैश्वर्ययोः—मनिन् । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । द्वितीयास्थाने सुः । वर्ष्माणम् । उच्चपदम् (रथस्य) यानस्य (नि) नितराम् (जिहीडते) अ० ५ । १२ । ५ । हेडृ अनादरे क्रोधे च तिरस्कुर्वन्ति (दिवः) दिवु मदे—क्विप् । उन्मत्तस्य (ईषमाणाः) ईष गतौ—शानच् । शीघ्रगामिनः (उपस्पृशः) उपस्पृष्टाः । योजिताः ॥

३—(एषः) स राजा (इषाय) इष गतौ—क । उद्योगिने पुरुषाय (मामहे) मंहतेर्दानकर्मा—निघ० ३ । २० । ददौ (शतम्) (निष्कान्) निश्चयेन कायति । निस् + कै शब्दे—क । यद्वा, नौ सदेर्डिच्च । उ० ३ । ४५ । षद्लृ गतिविशरणयोः—कन्, स च डित् । दीनारान् । सुवर्णमुद्राः (दश) (स्रजः) सृज विसर्गे—क्विन् । मालाः (त्रीणि) (शतानि) (अर्वताम्) अश्वानाम् (सहस्रा) सहस्राणि (दश) (गोनाम्) गवाम् । धेनूनाम् ॥

भावार्थ—राजा बीसहों ऊंट ऊंटनी आदि को रथ आदि में जोतकर अनेक उद्यम करे करावे और उद्योगी लोगों को बहुत से उचित पारितोषिक देवे ॥ २, ३ ॥

वच्यस्व रेभ वच्यस्व वृक्षे न पक्वे शकुनः ।
नष्टे जिह्वा चर्चरीति क्षुरो न भुरिजोरिव ॥ ४ ॥

वच्यस्व । रेभ । वच्यस्व । वृक्षे । न । पक्वे । शकुनः ॥ नष्टे । जिह्वा । चर्चरीति । क्षुरः । न । भुरिजोः । इव ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(रेभ) हे विद्वान् ! (वच्यस्व) उपदेश कर, (वच्यस्व) उपदेश कर, (न) जैसे (शकुनः) पक्षी (पक्वे) फल वाले (वृक्षे) वृक्ष पर [चह चहाता है] । (नष्टे) दुःख व्यापने पर (भुरिजोः) दोनों धारण पोषण करने वाले [स्त्री पुरुष] की (इव) ही (जिह्वा) जीभ (चर्चरीति) चलती रहती है, (न) जैसे (क्षुरः) छुरा [केशों पर चलता है] ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् स्त्री पुरुष प्रसन्न होकर सन्तान आदि को सदा सदुपदेश करें जैसे फलवाले वृक्ष पर पक्षी प्रसन्न होकर बोलते हैं, और सदुपदेश द्वारा क्लेशों को इस प्रकार काटें, जैसे नापित केशों को छुरा से काट डालता है ॥ ४ ॥

प्र रेभासो मनीषा वृषा गाव इवेरते ।
अमोतपुत्रका एषाममोत गा इवासते ॥ ५ ॥

प्र । रेभासः । मनीषाः । वृषाः । गावःऽइव । ईरते ॥ अमोत ।

४—(वच्यस्व) अवीनेर्यक् । ब्रूहि । उपदिश (रेभ) स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । हे विद्वन् (वच्यस्व) (वृक्षे) (न) यथा (पक्वे) फलयुक्ते (शकुनः) अथ० ६ । २७ । २ । शक्लृ शक्तौ—उन । शकः । पक्षी (नष्टे) नशत्, व्याप्तिकर्मा—निघ० २ । १८ । व्याप्ते दुःखे (जिह्वा) वाणी (चर्चरीति) भृशं चरति (क्षुरः) क्षुर विलेखने—क । नापितास्त्रम् (न) यथा (भुरिजोः) भृज इव । उ० २ । ७२ । डुभृञ् धारणपोषणयोः—इजि कित्, उकारान्तादेशः । धारक—पोषकयोः स्त्रीपुरुषयोः (इव) एव ॥

पुत्रकाः । एषाम् । अमोत । गाः-इव । आसते ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(वृषाः) बलवान् (गावः इव) बैलों के समान (रेभासः) विद्वान् लोग (मनीषाः) बुद्धियों को (प्र ईरते) आगे बढ़ाते हैं। (अमोत) हे बन्धन रहित ! (अमोत) हे मुक्त मनुष्य ! (एषाम्) इन [विद्वानों] के (पुत्रकाः) पुत्र (गाः) विद्याओं और भूमियों को (इव) अवश्य (आसते) सेवते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—जैसे बलवान् बैल आगे बढ़ते जाते हैं, मनुष्य-विघ्नों से मुक्त होकर बुद्धि को अनेक प्रकार बढ़ावें और सन्तान आदि को योग्य विद्वान् और राज्याधिकारी बनावें ॥ ५ ॥

प्र रेभ धीं भरस्व गोविदं वसुविदम् ।

देवत्रेमां वाचं श्रीणीहीषुर्नावीरस्तारम् ॥ ६ ॥

प्र । रेभ । धीम् । भरस्व । गोविदम् । वसुविदम् ॥ देवत्रा । इमाम् । वाचम् । श्रीणीहि । इषुः । न । अवीः । अस्तारम् ६॥

भाषार्थ—(रेभ) हे विद्वान् ! (गोविदम्) भूमि प्राप्त कराने वाली और (वसुविदम्) धन प्राप्त कराने वाली (धीम्) बुद्धि को (प्र) अच्छे प्रकार से (भरस्व) धारण कर । (देवत्रा) विद्वानों के बीच (इमाम्) इस [पूर्वोक्त] (वाचम्) वाणी को (श्रीणीहि) पक्की कर, (इषुः न) जैसे तीर (अवीः)

५—(प्र) प्रकर्षेण (रेभासः) विद्वांसः (मनीषाः) बुद्धीः (वृषाः) बलवन्तः (गावः) वृषभाः (इव) यथा (ईरते) गमयन्ति (अमोत) मूङ् बन्धने—क्त, छान्दसो गुणः । हे अमूत । अबद्ध । मुक्त (पुत्रकाः) पुत्राः । सन्तानाः (एषाम्) पूर्वोक्तानाम् (अमोत) (गाः) विद्याः । भूमीः (इव) एव (आसते) उपासते । सेवन्ते ॥

६—(प्र) प्रकर्षेण (रेभ) विद्वन् (धीम्) प्रज्ञाम् (भरस्व) धरस्व (गोविदम्) भूमिप्रापिकाम् (वसुविदम्) धनप्रापिकाम् (देवत्रा) विद्वत्सु (इमाम्) पूर्वोक्ताम् (वाचम्) वाणीम् (श्रीणीहि) परिपक्कां दृढां कुरु (इषुः) बाणः (न) यथा (अवीः) अव प्रवेशे—इन् । प्रवेशकारिणि लक्ष्याणि—(अस्तारम्)

प्रवेश योग्य लक्ष्यों को (अस्तारम्) तीर चलाने वाले के लिये [पक्का करता है] ॥६॥

भावार्थ—मनुष्य विद्वानों में बैठकर निश्चय करे कि राज्य और धन की प्राप्ति के लिये यत्न सुफल होवें, जैसे चतुर धनुर्धारी का बाण लक्ष्य पर ही पहुंचता है ॥ ६ ॥

राज्ञो विश्वजनीनस्य यो देवोमर्त्यां अति ।
वैश्वानरस्य सुष्टुतिमा सुनोता परिक्षितः ॥ ७ ॥
राज्ञः । विश्वजनीनस्य । यः । देवः । मर्त्यान् । अति ॥
वैश्वानरस्य । सुऽस्तुतिम् । आ । सुनोत । परिऽक्षितः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (देवः) देव [विजय चाहने वाला पुरुष] (मर्त्यान् अति) मनुष्यों में बढ़कर [गुणी है], (विश्वजनीनस्य) सब लोगों के हितकारी, (वैश्वानरस्य) सब के नेता, (परिक्षितः) सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) उस राजा की (सुष्टुतिम्) उत्तम स्तुति को (आ) भले प्रकार (सुनोत) मथो ॥ ७ ॥

भावार्थ—सर्वहितकारी पुरुष से सब मनुष्य उत्तम गुणों का ग्रहण करें ॥ ७ ॥

परिच्छिन्नः क्षेममकरोत् तम आसनमाचरन् ।
कुलायन् कृण्वन् कौरव्यः पतिर्वदति जायया ॥ ८ ॥
परिऽछिन्नः । क्षेमम् । अकरोत् । तमः । आसनम् । आऽचरन् ।
कुलायन् । कृण्वन् । कौरव्यः । पतिः । वदति । जायया ॥८

शरप्रदोतारम् ॥

७—(राज्ञः) तस्य शासकस्य (विश्वजनीनस्य) आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात् खः । पा० ५ । १ । ६ । विश्वजन—खप्रत्ययः । सर्वजनेभ्यो हितस्य (यः) (देवः) विजिगीषुः (मर्त्यान्) मनुष्यान् (अति) अतीत्य । उल्लङ्घ्य श्रेष्ठगुणैः—वर्तते (वैश्वानरस्य) सर्वनायकस्य (सुष्टुतिम्) कल्याणीं स्तुतिम् (आ) समन्तात् (सुनोत) मथ्नम् (परिक्षितः) क्षि ऐश्वर्ये-क्विप्, तुक् । सर्वत ऐश्वर्य युक्तस्य ॥

भाषार्थ—(तमः) अन्धकार (परिच्छिन्नः) काट डालने वाले [राजा] ने (आसनम्) आसन (आचरन्) ग्रहण करते हुये (क्षेमम्)आनन्द (अकरोत्) करदिया है—[यह बात] (,कुलायन्) घरों को (कृण्वन्) बनाता हुआ (कौरव्यः) कार्य करताओं का राजा (पतिः) पति [गृहस्थ] (जायया) अपनी पत्नी से (वदति) कहता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—न्यायकारी प्रजापालक राजा की चर्चा गृहपति लोग अपनी अपनी स्त्रियों से कहते हैं ॥ ८ ॥

क॒त॒रत् त॒ आ ह॑राणि॒ दधि॒ मन्थां॒ परि॒ श्रुत॑म् ।
जा॒याः पतिं॒ वि पृ॑च्छति रा॒ष्ट्रे राज्ञः॑ परि॒क्षितः॑ ॥ ९ ॥

क॒त॒रत् । ते॒ । आ । ह॒रा॒णि॒ । दधि॑ । मन्थाम् । परि॑ । श्रु॒तम् ॥ जा॒याः । पति॑म् । वि । पृ॒च्छ॒ति॒ । रा॒ष्ट्रे । राज्ञः॑ । परि॒ऽक्षितः॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(कतरत्) कौन वस्तु (ते) तेरे लिये (परि) सुधारकर (आ हराणि) मैं लाऊं, (दधि) दही, (मन्थाम्) निर्जल मठा, [वा] (श्रुतम्) नोनी माखन आदि—[यह बात] (जायाः) पत्नी (पतिम्) पति से (परिक्षितः)

८—(परिच्छिन्नः) कर्तरि क्तः । परिच्छेदकः । सर्वतो नाशकः (क्षेमम्) आनन्दम् (अकरोत्) कृतवान् (तमः) अन्धकारम् (आसनम्) सिंहासनम् (आचरन्) स्वीकुर्वन् । गृह्णन् (कुलायन्) ह्रस्वश्छान्दसः । कुलायान् । स्थानानि । गृहाणि (कृण्वन्) कुर्वन् । रचयन् (कौरव्यः) कृग्रोरुच्च । उ० १ । २४ । डुकृञ् करणे-कु, उकारश्च । कुर्वादिभ्यो ण्यः । पा० ४ । १ । १७२ । कुरु—ण्य । कुरूणां कार्यकर्तॄणां राजा । गृहपतिः (पतिः) भर्ता (वदति) (जायया) पत्न्या ॥

९—(कतरत्) किं वस्तु (ते) तुभ्यम् (आ हराणि) आनयानि (दधि) (मन्थाम्) मथ्यते विलोड्यते, मन्थ विलोडने—घञ्, टाप् । मथितम् । निर्जलतक्रम् (परि) परिभूष्य (श्रुतम्) स्रु गतौ क्षरणे च—क्त,सस्य शः । स्रुतम् । क्षरितं नवनीतादिकम् (जायाः) एकवचनस्य बहुवचनम् । पत्नी

सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) राजा के (राष्ट्रे) राज्य में (वि) विविध प्रकार (पृच्छति) पूछती है ॥ ९ ॥

भावार्थ—सुनीति वाले राजा के राज्य में दूध, दही घृत आदि पदार्थ बहुतायत से पाकर लोग सुखी होते हैं ॥ ९ ॥

अभीवस्वः प्र जिहीते यवः पुक्वः पथो बिलम् ।

जनः स भद्रमेधति राष्ट्रे राज्ञः परिक्षितः ॥ १० ॥

अभीवस्वः । प्र । जिहीते । यवः । पुक्वः । पथः । बिलम् ॥

जनः । सः । भद्रम् । एधति । राष्ट्रे । राज्ञः । परिक्षितः ॥१०॥

भाषार्थ—(अभीवस्वः) सब ओर से बसाने वाला, (पक्वः) पका हुआ (यवः) जौ आदि अन्न (पथः) मार्ग से (बिलम्) गढ़े [खत्ती आदि] को (प्र) भले प्रकार (जिहीते) पहुंचता है । (सः जनः) वह मनुष्य (परिक्षितः) सब प्रकार ऐश्वर्य वाले (राज्ञः) राजा के (राष्ट्रे) राज्य में (भद्रम्) आनन्द (एधति) बढ़ाता है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा के सुप्रबन्ध से किसान आदि धनवान् लोग अन्न को पकजाने पर यथाविधि एकत्र करके खत्ती आदि में भरें और आवश्यकता पर काम में लाकर सुखी होवें ॥ १० ॥

इन्द्रः कारुमबूबुधदुत्तिष्ठ वि चरा जनम् ।

ममेदुग्रस्य चर्कृधि सर्व इत् ते पृणादरिः ॥ ११ ॥

(पतिम्) भर्तारम् (वि) विविधम् (पृच्छति) ज्ञातुमिच्छति (राष्ट्रे) राज्ये (राज्ञः) शासकस्य (परीक्षितः) म० ७ । सर्वत ऐश्वर्ययुक्तस्य ॥

१०—(अभीवस्वः) कृगृशृदृभ्यो वः । उ० १ । १५५ । अभि+वस निवासे—वप्रत्ययः, छान्दसो दीर्घः । सर्वतो वासयिता (प्र) प्रकर्षेण (जिहीते) ओहाङ् गतौ । गच्छति । प्राप्नोति (यवः) यवादिभक्ष्यपदार्थः (पक्वः) पाकं गतः (पथः) मार्गात् (बिलम्) छिद्रम् । अन्नधारणगर्तम् (जनः) मनुष्यः, (सः) (भद्रम्) आनन्दम् (एधति) एधयति । वर्धयति । अन्यद् गतम्—म० ७ ॥

इन्द्रः । कारुम् । अबूबुधत् । उत् । तिष्ठ । वि । चर । जनम् ॥ मम । इत् । उग्रस्य । चर्कृधि । सर्वः । इत् । ते । पृणात् । अरिः ॥११

भाषार्थ—(इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] ने (कारुम्) काम करने वाले को (अबूबुधत्) जगाया है-(उतिष्ठ) उठ और (जनम्) लोगों में (वि चर) विचर, (मम इत् उग्रस्य) मुझ ही तेजस्वी की [भक्ति] (चर्कृधि) तू करता रहे, (सर्वः) प्रत्येक (अरिः) वैरी (इत्) भी (ते) तेरी (पृणात्) तृप्ति करे ॥ ११ ॥

भावार्थ—प्रतापी राजा के प्रबन्ध से मनुष्य उद्यमी होकर आपस में विचारें और राज भक्त होकर चोर आदि प्रजा के शत्रुओं को वश में करें ॥११॥

इह गावः प्र जायध्वमिहाश्वा इह पूरुषाः ।
इहो सहस्रदक्षिणोऽपि पूषा नि षीदति ॥ १२ ॥

इह । गावः । प्र । जायध्वम् । इह । अश्वाः । इह । पूरुषाः ॥
इहो । सहस्रदक्षिणः । अपि । पूषा । नि । सीदति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(गावः) हे गौओ ! तुम (इह) यहां पर [इस घर में], (अश्वाः) हे घोड़ो ! तुम (इह) यहां पर (पूरुषाः) हे पुरुषो ! तुम (इह) यहां पर (प्रजायध्वम्) बढ़ो, (इहो) यहां पर (सहस्रदक्षिणः) सहस्रों की दक्षिणा देने वाला (पूषा) पोषक [गृहपति] (अपि) भी (नि षीदति) बैठता है ॥ १२ ॥

११—(इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (कारुम्) कार्यकर्तारम् (अबूबधत्) प्रबोधितवान् (उत्तिष्ठ) (वि) विविधम् (चर) गच्छ (जनम्) मनुष्यसमूहम् (मम) (इत्) एव (उग्रस्य) तेजस्विनः (चर्कृधि करोतेः—यङ्लुकि रूपम् । भृशं भक्तिं कुरु (सर्वः) प्रत्येकः (इत्) (ते) तव (पृणात्) पृण प्रीणने । तृप्तिं कुर्यात् (अरिः) शत्रुः ॥

१२—(इह) अस्मिन् गृहे (गावः) हे धेनवः (प्रजायध्वम्) प्रवर्धध्वम् (इह) (अश्वाः) हे तुरंगाः (इह) (पूरुषाः) हे मनुष्याः (इहो) इह-उ । अत्रैव (सहस्रदक्षिणः) बहुदानस्वभावः (अपि) (पूषा) पोषको गृहपतिः (नि षीदति) उपविशति ॥

भावार्थ—उत्तम राजा के प्रबन्ध से गृहस्थ लोग गौओं, घोड़ों और मनुष्यों से वृद्धि करके परस्पर उपकार करें ॥१२॥

यह मन्त्र महर्षि दयानन्द कृत संस्कारविधि विवाह प्रकरण में उद्धृत है॥

नेमा इन्द्र गावो रिषन् मो आसां गोप रीरिषत् ।

मासामुमित्रयुर्जन इन्द्र मा स्तेन ईशत ॥ १३ ॥

न । इमाः । इन्द्र । गावः । रिषन् । मो इति । आसाम् । गोप । रीरिषत् ॥ मा । आसाम् । अमित्रयुः । जनः । इन्द्र । मा । स्तेनः । ईशत ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (इमाः) यह (गावः) भूमियें (न रिषन्) न नष्ट होवें और (आसाम्) इन का (गोप) रक्षक (मो रीरिषत्) नही नष्ट होवे । (इन्द्र) हे इन्द्र ! [राजन्) (मा) न तो (अमित्रयुः) वैरियों को चाहने वाला (जनः) नीच मनुष्य, और (मा) न (स्तेनः) चोर (आसाम्) इन [भूमियों] का (ईशत) राजा होवे ॥ १३ ॥

भावार्थ—राजा डाकू चोर आदि से खेती आदि भूमियों की रक्षा करके प्रजा को पाले ॥ १३ ॥

उप नो न रमसि सूक्तेन वचसा वयं भद्रेण वचसा वयम् ।

वनादधिध्वनो गिरो न रिष्येम कदा चन ॥ १४ ॥

उप । नः । न । रमसि । सूक्तेन । वचसा । वयम् । भद्रेण ।

१३—(न) निषेधे (इमाः) दृश्यमानाः (इन्द्र) परमैश्वर्य्यवन् राजन् (गावः) कृष्यादिभूमयः (रिषन्) नश्यन्तु (मो) निषेधे (आसाम्) गवां भूमीनाम् (गोप) गुपू रक्षणे—अच् । आयादय आर्धधातुके वा । पा० ३ । १ । ३१ । आयलोपः । विभक्तेर्लुक् । गोपः । रक्षकः (रीरिषत्) रिष हिंसायाम्, ण्यन्तात् माङि लुङि चङि रूपंकर्मण्यर्थे । नश्येत् (मा) निषेधे (आसाम्) (अमित्रयुः) अमित्र-क्यच्, उप्रत्ययः । शत्रून् कामयमानः (जनः) पामरलोकः (इन्द्र) (मा) (स्तेनः) चोरः (ईशत) राजा भवेत् ॥

वर्चसा । वयम् ॥ वनात् । अधिध्वनः । गिरः । न । रिष्येम । कदा । चन ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे राजन् !] (नः) हम को (न) अब (उप) आदर से (रमसि) तू आनन्द देता है, (सूक्तेन) वेदोक्त (वचसा) वचन के साथ (वयम्) हम, (भद्रेण) कल्याण कारी (वचसा) वचन के साथ (वयम्) हम (वनात्) क्लेश से अलग होकर (अधिध्वनः) ऊंची ध्वनि वाली (गिरः) वाणियों को (कदा चन) कभी भी (न) न (रिष्येम) नष्ट करें ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा परस्पर उपकार करके दृढ़ प्रतिज्ञा के साथ संसार में सुख बढ़ावें ॥ १४

सूक्तम् १२८ ॥

१—१६ ॥ प्रजापतिरिन्द्रो वा देवता ॥ १—३, ७, १०, १२ निचृदनुष्टुप्; ४, ८, ६, १४ अनुष्टुप्; ५ आर्ष्यनुष्टुप्; ६, १६ भुरिगनुष्टुप्; ११, १३ विराडार्ष्यनुष्टुप्; १५ विराडनुष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

यः सुभेयो विदथ्यः सुत्वा यज्वाथ पूरुषः ।
सूर्यं चामूं रिशादसस्तद् देवाः प्रागकल्पयन् ॥ १ ॥

यः । सभेयः । विदथ्यः । सुत्वा । यज्वा । अथ । पुरुषः ॥ सूर्यम् । च । अमूम् । रिशादसः । तत् । देवाः । प्राक् । अकल्पयन् ॥ १ ॥

[सूचना—पदपाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

१४—(उप) पूजायाम् (नः) अस्मान् (न) सम्प्रति (रमसि) रमयसि । आनन्दयसि (सूक्तेन) वेदविहितेन (वचसा) वचनेन (वयम्) प्रजाजनाः (भद्रेण) कल्याणकरेण (वचसा) (वयम्) (वनात्) वन उपतापे—अच् । क्लेशात् पृथग्भूय (अधिध्वनः) ध्वन शब्दे—क्विप् । उच्चध्वनिः युक्ताः (गिरः) वाणीः (न) निषेधे (रिष्येम) नाशयेम (कदा) कस्मिन् काले (चन) अपि ॥

भाषार्थ—(यः) जो (सभेयः) सभ्य [सभाओं में चतुर], (विदथ्यः) विद्वानों में प्रशंसनीय, (सुत्वा) तत्त्व रस निकालने वाला (अथ) और (यज्वा) मिलनसार (पुरुषः) पुरुष है । (अमू) उस (सूर्यम्) सूर्य [के समान प्रतापी] को (च) निश्चय करके (तत्) तब (रिशादसः) हिंसकों के नाश करने वाले (देवाः) विद्वानों ने (प्राक्) पहिले [ऊंचे स्थान पर] (अकल्पयन्) माना है ॥ १ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग सब में चतुर मनुष्य को सभापति बनाकर प्रजा की रक्षा करें ॥ १ ॥

यो जाम्या अप्रथयस्तद् यत् सखायं दुधूर्षति ।

ज्येष्ठो यदप्रचेतास्तदाहुरधरागिति ॥ २ ॥

यः । जाम्याः । अप्रथयः । तत् । यत् । सखायम् । दुधूर्षति ॥

ज्येष्ठः । यत् । अप्रचेताः । तत् । आहुः । अधराक् । इति ॥२

भाषार्थ—(यः) जो मनुष्य, (जाम्याः) कुल स्त्री को (अप्रथयः) गिराता है, (तत्) वह पुरुष, और (यत्) जो (सखायम्) मित्र को (दुधूर्षति) मारना चाहता है, और (यत्) जो (ज्येष्ठः) अति वृद्ध होकर (अप्र-

---

१—(यः) (सभेयः) ढश्छन्दसि । पा० ४ । ४ । १०६ । सभा-ढप्रत्ययः । सभासु साधुः । सभ्यः (विदथ्यः) तत्र साधुः पा० ४ । ४ । ९८ । विदथ—यत् । विद्वत्सु साधुः (सुत्वा) सुयजोर्ङ्वनिप् । पा० ३ । २ । १०३ । षुञ् अभिषवे—ङ्वनिप् । सोमस्य तत्त्वरसस्य सोता (यज्वा) यज—ङ्वनिप् पूर्वसूत्रेण । यष्टा । संगन्ता (अथ) समुच्चये (पुरुषः) पुरुषः (सूर्यम्) सूर्यवत् प्रतापिनम् (च) अवधारणे (अमू) सुपां सुलुगित्यादिना पूर्वसवर्णः, वा० पा० ७ । १ । ३९ । एकवचनस्य द्विवचनम् । अमुम् (रिशादसः) अ० २ । २८ । २ । रिश हिंसायाम्+क+अद भक्षणे—असुन् । हिंसकानां भक्षका नाशकाः (तत्) तदा (देवाः) विद्वांसः (प्राक्) पूर्वम् । अग्रम् (अकल्पयन्) कल्पितवन्तः ॥

२—(यः) पुरुषः (जाम्याः) अथ० २ । ७ । २ । द्वितीयार्थे षष्ठी । जामिम् । कुलस्त्रियम् (अप्रथयः) पृथ प्रक्षेपे । प्रक्षिपति । अधोगमयति (तत्) सः (यत्) यः (सखायम्) (दुधूर्षति) धुर्वी हिंसायाम्—सन् ।

चेताः) अज्ञानी है, (तत्) वह (अधराक्) अधोगामी है—(इति) ऐसा (आहुः) वे लोग कहते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य सती स्त्री को पाप में लगावे, मित्रघाती हो और वयोवृद्ध होकर भी अज्ञानी हो, वह विद्वानों में नीच गति पाता है ॥ २ ॥

यद् भुद्रस्य पुरुषस्य पुत्रो भवति दाधृषिः ।
तद् विप्रो अब्रवीदु तद् गंधुर्वः काम्यं वर्चः ॥ ३ ॥

यत् । भुद्रस्य । पुरुषस्य । पुत्रः । भवति । दाधृषिः ॥ तत् । विप्रः । अब्रवीत् । ऊं इति । तत् । गंधुर्वः । काम्यम् । वर्चः ॥ ३

यश्च पुणि रघुंजिष्ठ्यो यश्च देवाँ अदाशुरिः ।
धीराणां शश्वतामुहं तदपागिति शुश्रुम ॥ ४ ॥

यः । चु । पुणि । रघुंजिष्ठ्यः । यः । चु । देवान् । अदाशुरिः ॥ धीराणाम् । शश्वताम् । अहम् । तत् । अपाक् । इति । शुश्रुम ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (भद्रस्य) श्रेष्ठ (पुरुषस्य) पुरुष का (पुत्रः) पुत्र (दाधृषिः) ढीठ (भवति) हो जावे, (तत्) तब (विप्रः) बुद्धिमान् (गन्धर्वः) विद्या के धारण करने वाले पुरुष ने (उ) निश्चय करके (तत्) यह (काम्यम्) मनोहर (वचः) वचन (अब्रवीत्) कहा है [कि] ॥ ३ ॥—

हन्तुमिच्छति (ज्येष्ठः) अतिवृद्धः सन् (यत्) यः (अप्रचेताः) अपण्डितः (तत्) सः (आहुः) कथयन्ति ते विद्वांसः (अधराक्) अधोगामी भवति (इति) वाक्यसमाप्तौ ॥

३—(यत्) यदा (भद्रस्य) श्रेष्ठस्य (पुरुषस्य) (पुत्रः) (भवति) (दाधृषिः) किकिनावुत्सर्गश्छन्दसि सदादिभ्यो दर्शनात् । वा० पा० ३ । २ । १७१ । ञिधृषा प्रागल्भ्ये—किन्, धृष्टः । प्रगल्भः । निर्लज्जः (तत्) तदा (विप्रः) मेधावी (अब्रवीत्) (उ) अवधारणे (तत्) इदम् (गन्धर्वः) अथ० २ । १ । २ । गो + धृञ् धारणे—अप्रत्ययः, गोशब्दस्य गमादेशः । विद्याधारकः (काम्यम्) मनोहरम् (वचः) वचनम् ॥

(यः) जो मनुष्य (पणि) कुव्यवहारी (रघुजिष्ठ्यः) अत्यन्त हलका है, (च च) और (यः) जो (देवान्) विद्वानों को (अदाशुरिः) नहीं दान देने वाला है, (तत्) वह (शश्वनाम्) सब (धीराणाम्) धीर पुरुषों में (अपाक्) दूर रहने योग्य है—(इति) ऐसा (अहम्) हम ने (शुश्रुम) सुना है ॥४

भावार्थ—विद्वानों को प्रयत्न करना चाहिये कि उन के सन्तान विद्वान् होकर विद्वानों से मिलकर रहें ॥ ३, ४ ॥

ये च॑ दे॒वा अय॑ज॒न्ताथो॒ ये च॑ परा॒दुदिः॑ ।

सूर्यो॒ दिव॑मिव ग॒त्वाय॑ म॒घवा॑ नो॒ वि र॑प्शते ॥ ५ ॥

ये । च॑ । दे॒वाः । अय॑ज॒न्त । अथो॒ इति॑ । ये । च॑ । परा॒दुदिः॑ ॥

सूर्यः॑ । दिव॑म्-इ॒व । ग॒त्वाय॑ । म॒घवा॑ । नः॒ । वि । र॒प्श॒ते॒ ॥५

भाषार्थ—(ये) जिन (देवाः) विद्वानों ने (अयजन्त) मेल किया है, (अथो च च) और (ये) जो (परादुदिः) शत्रुओं के पकड़ने वाले हैं । (सूर्यः) सूर्य (दिवम् इव) जैसे आकाश को (गत्वाय) प्राप्त होकर, [वैसे ही] (मघवा) महाधनी [सभापति] (नः) उन हम को [प्राप्त होकर] (वि) विविध प्रकार (रप्शते) शोभित होता है ॥ ५ ॥

४—(यः) (च) (पणि) विभक्तेर्लुक् । पणिः । कुव्यवहारी (रघुजिष्ठ्यः) लघुज्येष्ठ्यः, छान्दसं रूपम्, लघु+ज्येष्ठ—भावे यत् । लघुषु निःसारेषु ज्येष्ठ्यम् अतिशयेन वर्धनं यस्य स. । अतिशयेन निःसारः (यः) (च) (देवान्) विदुषः प्रति (अदाशुरिः) अ+दाशृ दाने—उरिन् प्रत्ययः । अदानशीलः (धीराणाम्) बुद्धिमतां मध्ये (शश्वताम्) बहूनाम् । सर्वेषाम् (अहम्) बहुवचनस्यैकवचनम् । वयम् (तत्) सः (अपाक्) दूरे गमनीयः (इति) एवम् (शुश्रुम) वयं श्रुतवन्तः ॥

५—(ये) (अथो च च) समुच्चये (देवाः) विद्वांसः (अयजन्त) संगतिं कृतवन्तः (ये) (परादुदिः) अथ० २० । ५६ । २ । बहुवचनस्यैकवचनम् । परादुदयः । पराणां शत्रूणामादातारो ग्रहीतारः (सूर्यः) (दिवम्) आकाशम् (इव) यथा (गत्वाय) ल्यप् छान्दसः । गत्वा । प्राप्य (मघवा) धनवान् । सभापतिः (नः) अस्मान् प्राप्य (वि) विविधम् (रप्शते) राजते—ऋग्वेदभाष्ये ४ । ४५ । १, दयानन्दसायणौ ॥

भावार्थ—सभ्य लोग और सभापति मिलकर संसार का उपकार करके शोभा बढ़ावें, जैसे सूर्य आकाश में चमक कर उपकार करता हुआ शोभित होता है ॥ ५ ॥

योऽनाक्ताक्षो अनभ्युक्तो अमणिवो अहिरण्यवः ।
अब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ६ ॥

यः । अनाक्ताक्षः । अनभ्युक्तः । अमणिवः । अहिरण्यवः ॥
अब्रह्मा । ब्रह्मणः । पुत्रः । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [वेदज्ञानी] का (पुत्रः) पुत्र (अब्रह्मा) अब्रह्मा [वेद न जानने वाला, कुमार्गी] (अनाक्ताक्षः) अशुद्ध व्यवहार वाला और (अनभ्युक्तः) अविख्यात है। वह (अमणिवः) मणियों [रत्नों] का न रखने वाला और (अहिरण्यवः) तेजहीन होवे, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित है ॥ ६ ॥

भावार्थ—जो कोई ज्ञानी का सन्तान होकर कुमार्गी मूर्ख होवे, वह निर्धन होकर निस्तेज हो जाता है, यह बात वेदशास्त्र से सिद्ध है ॥ ६ ॥

य आक्ताक्षः सुभ्यक्तः सुमणिः सुहिरण्यवः ।
सुब्रह्मा ब्रह्मणः पुत्रस्तोता कल्पेषु संमिता ॥ ७ ॥

यः । आक्ताक्षः । सुभ्यक्तः । सुमणिः । सुहिरण्यवः ॥ सुब्रह्मा ।
ब्रह्मणः । पुत्रः । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ७ ॥

६—(यः) सन्तानः (अनाक्ताक्षः) अन् + आ + अञ्जू व्यक्तिम्रक्षण-कान्तिगतिषु—क्त । अशुद्धव्यवहारयुक्तः (अनभ्यक्तः) अन् + अभि + अञ्जू व्यक्तौ—क्त । अव्यक्तः । अविख्यातः । (अमणिवः) वप्रकरणेऽन्येभ्योऽपि दृश्यते । वा० पा० ५ । २ । १०६ । वो मत्वर्थे । रत्नरहितः । निर्धनः (अहिरण्यवः) तेजोहीनः (अब्रह्मा) अवेदज्ञः (ब्रह्मणः) वेदज्ञस्य (पुत्रः) (तोता) ता + उ + ता । तान्येव तानि कर्माणि (कल्पेषु) शास्त्रविधानेषु (संमिता) प्रमाणितानि ॥

भाषार्थ—(यः) जो (ब्रह्मणः) ब्रह्मा [वेदज्ञानी] का (पुत्रः) पुत्र (सुब्रह्मा) सुब्रह्मा [बड़ा वेदज्ञानी, सुमार्गी], (आक्ताक्षः) शुद्ध व्यवहार वाला और (सुभ्यक्तः) बड़ा विख्यात हो, वह (सुमणिः) बहुत मणियों [रत्नों] वाला और (सुहिरण्यवः) बड़ा तेजस्वी होवे, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (समिता) प्रमाणित हैं ॥ ७ ॥

भावार्थ—विद्वान् का सन्तान विद्वान् होने से ही संसार में प्रतिष्ठा पावे, यह वेद मत है ॥ ७ ॥

अप्रपाणा च वेशन्ता रेवाँ अप्रतिदिश्ययः ।

अयंभ्या कुन्या कल्याणी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ८ ॥

अप्रपाणा । च । वेशन्ता । रेवान् । अप्रतिदिश्ययः ॥ अयंभ्या । कुन्या । कल्याणी । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (अप्रपाणा) बिना पनघट वाला (वेशन्ता) सरोवर है, [वैसे ही] (अप्रतिदिश्ययः) प्रतिदान का न करने वाला (रेवान्) धनवान् और (अयभ्या) मैथुन के अयोग्य [रोग आदि से पीड़ित, सन्तान उत्पन्न करने में असमर्थ] (कल्याणी) सुन्दर (कन्या) कन्या है, (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ८ ॥

भावार्थ—बिना पनघट के जल से भरा सरोवर, बिना प्रतिदान के बड़ा धनी, और बिना सन्तान उत्पन्न करने के रूपवती स्त्री निष्फल हैं ॥ ८ ॥

७—(यः) सन्तानः (आक्ताक्षः) म० ६ । आ + अञ्जू—क्त । शुद्धव्यवहारयुक्तः (सुभ्यक्तः) म० ६ । सु + अभि + अञ्जू—क्त अकारलोपः । बहुविख्यातः (सुमणिः) बहुरत्नयुक्तः (सुहिरण्यवः) महातेजस्वी (सुब्रह्मा) महावेदज्ञः (ब्रह्मणः) वेदज्ञस्य । अन्यद् गतम् ॥

८—(अप्रपाणा) विभक्तेराकारः—पा० ७ । १ । ३९ । पानस्थानशून्यः (च) उपमार्थे (वेशन्ता) सरोवरः । तडागः (रेवान्) धनवान् (अप्रतिदिश्ययः) दिश दाने—क्यप् + या प्रापणे—ड । अप्रतिदानप्रापकः (अयभ्या) यम मैथुने—यत् । अमैथुनयोग्या । रोगादिवपोरदुपधात् । पा० ३ । १ । ९८ । यभ मैथुने—यत् । अमैथुनयोग्या । रोगादिवशात् सन्तानोत्पादने असमर्था (कन्या) (कल्याणी) सुन्दरी । अन्यद् गतम् ॥

सु॒प्र॒पा॒णा च॑ वे॒शन्ता॑ रे॒वान्त्सु॑प्रतिदृश्य॑यः ।
सु॒यभ्या॑ क॒न्या॑ कल्या॒णी तो॒ता क॒ल्पेषु॑ सं॒मिता॑ ॥ ९ ॥

सु॒प्र॒पा॒णा । च । वे॒शन्ता॑ । रे॒वान् । सु॒प्र॒ति॒दृश्य॑यः ॥ सु॒यभ्या॑ । क॒न्या॑ । क॒ल्या॒णी । तो॒ता । क॒ल्पेषु॑ । सं॒मिता॑ ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (सुप्रपाणा) अच्छे पनघट वाला (वेशन्ता) सरोवर है, [वैसे ही] (सुप्रतिदृश्ययः) सुन्दर प्रतिदान करने वाला (रेवान्) धनवान् और (सुयभ्या) अच्छे प्रकार मैथुन योग्य [नीरोग होकर सन्तान उत्पन्न करने में समर्थ] (कल्याणी) सुन्दर (कन्या) कन्या है, (तोता) वह वह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित है ॥ ९ ॥

भावार्थ—जल भरे सरोवर की उपयोगिता जल काम में आने से, धन की उचित व्यय करने से, और रूपवती स्त्री की वीर सन्तान उत्पन्न करने से होती है ॥ ९ ॥

परि॑वृक्ता च॒ महि॑षी स्व॒स्त्या॑ च यु॒धिंग॒मः ।
अना॑शुरश्चाया॒मी तो॒ता क॒ल्पेषु॑ सं॒मिता॑ ॥ १० ॥

परि॑ऽवृक्ता । च॒ । महि॑षी । स्व॒स्त्या॑ । च । यु॒धिंग॒मः ॥ अना॑शुरः । च । आ॒या॒मी । तो॒ता । क॒ल्पेषु॑ । सं॒मिता॑ ॥ १० ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (परिवृक्ता) त्यागे हुये [कर्तव्य छोड़े हुये] (महिषी) पूजनीया गुणवती पत्नी, [वैसे ही] (स्वस्त्या) सुख के साथ

९—(सुप्रपाणा) शोभनपानस्थानोपेतः (च) उपमार्थे (वेशन्ता) तडागः (रेवान्) धनवान् (सुप्रतिदृश्ययः) म० ८ । योग्यप्रतिदानप्रापकः (सुयभ्या) म० ८ । सुमैथुनयोग्या । आरोग्यात् सन्तानोत्पादनसमर्था । अन्यद् गतम् ॥

१०—(परिवृक्ता) त्यक्ता । स्वकर्तव्यविरक्ता (च) उपमार्थे (महिषी) मह पूजायाम्—टिषच् ङीप् । पूजनीया गुणवती पत्नी (स्वस्त्या) सुखेन । अनायासेन (च) समुच्चये (युधिंगमः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । युध

[जीव चुराकर] (युधिंगमः) युद्ध से चल देने वाला, (च च) और (अनाशुरः) आलसी (आयामी) शासन करने वाला [नकम्मा है], (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ १० ॥

भावार्थ—घर आदि कर्तव्य कर्म छोड़ने से गुणवती स्त्री, युद्ध से भागने से शूर, और आलस करने से शासक पुरुष निकम्मा है ॥ १० ॥

वावाता च महिषी स्वस्त्या च युधिंगमः ।
श्वाशुरश्चायामी तोता कल्पेषु संमिता ॥ ११ ॥

वावाता । च । महिषी । स्वस्त्या । च । युधिंगमः ॥ श्वाशुरः । च । आयामी । तोता । कल्पेषु । संमिता ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(च) जैसे (वावाता) अति शीघ्रकारिणी (महिषी) पूजनीया पत्नी, [वैसे ही] (स्वस्त्या) सुख के साथ [धर्म समझकर] (युधिंगमः) युद्ध में जाने वाला (च च) और (श्वाशुरः) बड़ा वेगशील (आयामी) शासन करने वाला [सुखदायी है], (तोता) यह यह कर्म (कल्पेषु) शास्त्र विधानों में (संमिता) प्रमाणित हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—कर्तव्य में दक्ष स्त्री, हर्ष के साथ युद्ध को जाने वाला शूर और शीघ्र स्वभाव वाला राजा सुखदायी है ॥ ११ ॥

यदिन्द्रादो दाशराज्ञे मानुषं वि गाहथाः ।

संप्रहारे—इन् कित्+गम्लृ गतौ—खच् मुम च । युधेयुद्धाद् गमनशीलः पलायनशीलः (अनाशुरः) शावशेराप्तौ । उ० १ । ४४ । अन्+अशू व्याप्तौ—उरन्, स च णित् । अनाशुः । अशीघ्रः । आलस्यवान् (च) (आयामी) आ+यम वेष्टने नियमने णिच्—णिनि । आ समन्ताद् यामयति नियामयति प्रजागणान् । नियन्ता । शासकः । अन्यद् गतम् ॥

११—(वावाता) हसिमृग्रिण्वामदि० । उ० ३ । ८६ । वा गतिगन्धनयोः यङि तन् प्रत्ययः, टाप् । भृशं शीघ्रकारिणी (च) (महिषी) म० १० । पूजनीया पत्नी (स्वस्त्या) सुखेन । धर्मभावेन (च) (युधिंगमः) म० १० । युधौ युद्धे गमनशीलः शूरः (श्वाशुरः) म० १० । सु+आशुरः । सुष्ठु वेगवान् (च) (आयामी) म० १० । शासकः । अन्यद् गतम् ॥

विरूपः सर्वस्मा आसीत् सह यक्षाय कल्पते ॥ १२ ॥

यत् । इन्द्र । अदः । दाशराज्ञे । मानुषम् । वि । गाहथाः ॥ विरूपः । सर्वस्मै । आसीत् । सह । यक्षाय । कल्पते ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब, (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] (दाशराज्ञे) दानपात्र सेवकों के राजा के लिये [अर्थात् अपने लिये] (अदः) उस [वेदोक्त] (मानुषम्) मनुष्य के कर्म को, (वि गाहथाः) तू ने विलो डाला है [गड़बड़ कर दिया है] । (सर्वस्मै) सब के लिये (विरूपः) वह दुष्ट रूप वाला व्यवहार (आसीत्) हुआ है । यह [मनुष्य] (यक्षाय) पूजनीय कर्म के लिये (सह) मिलकर (कल्पते) समर्थ होता है ॥ १२ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य वेद मर्यादा को तोड़कर स्वार्थ के लिये सेवक आदि को सताता है, वह सब को कष्ट देता है, इस लिये मनुष्य सदा परोपकार करे ॥ १२ ॥

त्वं वृषाक्षुं मघवन्नम्रं मर्याकरो रविः ।
त्वं रौहिणं व्यास्यो वि वृत्रस्याभिनच्छिरः ॥ १३ ॥

त्वम् । वृषा । अक्षुम् । मघवन् । नम्रम् । मर्य । आकरः । रविः ॥ त्वम् । रौहिणम् । वि । आस्यः । वि । वृत्रस्य । अभिनत् । शिरः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(मघवन्) हे धनवान् (मर्य) मनुष्य ! (त्वम्) तू ने

१२—(यत्) यदा (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (अदः) तत् । वेदोक्तम् (दाशराज्ञे) दाशृ दाने—घञ् । राजृ दीप्तौ ऐश्वर्ये च—कनिन् । दाशानां दानीयानां दानपात्राणां भृत्यानां स्वामिहिताय । स्वार्थाय (मानुषम्) मनु—अण् षुक् च । मनुष्यसम्बन्धि कर्म (वि गाहथाः) गाहू विलोडने—लुङ्, अडभावः । विलोडितवानसि (विरूपः) विकृतरूपो दुष्टरूपो व्यवहारः (सर्वस्मै) प्रत्येकप्राणिने (आसीत्) (सह) संयोगेन (यक्षाय) यक्ष पूजायाम्—घञ् । पूजनीयकर्मणे (कल्पते) कृपू सामर्थ्ये । समर्थो भवति ॥

१३—(त्वम्) (वृषा) बलवान् (अक्षुम्) अ० ६ । २ । ८ अक्षू व्याप्तौ-

(वृषा) बलवान् और (रविः) सूर्य [के समान प्रतापी] होकर (अक्तुम्) व्यापन शील [चतुर] (नम्रम्) नम्र [विनीत] पुरुष को (आकरः) आवाहन किया है। (त्वम्) तू ने (रौहिणम्) मेघ [के समान अन्धकार फैलाने वाले पुरुष] को (व्यास्यः) फेंक गिराया है और (वृत्रस्य) शत्रु के (शिरः) शिर को (वि अभिनत्) तोड़ दिया है ॥ १३ ॥

भावार्थ—सभापति राजा सूर्य के समान प्रतापी होकर चतुर सुशिक्षित लोगों का आदर और दुष्ट शत्रुओं का नाश करे ॥ १३ ॥

यः पर्वतान् व्यदधाद् यो अपो व्यगाहथाः ।
इन्द्रो यो वृत्रहान्महं तस्मादिन्द्र नमोऽस्तु ते ॥ १४ ॥

यः । पर्वतान् । वि । अदधात् । यः । अपः । वि । अगाहथाः ॥ इन्द्रः । यः । वृत्रहा । आत् । महम् । तस्मात् । इन्द्र । नमः । अस्तु । ते ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(यः) जिस (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] तू ने (पर्वतान्) पहाड़ों को (वि) विविध प्रकार (अदधात्) धारण किया है, (यः) जिस तू ने (अपः) जलों को (वि) विविध प्रकार (अगाहथाः) बिलोया है, (आत्) और (यः) जो (वृत्रहा) शत्रुनाशक है, (तस्मात्) इसी से, (इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ते) उस तुझ को

उप्रत्ययः । व्यापनशीलं प्रवीणम् (मघवन्) धनवन् (नम्रम्) विनीतं पुरुषम् (मर्य) हे मनुष्य (आकरः) आ—अकरः । आङ्+डुकृञ् आह्वाने—लुङ् । आहूतवानसि (रविः) सूर्यवत्प्रतापी सन् (त्वम्) (रौहिणम्) अथ० २० । ३४ । १२ । मेघमिवान्धकारकरं दुष्टम् (व्यास्यः) असु क्षेपे—लुङ् । प्रक्षिप्तवानसि (वि) पृथग्भावे (वृत्रस्य) शत्रुः (अभिनत्) अभिदः । भिन्न-वानसि (शिरः) ॥

१४—(यः) पुरुषः (पर्वतान्) शैलान् (वि) विविधम् (अदधात्) अदधाः । धारितवानसि (यः) (अपः) जलानि (वि) (अगाहथाः) विलोडितवानसि (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् पुरुषः (यः) (वृत्रहा) शत्रुनाशकः—असि (आत्) अनन्तरम् (महम्) महत् (तस्मात्) कारणात् (इन्द्र)

(महम्) बहुत (नमः) नमस्कार (अस्तु) होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य पहाड़ों में मार्ग कर के नदी नाले निकाल कर प्रजा का उपकार करे, सब लोग उस का आदर करें ॥ १४ ॥

पृष्ठं धावन्तं हुर्योरौच्चैःश्रवुसमंब्रुवन् ।
स्वुस्त्यश्व जैत्रायेन्द्रमा वह सुस्रजंम् ॥ १५ ॥

पृष्ठम् । धावन्तम् । हुर्योः । औच्चैःश्रवुसम् । अब्रुवन् ॥
स्वुस्ति । अश्व । जैत्राय । इन्द्रम् । आ । वह । सुस्रजंम् ॥१५॥

भाषार्थ—(हर्योः) ले चलने वाले दोनों बल और पराक्रम के (पृष्ठम्) पीछे (धावन्तम्) दौड़ते हुये (औच्चैःश्रवसम्) उच्चैःश्रवा [बड़ी कीर्ति वाले वा ऊंचे कानों वाले घोड़े] से (अब्रुवन्) वे [चतुर लोग] बोले, (अश्व) हे घोड़े ! (स्वस्ति) कुशल से (जैत्राय) जीतने के लिये (सुस्रजम्) सुन्दर माला के समान सुन्दर सेना वाले (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] को (आ वह) ले आ ॥ १५ ॥

भावार्थ—चतुर विद्वान् लोग श्रेष्ठ घोड़े आदि लाकर राजा को देवें, जिस से वह अपनी बड़ी सेना के साथ रण क्षेत्र में दुष्ट शत्रुओं को जीते ॥ १५ ॥

ये त्वा श्वेता अजैश्रवसो हार्यो युञ्जन्ति दक्षिणम् ।

(नमः) सत्कारः (अस्तु) (ते) तादृशाय तुभ्यम् ॥

१५—(पृष्ठम्) पृष्ठतः। अनुसरणेन (धावन्तम्) शीघ्रं गच्छन्तम् (हर्योः) हरणशीलयोर्बलपराक्रमयोः (औच्चैःश्रवसम्) उच्चैः+श्रु श्रवणे—असुन्) स्वार्थे अण् । औच्चैःश्रवसः अश्वनाम—निघ० १ । १४ । उच्चैर्महत् श्रवो यशो यस्य, यद्वा, उन्नते श्रवसी कर्णौ यस्य तम् । बहुकीर्तिमन्तमुन्नतकर्णं वा घोटकम् (अब्रुवन्) अकथयन् ते विद्वांसः (स्वस्ति) कुशलेन (अश्व) हे घोटक (जैत्राय) जेतृ—अण् । जयाय (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं पुरुषम् (आ वह) आनय (सुस्रजम्) सृज विसर्गे—क्विन् । सुमालयेव सुसेनया युक्तम् ॥

पूर्वी नमस्य देवानां बिभ्रदिन्द्र महीयते ॥ १६ ॥

ये । त्वा । श्वेताः । अजैश्रवसः । हार्यः । युञ्जन्ति । दक्षिणम् ॥ पूर्वी । नमस्य । देवानाम् । बिभ्रत् । इन्द्र । महीयते ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(नमस्य) हे नमस्कार योग्य (इन्द्र) इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] (ये) जो (श्वेताः) चांदी [आदि धन] वाले, (अजैश्रवसः) अजेय कीर्ति वाले (हार्यः) मनुष्य (दक्षिणम्) चतुर (त्वा) तुझ से (युञ्जन्ति) मिलते हैं, (देवानाम्) विद्वानों की (बिभ्रत्) पोषण करने वाली (पूर्वी) [उन की] पुरानी नीति (महीयते) पूजी जाती है ॥ १६ ॥

भावार्थ—चतुर राजा धनी विद्वान् मनुष्यों की सुनीति का सदा आदर करे ॥ १६ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१—२० ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १—५, ७, १०—१२, १४, १५, २० प्राजापत्या गायत्री; ६ । १६ याजुषी गायत्री; ८, ९ दैवी बृहती; १३ साम्नी गायत्री; १६, १७ याजुष्युष्णिक्; १८ याजुषी पङ्क्तिः ॥

मनुष्यप्रयत्नोपदेशः—मनुष्य के लिये प्रयत्न का उपदेश ॥

एता अश्वा आ प्लवन्ते ॥१॥ एताः । अश्वाः । आ । प्लवन्ते ॥ १

प्रतीपं प्राति सुत्वनम् ॥२॥ प्रतीपम् । प्राति । सुत्वनम् ॥२॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो]

१६—(ये) (त्वा) (श्वेताः) श्वेतं रूप्येऽपि रजतम्—अमरे २३ । ७६ । श्वेत—अर्श आद्यच् । श्वेतेन रजतादिधनेन युक्ताः (अजैश्रवसः) अजेयश्रवसः । अजेयकीर्तयः (हार्यः) वसिवपियजि० । उ० ४ । १२५ । हञ् हरणे—इञ् । हरयो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । हरयः । मनुष्याः (युञ्जन्ति) संयोजयन्ति (दक्षिणम्) दक्ष वृद्धौ—इनन् । दक्षम् । कार्यकुशलम् (पूर्वी) प्राचीना नीतिः (नमस्य) हे सत्करणीय (देवानाम्) विदुषाम् (बिभ्रत्) बिभ्रती । पोषणं कुर्वन्ती (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् मनुष्य (महीयते) पूज्यते ॥

भाषार्थ—(एताः) यह (अश्वाः) व्यापक प्रजायें (प्रतीपम्) प्रत्यक्ष व्यापक (सुत्वनम् प्राति) ऐश्वर्य वाले [परमेश्वर] के लिये (आ) आकर (प्लवन्ते) चलती हैं॥ १, २॥

भावार्थ—संसार के सब पदार्थ उत्पन्न होकर परमेश्वर की आज्ञा में वर्त्तमान हैं॥ १, २॥

तासामेका हरिक्निका ॥३॥ तासाम् । एका । हरिक्निका ॥३॥
हरिक्निके किमिच्छसि ॥४॥ हरिक्निके । किम् । इच्छसि ॥४॥
साधुं पुत्रं हिरण्ययम् ॥५॥ साधुम् । पुत्रम् । हिरण्ययम् ॥५॥
क्वाहतं परास्यः ॥ ६ ॥ क्व । आहतम् । परास्यः ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(तासाम्) उन [व्यापक प्रजाओं] के बीच (एका) एक [स्त्री प्रजा] (हरिक्निका) मनुष्य में प्रीति करने वाली है॥ ३॥ (हरिक्निके) हे मनुष्य में प्रीति करने वाली! तू (किम्) क्या (इच्छसि) चाहती है॥ ४॥ (साधुम्) साधु [कार्य साधने वाले], (हिरण्ययम्) तेजोमय (पुत्रम्) पुत्र

१—(एताः) उपस्थिताः (अश्वाः) अशू व्याप्तौ—क्वन्, टाप्। व्यापिकाः प्रजाः (आ) आगत्य (प्लवन्ते) गच्छन्ति॥

२—(प्रतीपम्) आप्नोतेर्ह्रस्वश्च। उ० २। ५८। प्रति+आप्लृ व्याप्तौ—क्विप्। ऋक्पूरब्धूः पथामानक्षे। पा० ५। ४। ७४। अप्रत्ययः। द्व्यन्तरुपसर्गेभ्योऽप ईत्। पा० ६। ३। ९७। इति ईत्। प्रत्यक्षव्यापकम् (प्राति) सांहितिको दीर्घः। प्रति। उद्दिश्य (सुत्वनम्) सुयजोर्ङ्वनिप्। पा० ३। २। १०३। षु प्रसवैश्वर्ययोः—ङ्वनिप्, तुक् च। उत्पादकम्। ऐश्वर्यवन्तं परमेश्वरम्॥

३—(तासाम्) पूर्वोक्तप्रजानां मध्ये (एका) स्त्री प्रजा (हरिक्निका) हरयो मनुष्याः—निघ० २। ३। कुन् शिल्पिसंज्ञयोरपूर्वस्यापि। उ० २। ३२॥ कनी दीप्तिकान्तिगतिषु—क्वुन्, टाप्, अत इत्वम्। धातोः अकारलोपः। हरिकनिका। मनुष्येच्छुका॥

४—(हरिक्निके) म० ३। हे मनुष्येच्छुके (किम्) (इच्छसि) कामयसे॥

५—(साधुम्) कार्यसाधकम् (पुत्रम्) सन्तानम् (हिरण्ययम्) तेजोमयम्॥

[सन्तान] को (क) कहां (आहतम्) ताड़ा हुआ (परास्यः) तूने दूर फेंक दिया है ॥ ५,६ ॥

भावार्थ—सृष्टि के बीच माता अपने पुरुष से प्रीति करके सन्तान उत्पन्न करके उन को कुमार्ग से बचाके तेजस्वी और सुमार्गी बनावे ॥ ३-६ ॥

यत्रामूस्तिस्रः शिंशपाः ॥७॥ यत्र । अमूः । तिस्रः । शिंशपाः ॥७॥
परि त्रयः ॥ ८ ॥ परि । त्रयः ॥ ८ ॥
पृदाकवः ॥ ९ ॥ पृदाकवः ॥ ९ ॥
शृङ्गं धमन्त आसते ॥१०॥ शृङ्गम् । धमन्तः । आसते ॥१०॥

भाषार्थ—(यत्र) जहां (अमूः) वे (तिस्रः) तीन [माता पिता और आचार्य रूप प्रजायें] (शिंशपाः) बालक की पालने वाली हैं ॥ ७ ॥ [वहां] (त्रयः) तीन [आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक क्लेश रूप] (पृदाकवः) अजगर [बड़े सांप] (शृङ्गम्) धमन्तः) सींग फूकते हुये [बाजे के समान फुफकार मारते हुये] (परि) अलग (आसते) बैठते हैं ॥ ८-१०॥

भावार्थ—जिस कुल में माता पिता और आचार्य सुशिक्षक हैं, वहां सन्तान सदा सुखी रहते हैं, और जैसे अजगर सांप अपने श्वास से खैंचकर प्राणियों को खा जाते हैं, वैसे ही विद्वान् सन्तानों को तीनों क्लेश नहीं सताते हैं ॥ ७-१० ॥

अयन्महा ते अर्वाहः ॥११॥ अयत् । महा । ते । अर्वाहः ॥११॥

६—(क) कुत्र (आहतम्) ताडितम् (परास्यः) असु क्षेपणे । परा दूरे आस्यः अक्षिपः ॥

७—(यत्र) यस्मिन् कुले (अमूः) प्रसिद्धाः (तिस्रः) मातापितराचार्यरूपाः प्रजाः (शिंशपाः) छान्दसं रूपम् । शिशुपाः । बालानां पालिकाः ॥

८—(परि) पृथग्भावे (त्रयः) आध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकक्लेशाः ॥

९—(पृदाकवः) अजगराः । बृहत्सर्पाः ॥

१०—(शृङ्गम्) वाद्यविशेषं यथा, तथा श्वासशब्दम् (धमन्तः) ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः—शतृ । दीर्घश्वासेन शब्दयन्तः (आसते) उपविशन्ति ॥

स इच्छकं सघाघते ॥१२॥ सः । इच्छकम् । सघाघते ॥१२॥

सघाघते गोमीद्या गोगतीरिति ॥ १३ ॥

सघाघते । गोमीद्या । गोगतीः । इति ॥ १३ ॥

पुमाँ कुस्ते निमिच्छसि ॥१४॥ पुमान् । कुस्ते । निमिच्छसि ॥१४॥

भाषार्थ—[हे स्त्री !] (अर्वाहः) ज्ञान पहुंचाने वाला [मनुष्य] (महा) महत्त्व के साथ (ते) तेरे लिये (अयत्) प्राप्त होता है ॥ ११ ॥ (सः) वह [मनुष्य] (इच्छकम्) इच्छा वाले को (सघाघते) सहाय करता है ॥१२॥ (गोमीद्या) वेद वाणी जानने वाली [स्त्री] (गोगतीः) पृथिवी पर गति वाली [प्रजाओं] को (सघाघते) सहाय करती है, (इति) ऐसा [निश्चय] है ॥ १३ ॥ [हे मनुष्य !] (पुमान्) रक्षक पुरुष होकर (कुस्ते) मिलाप के व्यवहार में (निमिच्छसि) चलता रहता है ॥ १४ ॥

भावार्थ—स्त्री पुरुष मिलकर धर्म व्यवहार में एक दूसरे के सहायक होकर संसार का उपकार करें ॥ ११—१४ ॥

११—(अयत्) अयते । प्राप्यते (महा) मह पूजायाम् क्विप् । महत्त्वेन (ते) तुभ्यम् (अर्वाहः) ऋ गतौ—विच्+वह प्रापणे—अण् । ज्ञानप्रापको विद्वान् ॥

१२—(सः) मनुष्यः (इच्छकम्) इषु इच्छायाम्-शकप्रत्ययः । इच्छा-युक्तम् (सघाघते) षह क्षमायाम् इत्यस्य रूपम् । यद्वा, षघ हिंसायाम् अत्र सहाये । साहयते ॥

१३—(सघाघते) म० १२ ॥ साहयते (गोमीद्या) गौर्वाङ्नाम—निघ० १ । ११ । अघन्याद्यश्च । उ० ४ । ११२ । मिदृ मेधाहिंसनयोः—यक्, टाप् दीर्घश्च । गां वेदवाणीं मेदते प्रजानाति या सा (गोगतीः) गवि पृथिव्यां गति-युक्ताः प्रजाः (इति) एवमस्ति ॥

१४—(पुमान्) पातेर्डुम्सुन् । उ० ४ । ११८ । पुमस् । रक्षकः सन् (कुस्ते) अन्जिघृसिभ्यः क्तः । उ० ३ । ८९ । कुस संश्लेषणे— क्त । संयोगव्यवहारे (निमिच्छसि) म्रियक्षति म्यक्षतीति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ इत्यस्य रूपम् । यद्वा मिच्छ उत्क्लेशे=पीडने, इत्ययमपि गतौ । नितरां गच्छसि ॥

पल्पं बद्ध वयो इति ॥१५॥ पल्पं । बद्ध । वयः । इति ॥१५॥
बद्धं वो अघा इति ॥१६॥ बद्धं । वः । अघाः । इति ॥१६॥

भाषार्थ—(पल्प) हे रक्षक ! (बद्ध) हे प्रबन्ध करने वाले ! [पुरुष] (वयः इति) यह जीवन है ॥ १५ ॥ (अघाः) हे पापियो ! (वः) तुम्हारा (बद्ध इति) यह [प्राणी] प्रबन्ध करने वाला है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य सावधान जितेन्द्रिय होकर पाप से बचने का उपाय करते रहें ॥ १५, १६ ॥

अजागार केविका ॥ १७ ॥ अजागार । केविका ॥ १७ ॥
अश्वस्य वारो गोशपद्यके ॥ १८ ॥
अश्वस्य । वारः । गोशपद्यके ॥ १८ ॥

भाषार्थ—(केविका) सेवा करने वाली [बुद्धि] (अजागार) जागती हुई है ॥ १७ ॥ (अश्वस्य वारः) अश्ववार [घुड़चढ़ा, घोड़ा लेने को] (गोशपद्यके) गौओं के सोने के स्थान में [व्यर्थ है] ॥ १८ ॥

भावार्थ—सेवा करने वाली अर्थात् उचित काम में लगी हुई बुद्धि तीव्र होती है, घुड़चढ़े को उत्तम घोड़ा घुड़साल में मिलता है, गोशाला में नहीं ॥ १७, १८ ॥

श्येनीपती सा ॥ १९ ॥ श्येनीपती । सा ॥ १९ ॥

१५—(पल्प) पानीविषिभ्यः पः । उ० ३ । २३ । पल गतौ रक्षणे च—पप्रत्ययः । हे रक्षक (बद्ध) कर्तरि क्त । हे प्रबन्धक (वयः) जीवनम् (इति) अवधारणे ॥

१६—(बद्ध) विभक्तेर्लुक् । प्रबन्धकः (वः) युष्माकम् (अघाः) अघं पापम्—अर्शआद्यच् । हे पापिनः (इति) ॥

१७—(अजागार) आगरिता सावधानी अभवत् (केविका) केवृ सेवने—ण्वुल्, टाप् अत इत्वम् । सेविका बुद्धिः ॥

१८—(अश्वस्य) तुरंगस्य (वारः) वारयिता । आरूढः (गोशपद्यके) गो + शीङ् शयने—डे + पद—यत्, स्वार्थे कन् । गोशयनस्थाने । गोष्ठे ॥

अनामयोपजिह्विका ॥२०॥ अनामया । उपजिह्विका ॥ २० ॥

भाषार्थ—(सा) वह [सेवा करने वाली बुद्धि—म० १७] (श्येनीपती) शीघ्र गति वाली प्रजाओं की स्वामिनी होकर ॥ १६ ॥ (अनामया) नीरोग और (उपजिह्विका) उपकारी जिह्वा [वाणी] वाली है ॥ २० ॥

भावार्थ—उत्तम बुद्धि वाला मनुष्य शीघ्र काम करने वाला, स्वस्थ और उपकारी वचन बोलने वाला होता है ॥ १६, २० ॥

सूक्तम् १३० ॥

१—२० ॥ प्रजापतिर्देवता १ याजुषी पङ्क्तिः; २, ३, ४, १८ याजुषी गायत्री; ५, ६, ८, ९, ११, १२, १४—१७, १९, २० प्राजापत्या गायत्री; ७ याजुषी बृहती; १० याजुष्युष्णिक्; १३ दैवी पङ्क्तिः ॥

मनुष्यपुरुषार्थोपदेशः—मनुष्य के लिये पुरुषार्थ का उपदेश ॥

को अर्य बहुलिमा इषूनि ॥१॥ कः । अर्यः । बहुलिमा । इषूनि ॥

को असिद्याः पयः ॥ २ ॥ कः । असिद्याः । पयः ॥ २ ॥

को अर्जुन्याः पयः ॥ ३ ॥ कः । अर्जुन्याः । पयः ॥ ३ ॥

कः कार्ष्ण्याः पयः ॥ ४ ॥ कः । कार्ष्ण्याः । पयः ॥ ४ ॥

एतं पृच्छ कुहं पृच्छ ॥५॥ एतम् । पृच्छ । कुहम् । पृच्छ ॥५॥

कुहाकं पक्वकं पृच्छ ॥६॥ कुहाकम् । पक्वकम् । पृच्छ ॥६॥

[सूचना—पदपाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(कः) कौन मनुष्य (बहुलिमा) बहुत से (इषूनि) इष्ट

१६—(श्येनीपती) अ० ३ । ३ । ३ । श्यैङ् गतौ—इनच्, ङीप् + पति—ङीप् । श्येनीनां शीघ्रगामिनीनां प्रजानां स्वामिनी (सा) सेविका बुद्धिः—म० १७ ॥

२०—(अनामया) वलिमलितनिभ्यः कयन् । उ० ४ । ९९ । अम पीडने चुरा०—कयन्, टाप् । रोगरहिता । (उपजिह्विका) शेवायह्वजिह्वा० । उ० १ । १५४ । जि जये—वन् धुक् च, टाप् । उप उपकारिका जिह्वा वाणी यस्याः सा ॥

१—(कः) (अर्यः) ऋ गतौ—इत्यस्य रूपम् । अर्यात् । प्राप्नुयात्

वस्तुओं को (अर्थ) पावे ॥ १ ॥ (कः) कौन (असिद्याः) बिना बन्धन वाली क्रिया के (पयः) अन्न को ॥ २ ॥ (कः) कौन (अर्जुन्याः) उद्यम वाली क्रिया के (पयः) अन्न को ॥ ३ ॥ (कः) कौन (कार्ष्ण्याः) आकर्षण वाली क्रिया के (पयः) अन्न को [पावे] ॥ ४ ॥ (एनम्) इस [प्रश्न] को (कुहम्) अद्भुत स्वभाव वाले मनुष्य से (पृच्छ) पूछ, (पृच्छ) पूछ ॥ ५ ॥ (कुहाकम्) अद्भुत स्वभाव वाले, (पक्वकम्) पक्के [दृढ़ चित्त वाले] से (पृच्छ) पूछ ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विवेकी, क्रिया कुशल विद्वानों से शिक्षा लेता हुआ विद्या बल से चमत्कारी, नवीन नवीन आविष्कार करके उद्योगी होवे ॥१—६॥

यवानो यतिस्वभिः कुभिः ॥७॥ यवानः। यतिस्वभिः। कुभिः॥७॥
अकुप्यन्तः कुपायकुः ॥ ८ ॥ अकुप्यन्तः । कुपायकुः ॥ ८ ॥
आमणको मणत्सकः ॥ ९ ॥ आमणकः । मणत्सकः ॥ ९ ॥
देव त्वप्रतिसूर्य ॥ १० ॥ देव । त्वप्रतिसूर्य ॥ १०

(बहुलिमा)) पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा । पा० ५ । १ । १२२ । बहुल-इमनिच् । बहूनि (इष्टूनि) इषु इच्छायाम् उप्रत्ययः कित् । इष्टवस्तूनि

२—(कः) (असिद्याः) षिञ् बन्धने-क्तिन्, तस्य दः । असित्याः । बन्धनरहितक्रियायाः (पयः) पय गतौ-असुन् । अन्नम्—निघ० २ । ७ ॥

३—(कः) (अर्जुन्याः) अर्जेर्णिलुक् च । उ० ३ । ५८ । अर्ज अर्जने-उनन् ङीप् । उद्योगिन्याः क्रियायाः (पयः) म० २ ॥

४—(कः) (कार्ष्ण्याः) घृणिपृश्निपार्ष्णि० । उ० ४ । ५२ । कृष विलेखने-निप्रत्ययः, वृद्धिश्च । आकर्षकक्रियायाः (पयः) म० २ ॥

५—(एनम्) प्रश्नम् (पृच्छ) (कुहम्) कुह विस्मापने—क । अद्भुतस्वभावं पुरुषम् (पृच्छ) ॥

६—(कुहाकम्) बहुलमन्यत्रापि । उ० २ । ३७ । कुह विस्मापने—क्वुन्, वृद्धिः । यद्वा, पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । कुह—आकप्रत्ययः । अद्भुतस्वभावम् (पक्वकम्) दृढचित्तम् (पृच्छ) ॥

भाषार्थ—(यवानः) युवा [बलवान्], (यतिस्वभिः) यतियों [यत्न करने वालों] में प्रकाशमान, (कुभिः) ढकलेने वाला [प्रताप वाला] ॥ ७ ॥ (अकुप्यन्तः) कोप नहीं करने वाला, (कुपायकुः) पृथिवी की रक्षा करने वाला ॥८॥ (आमणकः) उपदेश करने वाला और (मणत्सकः) विद्वानों में शक्तिमान् होकर ॥९॥ (देव) हे विद्वान् ! (त्वप्रतिसूर्य) तू सूर्य समान [प्रतापी] है ॥१०॥

भावार्थ—मनुष्य शरीर और आत्मा से बलवान् होकर भूमि की रक्षा और विद्या की बढ़ती करे ॥ ७—१० ॥

एनश्चिपङ्क्तिका हविः॥११॥ एनश्चिपङ्क्तिका । हविः ॥११॥
प्रदुद्रुदो मघाप्रति ॥ १२ ॥ प्रदुद्रुदः । मघाप्रति ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(एनश्चिपङ्क्तिका) पाप के नाश का फैलाने वाला

७—(यवानः) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८९ । यु मिश्रणामिश्रणयोः—आनच् । युवा । बलवान् (यतिस्वभिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । यती यत्ने—इन् । इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । शुभ शुम भाषणभासनहिंसनेषु—इन् कित् । उकारस्य वः । यतिषु यत्नशीलेषु दीप्यमानः (कुभिः) इगुपधात् कित् । उ० ४ । १२० । कुभ कुभि आच्छादने—इन् कित् । आच्छादकः प्रतापवान् ॥

८—(अकुप्यन्तः) जॄविशिभ्यां झच् उ० ३ । १२६ । कुप क्रोधे—झच्, अत्र कित् यकारश्च । क्रोधरहितः (कुपायकुः) कठिकुषिभ्यां काकुः । उ० ३ । ७७ । काकुरेव ककुः । कु+पा रक्षणे—ककु, यकारश्च । कुं भूमिं पातीति सः । पृथिवीपालः ॥

९—(आमणकः) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । आ+मण शब्दे—वुन् । उपदेशकः (मणत्सकः) वर्त्तमाने पृषद् बृहन् । उ० २ । ८४ । मण शब्दे—अति+शक्लृ+सामर्थ्ये—अच् । मणत्सु विद्वत्सु शक्तः ॥

१०—(देव) हे विद्वन् (त्वप्रतिसूर्य) विभक्तेर्लुक् । त्वमेव सूर्यसमानः प्रतापवान् ॥

११—(एनश्चिपङ्क्तिका) वातेर्डिच्च । उ० ४ । १३४ । एनः+चन श्रद्धोपहननयोः—इण् डित् । वृतेस्तिकन् । उ० ३ । १४६ । पचि व्यक्तीकरणे विस्तारवचने—तिकन् । सुपां सुलुक्० पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेराकारः ।

(हविः) देन लेन [होवे] ॥ ११ ॥ (प्रदुद्रुदः) अच्छे प्रकार गति देने वाला व्यवहार (मघाप्रति) धनों के लिये [होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—मनुष्य सत्य से व्यवहार कर के धन प्राप्त करे ॥ ११, १२ ॥

शृङ्ग उत्पन्न ॥ १३ ॥   शृङ्गः । उत्पन्न ॥ १३ ॥

मा त्वाभि सखा नो विदन् ॥ १४ ॥

मा । त्वा । अभि । सखा । नः । विदन् ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे शत्रु !] तू (शृङ्गः) हिंसक (उत्पन्न) उत्पन्न है ॥ १३ ॥ (त्वा) तुझ से (नः) हमारा (सखा) सखा [साथी] (मा अभि विदन्) कभी न मिले ॥ १४ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपने मित्रों को दुष्टों से कभी न मिलने देवे ॥

वशायाः पुत्रमा यन्ति ॥१५॥ वशायाः पुत्रम् । आ । यन्ति॥१५॥

इरावेदुमयं दत ॥ १६ ॥ इरावेदुमयम् । दत ॥ १६ ॥

अथो इयन्नियन्निति ॥ १७ ॥ अथो । इयन्-इयन् । इति ॥ १७ ॥

अथो इयन्निति ॥ १८ ॥ अथो । इयन् । इति ॥१८ ॥

अथो श्वा अस्थिरो भवन् ॥ १९ ॥

अथो । श्वा । अस्थिरः । भवन् ॥ १९ ॥

एनसः पापस्य चेनांशस्य पङ्क्तिकं विस्तारकम् (हविः) हु दानादानयोः—इसि । दानादानकर्म ॥

१२—(प्रदुद्रुदः) शते च । उ० १ । ३५ । प्र+द्रु गतौ—कु डित्, द्दातेः—क । प्रकर्षेण गतिदायको व्यवहारः (मघाप्रति) मघं धननाम—निघ० २ । १० । धनानि प्रति अभिमुखीकृत्य ॥

१३—(शृङ्गः) शृणातेर्ह्रस्वश्च । उ० १ । १२६ । शॄ हिंसायाम्—गन्, नुट् च । हिंसकः । शत्रुः (उत्पन्न) प्रादुर्भूतोऽसि ॥

१४—(मा) निषेधे (त्वा) त्वाम् (अभिः) सर्वतः (सखा) (नः) अस्माकम् (विदन्) प्राप्नोतु ॥

तूयं यकांशलोकका ॥ २० ॥ तूयम् । यकांशलोकका ॥ २० ॥

भाषार्थ—(वशायाः) कामना योग्य स्त्री के (पुत्रम्) पुत्र को (आ यन्ति) वे [मनुष्य] आकर पहुंचते हैं ॥ १५ ॥ (इरावेदुमयम्) भूमि के ज्ञान वाला व्यवहार [उस को] (दत) तुम दो ॥१६॥ (अथो) फिर वह [पुत्र] (इयन्—इयन्) चलता हुआ, चलता हुआ [होवे], (इति) ऐसा है ॥ १७ ॥ (अथो) फिर वह (इयन्) चलता हुआ [होवे], (इति) ऐसा है ॥ १८ ॥ (अथो) अथवा (श्वा) कुत्ते [के समान] (अस्थिरः) चंचल स्वभाव वाला (भवन्) होता हुआ ॥ १९ ॥ वह (तूयम्) निश्चय करके (यकांशलोकका) यातना [घोर पीड़ा] वाले भाग का दिखाने वाला [होवे] ॥ २० ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग गुणवती स्त्री के सन्तानों को उत्तम शिक्षा देकर महान् विद्वान् और उद्योगी बनावें। ऐसा न करने से बालक निर्गुणी और पीड़ा दायक होकर कुत्ते के समान अपमान पाते हैं ॥ १५—२० ॥

१५—(वशायाः) वश कान्तौ—अङ्, टाप् । कामनीयायाः स्त्रियाः (पुत्रम्) सन्तानम् (आ) आगत्य (यन्ति) प्राप्नुवन्ति ॥

१६—(इरावेदुमयम्) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इण् गतौ-रन्, गुणाभावः । भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । विद ज्ञाने-उप्रत्ययः । इराया भूमेर्ज्ञानयुक्तं व्यवहारम् (दत) तलोपः । यूयं दत्त ॥

१७—(अथो) अनन्तरम् (इयन्नियन्) इण् गतौ—शतृ, इयङ् इत्यादेशः, छित्वं च । यन् यन् । गच्छन् गच्छन्—स भवतु (इति) एवम् ॥

१८—(अथो) अनन्तरम् (इयन्) म० १७ । गच्छन् (इति) ॥

१९—(अथो) पक्षान्तरे । अथवा (श्वा) श्वन्नुक्षन्पूषन्० । उ० १ । १५९ । टु ओ श्वि गतिवृद्ध्योः—कनिन् । कुक्कुरो यथा (अस्थिरः) चञ्चलप्रकृतिः (भवन्) सन् ॥

२० (तूयम्) अव्ययम् । निश्चयेन (यकांशलोकका) कृञादिभ्यः संज्ञायां वुन् । उ० ५ । ३५ । यत ताडने-वुन्, स च डित् + अंश विभाजने-अच् । कृञादिभ्यः० । उ० ५ । ३५ । लोक दर्शने-वुन्, विभक्तेराकारः । यकस्य यातकस्य महापीडकस्य अंशस्य भागस्य लोकको दर्शयिता ॥

सूक्तम् १३१ ॥

१—२० ॥ प्रजापतिर्वरुणो वा देवता ॥ १—४, ६—११, १४, १८, १९ प्राजापत्या गायत्री, ५ अनुष्टुप्; १२, १३ दैवी बृहती; १५, १६ याजुषी गायत्री; १७ दैवी पङ्क्तिः; २० याजुष्युष्णिक् ॥

ऐश्वर्यप्राप्त्युपदेशः—ऐश्वर्य की प्राप्ति का उपदेश ॥

आमिनोनिति भद्यते ॥१॥ आ-अमिनोन् । इति । भद्यते ॥ १ ॥
तस्य अनु निभञ्जनम् ॥२॥ तस्य । अनु । निभञ्जनम् ॥२॥
वरुणो याति वस्वभिः ॥३॥ वरुणः । याति । वस्वभिः ॥३॥
शतं वा भारती शवः ॥४॥ शतम् । वा । भारती । शवः ॥४॥
शतमाश्वा हिरण्ययाः । शतं रथ्या हिरण्ययाः ॥
शतं कुथा हिरण्ययाः । शतं निष्का हिरण्ययाः ॥ ५ ॥
शतम् । आश्वाः । हिरण्ययाः ॥ शतम् । रथ्याः । हिरण्ययाः ॥
शतम् । कुथाः । हिरण्ययाः ॥ शतम् । निष्काः । हिरण्ययाः ॥५॥

भाषार्थ—(आ—अमिनोन्) उन [विद्वानों] ने [विघ्न को] सब ओर से हटाया है, (इति) यह (भद्यते) कल्याणकारी है ॥ १ ॥ (तस्य) हिंसक विघ्न का (अनु) लगातार (निभञ्जनम्) विनाश होवे ॥ २ ॥ (वरुणः) श्रेष्ठ [धनी पुरुष] (वस्वभिः) श्रेष्ठ वस्तुओं के साथ (याति) चलता है ॥ ३ ॥ (शतम्) सौ (भारती) पोषण करने वाली विद्यायें (वा) और

१—(आ—अमिनोन्) डुमिञ् प्रक्षेपणे—लङ् छान्दसः । मिनोतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । समन्तात् नाशितवन्तः, ते विद्वांसो विघ्नम् (इति) अवधारणे (भद्यते) भदि कल्याणे सुखे च । कल्याणकरं भवति ॥

२—(तस्य) तर्द हिंसे—ड्प्रत्ययः । हिंसकस्य विघ्नस्य । चौरस्य (अनु) निरन्तरम् (निभञ्जनम्) विनाशनम् ॥

३—(वरुणः) श्रेष्ठः । धनी पुरुषः (याति) गच्छति (वस्वभिः) वसुभिः । श्रेष्ठवस्तुभिः ॥

४—(शतम्) बहु (वा) चार्थे (भारती) अथ० ५ । १२ । ८ । डुभृञ

(शवः) बल हैं ॥ ४ ॥ (शतम्) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरे (आश्वाः) घोड़े हैं। (शतम्) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरे (रथ्याः) रथ हैं। (शतम) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरी (कुथाः) हाथी की झूलें हैं। (शतम्) सौ (हिरण्ययाः) सुनहरे (निष्काः) हार हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्वज विद्वानों के समान विघ्नों को हटाकर अनेक प्रकार के ऐश्वर्य प्राप्त करें ॥ १—५ ॥

अहल कुश वर्त्तक ॥ ६ ॥ अहल । कुश । वर्त्तक ॥ ६ ॥

शफेनइव ओहते ॥ ७ ॥ शफेन । इव । ओहते ॥ ७ ॥

आयं वनेनती जनी ॥ ८ ॥ आ-अयं । वनेनती । जनी ॥८॥

वनिष्ठा नाव गृह्यन्ति ॥९॥ वनिष्ठाः ॥ न । अवं । गृह्यन्ति ॥९॥

इदं मह्यं मदूरिति ॥ १० ॥ इदम् । मह्यम् । मदुः । इति ॥१०॥

ते वृक्षाः सह तिष्ठति ॥११॥ ते । वृक्षाः । सह । तिष्ठति ॥११॥

भाषार्थ—(अहल) हे प्रकाशमान ! (कुश) हे पाप नाशक ! (वर्त्तक) हे प्रवृत्ति करने वाले ! [मनुष्य] ॥ ६ ॥ (शफेन इव) खुर से जैसे, (ओहते)

धारणपोषणयोः—अतच्, स्वार्थे अण्, ङीप्, बहुवचनस्यैकवचनम्। भारती वाक्—निघ० १। ११। भारत्यः। विद्याः (शवः) शवांसि बलानि ॥

५—(शतम्) (आश्वाः) स्वार्थे अण्। अश्वाः। तुरगाः (हिरण्ययाः) हिरण्यमयाः। सुवर्णयुक्ताः। तेजोमयाः (शतम्) (रथ्याः) खलगोरथात्। पा० ४। २। ५०। रथ—य। रथसमूहाः (हिरण्ययाः) (शतम्) (कुथाः) कुथ, कुन्थ संश्लेषणे—अच्। गजपृष्ठस्थचित्रकम्बलाः (हिरण्ययाः) (शतम्) (निष्काः) निस् निश्चयेन + कै शब्दे—क। उरोभूषणानि। हाराः (हिरण्ययाः) ॥

६—(अहल) शकिशम्योर्नित्। उ० १। १२। अहि गतौ दीप्तौ च—कलप्रत्ययः। हे दीप्यमान (कुश) कु पापं श्यतीति, शो तनूकरणे—डप्रत्ययः। हे पापनाशक (वर्त्तक) वृतु वर्तने—ण्वुल्। हे प्रवृत्तिशील ॥

७—(शफेन) खुरेण (इव) यथा (ओहते) उहिर् अर्दने। हन्यते स शत्रुः ॥

वह [शत्रु] मारा जाता है ॥ ७ ॥ (वनेनती) उपकार में झुकने वाली (जनी) माता होकर (आय) तू आ ॥ ८ ॥ (वनिष्ठाः) अत्यन्त उपकारी लोग (न) नहीं (अव गृह्यन्ति) रुकते हैं ॥ ९ ॥ (इदम्) यह [वचन] (मह्यम्) मेरे लिये (मदूः) आनन्द देने वाली नीति है—(इति) यह निश्चय है ॥ १० ॥ (ते) वे (वृक्षाः) स्वीकार करने योग्य पुरुष (सह) मिलकर (तिष्ठति) रहते हैं ॥ ११ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य और स्त्रियां सदा उपकार करके क्लेशों से बचें और परस्पर प्रीति से रहें ॥ ६—११ ॥

पाक॑ ब॒लिः ॥ १२ ॥ पाक॑ । ब॒लिः ॥ १२ ॥

शक॑ ब॒लिः ॥ १३ ॥ शक॑ । ब॒लिः ॥ १३ ॥

अश्व॑त्थ॒ खदि॑रो ध॒वः ॥१४॥ अश्व॑त्थ॒ । खदि॑रः । ध॒वः ॥१४॥

अर॑दु॒परम ॥ १५ ॥ अर॑दु॒परम ॥ १५ ॥

शयो॑ हु॒त इ॑व ॥ १६ ॥ शय॑ः । हु॒तः । इ॑व ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(पाक) हे रक्षक श्रेष्ठ पुरुष ! (बलिः) बलि [भोजन

८—(आय) अय गतौ । आगच्छ (वनेनती) वन उपकारे—अच् । पातेर्डति । उ० ४ । ५७ । णम प्रह्वत्वे शब्दे च—डति, ङीप् । उपकारे नम्रा (जनी) जन जनने—इन्, ङीप् जनयित्री । माता सती त्वम् ॥

९—(वनिष्ठाः) वनितृ—इष्ठन्, तृचोलोपः । वनितृतमाः । उपकारितमाः (न) निषेधे (अव गृह्यन्ति) अवग्रहं प्रतिरोधं प्राप्नुवन्ति ॥

१०—(इदम्) वचनम् (मह्यम्) मनुष्याय (मदूः) कृषिचमि० । उ० १ । ८० । मदी हर्षे—ऊप्रत्ययः । हर्षकरी नीतिः (इति) अवधारणे ॥

११—(ते) पूर्वोक्ताः (वृक्षाः) वृक्ष वरणे—क । स्वीकरणीयाः पुरुषाः (सह) एकीभूय (तिष्ठति) तिष्ठन्ति । वर्तन्ते ॥

१२—(पाक) इण्भीकापा० । उ० ३ । ४३ । पा रक्षणे—कन् । पाकः प्रशस्यनाम—निघ० ३ । ८ । पाकः पक्तव्यो भवति विपक्वप्रज्ञ आदित्यः—निरु० ३ । १२ । हे रक्षक । प्रशस्य (बलिः) सर्वधातुभ्य इन् । उ० ४ । ११८ । बल प्राणने धान्यावरोधने च—इन् । भोजनादिदानम् । उपहारः । राजग्राह्यः करः ।

आदि की भेंट होवे] ॥ १२ ॥ (शक) हे समर्थ ! (बलिः) बलि [राजा का ग्राह्य कर आदि का लेना होवे] ॥ १३ ॥ (अश्वत्थ) हे अश्वत्थामा ! [बलवानों में ठहरने वाले वीर] (खदिरः) दृढ चित्त वाला (धवः) मनुष्य [होवे] ॥ १४ ॥ (अरदुपरम) हे हिंसा से निवृत्ति वाले ! ॥ १५ ॥ (शयः) सांप [के समान शत्रु] (हतः) मारा हुआ (इव) जैसे है ॥ १६ ॥

भावार्थ—मनुष्य उचित रीति से भोजन आदि का उपहार वा दान और कर आदि का ग्रहण करके दृढ़चित्त होकर शत्रुओं का नाश करे॥१२-१६॥

व्याप् पूरुषः ॥ १७ ॥ व्याप् । पूरुषः ॥ १७ ॥

अदूहमित्यां पूषकम् ॥ १८ ॥ अदूहम्ऽइत्याम् । पूषकम् ॥१८॥

अत्यर्धर्च परस्वतः ॥ १९ ॥ अत्यर्धऽऋच । परस्वतः ॥ १९ ॥

दौव हस्तिनो दृती ॥ २० ॥ दौव । हस्तिनः । दृती ॥ २० ॥

भाषार्थ—(अत्यर्धर्च) हे अत्यन्त बढ़ी हुई स्तुति वाले ! (पूरुषः) इस पुरुष ने (अदूहमित्याम्) अनष्ट ज्ञान के बीच (परस्वतः) पालन सामर्थ्य

१३—(शक) शक्लृ सामर्थ्ये—अच् । हे समर्थ (बलिः) म० १२ । राजग्राह्यकरः ॥

१४—(अश्वत्थ) अथ० ३ । ६ । १ । अश्व+ष्ठा गतिनिवृत्तौ—क, पृषोदरादिरूपम् । अश्वेषु बलवत्सु स्थितिशील । अश्वत्थामन् वीर (खदिरः) अथ० ३ । ६ । १ । खद स्थैर्यहिंसयोः—किरच् । स्थिरचित्तः (धवः) अथ० ५ । ५ । ५ । धावु गतिशुद्ध्योः—पचाद्यच् , ह्रस्वः । धव इति मनुष्यनाम तद्विधेगाद्विधवा—निरु० ३ । १५ । शुद्धः । मनुष्यः ॥

१५—(अरदुपरम) वर्त्तमाने पृषद्बृहन्महज् । उ० २ । ८४ । ऋ हिंसायाम—अति+उप—रम निवृत्तौ—घञ् । हिंसनात् निवृत्तिशील ॥

१६—(शयः) शीङ् शयने—अच् । सर्पः । सर्प इव शत्रुः (हतः) नाशितः (इव) यथा ॥

१७—(व्याप) व्यापितवान् । विस्तारितवान् (पूरुषः) अयं मनुष्यः ॥

१८—(अदूहमित्याम्) अ+दुहिर् अर्दने-क+माङ् माने-क्तिन् । अनष्टायां मित्यां ज्ञाने (पूषकम्) पूष वृद्धौ-ण्वुल् । वृद्धिकरं व्यवहारम् ॥

वाले [मनुष्य] के (पूषकम्) वढ़ती करने वाले व्यवहार को (व्याप) फैलाया है ॥ १७—१६ ॥ [जैसे] (हस्तिनः) धौंकनी वाले का (दौव) दोनों (हती) खालें [धौंकनी फैलती हैं] ॥ २० ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्या आदि की प्राप्ति से संसार का उपकार करके अपनी कीर्ति फैलावे, जैसे लोहार धौंकनी की खालों को वायु से फुलाकर फैलाता है ॥ २० ॥

सूक्तम् १३२ ॥

१—१६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १—६, १२, १६ प्राजापत्या गायत्री ; १०, १४ आसुरी जगती , ११, १३ दैवी जगती ; १५ याजुषी गायत्री ॥

परमात्मगुणोपदेशः—परमात्मा के गुणों का उपदेश ॥

आदलाबुमेककम् ॥ १ ॥ आत् । अलाबुकम् । एककम् ॥ १ ॥
अलाबुकं निखातकम् ॥ २ ॥ अलाबुकम् । निखातकम् ॥ २ ॥
कर्कारिको निखातकः ॥ ३ ॥ कर्कारिकः । निखातकः ॥ ३ ॥
तद् वात उन्मथायति ॥ ४ ॥ तत् । वातः । उन्मथायति ॥४॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भावार्थ—[वह ब्रह्म] (अलाबुकम्) न डूबने वाला (आत्) और

१६—(अत्यर्धर्चं) ऋधु वृद्धौ-घञ्, ऋच स्तुतौ क्विप् । ऋक्पूरब्धूः० । पा० ५ । ४ । ७४ । समासान्तस्य अप्रत्ययः । हे अतिशयेन प्रवृद्धस्तुतियुक्त (परस्वत.) पॄ पालनपूरणयोः-असुन् , मतुप् । पालनसामर्थ्ययुक्तस्य मनुष्यस्य ॥

२०—(दौव) द्वौ (हस्तिन.) हसिमृग्रिण्० । उ० ३ । ८६ । हसे विकाशे-तन् , इनि । हस्तं भस्त्रा । भस्त्रावतः पुरुषस्य (हती) हणातेर्ह्रस्वः । उ० ४ । १८४ । दृ विदारणे-तिप्रत्ययः, ह्रस्वश्च । द्वे चर्मनिर्मितपात्रे ॥

१—(आत्) अनन्तरम् (अलाबुकम्) नञि लम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । नञ्+लबि अवस्रंसने-ऊ, ऊकारस्य उकारः, स. च, णित् नलोपश्च, स्वार्थे कन् । न लम्बते कुत्रापि । अनधःपतनशीलम् निराधारं ब्रह्म (एककम्) स्वार्थे कन् । असहायम् ॥

(एककम्) अकेला है ॥ १ ॥ (अलाबुकम्) न डूबने वाला और (निखातकम्) दृढ़ जमा हुआ है ॥ २ ॥ [वह परमात्मा] (कर्करिकः) बनाने वाला (निखातकः) दृढ़ जमा हुआ है ॥ ३ ॥ (तत्) उस [ब्रह्म] को (वातः) वायु (उन्मथायति) अच्छे प्रकार मथन [मनन] करता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—वह ब्रह्म निराधार अकेला होकर सब का आधार और बनाने वाला है, वायु आदि पदार्थ उस की आज्ञा में चलते हैं। सब मनुष्य उसकी उपासना करें ॥ १-४ ॥

कुलायं कृणवादिति ॥ ५ ॥ कुलायम् । कृणवात् । इति ॥५॥
उग्रं वनिषदाततम् ॥ ६ ॥ उग्रम् । वनिषत् । आततम् ॥ ६ ॥
न वनिषदनाततम् ॥ ७ ॥ न । वनिषत् । अनाततम् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(कुलायम्) स्थानों को (कृणवात्) वह [परमात्मा] बनाता है, (इति) ऐसा [मानते हैं] ॥ ५ ॥ (उग्रम्) दृढ़ और (आततम्) सब ओर फैला हुआ पदार्थ (वनिषत्) वह [मनुष्य] मांगे ॥ ६ ॥ (अनाततम्) बिना फैले हुये पदार्थ को (न वनिषत्) वह न मांगे ॥ ७ ॥

२—(अलाबुकम्) म० १ (निखातकम्) खनु अवदारणे-क्त, स्वार्थे कन् । खनित्वा दृढीकृत्य स्थापितम् ॥

३—(कर्करिकः) फर्फरीकादयश्च । उ० ४ । २० । डुकृञ् करणे-ईकन्, कर्करादेशः, ईकारस्य इकारः । कर्ता । रचयिता (निखातकः) म० २ । दृढीकृत्य स्थापितः ॥

४—(तत्) ब्रह्म (वातः) वायुः (उन्मथायति) उत्तमतया मथनं मननं करोति ॥

५—(कुलायम्) म० २० । १२७ । ८ । कुलायम् । स्थानानि (कृणवात्) लडर्थेलेट् । करोति रचयति परमेश्वरः (इति) एवं मन्यन्ते ॥

६—(उग्रम्) दृढम् (वनिषत्) वनु याचने लिङर्थे लुङ् । परस्मैपदं च । अवनिष्ट. याचनां मनुष्यः (आततम्) समन्तात् विस्तृतं पदार्थम् ॥

७—(न) निषेधे (वनिषत्) म० ६ । याचतां सः (अनाततम्) अविस्तृतम् ॥ सङ्कुचितं पदार्थम् ॥

भावार्थ—परमात्मा ने यह सब बडे बड़े लोक बनाये हैं। मनुष्य अपने हृदय को सदा बढ़ाता जावे, कभी संकुचित न करे ॥ ५—७ ॥

क एषां कर्करी लिखत् ॥८॥ कः । एषाम् । कर्करी । लिखत् ॥८॥

क एषां दुन्दुभिं हनत् ॥९॥ कः । एषाम् । दुन्दुभिम् । हनत् ॥९॥

यदीयं हनत् कथं हनत् ॥ १० ॥

यदि । इयम् । हनत् । कथम् । हनत् ॥ १० ॥

देवी हनत् कुहनत् ॥११॥ देवी । हनत् । कुहनत् ॥ ११ ॥

पर्यागारं पुनःपुनः ॥ १२॥ परि-आगारम् । पुनःपुनः ॥१२॥

भाषार्थ—(कः) कौन (एषाम्) इनके बीच (कर्करी) कर्करी [झारी जलपात्र, वा जलतरंग आदि बाजा] (लिखत्) छोड़े [बजावे] ॥८॥ (कः) कौन (एषाम्) इन के बीच (दुन्दुभिम्) दुन्दुभि [ढोल] (हनत्) बजावे ॥ ९ ॥ (यदि) जो (इयम्) यह [प्रजा, पुरुष वा स्त्री] (हनत्) बजावे, (कथम्) कैसे (हनत्) बजावे ॥ १० ॥ (देवी) देवी [उत्तम प्रजा, मनुष्य वा स्त्री] (पर्यागारम्) घर घर पर (पुनःपुनः) बार बार (हनत्)

८—(कः) (एषाम्) मनुष्याणां मध्ये (कर्करी) अर्त्तिकमिभ्रमि० । उ० ३ । १३२ । सौत्रो धातुः, कर्क हासे—अरप्रत्ययः, यद्वा, कर्कं हासं राति, रा दाने—क, गौरादित्वात् ङीष्, विभक्तेर्लुक् । कर्करीम् । सनालजलपात्रम् ॥ जलतरङ्गादिवाद्यम् (लिखत्) लिख अक्षरविन्यासे । अक्षरविन्यासरीत्या वादयेत् ॥

९—(कः) (एषाम्) (दुन्दुभिम्) अथ० ५ । २० । १ । बृहड्ढक्काम् (हनत्) वादयेत् ॥

१०—(यदि) सम्भावनायाम् (इयम्) दृश्यमाना स्त्रीपुरुषरूपा प्रजा (हनत्) (कथम्) केन प्रकारेण (हनत्) ॥

११—(देवी) दिव्यगुणवती प्रजा (हनत्) (कुहनत्) कुह विस्मापने । विस्मापयेत् । चमत्कारं कुर्यात् ॥

१२—(पर्यागारम्) परि + अग कुटिलायां गतौ—घञ्, आगमुच्छति अ

बजावे और (कुहनत्) चमत्कार दिखावे ॥ ११, १० ॥

भावार्थ—चुने हुये विद्वान् मनुष्य और विदुषी स्त्रियां संसार में उत्तम उत्तम बाजों के साथ वेद विद्या का गान करके आत्मा और शरीर की बल बढ़ाने वाली चमत्कारी क्रियाओं का प्रकाश करें ॥ ८—१२ ॥

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥ १३ ॥ त्रीणि । उष्ट्रस्य । नामानि ॥ १३ ॥

हिरण्य इत्येके अब्रवीत् ॥ १४ ॥

हिरण्यः । इति । एके । अब्रवीत् ॥ १४ ॥

द्वौ वा ये शिशवः ॥ १५ ॥ द्वौ । वा । ये । शिशवः ॥ १५ ॥

नीलशिखण्डवाहनः ॥ १६ ॥ नीलशिखण्डवाहनः ॥ १६ ॥

भाषार्थ—(उष्ट्रस्य) प्रतापी [परमात्मा] के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम ॥ १३ ॥ (हिरण्यः) हिरण्य [तेजोमय], (वा) और (द्वौ) दो (नीलशिखण्डवाहनः) नीलशिखण्ड [नीलों निधियों वा निवास स्थानों का पहुंचाने वाला] तथा वाहन [सब का लेचलने वाला] हैं, (इति) ऐसा (ये शिशवः) बालक हैं, (एके) वे कोई कोई (अब्रवीत्) कहते हैं ॥ १४–१६ ॥

भावार्थ—परमात्मा अपने अनन्त गुण, कर्म स्वभाव के कारण नामों की गणना में नहीं आ सकता है, जो मनुष्य उसके केवल "हिरण्य" आदि नाम बतांते हैं, वे बालक के समान थोड़ी बुद्धि वाले हैं ॥ १३—१६ ॥

गतौ-अण्। आगारं गृहम् । प्रतिगृहम् ॥ (पुनःपुनः) वारंवारम् ॥

१३—(त्रीणि) त्रिसंख्याकानि (उष्ट्रस्य) उषिखनिभ्यां कित् । उ० ४ । १६२ । उष दाहे बधे च-ष्ट्रन् किन् । प्रतापिनः परमेश्वरस्य (नामानि) संज्ञाः॥

१४—(हिरण्यः) हिरण्यः=हिरण्यमयः—निरु० १० । २३ । तेजोमयः (इति) एवम् (एके) केचित् (अब्रवीत्) लडर्थे लङ्, बहुवचनस्यैकवचनम् अब्रुवन् । ब्रुवन्ति ॥

१५—(द्वौ) (वा) समुच्चये (ये) (शिशवः) बालाः । बालसमानाल्पबुद्धयः (नीलशिखण्डवाहनः) नीलशिखण्डश्च वाहनश्च [नीलशिखण्डः—अथ० २ । २७ । ६] स्फायितञ्चिवञ्चि० । उ० २ । १३ । णीञ् प्रापणे—रक्, रस्य लः । यद्वा नि+इल गतौ—कः । अण्डन् कृसृभृवृञः । उ० १ । २८ ।

¹ पण्डित सेवकलाल कृष्णदास संशोधित पुस्तक में मन्त्र १३—१६ का पाठ इस प्रकार है ॥

त्रीण्युष्ट्रस्य नामानि ॥ १३ ॥ हिरण्यमित्येकमब्रवीत् ॥ १४ ॥
द्वे वा यशः शवः ॥ १५ ॥ नीलशिखण्डो वा हनत् ॥ १६ ॥

(उष्ट्रस्य) प्रतापी [परामात्मा] के (त्रीणि) तीन (नामानि) नाम हैं ॥ १३ ॥ (एकम्) एक (हिरण्यम्) हिरण्य [तेजोमय], (वा) और (द्वे) दो (यशः) यश [कीर्ति] तथा (शवः) बल है. (इति) ऐसा (अब्रवीत्) [वह, मनुष्य] कहता है ॥ १४, १५ ॥ (नीलशिखण्डः) नील शिखण्ड [नीलों निधियों वा निवास स्थानों का पहुंचाने वाला परमेश्वर] (वा) निश्चय करके (हनत्) व्यापक है [हन गतौ, गच्छति व्याप्नोति] ॥ १६ ॥

सूक्तम् १३३ ॥

१—६ ॥ कुमारी देवता ॥ १-३, ५ निचृदनुष्टुप् । ४, ६ अनुष्टुप् ॥
स्त्रीणां कर्तव्योपदेशः—स्त्रियों के कर्तव्य का उपदेश ॥

विततौ किरणौ द्वौ तावा पिनष्टि पूरुषः ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ १ ॥
विऽततौ । किरणौ । द्वौ । तौ । आ । पिनष्टि । पुरुषः ॥
न । वै । कुमारि । तत् । तथा । यथा । कुमारि । मन्यसे ॥ १ ॥

[पदपाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भावार्थ—(द्वौ) दोनों (किरणौ) प्रकाश की किरणें [शारीरिक बल और आत्मिक पराक्रम] (विततौ) फैले हुये हैं, (तौ) उन दोनों को (पूरुषः) पुरुष [देहधारी जीव] (आ) सब ओर से (पिनष्टि) पोसता है [सूक्ष्म रीति से

शिखि गतौ-अण्डन् कित् । नीलानां निधीनां यद्वा नीलानां नीडाना निवासानां शिखण्डः प्रापकः [वाहनः] वह प्रापणे-ल्यु स च णित् । वोढा । सर्वगहनशीलः परमेश्वरः ॥

१—(विततौ) विस्तृतौ (किरणौ) प्रकाशरश्मी । शारीरिकबलात्मिकपराक्रमौ (द्वौ) (तौ) किरणौ (आ) समन्तात् (पिनष्टि) पिष्लृ संचूर्णने। संचूर्णीकरोति । सूक्ष्मतया प्रयोजयति (पूरुषः) शरीरी जीवः (न) निषेधे

काम में लाता है]। (कुमारि) हे कुमारी! [कामना योग्य स्त्री] (वै) निश्चय करके (तत्) वह (तथा) वैसा (न) नहीं है, (कुमारि) हे कुमारी! (यथा) जैसा (मन्यसे) तू मानती है ॥ १ ॥

भावार्थ—संसार में सब प्राणी शरीर और आत्मा की स्वस्थता से सूक्ष्म विचार और कर्म के द्वारा उन्नति करते हैं, स्त्री आदि भी समय को व्यर्थ न खोकर सदा पुरुषार्थ करें ॥ १ ॥

मातुष्टे किरणौ द्वौ निवृत्तः पुरुषानृते । न वै० ॥ २ ॥

मातुः । ते । किरणौ । द्वौ । निवृत्तः । पुरुषान् । ऋते । न । वै । ० ॥ २ ॥

भाषार्थ—(मातुः ते) तुझ माता के (द्वौ) दोनों (किरणौ) प्रकाश की किरणें [शारीरिक बल और आत्मिक पराक्रम] (पुरुषान्) पुरुषों [शरीर धारी जीवों] को (ऋते) सत्य शास्त्र में (निवृत्तः) प्रकाशमान करते हैं। (कुमारि) हे कुमारी! ..... [म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—माता आदि से ही सुशिक्षा पाकर सब सन्तान पुरुषार्थी होते हैं। स्त्री आदि.....[म० १] ॥ २ ॥

निगृह्य कर्णकौ द्वौ निरायच्छसि मध्यमे । न वै० ॥ ३ ॥

निगृह्य । कर्णकौ । द्वौ । निरायच्छसि । मध्यमे ॥ न । वै ।०॥३

भाषार्थ—(मध्यमे) हे मध्यस्थ होने वाली! [स्त्री] (द्वौ) दोनों (कर्णकौ) कोमल कानों को (निगृह्य) वश में करके [सुनने में लगवाकर]

(वै) निश्चयेन (कुमारि) कमेः किदुच्चोपधायाः । उ० ३ । १३८ । कमु कान्तौ—आरन् कित् अकारस्य उकारः, यद्वा कुमार क्रीडने-पचाद्यच्, ङीप् । हे कमनीये स्त्रि (तत्) कर्म (तथा) (यथा) (कुमारि) (मन्यसे) जानासि ॥

२—(मातुः) जनन्याः (ते) तव, मातुः—इति पदेन समानाधिकरणम् (किरणौ) म० १ (द्वौ) (निवृत्तः)वृतु चुरादिः—भाषणे दीपने च+निर्वर्तयतः । नितरां दीपयतः (पुरुषान्) शरीरधारिणो जीवान् (ऋते) सत्यशास्त्रे । अन्यत् पूर्ववत् । म० १ ॥

३—(निगृह्य) वशीकृत्य (कर्णकौ) अनुकम्पायाम्—कन् । कोमलकर्णौ (द्वौ) (निरायच्छसि) निश्चयेन समन्तात् नियमयसि (मध्यमे) हे

(निरायच्छसि) [सन्तानों को] तू नियम में चलाती है। (कुमारि) हे कुमारी !'' ' [म० १] ॥ ३ ॥

भावार्थ—माता आदि ध्यान दिलाकर बालकों को सुशिक्षा देवें, स्त्री आदि''''' [म० १] ॥ ३ ॥

भगवान् यास्क का वचन है—निरु० २ । ४ ॥

य आतृणत्त्यवितथेन कर्णावदुःखंकुर्वन्नमृतं सम्प्रयच्छन् । तं मन्येत पितरं मातरं च तस्मै न द्रुह्येत् कतमच्चनाह ॥

(यः) जो [आचार्य] (अदुःखं कुर्वन्) दुःख न करता हुआ, (अमृतं सम्प्रच्छन्) अमृत देता हुआ (अवितथेन) सत्य [वेदज्ञान] से (कर्णौ) दोनों कानों को (आतृणत्ति) खोल देता है, (तम्) उस को (मातरं पितरं च) माता और पिता (मन्येत) वह [शिष्य] माने, (तस्मै) उस से (कथमच्चनाह) किसी प्रकार कभी (न द्रुह्येत्) बुराई न करे ॥

उत्तानायै शयानायै तिष्ठन्ती वाव गूहसि । न वै० ॥ ४ ॥

उत्तानायै । शयानायै । तिष्ठन्ती । वा । अव । गूहसि ॥ न । वै । ० ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(उत्तानायै) बड़े उपकार वाली नीति के लिये (तिष्ठन्ती) ठहरती हुई तू (शयानायै) सोती हुई [आलस्य वाली] रीति को (वा) निश्चय करके (अव) निरादर करके (गूहसि) ढांप देती है। (कुमारि) हे कुमारी'''''' [म० १] ॥ ४ ॥

भावार्थ—स्त्री आदि अपनी चतुराई से कुरीतें छोड़कर सुरीतें चलावें, स्त्री आदि ''' [म० १] ॥ ४ ॥

सध्यभवे स्त्रि ॥ अन्यत्—म० १ ॥

४—(उत्तानायै) उत्+तनु विस्तारे श्रद्धोपकारादिषु च—घञ् । उत्तमोपकारयुक्तायै नीतये (शयानायै) लस्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८९ । शीङ् शयने—आनच् । टाप् । सुपां सुपो भवन्ति । वा० पा० ७ । १ । ३९ । द्वितीयार्थे चतुर्थी । प्राप्तनिद्राम् । आलस्ययुक्तां रीतिम् (तिष्ठन्ती) वर्तमाना त्वम् (वा) अवधारणे (अव) अनादरे । अनादृत्य (गूहसि) गुहू संवरणे । आच्छादयसि । अन्यत्—म० १ ॥

श्लक्ष्णायां श्लक्ष्णिकायां श्लक्ष्णमेवाव गूहसि । न वै० ॥ ५ ॥

श्लक्ष्णायाम् । श्लक्ष्णिकायाम् । श्लक्ष्णम् । एव । अव । गूहसि । न । वै । ०॥५॥

भाषार्थ—(श्लक्ष्णायाम्) चिकनी [कोमल] और (श्लक्ष्णिकायाम्) मनोहर वाणी में (श्लक्ष्णम्) स्नेह [प्रेम] को (एव) निश्चय करके (अव) शुद्धि के साथ (गूहसि) तू गुहा [हृदय] में रखती है । (कुमारि) हे कुमारी ! "...[म० १] ॥ ५ ॥

भावार्थ—स्त्री आदि मधुर मनोहर वाणी से शुद्ध प्रेम के साथ उपदेश करें, स्त्री आदि" [म० १] ॥ ५ ॥

मनु महाराज ने कहा है—मनुस्मृति अध्याय २ श्लोक १५९ ॥ अहिंसयैव भूतानां कार्यं श्रेयोऽनुशासनम् । वाक् चैव मधुरा श्लक्ष्णा प्रयोज्या धर्ममिच्छता ॥

(भूतानाम्) प्राणियों को (अहिंसया एव) अहिंसा [दुःख न देने] से ही (श्रेयः) कल्याण कारी (अनुशासनम् शासन वा उपदेश (कार्यम्) करना चाहिये । (च) और (धर्मम् इच्छता) धर्म चाहने वाले करके (वाक् एव) वाणी भी (मधुरा) मधुर, (श्लक्ष्णा) मनोहर (प्रयोज्या) बोलनी चाहिये ॥

अवश्लक्ष्णमिव भ्रंशदन्तर्लोममति ह्रदे ।
न वै कुमारि तत् तथा यथा कुमारि मन्यसे ॥ ६ ॥

अवश्लक्ष्णम् । इव । भ्रंशदन्तर्लोममति । ह्रदे ॥ न । वै । कुमारि । तत् । तथा । यथा । कुमारि । मन्यसे ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(भ्रंशदन्तर्लोममति) भीतर पड़े हुये केश आदि पदार्थ

५—(श्लक्ष्णायाम्) श्लिषेरच्चोपधायाः । उ० ३ । १९ । श्लिष आलिंगने संसर्गे च—क्स्न, इकारस्य अकारः । चिक्कणायाम् । कोमलायाम् (श्लक्ष्णिकायाम्) श्लक्ष्ण-कन् स्वार्थे, टाप् अत इत्वम् । मनोहरायां वाचि—यथा मनु २ । १५९ (श्लक्ष्णम्) स्नेहम् । प्रेमभावम् (एव) अवधारणे (अव) शुद्धौ । शुद्धया (गूहसि) गुह संवरणे । गुहायां हृदये स्थापयसि । अन्यत्—म० १ ॥

६—(अवश्लक्ष्णम्) म० ५ । अव अनादरे, परिभवे च । अमनोहरत्वम् ।

वाले (ह्रदे) जलाशय में (अवश्लुदणम् इव) जैसे गदला रूप [दीखता है]। (कुमारि) हे कुमारी ! [कामना योग्य स्त्री] (वै) निश्चय करके (तत्) वह (तथा) वैसा (न) नहीं है, (कुमारि) हे कुमारी (यथा) जैसा (मन्यसे) तू मानती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—गदले पानी में गदला रूप दीखता है, और शुद्ध में शुद्ध, वैसे ही स्त्री आदि सब लोग मानसिक मैल तज कर शुद्ध व्यवहार करें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १३४ ॥

१—६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, ३, ५, ६ निचृत् साम्नी पङ्क्तिः; २ साम्नी पङ्क्तिः; ४ विराट् साम्नी पङ्क्तिः ॥

बुद्धिवर्धनोपदेशः—बुद्धि बढ़ाने का उपदेश ॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अरालागुदभर्त्सथ ॥ १ ॥

इह । इत्थ । प्राक् । अपाक् । उदक् । अधराक्—अराल-अगुदभर्त्सथ ॥ १ ॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में और (अधराक्) दक्षिण में—(अरालागुद-भर्त्सथ) हिंसा की गति का धिक्कारने वाला परमात्मा है ॥ १ ॥

भावार्थ—परमात्मा को सब स्थान और सब काल में वर्तमान जानकर

मलिनरूपत्वम् । (इव) यथा (अशद्न्तर्लोममति) अशु अध·पतने—शतृ + अन्तः + लोम—मतुप् । अधःपतितमध्यकेशादिपदार्थयुक्ते । अतिमलिनवस्तु-येते (ह्रदे) जलाशये । अन्यत्—म० १ ॥

१—(इह) अत्र (इत्थ) इत्थम् । अनेन प्रकारेण (प्राक्, अपाक् उदक्,) अथ० २० । १२० । १ (अधराक्) नीच्यां दक्षिणस्यां दिशि (अरालागुदभर्त्सथ) ऋधाचतिसृजेरालञ्०। उ०१।११६। ऋ हिंसायाम् —आलच् + अग गतौ—उदच् प्रत्ययः, यथा अर्बुदशब्दे + शीङ्शपि० । उ० ३ । ११३ । भर्त्स तर्जने—अथ-प्रत्ययः । सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । विभक्तेर्लुक् । अराल-अगुद—भर्त्सथः । हिंसागतितिरस्कर्ता परमेश्वरः ॥

मनुष्य हिंसाकर्म से बचे ॥ १ ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथ० २० । १२० । १ ॥

० वत्साः पुरुषन्त आसते ॥ २ ॥

० ॥ वत्साः । पुरुषन्तः । आसते ॥ २ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार ···[म० १]—(वत्साः) प्यारे बच्चे (पुरुषन्तः) पुरुष होते हुये (आसते) ठहरते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—सब स्थान और सब काल में मनुष्य पुरुषार्थ करें ॥ २ ॥

० स्थालीपाको वि लीयते ॥ ३ ॥

० ॥ स्थालीपाकः । वि । लीयते ॥ ३ ॥

० स वै पृथु लीयते ॥ ४ ॥

० ॥ सः । वै । पृथु । लीयते ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार ·····[म० १]—(स्थालीपाकः) स्थाली पाक [बटले वा कडाही में पका हुआ भोजन पदार्थ] (वि) विविधप्रकार (लीयते) मिलता है ॥ ३ ॥ (इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार ··· [म० १]—(सः) वह [भोजन पदार्थ] (वै) निश्चय करके (पृथु) विस्तार से (लीयते) मिलता है ॥ ४ ॥

भावार्थ—मनुष्य को सब स्थान में सदा भोजन आदि पदार्थ प्राप्त करना चाहिये ॥ ३, ४ ॥

० आष्टे लाहणि लीशाथी ॥ ५ ॥

० ॥ आष्टे । लाहणि । लीशाथी ॥ ५ ॥

२—(वत्साः) प्रियशिशवः (पुरुषन्तः) पुरुषा भवन्तः (आसते) तिष्ठन्ति ॥

३—(स्थालीपाकः) स्थाचतिमृजेरालज० । उ० १ । ११६ । ष्ठा गतिनिवृत्तौ—आलच् ङीप्+डुपचष् पाके—घञ् । स्थाल्यां सूपादिपचन्यां पच्यते । पक्वभोजनपदार्थः (वि) विविधम् (लीयते) लीङ् श्लेषणे । श्लिष्यते । संयुज्यते ॥

४—(सः) स्थालीपाकः (वै) निश्चयेन (पृथु) यथा तथा विस्तारेण (लीयते) म० ३ । संयुज्यते ॥

भावार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार " "[मं० १]—(लाहणि) प्रेरक बुद्धि (लीशाथी) चलती हुई (आष्टे) फैलती है ॥ ५ ॥

भावार्थ—सब विद्वान् अपनी बुद्धि को सब ओर चलाकर संसार में विचरें ॥ ५ ॥

इहेत्थ प्रागपागुदगधराग्—अछिलली पुच्छिलीयते ॥ ६ ॥

इह । इत्थ । प्राक् । अपाक् । उदक् । अधराक्—अछिलली । पुच्छिलीयते ॥ ६ ॥

भावार्थ—(इह) यहां (इत्थ) इस प्रकार (प्राक्) पूर्व में, (अपाक्) पश्चिम में, (उदक्) उत्तर में और (अधराक्) दक्षिण में—(अछिलली) व्यवहार ग्रहण करने वाली बुद्धि (पुच्छिलीयते) प्रसन्न होती है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य अपनी बुद्धि को सब कामों में प्रविष्ट करके प्रसन्न रहें ॥ ६ ॥

सूक्तम् १३५ ॥

१—१३ ॥ प्रजापतिरिन्द्रश्च देवते ॥ १, ५, ६ स्वराडार्ष्यनुष्टुप्; २ भुरिगनुष्टुप्; ३ आर्षी पङ्क्तिः । ४ आर्ष्युष्णिक्; ७ भुरिगार्षी त्रिष्टुप्, ८ भुरिग् गायत्री, ९ विराडार्षी पङ्क्तिः; १०, १२, १३ अनुष्टुप्; ११ निचृदार्ष्यनुष्टुप् ॥

मनुष्यकर्तव्योपदेशः—मनुष्य के कर्तव्य का उपदेश ॥

भुगित्यभिगतः शलित्यपक्रान्तः फलित्यभिष्ठितः ।

५—(आष्टे) अशू व्याप्तौ । व्याप्नुते (लाहणि) अर्त्तिसृधृ० । उ० २ । १०२ । लाभ प्रेरणे—अनि, भस्य हः। विभक्तेर्लुक् । प्रेरिका शक्तिः । तीक्ष्णा बुद्धिः (लीशाथी) रुविदिभ्यां ङित् । उ० ३ । ११५ । लिश गतौ, अल्पीभावे च—अथ प्रत्ययः, ङीप्, पृषोदरादिरूपम् । गमनशीला सती ॥

६—(अछिलली) अक्षू व्याप्तौ—क्विप् । सलिकल्यनि० । उ० १ । ५४ । ला आदाने, इलच् स च डित्, ङीप् । अक्षः अक्षस्य व्यवहारस्य ग्राहिका बुद्धिः (पुच्छिलीयते) पुच्छ प्रसादे—इति शब्दकल्पद्रुमः । सलिकल्यनि० । उ० १ । ५४ । इति इलच् ङीप् । भृशादिभ्यो भुव्यच्वेर्लोपश्च हलः । पा० ३ । १ । १२ । पुच्छिली-क्यङ् भवत्यर्थे बाहुलकात् । प्रसन्ना भवति । अन्यद् गतम्—म० १ ॥

दुन्दुभिमाहननाभ्यां जरितरोथामो दैव ॥ १ ॥

भुक् । इति । अभि-गतः । शल् । इति । अप-क्रान्तः । फल् । इति । अभि-स्थितः ॥ दुन्दुभिम् । आहननाभ्याम् । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ १ ॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(भुक्) पालने वाला [परमात्मा] (अभिगतः) सामने पाया गया है—(इति) ऐसा है, (शल्) शीघ्रगामी वह (अपक्रान्तः) सुख से आगे चलता हुआ है—(इति) ऐसा है, (फल्) सिद्धि करने वाला वह (अभिष्ठितः) सब ओर ठहरा हुआ है-(इति) ऐसा है। (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान्! (दुन्दुभिम्) ढोल को (आहननाभ्याम्) दो डंकों से (आ) सब ओर (उथामः) हम उठावें [बल से बजावें] ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि परमेश्वर के उपकारों को देखकर डंके की चोट प्रयत्नी और उपकारी होवें ॥ १ ॥

कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहि पादम् ।
उत्तमां जनिमां जन्यानुत्तमां जनीन् वर्त्मन्यात् ॥ २ ॥

कोशबिले । रजनि । ग्रन्थेः । धानम् । उपानहि । पादम् ॥

१—(भुक्) भुज पालनाभ्यवहारयोः—क्विप् । पालकः परमात्मा (इति) एवं वर्तते (अभिगतः) आभिमुख्येन प्राप्तः (शल्) शल गतौ-क्विप् । शीघ्रगामी (इति) (अपक्रान्तः) अप आनन्दे+क्रमु पादविक्षेपे—क्त । सुखेन क्रमणशीलः (फल्) फल निष्पत्तौ—क्विप् । सिद्धिकर्ता परमेश्वरः (इति) (अभिष्ठितः) सर्वतः स्थितः (दुन्दुभिम्) बृहड्ढक्काम् (आहननाभ्याम्) ताडनस्य वादनस्य साधनाभ्याम् (जरितः) जरिता स्तोतृनाम—निघ० ३ । १६ । हे स्तोतः (आ) समन्तात् (उथामः) उत्+ष्ठा—लट् अन्तर्गतण्यर्थः । उत्थामः । उत्थापयामः । उच्चैर्वादयामः (दैव) देव—अण् । देवः परमात्मा देवता यस्य, तत्सं-बुद्धौ । हे परमेश्वरोपासक विद्वन् ॥

उत्तमाम् । जनिमाम् । जन्या । अनुत्तमाम् । जनीन् । वर्त्मन् । यात् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(रजनि) रात्रि में [जैसे] (कोशबिले) कोश [सोना चांदी रखने] के कुण्ड के भीतर (ग्रन्थेः) गांठ के (धानम्) रखने को, [अथवा जैसे] (उपानहि) जूते में (पादम्) पैर को, [वैसे ही] (जन्या) मनुष्यों के बीच (उत्तमाम्) उत्तम (जनिमाम्) जन्म लक्ष्मी [शोभा वा ऐश्वर्य], (अनुत्तमाम्) अति उत्तम गति और (जनीन्) उत्पन्न पदार्थों को (वर्त्मन्) मार्ग में (यात्) [मनुष्य] प्राप्त होवे ॥ २ ॥

भावार्थ—जैसे रात्रि में कोशागार में रखकर सोने चांदी की, और जूता पहिनकर पैर की रक्षा करते हैं, वैसे ही मनुष्य श्रेष्ठ कुल में उत्पन्न होकर उत्तम प्रवृत्ति करके उन्नति करें ॥ २ ॥

अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम् । पिपीलिकावटश्वसो विद्युत्स्वापर्णशफो गोशफो जरितरोथामो दैव ॥ ३ ॥

अलाबूनि । पृषातकानि । अश्वत्थ-पलाशम् ॥ पिपीलिका । वटश्वसः । वि-द्युत् । स्वापर्णशफः । गोशफः । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ ३ ॥

२—(कोशबिले) सुवर्णरूप्यस्थितिकुण्डे (रजनि) रजन्याम् । रात्रौ (ग्रन्थेः) बन्धनस्य (धानम्) स्थापनम् (उपानहि) उप+णह बन्धने-क्विप् । नहिवृतिवृषि० । पा० ६ । ३ । ११६ । पूर्वपदस्य दीर्घः । चर्मपादुकायाम् (पादम्) (उत्तमाम्) श्रेष्ठाम् (जनिमाम्) जनिघसिभ्यामिण् । उ० ४ । १३० । जनी प्रादुर्भावे-इण् । जनिवध्योश्च । पा० । ७ । ३ । ३५ । वृद्धिनिषेधः । माङ् माने शब्दे च-क्विप् । जनेः उत्पत्तेः जन्मनो मां लक्ष्मीं शोभामैश्वर्यं वा (जन्या) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३९ । जन-ङ्या सप्तमी बहुवचने । जनेषु । मनुष्येषु (अनुत्तमाम्) अतिशयेन श्रेष्ठाम् (जनीन्) उत्पन्नान् पदार्थान् (वर्त्मन्) वर्त्मनि । मार्गे (यात्) यायात् । प्राप्नुयात् ॥

भाषार्थ—(अलाबूनि) तुंबी आदि बेलें, (पृषातकानि) पृषातक [वृक्ष विशेष], (अश्वत्थपलाशम्) पीपल और पलाश वा ढाक [वृक्ष विशेष], (पिपीलिका) पिपीलिका [वृक्ष विशेष], (वटश्वसः) वटश्वस [वृक्ष विशेष] (विद्युत्) विद्युली [वृक्ष विशेष], (स्वापर्णशफः) स्वापर्णशफ [वृक्ष विशेष], और (गोशफः) गोशफ [वृक्ष विशेष] हैं, [उन सब में] (जरितः) हे स्तुति करने वाले (देव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (आ) सब ओर से (उथामः) हम उठते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को योग्य है कि वाटिका, खेत आदि में अनेक लता बेलों और वृक्षों को लगाकर ठीक ठीक उपकार लेकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

वीमे देवा अक्रंसताध्वर्यो क्षिप्रं प्रचर ।
सुसत्यमिद् गवामस्यसि प्रखुदसि ॥ ४ ॥

वि । इमे । देवाः । अक्रंसत । अध्वर्यो । क्षिप्रम् । प्रचर ॥
सुसत्यम् । इत् । गवाम् । असि । असि । प्रखुदसि ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(इमे देवाः) इन विद्वानों ने (वि) विविध प्रकार (अक्रंसत) पैर बढ़ाया है, (अध्वर्यो) हे हिंसा न करने वाले विद्वान् (क्षिप्रम्) शीघ्र

३—(अलाबूनि) नञि लम्बेर्नलोपश्च । उ० १ । ८७ । नञ्+लबि अवस्रंसने-ऊ, ऊकारस्य उकारः, स च णित् , नलोपश्च । तुम्बीलताः (पृषातकानि) अथ० १४ । २ । ४८ । पृषु सेचने-क + अत बन्धने-कुन् । वृक्षविशेषाः (अश्वत्थपलाशम्) पिप्पलपलाशवृक्षसमूहः (पिपीलिका) अथ० ७ । ५६ । ७ । अपि + पील रोधने-एवुल , अकारलोपः टाप् , अत इत्वम् । पिपीलिका पेलतेर्गतिकर्मणः निरु० ७ । १३ । वृक्षविशेषः (वटश्वसः) वट वेष्टने-अच्+श्वस प्राणने- अच् । वृक्षविशेषः (विद्युत्) वृक्षविशेषः (स्वापर्णशफः) वृक्षविशेषः (गोशफः) वृक्षविशेषः (जरितः) म० १ । हे स्तोतः (आ) समन्तात् (उथामः) उत्थामः । उच्चैर्भवामः (देव) म० १ । हे परमेश्वरोपासक विद्वन् ॥

४—(वि) विविधम् (इमे) प्रसिद्धाः (देवाः) विद्वांसः (अक्रंसत) क्रमु पादविक्षेपे । पादं विक्षिप्तवन्तः । अग्रे गताः (अध्वर्यो) अ० ७ । ७३ । ५ । हे अहिंसाप्रापक विद्वन् (क्षिप्रम्) शीघ्रम् (प्रचर) अग्रे गच्छ (सुसत्यम्)

(प्रचर) आगे बढ़ । और (प्रखुदसि) बड़े आनन्द में (असि) तू हो, (असि) तू हो, [यह वचन] (गवाम्) स्तोताओं [गुण व्याख्यानाओं] का (सुसत्यम् इत्) बड़ा ही सत्य है ॥ ४ ॥

भावार्थ—पहिले विद्वान् लोग काम करने से बड़े हो गये हैं, वैसे ही हम भी विद्वानों का वचन मानकर आगे बढ़ें ॥ ४ ॥

पत्नी यदृश्यते पत्नी यक्ष्यमाणा जरितरोथामो दैव ।

होता विष्टीमेन जरितरोथामो दैव ॥ ५ ॥

पत्नी । यत् । दृश्यते । पत्नी । यक्ष्यमाणा । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ होता । विष्टीमेन । जरितः । आ । उथामः । दैव ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पत्नी) पत्नी (यत्) जहां पर (यक्ष्यमाणा) पूजी जाती हुई (पत्नी) पत्नी (दृश्यते) दीखती है, [वहां] (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (आ) सब ओर से (उथामः) हम उठते हैं । (विष्टीमेन) विशेष कोमलपन के साथ (होता) तू दाता है, (जरितः) हे स्तुति करने वाले (दैव) परमात्मा को देवता मानने वाले विद्वान् ! (आ) सब ओर से (उथामः) हम उठते हैं ॥ ५ ॥

भावार्थ—पत्नी और पति गुणवान् और परमेश्वर भक्त होकर आनन्द भोगें ॥ ५ ॥

आदित्या ह जरितरङ्गिरोभ्यो दक्षिणामनयन् ।

तां ह जरितः प्रत्यायंस्तामु ह जरितः प्रत्यायन् ॥ ६ ॥

सर्वसत्यम् (इत्) एव (गवाम्) गौः स्तोता—निघ० ३ । १६ । स्तोतॄणाम् । गुणव्याख्यातॄणाम् (असि) त्वं भव (असि) (प्रखुदसि) उपः किच्च । उ० ४ । २३४ । प्र + खुर्द क्रीडायाम्—असि कित् रेफलोपः । प्रकृष्टसुखे ॥

५—(पत्नी) वेदविधानेनोढा । गृहिणी (यत्) यत्र (दृश्यते) प्रेक्ष्यते (पत्नी) (यक्ष्यमाणा) पूज्यमाना (जरितः, आ, उथामः, दैव) म० १, ३ (होता) त्वं दातासि (विष्टीमेन) वि + ष्टीम क्लेदे-घञ् । विशेषेण आर्द्रीभावेन । कोमलत्वेन । अन्यद् गतम् ॥

आदित्याः । ह । जरितः । अङ्गिरःऽभ्यः । दक्षिणाम् । अनयन् ॥ ताम् । ह । जरितः । प्रति । आयन् ॥ ताम् । ऊँ इति । ह । जरितः । प्रति । आयन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारियों ने (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (अङ्गिरोभ्यः) विज्ञानी पुरुषों के लिये (दक्षिणाम्) दक्षिणा [दान वा प्रतिष्ठा] को (अनयन्) प्राप्त कराया है। (ताम्) उस [दक्षिणा] को (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (प्रति आयन्) उन्हों ने प्रत्यक्ष पाया है, (ताम्) उस [दक्षिणा] को (उ) निश्चय करके (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (प्रति आयन्) उन्हों ने प्रत्यक्ष पाया है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य पूर्व विद्वानों के समान विद्वानों द्वारा उत्तम शिक्षा पाकर अवश्य प्रतिष्ठित होवें ॥ ६ ॥

तां ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णंस्तामु ह जरितर्नः प्रत्यगृभ्णः ।
अहानेतरसं न वि चेतनानि यज्ञानेतरसं न पुरोगवामः ॥७॥

ताम् । ह । जरितः । नः । प्रति । अगृभ्णन् । ताम् । ऊँ इति । ह । जरितः । नः । प्रति । अगृभ्णः ॥ अहानेतरसम् । न । वि । चेतनानि । यज्ञानेतरसम् । न । पुरःऽगवामः ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(ताम्) उस [दक्षिणा] को (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति

६—(आदित्याः) अथ० १६ । ११ । ४ । अदिति—ण्य । अखण्डब्रह्मचारिणः (ह) एव (जरितः) हे स्तोतः (अङ्गिरोभ्यः) अ० २० । २८ । २ । विज्ञानिभ्यः (दक्षिणाम्) अथ० ५ । ७ । १ । दानम्, प्रतिष्ठाम् (अनयन्) प्रापितवन्तः (ताम्) दक्षिणाम् (ह) (जरितः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (आयन्) अथ० २० । ६१ । २ । अगच्छन् । प्राप्नुवन् (उ) अवश्यम् । अन्यद् गतम् ॥

७—(ताम्) दक्षिणाम्-म० ६ (ह) एव (जरितः) हे स्तोतः (नः)

करने वाले ! (नः) हमारे लिये (प्रति अगृभ्णन्) उन्हों ने [विज्ञानियों ने— म० ६] प्रत्यक्ष पाया है, (ताम्) उस को (उ) निश्चय करके (ह) ही, (जरितः) हे स्तुति करने वाले ! (नः) हमारे लिये (प्रति अगृभ्णाः) तू ने प्रत्यक्ष पाया है। (न) अभी (अह्रानेतरसम्) व्याप्ति में बल रखने वाले व्यवहार को, (वि) विविध (चेतनानि) चेतनाओं को, और (न) अभी (यज्ञानेतरसम्) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान] में बल रखने वाले व्यवहार को (पुरोगवामः) हम आगे होकर पावें ॥ ७ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज महात्माओं ने श्रेष्ठ कर्मों से प्रतिष्ठा पाई है, वैसे ही आप और हम मिलकर विज्ञान द्वारा बड़ाई पावें ॥ ७ ॥

उत श्वेत आशुपत्वा उतो पद्याभिर्यविष्ठः ।
उतेमाशु मानं पिपर्ति ॥ ८ ॥

उत । श्वेतः । आशुऽपत्वाः । उतो इति । पद्याभिः । यविष्ठः ॥
उत । ईम् । आशु । मानम् । पिपर्ति ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(आशुपत्वाः) हे शीघ्रगामी पुरुषो ! (श्वेतः) श्वेत वर्ण वाला [सूर्य] (उत) भी (यविष्ठः) अत्यन्त बलवान् होकर (पद्याभिः)

अस्मभ्यम् (प्रति) प्रत्यक्षम् (अगृभ्णन्) अगृह्णन् । गृहीतवन्तः (ताम्) (उ) निश्चयेन (ह) (जरितः) (नः) (प्रति) प्रत्यक्षम् (अगृभ्णाः) अगृह्णाः । गृहीतवानसि (अह्रानेतरसम्) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८६ । अह व्याप्तौ—आनच् । तरो बलनाम—निघ० २ । ६ । ततः अर्शआद्यच् । अह्राने व्याप्तौ तरसं बलयुक्तं व्यवहारम् (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (वि) विविधानि (चेतनानि) चेतनाः । ज्ञानानि (यज्ञानेतरसम्) सम्यानच् स्तुवः । उ० २ । ८६ । यज देवपूजासंगतिकरणदानेषु—आनच्, नकारश्छान्दसः । यज्ञे बलयुक्तं व्यवहारम् (न) सम्प्रति (पुरोगवामः) गु गतौ—लट्, परस्मैपदम् । गवते गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । अग्रे भूत्वा गच्छामः प्राप्नुमः ॥

८—(उत) अपि (श्वेतः) शुक्लवर्णः सूर्यः (आशुपत्वाः) अशूप्रुषि-लटि० । उ० १ । १५१ । आशु+पत गतौ—कन् । हे शीघ्रगामिनः (उतो) निश्चयेन (पद्याभिः) पाद—यत् । पद्यत्यतदर्थे । पा० ६ । ३ । ५३ । इति

चलने योग्य गतियों से (उतो) निश्चय करके (उत) अवश्य (ईम्) प्राप्ति योग्य (मानम्) परिमाण को (आशु) शीघ्र (पिपर्ति) पूरा करता है ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे सूर्य अपने मार्ग में चलकर संसार का उपकार करता है, वैसे ही मनुष्य वेद मार्ग पर चलकर शीघ्र उपकार करें ॥ ८ ॥

आदित्या रुद्रा वसवस्त्वेऽनु त इदं राधः प्रति गृभ्णीह्यङ्गिरः। इदं राधो विभु प्रभु इदं राधो बृहत् पृथु ॥ ९ ॥

आदित्याः। रुद्राः। वसवः। त्वे। अनु। ते। इदम्। राधः। प्रति। गृभ्णीहि। अङ्गिरः॥ इदम्। राधः। विभु। प्रभु। इदम्। राधः। बृहत्। पृथु ॥ ९ ॥

भाषार्थ—[हे शूर सभापति !] (ते) वे (आदित्याः) अखण्ड ब्रह्मचारी, (रुद्राः) ज्ञान दाता और (वसवः) श्रेष्ठ विद्वान् लोग (त्वे अनु) तेरे पीछे पीछे हैं, (अङ्गिरः) हे विज्ञानी पुरुष ! (इदम्) इस (राधः) धन को (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (गृभ्णीहि) तू ग्रहण कर। (इदम्) यह (राधः) धन (विभु) व्यापक और (प्रभु) बलयुक्त है; (इदम्) यह (राधः) धन (बृहत्) बहुत और (पृथु) विस्तीर्ण है ॥ ९ ॥

भावार्थ—शूर प्रतापी सभापति की सुनीति से सब लोग ब्राह्मण आदि चारो वर्ण अपना अपना कर्तव्य पूरा करें और विद्या और धन की वृद्धि से संसार में सुख बढ़ावें ॥ ९ ॥

पद्भावः। पादाय गमनाय हिताभिर्गतिभिः (यविष्ठः) अथ० १८। ४। ६१। युवन्—इष्ठन्। अतिशयेन बलवान् सन् (उत) अवश्यम् (ईम्) प्राप्तव्यम् (आशु) शीघ्रम् (मानम्) परिमाणम् (पपर्ति) पूरयति ॥

९—(आदित्याः) अदिति-एय। अखण्डब्रह्मचारिणः (रुद्राः) रुतो ज्ञानस्य रातारो दातारः (वसवः) श्रेष्ठपुरुषाः (त्वे) विभक्तेः शे। त्वाम् (अनु) अनुसृत्य (ते) प्रसिद्धाः (इदम्) (राधः) धनम् (प्रति) प्रत्यक्षेण (गृभ्णीहि) गृहाण (अङ्गिरः) विज्ञानिन् (इदम्) (राधः) (विभु) व्यापकम् (प्रभु) समर्थम् (इदम्) (राधः) (बृहत्) बहु (पृथु) विस्तृतम् ॥

इस मन्त्र का मिलान करो—अथ० ११ । ६ । १३; और १६ । ११ । ४ ॥

देवा ददुत्वासुरं तद् वो अस्तु सुचेतनम् ।
युष्माँ अस्तु दिवेदिवे प्रत्येवं गृभायत ॥ १० ॥

देवाः । ददतु । आसुरम् । तत् । वः । अस्तु । सुचेतनम् ॥
युष्मान् । अस्तु । दिवेदिवे । प्रति । एवं । गृभायत ॥ १० ॥

भाषार्थ—[हे मनुष्यो !] (देवाः) विद्वान् लोग (आसुरम्) बुद्धिमत्ता (ददतु) देवें, (तत्) वह (वः) तुह्मारे लिये (सुचेतनम्) सुन्दर ज्ञान (अस्तु) होवे । (युष्मान्) तुम को वह (दिवेदिवे) दिन दिन (अस्तु) होवे, [उस को] (प्रति) प्रत्यक्ष रूप से (एव) ही (गृभायत) तुम ग्रहण करो ॥ १० ॥

भावार्थ—सब मनुष्य विद्वानों से शिक्षा लेकर सदा आनन्द पावें ॥१०॥

त्वमिन्द्र शर्मरिणा हव्यं पारावतेभ्यः ।
विप्राय स्तुवते वसुवनिं दुरश्रवसे वह ॥ ११ ॥

त्वम् । इन्द्र । शर्म । रिणाः । हव्यम् । परावतेभ्यः ॥ विप्राय ।
स्तुवते । वसुवनिम् । दुरश्रवसे । वह ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू ने (शर्म) शरण और (हव्यम्) हव्य [विद्वानों के योग्य अन्न] (पारा-

---

१०—(देवाः) विद्वांसः (ददतु) प्रयच्छन्तु (आसुरम्) असुर-अण् भावे । असुरत्वं प्रज्ञावत्त्वं वानवत्त्वं वापि वासुरिति प्रज्ञानामास्यत्यनर्थानस्ताश्चास्यामर्थाः—निरु० १० । ३४ । बुद्धिमत्त्वम् (तत्) आसुरम् (वः) युष्मभ्यम् (अस्तु) (सुचेतनम्) प्रशस्तं ज्ञानम् (युष्मान्) युष्मभ्यम् (अस्तु) (दिवेदिवे) दिने दिने (प्रति) प्रत्यक्षेण (एव) निश्चयेन (गृभायत) अ० ८ । ५ । १८ । गृह्णीत ॥

११—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (शर्म) शरणम् । सुखम् (रिणाः) री गतिरेषणयोः—लङ् । अरिणाः । प्रापितवानसि (हव्यम्) हु—

वनेभ्यः) पार और अवार देश वाले लोगों के लिये (रिणाः) पहुंचाया है। (स्तुवते) स्तुति करने वाले (विप्राय) बुद्धिमान के लिये (वसुवनिम्) धनों का सेवन (दुरश्रवसे) दुष्ट अपयश मिटाने को (वह) प्राप्त करा ॥११॥

भावार्थ—राजा दूर और समीप वाली प्रजा को शरण में रख कर विद्या और धन से उन की उन्नति करे ॥ ११ ॥

संहिता के(शर्मरिणाः)एक पद के स्थान पर[शर्म रिणाः] दो पद मानकर हम ने अर्थ किया है ॥

त्वमिन्द्र कपोताय च्छिन्नपक्षाय वञ्चते ।
श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः ॥ १२ ॥

त्वम् । इन्द्र । कपोताय । छिन्नपक्षाय । वञ्चते ॥ श्यामाकम् । पक्वम् । पीलु । च । वाः । अस्मै । अकृणोः । बहुः ॥ १२ ॥

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [बड़े ऐश्वर्य वाले राजन्] (त्वम्) तू ने (अस्मै) इस (छिन्नपक्षाय) कटे पंख वाले, (वञ्चते) चलते हुये (कपोताय) कबूतर को (पक्वम्) पका हुआ (श्यामाकम्) श्यामा [समा अन्न], (पीलु) पीलु [फल विशेष] (च) और (वाः) जल (बहुः) बहुत वार (अकृणोः) किया है ॥१२॥

वत् । देवयोर्ग्यासम् (पारावतेभ्यः) पार+अवार—वत् , अण् , पृषोदरादिरूपम् । पारावतघ्नीं पारावारघातिनीं पारं परं भवत्यवारमवरम्—निरु० २ । २४ । पारावारदेशे विद्यमानेभ्यः (विप्राय) मेधाविने (स्तुवते) स्तुतिं कुर्वते (वसुवनिम्) छन्दसि वनसनरक्षिमथाम् । पा० ३ । २ । २७ । वसु+वन सम्भक्तौ-इन् । धनानां सेवनम् (दुरश्रवसे) क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिनः । पा० २ । ३ । १४ । इति तुमुनः कर्मणि चतुर्थी । दुर् दुष्टम् अश्रवः अपयशः, तन्नाशयितुम् । दुष्टापकीर्तिनाशनाय (वह) प्रापय ॥

१२—(त्वम्) (इन्द्र) परमैश्वर्यवन् राजन् (कपोताय) पक्षिविशेषाय (छिन्नपक्षाय) (वञ्चते) वञ्चु गतौ—शतृ । गच्छते (श्यामाकम्) क्षुद्रधान्यभेदम् (पक्वम्) (पीलु) फलविशेषम् (च) (वाः) जलम् (अस्मै) प्रसिद्धाय (अकृणोः) कृतवानसि (बहुः) द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । पा० ५ । ४ । १८ । इतीसुच् बाहुलकात् । बहुवारम् ॥

भावार्थ—जैसे पख कटे कबूतर को अन्न और जल देकर पुष्ट करते हैं, वैसे ही राजा दीन दुखियों को अन्न आदि देकर सुखी करे ॥ १२ ॥

अरंगरो वावदीति त्रेधा बद्धो वरत्रया ।
इरामह प्रशंसत्यनिरामप सेधति ॥ १३ ॥

अरम्ऽगरः । वावदीति । त्रेधा । बद्धः । वरत्रया ॥ इराम् । अह । प्रशंसति । अनिराम् । अप । सेधति ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(अरंगरः) पूरा विज्ञानी पुरुष (त्रेधा) तीन प्रकार से [स्थान, नाम और मनुष्य आदि जन्म से] (वरत्रया) रस्सी से (बद्धः) बंधा हुआ (वावदीति) बार बार कहता है । (इराम्) लेने योग्य अन्न को (अह) ही (प्रशंसति) वह सराहता है और (अनिराम्) निन्दित अन्न को (अप सेधति) हटाता है ॥ १३ ॥

भावार्थ—विद्वान् आप्त पुरुष अपना स्थान, नाम और जन्म सुधारने के लिये अधर्म को छोड़कर धर्म से अन्न आदि पदार्थ ग्रहण करे ॥ १३ ॥

सूक्तम् १३६ ॥

१—१६ ॥ प्रजापतिर्देवता ॥ १, २, ५, ७—६, १५ निचृदनुष्टुप्; ३; आर्य्यनुष्टुप्, ४ भुरिगनुष्टुप्, ६, १०, ११, १६ अनुष्टुप्, १२ निचृत् ककुबुष्णिक्; १३ भुरिगार्ष्युष्णिक्; १४ उरोबृहती ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः— राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

यदस्या अंहुभेद्याः कृधु स्थूलमुपातसत् ।

१३—(अरंगरः) अलम्+गॄ विज्ञाने-अप् । पूर्णविज्ञानी पुरुषः (वावदीति) पुनः पुनर्वदति (त्रेधा) धामानि त्रयाणि भवन्ति स्थानानि नामानि जन्मानीति—निरु० ९ । २८ । स्थाननामजन्मभिस्त्रिप्रकारेण (बद्धः) (वरत्रया) वृञश्चित् । उ० ३ । १०७ । वृञ् वरणे-अत्रन् चित् । रज्ज्वा (इराम्) ऋज्रेन्द्राग्र० । उ० २ । २८ । इण् गतौ-रन्, गुणाभावः । इरा अन्ननाम-निघ० २ । ७ । प्रापणीयमन्नम् (अह) अवश्यम् (प्रशंसति) स्तौति (अनिराम्) निन्दितमन्नम् (अप सेधति) अपगमयति निवारयति ॥

मुष्काविदस्या एजतो गोशफे शकुलाविव ॥ १ ॥

यत् । अस्याः । अंहु-भेद्याः । कृधु । स्थूलम् । उप-अतसत् ॥

मुष्कौ । इत् । अस्याः । एजतः । गो-शफे । शकुलौ-इव ॥१॥

[पद पाठ के लिये सूचना सूक्त १२७ देखो ॥]

भाषार्थ—(यत्) जब (अस्याः) इस (अंहुभेद्याः) पाप से नाश होने वाली [प्रजा] के (कृधु) छोटे और (स्थूलम्) बड़े [पाप] को (उपातसत्) वह [राजा] नाश करता है। (अस्याः) इस [प्रजा] के (मुष्कौ इत्) दोनों ही चोर [स्त्री और पुरुष चोर अथवा राति और दिन के] चोर (गोशफे) गौ के खुर के गढ़े में (शकुलौ इव) दो मछलियों के समान, (एजतः) कांपते हैं [डरते हैं] ॥ १ ॥

भावार्थ—जब राजा न्याय से सब प्रजा के छोटे बड़े अपराध को मिटाता है, तब सब स्त्री पुरुष राति और दिन में पाप से कांपते हैं जैसे मछलियां थोड़े जल में घबराती हैं ॥ १ ॥

यह मन्त्र यजुर्वेद में है—२३। २८। और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका पृष्ठ ३३२ में व्याख्यात है ॥

यदा स्थूलेन पससाणौ मुष्का उपावधीत् ।
विष्वञ्चा वस्या वर्धतः सिकतास्वेव गर्दभौ ॥ २ ॥

१—(यत्) यदा (अस्याः) अग्रे वर्तमानायाः (अंहुभेद्याः) भृमृशीङ्० । उ० १ । ७ । अम रोगे पीडने च—उप्रत्ययः, हुक् च । अंहुः=अंहस्वान्—निरु० ६ । २७ । अवितृस्तृतन्त्रिभ्य ईः । उ० ३ । १५८ । भिदिर् विदारणे—ईप्रत्ययः । अंहुना पापेन भेदनीया विदारणीया या सा अंहुभेदी तस्याः प्रजायाः (कृधु) ह्रस्वम्— निघ० ३ । २ । अल्पं पापम् (स्थूलम्) महत् पापम् (उपातसत्) तसु उपक्षये उपक्षेपे च—लङ् लडर्थे । उपक्षिपति नाशयति (मुष्कौ) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ । मुष स्तेये—कक् । तस्करौ । स्त्रीपुरुषरूपौ रात्रिदिवसभवौ चौरौ वा (इत्) एव (अस्याः) प्रजायाः (एजतः) कम्पेते । बिभीतः (गोशफे) गोखुरचिह्ने (शकुलौ) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । शकुल शकौ—उरच्, रस्य लः । मत्स्यौ (इव) यथा ॥

यदा । स्थूलेन । पससा । अणौ । मुष्कौ । उप । अवधीत् ॥
विष्वञ्चा । वस्या । वर्धतः । सिकतासु । एव । गर्दभौ ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यदा) जब (स्थूलेन) बड़े (पससा) राज्य प्रबन्ध के साथ (अणौ) सूक्ष्म) न्याय के बीच (मुष्कौ) दोनों चोरों [स्त्री और पुरुष चोरों वा रात्रि और दिन के चोरों] को (उप अवधीत्) वह [राजा] मार डालता है। (विष्वञ्चा) सब और पूजनीय (वस्या) अति श्रेष्ठ दोनों [स्त्री और पुरुष], (सिकतासु) रेत वाले देशों में (गर्दभौ एव) दो श्वेत कमलों के समान, (वर्धतः) बढ़ते हैं ॥ २ ॥

भावार्थ—जब राजा सूक्ष्म विचार के साथ सब दुष्ट चोरों को मिटा देता है, तभी श्रेष्ठ गुणवान् स्त्री पुरुष बढ़ते हैं, जैसे बालू के स्थानों में श्वेत कमल बढता है ॥ २ ॥

यदल्पिकास्वल्पिका कर्कन्धुकेवपद्यते ।
वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति ॥ ३ ॥

यत् । अल्पिकासु । अल्पिका । कर्कन्धुके । अव-पद्यते ॥
वासन्तिकम्-इव । तेजनम् । यन्ति । अवाताय । वित्पति । ३

भाषार्थ—(यत्) जब (अल्पिकासु) छोटी प्रजाओं में (अल्पिका)

२—(यदा) (स्थूलेन) महता (पससा) अथ० ४।४।६। पस बन्धे बाधे च—असुन्। पसः=राष्ट्रम्—दयानन्दभाष्ये, यजु० २३। २२। राज्यप्रबन्धेन (अणौ) सूक्ष्मे न्याये (मुष्कौ) म० १। तस्करौ (उप) व्याप्तौ (अवधीत्) हन्ति। नाशयति (विष्वञ्चा) विषु+अञ्चु गतिपूजनयोः—क्विन्। सर्वतः पूज्यौ (वस्या) वसु—ईयसुन्, ईकारलोपः। सुपां सुलुक्०। पा० ७। १। ३९। विभक्तेर्डा। वसीयसौ। अतिश्रेष्ठौ स्त्रीपुरुषौ (वर्धतः) (सिकतासु) पृषिरञ्जिभ्यां कित्। उ० ३। १११। सिक सेचने—अतच्। बालुयुक्तभूमिषु (एव) सादृश्ये। इव (गर्दभौ) कृशृशलिकलिगर्दिभ्योऽभच्। उ० ३। १२२। गर्द शब्दे—अभच्। द्वे श्वेतकुमुदे ॥

३—(यत्) यदा (अल्पिकासु) क्षुद्रासु प्रजासु (अल्पिका) क्षुद्रा प्रजा

छोटी प्रजा (कर्कधूके) अग्नि के झोंके में (अवपद्यते) कष्ट पाती है । [तब] (वित्पति) विद्वानों के पतन में (अवाताय) दुःख मिटाने के लिये (वासन्तिकम् इव) वसन्त ऋतु में होने वाली [उत्तेजना) के समान (तेजनम्) उत्तेजना को (यन्ति) वे [शूर लोग] पाते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—छोटी छोटी प्रजाओं पर अन्याय होने से बड़ों को हानि पहुंचती है, इस लिये शूर वीर पुरुष वसन्त ऋतु के समान उत्तेजित होकर शत्रुओं का नाश करें ॥ ३ ॥

यद् देवासो ललामगुं प्रविष्टीमिनमाविषुः ।

सकुला देदिश्यते नारी सत्यस्याक्षिभुवो यथा ॥ ४ ॥

यत् । देवासः । ललाम-गुम् । प्र । विष्टीमिनम् । आविषुः ॥

सकुला । देदिश्यते । नारी । सत्यस्य । अक्षिभुवः । यथा ॥४॥

भाषार्थ—(यत्) जैसे (देवासः) विद्वान् लोग (ललामगुम्) प्रधानता पहुंचाने वाले (विष्टीमिनम्) कोमलता से युक्त न्याय में (प्र आविषुः) प्रविष्ट हुये हैं । और (यथा) जैसे (सकुला) बाल बच्चों वाली (नारी)

(कर्कधूके) कृदाधा० । उ० ३ । ४० । डुकृञ् करणे—कप्रत्ययः, ककारस्य इत्संज्ञा न । सृवृभू० । उ० ३ । ४१ । धूञ् कम्पने—कक् । कर्कस्य अग्नेः धूके कम्पने (अवपद्यते) अवसीदति । दुःखं प्राप्नोति (वासन्तिकम्) वसन्ताच्च । पा० ४ । ३ । २० । वसन्त—ठञ् । वसन्ते भवं तेजनम् (इव) यथा (तेजनम्) उद्दीपनम् । उत्तेजनाम् । प्रेरणाम् (यन्ति) प्राप्नुवन्ति ते शूराः (अवाताय) वात गतौ सेवायां सुखीकरणे च—घञ् । वातं सुखम् अवातं दुःखम् । तत् नाशयितुम् (वित्पति) विद ज्ञाने—क्विप्+पत्लृ गतौ—क्विप् । विदां विदुषां पति अधःपतने ॥

४—(यत्) यथा (देवासः) विद्वांसः (ललामगुम्) प्रथेरमच् । उ० ५ । ६८ । लल ईप्सायाम्—अमच् पृषोदरादिर्दीर्घः । गच्छतेः—डु । ललामं पुच्छपुण्ड्राश्वभूषाप्राधान्यकेतुषु—अमरः २३ । १४२ । प्राधान्यस्य गमयितारं प्रापयितारम् (प्र) (विष्टीमिनम्) वि+ष्टीम क्लेदे—घञ् । अत इनिठनौ । पा० ५ । २ । ११५ । विष्टीम—इनि । विशेषेण आर्द्रभावेन कोमलत्वेन युक्तं

नारी [स्त्री] (अक्षिभुवः) आंखों से हुये [प्रत्यक्ष] (सत्यस्य) सत्य का (देदिश्यते) वार वार उपदेश करती है [वैसे ही राजा न्याय और उपदेश करे] ॥ ४ ॥

भावार्थ—जैसे पूर्वज लोग न्याय करने से प्रधान हुये हैं, और जैसे माता सत्य का उपदेश करके सन्तानों को गुणी बनाती है, वैसे ही राजा प्रजा का हित करता रहे ॥ ४ ॥

यह मन्त्र कुछ भेद से यजुर्वेद में है—२३ । २६ । और महर्षि दयानन्द कृत ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका पृष्ठ ३३४ में व्याख्यान है ॥

महानग्न्यतृप्नद्वि मोक्रदुदस्थानासरन् ।
शक्तिकानना स्वचमशकं सक्तु पद्यम ॥ ५ ॥

महान् । अग्नी इति । अतृप्नत् । वि । मोक्रदत् । अस्थाना । आसरन् ॥ शक्तिकाननाः । स्वचमशकम् । सक्तु । पद्यम ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [शारीरिक और आत्मिक बलों] को (वि) विशेष करके (अतृप्नत्) तृप्त करे, और (अस्थाना) अयोग्य स्थान में (आसरन्) आता हुआ (मोक्रदत्) न घबरावे । (शक्तिकाननाः) सामर्थ्य का प्रकाश करने वाले हम (स्वचमशकम्) ज्ञातियों

न्यायम् (आविशुः) अव रक्षणगतिप्रवेशादिषु—लुङ् । प्रविष्टवन्तः (सकुला) कुलैः सन्तानैः सह वर्त्तमाना (देदिश्यते) दिश दाने—यङ्प्रत्ययः । पुनः पुनरुपदेशं करोति (नारी) नरस्य स्त्री (सत्यस्य) यथार्थज्ञानस्य (अक्षिभुवः) अक्षि+भू—क्विप् । अक्षिभ्यां भवस्य प्रत्यक्षस्य (यथा) ॥

-५—(महान्) समर्थः पुरुषः (अग्नी) प्रगृह्यत्वाभावः । अग्निरूपौ आत्मिकसामाजिकप्रतापौ (अतृप्नत्) तर्पयेत् (वि) विशेषेण (मोक्रदत्) क्रद्, क्रदि वैकल्ये । नैव व्याकुलो भवेत् (अस्थाना) सुपां सुलुक्० । पा० ७ । १ । ३६ । विभक्तेराकारः । अयोग्यस्थानम् (आसरन्) सृ गतौ—शतृ । आगच्छन् (शक्तिकाननाः) कन दीप्तौ—णिच्, ल्युट् । शक्तिं कानयन्ति दीपयन्तीति शक्तिकाननाः । सामर्थ्यप्रकाशकाः (स्वचमशकम्) अत्यविचमितमि० । उ० ३ । ११७ । चमु अदने—असच् । तस्य शः, स्वार्थे कन् । स्वेभ्यो ज्ञातिभ्यः निष्टकभेदं लडडुकादिकम् (सक्तु) अष्टयवादिचूर्णम् (पद्यम)

के लिये भोजन [लड्डू आदि] और (सक्तु) सत्तू (पद्यम)-प्राप्त करें ॥५॥

भावार्थ—समर्थ मनुष्य अन्न आदि पदार्थों का संग्रह करके कठिन समय में अपने भाई बन्धुओं को पुष्ट करके रक्षा करे ॥ ५ ॥

मुहानुग्न्युलूखलमतिक्रामन्त्यब्रवीत् ।
यथा तव वनस्पते निरघ्नन्ति तथैवति ॥ ६ ॥

मुहान् । अग्नी इति । उलूखलम् । अतिक्रामन्ति । अब्रवीत् ॥
यथा । तव । वनस्पते । निरघ्नन्ति । तथा । एवति ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] से (उलूखलम्) ओखली को (अतिक्रामन्ति) लांघता है और (अब्रवीत्) कहता है—(वनस्पते) हे वनस्पति ! [काठ के पात्र] (यथा) जैसे (तव) तुझ में (निरघ्नन्ति) [लोग] कूटते हैं, (तथा) वैसे ही (एवति) ज्ञान के विषय में [होवे] ॥ ६ ॥

भावार्थ—जैसे ओखली में कूटकर सार पदार्थ लेते हैं, वैसे ही मनुष्य परिश्रम करके ज्ञान प्राप्त करें ॥ ६ ॥

मुहानुग्न्युपं ब्रूते भ्रुष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथैव ते वनस्पते पिप्पति तथैवति॥ ७ ॥

मुहान् । अग्नी इति । उपं । ब्रूते । भ्रुष्टः । अथ । अपि । अभू-

---

धयं प्राप्नुयाम ॥

६—(महान्) (अग्नी) सुपां सुलुक्० । पा० । ७ । १ । ३६ । विभक्तेः पूर्वसवर्णदीर्घः, प्रगृह्यत्वाभावश्च । अग्निभ्याम् । आत्मिकसामाजिकबलाभ्याम् (उलूखलम्) धान्यादिकण्डनपात्रम् (अतिक्रामन्ति) एकवचनस्य बहुवचनम् । अतिक्रामति । उल्लंघयति (अब्रवीत्) ब्रवीति (यथा) (तव) त्वयि (वनस्पते) हे काष्ठमय पात्र (निरघ्नन्ति) अकारश्छान्दसः। निघ्नन्ति । नितरामाहननं कुर्वन्ति मनुष्याः (तथा) (एवति) वर्तमाने पृषद्बृहन्महद० । उ० २ । ८४ । इति व्याप्तौ—अति, नकारलोपः । ज्ञानविषये ॥ ६ ॥

भुव॥ यथा। एव। ते। वनस्पते। पिप्पति। तथा। एवति ७

भाषार्थ—(महान्) महान्, (भ्रष्टः) परिपक्व, (अथ अपि) और भी (अभूभुवः) अशुद्धि का शोधने वाला पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] को (उप) पाकर (ब्रूते) कहता है— (वनस्पते) हे वनस्पति ! [काठ के पात्र ओखली] (यथा) जैसे (ते) तुझ में (पिप्पति) [मनुष्य] भरता है. (तथा एव) वैसे ही (एवति) ज्ञान के विषय में [होवे] ॥ ७ ॥

भावार्थ—मन्त्र ६ के समान है ॥ ७ ॥

महानग्न्युप ब्रूते भ्रष्टोथाप्यभूभुवः ।
यथा वयो विदाह्य स्वर्गे नमवदह्यते ॥ ८ ॥

महान्। अग्नी इति। उप। ब्रूते। भ्रष्टः। अथ। अपि। अभूभुवः॥ यथा। वयः। विदाह्य। स्वर्गे। नम्। अवदह्यते ८

भाषार्थ—(महान्) महान्, (भ्रष्टः) परिपक्व, (अथ अपि) और भी (अभूभुवः) अशुद्धि का शोधने वाला पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] को (उप) पाकर (ब्रूते) कहता है— (यथा) जैसे (वयः) जीवन को (विदाह्य) विविध प्रकार तपाकर (स्वर्गे)

७—(महान्) (अग्नी) म० ५। आत्मिकसामाजिकप्रतापौ (उप) उपेत्य। प्राप्य (ब्रूते) कथयति (भ्रष्टः) भ्रस्ज पाके—क्त। भृष्टः। परिपक्वः (अथ) अनन्तरम् (अपि) (अभूभुवः) भू सत्ताशुद्धिचिन्तनमिश्रणेषु—क्विप्+भूरञ्जिभ्यां कित्। उ० ४। २१७। भू शुद्धौ—असुन् कित्। अशुद्धिशोधकः पुरुषः (यथा) (एव) (ते) त्वयि (वनस्पते) म० ६ (पिप्पति) पॄ पालनपूरणयोः पृषोदरादिरूपम्। पिपर्ति। पूरयति (तथा) (एवति) म० ॥ ६ ॥

८—(वयः) सर्वधातुभ्योऽसुन्। उ० ४। १८९। वी गतिव्याप्तिप्रजनादिषु—असुन्। जीवनम् (विदाह्य) दह दाहे। विविधं तपश्चरणेन तप्त्वा (स्वर्गे) सुखविशेषे (नम्) णह बन्धे—ड। बन्धम् (अवदह्यते) भस्मीकरोति

स्वर्ग में [सुख विशेष में] (नम्) बन्धन को (अवदह्यते) [विद्वान्] भस्म करदेता है, [वैसे ही मनुष्य करे] ॥ ८ ॥

भावार्थ—मनुष्य शुद्ध चित्त से बल बढ़ाकर विद्वानों के समान ब्रह्मचर्य आदि तप करके दुःखों से मुक्त होवे ॥ ८ ॥

म॒हान्व॒ग्न्युप॑ ब्रूते स्व॒सावे॑शि॒तं पसः॑ ।

इ॒त्थं फल॑स्य॒ वृक्ष॑स्य॒ शूर्पे॒ शूर्पं॑ भजेमहि ॥ ९ ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । उप॑ । ब्रू॒ते॒ । स्व॒सा । आ॒ऽवे॒शि॒तम् । पसः॑ ॥ इ॒त्थम् । फल॑स्य । वृक्ष॑स्य । शूर्पे॑ । शूर्प॑म् । भ॒जे॒म॒हि ॥ ९ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और समाजिक बलों] को (उप) पाकर (स्वसा) सुन्दर गति [उपाय] से (आवेशितम्) प्राप्त हुये (पसः) राज्य प्रबन्ध के विषय में (ब्रूते) कहता है—[कि] (इत्थम्) इसी प्रकार से (वृक्षस्य) स्वीकार करने योग्य (फलस्य) फल के (शूर्पे) एक सूप में (शूर्पम्) दूसरे सूप को (भजेमहि) हम सेवें ॥ ९ ॥

भावार्थ—जैसे मनुष्य अन्न आदि पदार्थ को सूप से लगातार शुद्ध करते हैं, वैसे ही राज्य का प्रबन्ध सदा विचार से करना चाहिये ॥ ९ ॥

म॒हान॒ग्नी कृ॑कवा॒कं शम्य॑या॒ परि॑ धावति ।

अ॒यं न वि॒द्म यो मृ॒गः शी॒र्ष्णा ह॑रति॒ धाणि॑काम् ॥ १० ॥

म॒हान् । अ॒ग्नी इति॑ । कृ॒क॒वा॒कम् । शम्य॑या । परि॑ । धा॒व॒ति॒ ॥

विनाशयति विद्वान् । अन्यद् गतम्—म० ७ ॥

९—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसमाजिकप्रतापौ (उप) उपेत्य (ब्रूते) (स्वसा) सु+अस गतिदीप्त्यादानेषु—क्विप् । सुगत्या । उचितोपायेन (आवेशितम्) प्राप्तम् । रक्षितम् (पसः) म० ३ । राज्यप्रबन्धम् (इत्थम्) एवम् (फलस्य) (वृक्षस्य) वृञ् वरणे—क्स । स्वीकरणीयस्य (शूर्पे) शूर्प माने—घञ् । एकस्मिन् धान्यस्फोटके (शूर्पम्) अन्यं शूर्पम् (भजेमहि) सेवेमहि ॥ ९ ॥

अयम् । न । विद्म । यः। मृगः। शीर्ष्णा । हरति । धाणिकाम् ॥१०॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनों अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] से और (शम्यया) जूये की कील [के समान शस्त्र] से (कृकवाकम् परि) बनावटी बोली वाले पर (धावति) दौड़ता है। [उसको] (न) अब (विद्म) हम जानते हैं, (अयम् यः) यह जो (मृगः) पशु [के तुल्य मूर्ख] (शीर्ष्णा) शिर से [कल्पित विचार से] (धाणिकाम्) बस्ती [राजधानी आदि] को (हरति) लूटता है ॥ १० ॥

भावार्थ—जो ठग छल से झूठी बनावटी बोली बोल कर राजधानी आदि बस्ती को लूटें, राजा उन को यथावत् दण्ड देवे ॥ १० ॥

महानग्नी महानग्नं धावन्तमनु धावति ।
इमास्तदस्य गा रक्ष यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ ११ ॥

महान् । अग्नी इति । महान् । अग्नम् । धावन्तम् । अनु । धावति ॥ इमाः । तत् । अस्य । गाः । रक्ष । यभ । माम् । अद्धि । औदनम् ॥ ११ ॥

भाषार्थ—(महान्) महान् पुरुष (अग्नी) दोनो अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के, और (महान्) महान् पुरुष (अग्नम्) ज्ञानवान्

१०—(महान्) (अग्नी) म० ६ । अग्निभ्याम् । आत्मिकसामाजिकबलाभ्याम् (कृकवाकम्) सृवृभूशुषिमुषिभ्यः कक् । उ० ३ । ४१ करोतेः—कक्+वच कथने—घञ् । कृकः कृत्रिमः कल्पितो वाको वचनं यस्य तम् । कृत्रिमवाचिनम् (शम्यया) अथ० ६ । १३८ । ४ । शान्तिकरेण युगकीलतुल्यशस्त्रेण (परि) प्रति (धावति) शीघ्रं गच्छति (अयम्) (न) सम्प्रति—निरु० ७ । ३१ (विद्म) जानीमः (यः) (मृगः) पशुतुल्यो मूर्खः (शीर्ष्णा) शिरसा । कल्पितविचारेण (हरति) लुण्टति (धाणिकाम्) आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः । उ० ३ । ८३ । दधातेः—आणकप्रत्ययः, टाप् अत इत्वम् । बस्तीम् । राजधान्यादिकाम् ॥

११—(महान्) (अग्नी) म० ५ । आत्मिकसामाजिकपराक्रमौ (महान्) (अग्नम्) धापॄवस्यज्यतिभ्यो नः । उ० ३ । ६ । अग गतौ—न प्रत्ययः । ज्ञान-

(धावन्तम् अनु) दौड़ते हुये के पीछे (धावति) दौड़ता है। (तत्) सो (अस्य) इस [पुरुष] को (इमाः) इन (गाः) भूमियों की (रक्ष) रक्षा कर, (यभ) हे न्यायकारी ! (माम्) मुझको (औदनम्) भोजन (अद्धि) खिला ॥ ११ ॥

भावार्थ—महान् पुरुष आत्मिक और सामाजिक बल प्राप्त करके ज्ञानियों का अनुकरण करे, और राज्य की रक्षा करके प्रजा को पाले ॥ ११ ॥

सुदेवस्त्वा महानग्नीर्बबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुसं पीवरो नवत् ॥ १२ ॥

सुदेवः । त्वा । महान् । अग्नीः । बबाधते । महतः । साधु । खोदनम् ॥ कुसम् । पीवरः । नवत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा जन !] (सुदेवः) बड़ा विजय चाहने वाला, (महान्) महान् पुरुष (त्वा) तुझ से (महतः) बड़े (अग्नीः) अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के द्वारा (खोदनम्) खोदने के कर्म [सैंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (बबाधते) रोकता है। (पीवरः) पुष्टाङ्ग पुरुष (कुसम्) आपस में मिलाप को (नवत्) प्राप्त करे ॥ १२ ॥

वन्तम् (धावन्तम्) शीघ्रं गच्छन्तम् (अनु) अनुकृत्य (धावति) शीघ्रं गच्छति (इमाः) (तत्) ततः (अस्य) पुरुषस्य (गाः) भूमीः (रक्ष) (यभ) यस्य भः । हे यभ । न्यायकारिन् (माम्) प्रजाजनम् (अद्धि) अद भक्षणे, अन्तर्गतणिजर्थः । आदय । खादय (औदनम्) स्वार्थे अण् । भोजनम् ॥

१२—(सुदेवः) सुविजिगीषुः (त्वा) प्रजाजनसकाशात् (महान्) (अग्नीः) अग्नीन् । आत्मिकसामाजिकपराक्रमैः—इत्यर्थः (बबाधते) बाधते । निवारयति (महतः) विशालान् । विशालैः (साधु) यथा तथा । यथावत् प्रकारेण (खोदनम्) खुड संवरणे भेदने च—ल्युट् । भेदनम् । सन्धिकरणम् । (कुसम्) कुस संश्लेषणे—क, परस्परसंगमनम् (पीवरः) अर्त्तिकमिभ्रमि० । उ० ३ । १३२ । पीव स्थौल्ये—अरप्रत्ययः, स च चित् । पुष्टः पुरुषः (नवत्) नवंत इति गतिकर्मा—निघ० २ । १४ । प्राप्नुयात् ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा के मेल से चोर आदि दुष्ट लोग प्रजा को न सतावें ॥ १२ ॥

वशा दुग्धामिमाङ्गुरिं प्रसृजतोग्रतं परे ।
महान् वै भद्रो यभ मामद्ध्यौदनम् ॥ १३ ॥

वशा । दुग्धाम्-इम । अङ्गुरिम् । प्र सृजत । उग्रतम् । परे ॥
महान् । वै । भद्रः । यभ । माम् । अद्धि । ओदनम् ॥ १३ ॥

भाषार्थ—[हे विद्वानो !] (वशा) बन्ध्या [निष्फल] (उग्रतम्) उग्रता [प्रचण्ड नीति] को (दग्धाम्) जली हुई (अङ्गुरिम् इम) अंगुरी के समान (परे) दूर (प्रसृजत) सर्वथा छोड़ो । (महान्) महान् पुरुष (वै) ही (भद्रः) मंगलदाता है, (यभ) हे न्यायकारी ! (माम्) मुझ को (ओदनम्) भोजन (अद्धि) तू खिला ॥ १३ ॥

भावार्थ—जैसे सांप आदि के विष से जले हुये अगुली आदि अङ्ग को शरीर की रक्षा के लिये शीघ्र काटकर फैंक देते हैं, वैसे ही विद्वान् लोग निष्फल प्रचण्ड नीति को छोडकर प्रजा को सुख देवें ॥ १३ ॥

विदेवस्त्वा महानग्नीर्विबाधते महतः साधु खोदनम् ।
कुमारिका पिङ्गलिका कार्द भस्मा कु धावति ॥ १४ ॥

विदेवः । त्वा । महान् । अग्नीः । विबाधते । महतः । साधु ।
खोदनम् । कुमारिका । पिङ्गलिका । कार्द । भस्मा ।
कु । धावति ॥ १४ ॥

भाषार्थ—[हे प्रजा जन !] (विदेवः) मद रहित [निरहंकारी],

१३—(वशा) विभक्तेर्लुक् । वशाम् । बन्ध्याम् । निष्फलाम् (दग्धाम्) विषदग्धाम् (इम) यस्य मः । इव । यथा (अङ्गुरिम्) अङ्गुलिम् (प्रसृजत) सर्वथा त्यजत (परे) दूरे (महान्) (वै) एव (भद्रः) मङ्गलप्रदः । अन्यद् गतम्—म० ॥ ११ ॥

१४—(विदेवः) दिवु क्रीडामदादिषु— कच् । विगतमदः । निरहङ्कारः

(महान्) महान् पुरुष (त्वा) तुझ से (महतः) बड़े (अग्नीः) अग्नियों [आत्मिक और सामाजिक बलों] के द्वारा (खोदनम्) खोदने के कर्म [सेंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (विबाधते) हटा देता है। (पिङ्गलिका) शोभायमान (कुमारिका) कामना योग्य कुमारी [कन्या] (कार्द) कीचड़ और (भस्मा) भस्म [राख आदि] को (कु) भूमि पर (धावति) शुद्ध कर देती है ॥ १४ ॥

भावार्थ—राजा और प्रजा मिलकर चोर आदि दुष्टों को हटावें, जैसे शुद्ध स्वभाव वाली स्त्री कूड़े करकट को घर से बाहिर फेंक देती है ॥ १४ ॥

म॒हान् वै भ॒द्रो बि॒ल्वो म॒हान् भ॒द्र उ॑दु॒म्बरः॑ ।
म॒हाँ अ॑भि॒क्त बा॑धते मह॒तः सा॑धु खो॒दन॑म् ॥ १५ ॥

म॒हान् । वै । भ॒द्रः । बि॒ल्वः । म॒हान् । भ॒द्रः । उ॒दु॒म्बरः॑ ॥
म॒हान् । अ॒भि॒क्त । बा॒धते॑ । म॒ह॒तः । सा॒धु । खो॒दन॑म् ॥ १५ ॥

भाषार्थ—(भद्रः) मंगल दाता (महान्) महान् पुरुष (वै) ही (बिल्वः) बेल [वृक्ष के समान उपकारी] है, (भद्रः) मंगल दाता (महान्) महान् पुरुष (उदुम्बरः) गूलर [वृक्ष के समान उपकारी] है। (अभिक्त) हे

पुरुषः (विबाधते) निवारयति (कुमारिका) कमेः किदुच्चोपधायाः। उ० ३। १३८। कमु कान्तौ—आरन्, कन्, टाप्, अकारस्य, उकारः, अत इत्वम्। कमनीया कन्या (पिङ्गलिका) कलस्तृपश्च। उ० १। १०४। पिजि दीप्तौ, बाले, बले, हिंसायां दाने च—कलप्रत्ययः, कन्, टाप्, अत इत्वम्। दीप्यमाना। शोभमाना (कार्द) कर्द कुत्सिते शब्दे—घञ्, विभक्तेर्लुक्। कार्दम् कर्दमम्। पङ्कम् (भस्मा) छान्दसो दीर्घः। भस्म। दग्धगोमयादिविकारम् (कु) कौ। भूम्याम् (धावति) धावु गतिशुद्धयोः। शोधयति। अन्यद् यथा म० ॥ १२ ॥

१५—(महान्) (वै) एव (भद्रः) मङ्गलप्रदः (बिल्वः) उल्वादयश्च। उ० ४। ९५। बिल भेदने—वन्। फलवृक्षविशेषः। शिवद्रुमः (महान्) (भद्रः) (उदुम्बरः) पृभिदिव्यधि०। उ० १। २३। उड संहतौ सौत्रो धातुः—कु। संज्ञायां भृतॄवृ०। पा० ३। २। ४६। उडु+वृञ् वरणे—खच्, मुम् च, डस्य दः, नस्य मः। वृक्षविशेषः। जन्तुफलः। यज्ञीयः (महान्) (अभिक) अभि+अञ्जू

विख्यात ! (महान्) महान् पुरुष (महतः) बड़े [आत्मिक और सामाजिक बलों—म० १४] से (खोदनम्) खोदने के कर्म [सैंध सुरंग आदि] को (साधु) भले प्रकार (बाधते) हटाता है ॥ १५ ॥

भावार्थ—सब महान् पुरुष प्रयत्न करके प्रजा को दुष्टों से बचावें ॥१५॥

यः कुमारी पिङ्गलिका वसन्तं पीवरी लभेत् ।
तैलकुण्डमिमाङ्गुष्ठं रोदन्तं शुदमुद्धरेत् ॥ १६ ॥

यः । कुमारी । पिङ्गलिका । वसन्तम् । पीवरी । लभेत् ॥
तैलकुण्डम्-इम । अङ्गुष्ठम् । रोदन्तम् । शुदम् । उद्धरेत् ॥१६

भाषार्थ—(पीवरी) पुष्टाङ्गी, (पिङ्गलिका) शोभायमान, (कुमारी) कामनायोग्य कुमारी [कन्या] (यः) प्रयत्न से (वसन्तम्) वसन्त राग को (लभेत्) प्राप्त होवे । [वैसे ही राजा] (तैलकुण्डम्) [तप्त हुये] तेलकुण्ड में डाले हुये (अङ्गुष्ठम् इम) अंगूठे [अंगुली] को जैसे [वैसे] (रोदन्तम्) रोते हुये (शुदम्) ज्ञान दाता का (उद्धरेत्) उद्धार करे [ऊंचा उठावे ॥१६॥

भावार्थ—जैसे स्त्रियां प्रसन्न होकर वसन्त राग को गाती हैं, वैसे ही राजा प्रसन्न होकर क्लेश में पडे हुये विद्वानों को उठावे, जैसे तपे हुये तेल में से अंगुली को उठा लेते हैं ॥ १६ ॥

इति कुन्तापसूक्तानि समाप्तानि ॥

व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु:—क, अकारलोपः । अभ्यक्त । हे विख्यात (बाधते) निवारयति । अन्यद् गथा म० ॥ १२ ॥

१६—(यः) यसु प्रयत्ने—क्विप्, विभक्तेर्लुक् । यसा । प्रयत्नेन , (कुमारी) म० १४ । कमु कान्तौ—आरन्, ङीप् । कमनीया कन्या (पिङ्गलिका) म० १४॥ शोभमाना (वसन्तम्) तॄभूवहिवसि० । उ० ३ । १२८ । वस निवासे—झच् । रागविशेषम् (पीवरी) म० १२ । पीवरङीप् । पुष्टाङ्गी (लभेत्) प्राप्नुयात् (तैलकुण्डम्) पचाद्यच् । तप्ततैलकुण्डेन युक्तम (इम) म० १३ । इव । यथा (अङ्गुष्ठम्) अङ्गु+ष्ठा गतिनिवृत्तौ-क ।अम्बाम्बगोभू० । पा० ८ । ३ । ९७ । इति षत्वम् । अङ्गौ हस्ते पादे वा तिष्ठतीति । अम्बाम्बेति सूत्रे अङ्गु शब्द-प्रयोगः । कृष्णाङ्गुलिम् । अङ्गुलिम् (रोदन्तम्) रोदन कुर्वन्तम् क्लेश प्राप्तम् (शुदम्) शुन गतौ—डु+ ददातेः—क । ज्ञानदातारम् (उद्धरेत्) हृञ् हरणे ऊर्ध्वमानयेत्

सूक्तम् १३७ ॥

१—१४ ॥ १ अलक्ष्मीघ्नम्; २ विश्वे देवाः; ३ दधिक्रावा; ४—६ पवमानः सोमः; ७, ८, १०—१४ इन्द्रः; ९ इन्द्रा बृहस्पती देवते ॥ १, ६ निचृदनुष्टुप्; २ निचृज् जगती; ३—५ अनुष्टुप्; ७, ८, १० निचृत् त्रिष्टुप्; ९ विराट् त्रिष्टुप्; ११ आर्षी पङ्क्तिः; १२—१४ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

यद्ध प्राचीरजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः ।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुद्बुदयाशवः ॥ १ ॥

यत् । ह । प्राचीः । अजगन्त । उरः । मुण्डूर-धाणिकीः ॥
हताः । इन्द्रस्य । शत्रवः । सर्वे । बुद्बुद-याशवः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(मण्डूरधाणिकीः) हे विभाग धारण करने वाली (उरः) मारू सेनाओ ! (प्राचीः) आगे बढ़ती हुई (यत् ह) जभी (अजगन्त) तुम चली हो । [तभी] (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] के (सर्वे) सब (शत्रवः) वैरी लोग (बुद्बुदयाशवः) बुद्बुदों के समान चलने वाले और फैलने वाले होकर (हताः) मारे गये ॥ १ ॥

भावार्थ—राजा व्यूह रचना से टुकरी टुकरी करके सुशिक्षित सेना के

१—(यत्) यदा (ह) एव (प्राचीः) प्रकर्षेण अंचन्त्यः । प्रकृष्टगमानाः सत्यः (अजगन्त) गमेर्लङि मध्यमबहुवचने छान्दसः शपः श्लुः । तप्तनप्तनथनाश्च । पा० ७ । १ । ४५ । तस्य तबादेशः । अगच्छत यूयम (उरः) उर्वी हिंसायाम्—क्विप् । राल्लोपः । पा० ६ । ४ । २१ । वलोपः, ततो जसि रूपम् । हे हिंसित्र्यो मारणशीलाः सेनाः (मण्डूरधाणिकीः) मीनातेरूरन् । उ० १ । ६७ । मडि विभाजने भूषायां हर्षे च—ऊरन् । आणको लूधूशिङ्घिधाञ्भ्यः । उ० ३ । ८३ दधातेः—आणकप्रत्ययः, ङीप्, इत्वं च । हे विभागस्य धारयित्र्यः व्यूहेन (हताः) नष्टाः (इन्द्रस्य) ऐश्वर्यवतो राज्ञः (शत्रवः (सर्वे) (बुद्बुदयाशवः) बुद आलोचने प्रणिधाने—क्विप् + बुद आलोचने + क । यन्ति गच्छन्तीति याः, या—क्विप् । अश्नुवत इत्याशवः, अशू व्याप्तौ—उण् । बुद्बुदवत् जलस्य गोलाकारविकारवत् यातारो व्यापनशीलाश्च सन्तः ॥

द्वारा शत्रुओं को बुदबुदों के समान निर्बल करके मारे ॥ १ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—१० । १५५ । ४ ॥

कपृन्नरः कपृथमुद् दधातन चोदयत खुदत वाजसातये ।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये ॥२

कपृत् । नरः । कपृथम् । उत् । दधातन । चोदयत । खुदत ।
वाज-सातये ॥ निष्टिग्र्यः । पुत्रम् । आ । च्यवय । ऊतये ।
इन्द्रम् । स-बाधः । इह । सोम-पीतये ॥ २ ॥

भाषार्थ—(कपृत्) हे सुख से भरने वाले, (नरः) नरो ! [नेताओं] (सबाधः) नाश के रोकने वाले होकर तुम (कपृथम्) सुख से भरने वाले, (निष्टिग्र्यः) निश्चित इष्ट क्रिया की बताने वाली [माता] के (पुत्रम्) पुत्र (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले शूर] को (वाजसातये) धनों के पाने के लिये (सोमपीतये) सोम [तत्त्व रस] पीने के लिये और (ऊतये) रक्षा के लिये (इह) यहां पर (उत्) अच्छे प्रकार (दधातन) धारण करो, (चोदयत) आगे बढ़ाओ, (खुदत) सुखी करो और (आ) सब ओर से (च्यवय) उत्साही करो ॥ २ ॥

भावार्थ—नेता लोग बड़े गुणी शूर पुरुष को प्रजा की रक्षा के लिये

२—(कपृत्) क सुखम्+पृ पूर्तौ—क्विप् तुक् च, विभक्तेर्लुक् । हे कपृतः॥ सुखेन पूरकाः (नरः) हे नेतारः (कपृथम्) हनिकुषिनी० । उ० २ । २ । क+पृ पूर्तौ—क्थन् । सुखेन पूरयितारम् (उत्) उत्कर्षेण (दधातन) धारयत (चोदयत) प्रेरयत (खुदत) खुर्द क्रीडायाम्, रेफलोपः । क्रीडयत । सुखयत ('वाजसातये) धनानां लाभाय (निष्टिग्र्यः) नि+इष्टि, पृषोदरादिरूपम्+गॄ विज्ञापने—क्विप् । निष्टिम् निश्चिताम् इष्टिम् इष्टक्रियां गारयते विज्ञापयतीति निष्टिग्रीः तस्या जनन्याः (पुत्रम्) (आ) समन्तात (च्यवय) च्यु सहने, एकवचनं छान्दसम् । च्यावयत । उत्साहिनं कुरुत (ऊतये) रक्षायै (इन्द्रम्) परमैश्वर्यवन्तं शूरम् (सबाधः) स्यतीति सः । षो अन्तकर्मणि—ड+बाधृ लोडने प्रतिघाते—क्विप् । सबाधः ऋत्विजः—निघ० ३ । १८ । नाशस्य प्रतिमानकाः (इह) अत्र (सोमपीतये) तत्त्वरसपानाय ॥

राजा बनावें और सब प्रकार उत्साही करें ॥ २ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है - १० । १०१ । १२ ॥

दधिक्राव्णो अकारिषं जिष्णोरश्वस्य वाजिनः ।

सुरभि नो मुखा करत् प्र ण आयूंषि तारिषत् ॥ ३ ॥

दधि-क्राव्णः । अकारिषम् । जिष्णोः । अश्वस्य । वाजिनः ॥

सुरभि । नः । मुखा । करत् । प्र । नः । आयूंषि । तारिषत् ३

भाषार्थ—(दधिक्राव्णः) चढ़ाकर चलने वाले वा हीलने वाले (जिष्णोः) जीतने वाले, (वाजिनः) वेगवान् (अश्वस्य) घोड़े के (अकारिषम्) कर्म को मैं ने किया है । वह [कर्म] (नः) हमारे (मुखा) मुखों को (सुरभि) ऐश्वर्य युक्त (करत्) करे और (नः) हमारे (आयूंषि) जीवनों को (प्र तारिषत्) बढ़ावे ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे शीघ्र गामी घोड़ा मार्ग को जीतकर अश्ववार को लेकर ठिकाने पर पहुंचकर सुख पाता है, वैसे ही विद्वान् पराक्रमी अपना कर्तव्य पूरा करके यश प्राप्त करे ॥ ३ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—४ । ३९ । ६; यजु० २३ । ३२; साम० पू० ४।७।७॥

सुतासो मधुमत्तमाः सोमा इन्द्राय मन्दिनः ।

३—(दधिक्राव्णः) अ० ३ । १६ । ६ । डुधाञ् धारणपोषणयोः—कि, दधि + क्रमु पादविक्षेपे वा क्रदि आह्वाने, क्रन्द सातत्यशब्दे - वनिप् । दधिक्रावा अश्वनाम—निघ० १ । १४ । दधत् क्रामतीति वा दधत् क्रन्दतीति वा दधदाकारो भवतीति वा—निरु० २ । २७ । दधि, धारयिता सन् क्रामतीति वा क्रन्दतीति वा दधिक्रावा, तस्य तथाभूतस्य (अकारिषम्) अहं कर्म कृतवानस्मि (जिष्णोः) मार्गजयशीलस्य (अश्वस्य) तुरंगस्य (वाजिनः) शीघ्रगामिनः (सुरभि) अ० १२ । १ । २३ । सुर ऐश्वर्यदीप्त्योरित्यस्माद् बाहुल्यकादौणादिकोऽभिच् प्रत्ययः—इति दयानन्दो यजु० १२ । ३५ । सुरभीणि ऐश्वर्यवन्ति (नः) अस्माकम् (मुखा) मुखानि (करत्) कुर्यात् तत् कर्म (नः) अस्माकम् (आयूंषि) जीवनानि (प्र तारिषत्) वर्धयेत् ॥

पुवित्रवन्तो अक्षरन् देवान् गच्छन्तु वो मदाः ॥ ४ ॥

सुतासः । मधुमत्-तमाः । सोमाः । इन्द्राय । मन्दिनः ॥

पुवित्र-वन्तः । अक्षरन् । देवान् । गच्छन्तु । वः । मदाः ॥४॥

भाषार्थ—(सुतासः) निचोडे हुये, (मधुमत्तमाः) अत्यन्त ज्ञान करने वाले, (मन्दिनः) आनन्द देने वाले, (पवित्रवन्तः) शुद्ध व्यवहार वाले (सोमाः) सोम [तत्त्व रस] (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] के लिये (अक्षरन्) बहे हैं, (मदाः) वे आनन्द देने वाले [तत्त्व रस] (वः) तुम (देवान्) विद्वानों को (गच्छन्तु) पहुंचें ॥ ४ ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग ज्ञान के साथ सब पदार्थों का तत्त्व जानकर ऐश्वर्य बढावें ॥ ५ ॥

मन्त्र ४—६ ऋग्वेद में हैं—९ । १०१ । ४—६, सामवेद—उ० २ । २ । तृच १५ ; म० १ साम० पू० ६ । ६ । ३ ॥

इन्दुरिन्द्राय पवत इति देवासो अब्रुवन् ।
वाचस्पतिर्मखस्यते विश्वस्येशान ओजसा ॥ ५ ॥

इन्दुः । इन्द्राय । पवते । इति । देवासः । अब्रुवन् ॥
वाचः । पतिः । मखस्यते । विश्वस्य । ईशानः । ओजसा ॥५॥

भाषार्थ—(इन्दुः) सोम [तत्त्व रस] (इन्द्राय) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले मनुष्य] के लिये (पवते) शुद्ध होता है, (वाचः पतिः) वेदवाणी का

४—(सुतासः) निष्पादिताः (मधुमत्तमाः) मधुना ज्ञानेन अतिशयेन युक्ताः (सोमाः) तत्त्वरसाः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते मनुष्याय (मन्दिनः) अ० २० । १७ । ४ । आनन्दयितारः (पवित्रवन्तः) शुद्धव्यवहारोपेताः (अक्षरन्) संचलनं कृतवन्तः (देवान्) विदुषः पुरुषान् (गच्छन्तु) प्राप्नुवन्तु (वः) (युष्मान्) (मदाः) हर्षकाः सोमाः ॥

५—(इन्दुः) सोमः । तत्त्वरसः (इन्द्राय) परमैश्वर्यवते पुरुषाय (पवते) शुध्यति (इति) एवम् (देवासः) विद्वांसः (अब्रुवन्) अकथयन् (वाचः)

स्वामी [परमात्मा] (ओजसा) अपने सामर्थ्य से (विश्वस्य) सब का (ईशानः) राजा होकर (मखस्यते) पुरुषार्थ चाहता है - (इति) ऐसा (देवासः) विद्वानों ने (अब्रुवन्) कहा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—विद्वानों का निश्चय है कि परमात्मा पुरुषार्थियों को तत्त्व ज्ञान देकर ऐश्वर्यवान् करता है ॥ ५ ॥

सहस्रधारः पवते समुद्रो वाचमीङ्खयः ।

सोमः पती रयीणां सखेन्द्रस्य दिवेदिवे ॥ ६ ॥

सहस्र-धारः । पवते । समुद्रः । वाचम्-ईङ्खयः ॥

सोमः । पतिः । रयीणाम् । सखा । इन्द्रस्य । दिवे-दिवे ॥६॥

भाषार्थ—(सहस्रधारः) सहस्रों धाराओं वाला समुद्रः) समुद्र [जैसे], (वाचमीङ्खयः) विद्याओं का प्रवर्त्तक, (रयीणाम्) धनों का (पतिः) स्वामी, (इन्द्रस्य) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले पुरुष] का (सखा) मित्र (सोमः) सोम [तत्त्व रस] (दिवेदिवे) दिन दिन (पवते) शुद्ध होता है ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य विद्याओं द्वारा पदार्थों का तत्त्व जानकर दिन दिन नवीन नवीन आविष्कार करके धन की वृद्धि करे ॥ ६ ॥

अव द्रप्सो अंशुमतीमतिष्ठदियानः कृष्णो दशभिः सहस्रैः ।

आवत् तमिन्द्रः शच्या धमन्तमप स्नेहितीर्नृमणा अधत्त ॥७॥

अव । द्रप्सः । अंशु-मतीम् । अतिष्ठत् । इयानः । कृष्णः ।

वेदवाण्याः (पतिः) स्वामी परमात्मा (मखस्यते) मख गतौ, लालसायां सुगागमः । गतिं पुरुषार्थमिच्छति (विश्वस्य) सर्वस्य (ईशानः) राजा (ओजसा) सामर्थ्येन ॥

६—(सहस्रधारः) बहुधाराभियुक्तः (पवते) शुध्यति (समुद्रः) जलधिर्यथा (वाचमीङ्खयः) ईखि गतौ, णयन्तस्य सुप्युपपदे खश्प्रत्ययः । वाचां विद्यानां प्रवर्त्तकः (सोमः) तत्त्वरसः (पतिः) स्वामी (रयीणाम्) धनानाम् (सखा) (इन्द्रस्य) परमैश्वर्यवतः पुरुषस्य (दिवेदिवे) दिने दिने ॥

दुश-भिः । सहस्रैः ॥ आवत् । तम् । इन्द्रः । शच्या । धमन्तम् । अप । स्नेहितीः । नृ-मनाः । अधत्त ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(द्रप्सः) घमंडी, (कृष्णः) कौवा [के समान निन्दित लुटेरा शत्रु] (दशभिः सहस्रैः) दस सहस्र [बड़ी सेना] के साथ (इयानः) चलता हुआ (अंशुमतीम्) विभाग वाली [सीमा वाली नदी—म० ८] पर (अव अतिष्ठत्) ठहरा है । (नृमणाः) नरों के समान मन वाले (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े प्रतापी शूर] ने (तम् धमन्तम्) उस हांफते हुये को (शच्या) बुद्धि से (आवत्) बचाया है और (स्नेहितीः) अपनी मारू सेनाओं को (अप अधत्त) हटा लिया है ॥ ७ ॥

भावार्थ—जो शत्रु चढ़ाई करे और थककर हार मान लेवे, वीर राजा जीवित छोड़कर उसे मित्र बनावे और यथोचित प्रबन्ध करके अपनी सेना हटा लेवे ॥ ७ ॥

मन्त्र ७—११ ऋग्वेद में है—८ । ९६ [सायण भाष्य ८५] । १३—१७; मन्त्र ७ सामवेद—पू० ४ । ४ । १ ॥

द्रप्समपश्यं विषुणे चरन्तमुपह्वरे नद्यो अंशुमत्याः । नभो न कृष्णमवतस्थिवांसमिष्यामि वो वृषणो युध्यताजौ ॥ ८ ॥

द्रप्सम् । अपश्यम् । विषुणे । चरन्तम् । उप-ह्वरे । नद्यः ।

७—(द्रप्सः) धृतॄवदिवचि० । उ० ३ । ६२ । दृप हर्षमोहनयोः, उत्क्लेशे, गर्वे च—सप्रत्ययः । गर्ववान् (अंशुमतीम्) मृगय्वादयश्च । उ० १ । ३७ । अंश विभाजने—कु । विभागवतीं सीमायुक्तां नदीम् (अव अतिष्ठत्) अवस्थितवान् (इयानः) इण् गतौ—कानच् । गच्छन् (कृष्णः) अ० ७ । ६४ । १ । श्वा काक इति कुत्सायाम्—निरु० ३ । १८ । काक इव निन्दितो दस्युः शत्रुः (दशभिः सहस्रैः) बहुभिः सेनाभिः (आवत्) रक्षितवान् (तम्) शत्रुम् (इन्द्रः) महाप्रतापी शूरः (शच्या) प्रज्ञया—निघ० ३ । ९ (धमन्तम्) उच्छ्वसन्तम् । पराभवेन दीर्घं श्वसन्तम् (स्नेहितीः) स्नेहतिः, स्नेहयतिर्वधकर्मा—निघ० २ । १९ । स्वकीया मारणशीलाः सेनाः (नृमणाः) नेतृतुल्यमनस्कः (अप अधत्त) दूरे धारितवान् निवर्तितवान् ॥

अं॒शु-म॒त्याः॥ नभः। न। कृ॒ष्णम्। अ॒व॒त॒स्थि॒-वांस॑म्। इ॒ष्यामि। व॒ः। वृ॒ष॒णः। यु॒ध्य॑त। आ॒जौ॥ ८॥

भाषार्थ—(द्रप्सम्) घमंडी को (अंशुमत्याः) विभाग वाली [सीमा वाली] (नद्यः) नदी के (उपह्वरे) समीप में (विषुणे) विरुद्ध आचरण [अन्याय] के बीच में (चरन्तम्) विचरते हुये, (नभः) आकाश से (अवतस्थिवांसम्) उतरे हुये (कृष्णम् न) कौवे के समान (अपश्यम्) मैं ने देखा है, (वृषणः) हे ऐश्वर्य वाले वीरो ! (वः) तुम को (इष्यामि) मैं प्रेरणा करता हूं, (आजौ) संग्राम में (युध्यत) युद्ध करो ॥ ८॥

भावार्थ—राजा लुटेरे शत्रु को सीमा पर आते देखकर अपने वीरों को भेजकर उसे रोक दे ॥ ८॥

अध॑ द्र॒प्सो अं॒शुम॑त्या उ॒पस्थे॑ऽधारयत् त॒न्वं॑ तित्विषा॒णः। विशो॒ अदे॑वीर॒भ्या॒३॒॑चर॑न्ती॒र्बृह॒स्पति॑ना यु॒जेन्द्रः॑ ससाहे ॥ ९॥

अध॑। द्र॒प्सः। अं॒शु-म॒त्याः। उ॒प-स्थे॑। अ॒धा॒र॒य॒त्। त॒न्व॑म्। ति॒त्वि॒षा॒णः॥ विशः॑। अदे॑वीः। अ॒भि। आ॒-चर॑न्तीः। बृह॒स्पति॑ना। यु॒जा। इन्द्रः॑। स॒स॒हे॒॥ ९॥

भाषार्थ—(अध) फिर (तित्विषाणः) भड़कीले (द्रप्सः) घमंडी

८—(द्रप्सम्) म० ७। गर्ववन्तम् (अपश्यम्) अदर्शम् (विषुणे) क्षुधिपिशिमिधिभ्यः कित्। उ० ३। ५५। विष विप्रयोगे—उनन् कित्। विषुणस्य विषमस्य—निरु० ४। १९। विरुद्धाचरणे। अन्याये (चरन्तम्) विचरन्तम् (उपह्वरे) अथ० २०। २२। ६। समीपे (नद्यः) नद्याः (अंशुमत्याः) म० ७। विभागवत्याः। सीमायुक्तायाः (नभः) विभक्तेर्लुक्। नभसः। आकाशात् (न) यथा (कृष्णम्) म० ७। काकम् (अवतस्थिवांसम्) अवस्थितम् (इष्यामि) इष गतौ। प्रेरयामि (वः) युष्मान् (वृषणः) अथ० ११। १। २। हे ऐश्वर्यवन्तः। वीराः (युध्यत) संप्रहरत (आजौ) अ० २०। १६। २। संग्रामे ॥

९—(अध) अथ (द्रप्सः) म० ७। अभिमानी (अंशुमत्याः) म० ७।

ने (अंशुमत्याः) विभाग वाली [सीमा वाली नदी] के (उपस्थे) समीप में (तन्वम्) अपने शरीर को (अधारयत्) पुष्ट किया। [तब] (युजा) अपने मित्र (बृहस्पतिर्ना) बृहस्पति [बड़ी विद्याओं के स्वामी] के साथ (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े प्रतापी राजा] ने (अभि) सब ओर (आचरन्तीः) घूमती हुई, (अदेवीः) कुव्यवहार वाली (विशः) प्रजाओं को (ससहे) जीत लिया ॥ ९ ॥

भावार्थ—यदि शत्रु लोग बार बार एकत्र होकर उपद्रव मचावें, नीति-कुशल राजा मित्रों का सहाय लेकर वैरियों को हरावे ॥ ९ ॥

त्वं ह॒ त्यत् स॒प्तभ्यो॒ जाय॑मानोऽश॒त्रुभ्यो॑ अभवः॒ शत्रु॑रिन्द्र । गू॒ळ्हे द्यावा॑पृथि॒वी अन्व॑विन्दो विभु॒मद्भ्यो॒ भुव॑नेभ्यो॒ रणं॑ धाः ॥ १० ॥

त्वम् । ह॒ । त्यत् । स॒प्त-भ्यः॑ । जाय॑मानः । अ॒श॒त्रु-भ्यः॑ । अ॒भ॒वः॒ । शत्रुः॑ । इ॒न्द्र॒ ॥ गू॒ळ्हे इति॑ । द्यावा॑पृथि॒वी इति॑ । अनु॑ । अ॒वि॒न्दः॒ । वि॒भु॒मत्-भ्यः॑ । भुव॑नेभ्यः । रण॑म् । धाः॒ ॥ १०

भाषार्थ—(इन्द्र) हे इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (त्यत् ह) तभी (जायमानः) प्रकट होता हुआ (त्वम्) तू (अशत्रुभ्यः) अशत्रु [बिना वैर वाले, आपस में मित्र] (सप्तभ्यः) सातों [कान, त्वचा, नेत्र, जिह्वा, नासिका पांच ज्ञान इन्द्रिय, मन और बुद्धि] के हित के लिये (शत्रुः) [दुष्टों का] शत्रु (अभवः) हुआ है। (गूळ्हे) [अज्ञान के कारण] ढके हुये (द्यावा-

---

विभागवत्या नद्याः (उपस्थे) समीपे (अधारयत्) अपोषयत् (तन्वम्) स्वशरीरम् (नित्विषाणः) त्विष दीप्तौ—कानच्। दीप्यमानः (विशः) प्रजाः। शत्रुसेनाः (अदेवीः) कुव्यवहारवतीः (अभि) सर्वतः (आचरन्तीः) विचरन्तीः (बृहस्पतिना) बृहतीनां महतीनां विद्यानां स्वामिना (युजा) सहायेन (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान राजा (ससहे) षह अभिभवे—लिट्। अभिबभूव ॥

१०—(त्वम्) (ह) एव (त्यत्) तत्। तदा (सप्तभ्यः) सप्तसंख्याकेभ्यः। मनोबुद्धिसहितपंचज्ञानेन्द्रियाणां हिताय (जायमानः) प्रादुर्भवन् सन् (अशत्रुभ्यः) शत्रुतारहितेभ्यः। परस्परमित्रभूतेभ्यः (अभवः) (शत्रुः) दुष्टानां शत्रुः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (गूळ्हे) अज्ञानेन गूढे संवृते

पृथिवी) आकाश और भूमि को (अनु) अनुक्रम से (अविन्दः) तू ने पाया है और (विभुमद्भ्यः) महत्त्व वाले (भुवनेभ्यः) लोकों को (रणम्) रमण [आनन्द] (धाः) तू ने दिया है ॥ १० ॥

भावार्थ—राजा प्रबन्ध करे कि सब लोग शरीर और आत्मा से स्वस्थ रहकर आकाश और भूमि के पदार्थों से विज्ञान द्वारा उपकार लेकर सुखी रहें ॥ १० ॥

त्वं ह त्यदप्रतिमानमोजो वज्रेण वज्रिन् धृषितो जघन्थ ।
त्वं शुष्णस्यावातिरो वधत्रैस्त्वं गा इन्द्र शच्येदविन्दः ॥११॥

त्वम् । ह । त्यत् । अप्रति-मानम् । ओजः । वज्रेण । वज्रिन् । धृषितः । जघन्थ ॥ त्वम् । शुष्णस्य । अव । अतिरः । वधत्रैः । त्वम् । गाः । इन्द्र । शच्या । इत् । अविन्दः ॥११॥

भाषार्थ—(वज्रिन्)हे वज्रधारी (इन्द्र) इन्द्र ! [महाप्रतापी राजन्] (धृषितः) निर्भय (त्वम्) तू ने, (त्वम्) तू ने (ह) ही (शुष्णस्य) सुखाने वाले वैरी के (त्यत्) उस (अप्रतिमानम्) अनुपम (ओजः) बल को (वज्रेण) वज्र से और (वधत्रैः) हथियारों से (जघन्थ) नष्ट करदिया है और (अव अतिरः) नीचे किया है, (त्वम्) तू ने (गाः) उस की भूमियों को (शच्या) अपनी बुद्धि से (इत्) ही (अविन्दः) पाया है ॥ ११ ॥

(द्यावापृथिवी) आकाशभूलोकौ । तत्रत्यपदार्थान् (अनु) अनुक्रमेण (अविन्दः) अलभथाः (विभुमद्भ्यः) महत्त्वयुक्तेभ्यः (भुवनेभ्यः) लोकेभ्यः (रणम्) मलोपः । रमणम् । आनन्दम् (धाः) दत्तवानसि ॥

११—(त्वम्) (ह)एव (त्यत्) तत् । प्रसिद्धम् (अप्रतिमानम्) प्रतिमानमुपमा । निरुपमम् (ओजः) बलम् (वज्रेण) आयुधेन (वज्रिन्) हे वज्रवन् (धृषितः) धृष्टः । निर्भयः (जघन्थ) हन्तेर्लिट् । हतवान् नाशितवानसि (त्वम्) (शुष्णस्य) शोषकस्य शत्रोः (अव अतिरः) अवतारितवानसि । नीचैः कृतवानसि (वधत्रैः) अमिनक्षियजिवधि० । उ० ३ । १०५ । वध संयमने—अत्रन्, यद्वा, हन हिंसागत्योः—अत्रन्, वधादेशः । संयमनसाधनैः हननसाधनैर्वा आयुधैः (त्वम्) (गाः) शत्रुभूमीः (इन्द्र) महाप्रतापिन् राजन् (शच्या) स्वप्रज्ञया (इत्) एव (अविन्दः) अलभथाः ॥ ॥

भावार्थ—राजा अपनी बुद्धि के बल से शस्त्र अस्त्र आदि युद्ध सामग्री एकत्र करके शत्रुओं को मारकर प्रजा की रक्षा करे ॥ ११ ॥

तमिन्द्रं वाजयामसि मुहे वृत्राय हन्तवे । स वृषा वृषभो भुवत् ॥ १२ ॥

तम् । इन्द्रम् । वाजयामसि । मुहे । वृत्राय । हन्तवे ॥ सः । वृषा । वृषभः । भुवत् ॥ १२ ॥

भाषार्थ - (तम्) उस (इन्द्रम्) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले राजा] को (महे) बड़े (वृत्राय) रोकने वाले वैरी के (हन्तवे) मारने को (वाजयामसि), हम बलवान् करते हैं [उत्साही बनाते हैं], (सः) वह (वृषा) पराक्रमी (वृषभः) श्रेष्ठ वीर (भुवत्) होवे ॥ १२ ॥

भावार्थ—प्रजागण राजा को शत्रुओं के मारने के लिये सहाय करें और राजा भी प्रजा की भलाई के लिये प्रयत्न करे ॥ १२

मन्त्र १२—१४ आचुके हैं—अथ० २० । ४७ । १—३ ॥

इन्द्रः स दामने कृत ओजिष्ठः स मदे हितः । द्युम्नी श्लोकी स सोम्यः ॥ १३ ॥

इन्द्रः । सः । दामने । कृतः । ओजिष्ठः । सः । मदे । हितः ॥ द्युम्नी । श्लोकी । सः । सोम्यः ॥ १३ ॥

भाषार्थ—(सः) वह (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (दामने) दान करने के लिये और (सः) वह (मदे) आनन्द देने के लिये (ओजिष्ठः) महाबली और (हितः) हितकारी (कृतः) बनाया गया है, (सः) वह (द्युम्नी) अन्न वाला और (श्लोकी) कीर्ति वाला पुरुष (सोम्यः) ऐश्वर्य के योग्य है ॥ १३ ॥

भावार्थ—प्रजागण प्रतापी, गुणी पुरुष को इस लिये राजा बनावें कि वह प्रजा के उपकार के लिये दान करके प्रयत्न करे और अन्न आदि पदार्थ

१२—१४ । एते मन्त्रा व्याख्याताः—अथ० २० । ४७ । १—३ ॥

बढ़ाकर कीर्ति पावे ॥ १३ ॥

गिरा वज्रो न संभृतः सबलो अनपच्युतः। ववक्ष ऋष्वो अस्तृतः ॥ १४ ॥

गिरा। वज्रः। न। सम्-भृतः। स-बलः। अनप-च्युतः ॥ ववक्षे। ऋष्वः। अस्तृतः ॥ १४ ॥

भाषार्थ—(गिरा) वाणी से (संभृतः) पुष्ट किया गया, (सबलः) सबल, (अनपच्युतः) न गिरने योग्य, (ऋष्वः) गति वाला, और (अस्तृतः) बेरोक सेनापति (वज्रः न) बिजुली के समान (ववक्षे) रिस होवे ॥ १४ ॥

भावार्थ—जो मनुष्य अपनी बात में सच्चा महाबली हो, वह सेनानी होकर शत्रुओं पर बिजुली के समान क्रोध करे ॥ १४ ॥

सूक्तम् १३८ ॥

१—३ ॥ इन्द्रो देवता ॥ गायत्री छन्दः ॥

राजप्रजाकर्तव्योपदेशः—राजा और प्रजा के कर्तव्य का उपदेश ॥

मुहाँ इन्द्रो य ओजसा पर्जन्यो वृष्टिमाँ इव। स्तोमैर्वत्सस्य वावृधे ॥ १ ॥

महान्। इन्द्रः। यः। ओजसा। पर्जन्यः। वृष्टिमान्-इव ॥ स्तोमैः। वत्सस्य। ववृधे ॥ १ ॥

भाषार्थ—(यः) जो (महान्) महान [पूजनीय] (इन्द्रः) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाला राजा] (ओजसा) अपने बल से (वृष्टिमान्) मेह वाले (पर्जन्यः इव) बादल के समान है, [वह] (वत्सस्य) शास्त्रों के कहने वाले [आचार्य आदि] के (स्तोमैः) उत्तम गुणों के व्याख्यानों से (ववृधे) बढ़ा है ॥१॥

१—(महान्) पूजनीयः (इन्द्रः) परमैश्वर्यवान् राजा (यः) (ओजसा) बलेन (पर्जन्यः) मेघः (वृष्टिमान्) वृष्ट्या युक्तः (इव) यथा (स्तोमैः) स्तुत्यगुणानां व्याख्यानैः (.वत्सस्य) वृतॄवदिवचिवसि० । उ० ३ । ६२ । वद व्यक्तायां वाचि—सप्रत्ययः । शास्त्राणां कथनशीलस्य (ववृधे) वृद्धिं गतः ॥

भावार्थ—मनुष्य गुरु जनों से शिक्षा पाकर बरसने वाले बादल के समान उपकार करके पूजनीय होवे ॥ १ ॥

यह तृच ऋग्वेद में है—८ । ६ । १—३, सामवेद—उ० ५ । २ । तृच १०; मन्त्र १ यजु० ७ । ४० ॥

प्रजामृतस्य पिप्रतः प्र यद् भरन्त वह्नयः । विप्रा ऋतस्य वाहसा ॥ २ ॥

प्र-जाम् । ऋतस्य । पिप्रतः । प्र । यत् । भरन्त । वह्नयः ॥ विप्राः । ऋतस्य । वाहसा ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋतस्य) सत्य धर्म का (पिप्रतः) पालन करते हुये (वह्नयः) ले चलने वाले [नेता लोग] (प्रजाम्) प्रजा को (यत्) जब (प्र) भल प्रकार (भरन्त) पुष्ट करते हैं, [तब] (विप्राः) बुद्धिमान् लोग (ऋतस्य) सत्य धर्म के (वाहसा) प्राप्त कराने वाले [होते हैं] ॥ २ ॥

भावार्थ—नेता गण सत्यव्रती होकर प्रजा को सुख देकर विद्वानों द्वारा सत्य धर्म का प्रचार करें ॥ २ ॥

कण्वा इन्द्रं यदक्रत स्तोमैर्यज्ञस्य साधनम् । जामि ब्रुवत आयुधम् ॥ ३ ॥

कण्वाः । इन्द्रम् । यत् । अक्रत । स्तोमैः । यज्ञस्य । साधनम् ॥ जामि । ब्रुवते । आयुधम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(कण्वाः) बुद्धिमानों ने (यत्) जब (इन्द्रम्) इन्द्र

२—(प्रजाम्) राज्यजनान् (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (पिप्रतः) पालनं कुर्वन्तः (प्र) प्रकर्षेण (यत्) यदा (भरन्त) भरन्ति । पुष्णन्ति (वह्नयः) वोढारः । नेतारः पुरुषाः (विप्राः) मेधाविनः (ऋतस्य) सत्यधर्मस्य (वाहसा) वहि युभ्यां णित् । उ० ३ । ११९ । वह प्रापणे—असच्, स च णित्, विसर्गलोपः । वाहसाः । वोढारः प्रापयितारः सन्ति ॥

३—(कण्वाः) मेधाविनः—निघ० ३ । १५ (इन्द्रम्) महाप्रतापिनं

[महाप्रतापी मनुष्य] को (स्तोमैः) उत्तम गुणों के व्याख्यानों से (यज्ञस्य) यज्ञ [देव पूजा, संगतिकरण और दान] का (साधनम्) सिद्ध करने वाला (अकृत) बनाया है, [तभी उस को] (आयुधम्) मनुष्यों का पोषण करने वाला (जामि) बन्धु (ब्रुवते) कहते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—बुद्धिमान् लोग प्रतापी गुणी पुरुष को प्रधान बनाकर प्रजा को पालें ॥ ३ ॥

सूक्तम् १२८ ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १, ४ पथ्या बृहती; २ गायत्री; ३ निचृद् गायत्री ५ ककुबुष्णिक् छन्दः ॥

गुरुजनगुणोपदेशः—गुरु जनों के गुणों का उपदेश ॥

आ नूनमश्विना युवं वृत्सस्य गन्तुमवसे ।
प्रास्मै यच्छतमवृकं पृथु च्छर्दिर्युयुतं या अरातयः ॥ १ ॥

आ । नूनम् । अश्विना । युवम् । वृत्सस्य । गन्तम् । अवसे । प्र । अस्मै । यच्छतम् । अवृकम् । पृथु । छर्दिः । युयुतम् । याः । अरातयः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी [चतुर माता पिता, अथवा राजा और मन्त्री] (युवाम्) तुम दोनों (वत्सस्य) निवास करने वाले [प्रजा जन] की (अवसे) रक्षा के लिये (नूनम्) अवश्य (आ गन्तम्)

मनुष्यम् (यत्) यदा (अकृत) करोतेर्लुङि रूपम् । अकुर्वत (स्तोमैः) स्तुत्यगुणानां व्याख्यानैः (यज्ञस्य) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारस्य (साधनम) साधयितारं निष्पादकम् (जामि) वसिवपियमि० — उ० ४ । १२५ । जमु अदने—इञ् । जामिं बन्धुम (ब्रुवते) कथयन्ति (आयुधम्) आयवो मनुष्यनाम—निघ० २ । ३ । मनुष्याणां पोषकम् ॥

१—(आ गन्तम्) आगच्छतम् (नूनम्) अवश्यम् (अश्विना) अथ० २ । २९ । ६ । अश्विनौ.. राजानौ पुण्यकृताविंत्यैतिहासिकाः—निरु० १२ । १ । हे चतुरमातापितरौ राजामात्यौ वा (युवम्) युवाम् (वत्सस्य) अथ० २०।

आओ। और (अस्मै) उस को (अवृकम्) बिना भेड़िये वाला [भेड़िये के समान चोर डाकू के बिना], (पृथु) चौड़ा (छर्दिः) घर (प्र यच्छतम्) दो और (याः) जो (अरातयः) कर न देने वाली प्रजायें हैं, [उन्हें] (युयुतम्) अलग करो ॥ १ ॥

भावार्थ—चतुर माता पिता तथा राजा और मन्त्री सब गुरु जन प्रजा की रक्षा करें और शत्रुओं को हटावें ॥ १ ॥

चार सूक्त १३९—१४२ के २१ मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ९ । १—२१ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ९ । १—५ ॥

यदुन्तरिक्षे यद् दिवि यत् पञ्चु मानुषाँ अनु । नृम्णं तद् धत्तमश्विना ॥ २ ॥

यत् । अन्तरिक्षे । यत् । दिवि । यत् । पञ्च । मानुषान् । अनु ॥ नृम्णम् । तत् । धत्तम् । अश्विना ॥ २ ॥

भाषार्थ—(यत्) जो [धन] (अन्तरिक्षे) आकाश में, (यत्) जो (दिवि) सूर्य आदि के प्रकाश में और (यत्) जो (पञ्च) पांच [पृथिवी आदि पांच तत्त्वों] से संबन्ध वाले (मानुषान् अनु) मनुष्यों में है, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता] (तत्) उस (नृम्णम्) धन को (धत्त) दान करो ॥ २ ॥

---

१३८ । १ । वस निवासे—सप्रत्ययः । निवासशीलस्य प्रजाजनस्य (अवसे) रक्षणाय (प्र यच्छतम्) प्रदत्तम् (अस्मै) प्रजाजनाय (अवृकम्) अथ० ४ । ३ । १ । वृकः हिंस्रजन्तुविशेषः, तद्रहितम् । वृकसमानचोरादिरहितम् (पृथु) विस्तीर्णम् (छर्दिः) गृहम् (युयुतम्) पृथक्कुरुतम् (याः) (अरातयः) अथ० १ । २९ । २ । अदानशीलाः शत्रुभूताः प्रजाः ॥

२—(यत्) धनम् (अन्तरिक्षे) आकाशे (यत्) (दिवि) सूर्यादि-प्रकाशे (यत्) (पञ्च) पृथिव्यादिपञ्चभूतसम्बन्धिनः (मानुषान् अनु) लक्षणे अनोः कर्मप्रवचनीयत्वात् । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । पा० २ । ३ । ८ । इति द्वितीया । मनुष्यान् प्रति (नृम्णम्) धनम् (तत्) तादृशम् (धत्त) दत्त (अश्विना) म० १ । हे चतुरमातापितरौ ॥

भावार्थ—माता पिता आदि गुरु जन प्रबन्ध करें कि सब लोग आपस में खगोल विद्या, सूर्य, बिजुली, अग्नि आदि विद्यायें जानकर धनी होवें ॥ २ ॥

ये वां दंसांस्यश्विना विप्रासः परिमामृशुः । एवेत् काण्वस्य बोधतम् ॥ ३ ॥

ये । वाम् । दंसांसि । अश्विना । विप्रासः । परि-मुमृशुः ॥ एव । इत् । काण्वस्य । बोधतम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता] (वाम्) तुम दोनों के (दंसांसि) कर्मों को (ये) जिन (विप्रासः) बुद्धिमानों ने (परिममृशुः) विचारा है, (एव इत्) वैसे ही [उन के बीच] (काण्वस्य) बुद्धिमान् के किये कर्म का (बोधतम्) तुम दोनों ज्ञान करो ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे विद्वान् लोग माता पिता आदि गुरु जनों को उत्तम प्रकार से विचारें, वैसे ही गुरु जन भी विद्वानों का आदर करें ॥ ३ ॥

अयं वां घर्मो अश्विना स्तोमेन परि षिच्यते । अयं सोमो मधुमान् वाजिनीवसू येन वृत्रं चिकेतथः ॥ ४ ॥

अयम् । वाम् । घर्मः । अश्विना । स्तोमेन । परि । सिच्यते ॥ अयम् । सोमः । मधु-मान् । वाजिनीवसू इति वाजिनी-वसू । येन । वृत्रम् । चिकेतथः ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता, गुरुजनो] (वाम्) तुम दोनों का (अयम्) यह (घर्मः) पसीना (स्तोमेन)

३—(ये) (वाम्) युवयोः (दंसांसि) कर्माणि (अश्विना) म० १ । हे चतुरमातापितरौ । गुरुजनौ (विप्रासः) विप्राः । मेधाविनः (परिमम्रशुः) मृश स्पर्शे प्रणिधाने च—लिट् । विचारितवन्तः (एव) एवम् । तथा (इत्) अवधारणे (काण्वस्य) कण्वेन मेधाविना प्रणीतस्य कर्मणः (बोधतम्) बोधं कुरुतम् ॥

४—(अयम्) शरीरस्थः (वाम्) युवयोः (घर्मः) घर्मग्रीष्मौ० । उ० १ । १४९ । घृ क्षरणदीप्त्योः—मक् । स्वेदः (अश्विना) म० १ । हे चतुर—

स्तुति योग्य कर्म के साथ (परि सिच्यते) सिंचता है [बहता है], (वाजिनीवसू) हे बहुत वेग वाली वा बहुत अन्न वाली क्रियाओं में निवास करने वाले दोनों ! (अयम्) वह [पलीता] (मधुमान्) उत्तम ज्ञान वाला (सोमः) सोम [तत्त्व रस] है, (येन) जिस [तत्त्व रस] से (वृत्रम्) रोकने वाले शत्रु को (चिकेतथः) तुम दोनों जान लेते हो ॥ ४ ॥

भावार्थ—गुरु जन महान् परिश्रम करके मधुविद्या अर्थात् तत्त्वज्ञान को प्राप्त करें और शत्रुओं को मारें ॥ ४ ॥

यद॒प्सु यद्व॒नस्पतौ॒ यदोष॑धीषु पुरुदंससा कृ॒तम्। तेन॑ माविष्टमश्विना ॥ ५ ॥

यत्। अ॒प्-सु। यत्। व॒न॒स्पतौ॑। यत्। ओष॑धीषु। पु॒रु॒-दं॒स॒सा॒। कृ॒तम् ॥ तेन॑। मा॒। अ॒वि॒ष्ट॒म्। अ॒श्वि॒ना॒ ॥ ५ ॥

भाषार्थ—(पुरुदंससा) हे बहुत कर्मों वाले दोनों ! (यत्) जो कुछ (कृतम्) क्रिया फल (अप्सु) जल में है, (यत्) जो (वनस्पतौ) वनस्पति [वृक्षों] में है, और (यत्) जो (ओषधीषु) ओषधियों [जौ चावल आदि] में है, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर माता पिता] (तेन) उस [क्रिया फल] से (मा) मेरी (अविष्टम्) रक्षा करो ॥ ५ ॥

भावार्थ—गुरुजन जिज्ञासुओं को जल आदि सब पदार्थों का तत्त्व ज्ञान कराके क्रियाकुशल बनावें ॥ ५ ॥

मातापितरौ। गुरुजनौ (स्तोमेन) स्तुत्यकर्मणा (परि सिच्यते) आसिच्यते। वहति (अयम्) स घर्मः (सोमः) तत्त्वरसः (मधुमान्) मधुविद्यायुक्तः। श्रेष्ठज्ञानोपेतः (वाजिनीवसू) अथ० १४। २। ५। हे वेगवतीषु अन्नवतीषु वा क्रियासु निवासिनौ (येन) तत्त्वरसेन (वृत्रम्) आवरकं शत्रुम् (चिकेतथः) जानीथः ॥

५—(यत्) (अप्सु) जलेषु (यत्) (वनस्पतौ) जातावेकवचनम्। वनस्पतिषु वृक्षेषु (यत्) (ओषधीषु) यवव्रीह्यादिषु (पुरुदंससा) हे बहुकर्माणौ (कृतम्) क्रियाफलम् (तेन) क्रियाफलेन (मा) माम् (अविष्टम्) अवतेर्लोटि बाहुलकात् सिप्, तत इट्। रक्षतम् (अश्विना) म० १। हे चतुरमातापितरौ ॥

सूक्तम् १४० ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ पथ्या बृहती; २, ३ अनुष्टुप्; ४ विराडनुष्टुप्; ५ भुरिगार्षी पङ्क्तिः ॥

अहोरात्रसुप्रयोगोपदेशः—दिन और राति के उत्तम प्रयोग का उपदेश ॥

यन्नासत्या भुरण्यथो यद् वा देव भिषज्यथः । अयं वां वत्सो मतिभिर्न विन्धते हविष्मन्तं हि गच्छथः ॥ १ ॥

यत् । नासत्या । भुरण्यथः । यत् । वा । देवा । भिषज्यथः ॥ अयम् । वाम् । वत्सः । मति-भिः । न । विन्धते । हविष्मन्तम् । हि । गच्छथः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(नासत्या) हे असत्य न रखने वाले दोनों ! [दिन राति] (यत्) क्योंकि (भुरण्यथः) तुम पोषण करते हो, (वा) और, (देवा) हे व्यवहार कुशल दोनों ! (यत्) क्योंकि (भिषज्यथः) तुम औषध करते हो । (अयम्) यह (वत्सः) बोलने वाला (वाम्) तुम दोनों को (मतिभिः) अपनी बुद्धियों से (न) नहीं (विन्धते) पाता है, (हविष्मन्तम्) भक्ति रखने वाले को (हि) ही (गच्छथः) तुम दोनों मिलते हो ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिन राति का सुन्दर प्रयोग करके पुष्ट, स्वस्थ,

१—(यत्) यतः (नासत्या) नास्ति असत्यं ययोस्तौ । नभ्राण्नपान्नवेदानासत्या० । पा० ६ । ३ । ७५ । इति नञः प्रकृतिभावः । विभक्तेराकारः । नासत्यौ चाश्विनौ, सत्यावेव नासत्यावित्यौर्णवाभः, सत्यस्य प्रणेतारावित्याग्रायणः, नासिकाप्रभवौ बभूवतुरिति वा । निरु० ६ । १३ । नासिकाप्रभवौ प्राणापानावित्यर्थः । हे असत्यरहितौ । सदा सत्यस्वभावौ । अश्विनौ (भुरण्यथः) भुरण धारणपोषणयोः कण्ड्वादिः । सर्वं पोषयथः (यत्) (वा) च (देवा) छान्दसः सांहितिको ह्रस्वः । व्यवहारकुशलौ (भिषज्यथः) भिषज चिकित्सायां कण्ड्वादिः । भैषज्यं कुरुथः (अयम्) (वाम्) युवाम् (वत्सः) अथ० २० । १३८ । १ । वदेतेः—सप्रत्ययः । कथयिता (मतिभिः) बुद्धिभिः (न) निषेधे (विन्धते) दस्य धः । विन्दते लभते (हविष्मन्तम्) भक्तिमन्तम् (हि) एव (गच्छथः) प्राप्नुथः ॥

विद्वान् होकर आनन्द पावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ६ । ६—१० ॥

आ नूनम॒श्विनो॒र्ऋषि॒ स्तोमं॑ चिकेत वा॒मया॑ ।
आ सोमं॒ मधु॑मत्तमं घ॒र्मं सि॑ञ्चा॒दथ॑र्वणि ॥ २ ॥

आ । नू॒नम् । अ॒श्विनोः॑ । ऋषिः॑ । स्तोम॑म् । चि॒केत॒ । वा॒मया॑ ॥ आ । सोम॑म् । मधु॑मत्-तमम् । घ॒र्मम् । सि॒ञ्चा॒त् । अथ॑र्वणि ॥ २ ॥

भाषार्थ—(ऋषिः) ऋषि [विज्ञानी पुरुष] (अश्विनोः) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] के (स्तोमम्) स्तुति योग्य कर्म को (वामया) उत्तम बुद्धि से (नूनम्) अवश्य (आ) सब ओर से (चिकेत) जाने। और (मधु-मत्तमम)अत्यन्त ज्ञान वाले और(घर्मम्)प्रकाश वाले(सोमम्)सोम [तत्त्व रस] को (अथर्वणि) निश्चल [जिज्ञासु] पर (आ) भले प्रकार (सिञ्चात्) सींचे ॥ २॥

भावार्थ—विज्ञानी पुरुष काल की महिमा जानकर जिज्ञासुओं को तत्त्व ज्ञान का उपदेश करे ॥ २ ॥

आ नूनं र॒घुव॑र्तनिं॒ रथं॑ तिष्ठाथो अश्विना ।
आ वां॒ स्तोमा॑ इ॒मे मम॒ नभो॒ न चु॑च्यवीरत ॥ ३ ॥

आ । नू॒नम् । र॒घु-व॑र्तनिम् । रथ॑म् । ति॒ष्ठा॒थः॒ । अ॒श्वि॒ना॒ ॥ आ । वा॒म् । स्तोमाः॑ । इ॒मे । मम॑ । नभः॑ । न । चु॒च्य॒वी॒र॒त॒ ३

२—(आ) समन्तात् (नूनम्) अवश्यम् (अश्विनोः) अथ० २ । २६ । ६ । अश्विनौ 'अहोरात्रावित्येके—निरु० १२ । १ । व्यापकयोः । अहोरात्रयोः (ऋषिः) विज्ञानी पुरुषः (स्तोमम्) स्तुत्यव्यवहारम् (चिकेत) कित ज्ञाने-लिट्—जानीयात् (वामया) वामः प्रशस्य.—निघ० ३ । ८ । उत्कृष्टया बुद्ध्या (आ) (सोमम्) तत्त्वरसम् (मधुमत्तमम्) अतिशयेन मधु ज्ञानयुक्तम् (घर्मम्) अ० २० । १३६ । ४ । घृ दीप्तौ—मक् । दीप्यमानम् (सिञ्चात्) सिञ्चेत् (अथर्वणि) अथ० ४ । १ । ७ । अ+थर्व चरणे-वनिप्, वलोपः । निश्चले जिज्ञासौ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति] (रघुवर्तनिम्) हलके घूमने वाले [अति शीघ्रगामी] (रथम्) रथ पर (नूनम्) अवश्य (आ तिष्ठाथः) तुम चढ़ते हो, (मम) मेरे (इमे) यह (स्तोमाः) स्तुति के वचन (वाम्) तुम दोनों को (नभः न) मेघ के समान [शीघ्र] (आ) सब ओर से (चुच्यवीरत) [हमें] प्राप्त कराते हैं ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे पवन से बादल आकाश में दौड़ता है; उससे भी अधिक शीघ्रगामी काल को वश में लाकर बुद्धिमान् आनन्द पाते हैं ॥ ३ ॥

यदुद्य वां नासत्योक्थैराचुच्युवीमहि ।

यद् वा वाणीभिरश्विनेवेत् काण्वस्यं बोधतम् ॥ ४ ॥

यत् । अद्य । वाम् । नासत्या । उक्थैः । आ-चुच्युवीमहि ॥

यत् । वा । वाणीभिः । अश्विना । एव । इत् । काण्वस्यं । बोधतम् ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले दोनों ! [दिन राति] (अद्य) आज (यत्] जैसे (उक्थैः) कहने योग्य शास्त्रों से, (वा) अथवा (यत्) जैसे (वाणीभिः) अपनी वाणियों से (वाम्) तुम दोनों को (आचुच्युवीमहि) हम लावें, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति] (एव इत्) वैसे ही (काण्वस्य) बुद्धिमान् के किये कर्म का (बोधतम्) तुम दोनों ज्ञानकरो ४

३—(आ तिष्ठाथः) अधितिष्ठथः (नूनम्) अवश्यम् (रघुवर्तनिम्) वृतेश्च । उ० २ । १०६ । लघु + वृतु वर्तने—अनि, लस्य रः । लघुवर्तनोपेतम् । अतिशीघ्रगामिनम् (रथम्) यानम् (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (आ) समन्तात् (वाम्) युवाम् (स्तोमाः) स्तुतिवचनानि (इमे) (मम) (नभः) मेघः (न) यथा (चुच्यवीरत) अन्तर्गतण्यर्थः । च्यवयन्ति गमयन्ति ॥

४—(यत्) यथा (अद्य) अस्मिन् दिने (वाम्) युवाम् (नासत्या) म० १ । हे सदा सत्यस्वभावौ (उक्थैः) कथनीयशास्त्रैः (आचुच्युवीमहि) आगमयेम (यत्)-यथा (वा) अथवा (वाणीभिः) वाग्भिः (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ । अन्यद् गतम्—१३९ । ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य शीघ्र शास्त्रों में प्रवीण होकर अपने वचन के पक्के होवें और प्राप्त अवसर का यथावत् प्रयोग करें ॥ ४ ॥

यद्वां क्क्षीवाँ उत यद्व्यंश्व ऋषिर्यद्वां दीर्घतमा जुहाव । पृथी यद्वां वैन्यः सादनेष्वेवेदतौ अश्विना चेतयेथाम् ॥ ५ ॥

यत् । वाम् । कक्षीवान् । उत । यत् । वि-अश्वः । ऋषिः । यत् । वाम् । दीर्घ-तमाः । जुहाव ॥ पृथी । यत् । वाम् । वैन्यः । सदनेषु । एव । इत् । अतः । अश्विना । चेतयेथाम् ॥

भावार्थ—(यत्) जैसे (वाम्) तुम दोनों को (कक्षीवान्) गति वाले [वा शासन वाले] पुरुष ने, (उत) और (यत्) जैसे (व्यश्वः) विविध वेग वाले ने और (यत्) जैसे (वाम्) तुम दोनों को (दीर्घतमाः) दीर्घतमा [लंबा हो गया है, चला गया है अन्धकार जिस से ऐसे] (ऋषिः) ऋषि [विज्ञानी] ने, (यत्) जैसे (वाम्) तुम दोनों को (वैन्यः) बुद्धिमानों के पास रहने वाले (पृथी) विस्तार वाले पुरुष ने (सदनेषु) अपने स्थानों में (जुहाव) ग्रहण किया है, (अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति](एव इत्) वैसे ही (अतः) इस [मेरे वचन] को (चेतयेथाम्) जानो ॥ ५ ॥

५—(यत्) यथा (वाम्) युवाम् (कक्षीवान्) अथ० । ४ । २६ । ५ । कश गतिशासनयोः—क्सि, मतुप्, मस्य व., दीर्घश्च । गतिशीलः शासनशीलो वा (उत) अपि च (यत्) यथा (व्यश्वः) वि + अशू व्याप्तौ—क्वन् । विविधवेगयुक्तः (ऋषिः) विज्ञानी (यत्) (वाम्) दीर्घतमाः) दृ विदारणे—घञ् + तमु काङ्क्षायां खेदे च—असुन् दीर्घं विदीर्णं दूरीभूतं तमः अन्धकारो यस्मात् स विद्वान् (जुहाव) हु आदाने—लिट् । गृहीतवान् । स्वीकृतवान् (पृथी) अ० ८ । १० (४) । ११ । प्रथ विस्तारे—घञर्थे कप्रत्ययः सम्प्रसारणं च, मत्वर्थे इनि । विस्तारवान् (यत्) (वाम्) (वैन्यः) अथ० ८ । १० (४) । ११ । वेनो मेधावी-निघ० २ । १५ । अदूरभवश्च । पा० ४ । २ । ७० । इति ण्य । मेधाविनां समीपस्थः (सदनेषु) संहितायां दीर्घः । स्थानेषु (एव) एवम् । तथा (इत्) अवश्यम् (अतः) इदम्—द्वितीयार्थे तसिः । इदं वचनम् (अश्विना) म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (चेतयेथाम्) जानीतम् ॥

भावार्थ—जैसे जैसे मनुष्य दिन राति का सुप्रयोग करते हैं, वैसे ही दिन राति उनको सुख देते हैं ॥ ५ ॥

सूक्तम् १४१ ॥

१—५ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ त्रिपाद् विराड् गायत्री; २ जगती; ३ निचृद् त्रुष्टुप्; ४ निचृद् बृहती; ५ निचृत् पथ्या बृहती ॥

अहोरात्रसुप्रयोगोपदेशः—दिन और राति के उत्तम प्रयोग का उपदेश ॥

यातं छर्दिष्पा उत नः परस्पा भूतं जगत्पा उत नस्तनूपा ।
वर्तिस्तोकाय तनयाय यातम् ॥ १ ॥

यातम् । छर्दिः-पौ । उत । नः । परः-पा । भूतम् । जगत्-पौ । उत । नः । तनू-पा ॥ वर्तिः । तोकाय । तनयाय । यातम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—[हे दिन राति दोनों !] (छर्दिष्पौ) घर के रक्षक होकर (यातम्) आओ, (उत) और (नः) हमारे बीच (परस्पा), पालनीयों के पालक, (जगत्पा) जगत् के रक्षक (उत) और (नः) हमारे (तनूपा) शरीरों के बचाने वाले (भूतम्) होओ, और (तोकाय) सन्तान और (तनयाय) पुत्र के हित के लिये (वर्तिः) [हमारे] घर (यातम्) आओ ॥ १ ॥

भावार्थ—सब मनुष्य घर आदि स्थानों में दिन रात का सुप्रयोग करके अपने बालक आदि को सुमार्ग में चलावें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ९ । ११—१५ ॥

यदिन्द्रेण सुरथं याथो अश्विना यद् वा वायुना भवथः

१—(यातम्) आगच्छतम् (छर्दिष्पौ) गृहपालकौ (उत) अपि च (नः) अस्माकं मध्ये (परस्पा) पॄ पालनपूरणयोः—असुन् । परसां पालनीयानां पालकौ (भूतम्) भवतम् (जगत्पा) जगतः संसारस्य रक्षकौ (उत) (नः) अस्माकम् (तनूपा) शरीराणां पालकौ (वर्तिः) अर्चिशुचिहु० । उ० २ । १०८ । वृतु वर्तने—इसि । छर्दिः । गृहम् (तोकाय) सन्तानहिताय (तनयाय) पुत्रहिताय (यातम्) आगच्छतम् ॥

समोकसा । यदादित्येभिर्ऋभुभिः सजोषसा यद् वा विष्णोर्विक्रमणेषु तिष्ठथः ॥ २ ॥

यत् । इन्द्रेण । स-रथम् । याथः । अश्विना । यत् । वा । वायुना । भवथः । सम्-ओकसा ॥ यत् । आदित्येभिः । ऋभु-भिः । स-जोषसा । यत् । वा । विष्णोः । वि-क्रमणेषु । तिष्ठथः ॥२॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन राति] (यत्) चाहे (इन्द्रेण) इन्द्र [बड़े ऐश्वर्य वाले सूर्य] के साथ (सरथम्) एक रथ में चढ़कर (याथः) तुम चलते हो, (वा) अथवा (यत्)चाहे (वायुना) पवन के साथ (समोकसा) एक घर वाले (भवथः) होते हो । (यत्) चाहे (आदित्येभिः) अखण्ड व्रतधारी (ऋभुभिः) बुद्धिमानों के साथ (सजोषसा) एक सी प्रीति करते हुये, (वा) अथवा (यत्) चाहे (विष्णोः) सर्वव्यापक परमात्मा के (विक्रमणेषु) पराक्रमों में (तिष्ठतः) ठहरते हो [वहां से दोनों आओ—म० १] ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्यों को चाहिये कि सर्वत्र व्यापी दिन राति अर्थात् काल को सूर्य विद्या, वायु विद्या, विद्वानों के सत्संग और परमेश्वर की भक्ति आदि में लगाकर अपना पुरुषार्थ बढ़ावें ॥ २ ॥

यदद्याश्विनावहं हुवेय वाजसातये ।
यत् पृत्सु तुर्वणे सहस्तच्छ्रेष्ठमश्विनोरवः ॥ ३ ॥

२—(यत्) यदि । सम्भावनायाम् (इन्द्रेण) परमैश्वर्यवता सूर्येण सह (सरथम्) समानमेकं रथमास्थाय (याथः) गच्छथः (अश्विना) सू० १४० । म० २ । हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (यत्) यदि (वा) अथवा (वायुना) पवनेन (भवथः) (समोकसा) समानगृहौ (यत्) (आदित्येभिः) अखण्डव्रतिभिः (ऋभुभिः) अथ० १ । २ । ३ । मेधाविभिः—निघ० ३ । १५ (सजोषसा) समानप्रीयमाणौ (यत्) (वा) (विष्णोः) सर्वव्यापकस्य परमेश्वरस्य (विक्रमणेषु) शौर्यातिशयेषु । पराक्रमेषु (तिष्ठथः) वर्तेथे । सर्वस्मादपि स्थानादागच्छतम्—इति पूर्वमन्त्रेण सह अन्वयः ॥

यत् । अद्य । अश्विनौ । अहम् । हुवेयं । वाज-सातये ॥
यत् । पृत्-सु । तुर्वणे । सहः । तत् । श्रेष्ठम् । अश्विनोः ।
अवः ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (अद्य) (अश्विनौ) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] को (वाजसातये) विज्ञान के लाभ के लिये (अहम्) मैं (हुवेय) बुलाऊं। और (पृत्सु) संग्रामों के बीच (तुर्वणे) शत्रुओं के मारने में (यत्) जो (सहः) बल है, (तत्) वह (अश्विनोः) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] की (श्रेष्ठम्) अति उत्तम (अवः) रक्षा [होवे] ॥ ३ ॥

भावार्थ—मनुष्य सदा विज्ञान के साथ अपना सामर्थ्य बढ़ावें, और शत्रुओं को मारकर सुखी होवें ॥ ३ ॥

आ नूनं यातमश्विनेमा हव्यानि वां हिता ।
इमे सोमासो अधि तुर्वशे यदाविमे कण्वेषु वामथ ॥ ४ ॥

आ । नूनम् । यातम् । अश्विना । इमा । हव्यानि । वाम् ।
हिता ॥ इमे । सोमासः । अधि । तुर्वशे । यदौ । इमे ।
कण्वेषु । वाम् । अथ ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [व्यापक दिन रात] (नूनम्) अवश्य (आ यातम्) आओ, (इमा) यह (हव्यानि) ग्राह्य द्रव्य (वाम्) तुम दोनों के लिये (हिता) रक्खे हैं। (इमे) यह (सोमासः) सोम रस

३—(यत्) यदा (अद्य) अस्मिन् दिने (अश्विनौ) म० २। व्यापकौ। अहोरात्रौ (अहम्) (हुवेय) आह्वयेय (वाजसातये) विज्ञानस्य लाभाय (यत्) (पृत्सु) संग्रामेषु (तुर्वणे) कॄपॄवृजि०। उ०। २। ८१। तर्वी हिंसायाम्—क्यु। शत्रूणां नाशने (सहः) अभिभवितृ बलम् (तत्) (श्रेष्ठम्) प्रशस्यतमम् (अश्विनोः) अहोरात्रयोः (अवः) रक्षणं भवतु ॥

४—(आ यातम्) आगच्छतम् (नूनम्) अवश्यम् (अश्विना) म० २। हे व्यापकौ। अहोरात्रौ (इमा) पुरोवर्तीनि (हव्यानि) ग्राह्यवस्तूनि (वाम्) युवाभ्याम् (हिता) धृतानि (इमे) दृश्यमानाः (सोमासः) तत्त्वरसाः

[तत्त्व रत्न] (तुर्वशे) हिंसकों को वश में करने वाले, (यदौ) यत्नशील मनुष्य में (अथ) और (इमे) यह [तत्त्व रत्न] (कण्वेषु) बुद्धिमानों में (वाम्) तुम दोनों के (अधि) अधिकाई से हैं ॥ ४ ॥

भावार्थ—समय के सुप्रयोग से विद्वान् प्रयत्न करने वालों को उत्तम उत्तम पदार्थ मिलते हैं और सदा मिलते रहेंगे ॥ ४ ॥

यन्नासत्या पराके अर्वाके अस्ति भेषजम् ।
तेन नूनं विमदाय प्रचेतसा छर्दिर्वत्साय यच्छतम् ॥ ५ ॥

यत् । नासत्या । पराके । अर्वाके । अस्ति । भेषजम् ॥ तेन । नूनम् । वि-मदाय । प्र-चेतसा । छर्दिः । वत्साय । यच्छतम् ॥ ५

भाषार्थ—(नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले दोनों ! [दिन राति] (यत्) जो (भेषजम्) औषध (पराके) दूर में और (अर्वाके) समीप में (अस्ति) है । (प्रचेतसा) हे उत्तम ज्ञान कराने वाले दोनों (तेन) उस [औषध] के साथ (नूनम्) अवश्य करके (विमदाय) निरहङ्कारी [वा अदीन] (वत्साय) शास्त्रों के कहने वाले पुरुष को (छर्दिः) घर (यच्छतम्) दान करो ॥ ५ ॥

(अधि) आधिक्येन (तुर्वशे) अ० २० । ३७ । ८ । नरां हिंसकानां वशयितरि (यदौ) यती प्रयत्ने—उप्रत्ययः, तकारस्य दः । प्रयत्नशीले (इमे) (कण्वेषु) मेधाविषु (वाम्) युवयोः (अथ) अपि च ॥

५—(यत्) (नासत्या) सू० १४० । १ । हे सदा सत्यस्वभावौ (पराके) पिनाकादयश्च । उ० ४ । १५ । परा + क्रमु पादविक्षेपे—आकप्रत्ययः, धातुलोपः । पराके दूरनाम—निघ० ३ । २६ । पराके पराक्रान्ते—निरु० ५ । ६ । दूरदेशे (अर्वाके) बलाकादयश्च । उ० ४ । १४ । अर्वाक् + क्रमु पादविक्षेपे—आकप्रत्ययः, धातुलोपः । अर्वाके अन्तिकनाम—निघ० ३ । १६ । समीपे (अस्ति) (भेषजम्) औषधम् (तेन) भेषजेन सह (नूनम्) अवश्यम् (विमदाय) अ० ४ । २९ । ४ । निरहंकाराय । अदीनाय (प्रचेतसा) प्रकृष्टज्ञान याभ्यां तौ । हे प्रकृष्टज्ञानकारकौ (छर्दिः) गृहम् (वत्साय) सू० १२८ । १ । शास्त्राणां कथनशीलाय (यच्छतम्) दत्तम् ॥

भावार्थ—मनुष्य घर और बाहिर समय को उत्तम रीति से काम में लगाकर सुन्दर घरों में स्वस्थ रहें ॥ ५ ॥

सूक्तम् १४२ ॥

१—६ ॥ अश्विनौ देवते ॥ १ आर्ष्यनुष्टुप्; २, ४ अनुष्टुप्; ३ विराडार्ष्यनुष्टुप्; ५ गायत्री; ६ निचृद् गायत्री ॥

अहोरात्रसुप्रयोगोपदेशः—दिन और रात्रि के उत्तम प्रयोग का उपदेश ॥

अभुत्स्यु प्र देव्या साकं वाचाहमश्विनोः ।
व्यावर्देव्या मतिं वि रातिं मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

अभुत्सि । ऊं इति । प्र । देव्या । साकम् । वाचा । अहम् । अश्विनोः ॥ वि । आवः । देवि । आ । मतिम् । वि । रातिम् । मर्त्येभ्यः ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अहम्) मैं (देव्या, उत्तम गुण वाली (वाचा साकम्) वाणी के साथ (अश्विनोः) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] के बीच (उ) अवश्य (प्र अभुत्सि) जागा हूं। (देवि, हे देवी ! [प्रकाशमान उषा—म० २] तू ने (आ) आकर (मर्त्येभ्यः) मनुष्यों के लिये (मतिम्) बुद्धि और (रातिम्) धन को (वि) विशेष करके (वि आवः, खोल दिया है ॥ १ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रभात समय उठकर दिन राति विद्या और धन को प्राप्त करें ॥ १ ॥

यह सूक्त ऋग्वेद में है—८ । ६ । १६—२१ ॥

प्र बोधयोषो अश्विना प्र देवि सूनृते महि ।
प्र यज्ञहोतरानुषक् प्र मदाय श्रवो बृहत् ॥ २ ॥

१—(प्र अभुत्सि) बुध अवगमने—लुङ् । प्रबुद्धोऽस्मि (उ) अवश्यम् (देव्या) उत्तमगुणवत्या (साकम्) सह (वाचा) वाण्या (अहम्)(अश्विनोः) सू० १४० । म० २ । व्यापकयोः । अहोरात्रमध्ये (वि आवः) वृणोतेर्लुङ् । त्वं विवृतां विस्तृतां कृतवती (देवि) हे द्योतमाने उषः—म० २ । (आ) आगत्य (मतिम्) बुद्धिम् (वि) विशेषेण (रातिम्)धनम् (मर्त्येभ्यः) मनुष्याणां हिताय ॥

प्र । बोधय । उषः । अश्विना । प्र । देवि । सूनृते । महि ॥
प्र । यज्ञ-होतः । आनुषक् । प्र । मदाय । श्रवः । बृहत् ॥२॥

भाषार्थ - (उषः) हे उषा ! [प्रभात वेला] (अश्विना) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] को (प्र बोधय) जगादे, (देवि) हे देवी ! [व्यवहार कुशल] (सूनृते) हे अन्न वाली ! (महि) हे पूजनीया ! [उषा] (प्र=प्र बोधय) जगादे । (यज्ञहोतः) हे उत्तम सगति देने वाले ! [विद्वान्] (आनुषक्) लगातार (प्र) जगादे, (बृहत्) बडे (श्रवः) यश के लिये और (मदाय) आनन्द के लिये (प्र) जगादे ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य प्रातःकाल उठकर सदा अन्न आदि धन, कीर्ति और आनन्द के लिये प्रयत्न करें ॥ २ ॥

यदुषो यासि भानुना सं सूर्येण रोचसे ।
आ हायमश्विनो रथो वर्तिर्याति नृपाय्यम् ॥ ३ ॥

यत् । उषः । यासि । भानुना । सम् । सूर्येण । रोचसे ॥ आ ।
ह । अयम् । अश्विनोः । रथः । वर्तिः । याति । नृ-पाय्यम् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(उषः) हे उषा ! [प्रभात वेला] (यत्) जब तू (भानुना) प्रकाश के साथ (यासि) चलती है, [तब] तू (सूर्येण) सूर्य के साथ (सम्) ठीक प्रकार से (रोचसे) चमकती है [प्रिय लगती है । [तभी] (अश्विनोः)

२—(प्र बोधय) जागरय (उषः) हे प्रभातवेले (अश्विना) व्यापकौ । अहोरात्रौ (प्र) प्र बोधय (देवि) हे व्यवहारकुशले (सूनृते) अथ० ३ । १२ । २ । सूनृता अन्ननाम—निघ० २ । ७, अर्शआद्यच् . टाप् । हे अन्नवति (महि) हे महति (प्र) प्र बोधय (यज्ञहोतः) हे उत्तमसंगतिदातः । विद्वन् (आनुषक्) अथ० ४ । ३९ । १ । अनुषक्त निरन्तरम् (प्र) प्र बोधय (मदाय) हर्षाय (श्रवः) विभक्तेर्लुक् । श्रवसे । यशसे (बृहत्) बृहते । महते ॥

३—(यत्) यदा (उषः) हे प्रभातवेले (यासि) गच्छसि (भानुना) दीप्त्या सह (सम्) सम्यक् (सूर्येण) (रोचसे) रोचसे । प्रिया भवसि (आ याति) आगच्छति (ह) अपि (अयम्) दृश्यमानः (अश्विनोः) व्यापकयोः । अहो-

दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] का (अयम्) यह (रथः) रथ (इ) भी (नृपाय्यम्) नरों [नेताओं) से पालने योग्य (वर्तिः) घर पर (आ याति) आता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—जैसे उषा सूर्य के साथ सदा शोभायमान होती है, वैसे ही मनुष्य ज्ञान के साथ शोभा बढ़ाकर दिन राति को सफल करें ॥ ३ ॥

यदापीतासो अंशवो गावो न दुह्र ऊधभिः ।
यद्वा वाणीरनूषत प्र देवयन्तो अश्विना ॥ ४ ॥

यत् । आ-पीतासः । अंशवः । गावः । न । दुह्रे । ऊधः-भिः ॥
यत् । वा । वाणीः । अनूषत । प्र । देव-यन्तः । अश्विना ॥४

प्र द्युम्नाय प्र शवसे प्र नृषाह्याय शर्मणे । प्र दक्षाय प्रचेतसा ॥ ५ ॥

प्र । द्युम्नाय । प्र । शवसे । प्र । नृ-सह्याय । शर्मणे ॥
प्र । दक्षाय । प्र-चेतसा ॥ ५ ॥

यन्नूनं धीभिरश्विना पितुर्योना निषीदथः । यद्वा सुम्नेभिरुक्थ्या ॥ ६ ॥

यत् । नूनम् । धीभिः । अश्विना । पितुः । योना । नि-सीदथः ॥ यत् । वा । सुम्नेभिः । उक्थ्या ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(यत्) जब (आपीतासः) अच्छे प्रकार पीये हुये (अंशवः) बटे हुये सोम रस [तत्त्व रस] (दुह्रे) दुहे जाते हैं, (गावः न) जैसे गौयें

रात्र्योः (रथः) (वर्तिः) सू० १४१ । १ । गृहम् (नृपाय्यम्) श्रुदक्षिस्पृहि० । उ० ३ । ६६ । पा रक्षणे—आय्य । नृभिर्नेतृभिः पातव्यं पालनीयम् ॥ ३ ॥

४—(यत्) यदा (आपीतासः) समन्तात् कृतपानाः (अंशवः) अंश विभाजने—कु । विभक्ताः सोमाः । तत्त्वरसाः (गावः) धेनवः (न) यथा (दुह्रे)

(ऊधभिः) लेवाओं [अयनों, थनों के स्थानों] से [दूध दुहती हैं] । (वा) और (यत्) जब (देवयन्तः) दिव्य गुण चाहने वाले लोग (वाणीः) वाणियों से (अश्विना) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] को (प्र) अच्छे प्रकार (अनूषत) सराहते हैं ॥ ४ ॥

[तब] (प्रचेतसा) हे उत्तम ज्ञान देने वाले ! तुम दोनों (द्युम्नाय) चमकते हुये यश के लिये (प्र = प्रभवथः) समर्थ होते हो, (शवसे) बल के लिये (प्र) समर्थ होते हो, (नृषह्याय) मनुष्यों को सहाय देने वाले (शर्मणे) शरण [घर आदि] के लिये (प्र) समर्थ होते हो, और (दक्षाय) चतुराई [कार्य कुशलता] के लिये (प्र) समर्थ होते हो ॥ ५ ॥

(यत्) क्योंकि (नूनम्) अवश्य, (उक्थ्या) हे बड़ाई योग्य (अश्विना) दोनों अश्वी [व्यापक दिन राति] (धीभिः) कर्मों के साथ, (वा) और (यत्) क्योंकि (सुम्नेभिः) अनेक सुखों के साथ (पितुः) पालन करने पुरुष के (योना) घर में (निषीदथः) दोनों बैठते हो ॥ ६ ॥

भावार्थ—मनुष्य दिन राति तत्त्व का ग्रहण करके यशस्वी, बलवान् और कार्य कुशल होवें ॥ ४—६ ॥

अथ० १० । १० । ३२ । प्रपूर्यन्ते (ऊधभिः) आपीनैः । क्षीराधारैः (यत्) यदा (वा) समुच्चये (वाणीः) वाणीभिः (अनूषत) णू स्तवने, लडर्थे लुङ् । नुवन्ति । स्तुवन्ति (प्र) प्रकर्षेण (देवयन्तः) देवान् दिव्यगुणान् कामयमानाः पुरुषाः (अश्विना) व्यापकौ । अहोरात्रौ ॥

५—(प्र) प्रभवथः । समर्थौ भवथः (द्युम्नाय) द्योतमानाय यशसे (प्र) प्रभवथः (शवसे) बलाय (प्र) प्रभवथः (नृषह्याय) शकिसहोश्च । पा० ३ । १ । ९९ । यह दमायां—यत्, संहितायां दीर्घः । नृणां सहायाय (शर्मणे) गृहाय । शरणाय (प्र) प्रभवथः (दक्षाय) दक्षत्वाय । कार्यकुशलत्वाय (प्रचेतसा) हे प्रकृष्टज्ञानप्रदौ ॥

६—(यत्) यतः (नूनम्) अवश्यम् (धीभिः) कर्मभिः—निघ० २ । १ । (अश्विना) हे व्यापकौ । अहोरात्रौ (पितुः) पालनकर्तुः पुरुषस्य (योना) योनौ । गृहे (निषीदथः) उपविशथः । निषसथः (यत्) यतः (वा) समुच्चये (सुम्नेभिः) सुम्नैः । अनेकसुखैः (उक्थ्या) हे उक्थ्यौ । प्रशस्यौ ॥

सूक्तम् १४३ ॥

१—९ ॥ १—७,९ आश्विनौ देवते; ८ क्षेत्रपतिर्देवता ॥ १, ३, ६—९ निचृत् त्रिष्टुप्; २ त्रिष्टुप्; ४ भुरिक् पङ्क्तिः; ५ विराट् त्रिष्टुप् ॥

१—७, ९ राजामात्यकृत्योपदेशः; म० ८ कृषिकर्मोपदेशः—१—७, ९ राजा और मन्त्री के कर्तव्य का उपदेश; म० ८ खेती के काम का उपदेश ॥

तं वां रथं वयमद्या हुवेम पृथुज्रयमश्विना संगतिं गोः ।
यः सूर्यां वहति वन्धुरायुर्गिर्वाहसं पुरुतमं वसूयुम् ॥ १ ॥

तम् । वाम् । रथम् । वयम् । अद्य । हुवेम । पृथु-ज्रयम् । अश्विना । सम्-गतिम् । गोः ॥ यः । सूर्याम् । वहति । वन्धुर-युः । गिर्वाहसम् । पुरु-तमम् । वसु-युम् ॥ १ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (वयम्) हम (अद्य) आज (वाम्) तुम दोनों के (पृथुज्रयम्) बड़ी गति वाले, (गोः) पृथिवी की (संगतिम्) संगति करने वाले, (गिर्वाहसम्) विज्ञान से चलने वाले, (पुरुतमम्) अत्यन्त बड़े, (वसुयुम्) बहुत धन वाले (तम्) उस (रथम्) रमणीय रथ को (हुवेम) ग्रहण करें, (यः) जो (वन्धुरयुः) यन्त्रों के बन्धनों वाला [रथ] (सूर्याम्) सूर्य की धूप को (वहति) प्राप्त होता है [रखता है] ॥ १ ॥

१—(तम्) (वाम्) युवयोः (रथम्) रमणीयं यानम् (वयम्) (अद्य) संहितायां दीर्घः । अस्मिन् दिने (हुवेम) आदद्याम (पृथुज्रयम्) ज्रयतिर्गतिकर्मा—निघ० २ । १४, ततः—अच् । बहुगतियुक्तम् (अश्विना) अथ० २ । २९ । ६ । अश्विना" राजानौ पुण्यकृतावित्यैतिहासिकाः—निरु० १२ । १ । हे चतुर-राजामात्यौ (संगतिम्) गमेः-क्तिन् । संगन्तारम् (गोः) पृथिव्याः (यः) रथः (सूर्याम्) सूर्यस्य कान्तिम् । भानुतापम् (वहति) प्राप्नोति । धारयति (वन्धुरयुः) मद्गुरादयश्च । उ० १ । ४१ । बन्ध बन्धने—उरच्+युजिर् योगे—डु । यन्त्राणां बन्धनयुक्तः (गिर्वाहसम्) अथ० २० । ३५ । ४ । गॄ विज्ञापने विज्ञाने शब्दे च—क्विप्+वह प्रापणे—असुन् । विज्ञानेन गतिशीलम् (पुरुतमम्) अतिशयेन विशालम् (वसुयुम्) छान्दसो दीर्घः । बहुधनयुक्तम् ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री विज्ञानियों से ऐसे रथ यान विमान आदि बनवावें जो भानुताप [सूर्य की धूप] आदि से चलें ॥ १ ॥

मन्त्र १—७ ऋग्वेद में हैं—४ । ४४ । १—७ ॥

युवं श्रियंमश्विना देवता तां दिवो नपाता वनथः शचीभिः ।
युवोर्वपुंरभि पृक्षः सचन्ते वहंन्ति यत् ककुहासो रथे वाम् २॥

युवम् । श्रियम् । अश्विना । देवता । ताम् । दिवः । नपाता । वनथः । शचीभिः ॥ युवोः । वपुः । अभि । पृक्षः । सचन्ते । वहन्ति । यत् । ककुहासः । रथे । वाम् ॥ २ ॥

भाषार्थ—(दिवः) हे व्यवहार के (नपाता) न गिराने वाले (अश्विना) दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (देवता) दिव्य गुण वाले (युवम्) तुम दोनों (शचीभिः) बुद्धियों से (ताम्) उस (श्रियम्) लक्ष्मी का (वनुथः) सेवन करते हो, (यत्) जिस [लक्ष्मी] के लिये (पृक्षः) अनेक अन्न (युवोः) तुम दोनों के (वपुः) शरीर को (अभि) सब ओर से (सचन्ते) सींचते हैं और [जिस के लिये] (ककुहासः) बड़े विद्वान् लोग (वाम्) तुम दोनों को (रथे) रमणीय रथ में (वहन्ति) ले चलते हैं ॥ २ ॥

२—(युवम्) युवाम् (श्रियम्) लक्ष्मीम् (अश्विना) म० १ । हे चतुर-राजमन्त्रिणौ (देवता) भूमृदशि० । उ० ३ । ११० । दिवु क्रीडादिषु-अतच्, विभक्तेराकारः । दिव्यगुणसम्पन्नौ (ताम्) वक्ष्यमाणाम् (दिवः) व्यवहारस्य (नपाता) अथ० १ । १३ । २ । नञ्+पत अधःपतने णिच्—क्विप्, नञः प्रकृतिभावः । न पातयितारौ । रक्षकौ (वनथः) संभजेथे । संसेवेथे (शचीभिः) प्रज्ञाभिः (युवोः) युवयोः (वपुः) शरीरम् (अभि) अभितः (पृक्षः) पृची सम्पर्के—क्विप्, धातोः कुगागमः, बहुवचनम् । पृक्षः अन्ननाम—निघ० २ । ७ । अन्नानि (सचन्ते) षच सेचने । सिञ्चन्ति (वहन्ति) नयन्ति (यत्) यस्यै श्रिये (ककुहासः) क+कु+हन हिंसागत्योः—डप्रत्ययः । कस्य सुखस्य कुं भूमिं स्थानं प्राप्नोतीति ककुहः, असुगागमः । ककुह इति महन्नाम—निघ०३ । ३ । महान्तो विद्वांसः—दयानन्दभाष्ये ऋ० १ । ४६ । ३ (रथे) रमणीये याने (वाम्) युवाम् ॥

भावार्थ—विद्वान् लोग विज्ञान द्वारा यान विमान आदि बनाकर राज्य की सम्पत्ति बढ़ावें और अन्न आदि प्राप्त करके राजा और प्रजा को सुखी करें ॥ २ ॥

को वामुद्या करते रातहव्य ऊतये वा सुतपेयाय वार्कैः ।
ऋतस्य वा वनुषे पूर्व्याय नमो येमानो अश्विना ववर्तत् ॥ ३ ॥

कः । वाम् । अद्य । करते । रात-हव्यः । ऊतये । वा । सुत-पेयाय । वा । अर्कैः ॥ ऋतस्य । वा । वनुषे । पूर्व्याय । नमः । येमानः । अश्विना । आ । ववर्तत् ॥ ३ ॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी ! [चतुर राजा और मन्त्री] (रातहव्यः) देने योग्य को दिये हुये (कः) कौन पुरुष [अर्थात् प्रत्येक मनुष्य] (ऊतये) रक्षा के लिये (वा वा) और (सुतपेयाय) निचोड़े हुये सोम [तत्त्व रस] पीने के लिये (वाम्) तुम दोनों के निमित्त (अर्कैः) सत्कारों के साथ (अद्य) आज (करते) कर्म करता है, (वा) और (ऋतस्य) सत्य ज्ञान के (पूर्व्याय) प्राचीनों में रहने वाले (वनुषे) सेवन के लिये (नमः) अन्न को (येमानः) खींचता हुआ [कौन अर्थात् प्रत्येक मनुष्य] (आ ववर्तत्) बर्ताव करता है ॥ ३ ॥

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य चतुर राजा और मन्त्री का आदर करके पूर्वजों के समान सत्य ज्ञान बढ़ाकर अन्न आदि प्राप्त करे ॥ ३ ॥

हिरण्ययेन पुरुभू रथेनेमं यज्ञं नासत्योप यातम् ।

३—(कः) प्रत्येकपुरुषः, इत्यर्थः (वाम्) युवाभ्याम् (अद्य) म० १ (करते) कर्म प्रयत्नं करोति (रातहव्यः) दत्तदातव्यः (ऊतये) रक्षणाय (वा वा) समुच्चये (सुतपेयाय) निष्पादितस्य सोमस्य तत्त्वरसस्य पानाय (अर्कैः) सत्कारैः (ऋतस्य) सत्यज्ञानस्य (वा) समुच्चये (वनुषे) जनेरुसिः । उ० २ । ११५ । वन संभक्तौ—उसि । संभजनाय । सेवनाय (पूर्व्याय) प्राचीनेषु भवाय (नमः) अन्नम् (येमानः) यमेः कानच्, एत्वमभ्यासलोपश्च, चित्त्वादन्तोदात्तः । नियच्छन् । आकर्षन् । गृह्णन् (अश्विना) म० १ (आ) (ववर्तत्) वर्तते ॥

पिबा॑थ॒ इन्मधु॑नः सो॒म्यस्य॒ दध॑थो॒ रत्नं॑ विध॒ते जना॑य ॥ ४ ॥

हि॒र॒ण्यये॑न । पु॒रु॒भू॒ इति॑ पु॒रु॒-भू॒ । रथे॑न । इ॒मम् । य॒ज्ञम् । ना॒स॒त्या॒ । उप॑ । या॒त॒म् ॥ पिबा॑थः । इत् । मधु॑नः । सो॒म्यस्य॑ । दध॑थः । रत्न॑म् । वि॒ध॒ते । जना॑य ॥ ४ ॥

भाषार्थ—(पुरुभू) हे पालन व्यवहारों के विचारने वाले ! (नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले दोनों ! [राजा और मन्त्री] (हिरण्ययेन) ज्योति रखने वाले [अग्नि आदि प्रकाश- बल से चलने वाले] (रथेन) रमणीय रथ से (इमम्) इस (यज्ञम्) यज्ञ [देवपूजा, संगति करण और दान व्यवहार] को (उप) आदर से (यातम्) प्राप्त होओ, और (मधुनः) उत्तम ज्ञान के (सोम्यस्य) सोम [तत्त्व रस] में उत्पन्न रस का (इत्) अवश्य (पिबाथः) पान करो और (विधते) पुरुषार्थ करते हुये (जनाय) मनुष्य के लिये (रत्नम्) रत्न [सुन्दर धन] (दधथः) दान करो ॥ ४ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री के सुप्रबन्ध से सब प्रजा गण विज्ञान के साथ शिल्प विद्या द्वारा रत्नों का संग्रह करके सुखी होवें ॥ ४ ॥

आ नो॑ यातं दि॒वो अच्छा॑ पृथि॒व्या हि॑र॒ण्यये॑न सु॒वृता॒ रथे॑न । मा वा॑म॒न्ये नि य॑मन् देव॒यन्तः॒ सं यद् द॒दे नाभिः॑ पू॒र्व्या वा॑म् ॥ ५ ॥

आ । नः॒ । या॒त॒म् । दि॒वः । अच्छ॑ । पृ॒थि॒व्याः । हि॒र॒ण्यये॑न ।

४—(हिरण्ययेन) तेजोमयेन । अग्न्यादिप्रकाशबलयुक्तेन (पुरुभू) पृभिदिव्यधि० । उ० १ । २६ । पॄ पालनपूरणयोः—कु + भू चिन्तने—डु । हे पुरूणां पालनव्यवहाराणां भावयितारौ चिन्तयितारौ (रथेन) रमणीयेन यानेन (इमम्) (यज्ञम्) देवपूजासंगतिकरणदानव्यवहारम् (नासत्या) सू० १४० । १ । हे सदा सत्यस्वभावौ (उप) पूजायाम् (यातम्) प्राप्नुतम् (पिबाथः) लेटि रूपम् । पानं कुरुतम् (इत्) अवश्यम् (मधुनः) निश्चितज्ञानस्य । मधुज्ञानस्य (सोम्यस्य) सोमे तत्त्वरसे भवस्य रसस्य (दधथः) दध दाने धारणे च—लेट् । दत्तम् (रत्नम्) रमणीयं धनम् (विधते) विध विधाने—शतृ । पुरुषार्थं कुर्वते (जनाय) मनुष्याय ॥

सु-वृता । रथेन ॥ मा । वाम् । अन्ये । नि । युमन् । देव-यन्तः । सम् । यत् । दुदे । नाभिः । पूर्व्या । वाम् ॥ ५ ॥

भाषार्थ—[हे राजा और मन्त्री !] (दिवः) आकाश से और (पृथिव्याः) भूमि से (हिरण्ययेन) ज्योति रखने वाले [अग्नि आदि प्रकाश बल से चलने वाले], (सुवृता) शीघ्र घूमने वाले [चलने वाले] (रथेन) रमणीय रथ [विमान आदि वाहन] द्वारा (अच्छ) अच्छे प्रकार (नः) हम को (आ यातम्) दोनों प्राप्त होओ, (अन्ये) अन्य (देवयन्तः) पीड़ा देते हुये लोग (वाम्) तुम दोनों को (मा नि यमन्) न रोकें, (यत्) क्योंकि (पूर्व्या) पुरानी (नाभिः) बन्धुता ने (वाम्) तुम दोनों को (सं ददे) बांधा है ॥ ५ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री आकाश और पृथिवी पर चलने वाले यान विमानों द्वारा शत्रुओं से बेरोक होकर प्रजा की रक्षा करें ॥ ५ ॥

नू नो रयिं पुरुवीरं बृहन्तं दस्रा मिमाथामुभयेष्वस्मे । नरो यद् वामश्विना स्तोममावन्त्सधस्तुतिमाजमीळ्हासो अग्मन् ॥ ६ ॥

नु । नः । रयिम् । पुरु-वीरम् । बृहन्तम् । दस्रा । मिमाथाम् । उभयेषु । अस्मे इति ॥ नरः । यत् । वाम् । अश्विना । स्तोमम् । आवन् । सध-स्तुतिम् । आज-मीळ्हासः । अग्मन् ॥ ६ ॥

भाषार्थ—(दस्रा) हे दर्शन योग्य (अश्विना) दोनों अश्वी !

५—(आ) (नः) अस्मान् (यातम्) प्राप्नुतम् (दिवः) आकाशात् (अच्छ) संहितिको दीर्घः । सम्यक् (पृथिव्याः) भूमेः सकाशात् (हिरण्ययेन) म० ४ (सुवृता) सुवर्तनशीलेन । शीघ्रगामिना (रथेन) विमानादियानेन (वाम्) युवाम् (अन्ये) इतरे (मा नि यमन्) न निगृह्णन्तु (देवयन्तः) दिव अर्दने=पीडने चुरादिः—शतृ । पीडयन्तो जनाः (यत्) यतः (सं ददे) ददातेर्लिट् । सन्दानं बन्धनम् । बन्धे कृतवती (नाभिः) नहो भश्च । उ० ४ । १२६ । णह बन्धने—इञ्, हस्य भः । बन्धुत्वम् (पूर्व्या) पूर्वं पुराणनाम—निघ० ३ । २७, प्राचीना (वाम्) युवाम् ॥

६—(नु) सद्यः (नः) अस्मभ्यम् (रयिम्) धनम् (पुरुवीरम्) बहवो

[चतुर राजा और मन्त्री] (नः) हमारे लिये [अर्थात्] (उभयेषु) दोनों राजजन और प्रजाजन वाले (अस्मे) हम लोगों में (पुरुवीरम्) बहुत वीरों के प्राप्त कराने वाले (बृहन्तम्) बड़े (रयिम्) धन को (नु) शीघ्र (मिमाथाम्) नापो [दो] । (यत्) क्योंकि (नरः) नरों [नेता लोगों] ने (वाम्) तुम दोनों के लिये (स्तोमम्) प्रशंसा की (आवन्) रक्षा की है, और (आजमीळ्हासः) उन घृत आदि पदार्थों और सुवर्ण आदि धन वालों ने (सधस्तुतिम्) परस्पर कीर्ति (अग्मन्) पाई है ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री राजजन और प्रजाजनों का सत्कार करके परस्पर कीर्ति बढ़ावें ॥ ६ ॥

इहेह यद् वां समना पपृक्षे सेयमस्मे सुमतिर्वाजरत्ना । उरुष्यतं जरितारं युवं ह श्रितः कामो नासत्या युवद्रिक् ॥ ७ ॥

इह-इह । यत् । वाम् । समना । पपृक्षे । सा । इयम् । अस्मे इति । सु-मतिः । वाज-रत्ना ॥ उरुष्यतम् । जरितारम् । युवम् । ह । श्रितः । कामः । नासत्या । युवद्रिक् ॥ ७ ॥

भाषार्थ—(वाजरत्ना) हे ज्ञान और धन रखने वाले दोनों ! [राजा और मन्त्री] (इहेह) यहां [राज्य में] ही (यत्) जो (सुमतिः) सुमति

वीरा यस्मात्तम (बृहन्तम्) महान्तम् (दस्रा) अथ० ७ । ७३ । २ । दस दर्शने-रक् । दर्शनीयौ—निरु० ६ । २६ (मिमिथाम्) माङ् माने लोट् । परिमितं कुरुतम् । दत्तम् (उभयेषु) द्वित्वविशिष्टेषु । राजप्रजाजनयुक्तेषु (अस्मे) अस्मासु (नरः) नेतारः (यत्) यतः (वाम्) युवाभ्याम् (अश्विना) म० १ । हे चतुरराजामात्यौ (स्तोमम्) प्रशंसाम् (आवन्) अथ० ४ । २ । ६ अव रक्षणगत्यादिषु—लङ् । अरक्षन् (सधस्तुतिम्) सध=सह । परस्परकीर्तिम् (आजमीळ्हासः) आ+अञ्जू व्यक्तिम्रक्षणकान्तिगतिषु-घञर्थे क+मिह सेचने—क । आजम् आज्यं घृतम् । मीळ्हं धनम्—निघ० २ । ७ । घृतादिपदार्थाः सुवर्णादिधनं च येषां ते तथाभूताः (अग्मन्) अगमन् । प्राप्नुवन् ॥

७—(इहेह) अस्मिन्नेव राज्ये (यत्) या सुमतिः (वाम्) युवाम् (समना) समान+अन प्राणने—अच्, वा मन ज्ञाने—अच् । समनं समन-

[उत्तम बुद्धि] (समनाः) एक से मन वाले (वाम्) तुम दोनों को (पपृक्ते) छूती है, (सा इयम्) वही [सुमति] (अस्मे) हम में [होवे] । (नासत्या) हे सदा सत्य स्वभाव वाले ! [धर्मात्माओं] (युवम्) तुम दोनों (ह) ही (जरितारम्) गुणों की व्याख्या करने वाले की (उरुष्यतम्) रक्षा करो, (श्रितः) [तुम्हारा] आश्रय लिये हुये [कामः) मेरा मनोरथ (युवद्रिक्) तुम दोनों की ओर देखने वाला है ॥ ७ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री अपनी हितकारिणी बुद्धि का राज्य में विस्तार करके प्रजा की रक्षा करें ॥ ७ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद ४ । ४३ । ७ में भी है ॥

मधु॑मतीरोष॑धी॒र्द्याव॒ आपो॒ मधु॑मन्नो भवत्व॒न्तरि॑क्षम् ।
क्षेत्र॑स्य॒ पति॒र्मधु॑मान्नो अ॒स्त्वरि॑ष्यन्तो॒ अन्वे॑नं चरेम ॥ ८ ॥

मधु॑-मतीः । ओष॑धीः । द्याव॑ः । आप॑ः । मधु॑-मत् । नः॒ । भवतु॒ । अ॒न्तरि॑क्षम् ॥ क्षेत्र॑स्य । पति॑ः । मधु॑-मान् । नः॒ । अ॒स्तु॒ । अरि॑ष्यन्तः । अनु॑ । ए॒न॒म् । च॒रे॒म॒ ॥ ८ ॥

भाषार्थ—(नः) हमारे लिये (ओषधीः) ओषधियां [चावल जौ आदि अन्न], (द्यावः) सूर्य आदि के प्रकाश, (आपः) जल [मेह, कूये, नदी आदि के] (मधुमतीः) मधुर आदि गुण वाले [होवें], (अन्तरिक्षम्)

नासत्या सत्यस्वभावौ—निरु० ७ । १६ । समानमनस्कौ (पपृक्ते) पृची संपर्चने । पृक्ते । संयोजयति (सा) (इयम्) (अस्मे) अस्मासु (सुमतिः) शोभना प्रज्ञा (वाजरत्ना) वाजो बोधो रत्नं धनं च ययोस्तौ । हे ज्ञानेन धनेन च युक्तौ (उरुष्यतम्) उरुष्यती रक्षाकर्मा—निरु० ५ । २३ । रक्षतम् (जरितारम्) स्तोतारं गुणानां व्याख्यातारम् (युवम्) युवाम् (ह) एव (श्रितः) आश्रितः । युवयोराश्रयभूतः (कामः) मनोरथः (नासत्या) म० ४ । हे सदा सत्यस्वभावौ । धर्मात्मानौ (युवद्रिक्) दृशिर् प्रेक्षणे—क्विप्, ऋकारस्य रिकारः । युवां पश्यन्॥

८—(मधुमतीः) मधुमत्यः । मधुरादिगुणयुक्ताः (ओषधीः) ओषध्यः । व्रीहियवादिभोज्यपदार्थाः (द्यावः) सूर्यादिप्रकाशाः (आपः) मेघकूपनद्यादिजलानि (मधुमत्) मधुरादिगुणयुक्तम् (नः) अस्मभ्यम् (भवतु) (अन्त-

आकाश (मधुमत्) मधुर आदि गुण वाला (भवतु) होवे। (क्षेत्रस्य पतिः) खेत का स्वामी [किसान] (नः) हमारे लिये (मधुमान्) मधुर आदि गुण वाला (अस्तु) होवे, (अरिष्यन्तः) बिना कष्ट उठाये हुये हम (एनम् अनु) इस [किसान] के पीछे पीछे (चरेम) चलें ॥ ८ ॥

भावार्थ—जैसे किसान खेत में बीज बोकर धूप, जल, भूमि आदि से काम लेता हुआ अन्न उत्पन्न करके उपकार करता है, वैसे ही विद्वान् लोग सब पदार्थों का उपयोग करके संसार का उपकार करें ॥ ८ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—४। ५७। ३॥

पनाय्यं तदश्विना कृतं वां वृषभो दिवो रजसः पृथिव्याः।
सहस्रं शंसा उत ये गविष्टौ सर्वाँ इत् ताँ उप याता पिबध्यै ॥९॥

पनाय्यम्। तत्। अश्विना। कृतम्। वाम्। वृषभः। दिवः। रजसः। पृथिव्याः॥ सहस्रम्। शंसाः। उत। ये। गो-इष्टौ। सर्वान्। इत्। तान्। उप। यात। पिबध्यै ॥९॥

भाषार्थ—(अश्विना) हे दोनों अश्वी! [चतुर राजा और मन्त्री] (तत्) वह (वाम्) तुम दोनों का (कृतम्) काम (पनाय्याम्) बड़ाई योग्य है [कि] पृथिव्याः) पृथिवी के और (रजसः) आकाश के (दिवः) व्यवहार के (वृषभः=वृषभौ) दोनों शासक [हो]। (उत) और (गविष्टौ)

रिक्षम्) आकाशम् (क्षेत्रस्य) शस्याद्युत्पत्तिस्थानस्य (पतिः) स्वामी। कृषाणः (मधुमान्) मधुरादिगुणयुक्तः (नः) अस्मभ्यम् (अस्तु) (अरिष्यन्तः) रिष हिंसायाम्—शतृ, नञ्समासः। हिंसां न प्राप्नुवन्तः (अनु) अनुसृत्य (एनम्) क्षेत्रपतिम् (चरेम) गच्छेम ॥

९—(पनाय्यम्) श्रुदक्षिस्पृहिगृहिभ्य आय्यः। उ० ३। ९६। पन व्यवहारे स्तुतौ च— आय्यप्रत्ययः। स्तुत्यम् (तत्) वक्ष्यमाणम् (अश्विना) म० १। हे चतुरराजामात्यौ (कृतम्) कर्म (वाम्) युवयोः (वृषभः) ऋषिवृषिभ्यां कित्॥ उ० ३। १२३। वृषु सेचने, वृषप्रजननैश्वर्ययोः + अभच्। सुपां सुलुक्० पा० ७। १। ३९। द्विवचनस्य सुः। वृषभौ। ईश्वरौ। शासकौ (दिवः) दिवु व्यवहारादिषु—डिवि। व्यवहारस्य (रजसः) अन्तरिक्षस्य। आकाशस्य

विद्या की प्राप्ति में (ये) जो (सहस्रम्) सहस्र (शंसाः) प्रशंसनीय गुण हैं, (तान् सर्वान्) उन सब को (इत्) ही (पिबध्यै) [सोम अर्थात् तत्त्व रस] पीने के लिये (उप) आदर से (यात) तुम सब लोग प्राप्त करो ॥ ६ ॥

भावार्थ—राजा और मन्त्री विज्ञान द्वारा यान विमान आदि से पृथिवी और आकाश में मार्ग करें और सब लोग विद्या की वृद्धि से तत्त्व रस प्राप्त करके सुखी होवें ॥ ६ ॥

यह मन्त्र ऋग्वेद में है—८ । ५७ । ३ [सायण भाष्य अवशिष्ट वाल खिल्य सू० ६ । म० ३] ॥

इति नवमोऽनुवाकः ॥

इति शस्त्रकाण्डं नाम विंशं काण्डं समाप्तम् ॥

अथर्ववेदसंहिता च संपूर्णा ॥

यह शासन काण्ड नाम बीसवां काण्ड पूरा हुआ ॥

और अथर्ववेद संहिता भी पूरी हुई ॥

ओ३म्—शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

इति श्रीमद्राजाधिराजप्रथितमहागुणमहिम श्रीसयाजीरावगायकवाडा-

धिष्ठित बड़ोदेपुरीगतश्रावणमासदक्षिणापरीक्षायाम्-

ऋक्सामाथर्ववेदभाष्येषु लब्धदक्षिणेन श्रीपण्डित

क्षेमकरणदास त्रिवेदिना

कृते अथर्ववेदभाष्ये विंशं काण्डं समाप्तम् ॥

(पृथिव्याः) भूमेः (सहस्रम्) बहुसंख्याकाः (शंसाः) स्तोमाः । स्तुत्यगुणाः (उत) अपि च (ये) (गविष्टौ) इष गतौ, यद्वा यज देवपूजासंगतिकरण-दानेषु—क्तिन् । गोर्वाचो विद्याया इष्टौ प्राप्तौ (सर्वान्) (इत्) एव (तान्) शंसान् स्तुत्यगुणान् (उप) पूजायाम् (यात) सांहितिको दीर्घः । प्राप्नुत (पिबध्यै) अथ० २० । ८ । ३ । पातुम् । सोमस्य तत्त्वरसस्य पानं कर्तुम् ॥

इदं काण्डं प्रयागनगरे द्वितीयश्रावणमासे पूर्णमास्यां रक्षाबन्धनतिथौ १९७७ तमे
[सप्तसप्तत्युत्तरैकोनविंशतिशतके] विक्रमीये संवत्सरे
धीर-वीर-चिरप्रतापि-महायशस्वि
श्रीराजराजेश्वर पञ्चमजार्ज महोदयस्य सुसाम्राज्ये सुसमाप्तिमगात्॥

मुद्रितम्—आश्विन शुक्ला ८ संवत् १९७७ वि० तारीख़ २० अक्तूबर १९२० ईस्वी ॥

---

५२ लूकरगंज, प्रयाग
[अलाहाबाद],
आश्विन शुक्ला ८
संवत् १९७७ वि०
२० अक्तूबर १९२० ई०

क्षेमकरणदास त्रिवेदी
जन्म, कार्तिक शुक्ला ७ संवत् १९०५
विक्रमीय [ता० ३ नवम्बर १८४८ ईस्वी]।
जन्म स्थान, ग्राम शाहपुर—मडराक,
ज़िला अलीगढ़।

अथर्ववेदभाष्य सम्मतियां ॥

श्रीमती आर्य प्रतिनिधिसभा, पंजाब, गुरुदत्त भवन लाहौर अन्तरंग सभा के प्रस्ताव संख्या ३ तिथि ६-१२-१३ की प्रति ।

ला० दीवान चन्द प्रतिनिधि आर्य समाज बटाला का प्रस्ताव, कि प० क्षेम- करणदास को अथर्ववेद भाष्य के लिये ४०) मासिक की सहायता दी जावे, उपस्थित हुआ । निश्चय हुआ कि २५) मासिक की सहायता एक वर्ष के लिये दी जावे और उसके परिवर्तन में उतने मूल्य की पुस्तकें उनसे स्वीकार की जावें ॥

श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रदेश आगरा और अवध, स्थान बुलन्दशहर, अन्तरंग सभा ता० ४ जून १९१६ ई० के निश्चय संख्या १३ (अ) और (ब) की लिपि ।

(अ) समाजों में गश्ती चिट्ठी भेजी जावे कि वे इस भाष्य के ग्राहक बनें तथा अन्यों को बनावें ।

(ब) सभा सम्प्रति १ वर्ष पर्यन्त १५) मासिक एक क्लर्क के लिये पं० क्षेमकरणदास जी को देवे, जिसका बिल उक्त पडित जी कार्यालय सभा में भेजते रहें । इस धन के बदले में पंडित जी उतने धन की पुस्तकें सभा को देंगे ॥

लिपि गश्ती चिट्ठी श्रीमती आर्यप्रतिनिधि सभा जो पूर्वोक्त निश्चय के अनुसार समाजों को भेजी गयी (संख्या ५९७६ प्राप्त २० जूलाई १९१६ ई०)

॥ ओ३म् ॥

मान्यवर, नमस्ते !

आपको ज्ञात होगा कि आर्यसमाज के अनुभवी वयोवृद्ध विद्वान् श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी गत कई वर्षों से बडी योग्यता पूर्वक अथर्ववेद का भाष्य कर रहे हैं । आपने महर्षि दयानन्द के अनुसार ही इस भाष्य को करने का प्रयत्न किया है । भाष्य काण्डों में निकलता है अब तक ६ कांड निकल चुके हैं । आर्यसमाज के वैदिक साहित्य सम्बन्ध में वस्तुतः यह बडा महत्वपूर्णकार्य हो रहा है । त्रिवेदी महाशय के भाष्य की जानकारों ने खूब प्रशंसा की है । परन्तु खेद है कि अभी आर्यसमाज में उच्च कोटि के साहित्य को पढ़ने की ओर लोगों की बहुत कम रुचि है । जिसके कारण त्रिवेदी जी अर्थ हानि उठा रहे हैं । भाष्य के ग्राहक बहुत कम हैं । लागत तक वसूल नहीं होती । वेदों का पढ़ना पढाना और सुनना सुनाना आर्यमात्र का प्रधान कर्त्तव्य है । अतएव सविनय निवेदन है कि वैदिक धर्मी मात्र श्री त्रिवेदी जी को उनके महत्त्वपूर्ण गुरुतर कार्य में साहस प्रदान करें । स्वयम् ग्राहक बनें और दूसरोंको बनावें । ऐसा करने से भाष्यकार महाशय उसे छापने की अर्थ सम्बन्धिनी चिन्ताओं से मुक्त होकर भाष्य को और अधिक उत्तमता से सम्पादन करने की ओर प्रवृत्त होंगे । आशा है कि वेदों के प्रेमी उक्त प्रार्थना पर ध्यान दे इस ओर अपना कुछ कर्त्तव्य समझेंगे । प्रत्येक आर्य के घर में वेदों के भाष्य होने चाहिये । समाजके पुस्तकालयों में तो उनका रखना बहुत ही जरूरी है । भाष्य के प्रत्येक कांड का मूल्य त्रिवेदी जी ने बहुत ही थोडा रक्खा है ।

त्रिवेदी जी से पत्र व्यवहार ५२ लूकरगंज, प्रयाग के पते पर कीजिये । जल्दी से भाष्य मंगाइये ।

भवदीय—
नन्दलाल सिंह,
B. Sc., LL. B. उपमन्त्री ।

चिट्ठी संख्या २७० तिथि १०—१२—१९१४। कार्यालय श्रीमती आर्य-प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त आगरा व अवध, बुलन्दशहर।

आपका पत्र संख्या १०१ तथा अथर्ववेद भाष्य का तृतीय कांड मिला। इस कृपा के लिये अनेक धन्यवाद है। वास्तव में आप आर्यसमाज के साहित्य को समृद्धि शाली बनाने में बड़ा कार्य कर रहे हैं, आपकी विद्वत्ता और कृपा के लिये आर्य संसार ही नहीं, प्रत्युत प्रत्येक शिखा सूत्र धारी को आभारी होना चाहिये। ईश्वर आपको उत्तरोत्तर उस महत्त्व पूर्ण कार्य के सम्पादन और समाप्त करने के लिये शक्ति प्रदान करें, ऐसे उपयोगी ग्रन्थ प्रकाशन को आप सदैव जारी रक्खें यही प्रार्थना है।

भवदीय—

मदन मोहन सेठ

(एम० ए० एल० एल० बी०) मन्त्री सभा।

श्रीमान् पण्डित तुलसीराम स्वामी—प्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्तप्रान्त, सामवेद भाष्यकार, सम्पादक वेदप्रकाश, मेरठ—१९१२।

ऋग्यजुर्वेद का भाष्य श्रीस्वामीदयानन्द सरस्वती जी ने संस्कृत और भाषा में किया है, सामवेद का श्री पं० तुलसीराम स्वामी ने किया है, अथर्ववेद के भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी। पं० क्षेमकरणदास जी प्रयाग निवासी ने इस अभाव को दूर करना आरम्भ कर दिया है। भाष्य का क्रम अच्छा है। यदि इसी प्रकार समस्त भाष्य बन गया, जो हमारी समझ में कठिन है, तो चारों वेदों के भाषा भाष्य मिलने लगेंगे, आर्यों का उपकार होगा।

श्रीयुत महाशय नारायणप्रसाद जी—मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल वृन्दावन मथुरा—उपप्रधान आर्य प्रतिनिधि सभा, संयुक्तप्रान्त। आर्यमित्र आगरा, २४ जनवरी १९१२।

श्री पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी प्रयाग निवासी, ऋक् साम तथा अथर्ववेद सम्बन्धी परीक्षोत्तीर्ण अथर्ववेद का भाषा भाष्य करते हैं, मैंने सम्पूर्ण [प्रथम] कांड का पाठ किया। त्रिवेदी जी का भाष्य ऋषि दयानन्द जी की शैली के अनुसार भावपूर्ण संक्षिप्त और स्पष्टतया प्रकट करने वाला है कि मन्त्र के किस शब्द के स्थान में भाषा का कौनसा शब्द आया, फिर नोटों में व्याकरण तथा निरुक्त के प्रमाण, प्रारम्भ मे एक उपयोगी भूमिका दे देने से भाष्य की उपयोगिता और भी बढ़ गई है, निदान भाष्य अत्युत्तम, आर्यसमाज का पक्षपोषक और इस योग्य है कि प्रत्येक आर्यसमाज उसकी एक २ पोथी (कापी) अपने पुस्तकालय में रक्खे।

त्रिवेदी जी ने इस भाष्य का आरम्भ करके एक बड़ी कमी के पूर्ण करने का

उद्योग किया है। ईश्वर उनको बल तथा वेद प्रेमी आवश्यक सहायता प्रदान करें निर्विघ्नता के साथ यह शुभ कार्य पूरा हो छपाई और कागज़ भी अच्छा है

श्रीयुत महाशय **मुन्शीराम** जी—जिज्ञासु मुख्याधिष्ठाता गुरुकुल कांगड़ी हरिद्वार—पत्र संख्या ६४ तिथि २७—१०—१६६६।

अथर्ववेदभाष्य आप का दिया वा किया हुआ अवकाशानुसार तीसरे हिस्से के लगभग देख चुका हूं आप का परिश्रम सराहनीय है।

तथा—पत्र संख्या ११४ तिथि २२-१२-१६६६।

अवलोकन करने से भाष्य उत्तम प्रतीत हुआ।

श्रीयुत पं० **शिव शंकर शर्मा** काव्यतीर्थ-छान्दोग्योपनिषद् भाष्यकार, वेदतत्त्वादि ग्रंथकर्त्ता वेदाध्यापक कांगड़ी गुरुकुल महाविद्यालय, आदि आदि, सम्पादक आर्यमित्र—८ फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य। श्री प० क्षेमकरण दास त्रिवेदी जी का यह परिश्रम प्रशंसनीय है। ... आप बहुत दिनों तक सरकारी नौकरी कर और अब वहां से पेन्शन पाके अपना सम्पूर्ण समय संस्कृत पढने में लगाने लगे। अन्ततः आपने वेदों में विशेष परिश्रम कर बड़ौदा राजधानी में वेदों की परीक्षा दी और उनमें उत्तीर्ण हो त्रिवेदी बने हैं। आप परिश्रमी और अनुभवी वृद्ध पुरुष हैं। आप का अथर्ववेदीय भाष्य पढ़ने योग्य है।

श्रीयुत पंडित **भीमसेन शर्मा इटावा**—उपनिषद् गीतादि भाष्यकत वेदव्याख्याता कलकत्ता यूनीवर्सिटी, सम्पादक ब्राह्मण सर्वस्व इटावा, फ़रवरी १६१३।

अथर्ववेदभाष्य—इसे प्रयाग के पण्डित क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने प्रकाशित किया है। इसका क्रम ऐसा रक्खा गया है कि प्रथम तो प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ... अभिप्राय यह है कि भाष्य का ढंग अच्छा है। भाष्यकर्ता के मानसिक विचारों का झुकाव आर्यसामाजिक सिद्धान्तों की तरफ़ है अतएव भाष्य भी आर्य सामाजिक शैली का हुआ है। तब भी कई अंशों में स्वामी दयानन्द के भाष्य से अच्छा है। और यह प्रणाली तो बहुत ठीक है!

श्रीमती पंडिता **शिवप्यारी देवी** जी, १३७ हकीम देवी प्रसाद जी अतरसुइया, प्रयाग, पत्र ता० २१-१०-१६१५॥

श्रीयुत पण्डित जी नमस्ते,

महेवा के पते से आपका भेजा हुआ पत्र और अथर्ववेद भाष्य चौथा कांड मिला, मैं ने चारों कांड पढ़े, पढ़कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त हुआ। आपने हम सभों पर अत्यंत कृपा की है आपको अनेकों धन्यवाद हैं। आशा है कि पांचवां कांड भी शीघ्र तैयार होकर वी० पी० द्वारा मुझे मिलेगा।

दो पुस्तक हवनमन्त्राः की जिस का मूल्य ।)॥ है कृपाकर भेज दीजिये मेरी एक बहिन को आवश्यकता है।

श्रीयुत पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी—कानपुर, सम्पादक सरस्वती प्रयाग, फरवरी १६१३।

अथर्ववेद भाष्य—श्रीयुत क्षेमकरणदास त्रिवेदी जी के वेदार्थज्ञान और श्रम का यह फल है, कि आप ने अथर्ववेद का भाष्य लिखना और क्रम क्रम से प्रकाशित करना आरम्भ किया है. बड़ी विधि से आप भाष्य की रचना कर रहे हैं। स्वर सहित मूलमन्त्र, पद पाठ, हिन्दी में सान्वय अर्थ, भा[illegible], पाठान्तर, टिप्पणी आदि से आपने अपने भाष्य को अलंकृत किया है. आपकी राय है कि-"वेदों में सार्वभौम विज्ञान का उपदेश है"। आपका भाष्य स्वामी दयानन्द सरस्वती के वेदभाष्य के ढंग का है।

श्रीयुत पण्डित गणेश प्रसाद शर्मा—संपादक भारतसुदशाप्रवर्त्तक फ़तेहगढ़, ता० १२ अप्रैल १६१३।

हर्ष की बात है कि जिस वेद भाष्य की बड़ी आवश्यकता थी, उसकी पूर्ति का आरम्भ होगया। वेद भाष्य बड़ी उत्तम शैली से निकलता है। प्रथम मन्त्र पुनः पदार्थयुक्त भाषार्थ, उपरान्त भावार्थ, और नोट में सन्देह निवृत्ति के लिये धात्वार्थ भी व्याकरण व निरुक्त के आधार पर किया गया है. वैदिक धर्म के प्रेमियों को कम से कम यह समझ कर भी ग्राहक होना चाहिये [illegible] ग्रन्थ का अनुवाद है और काम पड़े पर उस से कार्य लिया जा [illegible]

बाबू कालिकाप्रसाद जी—सिल्क मर्चेन्ट कमनगढ़ा, बनारस सिटी संख्या ५८६ ता० २७-३-१३।

आपका भेजा अथर्ववेदभाष्य को वी० पी० मिला, मैं आपका भाष्य देखकर बहुत प्रसन्न हुआ, परमेश्वर सहाय करे कि आप इसे इसी प्रकार पूर्ण करें। आप बहुत काम एक साथ न छेड़कर इसी की तरफ़ समाधि लगाकर पूर्ण करेंगे। मेरा नाम ग्राहकों में लिख लीजिये, जब २ अङ्क छपें मेरे पास भेज देना।

श्रीयुत महाशय रावत हरप्रसाद सिंहजी वर्मा, मु० एकडला पोस्ट किशुनपुर ज़िला फ़तेहपुर हसवा, पत्र ६ दिसम्बर १६१३।

वास्तव में आप का किया हुआ "अथर्ववेद भाष्य" निष्पक्षता का आश्रय लिया चाहता है। आप ने यह साहस दिखाकर साहित्य भण्डार की एक बड़ी भारी न्यूनता को पूर्ण कर दिया है। ईश्वर आपको वेद भण्डार के आवश्यकीय कार्यों के सम्पादन करने का बल प्रदान करें।

श्रीयुत महाशय पंडित श्रीधर पाठक जी, (सभापति हिन्दी साहित्य सम्मेलन लखनऊ)—मनोविनोद आदि अनेक ग्रन्थों के कर्ता, सुपरिन्टेन्डेन्ट गवर्नमेंट सेक्रेटरियट, पी० डब्ल्यू० डी०, श्री प्रयागराज, पत्र ता० १७-६-१३।

आप का अथर्ववेद भाष्य अवलोकन कर चित्त अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ। आप की यह पाण्डित्य-पूर्ण कृति वेदार्थ जिज्ञासुओं को बहुत हितकारिणी होगी। आप का व्याख्याक्रम परम मनोरम तथा प्रांजल है, और ग्रन्थ सर्वथा उपादेय है।

प्रकाश लाहौर १२ आषाढ़ संवत् १९७३ (२१ जून १९१६--लेखक श्रीयुत पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर जी)

हम पण्डित क्षेमकरणदास जी का धन्यवाद करने से नहीं रह सकते—स्वामी (दयानन्द) जी ने लिखा है- कि वेद का पढ़ना पढ़ाना आर्यों का परम धर्म है—इसके अनुकूल श्री पंडित जी अपना समय वेद अध्ययन में लगाते हैं—और आर्यों के लिये परम उपयोगी पुस्तक प्रकाशित करने में पुरुषार्थ करते रहते हैं—पंडित जी ने इस समय तक हवन मन्त्रों तथा रुद्राध्याय का भाषा में अर्थ प्रसिद्ध किया है-जो कि आर्यों के लिये पठन पाठन में उपयोगी हैं इस सम्बन्ध में यह अथर्ववेद के पांच कांड छपवा कर निःसन्देह बड़ा लाभ पहुंचाया है। आर्यों की जो शिक्षा प्रणाली थी उसको टूटे आज पाँच हज़ार वर्ष हो चुके हैं। ऐसे अंधेरे के समय में स्वामी जी ने वेद के ऊपर लोगों के भीतर दृढ़ विश्वास उत्पन्न करके एक धर्म का दीपक प्रकाशित किया। परन्तु हमें शोक यह है वेद के पढ़ने में आर्य लोग इतना समय नहीं लगाते-जितना वे प्रबन्ध सम्बन्धी झगड़ों की बातों में लगाते है। हमारा विश्वास है कि जब तक प० क्षेमकरणदास जी जैसे वेदाभ्यासी पुरुषार्थी लोग अपना समय वेदों के खोज में न लगावेंगे तब तक आर्य समाज का कोई गौरव नहीं बढ़ सकता। अथर्ववेद के अर्थ खोजने में बड़ी कठिनता है। इसके ऊपर सायण भाष्य उपलब्ध नहीं होता, जो इस समय तक छपा हुआ है वह बड़ी अधूरी दशा में है, सूक्त के सूक्त ऐसे हैं कि जिनके ऊपर अब तक कोई टीका नहीं हुई। ..... . इस समय जो पांच कांडो का भाष्य पंडित जी ने प्रकाशित किया है उसके लिखने का ढंग बड़ा अच्छा और सुगम है। प्रथम उन्होंने सूक्त के तथा मन्त्रों के देवता दिये हैं—पश्चात् छन्द . विद्वानों का यही काम है कि वह जैसे जैसे साधन उनके पास हों वैसा वैसा सोचकर वेद मन्त्रों का अर्थ प्रकाशित करें। ऐसे सैकड़ों प्रयत्न जब होंगे, तब सच्चे अर्थ खोज करना आगामी विद्वानों को सरल होगा। परन्तु इस समय बड़ी भारी कठिनाई यह है कि प्रकाशित पुस्तकों के लिये पर्याप्त संख्या में ग्राहक नहीं मिलते हैं और विद्वानों के पास सम्पत्ति का अभाव होने के कारण हानि के डर से पुस्तकों का प्रकाशित करना बन्द होता है। इसलिये सब आर्यों को परम उचित है कि पंडित क्षेमकरणदास जी जैसे विद्वान पुरुषार्थी के ग्रन्थ मोल लेकर उनको अन्य ग्रन्थ प्रकाशित करने की आशा देते रहें। त्रिवेदी जी कोई धनाढ्य पुरुष नहीं हैं, उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति जो कुछ उनके पास है लगा दी है . त्रिवेदी जी ने जो कुछ किया है वह वैदिक धर्म के प्रेम से प्रवृत्त होकर-इसलिये न केवल सब आर्य पुरुषों का यह कर्त्तव्य है कि इस भाष्य को मोल लेकर त्रिवेदी जी को उत्साहित करें किन्तु धनाढ्य आर्य पुरुषों का यह भी कर्त्तव्य है कि उनकी आर्थिक सहायता करें।

The VIDYADHIKARI (Minister of Education), *Baroda State*, *letter No 624 dated 6th February* 1913.

....It has been decided to purchase 20 copies of your book entitled अथर्ववेद भाष्यम् It has been sanctioned for use of the library and the prize distribution Please send them . also add on the address lable " For Encourgement Fund.

RAI THAKUR DATTA RETIRED DISTRICT JUDGE, Dera Ismail Khan Letter dated March 25th, 1914.

The Atharva Veda Bhashya.—It is a jigantic task and speaks volumes for your energies and perseverance that you should have undertaken at an advanced age I wish I had a portion of your will-power.

Letter dated 30th April 1914

I very much admire your labour of lore and hope the venture will not fail for want of pecuniary support.

THE MAGISTRATE OF ALLAHAABD.

Letter No 912 dated 21st May 1915.

Has the honour to request him to be so good as to send a copy each of the 1st and 3rd Kandas of Atharva Veda Bhashya to this office for transmission to the India Office, London.

THE ARYA PATRIKA LAHORE APRIL 18 1914.

THE *Atharva Veda Bhashya* or commentary on the *Atharva Veda* which is being published in parts by Pandit Khem Karan Das Trivedi, does great credit to his energy, perseverance and scholarship The first part contains the Introduction and the first *Kanda* or Book. There is a learned disquisition on the origin of the Vedas and the pre-eminent position in Sanskrit literature . The arrangement is good, the original *Mantra* is followed by a literal translation and their *bhavarth* or purport in Arya Bhasha. The footnotes are copious, they give the derivation and meaning in Sanskrit of the varions words quoting the authority of *Ashtadhyayi* of Panini, *Unadikosha* of Dayananda, *Nirukta* of Yaska, *Yoga Darshana* of Patanjai and other standard ancient works.... The Pandit appears to have laboured very hard and the Book before us does credit to his erudition ; scholars may not agree with certain of his renderings, but like a true Arya, who venerates the Vedas, he has made an honest attempt to find in the Vedic verses something which will elevate and ennoble mankind. Cross references to verses where the word has already occurred in this Veda are also given to enable the reader to compare notes. There can be no finality in Vedic interpretation,but honest attempts like these which shall render the task easy to others are commendable. We are glad to call public attention to this scholarly work, and hope that Pandit Khem Karn Das Trivedi will get the encouragement which he so richly deserves .. . Our earnest request is that the revered Pandit will go on with this noble work and try to finish the whole before he is called to eternal rest .....

N.B —The printing and paper are good, the price is moderate